अभयदाता भगवान

श्रीभागवत-दर्शन

भागवती कथा

(प्रथम खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनत सुमनासि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

—❀—

प्रकाशक
संकीर्तन भवन
झूसी [प्रयाग]

—:❀—

संशोधित मूल्य २-०० रुपये

चतुर्थ संस्करण] मार्गशीर्ष सम्वत् २००७ वि० [मूल्य १)

प्रकाशक—
व्यवस्थापक
संकीर्तन-भवन,
झूसी—प्रयाग

प्रथम सस्करण—श्रावण, सम्वत् २००३ वि०	२०००	प्रतियाँ
द्वितीय सस्करण—पौष, सम्वत् २००३ वि०	३०००	,,
तृतीय सस्करण—श्रावण, सम्वत् २००५ वि०	३०००	,,
चतुर्थ सस्करण—मार्गशीर्ष स० २००७ वि०	१००००	,,
कुल	१६०००	,,

[सर्वाधिकार सुरक्षित]

स्थाई ग्राहकोंसे डाक व्यय सहित वार्षिक दक्षिणा १५=) अग्रिम

मुद्रक—
श्री रामनाथ अग्रवाल
आर्ट प्रिन्टर्स, 'अशोक निवास' (जीरो रोड)
इलाहाबाद

समर्पण

कृष्ण कथा रस पान कान करि कब मम भरिहैं ?
करि हरि दरशन अश्रु नयन कब झर-झर झरिहैं ?
कब हौं जीवन मूरि धूरि-पग भक्तनि मानूँ ?
कब श्रीराधारमन चरन सरबसु करि जानूँ ?

जे नित अस वांच्छा करहिँ, तजहिँ जगतकी सब व्यथा।
उनहिँ भागवत करनिमहँ, अरपित 'भागवती कथा'॥

पुराण-पत्र मंडप,
प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)
श्रावण, नागपंचमी, २००३ वि०

—प्रभुदत्त

विषय

विषय	पृष्ठाङ्क
[क] प्रकाशकका वक्तव्य	१
[ख] मेरा पतन	७
१—भागवती कथा [भूमिका]	१७
२—जयार्थ	४२
३—नैमिषारण्य	४८
४—श्रीसूत	६१
५—सर्वोत्कृष्ट प्रश्न	७०
६—परम धर्म	८०
७—भागवत सेवासे	८८
८—भागवती प्रक्रिया	९६
९—श्रवण-परम्परा	१०४
१०—विराट् पुरुष	११३
११—प्रथमावतार	१२१
१२—अन्यावतार	१३१
१३—पावन प्रश्न	१४३
१४—श्रीव्यासदेव	१५८
१५—श्रीव्यासजीकी चिन्ता	१७३
१६—व्यासाश्रमपर श्रीनारदजी	१८४
१७—व्यासजीकी व्याकुलताका कारण	१९२
१८—नारदजीका पूर्वजन्मका वृत्त	२०४
१९—गधर्व योनिमे नारदजी	२१३
२०—नारदजीको शूद्र योनिमे सत्सग	२२१

॥ श्रीहरिः ॥

चतुर्थ संस्करणकी भूमिका

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने ॥

आज चार वर्षमें "भागवती कथा" के चतुर्थ संस्करणको पाठकोंके सम्मुख रखते हुए हमें हर्ष हो रहा है। तीन संस्करणों-में इस खण्डकी आठ सहस्र प्रतियाँ समाप्त हो चुकी हैं। दश सहस्रका यह चौथा संस्करण छपा है। हिन्दीकी साधारण स्थितिको देखते हुए इतने कम समयमें इसका इतना प्रचार साधारणतया सन्तोषप्रद ही कहा जा सकता है, किन्तु हमें इतनेसे सन्तोष नहीं। हमारी तो भावना यह है, कि प्रत्येक हिन्दुके घरमें इस पुस्तकका रहना अत्यावश्यक है। तेतीस करोड़ हिन्दुओंमें कम से कम इसकी पचास लाख प्रतियाँ तो छपनी ही चाहिये। यह ग्रन्थ बालकसे वृद्ध तक विद्वान्से मूर्ख तक सभीके लिए उपयोगी है। पंच देवोंमें से आप किसी के भी उपासक हों, निर्गुण सगुण किसी रूप में आस्था रखते हो और नहीं तो कथाओं के ही प्रेमी हों आपको इस पुस्तक से सन्तोष होगा। इसमें इतनी विशेषतायें हैं—

१—पुराणोंकी तथा अन्य शास्त्रोंकी सुन्दर, मनोरंजक तथा उपदेशप्रद असंख्यों कहानियाँ हैं।

२—भारतीय संस्कृति और सदाचार का पग पग पर ध्यान रखा गया है।

३—व्यावहारिक ज्ञान इतनी सरलतासे वर्णन किया गया है, कि छोटे छोटे बच्चे भी इसे समझ सकते हैं।

४—भाषा इतनी सरल सरस और हृदयग्राही है, कि पढ़ते पढते चित्त ऊबता नहीं। जिनको केवल अक्षर ज्ञान है, ऐसे कम पढ़े लिखे भी इसे भली भाँति समझ सकते हैं।

५—इसमें सभी वेदशास्त्र तथा पुराणोंका निचोड़ है।

६—आपके घरमें यह पुस्तक रहेगी तो आपके यहाँका वायुमंडल विशुद्ध बन जायगा। स्त्री बच्चे सभीमें एक प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति स्वतः जाग्रत हो उठेगी।

७—भाषाका, समाजका, धार्मिककृत्योंका इतिहासका तथा सभी विषयोंका ज्ञान इसी एक पुस्तकसे सरलताके साथ कथा सुनते सुनते ही हो जायगा।

८—गद्य पद्य दोनों ही हैं। प्रत्येक अध्यायके आदि अन्त में एक एक छप्पय है, इन दो छप्पयोंमें पूरे अध्यायका सार आ जाता है। केवल छप्पयों को ही पढ़ते जाओ तो सम्पूर्ण कथा समझमें आ जायगी।

९—पुस्तक खण्डशः प्रकाशित हो रही है। अब तक इसके ३८ खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रायः प्रतिमास एक खण्ड प्रकाशित होता है। प्रत्येक खण्डका मूल्य १।) है। जिसमें लगभग ढाई सौ पृष्ठ रहते हैं। ७॥ सादे तथा एक रङ्गीन चित्र भी।

१०—किसी भी प्रकारके संकीर्ण या संकुचित भाव इसमें व्यक्त नहीं किये गये हैं।

ऐसी पुस्तक का घर घर प्रचार हो यही हमारी मनःकामना है और यही परम पिता परमात्माके चरणोंमें प्रार्थना है।

प्रथम खण्ड जब छपा था तबसे अब तक बहुत परिवर्तन हुए हैं, यह संसार ही परिवर्तनशील है इसमें क्षण क्षण में परिवर्तन होते रहते हैं।

तब संकीर्तन भवन के पास प्रकाशन के कुछ भी साधन न थे। इन चार वर्षों में ३८-३९ खण्ड छप जाने से कुछ कुछ ढर्रा चलने लगा है। यद्यपि अब भी प्रत्येक खण्डके निकालनेमें असुविधायें बहुत होती हैं, किन्तु पहिली जैसी नहीं। संकीर्तन भवन पर अपना एक छोटा मोटा प्रेस भी हो गया है। एक चार पेजी छोटी मशीन भी है। चार-पाँच आदमी काम करते हैं। उसे

पहिले संकीर्तन भवन एक अनियमित पुरातन परिपाटी की संस्था थी। अब इसकी राजकीय नियमानुसार एक संरक्षण समिति (संकीर्तन भवन धार्मिक ट्रस्ट) बन गया है। उसके निम्नलिखित सात संरक्षक ट्रस्टी हैं।

१—श्री स्वामी ब्रह्म चैतन्यपुरी जी महाराज, झूसी।
२—श्री श्याम प्रकाशजी ब्रह्मचारी झूसी।
३—श्री प० मूलचन्द्रजी मालवीय, भारती भवन प्रयाग।
४—श्री प० रामनारायण जी वैद्य, अध्यक्ष वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता, पटना, झाँसी और नागपुर।
५—श्री प० रामकृष्ण जी शास्त्री वेदान्ताचार्य, झूसी।
६—श्री बाबू बैनीप्रसादजी सुपुत्र श्री रामनारायण लालजी बुकसेलर कटरा प्रयाग।
७—श्री श्याम सुन्दरजी अग्रवाल, प्रयाग तथा श्री गजाधर प्रसाद जी भार्गव वैधानिक सम्मति दाता हैं।

पहिले भागवती कथाके अतिरिक्त श्री ब्रह्मचारीजीका "श्री शुक" नामक एक छोटा सा ही ग्रन्थ छपा था। अब इधर चार वर्षमें भागवती कथाके अतिरिक्त ब्रह्मचारीजीके १५ छोटे

बड़े ग्रन्थ और निकले हैं। जिनके नाम १ चैतन्य चरितावल
(प्रथम खण्ड)। २—भागवत चरित (सप्ताह) पद्यों में, ३-
बदरीनाथ दर्शन, ४ - महात्मा कर्ण, ५—मतवालीमीरा, ६—नाम
संकीर्तन महिमा, ७—श्रीशुक ८—शोक शान्ति, ९—मेरे महामन
मालवीय जी और उनका अन्तिम सन्देश, १०—भारतीय सस्कृ
और शुद्धि, ११—प्रयाग माहात्म्य, १२—वृन्दावन माहात्म्य
१३—रावबेन्दुचरित, १४—भागवती कथाकी बानगी तथ
१५—भागवत चरितकी बानगी, ये हैं।

इन सभी कारणों से प्रथम, द्वितीय और तृतीय संस्करणों की भूमिकायें हटा दी गयी हैं।

इतना सब होनेपर भी इसके स्थाई ग्राहकोंकी सख्या वृद्धि नहीं हुई। हमें आशा थी, कि कम से कम चार-पाँच वर्ष में पाँच छै सहस्र तो ग्राहक हो ही जायगे, किन्तु हमारा अनुमान असत्य सिद्ध हुआ। प्रथम वर्ष लगभग आठसौ ग्राहक थे। उनमेंसे भी कुछ घट जाते हैं कुछ बढ़ जाते हैं सहस्रसे ऊपर अभी नहीं हुए। कुछ शाखाओंमें बिक्री हो जाती हैं कुछ फुटकर बिक जाती हैं। इस प्रकार अनुमानत डेढ हजार पौने दो हजार निकल जाती होंगी। इसीलिये प्रति वर्ष इसमें घाटा रहता है और यही कारण है कि समय पर प्रतिमास खण्ड प्रकाशित नहीं होते। नियमानुसार अब तक ५५ खण्ड निकलने चाहिये थे, किन्तु अभी निकले हैं ३८ ही। यदि सभी पाठक इसे विशुद्ध धार्मिक कार्य समझकर इसके २-२-४-४ ग्राहक बनावें तो यह अपने पैरों खड़ी हो जाय। अब तकतो इसे खड़ा करनेके लिये दूसरोंकी सहायताकी अपेक्षा रहती है। कुछ ऐसे १०-२० धार्मिक प्रवृत्तिके प्रतिष्ठित लोगोंके पते हमारे पास लिखकर भेजे जिनसे हम ग्राहक बनने की प्रार्थना कर सकें।

हम चाहते हैं, इस ग्रन्थका अधिकसे अधिक प्रचार हो। क्योंकि आज सनातन धर्मका जैसा ह्रास हो रहा है वैसा सम्भवतया कभी भी न हुआ होगा। इस पाश्चात्य शिक्षाने हमारा सर्वस्व नाश कर दिया है। इसने हमारा जो सामाजिक, राजनीतिक, पतन किया है सो तो किया ही है, सब से अधिक कुठाराघात इस शिक्षाने हमारे धर्मके ऊपर किया है। इस शिक्षाने बाल्य-कालसे हमारे हृदयोंमें घुसकर ऐसी जड़ जमा ली है, कि हम अपनी पुरानी संस्कृति, सभ्यताको एक दम भूलसे ही गये हैं।

हमारे बच्चे मनोरञ्जनके लिये जो कहानियाँ, उपन्यास पढ़ते हैं, वे इतने गन्दे होते हैं, कि उनसे लड़के-लड़कियों का मन मलिन हो जाता है। उनकी वैषयिक वृत्ति जाग उठती है। वे विषय भोग और अवैध सम्बन्धको ही सुखका साधन समझने लगते हैं। हमारे बच्चे यदि धार्मिक कथाओंको पढ़ें, तो मनोरञ्जनके साथ-साथ उन्हें धार्मिक ज्ञान भी होगा अपने आचार, विचार, सदाचारसे भी अनभिज्ञ न रहेंगे, हिन्दु धर्म का गौरव भी समझने लगेंगे। और जातिके लोग चाहें जैसे अपने को उन्नत समझें, किन्तु हिन्दुओं की उन्नति तो धर्म से ही होगी। इसीलिये हमारी इच्छा है, कि इस हिन्दु धर्म के सार सिद्धान्त रूपी महाग्रन्थका अधिकसे अधिक प्रचार हो। हम भी सुन्दर से सुन्दर, सस्ते से सस्ता साहित्य, सनातन संस्कृति प्रेमी पाठकोंकी सेवामें समय समय पर समुपस्थित करनेकी चेष्टा करेंगे, किन्तु यदि पाठक हमारे कार्यों में सहयोगदें—सब प्रकार से हमारा उत्साह बढ़ावें—तब यह कार्य सुचारु रीतिसे सम्पन्न हो सकेगा। पाठक इन उपायोंसे इसमें सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

(१) इन ग्रन्थोंको स्वयं पढ़ें, अपनी स्त्रियों और बाल बच्चों को तथा परिवारवालोंको पढ़ावें।

- (२) अपने परिचित बन्धुओंको इसका पाठक बनावें। प्रत्येक पाठक १०-२० अपने प्रेमियों को ग्राहक बनावे।

(३) यह पूरा ग्रन्थ इतना बड़ा होगा, कि इसे साधारण आय वाले निर्धन पुरुष मूल्य देकर नहीं ले सकते। उनके लिये धनी मानी सामर्थ्यवान् पुरुष यह करें कि सार्वजनिक पुस्तकालयों में इस पूरे ग्रन्थको रखानेकी चेष्टा करें। रुपया पैसा दान देने से तो दिया और व्यय हो गया। यह दान ऐसा होगा, कि जब तक वह पुस्तकालय रहेगा दाताका नाम अमर रहेगा। जो भी पाठक पढ़ने ले जायँगे, वे ही उस पर दाताके नामकी मुहर देख कर उसे धन्यवाद देंगे। दाता सबको विद्यादान करनेके फलभागी बनेंगे। विद्यादानसे श्रेष्ठ कोई दान नहीं। जो दाता जितनी भी पुस्तकें जितने भी पुस्तकालयोंमें देना चाहें, उन सबकी व्यवस्था हम करेंगे। समाचार पत्रोंमे सूचना निकलवा कर पुस्तकालयोंसे पत्र मँगायेंगे। दाता चाहे जिन पुस्तकालयों को दे सकते हैं।

(४) प्रचारकी दृष्टिसे लोगोंको इन कथाओंको सुनावें।

(५) तथा पाठक हमे आशीर्वाद दें, कि हम अपने इस कार्य में सफल हों।

अन्त मे हम परम पिता परमात्मासे प्रार्थना करते हैं, कि हम इस कामको विशुद्ध भगवत् सेवा समझ कर करें, जिससे देशका धर्मका तथा समस्त विश्वका कल्याण हो।

सकीर्तन भवन,
प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)
पौष कृ० ३ सं० २००७

व्यवस्थापक—

मेरा पतन ?

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम् ।
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ॥
अधोऽधोगङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा ।
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः[1] ॥
(श्रीभर्तृ० नी० श० श्लो०)

अब से २३-२४ वर्ष पूर्व वाराणसीमें कुछ काल मैंने साहित्यिक जीवन व्यतीत किया था। उस समय हृदयमें कुछ वैराग्य था, भगवान्‌को पानेकी अभिलाषा थी। साहित्यिक जीवन मुझे अच्छा नहीं लगा। भगवान्‌से प्रार्थना की—"प्रभो! मुझे लेखक, प्रकाशक मत बनाना। अपने चरणोंकी भक्ति प्रदान करना। तुम्हारे चरणारविन्दके मकरन्दका पान करने वाला मत्त मधुप बनूँ। सिड़ी पागलोंकी तरह स्वेच्छाचारी पक्षियोंकी, तरह, वन में विहार करने वाले जन्तुओंकी तरह आपकी स्मृति में ही उन्मत्त हुआ विचरूँ, विश्व ब्रह्माण्डकी बातें सब विस्मृत हो जायँ।" इसके लिये प्रयत्न भी किया, न लिखनेका नियम भी किया, किन्तु विधिके विधानको व्यर्थ करनेकी सामर्थ्य किसमें है। प्रारब्धको पुरुषार्थसे हटानेका साहस कौन कर सकता है? वयमाताके लेख पर मेख कौन मार सकता है? मेरा जो भी कुछ वैराग्य था, वह कर्पूरकी भाँति उड़ गया, अब कुछ है भी तो जैसे कर्पूर उड़ जानेपर भी डिबियामें सुगंधि बनी रहती है वैसा ही समझिये।

---

१ विष्णुपादाब्ज सम्भूता भगवती भागीरथी श्रीविष्णुपद स्वर्गसे पतित होकर शिवजीके सिर पर, वहाँसे हिमशैल पर, वहाँसे पृथ्वी पर, पुनः पृथ्वीसे बह कर समुद्रमें मिल गयीं।—इसी प्रकार जो विवेक भ्रष्ट पुरुष हैं, एक बार नीचे गिरने पर फिर गिरते ही जाते हैं। उनकी उत्तरोत्तर अवनति ही होती जाती है।

कहावत है "बुखार और वैराग्य सदा एक-सा रहता नहीं।" जिसे सदा बना रहे, तो वह बहुत दिन मर्त्यलोकमें फँसा नहीं रह सकता। मनुष्यका शरीर सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसे बना है। जैसे समुद्रमें सदा छोटी-बड़ी अथवा मध्यकी ऊर्मियाँ उठती रहती हैं वैसे ही मनुष्य शरीर में त्रिगुणमयी लहरें उठती रहती हैं। जब सत्वगुणकी वृद्धि होती है, तो विषयोंसे वैराग्य, परमार्थ चिन्तनकी अभिलाषा होती है। सब ओरसे प्रकाश दीखता है और संसारी विषय काटने को दौड़ते हैं। उसी अवस्थामें मनुष्य संसारी बन्धनों को त्याग कर वैराग्यका आश्रय लेकर एकान्तवास करनेको निकल पड़ता है। जिनके पूर्व जन्मोपार्जित असंख्यों पुण्य कर्म हैं जिन्होंने अनेकों जन्मोंमें साधना की है। उनका एकान्तमें भगवान्‌के चिन्तनमें मन लगता है और वे इस संसार बन्धनको काटकर परम पद प्राप्त कर लेते हैं, मुक्त हो जाते हैं। ऐसे योगभ्रष्ट कोई विरले ही होते हैं। उनका वैराग्य कभी उतरता नहीं। राजयक्ष्माके ज्वरके सदृश वैराग्य उन्हें सर्वदा बना ही रहता है।

कुछ ऐसे होते हैं, कि सत्व गुणके प्राबल्यसे पहिले तो उन्हें वैराग्य होता है, किन्तु कालान्तरमें वह वैराग्य क्षीण होता जाता है। वैराग्य क्षीण होनेपर तो यह संसार असत्य रहता नहीं, फिर तो इसके सभी पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं। रोग होनेपर औषधि भी चाहिये, औषधि मिलती है पैसोंसे। पैसा रहता है धनिकों पर, धनिक प्राय. होते हैं विषयी। वे बिना किसी स्वार्थके पैसा देते नहीं। इसलिये प्रभाव जताकर, सिद्धि दिखाकर, धर्मकी आड़ रख कर, परलोकका भय दिखाकर, स्वर्ग आदिका लोभ देखकर, जन्त्र, मन्त्र जादू, टोनाकी प्रशंसा आदि करके जैसे भी हो उनसे धन लेने की वासना होते है।

उसकी पूर्ति करनेके लिए सामग्री जुटानी पड़ती है, दूकान लगानी पड़ती है। घूम फिर कर वही ससार फिर आ जाता है।

जिन्होंने आरम्भसे ही स्वार्थ सिद्धिके लिये बनावटी वैरागीका वेष बनाया है, उनकी बात तो छोड़ दीजिये। उन्हें तो कभी वैराग्य हुआ ही नहीं। वे तो विशुद्ध दम्भी हैं ही किन्तु जिनके जीवनमें सचमुच कभी वैराग्य हुआ है और पीछेसे वैराग्य शिथिल पड़ गया है उनकी अन्तमें दो दशायें होती हैं—एक तो विषयोंमें फँस जाते हैं दूसरे किसी पारमार्थिक व्यापारमें।

सबको नचानेवाले श्रीहरि ही हैं। सभी जीव उन्हींके सकेत से नाच रहे हैं। जीवोंका अभिमान व्यर्थ है। वे जिस समय जिससे जो कराना चाहते हैं उसे वैसी ही बुद्धि दे देते हैं।

प्रकृति वश ही कभी न कभी कुछ लिखने को मैं बाध्य हो जाता हूँ। यह परोपकार है, साहित्य सेवा है, पारमार्थिक उन्नतिके प्रचारका साधन है, ये सब तो मनको लगाये रखने की बातें हैं। वे प्रभु ही सब कुछ करा रहे हैं, उनकी प्रेरणाके बिना प्राणी कर ही क्या सकता है? फिर भी मैंने यह कभी नहीं सोचा था, कि मुझे प्रकाशन कार्य्यमें भी सहयोग देकर एक नये व्यवसायका सृजन करना पड़ेगा। सहसा तो कोई काम होता नहीं। उसका बीज बहुत दिनसे बनता रहता है, लोगोंपर प्रकट तब होता है, जब वह मूर्तिमान् होकर सम्मुख आ जाता है। वृक्षके भीतर ही भीतर फल बनता रहता है। जब वह बाहर दीखने लगता है, तो हम कहते हैं 'देखो, इसमें सहसा फल निकल आया।' इसी प्रकार यह प्रकाशन का सकल्प लोगोंके मनमें चिरकाल से था, अब समय आने पर सहसा व्यक्त हो गया। कई बार मेरे सम्मुख यह प्रस्ताव हुआ, मैंने उसका विरोध किया। इसीलिये कि मैं इस कार्यके सर्वथा अयोग्य हूँ।

इस वर्ष जब से "अष्टादश पुराण सत्र" आरंभ हुआ रामजी ने कई बार बड़े आग्रह के साथ कहा—"महाराज, जी हमारी बड़ी इच्छा है, हम प्रकाशनका कार्य आरम्भ कर दें।"

मैंने कहा—"भैया! देखो, यह काम हम लोगोंके वशका नहीं। यह तो जिनके वंश परम्परासे चला आ रहा है वे ही इस कार्यको सुचारु रूपसे कर सकते हैं "जाको काम ताही कूँ छाजे, नहीं तो गदहा छुटि मोंगरा बाजे।" धोबीका लड़का ही सुन्दरतासे कपड़े धो सकता है। अपने लोग माला झोली खटका सकते हैं। सत्यनारायणकी कथा बाँच सकते हैं, पाठ पूजन कर सकते हैं। यह व्यापार तो व्यापारवालोंको ही शोभा देता है। एक कहावत है—

"खत्री दाता लाखमें, कायथ सौ में सूम।
बनिया बूँग हजारमें, बामन बूँग ही बूँग॥"

बूँग कहते हैं व्यवहार अकुशल को, चुस्ती चालाकीसे रहित को। बनियोंके बालकोंमें बाल्यकालसे ही बूँगपने का अभाव रहता है। छोटा सा बनियेका बालक बड़ों-बड़ोंके कान काट लेता है। दक्षिणकी यात्रामें जब मैं गया था, तब एक १३-१४ वर्षका मारवाड़ी बालक मेरे डिब्बेमें आ बैठा। खन्डवाके आस पासकी बात है। बड़ा चैतन्य, बड़ा शिष्ट, बड़ा ही कार्य-दक्ष प्रतीत हुआ। बातों ही बातों में मैंने पूछा—"भैया, कहाँ जा रहे हो?" उसने कहा—"जी, मेरा अमुक जगह फर्म है। वहाँ उसका काम देखने जा रहा हूँ।" मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा—"भैया, तुम अकेले कैसे जा रहे हो, तुम्हारे पिता, भाई कोई साथ नहीं, मुनीम-नौकर कोई लिया नहीं। बड़ा साहस है तुम्हारा, अकेले ही जा रहे हो।" बच्चा हँस पड़ा और बोला—"जी, इसमें

साहसकी क्या बात है, सी० पी० में मेरी कई जगह फर्में हैं, मैं सदा ऐसे ही जाता हूँ। पिताजीका देहान्त हो गया, भाई मेरे कोई है नहीं। मैं ही दो सालसे काम देखता हूँ। नौकर स्टेशन पर मुझे बैठा गया था। वहाँ स्टेशन पर मुनीम मिलेगा, उसे तार दे रखा है, फिर एक आदमीका किराया व्यर्थ खर्च क्यों करूँ?" मैंने अपना माथा ठोका। अपने यहाँ गांवोंमें १२-१३ वर्षके लड़के धोती बाँधना नहीं जानते। दो पैसे का साग नहीं ला सकते। यह पट्ठा इतने बड़े फर्मका काम सम्हाल रहा है।"

बात यह है, कि अब तो वृत्तिसंकर, वर्णसंकर, आश्रम संकर हो गया है। पहिले कुल परम्पराकी सदोष वृत्तिको भी मनुष्य जान बूझ कर नहीं त्यागते थे। महाभारतका इतना भारी युद्ध इसी आधार पर हुआ। धर्मराजने कहा—"हम समर्थ होकर, दूसरेके आश्रयमें रहकर, भीख माँगकर दिन नहीं काट सकते। यह हमारे वर्णधर्मके अनुकूल नहीं है।" वंश परम्पराकी वृत्तियें अपने पूर्वजोंके संस्कार हमें स्वतः प्राप्त होते हैं। आज सभी अपनी कुलागत वृत्तिको छोड़कर अन्य-अन्य वृत्तियोंका आश्रय ग्रहण करने लगे हैं। कालधर्म है, अब उन पैतृक वृत्तियोंसे काम भी नहीं चलता, जीवन निर्वाह नहीं होता। विधर्मी लोगोंके संसर्गसे हमारी वह धारणा नष्ट प्राय हो चुकी है। अब तो जैसे भी हो तैसे, पेट पालना ही धर्म रह गया है। समयका प्रभाव है।

अरे, यह तो मैं बहक गया, प्रसंगान्तर कर बैठा। हाँ, तो रामजीको तो यह समझा दिया। किन्तु माघ मासमें वीरम बाबू आये। उन्होंने भी इस बात पर बल दिया, कि पुस्तक यहीं से प्रकाशित हो हम लोग भी यथाशक्ति देख रेख करेंगे। चैत्र के उत्सव पर सभी जुटे थे, शंकरजी, वीरमबाबू, हरिशंकरबाबू,

कर्यूनसिंहजी, दादूजी, सेक्रेटरीसाहब, रायबहादुरसाहब। सबने मिलजुल कर यही तय किया कि अच्छा है जैसे और कार्य होते हैं, यह भी हो। आपको कुछ करना न पड़ेगा, हम सब देख-रेख करेंगे। शंकरजीने अपने जिम्मे देख-रेखका काम लिया, और कहा—आप तीन चार खण्ड अपनी देख-रेखमें निकलवा दें, फिर आप देखें भी नहीं।"

मैं तो सब समझ रहा था। ये सब मुझे फँसानेके चक्कर हैं। ये भक्त लोग ही चाहें तो पंख लगाकर आकाशमें उड़ा सकते हैं और चाहें तो ठेलठालके रसातलमें पहुँचा सकते हैं। सब समझते हुए भी मेरी वासना कहिये, लोभ कहिये, मान प्रतिष्ठाके प्रसारकी अभिलाषा कहिये, या प्रारब्धका चक्कर कहिये, मैंने इसे स्वीकार कर लिया। उसीके फल स्वरूप यह प्रथम खण्ड निकल कर पाठकोंके कर कमलोंमें उपस्थित है।

यद्यपि नियमानुसार मेरा इस प्रकाशनसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। मेरी अन्य बहुत-सी पुस्तकें भिन्न-भिन्न प्रकाशकोंके यहाँसे भिन्न-भिन्न समयोंमें निकली हैं। वैसी ही यह भी एक निकल रही है। नयी बात तो कोई हुई नहीं, किन्तु इस बातको छिपाना दम्भ या महापाप होगा, कि अन्य प्रकाशकों की अपेक्षा इस पुस्तकके प्रकाशकोंसे मेरा घनिष्ट ममत्व है, और अनर्थ की जड़—पतन का कारण—ममत्व ही है। घरकी बिल्ली चूहोंको खाती है, तो दुःख नहीं होता, किन्तु जब पींजड़े के तोतेको खा जाती है तो दुःख होता है। यद्यपि चूहे तोते दोनों ही घरके ही जानवर हैं, किन्तु तोतेमें ममत्व है, चूहों में नहीं। अन्य प्रकाशकोंकी अपेक्षा इन लोगोंके हानि लाभ की ओर विशेष ध्यान जाता है। यही मेरा पतन है। किन्तु यह पतन मैंने जान बूझ कर स्वीकार किया है। यह सोच कर

कि इस कार्यका भगवत् चरित्रोंसे, भागवतोंकी कथाओं से, भगवन्नाम संकीर्तनके प्रचार, और प्रसारसे सम्बन्ध है। यदि इस विषयमें मैं सदा जागरूक बना रहा, इस लक्ष्यका सदा स्मरण बनाये रखा, तब तो पतन होने पर भी मैं उत्थान की ओर अग्रसर हो सकूँगा। यदि इस लक्ष्यसे च्युत होकर लाभ हानिके चक्करमें फँस गया, तब तो शुद्ध पतन है ही। अनेक व्यापारियोंके साथ हम सबकी भी गणना हो जायगी।

इस प्रथम खण्डके प्रकाशनमें जो-जो असुविधायें, जो-जो विघ्न बाधायें हुईं, उन सबका विस्तारसे वर्णन किया जाय, तो इससे भी बड़ा एक पोथा बन जायगा। फिर यह भागवती कथा न रह कर "प्रकाशन दुःख रोवन कथा" हो जायगी, जिससे पाठकोंका कोई सम्बन्ध नहीं। भोजनालयमें वर्षाके दिनोंमें गीली लकड़ियोंसे भोजन बनानेमें, नये रसोइयेको कितना क्लेश होता है, इसे "रसोइया महाराज" ही जान सकते हैं। गृहस्वामीके परिवारवालोंको तो बने बनाये भोजनसे काम। तिसपर भी ठीक न बना, तो दाल घुली नहीं, साग में पानी अलग-अलग दीखता है, रोटी कच्ची है, चावल में किनकी हैं— ये सब उपालम्भ भी देते हैं। उनका करना ठीक भी है। रसोइया इसी बातकी नौकरी पाता है। नहीं काम कर सकते, तो अपना रास्ता लो जी। 'खरी मजूरी चोखा काम' कोई अहसान तो हमारे ऊपर कर ही नहीं रहे हो। इसीलिये प्रकाशन की असुविधाओंको यहाँ नहीं कहूँगा। यद्यपि मैं तो शरीर से, नियमकी रस्सीमें कसकर बँधा हूँ, कहीं जा आ नहीं सकता। दौड़ धूप करनेवाले व्यवस्थापकजी, आदि-आदि हैं, फिर भी मानसिक संकल्प तो देना ही पड़ता है। यह नहीं

हुआ, वह नहीं हुआ, समय पर नहीं निकलेगी आदि-आदि। यह ही मेरे लिये क्या कम झंझट है ?

इसीलिये भैया चाहे कोई ऐं करो, चाहे चें करो। ३-४ खण्ड तो अब मैंने कह दिया है, तो जैसे तैसे निकलवा ही दूँगा। फिर भैया तुम जानो तुम्हारा काम जाने। वीरम बाबू जानें चाहे सूर्य नारायण बाबू, आदित्यबाबू जानें, विपिन जी जानें चाहे परमहंसजी, रामजी जाने चाहे शंकर जी। अपने राम तो फिर हाथ जोड़ देंगे। इस विषय में अपनी प्रवृत्ति भी नहीं, योग्यता भी नहीं। इससे कहा, उससे कहा, इसकी चिन्ता—यह मुझसे होने का नहीं। सो भैया! हमारे वश का तो यह झंझट है नहीं। हम तो स्पष्ट कह देंगे—

सोलह रोटी खाउँ, भरोसो रामको।
मेरे वशकी नाहिँ, धँसो कोइ गामको॥

किसी गाँवमें कुआ बन रहा था। पक्के गोलेको बनाकर उसे जो नीचे गरकाते हैं उन्हें 'सेहा' कहते हैं। एक बटोही जा रहा था। उसे बड़ी भूख लग रही थी। उसने युक्ति निकाली कि किसी तरह पेट भरना चाहिये। वह कुएके पास गया। इधर उधर झाँकने लगा, कुए वालोंने समझा यह भी कोई 'सेहा' होगा, पूछा—"आप भी कुछ सेहाई जानते हैं क्या?" उसने उपेक्षाके स्वरमें कहा—'अजी, ऐसी ही कुछ थोड़ी बहुत।" घरसे रोटी आयी हुई थीं। कुएवालोंने कहा—"अच्छी बात है पहिले आप रोटी खालें।" यही तो उसे अभीष्ट था। मोटी-मोटी रोटी चनेके सागके साथ १६ खा गया। खाकर ऊपरसे मट्ठा पिया, पेट भर गया। हुक्का तमाखू पीकर जब स्वस्थ हुआ, तब लोगोंने कहा—"अब चौधरीजी, घुसिये कुएमें।" तब चौधरी महोदय हाथ जोड़कर बोले—

"सोलह रोटी खाउँ, भरोसो रामको।
मेरे वशकी नाहि, धँसो कोइ गामको॥"

सो, भैया! लिखवानेके लिये, मुझसे सिर पर चढकर चाहे जितना लिखवा लो। महीनेमें यदि दो खंड भी निकालो तो रो गा-कर पूरा कर दूँगा, किन्तु यह प्रकाशन का रोग मेरे वश का नहीं है। लिखनेमें भी जब कोई हर समय खोदता रहे, तब हो सकता है। अब तक यही क्रम रहा, जो लिखी जाती उसकी कथा कहनेवाला नित्य कथा कहता रहा है। शीघ्र लिखने में बहुत-सी अशुद्धियाँ भी मुझसे रह जाती हैं। लिखकर दुबारा पढने का समय नहीं। सोचा था, प्रूफमें ये अशुद्धियाँ दूर हो जायँगी। किन्तु मैं गगा के इस पार झूसीमें और छपाई गगाके उस पार प्रयाग में, सो भी बड़े झमटसे, बड़ी शीघ्रतामें हुई, प्रूफ न देख सका। यदि अशुद्धियाँ रह गई हों, तो पाठक उन्हें स्वय शुद्ध कर लें और हमारी विवशता पर ध्यान देकर क्षमा करें।

जितनी सुन्दर निकालनेकी यहाँके कार्य-कर्त्ताओंकी अभिलाषा थी, उतनी सुन्दर वे न निकाल सके। क्योंकि ग्रीष्मावकाश के अनतर सभी विद्यालयोंके खुलने का यही अवसर था। सभी प्रेस पाठ्य-पुस्तकों और विद्यालय सम्बन्धी कार्योंमें व्यस्त रहे। चित्रोंके ब्लाक आदि भी सुन्दर, समय पर न बन सके। इन सब साधन सामग्रियोंके मिलनेमें आजकल बड़ी असुविधायें हो गयी हैं। किन्तु पाठकोंने इसे अपनाया तथा उत्साह पूर्वक इसके प्रचारमें सहयोग दिया और शीघ्रातिशीघ्र यथेष्ट स्थाई ग्राहक बन गये, तो हमें आशा है कार्य-कर्त्ता आपकी सुन्दर से सुन्दर, ठोस और सुविधाजनक सेवा कर सकेंगे।

यह सब तो हुई व्यवहार की बातें। अब अन्त में मेरी 'भागवती कथा' के पाठकों से एक ही प्रार्थना और है, वह यह

कि वे मुझे उदारता पूर्वक यह आशीर्वाद दें, कि मेरी श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें अहैतुकी भक्ति हो। 'भागवती कथा' को भगवद् भक्त ही पढ़ेंगे। जिनके हृदयमें तनिक भी भक्ति न होगी, उनके हाथमें तो यह जायगी ही नहीं। यदि भूलसे चली भी जायगी, तो, वे देखकर नाँक भौं सिकोड़ कर रख देंगे, पढ़ेंगे नहीं। पढ़ेंगे वे ही, जो भगवद् भक्त होंगे, अथवा भक्त बननेके उत्सुक होंगे। ऐसे भगवद् भक्तोंका हृदयसे दिया हुआ आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता। यदि सभी मुझे आशीर्वाद देंगे, तो इस पतनसे भी मैं निकलकर उत्थान-पथकी ओर अग्रसर हो सकूँगा और सब से श्रेष्ठ उत्थान यही है, कि निरतर भगवत् स्मृति बनी रहे।

"हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणी"

त्रिवेणी संगम में
संकीर्तन भवन प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)
आषाढ़, शुक्ल ११, सं० २००३ वि०

भागवतोंकी चरण-रज
प्रभुदत्त

विशेष—मैं इस मैलेकी टोकरीको अभी तक ढो रहा हूँ। ३, ४ खण्डोंके स्थान में ३८ खण्ड छप गये। प्रकाशनके झंझट से पृथक् नहीं हो सका। कब करोगे मेरे कारे कृष्ण! या इसी व्यापार वाणिज्यमें लगाये रखोगे? पूजा, पाठ, ध्यान, स्मरण सबमें दंभ आ गया।

'भूल गयी राग रंग भूल गयीं हेकड़ी।
तीन चीज याद रह गई, नोन तेल लकड़ी॥'

प्रकाशन, प्रूफ और पैसाकी चिंतासे कब मुक्त करोगे मेरे नाथ! झूसी, पौष कृ० ८। २००७ —प्रभु

❀ श्रीहरि ❀

भागवती कथा

(भूमिका)

त्रिवेणीं माधव सोम भरद्वाज च वासुकिम् ।
वन्देऽक्षयवट शेष प्रयाग तीर्थनायकम् ॥१॥

छप्पय

तीरथराज प्रयाग याग कमलासन की हैं ।
अक्षयवट वर विटप मनोवांछित फल दीन्हें ॥
गंगा यमुना रलीं मिलीं मन मोद बढ़ायो ।
सोमेश्वरने जहाँ सोमको शाप छुड़ायो ॥
वेणीमाधव बसें वर, बारह वेष बनायकें ।
वन्दन करि विनती करें, चरण कमल सिर नायकें ॥

जगदुद्धारिणी श्रीगंगाजी जहाँ आकर पटरानी श्रीयमुनाजी से मिली हैं, उस परम पावन पुण्य प्रदेश प्रयागराज की महिमा का वर्णन कर ही कौन सकता है ? जहाँ कभी भी

---

१ श्रीत्रिवेणी, श्रीमाधव, श्रीसोमेश्वर, श्रीभरद्वाजमुनि, श्रीवासुकि, श्रीअक्षयवट, श्रीशेषजी तथा तीर्थनायक प्रयागको मैं प्रणाम करता हूँ ।

क्षय न होनेवाला नित्य शाश्वत अक्षयवट प्रतिष्ठित है, जहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती की त्रैलोक्यको पावन करनेवाला त्रिगुणमयी त्रिदेवमयी तीन धाराएँ हैं, जहाँ बारह वेष बना कर श्रीमाधवजी नित्य ही निवास करते हैं, जहाँ शिवजी अपने अनेक अद्भुत रूप रखकर जिस क्षेत्र के चारों ओर विराजते हैं, जहाँ ब्रह्मदेव अक्षयवट के मूल में नित्य ही सन्निहित रहते हैं, उस तीनों देवों के निवासभूत प्रयाग क्षेत्र का माहात्म्य वर्णन करना सूर्य्य को दीपक दिखाने के ही समान है। स्वयं तीर्थराज समस्त त्रिभुवन के तारक तीर्थों के एकछत्र सम्राट् हैं। उनका अनन्त भंडार, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों से—निरन्तर बाँटते रहने पर भी—सदा भरा ही रहता है। करोड़ों तीर्थों की जिनकी बड़ी वेगवती और बलवती सेना है, उग्र से उग्र पापों के विनाश करने में जो सदा अव्यग्र भाव से तत्पर रहते हैं; गंगा, यमुना की उत्ताल तरंगें ही जिनके गंगायमुनी सितासित चँवर हैं, हरे-हरे पल्लवोंवाला अक्षयवट ही जिनका नीलातपत्र है; उन तीर्थराज की पावनता का वर्णन करना पवित्रता को भी संकोच में डालना है।

इस तीर्थनायक की इतनी पावनता से प्रसन्न होकर लोकपितामह ने इसे अपना क्षेत्र बनाया, इसलिये प्रयाग का दूसरा नाम 'प्रजापति क्षेत्र' भी है। कमलयोनि भगवान् ब्रह्मा ने यहाँ प्रकृष्ट-प्रकृष्ट यागों की झड़ी-सी लगा दी, इसीलिये यह 'प्रयाग' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यज्ञों की स्थिति बनाये रखने को वेदगर्भ चतुरानन ने यहाँ तीनों अग्नियों के तीन विशाल कुण्ड बनाये। इन तीनों के बीच से श्रीगंगा जी और यमुना जी बहीं। श्रीसरस्वती जी गुप्त रूप से आकर इन दोनों से

मिलीं। इसीलिये प्रयाग के पट्कोण और तीन विभाग हुए। पट्कोणवाला यह क्षेत्र तीन विभागों में बँटा है श्री गंगा यमुना के संगम पर खड़े होने से पट्कोण स्पष्ट दीखते हैं। दो तट गंगा जी के, दो तट यमुना जी के और दो दोनों की मिश्रित धारा के। गंगा-यमुना के बीच के भाग को जहाँ गार्हपत्याग्नि का कुण्ड था, उसका नाम प्रयाग हुआ। यमुना जी के पार जहाँ दक्षिणाग्नि का कुण्ड था उसे अलकपुर (अरैल) कहते हैं और जहाँ आहवनीय अग्नि का कुण्ड था, गंगा के उस पार के पुण्य प्रदेश का नाम प्रतिष्ठानपुर (झूसी) है। पुराणों में प्रतिष्ठानपुर की बड़ी महिमा है। यहाँ सभी तीर्थों की प्रतिष्ठा होने से ही इसे प्रतिष्ठानपुर कहा गया है। त्रिवेणी संगम प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के ही सन्निकट है। चन्द्रवंशी राजाओं की यह आदि राजधानी है। अब भी यहाँ अनेक तीर्थ हैं। उस पार दारागंज में जहाँ श्री ब्रह्मा जी ने दस अश्वमेध यज्ञ किये थे, उस दशाश्वमेध घाट के ठीक सामने इस पार झूसी में यज्ञ तीर्थ है। अब भी जब दीवाल बनाने को धरती खोदी गयी, तो उसके नीचे से यज्ञ भस्म की तरह बहुत सी मिट्टी निकली। अब, जहाँ नित्य पुराण-प्रवचन और कीर्तन होता है, जहाँ तुलसी-कानन और पुराण पठन होने से नित्य ही श्रीहरिका निवास है। उस पवित्र यज्ञतीर्थ में गुप्त और प्रकट रूप से बहुत से सन्त महात्मा एकत्रित होते हैं। परम्परा से ऐसी प्रसिद्धि है—और यह अनुभूत सत्य है कि हजारों, लाखों वर्ष के महात्मा गुप्त रूप से प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में निवास करते हैं। प्रकट रूप से तो प्रतिष्ठानपुर (झूसी) साधु-सन्तों की बस्ती ही है। सन्त महन्तों के बहुत से आश्रम और कुटियाएँ श्री गङ्गा जी के

किनारे-किनारे बनी हुई हैं। यह दीन हीन, मति मलीन, साधना विहीन क्षुद्र सेवक भी उसी यज्ञतीर्थ में निवास करता है। वैसे तो आस-पास और भी साधु, संन्यासी, विरक्त, ब्रह्मचारी रहते हैं, किन्तु हम लोग दो ही हैं—एक मैं और एक मेरा चेला।

आप कहेंगे आप इन चेला चंटारियों के चक्कर में क्यों फँस गये? जब आपने अपना घर छोड़ा, सब सम्बन्धों से मुँह मोड़ा, तो फिर अकेले विरक्त भाव से रहना चाहिये। शिष्य में और सुत में अन्तर ही क्या? दोनों ही बन्धन हैं। यह वैसी ही बात हुई—"खाई से निकले तो कुए में जाकर गिर पड़े" गृहस्थ से सम्बन्ध छोड़ कर तीर्थ में आये। यहाँ नयी गृहस्थी बना कर फिर फँस गये। फिर चेला बनाने से मान प्रतिष्ठा बढ़ती है, उसे स्वीकार करने से पतन होता है; अत पूजा प्रतिष्ठा से पृथक् रह कर चुपचाप शान्ति भाव से भजन करना चाहिये।

यह बात सत्य है, कि शिष्य बनाने से बन्धन हो जाता है। शिष्य लोग गुरु की पूजा प्रतिष्ठा अपना कर्तव्य समझ कर करते हैं। मान प्रतिष्ठा स्वीकार करने से पतन की सम्भावना भी पग-पग पर बनी रहती है। किन्तु मुझे बताओ, किस कार्य में पतन की सम्भावना नहीं? मैंने ऐसा सुना है, कि किसी प्रसिद्ध पुरुष ने जीवन भर एक भी मान-पात्र ग्रहण नहीं किया। जहाँ उसे मानपत्र देने का आयोजन होता, वहीं वह निषेध कर देता। उसने सम्मान का, मानपत्रों का, सदा त्याग किया। आप सोचिये मानपत्रों के ग्रहण का तो उसने त्याग कर दिया, किन्तु मानपत्रों के त्याग से जो शतगुणा सम्मान उनके ग्रहण न करने से हुआ, उसका वह त्याग कर

सका। वह इस बात का गर्व करता था—मैंने एक भी मानपत्र स्वीकार नहीं किया। 'मेरे ये सम्बन्धी हैं, मेरी यह जाति है, मेरा यह वर्ण और आश्रम है, इन बातों का त्यागी त्याग भले ही कर दे। वस्त्रों को—यहाँ तक कि लँगोटी को भी त्याग दे, किन्तु त्याग का अभिमान तो उसे बना ही रहता है। शिष्य करने से जो मान हुआ है, उससे बढ़कर जो शिष्य न करने का सम्मान और अभिमान है उसका जिसने त्याग किया है, वही तो सच्चा त्यागी है। नहीं तो शेष सभी व्यापार हैं, अधिक सम्मान प्राप्त करने के उपाय हैं, कि हम उन लोगों से श्रेष्ठ हैं, जो सब किसी को चेला मूड़ते फिरते हैं। हम किसी के कान नहीं फूँकते। कान न फूँको, उनके चित्त को तो खींचते हो, मानसिक चेष्टा तो ऐसी रहती ही है, यह हमारे ही यहाँ फँसा रहे, कहीं दूसरी जगह मुड़ न जाय। यह भी शिष्य करना ही हुआ, द्रविड़ प्राणायाम हुआ। इधर से नाक न पकड़ी घुमा फिरा कर पकड़ ली। जो कहता है—चेला नहीं करने चाहिये, मैं किसी को चेला नहीं करता, समझ लो वह सभी को अपना चेला बनाना चाहता है। नहीं उसे किसी से कहने का अधिकार ही क्या है। जगद् गुरु बनने की प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक इच्छा होती है। अपने पीछे अपना वंश बना रहे, यह कभी न मिटने वाली मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है। जब तक पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं होता, विशुद्ध-भक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक लाख प्रयत्न करने पर भी यह वासना नहीं जाती। आप चाहे ऐं करें चाहे चें करें—यह रहेगी, रहेगी, अवश्य रहेगी। कोई इसे न मेट सका है, न मेट सकता है। प्रकारान्तर हैं, नहीं तो वे ही ढाक के तीन पात हैं।

वंश दो प्रकार का होता है। एक बिन्दुवंश, एक नादवंश।

जो अपने वीर्य से वंश चलता है—पुत्र पौत्र आदि—उसे बिन्दु-वंश कहते हैं। इसका आधान मातृयोनि में किया जाता है। वहीं से यह वृद्धि को प्राप्त होता है। नादवंश उसे कहते हैं, जो मन्त्र परम्परा से बढ़े, इसका आधान कान में, हृदय में, मन में, गुरु करता है। इसी परम्परा को गुरु-परम्परा कहते हैं। एक से दूसरे पर शक्ति आती है। यह शिष्य, प्रशिष्य रूप में वृद्धि को प्राप्त होता है। इस वंश परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखने को सभी गृहस्थी सुयोग्य पुत्र की इच्छा रखते हैं और परमार्थ-पथ के पथिक—चाहे वे गृही हों या विरागी—सभी अपनी शिष्य परम्परा बनाये रखने को उत्सुक रहते हैं।

इस प्रकार दोष ही देखा जाय, तो सभी में कुछ न कुछ दोष अवश्य मिलेगा। संसार में भगवान् के सिवाय निर्दोष तो कोई है ही नहीं। अब रही यह बात, कि उस दोष का निवारण किस सरल उपाय से, किस उत्तम युक्ति से किया जाय, इसी का नाम साधन है। हाँ, विरक्तों के लिये बहुत शिष्य आदि बनाना निषेध है। जिनकी शिष्य बनाने की वृत्ति है, वे तो बनाने को विवश ही हैं किन्तु जो वृत्ति का त्याग करके विरक्त बने हैं, शास्त्रकारों ने उनको शिष्य आदि के चक्कर में पड़ने का निषेध किया है—

"न शिष्याननुबध्नीयात् ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्"

भाषा में एक से अधिक जितनी वस्तु हैं, सब की 'बहु' संज्ञा है, किन्तु संस्कृत में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन इस प्रकार तीन वचन माने हैं। अर्थात् दो से अधिक जहाँ वस्तुएँ हुईं उनकी बहुसंज्ञा हो जाती है। यहाँ "शिष्यान्" यह बहुवचन है। इसका तात्पर्य हुआ कि चाहे तो एक शिष्य या

बहुत से बहुत दो शिष्य बना ले। दो से अधिक शिष्य, त्यागी विरागी, संन्यास वृत्ति से वर्तनेवाले पुरुष को नहीं बनाने चाहिये। इसी प्रकार बहुत से ग्रन्थों का अभ्यास भी न करे। यहाँ अन्य ग्रन्थों के पढ़ने का ही निषेध नहीं है। 'अभ्यास' शब्द का अर्थ होता है. एक वस्तु की बार-बार आवृत्ति करना अर्थात् ग्रन्थों को प्रसंगवश देखना पड़े तो देख ले, किन्तु उपनिषद् ब्रह्मसूत्र आदि एक या दो ग्रन्थों की बार-बार आवृत्ति करता रहे।

इसी न्याय के अनुसार मैंने दो तो अभी नहीं बनाये, एक शिष्य बनाया है और एक ही ग्रन्थ—श्रीमद्भागवत् महापुराण परमहंस संहिता—की बार-बार आवृत्ति करना निश्चित किया है, क्योंकि इसमें उपनिषद् वेदान्त आदि सभी शास्त्रों का सार आ जाता है।[1]

मुझे निरन्तर श्रीमद्भागवत का ही पारायण करते देखकर एक दिन मेरे शिष्य ने पूछा—"महाराज जी आप श्रीमद्भागवत का ही सदा पाठ क्यों किया करते हैं?"

मैंने कहा—भैया, श्रीमद्भागवत तो सभी शास्त्रों का सार है। सभी वेद वेदान्त, इतिहास पुराणों का सार ले लेकर श्री शुकदेवजीने राजा परीक्षित् को सुनाया था।[2] जब सब का सार ही मिल गया, तब फिर अन्य शास्त्रों मे श्रम करना केवल भ्रम मात्र ही है।"

---

१ अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां सर्वोपनिषदामपि।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ श्रीमद्भागवताभिधः॥

२ सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।
स तु सम्भावयामास महाराजं परीक्षितम्॥

शिष्य ने कहा—"अच्छा, यह तो ठीक है; किन्तु आप श्रीमद्भागवत के बहुत से सप्ताह करते कराते हैं। जहाँ जाते हैं, वहीं करते हैं, इसका क्या अभिप्राय ?"

मैंने कहा—"तुम बड़े पागल हो जी! इतना भी नहीं समझते, सप्ताह किसे कहते हैं ? श्रीमद्भागवत का सात दिन में पारायण करने का नाम सप्ताह है।"

शिष्य शीघ्रता के साथ बोला—'नहीं महाराज जी! यह तो मैं समझता हूँ, सात दिन के पारायण को सप्ताह कहते हैं, किन्तु मेरे पूछनेका अभिप्राय यह है, कि हम सात दिन ही में क्यों करें ? एक वर्ष में करें, दो वर्ष में करें, ६ महीने में करें।"

मैंने कहा—'हाँ, यह भी ठीक है। सप्ताह पारायण को राजस बताया है। मासिक पारायण सात्विक है। एक वर्ष का तामस है। श्रीमद्भागवत के पाक्षिक, मासिक, वार्षिक सभी प्रकार के पारायण होते हैं।"

शिष्य बोला—"किन्तु महाराज जी आज कल सर्वत्र प्रथा तो 'भागवत सप्ताह यज्ञ' की ही विशेष है। पाक्षिक मासिक पारायण यज्ञ तो कहीं सुनने में नहीं आते।"

मैंने कहा—"भैया, देखो, सप्ताह यज्ञ का माहात्म्य विशेष माना गया है। पद्मपुराण के अन्तर्गत ६ अध्यायों में श्री मद्भागवत का माहात्म्य वर्णन किया है। वह प्रायः वर्तमान प्रचलित सभी श्रीमद्भागवत की पुस्तकों के साथ छपा रहता है। उसमें श्रीमद्भागवत के ही सप्ताह की प्रशंसा की है। उसी का गुण-गान किया है। और भैया! ठीक भी है। ये कलियुगी जीव बहुत लम्बा-चौड़ा व्रत, उपवास, अनुष्ठान कर भी नहीं सकते। सत्य शौचादि से युक्त होकर दीर्घ कालीन यज्ञ की दीक्षा में

स्थिर नहीं रह सकते। मन का चिरकाल तक निरोध नहीं कर सकते। उनके लिये यह सप्ताह यज्ञ बहुत ही उत्तम है। सात दिन तक बहुत उत्साह बना रहता है। विघ्नों की सम्भावना नहीं रहती। इसलिये सप्ताह यज्ञ की प्रशंसा है और यह यज्ञ सर्वोपयोगी भी है। इसीसे इसकी सर्वत्र प्रशंसा है।"

शिष्य ने पूछा—"तब तो इस सप्ताह यज्ञ की प्रथा प्राचीन ही है।"

मैंने हँसकर कहा—"तो क्या मैंने अपने आप बना ली है? सनातन प्रथा है। महाराज परीक्षित् को ऋषिकुमार ने शाप दे दिया था कि तुम्हारी मृत्यु सात दिन में हो जायेगी। इसीलिये भगवान् शुक ने उन्हें सम्पूर्ण शास्त्रों की सारभूत इस परमहंस संहिता को सात दिन में ही सुनाया था। तभी से सप्ताह की प्रथा चल पड़ी। फिर सनकादि मुनियों को नारदजी ने भी सप्ताह सुनाया। फिर सूर्यदेव की आज्ञा से गोकर्ण ने भी अपने भाई धुन्धकारी के उद्धार के निमित्त सप्ताह सुनाया। इस प्रकार यह सप्ताह की पुनीत परम्परा चल पड़ी।"

शिष्य ने श्रद्धा के सहित कहा—"महाराज जी! देखिये, महाराज परीक्षित् सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे, वे धर्मात्मा और बहुश्रुत थे। सभी ऋषि मुनि पण्डित विद्वानों का वे सदा सम्मान और सत्सङ्ग करते रहते थे। उनकी लोक-प्रियता तो इसीसे सिद्ध होती है, कि जहाँ मुनियों ने उनकी मृत्यु का सम्वाद सुना, कि सभी देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि, राजर्षि, तथा अन्यान्य ऋषि मुनि, सिद्ध अपने-अपने शिष्य-प्रशिष्य, पुत्र-पौत्रों के सहित उनके समीप स्वत ही दौड़ आये। जो मुनि बहुत बुलाने पर भी किसी के समीप नहीं जाते थे, वे बिना बुलाये

उनके पास अपने आप चले आये। जो शुकदेव जी जितनी देर में एक गौ दुही जाती है, उतनी देर से अधिक कहीं ठहरते ही नहीं, वे भी योगबल से सब जान कर व्यग्रता के साथ दौड़ आये और बिना कहे ही अपने आप आसन पर जा बैठे और सात दिन तक एक ही स्थान मे रह कर कथा सुनाते रहे। इन सब बातों से पता चलता है कि महाराज बड़े गुणग्राही, शास्त्रों के ज्ञाता और विद्या-व्यासंगी थे। ऐसे तो वे श्रोता थे। उन्हें घेर कर जो ऋषि-मुनि बैठे थे, जिन्होंने परीक्षित् के साथ ही साथ श्रीभागवत सप्ताह सुना, वे भी एक से एक ज्ञानी-विज्ञानी, सर्व संशयछेत्ता, ब्रह्मवेत्ता तथा सर्व-शास्त्र विशारद थे। सप्ताह यज्ञ के ये सब तो श्रोता हुए। इनके अनुरूप ही वक्ता भी थे। श्रीशुक-देव जी के सम्बन्ध में तो जो भी कहा जाय वही कम है। उन्हें न कहने मे श्रम हुआ और न राजा परीक्षित् को तथा अन्यान्य ऋषि-मुनियों को समझने मे ही श्रम हुआ होगा। श्रीशुक शास्त्रों का संकेत करते गये, सर्व-शास्त्र संस्कारी श्रोता सुनते ही सब समझते गये। वहाँ तो सात दिन में ज्ञान-मुक्ति और भक्ति की प्राप्ति ठीक ही थी। यही बात कुमार और नारदजी के सप्ताह के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिये। मैं यह नहीं कहता कि सप्ताह यज्ञ न हों। शास्त्रों की विधि है, तो अवश्य होने ही चाहिये। उन दिव्य मन्त्रवत् भागवत के श्लोकों को बिना समझे—श्रवण-मात्र से ही—पापों का क्षय तो होता ही होगा; किन्तु विशेष फल तो यथार्थ समझने से ही होता होगा।

उस समय सर्वत्र संस्कृत का प्रचार था, वक्ता बोलते गये श्रोता सुनते ही समझते गये, किन्तु अब तो उतना संस्कृत का प्रचार नहीं। पहले संस्कृत में पाठ करो, फिर भाषा में अर्थ करो। इतनी शीघ्रता से सब श्लोकों का सम्पूर्ण अर्थ भी नहीं

होने पाता, इसीलिये उसका सम्पूर्ण अभिप्राय समझ में नहीं आता।"

मैंने कहा—"हाँ, भाई! यह तो तुम्हारी बात ठीक है। केवल शास्त्र—शब्द श्रवण मात्र का ही फल होता है। अर्थ तो सम्पूर्ण होता भी नहीं। होता भी है, तो सब श्रोता समझ नहीं पाते।"

इस पर शिष्य ने बड़ी विनय के साथ कहा—"तो महाराज जी, मेरी एक प्रार्थना है!",

मैंने कहा—"कहो, क्या बात है?"

शिष्य बोला—'महाराज जी! मैं यह चाहता हूँ, कि आप भाषा में श्रीमद्भागवत का भावार्थ समझावें। पद्य में नहीं गद्य में—क्योंकि पद्य को समझने के लिये भी बड़ी बुद्धि चाहिये। उसके लिये भी दूसरे समझाने वाले की आवश्यकता पड़ती है। पद्य में विस्तार से वर्णन तो होता नहीं। कम शब्दों में बहुत भाव प्रकट किये जाते हैं। अत साधारण पढ़े लिखे स्वय पढ कर उसे नहीं समझ सकते। गद्य में तो चाहे जितना बढा दो। एक बात को बार बार विस्तार से समझा दो। उसमें कोई रोक टोक ही नहीं। इसलिये आप गद्य में ही समझावे। पद्य भी कहीं-कहीं हों वे भी सरल और सबके समझने योग्य हों।

जब जीवन का एक मात्र ध्येय भगवत् और भागवतों का गुणगान ही है, तब समय का सङ्कोच न करें। विस्तार का भय न करें। आपने कहा—श्रीमद्भागवत सब शास्त्रों का सार है। इसलिये आप पहिले से सक्षेप में सभी शास्त्रों का सार सिद्धान्त समझावें, फिर यह बतावें, कि यह सिद्धान्त श्रीमद्भागवत में कहाँ किस स्थल पर, किस रूप में कैसे प्रकट किया है? वेदों में किस विषय का विशेष विवरण है? पहिले इसे बताइये। पुन

किस वेद का भाव श्रीमद्भागवत में कहाँ-कहाँ है? इसका उल्लेख करें।

स्मृति, धर्म शास्त्र, व्याकरण, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त छन्द आदि वेदाङ्गों का विषय बताकर श्रीमद्भागवत में इनका किस जगह सन्निवेश है? यह समझावें। दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय क्या है। न्याय दर्शन का मुख्य तत्त्व कौन-सा है? योग शास्त्र का अन्तिम लक्ष्य क्या है। सांख्य का संक्षिप्त सिद्धान्त बताइये। इसी तरह वैशेषिक, पूर्वमीमांसा का सार सिद्धान्त बताकर यह भी बतावें कि श्रीमद्भागवत में कहाँ-कहाँ इनके सिद्धान्तों का किस रूप से उल्लेख है? ब्रह्मसूत्रों का संक्षिप्त विवरण बतावें। वेदान्त का अभिप्राय समझावें। वेदान्त सूत्रों से अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, और द्वैताद्वैत किस प्रकार सिद्ध किया गया है? उन्हीं एक सूत्रों से भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को किस प्रकार पुष्ट किया है? इसे बताकर यह बतावें, कि उनका बीज श्रीमद्भागवत में कहाँ और किस प्रकार है? क्योंकि श्रीमद्भागवत तो सभी वैदिक आस्तिक आचार्यों को मान्य है, उसका आदर सभी सम्प्रदायों में समान भाव से है। फिर यह बतावें कि ब्रह्मपुराण में किसका विशेष वर्णन है? श्रीमद्भागवत में ब्रह्मपुराण के कौन-कौन से विषय, कौन-कौन सी कथाएँ, किस-किस रूप में ग्रहण की गयी हैं? कौन-कौन से श्लोक ज्यों के त्यों भागवत में मिलते हैं और कौन से कुछ हेर फेर के साथ? इसी तरह पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, देवीभागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड पुराणों के भी सम्बन्ध में बतावें। उपपुराण और औपपुराणों में क्या विषय हैं?-उनके साथ

श्रीमद्भागवत का कहाँ-कहाँ कैसा सम्बन्ध है, इसे भी संक्षेप में बतावें। पुराणों के जो सर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय हैं, इनका विस्तृत विवरण बताइये। जैसे सृष्टि कैसे हुई, सृष्टि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न पुराणों में कितने प्रकार के मत हैं, उनमें इतना भेद क्यों है, श्रीमद्भागवत में कैप्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है ? इस प्रकार दशों का विवरण बतावें।

भक्तिमार्ग के कितने भेद हैं, श्रीमद्भागवत में उनका कहाँ-कहाँ वर्णन है ? नाम महात्म्य और श्रीमद्भागवत में इसका कैसे कहाँ उल्लेख है यह भी बताइये। सभी उपनिषदों के कौन-कौन से विशेष वाक्यों का भागवती भाषा में कहाँ-कहाँ वर्णन आता है ? यह भी समझावें। महाभारत का सार सिद्धान्त बताकर फिर यह समझावें, भारत की कौन-कौन सी कथाओं के साथ भागवत का सामंजस्य है ? कौन सी कथाओं में किस कारण से कुछ अन्तर सा प्रतीत होता है ? श्रीमद्भागवत के स्तोत्रों का, स्थान-स्थान पर आयी हुई स्तुतियों का विशेष महत्त्व बताइये। उनकी विशद व्याख्या कीजिये। पुराणों की कौन-सी कथाओं को श्रीमद्भागवत में विशेष महत्व दिया गया है, इसे समझा कर इसका कारण बताइये। जो कथाएँ केवल संक्षेप में कह दी गयी हैं या जिनको सरल समझ कर संकेत ही कर दिया गया है, उन्हें अपनी भाषा में विस्तार के साथ समझावें। श्रीमद्भागवत पर संस्कृत में, भाषा में तथा अन्य भाषाओं में जो व्याख्या टीका हुई हैं, उनकी विशेषता बताइये। मैं इसके अतिरिक्त जो मैंने न पूछा हो और आपको हितकर प्रतीत हो, उसे भी समझावें। बिना पूछे भी कृपा करके बतलावें। मैं यह विषय-सूची नहीं बता रहा हूँ, न यही

निवेदन कर रहा हूँ, कि इतने ही विषय पर आप अपने विचार प्रकट करें। मैंने तो एक निर्देश मात्र कर दिया है। संकेत द्वारा अपना अभिप्राय समझा दिया है। अब आप जैसे उचित समझें—जिन-जिन विषय का समावेश करना चाहें वह—करें। ऐसी सरलता के साथ समझावें कि साधारण से साधारण भाषा पढ़ा हुआ व्यक्ति भी समझ जाय।"

अपने शिष्य की ऐसी लम्बी चौड़ी बातें सुनकर मैं बड़े जोरों से हँस पड़ा। हँसते-हँसते मैंने कहा—"तैने ये सब बात कहाँ से रट ली? तू तो सुनी सुनायी बातें बक रहा है। अरे, मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ? इन शास्त्रों का मैंने विधिवत् अध्ययन नहीं किया। कुछ समझता बूझता भी नहीं, ऐसी विशाल बुद्धि भी नहीं, योग्यता भी नहीं। फिर भी इतनी बातों को कैसे बता सकता हूँ? पगला कहीं का, चींटी से सुमेरु उठाने को कहता है। सरसों पर पृथ्वी रखने का प्रस्ताव करता है। सूर्य को दीपक में बिठाने की सोचता है। भैया, यह सब मेरी सामर्थ्य के बाहर की बात है। यह सब करना कराना तो अलग रहा, इसका सोचना भी मेरे लिये दुस्साहस ही है।"

शिष्य ने रिरियाते हुए कहा—"नहीं, महाराज जी! आप सब कुछ कर सकते हैं, आप सर्वज्ञ हैं। आपके लिये कोई कार्य कठिन नहीं। आपके संकल्प की देरी है आप जो निश्चय कर लें और करने पर कटिबद्ध हो जायँ, तो न करने योग्य काम को भी सरलता के साथ कर सकते हैं।"

मैंने कहा—"तू मुझे क्यों बुद्धू बना रहा है। ठाकुर सुहाती मीठी-मीठी बातें कहकर क्यों मुझे भुला रहा है। मैं तेरी इन चाटुकारिता की बातों में आकर भूलनेवाला नहीं। मुझे अपनी अल्पज्ञता, अयोग्यता का पता है। तू भी जानता है, तू कुछ

अन्त करण से थोड़े ही कह रहा है। शिष्टाचार के ऊपर के मन से कह रहा है। तेरी प्रशंसा को सत्य समझ लूँ, तो मेरा पतन अवश्यम्भावी है। हाँ, यदि तू हृदय से मुझे ही क्या किसी पर अपना दृढ विश्वास कर ले, तो तेरा तो बेड़ा पार है। कुछ मेरे कारण नहीं, अपने विश्वास के बल पर तू तर जावेगा, किन्तु तुझे वह भी तो विश्वास नहीं है। भीतर से मुझे अयोग्य समझता है, बाहिर से दिखाने को सर्वज्ञ कह रहा है। मैं तेरे चक्कर में न आऊँगा।"

शिष्य ने कहा—"महाराजजी! देखिये, मैं झूठा, मैंने आपकी बात मान ली। अच्छा, थोड़ी देर को मान लो, आप में योग्यता भी नहीं, किन्तु श्रीमद्भागवत को तो आप मानते हैं?"

मैंने कहा—"कहाँ मानता हूँ भैया, उसे मान लूँ तो मेरा बेड़ा पार ही न हो जाय।"

शिष्य अपनी बात पर बल देते हुए बोला—'मान लो, आप मन से नहीं मानते, आपका विश्वास भी नहीं, किन्तु पाठ तो करते हैं। बिना कुछ थोड़ी बहुत श्रद्धा के कोई इतना परिश्रम कभी भी नहीं कर सकता।"

मैंने कहा—"हाँ भैया, पाठ तो करता ही हूँ; किन्तु बेमन से बेगार-सी टालता हूँ, बिना अर्थ समझे तोते की तरह रट जाता हूँ।"

अपनी बात बढ़ाने की वह बोला—"बिना अर्थ के ही सही, सेवन तो करते हैं। बलवाली औषधि बिना उसका बल-वीर्य समझे ही सेवन की जाय, तो क्या गुण न करेगी? अग्नि को अबोध बालक ही छुए, तो क्या वह न जलावेगी? विष को भूल में ही खा जाय, तो क्या वह अपना परिणाम न दिखावेगा?"

मैंने कहा—"हाँ होता क्यों नहीं बिना समझे भी पाठ करने से लाभ होता है। श्रीमद्भागवत का सेवन तो सभी प्रकार से श्रेष्ठ ही है।"

अपने पक्ष को प्रबल होते देख वह उल्लास से उछल पड़ा और बोला—"अच्छा जब श्रीमद्भागवत के सेवन से लाभ होता है, तो भागवत को तो आप श्रीकृष्ण का साकार वाङ्मय विग्रह बताते हैं ?"

मैंने कहा—"हाँ भैया, श्रीमद्भागवत में तो ऐसा ही लिखा है ?"

वह हँसते हुए बोला—"श्रीमद्भागवत में तो ऐसा ही लिखा है, किन्तु उसे आप नहीं मानते ? क्यों यही बात है न ?"

मैंने कहा—"नहीं भाई ! अब कैसे कहूँ कि मानता हूँ। मानता होता तो आज ऐसे माया मोह में क्यों फँसा होता ? नहीं मानता, ऐसा कहने का भी साहस नहीं होता। आस्तिकता के विरुद्ध है और मैं अपने को आस्तिक कहता हूँ।"

शिष्य बोला—"अच्छा इससे यह सिद्ध हुआ, कि आप मानते तो हैं, किन्तु अपनी अयोग्यता के कारण उसकी शक्ति को धारण करनेमें अपने आपको योग्य नहीं समझते हैं ?"

मैंने कहा—' भैया, तैंने वकालत कब पढ़ ली ? तू तो बड़ी गहरी तर्क उपस्थित कर रहा है।"

वह कुछ कुपित होकर बोला—"आप देखिये, महाराज ! मेरी हँसी न उड़ाइये। मेरी बात का उत्तर दें।"

मैंने कहा—"तेरी बात मूर्खता-पूर्ण है, उसका कुछ उत्तर नहीं। भाग जा, अपना काम कर !"

वह नहीं गया और कहता ही रहा—"जिन्हें आप साक्षात् भगवान् का रूप कहते हैं और ऐसा ही मानकर नित्य नियम से उनका सेवन आराधन करते हैं, फिर आप उनकी शक्ति पर विश्वास क्यों नहीं करते? भगवान् सब कुछ करने में समर्थ हैं। भगवान् की बात तो अलग रही, भगवान् के भक्त ही असम्भव बातों को सम्भव बना देते हैं। ज्ञानदेवजी ने भैंसे के मुख से सबके सामने वेद पाठ कराया। रैदासजी ने समस्त ब्राह्मण पंक्ति में अपने को बिठाकर दिखलाया, सबके सामने भगवन्मूर्ति को अपने पास बुलाया। और भी ऐसे अनेकों दृष्टान्त हैं। ब्राह्मण अपनी मन्त्रशक्ति से पाषाण प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा करके उसे देव बना देते हैं। जब भक्तों में इतनी सामर्थ्य है, तो भगवान् तो जिससे भी जो चाहें करा सकते हैं। बालक से बालक को भी बुद्धि योग देकर बड़े-बड़े शास्त्र कहला सकते हैं। पाँच वर्ष के ध्रुव में स्तुति करने की क्या सामर्थ्य थी, किन्तु भगवान् की कृपा होते ही उसने वेद, शास्त्र सम्मत कितनी भावपूर्ण स्तुति की। आप श्रीभागवत की शरण लें, वे ही आपको शक्ति प्रदान करेंगी।"

मैंने कहा—"करेगी, तो क्या तुमसे पूछकर करेगी। करेंगी तब देखा जायगा?"

उसने निराशा के स्वर में कहा—"तो क्या मेरी प्रार्थना निष्फल ही जायगी?"

मैंने कहा—"तेरी प्रार्थना ही असम्भव है। जो काम मेरे सामर्थ्य के बाहर है, उसे तू करने को कह रहा है।"

वह बहुत ही कुपित होकर बोला—"आप असम्भव असम्भव ही कह रहे हैं। संसार में असम्भव क्या है, फिर

आपको हमारा भी तो ध्यान रखना चाहिये। हम सदा आपकी सेवामें रहते हैं।"

मैंने कहा—"भैया, असन्तुष्ट क्यों होता है? तू नाम को ही चेला है। वास्तवमें मेरा गुरु है। सेवा वस्तु ही ऐसी है। जैसे सती साध्वी पतिव्रता स्त्री अपने अयोग्य पति को अपने सौजन्यसे, सद्व्यवहारसे अपने वशमें कर लेती है, जैसे भक्त भगवान्‌को अपने वशीभूत कर लेता है, भगवान् उसके पीछे पीछे फिरते हैं, उसी तरह तैंने मुझे अपने वशमें कर लिया है। एक तो मैं जन्म का रोगी ठहरा, फिर सुख से रहने की भी वासना है ही। मैं तेरे अधीन हूँ, यदि तू नहीं मानता तो एक उपाय है।"

उसने उल्लास के साथ कहा—"वह कौन-सा उपाय है?"

मैंने कहा—"देखो, नैमिषारण्य में जो ८८ हजार मुनि रहते थे, वे कुछ मर तो गये नहीं। वे हमारी तुम्हारी तरह बद्ध जीव तो हैं नहीं। वे नित्य जीव हैं। एक कल्प की उनकी आयु है। पृथ्वी पर कलियुग का प्रभाव देख कर वे यहाँ से जनलोक में चले गये हैं। सूतजी वहाँ भी उन्हें नित्यप्रति कथा सुनाते हैं। उनके यहाँ साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक या वार्षिक पारायण का तो नियम है नहीं, नित्य ही कथा होती है। वे सब ब्रह्मज्ञानी ऋषि हैं। उन सब के कार्य लोक-कल्याण के ही निमित्त विशेष कर होते हैं। वे सर्वज्ञ ऋषि यह भी जानते हैं, कि अब पुण्य-भूमि भारत में संस्कृत विद्या का पठन-पाठन अत्यन्त ही अल्प हो गया है। केवल संस्कृत में कथा कहने से सर्व साधारण का उपकार नहीं हो सकता। अतः अब सूतजी वहाँ भाषा में ही कथा कहते हैं। उन

सर्वज्ञ ऋषियोंसे तो भूत, भविष्य, वर्तमानकी कोई भी भाषा अज्ञात नहीं है। वे तो गुणग्राही हैं, भाषा का वे निरादर नहीं करते। भाषा की कथा को ही वे बड़े प्रेम से सुनते हैं।

सूतजी जिस कथा को कहते हैं। उसे मैं सुन सकता हूँ और जैसा सूनूँगा वैसा लिखता जाऊँगा। तू पढता जाना। अब तो योग्यता अयोग्यता का प्रश्न ही नहीं रहा। मैं तो एक लिखने का यन्त्र मात्र हुआ, किन्तु इसमें तेरी सहायता की अपेक्षा होगी।"

उसका मुख मडल खिल उठा। वह उल्लास के साथ बोला—"हाँ, महाराजजी जो आप आज्ञा करेंगे, वह मैं करने के लिये तत्पर हूँ मुझे क्या करना होगा? आप उस सम्वाद को कैसे सुन सकेंगे?'

मैंने कहा—'भैया, इस वायु मडल में जो भी शब्द बोला जाता है, उसका नाश नहीं होता। उसे युक्ति द्वारा सुना जाय, तो चाहे जहाँ की बातें घर बैठे सुन सकते हैं। इसी प्रकार जनलोक में जो सूत और ऋषियों का सम्वाद होता है, उसे हम और तुम दो ही एकाग्र होकर सुना करेंगे। तू अपनी चञ्चलता छोड़कर मेरी सहायता करना। मैं तेरी सहायता पाकर लिखता जाऊँगा, तू पढता जाना, किन्तु यह काम महीने दो महीने का नहीं है, बहुत काल की अपेक्षा रखता है।"

वह बोला—'अनुमान से कितना समय लगेगा?"

मैंने कहा—"पाँच सात वर्ष से क्या कम लगेंगे। इससे अधिक भी लग सकते हैं। तब तक तुझे एक ही जगह रहकर मेरे कार्यों में दत्तचित्त होकर सहयोग देना होगा।"

इसे सुनकर वह कुछ घबराया और सोच विचार कर बोला—"महराज जी, यह बात तो कुछ असम्भव सी है।"

मैंने हँसकर कहा—'तू अभी कहता था—असम्भव तो कुछ है ही नहीं। तुझे इसमें आपत्ति क्या है ?'

उसने कुछ रुक रुक कर कहा—'नहीं, आपत्ति तो कुछ नहीं है, किन्तु मुझे तो आपके साथ रहकर नित्य नूतन पुरुषों से मिलने मिलाने की, नये-नये स्थानों में जाने की, बढ़िया-बढ़िया, सुन्दर सुन्दर माल उड़ाने की, अच्छी से अच्छी मोटरों में बैठने की, सुन्दर सुगन्धित माला पहनने की टेव पड़ गयी है। इसीसे मैं संशय में पड़ गया हूँ, कि इतने दिन एक जगह मेरा चित्त कैसे लगेगा ?'

मैंने कहा—'देखो, चित्त लगने का उपाय तो मैं बताता हूँ। मेरे साथ सदा सेवा पूजा में जुटे रहा करो। कथा मंडप में जो कथा होती है, उसे सुना करो। कीर्तन होता है, उसमें सम्मिलित हो गये। मन की प्रसन्नता के लिये यहाँ इतनी लम्बी चौड़ी भूमि पड़ी है, इसमें भगवान् की पूजा के लिये सुन्दर सुन्दर पुष्पों के पेड़ लगाओ। गुलाब है, गन्धराज है, कुन्द है, गेंदा है तगर है, निवारी है, गुलाइची है, इनके पौधे लगाओ। बेला है, चमेली है, जुही है, मालती है, चम्पा है, इनकी लता लगाओ बेल चढ़ाओ। आम है, अनार है, अमरूद है, सन्तरा है, मौसमी है, जामुन है, कटहल है, कमला है, पपीते हैं, इनके फलदार वृक्ष लगाओ। रोज देखो, आज यह पौधा इतना बड़ा हुआ, आज यह लता इतनी बढ़ी, आज इस पर फूल आ गये। इन्हीं बातों में चित्त बहल जायगा। आशा लगी रहेगी। अबके इस पर फूल आ गये, अब इस पर फल आ जायँगे। इन मनुष्यों से बातें करने में तो यदि कोई सुन्दर हुआ, वाणी मीठी हुई, भक्त हुआ, गुणी हुआ तो उनसे राग होता है। कोई क्रोधी हुआ, हमारी बातों का खंडन करनेवाला

हुआ, उद्धत हुआ, अभिमानी हुआ तो उसे देख कर द्वेष होता है, किन्तु इन वृक्षों मे यह बात नहीं। प्रेम करनेसे ये बड़ा स्नेह करते हैं और समझनेकी शक्ति आ जाय, तो ये बातें भी करते हैं। किन्तु एक बात है भैया, रहना सावधान, नहीं तो कुत्ते को मारनेवाले की दशा होगी।"

वह बोला—"कुत्ते को मारनेवाले की दशा कैसी महाराजजी ?"

मैंने कहा—'रामजीकी सभामे एक कुत्तेने आकर भगवान्से निवेदन किया, कि अमुक व्यक्तिने मुझे बिना अपराधके मारा है। अभियुक्त बुलाया गया। पूछताछसे पता चला, कि वास्तवमें मारने वाला अपराधी है। उसने निरपराध कुत्तेको मारा है। अब भगवान् उसके लिये दण्ड सोचने लगे। तब वही कुत्ता बोला—'इसे मैं जो कहूँ वही दण्ड दीजिये। इसे अमुक मठका मठाधीश बना दीजिये।' उसकी यह बात सुन कर सभी सभासद हँस पड़े और बोले—'यह दण्ड हुआ या पारितोषिक ?'

तब उस कुत्तेने बताया—'प्रभो! मैं भी एक ऐसे ही मठ का मठाधीश था। उसका जो फल हुआ आप सब देख रहे हैं। इसलिये इससे बढकर मैं दूसरा कोई दण्ड इसके लिये उपयुक्त समझता ही नहीं।"

यह सुनकर वह बोला—"नहीं महाराज जी, इससे आप निश्चिन्त रहें।"

मैंने कहा—"मैं उड़ा-उड़ी करनेको थोड़े ही कहता हूँ। जब तक शरीर है, पृथ्वीपर ही रहना होगा। कहीं आकाशमें तो कुटिया बना ही न लोगे। प्रयागराजसे बढ़कर पवित्र तो

पापनाशक, परम पुण्यप्रद तीर्थ और कहाँ मिलेगा ? आयु भर रहो, किन्तु रहो सचेष्ट होकर।"

वह बोला—'जैसी भगवान्‌की इच्छा होगी वही होगा। हाँ, तो आप वह सम्वाद कब सुना करेंगे, कब लिखा करेंगे ? आप पर तो समय ही नहीं। हर समय व्यस्त रहते हैं।"

मैंने कहा—"भाई ! देखो, यहाँ तो समय मिलनेका नहीं। यहाँ तो सब समय का कार्य-क्रम बँधा है। प्रात अरुणोदय के पूर्व जो त्रिवेणी स्नान को हम तुम चलते हैं, उसी समय नौका में आते समय और जाते समय हम लिखा करेंगे। वह समय भी सुन्दर होता है, उस समय सम्वाद भी सुनायी देगा। गङ्गा जीके बीचमें लिखा जायगा, तो झूठ भी न होगा। जैसे कोई शपथ खाते हैं, कि हम इस बातको गङ्गाजीमें खड़े होकर कहते हैं। एक बात है, जब तक तुम मेरा साथ दोगे, एकाग्र होकर मेरे साथ सुनोगे, तनिक भी चञ्चलता न करोगे, तब तक तो मैं सुनकर लिख सकता हूँ, किन्तु तुमने जहाँ गड़बड़ की, कि फिर सब गुड़ गोबर हो जायगा। तब कुछ भी लिखा न जायगा। जब तक तुम्हारी मृत्यु नहीं होती तभी तक यह है। यदि तुम मर गये या मेरा तुम्हारा कोई और रास्ता निकल आया, तो यह सम्वाद अधूरा ही रह जायगा। रह जाय—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' इस मार्गमें किया हुआ थोड़ा भी कार्य बहुत से भयों से बचानेवाला होता है।"

उसने कहा—"हाँ महाराजजी, ठीक है। मुझे सब स्वीकार है। अब पहिले आप श्रीमद्भागवतमें आयी हुई, भगवान् और भक्तों के सम्बन्ध की जो कथाएँ हैं, उन्हें विस्तार के साथ, सब विषयोंको निःसंशय करते हुए, शीशे की भाँति चमकाते हुए अपनी भाषामें वर्णन करें। जब सब भागवती कथाएँ

हो जायँ, तब जो-जो विषय मैंने बताये हैं, उनका वर्णन करें। हाँ, तो आप जयार्थ मंगलाचरण करें—'ततो जयमुदीरयेत्.।"–

इस प्रकार हमारा और हमारे शिष्यका यह समझौता हो गया है। उसीके परिणाम स्वरूप यह ग्रन्थावली आरम्भ हुई है। इसका अन्त कहाँ और किस स्थलपर कब होगा? इसे सर्वान्तर्यामी हरि ही जानें। इससे यन्त्र को क्या काम? इसकी चिन्ता यन्त्री करेगा।

पाठक कह सकते हैं, कि महाराज! आपने इतना लम्बा चौड़ा गुरु प्रिय संवाद तो सुना डाला, किन्तु आपने अपने एक मात्र प्रिय शिष्य का नाम तो बताया ही नहीं। दीक्षा न देने पर भी बहुत-से लोग आपको अपना गुरु कहते हैं और आप कहते हैं—मेरा एक ही चेला है। यह भी आपकी बातों से मालूम पड़ता है- आपके अधीन नहीं, चञ्चल है। उसके नाम का तो पता चले। भगवान् न करे आपकी बीच में ही आँखें मिच जायँ तो आपका उसे उत्तराधिकारी तो बना देंगे।

हाँ, तो उस एक मात्र शिष्य का नाम है—'मेरा मन।' यथार्थ में शिष्य करने योग्य तो यही है। जिसने इसे दीक्षा देकर वशमें कर लिया, उसने जगत्को वशमें कर लिया। वह यथार्थ गुरु पद का अधिकारी बन गया। बिना इसको वश में किये जो गुरु बन जाते हैं, वह तो व्यवहार है। परमार्थ में उसका यदि कुछ उपयोग होगा भी तो नहीं के समान ही। यह मेरा अलबेला चञ्चल चेला अभी वशमें नहीं हुआ। इसलिये मैं गुरु न कहला कर गुर ही हो सकता हूँ। व्यापारिक हिसाब जोड़नेके जो संकेत हैं, वे 'गुर' कहलाते हैं। जैसे—

'एक रुपये की जितने सेर, एक आने की उतनी छटाँक' यह एक गुर है। जैसे-एक रुपये की कोई चीज पौने दस सेर आयी, तो एक आने की पौने दस छटाँक हुई। इसमें हिसाब जोड़ने की आवश्यकता नहीं। एक आदमी का वेतन जितने आने रोज हो उन्हे दुगुने करने पर उस सख्या को रुपये मान कर उतने ही आने घटाने से एक मास का वेतन हो जायगा।' जैसे एक आदमी आठ आने रोज पाता है, तो आठ दूनी सोलह, सोलह रुपये मे से सोलह आने घटा दो। १५) एक महीने का वेतन हुआ। हिसाब फैलाने की आवश्यकता नहीं। इसे व्यापारिक गुर कहते हैं। अथवा गुरु न होकर गुड़ ही हूँ, जैसे गुड़ ईख को दबा कर मोटा और पुष्ट बनता है, पीछे मीठा समझ कर उसे लोग उड़ा जाते हैं।

या गुरु न होकर गोरू ही हूँ। बँगला में गुरु का गोरू की भाँति उच्चारण होता है। गोरू कहते हैं—गाय भैंस को। जब तक गाय-भैंस दूध दे तब तक अच्छी, जहाँ दूध न दिया फिर कौन पूछता है? पानी भी कोई समय पर नहीं पिलाता।

अथवा गुरु न होकर गरू हूँ। मारवाड़ी भाषा मे गुरु का उच्चारण गरू होता है। गरू कहते हैं भारी को। नौका में पार होने की आशा से बहुत से लोग बैठ तो जाते हैं, किन्तु जहाँ नौका गरू हुई कि स्वय तो डूबती ही है, अपने साथ उन बैठे हुओं को भी डुबा देती है।

इसलिये मैं इस अपने अनजान चेले को नित्य शिक्षा देता हूँ—'देख भैया, तेरे ही ऊपर मेरा गुरुत्व निर्भर है। यदि तू ठीक ठिकाने पर आ गया, तब तो ठीक ही है। तेरा भी उद्धार

मेरा भी उद्धार है। यदि तू लोभ में फँस गया और अपने अधीन करके मुझे विषयों के लालच में घसीट ले गया, तब तो नरक का रास्ता खुला ही हुआ है। कहावत है—

"लोभी गुरू लालची चेला, होय नरक में ठेलम ठेला।"

यह मेरी आत्मकथा है। यही इस भागवती कथा के लिखने का कारण है। मैं अपने चेले के इस कार्य की प्रशंसा ही करता हूँ। किसी न किसी प्रकार से भागवत चिन्तन स्मरण का अवसर तो दिया। अब पाठक, इस गुरु शिष्य संवाद को यहीं समाप्त करके आगे सूत शौनक संवाद श्रवण करें।

छप्पय

सुरसरि उत्तर ओर त्रिवेणी पार मनोहर।
प्रतिष्ठानपुर यज्ञ तीर्थ झूसी अति सुन्दर॥
मनीराम मम शिष्य चपल चंचल अज्ञानी।
ताहीके प्रति सुधा सरिस रस कथा बखानी॥
दैहिक दैविक मानसिक, चाहिँ होहि भवकी व्यथा।
सब रोगनिकी एक ई, औषधि 'भागवती कथा'॥

———

जयार्थ

(२)

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ १
(श्री भा० १ स्क० २ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

श्रीनारायण विमल विशाला पुरी निवासी ।
नर नारायण ऋषी तपस्वी अज अविनासी ॥
माता वीणापाणि सरसुती वाणी देवी ।
कियो वेदको व्यास परासरसुत गिरि सेवी ॥
धरि सिर सबके पादकी, पावन पुण्य पराग अति ।
भनूँ भागवत भव्य भव—भयहर भाषा यथा मति ॥

जो आदि अन्त से रहित श्रीमन्नारायण हैं, जो भू-वैकुण्ठ श्री विशालापुरी मे सदा निवास करते हैं, जो चराचर जगत् के स्वामी हैं, जिनके श्वास प्रश्वास से प्रतिक्षण असंख्यों ब्रह्माण्डों की स्वत ही रचना होती रहती है। उन सर्वाधार, लक्ष्मीकान्त अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक, श्रीमन्नारायण भगवान् के पादपद्मों मे कोटि-कोटि प्रणाम हैं।

---

१ श्रीनारायण, नरोत्तम नर तथा सरस्वती देवी को नमस्कार करके, फिर जय भागवतादि ग्रन्थों का कहना चाहिये।

जिन्होंने दक्ष की पुत्री, धर्म की पत्नी जन्मदाता मूर्त देवी के गर्भ से अवतार लिया है। जो जन्म से ही त्यागी, विरागी तपस्वी हैं। जिन्होंने नैमिषारण्य पुष्करक्षेत्र आदि पावन तीर्थों को अपनी स्थिति से—तपस्या करके परम पावन क्षेत्र बना दिया है, शतक्रतु देवराज इन्द्र को भेजी हुई असंख्यों अप्सराओं तथा मन्मथ, वसंत, समीर आदि को जिन्होंने अपनी तपस्या में विघ्न करते हुए देखकर भी क्रोध नहीं किया, काम के साथ-साथ जिन्होंने क्रोध पर भी विजय प्राप्त कर ली है, जिन्होंने अपनी उरू से उर्वशी जैसी असंख्य अप्सराओं को उत्पन्न करके स्वर्ग के देवताओं को विस्मित बना दिया है, जो तपस्या में निरन्तर निरत रहते हैं, उन तपस्या की जाज्वल्यमान प्रत्यक्ष मूर्ति, नर नारायण दोनों भाइयों को मैं नत मस्तक होकर नमस्कार करता हूँ।

जिनके बिना विश्व में वर्णों का विभाग नहीं, अस्तित्व नहीं, जो सम्पूर्ण ज्ञान की प्रदात्री हैं, जिनकी वीणा की झंकार से ही सप्तस्वरों सहित सम्पूर्ण संगीत की उत्पत्ति हुई है, जिनके जगज्जननी, कुमारी आदि अनेक रूप हैं, उन भागवती सरस्वती देवी के चरणों में नम्र होकर मैं श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

जो भागवती सत्यवती में भगवान् पराशर के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने एक वेद के चार विभाग करके संसार के कल्याणार्थ उन्हें सरल, सुगम बना दिया है, जिन्होंने स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु—जो वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं—उन पर कृपा करके पञ्चम वेद 'महाभारत' की रचना की है, जो भरतवंश की रक्षा करनेवाले और उसे उच्छेद से बचानेवाले

हैं, जिन्होंने वेदों के सम्पूर्ण अर्थों को पुराणों के द्वारा कथन किया है, जिससे सर्व साधारण पुरुष उस दुष्कर ज्ञान को सुगमता के साथ समझ सकें। जिन्होंने विविध धर्मों का संक्षेप और विस्तार के साथ वर्णन किया है, जो धर्म के रक्षक और प्रतिपालक हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करके उपनिषद् के वेदान्त वाक्यों की—जो परस्पर में विभिन्न से प्रतीत होते थे एकवाक्यता की है, जिन्होंने समस्त ज्ञान को उच्छिष्ट कर दिया है। (सभी लोग उसी उच्छिष्ट ज्ञान का भाँति भाँति से अपनी-अपनी भाषा में कथन करते हैं) जो साक्षात् श्रीहरि के अवतार हैं, जो एक मुख के प्रजापति और दो बाहुवाले विष्णु तथा द्विनेत्रवाले महेश हैं, जिन्होंने मानसिक खेद के व्याज से देवर्षि भगवान् नारद से भागवत ज्ञान प्राप्त किया है, जिन्होंने कलिकाल के अल्पमति, अल्पायु पुरुषों को अज्ञान सागर में डूबते देखकर श्रीमद्भागवत रूपी दृढ़ नौका बनाकर, स्वयं ही कर्णधार बनकर, उनके उद्धार के लिये प्रयत्न किया है। जिन्होंने सम्पूर्ण ज्ञान को सदाचारी ऋषियों में विभक्त करके लोप होने से उसकी रक्षा की है। श्रीमद्भागवत रूपी त्रलोक्य पावन महान् स्वादु रस को बिना भेद भाव के वितरण करने के लिये अपने परम ज्ञानी. परम विरक्त सुत शुकदेव को उत्पन्न किया है। उत्पन्न होते ही जो संसार त्यागकर वन में चले गये थे, उन्हें बड़े कौशल से बुला कर जिन्होंने अधिकारी समझ कर उन्हें ही भागवतामृत वितरण करने के लिये नियुक्त किया है। जो ऋषियों में परम सम्माननीय हैं, जिनका ज्ञान सदा अकुंठित है, जो त्रिवर्ग साधन तथा मुक्ति साधन, सभी में समान रूप से निष्णात हैं। जिनकी दृढ़ नौका के सहारे अनेकों भूले भटके डूबते हुए जीव संसार सागर से सदा के लिये पार

हो गये हैं, उन शक्ति लोक पितामह पराशरजी के पौत्र ब्रह्माजी के सपौत्र, वशिष्ठजी के प्रपौत्र, भगवान् व्यासदेव के चरणों में हमारा श्रद्धाभक्ति सहित प्रणाम है। हे ज्ञान के निधि! हे जगदुद्धारक! हे परम गुरुदेव! हे विश्ववन्द्य! इस क्षुद्र जीवों पर कृपा करो। आपके परम पावन पद चिह्नों का अनुसरण करते हुए, मैं इस भाषा भागवत-तत्व को अपने जैसे विद्या बुद्धि-हीन पुरुषों के सम्मुख रख सकूँ। मुझमें विद्या बुद्धि नहीं, मुझे अपने विद्या बल का भरोसा नहीं। मैं समस्त साधनों से हीन हूँ, मति मलीन हूँ, दीनातिदीन हूँ। किन्तु एकमात्र आपकी अहैतुकी कृपा का ही भरोसा करके सन्त महात्माओं के मनोगत भाव जानकर उनकी आन्तरिक आज्ञा पाकर ही इस दुरूह कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ। हे अशरण शरण! मेरे मस्तक पर अपना वरद हस्त रख दीजिये। मेरे मन में बैठकर प्रेरणा कीजिये। मेरा हाथ पकड़कर लिखाइये और अपना गूढ़ तत्व सर्वसाधारण लोगों के सम्मुख भाषा गद्य में प्रकट कराइये। इसमें मेरी चातुरी नहीं। आपका ही कार्य्य है। आप ही ज्ञान के स्रोत हैं। आप ही की इस पद पर प्रतिष्ठा है। मैं तो आपका आज्ञाकारी क्रीत दास हूँ। आपके भावों का प्रकाशक हूँ, आपका निर्जीव यन्त्र हूँ, आपकी बाँसुरी हूँ, जैसी फूँक भर देंगे वैसा ही स्वर निकल आवेगा। हे विश्व को अपने सुमधुर सङ्गीत से मोहित करनेवाले देव! मेरा पुन प्रणाम स्वीकार कीजिये।

हे व्यासनन्दन! आपकी कृपा के बिना कोई भागवत-तत्व नहीं समझा सकता है। हे गुरो आपकी किन शब्दों में स्तुति करूँ। भाव नहीं, भाषा नहीं। आपका अवतार हम जैसे जग

जाल में जकड़े जीवों की रक्षा के लिये ही हुआ है। आप तो जन्म से ही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त हैं। आप श्रीजी के कर कमल पर क्रीडा करने वाले, क्रीडा-कीर हैं। आपने उस मधुराति-मधुर रस का स्वय अनुभव किया है और उसी को व्यासमुख से सुनकर सम्पूर्ण ससार मे फैलाया है। इस दिव्यातिदिव्य मधुर रस के सच्चे अधिकारी तो आप ही हैं, क्योंकि जिस हृदय मे काम वासनाएँ हैं, उस में श्याम वासना कहाँ ? आपका तो काम से परिचय भी नहीं। आपकी आत्मा को तो काले भूत ने ग्रहण कर रखा है। आप तो उसी भूतावेश में इतस्तत भ्रमण करते हुए आधिव्याधियों की अग्नि मे जलते हुए प्राणियों को परम शीतलता प्रदान करते फिरते हैं। आप कहीं अधिक ठहरते भी नहीं। आपको अवकाश भी नहीं, क्योंकि इस अनादि जगत् में अनन्त अधिकारी हैं, उन सब की आपको खोज खबर रखनी है। सब का उद्धार करना है। किन्तु कृष्ण-कथा मे तो आप सब कुछ भूल जाते हैं। परिव्राजक व्रत का परित्याग करके, एक स्थान पर कुछ काल को बस भी जाते हैं। हे मेरे गुरुदेव ! आचार्य्यप्रवर ! आओ, कुछ काल मेरे कलुषित काले हृदय म, काली लोह की लेखनी में भी वास करो। ऐसे अपवित्र स्थान मे वास करने के लिये मैं इसीलिये प्रार्थना कर रहा हूँ, कि इसके द्वारा कृष्णकथा का यत्किंचित् असम्बद्ध गान होगा। कैसी भी हो, कृष्णकथा तो कृष्ण कथा ही है। किसी के द्वारा गायी जाय, उसके स्वरूप मे विकृति नहीं होती। काक की विष्ठा मे रहने पर भी अश्वत्थ का बीज अश्वत्थ को ही उत्पन्न करता है और वह वासुदेव स्वरूप सबका पूज-नीय होता है, अत आओ, मुझे सिखाओ, बताओ और लिख-वाओ। तुम्हारी वाणी से ही बोलूँगा, तुम्हारी शक्ति से ही

लिखूँगा और जय-जय बोलकर, तुम्हारे पादपद्मोंमे प्रणत होकर इस 'भागवती कथा' का आरम्भ करूँगा।

छप्पय

व्यास-तनय वासिष्ठ विश वैराग्यवान् अति।
कृष्ण नाम मधु-मधुर मधुर मदमत्त महामति ॥
भक्ति भागवत भनी पार भवसिन्धु कियो है।
कलि कल्मष करि दूरि दिव्य आलोक दियो है ॥
परमहंस शुकदेव वर, सुन्दर सुखकर नाम है।
तिनके पदपाथोजमें, श्रद्धा सहित प्रनाम है ॥

नैमिषारण्य

(३)

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ १ ॥
(श्री भा० १ स्क० १ अ० ४ श्लो)

छप्पय

नैमिषार सुखसार हार भूको है भारी ।
सहस अठासी शौनकादि ऋषि जहँ व्रतधारी ॥
सहस सालको सत्र रच्यो मुनि सूतहु आये ।
सब इतिहास पुरान अठारह गाइ सुनाये ॥
किन्तु भागवत मधुर अति, सब शास्त्रनिको सार है ।
पढत सुनत गावत गुनत, होत जगद्-उद्धार है ॥

भृगुवंश में एक परम तेजस्वी गृत्समद नामक ऋषि हुए—उनके पुत्र शुनक हुए। महर्षि शुनक के पुत्र ही महा तेजस्वी, नियम व्रत परायण, ऋषियों के अग्रणी, ऋषि श्रेष्ठ शौनक मुनि हुए। ये जन्म से ही त्यागी विरागी, तथा संसारी भोगों

१—एक समय वैष्णव क्षेत्र नैमिषारण्य में शौनकादि मुनियों ने स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के लिये हजार वर्ष में समाप्त होनेवाले यज्ञको आरम्भ किया।

से ही उदासीन थे। जब ये कुछ बड़े हुए, तो पिता ने इनके विधिवत् उपनयन और वेदारम्भादि संस्कार कराये। वेदाध्ययन के अनन्तर जब समावर्तन संस्कार का समय आया, तो इन्होंने समावर्तन कराना अस्वीकार कर दिया। संसार में तपस्या ही सार है, ये संसारी सुख भोग तो क्षणिक सुख देनेवाले नश्वर और बन्धन के हेतु हैं, ऐसा निश्चय करके तथा अपने पिता की आज्ञा लेकर ये तपस्या के लिये निकल पड़े।

इनके निश्चय को सुनकर और भी बहुत से ऋषिकुमार इनके साथ हो लिये कहीं परम पावन पुण्य-भूमि में कुटी बनाकर सभी मुख से यज्ञ यागादि करते हुए कृष्ण-कथा श्रवण करेंगे। इस बात से सभी का हृदय प्रफुल्लित था, सभी ने संसारी सुखों की ओर से मुख मोड़ लिया था। तप को ही परमधन समझनेवाले वे ऊर्ध्वरेता ऋषिकुमार किसी पुण्य-भूमि की खोज में पृथ्वी के तीर्थों में भ्रमण करने लगे।

बड़े-बड़े प्राचीन वृद्ध ऋषि मुनियों से उन्होंने तीर्थराज प्रयाग की प्रशंसा सुनी। इस महान् तीर्थ की प्रशंसा सुनकर वे तीर्थराज को मन ही मन प्रणाम करते हुए, वहाँ के लिये चले। प्रयाग में पहुँचकर श्रीगङ्गा-यमुना के सितासित जल के सुन्दर संगम के दर्शनों से उन सब के मन अत्यन्त ही प्रफुल्लित हुए। गङ्गा-यमुना के मध्य की रजतचूर्ण के समान चमकीली बालुका को देखकर उनका हृदय उछलने लगा। ऐसे मनोरम स्थान के दर्शनों से ही उन सबके शरीर रोमाञ्चित हो उठे। प्रेम के अश्रु बहाते हुए उन्होंने तीर्थराज प्रयाग की, त्रिवेणी मैया की स्तुति की। स्नान, सन्ध्या-वन्दन, देवर्षि-पितृ तर्पण तथा समस्त आह्निक कृत्य करके उन्होंने प्रयागराज के

मुख्य मुख्य तीर्थों के दर्शन किये। भगवान् भरद्वाज जी के आश्रम में गये। महर्षि की वन्दना करके उन सब ने उनकी पूजा की। ऋषि ने भी इन सब ऋषिकुमारों का यथोचित आदर-सत्कार किया, रहने को पर्ण-कुटियाँ बतायीं और भोजन के लिये विविध प्रकार के स्वादिष्ट मीठे मूल-फल दिये।

जब वे सब सुख से अपनी थकान मिटाकर, कन्द मूल फल खाकर स्वस्थ हुए, तब ऋषि ने पूछा—"कुमारो! तुम्हारा कल्याण हो, आज तुम सब मेरे आश्रम में आये, यह बड़े ही हर्ष की बात है। तुम्हारे पिता आदि जब-जब प्रयाग आते हैं, तब यहीं ठहरते हैं। वे सब मुझसे बड़ा स्नेह रखते हैं। तुम सब मेरे पुत्र के समान हो। आज मैं तुम्हें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। तुम सब यहाँ तीर्थ-यात्रा के ही उद्देश्य से आये हो या तुम्हारे मन में और भी कुछ वाञ्छा है। मुझसे संकोच मत करो। जो बात यथार्थ हो वह मुझसे कहो।"

महर्षि के ऐसे स्नेह से सने हुए, अत्यन्त मधुर, अपनेपन से भरे हुए वचनों को सुनकर ऋषिकुमारों का हृदय पितृ-स्नेह से भर गया। उन्होंने प्रेमाश्रु बहाते हुए ऋषि के चरणों को भिगो दिया। कसकर ऋषि के चरणों को पकड़कर उन्होंने उनको गाढ़े रङ्ग के रक्त-कमल के समान बना दिया। क्रम से ऋषि ने सभी को फिर आलिङ्गन किया। तब उनमें से शौनकजी बोले—"आज हम सब कृतार्थ हुए। भगवान् के वात्सल्य स्नेह को प्राप्त करके हम आज सब परम अनुगृहीत हुए। मेरे पिता भी प्रयाग का प्रसंग चलता—भगवान् की चर्चा बड़े ही गद्गद कंठ से करते थे। वे भगवान् के गुणों का गान करते-करते अघाते नहीं थे। तभी से मेरे मन में बड़ी लालसा थी कब भगवान्

के समीप रहकर, उनके चरणों की आराधना करूँगा। कभी कभी हम सोचते थे—'भगवान् तो महान् हैं, वे दूसरे प्रजापति ही हैं। उनके आश्रम में हजारों लाखों ऋषि, महर्षि, यक्ष, किन्नर, देवता निवास करते हैं। हम बालकों से पता नहीं वे मिलेंगे भी या नहीं, किन्तु हमारी यह शंका यहाँ आकर निर्मूल हो गयी।

भगवान् ने आते ही हमें वात्सल्य-स्नेह से स्नान करा दिया। प्रेम के सागर में निमग्न कर दिया। आज हमने यथार्थ पितृ-स्नेह प्राप्त किया। हम सब भगवान् के चरणों में एक प्रार्थना करने के लिये ही उपस्थित हुए हैं।"

भगवान् भरद्वाज ने शौनकजी को और समीप बिठा लिया। अपने हाथ से शनै-शनै उनकी जटाओं को सुलझाते हुए बोले—"हाँ, तुम अपना अभिप्राय मुझसे बिना संकोच के कहो। तुम तो अपने बच्चे ही हो।"

शौनकजी ने कुछ रुक-रुक कर धीरे धीरे कहना प्रारम्भ किया—"भगवान् सर्वज्ञ हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता हैं, सब के मन की बात जाननेवाले हैं। फिर भगवान् के सम्मुख कुछ कहना धृष्टता-मात्र है, किन्तु भगवान् की आज्ञा ही है, तो हम कहते हैं, हमें संसारी व्यवहार में फँसने की रुचि नहीं। हम अपने सम्पूर्ण जीवन को तप करते हुए श्रीकृष्ण-कथा में ही व्यतीत करना चाहते हैं। इसके लिये कोई पुण्यस्थली हमें बतावें। भगवान् जहाँ आज्ञा करेंगे, वहीं हम सदा यज्ञ-याग करते हुए भगवत्-कथा-कीर्तन के द्वारा आयु के शेष समय को बिता देंगे। इन सब ऋषियों का भी यही विचार है।" भगवान् भरद्वाज ने अत्यन्त ही प्रसन्नता के साथ उनसे कहना आरम्भ किया—"भैया; तुम लोग धन्य हो।

इस चढ़ती अवस्था मे तुम्हारी ऐसी विमल बुद्धि हुई है। तपस्या मे, भगवत्-कथा-कीर्तन में रुचि करोड़ों जन्मों के पुण्यों

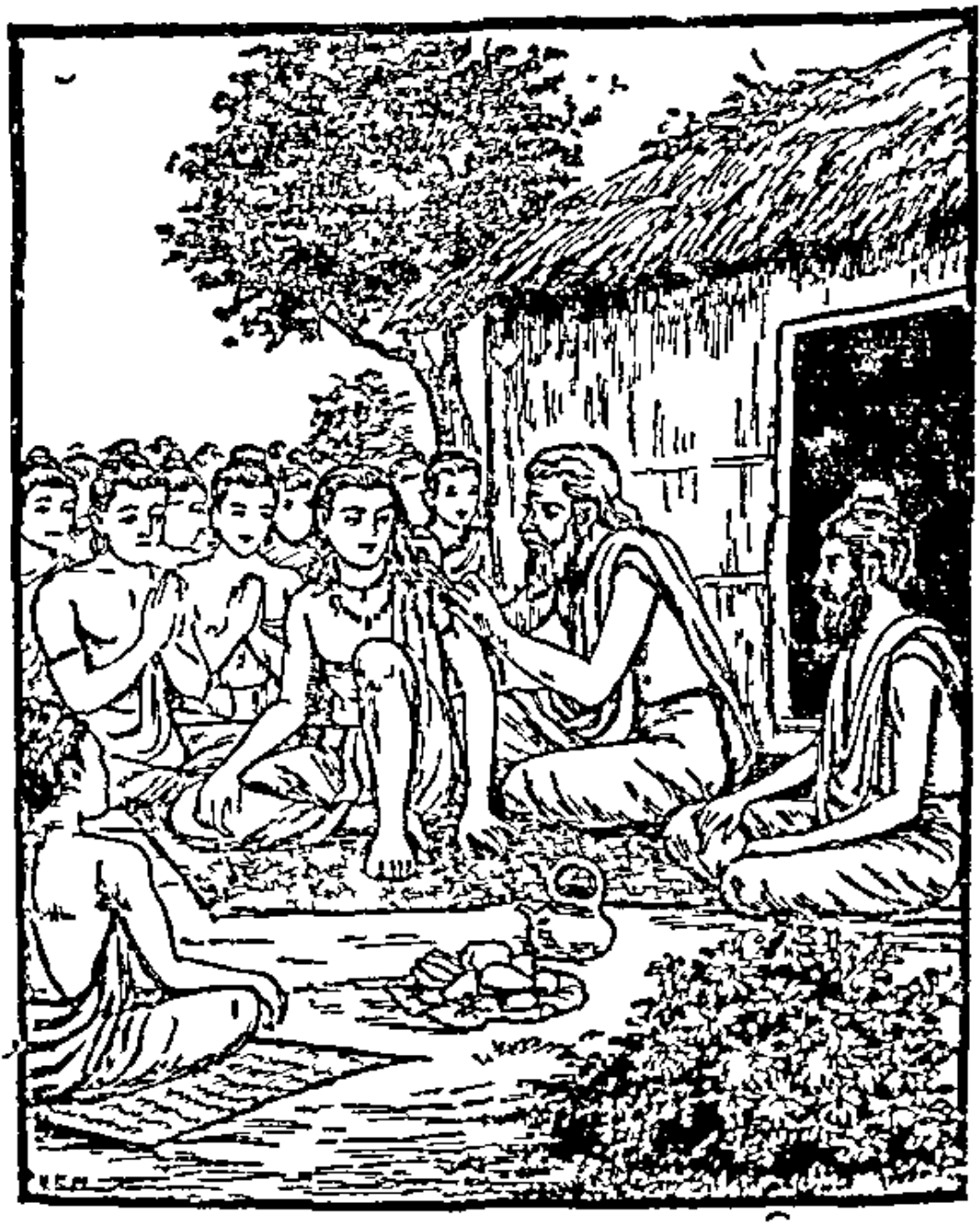

से होती है। साधारण जीव तो इसी संसार में मरते और जन्म लेते रहते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतगों की तरह आहार,

निद्रा, भय तथा मैथुनादि में ही उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बनी रहती है। जो अनुग्रहसृष्टि के जीव होते हैं, जिन्होंने करोड़ों जन्म यज्ञ, याग, तीर्थ, व्रत, जप, तप, ध्यान, समाधि आदि शुभ साधन किये हैं, उनका ही मन नियमपूर्वक कथा-कीर्तन में लगता है। प्रयाग से बढ़कर संसार में पुण्य प्रदेश दूसरा कौन होगा। इस आश्रम को तुम अपना ही समझो, समझो क्या, तुम्हारा है ही। यहीं आनन्द से रहो। यज्ञ, जप, तप, जो भी करना चाहो करो। यहाँ यथेष्ट फलवाले वृक्ष हैं। अमृतोपम श्रीत्रिपथगामिनी सुरसरि का सुमधुर विपुल सलिल है। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, राजर्षि, देवर्षि, महर्षि, आदि का निवास स्थान है। इससे पवित्र भूमि तुम्हें और कहाँ मिलेगी? यहीं आनन्द-पूर्वक निवास करो। फिर सबको लक्ष्य करके उन्होंने कहा—'क्यों भाई, ठीक है न?"

सबने हाथ जोड़े हुए कहा—"भगवान् के वचन यथार्थ हैं। प्रयाग से बढ़कर न कोई तीर्थ है, न गंगाजी से बढ़कर कोई नदी है, गंगा-यमुना के मध्य की भूमि से बढ़कर न कोई भूमि है और भगवान् भरद्वाज के आश्रम से बढ़कर न कोई और पवित्रतम आश्रम ही है। हम भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य्य करके यहीं निवास करेंगे।"

समस्त ऋषिकुमारों की बात सुनकर शौनक जी बड़ी ही नम्रता के साथ हाथ जोड़े हुए, मुनि से कहने लगे—"भगवान् की आज्ञा ही हमारे लिये यथेष्ट थी। तिस पर भी इन सब ऋषि कुमारों की भी इच्छा है फिर इससे बढ़कर और चाहिये ही क्या? हम सब यहीं रहकर भगवान् के चरणों की उपासना करेंगे और भगवान् की छत्र-छाया में रह कर सुखपूर्वक

भगवान् की आज्ञा तथा उपदेशों के अनुसार अपने जीवन को बितावेंगे।"

इसके अनंतर सभी भगवान् भरद्वाज के चरणों की वन्दना करके ऋषि के बताये हुए स्थान में अपनी-अपनी अलग-अलग पर्णकुटी बनाकर निवास करने लगे। कई महीनों तक वे श्रीभरद्वाज-आश्रम मे रहकर ही घोर तप करते रहे। थोड़े दिन के अनंतर ही माघ का महीना आया। सूर्यदेव मकर राशि पर स्थित हुए। माघ-मकर में तीर्थराज प्रयाग में स्नान का अनंत फल है। जिस समय की यह बात है उस समय धर्म का इतना ह्रास नहीं हुआ था। कलियुग आ तो गया था; किन्तु उसके पैर जमे नहीं थे। लोगों में धर्म की भावना भली-भाँति विद्यमान थी। सहस्रों राजे महराजे अपने सेवक-सेनाओं के सहित सैकड़ों कोस से आकर गंगा-यमुना की भूमि में मकर भर कल्पवास करते थे। तब तक ऋषियों ने इस भूमिका परित्याग नहीं किया था। वे, स्थूल शरीर से अवनि पर विद्यमान थे। माघ-मकर में वे सब एकत्र होते। हजारों लाखों गाड़ियों मे ऋषि-मुनियों के यज्ञ की अग्नियाँ और सामग्रियाँ आतीं। प्रयाग के बीसों कोस को तीनों किनारों की भूमि भर जाती। भगवान् भरद्वाज के आश्रम में तिल रखने को भी जगह न रहती। कमल के कोष में जैसे एक के पश्चात् दूसरी छोटी बड़ी कलियाँ सटी रहती हैं, वैसे ही महर्षि का आश्रम ऋषि, मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किंपुरुष तथा मनुष्यों से भर जाता। उसमें सदा वेदध्वनि होती रहती, सैकड़ों हजारों नर-नारी राजा, राजपुत्र, महर्षि के दर्शनों के लिये आते-जाते रहते। महर्षि अपनी योग-शक्ति से सभी का श्रद्धा-सहित यथोचित-सत्कार करते, सभी की कुशल पूछते। इतने पर भी आश्रम में सर्वदा

शान्ति विराजती रहती, किन्तु शौनकजी बाहिरी भीड़-भाड़ से घबड़ाते थे। वे इतने जन-समूह को देखकर व्यथित होते थे। उनका मन शान्त एकान्त चाहता था। अकेले होते तो कहीं भी एकान्त स्थान मे पड़ रहते, किन्तु उनके साथ सैकड़ों और भी ऋषि-मुनि थे। वे सोचने लगे—'तीर्थराज तो महान् क्षेत्र है। इसमें चारों दिशाओं से सदा मनुष्य आते जाते ही रहेंगे। हमें तो कोई ऐसा स्थान चाहिये जो पवित्र तो अत्यत हो, किन्तु इतना विशाल और महान् न हो। उसकी प्रसिद्धि भी इतनी न हो, वहाँ बैठकर ही हम अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं। यह सोचकर वे ऋषि के समीप अपने साथियों सहित गये। उनकी चरण-वदना करके वे एक ओर चुपचाप बैठ गये। महर्षि के समीप बहुत से नवागत ऋषि, मुनि, तपस्वी, राजा, राजकुमार बैठे थे। उन सब से घिरे हुए महर्षि ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे देवताओं से घिरे हुए देवगुरु बृहस्पति हों। महाप ने सबसे कुशल पूछी, सभी का यथोचित स्वागत-सत्कार करके वे मुनि शौनकजी से बोले—"शौनक, तुम सब ऋषियों के अग्रणी हो। तुम्हारी आकृति से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम कुछ कहना चाहते हो। तुम्हें जो कहना हो कहो। अब यहाँ ऐसा कोई नहीं, जिसके सामने तुम अपनी गुप्त से गुप्त बात भी न कह सको।"

हाथ जोड़े हुए शौनकजी ने कहा—"नहीं ऐसी कोई बात नहीं। भगवान् की चरण-वदना के ही निमित्त हम सब चले आये। इस अनत सागर के समान भीड़ को देखकर हम चकित हो रहे हैं और इससे भी अधिक आश्चर्य मे हम भगवान् का गाम्भीर्य तथा साहस डाल रहा है। इतने लोगों के आने-जाने से भी भगवान् के हृदय में कोई क्षोभ नहीं, कोई उद्वेग नहीं।

सुमेरु के समान भगवान् का धैर्य अचल है। उसमें एक भी लहर नहीं उठती।"

शौनकजी की बात सुनकर भगवान् भरद्वाज बड़े जोर से हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"मालूम होता है तुम इस भीड़-भाड़ से घबड़ा गये। यह महीने दो महीने ही ऐसी भीड़ रहती है। फिर तो लोग मकर बीताने पर अपने-अपने स्थानों को चले जाते हैं। क्यों? तुम्हें यह भीड़-भाड़ अच्छी नहीं लगती क्या?"

शौनकजी ने सकोच के स्वर में कहा—'अच्छी क्यों नहीं लगती? धर्मात्मा लोगों के दर्शन होना ही बड़े भाग्य की बात है, किन्तु इस भीड़-भाड़ में हम जैसा चाहते हैं वैसा साधन होने नहीं पाता। यह स्थान तो या तो आप जैसे सिद्ध के उपयुक्त है या जो अकेले या १०।५ हों, उनके लिये अथवा जो कुछ ही समय वास करना चाहें उनको ठीक है। मैं तो एक ऐसा स्थान चाहता हूँ जो बहुत प्रसिद्ध तो हो नहीं, परन्तु परम पावन हो, एकान्त हो, साधन में सहायक हो, आवश्यक सामग्रियों से भरा पूरा हो। आगे फिर जैसी भगवान् की आज्ञा हो।"

भगवान् भरद्वाज ने थोड़ी देर ध्यान करने के अनन्तर कहा—'शौनक! तुम्हारा सकल्प सुन्दर है। तुम दीर्घ सत्र के लिये शान्त, एकान्त, रमणीय निरापद कद मूल फलों से परिपूर्ण, निरुपाधिक, परम-पवित्र यज्ञीय स्थान चाहते हो। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम एक काम करो। यहाँ भगवान् माधव १२ रूप बनाकर वास करते हैं। तुम त्रिवेणी तटपर जाकर उनका ध्यान करो। वे ही तुम्हें स्वय प्रकट होकर हित का उपदेश करेंगे तथा उपयुक्त पावन स्थान भी बता देंगे।"

'जो आज्ञा !' कह कर समस्त ऋषियों के सहित शौनकजी ने महर्षि की चरण-वन्दना की और उनकी आज्ञा लेकर अपने साथियों सहित सगम के समीप जाकर, सावधानी और सयम के साथ भगवान् माधव की आराधना करने लगे। थोड़े ही काल मे भक्त-भय-हारी, वाञ्छा-कल्पतरु घट-घट-व्यापी, भगवान् माधव शख चक्र, गदा, पद्म आदि आयुधों सहित शौनकादि

ऋषियों के सम्मुख प्रकट हुए। नव जलधर के समान, अलसी के पुष्प के समान, नील कमल के समान आभावाले उन चतुर्भुज माधव के दर्शन करके सभी के मुख-कमल खिल गये। वे प्यासे पुरुष के समान भगवान् की अनिर्वचनीय रूप माधुरी का एकटक भाव से पान करने लगे। उनके नेत्र भगवान् की मनमोहिनी, त्रैलोक्य-सुन्दरी, चित्त को हरनेवाली माधुरी मूर्ति

के दर्शनों से तृप्त ही नहीं होते थे। उन्होंने विधिवत् भगवान् की पूजा की और दिव्य स्तोत्रों से स्तुति की। उनकी पूजा और प्रार्थना से प्रसन्न होकर प्रणतपाल प्रभु बोले—"ऋषियो ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम जो भी चाहो अपना अभीष्ट वर मुझसे माँग लो।"

हाथ जोड़े हुए महर्षि शौनकजी ने सब की ओर से निवेदन किया—"हे माधव ! जब साक्षात् आप ही हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो गये, तब हमें फिर अन्य वांछा ही क्या रही ? समस्त साधन आपके दर्शन होने के लिये ही किये जाते हैं। आपके देव दुर्लभ दर्शनों से दैहिक दैविक आदि समस्त दुःख दूर हो जाते हैं। जीव सहज में ही आपके दर्शनों से आवागमन के चक्र से छूटकर मुक्त हो जाता है। फिर भी हम जीवनयापन के लिये, शेष आयु को आपकी ही आराधना में बिता सकें, ऐसा कोई परमपावन शान्त एकान्त मनोरम स्थान सत्र के लिये हमें बतावें, जहाँ बैठकर ये सभी ऊर्ध्वरेता ऋषि शान्ति के साथ तपस्या-आराधना कर सकें।"

शौनक मुनि के ऐसे विनय-युक्त वचन सुनकर वरदानियों में श्रेष्ठ श्रीहरि बोले—"ऋषियों ! मेरा यह अत्यन्त जाज्वल्यमान कोटि-सूर्य-सम-प्रकाशवाला चक्र आपके आगे-आगे चलेगा। जिस स्थान में जाकर इसकी 'नेमि' गिर जाय, उसी स्थान को आप परम पवित्र समझकर, सहस्र वर्षोंवाला सत्र आरम्भ कर दें।" इतना कहते-कहते भगवान् तुरन्त ही वहीं के वहीं अन्तर्धान हो गये।

क्षण भर में यह बात समस्त प्रयाग क्षेत्र में फैल गयी। ऋषियों के झुंड के झुंड महर्षि शौनक के समीप आ-आकर

आग्रह करने लगे—"हम भी आपके साथ चलेंगे। हम भी आपके सत्र में दीक्षा लेंगे।" इस प्रकार हजारों ऋषियों ने आकर शौनकजी को घेर लिया। महर्षि शौनक ने सभी से बड़ी विनीत वाणी में कहा—"ऋषियो! जिन्हें संसारी भोगों की इच्छा न हो, जो जीवन पर्यन्त-ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी रहकर विधिवत् ब्रह्मचर्य और नियमों का पालन करें, वे ही हमारे साथ चलें। गृहस्थी ऋषि-मुनि वहाँ कृपाकर जाने का विचार न करें।"

महर्षि शौनक के ये वचन सुनकर सभी ने कहा—"हम जीवन-भर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहेंगे। और भी जो आप आज्ञा देंगे उसका पालन करेंगे। आप हमारा त्याग न करें। हमें अवश्य-अवश्य साथ ले लें।"

जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा करता, उसे ही ऋषि रखते। इस प्रकार होते-होते वे सब ८८ हजार हो गये। भगवान का धर्मचक्र चला और उसके पीछे-पीछे वे ८८ हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि चले। गंगाजी को पार करके वह चक्र लक्ष्मणपुर सीतापुर होता हुआ पुण्यतोया भगवती गोमती के तट पर एक घोर आरण्य में जाकर रुक गया। धर्मचक्र की नेमि जहाँ विशीर्ण हुई, उस अरण्य का नाम ऋषियों ने 'नैमिषारण्य' रख दिया। भगवान् की ऐसी ही आज्ञा थी। उसी स्थान को यज्ञ के लिये परम पावन स्थली समझकर मुनियों ने वहाँ दीर्घ सत्र करने का निश्चय किया। ऊँची नीची पृथ्वी को समान किया गया। ऋषियों ने पुण्यतोया गोमती के तट पर एक ऊँची समतल भूमि में शास्त्रीय विधि से वेदी बनायी। समीप के ही विशालवट के नीचे कथावार्ता के लिये चतुष्कोण सुन्दर चबूतरा बना। वेदी के तीनों ओर ऋषियों ने अपनी-अपनी सुन्दर पर्णकुटियाँ बनायीं। दक्षिण की ओर नदी बह रही थी। थोड़े ही समय में

वह स्थान ब्राह्मी श्री से शोभित होने लगा। उस स्थान की शोभा निरखकर शौनकादि सभी ऋषि-मुनि परम प्रसन्न हुए। महर्षि शौनक सब के प्रधान कुलपति माने गये। उन्होंने शास्त्रीय विधि से सहस्र वर्ष में समाप्त होनेवाले महायज्ञ की दीक्षा ली। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, देवता, यक्ष, राक्षस सभी उस महा यज्ञ को देखने आये। उस स्थल में पहिले १२ वर्ष में समाप्त होनेवाला यज्ञ आरम्भ किया, फिर अन्यान्य यज्ञों का भी निर्णय हुआ। इस प्रकार "नैमिषारण्य" समस्त कथा, वार्ता, इतिहास-पुराणों की संसार में प्रसार करनेवाली पावन भूमि बन गई। चीर, वल्कल, मृग-चर्म, दंड, कमण्डलु, समिधा, मेखला, कुश, ब्रह्मदण्ड आदि ऋषियों के समान इधर उधर बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। यज्ञीय सामग्रियों से वह स्थान व्याप्त हो गया।"

छप्पय

कहीं परे कुश कहीं कमण्डलु जलके सोहें।
मत्त मृगनिके झुंड, मुनिनके मनकूँ मोहें॥
समिधा, वल्कल, चीर, मूल, फल, फूल सुहावें।
भई भोर सुर, असुर, नाग, किन्नर, नर आवें॥

यज्ञभूमि पावन परम, सब विधि सुखद शरण्य है।
शौनकादि सुखतें बसहिं, नाम नैमिषारण्य है॥

———

श्रीसूत

(४)

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः ।
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ॥१
(श्रीभा० १ स्क० १ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

पृथ्वीपति पृथुराज आदि भूके भूपाला ।
विषय भूमि सम करी रचे पुर नगर विशाला ॥
मागध सूत बनाय बहुत विधि विनती कीन्हीं ।
दये देश द्वै मुनिनि वृत्ति याचक करि दीन्हीं ॥
क्षत्रिय पितु माँ ब्राह्मणी, सकरतातैं सूत हैं ।
उग्रश्रवा अति विमल मति, कथा कहनतैं पूत हैं ॥

पहिले जब पृथ्वी पर राजा वेन राज्य करते थे, तब सर्वत्र अधर्म फैल गया था। महाराज वेन के पिता ने मृत्यु की लड़की के साथ विवाह किया था, इसीलिये उससे जो पुत्र

---

१ एक समय प्रात काल अपने अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों से निवृत्त होकर, मुनियों ने—जिनका विधिवत् सत्कार किया गया है, ऐसे पास में ही विराजमान सूतजी से—बड़े आदर के साथ यह प्रश्न पूछा ।

उत्पन्न हुआ, उसमें अपने नाना के ही सब गुण आये। उसने यज्ञ, योग, धर्म, कर्म, सभी बन्द करा दिये। इस पर ऋषियों ने

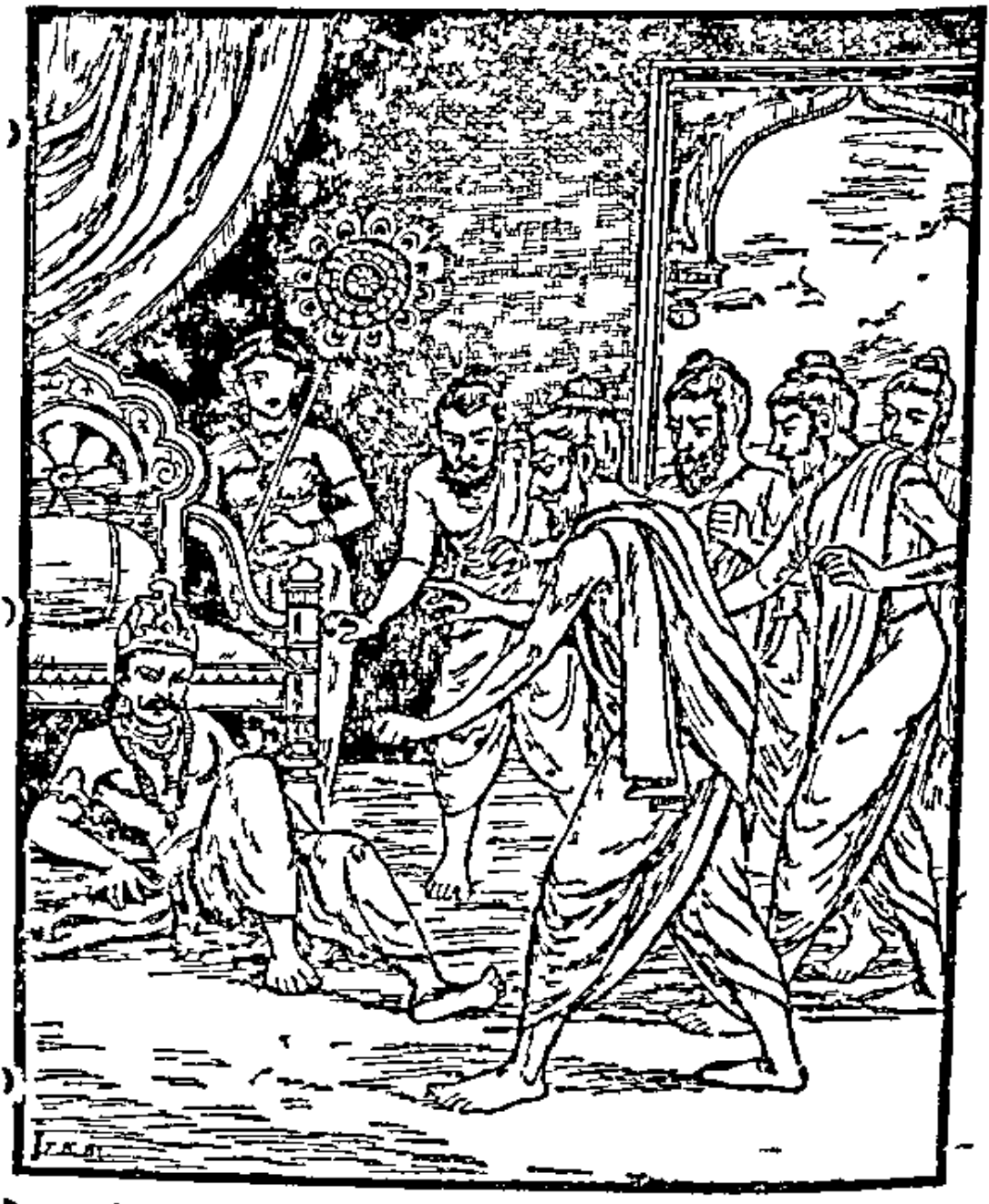

क्रोध पूर्वक हुङ्कार करके उसे मार डाला। उसके मृतक अंग को मथन करने से भगवान् के अंशावतार महाराज पृथु उत्पन्न हुए। उन महाराज पृथु ने बहुत से यज्ञ किये। प्रथम उनके यहाँ एक

यज्ञ हुआ जिसके प्रधान देवता इन्द्र थे। इसलिये उस यज्ञ का नाम ऐन्द्र यज्ञ हुआ। बृहस्पति भी सूर्यादि ग्रहों के सहित वहाँ स्थित थे। नियमानुसार पहिले गुरु को हवि देकर तब शिष्य को देनी चाहिये। उस यज्ञ मे उलटा हो गया, पहिले इन्द्र को देकर तब बृहस्पति को हवि दी गयी। ऐसा सङ्कट होने से ही सूति में सङ्कर वर्ण वाले सूत की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मणी के क्षेत्र मे क्षत्रिय वीर्य से उत्पन्न होनेवाली जाति को सूत कहते हैं। यह सङ्कर जाति है। सङ्कर जाति दो प्रकार की होती है, अनुलोम सङ्कर और प्रतिलोम सङ्कर। उच्चवर्ण के पुरुष के द्वारा हीनवर्ण की स्त्री में जो संतति होती है, उसे अनुलोम सङ्कर कहते हैं। जैसे ब्राह्मण से क्षत्रिय जाति की स्त्री मे, क्षत्रिय से वैश्य स्त्री में वैश्य से शूद्र स्त्री मे, ये सब अनुलोम सङ्कर जाति हैं। कहीं-कहीं तो स्मृतिकारों ने इन जातियों को माता की जाति में गिना है और कहीं-कहीं मातृ जाति से श्रेष्ठ और पिता की जाति से कुछ नीचा माना है। जैसे ब्राह्मण के द्वारा क्षत्रिय पत्नी मे जो सन्तान हो उसे 'मूर्धाभिसिक्त' कहा है। सङ्कर जाति की वृत्ति उनके मातृकुल से ही स्मृतिकारों ने निश्चित की है। प्रतिलोम सङ्कर जाति को हेय माना गया है। कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आता है, कि इनकी कन्याओं को क्षत्रिय ग्रहण कर लेते थे। इनके संस्कार द्विजातियों की भाँति होते हैं। इन्हें यज्ञोपवीत, सन्ध्या-वन्दन आदि का भी अधिकार है। महाराज पृथु के यज्ञ मे सूत-मागध इन दोनों ने राजाधिराज वैन्य की स्तुति की। इनकी स्तुति से प्रसन्न होकर महाराज ने सूत को तो सूत देश और मागध को मागध देश (गोरखपुर के आस-पास का प्रदेश) पारितोषिक में दिये। वहीं पर ऋषियों ने सूत जाति की यह वृत्ति निश्चित कर दी कि ये देवता, ऋषियों और राजाओं के

वंशों की पौराणिक कथाएँ कहा करेंगे। इतिहास-पुराण की कथा कहने का इन्हें अधिकार है, वेदों को छोड़ कर। वेदों का अधिकार इन्हें नहीं दिया गया। इस प्रकार सूत-जाति का सनातन धर्म इतिहास-पुराणों की कथा कहना ही है।

भगवान् व्यास ने जब एक वेद को अत्यन्त संक्षिप्त बनाकर उसकी भी चार छोटी-छोटी संहिताएँ बना दीं, तब उन्होंने पुराणों का भी विभाग किया। पुराण करोड़ों की संख्या में थे। उनमें से भगवान् व्यास ने चार लक्ष श्लोक निकालकर उन्हें १८ भागों में विभक्त कर दिया। वेद की ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन संहिताओं को क्रमश अपने पैल जैमिनि वैशम्पायन और सुमन्तु इन चारों शिष्यों को पढाया। इतिहास और पुराणों की शिक्षा भगवान् व्यास ने सूत जाति के अपने प्रिय शिष्य लोमहर्षण जी को दी।

लोमहर्षण बड़े धर्मात्मा थे। व्यास जी के परम प्रिय शिष्य थे। जब शौनकादि महर्षियों ने नैमिषारण्य में अपना यज्ञ आरम्भ किया, तो लोमहर्षण को बुलाकर कथा-वाचक के प्रधान पद पर नियुक्त किया ऋषि सर्व-समर्थ हैं, वे जिसे जो चाहें बना दें। वेद-मन्त्रों से पाषाण की प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा करके उसमें देवत्व स्थापित कर देते हैं। उनके वचन ही शास्त्र होते हैं। उनकी आज्ञा आर्ष-वचन कहकर सर्वत्र मान्य समझी जाती है। ऋषियों ने नैमिषारण्य के यज्ञ में लोमहर्षण सूत को ब्रह्मासन प्रदान किया। समस्त ऋषि मुनि नीचे बैठकर कथा सुनते, वे उच्चासन पर बैठकर सब को भाँति-भाँति की कथाएँ सुनाते।

उसी समय तीर्थयात्रा करते-करते कृष्णाग्रज, हल-मूसल-धारी भगवान् बलदेव जी वहाँ ऋषियों के यज्ञ में आ पहुँचे। सब ऋषियों ने उठकर उन्हें अभ्युत्थान दिया। उनका स्वागत-सत्कार करके कुशल-क्षेम पूछी, किन्तु लोमहर्षण जी अपने उच्चासन पर ही डटे रहे। नियम तो ऐसा ही है, कि व्यासासन पर बैठे हुए पुरुष को किसी को अभ्युत्थान न देना चाहिये, फिर भी इसमें अपवाद होता है। कोई बहुत विशिष्ट व्यक्ति आवे, तो व्यासासन से भी उसका यथोचित सम्मान सत्कार करना चाहिये। बलराम जी तो साक्षात् शेष जी के अवतार ही थे।

चतुर्व्यूह में ये साक्षात् संकर्षण ही हैं। जब इतने बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों ने—क्षत्रिय होने पर भी—श्रीबलरामजी का उठकर स्वागत सत्कार किया, उनकी भगवद्-बुद्धि से पूजा की, तो सूतजी को भी उनका सम्मान करना ही चाहिये, किन्तु भावी-

वश उन्होंने कुछ भी नहीं किया। इस पर संहार-शक्तिवाले संकर्षण भगवान् को क्रोध आ गया। यद्यपि तीर्थ-यात्रा के व्रत में व्रती होने के कारण वे न्यस्त-शस्त्र थे। उन्होंने प्रिय शस्त्र हल-मूसल तक का त्याग कर रखा था, फिर भी दिव्य अस्त्र तो उनके संकल्प में स्थित ही थे। हाथ में जो कुशों का मूँठा लिये हुए थे, उसी में से एक कुशा निकालकर उसमें ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके उन्होंने सूतजी पर प्रहार किया। सूतजी तत्क्षण निष्प्राण होकर आसन से नीचे गिर पड़े।

ऋषि-मंडली में हाहाकार मच गया। 'महाभाग! आपने यह क्या किया? आपने इन्हें मार क्यों डाला! हमने तो इन्हें जान बूझ कर ब्रह्मासन दिया और इन्हें सहस्र वर्ष की आयु भी प्रदान कर दी थी। जब तक हमारा यज्ञ समाप्त नहीं होता, तब तक इनकी किसी भी तरह मृत्यु नहीं थी। आपने ब्रह्मास्त्र छोड़कर यह अनुचित कार्य किया। आपको ब्रह्महत्या के समान पाप लगा। यद्यपि आप पाप पुण्य से परे हैं, फिर भी आपने मनुष्य-देह धारण की है। इसका आपको प्रायश्चित्त करना चाहिये।"

रिषियों के वचन सुनकर बलदेव जी ने कहा—"ऋषियों, मैंने भूल में ऐसा कर डाला। अब आप जो कहें वह मैं करने को तैयार हूँ।"

ऋषियों ने कहा—"देव! हमारा आशीर्वाद निष्फल न हो।"

बलदेव जी ने कहा—"तो क्या मैं इसे अपने योग-बल से जिला दूँ?"

ऋषियों ने कहा—"तब आपका ब्रह्मास्त्र निष्फल हो जायगा। हमें कभी व्यर्थ न होनेवाले ब्रह्माजी के अमोघ अस्त्र का अपमान करना अभीष्ट नहीं।"

"तब फिर आप जैसी आज्ञा करें?" बलदेव जी बोले।

"आप जो उचित समझें वही करें। हमारा वरदान भी सत्य हो; आपका अस्त्र भी निष्फल न हो।" ऋषियों ने सर्व सम्मति से उत्तर दिया।

तब बलदेव जी ने कहा—"अच्छा, आत्मा से उत्पन्न होने के कारण पुत्र को अपना ही रूप बताया है; अतः इनके समस्त गुण, समस्त ज्ञान, समस्त वरदान इनके पुत्र उग्रश्रवा के शरीर में विद्यमान हो जायँ। वे ही आपके यज्ञ को यथावत् पूर्ण करें। वे ही आपको समस्त इतिहास-पुराणों की कथा सुनावें।"

ऋषियों ने 'साधु! साधु!' कहकर इसे स्वीकार किया। तभी से उग्रश्रवा पुराणों के वक्ता बने। उग्रश्रवा कभी-कभी नैमिषारण्य छोड़कर इधर-उधर भी चले जाते थे। शौनकादि ऋषियों ने अपना यह सत्र महाभारत होने के बहुत पहिले ही आरम्भ कर दिया था, क्योंकि श्रीबलदेव जी महाभारत के ही समय तीर्थ-यात्रा के निमित्त नैमिषारण्य आये थे। उस समय वहाँ सत्र चल रहा था। महाभारत यज्ञ में कौरव-पक्षीय सब मारे गये। महाराज युधिष्ठिर चक्रवर्ती राजा हुए। उन्होंने लगभग तीस वर्ष राज्य किया। जब श्रीभगवान् स्वधाम को पधार गये तब पाण्डव भी अपने पौत्र महाराज परीक्षित् को राज्य देकर हिमालय की ओर महाप्रस्थान के पथपर अग्रसर हुए। इसके अनन्तर लगभग तीस वर्ष महाराज परीक्षित् ने राज्य किया। जब श्रीशुकदेव जी

गङ्गातट—शुकदेव-आश्रम—पर महाराज परीक्षित् को श्रीमद्-भागवत सुना रहे थे, तब ये परम बुद्धिमान् उग्रश्रवा सूतजी भी वहाँ उपस्थित थे। इनका नाम ही उग्रश्रवा ठहरा। इनकी, श्रवण करके धारण करने की शक्ति बहुत ही उग्र थी। श्री शुकदेव जी से जो भी उन्होंने सुना, उसे यथावत् धारण कर लिया। फिर नैमिषारण्य के सत्र में आ गये। इनके पिता लोमहर्षण भी ऋषियों को अनेक पुराणों की, धर्मशास्त्र तथा इतिहासों की कथा सुनाते थे, उनके अनन्तर ये भी सुनाते रहे। मालूम होता है ऋषियों ने श्रीमद्भागवत को अपने सत्र के अन्त में सुना। तभी तो यज्ञ की अपेक्षा भागवत-कथा के प्रति इन सब का अत्यधिक अनुराग बढ़ गया था। ऋषियों ने सूतजी से स्पष्ट कहा—"हे सूतजी! आप बहुत दिन तक जीवें, क्योंकि आप हमें भगवान् अनन्त की अमृतोपम कथा सुना रहे हैं। यह कथा इन मरणशील पुरुषों के लिये अमर बना देनेवाली जीवन-मूरि है। हम जो यह यज्ञ कर रहे हैं इसका फल निश्चय नहीं। तनिक भी विधि की त्रुटि हो जाय तो सब किया कराया निष्फल। साङ्गोपाङ्ग निर्विघ्न समाप्त हो जाय, तब तो इससे स्वर्गादि फल मिल सकता है, नहीं तो इसमें केवल श्रम ही श्रम है। सच तो यह है कि इस यज्ञ के काले धुएँ से हमारा मन भी सदा शङ्कित—धूम्र वर्ण का—हो गया है। बस, इससे यही एक परम लाभ है, कि तुम हमें श्रीगोविन्द भगवान् के पादपद्मों का मधुमय मत्त कर देनेवाला अद्भुत आसव पिला रहे हो। इसे पीकर हम तृप्त हो रहे हैं।"

इस प्रकार ऋषियों का मन सदा श्रीकृष्ण गुणानुवाद में ही फँसा रहता था। सब कथा सुनने के अन्तर

एक दिन ऋषियों के मनोगत भाव को समझकर श्रीशौनकजी ने सूतजी से एक अत्यन्त ही अद्भुत प्रश्न किया, जिसका वर्णन आगे होगा।

सोरठा

कही कथा कमनीय, शौनकादितें सूतजी।
हर्षित होवे हीय, भव-भय-भजन होय सुनि ॥१॥
आये मरुमहँ सूत, अति प्रसन्न सब मुनि भये।
करि पूजा अति पूत, शौनकजी पूछन लगे ॥२॥

सर्वोत्कृष्ट प्रश्न

(५)

तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद् विनिश्चितम्।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥*

(श्रीभा० १ स्क० १ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

पढे शास्त्र इतिहास पुराणादिक सब तुमने।
कही कथा अति मधुर सुनी श्रद्धातैं सबने॥
सब शास्त्रनिको सार सूतजी शीघ्र सुनाओ।
कृष्ण-चरित कहि पुण्य प्रेम पीयूष पिलाओ॥
शास्त्र-ज्ञान पय दधि करहु, मथि तिहि सार जनाइदें।
सट्टो मट्टो पृथक् करि, मक्खन मधुर चखाइदें॥

मनुष्य जब बहुत सुनते-सुनते थक जाता है, तो उसके मन में सार वस्तु समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह सर्वोत्कृष्ट सारातिसार तत्त्व को समझने के लिये लालायित होता है।

---

*हे आयुष्मन् सूतजी! आपने सब शास्त्रों में मनुष्यों के कल्याण के लिये, जो सर्वोत्कृष्ट कभी भी व्यर्थ न होनेवाला अमोघ साधन सरलता के साथ सर्वसम्मत समझा हो उसी सर्वश्रेष्ठ साधन को हमसे कहिये।

परस्पर में अनुकूल-प्रतिकूल बातें सुनकर साधारण लोगों के चित्त भ्रम में पड जाता है। वह सोचता है—यह करें या वह ? अंत में वह विवाद की बातों को त्यागकर सर्वसम्मत सिद्धान्त सुनने को व्याकुल हो उठता है।

यही सब सोच समझकर श्रीशौनकजी ने श्रीसूतजी से सर्वोत्कृष्ट सारवस्तु का प्रश्न किया। शौनक जी बोले—"महाभाग सूतजी ! आपके परम बुद्धिमान् पिताजी हम परम विचित्र विचित्र कथाएँ सुनाया करते थे। उनसे हमारा मनोरंजन भी होता था और ज्ञान की वृद्धि भी होती थी। लोमहर्षण जी के ज्ञान की थाह नहीं थी, क्योंकि तुम्हारे पिता ने भगवान् के अवतार श्रीव्यास जी की चिरकाल तक सेवा करके, उनसे ज्ञान प्राप्त किया था। वही समस्त ज्ञान बिना कठिन सेवा किये ही, भगवान् बलदेवजी की कृपा से और इन ऋषियों के अनुग्रह से, अनायास ही तुम्हें प्राप्त हो गया है। तुमने सब शास्त्रों को पढा और सुना है। आज हम तुमसे एक परम उत्कृष्ट सारातिसार प्रश्न करते हैं। उसे तुम समाहित चित्त से सुनो और सुन कर उसका यथातथ्य उत्तर दो।

देखो, शास्त्र अनन्त हैं, उनका कोई वारापार नहीं। ज्ञानभंडार अथाह है, कोई भी प्राणी उसका पार नहीं पा सकता। ऋषि अनेक हैं, सभी ने अपनी अपनी अनुभूति के अनुसार अनेक सुन्दर साधनों का कथन किया है। कुछ साधन देखने में परस्पर एक दूसरे के विपरीत से भी प्रतीत होते हैं। कभी कभी बहुत सी बातों को सुनकर चित्त विभ्रम में भी पड जाता है। अब तक तो हमने जो पूछा, उसीका तुमने शास्त्रानुसार उत्तर दिया। जैसे पद्म की कथा पूछने पर तुमने वही सुना दी। अब हम तुम्हारे ऊपर छोडते हैं। समस्त शास्त्रों को पढ

कर तुमने जो सर्वश्रेष्ठ सार समझा हो, आज तुम हमें वही सुना दो। यह ठीक है, कि अनधिकारी के सन्मुख कभी भूल कर भी उपदेश न करना चाहिये और बिना पूछे भी किसी से न कहना चाहिये, किन्तु जो अपना भक्त हो, अपने में स्नेह रखता हो और अपने शासन में हो, उससे उसके हितकी बात बिना पूछे भी कह देनी चाहिये, सो हम तो पूछ रहे हैं। तुम में स्नेह रखते हैं, तुम्हारा सत्कार करते हैं, अत. तुम हम से अपने मनकी बात छिपाओ मत। आज सब खोलकर यथार्थ बात बता दो।

तुम यह भी नहीं कह सकते, कि मैंने तो जैसा कुछ सुना है, पढ़ा है, वह आपके सामने कह दिया। मैं सार वस्तु को क्या जानूँ, सो यह बात भी नहीं हो सकती, क्योंकि तुम्हारे ऊपर भगवान् व्यासदेव की बाल्य-काल से ही कृपा है। अन्य ऋषि भी तुमसे स्नेह रखते हैं। सभी ने तुम्हें अपने आन्तरिक भाव बताये हैं, तुम स्वयं भी बड़े बुद्धिमान् हो। तुमने भी सब पढ़ सुनकर सबका अंतिम निचोड़ निकाला ही होगा। उसी निचोड़ को आज सुना दो।

तुम कह सकते हो—महाराज! आप इतनी शीघ्रता कर क्यों रहे है। सब सुनते चलिये, पीछे अपने आप ही सार तत्त्व समझ में आ जायगा। सो भैया, इतना समय कहाँ है? विशेष कर कलियुगी जीवों के पास। यद्यपि हमारे इस यज्ञ में काल की, कलियुग की, मृत्यु की, किसी की भी बाधा नहीं, किन्तु हमें तो आगे पीछे का सभी विचार करना है। अब आगे कलियुग में बड़े क्रूरकर्मा, मन्दमति पुरुष होंगे। दिन-रात्रि संसारी प्रपंचों में ही व्याप्त रहेंगे। उन्हें परमार्थ-चिन्तन को समय ही न रहेगा। सभी जीव अल्पायु होंगे, अधिकांश समय शरीर के भरण-

पोषण में तथा कुटुम्ब की चिन्ता में ही बीत जायगा। वे लोग सब शास्त्रों का श्रवण-मनन करके अपनी बुद्धि से सारासार का निर्णय न कर सकेंगे। फिर "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" प्रत्येक साधन में—प्रत्येक कार्यों में—बड़े-बड़े विघ्न भाँति-भाँति के उपद्रव होंगे। उन कलियुगी जीवों की बुद्धि भी बहुत विशाल न होगी। स्वतः सहसा किसी बात का सर्व-सम्मत निर्णय भी कठिन हो जायगा। इसलिये तुम हमें यह मत बताओ कि यह बात उस शास्त्र में यों लिखी है। जो लिखी है, सब ठीक है, उसे अब तक सुना भी है। अब तो तुम अपने मन से शास्त्ररूपी दधि को मथकर सुन्दर, स्वच्छ, सोंधा, स्वादिष्ट, शुभ्र नवनीत हमारे सामने रख दो, जिसके खाने से जिह्वा भी तुष्ट हो, शरीर भी पुष्ट हो और बुभुक्षा भी शान्त हो। अब दूध, दही, छाछ में हमारी रुचि रही नहीं। यद्यपि हम यह जानते हैं, कि नवनीत दूध से ही निकाला जाता है, किन्तु निकालने की चातुरी से उसमें सबसे अधिक स्वाद होता है। सब निकाल भी नहीं सकते। इसी भाँति हम यह नहीं कहते कि तुम शास्त्र के बाहर की बातें बताओ। नहीं, तुम कहो शास्त्रों की ही बातें, किन्तु अब विस्तार मत करो, सार बात संक्षेप में बता दो। हम इसके लिये बड़े उत्सुक हैं, श्रद्धावान् हैं, इसलिये अब देर मत करो। उसे सुनकर हमारा रोम-रोम प्रसन्न हो जायगा। हमें परम शान्ति प्राप्त होगी।

तुम कहोगे—आपने भी तो सब शास्त्रों का श्रवण किया है, आप सर्व-साधन-सम्पन्न हैं, सदा सर्वदा शास्त्र-चिंतन तथा सत्संग में ही समय बिताते हैं, आपने भी तो कुछ सार समझा होगा। पहिले आप बताइये, आपने क्या सर्वश्रेष्ठ

निश्चय किया ? आपको कौन सी वस्तु अधिक रुचिकर प्रतीत हुई ? किसे सुनकर, आपका हृदय हुलसित हुआ ? प्रेम की हिलोरें किसके श्रवण से अधिक उठने लगीं ? तुम मेरा भी निर्णय सुन लो और यदि हमारा तुम्हारा निर्णय एक-सा ही हो, तो तुम अब इधर-उधर की सभी बातों को छोड़कर उसी का कथन करो।

सूतजी ! मैंने तो यह समझा है कि "श्रीकृष्ण" यही सार है। अब आप कहेंगे श्रीकृष्ण क्या ? कृष्ण माने 'काला'। तो काला रंग सार है या 'कृष्ण, दो वर्ण वाला नाम सार है। सो, सूतजी ! नाम और नामी में परस्पर कोई भेद नहीं हुआ करता। 'उग्रश्रवा' कहते ही हमारे सम्मुख उग्रश्रवा सूत की सौम्य मूर्ति आ जाती है। यह सत्य है, कि श्री भगवान् इन प्रकृति नाम-रूपों से परे हैं। वे मायिक जगत् की सीमा में आबद्ध नहीं; किन्तु जब वे नर-रूप में अवतरित होते हैं, तो उनके अचिन्त्य दिव्य कर्म सर्वदा अलौकिक होते हैं और वे सुनने पर संसार से पार करने में समर्थ होते हैं। हमने ऐसा सुना है, कि स्वयं साक्षात् श्रीहरि ने धराधाम पर देवकी-वासुदेव के यहाँ अवतरित होकर दिव्य मानुषीय क्रीड़ाएँ की हैं। उन्हीं कमनीय क्रीड़ाओं का कथन आप हम श्रद्धालुओं के सम्मुख कीजिये। श्रीकृष्ण की लीलाओं का स्वारस्य और माहात्म्य तो अनंत है। केवल उनके नाम में ही इतनी शक्ति है, कि अनिच्छा से भी यदि कोई भगवान् के नामों का उच्चारण करता है, तो वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त हो जाता है। वे श्रीहरि काल के भी काल, मृत्यु के भी मृत्यु और भय को भी, भय देनेवाले हैं।

आप कहेंगे कि आप उनके नाम, लीला, गुण, कीर्तन के ही लिये इतना आग्रह क्यों करते हैं ? सो हम करें भी तो क्या, जितने भी बड़े-बड़े बुद्धिमान् विद्वान् ऋषि, महर्षि हुए हैं सभी ने तो उन्हीं के दिव्य कर्मों का कथन किया है। क्योंकि उनकी महिमा ही अनन्त है। उनके सम्पूर्ण श्रीअङ्ग की महिमा को तो जाने दीजिये। एक अङ्ग के संसर्गी की महिमा पर ही विचार कीजिये। शरीर के मल आदि दोषों से, क्षुद्र पातक और उपपातकों से अथवा जो महापातकों से भी युक्त पुरुष होते है, वे अपनी शुद्धि के लिये कहाँ जाते हैं ? श्री गंगाजी के शरण मे ही तो जाते हैं। श्री गंगा जी के जल के स्पर्श-मात्र से महान् से महान् पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। श्री गंगा जी स्वर्ग की निसेनी और पाप काटने की छेनी आदि नामों से संसार मे सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। शास्त्रों में गंगाजी की महिमा सर्वत्र बड़े विस्तार से गायी गयी है। कोई कहीं दूर देश मे भी यदि मेरा हो और उसकी अस्थि किसी तरह आकर गंगाजी में गिर जायँ, तो सब पापों से छूट कर स्वर्ग को चला जाता है। जिन गंगा जी की इतनी महिमा है, वे गंगा जी हैं क्या ? श्री भगवान् के चरणों का धोवन ही तो हैं, सम्पूर्ण चरण भी नहीं। श्री चरण के एक अंगुष्ठ-मात्र के लगने से ब्रह्मांड-कटाह को भेद कर, ये भगवती त्रिपथगा तीनों लोकों में व्याप्त हो गयी। केवल अगुष्ठ-मात्र के संसर्ग से भगवती भागीरथी की इतनी भारी महिमा हो गयी। फिर जो अत्यंत शुद्धि का उत्सुक हो, वह उन प्रभु के त्रैलोक्य-पावन यश को क्यों नहीं सुनेगा ?

निर्गुन का ज्ञान होता है, किन्तु भगवान् के सगुण रूप मे तो भक्ति होती है। उसकी श्रद्धा से सेवा-पूजा करते हैं, प्रेम से

उनके दिव्य गुणों का गान करते हैं, उनके त्रैलोक्य-पावन नामों का उन्मत्त होकर प्रेम-पूर्वक उच्चारण करते हैं। इससे हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सब संशय दूर हो जाते हैं। सभी प्रकार के पुण्य-पाप कर्म क्षीण हो जाते हैं। इसलिये उन आत्माराम, लोकाभिराम, सर्व-ऐश्वर्य्य-सम्पन्न भगवान् वासुदेव की कथाओं को आप हमें सुनाइये।

आप कह सकते हैं—"सैकड़ों वर्षों से तो आप यही सब सुन रहे हैं। इतने दिनों से सुनते-सुनते भी आपकी तृप्ति नहीं हुई?" सो भैया यह तृप्ति की चीज ही नहीं। यह ऐसा रस है कि जितना ही इसे पीते हैं, उतनी ही इच्छा बढ़ती जाती है। संसारी विषयों को ही ले लीजिये। जिनमें क्षणिक आभास मात्र सुख है, एक बार भोग लेने पर फिर इच्छा बढ़ती है। नित्यप्रति पदार्थों का उपयोग करते हुए भी, दूसरे दिन फिर उसी के उपभोग की इच्छा होती है। सो यह तो परम-मधुरातिमधुर रस है। दूसरे चाहे किसी की तृप्ति भले ही हो जाती हो, सूतजी! हम आप से सत्य कहते हैं, हमारी तृप्ति तो इससे न हुई है, न है और न आगे होगी ही। अब आप और सब इधर-उधर की बातों को छोड़कर केवल अवतार-चरितों का ही कथन करें। ये चरित तो पद-पद पर मिठास से भरे हैं। जितना ही इनका रस लेते हैं, उतना ही लोभ बढ़ता जाता है। इसलिये आप हमें कृष्ण-कथा ही सुनाइये। अकेले कृष्ण की ही नहीं, उनके बड़े भाई बलराम की भी कथा सुनावें, क्योंकि वे भी तो उनके ही रूप हैं, वे भी तो अवतार हैं और अकेले उन्होंने क्रीड़ा की भी नहीं। दोनों भाई साल भर के अन्तर से साथ ही उत्पन्न हुए, साथ ही बढ़े, साथ ही

लड़े, साथ ही रहे और साथ ही अपने स्वधाम को पधारे। इसलिये दोनों भाइयों की ललित लीलाओं का आस्वादन कराइये। दोनों के ही गुणों का गान कीजिये। दोनों के ही चरित्रों की चासनी चखाइये।

आप कहेंगे—जब ये इतने शुस्वादु सर्व हितकारी, सुन्दर चरित्र हैं, तब फिर आप यहाँ एकान्त में बैठे अकेले ही क्यों आस्वादन कर रहे हैं। संसार में घूमिये, वक्तृता दीजिये, सभाएँ कीजिये, सबको समझाइये! अकेले अपना उद्धार क्या बात है, सभी का उद्धार कीजिये।

सो, सूतजी! यह आपका कथन ठीक है, किन्तु अब तो घोर कलिकाल आ रहा है। इस कठिन कराल कलिकाल को पार करना बड़ा ही दुष्कर है। इसे साधारण लोग पार नहीं कर सकते। विषयों की ओर जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। धर्म, पालन के लिये सहिष्णुता साहस की आवश्यकता पड़ती है। भाँति-भाँति के क्लेश सहने को जब मनुष्य उद्यत हो, तब धर्म का पालन होता है। अधर्म की प्रवृत्ति देखने में लुभावनी और सरल-सी दीखती है, परलोक में चाहे उसका कितना भी अनिष्टकारी परिणाम हो। अधर्म में प्रवृत्ति होने वाला पुरुष सोच लेता है— परलोक किसने देखा है? यहाँ खूब मौज उड़ाओ, फिर की फिर देखी जायगी।' इस प्रकार विषयों में निमग्न होकर जीव संसार-सागर में गोता खा रहे हैं। किन्तु भगवान् ने इस सागर में डूबते हुए हमको बचा लिया, क्योंकि इससे पार कराने के लिये कर्णधार रूपी आपको भेज दिया। आप हमें भगवच्चरित्र सुना रहे हैं। धर्म का उपदेश दे रहे हैं। धर्म की रक्षा करनेवाले तो वे ही श्रीहरि हैं। जब-

जब धर्म की ग्लानि होती है, तब-तब साधु पुरुषों के परित्राण के लिये और दुष्ट प्रकृति के पुरुषों के विनाश के निमित्त, नाना रूपों में वे अवतरित होते हैं। भगवान् वासुदेव नन्दनन्दन सकर्षण आदि रूपों से धर्म की सदा सावधानी से रक्षा करते रहे। उनके स्वधाम पधारने पर धर्म की क्या दशा हुई? यह भी आप हमें सुनाइये।

सूतजी! अब हम इस पुण्यस्थल को छोड़कर कहाँ जायँ? किसे उपदेश करें? कोई सुननेवाला हो तब तो करें। जिसने गन्दे खारे जल को खूब गले तक पी लिया है, फिर उसके सम्मुख कितना भी मधुर शीतल गंगाजल क्यों न रखो, उसे पीने की रुचि ही न होगी। जिसने खूब भरपेट, भूख से भी अधिक भोजन कर लिया है, उसके सम्मुख भाँति भाँति के व्यंजन रखो, वह खा ही नहीं सकता। इसी प्रकार ये संसारी लोग विषयों में आबद्ध हैं। इन्होंने अपने मन को भाँति-भाँति के विषयों से भर रखा है, इसीलिये इन्हें भगवन्-नाम-गुण-कीर्तन, भगवत्-कथा-श्रवण की जिज्ञासा ही नहीं होती। बिना जिज्ञासा के कहना अपने समय का दुरुपयोग करना है, इसलिये हम कहीं आते जाते नहीं। जिसे जिज्ञासा होगी यहीं आ जायगा। हमारे इस भगवन्नाम-गुण-कीर्तन रूपी सत्र का द्वार सभी के लिये खुला है, जो भी आवे भगवान् की कथा सुने, किसी को मनायी नहीं। देश काल, जाति, वर्ण, किसी का बन्धन नहीं। इसीलिये कलि को आया हुआ समझ कर हम इस वैष्णव क्षेत्र में दीर्घसत्र की दीक्षा लेकर, भगवान् की कथा के लिये समय निकालकर बैठे हुए हैं। अब आप हमें सर्वोत्कृष्ट सारातिसार तत्व का उपदेश कीजिये।

छप्पय

कलियुग आयो जानि आनि बैठे हम वनमें।
विष्णु बताई बाट चक्र ले आयो छिनमें॥
जानि वैष्णव क्षेत्र यज्ञकी दीक्षा लीन्हीं।
कृष्णकथा नित सुनें सबनि शुभ सम्मति कीन्हीं॥

सूत! जगततें मोरि मुख, कृष्ण चरनमहँ चित दियो।
कृष्ण-कथा कलि-मल-हरनि, कही कृपा करि हित कियो॥

परम धर्म

(६)

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥१

(श्रीभा० १ स्क० २ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

परम धर्म है जिही भक्ति भगवतमें होवे।
होवे हर्षित हियो मलिनता मनकी खोवे॥
हेतु रहित निष्काम भक्ति अति परम सुहाई।
सब शास्त्रनिका सार यही मेरे मन भाई॥

शौनकजी! सच सच कहूँ, सब सतनि सम्मत निही।
भक्ति भनी भागीरथी, विषयवासना विष कही॥

संसार में बड़े-बड़े विद्वान् वक्ता तो बहुत मिल जायँगे, किन्तु श्रद्धावान् सच्चे श्रोता बहुत दुर्लभ हैं। उपदेष्टा को यदि मेधावी--बात को समझनेवाला बुद्धिमान्--श्रोता मिल जाता है,

१—मनुष्यों का वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, जिससे अधोक्षज भगवान् श्रीवासुदेव में अहैतुकी और अव्यभिचारिणी भक्ति हो, जिससे अपनी अन्तरात्मा प्रसन्न हो जाती है।

तो वह अपने हृदय का दरवाजा खोल देता है। उसके सामने कुछ भी नहीं छिपाता। जैसे चन्द्रमा की चाँदनी में चन्द्रकान्ता मणि स्वय ही द्रवित होने लगती है, वैसे ही श्रद्धावान् श्रोता के सम्मुख वक्ता की वाणी प्रकाशित होने लगती है।

शौनकजी के ऐसे ऐकान्तिक रहस्यमय प्रश्न को सुनकर हर्षके कारण सूतजी के रोएँ खड़े हो गये। उनके दोनों नेत्र प्रेमाश्रुओं से भीग गये। हृदय की कलियाँ खिल उठीं, मुख प्रसन्न हो गया। कठके गद्गद हो जाने से बडी देर तक वे कुछ कह ही न सके। जब प्रेम का वेग कुछ कम हुआ, तब वे हाथ जोडकर बड़े स्नेह से कहने लगे—"ऋषियो! आपने आज ऐसा अद्भुत अलौकिक प्रश्न किया है, जिसे आपके सिवाय कोई कर ही नहीं सकता। आज आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। मैं अपनी मलिन मति से इसका यथार्थ उत्तर दे ही नहीं सकता। मैं जो भी कुछ कहूँगा अपने गुरुदेव भगवान् की कृपा से ही कहूँगा। मेरे पिता ने भगवान् व्यासदेव से समस्त पुराण और इतिहासों का अध्ययन किया था। मैंने उन अपने पिता से ही वे सब शास्त्र सुने, किन्तु सारातिसार तत्त्व तो मैंने भगवान् व्यासनन्दन शुक से ही सुना, अत वे ही मेरे अज्ञान को नाश करनेवाले गुरुदेव हैं। मैं जो भी कुछ कहूँगा, उन्हीं के कृपा-प्रसाद से कहूँगा। गुरु-कृपा से ही मनुष्य सब कुछ कर सकता है। मूक भी वक्तृता दे सकता है। पगु भी गिरिलघन कर सकता है। मेरे सर्वस्व तो श्रीशुकदेवजी ही हैं। उनके चरणों की वन्दना करने के अनन्तर मैं श्रीनारायण, नर, नरोत्तम, सरस्वती देवी और अपने

गुरुके भी गुरु भगवान् व्यास को वन्दना करके आपके प्रश्न का यथातथ्य उत्तर देता हूँ।

आपको तो शंका हो ही क्या सकती है। आप सर्व शास्त्रों में निष्णात हैं। सारासार के मर्म को भलीभाँति जाननेवाले हैं। आपने यह प्रश्न लोकके कल्याणके निमित्त किया है। मुझे निमित्त बनाकर आप इसे संसार के सम्मुख प्रकट करना चाहते हैं। आप ऋषिमुख से प्रकट न करके सूतमुख से बोलना चाहते हैं। सभी तो आप के मुख हैं। यन्त्र का मुख यन्त्री के अधीन है। आप जैसा भाव चाहेंगे, इस यन्त्र से प्रकट करायेंगे।' अथवा संसार में कहने योग्य श्रीकृष्ण-कथा ही है, उसके अतिरिक्त और कहें भी तो क्या कहें? इसलिये आप कृष्ण-कथा कहलाना चाहते हैं, कृष्ण-कथा से कभी भी किसी कल्याणेच्छुकी तृप्ति न हुई है न होगी। इसमें श्रोता, वक्ता दोनों को ही हर्ष होता है; अतः मेरा मन अत्यंत ही आह्लादित हो रहा है। मैं आपके परम पावन प्रश्न का प्रसन्नता के साथ उत्तर दूँगा। आप सब समाहित होकर श्रवण करें।"

सूतजी कहने लगे—"मुनियो! मैंने तो इसी को सार सुना और समझा है कि भगवान् के चरणों में अहैतुकी निष्काम भक्ति हो, तो सभी इहलोक परलोक के कार्य बन जायँ। हृदय में यदि भगवान् का वास हो गया, तो फिर उसमें काम क्रोध रूपी असुर रह ही कैसे सकते हैं? समस्त दुःखों का मूल कारण है 'काम'। पहिले हृदयमें विषयोंके भोगों की कामना उठती है। विषयभोग संसार में इतने अपर्याप्त हैं, कि इनसे सब प्राणियों को तो कौन कहे, यदि सभी विषय की सामग्रियाँ एक ही पुरुष को दे दी जायँ, तो

वे सब मिलकर भी एक व्यक्ति की तृप्ति के लिये पर्याप्त नहीं हैं। फिर असख्य पुरुषों की सभी वासनाएँ नित्य-नित्य पूरी होती रहें, यह असभव बात है। जब हमें मनोभिलषित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, तो हृदय में क्षोभ उत्पन्न होता है। वह क्षोभ ही चित्त की सभी प्रसन्नता को नष्ट कर देता है। ससारमें इसीसे लोगोंका चित्त सदा क्षुब्ध बना रहता है। सभी किसी न किसी चिन्ता के वशीभूत होकर चिन्तित बने रहते हैं। उनके मन का मोद विनष्ट हो जाता है। यदि हृदय भक्ति भाव से भरा हुआ हो, तो फिर कोई चिन्ता नहीं रहती। इसीलिये भक्त सदा प्रफुल्ल चित्त बने रहते हैं। यदि वे भगवत् प्रेम में रुदन भी करते हैं, तो उनकी काति फीकी नहीं पडती। यही नहीं, रोते समय उनका मुख, कमल की तरह और अधिक खिला हुआ दर्शनीय दिखायी देता है। इस भगवद् भक्तिरूप अनुष्ठान का आरभ करने से ही बड़े-बड़े दु खों से मनुष्य स्वत ही मुक्त हो जाता है।

अब आप एक प्रश्न यह करेंगे, कि—'ससार में रहकर हम भक्ति करें भी, तो ज्ञान, वैराग्य की प्राप्ति तो होगी नहीं, उसके लिये षट् सम्पत्ति चाहिये। गृहत्याग आवश्यक है, सो इस मार्ग में यह भी आवश्यक नहीं। जैसे राजा कहीं चलता है, तो उसके सेवक स्वय ही उसके पीछे लग जाते हैं। ऐसे ही निष्काम भक्ति होने पर ज्ञान, वैराग्य अपने आप ही आ जाते हैं। ज्ञान, वैराग्य तो भक्ति के दुधमुहे बच्चे हैं, वे भला अपनी माँ को छोड़कर जा ही कहाँ सकते हैं?'

"अब रही त्रिवर्ग की बात। शास्त्रों में बताया है, धर्म करने से अर्थ की प्राप्ति होती है। अर्थ से इन्द्रियों को सुख

देनेवाले कामको प्राप्त करते हैं। काम्य पदार्थों के उपभोग से इन्द्रियजन्य सुख होता है। संसार में जो भी काम इस प्रयोजन से किये जाते हैं, कि उनसे इस लोक में इन्द्रियों को सुख हो और परलोक में भी स्वर्ग की प्राप्ति हो, अर्थात् जिससे इह लोक परलोक दोनों में सुख हो, वही धर्म माना गया है। प्रायः देखा गया है, कि भगवद् भक्तों को शारीरिक सुख प्राप्त नहीं होता, होता भी है तो बहुत कम। वे प्रायः निर्धन अकिञ्चन ही देखे गये हैं, यदि भगवद् भक्ति ही परम धर्म होता, तो धर्म का फल जो अर्थ है, उसकी प्राप्ति उन्हें विपुल मात्रा में होनी चाहिये। धर्म से जितने अर्थ की प्राप्ति होती है परमधर्मके द्वारा उससे कहीं अत्यधिक प्राप्ति हो, तब तो ठीक है, यदि नहीं तो हम कैसे समझें, कि भगवद् भक्ति परम धर्म है, क्योंकि धर्म का फल जो अर्थ है वह दिखायी नहीं देता।

ऐसी शङ्का भी भ्रमात्मक ही है। धर्म का वास्तविक फल अर्थ सिद्धि ही नहीं है। धर्म का मुख्य प्रयोजन तो श्री भगवच्चरणारविन्दों में प्रेम होना ही है। जिस धर्मानुष्ठानसे प्रभु के पाद पद्मोंमें प्रेम नहीं होता, जो धर्म भगवद् भक्तिको उत्पन्न नहीं करता, जिस धर्म से भगवान् वासुदेवकी त्रैलोक्य पावनी मुनि-मनहारिणी कमनीय कथाओं में रति न हो, वह धर्म नहीं, धर्माभास है। वह निरर्थक परिश्रम है, ऊसर को यत्नसे सींचने के समान है। धर्मका तात्पर्य कृष्ण-कथाओं में एक मात्र अनुराग होना ही है। धर्म का अनुष्ठान अर्थ के लिये नहीं किया जाता। उसका उद्देश्य तो एक मात्र मोक्ष की प्राप्ति ही है। धर्म के लिये किया जाता है, न कि काम के

लिये और धर्म का फल केवल काम-भोग इन्द्रिय-सुख ही नहीं है धन का सदुपयोग तो भगवत् पूजन में हो। विपुल धन हो तो महाराजों की विभूतियों से भगवान् वासुदेव का पूजन करें, उनकी पूजा-अर्चा का प्रबन्ध करें। पूजा के लिये फल-पुष्प के उद्यान आराम बनवावें। दिव्य देश—भगवन् मंदिरोंका निर्माण करावें, भगवद् विग्रहों की प्रतिष्ठा करावें, खूब धूम-धाम से पर्व और उत्सवों को मनावें, भगवद्-भक्ति का प्रसार और प्रचार करावें, यही धन का यथार्थ उपयोग है।

"अधर्म पूर्वक सदा इन्द्रियों की तृप्ति में ही लगे रहने का नाम काम नहीं है। काम भी हो तो धर्म पूर्वक ही हो। केवल ऋतुकाल में, अपनी ही पत्नी के समीप, केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही, वंश का मूलोच्छेदन न हो, यह सनातन परम्परा बनी रहे, इसी भावना से, पितरों के ऋण से मुक्त होने के निमित्त ही जाना चाहिये। अन्य इन्द्रियों के विषयों का उपभोग विषय बुद्धि से नहीं भगवत् प्रसादी समझकर ही करना चाहिये। विषय तो वे ही हैं, इन्द्रियों की तृप्ति उनसे वसी ही होगी, केवल भावना बदलने की ही आवश्यकता है। अपने को विषयों का किंकर न बनाकर केशव का किंकर बनाना चाहिये। उन्हीं केशव को कोई कृष्ण कहते हैं कोई परतत्व बताते हैं कोई अविनाशी, अव्यक्त, अलख, अगोचर कहते हैं। ज्ञानी उन्हीं उन्हीं को ब्रह्म बताते हैं, योगी परमात्मा के नाम से पुकारते हैं, भक्त उन्हीं को भगवान् मानकर पूजा करते हैं। उन्हीं के लिये सब कार्य करना यही त्रिवर्गों का फल है।"

"केवल यश-प्रतिष्ठा के लिये, लक्ष्मी के लिये वर्णाश्रम धर्म

का पालन किया जाय और उससे श्रीधर भगवान् के पाद-पद्मों की निरंतर स्मृति न बनी रहे, तो वह धर्म वास्तविक धर्म नहीं। हमारी समस्त चेष्टाएँ नंदनंदन के ही निमित्त हों, यही परमधर्म है, यही सारातिसार है। यही सर्वोत्कृष्ट साधन है। यही मोक्ष से भी बढ़कर परम पुरुषार्थ है। भगवान् को प्रसन्न करना, यही वर्णाश्रम धर्म का प्रयोजन है।

आप लोगों ने पूछा था—'मुख्य कर्तव्य क्या है?' सो मैं तो मनुष्य-योनि पाने का मुख्य कर्तव्य यही समझता हूँ, कि जैसे भी बने तैसे, जिस उपाय से भी हो, उसी उपाय से, सब बातों से, सब ओर से, मन को बलात् हटाकर, एकान्त भाव से, उन भगवान् वासुदेव की ही लीलाओं का और गुणों का निरंतर श्रवन करना चाहिये। उनके ही मधुरातिमधुर नामों का त्रैलोक्य पावन यश का कीर्तन करना चाहिए। एकांत में बैठकर, सब ओर से चित्त हटाकर, उन्हीं का ध्यान करना चाहिये। यथाप्राप्त द्रव्यों से, सभी प्रकार के साधनों से, सभी प्रयत्नों से उन्हीं परमात्मा का पूजन करना चाहिये।

"शौनकजी! आप ही सोचिये, जिनके ध्यान रूपी खड्ग से सभी प्रकार के क्लेश, सभी प्रकार की चिन्ताएँ, सभी प्रकार के बन्धन क्षण भर में कट जाते हैं, उन भवभयहारी, मदनमुरारी के पादपद्मों में कौन प्रेम न करेगा? किसकी उनके चरणारविन्दों में रति न होगी? सो, ऋषियो! मैंने तो यही सर्वश्रेष्ठ सार समझा है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? वह मुझे आप बतावें। अब मेरा मन परम प्रफुल्लित हो उठा है। आप जो भी पूछेंगे, उसी का मैं उत्तर दूँगा।"

छप्पय

कथा श्रवण नित करें श्रवण वे ही हैं सुखकर।
वाणी विमला वही कृष्ण कीर्तनमें तत्पर॥
मन मोहनमें मिले सतत हरि-चरननि सेवे।
कर्म करे जो कछू कृष्ण अर्पण करि देवे॥

ध्यान सङ्गतें कर्मकी, करहिँ प्रथि सुतीक्ष्ण अति।
तिनको यश पावन परम, को न कथामें करहिँ रति॥

भागवत सेवासे

(७)

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥१॥
(श्री भा० १ स्क० २ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

भगवत भक्ति सहाय भागवततें कहलावें ।
अज अव्यक्त अनादि सगुण साकार लखावें ॥
लै अनन्त अवतार अमित लीला विस्तारें ।
नाम, रूप, गुण, धाम जगत् जीवनकूँ तारें ॥
जो इनकूँ गावें सुनें, नित सेवन सुखतें करहिं ।
भक्त भागवत हैं वही, करत जगत पावन फिरहिं ॥

सूतजीने जब बार बार 'भागवत' शब्द का प्रयोग किया, तब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि 'भागवत' शब्द से अभिप्राय क्या है? यही विचार कर ऋषियों की ओर से शौनकजी पूछते हैं—"सूतजी! आपने कई बार कहा 'सब

१ जब नित्य प्रति श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तों की सेवा करने से अशुभ वासनाओं का प्रायः नाश हो जाता है, तब उत्तम श्लोक भगवान् नन्दनन्दन में निश्चय प्रेमरूपी भक्ति उत्पन्न होती है।

पाप ताप भागवत सेवा से नष्ट हो जाते हैं, तो 'भागवत सेवा' से आप का तात्पर्य क्या है ? भागवत किसे कहते हैं और भागवत का सेवन कैसे करना चाहिये ? क्या श्रीमद्भागवत की पुस्तक की सेवा करे या और कोई गूढ़ अभिप्राय है ?"

ऋषियों के प्रश्न को सुनकर सूतजी बोले—"महानुभावो ! आप सब कुछ समझते हुए भी लोकहित के लिये पूछ रहे हो। 'भागवत' से मेरा अभिप्राय है, जिसका सम्बन्ध भगवान् से हो। आप कहेंगे कि ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जिसका भगवान् से सम्बन्ध नहीं है ? चराचर विश्व ही उनका रूप है, तृण से लेकर पर्वत पर्यन्त, बिन्दु से लेकर सिन्धु पर्यन्त, चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त, सभी में तो वे समान रूप से व्याप्त हैं। उनके बिना किसी की सत्ता ही नहीं, फिर तो 'भागवत' सभी हुए।

यह ठीक है, सभी में भागवत् सत्ता है, इससे सभी भागवत हैं, फिर भी सम्बन्ध सामान्य और विशेष रूप से होता है। सामान्य रूप से तो सभी के साथ सम्बन्ध है किन्तु जिनके साथ विशेष सम्बन्ध है, यहाँ उनसे ही अभिप्राय है। जो भक्त भागवान् की भक्ति करते हैं वे 'भागवत' कहाते हैं और जिन कथाओं में, जिन ग्रन्थों में, भगवान के भक्तों के तथा भगवान के अवतार, नाम, रूप, लीला धाम आदि का वर्णन है, वे भी 'भागवत' हैं। भगवान् अनेक रूप धारण करके, अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं। उनकी लीलाओं में जो उपकरण हैं, जो भक्त उनकी विशेष कृपा लाभ करते हैं, जिन परम पावन धामों में भागवत लीलाएँ होती हैं, अनेक दिव्य गुणों, लीलाओं के कारण भगवान् के जो जगत् पावन नाम प्रकट होते हैं भगवान् अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके जो अनेक रूप

धारण करते हैं, ये सभी 'भागवत' हैं। इनकी कथाएँ जिनमें हों, वे ग्रन्थ भी भागवत हैं, भगवान् के रूप ही हैं। उनकी पूजा भी भगवद् बुद्धि से करनी चाहिये। अब इसमें एक शंका उठती है, भगवान् के कृपा-प्रसाद प्राप्त भक्तों की कथाएँ या स्वयं भक्त भागवत हैं यह तो ठीक ही है, किन्तु भक्ति ग्रन्थों में बहुत से अभक्तों की कथाओं का भी तो वर्णन है। जैसे राजा वैनकी, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु की, रावण, कुम्भकर्ण शिशुपाल, दन्तवक्त्र कंश आदि आदि की, तो क्या ये सभी भागवत के अन्तर्गत हैं ?

इसे आप यों समझें—आप किसी को दुग्ध, जल या घृत देते हैं तो किसी पात्र में ही भर कर देंगे। यद्यपि हमारा स्नेह बच्चे में ही है, किन्तु बच्चे को मिठाई दूध आदि तथा खिलौने बहुत प्रिय हैं। उनके बिना वह रह ही नहीं सकता। हम भी उसे उनके बिना प्रसन्न नहीं रख सकते; अत बच्चे की प्रसन्नता के साधन होने के कारण वे सब सभार हमें प्रिय हैं। जैसे हम किसी से स्नेह करते हैं, किन्तु उस स्नेह को प्रकट करने के लिये परस्पर में प्रिय वस्तुओं को देते लेते हैं, अपनी गुप्त से गुप्त रहस्य भरी बातों को उससे कहते हैं, सुनते हैं, अपने घर बुलाकर उसे खिलाते हैं, उसके यहाँ जाकर खाते हैं। यद्यपि इन वस्तुओं में प्रेम नहीं है, किन्तु ये वस्तुएँ प्रेम को प्रकट करने के साधन होने के कारण स्वयं प्रेममय बन जाती हैं। यद्यपि रावण, कुम्भकरण, कंस आदि के आचरण भ्रष्ट थे किन्तु वे, सब भगवल्लीलाओं को प्रकट करने में सहायक थे, जैसे परमभक्त अपनी ऐकांतिक भक्ति से भगवान् को प्रकट कर लेता है उसी प्रकार परम दुष्ट भी अपनी महान् दुष्टता से भगवान् को अवतार लेने के लिये

विवश कर देता है। उसे निमित्त बनाकर भगवान् भाँति-भाँति की क्रीड़ाएँ करते हैं। अपने प्रेमी भक्तों को अनेक प्रकार से सुख देते हैं। उनकी दुष्टता ही लीलाओं के आधेय के लिये आधार बनती हैं। ये अपने अत्यत क्रूर कर्मों से, अत्यधिक अत्याचारों से अनादि, अव्यक्त अचिन्त्य प्रभु को सर्व-साधारण के सम्मुख व्यक्तरूप से उपस्थित करा देते हैं। इसलिये उनका चरित्र भागवत्-चरित्र से भिन्न नहीं है। भागवत चरित्र ही है और उसका भी नाम भागवत ही है। भक्त अथवा भगवान् का जिससे भी विशेष सम्बन्ध हो गया, उन सबके चरित्र भागवत-चरित्रों के अन्तर्गत है। वैन यद्यपि दुष्ट था, किन्तु वह भगवान् के अंशावतार महाराज पृथु का पिता था। उसने ऋषि-मुनियों के साथ दुष्टता की उनके द्वारा मारा गया। पृथ्वी पति पृथु और धर्मस्वरूप ऋषियों के सम्बन्ध से उसका चरित्र भी भागवत-चरित्र ही है।

अब एक शका आप लोग और उठावेंगे, कि इससे तो यही सिद्ध हुआ, भगवान् की अपेक्षा ये प्रबल, पराक्रमी, असुर स्वभाव के प्राणी ही श्रेष्ठ हुए, जो भगवान् को अवतार लेने को विवश कर देते हैं।

"इसमे कोई सन्देह नहीं। भगवान् से भक्त को श्रेष्ठ ही माना गया है, या दूसरे शब्दों मे यों कह लीजिये कि भक्त का अपना कोई सकल्प होता ही नहीं। चराचर के स्वामी उसके हृदय मे बैठकर जैसी भी प्रेरणा करते हैं, जैसा भी सकल्प कराते हैं, वह वैसा ही करता है। यथार्थ बात यह है, कि भक्त भगवान् से भिन्न होता ही नहीं, ये रावण, कुम्भकर्ण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, शिशुपाल, दन्तवक्त्र और कोई नहीं थे, भगवान

के नित्यपार्षद, भगवान् के शरीर के एक प्रकार से अङ्ग हैं जय और विजय नाम के वैकुण्ठवासी प्रिय अनुचर थे। अकेले बैठे-बैठे भगवान् ऊब जाते हैं। उन्हें कुछ क्रीड़ा करने की कामना होती है। कुछ लड़ाई-भिड़ाई, हू हल्ला होता रहे तो मन लगा रहे। अब सर्व समर्थ प्रभु से युद्ध में कौन लड़ सकता है? ऋषि, मुनि देवता तो दासभाव के उपासक ठहरे। उनसे घण्टा बजवा लो, पूजन करवा लो। भगवान् से लड़ने की बात तो क्या, विरोध की भी बात कहो तो कोसों दूर भागेंगे। इनकी तो सदा भगवान् के सम्मुख अञ्जलि ही बँधी रहती है। यद्यपि भगवान् हर समय इस विनम्रता से ऊब जाते हैं, किन्तु ये विचारे अपने स्वभाव से विवश हैं। भगवान् का स्मरण होते ही आँखें अपने आप बहने लगती हैं, हृदय स्वयं भर आता है, रोएँ स्वतः खड़े हो जाते हैं, कंठ गद्गद हो जाता है और दोनों हाथ बिना प्रयास के जुड़ जाते हैं। लड़ाई-भिड़ाई खुले हाथों से हो सकती है। इसलिये भगवान् अपने अतरङ्ग सखाओं को अनन्त शक्ति समर्पित करके अपने दिव्य लोक से धराधाम कौतुक के निमित्त भेजते हैं। जब वे भेजे ही इसी काम के लिये गये हैं, तो उनका दोष क्या? वे भगवान् के इच्छानुसार खूब विरोध करते हैं। जब वे भगवान् के यन्त्र हैं और उन्होंने अपनी शक्ति से ही उन्हें प्रबल बनाया है तब तो वे बड़े हुए ही और उनके चरित्र भागवत-चरित्र हुए ही।

वैसे तो सत्व, रज, तम ये तीनों ही गुण प्रकृति के ही हैं और प्रकृति भगवान् की चेरी है। उनके संकेत पर नृत्य करने वाली है। इन तीनों भावों को ही लेकर श्रीहरि उत्पादक, पालक और संहारक ये तीन रूप धारण करते हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश इन नामों से प्रसिद्ध होते हैं। फिर भी परम आराधनीय

परम मङ्गलमय तो भगवान् की सत्वमूर्ति ही है। सात्वत वैष्णव लोग उसी मूर्ति की आराधना करते हैं, उन्हीं के गुणों का गान करते हैं। शक्ति तो उन्हीं की सब में है। जैसे अग्नि सब में सर्वत्र व्याप्त है, अग्नि के बिना काष्ठ और धूम आदि सम्भव नहीं। फिर भी लोक में ऐसी परिपाटी दिखायी देती है, कि काष्ठ की अपेक्षा धुँए और धुँआ की अपेक्षा प्रज्वलित अग्नि श्रेष्ठ समझी जाती है, उसी प्रकार तमोगुण की अपेक्षा रजोगुण और रजोगुण की अपेक्षा सत्वगुण श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिये सत्वमूर्ति श्रीहरि के गुणगान करने से अन्त करण पवित्र बनता है।

भागवत का मुख्य आधेय है अवतार—तत्व, अवतार कथा में भक्ति-भक्त भागवत सभी का एक साथ समावेश हो जाता है।

अवतार-कथा में केवल भक्त और भगवान् का ही सम्बन्ध है। भगवान् का अवतार दुष्टों के सहार के ही निमित्त नहीं होता। यह तो एक निमित्त मात्र है। सत्य बात तो यह है, कि भगवान् केवल भक्तों के निमित्त ही अवतार धारण करते हैं। जैसे गौ दूध अपने बच्चे के लिये ही देती है। बच्चे के लिये उतारने के अनन्तर उससे और लोग भी लाभ उठाते हैं। इसी तरह भगवान् का प्राकट्य केवल भक्तों को सुख देने के लिये ही है। भक्तों के भी बहुत भेद हैं। भगवान् को जो भक्त जिस भाव के भजता है, भगवान् भी उसकी उसी भावके इच्छा-पूर्ति करते हैं। भागवान् के अवतार केवल मनुष्य-योनि में ही या पृथ्वी पर ही होते हों, सो बात नहीं, वे देवता,

तिर्यक्, पशु, पक्षी सभी योनियों में अवतार धारण करते हैं। उनके अवतार पृथ्वी पर स्वर्गादि ऊपर के लोकों में तथा पृथ्वी के नीचे के लोकों में भी होते हैं। हंसावतार सत्यलोक में ही हुआ। शूकरावतार महर्लोक में हुआ। इसी प्रकार भगवान् का अनुग्रह जीव मात्र पर है। वे देश-काल के बन्धन से मुक्त हैं। सभी जीव उनके लिये समान हैं। जब जिस जाति में जन्म-ग्रहण करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं, तब उसी जाति में प्रकट होकर वहाँ के जीवों को अपनी अद्भुत दिव्य लीलाओं के द्वारा आनन्द प्राप्त कराते हैं।

वे प्रभु भूतभावन हैं, चराचर के स्वामी हैं, सब के त्राता हैं। ब्रह्मा रूप बनाकर वे ही प्रलय में लीन हुई प्रजा का सृजन करते हैं। वे ही विष्णुरूप धारण करके राजाओं में, देवताओं में, ऋषियों में अपनी शक्ति प्रदान करके तथा नाना अवतार धारण करके, इस चराचर जगत् का पालन करते हैं। अन्त में वे ही साक्षात् शिव-रूप से समस्त संसार का संहार भी करते हैं। उनकी शक्ति की कोई सीमा नहीं, उनके पुरुषार्थ की कोई परिधि नहीं, उनके अवतारों की कोई गणना नहीं। वे अनादि-अनन्त प्रभु अनेक रूप से कलावतार अंशावतार, आवेशावतार, युगावतार आदि विविध भेदों से अवतीर्ण होते हैं। उनकी कथाओं के श्रवण को ही 'भागवत सेवा' कहा गया है। उनके अनन्त अवतारों में से कुछ के नाम अत्यन्त संक्षेप में चरित्र के साथ आगे वर्णन करेंगे। इस ग्रन्थ के समस्त चरित बस, भक्त और भगवान् के अवतारों के ही होंगे। गाने योग्य भागवत-चरित्र ही हैं और सब तो व्यर्थ की बातें हैं।"

छप्पय

जिनिके चरित पवित्र हृदयकूँ पावन करिहैं।
सुनिकें श्रद्धा सहित मनुज भव-सागर तरिहैं॥
तदनुरूप ही भक्त चरित अति ही सुखदाई।
अपनेतें हूँ अधिक स्वयं हरि महिमा गाई॥
भक्त कहो भगवन्त वा, भेद न एक सरूप हैं।
भक्ति भवनके भूप हैं, दोनो चरित अनूप हैं॥

भागवती प्रक्रिया

(८)

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० २ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

जिनको यश गुण नाम गान है सुखकर अतिशय।
कथा कीरतन करहिं कलुष काननिकूँ मधुमय॥
साधुजननिके सहृद् सबनिके जो हैं स्वामी।
अच्युत अजर अनादि अगुण अज अन्तर्यामी॥
कृष्ण कथाके रसिक वर, श्रोता तिनके हृदय बसि।
अशुभ वासना मलिन मति, देत तुरत हैं नाथ नसि॥

ओषधि की प्रशसा सुनकर उसी रोग का रोगी जब उसे सेवन करने की इच्छा करता है, तब उसे उसके सेवन की विधि, पथ्यापथ्य की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अस्त्र-ज्ञान की

१ साधुजनों के सुहृद्, पुण्य श्रवण कीर्तन श्री भगवान् वासुदेव अपनी कथा सुननेवाले भक्तों के हृदय में विराजमान होकर उनकी समस्त अशुभ वासनाओं को नष्ट कर देते हैं।

इच्छावाला उनके प्रयोग उपसंहार आदिको भी समझना चाहता है। यंत्र, मंत्र, तन्त्र सभी बिना प्रक्रिया समझे निष्फल हो जाते हैं। सूतजीके द्वारा भगवत्-तत्व की ऐसी प्रशंसा सुन कर शौनकादि मुनियोंको भागवती कथाकी प्रक्रिया सुननेकी जिज्ञासा हुई। वे सूतजीसे बोले—"महाभाग सूतजी! आपने भागवती कथाकी बड़ी प्रशंसा की। समस्त अशुभों का, सभी प्रकारके दु:खोंका नाश आपने एकमात्र भागवती कथाका आश्रय ग्रहण करनेसे ही बताया। कृपा करके हमें यह समझाइये, कि भागवती कथाका श्रवण कैसे करना चाहिये? कहाँपर करना चाहिये? क्या करते हुए करना चाहिये? किनके साथ रहकर करना चाहिये? इन सब बातोंका तथा और भी जो इनके उपयोगी हों, उन सबका यथावत् वर्णन कीजिये। सूतजी! आपकी वाणीमें रस है। हम सबको और कोई झंझट तो है नहीं, अत: आपके मुख से श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करके हमें बड़ा सुख मिलता है। आप हमसे सब प्रक्रिया सरलताके साथ कहिये।"

ऋषियों के ऐसा प्रश्न करने पर सूतजी ने कहा—महानुभावो! महर्षियो! आपने अत्यन्त ही उपयोगी प्रश्न पूछा। मैं आपको भागवती प्रक्रिया बताता हूँ। आप सब मेरे ऊपर कृपा-की दृष्टि रखकर श्रवण करें।"

'जिस पुरुषको भागवत धर्मकी जिज्ञासा हो, उसको सबसे पहिले उसमे अत्यन्त रुचिका होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि बिना रुचिके जो कार्य किया जाता है, उसमे रस नहीं आता और नीरस कार्य्य बहुत दिन तक हो नहीं सकता। इसलिये सबसे पहिले तो वासुदेव-कथामें रुचि होनी चाहिये।

"आप कहेंगे कि मनुष्योंकी स्वाभाविक रुचि तो विषयों में है। विषयोंके भोगोंकी कोई शिक्षा नहीं देता। लोग उसे बिना सीखे ही जन्म-जन्मान्तरोंके संस्कारोंके अधीन होकर करने लगते हैं और धर्मकी तथा जप, उपवास, सन्ध्या-वन्दन की इतनी शिक्षा देते हैं, प्रशंसा करते हैं, कि उनमें रुचि नहीं होती। आप कह रहे हैं, रुचिके बिना कार्य होता ही नहीं, तो फिर भागवती कथामें रुचि कैसे हो?

यह बात ठीक है कि मनुष्यको आरंभमें किसी बातमें रुचि नहीं होती; किन्तु निरन्तर करते रहनेसे उसमें स्वतः रुचि उत्पन्न हो जाती है। बाल्यकालमें बच्चोंको माँके दूध को छोड़कर अन्नमें रुचि नहीं होती; किन्तु माता उसे धीरे धीरे थोड़ा-थोड़ा नित्य अन्नका सेवन कराती है। अन्न तो स्वादुमय होता है। नित्यके सेवनसे उसमें रुचि आने लगती है, फिर उसका इतना अभ्यास हो जाता है, वह जीवन में ऐसा एकाकार हो जाता है, कि मनुष्य अन्नके बिना रह ही नहीं सकता।

इसी प्रकार जिज्ञासुको सबसे पहिले ऐसे साधु सन्तों की सेवा करनी चाहिये, जिनका आहार ही कथा-कीर्तन हो। जो कथा कीर्तन के बिना रह ही न सकें। सज्जनों की यही मोटी पहिचान है कि वे मिलकर जहाँ भी बैठेंगे, जो भी बात करेंगे, संसारी बातें न करेंगे। उनके यहाँ भगवच्-चर्चा होगी। भगवच्-चर्चा अनुकूल पुण्य प्रदेशमें सहस्रगुनी फलवती होती है। सब वस्तुओं पर देशका बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस देशमें जिन विचारोंके अधिक लोग रहते हैं, उस देशका वायुमंडल भी वैसा ही बन जाता है। तीर्थोंमें अनादि कालसे लोगों

की पवित्र भावनाएँ रही हैं। अब भी जो यात्री तीर्थयात्राके निमित्त आते हैं, उनमें अधिकांश शुद्ध धार्मिक भावना ही लेकर आते हैं। श्रीगंगा जी आदि जगत्को पावन करनेवाली पावनतम सरिताओंमें लोगोंकी अत्यंत श्रद्धामयी भावनाएँ भरी रहती हैं, अतः निरन्तर पवित्र तीर्थोंके सेवनसे भी भगवत्-कथाओंमें रुचि बढ़ती है।

सर्वप्रथम किसी पुण्य पवित्र तीर्थमें कृष्ण-कथा लोलुप सतोंके समीप रहकर उनको श्रद्धापूर्वक सेवा-सत्कारसे प्रसन्न करके उनके साथ-साथ कृष्ण-कथाका श्रवण करना चाहिये। भगवान्की कथाओंमें रुचिका न होना, यह पूर्व जन्मके पापोंका फल है। इसलिये मन भी न लगे तो सतोंके बीच में बैठकर बेमन से भी, बिना समझे भी कथा सुननी चाहिये। ऐसा करनेसे धीरे-धीरे कथामें रुचि भी बढ़ती है और विषय भी समझमें आने लगता है।

कथाको नियमसे सुनना चाहिये। उसमें कभी भी प्रमाद न करे, भूल न करे। स्वयं पढ़नेकी अपेक्षा कथाके श्रवण करनेमें भी अधिक लाभ है और अकेले सुननेकी अपेक्षा बहुतसे लोगोंके साथ मिलकर सुननेमें उससे भी अधिक लाभ है। साधारण लोगोंकी अपेक्षा महत् पुरुषों के समीप बैठकर उसका अनन्त फल हो जाता है। महापुरुषोंके शरीरसे जो एक प्रकारकी दीप्ति निकलती है उससे मन स्वतः वशमें हो जाता है। उनकी तो कथामें स्वाभाविक रुचि होती है। उनकी रुचिका समीपमें बैठे हुए श्रोताओंपर भी प्रभाव पड़ता है। जैसे, किसीको दुःखमें रोते हुए देखकर और लोगोंकी आँखोंमें भी आँसू आ जाते हैं। जैसे, किसीको

खट्टी (नीबू आदि) वस्तु खाते देखकर आस-पासके लोगों के भी मुखमें पानी भर आता है, जैसे; विवस्त्रा प्रमदाको देख कर निर्विकार लोगोंके मनमें भी विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे, किसी हँसते हुए बच्चेको देख कर, प्रसन्न मुख-व्यक्ति को देखकर हमें भी प्रसन्नता होती है जैसे किसी बड़ी-बड़ी आँखोंको देख कर हमारी आँखें स्वतः सुखका अनुभव करने लगती हैं और दुखती हुई लाल-लाल पानी भरी आँखों को देख कर, अपनी आँखोंमें भी किरकिरी सी चुभने लगती है और पानी भर आता है। जैसे किसीको वीरता करते देख कर, वीरताकी वक्तृता देते देखकर कायरोंके हृदयोंमें भी उत्साह भर जाता है, जैसे, किसी अत्यन्त घृणित वीभत्स दुर्मेध्य पदार्थको देखते ही जी मचलाने लगता है, वमन तक हो जाता है। उसी प्रकार महापुरुषोंके समीप बैठकर कथा सुननेसे साधकोंको अत्यन्त लाभ होता है, क्योंकि जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति है, उसके शरीरमें सभी सद्गुण स्वतः ही आकर निवास करने लगते हैं, इसलिये सबसे पहले कल्याणेच्छुको पुण्यतीर्थोंमें रहकर, महापुरुषोंके सत्संगमें बैठकर भगवान् वासुदेवकी कथा सुननी चाहिये।

ज्यों-ज्यों कथा-कीर्तनमें रुचि बढ़ती है त्यों-त्यों हृदयकी गन्दी कोठरी स्वच्छ होती जाती है। जैसे कोई आश्रम बहुत दिनोंसे गन्दा पड़ा हो, तो उसमें नियमसे रोज झाड़ू देने से, जाले आदि साफ करनेसे, कलई चूनेसे पोतने से वह स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार दुर्वासनाओंके द्वारा मलिन हुआ मन, कानों द्वारा भगवान्‌का नाम भीतर पहुँचते ही शुद्ध होने लगता है। फिर भगवान् वहाँ हृदय की कोठरी में आसन मारकर बैठ जाते हैं। जहाँ भगवान् ने उस पर अपना

अधिकार जमाया, फिर तो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दस्यु जो अब तक उसे अपना अड्डा बनाये हुए थे, सिरपर पैर रख कर भागना चाहते हैं। बुरी वासनाओंवाला जो उनका बहुत-सा परिवार बढ गया था, ये सब भी चलनेको उद्यत होते हैं। दुष्टोंको विनाश करनेवाले प्रभु अपना सुदर्शन चक्र लेकर उन सबका नाश कर देते हैं, जिससे ये फिर कभी न आ सकें, तब वह अन्तःकरण निष्कंटक विशुद्ध बन जाता है।

अबतक जीव उन काम क्रोधादिको ही अपना समझे बैठा था। उनसे ही प्रेम करता था। वे सब मर गये। अब प्रेम किससे करे? बिना प्रेम किये प्राणी रह नहीं सकता। जब पुराने प्रेमी नष्ट हो गये तो जो पुत्र स्वच्छ घर मे परम मनोहर मदनमोहन आकर बैठे हैं उनके प्रति प्रेम उत्पन्न होगा। जैसे खेत ऊबड़-खाबड़ बिना जुता हुआ पड़ा रहे तो उसमें बुरी-बुरी काँटेदार बेलें, इधर-उधरके अनावश्यक पौधे उत्पन्न हो जाते हैं, उसी खेतमेंके जब उन अनावश्यक पौधोंको काट दिया जाता है, उसे जोतकर, गोड़कर, जल देकर सुन्दर बना दिया जाता है और सुन्दर-सा बीज लाकर बो दिया जाता है तो फिर उसमें उसी बीजके उत्तम अंकुर उत्पन्न होते हैं। उस अंकुरको स्नेह-सलिलसे सींचते हुए, उसके समीपके बूढ़े करकटको हटाते हुए, उसकी नित्य सेवा करते रहें तो उसमें सुमधुर सुस्वादु हृदयको सुख देनेवाले फल उत्पन्न होंगे। जिन्हें खानेसे तुष्टि, पुष्टि और क्षुधाकी निवृत्ति तीनों साथ ही साथ होगी। यह अन्तःकरण ही क्षेत्र है। पाप-पुण्य ही बीज हैं। सत्संगसे पृथक् रहना ही उस क्षेत्रकी उपेक्षा

है। सत्संग न करेंगे तो अनेक जन्मोंके पापोंकी जड़ अपने आप जम जायगी। यदि सत्संग रूपी कुठारसे उसको स्वच्छ बना दिया जाय और साधु-सेवा रूपी श्रम करके उसे जोत और जोड़ दिया जाय, भगवत्-कथा रूपी अमृत-रससे उसका सिंचन कर दिया जाय और भगवद्भक्ति रूप बीज उसमें बो दिया जाय तो प्रेम रूपी फल उसमें उत्पन्न होगा। प्रेम-फल कितना मधुर, कितना सुस्वादु है, कितना हृद्य है; उसके सेवन से चित्तमें कितनी निर्मलता और प्रसन्नता होती है, यह सब कहने की बात नहीं, अनुभव करने की वस्तु है।

हृदय में भगवत् साक्षात्कार होते ही सभी शोक, मोह दूर हो जाते हैं। हृदयके कोने-कोनेमें जो ग्रन्थियाँ पड़ गयी थीं वे सब तड़ाक-तड़ाक अपने ही खुल जाती हैं। सभी प्रकारके संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जितने पाप-पुण्य आदि कर्म हैं, ये सब अपने आप भस्मी-भूत हो जाते हैं। उन वासुदेवके हृदयमें आते ही, एकदम परिवर्तन हो जाता है। पुरानी सभी बातें बदल जाती हैं। घोर अन्धकारका नाश हो जाता है। पुण्य-प्रकाश दशों दिशाओंमें छा जाता है। सभी मुँदे हुए कमल खिल जाते हैं। रुद्ध हुआ अमृतका स्रोत तीव्र गतिसे पुनः बहने लगता है। मानसरोवर क्षीरसागरका रूप धारण कर लेता है। यह जीव रूपी हंस उसमें किलोलें करने लगता है। उस अमृत सागरमें अवगाहन करके सुखी होता है, प्रसन्न होता है। किसी प्रकारका बन्धन नहीं, कोई परिधि नहीं, कोई दुःख नहीं, कोई चिन्ता नहीं, कोई अप्राप्य वस्तु नहीं। अमृतकी वर्षा, अमृतकी झड़ी, अमृतका स्नान, अमृतका पान अमृतका चिन्तन, अमृत वाष्प बनकर

अमृत ही आनन्दमय हो जाता है। यह सब होता है भागवत सेवन से, अतः ऋषियो! सदा सर्वदा आपको भागवत का सेवन करना चाहिये।"

छप्पय

सेवनीय जो सदा सुलभ सुखदाई सबकूँ।
माखनचोर चरित्र मधुर अति ही श्रवनिकूँ॥
श्रोत्रमार्गतें प्रविशि हृदयमें जब आ जावें।
करें ज्ञान परकाश तुरत अज्ञान नसावे॥
ज्ञान सूर्यके उदयतें, मोह मलिनता दूर हो।
सब संशय छिनमें नसें, हृदय प्रेम परिपूर हो॥

श्रवण-परम्परा

[६]

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥१॥

(श्रीभा० १ स्का० ३ अ० ४० श्लो)

छप्पय

पुण्य पुराण महान् व्यास भगवान् बनाई ।
परमहंस शुकदेव पुनकू पूर्ण पढ़ाई ॥
गंगा तटपै नृपति परीक्षित् हूँकें शापित ।
मुक्ति द्वारको मार्ग मुनिनितें पुनि पुनि पूछत ॥
आये श्री शुकदेव तहँ, कही कथा नृपतें विमल ।
कहूँ ताहिं मुनिवर सुनहु, तहाँ सुनी मैंने सकल ॥

परम्परागत गुण, अवगुण, प्राय. आगामी संतति में स्वतः आ जाते हैं, यदि किसी कारणवश किसी प्रकार की संकरता का समावेश न हुआ हो तो। इसीलिये आर्य संस्कृति में कुल-गोत्र

---

१ यह श्रीमद्भागवत नामक पुराण वेद-सम्मत है। इसमें उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र हैं। इसे भगवान् वेदव्यास ऋषि ने बनाया है।

पूछने की प्राचीन परिपाटी चली आती है। जो ज्ञान, वश कुलीन है, वह वर्णाश्रम धर्म में आदरणीय होता है। अज्ञात कुलशील, परम्पराहीन ज्ञान प्राय उपेक्षणीय समझा जाता है। इसमें अनेक अपवाद भी होते हैं, किन्तु साधारण नियम ऐसा ही है।

सूत जी ने सक्षेप में श्रीकृष्ण के कला अश और परिपूर्ण अवतारों का दिग्दर्शन कराया। इस ज्ञान को प्रामाणिक बताने के लिये तथा समुपस्थित श्रोताओं की उत्सुकता बढाने के लिये सूतजी अपने ज्ञान की परम्परा बताते हैं।

ऐसा पुरातन नियम है कि विज्ञ पुरुष अनधिकारी के सम्मुख कोई महत्व पूर्ण कथा नहीं कहते, क्योंकि वे समझते हैं, ऊसर खेत में बीज बोना व्यर्थ ही नहीं हैं, समय और शक्ति का दुरुपयोग भी करना है, इसलिये श्रवण के सम्बन्ध में सर्व-प्रथम नियम तो यह है कि अनधिकारी के सम्मुख ज्ञान को प्रकट न करना। दूसरा यह है बिना पूछे नहीं कहना। बिना पूछे कहने से बात का महत्व चला जाता है। तीसरा नियम यह है कि जितनी योग्यता का अधिकारी हो उतना ही ज्ञान प्रकट करना। उससे अधिक प्रकट करोगे तो वह उसे पूर्ण-रीत्या ग्रहण करने मे असमर्थ होगा। यदि अधिकारी की योग्यता से न्यून ज्ञान दिया, तो उसे सन्तोष न होगा, अत अधिकारी की योग्यता की परीक्षा के लिये पहले कोई बात सूत्ररूप में बतायी जाती है। उसे सुनकर यदि श्रोता की जिज्ञासा बढे और वह उस बात को विस्तारपूर्वक सुनने की उत्सुकता प्रकट करे तब तो उससे आगे की कथा कहनी चाहिये, नहीं तो उतनी ही कहकर समाप्त कर देनी चाहिये। ऐसी ही परिपाटी प्राचीन ग्रन्थों मे पायी जाती है। इसीलिये पहिले

सूत जी ने अत्यंत ही संक्षेप मे अवतारों का उल्लेख कर दिया। अवतार-कथा का ही नाम भागवती कथा है। ये समस्त अवतार श्रीकृष्ण से ही होते हैं। इन अवतारों के एक मात्र अवतारी नन्द-नन्दन भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं। अत अवतार कथा श्रीकृष्ण-कथा ही है। श्रीकृष्ण कथा से केवल मथुरा वृन्दावन की कथा तथा द्वारका की कथाओं को न समझना चाहिये। जितने भी अवतारों की कथाएँ हैं सभी का समावेश कृष्ण-कथा मे ही हो जाता है।

समस्त ऋषिगण बड़ी श्रद्धा के साथ सूतजी के मुख से कथामृत का दत्तचित्त होकर पान कर रहे थे। उनकी उत्सुकता बढ़ रही थी। सम्पूर्ण शरीर मे सभी सात्विक भावों का उदय हो रहा था। उनकी ऐसी दशा देखकर सूतजी का हृदय भर आया। वे उन महाभाग ऋषियों की प्रशंसा करते हुए बोले—"ऋषियो ! आपके भाग्य की कौन प्रशंसा कर सकता है? इसीलिये मैं आपको बार-बार महाभाग कहकर सम्बोधित करता हूँ। मैंने पृथ्वीपर विषयी लोगों को देखा है। विषयों मे उनका मन ऐसा एकाग्र होता है कि वे समस्त संसार को भूल जाते हैं। नयी वधू के आने पर जैसे उसका युवा पति सभी बातों को भूलकर उसी का चिन्तन करता रहता है उसी दृश्य को मैं यहाँ रखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ हूँ। मैं देख रहा हूँ, आपको श्रीकृष्ण-कथा से तृप्ति नहीं हो रही है। ज्यों-ज्यों मैं वर्णन करता हूँ, त्यों-त्यों आपकी उत्सुकता बढ़ती ही जाती है। एक तो आप सब उत्तम अधिकारी हैं। कुल परिवार बन्धु बान्धव सभी से सम्बन्ध विच्छेद करके यहाँ भगवान् के चिन्तन के निमित्त बैठे हुए हैं। दूसरे यह क्षेत्र भी इतना पवित्र है कि यहाँ स्वतः ही चित्त एकाग्र होता है।

तीसरे यह श्रीकृष्ण कथा ही इतनी सरस, मनोज्ञ और चित्त को स्वत अपनी ओर खींचनेवाली है, कि कैसा पुरुष हो, सुनते-सुनते मुग्ध हो ही जाता है। भगवान वासुदेव की कथा का स्वाद जिसे एक बार लग गया, फिर भला वह दूसरी कुत्सित कथाओं को क्यों सुनने लगा ? इस कथा को सुनते-सुनते ही ससार विलीन हो जाता है। चित्त उसी चितचोर के चरणों मे फँस जाता है। फिर वह ससारी विषयों का चिन्तन कर ही कैसे सकता है। इस भागवती कथा से जब तक मनुष्य दूर रहता है, तभी तक उसका बन्धन है। जहाँ एक बार इसमे निमग्न हुआ कि फिर माया उसी प्रकार लज्जित होकर छिप जाती है, जैसे पीहर मे अपने पति को देखकर लजाती हुई लड़की छिप जाती है।

ससार के समस्त प्राणी इस ससार मे अपने पाप और पुण्य के कर्मानुसार सुख और दु ख का भोग कर रहे हैं। ससार में बहुत से प्राणी पूर्वजन्मों के पापों से निर्धन हैं, दुखी हैं, नाना व्याधियों से ग्रस्त हैं, भयकर-भयकर राजरोगों से पीड़ा पा रहे हैं। बहुत से सुकृत, पुण्यात्मा पुरुष उनकी पीड़ा से दुखी होकर दयावश उनके लिये अन्न वस्त्र का प्रबन्ध करते हैं। औषधि उपचार की व्यवस्था करते है। इन कार्यों मे उनका कोई शारीरिक स्वार्थ नहीं होता। केवल कृपा के वशीभूत होकर, दया से द्रवित होकर, दुखियों के दु ख दूर करने के निमित्त स्वय कष्ट उठाते हैं और उन्हे सुखी बनाते हैं।

आवागमन के चक्कर मे पड़े हुए प्राणियों को देखकर भगवान् वेद व्यास का नवनीत के समान हृदय द्रवीभूत हो गया। वे सोचने लगे—'इन प्राणियों का उद्धार कैसे हो ? ये विषय भोगों की ही चिन्ता करते करते तदाकार बन गये।

समस्त इन्द्रियों के विषय जड़ हैं। यदि ये जीव इसी प्रकार जड़ की चिन्ता मे निमग्न रहें, तो अन्त में इन्हें पशु-पक्षी, कीट, पतग, लता, वृक्ष आदि जड़-योनियों में जाना पड़ेगा। फिर इनके उद्धार का कोई उपाय नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ योनियों में स्वय साधन करने की सामर्थ्य नहीं रहती। साधक योनि तो यह मनुष्य योनि ही है। समस्त साधन इसी मानव शरीर से हो सकते हैं, अत उन्होंने जीवों के ऊपर कृपा करके भक्ति-भवन के द्वार के मार्ग को बतानेवाले, उसमें सरलता से प्रवेश करानेवाले, इस अनुपम भागवत शास्त्र की रचना की। इसमें समस्त शास्त्रों का सार ही भर दिया। इसीलिये यह सब शास्त्रों से बढकर हुआ।

आप कहेंगे, जब यह समस्त शास्त्रों से ही निकाला गया है, जब इसके समस्त चरित सम्पूर्ण ज्ञानशास्त्रों से लिये गये हैं तो यह सबसे बढकर कैसे हुआ? इसे आप ध्यानपूर्वक समझिये। हम पूछते हैं, गन्ना श्रेष्ठ है या मिश्री? आप कहेंगे गन्ना की अपेक्षा मिश्री श्रेष्ठ है। आप सोचें—मिश्री गन्ना से क्यों श्रेष्ठ है? मिश्री में एक भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो गन्ना से न लिया गया हो। मिश्री गन्ना के रस के सार से ही तो बनी है। केवल युक्ति कौशल से उसमें से परम उपादेय तत्वों को निकाल लिया गया है। वैसे गन्ने में एक भी वस्तु व्यर्थ नहीं सभी का कुछ न कुछ उपयोग है। उसके प्रत्येक अश किसी न किसी जीव के काम में आयगे, किन्तु हम तो मधुरता के उपासक हैं। जिनका गन्ने के पुक्कस से काम चले, वे उसे ग्रहण करें, जिनको गुड़ की, लौटा की, चिउरा की, शीरा की, चीनी की आवश्यकता हो वे उनसे काम चलावें, हमें तो मिश्री चाहिये। इसी प्रकार घास की रग-रग में दूध है, किन्तु हम घास से दूध प्राप्त नहीं

कर सकते। यह काम तो गौ कर सकती है घास को खा कर उसका दूध बना देगी। अनन्त शास्त्रों मे भरी हुई माधुरी को पचाकर व्यास रूपी कामधेनु ही सबको जीवनदान देने वाले मधुमय क्षीर को बनाने मे समर्थ है।

समस्त जल का कोष तो समुद्र मे ही है। कूपों में, तालाबों में, नद और नदियों मे मीठा जल समुद्र से ही तो आता है। यदि सभी समुद्र सूख जायँ तो ये सभी जल के स्रोत बिना जल के हो जायँ। सबके जलदाता समुद्र ही हैं, किन्तु हम स्वय समुद्र के समीप जाकर जल पीवें तो हमारी पिपासा शान्त न होकर और बढ़ेगी ही। बिना युक्ति के उसके समीप से हमे निराश होकर ही लौटना पड़ेगा। उसी जल को जब बादल भर कर बरसाते हैं, तो वह पीने योग्य मधुर हो जाता है। चराचर-प्राणी उसे पीकर प्रसन्न होते हैं, जीवन धारण करते हैं।

दूध से ही नवनीत बनता है, किन्तु दूध से कहीं अधिक स्वादिष्ट, पौष्टिक और बलवर्धक नवनीत घृत होता है। स्वर्ग की अप्सरायें, समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला पारिजात, जरा-मरण को दूर करने वाला अमृत, समस्त लोकों को दीप्ति देनेवाली विष्णुप्रिया लक्ष्मी, ये सभी वस्तुएँ, क्षीरसागर मे ही छिपी थीं। प्रबल पराक्रमी दैत्य, सब गुणों की खानि देवता इन सबको न निकाल सके। जब श्रीहरि ने समुद्र मन्थन के द्वारा उस अमृत को प्रकट किया तो वह सभी के शोक, मोह, जरा-मृत्यु को हरने वाला पदार्थ उत्पन्न हुआ। श्रीहरि के बिना समुद्र का मन्थन करके उसमें से सार वस्तु को कौन निकाल सकता है?

इसी प्रकार शास्त्र रूपी समुद्र को श्रीनारायण के कल्प अंशावतार भगवान् व्यास ने मथकर यह भागवत रूपी अमृत प्रकट किया। जब यह दिव्य अमृत प्रकट हुआ, तो उन्हें चिन्ता हुई; इसे किसको पढ़ावें। अनधिकारी को पढाना व्यर्थ है। उनके यहाँ बहुत से शिष्य थे। सभी ने कहा—'प्रभो! हमें पढ़ाइये, हमें पढाइये।' किन्तु सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासजी ने किसी की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। सभी से सरलता से कह दिया—'भैया, तुम इसके अधिकारी नहीं।"

इसी बीच उनके पुत्र शुकदेवजी प्रकट हुए। उन्हें इसका उत्तम अधिकारी समझकर भगवान् व्यास ने इस श्रीकृष्ण-कथा को पढ़ाया। निजानन्द में मग्न परमहंसचक्रचूड़ामणि भगवान् शुक ने इस सारातिसार रहस्य शास्त्र को गंगा किनारे दुखी बैठे हुए महाराज परीक्षित् को सात दिन में सुनाया था।

ब्राह्मण के शाप से शापित अन्न-जल का परित्याग किये हुए महाराज परीक्षित् ने श्रीशुक से यह सारातिसार शास्त्र श्रद्धा और संयम के साथ सुना। वहाँ वे चक्रवर्ती सम्राट् अकेले ही नहीं थे। उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने के लिये सभी दिशाओं से ऋषि-मुनि पधारे थे और वे उन धर्मात्मा राजा को चारों ओर से घेरे बैठे थे।

वहीं यह ग्रन्थ प्रकट हुआ। यह ग्रन्थ क्या है, मानों स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण ही इस रूप में पुनः अवतीर्ण हुए। जब सम्पूर्ण संसार के स्वामी श्रीहरि इस धराधाम को त्याग कर स्वधाम पधारने लगे तब उनके साथ ही साथ दया, धर्म, ज्ञान, सत्य, शौच आदि गुण चले गये। ऋषि-महर्षि सभी बड़े दुखी हुए। सभी को अज्ञान—अन्धकार ने आकर आवृत कर

लिया। श्रेय और प्रेय का विवेक नष्ट हो गया। कुछ भी भला-बुरा दिखायी नहीं देता था। उसी समय यह भागवत रूपी महान् ज्ञान-सूर्य प्रकट हुआ। इसके प्रकट होते ही सब वस्तुएँ यथावत् दिखायी देने लगीं। सत्यासत्य और सारासार का विवेक होने लगा। इस ग्रन्थ ने सभी की आँखों में व्याप्त अन्धकार को दूर कर दिया। सभी कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में समर्थ हो गये।

संयोग की बात भगवत्-कृपा से उस महान् समाज में मैं भी उपस्थित था। मन लगाकर समस्त चित्त की वृत्तियों का निरोध करके मैंने भी इस शास्त्र को श्रद्धा सहित श्रीशुक के मुख से सुना। मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ थी, जो इसे सुनकर यथावत् ज्यों का त्यों धारण कर लेता, किन्तु उन कृपालु प्रभु ने मुझे अधिकारी समझ कर ऐसी शक्ति प्रदान की। उन्हीं की कृपा से मैं इसे धारण करने में समर्थ हुआ।

हे ऋषियो! मैं उसी कामनीय कृष्ण कथा को, उसी वन्दनीय भागवत-शास्त्र को आप सबसे सम्मुख निवेदन करूँगा। अब आप सोचते हैं कि जैसे, परमहंस शिरोमणि भगवान् शुक ने जिस प्रेम से, जिस सुन्दर स्वर, जिस प्रकार गंभीरता और ओज के साथ समस्त ऋषियों के सहित महाराज परीक्षित् को सुनायी थी, उसी प्रकार मैं भी आपको सुनाऊँ, यह सम्भव नहीं। शुक, शुक ही हैं। मैं, मैं ही हूँ। कपोत भला गरुड़ की समानता कैसे कर सकता है? कौआ राजहंस की चाल कैसे चल सकता है, काक भला, कोयल की बोली कैसे बोल सकता है? फिर भी जैसी कुछ मेरी बुद्धि है और जैसा कुछ मैंने सुनकर धारण किया है, उसे आप लोगों को सिखाने के निमित्त नहीं, अपनी वाणी

को सार्थक बनाने के निमित्त आपसे कहता हूँ। आप सब सावधान होकर समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

श्रीनाराण बीज अमल अंकुर चतुरानन।
श्रीनारद तनु तनो व्यास शाखा अति शोभन॥
श्रीशुक पावन पुष्प गंध है सरस सुहाना।
कृष्ण-कथा फल मधुर खाइँ मुनिवर विज्ञानी॥
नृपति परीक्षित् शौनकहुँ, सेवें ऋषि मुनि सहित हैं।
वृक्ष भागवत भव्य अति, सब सुख जामें निहित हैं॥

विराट् पुरुष

(१०)

स वेद धातुः पदवीं परस्य
दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या
भजेत तत् पादसरोजगन्धम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० ३ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

हे अनन्त भगवन्त असन्त न उनकूँ जानें ।
प्राणी प्रेम विहीन कहो कैसे पहिचानें ॥
पावन उनको चरित अमित मधुमय सुखदाई ।
लीला ललित ललाम लखें जिन देहिं लखाई ॥
छाँड़ि कपट छल प्रेमतें, करहिं समर्पण कर्म सब ।
नाम, रूप, गुण, धामका, समुझि सकें सत सार तब ॥

बिना भगवान् के तथा उनके भक्तों के चरित्रों का श्रवण गान किये कोई इस भवसागर से पार नहीं जा सकता, यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है। भगवान् की अवतार कथाएँ मनुष्य के

---

१ उन दुरन्तवीर्य रथाङ्गपाणि भगवान् परात्पर विधाता के जन्म, कर्म आदि रहस्यों को—उनकी पदवी को—वही पुरुष जान सकता है,

हृदय को स्वच्छ, मल रहित बना देती हैं। उनमें भगवान् के विशद वीर्य का वर्णन होता है। उनकी जीवों पर कितनी करुणा है, कृपा के कारण कैसे-कैसे कठिन कार्य करते हैं, इन बातों का सर्वत्र समावेश रहता है। भक्तों के अधीन होकर वे सब कुछ कर सकते हैं। ये प्रसंग पुनः पुन आते हैं। इनके श्रवण से अन्त करण में सुख होता है और विश्वास बढने लगता है कि कृपासिन्धु की कृपा का एक आध विन्दु हमारे ऊपर भी कभी पड़ जायेगा। इसीलिये अवतार कथाएँ ही एक मात्र सदा श्रवणीय हैं। उन्हीं के वर्णन का नाम "भागवत" है। सूतजी के ऐसा बार-बार कहने पर सब ऋषियों की ओर से शौनकजी कहने लगे—"महानुभाव ! आपने अवतार कथाओं को तथा उन्हीं के सम्बन्ध से भक्तों की कथाओं को भागवत कहा है। अब हम अत्यन्त संक्षेप में पहिले मुख्य-मुख्य अवतारों को सुनना चाहते हैं। उन अवतारों को सुनाने के अनन्तर आप हमें उनकी दिव्यलीलाओं को विस्तार के साथ सुनावें।"

ऋषियों के ऐसे प्रश्न को सुनकर सूतजी कहने लगे—"हे ऋषियो ! आप धन्य हैं जो संसारी सभी विषयों से पराङ्मुख होकर इस परम पावन पुण्य भूमि में बैठकर श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करने में लगे हुए हैं। भगवान् के अवतारों की लीलाओं का प्रश्न कराने वाला और कथन करने वाला दोनों ही धन्य हैं। इस जिह्वा की यही एक सबसे बड़ी सार्थकता है, कि यह श्रीकृष्ण-कथा का कथन करे और श्रवणों की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता

जो बिना छल-कपट, माया प्रपच के निरन्तर, अत्यन्त प्रेम के साथ उन्हीं के अनुकूल आचरण करता हुआ उनके पादपद्मों की पवित्र गन्ध का श्रद्धा से सेवन करता है।

इसी मे है कि वे सर्वाधार श्रीहरि की लीलाओं का श्रद्धा के साथ श्रवण करें। मैं आपसे मुख्य-मुख्य अवतारों का कथन करता हूँ। आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें—

सृष्टि के आदि मे सर्वप्रथम श्रीहरि का पुरुषावतार हुआ, जिसकी वेदों में पुरुष सूक्त से स्तुति की है। यह अवतार सृष्टि की रचना के निमित्त हुआ। जीवों के शुभाशुभ भोगने के निमित्त उनके शरीरों की उत्पत्ति के लिये ही यह आदि अवतार हुआ। समस्त विश्व चराचर, देवता, नाना अवतारों की उत्पत्ति इसी से हुई है। अनन्त ऐश्वर्य की स्वामिनी श्रीजी का यही सर्वप्रथम इकलौता पुत्र हुआ। विश्व का बीज इसी पुरुषावतार मे निहित है, जिसका वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता, जो इन्द्रियों से परे हैं, जहाँ प्रकृति, माया, अविद्या की गंध भी नहीं, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा नक्षत्र, पंचभूतों के बिना ही कार्य्य चलता है। ऐसा एकलोक है। लोक कहना भी उपलक्षण मात्र है। वह उत्पत्ति, विनाश, विकार, परिवर्तन, निरानन्द से रहित है। वहाँ सर्वेश्वर अपनी परमाह्लादिनी शक्ति के सहित नित्य नयी-नयी लीलाएँ करते हैं। नयी इसलिये कही जाती है, क्योंकि प्रेम का स्वरूप ही नित्य नूतन होता है। वहाँ का प्रेम भी विलक्षण ही है, किन्तु करें क्या? हम वर्णन तो प्राकृत भाषा में कर रहे हैं, वहाँ कोई भाषा नहीं, एक ही प्रेम की भाषा है, वह वाणी से व्यक्त नहीं होती, इसीलिये विवश होकर हमें यहाँ के शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। हाँ तो 'वे' उन अपनों' की ओर निरंतर देखते रहते हैं। क्यों? इसलिये कि उनका सौंदर्य्य क्षण-क्षण में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट दिखायी देता है। अब जो मनमोहकता, सरलता दिव्यता थी—क्षण भर मे उससे भी श्रेष्ठ हो गयी। यही दशा

उनकी है। अत. बिना पलक मारे अनादि काल के युग-युग से वे एक दूसरे की ओर निहार रहे हैं, न दोनों की तृप्ति हुई है, न होगी। इस देखा-देखी में ही कभी-कभी विलक्षण क्रीड़ा हो जाती है। उसी क्रीड़ा का विकार यह विश्व है। उसमें उनका कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं, संकल्प नहीं ; यों ही खेल-खेल में बीज उत्पन्न हो जाता है। जैसे बच्चे खेल-खेल में बीज बो देते हैं, खेलकर अपने घर चले जाते हैं। दूसरे दिन उन्हें याद भी नहीं रहती, कि हमने यहाँ बीज बोया था। दूसरे दिन दूसरे स्थान पर खेल रचते हैं। खेल में डाला हुआ वह बीज जल का संयोग पाकर वृक्ष हो जाता है, फूलने फलने लगता है। बच्चों को याद भी नहीं रहती कि यह हमारे ही डाले बीज से इतना बड़ा वृक्ष हो गया। उनका उद्देश बीज बोकर वृक्ष पैदा करना नहीं था। वह तो संयोगवश खेल में पड़ गया, उत्पन्न हो गया। यही दशा इस अनादि अनन्त विश्वब्रह्मांड की है। यह भी खेल-खेल में निर्मित हो गया।

मधुर तो मधुर ही है, फिर भी रुचि बदलने को बीच-बीच में चटनी चखने से स्वाद बढ़ जाता है। मान से प्रेम निखर जाता है। पतझड़ हो जाने से फिर नये-नये कोपल निकल आते हैं। यह पतन नहीं नूतनता का नियम है। विषयान्तर होने से पुनः प्रियप्रकृत विषय पर आने से उसमें अभिरुचि बढ़ती है। यह सब सोच-समझ कर नहीं किया जाता, यह स्वभाव है। पीछे दार्शनिक विचार के पुरुष एक सिद्धान्त में आबद्ध करके उसकी प्रक्रिया बनाते हैं।

अनादि काल से चली आती हुई लीला के प्रसङ्ग में किसी समय श्रीजी ने कहा—"इतने दिन हमें क्रीड़ा करते हुए

हो गये; किन्तु हमारे कोई पुत्र नहीं हुआ। हम चाहती हैं, एक पुत्र होता तो उत्तम था।"

वे बोले—"तुम यह सब झंझट जाने दो। तीसरे के बीच में आने से प्रेम बँट जाता है। बस, प्रेम में तो प्रेमी और प्रेम-पात्र—दो ही चाहिये।"

किन्तु जो संकल्प उठा वह पूरा होना चाहिये। अमोघ संकल्प ही तो प्रेम मार्ग की भित्ति है। ज्यों-ज्यों उन्होंने मना किया वे त्यों-त्यों ही अड़ती गयीं। परिणाम स्वरूप एक प्रिय पुत्र उत्पन्न हुआ। वे उसका बड़ी सावधानी से, बड़े स्नेह से, समस्त मोह ममता बटोर कर लालन-पालन करने लगीं। बात वही हुई, जिसकी आशंका थी, स्नेह बँट गया। एक में दो साझीदार हो गये। अद्वैत में द्वैत ने पदार्पण किया। यद्यपि वह द्वैत एकत्व से भी विशिष्ट था, द्वैत होता हुआ भी अद्वैत था, फिर भी मायापति और श्रीपति में उपाधि से ही सही कुछ भेद अवश्य था। दूध और पानी जो मिल गये हैं, अब पृथक् होने चाहिये, क्षण भर में ऐसा संकल्प उनके मन में उठा। काल तो वहाँ था नहीं, जो समय की गणना करके बता दे कि यह लीला कितनी देर में हुई, किन्तु यह एक जल में क्षणिक लहर के समान उठी और उसी में यह सब लीला हो गयी।

बच्चे ने माँ की गोद में प्यार पाया। वह अपनेमन को भूल गया। उसे आलस्य आया—क्यों जी, वहाँ आलस्य कैसे घुस गया? बस, अब तुम यह प्रश्न मत करो। जैसे यह क्षणिक संकल्प आ गया वैसे ही वह आलस्य भी था। बच्चे को जम्हाई आयी। माता ने उसका अनिष्ट दूर हो, इसलिये चुटकी बजायी। बच्चे ने मुँह फाड़ा तो उसके मुँह में भी

अद्भुत-अद्भुत चीजें दिखायी देने लगीं। हजारों सिर, हजारों हाथ, असंख्यों आखें, कान, नाक, मुह, उदर स्त्री, पुरुष, पेड़, पत्ती, पहाड़, नदी, वन, घोड़ा, हाथी, ऊँट, नगर, शहर, हजार मुख के, सौमुख के, चार मुख के अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, यक्ष, किन्नर, गंधर्व तृण से लेकर सुमेरु तक, चींटी से ब्रह्मा तक, सभी उस मुख मे माता को दिखायी देने लगे। मूर्तिमान् महत्तत्व, अहंकार, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, मन ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, सभी उसमे विद्यमान थे। किरीट मुकुटों से सुशोभित सहस्रों सिर कानों मे जगमगाते कुण्डल पहिने दिखायी देते थे। सम्पूर्ण चराचर जगत्, असंख्यों ब्रह्माण्ड, उसमें समुद्र में मछलियों के समान घूम रहे थे।

कहाँ प्रेम की उपासना, कहाँ इस जग जंजाल का दर्शन, वे बड़ी खिन्न हुईं। छिः छि, कैसा घिनौना पुत्र हुआ। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं।

"कहाँ रखूँ इसे ? अब तुम्हीं बता दो !" वे बोलीं।

"मैं क्या बताऊँ ? जान बूझ कर तुमने यह सूआ पाल लिया ! कोई बात नहीं। इसे महानार (जल) में रख दो। वहीं इसका अयन हो।" यही उनका सरल उत्तर था।

"ऐसा ही हो !" उन्होंने इतना ही कहा।

अब तक जो स्नेहमयी क्रोड़ मे क्रीड़ा कर रहा था, अब तक जिसका 'अयन' अङ्क था, क्षण भर में ही यह योगनिद्रा के वशी भूत होकर सलिल में शयन करने लगा। सद्य जात शिशु था, अभी तक नाभि का नाल भी छेदन नहीं हुआ था। भाग्य का खेल उसे सलिल की शैया मिली। जल के संयोग से वह नाभि नाल हरा-भरा हो गया। उसमें देखते-

देखते कमल लग गया। उसमें से एक चार मुँहवाले देवता हुए। क्षण भर में वह कमल पृथक् हो गया। उसी समय दूसरा कमल बन गया। उसमें भी सौ मुख का एक देवता था। उसने भी सृष्टि बनानी आरम्भ कर दी। वह सलिल-शायी शिशु जब साँस लेता तो ब्रह्मांड भीतर आ जाते और उस ताल से निरंतर ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती रहती। उसे न संकल्प करना पड़ता, न कुछ प्रयास ही। अपने आप असंख्यों ब्रह्मांड उत्पन्न होते और उसी में विलीन होते। सभी ब्रह्मांडों के पृथक् पृथक् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, मनु, प्रजापति, राजा, ऋषि, चराचर जीव पृथक्-पृथक् होते। उसे ब्रह्मांड उत्पत्ति का यन्त्र समझना चाहिये। उसे पता नहीं कितने ब्रह्मांड उत्पन्न हुए, कितने विलीन हुए? उसके रोम-रोम में असख्यों ब्रह्मांड छिपे हुए थे। फिर भी वे फैल फूटकर पड़े थे, आपस मे धक्का मुक्की नहीं हो रही थी। योगनिद्रा मे नेत्र बन्द किये वह सुषुप्ति सुख का आस्वादन कर रहा था। उसकी विश्वसृजन करनेवाली महामाया शक्ति स्वत. ही उसकी चरण सेवा कर रही थी। उसे किसी ने न तो यह सिखाया था, न किसी ने मन्त्र पढ़कर उसके साथ उसका पाणिग्रहण कराया था। वह उसके साथ ही उत्पन्न हुई और बिना सिखाये पढ़ाये ही सेवा मे जुट गयी।

यही आदि अवतार सभी अवतारों का मूल कारण है। सभी अवतार इसी से उत्पन्न होते हैं। उसके किसी अश से ये देवता, ऋषि आदि उत्पन्न हो जाते हैं और उसी मे विलीन हो जाते हैं। यह अवतार सृष्टि के निमित्त सब से आदि मे हुआ है, इसलिये इसे 'आदि' अवतार कहते हैं। सलिल मे शयन करने से, नारा मे निवास करने से, इसे नारायण भी

कहते हैं। शरीर रूपी पुरी में शयन करता है, इसीलिये इसे 'पुरुष' भी कहते हैं और विश्वब्रह्मांड में सब से विशेष इसकी शोभा है, इसलिये इसे विराट् भी कहते हैं। वेदों में इन्हीं विराट् पुरुष की भाँति-भाँति से स्तुति की गयी है; अतः हम इस विराट् पुरुष के पादपद्मों में श्रद्धा भक्ति के सहित प्रणाम करते हैं।"

छप्पय

ये अगणित ब्रह्मांड रहें सरसों सम जिनमें।
जड़; चेतन, चर, अचर सृष्टि उपजावें छिनमें॥
निहित तत्त्व चौबीस आदि अवतार कहावें।
इनहीतें उत्पन्न, इन्हीमें फिरि मिल जावें॥
अज अनादि अव्यक्त प्रभु, अमित ज्ञान विज्ञान हैं।
नारायण। अव्यक्त विभु, वे विराट् भगवान् हैं॥

प्रथमावतार

(११)

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः ।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्य्यमखंडितम् ॥१॥

(श्रीभा० १ स्क० ३ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

दिव्य, दिगम्बर फिरें सबहिं सम जगमें जिनकूँ ।
पाँच वर्षके सदा जरा व्यापे नहि तिनकूँ ॥
राग, द्वेषतें दूरि, ऊर्ध्वरेता व्रतधारी ।
अव्याहत गति रहें सकल जीवन हितकारी ॥
सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार कुमार वर ।
मन तिन पद पंकजनिकी रज श्रद्धाते धारि सिर ॥

ऐसा नियम है, जिस वस्तु को हम कुछ भी महत्व नहीं देते, जो हमारी दृष्टि में नगण्य, उपेक्षित है, उसी के लिये हमारी परम्परा में पैदा हुए पुरुष—हमारे उत्तराधिकारी लड़ते भिड़ते हैं, व्याकुल होते हैं, इन नाशवान् वस्तुओं में कोई महत्व की वस्तु नहीं ।

---

१ उन्हीं भगवान् ने प्रथम सनकादि कुमारों के सर्गमें स्थित होकर ब्राह्मणवेष बनाकर अखण्ड ब्रह्मचर्य्यवाले दुष्कर व्रत का पालन किया ।

हम अपने मन्त्व के कारण, अपनी वासनाओं की पूर्ति के निमित्त, अपने श्रम को अपना समझकर, उसकी फल-प्राप्ति का अधिकार समझकर वस्तुओं के लिये व्यग्र रहते हैं। उनमें निजत्व का अभिनिवेश करते हैं, और उनकी प्राप्ति में बाधा होने पर क्रोध करते हैं, अपने कंटकों को नष्ट करने को उद्यत होते हैं। यही ससार हैं। कर्म ही बन्धन का हेतु है। असत् में सत् की बुद्धि रखकर उसे पाने तथा अपनाने का नाम ही माया अविद्या है। इस माया से ही जगत् सम्भव है। यह अनर्थ कारिणी माया बीच में न पड़े तब तो संसार कुछ है ही नहीं। सब खेल ही खेल है। सब सुखी रहें, किसी को कोई चिन्ता ही न रहे। सब आनन्द से खेलें, कूदें, नाचें, गावें, मौज उड़ावें, किन्तु इस अपनेपन के कर्मों ने सब गुड़ गोबर बना दिया। समस्त आनन्द को निरानन्द में परिणत कर दिया।

विराट् पुरुष का प्रादुर्भाव किसी सङ्कल्प से नहीं, खेल-खेल में ही हुआ। विराट् पुरुष का नाल भी जल में अपने आप ही हो गया, उनमें प्रयास, प्रयत्न, सङ्कल्प कुछ नहीं था। अब तक तो यह खेल ही रहा। इसमें करने कराने का अपने पराये का आरोप नहीं हुआ था। अब ये जो कमल से देवता पैदा हुए इनकी देखने की इच्छा हुई। क्यों हुई? क्योंकि इनके हृदय में सकल्प घुस गया। कैसे घुस गया? अब हर बात में कैसे-कैसे मत करो। ऐसे कैसे-कैसे करते रहोगे तो कहीं कैसे का अन्त ही नहीं। उन प्रभु की इच्छा से ही देवता के मन में देखने की इच्छा हुई। इसी को मानकर आगे गाड़ी चल सकती है। हाँ, तो देखने की इच्छा होते ही चारों ओर चार मुख हो गये। उनमें इन्द्रियों ने आकर प्रवेश किया। चतुर्मुख देवता देखने लगे। अब उनकी इच्छा बढ़ाने की हुई, क्योंकि उत्पन्न हुआ

मनुष्य बढता है और जिस विषय में उसकी प्रवृत्ति है उसे बढाने की स्वाभाविक इच्छा होती है।

अब तक किसी के मन मे कोई विकार तो था ही नहीं। सभी कामविहीन ब्रह्मचारी थे, अमोघ सङ्कल्प थे। सब कार्य सकल्प से ही हुआ। इसमे बाह्य उपकरणों की, किन्हीं विशेष उपादानों की आवश्यकता नहीं थी। चतुर्मुख के सकल्प होते ही चार सुकुमार सदा प्रसन्न, मोह ममता से रहित, विशुद्ध ब्रह्मचारी हुए। इन्हीं का नाम असल में अवतार हुआ। कुछ तो इनमे माया का अश था ही। नहीं तो शरीर ही कैसे बनता, किन्तु कोई विशेष विकार नहीं थे। इनके सुन्दर स्वरूप को देखकर ब्रह्मदेव मुग्ध हो गये। ब्रह्मा जी के सङ्कल्प से हुए इसलिये व्यवहार में इन्हें ब्रह्मपुत्र कहते हैं। वास्तव मे तो ये किसी के पुत्र हैं ही नहीं। साक्षात् नारायण ही हैं किन्तु सृष्टि के सङ्कल्प के समय में उत्पन्न हुए इसलिये ये प्रथम ऋषि कहलाये। वास्तव में तो ये पूर्वजों के पूर्वज हैं। ब्रह्माजी से भी प्राचीन हैं, भगवत् स्वरूप ही हैं।

ब्रह्मा जी तो अपनी धुनि में थे उन्हें तो सृष्टि बढाने की चटपटी लगी हुई थी। बड़े प्यार से सम्पूर्ण स्नेह को बटोरकर मधुर वाणी से बोले—"पुत्रों! तुम बड़े सुन्दर हो, कैसा तुम्हारा मनोहर रूप है। जी चाहता है तुम्हें देखते ही रहे, किन्तु ऐसे कैसे काम चलेगा। मेरे सङ्कल्प में सहयोग करो।'

चारों कुमारों ने कहा—'आज्ञा कीजिये क्या कर?" प्रसन्न होकर चतुरानन बोले—'वत्स, यही करो कि जैसे तुम हो, वैसे ही बहुत से बना डालो। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भर दो। हमारा परिवार खूब बढे। सभी को हँसते खेलते देखें। यही मेरा मनोरथ है"

चारों बड़े ज़ोर से हँस पड़े और बोले—"देव! आपको यह क्या सूझी है? इससे क्या होगा?"

ब्रह्मा जी बोले—"अरे, होगा क्या? लोग अपने-अपने कर्मों को भोगेंगे, धर्म करेंगे, यज्ञानुष्ठान करेंगे, स्वर्ग पावेंगे। मोक्ष का साधन करेंगे।"

कुमारों ने पूछा—"जो धर्म न करें अधर्म करें, उनकी क्या दशा होगी?"

ब्रह्मा जी ने कहा—"अधर्म से पाप होगा। पाप से दुःख की प्राप्ति होगी, नरक जायँगे, नाना यातनाओं को भोगेंगे।"

कुमारों ने कहा—"जो धर्म अधर्म दोनों से बच कर निरंतर भगवद् ध्यान में ही मग्न रहें, उनकी क्या दशा होगी?"

ब्रह्मा जी ने शीघ्रता से कहा—"अरे, इस विषय में क्या पूछना, वे तो साक्षात् जीवन मुक्त ही बने बनाये हैं।"

कुमारों ने कहा—"तब हमें आप इस सृष्टि के चक्कर में क्यों डालते हैं? कीच लगाकर फिर उसे जल से धोना, इससे तो श्रेष्ठ यही है कि कीच से दूर ही रहे; अतः हमें यह झंझट रुचिकर नहीं है।"

ब्रह्माजी ने आश्चर्य के साथ कहा—"अरे, भैया, यह तुम कैसी बात कर रहे हो? ऐसा ही सब सोच लें तो फिर यह सनातन सृष्टि क्रम कैसे चलेगा?"

कुमारों ने हँस कर कहा—"मान लो, न चले तो इसमें हमारी हानि ही क्या? इच्छा है न चले लोग नाना प्रकार की आधि व्याधि से बचे रहेंगे। दुःख, शोक, चिन्ता, श्रम, ग्लानि से दूर रहेंगे।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हमने जो सृष्टि के लिये इतना श्रम किया है, यह व्यर्थ ही जायेगा?"

कुमारों ने कहा—"आपने क्या श्रम किया है ? अभी तो सिवाय संकल्प के कुछ भी नहीं है। संकल्प को समाप्त कीजिये। सृष्टि विलीन हो जायगी।"

ब्रह्माजी ने कहा—"इतना जो तप किया है, उसी तप के प्रभाव से तो तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है।"

कुमारों ने कहा—"अच्छी बात है, तब तपस्या हम सब भी करेंगे। तपरूप श्रीहरि की निरन्तर आराधना करेंगे।"

ब्रह्माजी ने झुँझला कर कहा—"केवल तप से ही काम थोड़े चलेगा। सृष्टि की वृद्धि के लिये भी कुछ श्रम करना पड़ेगा।"

कुमारों ने कहा—"प्रभो। यह काम हमसे न होगा।"

ब्रह्माजी ने अधिकार के स्वर में कहा—"क्यों नहीं होगा जी! हम तुम्हारे पिता जी हैं, हमारी आज्ञा का उल्लंघन करोगे ?"

कुमारों ने, सरलता के साथ कहा—"इसमें आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता। यह तो सबसे श्रेष्ठ—सर्वोपरि कर्तव्य है। सर्वात्मभाव से इसमें लगे हुए पुरुष को फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, न उसके लिये इससे बढ़कर कोई वस्तु है।"

बस, यह उपदेश ही सृष्टि का मूल कारण हुआ। कुमार शुद्ध सत्वप्रधान थे। ब्रह्माजी रजोगुण के वशीभूत होकर बातें कर रहे थे। यदि उस समय ब्रह्माजी विशुद्ध सत्व का आश्रय लेकर कुमारों की बात मान लेते, तो सृष्टि वहीं समाप्त हो जाती। सकल्प आगे न बढ़ता। सल्कपों के बढ़ने से ही सृष्टि का विस्तार होता है। अपनी आज्ञा का उल्लंघन हुआ समझ कर ब्रह्माजी का रजोगुण और अधिक बढ़ गया। अपनी अभीष्ट कामना की पूर्ति न होने से कामना ने उसी समय

क्रोधरूपी पुत्र को उत्पन्न कर दिया। वही क्रोध रुद्र रूप धारण करके निकल पड़ा। उसने ब्रह्माजी की आज्ञा का किस रूप से पालन किया इसका विशेष विवरण सृष्टि के प्रसंग में आवेगा।

जब तक प्रतिद्वन्दी उत्पन्न नहीं होता, तब तक उस वस्तु की विशेष वृद्धि नहीं होती। इन उन दोनों को समय में रख कर चलानेवाली तीसरी वस्तु की ही सृष्टि होती है। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। सृष्टि के संकल्प से ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। उन्होंने उसे रचा भी, किन्तु वह बढ़े कैसे। उसका प्रतिद्वन्दी भी तो हो; अतः सृष्टि को सहार करनेकी शक्ति वाले रुद्र उत्पन्न हुए। उन्होंने सहारक शक्तिकी वृद्धिमें परम पुरुषार्थ प्रकट किया अब ब्रह्माजी घबड़ाये, अब उन्हें उसकी वृद्धि और फिर रक्षा की चिन्ता हुई। अब केवल सकल्प से काम न चलेगा। अब तो खुल कर मैदान में आना पड़ेगा। अपने प्रबल पैंतरे दिखाने होंगे। सम्पूर्ण शक्ति लगाकर जैसे हो तैसे इसे बढ़ाना होगा। रजोगुण अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यह सत्वगुण ही बीच में गड़बड़ी डाल रहा है, यही सृष्टि को बढ़ने नहीं देता। ऐसा सकल्प होते ही मोह महामोह आदि उत्पन्न हुए। उन्होंने सत्व को ढक लिया। सत्व के ढक जाने पर ब्रह्माजी को आवेश आ गया। वे सोचने लगे – ऐसे अनुनय विनय करने से सृष्टि कब तक बढ़ेगी? किस-किस को मनाते समझाते रहेंगे? कोई ऐसी मोहक वस्तु हो जिसके देखते ही लोग स्वयं सृष्टि में प्रवृत्त हो जायँ। बस, सकल्प करते ही ब्रह्माजी के दो भाग हो गये। अब तक तो वे संकल्प से ही द्वैत की सृष्टि में प्रवृत्त थे, अब वे स्वत. ही कर्म से, शरीर के दो हो गये। दोनों एक से थे, एक शरीर के दो अंग ही ठहरे. किन्तु सकल्प दो थे, मोहक बनाने का और सृष्टि बढ़ाने का, अत. इन

दोनों भागों के दो पृथक् पृथक् लिङ्ग हुए। सृष्टि-सृजन के सकल्प से जो भाग हुआ वह पुलिङ्ग कहाया और मोहक सकल्प से जो हुआ वह स्त्रीलिंग के नाम से विख्यात हुआ।। उनके प्रत्येक अग म मोहकता थी, शत-शत रूपों से वह मन को अपनी ओर

आकर्षित कर रही थी। अत ब्रह्माजी ने उस भाग का नाम शतरूपा रखा और जो दूसरा पुल्लिग विभाग था वह मनु के

नाम से विख्यात हुआ। यही सृष्टि में सबसे आदि स्त्री-पुरुष हुए। इनसे सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति और वृद्धि हुई।

कैसी लीला है भगवान् की! एक ही अंग से दो, एक-से पैदा हुए। संकल्प के कारण एक दूसरे से मिलने को व्यग्र हो उठे। मनुदेव उस शतरूपा पर मन ही मन लट्टू हो रहे थे और शतरूपा भी उन्हें पाने के लिये व्यग्र बनी हुई थी। ब्रह्माजी दोनों के मनोभावों को ताड़ गये और अपने संकल्प की अनुकूल सिद्धि पर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे। हाथ जोड़े हुए मनु ने अपने पिता से पूछा—"देव! मेरे लिये क्या आज्ञा होती है, मैं क्या करूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, तुम एक काम करो। इसे अपनी बहू बना लो।"

मनुजी के मन में जो संकल्प था, शतरूपा जो चाहती थी, उसी को ब्रह्माजी के मुख से सुनकर दोनों के हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी। दोनों के हृदय-कमल की मुँदी हुई कलियाँ खिल उठीं। अपनी प्रसन्नता को दबाते हुए मनुजी ने कहा—"पिता की आज्ञा तो बिना विचार के मान्य होती है। जैसी आपकी आज्ञा होगी वैसा ही हम करेंगे।

ब्रह्माजी ने कहा - 'तुम बड़े अच्छे हो। अपने पूर्वजों—कुमारों—का तुमने अनुकरण नहीं किया।"

मनु बोले—"फिर हमें क्या करना होगा?"

प्रसन्नता से ब्रह्माजी बोले—"फिर तुम दोनों अपने अनुरूप बहुत सी सन्तानों को बनाओ। यह सृष्टि-क्रम बहुत बढ़े, ऐसा उद्योग करो।"

विराट् पुरुष की नाभि से जो कमल हुआ था, उसके सात भाग हो गये थे। ऊपर के ४ भागों (मह, जन, तप और सत्यलोक) में तो संकल्पी सृष्टि के उत्पन्न हुए ऋषि भरे थे, किन्तु मूल तो है पृथ्वी, पृथ्वी में उत्पन्न होकर कर्म न करेंगे, अन्य लोकों में न जायँगे, तब तक सृष्टिक्रम की वृद्धि कैसे होगी? इतना सब कार्य सत्यलोक में बैठे-बैठे ही ब्रह्माजी ने किया। यह मैथुनी सृष्टि तो ऊपर के लोकों में हो नहीं सकती। यही सब सोच समझकर आदि-पुरुष मनु ने पूछा—"हम लोग कहाँ रहें, कहाँ सृष्टि की वृद्धि करें?"

ब्रह्माजी ने हर्ष के सहित कहा—"तुम लोग पृथ्वी पर जाओ। वहाँ अपना अधिकार जमाओ, वहीं सृष्टि बढ़ाओ, घर द्वार, राज परिवार बनाओ, नाना भाँति के अन्न, रस, फल खाओ, यज्ञादि करो कराओ और मौज उड़ाओ।"

"जैसी आज्ञा!" कहकर मनुजी ने भगवान् पितामह के पैर पकड़े। शतरूपा ने भी सिर से प्रणाम किया। पितामह ने आशीर्वाद दिया—"जाओ, तुम दोनों की जोड़ी फले फूले। बहुत बेटा, बेटी, नाती, पोता, पोती हों और मेरी ही तरह तुम भी अपनी सन्तानों से पूजित हो।"

दोनों का हृदय आनन्द से भर रहा था, लज्जा, संकोच के कारण वे कुछ भी न बोले। फिर ब्रह्माजी उपदेश करने लगे—"देखो, तुम्हारे अग्रज कुमारों ने मेरी बात नहीं मानी। उन्होंने तप में ही अपना चित्त लगाया। तप भी करना चाहिये, किन्तु सृष्टि को बढ़ाना, सन्तान पैदा करना, यह भी बड़ा पुण्यप्रद कार्य्य है। इससे बड़ा यश होता है। सुख समृद्धि की प्राप्ति होती है और पितरों को भी प्रसन्नता होती है।"

दोनों ने सिर झुकाकर ब्रह्माजी का उपदेश सुना। ब्रह्माजी सन्तानोत्पत्ति को पुण्यप्रद कार्य्य बता रहे हैं—यह तो ठीक ही है, किन्तु वे दोनों तो परस्पर स्वयं ही सृष्टि-वृद्धि के लिये उत्सुक थे।

उन दोनों की उत्पत्ति से ब्रह्माजी को सन्तोष हुआ और वे आगे की बात सोचने लगे।

छप्पय

सनकादिकने सृष्टि-कार्यमें योग न दीन्हों।
कह्यो कर्‌यो न कुमार कोप कमलासन कीन्हों॥
मनु सतरूपा भये देहतें द्वै नर नारी।
उनने श्रद्धा सहित सीख सब सिरपै धारी॥
आयसु पाई पिताको, दोनों दुलहिन दुल्हा मिलि।
सृष्टि रची सुखतें गई, हृदय कमलकी कली खिलि॥

———

अन्यावतार

(१२)

स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥१

(श्रीभा० १ स्क० ३ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

हैं मनमौजी नाथ सूत्रधर -विश्वविहारी ।
नये नये नित स्वाँग रचें लीला विस्तारी ॥
एक रूपतें रचें एकतें जगको पालन ।
रुद्र रूप धरि करें विश्वको वे सहारन ॥
कच्छ, मच्छ, वाराह वपु, धरिकें धरनी धारते ।
धर्म, धेनु, द्विज पालते, दैत्य-दुष्ट सहारते ॥

एक ही भगवान् सृष्टि-तन्त्र को चलाने की सुविधा के निमित्त अपनी शक्ति को ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीन रूपों में विभक्त कर लेते हैं; तत्वत इनमें कोई भेद नहीं वे ही

---

१ वे अमोघ लीलाधारी श्रीहरि इस अखिल विश्व-ब्रह्माण्डों को रचते हैं, पालन करते हैं और अन्त में सहार भी कर लेते हैं, किन्तु

प्रभु जब सृष्टि करने लगते हैं तो ब्रह्मा कहलाते हैं। पालते समय विष्णु बन जाते हैं, संहारते समय शिव हो जाते हैं। अपने कार्यों के लिये ये ही देव जब विशेष-विशेष अवसरों पर विशिष्ट रूप रखते हैं, तब ये ही अवतार कहलाते हैं। सामान्यतया जितने मनु आदि प्रजापति हैं, सभी सृष्टि बढ़ाने के निमित्त ब्रह्माजी के अवतार हैं। इन्द्र, देवता, ऋषि, मनुष्य मनुपुत्र आदि-रूपों से सृष्टि का पालन करते हैं, अतः ये सब विष्णु के अवतार हैं तथा मन, काल आदि संहार करने वाले सब रुद्र के अवतार हैं। फिर भी भगवान् भक्तों के निमित्त और भी अनेक रूप धारण करते हैं, अतः वे सब विष्णु भगवान् के अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार आदि नामों से विख्यात हैं। जैसे, जीव अनन्त हैं, ब्रह्माण्ड अनन्त हैं वैसे ही अवतार भी हैं, फिर भी यहाँ कुछ अवतारों का वर्णन किया जाता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी आपने विराट पुरुष का तथा प्रथम अवतार श्रीसनकादि कुमारों का वर्णन किया अब आगे अनन्तवीर्य भगवान् के अन्य जो मुख्य मुख्य प्रसिद्ध अवतार हैं, उनके नाम बताइये।"

अवतारों के सम्बन्ध में ऋषियों की उत्सुकता देखकर सूतजी कहने लगे—ऋषियो! अवतार-कथा ही तो संसार में

स्वयं उनमें तनिक भी आसक्त नहीं होते। ये अपने आप में ही स्वाधीनता से स्थित रहनेवाले आत्मतन्त्र भगवान् सब प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर, ज्ञानेन्द्रिय और मन के जो विषय हैं उनका अनासक्त भाव से भोग करते हैं, क्योंकि वे उन सबके नियन्ता हैं।

एक मात्र श्रवण करने योग्य कथा है, और सब तो जंजाल है। ये कुमार तो निवृत्ति मार्ग के प्रदर्शक आदि-अवतार हुए। इससे यह सिद्ध हुआ कि संसार में ब्रह्मचर्य्य ही सार है। जो इस वृहद् व्रत का पालन न कर सके, वे प्रथम धर्म का आचारण करते हुए इधर बढ़ें। सब अवतारों का कारण धर्म का संस्थापन ही है।

ब्रह्माजी ने जब प्रजापति मनु को पृथ्वी पर जाकर सृष्टि करने की आज्ञा दी, तो उन्होंने ध्यान लगाकर देखा तो पता चला, कि सृष्टि की जो अधिष्ठात्री देवी है, उसे तो असुर पाताल में ले गये। ब्रह्माजी तो पैदा करना ही जानते हैं, रक्षा के लिये उन्हें विष्णु की शरण में जाना पड़ता है; अतः पृथ्वी की रक्षा के लिये वे मन से श्रीहरि की शरण गये। सहसा पृथ्वी की रक्षा करने के हेतु भगवान् ने सूकर-रूप धारण किया और पाताल से पृथ्वी का उद्धार करके उसे जल पर स्थापित किया।

बन्धन के कारण कर्म ही हैं। नैष्कर्म्म की प्राप्ति अकाम होने से होगी। मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किये ठहर नहीं सकता। फिर कैसे काम चले? तो क्या ये मर्त्यलोक के प्राणी इसी तरह अनन्तकाल तक पिसते रहेंगे? इनकी निष्कृति का कोई उपाय नहीं होगा? पृथ्वी पर कोई बिना कर्म किये ठहर ही नहीं सकता। क्या कोई ऐसे कर्म नहीं हैं, जिन्हे करने के बन्धन बढ़ने की अपेक्षा कटते जायँ, जिनके करने से ससार का आवागमन छूट जाय? इस काम को सिवाय भगवान् के अवतार के कौन कर सकता है? अत देवर्षि शरीर का आश्रय लेकर, श्रीहरि ने नारद-रूप से अवतीर्ण होकर पंचरात्र भक्तिशास्त्र का प्रचार, प्रसार और प्रवचन किया। जिसके अनुसार किये हुए कर्म, बन्धन के कारण न होकर ससार से

मुक्त करने के कारण होते हैं। उनके द्वारा भगवद्-भक्ति की प्राप्ति होती है।

संसार में कामदेव को विश्व-विजयी कहा गया है। देवता, ऋषि, गन्धर्व कोई इससे नहीं बच सका। सभी को इसने पछाड़ दिया। शिवजी ने भस्म किया तो सही, किन्तु काम-विजय करके भस्म नहीं किया। क्रोध के द्वारा उसे अशरीरी भर कर दिया; किन्तु बिना क्रोध किये भी निरंतर तपस्या में ही लगे रहने से यह प्रबल-पराक्रमी शत्रु भी जीता जा सकता है। इसी आदर्श को संसार के सामने रखने के लिये भगवान् ने धर्म की पत्नी मूर्ति के गर्भ से नर और नारायण दो रूपों से अवतार धारण करके, मन और इन्द्रियों के निग्रह का मार्ग बताया तथा कठिन तपस्या करते हुए काम पर विजय प्राप्त की।

इस विश्व-ब्रह्मांड में सब कितने तत्व हैं, इनकी संख्या कौन कर सकता है? इसी निमित्त कपिल-रूप से भगवान् ने अवतार लेकर लुप्त हुए सांख्यशास्त्र का प्रचार किया। आसुरी नामक ऋषि को उपदेश करके उनके द्वारा उसका प्रचार-प्रसार किया। वह कृतयुगावतार हैं। प्रत्येक सतयुग में अवतीर्ण होकर ज्ञान का प्रसार करते हैं।

भगवान् अपने भक्तों पर कितनी कृपा रखते हैं, वे अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिये क्या क्या नहीं दे देते हैं, इसी बात को सिद्ध करने के लिये परम अवधूत रूप में भगवान् ने महर्षि अत्रि की पत्नी अनुसूया के गर्भ से उत्पन्न होकर प्रह्लाद अलर्क आदि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। सहस्रार्जुन को विद्या और वरदान दिये। ये दत्तात्रेय भगवान् तपस्विनी अनसूया के ही तप से उनके वर माँगने पर प्रकट हुए।

ऋषियों ने पूछा—"सूत जी ! अनसूया ने क्यों वर माँगा ? भगवान् ने क्यों उसके यहाँ अवतार ग्रहण किया ? इस कथा को विस्तार के सहित हमे सुनाइये।"

ऋषियों के प्रश्न पर सूतजी बोले—"महाभागो ! इस समय मैं अवतारों का चरित्र नहीं बता रहा हूँ। यह तो मैं कुछ प्रसिद्ध अवतारों की तालिका दे रहा हूँ। सभी अवतारों के चरित्र का वर्णन आगे किया जायगा। अवतार कथा को ही तो भगवान कहते हैं। मैं आगे इन सब अवतारों के चरित्रों को विस्तार के साथ कहूँगा। इस समय तो आप सक्षेप में इनकी सूची मात्र ही श्रवण करें।

हाँ, तो स्वायभुव मन्वन्तर मे भगवान् 'यज्ञ' नाम से प्रकट हुए। रुचि प्रजापति की पत्नी आकूति के उदर से अवतीर्ण होकर आपने मनु-पद पर प्रतिष्ठित होकर पूरे मन्वन्तर पर्यन्त त्रिलोकी का पालन किया।

जब लोग गृहस्थ धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ समझ कर उसी में आसक्त हो गये और परमहस मार्ग की ओर से लोगों की रुचि कम हो गयी, तब स्वय श्रीहरि 'ऋषभ' रूप से अवनि पर अवतरित हुए। उन्होंने दिगम्बर रहकर जीवनमुक्त दशा को सब के सम्मुख दर्शाया और प्राचीन परमहस मार्ग की प्रतिष्ठा की। यह अवतार अज्ञजनों को भ्रम मे डालनेवाला तथा विज्ञ जनों को मोक्ष-मार्ग बतानेवाला हुआ।

वेन के अधर्म आचरणों से ऊषरपृथ्वी ने समस्त बीज अपने आर में छिपा लिया। संसार भूख से दुखी होने लगा। उस समय सृष्टि का आरभ ही था। न तो पुरों की कल्पना थी न गाँवों की। पृथ्वी भी ऊबड़ खाबड़ सम-विषम थी। तब

भगवान् ने पृथु-रूप धारण करके पृथ्वी को अपने पराक्रम से सम बनाया। उससे अन्न ओषधियों को दुहकर प्रजा का पालन किया। पृथ्वी उर्वरा हो गयी। नरनाथ पृथु की पुत्री होने से ही यह धरा पृथ्वी कहायी। उन्होंने ही पृथ्वी पर ग्राम, मण्डल, नगरों की कल्पना की।

जब वेदों को असुर हर ले गये और आगामी मन्वन्तर के भावी मनु वैवस्वत तथा समस्त बीज और महर्षियों के आश्रय का कोई स्थान न रह गया तब भगवान् ने लोक निंदित मछली का रूप धारण किया; जिसे बहुत से लोग 'जल तुरई' कहकर भक्षण कर जाते हैं। उसी जलचर जीव का रूप धारण करके श्रीहरि ने सप्तर्षियों और मनु को प्रलय की बाढ़ से बचाया। असुर को मारकर वेदों का उद्धार किया। यही भगवान् का अवतार 'मत्स्यावतार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक बार देवताओं की 'श्री' समुद्र में विलीन हो गयी थी। इसकी कथा विस्तार से आगे बतावेंगे। उस समय भगवान् ने क्रीड़ा के लिये—मनोरंजन के लिये—अपनी भक्तवत्सलता दिखाने के लिये, और न जाने क्यों बड़ी-बड़ी मायाएँ रचीं। यह लीला इतनी अद्भुत हुई कि एक अवतार से काम न चला, दो से भी नहीं, तीन से भी नहीं, तो चार अवतार धारण किये। एक अवतार से तो देवताओं को पट्टी पढ़ाकर प्रेरित किया। असुरों को राजनीति से समयानुकूल सन्धि करके समुद्र मथने की सम्मति दी। गरुड़ पर चढ़कर मन्दराचल को मथानी बनाकर उठा लाये और मथने के लिये क्षीरसागर में डाला। अब निराधार इतना भारी पहाड़ समुद्र के अथाह जल में कैसे ठहर सकता था, अतः आप ने लाखों

योजन लम्बा कछुए का रूप रखकर उसे अपनी पीठ पर धारण किया। अरे, इतने बड़े पहाड़ के घूमने से ये पीठ छिली न होगी ! कष्ट तो हुआ ही होगा ? अजी, तुम कहते हो कष्ट, उन्हें तो वह महापर्वत ऐसा लगता था मानो पीठ पर कोई चींटी रेंग रही हो, मानो कोई शनै शनै पीठ को सुहरा रहा हो।

अब क्षीरसागर से अमृत लेकर निकलना किसी देव दानव का काम तो है ही नहीं। अत स्वय ही 'धन्वन्तरि' रूप से अमृत का कलश लेकर निकले भी।

कैसी लीला है ? कुछ समझ में नहीं आती स्वय ही तो मथ रहे हों, स्वयं ही अमृत लेकर निकले हों, फिर भी ऐसे अल्पवीर्य सिद्ध हुए कि असुर एक ही झपट्टे में इनके हाथ से अमृत लेकर भाग गये। ये देखते के देखते ही रह गये। देवताओं के मुख सूख गये। उनकी आकृति बिगड़ गयी। उनकी ऐसी दशा देख कर कुछ कृपा से, कुछ विनोद से लीलाधारी हँस पड़े और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—"अरे, दुखी क्यों होते हो ? मैं तुम्हें युक्ति से अमृत पिलाऊँगा, घबड़ाओ मत।"

अब आपने एक ऐसा रूप बनाया, जिसे न कहते बनता है न सुनते। कहाँ तो कुमार, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, नारद ऐसे अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले, छल-कपट से कोसों दूर, तपोनिष्ठ परम-सात्विक अवतार और कहाँ प्रमदा का अवतार, "दयानिधि ! तेरी गति लखि न पड़े।" लोग से लुगाई बन गये।

'क्यों जी ! लुगाई बुरी होती हैं क्या ?' अजी, बुरी कौन बताता है अच्छी ही हैं। अब तक भी जितने अवतार लिये माताओं के गर्भ से ही लिये। वे माताएँ किसी की पत्नी ही थीं।

किसी भले आदमी की पत्नी के रूप में प्रकट होते तो कोई बात ही नहीं थी, किन्तु यह अवतार तो प्रमदा 'पण्यस्त्री' रूप में हुआ। जिसने असुरों को ही नहीं लुभाया, देवाधिदेव महादेव को भी चक्कर में फँसा लिया। हे भगवन्! आपके इस अनोखे अद्भुत अवतार को दूर से ही नमस्कार है।

ब्रह्माजी के वरदान को सत्य करने के लिये तथा अपने भक्त की भी रक्षा करने के निमित्त भगवान् आधे नर और आधे सिंह-रूप से विलक्षण सिर बनाकर नृसिंह-रूप में अवतरित हुए।

राजा बलि बड़े धर्मात्मा थे किन्तु थे असुर। असुर होकर वे इन्द्रासन पर बैठ गये। इन्द्र को मार भगाया। इन्द्र और उनकी माँ भी उनके भक्त थे और बलि भी। अब क्या करें? धर्म-संकट में पड़कर आप बड़े से वामन बन गये। कपट का आश्रय लेकर बलि को पाताल का राजा बनाया और इन्द्र को स्वर्ग का। इस अद्भुत मनोहर कथा का वर्णन वामनावतार की कथा में करेंगे।

बहुत से क्षत्रिय ऐश्वर्य पाकर मदोन्मत्त हो गये। वे अपनी ब्रह्मण्यता को भूल गये। तब दयालु भगवान् ने अपने हाथ में फरसा उठाया। क्षत्रिय काँप गये। अरे, ऐसा अवतार तो आज तक उत्पन्न नहीं हुआ। ब्राह्मण होकर इतनी नृशंसता! उन्हें क्या पता कि माली इतने पेड़ों को निर्दय होकर कैंची से क्यों कतर रहा है? आस पास के पेड़ों को क्यों उखाड़ रहा है? इनका रहस्य तो माली या वृक्ष-विज्ञान के विशेषज्ञ ही जान सकते हैं कि कौन से पेड़ उखाड़ फेकने योग्य हैं, कौन से काटने योग्य, कौन से बचाने योग्य? सो यह परशुराम अवतार ऐसा ही अवतार था।

प्रत्येक त्रेता में धर्म की रक्षा के लिये असुरों का संहार करने के निमित्त भगवान् रामरूप से अवतरित होते हैं। यह त्रेता का युगावतार इतना सौम्य, सरल, सच्चा, सुन्दर, साहसी, सतोगुणी, स्नेहभरित अवतार संसार में दूसरा न हुआ होगा।

जब द्वापर के अन्त में मनुष्य अल्पायु, अल्पज्ञान, शौच, सदाचार से हीन हो जाते हैं तथा महान् ज्ञान को धारण करने में असमर्थ हो जाते हैं, तब श्रीहरि प्रत्येक द्वापर के अंत में व्यास रूप से अवतीर्ण होते हैं। वेदों का व्यास करते हैं। पुराणों को संग्रह करके उन मनुष्यों के उपयोगी विभाग बनाते हैं। इतिहास कथाओं का संग्रह करते हैं तथा समस्त ज्ञान को सरलता के साथ लौकिक भाषा में प्रकट करते हैं। गत द्वापर में भगवती सत्यवती के गर्भ से भगवान् पराशर के वीर्य से कृष्णद्वैपायन नाम से भगवान् वेदव्यास रूप से प्रकट हुए, जिन्होंने समस्त पुराण तथा पुराणों में तिलक स्वरूप श्रीमद्भागवत की भी रचना की। वेदों का विभाग किया तथा लौकिक भाषा में पंचमवेद महाभारत का भी निर्माण किया।

उसी समय वृष्णि-वंश में रामकृष्ण रूप से दोनों अवतार साथ ही साथ हुए। बलरामजी तो धराधर शेषजी के अंशावतार हैं। श्रीकृष्ण को कोई नर-नारायण का अवतार कहते हैं, कोई भूमा पुरुष के कृष्णकेश का अवतार कहते हैं, कोई-कोई लोक रक्षक विष्णु का अवतार कहते हैं और व्यासजी कहते हैं—"ये सब अवतार कोई अंशावतार हैं, कोई कलावतार, किन्तु कृष्ण तो स्वयं साक्षात् परब्रह्म ही हैं। उनका अवतार नहीं, स्वयं जैसे थे तैसे ही हो गये। अपने नित्य लोक में जो

लीला मानवीय नेत्रों से अप्रकट रूप से करते थे, उन्हीं सब लीलाओं को अपने समस्त परिकर के साथ आकर प्रकट रूप से कुछ क्षणों के लिये श्रीवृन्दावन धाम में किया। ये बड़े रहस्य की बातें हैं। प्रसङ्ग आने पर आगे इस विषय पर विशेष विवेचन किया जायगा।

जब अधर्म को धर्म की आड़ में असुर करने लगे, जब पाप को पुण्य की पोशाक पहिनाकर इन्द्रियों की तृप्ति में मनुष्य लगते हैं, जब ब्राह्मणों का वेष बनाकर दैत्य मान प्रतिष्ठा और इन्द्रिय लोलुपता के लिये मिथ्या यज्ञ में प्रवृत्त हो जाते हैं, तब भगवान् उन असुरों को छलने के लिये 'बुद्ध' नाम से उत्पन्न हुआ करते हैं। यह अवतार दैत्यों को ठगने के लिये है। इनके उपदेशों को समझने के लिये दैवी सम्पत्ति सम्पन्न प्रज्ञा चाहिये। असुर तो इसके ऊपरी अर्थ को ही समझकर मुग्ध हो जाते हैं और धर्म से पतित हो जाते हैं।

जब घोर कलियुग आ जाता है, धर्म का लेश भी नहीं रहता, सर्वत्र अधर्म, अत्याचार, स्वार्थ और व्यभिचार का बोलबाला हो जाता है, तब उस अधर्म का नाश करने के निमित्त श्रीहरि कल्कि-रूप में अवतीर्ण होते हैं। यह कलियुग का युगावतार है। प्रत्येक कलि में यह अवतार होकर कलियुगी भावों का अंत करके सतयुग की स्थापना करता है। ये ही भगवान् के मुख्य मुख्य अवतार हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी, कुमारों को मिलाकर ये तो कुल २२ ही अवतार हुए। हमने तो भगवान के २४ अवतार सुने हैं।"

सूत जी ने कहा—"ऋषियो ! भगवान् के अवतारों की कोई निश्चित गणना नहीं। यदि गणना ही हो जाय तो फिर वे अनन्त कहाँ रहे ? २४ तो उपलक्षण मात्र हैं। इनके अतिरिक्त भी ध्रुव पर कृपा करने वाले ध्रुव विष्णु, गज को ग्राह से छुड़ानेवाले हरि विष्णु, हंसावतार विष्णु, हयग्रीवावतार, इस प्रकार भगवान् के अनन्त अवतार हैं। आगे अवतार प्रसग में और भी गिनाये जायँगे। जितने ऋषि हैं, मनु, देवता, मनुपुत्र, पराक्रमी राजा, प्रजापति सभी भगवान के अशावतार हैं। सभी में उन्हीं हरि का अश प्रविष्ट होकर त्रैलोक्य मे पालन कार्य कर रहा है। कभी-कभी असुरों मे भी अपना पराक्रम प्रविष्ट कर देते हैं, तो वे भी प्रबल हो जाते हैं और देवताओं तथा अवतारों को भी दबा लेते हैं। अनेक रूपों में वे नटनागर लीलाधारी बाँकेबिहारी क्रीड़ा कर रहे हैं।

जहाँ से ये कला और अश निकलते हैं, वे श्रीकृष्ण तो परात् पर परिपूर्ण स्वय भगवान् हैं। उनकी अवतारों में गणना नहीं, वे तो सब अवतारों के अवतारी हैं। उनके अश और कला से प्रकट हुए अवतार दैत्यों को दमन और असुरों का सहार करते हैं। ये अवतार प्रत्येक युग में, प्रत्येक मन्वन्तर में उत्पन्न होते हैं। सब अवतारों के कार्य पृथक् होते हैं। अपने कार्य को करके वे अन्तर्धान हो जाते हैं। कई कार्यों के लिये कभी कभी कई अवतार एक साथ भी प्रकट होते हैं। महाभारत के समय कई अवतार एक साथ हुए—नर अवतार नारायण अवतार, बलराम अवतार, व्यासावतार, श्रीकृष्णावतार। इनके अतिरिक्त परशुराम, कपिल, नारद, कुमार—ये सब विद्यमान थे ही, अब भी हैं। सबका कार्य-क्षेत्र पृथक है, किन्तु श्रीकृष्ण का कोई कार्य नहीं। वे तो क्रीड़ा करते रहते हैं।

कभी-कभी अनुग्रह सृष्टि के जीव इस पृथ्वी पर अत्यधिक हो जाते हैं, तो उनके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त स्वयं साक्षात् रूप से इस धराधाम पर अपनी लीला को प्रकट करके दिखा देते हैं। सब उसे देखने के अधिकारी भी नहीं। जिनका कर्म बन्धन कट गया है, जो उनकी नित्य लीला में सम्मिलित होने के अधिकारी हो गये हैं, जिन्हें उनके परिकर में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त हो गयी है, वे ही महाभाग इस प्रकट लीला के दर्शन के अधिकारी होते हैं। वैसे उनके अपने लोक में तो ये लीलाएँ नित्य ही होती हैं। भावुक भक्त भगवद्-अनुग्रह से भावना द्वारा भगवान् की इन लीलाओं का नित्य ही आस्वादन करते हैं। इन सब विषयों की चर्चा प्रसंगानुसार विस्तार से होगी।"

छप्पय

हैं कुमार, बारह, कपिल, नारद अवतारा।
नर नारायण, ऋषभ, दत्त, पृथु, यज्ञ अपारा॥
धन्वन्तरि, नरसिंह, मत्स्य, कच्छप, वामन, हरि।
परशुराम, श्रीराम व्यास, बलराम, रूपधरि॥
कला अंश सभव सकल, शुभ अवतार महान हैं।
कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, सबके आदि निधान हैं॥

———

पावन प्रश्न

(१३)

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना।
कुतः सचोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ॥१

(श्रीभा० १ स्क० ४ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

सूत ! कहो अब कथा कहाँ कब काके द्वारा।
प्रकट भागवत भई कहाँ कीयो विस्तारा॥
व्यासदेव मुनि महा तनय उनके अति ज्ञानी।
पागल प्रेत समान फिरें मानों अज्ञानी॥
सुनी कथा कैसे कही, नृपति परीक्षित् प्रति सबहिँ।
सूत ! सुनाओ सब कथा, हो सन्तोष हमें तबहिँ॥

रहस्यमयी बात की भूमिका सुनकर उसको विस्तारपूर्वक सुनने की इच्छा स्वाभाविक ही होती है। जो बात सम्भव न हो

---

१ शौनकादि ऋषि सूतजी से पूछने लगे—"हे सूतजी ! आप हमारे इन प्रश्नों का भली भाँति उत्तर दीजिये कि यह भागवती कथा किस युग में प्रकट हुई, किस स्थान पर प्रकट हुई, और किस कारण से प्रकट हुई ! महामुनि कृष्णद्वैपायन भगवान् ने किसकी प्रेरणा से इस सात्वत् संहिता की रचना की ?"

उसके सम्बन्ध में जब कोई कहता है, तो मन में अनेक प्रश्न उठने लगते हैं, कि ऐसा तो सम्भव नहीं था। यह किस कारण से हुआ ?

सूतजी ने सूत्र रूप से कहा, कि यह भागवती कथा पहिले भगवान् व्यास ने बनायी, अपने प्यारे पुत्र शुक को पढ़ायी, शुक मुनि ने विप्र शाप से शापित राजा परीक्षित् को सुनायी। इसमें कई बातें ऐसी थीं, जिनका होना सम्भव नहीं था। एक से एक आश्चर्य की बात थी, अत. शौनकादिऋषि सूतजी से प्रश्न करने लगे।

शौनकजी बोले—"महाभाग सूतजी ! आप बड़े बुद्धिमान् हैं। बहुत-से लोग बुद्धिमान् तो होते हैं, किन्तु सब विषयों को समझने में समर्थ नहीं होते। किसी विशेष विषय में ही उनकी बुद्धि विशेषता दिखाती है; किन्तु आप तो सर्व शास्त्रों के ज्ञाता हैं, समस्त विषयों के विशेषज्ञ हैं। बहुत-से लोग स्वयं तो सब बातों को भली भाँति समझ लेते हैं, किन्तु दूसरों के सम्मुख भली भाँति व्यक्त करने में समर्थ नहीं होते, परन्तु आप तो वक्ताओं में भी विशारद हैं। जिस विषय को आप जिस प्रकार समझते हैं, उसे उसी प्रकार श्रोता पर व्यक्त करने में भी समर्थ हैं। वक्तृत्व शक्ति सभी में नहीं होती। सहस्रों में कोई सुयोग्य वक्ता होता है। आप उन्हीं कुशल वक्ताओं में से हैं।

आपने कहा कि मैंने भगवान् शुक से भागवती कथा सुनी, सो कृपा करके उसी पुण्य कथा को हमें भी सुना दीजिये। आपके पिता समस्त पुराण और शास्त्रों के वक्ता थे, बड़े बुद्धिमान् थे, अतः आपका बिन्दु-कुल बड़ा ही पवित्र है। आप योग्य

पिताके सुयोग्य पुत्र हैं। आपने श्रीकृष्ण-कथा भगवान् शुकसे सुनी। शुकदेवजीके सम्बन्धमें कुछ कहना मानो सूर्यको दीपक दिखाना है। इनके पिता साक्षात् विष्णुके अवतार हैं। वे स्वयं परम विरक्त, महान् ज्ञानी और अद्वितीय भगवद्-भक्त हैं उनके आप शिष्य हैं, अतः आपका नाद-कुल भी परम पावन है। इस प्रकार आप विन्दु और नाद दोनों कुलोंके सम्बन्धसे कुलीन हैं। कुलीन पुरुष चाहे धनहीन और गुणों से रहित भी क्यों न हो वह वन्दनीय ही होता है। थोड़ा हो चाहे बहुत, कुल-परम्पराका प्रभाव प्रायः सभीमें होता है। शील ही मनुष्यकी शालीनताका द्योतक है और शीलगुण अधिकांश वंश-परम्परासे ही प्राप्त होता है, अथवा सज्जन पुरुषोंके संगसे भी प्राप्त हो जाता है। कुलीन पुरुषके सम्मुख की हुई याचना विफल नहीं होती। वह सदा सफल ही हुआ करती है। अतः जैसी आपने शुकदेव स्वामीके मुखसे कथा सुनी है वैसी ही आप हमें सुनाइये।

व्यास भगवान्ने इस लोकमें हितकारिणी, श्रीकृष्ण स्वरूप-धारिणी, कलिमलहारिणी बद्ध प्राणियोंको तारनेवाली और विरक्त ज्ञानी मुनियोंके भी मनको हरण करनेवाली भागवती कथा की रचना कहाँ पर की क्यों की, कब की, किस लिये की?

आप कह सकते हैं, कि उन्होंने वैसी ही अपनी इच्छासे इसको रचा। यह तो ठीक ही है, किन्तु उन महर्षिके लिये स्वयं तो कोई कर्तव्य था नहीं, वे स्वयं आत्माराम हैं फिर भी उन्होंने लोक हितके लिए वेदोंका व्यास किया, पुराणोंका संग्रह किया, उसी प्रकार इस कथा की भी रचनाकी या किसी दूसरेने उन्हें इस कार्यमें प्रवृत्त किया। वैसे तो सभी कार्य ईश्वरेच्छा, देव-इच्छासे ही होते हैं। भगवद् इच्छाके

विना एक पत्ता भी नहीं हिलता, फिर भी कार्योंके कारणों को देखकर कर्मोंके तीन विभाग किये हैं—एक स्वेच्छा से किया हुआ कर्म, एक परेच्छासे किया हुआ कर्म और एक दैवेच्छासे किया हुआ कर्म। दुर्योधनने स्वेच्छासे जुआ खेला, वनवासकी अवधि समाप्त होने पर उसे पाडवोंका राज्य लौटा देना चाहिये था, किन्तु उसने स्वेच्छासे नहीं लौटाया ऐसे कार्य स्वेच्छासे किये हुए कहलाते हैं।

अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहता था। उसे अपने कुल परिवारका, पूजनीय पुरुषोंका वध करना अभीष्ट नहीं था। वह रक्तसे सने हुए राज्यकी अपेक्षा भिक्षावृत्तिपर निर्वाह करनेको श्रेष्ठ समझता था, किन्तु श्रीकृष्ण भगवान्ने प्रेरणा करके उससे युद्ध कराया, शत्रुओंका संहार कराया, पाडवों को एकछत्र सम्राट् बनाया। ऐसे कार्य जो दूसरोंके द्वारा प्रेरित किये जाने पर किये जाते हैं, परेच्छा कर्म कहलाते हैं। महाराज युधिष्ठिर कौरवोंको मारनेके अनतर राज्य सिंहासन पर बैठना नहीं चाहते थे, किन्तु व्यासादि महर्षियोंने भीष्म पितामहने, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने उन्हे भाँति-भाँतिके उपदेश देकर, तरह तरहकी नीति समझा कर, राज्य करनेके लिये प्रेरित किया। स्वेच्छा से कार्य करनेवाला पुरुष निशंक होकर करता है, दूसरोंकी बात जो उसके प्रतिकूल हो किसी प्रकार नहीं मानता। शंकित अवस्थामें प्रेरित कर्म किया जाता है। जब मनमें किसी विषयकी शंका हो और स्वयं उसका समाधान करके कार्यमें प्रवृत्त होने की क्षमता न हो, उस समय जो अपनेसे श्रेष्ठ, अपने हितैषी-जन, जिस कार्यको करनेको प्रेरणा करते हैं और उसे कल्याण कारक समझकर हम करने लगते हैं। यह परेच्छासे किया हुआ कर्म है। जिसे हम

स्वयं तो करना नहीं चाहते हों, किन्तु परिस्थितियाँ हमें उन्हें करनेको विवश कर दें और बिना सोचे-समझे हमें प्रारब्ध-वश उनमें प्रवृत्त होना पड़े, तो उन कार्योंको दैवेच्छा कर्म कहते हैं। कुमारावस्थामें कुन्ती गर्भ धारण करना नहीं चाहती थी, किन्तु दैवेच्छासे धारण करना पड़ा। वे अपने पुत्रको पानीमें परित्याग करनेको हृदयसे कटिबद्ध नहीं थीं, किन्तु परिस्थितियोंने उन्हें ऐसा करनेको विवश कर दिया। कर्ण अपने सगे भाई—पाण्डवोंसे—लड़ना नहीं चाहते थे, किन्तु भवितव्यताने ऐसा जाल रचा कि उन्हें अपने सगे भाइयोंसे लड़ना पड़ा और अपने छोटे भाइयोंकी पत्नी द्रौपदीसे अवाच्य वचन कहने पड़े। वैसे तो इन सबमें प्रभुकी ही इच्छा थी। इसलिए सूतजी! आप हमें यह बताइये कि भगवान् व्यासने इस भागवती संहिताकी रचना स्वतः की या किसीकी आज्ञासे की? यदि किसीकी आज्ञासे की तो वह किनकी आज्ञा थी और उन्होंने क्यों आज्ञा दी?

एक बात आपने और भी आश्चर्यकी बतायी। उससे हमारा विस्मय अत्यधिक बढ़ गया। आपने कहा कि श्रीव्यासजीने यह पूरीकी पूरी बृहत् संहिता अपने पुत्र शुकदेवजीको सुनायी। श्रीशुकदेवजीकी चर्चा तो हम अपने पूज्य ऋषि-मुनियोंसे बहुत दिनोंसे सुनते आ रहे हैं। उनके त्याग-वैराग्यके सम्बन्धमें तो हमने अनेक प्रकारके अद्भुत-अद्भुत उपाख्यान सुने हैं। उनके उत्कट वैराग्यकी बात तो हम बहुत ऊँचा उठाती हैं, वे तो जन्मसे ही संसारी विषय वासनाओंसे उदासीन, द्वैतीभावसे रहित, सबको समान समझनेवाले और परमहंस वृत्तिके थे। उनको तो पढ़ने-पढ़ानेका ज्ञान ही नहीं था। उनके

सम्बन्धमें हमने ऋषियोंसे एक बडी ही विचित्र कथा सुनी है।

हमने सुना है, शुकदेवजी १६ वर्ष तक इस संसारके बन्धनोंसे भयभीत होकर गर्भमें ही रहे। व्यासजीको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने द्वारकानाथ श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्‌से जा कर सब समाचार कहे। शुकके समाचारको सुनकर श्याम सुन्दर द्वारकासे व्यासाश्रमपर पधारे और उन्होंने गर्भस्थ श्रीशुकको आश्वासन दिया कि तुम्हें संसारकी माया व्याप्त न होगी। भगवत् वचनों पर विश्वास करके श्रीशुक गर्भसे बाहर हुए। बाहर होनेपर व्यासजी उनके लौकिक, वैदिक संस्कार करनेमें प्रवृत्त हुए किन्तु उन्होंने उन कर्मोंका अनुमोदन नहीं किया। वे उन सभी संस्कारोंको बिना कराये ही, जिस अवस्था में गर्भसे निकले थे, उसी नग्नावस्थामें वनको चले गये। व्यासजी पुत्र शोकसे दुखी हुए और 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़े। किन्तु उन्होंने पीछे फिरकर भी नहीं देखा। ऐसे शुकने सम्पूर्ण सात्वत संहिता—यह भागवती कथा-कैसे पढी? यही नहीं उन एकान्तमति महायोगीकी समदर्शिताके सम्बन्धमें एक और भी विलक्षण कहानी सुनी है।

जब वे नग्नावस्थामें अपने आपमें मग्न हुए वनकी ओर जा रहे थे, तो उनके पीछे पीछे बूढे व्यास भी पुत्र पुत्र कहकर दौड़ रहे थे। आगे उन्होंने भगवती सुरसरिमें स्नान करते हुए स्वर्गकी अप्सराओंको देखा। वे अपने सम्पूर्ण वस्त्र पुण्यतोया अलकनन्दाके किनारे रखकर—नग्न होकर—नहा रहीं थीं। जब उनके सामनेसे परमरूप यौवन सम्पन्न षोडश वर्षीय दिगम्बर श्रीशुक निकले, तो वे उसी तरह हँसती हुई, एक दूसरीके ऊपर

जल उलीचती हुई, नाना भाँतिकी जलक्रीड़ा करती हुई बिना किसी शील-सकोचके नहाती रहीं। श्रीशुकदेवजी जैसे वन, पहाड, वृक्षोंको भी देखते जाते थे, वैसे ही उन्होंने उन देवाङ्गनाओंको भी देखा। देवाङ्गनाओंने भी उन्हें देखा, उनके मन में कोई भाव ही नहीं उठा जैसे, और पशु पक्षी उड़कर इधर उधर जा रहे थे, वैसे ही उन्होंने शुकको भी एक सुन्दर पक्षी के ही समान समझा। शुकदेवजी अपने आनन्दमें मग्न हुए आगे निकल गये। जब उन अप्सराओंने शुकके पीछे हसके पखोंके समान शुभ्र दाढी जटावाले भगवान् व्यासको देखा तो उन्होंने मारे लज्जाके अत्यन्त ही शीघ्रताके साथ अस्त व्यस्तावस्थामें अपने वस्त्र धारण किये। उन्होंने अपने सभी अङ्गों को ढक लिया

व्यासजी इस चरितको देखकर परम चकित हुए। वे मनमें सोचने लगे—"भैया, इन लुगाइयोंने तो आज विचित्र व्यवहार किया। परम रूप यौवन सम्पन्न नग्नावस्थामें मेरे पुत्रको देखकर तो ये नगी नहाती रहीं और मुझ बूढेको वस्त्र पहिने देखकर ये बडी लज्जावाली बन गयीं। बूढे से रहा नहीं गया, बातको पचा भी न सके। पचानेकी बात भी नहीं थी। यह तो अपने ऊपर लाञ्छन था, प्रत्यक्ष अपमान था। जाकर खड़े हो गये, और बात चलानेको पूछा—"पुत्रियो! इधरसे मेरा बेटा गया है, तुमने उसे इधर जाते हुए देखा तो नहीं?' लज्जा से अपने गुह्यअगों को यत्नपूर्वक ढकती हुई, अपने शरीरमें ही मानों घुस जाना चाहती हों, इस तरह सम्पूर्ण शरीर को सकुचित करके लज्जाके साथ उन्होंने उत्तर दिया—"हाँ, भगवन्! हमने उन महाभागको जाते हुए देखा

है, वे अभी इधर उत्तरकी ही ओर गये हैं। थोड़ी ही दूर पहुँचे होंगे।"

व्यासजीको पुत्रके सम्बन्धमें थोड़े ही पूछना था, पुत्र तो उनके सामने ही जा रहे थे, उन्हें तो बात चलानी थी! बात आरम्भ करनेकी भूमिका थी। जब बातचीत आरम्भ हो गयी तो उन्होंने कहा—"बेटियो! तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ, यदि तुम बुरा न मानो तो पूछूँ?"

देवाङ्गनाओंने लजाते हुए कहा—"भगवन्! आप कैसी बात कह रहे हैं? आप तो हमारे पिताके समान हैं, अपनी पुत्रियों से भला ऐसे पूछा जाता है? आप बिना सकोचके जो पूछना चाहें पूछें। हम उसका यथामति उत्तर देंगी।"

व्यासजीने ममत्व प्रकट करते हुए कहा—"हाँ, तभी तो मैं पूछता हूँ। मैं यही पूछना चाहता था, कि मेरा पुत्र परम रूपवान् है, युवावस्था सम्पन्न है, उसके सभी अग सुडौल हैं, फिर भी वह दिगम्बर है, शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं पहिने है। वह जब तुम्हारे समानेसे निकला, तब तुमने किसी प्रकार का शील सकोच नहीं किया। अनावृत स्नान करती रहीं खेलती कूदती रहीं और जब मैं बूढा आया, जिसके सब बाल सफेद हो गये हैं, वृद्धावस्थाके कारण इन्द्रियाँ शिथिल हो गयी हैं और जो सम्पूर्ण अगों को वस्त्रोंसे ढके है, ऐसे मुझे देखकर तुम अत्यधिक लजा गयीं, अत्यन्त हडबड़ाहटके साथ वस्त्र पहिनने लग गयीं, इसका क्या कारण है? एक तो मैं बूढा हूँ तुम्हारे पिताके समान हूँ, सत्शास्त्रोंमें पारगत हूँ, धर्मका व्यवस्थापक हूँ, मेरे ऊपर तो तुमने सन्देह किया, और जिस युवावस्थाको पाकर प्राणी उन्मत्त हो जाता है, कर्तव्याकर्तव्य

का ज्ञान भूल जाता है, उसी अवस्थाको प्राप्त मेरे पुत्रसे तुमने तनिक भी पर्दा नहीं किया। इसका रहस्य मुझे बताओ।"

उन देवाङ्गनाओंमें जो सर्वश्रेष्ठ थी, वह बोली—"भगवन्! न तो हमने आप पर अविश्वास किया है, न हमारा विचार आपके प्रति कुछ अन्यथा ही है; किन्तु हमने जो भी कुछ किया है नारी सुलभ स्वाभाविक लज्जाके ही वशीभूत होकर किया है। स्त्री कैसी भी क्यों न हो, उसमें शील, संकोच लज्जा रहती ही है!"

व्यासजी बोले—"हाँ, यह तो मैं मानता हूँ, किन्तु तुमने मेरे पुत्रके सामने लज्जा क्यों नहीं की?"

वही देवाङ्गना बोली—"प्रभो! लज्जा होती है, विकार की संभावनामें। जहाँ विकारकी संभावना नहीं वहाँ लज्जा भी नहीं।"

व्यासजीने कहा—'तब यह तो मेरे चरित्र पर प्रत्यक्ष अविश्वास प्रकट करना हुआ।'

हाथ जोड़े हुए थर-थर काँपती हुई भयभीत वाणी में वह देवाङ्गना बोली—"भगवन्! मैं आपके श्रीचरणोंमें सिरसे प्रणाम करती हूँ, मेरा अभिप्राय यह नहीं था। आपमें और आपके पुत्रमें इतना ही अंतर है, कि आपने तो संसारी सुख भोगा है। आपको यह ज्ञान है कि स्त्री भोग्या होती है, किन्तु आपके पुत्र संसारी सुखोंसे सर्वथा अपरिचित हैं। उनको स्त्री-पुरुषका ही भेद नहीं है। आप यह जानते हैं कि ये स्त्रियाँ हैं ये पुरुष हैं। इतना ही नहीं स्त्रियोंमें भी आपके मनमें भेदभाव है। हम छोटी अवस्थाकी हैं इसलिये आप हमें बार-बार पुत्री-पुत्री कहकर पुकार रहे हैं। यदि कोई आपके बराबरकी होती तो उसे आप बहिन कहते। आपसे

भी जो बहुत बूढ़ी होती उसे आप माता कहते और महाभाग शुकदेवकी जननीमें आपका पत्नी भाव है ही। आपको इतना भी ज्ञान है, कि सभी स्त्रियाँ किसी न किसीकी पत्नी होती हैं। आप यह भी जानते हैं कि परपत्नीसे संसर्ग करना पाप है, इसीलिये आप दूसरी समस्त स्त्रियोंको पुत्री, बहिन अथवा माताके समान समझनेका सदा प्रयत्न करते हैं। हम स्त्रियाँ भी छोटे बच्चोंसे जब तक मनमें भेदभाव नहीं होता, किसी प्रकारकी लज्जा नहीं करतीं। जब उसे स्त्री पुरुषका भेद होने लगता है, तो फिर चाहे वह हमारा पुत्र हो, भाई हो, उससे लज्जा करने लगती हैं। बड़ी होने पर पितासे भी लजाती हैं। आपके पुत्र तो जानते ही नहीं, स्त्री-पुरुष दो हैं। उन्हें स्त्री-पुरुषोंमें ही जब भेदभाव नहीं तो स्त्रियोंमें तो भेदभाव होना क्या था। इसीलिए हम निःशंक नहाती रहीं। उन्होंने हमारी ओर देखा भी, किन्तु उसी प्रकार जैसे वे पेड़, पर्वतोंको देखते जाते थे। न उनकी आँखोंमें कोई विकार था, न मनमें भेदभाव। आप चाहे दृष्टि बचाकर ही चले जाते, हमारी ओर देखना भी पाप समझते, फिर भी मनमें अवश्य सोचते—ये स्त्रियाँ कितनी निर्लज्ज हैं, जो मुक्त पुरुषको देखकर भी नंगी नहाती रहीं। प्रभो! हमारा अपराध क्षमा हो। आपके पूछने पर ही हमने उत्तर देनेकी धृष्टता की, नहीं आपको कौन सिखा सकता है। देवताओंके गुरु बृहस्पति भी आपको शिक्षा देनेमें असमर्थ हैं। आप साक्षात् नारायण हैं। यदि हमारे उत्तरमें कोई अविनय हुई हो, तो उसे आप अपनी उदारतासे क्षमा करें और हमें अभय प्रदान करें।

देवाङ्गनाओंके ऐसे उत्तरको सुनकर व्यासजी लज्जित

भी हुए और प्रसन्न भी। लज्जित तो इसलिये हुए कि इन अप्सराओंने मेरे प्रश्न का कैसी मीठी भाषामें मुँहतोड़ उत्तर दिया। प्रसन्न इसलिये हुए कि मेरा पुत्र कितना निर्विकार है। समस्त प्राणियोंके हृदयमें उसके ममत्वकी कैसी छाप लगी है, किसीको इससे उद्वेग ही नहीं होता। ऐसा सोचते हुए व्यासजी आगे बढ़े। देवाङ्गनाएँ भी उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम करके स्वर्गको चली गयीं।

सो, सूतजी! यह तो श्रीशुकदेवके सम्बन्धमें हमने भेदभावसे रहित समदृष्टिपनेकी बात सुनी। दूसरा चमत्कार शुकदेवने यह दिखाया कि जब उनके पिता उनके पीछे 'पुत्र! पुत्र!' ऐसा पुकारते हुए दौड़े आ रहे थे, तब उन्होंने वन के सभी वृक्षोंसे अपनी तन्मयता दिखाते हुए हाँ-हाँ!' ऐसा उत्तर दिलाया। सब वृक्षोंसे उत्तर पाकर व्यासजीने पुत्र विषयक अपना शोक त्याग दिया। वे समझ गये कि मेरा पुत्र सर्वभूतात्मा है। वह सभी प्राणियोंमें अपनेको देखता है और अपनेमें सब प्राणियोंको समझता है। ऐसे समस्त भूतों के अन्तरात्मा व्यासनन्दन श्रीशुकने इस महान् भक्तिवर्धक ग्रन्थको क्यों पढ़ा? ऐसी उनकी बुद्धि किस कारणसे हो गई? वे अपने ज्ञान-वैराग्यको भूलकर पठन-पाठनमें प्रवृत्त क्यों हुए? यह हमारा दूसरा प्रश्न है।

फिर आपने कहा कि विप्र-शापसे शापित गङ्गा किनारे अन्न जल छोड़े हुए मुनियोंसे घिरे राजा परीक्षित्को शुकदेवजी ने सात दिनमें यह भागवती कथा सुनाई और उसे सुन कर वे राजा मुक्त हो गये। इस विषयमें भी हमें कई शंकाएँ हैं।

पहिले तो यही, कि वहाँ सब लोगोंने परमहंस श्रीशुकदेव को पहिचाना कैसे? क्योंकि उन्होंने साधुपनेका, ब्राह्मण होने

का, ज्ञानी होनेका कोई बाह्य-चिह्न धारण ही नहीं किया था। यही नहीं, लोगोंको भुलानेके लिये, अपनेको छिपानेके लिये उन्होंने पागलोंका सा वेष बना रखा था। यद्यपि वे बड़े ज्ञानी थे, महान् वक्ता थे किन्तु कोई उनसे कुछ प्रश्न करता तो आँखें निकाल कर ऊँ-ऊँ करने लगते। मानो, बोलनेकी इनमें सामर्थ्य नहीं, गूँगे हैं। अपनी चर्यासे वे अपने ज्ञानको छिपा कर अज्ञानियोंका सा आचरण करते थे। उन्हें उस कुरुजांगल देशके लोगोंने जान कैसे लिया कि ये ही व्यासात्मज श्रीशुक हैं?

दूसरी बात यह कि परीक्षित् और शुक का यह सम्वाद हो कैसे गया! इतनी बड़ी कथा उन्होंने राजाके पूछने पर कह कैसे दी। आप कह सकते हैं कि राजाको अधिकारी समझकर कह दी होगी। यह तो ठीक है, किन्तु आश्चर्यकी बात तो यह प्रतीत होती है, कि शुकदेवजी सात दिन एक स्थान पर ठहर कैसे गये! हमने तो सुना है कि शुकजी गृहस्थियोंके घरोंमें केवल भिक्षा लेने ही जाते हैं और वहाँ भी वे उतनी ही देर ठहरते हैं, जितनी देरमें एक गौ दुही जा सकती है। सो भी कुछ भिक्षा लाभसे जाते हों यह बात नहीं, उन गृहस्थियों के घरोंको कृतार्थ करने जाते हैं। गृहस्थियोंके घरोंमें रात्रि दिन शोक, मोह व्याप्त रहता है। कोई मर गया, कोई दुखी है, कोई बीमार है, किसी ने बुरी वासनासे पाप कर दिया, भ्रूण हत्या, आत्महत्या, पशुहत्याएँ सब होती ही रहती हैं। इन सब आधि व्याधि और पापोंसे गृहस्थियोंके घर नरकके समान पापालय बन जाते हैं। यदि इन घरोंमें महात्मागण, सिद्धपुरुष, अवधूत, ज्ञानी भिक्षाके बहाने न आवें, तो ये पवित्र कैसे हों, तब तो पृथ्वी नरकके ही समान बन जाय।

उन दीन चित्त वाले गृहस्थियोंपर दया करके ही श्रीशुक उनके द्वारोंपर जाते हैं। वहाँ कोई उनका सत्कार करते हैं, कोई तिरस्कार। वे दोनोंको समान समझते हुए नगर और ग्रामोंको कृतार्थ करते हुए सदा घूमते ही रहते हैं, जैसे नारदजी घूमते रहते हैं। फिर वे सात दिन परीक्षित्के पास गङ्गा तट पर कैसे रह गये ?

आपने एक यह भी बात कही कि पाँडवोंके पौत्र, अभिमन्यु-सुत महाराज परीक्षित् गङ्गा किनारे आमरण अनशन करके बैठे थे! यह और भी आश्चर्यमें डालनेवाली बात है। वे राजा तो बड़े धर्मात्मा थे, कुलीन थे, वंशानुरूप थे, उन्होंने तो पांडवोंकी कीर्तिको देशव्यापिनी बनाया था। उन्होंने अश्वमेध आदि बड़े-बड़े यज्ञ किये थे, चारों दिशाओंको जीतकर उन्होंने अपने साम्राज्यको और बढ़ाया था। वे अपने पराक्रमसे समस्त नरपतियोंके मुकुटमणि सम्राट् बने थे। उनके चरणोंमें देश विदेशोंके अगणित नृपतिगण आ-आकर अपने मुकुटोंके सहित प्रणाम किया करते थे, कि सम्राट्की हमारे ऊपर दया-दृष्टि हो जाय, जिससे हम कल्याणके भाजन बन जायँ।

ऐसा देखा जाता है, कि जो धर्मात्मा राजा होते हैं; उन्हे सब प्रकारके ऐश्वर्यों को भोगनेके अनन्तर वृद्धावस्थामें विराग हो जाता है फिर उन्हें राज्य-पाट, बन्धु-बान्धव, दारा, पुत्र कुछ भी अच्छे नहीं लगते। वे सब कुछ छोड़ छाड़ कर किसी पुण्य प्रदेश या पावन तीर्थमें जाकर तपस्या और व्रतोपवासमें निरत हो जाते हैं, किन्तु महाराज परीक्षित्को तो हमने देखा था। उनके राजकालमें ही तो हमने इस दीर्घ सत्रक

दीक्षा ली थी। वे तो अभी सर्वथा युवक ही थे। उन्होंने बहुत दिन राज्य भी नहीं भोगा। वे बड़े पराक्रमी थे। उन्हें कोई पदार्थ भी अप्राप्य नहीं था। शरीर उनका सुन्दर, नीरोग, रूपवान् और दिव्य था। उनकी रानी पतिव्रता, वीरसू, कुलीन और सत्स्वभावकी थी। उनके पुत्र जनमेजयादि सभी सुयोग्य पितृभक्त, सर्वगुणसम्पन्न, शूर और सच्चरित्र हैं। उनका राज्य समुद्रपर्यन्त है, कलियुगके वे शास्ता थे। उनका एक छत्र साम्राज्य था, सर्वत्र अप्रतिहत आज्ञा थी। इन सब दुस्त्यज पदार्थोंके मोहको तृणवत् तोड़कर उन्होंने इस सर्वगुणसम्पन्न, सर्वोपयोगी शरीरको क्यों त्याग दया ?

आप कह सकते हैं, कि हमारा अपना शरीर है। हम इसे रखनेमें या त्यागनेमें स्वतन्त्र हैं। जब तक इच्छा हुई रखा न इच्छा हुई त्याग दिया। इसमें दूसरोंका क्या ? यह बात साधारण मनुष्योंके सम्बन्धमें सत्य भले-ही हो, किन्तु जो परोपकारी हैं, जिनके शरीरसे अनेक जीवोंका सदा उपकार होता रहता है, उनका शरीर अपना नहीं है। वह तो सार्वजनिक वस्तु है। उनकी रक्षा करना अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना है। उसे वे स्वेच्छासे छोड़नेमें स्वतन्त्र नहीं हैं। जब उनका शरीर अपना है ही नहीं, प्राणि-मात्रका उसपर अधिकार है, तब वे उसे नष्ट कर ही कैसे सकते हैं ? वे तो जनताकी धरोहरके वाहक मात्र हैं। सम्राट् तो कल्पवृक्षके समान थे, परम भगवद् भक्त भागवतोंमें शिरोमणि थे, उनके द्वारा पृथ्वीके चराचर जीवोंका उपकार हो रहा था। उन्होंने उपवास करके अन्नमयमें इस शरीरको क्यों त्याग दिया ? उनका जन्म कैसे हुआ, उनके कौन-कौनसे प्रसिद्ध प्रशसनीय कार्य थे, उन्होंने परम महत्वका कार्य

कौन-सा किया ? वे तो ब्राह्मणोंके परम भक्त थे। उन्हें किसी ब्राह्मणने शाप क्यों दिया ? शापकी बात सुनकर उन्होंने क्या किया ? इन सभी बातोंका आप हम सबको यथार्थ उत्तर दीजिये।

आप कहेंगे, कि आपके इतने प्रश्नोंका मैं उत्तर कैसे दे सकता हूँ, मुझमें इतनी विद्या-बुद्धि कहाँ है ? सो, सूतजी ! आपकी विद्या बुद्धिका तो हमें पता है। वेदका तो आपको ऋषियोंने अधिकार नहीं दिया। इसलिए वेदको छोड़कर धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास और भी जो आख्यान हैं, उन सब में आप भली भाँति निष्णात हैं। निस्सन्देह आप उनमें पारगत है। आपमें इतनी योग्यता है, कि हमारे प्रश्नोंका उत्तर दे सके, इसीलिए हम आपसे पूछ रहे हैं। हमारे समस्त प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर दीजिये।"

छप्पय

सुत-अभिमन्यु नृपाल उत्तराके सुखदाता।
पाडुवंशके बीज, दीन दुखियनिके त्राता॥
चिन्तामणिके सरिस सबनिकी चिन्ता नासत।
कल्पवृक्षकी भाँति सबनिकूँ पोषत पालत॥
भरत खंडकी प्रजाको, सुत समान पालन कियो।
न्यायभूत निज देहकूँ, तृण समान ज्यों तजि दियो॥

श्री व्यासदेव

(१४)

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ।
जातः पराशरात् योगी वासव्यां कलयाहरेः ॥१

(श्री भा० १ स्क० ४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

लीला अमित अपार पार प्राणी नहिँ पावें ।
विविध रूपतें उतरि अवनिपै अच्युत आवें ॥
सूकर सिंह सरूप मीन कच्छप वपु धारें ।
अंश कला अवतार धारि असुरनिकूँ मारें ॥
सत्यवती, मुनि पराशर, द्वापरयुगमें धन्य हैं ।
विष्णु रूप श्रीव्यासजी, जिनके तनय अनन्य हैं ॥

प्रत्येक कार्यमें कारण छिपा रहता है। किसी कारणका कार्य प्रकट होते ही लोग तरह-तरहके वादविवाद करने लगते हैं। कोई तो उसे अकस्मात् बताते हैं, कोई सहसा कहते हैं

---

१ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इस चतुर्युगीके तीसरे युग द्वापरमें पराशर मुनिके वीर्यसे वासवी, सत्यवती देवीमें भगवान् विष्णुके अंशभूत योगिवर्य भगवान् व्यासका जन्म हुआ।

और कोई दैवेच्छा कहकर मनको समझाते हैं। अज्ञानी पुरुष बिना कारण समझे मोहित हो जाते हैं। ज्ञानी सबका कारण समझता है, अतः वह किसी कार्यसे, किसी असंभव कही जाने वाली घटनासे, मोहको प्राप्त नहीं होता। सच पूछा जाय; तो संसारमें सहसा तो कुछ होता ही नहीं।

एक बीज हमने बोया उससे अंकुर हुआ। उसे हम नित्य सींचते हैं, पानी देते हैं। एक दिन सुप्रात उठकर देखते हैं, उसमें फूल आ गया है। हम उसे देखकर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। कुछ दिनों के अनन्तर देखते हैं उसमें एक छोटा सा फल भी लग गया है, हम सोचते हैं यह फल रात्रि ही रात्रि में सहसा कहाँ से आ गया? हम अज्ञानवश यह नहीं सोचते कि बीजके साथ ही हमने वृक्ष, फल-फूलके कारणको भी बो दिया था। बीजमें ये सब निहित थे। कारणसे कार्य प्रकट होना ही था।

प्रातः सोकर उठे, शरीरके एक भागमें पीड़ा हुई देखते-देखते उसका फोड़ा बन गया। हम सोचते हैं यह सहसा कहाँसे हो गया? कल तो नहीं था, आज ही हुआ। यह हमारा भ्रम है। वह रोग सूक्ष्म रूपसे हमारे शरीरमें पहिलेसे ही विद्यमान था, अपना समय पाकर प्रकट हुआ। इसीलिए पाप और पुण्यका कारण, शरीर बताया है। पापका परिणाम दुःख और पुण्यका परिणाम सुख होता है। पाप पुण्य बीज हैं, सुख दुःख उसके फल हैं। यह सभीको भोगना पड़ता है। कारणके बिना कार्य होता नहीं। अतः प्रत्येक कार्यका कारण सोचनेसे सभी शंकाएँ दूर हो जाती हैं।

शौनकादिक मुनियोंके पूछने पर सूतजीने व्यासचरित कहना आरम्भ किया। सूतजी बोले—"मुनियो! भगवान्

व्यासदेवका अवतार भगवान् पराशरके वीर्यसे निषादराजकी पालिता कन्या सत्यवतीके गर्भसे कुमारी अवस्थामें द्वापर युगके अन्तमें हुआ।'

इस पर शौनकजीने पूछा—"महाभाग उग्रश्रवा! हम आप भगवान् व्यासके अवतारकी कथा विस्तारसे सुनाइये। महाभाग्यवती सत्यवती निषाद कन्या क्यों कहलाई? उनका नाम वासवी क्यों प्रसिद्ध हुआ? महामुनि ऊर्ध्वरेता पराशर से उनका सङ्गम कैसे और कहाँ हुआ? अवतार प्रसूता सत्यवतीने पूर्व जन्ममें ऐसा कौनसा अपराध किया था, जिससे उन्हें विशुद्ध क्षेत्र, विशुद्ध कुल प्राप्त नहीं हुआ? पहिले आप हमसे भगवान् व्यासजीका यथावत् चरित कहें, पश्चात् भागवती कथा सुनावें।"

मुनियोंके प्रश्नको सुनकर उग्रश्रवा सूत कहने लगे—"मुनियो! यह जीव अपने ही किन्हीं कर्मोंके अनुसार ऊँच-नीच योनियोंमें आता जाता है। प्रारब्धका यही चक्र है। दैवकी यही विडम्बना है, लीलाधारीकी यही लीला है, खिलाड़ीका यही खेल है, मायापतिकी यही माया है। अचिन्त्यनीय भगवान्की चेष्टा समझमें नहीं आती। वे ऐसे कुतूहल पूर्ण जगत्को क्यों बनाते हैं? कोई कहता है यह उनका विनोद है। ऐसा क्या विनोद जो कभी समाप्त ही न हो। जीव एकदम अन्धे होकर उनमें ही लिप्त हो जायँ। यह कर्म-चक्र ही संसारको चला रहा है। ये पाप पुण्य ही अनेक योनियोंमें जीवको भ्रमा रहे हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक—तीन तरहके पाप पुण्य होते हैं। उनका परिणाम भी सुख-दुःख रूपमें तीन ही प्रकारका प्रकट होता है। संसार बनता है, बिगड़ता है। एक सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उसका

विनाश भी होता है, फिर नई सृष्टि हो जाती है, नई सृष्टि कहाँ से आती है ? कुछ पता नहीं चलता। जैसे गंगाजीमें नित्य नया जल रहता है। वृक्षोंमें पतझड़ होनेपर फिर नये पत्ते आ जाते हैं। एक बार पककर फल गिर जाते हैं, दूसरे वर्ष फिर उसमें आ जाते है और उन फलोंमें भी अनन्त फल पैदा करनेकी शक्ति होती है। इसी तरह यह सृष्टि-चक्र चल रहा है। यह कभी समाप्त होनेका है नहीं। ज्ञानके द्वारा भगवत्‌शरणमें सर्वात्मभावसे जानेसे यह अपने आप विलीन हो जाता है।

ऋषियो ! यह सृष्टि संकल्पके द्वारा ही बनी है। संकल्प से ही बढ़ती है। और संकल्पसे ही विलीन होती है। देवता, पितर, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य सभी संकल्पसे उत्पन्न होते हैं। वही संकल्प जब स्थूल रूप धारण करके प्रकट होता है, तो उसे 'काम' कहते हैं। 'काम' संकल्पका ही पुत्र है। पहिले सृष्टि बिना मैथुनके संकल्प मात्रसे ही होती थी। जब परस्पर अङ्ग-संगकी इच्छाका संकल्प उठा, तो कामके वशीभूत होकर प्राणी मैथुनमें प्रवृत्त हुए। इससे उनकी वह शक्ति विलुप्त हो गयी। तबसे सृष्टि मैथुनी होने लगी।

पितृलोकमें बहुतसे नित्य पितर हैं; उन्हीं पितरोंमें से एक अग्निष्वात्ता नामके पितर थे। पितरोंने एक 'अच्छोद' नामक पवित्र सरोवर बनाया। उसी जगह अग्निष्वात्ता पितरकी एक मानसी कन्या उत्पन्न हुई। वह बड़ी ही रूपवती, गुणवती और धर्मपरायणा थी। पितरोंने उनका नाम उस तीर्थके ही नाम पर अच्छोदा रख दिया। अच्छोदाने अपना मन तपस्यामें लगाया संसारमें तप ही सार है, यह सोचकर वह देवताओंके दिव्य वर्षोंसे हजार वर्ष तक तपस्या ही

करती रही। उसकी तपस्यासे प्रसन्न होकर पितृगण उसे वरदान देने उसके समीप आये। वे सभी दिव्य रूप-धारी कामदेवके समान सुन्दर थे। स्वर्गीय दिव्य वस्त्राभूषणोंसे भूषित थे। उनमें एक अमावसु नामके पितर अत्यन्त ही रूपवान् थे। उनके दिव्य रूपको देखकर अच्छोदाके मनमें विकार उत्पन्न हो गया। दिव्य ज्ञान वाले पितरोंने उसका मनोभाव जान लिया। मनमें विकारके उत्पन्न होते ही वह अपने योगसे भ्रष्ट हो गयी। दिव्यलोकसे उसका पतन हुआ किन्तु पृथ्वी पर नहीं आयी, अन्तरिक्षमें ही स्थित रही। अमावसुके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। वे धैर्यको धारण किये रहे। उनके धैर्यसे उसके मानसिक सकल्पका सयोग होनेसे एक कृष्णवर्णकी अधकाररूपा कन्या उत्पन्न हो गयी। अमावसु के धैर्यके कारण उत्पन्न होनेसे उसका नाम 'अमावस्या हुआ जो देव पितरोंकी परम प्रीतिकारिणी हुई। इसीलिये अमावस्याके दिन पितरोंके निमित्त किया हुआ श्राद्ध अक्षय होता है। द्विजाति लोग अमावस्याके दिन पितरोंके निमित्त दार्श-यज्ञ करते हैं।

अन्तरिक्षमें स्थित उस अच्छोदा कन्याने अपने कर्मसे लज्जित होकर पितरोंसे अपने उद्धारका उपाय पूछा। इस पर पितरोंने कहा—"देखो, चाहे मानसिक कर्म हो या शारीरिक, उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। तुम्हारे मनमें विकार उत्पन्न हुआ, वह भी अपने कुलके पुरुषके ही प्रति, अत तुम्हें अट्ठाइसवें द्वापरके अन्तमें पृथ्वीपर जन्म लेना पड़ेगा, सो भी हीनयोनिमें। मत्स्यके उदरसे तेरा जन्म होगा, अकुलीन वशमें तेरा पालन पोषण होगा। इतनेसे ही तेरे पापका प्रायश्चित्त हो जायगा। फिर तेरे गर्भसे भगवान्के

अंशावतार व्यासजीका जन्म होगा।' सो, हे ऋषियो! वही पितरों की कन्या अच्छोदा सत्यवतीके नामसे इस धरा धाम पर उत्पन्न हुई और वासवीके नामसे प्रसिद्ध हुई।"

ऋषियों ने पूछा—"सूतजी! सत्यवतीका नाम वासवी क्यों हुआ? इसका तत्व हमें और समझाइये।"

ऋषियोंके पूछनेपर सूतजी बोले—"मुनियो! आर्य संस्कृतिमें नाम प्रायः सार्थक ही हुआ करते हैं। वे या तो वंश सम्बन्धसे होते हैं या वीर्य, पराक्रम और कर्मोंके द्वारा। सत्यवतीका वासवी नाम भी उसकी कुल परम्परासे सम्बन्ध रखनेवाला ही है।

द्वापर युगमें एक बड़े ही धर्मात्मा, पराक्रमी, पितरोंके पूजक 'वसु' नामके राजा थे। उनकी पत्नी भी बड़ी यशस्विनी धर्मपरायणा तथा पतिव्रता थी! एक दिन वह ऋतु स्नान करके निवृत्त हुई। संतानकी कामनावाली वह रानी अपने पतिकी बहुत ही अनुरक्ता थी। राजा भी उन्हें बहुत चाहते थे। उसी दिन दैवयोगसे राजाको पितृकार्य्यसे मेध्यकव्य लानेके निमित्त घोर जंगलमें जाना पड़ा। महाराज कर्तव्यवश वन में चले तो गये; किन्तु उनका मन अपनी प्रियामें ही लगा रहा। अरण्यमें श्रम करते-करते वे थक गये और एक वृक्ष की सघन छायामें अपनी प्रियतमा रानीकी ही चिन्ता करते-करते कुछ निद्रितसे हो गये। उसी अवस्थामें उनका वीर्य-स्खलित हो गया। वे राजर्षि अमोघ वीर्य थे, उनका वीर्य कभी भी व्यर्थ जानेवाला नहीं था। अग्निके समान उस जाज्वल्य-मान शुक्रको राजाने एक दोनामें रख दिया। पासमें ही एक श्येन पक्षी बैठा था। उससे राजाने कहा—"हे पक्षी! तुम

शीघ्र उड़ने वाले हो। मेरा यह अमोघ वीर्य व्यर्थ न जाय वही उपाय तुम करो। इसे शीघ्र ले जाकर मेरी महारानी को दो।'

सिखाये-पढ़ाये पक्षीने राजाकी आज्ञासे उस वीर्यके दोनेको चोंचमें दबाया और वह आकाश मार्गसे उड़कर जाने लगा। ऐसा अवसर देखकर अन्तरिक्षमें स्थित उस अच्छोदाने उस वीर्यमें प्रवेश किया। राजर्षिके विशुद्ध वीर्य में ही ऐसी दिव्य कन्याकी स्थिति हो सकती है। वह पक्षी जब दोनेको लेकर आकाश मार्गसे जा रहा था, तो किसी दूसरे श्येनने उसे मांसका टुकड़ा समझकर उससे उसे छीनना चाहा, दोनोंमें परस्पर युद्ध हुआ। इसी युद्धमें वह दोना यमुनाजी में गिर पड़ा। वहाँ एक मछली उसे निगल गयी। राजर्षि का वीर्य तो कहीं भी जाय, वह व्यर्थ होनेवाला नहीं था। मछलीके पेटमें ही एक कन्या बन गयी।

देवकी गति, होनहारकी बात, वही मछली मल्लाहोंके जालमें फँस गयी। उसका पेट फाड़ा गया। उसमेंसे परम सुन्दरी एक दिव्य कन्या उत्पन्न हुई। मल्लाहोंके राजाने उसे अपनी पुत्री मानकर पाला-पोसा और उसका नाम सत्यवती रखा।

शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान वह बालिका बढ़ने लगी। अपने पिताकी वह बहुत ही प्यारी थी। पिता उसके सुन्दर स्वरूपको उसके शील-स्वभावको, उसके भोलेपनको देखकर मन ही मन प्रसन्न होता और उसे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करता। थोड़ी और बड़ी होने पर वह छोटी नौका खेने लगी। यात्रियोंको यमुनाके इस पारसे उस पार उतारने लगी।

सत्यवती सभीको बड़ी प्रिय थी। सभी उसके सरल सकोची स्वभावसे सन्तुष्ट थे। उसका रूप लावण्य अद्वितीय था, वह मृत्युलोककी कन्या प्रतीत नहीं होती थी। प्रतीत होता था, पुण्य क्षीण होने पर कोई देवलोककी कन्या या विद्याधरी पृथ्वी पर उतर आयी है। वह ज्यों ज्यों बढती थी, त्यों ही त्यों उसका सौन्दर्य और निखरता जाता था।

उसके अनजानमें ही यौवनने उसके शरीरमें प्रवेश किया। पिताको उसके विवाहकी चिन्ता हुई। पिता सोचता था यह क्षत्रिय वीर्यसे उत्पन्न हुई है। संसारमें अद्वितीय रूप लावण्यवती है, यह तो किसी सम्राट्की राजरानी बनने योग्य है। पुत्रीको सुन्दरसे सुन्दर घर वर मिले यही, पिताकी पुत्रीके प्रति एक मात्र कामना रहती है। पिता चिन्तामें मग्न था, किन्तु सत्यवतीको संसारकी संसारी बातोंका कुछ पता ही नहीं था। वह पक्षीकी तरह नौकामें दोनों डाँडोंको इतनी शीघ्रतासे चलाती थी, मानों जलमें कोई पक्षी उड़ा जा रहा हो। यमुनाजीकी धारामें वह निःशंक होकर राजहंसिनीके समान तैरती। घाटपर पालतू हरिणीके समान एकाकी इधर-उधर फुदकती फिरती। वह यमुनाके पावन पुलिनोंमें थककर लेट जाती और गुनगुनाती हुई कुछ गाने लगती। निभृत निकुञ्जोंमें बैठकर वह पक्षियोंके साथ खेलती। उसका अल्हड़ स्वभाव और भी अधिक अल्हड़ हो गया। उसे ऐसा लगने लगा कि उसका मन कुछ अव्यक्त भाषामें कोई नवीन बात कहना चाहता है, किन्तु वह उसके भावको समझनेमें अपनेको असमर्थ पाती। वह फिर खेलने-कूदने लगती। अपनी छोटीसी सुन्दर नौका दो उसके डाँड और यमुनाजी, ये ही उसके मनोरंजन तथा दैनिक-व्यापारके साधन थे। यमुनाजीके इस

पारसे उस पार, यही उसका संसार था यमुना किनारे फूसकी कुटिया, यही उसकी सम्पत्ति थी और बूढ़ा पिता, यही उसका समस्त परिवार था।

ग्रीष्म ऋतु प्रस्थान तो कर गयी थी, किन्तु अभी उसकी प्रखरता शेष थी। यद्यपि वर्षा आ चुकी थी, किन्तु अभी वह बालिका ही थी। भगवान् भुवन भास्कर अपनी तीक्ष्ण किरणावलियोंसे लोकको तप्त करते हुए अस्ताचलकी ओर द्रुतगतिसे प्रस्थान कर रहे थे। मरीचमालीका मुख म्लानसा हो रहा था। क्षीण-तेज पूर्णिमाका चन्द्र बहुत ध्यान देनेपर मटमैला-सा धूलिसे लिपटा हुआ, निष्प्रभ दिखाई देता था। उसी समय घाटपर पराशर मुनि आये। निषादराजने मुनिकी पूजा की यथोचित आदर सत्कार किया। मुनिने शीघ्रतासे कहा—'मैं पार जाऊँगा।"

हाथ जोड़े निषादने कहा—"भगवान् आज यहीं विश्राम करें– कल सुखपूर्वक पार हों। इस समय पार जानेकी वेला नहीं है।"

"नहीं, मैं तो जाऊँगा ही।" ऋषिके वाक्यमें दृढ़ता थी। ऋषिका निश्चय समझ कर वृद्ध निषादने कहा—"बेटी! ऋषिको पार पहुँचा आ।"

अपने पिताकी आज्ञा पाते ही उसने नाव खेनेकी दोनों लोहेकी बघौड़ी उठायीं। उन्हें छिद्रोंमें यथा स्थान लगाया उनमें परके समान दो डाँड लगाये और वह नौकाको किनारेके समीप खींच लाई। तटसे सटाकर काठका जो मच बँधा था, उससे उसने नौकाको सटा दिया। ऋषि उस मचसे उतर कर नौकामें बैठ गये। सत्यवतीने डाँड खेना आरम्भ

कर दिया। यमुनाजीके प्रबल वेगको चीरती हुई वक्र गति से नौका प्रवाहकी ओर ही बहने लगी। सत्यवती जोर लगा

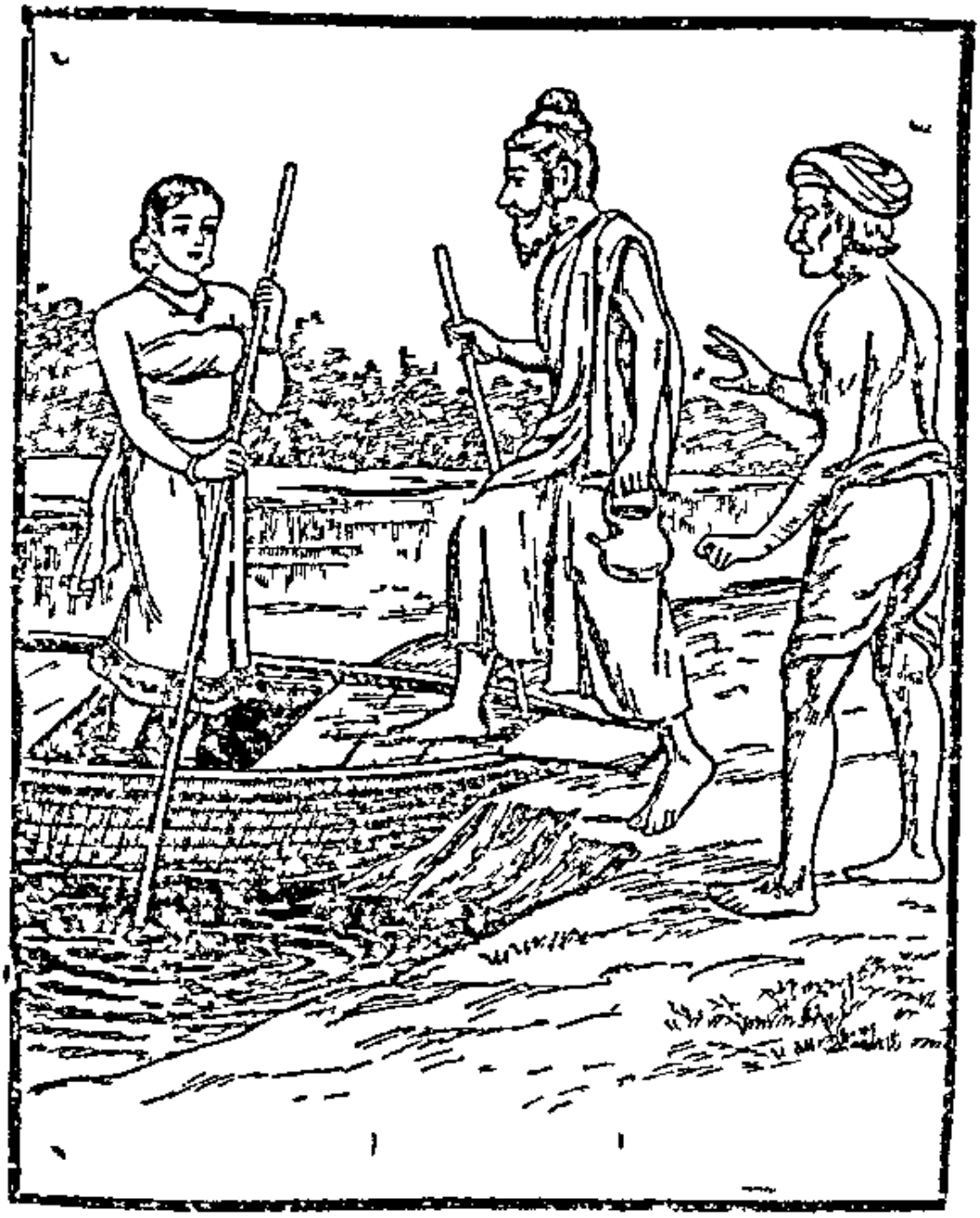

कर उसे प्रवाहके प्रतिकूल खेना चाहती थी बहुत जोर लगा कर शीघ्रतासे डाँड़ोंको खेते-खेते वह दुहरी हो जाती। उसके मुख मंडलपर गहरी अरुणिमा छा जाती। श्रमके कारण

उसके मुख मंडल पर पसीनेके बिन्दु छा गये। वे स्वेदके नन्हे-नन्हे कण उसके ललाट और मुखपर ऐसे प्रतीत होते थे मानों खिले हुए कमल पर किसीने मोती बिखेर दिये हों। ऋषि एकटक भावसे उसीकी ओर देखने लगे। उसकी फुर्ती हस्तलाघव और पटुताके कारण मुनि मन ही मन मुग्ध हो रहे थे। उन्होंने कहा—'तुम्हें लोगोंको पार उतारनेमें बड़ा श्रम करना पड़ता है, क्यों ?'

"क्या करें भगवन्! यही तो हमारा पैतृक धंधा ठहरा—" नौका चलाते-चलाते ही सरलताके साथ सत्यवतीने मुनि से कहा।

"इसी तरह इस पारसे उस पार कै बार तुम्हें आना-जाना पड़ता है ?" यह व्यर्थका प्रश्न मुनिने क्यों पूछा, इसे वे ही जानें।

'इसकी कोई गणना नहीं। दस बार, बीस बार, जब भी यात्री आ गये, तभी आना पड़ता है," बिना सोचे ही उसने उत्तर दिया।

मुनि थोड़ी देर चुप रहे। फिर कुछ सोचकर बोले—"श्रम बहुत, परिणाम थोड़ा। यद्यपि तुम लोगोंको पार उतारती हो, किन्तु क्या हुआ ? इस पारकी पृथ्वी परसे ले जाकर उस पार की पृथ्वी पर छोड़ दिया, उस पारवालेको इस पारकी पृथ्वी पर उतार दिया। यह तो कुछ पार होना हुआ नहीं। मैं तुम्हें एक ऐसा पुत्र प्रदान करूँगा जो लोगोंको सदा-सर्वदाके लिये संसार-सागरसे पार उतारता रहे।"

पुत्रका नाम सुनते ही लज्जाके कारण लड़कीका मुख लाल पड़ गया। उसने नौका खेना छोड़ दिया और दोनों हाथों

की अञ्जलि बाँधे हुए उसने भयभीत स्वरमें कहा "प्रभो! दीनबन्धो! आप यह क्या कह रहे हैं! मैं तो कुमारी हूँ, अपने पिताके अधीन हूँ। कुमारीके पुत्र कैसा?"

ऋषि उसे इस प्रकार भयभीत देखकर सान्त्वना देते हुए बोले—"देखो, तुम घबड़ाओ मत! हमारा वाक्य अमोघ होता है। वह व्यर्थ नहीं होता। हमारे तपके प्रभावसे तुम्हारा कन्याभाव दूषित न होगा। वह ज्योंका त्यों बना रहेगा।"

थर-थर काँपती हुई बालिकाने कहा—"हे सर्वसमर्थ मुने! कन्याभाव न भी दूषित हो, तो लोकापवाद तो होगा ही।"

मुनिने गम्भीरताके स्वरमें कहा—"तुम्हारा पुत्र भगवान् का अंशावतार होगा। उसको पाते ही तुम्हारा सभी लोकापवाद दूर हो जायेगा। तुम यशस्विनी और जगत्वन्द्या लोक माता कहलाओगी।"

सत्यवतीके दोनों हाथोंकी अञ्जलि बँधी हुई थी। नौका अपने आप ही प्रवाहमें बहती-बहती यमुनाजीके बीचके एक टापूमें लग गयी। मुनिने उसी द्वीपमें गर्भाधान संस्कार किया। उन महर्षिका प्रभाव अमोघ था। उनकी शक्ति अपरिमित थी। वे सत्य संकल्प थे। उसी क्षण उसी द्वीपमें भगवान् वेदव्यासजीका अवतार हुआ। इनके जन्मके समय आकाशसे देवताओंने पुष्प-वृष्टि की, गन्धर्वोंने नगाड़े बजाये स्वर्गकी अप्सराओंने नृत्य किया और अन्तरिक्षमें विचरण करनेवाले सिद्ध, तपस्वी, ऋषि-मुनियोंने साधु साधु, जय—जय शब्द किया।

व्यासजीके शरीरका वर्ण अलसी पुष्पके समान कृष्ण वर्णका था। इसीलिये उनका नाम कृष्ण हुआ। द्वीपमें उत्पन्न

होनेसे वे द्वैपायन कहाये। वेदोंका व्यास करनेसे सब लोग इन्हें 'वेदव्यास' कहते हैं। इस प्रकार वेदव्यास भगवान् कृष्ण द्वैपायनका प्राकट्य हुआ।

उत्पन्न होते ही उन्होंने अपनी मातासे हाथ जोड़कर कहा—"माता! मेरी रुचि तपस्यामें है। आपकी आज्ञा हो तो मैं तपस्याके लिये गन्धमादन पर्वत पर चला जाऊँ।"

अपने तेजस्वी, अलौकिक आभा सम्पन्न दिव्य पुत्रके मुखसे ऐसी अद्भुत बात सुनकर माताका हृदय भर आया। उन्होंने उनका मुख चूमा। छातीसे लगाकर प्यार किया और अत्यन्त स्नेह प्रकट करती हुई बोली, तुम्हारे पिताने मुझे पहिले ही बताया था कि तुम किसी माता पिता के मोहबन्धनमें न फँसोगे। यही नहीं, संसारमें फँसे हुए प्राणियोंका तुम उद्धार करोगे। उन्हें भवसागरसे पार उतारोगे। जाओ बेटा! सुखसे जाओ! तुम्हारा कल्याण हो! चूहेका पुत्र बिल ही खोदेगा। तपस्वीका पुत्र तपस्यामें ही मन लगावेगा। मंगलमय श्रीहरि तुम्हारा मंगल करें। वनके देवी-देवता तुम्हारी रक्षा करें। भगवती गंगा तुम्हारी माता के समान रक्षा करें। देवी सरस्वती तुमपर वात्सल्य स्नेह प्रकट करें। तुम्हें मैं मोहबन्धनमें फँसाना नहीं चाहती, किन्तु जाते समय मुझे एक वरदान दे जाओ। मैं जब भी तुम्हें स्मरण करूँ, तभी तुम सब काम छोड़कर मेरे पास चले आना।"

हाथ जोड़ कर व्यासजी ने कहा—"माँ! मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आप जब भी जहाँ भी, जिस दशामें

भी मुझे स्मरण करेगी, मैं अपने योगबलसे उसी समय समझ कर तुरन्त आपकी सेवामें उपस्थित हूँगा " इतना कहकर और अपनी जननीकी चरणवन्दना करके भगवान् व्यासदेव गधमादन पर्वतपर भगवान् नर नारायणके सान्निध्यमें सम्याप्रास नामक स्थानमें घोर तपस्या करने चले गये।

इस प्रकार भगवती वासवी सत्यवती देवीको भगवान् व्यासकी जननी होनेका जगत्वन्द्य पद प्राप्त हुआ। मछली के गर्भसे उत्पन्न होनेके कारण पहिले इनके अगसे सदा मछलीकी उत्कट गध आती थी। इसलिये इनका नाम मत्स्यगधा भी था। भगवान् पराशरके प्रतापसे वह गध मिटकर उनके अगमें नवीन कमलोंकी-सी दिव्य सुगध आने लगी वह सुगध एक योजन तक जाती थी इसलिये इनका नाम 'योजन गधा, भी प्रसिद्ध हुआ। पीछे इनका विवाह भीष्म पितामहके पिता महाराज शन्तनुके साथ हुआ, जिनके वीर्यके द्वारा इनके गर्भसे चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य इन दो पुत्रोंका जन्म हुआ, जो भरतवशके बढाने वाले हुए।

यही भगवान् व्यासके जन्मकी परम रहस्यमयी कथा है। भगवान् वशिष्ठ ब्रह्माजीके मानस पुत्र थे। वशिष्ठजी के पुत्र शक्ति हुए, शक्तिके पराशर और पराशरके वीर्य से सत्यवतीमें इन भगवान् व्यासका अवतार हुआ। इसीलिये ये पाराशर कहलाये और वाशिष्ठ कहलाये। ये अचतुर्मुख ब्रह्मा हैं। दो भुजावाले साक्षात् विष्णु ही हैं और एक कम तीन नेत्र वाले साक्षात् शकर स्वरूप ही हैं। ये ही सम्पूर्ण ज्ञान

के दाता हैं। समस्त ज्ञान व्यासोच्छिष्ट कहा जाता है। उन अपने गुरुके भी गुरु—परम गुरु—भगवान् व्यासदेवजीके पाद-पद्मोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है, इतना कहते-कहते सूतजीका गला भर आया और वे व्यासजीकी स्मृति करते-करते ध्यानमग्न हो गये।

छप्पय

कमल पंकतैं होय, काक विष्ठातैं पीपर।
मृगमद मृगकी नाभि मांस मेदाके भीतर॥
मोती उपजै सीप शंख हड्डी ही होवै।
बाघ पादकें चर्म अशुचिता अपनी खोवै॥

गुणी गुणनितें पूज्य हैं, क्षेत्र परीक्षा नहिं कही।
व्यास, विष्णु भगवान् हैं, मातृ-वंश त्रुटि नहिं लही॥

श्रीवेदव्यासजीकी चिन्ता

(१५)

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ।
मानिता मिर्व्यलीकेन गृहीत चानुशासनम् ॥
तथाऽपि बत मे देहयोह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः ॥१

(श्री भा० १ स्क० ४ अ० २८-३० श्लो०)

छप्पय

बदरीवनमें बसै कसैं तनु व्यास महामुनि ।
नित्य हवनकरि वेद शास्त्रइतिहास पढ़ें पुनि ॥
ऋक्, यजु, साम, अथर्व एकके चारि बनाये ।
चारिहुँ शिष्य बुलाइ, वेद क्रम यथा पढ़ाये ॥
शूद्र नारि व्रतहीन द्विज, हित भारत रचना करी ।
तऊ शान्ति मन नहिं लही, अन्तरातमा नहिं भरी ॥

बाहरसे नेत्र बन्द करनेपर ही भीतरके दर्शन होते हैं। बाह्य विषयोंसे चित्त हटाने पर ही परब्रह्ममें वृत्तिकी एकतानता होती है। अपने शरीरकी असुविधाओंको सहकर ही

---

१ भगवान् व्यासदेव अपने मनमें तर्कना कर रहे हैं—"मैंने निष्कपट भावसे समस्त नियमोंका पालन किया है, वेद, गुरुजन

दूसरोंको सुविधा पहुँचायी जा सकती है, श्रीकृष्ण गुणगानसे ही शाश्वती शान्तिकी उपलब्धि होती है। धर्म-कर्मसे यश ऐश्वर्य्य, लक्ष्मीकी ही प्राप्ति होती है, किन्तु भगवान् वासुदेव के पाद पद्मोंमें की हुई भक्ति तो प्राणियोंको कृत-कृत्य कर देती है। फिर मनुष्यके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। फिर उसे निर्वेद करनेका अवसर ही नहीं मिलता। वह तो आनन्द सागरमें मग्न हो जाता है। जप तप यज्ञ, पूजा, पाठ, दान, धर्म तथा और भी समस्त शुभकर्म जो भक्तिसे विहीन हैं, वे सब व्यर्थ हैं। उनका फल लौकिक या दिव्य सुखोंका भोग मात्र ही है।

भक्ति पूर्वक किया हुआ तप अन्त करणको विशुद्ध बना देता है। उसमें भगवान्के दर्शन होने लगते हैं। नन्दनन्दन उसमें आकर विराज जाते हैं और उनका प्रकाश चारों ओर फैल जाता है। श्रीहरिके हृदयमें उदय होते ही अज्ञान-अन्धकार मिट जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी उलूक उड़ जाते हैं। यही सब सोच-समझकर लोक शिक्षाके निमित्त भगवान् व्यासदेव अपनी जननीसे आज्ञा लेकर गन्धमादन पर्वत पर चले गये। जहाँ पर आकल्पान्त निवास करते हुए भगवान् नर-नारायणका घोर और मृदु तप कर रहे हैं।

बदरीवनमें जहाँ देवसरिता सरस्वतीका भगवती अलक नन्दाके साथ सगम हुआ है, उसे केशवप्रयाग कहते हैं। उसके उत्तरकी जो भूमि है उसीका नाम "सम्याप्रास" है।

और अग्नियोंकी सम्मान पूर्वक सेवाकी है, उनकी आज्ञाओंको माना है, तो भी ब्रह्मतेजसम्पन्नोंमें सर्वश्रेष्ठ मेरा देहाभिमानी आत्मा असन्तुष्ट सा क्यों है, मुझे कुछ खटका क्यों लगा हुआ है?

उसी स्थान पर पर्णकुटी बनाकर भगवान् व्यास तपस्या करने लगे। तपस्या करते-करते उन्हें बहुत दिन व्यतीत हो गये।

एक दिन जब भगवान् भुवन-भास्कर अपनी सुखकर करणोंसे उदित होकर जगतको आलोकित करने लगे, तो उसी समय भगवान् व्यास केशवप्रयाग पर गये। पुण्यतोया सरस्वती अत्यत वेगसे अपनी बहिन अलकनदासे मिल रहीं थीं। दोनोंका ही हृदय द्रवीभूत हो रहा था। दोनोंके ही आँखोंसे मानों अश्रुओंकी झड़ी लग रही हो। दोनोंके प्रेमाश्रुओंके कण उड़-उड़ कर किनारे पर आ रहे थे। व्यासजी ने उन दोनोंके संगमको देखा। क्षितिजमे भगवान् भास्कर खिलखिला कर हँस रहे थे। उनके हास्यके कारण उनकी शुभ्र दन्तावलीसे कमनीय किरणे निकल कर हिमाच्छादित पर्वतोंके शृंगोंको स्पर्श कर रही थीं। इससे उनका हृदय द्रवित होकर बह रहा था। प्रकृति शान्त थी। नीरव स्थान था। पुण्य भूमि थी। शीतके कारण अग सिकुड़ रहा था। इस कारण मरीचिमाली भगवान् दिवाकरकी किरणे अत्यत ही सुखकर प्रतीत होती थीं। ब्रह्मद्रवके समान अत्यंत सुशीतल सरस्वती जलसे काँपते काँपते मुनिने आचमन किया और वे वहीं ध्यान मग्न होकर बैठ गये। उन्होंने देखा—लोगों की प्रवृत्ति अधर्म की ओर बड़े वेगसे बढ़ रही है। समस्त दिव्य शक्तियोंका ह्रास हो रहा है। लोग बड़े नास्तिक श्रद्धाहीन हो गये हैं। उनका वेद, ब्राह्मण और परलोक का विश्वास ढीला हो रहा है। वे पुरुषार्थसे भी हीन हो गये हैं। पहिले युगोंका बल-पराक्रम अब लोगोंमे नहीं रहा। उनकी बुद्धि मलीन हो गयी है। सभी पापाचरणमें प्रवृत्त हो रहे हैं। बहुतसे अकालमें

ही कालके कवल बन रहे हैं। वे भाग्यहीन, सदाचारहीन होकर दुष्कर्म करने लगे हैं।

आप कहेंगे, 'क्यों जी! वहाँ और कोई था ही नहीं। संसारी लोगोंका तो वहाँ अभाव था, उस स्थानपर तो सभी धर्माचरण करनेवाले तपस्वी ऋषि ही थे। उस विजनवनमें मुनिने मनुष्योंकी ऐसी दुर्दशा कैसे देखी?' अजी, उन्होंने बाह्य चक्षुओंसे थोड़े ही देखी। ध्यानमें दिव्य दृष्टिसे उन्होंने यह सब अधर्मलीला देखी। अब तो मुनिका नवनीतके समान कोमल हृदय द्रवीभूत होने लगा। मानों सूर्यकी किरणें उनके 'टटके' माखनके गोलेके समान अन्तःकरणको अपनी उष्णतासे पिघला रही हों। लोगोंका जिसमें हित हो वही बात मुनि सोचने लगे। उसीका ध्यान करने लगे।

क्यों जी, भगवान्‌का ध्यान छोड़कर महामुनि लोकोपकारकी चिन्ता क्यों करने लगे? भगवान्‌के ध्यानसे प्रसन्न हुए चित्तको लोगोंकी चिन्तासे चिन्तित क्यों बनाने लगे? क्या उन्होंने अच्युत-आराधना का परित्याग कर दिया? अजी, छोड़ क्यों दिया, वे तो परमाराधनमें तत्पर हुए। लोगोंके तापसे तापित होना, यही तो अच्युतकी अत्युत्कृष्ट उत्तम आराधना है। परावरज्ञ प्रभु इसीसे तो प्रसन्न होते हैं। अपने शरीर सुखके लिये तो सभी प्रयास करते हैं। पर दुःखसे दुखी होकर उसे दूर करनेकी जो वासना है, वही तो संसार वासनाका मूलोच्छेदन करनेमें समर्थ होती है।

अब महामुनि लोककल्याणकारक कार्यमें प्रवृत्त हुए। पहिले उन्होंने वैदिक यज्ञों के विस्तारके निमित्त असंख्य ऋचाओंवाले पहाड़के समान महान् एक वेदमें से अत्यन्त

उपयोगी ऋचाएँ छाँट छाँटकर छोटी छोटी चार संहितायें बनायीं, जिससे अल्पसत्व कम बुद्धिवाले ऋषि उन्हें सरलताके साथ धारण कर सकें। उन ऋक्, यजु, साम और अथर्व नामक चार संहिताओंको अपने पैल, जैमिनी, वैशम्पायन और सुमन्तु नामक चार प्रिय शिष्योंको क्रमसे अध्ययन कराया। इतिहास पुराणोंकी रचना करके उन्हें द्विजेतर अपने शिष्य लोमहर्षण नामक मेरे पिताको पढाया।

फिर भी महामुनिको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा आगे ज्यों ज्यों कलियुग आवेगा, त्यों-त्यों मनुष्योंकी बुद्धि अल्प होती जायगी। वे एक वेदको भी धारण करनेमे समर्थ न होंगे, अत उन्होंने प्रत्येक वेदकी शाखायें बनायीं और विभिन्न गोत्रोंमे बाँट दीं और आज्ञा दे दी कि तुम पढ़ सको तो चारों वेदोंको पढ़ना, नहीं तो अपने वंश परम्परा के एक वेदको तो पढ़ना ही। यदि पूरे वेदको भी पढनेमे समर्थ न हो, तो अपनी शाखाको तो अवश्य ही पढ़ना। इस प्रकार उन मुनियोंके पुत्र-पोत्रोंने, शिष्य-प्राशिष्योंने उन शाखाओंको पढ़कर वेदोंका अध्ययन अध्यापन बनाये रखा, जिन वेदोंके द्वारा वैदिक यज्ञ याग और समस्त संस्कार होते हैं।

अब फिर भगवान् व्यासने सोचा—द्विजातियोंके लिये तो वेदोंका विभाग हो गया। उन्हें तो वेदोंके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जायगा। अपने यज्ञ-यागोंको, सभी संस्कारोंको अक्षुण्ण बनाये रक्खेंगे। किन्तु जिन्हें वेदोंके प्रत्यक्ष पढ़नेका अधिकार नहीं है जैसे स्त्रियाँ हैं, शूद्र हैं, क्या वे ज्ञानसे वंचित ही रहेंगे! उनके लिये भी तो कोई उपाय होना चाहिये, क्यों कि इनसे इतना शौचाचार हो नहीं सकेगा। सेवाके कार्य

भारसे इनका गुरुकुलवास भी नहीं हो सकता। फिर शास्त्रकी आज्ञा भी नहीं है, तो इन्हें बिना वेदोंके पढ़े ही वैसा ही ज्ञान प्राप्त हो जाय, इसके लिए भी यत्न करना चाहिये। एक बात और भी है। आगे चलके द्विज भी संस्कारहीन हो जायँगे। षोडश संस्कारोंके होनेकी बात कौन कहे, कलियुगके द्विजाति लोग १६ संस्कारोंके नाम भी नहीं जानेंगे। वे संस्कारोंसे हीन, शौच सदाचारसे रहित, सन्ध्या अग्निहोत्रसे शून्य केवल नाम मात्रके द्विज होंगे। वे अपनेको द्विज भर ही कहेंगे, आगे अपनेको द्विज कहनेमें भी लजावेंगे। शूद्र और अन्त्यज तथा म्लेच्छोंके साथ सभी प्रकारका संसर्ग करेंगे। इन सबका भी किसी तरह कल्याण हो— ऐसा उद्योग करना चाहिये। कोई ऐसा ग्रन्थ निर्माण करना चाहिये कि उसमें वेदकी सभी बातें आ जायँ। सम्पूर्ण ज्ञानका संग्रह एक ही स्थान पर हो जाय! पूरा न पढ़ें, जितना भी पढ़ें उतना ही लाभप्रद हो। वह ग्रन्थ आख्यान और कहानियोंमें हो, जिससे सबकी प्रवृत्ति उसमें हो जाय। अनपढ़ नरनारी भी जिसे सुनकर याद करलें और अपने बाल-बच्चोंको सुनावें। इस प्रकार बिना पढ़े ही—सुनकर—उसका सर्वत्र प्रचार हो जाय।"

यही सब सोच समझकर वेदव्यासजीने महाभारतकी रचना की। बहुत बड़ा ग्रन्थ हुआ। तीनों लोकोंमें इसका प्रचार हुआ। करोड़ों श्लोकोंमें यह ग्रन्थ बना। पृथ्वीपर इसके एक लाख श्लोकोंका ही प्रचार हुआ। इस ग्रन्थके कारण सर्वत्र व्यासजीकी प्रशंसा होने लगी। देवता, गन्धर्व सभी महाभारतकी स्तुतिमें पद्य बनाकर व्यास भगवान्‌की बड़ाई करने लगे। व्यासजीकी विशाल बुद्धिकी चारों ओर प्रसिद्धि हो गयी और सब मुनियोंने मिलकर उन्हें धर्मके विषय

में प्रमाणभूत माना। व्यासजी कह दें वही धर्म है। सब शंकाओं का समाधान व्यासजीके वचनसे ही होने लगा। विवादके अवसरों पर इसी बातकी खोज होती थी, कि इसपर व्यासजी का क्या मत है? इस प्रकार 'महाभारत' की प्रतिष्ठा पंचम वेद के समान हुई।

इतना सब होने पर भी व्यासजीके मनको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने अपनेको कृतकृत्य नहीं समझा। उनके मनमें निर्वेद बना ही रहा। कोई कमी उन्हें खटकती ही रही।

कोई भी शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष परिश्रम करके किसी कार्यको करता है, तो अन्य पुरुष उसकी प्रशंसा करते-करते थकते नहीं, क्योंकि उसका कार्य लोकहितके लिए है। निष्काम परोपकार बुद्धिसे किया हुआ कार्य सबको सुखप्रद होता ही है। किन्तु कर्ताको जिससे सन्तोष न हो, वह औरों के लिए परम लाभप्रद भले ही हो उसे सर्वश्रेष्ठ नहीं कह सकते। बहुतसे मनुष्य अपने आपको ही भुलाना चाहते हैं, वे अन्तःकरणकी उठी हुई सत्य प्रेरणाको भाँति भाँतिकी युक्तियोंसे दबानेकी चेष्टा करते हैं। मनको तरह-तरहकी तर्कोंके द्वारा सन्तोष कराना चाहते हैं। इस प्रकार वे सत्य से अपनेको दूर हटाते जाते हैं, विवेक बुद्धिको दबाते जाते हैं। प्रत्येक कार्यके शुभाशुभमें सज्जन पुरुषोंका अन्तःकरण ही प्रमाण माना जाता है। अपने आपको जिसमें सन्देह हो वह संशयप्रद कार्य्य है। अपने आपको जिससे सन्तोष हो वह सर्वश्रेष्ठ है। भले बुरेकी परिभाषा मनीषियों ने ऐसी ही बतायी है।

सम्मानित और प्रसिद्ध पुरुष अपनी वेदनाको किसी पर प्रकट नहीं कर सकते। करें तो लोगोंको विश्वास न हो। लोग

तो समझते हैं—ये अपनी श्रेष्ठताके कारण शिष्टाचारसे ऐसा कह रहे हैं, नहीं तो ऐसे सर्वज्ञ महापुरुषोंको भला किसी बात में सन्देह कैसे हो सकता है? साधारण लोग तो हाँ में हाँ मिलाने वाले, मुँह मीठी बात कहने वाले होते हैं। वे हमारी वेदनाको समझ ही नहीं सकते। हाँ, जो अपनेसे बड़े हों और अपने हितैषी हों, उनके सामने अपनी मनोव्यथा प्रकट करनेसे वे हमारे भावको समझ जाते हैं। स्नेहके कारण वे गम्भीरतासे उस पर विचार भी करते हैं और उसके मूलमें जाकर इसका कारण भी सोचते हैं। किन्तु ऐसे वृद्ध हितैषी मर्म को समझने वाले सर्वज्ञ सुलभतासे प्राप्त नहीं होते। जब तक ऐसे सशयच्छेत्ता नहीं मिलते, तब तक हमें अपने मनसे ही ऊहापोह करनी पड़ती है।

अब व्यासजीको यही चिन्ता बनी रहती, मेरेमें कौन सी कमी रह गयी है। वे भगवती सरस्वतीके तट पर विजन वनमें चले जाते और चिरकाल तक एकान्तमें यही सोचते रहते। वे बार-बार विचार करते—मेरी चिन्ताका, मेरी कमीका कारण क्या है? मनुष्य पाँच ही कारणोंसे अपनेको अकृतार्थ समझता है।

पहिला तो यह है, कि शुद्ध चित्तसे बिना दिखावेके किसी नियमका जिसने पालन न किया हो, क्योंकि नियम पालनसे हृदयमें एक प्रकारकी दृढ़ता आती है और आत्माको सन्तोष होता है।

दूसरा कारण यह है कि विधिवत् वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन न किया हो। शास्त्रोंके अध्ययनसे सभी प्रकारके संशयोंका नाश होकर मनुष्य व्यर्थकी चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है।

तीसरा कारण यह है, कि पद तो लिये किन्तु गुरुजनोंकी सेवा सुश्रूषा नहीं की। समस्त शास्त्रोंकी सार्थकता पूज्य पुरुषोंकी, गुरुजनोंकी, निष्कपट भावसे सेवा करनेमें ही है। जिसने श्रद्धासे अपने पूज्य पुरुषोंकी सेवा नहीं की वह जीवनभर सुखी नहीं होता। उसके मनमें खटका बना ही रहता है।

चौथा कारण यह है, कि अपने अग्निहोत्र सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकर्मोंको जो सावधानीके साथ नहीं करता है। नित्य कर्मोंके करनेसे जीवन एक व्यवस्थामें रहता है, पाप कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती, दुष्कर्मोंसे घृणा रहती है और हृदयमें शुभ कर्मोंके प्रति आदरभाव उत्पन्न होता है।

पाँचवाँ कारण यह है, कि जिसने जीवनमें कोई परोपकार न किया हो। परोपकारसे देहात्मबुद्धि दूर होती है। सबके दुःख सुखको समान समझनेकी शक्ति बढ़ती है तथा सब जीवोंमें अनेक रूपसे एक ही आत्मसत्ता व्याप्त हो रही है, इसका भी ज्ञान होता है। समस्त प्राणियोंके रूपमें मेरे इष्टदेव ही क्रीड़ा कर रहे हैं। जनताके रूपमें जनार्दन ही विद्यमान हैं। इस भावनासे किया हुआ परोपकार मुक्तिके मार्गका प्रदर्शक बन जाता है। यही अभिलाषा प्रभुकी सबसे श्रेष्ठ उपासना है।

मैंने इन पाँचों कर्मोंको यथाशक्ति किया है। ब्रह्मचर्यके समस्त नियमोंका मैंने विधिवत् पालन किया है। वेदोंको पढ़ा है, पढ़ाया है, उनका यथामति संक्षिप्त संकलन किया है, चार भागोंमें विभक्त किया है। गुरुजनोंकी भी यथाशक्ति श्रद्धाके सहित सेवा की है। अग्निहोत्र आदि कार्य भी नियमानुसार नित्य करता ही हूँ।

मैंने द्विजातियोंके लिये ही पक्षपात किया हो सो भी नहीं। स्त्री, शूद्र तथा अन्य सभीके लिये मैंने महाभारतकी भी रचना की है, जिसमें ऐसा कोई ज्ञान, ऐसी कोई बात नहीं छोड़ी जो वहाँ न हो। एक उसी ग्रन्थमें समस्त वेदोंका, समस्त शास्त्रोंका सार तत्व भर दिया है। इतना सब करनेपर भी मेरा देहाभिमानी जीव कुछ मनमें असन्तुष्ट-सा है। यह भी बात नहीं कि मुझे ब्रह्मज्ञान न हो, मैं समस्त ब्रह्मतेजसे सम्पन्न भी हूँ। इसका कुछ कारण मेरी समझमें नहीं आता। मनुष्योंके करने योग्य सभी काम मैंने किये हैं। वर्णाश्रम धर्मका स्वयं भी विधिवत् पालन किया है और संक्षेप और विस्तारके साथ सबके धर्मोंका भी वर्णन किया है। ब्राह्मणसे लेकर चांडाल पर्यन्त सभीके लिये मैंने कुछ न कुछ किया है। सभीके कर्तव्यका कथन किया है। कौनसी बात मुझसे रह गयी, जिसके कारण मेरे मनमें खटका बना हुआ है। जैसे दाँतोंमें कोई भी वस्तु अटकी रह जाय, तो जिह्वा बार-बार उसीकी ओर जाती है, उसीको कुरेदती है, वैसाही मेरा भी मन किसी अटकी हुई बातको कुरेद रहा है। जब तक वह न निकलेगी मेरे मनमें शाश्वती शान्ति न होगी।

एक सन्देह मुझे हो रहा है। यह जो कर्मोंका आग्रह है, गृहस्थ धर्मकी अत्यधिक प्रशंसा है, पुत्र प्राप्तिआदिका जो अत्यन्त आग्रह है, ये बातें प्रायः विरक्त भगवत् भक्त परमहंसों को विशेष रुचिकर नहीं। उन्हें तो एकमात्र भक्त और भगवत् चरित्र ही अत्यन्त प्रिय हैं। भागवतोंके धर्म ही उनके जीवनाधार हैं, क्योंकि वे भगवान्‌के प्रिय हैं। और भगवान्‌को भी अपनी चर्चा प्यारी लगती है। "अपनी स्तुति किसे प्रिय नहीं लगती?"

मुझे ऐसा लगता है—उनसे परमहंसोंकी सन्तुष्टि नहीं हुई। यद्यपि मैंने भगवत् चरित्रोंका भी वर्णन महाभारतमें किया है। पुराणोंमें भागवत-धर्मका भी निरूपण किया है, किन्तु कुछ त्रुटि अवश्य रह गयी, नहीं तो मेरा मन बार-बार मुझे इस तरह टोंचता नहीं।

इसी सोच विचारमें व्यासजी बैठे रहे, अपनी चिन्ताका कारण निश्चित न कर सके।

छप्पय

पाराशर्य प्रवीण परम चिन्तित ह्वै सोचत।
विधिवत् पढ़िकें वेद लगायो श्रीहरिमहँ चित॥
गुरुसुश्रूषा करी अग्नि अव्यग्र अराधी।
करी तपस्या उग्र ग्रीष्म पचानल साधी॥
बेद व्यास इतिहास रचि, पुण्य पुराण कथा कही।
चिन्ता चितर्तें नहि गई, कछुक खटक खटकति रही॥

———

व्यासाश्रमपर श्रीनारदजी

(१६)

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥ १

(श्री भा० १ स्क० ४ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

बदरीवनके निकट विराजें मुनिवर ज्ञानी ।
वेद व्यास इतिहास रचे पुनि शान्ति न मानी ॥
चिन्ता चितमें चुभी म्लानता मुखपै आई ।
रही कौन-सी कमी आतमा अति अकुलाई ॥
इतनेमें वीणा लिये, राम कृष्ण गुण गावते ।
नारद देखे आवते, प्रेम वारि बरसावते ॥

मनुष्य जब अपनी व्यथाका कारण बाहर खोजता है, तो बाहर तो इन्द्रियोंके विषय ही हैं, जिनका परिणाम विष के समान प्राणान्तक ही है। जो लोग अपनी चिन्ताको अपने भीतर ही विचारते हैं, जो बाहरसे दृष्टि हटाकर अन्तरात्मा

---

१ इस प्रकार भगवान् व्यासदेव अपने आपको हेय मानकर खेद कर ही रहे थे, कि उनके पूर्वोक्त आश्रमपर भगवान् नारदजी आ पहुँचे।

से पूछते हैं, तो उसी समय समस्त प्राणियोंके मनकी जानने वाले, मनके अधिष्ठातृदेव नारदजी आकर उनकी समस्त शंकाओंका समाधान कर देते हैं।

व्यासजी सरस्वतीके किनारे केलाओंकी कुञ्जसे आवृत्त अपने स्थानमें चिन्तामग्न बैठे थे। शिष्योंने प्रातःकालीन अग्निहोत्र समिधाधान विधिवत् सम्पन्न किया था। आश्रमकी गाएँ दुहकर वनमें चरनेको छोड़ दी गयीं थीं। शिष्यगण सस्वर ब्रह्मघोष कर रहे थे, किन्तु व्यासजीके मनमें वही एक चिन्ता लगी हुई थी। सहसा क्या देखते हैं, कि उनके कानों में तन्त्रीकी सुमधुर झङ्कार सुनायी दी। साथही प्राणोंको प्रसन्नता प्रदान करनेवाले श्रीहरिके सुमधुर नामोंका संकीर्तन भी सुनायी दिया। दृष्टि उठाकर देखते हैं तो सामने मुस्कराते हुए भगवान् नारदजी खड़े हैं। मानों ये नूतन जलधर मेघके समान इन्द्रधनुष और विद्युत्के सहित आकाशसे प्रेम-वारि बरसाये हुए व्यासजीपर कृपा करनेको साकार शरीरसे उतर आये हों। अपने सामने देवर्षि नारदजीको स्वरब्रह्ममयी वीणा-को बजाते देखकर व्यासजी बड़ी शीघ्रतासे संभ्रमके साथ सहसा उठ खड़े हुए। उन्होंने श्रद्धा सहित देवर्षिका स्वागत किया। सुन्दर सुखप्रद आसनपर उन्हें बिठाया। शिष्योंमें शीघ्र ही अर्घ्यका सामान लानेको कहा। सुगंधित गरम जल से देवर्षिके पाद-प्रक्षालन किए। दूध, दही, शहद, अक्षत, सफेद तिल, कुश, दूर्वा, पुष्प, चन्दन-मिश्रित जलसे उन्होंने भक्ति सहित अर्घ्य दिया। सरस्वती-जलसे आचमन कराया। मन्त्र स्नान करके उन्होंने वल्कल वस्त्र, अपने हाथका बना यज्ञो-पवीत अर्पण किया। अंगोंमें सुगंधित चन्दन लगाया। बदरी वनमें ही उत्पन्न होनेवाली सुगंधित धूप जलाकर सामने

रखी। घृतका दीपक दिखाया, अच्छे सुन्दर सुस्वादु कंदमूल फल ऋषिके आगे भेंट किये, आरतीकी और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर पुष्पांजलि ऋषिके चरणोंमें अर्पण की। नाना स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति की। व्यासजीकी की हुई शास्त्रोक्त पूजाको नारदजीने शास्त्रविधिसे ही स्वीकार किया। पूजा के अनन्तर परस्परमें कुशल प्रश्न हुआ। नारदजीने व्यासजी के आश्रमके वृक्षोंकी, शिष्योंकी, गौओंकी, अग्निकी, समीपस्थ मुनियोंकी उनके शरीरकी कुशल पूछी। उत्तरमें भगवान् व्यासने सबकी कुशल बतायी और मुनिसे इस प्रकार नम्रता के साथ कहने लगे—"प्रभो! आज आपने अपने देव-दुर्लभ दर्शनोंसे मुझे कृतार्थ बना दिया। आज मैं धन्य हुआ, मेरी तपस्या सफल हुई, मेरा वेदाध्ययन, गुरुओं और अग्निकी सेवा सार्थक हुई, जो भागवान्‌ने स्वयं कृपा करके इस आश्रमको अपनी पदधूलिसे पावन बना दिया। दीनबन्धो! मैं अब यह जानना चाहता हूँ, कि इस समय भगवान्‌का शुभागमन कहाँ-से हुआ है?"

नारदजीने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"हे मुनि श्रेष्ठ! मैं ब्रह्मलोकसे इन्द्रलोक होता हुआ, वरुण लोकमें गया था। वहाँसे श्वेतद्वीप चला गया। वहींसे मेरी इच्छा श्रीनर-नारायणके दर्शनोंकी हुई, इसीलिये बदरीशके दर्शन करता हुआ मैं तुम्हें देखने यहाँ चला आया। मैं जिस लोकमें भी गया, सर्वत्र तुम्हारी प्रशंसा सुनी। ब्रह्माजी कह रहे थे, कि व्यासजीने महाभारतकी रचना करके एक अद्भुत कार्य किया है। देवलोकमें भी तुम्हारे महाभारतकी ही चर्चा थी। गन्धर्व और विद्याधरोंके तो छोटे-छोटे बच्चोंने भी उसकी कथायें रट ली हैं। इस प्रकार तुम्हारी कृतिका सर्वत्र आदर

देखकर मेरे रोम-रोम खिल उठे। मैं तुम्हें बधाई देनेको ही आया था, किन्तु यहाँ आकर दूसरी ही बात देख रहा हूँ! मुझे प्रतीत होता है तुम्हारा मन स्वस्थ नहीं है। चित्तमें कोई चिन्ता व्याप्त है अन्तरात्मा किसी कमीका अनुभव कर रही है। मुख तो मानसिक विचारोंका दर्पण है। मनमें जैसे विचार उठेंगे, वैसे ही भाव मुखपर व्याप्त हो जायँगे। मैं देख रहा हूँ, तुम्हारा मुख म्लान हो रहा है, चित्तमें चंचलता प्रतीत हो रही है। इसका क्या कारण है? इसे तुम मुझे बताओ।"

व्यासजीने कहा—"भगवान् जो कह रहे हैं, सत्य ही है। इसका कारण स्वयं मुझे पता नहीं।"

नारदजी ने कहा—"देखो, मनुष्य अपनेको अकृतार्थ दो ही कारणोंसे समझता है, या तो वह अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाय या उसके द्वारा कोई परोपकारका कार्य न हो सका हो। तुम्हारे सम्बन्धमें ये दोनों ही बातें नहीं हैं। तुम अपने कर्तव्य कर्मोंका यथावत् पालन करते हो। परोपकार करना तो आपके जीवनका व्रत ही है। आपने वेदोंका व्यास किया, पुराणोंकी रचना की और वेदोंके ही समान पंचम वेद महाभारतकी रचना की। उसका सभीने आदर किया, सभी ने प्रशंसा की। आपकी कीर्ति ब्रह्मांडमें व्याप्त हो रही है। उसे बनाकर भी आप इतने चिंतित क्यों हो रहे हैं? आप अपने मनकी बात मुझसे कहें, आप जैसे ज्ञानी पुरुषोंको ऐसी चिन्ता शोभा नहीं देती। आप तो ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मतत्वके वक्ता और व्याख्याता हैं। आपके द्वारा दूसरोंकी चिन्तायें दूर होती हैं।"

व्यासजीने दोनों हाथ जोड़ कर सिर झुकाते हुए बड़ी नम्रतासे कहा—"भगवन्! आपने जो कहा है, सब सत्य ही है। मैंने यथाशक्ति अपने समस्त कर्तव्योंका पालन किया है। समस्त शक्ति लगाके सभी वर्ण सभी आश्रमोंका अत्यन्त हित हो, इस बुद्धिसे मैंने महाभारतकी रचनाकी। मैंने सोचा इसे रच कर मेरी सभी जिज्ञासायें जाती रहेंगीं। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। किन्तु प्रभो! आपसे क्या छिपाना? महाभारतको रच कर भी मुझे शान्ति नहीं मिली। मनमें एक खटक बनी ही रही। किसी कमीका अनुभव मैं अब भी कर रहा हूँ। मन बार-बार कहता है, 'अभी कुछ शेष है, कुछ तुमसे छूट गया है।' सो, प्रभो! आपही बतावें, मुझसे क्या छूट गया है? किस कारण मेरा मन प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर रहा है?"

व्यासजीकी बात सुनकर नारदजी हँसे, उठकर उन्होंने व्यासजीको गले लगाया और बड़े ही स्नेहके साथ कहने लगे—'व्यासजी! तुम धन्य हो। सचमुच आप भगवान्के अवतार हो। यह बात तुम्हारे ही अनुरूप है। साधारण लोग तो अपने अन्तःकरणकी वाणीको दबानेकी चेष्टा करते हैं। जहाँ लोगोंने उनकी तनिक-सी प्रशंसाकी कि वे अपने आप को भूल जाते हैं। अपनेको सर्वश्रेष्ठ समझने लगते हैं। इसी भावसे उनकी उन्नति रुक जाती है, फिर वे आगे बढ़ नहीं सकते। जो अपने अन्तःकरणकी वाणीको बार-बार सुनकर उस कमीको पूरा करनेका प्रयत्न करते हैं संसारमें वे ही महापुरुष और प्रातःस्मरणीय होते हैं। आप उन्हींमें से हैं। आप की कमीका मुझे पता है।"

हाथ जोड़े हुए व्यासजीने कहा—"महाराज जी! आप से भला क्या छिपा है? किसीके मनकी बातको जान लेना

तो साधारण सी बात है। आप तो समस्त गुह्यसे गुह्य विषयों का भी ज्ञान रखते हैं। गूँगेकी भाषाको या तो गूँगे ही समझते हैं या उसके समीपके रहने वाले ही समझ पाते हैं। उन परात्पर प्रभुकी भाषा मौन है उसके द्वारा ही वे सब प्रकट करते हैं और मननशील मौनी मुनि ही उनकी बातें समझते हैं। वैखरी वाणी बोलनेवाले व्यक्ति उन विश्वेश्वरकी बात भला कैसे समझ सकते हैं? आपने उन पुरुषोत्तम परमात्माकी उपासना की है, सेवा की है, जिनके लिये भूत, भविष्य, वर्तमान कुछ भी नहीं हैं जो कालोंके भी कलयता हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलय उनके नित्यके विनोद हैं। उनकी भक्ति पूजा करनेवालेको कौन-सी बात दुर्ज्ञेय हो सकती है।

मेरी जैसी स्थिति है, आपके सम्मुख है। आपसे कुछ दुराव तो है नहीं। दुराव करे भी तो आपसे हो नहीं सकता क्योंकि आप तो प्राणवायुके समान सभीके भीतर बाहर समान रूप से विराजते हैं। सभीके अन्तःकरणकी बात जानते हैं। आपकी लोकोंमें समान गति है। वैकुंठसे लेकर रसातल तक सभीम आप स्वेच्छासे विचरते रहते हैं। सूर्यके समान, अग्नि वायु, जल आदि पञ्चभूतोंके समान ब्रह्माडम सर्वत्र आपकी अव्याहत गति है। हे भगवन्! आप मेरे इस काँटे को निकाल दीजिये। आप कृपा करके बता दें कि मुझमें कौन सी त्रुटि है? आपने शिष्टाचारके नाते मेरी बडी प्रशसा की हैं, कि तुम योग समाधिके द्वारा परब्रह्मका ज्ञान रखते हो? स्वाध्याय, व्रत, नियम अग्नि और गुरु सुश्रूषा द्वारा शब्द ब्रह्मका भी मर्म जानते हो। यह सब सत्य होने पर भी मनमें शान्ति नहीं हैं। वह आपके उपदेशसे ही प्राप्त हो सकती है। सो, हे सर्वज्ञ! जिस कार्यसे मुझे शान्ति मिले उसे बता-

ये। जिस मार्गसे जानेपर मुझे परमानन्दकी प्राप्ति हो उसका उपदेश मुझे कीजिये क्योंकि संसारमें मुँह मीठी बात कहनेवाले, प्रशंसा करनेवाले तो बहुत होते हैं। हितकारक, सत्य और सुखप्रद उपदेश कोई अपने अत्यंत हितैषी ही करते हैं। आपसे बढ़कर मेरा हितैषी संसारमें कौन होगा ?"

नारदजी व्यासजीकी विवेचनासे बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"अच्छा, व्यासजी! आपने इतने प्रेमसे पूछा ही है, तो मैं आपके सम्मुख कहता हूँ, सुनिये।"

नारदजीको प्रसन्नता पूर्वक उत्तर देते देखकर भगवान् व्यासदेवके मनमें अत्यंत ही प्रसन्नता हुई। वे बड़ी श्रद्धा भक्तिके साथ एकाग्र मनसे नारदजीके मुखसे निस्सृत उपदेश रूपी अमृतका अत्यंत पिपासुकी भांति बड़ी उत्सुकताके साथ पान करने लगे।

सूतजी बोले—"हे ऋषियो! भगवान् नारदजी ने जो उपदेश व्यासजीको किया, जो उनकी त्रुटि बताई' उसे मैं आपके सम्मुख निवेदन करूँगा। यही भगवत् भक्तों का सार सिद्धान्त है। जो इस लोक, स्वर्गादि परलोक के सभी इन्द्रिय-जन्य सुखोंकी इच्छा त्याग कर, यहाँ तक कि इन्द्रपद, ब्रह्म-पद और मोक्ष तक की लालसा नहीं रखते। उनके ही लिये यह उपदेश हितकारक होगा। जिनकी लौकिक वैदिक कर्मोंमें ही प्रवृत्ति है, जो इस लोकमें कर्म करके स्वर्ग जाना चाहते हैं और स्वर्गसे भ्रष्ट होकर पुनः शुभकर्मोंमें ही प्रवृत्त होना चाहते हैं, उनको तो यह उपदेश रुचेगा ही नहीं। फिर जो वेद और परलोकको मानते ही नहीं, इस शरीरको ही सब कुछ

समझते हैं उनको तो रुचिकर होगा ही कैसे ? आप सब भगवद् भक्त हैं, श्रीकृष्णमें चित्त लगाये बैठे हैं, अतः मैं आपसे नारदजी-के उस दिव्य उपदेशको कहूँगा।

छप्पय

नारदजीने कह्यो—व्यास ! तुम सब गुण आगर।
वेद-पुराण प्रवीण सबहिँ शास्त्रनिके सागर॥
ब्रह्मज्ञानी आप अज्ञवत् क्यों पछतावें।
का कारण है कहो ? भेद क्यों नहीं बतावें॥
बोले व्यास विनीतहुँ—मुनि ! मन मैल मिटाइ दे।
काज कौन कीयो नहीं, सच्ची बात बताइ दें॥

———

व्यासजीकी व्याकुलताका कारण

[१७]

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा—
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥ १
(श्री भा० १ स्क० ५ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

बोले नारद—"सबहिँ आपने धर्म बताये ।
किन्तु कृष्णके ललित चरित अति विषद् न गाये ॥
भक्तिभावतें हीन कुकवि जो कविता करिहैं ।
काकतीर्थ सम समुझि हंस मुनि नाहिँ आदरिहैं ॥
अब सब तजि मुनि ! भक्तिको, प्रेम प्रवाह बहाइदें ।
भक्तिभाव दर्शायदें, भगवतचरित सुनाइदें ॥

सूतजी बोले—"मुनियो ! रहस्यकी बातें एकान्तमें ही होती हैं। जब प्रेमसे प्लावित, स्नेहसे आर्द्र दो हृदय एकान्त में सटते हैं, तो प्रेमका स्रोत उमड़ने लगता है। जगत्को

---

१ मनुष्योंके तप, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, सत्कथन, ज्ञान और दान आदि समस्त शुभकर्मों का एक मात्र अक्षय फल बुद्धिमान् पुरुषों

पावन करनेवाली स्नेहकी धारा बहने लगती है, जो धराधाम-पर आकर पापी प्राणियोंको भी पुण्य प्रदान करती है। सुख शान्तिकी दात्री होती है। जब भगवान् व्यास और देवर्षि दोनों ही पुण्यतोया सरस्वतीके तटपर विशालापुरीमें नरपर्वतके पार्श्वमें बैठकर प्रेमकी जो चर्चा कर रहे थे, उसीसे त्रैलोक्य पावनी श्रीगंगाजीकी यह दूसरी धारा श्रीमद्भागवत रूपिणी निकली। इस धारामें एक विशेषता है, श्रीगंगाजी तो सर्वदा सबको सब स्थानोंमें दुर्लभ हैं, किन्तु यह कृष्ण-कथा रूपी गंगा सभी कालमें सर्वत्र सुलभ है, यदि उसका हृदय अनुरागसे आर्द्र हो तो।

नारदजीने कहा— व्यासजी! आपने जो भी कुछ किया सब उचित ही किया। इन संसारी लोगोंको अधर्मसे हटाकर धर्ममें लगानेकी शिक्षा दी। भाँति-भाँतिके कथा उपाख्यानों द्वारा धर्मका मार्ग समझाया, किन्तु आपने भगवद् यशका वर्णन नहीं किया। यह तो ऐसा हुआ कि पेड़को वर्षों बड़ी श्रद्धासे, श्रमसे, सींचा। फलके समय उसमें केवल रुई ही रुई निकली। जिस ज्ञानसे भगवान् वासुदेव प्रसन्न न हों, उस ज्ञान-को मैं व्यर्थ—अत्यन्त तुच्छ—ही समझता हूँ।"

व्यासजी बोले—'भगवन्! मैंने महाभारतमें, अन्य पुराणों में भगवद् गुणोंका, अवतारचरितोंका वर्णन किया तो है।"

इसपर बड़े स्नेहसे नारदजी बोले—"देखिये, मैं यह नहीं कहता हूँ कि आपने भगवान्का यश यत्किंचित् भी वर्णन नहीं किया। हाँ, आपने वर्णन किया है, किन्तु यह बात तो

न इतना ही बताया है, कि इन सबके द्वारा भगवान् उत्तमश्लोकके गुण वर्णनोंमें रुचि उत्पन्न हो।

व्यासजी ! आपको माननी ही पड़ेगी कि जिस प्रकार आपने इन सकाम कर्मोंकी विशद व्याख्या की है, इनके करनेपर जितना बल दिया है, उतना बल भगवद् लीलाओंपर नहीं दिया। आप ही सोचिये, भगवत् भक्तिके बिना ये धर्म-कर्म किस कामके हैं।"

व्यासजीने कहा—"मुनिवर ! कवितामें सभीकी रुचि रखनी पड़ती है।"

नारदजीने कहा—'मैं उस कविताको कविता कहता ही नहीं, जिसमें उपमा अलंकार तो बहुत हों, यमक अनुप्रासोंकी भी कमी न हो, पद विन्यासावली भली भाँति सजाई गयी हो, परन्तु परम पावन प्रभुका पावन यश जिसमें वर्णन न किया गया हो। वाणीकी सार्थकता केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंके गानमें ही है। जिसमें कमनीय कमल न हो, अमृतके समान स्वच्छ स्वादिष्ट, सुमधुर पय न हो, शुभ्र विमल मनोहर मोती न हो, उस सरोवरमें हंस नहीं ठहरते। उस कीचड़वाले गड्ढेमें तो जल-काकोंका ही निवास रहता है। भगवद् भक्त हंसोंके समान ही गुणग्राही निर्मल और सबको आनन्द देनेवाले कहे गये हैं।

व्यासजीने कहा—"प्रभो ! यदि लोकरंजनकी सामग्री न हो, तो उस कविताका तो लोग आदर ही न करेंगे।"

नारदजीने कहा—"कविताके सम्पूर्ण गुण चाहे उसमें न भी हों, किन्तु भगवान्‌का यश जिस कवितामें है; भगवद् भक्तिसे यदि वह युक्त है तो साधुजन तो व्यासजी ! उसीका आदर करेंगे। विषयीजीवोंकी बात तो मैं कहता नहीं। औरकी तो बात क्या, भक्ति रहित मोक्षका साधन यह ज्ञान भी शोभा

नहीं देता। जो कर्म केवल कामनाके लिये ही किये गये हैं, जिनके करने का एक मात्र कारण इस लोक और परलोकके दिव्य सुखोंकी प्राप्ति कराना ही है, वे बिना प्रभुप्रीत्यर्थ किये हुए कर्म कैसे शोभा दे सकते हैं? इसलिये आप हे बुद्धिमान् व्यासजी! मनको हरने वाली, सबको सुख देने वाली, जगत्को पावन बनाने वाली कृष्णकी कमनीय कथाओंका सकलन कीजिये। उन्हींका वर्णन कीजिये।"

व्यासजी ने कहा—"महाराज! मैं कैसे वर्णन करूँ? आप मुझे बताते जायँ, तो मैं लिखता जाऊँ।"

इतना सुनते ही नारदजी खिलखिला कर अट्टहास करने लगे और हँसते हुए बोले "महाभाग! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं? आपसे कुछ छिपा है क्या? यह आप साधारण मनुष्योंकी सी लीला क्यों दिखा रहे हैं? आप अपनी समाधि के द्वारा सब कुछ समझ सकते हैं। एकाग्रचित्त होकर ध्यानमें भगवान्की लीलाओंका प्रत्यक्ष करें। प्रत्यक्ष करनेके अनन्तर समाधि भाषामें उसका वर्णन करें। आपके लिये कुछ कठिन थोड़े ही है? आप यही करें कि केवल विशुद्ध भगवत् लीलाओंका, भगवान् और भक्तोंके चारु चरित्रोंका ही वर्णन करें। अन्य वस्तुओंका वर्णन करनेसे ध्वजाके समान चित्त चचल हो जाता है। भँवरमें पड़ी नौकासे समान बुद्धि डगमगाने लगती है। प्रवाहमें डूबतेके समान मन व्याकुलताका अनुभव करता है।"

व्यासजी ने कहा—'महाभारतमें तो मैंने कुछ भी नहीं छोड़ा है। उसमें धर्म; अर्थ, काम, मोक्ष, प्रेम, भक्ति सभी विषयों का मैंने विवेचन किया है।"

नारदजी मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए बोले—'व्यासजी! मैं आपके महाभारतकी सराहना करता हूँ। आपका परिश्रम अत्यन्त श्लाघनीय है। यह भी मैं मानता हूँ, उसमें आपने सभी कुछ भर दिया है। किन्तु हे महाभाग! आप मेरी बात मानिये, उससे सबका कल्याण कठिन है। महाभारत तो ऐसा है, जैसे कोई बड़ा भारी दुर्ग हो, कोई दृढ़ किला हो। उसमें आपने अनेक प्रकारके भवनोंकी, सरोवरोंकी, सड़कोंकी फलदार वृक्षोंकी, भाँति-भाँतिके परिचारक और परिचारिकाओं की रचनाकी है। उन फलोंके बीच-बीचमें कहीं अमृत फल वाले भी वृक्ष लगा दिये हैं। किसी-किसी भवनके किसी कोने की कोठरीमें कहीं कुछ अमृत फल भी छिपाकर रख दिये हैं। कोई वहींका भेदी बुद्धिमान पुरुष बड़े श्रमसे खोज करे तभी कहीं उन अमृतकल्प फलोंको पा सकता है। रात्रि दिन सभीमें विचरण करने वाले माली या सेवक ही उन कल्प-पादपोंका पता पा सकते हैं, सर्वसाधारण उन्हें जाननेमें असमर्थ ही रहेंगे। मैं तो चाहता हूँ, कि आप एक ऐसे दिव्य रस वाले फलकी रचना करें, जिसे देखते ही सब समझ जायँ, जिसके सेवन मात्रसे ही सब सुखी हो जायँ, जिसे खोजनेके लिए श्रम न करना पड़े। यही नहीं, उस फलमें ऊपरका छिलका और भीतरकी गुठली कुछ भी त्यागने योग्य न हो। सब खाने योग्य मधुर रसका एक पिंड ही हो। वह पिंड भी कड़े रसका न हो कि काटनेमें दाँतोंको कष्ट हो। मिश्रीके ढेलेकी तरह न हो कि बहुत देर तक मुँहमें चूसो या दाँतोंसे तोड़ो तब रस निकले। वह फल ऐसा हो कि भीतर भी रस भरा हो, बाहर भी चू रहा हो, गुलाबजामुनकी तरह, रस-गुल्लेकी तरह हो। अथवा पहाड़ी शहदके गोलेकी तरह

हो, या गरमागरम टटकी जलेबीकी भाँति हो, या तत्काल निकाले मक्खनके गोलेमें पिसी मिश्री मिले हुए लौंदेके समान हो, या बराबरके घूरे और घीसे मिले मलीदेके लड्डूकी तरह हो।

महाभारतमें आपने काम्यकर्मोंकी आवश्यकतासे अधिक प्रशंसा कर डाली है। अमुक ऋषि थे, उन्होंने विवाह नहीं किया इसीसे वे स्वर्ग नहीं जा सके। फिर उन्हें चिन्ता हुई—कैसे मैं विवाह करके शीघ्र संतान उत्पन्न करूँ? बिना संतान के स्वर्ग नहीं, उद्धार नहीं। इसलिये शीघ्र संतानकी कामनासे पत्नी बनकर पुत्र पैदा किये। अमुक ऋषिके पितर बिना संतानके नरक जा रहे थे, अतः तपस्या छोड़कर उन्हें विवाह करना पड़ा। ऐसी ही अनेक कथाओंकी उसमें भरमार है। यद्यपि ये सब ठीक हैं। संसारमें इनका भी प्रयोजन है, किन्तु कर्मोंमें तो प्राणियोंकी स्वतः ही प्रवृत्ति है। विवाह करनेकी, संतान उत्पन्न करनेकी तो स्त्री-पुरुषोंमें स्वाभाविक ही इच्छा होती है। बिना सिखाये ही इन कर्मोंमें अपने आप प्रवृत्त हो जाते हैं। हाँ, इतना ही है कि धर्मके द्वारा उनकी स्वेच्छावृत्तिको सीमित बनाया जाता है। किन्तु स्थान स्थानपर विशद रूपसे इन्हीं बातोंकी चर्चा होनेसे लोग समझते हैं, कि संसारमें काम ही सार है। संतानोत्पत्ति ही परम पुरुषार्थ है। स्थान स्थानपर जो सूत्र रूपसे आपने भगवद् भक्तिका वर्णन किया है, इतने बड़े सागरमें, काम्यकर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति वाले पुरुषोंका उनकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। बस, वे तो अपने प्रयोजन-की बातको खोज लेते हैं। अपने मनकी बातको चित्त अति

शीघ्र ग्रहण कर लेता है। कोई प्रसंग आते ही कहने लगते हैं—'यह तो व्यासजीका वचन है।'

व्यासजी! आप बुरा न मानें। हमारी बुद्धिमें तो यह बात बैठी नहीं। आपने एक ओरकी ही बात कह दी।

इसपर व्यासजी बोले—"भगवन्! मैंने सन्यासमार्ग का भी तो वर्णन किया है। जिन्हें काम्यकर्मोंमें रुचि न हो वे संसार त्यागी, विरागी बन जायँ। सन्यास धारण करके सत् असत्का विवेचन करते हुए ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करें?"

नारदजीने कहा—"यह आपकी बात यथार्थ है, किन्तु आप सोचते नहीं, सभी तो विलक्षण बुद्धिवाले व्यक्ति नहीं होते। उन सच्चिदानन्द स्वरूप विभु भगवान् के मर्मको परम वैराग्यवान् पुरुष ही अभ्यास वैराग्यके द्वारा अनुभव कर सकते हैं। किन्तु जिनकी प्रवृत्ति तो कर्ममें है, कर्म भी वे करना चाहते हैं। किन्तु ऐसे, जो बन्धनके कारण न हों, कर्म करते हुए भी वे निष्कामताकी ओर ले जानेवाले हों, ऐसे लोगों के लिये आप भागवान् की ललित लीलाओंका वर्णन करें, जिनके द्वारा कर्ण भी तृप्त हों, मन भी प्रसन्न हो। कर्मबन्धन भी न हो और भगवत् लोककी भी प्राप्ति हो सके।

अच्छा, मैं आपसे एक बात कहता हूँ, उस पर विचार करें। एक व्यक्ति है, आपके बताये हुए विधिवत् वर्णाश्रम धर्म का, काम्य कर्मों का अनुष्ठान तो करता है, किन्तु वे कार्य भगवद् भक्तिसे शून्य होकर करता है; तो क्या उसका कभी कल्याण हो सकता है? कर्मोंका फल तो अवश्य होता ही है। उसे पुण्य लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है, स्वर्ग मिल सकता है,

किन्तु फिर भी कर्मचक्रमें ही फँसना पड़ेगा। इसके विपरीत एक ऐसा व्यक्ति है, कि वह निरंतर भगवद् भक्तिमें ही लगा रहता है, भगवान्‌के प्रेममें इतना तल्लीन हो गया कि उसे अपने स्वधर्म पालनका भी ध्यान नहीं रह गया है, श्रीकृष्ण भक्तिको ही उसने अपना परम धर्म बना लिया है। दैवयोग से यदि उसका पतन हो जाय भजन-पूजन छोड़ दे-तो क्या उसका सब व्यर्थ हो गया? नहीं, वह पुन भगवद् भक्तिको प्राप्त होगा। उसकी की हुई भक्ति उसके समस्त विघ्नोंको हटाकर उसे कल्याण मार्ग पर डाल देगी।

इन्द्रियोंके विषय चाहे इसलोक के हों या परलोकके, इनके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। प्रारब्धानुसार ये तो प्राप्त होते ही हैं। संसारी पुरुषोंमें ऐसा कौन है जो धनी बनना न चाहता हो? किन्तु सभी तो धनी नहीं होते? वृद्धावस्थाको कौन चाहता है? किन्तु न चाहनेपर भी आ ही जाती है। मृत्यु की इच्छा कौन करता है? न करनेपर भी जन्म धारण करने वालेकी मृत्यु आही जाती है। नाना प्रकारके ज्वर आदि रोगोंको स्वेच्छासे कौन वरण करता है? न चाहनेपर भी रोग प्रारब्धानुसार सभीके शरीरोंमें अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह इन्द्रियोंका सुख भी है। बहुत-से ज्ञानी पुरुष शारीरिक सुखके लिये चेष्टा नहीं करते, चेष्टा न करनेपर भी प्रारब्धानुसार उनको शारीरिक सुख प्राप्त हो ही जाता है। ये शारीरिक सुख दुःख दोनों ही प्रारब्धानुसार आते और जाते रहते हैं। सभी योनियोंमें ये होते हैं। राजाको जो सुख अपनी रानी के द्वारा है, कुत्ते को वही सुख अपनी कुतियाके द्वारा है। इसके लिये चिन्ता करना, प्रयत्न करना, सदा इसके लिये व्यग्र बने रहना व्यर्थ है। सभी योनियाँ प्रारब्धानुसार प्राप्त होती हैं।

जिस योनिमें जाओगे प्रारब्ध साथ ही रहेगा। उसीके अनुसार सुख दुःख होंगे ही। उनकी चिन्ता करो तो भी मिलेंगे, न चिन्ता करो तो भी मिलेंगे। इसलिये इस ओर से तो मनुष्यको निश्चिन्त ही रहना चाहिये।"

व्यासजीने पूछा—"तब, महाराज ! आदमी और क्या करे ? हम लोग सदा पेट पालने तथा स्त्री बच्चोंकी रक्षाके लिए चिन्तित रहते हैं। जो वस्तुएँ प्राप्त नहीं, उनकी प्राप्तिके लिये और जो हमारे पास हैं, हमें श्रमसे या स्वतः ही प्राप्त हो गयी हैं, उन्हींकी रक्षामें तो सदा व्यग्र बने रहते हैं। संसारी लोगोंके पास दो ही तो काम हैं, योग और क्षेम। योग तो सामग्रियों को जुटाना, क्षेम जुड़ी हुई वस्तुओंको सम्हालकर सावधानी से रखना। आप दोनोंकी ही चिन्ता छोड़नेको कह रहे हैं। फिर कर्तव्य ही क्या रहा ? हाथपर हाथ रखे बैठे रहें। अकर्मण्य आलसी बन जायँ ?"

नारदजीने कहा—'मैं अकर्मण्य आलसी बनने को थोड़े ही कह रहा हूँ। संसारी वस्तुओंको जुटाने और रक्षा करने की चिन्ता रूपी कर्म तो अत्यत तुच्छ हैं। मैं एक ऐसा कर्म करने को बता रहा हूँ, जो ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण करने पर भी पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकता। वही महान् कर्म है, उसीके लिये किया हुआ प्रयत्न सार्थक है। वही पुरुषका परम पुरुषार्थ है उसीसे नरदेहकी कृतकृत्यता है। उसी-का आश्रय लेकर मनुष्य निश्चिन्त हो सकता है। उसीका बिना वर्णन किये आप व्याकुल हैं उसीका विशद विशुद्ध वर्णन न करके आप अपनेमें कमाना, अकृतकृत्यताका अनुभव कर रहे हैं। जिसने उस रसका यत्किंचित् भी आस्वादन कर लिया वह कृतकृत्य हो गया।

हे प्रियदर्शन व्यासजी ! जिनके मन-मन्दिरमें मुकुन्दकी मनमोहिनी मूर्ति प्रतिष्ठित हो गयी है, वह संसारी आवागमन से सदाके लिये मुक्त हो जाता है। वह सदा आनन्द-सागरमें गोता लगाता रहता है। तुम ही सोचो, जिसे एक बार उस दिव्य रसका चस्का लग गया है; जिसने उसकी मधुरताका अनुभव किया है, वह फिर कभी उसे छोड़ सकता है ?

तुम कहते हो यह चराचर जगत् ही श्रीहरिका साकार स्वरूप है। इसीमें वे समान रूपसे रम रहे हैं। यह सब सत्य है। भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अणु-परमाणुमें वे ही व्याप्त हैं। फिर भी इस जगत्‌से भी विलक्षण एक भगवान् और हैं। उनमें दुःखका लेश नहीं, चिन्ताकी गंध नहीं, परम आनन्द स्वरूप, परम सुख स्वरूप वे सुखके सागर आनन्दके निधि हैं। वे सगुण साकार हैं, मुरलीधारी हैं, सबके मनको हरनेवाले हैं, सबको प्यार करनेवाले हैं, उनकी मन्द-मन्द मुस्कुराहट मनमें मिश्री घोल देती है। उनका अनुपम रूप आँखोंमें चुभ जानेसे सर्वत्र वे ही वे दिखाई देते हैं यह सम्पूर्ण जगत् विलीन हो जाता है। उनकी चितवनमें मादकता है, उनकी वंशीके स्वरमें विश्वविमोहिनी शक्ति है। उन्हींकी, कुछ कथा कहिये, उन्हींके चरित्रसे आप कृत कृत्य होंगे। उन्हींका वर्णन करके आप धन्य होंगे।

आप सब जानते हैं, लोक दिखावेको ये भाव प्रकटकर रहे हैं; मुझे मान दे रहे हैं। ज्ञानकी परम्परा बाँधनेको यह ढोंग रच रहे हैं। आप कोई साधारण पुरुष तो हैं नहीं। आप स्वयं साक्षात् श्रीहरिके अंशावतार हैं। आपने लोक-कल्याणके निमित्त यह अवतार धारण किया है। अजन्मा होकर भी आपने जन्म लिया है। आपने ही तो सब

क्रीड़ायें की हैं। शांतिके साथ एकान्तमें अपनी की हुई क्रीड़ाओंका स्मरण कीजिये और फिर उनका अच्छी तरह वर्णन करें जिससे लोगोंका कल्याण हो। बुद्धिमानोंकी प्रखरसे प्रखर बुद्धिका, तपस्वियोंके उत्कटसे उत्कट तपका, सभी प्रकारके वेदशास्त्रोंके अध्ययनोंका सभी प्रकारके राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञोंका, यहाँ तक ज्ञान, ध्यान, कथा, वार्ता सभीका एकमात्र फल भगवान् वासुदेवके चरणोंमें भक्ति ही होना है। समस्त कथाओंकी सार्थकता नन्दनन्दन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरित्रोंके वर्णनमें ही है। जिस वाणीसे वासुदेवके गुणोंका वर्णन न हुआ, वह वाणी वाणी नहीं है, जो श्रवण परम श्रवणीय श्रीकृष्णके गुणोंका गान नहीं सुनते हैं वे सच्चे श्रवण नहीं हैं, व्यर्थ के छिद्र मात्र हैं। श्रीहरिके मङ्गलमय मनोहर नाम पुरुषको संसारसागरसे पार कर देते हैं। विपत्ति से बचा लेते हैं और शाश्वती शान्तिके सदनमें सुखपूर्वक पहुँचा देते हैं।

व्यासजी! मैं अपने अनुभवकी ही बात बता रहा हूँ सुनी सुनायी नहीं कह रहा हूँ। मैं पूर्व जन्ममें दासी पुत्र सभी साधनों से हीन था, न तो मेरे द्विजातियोंके-से संस्कार हुए थे, न गुरुकुलमें वास करके अध्ययन ही किया था। इसका मुझे अधिकार ही नहीं था। मैं अनाथ था, मुझे अपने पिताका भी पूरा पता नहीं था। इस तरह कुल, कर्म, विद्या, साधन सभीसे रहित होने पर भी, केवल श्रीहरिके सुमधुर नामोंके गायनके ही प्रभावसे, एकमात्र भगवान् वासुदेवके श्रद्धासे किये हुए संकीर्तनके ही प्रभावसे -मैं इस दशामें हो गया। लोकनिंदितसे लोकवन्दित बना। दासीपुत्रसे ब्रह्माजीका मानस पुत्र कहाया। मनुष्य से देवर्षि बना। अनादृतसे आज

चराचर लोकका परम आदरणीय बना। इन सबका एक मात्र कारण भगवान् वासुदेवकी भक्ति ही है। उनके नाम, गुण लीलाओंके श्रवण गायन और कथनका ही परिणाम है। अत.आप भी भगवान् और भक्तोंके यशका गान करें। इससे आपकी लोक में बड़ी ख्याति होगी। ससारी लोगोंका बड़ा उपकार होगा इसका आश्रय लेकर वे अपार ससार सागरको सरलताके साथ तर जायँगे और आपको भी शाश्वती शान्तिकी प्राप्ति होगी।"

इतना कहकर नारदजी चुप हो गये। व्यासजी उत्सुकताके सहित उनकी ओर देखते ही रहे।

छप्पय

मदमातेकूँ य था मद्यको हित जतलानो।
तथा कर्ममें निरत पुरुषकूँ विषय बतानो॥
पुनि बोले मुनि व्यास—होइगी आशा पूरी।
किन्तु कथा कछु कही आपने अबहिँ अधूरी॥
दासीसुत कैसे भये, सत-सग कस लगो मति।
चरित सुखद सब सुनाओ, होत हृदयमें हर्ष अति॥

नारदजीके पूर्वजन्मका वृत्त

(१८)

अह पुरातीतभवेऽभवं मुने ।
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ॥
निरूपितो बालक एव योगिनाम्,
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥१॥

(श्री भा० १ स्क० ५ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

मुनिवर ! मैंने महामोहवश दुर्गति पाई ।
किन्तु कृष्णकी कृपा भाइ वह विपति बिताई ॥
चारु चरित हैं मधुर कृष्णके अति सुखकारी ।
उनको अभिनय रच्यो मुनिनि आज्ञा सिर धारी॥
लीला राम विलासकी, अति रहस्ययुत मधुमई ।
निरखि मुनिनिको सुधि गई, मति मोहित सबकी भई ॥

श्रोता और वक्ता दोनों ही रसिक हों तभी आनन्दका सुखद श्रोत उमड़ता है। वक्तासे श्रोताकी महत्ता अधिक बतायी है। वक्ता गौके समान है। उसके स्तनोंमें दुग्ध यथेष्ट भरा है,

---

१ श्रीनारदजी भगवान् वेदव्याससे कहते हैं—"हे मुने ! पूर्व कल्पमें मेरा जन्म वेदवादी ब्राह्मणोंकी एक दासीके गर्भसे

किन्तु जब तक श्रोता रूपी वत्स उल्लास और स्नेहके साथ स्तनोंमें हुड्ड नहीं मारता, जब तक वह उन्हें प्रेमपूर्वक पान नहीं करता तब तक गौ दूधको उतारती नहीं। वत्सके अभाव में भी व्यापारी स्वार्थवश गौसे दूध चूसते हैं, किन्तु उसमें वह स्नेह नहीं। अनुरागसे निकले दूधका गुण अद्भुत है। तन्त्रीके तारोंमें सप्तस्वरोंकी सुमधुर ध्वनियाँ विद्यमान हैं, किन्तु जबतक उन्हें कोई छेड़नेवाला न हो, तबतक उनमेंसे हृदयको आह्लादित करनेवाले संगीतकी सृष्टि नहीं होती। नारद जी जैसे वक्ता और व्यास जैसे वेद वेदाङ्गोंके वेत्ता परम रसिक श्रोता, फिर भी रसका समुद्र न उमड़े तो यह असंभव है।

जब नारदजी अपने पूर्वजन्मकी अधूरी सी सूत्ररूप-में कथा कहकर चुप हो गये, तब व्यासजीकी उत्सुकता और बढ़ी। उन्होंने अत्यन्त अनुरागके साथ पूछा—"भगवन्! आपने यह अद्भुत बात सुनायी कि आप पहिले दासी-पुत्र थे, भगवत् नाम-गुण-कीर्तनके प्रभावसे ही देवर्षि योनिको प्राप्त किया। आप इस नारद शरीरसे ही दासी पुत्र हुए या किसी दूसरी देहसे? हम तो सदासे सुनते आ रहे हैं, कि आप पितामह ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं। सृष्टिके आरंभमें उत्पन्न हुए। आपके समीप माया मोह फटकने भी नहीं पाते, फिर आप किस कर्मके कारण दासी-पुत्र हुए?"

व्यासजीकी बातें सुन कर मंदमंद मुस्कराते हुए नारदजी बोले—'व्यासदेव! मैं इस नारद शरीरसे दासीपुत्र नहीं

हुआ था। उसी समय हमारे यहाँ चतुर्मास्य व्रतके लिए टिकनेको कुछ महात्माओंकी टोली आई। मैं उन्हीं सबकी सेवामें बालकपन में ही नियुक्त कर दिया गया था।

हुआ। पहिले मैं उपबर्हण नामका गन्धर्व था। अपने ही अपराधसे मैं गन्धर्व योनिसे इस मृत्यलोकमें शूद्र योनिमें उत्पन्न हुआ।"

अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करते हुए व्यासजीने पूछा—"प्रभु! आप एकसे एक अद्भुत बात बताकर मेरे सन्देहको बढ़ा रहे हैं। सब लोग तो आपको सदासे ऐसा ही कहते हैं आप सम्पूर्ण विश्वमें स्वेच्छासे बिना किसी विघ्न बाधाके भ्रमण करते रहते हैं। आप तो जन्म, कर्म, बन्धनसे रहित हैं। फिर कब गधर्व हुए, कब दासीपुत्र हुए? कैसे ये सब बातें आपको याद हैं? हम लोगोंको तो कल रात्रिमें देखा हुआ स्वप्न भी याद नहीं रहता?"

नारदजी तनिक अपने स्वरको ऊँचा करके प्रेमकोपके स्वरमें बोले—"व्यासजी! तुम ये बच्चोंकी-सी शंका मत किया करो। सब जान-बूझकर भी आप अज्ञानियोंकी तरह प्रश्न पूछते हैं। अजी, यह सृष्टि कोई आज ही थोड़े हुई है? आप कहो कि आप तो रविवार को मध्याह्न समय श्वेतद्वीप में थे,. फिर रविवारको ही आपने मध्याह्नमें बदरीवनमें श्रीनारायणका प्रसाद कैसे पाया? रविवार एक ही थोड़ा है। मध्याह्नका समय केवल रविवारको ही नहीं होता। नित्य प्रात., मध्याह्न, साय होते रहते हैं। रविवार चन्द्रवार हमेशा आते जाते रहते हैं। साल भरके पश्चात् वही ६ ऋतु फिर-फिर आती हैं यह तो निरवधि है। इसकी कोई अवधि नहीं। यह चक्र सदासे चल रहा है। जो मूर्ख हैं, अज्ञ हैं, समयकी महानताका, कालके विपर्ययका जिन्हें ज्ञान नहीं वे ऐसी शङ्का करते हैं, कि समयकी अवधि है। उन

बुद्धिहीनोंकी दृष्टिमें केवल कुछ सहस्र या लाख वर्ष ही समयकी परिधि है। न जाने कितनी बार मेरे सामने सृष्टि हुई कितने ब्रह्मा मेरे देखते,देखते बदल गये। जैसे मनुष्य सोकर उठते हैं, प्रात काल देखकर कोई आश्चर्य नहीं करते, वैसे ही प्रलयके पश्चात् इस सृष्टि-क्रमको देखकर मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। ब्रह्माजीके सकल्पसे हम प्रकट होते हैं इसलिये उपचारसे हमे ब्रह्मपुत्र कहा जाता है। नहीं तो कितने ब्रह्मा हमने आते-जाते देखे हैं। आप इस सृष्टि-क्रमकी शृखला बाँधनेके चक्करमें न पड़े। जैसे समुद्रमें सदा अनन्त लहरें आती जाती रहती हैं ऐसे ही यह सृष्टिक्रम है। गगाजीका प्रवाह जैसे निरतर बहता रहता है वैसे ही यह ससार चक्र चलता रहता है। इसके बार सम्वत्के चक्करमें पड़ेंगे, तब तो आपको कभी ज्ञान न होगा। आप जो इसमें सारातिसार भगवद् भक्ति है उसीका विचार करें। किस घटनासे, किस उपाख्यानसे भगवान् वासुदेवके चरणोंका चिन्तन होता है? किस कथाके श्रवणसे केशवके पुनीत पादपद्मोंमें प्रेम उत्पन्न होता है। यही विचारणीय विषय है। मैं यह इस कल्पकी बात नहीं कह रहा, हूँ दूसरे कल्पकी बात सुना रहा हूँ।" व्यासजी ने विनीत भावसे कहा—"दीनबन्धो! मेरी शका दूर हुई। अब आप गधर्व कैसे हुए इस वृत्तान्तको सुनाइये।"

किंचित् काल मौन रह कर पुन गम्भीर होकर प्रेमाश्रु बहाते हुए गद्गद कठसे नारदजी कहने लगे— व्यासजी, यह कथा बड़ी ही मनोहर है। हृदयमें प्रेम भावका सचार करने वाली है। आपके सम्मुख उसे प्रकट करता हूँ, आप श्रद्धा सहित उसे श्रवण कीजिये।"

एक समयकी बात है कि देवराज इन्द्रकी सभामें समस्त ऋषिमुनि यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर तथा देवतागण बैठे थे। ऋषियोंने मुझसे पूछा—'नारद! तुम्हारी तो सर्वत्र अव्याहत गति है। हमने सुना है कि गोलोकमें श्रीहरिकी सदा दिव्य रास-लीला होती है। वह लीला अत्यन्त ही आह्लादकारिणी है। क्योंकि उसकी जननी आद्याशक्ति श्रीमती श्रीजी हैं। तुम तो अनेक बार गोलोक जाते हो। उस लीलाका यत् किंचित् रसास्वादन हम भी कराइये।,'

मैंने कहा—"मुनियो! नन्दनन्दनकी वह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है। ये सब प्रकृतिके परेकी बात हैं। जिन इन्द्रियोंका स्वभावही विषयोंकी ओर अपने आपही दौडना है वे भला उस दिव्य लीलाका दर्शन करनेमें कैसे समर्थ हो सकती हैं? इससे तो एक नूतन अनर्थकी सभावना है। यदि उस प्रकृतिसे परे दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यमें काम भावका सकल्प भी उठ गया, तो सब किया कराया व्यर्थ हो जायगा।"

ऋषियोंने आग्रहके साथ कहा—"नारद! हमारी बडी इच्छा है, हम उसे देखनेको आकुल हो रहे हैं। प्रत्यक्ष देखनेका सौभाग्य तो हमें कहाँ हो सकता है? आप अभिनयके द्वारा उसका यत्किंचित् आभास हमें दिखाइये। उससे हम कृतकृत्य हो जायँगे।"

मैंने भी सोचा—चलो, इसी मिससे कुछ कृष्णकीर्तन कृष्ण-लीला स्मरण होगा। अत मैंने उन महर्षियों और देवताओंसे कुछ अवधि माँगी। एक तिथि निश्चित कर दी गयी कि अमुक दिन आप यहाँ हमें अभिनय दिखावें।

ऋषियोंकी आज्ञा पाकर मैं गन्धर्व लोकमें आया। व्यासजी! यह बात तो आप जानते ही हैं, देवताओंकी

जितनी योनि हैं उन सबमें गन्धर्व और विद्याधर सौन्दर्यमें अद्वितीय होते हैं। इस गन्धमादन पर तो गन्धर्व और विद्याधरों की युवतियाँ विहार करने आती ही हैं आप उन्हें देखते ही होंगे। संगीतमें तो ये जन्मसे ही प्रवीण होते हैं। जैसे पक्षियोंके बच्चे पंख निकलते ही उड़ने लगते हैं, ऐसे ही गन्धर्व जन्म लेते ही अपने आप सस्वर गान करने लगते हैं।

मैंने उन गन्धर्व और विद्याधरोंके अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर बालक बालिकाओंको रासलीलाके अभिनयकी शिक्षा दी। उन्हें विधिवत् श्रीकृष्णके नृत्यकी शिक्षा दी, सखियोंका संगीत सिखाया और भी जो उपयोगी विषय थे, सभीकी विधिवत् शिक्षा दी। वे सब मेरी शिक्षाके द्वारा परम प्रवीण हो गये।

व्यासजी! उस समय मेरे उत्साहका वारापार नहीं था, अपनी लगाई हुई वाटिकाको देखकर मालीका मन-मुकुर जैसे खिल जाता है, उसी अपनी शिक्षासे शिक्षित उस मनमोहक मंडलीकी प्रवीणतासे मैं अत्यधिक आनन्दित था। नियत तिथि आयी। नन्दनवनके एक प्रशस्त प्रांगणमें रङ्गस्थली बनायी गयी। वह चित्र विचित्र दिव्याम्बरोंसे चित्र-विचित्रित चाँदनी और चँदोवोंसे सजाई गई थी। स्थान-स्थान पर नन्दन वनके दिव्य पुष्पोंकी मालायें लटक रही थीं। विश्वकर्मा ने स्वय अपने हाथोंसे उसकी अद्भुत अलौकिक रचना की थी। गोलोकके सभी दृश्योंका प्रदर्शन कराया गया था। कल्पवृक्षके पुष्पोंकी मन्द-मन्द सुगन्धको लिये हुए मारुत

मन्थर गतिसे वह रहा था। सर्वत्र दिव्य पुष्प खिले हुए थे, उन पर मधु-लोलुप मत्त मधुप गुञ्जार कर रहे थे। समयसे पूर्व ही ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व, यक्ष, नाग आ-आ कर अपने अपने निर्दिष्ट स्थानों पर बैठ गये। दूसरी ओर यौवनके मदसे मदमाती स्वर्गकी असंख्य अप्सरायें विद्युत्के समान अपने दिव्य वस्त्राभूषणोंकी चमक-दमकसे उस सभाको प्रकाशित करती हुईं विद्यमान थीं। सभा खचाखच भरी थी, शान्ति ऐसी थी, कि एक सुई भी डालो तो इसकी ध्वनि सुनाई दे जाय। सभी एकटक भावसे दत्तचित्त होकर रङ्गभूमिकी ही ओर निहार रहे थे। सहसा रङ्गमञ्चकी जवनिका उठी और उन गन्धर्व विद्याधरके बालक-बालिकाओंने अपना दिव्य सङ्गीत आरम्भ किया। तत्पश्चात् रासलीलाका अभिनय दिखाया। सभी मन्त्र मुग्धकी भाँति मौन थे। प्रेम के कारण सभीके कण्ठ रुँध गये थे। देवताओंके तो वैसे ही पलक नहीं गिरते, किन्तु उस समाजमें जितने भी लोग बैठे थे, किसीके पलक नहीं गिरते थे। अपने आपको भूले हुए वे समाधिस्थ पुरुषकी भाँति उस अभिनय रूप अमृतके सागर मे निमग्न थे। बाह्य जगत्का उन्हें आभास भी नहीं था। ऐसे ही समयमें जवनिका-पात हुआ। दूसरा दृश्य दिखानेमें देरी हुई। मेरा मन भी कुछ अत्यन्त सुन्दरी गन्धर्व कन्याओंमें आसक्त हो गया था। उनके उस समयके अपूर्व सौन्दर्यको देखकर चित्तमें कुछ चंचलता सी आ गयी। मैं यह निश्चय न कर सका कि यह विकारजन्य भाव है या प्रेमकी विस्मृति है। मैं अपने-आपेको भूल गया। ऋषियोंके आनन्दमें विघ्न हुआ। दृश्यके हटते ही उन्हें बाह्य जगत्का भान हुआ, उनकी प्रेम समाधि भङ्ग हुई। इस प्रकार अपने आनन्दमें इस प्रकारका

अन्तराय देखकर वे दुखी हुए और उसी दु खके आवेशमें आकर उन्होंने मुझे शाप दिया, कि जाओ तुम गन्धर्व हो जाओ और जिनके रूपमें तुम आसक्त होकर अपने आपको भूल गये हो उनके अधीन हो जाओ।

अब मेरी आखें खुलीं, किन्तु अब क्या था होना था सो हो गया। बाण धनुपसे छूट गया अब तो लक्ष्य तक पहुँचेगा ही अभिनय तो था ही, आनन्दमें निरानन्दकी लहर दौड़ गयी, रङ्गमें भग हो गया। मैंने दीनतासे जाकर ऋषियोंके पैर पकड़े और अपने उद्धारका उपाय पूछा। इस पर ऋषियोंने कहा—"तुम्हे गन्धर्व योनिमें तो जाना ही पड़ेगा, जिनको देखकर तुम्हारे चित्तमें चचलता हुई है; वे तुम्हारे ऊपर अत्यन्त ही अनुरक्त रहेंगी, किन्तु सत्सग और कृष्ण कीर्तनके प्रभावसे पुन तुम अपनी नारद योनिको ही प्राप्त करोगे।" इतना कहकर सभा भङ्ग हो गयी। ऋषि मुनि अपने-अपने स्थानों को चले गये।

उन सत्यवादी अमोघवीर्य तपोधन ब्रह्मर्षियोंके वाक्य व्यर्थ तो होनेवाले नहीं थे। कालान्तरमें मुझे गन्धर्व योनि में आना पड़ा। वहाँसे भी भाग्यवश ब्रह्माजीके शापके कारण मैं दासीपुत्र हुआ। इस शूद्र योनिमें ही मुझे सत्सगके द्वारा भगवद् ध्यान और कृष्णकीर्तनका स्वाद लगा, जिससे पुन मैंने यह अपनी नारद देह प्राप्त की।"

इतना कहकर नारदजीने अपने पूर्व जन्मकी कथाका उप-संहार किया।

छप्पय

रंगभूमि अति रम्य रासको रसमय अभिनय।
निरखि सबनिको चित्त चमत्कृत भयो सुअतिशय॥
मेरे मनमें मैल धँस्यो, रस बिरस भयो सब।
नारद लम्पट होउ मुनिनि मिलि शाप दियो तब॥
बन्दन करि बिनती करी, होय शापको अंत कस।
सत्संगति हरि भक्ति लहि, होओ मुनि पुनि कह्यो अस॥

गन्धर्व योनिमें नारदजी

(१९)

अहं पुराभवं कश्चिद्‌ गन्धर्व उपबर्हणः ।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥१

(श्री भा० ७ स्क० १५ अ० ६९ श्लो०)

छप्पय

गई सृष्टितैं पूर्व कल्पमें अति ही सुन्दर ।
उपबर्हण गन्धर्व नामको हो हौं मुनिवर !
नखतैं शिखलौं सुघड़ मनोहर मेरी मूरति ।
दिव्य गंधयुत देह शरीरी मानों रतिपति ॥
मेरे मनहर रूपपै, अबला अति आसक्त ई ।
मदन मथित मदमत्त ई, सब समान अनुरक्त ई ॥

जैसे मिठाई बेचनेवाला पहिले ग्राहकको बिना मूल्य थोड़ी बानगी चखाता है, जिससे उसकी जिह्वा उसके स्वादसे आकृष्ट हो उठे और विवश होकर उसे मिठाई लेनी ही पड़े ।

---

१ नारदजीसे राजा युधिष्ठिर कहते हैं—'हे राजन् ! मैं पिछले बीते हुए महाकल्पमें उपबर्हण नामका गन्धर्व था । दूसरे जितने भी सब गन्धर्व थे, मेरा बड़ा ही सम्मान करते थे ।

इसी तरह नारदजीने अपने पूर्व जन्मकी कथा कहकर आगे के प्रसंगको सूक्ष्मरूपसे कह दिया। इसपर भागवत कथा लोलुप व्यासजीकी उत्सुकता और बढ़ी वे देवर्षि नारदजी-से कहने लगे—"भगवन्! आपने अपने पूर्वजन्मकी अत्यद्भुत कथा कहकर मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ, कि आपने गन्धर्व योनि कैसे प्राप्त की और फिर शूद्र योनिमें किस कारणसे जाना पड़ा? भगवान् और भक्तोंके चरित्र समान ही सुख देनेवाले हैं। यही नहीं, भक्तोंके चरित्रतो भगवान्के चरित्रसे भी बढ़-कर हैं। आपतो भक्त भी हैं, भगवान्के अवतार भी हैं आपके चरित्र श्रवणसे मुझे ही नहीं, सम्पूर्ण संसारको सुख शान्तिकी प्राप्ति होगी।"

भगवान् व्यासके इस प्रकार पूछनेपर श्रीनारदजी कहने लगे—'मुनिवर! मैं अपना आगेका वृत्तान्त सुनता हूँ। आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें। ऋषि मुनियोंकी भाव-समाधिमें भाव संकर होनेसे उन्हें मानसिक पीड़ा हुई। वे सब भगवद् भावमें भावित थे। श्रीहरिकी दिव्य लीलाओंमें उनका चित्त आसक्त था। मैंने उनके सुखमें अन्तराय उपस्थित किया। इसीसे उन्होंने मुझे गन्धर्व होनेका शाप दिया। ऋषिके वचन अन्यथा तो हो नहीं सकते। मैं गन्धर्वों में जाकर उत्पन्न हुआ। वहाँ मेरा नाम उपबर्हण था।

मेरे सौन्दर्यका तो पूछना ही क्या। नखसे शिख तक इतना सुन्दर था, कि मानों सौन्दर्यके साँचेमें ढालकर ब्रह्मा जीने मेरी रचना की हो। शरीरकी कान्ति तपाये हुए सुवर्ण के समान थी। नवनीतके समान स्निग्धता थी। मुझे शृङ्गार करनेसे भी बड़ा प्रेम था। सर्वथा शरीरके सौन्दर्यको ही

बढानेकी चिन्तामें लगा रहता था। मनमें मनोहरता का अहंकार व्याप्त रहता, नेत्र सदा मदसे भरे रहते। मेरे शरीरसे सदा दिव्य गंध निकलती रहती, जिससे आस पासके लोग स्वत ही मेरी ओर आकर्षित हो जाते। व्यासजी! सौन्दर्यका मद मनुष्यको सत्पथसे भ्रष्ट कर देता है। स्त्रियोंके हृदयकी रचना अत्यन्त ही कोमल तन्तुओंसे हुई है। इनके ऊपर सौन्दर्यका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। सुसज्जित सुन्दर पुरुषको देखकर कोई परम सती साध्वी ही सावधान रह सकती है। नहीं तो प्राय स्त्रियोंका धैर्य छूट जाता है। इसलिये शास्त्रकारोंने इस बातपर बार-बार बड़ा ही बल दिया है, कि चाहे अपना सगा भाई ही क्यों न हो, युवा पुत्र ही क्यों न हो, एकान्तमें उससे भी खुल कर व्यर्थ की बातें न करनी चाहिये। इसी प्रकार पुरुषोंके लिये भी कहा है—चाहे अपनी सगी बहिन, पुत्री या मातृ स्थानीय दूसरी युवती पूज्य स्त्री ही क्यों न हो, उनसे न एकान्तमें बहुत बातें करनी चाहिए, न उनके हाव-भाव कटाक्षोंका ध्यानपूर्वक एकान्तमें अवलोकन चिन्तन ही करना चाहिये। दोनोंमें ही यदि सौन्दर्य भी हो, तो वह तो विष बुझे बाणका ही काम करता है।

गन्धर्वोंमें तो यह बात है ही नहीं। वहाँ तो सब साथ हँसते खेलते और क्रीड़ा करते हैं। मेरे सौन्दर्यपर सभी स्त्रियाँ मुग्ध थीं। जैसे सुन्दर रस भरे कुसुमके आस पास मधुमक्खियाँ मँडराती रहती हैं, वैसे ही गन्धर्व युवतियाँ मुझे घेरे रहतीं। जैसे मीठी वस्तुके लोभसे बहुतसी चींटियाँ अपने आप एकत्र हो जाती हैं, वैसे ही बहुतसी गन्धर्व कन्याये मेरे समीप आ जातीं। जैसे नृत्य करते हुए मयूरको देखकर बहुतसी मयूरियाँ उसे घेरकर उसके उत्साहको

अत्यन्त बढ़ाती हुई कुछ मधुर शब्द सा करने लगती हैं, उसी तरह मुझे गाते देखकर वे मदमाती युवतियाँ अपने कोकिल कूजित कमनीय कण्ठसे मेरे साथ गाने लगतीं, जिससे मेरा उत्साह द्विगुणित होता और मेरी सम्पूर्ण कला अपने आप प्रस्फुटित होने लगती।

मैं अपने सौन्दर्यके मदमें मस्त था। मुझे संसारका कुछ भी पता नहीं। सौन्दर्यके अभिमानने मेरे विनय, सदाचार और लोकलाजको भी नष्ट कर दिया था। रूपवान् पुरुष ससार में अपने समान किसीको समझता ही नहीं। इस प्रकार सौन्दर्य रूपी सुराको पान करके मैं पागल उन्मत्तके समान बना हुआ गाने बजाने और नाचनेमें ही समय बिताने लगा मेरा गला सुरीला था। मेरे गायनकी सर्वत्र प्रशंसा थी। इतना सब होनेपर भी पूर्व जन्मके संस्कारोंके वशीभूत होकर मैं श्रीहरिके ही गीतोंका गायन किया करता था। अन्य इधर उधर के विषय सम्बन्धी गीतोंसे मुझे घृणा थी। इसीलिये मेरे भगवद् गुणानुवाद सम्बन्धी पदोंके कीर्तनकी सभी लोगों में ख्याति हो गयी।

एक समयकी बात है। सब प्रजापतियोंने मिलकर एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उस यज्ञमें बड़े-बड़े गन्धर्व गानेके लिये बुलाये गये। बड़ी-बड़ी अप्सराओंका नृत्यके लिये आह्वान किया गया। मेरी तो सर्वत्र ख्याति थी ही, मुझे भी निमन्त्रण मिला। इसे कलाके प्रदर्शनका उत्तम अवसर समझकर मैं भी उस देवसत्रमें गया। किन्तु मुझे तो सौन्दर्यकी सुराने उन्मत्त बना रखा था। मैं अकेला नहीं गया। अपनी मनोहर मण्डलीके साथ भली भाँति बन ठन

कर बड़े ठाठ और गर्वके सहित मैंने प्रवेश किया। उस समय मेरी शोभा अद्भुत ही थी। जिस प्रकार अपने ऐनके भार से मद मद चलनेवाली गौओंके बीचमें साँड़ चलता है उसी प्रकार श्रोणी तथा पयोधरोंके भारसे मथरगतिसे इठला कर चलनेवाली उन गन्धर्व युवतियोंसे घिरा हुआ मैं जा रहा था। अपनी बड़ी-बड़ी विशाल आँखोंसे जैसे बहुत सी हिरनियाँ अपने यूथपतिको बार-बार निहारती हुई चलती हैं, उसी प्रकार सब कमलनयनी अपने कमनीय कटाक्षोंसे मुझे रिझाती हुई चल रही थीं। जैसे मयूरियोंसे घिरा उन्मत्त मयूर नृत्य करता हुआ शनै शनै चलता है, उसी प्रकार मैं भी उनकी रूपमाधुरीमें आसक्त नाचता हुआ सा जा रहा था। जैसे हथिनियोंसे घिरा विशाल डीलडौलका हाथी उनको प्यार करता हुआ चलता है, उसी प्रकार मैं भी अपने प्रभुत्वको उन पर प्रदर्शित करता हुआ सभामें प्रवेश कर रहा था। जैसे बहुत सी भ्रमरियोंके बीच गुनगुनाता हुआ मधुलोभी मधुप जा रहा हो, उसी प्रकार अपनी आभासे दशों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली गान श्यामा गन्धर्वियोंके साथ गाता हुआ मैं उस सभामें गया।

मैंने न तो वहाँके सभासदोंको प्रणाम ही किया और न देवता, ऋषि तथा प्रजापतियोंके प्रति सम्मान ही प्रदर्शित किया। मैं उस समय अपने आपेमें था ही नहीं। मेरे सिर पर तो सौन्दर्यका भूत चढ़ा हुआ था। उसने मेरे सम्पूर्ण विवेकको नष्ट कर दिया था। लोकलाज, विनय, शिष्टाचार तो कामी पुरुषोंको त्यागकर चले ही जाते हैं। फिर वे मेरे पास रहने ही क्यों लगे, उद्धत निर्लज्जके समान मैं उस सभामें चला गया। इस अविनयसे विश्वको रचनेवाले सभी

के पूजनीय प्रजापति क्रुद्ध हो गये और मुझे शाप दिया—"अरे, तू अविनीतकी भाँति हमारी अवज्ञा करता हुआ इस सत्रमें आया है अतः जा, तू शूद्र हो जा ! पृथ्वीमें तेरा जन्म शूद्रोंकी योनिसे हो।"

प्रजापतियोंके ऐसे शापको सुनकर जैसे गहरी भाँग पिये हुए मनुष्यका नशा खट्टा दही पीनेसे उतर जाता है, उसी प्रकार मेरा सौन्दर्यमद उतर गया। मेरी आँखें खुल गयीं। चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखायी देने लगा। हाय ! अब मुझे देव लोक त्यागकर मर्त्यलोकमें जाना पड़ेगा। वहाँ शूद्रयोनिमें उत्पन्न होकर न जाने क्या-क्या कुकर्म करने पड़ेंगे। हाय ! मैंने इन स्त्रियोंके फन्देमें फँसकर अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया। समस्त सद्गुण मुझे त्याग कर पहिले ही चले गये थे। अब जिस सुन्दर गन्धर्व शरीरका मुझे अत्यधिक अभिमान था उसे भी त्यागना पड़ेगा। मुझसे बड़ी भूल हुई। मैं अब इन कामिनियोंका संग न करूँगा। सदाचारसे भ्रष्ट करनेवाली उन सुन्दरियोंसे सम्बन्ध अब मैं न रखूँगा। इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए मैंने, प्रजापतियोंके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और दीनताके साथ उनसे अपने उद्धारका उपाय पूछा। प्रजापतियोंने कहा—"हमारा शाप अन्यथा तो हो नहीं सकता। हाँ, इतना होगा कि तुम्हें बहुत दिनों तक शूद्रयोनिमें न रहना पड़ेगा। बहुत थोड़े ही समयमें तुम्हारा उससे छुटकारा हो जायगा। महात्माओंके सत्संगके प्रभावसे फिर तुम्हें देवर्षित्व प्राप्त होगा।"

प्रजापतियोंके ऐसे वचन सुनकर मुझे सन्तोष हुआ। अपने रूपमद और काम चेष्टाओंपर पश्चात्ताप करता हुआ

तुरंत ही गन्धर्व योनिसे पतित हुआ। पृथ्वी पर आकर एक शूद्राके गर्भसे मेरा जन्म हुआ। शूद्राके गर्भसे जन्म होने पर भी मुझे सत्सगकी प्राप्ति हुई। मुझे अपने पिताका तो पता नहीं, वह कौन था, किस गोत्रका था, किन्तु मेरी माँ ब्रह्मवादी मुनियोंकी दासी थी! उन्हींकी सेवा सुश्रूषामें सदा तत्पर रहती। उसके और कोई सतान नहीं थी। मैं ही उसका सर्वस्व था। वह कुछ पढी लिखी नहीं थी। परमार्थ पथमें भी उसका प्रवेश नहीं था। इन ससारी सुखोंको ही सर्वश्रेष्ठ समझने वाली थी जैसे सब ससारी होते हैं, वैसी ही वह थी। बडी दीन चित्ता और कृपण थी। उसकी समस्त मोह ममता मेरे ही ऊपर सीमित थी। मैं उसका बाहिरी प्राण था। सदा मेरे लालन-पालनकी चिन्तामें लगी रहती। मुझे तनिक भी कष्ट होता, तो वह व्यग्र हो जाती। रात्रि-रात्रि भर जागकर वह मेरी देख-रेख रखती। इधर उधरसे अच्छी अच्छी वस्तुएँ माँग जाँच कर लाती और मुझे खिलाती। उसे आठों पहर मेरा ध्यान रहता। सोते समय भी मेरे ही सम्बन्धके स्वप्न देखती। इसी प्रकार मेरी अवस्था पाँच वर्ष की हो गयी।

मेरी माताके मनोरथ रात्रि दिन चलते ही रहते। वह सोचती—"अब मेरा बेटा पाँच वर्षका हो गया है। तनिक और बड़ा हो जाय तो ५, ६ वर्षके अनन्तर कहींसे इसका विवाहकर दूँगी। जब घरमे छम्म छम्म करती हुई, गुडिया सी बहू आ जायगी और इन दोनोंको जब साथ-साथ मैं देखूँगी, तब मेरे मनोरथ सफल हो जायँगे। मैं धन्य हो जाऊँगी।

व्यासजी, इन ससारी माता पिताओंकी यही एक मात्र सर्व श्रेष्ठ कामना रहती है, कि हमारा बेटा बड़ा हो जाय।

बहुआ सी सुन्दर बहू आ जाय, और उसके भी बच्चा हो जाय। इससे आगे वे कुछ नहीं सोचते, यही उनके जीवनकी अंतिम अभिलाषा रहती है। मेरी माँ की भी यही दशा थी। वह कभी-कभी प्रेममें भर कर मुझसे कह भी देती—अरे बेटा! देख तू यह करेगा तो तेरी बड़ी सुन्दर बहू आयेगी। व्यासजी! मुझे यह बहू-दूल्हाकी बातें तनिक भी नहीं सुहाती थीं। माताका इतना मोह भी मुझे अच्छा नहीं लगता था। मैं पिंजड़ेके पक्षीकी तरह अपनेको बँधा हुआ समझता था। बाल्यकालसे ही मुझे संसारी बातोंसे विरक्ति थी। माताके प्रति भी मेरे मनमें ममता नहीं थी। मुझे वह भार-सी प्रतीत होती। उसे बुरा न लगे, इसलिये कुछ कहता नहीं था, किन्तु सोचता था, यदि इसने विवाह करनेको कहा तो मैं कभी न करूँगा। व्यासजी! आप इसे भली भाँति समझ लें कि पूतके पाँव पालनेमें ही प्रतीत होने लगते हैं। होनहार बिरवानके आरम्भसे ही चीकने पात होते हैं। जिन बच्चों को आरम्भसे ही बहू, दूल्हाकी बातें अच्छी लगती हैं, बालक-बालिकाओंके साथ खेलमें भी जो बहू दूल्हाके खेल खेलते हैं समझना चाहिये, आगे चलकर ये अवश्य ही संसारी होंगे। जिन्हें आरम्भसे संसारी बातें प्रिय नहीं, जो खेलमें भी भगवान्‌की ही लीलाओंका अनुकरण करते हैं, जिन्हें आरम्भसे ही साधु सन्त और भगवद् भक्तोंके प्रति अनुराग होता है, समझ लो वे आगे चलकर अवश्य ही सन्त होंगे। मैं सोचता था, किसी तरह यह बुढ़िया लुढ़क जाय, इसकी आँखें सदाके लिये मिच जायँ, तो मैं कहीं जङ्गलमें जाकर चैनकी वंशी बजाऊँ, हरिभक्तिमें समय बिताऊँ, प्रेमसे श्रीहरिके गुण गाऊँ। इस प्रकार माता कुछ और ही सोच रही थी और मैं

दूसरा ही विधान बना रहा था। सो व्यासजी, इसी प्रकार मेरा बाल्यकाल बीता।

छप्पय

भयो यज्ञ इक विशद सबहिं गन्धर्व बुलाये।
विश्व सृजनिकी आपसुतें हम सबहूँ आये॥
मृगनैनिनितें घिर्यो रूप मदमें मतवारो।
अविनय मेरी निरखि शाप सबने दै डारो॥
जा, पृथ्वीपै अबहिँ तू, शूद्र योनिमें प्रकट हो।
मेरी अनुनयपै कह्यो—सन्त समागम निकट हो॥

नारदजीको शूद्र योनिमें सत्संग

(२०)

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता—
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः ॥[1]

(श्रीभा० १ स्क० ५ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

दासीको हौं पुत्र किन्तु शुभ कर्मनिमहँ रुचि ।
साधुसंगतैं बुद्धि भई मेरी कछु कछु शुचि ॥
चातुर्मास्य निमित्त वहाँ बहु मुनिवर आये ।
सेवा सौंपी मोइ सुने हरि चरित सुहाये ॥
सीथप्रसादी पाइकैं, पाप पहाड ढये सकल ।
जग सूनो सूनो लगत, रहत कृष्ण बिनु चित विकल ॥

ससारमें सर्वत्र स्वार्थ का ही साम्राज्य है। सभी अपनी-अपनी घातमे बैठे हैं। सभी स्वार्थ सिद्धिके लिये लालायित हैं। लोभी पुत्र सोचता है, पिताका परलोकवास हो तो मेरे मनोरथ सिद्ध हों। स्वार्थी पिता सोचता है, बेटा कुछ सयाना

---

१ नारदजी व्यासजीसे कहते हैं—"हे परमप्रेमास्पद व्यासजी ! जब मेरी माँने मुझे चातुर्मासमें एक स्थानपर निवास करनेवाले

हो तो कमाकर खिलावे। यही दशा सबकी समझनी चाहिये। सच्चा स्नेह करनेवाले सम्बन्धी तो विरले ही कोई होते हैं।" नारदजीके, अपनी पूर्वजन्मकी दासी माताके प्रति ऐसे भाव समझ कर व्यासजी हँस पड़े और फिर मुस्कुराते हुए नारदजीसे पूछने लगे—"ब्रह्मन्! मुझे एक संदेह उत्पन्न हो गया। आपकी पूर्व जन्मकी दासी माता तो आपके ऊपर इतनी मोह ममता रखती थी और आप उसके प्रति तनिक भी स्नेह नहीं रखते थे। उलटे उसका अत ही चाहते, थे इसका क्या कारण है?"

व्यासजीकी बात सुनकर नारदजी कुछ गंभीर हो गये और फिर थोड़ी देर ठहर कर कहने लगे—"व्यासजी! यह सम्पूर्ण जगत् अपने-अपने कर्मोंके अधीन होकर चेष्टा कर रहा है। मनुष्य पूर्व जन्मोंके संस्कारोंसे विवश होकर सभी चेष्टाएँ करता हैं। जिससे पूर्व जन्मोंमें कभी किसी प्रकारका सम्बन्ध हुआ है, वही आकर इस जन्ममें अपना सम्बन्धी बनाता है। बिना पूर्व जन्मोंके संस्कारोंके किसीसे सम्बन्ध जुटता ही नहीं। इसी तरह संसारमें पद, प्रतिष्ठा सर्वप्रियता की दशा है। जिसने पूर्व जन्मोंमें यथेष्ट अन्न दान दिया है इस जन्ममें उसीकी प्रसिद्धि तथा प्रशंसा होगी। बिना अन्न दानके प्रसिद्ध होती ही नहीं। जिसने पूर्व जन्मोंमें जितने लोगोंके प्रति समदर्शिता प्रकट की होगी, वह उतना ही

मुनियोंकी सेवामें नियुक्त कर दिया, तो मैं वहाँ नित्य प्रति कृष्ण कथा सुनने लगा। वे महात्मा नित्य नियमसे बड़ी ही मधुर मनोहर कथा कहा करते थे। उन कथाओंके एक-एक पदको मैं बड़े ही ध्यानसे श्रद्धा सहित सुनता था। उनके सुनते-सुनते ही जिनका श्रवण कीर्तन अत्यन्त ही मनोहर है, उन श्यामसुन्दरकी मनमोहनी मूर्ति में मेरा मन फँस गया। प्रभुके पादपद्मोंमें भक्ति उत्पन्न हो गयी।

सब लोगोंका प्रिय होगा। पूर्व जन्ममें जिससे जितना ही व्रत तप किया होगा, उसे अगले जन्ममें उतना ही शारीरिक सुख प्राप्त होगा। व्रत तपसे आन्तरिक शान्तिकी प्राप्ति होती है। वैराग्यसे संसारके सभी सम्बन्धनोंमें उदासीनता होती है। यही दशा पुत्र आदि सम्बन्धियोंके विषयमें है। पुत्र पाँच प्रकारके होते हैं। न्यासहर्ता, ऋणभोक्ता, ऋणदाता, उदासीन और सत्पुत्र।

किसीने हमारे पास हमारा विश्वास करके कोई चीज धरोहर रख दी। जब उसने माँगी तो हमने नहीं दी। इससे उसे अत्यन्त क्लेश हुआ। वही आकर हमारा पुत्र बनता है। वह बड़ा रूपवान्, गुणी और पितृभक्त होता है। पिता उसके ऊपर बहुत द्रव्य व्यय करता है, पढ़ाता लिखाता है, विवाह करता है। अंत में वह अल्पायु होकर मर जाता है। पूर्व जन्म में उसे जैसा धरोहरके नष्ट होनेसे दुःख हुआ था, वैसा ही गुणी पुत्रके मरने पर इस पिताको दुःख होता है।

किसीका ऋण लेकर हमने नहीं दिया तो वह भी आकर पुत्र बनता है। स्वभावका बड़ा ही क्रोधी होता है, बाल्यकाल से ही माता पिताको दुःख देने लगता है। रोगी रहता है, खेल में भी माता पिता को मार कर भाग जाता है। हँसता है सबसे लड़ता है, घरमें कलह करता है, अकेला-अकेला अच्छी अच्छी वस्तुएँ खाता है। माता पिताके मरनेकी प्रतीक्षा करता है, मरनेपर उनका श्राद्ध तर्पण भी नहीं करता। यह ऋण-भोक्ता पुत्र कहलाता है।

किसीने हमारा ऋण लेकर नहीं दिया। वह भी ऋण चुकाने को पुत्र होता है। पैदा होते ही रात्रि दिन परिश्रम करता है। स्वयं कुछ खाता पीता नहीं। रात्रि दिन धन जुटा-जुटा कर

माता पिताको देता है। उनके मरनेपर उनके बड़ी धूमधामसे श्राद्धादि कर्म करता है। यह ऋणदाता पुत्र कहलाता है।

एक सत् पुत्र होते हैं। हमने किसी देवताकी, भगवान्‌की, सत महात्माकी सेवा की, श्रद्धापूर्वक तपस्या की और व्रत किये। इससे प्रसन्न होकर या तो वे स्वय या कोई और पुण्यात्मा पुरुष हमारे तपके प्रभावसे पुत्र बनते हैं। वे माता पिताके भक्त, गुणी, सत्पात्र, धार्मिक, देवता, ऋषि और पितरोंके कार्यों में निरत सब को सुख देनवाले वशको बढानेवाले, सुख सम्पत्तिको भोगनेवाले सत्पुत्र कहाते हैं।

एक उदासीन भी होते हैं, जिनका पूर्व जन्ममे हमसे कोई विशेष सन्बन्ध तो रहा नहीं, किसी कारण विशेषसे अथवा शापवश पुत्र हो जाते हैं। उन्हे जन्मसे ही माया मोह नहीं रहता। ज्ञानके प्रभावसे अथवा भगवद् भक्तिके कारण उनके सभी सभारी कर्तव्य गौण हो जाते हैं। उनका एक मात्र कर्तव्य भगवद् भक्ति ही होता है। वे जन्मसे ही उदासीन होते हैं, साधु सग, कथा श्रवण, भगवद् भक्ति तथा सन्त महात्माओंकी सेवामे अथवा भगवत् विग्रहकी अर्चा मे बाल्यकालसे ही उनकी रुचि होती है। वे विवाह-बन्धनमें नहीं बँधते। यदि किसी कारण विशेषसे बँध भी जाते हैं तो उनके पुत्र नहीं होते लोभ नहीं करते परोपकारमे ही सब समय निरत रहते हैं। पुत्र इसलिये नही होते कि उन्होंने पूर्व जन्मोंमें न किसीकी धरोहर हरण की, न किसीका ऋण ही मारा, न किसीसे इच्छा ही की। यदि किसी सम्बन्धसे कोई पुत्र हो भी गया तो उसमें भी उनका ममत्व नहीं रहता। जैसे और सबके पुत्र हैं वैसे ही उसे समझते हैं। इसी तरह

भाई, मित्र, पिता, माता सभी सम्बन्धियों, यहाँ तक कि नौकर भृत्य, पशु पक्षी जिससे भी अपना सम्बन्ध हो, सबके सम्बन्धमें इसी प्रकार समझना चाहिये।

मेरा माताके साथ किसी पूर्व जन्मका तो लेन-देनका सम्बन्ध था ही नहीं। होगा भी तो उसीका होगा। मेरी रुचि तो आरंभ से ही साधु संगमें थी। घरमें मेरा मन ही न लगता। जिनके यहाँ हमारी माँ दासी थी, वे अच्छे विद्वान् ब्राह्मण थे, किन्तु उनसे खुलकर बातें मैं नहीं कर सकता था। उनके सामने संकोच होता था। हम लोग उनके दास ठहरे, वे हमारे स्वामी ठहरे। व्यासजी! सभी लोग प्यार चाहते हैं। सभी किसीसे प्यार पानेके लिये या किसीको प्यार करनेके लिये तड़पते रहते हैं। वे लोग धन्य हैं, जिन्हें किसीका सच्चा प्यार प्राप्त है, या जिसे वे ही हृदयसे प्यार करते हैं। मेरी माँ तो मायामें ही पड़ी रहती। उससे तो खुलकर बातें ही न होतीं। मेरा मन साधु संगके लिये तड़पने लगा। मैं बाल्यकालसे ही गंभीर, चतुर, सुशील और सर्वप्रिय था मुझे खेलकूद लड़ाई झगड़ा तनिक भी प्रिय न था। सोचता था—कोई महात्मा मिलें तो उनके चरणोंमें बैठकर खूब रोऊँ और अपने हृदयकी ज्वालाको शांत करूँ।

सच्ची वासना कभी न कभी अवश्य ही पूरी होती है। इसी प्रकार मेरी भी यह सद् वासना पूरी हुई। एक बार ज्येष्ठ के महीनेमें कुछ महात्मा हमारे ग्राममें चातुर्मास्य व्रत करने आये। वे आठ महीने तो भ्रमण करते रहते थे, चार महीने वर्षा में एक जगह रहकर नियम व्रत करते। हमारा ग्राम श्रीगंगा जीके तटपर था; ब्राह्मणोंकी बस्ती थी। इस वर्ष मुनियोंने वहीं चातुर्मास्य करनेका निश्चय किया। ग्रामसे बाहर

भगवती भागीरथीके तटपर एक विस्तृत बगीचेमें उन मुनियों-की कुटियाँ बनायीं गयीं। ग्रामके लोगोंने उनकी भिक्षा आदिका समुचित प्रबन्ध कर दिया। वह बगीचा हमारे स्वामी ब्राह्मणदेवके घरके समीप ही था। मेरी माँ जिनकी दासी थी उन ब्राह्मणदेवने बड़े स्नेहसे मुझसे कहा—"बेटा, देखो, तुम उन महात्माओंके ही समीप में रहा करो। उनकी जो भी सेवा हो बड़े प्रेमसे करना। इससे तुम्हारा बड़ा कल्याण होगा।

मुझे तो मानों निधि मिल गयी। निर्धनको धन मिलने पर अंधेको पुन दृष्टि मिलने पर, धनी अपुत्रीको पुत्रप्राप्तिपर, जन्मके कैदीको कारागारकी मुक्तिपर जितनी प्रसन्नता होती है उससे अधिक प्रसन्नता मुझे इस बात पर हुई। वहाँ समीप ही मेरी माँ कुछ कार्य कर रही थी। उससे भी हमारे स्वामी ब्राह्मण-देवने कहा—"कृष्णदासी! देख, तेरे बच्चेको हम वहाँ साधुओंकी सेवामें रखते हैं। वे बड़े भजनानन्दी महात्मा हैं। उनके यहाँ भोजन आदिकी तो कुछ कमी ही नहीं। सुन्दरसे सुन्दर भगवान्‌का प्रसाद नित्य मिलेगा। फिर उन महात्माओंके सत्संगसे इसका कल्याण भी हो जायगा।"

धनहीना माता तो यह चाहा ही करती है कि किसी प्रकार मेरे सुतको सुख मिले। मेरी माँने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—"आप का ही बच्चा है जहाँ चाहें रख। महात्माओंकी सेवासे क्या नहीं हो सकता। उनकी कृपा हो जाय और वे आशीर्वाद दे दें तो मेरे बच्चेकी सुन्दरसी बहू आ जायगी।"

बस, उसे एक वही बहूकी धुनि थी। हमारे स्वामी ब्राह्मण देवता मुझे उन महात्माओंके समीप ले गये। उनमें जो सबसे वृद्ध सबके महन्त महात्मा थे, उनसे उन्होंने कहा—"यह बच्चा

है, सुशील है, आपके चरणोंमें रहेगा। आपकी सेवा सुश्रूषा करेगा।"

उन महात्माने मुझे देखा। मेरे ऊपर कृपादृष्टि करते हुए मधुर वाणीसे बोले—"अच्छी बात है; यहाँ भगवान्‌की सेवामें सहयोग देना, कुछ बाह्य कैंकर्य करेगा।"

अब क्या था, ? मेरा भाग्य खुल गया। मैं उन महात्माओं के चरणोंकी शरणन रहने लगा। व्यासजी ! उन चार महीनों में जैसा सुख मिला, अब १४ भुवनोंमें घूम-घूमकर देखता हूँ, वैसा सुख कहीं देखनेमें नहीं आता। वे महात्मा सब कितने महान् थे, कितने त्यागी थे, कैसे भजनानन्दी थे, कुछ कहते नहीं बनता। उनका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता था। सभी अरुणोदयसे पूर्व ही उठ जाते। शीघ्र ही शौचादिसे निवृत्त होकर पुण्यतोया भगवती भागीरथीमें स्नान करते। अपने सन्ध्यादि कर्मोंको वहीं कर आते। आकर सब जप, पूजा, पाठ में लगते। कुछ महात्मा भगवत् सेवामें लग जाते। भगवान्-की आरती होती, सब मिलकर कीर्तन करते। फिर विष्णु सहस्रनाम आदि स्तोत्रोंका, वेदोंका पाठ करते। भगवान्का भोग लगता, सभी मिलकर प्रसाद पाते, गंगाजी जाते। मध्याह्नकी सन्ध्या आदि कृत्य करते। फिर भगवानके चरित्रों की अमृतमयी कथायें होतीं, सभी बड़ी श्रद्धा भक्तिसे श्रवण करते। पुन सब मिलकर भगवान्के सुमधुर नामोंका संकीर्तन करते। सकीर्तनसे उठते ही सब शौचादिको चले जाते। सन्ध्या आरती होती, कीर्तन होता, सत्सङ्ग होता। कोई क्षण ऐसा नहीं जाता था जिसमें परमार्थ चर्चा न हो। उनके सब कार्य कृष्णार्पण बुद्धिसे, बड़े नियम तथा संयमसे समयपर ही होते। कभी किसी कार्यमें प्रमाद या आलस्य नहीं होता था। यद्यपि मेरी देखनेमें अवस्था छोटी थी, किन्तु पूर्व जन्मों के संस्कारोंसे मुझे सब बोध था। मैं समझता था, मेरे जीवन-में यह स्वर्णावसर बड़े भाग्यसे आया है। इसका उपयोग बड़ी सावधानीके साथ दत्तचित्त होकर करना चाहिये। यद्यपि उन साधुओंको किसीसे रागद्वेष या ममता मोह तो था ही

नहीं, वे सभी समदर्शी थे, किन्तु मेरी सरलता, सत्यता, सेवा परायणता, संयम और सदाचारके कारण मुझपर विशेष कृपा रखते। मैं भी अव्यग्र होकर उनकी सेवा सुश्रुषा में सदा तत्पररहता। वे जो बूढ़े सबके आचार्य महन्त थे, मुझपर पुत्रवत् स्नेह रखते। उनका निष्कपट प्रेम पाकर मेरे हृदयकी कलियाँ खिल जातीं। हृदय चाहता था, उनकी प्यारी-प्यारी स्वच्छ सफेद दाढ़ीको सदा देखता ही रहूँ। कैसा तेजस्वी मुखमंडल था उन महात्माका। हँस कर जब वे कथा कहते, तो ऐसे लगते मानों अमृतकी वर्षा कर रहे हों। कहते-कहते उनका कंठ गद्-गद् हो जाता, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगते। बीच-बीचमें वाणीके गद् गद् हो जाने से कथा रुक जाती। वे अपने आपेमें नहीं रहते। भावमग्न होकर किसी दूसरे लोकमें चले जाते थे और उसी लोकसे प्रेमके आवेशमें दिव्य वाणीसे कथा कहते। मुझसे जब बातें करते, पहिले प्रेमसे पुचकारते, फिर 'बेटा' कहते। तब कोई काम करने को कहते। कैसा उनका सरल स्वभाव था ?

मैंने भी अपने शरीरका समस्त मोह त्याग दिया। प्रात.काल उनके उठनेके पूर्व ही उठ पड़ता। उठते ही समस्त आश्रममें झाड़ू देता। इतनेमें ही खड़ाऊँ खटखटाते कमंडलु हाथमें लिये वे महात्मा शौचके लिये जाते हुए दिखाई देते। मैं झाड़ू फेंककर भूमिमें लोट कर उन्हें साष्टांग प्रणाम करता। वे पूछते—"अरे, कौन है बेटा, हरिदास ! तू बड़ी जल्दी उठ पड़ता है रे ! इतना कहकर पुचकारते, और चले जाते। उनके चले जानेपर उनके चरणोंके नीचेकी धूलिको उठाकर धीरेसे मैं अपने मस्तकपर, सम्पूर्ण शरीरपर

मलता। फिर और भी जो महात्मा दिखाई देते तो सबके चरणोंमें प्रणाम करता। समस्त आश्रमको झाड़-बुहार कर खूब स्वच्छ बनाकर मैं गंगातटपर जाता। स्नानादिसे निवृत्त होकर तुलसी और पुष्प उतारता। जहाँ आचार्य महाराजका आसन था उसके एक ओर पूजाकी वेदी थी। दूसरी ओर भगवान्‌की रसोई बनती थी। मैं महाराजके सम्मुख ही टोकरी लेकर बैठ जाता, भगवान्‌के लिये हार बनाता रहता और महाराजके पाठ-पूजाको भी देखता सुनता रहता। रसोईमें पूजामें, जब भी जिस-जिस कार्यके लिये आवश्यकता पड़ती मुझे पुकारते थे—'हरिदास!' मैं उसी समय उत्तर देता—'हाँ, महाराजजी, मैं आया!' तत्क्षण उठकर जाता और वे जो भी काम करनेको कहते उसे करके पुन. अपने स्थानपर आ बैठता। आरतीमें, पूजा कथामें, कीर्तनमें, सभीमें बड़ी श्रद्धाके साथ सम्मिलित होता। कैसे मनोहर कीर्तन करते थे वे मुनिगण! अब भी उसका स्मरण आते ही मेरा हृदय गद्‌गद हो जाता है। उनमें एक गोरेसे ठिगनेसे बड़े ही स्वरूपवान् महात्मा थे। कैसी मनमोहिनी मूर्ति थी उन महात्माकी। जब वे वीणा बजाकर भगवान्‌के गुणानुवाद गाते तो ऐसा लगता था, मानो कोकिल कूक रही हो। कितना सुरीला सुर था उन साधुका। कैसी तन्मयतासे गाते थे वे उन गीतोंको। गाते-गाते श्रावण भादोंकी वर्षाकी भाँति उनके नेत्रों से अश्रुओंकी झड़ी लग जाती। उपस्थित सभी महात्माओं की आँखें भीग जातीं। मैं अपने अश्रु भरे गीले नेत्रोंसे अनिमेष उन्हींकी ओर देखता रह जाता। मेरे मनमें बार-बार यही बात आती कि ऐसी ही वीणा एक मुझपर भी होती, तो मैं भी इसी भाँति प्रेममें विभोर होकर कृष्ण कीर्तन करता

प्रेमसे प्रभुके यश सम्बन्धी पदोंका गायन करता। किन्तु दासीके पुत्रपर वीणा कहाँसे आती ? आ भी जाती तो उसे बजाना कौन सिखाता, इसीलिए मन मारकर रह जाता और उस कीर्तनको सुनकर ही सन्तोष करता। उस मधुर गायन-को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती थी। चित्त चाहता था यह और भी होता रहे, किन्तु वहाँ तो सबके कार्य समयानुसार ही होते।

भगवान्‌का भोग लगनेके अनन्तर जब सन्तोंकी पंक्ति लगती और वे भगवन्नामोंका उच्चारण करते हुए प्रसाद पा लेते तो मैं सबकी पत्रावली उठाता। उनमें लगे हुए कणोंको बड़ी सावधानीसे बीनता और उन महात्माओंकी आज्ञा पाकर उस महाप्रसादको पाता था। आचार्य महाराजके थाल में जो कुछ लगा रहता, उसे भी उठा ले जाता। एक दिन मैंने विनीत भावसे उनसे पूछा—'महाराजजी, मैं इस प्रसादको पा लिया करूँ ?' यह सुनकर थोड़ी देर उन्होंने कुछ सोचा और फिर बोले—अच्छी बात है।' बस फिर क्या था ? मेरा काम बन गया। व्यासजी, शुद्धतासे रसोई बनाकर भगवान्‌का भोग लगाया जाय; मंजरी सहित हरी हरी कोमल तुलसी डालकर प्रभुके अर्पण किया जाय, तब वह अन्न 'महाप्रसाद' हो जाता है। उसी महाप्रसादको सन्त भगवद् भक्त पा लें और उनके पानेके पश्चात् जो शेष रह जाय, उसीको महा-महाप्रसाद कहते हैं। उस प्रसादको उनकी आज्ञासे श्रद्धा भक्तिके सहित पानेसे सभी प्रकारके पापोंका नाश हो जाता है। अन्तःकरणकी मलिनता दूर हो जाती है।

बड़े-बड़े पात्रोंमें प्रसाद बनता था, उन्हींमें तुलसी छोड़कर भगवान्‌को समर्पित किया जाता था। पीछे महात्मा

उन बर्तनोंको मलते थे। मैं तो बच्चा था। मुझसे इतने बड़े पात्र न उठते ही थे, न वे कभी मुझसे मलनेको ही कहते थे। छोटे-छोटे पात्रोंको मैं मल लाता था। दिनको मैं एक बार महात्माओंकी सीथ प्रसादी पाकर ही प्रसन्न रहता। उसी के पानेसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया। फिर प्रसाद पाने के अनन्तर मैं कथामें बैठ जाता। एकाग्रचित्तसे कथा सुनता पुनः गंगातटपर जाता और अच्छी-अच्छी बहुत सी दातौन तोड़कर लाता। सुन्दर पीली मिट्टी खोदकर किनारे किनारे रास्तेमें रख आता कि शौच क्रियाके लिये महात्मा सरलता से ले जायँ। उन महात्माओंकी चर्य्या मुझे बहुत ही प्रिय लगती। अपने जीवनको निरर्थक समझता। देखो, मेरा भी एक जीवन है, पृथ्वीका भारभूत बना हूँ। जब तुलसी तोड़ता तो रो पड़ता, सोचता यह तुलसी धन्य है, भगवान्‌की सेवा में आती है, उनके ऊपर चढ़ती है। पुष्पोंको उतारता तब उन्हें मन ही मन प्रणाम करता—भैया पुष्पो! तुम्हारा ही खिलौना सार्थक है, तुम भगवत् सेवामें काम आते हो, मुझ मूढ़से तो कुछ भी किसीका कार्य नहीं होता। दातौन तोड़ता तो सोचता—इन पेड़ोंकी ये डालियाँ धन्य हैं, जो साधुओंके कार्यमें तो लगीं। मृत्तिका खोदता तब भी सोचता—मुझसे तो यह मृत्तिका ही अच्छी है। इस प्रकार अपने भक्ति हीन जीवन पर मुझे बार-बार दुःख होता। उन महात्माओंके साथ बहुत सी गौएँ थीं। मैं उनके बछड़ोंके साथ खेलता। हरी-हरी घास लेकर उनके मुँहमें देता। उन्हें भाईकी तरह प्यार करता। इस प्रकार उन महात्माओंके सत्संगमें मेरे वे दिन जाते हुए मालूम ही न पड़ते थे। मुझे ध्यान ही न रहता, कब प्रातः हुआ, कब सायंकाल हो गया? वही कथा-कीर्तनकी सुरसरि

बहती रहती। उसका प्रवाह निरंतर अव्याहत गतिसे बहता रहता।

आचार्य महाराजकी रात्रिमें चरण सेवा भी मैं करता था। कितना सुखद स्पर्श था उन तपोधनका? अपने निस्वार्थ प्रेमसे उन्होंने मुझे स्नेह सागरमें निमग्न कर दिया। जब किसी सत्संगमें चर्चा चलती तो वे दूसरे संतोंके सामने मेरे सम्बन्धमें कहने लगते—"देखो, इस बच्चेकी अवस्था वैसे तो अभी छोटी है, किन्तु बड़ा संस्कारी प्रतीत होता है। कथा कितने मनोयोगसे सुनता है, कीर्तन कितने प्रेमसे गद्गद हो कर करता है, कोई योग भ्रष्ट मालूम पड़ता है।" महात्माके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर मन ही मन मुझे प्रसन्नता होती, किन्तु लज्जाके कारण मैं सिर झुका लेता या वहाँसे उठकर अन्यत्र चला जाता!

उन महात्माकी कथाका मेरे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मेरी मति श्रीकृष्णचरणरविन्दोंमें अचल हो गयी मुझे यह सम्पूर्ण संसार स्वप्नकी भाँति प्रतीत होने लगा। मुझे सर्वत्र श्याम-सुन्दरकी सलोनी मूर्ति ही दिखायी देने लगी। इस सम्पूर्ण सत् असत् रूप जगतको मैं परब्रह्म स्वरूपसे अपने भीतर ही अनुभव करने लगा और यह बाह्य प्रपंच मायिक और अपने आप कल्पना किया हुआ प्रतीत होने लगा।

न मुझे माताकी चिन्ता थी, न घरकी। माता नित्य आकर मुझे देख जाती, महात्माओंको प्रणाम कर जाती, घंटों बैठी रहती, महात्माओंके सामने रोती और मेरी मंगल कामनाके लिये प्रार्थना करती। महात्मा उसे भाँति-भाँतिसे समझाते—"अरी माई, यह तेरा पुत्र बड़ा होनहार है। तू इसकी चिन्ता मतकर।" किन्तु मातृ हृदय तो ब्रह्माजीने

विचित्र ही बनाया है। वह मुझसे नित्य पूछती—"बेटा, क
कष्ट तो नहीं। भोजन आदि सब ठीक मिलता है न?"
कहता—"माँ, यहाँ महात्माओंकी शरणमें कष्टका क्या काम
यहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है।"

इस प्रकार व्यासजी! वे दिन कितने सुखसे बीते। यह क
की बात नहीं, मेरा हृदय ही जानता है। इतना कहते-कहते ना
जीका कंठ रुक गया और वे कुछ कालके लिये भाव समाधि
निमग्न हो गये।

छप्पय

कृष्णकीरतन कथामाँहिं आसक्त भयो चित।
सेवा श्रद्धासहित करूँ सतनिकी हौं नित॥
सुनत मनोहर चरित मैल मनको सब छूट्यो।
श्रीपति-पद रति भई जगततैं नातो टूट्यो॥

चित्त भ्रमर सतसङ्ग मधु, श्रीहरि गुन गावन लग्यो।
मनमें मोद महा भयो, हृदय प्रफुल्लित ह्वै गयो॥

[इससे आगे की कथा द्वितीय खण्ड में पढ़ें]

शोक-शान्ति

द्वितीय संस्करण

(श्रीब्रह्मचारीजीका एक मनोरंजक और तत्वज्ञानपूर्ण पत्र)

इस पुस्तकके पीछे एक करुण इतिहास है। मदर
गुंटूर प्रान्तका एक परम भावुक युवक श्रीब्रह्मचारीजीका
भक्त था। अपने पिताका इकलौता—अत्यन्त ही प्यारा दुला
पुत्र था। वह त्रिवेणी संगमपर अकस्मात् स्नान करते
डूबकर मर गया। उसके संस्मरणोंको ब्रह्मचारीजीने बड़ी
करुण भाषामें लिखा है। पढ़ते पढ़ते आँखें स्वतः बहने ल
हैं। फिर एक वर्षके पश्चात् उसके पिताको बड़ा ही तत्व
पूर्ण ५०।६० पृष्ठोंका पत्र लिखा था। उस लिखे पत्रकी हि
और अँगरेजीमें बहुत-सी प्रतिलिपियाँ हुईं उसे पढ़कर बहु
शोकसंतप्तप्राणियोंने शान्ति लाभ की। इसमें मृत्यु क्या
इसका बड़े ही सुन्दर ढङ्गसे मनोरंजक कथाएँ कहकर व
किया गया है। लेखकने निजी जीवनके दृष्टान्त देकर पुस्त
अत्यन्त उपादेय बना दिया है। अक्षर-अक्षरमें विचारक ले
की अनुभूति भरी हुई है। उसने हृदय खोलकर रख दिया है।
दिन मरना सभीको है अतः सबको मृत्युका स्वरूप स
लेना चाहिये, जिन्हें अपने सम्बन्धीका शोक हो, उनके लि
तो यह रामबाण औषधि है। प्रत्येक घरमें एक पुस्तक
रहना आवश्यक है। ६४ पृष्ठकी सुन्दर पुस्तकका मूल्य।-
पाँच आना मात्र है। आज ही मँगानेको पत्र लिखें समाप्त हो
पर पछताना पड़ेगा। कुछ दिन से यह पुस्तक अप्राप्य थी। अ
इसका सुन्दर कागज पर द्वितीय संस्करण छपकर तैयार है।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(द्वितीय ख

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनःसंग्रहवाचस्पतः ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

संशोधित मूल्य २-० रुपये

पञ्चम संस्करण १०००] कार्तिक, सम्वत् २०२३ वि० [मूल्य १।)

मुद्रक—सङ्कीर्तन प्रेस, वंशीवट वृन्दावन (मथुरा)

भागवती कथा

पर

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक, सम्पादक, समालोचक

ज्योतिषी, कवि

श्री पं० गिरिजादत्तजी शुक्ल बी० ए० "गिरीश"

की

शुभ-सम्मति

(१)

परम भागवत रसिक व्रजेश्वर रूप उपासक।
श्री प्रभुदत्त उदार समल कलिमानस त्रासक॥
बारम्बार प्रणाम चरण में मम स्वीकारें।
सन्त-हृदय सुकुमार कीर्ति जग मे विस्तारें॥

(२)

हे प्रभु लीलाधाम! आप की कृति जो आई।
भागवती अति रुचिर कथा हरि-जन मन भाई॥
मैंने भी माना मञ्जु नाव प्रभु ने भिजवाई।
मैं भी हो लूँ पार दया उर में लहराई॥

(३)

काँटो में यह फूल खिला है मैंने देखा।
सौरभ इसको दिव्य मिला है मैंने देखा॥
पायेंगे आमोद प्रेम-रत अगणित भौंरे।
गायेंगे रसगान मधुव्रत गुञ्जित भौंरें॥

(४)

और कहूँ कुछ बात अन्यथा आप न मानें।
यह प्रयास तो धर्म आपका यह ध्रुव जानें॥
तरणि ताप की मूर्ति बने अविराम तपस्वी।
उनके तप से लोक बना अभिराम मनस्वी॥

(५)

नहीं कहीं भी पतन, प्रखर उत्थान निराला।
कहाँ हलाहल बूँद? वहाँ पावन रस-प्याला॥
काँटों को भी फूल बनाना जिनको आया।
जाकर उनकी शरण कहाँ किसने श्रम पाया॥

(६)

यह भागवती कथा निरन्तर ही विकसित हो।
बालचन्द्र की भाँति पूत दृग कारिणि नित हो॥
हृदय-तिमिर के हेतु तरणि किरणावलि सी हो।
गङ्गा ही की भाँति तारिणी जगती की हो॥

—'गिरीश'

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
प्रकाशकीय वक्तव्य	क
२१—सन्त वियोग	१
२२—शूद्रा माता की मृत्यु	१६
२३—पुनः नारद शरीर की प्राप्ति	३१
२४—शान्ति का सरल मार्ग	४१
२५—श्रीशुक के भागवत पढ़ने का कारण	४९
२६—परीक्षित् के पूर्वज	५७
२७—अश्वत्थामा द्वारा पांडवों के पाँचों पुत्रों की मृत्यु	७१
२८—अश्वत्थामा को प्राणदान	८५
२९—गर्भस्थ परीक्षित् की रक्षा	९७
३०—कुन्ती की स्तुति	१०६
३१—धर्मराज का पश्चाताप	१२५
३२—भगवान् का पांडवो के सहित पितामह के पास गमन	१४०
३३—भीष्म पितामह द्वारा श्रीकृष्ण महिमा वर्णन	१५१
३४—पितामह का परलोक प्रयाण	१६९
३५—भगवान् का द्वारका जाने का विचार	१७७
३६—भगवान् का द्वारका गमन	१८८
३७—द्वारावती में स्वागत की धूमधाम	२०३
३८—अन्तःपुर में घनश्याम	२१४
३९—महाराज परीक्षित् का जन्म	२२५
४०—महाराज परीक्षित् की जन्म लग्न का फल	२३६

श्री मुरली मनोहर

सन्त-वियोग

(२१)

ज्ञानं गुह्यतमं यत् तत् साक्षाद् भगवतादितम् ।
अन्वोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥१

(श्री भा० १ स्क० ५ अ० ३० श्लोक)

छप्पय

चातुर्मास्य समाप्त भयो, मुनि चालन लागे ।
रोयो, ह्वै अति दीन, दयालु मुनिन के आगे ॥
करुणा कीन्ह कृपालु, प्रेम तें पास बुलायो ।
प्रेम प्रकाशक मधुर, कृष्ण कीर्तन करवायो ॥
कृष्ण कीर्तन करत ई, भव को भय जागन लग्यो ।
प्रेम हृदय जागन लग्यो, गृह-बन्धन भागन लग्यो ॥

देव की कैसी कुत्सित क्रीड़ा है, प्रारब्ध की कैसी विचित्र विडम्बना है ! जिनसे हम एक क्षण भी पृथक होना नहीं चाहते, वे हमें हठात् छोड़कर सदा के लिए चले जाते हैं ।

---

१ उन दीन वत्सल मुनियों ने जाते समय मेरे ऊपर कृपा करके उस गुह्यतम ज्ञान का मुझे उपदेश दिया, जो साक्षात् श्रीभगवान का ही हुआ ।

जिनके पास हम पल भर भी रहना नहीं चाहते, उनके साथ आयु भर रहना पड़ता है। जिनको समीप रखना चाहते हैं, वे हजारो कोस दूर पर रहते हैं। जिनसे सदा दूर रहना चाहते है, वे हमारी छाती पर ही दाल दलते रहते हैं। प्रिय संयोग मे ही दुःखद वियोग छिपा हुआ रहता है। वह कही से आता नही। जैसे ज्वर शरीर मे ही रहता है, वह बाहर से नही आता। समय आने पर आहार-विहार में व्यतिक्रम होने से अवसर पाकर प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार संयोग से सटा हुआ उसके साथ ही वियोग भी रहता है। पहिले तो वह भोला-भाला बना, कछुए की भाँति चुपचाप बैठा रहता है। जहाँ संयोग की अवधि समाप्त हुई संयोग सुख देकर निवृत्त हुआ, कि वियोग अपने पैर फैलाता है।

नारदजी के समाधिस्थ-से हो जाने पर व्यास जी समझ गये, कि अब वियोग की कथा आरम्भ होगी। अतः अपने को सम्भाल कर बड़ी सावधानी से, बड़ी उत्सुकता के साथ व्यास जी पूछने लगे—"हाँ, तो भगवन् फिर क्या हुआ ?"

निराशा के स्वर में नारद जी कहने लगे—"फिर क्या हुआ व्यास जी ! जो होना था वही हुआ। 'राजा किसके पाहुने, जोगी किसके मीत ?' ये वैरागी किन्ही के होते थोड़े ही है। जब ये अपने सगे सम्बन्धियो को छोड़ आये, तो अन्य लोगो की मोह ममता तो इन्हें होने ही क्यों लगी ? ऐसे लोगो से प्रीति करके पीछे मनुष्य के हाथो पश्चाताप ही लगता है। जैसे गेहूँ जौ के फूस मे आग जलाकर तापें, थोड़ी देर तो उससे बड़ा ही सुख मिलता है, किन्तु क्षण भर मे ही वह अग्नि बुझ जाती है। उसके कोयले तो होते नही, जैसे नीम बबूल की लकड़ी के होते हैं। तनिक देर जला और समाप्त। इसी

तरह का प्रेम इन परदेशियों के साथ का है। सुख तो क्षण भर ही देते है, किन्तु दुःख में जीवन भर जलाते रहते हैं।

परदेशी की प्रीति फूँस को तापनो।
दियो कलेजो काढ़ हुयो नहिं आपनो॥

चार मास समाप्त हो गये। शरद की पूर्णिमा का निर्मल प्रकाश फैला गया। क्वार बीतने पर कार्तिक लगा। अब महात्माओं के डेरे उठने का समय आ गया। साधु-मण्डली में चलने की चर्चा आरम्भ हुई। सभी का चित्त चञ्चल हो उठा आनन्द के सागर में एक वियोग की हिलोर ही आ गई। उसने समस्त आश्रम मे एक निराशा की सी घटा घेर दी। अब कथा कीर्तन में पहले जैसा आनन्द न आता। जब मैंने सुना कि ये महात्मा तो अब जाने वाले है, तब तो मेरे दुःख का ठिकाना न रहा। मैं किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया। मैं समझे बैठा था अब ये सब महात्मा यहीं रहेंगे' अब क्या करूँ? हाय! मेरे भाग्य फूट गये। मेरे ही दुर्भाग्य के कारण ये महात्मा यहाँ से जा रहे है। अब जब भी उन महात्माओ को देखता, मेरा हृदय भर आता। आँखों मे अपने आप ही आँसू आने लगते। हृदय की विचित्र दशा थी, जैसे कोई गीले कपड़े को निचोड़ता है, वैसे ही भीतर ही भीतर मेरा मन ऐंठने लगा। हृदय में धड़कन सी होती, सम्पूर्ण संसार सूना-सूना सा प्रतीत होने लगा। अब भगवान् की चिन्ता तो मैं भूल गया। रात्रि दिन मुझे यही चिन्ता रहती, कि अब मेरा क्या होगा? मेरी बिना मल्लाह की नाव अब बीच मझधार मे डगमगा कर डूब ही जायगी क्या? अब मैं उन महात्माओ से दृष्टि बचाने लगा, क्योंकि उन्हें देखते ही हृदय पिघलने लगता। बहुत रोकने पर भी आँसू नहीं रुकते। मेरी

आँख बचाकर वे महात्मा भी मेरी ऐसी दशा देखते, किन्तु वे भी कुछ कहते नही थे। अब निश्चय हो गया कि कल यहाँ से डेरा उठ जायगा।

आज मेरी व्याकुलता पराकाष्ठा पर पहुंच गई थी। मैं एकान्त मे जाकर खूब रोया, रोता ही रहा। रोते-रोते जब कुछ हृदय हलका हुआ तो आश्रम मे आया। आज मेरा वहाँ मन ही नहीं लगता था। प्रत्येक वस्तु जो मुझे पहिले सुख देती थी अब काटने को दौड़ने लगी। मैंने निश्चय कर लिया—चाहे जो हो, मैं इन महात्माओं के साथ-साथ जाऊँगा। यहाँ मेरा है ही कौन? माँ है, सो किसी तरह अपने दिन बिता ही लेगी। ऐसा निश्चय करने पर मुझे कुछ शांति मिली। चित्त में कुछ स्वस्थता प्राप्त हुई। किन्तु फिर एक चिन्ता ने आकर धर दबाया। यदि आचार्य महाराज ने साथ चलने की आज्ञा न दी, तब क्या होगा? इस विचार के आते ही हृदय फिर धड़कने लगा। इतने में ही आशा ने आकर ढाँढ़स बँधाया। अरे, वे महात्मा बड़े दयालु है। जब मैं रोकर उनके चरणों मे लिपट जाऊँगा, तो मुझे दीन-हीन बालक समझ कर अवश्य ही वे अपने चरणों की शरण प्रदान करेंगे। इसी धुना बुनी में सायंकाल हो गया। सायं आरती के घन्टे बजने लगे। चारो ओर से अपनी-अपनी कुटियों में से महात्मा गण निकल-निकल कर पूजा स्थल पर जाने लगे। मैं भी सब की दृष्टि बचाकर एक ओर कोने मे खड़ा हो गया। उस दिन मुझे पता ही न चला कि कब आरती शुरू हुई, कब समाप्त हुई? मुझे पता तब चला जब प्रसाद देने वाले महात्मा ने कहा—"अरे, हरिदास! तू सो गया क्या रे? ले चरणामृत प्रसाद ले।" तब मेरा ध्यान भङ्ग हुआ। चरणामृत प्रसाद लेकर

मैं बाहर चला गया। आज महात्माओं की चरण वन्दना भी न कर सका।

मेरे मन में द्वन्द युद्ध हो रहा था। इच्छा नहीं होती थी आज महात्माओं की चरण सेवा के लिये चलूँ, क्योंकि मैं अपना साहस खो चुका था। बच्चा ही ठहरा, मैं सोचने लगा महाराज जी के सामने मैं अपने को रोक न सकूँगा। फिर भी मन नहीं मानता था। आज ही तो अन्तिम दिन है, पता नही कल क्या हो, वे मुझे चरणों में रखें यापृथक् करदें। यही सोचता रहा। अन्त में मैंने महाराजजी के समीप जाना ही स्थिर किया।

आज कुछ अन्य दिनों की अपेक्षा विलम्ब हो गया था। मैं पैर दबाकर धीरे-धीरे महात्मा जी के आसन के समीप गया। वे कुछ झपकी सी ले रहे थे। धीरे से जाकर मैं तलुओं में घी मलने लगा। उन्होंने कुछ चौंकते हुए कहा—"कौन है,हरिदास? अरे बेटा! तू अभी सोया नही?"

मैं कुछ भी न बोला और चरणों में घृत मलता ही रहा। चरणों के स्पर्श मात्र से मेरा हृदय भर आया और आँखों से अश्रु बहने लगे। जब गरम-गरम आँसुओं के बिन्दु उनके चरणारविन्दों पर पड़े,तो वे फिर चौंके और बोले—"हरिदास! तू रो रहा है क्या?"

बस, महाराज का इतना कहना था, कि मेरी हिचकियाँ बँध गईं। मैं उच्च स्वर में फूट-फूट कर रोने लगा। मुझे इस भाँति रोते देख कर वे दयालु मुनि उठ कर बैठ गये। मेरे सिर पर अपना सुखद शीतल कर कमल फेरते हुए बोले—'अरे,

हरिदास ! तू तो भैया, बड़ा पागल लड़का है। क्यों रोता है, बेटा (फिर चपकारा) बता क्या बात है ?"

मेरा तो गला भरा हुआ था, मुझसे कुछ बोला ही नहीं जाता था। रोने के सिवाय और कुछ कहने में मैं नितान्त असमर्थ था। मेरा रुदन सुनकर और भी १०।२० महात्मा आ गये। कोई कहने लगा—"महाराज जी, बड़ा सुशील लड़का है। इसे ले चलिये। कोई कहता, महाराजजी, यह आप से बड़ा स्नेह करता है, आप के बिना यह रह नहीं सकता।"

महाराज जी कुछ भी न बोले। वे बार-बार मेरे शरीर पर हाथ फेर रहे थे और पूछ रहे थे—"तू बता मुझे, तुझे क्या कष्ट है ? तू रोता क्यों है। अरे, भाई ! हम तो तुझे बड़ा अच्छा लड़का समझते थे, तू तो ऐसा रोता है जैसे कोई लड़की हो।"

जब वे बार-बार यही प्रश्न करने लगे, तो मैंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर इतना ही कहा—"महाराज जी कल आप चले जायेंगे। फिर मैं.....।' बस इसके आगे कुछ भी न कह सका। फिर रो पड़ा।

उनका भी हृदय भरा हुआ था। अन्तर इतना ही था कि वे वृद्ध थे, अपने वेग को रोकने में समर्थ थे। मैं बच्चा था मेरा हृदय फूट पड़ता, उसे रोकने में मैं असमर्थ हो जाता।

उन्होंने बनावटी हँसी हँसते हुए कहा—"अरे भैया! हम तो साधु है, एक स्थान पर थोड़े ही रहते है। एक दिन तो जाना ही है।"

मैंने तो रोते-रोते कहा—"तो, महाराज जी ! मुझे साथ ले चलें।"

महात्मा बड़े जोर से हँसे और बोले—"अब जो भिक्षा मिलती है तू उसे भी बन्द करावेगा। लोग कहेंगे—ये साधु गृहस्थियों के बच्चों को बहका ले जाते है। इससे साधु मात्र के प्रति लोगों के बुरे भाव हो जायँगे।"

मैंने मचल कर कहा—"नही महाराज जी' मैं तो आपके बिना यहाँ रह नही सकता। आप न ले जायँगे तो मैं गङ्गाजी में कूद पड़ूँगा।"

समस्त ममता बटोर कर वे मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"अरे तू बड़ा पागल लड़का है रे! देखो भैया! हठ नहीं किया करते है। तू अभी बच्चा है, अभी समझता नहीं। तेरी माँ बूढ़ी हो चली,तू ही उसका एक मात्र लड़का है। उसकी सेवा करनी चाहिये। माता पिता सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है। तू यहीं रह, फिर हम आते ही रहेंगे। जब तू बड़ा हो जाय, तब चलना हमारे साथ।"

यद्यपि मैं बच्चा था,किन्तु सब समझता था कि ये महात्मा मुझे वैसे ही बहलाने को कह रहे हैं। अब इनका आना कहाँ होता है। रमते राम का क्या पता, गये सो गये। महात्माजी की बात का मैंने कुछ भी उत्तर नही दिया। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं अवश्य ही कल इनके साथ लग लूँगा, चाहे ये मारें चाहे पीटें।

मुझे नीचा सिर किये चुपचाप आँसू बहाते हुए देखकर महाराज ने फिर कहना आरम्भ किया—"बेटा देखो, मन को छोटा नहीं बनाना चाहिये। भगवान सर्वत्र हैं। यहीं रहकर भगवान् का भजन करो। वे बड़े कृपालु हैं, तुम्हारी सभी मनोकामनायें पूर्ण करेंगे। इस तरह नहीं रोते हैं। अरे भैया,

तेरी यह बात तो हमारी कुछ समझ में आई नहीं।" फिर प्रेम से पुचकारा, शरीर पर हाथ फेरा और प्यार के साथ कहा—"जा सोजा, बेटा!"

मैं चरणों में प्रणाम करके पास ही की कुटी मे चला गया। मैंने सुना, पीछे महात्मा जी सबसे कह रहे थे—"बच्चों का अन्तःकरण बड़ा ही निर्मल होता है। उसमें छल कपट नहीं रहता। साधुता और सरलता रहती है, प्रेम पाते ही अत्याधिक आकृष्ट हो जाता है। बडे होने पर पूर्व जन्मों के संस्कार हृदय पर प्रभाव जमा लेते है। मनुष्य सब स्नेह प्रेम छोड़कर उन्ही के अनुसार काम करने लगता है। यह लड़का कोई संस्कारी मालूम पड़ता है। इतने दिन साथ रहा, इसने कभी काम में प्रमाद नही किया। कभी किसी का कोई अपराध नही किया। सभी का प्रिय बना रहा। ऐसा स्वभाव पूर्व जन्म के अनेक शुभ कर्मों से मिलता है।"

सब महात्मा अपने-अपने आसनों पर चले गये। मैं भी अपनी चटाई पर लेट गया। किन्तु मेरी आँखों में नीद कहाँ? मुझे तो एक ही चिन्ता सता रही थी। कल के वियोग का दृश्य प्रत्यक्ष मेरी आँखों के सामने नाच रहा था। रोते-रोते ही सम्पूर्ण रात्रि बिताई।

प्रातःकाल सबसे पहिले उठकर मैं नित्य कर्म में निवृत्त हुआ। आज आश्रम में सर्वत्र हलचल थी, कोई चिल्ला रहा था, कोई गठरी बाँध रहा था, कोई पूछता था अमुक वस्तु कहाँ है? दूसरा रूखा उत्तर देता—मुझे क्या पता। सब बात मुझसे ही पूछते हैं। मैं कुछ गाँठ में थोड़े ही बाँधे फिरता हूँ। वही देख लो। कोई कहता—महाराज अमुक वस्तु नही मिल

रही है। आचार्य महाराज सरलता के साथ कहते—"नहीं मिल रही है, तो जाने दो भैया, जो मिल रही है उसे ही गाड़ी में लादो।"

गौओं पर झूलें पड़ने लगी। जल्दी-जल्दी पूजा करके बालभोग बँटने लगा। रसोई और पूजा के बर्तन बांध-बांध कर गाड़ियों पर लदने लगे। आश्रम में बड़ी खटर-पटर मच गई। कोई इधर से उधर दौड़ता, कोई बैलों को लाता। सर्वत्र शीघ्रता हो रही थी। सभी साधुओं के बिस्तर बँधने लगे। कोई कहता—गौओं को और गाड़ियों को हाँक दो, जिससे धीरे-धीरे आगे चलें।" दूसरा जोर देकर कहता—"हाँक दो हाँक दो, तो कह रहे हो, अभी महाराज के आसन का सब सामान तो वहीं पड़ा है।"

इस पर वह दूसरे से कहता—"अजी, तुम बातें पीछे कर लेना, पहिले महाराज जी का सामान तो गाड़ी में लादो। इस पर कई साधु दौड़ जाते। इधर-उधर के सामान को जाकर रख देते। गाँव के बाल बच्चे, स्त्री, पुरुष सब एकत्रित हो गये थे। बच्चों को साधुओं के जाने का तो कोई दुःख नहीं था, उन्हें सबसे बड़ा दुख यही था, कि अब कल से दोनों समय प्रसाद न मिला करेगा। स्त्री, पुरुष खड़े-खड़े आँसू बहा रहे थे। महाराज उन्हें कुछ ऐसे ही समझा रहे थे। मुझसे यह दृश्य नहीं देखा गया, मैं भागकर अपनी माँ के पास चला गया।

जब से महात्मा आये थे, आज ही मैं अपने झोंपड़े में गया। उन ब्राह्मण देवता के घर से थोड़ी दूर एकान्त में ही हमारा घर था। घर क्या, मिट्टी की कच्ची दिवाल पर फूस का एक छप्पर था। उसी में माँ बेटे दोनों रहते थे। मेरे

मुझे देखते ही पूछा—"महात्मा चले गये क्या, बेटा ?" मैंने मुख से कुछ नही कहा, केवल सिर हिलाकर संकेत कर दिया कि अभी नही गये है। मेरी माँ को तो महात्माओं से अन्तिम आशीर्वाद लेना था। वह मेरा हाथ पकड़ कर फिर महात्माओं के पास ले गई। गौएँ और गाड़ियाँ चल रही थीं, सभी साधु बिस्तर बांधे चलने का उपक्रम कर रहे थे। आचार्य महाराज गाँव के स्त्री, पुरुषों से घिरे हुए खड़े थे। मैंने दूर से उन्हें देखा उनकी आँखें उस भीड़ मे किसी को खोज रही थीं। आज प्रातःकाल से ही मैं उनके सामने नहीं हुआ था। माँ के साथ मुझे आते देख कर उनका चेहरा खिल उठा। मेरी माँ ने महात्मा के चरण छुए। मैं माँ के पीछे उससे सटकर उसके अञ्चल से अपना मुँह ढककर खड़ा हो गया। मेरी माँ ने ममता के साथ कहा—"बेटा महात्मा जी को प्रणाम नही किया ?" मैंने वही से खड़े-खड़े दोनों हाथ जोड़ दिये। फिर माँ ने कहा "ऐसे नहीं बेटा, महात्माओं के पैर छूआ करते है। अरे, तुझे अभी तक इतनी समझ भी नही।" महात्माजी ने बड़ी सरलता के साथ कहा—"नहीं सब ठीक है, हो गया। कोई बात नहीं। यह तो रोज ही पैर छूता है। तुम्हारा लड़का बडा सुशील है, बड़ा होनहार है। इसे बड़े प्रेम से रखना।"

माँ ने दीनता के स्वर में कहा—"मेरा क्या है,महाराज जी। आप सबका है। आपकी दया हो तो जी जाय। यही मेरी वृद्धावस्था की लकड़ी है। इसी का सहारा है। आप ऐसा आशीर्वाद दें, कि यह जल्दी बड़ा हो जाय, इसका विवाह हो जाय। यदि नाती का मुँह देखकर मैं मरूँ तो फिर मुझे कोई चिन्ता न रहेगी।"

वा रे, ममता ! ५ वर्ष का लड़का है। अभी अच्छी तरह बोलना भी नहीं जानता। माँ नाती के स्वप्न देखती है। व्यास जी ! इसी का नाम है माया। महाराजजी ने बहू, नाती का तो आशीर्वाद दिया नहीं, यही कहा—"भगवान् श्रीनारायण सब मङ्गल ही करेंगे। तुम भी थोड़ा भगवान् का भजन किया करो।" किन्तु मेरी माँ का तो भगवान् मैं ही था और रुन झुन करती हुई बटुआ सी बहू घर में आ जाय, यही उसकी लक्ष्मी थी। बस, इसके अतिरिक्त उसे और किसी भगवान् की न चिन्ता थी, न आवश्यकता।

महाराज ने मुझे बुलाया। एक वस्त्र और द्रव्य मुझे दिया। द्रव्य तो लेकर मैंने उनके चरणों पर चढा दिया। वस्त्र को श्रद्धा सहित सिर पर रख मैंने माँ से कहा—"माँ चल मुझे बड़ी भूख लगी है।" माँ भी महात्मा को प्रणाम करके मुझे लिये हुए चलती बनी। घर के समीप पहुँचने पर मैंने जोर से भगवान नाम की ध्वनि सुनी। माँ ने कहा—"मालूम होता है महात्मा चल दिये। बड़े अच्छे महात्मा थे। मुझे सदा कुछ न कुछ देते रहते थे।"

मेरे हृदय में तो दूसरी ही बात बैठी थी। मैंने माँ से कहा—"मुझे कुछ खाने को दे, बड़ी भूख लगी है।" माँ ने बासी रोटी मुझे दी। कुछ खाई कुछ रखी और मैंने कहा—"माँ मैं खेल आऊँ ?" माँ को स्वामी का काम करना था। उसने कोई आपत्ति नहीं की। मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर दौड़ा। बगीचा उजाड़ हो गया था, मानों वहाँ की सम्पूर्ण श्री नष्ट हो गई हो। मैं मुट्ठी बाँधकर दौड़ रहा था, दूर जाते हुए महात्मा दिखाई दिये। मैं वृक्षों की आड़ में अपने को

छिपाता हुआ उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। आगे मैदान था कोई वृक्ष नही था। दूर से ही किसी महात्मा ने मुझे दौड़ते हुए देख लिया। वे महात्मा जी से बोले—"देखिये, महाराज जी! वह लड़का दौड़ा आ रहा है। महाराज जी ने मुड़ कर देखा और वे खड़े हो गये। सब महात्मा भी खड़े हो गये। मैं भी खड़ा हो गया। मैं हाँफ रहा था, भागते-भागते थक गया था। मैं निर्णय न कर सका कि पीछे भाग जाऊँ या आगे बढ़ूँ।" इतने मे ही महाराज ने पुकारा—"हरिदास! यहाँ आ बेटा!" मुझे साहस हुआ, प्रसन्नता हुई, मैं चला गया। महाराजजी के समीप जाने का साहस नही हुआ दूर ही खड़ा रहा। मुझे दूर खड़ा देखकर स्वय महाराज ही मेरे समीप आ गये। उन्होंने मुझे बड़े स्नेहपूर्वक आलिंगन किया और बोले—"तू बड़ा पागल है रे? हमने मना किया फिर भी तू! भाग आया।"

"बालानां रोदनं बलम्" बच्चों का बल रोना है। मैं बड़े जोरों से रो पड़ा। मेरे आँसू पोंछते हुए बोले—'बेटा, रोते नहीं हैं। मङ्गलमय भगवान् तेरा मङ्गल करेंगे।

मैंने रोते हुए कहा—"महाराज, मेरा कोई अधार नही है। मुझे संसार सूना-सूना दिखाई देता है। मुझे आप अपने चरणों मे रख लें, यही मेरी भीख है।"

सब सन्तों का हृदय भर आया। सभी ने कहा—"महाराज जी, हानि क्या है? गौओं की सेवा करेगा।" किन्तु उन बूढ़े महात्मा ने पता नहीं क्या निश्चय कर लिया था। ये महात्मा जितने ही सरल, स्नेही और प्रेम की मूर्ति होते है, उतने ही नियम के कठोर और दृढ़ भी होते हैं। उन्होंने मुझे साथ ले जाना स्वीकार नही किया। हाँ, मेरे ऊपर कृपा करके मुझे

भगवान के ध्यान का उपदेश प्रदान किया। बोले—"देख, हम तुझे आधार बताते है। बैठ जा!"

उनकी आज्ञा से मैं बैठ गया। वे स्वयं मेरे सामने आसन बिछा कर, पद्मासन मार कर बैठ गये और मुझसे भी इसी आसन में बैठने को कहा। मैं उनके आज्ञानुसार दृढ़ मुक्त पद्मासन मारकर बैठ गया। उसके लगाने में मुझे तनिक भी प्रयास न हुआ। तब वे बोले—"नित्य प्रति तू जो श्याम सुन्दर की सलौनी मूर्ति के दर्शन करता था, नेत्र बन्द करके उनका ध्यान कर।" मैंने नेत्र बन्द कर लिये। थोड़ी देर के पश्चात् वे बोले बेटा, बड़ी सावधानी से भगवान् की मनोहर मूर्ति का चिन्तन कर।" मे ध्यान करने लगा। भगवान की मानसिक मूर्ति मेरे सामने चित्रित हो गई।

महाराज जी कहते जाते थे—देख, भगवान के चरणों के तलुए कितने चिकने लाल-लाल कोमल है। उनके लाल-लाल नखों से चन्द्रमा की किरणों के समान कैसी ज्योति निकल रही है' उनके चरणों के ऊपर का भाग कैसा चढाव उतार का है। भगवान के टखने कितने भरे हुए मनोहर हैं। उनकी एड़ियाँ कितनी उठी हुई रक्त वर्ण की है। टखनों के ऊपर पिड़रियाँ कितनी गोल-गोल, भरी, द्युतिमान और छोटे-छोटे रोओं से सुशोभित हैं। उनके घुटने कितने भरे सुन्दर और दर्शनीय है। उनकी दोनों जांघें मोटी मनोहर चिकनी और उतार चढ़ाव की है। उनके जघन कितने मांसल, कटि कितनी सूक्ष्म और कर्धनी से युक्त है। गङ्गाजी के आवर्त के समान गहरा गाल कितनी सुन्दर नाभि है। भगवान का उदर न बहुत बड़ा है, न बहुत दबा हुआ। सुन्दर मांसल और पीपल

के पत्ते के समान है। ऊपर देखो, कितना विशाल वक्षस्थल है जिसमें श्रीवत्स का चिन्ह विराजमान है। हार, वनमाला, तुलसी माला, कौस्तुभमणि से शोभायमान है। भगवान कैसी ललित त्रिभङ्गी गति से तीन स्थानों से टेढ़े होकर खड़े हैं। उनके दोनो कर कमलों में कैसी मधुर मुरली विराजमान है। वे टेढ़े होकर किसी प्रकार थोड़ा ओठों को संकुचित करके बजा रहे है। भगवान के श्रीहस्तों में बाजूबन्द कंकड कैसे शोभित हो रहे हैं। पीताम्बर की फहरान कैसी अद्भुत है। बाँये कन्धे से बांसुरी बजाने के कारण थोडा पीताम्बर खिसक गया है। बेटा, हरिदास ! भगवान के श्रीकन्ठ का ध्यान करो, शङ्ख के समान कैसा मनोहर उतार चढ़ाव का है। अब चिबुक का ध्यान करके मधुर मुख पर दृष्टि जमाओ। यही भक्तों का सर्वस्व है। इसी के दर्शनों को असंख्यों जन्म, योग, जप, तप किये जाते हैं। देखो, कैसी मन्द-मन्द मुस्कान है। यह जादू भरी मुस्कान ही भक्तों के हृदयो में आनन्द का श्रोत बहाती है। जिसने एक बार इसे देख लिया, उसे जगत् फीका निस्सार दिखाई देता है। व्रज की व्रजाङ्गनाये इसी मुस्कान से मोहित होकर इस पर सदा के लिये निछावर हो गई थी। दोनों ओष्ठ कितने कोमल, पतले, रसभरे, गोल, सुडौल, रसीले अमृत-भरे है। अधरामृत के स्पर्श के लिये भक्तों की सदा लालसा रहती है। अब भगवान के कमनीय गोल कपोलों को देखो, जिनमे अरुण वर्ण की आभा सदा छिटकती रहती है, जो सुडौल और भरे हैं। दोनों कपोलों के बीच मे श्वास-प्रश्वास लेती हुई नासिका का ध्यान करो कितनी मनोहर है, नथुने कभी फूल जाते हैं, कभी सकुचित हो जाते हैं, ऊपर पतली और क्रम से नीचे की ओर मोटी और गोल होती आ रही है। बीच में चुक

की चोंच की तरह कैसी नुकीली सी हो गई है। इसके ऊपर ही दो खिले हुए कमलो के समान नेत्रों के दर्शन करो। हरिदास, सावधान ! ये ही भक्तों के सर्वस्व है। ये बाँके बिशाल, लाल-लाल डोरों वाले, काली काली गोल-गोल दो पावन पुतलियों के सदन हैं। जिनकी कोरें कटोली टेढ़ी और हृदय में घुसने वाली है। इन नेत्रों के कटाक्षों से घायल न हो जाना। बेटा ! ये अमृत के कुण्ड है, आनन्द के स्रोत है, माधुरी के सागर है। ये अनियारे, प्यारे और सुख के सदन हैं कानों तक फैले हुए है। लाल-लाल गोल, गट्ठे वाले, उठे हुए पुष्प गुच्छों से सजे कान कितने कोमल और कमनीय हैं। कमान के समान टेढ़ी ये भौहें कारी-कारी कितनी कुटिल किन्तु प्यारी लगती है। नेत्रों के द्विभाषिये का काम ये ही करती है। नेत्रों के भाव को ये ही समझाती है। इनके ऊपर विशाल, केशर कस्तूरी के तिलक से सुशोभित मनोहर मस्तक है। चन्दन की खौरि कितनी अनुपम है ! काली-काली घुँघराली लटें इसी पर से लटक कर कपोलों का स्पर्श कर रही है। सटकारी, प्यारी, स्निग्धता से भीगी, ये लटें काली नागिनियों के छोटे बच्चों के समान टेढ़ी मेढी होकर, विष के स्थान में अमृत का वमन कर रही है। मस्तक के ऊपर कुञ्चित कारे-कारे घुँघराले केश है जिस पर मनोहर मोर मुकुट टेढ़ेपन से विराजमान है। यहाँ की सभी वस्तुयें टेढी ही है। हरिदास ! देख, इस तिरछी मुकुट की लटकन को ध्यान से देख। फिर एक बार सम्पूर्ण अङ्ग का ध्यान कर। इतना कह कर महाराज चुप हो गये। मुझमें इतनी बुद्धि कहाँ थी, जो अपने आप ऐसा ध्यान कर सकता। उन्होंने ही अपनी शक्ति से मुझसे ध्यान करा दिया। मैं उसी ध्यान में मग्न हो गया। मुझे पता ही नहीं रहा मैं कहाँ

हूँ। पता तो मुझे तब चला, जब महाराज जी ने झकझोर कर मुझे उठाया। सोते हुए आदमी की तरह निद्रा में उठ कर मैं इधर-उधर देखने लगा। महाराजजी ने दृढ़ता से कहा—देख बेटा ? यही ध्यान है। इसी के करने से तुझे परम शान्ति मिलेगी। इसका अभ्यास करने से फिर तेरा सब शोक मोह दूर हो जायगा।

अब मैं तुझे एक सार से सार, गोपनीय से गोपनीय मन्त्र और बताता हूँ। और जितने मन्त्र हैं कोई मुक्ति देने वाले हैं कोई किसी कामना को देने वाले है, कोई भक्ति देने वाले हैं कोई मुक्ति देने वाले है, किन्तु मैं जो तुझे मन्त्र बताता हूँ वह शुद्ध प्रेम को देने वाला है। इसका कोई नियम नहीं कि यहां जपो, एकान्त में जपो, बैठ कर जपो, शुचि होकर जपो अमुक समय में जपो, शनैः शनैः जपो, माला से ही जपो गिन कर ही जपो, अकेले ही जपो। इसे कैसे भी जपो, धीरे धीरे जपने की अपेक्षा जोर जोर से कीर्तन करने का इसका और भी अधिक फल है। अकेले की अपेक्षा सब मिल कर कीर्तन करें, तो और भी सुन्दर है। इसके लिये यह भी नियम नहीं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या यज्ञोपवीतधारी ही इसे जपे या कीर्तन करे। शूद्र, अन्त्यज, म्लेच्छ, स्त्री पुरुष, बालक उपनीत, अनुपनीत सभी समान रूप से इसे जप कर, कीर्तन करके परम प्रेम के अधिकारी बन सकते हैं। तुम इसी का निरन्तर कीर्तन करते रहना और मैंने जो ध्यान बताया है, उसे भी अवसर मिलने पर किया करना। वह मन्त्र यह है—

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे !
हे नाथ ! नारायण वासुदेव !

कैसे रही ? हम लोग तो इसी जन्म की बहुत सी बातों को भूल जाते है। इसी जन्म की क्या, कल रात्रि का देखा स्वप्न तक याद नही रहता।'

व्यासजी के प्रश्नों को सुनकर नारदजी हँसे और बोले—"व्यासजी ! भगवत् स्मृति के समाने कोई बात असम्भव नही रह जाती। भगवान् के भजन से सभी सम्भव हो सकता है। भक्त की कोई भी इच्छा ऐसी शेष नहीं रह जाती, जिसे भगवान् पूरी न कर दें। वे चाहें इस लोक के भोग, चाहे स्वर्ग, चाहे मुक्ति, भगवान सभी कुछ देते हैं, किन्तु अभक्तों के कोई भी सङ्कल्प सिद्ध नहीं होते। प्रारब्ध कर्मों के अनुसार, तप आदि के प्रभाव से यदि उन्हें ऐश्वर्य की प्राप्ति हो भी जाय, तो उससे उन्हें शान्ति नही मिलती और अशान्ति बढ जाती है। सच्चे हृदय से भगवान् की शरण लेकर, मनुष्यों से कुछ भी आशा न रखकर, जो भगवत् चिन्तन में लगा रहता है, उसकी सभी चिन्तायें प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं। उसके सभी कामों को वे स्वयं अपने हाथों से करते है।

"अच्छा, तो सुनिए अब आगे की कहानी। वे ज्ञानोपदेश करने वाले कृपालु सन्त तो चले गये, अब अपने राम रह गये। मैं और मेरी माता एक घर में पास रहते हुए भी हम दोनों विचारों में एक दूसरे से बहुत दूर थे। एक तो वह मेरी माँ कुछ पढ़ी लिखी नहीं थी, दूसरे अन्य के अधीन थी, तीसरे परिवार की दासी थी और फिर स्त्री ही ठहरी।"

व्यासजी बोले—"क्यों महाराज ! स्त्रियाँ भजन नहीं करती हैं क्या ?"

नारदजी ने कहा—"ऐसी बात नहीं है,स्त्रियों में भी बहु. सी भक्ता और भजन परायणा होती हैं, किन्तु उनमे संसारी आसक्ति—बेटा बहू की ममता—पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। फिर मैं तो अपनी माँ का इकलौता ही बेटा था। अभी देखने मे सुन्दर—मुनमुना सा बच्चा—था। वह मुझे बड़े ही प्यार से उठा लेती, गोद में बिठा लेती। मुँह चूमते-चूमते मेरे मुँह को लाल बना देती। मेरा बेटा! मेरा मुन्ना! मेरा सुग्गा और न जाने क्या-क्या कहती। मुझे यह मोह विष के समान प्रतीत होता। किन्तु करूँ क्या, मेरी गति माँ ही थी। माँ का आधार मैं था। अन्धे लूले के समान हम एक दूसरे से अनिच्छा पूर्वक बँधे हुए थे।

मुझे बस,एक ही चिन्ता थी कि इस माता रूपी मोह जाल से छूटकर कब स्वच्छन्दता से विचरण करूँ। किन्तु कुछ करने मे समर्थ नही था। एक तो मैं बालक था, ५ वर्ष की मेरी अवस्था थी, मुझे यह भी पता भी नही था, किधर जाना होगा? किस समय किस जगह जाना होगा और किस दिशा में कौनसा देश है किधर अरण्य है, कहाँ जाने से साधु संग मिलेगा? इसी चिन्ता में मेरा शरीर सूखने लगा। मुझे घर अच्छा नही लगता था,रोटी खाकर गङ्गा किनारे उसी बगीचे में जा बैठता। उन सन्तों की वे सब स्मृतियां मेरे हृदय पटल पर नाचने लगतीं। यहाँ कीर्तन होता था, यहाँ सेवा पूजा थी, यहाँ महाराज जी की कुटिया थी, यहाँ भगवान् का प्रसाद बनता था, यहाँ गौएँ बँधती थीं, यहाँ कथा होती थी कितनी चहल पहल रहती थी उन दिनों। काल की कैसी कुटिल गति है। अब पता नही वे सन्त किस देश को अलंकृत कर रहे होंगे? अब वहाँ धूम धाम मची होगी, यहाँ की सब श्री उठ कर वहाँ चली गई। वे

हापुरुष उत्सव रूप थे। जहाँ वे जाते है, वहीं उत्सव हो जाता । वे नित्य उत्सव—तीर्थ स्वरूप—है।

व्यास जी! इस प्रकार उन सन्तों की स्मृति से भी मेरे अंतः-रण मे सुख का संचार होने लगा। उनकी स्मृति भी सुखद तीत होने लगी। यही नहीं इस स्मृति में मिलन से एक अपूर्व । मीठे मीठे दर्द के समान विचित्र अनिर्वचनीय सुख था। हाँ बैठकर मैं तन्मय होकर—

'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे !
हे नाथ नारायण वासुदेव !'

स मङ्गलमय मधुर मन्त्र का लय के साथ कीर्तन करता। मुझे तीत होता था, दिशायें मेरे स्वर में स्वर मिला कर मेरे मन्त्र ा अनुसरण कर रही है। आकाश ताल दे रहा है, वायु स्वर ालाप रहा है, प्रकृति नृत्य कर रही है और स्वर्गीय देवता ाय-जय घोष कर रहे है।

जब सङ्कीर्तन से निवृत्त होता, तो ध्यान करता। अँधेरा ोने लगता, तो घर आता। घर आते ही माँ पूछती—"बेटा, अब तक कहाँ था ? जङ्गल में इतनी रात्रि तक रहा बेटा ! नहीं रहते। रीछ बाघ आते है, सवेरे ही लौट आया कर। तू वहाँ अकेला क्या करता रहता है ?"

मैं कह देता—माँ, मेरा मन यहाँ नही लगता। गंगा किनारे जाता हूँ। पके-पके बेर तोड़ कर खाता हूँ। वहीं खेलता रहता हूँ। गङ्गा किनारे मुझे बड़ा अच्छा लगता है।"

उसे तो मेरी प्रसन्नता अभीष्ट थी। जब उसे मालूम हुआ कि मेरा बच्चा बेर खाता है इसका मन लगता है, तो फिर

वह कुछ न बोलती। इतना ही कह देती कि दिन छिपे से पहिले ही लौट आया कर। वह मुझे बहुत ठाठ बाट से रखना चाहती थी, अच्छा-अच्छा पदार्थ खिलाना चाहती थी, किन्तु वह ऐसा कर नहीं सकती थी। दूसरों की दासी ही ठहरी; परतन्त्रा थी। फिर भी भरसक मुझे सुखी रखने की चेष्टा करती।

भगवान् तो भक्तों के सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं। उन्होंने मेरी भी इच्छा पूर्ण की। एक दिन सायंकाल को अपने स्वामी की गौ दुहने के लिये दोहनी लेकर मेरी माँ गोशाला में गई। कृष्ण पक्ष था, सूर्य अस्त हो चुके थे। कुछ झुटपुटा सा हो रहा था। अँधेरे में उसे दिखाई तो दिया नहीं। वहाँ एक काला भुजङ्ग फन उठाये पड़ा था। मेरी माँ का उसके ऊपर पैर पड़ गया। ज्यों ही उसका पैर पड़ा त्यों ही उसे गुदगुदी सी कोई वस्तु प्रतीत हुई। उसने चट से पैर उठाना चाहा ही था कि क्रुद्ध सर्प ने फुफकारते हुये पट से पैर में काट लिया। माता कटे केले की भाँति व्याकुल होकर, खट से पृथ्वी पर गिर पड़ी और उसके प्राण पखेरू झट से परलोक के लिये प्रयाण कर गये। केवल माँ का निर्जीव शरीर ही वहाँ पड़ा रह गया।

मैं तो उस समय उसी बगीचे में बैठा ध्यान कर रहा था। हल्ला करते हुए लड़कों ने आकर मेरा ध्यान भङ्ग किया और हाँफते हुए आकर कहने लगे—"अरे हरी! तू यार, यहाँ बैठा है तेरी तो महतारी मर गई।"

मैंने जोर देकर पूछा—"क्या कहा, सचमुच मर गई?"

लड़कों ने बात पर बल देते हुए कहा—"नहीं तो क्या हम झूठ बोलते हैं? तू जाकर अभी देख ले। वहीं गोशाला में पड़ी है। करियल सांप ने उसे डस लिया।"

"बस,यही तुम्हारे लिये परम मन्त्र है–महाराज ने इतना कहा और वे आसन उठाकर चल दिये। मैं हक्का बक्का सा रह गया। दौडकर मैंने उनके दोनो चरण कसकर पकड़ लिये और रोते रोते उन दोनो धूलि भरे चरणो को अपने अश्रुओ से भिगो दिया। उन्होंने मुझे बलपूर्वक उठाया,मेरी धूलि झाडी, मुझे प्रेम से पुचकारा, सिर पर हाथ फेरा और बिना कुछ कहे चल दिये।

"मैं पत्थर की मूर्ति के समान खड़ा अश्रु बहाता रहा। मेरे पलक नही गिरते थे, आँखें पथरा गई थी, मुझे पृथ्वी घूमती सी दिखाई देती थी, मानों वह मेरी दृष्टि से महात्माओं को अलग ले जा रही हो। जब तक महात्मा दीखते रहे, मैं एक टक भाव से उन्हें ही देखता रहा। जब वे मेरी दृष्टि से ओझल हो गये, तब हृदय पर पत्थर रख कर मैं उस धूलि में लोट गया। सम्पूर्ण शरीर में वह पावन रज मली। फिर खड़े होकर देखा--गाड़ियों की, गौओ को उड़ती हुई धूलि दिखाई दी। बड़ी देर तक उसी धूलि को देखता रहा। मेरे दुर्भाग्य से उस दिन भगवान् भुवन भास्कर भी बड़ी ही शीघ्रता से पश्चिम दिशा की ओर दौडे जा रहे थे। उन्हें इतनी शीघ्रता करते देख कर मुझे कुछ भय भी होने लगा। बालक ही ठहरा, गाँव से दूर आ गया था महात्मा भी दिखाई नही देते थे। अतः उस दिशा को प्रणाम करके, रोते-रोते 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव !' इसी प्रेम दाता महामन्त्र का कीर्तन करते-करते गाँव को लौटा। अब मेरे जीवन का आधार यही एक मन्त्र बन गया—

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे,
हे नाथ नारायण बासुदेव !

छप्पय

निर्मोही ये सन्त प्यार करिके अपनावें।
किन्तु अन्त मे वधिक सरिस हिय छुरी चलावें ॥
गहकि मिलें जब तलक रहें रस नित बरसावें।
कसकि हिये मे छोड़ि निठुर वनिकें भगि जावें ॥
साधुन सँग अति प्रेम करि, जगसुख काहू नहिं लह्यो।
तलफत ई जीवन गयो, रुदन शेष ई रहि गयो ॥

शूद्रा माता की मृत्यु

(२२)

एकदा निर्गता गेहाद् दुहतीं निशि गां पथि ।
सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदिता ॥१

(श्री भा० १ स्क० ११ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

छीन दीन कुल हीन, कृष्ण कूँ कैसे पाऊँ ।
करुणा सिन्धु कृपालु मिलें केहि मारग जाऊँ ॥
हौं सोचूँ नित जिही, गीत माता कछु गावे ।
होवे बेटा बड़ो बहू बटुआसी आवे ॥
माँ के मनकी नहिँ भई, मृत्यु फाँस में फँसि गई ।
दूध दुहन घरते गई, काल नाग ने डसि लई ॥

मनुष्य कुछ और सङ्कल्प करता है, काल उसके विपरीत सङ्कल्प करता है, तो इसमें विजय काल की होती है क्योंकि काल का सङ्कल्प अमोघ है। काल सदा घात में बैठा रहता है।

---

१ नारद जी अपनी पूर्व जन्म की कथा कहते हुए बता रहे हैं— "व्यास जी ! एक दिन मेरी शूद्रा माता रात्रि के समय स्वामी की गौओं को दुहने के निमित्त घर से बाहर निकली, उसी समय विचारी

हम असावधान भले ही हो जायँ, किन्तु काल सदा सावधान रहता है। वह किसी की बात नहीं मानता, वह किसी का शील सङ्कोच नहीं करता, वह दया करना, क्षमा करना, आलस्य करना सीखा ही नहीं। वह एक क्षण भी नहीं रुकता, उसकी गति अव्याहत है। आपका कितना भी बड़ा काम पड़ा हो, कितना भी मनोहर मनोरथ हो, वह आपकी एक भी नहीं सुनता, अपने समय से नहीं चूकता।

व्यासजी की उत्सुकता नारद जी के पूर्वजन्म के वृत्तांत के श्रवण से बहुत बढ़ गई थी। उन्होंने बड़ी उत्सुकता के साथ नारदजी से पूछा—"हाँ, तो भगवन्! फिर क्या हुआ? वे महात्मा तो चले गये, बड़े निर्मोही थे। मुझे ऐसा लगता है उन्होंने आपके साथ अन्याय किया। किन्तु यह भी कैसे कहूँ? यदि उनके स्थान पर मैं होता, तो मैं ऐसा ही करने को विवश हो जाता। हम दूसरों की स्थिति बिना समझे ही उन पर दोषारोपण करते हैं। हाँ, तो बताइए फिर आपके ऊपर क्या-क्या बीती क्या हाल चाल रहा, कैसे आगे गाड़ी चली? फिर वह शूद्रयोनि का शरीर कहाँ छोड़ा, कैसे छोड़ा, आपकी वह मोहमयी माता क्या हुई? उसका मनोरथ पूर्ण हुआ कि नहीं आपका विवाह हुआ या नहीं? माता ने बटुआ सी बहू का मुख देख कर स्वर्गलाभ किया या नहीं? इन सब बातों को बताइये। मेरे सन्देहों को मिटाइये। आगे का अपना पूर्व जन्म का वृत्त सुनाइये और यह भी समझाइये, कि आपको यह इतनी पुरानी पूर्व जन्म की कहानी अब तक याद

था रास्ते में किसी सर्प के ऊपर पैर पड़ गया। काल प्रेरित उस सर्प ने उसे डस लिया। वह मर गई।

मैंने सन्तोष की साँस ली। भगवान् को बार-बार धन्यवाद दिया, कि फोड़ा फूटा पीर गई। अब न रहा बाँस न बजेगी बाँसुरी। माया मोह को श्यामसुन्दर ने स्वयं ही हर लिया।

लड़कों के साथ मैं गोशाला में गया। वहाँ माँ मरी हुई पड़ी थी। उसके सभी मनोरथ विफल हो गये। उसे डर था कि मैं कहीं उसे छोड़कर चला न जाऊँ। मेरे जाने के पहिले वही मुझे सदा के लिये छोड़कर चली गई। मैं रोया नहीं, आँसू नहीं बहाये। लड़कों ने कहा तेरा हृदय बड़ा पत्थर का है रे! तेरी माँ मर गई और तू रोया तक नहीं।'

मैंने कहा भाई इसमें रोने की क्या बात है। मेरी माँ मरी थोड़े ही है। वह तो स्वर्ग को गई है। यहाँ तो उसे दिन भर काम करना पड़ता था, वहाँ सुख से रहेगी। भैया! तुम एक काम करो, इसे घर ले चलो।

लड़कों के लिये एक नया खेल हो गया। किसी ने पैर पकड़े, किसी ने सिर पकड़ा, किसी ने बाल पकड़े, सब उसे खींचते घसीटते घर लाये और १०-५ आदमी भी आकर मेरे साथ सहानुभूति प्रकट करने लगे। कुछ लोगों ने कहा—अब रात्रि में तो क्या होगा। प्रातः इसे श्मसान में जलाने को ले चलेंगे।

मैंने यह कहा मेरी माँ श्मशान में न जलेगी। उसे यह घर बहुत प्रिय था। मैं तो इसी में उसे जलाऊँगा। लोगों ने लड़कपन समझा। हमारे स्वामी ने मुझसे घर चलने को कहा मैं नहीं गया। मैंने कहा—मैं तो माँ का दाह संस्कार करके ही कहीं जाऊँगा, सब लोग अपने-अपने घर चले गये। मैं कहीं से ४-५ उपले ले आया। आग माँग लाया। फूँस लेकर आग जलाई और छप्पर में दे दी। और कहा—'माँ

अब तू अपने घर रह। मैं अपने घर जा रहा हूँ।' यह कह कर मैं बगीचे मे गङ्गा किनारे चला गया। मन कहता था—'चल!' मैं पूछता था—'कहाँ ?'

इसका वह कुछ भी उत्तर न देता। मैं बिना सोचे समझे ही अलक्षित मार्ग की ओर चल पड़ा। अनुमान से वह उत्तर दिशा थी। मेरा कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नही था, कोई निश्चित गन्तव्य स्थान नही था। कहाँ जा रहा हूँ ? इसका कोई निर्णय नहीं। मन कहता था—चलाचल ! मैं आँखें मूँदे चला जा रहा था। कुछ नीद सी आने लगी। एक गहन वृक्ष के नीचे पड़ गया, किन्तु नैनों में नींद कहाँ ? वैसे ही पड रहा। जब अरुणोदय का समय हुआ, वृक्षों पर अपने घोसलो मे बैठे पक्षी कलरव करने लगे, तो मैं उठ पड़ा और फिर चल दिया। बड़ा मनोरम था वह देश। कभी तो अहीरों के गाँव के बाहर झोंपडे आ जाते, पास में ही उनकी गोशालायें होतीं जिनमें हजारो लाखो गौएँ बैठी जुगार कर रहीं थी कही उनके बच्चे किलोल कर रहे थे, कही दूध दुहा जा रहा था, कही दही मथा जा रहा था, कही मक्खन तपाकर घी बनाया जा रहा था, कहीं कुछ लड़के बैठे मठा ही पी रहे थे, मै रुका नहीं, चलता ही गया। कभी छोटे छोटे ग्राम दिखाई देते जिनके बाहर गोबर की कंडियों के बड़े-बड़े बिटौरे खड़े थे, कही भूसे की बुरजियें खड़ी थीं, कहीं कूओं पर स्त्रियाँ पानी भर रही थी। स्त्रियाँ मुझे देखती और आपस में कहने लगतीं—'पता नही, यह किसका बच्चा भटक गया है। इसके कोई साथ भी नहीं है।' कोई बड़ी बूढी बुलाकर प्यार से पूछती—'बेटा, तू किसका लड़का है ? कहाँ जा रहा है ? तेरे

साथी कहाँ बिछुड गये ?' मैं कुछ भी न कहता, आगे चल देता। कोई बड़ा सा नगर मिलता जिसमें १०-२० दूकानें भी होतीं। कोई बड़ी भारी राजधानी दिखाइ देती। जिसमें राजा के महल, बाग, बगीचे, फुलवारी सड़कें स्वच्छ सुन्दर रणमीक मार्ग बने हुये दिखाई देते। शुभ्र स्वच्छ बस्त्र पहिने नागरिक नरनारी इधर से उधर जाते हुए दीख पड़ते। बहुत से नदियों में स्नान करते हुए दीखते, बहुत से देव मन्दिरों में पूजा करते हुए दृष्टिगोचर होते। मैं किसी की ओर नहीं देखता और आगे बढ़ता ही जाता। कभी-कभी किसी बड़ी बस्ती के बाहर सुन्दर फला फूला बगीचा दिखाई देता। समीप ही साफ सुन्दर सुस्वादु जल से भरा हुआ पक्के घाटों वाला विमल सरोवर होता। मेरा मन किसी भी प्रलोभन में नहीं फँसता, वह कहता—बस, कही रुको मत, आगे चले ही चलो। मैं भी मन की बात मानकर यन्त्र के समान चला ही जाता।

अब शनैः शनैः बस्तियो की शृङ्खला समाप्त हुई। अब आगे गहन वन के लक्षण दिखाई देने लगे। मैंने उस गहन वन में प्रवेश किया। वह इतना सघन था कि कही-कही तो मुझे झुक कर किसी झाड़ी के भीतर से जाना पड़ता। बड़े-बड़े बाँसों के वृक्ष थे, जो एक दूसरे से वायु के द्वारा हिलाये जाने पर रगड़ खा रहे थे। कही सरकन्डों के पेड़ थे तो कही कटीली कुशायें ही मेरे कोमल पैरों मे गड़ कर पीड़ा पहुँचा रही थी। काँटेदार बहुत से सघन और पक्ति की पंक्ति पेड़ खडे थे। उनका कोई क्रम नहीं था। किसी ने उन्हें नापकर श्रेणी बद्ध नहीं लगाया था। वह इतना सघन था, कि साधारण साहस

के पुरुष का उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था। मनुष्य के तो उसमे दर्शन ही दुलभ थे। जङ्गली और विषैले जानवरों का ही वहाँ प्राबल्य था। कभी सामने से सर्र से साँप निकल गया, कहीं पास ही डन्क उठाये बड़े-बडे विष वाले बिच्छू विचरण कर रहे थे, कहीं सियार रो रहे थे, कहीं ऊदबिलाव भाग रहे थे, कहीं उल्लू घू-घू कर रहे थे। कभी सिंह की गर्जन सुनाई देती, कभी पास ही चिंघाड़ता हुआ हाथी दिखाई देता, कहीं चीते की खोह दिखाई देती, कहीं रीछ दोनो हाथों उठाये किसी पेड़ से फल खाता हुआ दीखता। अब मुझे कुछ-कुछ भय सा प्रतीत होने लगा। चारो ओर दृष्टि उठाकर देखूँ तो जङ्गल ही जङ्गल दिखाई दे। कहीं बस्ती का नाम नही। न मनुष्य, न मनुष्य की परछाईं। पैरों ने भी अब जवाब दे दिया। इन्द्रियाँ भी सभी शिथिल पड़ गईं। भूख प्यास ने भी आकर अपना राग अलापना आरम्भ किया। पेट कुलबुलाने लगा। उसमें चूहे से फुदकते प्रतीत हुए। प्यास से कन्ठ भी सूखा जा रहा था। चारो ओर दृष्टि डालूँ तो पेड़ों के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दे। तब मैं एक पेड़ पर चढ़ गया। ऊपर से मैंने देखा—पास ही एक नदी का तट है। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पेड़ से उतर कर मैं उसी ओर बढ़ा। थोड़े ही समय मे मैं सरिता के समीप पहुँच गया।

उस नदी का जल कितना स्वच्छ, सुन्दर, निर्मल और शीतल था। उसकी व्यास जी! मैं प्रशंसा नही कर सकता। या यों कह लीजिये, कि उस समय मैं बहुत थका, भूखा, प्यासा पानी की ही प्रतिक्षा में था। भूख प्यास मे ही अन्न जल

का यथार्थ स्वाद आता है नदी मे ही कुण्ड सा था। नदी बहुत बड़ी नही थी; किन्तु पहाड़ी होने से बड़ी बेगवती थी। मैंने घुसकर उसमें स्नान किया। स्नान करते ही शरीर फूल की तरह हलका हो गया। सभी श्रत ग्लानि मिट गई, चित्त में प्रसन्नता आ गई। इन्द्रियाँ सभी स्वस्थ हुईं। मैंने खूब भर पेट पानी पिया। उस पानी में मुझे अमृत के समान स्वाद प्रतीत हुआ। पानी के पीते ही भूख प्यास सभी भाग गई।

पास में एक अत्यन्त ही घना पीपल का पेड़ था। उसके नीचे मैं आसन मारकर बैठ गया। अब मुझे उन्ही मुनि के बताये हुए ध्यान की स्मृति आई। हृदय माँ के मरने से आर्द्र हो गया था। अरण्य को देख कर वैराग्य बढ़ गया था। मैं उसी प्रकार प्रेम पूर्वक श्रद्धा के साथ भगवत् ध्यान में प्रवृत्त हुआ। इतना कहते-कहते नारद जी का गला भर आया। वे चुप हो गये।

इस पर थोड़ी देर ठहर कर व्यासजी ने पूछा—"हाँ, भगवन्! फिर क्या हुआ! आपने तो मेरी उत्सुकता आवश्यकता से अधिक बढ़ा दी।

नारदजी ने अपने बहाते हुए प्रेमाश्रुओं को पोंछा, कमंडलु के जल से अवसान किया और फिर कहने लगे—"व्यासजी! आगे की बात कहने की नही, अनुभव की है। उसे मैं आपके

सम्मुख कहूँगा। थोड़ा मुझे ध्यान कर लेने दीजिये। इतना कह कर नारदजी नेत्र बन्द करके ध्यान में मग्न हो गये।

छप्पय

मोहमयी मम मातु मरी मैं घरते भाग्यो।
जरी जगत की आस,कृष्ण चरननि चित लाग्यो॥
देश, नगर, नद, नदी,लाँघि निरजन वन आयो।
न्हायो सरिता सलिल पान करि ध्यान लगायो॥
ध्यान करत ई चित्त की चिन्ता सबरी नस गई।
मनमोहन की माधुरी, मन मेरे में बसि गई॥

पुनः नारद शरीर की प्राप्ति

(२३)

देव दत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥१

(श्री भा० १ स्क० ६ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

भक्ति भाव तें भरित हृदय में हरिजी आये ।
करत दरश तनु पुलक, अश्रु नयननि में छाये ॥
अति उत्कण्ठा बढ़ी, शान्ति सरिता पय पूरयो ।
प्रेम बाढ़ में बह्यो, चित्त आनन्द में डूब्यो ॥
ध्यान ध्येय ध्याता सभी, ध्येय वस्तु में मिलि गये ।
दर्शन देके दयानिधि, तुरत चित्त में चलि गये ॥

एक बार जिसने जिस वस्तु का रसास्वादन कर लिया है उसका स्मरण आते ही उसके रस का चित्र अङ्कित हो जाता है। स्मरण आते ही उसके रस का अनुभव मन से होने लगता है। अन्तःकरण उसके स्पर्श का अनुभव करने लगता है।

---

१ श्री दयानिधि की दी हुई इस स्वरब्रह्मविभूषिता वीणा को बजाता हुआ, हरि गुण गाता हुआ, हे व्यास जी ! मैं चौदह भुवनों मे भ्रमण करता रहता हूँ।

संसारी सुखों की स्मृति तो साधन वैराग्य द्वारा किसी तरह भुलाई भी जा सकती है, किन्तु अनिर्वचनीय सुख का—जहां जाकर मन आनन्द के सागर में मग्न हो जाता है—गोता लगाने लगता है—उसे भुलाना असम्भव है, आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि वही तो एक मात्र स्मरणीय वस्तु है।

नारदजी को पूर्व जन्म में जिस प्रकार हृदय मे भगवत् कृपा का साक्षात्कार हुआ, जिस प्रकार उनके शुद्ध अन्तःकरण में परम प्रेमास्पद प्रभु का प्रादुर्भाव हुआ, उसी की स्मृति मात्र से ही उनका हृदय भर आया। शरीर रोमांचित हो गया। कण्ठ गद्गद् होने से आगे कुछ कह न सके। नेत्रों में अश्रुओ की बाढ़ सी आ गई। अश्रु पोछ कर फिर उन्होंने ध्यान किया। उस रस का ध्यानावस्था में पुनः आस्वादन किया। ध्यान के अनन्तर फिर बड़े कष्ट से उन्होने अपनी वृत्ति को बाहर की ओर किया। बाह्य वृत्ति होने पर भी चित्त का कुछ भाग उसी आनन्द में विभोर हो रहा था। उसी आवेग में वे कहने लगे।

नारदजी ने कहा—"व्यासजी! आगे की बात आपसे कैसे कहूँ। उस समय बढ़े हुए प्रेम के वेग से मेरा सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठा। हृदय में शांति की हिलोर उठने लगीं। मन आनन्द सागर में निमग्न हो गया। यह दृश्यमान जगत् एक दम विलीन हो गया। मैं अपने आपको भी भूल गया। श्यामसुन्दर के हृदयहारी सौन्दर्य लावण्य में चित्त विलीन हो गया। थोड़े ही समय के पश्चात् क्या देखता हूँ कि भगवान् की वह बांकी झांकी अब हृदय में नही होती। सहसा वह छटा आकाश में बिजली की भांति विलीन हो गई। आनन्द सागर में से उछलकर चित्त चिन्ता के पङ्क में फंस गया। सर्वस्व

गँवाये हुए व्यापारी की भाँति व्याकुल होकर मन इधर उधर भटकने लगा। जिस संसार को भूल गया था, उसका पुनः प्रादुर्भाव होने लगा। मैं जलहीन मछली की भाँति तड़फड़ाने लगा, फिर सावधान होकर आसन बाँध कर बैठा. नेत्रों को बन्द किया पुनः ध्यान किया, किन्तु वह सुखद शांति, वह कमनीय कान्ति अब कहाँ ? उससे मेरी उत्कन्ठा और भी बढ़ी। जैसे अत्यन्त बुभुक्षित पुरुष को एक अत्यन्त ही मधुर रसगुल्ला देकर, फिर उसके सामने से सभी सुन्दर सामानों से सजे सजाये पात्र को सहसा हटा लिया जाय, उसे उस समय जैसा दुख होता है, उससे भी अधिक दुःख मुझे हुआ। मैं अभी अत्यन्त ही अतृप्त था, जो रूप मेरी तृप्ति कर सकता था, वह क्षण भर में ही विलीन हो गया। मैं जब बार-बार प्रयत्न करने पर भी उसे पुनः प्राप्त न कर सका, तो उसी दुख से दुखी होकर रोने लगा। व्याकुलता के कारण मैं किंकर्तव्य विमूढ़ बन गया। क्या करूँ कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन मेरे दुःख को मिटावेगा कौन मुझे पुनः उस सुख की प्राप्ति का मार्ग बतावेगा ? यह सब सोच ही रहा था कि मुझे एक गम्भीर वाणी सुनाई दी। मैं चौंक कर चारों ओर नेत्र फैला कर देखने लगा कि यह वाणी कहाँ से आती है कौन कहता है, कहने वाला कैसा है, कहाँ है, किससे कह रहा है ? उस वाणी को आकाश से ही आते देखकर और उसके कहने वाले को न देख कर, मैं समझ गया, कि यह अशरीरा आकाशवाणी ही है और मेरे ही उद्देश्य से कही जा रही है।

आकाशवाणी ने कहा—'बच्चा ! अब तुम्हारा प्रयत्न सफल न होगा। अब तुम्हें मेरे पुनः इस रूप में—इस शरीर से—दर्शन होने दुर्लभ हैं।'

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"जिसने मेरे ऊपर इतनी कृपा की है, वह देववाणी मुझे यह भी बतावे कि मुझे इस शरीर से अब ऐसे दर्शन क्यो न होंगे ?"

आकाशवाणी ने कहा—"अभी तुम्हारे मन के कषाय दूर नही हुए। अभी संयम की अपेक्षा है। अभी साधन की कमी है और अधिक अभ्यास से हर समय दर्शन हुआ करेंगे। जिनकी सम्पूर्ण वासनाये पूर्णतया शांत नहीं हो जाती, उन कुयोगियों को मेरा दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ है।"

हाथ जोड़े हुए मैंने फिर कहा—"तब फिर एक बार यह दर्शन क्यों हुआ ? मैं तो सर्वथा साधनहीन, मतिमलीन, हीन कुल में उत्पन्न बालक हूँ। मुझे यह देवदुर्लभ सुख एक बार क्यों मिला ?"

आकाशवाणी ने कहा—"यह दर्शन तुम्हारे उत्कण्ठा को बढ़ाने के लिये हुआ। तुम्हारी इच्छा को बलवती बनाने को ही तुम्हारे अन्तःकरण में मैं प्रादुर्भूत हुआ। दीर्घकाल तक तुमने श्रद्धा से साधु सेवा की है, उसी के परिणाम स्वरूप तुम्हारा अन्तकरण शुद्ध हुआ है। उसी से तुम्हें मेरे दर्शनों का यह एक बार सुख प्राप्त हुआ है। अब जब तुम इस अधम शरीर को त्याग कर फिर दिव्य शरीर प्राप्त करोगे, तो तुम्हें पुनः ऐसा सुयोग्य प्राप्त होगा।"

मैंने आकाशवाणी से पूछा—मैं फिर तो माया जाल में न फँस जाऊँगा ? मुझे पुनः इस अलौकिक रूप की विस्मृति तो न हो जायेगी ?"

आकाशवाणी ने कहा—"मुझ में लगी तुम्हारी बुद्धि कभी नष्ट न होगी। अब तुम कभी संसारी चक्कर मे नहीं फँस सकते

माया तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती। अगले जन्म में तुम मेरे अत्यन्त प्रिय पार्षद निजी जन होगे, मेरे अभिन्न रूप ही होगे मेरा दूसरा अवतार स्वरूप ही तुम माने जाओगे और पूर्व जन्म की ये सब स्मृतियाँ तुम्हें ज्यों की त्यों बनी रहेंगी।"

वह नभ वाणी क्या थी, अव्यक्त रूप से भगवान् वासुदेव ही बोल रहे थे। मेरे ऊपर कृपा करके वे मुझे आगे का कर्तव्य सुझा रहे थे,हरि के नाम और गुणों में मेरी उत्कण्ठा बढ़ा रहे थे, काल के भय से मुझे निर्भय बना रहे थे, शरीर को प्रारब्ध पर छोड़ दो, यह पाठ पढ़ा रहे थे। मुझे मन से प्रसन्नता हुई, उस महान् से महान् भूमा पुरुष को जो दिखाई नहीं देते थे किन्तु उनकी सत्ता वहाँ विद्यमान थी, उन सर्वत्र व्यापक अच्युत को श्रद्धा-भक्ति से मैंने प्रणाम किया। अब तो मुझे निश्चय हो गया, कि इस शरीर से भगवान् के अब उस प्रकार के दर्शन दुर्लभ हैं, अब दूसरे जन्म में भगवत् कृपा का परम पात्र बन सकूँगा। अतः प्रारब्धों को भोगता हुआ शरीर-पात की प्रतीक्षा करने लगा।

मनुष्य को तभी तक भय रहता है, जब तक वह मरने से डरता है। जिसने मृत्यु को अवश्यम्भावी समझ कर उसके भय का परित्याग कर दिया है। जिसने अपने सिर को हथेली पर रख लिया है, जिसे जीने का व्यर्थ मोह नहीं है, वह मृत्यु से न डरने वाला—हर समय उनके लिये तैयार बैठा रहने वाला पुरुष—संसार में सब कुछ कर सकता है। सो व्यासजी! अब मुझे शरीर का मोह तो रहा नहीं। यही नहीं, यह शरीर मुझे भार सा प्रतीत होने लगा। भगवत् दर्शन में अन्तराय दिखाई देने लगा। मैं मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगा। कब काल आवे और कब मैं उसका स्वागत-सत्कार करके उसके कण्ठ में जयमाल पहिनाऊँ

और उसके साथ ही साथ उसके निर्दिष्ट लोक में जाऊँ। काल की शंका निवृत्त हो गई, जीवन का एल मात्र कर्तव्य परम मधुर भगवान् के नामों का गान करना, उनकी दिव्य ललित लीलाओं का चिंतन करना और उनके परम माधुर्य मय, आनन्दमय लोकोत्तर गुणों का स्मरण करना ही है। इस बात का निश्चय हो गया। अब तो मद, मत्सर से शून्य, प्रसन्न चित्त तथा निस्पृह होकर पृथ्वी पर इधर से उधर भ्रमण करने लगा। मैंने संसारी लोक लाज को तिलांजलि दे दी। परमार्थ साधन में—संसारी लोग हमें क्या कहेंगे, हमारे इस भजन पूजन का देख कर हँसेंगे-इस प्रकार की लज्जा होना बड़ा भारी विघ्न है। ससारी लोग तो अपने व्यवहार में निर्लज्ज होकर लगे रहते है। वे इन क्षुद्र सुखों के पीछे सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीहरि को सदा भूले रहते हैं। सौंदर्य माधुर्य के एकमात्र स्थान भगवान वासुदेव की उपेक्षा करके इन ईंट, पत्थर चमकती हुई पृथ्वी की विकार भूत इन धातुओं और मांस मज्जा के इन पिंडो के पीछे सर्वान्तर्यामी, जगत्पति, विश्वनाथ को भूल जाना, इन विषयों के लिये भाँति-भाँति के छल छिद्र कपट, धूर्तता करना, झूठ सच व्यवहार करना क्य यह लज्जा की बात नहीं है। ? जब वे भगवान् से भी लज्जा नही करते, तो हम परमार्थ के साधन इन क्षुद्र संसारी लोगों के सकोच से अपने सुखद साधन के करने मे क्यों संकुचित हों? हमें निर्भय होकर, अपने प्राणवल्लभ को रिझाना चाहिये। अपना साधन अपने प्रेम लिये करना चहिये, न कि किसी को दिखाने और बताने के लिये।

मैंने भी संसार की उपेक्षा कर दी। संसारी लोग क्या समझेंगे, इसकी चिन्ता करना मैंने छोड़ दिया। उनकी समझ

अपनी है, वे जो चाहें समझे, हमने किसी की समझ का ठेका थोड़े ही लिया है। मैं पागलों की तरह जोर-जोर से 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे,हे नाथ नारायण वासुदेव!'मङ्गलमय भगवान् के नामों का गान करता। उनका स्वर के सहित कीर्तन करता। नाम गान करते-करते नृत्य भी करने लगता। कभी-कभी गाँव के बालक आकर मुझे घेर लेते और पागल समझ कर वे भी मेरे साथ हँसी में कीर्तन करने लगते।

भय मेरा भाग गया था। इसलिये निर्भय होकर जङ्गली जानवरों के पास चला जाता। बाघ,सिंह जो भी आ जाता उससे लिपट जाता,उसके मुखमें अपना हाथ दे देता। वह सूँघकर चला जाता कुछ भी न बोलता। रीछ भालू दिखाई देता, तो मैं उसके बाल पकड़ लेता, और उसकी पीठ पर चढ़ जाता, उनके दोनों आगे के हाथों को पकड कर नाम गायन करता हुआ उसके साथ नाचने लगता, वह कुछ भी न बोलता। इससे हे महाभाग व्यास जी! मुझे निश्चय हो गया, कि मनुष्य मृत्यु से व्यर्थ ही डरता है, जब तक मृत्यु का समय नहीं, *तब तक लाख प्रयत्न करने पर भी मृत्यु नही आ सकती।* जिस क्षण समय पूरा हो जायगा उस क्षण करोड़ों प्रयत्न करने पर भी काल से कोई बचा नही सकता। हम चाहें न जानें, किन्तु मृत्यु का समय निश्चित है, वह उसी समय आ जाती है और अप्रमत्त होकर प्रमत्तप्राणी को पकड़ ले जाती है। मेरी मृत्यु का अभी समय नहीं था। इसलिये व्याघ्र सिंह, सर्प, सरभ, सूकर, रीछ, भालू कोई भी मुझसे न बोलता इस प्रकार नाम गान करता हुआ मैं पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने लगा।

जिसने जन्म धारण किया है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। उसे कोई टाल नही सकता, अन्यथा नही कर सकता। प्रारब्ध की समाप्ति तक यह शरीर अवश्य रहेगा। प्रारब्ध का अन्त होते ही, यह निष्प्राण हो जायगा। समय आने पर मेरे शरीर का प्रारब्ध समाप्त हुआ। जैसे आकाश मे बिजली चमक कर विलीन हो जाती है। जैसे कूल के दुर्बल वृक्ष बाढ़ आते ही उसमे बह जाते है, उसी प्रकार मृत्यु ने आकर मेरे शरीर से प्राणों को पृथक् कर दिया। उस मानुषी शरीर को त्याग कर मैं ब्रह्माजी की श्वांस के साथ, उनके शरीर में घुस कर—उनके साथ ही—शेषशैया पर शयन करते हुए सर्वेश्वर के साथ सो गया।

व्यासजी ने कहा—"महाराज,यह क्या कह दिया। ब्रह्माजी कहाँ, शेषशायी हरि कहाँ, आप कहाँ ? कैसे आप उनके शरीर मे प्रवेश कर गये ?"

नारदजी ने कहा—"व्यासजी ! संयोग की बात कि उसी समय कल्प के अन्त का समय उपस्थित हुआ था। ब्रह्माजी सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को अपने में विलीन करके क्षीरशायी भगवान के शरीर के भीतर सोने के लिये उत्सुक थे। उसी समय उनकी स्वास के साथ मेरा भी जीवात्मा उन्ही में प्रवेश कर गया। अब एक हजार युगों की चौकड़ी तक तो ब्रह्माजी सृष्टि कर ही नहीं सकते थे। वह तो उनके शयन का—विश्राम का—समय था। मैंने भी उनके साथ ही लेट लगाई और इन संसारी नारकीय शरीरों से मुक्ति पाई।

जैसे मनुष्यों के दिन रात्रि होते है, वैसे ही सतयुग, त्रेता द्वापर और कलियुग ये चारों युग हजार-हजार बार बीत जाते है, तो ब्रह्माजी का एक दिन होता है, उतनी ही बड़ी एक रात्रि। इसे कल्प या परिवर्तन कहते हैं। जब ब्रह्माजी की रात्रि व्यतीत

हुई और उठते ही फिर वे सृष्टि की प्रपञ्च रचना में प्रवृत्ति हुए। उनकी इन्द्रियों से मानसिक सङ्कल्प के द्वारा मरीच,अत्रि,अङ्गिरा आदि बहुत से पुत्र उत्पन्न हुए। उसी समय उनकी गोद से मैं भी उत्पन्न हो गया। हम लोगों से पूर्व हमारे चार बडे भाई सनक, सनन्दन, सनातन, और सनतकुमार उत्पन्न हुये थे। उन्होंने लोक पितामह भगवान ब्रह्मा के कहने पर भी सृष्टि रचना में योग नही दिया। उनसे पीछे जो ऋषि हुए, उन्होने प्रजा सृजन रूपी कार्य किया। इसी से वे सब प्रजापति कहलाये। मैं भी सृष्टि रचना के झन्झट में नहीं पड़ा,मैंने भी अपने पूर्वजों के पथ का अनुसरण किया। उन जगतप्रभु, महाविष्णु भगवान् वासुदेव की कृपा से मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हूँ।

भगवान् ने प्रसन्न होकर मुझसे पूछा—"नारद! तुम क्या चाहते हो ? तुम्हें कौन सी बात अधिक रुचिकर है। तुम मुझसे कोई सर्वश्रेष्ठ वरदान माँग लो।'

मैंने विनीत भाव से कहा—"प्रभो! कोई आपको तप से, संयम से, सद्गुणों से ही प्रसन्न करना चाहें, तो असम्भव है। आप इतने महान् हैं, कि आपके अनुरूप उत्तम आचरण, तपस्या आदि कोई कर ही नहीं सकता। आपकी प्रसन्नता अहैतुकी है। आप अपनी ही कृपा के द्वारा प्रसन्न भले ही हो जायँ, आपका अनुग्रह साधन-साध्य नहीं, कृपा-साध्य है। जब आप ही मुझ पर प्रसन्न हैं, तब फिर मुझे अन्य वर की क्या आवश्यकता ? आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिये महान् वरदान है। फिर भी आपकी आज्ञा है, तो मैं यही वरदान माँगता हूँ, कि मैं सदा आपका गुणगान करता रहूँ। एक क्षण भी ऐसा न व्यतीत हो, कि जिस समय आपके मङ्गल नामों का मुख से उच्चारण न हो।

भगवान बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"नारद ! मैं तुम्हारी भक्ति से बहुत प्रसन्न हूँ। लो, तुम इस वीणा को सम्हालो यह षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद इन सात स्वरों से संयुक्ता है, बड़ी मनोरमा है। इसे बजाकर तुम मेरे गुण गाया करो। अब तुम्हें मेरे दर्शनों के लिये प्रयास न करना पड़ेगा। जहाँ तुम प्रेम से गावोगे कि मैं क्षीरसागर वैकुण्ठ, लक्ष्मी सभी को छोड़ छोड़कर—उसी क्षण—तुम्हारे पास दौड़ा चला आऊँगा। तुमने मुझे मोल ले लिया।" व्यासजी तुम जो इस वीणा को देख रहे हो, सो यह वही भगवान् की दी हुई वीणा है। इसी को बजाता हुआ, हरिगुन गाता हुआ मैं चौदहों भुवनों में बिना रोक-टोक घूमता रहता हूँ। सभी मेरा आदर करते हैं सभी को मैं प्रिय हूँ, मुझे इधर की उधर बात सुनाने में बड़ा आनन्द आता है। इसी वीणा के कारण कोई मुझे तुमड़िया कहता है, कोई कलह प्रिय कह कर पुकारता है। सुनकर हँस जाता हूँ और फिर हरि गुणगान में रत हो जाता हूँ।

छप्पय

ह्वै अतृप्ति तब गिर्‌यो मोहि मूर्छा सी आई।
यह तनु दर्शन होयँ, दई नभ गिरा सुनाई॥
कृष्ण कीर्तन करत, काल की करूँ प्रतिक्षा।
तनु तजि नारद भयो, भई भगवत की इच्छा॥
वीणा की झंकार सुनि, हरि हिय में प्रकटे तुरत।
दौड़ी आवे धेनु ज्यों, मोहन की मुरली सुनत॥

शान्ति का सरल मार्ग

(२४)

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः ।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्याऽनुवर्णनम् ॥

(श्री भा० १ स्क० ६ अ० ३५ श्लोक०)

छप्पय

करि नारद उपदेश व्यास तें बोले बानी ।
कृष्ण कथा—सत्संग जनित निज कही कहानी ॥
तुम हू संशय त्याग भक्त भगवत गुन गाओ ।
कृष्ण कथा के कहत शान्ति सुख सागर न्हाओ ॥
यों कहि ले वीणा चले, राम कृष्ण गुन गावते ।
व्यास विचारें धन्य मुनि, ये सबके मन भावते ॥

जिस बात में अपना अनुभव नहीं, उसके उपदेश का कोई प्रभाव भी नहीं । जिस पथ से हम गये नहीं, उसका सुना सुनाया वर्णन प्रामाणिक नहीं समझा जाता । जिसने शब्द को

जिन लोगों के हृदय को विषयों की वासनायें बार-बार व्याकुल बनाती रहती है, उनके लिये श्रीकृष्ण चरणारविन्द की कमनीय कथा ही अगाध संसार सागर से पार करने वाली दृढ़ और सुनिश्चित नौका है । वे उसी के द्वारा बिना प्रयास पार जा सकते हैं ।

ही रटा है, अर्थ को नही समझा है, वह अर्थ जानने वाले की अपेक्षा कम आदरणीय माना जाता है। अनुभूत औषधका पथ्यपूर्वक सेवन सर्वथा सुखदायक ही होता है। नारदजी ने व्यासजी के सम्मुख अपना अनुभव ही बताया। जिसका श्री व्यासजी के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा जब नारदजी अपने जन्म का पूर्व चरित कह कर चुप हो गये, तब व्यासजी ने फिर पूछा—"ब्रह्मन् ! आपने बड़ी ही सुखद कथा सुनाई। इसे सुन कर मैं इसी परिणाम पर पहुँचा, कि जैसे श्रीगंगाजी सदा सर्वदा पापी प्राणियों के पापों को धोती रहती है, उसी प्रकार सत्-संगति से सभी प्रकार के संताप दूर होते हैं। यही नहीं सत्-सगति रूपी सरिता तो सर्वत्र प्राप्त हो सकती है। वह चलती फिरती नदी है। श्रीगंगाजी भी चलती फिरती हैं। किन्तु उनकी चाल एक सीमा में आवद्ध है। उसी सीमा में उन्हीं के कमनीय कूल पर जाकर जो जलपान, स्नान आदि करेगा उसी के पाप दूर होंगे। नाम लेने से भी कुछ दूर होते हैं किन्तु सत्संगति तो सर्वत्र सुलभ है। इस संसार को सन्त ही अपनी शक्ति से धारण किये हुए हैं। पृथ्वी और आकाश को ज्यों का त्यों स्थित रखने को सन्त ही स्तम्भ हैं। आप जैसे संत इस धराधाम पर विचरण करके हम जैसे संशय ग्रस्त जीवों के संशयों का छेदन न करें, तो ये सभी प्राणी सदा संशय सागर में डूबते हुए तड़फते रहें। यह पृथ्वी फिर कर्मभूमि न होकर निरय भूमि बन जाय। अब कृपा करके आप मुझे मेरा कर्तव्य बतावें।

व्यासजी की विनीत वाणी सुनकर नारदजी हँसते हुए बोले—"ब्रह्मन् ! मैंने मायापति भगवान् की अचिन्त्य माया का प्रभाव भली भाँति समझ लिया है। इससे मेरे ऊपर माया

का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। मैं आनन्द से वीणा बजाते हुए विचरता हूँ। ये जो आदिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन प्रकार के ताप हैं, ये ही मनुष्य को सदा पीडा पहुँचाते रहते हैं। ये ही जीवों को दुःख देते है। इनके ही सताप से संतापित हुआ पुरुष सदा जलता रहता है। जब तक इन भीषण रोगों की सावधानी से, लग कर चिकत्सा न की जाय तब तक ये रोग दूर नहीं हो सकते।"

व्यासजी ने पूछा—"महाभाग ! इन तीनों रोगों की आप औषधि बतावें।"

नारदजी बोले—"व्यासजी ! इन तीनों की अलग-अलग औषधि नहीं है। तीनों की एक ही अचूक अव्यर्थ औषधि है। उसका नाम है। 'सर्व कर्म समर्पण'। इसका भली भाँति सेवन करने से सभी प्रकार के सन्ताप निश्चय ही दूर हो सकते हैं।"

व्यासजी ने पूछा—"भगवन् ! औषधि तो आपने बता दी, किन्तु बिना पथ्य के औषधि का उतना प्रभाव नहीं होता। अतः कृपा करके इस औषधि का पथ्य भी बतावें।"

नारदजी बोले—"पराशर नन्दन ! आप पहिले रोग का कारण समझें। वात, पित्त और कफ ही तीन धातुयें जब विकार को प्राप्त होती हैं, तो ये ही दोष के नाम से पुकारी जाती हैं, जिन चीजों में इनके भाग अधिक रहते है उनसे ये धातुयें बढ़ती हैं। जैसे गेहूँ, घृत, दधि, शर्करा इनसे कफ की वृद्धि होती है। कड़वी, खट्टी, चरपरी चीजों से पित्त बढता है। रूखी भारी चीजों से वायु का प्रकोप होता है। इसलिये आयुर्वेद शास्त्र का नियम है, कि जिनका जिन चीजों से रोग उत्पन्न हुआ हो, उन वस्तुओं को वैद्य छुड़वा देते हैं। जैसे मीठे से रोग हुआ

हो तो, उसमें मीठा वर्जित है। दधि से उत्पन्न रोग में दधि नहीं खाना चाहिये। कफ वृद्धि में जितने कफकारी पदार्थ है, उनका परित्याग कर देना चाहिये। अधिक अन्न खाने से अजीर्ण हुआ हो उस अजीर्ण में अन्न खाना विष के समान बताया है। उसमें लंघन ही पथ्य है। इसी प्रकार व्यासजी इन सब दुखों का, ससार बन्धन का, जन्म मरण का, एक मात्र कारण है कर्म कैसा भी करोगे उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। पाप कर्म करोगे, तो दुःख उठाना पड़ेगा। पुण्य कर्मों से सुख की प्राप्ति होगी, इतना होने पर भी पुण्य कर्मों से शाश्वति शान्ति—कभी क्षय न होने वाला सुख नहीं मिल सकता। जैसे, पाप-कर्म बन्धन हैं, वैसे पुण्य कर्म भी बन्धन है। एक बन्धन मूँज की रस्सी का है, दूसरा रेशम के लच्छों का है। बन्धन में अन्तर नहीं। आदमी बँधा दोनों से रहेगा। अन्तर इतना ही है, कि एक अंगों में चुभेगा, दूसरा इतना चुभेगा नहीं। इसलिये इस संसार से सदा के लिये मुक्ति पाने की इच्छा रखने वालों को सभी प्रकार के कर्मों का परित्याग करना ही पड़ेगा।

व्यासजी ने कहा—"भगवन् यह बात तो हमारी समझ में कुछ आई नहीं। प्रायः बहुत रोग अन्न से ही होते है। यदि अन्न को बिलकुल ही छोड़ दें तो फिर रोग नाश होगा या नहीं, इसका तो पता नहीं, शरीर का नाश तो अवश्य ही हो जायगा। इसी प्रकार बिना कर्म किये यह इन्द्रियों वाला प्राणी खाली कैसे बैठा रह सकता है?"

नारदजी ने बड़े हर्ष के साथ कहा—"हाँ व्यासजी आपने बात पकड़ी। मेरे कहने का यथार्थ भाव यह है कि जिन चीजों

से जो रोग उत्पन्न हुआ हो,उस रोग में उन-उन वस्तुओं को उसी रूप में खाना निषेध है, किन्तु यदि युक्ति के साथ खाया जाय, तो वे उल्टी औषधि बन जाती हैं। जैसे अजीर्ण है, भूख सी भी है। गरिष्ठ अन्न से अजीर्ण हुआ है तो पतली खिचड़ी बनाकर उसमें हींग,जीरे का छोंक देकर, पापड़ और नीबू तथा अदरक के अचार के साथ खाय, तो वह पथ्य भोजन अजीर्ण को पचाने में सहायता देगा। इसी प्रकार सब कर्मों को करते समय उन्हें भगवत सेवा समझें। प्रत्येक कार्य करके अन्त में कह दिया करे 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' यह कर्म श्रीकृष्ण को अर्पण है। 'अनेन कर्मणा श्रीकृष्णपरमात्मा प्रीयतां, इद न मम।' इस कर्म के करने से श्रीकृष्ण भगवान प्रसन्न हों, यह कर्म उन्हीं के निमित्त है। मैं इसका न करता हूँ, न भोक्ता।' तब वह कर्म निष्फल हो जायगा। उनको आपने समर्पण करके निर्बीज बना दिया, भून डाला। जैसे उर्वरा भूमि में पानी पाकर पड़ा हुआ बीज अवश्य ही उग आवेगा, किन्तु आप उस बीज को भूभर में भून डालें, तो फिर कितना भी पानी देते रहें, कितनी भी खाद डालें, वह कभी उगने का नहीं।

इसी प्रकार जो शास्त्र विहित कर्म भगवत् प्रीत्यर्थ किये जाते हैं, उनसे संसार की पुनः उत्पत्ति न होकर भक्ति की--प्रभु प्रेम की उत्पत्ति होती है। जैसा बीज होगा वैसा ही पेड़ होगा। श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये किया गया कर्म श्रीकृष्ण को ही उत्पन्न करेगा। बबूर के बीज से आम कैसे उत्पन्न होगा ?

आप पूछ सकते हैं, बिना आसक्ति के, बिना फल की इच्छा के कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती। यदि किसान को यह आशा न हो, कि मेरे एक बीज के हजार हो जायंगे, तो वह खेत में बीज बोयेगा ही नहीं। सब कर्म किसी न किसी हेतु को आगे

रखकर किये जाते हैं, निर्हेतुक कर्म की कल्पना करना भी असंभव है। यह ठीक है, तो भी हमारे सब कर्म श्रीकृष्ण कृष्ण के ही हेतु से हों। जो करें, जो खाँय, जो पीवें, यज्ञ, हवन दान पुण्य, श्राद्ध, तर्पण, जप तप, नियम, व्रत जो भी कुछ करें, उनके फल स्वयं न चाह कर उन्हें उन्हीं अच्युत को अर्पण कर दें। वे अच्युत तो बड़े कृतज्ञ हैं। मित्रों में भी परस्पर में यह होता है कि कोई मित्र हमारे यहाँ उपहार भेजता है, तो कृतज्ञतावश हम चाहते हैं, इसके बदले में हम उसके पास इससे उत्तम वस्तु भेजें। और यदि प्रेम से न भेजें, सौदा करके आदान प्रदान करें, तो जितने की वस्तु दोगे उतने की ही बदले में दूसरी वस्तु पाओगे। उससे कम तो मिल सकती है, किन्तु अधिक नहीं। यह बात काम्य-कर्मों के सम्बन्ध में है। जिस कामना से तुम यज्ञ-यागादि करोगे, उससे उसी कामना की पूर्ति होगी। किन्तु कृष्णार्पण करने से कृपालु कृष्ण उसके बदले में अपनी सब प्रिय वस्तु 'भक्ति' को प्रदान कर देंगे। इसीलिये सब कर्म करते हुए, निरन्तर श्रीकृष्ण के नाम और गुणों का कीर्तन करते रहना चाहिये। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूह रूप से श्रीहरि का पूजन करे, नमस्कार करें। मन्त्र ही जिनकी मूर्ति है, ऐसे अव्यक्त अच्युत का सदा चिन्तन करता रहे, यह सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, यही परम पुरुषार्थ है, यही मुख्य कर्तव्य है।

आप प्रमाण के लिये मुझे ही देखें, केवल भगवत् भक्ति से ही—केवल वीणा के स्वरों के साथ उनके नाम गान करने से ही प्रभु मुझ से प्रसन्न हैं। मेरे सभी मनोरथ पूर्ण करते हैं. मैं जब बुलाता हूँ, तुरन्त दौड़े चले आते हैं। सभी लोकों में मेरी अव्याहत गति है। सभी मेरा समान भाव से सम्मान करते

है, आठो सिद्धियाँ नवों निद्धियाँ मेरे पैरों तले लोटती रहती है। मुझे न किसी की चिन्ता है, न कोई शोक। मस्त होकर हरि गुन गाता हूँ और स्वच्छन्द होकर विचरता रहता हूँ।

हे ज्ञानियों में शिरोमणि ! महा प्राज्ञ व्यासजी ! आप भी ऐसा ही करें। आप सब कुछ समझते हैं। सब जानते है, सब कुछ करने में समर्थ हैं, अब आप इन अन्य शास्त्रो मे श्रम करने के कार्य को छोड़िये। अब तो आप भगवान की परम मधुर-मधुर लीलाओं को, जो हृदय को, मन को, कानों को समान रूप से सुखकारी हैं, जिन्हें ज्ञानी, मुक्त, नित्य, मुमुक्षु और यहाँ तक कि बद्ध विषयी प्राणी भी बडे प्रेम से सुनते है, उन श्रीकृष्ण की शहद और मिश्री से भी मीठी, अमृत से भी अधिक गुणकारी, कमनीय कामिनी से भी अधिक चित्तहारी, योगी और मुनियों को भी प्यारी, कृष्ण की क्रीड़ाओं और लीलाओं का प्रेम के सहित. एकाग्र चित्त से वर्णन करें। उन्हीं के वर्णन करने से आपकी चिन्ता दूर होगी। आपका ही नहीं समस्त जगत् का कल्याण होगा।

यह मैंने आपसे अपने जन्म की कथा और उसका सारभूत तात्पर्य आपके साम॰ वर्णन किया। लो, अब हमारी तुम्हारी राम-राम अब मैं जा रहा हूँ। इतना कहकर बिना व्यासजी के उत्तर की प्रतिक्षा किये हुए ही, वीणा के स्वरों पर तान छोड़ते हुए, सुन्दर कण्ठ से राम कृष्ण का कीर्तन करते हुए नारदजी यह गये वह गये और क्षण में ही अदृश्य हो गये।

उनकी मस्ती,उनका भगवन् प्रेम, उनकी आलौकिक भक्ति को देखकर व्यासजी मन ही मन कहने लगे—वाह-वाह ! ये मुनि ही धन्य हैं। इनका वैराग्य, ज्ञान, भगवत प्रेम सराहनीय है यदि जीवन हो तो ऐसा ही हो।

छप्पय

धनि नारद मुनि धन्य-धन्य वर वीना इनिकी।
हरि यश गावें नित्य सुरसना धनि-धनि तिनिकी॥
सब जग दुख संतप्त, फिरें जे हरि गुन गावत।
दुख को मेटत मूल शन्ति को पाठ पढ़ावत॥
धनि अवनी निज चरणकी, पद पराग परसत विमल।
द्वै ई दूरि करें दुरित, संत-संग सुरसरि सलिल॥

श्रीशुक के भागवत पढ़ने का कारण

(२५)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥*

(श्रीभा० १ स्क० ७ अ० १० श्लोक)

छप्पय

नारदजी जब गये व्यास बैठे वर आसन ।
चित्त वृत्तिकूं रोकि कियो इन्द्रिनि पै शासन ॥
माया सहित महेश हृदय में दिये दिखाई ।
भव भय भञ्जनि भक्ति प्रकट ह्वै सम्मुख आई ॥
मन में मोद महा भयो, भव्य भागवत रचिलई ।
निज सुत शुक कूं स्वर सहित, सबरी कण्ठ करा दई ॥

सच्चा श्रोता वही है, जो कथा के मूल को न भूले । बीज का कितना भी विस्तार हो जाय, स्कन्ध में से शाखा-प्रशाखायें फूट जायें, किन्तु दृष्टि वहीं रहे, जहाँ से इसका इतना विस्तार हुआ है । जो विस्तार के कारण मूल को विसार देते हैं, वे उसके

*जो सदा आत्माराम में मग्न रहने वाले मुनि हैं, जिनके सब संशय नाश हो गये हैं, संशय न रहने से जिन्होंने ग्रन्थों का अध्ययनादि भी छोड़ दिया है, वे भी भगवान् वासुदेव में अहैतुकी भक्ति किया करते हैं । क्यों

गूढ़तत्व को समझने में असमर्थ होते हैं। शौनकजी तो सच्चे श्रोता है। वे अपने प्रश्न को भूले नहीं। उन्होंने तीन प्रश्न किये थे। (१) यह भागवत संहिता व्यासजी ने किनकी प्रेरणा से कहाँ बनाई? (२) परम वैराग्यवान् जगत् से सदा उदासीन रहने वाले श्रीशुकदेवजी ने इस इतने बड़े ग्रन्थ को क्यों पढ़ा और (३) राजा परीक्षित् ने परोपकाररत अपने शरीर को स्वेच्छा से युवावस्था में ही क्यों छोड़ दिया, उन्होंने उपवास क्यों किया और श्रीशुक ने उन्हें कथा कहाँ पर क्यों सुनाई?

सूतजी ने यह तो बता दिया, कि उन्होंने श्रीनारदजी की प्रेरणा से, उन्ही की आज्ञा से इस परम पावन सात्वत संहिता के निर्माण का सङ्कल्प किया। इसे सुनकर शौनकादि मुनियों की जिज्ञासा और भी बढ़ी। वे सूतजी से पूछने लगे—"महाभाग सूतजी! आप बड़ी ही सरस कथा सुनाते हैं। आपकी कथा कहने की शैली सुन्दर और उत्सुकता उत्पन्न करने वाली है। आप कथा कहते-कहते बीच-बीच में माधुर्य का पुट लगाते जाते हैं, जिससे श्रोता ऊबता नहीं, उसे अधिकाधिक आनन्द ही आता जाता है। अब आप कृपा करके यह सुनाइये, कि नारदजी के चले जाने के अनन्तर वे साक्षात् विभु—श्रीविष्णु के अवतार श्रीव्यासजी—क्या करते भये? उन्होंने कैसे इस भक्ति रस पूर्ण महान् ग्रन्थ को बनाया? महात्यागी विरागी श्रीशुक ने इसे क्यों पढ़ा?

ऋषियों के प्रश्न को सुनकर सूतजी कुछ देर तक ध्यान मग्न रहे। पुनः शनैः शनैः कहने लगे—ऋषियों! आपकी

करते हैं जी? उन्हें क्या आवश्यकता है? आवश्यकता क्या है, भगवान् के गुणों मे ऐसा सौन्दर्य माधुर्य है, कि वे इच्छा न रहने पर भी, हठात् उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं।

उत्सुकता ने मेरे उत्साह को अधिकाधिक बढाया है। आप यदि इस प्रकार उत्सुकता प्रकट न करें, तो मैं कथा कह ही नहीं सकता। कथा वाचक में स्वयं तब तक कहने की शक्ति नहीं आती जब तक कि श्रोता उसे उत्साह प्रदान न करें। कथा में प्रधानता वक्ता की नहीं होती, श्रोता की ही होती है। यज्ञ में यजमान ही उत्सव का मूल कारण है। आचार्य, ब्रह्मा, होता अध्वर्यु आदि तो उसी में बनाने से बनते है। पूजा में प्रधानता देवता की न होकर पुजारी की ही है, क्योंकि उसी के आह्वान से तो देवता आते हैं। उसी की पूजा से पूजित और सन्तुष्ट होकर तो वरदान देने को विवश हो जाते है। आपका प्रेम अकथनीय है। आप अपने आप ही मेरे हृदय में प्रेरणा करके कथा कहला रहे हैं। हाँ, तो अब मैं आगे की कथा कहता हूँ। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

नारदजी चले गये। व्यासजी सोचने लगे—"अब क्या करना चाहिये। ब्रह्म नदी भगवती सरस्वती के पश्चिम तट पर जो केलों के वृक्षों से सुशोभित, उनका शम्याप्रास नाम का आश्रम था, उसी में बैठकर अपने मन को एकाग्र करने लगे। क्योंकि बिना मन के एकाग्र किये, किसी भी विषय का बोध नहीं होता। आपकी आँखें भले ही खुली हुई क्यों न हों, जब तक मन का उनके साथ संयोग न होगा, वे रूप देखने में समर्थ न होंगी। आँखें स्वयं रूप को नहीं देख सकतीं। मन के ही वे खोलने के द्वार हैं। मन ही मन से झाँककर देखता है। सभी इन्द्रियाँ दास-दासी है। मन सबका स्वामी है। दास-दासियों की स्वयं कोई पृथक् सत्ता नहीं। वे तो स्वामी की आज्ञा को पालन करने वाले होते हैं।

व्यासजी पहले स्वस्थ होकर—सुन्दर बालवाले पहाड़ी
चर्म के ऊपर ऊनी वस्त्र बिछा कर—सुखासन से बैठे। उन्हों
सरस्वती के पवित्र जल से विधिवत् तीन आचमन किये
आचमन करके और चित्त की इधर-उधर बिखरी हुई वृत्ति
को समेट कर, भक्ति-योग के द्वारा अपने मन को भगव
मे लगाया। ध्यान में उन्होंने भगवान् का साक्षात्
किया। इस समय उन्हें लीलाधारी भगवान् की आवश्यक
थी, वे मायापति प्रभु के चारु-चरितों का प्रत्यक्ष द
करना चाहते थे। अतः उन्होंने समाधि में पुराण पुरुष पर
श्वर के साथ उनकी अचिन्त्य माया का भी साक्षात्कार किय
जिसका फैलाया हुआ यह सब पसारा है। हम इस माया के
पसारे को देखते हैं, किन्तु इसके भीतर छिपे मायापति
अभिज्ञ ही रहते है। वे सदा हमारी आंखों से ओझल बने
रहते हैं। लज्जावती नववधू के समान वे सदा अपने चन्द्रमुख
को माया के घूँघट से ढके रहते हैं। अत्यन्त निकटतम सम्बन्ध
रखने वाले व्यक्ति के सम्मुख ही वे अपना परदा हटाते हैं
जीवों को इस बहुरूपिणी माया ने ही ठग लिया है, इसके चक्कर
में पड़ कर सर्व समर्थ विभु इसके गुणों से हीन होते
हुआ भी, अपने को उसी के, तीनों गुणो के अधीन मान
बैठा है। कैसी विडम्बना है, कैसा मोहक इसका रूप है ? जीव
अपनी सत्ता को भूल कर इसी के सम्मुख आत्म समर्पण करके
अपने को दीन, दुखी, पराधीन मानकर सदा इधर से उधर
भटकता रहता है। जब बिना बात अपने को फँसा हुआ
मानता है, जब अकर्ता होकर भी अपने को कर्ता मान बैठता है,
तब तो उसके दुःखों का भी भागी बनना ही पड़ेगा। वास्तव में
यह भ्रम है। धातुओं मे दोष न होते हुए भी मानसिक रोग

है जब तक इसकी चिकित्सा न की जायगी, तब तक यह रोग जाने का नही। इसीलिये इस भ्रम-रोग को मिटाने वाली एक औषधि है, भगवत् भक्ति। तुम माया को छोड़ कर मायापति की शरण ले लो। चोर को न मार कर चोर की माता को मार दो, कि चोर फिर पैदा हो ही नहीं। सेवक की शरण न जाकर स्वामी की जाओ। स्वामी से स्नेह हो गया, तो सेवक तो स्वतः ही अपना आज्ञाकारी बन जायगा। यह रहस्य की बात है। जिन्होंने इस रहस्य को समझ लिया है, वे माया के मोह को छोड़कर मन मोहन से मोह करते हैं। फिर माया तो मन मोहन की दासी है। वह फिर अपनी चटक-मटक नहीं दिखाती, फिर लजाती हुई भाग जाती है। जो इस रहस्य से अभिज्ञ हैं उन्हें ही समझाने के लिये, उन्ही के कल्याण को लक्ष्य करके भगवान् व्यास ने इस भागवती वार्ता का प्राकट्य किया। इसे जिसने जान लिया, इस सात्ववती संहिता को जिसने श्रद्धा सहित सुन लिया और सुन कर हृदय पटल पर अङ्कित कर लिया, वह माया के पर्दे को फाड़ कर परमानन्द के समीप पहुँच गया। फिर उसे शोक मोह नही होता। जरा-मरण के चक्कर में भी वह नही फँसता। फिर तो वह भक्ति रूपी आनन्द के सागर में पड़ा-पड़ा अमृत पान करता रहता है और परम सुख का सदा अनुभव करता रहता है। इन्हीं सब बातों को सोच समझ कर, व्यासजी ने इस महान् ग्रन्थ की रचना की। बनाने के पश्चात् फिर इसका संशोधन निरीक्षण भी किया। तब इसे श्रीशुक को पढ़ाया।

अब आपका प्रश्न है, कि शुकदेव तो परम ज्ञानी थे, महान् विरक्त थे, लँगोटी भी नही लगाते थे, दिगम्बर ही फिरते रहते थे, आश्रम पर भी नही आते थे, बनों में सदा उन्मत्त

पागलों की भाँति ही घूमते रहते थे, भूख लगने पर भाग्यशालिनी गृहस्थियों के घर से भिक्षा ले आते थे। ऐसे वि... परमहंस ने इस इतनी बड़ी पोथी को पढ़ा कैसे ? सो शौनकजी इसमे कुछ आश्चर्य की बात नहीं। न शुक का दोष, न ... ज्ञान वैराग्य की कमी। यह सब तो इस ग्रन्थ की सरसता का ही दोष है। इसमे कोई ऐसा मधुर, मादक, चित्त को स्वत ही खीचने वाला अद्वितीय रस भरा है, कि कैसा भी विरक्त क्यो न हो, उसका मन खिच ही जाता है। आप सब कुछ त्याग सकते हैं, सबसे दूर भाग सकते है, किन्तु जहाँ कान के द्वारा हृदय में यह रस पहुँचा, कि हृदय फिर खील-खील होकर बिखर जाता है। चिकनी मिट्टी की तरह पानी पड़ते ही आर्द्र हो जाता है। जैसे चुम्बक लोहे को खीच लेता है, वैसे ही इसकी सरसता हृदय को खीच लेती है। श्रीशुक भी ऐसे ही फँस गये। व्यासजी ने श्रीकृष्ण गुनो वाला जाल बनाकर, रूप माधुरी वाली वंशी बजाकर, इन्हें जञ्जालों से फँसा लिया, फिर नित्य मधुर श्लोक रूपी आहार देकर, इन्हें परिपुष्ट बना दिया। जब ये उस अद्भुत आहार को पाकर परिपुष्ट और सबल बन गये तब इन्हें स्वतन्त्र करके छोड़ दिया। फिर ये अपनी मनोहर मूर्ति से ससार को सुखी बनाते हुए स्वच्छन्द गति से घूमने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"महाभाग ! व्यासजी ने ज्ञानी शुक को कैसे फँसाया ? इस कथा को आप हमें विस्तार के साथ सुनाइये। इतने से हमारी तृप्ति नहीं हुई।'

ऋषियों की इस बात को सुनकर सूतजी कहने लगे—"मुनियो पैदा होते ही मेरे गुरुदेव भगवान् श्रीशुक इन संसारी सभी सम्बन्धों को बन्धन मानकर वन के लिये भाग गये। उन्होंने

अपने पिता की भी बात नहीं मानी। पिता समझते थे, मेरा पुत्र महान् ज्ञानी है। इसे मोह ममता से मैं अपने पास नही बुला सकता। यह यदि वश मे आ सकता है, तो श्रीकृष्ण रसायन के लोभ से ही आ सकता है। हरि गुणगान सुनकर ही इसका हृदय द्रवीभूत हो सकता है। इसीलिये श्रीमद्भागवत की रचना करके उसके अति मधुर श्लोक उन्होने अपने छात्रों को ताल स्वर सहित पढ़ा दिये। जब वे सस्वर उन्हें सीख गये, तब उन्हें आज्ञा दी—तुम वन में फल, मूल, कुशा, समिधा लेने जब भी जाया करो, तब ही इन्हे स्वर सहित गाया करो। शिष्यों ने ऐसा ही किया। यही श्रीकृष्ण गुन रूपी डोरी से बुना हुआ, शुक रूपी मृगशावक को फँसाने वाला; प्रेम रूपी जाल था। एक दिन शुक इसमें फँस गये। उनके कानों में भगवान की रूप माधुरी और दयालुता के गुणों वाला एक श्लोक सुनाई दिया। उसे सुनते ही वे पिता के पास दौड़े आये और उसे सिखाने के लिये आग्रह करने लगे। अपने कार्य की सफलता पर सत्यवती नन्दन हँसे और अपने सरल सुत से स्नेह सहित बोले—बेटा एक नही १८ हजार श्लोक मैंने ऐसे ही बनाये है और तुम्ही उसके अधिकारी हो। तुमसे उत्तम पात्र इस संसार में दूसरा है ही नही। इसे पढ़ो, समझो, गाओ, स्वय सुखी होओ, और संसार को इसका सन्देश सुनाकर सुखी बनाओ। बेटा, तुम्हारा कल्याण हो आज मेरा श्रम सफल हुआ। आज मेरी साधना पूरी हुई। आज मैं कृत-कृत्य हुआ। आज नारदजी की आज्ञा का यथोचित पालन हुआ। आओ बेटा, पढ़ो, इतना कहकर उन्होने सभी भागवत श्रीशुकजी को पढ़ा दी। उसे पढ़ कर ही उन्होंने गङ्गा किनारे राजा परीक्षित् को सुनाई।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! यह मैंने श्रीशुक का वृत्तांत सुनाया अब आप और जो पूछना चाहते हों, वह मुझसे पूछें उसे मैं आपके सामने कहूँगा।"

छप्पय

बोले शौनक—"सूत ! सुनाओ शुक की शिक्षा।
वैरागी बनि फिरें, करें घर-घर तें भिक्षा॥
कैसे आके पढी संहिता सात्वत सबरी।
कैसे बांची कथा, मिटाओ शङ्का हमरी॥
बोले सूत—"सुने सरस, अति मधुमय भगवत चरित।
फँसे प्रेम के फन्द में, ज्यों मृग बीना स्वर सुनत॥

परीक्षित् के पूर्वज

[२६]

परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम् ।
संस्थां च पांडुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० ७ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

भरत वंश में भूप, भये शन्तनु सुखदाता ।
विदुर, पांडु, धृतराष्ट्र, पौत्र तिनके विख्याता ॥
पाण्डव पाँचों पांडु तनय धृतराष्ट्र पुत्र शत ।
पाण्डव परम प्रसिद्ध, किन्तु कौरव अति निन्दित॥
राज्य हेतु भारत भयो, पाण्डु-पुत्र विजयी भये ।
भीम सुयोधन, जाँघ कूँ, तोरि छोरि निज घर गये ॥

ऋषियों के दो प्रश्नों का जब सूतजी ने उत्तर दे दिया, तो अब शौनकजी सूतजी से महाराज परीक्षित् के जन्म के सम्बन्ध का तीसरा परम पावन प्रश्न पूछते हैं, जिसमें श्रीकृष्ण की महान् भक्त—वत्सलता का वर्णन है। ऋषियों की ओर से

*सूतजी शौनकादि ऋषियों से कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं आपके सम्मुख राजर्षि परीक्षित् के जन्म कर्म और मोक्ष की कथा को कहता हूँ। साथ ही पांडवों के महा प्रस्थान की कथा भी कहूँगा।

शौनक ने पूछा—'महाभाग,सूतजी!आपने हमें व्यास नारद सम्वाद सुनाया। श्रीशुक ने किस प्रकार भागवती संहिता को पढा, यह बात भी बताई। अब हम आपसे महाराज राजर्षि परीक्षित् के जन्म की कथा सुनना चाहते हैं। इस महाराज का जन्म किस वंश मे हुआ ? श्रीकृष्ण की इनके ऊपर इतनी कृपा क्यों हुई ? इन्हें ब्राह्मण का शाप क्यों हुआ ? ये गङ्गा किनारे जाकर अन्न जल त्याग कर क्यो बैठे ? श्रीशुक मुनि से इनकी भेट कहाँ और कैसे हो गई ? श्रीशुक ने इन्हें कौन सी कथा कितने दिन मे सुनाई ? किस प्रकार इन राजर्षि की मुक्ति हुई ? इन कथाओं को सुनाइये, यदि इनकी गणना भागवती कथाओं में होती हो तो। यदि इनमें श्रीकृष्ण-कथा का सम्पुट हो तभी ये श्रवणीय हैं। हम तो श्रीकृष्ण-कथा रूपी रस के रसिक हैं।"

ऋषियों के प्रश्न को सुनकर सूतजी बोले—"परम आदरणीय मुनियो ! आपके प्रश्न श्रीकृष्ण कथाश्रित ही है। इन सब कथाओं की गणना भागवती कथाओं में ही की जाती है, क्योंकि आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ही इन सब कथाओं में ओतप्रोत है। जैसे सूत्र के बिना माला का अस्तित्व नहीं, वैसे ही श्रीकृष्ण के बिना इन कथाओं का कोई मूल्य नहीं। अब मैं राजर्षि परीक्षित् के जन्म की कथा उनके लोक प्रसिद्ध कर्मों की कथा कहता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

आप पूछेंगे कि इन लड़ाई झगड़े की बातों को क्यों करते है?सो मुनियों ! इन्ही के आश्रय से तो श्रीकृष्ण ने अनेकों कमनीय क्रीड़ायें की हैं। इनमें श्रीकृष्ण-कथाओं का उद्गम है।"

चन्द्रवंश में दुष्यन्त के वीर्य से और तापस-कन्या शकुन्तला के गर्भ से महान् प्रतापशाली महाराज भरत का जन्म हुआ। ऋषियो ! इस समय आप अपनी उत्सुकता को रोकें। मैं इन सब चन्द्रवंशी, सूर्य्यवंशी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं के चरित्र प्रसङ्गानुसार आगे कहूँगा। इस समय तो केवल महाराज परीक्षित् के पूर्वज होने के नाते, इनका नामोल्लेख मात्र ही देता हूँ।

हाँ, तो ये महाराज बड़े प्रतापशाली हुए। गङ्गा यमुना के मध्य में इन्होंने सैकड़ों बड़े-बड़े अश्वमेध प्रभृति यज्ञ किये। दशों दिशाओं में इनका प्रबल पराक्रम प्रसिद्ध था। इन्हीं के नाम से इनका वंश भरतवंश कहलाया। इसी भरत वंश में एक महाराज हस्ती हुए, जिन्होंने हस्तिनापुर नगर को गङ्गा के दक्षिण तट पर बसाया। इसी हस्तिनापुर में भरतवंश के महाराज प्रतीप हुए। वे राजर्षि इतने सुन्दर थे, कि स्वयं भगवती गङ्गा ने साकार स्वरूप धारण करके, इनसे पाणि-ग्रहण की याचना की। महाराज ने श्रीगङ्गाजी को अपने पुत्र शन्तनु की पत्नी बनाना स्वीकार किया। भगवती भागीरथी ने इस प्रतिज्ञा के सहित शन्तनु की पत्नी बनना स्वीकार किया कि वे मेरे किसी कार्य में हस्तक्षेप न करें। जिस दिन वे मेरे काम में हस्तक्षेप करेंगे। उसी समय मैं अन्तर्धान हो जाऊँगी। महाराज शन्तनु ने इसे स्वीकार किया और गङ्गाजी के साथ उनका विवाह हो गया। कुछ शाप से शापित हुए देवता गङ्गाजी के गर्भ से उत्पन्न हुए। गङ्गाजी उन्हें उत्पन्न होते ही अपने जल में फेंक देतीं और वे शाप मुक्त होकर स्वर्ग चले जाते। महाराज शन्तनु को इससे बड़ा क्लेश होता। वे दैव के रहस्य को तो समझते नहीं थे। इस प्रकार गङ्गाजी ने सात पुत्रों को फेंक दिया।

आठवाँ पुत्र जब हुआ, तो राजा को बड़ा दुःख हुआ और व
बोले—'देवि ! तुम कौन हो, जो ऐसा नृशंस और क्रूर कार्य
करती हो ? मेरे वंश को नष्ट ही कर दोगी क्या ?"

बस, इतना कहना था, कि गङ्गाजी हँसीं और मन ही मन
सोचने लगी—इसी के जन्म के लिये तो मैं आई। मेरा कार्य
समाप्त हो गया। वे राजा से बोली—'राजन् ! हमारी आपकी
प्रतिज्ञा भङ्ग हुई, मैं चली।' इतना कहकर गङ्गाजी वहीं अन्तर्धान
हो गईं और अपने जल रूप में विलीन हो गईं।

उन गङ्गा के पुत्र गांगेय का नाम देवव्रत हुआ। वे बड़े
पराक्रमी शूरवीर और सर्वगुण सम्पन्न थे। एक दिन महाराज
शन्तनु मृगया के निमित्त गङ्गा किनारे गये। वहाँ उन्होंने
आभा से दशों दिशाओं को आलोकित करने वाली परम
रूपवती, दाशराज की कन्या, सत्यवती को देखा। उसका रूप
लावण्य संसार में अप्रतिम था। उसके अङ्ग से दिव्य गन्ध
निकल रही थी। राजा उसके रूप पर मोहित हुए और उन्होंने
उसके पिता से अपने लिये उसकी याचना की। निषादराज इस
प्रस्ताव को सुन कर परम प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'राजन् !
यह भी एक राजर्षि के वीर्य से उत्पन्न कुलीन बालिका है। मैं
तो इसका पोषक पिता हूँ। इसका विवाह तो मुझे करना ही है
और आप से योग्य वर संसार में मिलेगा कहाँ? किन्तु मैं चाहता
यह हूँ, कि इसके गर्भ से जो बालक हो, वही आपके राज्य का
उत्तराधिकारी बने।'

राजा उदास हुए। वे अपने सर्वगुण सम्पन्न, आज्ञाकारी,
युवा पुत्र गांगेय को जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ होने से राज्य के सर्वथा

अधिकारी थे, उन्हें छोड़ कर दूसरी छोटी पत्नी के पुत्र को राज्याधिकारी कैसे बना सकते थे ? वे निराश होकर लौट आये। मन्त्रियों से अपने पिता की इच्छा समझ कर, गांगेय गङ्गातट पर निषादराज के समीप गये। उन्होंने जाकर उससे कहा—"तुम जैसे कहते हो वैसा ही होगा। मेरे पिता के साथ इन देवी का विवाह कर दो।"

देवव्रत के पराक्रम से भयभीत,किन्तु लोभी निषाद बोला—'आप तो धर्मात्मा हैं। आप अपनी तो प्रतिज्ञा पूरी करेंगे ही, किन्तु आप के पुत्रों ने मेरी पुत्री के पुत्रों से राज्य छीन लिया तब क्या होगा ?'

अपने पिता की प्रसन्नता के लिये देवव्रत ने भीष्म प्रतिज्ञा की—'अच्छी बात है, मैं विवाह ही न करूंगा, जिसके

तुम्हें कोई शङ्का ही न हो।' उनकी इस भीषण प्रतिज्ञा स्वर्गीय देवताओं ने पुष्प वृष्टि की। शन्तनु का सत्यवती विवाह हो गया। उसके गर्भ से चित्राङ्गद तथा विचित्रवीर्य पुत्र हुए। चित्राङ्गद अविवाहित ही चित्राङ्गद नामक गन्धर्व हाथ से मारे गये। विचित्रवीर्य का विवाह काशीराज की तथा अम्बालिका नामक दो पुत्रियो के साथ हो गया। उन अधिक आशक्त रहने के कारण, वे भी अल्प आयु में ही राज रो से पीड़ित होकर निःसन्तान ही चल बसे। भरतवंश का मूलच्छे दन न हो, अतः सत्यवती ने अपने कालीन पुत्र भगवान् व्यास बुलाकर, उनकी पत्नियों मे—आपद्धर्म से—सन्तान उत्पन्न करवाई बड़ी रानी के एक अन्धा पुत्र हुआ, जिसका नाम धृतराष्ट्र हु जन्मान्ध होने से—बड़े होने पर भी—वे राज्य के अधिकारी समझे गये छोटी से परम प्रतापी महाराज पांडु हुए। दासी परम नीतिज्ञ विदुर जी का जन्म हुआ। पांडु का विवाह कुन्ती और माद्री के साथ हुआ। एक मृग रूपी ऋषि के शाप महाराज पांडु सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ हुए। त्रिकाल ऋषि दुर्वासा ने यही समझकर और कुन्ती के गुणों से सन्तुष्ट होकर, उन्हें देवताओं को बुलाने की विद्या प्रदान की। वंश की रक्षा के लिये अपने पति की आज्ञा पाकर कुन्ती ने धर्म, वायु और इन्द्र से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—ये तीन पुत्र उत्पन्न कराये तथा माद्री से अश्विनीकुमारों के द्वारा नकुल और सहदेव का जन्म हुआ। धृतराष्ट्र का विवाह गंधार देश के राजा की पुत्री गांधारी के साथ हुआ, जिससे व्यासदेव की कृपा से सौ पुत्र हुए, जो कौरव कहाये।

भरतवंश की गद्दी पर पांडु ही बैठे। उन्हें ही न्यायतः राज सिंहासन मिला, किन्तु वे बड़े मृगया प्रेमी थे। अतः राज्य

का भार अपने बड़े अन्धे भाई धृतराष्ट्र को सौंप कर वे गन्धमादन पर्वत पर (पांडुकेश्वर के समीप) लोकपाल के वनों में विहार करते हुए वही रहने लगे। वहीं वन में पाँचों पांडवों का जन्म हुआ। वही महाराज पांडु स्वर्गगामी हुए। तब तक पांडवों का पैतृक राज्य कौरवों के अधिकार मे आ चुका था। पाडव अभी तक अनाथ बच्चे थे। धृतराष्ट्र ने उनका पुत्रवत् पालन तो किया, किन्तु उनकी अधिक ममता अपने पुत्रो पर ही थी। दुर्योधन स्वभाव से ही क्रूर था। नियमानुसार अन्धे का पुत्र होने से और अवस्था मे भी युधिष्ठिर से छोटा होने से, वह राज्य का अधिकारी नहीं था। किन्तु पिता के अन्धे होने के कारण, राज्य पर उसी ने अधिकार जमा रखा था। पांडवों से वह आरम्भ से ही द्वेष रखता था। और उन्हें मार डालने की भाँति-भाँति के प्रयत्न करता रहता था, किन्तु पांडवों के रक्षक तो श्रीकृष्ण थे।

राजा शन्तनु एक बार मृगया को गये, तो इन्हें सरकण्डे के वन में एक लड़का, एक लड़की—ये दो सद्यःजात बालक पड़े मिले। चिह्नों से ब्राह्मण वंश के ये है, यह समझ कर कृपावश वे उन्हें उठा लाये। बच्चे का नाम कृप और बच्ची का नाम कृपी रखा। ये ही कृप आगे चल के पांडवों के आचार्य कृपाचार्य हुए। बच्ची कृपी का विवाह गौतम पुत्र, धनुर्विद्या विशारद, श्रीद्रोणाचार्य से हुआ, जिसके गर्भ से अश्वत्थामा नाम का, एक परम पराक्रमी, शूरवीर पुत्र हुआ। भाग्यवश दारिद्रय के दुःख से दुखी होकर तथा अपने बालसखा द्रुपद से अपमानित होकर द्रोणाचार्यजी भी हस्तिनापुर आ गये और कौरव पांडवों को धनुर्विद्या सिखाने लगे।

दुर्योधन की इच्छा पांडवों को राज्य देने की नहीं थी। वह

उन्हें मार डालना चाहता था। इससे उन्हें वारणावत में भे कर,लाख का घर बनाकर, जला डालने का उसने प्रयत्न किया विदुर की बुद्धिमानी से पाण्डव कुन्ती सहित निकल भागे औ भिक्षा पर निर्वाह करते हुए जंगलों में भटकते रहे। उसी समय द्रौपदी के साथ पाँचो पांडवो का विवाह हुआ। सबके समझा पर धृतराष्ट्र ने आधा राज्य पाण्डवों को दे दिया और वे इन्द्र प्रस्थ में अपनी राजधानी बनाकर रहने लगे। प्रसंगवश अर्जुन द्वारका गये। वहाँ उनका विवाह श्रीकृष्ण भगवा की बहिन सुभद्रा के साथ हुआ। उसी के गर्भ से अभिमन्यु का जन्म हुआ। दुर्योधन के षड्यन्त्र से शकुनी आदि धूर्त जुआ डियो के साथ धर्मराज युधिष्ठिर का जुआ हुआ। छल कौरवों ने उनका सर्वस्व जीतकर,उन्हें चौदह वर्ष के लिये वनवास दे दिया और एक वर्ष का अज्ञातवास। पाण्डवों ने बारह वर्ष वनों में बिताकर, अज्ञातवास का समय राजा विराट् के यहाँ बिताया। वही पर महाराज की लड़की उत्तरा का विवाह अर्जुन नन्दन अभिमन्यु के साथ हुआ। उन्हीं उत्तरा के गर्भ से अभिमन्यु सुत महाराज परीक्षित् का जन्म हुआ। जब ये गर्भ में ही थे, तभी अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र छोड़ कर इन्हें माता के पेट में ही मार डालना चाहा था, किन्तु श्रीकृष्ण ने माता के गर्भ में घुसकर इनकी रक्षा की। गर्भ में ही इन्हें भगवान् के दर्शन हुए और ये बार बार उन्हें देखकर परीक्षा करने लगे कि ये कौन है इसीसे इनका नाम परीक्षित् हुआ।

इस कथा को सुनकर शौनकादि ऋषियों ने पूछा—"सूतजी! अश्वत्थामा तो ब्राह्मण थे, धर्मात्मा थे। उन्होंने गर्भ-हत्या जैसा क्रूर कार्य क्यों किया? और फिर ब्रह्मास्त्र से दग्ध हुए बालक को भी भगवान् ने गर्भ में ही कैसे बचाया? इस

ृत्तान्त को आप विस्तार से कहें। यह तो बड़े ही आश्चर्य की ात है, तब तो महाराज परीक्षित् बडे ही भगवत् कृपापात्र ह, जिन्हें गर्भ मे ही भगवत् साक्षात्कार हुआ। स्वय श्रीकृष्ण ने गर्भ में घुस कर उनकी रक्षा की। यह तो परीक्षित्-कथा न होकर श्रीकृष्ण-कृपा-कथा ही कही जा सकती है।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! भाग्य सब करा लेता है। जिस समय जैसा कार्य होना है, उस समय वैसी ही बुद्धि बन जाती है। जब अज्ञातवास की प्रतिज्ञा पूरी करने पर भी पापी दुर्योधन ने पाण्डवों का पैतृक राज्य उन्हें नहीं लौटाया तो दोनों में बड़ा घोर युद्ध हुआ। कौरवों की सेना अधिक थी, उनके पास समर सम्बन्धी सामान भी विपुल मात्रा में था, उनकी ओर बली पराक्रमी शूर-वीर भी अधिक थे। पाण्डवों की ओर सेना भी कम थी, सामान भी सामान्य ही था। भीष्म, द्रोण, कर्ण के समान पराक्रमी वीर भी नही थे, किन्तु एक ही बात उनकी ओर अधिक थी, जिससे पाण्डवों की विजय हुई। उनके मन्त्री, सेवक, सारथी, स्वामी और सर्वस्व श्रीकृष्ण स्वयं ही थे। "जाके रथ पर केशो, ताको कौन अन्देशो।"

कौरवों के त्रैलोक्य विजयी भीष्म, द्रोण, कर्ण और कृप—ये सभी सेनापति क्रमशः एक के पश्चात् एक मारे गये। उनकी सम्पूर्ण सेना भी नष्ट हो गई। सेना और सेनापतियो के मारे जाने पर दुर्योधन रणक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ और अपनी मन्त्र शक्ति से जल को स्तम्भित करके, एक बडे तालाब में जाकर छिप गया।

जब पाण्डवों ने देखा, कि जिसके पीछे इतना युद्ध हुआ, वह अभी तक जीवित ही है, जिस कांटे के कारण सम्पूर्ण

पैर सूज गया, वह काँटा अभी शरीर से बाहर नहीं हुआ, द
वे दुर्योधन को खोजने चले। दूत और चारों की सहायता
यह निश्चय हो गया, कि दुर्योधन इसी सरोवर में छिपा है
तब तो पाण्डव उसे अनेक कठोर-कठोर बातें कह कर युद्ध
लिए ललकारने लगे।

अपने को परम शूर-वीर योद्धा समझने वाला अम
और अभिमानी दुर्योधन, ये सब बातें सुन कर सरोवर से बाह
निकला। पाण्डवों ने उसे द्वन्द युद्ध के लिये ललकारा। उस
भीम के साथ गदा युद्ध करना स्वीकार किया। दोनों ही को
में भर कर एक दूसरे को जीतने की इच्छा से अपनी-अपनी ग
लेकर रणाङ्गण में उतर आये। दोनों का यह रोमांचका
परम-भीषण युद्ध था। दोनों ही बली थे। दोनों ही एक दूस
को नष्ट करने पर उतारू थे।

उस युद्ध को देखने को आकाश मण्डल में देवताओं
असंख्यों विमान खड़े थे। दोनो में ही हजार-हजार हाथिय
का बल था। दोनों ही बलदेवजी के शिष्य थे। वे परस्प
मे दो मतवाले हाथियों के समान भिड़ गये। उन्मत्त द
साँड़ जैसे अपने सींगो से लड़ते हैं, वैसे ही वे दोनो गदाओं
से एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। दो सिंह जैसे युद्ध मे
उछल कर परस्पर प्रहार करते हैं,वैसे ही वे दोनो लड़े दोनों का
बल समान था, बल में भीम चाहे अधिक भले ही हों किन्तु युद्ध
कौशल में दुर्योधन बढ़ चढ़ कर था। उसने बलदेवजी की श्रद्धा
सहित सेवा करके गदा विद्या प्राप्त की थी।

धर्मयुद्ध में भीमसेन उसे कभी नही हरा सकते थे। गदायुद्ध के
नियम के विरुद्ध भीमसेन ने उसकी दोनों जंघाओं को तोड़ दिया।

दा-युद्ध में कटि से नीचे प्रहार करना निषेध है, किन्तु श्रीकृष्ण का जिस कार्य में संकेत हो, वह विधि निषेध से परे हो जाता है। दुर्योधन घायल होकर गिर पड़ा। भीम ने क्रोध में भर कर उसके सिर पर पैर रख दिये और भाँति-भाँति से अपमानित करके, विजय के डंका बजाते हुए, उसे उसी दशा में वहीं छोड़कर, सब अपने-अपने शिविरों की ओर चले गये।

हाय! यह क्षत्रिय धर्म कितना क्रूर है। भाई भाई को पशु की तरह मार डालता है। पैतृक मोह ममता को त्याग कर ये कैसा नृशंस व्यवहार करते हैं। एक दूसरे के रक्त के प्यासे बन जाते हैं। विधि की कैसी विडम्बना है? धर्म की कैसी सूक्ष्म गति है। कल तक जो संसार में सम्राट करके सम्मानित था, ११ अक्षोहिणी सेना का स्वामी था। हजारों लाखों मुर्धाभिषिक्त महाराजा जिसका कार्य भृत्य के समान करते थे, आज वही अपने भाई भीम के द्वारा अर्ध मृतकावस्था में पड़ा-पड़ा विलाप कर रहा है। कल तक जिसकी सेवा में लाखों दास दासी उपस्थित थे, आज उसे कोई पानी देने वाला भी नही है। पांडव उसे घायल करके वही असहाय छोड़कर चले गये। इससे तो अच्छा था, उसे जान से मार देते। अब वह न मरा है, न जीवित। दोनों जाँघों के टूट जाने से वह उठ नहीं सकता। बिना जल के जैसे मछली तड़फड़ाती है, उसी तरह वह जाँघों की पीड़ा से तड़प रहा था। गला सूख गया था, कोई पानी देने वाला भी पास नहीं था। पांडवों ने इतना भी नहीं किया, कि उसकी रक्षा का कुछ प्रबन्ध कर जाते। पाप का परिणाम तो भोगना ही पड़ता है।

उस समय दुर्योधन की दशा अत्यन्त दयनीय थी। युद्ध के मृतक वीरों के रक्त मांस के लोभी, कंक, गृद्ध, सियार चारों

ओर दौड़ रहे थे। दुर्योधन को भी वे मृतक शव ही समझते। कभी कोई गीध आता और टूटी जांघ से मांस नोच कर भाग जाता, कभी कोई सियार आता। हजारों लाखों गिद्ध, कौए सियार, गीदड़ वहां दौड़ रहे थे। बड़े-बड़े, लाल-लाल चोंच वे गीधों ने उसे घेर रखा था, किन्तु गदा घुमा-घुमा कर उनसे अपनी रक्षा कर रहा था, किन्तु गदा कब तक घुमाता, एक तो युद्ध से थका था, दूसरे दोनों जंघाओं से निरन्तर रक्त के स्रोत वह कर, पृथ्वी को रक्त-रंजित बना रहे थे। उनमें पीड़ा भी असह्य होती थी। जब घुमाते-घुमाते थक जाता, तभी कङ्क गृद्ध आकर उसके जीवित शरीर से मांस नोंच ले जाते और भाग जाते। जाँघों के टूट जाने से वह उनका पीछा भी नहीं कर सकता था।

दुर्योधन ने बड़े करुण स्वर में पुकारा—'हाय! आज मेरी यह दशा हो गई। मेरी सेना में यदि कोई बचा हो, तो वह आकर मेरी यह दशा देखे। कोई मेरी यह बात सुनता हो, तो मेरे सैनिक सेवकों से जाकर यह सब समाचार कह दे।

इधर उधर वन में घूमने वाले सेवकों ने यह बात जाकर दुर्योधन के सैनिकों से कही। उसकी सेना में द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीन प्रधान बच गये थे। कुछ सेना भी शेष थी। जब सबने यह समाचार सुना, तो कृपाचार्य को आगे करके सब दुर्योधन के समीप गये। उसकी ऐसी दशा देख कर सभी रो पड़े। सभी दुर्योधन के लिये विलाप करने लगे।

मनुष्य कितना आशावादी है। सचमुच मनुष्य आशा के ही सहारे जीता है। यदि जीवन में आशा सहचरी न हो, तो कोई एक क्षण भी जीवित न रहे। कोई किसी आशा से, कोई

किसी आशा से, अपने को बचाये हुए हैं। संसार का आस्तित्व आशा के ही ऊपर अवलम्बित है।

जिन परशुराम ने एक बार नही,दो बार नही,इक्कीस बार समस्त पृथ्वी को निःक्षत्रिय बना दिया, सहस्रार्जुन जैसे हजार हजार हाथ वाले महान् पराक्रमी वीर की बाहुओं को जिन्होंने गूलर के फलों की तरह--फरसे से काट-काट कर फेंक दिया, उन्हीं परशुराम को युद्ध में परास्त करने वाले भीष्म मर गये। परशुराम के सभी अस्त्रों को धारण करने वाले, विश्वविख्यात, धनुर्विद्या के मूर्तिमान रूप, द्रोण चल बसे। प्रबल पराक्रमी कर्ण मृत्यु के मुख में विलीन हो गये। शूर—वीरों में शिरोमणि शल्य समर में मरकर स्वर्गगामी हुए, स्वय दुर्योधन भी गदायुद्ध में परास्त होकर मृतप्राय बना हुआ है। कङ्क, गृह जीवित अवस्था में ही जिसके माँस को उसकी आँखों के सामने—नोचे ले जा रहे हैं, पक्षियों तक से जो अपनी रक्षा करने में असमर्थ है, इतने पर भी अभी उसे विजय की आशा बनी हुई है। आशे तुम सबको जीवन धारण कराने वाली हो। देवि!तुम्हारे ही पीछे जग में व्यापार है। 'जब तक स्वाँसा, तब तक आशा—यह लोकोक्ति सत्य है।

अपने पक्ष के वीरों के आने पर उनसे दुर्योधन ने मन्त्रणा की। उसने फिर युद्ध करना स्थिर किया। शल्य के मरने के पश्चात् अश्वत्थामा को उसने उसी दशा से सेनापति बनाया। आचार्य कृपा ने उसी कङ्क, गृद्धों से भरे स्थान में अश्वत्थामा को सेनापति पद पर अभिषेक किया। अश्वत्थामा अपने पिता को छल से मार देने के कारण पांडवों पर अत्यन्त ही कुपित था। उसने दुर्योधन के सामने पाण्डवों के वंश का मूलोच्छेदन करने

की प्रतिज्ञा की और वह पाप बुद्धि रखकर पाण्डवों के नाश के लिये उद्यत हुआ।

छप्पय

जंघा टूटी युगल सुयोधन अति दुख पायो।
कङ्क काक अरु गृद्ध नोंचि वृण-मज्जा खायो॥
अश्वत्थामा सुनत शीघ्र शोकाकुल धायो।
दुर्योधन की दशा देखि नयननि जल छायो॥
द्रोण तनय नायक किये, सांसा तक आशा रहत।
जैसे जल डूबत तृणहिं, पकरि पार पावन चहत॥

अश्वत्थामा द्वारा पांडवों के पाँचों पुत्रों की मृत्यु

(२७)

भर्तुः प्रियं द्रौणिरितिस्म पश्यन्,
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद् विप्रियमेव तस्य तज्
जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ॥*

(श्रीभा० १ स्क० ७ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

अश्वत्थामा चल्या पाप मति मन महँ आई।
पितृ मृत्यु करि यादि धर्म गति दई भुलाई॥
पाण्डव कुल को बीज नाश कैसे हूँ होवे।
प्रति हिंसा महँ धर्म, सत्य सब ही नर खोवे॥
द्रुपद सुता के सुत सभी, सोवत सुख तें शिविर में।
तुरत तीक्ष्ण तरवारि तें, सिर काटे निशि तिमिर में॥

प्रतिहिंसा में मनुष्य अपना सब विवेक खो बैठता है। जिसने हमारे विरुद्ध व्योहार किया है या हमारा कोई अप-

* द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने यह सोचा, कि जैसे भी हो अपने स्वामी का हित ही करना चाहिये। यही सब सोचकर उसने शिविर मे

कार किया है, उससे बदला लेने की वासना जब हृदय बलवती हो उठती है, तब फिर हृदय में क्रूरता आ जाती है क्रूरता बड़ी निर्दया होती है। वह आते ही धर्म से कहती है- अब इस स्थान को तुम खाली करो; यहाँ तो मैं रहूँगी। सी सादे सरल चित् धर्म, स्त्री से लड़ाई झगड़ा करना उचित समझ कर वहाँ से चले जाते हैं और क्रूरता वहाँ पर पैर फै कर बैठ जाती है। पुरुष उसके वश में हो जाता है, फिर उस लिये उचित अनुचित का भेद नहीं रह जाता। मेरे विपक्षी जिस प्रकार भी नाश हो, वही उचित है। ऐसी उसकी दृढ़ धार हो जाती है।

जब कौरव-पांडव युद्ध मे कौरवों की हार हो गई अ पांडवो की विजय हुई, तब पांडवों की ओर तो धृष्टद्युम्न शिखण्डी तथा और भी बहुत से शूरवीर तथा सैनिक शेष र गये थे, किन्तु कौरवों की ओर कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्व त्थामा ये तीन ही बाकी थे। जब दुर्योधन की अनुमति कृपाचार्य ने इतने पर भी अश्वत्थामा को सेनापति बना क पांडवों के नाश के लिये भेजा तो उत्साह में भरकर महावी अश्वत्थामा अपने दोनों साथियों के साथ पांडव—शिविर व ओर चला। रात्रि हो आई थी, वे जाकर एक घने वटवृक्ष नीचे बैठे। उस समय अश्वत्थामा ने क्या देखा, कि सोते हु कौओ को एक उलूक मार-मार कर नीचे फेंक रहा है अश्वत्थामा के हृदय में तो प्रतिहिंसा की बहिन क्रूरता आक

सोये हुए द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के सिर काट लिये। जब उसने यह समाचा दुर्योधन को सुनाया, तो उसने इसके इस कार्य की प्रशंसा नही की क्योंकि निन्दित कार्य की सर्वत्र ही निन्दा होती है।

बैठ गई थी। उसने भी यही निश्चय किया, कि मैं भी पांडव पक्ष के बचे हुए वीरों का इसी—प्रकार सोते हुए ही—संहार करूँगा। उसने अपना यह अभिप्राय कृपाचार्य और कृतवर्मा के प्रति प्रकट किया। उन्होंने धर्म का मर्म बताकर बहुत प्रकार से उसे समझाया और ऐसा कार्य करने की सम्मति न दी, किन्तु उसके हृदय में तो प्रति हिंसा की ज्वाला जल रही थी। उसने किसी की एक न सुनी और वह अकेला ही अपने रथ पर चढ़ कर पांडवों के शिविर की ओर चल दिया।

जब उन दोनों ने देखा, यह मानने का नहीं,इसने यह क्रूर कर्म करने का निश्चय ही कर लिया है,तब हम भी इसका साथ दें। कैसा भी हो, राजा ने इसे सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया है। इसकी उचित अनुचित सभी आज्ञाओं का पालन हमें करना ही चाहिये, यह सोचकर कृतवर्मा और कृपाचार्य भी उसके पीछे पीछे चले।

अश्वत्थामा ने देखा, पांडवपक्षीय सभी वीर विजय के उल्लास में निश्चिन्त हुए गाढ़ निद्रा में सुखपूर्वक सो रहे हैं। तब उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु उसने देखा शूलपाणि शिव शिविर के द्वार पर उपस्थित हुए, उन सब की रक्षा कर रहे हैं सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण से तो कुछ छिपा ही नहीं था, वे सब जानते थे। इसीलिये उस दिन पाँचों पांडवों को वहाँ से लेकर कहीं दूर चले गये थे। अश्वत्थामा ने स्तुति करके आशुतोष को प्रसन्न किया और वरदान में भीतर जाने की आज्ञा माँगी। भोलानाथ ही तो ठहरे, कह दिया—'अच्छी बात है, चले जाओ।' बस, फिर क्या था अश्वत्थामा ने सभी सोये हुए सैनिकों, सेनापतियों और बड़े-बड़े वीरों का पशुओं की

भाँति सहार करना आरम्भ किया। महाराज द्रुपद के पुत्रों को बुरी तरह—पशुओं की भाँति—मारकर उसने अपने पिता की

मृत्यु का बदला चुकाया। सोते हुए पांडवो के पाँचों पुत्रों के सिर काटकर, और सबको मार कर, वह शिविर से बाहर निकला। उसे पांडव पक्षीय बचे हुए समस्त वीरों के वध से बड़ी भारी

प्रसन्नता हुई। यह सुखद समाचार आकर उसने कृतवर्मा और अपने मामा कृपाचार्य को सुनाया। अपने विपक्षियों के नाश से सभी प्रसन्न होकर मरणासन्न दुर्योधन के समीप गये। वह लम्बी-लम्बी अन्तिम साँसे ले रहा था। मुख से रक्त वमन कर रहा था। गिद्ध, चील, कौए, सियार उसे उसी तरह घेरे हुए बैठे थे, जैसे आचार्य को घेर कर शिष्य बैठे हों अथवा राजा को घेरकर प्रजा बैठी हो,या दाता,को घेर कर अभ्यागत बैठे हो, या वर को घेरकर बराती बैठे हों,या शल्यकर्म करने को रोगी को घेरकर चीड़-फाड़ करने वाले चिकित्सक और परिचारक बैठेहों। इन तीनों ने जाकर यह कर्ण प्रिय समाचार दुर्योधन को सुनाया।

पांडवों के सर्वनाश से उसे प्रसन्नता तो हुई, किन्तु छोटे-छोटे निरीह सोते बच्चों की मृत्यु का उसने अनुमोदन नही किया। पाण्डवों के कुल का नाश होने से उसे मानसिक पीड़ा ही हुई। उसने सोचा—मेरे कुल में तो अब कोई नाम लेवा पानी देवा रहा नहीं। यदि ये लड़के जीवित रहते, तो हम लोगों को तिलांजलि तो दे देते, श्राद्ध तर्पण तो करते, किन्तु भावी को कौन मिटा सकता है। दुर्योधन ने बड़े कष्ट से अपने प्राणों को त्याग दिया। कौरवों का वंश नष्ट हो गया, उनके वंश में कोई शेष नही रहा। पाण्डवों के द्रौपदी द्वारा उत्पन्न हुए ये पाँच ही पुत्र थे,इनको भी अश्वत्थामा ने मार डाला। अब पांडवों का भी वंश परिक्षीण हो रहा था। केवल एक नन्हीं सी आशा थी। अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की जो अभी बालक ही थे, जिन्हें कौरवों के पाँच सेनापतियों ने घेरकर अन्याय से मार डाला था, उसकी बहू उत्तरा के पेट में कुछ दिनों का गर्भ था। जब इतने बड़े-बड़े बात की बात में मर गये,

तो उस तनिक से मांस पिंड से—जो अभी भली भाँति पुरुषाकार में बना भी नहीं—उससे क्या वंश का नाम चलेगा ? किन्तु आशा, हाय ! आशा देवी ने ही सबके शोक को दबा रखा। सभी की दृष्टि उसी बुद्बुद से बने मांस पिंडकी ओर लगी रही।

प्रातःकाल पाण्डव लौटे। पुत्र शोकातुरा द्रौपदी ने अपने भाइयों और पुत्रों की भयङ्कर—हृदय हिला देने वाली—मृत्यु रो-रोकर अपने पाँचों पतियों को सुनाई। पुत्र शोक से वह अधीर हो रही थी। अश्रु उसके रुकते नहीं थे। वह बार बार पछाड़ खाकर गिर पड़ती और फिर बड़े जोर से चिल्लाती—हा ! मेरे लाल ! हा मेरे भाइयो ! उसके वे पाँच पुत्र ही सहारे थे, उसकी दो आँखों के वे ही पाँच तारे थे, उन्ही पर उसकी सम्पूर्ण आशायें लिपटी थीं, उन्हीं के लिये वह जीवित थी। उन्हीं की श्री वृद्धि के लिये इतना युद्ध किया, उन्ही के लिये वह सदा चिन्तित रही थी। वे भी मारे गये, समर में नहीं—सोते हुए वीरों की तरह नहीं—पशुओं की तरह, योद्धा के अस्त्र से नही, क्रूर पुरुष हत्यारे की हत्या से उनका प्राणान्त हुआ। रोते-रोते उसने आकाश को गुँजा दिया। उसके करुण विलाप को सुनकर आकाशचारी पक्षी भी उड़ने से रुक गये और वे भी उसके दुःख में दुःखी होकर रोने लगे। उसे सान्त्वना देते हुए किरीट माली महाधनुर्धर—श्रीकृष्ण ही जिनके रथ को हाँकने वाले हैं वे—अर्जुन अपनी प्रिया पांचाली से बोले—"प्रिये ! तुम इतना शोक मत करो। जिसने तुम्हारे पुत्रों का सिर काटा है, उसके सिर को मैं अभी लाकर तुम्हें दूँगा। मेरे गांडीव धनुष से छूटे हुए बाण उसके सिर को उसी प्रकार धड़ से अलग कर देंगे, जैसे फेंका हुआ पत्थर पके फल को पेड़ से पृथक कर देता है। देवि ! तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर में

ोक व्याप्त हो गया है। तुम्हारी नस-नस में दुःख लिपट गया । तुम अभी अपने पुत्रों की मृत्यु का अन्तिम स्नान मत करो। ुम इसी प्रकार शोक को शरीर मे लिपटाये बैठी रहो। मैं क्षण र में ही लौट आता हूँ। तुम्हारे सुतों के संहार करने वाले शत्रु ा सिर लाकर तुम्हें दूँगा। उसी पर बैठकर तुम शोक स्नान करना। इससे तुम्हारे शरीर का सभी शोक धुल जायगा। तुम ास आततायी बाल-हत्या करने वाले निर्दयी के सिर पर अपने ारीर का धोया जल डालकर, उसे नरक से बचा लोगी।"

इस प्रकार भाँति-भाँति से अपनी प्रिय पत्नी द्रौपदी को ान्त्वना देकर कपिध्वज अर्जुन ने अपने मित्र, सखा, मन्त्री ौर सारथि श्रीकृष्ण से कहा—"वासुदेव ! मेरा रथ तैयार ीजिये। आज मैं द्रौपदी का प्रिय कार्य करूँगा। शिखण्डी ने ंसे आचार्य द्रोण का सिर काट लिया था, उसी प्रकार मैं उनके ूरकर्मा निर्दयी सुत के सिर को भी काटकर,अपनी प्राणप्रिया के ोक सन्ताप को दूर करूँगा।"

ऐसा सेवक बड़े सुकृतों से,बड़े भाग्य से,पूर्वजन्म के उत्कृष्ट ुण्यों से, नहीं नहीं भगवत् कृपा से प्राप्त होता है, जो सुनते ही स्वामी की सभी आज्ञाओं का यथावत् पालन करदे। वासुदेव भगवान् तो ऐसे ही सेवक हैं। अपने भक्तों के पीछे-पीछे फिरा करते हैं, कि उन्हें कभी कोई कष्ट न हो। उनकी पदधूलि व्यर्थ ी उड़ न जाय, उससे मेरा शरीर पावन बन जाय, अर्जुन के कहते ही उन्होंने सुन्दर रथ लाकर खड़ा कर दिया और बोले— 'कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा रथ तैयार है। देर करने का अब काम नहीं। तुरन्त उठो और अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करो।"

अपने सच्चे सारथि के सामयिक सारगर्भित वचन सु
गांडीवधारी अर्जुन ने अपना दिव्य कवच पहना और
अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर, रथ में आकर बैठ गये।
वासुदेव ने तोत्र के प्रहार से घोड़ों को हांक दिया। रथ चल
पड़ा और वह वायु से बातें करने लगा। आगे चलते ही अर्जुन
ने जाते हुए अश्वत्थामा को देखा। अपने पीछे गांडीवधारी
अर्जुन को आते देख, अश्वत्थामा की सभी सिटिल्ली भूल गई
वह स्थिर न रह सका कि अब करूँ तो क्या करूँ। सर्वेश्वर हैं
सारथि, जिसके ऐसे पार्थ के सम्मुख युद्ध करने का साहस उ
नही हुआ। अतः वह प्राण लेकर शीघ्रता के सहित भागा
अर्जुन ने भी उसका इसी प्रकार पीछा किया जैसे की श्रीशङ्क
ने सूर्य का पीछा किया था।

ऋषियों ने पूछा—"महाभाग शिवजी ने सूर्य का पीछा क्य
किया? इस कथा को भी प्रसङ्गवश हमें सुना कर त
आगे बढ़ें।"

सूतजी बोले—"मुनियो! यह कथा बड़ी विचित्र है
अत्यन्त संक्षेप में उसे आपके सम्मुख मैं सुनाता हूँ। विद्युन्माल
नाम का एक दैत्य था। उसने एकान्त में जाकर शिवजी
की दत्तचित्त होकर बहुत दिनों तक आराधना की। उसकी
कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर, शिवजी ने उसे एक दिव्य
विमान दिया। वह सूर्य के समान चलता था, बड़ा ही सुन्दर
वेगवाला और प्रभा से परिपूर्ण था। उस पर चढ़ कर वह दैत्य
रात्रि में घूमता था। जहाँ भी वह जाता, दिन की तरह प्रकाश
हो जाता। उस मन्दमति ने सूर्य भगवान् से प्रतिस्पर्धा करली
सूर्यदेव को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने अपनी तीक्ष्ण किर

से विद्युन्माली के विमान को भस्म कर डाला। अब वह दैत्य बहुत क्रुद्ध हुआ, किन्तु क्रुद्ध होकर कर ही क्या सकता था। बहुत तीन पाँच करता, तो उसको भी वही दशा होती, जो उसके विमान की हुई है। इसलिये सूर्यदेव से सीधा विरोध न करके, वह अपने वरदाता भगवान् शङ्कर के समीप जाकर रोया। तब समाचार बताते हुए उसने निवेदन किया—"भगवान्! विमान को नष्ट हो जाने का मुझे उतना दुःख नहीं है, जितना दुःख कि आपके अपमान करने का है। मेरा तो उसमें क्या था, उसमें शक्ति तेज आपका था, आपके ही प्रभाव से मैं निर्भय होकर घूमता था। सूर्यदेव ने उसे नष्ट करके आपका तिरस्कार किया है। आपके तेज की अवहेलना की है। आपको उसने कुछ न समझकर युद्ध के लिये ललकारा है। मेरी गति तो आप ही हैं। आप तक ही मेरी पहुँच है।"

भोलानाथ उस दैत्य की बातों मे आ गये और सूर्य भगवान् के पीछे दौड़े। अपने पीछे त्रिशूल लिये शिवजी को देखकर जैसे सूर्य भगवान् भागे थे, वैसे ही अश्वत्थामा अपने पीछे अर्जुन को आते देख कर भागे।

मुनियो! सूर्य और शिवजी की तो बड़ी कथा है। सार यही हुआ, सूर्यदेव ने फिर काशी में आकर शिवजी की ही शरण ली, तब शिवजी ने उन्हे क्षमा कर दिया। काशी में जहाँ सूर्यदेव ने शरण ली। वह लोलार्क कुण्ड के नाम से अब भी परम पावन तीर्थ प्रसिद्ध है।

हाँ तो अर्जुन ने भी अश्वत्थामा का पीछा किया और शीघ्र ही उसे पकड़ लेने का प्रयत्न किया, किन्तु अश्वत्थामा ने अपने रथ को वायु वेग के समान दौड़ाया उसे अपने प्राणों

की पड़ी थी, किसी प्रकार वह साक्षात् मृत्यु रूप अर्जुन के से बचना चाहता था, किन्तु जिस रथ के सारथि श्रीकृष्ण उस रथ से आगे कोई रथ जा ही कैसे सकता है। अश्व के घोडे थक गये। सारथि रथ को आगे बढ़ाने में विवश गया, तब अश्वत्थामा घबड़ाया। उसने सोचा—अब तो प्राण गये।

मरता क्या न करता, उसने अपना एकमात्र सहारा ब्रह्मा को ही समझा। यद्यपि वह ब्रह्मास्त्र का उपसंहार—लौटाना जानता था। सिखाते समय आचार्य ने कह भी दिया था—इसका प्रयोग मनुष्यों पर न करना, यह तुम्हारी, विद्या अधूरी है किन्तु उसे तो अपने को बचाना था। ब्रह्मास्त्र अव्यर्थ होता है उसका प्रहार अमोघ होता है। कोई भी अस्त्र उसे हटा न सकता। जिसको लक्ष्य करके छोड़ा जाय, उसके बिना प्रा लिये वह लौट नही सकता। अब तो अर्जुन घबड़ाये। उन्होंने ब्रह्म के सम्मुख अपने को निर्बल पाया। निर्बल के बल राम—यह सोचकर वे अपने सारथि श्रीकृष्ण की शरण में गये।

दशों दिशाओं को अपने प्रचण्ड प्रकाश से प्रकाशित करत हुआ वह असह्य अस्त्र, अर्जुन की ही ओर आ रहा था। अपनी ही ओर आते देख कर अर्जुन अत्यन्त ही आर्त हो अचिन्त्य शक्ति वाले अच्युत की स्तुति करने लगा। उसने भय भीत होकर कहा—"हे प्रभो! हे अचिन्त्य शक्तिवाले श्रीकृष्ण हे महाभाग! आप भक्तवत्सल हैं, करुणासागर हैं, प्रस पारिजात हैं। आप इस संसार रूपी दावानलसे दग्ध हुए प्राणिय के एक मात्र आश्रय हैं। जलती हुई ज्वाला से बचाकर अ मुक्ति मार्ग को दिखाने वाले हैं। आप प्रकृति से परे, माया ने

स्वामी, मोक्ष के दाता. दुखियों के त्राता, मोक्ष के स्वामी है। फिर भी आप धर्म रक्षक हैं, कर्मों के नियामक है। पृथ्वी का भार उतारने के लिये आप अवनि पर अवतरित होते है, अधर्म का नाश करते है, धर्म की रक्षा करते है। इतना सब होने पर भी आपके अवतार का प्रयोजन भूभार हरण मात्र ही नहीं है। वह तो उपलक्षण मात्र है। आपके अवतार का प्रयोजन तो भक्तों का भय हरना ही है। मैं आपका भक्त हूँ—आपमे अनुरक्त हूँ मेरे ऊपर विपत्ति आ रही है। उससे आपके अतिरिक्त। मुझे कौन बचा सकता है। कौन इस असह्य दुर्द्धर्ष तेज से मेरी रक्षा कर सकता है? यह प्रलयानल के समान उठती हुई अग्नि की लपटें—जो मेरी ही ओर आ रही हैं क्या है?"

भगवान् ने अपने भक्त को सान्त्वना देते हुए कहा—"पाण्डु नन्दन! तुम घबड़ा गये क्या? अरे तुम नहीं जानते यह क्या है?"

शीघ्रता से अर्जुन ने कहा—"नहीं महाराज! मैं नही जानता। यह तीनों लोकों को भस्म करने वाली प्रलय की अग्नि ही प्रतीत होती है। प्रलय का समय न होने पर भी यह कैसे प्रकट हुई?"

भगवान हँसे और बोले—"पार्थ? यह प्रलयाग्नि नही है, इसे तुम अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र जानो।"

व्यग्रता के स्वर में अर्जुन ने कहा—"एक ही बात हुई, ब्रह्मास्त्र भी प्रलयानल से क्या कम है? इसका भी कोई प्रतीकार नही, यह भी अमोघ है। बिना प्राण लिये लौटेगा नही।"

भगवान ने कहा—"हाँ, इसका एक प्रतीकार है। तुम भी ब्रह्मास्त्र छोड़ दो।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज ! यह तो बड़ी गड़बड़ी जायगी। एक ही तेज असह्य है। एक ही तीनों लोकों भस्म करने में समर्थ है, फिर दो मिलकर तो चराचर को कर देंगे। निरपराध निरीह प्राणी व्यर्थ ही मारे जायँगे।"

भगवान् ने कहा— देखो, तुम ब्रह्मास्त्र को छोड़ो, दो अस्त्र आपस में टकरावेंगे। तब तुम दोनो को इसी तरफ खं लेना जिस तरह कुएँ में पड़े लोहे के डोल को रस्सी में बँ हुआ काँटा फँसा लेता है और फिर दोनों के साथ खींच बाहर आ जाता है।'

अर्जुन ने कहा—"यदि वही दोनों को खींच ले तो भगवान् हँस कर बोले—"यही तो उसमें तुम्हारे अपे कमी है। उसकी विद्या अधूरी है। वह अस्त्र का उपसहार न जानता। तुम्हारी विद्या पूरी है। तुम सब अस्त्रों के ज्ञाता सभी अस्त्रों का उपसंहार—छोड़ना लौटाना—सब जान हो। अब देरी का काम नहीं है। नहीं तो यह तुम्हारे प्रा को नष्ट करके संसार को नष्ट कर देगा।"

भगवान् की आज्ञा पाकर अर्जुन ने ऐसा ही किया उसने भी विधिवत् आचमन करके, शीघ्रता के साथ भगवा वासुदेव की परिक्रमा की और मन्त्र सहित ब्रह्मास्त्र को रोकने सकल्प से, ब्रह्मास्त्र का ही प्रयोग किया। विष की औषधि वि ही बताई है। अर्जुन के अस्त्र से अश्वत्थामा का अस्त्र टकराय दोनों अस्त्रों के टकराने से बड़ी-बड़ी अग्नि की चिनगारि निकलने लगी। उन दोनों का तेज ऐसे ही बढ़ने लग मानो प्रलय की अग्नि बढ़ रही हो, या जगत का नाश कर के लिये सूर्य्य अपनी तीक्ष्ण किरणों से समस्त चराचर जग

को भस्म करने के लिये तप रहा हो। आकाश पाताल और पृथ्वी पर सर्वत्र हाहाकार मच गया। विमान में घूमने वाले देवता घबड़ाये। सबने समझा संसार को स्वाहा करने के निमित्त संवर्ताग्नि की ज्वालायें उठ रही है। असमय मे ही प्रलय होने वाली है। ऋषि मुनियों ने जगत् की मङ्गल कामना के निमित्त जलती हुई अग्नि में हवन किया। मङ्गल स्तोत्रों का पाठ किया। जगत् का कल्याण हो! चराचर संसार सुखी हो! वे बार-बार यही कहने लगे।

तीनों लोकों को दुखी देखकर भगवान् वासुदेव अर्जुन से बोले—"हे वीर! अब तुम दोनों अस्त्रों का उपसहार कर लो नहीं तो यह सम्पूर्ण संसार इनकी ज्वालाओ से स्वाहा हो जायेगा।"

भगवान् की आज्ञा पाकर अर्जुन ने दोनों अस्त्रों का अपने मन्त्र बल से उपसंहार कर लिया। दोनों सौम्य रूप से अर्जुन के समीप लौटकर आये। ससार में शांति का साम्राज्य छा गया। सभी जीव सुखी हुए। देवताओं ने अर्जुन के ऊपर पुष्प वृष्टि की, गन्धर्व गाने लगे और अप्सरायें आनन्द के साथ नृत्य करने लगी।

अपने अस्त्र को व्यर्थ हुआ देखकर इधर अश्वत्थामा घबड़ाया। अब वह किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया। वही एक उसके पास अन्तिम अवलम्ब था। वह भी उनकी रक्षा न कर सका। तब वह मुट्ठी बांधकर दौड़ा। अर्जुन ने कहा—"वासुदेव! मेरा रथ खड़ा कर दीजिये।" भगवान् ने वैसा ही किया। अर्जुन अत्यन्त ही शीघ्र रथ से कूद पड़े। जैसे सिंह हाथी के ऊपर झपटता है, इसी प्रकार बड़े वेग से दौड़ कर उन्होंने भागते हुए अश्वत्थामा को पकड़ लिया और क्रोध के साथ बोले—

"अर्जुन से भी तू बचकर जाना चाहता है क्या ? तू यदि पृथ्वी के भीतर छिप जाय, तो पृथ्वी फोड़ कर तुझे पकड़ सकता हूँ स्वर्ग में इन्द्रासन के नीचे भी छिप जाय तो वहाँ से तेरी चोटी पकड़ कर ला सकता हूँ। दुष्ट तू ने सोते हुए बच्चों को मारा और फिर मेरे सामने से ही तू प्राण बचा कर भागना चाहता है। अब अपने किये का फल भोग !" ऐसी अनेक बातें कह कर अर्जुन ने उसे पशुओं की तरह रस्सी से बाँध लिया और घसीट कर रथ के समीप ले आये। वहाँ आकर उन्होंने रथ के पीछे दृढ रस्सियों से उसे कस दिया। इस प्रकार उसे जीता ही बाँधकर वे अपने शिविर की ओर चले।

छप्पय

तुत्र शोक तें दुखी द्रौपदी अति बिलखाई।
मूर्छित ह्वै कें गिरी पार्थ प्रिय कहि समझाई॥
त्यागहु चिन्ता शोक तीर ले तुरतहि जाऊँ।
जे काटे सुत शीश, काटि सिर ताको लाऊँ॥
केशव कूँ करि सारथी, छत्रे शत्रु पीछो कियो।
ब्रह्म अस्त्र निज अस्त्र तें, काटि पकरि गुरुसुत लियो॥

अश्वत्थामा को प्राण दान

(२८)

तथाऽऽहृतं पशुवत् पाशबद्ध—
मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोःसुतं—
वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥*

(श्रीभा० १ स्क० ७ अ० ४२ श्लोक)

छप्पय

पशु समान दृढ़ बाँधि लाइ पत्नी कूँ दीन्हों ।
गुरु-सुत सम्मुख समुझि,चरन बन्दन उठि कीन्हों ॥
दया दृष्टि तें देखि, द्रौपदी बोली बानी ।
छोड़ो इनकूँ अबहि, दण्ड दें, होगी हानी ॥
कृष्णा कृष्ण कनिष्ट बड़, सबई को कहनो कर्‌यो ।
मूँड़ि बार बाहिर कर्‌यो, माथे को मुक्ता हर्‌यो ॥

प्रभु अपने आप ही तो अपने निज जनों को भक्ति योग प्रदान करते हैं। अपने आप ही उनके हृदय में सद्‌गुणों के रूप से बैठ कर पुण्याचरण कराते है और आप ही परीक्षा

* पशु के समान बाँध कर लाये हुये अश्वत्थामा को देखकर, जो अपने नीच कर्म के कारण लज्जा से नीचा मुख किये खड़ा है,देख द्रौपदी

लेते हैं। कैसी क्रीडा है, कैसा अद्भुत कुतूहल है? जैसे बालक दर्पण में अपनी चेष्टाओं को देखता है, अपने आप ही मुँह बनाता है आँखें मटकाता है, सैन चलाता है, फिर उन्ही सबके प्रतिबिम्बों को देखकर हँसता है, सुखी होता है आनन्द में मग्न होकर नृत्य करने लगता है। यही दशा इन पार्थ सारथि की है।

अर्जुन ने जब अश्वत्थामा का सिर धड से अलग नहीं किया, किन्तु उसे जीवित ही बाँधकर शिविर की ओर ले चले,तो बनावटी आश्चर्य से अपने कमल समान नेत्रों को फाड़-फाड़ कर उसकी ओर देखते हुए बनावटी क्रोध के स्वर में वासुदेव बोले- "अरे अर्जुन! यह क्या? तुम तो इसे जीवित ही ले चल रहे हो! इसे मार क्यों नहीं डालते ?"

अर्जुन ने दीनता के साथ कहा—कैसा भी हो, प्रभो ? है तो ब्राह्मण ही। सब स्थानों पर क्षत्रिओं का तेज काम देता है, किन्तु ब्राह्मण के सम्मुख आते ही वह कुण्ठित हो जाता है।

क्रोध से दाँत पीसते हुए देवकीनन्दन बोले—"अरे यह दुष्ट अब भी ब्राह्मण बना रहा ? इस नाम मात्र के निर्दयी, नीच ब्राह्मण को तुम बिना विचारे मार डालो। सोचो तो सही, इस नीच निर्लज्ज ने रात्रि के समय सोते हुए बालकों को निरपराध ही मार डाला है।"

अर्जुन ने दुःख के साथ कहा—"वासुदेव ? क्षत्रिय कर्म ऐसा ही क्रूर है। इस ब्रह्मबन्धु ने भी क्षत्रिय कर्म का ही अवलम्ब

दया से द्रवीभूत हो गई। यद्यपि वह महान् अपराधी था,फिर भी गुरु का पुत्र है,यह सोचकर द्रौपदी ने अपने नारी सुलभ कोमल स्वभाव के कारण उसे नमस्कार किया।

लिया है। क्षत्रिय धर्म में पग-पग पर हिंसा,क्रूरता और निर्दयता भरी है।"

भगवान् ने कहा—"भाई यह सत्य है, कि युद्ध में क्षत्रिय भाई-भाई का सिर काटता है। वहाँ दया नहीं दिखाता, किन्तु उसके भी कुछ नियम हैं। युद्ध में अस्त्र लेकर सामने आये अपने शत्रु का वध करना यद्यपि धर्म है, फिर भी धर्म के जानने वाले लोग—शत्रु होने पर भी—इतने लोगों को नहीं मारते हैं। एक जो किसी मादक आदि द्रव्यों के सेवन से या रोगादि से मतवाले हो गये हो अथवा जो असावधान हों। जिनका मस्तिष्क आदि बिगड़ गया हो ऐसे पागलों को, निद्रा में सोते हुए को, जो अभी बालक हो, अबला स्त्री हो, मूर्ख हो, अपनी शरण में आ गया हो, जिसका लड़ते-लड़ते युद्ध में रथ टूट गया और जो भयभीत होकर भाग रहा हो—इतने लोगों पर,शत्रु होने पर भी प्रहार करना पाप है। इस नीच ने तो एक नहीं,कई अपराध किये हैं। वे बेचारे बच्चे लड़े नहीं थे,अभी युद्ध कला में अनिभिज्ञ थे। उनसे इसकी कोई शत्रुता भी नहीं थी,फिर वे अचेत सो रहे थे। इतने पाप करने वाला कोई भी हो, उसे मारने में कोई पाप नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"हमारे बच्चे तो मारे ही गये। अब इसे मार कर ही क्या लाभ ? इसमें न हमारा ही कल्याण है, न इसी का।"

भगवान् बोले—"नहीं,इसे मार डालने में दोनों का कल्याण है और इसे छोड़ देने में दोनों का ही अनिष्ट है। यदि इसे अभी मार डालें, तो द्रोपदी प्रसन्न होगी; हम अपने बच्चों का बदला चुका लेंगे। शत्रु पक्ष का एक प्रबल योद्धा मारा

जायगा और यह भी नरक से बच जायगा। यदि इसे छोड़ दिया गया, तो यह क्रूर अपनी क्रूरता छोड़े। नहीं फिर कुछ अवश्य ही अनिष्ट करेगा। इससे सदा शङ्का ही रहेगी और यदि इसे इसके पाप का दण्ड न देकर ... दिया गया, तो अपने घोर पाप के कारण इसे नरक की भीष अग्निओं में तपना पड़ेगा। यो भी इसे मार देने से इस पाप का तुरन्त प्रायश्चित हो जायगा। अतः इसका वध उभ पक्ष के लिये श्रेयष्कर है।"

अर्जुन ने कहा—"अपने आप इसे अपने पाप का प मिलेगा। मैं ब्रह्महत्या जान बूझकर क्यो करूँ ?"

भगवान् बोले—"ब्रह्महत्या से अब डरता है और प्रति करके उसका पालन न करना यह कोई पाप ही नहीं! तु हमारे सामने द्रौपदी से प्रतिज्ञा की थी कि तेरे पुत्रों के सि काटने वाले का सिर काट कर तुझे दूँगा, तू उस पर बैठ मृतक स्नान करना। सो, उस प्रतिज्ञा को पूरी करो। तुर इसे मार डालो। अब इसमें सोच-विचार करने को स्था नहीं है।"

अर्जुन ने कहा—"इसने अपने स्वामी दुर्योधन को प्रस करने के लिये ऐसा क्रूर कर्म किया होगा ?"

भगवान् आवेश के स्वर में बोले—"सो भी तो नहीं हुआ इससे दुर्योधन का कोन सो प्रिय कार्य हुसा ? इसके इ निन्दित कर्म से उसे भी तो प्रसन्नता नहीं हुई। इसने तो य निर्दयता पूर्ण कार्य अपनी क्रूर बुद्धि से व्यर्थ ही क डाला।"

जिसके समीप हम सदा रहते है, उनकी चेष्टा भावभंगी को हम समझने लगते है, कि इस बात को ये किसी स्वर में कह रहे हैं। अर्जुन ने भगवान् की मुखाकृति को देखकर, उनके आन्तरिक भावो को पढ़ा, पढकर उसने समझ लिया कि द्रोण और भीष्म के वध के समय जैसी आज्ञा थी, आन्तरिक प्रेरणा थी, वह अब नही है। यह क्रोध बनावटी है। इसमें मेरे धैर्य की परीक्षा का भाव है, कि पुत्रघाती—आततायी—"गुरुपुत्र के प्रति इसके मनमें कितना रोष है। इसी लिये बार-बार प्रेरित करने पर भी महा बुद्धिमान् अर्जुन ने अपने आचार्य द्रोण के इकलौते पुत्र को, मन से भी मार डालने का विचार नहीं किया। बात को टालते हुए वे गोविन्द से बोले—"अच्छी बात है जैसी आपकी आज्ञा होगी उसका पालन तो किया ही जायगा। इस समय तो इसे जीवित ही ले जाकर हमें द्रोपदी को दे देना है। वहाँ महाराज युधिष्ठिर भी उपस्थित होंगे, वे सम्राट् है। सब मिलकर इसके लिये जो दण्ड निश्चित करेंगे, वह दण्ड इसे दिया जायगा। अब तो आप शिविर की ही ओर मेरे रथ को ले चलें।

अपने शूरवीर रथी की आज्ञा पाकर—प्रेम के ही कारण जो सेवक और सारथि का स्वांग बनाये हुए हैं—उन वासुदेव ने वायु वेगवाले रथ को बडे ही वेग से हाँक दिया। पलक मारते-मारते वे अपने शिविर के समीप आ पहुँचे।

शिविर के सम्मुख रथ को खड़ा करके, अर्जुन ने रस्सियों से पीछे बिस्तरे की भाँति बँधे हुए अश्वत्थामा को खोला। जैसे मदारी रीछ बदरों को बाँधकर ले जाता है, वैसे ही उसके गले में रस्सी बाँधकर घसीटते हुए अर्जुन उसे शिविर में ले चले।

दूर से ही द्रौपदी ने देखा। द्रोण पुत्र अश्वत्थामा को अर्जुन पशु की तरह रस्सी से बाँध कर ला रहे हैं। पाप कर्म करने से जिसकी श्री नष्ट हो गई है, अपमान के कारण जिसका मुख मलिन हो गया है, जो लज्जा के कारण सिर को ऊपर नहीं उठाता है। ऐसी दशा में अपने गुरुपुत्र को देखकर द्रौपदी रो पड़ी। हाय ! ये मनुष्य कितने क्रूर होते हैं ? महल में पधारने पर जिनकी मैं देवता के समान पूजा करती थी आज उन्हें इतने अपमान के साथ ये मेरे पति घसीट कर ला रहे है। नारी सुलभ करुणा के कारण पांचाली के दोनों कपोल भीग गये। वह पुत्रों की मृत्यु को भूल गई। दौड़कर उसके बँधे हुए अश्वत्थामा के सम्मुख घुटने टेक दिये। अपने वस्त्रों को सम्हाल कर अचल को पसार कर उसने पृथ्वी पर सिर टेक कर अश्वत्थामा को प्रणाम किया। उसके दोनों कमल नेत्रों से निरन्तर अश्रु बह रहे थे। गला भर आने के कारण वह कुछ कह भी न सकी।

अर्जुन ने आते ही कहा—"देवि ! लो, यही तुम्हारे सोते हुए पाँचों पुत्रों की क्रूरता से हत्या करने वाला हत्यारा है। इसे तुम जो भी कहो वही दण्ड दिया जाय।"

इतना सुनकर रोती हुई—दोनों हाथों को ऊपर उठा कर उन्हे हिलाते हुए—द्रौपदी कहने लगी—"अरे इन्हें छोड़ दो छोड़ दो। राम राम कैसा क्रूर कर्म तुमने किया है ? ब्राह्मण का इतना अपमान ?"

अर्जुन ने दाँत पीसते हुए कहा—"अब यह ब्राह्मण नहीं रहा। यह आततायी हत्यारा और क्रूरकर्मा है।

विलखते हुए द्रौपदी ने कहा—"कैसे भी हो—हम

तो ये देवता ही हैं। सदा से हमने इनके पैर पूजे हैं और सदा पूजते रहेंगे। इनकी करनी इनके साथ वे अपना धर्म छोड़ें तो छोड़ते रहें, हमें तो अपने धर्म पर ही अटल रहना चाहिये।"

अर्जुन बोले—"हमारे देवता तो द्रोणाचार्य थे, उन्हें भी हमने युद्ध में मार डाला, जो धर्म में स्थित थे, पूज्य थे, सेनापति थे। यह तो दुष्ट है, अधम है, धर्म से च्युत है।"

द्रौपदी अपने हाथ से अर्जुन के मुख को बन्द करती हुई बोली—"ना, ना, ऐसा मत कहो। इनमे और भगवान् द्रोण में अन्तर ही क्या है। अपनी आत्मा ही तो आत्मज होकर उत्पन्न होती है। पुत्र पिता की ही प्रतिमूर्ति है। उन्ही का दूसरा रूप है। [illegible] मे स्वयं ही उत्पन्न होता है। इसीलिये पत्नी को [illegible]। आप इन्हें भूल कर भी दूसरा न समझें। जिनसे आपने रहस्य सहित धनुर्वेद तथा समस्त अस्त्र-शस्त्र तथा उनका प्रयोग उपसंहार सीखा है, ये वे ही भगवान् द्रोण साक्षात् पुत्र रूप से, आपके सम्मुख उपस्थित हैं। आप इन्हें उन्ही का स्वरूप समझ कर पूजें।"

अर्जुन सूखी हँसी हँसकर बोले—"अब अब पुत्र शोक भूल गईं ? पहिले रोते-रोते क्या कह रही थी ? अब बड़ी क्षमावती बन गईं ?

द्रौपदी ने बड़ी विनय से गिरियाते हुए कहा—"देखो, मेरी हँसी मत उड़ाओ। एक तो मैं स्वयं ही पुत्र शोक से दुखी हूँ, फिर ब्रह्मशाप से मुझे और दुखी क्यों बनाते हो ? इन्हें मारने से अथवा इनका अपमान करने से, मेरे पुत्र जीवित तो हो नहीं

जायँगे। वे तो अपने कर्मानुसार मरे सो मारे गये। अब ए
नया पाप करके अपने सम्पूर्ण कुल को कलङ्कित क्यों करें? तु
पुरुषों की छाती तो वज्र की होती है। तुम्हें पता नहीं, पु
शोक से माताओ को कितना कष्ट होता है। उसे मैं ही भो
रही हूँ। इन्हें मारकर उन देवी गौतमी—द्रोण पत्नी—को
मेरी ही भाँति दुखी क्यों बनाते हो। अपने पति के परलो
गमन के अनन्तर वे पतिव्रता कभी भी जीवित नहीं रह सक
थी, किन्तु अपने इसी पुत्र का मुख देखकर वे किसी प्रक
प्राणो को धारण किये हुए है। अब इन्हे भी तुम मार दो
तो निश्चय ही वे अपने प्राणों का परित्याग कर देंगी।
प्रकार दो ब्रह्म हत्याओं का पाप हमारे सिर पर लगेगा।

"हे महाभाग! आप तो धर्म के मर्म को भली भाँति जान
और मानने वाले हैं। आप फिर ऐसा निन्दित कर्म करने
क्यों उतारू हो रहे है? आपका कुल बड़ा श्रेष्ठ है, सब
उसका गौरव है, फिर आप ब्रह्महत्या करके अपने कुल
कलङ्कित करना क्यों चाहते है? आपकी ये बातें शोभा न
देती। हमारे गुरु वंश के ये ही तो बाज हैं। वह हमारे
द्वारा नष्ट हो, यह तो अपने ही हाथों अपने पैरों मे कुल्हा
मारने के समान हुआ। ब्राह्मणों को दुख देकर किसने सु
पाया है। ब्रह्मद्रोही सदा से कुल सहित समूल नष्ट ही हो
देखे गये हैं। इसलिये आप कृपा करें। पाप से पाप की वृद्धि
करें। मुझ दुखिया को और अधिक दुखी न बनावें। ब्राह्म
की रक्षा करें, उनकी हत्या की बात मन मे भी न लावें।"

पास ही बैठे हुए भीमसेन सब बाते सुन रहे थे, उनसे अ
अधिक न सुना गया। द्रौपदी को डाटते हुए, लाल-लाल आँ

करके क्रोध के साथ बोले—"चल हट, आई कहीं की ! बड़ी दया दिखाने वाली। दुष्टों पर कहीं दया की जाती है ? क्रूर कर्मा कृपा के पात्र नहीं होते। नीचों पर क्षमा करने से उनका उत्साह और बढ़ता है। साँपों को दूध पिलाने से विष की ही वृद्धि होती है। नीचों को दण्ड देना ही उनके साथ कृपा करना है। खलों का नाश करना ही संसार का कल्याण करना है। हमारे नन्हें-नन्हें बच्चों को मार कर इस नीच ने कौन सी वीरता का कार्य किया ? उन दुधमुँहे बच्चों ने इसका क्या बिगाड़ा था, उन्हें मारकर इसने कौन सा लाभ प्राप्त कर लिया ? दुर्योधन को ही इसे प्रसन्न करना था तो हमें मारता। हमारे मरने पर दुर्योधन प्रसन्न भी होता, हमसे ही उसकी शत्रुता थी। इन बच्चों के मरने से उसे भी तो हर्ष नहीं हुआ। इसलिये अर्जुन ! इसे बकने दो, तुम अभी इसका सिर काट कर इसके पाप का प्रायश्चित कर दो। जिस लोक को हमारे बच्चे गये हैं, उसी में इस दुष्ट को भी पहुँचा दो।"

द्रौपदी कुपित भीम की बातें सुनकर भयभीत हरिनी की भाँति अपने पति धर्मराज युधिष्ठिर की ओर देखने लगी। उसकी विवशता को अनुभव करके गम्भीर स्वर मे धर्मराज बोले—"यद्यपि इसने काम तो बुरा ही किया, फिर भी ब्राह्मण ब्राह्मण ही है। हमारी सम्मति में इसे मारना उचित नहीं। फिर भगवान् वासुदेव जैसा कहें।"

नकुल सहदेव ने भी धर्मराज की हाँ में हाँ मिलाई। पास में बैठी हुई पांडवों की और भी रानियाँ अश्वत्थामा की ऐसी दशा देखकर रोने लगी। उन्हें भी ब्राह्मण का वध प्रिय नहीं था। अब श्रीकृष्ण के मुख की ओर सबकी दृष्टि लगी थी।

श्रीकृष्ण जो चाहेंगे वही होगा। अश्वत्थामा के प्राण अब भगवान् की आज्ञा के अधीन हैं। अब तो भीम, अर्जुन, युधिष्ठिर, नकुल सहदेव तथा अन्य रानियो के अभिप्राय को समझ कर, हँसते हुए वासुदेव अपने प्रिय सखा अर्जुन से बोले—"अर्जुन ! इसी समय तुम्हारी बुद्धि की परीक्षा है। देखो द्रौपदी जो कह रही है, यद्यपि वह नारी सुलभ कोमलता और दया के वशीभूत होकर कह रही है, फिर भी उसका वचन धर्म सम्मत है। ब्राह्मण सभी दशा में अवध्य बताया गया है उसका शारीरिक वध शास्त्रकारों ने वर्जित किया है। इसके विरुद्ध भीम जो बात कह रहा है, वह शास्त्र सम्मत ही है क्योंकि शास्त्रकारों ने अग्नि लगाने वाला, जहर देने वाला, शस्त्र लेकर लड़ने को आने वाला, पर धन हरण करने वाला, खेत तथा स्त्री छीनने वाला इन छः को आततायी बताया है आततायी यदि वेदज्ञ ब्राह्मण भी हो तो बिना विचार के मार डाले। इसने अपना ब्राह्मणत्व छोड़ दिया है। यह वध करने योग्य है। अब दोनों को ही तुम सन्तुष्ट कर सकते हो तो करो।"

अर्जुन तो भगवान् के बाह्य प्राण ही थे। उनके सभी अभिप्रायों को समझने की उनमें शक्ति थी अन्तर्यामी प्रभु स्वयं उनके हृदयों मे बैठकर सब कार्य कराते थे। अर्जुन ने सोचा-शास्त्रों मे दो प्रकार का वध बताया है, एक शस्त्र वध और दूसरा अशस्त्र वध। सम्मानित गुरुजन, राजा और स्त्री इन तीनों को अवध्य बताया है। सम्मुख शस्त्र लेकर युद्ध में आये हों उस दशा को छोड़ कर—शेष समय में—इनका वध न करे। बड़े लोगों का अपमान कर देना, ब्राह्मण का सर्वस्व छीन कर

माथा मूड़ कर, उसे देश से निकाल देना, पत्नी को शैया से पृथक् कर देना और राजा की आज्ञा को भङ्ग कर देना शास्त्रकारों ने इन तीनों के ये शस्त्र रहित वध ही बताये है। अतः इसका भी ऐसा ही बध कर दें। इससे द्रौपदी और धर्मराज की भी बात रह जायगी, भीम का भी कहना हो जायगा और भगवान् भी इससे सन्तुष्ट हो जायँगे। यह सोच कर उन्होंने तुरन्त अपनी तीक्ष्ण तलवार निकाल कर,

अश्वत्थामा के सिर पर जो जन्म से ही देदीप्यमान अमूल्य मणि थी, उसे बालों सहित निकाल लिया। मणि के निकलते ही उसका मुख मण्डल तेजहीन हो गया। इस प्रकार उसे तेज और मणि दोनों से हीन करके माथा मूड़कर, उसका बन्धन खोल दिया और धक्का देकर शिविर से निकालते हुए कहा—"जा भाग जा, अब यहाँ अपना मुँह मत दिखाना।"

इस प्रकार अपमानित होकर अश्वत्थामा शिविर से निकल तो गया, किन्तु उसके मन का मैल नहीं गया। वह यही चिन्ता करने लगा की पांडवों से किस प्रकार अपने इस घोर अपमान का बदला लूँ ?

छप्पय

गुरु सुतविप्र विचारि पुत्र घाती नहिं मारयो।
अति अपमानित भयो युद्ध करि सम्मुख हारयो॥
मैल न मन को गयो हिये प्रतिहिंसा धारी।
पाण्डुवंश को नाश करूँ यह बात विचारी॥
घाव पुरै गड़हा भरै, नर अपमान न भूलही।
खल मन मोती दूध ये, फटिकैं फिरि जुरते नहीं॥

सकते थे। उनकी शक्ति के सम्मुख धृतराष्ट्र के पुत्र तथा
पृथ्वीपति कर ही क्या सकते थे। किन्तु श्रीकृष्ण चाहते थे
पांडव युद्ध करके—अपने बल-पौरुष से—प्रतिष्ठा सहित
बनें। वे केवल इस सम्पूर्ण वसुन्धरा के एक छत्र शासक ही
होकर संसार मे पूजित और प्रतिष्ठित भी हों। वही हुआ
कौरवों को मार कर पांडवो ने विजय श्री के सहित यह
कानन, सरिता, शैल आदि से सयुक्त सम्पूर्ण बसुन्धरा, अ
बाहुबल से प्राप्त की। कौरवों की पराजय तो तभी हो गई
जब पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और महावीर कर्ण एक-
करके मारे गये। किन्तु एक दिन शल्य के सेनापतित्व में
युद्ध हुआ। तब तो पूरी हो पराजय हो गई। दुर्योधन युद्ध
छोड़कर भाग खड़ा हुआ। जब भीम की गदा से वह
घायल हो गया, तो एक बार फिर उसने अश्वत्थामा को नाय
बनाकर, पांडवों के सर्वनाश का स्वप्न देखा। किन्तु 'जिस
रक्षक राम, उसको सभी करें परनाम'—वाली बात हुई
अश्वत्थामा ने सोते हुए सभी सैनिकों और वीरों का तो ना
कर दिया, किन्तु पाँचों पांडव फिर भी सकुशल बच गये। अ
दोनों सेनाओं के दस आदमी ही शेष रहे, कृपाचार्य, कृतवर्
और अश्वत्थामा—ये तीन तो कौरवों की ओर और पाँच
पांडव, युयुत्सु और जनार्दन भगवान् वासुदेव—ये सात पाण्ड
की ओर के। नहीं तो १८ अक्षौहिणी सेना से सम्पूर्ण प्राण
मृत्यु के सदन में सिधार गये।

जैसे विवाह कर बेटी को विदा करने पर बाप क

नाथ! मेरे इस गर्भस्थ बालक की रक्षा आप कीजिये। यह किसी प्रका
इस अस्त्र से नष्ट न होने पावे।'

निश्चिन्तता सहित शोक और व्याकुलता भी होती है, वैसी ही दशा पांडवों की भी हुई। मरे हुए अपने पाँचों पुत्रों के द्रौपदी को साथ लेकर सभी दाह संस्कार आदि कर्म किये। अब मरे हुए दोनों दल के वीरों की भी सुधि उन्हें ही लेनी पड़ी, क्योंकि दोनों वंशों में पानी देने वाला कोई रहा ही नहीं था। राजा होने के कारण, और अपने कुल में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण, धर्मराज का ही कर्तव्य हो गया, कि सब का श्राद्ध तर्पण आदि पारलौकिक कर्म करें।

मङ्गल कार्यों में स्त्रियाँ पीछे-पीछे गाती हुई चलती हैं और मृतक कार्यों में वे रोती-रोती आगे चला करती हैं। धर्मराज ने अपने सभी बन्धु-बन्धवों की विधवा बहुओं को आगे किया। वे कुररी की तरह विलाप करती हुई पांडवों को कोसती जाती थी। उनकी करुण-ध्वनि से आकाशमण्डल भर गया। सबको एक साथ रोते देखकर, धर्मराज का हृदय भर आया। वे सोचने लगे—"हाय ! हमने राज्य के लिये कैसा पाप किया ! इन स्त्रियों की अन्तरात्मा हमें शाप दे रही होगी, कैसे हमारा कल्याण होगा ?" यह सोचते-सोचते धर्मराज फूट-फूट कर रोने लगे। बहुत समझाने पर भी उनके आँसू न रुके।

भगवती भागीरथी जो अनादिकाल से मरे हुए जीवों को अपने में शरण देकर स्वर्ग पहुँचाती हैं उनको जल पहुँचा कर तृप्त करती हैं, उन जगत् की एक मात्र शरण्य माँ के तट पर आकर रोते-रोते धर्मराज ने सभी का नाम लेकर उन्हें जलाञ्जलि दी। सुरसरि का शीतल सलिल धर्मराज के उष्ण अश्रुओं से गरम हो गया था। जिसका माँ नाम लेकर

जल देते, उसे ही याद करके रो पड़ते समीप ही बैठे उन्हें भाँति-भाँति से समझा रहे थे, किन्तु उनका शोक कम न होता था। सबको जल देकर उन्होंने पुनः प्रभु के पद्मों के पराग से पावन हुए, पुण्यतोया भगवती भागीरथी पापहारी जल में घुसकर नैमित्तिक स्नान किया।

महाराज युधिष्ठिर विलाप कर रहे थे। अंधे धृतराष्ट्र अपनी भार्या गान्धारी के सहित—अपने सौ पुत्रों के नाम ले-लेकर करुण स्वर में रो रहे थे। द्रौपदी अपने बच्चों के लिये बिलख रही थी। सब रानियाँ अपने अपने पतियों के नाम ले लेकर छाती पीट रहीं थीं। सर्वत्र हाहाकार मचा था। रुदन की वेदनापूर्ण ध्वनि से दिशायें विदिशायें गूँज रही थी। पशु पक्षी भी पेड़ों पर बैठे रो रहे थे। प्रकृति भी रोती हुई सी दिखाई देती थी। भगवती भागीरथी का जल भी मानों कल कल निनाद के द्वारा उनके रुदन में अपना सहानुभूत सूचक रुदन मिला रही थी। सब के रोने से गंगा के तट पर—वह हस्तिनापुर के समीप ही—गंगासागर का दृश्य उपस्थित हो गया था। लाखों अबलाओं, विधवाओं के शोकाश्रुओं से वहाँ मानों करुणा का सागर उमड़ कर गंगा में मिल रहा हो। उस करुणापूर्ण दृश्य को देखकर श्रीकृष्ण ही व्यथित नहीं हुए थे, नहीं तो सबके सब फूट-फूट कर रो रहे थे। सहानुभूति सूचित करने के लिये बहुत से ऋषि मुनि—जो कौरवकुल के सदा से हितैषी रहे, आ-आकर उस शोकसभा में सम्मिलित हुए थे। इस प्रकार सबको समान रूप से दुखी देखकर दयासागर देवकीनन्दन धृतराष्ट्र और गान्धारी को लक्ष्य करके बोले, क्योंकि वे ही वहाँ सबसे बड़े थे।

पुत्रों के लिये इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है। आपने तो वृद्धोंकी सेवा की है, सज्जन पुरुषों का सत्संग किया है। आप स्वयं सर्व शास्त्रों के ज्ञाता हैं, काल की गति को भी जानते हैं, फिर आपको यह शोक शोभा नहीं देता। शोक उनके लिये करना चाहिए, जो संसार में बिना कुछ—इहलोक, परलोक का—कार्य किये हुए कीट-पतंगों की तरह जन्म लेकर मर गये हों। जिन्होंने यश, ऐश्वर्य, संसारी सुखों का भोग किया है, जिन्होने परमार्थ साधन के लिये पुण्य और शुभ कर्म किये है, जिन्होने संसार से चित्त हटाकर एकमात्र सर्वेश्वर की ही शरण ले ली है, ऐसे लोगों के लिये सोच करना उचित नही। शोचनीय तो वे हैं, जिन्होने अपने लिये, बन्धु बान्धवों के लिये कुल-परिवार के लिये, देश-जाति के लिये, परोपकार के लिए या आत्मा के लिए कुछ न किया हो। तुम्हारे लड़के जब तक जिये सुख से जिये, महाराजाओं के महाराजा बन कर रहे। उन्होने सभी संसारी सुखों का उपभोग किया। बड़े-बड़े यज्ञ किये, दान दिये, आश्रितों को सन्तुष्ट किया और अन्त में रण में सम्मुख युद्ध करते-करते मरकर स्वर्ग चले गये। जब तक जिये, पृथ्वी पर राजा बनकर सबके शासक रहे, मर कर इन्द्र के साथ बैठने के अधिकारी बने। उनके लिये आप क्यों इतना विलाप करते हैं।"

रोते-रोते धृतराष्ट्र ने कहा—"वासुदेव ! मैं उनकी मृत्यु के लिए नही रोता। सोचता हूँ—वह भी दिन था, कि इन बहुओं को आकाशचारी पक्षी भी नहीं देख पाते थे। आज एक यह भी दिन है, कि ये सिर के बाल खोले बिधवा बन कर अनाथिनी हुई विलख रहीं हैं।"

भगवान् बोले—"यह तो काल की गति है, दुखः सुख

किस पर नही आते, बन्धु-बान्धवों का वियोग किसे न होता, जय पराजय का अनुभव किसे नही करना पड़ता? सब बातों के असंख्यों उदाहरण हैं। पूर्व के सभी राजाओं को इन सब द्वन्द्वों का अनुभव करना पड़ा है। दूर कहाँ जाओ मुझे ही देखिये। आप सब मेरा कितना आदर करते हैं। ऋषि मुनि मुझे नारायण, पुरुषोत्तम, परब्रह्म, भगवान् न जाने क्या-क्या कहते है? मेरी ही दशा देखिये, मेरे जन्म के पूर्व ही मेरे पूर्वज भाइयों को हमारे मामा कंश ने—रण में नहीं पैदा होते ही पशु की तरह मार डाला। हमारे माता-पिता को कारागृह में बांध कर डाल दिया। मेरे बचाने के लोभ से मेरे पिता ने छिपकर मुझे अहीरों के गोष्ठ में पहुँचाया। वहाँ हम जंगली गोपों में गौओं को चराते हुए रहे। क्षत्री होकर भी छिपकर रहे, फिर किसी तरह आकर अपने माता-पिता का मुँह देखा। इतने मे ही जरासन्ध ने हमें तंग कर डाला। एक दो बार नहीं अठारह बार उसने हम पर आक्रमण किया। अन्त मे उसके बार-बार के दुःख देने से, हम अपनी पैतृक भूमि को त्यागकर भाग खड़े हुए और जल से घिरे समुद्र के बीच में आकर शरण ली। वहाँ भी जाति भाइयों मे नानाप्रकार को कलह होने लगी। भाई ही परस्पर लड़ने लगे। बलराम जी मुझसे बड़े हैं, फिर भी बहुत ही बातों मे मेरा उनका मतभेद ही रहता है। इस युद्ध मे वे कहते थे—तुम तटस्थ रहो। मैं क्षत्रिय होकर कैसे तटस्थ रह सकता था। मेरे दोनो ही पक्ष के सम्बन्धी थे, दोनो को ही मैंने सन्तुष्ट किया। तुम्हारे पुत्रो को अपनी सम्पूर्ण सेना उनकी याचना पर दी और तुम्हारे इस दूसरे पुत्र अर्जुन ने मुझसे अपना रथ ही हँकवाया। मुझे ही बताइये कब सुख मिला?"

धृतराष्ट्र ने आँसू पोछते हुए कहा—"वासुदेव! सब आपकी ही लीला है। आपको ऐसा ही कराना था। आपकी समस्त चेष्टायें दुर्निवार है। ये पांडव भी मेरे उसी तरह बच्चे है। उन्होंने अपने पिता को भली भाँति देखा नही, मुझे ही ये अपना पिता समझते हैं। मेरे बच्चे अपनी क्रूरता से ही मारे गये। अब ये पांडव भी उन सब के लिये रो रहे हैं, कुन्ती भी बिलख रही है। यह आँखों वाली होकर भी मेरे कारण अन्धी बनी हुई गान्धारी भी रो रही है। इन सब को रोते देखकर मेरा हृदय फटना चाहता है। हे सर्वज्ञ यदुनन्दन! आप इन सब को समझाइये। इनके शोक को मिटाइये।"

धृतराष्ट्र की बात सुनकर मुनियों सहित भगवान् ने सभी को भाँति भाँति से समझाया। सभी को जगत् की अनित्यता बताई। जन्मधारी प्राणी को मृत्यु अवश्यम्भावी बताकर, काल की गति का ज्ञान कराया। इस प्रकार सभी को समझा बुझाकर, सब को साथ लिये हुए भगवान् वासुदेव हस्तिनापुर में आये। युधिष्ठिर महाराज सिंहासन पर बैठना ही नही चाहते थे। उन्हें विविध प्रकार से समझाकर सिंहासन पर बिठाया। गये हुए राजा युधिष्ठिर के राज्य को धूर्तों के हाथ से बल पूर्वक छीनकर फिर से उसका अधिकारी धर्मराज को बनाया। जिन दुष्टों ने भरी सभा में सती द्रौपदी के कुटिल काले केशों को खींचा था, उन्हें अपनी करनी का फल चखा कर चारुहासिनी द्रौपदी को कृतार्थ किया। धर्मराज के यश को बढ़ाने के लिये, विजय के उपलक्ष में बड़े-बड़े यज्ञ-पाश हुए। तीन अश्वमेध यज्ञ कराये, जिनसे उनकी कीर्ति दिगन्त तक छा गई। इस प्रकार पांडवों के सभी कार्य करके, सभीको भली भाँति व्यवस्था करके फिर वासुदेव बोले—"धर्मराज!

भाई, अब अपना राज्य सम्हालो। मुझे अपने भी तो काम धन्धे करने हैं। द्वारकापुरी से आये बहुत दिन हो गये। वहाँ का कुछ समाचार नहीं मिला, सभी लोग मेरी प्रतिक्षा कर रहे होंगे, व्याकुल हो रहे होंगे। मुझे जाने की अनुमति दीजिये। फिर जब आप बुलावेंगे, मैं तुरन्त आ उपस्थित हूँगा। मैं तो आपका सेवक ही ठहरा।"

जाने का नाम सुनकर सभी के प्राण सूख गये। वासुदेव अब चले जायँगे—यह स्मरण आते ही सबके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये। मधुसूदनको मना करने की सामर्थ्य किसमें थी। उन्होंने सारथिको रथ सजाने की आज्ञा दी। व्यासजी आदि विप्रोंको प्रणाम किया, उनकी प्रदक्षिणा की, सभी ने साश्रु नेत्रों से, रुँधे कण्ठ से उनकी पूजा की। सारथि ने रथ लाकर द्वार पर खड़ा कर दिया। सर्वत्र सन्नाटा छा गया। प्रेम के वेग से सबके कण्ठ रुक जाने से किसी की वाणी निकलती ही नहीं थी। उस प्रेम शोकपूर्ण शान्ति को भङ्ग करती हुई, अत्यन्त करुण स्वर मे रुदन करती हुई, अपने भान्जे की बहू उत्तरा को वेग से आते हुए उन्होंने अपने रथ के सम्मुख देखा। यह बहू आज बिना परदे के, इस प्रकार रोती चिल्लाती क्यों आ रही है—यह सोचकर भगवान् आश्चर्य से चकित हो गये। इतने में ही उत्तरा अत्यन्त समीप आकर बिलखती हुई बोली—

"हे स्वामिन्! हे प्रभो! रक्षा करो रक्षा करो।"

भगवान् ने विस्मय के साथ पूछा—"बेटी! तू ऐसी क्यों घबरा रही है? क्या बात है? बात तो बता!"

भय से थर-थर काँपती हुई उत्तरा बोली—"हे अशरण शरण! आप यह सामने देखें। अग्नि में तपे लोहे के समान

यह बाण, मेरे पेट को लक्ष्य करके ही बड़े वेग से मेरी ओर आ रहा है। हे भक्त-भयहारी भगवन्! मुझे अपने लिये

चिन्ता नहीं। मेरा तो सुहाग लुट गया। मुझे जीने की इच्छा नहीं है। मैं तो अभी अपने प्राणनाथ के साथ अग्नि में भस्म हो जाती। किन्तु उनकी थाती मेरी कोख में रखी है। भरत

वश के बीज लोभ से ही मैं जा रही हूँ। कुरुकुल को पानी देने वाले मांस-पिंड ने ही मुझे मरने से रोक रखा है। इस दशा मे मैं मरकर अपने प्राण नाथ के पास स्वर्ग में जाऊँ, तो वे मुझसे असन्तुष्ट होंगे और कहेंगे—'तू ने मेरी धरोहर को क्यों नष्ट कर दिया ?' सो हे दीन बन्धो ! मुझे यह बाण चाहे मार दे। किन्तु मेरे इस गर्भस्थ बालक की आप रक्षा करें। इसे किसी तरह इस विपत्ति से बचावें।

उत्तरा के ऐसे आर्त वचन सुन कर भगवान् ने ध्यान से देखा। वे समझ गये—'अरे, यह तो उस ब्राह्मणाधमं का काम है प्रतिहिंसा की अग्नि से जले हुए अश्वत्थामा ने पांडव कुल को समूल नष्ट करने के लिये ६ बाण छोड़े हैं। मन्त्र से अभिमन्त्रित ५ बाण तो पाँचों पांडवों की ओर आ रहे है और छठा उत्तरा के गर्भ के बालक का, पेट मे ही नाश करने को आ रहा है।

भगवान् यह सोच ही रहे थे, कि अपनी ओर अस्त्रों को आते देख—भयभीत होकर पांडवो ने भी अपने-अपने अस्त्र उठा लिये किन्तु ये अमोघ अस्त्र अन्य अस्त्रों से शान्त होने वाले नही थे। पांडवों ने अस्त्रों का सहारा छोड़कर श्यामसुन्दर का ही सहारा लिया। भगवान् तो भक्तों के अधीन ही रहते हैं। उन्होने अपना त्रैलोक्य पूजित सुदर्शन चक्र उठा कर उन आते हुए अस्त्रों काट कर फेंक दिया। फिर सोचने लगे—उत्तरा के गर्भ की तो मुझे रक्षा करनी ही है। वे उत्तरा को सान्त्वना देते हुए बोले—'बेटी ! तू घबड़ावे मत। तेरे गर्भ का कोई बाल भी बाँका नही कर सकता। तू निश्चिन्त रह। तेरे गर्भ की रक्षा मेरे ऊपर है। धर्मराज के वश का, जब मैं रक्षक हूँ, तो विनाश करने की शक्ति किसमें है ?

इतना कहकर भगवान् ने अपनी योगमाया से उत्तरा के गर्भ को ढक लिया और स्वयं अपने एक तेजस्वी रूप से, गदा को घुमाते हुए गर्भ में रह कर स्वयं उसकी रक्षा करने लगे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ब्रह्मास्त्र तो अमोघ होता है; वह तो किसी भी अस्त्र से शान्त नहीं हो सकता। वह तो जब तक जिसको लक्ष्य करके छोड़ा जाय उसे मार न दे, तब तक लौटता नहीं, फिर वह कैसे व्यर्थ हो गया?"

सूतजी बोले—"शौनकजी! यद्यपि यह ठीक है कि ब्रह्मास्त्र अमोघ है, किन्तु ब्रह्माजी के अस्त्र से उनके बाप का अस्त्र तो और भी अमोघ है। जैसे, अग्नि सबको भस्म कर सकती है, किन्तु जल के सामने आते ही शांत हो जाती है। क्षत्रिय सबका संहार कर सकता है, किन्तु स्वधर्म निष्ठ ब्राह्मण के सम्मुख उसका तेज कुण्ठित हो जाता है। उसी प्रकार वैष्णव तेज—सुदर्शन—के सामने ब्रह्मास्त्र निर्वीर्य हो गया। शौनक जी! आप इसमें आश्चर्य न करें, क्योंकि आश्चर्यों के समुद्र अच्युत से ही तो सबकी उत्पत्ति है। बाजीगर की माया से और लोग ही मोहित हो जाते हैं, किन्तु जो उसके रहस्य को समझता है, उसे कुछ भी आश्चर्य नहीं होता। इस माया के पति तो श्यामसुन्दर ही हैं। उनके ईक्षण मात्र से ही इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति, और प्रलय सम्भव है। फिर उनके लिये ब्रह्मास्त्र को व्यर्थ बना देना कौन सी विशेषता की बात है!

इस प्रकार भगवान् ने अपने आश्रित पांडवों की सब प्रकार से रक्षा की। जैसे, मादा पक्षी अपने अण्डों को हृदय

में लगाकर सेती है, इसी प्रकार पांडवों की पग-पग पर प्रभु सम्हाल करते रहे। जहाँ जैसा अवसर देखा, वहाँ वैसे ही बन गये। न मान का ध्यान रखा, न अपमान का। भगवान ने यह प्रत्यक्ष दिखा दिया, कि जो सर्व आश्रय छोड़कर एकमात्र मेरा ही आश्रय लेते है, उनके लिये मैं सब कुछ करने को, सब कुछ बनने को, सदा सर्वदा प्रस्तुत रहता हूँ।

छप्पय

अश्वत्थामा कुपित क्रोध करि सर छै छोड़े।
आवत देखे चक्र सुदर्शन से हरि तोड़े॥
दुर्योधन दल दल्यो दुसह दारुण दुःख दीन्हें।
करी उत्तरा अभय पांडु-सुत निर्भय कीन्हें॥
पल मे जो जग कूँ रचें, करें निमिष में नाश हैं।
दुष्ट दलन भक्तनि भरन, में तिन कवन प्रयास हैं॥

कुन्ती की स्तुति

[३०]

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्—
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार,
योगेश्वराखिलगुरो भगवन् नमस्ते ॥*

(श्री भा० १ स्क० ८ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

चले द्वारिकाधीश पृथा पुनि आगे आई।
भातृ पुत्र कूं पकरि प्रेम ते बिनय सुनाई॥
प्रभो ! पुत्र परिवार सहित सब भांति उबारी।
किन्तु यह है एक अन्त में भीख हमारी॥
विपति बारि बारिद भरे, बार बार बरसा करें।
दर्शन देवें दया वश, छत्र छांह करि भय हरें॥

जो अपने प्राणों के समान प्यारे हैं, यदि सौभाग्य से उनके सहवास का सुख प्राप्त हो जाय—क्यों कि दो प्रेमी चिरकाल तक प्रायः साथ रह नहीं सकते—यदि कारण विशेष

---

* कुन्ती देवी भगवान् की स्तुति करती है—हे श्रीकृष्ण ! हे अर्जुन के सखा ! हे कृष्णवंशावतंस ! हे अवनि के भार भूत भूपतियों

से बहुत दिन तक वे हममें घुल-मिल कर रह जाँय और फि वे हमसे बिछुड़ने लगें ता हृदय में एक मीठी मीठी वेदना होने लगती है, अन्तःकरण में असह्य पीड़ा होती है, चित्त चाहता है, किसी भाँति ये रुक जाँय। आज न जाँय, कल फिर यही दशा होती है। प्रेम में तृप्ति नहीं, स्नेह में सन्तोष नहीं। वसुदेव अब सब से विदा होकर चलने लगे। उत्तरा को अभय देकर, पांडवों को संकट से छुड़ाकर, अब उन्हें द्वारिका की याद आई। विप्रों ने उनका स्वस्त्ययन किया, उन्होंने सब को अभिवादन किया और वे रथ पर आकर बैठ गये। इतने में ही निज निवास से निकल कर, दासियों सहित महारानी कुन्ती ने आकर, श्रीकृष्ण के रथ को रोक लिया। अपनी बड़ी बुआ को खड़ी देख कर श्यामसुन्दर शीघ्रता के साथ रथ से उतर पड़े। महारानी और आगे बढ़ीं और आँखों में आँसू भर कर श्रीकृष्ण का पल्ला पकड़ कर बोलीं—"वासुदेव! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ।"

लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए देवीकीनन्दन बोले—बुआजी! यह आप कैसी उलटी गङ्गा बहा रही है। आप मेरे पिता की भी पूजनीया हैं। मेरी बड़ी बुआ हैं। नमस्कार आपके चरणों में मुझे करना चाहिये कि आपको? आप ही मुझ बालक पर अपराध चढ़ा रही हैं।"

को भस्म करने के लिये अनल स्वरूप! हे अक्षय वीर्य! हे गोविन्द! हे! गो ब्राह्मण और देवताओं के दुःख को दूर करने के लिये अवनि पर अवतार धारण करने वाले अवतारी! हे योगेश्वर! हे अखिल जगत् के गुरो! भगवन् आपको नमस्कार है।

रुँधे हुए कंठ से कुन्तीजी ने कहा—"आप सामान्य पुरुष नहीं हैं, प्रभो ! कौन आपकी बहिन, कौन बुआ ? आप तो प्रकृति से परे अनादि, ईश्वर और अधोक्षज है । समस्त प्राणियो के भीतर बाहर समान रूप से स्थित हैं । किन्तु किसी को दिखाई नही देते । हाँ निर्मल चित्त वाले महामुनि परमहंस भक्ति-योग के द्वारा हृदय मन्दिर में आपका साक्षात्कार करते हैं । आप मायारूपी जवनिका से आच्छादित है । आपने घूँघट मारकर अपना चन्द्रमुख छिपा लिया है । उसे निर्मल, शुद्ध, माया मोह से रहित, भगवत् भक्त ही देख सकते हैं । माया के पाश से आबद्ध, हमारी जैसी अज्ञ स्त्रियाँ भला आपके रहस्य को कैसे जान सकती हैं ?"

भगवान् बोले—"बुआजी ! आप क्या कर रही है ? मैं तो वही आपके भाई वसुदेव का पुत्र कृष्ण हूँ ।"

कुन्तीजी बोली—"जनार्दन ! आज मुझे कह लेने दो'। आज मुझे अपने आन्तरिक भावों को प्रकट कर लेने दो । तुम वसुदेव देवकी के पुत्र वे कृष्ण नही हो, किन्तु सर्वत्र, सब में वास करने वाले, भक्तों को अपने सौन्दर्य माधुर्य से अपनी ओर खींचने वाले इन्द्रियों से अतीत परब्रह्म हो । इतना सब होने पर भी आप नन्दनन्दन हो, गोपीजनवल्लभ हो आपकी नाभिकमल से ही चतुरानन ब्रह्मा उत्पन्न हुए है । आप यह जो विकसित कमनीय कमलों की अद्भुत माला धारण किये हुए है, इससे आपकी शोभा और भी अतुलनीय हो गई है । कमल के समान खिले हुए आपके बड़े-बड़े नेत्र कमल के चिह्नों से चिह्नित, चिकने और अरुणवर्ण के ये आपके परमपावर पदपद्म मेरे मन मन्दिर में सदा निवास करते रहें । हे अच्युत ! मेरे प्रणाम को स्वीकार करो ।"

भगवान् हँसे और बोले—"बुआजी ! आज आपको क्या हो गया है ? क्यों आज ये आप बेसुरे गीत गा रही हैं ?"

यह सुनकर कुन्ती रो पड़ी और रोते-रोते बोली—"वाह देव ! आज मुझे रोको मत, आज मुझे कह लेने दो। तुम्हारी अहैतुकी कृपा के बोझ से बहुत अधिक बोझीली हो गई हूँ। अनेक अहैतुक उपकारों के भार ने मुझे आभारी बना दिया है। जैसी दया आपने मेरे ऊपर की है वैसी दया तो आपने अपनी सगी माता के ऊपर भी नहीं की। अपनी माता देवकी को तो आपने सीमित कारागार की सीमा से ही बाहर किया, किन्तु मुझे तो इस असीम संसार के बन्धन से सदा के लिये मुक्त कर दिया। हे ऋषिकेश? भाभी देवकी को तो आपने अकेले ही उबारा, उसके पुत्र तो दुष्ट पापी कन्स के द्वारा मारे ही गये, किन्तु मुझे तो आपने दुष्ट दुर्योधन के दारुण दुःखों से पाँचों पुत्रों सहित उबारा है। हमारी सभी विपत्तियों में आप स्वयं आकर सम्मिलित हुए, हमारे छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी कार्य अपने हाथों किये, क्या मुँह लेकर हम आपकी प्रशंसा करें ? किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करें ? एक उपकार हो तो उसका कथन भी किया जाय। हमारी तो पग-पग पर प्रभो ! आपने रक्षा की। दुष्ट दुर्योधन ने भीम को भोजन में विष देकर मार डालना चाहा, किन्तु आपने कृपा करके मारने के स्थान में उसे और अधिक बलवान् बना दिया। कौरवों ने चौकड़ी ने मिलकर लाक्षागृह में पुत्रों सहित हमें जला डालने के षड्यन्त्र रचे, किन्तु उससे भी, हे बाँकेबिहारी ! आपने बाल-बाल बचा लिया। इतना ही नहीं, उसी विपत्ति के समय अयोनिजा त्रैलोक्य सुन्दरी द्रौपदी को भी मेरे पुत्रों की पत्नी बनाया। हिडम्ब, एकचक्रा नगरी का राक्षस आदि बड़े-बड़े

दुष्ट राक्षसों ने पांडवों पर आक्रमण किये, किन्तु आपकी कृपा से वे स्वय ही मारे गये। द्यूत की सभा में पतिव्रता द्रौपदी की लाज आप के सिवाय हे स्वामिन्! कौन बचा सकता था? बनवास की विपत्ति में राज्य-भ्रष्ट पांडवों की रक्षा करने को आपके सिवाय, किस में सामर्थ्य थी? अपने विशाल अस्त्रों और प्रबल-पराक्रम से त्रैलोक्य में कही भी अपने को गुप्त न रख सकने वाले मेरे पुत्र साल भर तक विराट नगरी में आपके अनुग्रह से तो छिपे रहे। अच्छा, ये सब विपत्तियां तो ऐसी थीं, जिनसे भविष्य में मृत्यु की शङ्का थी किन्तु रण में तो क्षण-क्षण में मृत्यु उपस्थित थी। एक बाण में त्रैलोक्य को विध्वंस करने वाले भीष्म, द्रोण, कर्ण के बाणों को देवता भी सहन करने में समर्थ नहीं। संग्राम में सामने आये हुए यमराज को भी जो नाश कर सकते थे, उन महा-रथियों के महा अस्त्रों से आपने रथवान् बनकर, सारथि होकर मेरे पुत्रों की रक्षा की। उन्हें काल के गाल से सकुशल निकाल कर महीपालों का भी महीपाल बनाया। युद्ध के अनन्तर भी आज यह तो मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से ही देखा, कि गुरु पुत्र अश्वत्थामा द्वारा चलाये हुए ब्रह्मास्त्र से—जो कभी भी व्यर्थ न होने वाला अस्त्र है—सब को बात की बात में बचा लिया। अव्यर्थ अस्त्र को भी व्यर्थ बना दिया। किसी से न कटने वाले अभिमन्त्रित अनुपम बाण को, सुदर्शन चक्र से काट कर फेंक दिया। इसलिये अब मैं कहाँ तक आपके उपकारों को गिनाऊँ? कहाँ तक आपके गुण गाऊँ? कहाँ तक आपकी अहैतुकी कृपा का वर्णन करूँ? अब मेरी आपसे एक अन्तिम प्रार्थना है। मैं आपसे एक वरदान चाहती हूँ, यदि आप देने का वचन दें, तो मैं माँगूँ।"

भगवान् बात को टालने की दृष्टि से सकुचाते हुए बोले—"बुआजी ! कैसी बात कर रही हैं आप ? मेरा सर्वस्व आपका है। मेरे रोम-रोम आपके काम आवे तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा। मेरे चाम से आपका कोई काम निकले तो अभी इसी समय इसी खड्ग से अपने आप अपना चर्म उधेड़ कर दे सकता हूँ। आप ऐसा सङ्कोच न करें, जो आप माँगेंगी मैं वही दूँगा।

रोती हुई कुन्ती ने सिसकियाँ भरते हुए कहा—"लालजी! क्यों मुझे लज्जित करते हो ? क्यों मुझ भार से दबी हुई को और अधिक दबाते हो ? करुणासिन्धो ! तुम्हारा ही तो सहारा है। तुम कृपा न करते, तो आज हम कहीं की भी न रहती। आपको जो करना था, सब किया। अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं अब तुम्हारे सामने पल्ला पसार कर यही भीख माँगती हूँ, कि हम पर सदा ही इसी प्रकार इससे भी अधिक विपत्तियाँ आती रहें। यही मेरा अन्तिम वरदान है, इसी को हे दयालो ! जाते समय मुझे देते जाओ।

भगवान् आश्चर्य चकित होकर कुन्तीजी की ओर देखने लगे और अत्यन्त विस्मय के स्वर में कहने लगे—"बुआजी ! बुआजी ! आपका चित्त ठीक है न, आप यह क्या वरदान माँग रही हैं ? जान बूझकर मुझसे फिर उन्हीं विपत्तियों की याचना करती हैं जिनके कारण आपको इतना क्लेश हुआ और जिन्हें निवारण करने को मुझे बार-बार द्वारका से दौड़ना पड़ा। आप उच्च से उच्च कुल में जन्म की याचना करें अतुल ऐश्वर्य का वरदान माँगें, समस्त संशयों का उच्छेदन करने वाली विद्या माँगे, जो लक्ष्मी चञ्चला और चपला वह

कर प्रसिद्ध है, वह आपके यहाँ सौम्या, स्थिर और अचला बन कर निवास करे—इसके लिये प्रार्थना करें, तब तो ठीक भी है विपत्ति आप क्यों माँग रही है ?

कुन्ती जी बोलीं—"वासुदेव ! मुझे अब अधिक मत बहकाओ। मैं तुम्हारे प्रभाव को तुम्हारी ही कृपा से समझने लगी हूँ। हम पर विपत्तियाँ न आतीं तो आप हमारे समीप क्यों आते। सम्पत्ति में हम आपको क्यों याद करते। उसी के मद में मदान्ध होकर स्वतः आये हुए भी आपका अपमान ही करते। विपत्तियों ने ही तो हमें आपके दर्शन कराये, जिन दर्शनों को करने पर भी फिर कभी संसार के दर्शन नहीं होते। हम उन अनित्य, क्षणभङ्गुर तुच्छ, नाशवान् सुखों को लेकर क्या करेंगे जो हमें आपसे अलग कर दें। हम उन विपत्तियों का हृदयसे स्वागत करते हैं,जो बार-बार आपके दर्शनोंका अवसर देती हैं। हे दयासागर ! विपत्तियों ने ही हमें आपकी शरण में जाना सिखाया है। आप ही एक मात्र दुःख दूर कर्ता हैं, यह बात विपत्तियों ने ही तो हमें बताई है। उन्हें छोड़कर फिर हम सम्पत्ति की चाह क्यों करें ? जो हमें आपसे मिलाती हैं, आपका कृपा-पात्र बनाती हैं, वे विपत्ति ही हमारे लिये सम्पत्ति के समान हैं और जो सम्पत्ति आपसे दूर हटाती हैं वह हमारे लिये घोर विपत्ति है। अब रही सत्कुल में जन्म, ऐश्वर्य विद्या और लक्ष्मी की बात। सो प्रभो ! ये तो मादक वस्तुएँ हैं। इनके मद में मत्त हुआ प्राणी संसार में सभी का अपमान करता है। किसी को अपने समान नहीं समझता, सभी का तिरस्कार करता है। वह सबके सामने तुम्हारे सुमधुर नामों का निर्लज्ज होकर कीर्तन कैसे कर सकता है और बिना सङ्कीर्तन के बिना उच्च स्वर के पुकारे आप आते नहीं।

अतः आपको भुलाने वाले धन, वैभव, विद्या आदि हमें नहीं चाहिये।

जिसे अपने धन का, गुणों का अभिमान है, उनके समीप आप जाते ही नहीं। आपको यदि ऐश्वर्य ही प्रिय होता, वैभव से ही आप प्रसन्न होते, तो आप दुर्योधन की सुन्दर स्वादिष्ट सामग्रियों को छोड़कर विदुर के घर शाक खाने क्यों जाते? इससे पता चलता है आप अकिंचन प्रिय हैं, दीनों के नाथ हैं, निर्धनों के धन हैं, कङ्गालों की सम्पत्ति हैं। आपको ऐश्वर्य की, गुणों की सजी हुई सामग्रियों की क्या अपेक्षा होगी। आप तो स्वयं माया प्रपञ्च से रहित, अपने आप में ही रमण करने वाले, शान्त स्वरूप तथा मोक्ष के भी स्वामी हैं। दुर्योधनादि दुष्टों ने आपको पकड़ना चाहा, किन्तु आप तो काल के भी काल हैं, नियम के भी नियन्ता हैं। आदि अन्त से रहित और सब में समान रूप से विचरण करने वाले हैं। आपके लिये न कोई प्रिय है न अप्रिय। आपकी दृष्टि में सभी एक से हैं। सभी पर समान कृपा दृष्टि रखते हैं।"

भगवान् हँसे और बोले—"बुआजी! ऐसी झूठी बातें क्यों कह रही हैं। कौरवों की अपेक्षा पांडव मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। पांडवों के सम्बन्ध से मैं कौरवों से द्वेष करता था। जो पांडवों के प्यारे हैं, उनसे प्रेम का बर्ताव करता हूँ। फिर तुम मुझे समदर्शी क्यों कह रहा हो?"

कुन्तीजी बोलीं—"लालजी! अब तुम नहीं छिप सकते। भला आप किससे द्वेष कर सकते हैं और, किससे प्रेम करते हैं। प्राणी अपनी दृष्टि के ही अनुसार आप में गुण दोषों का आरोप करते हैं। विषम दृष्टि वालों को आप विषम से

प्रतीत होते हैं, समदृष्टि वालों को सम। जैसे आँखों में लाल, पीला, हरा, नीला जैसा भी काँच लगाकर देखेंगे, आकाश उसी रङ्ग का प्रतीत होगा। वास्तव में आकाश में ये कोई भी रङ्ग नहीं, वह तो निर्लेप है। इसी तरह आप प्रियता-अप्रियता से पृथक् विषमता से रहित, निर्विकार निर्लेप है। फिर भी लोग आप में शत्रुता, मित्रता का आरोप करते ही हैं। आप ऐसे-ऐसे कार्य करते हैं, कि देखने वाले आपको साधारण मनुष्य समझकर मोहित हो जाते हैं। वे समझ ही नहीं सकते, कि आपकी इस क्रीड़ा का रहस्य क्या है।

वैसे तो अजन्मा होने पर भी आपने जलचर, नभचर देव, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक यहाँ तक की परम निन्दित शूकर योनि तक में अवतार धारण करके अद्भुत-अद्भुत क्रीड़ायें की, किन्तु इस कृष्णावतार में तो आपने सभी को माया मोहित कर दिया। अपने अतुल ऐश्वर्य को छिपाकर भक्तवत्सलता के पीछे आपने- अपने महत्व को एकदम भुला ही दिया।"

भगवान् बोले—"बुआजी! अब अधिक मुझे आकाश में मत चढ़ाओ। मेरा ऐश्वर्य पराक्रम सभी जानते हैं। जरासन्ध के डर से डर कर, अपनी परम पावन पैतृक राजधानी को छोड़कर, हम अपने परिवार सहित छिपकर समुद्र के बीच में रहते हैं। यह डरपोकपना जगत् प्रसिद्ध है।"

कुन्तीजी कुछ हँसी और फिर प्रेम भरी वाणी में बोलीं—"लालजी! डरना कुछ आपके लिये नई बात नहीं है। डरपोक तो आप जन्म के ही हैं। कंस के डर से डरकर आप मथुरा के कारावास से गोकुल ग्वालवालों के बीच में आये और वहाँ आकर भी आपने ऐसा अपना डरपोकपना दिखाया, कि उसकी

स्मृति मात्र से मेरे रोमांच खड़े हो जाते हैं। हाय! कैसी आपकी बाल विडम्बना है वह, वहाँ आपने अपनी अतुल ऐश्वर्य छिपा कर कैसी भक्त वत्सलता दिखाई है मैं आपकी सब लीलाओं को भूल सकती हूँ, किन्तु वह लीला मुझे कभी नहीं भूलेगी। वह सदा मेरे नेत्रों के सामने नाचती ही रहती है, गोकुल में की हुई माखन की चोरी की वह लीला।

तुमने माता यशोदा का बड़ा भारी अपराध किया था। युगादि पुराना—सास-ससुर के सामने का—उसका दही बिलोने का माँट तुमने लोढ़ा मार कर फट से फोड़ डाला। इस पर वह कुपित हुई और हाथ में छड़ी लेकर रस्सी से तुम्हें बाँधने दौड़ी। हे दामोदर! तुमने कैसी चेष्टा बनाई! कैसी लीला दिखाई। डर भी जिसके डर से डरकर रोने लगे। बड़े-बड़े ऋषि महर्षि भी घोर तप करके जिनसे मुक्ति की याचना करते हैं, ऐसे आप माँ से हा हा खाकर मुक्ति याचना करने लगे। उन कमल के समान विकसित बड़े-बड़े नेत्रों में, जिनमें यशोदा ने रात्रि स्नेह वश बहुत सा काजल लगा दिया था, उन्हीं कमल-कोषा से ओस के समान अश्रुबिन्दु बरसा कर माँ के हृदय में दया का संचार करने का ढोंग रचने लगे। कैसी वह आपकी अद्भुत लीला थी। उस समय आप एकदम सम्पूर्ण को भुलाने के लिये भोले-भाले बालक बन गये भय से भयभीत होकर मुँह नीचा करके सीधे शिशु की तरह खड़ी हुई तुम्हारी वह मनमोहनी मूरति, मेरी आँखों में नाचती हुई, अब भी मेरे मन को मोहित सी बना रही है। सोचती हूँ क्या यही अखिल भुवन का एक मात्र स्वामी मेरे सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं?

आपके अवतार का प्रयोजन क्या है, इसे आपके सिवा कोई जान नहीं सकता। सब अपना-अपना अधूरा अनुमान लगाते हैं। कोई तो कहते आपका अद्भुत अवतार युधिष्ठिर की कीर्ति को बढ़ाने के लिये हुआ है। कोई कहते हैं आप यदुवंश को अलंकृत करने के लिये—उसका सुन्दर सुखद सुरभि दिग्दिगन्त में फैलाने के लिए—उसी प्रकार प्रकट हुए हैं, जैसे मलयाचल पर्वत पर चन्दन उत्पन्न होता है। कोई कहते हैं, पूर्व जन्म में वसुदेव और देवकी ने सुतपा और पृश्नि रूप से तपस्या करके आप से पुत्र होने का वरदान प्राप्त किया था। उसी वरदान को पूर्ण करने के निमित्त आप अवनि पर अवतरित हुए हैं। कोई-कोई कहते हैं, कि आप धर्म की संस्थापना करने के निमित्त,अधर्म को दूर करने के लिये साधुओं को सुख देने के लिये और दैत्यों का नाश करने के लिये,सदा ही युग-युग में जैसे अवतार धारण करते है, वैसे ही यह भी अवतार लिया है। किन्हीं-किन्हीं का मत है, कि यह वसुन्धरा दैत्यों के पाप-भार से भारी होकर नौका के समान समुद्र में डूबना ही चाहती थी, उसी के उद्धार के निमित्त चतुर नाविक के समान प्रकट होकर, उसे उबारने को अजन्मा होकर भी आप उत्पन्न हुए है।"

भगवान् हँसकर बोले—"बुआजी, सबका मत तो आपने बताया, किन्तु आपका क्या मत है। इनमें से आप प्रकट होने का कौन सा समझती हैं?"

कुन्तीजी बोलीं—"लालजी! मेरा मन तो इन सबसे भिन्न ही है। ये आपके रास्ता चलते हुए तिनका छूने के समान कारण हो सकते हैं। आपके अवतार का मुख्य कारण तो मैंने

यही समझा है, कि एकमात्र अपने भक्तों को सुखी करने के निमित्त उन्हें संसारी अविद्या,कामना और कर्म बन्धनों से बचाने के निमित्त ही आपकी यह लीला है।"

भगवान् बोले—"इससे और कर्मबन्धन मुक्ति से क्या सम्बन्ध ? कर्मों से तो बन्धन होता है। इन संसारी चेष्टाओं के स्मरण से तो संसार बन्धन और दृढ़ होता है ?"

कुन्तीजी बोलीं—"वासुदेव! आपकी चेष्टायें संसारी नहीं अलौकिक है। आपके चारु चरित्र कर्म नहीं, कर्मों के काटने की छेनी है। आपकी ललित लीलायें लोगों के अशुभों को दूर करने वाली हैं। जो लोग आपकी लीला को बार-बार श्रद्धा सहित श्रवण करते है, जो गुणी लोग ललित गीतों द्वारा तान मूर्छालय के सहित गुण गान करते हैं, जो सत्पुरुष स्तोत्रों द्वारा आपकी लीलाओं का गुणों का, स्तवन करते हैं, जो आपके दिव्य कर्मों का स्मरण करते हैं, उन्हें आपके पादपद्मों के देव दुर्लभ दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होता है, जिनके दर्शन करने से संसार का आवागमन छूट जाता है।"

भगवान् बोले—"बुआजी!आपने आज तो मुझे बहुत बढ़ा चढ़ा दिया। आपका अभिप्राय क्या है ?"

कुन्तीजी बोलीं—"मेरा अभिप्राय क्या है, सभी जीवों का एकमात्र यही अभिप्राय है, कि आपके चरणों का दर्शन करता रहे। देखो तुम द्वारका जा रहे हो न ? आज अशकुन हो गया। यात्रा के समय केश खोले, भयभीत स्त्री और विशेष कर विधवा सामने आ जाय,तो उस दिन की यात्रा स्थगित कर देनी चाहिए। आज मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी।"

भगवान् बोले—"देखो बुआजी ! वहाँ भी बहुत से कार्य हैं। ये शकुन, अशकुन तो लगे ही रहते है। सदा मैं थोड़े ही रह सकता हूँ। एक दिन तो जाना ही होगा, आज न सही कल वियोग का दुःख तो सहना ही है। मैं फिर आता ही रहूँगा। जब भी आपका सन्देश पहुँचेगा, तत्क्षण मैं उपस्थित हो जाऊँगा।"

कुन्तीजी बोलीं—"हाय ! वासुदेव आप सचमुच हमे छोड़ जायँगे क्या ? हे भक्तवत्सल ! हमारा और सहारा कौन है ? हमारे तो सम्बन्धी, सुहृद, स्वामी, स्वंस्व आप ही हैं। आज पृथ्वी भर के सभी राजा हमारे वैरी बन गये हैं। युद्ध में हमने उनके बन्धु बान्धवों का वध किया है। सब एक मात्र आपके चरण कमलों का ही भरोसा है। उन्हीं के आश्रय से हम जी सकते हैं, नही तो आज जगत हमारे विरुद्ध हो रहा है, आपके बिना हमारी इस राजधानी की शोभा ही क्या है। जैसे पति के बिना पतिव्रता की शोभा नहीं, जैसे इन्द्रियों के रहते हुए भी यदि शरीर में से प्राण निकल जायँ, तो वह शरीर किसी काम का नही रहता, उसी प्रकार पांडवों और यादव की सत्ता आपके बिना रह ही क्या जायगी। इस पृथ्वी की एक मात्र शोभा, विलक्षण लक्षणों से युक्त आपके चरणारविन्द ही है। जैसे चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं, जल के बिना नदी की शोभा नही, कमलो के बिना सर की शोभा नहीं, पङ्खों के बिना पक्षियों को शोभा नहीं, सिन्दूर के बिना सुहागिनी की शोभा नही, उसी प्रकार आपके चरणों के बिना इस हरी-भरी सुपक्व औषधि, लता वृक्षों से सम्पन्न, सब प्रकार के समृद्धि युक्त, वन, पर्वत, नदी और समुद्र सहित पृथ्वी की शोभा नही। इन सबकी अभिवृद्धि आपकी दया दृष्टि से ही हो रही है।

आप हमें छोड़कर जायँ नहीं। आपके बिना हमारे प्राणों की रक्षा कौन करेगा ?"

भगवान् बोले—"बुआजी ! यह तो आप सब मोह ममता के वशीभूत होकर कह रही हैं, कि ये मेरे पुत्र हैं, पौत्र हैं, ये मेरे भाई के पुत्र हैं, पौत्र हैं। इन पाण्डवों और यादवों में आपका अत्यधिक मोह है।"

कुन्तीजी बोलीं—"हे वासुदेव! यदि मेरा मोह ही है, तो उसे छुड़ाने वाले भी तो तुम्हीं हो, तुम्हें छोड़ कर इस मोह ममता को कौन काट सकता है ? कौन इस दृढ बन्धन को शिथिल करने में समर्थ है ? हे विश्वम्भर ! हे विश्वात्मन्! हे विश्वरूप! मेरी ममता को मेट दो। पांडवों और यादवों में कसी हुई इस दृढ शृंखला को छिन्न-भिन्न कर दो।

बस, अब विशेष विनय न करूँगी। अब आपसे मेरी एक ही अन्तिम प्रार्थना है। जैसी भगवती भागीरथी का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ही ओर वेग के साथ बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे चित्त की वृतियाँ आपके चरणों की ही ओर लगी रहें। सब ओर से हटकर मेरा मन आपकी ही ओर दौड़ता रहे। आपको छोड़कर मुझे किसी दूसरे की चिन्ता न हो।" इतना कह कर महारानी कुन्ती चुप हो गईं। उनकी आँखों में प्रेमाश्रु अब भी डबडबा रहे थे। मुनियों ! जब कुन्ती ने इस प्रकार मधुसूदन की स्तुति की, तो श्यामसुन्दर मन्द-मन्द मुस्कराये। उनकी मुस्कान में ही तो मादकता है। जगत् को उन्मादित करने वाली माया ही तो उनकी हँसी है। जहाँ से वे हँस पड़े, तहाँ सब किया कराया चौपट।

बड़े प्रेम से अपनी बुआ से बोले—"अच्छी बात है, तुम मना करती हो, तो मैं नहीं जाता। चलो हस्तिनापुर चलें।

यह कह कर सबके साथ श्यामसुन्दर महलो मे आ गये। अब रोज़ ही जाने की तैयारियाँ होती, रथ तैयार होकर द्वार पर आ जाता, कभी महाराज युधिष्ठिर कहते—"वासुदेव ! आज तो मैं नहीं जाने दूँगा। आज नक्षत्र ठीक नही. आज दिशाशूल है. आज अब देर हो गई।" कभी सुभद्रा कहती "भैया, आज नहीं। फिर कुन्ती बुआ की बारी आती—"अरे, आज तो किसी ने छीक दिया। सामने देखो रोते घोड़े आ गये। आज नही।" इस प्रकार आज कल करते हुए ६ महीने श्यामसुन्दर और रहे।

इस प्रकार शत्रुओं को मार कर, महाराज युधिष्ठिर को समझा-बुझाकर, सिंहासन पर बिठा कर, भीष्म पितामह से धर्मराज को उपदेश दिलाकर, उन्हें सद्गति देकर परीक्षित् की रक्षा करके भगवान् वासुदेव द्वारिकापुरी को चले गये वहाँ बड़े सुख पूर्वक रहने लगे।

इतना कहकर सूतजी चुप हो गये। तब शौनकजी बोले—सूत जी ! यह तो आप बड़ी शीघ्रता कर गये। श्रीकृष्ण-कथा ही तो मधुरातिमधुर है. इनके रस के लोलुप ही तो हम सब यहाँ बैठे है। सब बात पूरी बताइये। भगवान् ने कैसे महाराज युधिष्ठिर को समझाया, भीष्म पितामह को कैसे कृतार्थ किया ? इन सब बातों को विस्तार के साथ वर्णन करें।

शौनकजी की बात सुनकर सूत जी हँस पड़े और बोले—"महाभाग शौनकजी ! मैंने शीघ्रता नही की। कथा कहने की ऐसी ही प्राचीन परिपाटी है। पहिले बात को संक्षेप से कहना, यदि श्रोता को उसे विस्तार के साथ श्रवण करने की रुचि

वक्ता देखे, तो उसी का विस्तार से वर्णन करे और यदि श्रोता उस विषय में उदासीन सा प्रतीत हो, तो आगे बढ़े। अब मैं आपको इसी विषय को विस्तार के साथ सुनाता हूँ।

छप्पय

हे विश्वम्भर ! विभो ! आप हैं सबके स्वामी।
अच्युत अलख अनन्त अगोचर अन्तर्यामी॥
सुरसरि को शुभ सलिल, सदा सागर में जावे।
मेरो चञ्चल चित्त चरन तल तब त्यों धावे॥
बूआ की विनती सुनी, प्रेम सहित प्रभु हँसि गये।
माया मोहित मन भये, वासुदेव मन बसि गये॥

धर्मराज का पश्चाताप

(३१)

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः।
पारक्यस्यैव देहस्य बह्वयो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥*

(श्रीभा० १ स्क० ८ अ० ४८ श्लोक)

छप्पय

नही द्वारिका गये लौटि महलन में आये।
धर्मराज रण-पाप सोचि पुनि-पुनि पछताये॥
कैसी मम मति मलीन भई भाई निज मारे।
निज सम्बन्धी हने, सभी निर्दोष विचारे॥
अश्वमेध करि कवन विधि, परमपुण्य पुनि मिलि सके।
कीचड़ की कालिख कबहुँ, कीचड़ तें का धुलि सके॥

अपनी शक्ति के बाहर के कार्य को किसी आवेश में भर कर हम कर तो डालते हैं, किन्तु करने के अनन्तर अङ्गों में अत्यधिक शिथिलता का अनुभव करने लगते है। इसी प्रकार

---

* पश्चात्ताप करते हुए धमराज युधिष्ठिर कह रहे हैं—"हाय! मुझ पापी के हृदय पर छाये हुए अज्ञान की तो देखो, इस अनित्य और सियार कूकर के अथवा अग्नि के भक्ष्य इस नश्वर शरीर सुख के

द्वेष यश का अपमान की ज्वाला से संतापित होकर हम अपने प्रतिपक्षी को पराजित करने का प्रयत्न करते हैं। जब वह पराजित या नष्ट हो जाता है, तो द्वेष की वस्तु के न रहने पर उसके अभाव में—हमारे मन में एक प्रकार का पश्चाताप पैदा होता है। मनुष्य के गुण उसके मरने के पश्चात् याद आते हैं। शरीर का अन्त होने के साथ सज्जनों के वैर का भी अन्त हो जाता है। पश्चात्ताप वैसे तो सभी को थोड़ा बहुत होता है किन्तु मलिन मन वाले पुरुष उसका अनुभव नहीं करते। मन जितना ही राग-द्वेष आदि मलों से रहित स्वच्छ और निर्मल होगा, पश्चात्ताप की अग्नि उसमें उतनी अधिक प्रज्वलित होगी।

धर्मराज शुद्ध अन्तकरण वाले धर्मात्मा थे। कौरवों की क्रूरता के कारण यद्यपि अनिच्छा रहने पर भी, उन्हें, उन सब का वध करना पड़ा। उस समय परस्पर में एक दूसरों से चिढ़े हुए थे। कौरवों ने अपनी काली करतूतों—द्रौपदी के अपमान आदि असह्य कार्यों द्वारा पांडवों को अत्यधिक कुपित कर दिया था। अभिमान के साथ उसके सबके सामने अनेकों बार धर्मराज को युद्ध के लिये ललकारा और बलपूर्वक कहा, कि बिना युद्ध के एक सुई के छिद्र के बराबर भी पृथ्वी मैं पांडवों को न दूँगा। धर्मराज ने हर प्रकार से युद्ध रोकने की चेष्टा की। भगवान् को भेजा, पाँच गाँवों पर दुर्योधन की अधीनता में रहकर निर्वाह करना स्वीकार किया। किन्तु उस समय कुबुद्धि ने एक भी बात न मानी। तब विवश होकर धर्मराज

लिये, मैंने अनेक अक्षौहिणी सेना का शस्त्रों से संहार कर डाला। कितना भारी पाप मैंने किया।

को अपने शत्रुओं का संपार करने का ही निश्चय करना पड़ा। जनार्दन की सहायता से उन्होंने अपने शत्रुओं का संहार किया। सम्पूर्ण पृथ्वी का एक दम निष्कण्टक राज्य उन्हें प्राप्त हुआ। युद्ध के समय तो चित्त जय-पराजय की चिन्ता में इतना मग्न रहता कि कभी दूसरी बात सोचने का अवसर ही न मिलता। अब जब सब शत्रु इस समय धराधाम को छोड़कर स्वर्ग चले गये। मनुष्य, हाथी, घोडा, वाहनों से शून्य, रक्त से भीगा हुआ पृथ्वी का राज्य जब धर्मराज ने देखा, तो उन्हें अत्यन्त ही ग्लानि हुई। उन्हें अत्यधिक मानसिक सन्ताप होने लगा। वे बार-बार अपने को धिक्कारने लगे। वे किसी से न तो बोलते थे,न बात ही करते थे। अन्धेरे में एकान्त में पड़े-पडे निरन्तर रोते ही रहते थे। उन्होंने अमूल्य वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये। स्वादिष्ट भोजन करना छोड़ दिया। वे कभी दिन में एक बार सत्तू आदि थोडा सा सूखा अन्न खा लेते, नही तो निराहार रहकर ही वे अपने शरीर को सुखाने लगे।

धर्मराज की ऐसी दशा देखकर पुरजन,परिजन,सगे संबंधी मन्त्री, अमात्य तथा प्रजा जनों को बड़ी चिन्ता हुई। सबने मिल कर ऋषि-मुनि और ब्राह्मणों से प्रार्थना की इस पिता पितामह प्रपितामह की चली आई हुई भरतवंश की गद्दी पर धर्मराज को समझा बुझा कर बिठाइये। बिना राजा के सिंहासनारूढ़ हुए शासन के समस्त कार्यों में शिथिलता आ जाती है। राज्य कर्मचारी मनमानी करने लगते हैं, प्रजा में अराजकता छा जाती है। मन्त्री अमात्य और प्रजा के लोगों की ऐसी प्रार्थना सुनकर सभी ने मिलकर एक बड़ी भारी सभा बुलाई। जिसमें व्यास धौम्य आदि पुरोहित अन्यान्य ज्ञानी ऋषि मुनि तथा और भी राज्य के प्रधान प्रधान अन्तरङ्ग पुरुष सम्मिलित हुए।

चारों पांडव, गन्धारी, कुन्ती आदि गुरुकुल की स्त्रियां भी एक ओर बैठी थीं। एक ऊंचे आसन पर अंधे धृतराष्ट्र भी विराजमान थे। भगवान् भी बैठे थे, किन्तु धर्मराज उस सभा में सम्मिलित नहीं हुए, तब तो स्वयं श्रीकृष्ण जाकर बड़ी अनुनय विनय के साथ धर्मराज को उस सभा में बुला लाये। भगवान के आग्रह से धर्मराज अनिच्छा पूर्वक सभा में आये। वे आकर एक बहुत ही साधारण से मलिन आसन पर बैठ गये। सभी धर्मराज के मुख की ओर देख रहे थे, किन्तु वे किसी की ओर ताकते तक नहीं थे। उनकी दृष्टि पृथ्वी की ओर थी और उनकी दोनों आँखों से श्रावण-भादों के मेघ के समान अश्रुओं की झड़ी लगी हुई थी।

इस प्रकार धर्मराज को अत्यन्त ही दुखित, पश्चात्ताप की ज्वाला में जल कर रोते हुये देख कर गुरु कुल के एक मात्र रक्षक सब के पितामह भगवान् व्यासजी बोले—"धर्मराज! बेटा! तुम इतने अधीर क्यों हो रहे हो? तुमने कोई पाप-कर्म तो किया नहीं। तुमने तो, जो एक धर्मात्मा क्षत्रिय को करना चाहिये, वही किया है। तुमने किसी का धन अपहरण नहीं किया। निरपराधी का वध नहीं किया। तुमने तो धर्म-युद्ध में शत्रुओं को नष्ट करके अपने पितामह से पालित इस पृथ्वी का राज्य प्राप्त किया है। पाप करने पर पश्चात्ताप और प्रायश्चित किया जाता है। पुण्य से तो प्रसन्नता होती है। धर्म करके भी आप अधर्मी की तरह क्यों दुखी हो रहे हैं? राज्य के लिये सभी राजर्षि क्षत्रियों ने युद्ध किये है और उनमें अपने प्रतिपक्षियों का वध भी किया है। देवता और असुर एक पिता के पुत्र हैं। परस्पर में भाई-भाई होने पर भी सदा युद्ध करते रहते हैं और अपने विपक्षी को हरा कर स्वयं राजा बनते हैं

ई बार असुरों ने देवताओं को भगाकर स्वयं इन्द्रासन का उपभोग किया है। इसी प्रकार देवताओं ने भी असुरों के बाल बच्चों तक का वध किया है। आपने तो शत्रु-सेना के वीरों को युद्ध में लड़ते हुए—अपने ऊपर प्रहार करते हुए—मारा है। इसमें दोष की कौन सी बात है, जिसे तुम पाप समझ रहे हो। वह तो परम पुण्य है, जिसे अधर्म मान रहे हो, वह तो क्षत्रिय का मुख्य धर्म है।"

इस प्रकार भगवान् व्यासजी ने अनेक दृष्टान्त देकर, अनेक राजाओं के इतिहास सुनाकर अनेक स्मृतियों के वाक्य बता कर धर्मराज की शङ्का का समाधान करना चाहा, किन्तु उनकी समझ में ये बातें नहीं आईं। व्यासजी के समझाने पर भी उनके मन में यह बात बैठी ही रही, कि मैंने बन्धु-बान्धवों का वध करके घोर पाप किया है।

वे अत्यन्त उदास हो रहे थे। उन्होंने अपने आँसू पोंछते हुए कहा—"भगवन्! कौन प्राणी है, जो जीवित रहना न चाहता हो। अत्यन्त दुखी से दुखी प्राणी भी स्वेच्छा से मरना नहीं चाहता। ऐसे जीवित रहने की इच्छा वाले लाखों करोड़ों प्राणियों का मैंने क्रूरता पूर्वक वध किया है। यह धर्म हुआ—इसे मेरा अन्तःकरण स्वीकार नहीं करता।"

जब व्यासजी की बातों का धर्मराज पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा, तो सब लोग श्यामसुन्दर देवकीनन्दन के मुखारविन्द की ओर देखने लगे। युधिष्ठिर के चारों भाई अत्यन्त दुखी थे। उन्हें शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से जो प्रसन्नता हुई थी, वह धर्मराज के मलीन मुख को देखकर जाती रही। उनका उल्लास तथा आह्लाद नष्ट हो गया। वे प्यासे चातकों की भाँति घनश्याम

को निहारने लगे। तब तो श्रीकृष्णचन्द्र अपनी शीतल कि
के प्रकाश से सभी को शीतलता प्रदान करते हुए धर्मर
से कहने लगे—"महाराज ! यह कायरता आपको शो
नहीं देती। मैंने कितने परिश्रम से तो यह राजलक्ष्मी प्रा
की है। कितनी आशाओं को लिए हुए मैंने शत्रुओं का संहा
कराया है। कितने श्रम से अनेक आशाओं के सहित फलवान
वृक्ष को पाल-पोस कर खाद देकर बड़ा किया। ज
उसके फलने का समय आया और सुन्दर-सुन्दर मधुर फल
लगने लगे, तब आप उसे कुठार लेकर काटने के लिये उद्यत
हो रहे हैं। यह आप हम सबके साथ घोर अन्याय कर रहे
हैं। हम आपको हंस के समान शुभ्र श्वेत छत्र के नीचे भरत
वंश के सिंहासन पर बैठा देखने को कितने लालायित हो
रहे है। जब आप सुवर्ण सिंहासन पर विशाल छत्र के नीचे
द्रौपदी के सहित बैठेंगे, अर्जुन और भीम आपके ऊपर छत्र
करेंगे। नकुल और सहदेव स्वर्ण की मूठ वाली खड्ग लिए
आपकी आराधना करेंगे। तब यह सभी कुरु जांगल देश की
प्रजा, मैं और ये भूमण्डल के समस्त राजा अत्यन्त ही आनन्दित
होकर आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन करेंगे। मेरी एक
मात्र इच्छा आपको सम्राट-पद पर प्रतिष्ठित करने की थी।
आपको चक्रवर्ती पद पर बैठा देखूँ, इससे बढ़ कर संसार में
प्रिय वार्ता मेरे लिये कोई दूसरी नहीं है। मेरी समस्त साधनायें
इसी के लिये थीं आप अपने लिये नहीं, राज्य के लोभ से नहीं
किसी के कहने से नहीं, मेरी तृप्ति के लिये सिंहासनारूढ़
हों। मेरी आँखों को तृप्त करने के लिये आप छत्र, चँवर को
धारण करें।"

स्नेह जल से जिनके कमल नयन भीग गये हैं और प्रेम के

संवेग से जिनका कण्ठ रुद्ध हो गया है, वे धर्मराज बड़े कष्ट अपने आँसू पोंछते हुए बोले – जनार्दन ! आपकी मेरे ऊपर कितनी कृपा है—उसे शब्दों मे क्या कहूँ ? आपके लिये मेरे हृदय में कितना आदर है—इसे कैसे बताऊँ ? आप हम दीन हीनों पर इतना स्नेह रखते है। आप हम असहायों के प्रति कैसी ममता करते हैं, इसे स्मरण करके मेरी छाती फटने लगती है। हे दीनबन्धो ! हम आपकी ही सहायता से आपकी ही कृपा से बड़े बड़े दुःखों से बिना प्रयास के ही पार हो गये है। अपने प्राण देकर भी मैं आपका कोई प्रिय कर सकता होऊँ, तो हे प्राणनाथ ! ये प्राण प्रस्तुत हैं ? आप स्नेहवश, ममतावश मुझ पापी को सिंहासन पर बिठाना चाहते है। दयासागर ! मैं इस अहैतुकी कृपा के योग्य किसी प्रकार नहीं हूँ। मैंने ऐसे-ऐसे पाप किये है कि जिनका स्मरण करके मेरे रोम खड़े हो जाते हैं। मुझे रात्रि में नींद नहीं आती। हाय! मैंने कितने जीवो का संहार करा डाला। कितने बच्चों को उनके पिताओ से पृथक् कर दिया, कितनी पत्नियो को उनके पति से पृथक् करके उन्हें सदा के लिये विधवा बना दिया। उनके हृदय से निकले हुए गरम आँसू मुझे, 'हे दीनबन्धों ! जला रहे हैं। उन सबका शाप मेरे सिर पर सवार होकर मुझे प्राणान्तक पीड़ा पहुँचा रहा है। आप तो मुझे राजा बनाने को कह रहे है, मैं तो अब किसी को अपना कलंकित काला मुख भी दिखाने के योग्य नहीं हूँ। आप भीम, अर्जुन नकुल, सहदेव या और भी जिसे बनाना चाहें राजा बना दें। आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन कर सकता हूँ, प्राण देकर भी आपकी प्रसन्नता सम्पादन कर सकता हूँ, किन्तु आपकी इस आज्ञा का पालन मुझसे न होगा। मैं इस रक्त

रञ्जित सिंहासन पर किसी प्रकार नहीं बैठ सकता।" इतना कहते कहते महाराज युधिष्ठिर वस्त्र से अपना मुख ढक कर बालकों की भाँति फूट-फूट कर रोने लगे। उन्हें रोते देखकर सभा में जितने मनुष्य बैठे थे, सबकी आँखें गीली हो गईं। सभी एक साथ आँसू बहाने लगे।

धर्मराज की ऐसी दशा देख कर श्यामसुन्दर चुप हो गये। फिर सभी मुनियों के संकेत को समझ कर भगवान् व्यासजी उन्हें इस प्रकार समझाने लगे—"देखो, पांडुनन्दन! तुम जो ये बातें कह रहे हो, सर्वथा अविवेक के अधीन होकर कह रहे हो। पारिवारिक स्नेह बन्धु बान्धवों के मोह के वशीभूत होकर तुम इस प्रकार अश्रु बहा रहे हो। तुम्हारे जैसे धर्मात्मा को, जो धर्म के मर्म को भली भाँति जानते और समझते है, ऐसा शोक शोभा नहीं देता। बेटा! तुम इस चिन्ता को छोड़ दो। शोक, मोह को, मरे हुओं को तिलाञ्जलि देकर बहा दो। तुमने जो किया है संसार के कल्याण के लिये किया है। धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। उसे वे ही समझ सकते है, जिन्होंने तुम्हारी तरह धार्मिक पुरुषों का सत्सङ्ग और गुरुजनों की आज्ञा का श्रद्धा भक्ति से पालन किया हो। जब तुम ही ऐसे विषयों में शोकाकुल हो जाओगे, साधारण लोगों की क्या दशा होगी? अब बहुत हो गया, मरना जीना तो सब प्रारब्ध के अधीन है। कौन किसे मारता है? सब अपने-अपने कर्मों के अधीन होकर मरते जीते हैं।

रोते रोते धर्मराज ने कहा—"भगवन्! मैं मरे हुओं के लिये मोहवश शोक नहीं करता। मुझे तो अपने ऊपर ही ग्लानि हो रही है। मैंने इतने जीवों की हिंसा क्यों की? बस, इस शरीर

को सुखी बनाने के लिये ही। यह शरीर स्वभाव से ही रोग शोक और चिन्ताओं का घर है। इसे कोई किसी तरह पूर्णरीत्या सुखी नही बन सकता, क्योंकि यह निसंगतः मलीन है। कितने भी सुन्दर, सुगन्धित स्वच्छ स्वादिष्ट, पदार्थ क्यों न हों, जहाँ वे पेट में गए, कि देखने मे बुरा, दुर्गन्धियुक्त मल बन जाता है। ससार में सभी वस्तुये सुन्दर और निर्मल है। एक यह देह की इतनी मलीन और अपवित्र है, कि इसके संसर्ग से सभी दूषित और दुर्गन्धियुक्त बन जाते है। इस शरीर से सदा मल निकलता रहता है। रोम रोम से मल बहता रहता है। मुखों से, आँखों से, नाक के छिद्रों से, जीभ से, दाँतों से, ओठों से दुर्गन्धियुक्त मल बाहर आता ही रहता है। पेट तो मल की थैली ही है। मल मूत्र द्वार से मल निकल कर आस पास की पवित्र भूमि को भी अपवित्र बना देता है। कितना भी सुगन्धित शीतल जल पीवे, थोड़ी देर में दुर्गन्धि युक्त मूत्र बन जायगा। रोमों से पसीना भी दुर्गन्धिपूर्ण निकलता है। वायु कितनी निर्मल है, किन्तु उसी का जब शरीर से संसर्ग हो जाता है, तो अपान द्वार से कितनी दुर्गन्धित होकर निकलती है, ऐसे इस अशुद्ध तथा रोग शोक के निवास भूत मलीन देह को सुखी बनाने के लिए मैं भाइयों के रक्त से अपने हाथ रगे। जब भी उचित कहा जा सकता था—यदि यह शरीर सदा बना रहता, सो बात भी नहीं। यह शरीर क्षण भंगुर है। अनेकों पाप करके इसे पाला पोसा, प्राणों के पृथक होते ही यह बेकार बन जाता है। अपने किसी काम नही आता। अन्त मे इसकी तीन ही गति हैं। पड़ा पड़ा सड़ गया, तो कीड़े पड़ जाते हैं, सियार, कुत्ता गृद्ध आदि मांस भोजी जीवो ने खा लिया, तो पेट में जाकर बिष्टा हो जाता है, और यदि किसी ने जला दिया, तो दो मुट्ठी भस्म हो

जाती है। देह को प्राप्त करके जो पाँचों भूत—पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश—मलिन से दिखाई देते थे, वे विशुद्ध होकर अपने-अपने स्वरूपो मे मिल जाते हैं। ऐसे इस अनित्य शरीर के पोषण के निमित्त किया हुआ पाप, कभी क्षम्य नहीं कहा जा सकता।"

व्यासजी ने कहा—"तुमने अपनी इच्छा से उन सब शत्रुओं को मारा नही। वे स्वय तुमसे लड़ने आये। युद्ध को जो भी ललकारे क्षत्रिय का धर्म है, उससे ही सम्मुख युद्ध करे। यदि युद्ध के लिये ललकारने पर भी जो क्षत्रिय युद्ध से पराङ्-मुख होता है, शास्त्रकारो ने उसे पापी बताया है। इसलिये आपने धर्म ही किया।"

धर्मराज बोले—"भगवान्! किसी के प्राण लेना कहाँ का धर्म है? फिर मेरे पीछे तो बहुत के बालक मारे गये, जिन ब्राह्मणों को अवध्य बताया है, ऐसे द्रोण प्रभृति ब्राह्मणों को भी हमने मारा। सगे सम्बन्धी, चाचा, ताऊ, बाबा, गुरु जो कि सर्वथा अवध्य माने गये है, उनको भी हमने बुरी तरह छल से मारा है। इन सब कार्यों के करने से अवश्य ही मुझे नरक की अग्नि में अनन्त काल तक पचना पड़ेगा।"

व्यासजी ने कहा—"भैया, प्रजा-पालन क्षत्रियों के लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म है। बस धर्म के पालन करने में प्रजा से द्रोह रखने वालों का यदि बध भी किया जाय, तो उस प्रजा-पालन रूपी धर्म से सबका प्रायश्चित हो जाता है। प्रजा-रक्षा के लिये शत्रु संहार पाप नही पुण्य ही है।

धर्मराज ने कहा—मैंने प्रजापालन के लिये भी किया होता, तब भी मुझे कुछ सन्तोष होता। मैंने तो यह सब अपने

निजी स्वार्थ के लिये किया। दुर्योधन कैसा भी था, उसका द्रोह हमसे था, हमें नष्ट करने पर वह उतारू था, प्रजा का पालन तो वह प्रेम से करता ही था। यो शत्रु-मित्र तो सभी राजाओं के होते ही है। प्रजा के लोग उसके राज्य में दुखी नहीं थे। वह यज्ञ-योगादि धर्म कार्य भी करता था। द्रोण, भीष्म आदि की सेवा वह बड़ी सावधानी से करता था। उन्हें यथेष्ट भोग पदार्थ देता था। सब सैनिक उससे सन्तुष्ट थे। पृथ्वी के राजाओं पर भी उसका प्रभाव था। उसके कहने मात्र से ११ अक्षोहिणी सेना इकट्ठी हो गई और सभी अन्त तक प्राणों की बाजी लगा कर लड़ते रहे। किसी ने उससे न द्रोह किया न किसी ने अन्त तक उसका साथ छोड़ा। इसी से उसकी सर्व प्रियता सिद्ध होती है। ऐसे राजा को मैंने—प्रजा के हित के लिये नहीं—अपने पैतृक राज्य के लिये मारा है।"

व्यासजी ने कहा—"अच्छा राज्य के ही लिये सही पैतृक राज्य तो तुम्हारा ही था। धर्मपूर्वक न्याय से राज्य के एक मात्र अधिकारी तो तुम्हीं थे। तुम्हें उसने क्षत्रिय धर्म से भ्रष्ट करना चाहा। समर्थ होने पर भी जो राजा प्रजा पालन नहीं करता वह पापी कहाता है। उसे अपने बाहु बल से भ्रष्ट करने वाले को मार कर, राज्य लाभ करके प्रजापालन रूपी धर्म कार्य करना चाहिए। आपने ऐसा ही किया। युद्ध में पाप-पुण्य दोनों हो ही जाते हैं। पुण्य का आप भोग करें और पाप को अश्वमेधादि यज्ञ करके नष्ट करें। उससे पाप का भी क्षय होगा और तुम्हारी कीर्ति भी बढ़ेगी।"

धर्मराज बोले—"प्रभो! यह सब तो ठीक है। इन यज्ञादि गृहस्थोचित कर्मों के द्वारा मैं अपने मन को सन्तुष्ट भले

ही कर लूँ, किन्तु जिन पत्नियों के पति मर गये हैं, जो बच्चे अपने पिताओं से पृथक कर दिये गये है, उनका मार्जन कैसे होगा ? उनकी उष्ण आहें—तो मुझे भस्म करती ही रहेंगी। अश्वमेधादि यज्ञ ठीक ही है, किन्तु उनसे की हुई हत्याओं का प्रायश्चित हो जायगा, यह मेरी समझ से नही आता। इन यज्ञों में भी तो अनेक वनस्पति, पुरुष, फल और बलि पशुओं की हिंसा ही होती है। हिंसा से हिंसा का मार्जन करना ऐसे ही है, जैसे कपड़े में लगी कीचड़ को कीचड़ से ही धोना। क्या कपड़े की कीचड़, कीचड़ से धोने से छूट सकती है ? मेरी बुद्धि कहती है, नहीं छूट सकती। फिर हिंसा के एक पाप को मिटाने के लिये पुन. दूसरी हिंसा का ही आश्रय क्यों ले ?

इस प्रकार धर्मराज को जिसने भी समझाया, उसी को उन्होंने दुःखित मन से रो-रोकर ये ही उत्तर दिये। सब लोगों के आग्रह करने पर उन्होने किसी प्रकार सिंहासन पर बैठना तो स्वीकार किया, किन्तु वे बार-बार यही कहते थे, "मैं तो अब सब कुछ छोड़ कर अरण्य मे जाकर शरीर को सुखा कर घोर तपस्या करूँगा उससे, जितना भी कुछ अपने पापो का मार्जन होगा करूँगा, शेष का फल नरकों मे जाकर भोगूँगा। ऐसी ही बातें कहकर वे राज्य के कार्यों से उदासीन हो रहे।

एक दिन धर्मराज रात्रि मे भगवान् के दर्शनों को गये। भगवान् अर्जुन के ही महलो मे रहते थे। उनके ही साथ भोजन, शयन, उठना, बैठना उन्हें प्रिय था। धर्मराज ने क्या देखा, कि भगवान् पद्मासन से बैठे ध्यान मग्न है। इस प्रकार प्रभु को समाधिस्थ देखकर धर्मराज स्तम्भित से हो गये। वे बड़ी देर तक ज्यो के त्यों खड़े हुए भगवान् के श्रीमुख को निहारते

रहे। कुछ काल के अनन्तर भगवान् का ध्यान भङ्ग हुआ। वे शीघ्रता के साथ अपने आसन से उठ कर खड़े हो गये और अत्यन्त आदर के सहित धर्मराज को प्रणाम करके बोले—"आप कब आये ? क्या देर से खड़े हैं ? मुझे तो कुछ ध्यान ही न रहा।"

आसन पर बैठते हुए धर्मराज बोले—"प्रभो ! मैं इन सब बातों का तो पीछे उत्तर दूँगा। इस समय तो जो मुझे शङ्का है, आप उसका समाधान कीजिये। मेरे प्रश्न का सत्य सत्य यथार्थ उत्तर दीजिये।"

भगवान् बोले—"हाँ, कहिये, क्या कहते हैं ?"

धर्मराज ने पूछा—"स्वामिन् ! आप तो जगत् के ईश हैं, चराचर जगत् आपका ध्यान करता है,फिर आप किसका ध्यान कर रहे थे। आपसे श्रेष्ठ तो संसार में कोई है ही नहीं. फिर समाधि लगाकर आप किसका भजन चिंतन कर रहे थे ?"

आँखों में आँसू भर कर जनार्दन बोले—धर्मराज ! मेरे भी कुछ भजनीय है। वे है मेरे भक्त। मेरे भक्त मुझे जिस भाव से भजते हैं, ठीक उसी भाव से मैं भी उनका भजन करता हूँ। भक्त मेरा ध्यान करते हैं। मैं भक्तों का ध्यान करता हूँ। भक्त मुझे अपना इष्ट मानते है, मैं उन्हें अपना इष्ट मानकर उनके पैरों की धूलि के लालच से, उनके पीछे-पीछे घूमता हूँ। मैं अपने एक अत्यन्त प्रिय भक्त का ही इस समय ध्यान कर रहा था।"

धर्मराज ने बडी उत्सुकता से पूछा—"मैं सुनूँ भी तो, वे ऐसे कौन महाभाग्यशाली भक्त हैं। उनका मै परिचय पाने को अत्यन्त ही उत्सुक हूँ।"

भगवान् ने आंसू पोंछते हुए गम्भीर स्वर में कहा—"धर्मराज, वे हमारे तुम्हारे पूजनीय पितामह भीष्म हैं। वे शर शैया पर पड़े-पड़े मेरा ही ध्यान कर रहे हैं। इसलिये मैं भी एकाग्र चित्त होकर समाधि में उन्हें ही देख रहा था, उन्हीं से मानसिक बातें कर रहा था।"

अत्यन्त ही उल्लास के साथ धर्मराज ने कहा—"प्रभो! हम तो यहाँ आकर अपने परमादरणीय पूज्य पितामह को भूल ही से गये। कल हम सब उनके श्री चरणों में अवश्य चलेंगे। वे धर्म के मर्म को भली भाँति समझने और समझाने वाले हैं। मैंने देखा है, बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि उनसे धार्मिक शङ्काओं का समाधान कराने आते थे और वे सबकी शङ्काओं का सरलता के साथ समाधान कर देते थे। हम भी चल कर उनसे अपनी समस्त शङ्काओं का समाधान करावें। आप भी अवश्य हमारे साथ पधारें।"

भगवान् को तो यही अभीष्ट ही था, इसलिये तो ध्यान समाधि का ढोंग रचा था। वे प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"हे भरतकुल तिलक महाराज! आपने अत्यन्त ही उत्तम विचार किया। आप हमारी बात तो मानते नहीं। पितामह ही आपको सब बातें समझायेंगे, वे ही धर्म का मर्म बतावेंगे।"

भगवान् के ऐसा कहने पर धर्मराज ने उनकी बातों का सत्कार किया और वे पितामह के समीप जाने के लिए तैयारियाँ करने लगे।

छप्पय

हूँ पापी अति अधम मोहिं नर-नारि न निरखें।
पत्नी पति तें पृथक् करी, विधवा बनि बिलखें॥
सबके सुत पितु-मातु करुण क्रन्दन करि कोसें।
पांडव पापी परम बन्धु वधि निज तनु पोसें॥
कृष्ण! कहो कैसे करूँ, रक्त सुरञ्जित राज कूँ।
कौन करे सुख स्वजन वधि, ऐसे कुत्सित काज कूँ॥

भगवान का पांडवों सहित पितामह के समीप गमन

(३२)

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम् ।
प्रणेमुःपाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥*

(श्रीभा० १ स्क० ८ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

धर्म-नीति कहि भाँति-भाँति सबने समझाई ।
किन्तु काहुकी बात धर्म-सुत मन नहिं भाई ॥
कृष्ण कहें—श्रीभीष्म, हमारे अति ही प्यारे ।
भक्ति भाव सुनि सभी दरस कूँ शीघ्र सिधारे ।
शोभित भीष्म शर विँधे, अवनि उतरि जिमि राव ।
पांडव, पुरजन प्रभु सहित, सबने पद वन्दन करे ॥

सभी को संसार में अपना प्रेमी अत्यन्त ही प्यारा होता है। अपने प्रेमी की प्रसन्नता के लिये संसार के प्रिय से प्रिय पदार्थों के परित्याग के अनेकों उदाहरण विद्यमान हैं। जब संसारी पुरुष ही अपने प्रेमियों को इतना प्यार करते हैं, तो

* कुरुक्षेत्र में पांडवों ने पितामह भीष्म के समीप जाकर उन्हें शर-शैया पर शयन करते हुए देखा। उस समय वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानों कोई स्वर्ग से देवता पृथ्वी पर गिर पड़ा हो। पाण्डवों ने अपने

प्रभु अपने प्रेमी भक्तों को कितना चाहते होंगे, यह कहने की बात नहीं है। भगवान् ने स्वय अनेकों बार कहा है, कि जितना प्यार मैं अपने भक्तों से करता हूँ, उतना न लक्ष्मी से करता हूँ, न अपने ब्रह्मा आदि पुत्रों से ही। मुझे सबसे प्रिय भक्त ही हैं। भक्तों के पीछे भगवान् अपने आप को भी भूल जाते हैं। भक्तों के प्रिय करने के निमित्त उनके लिये कोई अकार्य काम नही है। अपनी पूजा-स्तुति से भगवान् उतने प्रसन्न नहीं होते, जितने भक्तों की पूजा-प्रतिष्ठा से प्रसन्न होते हैं। भगवान् तो स्वयं समस्त ऐश्वर्य, शोभा और यश के उद्गम ही हैं। किन्तु वे पृथ्वी पर अपने भक्तों के यश को फैलाने में अत्यधिक यत्नवान् रहते है। मेरे भक्तों का किसी प्रकार गुण गान हो, यही उनकी आन्तरिक लालसा रहती है अतः भगवान् के प्रसन्न करने का सरल उपाय यही है, कि उनके भक्तों की पूजा, स्तुति करें, उनके चारु-चरित्र का ही सदा श्रवण करें। भक्तो की यश रूपी मणिमाला को सदा कण्ठ में धारण किये रहे' महाभारत, रामायण, पुराण आदि में भगवान् से अधिक भक्तो की ही महिमा है, यही भगवान् को अभीष्ट भी है। फिर भगवान् के पास और है ही क्या, भक्तों के द्वारा ही तो उनकी महिमा है। जल में नौका खड़ी है, यदि पार जाने वाले यात्री ही न हों तो, उसका उपयोग क्या? सुन्दर से सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ रखे है, यदि उनका कोई रसास्वाद लेने वाला ही न हो,तो वे व्यर्थ ही हैं। इसी प्रकार भगवान् की महिमा भक्तों द्वारा ही है। अतः

अनुयायियों सहित उन्हे प्रणाम किया और चक्रपाणि वासुदेव ने भी उनकी वन्दना की।

भक्तों की कथा ही भगवत्-कथा है। भक्तों के हाड़-चाम का तो वर्णन किया नहीं जाता, उनकी भक्ति की ही महिमा गाई जाती है। भगवान् में उनका कैसा अटूट स्नेह था और भगवान् भी उनके सभी कार्यों को स्वयं अपने हाथों से करते रहते थे, ये ही भक्तों की गाथायें हैं। इनमें भक्त तो उपलक्षण मात्र है, वास्तव में वे भगवत्-यश-गुण गाथा ही हैं। पांडव त्रैलोक्य पावन क्यों हुए? इसीलिये कि अपनी अनुपम भक्ति के द्वारा उन्होंने भगवान् वासुदेव को अपने अधीन बना लिया इसी प्रकार भीष्म पितामह के बल पराक्रम की उतनी प्रशंसा नहीं है, जितनी उनकी भगवत् भक्ति की प्रशंसा है। वे श्यामसुन्दर के अनन्य भक्त थे। शर-शैया पर पड़े हुए भी वे जगत्पति यादवेन्द्र का ही चिन्तन कर रहे थे। उनकी चित्तवृत्ति तैल धारावत् श्रीकृष्ण चरणों मे ही अविच्छिन्न भाव से लगी हुई थी। इसलिये उनके यश का विस्तार करने के निमित्त तथा अन्त समय में उन्हें अपने देव दुर्लभ दर्शन देने को देवकीनन्दन ने पांडवों सहित उनके पास जाने का निश्चय किया।

प्रातःकाल हुआ। सभी पांडव तथा कुरुकुल के प्रतिष्ठित सेवक पुरोहित और मन्त्री आदि सभी पितामह भीष्म के समीप चलने को सुसज्जित हुए। सभी अपने अपने हाथी, घोड़े, रथ आदि वाहनों पर चढ़-चढ़ कर धर्मराज के पीछे-पीछे चले। कृपाचार्य, धौम्य, व्यास आदि पांडवों के पूजनीय पुरोहित धर्मराज के आगे आगे थे। शेष सभी धर्मराज को चारों ओर से घेर कर उसी प्रकार चले, जैसे देवगण देवराज को घेर कर चलते हैं। नगर के बाहर सभी एकत्रित हुए। धर्मराज चारों ओर आंखें फाड़-फाड़ कर श्रीकृष्ण को देख रहे थे, किन्तु श्रीकृष्ण

स भीड़ में दिखाई नही देते थे । अर्जुन का भी रथ उनके छे नहीं था । वे वहीं खड़े-खड़े चक्रपाणि मधुसुदन की प्रतीक्षा रने लगे ।

इधर भगवान् अर्जुन के भवन में आनन्द पूर्वक सुख से राजमान थे। उन्होने इधर उधर व्यग्र भाव से अर्जुन को क्कर लगाते देखा, उन्हें इस तरह व्यग्र देखकर हँसते हुए ासुदेव बोले—"अर्जुन ! तुम धर्मराज के साथ पितामह के र्शनों को नही गये क्या ? यहाँ इस तरह कस्तूरी मृग की तरह क्कर क्यों लगा रहे हो ?"

अत्यन्त उदासीन भाव से आकुलता के स्वर में अर्जुन ोले—"क्या बताऊँ महाराज ! न जाने आज मेरा सारथि कहाँ चला गया। उसे ही ढूँढ़ रहा हूँ, इसीलिये धर्मराज के साथ भी न जा सका।" यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—अरे भैया, तेरा सारथी तो मैं ही बैठा हूँ। युद्ध समाप्त होने पर भी तू मुझसे बिना रथ हँकवाये मानेगा नहीं। चल तूने तो मुझे बिना दाम के मोल ले रक्खा है।"

इतना कहकर त्रैलोक्य वन्दित पार्थ सारथी उठे। वे शीघ्रता के साथ, अश्वशाला मे गये। घोड़ों को थप थपाया, सेवकों ने काठी लाकर घोड़ों की पीठ पर चढ़ाई। स्वय श्यामसुन्दर ने धुरा उठाकर घोड़ों के ऊपर रखा। इस प्रकार घोड़ों को जोतकर हाथ में तोत्र (कोड़ा) लेकर आप सारथी के स्थान पर बैठ गये और सुसज्जित रथ लाकर अर्जुन के द्वार पर खड़ा कर दिया और बोले—"राजन् ! आइये, रथ तैयार है ! धर्मराज हमारी प्रतीक्षा मे नगर के बाहर अवश्य खड़े होंगे।" हँसते हुए अर्जुन ने कहा—"मेरा सारथी बड़ा दीर्घ सूत्री है।" दोनों ही

हँस पड़े और एक दूसरे से लिपट कर साथ-साथ रथ में बैठ कर चल दिये।

दूर से धर्मराज ने वानर ध्वजा से [illegible] अर्जुन के रथ की घरघराहट सुनी। वे समझ गये श्यामसुन्दर आ रहे है। दोनों ने धर्मराज के समीप पहुँच कर उन्हें प्रणाम किया। धर्मराज अर्जुन से बोले—"अरे भाई तुम लोग बड़ी देर कर देते हो। क्या, सो गये थे?"

झूठी गम्भीरता दिखाते हुए अर्जुन ने हाथ जोड़कर कहा—"राजन्! मेरा यह सारथी बड़ा दीर्घ सूत्री है। आप राजा है, इस अपराध के लिये सारथि को ही दण्ड दीजिये।" धर्मराज हँस पड़े और बोले—"अरे भैया! तुम्हारे सारथि को दण्ड देने की सामर्थ्य किसमें है! वही जिसे जो चाहे दण्ड दे सकता है, जिस पर चाहे कृपा कर सकता है। मुझे तेरे इस सौभाग्य पर अत्यन्त ही ईर्ष्या है।"

इतने में ही श्यामसुन्दर कहने लगे—"धर्मराज! आज मेरा आने का विचार नहीं था, सोचा था—तुम आपस में बाबा नाती मिल-जुल लो। मेरी तो वहाँ कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं थी, इसीलिये मैं निश्चिन्त बैठा था। किन्तु तुम्हारे लघुभ्राता की आज्ञा हुई, कि मेरा रथ ले चलो। तब मुझे आना ही पड़ा। ये राजा ठहरे, इनकी आज्ञा न मानें तो भी कल्याण नहीं। इसी दुविधा में देर हो गई। आपको अवश्य हमारी प्रतीक्षा में देर तक ठहरना पड़ा। अब चलो, चलें। यह कहकर सभी धर्मराज को घेर कर चलने लगे। अनेक प्रकार की कथावार्ता कहते-कहते, परशुराम सरोवर, स्यमन्त पञ्चक और कुरुक्षेत्र का माहात्म्य सुनाते हुए श्रीकृष्ण धर्मराज के साथ-साथ

रहे थे। उन्होंने कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध में—मरे हुए द्धाओं तथा हाथी घोड़ों की—असख्यों लाशें देखीं। वे सब ड़ रहीं थीं। उनमें से दुर्गन्ध उठ रही थी। रक्त की नदियाँ सूख ई थीं। जमा हुआ रक्त सूख कर फट गया था। मांस भोजी क, गृद्ध आदि पक्षी इधर-उधर उड रहे थे। इस प्रकार उस मरभूमि को देखकर, सभी शरशैया पर पड़े हुए पितामह के ास पहुँच गये।

अत्यन्त समीप पहुंच कर सभी अपने-अपने वाहनों से उतर कर पैदल ही पितामह के पास जाने लगे। धर्मराज ने हा—"जनार्दन ! आप हम सबके आगे आगे चलें।"

भगवान् ने कहा—"राजन् ! मैं तो पीछे चलने वाला ही सेवक हूँ। तुम सब आगे चल के पितामह की चरण वन्दना करो, मुझे तो अभी घोड़ों को खोलना है, उन्हें टहलाना है। उन्हें स्वस्थ करके चरने को छोड़कर सब सारथियों के साथ मैं पीछे ही आऊँगा, आप सब चल।"

धर्मराज ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा।" ऐसा कहकर अपने भाइयों के साथ धर्मराज पितामह के समीप पहुँचे। उस समय वे आँखें बन्द करके स्तवराज से पुराण पुरुष पुरुषोत्तम का ध्यान कर रहे थे। उनके दोनो ओठ हिल रहे थे। जसे सन्ध्या के समय कमल कोष मुँद जाता है और अधिक ओस पड़ने से उसकी पंखड़ियों के किनारे से ओस कण टपकते हैं, उसी प्रकार उनके बन्द हुए नेत्रो की कोर से पृथ्वी पर टप-टप आँसू गिर रहे थे। वे ध्यान मे तल्लीन थे। उनके सम्पूर्ण शरीर से दिव्य प्रकाश निकल रहा था। वे बाणों की शैया पर पड़े हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानों अपनी मूर्तिमान् तीक्ष्ण किरणों को

पृथ्वी मे गाड़कर सूर्य सो रहा हो। घनीभूत करके को जैसे किसी ने बाणों पर लिटा दिया हो, उसी वे दमक रहे थे। ईर्ष्यालु बलवान असुरों ने बाण म जैसे देवराज इन्द्र को पृथ्वी पर गिरा दिया हो और होने के कारण जैसे वे पृथ्वी को स्पर्श न करते हुए मे ही शयन कर रहे हों, उसी प्रकार वे अवनि से ऊपर हुए केवल शरीर मे घुसे हुए बाणों के ही सहारे पड़े देवराज इन्द्र की तरह उनका सुवर्ण मण्डित किरीट चमक रहा था। उनके कानों के कुण्डल अब भी उनके कपोलों शोभा बढ़ा रहे थे। उनके चमरी गाय के समान स्वच्छ बाल इधर-उधर अस्त-व्यस्त भाव से बिखरे हुए थे। बगुला पङ्खों के समान उनकी शुभ्र दाढ़ी हृदय पर इसी प्रकार शांत भाव से विश्राम ले रही थीं, जैसे कोई सफेद बालों वाला पहाड़ी पक्षी पङ्ख फैला कर सङ्गमरमर की शिला पर सो रहा हो। वे अविचल भाव से बिना वेदना प्रकट करते हुए परात्म प्रभु के ध्यान मे मग्न थे। धर्मराज ने धीरे-धीरे जाकर अपने किरीटयुक्त सिर से उनके चरणो की वन्दना की। नेत्रों के अश्रु के उष्ण जल को ही पाद्य बनाकर उन्होंने पितामह के पादों का प्रक्षालन किया। इसके अनन्तर सभी भाइयों ने उनकी चरण वन्दना की।

पैरो मे अश्रु, किरीट और शिरों के स्पर्श से उनका ध्यान भङ्ग हुआ। बड़े-बड़े कमल के समान सुन्दर और अरुण नेत्रों के द्वारा कृपा भरी दृष्टि से उन्होंने पांडवों को देखा और फिर बोले—"बेटा युधिष्ठिर! तुम आ गये? अच्छा किया बेटा।" इतना कहते-कहते उनके नेत्र चञ्चल हो गये। वे पाडव और उनके साथी तथा सेवकों के बीच में मानो किसी को ढूंढ़ रहे

। शरशैया पर पड़े-पड़े ही उस वृद्ध राजर्षि ने पांडवों के सभी साथियों पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल ली फिर कुछ निराशा के स्वर मे बोले—"बेटा कौन-कौन आये हो तुम लोग ?"

धर्मराज पितामह का अभिप्राय समझ गये। वे भी अनुभव करने लगे, कि मेरे पितामह की बूढ़ी आँखें जनार्दन को खोज रही है, अतः बोले—"बाबाजी ! हम सब भाई आये हैं और श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भी आये है।"

इतना सुनते ही वृद्ध का मुख मण्डल अत्यन्त प्रसन्नता के कारण दमकने लगा। साथ ही उनके मुख पर विद्युत् की तरह आनन्द की आभा दौड़ गई। अपनी उत्सुकता को दबाते हुए वे बोले—"अच्छा श्यामसुन्दर भी पधारे है वे तो दिखाई नहीं देते।" पितामह इतना कह ही रहे थे, कि बहुत सारथियों के साथ हाथ में तोत्र (कोड़ा) लिये श्यामसुन्दर ने दूर से ही कहा—"पितामह के पूजनीय चरणो में अर्जुन के सारथि का प्रणाम पहुँचे।"

इतना सुनना था, कि पितामह की आँखें बरसने लगी, उनका कण्ठ भर आया, हृदय की गति वेग के साथ चलने लगी। गद्-गद् कण्ठ होने से वे बड़े कष्ट से इतना ही कह सके अर्जुन के सारथि का ही मैं चिन्तन कर रहा था। कृपा करके उन्होंने मुझे दीन हीन, साधन बिहीन समझ कर स्वयं आकर प्रत्यक्ष दर्शन दिये। वासुदेव ! आओ मुझे कृतार्थ करो। इतना कह कर वे बाणों के बिंधे अपने हाथों को उठाने

की चेष्टा करने लगे। उसी समय तुरन्त वासुदेव ने हाथ का चाबुक फेंक दिया और दौड़कर जैसे बच्चा माँ की गोदी में चिपक जाता है, उसी प्रकार उन्होंने अपना सिर पितामह के विशाल वक्षःस्थल पर रख दिया, जिस पर कि श्वेत दाढ़ी फहरा रही थी। श्वेत दाढ़ी के बालों में श्यामसुन्दर की काली घुँघराली लटें लिपट कर ऐसी शोभायमान होने लगीं मानों प्रयागराज में गङ्गा-यमुना का सङ्गम हो रहा हो। पितामह ने बड़े कष्ट से, रक्त से रञ्जित बाणों से बिंधा अपना हाथ

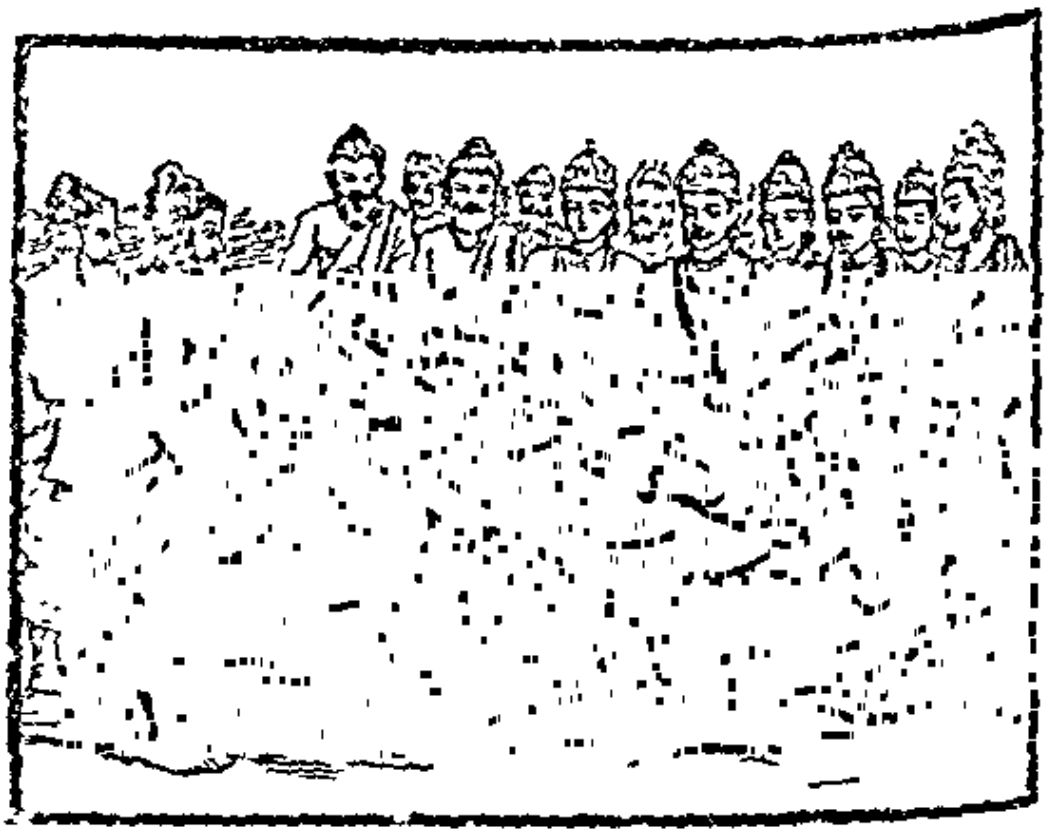

श्यामसुन्दर के चरणों की ओर बढ़ाया, किन्तु वे चरणों को पा न सके। बीच में ही श्यामसुन्दर ने उसे उठा कर अपनी भीगी हुई आँखों पर रख लिया।

इतने में ही क्या देखते हैं, कि बहुत से जटा जूटधारी बड़े बडे ऋषि महर्षि भीष्म पितामह के दर्शनों के लिए आ रहे है। वे सभी अपनी अपनी तपस्या के प्रभाव से मूर्तिमान अग्नि की तरह प्रकाशित हो रहे थे। उनमें बहुत से देवर्षि थे, बहुत से राजर्षि थे, बहुत से ब्रह्मर्षि और महर्षि भी थे। उनमें पर्वत, नारद, धौम्य, व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, परशुराम, वशिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान् गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन सुकदेव, कश्यप, अङ्गिरा, अकृतवृण, आदि मुख्य-मुख्य थे। सभी के शिष्य प्रशिष्य पुत्र-पौत्र भी साथ ही थे। सभी भाँति-भाँति के नियमों के धारण करने वाले थे। उन महर्षियों को आते देख धर्मराज अपने भाइयों सहित, संभ्रम के साथ आदर पूर्वक उठ कर खड़े हो गये। भगवान् वासुदेव ने भी उठकर उन महर्षियों को अभ्युत्थान दिया।

उठने में असमर्थ शन्तनु पुत्र भीष्म ने पड़े-पड़े ही उन सब ऋषि महर्षियों का सत्कार किया तथा धर्मराज के द्वारा उन सबकी यथोचित् पूजा कराई और उन्होंने स्वयं पुराण पुरुष श्रीकृष्ण की मानसी पूजा की, क्योंकि वे तो उनके अन्तःकरण मे सदा स्थिति ही रहते थे। उन्होने यह भौतिक शरीर तो अपनी माया से लोगो को भुलाने के लिये बना सा रखा है। वास्तव में तो वे माया से परे माता के स्वामी हैं, जगन्नाथ है।

सब मुनियों ने आकर गङ्गा पुत्र-भीष्म से उनकी कुशल पूछी। कुशल प्रश्न के अनन्तर वे धर्मराज युधिष्ठिर की ओर देखने लगे।

छप्पय

शरशैया पै परे भीष्म विद्युत सम दमकें।
शोणित,शर,कच,कांति इन्द्र धनु सम मिलि चमकें॥
बन्धु सहित ढिँग जाय युधिष्ठिर शिशु सम रोये।
अश्रुविन्दु बरसाय, युगल पद पङ्कज धोये॥
पांडु पुत्र पद पास में, पग पकरें रोवत निरखि।
बोले उनते पितामह, नन्दनँदन की ओर लखि॥

भीष्म पितामह द्वारा श्रीकृष्ण महिमा वर्णन

[३३]

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षताम्,
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम्।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसन्—
मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥*

(श्री भा० १ स्क० ९ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

जिन्हें सारथी सुहृद सखा सेवक तुम मानों।
उन्हें सगुण साकार सर्व स्वामी करि जानों॥
कैसे-कैसे कठिन काज सब करे तुम्हारे।
भाववश्य भगवान् भक्त भय हरने हारे॥
कमठ अण्ड सेवे सदा, भाव रखें त्यों दास में।
दर्शन देवें - दयानिधि, आए सेवक पास में॥

यद्यपि प्रेम प्रकट करने की वस्तु नहीं है। हृद्गत् भावों को भाषा यथावत् व्यक्त करने में असमर्थ है। फिर भी यह प्राणी इतना अधूरा है, कि वह अपने हृद्गत् भावों को रोक

* भीष्म पितामह भगवान् से प्रार्थना करते हैं—"हे देव! मैं अब शरीर छोड़ना चाहता हूँ। जब तक मैं शरीर न छोड़ूं तब तक

नहीं सकता। अवर्णनीय प्रेम का वर्णन करने को विवश हो जाता है। न व्यक्त होने वाले भावों को व्यक्त करने की व्यग्रता होती है। जैसे हमको जिससे ईर्ष्या होती है उसकी निन्दा करने और सुनने से हृदय में एक प्रकार का सुख होता है, उसी प्रकार जो हमारे प्रेमास्पद हैं, जो हृदय की कोठरी में हमारे साथ भाव शान्ति से निवास करते हैं, जो एकान्त में मन से मन मिलाकर घुल-घुल कर प्रेम की सरस बतोड़ियाँ करते हैं, उनकी प्रशंसा सुनने से हृदय में आनन्द की लहरें उठने लगती हैं। उनकी स्तुति करने से एक प्रकार का आत्म सन्तोष सा होता है। उनकी प्रशंसा करने में प्रसन्नता, गुणगान करने में चित्त प्रसाद और उनके यश वर्णन में अन्तःकरण उल्लास से भर जाता है। चित्त चाहता है—यदि सहस्रों जिह्वा हों, तो रात्रि दिन इसी प्रकार इनका यशगान करते रहें।

भीष्म पितामह के सर्वस्व श्रीकृष्ण ही थे। शरशैया पर पड़े हुए भी उनका चित्त परमपुरुष पुरुषोत्तम के पादपद्मों में ही लवलीन रहता था, वे अपनी वेदनापूर्ण वाणी से उन्हीं का साक्षात्कार करते और उनसे भाँति-भाँति की बातें करते रहते अन्तःकरण में उनके सुखदस्पर्श का अनुभव करके, उनके रोमांच हो जाते और वे सदा उन्हीं के भाव में भावित रहते। जिनका अन्तःकरण में सदा ध्यान करते रहते थे, वे सर्वत्र वास करने वाले वासुदेव अपना बड़प्पन छोड़कर मृत्यु

आप अपनी उसी बांकी छटा में, उसी प्रसन्न हास करुण नयन युक्त उल्लासित मुखारविन्द चतुर्भुजी मूर्ति से मेरे ध्यान पथ में स्थिर रहें। मेरे मन मन्दिर से चञ्चलतावश भाग न जायें।"

के समय मुझे सशरीर साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन देने आये हैं—यह स्मरण करते ही भीष्म जी गद्-गद् हो उठे। उनकी आँखों के अश्रुओं का वेग वर्षा की गङ्गा-यमुना के समान हो गया और वे सिसक-सिसक कर सरल शिशु की भाँति रोने लगे। श्यामसुन्दर ने अपने पीताम्बर से उनके आँसुओं को पोंछा और बड़ी ममतापूर्ण वाणी में बोले—"पितामह ! देखो, ये तुम्हारे पौत्र पांडव आये हैं। इन्हें कुछ अन्तिम उपदेश दीजिये। इन्हें राजकाज समझाइये। अपने उत्तम उपदेशों से धर्मराज के शोक को दूर कीजिये।"

रुँधी हुई वाणी से वह बूढ़ा बालक बिलखते हुए बोला—"वासुदेव ! देख रहा हूँ मैं सब, कौन किसका पौत्र, कौन किसका पितामह, सबके एकमात्र स्वामी तो हे देवकीनन्दन आप ही हैं। आपके सम्मुख मैं क्या कह सकता हूँ। ये पांडव ही संसार में भाग्यशाली हैं, जिन पर आपका इतना अधिक स्नेह है। संसार में पांडवों का ही जन्म सार्थक है जिनके रक्षक, स्वामी, सेवक सभी श्यामसुन्दर ही है। मैं अपने को भी धन्य मानता हूँ कि चराचर जगत् के जो पिता, पितामह प्रपितामह हैं वे मुझे मुँह भर कर पितामह कहते हैं और जिनके पादपद्मों की पराग के लिये ब्रह्मादिक देवता भी तरसते रहते हैं वे मेरे पैरों मे सिर रखकर श्रद्धा से प्रणाम करते हैं। मुझसे बड़ा भाग्यशाली संसार में कौन होगा, जिसकी मृत्यु के समय स्वयं साक्षात् जनार्दन उपस्थित हों।" इतना कहकर पितामह चुप हो गये और उनके नेत्र बहने लगे।

अपने भाइयों सहित धर्मराज शिष्य, सेवक और सुतों के सहित समस्त ऋषि-मुनि गङ्गापुत्र भीष्म को घेरे बैठे थे। सफेद

स्वच्छ वस्त्र पहिने, सफेद माला धारण किये, सफेद दाढ़ी मूंछ और केशवाले पितामह बाणों के ऊपर उसी प्रकार शोभित होते थे, मानों भोजपत्र के वन में कोई हिमालय का शिखर टूट कर गिर गया हो, और उसके [illegible] उसे अधर मे ही रोक लिया हो। नीलमणि [illegible] के शिखर के समान श्यामसुन्दर उनके सिर के समीप बैठे थे पाँचों पांडव पादपद्मों से सटे इस प्रकार बैठे थे, मानो [illegible] कमलों के सहारे से शीत से ठिठुरे पाँच पक्षी बैठे हों चारों ओर बैठे हुए ऋषि मुनि ऐसे ही शोभित होते थे, जैसे अमरनाथ के शिवलिंग को अथवा केदारनाथ के शीतकालीन शिव को घेरे ८८ हजार ऋषि बैठे हुए हों। समुद्र के समान गम्भीर और हिमालय के शिर के समान निश्चेष्ट पड़े हुए भीष्म के मुख कमल की ओर सभी एकटक निहार रहे थे। उस समय पक्षियों ने भी बोलना बन्द कर दिया था। सर्वत्र शांति का साम्राज्य छाया हुआ था। प्रकृति स्तब्ध थी मानों भीष्म का अवसान समझ कर उसने भी उनका अंतिम उपदेश सुनने के लिये मौन व्रत धारण कर लिया हो! उसी नीरवता को भंग करते हुए, मेघ गंभीर वाणी से रुक-रुक कर कष्ट के साथ पितामह, पांडवों को लक्ष्य करते हुए अपने आप ही बोले—मानों वे आकाश से बातें कर रहे हों। उनकी आँखें बार-बार अश्रु पूर्ण हो जाती और उन्हें श्यामसुन्दर अपने पीताम्बर से पोंछ देते और वे तत्काल ही फिर भर जातीं।

पांडवों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—"पांडु के पुत्रों! देखो, मैं सदा से यही सुनाता आया हूँ, कि धर्म करने से सुख मिलता है और पाप करने से दुःख किन्तु तुम्हारे सम्बन्ध में मैं विपरीत ही बात देखता हूँ तुम सब धार्मिक हैं

हीं हो, धर्म की सन्तान हो। ये युधिष्ठिर तो साक्षात् धर्म के पुत्र ही हैं, मूर्तिमान् धर्म ही है। इतना सब होने पर भी तुमने कितने-कितने क्लेश सहे, दुष्टों ने तुम्हें कैसे-कैसे दुख पहुँचाये, तुम सदा राज्य से भ्रष्ट होकर अनाथों की तरह इधर-उधर भटकते ही रहे। इसमे मैं किसी को दोष नहीं देता, सब काल की महिमा है। नहीं तो तुम सब निर्दोष थे, धर्म से तुमने अपना मन नही हटाया, गुरुओ की वृद्धों की, श्रद्धा सहित सेवा सुश्रूषा की, सर्वान्तर्यामी श्री कृष्ण का साहरा लिया, फिर भी जो कष्ट तुम्हें कभी भी नही सहन करने चाहिए थे, उन कष्टों को सब ने सहा और दु ख से दिन बिताये।

क्या भगवान् की लीला है? मेरी पुत्र वधू कुन्ती, महाराज भोज की पालिता प्यारी पुत्री, सदा महलों में सुख से पाली-पोसी गई, राजाओं के भी महाराज पांडु के साथ उसका विवाह हुआ। जैसे एक सुन्दर सरोवर से कमलिनी दूसरे सुन्दर सरोवर में सावधानी के साथ लाई जाय, उसी प्रकार वह मेरे द्वारा बड़े आदर से शूरसेन देश से हस्तिनापुर लाई गई थी। हम सबने भी उसे राजरानी बना कर उसका यथोचित स्वागत तथा सम्मान किया, किन्तु काल की कराल गति के कारण उसके प्यारे पति परलोकवासी हो गये। तुम सब बहुत छोटे-छोटे बच्चे थे। अरण्यवासी मुनि दयावश तुम सब को मेरे पास लाये। तुम सब मुझे ही अपना पिता समझते और अपने धूलि भरे हुए शरीरों से, मेरे सब सफेद वस्त्रों को धुलि धूसरित बना देते थे और प्रेम मे 'पिता पिता' कहकर पुकारते थे। तब मैं तुम्हारा मुँह चूम कर कहता—'पुत्रो! मैं तुम्हारा पिता नही, तुम्हारे पिता का पिता हूँ। मुझे पितामह कहा करो, तब से तुम सब लोग मुझे पितामह, पितामह कहकर बुलाने

लगे। कुन्ती अपने पति के असह्य वियोग को तुम सब का मुंह देखकर भूल गई थी। सदा सुख में ही जिसका लालन पालन और पोषण हुआ है, उस पुत्रवती कुन्ती ने भी तुम्हारी उसी तरह रक्षा की, जैसे पक्षियों की माँ अपने अंडों को छाती से लगाकर रक्षा और वृद्धि करती है। तुम सब अनजान थे, तुम्हें लिये हुए वह उसी तरह दुःख के सहित वनों और जंगलों में मारी-मारी फिरी, जिस प्रकार यूथपति के मर जाने पर हथिनी अपने बच्चों को लेकर इधर-उधर घूमता है।

मैं यह बात मरते समय कैसे कहूँ, कि तुम्हें ये सब क्लेश दुर्योधन के कारण सहन करने पड़े। भैया, कौन किसे दुःख-सुख दे सकता है। इस प्रकार तुम्हारे कष्ट के कारण को मैं तो कालकृत ही मानता हूँ। ये काल रूप भगवान् कब, किससे, कहाँ, क्या कराना चाहते हैं, इसे कोई कह नहीं सकता। बड़े-बड़े विद्वान, ज्ञानी, ध्यानी मुनि भी काल की चेष्टाओं को यथावत् समझने में असमर्थ हैं। प्रायः लोग कह देते हैं—"अजी, ये तो अपने पापों का फल भोग रहे हैं, जब कोई पराजित होकर दुखी होता है, तो उसकी उपेक्षा करते हुए कहते हैं—"निर्बल की यही दशा होती है। बल के बिना विजय प्राप्त होती ही नहीं।' कोई कहते हैं—"कलाकौशल अस्त्र-शस्त्र की चतुरता से ही सुख प्राप्त होता है।' किसी किसी का मत है—"सच्चे सहायक के बिना ही क्लेश सहन करने पड़ते हैं। यदि सर्व समर्थ सच्चा सहायक साथ हो तो मनुष्य को कभी क्लेश हो ही नहीं कोई-कोई कहते हैं—'समुचित साधन सामग्री से ही सुख मिलता है।' किन्तु तुम लोगों के सम्बन्ध में इनमें से एक भी बात का मैं अभाव नहीं पाता, तुम्हारे पास ये सभी वस्तुएं उत्तम से उत्तम उपस्थित थीं।

पहले धर्म को ही लो, जिसे सुख का मूल कहते हैं। तुम्हारे यहाँ धर्म की क्या कमी थी। साक्षात् धर्मावतार युधिष्ठिर तुम्हारे बीच में सदा उपस्थित रहे। जिनका मन स्वप्न मे भी अधर्म की ओर जाने वाला नही है। अब रही बल की बात, सो, भीमसेन के सदृश संसार में बलवान् कौन होगा, जो गेंद की तरह हाथियों को उठाकर आकाश में फेंक देता है और फिर बीच में ही उन्हें हाथों में गेंद की भाँति ले लेता है, जो महावेगवान् वायु का औरस पुत्र है।

कलाकौशल के द्वारा भी सब को वश में करके मनुष्य सुख प्राप्त करता है। सो, अर्जुन के सदृश सर्व अस्त्र-शस्त्र का ज्ञाता ससार में दूसरा कौन होगा? जिसकी सहायता की अपेक्षा स्वर्गलोक मे इन्द्र तक को अपेक्षित है। निवात कवच असुर, देवताओं से भी अवध्य थे, उन्हे उसने अमोघ गाँडीव धनुष के द्वारा मारकर यमपुर पहुँचा दिया, जो इन्द्र के प्रिय पुत्र हैं। एक ही बाण में त्रैलोक्य का संहार करने वाला विश्वविजयी जिसके पास गांडीव धनुष है इतना सब होते हुए भी वही अर्जुन झोली बनाकर भिकारी की तरह घर घर से, एक दो दिन नही १२ वर्षों तक मुट्ठी-मुट्ठी अन्न की याचना करते रहे और मुट्ठी भर अन्न की आशा से कृपण गृहस्थियों के द्वार पर खड़े रहे। इन सब को देखकर कौन कह सकता है कि कलाकौशल और समुचित साधन सामग्री के द्वारा मनुष्य सदा सुखी रह सकता है।

अब रही, सहायक की बात। मनुष्य एक छोटे से राज्य कर्मचारी का सहारा पाकर, संसार में अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगता है। सो, इनके सहायक तो सम्पूर्ण संसार के

स्वामी, सर्व समर्थ, सच्चिदानन्द स्वरूप, साक्षात् श्यामसुन्दर ही थे, इनसे बढ़ कर सहायक कौन हो सकता था ? ये इनके सहायक ही नहीं थे—सखा, स्वामी, सुहृद, सेवक सभी कुछ थे। इतना सब होने पर भी तुम दुःख में पड़े वन-वन भटकते फिरे, नाना क्लेशों को सहते हुए घूमते रहे। इससे तो मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि काल की गति दुर्निवार है। वे काल इन श्रीकृष्ण से कोई दूसरे देव हों, सो बात नहीं। काल स्वरूप ये ही कृष्ण-वर्ण के सबको अपने ओर कर्षण करने वाले श्रीकृष्ण ही हैं। इन्हें कब, किससे, क्या करना है इसे कोई बिना इनकी कृपा के जान ही नहीं सकता। तुम्हें ये मेरे पास किस लिये लाये है ? तुमसे, मुझसे ये क्या कौतुक कराना चाहते है ? इसे तुम अभी नहीं जान सकोगे।"

समीप में ही बैठे श्यामसुन्दर मुस्कुराते हुए बोले—"पितामह ! मेरी कौन, सुनता है ? देखिये, दुष्ट दुर्योधन से मैंने बार-बार कहा—'सन्धि कर ले। उसने मेरी बात नहीं मानी। अब इन धर्मराज से कितने दिनों से कह रहा हूँ—धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करो, सो ये मानते ही नहीं। सदा शोक सागर में निमग्न रहते हैं। आप ही बताइये, शोक करने से इनके मरे हुए भाई अब स्वर्ग से लौट सकते है। मैं तो इनसे छोटा ही ठहरा। छोटों की बात बड़े मानते ही नहीं। छोटा होना ही बड़ा अपराध है। छोटो को सदा बड़ों की सेवा में ही लगा रहना पड़ता है और बार-बार यही सुनना पड़ता है 'अभी तुम बच्चे हो, तुम इस बात को क्या समझो ?, यह परम्परा ऐसी चली आती है, कि जो हमसे बड़े हैं वे हमें बच्चा कहते हैं। अपने से छोटों को हम भी इसी तरह कहते हैं। व्यासजी आपको डाँटते है, आप धर्मराज को डाँट सकते हैं और वही अधिकार

धर्मराज का मेरे ऊपर है। अतः मेरी बात तो ये अनसुनी कर देते हैं, आप इन्हें राज काज करने की आज्ञा दें।"

भगवान की बात सुनकर पितामह हँसे और कहने लगे—'श्यामसुन्दर! तुम से बड़ा कौन हो सकता है? तुम बड़ों के भी बड़े हो और अपनी इच्छा से छोटों से भी छोटे बन जाते हो। तुम्हारी यह बान है, कि अपने भक्तों को सदा सम्मान देते दिलाते रहते हो। अपने सम्मान से तुम उतने सन्तुष्ट नहीं होते जितने अपने सेवक के सम्मान से सन्तुष्ट होते हो। अपनी कीर्ति तुम्हें उतनी प्रिय नहीं, जितनी अपने भक्तों की प्रिय है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है, कि आप निग्रह अनुग्रह करने में सर्व समर्थ होने पर भी धर्मराज को मेरे पास धर्म शिक्षा दिलाने लाये है। वेद आपकी निःश्वास है, सभी शास्त्र आपके हृदय से उत्पन्न हुए है। आपके सामने कोई कह ही क्या सकता है, किन्तु आप तो संसार में मेरा यश फैलाना चाहते है। मुझे ही यह गौरव प्रदान करना चाहते है। धर्मराज तो आपके आज्ञाकारी है। उन्हें आप जैसी आज्ञा करेंगे उसका वे सिर श्रद्धा सहित पालन करेंगे।

हँसते हुए भगवान् बोले—"कहाँ करते हैं? बाबा जी! मुझे तो ये घुड़क देते हैं।"

सामने बैठे हुए धर्मराज ने आँखों में ही प्रेम के रोष से भगवान् को बरजा, कि आप पितामह के सामने मेरी शिकायत कर रहे हैं।" तब तो श्यामसुन्दर भीष्म की ओर देखकर कहने लगे—देखिये, पितामह! आपके सामने ही मुझे डाँट रहे हैं। कहते हैं—'मेरी शिकायत पितामह से क्यों करते हो?, अब बताइये, हम आप से ही न कहें, तो और हमारा बड़ा बूढ़ा कौन है?"

बाणों की वेदना से व्यथित उस बूढ़े वीर के मुखमंडल पर हँसी की स्पष्ट रेखा दौड़ गई, वे बोले—'श्यामसुन्दर! मेरी बगल में होने से, मुझे आपके हास्ययुक्त प्रसन्न वदन भली भाँति दर्शन नहीं होते, अतः आप मेरे सामने आ जायँ।' इतना सुनते ही पीताम्बर फहराते हुए श्यामसुन्दर ने अबोध बालक की भाँति पितामह की आज्ञा का पालन किया। वे उनकी दृष्टि के सामने ही—उनसे सटकर, उनके अङ्ग से अङ्ग मिलाकर—बैठ गये और अपना दुःख सन्तापहार कोमल कर कमल पितामह के बाणविद्ध अङ्गों पर शनैः शनैः फिराने लगे। तब पितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—"बेटा युधिष्ठिर! दूर होने से मुझे बोलने में कष्ट होता है। तुम यहाँ मेरे पास आजाओ।" इतना सुनते ही परो के पास बैठे हुए धर्मराज पितामह की बगल में आकर बैठ गये। तब तो श्यामसुन्दर कहने लगे—"शास्त्रो का यह वचन है कि बिना वृद्ध के सभा शोभा नही देती, मुझे सत्य ही प्रतीत होता है। वृद्धो के बिना तथ्यातथ्य का, नीति अनीति का, सदाचार और मर्यादा का यथावत् ज्ञान बालक या युवक पुरुष रख ही नही सकता। इसी समय मैंने एक अविनय कर डाली, सम्राट् से ऊँचा बैठ गया। मेरी इस त्रुटि का मार्जन वृद्ध पितामह ने कैसे कौशल से कर दिया।"

इस पर धर्मराज और भी असन्तुष्ट हुए। वे अत्यन्त प्रेम भरे कोप के स्वर मे कहने लगे—"आपके लिये तो ससार मे कुछ शोक मोह की बात है ही नही। आप तो दुख, शोक संताप से सदा रहित ही बने रहते है, किन्तु हम तो संसारी हैं। हमें तो दुःख भी होता है, हर्ष शोक भी होता है। हँसी के समय हँसी अच्छी लगती है। हर समय की हँसी ठीक नहीं।"

पितामह धर्मराज को बरजते हुए बोले—"ना, बेटा ! ऐसे नही कहते हैं। तुम इतने दिन साथ रहे, फिर भी तुम इसके प्रभाव से अभी तक पूर्णरीत्या परिचित नहीं हुए।"

धर्मराज बोले—"इनका प्रभाव ही समझता होता तो केवल इस अनित्य शरीर के पालन पोषण के लिये, अपने करोड़ों सगे सम्बन्धियों और भाई बन्धुओंका वध क्यों करता ? मैं तो इन्हें इतना ही जानता हूँ, कि मेरे मामा वासुदेव के पुत्र हैं, मेरे छोटे भाई अर्जुन के सारथि हैं और मेरे रक्षक, कृपालु और भयत्राता हैं।"

पितामह बोले—"हाँ, ये तो सब हैं ही किन्तु ये इतने ही नही हैं, इससे भी और अधिक है। अर्जुन का सारथ्य इन्होंने प्रेम के वशीभूत होकर ही किया है। तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर ही ये हस्तिनापुर तुम्हारे दूत बनकर गए थे। सेवक भृत्य का कार्य इनके अनुरूप न होने पर भी तुम्हारे स्नेहवश इन्होंने उसे प्रसन्नता के साथ किया। तुम क्या,बड़े बड़े ब्रह्मादिक देवता भी इनके सम्मुख सदा हाथ बाँधे आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं। इतना होने पर भी ये तुम्हारे सेवक, पहरेदार, मंत्री, दूत, भृत्य, सारथि सब कुछ बने। यह सब करने पर भी इनके महत्व में कोई अन्तर नही आया। ये आकाश की भाँति उसी प्रकार निर्मल निर्लेप बने रहे।"

धर्मराज बोले—"महाराज, इन्हें आप आदि पुरुष, नारायण, निर्लेप, अज, अविनाशी बताते हैं, फिर इन्होने वृष्णिवंश में अवतार क्यों धारण किया ?"

आँखों में आँसू भरकर पितामह बोले—"बस यही तो इनकी अद्भुत अचिन्त्य क्रीड़ा है। इसी को देखकर तो

अज्ञानी मोहित हो जाते हैं। वे इसी कारण इन्हें व्यवहार कुशल, मायावी, कूटनीतिज्ञ, सामान्य पुरुष समझने लगते हैं। अपनी मोहिनी माया का आश्रय लेकर—गूढ़ रूप से छिप कर—कपट से इन्होंने नर रूप धारण कर लिया है।

धर्मराज हँसते हुए कहने लगे—"तब तो महाराज! ये बड़े मायावी हैं। तभी तो इन्होंने मेरे नाकों दम कर रखा है। संसार को अपने संकेत पर नचा रहे हैं। लोग रोते हैं चिल्लाते हैं, दुख करते है, किन्तु ये उसी तरह सदा मुस्कुराते रहते हैं। इनके मुख-मण्डल पर कभी मैंने म्लीनता देखी ही नहीं। दिन रात्रि वह पूर्ण चन्द्र के समान, शारदीय कमल के समान खिला ही रहता है। ये अपने त्रैलोक्य सुन्दर हास्य से सभी का मन अपनी ओर खींचते रहते हैं।"

पितामह बोले—"भैया, इनके लिये शोक निषाद की क्या है? पर्दे के भीतर सूत्रधार शान्त उदासीन बैठा रहता है। उसके नाटक को देख कर दर्शक कभी हँसने लगते हैं, कभी करुणा के प्रसंग पर आँसू बहाने लगते हैं। सूत्रधार शान्त बैठा सब देखता है। वह कभी दर्शकों के साथ हँसता, रोता सा भी प्रतीत हो, तो उसके हँसने रोने में और दर्शकों के हँसने रोने में बड़ा अन्तर है। संसारी नाट्य-स्थली के सूत्रधारों को मान प्रतिष्ठा के लिये हर्ष शोक का होना संभव भी है किन्तु इस जगत् नाटक के सूत्रधार श्यामसुन्दर तो, हर्ष शोक से सर्वदा परे ही हैं। इसलिये भैया, अब तुम इनकी आज्ञा पालन करो। जैसा ये कहें वैसा करो। दुःख सुख सब इन्हीं भगवान् वासुदेव के अधीन हैं। दैवरूप से ये ही सब को काल की प्रेरणा द्वारा कर्मों का फल भुगवाते हैं। तुम इसे इनकी ही प्रेरणा समझकर

अनाथ प्रजा का प्रेम के साथ पालन करो। भरत वंश में तुम्हीं ज्येष्ठ हो, समर्थ हो, विजयी हो, पराक्रमी हो, धर्मात्मा हो, प्रजावत्सल हो। प्रजा तुमसे हार्दिक प्रेम रखती है। उसका पुत्रवत् पालन करो और इस मोहजनित शोक का परित्याग करो इन अहङ्कार हीन, सर्वात्मा, समदर्शी, सर्व-शुद्धि, अद्वितीय ईश्वर में विषमता नहीं है। ये कच्छ, मच्छ, शूकर बन कर भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं। भक्तों के अधीन होकर ही ये उनके पुत्र, सेवक, सारथि सब कुछ बन जाते है। दूर कहाँ जाते हो? अभी देख लो, मुझ दीन, हीन साधन विहीन, कंगाल के ऊपर कृपा करके ये यहाँ मरते समय मुझे अपने देव दुर्लभ दर्शन देने दौड़े आये।

योगी लोग इनके एक बार दर्शनों के लिये सहस्रों युग तपश्चर्या करते हैं। अनन्त काल तक जप तप पूजा पाठ करने का एक मात्र उद्देश ही यह है, कि अन्त समय श्यामसुन्दर के सुमधुर नामों का इस जिह्वा से उच्चारण हो जाय। मन में इनकी यह त्रिभंग ललित, टेढ़ी, काले-काले घुंघराले वालों वाली विश्वमोहिनी मूर्ति एक बार आ जाय तो हमारे सभी साधन सफल हो जायें। अन्त समय में जिनके नाम का संकीर्तन करने से, मन में भी भावमयी जिनकी छटा आने से सभी कर्म बन्धनों से छूट जाते है, वे भगवान् मुझ क्षत्रबन्धु के सम्मुख स्वयं साक्षात् साकर रूप मे, इन चर्म चक्षुओं के सामने हँसते हुए आकर उपस्थित हो गये हैं। यह सौभाग्य किसी साधन के द्वारा साध्य नहीं, यह इनकी एक मात्र कृपा के ही ऊपर अवलम्बित है।"

धर्मराज आँखों में आँसू भर कर बोले—"पितामह! हम सब प्रकार अनाथ हो गये हैं। अब आप भी हमें परित्याग करके

परलोक पधारने को प्रस्तुत हैं। हम ऐसे अभागे रहे, कि पिता बाल्यकाल में ही स्वर्गगामी हुए। उनकी कुछ भी सेवा शुश्रूषा न कर सके। आप हमारे वृद्ध पितामह थे, प्राणपन से हमें आपकी इस वृद्धावस्था में सेवा करनी चाहिये थी, सो वह न करके हमने आप को अन्याय से आहत करके शरशैया पर सुला दिया। प्रभु! हमसे अधिक पापा कौन होगा? हम गुरु जनों को कुछ भी सेवा न कर सके। अब इस अन्तकाल में परलोक पधारते समय यदि आप कोई सेवा हमें बतावें, कोई आपकी अन्तिम अभिलाषा हो, तो उसे प्राणपन से पूर्ण करने का हम प्रयत्न करेंगे।"

रूँधे हुए कंठ से अश्रु विमोचन करते हुए, बाणों से विद्ध वृद्ध पितामह, अपनी वेदनापूर्ण वाणी से रुक-रुक कर कहने लगे—"कुन्ती नन्दन! आज तुम्हें समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का एक छत्र सम्राट देखकर मेरी सभी अभिलाषायें पूरी हो गईं। तुम सब श्रीकृष्ण की कृपा से दुःख सागर से पार हो गये, यही मेरे हर्ष के लिये पर्याप्त है। फिर भी तुम यदि मेरी कोई अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करना चाहते हो,तो वह एक ही है।"

अत्यन्त ही उत्सुकता और उल्लास के स्वर में धर्मराज ने कहा— हाँ, हाँ, प्रभु! हमें आज्ञा दीजिये, हम कठिन से कठिन कार्य को करके भी, आपके मनोवांछित पदार्थ को आपके पाद पद्मों में प्रस्तुत करके आपकी इच्छा पूर्ति करेंगे।"

पितामह बोले—"यदि मेरी अन्तिम इच्छा पूरी करना चाहते हो, तो वह एक ही है। वह यह कि तुम अर्जुन के सारथि, अपने सखा, सम्बन्धी, मन्त्री बने हुए इन श्यामसुन्दर से मेरी ओर से यही प्रार्थना कर दो, कि जब तक मैं अपने

पञ्च भौतिक शरीर का परित्याग न करूँ, तब तक वे इसी प्रकार पीत पट फहराते हुए वनमाला धारण किये हुए, शरदीय कमल सदृश विकसित नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए, मंद मंद मुस्कराते हुए, चतुर्भुज रूप से मेरे सम्मुख ही उपस्थित रहें। इन्हें देखते हुए, इनका ध्यान करते हुए, इनके जगन्मंगल नाम को उच्चारण करते हुए, मैं इस शरीर का परित्याग करना चाहता हूँ। अब मुझे बहुत विलम्ब नहीं है। शीघ्र ही शरीर छोड़ दूँगा।"

हँसते हुए भगवान् वासुदेव बीच में ही बात काटते हुए बोले—'पितामह ! इसके लिये आपको धर्मराज से कहलाने की आवश्यकता न पड़ेगी। मैं तो आया ही इसी लिये हूँ, कि जिन प्राणों को लोग अत्यन्त दुःख के साथ विवश होकर विलखते हुए छोड़ते हैं, उन्हें आप स्वेच्छा से हँसते हुए कैसे परित्याग करेंगे ? जैसे सर्प स्वेच्छा से अपनी केंचुली छोड़ कर और अधिक चमकीला बन कर उसकी ओर बिना देखे ही भाग जाता है, उसी प्रकार आप इस नश्वर पञ्च भौतिक देह का त्याग कर, देदीप्यमान दिव्य शरीर से किस प्रकार विमान पर चढ़ कर देवलोक जायेंगे—यही मेरे मन में बड़ी उत्कंठा है। मुझे आपकी इच्छा मृत्यु की बात पर बड़ा कुतूहल हो रहा है। मैं उस दुर्लभ दृश्य को देखने के लिये ही दौड़ा हुआ आया हूँ।"

भगवान् की इस कृपालुता को स्मरण करके वहाँ बैठे सभी ऋषि मुनियों सहित भीष्म पितामह आनन्द में विभोर हो गये। तब वहाँ बैठे हुए समस्त ज्ञानी ऋषि मुनियों ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—'राजन् ! अब ये शंतनुसुत गांगेय अपने पांच

भौतिक शरीर का परित्याग करना चाहते हैं। इनके समान ज्ञानी, ध्यानी, नीति विशारद, भक्तितत्व के ज्ञाता, इस भूमण्डल पर दूसरे नहीं है। अतः आप इनसे नाना धर्मों को पूछ लें। यहाँ भगवान् व्यास भी बैठे हैं। वे उन सभी उपदेशों को संगृहीत करके उनका संसार में प्रचार और प्रसार करेंगे। नहीं तो इनका यह अमोघ ज्ञान--धर्म, नीति, आचार, विचार की समस्त विद्या-इनके शरीर के साथ ही नष्ट हो जायगी।"

ऋषियों की आज्ञा शिरोधार्य्य करके धर्मराज ने सरशैया पर शयन करते हुए गंगासुत भीष्म पितामह से; वर्ण और आश्रमों के धर्म, सभी पुरुषों के स्वाभाविक धर्म, वैराग्य प्रधान निवृत्ति मार्ग, कर्म प्रधान प्रवृत्त मार्ग, दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म और भगवद् धर्म, इन सभी बातों को पृथक-पृथक संक्षेप और विस्तार के साथ पूछा। भीष्म ने भी भगवान की प्रेरणा से समस्त प्रश्नों का बड़ी ही सुन्दरता और सरलता के साथ किसी को संक्षेप में कहकर, किसी का विस्तार के साथ उत्तर दिया। उन्होंने सब को साधनों सहित और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष सम्बन्धी अनेक इतिहास सुनकर दृष्टान्त देकर सभी विषयों को भली भाँति समझाया। सभी शंकाओं का शास्त्रीय युक्तियों द्वारा समाधान किया। इन सबका वर्णन भगवान् वेदव्यास ने अपने महाभारत नामक पंचमवेद के 'शान्तिपर्व' में किया है।

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"महाराज सूतजी! ऋषि मंडली से श्यामसुन्दर के सम्मुख धर्मावतार युधिष्ठिर के पूछने पर, वसु रूप से मानुष देह में आये हुए गंगापुत्र भीष्म ने जो धर्म कहे होंगे वे तो अत्यन्त ही दिव्य

गे उन सबका हमारे सम्मुख आप विस्तार के साथ वर्णन कीजिए। ऐसे पवित्र संम्वाद को सुनने की सभी उपस्थित ऋषियो की अत्यधिक उत्कंठा है।

ऋषियों की ओर से शौनकजी के ऐसा कहने पर सूतजी बोले—"महाभाग यथार्थ ही वह सम्वाद बड़ा ही दिव्य है, उसमें सभी विषयों के प्रश्न और उत्तर हैं। उसे तो आपको पृथक ही महाभारत के प्रसंग में सुनना चाहिए। यहाँ भाग वती कथा के प्रसंग मे उनका प्रश्न करना अनुकूल नहीं। वह उपदेश स्वार्थ,परमार्थ,इहलोक परलोक के सभी साधनों से मिला जुला है। उसमें परमार्थ की अपेक्षा नीति और व्यवहार की बातें बहुत है। जैसे राजनीति में साम, दाम, दन्ड, भेद आदि के वर्णन, काम्य कर्मों का वर्णन, स्त्रियों का स्वभाव, उनकी बड़ी-बड़ी विलक्षण बातें, उनके कर्तव्याकर्तव्य आदि-आदि बातों का विस्तार है। यहाँ तो प्रसंग केवल भगवत् सम्वन्धी कथाओं का ही है। आपकी आज्ञा है, कि सब शास्त्रों का सार सिद्धान्त, भक्त और भगवान् की ही लीला तथा गुण कर्मों का वर्णन करूँ अतः यहाँ उन नीति व्यवहार की बातों का अवसर नही है। हाँ, जो उसमें भगवद्धर्म है, उसका सार तो आगे उद्धव सम्वाद में सुनाऊँगा ही। इसलिए यहाँ मैं उसका विस्तार करना उचित नही समझता और यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं उसे भी सुनाने को प्रस्तुत हूँ।"

शौनकजी बोले—"ना ना, सूतजी! जब ऐसी बात है, तो उसे इस भागवती कथा के प्रसंग में कहने की आवश्यकता नही। हमें साम, दाम, दंड, भेद सुनकर क्या करना है? स्त्रियों के भी स्वभाव, धर्म हम क्या सुनें। हम सब तो ऊर्ध्वरेता बाल ब्रह्मचारी हैं। हम तो इन सबको भगवान् की माया समझ

कर दूर से ही प्रणाम कर लेते हैं। इनके स्वभाव धर्म और कर्त्तव्याकर्तव्य को तो वे ही सुनें, जिन्हें इनके साथ रहना हो, इनसे व्यवहार संपर्क रखना हो। अपने तो इन सब से दूर ही रहते है। हमें तो आप विशुद्ध कृष्ण कथा या उनके पद-पद्मों के मकरन्द के लोभी भक्तों के सुखद संवाद ही सुनाइये। हाँ, तो आगे क्या हुआ इसका कथन करें।"

सूतजी बोले—"आगे क्या हुआ ? भीष्मदेव ने भगवान् की बड़ी अद्भुत स्तुति की, भगवान् को देखते-देखते इस पांच भौतिक शरीर का त्याग किया। इसे मैं आगे सुनाऊँगा। आप सब सावधानी के साथ श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

है नटनागर नवल नित्य नाटक नव खेलें।
देखि दया के दृश्य दुःख दर्शक बहु झेलें॥
कब करवावें कहाँ कौन तें कैसो कारज।
भेद न जानें देव दैत्य दानव शंकर अज॥
अंतकाल में कृष्ण कहि, नर अघ तजि हरि पुर गये।
ते मम मृत्यु समय समुझि, स्वयं श्याम सम्मुख भये॥

पितामह का परलोक प्रयाण

(३४)

विशुद्धया धारणया हताशुभ—
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधव्यथः ।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम—
स्तुष्टाव जन्यं विसृजन्जनार्दनम् ॥१

(श्री भा० १ स्क० ९ अ० ३१ श्लोक)

छप्पय

भये अशुभ सब छीन शुद्ध मनमोहन धारे ।
शस्त्र शूल सब शान्त भयो प्रभु निकट निहारे ॥
इन्द्रिय वृत्ति विलास रुकी हरि हिय में आये ।
गद्गद् गिरा गँभीर गीत गोविन्द के गये ॥
मति हो मेरी कृष्ण में, गति हो गोवरधन धरन ।
चंचल चित चितवें चरन, रटि रसना राधा रमन ॥

ये मनस्वी, तपस्वी, यशस्वी धन्य हैं, जिनके मुख से मृत्यु काल में मनमोहन सुमधुर नामों का उच्चारण हो जाता है । फिर उनके भाग्य का तो कहना ही क्या, जिन्हें अन्तकाल में

---

१ विशुद्ध धारणा के कारण जिनके अखिल अशुभ क्षीण हो गये हैं । नयनाभिराम नन्दनन्दन के निरीक्षण से जिनकी समस्त शस्त्र व्यथा

उन काले कृष्ण की हृदय में मानसी वांछी [illegible] है।
फिर जिनकी मृत्यु समझकर स्वयं साकर [illegible]
के सम्मुख श्यामसुन्दर अपने आप ही आकर उपस्थित हैं।
उनके भाग्य के सम्बन्ध में, उनकी तपश्चर्या, साधन और
भक्ति भाव के सम्बन्ध में कुछ कहना, मानों गिरा की अधि-
ष्ठात्री देवी सरस्वती को लज्जित करना है वे मूर्तिमान तप
और धर्म हैं, साधना के साकर स्वरूप हैं, भक्ति भागीरथी की
आत्मा ही हैं, वे जगद्वन्द्य, ब्रह्मादिक देवताओं के भी पूज्य
और भगवान् के दूसरे स्वरूप ही हैं। हमारे भीष्म पितामह
भी उन्हें भाग्यवान् भक्तों में से हैं। उनके पुत्र नहीं हुआ,
किन्तु आज समस्त वेद शास्त्रों के मानने वाले उनके पुत्र तुल्य
हैं। अपने पितरों को जलाञ्जलि देते समय सभी शास्त्रज्ञ पुरुष

वैयाघ्रपदगोत्राय शंतमुप्रवराय च।
अपुत्राय ददाम्येतत् जलं भीष्माय धर्मणे॥
भीष्मः शान्तनवो वीरः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
अद्भिरद्भिरवाप्नोतु पुत्र पौत्रोचितां क्रियाम्॥*

दूर हो गई है। जिनकी समस्त इन्द्रियों का वृत्ति विलास निवृत्त हो गया है वे भीष्मजी इस शरीर को परित्याग करते समय जनार्दन श्रीयदुनन्दन की गद्गद कंठ से स्तुति करने लगे।

*वैयाघ्रपद जिनका गोत्र है, शन्तनु प्रवर है, उन पुत्र रहित क्षत्रिय भीष्म को मैं जलांजलि देता हूं। जो भीष्म शन्तनु के सुत हैं, सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, वे इस जल के द्वारा जो पुत्र पौत्रों के जल देने से क्रिया होती है, उसे ही प्राप्त हों।

उन्हें कहकर अन्त मे तिल सहित अञ्जलि देते हैं। स्वयं श्याम-सुन्दर ने जिनकी समस्त आज्ञाओं का—भक्तवत्सल होने के कारण—बालकवत् पालन किया, उन महाभाग भीष्म के भाग्य की सराहना किन शब्दों में, क्या कहकर की जाय ?

धर्मराज के पूछने पर पितामह भीष्म ने उनके सभी प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया। देवकीनन्दन भगवान् वासुदेव की कृपा से उनके शरीर की समस्त शर-पीड़ा विलीन हो गई। शरशैया पर पड़े-पड़े वे ऐसा अनुभव करने लगे, मानो मैं पुष्प शैया पर सुख से सो रहा हूँ। उनके क्लम श्रम, वेदना, चित्त विभ्रम आदि सभी उपद्रव शान्त हो गये। निश्चल एकाग्र मति होकर धर्म उपदेश करते रहे। जब उपदेश करते-करते उन्होंने समझ लिया कि अब मेरे प्राण त्याग का समय आ गया है, तब वे उस कार्य से भी उपराम हो गये। स्वेच्छा मृत्यु वाले योगिजन जिनकी प्रतिक्षा में अपने प्राणों को अटकाय रहते हैं, वह उत्तरायण का उत्तम अवसर आकर उपस्थित हुआ। पितामह ने अपनी वेद-शास्त्र सम्मत बोलने वाली वाणी को विश्राम दिया। वे मौन हो गये, जिन्होंने युद्ध में बड़े-बड़े वीरों की बात की बात में यमपुर का द्वार दिखा दिया था, जिन्होंने प्रबल पराक्रमी योद्धाओं को हँसते-हँसते युद्ध में मार डाला था, जिनकी बराबरी का १८ अक्षौहिणी सेना में दूसरा बली वीर नहीं था, जो वृद्ध होने पर भी बड़े-बड़े युवकों के भी दाँत खट्टे कर देते थे। वे धर्म युद्ध में किसी से भी पराजित न होने वाले पितामह आज उसी तरह शांत हो गये जैसे तेल के समाप्त होने पर दीपक शान्त हो जाता है बोल बन्द होने पर उनकी अश्रु पूर्ण आँखें एकटक हो गईं। उनमें निमेष उन्मेष होना

बन्द हो गया। पलक न गिरने से उनके कमल नयन ऐसे प्रतीत होते थे, मानों मयूर के पख में बने नेत्र हों अथवा चित्र में लिखित नयनाभिराम दो सुन्दर आँखें हों। वे सामने बैठे हुए भगवान् वासुदेव की ही ओर निहार रहे थे। वासुदेव के अतिरिक्त उनकी दृष्टि में समस्त ससार शून्य सा हो गया था, वे पास में बैठे पांडवों और ऋषि मुनियों को भी नही देख सकते थे। उनकी दृष्टि तो आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दो मे अटकी हुई थी। कण्ठ में कफ आने से उनकी वाणी भली भाँति स्पष्ट नहीं निकलती थी। खाँसकर उन्होंने भगवान् की बड़े ही मर्मस्पर्शीय शब्दों में स्तुति की।

मुनियों! उस भीष्म स्तुति का एक-एक शब्द अमूल्य है। उन सब का भाव कहने लगूँ, तो मैं उसे ही कहता रह जाऊँगा। आगे की कथा का प्रवाह रुक जायगा। अतः मैं भीष्म स्तुति को यहाँ न कहं कर प्रसङ्गानुसार स्तुति के प्रकरण मे फिर कहूँगा। यहाँ तो मैं कुछ स्वल्प शब्दों में उसका दिग्दर्शन मात्र ही करा कर आगे बढ़ूँगा।

उस समय भीष्म जी के नेत्रों के सम्मुख तो पीतपट धारी, बनवारी वैजन्ती माला धारण किये हुए स्वयं उपस्थित थे, किन्तु उनके हृदय पटल पर श्याम सुन्दर की वही रणांगण की अर्जुन के रथ को हाँकने वाले मनमोहनी मूर्ति नृत्य कर रही थी। जैसे नाटक की रङ्गभूमि पर एक के अनन्तर एक इस प्रकार सभी अङ्कों के दृश्य आते रहते है, उसी प्रकार युद्ध में भगवान् ने जो-जो लीलायें की। जो जो नाट्य किये, वे सब अन्तकाल में भीष्म के हृदय पटल पर आने लगे। कभी तो वे अपने सामने दौड़ते हुए यदुनन्दन को देखते, कभी वेग से

अर्जुन का रथ हाँकते हुए निहारते। कभी किसी योद्धा को मार ने के लिये अर्जुन को प्रेरित करते देखते। इस प्रकार श्याम सुन्दर की ही लीलाओं को चिन्तन करते हुए वे गद्गद् कण्ठ से स्तुति करने लगे।

भीष्म बोले—हे वासुदेव ! मैं इस शरीर का परित्याग कर रहा हूँ। हे गोपीजनवल्लभ ! मेरी दृष्टि तुम्हें छोड़ कर कहीं अन्त न जाय और दूसरे स्थान में उसके चिन्तन के लिये आपकी ललित लीलाओं से बढ़कर लावण्य युक्त कौन सा विमल और अत्यन्त लुभावना विषय होगा।"

हे घन श्याम ! अर्जुन के रथ को हाँकते समय रथ के पहियों से उड़ी हुए धूलि से आपकी काली-काली घुंघराली अलकावली धूलि धूसरित हो गई थी। उस समय मैंने अपना सब बल लगाकर तुम्हारे कवच को छिन्न-भिन्न कर दिया था, तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर से रक्त की धारायें बह रही थी। अनेक योद्धाओं के बिन्दु उड़-उड़ कर तुम्हारे मुखमण्डल पर पसीनों के बिन्दुओं से मिले हुए वे ऐसे ही शोभित होते थे, जैसे मोतियों में, लाल के टुकड़े मिला दिये जायें। उस समय तुम बड़ी व्यग्रता से रथ को हाँक रहे थे। जिस प्रकार अत्यन्त रागासक्त गृहस्थी अपने बाल बच्चों की रक्षा आदि में लगा रहता है, उसी प्रकार तुम अर्जुन के रथ की रक्षा मे प्रवृत्त थे। वह तुम्हारी मनमोहनी ममत्व वाली मूर्ति मेरे मन मन्दिर में सदा निवास करती रहे।

आपने जब देखा, कि मैं निर्दयतापूर्वक सभी शत्रु सेना का सहार कर रहा हूँ, तब आप से नहो रहा गया और

अपने सखा अर्जुन से क्रोध करके आज्ञा के स्वर में बोले—"इस बूढ़े को मार डालो।" उसने जब आनाकानी की, तो आपने उसे अत्यन्त ही डाटा-डपटा और कहा—"यदि तू नहीं मारता, तो मैं मारूँगा इस बूढ़े व्याघ्र को!' उसी समय का क्रोध से पूर्ण वह तुम्हारा तमतमाता मुखमण्डल मेरे मन में सदा बसा रहे।

तुमने प्रतिज्ञा की थी—मैं संग्राम में शस्त्र ग्रहण न करूँगा।' मैंने प्रतिज्ञा की थी—'यदि मैं श्रीकृष्ण से शस्त्र न ग्रहण करालूँ तो अपने को भरतवंशी शन्तनु का पुत्र कहना छोड़ दूँ। गङ्गाजी की कोख को कलुषित करने वाला कहलाऊँ।' भक्त और भगवान् की दो परस्पर मे विरुद्ध प्रतिज्ञायें थीं। संसार आश्चर्य-चकित था कि भला भगवान् के सामने इस अल्प प्राण पुरुष की क्या शक्ति है, जो अपनी प्रतिज्ञा को पूरी कर सके। किन्तु हे भक्त-वत्सल! उस समय आपने मेरी ही विजय कराई। अपने को आपने भक्तों से परास्त ही मानकर अपनी कृपालुता—भक्त-वत्सलता—का परिचय दिया।

उस समय आप अपनी प्रतिज्ञा को भूलकर रोष में भरकर अत्यन्त कुपित होकर मुझ आततायी के ऊपर रथ का पहिया लेकर बड़े वेग से टूट पड़े। जैसे कोई सिंह मतवाले हाथी पर टूटता है अथवा बाज अन्य पक्षी पर झपटता है। उस समय आपकी ये घुंघराली अलकें हिल रही थी, वनमाला वक्षस्थल पर लहरा रही थी, पीताम्बर पृथ्वी पर लटका हुआ घिसटता हुआ आ रहा था। अर्जुन आपको निवारण करने के लिये रथ से कूदकर आपके पैरों को पकड़े हुए था। उस समय उसे घसीटते हुए जब आप मुझ आततायी की ओर आये और मैंने हाथ

जोड़कर आपका स्वागत सत्कार किया। उसी तरह,हे दीनबन्धो! सदा मैं आपका स्वागत सत्कार करता हूँ। वही कृपा से भीगी हुई प्रेम रोप युक्त अनुपम छटा मेरे चित्त में सदा बसी रहे।

आप मेरे सम्मुख हैं—मेरे नेत्र आपकी माधुरी का पान कर रहे हैं, वाणी आपके गुणानवाद के गान मे लगी है। चित्त मे आपकी माधुरी मूरत बसी है, मन आपके ध्यान में मग्न है। अब मुझे और चाहिये ही क्या ? अब मैंने सब कुछ पा लिया। अपने मनुष्य जीवन को सफल बना लिया, शरीर का सम्पूर्ण कर्त्तव्य कार्य कर लिया। अब तो आप मुझे अपने में मिला ले। अपने विश्ववन्दित चरणारविन्दों में सदा के लिये आश्रय दें।

इस प्रकार पितामह अनेक प्रकार से भगवान् की स्तुति करके भगवान में लीन हो गये। उनके शरीर त्याग करते ही सबके सब; शांत हो गये। वहाँ सर्वत्र सन्नाटा छा गया, जैसे सायंकाल कोलाहल करके वृक्षों पर बैठे हुए पक्षी अपने-अपने घोसलों में शांत हो जाते हैं। भीष्म के इस निर्याण को देखकर पृथ्वी और आकाश के सभी जीव परम विस्मित हुए। उन्होंने अपने योगबल से काल को वश में कर रखा था। उनकी इच्छा के बिना मृत्यु उनके पास भी नही फटक सकती थी। उनके शरीर त्याग करते ही पांडवों के सभी सेवक भेरी, दुन्दभी, पणव, गोमुख आदि वाद्यों को बजाने लगे। उधर देवताओं ने भी भीष्म के स्वागत में भाँति-भाँति के वाद्य बजाये। अनेक देवता, सिद्ध, चारण, गन्धर्व जो भीष्म के निर्याण को देखने के निमित्त अपने-अपने विमानों में बैठ कर

आकाश मे ही ठहरे हुए थे, उन्होंने भीष्म के शरीर प
नन्दन वन के पारिजात आदि वृक्षों के दिव्य पुष्पों की
वर्षा की। गन्धर्व अपने सुरीले कण्ठ से भीष्म के गुणगान
सम्बन्धी गीत गाने लगे। अप्सरायें नृत्य करने लगी। सिद्ध,
चारण साधु-साधु कह कर उनकी प्रशंसा करने लगे और
समुपस्थित ऋषियों और मुनियों ने भी उनके प्रति सम्मान
प्रदर्शित किया। सभी उनके निमित्त भगवान् के सुमधुर मङ्गल-
मय नामों का पाठ करने लगे। इस प्रकार पितामह ने अपनी
इहलौकिक लीला समाप्त की।

भीष्म की निर्जीव देह उसी प्रकार बाणों से विद्ध हुई चेष्टा
शून्य वहाँ की वही पड़ी रही, किन्तु उनकी कान्ति मलिन
नही हुई।

छप्पय

हे अनाथ के नाथ ! ज्ञान गीता के दाता।
हे अर्जुन के सखा ! सारथी, दुख के त्राता॥
हे बूढ़े की कठिन प्रतिज्ञा पूरन कर्ता।
हे ब्रज वल्लभ ! अखिल विश्व के हर्ता भर्ता॥
हरि हिय में धारन करें, करत विनय विह्वल भये।
कृष्ण! कृपालो! कृपानिधि, कहत भीष्म सुर पुर गये॥

भगवान् का द्वारका जाने का विचार

(३५)

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः ।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ॥१

(श्रीभा० १ स्क० ९ अ० ४९ श्लोक)

छप्पय

भये भीष्म जब शान्त कृष्ण पांडव पछिताये ।
दाह-ऊर्ध्व संस्कार करे कुल कर्म कराये ॥
सेवक स्वजन समेत हस्तिनापुर में आये ।
भये युधिष्ठिर भूप विविध विधि हरि समझाये ॥
सबको सब सन्तोष करि, श्याम सकुचि बोले वचन ।
जाउँ द्वारिका वहाँ भी, चिन्तित होंगे सब स्वजन ॥

काल की गति दुरत्यय है । उसे कोई मिटा नहीं सकता, अन्यथा नही कर सकता । कितने भी शूरवीर हों कितने भी ज्ञानी, ध्यानी, तेजस्वी, तपस्वी क्यों न हों, काल किसी का शील संकोच नहीं करता । जिसका, जिससे, जब तक, जितना, जहाँ,

---

१ तदनन्तर अपने चाचा धृतराष्ट्र के समझाने बुझाने से तथा श्रीकृष्ण के अनुमोदन करने से धर्मराज युधिष्ठिर अपने पिता पितामह से चले आये हुए राज्य को धर्मपूर्वक करने लगे ।

जैसा, सम्बन्ध होगा, उसका उससे, तब तक, उतना वहाँ ही सम्बन्ध होकर रहेगा। जहाँ काल पूरा हुआ तुम अपने रास्ते, हम अपने रास्ते। नदी पार करने के लिये बहुत से नर नारी एकत्र होते हैं। नौका के छूटने में अभी कुछ समय शेष है, सभी घुल मिलकर बाते करते है। परस्पर स्वभावानुसार प्रेम और कलह भी करते हैं—'यहाँ तो रोटी बनाने को मेरी जगह है, आपने चूल्हा क्यों बना लिया?' वाह जी, आपके बाप की जगह है, मैंने इसे स्वच्छ किया है। बस, झगड़ा हो गया। मारपीट तक की नौबत आ गई। रक्तपात् भी कभी-कभी हो जाता है, दूसरी ओर, 'आप कहाँ जायँगे?' जी, मैं वत्स देश की राजधानी में जाऊँगा। 'आप कहाँ जायँगे?' 'मैं तो बन्धु-वर, त्रिवेणी स्नान के ही लिये आया हूँ। अभी नौका खुलने मे देर है।' आइये भोजन करलें।' जी मैं भोजन करके ही आया हूँ।' 'नही जी, थोड़ा तो करना ही पड़ेगा।' अच्छी बात है, आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य है।'

दोनों मिल कर सगे भाई की तरह भोजन करते हैं, घुल-घुल कर बातें करते है। परस्पर पता, ठिकाना लिखते हैं। बार-बार एक दूसरे को सावधान करते है—'देखिये, भूल न जाइयेगा—सन्देश भेजते रहें। कभी-कभी मेरे यहाँ अवश्य-अवश्य पधारें।' मल्लाहों ने पुकारा—'चलो, चलो, नौका खुलती है। समय हो गया, अब रुक नही सकता।' सभी उसमें जल्दी-जल्दी जाकर बैठते है, एक दूसरे को ढकेलते हैं—'अन्धे हो क्या? ऊपर ही चले आते हो? यहाँ कहाँ जगह है?, वाह जी तुम बड़े कहीं के चक्रवर्ती चले आये, मानों आपने नौका मोल ही लेली है। हमने, उतराई नहीं दी है क्या? ऐसे दूना लकड़ थे, तो अपनी अलग नौका करते। "अजी

आपने उतराई दी है, तो क्या किसी के सिर पर चढोगे। आप तो, ऐसे बिगड़ रहे हैं मानों हम आपके राज्य में ही बसते हों। दूसरे समझदार वृद्ध लोग कहने लगते हैं—'अरे, भैया! लड़ते क्यों हो, घड़ी भर की बात है, उस पार पहुँचे, कौन इसे सिर पर लाद कर ले जायगा?" मल्लाह इन बातों पर ध्यान ही नहीं देते। वे अपने डांड़ लगाने में, बल्ली ठीक करने में पाल बांधने में व्यस्त हैं। "बोल गङ्गा माई की जय।" नौका चलने लगी। बात कि बात में उस पार पहुँच गई! अच्छा जी राम-राम जी! राम राम साहब। अच्छा, भूलियेगा नही, राजी खुशी के समाचार देते रहें। बस, सबने अपना-अपना रास्ता पकड़ा। फिर कौन किसे समाचार देता है?

आये एकहिं घाट तो, उतरे एकहिं घाट।
अपने-अपने कर्म ते, ह्वै गये बारह बाट॥

भीष्मजी शान्त हो गये। सब के मुख म्लान हो गये। सब को अपने पूर्व कृत्यों पर पश्चात्ताप हुआ। पांडव बालकों की तरह रोने लगे। आज उनके पिता के पिता भी चल बसे। हाय हम अनाथ हो गये। काल की कैसी कुटिल गति है! भगवान् ने सब समझाया, धैर्य बँधाया। भीष्म पितामह के मृतक शरीर का सभी और्ध्व दैहिक कृत्य कराया। सभी उनके शव को बड़े ठाठ-बाट से राजसी सम्मान के साथ गङ्गा तट पर ले गये। धर्मराज ने सोचा—ये हमारे कुल के सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। ऐसा धार्मिक और दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष संसार में दूसरा मिलना दुर्लभ है, जो इतने बड़े साम्राज्य को सम्हालते हुए भी उसके भोगों से सदा तटस्थ हो रहे। जल में रह कर

कमल की भाँति विषयों से उदासीन ही रहे। घर में रहते हुए भी, राज-काज करते हुए भी त्यागी, तपस्वी, संन्यासी की भाँति इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन सदाचार के साथ बिताया। इसलिए इनका दाह-संस्कार ऐसे स्थान पर हो जहाँ आज तक कोई शव न जलाया गया हो। शुद्ध शव के लिए विशुद्ध भूमि ही चाहिए। गङ्गा किनारे कोसों तक भूमि शोधी गई, किन्तु कभी किसी को किसी प्रकार का सन्देह होने से वह छोड़ दी जाती थी। अंत में एक बड़े ऊँचे से टीले पर जिसमें बहुत से पेड़ खड़े थे, जो स्थान गुल्मलताओं से अच्छादित था—सर्व सम्मति से वही उनका दाह संस्कार करना निश्चित किया गया। भूमि शोधी गई, तृण गुल्म हटाये गये। लीप कर उस पर चिता बनाई गई। ज्योंही पितामह के प्राणहीन शरीर को उस पर रखा, त्योंही आकाश वाणी हुई कि इस स्थान पर इतनी लाख बार भीष्म का शरीर जलाया गया है। सभी आश्चर्य चकित होकर श्यामसुन्दर की ओर देखने लगे। तब मन्द-मन्द मुस्कराते हुए माधव बोले—"धर्मराज, इस संसार में नई तो कोई वस्तु है ही नहीं। घटाओं की पुनरावृत्ति का ही नाम इतिहास है वर्षा के बाद शरद, शरद के बाद हेमन्त, जैसे ये क्रमशः छः ऋतुएँ बीतती हैं, फिर वर्षा आ जाती है—यह आ जाने का क्रम अनादिकाल से लगा है, अनन्त काल तक लगा रहेगा। जब यह शरीर ही नया नहीं है, तो नई भूमि तुम कहाँ से लाओगे। यह तो ऐसे ही संसार का अनादि प्रवाह चल रहा है, इसमें कौन किसका पिता, कौन पितामह? आज जो पिता है, दूसरे जन्म में ही पुत्र बन जाता है। यह संसार ऐसे ही उलटता पुलटता रहता है। इसलिए अब आप शोक मोह छोड़ कर इस निर्जीव शरीर को जला दीजिये। अब

ही यह मिट्टी है, मिट्टी में मिल जाना है, इसके लिए अब अधिक विचार वितर्क करने की आवश्यकता नहीं।"

भगवान् के उपदेश से धर्मराज का शोक मोह दूर हुआ और उन्होंने शास्त्र विधि से पितामह की सभी पारलौकिक क्रियायें की पितामह का शरीर भी जलकर अग्निदेव ने भस्म बना दिया। सभी उनके गुणगान करने लगे। धर्मराज का हृदय शून्य सा हो गया। संसार की असारता उनके आंखों के सामने प्रत्यक्ष नाचने लगी। देखो, जीवित अवस्था में सभी राजा महाराजा, सेवक, सम्बन्धी पितामह से जिस शरीर का इतना सम्मान करते थे, उसका अन्तिम परिणाम दो मुट्ठी राख ही हुआ।

आये हुए सब ऋषि मुनियों ने भगवान् की स्तुति की। उनके जगन्मंगल मधुरातिमधुर नामों का पाठ और गायन किया। फिर वे धर्मराज और भगवान् से अनुमति लेकर अपने अपने हृदयों मे भव भय हारिणी श्री हरि की मूर्ति को धारण करके अपने-अपने आश्रमों को चले गये। इधर पांडव भी भगवान् की आज्ञा से अपने सगे सम्बन्धी और सेवकों के सहित गङ्गा तट से हस्तिनापुर में आ गये।

धर्मराज ने देखा उनके ताऊ धृतराष्ट्र और उनकी ताई गांधारी अत्यन्त ही शोक से व्याकुल है। तब धर्मराज ने उनके चरण पकड़ कर कहा—'पिता जी! अब आप अपने शोक को दूर कीजिये। हमारे अपराधों की ओर ध्यान न दीजिये। जैसे दुर्योधनादि आपके पुत्र थे, उसी प्रकार हमें भी आपना पुत्र ही समझें। जिस प्रकार आप पहिले रहते थे, उसी प्रकार आप अब भी रहे। आप के रहते हम सिंहासन पर

कैसे बैठ सकते हैं ? हम सब के आप ही राजा, रक्षक, गुरु और पालन कर्ता है। हम तो आप के सेवक बन कर आपके चरणों में बैठ कर जैसी भी आप आज्ञा देंगे वैसा ही करेंगे। आप हम पर प्रसन्न हो जायें।"

भगवान् ने भी कहा....."हे कुरुकुल तिलक ! आप मुझ पर भी रोष न करें कि इसी ने मेरे पुत्रों को मरवा दिया है। कौन किसे मरवाता है ? आप तो सब जानते हैं। सभी का निश्चित काल होता है। उससे अधिक कोई कितना भी प्रयत्न करे, नहीं जी सकता और उससे पहिले चाहे विष पीले, अग्नि में कूद पड़े, पहाड़ से गिर पड़े, तो भी बच जाता है। अतः काल की गति समझ कर आप शोक को दूर करिये और अब पांडवों को ही अपना पुत्र समझ कर राज्य-काज कीजिये।"

धृतराष्ट्र ने आंसू पोंछते हुए कहा—'वासुदेव ! मेरे क्रूर कर्मा पुत्र अपने पाप से ही मारे गये। उनके अधर्म ने ही उनका नाश किया। मैं उनके कर्मों से कभी भी हृदय से सन्तुष्ट नहीं था, किन्तु पुत्र मोह के वशीभूत होकर और अन्धा होने के कारण उन पर शासन नहीं कर सका। हे देवकीनन्दन ! आप तो सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ हैं। आप जो कराना चाहते हैं, वही होता है। आपने मेरे पुत्रों की बुद्धि ही ऐसी भ्रष्ट कर दी, कि उन्होंने आपकी बात भी नहीं मानी। पांडवों को तो मैं पहिले भी पुत्रों की ही तरह मानता था, ये सबके सब समर्थ हैं, धर्मज्ञ हैं, सदाचारी तथा सुशील हैं और सबसे श्रेष्ठ बात यह है कि ये सब आप के भक्त हैं, अनुयायी हैं। इनकी विजय तो होनी थी। मुझे उन पापी पुत्रों की मृत्यु का उतना शोक

नहीं है। दुःख इस बात का है, कि मरने का समय मेरा था। मैं न मर कर मेरे सामने ही मेरे सौ के सौ पुत्र मर गये राज्य-काज तो मैं पहिले भी नहीं करता था। अंधा होने से मैं राज्य के योग्य ही नहीं। जैसे पहिले दुर्योधन प्रजापालन का कार्य करता था वैसे ही अब धर्मराज करें। आप इन्हें ऐसी आज्ञा दें। अब तो ये ही मेरे पुत्र, रक्षक और सब कुछ हैं।"

इस प्रकार धृतराष्ट्र के कहने से और भगवान् के अनुमोदन तथा आग्रह करने से धमराज धर्मपूर्वक सभी राज्य-काज करने लगे। थोड़े ही दिनों में सब लोग कौरवों को भूल गये। सर्वत्र धर्मराज के शासन की प्रशंसा होने लगी।

इतना सुनकर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"महाभाग! जब पांडवों के राज्य को हड़प जाने वाले कौरवों का नाश हो गया, तब धर्मराज ने किस प्रकार शासन किया? भगवान् कितने दिनों तक और उनके साथ रहे? भगवान् फिर द्वारिका गये या नहीं? इन सब सरस और सुखद बातों का वर्णन आप हमारे सम्मुख करें।"

शौनकजी के ऐसा पूछने पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो! वह युद्ध क्या था भरतवंश रूपी बांस के बन में लगी हुई दावाग्नि थी। जैसे बांस अपने आप ही वायु के द्वारा रगड़े जाते हैं, उनसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी अग्नि से सबके सब भस्म हो जाते हैं। उसी प्रकार कौरव, पांडव वंश में क्रोध रूपी अग्नि से उत्पन्न होकर दोनों कुलों का नाश कर दिया। दोनों कुलों में आगे को कोई भी नाम लेवा, पानी देवा नहीं रहा।"

उत्तरा के गर्भ में छिपा हुआ बीज था, उसे भी अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र रूपी मूसा खा जाना चाहता था, किन्तु भगवान् ने

कृपा करके अपने चक्र से उस मूसे को मारकर अंकुर उठते हुए बीज को बचा लिया। अब सर्वत्र आनन्द फैल गया। धर्मराज राज्य भार के भय से राज्य नहीं त्याग रहे थे। वे तो अधर्म समझ कर राज्य से उपराम हुए थे। जब धृतराष्ट्र ने, भगवान् ने, व्यास आदि ऋषि मुनियों ने धौम्य, कृपाचार्य आदि पुरोहित विप्रों ने, मन्त्री और अमात्यों ने तथा समस्त प्रजाजनों ने उनको राज्य करने के लिए विवश ही किया, तो वे धर्म समझ कर राज्य-काज करने ही लगे।

जब पृथ्वी पर कोई धर्मात्मा राजा हो जाता है तो पृथ्वी प्रसन्न होकर सबदुधा बन जाती है, सभी प्राणी परस्पर का वैर भाव भुलाकर आनन्द पूर्वक सभी कार्य करते हैं, तो फिर धर्मराज के राज्य में तो पूछना ही क्या। वे तो साक्षात् धर्म के अवतार ही थे। दुर्वासा के शाप वश धर्म ने ही पृथ्वी पर तीन स्थानों में अवतार लिया था। एक बार तो काशी में धर्म चंडाल रूप से उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने राजा हरिश्चन्द्र को विश्वामित्र से मोल लिया था। दुबारा शूद्र योनि में विदुर रूप से उत्पन्न हुए और तीसरी बार पांडु पुत्र युधिष्ठिर के रूप में। इसीलिए धर्मराज कभी धर्म विरुद्ध कार्य का अनुमोदन भी नहीं करते थे। भीष्म पितामह ने प्राण त्याग करते समय उन्हें उत्तम राजनीति का उपदेश दिया था, फिर साक्षात् भगवान् उन्हें प्रत्येक कार्य में अपनी सम्मति देते थे। इन सभी कारणों से वे अपने आज्ञाकारी भाइयों के सहित समुद्र पर्यन्त समस्त पृथ्वी का एक छत्र शासन करने लगे। पृथ्वी के समस्त भूप उनकी आज्ञा को सिर से स्वीकार करते थे। उनकी आज्ञा चारों दिशाओं में समान रूप से मानी जाती थी। उनके राज्य में मनुष्यों को आधिभौतिक, आधिदैविक और

आध्यात्मिक तीनों प्रकार के तापों में से एक भी ताप संताप नहीं था। न कोई दरिद्र था, न रोगी। समय पर आवश्यकतानुसार इन्द्र वर्षा करते थे। सभी देवता उनके अनुकूल आचरण करते थे। मनुष्य सब उनकी आज्ञा का पालन करते थे। मनुष्य ही नहीं—नदी, पर्वत, समुद्र वनस्पति, लताएँ समस्त औषधियाँ सभी वृक्ष उनके प्रतिकूल कोई कार्य न करते थे। वृक्ष समय पर फूलते फलते थे। सभी ऋतुयें अपने-अपने समय पर अपने-अपने स्वभावानुसार सर्दी, गर्मी और वर्षा करती थी। गौयें यथेष्ट दूध देती थीं, जिनसे पृथ्वी पर दूध की धारायें बहती थी। सभी के घर में अतिथि-पूजा होती थी। परदेशों में जाने वाले पथिक भोजन बाँध कर नहीं चलते थे, क्योंकि जहाँ वे जाते थे, वहीं उनका स्वागत सत्कार होता था। खाने-पीने का उन्हें कोई कष्ट न होता था। वे किसी से पीने को पानी माँगते, तो उन्हें उसके स्थान में सुन्दर मिश्री मिश्रित दुग्ध मिलता था। इसी प्रकार धर्मराज का शासन रामराज्य के समान हो गया। द्वापर में भी उन्होंने सत्युग बना दिया।

अब तो सब कार्य हो गये। भगवान् फिर द्वारिका चलने को उद्यत हुए। अब धर्मराज क्या कहते, द्वारिका में भी तो कार्य है। यह बात फिर महलों में फैल गई कि श्यामसुन्दर अब जाना चाहते हैं। तब तो भगवान् की बहिन सुभद्रा अपनी विधवा पुत्रवधू को पीछे करके उनके सामने आँसू बहाती हुई आकर खड़ी हो गई। उनके शरीर की आड़ में लजाती हुई

नीचे मुँह किये हुए उत्तरा खड़ी थी भगवान् ने कहा—'सुभ क्या कुछ कहना है ?"

रोती हुई बहिन बोली—मैंने सुना है, तुम द्वारिका जा चाहते हो ?"

हँसते हुए भगवान् बोले—तेरी क्या इच्छा है ? सदा यहं बना रहूँ ? देख बहिन, बहुत दिन रहने में प्रेम नही रहता। 'एक दिन का मिहमान, दूसरे दिन का सहमान और तीसरे दिन क असल बेईमान।' अब बहुत दिन हो गये। वहाँ भी तो काम धन्धा देखना है।"

रोती हुई सुभद्रा बोली—"भैया, तुम तो हँसी करते हो। हमारा और सहारा कौन है ? भैया, तुम्हारे ही सहारे से हम जी रहे है। मेरा अभिमन्यु जबसे मुझे छोड़कर चला गया, तबसे मुझसे संसार सूना ही सूना दीखता है। इस छोटी सी बहू का ही मुँह देखकर मैं जी रही हूँ। इसकी रक्षा करना भैया! तुम किसी तरह।"

भगवान् बोले—"अरे सुभद्रा, तू तो बड़ी पगली है। तेरा अकेला ही लड़का मरा है ? इस युद्ध में कौन बचा है। गांधारी के तो सौ पुत्र मारे गये। द्रौपदी के पाँचो पुत्र मर गये। यह सब पर ही बीती है। फिर तू इतनी अधीर क्यों होती है ? इस तेरी बहू के गर्भ से ऐसा राजर्षि पुत्र उत्पन्न होगा, कि तुम्हारे समस्त कुल को पवित्र कर देगा। मैं वहाँ का काम-काज करके फिर आऊँगा। अब तो मेरा आना जाना लगा ही रहेगा। इस प्रकार भगवान् ने सुभद्रा को अनेक प्रकार से समझा बुझा कर महलों मे जाने को कह दिया। वह अपनी बहू के

आप रोती हुई भगवान् को प्रणाम करके चली गई। बात की बात में सम्पूर्ण महलों में यह समाचार फैल गया। सत्यवती, कुन्ती, द्रौपदी, गांधारी सभी इस समाचार से अत्यन्त ही दुखी हुईं। नगर में भी यह बात वायु वेग की भाँति फैल गई, कि अब भगवान् द्वारिका जाने वाले हैं।

छप्पय

जावेंगे यदुनाथ बात फैली घर-घर में।
व्याप्यो सब थल शोक राज्य रनिवास नगर में॥
सब ही कहने लगे "कृष्ण कब दर्शन देंगे।
अब फल पुण्य पराग पाद पद्मनि को लेंगे॥
नरतनु फल है नयन ये, नन्दनन्दन निरख्यो करें।
काज करें कर कृष्ण के, मनमोहन मन कूँ हरें॥"

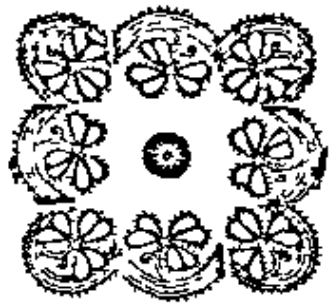

भगवान् का द्वारका गमन

(१६)

सत्संगान्मुक्तदुःसङ्गो ह्रातुं नोत्सहते बुधः।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥
तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम्।
दर्शनस्पर्शसंलापशयनासनभोजनैः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १० अ० ११, १२, श्लो०)

छप्पय

दुखित भये नर नारि नयन ते नीर बहावें।
नाथ अनाथ बनाय बिलखते तजि घर जावें॥
हाय विधाता बाम श्याम को साथ छुड़ावे।
हमकूँ कुटिल कराल काल क्यों करि नहिं आवे॥
भोजन, भाषण, शयन में साथ, श्याम के सब रहे।
पांडव पालित प्रेम के, प्रभु वियोग कैसे सहें॥

विधि का बलवान विधान अनिवार्य न होता, तो कौन अपने प्रियतम से पृथक् होने की इच्छा करता। किन्तु विधाता ने संयोग के साथ ही वियोग को बाँध दिया है। जन्म के साथ

* कोई भी बुद्धिमान पुरुष जिसका सत्संग के द्वारा दुःसंग नष्ट हो गया है, वह उस सत्संग को छोड़ने की इच्छा नहीं करता। फिर जिन

पीछे ही मृत्यु सटी हुई है और सुख के साथ ही दुःख जुटा है। इसलिये प्राणी सभी कर्म करने में विवश है। जब जीव गर्भ में रहता है तभी जाति कर्म, आयु, विद्या और मृत्यु—ये सब पहिले से ही—पूर्व कर्मानुसार—निर्माण हो जाते हैं। उन्हीं के अनुसार प्राणी इच्छा न होने पर भी कार्यों में प्रवृत्त होता है।

भगवान् को बहुत दिन हो गये, पांडव उनमें ऐसे घुल-मिल गये कि उनमें और भगवान् में कोई भेद भाव ही न रहा। वे भी अपने को छः भाई समझने लगे और सब लोग भी पाँचों पाण्डव छठे नारायण की जय ! कहकर जय घोष करते थे। वे इस बात को भूल ही गये, कि भगवान् को द्वारिका भी जाना है। उन्हें अनुभव होने लगा कि भगवान् इसी तरह सदा हमारे बीच में रहेंगे, किन्तु अब वियोग का समय आ गया। भगवान् ने धर्मराज से कहा—"राजन् ! मेरा मन तो नहीं चाहता कि तुम्हें छोड़कर कहीं जाऊँ, किन्तु करूँ क्या, वहाँ द्वारका में भी सब लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, अतः मुझे जाने की आज्ञा दीजिये अब बहुत दिन हो गये।" इतना सुनते ही धर्मराज का हृदय भर आया, कण्ठ गद्गद

भगवान् का कीर्त्यमान मनोरम यश जिसने एक बार भी सुन लिया है, वह उसे कैसे छोड़ सकता है। उन्ही पुण्य यश वाले प्रभु के पादपद्मों मे जिन्होने अपना चित्त निरन्तर लगा दिया हैं। जिसका मन उन्ही के दर्शन, स्पर्श संभाषण मे गला है, जो उन्ही के साथ साथ खाते पीते तथा उठते बैठते और शयन करते हैं, वे पांडव भगवान् के वियोग को कैसे सह सकते हैं।

हो गया। वे कुछ कहने में भी समर्थ नहीं हुए। अब कब तक रोकते ? भगवान् को द्वारावती जाना ही है, अतः धर्मराज उनकी विदाई का प्रबन्ध करने लगे। जैसे समुद्र में पर्व के दिन ज्वार भाटा आता है उसी प्रकार समस्त हस्तिनापुर में हलचल मच गई। सभी के नेत्र अश्रुपूर्ण थे, सभी भगवान् के वियोगजन्य दुःख से दुखी थे। भगवान् की आज्ञा से सारथी रथ तैयार करके द्वार पर ले आये।

व्यासजी, कृपाचार्य, पुरोहित धौम्य तथा अन्य वेदज्ञ ब्राह्मणों ने भगवान् का स्वस्त्ययन किया। वस्त्र, आभूषण और सुगन्धित मालाओं से सुसज्जित श्रीनिवास भगवान् के विशाल भव्य मस्तक पर पुरोहित धौम्य ने कुंकुम से श्री बनाई, उसमें केशर से रँगे अक्षत लगे थे, दही दुर्वा, लाजा खील से उनको-उनके शिर को-अलंकृत किया। डबडबाई आँखों से, ऊपर से मन्द-मन्द मुस्कुराते, पान चबाते, श्यामसुन्दर भवन से निकल कर बाहर हुए। सभी ब्राह्मणों ने पांडवों तथा बन्धु बांधव, मन्त्री और अमात्य और प्रजाजनों ने उनका अनुगमन किया। रत्नखचित प्रांगण में आकर भगवान् ने झुककर महाराज युधिष्ठिर के चरण स्पर्श करने चाहे बीच में ही झपट कर धर्मराज ने दोनों विशाल बाहु फैलाकर भगवान् को अपनी छाती से चिपटा लिया। जिस वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह है और कौस्तुभमणि शोभा दे रही है, भगवान् के उस विशाल वक्षःस्थल को धर्मराज ने अपने वक्षःस्थल से लगाकर गाढ़ आलिंगन किया। वे बहुत देर तक श्यामसुन्दर को अपनी छाती से लगाकर अपना ताप सन्ताप मिटाते रहे। आँखों से निकले हुए अश्रुओं ने श्यामसुन्दर के सिर के—उनके काले-काले घुंघराले—बालों को भिगो दिया। धर्मराज के नेत्रों से

निकले हुए प्रेमाश्रु उन कुटिल काले बालों में ऐसे प्रतीत होने लगे, मानों किसी ने मोती पिरो दिये हों।

इसके अनन्तर भीमसेन को भी भगवान् ने प्रणाम किया, अर्जुन को गले से लगाया। नकुल सहदेव ने आकर भगवान् के चरण छुए। उन्हें स्नेह से अपने चरणों में उठाकर भगवान् ने आशीर्वाद दिया और आलिंगन करके कहने लगे—"देखो, धर्मराज की प्रत्येक आज्ञा का बड़ी सावधानी से तुम सब लोग पालन करना। सब लोग पृथ्वी की ओर देखते हुए अश्रु बहा रहे थे। इसके अनन्तर और भी प्रजाजनों ने

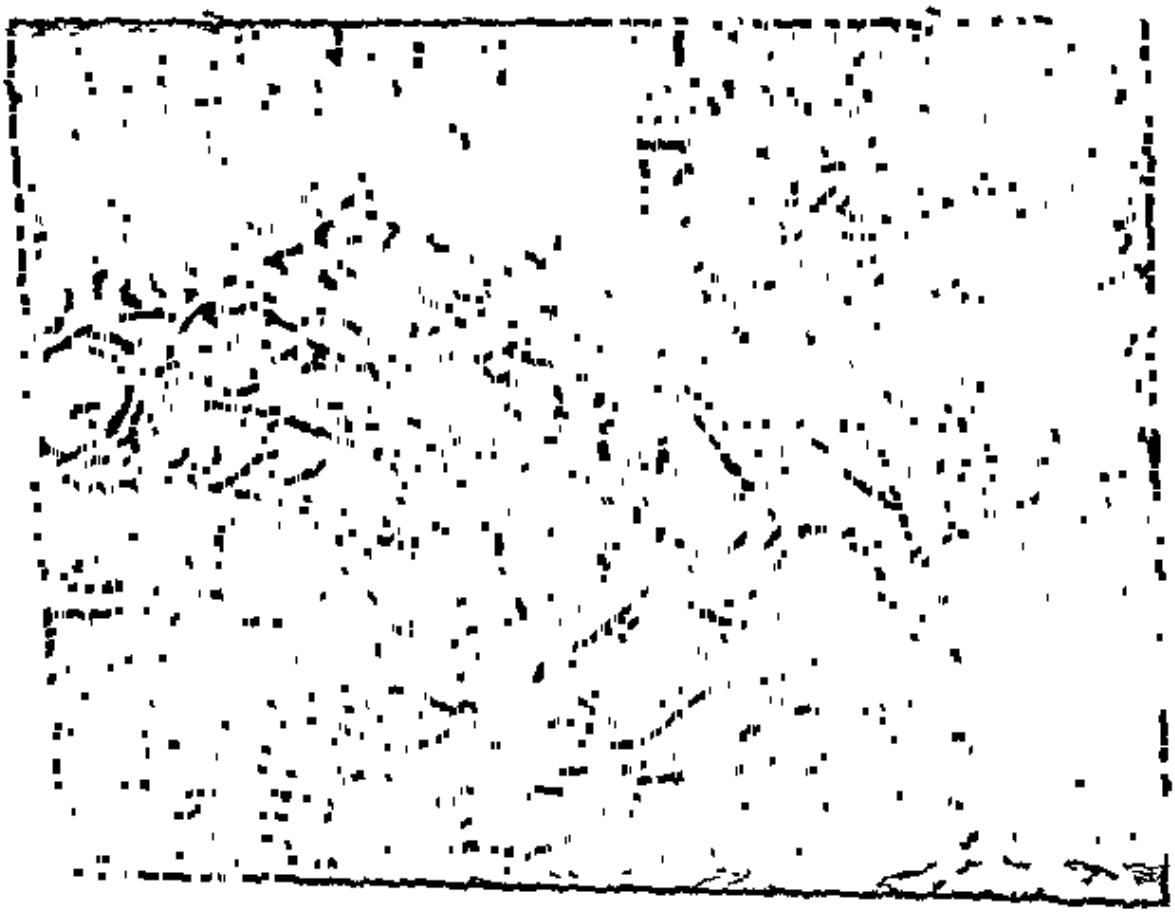

भगवान् को यथोचित प्रणाम नमस्कार किया, ब्राह्मणों को उन्होंने स्वयं प्रणाम किया।' उत्तर में वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उन्हें भाँति-भाँति के आशीर्वाद दिये। तब महलों में भगवान्

अपनी बुआ के पास गये। वृद्धावस्था के कारण पलंग प
पड़ी हुई अपनी बुआ के भगवान् ने पैर पकड़े। शीघ्रता से
उठकर उन्होंने भगवान् को उसी तरह प्यार किया,जैसे गौ अपने
बछड़े को प्यार करती है। कुन्ती ने भगवान् के सिर पर हाथ
फेरा और रोती हुई बोलीं—"क्या वासुदेव ! अब तुम
जाओगे ही ?" भगवान् भरराये हुए कंठ से कहने लगे—"हाँ
बुआजी, अब तो जाते ही है, फिर आऊँगा।' इतने में ही
सत्यवती जी भी आ गईं, सुभद्रा के कंधे पर हाथ रखे हुए—
आँखों मे पट्टी बाँधे—गांधारी ने भी प्रवेश किया। उनके पीछे
घूँघट से अपना मुँह ढके उत्तरा भी आ रही थी। पांडवो
की अन्य स्त्रियाँ भी द्रौपदी को आगे करके भगवान् के समीप
आईं। सबके नेत्र लाल थे और वे आँसूओं से उसी प्रकार
भरे थे, जैसे अधिक ओस पड़ने से कमल की कलियाँ ओस से
भर जाती हैं। गांधारी ने अपने काँपते हुए हाथों से टटोल कर
भगवान् के श्रीअङ्ग पर हाथ रखते हुए कहा—"जनार्दन !
पुत्र-शोक से दुखी होकर, मैंने जो कुछ अनुचित कह दिया
हो उसे आप मन में न लायें, भूल जायें, क्योंकि वासुदेव !
मैं तो तुम्हारी माया से मोहित अज्ञा स्त्री ही ठहरी।"

भगवान् ने अत्यन्त ही स्नेह से कहा—"यह आप कैसी
बातें कह रहीं हैं ? आप मेरी हर प्रकार से पूज्या हैं। बच्चों से
कहीं क्षमा माँगी जाती है ? जैसे युधिष्ठिर आपके बच्चे हैं
वैसा ही मैं हूँ। आप मुझे दूसरा समझ कर ऐसी बातें क्यों
कह रही हैं ?"

इतने में ही प्रेम-कोप में भरी हुई द्रौपदी जी ने कहा—
"आप दूसरे तो हैं ही। अपने होते तो हमें ऐसे छोड़ कर क्यों
चले जाते ? आपके लिये हम दूसरे, हमारे लिये आप दूसरे।'

भगवान् हँसे और बोले—"सम्राट् की पत्नी सम्राज्ञी, भले ही हमें दूसरा समझें, हम तो उनकी प्रजा ही ठहरे।

और कुपित होकर द्रौपदीजी बोलीं—"रहने दो चलो। तुम्हें हर समय हँसी ही सूझती है। क्या सचमुच जा रहे हो ? देखो आज शकुन भी ठीक नहीं, दिन भी अच्छा नही है।

भगवान् बोले—सब शकुन शुभ है, दिन भी बड़ा मङ्गल-मय है। अब तुम मुझे प्रेमपूर्वक अनुमति ही दो।

सुभद्रा आगे बढ़ कर भगवान् से लिपट गई और रोने लगी। भगवान् बोले—"अरे सुभद्रा ! तेरा अभी लड़कपन नहीं गया। जाते समय रोना चाहिये कि अपने भाई को प्रेम पूर्वक प्रसन्नता से विदा करना चाहिये ?

इतने में ही आगे बढकर अपने वस्त्रों को सावधानी से समेट कर घुटने टेक कर. सिर को पृथ्वी में लगाकर, हाथ जोड़ कर, उत्तरा ने भगवान् को प्रणाम किया। भगवान् आशी-र्वाद देते हुए कहने लगे—"बेटो ! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करना। तुम्हारे गर्भ से भरत वंश की कीर्ति को फैलाने वाला परम भागवत राजर्षि पुत्र होगा।

इस प्रकार सभी को समझा बुझा कर सभी को संतोष करके, सबको यथोयोग्य प्रणाम नमस्कार, आशीर्वाद और प्यार करके भगवान् चले। महल के दरवाजे तक सभी स्त्रियाँ उनके पीछे-पीछे आईं। द्वार के बाहर तो सबके सामने आर्य ललनायें जा नहीं सकतीं। अतः वहीं से—दरवाजे और खिड़कियों के सामने खड़ी होकर—भगवान् के रथ को देखने लगी।

पांडवों की तो बुरी दशा थी। उनका हृदय विकीर्ण हो रहा था। वे भगवान् की ओर देख भी नही सकते थे। बार-बार पोंछने पर भी नेत्र अश्रुओं से भरे हुए ही प्रतीत होते थे। कोई इधर से उधर आ रहा था, कोई इधर से उधर जा रहा था। इस प्रकार सम्पूर्ण नगर वासी भगवान् की यात्रा में व्यग्र हो रहे थे। धर्मराज ने बड़ी व्यग्रता के साथ कहा—"भीम सेनापति से कहो, चतुरङ्गिणी सेना सजावें।"

हँसते हुए वासुदेव ने पूछा—',क्यों, सेना सजाने का क्या प्रयोजन है ? क्या कोई अब शत्रु शेष रह गया ? क्या किसी पर फिर चढ़ाई करनी है ? "

धर्मराज सरलता के साथ बोले—"चढ़ाई अब किस पर करनी है, आपके साथ सेना जायगी।"

हँसते हुए मदनमोहन बोले—"मेरे साथ सेना का क्या काम ? मैंने रास्ता नही देखा है क्या ?"

अत्यन्त ही प्रेम के वेग में माधुर्य्य मिश्रित वाणी से धर्मराज बोले—"देखो, वासुदेव ! आपको मेरी यह बात माननी पड़ेगी। अकेले मैं आपको नहीं जाने दूँगा। अभी अभी विश्वव्यापी संग्राम हो चुका है। सभी राजाओं से हमने शत्रुता कर ली है। जिन राजाओं के सम्बन्धियों को हमने संग्राम में मारा है, वे हमारा समय पाकर अनिष्ट भी कर सकते हैं। यदि आपका किसी ने कुछ भी अप्रिय कार्य व्यर्थ है।"

ऋषियो ! इसी का नाम है—माधुर्य, माधुर्य में ऐश्वर्य की महत्ता की गंध भी नही रहती। चराचर के निग्रह अनुग्रह में

समर्थ सर्वान्तर्यामी वासुदेव की रक्षा सेना कर सकेगी ? जिनके भृकुटि विलास से सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि कार्य स्वतः ही होते रहते हैं, उनका अनिष्ट ये पृथ्वी के क्षुद्र प्राणी कर सकते हैं ? किन्तु माधुर्य्य में तो अपना इष्ट अपने अधीन है। उसके पालन पोषण का भार तो अपने ही ऊपर है। माधुर्य्य में तो इष्ट अपने ही समान गुणवाला आहार, निद्रा, भय वाला बन जाता है। अतः धर्मराज का यह कार्य उचित ही था। उनकी इस बात को सुनकर वासुदेव बोले—"अच्छी बात है। हाँ, चतुरंगिनी सेना चले साथ।"

देवकीनन्दन की अनुमति पाकर बात की बात में सेनातैयार हो गई। वर्षाकालीन मेघ के समान उमड़ती हुई सेना ने अपने भीषण कलरव के द्वारा हस्तिनापुर में शरद्काल में भी वर्षा की दृश्य उपस्थित कर दिया। अब भगवान् की सवारी चली। आज अर्जुन स्वयं रथ हाँकने बैठ गये आज रथी सारथि रथी। और सारथि रथी। कौरव कुल की कामिनियों जो झरोखों से झाँक रही थी, उनका हृदय फटने लगा। उमड़ते हुए आँसुओं को उन्होंने बड़ी कठिनता से भीतर ही भीतर पी लिया, कि कहीं यात्रा के समय अश्रु विमोचन करने से रास्ते में देवकीनन्दन का कुछ अनिष्ट न हो।

रथ के आगे-आगे मृदंग, वीणा, शंख, मेरी, गोमुख धुन्धरी, आनक, घन्टा और दुन्दुभी आदि बाजे बजने लगे। अनेक लय और स्वरों के सहित बाजा बजाने वाले वाद्यों को बजाने लगे। भगवान के पीछे -पीछे और सभी लोग अपने अपने वाहनों पर उनका अनुगमन कर रहे थे। प्रजा के लोग पैदल ही प्रभु के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। धर्मराज ने आज

पांडवों की तो बुरी दशा थी। उनका हृदय विकीर्ण हो रहा था। वे भगवान् की ओर देख भी नहीं सकते थे। बार-बार पोछने पर भी नेत्र अश्रुओं से भरे हुए ही प्रतीत होते थे। कोई इधर से उधर आ रहा था, कोई इधर से उधर जा रहा था। इस प्रकार सम्पूर्ण नगर वासी भगवान् की यात्रा में व्यग्र हो रहे थे। धर्मराज ने बड़ी व्यग्रता के साथ कहा—"भीम सेनापति से कहो, चतुरङ्गिणी सेना सजावें।"

हँसते हुए वासुदेव ने पूछा—',क्यों, सेना सजाने का क्या प्रयोजन है ? क्या कोई अब शत्रु शेष रह गया ? क्या किसी पर फिर चढ़ाई करनी है ? "

धर्मराज सरलता के साथ बोले—"चढ़ाई अब किस पर करनी है, आपके साथ सेना जायगी।"

हँसते हुए मदनमोहन बोले—"मेरे साथ सेना का क्या काम ? मैंने रास्ता नहीं देखा है क्या ?"

अत्यन्त ही प्रेम के वेग में माधुर्य्य मिश्रित वाणी से धर्मराज बोले—"देखो, वासुदेव ! आपको मेरी यह बात माननी पड़ेगी। अकेले मैं आपको नहीं जाने दूँगा। अभी अभी विश्वव्यापी संग्राम हो चुका है। सभी राजाओं से हमने शत्रुता कर ली है। जिन राजाओं के सम्बन्धियों को हमने संग्राम में मारा है, वे हमारा समय पाकर अनिष्ट भी कर सकते हैं। यदि आपका किसी ने कुछ भी अप्रिय कार्य व्यर्थ है।"

ऋषियो ! इसी का नाम है—माधुर्य, माधुर्य में ऐश्वर्य की महत्ता की गंध भी नहीं रहती। चराचर के निग्रह अनुग्रह में

समर्थ सर्वान्तर्यामी वासुदेव की रक्षा सेना कर सकेगी ? जिनके भृकुटि विलास से सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि कार्य स्वतः ही होते रहते हैं, उनका अनिष्ट ये पृथ्वी के क्षुद्र प्राणी कर सकते हैं ? किन्तु माधुर्य्य में तो अपना इष्ट अपने अधीन है। उसके पालन पोषण का भार तो अपने ही ऊपर है। माधुर्य्य में तो इष्ट अपने ही समान गुणवाला आहार, निद्रा, भय वाला बन जाता है। अतः धर्मराज का यह कार्य उचित ही था। उनकी इस बात को सुनकर वासुदेव बोले—"अच्छी बात है। हाँ, चतुरंगिनी सेना चले साथ।"

देवकीनन्दन की अनुमति पाकर बात की बात में सेनातैयार हो गई। वर्षाकालीन मेघ के समान उमड़ती हुई सेना ने अपने भीषण कलरव के द्वारा हस्तिनापुर में शरद्काल में भी वर्षा की दृश्य उपस्थित कर दिया। अब भगवान् की सवारी चली। आज अर्जुन स्वयं रथ हाँकने बैठ गये आज रथी सारथि रथी। और सारथि रथी। कौरव कुल की कामिनियों जो झरोखों से झाँक रही थीं, उनका हृदय फटने लगा। उमड़ते हुए आँसुओं को उन्होंने बड़ी कठिनता से भीतर ही भीतर पी लिया, कि कहीं यात्रा के समय अश्रु विमोचन करने से रास्ते में देवकीनन्दन का कुछ अनिष्ट न हो।

रथ के आगे-आगे मृदंग, वीणा, शंख, भेरी, गोमुख धुन्धरी, आनक, घन्टा और दुन्दुभी आदि बाजे बजने लगे। अनेक लय और स्वरों के सहित बाजा बजाने वाले वाद्यों को बजाने लगे। भगवान के पीछे-पीछे और सभी लोग अपने अपने वाहनों पर उनका अनुगमन कर रहे थे। प्रजा के लोग पैदल ही प्रभु के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। धर्मरा[illegible]

खुले हुए रथ पर श्यामसुन्दर को बिठाया, जिससे नगर के सभी नर-नारी उनके देव दुर्लभ दर्शनों से वंचित न रह सकें। महलों की अटा अटारी, छज्जे, तिवारी, ओखा मोखा, जारी झरोखों से मृगनयनी, नगर वासिनी नारियाँ नन्दनन्दन की छटा निरख रही थी। हस्तिनापुर की सड़कें बड़ी विस्तृत थी। उनके दोनों ओर धनिकों के एकखने, दुखने, चौखने सतखने भवन बने थे। उनकी सभी खिड़कियाँ खुली थी, उनमें नगर की नारियाँ अपनी अपनी सखी-सहेलियों के साथ बैठी

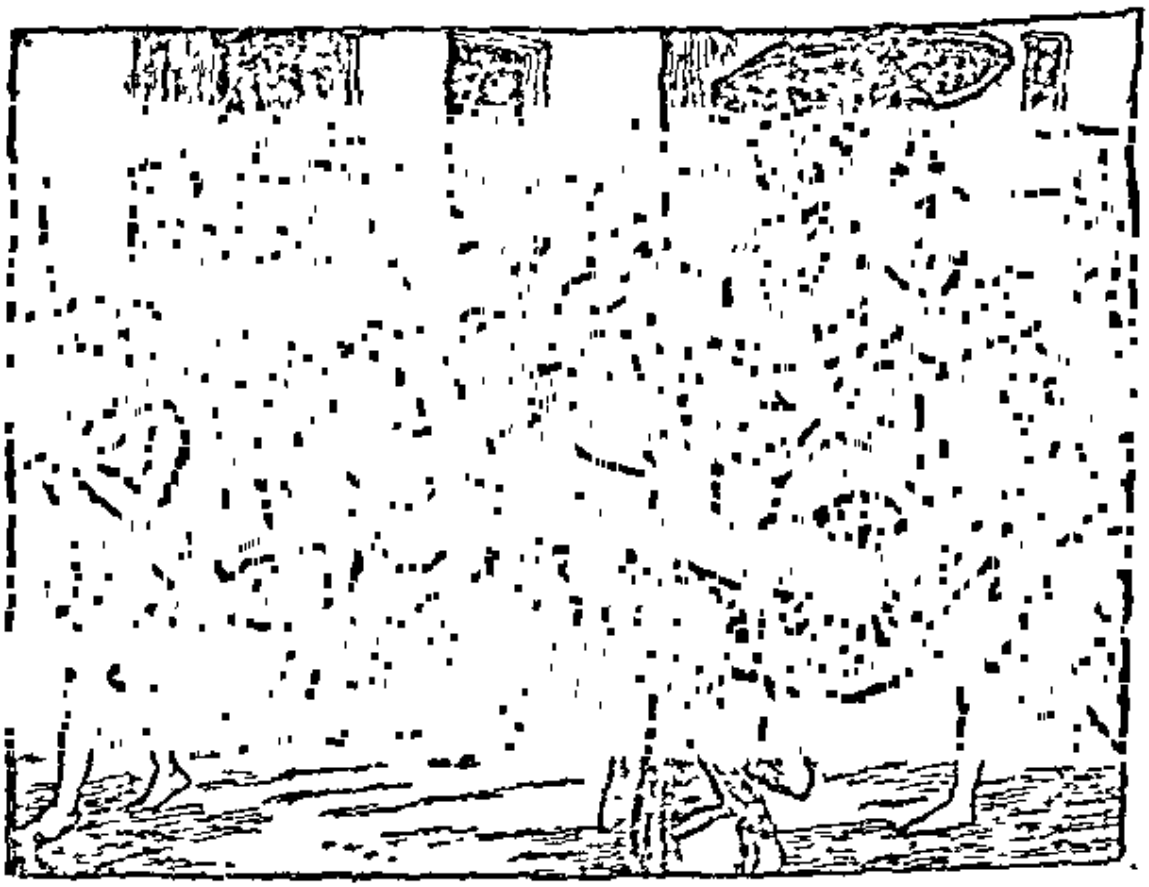

हुई श्यामसुन्दर की सुहावनी सवारी की शोभा देख रही थीं। सड़कें खचाखच भरी थीं, उधर का आदमी इधर निकल नहीं सकता था। सभी उच्च स्वर से श्यामसुन्दर के सुमधुर नामों को लेकर जय घोस और नाम संकीर्तन कर रहे थे।

अश्वारोही अपने-अपने भालों में रङ्ग-विरङ्गी पताकायें लगाये घोड़ों को नचा रहे थे। वायुवेग से ध्वजायें उसी प्रकार हिल रही थीं। जिस प्रकार भगवान् के वियोग में नारियों के कोमल हृदय हिल रहे थे। वे खिड़कियों में बैठी हुई अपने नेत्र तो अश्रुरूपी मोतियों की वर्षा कर रही थी और श्यामसुन्दर को लक्ष्य करके सड़क पर सुगन्धित पुष्पों को बिखेर रही थीं। पुष्पों से भगवान् ढक गये। इतने में ही भगवान् के सारथि ने हाथ जोड़कर अर्जुन से कहा—"महाराज! आप भगवान के समीप ही विराजें। इस भीड़-भाड़ में घोड़े बहुत बिदकते है।" कुन्तीनन्दन अर्जुन ने भी देखा भगवान् को धूप लग रही है और फूल तथा फूलों के गुच्छे आ आकर भगवान् के श्रीअङ्ग में व्यथा पहुँचाते होंगे, यह सोचकर वे झट से भगवान् के समीप आये। मोतियों की मालाओं से सुसज्जित, जिसकी तानों में भी हीरा-मोती जड़े हुए हैं और दण्ड में अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए हैं और ऐसे हंस के पङ्खों के समान शुभ्र श्वेत राजसी छत्र को अर्जुन ने भगवान् पर लगाया, जब अर्जुन छत्र लेकर वासुदेव के पीछे खड़े हो गये, तब एक ओर उद्धव और दूसरी ओर से सात्यकी कृष्ण और श्वेत गङ्गा यमुनी चँवरों को डुलाने लगे। उस समय भगवान् ऐसे प्रतीत होते थे, मानों जल भरे हुए नूतन मेघ के ऊपर सूर्य उगा हो और एक ओर सफेद बादल का टुकड़ा तथा दूसरा ओर कृष्ण बादल उसे घेरे हुए हों। इस प्रकार भगवान की विचित्र सवारी नगर की सभी मुख्य मुख्य सड़कों से होकर आगे बढ़ने लगी।

भगवान के अनुपम सौन्दर्य तथा माधुर्य को देखकर मनोरमायें मुग्ध हो गईं। वे परस्पर में भगवान्

गुणों का वर्णन कर रही थीं। वे सभी मानों वेद की श्रुतियाँ साकर स्वरूप धारण करके, परात्पर प्रभु के गुणगान में लगी हों। उनकी स्तुति बड़ी ही सार गर्भित थी। मुनियो! भगवान विदाई के समय पुराण पुरुषोत्तम प्रभु की जो स्तुति पुरवासिनी नारियों ने की सचमुच ही वह श्रुतियों का सार है। अतः यहाँ उसका विस्तार से वर्णन करने का अवसर नहीं है। यदि उसका अब वर्णन करते हैं तो भगवान को भी रास्ते में खड़े खड़े कष्ट होगा और हमारी कथा का प्रवाह भी रुक जायगा। द्वारका शीघ्र पहुँचने की जो उत्कंठा है, वह भी पूरी न होगी। अतः उस स्तुति का वर्णन प्रसंगानुसार फिर ही किया जायगा अब तो सरलता के साथ सवारी के साथ-साथ इधर-उधर विहङ्गम दृष्टि डालते हुए चलें। वे हस्तिनापुर की नगर नारियाँ नगर नन्दनन्दन की उन प्रिय पत्नियों की प्रशंसा कर रही थीं जिन्हें पुरुषोत्तम की प्रेयसी होने का देव-दुर्लभ पद प्राप्त हुआ है वे परस्पर में कह रही थी—"सखियो! श्यामसुन्दर का कैसा त्रैलोक्य मोहन रूप है! इनका कैसा अद्भुत सौन्दर्य माधुर्य है। सखियों! वे स्त्रियाँ धन्य हैं, जिनका पाणिग्रहण करके वासुदेव ने अग्नि प्रदक्षिणा की होगी। हाँ? उनके सौभाग्य की सराहना शेष भी अपने सहस्र फणों से सृष्टि के अनन्तकाल तक नहीं कर सकते। वे भाग्यशालिनी बहिनें, इन श्यामसुन्दर के अरुण वर्ण के चिकने चरणों को अपने कर कमलों से धोती होंगी और उस त्रैलोक्य पावन पय का प्रेम पूर्वक पान करती होंगी। इनके इन काले-काले घुँघराले बालों में सुगन्धित तेल डालती होंगी। सुन्दर अंगराग इनके श्रीअङ्ग में लगाती होंगी। अनेक औषधियों से युक्त निर्मल जल से स्नान कराती होंगी उनकी ओर ये जब मंद मंद मुस्कुराकर उनका मान रखते होंगे,

तब वे अपने जीवन को धन्य-धन्य समझती होंगी। हाँ! ऐसा सौभाग्य किस तपस्या से, किस व्रत से, किस नियम से, किस संयम से किस अनुष्ठान से प्राप्त हो सकता है। स्त्री जाति को एक तो वैसे ही स्मृतिकारों ने हेय माना है। फिर उसका भी पाला किसी प्रेम हीन पुरुष से पड़ जाय, तो कहना ही क्या? उसकी दुर्दशा ही है, किन्तु इन कृष्णपत्नियों ने तो स्त्री जाति का मुख उज्ज्वल कर दिया है। जिस स्त्री ने अपना सर्वस्व नन्दनन्दन को अर्पण कर दिया, जिनका सम्बन्ध श्यामसुन्दर के साथ हो गया, जिन्होंने अपना सुहृद्, सम्बन्धी सर्वेश्वर श्रीकृष्ण को समझ लिया, वे तो त्रैलोक्य में पूजित, ब्रह्मादि देवताओं द्वारा वन्दित बन गईं। स्त्री शरीर से यही एक सुकृत बन सकता है; कि वह स्वयं भगवान की भक्ति करे और भगवद् भक्त पुत्र पैदा करे। नहीं तो स्त्रियों को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त क्लेश ही क्लेश है। यदि पति रूप परमात्मा में प्रेम हुआ, यदि भगवत् भक्त पुत्र हुआ, यदि हृदय में भक्ति रस का सचार हुआ, तब तो स्त्री जन्म सार्थक है नहीं निरर्थक तो है ही। इस प्रकार रथ के शनैःशनैः चलने के कारण श्यामसुन्दर भी सुन्दरियों के इन सवादों को सुनते जाते थे और बीच बीच में मन्द-मन्द मुस्कराते हुए, उनकी ओर देखते भी जाते थे। जिधर ही भगवान् की दृष्टि उठती, उधर ही उन्हें कंकण और नूपुरों की खनखनाहट के साथ पुष्पों की होती हुई वर्षा दिखाई देती। उस समय समस्त आखे, मोखे, जालो झरोखों से शब्द सुनाई देने के कारण नगर के सभी भवन सजीव से दिखाई देते थे। मानों मूर्तिमान् नगर साकार शरीर धारण करके श्यामसुन्दर का सहस्रों कण्ठों से वाद्यों के सहित गुणगान कर रहा हो। इधर तो स्त्रियाँ गीत गा रही थीं। उधर वेदज्ञ ब्राह्मण

देश वासियों ने जब सुना, कि भगवान् आ रहे हैं, तो अपने-अपने हाथों में अनेक प्रकार के उपहार लिये हुए भगवान् के सम्मुख आये। इतनी दूर चलने के कारण सभी घोड़े वाहन थक गये थे। सारथि और सैनिक भी शिथिल हो गये थे। भगवान् भुवनभास्कर भी अस्ताचल में प्रस्थान करने को प्रस्तुत थे। उसी समय सन्ध्यावन्दन करने के लिये वसुदेवनन्दन द्वारकापुरी के निकट ही ठहर गये।

छप्पय

नयन नीर तें धूरि कीच भइ चली सवारी।
पीछे पुरजन पांडु पुत्र अति चले दुखारी॥
साग्रह सब लौटाइ सैन सँग श्याम सिधारे।
पथ के नृप नर-नारि निरखि अति भये सुखारे॥
पद रज तें पावन करत, देश नगर, पुर वन बिकट।
पहुँचे प्रभु सन्ध्या समय, दिव्य द्वारिका के निकट॥

द्वारावती में स्वागत की धूमधाम

(३४)

यर्ह्यम्बुजाक्षापसमार भो भवान् ।
कुरून्मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया ॥
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद् ।
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाऽच्युत॥*

(श्री भा० १ स्क० ११ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

पाञ्चजन्य को शब्द सुन्यो अति भये सुखारे ।
स्वागत को सामान सजायो सर्वहि सिधारे ॥
नगर द्वार गृह द्वार मार्ग सब सुघड़ सजाये ।
दधि, अक्षत फल लाइ, सजल घट दीप जराये ॥
रथ में शोभित श्याम सिर, छत्र श्वेत माला गले ।
नयन सफल सबके करत, हरत चित्त चितवत चले ॥

अपना प्रेमास्पद चिरकाल में कहीं से आता है तो हृदय में हर्ष की एक बाढ़ सी आ जाती है चित्त चाहता है, इसे आखों से पी जायें। हृदय चाहता है, इसे अपने में मिला लें। मन

* भगवान् को चिरकाल में लौटा हुआ देखकर पुरवासी कह रहे हैं—"हे कमलनयन ! जब आप अपने आत्मीय बन्धुओं से मिलने

मे आती है, रास्ते मे अपने पलकों के पांवड़े बिछादें, जिस पर प्रियतम के पाद-पद्म पड़ें। शरीर चाहता है इसे लिपटा कर एक कर लें। उस समय एक विचित्र ही दशा होती है, जो मानवीय भाषा मे वर्णन नही की जा सकती।

आनर्त देश की सीमा पर पहुँचकर प्रभु ने अपना पाञ्चजन्य नाम का यशस्वी शंख बजाया। उस समय प्रभु की शोभा अतुलनीय थी। कोमल-कोमल कमल के सदृश सुहावने, चिकने मृदु लाल-लाल युगल करों में उठाकर बिम्बाफल के समान अरुण अधरों पर रखकर उस दुग्ध के फेन के समान स्वेत पंख में फूँक मारी। फूँक मारते ही वह बोलने लगा। उस समय ऐसा प्रतीत होता था, मानो खिले हुए अरुण कमल पर बैठा हुआ राजहंस शब्द कर रहा हो। समस्त आनर्त देश के नरनारी पाञ्चजन्य के शब्द से परिचित ही थे। सुनते ही समझ गये कि श्यामसुन्दर आ गये। शंख के शब्द को सुनते ही सभी उसी प्रकार भगवान् की ओर दौड़े जैसे छोटे-छोटे बच्चे विदेश से अपने पिता को आते हुए देखकर उसकी गोदी मे दौड़ते हैं। गङ्गाजी के समीप पहुँच कर हम अपना भक्ति भाव दिखाने के लिये उन्हीं का जल लेकर "गङ्गाजी को नमस्कार है, यह हमारा पाद्य ग्रहण करो" ऐसा कह कर गङ्गाजल से ही पाद्य देते हैं। आचमन, स्नान के लिये जल देते

हस्तिनापुर अथवा मथुराजी चले जाते हैं, तब आपके बिना हमारा एक-एक क्षण कोटि-कोटि वर्षों के बराबर व्यतीत होता है। क्योंकि हे अच्युत! जैसे नेत्रों के रहते हुए भी यदि सूर्य न हों, तो वे व्यर्थ ही है। उनसे कोई काम नही हो सकता। उसी प्रकार आपके बिना हम द्वारावती मे रहते हुए भी बेकाम से बने रहते हैं।

हैं। सूर्य देव की पूजा करते समय त्रैलोक्य के प्रकाशदाता को हम दीपक दिखाते हैं। यद्यपि ये बातें हास्यास्पद है। चुल्लू भर गङ्गाजल से ही गङ्गाजी को जल पिलाने से क्या उनकी प्यास बुझ जायगी ? क्या विश्व के प्रकाशक सविता को क्षुद्र दीपक प्रकाशित कर सकेगा, किन्तु हम अपनी भक्ति भी तो किसी प्रकार प्रकाशित करें। इसी प्रकार प्रजाजन भी उन सम्पूर्ण सामग्रियों के स्वामी, अपनी आत्मा मे ही रमण करने वाले सर्वथा परिपूर्ण भगवान् वासुदेव के लिये, फल-फूल तथा अन्य प्रकार के और भी उपहार भेंट कर रहे थे। उन सब ने अपनी भक्ति दर्शाते हुए भगवान् की स्तुति की।

वे सब श्याम सुन्दर को ही अपना माता, पिता सुहृद, सखा, स्वामी सद्गुरू और एक मात्र देव समझते थे। उन प्रजाजनों के लिये जगत् के सभी सम्बन्ध देवकीनन्दन के ही सम्बन्ध से थे। उनके एक मात्र आश्रय भगवान् वासुदेव ही थे। बड़े ही स्नेह से अपने हृदयवल्लभ, परमधन, द्वारकाधीश के सम्मुख आकर कहने लगे—"प्रभो ! आप आ गये, बड़ा मङ्गल हुआ। हम सब प्रतिक्षण आपकी प्रतीक्षा करते थे। जिन चरणारविन्दों में पितामह ब्रह्मा, दक्षादि प्रजापति सनकादि योगीन्द्र, देवराज इन्द्र तथा अन्य सभी लोकपाल नत मस्तक होकर अपने मुकुटों की मणियों से आपके अरुण नखों को प्रकाशित करते हुए प्रणाम करते हैं, आज उन्हीं पाद पद्मों में प्रणाम करके हम सब कृत-कृत्य हो गये। हे अशरण शरण ! आप ही हमारी शरण है। आप ही हमारे सर्वस्व हैं। हम अपने को देवताओं से भी श्रेष्ठ समझते है, क्योंकि देवताओं को तो आपके चरणारविन्दों के दर्शन कभी-कभी ही होते

हैं और हम सब जब आप द्वारका में निवास करते हैं तो नित्य ही दर्शन करके अपने नयनों को सफल करते हैं।"

इस प्रकार प्रजा के लोगों की स्तुति सुनकर यादवेन्द्र मुस्कुराये और जैसे पिता पुत्र के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार प्रगाढ़ प्रेम प्रदर्शित करके उन्होंने उन सबका अभिनन्दन किया, सभी को सभी प्रकार से सांत्वना दी। अब भगवान् ने अपनी उस प्यारी पुरी द्वारावती में प्रवेश करने का विचार किया, जिसकी उपमा चौदह भुवन की पुरियों में से किसी की नहीं दी जा सकती। द्वारका एक तो वैसे ही चारों ओर से समुद्र से सुन्दर सलिल से घिरी हुई थी। वह समुद्र के बीच में ऐसी दिखाई देती थी, जैसी सृष्टि के आदि में सलिल में पड़ा हुआ हिरण्यमय ब्रह्माण्ड। वह सभी सुवर्ण की बनी हुई थी। देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा ने अपनी समस्त कारीगरी का कौशल इसमें प्रदर्शित किया था। दस योजन में बसी हुई वह पुरी अमरावती से भी बढ़कर थी उसके सभी भवन सुवर्ण मय थे। चारों ओर सुवर्ण और मणियों से चित्रित परकोटा था। उसमें भगवान् के वंश के बड़े-बड़े बली और सभी समृद्धियों से सम्पन्न माथ, भोज, दाशार्ह, कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशी यादवों के पृथक-पृथक समूह सुखपूर्वक निवास करते थे। समुद्र के ऊपर जाने आने के लिये ऐसा विचित्र पुल था, जिसे जब चाहें हटा लें, जब चाहें लगादें। उस पुल को पार करके एक बड़ा भारी गोपुर था। वह दूर से ऐसा प्रतीत होता था, मानों सुवर्ण का सुमेरु पर्वत खड़ा हो सुवर्ण के बीच बीच में स्फटिक पद्मराग आदि मणियों की विचित्र कारीगरी की गई थी। वे मणियाँ अन्धकार में भी ऐसी दिखाई देती थीं, मानों आकाश में एक साथ सैकड़ों सूर्य्य और

चन्द्रमा उदित हो गये हों। उसका बड़ा फाटक मतवाले हाथियों के मस्तकों के प्रहार से भी नहीं हिलता था। गोपुर (मुख्य द्वार) से एक बहुत विस्तृत राजपथ था, जिसके चारों ओर चन्दन, मौलश्री अशोक, पारिजात आदि के दिव्य सुगन्धित पुष्प लगे हुए थे, जिनकी सुवास योजनों तक वायु के साथ-साथ दौड़ जाती। राजपथ के अलग:बगल बीच-बीच में ऐसे उत्तम उद्यान थे, जिसमें सभी ऋतुओं के फल सदा ही फले रहते थे। कोई चाहो तोड़कर खाओ। किसी प्रकार की रोक टोक नहीं थी। सभी वृष्णिवंशी वीरों के महलों के सामने छोटे-छोटे उपवन थे। उनमें भाँति-भाँति के स्वर्ग से लाकर पुष्पों के वृक्ष लगाये गये थे। सुवर्ण की दण्डियों से छोटे-छोटे दरवाजे बनाकर उन पर लतायें चढ़ाई गई थी। सघन फूली हुए लताओं के कारण वे कमनीय कुंजें, कामदेव की क्रीड़ा-स्थली सी ही प्रतीत होती थीं। ऐसा कोई भवन नहीं था, जिनके आगे उत्तम उपवन न हो नगर के बाहर बड़े-बड़े आराम थे, जिनमें हरी-हरी दूब ऐसी प्रतीत होती थी,मानों हरी मखमल का गुदगुदा गलीचा बिछा हो। उनमें यदुवंशी बालक वृद्ध युवा आ आकर क्रीड़ायें किया करते थे। कुछ आराम पुरुषों की क्रीड़ा के थे, कुछ कामिनियों के आमोद प्रमोद के लिए सुरक्षित थे। उनमें पुरुषों का प्रवेश निषिद्ध था। कुछ ऐसे भी आराम थे, जिनमें स्त्री-पुरुष साथ-साथ विहार करते थे। आरामों के बीच-बीच में छोटे-छोटे सरोवर थे, जिनमें सब ऋतुओं के, सब जाति के कमल खिल रहे थे। हंस, सारस, चक्रवाक, जलकुक्कट आदि जलपक्षी विहार कर रहे थे। सर्वत्र सुगन्धि फैली हुई थी। फलों की कमी नहीं थी। पुष्प पृथ्वी पर पड़े हुए थे जिनसे पृथ्वी भी सुगन्धित हो गई थी।

ऐसी समृद्धिशालिनी पुरी में यदुवंशी बड़े सुख से दिन व्यतीत कर रहे थे। उन्हें सभी प्रकार के सुख थे। किसी भी वस्तु का उन्हें अभाव नहीं था कोई भी चिन्ता उन्हें नहीं थी। केवल श्रीकृष्ण वियोग रूपी ज्वाला में वे रात्रि दिन जल रहे थे। जब उन्होंने सुना कि श्यामसुन्दर आ गये, तो पाञ्चजन्य शंख का घोष सुनकर उनका संकुचित कमल रूपी मन उसी प्रकार खिल गया जैसे सूर्य के उदित होने पर सरोवरों में स्थित कमल खिल जाते हैं।

भगवान् के स्वागत मे सभी ने अपनी सभी प्रकार से सजी हुई नगरी को और भी अधिक सजाया। गोपुर और प्रधान-प्रधान द्वारों पर झंडे, पताकाएँ तथा वन्दनवारें बाँधी गईं। सर्वत्र सड़कों पर सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया। स्थान-स्थान पर कपूर, गुग्गुल और घृत मिलाकर जलाया गया, जिसका धूम्र आकाश में कपोतों के समान दिखाई देता था। राजपथ और सार्वजनिक स्थान तो राज्य की ओर से सजाये गये थे, किन्तु अपने अपने घरों को सभी ने स्वयं ही अपनी इच्छा से—बिना किसी की आज्ञा के—ही सजाया था। सभी ने अपने घरों को झाड़ बुहार कर स्वच्छ किया था। उसके सामने सुन्दर सुगन्धित जल का छिड़काव करके सफेद, हरे काले रङ्गों से स्वस्तिक आदि बनाकर चौक पूरे थे। उसके आस पास सुगन्धित पुष्प बिछाये थे। द्वारों पर आम, अशोक, कनेर आदि के पल्लवों को लगाकर पुड़े हुए दरवाजे बनाये थे। उनमें बीच-बीच में पुष्पों के गुच्छे लगाकर वन्दनवार बाँधे थे। केलों के फल वाले वृक्षों के खम्बे गाड़ दिये थे। दोनों ओर जल से पूर्ण घड़े रख कर उन पर अन्कुरित जव रखे थे। ऊपर घी के दीपक जल रहे थे। एक बड़े थाल में खील के लावा, दधि, बिना

टूटे केशर में में रंगे अक्षत, कुंकुम, फल, फूल, दूर्वा, धूप, दीप आदि मंगल के पदार्थ रखे थे। ईख के पत्तों सहित गन्ने, केले के खम्भों से सटाकर खड़े कर दिये थे। इस प्रकार सभी ने श्यामसुन्दर के स्वागत की तैयारियाँ की थी। उस समय द्वारावती नगरी चित्र विचित्र रङ्ग के वस्त्राभूषण से सुसज्जित नव वधू के समान दिखाई देती थी।

भगवान् का आगमन सुनते ही सभी ने अपने-अपने काम उसी प्रकार छोड़ दिये जैसे विवाह के वाद्यों का शब्द सुनकर, बच्चे सभी कार्य छोड़कर उन्हें ही देखने को दौड पड़ते हैं। जो भोजन कर रहा था, उसके मुख का ग्रास मुख में, हाथ का हाथ में ही है, बिना कुल्ला किये दौड़ पड़ा। जो शैया पर शयन कर रहे थे, वे बिना आचमन किये ही भाग खड़े हुए। जो नहा रहे थे, वे गीले वस्त्रों से ही दौड़े। सभी मारे हर्ष के अपने आपे में नहीं रहे। नाना उग्रसेन, पिता वासुदेव, चाचा अक्रूर, भाई बलदेव—ये सभी बड़े हर्ष के सहित भगवान् के स्वागत के लिये नगर के द्वार की ओर चले। बलदेव जी ने अपने पुत्रों और भतीजों से कहा—"देखो, तुम लोग मंगल के सभी द्रव्य एकत्रित करके लाओ। अपना जो सबसे बड़ा हाथी है, उसे सजाकर उस पर विशाल पताका फहराकर स्वागत समारोह के आगे-आगे रखो। बाजे वाले अभी तक सुसज्जित होकर नहीं आये। उन सबके सरदार से कहो, कि हाथी के पीछे-पीछे वे सब एक स्वर ताल में बाजे बजाते हुए चलें।"

बलदेवजी की आज्ञा पाकर प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, साम्ब आदि सभी नवयुवक, वृद्ध ब्राह्मणों को आगे करके अपने अपने वाहनों पर चढ़कर, अत्यन्त उत्कण्ठा के सहित भगवान् का स्वागत करने चले। उस समय सभी इतने व्यग्र हो रहे थे, कि किसी को

किसी से कुछ कहने का अवकाश ही नहीं था। राज्य के जो नट, नर्तक, गाने बजाने वाले थे, वे भी अपनी-अपनी मंडली बना कर गाते बजाते, हर्ष से नृत्य करते हुए यादवेन्द्र श्रीहरि के दर्शनों को चले।

दूर से ही सबने देखा—जैसे सूर्य के रथ पर साकार नव जलधर विराजमान हो, उसी प्रकार श्यामसुन्दर अपनी शोभा से दशो दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे। अपने बन्धु-बान्धवों को व्यग्रता के सहित अपनी ही ओर आते देखकर भगवान् रथ से उतर पड़े। उन्होंने पहिले वेदज्ञ वृद्ध ब्राह्मणों को सिर से प्रणाम किया, फिर वसुदेव उग्रसेन आदि गुरुजनों के चरण छुये। जो अपने समवयस्क या थोड़े बड़े चाचा आदि थे, उन्हें हँसते हुए वैसी ही वाणी से प्रणाम किया। बराबर वालों से वे गले लगकर मिले जो अपने संकोच रहित सखा थे उनसे हाथ मिलाया। उनके पंजे को अपने पंजे में कस कर उसे जोर जोर से मसला और फिर हँसते हुए उनके शरीर से लिपट गये। जो उनके छोटे भाई, पुत्र, पौत्र आदि थे उन्होंने स्वयं आकर भगवान् के चरण छुए। उनके सिर पर हाथ फेर कर भगवान् ने सब को यथोचित आशीर्वाद दिया, प्यार किया। जो अपने सेवक, भृत्य और आश्रित थे उन्होंने दूर से ही भगवान् को प्रणाम किया। उनसे हँसते हुए भगवान् ने पूछा—"कहो भाई, तुम सब अच्छी तरह से हो न?" जो गाने बजाने नाचने वाली सुन्दरी युवतियाँ थीं, उनके प्रणाम के बदले में भगवान् ने उनकी ओर देखकर केवल मुस्कुरा दिया। उनका यही सर्वोत्तम सम्मान था। इस प्रकार उन सर्वान्तरयामी प्रभु ने थोड़े ही काल में ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त, अपने समस्त प्रजा का यथोचित सत्कार किया। उस समारोह में

एक भी पुरुष ऐसा नहीं था जिसे यह अनुभव होता हो, कि भगवान् ने हमारी बात नहीं पूछी। सभी समझते थे कि भगवान् ने हमारा ही सबसे अधिक सत्कार किया।

सब के सम्मान करने के अनन्तर अब भगवान् की सवारी ने द्वारका के राजमार्ग में प्रवेश किया। आगे आगे का पहाड़ के समान विशाल वारणेन्द्र चल रहा था। उस पर विशाल पताका फहरा रही थी। पीछे अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे। नृत्य करने वाली अपने हाव भाव दिखाती हुई आगे आगे नृत्य करती जाती थीं। गायक ताल-स्वर के सहित गीत गाते जाते थे। सूत, मागध और वन्दीगण भगवान् की विरुदावली का बखान कर रहे थे। बीच बीच में समस्त पुरवासी भगवान् के जयघोष से आकाश मंडल को गुंजा देते थे। इस प्रकार बड़े समारोह के साथ भगवान् की सवारी आगे बढ़ने लगी। द्वारिकापुरी की कुल कामिनियाँ जो सबके सामने सड़कों पर नहीं आ सकती थीं, वे अपनी अटा अटारी छज्जे तिवारियों में चढ़कर भगवान् के दर्शनों से अपने नेत्रों को सफल करने लगी। कितना सौंदर्य है उन श्यामसुन्दर का कैसे मनोहर हैं वे मदनमोहन, कितने सुघर हैं वे सर्वेश्वर, कितने मलूक है वे माधवमुरारी—स्त्रियाँ उन्हें देखते देखते अघाती नहीं थीं। रूप उसीको कहते हैं जो क्षण क्षण में नूतन ही नूतन दिखाई दे जिसका सौन्दर्य माधुर्य प्रतिपल बढ़ता ही प्रतीत हो। यद्यपि वे कुलकामिनियाँ सदैव ही श्यामसुन्दर को देखती थीं, सदा ही उन्हें अपने नयनों से निहारा करती थी तो भी उनकी तृप्ति नहीं होती थी। कैसा विशाल वक्षःस्थल है वासुदेव का, जिसमें श्रीवत्स का चिह्न है, लक्ष्मी सदा चंचलता छोड़ कर जिसमें निवास करती है। उनका मुख ज्या

है, सौन्दर्य रूपी अमृत के पीने का गोल-गोल नील मणियों से मढ़ा हुआ कटोरा है, जिसमें भर भरकर बार-बार अमृत पीने पर भी तृप्ति नही होती। उनकी आजानुलम्बित विशाल बाहुएँ लोकपालो की भी आश्रयदातृ हैं। वे सब इन्ही के सहारे अपने को स्वतंत्र और सुखी समझते हैं। जिनके पुण्य पराग से पूरित पाद-पद्म, भौरे रूपी भावुक भक्तों के रस पान करने की आश्रय भूत हैं, उन्हें देखकर भला किसकी तृप्ति हो सकती हैं ?

उस समय वर्षा ऋतु न होने पर भी द्वारका में वर्षा ऋतु की ही छटा दिखाई देती थी। स्वयं श्यामसुन्दर अमृत रूपी जल से भरे नवीन वर्षा करने वाले मेघ हैं। नगर वासियों और कुल कामिनियो द्वारा फेंके गये उनके ऊपर के फूल जो नीचे गिरते हैं, वे ही सफेद जल की बूँदें हैं। सुवर्ण वर्ण का उनका फहराता हुआ पीताम्बर ही मानो चमकती हुई बिजली है। रंग बिरंगी गले की वनमाला ही मानों इन्द्र धनुष है। जनता का जयघोष ही मानो मेघ की गर्जना है और भीड़ के पैरों की उड़ी हुई धूलि ही मानों अन्धकार है। इस प्रकार वे घनश्याम अमृत की वर्षा से सभी को प्रसन्न करते हुए द्वारका के राजपथों से जा रहे थे। नगरवासी बार-बार दर्शन करके भी तृप्त नही हो रहे थे। वे चाहते थे—भगवान् इसी प्रकार सवारी पर चढ़े हुए सदा राजपथों में घूमते ही रहें, किन्तु अन्तःपुर में बैठी हुई भगवान् की पत्नियो के कानों में उन वाद्यों का बजना और जनता का जयघोष शूल के समान चुभ रहा था। वे चाहती थीं—कब यह धूमधाम समाप्त हो और कब प्राण धन अन्तःपुर में पधारें। वे कुलवधू, आर्य ललनायें न तो सड़क पर आ सकती थीं, न झरोखे से ही ताक सकती

थी, वहीं मन मारे मदनमोहन के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। अब तक श्यामसुन्दर परदेश थे, अतः उनकी सभी पत्नियाँ क्रीड़ा, शरीर संस्कार, समाजोत्सव दर्शन, हास्य और परगृह गमन, इन सबका त्याग—जो प्रोषितभर्तृका के नियम है, वे धारण किये हुए थीं। आज जब श्यामसुन्दर पुरी में पधार गये, तो उन्होंने अपने व्रत का त्याग किया। विधिवत् स्नान करके केशपाशों को सम्हाल कर उन्होंने सोलहों शृङ्गार किये और वे अपने प्राणनाथ के दर्शनों के लिये अत्यन्त ही उत्कण्ठित हो रही थीं। उनका एक एक क्षण युग के समान व्यतीत हो रहा था।

छप्पय

नव जलधर सम श्याम सुभग वर बरसा बरसें।
जनता करि जय घोष दरस तें अति ही हरसें॥
श्याम अङ्ग पटपीत गरे वनमाला सोहे।
मानों घन में तड़ित इन्द्र धनु मन कूँ मोहे॥
प्रेम सुधा बरसाते, हिय में सुख सरसावते।
पुरवासिनि हरसावते, सुने श्याम गृह आवते॥

अन्तःपुर में घनश्याम

(३८)

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना,
दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो,
र्विलज्जतीनां भृगुवर्यवैक्लवात् ॥*

(श्री भा० १ स्क० ११ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

अति उत कण्ठित महल माँहि महिषी मातायें ।
आके कब यदुनाथ पुरावें चिर आशायें ॥
इतने में घनश्याम, महल माता के आये ।
सब मातनि मृदुल चरन में शीश नवाये ॥
अङ्क बिठा सिर सूँघि सब, प्रेम वारि बरसा करति ।
चूमि चाटि गौ वत्स सम, विरह विथा हिय की हरति ॥

प्रतिक्षा की घड़ियाँ कितनी मनोहर, कितनी विकलता पैदा करने वाली, कितनी तन्मयता प्राप्त करा देने वाली होती हैं। उस समय दृष्टि में वही रहता है जिसकी प्रतीक्षा की जाती

* श्रीनिवास श्यामसुन्दर जब माता के महलों से अपनी महिषियों के मन्दिरों में गये, तो गूढ़ भाव वाली लज्जाशील कुलवती ललनाओं ने

है। उस काल में अन्य सभी राग-रङ्ग, सुखकर विषय फीके प्रतीत होते हैं। किसी को पार जाने की शीघ्रता हो, फाल्गुन का मास हो, नौका वाले अपने राग-रङ्ग और आमोद-प्रमोद में मस्त हों, समय होने पर भी नौका न खुली हो, तो उस समय उस पर जाने वाले पथिक का एक-एक क्षण एक-एक कल्प के समान व्यतीत होता है। जो समय दूसरों को सुखकर है वही पात्र भेद से आवश्यकतानुसार दूसरों को दुखकर है। जो कार्य एक को आनन्द दे रहा है, परिस्थिति के अनुसार वही दूसरे को निरानन्द बना रहा है। इससे सिद्ध होता है, आनन्द किसी वस्तु में नहीं है। वस्तु तो सभी पञ्चभूतों की ही बनी हुई है। समय में भी आनन्द नहीं, वह तो सदा अपनी एक ही गति से बहता रहता है। आनन्द का स्थान है अपना अन्तःकरण और परिस्थिति। परिस्थितियों के अनुसार ही हृदय में आनन्द और निरानन्द की लहरें उठती रहती हैं। बाह्य उपकरणों का समष्टि सुख दुःख के साथ कोई स्थाई सम्बन्ध नहीं।

महलों में श्यामसुन्दर की सातों मातायें, सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियाँ प्रतीक्षा में बैठी व्यग्र हो रही थी, कि कब यह धूमधाम समाप्त हो और कब यदुनाथ महल में पधार कर हम सबको सनाथ करें। स्वयं श्यामसुन्दर भी चिर वियोग

पहिले अपने प्रियतम का मन से आलिंगन किया, पुनः टेढ़ी चितवन से उनकी आखों मे अपनी दृष्टि घोलकर एकीभाव को प्राप्त हुईं। इसके अनन्तर अपने बच्चों के द्वारा उनका आलिंगन किया। सूतजी कहते हैं— "हे शौनक जी! यद्यपि उन्होंने अपने नयनों में उमड़ते हुए अश्रु प्रवाह को बहुत रोका, तो भी वे लज्जावश ढुलक ही पड़े।

में व्याप्त अपनी माताओं और पत्नियों से मिलने को उत्कण्ठि
थे। सुधर्मा सभा के सम्मुख आकर वह समारोह सम
हुआ। भगवान् ने सभी का यथोचित सत्कार और सन्तु
करके, सेवकों और आश्रितों को मनोवांछित पारितोषि
देकर विदा किया। पुनः सबसे मिल-जुल कर, बड़ों क
अनुमति और आयसु लेकर, उन्होंने उद्धव और सात्यकि
सहित अपने अन्तःपुर में उसी प्रकार प्रवेश किया जैसे
सिंह अपनी गुफा मे प्रवेश करता है। स्वजनों के सम्मिलन
से उनका पूर्णचन्द्र के समान विकसित मुखारविन्द और
भी अधिक विकसित हो रहा था। सर्व प्रथम वे अपनी
माताओं के महलों में गये। दूर से ही अपने वाह्य प्राण,
हृदय के टुकड़े त्रैलोक्य वन्दित, यशस्वी पुत्र को आते देख कर
माताओं के हर्ष का ठिकाना न रहा। श्यामसुन्दर शीघ्रता
से आकर माताओं के चरणो मे लिपट गये। उन्होंने अपनी
गोल-गोल, सुडौल, विशाल बाहुओ से अपनी माताओं के रक्त
वर्ण किन्तु वृद्धावस्था के कारण सिकुड़े हुए पैरों को पकड़ा।
माताओ ने उनका सिर झुकाकर सूँघा। उस पर दोनों हाथ
रखे। उनके स्तनों से अपने आप स्नेह का दूध बहने लगा,
जिससे श्यामसुन्दर का पीताम्बर भीग गया। अत्यन्त स्नेह
से अपने बच्चे का उन्होंने आलिंगन किया। शिशु की भाँति
गोद में बिठा कर उनके सम्पूर्ण शरीर पर हाथ फेरा। स्नेह के
कारण जिनका गला रुक गया था, ऐसी माता देवकी कुछ
रुक-रुक कर बोली—"भैया, तुम तो इतने दिन लगा देते हो।
हम सब लोगों का तुम्हें तनिक भी ध्यान नही रहता। तुम्हारे
बिना हमारी क्या दशा होती है। तुम अपने शरीर का भी
ध्यान नहीं रखते, कितने दुबले हो गये हो। हस्तिनापुर मे

ऐसा क्या काम अटक गया कि वहाँ इतने दिनों तक रहे ? वहां सब लोग कुशल से है ? बीबी कुन्ती जी अच्छी हैं ? उनके पांचों बच्चे अच्छी तरह हैं ? सुभद्रा तो बहुत रोती होंगी ? उसका युवा पुत्र मारा गया और सब लोग अच्छे हैं ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ,सब लोग अच्छे हैं। क्या बताऊँ? वह दुर्योधन बड़ा दुष्ट था। बहुत समझाने-बुझाने पर भी वह पांडवों को उनका राज्य लौटाना नहीं चाहता था। पहिले तो मैंने ऐसा ही प्रयत्न किया, कि दोनों में परस्पर मेल-जोल हो जाय, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं इस कार्य में सफल न हो सका। तब विवश होकर युद्ध ही करना पडा। उसमें सभी कौरवों के पक्ष के लोग मारे गये। पांडव विजयी हुए। अब धर्मराज सम्राट हो गये हैं। उन्हें सिंहासन पर बिठा कर, राज्य की सभी व्यवस्था करके ज्यों ही निवृत्त हुआ, त्यों ही चला आया। इन्हीं सब कार्यों के कारण देरी हो गई।"

सब माताओं ने कहा—"अच्छा हुआ, भैया ! पांडवो को फिर राज्य मिल गया। बीबी कुन्ती जी ने उनके पीछे कितने कितने क्लेश सहे, कहाँ-कहाँ उन्हें जङ्गल पहाड़ों में लिये-लिये फिरीं, पाण्डवों ने सदा दुःख ही उठाये हैं। अब वे अन्त समय में सुख का उपभोग करेंगे। बीबी कुन्तीजी भी अब अपने बच्चों को सुखी देख कर सुखी होंगी।"

जो भगवान् की पत्नियाँ अत्यन्त ही उत्कण्ठित हो रही थीं, जिनके हृदयों को महोत्सव के मनोहर बाजे भी विष बुझे बाणों के समान वेध रहे थे, उन्होंने जब देखा कि प्राणवल्लभ तो माताओं के ही समीप अटक गये, माताओं के समीप वे

अपने प्राणनाथ के समीप जा सकतीं ? जब वे भीतर से ही बार-बार झाँकने लगी, किन्तु उन्हें वह त्रैलोक्य मोहिनी माधुरी मूरत ओट में से अच्छी तरह दिखाई नहीं देती थी। मातायें और बूढी दासियाँ उन्हें घेरे खडी थी श्यामसुन्दर का मुख भी माताओं की ओर था। केवल फहराते हुए पीताम्बर का छोर ही छोर दिखाई देता था। शौनकजी ! आर्यललनाओ का कैसा उत्कृष्ट सदाचार है ? वे अपने प्रेम का प्रदर्शन नही करती। वे उत्कण्ठा के साथ शील और लज्जा को मिला कर प्रेम का पान करती है। वे निर्लज्ज होकर सबके सामने प्रेम की विडम्बना नही करती। प्रेम ऐसा अद्भुत रस है, कि इसे जितना ही शील सकोच के साथ, जितना ही एकान्त से एकान्त में पान किया जायगा उतना ही अधिक स्वादिष्ट प्रतीत होगा। शील संकोच से उसकी मधुरिमा अत्यधिक बढ़ जाती है।

मातायें नूपुरों की झंकार और कड़े, छड़े पाईजेबों की खनखनाहट तथा चूड़ियों की झनझनाहट से समझ गईं, कि बहुएँ अत्यधिक उत्कंठित हैं अतः बात के प्रवाह को रोकती हुई देवकी जी बोली—"अच्छा भैया, अब फिर बातें होंगी इस समय तो तुम दूर से आये हो, बहुत थके होगे। मुँह भी कुम्हला रहा है। अब भीतर जाओ, भैया ! वस्त्र बदलो। स्नान आदि करके भोजन करने जाओ। अभी प्रातः से कुछ खाया भी न होगा।"

इतना कह कर मातायें स्वयं ही उठ खड़ी हुईं। पास में खड़े उद्धव और सात्यकि मातओं को प्रणाम करके भगवान् से अनुमति लेकर लौट गये। अब अकेले श्यामसुन्दर रह गये। महलों की दासियों और कंचुकियों उन्हे श्री सत्यभामाजी के समस्त समृद्धिपूर्ण विशाल

भवन का मार्ग दिखाया। दास दासियों से घिरे श्यामसुन्दर ऐसे ही प्रतीत हो रहे थे, मानों साक्षात् मन्मथ अपनी सेना के सहित चिरवियोगिनी रति के पास जा रहा हो।

अपने हृदयघन को आते देखकर वे बड़े संभ्रम के साथ उठ कर खडी हो गईं। आर्य ललनाओं की भाँति वे लजाती हुई, भूमि की ओर देखती हुई, अञ्चल की आड़ से मनमोहन की माधुरी को निहारती हुई, चुपचाप खड़ी हो गईं। उन्होंने बहुत चाहा कि नेत्रों में अश्रुन आने पावे, किन्तु आँखें भी तो कमलनयन के स्वागत के लिये समुत्सुक थी। उन्हें भी तो अपने को सार्थक बनाने वाले मदनमोहन को अर्घ्य देना था अतः रोकने पर भी वे न मानी और उन्होंने अश्रु बिन्दुओं के द्वारा अपने सर्वस्व को अर्घ्य प्रदान कर ही डाला। जो अकुलीन अनार्य वंश वाले होते है, वे ऐसे समय पर धैर्य और लाज दोनों को तिलांजलि दे देते हैं, किन्तु आर्य सभ्यता ने सभी विषय की मर्यादा स्थापित कर दी है। सर्वदा मर्यादा के भीतर ही रहकर व्यवहार करना चाहिये।

इतने दिनों के पश्चात् आये हुये अपने स्वामी का आलिंगन कैसे करें? घर में बच्चे भी है, दासियाँ भी है। अतः स्त्रियो के जो सबसे छोटे शिशु थे, उन्हें सकुचाते हुए अपनी गोद से लेकर श्यामसुन्दर को गोदी में दे दिया। फूल की तरह खिले हुए मुख वाले अपने ही अनुरूप सुन्दर शिशु का श्यामसुन्दर ने स्नेह से आलिंगन किया, उनका मुँह चूमा। उँगली से उसके मुँह को हिलाते हुए कहने लगे—"देखो, बच्चा दुबला हो गया हैं, इसकी भली प्रकार देख रेख भी नही की जाती है।" मुँह लगी दासी कहने लगी....."अपने पिता की याद करते करते बच्चा दुबला हो गया है। पिता की गोद मे पहुंचते

खिल-खिलाने लगा है।" इस प्रकार बच्चे को हृदय से लगाकर समस्त प्रेम उस पर उड़ेल कर दोनों हाथों से लेकर उसे आगे बढ़ाया। समीप ही सकुचाती और मन ही मन सिहाती हुई प्राणवल्लभा ने भी दोनों हाथ आगे कर दिये। बच्चे को लेते समय श्यामसुन्दर के नील कमल के नील के समान उँगलियाँ छूट गईं। पीताम्बर में चुन्दरी का छोर उलझ गया और भूल में सिर की चन्द्रिका मोरमुकुट से भी सट गई। बच्चे को लेकर उन्होंने अपने हृदय से लगाया, मानो प्रेम के आदान प्रदान में यह शिशु ही मध्यरथ है। बच्चे को प्यार करते समय, हृदय से लगाते समय, जो दिव्य सुगंधित केशर उसके अङ्गों में लग गई थी, उनकी माताओं ने अपने हृदयों पर धारण किया। इस प्रकार बच्चों को बीच में करके, मानों उन्होंने अपने जीवन धन का ही आलिङ्गन कर लिया हो।

इस प्रकार भगवान् एक श्री रुक्मिणीजी के ही महलों में अटके रह गये हो, सो बात नहीं। उन्होंने उसी समय अपनी योगमाया के प्रभाव से सोलह हजार एक सौ आठ रूप बनाये और सभी के महलो मे एक ही समय में प्रवेश किया। सभी को ऐसा प्रतीत हुआ कि देखो, श्यामसुन्दर मेरे ऊपर कितना स्नेह करते है। परदेश से आते ही सर्वप्रथम मेरे महलों में पधारे। मेरी सौतों को यह सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य प्राप्त नही हुआ। उन्हें क्या पता था, कि सभी को समान सौभाग्य प्रदान करने वाले सर्वान्तर्यामी प्रभु की यह लीला है।

शौनकजी! इस अवतार मे तो भगवान् सौन्दर्य माधुर्य्य की पराकाष्ठा कर दी। जो भी उनके भुवनमोहन रूप को

देखता, वही आपे से बाहर हो जाता था। फिर इन महारानियों के भाग्य का तो कहना ही क्या, जिनके महलो में सदा श्याम-सुन्दर समान रूप से निवास करते हैं। वे रानियाँ निरन्तर भगवान् को निहारती हैं, किन्तु निहारने से उनकी तृप्ति नही होती, और भी उत्सुकता बढ़ती ही जाती है। उन्हें अनुक्षण उनका रूप नवीन ही नवीन दिखाई देने लगता है। यही कारण है कि इन्हीं चरणों में आकर चंचल चपला लक्ष्मी ने अपना चंचलता का स्वभाव छोड़ दिया है। वह इन चरणों की दिव्य गंध में इतनी अनुरक्त हुई हैं कि कभी स्वप्न मे भी इन्हें छोड़कर नहीं जातीं। जब स्वभाव से चंचला लक्ष्मी की यह दशा है, तो अन्य महिषियों का जो जन्म से ही उन्ही में अनुरक्त हैं, ऐसा विलक्षण भाव होना कोई आश्चर्य की बात नही है।

इस प्रकार सबको सब प्रकार से सन्तोष देकर भगवान् अपने वस्त्र बदले, स्नान किया, अंगराग लगाया और पुनः अनेक रूपों से अपनी पत्नियों के घर, माताओं के घर भोजन किया और रात्रि में फिर अपनी प्रेयसियों से बिना संकोच घुल-घुल कर प्रेम को बातें करते रहे। इस प्रकार भगवान् हस्तिनापुर से आकर सुखपूर्वक वैकुण्ठ के समान अपनी द्वारावती पुरी मे रहने लगे। वे सभी स्त्रियाँ समझती थीं कि भगवान् हमारी मुट्ठी में हैं, हमारी कठपुतली बने हुए हैं। हम उन्हे जैसे चाहे नचा सकती हैं, जिधर चाहें घुमा सकती हैं, जो चाहें करा सकती है। उनका ऐसा समझना उचित ही था, क्योंकि भगवान् का व्यवहार ही ऐसा कपटपूर्ण था। वे बेचारी क्या जानती थीं कि ये विश्व को नचाने वाले हैं। पृथ्वी पर जब नर रूप में बहुत से असुर पैदा हो गये, तो

आपस में ही भिड़ा दिया, जैसे बाँस आपस में ही रगड़-रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करते है और उसी अग्नि मे सबके सब भस्म हो जाते है। अतः वायु की तरह अरूप होकर, तटस्थ होकर एक दूसरे को लड़ा दिया। आप निःशस्त्र होकर केवल रथ को हाँकते हुए इस द्वन्द रूपी पहियों वाले संसार रथ को अलग बैठ कर चलाते रहे। वहाँ सबने उन्हें अर्जुन का सारथि ही समझा और वहाँ द्वारावती में साधारण मनुष्य के समान, हजारों रति से भी बढ़कर सुन्दरियों के साथ रमण करते रहे। वे स्त्रियाँ साधारण सौन्दर्य वाली नही थी। उनके रूप सौन्दर्य से परास्त होकर कामदेव निहत्था हो जाता था। वह भी अपना ऊख का धनुष और पुष्प पुष्पो के शर को रख कर अन्यमनस्कता हो जाता था। जब वे अप गूढ अभिप्रायों को सैनों के सकेतों द्वारा व्यक्त करती जब वे अपनी निर्मल सुन्दर स्वाभाविक हँसी से हँस पड़तीं, जब वे अपनी तीखी, कटीली लजीली, चितवन से देखने लगती, तब और की तो बात ही क्या, कामदेव भी लज्जित होकर मूर्छित हो जाता। उन्हें अपने अपार सौन्दर्य पर अत्यधिक गर्व था। किन्तु वे श्यामसुन्दर के मन को मोहने में समर्थ नही हुई

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतना सौंदर्य तो कही सुना नहीं। फिर भी भगवान् उनमे निर्लिप्त भाव से कैसे रहे? भगवान् होने पर भी वे लीला तो मनुष्यों की सी कर रहे थे। उनके मन में कभी चञ्चलता नही आई थी क्या?"

सूतजी हँस कर बोले—"शौनकजी! आपने भी कैसा असङ्गत प्रश्न कर डाला? क्या भगवान् के विषय में ऐसा प्रश्न करना आप सर्वज्ञ के लिये उचित है? आप सब जानते

हैं संसार का समस्त सौंदर्य श्यामसुन्दर के अखिल सौंदर्य राशि का कण मात्र है। एक विन्दु सिन्धु को कैसे भिगो सकता है ? एक कण मिश्री क्षीरसागर को मधुर बनाने में कैसे समर्थ हो सकती है ? एक सरसों का दाना सुमेरु को कैसे ढक सकता है ? इसी प्रकार यह संसारिक सौन्दर्य श्यामसुन्दर को मोहित किस प्रकार कर सकता है। जो भगवान् का वास्तविक तत्व नही जानते' वे ही उन्हें संसारियों की तरह कर्मों में प्रवृत्त देख कर उन्हें भी संसारिक समझने लगते है। वास्तव में तो सर्व सङ्गो से निवृत्त हैं। उनमें अविद्या, माया या प्रकृति का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं है। आप प्रत्यक्ष देखें, बुद्धि आत्मा के आश्रित है, किन्तु आत्मा का जो सर्वदा आनन्दमय स्वरूप है, उससे वह लिप्त नहीं है। इसी प्रकार भगवान् प्रकृति में स्थित से प्रतीत होते हैं। प्रकृति को साथ लेकर भाँति-भाँति की कमनीय क्रीड़ायें करते रहते है किन्तु स्वयं उससे सदा निर्लिप्त रहते है। आप कहेंगे—यह तो असम्भव है। जल में गोता लगावें भी और शरीर में जल का स्पर्श न हो। सो शौनक जी ! भगवान् के लिये असम्भव कुछ नही है। यही तो उनकी भगवत्ता है, कि सब कुछ करते हुए भी अकर्ता बने रहे। सब के सङ्ग रहते हुए भी निःसङ्ग निर्लेप ही रहे। ऐसे भगवान् को भी वे बेचारी अबलायें एकान्त में घुल-घुल कर बातें करते देखकर समझतीं थी कि अब ये हमारे वश में आ गये। वास्तव में भक्तों को छोड़ कर भगवान् किसकी वश में आने वाले है। भक्त तो उन्हें जैसे चाहें नचा सकते हैं, शेष सब जीवों को तो वे जैसे मदारी बन्दरों को नचाता है, वैसे ही मायारूपी रस्सी में बांधकर नचा रहे हैं।

इस प्रकार भगवान् पृथ्वी का भार दूर करके सुखपूर्वक अपनी द्वारिकापुरी में रहकर, समस्त बन्धु बान्धव और प्रजाजनों को आनन्दित करने लगे।

छप्पय

सुनि नूपुर की झनक, चुरिनि की खनक मनोहर।
माँ बोली—'अब जाउ वस्त्र बदलो भीतर घर॥
मन्द मन्द मुस्कात, महल में मोहन आए।
नारि निरखि नँदनंद नयनते नीर बहाए॥
मन तें मोहन ते मिलीं, नयन ओट तें चोट करि।
शिशु सौंप्यो पुनि लाइ उर, आलिङ्गन यों किए हरि॥

महाराज परीक्षित् का जन्म

(३६)

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये ।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥*

(श्रीभा० १ स्क० १२ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

बोले शौनक—"सूत ! सुधा सम कथा सुनाई ।
कही परीक्षित् जन्म कर्म बल वीर्य बड़ाई ॥
कहें सूत—सब सुनो कुक्षिगत बालक जलते ।
निरखे निर्मल रूप गदा तें रक्षा करते ॥
करे परीक्षा कौन ए सुन्दर श्याम स्वरूप युत ।
दशम मास में तिरोहित, भये प्रकट अभिमन्यु सुत ॥

श्री भगवान् के गुणों में इतना सौंदर्य है, उनमें इतनी दिव्य मिठास है, कि अधिकारी पुरुष—जिसके पूर्वकृत पाप क्षीण हो गये हैं, वह सुनता है तो अपने आपे को भूल जाता है, फिर उसे अन्य विषयों का ध्यान ही नहीं रहता। जैसे

---

* इसके अनन्तर जब अनुकूल ग्रहों के साथ शुभ ग्रहों का उदय हुआ, जिसमें जन्म लेने से बालक के सभी गुणों का विकास होता है ऐसे शुभ लग्न आने पर महाराज पाण्डु के वंश को बढ़ाने ...

विषयी पुरुष विषय वार्ताओं में निमग्न होने से अपने श्रेय को भूल जाता है। जैसे मद्यपी मद्य के नशे में कर्तव्याकर्तव्य को भूल जाता है। वैसे ही भगवत् वार्ता सुनते-सुनते साधु पुरुष इस संसार को भी भूल जाते है।

भगवान् की दिव्य रसीली कथाओं को सुनते-सुनते शौनकादि मुनि इतने तन्मय हुए, कि अपने मुख्य प्रश्न को भूलकर भगवत् चरित्र के प्रवाह में ही बह गये। जब सूतजी श्यामसुन्दर को द्वारकापुरी पहुंचकर उनके स्वजन, प्रिय बन्धु बान्धव और प्रियतमाओ से मिलकर चुप हो गये, तब ऋषियों को बाह्य ज्ञान हुआ। जैसे सोता हुआ पुरुष एक साथ नींद से उठकर स्वप्न की बातों को स्मरण करके इधर-उदर देखता है और जब उसे निश्चय हो जाता है कि स्वप्न की बातें विलीन हो गईं और मैं जैसे रात्रि में सोया था वैसे ही शैया पर सो रहा हूँ, तब वह अपने पूर्व व्यापारों में प्रवृत्त होता है।

अब तक तो शौनकादि ऋषि अपने को भगवान् के साथ ही साथ द्वारावती गये, वहाँ से स्वागत समारोह और धूम-धाम में भी सम्मिलित हुए। भगवान् जब अन्तःपुर मे प्रवेश कर गये, तो भी भीतर की बातें सुनने को सुधर्मा सभा के द्वार पर खड़े रहे। जब सूतजी चुप हो गये, तब उन्हें बाह्य-जगत् का भान हुआ। भाव जगत् से स्थल जगत में आये। उन्होंने देखा—अरे, हम तो नैमिषारण्य मे बैठे हैं, सूत कथा सुना रहे है और हम सब उनके मुख से श्रवण कर रहे हैं तब तो आश्चर्य चकित होकर शौनकजी कहने लगे।

परिक्षित् का जन्म हुआ। वे अपने तेज से ऐसे जान पड़ते थे, मानो स्वयं महाराज पांडु ने ही फिर से जन्म ग्रहण कर लिया हो।

सूतजी की ओर देखकर महामुनि शौनक बोले—"महाभाग सूतजी ! आप कथा क्या कह रहे हैं, मानों अपनी वाणी में अमृत घोल-घोल कर हमारे कर्णों में उँड़ेल रहे हैं महाभाग ! हम तो ऐसे तन्मय हो गये, कि भगवद् भाव भावान्वित ही हो गये। हम आपको, नैमिषारण्य को, गोमती को, सभी को भूल गये। हमने प्रश्न किया था, महाराज परीक्षित् के जन्म का और आप गर्भस्थ परीक्षित् की ब्रह्मास्त्र से रक्षा कराने की कथा सुनाते-सुनाते कृष्ण कथा का ही रसास्वादन कराने लगे। जैसे किसी मिठाई बेचने वाले से रसगुल्ला बनाने के लिये हम छेना का मोल-भाव करें और वह छेना का मोल भाव बताते बताते ही, सुन्दर स्वादिष्ट हाल के बने रसगुल्ले भी बिना मूल्य के खिलाता जाय, उसी प्रकार हमारे द्वारा भक्त का प्रसङ्ग पूछे जाने पर, आप इतना अधिक भगवत् चरित भी सुना गये। दूसरे किसी प्रसङ्ग की कथा होती, तो यह विषयांतर ही समझा जाता, किन्तु भगवत् कथा में तो विषयांतर की सम्भावना ही नहीं।

समुद्र की लहरों का आदि नहीं, अन्त नहीं। जिस दिन जिस समय से गिनना आरम्भ करो, वही आदि है, जहाँ समाप्त कर दो, वहीं अन्त है। लहरों के गिनने वाले ने न आदि देखा, न अन्त। मन से ही उसने आदि अन्त की कल्पना कर ली। इसी प्रकार भगवत् चरित अपार है। जहाँ से आरम्भ करो वही आरम्भ है। उसमें विषयान्तर की सम्भावना कैसे हो सकती है। आम चूसने में तो नियम है, कि जिस ओर डाल में लटकता है, उधर उसका मुँह होता है। नख से उसके मुँह को खोल-कर, चेंप को निकाल कर, तब चूसिये, बड़ा आनन्द आवेगा। किन्तु मिश्री की डली में तो कोई नियम नहीं, जहाँ से भी

जहाँ से भी चूसो, वहीं से मिठास। उसमें कोई हेय पदार्थ नहीं, कोई नियम नहीं, सर्वत्र मिठास ही मिठास है। इसी प्रकार भक्तों के चरित्रों में तो कुछ नियम रहता भी है, उनका चरित्र जन्म से कहो, संसारी लोगों के मोह वाली बातों को छोड़ दो, सक्षेप कर दो, किन्तु भगवत् चरित तो चारों ओर से, सुधा से परिपूर्ण है। उनमें अत्युक्ति नहीं, प्रसङ्गान्तर नहीं विषयान्तर नहीं, आदि नहीं,मध्य नहीं, अन्त नहीं। वह तो सुधा रस का सागर है, जहाँ से चाहो पीलो, जहाँ चाहो नहा लो। सर्वत्र एक सा ही गुण.एक सा ही स्वाद एक सी ही प्रसन्नता है।

हाँ, तो आप यह बता रहे थे, कि द्रोण पुत्र अश्वत्थामा ने द्वेष वश पांडुवंश को निर्मूल करने के लिये, उत्तरा के गर्भ में स्थित महाराज परीक्षित् को मारने के लिये और पांडवों को मारने के लिये ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित करके पृथक्-पृथक् छः बाण छोड़े। भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से पांडवों की ओर आये हुए बाणों को तो काट दिया, किन्तु अब हमें यह बताइये कि उस गर्भ के बालक की रक्षा भगवान् ने कैसे की? भगवान् ने ही कृपा करके जिनकी गर्भ में रक्षा की, बिना साधन के ही गर्भ में जिन्हें भगवान् के दर्शन हो गये, उन महाभाग परीक्षित् के जन्म कर्म और देह त्याग के वृतान्त को हम सब विस्तार के साथ सुनना चाहते हैं। अन्त समय व्यास नन्दन श्रीशुकदेवजी ने उन्हें कैसे और कहाँ किस प्रकार का उपदेश दिया? यह भी समझाइये और इस बात को भी बताइये, कि अन्त में उन्हें कौन सी गति प्राप्त हुई इन सब बातों को सुनने के लिये हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है। यदि आप उचित समझें और हमें उस कथा को सुनाने का अधिकारी मानते हों तब तो सुनाइये और यदि कोई

रहस्य की बात हो, जो सबके सामने कहने में संकोच हो, तो उसे रहने दें, और अन्य चरित्र सुनावें।"

ऋषियों के ऐसे कोमल भक्ति और उत्सुकता पूर्ण प्रश्न को सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"मुनियो ? आप से अधिक इस कथा को सुनने का उत्तम अधिकारी और कौन होगा ? आप ही तो इसके श्रवण करने के पुनीत पात्र हैं। आपके द्वारा ही प्रकट होकर तो ये पुण्य कथाएँ संसार में प्रसिद्ध होकर माया बद्ध संसारी दुखी जीवों के पाप तापों को सदा नष्ट करती रहेंगी। मैंने विषयान्तर नहीं किया। आपने मुझ से महाराज परिक्षित् के जन्म का वृत्तान्त पूछा था, मैंने उनके पूर्वजों का वृत्तान्त बताकर भगवान् वासुदेव ने जैसे गर्भ में उनकी रक्षा की वह बात बताई। भगवान् तो द्वारका जाने को उत्सुक थे, उन्हें मैं वहीं छोड़कर आपसे आगे की कथा कैसे कहता ? अब भगवान् अपने अन्तःपुर में आ गये। सभी पुरजन, राज्य और नगर के लोग हर्षित हो गये। अब मैं भगवान् को पहुँचाकर इधर हस्तिनापुर की कथा कहूँगा। फिर हमारी कथा का मुख्य उद्देश्य तो भगवत् चरित का ही वर्णन है जो अवसर पर मुझे सहज ही प्राप्त हो गया था उसे मैं कैसे छोड़ता ?"

इतना सुनकार शौनकजी ने शंका की—"सूतजी ? हमने तो ऐसा सुना है कि ब्रह्म तेज से दग्ध होकर महाराज परीक्षित् मृतक होकर ही माता के गर्भ से निकले थे। उन्हें मृतक देख कर सब लोग विलाप करने लगे। तब श्रीकृष्ण भगवान् वहीं विराजमान थे। उन्होने अपनी योग शक्ति से उस बालक को स्पर्श करके जिला दिया और आप अब भगवान्

पहुँचा कर तब श्रीपरीक्षित् के जन्म की कथा कह रहे हैं, तो क्या परीक्षित् जी के जन्म के समय भगवान् फिर हस्तिनापुर आये थे ? हमारे इस संदेह को दूर किजिये ।'

शौनक जी के प्रश्न को सुनकर सूतजी कहने लगे—"भृगु वंशावतंश श्रीशौनकजी ! ऐसी कथा मैंने भी सुनी है। किसी कल्प मे ऐसा भी हुआ होगा । किन्तु इस भागवती कथा के प्रसंग मे ऐसी घटना का घटित होना भगवत् कृपा के महत्व घटाना है, भगवान् की भक्तवत्सलता को कम करना है। भगवत कृपा के सम्मुख ब्रह्मास्त्र की क्या शक्ति है, कि वह किसी को मार सके ? महाराज परिक्षित का गर्भ में बाल भी बाँका नही हुआ। वहाँ तो उन्होंने एक अद्भुत घटना देखी। उसकी तो परीक्षा करते-करते वे परीक्षित् के नाम से प्रसिद्ध हुए । अब सुनिये, सब वृत्तान्त मैं आपको आदि से ही सुनाता हूँ।"

भगवान् वासुदेव द्वारका को चले गये। धर्मराज युधिष्ठिर धर्म पूर्वक अपनी समस्त प्रजा का पुत्रवत् पालन करने लगे जिर पर समस्त ऐश्वर्य के निधि, समस्त कामनाओं के पूर्ण करने वाले, कल्पवृक्ष स्वरूप लक्ष्मीपति भगवान् सन्तुष्ट हैं, उनके ऐश्वर्य का वर्णन करना व्यर्थ है। पांडुपुत्र महाराज युधिष्ठिर को कमी ही किस बात की थी ? संसार में सुख के कारण धन सम्पत्ति, पुत्र पत्नी परिवार, राज्य ऐश्वर्य यश और पुण्य कार्य आदि इतने ही बताये जाते हैं। धर्मराज की सम्पति की कोई गणना ही नहीं थी, उन्होंने इन्द्रप्रस्थ में रह कर भी राजसूय प्रभृति अनेक यज्ञयाग और पुण्यादि कर्म किये थे, उनकी पत्नियाँ उनके अनकूल कुलीन और सुन्दर थी, उनके

सभी भाई लोकपालों की भाँति पराक्रमी शूरवीर, विश्वविजयी और देवताओं द्वारा भी प्रशंसित और सम्मानित थे। समस्त जम्बूद्वीप के वे एकछत्र सम्राट थे। पृथ्वी पर उनका प्रतिस्पर्धी दूसरा कोई भी बली राजा नहीं था। पृथ्वी पर ही नहीं, स्वर्ग पर्यन्त उनका अमल यश व्याप्त हो रहा था। उनके चारु चरित्रों और पुण्य पराक्रमों का गायन स्वर्ग मे सिद्ध, चारण, गन्धर्व बड़े ही सम्मान के साथ करते थे। इतना सब होने पर उनका चित्त सदा श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में ही लगा रहता था। ये विपुल वैभव, अटूट सम्पत्ति उनके सुख का कारण नही कही जा सकतीं। उन्हें सुख तो भगवान् वासुदेव की निरन्तर स्मृति से ही मिलता था। ये संसारी सुखभोग तो उनके लिये भारभूत थे। कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से वे इन्हें अनिच्छापूर्वक भगवत् आज्ञा समझ कर वहन कर रहे थे। आप ही सोचो—जिसने मिश्री का स्वाद चख लिया है, उसे चीनी का मैला सीरा कब अच्छा लगने लगा? जिसने गङ्गाजी स्नान कर लिया है, उसे मरुभूमि के कीच और मेढ़कों से भरे गन्दे तालाब का स्नान कैसे अच्छा लग सकता है। जिसने कमल, पाटल, गुलाब, चम्पा, जूही, चमेली आदि की मालायें धारण की हैं, उन्हें कुरूप कागजों के फूलों की बनी मालायें कैसे भा सकती हैं? फिर उनका चित्त तो एक ही है, वह तो लगा हुआ था श्यामसुन्दर में विषयों का भोग तो मन के द्वारा ही होता है न? एक आदमी भूखा है, भूख से व्याकुल हो रहा है, उसका मन स्वादिष्ट भोजन की ही चिन्ता में लगा है। उसे आप सुगन्धित मालायें पहिनाइये कस्तूरी केशर कपूर से मिश्रित चन्दन लगाइये, सुन्दर सुसज्जित शैया पर शयन कराइये, दिव्य से दिव्य अङ्गराग ?

लगाइये, नाना प्रकार के गायन वाद्यों के द्वारा उसकी स्तुति कराइये, किन्तु उसका मन तो भोजन में ही लगा रहेगा। ये सब उसे विषवत् प्रतीत होंगे। इसी प्रकार धर्मराज का मन तो भगवान् में लगा था। अतृप्त भाव से वे उन्हीं की चिन्ता में सदा संलग्न रहते थे,इसीलिये सांसारिक भोगों की बहुलता उनके सुख का कारण न बन सकी। उन्हें यदि कोई कभी चिंता होती भी तो एक ही होती कि इस भरतवंश के अनुरूप कोई भगवत् भक्त उत्तराधिकारी हमारा हो जाय, जिसके ऊपर राज्य भार डाल कर, हम सदा श्रीकृष्ण-स्मरण कीर्तन में ही अपना काल व्यतीत कर सकें।

इधर अभिमन्यु के आत्मस्वरूप महाराज परीक्षित् अपनी माँ उत्तरा के गर्भ में बढ़ने लगे। गर्भ में ही उस तेजस्वी बालक ने देखा, कि किसी अस्त्र का असह्य जाज्वल्यमान तेज बड़े वेग से उनकी ओर जलाने के निमित्त आ रहा है। किंतु अस्त्र की उष्णता उन तक पहुँचने ही नहीं पाती, क्योंकि कोई कृष्ण वर्ण बालक हाथ में गदा लिये हुए बड़े वेग से घुमाता हुआ, ब्रह्मास्त्र से उनकी रक्षा कर रहा है। महाराज परीक्षित् गर्भ में ही उस विचित्र बालक को देख कर विस्मित हो गये। वह आकार में बहुत बड़ा भी नहीं था। अँगूठे के परुए के बराबर था, किन्तु उसका तेज करोड़ों सूर्य के समान था। जैसे अलात चक्र घूमकर अपना एक तेजस्वी मण्डल बना लेता है, ऐसे ही उसने गदा घुमाते-घुमाते अपना एक प्रकाशमय मण्डल बना लिया था। उसका स्वरूप अत्यन्त ही मनोहर और निर्मल था। शिर पर सुवर्ण का सुन्दर मुकुट शोभायमान था। जिसमें असंख्यों दिव्य मणियाँ झलमल-झलमल करती हुई प्रकाशित हो रही थीं। परम सुन्दर साँवले

शरीर पर वर्षाकालीन विद्युत के समान परम शोभायमान पीताम्बर फहरा रहा था। अत्यन्त विकसित कमल के समान सुन्दर, सुघड़, सुहावने लाल-लाल निर्मल नेत्र थे, कानों में कमनीय कुण्डल धारण कर रखे थे। वह दिव्य बालक अपनी चमकीली गदा से ब्रह्मास्त्र को उसी प्रकार शांत कर रहा था जैसे उदित हुए सूर्य कुहरे को शान्त कर देते है अथवा घर के अन्धकार को दीपक भगा देता है, अथवा रात्रि के तम को चन्द्रमा नष्ट कर देते हैं। उस इतने छोटे बालक को ऐसा अद्भुत पराक्रम करते देखकर गर्भ मे विराजमान उत्तरानन्दन सोचने लगे—यह कौन है ? मेरा कोई दूसरा भाई ही तो नही है ? किन्तु यह मेरी भाँति जरा नामक भिल्ली से आबद्ध नहीं है, सब तरह से बन्धन मुक्त है। इनका तेज अधिक होने पर भी असह्य नहीं है। निर्मल और शांत है। यह अस्त्र जो मुझे जलाने को मेरी ओर आ रहा है, इसे नष्ट करता हुआ यह मेरी रक्षा इस प्रकार क्यों कर रहा है ? भली-भाँति की तर्कना करते-करते वह गर्भगत बालक दस महीने तक उसी विचित्र बालक का ध्यान चिन्तन करता रहा। जब दस महीने पूरे हो गये, तब वह दिव्य तेज वहीं तिरोहित हो गया और नष्ट हुए भरतवंश को बढ़ाने वाले अभिमन्यु सुत उत्तरा के गर्भ से बाहर आये।

उस समय सभी शुभ ग्रह अनुकूल थे। वायु शीतल-मद-मन्द सुगन्धित बह रही थी। न बहुत गर्मी थी, न सर्दी। शरद्ऋतु का सुहावना समय था। जिस लग्न में जन्म लेने से बालक के सभी सद्गुणों का विकास होता है उसी परम शुभ लग्न में महाराज परीक्षित् का जन्म हुआ। जब यह समाचार

महाराज को सुनाया तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं नहा। उन्होंने कोषाध्यक्ष को बुलाकर आज्ञा दी—"आज खजाना खोल दो। जो भी आकर जिस चीज की याचना करे, उसे वही चीज बिना विलम्ब दे दो।'

हजारों लाखों दूध वाली सवत्सा गौएँ—जिनके खुर चाँदी से मढ़े थे, सींगों में सुवर्ण लगा था, जिनके साथ काँसे की बड़ी-बड़ी दोहनी थी, ऐसी वस्त्र उढ़ाई हुई पयस्विनी कपिला गौएँ-महाराज ने ब्राह्मणों को दी दान। सुवर्ण चाँदी की असंख्यों मुद्रायें, रत्न, मणि, मुक्ता—जिसने जो भी माँगा, महाराज ने सबको दिया। उस समय महाराज प्रेम मे इतने विह्वल हो गये थे,कि उनके मुख से वाणी नही निकलती थी, हाथ काँप रहे थे। उत्तरा के पुत्र क्या हुआ, मानों अपने वश को बढ़ाने लिये फिर से महाराज पांडु ही आ गये हों। उन्होंने धौम्मी कृपाचार्य आदि अपने कुल पुरोहितों को बुलाकर वेद विधि से बालक के जाति कर्म आदि संस्कार किये और जब तक नाल-छेदन न हुआ तब तक वे बराबर ब्राह्मणो को विविध प्रकार के दान देते ही रहे। वे कितना भी देते थे, फिर भी उनकी तृप्ति नही होती थी। वे चाहते थे—आज अपने सम्पूर्ण राज्य को लुटा दें। उनकी ऐसी उदारता देखकर सभी ब्राह्मण, आश्रित तथा याचक बहुत ही सन्तुष्ट हुए और अन्तःकरण से नवजात शिशु की मङ्गल कामना करने लगे, भाँति-भाँति के आशीर्वाद देने लगे।

धर्मराज हाथ जोड़े हुए बड़े विनीत भाव से ब्राह्मणो के आगे बैठे थे। उन्हें उस प्रकार विनय से युक्त और नम्र देख कर ब्राह्मणो ने महाराज युधिष्ठिर से कहा—"राजन्! यह बड़े मङ्गल की बात है, कि आज आपके घर पुत्र-रत्न का जन्म

हुआ। काल की गति दुर्निवार है। देखिये, कितना समृद्धिशाली सम्पूर्ण वंश ही एक प्रकार से नष्ट प्राय हो चुका था, किन्तु विष्णु भगवान् ने कृपा करके आपको यह वंशधर श्रेष्ठ पुत्र प्रदान किया। यह पुत्र विष्णुना रातः (दत्तः) इसलिये इसका नाम 'विष्णुरात' ऐसा होगा और आप इस बच्चेको साधारण बालक ही न समझें। यह संसार में बड़ा यशस्वी, श्रेष्ठ, भगवत् भक्त और सज्जनों का प्रतिपालक, कल्प वृक्ष के समान सबकी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला होगा।"

ब्राह्मणों के मुख से अपने पौत्र के सम्बन्ध मे ऐसी भविष्य-वाणी और आशीर्वचन सुनकर महाराज युधिष्ठिर को परम हर्ष हुआ। उन्होंने सभी ब्राह्मणों की श्रद्धाभक्ति सहित वन्दना की।

छप्पय

सुनत परीक्षित् जन्म हर्ष चहुँ दिशि में छाये।
नगर राज्य सर्वत्र विविध विधि बजत बधाये॥
वेद विज्ञ बहु विप्र युधिष्ठिर वेगि बुलाये।
दिये दान बहु ग्राम अन्न धन रतन लुटाये॥
कहैं विप्र—'ये जगत में, विपुल अमल यश पायँगे।
विष्णु वीर्य रक्षित नृपति, विष्णुरात कहलायँगे॥

महाराज परीक्षित् के जन्म-ग्रहों का फल

(४०)

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान्महात्मनः ।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १२ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

पृथा पुत्र पुनि कहें—पुत्र के ग्रह फल भाखें ।
बोले विप्र—"तुम्हार पौत्र कुल गौरव राखे ॥
विप्र भक्त, दुर्धर्ष दयामय दाता दुस्तर ।
क्षमाशील गुणवान् सत्यवादी सब सुखकर ॥
शूर सिंह सम समर प्रिय, परम वीर विजयी बड़े ।
रहें द्वार पै बाँधिकर, आज्ञाहित भूपति खड़े ॥

पुत्रोत्पत्ति के समय को शास्त्रकारों ने प्रजातीर्थ बताया है । उस समय में और व्यतीपात में दिया हुआ दान अक्षय बताया गया है । उसका कभी नाश नहीं होता । पुत्रोत्पत्ति के समय

* महाराज युधिष्ठिर वेदज्ञ विप्रों से पूछते हैं–हे "श्रेष्ठ विप्रो ! आप यह बतावें कि यह बालक क्या अपने उत्तम यश के द्वारा पुण्य कीर्ति वाले जो अपने पूर्वज राजर्षि महात्मा हुए हैं, उनके पथ का अनुसरण कर सकेगा ?"

कितना हर्ष है, उसे पुत्र परिवार हीन पुरुष अनुभव कर ही नहीं सकता। संसार में आत्मा सबसे प्रिय मानी गई है। वही आत्मा जब जाया के उदर में नवीन होकर—सुन्दर सुकोमल छोटा सा सुहावना रूप रखकर—फिर से पैदा होती है, तो पिता पितामह को अपार हर्ष होता है। बहुत पुत्र होने पर हर्ष की मात्रा कम भी हो जाती है, अथवा धनहीन पुरुष के बहुसंतति होने से उसे हर्ष मिश्रित दुःख भी होता है, किन्तु जो वंश निर्मूल हो रहा हो जिसमें आगे कोई पितरों को पिण्ड पानी देने वाला, पुरुष न रहा हो, उस समृद्धिशाली वंश में यदि वंश बढ़ाने वाला बालक उत्पन्न हो जाय तो उस परिवार की प्रसन्नता का वारापार नहीं रहता।

आज महाराज युधिष्ठिर के महलों में भीतर, नगर और सम्पूर्ण राज्य में भी उसी प्रकार का अपार आनन्द छाया हुआ है। महाराज युधिष्ठिर के बच्चे का भविष्य जानने को बड़े उत्सुक हैं। पुत्र यदि हुआ, और वह वंश के अनुरूप आचरण करने वाला न हुआ, तो उनका होना न होना बराबर ही है। धर्मराज को वंश वृद्धि की उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी कि अपने पूर्वजों की विमल कीर्ति को अक्षुण्ण बनाने रखने की थी। वे चाहते थे—मेरे वंश में सभी भगवत् भक्त हों। भरतवंश की कमनीय कीर्ति में कोई कालिमा न लगा सके। इसीलिये उन्होंने राज्य भरके सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भविष्य वक्ता, ज्योतिषी और ग्रहों के फल बताने वाले गणकों को एकत्रित करके उनसे पूछा—"महानुभावो ! आप अपनी विद्या के प्रभाव से भूत भविष्य और वर्तमान, तीनों कालों की बातें जान सकते हैं। मेरे यहाँ जो यह पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है, उसकी लग्न ग्रहों को देखकर उनका जो फल हो, वह मुझे आप स

क्या यह बालक हमारे वंश के अनुरूप होगा ? जैसे मेरे पितामह, प्रपितामह की संसार में अभी तक ख्याति बनी हुई है क्या यह भी उन्ही की भाँति पुण्य कीर्ति वाला होगा ? सबसे अधिक चिन्ता मुझे इस बात की है,कि यह वैष्णव और ब्राह्मणों का कभी अपकार तो न करेगा ? क्या यह भगवान् और भगवत् भक्तो का कृपापात्र बन सकेगा ?"

महाराज युधिष्ठिर के प्रश्न को सुनकर दैवज्ञ ब्राह्मणो ने नवजात बालक की लग्न निकाली और यथा स्थानों में ग्रहों को रखकर वे उनका फलाफल विचार करने लगे। सब विचार कर वे विप्र वृन्द बोले—'महाराज ! हमने बहुत से बच्चों के लग्न देखे है, किन्तु जितने शुभ ग्रह इनके उदित हुए हैं, उतने शुभ ग्रहो को एक साथ उत्तम स्थानों में हमने आज तक नही देखा।"

ब्राह्मणों की बात सुनकर धर्मराज हृदय से अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और गद्गद कण्ठ से कहने लगे—"सम्माननीय विप्रों ! मैं सिर से आप सबको प्रणाम करता हूँ। मैं कुछ ग्रहो के फल सुनना चाहता हूँ। कुछ आप सबकी परीक्षा के निमित्त नही, अपनी उत्सुकता मिटाने के लिये। अपने कुल की वृद्धि के लिये मेरे मनमें बड़ी व्याकुलता है। राजा का सर्वश्रेष्ठ गुण है प्रजा का पुत्र की भाँति पालन करना। जिस राजा में यह गुण नही वह राजा कहलाने के योग्य नही। वह या तो व्यापारी है या दस्यु है। उसका प्रजा हृदय से आदर नही करती और छिद्र पाते ही उसे सिंहासनाच्युत कर देती है।"

ब्राह्मण बोले—"राजन् ! ये प्रजा को इसी तरह प्रिय होंगे जैसे महाराज मनु सबको प्रिय थे। ये अपने पुत्रों में और

प्रजा के पुत्रों में कोई भी भेद भाव न करेंगे। यदि अदण्ड्य होगा, तो शत्रु पुत्र को भी दण्ड न देंगे और यदि दण्ड्य हुआ, तो अपने सगे और सुपुत्र को भी बिना दण्ड दिये न मानेंगे। इनकी प्रजा में जो भी रहेंगे उनका पुत्रवत् पालन करेंगे।"

इस पर धर्मराज बोले—"विप्रो! कुछ धर्महीन दुष्ट जैसे राजा भी होते हैं, जो वेदज्ञ ज्ञानी ब्राह्मणों को अच्युत गोत्री श्री भगवान् के अनन्य भक्तों को जो उनके राज्य मे रहकर तपस्या और भगवत् भक्ति में निरत रहते है—उन्हें भी वे अपनी प्रजा समझते हैं और उनपर भी अपना शासन चलाना चाहते है? इसी से उनका नाश हो जाता है। यह ऐसा तो नही होगा? यह विद्वान् ब्राह्मणो और भक्तो की सेवा तो करेगा? जिससे जिस बात की प्रतिज्ञा कर लेगा, उसे प्राणपन से पूरी तो करेगा?

ब्राह्मणों ने कहा—"महाभाग! इनके शुभ ग्रह बतला रहे हैं, कि जैसे उसी नरदेश के राजा शिवि शरणागतवत्सल और दाता थे वैसे ही ये भी होगे। महाराज शिवि ने अपनी शरण में आये हुए कबूतर के लिये अपने शरीर का मांस भी बाज को दे डाला था। इसी तरह इनकी शरण में चाहे इनका घोर शत्रु ही क्यों न आजाय ये उसकी सब प्रकार से रक्षा करेंगे। किसी के लिये भी कोई वस्तु इनके लिये अदेय न होगी ये कल्पवृक्ष के समान सबकी अभिलाषाओं को पूर्ण करते रहेगे।"

धर्मराज ने पूछा—"इसके कोई ऐसे ग्रह भी पड़े हैं, पुण्य कर्म करके संसार में यशस्वी होकर अन्त मे अधिकारी हो?"

ब्राह्मण बोले—"हे नरनाथ ! इनकी कुण्डली में एक बड़ा विचित्र गुरु-चान्द्री योग पड़ा है। ज्योतिष शास्त्र का मत है कि ये बृहस्पतिजी तो देवताओं के गुरु हैं और चन्द्रमा ब्राह्मणों के गुरु हैं। ये दोनों शुभ ग्रह जहाँ भी, जिस स्थान में मिलकर भाग्य विधातृत्व स्वीकार कर ले, उस व्यक्ति के सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। उसका संसार में बड़ा यश होता है। वह देवता और ब्राह्मणों का भक्त होता है। इसलिये आपके पूर्वज जैसे महाराजा भरत परम यशस्वी हो गये हैं, जिनके नाम से आज तक आपका वंश भरतवंश कहलाता है, उसी प्रकार ये भी अनेक अश्वमेधादि यज्ञ करके पृथ्वी पर अपने कुल के यश का विस्तार करेंगे।"

धर्मराज ने पूछा—"हे भूदेवो ! राजा के लिये अर्थ, काम के सहित धर्म का सेवन करना चाहिये। यदि यह निरन्तर यज्ञ याग में ही लगा रहा और अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास न किया, तो शत्रु दुर्बल समझकर इसके राज्य को छीन लेंगे। इसलिये यशस्वी होने के साथ ही यह कुछ धनुर्वेद का भी ज्ञाता होगा क्या ?"

विप्रो ने कहा—"हे नरेन्द्र! ये सामान्य योद्धा न होंगे। ये अपने पितामह अर्जुन के समान या यदुवंश में जो परम प्रतापी सहस्रार्जुन हुए है, उनके समान शूर-वीर और धनुर्धर होंगे। जहाँ ये धनुष की टङ्कार करेंगे, वहीं के सभी शत्रु टङ्कार सुनते ही भयभीत हो जाया करेंगे क्योंकि इनका गुरु-चान्द्री योग दशमेश होकर केन्द्र त्रिकोण में स्थित है, अतः यह प्रबल प्रतापी राजा होंगे। इनको अग्नि की भाँति कोई स्पर्श नहीं कर सकता। ये बड़े तेजस्वी और प्रभावशाली होंगे। इनके मनोगत

गूढ़ भावों को भली-भाँति कोई समझ न सकेगा, समुद्र के समान शांत गम्भीर और दुस्तर होंगे। जैसे सिंह को देखते ही वन के सभी जीव डर कर इधर-उधर भाग जाते हैं, उसी प्रकार इनके पराक्रम के आगे कोई ठहर न सकेगा।"

धर्मराज बोले—"विप्रो! यह तो अच्छी बात नहीं हुई, कि कोई इसके प्रभाव को देखकर इसके पास न ठहर सके। जब यह इतना डरावना होगा, तो कोई इसके समीप कैसे रहेगा?"

ब्राह्मणों ने कहा—"हे शरणागतवत्सल राजन्! पराक्रमी होने पर भी ये हिमालय के समान सभी के लिये सेव्य होंगे। इनका पराक्रम शत्रुओं के लिये होगा। स्वजनों को तो ये गौ के समान सुखदायी और प्रिय होंगे। ये माता के समान अङ्क में बिठाने वाले और पिता के समान पालनकर्ता होंगे। जैसे पृथ्वी अपने ऊपर रहने वाले समस्त जीवों के अपराधों को क्षमा करती है, जैसे माता पिता बालकों के दोषों को क्षमा करते रहते हैं, उसी प्रकार ये अपने आश्रितों के अपराधों को सहिष्णुता और तितिक्षा के कारण क्षमा करते रहेंगे।"

धर्मराज ने कहा—"आश्रितों के अपराधों को क्षमा कर दिया और निरपराध क्षत्रियों को अपना प्रभाव जमाने को सताते रहे, यह भी तो ठीक नहीं है?"

विप्रों ने कहा—"धर्मावतार! इनके ग्रन्थों के फल से प्रतीत होता है कि ये लोक पितामह जैसे अपने सभी पुत्र-पौत्र देव, दानव, दैत्य, यक्ष राक्षसों को समानभाव से समझते हैं, जिसका जिस कार्य से कल्याण देखते है, उनके लिये वही कार्य करते हैं, उसी प्रकार ये सभी लोगों के साथ समानता व्यवहार करेंगे। दण्ड देने योग्य जो भी होगा समान न

दण्ड देंगे। अनुग्रह करने योग्य पर शत्रु-मित्र का बिना विचार किये अनुग्रह करेंगे।"

महाराज युधिष्ठिरने कहा—"हे शुभाशुभ के ज्ञाता, भूसुरो! बहुत से राजा ऐसे होते हैं, कि उनकी चिरकाल तक सेवा शुश्रूषा करो तब कहीं जाकर किसी पर प्रसन्न होते हैं, किसी पर नहीं भी होते। यह ऐसा तो न होगा ?"

ब्राह्मण बोले—"राजन् ! इनकी लग्न में जो गुरु हैं, वे अपने स्थान से नवें स्थान को पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं, शनि दशम को देख रहे है और मङ्गल आठवें को, इसलिये इनका फल हम क्या बतावें, किसकी उपमा दें ? आप यही समझें कि ये शिवजी के समान आशुतोष और रमावल्लभ भगवान् वैकुण्ठ-नाथ के समान सबके आश्रय और सेवनीय होंगे। जिस प्रकार श्रीकृष्ण सम्पूर्ण गुणों के एक मात्र आश्रय हैं बस उसी प्रकार के से ग्रह इनके भी पड़े।"

धर्मराज बोले—"विप्रो ! गुणवान होगा, यह तो अच्छा ही है, किन्तु चाहें मनुष्य में करोड़ों गुण क्यों न हों, यदि उनमें उदारता नहीं, उसका हृदय कृपण है, तो उसके सभी गुण व्यर्थ हो जाते हैं। कंजूसी एक ऐसा दुर्गुण है, कि जैसे मनुष्य सर्वाङ्ग सुन्दर देव तुल्य हो, और उसके मुख पर थोड़ा सा कुष्ठ हो, तो जैसे वह थोड़ा सा कुष्ठ सभी सौन्दर्य को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार कृपणता सभी सद्गुणों पर पानी फेर देती है। कहीं यह अनुदार, कंजूस तो न होगा ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"हे महामना ! प्राचीन काल में आपके वंश मे रन्तिदेव नाम के राजर्षि हुए हैं। उन्होंने ४८ दिनों उपवास के पश्चात् भी मिले हुए अपने भोजन को उदारता

वश अतिथियों को बाँट दिया। उसी प्रकार ये उदारता होंगे आपके पूर्वज महाराज ययाति बड़े धार्मिक थे। उन्होंने समस्त पृथ्वी के अपने राज्य में यह घोषणा करा दी थी, कि जो भगवन्नाम कीर्तन न करेगा उसे प्राण दण्ड दिया जायगा। उनके राज्य में घर घर भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन होता था सर्वत्र कृष्ण-कथा प्रचार था। एक भी मनुष्य धर्महीन नहीं था। अधर्म के ही कारण जरा, मृत्यु दुःख, आधि व्याधि आदि उपद्रव होते हैं। जब उनकी सम्पूर्ण प्रजा धार्मिक हो गई, तो न तो कोई मरता ही था और न वृद्ध ही होता था। आधि व्याधि रोगों का तो कोई नाम भी नहीं जानता था। उनकी ऐसी धर्मनिष्ठा देखकर इन्द्र, यम, कुबेर आदि सभी बड़े घबड़ाये और उन्हें छलने को किसी प्रकार षड्यन्त्र रचकर वृद्धावस्था को भेजा। जिस प्रकार महाराज ययाति धार्मिक थे। उसी प्रकार ये भी धार्मिक होंगे। इसके राज्य में सर्वत्र कृष्ण कीर्तन और कृष्ण-कथा का ही गायन होता रहेगा स्वयं भी ये नाम संकीर्तन और कृष्ण-कथा के रसिक शिरोमणि होंगे। धैर्य में ये दैत्यराज बलि के समान और प्रह्लाद के समान, श्रीकृष्ण में दृढ़ निष्ठा रखने वाले होंगे ये बहुत अश्वमेध यज्ञ करेंगे, बड़े बूढ़ों की सब प्रकार से सेवा करेंगे और अपने समान ही कई राजर्षि पुत्रों को पैदा करके पितरों के ऋण से उऋण होंगे। जो भी अन्याय करेगा उसी का ये दमन करेंगे। यहाँ तक की धर्म रक्षा के लिये साक्षात् कलियुग का भी निग्रह करेंगे। उसे मारने को ये उद्यत हो जायेंगे ?"

धर्मराज ने पूछा—"ये सब तो बड़े शुभ ग्रह हैं, किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ—इसकी अन्तिम गति कैसी है. पाट में ही अन्त तक आसक्त तो न बना रहेगा ?

के द्वारा उत्तम लोकों की प्राप्ति के भी कोई योग पड़े हैं, इसकी जन्म लग्न में ?"

विप्रों ने कहा—"राजन् ! कुछ एक गड़बड़ सी बात है, किसी विप्र के शाप से ये राज्य-पाट को छोड़ देंगे।"

धर्मराज घबडाये और बोले—"राज्य-पाट छोड़ देंगे, फिर क्या होगा ? मृत्यु कैसे होगी ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"ज्योतिष के हिसाब से ऐसा आता है, कि कोई रक्षक नामक का नाग इन्हें डस लेगा।"

धर्मराज का मुख मण्डल फक पड़ गया और दुखी होकर वे बोले—"विप्रो ! यह तो अच्छी बात नहीं हुई। विष खाकर मरने से, पेड़ से गिरकर मरने से, सर्प काटने से अथवा जल मे डूबकर मरने से अपमृत्यु बताई गई है। ऐसे लोगों की सद्गति नही होती। इन्हें प्रेतयोनि में जाना पड़ता है। क्या, अन्त में इसकी दुर्गति होगी ? क्या इसे पुण्यलोकों की प्राप्ति न हो सकेगी ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"धर्मराज ! आप इस बात की तनिक भी चिन्ता न करें। इनकी दुर्गति तो कभी हो ही नहीं सकती। इनकी जन्मकुण्डली में प्रव्रज्या योग, भक्तियोग—ये दोनों योग उत्तम रीति से साथ ही पड़े हैं। अतः ये शाप की बात सुनते ही राज्य पाट, धन-धान्य, स्त्री, पुत्र पुत्र सभी का परित्याग करके पुन्य-तोया, दुर्गति निवारिणी, भगवती भागीरथी के तटपर जाकर बैठ जायेंगे। वहाँ भक्तियोग के द्वारा श्रीहरि के चरणारविन्दों की शरण लेंगे। उसी समय स्वेच्छा से विचरते हुए आ जायेंगे। उनसे ये आत्मज्ञान की जिज्ञासा करेंगे।"

धर्मराज ने पूछा—"शापित होने पर अल्पकाल मे ही यह आत्मज्ञानी होकर निर्भय पद को कैसे प्राप्त कर सकता है ?"

ब्राह्मणों ने कहा—" हे अच्युतप्रिय ! जिनके ऊपर भगवत् कृपा होती है, जिनके ऊपर साधु महात्मा स्वतः आकर अनुग्रह करते हैं, उनके लिये ससार में दुर्लभ वस्तु कुछ नहीं है । व्यासनन्दन शुक जन्म से ही त्यागी, विरागी और संन्यासी हैं । वे कृपा कर जिसकी ओर एक बार देख दें, वही इस संसार सागर से पार होकर मुक्त हो सकता है । फिर इन्हें तो वे सात दिनों तक दिव्य-दिव्य भागवती कथाओ को सुनायेंगे । इनके सभी संशयों का छेदन करके, इनके सभी जटिल प्रश्नों का उत्तर देंगे । ऋषियों की मण्डली मे, श्रीकृष्ण कथा सुनते-सुनते, भगवन्नाम संकीर्तन करते-करते पुण्यतोया सुरसरि के तीर पर जब ये अपने प्राणो का त्याग करेंगे, तब दुर्गति कैसे हो सकती है ? ये भक्तियोग के द्वारा निस्संदेह निर्भय पद को प्राप्त करेंगे । जहाँ जाकर फिर इस संसार मे पुनः नहीं लौटना पडता ।"

ब्राह्मणों की इस अन्तिम बात को सुनकर धर्मराज की चिन्ता दूर हो गई । उन्होंने सोचा—"कोई बात नही, यदि विप्र, शाप से कृष्ण कथा सुनने को मिले और अन्त मे निर्भय पद की प्राप्ति हो, तो वह शाप शाप न होकर वरदान ही है । जीवन का एकमात्र फल भगवत् प्राप्ति ही है । भगवत् प्राप्ति हो जाय, तो क्षण भर का ही जीवन बहुत है । यदि भगवत्प्राप्ति न हो और एक अल्प की भी आयु हो तो निरर्थक है । यही सब सोचकर वे बड़े प्रमुदित हुए । उन्होंने उन ज्योतिष के ज्ञाता विप्रों को अनेक वस्त्र, आभूषण तथा रत्न आदि सामग्रियों द्वारा विधिवत् पूजा की ।

इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर को बालक परिक्षित् का भविष्य बताकर और उनके द्वारा की हुई पूजा को ग्रहण करके वे जातकर्म के फलों को जानने वाले ब्राह्मण अत्यन्त हर्ष के साथ अपने-अपने घरों को चले गये।

छप्पय

हुगे कृष्ण समान कुलागत काज करिङ्गे।
करि दुष्टनि को दमन, दुखित के दुःख हरिङ्गे॥
क्रोधित बालक विप्र शाप तें शापित हुङ्गे।
सर्व संग निर्मुक्त होहि हरि कथा सुनिङ्गे॥
श्रीशुक स्वेच्छा तें स्वतः, आकें कथा सुनायेंगे।
मुनि मण्डल मे त्यागि तनु, पुण्य परमपद पायगे॥

[गोपाल श्रीकृष्ण]

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(खण्ड ३)

★

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

●

संशोधित मूल्य २-० रु०

प्रथम संस्करण १००० प्रति] मार्गशीर्ष शुक्ल २०२९ दिसम्बर १९७२ [मूल्य २) रु०

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(खण्ड ३)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

पञ्चम संस्करण १००० प्रति] मार्गशीर्ष शुक्ल २०२९ दिसम्बर १९७२ [संशोधित मूल्य २-० रुपया मूल्य २) रु०

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
प्राक्कथन	१
१. धर्मराज का अश्वमेध यज्ञ करने का विचार	८
२. मरुत्त का यज्ञधन और धर्मराज का अश्वमेध यज्ञ	१८
३. श्री विदुरजी	३३
४. श्री विदुरजी का हस्तिनापुर में आगमन	४२
५. श्री विदुरजी का अपने भाई धृतराष्ट्र को वैराग्योपदेश	५२
६. श्री विदुरजी के साथ धृतराष्ट्र का गृहत्याग	६२
७. विपरीत धर्मों को देखकर धर्मराज की चिन्ता	८०
८. धर्मराज द्वारा देखे गये अपशकुन	१०२
९. द्वारका से अर्जुन का आगमन	१०९
१०. अर्जुन द्वारा उनकी कृपा का वर्णन	११८
११. खाण्डव दाह के समय की कृपा का वर्णन	१२६
१२. जरासन्ध वध के समय की कृपा का वर्णन	१३९
१३. द्रौपदी चीरहरण के समय की कृपा का वर्णन	१४७
१४. दुर्वासा के शाप से बचाने वाली कृपा का वर्णन	१५६
१५. शिव के साथ हुए युद्ध में कृष्ण कृपा	१६८
१६. निवात कवच वध के समय की कृपा का वर्णन	१८४
१७. गोधन हरण के समय हुए युद्ध की कृपा का वर्णन	१९२
१८. महाभारत युद्ध में हुई कृपा का वर्णन	१९९
१९. हाय ! मैंने हरि से रथ हँकवाया	२०९

॥ श्रीहरिः ॥

प्राक्कथन—

हे देव ! हे .. त ! हे भुवनैकबन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
हा ! हा !! कदा नु भवतासि पदं दृशोर्मे ?

पारसाल इन्हीं दिनों की बात है, ये ही श्रावण भादों के महीने थे। आषाढ़ की पूर्णिमा को यहाँ आकर बैठा था, कुटिया खँडहर हो रही थी। उसके आस-पास की कच्ची प्राचीर वर्षा से गिर गई थी। किसी तरह फूस की आड़ करके एक छोटा-सा घेरा बनाया। वैसे ही विनोद-विनोद में कहीं पाटल (गुलाब) की डालियाँ गाड़ दीं, कहीं यूथिका (जूही) के पौधे लगा दिये, कहीं मालती (चमेली) की लतर की डालियाँ तोड़कर खुरस दीं, कहीं छोटे-छोटे नन्हें-नन्हें दो-दो तीन-तीन अंगुल के पपीते के पेड़ रोप दिये। दो क्यारियों में विष्णु प्रिया श्रीतुलसीजी के बिरवा स्थापित कर दिये। पथ परिष्कृत करके पंक्तिबद्ध एक घास विशेष की डालियाँ गाड़ दीं। आशा नहीं थी, कि इस कंकड़ पत्थर की ऊसर-सी भूमि में ये बाल वृक्ष बढ़ जायँगे। मेरे बन्धुओं ने इस कृत्य को कुतूहल से देखा। किसी ने कहा—बढ़ने लगा परिवार। किसी ने कहा—अव्यापारेषु व्यापार है। किसी ने कहा—निष्फल प्रयास है। यहाँ काशी के कलमी आमों के पौधे कैसे होंगे ? अमरूदों का इस टीले की भूमि में बढ़ना असम्भव है। भगवान् भुवन भास्कर अपने लूले सारथि वाले

एक चक्र के रथ पर चढ़, इन सब कृत्यों को देखने नित्य आते। निशा आती। निशा रानी चुपके से ओस कण डालकर पौधों के मुख को चूम जाती, उनके कोमल अङ्गों में गुदगुदी कर जाती और भगवान मरीचिमाली को देखते ही घूँघट मारकर लजीली बहू की तरह भाग जाती। प्रातः उठकर मैं देखता—उन बाल पादपों के अङ्गों पर मोती से ओस कण लद रहे हैं। भगवान् दिनकर की दृष्टि पड़ते ही वे पिघल जाते। बाल होने से उनके तेज के सम्मुख मुरझा जाते, नतमस्तक होकर कुम्हिला जाते। संज्ञा और छाया के पति सूर्यदेव जब अपनी किरणों को बटोर कर, उन्हें लाल चद्दर में बाँधकर, अस्ताचल की ओट में छिप जाते, तब लाल साड़ी ओढ़कर स्नेहमयी भगवती निशा आती, इन पादपों को नहलाती, इनकी धूल पोछती, कुम्हिलाये हुए अङ्गों को बार-बार चूमती चाटती। इससे वे पुनः हरे-भरे हो जाते। निशानाथ अपनी पत्नी के ऐसे व्यापार को देखकर गगन में ही हँस पड़ते। उनका हास्य छिटक जाता, बिखर जाता, जिससे वे बाल पादप चमकने लगते। इस प्रकार निशा और निशानाथ की यह क्रीड़ा नित्य प्रति होती। अंशुमाली अपनी किरणों को बरजते नहीं थे, निशानाथ अपनी शीतलता को तजते नहीं थे। पीतवस्त्रधारी, ब्रह्मचारी वृन्द दयावश, भयवश, स्नेहवश, अथवा परवश होकर प्यासे पादपों को पानी पिलाकर परम पुण्य के भागी बनते। ग्रीष्म काल में जल दान करने से बढ़कर पुण्यप्रद कार्य त्रिभुवन में कोई भी नहीं। इस पुण्य का महत्व न जानने पर भी, ब्रह्मचारी वृन्दचारी वृन्द इसे परप्रेरणा से प्राप्त करते।

इन कार्यों में किसी को उल्लास था, किसी को झुँझलाहट, किसी को आशा थी, किसी को ईर्ष्या, किसी को उत्सुकता थी, तो किसी को कुतूहल। इन सब व्यापारों को देखते हुए काल भगवान चल रहे थे। वे एक क्षण भी न रुकते थे, न चकित

तथा विस्मित ही होते थे। बड़ी तत्परता से मैं उनके मुखमण्डल की ओर निहारता उसमें कोई परिवर्तन नहीं, इनकी महान् गम्भीर चेष्टा में कोई अन्तर नहीं। उनके लिये मानों सब खिलवाड़ है। सब बच्चे घरुआ-पाती बनाकर खेल रहे हैं। यह मेरा बाग, यह मेरा घर, यह मेरी दूकान, यह मेरा व्यापार। बच्चे यद्यपि उस धूल से यह सब बनाकर उसमें ममत्व कर रहे थे, लड़ रहे थे। मैं मेरा, तू तेरा—कहकर झगड़ रहे थे, किन्तु बच्चों की बात को क्या महत्व देना, ये तो बालक ही ठहरे। दिन होता, रात्रि हो जाती, रविवार होता, कुछ लोग नमक छोड़कर एक समय ही खाते, सूर्य का व्रत करते। सोमवार होता, शिवजी की पूजा का दिन है, बेलपत्र खोजते, मङ्गल होता, तो ज्योतिषी बताते आप पर मङ्गल देव की ग्रह है। चना खाओ, मङ्गल-व्रत करो। वह करना ही रहता, बुध आ जाते, ये सोम के सुत हैं, तारा के तनय हैं। यह बहुत अनिष्ट नहीं करते, फिर भी जन्म स्थान में चौथे, आठवें और बारहवें में दुःख तो देते ही हैं। दूसरे दिन देव गुरु बृहस्पति का दिन आ जाता। पीला खाओ, पीली वस्तु का दान करो। ये देवगुरु ब्राह्मणों पर सदा सौम्य रहते हैं, विद्या के दाता हैं। रात्रि बीती शुक्र देवता आ गये। देवता होने पर भी ये दैत्यों और असुरों के गुरु हैं। एक आँख से देखते हैं। एकाक्षी की जैसी दृष्टि होती है, सभी जानते हैं। यात्रा में सामने पड़ जायँ, तो गोविन्दाय नमो नमः। दूसरे दिन चींटी की तरह रेंगने वाले शनीवार आ गये। शनैः-शनैः चरणों के कारण ही ये शनैश्चर हैं। भगवान् इनकी दृष्टि से बचावें। अपनी बहूरानी के शाप से ये सदा दृष्टि नीची किये रहते हैं। जिसकी ओर इन्होंने देख दिया बस समझ लो उनका स्वाहा हो गया। बात की बात में एक सप्ताह हो गया। तिथि के हिसाब से आज सप्तमी हो गई। इसी भाँति चौदह

दिन बीते, कृष्णपक्ष समाप्त। अब लगा शुक्लपक्ष। सभी मुदित होते, अब तो इस पक्ष में चन्द्रमा निकलेंगे। मानों कृष्णपक्ष में चन्द्रमा कहीं छिप गये थे। मनुष्य प्राणी कितना स्वार्थी है। कृष्णपक्ष में भी चन्द्रमा उतने ही रहते हैं, जितने शुक्लपक्ष में, किन्तु कृष्णपक्ष में प्रायः वे तब उदित होते हैं, जब हम सोते ही रहते हैं। अतः हमारे लिये उनका उदय होना न होना बराबर ही है। शुक्लपक्ष में हमारे सोने से पहिले ही वे हँस जाते हैं, अतः वह शुक्लपक्ष, शुभ्र, सफेद पक्ष है। दो पक्ष मिल गये, श्रावण समाप्त हुआ। राखी बाँधने भादौं बहिन आई थीं, महीने भर सबके कहने से रह गईं। ग्यारह महीनों रूपी भाइयों की यह इकलौती बहिन है, इसलिये इस पर सब भाइयों का प्यार है। श्रीकृष्ण भी इसी में उत्पन्न हुए। वामन भगवान् का भी अवतार इसी में हुआ, गणेशजी भी इसी की चौथ को हुए। चन्द्रमा का देखना भी पाप समझा जाता है। अनन्त भगवान् का व्रत भी इसी में होता है। हाथों में पीला-पीला अनन्त बाँधते हैं। इस प्रकार भादौं बाई सबकी प्यारी है। सब खेत हरे-हरे हो जाते हैं, पृथ्वी शस्य-श्यामला बन जाती है। साठी धान पक जाते हैं, ककड़ी, नेनुआ, लौकी, तोरई सभी साग इस महीने में खाने को मिलते हैं। श्राद्धपक्ष भी इसकी पूर्णिमा से आरम्भ होते हैं। बहिन का आलिङ्गन करके, भैया आश्विन ने रोते रोते बहिन को विदा किया। जाते-जाते झर-झर आँसू बहाती हुई भादौं बहिन गई। क्वार आ गये। आश्विन में उत्सव ही उत्सव। पन्द्रह दिन ब्राह्मणों का स्वराज्य हो जाता है, जिस घर में देखो वहीं खीर घुट रही है, छन छन करती हुई पूड़ियाँ छन रही हैं, मोहन भोग की मीठी-मीठी सुगन्धि आ रही है। पन्द्रह दिन इतना खाओ कि सब कसर निकाल लो, अगला वर्ष किसने देखा है? शरदोत्सव की खीर सपोटते हुए ही क्वार

गये, कार्तिक आये। छोटी बड़ी दिवाली, गोवर्धन, अन्नकूट, भैयादूज, देवठान आ गया। पूरा महीना ही शुभ है। पौष को दूर से ही प्रणाम। मकर की संक्रान्ति पड़ गई, तो खिचड़ी मिल गई, नहीं तो सूखी दण्ड पेलो। माघ में तो बड़ा जाड़ा है और इस प्रयाग की तो कुछ पूछो मत। तिस पर भी सूर्योदय में गङ्गाजी स्नान। नानी याद आ जाती है। यदि सूर्यतनया का गरम-गरम जल न हो, तो संगम में स्नान करने का साहस किसे पड़े ? वसन्तोत्सव मनाते आमों पर बौर दिखाई देने लगता है। होली की स्थापना हो जाती है।

फागुन में गुलाल उड़ाओ, होली खेलो। इस पराधीन देश की होली तो हो ली। अब वह चालीस दिनों की धूमधाम कहाँ है ? अब वह महीनों से बालकों की रङ्ग की भरी पिचकारियाँ कहाँ दिखायी देती हैं ? धूलि के दिन कुछ नाम मात्र को रङ्ग दीखता है। चैत में नवसंवत्सर उत्सव की धूमधाम नवरात्रि, रामनवमी करो, बैशाख आ गये, महिने भर गङ्गा स्नान करो, स्वर्ग का फाटक न खुल जाय तो मुझे उलटा लटका देना। ज्येष्ठ में दशहरा के दिन गङ्गा स्नान करो। आषाढ़ी पूर्णिमा को गुरु-पूजा-उत्सव। वर्षा आरम्भ हो गई। श्रावण आ गया, हरियाली तीज, नाग पञ्चमी, श्रावणी। बोल दे राजा रामचन्द्र की जै—पूरा वर्ष समाप्त हो गया।

एक साल में पाटल (गुलाब) खिलने लगे, केले बड़े होकर हर-हर करके हिलने लगे। पंक्तिबद्ध घास के बिरवे परस्पर में सटकर मिलने लगे। गुलाब, यूथिका, माधवी, मालती की लतायें बढ़कर छत पर चढ़ गईं। पर्णों पर फल आने लगे। बैजन्ती के लाल गुलाबी फूल खिलकर चारों ओर अपनी आभा बिखराने लगे। विष्णुकान्त के नीले-नीले पुष्प खिलने लगे, रोज माधवजी को चढ़ने लगे। सबने उन्नति की, सब बढ़े, सब फले फूले, सबके

बीज जमकर वृद्ध हो गये, किन्तु मैं अभागा निकला, कि मैंने कुछ भी उन्नति न की। मेरे मरु हृदय में भक्ति का बीज जमकर अंकुरित नहीं हुआ, फिर हरे-भरे होने और फलने फूलने की बात पृथक् ही रही। यह कैसे कहूँ, कि शरीर में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। इस परिवर्तनशील शरीर में तो कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता ही रहता है, किन्तु मन जैसा-का-तैसा बना है। हृदय में प्रेम नहीं, भगवान् के प्रति अनुराग नहीं, भागवतों के चरणों में भक्ति नहीं, विषयों से विरक्ति नहीं, प्रभु पादपद्मों में अनुरक्ति नहीं। जीवन भर के भार पूर्ववत् ढो रहा हूँ, उसी प्रकार रो रहा हूँ, आयु का अमूल्य समय आहार निद्रा में बिताकर खो रहा हूँ, अज्ञान अन्धकार में पड़ा सो रहा हूँ। जीवन की साध पूरी नहीं होती। भगवान् के स्वप्न में भी दर्शन नहीं होते। बहुत से बन्धु पूर्णिमा को आते हैं, अपने-अपने अनुभव सुना जाते हैं—हमें ऐसे भगवान् के दर्शन हुए, तीन महीने में ही भगवान् ने प्रत्यक्ष होकर वर माँगने को कहा। ऐसे रूप से भगवान् के दर्शन हुए। मैं उनकी इन बातों पर विश्वास नहीं करता—हुए होंगे। पूर्वजन्म के पुण्य उदय हो गये होंगे, किन्तु मेरे पाप मुझे भगवान् से दूर हटाये हुए हैं। कब मिलायेंगे, कब अपने दर्शन देकर तन की तपन बुझायेंगे ? इसे वे ही जानें। यह मेरा जीवन भर का रोना है, सम्भव है जीवन भर ही रहे। पाठकों का अमूल्य समय मैं अपना रोना, धोना सुनाकर बरबाद क्यों करूँ, वे तो 'भागवती कथा' के ही प्रेमी पाठक हैं। परम भागवत हैं, तभी कुछ कहने का साहस भी हुआ, भागवतों के अतिरिक्त पराई पीर को कौन सुनता है ? सभी को अपनी-अपनी पड़ी है। भक्त ही परोपकारी होते हैं, उन्हीं का हृदय परपीड़ा से पिघलकर पानी-पानी हो जाता है। वे कृपा करें, तो मुझ जैसे साधनहीन उभयभ्रष्ट का भी उद्धार हो सकता है। 'भागवती कथा के साथ उन्हें मेरा भी

स्मरण बना रहे, इसलिए ही यह अप्रासंगिक बात कह दी। अच्छा तो अब कथा आरम्भ हो। श्रीहरि! श्रीहरि! श्रीहरि!

हाँ तो प्रथम खण्ड में आपने कहाँ तक की कथा पढ़ी? नारदजी व्यासजी को अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुना रहे थे, दासी के पुत्र होकर वे साधु सेवा कर रहे थे। दूसरे खण्ड मे उन दयालु सन्तों का दुःखद वियोग हुआ, पुनः नारद शरीर की प्राप्ति हुई, महाराज परीक्षित् के जन्म तक की कथा आपने दूसरे खण्ड में पढ़ी थी। अब इस तीसरे खण्ड में धर्मराज के अश्वमेध आदि की कथा पढ़ें। हमारा और पाठकों का ऐसा ही सम्बन्ध बना रहा तो, ५०, ६०, १००, २००, जितने भाग भी हों, उन सबको प्रेमपूर्वक पढ़ें। अच्छा तो नमस्कार!

कृपा दृष्टि बनाये रखें

भाद्रपद की कृष्णा तृतीया,
सं० २००३ वि०
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)

पाठकों का कृपा भिक्षुक—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

धर्मराज का अश्वमेध यज्ञ करने का विचार

(४१)

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम् ।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया ॥*

(श्री भा० १ स्क० १२ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

पुरुष-पुरुष प्रति पेखि परीक्षा करें सबनि में ।
गर्भ माँहि जो लख्यो ताहि वे लखहिं नरनि में ॥
हरि हयमेध हितार्थ, हस्तिनापुर फिरि आये ।
देखत दौरे गोद बैठि हर्षे किलकाये ॥
बोले विप्र बचन सुफल, कृष्ण अङ्क में निरखि सुत ।
नाम 'परीक्षित्' ते विदित, होवे नृप अति भक्तियुत ॥

मनुष्य दुखी कब होता है ? जब उसकी इच्छा पूरी नहीं होती । इच्छा किसकी पूरी नहीं होती ? जो कि विषयों के भक्त हैं, विषयों के भोग से कभी किसी की इच्छा पूरी नहीं होती,

---

* धर्मराज के बुलाने पर भगवान् वासुदेव पुनः हस्तिनापुर में आये और उन्होंने वेद की विधि जानने वाले विप्रों से यथाविधि अश्वमेध यज्ञ कराया । अपने सच्चे सुहृद् पाण्डवों की प्रसन्नता के निमित्त कुछ महीनों तक और भी पाण्डवों के समीप रहे ।

किन्तु और बढ़ती है। जो विषयों के भक्त न होकर भगवत्-भक्त हैं, उन्हें पहले तो कोई इच्छा होती ही नहीं। वे अपनी इच्छा को भगवान् की इच्छा में मिला देते हैं। यदि भगवत प्रेरणा से कोई इच्छा उठती भी है, तो वह चाहे कितनी भी कठिन क्यों न हो, वह पूरी होती ही है, फिर चाहें उसकी पूर्ति के कुछ भी साधन अपने पास भले ही न हों, किन्तु जिनके संकल्प मात्र से इतनी चराचर सृष्टि हो जाती है, इनके लिये संसारी साधारण सामग्रियों के कार्य क्या कठिन हैं ?

महाराज परीक्षित् अत्यन्त दुलार से, भीतर बाहर के अत्यधिक प्यार से, उसी प्रकार बढ़ने लगे जैसे शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कलायें बढ़ती हैं। इतने बड़े रनिवास में वे अकेले ही बच्चे थे। अतः घर की समस्त स्त्रियों ने अपना प्यार उन्हीं पर उड़ेल दिया था। जिस प्रकार पलकों से आँखों की पुतलियाँ बड़ी सावधानी से रक्षित रहती हैं, उसी प्रकार वे घर में अपनी माता, पितामही, प्रपितामही, चाची, ताई आदि के द्वारा बड़ी सावधानी से पाले-पोसे जाने लगे। उन्हें कुछ भी कष्ट हो जाता तो, पूरे रनिवास में शोक छा जाता और भाँति-भाँति के उपचारों और उपायों द्वारा उसकी शान्ति की जाती। विविध प्रकार के दान-धर्म किये जाते, पाठ-पूजा और देवार्चन कराये जाते। सारांश यह कि सभी परिवार के लोग उनकी उसी तरह रक्षा करते थे, जैसे अत्यन्त कंजूस अपनी कौड़ी-कौड़ी की रक्षा करता है।

पाँचों पांडवों के तो बाहरी प्राण ही थे, जब भी अवसर होता, महाराज युधिष्ठिर उन्हें अन्तःपुर से मँगा लेते और अपनी गोद में बिठाकर घण्टों उनके साथ खेल किया करते। बालक परीक्षित् जब भी सभा में आते, तभी वहाँ के पुरुषों को एक-एक करके बड़ी एकाग्रता के साथ निहारा करते। उन्हें जन्म से ही इसी प्रकार सबकी ओर ध्यानपूर्वक देखने से धर्मराज को

बड़ा विस्मय हुआ, कि बालक क्यों सबको इस प्रकार देखा करता है ? उन्होंने अन्तःपुर की दासियों से पूछा—"क्या यह भीतर भी इस प्रकार से देखता है ?"

दासियों ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—"देव भीतर तो ये बड़े सौम्य रहते हैं। अपनी माँ की ओर भी दृष्टि भरके नहीं देखते, किन्तु बाहर आते ही जो भी पुरुष इनके सामने आता है, उसी को बड़ी सावधानी से एक टक भाव से निहारते रहते हैं।"

इससे धर्मराज को और भी विस्मय हुआ, कि बालक क्यों सबकी ओर एकाग्र होकर देखता रहता है ? उन्होंने विद्वान ब्राह्मणों से, ज्योतिषियों से, पण्डितों और पुरोहितों से इसका कारण पूछा। ब्राह्मणों ने बताया—"महाराज ! ये किसी को खोज रहे हैं।"

धर्मराज ने कहा—"किसे खोज रहा है, अपने बाप को खोजता है या किसी देवता ऋषि को खोजता है ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज ! बाप को तो इन्होंने देखा ही नहीं। इन्होंने किसी को गर्भ में देखा है, उसी की ये मनुष्यों में परीक्षा करते हैं, कि वह पुरुष कौन है, जिसने गर्भ में मेरी रक्षा की। पुरुषों में उसे न पाकर ये रोज नये-नये पुरुषों में खोजते हैं, कि सम्भव है अब वह मिल जाय, अब मिल जाय। सबकी परीक्षा करने से ही इनका प्रसिद्ध नाम 'परीक्षित्' ही होगा। 'विष्णुरात' नाम को तो कोई विरले ही जानेंगे, किन्तु परीक्षित् नाम तो सभी की जिह्वा पर नृत्य करता रहेगा।" धर्मराज को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसी दिन से वे उन्हें परीक्षित् कह कर सम्बोधित करने लगे। राजा के कहने से और भी उन्हें परीक्षित्-परीक्षित् ही कहने लगे। तभी से वे सर्वत्र परीक्षित् के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

शत्रु मारे गये, अपना गया हुआ राज्य पुनः प्राप्त हो गया। पृथ्वी के सभी राजा अपने अधीन हो गये। वंश को बढ़ाने वाला पौत्र भी हो गया। अब धर्मराज ने सोचा—"हमने कुल का संहार किया है, जाति द्रोह का पाप किया है, सगे सम्बन्धियों को मारा है, इसका कुछ प्रायश्चित्त तो होना ही चाहिए, यह सब सोचकर उन्होंने व्यास धौम्य, कृपाचार्य आदि अपने कुलपूज्य पुरोहितों को तथा अन्यान्य ज्ञानी-ध्यानी ऋषि मुनि तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर अपने मन का भाव बताया और पूछा—'इस जाति द्रोह जनित पाप का मैं क्या प्रायश्चित्त करूँ ?"

तब ब्राह्मणों ने विचार कर बताया—"राजन्! क्षत्रिय के लिये युद्ध में शस्त्र लेकर लड़ने की इच्छा से आये हुए शत्रु को मार देना कोई पाप नहीं है। फिर भी युद्ध में अनेक तरह के पातक, उपपातक हो जाते हैं। युद्ध के उपरान्त यदि राजा अश्वमेध-यज्ञ कर देता है, तो वह सब पापों से निर्मुक्त होकर निष्पाप बन जाता है। आप भी अश्वमेध-यज्ञ करके अपने युद्ध जनित दोष को छुड़ाकर निर्दोष बन जाइये। वास्तव में तो आप अब भी निर्दोष ही हैं, किन्तु फिर भी लोक संग्रह और धर्म मर्यादा को बनाये रखने के निमित्त आप जो कुछ करना चाहते हैं, सो कीजिये। बड़ी अच्छी बात है।"

धर्मराज ने दुखित होकर कहा—"ब्राह्मणो! मेरे पाप अन्य युद्ध करने वाले राजाओं से बहुत बढ़कर हैं। मैंने तीन बड़े-बड़े पाप किये हैं। एक तो अपने बन्धु-बान्धव और कुल गोत्र वालों को ही मार डाला है, दूसरे अपने भीष्म, द्रोण आदि गुरुओं को मारा है, जो सर्वथा अवध्य बताये गये हैं। तीसरे मूर्धाभिषिक्त हजारों बड़े-बड़े धर्मात्मा राजाओं का वध किया है।' इस प्रकार

बन्धु-वध, गुरु-वध, और राज-वध ये तीन महापाप मेरे द्वारा हुए हैं। अतः आप मुझसे तीन अश्वमेध यज्ञ कराइये।"

महाराज के ऐसे वचन सुनकर सभी ने एक स्वर से "धन्य! धन्य" कहा। ब्राह्मण प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"धर्मावतार! ये आपके अनुरूप ही वचन हैं। पाप आप में हैं ही नहीं! जब हैं ही नहीं तो छूटेंगे क्या? किन्तु तीन यज्ञों से आपका यश समस्त पृथ्वी पर और अधिक फैल जायगा। आपका विचार बहुत ही सुन्दर है। हम सब मिलकर उत्तम विधि के साथ आपका यज्ञ करावेंगे। आप भगवान् वासुदेव को बुला लें, क्योंकि समस्त यज्ञों के अधिपति वे ही हैं। समस्त यज्ञ उन्हीं की प्रसन्नता के निमित्त किये जाते हैं। उनका पधार जाना ही यज्ञ की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि समझी जाती है। वे आ गये, मानो आपका यज्ञ पूर्ण हो गया।"

ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर द्वारिका से लौटकर आये हुए अर्जुन को ही पुरोहित धौम्य के सहित धर्मराज युधिष्ठिर ने भगवान् को लेने पुनः द्वारिका भेजा। धर्मराज का सन्देश पाते ही भगवान् वासुदेव अपने बन्धु-बान्धव और जातियों के सहित पुनः हस्तिनापुर पधारे। नगर में पुनः आनन्द की बाढ़-सी आ गई। सभी भगवान् के दर्शनों के लिये अत्यधिक उत्कंठित हुए। बड़ी धूम-धाम और गाजे-बाजे के साथ धर्मराज ने भगवान का स्वागत किया, बहुमान के सहित उन्हें सभा में लाये। वहाँ पुरोहितों ने विधिवत् भगवान् को पाद्य-अर्घ्य देकर उनकी पूजा की। धर्मराज ने उनसे कुशल पूछी। भगवान् ने भी धर्मराज के राजकोष, मन्त्री, पुरोहित, अन्तःपुर, सेना, नगर आदि की कुशल पूछी। इतने में ही सहदेव बालक परीक्षित् को गोदी में ले आये।

भगवान को देखते ही परीक्षित्जी छोटे होने पर भी सम्पूर्ण बल लगाकर गोद से कूदने लगे। सहदेव उन्हें बहुत रोकते,

किन्तु वे मानते ही नहीं थे। बालक की ऐसी हट देखकर दूर से ही धर्मराज बोले—"सहदेव ! भैया, इसे छोड़ तो दो, देखें, यह क्या करता है ?"

धर्मराज की आज्ञा पाकर सहदेव ने वहीं सभा के नीचे बालक परीक्षित् को छोड़ दिया। वे बड़े वेग से घुटनों के बल

श्रीभगवान् की ओर चलने लगे। भगवान् के सिंहासन के समीप पहुँचकर उनके पैरों को पकड़कर उनकी गोदी में जा बैठे और आँख फाड़-फाड़कर भगवान की ओर देखने लगे। सभी बालक के इस कार्य को कुतूहल के साथ देखने लगे। बालक बार-बार भगवान् की ओर देखता और प्रसन्न होता। फिर भगवान् के श्रीहस्तों को देखता तो उसकी मुद्रा आश्चर्य की हो जाती।

इस पर धर्मराज ने व्यासदेवजी से पूछा—"भगवन! यह बालक भगवान् के श्रीमुख को देखकर तो प्रसन्न होता है, किन्तु कर कमलों के दर्शन से विस्मित-सा प्रतीत होता है, इसका क्या कारण है?"

व्यासजी ने कहा—"राजन! इसने भगवान् को अपनी रक्षा करते हुए गर्भ में गदा लिये हुए देखा है अब मुख देखकर तो पहिचान जाता है, किन्तु गदा न देखकर विस्मित हो उठता है। यदि भगवान् वासुदेव गदा धारण करके अपना वही चतुर्भुज रूप दिखावें, तो यह अत्यन्त ही प्रसन्न हो उठे।"

व्यासजी और धर्मराज के कहने पर भगवान ने वही अपना शंख, चक्र, पद्म और गदा लिये हुए चतुर्भुज दिव्य रूप दिखाया। उसे देखते ही बालक अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् से लिपट गया और भगवान् ने भी उनका मुँह चूमकर उसे बहुत प्यार किया।

अब अश्वमेध यज्ञ की बात होने लगी। धर्मराज कहने लगे—"वासुदेव! यह तो आपको विदित ही है, कि मैं सर्वश्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ करना चाहता हूँ। सो भी, एक नहीं, एक साथ तीन यज्ञ करने की मेरी इच्छा है। राजाओं के पास यज्ञ-यागादि शुभ कर्मों के लिये धन या तो प्रजा के कर से आता है या दण्ड से। प्रजा पर मैं विशेष कर लगाना चाहता नहीं। दंड देकर

द्रव्य संचय करने की मेरी इच्छा नहीं। अन्य राजाओं से भी धन की आशा नहीं क्योंकि महाभारत के युद्ध में सभी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर नष्ट हो गये। कौरवों ने अपना सम्पूर्ण कोष युद्ध में व्यय कर दिया। अब मुझे चिन्ता इस बात की है, कि बिना द्रव्य के मेरे यज्ञ साङ्गोपाङ्ग कैसे होंगे। हमारे तो एक-मात्र द्रव्य आप ही हैं। आप आ गये तो मानों हमारा यज्ञ पूर्ण हो गया। अब आप जैसे चाहें यज्ञ को करावें, अब मैं निश्चिन्त हो गया।" इतना कहकर और अपना सर्वभार श्रीकृष्ण के ऊपर डालकर—अपनी इच्छा को कृष्णार्पण करके महाराज धर्मराज चुप हो गये।

धर्मराज के चुप हो जाने पर भगवान् वासुदेव उनसे बोले—"महाराज, आप किसी बात की चिन्ता न करें। मैं आपके सभी मनोरथों को पूर्ण करूँगा। जब आप सम्पूर्ण वसुन्धरा के ही स्वामी हो गये, तो आपको धन की क्या कमी? जो पापी राजा होते हैं, उनके पाप के कारण यह पृथ्वी सम्पूर्ण रत्नों को अपने भीतर छिपा लेती है। वे पापी, नीच, अधर्मी राजा पैसे-पैसे के लिये परमुखापेक्षी बने रहते हैं प्रजा पर कर के ऊपर कर लगाते हैं, ऋण माँगते, प्रजा को सताते हैं, फिर भी उनका पूरा नहीं पड़ता। ऋद्धि, सिद्धि और समृद्धि तो भावानुसार होती हैं। जो धर्मात्मा राजा हैं, उनके लिये यह पृथ्वी कामधेनु हो जाती है। अपने वसुन्धरा (वसु-धन को जो धारण करे। जिसके गर्भ में सभी प्रकार के धन भरे हों) नाम को सार्थक करती है। आप तो धर्मात्मा हैं, धर्म के अवतार ही हैं। आपको धन की क्या कमी? प्राचीन काल में महाराज करन्धम के पुत्र मरुत्त नाम के बड़े यशस्वी हो गये हैं। उन्होंने अपने कुल—गुरु सम्वर्त की सहायता से एक ऐसा समृद्धिशाली यज्ञ किया था, कि ऐसा पृथ्वी पर न आज तक किसी ने किया और न कर ही

सकेगा। उस यज्ञ में यज्ञ के सभी सामान सुवर्ण के थे यहाँ तक कि भवन, प्रसाद सभी सुवर्णमय थे। उस यज्ञ में राजा ने इतना सुवर्ण दान दिया कि ब्राह्मण उसे उठाने में समर्थ नहीं हुए। वहीं उसे छोड़कर चले आये। वहाँ यज्ञ की इतनी सुवर्णमय सामग्री पड़ी है कि आप लाखों छकड़े, हाथी, ऊँट भरके सुवर्ण वहाँ से ला सकते हैं।"

धर्मराज ने कहा—"वासुदेव! ब्राह्मणों के छोड़े हुए—यज्ञ के बचे धन पर हमारा क्या अधिकार है? उससे क्या यज्ञ करना उचित होगा?"

भगवान् बोले—"राजन्! आप समस्त पृथ्वी के एकमात्र सम्राट् हैं। पृथ्वी पर जितने वन, कानन, पर्वत, वृक्ष और धातुएँ हैं, सभी के आप स्वामी हैं। उस धन पर आपका पूर्ण स्वत्व है। आप शिवजी का पूजन करके निःशङ्क होकर उस धन को मँगाइये और उसी से यज्ञ के समस्त सम्भारों को सजाइये, अपने यज्ञ को पूर्ण बनाइये।"

धर्मराज बोले—"वासुदेव! यदि आपकी आज्ञा है, तब तो अनुचित भी हो तो भी उचित है। विधि निषेध निर्माता तो आप ही हैं। मैं महाराज मरुत्त के यज्ञ का और उनके इतने विपुल धन की प्राप्ति का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। उसे सुनकर तभी मैं वहाँ से धन मँगाकर यज्ञारम्भ करूँगा।"

भगवान् बोले—"राजन्! महाराज मरुत्त का सम्पूर्ण इतिहास सत्यवतीनन्दन मुनिवर व्यास आपको सुनावेंगे। इतना कहकर भगवान् चुप ही हो गये।"

छप्पय

सोचें राजा हने नृपति सम्बन्धी सबई ।
जब होवें हयमेध टरिंगे पातक तबई ॥
मम चिन्ता तें भला कहो का काज सरिंगे ।
वे होवें सम्पन्न जाहि श्रीकृष्ण करिंगे ॥
हरि भक्तनि के काज प्रभु, करता बनि कर तें करें ।
जे शरणागत ह्वै गये, तिनके सब दुख हरि हरें ॥

मरुत्त का यज्ञधन और धर्मराज का अश्वमेध यज्ञ

[४२]

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः ।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः ॥
तेन संभृतसंभारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० १२ अ० ३३ ३४ श्लो०)

छप्पय

कुन्तीनन्दन कहें—"कृष्ण ! किहि विधि मख होवें ।
कौन काज करि कहो कालिमा कुल की धोवें ?
छठे अंश अरु दण्ड द्रव्य तें काम चलावें ।
भूमिपाल को जिहीं वेदवित वृत्ति बतावें ॥
हरि बोले—"हिम शिखर पै, धन है विपुल मरुत्त को ।
लाइ करौ मख जिहीं तौ, सदुपयोग है वित्त को ॥

---

* महाराज युधिष्ठिर का अभिप्राय जानकर भगवान् वासुदेव की आज्ञा से भीमसेन आदि चारों भाई उत्तर दिशा से मरुत्त के यज्ञ से छोड़े धन को विपुल मात्रा में ले आये । उसी धन से यज्ञ की सभी सामग्रियाँ एकत्रित की गईं, जिनसे तीन अश्वमेध यज्ञों द्वारा महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् वासुदेव का ही पूजन किया । 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ।'

असत्य से सत्य श्रेष्ठ है। ऐश्वर्योपयोगी से त्याग श्रेष्ठ है। विरोध से क्षमा श्रेष्ठ है। अधर्म से धर्म श्रेष्ठ है और अपने सर्वकर्मों को श्रीकृष्ण पादपद्मों में अर्पण कर देना, उन्हीं को अपना सम्पूर्ण भार सौंप देना यह सबसे श्रेष्ठ है। इससे बढ़कर संसार में सर्वश्रेष्ठ कार्य कोई नहीं। महाभाग पांडवों ने ऐसा ही किया।

यज्ञ के लिये विपुल द्रव्य की आवश्यकता थी। साधारण द्रव्य से तो अश्वमेध जैसे महान् यज्ञ हो नहीं सकते और पाण्डवों के पास उतना द्रव्य नहीं, सभी कोष युद्ध रूपी यज्ञ में व्यय हो चुका था। जब भगवान ने हिमालय के गन्धमादन शिखर से मरुत्त के यज्ञ-शेष द्रव्य को लाने की आज्ञा दी, तो धर्मराज ने समीप में बैठे हुए भगवान वेदव्यास से पूछा—"प्रभो! ये महाराज मरुत्त कौन थे? कैसे इनका इतना बड़ा वैभव हुआ? किस प्रकार इन्हें इतनी विपुल धन-राशि प्राप्त हुई और उसे वहाँ इस प्रकार वे क्यों छोड़ आये? मेरे इन सब प्रश्नों का आप अति संक्षेप में उत्तर दें, तो मैं अपने भाइयों को भेजकर श्रीकृष्ण की आज्ञा से उस द्रव्य को मँगाने का प्रबंध करूँ।"

महाराज के ऐसे पूछने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ सत्यवतीनन्दन पराशर-आनन्दवर्धन भगवान् वेदव्यास कहने लगे—"राजन्! मुनियो! मैं परम यशस्वी इन्द्र तुल्य ऐश्वर्य वाले महाराज मरुत्त का और उनके विपुल वित्त और महान् यज्ञ का वृत्त बताता हूँ। आप अपने भाइयों के सहित सावधान होकर श्रवण करें।

पूर्व जन्म में एक करन्धम नाम के बड़े प्रतापशाली राजा हो गये हैं। अब जैसे तुम्हारे पुरोहित धौम्य और कृपाचार्य हैं उसी प्रकार उन धर्मात्मा राजा के पुरोहित वेदवेत्ता सर्वशास्त्र पारङ्गत महामुनि अङ्गिरा थे। अङ्गिरा ही उन्हें सब देव, ऋषि

तथा पितृ-कार्य कराया करते थे। अङ्गिरा ऋषि के दो पुत्र थे। बड़े तो बृहस्पति और छोटे सम्वर्त। बृहस्पति को देवराज इन्द्र ने अपना पुरोहित बना लिया। दोनों भाइयों में कुछ अन-बन रहती थी। राजन्! भाई-भाई में, पिता-पुत्र में, मित्र-मित्र में, सम्बंधियों में, परस्पर में जो अन-बन हो जाती है, इसका प्रधान कारण ऐश्वर्य, यश और इन्द्रिय विषय ही होते हैं। भोग की लालसा से ऐश्वर्य में मदान्ध होकर मनुष्य अपने सगे सम्बन्धियों तक का तिरस्कार करने लगता है। विप्रवर सम्वर्त ने अपने श्रेष्ठ भाई से विरोध बढ़ाना उचित नहीं समझा। वे अपना सर्वस्व त्यागकर विश्वनाथपुरी वाराणसी में जाकर दिगम्बर वेष से भगवान् भूतनाथ की आराधना करने लगे और इधर-उधर गलियों में पागल उन्मत्त की भाँति विचरने लगे।

अब तो अङ्गिरा मुनि के द्रव्य के तथा उनके कुल परम्परागत यजमानों के एकमात्र उत्तराधिकारी बृहस्पतिजी ही हुए। महाराज करन्धम के अनन्तर उनके पुत्र मरुत्त राज्य सिंहासन पर बैठे। बृहस्पति अपने यजमान महाराज मरुत्त को उसी प्रकार देव, ऋषि तथा पितृ कार्य कराने लगे, जिस प्रकार महामुनि अङ्गिरा महाराज करन्धम को कराते थे। महाराज मरुत्त इतने बलवान्, गुणवान् और ऐश्वर्यवान थे, कि उनका ऐश्वर्य देखकर देवराज इन्द्र भी स्पर्धा करते थे। राजन्! मुक्ति-मार्ग में यह ईर्ष्यारूपी दोष ही सबसे बड़ा विघ्न है। पृथ्वी के जीवों से लेकर ब्रह्मलोक तक के जीवों में यह दोष देखा गया है। एक ही वृत्ति वाले पुरुष अपने से श्रेष्ठ को देखकर डाह करते हैं। दो विद्वान् आपस में एक दूसरे के विद्वता-यश को देखकर कुढ़ते हैं। धनी-धनी को देखकर डाह करता है। स्वर्ग के देवता अपने से अधिक सुख भोगने वाले को देखकर जलते हैं। इसी दोष के कारण जीव भगवत्-पाद-पद्मों तक नहीं पहुँच पाते। यदि यह

एक ही दोष छूट जाय, तब तो जीव नित्य, शुद्ध, मुक्त बना बनाया ही है। देवराज इन्द्र भी महाराज मरुत्त से डाह करने लगे। वे सोचने लगे—"देखो, मैं स्वर्ग का समस्त देवताओं का राजा हूँ। फिर भी मर्त्य-धर्म वाले पृथ्वी के राजा मरुत्त के समान मेरा ऐश्वर्य नहीं। किसी प्रकार इसके धर्म कार्यों में विघ्न करना चाहिये, नहीं तो पृथ्वी से आकर यहाँ स्वर्ग में यह मेरी बराबरी करेगा और कोई आश्चर्य नहीं, यह मुझसे इन्द्र पद भी छीन ले।"

यही सब सोच विचार कर ईर्ष्यावश इन्द्र ने अपने गुरु बृहस्पति को बुलाकर कहा—"हे देवगुरो! आप राजा मरुत्त को जो देव, ऋषि, पितृ कार्य कराते हैं वह न कराया करें। इसमें मेरी अप्रतिष्ठा है। आप दिव्य देवताओं के गुरु होकर भी एक मर्त्यधर्मा मनुष्य को क्यों धर्म कार्य कराते हैं। आप देवगुरु कहलाकर भी मनुष्यों के पुरोहित कहलाने में अपना अपमान नहीं समझते? देखिये, मैं दो टूक बात कहता हूँ। मैं लगाव लपेट की बात करना नहीं जानता। आप यदि मेरे पुरोहित रहना चाहें, तो राजा मरुत्त का कोई भी कार्य कभी न करावें और यदि आप को उसी की पुरोहिताई प्रिय है तो मेरा नमस्कार ग्रहण करें। हमारी आपकी राम-राम, श्याम-श्याम! बोलिये, आपको इन दो बातों में से कौन करनी है?"

बृहस्पतिजी चक्कर में फँसे। वे सोचते थे—दोनों ओर से माल उड़ावें। इन्द्र की बात सुनकर थोड़ी देर तक वे अपने हानि-लाभ के विषय में विचार करते रहे। अन्त में वे इसी निर्णय पर पहुँचे, कि देवराज की पुरोहिती बनाये रखने को मुझे पृथ्वीपाल की पुरोहिती का ही त्यागकर देना चाहिये। ऐसा निर्णय करके वे बोले—"देवराज! इन्द्र! आपकी और राजा मरुत्त की क्या बराबरी? आप स्वर्ग के राजा हैं, वे पृथ्वी के। आप देवताओं

के स्वामी हैं, वे मरणशील मनुष्यों के। आप अजर, अमर और यज्ञ भाग-भोक्ता हैं और मरुत्त तो स्वयं मरण-धर्मा हैं। उनके पीछे मैं आपका परित्याग कैसे कर सकता हूँ? यद्यपि उनकी पुरोहिती करने से अब मेरी अपकीर्ति ही है, कि देवराज के पूज्य पुरोहित एक मरणशील राजा के यज्ञ में स्रुवा लेकर यज्ञ कराते हैं, किन्तु शील संकोच से और कुल परम्परागत वृत्ति के कारण मैं उनके धर्म कार्य करा देता था। अब जब आप मना करते हैं, तो क्यों कराने लगा। यदि अब वे आवेंगे, तो मैं उनसे कह दूँगा, कि अब मैं आपके कार्य कराने में असमर्थ हूँ।"

इन्द्र ऐसा उत्तर सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। न जाने क्यों जीव अपने प्रतिस्पर्धी का पराभव देखकर प्रसन्न होता है। इन्द्र ने समझा कि अब मैंने मरुत्त को उसके उत्तम ऐश्वर्य से भ्रष्ट कर दिया। कोई बात छिपी तो रहती नहीं। मरुत्त ने जब यह सम्वाद सुना तो वे बड़े दुखी हुए। उनकी इच्छा हुई कि मैं एक बड़ा समृद्धिशाली यज्ञ करूँ, जैसा आज तक किसी ने न किया हो। यही सब सोचकर वे कुलगुरु बृहस्पति के पास गये और अपना अभिप्राय उन पर प्रकट किया। राजा की बात सुनकर बृहस्पति ने कहा—"राजन्! आपका कल्याण हो, अब आप मुझसे यज्ञादि कार्य कराने की आशा सर्वथा छोड़ दीजिये। मैं आपको अब किसी प्रकार का पुण्य कार्य नहीं करा सकता। आप अब अपना कार्य किसी दूसरे पुरोहित से कराइये।"

राजा ने विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन्! आप यह कैसी बात कह रहे हैं? दूसरे ब्राह्मण से मैं कैसे करा सकता हूँ? अपनी कुल परम्परा के सुयोग्य पुरोहित के रहते हुए दूसरे पुरोहित से पुण्य कार्य कराना महान् पाप है। मैं भला आपको कैसे परित्याग कर सकता हूँ?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"राजन्! तुम मुझे परित्याग कहाँ कर रहे हो। मैं ही तुम्हारा स्वेच्छा से त्याग करता हूँ।"

राजा ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"प्रभो! यजमान के किसी घोर पाप को देखकर पुरोहित उसका परित्याग करते हैं। आप मेरा किस पाप के कारण परित्याग कर रहे हैं? आपने मुझमें ऐसा कौन-सा महापातक देखा है?"

बृहस्पतिजी ने सरलता के साथ कहा—"राजन्! आप परम धर्मात्मा हैं, आप में कोई भी पाप नहीं है, मैं किसी पाप के कारण आपका परित्याग नहीं करता। मैं स्वयं प्रसन्नता से आज्ञा देता हूँ कि आप किसी दूसरे वेदज्ञ ब्राह्मण से अपना यज्ञ करावें। मैं इसमें न बुरा मानूँगा न आप पर अप्रसन्न ही हूँगा।"

राजा बोले—"भगवन्! यह कैसे हो सकता है? कुल परम्परा से तो हमने आपके पैर पूजे हैं। यदि भाग्यवश यजमान धनहीन दरिद्र हो जाय, तो क्या सुयोग्य ऐश्वर्यशील पुरोहित किसी प्रकार उसे छोड़ सकते हैं, या पुरोहित के वंश वाले ही विद्या विहीन हो जायँ, तो बुद्धिमान् यजमान उनका सर्वथा परित्याग कर सकते हैं? जैसे भी हो दोनों को सम्बन्ध निभाना ही पड़ता है। सो, मैं तो ऐश्वर्यहीन भी नहीं, आपकी सब प्रकार की सेवा करने को तैयार हूँ।"

यह सुनकर बृहस्पतिजी ने कुछ झुँझलाहट के साथ कहा—"राजन्! सच्ची बात तो यह है, आप चाहें ऐं करें, चाहें चें करें, मैं हो गया हूँ देवराज इन्द्र का पुरोहित। आपका कर्म कराना मैं अपना अपमान समझता हूँ। अतः आप मुझसे यज्ञ कराने की तनिक भी आशा न रखें।"

ऐसा स्पष्ट और गर्वपूर्ण उत्तर सुनकर राजा को अपार दुःख हुआ। उनकी आँखों में आँसू आ गये, फिर भी वे अपने को सम्हाल कर बोले—"भगवन्! इन्द्र को कराने वाले भी तो आप

ही हैं। इन्द्र कोई एक तो निश्चित हैं ही नहीं। जिसे आप ब्राह्मण सौ यज्ञ करा दें, वही इन्द्रासन का अधिकारी हो जाता है। मैं आपका परम्परागत यजमान हूँ, सेवक हूँ, आपकी आज्ञा में स्थित हूँ। आप पर मेरा और मुझ पर आपका अधिकार है। मैं पीछे तो नहीं हटता। आप मुझे सौ दो सौ जितने चाहें अश्वमेध राजसूय यज्ञ करावें।"

बृहस्पति अब कुछ उत्तेजित हो गये। वे बोले—"राजन्! बहुत बातें बनाने की आवश्यकता नहीं। मैंने आपसे एक बार कह दिया। आप एक बार कहें, हजार बार कहें, मैं आपका यज्ञ नहीं करा सकता, नहीं करा सकता। आप अपना काम देखें और जिससे चाहें यज्ञ करा लें। मेरी आशा सर्वथा छोड़ दें।"

इसके आगे कोई उत्तर नहीं था। वे दुखित चित्त से बृहस्पतिजी को प्रणाम करके चल दिये। उनके मन में बड़ी ग्लानि हो रही थी, कि मेरे पुरोहित ने मुझ निरपराधी का अकारण क्यों परित्याग कर दिया? इतने में ही उन्हें कहीं से "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव!" की सुमधुर ध्वनि सुनाई दी। उन्होंने आँख उठाकर सामने देखा, तो वीणा बजाते, हरिगुण गाते, श्रीनारदजी दिखाई पड़े। देवर्षि नारद को सम्मुख देखकर राजा ने श्रद्धा भक्ति के साथ देवर्षि के चरणों में प्रणाम किया। नारदजी ने यथोचित आशीर्वाद देने के अनन्तर पूछा—"राजन्! आप इतने उदास क्यों हो रहे हैं? अपने दुःख का कारण आप मुझे बतावें।"

राजा ने खिन्न मन से कहा—"भगवन्! क्या बताऊँ? मेरे कोई पूर्वजन्म के पाप उदय हो आये हैं, कि मेरे आचार्य ने बिना अपराध मेरा परित्याग कर दिया है।" इतना कहकर राजा ने आदि से अन्त तक सभी वृत्तान्त बताकर कहा—"अब आप ही

बतावें, कि जब मेरे कुल पुरोहित ने ही मेरा परित्याग कर दिया, तो मैं अब किसके द्वारा अपना यज्ञ कराऊँ ?"

सब प्राणियों के सदा कल्याण में ही लगे रहने वाले सर्वज्ञ देवर्षि नारदजी राजा से बोले—"राजन् ! आप घबराते क्यों हैं। आपका यज्ञ पूर्ण कराऊँगा और आपके कुलगुरु के द्वारा ही।"

कुम्हिलाते हुए राजा के ऊपर मानो नारदजी ने अमृत की वर्षा कर दी हो। अत्यन्त हर्ष के साथ राजा ने पूछा—"भगवन्! मेरे गुरुकुल बृहस्पति तो देवराज के ऐश्वर्य को देखकर ऐश्वर्य-मत्त हो गये हैं, उनके द्वारा आप कैसे मेरा यज्ञ सम्पन्न करा सकेंगे?"

नारदजी को इसी में आनन्द आता है, कि दो आदमी आपस में लड़ें-भिड़ें। अतः वे बोले—"देखो, राजन्! न्यायतः बृहस्पति आपके पुरोहित हैं नहीं। आपके पिता के पुरोहित मुनिवर अङ्गिरा के दो पुत्र हैं, बड़े बृहस्पति, छोटे सम्वर्त। जब यजमानों का बटवारा होवे तो न्यायतः आप सम्वर्त के भाग में आते हैं। आप उन्हीं से अपना यज्ञ करावें।"

राजा ने दीनता के साथ कहा—"बटवारे की बात क्या है? मेरे लिये तो दोनों ही गुरुपुत्र समान ही पूज्य और वन्दनीय हैं। दोनों ही मेरे पुरोहित हैं। किन्तु मैंने सुना है, सम्वर्त तो दिगम्बर वेष बनाकर कहीं चले गये। उनकी कहाँ मैं खोज करूँगा, उन्हें मैं कहाँ पा सकूँगा? यदि वे कहीं मुझे मिल जायँ, तो मेरे मन के समस्त मनोरथ पूर्ण हो जायँ।"

राजा की बात सुनकर नारदजी बोले—"राजन्! ब्रह्मज्ञानी महामुनि संवर्त का पता मैं आपको बताता हूँ। वे भगवान् विश्वनाथ की पुरी काशी में पागलों के समान दिगम्बर होकर रहते हैं।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मैं उन अपने आपको छिपाये हुए ज्ञानी महामुनि को भला कैसे पहिचान सकता हूँ?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! मैं आपको उपाय बताता हूँ, आप एक शव ले जाकर वाराणसी पुरी के द्वार पर रख दें। जो नग्न उन्मत्त पुरुष आकर उस शव को देखकर लौट जाय, उन्हें ही आप अपने पुरोहित अङ्गिरा का पुत्र समझ लें।

वे आपको बहुत प्रकार से भगाना चाहेंगे, अपने को हर प्रकार से अयोग्य बतावेंगे, किन्तु आप उनके भुलावे में न आ जावें। वे जो भी कहें उसी को करें। मेरा पता पूछें तो बता देना नारदजी तो अग्नि में प्रवेश कर गये।" इतना कहकर नारदजी यह गये और वह गये, क्षण भर में राजा की दृष्टि से ओझल हो गये।

महाराज मरुत्त को बड़ी प्रसन्नता हुई। देवर्षि नारद के आदेशानुसार काशी के मुख्य द्वार पर एक शव रखकर वे बैठ गये। संयोग से उसी समय उन्मत्त वेष में दिगम्बर संवर्त उधर आ निकले। शव को देखकर वे लौट पड़े। महाराज मरुत्त ने समझ लिया, ये ही मेरे पुरोहित ब्रह्मज्ञानी सम्वर्त हैं। सब कुछ छोड़कर वे उनके पीछे लग गये। संवर्त मुनि ने देखा कि राजा मेरा अनुवर्तन कर रहा है, तो वे अपना उन्मत्तपना प्रकट करने लगे। राजा के ऊपर धूलि फेंकने लगे, पतली कीच उलीचने लगे, राजा के शरीर पर थूकने लगे और अंट-संट बकने लगे। इतने पर भी राजा ने उनका पीछा नहीं छोड़ा।

तब मुनि गङ्गा किनारे एक एकान्त स्थान में बैठ गये। राजा भी प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए उनके सम्मुख खड़े रहे। तब महामुनि सम्वर्त ने पूछा—"राजन्! आपको मेरा पता किसने बतलाया?"

हाथ जोड़े हुए दीनता से राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मुझे महामुनि नारद ने आपका सब वृत्तान्त बताया है।"

तब मुनि प्रसन्न हुए और बोले—"तुम मुझसे क्या चाहते हो?" राजा ने आदि से अन्त तक सभी वृत्तान्त विस्तार से बताकर प्रार्थना की—"प्रभो! आप मुझसे यज्ञ करावें मैं अपने कुल गुरु के द्वारा ही यज्ञ सम्पन्न कराना चाहता हूँ।"

सम्वर्त ने अत्यन्त आश्चर्य की मुद्रा बनाकर कहा—"अरे,

राजा एक तो मैं स्वयं पागल हूँ, मेरे साथ तुम भी पागल हो गये हो, क्या ? मैं तो उन्मत्त हूँ, मेरे मन में जब जो आता है करता हूँ, मैं यज्ञयाग कराना क्या जानूँ ? तुमसे यह बेसिर पैर की बात कह किसने दी ? तुम्हें विश्वास कैसे हो गया, कि मुझमें यज्ञ कराने की योग्यता है ?"

हाथ जोड़े हुए दीनता के साथ राजा ने कहा—"प्रभो ! आप सब कुछ कर सकते हैं। यज्ञ की तो बात ही क्या नई सृष्टि की रचना कर सकते हैं। मैं आपके भुलावे में नहीं आने वाला हूँ। मुझे नारदजी ने सब बता दिया है। जैसे भी हो आपको मेरा यज्ञ कराना ही पड़ेगा।"

बस, अब क्या, पिघल गये मुनि और प्रसन्न होकर बोले—"राजन् ! मैं आपका यज्ञ करा सकता हूँ और ऐसा यज्ञ करा सकता हूँ, कि इस पृथ्वी के राजाओं की तो बात ही क्या, इन्द्र भी ऐसा यज्ञ नहीं कर सकता। किन्तु एक प्रतिज्ञा करनी होगी। जब मैं तुम्हें यज्ञ कराने लगूँगा, तो इन्द्र और बृहस्पति ईर्ष्यावश भाँति-भाँति के उपायों से हम तुम में भेद-भाव उत्पन्न कराने का प्रयत्न करेंगे। उनके प्रलोभन में पड़कर तुम यदि मेरा परित्याग न करो, तो मैं तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा।"

राजा ने अत्यन्त विनीत होकर दृढ़ता के साथ कहा—"भगवन् ! मैं इस विश्वनाथ की पुरी में गंगाजी को साक्षी करके अश्वत्थ के नीचे कह रहा हूँ, कि चाहे साक्षात् पितामह ब्रह्मा ही आकर मुझसे क्यों न कहें, मैं आपका किसी प्रकार परित्याग न करूँगा।"

यह सुनकर सम्वर्त मुनि बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'राजन् ! अपनी की हुई प्रतिज्ञा स्मरण रखना। मेरे बड़े भाई के बहकाने से तुमने मुझे छोड़ दिया, तो ज्येष्ठ होने के कारण उनसे तो मैं कुछ कहूँगा नहीं, किन्तु तुम्हारा सर्वस्व नाश कर

दूँगा और यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर रहकर मेरे वश में रहे, तो तुम्हारे कोष को अक्षय बना दूँगा। इन्द्र भी तुम्हारे सामने आकर लज्जित होगा। राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाकर तपस्या के द्वारा शिवजी को प्रसन्न करो। वे प्रसन्न होकर गुह्यक चारण और गन्धर्वों से रक्षित सुवर्ण राशि आपको देंगे। उसी के द्वारा मैं आपका यज्ञ कराऊँगा।"

महामुनि सम्वर्त की आज्ञा पाकर राजा ने अपनी तपस्या से शिवजी को प्रसन्न करके अक्षय सुवर्ण राशि प्राप्त की। महामुनि सम्वर्त ने उसी से यज्ञ के सभी समान बनाये। उन्होंने आज्ञा की—हमारे यज्ञ में पात्र, खम्भ, मकान, वेदी सभी वस्तुएँ सुवर्ण की ही हों। अन्य किसी धातु का किसी काम में उपयोग न हो।

इन्द्र ने जब संवर्त के द्वारा कराये जाने वाले महाराज मरुत्त के यज्ञ का समाचार सुना, तब तो उसके पेट में पानी हो गया। अपने गुरु बृहस्पति की सम्मति से, अग्नि भेजकर, गन्धर्व भेजकर राजा और संवर्त पुरोहित में भाँति-भाँति से फूट पैदा करने का प्रयत्न किया। बार-बार कहलाया—अब तुम्हारे यज्ञ को बृहस्पति ही करावेंगे, किन्तु राजा अपने वचनों से विचलित नहीं हुए। वे इन्द्र और बृहस्पति के संदेशों को सुनकर टस-से-मस भी न हुए। अन्त में इन्द्र वज्र लेकर स्वयं राजा के यज्ञ में विघ्न करने आये। इस पर राजा विचलित होने लगे। तब संवर्त मुनि ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन! आप घबड़ायें नहीं। मैं अपने मन्त्रबल से इन्द्र को स्तम्भित कर दूँगा।" महामुनि के ऐसे वचन सुनकर राजा ने कहा—"भगवन्! यदि क्रुद्ध होकर इन्द्र हमारे यज्ञ में न आये, तब तो किया कराया सब व्यर्थ ही हो जायगा।"

दृढ़ता के साथ संवर्त बोले—"राजन्! तुम कैसी भूली-भूली

बात कर रहे हो ? तुम्हें मेरी शक्ति पर विश्वास नहीं ? इन्द्र की क्या शक्ति मेरे बुलाने पर न आये। मैं अपने मन्त्रबल से बलात् देवराज इन्द्र को बुला लूँगा।" शक्ति सम्पन्न संवर्त के ऐसे साहस के सामने इन्द्र को सिर झुकाना पड़ा। वे प्रसन्न होकर राजा के यज्ञ में आये और आनन्द के सहित सोमरस का पान किया। सन्तुष्ट होकर राजा से बोले—"राजन्! मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ ?"

राजा ने कहा—"हे स्वर्गाधिप देवेश! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो आप स्वयं मेरे यज्ञ को विधिपूर्वक समस्त दिव्य-ऐश्वर्य के सहित सम्पन्न करावें।"

इन्द्र ने कहा—"ऐसा ही होगा!" इतना कहकर उन्होंने विश्वकर्मा के द्वारा वहाँ सुवर्ण के हजारों मन्दिर भवन बनवा दिये। राजा मरुत्त से जिसने जो माँगा वही दिया। ब्राह्मणों को इतना सुवर्ण दिया, कि वे उसे उठा भी नहीं सके। वहीं छोड़कर चले आये। यज्ञ का समस्त सामग्रियाँ यज्ञ के पूर्ण होने पर महाराज मरुत्त वहीं छोड़कर चले आये। वे अब तक गुह्यक राक्षस और गन्धर्वों द्वारा रक्षित ज्यों-की-त्यों पड़ी हैं। श्रीकृष्ण की आज्ञा से आप उनमें से जितनी चाहें, उठवा लावें और अपने यज्ञों को पूर्ण करें। सर्वप्रथम आप शिवजी को पूजन से प्रसन्न कर लें, क्योंकि उनकी प्रसन्नता के बिना आप वहाँ से एक कण भी उठाकर नहीं ला सकते।"

भगवान् की आज्ञा और व्यासजी की भी सम्मति समझकर धर्मराज ने अपने भाइयों को भेजा। वे शिवजी को पूजन द्वारा प्रसन्न करके हजारों छकड़ों में, लाखों ऊँट, घोड़ों, हाथी और खच्चरों पर वहाँ से सुवर्ण लदवा लाये।

जब सब विपुल धन राशि को लेकर पांडव हस्तिनापुर आये तब सभी को परम आश्चर्य हुआ। गङ्गा के किनारे कई योजन

पृथ्वी सम और शुद्ध करके यज्ञ का कार्य होने लगा। ब्राह्मणों ने सम्मति दी कि—"महाराज! एक ही यज्ञ में सब विधि तिगुनी कर दें, तिगुनी दक्षिणा दें, आपको तीनों यज्ञों का फल साथ ही हो जायगा। धर्मराज ने ऐसा ही किया. यज्ञिय घोड़ा छोड़ा गया। वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर भ्रमण करके पुनः लौट आया तब यज्ञ की सब विधि यथावत् की गई। जिस यज्ञ को कराने वाले स्वयं यज्ञपति भगवान् ही हों, उसकी सफलता के सम्बन्ध में कुछ कहना व्यर्थ है।

धर्मराज ने उस यज्ञ में अटूट धन लुटाया, जिसने जो माँगा वही दिया। चाहे जो आओ, चाहे जिस समय आओ, इच्छानुसार जो पदार्थ चाहो खाओ, जो प्रिय पेय पदार्थ पीना चाहो पीओ, जितनी चाहो दक्षिणा ले जाओ, जो चाहो वही तत्काल मिलेगा। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर का वह यज्ञ मरुत्त के यज्ञ से भी बढ़कर हुआ। मरुत्त के यज्ञ में तो इन्द्र कराने वाले थे, इस यज्ञ में तो इनके पिता के भी पितामह भगवान् श्यामसुन्दर थे। अतः वह यज्ञ अनुपमेय हुआ।

इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञों को सांगोपांग पूर्ण कराकर, सबकी प्रसन्नता के लिये कुछ काल तक भगवान् और भी हस्तिनापुर में रहे। फिर सबकी सम्मति लेकर, सभी से प्रेमपूर्वक मिल-जुल कर, यादवों और अपने प्रिय सखा अर्जुन के सहित भगवान् अपनी यादवों द्वारा प्रतिपालित द्वारकापुरी को चले गये।"

—०—

छप्पय

अच्युत आज्ञा पाइ हिमालय पांडव धाये।
शिवकूँ करि सन्तुष्ट मरुत मख को धन लाये॥
करि कृष्णार्पण सभी यज्ञ के कारज कीन्हें।
अन्न, वस्त्र, धन, धाम, ग्राम विप्रनि कूँ दीन्हें॥
इन्द्र सरिस कुन्ती तनय, नव जलधर सम श्याम हैं।
स्वर्ण वारि वरसें विपुल, पूरे सबके काम हैं॥

श्री विदुरजी

[४३]

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावद्यकारिषु ।
यावद्दुदधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १३ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

मुनि माण्डव्य महान् मनस्वी मौनी दुष्कर ।
करें तपस्या तीव्र द्वार आश्रम के तरुतर ॥
करिके चोरी चोर और आश्रम की आये ।
देखि दूरितें दूत द्रव्य धरि तहाँ लुकाये ॥
पूछें मुनितें दूत सब, मौनी उत्तर देहिं कस ।
यही चोर सरदार है, सब मिलि निश्चय कियो अस ॥

कितना ही तेजस्वी तपस्वी पुरुष क्यों न हो, प्रारब्ध का भोग तो सभी को भोगना पड़ता है। प्रारब्ध कर्मों का बिना भोग के क्षय होता नहीं। जीवन्मुक्त को भी शरीर रहते प्रारब्ध भोग भोगने ही पड़ते हैं। हाँ, वह उनके सुख-दुखों में लिप्त नहीं होता और न उसके क्रियमाण-कर्म संचित कर्मों में मिलकर भविष्य के

---

* महामुनि माण्डव्य के शाप से जिस समय यमराज सौ वर्ष तक पृथ्वी पर विदुर के रूप में रहे तब तक यमराज का पापियों को दण्ड आदि देने का नियमानुसार समस्त कार्य—प्रतिनिधि रूप से—अर्यमा नामक पितर करते रहे।

प्रारब्ध की रचना ही करते हैं। इतना सब होने पर भी वर्तमान शरीर के प्रारब्ध कर्म तो उसके शरीर के साथ अन्त तक लगे रहते हैं। मनुष्यों के ही लिये नहीं ऋषि, मुनि, यक्ष, किन्नर, देवता और प्रजापति लोकपाल तक सभी प्रारब्ध के ही वशीभूत होकर काम करते हैं और उन्हें भी नाना ऊँच-नीच योनियों में जाना पड़ता है।

सूतजी ने जब यह कहा, कि विदुरजी साक्षात् धर्मराज थे, मुनि के शाप वश उन्हें सौ वर्षों तक शूद्र योनि में रहना पड़ा तब तक शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यमराज ने ऐसा क्या अपराध किया कि महामुनि मांडव्य ने उन्हें पृथ्वी पर शूद्र में उत्पन्न होने का शाप दिया। इस विषय का हमारे मन में कौतूहल हो रहा है। यदि हमारे बताने योग्य विषय हो तो अवश्य बताइये।"

शौनकजी के वचन सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! आपसे पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ, कि कोई भी किसी स्वेच्छा से शाप नहीं दे सकता और न कोई किसी पर अपने आप अनुग्रह ही कर सकता है। सभी दैव के—अदृष्ट के—अधीन हैं सभी का सभी के साथ सब कार्य और सब काल का संयोग बना रहता है। उस संयोग के आते ही अपने आप प्राणियों की वैसी ही बुद्धि बन जाती है और उसी के अनुसार कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। धर्मराज के शाप का वृत्तान्त भी बड़ा मनोरञ्जक है। उसे अत्यन्त संक्षेप में आपके सामने मैं सुनाता हूँ। आप सब स्वस्थ-चित्त होकर श्रवण करें।

प्राचीन काल में एक माण्डव्य नाम के बड़े ही जितेन्द्रिय, धर्म परायण, तपस्या में निरत तेजस्वी मुनि थे। वे सदा धर्म कार्य में ही लगे रहते। उनके आश्रम के द्वार पर एक सुन्दर छायादार वृक्ष था। उसी के नीचे वे मौन व्रत धारण करके ऊर्ध्व

बाहु होकर तपस्या करते रहते थे। वे समाधि में इतने निरत रहते कि उन्हें बाह्य जगत् का भान भी न रहता।

एक दिन बहुत से चोरों ने मिलकर राजा के यहाँ से चोरी की और बहुत-सा द्रव्य लेकर वे भाग गये। उसी समय जाग पड़ गई। राजा के सिपाही चोरों का पीछा करते हुए उनके पीछे पीछे दौड़े। चोरों ने जब यह देखा, कि ये हमारे समीप ही आ गये, तो वे सब माल को लेकर माण्डव्य मुनि के आश्रम में छिप गये। माल-मताल भी वहाँ पास ही छिपा दिया। सिपाहियों ने इधर-उधर देखा, कि अभी तो चोर पास ही थे, कहाँ चले गये? उन्होंने जाकर ऋषि से पूछा—"ब्रह्मन्! इधर बहुत-से चोर चोरी का सामान लेकर भाग आये थे। आपने उन्हें इधर आते हुए तो नहीं देखा है?"

मुनि तो मौन थे, ध्यान में मग्न थे। उन्हें न चोरों का पता था और न उन्होंने सिपाहियों की बात ही सुनी। इस पर सिपाहियों को संदेह हुआ। आश्रम के भीतर घुसकर उन्होंने अन्वेषण किया। एक दिवाल के पीछे उन्होंने देखा कि चोर जी मुँह मटका-मटका कर इधर ही देख रहे हैं। सिपाहियों ने जाकर झट से हथकड़ी बेड़ी डाल दी और कहा—"बच्चूजी! अब कहाँ जाओगे, माल-मताल बता दो।"

इतना सुनते ही वे मूरख भी मौनी बन गये। तब तो सिपाहियों ने सोचा, यहाँ तो मौनियों का अड्डा है। सिपाहियों ने पूछा—"क्यों जी, तुम चोर हो, कि साधु?" चोर बाबू फिर भी मौन! सिपाहियों को संदेह हुआ कि कहीं चोर के धोखे में मौनी महात्मा न पकड़े जायँ। उन्होंने चारों ओर धन की खोज की। खोजने पर सब धन भी मिल गया। तब तो उनका सन्देह जाता रहा। उन्होंने समझ लिया ये सब दम्भ से मौनी बने हैं। मौन ऐसा अस्त्र है, कि इसकी आड़ में सब कुकर्म छिप जाते हैं।

सिपाहियों ने निश्चय कर लिया, ये सब महात्मा नहीं, महात्म
हैं। इन सबका सरदार वह है, जो बाहर हाथ ऊपर किये ख
है। ये सब एक ही पलड़े के चट्टे बट्टे हैं। दिन में मौनी रह
हैं। रात्रि में डाका डालते हैं। यही सब सोच समझकर चोरों
साथ मुनि को भी बाँध ले गये। गेहुँओं के साथ घुन भी पि
गया, फूलों के साथ काँटा भी शिवजी पर चढ़ गया, पान
साथ पत्ता भी राजा के हाथों में पहुँच गया। दुष्टों के संसर्ग
कारण साधु भी दुखी हो गये।

मुनियो! आजकल तो कलियुग आ गया है। सभी चोर
गये हैं, जो न्याय करते हैं, वे भी किसी न किसी प्रकार
चोरी करते हैं, अतः इस युग में चोरी करना कोई बड़ा अप
नहीं माना जाता। यही नहीं, चोरी करना एक कला मानी
है। चोरी करो, सीनाजोरी रखकर। ऐसी चोरी करो कि कोई पक
न पावे। यदि पकड़े भी जाओ तो न्याय-विधान के ऐसे दाँव
पेंच हैं कि अनेक प्रकार की झूठी बातें बनाकर चोर और
के पैसा प्राप्त प्रतिनिधि यह सिद्ध कर देंगे कि यह चोरी नियम
नुसार चोरी है ही नहीं। इन ऐसे टेढ़े मेढ़े न्याय—विधानों
कारण चोर छूट जाते हैं, शाह दंड पाते हैं, किन्तु हम जिस
की बातें कह रहे हैं, उस युग में चोरी करना सबसे बड़ा अ
माना जाता था। उस समय चोरी की सजा सूली ही थी। चो
को चौराहे पर सबके सामने सूली पर चढ़ाकर सिपाही
जाते थे। वह धीरे-धीरे मर जाता था, तब उसे चाण्डाल उठा
जाते थे।

इन सबको भी सिपाहियों ने राजा के सम्मुख उप
किया। चोर तुरन्त ही माल के साथ पकड़े गये थे। अतः र
ने विशेष विचार नहीं किया, सभी को सूली पर चढ़ाने की
दे दी। चोरों के साथ मांडव्य मुनि को भी शूली पर चढ़ा दि

गया। और सब चोर तो शूली पर चढ़ने से मर गये, किन्तु तपस्या के प्रभाव से मुनि ज्यों-के-त्यों शूली पर चढ़े-ही-चढ़े वहाँ बैठकर ध्यान करने लगे।

एक दिन हुआ, दो दिन हुए। ऋषि को ज्यों-के-त्यों शूली पर चढ़े देखकर, सेवकों ने राजा से जाकर निवेदन किया—"प्रभो!

एक चोर शूली पर अभी तक ज्यों-का-त्यों जीवित बैठा है। उसके मल द्वार से सिर तक जाती ही नहीं उसे कोई कष्ट भी प्रतीत होता।"

यह सुनकर राजा को सन्देह हुआ। अरे! हो न हो वे कोई तपस्वी महात्मा हैं। राजा बड़ी शीघ्रता से अपने मन्त्री और पुरोहित को साथ लेकर शूली के समीप गये। पुरोहित ने तपस्वी को पहिचान लिया। महाराज! यह तो बड़ा अनर्थ हुआ। ये तो परम तेजस्वी तपोराशि महामुनि मांडव्य हैं। राजा ने शूली से उतारा। उनकी विधिवत् पूजा की और हाथ बड़ी दीनता के साथ बोले—"ब्रह्मन्! मुझ अज्ञानी का क्षमा हो। महर्षे! हमसे यह घोर अपराध अज्ञान-वश हो गया प्रभो! आप मुझ पर प्रसन्न हों, क्रोध करके मेरे राज्य को भस्म न कर डालें।"

राजा के ऐसे विनीत वचन सुनकर महर्षि बोले—"राजन! आपका कल्याण हो। आप किसी बात की चिन्ता न करें। आपके ऊपर मुझे किञ्चित भी क्रोध नहीं है। सभी अपने कर्मों के अधीन होकर दुःख-सुख पाते हैं। मैंने पूर्वजन्म में कोई ऐसा पाप किया होगा, जिसका फल मुझे भोगना पड़ा। किन्तु मैं सोचता हूँ, मैं तो बाल्य-काल से तपस्या में निरत हूँ, सदा सदाचार से रहता हूँ, कभी किसी की हिंसा नहीं करता, फिर यह दारुण दुःख मुझे क्यों सहना पड़ा? अच्छी बात है, मैं अब धर्मराज को समझूँगा।"

राजा के प्राण में प्राण आये। वे ऋषियों से बड़े डरते थे। इन तपस्वियों का और ऊँटों का कुछ ठिकाना नहीं, किस करवट बैठें जब इन्हें किसी बात पर क्रोध आ जाता है, तो फिर ये किसी की भी नहीं सुनते। अपना वागवज्र छोड़कर ही मानते हैं। राजा ने सोचा चलो, मेरे ऊपर से ग्रह टला, ऋषि का क्रोध यमराज से

ऊपर उतरेगा। दोनों समर्थ हैं, परस्पर में निपट लेंगे। यही सब सोचकर राजा ने पाद्य, अर्घ्यादि देकर ऋषि की विधिवत् पूजा की। वह शूली राजा ने अनेक उपायों से ऋषि के शरीर से निकलवानी चाही किन्तु निकली नहीं। तब ऋषि की आज्ञा से शूली का जितना भाग शरीर के बाहर था, उसे काट दिया गया। शूली की अणी (नोक) ऋषि के शरीर में ही लगी रही, इसी से वे 'अणी-माण्डव्य, के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ऋषि को क्रोध तो आ ही रहा था। वे अपनी तपस्या और योग के प्रभाव से यमलोक में जा पहुँचे। ऋषि को आया हुआ देखकर यमराज ने बड़ी शीघ्र से उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया और पाद्य, अर्घ्य आदि के द्वारा उनकी पूजा की। उनकी की हुई पूजा की ओर कुछ भी ध्यान न देकर ऋषि धर्मराज की भर्त्सना करते हुए बोले—"क्यों जी, यमराज महोदय! आप बड़े न्याया-शील प्रसिद्ध हैं। आप सभी को पाप पुण्यों के अनुसार दुःख सुख देते हैं। कृपा करके यह बताइये, कि यह शूली का दारुण दण्ड आपने किस अपराध के कारण मुझे दिया और प्रयत्न करने पर भी यह शूली की अणि क्यों नहीं मेरे शरीर से निकलती? ऐसा मैंने कौन पाप कर्म किया था?"

धर्मराज तो हक्के-बक्के रह गये। ऋषि की क्रोध मुद्रा को देखकर उनका मुख सूख गया। सान्त्वना देते हुए वे कहने लगे—"ब्रह्मन्! आप विराज जाइये। आप जब स्वस्थ हो जायेंगे, तो मैं आपके सभी प्रश्नों का यथावत् उत्तर दूँगा।"

ऋषि कब शान्त होने वाले थे, उन्होंने कहा—"नहीं, आप पहिले बताइये, तभी मैं बैठूँगा।"

धर्मराज विवश हुए, और नम्रतापूर्वक बोले—"ब्रह्मन्! बाल्यकाल में आपने कई पतङ्गों के शरीर में कुशा की नोंक चुभो कर उन्हें छोड़ दिया था, उसी अपराध से आपको शूली का

दारुण दुःख सहन करना पड़ा। आपने उन पतङ्गों के शरीर से कुश की नोक निकाली नहीं, इसीलिये यह अणि आपके शरीर में मृत्यु पर्यन्त इसी प्रकार बनी रहेगी।"

ऋषि अपने आपे में नहीं थे, बोले—"यह कब की बात है?"

यमराज ने कहा—"तब तो आप बहुत छोटे थे।"

ऋषि बोले—"बाल्यकाल में धर्माधर्म का ज्ञान ही नहीं रहता, यदि कुछ हमने किया भी हो, तो वह बाल सुलभ चञ्चलता-वश ही किया होगा। उस इतने छोटे अनजान अपराध के बदले इतना घोर दण्ड, यह आपने शूद्र वृत्ति का कार्य किया। अतः मैं आपको शाप देता हूँ, कि आपको सौ वर्ष तक पृथ्वी पर शूद्र योनि में रहना पड़ेगा।"

धर्मराज ने कुपित मुनि को मधुर वचन और विनय के द्वारा प्रसन्न किया और बोले—"भगवन! जो अपराध आप मुझे लगा रहे थे वही आप कर रहे हैं। मुझे मेरे न्याय के लिये ऐसा घोर दण्ड?"

मुनियों का क्रोध पानी की लकीर के समान होता है जहाँ से निकला कि शान्त हुआ। मुनि प्रसन्न हो गये और कहने लगे—"धर्मराज! मैं कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला, अतः आपको पृथ्वी पर शूद्र योनि में जन्म तो लेना ही पड़ेगा। किन्तु आप नाम के ही शूद्र होंगे। अपनी माता के कारण आप शूद्र माने जायँगे, नहीं तो महामुनि व्यासजी के वीर्य से आपका जन्म होगा। राजकुल में आप श्रेष्ठ और माननीय माने जायँगे। सभी आपका देवता की तरह आदर करेंगे। आप वहाँ भी अपने नीति धर्म के स्वभाव को भूलेंगे नहीं। आप सर्वश्रेष्ठ नीतिज्ञ समझे जायँगे। आपकी नीति का विद्वानों में बड़ा आदर होगा। और सबसे बड़ी बात यह होगी, कि आप नन्दनन्दन भगवान् श्याम-सुन्दर के अत्यन्त ही प्रिय होंगे। मनुष्यों के एक सौ वर्ष से कुछ

अधिक (अर्थात् देवताओं के चार पाँच महीने) ही, आप शूद्र योनिमें रहकर पुनः अपने पद पर प्रतिष्ठित हो जायँगे।" इतना कहकर ऋषि इच्छानुसार लोकों में चले गये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब न्याय करने को धर्मराज नहीं रहे, तो पापियों के पाप ताप का फल, पुण्यात्माओं के पुण्य का फल कौन देते थे ? तब तक (देवताओं के ४-५ महीने) यमराज का काम बन्द रहा ?"

सूतजी बोले—"महर्षे ! क्या कभी संसार का कार्य बन्द हो सकता है ? सैकड़ों यम, इन्द्र, कुबेर, वरुण बदल गये। सैकड़ों बार सृष्टि प्रलय हो गई। जब तक यमराज शूद्रयोनि में—विदुर रूप में—रहे तब तक पितरों में से अर्यमा नाम के नित्य पितर यमराज के स्थानापन्न होकर न्याय व्यवस्था करते रहे। जब विदुर के शरीर को त्यागकर यमराज अपने लोक में गये, तो फिर से अपने कार्य को पूर्ववत् करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आपने यह तो बड़ी अद्भुत कथा सुनाई। अब कृपा करके विदुरजी ने जिस प्रकार अपना यह पाँच भौतिक शरीर त्याग किया अथवा जैसी आपकी रुचि हो, जिस प्रकार आप उचित समझें उसी प्रकार सुनावें।"

छप्पय

बाँधे चोरनि सहित निकट नरपति के लाये।
बिनु विचार मुनि सहित चोर शूली लटकाये॥
तप ते मुनि नहिँ मरे मर्म भूपति जब जान्यो।
क्षमा याचना करी, दोष मुनि आपन मान्यो॥
क्रोधित लखि यम ने कही, छेदे कृमि छोड़े अवश।
शाप दयो "यम शूद हो", भये विदुर मुनि कोप वश॥

विदुरजी का हस्तिनापुर में आगमन

[४४]

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम् ।
ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविविक्तितः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

आये चाचा विदुर, युधिष्ठिर सुनि हर्षाये ।
करि स्वागत सत्कार, प्रेम ते पुर में लाये ॥
पुनि पूछी कुशलात, कृष्ण की कहो कहानी ।
तिरोभाव कूँ त्यागि, विदुर ने सभी बखानी ॥
स्वयं धर्म सत् वरष तक, शूद्र भये मुनि शाप सुनि ।
शूली के कारण कुपित, शाप दियो माण्डव्य मुनि ॥

जो बन्धु-बान्धव दुःख में हमारे साथ रहे हैं, जिन्होंने विपत्ति से हमें बचाया हो, यदि वे सुख में भी हमारे साथ रहें तो पूर्वकृत उपकारों के कारण हम उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं। दुःख एक ऐसी खराद है, कि वह स्नेह को

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! विदुरजी महाभारत युद्ध से पूर्व ही तीर्थ यात्रा को गये हुए थे। उसी यात्रा प्रसंग में हरिद्वार जाकर उन्होंने मैत्रेय मुनि से ज्ञान प्राप्त किया और उससे उन्हें समस्त जानने योग्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त हो गया। इसके अनन्तर वे हस्तिनापुर में लौट आये।"

उज्ज्वल और तीक्ष्ण बनाकर चमका देता है। बाल्यकाल में कौरवों ने पांडवों को भाँति-भाँति के क्लेश पहुँचाये। उन सबसे पांडवों की विदुरजी रक्षा करते रहे और समय-समय पर समयोचित सम्मति देकर उन्हें सचेष्ट करते रहे। धर्मराज अब राजा हो गये। इस समय विदुरजी का क्या हुआ? यही सब सोचकर शौनकजी पूछने लगे—"सूतजी! आपने अत्यन्त संक्षेप में महाभारत की कथा सुनाई और अश्वत्थामा के द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र से गर्भस्थ परीक्षित् की कैसे भगवान् ने रक्षा की, यह भी बात आपने सुना दी। महाराज परीक्षित् का जन्म भगवान् का द्वारका गमन, पुनः अश्वमेध के निमित्त हस्तिनापुर में आगमन और अश्वमेध यज्ञ का साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होना, इन सब विषयों को आपने अत्यन्त संक्षेप में बड़ी बुद्धिमानी के साथ सुनाया। अब हम यह सुनना चाहते हैं, कि विदुरजी का क्या हुआ? धृतराष्ट्र हस्तिनापुर में कब तक रहे? पांडवों ने महाराज परीक्षित् को राज्य कब और क्यों सौंपा? अन्त में पांडवों ने कैसे शरीर त्याग किया। यह सब सुनकर फिर महाराज परीक्षित् के राज्य शासन की कथा सुनावें, कि उन्होंने कैसे राज्य किया और क्यों गङ्गातट पर जाकर इस परोपकारमय शरीर का उन्होंने स्वतः त्याग किया?"

शौनकजी के प्रश्न को सुनकर सूतजी बड़े सन्तुष्ट हुए और बोले—"महाभाग! आपने अत्यन्त ही पुण्यमय प्रश्न किये। इन सब प्रश्नों का उत्तर देने के प्रसङ्ग में मुझे परात्पर प्रभु भगवान् वासुदेव की कमनीय कथायें कहने का सुयोग प्राप्त होगा आपने प्रश्न क्या किये मुझे भगवान् के चारु चरित स्मरण करा दिये। अच्छा तो आप पहिले संक्षेप में विदुरजी का वृत्तान्त सुनिये

दुष्ट दुर्योधन के दुर्व्यवहार से दुखित होकर बुद्धिमान् विदुर

महाभारत युद्ध के पूर्व ही अपने धनुष को कौरवों के सभा-द्वार पर रखकर स्वतः ही सबसे उदासीन होकर, तीर्थयात्रा के निमित्त चले गये। वे महात्मा थे, उन्हें किसी की मोहमाया नहीं थी। वे पुनः हस्तिनापुर में लौटना भी नहीं चाहते थे, किन्तु अपने बड़े और अन्धे भाई धृतराष्ट्र की मङ्गल कामना उन्हें पुनः हस्तिनापुर में ले आई। यात्रा प्रसंग में उन्हें व्रज में उद्धवजी मिल गये थे, उनके द्वारा भगवान् का तिरोभाव श्रवण करके और उन्हीं के द्वारा महामुनि मैत्रेय का समाचार जानकर वे हरिद्वार गये और वहाँ मैत्रेयजी से अपनी सभी शङ्काओं का समाधान कराकर हस्तिनापुर आ गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! विदुरजी को उद्धव कैसे मिले, मैत्रेयजी से विदुरजी ने कौन-से प्रश्न पूछे? यदि इन बातों को आप हमें बताना उचित समझें, तो इनको भी विस्तार से बतावें।"

सूतजी बोले—मुनियो! मैं इन कथाओं को आगे प्रसङ्गानुसार स्वयं ही कहूँगा। इस समय तो आप पहिले संक्षेप में विदुरजी की कथा और तदनन्तर उन्होंने हस्तिनापुर में रहकर क्या किया, इस प्रसंग की बातें सुनें।"

शौनकजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"बड़ी अच्छी बात है, आप जिस प्रकार उचित समझें वैसे ही सुनावें। यह प्रश्न हमने इसलिये कर दिया, कि इसमें भगवान् की कथाओं का विस्तार से वर्णन होगा। अब आप विदुरजी की ही बातें सुनाइये।"

शौनकजी की सम्मति पाकर सूतजी कहने लगे—"जब विदुरजी उद्धवजी के कहने से हरिद्वार में गये, तो वहाँ उन्होंने एकान्त में शान्त बैठे हुए महामुनि से बहुत-से प्रश्न कर डाले। उन वेदवेत्ता विद्वान् मुनि ने उन प्रश्नों का इतने कौशल से उत्तर

दिया कि विदुरजी थोड़े ही प्रश्नों का उत्तर सुनकर तृप्त हो गये। फिर उन्होंने अपने सब प्रश्नों का उत्तर सुनना ही न चाहा। बीच में ही संतुष्ट होकर और मुनि की चरण-वन्दना करके वे हस्तिनापुर की ओर चल दिये।

जब वे नगर के निकट पहुँचे, तो किसी ने शीघ्रता से जाकर महाराज युधिष्ठिर को यह शुभ संवाद सुनाया। इस संवाद को सुनकर धर्मराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे प्रेम में विभोर हो गये। अहा! जिन्होंने हमारी बच्चों की तरह रक्षा की थी, वे ही हमारे प्राणों से भी प्रिय पितृव्य आज आ रहे हैं, इस बात को स्मरण करके हर्ष से उनके रोम-रोम खिल गये।

महाराज युधिष्ठर ने आज्ञा दी—"शीघ्र ही सबकी सवारियाँ तैयार की जायँ। बड़े, बूढ़े, बालक, नगर निवासी, सभी मेरे चाचा के स्वागत के लिये चलें। वे हमारे देवता हैं, उनका सभी को हार्दिक स्वागत करना चाहिये।"

धर्मराज की आज्ञा पाते ही, नगर भर में आनन्द की बाढ़-सी आ गई। सभी नर-नारी स्वागत की तैयारियाँ करने लगे। सेवकों ने शीघ्रता से नगर की सभी सड़कें, घर, चौराहे और बड़े-बड़े मुख्य द्वारों को झण्डी पताका और वन्दनवारों से सजाया। सभी बड़े, बूढ़े, बालक, स्त्रियाँ अपने-अपने रथ और वाहनों पर चढ़कर नगर के बाहर विदुरजी के स्वागत के लिये चले। बहुत से पैदल ही दौड़े जा रहे थे, सभी ने दूर से ही तपस्वियों की तरह जटा बढ़ाये, वल्कल वस्त्र पहिने पैदल ही विदुरजी को आते देखा। सभी शीघ्रता के साथ अपनी-अपनी सवारियों से कूद पड़े और वेग से दौड़कर उनसे लिपटकर रोने लगे। उस समय अंधे धृतराष्ट्र भी अपने भाई के स्वागत के लिये रथ पर चढ़कर आये थे। युयुत्सु, सञ्जय, कृपाचार्य तथा और भी पांडवों के सगे सम्बन्धी उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़े हो

गए। किसी को विदुरजी के लौटने की आशा नहीं थी, किन्तु सहसा उन्हें आया देखकर सबको बड़ी ही प्रसन्नता हुई, जैसे

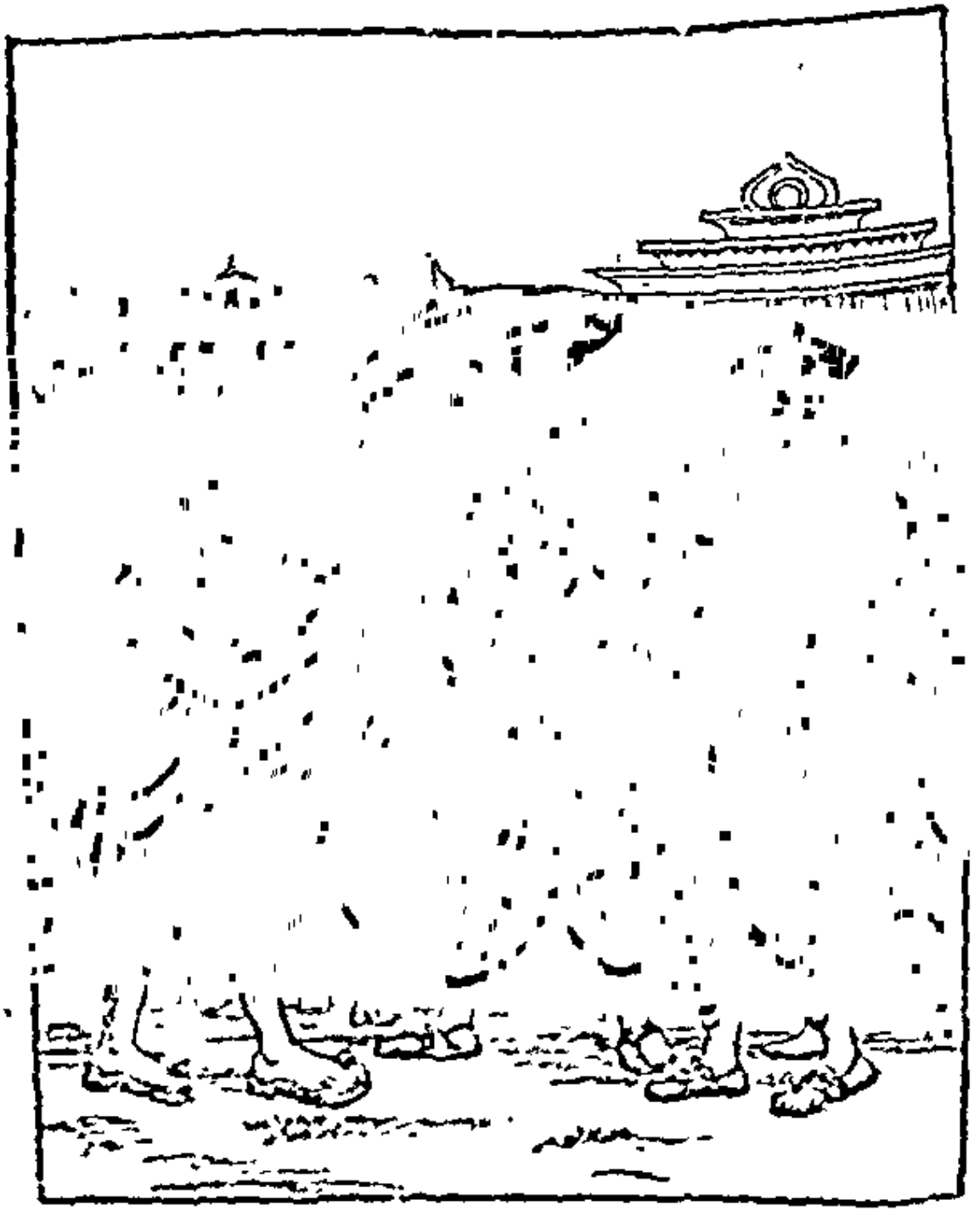

कोई बहुमूल्य खोई हुई वस्तु फिर से मिल जाय अथवा जैसे जिस रोग के निवृत्त होने की सर्वथा आशा न रही हो, वह रोग

सहसा अपने आप ही अच्छा हो जाय। अथवा अन्धे को आँखों से अकस्मात् दीखने लगे या मृतक पुरुष के शरीर में फिर से प्राण आ जायँ। सभी ने लज्जा, प्रेम और नम्रता के साथ विदुर जी का आलिङ्गन आदि किया। सभी की आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे। सभी एकटक भाव से तपस्या करते-करते कृश हुए, विदुर जी की ओर निहारने लगे। विदुरजी ने सबका यथोचित् सत्कार किया, परस्पर कुशल प्रश्न के अनन्तर सभी राजभवन की ओर चले।

राजभवन में पहुँचकर धर्मराज ने उन्हें उत्तम आसन पर बिठाया। उनकी यथोचित पूजा की। पांडव कुल की सभी छोटी बड़ी स्त्रियाँ जैसे कुन्ती, गांधारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी, पाँडव और कौरवों की अन्य बहुओं ने आकर तपस्वी विदुरजी के दर्शन किये। विदुरजी ने जिसके साथ जैसा सम्बन्ध था उसी के अनुसार उनसे कुशल प्रश्न पूछे। कुन्तीजी, विदुरजी के कृश और रूखे शरीर पर हाथ फेरती हुई रोने लगीं। वे बोलीं—"हाय, विदुरजी! तुम तो हम लोगों को भूल ही गये। दुःख में सदा हमारे साथ रहे, जब कुछ सुख का समय आया तो आपको न देखकर हम पहिले से भी अधिक दुखी रहते थे। तुम बिलकुल बदल ही गये, पहिचाने भी नहीं जाते हो, सम्पूर्ण शरीर सुखा डाला!"

विदुरजी अपनी गीली आँखों को पोंछते हुए कहने लगे—"भाभी! किसे दोष दें? सब अपने भाग्य का खेल है। मनुष्य प्रारब्ध के सूत्र में बँधा है। प्रारब्ध जहाँ खींचकर ले जाता है, वहाँ प्राणियों को इच्छा न रहने पर भी विवश होकर जाना ही पड़ता है।"

विदुरजी की बात सुनकर प्रेमाश्रु विमोचन करते हुए धर्मराज कहने लगे—"चाचाजी! सच बताइये, आपको कभी

हमारी याद आती थी ? जैसे पक्षी अपने अंडे-बच्चों को पङ्ख के नीचे दबाकर उसकी रक्षा करते हैं वैसे ही आप सदा हमारी रक्षा करते रहे। जैसे माली सदा पौधों की देख-रेख करता है, जैसे कृषक सदा अपनी छोटी अंकुरित खेती के लिये चिन्तित रहता है, जैसे एकलौते बेटे वाली हेजदार माँ अपने बच्चे की रक्षा के लिये व्यग्र रहती है, उसी प्रकार आप हमारी रक्षा के लिये चिंतित और सदा सावधान रहते थे। आपकी ही कृपा से हम इतने बड़े हुए और अब वह भी समय आया कि अपने शत्रुओं को मारकर हम इस सम्पूर्ण वसुन्धरा के एकछत्र सम्राट् बने। दुर्योधन ने भीम को विष दे दिया था, आपने ही उसके बुरे विचार को हमें बताया। कौरव हमें वारणावत में माता के सहित जला डालना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने छिपकर लाख का घर बनवाया था, किन्तु आपने ही उसमें गुप्त गुफा खुदवाकर, केवट और नौका भेजकर हमारी रक्षा की। आप हमारी इतनी चिन्ता न रखते तो हम वहीं जलकर भस्म हो जाते। फिर भी आप हमें छोड़कर चले गये।"

विदुरजी ने कहा—"धर्मराज ! कौन किसकी रक्षा कर सकता है ? मुझमें क्या सामर्थ्य थी, जो आप देव-पुत्रों की रक्षा करता। आपकी रक्षा आपके धर्म ने, सत्य ने और सदाचार ने ही सदा की है। जो लोग धर्म की रक्षा करते हैं, धर्म उनकी भी सदा रक्षा करता है। भगवान् के यहाँ देर भले ही हो, अंधेर नहीं है। दुर्योधन ने मुझसे ऐसे कुवाक्य कहे, कि उन्हें सुनकर कोई मनस्वी पुरुष उसके राज्य में नहीं रह सकता था। तुम्हारे पक्ष में मैं इसलिये नहीं हुआ, कि इसमें बड़ी लोक-निन्दा है। फिर मैं इस अमर्ष बंधु-वध को अपनी आँखों से देखना भी नहीं चाहता था, इसीलिये पुण्य तीर्थों की यात्रा के लिये चला गया। इससे पुण्य भी हुआ और ये लड़ाई-झगड़े की बातें भी सुनाई न पड़ीं।"

धर्मराज ने पूछा—"आपकी यात्रा में क्या वृत्ति रही ? किस तरह से आप अपना निर्वाह करते थे ? आप किसी वाहन पर चलते थे या पैदल ? अकेले रहते थे या दस-बीस यात्रियों की मण्डली में ? आप इन सब बातों को हम सबको सुनाइये। आपके इस विचित्र वेष को देखकर मुझे बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

विदुरजी बोले—"राजन् ! जब मैं यहाँ से निकला, तो मैंने अपना अवधूतों का-सा वेष बना लिया। सम्पूर्ण वस्त्रों को फेंक दिया एक लँगोटी लगा ली, एक कंथा साथ में ली। सम्पूर्ण शरीर पर धूलि लपेटे रहता था; ताकि मुझे कोई पहिचान न ले। मैं अकेला ही पृथ्वी पर विचरण करता था। यदृच्छया जो भी प्राप्त हो जाता, उसी को खाकर सन्तुष्ट रहता। भूमि पर शयन करता और पैदल ही पृथ्वी के पुण्यतीर्थ, पर्वत, नद-नदी और देवताओं के स्थानों तथा मन्दिरों में दर्शनार्थ पर्यटन करता रहता। इस प्रकार मैंने यात्रा की।"

धर्मराज ने पूछा—"चाचाजी ! किस-किस तीर्थ में आप गये ?"

विदुरजी बोले—"मैं कुरुक्षेत्र, इन्द्रप्रस्थ, मथुरापुरी, वृन्दावन, शूकरक्षेत्र, बटेश्वर, नैमिषारण्य, प्रयागराज, अयोध्यापुरी, चित्रकूट, काशी, गया, जगन्नाथपुरी, वेङ्कटाचल, काँची, श्रीरङ्गम, चिदम्बरम्, कुम्भकोणम्, श्रीरामेश्वर, पंढरपुर, द्वारका, प्रभासक्षेत्र.....।"

बीच में ही धर्मराज ने पूछा—"आप द्वारकापुरी, प्रभास भी गये थे ? वहाँ तो आपको सब यादव मिले होंगे ? भगवान् के दर्शन भी हुए होंगे ? अर्जुन तो वहीं है, उससे भी भेंट हुई होगी। आप मुझे श्रीकृष्ण के सब समाचार सुनावें ?"

विदुरजी प्रभासक्षेत्र से ही अत्यन्त शीघ्र योगमार्ग से मथुरा-

पुरी, हरिद्वार होकर आये थे। यदुकुल के क्षय की बात उन्होंने उद्धवजी से व्रज में सुनी थी। भगवान वासुदेव देवताओं की प्रार्थना से स्वधाम पधार चुके थे। किन्तु विदुरजी ने यह दुःखद संवाद स्वयं सुनाना उचित नहीं समझा। क्योंकि वे स्वभाव से दयालु थे। उनकी सदा से पांडवों को प्रसन्न करने की चेष्टा रहती थी। इसी के लिए वे सदा प्रयत्न करते रहे। अब वे स्वयं इस प्रकार का दुःखद समाचार सुनाकर सभी को दुखी क्यों बनाते। उन्होंने सोचा—"कभी न कभी तो धर्मराज इस असह्य समाचार को सुन ही लेंगे, अर्जुन स्वयं ही आकर कहेंगे, फिर मैं रङ्ग में भङ्ग क्यों करूँ।" यही सब सोच समझकर उन्होंने यात्रा की सब बातें तो सुना दीं, किन्तु यदुकुल के क्षय की बात कही ही नहीं। वे बोले—"मैं तो भैया, किसी सम्बन्धी के यहाँ गया ही नहीं। मेरा प्रयोजन तो तीर्थयात्रा करना ही था।"

धर्मराज बोले—"आपको तीर्थ यात्रा से क्या पुण्य हो सकता है, आप तो स्वयं ही तीर्थ स्वरूप हैं। हाँ तीर्थों को आपसे अवश्य लाभ हो सकता है। तीर्थों में पापी लोग स्नान करके उन्हें काले बना देते हैं। जब आप जैसे परम भागवत जिनके हृदय में सदा हरि निवास करते हैं, उन तीर्थों में जाकर स्नान करते हैं, तब तीर्थ पवित्र हो जाते हैं। आप स्वयं तीर्थ करने ही नहीं गये थे, किन्तु तीर्थों को यथार्थ तीर्थ बनाने को ही भूमि पर विचरे थे। आप जैसे परोपकारी भगवत् भक्तों का यह स्वभाव ही है।"

इस प्रकार परस्पर कुशल प्रश्न और शिष्टाचार की बातें होती रहीं। तब महाराज युधिष्ठिर ने विदुरजी के रहने को मणिमय भवन दिया और उनके लिये समस्त दिव्य वस्तुयें उपभोग के लिये दीं। जिस प्रकार देवता स्वर्ग में सुख से रहते हैं, उसी प्रकार विदुरजी रहने लगे। उन्हें सांसारिक सुखों की

स्पृहा नहीं थी, न वे भोगों को भोगना ही चाहते थे, किन्तु पांडवों की प्रसन्नता के लिये और अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र की मङ्गलकामना के निमित्त वे कुछ काल तक राजधानी के भोगों को भोगते हुए धर्मराज के समीप रहे। साक्षात् प्राणियों को दण्ड देने वाले धर्मराज ने ही शूद्रा के गर्भ से मुनि शाप वश विदुर का शरीर धारण किया है, ऐसे महाबुद्धिमान् विदुरजी को पाकर धर्मराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे अपने समस्त राज कार्यों में विदुरजी की सम्मति लेते थे और उनसे पूछकर ही सब कार्य करते थे।"

छप्पय

विदुर देववत लखे अंग पांडव न समाये।
मानों मृतक शरीर प्रान फिरते फिरि आये॥
पूछें पांडव चचा! हमें क्यों अस बिसराये।
कुन्ती बोलीं लला! भूलि तुम इत कित आये॥
प्रणय कोपयुत मधुर अति, सुनत विदुर बोले वचन।
भामी! भाग्य अधीन है, सुख दुख अरु बिछुरन मिलन॥

—o—

विदुरजी का अपने भाई धृतराष्ट्र को वैराग्योपदेश

[४५]

राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम् ॥
प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो ।
स एव भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १३ अ० १८, १९ श्लोक)

छप्पय

धर्म रूप वे विदुर बन्धु तैं बोले बानी ।
राजन् ! कुटिल कराल काल की कछु गति जानी ॥
देखो, दौरथो काल सबनि के सम्मुख आयो ।
चलो, त्यागि तत्काल बिलम कस यहाँ लगाओ ॥
सगे सबहिं सुरपुर गये, देह जर्जरित है गई ।
जीवन आशा ना गई, अन्त समय दुर्गति भई ॥

दुख के दिन कटने दुर्लभ हो जाते हैं, सुख के दिन व्यतीत होते हुए प्रतीत नहीं होते । हम अनेक कार्यों के कारण व्यग्र रहते हैं, किन्तु काल सदा अव्यग्र भाव से प्रतीक्षा करता रहता

* विदुरजी अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र से कह रहे हैं—"राजन् ! अब आप अति शीघ्र घर से निकल चलिये । यह देखिये, सामने साक्षात् भय ही आ रहा है, जिसकी कोई प्रतिक्रिया यहाँ नहीं है । वही हम सबके कालस्वरूप भगवान् यह सामने आ गये हैं । अतः हे प्रभो ! अब देरी करने का समय नहीं ।"

है। हम स्त्री, बच्चे, गृह, कुटुम्ब आदि की चिन्ता में फँसे रहने के कारण असावधान रहते हैं, किन्तु काल सदा सावधान हुआ अन्त समय की बाट जोहता रहता है। हम विषय सुखों में जोंदाद के खुजाने की तरह क्षणिक सुखदायी हैं, उनमें प्रमत्त हो जाते हैं, किन्तु काल अप्रमत्त भाव से हमारा पीछा करता रहता है। हम आकाश, पाताल, पृथ्वी, घर, वन, शैया, आसन, वाहन कहीं भी क्यों न रहें, काल हमारा पीछा नहीं छोड़ता। वह कभी अपनी गणना में भूल नहीं करता, किसी के भी साथ उसे शील संकोच नहीं। तुम चाहे अपना उद्देश्य भूल भी जाओ, पर वह तो कार्य करता ही रहेगा।

बहुत दिनों में पांडवों को पुनः ऐश्वर्य प्राप्ति हुई थी, धर्मराज ससागरा समस्त वसुन्धरा के एकछत्र सम्राट थे। सभी भाई, सेवक, मन्त्री, अमात्य उनके वशवर्ती थे। सदा सावधानी के साथ उनकी सभी आज्ञाओं का अविलम्ब पालन होता था। अश्वमेध यज्ञों के कारण पृथ्वी से लेकर स्वर्ग तक उनका यश फैल गया था। कुल को बढ़ाने वाले सर्व लक्षण सम्पन्न पौत्र की प्राप्ति हो चुकी थी। द्रोपदी अपने पतियों को परमात्मा मानकर पूजती और आदर करती थीं। भगवान् के अनुग्रह से धन सम्पत्ति को कुछ भी कमी नहीं थी। सभी पांडवों की मति धर्म में रत थी। वे धर्मपूर्वक यथेष्ट कामों का सेवन करने लगे। अपने आश्रितों के सभी मनोरथों को पूर्ण करने लगे। धृतराष्ट्र को वे पिता से भी बढ़कर मानते। धर्मराज प्रातः उठकर सबसे प्रथम अपने भाइयों सहित—अपने पिता-माता के तुल्य—धृतराष्ट्र और गान्धारी के महलों में जाते। जब वे शैया पर ही सोते रहते, तभी उनके चरणों में सिर रख उन्हें प्रणाम करते। उनसे कुशल प्रश्न करते, फिर आदर्श सती गान्धारी की चरण वन्दना करते। माता कुन्ती से भी अधिक वे उनका आदर करते।

धर्मराज के ऐसे प्रेम-पूर्वक सद्व्यवहार से वे दोनों पति-पत्नी अत्यन्त ही सन्तुष्ट होते और रोज उन्हें भाँति-भाँति के आशीर्वाद देते।

धर्मराज हाथ जोड़कर आगे खड़े हो जाते, और उनसे प्रत्येक कार्य की आज्ञा माँगते। उनके सुख का अत्यधिक ध्यान रखते। कुन्तीजी तो अपने महल को छोड़कर गान्धारी के ही पास आ गई थीं। यद्यपि वे गान्धारी की देवरानी थीं, किन्तु अपनी जिठानी का वे सगी सास के समान आदर करतीं। इतनी दासियों के रहने पर भी वे धृतराष्ट्र और गान्धारी के सभी कामों को अपने हाथों ही करतीं। जब कभी गान्धारी मना करतीं, तो आँखों में आँसू भरकर कहतीं—"बीबीजी! मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ मुझे, यह सेवा बड़ी कठिनता से प्राप्त हुई है।" कुन्ती के ऐसे प्रेम को देखकर दोनों पति-पत्नी मन ही-मन बहुत प्रसन्न होते।

भीमसेन का स्वभाव कुछ क्रोधी था। धृतराष्ट्र की पुरानी बातों को कभी याद करते, तो धर्मराज उन्हें डाँटकर अपने शरीर की शपथ दिलाते हुए कहते—"भीम! यदि तुमने मेरे पिता-माता से भी बढ़कर माननीय और पूज्य धृतराष्ट्र और गान्धारी से सम्मुख कोई भी बात कही, तो निश्चय ही मैं राज्य-पाट छोड़कर अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा।" इसी डर से भीमसेन कुछ भी नहीं कहते थे। इस प्रकार पाँडवों का समय बड़े आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। वे अपने अतुल ऐश्वर्य के कारण देवताओं को भी जो भोग दुर्लभ हैं उनका उपभोग करते-करते आने वाले काल को भूल गये, किन्तु काल कब मानने वाला था, वह पांडवों के समीप आ ही गया।

धर्मावतार विदुर ने अपनी दिव्यदृष्टि से देखा कि पाण्डवों का तो अब काल पूरा हो रहा है। काल स्वरूप भगवान् उन्हें

लेने के लिए आ रहे हैं और ले जाने की बड़ी व्यग्रता के साथ तैयारियाँ कर रहे हैं। उन्हें पाण्डवों की चिन्ता नहीं थी, क्योंकि वे कृष्ण कृपा प्राप्त थे। उन्हें चिन्ता थी अपने अन्धे ज्येष्ठ भाई की। वे उन्हें घर में रहकर मरने देना नहीं चाहते थे। किन्तु धृतराष्ट्र धर्मराज की सेवा से इतने वशीभूत हो गये थे, कि वे उनके मन के विपरीत कोई भी कार्य करना नहीं चाहते थे। सच्चे शुभचिन्तकों का काम होता है, कि वे डाँटकर, डपटकर, कठोर वचन कहकर, जैसे भी हो अपने सगे सम्बन्धी का हित करें। जो असन्तुष्ट होने के भय से अपने बन्धु-बान्धवों और मित्रों से हित की बात नहीं कहते, सदा चाटुकारिता ही करते रहते हैं, वे सुहृद् न होकर शत्रु ही हैं। सुहृद् का तो कार्य है जैसे भी हो अपने बन्धु का कल्याण करना। विदुरजी वैसे ही बन्धु थे। जब उन्होंने देखा, कि मेरे भाई शीलसंकोच से भोगों में और सम्बन्धियों में इतने अधिक आसक्त हो गये हैं, कि वे मीठी बातों से कभी मान नहीं सकते, तो वे उनसे कठोर वचन कहने लगे।

विदुरजी बोले—"प्रभो! अब आप यहाँ क्यों फँसे हुए हैं। यद्यपि आप बाह्य नेत्रों से रहित हैं। किन्तु आपकी प्रज्ञा ही चक्षु हैं, आप अपने सम्मुख काल भगवान् को नहीं देखते? अब ये फेंट बाँधकर कपड़े सम्हाल कर, हमें भक्षण करने को ही उद्यत हैं।"

धृतराष्ट्र ने दुखित होकर कहा—"भैया, विदुर! तुम बड़े ही बुद्धिमान् हो, सभी विषयों के पंडित हो। इस काल को रोकने का कोई उपाय करो। जप-तप, अनुष्ठान, यन्त्र-मन्त्र जिससे भी इसकी प्रतिक्रिया हो सके, धर्मराज से कहकर उसी को कराओ।"

विदुरजी अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"राजन्! यह काल ऐसा दुर्निवार है, कि इसको हटाने का कोई भी उपाय नहीं, यह अटल और अमिट है। इसीलिये आप अपना कल्याण

चाहते हैं, तो शीघ्र ही इस बन्धन रूपी गृह को त्याग कर तपोवन की ओर प्रस्थान कीजिए। यदि आप न गये और यहीं सड़ते रहे, तो यह दुष्ट काल आपके शरीर को खा जायेगा। ये

सब सामग्रियाँ यहीं ज्यों की-त्यों पड़ी रह जायेंगी। अन्त समय में कुटुम्ब परिवार की चिन्ता करते हुए मरे, तो इन्हीं में पुनः

पुत्र बनकर पैदा होना पड़ेगा, क्योंकि "अन्ते या मतिः सा गतिः।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर! अभी मरने की इच्छा नहीं होती, धर्मराज ने मुझे अपने प्रेमपाश में कसकर बाँध लिया है।"

विदुरजी बोले—"छिः-छिः, अब भी आपको जीने की आशा बनी हुई है। आपके पिता, भ्राता, मित्र, पुत्र सभी तो मारे गये। स्वयं आपकी सब इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। देह जर्जरित हो गई, इतने पर भी जीवित बने रहना चाहते हैं। फिर अपने घर में नहीं, दूसरे के टुकड़े खाकर। राम-राम! आपकी वृद्धावस्था में कैसे बुद्धि भ्रष्ट हो गई? मुझे आपसे ऐसी आशा नहीं थी।"

धृतराष्ट्र ने बड़ी दीनता से कहा—"विदुर, भैया! आज तू मुझे क्यों इतनी कठोर-कठोर बातें सुना रहा है। अरे भैया, मैं एक तो अन्धा हूँ, दूसरे मेरे सब पुत्र-पौत्र, बन्धु-बान्धव मारे गये उन दुष्टों ने मुझे सदा दुःख ही दिया। दुर्योधन ने कभी मेरी श्रद्धा से सेवा नहीं की। यथार्थ पुत्र का सुख तो मुझे धर्मराज के राज्य-काल में ही प्राप्त हुआ है। तुमने पहिले कहा भी था, इस दुष्ट दुर्योधन का कुल की रक्षा के लिए परित्याग कर दो, किन्तु पुत्र स्नेह से मैं ऐसा न कर सका। वह स्वयं ही अपने पाप से बन्धु-बान्धवों सहित मारा गया। अब तुम धर्मराज के घर को दूसरे का घर क्यों बताते हो? वे तो मेरा पांडु भैया से भी अधिक सत्कार करते हैं।"

विदुर ने अत्यन्त ही प्रेम-रोष के स्वर में डाँटते हुए कहा—"राजन्! ये बातें कहते हुए आप लज्जित नहीं होते? धर्मराज जो भी कुछ करते हैं, वह उनके अनुरूप ही है। उनको ऐसा करना शोभा देता है। वे धर्म के मर्म को जानते हैं, आपकी सेवा करके अपने परलोक को बना रहे हैं, किन्तु आपको अपनी ओर

भी तो देखना चाहिए। आपने उनके साथ कैसा व्यवहार किया? वारणावत में जब पांडवों को जला देने की मन्त्रणा हो रही थी, तो क्या आपको इस बात का पता नहीं था? भीम को विष (जहर) देकर मार डालने की दुष्ट दुर्योधन ने कुमन्त्रणा की और लड्डुओं में विष खिला दिया था, यह बात क्या आपके बिना पूछे की गई? भरी सभा में जब सती-साध्वी द्रौपदी को दुष्टों ने नग्न करने का प्रयत्न किया, तो आप तो वहाँ सिंहासन पर मुँह मटकाते हुए बार-बार पूछ रहे थे—"अब क्या हुआ? अब क्या हुआ?" उस समय पांडव आपके पुत्र नहीं थे? उस समय द्रौपदी किसी म्लेच्छ की बहू थी? क्यों यही बात है न? जुए की सभा तो आपकी सम्मति से ही सजाई गई थी। पांडवों का राज्य, धन तो आपके सामने ही शकुनी आदि दुष्टों ने अपहरण किया, चीर-वल्कल पहिनाकर वन के लिए पाण्डव तो आपके सामने ही निकाले गये, उस समय पाण्डव बेटे नहीं थे? क्योंकि बिना प्रयत्न का माल मिल रहा था। अब जब मर गये, तो अब पाण्डव मेरे बेटे हैं, द्रौपदी मेरी बहू है। मीठा-मीठा गप्प-गप्प, कड़वा-कड़वा थू! छिः-छिः आज आपको पुत्र स्नेह उत्पन्न हुआ है। भीम के मन की बात आप नहीं जानते क्या? धर्मराज की आज्ञा से संकोचवश जैसे द्वार पर बैठे कुत्ते को टुकड़ा डाल देते हैं, ऐसे ही भीम सब सामग्रियाँ तुम्हारे यहाँ फेंक जाता है, और तुम समझते हो मेरे बेटे मेरी सेवा कर रहे हैं। राजन्! आप अत्यन्त शोचनीय हैं। देखिये, जिस शरीर को आप इतना पाल-पोस रहे हैं, वह एक दिन आपको अकस्मात् त्यागकर चला जायगा। इसलिए आप अपने कल्याण के लिए कुछ करें।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर! भैया, कह तो तुम ठीक रहे हो। पाण्डवों के साथ मैंने जो व्यवहार किया है, उसे यदि सोचा जाय तो, मैं इन्हें मुँह दिखाने योग्य भी नहीं हूँ। इतने पर भी

पाण्डव पिता से भी बढ़कर मेरी सेवा कर रहे हैं, यह उन्हीं के अनुरूप है और मैंने जो दुष्टतायें की हैं, वे मेरे दुष्ट स्वभाव के ही अनुकूल थीं। अब भैया, तुम ही बताओ, मुझे क्या करना चाहिए ? कौन-सा कार्य करने में मेरा कल्याण है ?"

विदुर बोले—"राजन् ! देखिये, यह जो शरीर है, कहने को तो लोग इसे श्रेष्ठ कहते हैं, किन्तु है यह मल-मूत्र का थैला। रोम-रोम से सदा इसमें से मल बहता रहता है। फिर इसमें असंख्यों व्याधियाँ भरी पड़ी हैं। इन व्याधियों के कारण विवश हुआ प्राणी अधीर हो जाता है। वह विषयों के अधीन होकर गृह में ऐसा अनुरक्त हो जाता है, जैसे शरीर में। ये प्राणी शरीर को ही आत्मा मानकर उसमें बँध जाते हैं। उसी प्रकार घर में भी ममता हो जाती है। किन्तु घर-बार, कुटुम्ब-परिवार यहाँ तक कि इस इतने यत्न से पाले-पोसे शरीर को भी त्यागकर जीवात्मा चला जाता है। इसलिए बुद्धिमानी इसी में है, कि जब तक अन्तिम काल समीप नहीं आता, तभी तक इन सबकी ममता त्यागकर तपोवन में तीर्थ स्थान में जाकर आत्मचिन्तन करना चाहिए। अधीरता को भगा देना चाहिए। इस प्रकार जो इस शरीर को अप्रयोजनीय समझ कर, मोह बन्धन से रहित होकर, विरक्त भाव से कुटुम्बियों से अज्ञात रहकर, इस शरीर का भगवत् चिन्तन करते हुए त्याग करता है, वही धीर कहलाता है। राजन् ! आप ज्ञानी हैं। धीरों के मार्ग को ग्रहण करें, इस गृहस्थी के मोह-जाल को काटकर तपोवन में चलें।"

धृतराष्ट्र बोले—"सबको तो तुम्हारी तरह ज्ञान होता नहीं। सब अपने आप गृह का त्याग कैसे कर सकते हैं ?"

विदुरजी ने कहा—"हे कुरुकुल तिलक ! बिना त्याग के कल्याण नहीं, आसक्ति बन्धन का हेतु है। अतः चाहे अपने आप अथवा दूसरों के उपदेश से इन बाह्य वस्तुओं से विरक्त

होकर, हृदय से सभी वासनाओं को निकाल कर और वहाँ भगवान् वासुदेव को विधिवत् बिठाकर, घर छोड़कर जो वन के लिए निकल पड़ता है, वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है। यदि अन्त तक इसी मोह जाल में जकड़े रहे और पुत्र पौत्रों और कुटुम्बियों का मुख देखते हुए खटिया पर पड़े-पड़े सड़कर वहीं मर गये, तो उनमें और पशु पक्षियों में क्या अन्तर है? इसलिए राजन! आप मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिये और अभी सबको छोड़-छाड़ कर परमपावन उत्तराखण्ड की पुण्य भूमि की ओर चल पड़िये।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर, इतनी ममता से इतने हित की बात कहने वाला भैया, संसार में दुर्लभ है। तुम मेरे भाई क्या हो, मेरे गुरु हो, मेरे देवता हो। अब भैया यह बताओ धर्मराज मेरे ऊपर बहुत अधिक श्रद्धा रखते हैं। उनके सम्मुख यदि मैं ऐसा प्रस्ताव रखूँगा, तो वे मुझे कभी भी जाने न देंगे। मैं बहुत आग्रह करूँगा, तो वे बच्चों की तरह रोने लगेंगे और मेरे पीछे-पीछे रोते हुए राज्यपाट छोड़कर चल देंगे। यद्यपि वे अब बूढ़े हो गये हैं, किन्तु मेरे सामने वे बालकों की ही तरह व्यवहार करते हैं। मैं और तो सब कुछ कर सकता हूँ, किन्तु धर्मराज को दुखी नहीं देख सकता। ऐसा कोई उपाय बताओ, कि धर्मराज मुझे प्रसन्नता से तपोवन में जाने की अनुमति दे दें।"

विदुरजी ने कहा—"प्रभो! धर्मराज आपको कभी भी अनुमति नहीं दे सकते। आप उनसे बिना पूछे, अज्ञात भाव से ही निकल चलिये।"

रोते-रोते धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर! तुम मेरी ओर देख नहीं रहे हो? कितना बूढ़ा हो गया हूँ, जन्मान्ध होने से मुझे रास्ता भी दिखाई नहीं देता। गान्धारी जो मुझे मार्ग दिखा

सकती थी, वह मेरे कारण आँखें रहते हुए भी अन्धी बन गई है। कौन मुझे तपोवन का मार्ग दिखावेगा, कौन मुझ अन्धे की लकड़ी पकड़ेगा ?"

विदुरजी ने कहा—"राजन् ! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं। आपकी लकड़ी तो मैं हूँ। भाई का यही तो कार्य है, कि सब कार्यों में कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर भाई का साथ दे। मैं आपको रास्ता बताऊँगा, मैं आपको तपोवन ले चलूँगा।"

धृतराष्ट्र का हृदय भर आया। उन्होंने हाथों से टटोल-टटोल कर विदुरजी को अपनी छाती से लगाया और रुँधे हुए कंठ से गद्गद स्वर में कहने लगे—"विदुर ! मेरी डगमगाती जीवन नौका के तुम्हीं एकमात्र सुयोग्य कर्णधार हो। अच्छा भैया, जैसा तुम कह रहे हो, वैसा ही हो। अब शीघ्र ही हम लोगों को यहाँ से चल देना चाहिये।"

इस प्रकार दोनों भाइयों ने निश्चय कर लिया। अब वे किसी प्रकार गृह को त्यागकर अज्ञातभाव से निकल भागने को सोचने लगे।"

छप्पय

जिनकूँ तुमने देव ! दुसह दुख दारुण दीन्हे।
दारा दूषित करी द्रव्य हरि मिच्छ कीन्हे॥
श्वान समान अमान उन्हीं के टुकड़े खाओ।
रक्त सुरञ्जित भोग भोगते नहीं लजाओ॥
चलो उत्तराखण्ड कूँ, मोह पाश छेदन करो।
जन्म सफल तप करि करो, सब तजि हरि हिय में धरो॥

विदुरजी के साथ धृतराष्ट्र का गृहत्याग

[४६]

एवं राजा विदुरेणानुजेन
प्रज्ञाचक्षुर्बोधित आजमीढः ।
छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्दृढिम्नो
निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा ॥*
(श्री भा० १ स्क० १३ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

सुनत विदुर के बचन बन्धुवर अति हरषाये ।
गद्गद गिरा गंभीर नीर नयननि में छाये ॥
धन्य-धन्य लघुभ्रात हाथ गहि तात उबारयो ।
अन्धकूप में पतित-पतित कूँ पकरि निकार्‌यो ॥
सबकूँ सोवत छोड़िके, गान्धारी के साथ में ।
विदुर बताये मार्ग तें, चले हाथ दे हाथ में ॥

जो हमें श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों की ओर झुकावे वही संसार में सच्चा सुहृद् है, जो हमें संसारी व्यवहारों से हटाकर

* इस प्रकार अपने छोटे भाई श्री विदुरजी के समझाने पर आजमीढ़ वंशावतंस श्री राजा धृतराष्ट्र जी अपने बन्धु-बान्धवों में जो स्नेह बन्धन की दृढ़ फाँसी है, उसे बलपूर्वक तोड़कर, विदुरजी के बताये हुए तपोवन के मार्ग को घर से निकल पड़े ।

हरिभक्ति में लगावे वही हमारा वास्तव में बन्धु है। जो आत्मिक उन्नति में सहायक हो वही यथार्थ सम्बन्धी है। इनके अतिरिक्त जो मित्र, पुत्र, बन्धु-बान्धव हैं—वे तो केवल बन्धन के ही कारण हैं। संसार में और अधिक जकड़ देने वाले मोह पाश लिये हुए बन्धुरूप में बधिक हैं। विदुरजी धृतराष्ट्र के सच्चे हितैषी थे।

जब विदुर ने अपने बन्धु को बहुत भाँति से समझाया, तब धृतराष्ट्र की समझ में यह बात आ गई, कि अब अन्त समय में यहाँ रहने में मेरा कल्याण किसी भी प्रकार नहीं है। उन्होंने अपने भाई की बात मान ली और वे घर छोड़ने को उद्यत हो गये।

एक दिन रात्रि में जब सब सो गये, तब धृतराष्ट्र धीरे से उठे, उन्होंने विदुर का कन्धा पकड़ लिया और बोले—"चलो, चलें।"

गान्धारी जो सदा पति के पास ही रहती थी और अपने पातिव्रत के प्रभाव से सभी बातों को दिव्य दृष्टि से जानती थी, उसने भी अपनी लाठी उठाई और पति का पल्ला पकड़ कर वह भी चलने लगी।

भनक पाकर महाराज धृतराष्ट्र बोले—"कौन? रानी! तुम कहाँ चल रही हो?"

गान्धारी ने कुछ व्यङ्ग के स्वर में कहा—"जहाँ राजा जा रहे हैं, वहीं रानी जायगी। राजा के बिना रानी की क्या शोभा?"

धृतराष्ट्र ने अत्यन्त ही स्नेह के स्वर में कहा—"देवि! हम लोग तो अब महाप्रस्थान की ओर जा रहे हैं। वहाँ न भोजन का ठिकाना है, न वाहन हैं और न दास-दासी ही हैं। पैदल अरण्यों और पर्वतों में भटकना पड़ेगा। वन के कसैले और कड़वे फलों पर निर्वाह करना पड़ेगा। सो स्वयं ढूँढ़कर लाने

पड़ेंगे। देवि! तुम्हारा शरीर सदा सुख में पला है, तुम इस योग्य नहीं हो। यहीं कुन्ती के सहित कृष्ण कथा, कीर्तन करती हुई काल यापन करो।"

गान्धारी ने पूछा—"देव! आज ये अनोखी बातें आप

क्यों कर रहे हैं ? छाया कभी शरीर से पृथक् रह सकती है ? चाँदनी को क्या कोई चन्द्रमा से बिछुड़ा सकता है। प्रभा को कोई प्रभाकर से पृथक् कर सकता है ? शरीर के बिना जीव रह सकता है ? जल कभी शीतलता का सदा के लिये परित्याग कर सकता है ? मछली कभी जल के बिना जी सकती है। इसी प्रकार प्रतिव्रता कभी पति से विहीन बनकर रह सकती है ? मुझे भोग, वाहन, दास, दासी, ऐश्वर्य, धन नहीं चाहिये। मुझे आपकी आवश्यकता है, मेरे धन तो आप ही हैं। आप मेरे सर्वस्व हैं, आप जहाँ है वहाँ सब कुछ है। जहाँ आप नहीं, वहाँ सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है।"

बीच में ही विदुर बोले—"भाईजी! अब वाद-विवाद का समय नहीं। मेरी पतिव्रता भाभी कभी मान नहीं सकतीं। ये आपके बिना रह नहीं सकतीं, आप इन्हें रोकें नहीं, चलने दें।" यह सुनकर धृतराष्ट्रजी ने फिर आपत्ति नहीं की। तीनों चुपचाप उठकर चल दिये। बुद्धिमान् विदुरजी ने पूर्व से ही ऐसा प्रबन्ध कर रखा था, कि किसी पहरे वालों को भी पता न चले। इसलिये वे रात्रि में ही इतनी कुशलता से नगर के बाहर हो गये, कि किसी को उनके जाने की बात ज्ञात नहीं हो सकी। विदुर बड़े बुद्धिमान थे। इसलिये वे उस दिन आगे नहीं बढ़े, क्योंकि आगे से धर्मराज चारों ओर अपने चर भेजकर उन्हें खोज लेते। इसलिये गङ्गा के किनारे के एक निर्जन स्थान में ही सूर्योदय से पहिले जाकर छिप गये।

इधर प्रातःकाल हुआ। धर्मराज नियमानुसार अरुणोदय में उठे। स्नान, सन्ध्या, वन्दन, अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों से निवृत्त होकर उन्होंने मङ्गल द्रव्यों का दर्शन स्पर्श किया। पुनः अपने आश्रित असंख्यों ब्राह्मणों को गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, तिल तथा विभिन्न प्रकार के अन्न वस्त्रों का दान दिया। पुनः जैसे

वे नित्य जाते थे, अपने पिता तुल्य धृतराष्ट्र की चरण वन्दना करने चले। उन्होंने जाकर वहाँ देखा, सभी वस्तुएँ अस्त व्यस्त भाव से बिखरी पड़ी हैं। उन्हें कुछ शङ्का-सी हुई। फिर सोचा सम्भव है शौचादि को गये होंगे। यह सोचकर उन्होंने गांधारी की शैया को देखा। वह भी शून्य पड़ी थी। उनका हृदय धड़कने लगा। विदुरजी की शैया के समीप गये, तो वह भी शून्य थी। अब उन्हें निश्चय हो गया, कि हमारे माता-पिता और चाचा हमें त्याग कर कहीं चले गये। उन्होंने हड़बड़ाहट के साथ उच्च स्वर से पुकारा—"संजय, संजय! शीघ्र आओ।" संजय कहीं गया थोड़े ही था। वह तो समीप में ही बैठा रो रहा था। उसे धर्मराज का आगमन विदित ही न हुआ। अब जब धर्मराज ने उच्च स्वर से पुकारा तब उसका ध्यान भंग हुआ। शीघ्रता से उठकर हाथ जोड़े हुए नेत्रों से आँसू बहाते हुए संजय चुप-चाप आकर धर्मराज के समीप खड़ा हो गया। आज उसने सदा की भाँति धर्मराज की स्तुति नहीं की। सूत को इस दशा में देखकर दयालु धर्मराज रोने लगे और रोते-रोते पूछने लगे—"संजय! मेरे माता-पिता कहाँ चले गये? हाय! आज मैं उनकी शैया को शून्य देख रहा हूँ। मैं उनकी चरण वन्दना करने आया था, किन्तु मुझे आज उनका दर्शन नहीं हो रहा है। मुझ पापी से ऐसा कौन-सा अपराध बन गया जिसके कारण वे असन्तुष्ट होकर हमें त्याग गये। हाय! संसार में हमारे बराबर भाग्यहीन कौन होगा? देखो, हमारे पिता बाल्यकाल में ही बिलखते हुए छोड़कर कालकवलित हो गये। अपने पितामह को मैंने अपनी दुर्बुद्धि से स्वयं मरवा डाला। अपने सम्पूर्ण कुल का विनाश मेरे ही कारण हुआ। एक मेरे बड़े पिता ही बचे थे, जिन्होंने पिता के पश्चात् हमें प्रेमपूर्वक पाला पोसा। मैं समझता था इन्हीं की सेवा करके

मैं अपने पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित करूँगा, सो वे भी मेरी कुटिलता के कारण पता नहीं कहाँ चले गये ? ये अब अधिक जीवित न रहेंगे। उनके सभी पुत्र मारे गये। वे स्वयं नेत्रहीन हैं, उन्हें कुछ दीखता भी नहीं। निश्चय ही उन्होंने गङ्गाजी में कूदकर अपने प्राणों का परित्याग कर दिया होगा। विदुरजी तो हमारे प्राण दाता हैं। पिता के पश्चात् वे ही तो हमारी रक्षा करते रहे। उन्होंने ही तो हमें विपत्तियों के भीषण बवण्डरों से बार-बार बचाया। संजय ! तुम तो मेरे पिता और चाचा के सदा समीप ही रहते थे, वे बिना तुम्हारी सम्मति के कैसे जा सकते हैं ? तुम ही उनके सम्मति दाता एकमात्र विश्वासनीय मन्त्री थे। अवश्य ही वे तुमसे पूछकर गये होंगे। तुम मुझे उनका पता अभी बताओ। जैसे छोटा बछड़ा अपनी माँ के पीछे दौड़ जाता है, उसी प्रकार पता पाते ही मैं भी उसी स्थान को दौड़ा जाऊँगा और वे जहाँ भी रहेंगे वहीं उनकी सेवा सुश्रूषा करूँगा।"

सूत स्वयं दुखी थे। शोक के कारण उनकी सभी इन्द्रियाँ आकुल थीं। नेत्रों से निरन्तर अश्रुप्रवाह हो रहा था। कण्ठ गद्गद हो जाने के कारण कुछ भी बोलने में वे असमर्थ थे। धर्मराज उनसे बार-बार प्रश्न पर प्रश्न कर रहे थे। अन्त में धैर्य धारण करके उन्होंने अपने अश्रुओं को पोंछा। विचार द्वारा चित्त को स्वस्थ करके वे प्रकृतिस्थ हुए और अपने स्वामी धृतराष्ट्र के चरणों का चिन्तन करते हुए हाथ जोड़कर कहने लगे—"प्रभो ! आप मेरी बात पर विश्वास करें। मैं आपसे सत्य-सत्य कहता हूँ। इस विषय में उन्होंने कभी मुझसे सम्मति नहीं ली। उनके मन में क्या बात थी, समीप रहते हुए भी मुझे उसका आभास भी मालूम न हो सका। सम्भव है, विदुरजी के साथ उनकी कुछ सम्मति हुई हो। आपके दोनों

चाचा ताऊ और ताई गान्धारी कहाँ गई, मुझे इसका तनिक भी पता नहीं है। हे कुरुकुल तिलक! मुझे अब तक यही विश्वास था कि महाराज धृतराष्ट्र मुझसे पूछे बिना कोई कार्य नहीं करते। अब तक होता भी ऐसा ही था। चाहे छोटी-से-छोटी बात हो या बड़ी-से-बड़ी पहिले वे मुझसे पूछ लेते। मेरी सम्मति होती तो करते और यदि मेरी सम्मति न होती तो स्वयं इच्छा होने पर भी उसे नहीं करते थे। इसी का मुझे गर्व था, किन्तु आज वह मेरा गर्व खर्व हो गया। मुझे उन महाराज ने ठग लिया। इतना स्नेह और विश्वास बढ़ाकर अन्त में मेरे साथ वञ्चना की। मुझ पापी को उन्होंने अपनी सेवा से पृथक् कर दिया। मुझे वे अपने साथ नहीं ले गये। अब मैं इस वृद्धावस्था में अपने स्वामी से वंचित होकर कैसे जीवन धारण कर सकूँगा? इतना कहते-कहते संजय फूट-फूटकर रोने लगे। धर्मराज को निश्चय हो गया, कि जिस प्रकार मुझसे नहीं कहा उसी प्रकार वे संजय से भी बिना कहे चले गये। उन्होंने सोचा—"सायंकाल तो सभी सुखपूर्वक मेरे सामने ही सोये थे। वे अर्धरात्रि के पश्चात् ही गये होंगे। एक तो वे वृद्ध हैं, दूसरे अन्धे हैं। अभी तो वे दूर भी न पहुँचे होंगे। अतः मैं शीघ्र ही चारों ओर सैनिकों को भेज कर उनकी खोज कराऊँ।"

धर्मराज ऐसा सोच ही रहे थे, उनका रोना-धोना सुनकर उनके भाई भी आ गये। महारानी कुन्ती भी रोती-रोती आई और वे भी अपने जेठ-जेठानी तथा देवर विदुर को न देखकर फूट-फूटकर रोने लगीं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमने सुना था, कुन्ती धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ-ही-साथ तपोवन को गई थीं। आप कहते हैं धृतराष्ट्र गान्धारी और विदुर ये तीनों ही गये, यह क्या बात है?"

सूतजी बोले—ऋषियो ! ऐसा भी किसी कल्प में हुआ होगा। कल्प भेदों से कथाओं में कुछ थोड़ा बहुत अन्तर हो जाता है। संसार में कोई नई बात नहीं होती। पुरानी घटनाओं को बार-बार पुनरावृत्ति होने का ही नाम इतिहास है। प्रत्येक कल्प के द्वापर के अन्त में महाभारत होता है। उन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है। किसी-किसी कल्प में कुछ कमी बेशी हो जाती है। इस भागवती कथा के प्रसंग में तो पांडवों की जननी महारानी कुन्ती तपोवन में नहीं गईं। उनका मन तो श्रीकृष्ण में अटका हुआ था, अर्जुन द्वारका गया हुआ था, वह लौटकर आ जाय और अपने परम रक्षक श्रीकृष्ण का समाचार सुन लूँ, तभी आगे का कर्तव्य निश्चय करूँ। यही सब सोचकर कुन्ती वहीं रहकर उदास मन से किंकर्तव्यविमूढ़-सी बनी हुई हस्तिनापुर में ही रही।"

धर्मराज ने चारों ओर चरों को भेजने का प्रबन्ध किया, किन्तु वे नहीं मिले। धर्मराज चिन्तित रहने लगे। एक दिन राम-कृष्ण गुन गाते, वीणा बजाते, देवर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे। नारदजी को देखकर सभी पाण्डव उसी प्रकार प्रसन्न हुए, जिस प्रकार अथाह जल में डूबते हुए मनुष्य दृढ़ नौका को अपनी ओर आते देखकर प्रसन्न होते हैं। जिस प्रकार मरते हुए को संजीवन मिल जाय, भटकते हुए जन्मांध की सहसा आँखें खुल जायँ—उसी प्रकार नारदजी को देखकर सबको विश्वास हो गया, कि ये ऋषि सर्वज्ञ हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की कोई भी बात इनसे छिपी नहीं है, अब अवश्य ही सभी का पता चल जायगा। यही सब सोच रहे थे, कि नारदजी समीप आ गये। सभी ने उठकर उनके चरणों की वन्दना की। पाद्य-अर्घ्य आदि देकर विधिवत् उनकी पूजा की। जब ऋषि स्वस्थ चित्त होकर सुखपूर्वक बैठ गये, तब धर्मराज हाथ जोड़कर उनसे पूछने लगे।

धर्मराज बोले—"प्रभो ! आज मैं एक बड़ी भारी चिन्ता में मग्न हूँ। उससे आप मेरा उद्धार कीजिये।"

नारदजी ने कहा—"राजन् ! मैं आपके मुख-मंडल को ही देखकर समझ गया हूँ, कि आप किसी भारी शोक से सन्तप्त हैं। आप अपने दुःख का कारण मेरे सम्मुख कहिये।"

धर्मराज हाथ जोड़कर बोले—"भगवन् ! आप सर्वज्ञ हैं, आपके सम्मुख कुछ कहना भी धृष्टता करना ही कहा जायगा। आप समस्त प्राणियों के घट-घट की बातें जानते हैं, फिर भी जब आप पूछ ही रहे हैं, तो मैं बताता हूँ। मेरे पिता के सदृश महाराज धृतराष्ट्र और समस्त नीतिज्ञों में श्रेष्ठ मेरे चाचा विदुर रात्रि को माँ गान्धारी के सहित स्वस्थ होकर सोये थे। किन्तु जब मैं प्रातः उनकी चरण-वन्दना के निमित्त गया, तो वे वहाँ नहीं मिले। इसी दुःख के सागर में मेरा हृदय डूब रहा है। इससे पार जाने का पथ दिखाई नहीं देता। आप ही इस शोक के सागर से पार करने वाले कुशल कर्णधार हैं। हे प्रभो ! आप यह बतावें कि वे मेरे दोनों पितृव्य और तपस्विनी माँ गान्धारी हमें छोड़कर बिना कहे क्यों चले गये ? कहाँ चले गये ? किस अपराध से उन्होंने हमारा त्याग किया ?"

धर्मराज के स्नेह में सने हुए सुन्दर शोकयुक्त वचन सुन कर बोलने वालों में श्रेष्ठ महामुनि भगवान् नारदजी कहने लगे—"राजन् ! इतने ज्ञानी, ध्यानी, तेजस्वी, तपस्वी होकर आप ये कैसी भूली-भूली-सी बातें कह रहे हैं ? कौन किसको सुख और दुःख दे सकता है ? यह सम्पूर्ण संसार उन्हीं सर्वेश्वर के संकेत पर नाच रहा है। ये सभी जीव दैव के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं। पृथ्वी के दाने-दाने पर सबकी छाप लग रही है। जल के कण-कण पर सबका नाम लिखा है। जिसकी जितने दिन तक जहाँ के अन्न-जल पर छाप है, वह उतने दिन तक वहाँ

अवश्य-अवश्य रहकर अपने भाग्य के भोगों का उपभोग करेगा। जहाँ उसकी अवधि समाप्त हुई, लाख प्रयत्न करने पर भी वह उससे अधिक वहाँ नहीं रह सकता। यह चराचर विश्व उन्हीं प्रभु की प्रेरणा से प्रेरित होकर समस्त क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी सरीसृप, वृक्षों आदि की तो बात ही क्या-जितने ये इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपाल कहे जाते हैं, वे भी उनकी प्रेरणा के बिना कुछ नहीं कर सकते।"

धर्मराज बोले—"भगवन्! यह तो ठीक है, किन्तु प्रियजनों के संयोग से सुख और वियोग से दुःख तो होता ही है।"

नारदजी बोले—"होता है तो होता रहे। आप सुख-दुःख करके संयोग-वियोग को अन्यथा कर सकते हैं? जिसके साथ संयोग होना होगा, वह अवश्य होगा, प्रयत्न करने पर भी आप उसे टाल नहीं सकते। काल पाकर होने वाला वियोग अवश्य-म्भावी है। तुम यों समझो जैसे हाथी हाथीवन के, घोड़ा सवार के, नथा हुआ बैल किसान के अधीन है, उसी प्रकार यह प्राणी प्रारब्ध के अधीन है। उन्मत्त हुए हाथी, घोड़ा, बैल भैंस भले ही बन्धन तोड़कर कभी स्वेच्छाचरण कर भी जायँ, किन्तु मनुष्य प्रारब्ध को तोड़कर कभी स्वेच्छाचरण नहीं कर सकता। उसे तो प्रारब्ध की परिधि में ही रहना पड़ेगा।"

धर्मराज बोले—"तब फिर ये संन्यासी, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ आदि जो स्वेच्छा से धर्माचरण और साधन करते हैं, वह कैसे करते हैं?"

नारदजी बोले—"स्वेच्छा से कहाँ करते हैं? भैया, ये सब वेद-शास्त्र रूपी डोरों की आज्ञा में बँधे हुए विवश होकर प्रारब्ध कर्मानुसार ही कार्य करते हैं। इस विषय में तुम एक दृष्टान्त सुनो। कोई छोटा बच्चा है, उसने खेल-खेल में बालू का एक घर बनाया, नदी से चिकनी मिट्टी लाकर उसके हाथी, घोड़ा, ऊँट,

बछेड़ा आदि बहुत-से खिलौने बनाये। घर में एक घुड़साल बनाई, उसमें घोड़े बाँध दिये। गोशाला बनाकर उसमें गौ, बछड़े बाँध दिये। बहुत-से स्त्री पुरुष उसी चिकनी मिट्टी के बना-बना कर बिठा दिये। कहने को तो सबके नाम हैं। स्त्री, पुरुष, नौकर, चाकर, स्वामी, सम्बन्धी, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, बैल, भैंस, किन्तु वे सब हैं चिकनी मिट्टी के ही। सबमें एक पदार्थ है। केवल आकृति का भेद है। सो आकृति भी उस बच्चे ने अपनी बुद्धि से बना दी है। अब जिस खिलौने को वह जहाँ चाहे रख सकता है। गौओं में घोड़ों को बाँध दे, तो वे मिट्टी के खिलौने मना नहीं कर सकते। मनुष्यों के सिर पर बिठा दे तो वे मिट्टी के मनुष्य उन्हें फेंक नहीं सकते। बालक का विनोदमात्र है। जब उसकी इच्छा होती है, सबको तोड़-मरोड़ कर फिर बिगाड़ देता है। बस "मनुआ मरि गयो, खेल बिखरि गयो" सब एकम हो गये। इसी तरह यह जगत् जगतपति की क्रीड़ा-स्थली है। जब जिसके साथ जिसको चाहता है, संयोग कर देता है, जब इच्छा होती है वियोग कर देता है।"

धर्मराज बोले—"भगवन्! यह प्रारब्ध वाली बात तो ठीक है, फिर भी हमारे चाचा-चाची इतने दिन साथ रहे, हमारा पालन-पोषण किया। उनके लिये सोच तो होता ही है।"

नारदजी बोले—"आप उनकी किस चीज के लिए शोक कर रहे हैं। उनमें तीन भाव हैं, एक देह, दूसरा जीव, तीसरा ब्रह्म। देह तो अनित्य है, उसका नाश अवश्यम्भावी है, आज नहीं कल, कल नहीं परसों, उसका तो नाश होगी ही। जिसका नाश निश्चित है उसके लिए चिन्ता करना चतुर पुरुषों को शोभा नहीं देता। जीव अविनाशी है, उसका कभी नाश होता नहीं। जब उसका नाश ही नहीं तो उसकी चिन्ता ही क्या। चिन्ता तो गई चीज की होती है। ब्रह्म इन दोनों भावों से रहित है।

अब आप किसका शोक करते हैं ? यह आपका केवल मोहजन्य स्नेह ही है। उसी कारण इतने दुखी हो रहे हैं।"

धर्मराज बोले—"अच्छी बात है, महाराज शोक न भी करें तो मेरे ताऊ, ताई अन्धे हैं। उन्हें कुछ दीखता भालता नहीं। उनकी रक्षा का भार तो मेरे ऊपर है।"

नारदजी हँसे और बोले—"राजन् ! जब तक वे यहाँ रहे, उनकी सेवा करना आपका धर्म ही था। जब वे स्वेच्छा से गृह त्यागकर वन को चले गये, तो आप कहाँ-कहाँ किस-किसकी रक्षा करते फिरेंगे ? गर्भ में बालक की रक्षा करने आप जाते हैं ? पानी में कितने जल जन्तु रहते हैं, उन सबको आप ही अपने महल से आहार पहुँचाते हैं ? आकाश में कितने जन्तु रहते हैं, उनका पालन कौन करता है ? कुरुकुल तिलक ! आप इस भ्रम को हृदय से निकाल दीजिये कि मेरे बिना उनकी रक्षा कौन करेगा ? वे मेरे ताऊ, ताई, चाचा आदि मेरे बिना कैसे जीवेंगे ? भगवान् ने जन्म के साथ ही सब वृत्ति बना दी है। सभी का यह पञ्चभौतिक शरीर काल, कर्म और तीनों गुणों के अधीन है। अन्तर इतना ही है, किसी के पुण्य अधिक हैं, किसी के पाप अधिक हैं। कोई सत्त्वगुण प्रधान है, कोई रजोगुण या तमोगुण प्रधान। जब सभी काल कर्म और गुणों से विवश होकर चेष्टायें कर रहे हैं, तो वे फिर अपने आप स्वतन्त्र भाव से दूसरों की क्या रक्षा कर सकते हैं। क्या कोई मरा हुआ आदमी दूसरों को मार सकता है ? स्वतः जल में डूबता हुआ, दूसरों को डूबने से बचा सकता है ? स्वतः जो विष पीकर मर रहा है, वह दूसरे विष से पीड़ित प्राणी की रक्षा कैसे कर सकता है। जिसे स्वयं सर्प ने डस लिया है, वह दूसरों की रक्षा करने में असमर्थ है।"

धर्मराज बोले—"महाराज ! यह तो आप बड़ी विचित्र बातें बता रहे हैं। तब तो दया, धर्म, परोपकार, पुरुषार्थ कुछ भी नहीं

रहा। कर्म के ही भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठ जायँ, तब तो कोई कार्य ही न हो, भूखों ही मर जायँ।"

नारदजी बोले—"राजन् ! पुरुषार्थ भी सभी नहीं कर सकते। पुरुषार्थ और उसका फल भी प्रारब्ध कर्म के अधीन है। फिर भगवान् ने सबके लिये सबकी वृत्ति निश्चित कर दी है। सभी जीव दूसरे जीवों के द्वारा ही जीते हैं। देखो, घास, पेड़ पत्ती सभी में जीव है। उन्हें खाकर पशु-पक्षी जीते हैं। पशुओं को नाथकर उनसे खेती करके अन्न पैदा करके मनुष्य जीते हैं। बहुत से निर्दय पुरुष भेड़, बकरी, हिरन आदि को मारकर भी खा जाते हैं। जल में रहने वाले बड़े-बड़े तिमिङ्गिल जीव छोटी छोटी मछली आदि को खाकर जीते हैं। इस प्रकार सभी का जीवन जीवों द्वारा ही चल रहा है। तुम्हारे ताऊ, ताई, चाचा भी वन के फल फूलों पर निर्वाह कर सकते हैं। उनके लिये आपको चिन्ता करना व्यर्थ है।"

धर्मराज आश्चर्य से बोले—"प्रभो ! अद्भुत ज्ञान आप बता रहे हैं। वही भोज्य, वही भोक्ता। जीवों के द्वारा जीव जीवन धारण कर रहे हैं ?"

नारदजी बोले—"और आप क्या समझते हैं। वे ही स्वयं प्रकाश भगवान् तो सभी रूपों में हँस रहे हैं। वे ही तो नाना रूप रखकर क्रीड़ायें कर रहे हैं। उनके अतिरिक्त और क्या है ? फल फूलों में भी वे ही, उन्हें खाने वाले ऋषि मुनि के रूप में वे ही। महाभारत में जितने राजा मारे गये, सभी में वे ही आत्मरूप से निवास करते थे, फिर काल रूप रखकर सभी का संहार भी उन्होंने कर डाला। तुमने श्रीकृष्ण को क्या समझ रखा है। वे साक्षात् काल भगवान् हैं। जिन्हें तुम अपना सखा सम्बन्धी, मित्र, सारथि समझते हो—वे काल के भी काल हैं। पृथ्वी के भारभूत भूपतियों का संहार करके अभी यदुवंशियों

के संहार की बात सोच रहे हैं। जहाँ उन्होंने यह सब कर दिया, कि उसी समय वे इस धराधाम को त्यागकर अपने नित्य शुद्ध सनातन लोक में चले जायेंगे। भगवान् जब इस धराधाम को त्याग देंगे, तब इस पर कलियुग का प्रभाव छा जायगा। तब यह पृथ्वी रहने योग्य न रह जायगी। आप सब भी इसे त्यागकर महापथ का अनुसरण करेंगे।"

धर्मराज को अब ज्ञान हुआ। अरे, यह तो हम सबका काल एक साथ आ गया। मुझे भी अब शीघ्र ही गृहत्याग करना होगा। वे भगवान् काल को प्रत्यक्ष देखने लगे। उन्होंने पूछा—"हे सर्वज्ञ! आप तो सब जानते हैं। मेरे ताई, ताऊ और चाचा का समाचार बता दें। वे कहाँ गये?"

नारदजी बोले—"धर्मराज! आप चिन्ता न करें। वे सब धर्मात्मा हैं, उनकी दुर्गति कभी नहीं होने की। हिमालय से दक्षिण भाग में जहाँ से भगवती भागीरथी ने अपने पिता हिमालय की गोद से उतर कर, धीरे-धीरे घुँटुओं के सहारे पृथ्वी पर रेंगना आरम्भ किया है, उसी गङ्गा द्वार के समीप सप्तर्षियों के सुन्दर आश्रम हैं। सातों ऋषियों की तपस्या से प्रसन्न होकर और उन्हें प्रसन्नता प्राप्त कराने के निमित्त, जहाँ भगवती सुरसरी सात स्रोतों में अपने सलिल को विभक्त करके बहीं हैं, (इसलिये वह स्थान सप्तस्रोत के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है), वहीं तुम्हारे ताऊ, ताई और चाचा गये हैं और सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं।"

धर्मराज ने पूछा—"प्रभो! वहाँ वे करते क्या हैं और वहाँ उन्हें आहार कैसे प्राप्त होता है?"

नारदजी कहा—"धर्मराज! तुम भी ऐसी गड़बड़-सड़बड़ बातें करते हो। भैया! सच्चा आहार तो है श्रीकृष्ण का स्मरण, चिन्तन, गुण, लीला, श्रवण। तुम्हारे चाचा, ताई, ताऊ वही

आहार करके सन्तुष्ट हो रहे हैं, देखो, वे नित्य प्रति पुण्यतोया भगवती भागीरथी में त्रिकाल स्नान करते हैं। अग्निहोत्र का तो अभी तक उन्होंने परित्याग किया नहीं है, किन्तु आहार का त्यागकर दिया है। वे नित्य नियम करके, अमृतोपम गङ्गाजी के पुनीत पय का ही प्रतिदिन प्रेम से पान करते हैं। वे कुछ भी नहीं खाते। उन्होंने सञ्जय के सहित आसन सहित प्राणायाम का अभ्यास करते हुए मन के सहित सभी इन्द्रियों का दमन कर लिया है। हे कुरुकुल मुकुटमणि धर्मराज! ये सत्व, रज, तम, ही बन्धन के हेतु हैं। ये गुण ही रस्सी हैं, ये ही जीवों को बाँधे हुए हैं। नित्य निरन्तर श्रीहरि के स्मरण से इन गुणों का मल नष्ट हो जाता है। जहाँ अहङ्कार को बुद्धि के साथ जोड़कर साक्षी चेतन में उसे लीन किया नहीं कि पुरुष त्रिगुणातीत हो जाता है। उस अवस्था में जहाँ साक्षी चेतन को शुद्ध सच्चिदानन्द घन के साथ संयोग कर दिया, तब फिर शेष रहा ही क्या? बिन्दु सिन्धु में मिल गया। विस्फुलिङ्ग अग्नि में मिलकर एक हो गये। घट का आकाश महाकाश में मिल गया। बस, जीव कृतकृत्य हो गया। उन्होंने ऐसा ही किया है। वे कायिक गुणों की वासना से रहित हो गये हैं। जब मन सहित इन्द्रियाँ अपने वश में हो जाती हैं, तो मन की जो स्वाभाविक विषयों की ओर अभिरुचि होती है, वह उनकी ओर से हट जाती है और विषयों के भोग से विराग हो जाता है। उस समय प्राणी प्राण रहते हुए भी स्थाणु हो जाता है। उसकी चंचलता नष्ट होकर निश्चय वृत्ति बन जाती है। वे तीनों इसी अवस्था में प्राप्त हैं।"

धर्मराज बोले—"तब तो भगवन्! मैं वहाँ जाऊँगा, जैसे होगा वैसे उन्हें लौटा लाऊँगा। भले ही वे मेरे महलों में न रहें।

गङ्गा किनारे उनका सब प्रबन्ध करूँगा और स्वयं सर्वदा सेवा में उपस्थित रहकर उनकी देख-रेख करूँगा।"

नारदजी बोले—"राजन्! यह तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है। देखो, वे तो मोह को त्यागकर ही यहाँ से गये हैं। तुमने उन्हें कोई कष्ट तो दिया ही नहीं। न वे तुमसे असन्तुष्ट ही होकर गये हैं। वे तुम सब बन्धु-बान्धवों को मृत्यु के समय देखना नहीं चाहते। सम्भव है, अन्त समय उनकी वृत्ति कुटुम्ब परिवार में लग जाय, जिससे उन्हें पुनः जन्म ग्रहण करना पड़े। इसलिये आप उनके कार्यों में अन्तराय उपस्थित न करें। उन सर्वत्यागी वीतरागी महानुभावों के मार्ग में रोड़े न अटकावें। उन्हें अपना कार्य करने दें, आप अपना कार्य करें। फिर आप उन्हें अब लौटा-कर ला भी नहीं सकते। आज से पाँचवें दिन तो वे अपने शरीर को ही त्याग देंगे।"

धर्मराज ने पूछा—"महाराज! वे शरीर कैसे त्याग करेंगे? वहाँ उनकी दाह क्रिया कैसे होगी?"

नारदजी बोले—"तुम्हें दाह की ही चिन्ता है! अरे, इस नश्वर शरीर का चाहे दाह हुआ, चाहे जल-जन्तुओं, गृद्ध, चीलों ने नोच खाया अथवा सड़कर-कीड़े पड़कर-पृथ्वी में मिल गया—कुछ भी क्यों न हो, ज्ञानी को इसकी चिन्ता नहीं रहती। तुम्हारे ताऊ के शरीर को तो स्वयं अपने आप वन में लगी हुई दावाग्नि जलाकर भस्म कर देगी। तुम्हारी ताई जब कुटी के द्वार पर ही खड़े होकर इस दृश्य को देखेगी, तो वह भी शीघ्र ही कुटी में प्रवेश करके पति के साथ ही निज शरीर को जला देगी।"

धर्मराज बोले—"प्रभो! चाचा विदुरजी भी जल जायँगे?"

नारदजी बोले—"नहीं, उनकी पहिले ही इच्छा प्रभासक्षेत्र में देह त्याग करने की थी। अतः वे अपने भाई भाभी की सद्गति से हर्षित होकर और उनके वियोग दुःख से दुखी होकर तीर्थ-

यात्रा को पुनः चल पड़ेंगे। फिर से पुण्य क्षेत्रों के दर्शन करते हुए प्रभासक्षेत्र में जाकर, अपने इस नश्वर पाञ्च-भौतिक देह को छोड़

कर पुनः अपने धर्मराज के पद पर प्रतिष्ठित होकर, जीवों के पाप-पुण्यों का निर्णय करने लगेंगे। यहां सब समाचार है,

तुम्हारे सगे सम्बन्धियों का। अतः आप उनके लिये शोक न करें, अपनी चिन्ता करें धर्मराज !"

इस प्रकार धर्मराज को भाँति-भाँति से उपदेश देकर और धृतराष्ट्र आदि सभी की अन्तिम गति बताकर, देवर्षियों में श्रेष्ठ भगवान् नारदजी अपने प्रिय सखा तुम्बुरु के साथ, हरिगुन गाते, वीणा बजाते, दुख में पड़े हुए प्राणियों को प्राण पीयूष पिलाते, सुमधुर त्रैलोक्य पावन भगवन्नामों को सुनाते हुए स्वर्ग की ओर चले गये। इधर धर्मराज भी सब समाचार सुनकर, तथा नारदजी के उपदेश को स्मरण करके अपने ताऊ, ताई तथा चाचा की ओर से निश्चित हो गये।"

छप्पय

नित्य नियम अनुसार युधिष्ठिर गुरु वन्दनकूँ।
आये, देखे नहीं, विदुर अरु कुरुनन्दनकूँ॥
सुनि सञ्जयतें वृत्त बहुत रोये पछिताये।
आये नारद समाचार सब सत्य सुनाये॥
ताऊ, ताई तब चचा, सत स्रोत सब जायँगे।
पाप पुण्य तें पृथक है, पुण्य परम पद पायँगे॥

विपरीत धर्मों को देखकर धर्मराज की चिन्ता

[४७]

पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान् ।
दारुणान् शंसतोऽदूरात् भयं नो बुद्धिमोहनम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० १४ अ० १० श्लो०)

छप्पय

कहैं युधिष्ठर, भीम ! भयानक काल भयो है ।
आयो अर्जुन नहीं, द्वारिका माँहि गयो है ॥
भये धर्म विपरीत रीति कुलकी सब त्यागे ।
जाइँ पुत्र, परलोक पिता-माता के आगे ॥
पिता-पुत्र, भाई सगे, पति पत्नी में कलह नित ।
असगुन नित नूतन निरखि, चञ्चल होवै मोर चित ॥

यह संसार परिवर्तनशील है । इसमें जो वस्तुएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे उसी रूप में सत्य नहीं । सभी असार, नाशवान् और क्षणभंगुर हैं, इन सबमें जो समान रूप से व्याप्त भगवान्

---

* धर्मराज युधिष्ठिर अपने छोटे भाई भीमकर्मा के भीम से कहते हैं—"हे पुरुष सिंह ! तुम इन आधिदैविक, आधि भौतिक और आध्यात्मिक भयङ्कर उत्पात की ओर तो देखो । ये सब उत्पात विकट भविष्य में आने वाले किसी ऐसे भय के सूचक हैं, जो कि हमारी बुद्धि को विमोहित करने वाला होगा ।"

की सत्ता है वही सत्य है। इस रोग शोक, चिन्ता और व्याकुलता के निलय रूप संसार की रचना प्रभु क्यों करते हैं ? सभी ने इसका एक ही उत्तर दिया—"खेल के लिये, विनोद के लिये, चित्त बहलाने के लिये। मान लिया मनोरञ्जन ही है, फिर इसमें दैत्य, दानव, अधर्म, पाप से वीभत्स दृश्य क्यों ? यह भी मनोरञ्जन ही है। मीठा खाते-खाते जब ऊब जाते हैं, तो चरपरी चटनी, तीखी मिरचा और कड़वी कसैली चीजों से रुचि बदलते हैं। न धर्म प्रभु की इच्छा बिना प्रवृत्त होता है, न अधर्म। दोनों ही प्रभु के अङ्ग हैं। धर्म उत्तमांग हृदय है, अधर्म पृष्ठ भाग है, किन्तु शरीर रक्षा के लिये तो उत्तम अधम सभी अंगों की आवश्यकता रहती है। जिन द्वारों से सदा घृणित दुर्गन्ध युक्त मलस्राव होता रहता है, उन मल द्वारों को आप उत्तम न समझें, किन्तु यदि आप चाहें कि इन द्वारों को शरीर से पृथक कर दें, तो असम्भव है। उनके बिना शरीर की स्थिति ही नहीं। मल के आधार पर ही तो यह शरीर रुका है। इसी प्रकार संसार में धर्म-अधर्म सदा से रहे हैं और सदा रहेंगे। किन्तु धर्म ग्राह्य है, अधर्म त्याज्य है।

काल रूप प्रभु सदा क्षण-क्षण में अपना नूतन रूप धारण करते रहते हैं। वे कभी भी एक दशा में नहीं रहते। उनकी गति दुर्निवार है। उसे कोई टाल नहीं सकता। आप चाहें, कि आज रविवार न होकर शनिवार हो जाय, यह असम्भव है। आप कितना भी प्रयत्न करें अमावस्या के दिन पूर्णिमा नहीं हो सकती, उस दिन लाख प्रयत्न करने पर भी आप पूर्ण चन्द्र के दर्शन नहीं कर सकते। ज्येष्ठ के महीने में आप माघ की-सी सरदी चाहें तो सर्वत्र कभी नहीं हो सकती। हाँ व्यक्तिगत रूप से आप अपने आवास में हिमखण्ड रखकर उस एक ही भवन को शीतल बना सकते हैं। सबका समय होता है। सतयुग के

पश्चात् त्रेता, त्रेता के पश्चात् द्वापर, और द्वापर के पश्चात् कलियुग आता ही रहता है। उसे कोई टाल नहीं सकता। श्रीहरि का विधान है। उसका निवारण मानवीय शक्ति के बाहर की बात है। वे बन्धु दया के पात्र हैं। "मैं अपने पुरुषार्थ से यह कर डालूँगा, वह कर डालूँगा, ऐसे नियम विधान बनाऊँगा, जो कभी व्यर्थ न हों, सदा निर्दोष बने रहें।" अरे भैया, क्या तुम नियम बनाओगे? काल के नियम के सम्मुख तुम्हारे मनमाने नियम को कौन मानेगा? राम, कृष्ण आदि अवतारियों की बनाई मर्यादा भी जब काल पाकर शिथिल हो गई, तो तुम्हारे जैसे अल्पज्ञ प्राणियों की तो बात ही क्या, किन्तु वे भी ऐसा कहने को विवश हैं।

पाण्डव सुख से राज-काज करने लगे। उन्हें राज्य करते-करते ३६ वर्ष व्यतीत हो गये। वे बहुत से व्यावहारिक व्यापारों में फँसे रहने के कारण काल को भूल-से गये थे, किन्तु अप्रमत्त काल उँगलियों को शीघ्रता से चलाते-चलाते दिन गिन रहा था। अर्जुन तो भगवान् के अभिन्न हृदय ही थे। सहसा उन्हें भान हुआ, कि अरे, जप करने वाले की गणना करने वाली माला तो पूरी होने वाली है, उसकी उँगली सुमेरु के समीप पहुँचने ही वाली है। यह सोचकर अर्जुन ने धर्मराज से प्रार्थना की—"महाराज! चिरकाल से श्यामसुन्दर का कुछ समाचार नहीं मिला। मेरे मन में भाँति-भाँति की शङ्कायें हो रही हैं, चित्त में कुछ अनिष्ट की-सी आशंका उठ रही है। यदि आपकी आज्ञा हो, मैं द्वारावती में जाकर यादवेन्द्र श्री श्याम-सुन्दर के सभी समाचार ले आऊँ। मेरा मन उनके चरणों के दर्शन करने के निमित्त बहुत ही व्यग्र हो रहा है।"

धर्मराज को भी तो यही अभीष्ट था, उन्हें भी भगवान्

वासुदेव की चेष्टाओं को जानने की जिज्ञासा थी कि अब वे कौन-सी नूतन लीला करना चाहते हैं ?

अर्जुन की बात सुनकर धर्मराज ने आज्ञा देते हुए कहा—"अर्जुन ! भैया, तुमने यह बात तो मेरे मन की ही कह दी। मैं भी श्रीदेवकीनन्दन के समाचार सुनने को अत्यधिक उत्सुक हूँ।

मैं सोचता था तुम्हें भेजूँ, किन्तु भ्रातृस्नेह वश तुम्हें अपनी आँखों से पृथक करने को हृदय नहीं चाहता। अब जब तुमने ही यह प्रस्ताव किया, तो भैया तुम अवश्य जाओ और शीघ्र ही सब समाचार लेकर लौट आओ। देखना भैया, वहाँ विलम्ब मत करना। जब तुम भगवान् के समीप जाते हो तो ऐसे घुल-मिल जाते हो, कि हमें भूल ही जाते हो। ऐसा मत करना अच्छा जाओ !" इस प्रकार धर्मराज की आज्ञा पाकर अपने सभी सगे सम्बन्धियों की अनुमति लेकर, सबसे प्रेम-पूर्वक मिल-जुलकर, सूक्ष्म-सी सेना के साथ कुन्तीनन्दन अर्जुन द्वारका के लिये चले गये। हस्तिनापुर में नित्य ही उनकी प्रतीक्षा होती, किन्तु सात महीने हो गये, वे लौटे नहीं। इसी बीच में विदुर जी आये और गान्धारी धृतराष्ट्र को लेकर चले गये, नारदजी आये और ज्ञानोपदेश करके लौट गये।

धर्मराज का चित्त अब कुछ चञ्चल होने लगा। उन्होंने बहुत-सी धर्म के विपरीत ऐसी नई-नई बातें देखीं, जो पहिले कभी देखने में आई नहीं। बहुत से ऐसे अशुभ उत्पात देखे जो इसके पूर्व कभी नहीं हुए थे। इन सब अनहोनी घटनाओं को देखकर वे बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने एक दिन अपने तीनों भाइयों को और ऋषि मुनियों को बुलाकर अपनी चिन्ता का कारण सुनाया।

छोटे भाइयों ने अपने बड़े भाई धर्मराज को जब इस प्रकार चिन्तित देखा तो वे बोले—"प्रभो ! आप इतने चिन्तित क्यों होते हैं ? संसार में तो सुख-दुख, शुभ-अशुभ लगा ही रहता है।"

धर्मराज ने अत्यन्त गम्भीर होकर कहना आरम्भ किया—"भाइयो ! तुमको अभी ज्ञान नहीं है। अब कोई घोर समय

आने वाला है। इसके लक्षण मुझे प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे हैं। मालूम होता है, कि अब तो कलियुग आ गया या अत्यन्त निकट भविष्य में आने वाला है। ऐसी-ऐसी अनहोनी बातें हो रही हैं, जिनकी कभी स्वप्न में भी सम्भावना नहीं थी। सर्वत्र कलह का साम्राज्य छा गया है। पिता पुत्र में, भाई-भाई में, मित्र-मित्र में, सम्बन्धी-सम्बन्धी में, पति-पत्नी में जिधर देखो उधर ही मानों मालिन्य के से लक्षण दिखाई देते हैं। लोगों में लोभ की प्रवृत्ति बढ़ गई है। इससे ज्ञात होता है अधर्म का बन्धु दुष्ट कलियुग का मेरे राज्य में प्रवेश हो गया।"

भाइयों ने पूछा—"प्रभो! आपको किस प्रकार ज्ञात हुआ? आप तो मूर्तिमान् धर्म हैं, आपके रहते कलियुग ऐसा साहस कैसे कर सकता है, कि बिना आपके पूछे आपके राज्य में पैर रख सके।"

धर्मराज बड़े दुखी हुए और बोले—"भाइयो! काल की दुर्निवार गति को श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई भी हटाने में समर्थ नहीं। यद्यपि कलियुग नियमानुसार बहुत दिनों का आ गया था, किन्तु जो अवनि श्रीकृष्ण पद चिन्हों से अङ्कित है, उसमें कलियुग के पैर कैसे जम सकते हैं, इसलिये कलियुग अपना कुछ प्रभाव नहीं दिखा सका। अब मैं देख रहा हूँ कि लोगों की जो धर्म में प्रवृत्ति थी वह स्वाभाविक बदलती हुई दिखाई दे रही है। काल की गति विकराल बन रही है। ऋतुओं के धर्म विपरीत हो गये हैं। वर्षा के समय वर्षा नहीं होती, जब वर्षा की आवश्यकता नहीं होती, तब कृषि को नष्ट करने को असमय में पानी बरसता है। लोग क्रोधी, लोभी और असत्य बोलने वाले हो गये हैं। इन सब बातों से मुझे निश्चित हो गया कि कलियुग कोई न कोई छिद्र देखकर पृथ्वी पर अपने पैर फैलाने का उद्योग कर रहा है।

"जब श्रीकृष्ण यहीं थे, तब मेरे सम्मुख एक अभियोग आया। एक व्यक्ति ने दूसरे के हाथों अपना एक प्राचीन घर बेचा था। जिस व्यक्ति ने उसे लिया था, वह नूतन गृह बनाने के निमित्त उसकी नींव खोद रहा था। नींव खोदते समय उसे सुवर्ण की मुद्राओं से भरा हुआ एक कलश मिला। वह व्यक्ति उस मुद्रा भरे कलश को लेकर घर के पूर्व स्वामी के समीप गया, और बोला—"बन्धुवर! आपके भवन में यह सुवर्ण मुद्राओं से भरा हुआ कलश निकला है, इसे आप ग्रहण कीजिये।"

"सर्प की भाँति उस सुवर्ण की मुद्राओं से भरे घड़े से डरता हुआ, बिना ही स्पर्श किये, वह भूतपूर्व गृह स्वामी बोला—"महानुभाव! आप यह कैसी अधर्म की बातें कर रहे हैं? जब मैंने गृह द्रव्य लेकर आपके हाथों विक्रय कर दिया,तो अब उसमें चाहे सुवर्ण निकले या कोयले निकलें, सभी के स्वामी आप हैं। मैं इन सुवर्ण मुद्राओं को नहीं ले सकता। आप जैसे चाहें इनका उपयोग करें।"

यह सुनकर वह क्रय करने वाला व्यक्ति बोला—"देखिये, बन्धुवर! आप मुझे लोभ में फँसाकर मेरा परलोक न बिगाड़िये। आपने मुझे गृह बेचा था, न कि ये सुवर्ण की मुद्रायें जो आपके पूर्वजों ने गाड़ी थीं। भूल से आपको उनका पता नहीं था। यदि पता होता तो आप इतने अल्प द्रव्य पर इन्हें कभी न बेचते। मैंने जो द्रव्य दिया, भूमि और घर का दिया है। इसलिये इन मुद्राओं पर मेरा किसी भी प्रकार अधिकार नहीं है। मैं इन्हें लेकर पाप का भागी नहीं बनूँगा।"

"इस पर घर के पूर्व स्वामी ने कहा—"मैं तो पृथ्वी बेच चुका, उस पर न अब मेरा अधिकार रहा, न मेरे पूर्वजों का। मान लीजिये उसके नीचे बिच्छू निकलते, तो क्या आप उन्हें मेरे घर में छोड़ जाते। या मान लो मेरा कोई पूर्वज

वहाँ प्रेत बनकर रहता होता, तो क्या आप उस प्रेत को मेरे घर में छोड़ते। घर की वस्तुओं की गणना करके तो मैंने बेची नहीं। सबका सब घर बेचा था, उसमें जो भी निकले सब आपका।"

इस प्रकार दोनों वाद-विवाद करते रहे। उस सुवर्ण की मुद्राओं से भरे कलश को कोई भी नहीं लेता था। विवाद बढ़ते-बढ़ते मेरे सम्मुख आया। दोनों ने अपनी-अपनी बात की पुष्टि में भाँति-भाँति के प्रमाण दिये। मैं सुनकर किंकर्तव्य-विमूढ़ बन गया, कि अब इसका क्या निर्णय करूँ। जब मैं कुछ भी निश्चय न कर सका, तो मैंने भगवान् से पूछा—"प्रभो! इसका क्या निर्णय करूँ? सुवर्ण की मुद्रा के कलश को किसे दिला दूँ?"

मेरी बात सुनकर श्री भगवान् हँसे और बोले—"धर्मराज! आप किसी को भी न दिलाइये। इसे अपने पास ही न्याय रूप में रख लीजिये। कुछ काल के पश्चात् कलियुग आवेगा। तब इन लोगों के मन में लोभ उत्पन्न हो जायगा। उस समय जो माँगने आवे उसे दे देना।"

"भगवान् की यह बात मानकर, उन दोनों से कह दिया—"अच्छी बात है' तुम लोग जाओ। यह न्याय रूप में मेरे पास रहेगा। तुम सोच समझकर फिर मेरे पास आना। जो इसे अपना मानेगा उसे मिल जायगा। इतना सुनते ही वे दोनों बड़ी प्रसन्नता से चले गये, मानों उनके सिर से कोई बोझ उतर गया।"

"अब वे लोग कल दोनों मेरे पास आये और परस्पर में लड़ते हुए दोनों कहने लगे—"कलश पर मेरा अधिकार है, मुझे मिलना चाहिये, मुझे मिलना चाहिये।" यही नहीं, दोनों अपने-अपने साथ विधान विशारद (वकील) को भी प्रतिनिधि रूप में

अपना पक्ष प्रबल करने को लाये। इसी से मैं समझ गया, कि कलियुग आ गया।

मेरे सेवक सेवा करने में प्रमाद करने लगे। एक दिन मैंने प्रधान न्यायाधीश को बुलाकर उससे कहा—"अब तुम्हारे पास कैसे-कैसे अभियोग आते हैं।"

उसने कहा—"प्रभो! अभियोग तो अब बहुत आने लगे और कुछ लोग झूठ भी बोलने लगे हैं।"

मैंने व्यग्रता के साथ कहा—"झूठ बोलने से तो मुझे बड़ी चिढ़ है। श्रीकृष्ण की आज्ञा से एक बार मैंने अर्ध झूठ बोला था, उसी की मुझे अब तक ग्लानि बनी हुई है। तुम अब अभियोगों की सूची रखा करो।"

न्यायाधीश ने कहा—"प्रभो! पापों की सूची रखना, यही कलियुग का चिन्ह है। आप ऐसी आज्ञा क्यों देते हैं?"

मैंने कहा—"भैया! चाहे कुछ भी हो, मैं सूची अवश्य देखा करूँगा।"

उसने मेरी आज्ञा से सूची रखना आरम्भ कर दिया। पहिले दो-चार न्यायाधीश थे। अब सैकड़ों रखने पर भी पूरे अभियोगों का निर्णय नहीं हो पाता। एक दिन मैंने सूची देखी। उसमें ऐसे-ऐसे अभियोग लिखे मिले, जिन पर मुझे विश्वास ही न हुआ। मैंने उन वादी प्रतिवादियों को बुलाकर पूछा—"क्यों भाई, तुम ऐसा पाप करते हो?" उन्होंने स्पष्ट कहा—"नहीं, महाराज! हमने ऐसा नहीं किया।" मैंने न्यायाधीश से पूछा—"भाई ये लोग तो मना कर रहे हैं, तुमने यह अभियोग कहाँ से लिख लिया?" उसने कहा—"अन्नदाता! मैंने तो इन लोगों से पूछ-कर ही लिखा है। अब ये लोग आपके सामने असत्य बोल रहे हैं।" तब मैंने कहा—"अच्छा, सबके हस्ताक्षर लिया करो। साक्षियों के भी हस्ताक्षर कराया करो।"

मेरी बात सुनकर न्यायाशीश ने कहा—"प्रभो ! आप ऐसी आज्ञा न दें। बात-बात पर हस्ताक्षर कराना यह प्रत्यक्ष सबके ऊपर अविश्वास प्रकट करना है और अविश्वास की कलह का मूल है।" मैंने कहा—"भाई, हमें कैसे पता लगेगा कि इसने कहा। तुम अवश्य सबके हस्ताक्षर कराया करो।" तब से अभियोगों की हस्ताक्षर सहित सूची रहने लगी। उनमें मुझे आजकल सर्वत्र कलियुग की झलक आती है।

मैंने देखा मेरे कर्मचारी, अधिकारी जो पहिले अपना कर्तव्य समझकर धर्म पूर्वक अपने-अपने कार्यों को करते थे, वे अब प्रमाद करने लगे हैं। तब मैंने मन्त्री से कहा—"इन कर्मचारी और अधिकारियों के निरीक्षण के लिये कुछ वैतनिक निरीक्षक भी रख लो।"

मन्त्री ने कहा—"प्रभो ! यह धर्म के विरुद्ध है। एक बार विश्वास करके जिसे जो कार्य दिया गया, उसके ऊपर अनुमान से ही अविश्वास करना, उसके सिर पर निरीक्षक नियुक्त कर देना, उसे बलात् प्रमाद में प्रवृत्त करने के लिये विवश करना है। अब जो लोग धर्म के भय से करते हैं, फिर निरीक्षक के भय से करेंगे। निरीक्षक अकारण उनके प्रत्येक कार्य की समीक्षा करेगा, अतः वे लोग निरीक्षक से बचने को झूठ बोलेंगे। पाप को छिपाने को अनेक नये पाप करेंगे।"

मैंने कहा—"कुछ भी क्यों न हो, आज एक प्रमाद करता है, कल दूसरा भी कर सकता है। अतः निरीक्षक अवश्य नियुक्त करो।" मेरी बात मानकर मन्त्री ने वैतनिक निरीक्षक समीक्षक नियुक्त किये। कुछ दिन तो वे कार्य करते रहे, अन्त में वे भी प्रमाद करने लगे। अतः निरीक्षकों के काम के निरीक्षण के लिये भी और निरीक्षक नियुक्त करने पड़े। इतने पर भी लोग सत्य धर्मपूर्वक कार्य नहीं करते।

एक दिन मैंने देखा एक ब्राह्मण घी, दूध, बेच रहा है, मैंने उसे बुलाकर कहा—"ब्राह्मण देवता ! यह तुम क्या पाप कर रहे हो ? घी, दूध, चीनी, तेल आदि रसों का बेचना द्विजों के लिये निषिद्ध है। तुमने यह नीच वृत्ति क्यों धारण की ?"

उसने दीनता से कहा—"क्या करें, धर्मावतार ! पेट ही नहीं भरता। इस पापी के लिये सब कुछ करना पड़ता है।"

मैंने धनाध्यक्ष से कहकर उसको यथेष्ट द्रव्य दिलाया और ऐसा करने से निषेध कर दिया। उसने तो मान लिया, किन्तु अन्य वर्ण वालों में भी सुना गया है, वृत्ति सांकर्य हो गया है।

लोगों का परस्पर का व्यवहार कुटिलता पूर्ण हो गया है। एक दूसरे पर अविश्वास करने लगे हैं। एक दिन एक लुहार के पास मैंने एक विचित्र यन्त्र-सा देखा। मैंने उसे कभी देखा ही नहीं था, उसे बुलाकर मैंने पूछा—"भाई, यह क्या वस्तु है ? और इसका किस प्रकार उपयोग होता है ?"

उसने बताया—"अन्नदाता ! एक दिन मैं स्नान करने गया पता नहीं कौन मेरे एक पात्र को उठा ले गया। इसीलिये मैंने अपनी बुद्धि से यह यन्त्र बना लिया है। इसका नाम ताला है। किवाड़ों में सँकड़ी लगाकर कुण्डे में इसे डाल देने से कोई खोल न सकेगा। इसकी ताली मेरे पास रहेगी, उसी से मैं खोल लिया करूँगा।" यह सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने उससे कहा—"देखो, घर में ताला लगाना यह सबके ऊपर अविश्वास प्रकट करना है। तुम्हारी वस्तु की रक्षा हम करेंगे। इसे तोड़कर फेंक दो, आगे ऐसा मत बनाना।" उसने उसे उसी समय तोड़ कर फेंक दिया, किन्तु उसके मन में तो इसके संस्कार जम ही गये। आज नहीं कल फिर बना लेगा।

एक दिन मैं गङ्गाजी से आ रहा था, एक कृषक को मैंने खेत से अपने कन्धे पर अपने घर को हल ले जाते हुए देखा। मैंने रथ

खड़ा करा करके, उसे बुलाकर पूछा—"क्यों भाई, तुम इतना श्रम क्यों करते हो ? हल को घर क्यों ले जाते हो ? खेत पर क्यों नहीं पड़ा रहने देते ?"

उसने हाथ जोड़कर कहा—"धर्मावतार ! सदा से हल खेत पर ही पड़ा रहता था, कोई भी किसान उसे उठाकर घर नहीं लाता था, किन्तु एक दिन मेरा हल मिला नहीं, कोई उठा ले गया। मैं निर्धन किसान हूँ, इसी से इतना कष्ट करता हूँ, कि नित्य घर ले जाता हूँ और नित्य इसे उठाकर फिर खेत पर लाता हूँ।"

इस पर मुझे बड़ा दुःख हुआ, कि मेरे राज्य में किसान अब अविश्वास और चोरी के भय से नित्य हल घर लाया करेंगे क्या ? मैंने आज्ञा दी—"तुम्हारे हल की रक्षा का भार राज्य पर रहेगा। तुम लोगों को हल घर ले जाने की आवश्यकता नहीं। उसी समय मैंने समस्त ग्रामों के पञ्चों के पास सम्वाद भिजवाया कि जो कोई किसी का हल उठावेगा उसे प्राण दंड दिया जायगा। जो किसान सरल सीधे समझे जाते थे, उनमें भी ऐसे व्यवहार होने आरम्भ हो गये हैं।

एक दिन मैंने बड़ा आश्चर्य देखा। एक मण्डलीक राजा को मैंने लोहे के एक यन्त्र पर आकाश में उड़ते देखा। मैंने उसे बुलवा कर पूछा—"भाई, तुमने किस देवता की अराधना करके यह कामग विमान प्राप्त किया है ?"

उसने कुछ डरते-डरते लज्जा के भाव से कहा—"प्रभो ! यह कामग विमान नहीं है। इसे तो मेरे राज्य के एक शिल्पी ने बनाया है। यह अग्नि और जल की सहायता से वाष्प के द्वारा चलता है। कोई स्निग्ध पदार्थ रख देते हैं, उसी की सहायता से यह चलाने से चलता है। संकल्प या इच्छा से देवताओं के विमानों के सदृश नहीं जाता।"

मैंने कहा—"तब इस पर तो सभी अधिकारी अनाधिकारी चढ़कर पाप का प्रचार करेंगे ?"

उसने भयभीत होकर कहा—"धर्मावतार ! इसके द्वारा धर्म का भी प्रचार हो सकता है।"

मैंने कहा—"धार्मिक लोगों में तेज से ही इतनी सामर्थ्य होती है, कि वे जहाँ चाहें वहीं से अपने भावों को भेज सकते हैं। ऐसे यन्त्र तो अल्प शक्ति वाले असमर्थ, पाप परायण, दैव सम्पत्ति से हीन, प्रत्येक कार्य में शीघ्रता करने वाले लोग निर्माण करते हैं। उनकी दृष्टि रहती है प्रत्येक कार्य शीघ्र से शीघ्र हो।" मैं उससे इतना कह ही रहा था, कि इतने में ही भगवान् व्यास आ गये। मैंने उठकर उनकी विधिवत् पूजा की और यह वृत्तान्त निवेदन करके पूछा—"प्रभो ! इस मंडलीक राजा ने ऐसा अपने किसी शिल्पी की सहायता से कल यन्त्र बनाया है, जिससे कलियुगी भावों का शीघ्र प्रचार हो सके। आज्ञा कीजिये, इसे क्या दण्ड दिया जाय ?" भगवान् व्यास हँसते हुए बोले—"राजन् ! इसे कुछ भी दंड मत दो। मैं इसे समझाये देता हूँ। आप इसे नष्ट करा दें। वही दण्ड पर्याप्त है। मुझसे इतना कहकर भगवान् व्यास देव उस राजा को समझाने लगे—"देखो, भैया ! धर्मराज के शासन में ऐसा करना उचित नहीं। यह तो आज से दो ढाई हजार वर्ष के पश्चात् कुछ बौद्ध कहलाने वाले नास्तिकों का जब शासन होगा, तब ऐसे यन्त्रों का निर्माण होगा और वे पारद के द्वारा चलाये जायँगे। पाँच हजार वर्ष के पश्चात् तो इनका घर-घर में प्रचार हो जायगा। उस समय काले गोरे दस्यु ही शासन करेंगे। तब इन यन्त्रों के द्वारा असत्य, अधर्म और कलह का प्रचार किया जायगा। अभी समय नहीं है।" इतना समझा कर भगवान् व्यास ने उस यन्त्र को अपने सम्मुख ही नष्ट करा दिया।

इसके अनन्तर भगवान् व्यास मुझसे कहने लगे—"राजन्! अभी तुम क्या दिखा रहे हो? आज से पाँच हजार वर्ष के पश्चात् लोगों की वर्णाश्रम धर्म में आस्था न रहेगी। अध्ययन में गुरु शिष्य प्रथा नष्ट हो जायगी। शूद्र और अन्त्यज उच्च वर्णों का कार्य करने लगेंगे। उच्च वर्णों के लोग अन्त्यजों के साथ सह भोज, सह विवाह करने में अपना बड़ा गौरव समझेंगे। सदाचार संस्कृति का ह्रास हो जायगा। सन्ध्या-वन्दन, देव, ऋषि पितृ श्राद्ध तर्पण, पूजा, पाठ सभी की हँसी उड़ाई जायगी। स्वेच्छाचार ही श्रेष्ठ धर्म समझा जायगा। सभी लोग सभी वृत्तियों को स्वीकार करके द्रव्य उपार्जन करने लगेंगे। दस्यु धर्मी, विधर्मी राजा बनेंगे। राजा व्यापार करने लगेंगे। स्त्रियाँ लज्जाहीन हो जायँगी। कुलीन स्त्रियाँ एक वस्त्र से, अपने आधे अङ्गों को खोले हुए, निर्लज्ज होकर पुरुषों के साथ पथों पर, वाटिकाओं में घूमेंगी। कन्या कोई न रह जायगी। अविवाहिता, विवाहिता, विधवा सभी एक-सी हो जायँगी। कोई सौभाग्य चिह्न आभूषणों को धारण न करेंगी। श्री और कान्ति से हीन, वस्त्र आभूषण रहित हाथ पैरों को विधवाओं की भाँति दिखाती फिरेंगी। एक दो नहीं, घर-घर भ्रूण हत्याएँ होंगी। कुमारियों और विधवाओं से उत्पन्न, अधर्म सन्तानों की ही संख्या बढ़ जायगी, वे पापाचरण में प्रवृत्त होंगे। कुलीन महिलाओं और वेश्याओं के वेष, भूषा, आचरण, व्यवहार में कोई अन्तर न रह जायगा। दाम्पत्य भाव नष्ट हो जायगा। स्त्रियाँ, पुरुषों से पृथक् अपनी सत्ता स्थापित करके पुरुषों के साथ संघर्ष करेंगी। पापाचरण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ जायगी, कि बहुत-सी कामिनी यथेच्छ स्वेच्छाचरण करने के निमित्त और प्रसव पीड़ा से बचने के निमित्त शल्य शास्त्र की सहायता से, अपने गर्भाशय को ही निकलवा दिया करेंगी।"

यह सुनकर मैंने अपने कानों पर हाथ रखते हुए कहा—

प्रभो ! वे मानुषी स्त्रियाँ होंगी या राक्षसी ?"

भगवान् व्यास बोले—"ऊपर से देखने में तो वे मानवी जान पड़ेंगी। उनकी आकृति मानवी होगी, देखने में भी सुन्दर होंगी, किन्तु वास्तव में वे राक्षसी ही स्त्री योनि में जन्म लेंगी।"

मैंने भगवान् कृष्णद्वैपायन के पैर पकड़ते हुए कहा—"प्रभो ! मुझे यह समय न देखना पड़े। ये सब पाप मेरे सामने न हों। एक वरदान आप मुझे और दें, मैंने भगवान से भी माँगा है। पाँच हजार वर्ष तक कलियुग के पैर इस धराधाम पर न जमने पावें।"

व्यासजी ने प्रसन्न होकर कहा—"धर्मराज ! तुम्हें ये घृणित पापाचरणपूर्ण कार्य न देखने पड़ेंगे और मेरे आशीर्वाद से पाँच हजार वर्ष तक कलियुग का उतना प्रभाव न होगा। पाँच हजार वर्ष के पश्चात् तो कलियुग अपना प्रभाव दिखाने लगेगा ही।" इतना कहकर भगवान् व्यास चले गये।

कल मैंने एक आश्चर्य देखा। एक कुलीन घर की महिला एक वस्त्र से अध नग्न निर्लज्ज होकर सबके सामने हँसती खेलती सड़क से जा रही है। मुझे देखकर भी लज्जित न हुई। जब मैं महल में आया, तो देखा—एक स्त्री बड़े सुन्दर वस्त्राभूषण पहिने, अनेक सुगन्धित द्रव्य लगाये खड़ी है। मुझे देखकर वह लज्जित होकर हट गई। मैंने बूढ़ी दासी से पूछा—"यह कौन थी ?" उसने बताया—"यह दुर्योधन के सबसे छोटे भाई की विधवा स्त्री थी, यह सुनकर मेरे ऊपर मानों किसी ने वज्र गिरा दिया। मैं समझ गया। कलियुग ने मेरे राज्य में ही प्रवेश नहीं किया, वह मेरे घर में भी घुस आया। अब भैया ! यह संसार रहने योग्य नहीं है। अब हम सबके ऊपर बड़ा भारी अनिष्ट आने वाला है। आजकल मुझे बड़े बुरे-बुरे अपशकुन भी दिखाई देते हैं। उन्हें मैं अब आगे आप सबके सामने प्रकट करूँगा।"

एक घटना मुझे और भी याद आ गई। उससे भी मैं समझता हूँ कि संभव है, भगवान् इस अवनि को त्याग कर गये या त्यागने वाले हैं तभी तो कलिकाल का चारों ओर प्रभाव फैल रहा है।

(२)

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के न आने पर धर्मराज अपने भाई भीम से तथा अन्य अपने आत्मीयों से कह रहे हैं—"अर्जुन के न आने का कारण मैं नहीं समझता। इधर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कलिकाल ने अब अपना अधिकार सर्वत्र जमा लिया। अब हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये क्योंकि अब तो कलियुग के ही शासन का समय है। इसके प्रत्यक्ष चिन्ह दिखाई देते हैं। कलियुग ने एक दिन आकर मुझसे कहा भी था कि महाराज! अब मेरा समय आ गया है। आपको अब सिंहासन त्याग देना चाहिये।"

इस पर कुतूहल वश एक आत्मीय ने पूछा—"देव! आप तो धर्मावतार हैं, कलियुग से आपकी भेंट कहाँ हो गई? कलियुग का ऐसा साहस कैसे हो गया, कि वह आपके सम्मुख आ सका।"

इस प्रश्न को सुनकर सबको सुनाते हुए धर्मराज कहने लगे—"भैया! एक दिन ये मेरे भीम, अर्जुन, नकुल, और सहदेव चारों भाई साथ ही सभा में प्रवेश कर रहे थे, तभी इन्होंने द्वार पर एक मनुष्य को देखा। उसके पास एक सर्व सुन्दर लक्षणों वाला अत्यन्त ही शीघ्रगामी एक घोड़ा था। उस अद्वितीय घोड़े को देखकर मेरे चारों भाई उस पर मुग्ध हो गये। उन्होंने जाकर उस व्यक्ति से पूछा—"क्यों भाई! घोड़ा बेचोगे?"

उसने नम्रता के साथ कहा—"महाराज ! मैं तो बेचने के लिये ही लाया हूँ।"

इस पर मेरे अनुजों ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छी बात है, भैया ! तुम इसे अभी हमारी अश्वशाला में बाँध आओ और जितने चाहो, रुपये ले जाओ।"

उस व्यक्ति ने कहा—"महाराज कुमारो ! आपके यहाँ धन की तो कुछ कमी ही नहीं है। मुझे भी धन की कोई इच्छा नहीं। मैं आप चारों से प्रश्न पूछता हूँ। यदि आप उन चारों का उत्तर दे सकें, तब तो घोड़ा आपका है। मैं उसे अश्वशाला में बाँध दूँगा यदि आप पर उन प्रश्नों का उत्तर न दिया गया, तो मैं यह लकीर खींचे देता हूँ, धर्मपूर्वक आप उसके बाहर तब तक न जायँ जब तक मेरे प्रश्नों का उत्तर न मिले। "मेरे भाइयों को एक साधारण अश्वविक्रेता की ऐसी बात सुनकर बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने हँसते हुए कहा—"अच्छा भैया ! पूछो, हमें तुम्हारी बात स्वीकार है।"

यह सुनकर वह प्रसन्नता पूर्वक बोला—"देखिये, मैं अपने इस अश्व को लिये हुए आ रहा था, मैंने मार्ग में एक बहुत बड़ा भयङ्कर कूप देखा। उसमें मुझे एक बड़ा भारी आश्चर्य युक्त व्यापार दिखाई दिया। उस कूप के मुख पर अधर एक पैसा लटका हुआ था, उस एक पैसे में लाखों मन लोहा अटक रहा था, फिर भी वह पैसा कूए में गिरता नहीं था, यह क्या बात है ?"

मेरे चारों भाई एक दूसरे का मुख देखने लगे। किसी पर इसका उत्तर नहीं बना। तब तो उसने नम्रता पूर्वक कहा—"आप चारों भाइयों में से एक भाई मेरी इस धर्म मर्यादा के भीतर खड़े हो जायँ।" यह सुनकर भीम उसकी धर्म रेखा के भीतर खड़े हो गये। तब उसने फिर दूसरा प्रश्न पूछा—"एक दिन मैं मार्ग में आ रहा था। मार्ग में क्या देखता हूँ कि पाँच

कूए हैं। चार तो इधर उधर हैं, एक बीच में है। उन पाँचों कूओं से पानी उबलता था। जब आस-पास के कूए खाली हो जाते थे, तब बीच के कूए से पानी उबलकर चारों को भर देता था, किन्तु जब बीच का कूआ खाली हो जाता था, तब चारों मिलकर भी उसे भर नहीं सकते थे, यह क्या बात है ?"

मेरे तीनों भाइयों में से किसी पर इसका उत्तर नहीं बना, तब अर्जुन उस धर्म रेखा के भीतर खड़े हो गये। तब उसने तीसरा प्रश्न पूछा। वह बोला—"एक दिन रास्ते में मैंने देखा एक गौ के बछिया पैदा हुई है। पैदा होते ही, बछिया गौ का दूध न पीकर, गौ ही बछिया का दूध पी रही है।"

यह सुनकर नकुल सहदेव एक दूसरे की ओर देखने लगे कि यह सब अद्भुत-ही-अद्भुत प्रश्न पूछता है। जब इसका भी कोई उत्तर न बना, तो नकुल उस परिधि के भीतर चले गये। फिर उसने चौथा प्रश्न पूछा।

वह कहने लगा—"एक दिन मैं मार्ग में आ रहा था। सम्मुख मैंने एक जानवर देखा। वह कई बार मुख से बुरे-बुरे शब्द करके मलद्वार से घास खाने लगा। यह क्या बात है ?"

सहदेव से इसका भी कुछ उत्तर न बना। तब वे भी धर्म परिधि के भीतर खड़े हो गये।

मैं बड़ी देर तक प्रतीक्षा करता रहा। चारों में से एक भी अभी तक नहीं आया, क्या बात हो गई ? मैंने सेवकों को भेजा। सेवकों ने आकर मुझसे कहा—"महाराज ! एक घोड़े वाला द्वार पर खड़ा है। उसी के समीप चारों कुमार खड़े हैं, भीतर आते ही नहीं।"

मुझे भी बड़ा कुतूहल हुआ। मैं उठकर बाहर आया। मैंने समझा इन लोगों को घोड़ा अच्छा लगा है, इसे लेना चाहते हैं। क्या बात है, यह देता नहीं या सौदा नहीं बना। अतः मैंने

कहा—"क्यों भाई, तुम घोड़ा बेचोगे नहीं ?"

उसने कहा—"अन्नदाता ! मैं तो बेचने के ही लिये लाया हूँ।"

मैंने कहा—"तब फिर मेरे भाई खड़े हैं ? इसे अश्वशाला में बाँध दो। जितने चाहो रुपया ले जाओ।"

उसने कहा—"अन्नदाता ! आपके यहाँ धन की क्या कमी ? यही बात मुझसे इन कुमारों ने कही थी, किन्तु धन की आवश्यकता मुझे भी नहीं। आप मेरे चार प्रश्नों का उत्तर दे दें, फिर घोड़े को मैं अश्वशाला में बाँध दूँगा।"

धर्मराज ने कहा—"पूछो भैया, क्या प्रश्न हैं तुम्हारे ?"

उसने वही पहिला प्रश्न पूछा। अगाध कूप में पैसे के सहारे अधर में लाख मन लोहा लटका था—यह क्या बात है ?

मैंने उसे डाँटते हुए कहा—"तू बड़ा धूर्त है रे ! हमारे राज्य में तू कलियुग की बातें करता है। ऐसा तो कलियुग में होगा। कलियुग में और तो कुछ धर्म कर्म बनेगा नहीं, जो दयावश एक मुट्ठी अन्न किसी को दान दे देंगे, वह एक पैसे भर दान ही से लाखों मन लोहे रूपी अधर्म को लटकाये रखेंगे। जो दया दान को भी छोड़ देंगे, उस लोहे को लेकर संसार रूपी मोह कूप में गिर पड़ेंगे।"

यह सुनकर उस व्यक्ति ने पूछा—"महाराज ! बीच का एक कूआ तो आस-पास के चार खाली कूओं को भर देता है, किन्तु बीच के खाली एक कूए को चारों मिलकर भी नहीं भर सकते, यह क्या बात है ?"

मैंने उत्तेजित होकर कहा—"तू बड़ा अधर्म बन्धु है, धूर्त कहीं का ? फिर कलियुग की ही बातें मुँह से निकालता है। देख तो कलियुग में होगा। पिता अपने चारों पुत्रों का पालन-पोषण करेगा, उनका पेट भरेगा, उन्हें योग्य बनायेगा, किन्तु कलियुग

पुत्र वृद्धावस्था में उनकी बात भी न पूछेंगे। सब मिलकर भी अपने माता-पिता का पेट न भर सकेंगे। उन्हें अनाथालय की शरण लेनी पड़ेगी या भूखों मरेंगे।"

यह सुनकर वह व्यक्ति बोला—"महाराज! गौ का दूध बछिया का पीना चाहिये। गौ बछिया का क्यों पी रही थी।"

मैंने उसे डाँटकर कहा—"बस, खबरदार! बहुत हो गया। मालूम होता है तू साक्षात् कलियुग ही है। अरे, धूर्त ऐसा तो कलियुगी पिता करेंगे। लड़की पैदा हुई, कि उसी के सहारे कर्ज लेना आरम्भ कर देंगे। कर्ज खाते रहेंगे, लड़की सियानी होगी तो उसे बेच देंगे, फिर दूसरी लड़की के नाम से कर्ज लेंगे। ऐसे कन्या विक्रय करने वाले नीच, अधम, पापी राक्षस पिता, कलि-काल में बहुत होंगे। ऐसी बेची हुई कन्या के जो पुत्र होंगे, वे अपने पितरों को पिंडदान देने के भी अधिकारी न होंगे। कन्या को बेचने वाला, कन्या के धन से आजीविका करने वाला, सबसे बड़ा पापी है। ऐसे पापी का मुख देखना भी घोर पाप है, कलि-युग में ऐसे ही पापी बहुत होंगे।"

यह सुनकर उसने फिर पूछा—"महाराज! भयङ्कर बुरे-बुरे शब्द करने वाला और मलद्वार से घास खाने वाला जन्तु कौन था?"

यह सुनकर मुझे बहुत क्रोध आया और मैंने खड्ग निकाल कर कहा—"अब मुझे निश्चय हो गया। तू कपट वेष बनाये साक्षात् कलियुग ही है। अरे, नीच! ऐसे कवि तो कलियुग में होंगे, जो वेद शास्त्रों को छोड़कर, इतिहास, पुराण का आश्रय त्यागकर, मनमानी ऊटपटाँग रचना करके अर्थ का अनर्थ करेंगे। अनुकूल मार्ग को छोड़कर प्रतिकूल मार्ग का आश्रय लेंगे। मुख से न खाकर अपान मार्ग से खायँगे। मैंने तेरे चारों प्रश्नों का उत्तर दिया। अब तू सच-सच बता, कि तू

कौन है ? नहीं तो तेरा सिर अभी धड़ से पृथक करता हूँ।"

यह सुनकर वह बोला—"प्रभो! वास्तव में मैं कलियुग ही हूँ। अब मेरे राज्य होने का समय है, किन्तु जब तक आप साक्षात् धर्मावतार पृथ्वी के सम्राट हैं, तब तक मेरी गति नहीं, मेरा अधिकार नहीं, मेरी पूछ नहीं। आप तो धर्मात्मा हैं, किसी के भाग को हड़पना नहीं चाहते। अतः अब सिंहासन मुझे मिलना चाहिये। मेरा साम्राज्य होना चाहिए।"

यह सुनकर मैंने हँसते हुए कहा—"अरे, धूर्त! मैं पहिले ही समझ गया था, कि तू अधर्म का मित्र है। मैं जानता हूँ, अब तेरे साम्राज्य का समय है, किन्तु भैया! जब तक आनन्द-कन्द देवकीनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र इस अवनि पर विराजमान हैं, तब तक तो हम सिंहासन को छोड़ नहीं सकते। जब वे स्वधाम पधार जायँगे, तब हम भी हिमालय चले जायँगे। उस समय तेरी जो इच्छा हो सो करना। श्रीकृष्ण के रहते हुए तुम मेरे राज्य में बसने का विचार भी मत करना।" मेरी यह बात सुन कर कलियुग प्रसन्न होता चला गया।

सो भाइयो! आज वे सब बातें मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हैं। इससे मैं समझता हूँ, कि श्रीभगवान् इस अवनि को विधवा बनाकर स्वधाम पधार गये। श्रीकृष्ण से रहित, कलियुग से आक्रान्त यह अवनि अब रहने योग्य रही नहीं। अब तो हमें हिमालय की ओर चल देना चाहिये।"

इतना कहते-कहते धर्मराज अत्यन्त ही चिन्तातुर होकर आँसू बहाने लगे। उनका मुख मण्डल मलीन हो गया और वे अत्यन्त ही विषादयुक्त होकर लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगे।"

छप्पय

त्याग्यो सबने धर्म कर्म कछु करें न हितकर।
पालें पापी पेट पाप करि सभी नारि नर॥
करें नाहिं विश्वास परस्पर प्रेम न राखें।
तनिक द्रव्य के हेतु हाल मिथ्या सब भाखें॥
निरखि नित्य उतपात अति, मन मलीन मेरो भयो।
कपट बन्धु कलिकाल का, धराधाम पै छा गयो॥

धर्मराज द्वारा देखे गये अपशकुन

[४८]

इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमयं दर्शयन्ति नः ॥*

(श्रीभा० १ स्क० १४ अ० २०श्लोक)

छप्पय

फरके बाईं बाहु हृदय में कम्पन होवे ।
करि मुँह मेरी ओर श्वान निरभय ह्वै रोवे ॥
उल्लू और कपोत मृत्यु के दूत कहावें ।
करकश कठिन कराल, शब्द करि हृदय लगावें ॥
लीला विग्रह त्यागि का, श्याम धाम गमने कहीं ।
करूँ कहा चित दुखित अति, अरजुन हू आयो नहीं ॥

जैसा समय आने वाला होता है, वैसे ही आसार दिखाई देने लगते हैं। जाड़े के पश्चात् गरमी एक साथ ही नहीं आ जाती। पहिले तीक्ष्ण ठण्ड के अनन्तर शनैः-शनैः गुलाबी जाड़ा पड़ना आरम्भ होता है। दिन में कुछ उष्णता होने लगती है। इसी से लोग अनुमान लगा लेते हैं, अब जाड़ा गया, गरमी

---

* हे भीष्म ! ये समस्त देश, ग्राम, पुर, उद्यान, धातुओं की खानें और ऋषियों आदि के पुण्याश्रम श्रीहीन तथा आनन्द विहीन हो गये। ये अनेक प्रकार के भयङ्कर-भयङ्कर अपशकुन न जाने हमें आगे कौन-सा दारुण दुःख दिखाने की सूचना दे रहे हैं।

आने वाली है। इसी प्रकार वर्षा के पश्चात् पहिले तनिक-तनिक ठण्ड-सी प्रतीत होने लगती है, पहिले जो धूप असह्य हो रही थी, वह कुछ अच्छी लगने लगती है, इससे सब समझ जाते हैं, अब जाड़ा आने वाला है। इसी प्रकार शुभ शकुन और अपशकुनों के द्वारा शुभाशुभ का अनुमान लगाया जाता है। शुभ कार्य होने वाला होता है, तो शुभ शकुन होते हैं और अशुभ कार्यों की सूचना अशुभ शकुनों के होने से मिल जाती है। अविश्वास की वृद्धि के कारण अपशकुनों की ओर लोग विशेष ध्यान नहीं देते। पहिले सभी कार्य शकुन देखकर किये जाते थे। ध्यान भी न दें, तो भी अशुभ शकुन तो अपना अशुभ फल देंगे ही।

धर्मराज को इस प्रकार दुखी, चिन्तित और विलाप करते देखकर भीमसेन ने पूछा—"राजन्! आपने ऐसे कौन-कौन-से अपशकुन देखे, जिनके कारण आप इतने चिन्तित हो रहे हैं? हमारा कोई शत्रु तो रह नहीं गया, जो हमारे ऊपर चढ़ाई करे। सगे सम्बन्धी सब मर ही गये, रही हम भाइयों की बात, सो हमें भी अधिक दिन जीने की इच्छा नहीं, फिर आप इतने चिंतित क्यों हो रहे हैं?"

धर्मराज बोले—"भीमसेन! मुझे शत्रुओं की तनिक भी चिंता नहीं। जब हमने एक बाण में त्रैलोक्य को भस्म करने वाले द्रोण, भीष्म और कर्ण आदि योद्धाओं को जीत लिया तो अब कोई शत्रु हमारा क्या अनिष्ट कर सकता है? मुझे तुम सब भाइयों के बाहुबल का भरोसा है। अपने शरीरों की भी मुझे कोई चिन्ता नहीं, वे एक दिन नष्ट होने ही हैं। किन्तु मुझे चिन्ता एक बात की हो रही है, तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन को मैंने द्वारका भेजा था। इसलिये कि वह वहाँ जाकर उस बात का पता लगावे, कि पुण्यश्लोक भगवान् वासुदेव आगे क्या करना चाहते हैं? उसे

गये हुए सात महीने से अधिक हो गये हैं, न तो वह स्वयं ही आया, न किसी दूत के द्वारा सन्देश ही भिजवाया। इसी बात से मुझे बार-बार सन्देह हो रहा है। इधर देवर्षि नारदजी भी अभी कहकर गये हैं, कि श्री भगवान् न करें, कि वह दिन हमें अपनी आँखों से देखना पड़े। जिस दिन त्रैलोक्य-सुन्दर देवकी-नन्दन अपने अनुपम लीला-विग्रह को त्यागकर, हमारे धराधाम पर रहते हुए ही स्वधाम पधार जायँ। मैं इस दुःख सम्वाद को सुनने के लिये तैयार नहीं। यही एक दुख ऐसा है, जो हमारे लिये असह्य है। भैया तुम जानते ही हो, मेरे शरीर में जो वायु चक्कर लगा रही है, श्वाँस प्रश्वास के द्वारा जो आती जाती है, वह हमारे प्राण नहीं, हमारे प्राण तो भगवान वासुदेव ही हैं। जो भी कुछ धन मिला है, राज्य प्राप्त हुआ है, ऐश्वर्य वृद्धि हुई है, कुल और प्रजा का प्रेम उपलब्ध हुआ है, शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है, यज्ञ यागादि करके जो इस लोक और परलोक के पुण्य प्राप्त हुए हैं, वह सब उन्हीं की कृपा का तो प्रसाद है। उनके बिना हम क्या कर सकते थे। उनकी सहायता, सम्मति, कृपा अनुग्रह न होता, तो क्या हम आज इस दशा में रहते? कहीं वे हमें त्यागकर न चले जायँ, यही चिन्ता मेरे मन में बार-बार आती है और उसी के कारण मेरा मन व्यथित हो रहा है। एक नहीं अनेकों आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अपशकुन मुझे दिखाई देते हैं।"

भीमसेन ने कहा—"देव! कौन-कौन-से अपशकुन आपको हो रहे हैं? उन्हें मैं संक्षेप में सुनना चाहता हूँ!"

धर्मराज बोले—"देखो, पुरुषों के बायें अङ्ग विशेषकर आँख, भुजा और जङ्घा आदि का फड़कना अशुभ है और स्त्रियों के दहिने अङ्गों का फड़कना अशुभ है। पुरुष को बायीं आँख के ऊपर का भाग फड़के, भौं आदि फड़कना तो

अशुभ है ही, किन्तु नीचे के पलक कपोल के समीप का भाग फरकना और भी अधिक अशुभ है, मेरा वही भाग बार-बार फरक रहा है।"

भीमसेन बोले—"राजन्! आँख फरकने पर लोग एक छोटा तिनका थूक में भिगोकर लगा लेते हैं, इससे फरकना बन्द हो जाता है, अनिष्ट भी रुक जाता है।"

धर्मराज बोले—"मैंने सब करके देख लिया है। अंगों का फरकना रुकता ही नहीं। यही नहीं, हृदय भी अकारण धड़क रहा है, मन भी उदास हो रहा है।"

भीमसेन बोले—"प्रभो! कभी-कभी मानसिक भ्रम हो जाने से ऐसी दशा हो जाती है। अर्जुन के न आने से आपको ऐसी आशंका हो गई है। उसी के कारण आपका चित्त चंचल हो गया है, आप उस आनुमानसिक शंका का परित्याग करें, मङ्गलमय श्रीहरि सब शुभ ही करेंगे।"

धर्मराज बोले—"भीम! यदि यही बात होती, तो तुम्हारा कहना सत्य भी समझा जाता, किन्तु मेरे शरीर में ही नहीं बाहर भी अपशकुन दीख पड़ते हैं। देखो, सियार सियारिन सदा रात्रि में बोलते हैं, किन्तु मैं देख रहा हूँ उदय हुए सूर्य की ओर मुँह करके सियारिन रो रही है। कुत्ता मेरी ओर मुँह करके निर्भय होकर रो रहा है। जिस पुरुष को देखकर उसी के मुँह की ओर मुँह करके बुरी वाणी में बार-बार कुत्ता रोवे तो समझना चाहिये कि उसका कोई बहुत अनिष्ट होने वाला है।"

"नियम ऐसा है—गौ को दायीं ओर करके जाना चाहिये, और कुत्ता, सियार, गधा, सूकर आदि को बायीं ओर करके। किन्तु, प्रयत्न करने पर भी गौ दायीं ओर नहीं आतीं। वे बायीं ओर से भाग जाती हैं। इसके विपरीत निन्द्य पशु दायीं ओर से

निर्भय होकर निकल जाते हैं।"

भीमसेन बोले—"राजन्! संयोग से कभी ऐसा हो गया होगा जंगली पशुओं में इतनी समझ कहाँ?"

धर्मराज बोले—"भैया, ऐसी बात नहीं है। मेरे घुड़साल के घोड़ों को किसने सिखा दिया? मैं सहदेव के द्वारा उनकी कितनी देख रेख रखवाता हूँ, किन्तु वे सब नेत्रों से अश्रु बहाते रोते रहते हैं। सामने मेरे भवन पर ही बैठकर ये मृत्यु के दूत कपोत और उल्लू रात्रि भर जागते हुए कठोर-कठोर शब्द किया करते हैं। इससे ज्ञात होता है, कि विश्व का प्रलय होने वाला है। दिशाओं में अन्धकार दिखाई देता है। वे सब धूमिल हो गई हैं, तारे टूटकर पृथ्वी पर गिरते हैं, सूर्य चन्द्र के चारों ओर मण्डल दिखायी देते हैं। पृथ्वी में बार-बार कम्प होता है। पर्वत पृथ्वी में घुस रहे हैं, कहीं-कहीं पृथ्वी के नीचे से अग्नि निकल रही है। असमय में बिजली की गड़गड़ाहट-तड़तड़ाहट सुनायी देती है। ये मेघगण वीभत्स दृश्य उपस्थित करते हैं। राज्य के लोगों ने सूचनायें दी हैं कि कई स्थानों पर रक्त की वर्षा हुई है।"

भीमसेन ने पूछा—"रक्त की वर्षा कैसे होती है?"

धर्मराज बोले—"जैसे पानी बरसता है, वैसे आकाश से रक्त की वर्षा होती है। घरों की छतों पर रक्त जम जाता है, पृथ्वी रक्त रंजित हो जाती है। ऐसी वर्षा मैंने स्वयं जाकर देखी है।"

"यही नहीं, आकाश में और भी अनेकों उत्पात होते रहते हैं। चलते-चलते ग्रह परस्पर में टकरा जाते हैं। दिन में भूत, प्रेत नाचते हुए दिखाई देते हैं। पृथ्वी के अन्दर से दाह-सी निकलती है। नद, नदी, सरोवर, तालाबों के जल क्षुब्ध हो रहे हैं। सभी मनुष्यों के मन में घबराहट हो रही है।"

भीमसेन ने कहा—"किसी ने आकर आपको ये सब सूचनायें दी हैं, या आपने इन सब लक्षणों को अपनी आँखों से देखा है ?"

धर्मराज बोले—"कुछ सूचनायें तो मुझे ऐसे प्रमाणित लोगों ने आकर दी हैं, जिनकी बात पर किसी प्रकार अविश्वास नहीं किया जा सकता, कुछ मैंने स्वयं भी प्रत्यक्ष देखी हैं।"

"मैं प्रातः सायं नित्य ही अग्निहोत्र करने जाता हूँ। अग्निहोत्र की अग्नि प्रयत्न करने पर भी प्रज्वलित नहीं होती। मैं बारबार घृत की आहुति देता हूँ, उससे भी धुँआ ही उठकर रह जाता है। एक दिन नहीं, कई दिनों से ऐसा हो रहा है। इसी से मेरी शंका बढ़ गयी है, कि न जाने यह कुटिल कराल काल कौन-सा कौतुक करने वाला है।

"घुड़शाल में ही घोड़े रोते हों सो बात नहीं, गौशाला में भी गौएँ रोया करती हैं। बछड़ों को दूध पीने छोड़ो, तो वे दूध नहीं पीते, गौएँ दूध दुहने नहीं देतीं। बैल भी सुस्त से खड़े रहते हैं, उन्हें घास, चारा, डालें तो चुगते नहीं, पता नहीं क्या हो गया ? कौन-सा रोग शोक उन्हें व्याप्त हो गया ? एक साथ सभी की ऐसी दशा क्यों हो गई ?

"यह तो मनुष्य पशु-पक्षियों की बातें हुईं। एक आश्चर्य की बात और हो रही है। देवताओं की मूर्तियों की आँखों से अश्रु बहते हैं, उनके शरीर से पसीने चूते हैं और वे रोती-सी दिखाई देती हैं। उनमें जीवित प्राणियों के समान हलचल-सी दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त और भी भाँति-भाँति के उत्पात दिखाई देते हैं। यद्यपि धन, धान्य पूर्ववत ही है, फिर भी देश, ग्राम, पुर, पुष्पोद्यान, खानें और ऋषियों के आश्रम सभी सूने-सूने श्रीहीन से दिखाई देते हैं। इन सब उत्पातों को देखकर और अर्जुन के न लौटने से मुझे बार-बार यह संदेह

हो रहा है, कि यह सौभाग्यशालिनी पृथ्वी जिस पर वज्र, अंकुश, ध्वज आदि चिन्हों से चिन्हित पाद-पद्म पड़ते थे, वह कहीं अभागिनी तो नहीं हो गई ? कहीं भगवान वासुदेव इस धराधाम को त्याग तो नहीं गये ?"

धर्मराज की बातें सुनकर भीमसेन बोले—"देव ! ये तो वास्तव में बहुत अनिष्टकारी अपशकुन हैं। अब क्या करें हम लोगों, की कुछ समझ में नहीं आता । आप आज्ञा दें तो मैं द्वारका जाकर सब समाचार लाऊँ ?" यह सुनकर धर्मराज चिन्ता मे पड़ गये और वहीं बैठे-बैठे आगे क्या करना चाहिये इसकी चिन्ता करने लगे ।"

छप्पय

गैयाँ रोवें नित्य घास घोड़ा नहिं खावें।
बहे वायु, वीभत्स, रक्त बादल बरसावें ॥
पृथ्वी, प्रेत, पिशाच, पाप प्रानिनितें पूरन।
भई गई शुभ कान्त, लड़ें नभ में सब ग्रहगन ॥
देव मूर्ति मुख मलिन करि, अश्रुबिन्दु बरसावतीं।
अति अपशकुन जनावतीं, दुखद दृश्य दिखलावतीं ॥

द्वारका से अर्जुन का आगमन

[४९]

इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा।
राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १४ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

धर्मराज भयभीत भये अर्जुन तहँ आये।
मुखमंडल अति मलिन दुखित चिन्तित घबराये॥
सबई हर्षित भये नहीं अर्जुन हरषाये।
पकरि पैर गिरि परे, बचन नहिं कछू सुनाये।
बार-बार पूछें नृपति, बन्धु बताओ बात सब।
सम्बन्धी सब सुखी हैं? कहो कहाँ तें चले कब॥

जब हम किसी की चिन्ता कर रहे हों और उसी समय वह वहाँ आ जाय, तो हमारे हर्ष का वारापार नहीं रहता, किन्तु उसे यदि अपने शङ्का अनुरूप ही दुखित देखें, तो उस समय हर्ष विलीन होकर दुःख छा जाता है। इसी भाव को हर्ष विषाद का सांकर्य कहते हैं। हर्ष विषाद दोनों का ही

---

*सूतजी बोले—"हे ब्रह्मन्! जिस समय महाराज युधिष्ठिर मन-ही-मन दुखित हुए इन उत्पातों को देखकर चिन्तित थे और उनके ही सम्बन्ध में सोच विचार कर रहे थे उसी समय द्वारकापुरी से लौटकर कपिध्वज श्री अर्जुन वहाँ आ गये।"

संमिश्रण रहता है। हर्ष तो देखने से निश्चित ही होता है, किन्तु विषाद के विषय में शङ्का बनी ही रहती है। उसी अपनी शङ्का

के समाधान के लिये हम उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही बहुत से प्रश्न कर डालते हैं। उस समय हम अपनी सभी शङ्काओं को साथ ही उगल देते हैं और आने वाले से उनमें से एक

सम्बन्ध में केवल 'हाँ या ना' ही सुनना चाहते हैं।

धर्मराज चिन्तित थे, दुखी थे। अपशकुनों के कारण व्याकुलता बढ़ रही थी, उसी समय उन्हें सामने से अर्जुन आते हुए दिखाई दिये। सात आठ महीने में वे आ रहे हैं, अपने सुदृढ़ सम्बन्धियों से मिलकर लौट रहे हैं। अपने प्राणों से भी प्रिय सम्बन्धियों से चिरकाल में भेंट कर रहे हैं। इन सभी कारणों से उनको अत्यधिक प्रसन्नता होनी चाहिये थी। उनका मुख मण्डल प्रेम से प्रमुदित होना चाहिये था। वह सब कुछ न होकर वे दुखित से दिखायी दिये। मुख कुम्हलाया हुआ और तेजोहीन उनकी कान्ति फीकी पड़ गई थी। वे किसी गहरी चिन्ता से चिन्तित, किसी भारी शोक से शोकान्वित तथा सन्ताप से सन्तापित से प्रतीत हुए। अपने कमल नेत्रों से उष्ण आँसू बहाते हुए नीचा मुख करके धर्मराज के चरणों पर आकुलता के साथ गिर पड़े। अपने भाई को भी अपनी ही भाँति दुखी, चिन्तित और शोकाकुल देखकर धर्मराज को नारदजी की बात स्मरण हो आई। उनका हृदय धड़कने लगा और वे द्वारका के सभी सम्बन्धियों की पृथक-पृथक् नाम लेकर कुशल पूछने लगे।

धर्मराज ने अर्जुन के सिर पर हाथ रखते हुए पूछा—"भैया, तुम ऐसे उदास से क्यों प्रतीत होते हो? मार्ग में क्या कोई दुर्घटना हो गई, या अधिक वेगवती सवारी पर अधिक चलने से तुम क्लान्त हो गये हो? अच्छा भैया, यह तो बताओ द्वारावती में हमारे सभी सगे सम्बन्धी मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, सात्वत, अन्धक और वृष्णिवंशी वीर यादव अपने परिवार सहित कुशल पूर्वक तो हैं? उन सबमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ हमारे नाना महाराज शूर अपने मन्त्री अमात्यों के सहित आनन्द से तो हैं? उनके राज्य में कोई दुर्घटना तो घटित नहीं हुई! हमारे माननीय मामा वसुदेवजी अच्छी तरह से हैं न? हमारी धृतदेवा, शान्ति-

देवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी ये सातों बड़ी मामी और कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरभू और राष्ट्रपालिका आदि छोटी मामी अपने पुत्र और पुत्र-वधुओं के सहित सुख-पूर्वक तो हैं ?"

"सब यादवों के जो एकमात्र महाराज हैं, जिनकी आज्ञा में सदा करोड़ों यादव रहते हैं, जो बहुत वृद्ध हो गये हैं, जिनके दुष्ट पुत्र कंस को श्रीकृष्ण ने मारकर उन्हें सिंहासन पर बिठाया था, वे हमारे नाना के ही समान माननीय और पूजनीय महाराज उग्रसेन अच्छी तरह हैं न ? हमारी मामी देवकी के पिता महाराज देवक उग्रसेनजी के छोटे भाई तो शरीर से निरोग हैं ? ये सभी बहुत बूढ़े हो गये होंगे, मैंने तो चिरकाल से इन सबके दर्शन ही नहीं किये।

"भैया, तुम बताते क्यों नहीं ? देखो हृदय है, कृतवर्मा, अक्रूर जयन्त, गद, सारण, शत्रुजित् इन सभी की कुशल बताओ। हमारे माननीय बलदेवजी हल मूसलधारी तो आनन्दपूर्वक हैं न ? प्रद्युम्नजी के पुत्र अनिरुद्ध इन सबका समाचार सुनाओ। मैं श्रीकृष्ण के सब पुत्रों का नाम तो जानता नहीं, एक दो हों तो याद रखूँ। १६१०८० तो केवल श्रीकृष्ण के पुत्र हैं, फिर उन सबके पुत्र पौत्र भी बहुत होंगे। सबका नाम कैसे याद रख सकता हूँ, यों १०-५ मुख्य-मुख्यों के नाम मुझे याद हैं-जैसे सुषेण, चारुदेष्ण, साम्ब, ऋषभ आदि-आदि। इन सबकी बन्धु-बान्धवों सहित कुशल बताओ।

"तुम गये थे तो सबने तुम्हारा कैसे सम्मान किया ? हमारे सम्बन्ध में लोग क्या-क्या पूछते थे ? भगवान् वासुदेव कभी प्रसंग आने पर हमारा स्मरण करते हैं या नहीं ? तुम्हारा मन वहाँ रहकर प्रसन्न हुआ न ? श्रीकृष्णजी ने हमारे लिये क्या सन्देश भेजा है ? हमारे नाना-नानी मामा मामियों ने हमारे

लिये क्या-क्या उपहार दिये हैं ? इन सब बातों को बताओ।"

"भगवान् की कुशल अब मैं क्या पूछूँ ? वे तो कुशलस्वरूप ही हैं। समस्त आनन्द और मंगल के वे ही एकमात्र निधान हैं। स्वर्ग से जिन्होंने इन्द्र की सुधर्मा सभा मँगा ली, सत्यभामा के कहने पर जो नन्दनवन से देवताओं के दिव्य पारिजात वृक्ष को उखाड़ लाये, उनकी कुशल पूछना कुशल को भी कलंकित करना है।

"जो परिपूर्ण ब्रह्म होने पर भी ब्राह्मणों के भक्त हैं, जो मनुष्य का वेष बनाने पर भी मायातीत महेश हैं, जो यदुकुल रूपी क्षीर सागर में अनन्तावतार शेषजी का सहारा लेकर सुख से कमनीय क्रीड़ायें कर रहे हैं, जिनका न आदि है न अन्त, जो अपने शरण में आये हुए भक्तों की सदा रक्षा में ही तत्पर रहते हैं, जिनकी कृपा से समस्त यादव पृथ्वी पर रहकर भी विष्णु-पार्षदों की भाँति वैकुण्ठ के सुख का अनुभव कर रहे हैं, उनकी कुशल मैं मर्त्यलोक का माया मोह में व्याप्त प्राणी कैसे पूछ सकता हूँ ?"

"अर्जुन ! कैसे आश्चर्य की बात है, राजाओं के दस-बीस रानियाँ रहती हैं, तो वे सबको समान भाव से सन्तुष्ट करने में असमर्थ होते हैं। नित्य ही उन रानियों में सौतिया डाह के कारण कोई-न-कोई झगड़ा टण्टा लगा ही रहता है। कहीं-कहीं तो चोटी खींचा-खींची की भी नौबत आ जाती है, किन्तु श्रीकृष्ण के रुक्मिणी आदि १६१०८ रानियाँ हैं और सब-की-सब सन्तुष्ट हैं। सभी श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में एक से एक बढ़-चढ़कर अनुराग रखती हैं ? श्रीकृष्ण भी उनके लिये ऐसे नित्य नूतन भोगों को प्रदान करते हैं, जो स्वर्ग में इन्द्र की पत्नी शची इन्द्राणी को भी दुर्लभ हैं।

"वे रानियाँ श्रीकृष्ण को अपना प्राणनाथ पति पाकर

प्रसन्नता से फूली नहीं समातीं। वे सब रानियाँ तो तुमसे बोलती-चालती होंगी और विनोद में तुमसे तुम्हारा उपहास भी करती होंगी? अपने यहाँ तो वे भगवान् के साथ कई बार आई हैं, हमसे तो सब लजाती हैं, घूँघट मारती हैं, किन्तु जब वे सब एक साथ अपने आभूषणों को खनखनाती हुई चलती हैं, तो मालूम होता है मानो मन्मथ की सजी सजाई सेना ही जा रही हो।"

इतने पर भी जब अर्जुन कुछ नहीं बोले, तब तो धर्मराज का सन्देह और भी बढ़ गया। ज्यों-ज्यों धर्मराज यादवों के कुशल पूछते, त्यों-त्यों उनका मुख फीका पड़ता जाता था इसलिये वे फिर कहने लगे—"अर्जुन! भैया, तुम बताते नहीं तुम इस प्रकार रो क्यों रहे हो? मेरे पूछने पर भी तुम यादवों की कुशल क्यों नहीं बताते? तुम्हारी किसी कारणवश यादवों से अनबन तो नहीं हो गई? तुम सर्वथा तेजहीन से दिखाई दे रहे हो, प्रायः ऐसा होता है, कि बहुत दिन सम्बन्धियों के यहाँ रहने से वहाँ के लोग उपेक्षा करने लगते हैं। द्वारका में यादवों ने तुम्हारी उपेक्षा तो नहीं की अथवा किसी ने अपमान कर दिया? दूसरों के अपमान का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, यदि अपने सगे सम्बन्धी ही अपमान करते हैं, तो उसका घाव शस्त्र से भी अधिक होता है। वह अपमान आमरण नहीं भुलाया जा सकता दुर्भावयुक्त अमङ्गल वचन हृदय में छेद कर पार हो जाते हैं, उस चिन्ता में सदा मुख म्लान बना रहता है, आन्तरिक चिंता शरीर को विकल बना देती है।

"तेजोहीन होने का एक और भी कारण है। कोई बड़ी आशा लगाकर हमारे पास किसी काम से आया। हम उसके उस कार्य को करने में हर प्रकार से समर्थ हैं। उसने आकर दीनता के साथ हमसे प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना सुनकर हमने

उसे विश्वास दिया कि अब तुम्हारे कार्य को अवश्य करा देंगे, निश्चिन्त रहो। हमारे वचन पर विश्वास करके वह निःशङ्क होकर कार्य सिद्धि की प्रतीक्षा में बैठा रहा। कुछ काल के पश्चात् लोभवश या प्रमादवश हमने कह दिया—"हमसे आपका कार्य नहीं हो सकता, आप चाहे जहाँ जायँ। चाहे जिसके समीप जाकर करावें, हमारी आशा न रखें।" इस बात से उस आशावान् का अन्तःकरण जो शाप देता है और विश्वासघात के कारण अपना हृदय जो बार-बार टोंचता है, इससे भी आदमी श्रीहीन तथा कान्ति रहित हो जाता है। हमने ऐसा तो किसी के साथ नहीं किया ?"

"इस प्रकार यदि किसी कारण से दुखित होकर ब्राह्मण, बालक, गौ, वृद्ध, रोगी अथवा स्त्री अपनी शरण में आवें और हम उनकी रक्षा करने में समर्थ होने पर भी क्षमा न करें, तिरस्कार पूर्वक उनका त्याग कर दें, तो इससे भी आदमी तेजहीन और वीभत्स हो जाता है।"

तुम्हारा मुख सूख गया है पूछने पर भी तुम उत्तर नहीं देते। ऐसी दशा अपमान से भी होती है। आन्तरिक ग्लानि से भी होती है और पाप कर्म से भी ऐसी स्थिति हो जाती है। मुझे इस बात का स्वप्न में भी विश्वास नहीं हो सकता, कि तुमने भूलकर अगम्यागमन किया हो, अथवा स्नानान्तर सन्तान की इच्छा से आई स्वपत्नी का तिरस्कार किया हो। ऐसा तुमने आज तक कभी किया ही नहीं। तुमने धर्म को कभी छोड़ा ही नहीं। स्वर्ग की सबसे श्रेष्ठ उर्वशी अप्सरा ने स्वयं तुमसे प्रार्थना की। तुमने उसे अपनी माता कहकर सत्कृत किया, फिर भला तुम किसी दूसरी स्त्री की ओर आँख उठाकर कैसे देख सकते हो ? दैवयोग से भूल में कहीं तुमसे ऐसा पाप तो नहीं बन गया ? भैया !"

बलवान् पुरुष हीनबल वालों से पराजित होने पर भी कान्ति हीन हो जाता है। तुमने तो महाभारत युद्ध में भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे महारथियों को परास्त किया था। संसार में ऐसा अब कौन रह गया है, जो तुम्हें पराजित कर सके। इसीलिये पराजित होने की भी सम्भावना नहीं हो सकती।

"जब मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत होकर लोभ में प्रवृत्त हो जाता है और जिह्वालोलुपता वश अच्छी-अच्छी स्वादिष्ट वस्तुओं को अपने आश्रय में रहने वाले वृद्ध, बालकों को पहिले न खिलाकर स्वयं खा लेता है, इससे भी मनुष्य के सद्गुण विलीन हो जाते हैं और वह प्रेत के समान दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार शास्त्रों में जिनकी निन्दा की गई है, ऐसे कुकर्मों के करने से मनुष्यों का मुखमण्डल मलीन हो जाता है। ऐसा कोई निन्दित कार्य भूल से तुमसे बन गया हो, तो तुम निःशङ्क होकर मुझसे कह दो। मैं बड़े विद्वान् शास्त्रवेत्ता कर्म कांडियों को बुला कर उसका यथोचित प्रायश्चित्त करा दूँगा।

अथवा एक मुझे अन्तिम शङ्का और हो रही है। उसे मैं कहना नहीं चाहता था। भगवान् करें वह मेरी शङ्का निर्मूल ही निकले, किन्तु मुझे तो वह निर्मूल होती दीखती नहीं। भयंकर उत्पातों से, काल के विपरीत होने से और पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश मण्डल के अपशकुनों से मुझे तो रह-रहकर वही सन्देह उठ रहा है। कहीं तुम्हारे परमप्रेमास्पद, अभिन्न हृदय, सुहृद, सखा, सारथि, सम्बन्धी, स्नेही भगवान श्यामसुन्दर तुम्हें रोता बिलखता छोड़कर इस धराधाम को त्यागकर अपने स्वधाम को तो नहीं पधार गये? भैया, पिछले जो सब कारण बताये हैं, वे तो मैंने प्रसङ्गवश वैसे ही कह दिये हैं। मेरा अन्तःकरण तो कह रहा है, तुम्हारे दुःख का इसके अतिरिक्त कोई दूसरा कारण दिखाई ही नहीं देता। भैया, अब कहाँ तक बात छिपाओगे!

अब सच-सच खोलकर कह दो। मुझे सुना दो, कि श्यामसुन्दर किस अपराध से हम अनाथों को अकेले ही छोड़कर इस पृथ्वी से अन्तर्हित हो गये ? श्यामसुन्दर अकेले ही पधारे या उनके साथ और भी कोई गये ? यादव उनके बिना कैसे जीवित रहे होंगे ? भैया, जो बात हो कह दो अब !"

इतना कहते-कहते धर्मराज फूट-फूटकर रोने लगे। अर्जुन भी दाह मारकर बड़े जोर से रोने लगे। सभी समझ गये—यही कारण है। अतः सभी पाण्डव और सभासद शोक में संतप्त होकर दीर्घ श्वास छोड़ते हुए उच्च स्वर से विलाप करने लगे।"

छप्पय

अरजुन बोले नहीं, बहुत बिलपें पछितावें।
धरमराज पुचकारि, प्यार करि धीर बधावें॥
दुख को कारन बन्धु ! शोक तजि मोइ बताओ।
यदुनन्दन के सभी सुखद संवाद सुनाओ॥
वचन कठिन काहू कहे, अथवा अपमानित भये।
या तनु तजि के भुवन पति, नित्य धाम तो नहिं गये॥

अर्जुन द्वारा उनकी कृपा का वर्णन

(५०)

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानाम्
राज्ञां स्वयंम्वरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

दुख को वारापार न अर्जुन कितहू पावैं ।
कृष्ण कृपा कूँ सुमिरि, नयन तें नीर बहावैं ॥
नाथ ! सारथी सदा सुहृद सम्बन्धी बनिकें ।
नित नित नेह बढ़ाइ, छाँड़ि गमने छल करिकें ॥
हाय ! प्रभो ! अब जायँ कित, इत उत नहिं सन्तोष सुख ।
अश्रु पोंछि बोले वचन, तात बात तें बढ़्यो दुख ॥

---

* अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज से श्रीकृष्ण-वियोग का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—"राजन् ! जिनकी कृपा से, द्रौपदी के स्वयम्वर के समय महाराज-द्रुपद के यहाँ एकत्र हुए कामोन्मत्त राजाओं का-तेज और प्रभाव मैंने क्षीण कर दिया था और धनुष चढ़ाकर मत्स्य भेद करके त्रैलोक्य सुन्दरी द्रौपदी को हम सबने प्राप्त किया था। (वे ही श्यामसुन्दर हम सबको विह्वलता छोड़कर अपने स्वधाम वैकुण्ठ को पधार गये) ।"

हृदय जब दुःख से भर जाता है, तब मुख से बात नहीं निकलती, वाणी रुक जाती है और हृदय फटने-सा लगता है। यदि यथेष्ट अश्रुपात हों, उन्हीं के सम्बन्ध की चर्चा चले, उन्हीं के यश का गान किया जाय, तो इन कारणों से शोक कम होता है, चित्त बहल जाता है। इसीलिए शोक के समय सम्बन्धी लोग जब सान्त्वना देने आते हैं, तो आते ही उस मृतक पुरुष के गुणों का गान करने लगते हैं—"अजी, उनके सम्बन्ध में क्या कहना, वे मर्त्यलोक के प्राणी नहीं थे, साक्षात् देवता थे, हमारे साथ उन्होंने यह किया, वह किया। ऐसी बातें कह-कहकर शोकित पुरुष और परिवार को ढाँढ़स बँधाते हैं। परोक्ष पुरुष की चर्चा करने से चित्त तदाकार हो जाता है। उस क्षण वियोग का अनुभव ही नहीं होता। ऐसे प्रतीत होने लगता है, मानों हम उनके समीप बैठे प्रत्यक्ष बातें कर रहे हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने बार-बार भगवत् यशगुण गान, नामगुण कीर्तन पर अत्यधिक बल दिया है और बताया है, कि लीला कथा रस निषेवण के अतिरिक्त भगवत् चरणों में स्नेह बढ़ाने का दूसरा कोई सरल, सुगम सर्व सम्मत उपाय हो ही नहीं सकता। परस्पर उन्हीं की चर्चा करो, उन्हीं के गुण गाओ, उन्हीं में रमण करो।

जब धर्मराज बार-बार वही प्रश्न पूछने लगे और अपनी कल्पना से भाँति-भाँति की शङ्काओं को व्यक्त करने लगे, तब तो अर्जुन का दुःख और भी अधिक बढ़ गया। वे लम्बी-लम्बी साँस छोड़ते हुए, दुःख से व्याकुल हो गये। मुख मुरझा गया, हृदय कमल की खिली हुई कली सिकुड़ कर सूख गई। शरीर कान्तिहीन हो गया। वे उन्हीं सर्वान्तर्यामी प्रभु का ध्यान करते हुए, प्रेम सागर में निमग्न हो गये। उन्हें बाह्य जगत् का भान ही न रहा। फिर धर्मराज के प्रश्न का उत्तर वे कैसे दे सकते थे।

जब शोक का वेग कुछ कम हुआ, भगवान् के ध्यान से चित्त

की वृत्ति कुछ हटकर इस लोक में आई, तब बहते हुए अश्रुओं को अपने हाथों से ही शीघ्रता पूर्वक पोंछने लगे। उस समय उनके पलकों के नीचे लालिमा दौड़ गई। श्रीकृष्ण के अन्तर्हित होने के कारण प्रेमोत्कण्ठा से कातर हुए वे कहने की इच्छा करने पर भी कुछ कहने में असमर्थ हो रहे थे। जब वे श्यामसुन्दर की त्रैलोक्य पावनी, मुनि मनहारिणी मनोहर मूर्ति का स्मरण करते तभी उनका हृदय भर आता, कण्ठ गद्गद हो जाता तब भी उन्हें भगवान् के साथोपने के, मित्रता के कार्य याद आते। इस प्रकार चिरकाल तक ऐसी स्थिति में रहने के अनन्तर वे बड़े कष्ट से धैर्य धारण करके गद्गद कण्ठ से धर्मराज युधिष्ठिर से कहने लगे—"राजन्! भगवान् ने मेरे साथ विश्वासघात किया।"

धर्मराज एक साथ चकित हो गये और संभ्रम के साथ बोले—"भैया, सब बातें बताओ क्या हुआ? भगवान् तो बड़े भक्तवत्सल हैं!"

रोते-रोते अर्जुन बोले—"कहाँ हैं भक्तवत्सल! भक्तवत्सल ही होते, तो मुझ पापी को इसी प्रकार बिलखता हुआ इस धराधाम पर छोड़ जाते और आप अकेले ही स्वधाम को पधार जाते?"

पछाड़ खाकर सिंहासन से नीचे गिरते हुए धर्मराज ने कहा—"हाँ, श्यामसुन्दर! तुम सचमुच इस धराधाम को त्याग गये क्या?"

धर्मराज को नीचे गिरते हुए देखकर मन्त्री और सचिवों ने बड़ी सावधानी से उठाकर उन्हें पुनः सिंहासन पर बिठाया। महाराज युधिष्ठिर बालकों की भाँति बिलखते हुए बोले—"अर्जुन! अर्जुन! तुम मुझे श्यामसुन्दर की सभी बातें बताओ, उनकी पावन कथायें कहकर मेरे संतप्त हृदय को कुछ काल के

लिये शीतल बनाओ। हाय! मेरा हृदय वज्र का बना हुआ है। वह श्यामसुन्दर की वियोगवार्ता को सुनकर भी फट नहीं जाता। इसके टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाते। अरे, तुम्हारा वह महाभारत का बल कहाँ चला गया? वहाँ रहते हुए तुमसे कुछ भी करते नहीं बना?"

आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठ से अर्जुन बोले—"मेरा तेज कहाँ था? वह तो सभी उन्हीं की विभूति थी। वे ही मेरे शरीर में प्रवेश करके सब कार्य करा रहे थे। उनके साथ-ही-साथ मेरा तेज भी चला गया। मैं निस्तेज हो गया हूँ, अब मुझमें न बल है न पराक्रम। मैं मृतक के समान बना हुआ हूँ, मैं ही क्या, श्यामसुन्दर के बिना सभी संसार शव के समान है। निर्जीव प्राणी के समान हो गया है। कितनी कृपा उनकी हमारे ऊपर थी। कितना प्यार वे हमसे करते थे। सर्वप्रथम द्रौपदी के स्वयम्बर में मुझे भगवान् वासुदेव के दर्शन हुए थे। वे स्वयम्बर सभा में बलदेवजी के साथ ऐसे ही सुशोभित हो रहे थे, मानों जल से भरा हुआ मेघ विद्युतपुञ्ज के सहित शोभा पा रहा हो। वे राजाओं की मण्डली में ऐसे ही चमक रहे थे, जैसे असंख्यों ताराओं में चन्द्रमा चमक रहा हो। अत्यन्त स्नेह भरी दृष्टि से उन्होंने ब्राह्मण वेष में छिपे हुए हमें देखा। उनकी उस चितवन में इन्द्रजाल का-सा जादू था। मैं एक साथ ही उनकी ओर आकर्षित हो गया। उन्होंने भी अपना सम्पूर्ण प्यार बटोर कर, वहीं भरी सभा में मेरे ऊपर उड़ेल दिया।

द्रौपदी त्रैलोक्य सुन्दरी थी। बड़े-बड़े बलवान राजा उसे पाने की इच्छा रखकर प्राणपण से प्रयत्न कर रहे थे। यन्त्र में टँगी हुई मछली के लक्ष्य को भेदने के लिये सभी एक से एक बढ़कर व्याप्त हो रहे थे। सभी चाहते थे, कि अयोनिजा द्रौपदी हमें ही मिल जाय। द्रौपदी के त्रिभुवन सुन्दर स्वरूप को निरख

कर सभी का चित्त चञ्चल हो रहा था। सभी को पञ्चशर ने अपने पुष्पायुध का लक्ष्य बना लिया था। श्रीकृष्ण के लिये मत्स्य के लक्ष्य को भेद करना कौन-सी बड़ी बात थी। राजा बृहत्सेन की पुत्री लक्ष्मणा के विवाह में भी इसी प्रकार का नहीं इससे भी कठिन लक्ष्य भेद करना था, द्रुपद की सभा वाला लक्ष्य तो बाहर से दीखता भी था, किन्तु महाराज बृहत्सेन का लक्ष्य तो बाहर से भी ढका था और निरन्तर घूम ही रहा था। उसकी केवल छाया जल में पड़ती थी। छाया देखकर ही लक्ष्य भेद करना था। उस स्वयम्बर में भी सभी राजा पहुँचे थे। मैं भी वहाँ उपस्थित था। किसी पर वह लक्ष्य नहीं भेदा गया। मैं भी उठा किन्तु मेरा बाण भी लक्ष्य को छूता हुआ निकल गया, तब भगवान् वासुदेव उठे और बात की बात में परछाईं देखकर लक्ष्य को बाण से काटकर फेंक दिया। उन्हें उस कार्य में कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ा। उनके लिये द्रुपद सभा वाला लक्ष्य भेद करना कौन-सा कठिन था, किन्तु उन्होंने मन से भी उस लक्ष्य को भेदने का विचार नहीं किया। वे तो त्रैलोक्य सुन्दरी द्रौपदी को हमारी पत्नी बनाना चाहते थे। वे तो सबके सम्मुख विजयी बनाने के लिये कटिबद्ध थे। वे बार-बार हमारी ओर देखते और पास में बैठे हुए बलदेवजी के कान में कुछ कहते जाते और सैनों के द्वारा हमारी ओर संकेत करके कुछ बताते जाते थे। मैंने उसी समय समझ लिया, ये ही मेरे मामा वसुदेव के पुत्र भगवान् वासुदेव हैं। उसी भरी सभा में मैंने अपना सर्वस्व उनके श्रीचरणों में समर्पित कर दिया।

जब सभी राजा लक्ष्यभेद में असमर्थ सिद्ध हुए, तो ब्राह्मणों की मंडली में विप्र रूप धारण किये हुए मैं उन सब ब्राह्मणों की प्रेरणा से उठा। मैंने मन-ही-मन अपने प्राणधन श्यामसुन्दर के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने बड़ी ममता से मेरी ओर निहारा

और हृदय से मेरी मङ्गल कामना की। सभी समुपस्थित राजा और राजकुमार चकित थे, कि यह भिक्षुक ब्राह्मण ऐसा दुस्साहस क्यों कर रहा है ? जिस लक्ष्य को बड़े-बड़े बलवान् राजा नहीं भेद सके; उसे यह अनाथ भिक्षुक वेदाध्ययन करने वाला ब्राह्मण कुमार कैसे भेदन कर सकता है ? मैंने श्रीकृष्ण की कृपा के बल पर किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया और सबके देखते-देखते लक्ष्य भेद करके सभी राजाओं के सिर पर पैर रखकर, मैं द्रौपदी को लेकर सभा मंडप के बाहर हो गया।

आप तो उस समय चले आये थे। सभी राजा हमें विजयी देखकर हमारे ऊपर टूट पड़े। भीमसेन ने तुरन्त वहाँ से एक बड़ा भारी वृक्ष उखाड़ लिया और वे उसी से राजाओं को मारने लगे। इस कार्य को देखकर श्रीकृष्ण कितने मग्न हो रहे थे, मेरी दृष्टि उधर ही लगी थी। वे बार-बार उछल-उछल कर हमारी ही ओर देख रहे थे, और अत्यन्त उत्सुकता के साथ बलदेवजी को बार-बार हमारा परिचय दे रहे थे। सफेद वस्त्र पहिने नीचा सिर किये द्रौपदी को मेरे साथ जाते देखकर और उसकी पहिनाई सुन्दर माला को मेरे गले में देखकर, वे आनन्द से नृत्य करने लगे। वे बिना पलक मारे हमारी अनुपम युगल जोड़ी को निहार रहे थे।

सब राजाओं को परास्त करके हम द्रौपदी को लेकर अपने वास स्थान (कुम्हार के घर) आये। उस समय रात्रि हो गई थी। मैं श्यामसुन्दर की माधुरी मूरति की ही चिन्ता कर रहा था कि उसी समय बड़े-बड़े कमलों की माला पहिने पीतांबरधारी देवकीनन्दन, बलदेवजी के साथ हमारे समीप आ पहुँचे। उन्होंने आते ही माँ कुन्ती के पैर छुए और आपके पैरों में लिपटकर कितनी ममता के साथ कहने लगे—"राजन् ! आप मुझे नहीं जानते ? पहिले आपने मुझे देखा नहीं। मैं वसुदेवजी

का पुत्र श्रीकृष्ण हूँ, तुम्हारा छोटा भाई हूँ।" तब आपने उन्हें कितने प्यार से छाती से चिपटाया था। वे अबोध बच्चे की तरह बिना कुछ आपत्ति किये अपने सभी अङ्गों को शिथिल किये आपकी गोद में चिपके रहे। तब मैंने उठकर उन्हें प्रणाम किया। अपनी विशाल बाहुओं में मुझे कसते हुए अपनी छाती से सटाते हुए, मन्द-मन्द मुस्कराकर द्रौपदी की ओर लक्ष्य करके कैसे विनोद में बोले—"भैया, बहू है तो काली किन्तु बड़ी मलूक है, तुम्हारी जुगल जोड़ी खूब फले-फूले।" प्रथम मिलन में ही इतना ममत्व, इतना वात्सल्य इसके पूर्व मनुष्यलोक में तो मैंने देखा नहीं था। उसी समय चोर की तरह बोले—"अब हम लोग जाते हैं, अभी आपका सबके सम्मुख प्रकट होना उचित नहीं। अभी प्रकट होने से हम सबके लिये बड़ा भय उपस्थित हो सकता है।"

"राजन्! उन चराचर के स्वामी के लिये किसका भय था, वे मनुष्यलीला कर रहे थे। अपनी भक्तवत्सलता दिखा रहे थे। हम पर अपने सांसारिक सम्बंधी होने का भाव प्रकट कर रहे थे, उन्हीं की कृपा से हम सबने कृष्णा को पाया। महाराज द्रुपद से हमारा पैतृक राज्य भी हमें प्राप्त हुआ। भगवान् की कृपा न होती तो हमें राज्य कौन देता? इसी प्रकार भिक्षा माँगते हुए वनों, जङ्गलों और नगरों में भटकते रहते, किन्तु उन सर्वेश्वर ने हमें छत्रपति सम्राट् बनाया और हम सभी भाई इन्द्रप्रस्थ में उसी प्रकार सुख से रहने लगे, जिस प्रकार देवता स्वर्ग में रहते हैं।

द्रौपदी और आपके एकान्त भवन में, विप्र की, गौओं की रक्षा के निमित्त अपने अस्त्र लाने के कारण नियम भंग होने से मुझे १२ वर्ष निश्चयानुसार वनवास करना पड़ा। इसी प्रसंग में मैं द्वारकाजी भी मूल गया। वहाँ भगवान् की सगी बहिन सुभद्रा

से मेरा मन मिल गया। घट-घट की जानने वाले वे श्रीहरि-समझ गये। वे जानते थे कि उनके बड़े भाई इस सम्बन्ध के लिये कभी स्वीकृति न देंगे। वे दुर्योधन के साथ उसका विवाह करने का पूर्ण निश्चय कर चुके थे, किन्तु उन शरणागत वत्सल आश्रितों की समस्त इच्छाओं के पूर्ण करने वाले देवकीनन्दन ने हँसते हुए मेरे कान में कह दिया—"तुम मेरी बहिन सुभद्रा को हर ले लाओ।" यही नहीं, उन्होंने अपना रथ भी मुझे दे दिया। हाँ! कहाँ तक उनकी कृपालुता का वर्णन करूँ? कहाँ तक उनकी दया, अनुकम्पा और अनुग्रह की कहानियाँ कहूँ? प्रत्येक बात में वे मेरा मन रखते गये। जो मैंने कहा—उसी के लिये हँसकर 'हाँ' कह दिया। मेरी बात पर वे 'ना' करना तो सीखे ही नहीं थे। हाय! मुझे क्या पता था, कि वे अन्त में मेरे साथ ऐसा छल करेंगे, मुझे इस प्रकार रोता हुआ छोड़कर स्वयं अकेले ही स्वधाम को पधार जायेंगे। अब भी जब मैं गया था, तो चिरकाल तक वे ही पुरानी बातें करते रहते थे। कितने स्नेह से वे मुझे रखते थे। अब उनकी एक-एक बात मुझे स्मरण आ रही है और हृदय में शूल की भाँति चुभकर पीड़ा पहुँचा रही है। राजन्! अब संसार रहने योग्य रहा नहीं।"

इतना कहते-कहते अर्जुन फिर भगवान् की अतीत काल की स्मृतियों के हृदयपटल पर अंकित हो जाने से, भली-भाँति से विलाप करने लगे।"

छप्पय

जिनकी कृपा कटाक्ष पाइ हम भये सुखारे।
राजन् कैसे कहूँ श्याम निजधाम पधारे॥
जिनके प्रेम प्रसाद प्रिया कृष्णा सी पाई।
यन्त्र मत्स्य कूँ बेधि द्रुपदपुर लही बड़ाई॥
काममत्त सब नृपनि के, सिर पर पैर जमाइकें।
द्रुपदसुता हमने वरी, गये अनाथ बनाइकें॥

खांडवदाह के समय की कृपा का वर्णन

[५१]

यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

जिनकी लहिकें कृपा अकारज कारज कीन्हें ।
विप्रवेष महँ वन्हि आइ वर माँगे दीन्हें ॥
सन्निधि समझी श्याम, भोज्य बहुखाण्डव दीन्हों ।
अति प्रचंड धरि रूप दाह वन सबरो कीन्हों ॥
देवराज रक्षा करी, किन्तु पराजित वे भये ।
धराधाम तज धाम निज, अज अच्युत अब चलि गये ॥

* अर्जुन धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! अग्नि ने मुझसे खाडव वन खाने को माँगा था, उन्हीं श्यामसुन्दर के आश्रय को पाकर मैंने अग्नि को उसे दे दिया । अग्नि के जलाने पर क्रोध करके युद्ध के लिये आये हुए इन्द्र को मैंने देवताओं सहित उन्हीं की कृपा से जीत लिया था । मय दानव की रक्षा करके प्रत्युपकार मे आपको उसने अद्भुत शिल्पकला विशिष्ट सभा बनाकर दे दी थी, जिसमे राजसूय यज्ञ के समय देश देशान्तरों के राजाओं ने आपको भेंट दी थी जिनकी कृपा से ये सब प्राप्त हुए थे वे हमें निःसहाय छोडकर स्वधाम पधार गये ।"

धर्मराज के दुःख का वारापार नहीं, बिना पानी के कीच में सूर्य की किरणों से तप्त होकर जिस प्रकार मछली तड़फड़ाती है, उसी प्रकार वे कृष्ण वियोग में तड़फड़ा रहे थे। अर्जुन के चुप हो जाने पर वे बोले—"भैया, अर्जुन! तुम उन देवकी-नन्दन के अत्यन्त प्रिय सखा हो। मुझ अभागे को तो उन्होंने बड़ा मान लिया, अतः मेरे सामने तो वे कुछ-कुछ लजाते थे, किन्तु तुम तो उनके अभिन्न हृदय थे। तुम्हारे साथ तो वे निःशङ्क होकर बिना किसी प्रकार के संकोच के व्यवहार करते। वे जब भी जाते तुम्हें साथ लेकर जाते। तुम्हारे बिना अकेले वे खाते भी नहीं थे। हमारे तो वे ही श्यामसुन्दर संसार में सहारा थे, उनके बिना हम जीवित रह ही नहीं सकते। हम उनका स्वधाम प्रयाण सुनते ही निष्प्राण इसीलिये नहीं हुए हैं, कि तुम उनकी स्मृति दिला-दिलाकर भाव जगत में उनका साक्षात्कार करा रहे हो। लीलाओं के स्मरण से ही हम किसी प्रकार प्राण धारण कर सकते हैं। अतः भैया, तुम चुप न हो, उनकी स्मृति कराते रहो, उनके गुण गाते रहो, इससे मेरा शोक सन्ताप कुछ कम हो रहा है। ध्यान में मैं उन नन्द-नन्दन का दर्शन पा रहा हूँ, उनका वियोग दुःख उनकी लीला श्रवण से विस्मृत-सा हो जाता है। अतः और कोई प्रसङ्ग कहो, क्योंकि अब दूसरी चर्चा तो हो नहीं सकती। निद्रा नेत्रों से भागकर भगवान् को खोजने चली गई है। इस इतनी बड़ी शोकपूर्ण रात्रि को किसी प्रकार व्यतीत करना है। आगे के जो भी कुछ कार्य होंगे, प्रातःकाल ही होंगे। उदयाचल से जब नूतनता लिये हुए भगवान् दिवाकर उदित होंगे, तभी वे हमें भविष्य का कर्तव्य बतावेंगे। तब तक तुम त्रैलोक्य पावन द्वारकानाथ के ही सम्बन्ध में कुछ कहते रहो।"

धर्मराज इतना कह कर चुप हो गये। धर्मराज के भाई

मन्त्री तथा और भी जो प्रधान अधिकारी थे, सभी पाषाण की मूर्ति की भाँति शोक सन्तप्त हुए निश्चल भाव से बैठे थे, शौच, सन्ध्या, खाना, पीना सभी बातें वे भूल गये थे। अश्रु बहाते हुए वे अर्जुन के मुख से श्रीकृष्ण की कृपा की कथा सुन रहे थे। आँसू पोंछकर और गले में आये हुए श्लेष्मा की खकार-गले को स्वच्छ करके-रोते हुए अर्जुन बोले—"राजन्! एक बात हो तो कहूँ भी। मेरे तो रोम-रोम में उनके अनन्त उपकार भरे पड़े हैं। यदि मेरे प्रत्येक रोम में कोटि-कोटि जिह्वायें हो जायँ और प्रलय के अन्त तक का कहने को समय मिल जाय, तो भी उसके समस्त उपकारों का कथन नहीं कर सकता। उन्होंने ऐसी-ऐसी लीलायें कीं, ऐसे-ऐसे दृश्य दिखाये, जो ब्रह्मादिक देवताओं के लिये भी दुर्लभ हैं, इन्द्र, अग्नि वायु-ये कितने प्रबल देवता समझे जाते हैं, किन्तु ये सब उनके सम्मुख हाथ जोड़े हुए खड़े रहते थे और वे भी उनके साथ ऐसा विनोद करते थे, जैसा बच्चा कागज के खिलौने के साथ करता है। जब चाहा फूँक मारकर फुला दिया। जब इच्छा हुई वायु निकाल कर पिचका दिया। मन में आई ऊपर आकाश में उड़ा दिया और खेलते-खेलते जब ऊब गये तो फट्ट करके फोड़ दिया। खिलौने की रचना करना भी उनके लिये खेल था। फुलाना, पिचकना, उड़ाना, यह भी खेल था और फोड़ने में भी उनका मनोरञ्जन होता था। शब्द करके फूटता हुआ देखकर भी खिल खिलाकर हँस पड़ते। उसमें भी उन्हें शोक, सन्ताप नहीं होता था। एक प्रकार का आनन्द ही आता था। देवता उनके मानवी रूप को देखकर मोह में फँस जाते और उन्हें कभी-कभी साधारण मनुष्य समझकर व्यवहार करते, उस समय वे भी सामान्य मनुष्यों की ही भाँति व्यवहार करने लगते, वैसी ही चेष्टायें दिखाने लगते। इससे उनकी मानवी लीलायें बड़ी ही सुखप्रद और सरस बन

जातीं। मानवीय भावों में दिव्य लीलायें प्रकट हो जातीं।

आपको स्मरण होगा, हम एक समय आपकी आज्ञा लेकर यमुना तट पर वैसे ही विनोदार्थ जल क्रीड़ा करने गये थे। एकांत पाकर वे मुझ पर कितना स्नेह जनाते थे, अपने अपार प्यार से मुझे आच्छादित कर लेते और मैं उस प्रेम प्रवाह में ऐसा बह जाता था, कि अपने आपे को भूल जाता था। हाँ, तो आपने स्नेहवश बहुत से नट, नर्तक, दास दासी, गाने बजाने वाले हमारे साथ भेजे थे, किन्तु मुझे ये सब प्रसन्न नहीं कर सकते थे। यमुना किनारे जाकर हम सबने यथेष्ट अमोद-प्रमोद किया। वे मुझे लेकर सवर्णा सवितृ-तनया के जल में बड़ी देर तक क्रीड़ा करते रहे। मेरे साथ होड़ लगाकर वे तैरते, मेरे ऊपर जल उलीचते, जलकणों के प्रहार से मुझे आकुल कर देते, तब मैं उन्हें कस कर पकड़ लेता। कैसा सुखद था उनका स्पर्श, कितना आभापूर्ण था उनका श्रीअङ्ग। हाय! वे दिन अब स्वप्न हो गये, वे बातें पूर्व की-सी प्रतीत होने लगीं।

जब जल क्रीड़ा करते-करते क्लान्त हो गये, तो उन्होंने स्नेह भरी वाणी से कहा—"अर्जुन! इस भीड़ भाड़ में मेरा मन प्रसन्न नहीं होता, चलें कहीं एकान्त में चलकर बैठें।"

"अन्धे तुझे क्या चाहिए। दो दिखाई देने वाली आँखें।" मैं भी यही चाहता था। मुझे लेकर वे एक निर्भय निकुञ्ज में जा बैठे। मेरी गोद में उन्होंने अपना सिर रख दिया था। अमृत भरी दृष्टि को मेरी दृष्टि में घोलकर वे मेरे हृदय में प्रेम रस का संचार करने लगे और अनेक रहस्य की बातें कह-कहकर मुझे वे पृथ्वी पर ही वैकुंठ सुख का अनुभव कराने लगे। हा! संसार में वे प्राणी धन्य हैं, जिन्हें कोई अत्यन्त स्नेही अपने मन-का सा मित्र मिला हो। एक मित्र जब दूसरे मित्र से एकान्त में अपने हृदय की रहस्यमयी बातें करता है, तो यह

दुःख पूर्ण संसार विलीन हो जाता है। इस संसार से पृथक् जो एक सदा सुखमय भाव-संसार है, उसी में उस समय वे दोनों

मित्र विचरण करने लगते हैं। मैं भी उस अनुपम प्रेम रस का रसास्वादन कर रहा था, कि इतने में ही एक ताड़ के समान लम्बा, परम तेजस्वी, लाल-लाल दाढ़ी मूँछों वाला ब्राह्मण

देव को आया देखकर मेरा सभी रस किरकिरा हो गया। रङ्ग में भङ्ग हो गया, एकत्व में द्वैत ने प्रवेश किया, निःसंकोच में संकोच ने आकर गड़बड़ी डाल दी। हम दोनों ही ब्राह्मण के सम्मानार्थ उठकर खड़े हो गये। आते ही उस तेजस्वी ब्राह्मण ने कहा—"मैं बड़ा भूखा हूँ, मुझे आप लोग कुछ भोजन के लिये दीजिये!"

"मैं तो कहने वाला ही था—"ब्राह्मण देवता, भोजन के लिये आपने हमारे एकान्तिक रस में क्यों विघ्न डाला? हमारे सेवकों के समीप यथेष्ट भोजन है, वहीं से माँग लेते। किन्तु श्रीकृष्ण का रुख देखकर मैंने कुछ भी न कहा। तब वे ही भवभयहारी वनवारी अपनी मेघ गम्भीर वाणी के द्वारा उस विप्र को सम्बोधन करते हुए कहने लगे—"विप्रवर! हम आप साधारण ब्राह्मण दिखाई नहीं देते। न आपकी साधारण भोजन से तृप्ति ही होती दिखायी देती है। अतः प्रथम आप अपने भोजन का निर्देश करें कि आप क्या भोजन करेंगे। आपका भोजन सुन कर हम निर्णय करेंगे, कि हम आपकी तृप्ति करने में समर्थ हैं भी या नहीं।"

भगवान् की बात सुनकर मैं तो चक्कर में पड़ गया। अब मैं भी सम्हल गया। जिसे मैं साधारण ब्राह्मण समझे बैठा था, उसके भोजन से तो अखिल ब्रह्मांड को तृप्त करने वाले श्यामसुन्दर भी शङ्कित हो रहे हैं। वह ब्राह्मण सूर्य की किरणों के समान अपनी लाल-लाल दाढ़ी को हिलाते हुए हँसा और बोला—"भगवान्! मैं साधारण ब्राह्मण नहीं। मैं साक्षात् अग्नि हूँ। मुझे अजीर्ण हो गया है और इस समीप के खांडव-वन को जलाना चाहता हूँ। इसमें जो अनेक यक्ष, राक्षस, असुर, नाग, सर्प रहते हैं, उनके मांस मेदा को जलाकर ही हमारी तृप्ति हो सकती है। इस वन के भस्म करने पर ही मेरा अजीर्ण जीर्ण हो सकता है।"

भगवान् बोले—"तब जला दो, हमसे क्या पूछते हो ? तुम तो हुताशन हो, सम्पूर्ण ब्रह्मांड को भस्म करने में समर्थ हो।"

अग्नि ने खेद के स्वर में कहा—"जलाऊँ कैसे, इसमें तक्षक नाग सपरिवार रहता है। इन्द्र से उसकी मैत्री है। इसीलिये इन्द्र ने इस सम्पूर्ण वन की रक्षा का भार अपने ऊपर ले रखा है। मैं जब भी चेष्टा करता हूँ, तभी इन्द्र इतनी अधिक वृष्टि कर देते हैं, कि मेरा कुछ वश ही नहीं चलता। अनेकों बार मैंने चेष्टा की, किन्तु सदा असफल ही रहा। आप दोनों अस्त्र-शस्त्रों में विशारद हैं। आप चाहें, तो अपने अस्त्रों से इन्द्र की वृष्टि रोककर मेरे मनोरथ को पूर्ण कर सकते हैं।"

"राजन् ! जब कभी भी अस्त्र-शस्त्र के पराक्रम का कार्य पड़ता तो वे मेरी ओर देखने लगते, मानों वे अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध में कुछ जानते ही नहीं हैं। मैं भी उनका सहारा पाकर ऐसे-ऐसे कार्यों को कर डालता, जिसे समस्त देवता भी मिलकर नहीं कर सकते। ऐसे कठिन कार्यों की प्रतिज्ञा कर लेता जिसका पालन करना मर्त्यलोक के प्राणी की शक्ति के बाहर की बात है। भगवान का रुख पाकर मैंने कहना आरम्भ किया—"अग्निदेव ! आप निःशङ्क होकर खांडव वन को जलावें। हम आपकी रक्षा करेंगे। मेरी बाहुओं में इतना बल है, कि एक इन्द्र की तो बात ही क्या, सैकड़ों इन्द्र एक साथ आ जायँ, तो भी मुझे परास्त नहीं कर सकते। किन्तु मेरे बल के अनुरूप मेरे पास अस्त्र-शस्त्र और रथ नहीं है। साधारण धनुषों को जब मैं सहज स्वभाव से ही खींचता हूँ, तो कितना भी दृढ़ धनुष क्यों न हो, मेरे बल को न सह सकने के कारण वह तड़ाक से टूट जाता है। मैं अत्यन्त ही लाघव के साथ—दोनों हाथों से समान रूप से—अत्यन्त शीघ्र बाण छोड़ता हूँ। कितने भी बाण क्यों न हों, वे शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं। अतः आप मेरे बल के अनुरूप एक अत्यन्त दिव्य

धनुष दें, अक्षय तूणीर और मेरे वेग को सह सकने योग्य रथ दे दें, तो मैं श्रीकृष्ण की सहायता से आपका मनोरथ पूर्ण कर सकता हूँ।"

मेरी बात सुनकर श्यामसुन्दर मुस्कराये। अग्निदेव प्रसन्न हुए और तभी मुझे यह जगत प्रसिद्ध गांडीव धनुष, अक्षय तूणीर और जिस ध्वजा पर कपिराज मारुतनन्दन विराजमान् रहते हैं, वह दिव्य रथ अग्नि द्वारा प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण को भी अग्नि ने सत्कारार्थ चक्र और आग्नेयास्त्र प्रदान किया। उन्हें अस्त्रों की क्या आवश्यकता थी? उनके तो संकल्प मात्र से ही सृष्टि विलीन हो सकती है, किन्तु उन्होंने अग्नि का अपमान नहीं किया। वे अस्त्र उन्होंने श्रद्धा सहित ग्रहण किये।

राजन्! जिस समय अग्निदेव खांडववन को जलाने लगे, तब देवताओं की प्रेरणा से दल बल के सहित इन्द्र उसकी रक्षा करने के लिये आये। उन्होंने आते ही हमसे युद्ध ठान दिया। मैं अपना गांडीव धनुष तानकर श्रीकृष्ण की बगल में खड़ा होकर देवताओं पर तथा देवराज के ऊपर बाण वर्षाने लगा। मेरी बाण वर्षा से व्यथित होकर सभी देवता अपने-अपने प्राणों को लेकर रण से भाग गये। इन्द्र भी हम दोनों का बल वीर्य समझकर युद्ध से उपराम हो गये। मेरे पिता इन्द्र उस समय लज्जित भी हुए और हर्षित भी। लज्जा तो उन्हें अपनी परजय से हुई, हर्ष मेरे पराक्रम को देखकर हुआ। राजन्! वह मेरा निज का पराक्रम नहीं था, उन्हीं पुराण पुरुष प्रभु का दत्त बल वीर्य था। वह पराक्रम उनके साथ-साथ ही चला गया। अब तो मैं फिर साधारण पुरुषों की भाँति ही निर्वीर्य बन गया।

अहा! उस समय भगवान् की कैसी अद्भुत शोभा हो रही थी। अग्निदेव खांडव वन को जला रहे थे, चारों ओर चट-चट शब्द हो रहा था। सिंह, व्याघ्र, भालू, पशुपक्षी,

नाग, सर्प सभी जीव जल रहे थे। श्रीकृष्ण मेरे रथ से अपना रथ सटाते हुए अलातचक्र की भाँति चारों ओर अरण्य की

परिधि में परिभ्रमण कर रहे थे। कोई भी जीव अग्नि की चपेट से निकल कर भागने का प्रयत्न करता, उसे हम दोनों अपने तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों से मार गिराते थे। दैवयोग से इन्द्र का मित्र

तक्षक नाग उस समय कुरुक्षेत्र गया हुआ था वह तो जलने से बच गया, किन्तु दैत्य दानवों का सुप्रसिद्ध शिल्पी—विश्वकर्मा के ही समान शिल्प विद्या में पारङ्गत—मय नाम का दानव उसके यहाँ ठहरा था। अग्नि की लपटों से दुखित होकर मय दानव वहाँ से भागा। अग्निदेव वायु की सहायता से उसे भक्षण करने के निमित्त उसके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। अग्नि की लपटों को अपनी ओर आते देखकर मय दानव एक गुप्त मार्ग से भागा। उसने सम्मुख चक्र लिये और भागते हुए प्राणियों का संहार करते हुए श्रीकृष्ण को देखा। श्रीकृष्ण मय दानव को भागते हुए समझकर चक्र लेकर उसके पीछे दौड़े। राजन! वायु की सहायता से प्रचंड हुए अग्नि जिसका पीछा कर रहे हों और साक्षात् अंतक के समान चक्र लिये श्रीकृष्ण जिसे मारने के लिये दौड़ रहे हों, संसार में उसकी रक्षा कौन कर सकता है? कौन उसे श्रीकृष्ण के चक्र से बचाने में समर्थ हो सकता है?

मयदानव ने जब देखा, कि अब संसार में मेरा कोई भी रक्षक नहीं, तब वह मेरी शरण में आया। उसने बड़ी करुणा भरी वाणी में पुकार कर, मुझे सम्बोधित करते हुए कहा—"हे पांडुनन्दन! प्रचण्ड अग्नि से, और चक्रधारी श्रीकृष्ण से मेरी रक्षा करो।"

मैंने उसी समय आवेश में आकर कह दिया—"तुम निर्भय हुए, अब तुम्हें अपने प्राणों का भय न करना चाहिये।"

दूसरा कोई शूर वीर होता, वह अपना घोर अपमान समझता। सगा भाई भी क्यों न होता, वह भी उस समय अपने शत्रु के कार्य में हस्तक्षेप करने से व्यथित होता, किन्तु वे हरि तो हँस पड़े और प्रसन्न होकर मय से बोले—"हे दानवों में श्रेष्ठ मय! अब तुम्हें किसी प्रकार की चिंता न करनी चाहिये! कुन्ती-

नन्दन ने जिसे अभयदान दे दिया, उसे संसार में मारने का साहस कर ही कौन सकता है ?"

वे अपने सेवकों पर कितनी कृपा रखते थे ? उनकी बातों को कितना महत्व देते थे ? उनकी प्रतिज्ञा की रक्षा अपनी प्रतिज्ञा खोकर करते थे। यह उनकी भगवत्ता के अनुरूप ही था, मनुष्यों में ऐसी शक्ति कहाँ हो सकती है ? वे इतनी सहनशीलता प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं।"

इस उपकार के बदले में मैंने कुछ प्रत्युपकार करना चाहा। मेरा सीधा-सादा-सा उत्तर था—"भैया, मेरा सबसे श्रेष्ठ कार्य है, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता। श्रीकृष्ण जिस कार्य से प्रसन्न हो जायँ वही तुम कोई कार्य कर दो।"

उसने भगवान् से प्रार्थना की। मय की प्रार्थना सुनकर सर्वान्तर्यामी कुछ काल मौन रहकर कुछ सोचते रहे। उस समय की उनकी चिन्तायुक्त मुद्रा कितनी सुहावनी थी, वे सोच रहे थे—मेरा सबसे प्रिय कार्य कौन-सा है। सोचकर वे बोले—"भैया, तुम यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हो, तो धर्मराज युधिष्ठिर के लिये एक ऐसी अनुपम दिव्य सभा बना दो, जिसकी बराबरी की सभा संसार में दूसरी न हो और दैत्य, दानव, देवता गन्धर्व आदि कोई भी उसके समान दूसरी न बना सकें। इससे बढ़कर प्रिय कार्य संसार में मेरे लिये दूसरा नहीं है। मैं धर्मराज को सम्राट के दिव्य सिंहासन पर उस सभा में बैठा देखकर जितना प्रसन्न हूँगा, उतना प्रसन्न किसी भी कार्य से नहीं हो सकता।"

राजन् ! यह थी उनकी भक्तवत्सलता। यह था उनका हमारे ऊपर अपार प्यार। यह था उनका निष्कपट प्रेमपूर्ण ममत्व से भरा हुआ सद्व्यवहार। श्रीकृष्ण से ही आपको वह दिव्य सभा प्राप्त हुई थी, जिसमें राजसूय यज्ञ के समय पृथ्वी

के सभी नरपतियों ने आकर आपको भाँति-भाँति के उपहार दिये थे। जिस सभा की कारीगरी से दुर्योधन को जल में थल का और स्थल में जल का भ्रम हो गया था। श्रीकृष्ण की कृपा से ही वह संसार की सर्वश्रेष्ठ सभा आपको बैठने के लिये मिली थी।

उन्होंने मुझे अपने प्रेम से पाल-पोषकर आकाश से भी ऊँचा उठा दिया। मुझे अपने सौभाग्य पर गर्व हो गया था। मैं अपने को कुछ समझने लगा था, सबसे हृदय हिलाने वाली, उनके आन्तरिक प्रेम को प्रकट करने वाली एक घटना वहाँ अंत में हुई।

इन्द्र को अपने देवराज होने का अभिमान था। जब खांडव वन जल चुका, अग्नि तृप्त होकर सन्तुष्ट हो गये, तब इन्द्र हम लोगों के समीप आये और हम दोनों से वर माँगने को कहा। मुझे तो संसार में सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय योद्धा बनने की वासना थी, अतः मैंने तो देवराज से वही अस्त्रों की प्राप्ति का वरदान माँगा और उन्होंने उसे पूरा करने का भी वचन दिया।

समस्त वरदानों के दाता उन श्यामसुन्दर से भी वरदान माँगने की भी धृष्टता देवराज ने की। भगवान् ने अमरों के अधिपति का तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने उसे डाँटा नहीं कि मैंने ही तुझे देवराज बनाया है और मुझसे ही ऐसी धृष्टता करता है, तू मुझे क्या वरदान देगा? यही नहीं उन्होंने इन्द्र के सम्मानार्थ एक ऐसा वरदान माँगा, कि उसे सुनते ही मेरे रोम-रोम खिल उठे। मेरी आँखों में आँसू आ गये। भगवान् की भक्तवत्सलता को स्मरण करके मेरा हृदय भर आया। उसी दिन मुझे विश्वास हो गया, कि श्यामसुन्दर मेरा कभी भी परित्याग न करेंगे।

इन्द्र की वरदान देने की बात सुनकर भगवान् उनसे बोले—

"हे देवराज ! यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं, तो यह वरदान दीजिये, कि मेरी और अर्जुन की इसी प्रकार सदा प्रगाढ़ मैत्री बनी रहे।"

राजन् ! यह भगवान् के कैसे अद्भुत वचन थे ? यह वरदान तो मुझे माँगना चाहिये था। आप्तकाम उन यदुनन्दन को किसी की मैत्री से क्या प्रयोजन ? संसार जिन लक्ष्मी के कृपा कटाक्ष के लिये व्याकुल रहता है, वह लक्ष्मी जिनके चरणों में सदा लोटती रहती हैं, और वे उनकी ओर दृष्टि उठा कर भी नहीं देखते, ऐसे उन श्रीपति की मैत्री के योग्य मुझ जैसा क्षुद्र प्राणी कैसे हो सकता है ? किन्तु उन्होंने अपनी शरणागतवत्सलता दिखाई, कि मैं अपने भक्तों की कृपा पाने को उसी प्रकार लालायित रहता हूँ जैसे बहुत बुभुक्षित भोजन के लिये, अत्यन्त पिपासित पुरुष पानी के लिये और घोर कामी, कामिनी के लिये उत्कण्ठित रहता है। राजन् ! उन्होंने यह बात मुँह से ही नहीं कही, किन्तु उसे जीवन भर निभाया। हमारे हित में वे सदा सावधानी से तत्पर रहते थे। जिसमें हमारा हित हो, उस काम को सभी उपायों से करते थे। किन्तु अन्त में उन्होंने मुझे धोखा दिया, स्वधाम जाते समय वे मुझ पापी को अयोग्य समझकर साथ नहीं ले गये, यहीं रोने के लिये छोड़ गये।"

छप्पय

राजन् ! अति कमनीय कृष्ण की अकथ कहानी।
प्रेमामृत में सनी सरस सुखदायक बानी॥
खांडव को करि दाह अग्नि भर पेट अघाये।
दोउनि कूँ वर देन देवपति दौरे आये॥
मैंने माँगे अस्त्र वर, माँगे हरि वर हिय भरे।
अर्जुन के सँग मित्रता, मेरी नित बढ़िबो करे॥

जरासन्ध वध के समय की कृपा का वर्णन

[५२]

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थे
आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे त ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

राजसूय के समय सभी भूपति वश आये ।
जरासन्ध नहिँ नम्यो आप अतिशय घबराये ॥
मगधेश्वर के दमन करन की युक्ति बताई ।
अभय करत वा समय श्याम सब कहें सुझाई ॥
राजन् ! अर्जुन भीम मैं, तीनिहु गिरि ब्रज जायँगे ।
जरासन्ध कूँ युक्ति तें, मारि मगध तें आयँगे ॥

---

* विलाप करते हुए अर्जुन कह रहे हैं—"जिस जरासन्ध मे दश हजार हाथियो का बल था, जिसके पादो को पूजनीय पाठ मानकर समस्त राजागण उसे शिर से प्रणाम करते थे, उसी को आपके छोटे भाई मेरे पूजनीय भाई—भीमसेन ने जिनके प्रभाव से उसका वध किया। जरासन्ध के द्वारा भैरव यज्ञ मे बलि दिये जाने के निमित्त बनाये हुए भूपतियो को जिन्होंने बन्धन मुक्त किया और सब आपके यज्ञ मे भाँति-भाँति की भेटें लेकर उपस्थित हुए। (वे ही श्यामसुन्दर हमें त्यागकर स्वधाम पधार गये)।"

शोक से व्याकुल हो जाने से, हृदय के भर आने से तथा वाणी के गद्गद हो जाने से जब आगे कुछ कहने में अर्जुन असमर्थ हो गये, तब धर्मराज बोले—"भैया अर्जुन! अरे, तुम चुप क्यों हो गये, भैया? अब हमें करना ही क्या शेष रह गया? अब केवल कृष्ण कथा ही का एकमात्र सहारा रह गया है। शास्त्रकारों का कथन है, कि संसारी सैकड़ों कार्यों को त्यागकर भोजन कर लेना चाहिये, हजारों आवश्यक कार्यों को छोड़कर स्नान कर लेना चाहिये। लाखों कार्यों को परित्याग करके दान देना चाहिये और सब कुछ छोड़कर-संसारी कार्यों के लाभ हानि की कुछ चिन्ता न करके हरिस्मरण श्रीकृष्ण चर्चा में लग जाना चाहिये। अब हमारा खाना पीना तो सब श्रीकृष्ण के साथ ही चला गया। अब तो किसी प्रकार निशा का अवसान हो, यह कालरात्रि किसी भाँति व्यतीत हो, तो हम आगे का अपना कर्तव्य निश्चित करें। जैसे धराधाम को त्यागकर श्रीपति स्वधाम को पधार गये उसी प्रकार आँखों को त्याग कर हमारी नींद भी चली गई। ये कर्ण ही इन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, जो कृष्ण कथा श्रवण के लिये अत्यन्त आकुल हो रहे हैं। अतः तुम श्रीकृष्ण कृपा के और भी कोई सुन्दर संस्मरण सुनाओ।"

धर्मराज की ऐसी बात सुनकर गाण्डीव धनुषधारी कुन्तीनन्दन अर्जुन आँसू पोंछकर फिर कहने लगे—"राजन्! आप यह क्यों कहते हैं, कि सुन्दर से सुन्दर संस्मरण सुनाओ। उनके तो सभी संस्मरण सुन्दर से भी सुन्दर हैं, असुन्दरता की तो उनमें गन्ध नहीं। जैसे मिश्री में जिधर से भी मुँह मारिये सर्वत्र समान भाव से एक-सी ही मिठास पावेंगे। श्रीकृष्ण की सभी चेष्टायें सभी लीलाएँ, सभी कथायें, एक से एक बढ़कर सुन्दर हैं। संसार की सभी सुन्दरतायें उन्हीं श्यामसुन्दर से ही तो उत्पन्न हो रही हैं, अतः उनके सम्बन्ध में जो भी कुछ उलटा-सीधा,

सम्बद्ध, असम्बद्ध कहा जायगा—"सभी सुखकर, शान्तिप्रद मनोहर और हृदयहारी होगा। आश्चर्य तो मुझे इस बात का होता है, कि वे मायामोह से रहित अखिल भुवनपति हमारे हित में इसी प्रकार आसक्त होकर रहते थे, जैसे बड़े कुटुम्ब का अत्यन्त ममतापूर्ण वृद्ध अपने पुत्र पौत्रों के भरण-पोषण की चिन्ता में सदा मग्न रहता है। वे एकान्त में भी हमारा हित ही सोचते रहते थे। किस बात में पांडवों का कल्याण होगा, किस प्रकार धर्मराज संसार में सर्वश्रेष्ठ यशस्वी सम्राट् हो सकेंगे, उनकी चिन्ता के ये ही दो विषय रहते।

आप तो सब जानते ही हैं, नित्य प्रत्यक्ष देखते थे, वे आपको प्रसन्न करने के लिये कितने व्यग्र बने रहते थे? जब आपने सर्वश्रेष्ठ राजसूय यज्ञ करने का प्रस्ताव उनके सम्मुख उपस्थित किया, तो वे कितने हर्षित हुए थे। अत्यन्त आह्लाद के साथ उन्होंने कहा था—"राजन! जब मैं आपका सेवक उपस्थित हूँ, तब फिर आप ऐसी बातें क्यों करते हैं, राजसूय यज्ञ को तो वही सम्राट कर सका है, जो पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ हो। आपसे श्रेष्ठ कौन हो सकता है?"

आपके मन में जरासन्ध का खटका बना हुआ था। वह परम पराक्रमी असुर राजा रूप में अवनि पर प्रकट हुआ था। सभी राजा उसके नाम से थर-थर काँपते। उसने मूर्खतावश श्रीकृष्ण के ऊपर भी आक्रमण किया था और एक बार नहीं अठारह बार। उसी के अभिमान को बढ़ाने को भगवान् बन्धु बान्धवों सहित भागकर द्वारावती नगरी में आकर बस गये थे। इससे उसका अभिमान और भी अत्यधिक बढ़ गया था। वह संसार में अपने को सर्वश्रेष्ठ विजयी वीर समझे बैठा था। उसने यहाँ तक दुस्साहस किया, कि हजारों मूर्धाभिषिक्त राजाओं को भगवान् भूतनाथ के यज्ञ में बलि पशु बनाने के लिये बन्दी

बना रखा था। आपको यही सबसे बड़ी चिन्ता थी, कि इस इतने बड़े बलवान् भूपति के रहते मेरा राजसूय यज्ञ कैसे सम्पन्न होता है। आपकी चिन्ता को वे अन्तर्यामी भगवान् समझ गये। उन्होंने आपको सान्त्वना देते हुए मेघ गम्भीर वाणी में गरजते हुए बलपूर्वक कहा—"राजन्! आप तनिक भी चिन्ता न करें। मैं आपके शत्रु जरासन्ध को मरवा डालूँगा। आपके हृदय के कण्टक इस राजा को उसी प्रकार संसार से निकाल फेकूँगा, जिस प्रकार शल्य शास्त्र के ज्ञाता, शरीर में घुसे हुए काँटे को निकाल कर फेंक देते हैं। आप मुझे भीम और अर्जुन को दे दें।"

उनकी भक्तवत्सलता को स्मरण करके आप उस समय कितने रोये थे, अपने प्रेमाश्रुओं से उनके पीताम्बर को भिगो दिया था और हम दोनों को आपने उन्हें सौंप दिया था। जाते हुए मार्ग में हम कैसी-कैसी विनोद की बातें करते जाते थे। पहिले मुझसे ही बोले—"अर्जुन! भैया, जरासन्ध तो बड़ा बली है। उसे कैसे जीतेंगे? तुम ही कोई उपाय बताओ तुम उससे लड़ सकते हो?"

मैंने कहा—"आपकी आज्ञा होगी, तो उससे लड़ लूँगा। या तो उसे ही युद्ध में पछाड़ दूँगा या वही मुझे मार डालेगा।"

तब वे बालक की भाँति डरते हुए बोले—"ना, भैया! अरे देखो यदि तुम्हारा कुछ अनिष्ट हुआ, तो फिर मैं धर्मराज के सम्मुख किस मुँह से जाऊँगा? देखो भैया, वह बड़ा बलवान है, मैं तो उसी के डर से भागकर समुद्र के बीच में रहता हूँ। उसे पराक्रम द्वारा कोई परास्त नहीं कर सकता।"

तब मैंने कहा—"यदि ऐसा है, तो लौट चलिये। फिर आप उसके पास क्यों जा रहे हैं?"

तब बड़े अन्यमनस्क होकर वे बोले—"अरे भैया, लौटकर

अब कैसे चलें? धर्मराज का फिर राजसूय यज्ञ न हो सकेगा। आशा पर पानी फिर जायगा। वे दुखी होंगे। धर्मराज चिन्तित या दुखी हुए, तो फिर मेरा जीवन व्यर्थ है। मेरी सभी चेष्टायें धर्मराज की प्रसन्नता के ही निमित्त हैं।"

मैंने कहा—"आप यह कैसी नर लीला कर रहे हो? मुझे लड़ने की आज्ञा भी नहीं देते, उसके बल की भी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। अपने से भी उसे बलवान् समझते हैं, लौटकर जाना भी नहीं चाहते। धर्मराज का यज्ञ भी कराना चाहते हैं। पता नहीं चलता आप क्या करना चाहते हैं।"

फिर हमसे आप ही कहने लगे—"बिना परास्त किये, तो राजसूय यज्ञ हो नहीं सकता। भीमसेन तो उसे मार सकता है किन्तु उसमें अस्त्र कौशल भीम से अधिक है।" फिर भीमसेन से कहने लगे—"भीम! आज तुम्हारी परीक्षा है। तुम यदि जरासन्ध को न मार सके, तो सब तुम्हें पेटू कहेंगे, कि खाता तो इतना है, लड़ने के समय भीगी बिल्ली बन जाता है। भैया, हम दोनों तो बच्चे हैं तुम्हारे सामने। हम तीनों में तुम ही बड़े बूढ़े हो। तुम ही उससे भिड़ जाना।"

भीमसेन ने अभिमान के साथ कहा—"अच्छी बात है। तुम दोनों चुपचाप बैठ जाना, मैं ही उसे देख लूँगा। वह कैसा बली है।" इतना सुनते ही वे कितने खिलखिलाकर हँस पड़े। उनकी हँसी में कैसा माधुर्य था। जब वे किसी विनोद की बात पर बड़े जोर से हँसते थे, तो दिशायें गूँजने लगतीं, मुख से मानों मोती झड़ रहे हों। हँसते-हँसते वे दुहरे हो जाते, पृथ्वी में लोट जाते और सबको अपने अट्टहास से हँसा देते। बड़ी देर तक हँसते रहे और फिर बोले—"भैया, हम तो दूर खड़े होकर तुम लोगों की लड़ाई देखेंगे। जहाँ उसका पलड़ा भारी हुआ, कि हम तो फिर मुट्ठी बाँधकर भाग आवेंगे। उस

परम पराक्रमी का सामना करने की हममें तो सामर्थ्य है नहीं।"

भैया भीम ने ताना मारते हुए कहा—"बस तुम तो भागना ही सीखे हो। कभी तुमने लड़ाई भी की है। डरपोक संसार भर के। मैं बीच से फाड़कर उसके दो टुकड़े कर दूँगा। आप मुझे समझते क्या हैं?" यह सुनते ही वे बड़े प्रसन्न हुए। भीमसेन को छाती से लगा लिया और बोले—"महाबली भीमसेन! तुम अवश्य उसे मार दोगे। तुम्हारे बल भरोसे पर ही तो हम चल रहे हैं।"

राजन्! उन्हें किसका बल भरोसा था? करने कराने वाले तो वे ही थे। प्रत्येक काम में किसी को निमित्त बना लेते थे। भीमसेन को निमित्त बनाकर उन्होंने दस हजार हाथियों के बल वाले उस दैत्य रूपी राजा को बात की बात में मरवा डाला और उनके बन्दी-गृह में पड़े हुए हजारों राजाओं को बन्धनमुक्त कर दिया।

चिरकाल से कारावास की यातनाओं को सहते हुए दुर्बल बने वे राजा, अपने जीवन की आशा खो चुके थे। भक्तभयहारी जीवनाधार ने उन सबको जीवन दान दिया, उनका यथोचित स्वागत सत्कार किया। विचित्र वाहनों पर उन्हें अपने देशों को भेजते समय उनसे बार-बार समझा-समझाकर कह रहे थे—देखो, तुम सब धर्मराज के राजसूय यज्ञ में अपना उत्तम से उत्तम उपहार लाना।" किसी से कहते—"तुम्हारे यहाँ तो सुवर्ण की खान हैं, बहुत-सा सुन्दर सुवर्ण लाना, भला।" किसी से कहते—"तुम दस हजार हाथी, बीस हजार अच्छे घोड़े लाना।" किसी से कहते—"तुम्हारे यहाँ कम्बल, मृगचर्म, बाघम्बर बहुत होते हैं। तुम हजारों वाहनों में लदवाकर उत्तम-से-उत्तम छाँट-कर इन सब वस्तुओं को लाना।" राजन्! उस समय वे इसी

तरह सबको आज्ञा दे रहे थे, जैसे द्रव्य का लोभी राजा अपनी प्रजा पर भाँति-भाँति के कर लगाकर उनसे वस्तुएँ माँगता है।

उन सब राजाओं ने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और वे सभी आपके यज्ञ में भाँति-भाँति की भेंटे लेकर उपस्थित

हुए थे। सभी ने अपने मुकुटों की मणियों से आपके चरणों का चमत्कृत किया था। राजन् ! वे ही श्यामसुन्दर आज हम सबको अनाथ छोड़कर स्वधाम को पधार गये। यह पूरी वसुन्धरा विधवा हो गयी। यह सम्पूर्ण संसार मुझे शून्य-सा प्रतीत होता है। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कहाँ अपने प्रियतम को पाऊँ ?" यह कहकर अर्जुन फिर वस्त्र से मुख ढककर रुदन करने लगे।"

छप्पय

आज्ञा लैके चले साथ हम दोऊ लीन्हें।
क्षत्री बानो बदलि वेष विप्रन के कीन्हें॥
ज्येष्ठ बन्धु तैं भिडा दुष्ट मरवायो इनतें।
बन्दी भूपति मुक्त करे बोले हरि उनतें॥
धर्मराज के यज्ञ में, बहुत भेंट ले आउ सब।
वे ही हमरे हृदयधन, श्याम सिधारे धाम अब॥

द्रौपदी चीर हरण के समय की कृपा का वर्णन

[५३]

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः ॥*

(श्रीमा० १ स्क० १५ अ १० श्लोक)

छप्पय

राजन् ! कहँ कहँ कहँ, करी हमरी रखवारी ।
दुष्ट फन्द में फसी, द्रौपदी प्रिया हमारी ॥
जिनमें छीटा राजसूय पय के शुभ लागे ।
खोले खींचे केश खलनि ने सबके आगे ॥
रोई अति ही दीन है, रक्षा नहिँ काहू करी ।
कृष्णा पुकारे करुण स्वर, कान भनक उनके परी ॥

---

* अर्जुन कह रहे हैं—"राजन् ! आपकी प्यारी पत्नी की वह पवित्र अलकावली जो राजसूय यज्ञ के समय महाभिषेक मन्त्रपूत जल के द्वारा भिगाई गई थी, उसे दुर्योधनादि दुष्टों की सम्मति से दुःशासन ने खोलकर भरी सभा में पकडा था । उस समय स्मरण करते ही श्रीकृष्ण वहाँ पधारे ! आँखों में अश्रु भरकर कृष्णा उनके चरण कमलों पर गिर पडी । उस विपत्ति से द्रौपदी को बचाया ही नही किन्तु उन दुष्टों की समस्त स्त्रियो को विधवा बनाकर सभी के केश खोल दिये । (वे ही श्यामसुन्दर हमें शोक सागर में निमग्न करके स्वधाम पधार गये) ।"

ऐसा दुःख सदा मिले, सबको मिले, जिसमें निरन्तर भगवत् स्मरण ही होता है। भगवान् के सम्बन्ध से हुआ दुःख, दुःख नहीं कहाता, वह तो परम सुख है। वृन्दावन बिहारी के सम्बन्ध की विरह व्यथा, विरह नहीं कहाती। वह मानसिक घनिष्ट संयोग की जननी है। अविनाशी का तो कभी नाश होता नहीं, परोक्ष होता है—इन चर्म चक्षुओं से वे ओझल हो जाते हैं। जब बाह्य दृष्टि उन्हें देखने में असमर्थ होती है, तब प्रयत्न करके अन्तर्दृष्टि से उन्हें देखने की चेष्टा करते हैं। यही मोक्ष है, यही परमानन्द सुख है। अतः श्रीकृष्ण के सम्बन्ध का रुदन मोक्ष मार्ग का सोपान स्वरूप है।

अर्जुन ने जब जरासन्ध के वध के समय की हुई कृष्ण कृपा का वर्णन किया, तब तो धर्मराज भी अत्यन्त गद्गद हो गये। वे रोते-रोते बोले—"अर्जुन! तुम इन बातों को सुना-सुनाकर ही मुझे मरने से रोक रहे हो। तुम कथा क्या कह रहे हो, मेरे कानों में अपनी मुख रूपी पिचकारी द्वारा हृदय तक सञ्जीवनी रस पहुँचा रहे हो। मुख रूपी पात्र में भरकर कान रूपी मेरे कंठ में अनुपम अमृत उड़ेल रहे हो। जब तक तुम इसी प्रकार मधुमय, आनन्दमय, जीवन सारमय कथारस पिलाते रहोगे, तब तक मेरा हृदय फटेगा नहीं, मेरी चेतना विलुप्त न होगी, मैं संज्ञा शून्य न बनूँगा। हाँ, तो और सुनाओ मेरे प्यारे बन्धु! मुझे बचाना चाहते हो तो कथा के तार को मत तोड़ो।"

धर्मराज के ऐसे वचन सुनकर अर्जुन ने आँखें पोंछी। अपने प्रिय के सम्बन्ध में कहने में हृदय स्वयं भी हर्षित होता है। अतः अर्जुन भी यही चाहते थे, कोई अव्यग्र चित्त से सुनने वाला हो, तो मैं युगयुगान्त तक इसी प्रकार श्यामसुन्दर के सुखद संस्मरण का कथन करता रहूँ। अपनी ही भाँति धर्मराज तथा अन्य उपस्थित सभी बन्धु-बान्धवों को कृष्ण कथा श्रवण में व्यग्र

समझकर अर्जुन कहने लगे—"एक बात हो तो उसे कहूँ भी। उनकी तो इतनी अनन्त कृपा है, कि किसी भी प्रकार उनका अंत संभव नहीं। एक सच्चे सेवक की भाँति स्वामिभक्त भृत्य की तरह वे सदा हमारी, हमारे परिवार की, हमारी पद प्रतिष्ठा तथा राज्य की रक्षा करते रहते थे, जहाँ स्मरण किया नहीं कि उपस्थित हुए नहीं। उनका उपस्थित होना उपचार मात्र है। वे तो सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घट में सामान्य रूप से व्याप्त हैं, न उनका कहीं से आना न कहीं अन्यत्र जाना। जहाँ भक्तों ने प्रेम से पुकारा वहीं उसी क्षण प्रकट हो गये। किन्तु हम सबके हृदय में तो प्रेम भी नहीं था। हम प्रेम शून्यों के सम्मुख तो अपनी मात्र अहैतुकी कृपा के ही कारण वे प्रकट होते थे।

"आपके राजसूय यज्ञ के अतुल वैभव को देखकर दुष्ट को अपार ईर्ष्या हुई। दुर्योधन को जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम हो गया। वह आपके ऐश्वर्य दर्शन की ईर्ष्या से दुखित और दृष्टिहीन बन गया। सब दुष्टों ने मिलकर द्यूत-सभा की रचना की। धृतराष्ट्र को भी समझा बुझाकर उन्होंने अपने पक्ष में कर लिया। आपको भाइयों सहित जुआ खेलने को निमन्त्रित किया। धर्मानुसार आप उनके आह्वान करने पर हम सबको साथ लेकर इन्द्रप्रस्थ से हस्तिनापुर गये और जुए में अपना सर्वस्व तथा द्रौपदी जी को भी हार गये। दुर्योधन के मामा शकुनी उसके भाई दुःशासन तथा कर्ण इन सभी ने भाँति-भाँति के छल बल करके आपको पराजित कर दिया और उत्तेजित करके द्रौपदी को भी दाँव पर लगवा दिया। हम सब भाइयों को भी आप हार गये, द्रौपदी भी उनकी नियमानुसार जीती हुई दासी बन गई। अब उन्हें अपनी ईर्ष्या बुझाने का अच्छा अवसर मिला। अब उन्होंने आपको अपमानित करने को घृणित-से-घृणित कार्यों को करना आरम्भ कर दिया।

संसार में इतना बड़ा पाप कोई कर सकता है क्या ? स्त्रियाँ सदा अवध्या बताई गई हैं। किसी जाति की भी स्त्री हो, अपने प्राणों की बाजी लगाकर उसके सतीत्व की रक्षा करनी चाहिये। कैसी भी स्त्री क्यों न हो, उसका सबके सामने अपमान न करना चाहिये। किसी भी वर्ण की नारी दुःख में फँसी हो, तो उसे सब प्रयत्न करके दुःख से निकालना चाहिये। ऐसा शास्त्रकारों ने बार-बार कहा है।

कोई इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता, कि राजा होकर कोई अपने घर का—अपने ज्येष्ठ भाई की पत्नी—नहीं, नहीं, राजरानी को—जिसने अपने पति सम्राट् के साथ बैठकर राजसूय यज्ञ की दीक्षा ली हो, जिसने हाथ में हरिन का सींग लेकर पति के साथ सर्वश्रेष्ठ यज्ञ के कठिन नियमों को साधा हो—उस देव वन्दिता राजमहिषी की लज्जा को सबके सम्मुख हर सके, भरी सभा में उसका अपमान कर सके। ऐसा तो क्रूरकर्मा राक्षस भी नहीं करते। दैत्य दानव भी अपने कुल की स्त्रियों का सदा आदर करते हैं और उनकी लाज को अपनी लाज समझते हैं। उस द्यूत सभा में सभी ने ऐसा घोर पाप किया जिसके स्मरण मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस समय सभी की बुद्धि पर परदा पड़ गया था, सभी कुलागत धर्म को भूल गये थे, सभी ने सदाचार को तिलांजलि दे दी थी। दुष्ट दुर्योधन ने अपने अनुज दुःशासन को आज्ञा दी कि द्रौपदी को भरी सभा में ले आओ।

उसकी ऐसी क्रूर अनुचित आज्ञा सुनकर हम सब तो सन्न रह गये। हम अपना कुछ कर्तव्य ही न कर सके। आप धर्मपाश में बँधे उस समय निश्चेष्ट बैठे थे। वह क्रूरकर्मा दुःशासन भीतर जाकर उसने उस राजरानी के वे काले कुञ्चित, कमनीय केश पकड़े, जो राजसूय यज्ञों के समय महाभिषेक के

मन्त्रपूत जल से अभिषिक्त किये गये थे। जिन्हें स्वच्छन्द चारी पक्षी गगन-विहारी भगवान् भुवन भास्कर प्रयत्न करने पर भी नहीं देख सकते थे। पाश में फँसी हरिणी के समान आपकी प्यारी पत्नी बहुत रोई, बिलबिलाई। उसने दीनता के साथ उस दुष्ट से दया की भीख माँगी। पैर पकड़के उसने कहा—"देवरजी! ऐसा पाप मत करो। मैं इस समय एक वस्त्रा हूँ, रजस्वला हूँ, सबके सम्मुख जाने योग्य नहीं हूँ। मेरा अपमान न करो, मेरी लाज मत लो, मुझे वाराङ्गनाओं की भाँति सभा में मत ले चलो। मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, पैरों पड़ती हूँ। मैं और कोई नहीं, तुम्हारे बड़े भाई की पत्नी हूँ।" किन्तु उस दुष्ट ने एक भी बात न मानी, उसकी अनुनय-विनय पर कुछ भी ध्यान न दिया और अपमानपूर्वक बालों को खींचता हुआ, चोटी पकड़ लाया।

उस समय सभी सभा रो रही थी। किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता था। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र सभी गुरुजन मौन थे। द्रौपदी बार-बार कातर दृष्टि से भयभीत हरिणी की भाँति आपकी ओर देख रही थी, किन्तु आप उसकी ओर देखते भी नहीं थे। सभासदों ने आँखें नीची कर लीं, द्रौपदी की आँखों से अग्नि की चिनगारियाँ निकल रही थीं, किन्तु वह आपके शीतल मुख को देखकर ही शान्त-सी हो जाती। उसने सम्पूर्ण अधर्म सभा को उसी समय भस्म नहीं किया, वह आपको निहारती, हम आपका मुँह जोहते, आप धर्म को टटोलते। धर्म अधर्म पर उतारू था, वह सच्चरित्रता, धर्मशीला द्रौपदी की रक्षा करने में असमर्थ-सा प्रतीत होता।

जब वह सभी ओर से निराश हो गई, किसी से अपनी रक्षा की आशा दिखाई न दी, तब उसने अशरण शरण दीनबंधु को पुकारा। रोकर, आँसू बहाकर, दीनता के साथ उसने टेर लगाई—"हा श्यामसुन्दर! कहाँ चले गये, हे नाथ! रक्षा करो

प्रभु ! दुष्ट मेरी लाज लेने पर उतारू है। हे भक्तभय भंजन ! भगवान् ! मेरे भय को क्यों नहीं भगाते, क्यों नहीं इन दुष्टों को यमपुर पठाते ? हे प्रभो ! तुम्हारी दासी कहलाकर यदि मेरी लाज गई, तो इसमें मेरी हँसी नहीं, तुम्हारी ही हँसी है ! हे अशरण शरण ! सब ओर से हताश होकर मैं तुम्हारी ओर आई हूँ।"

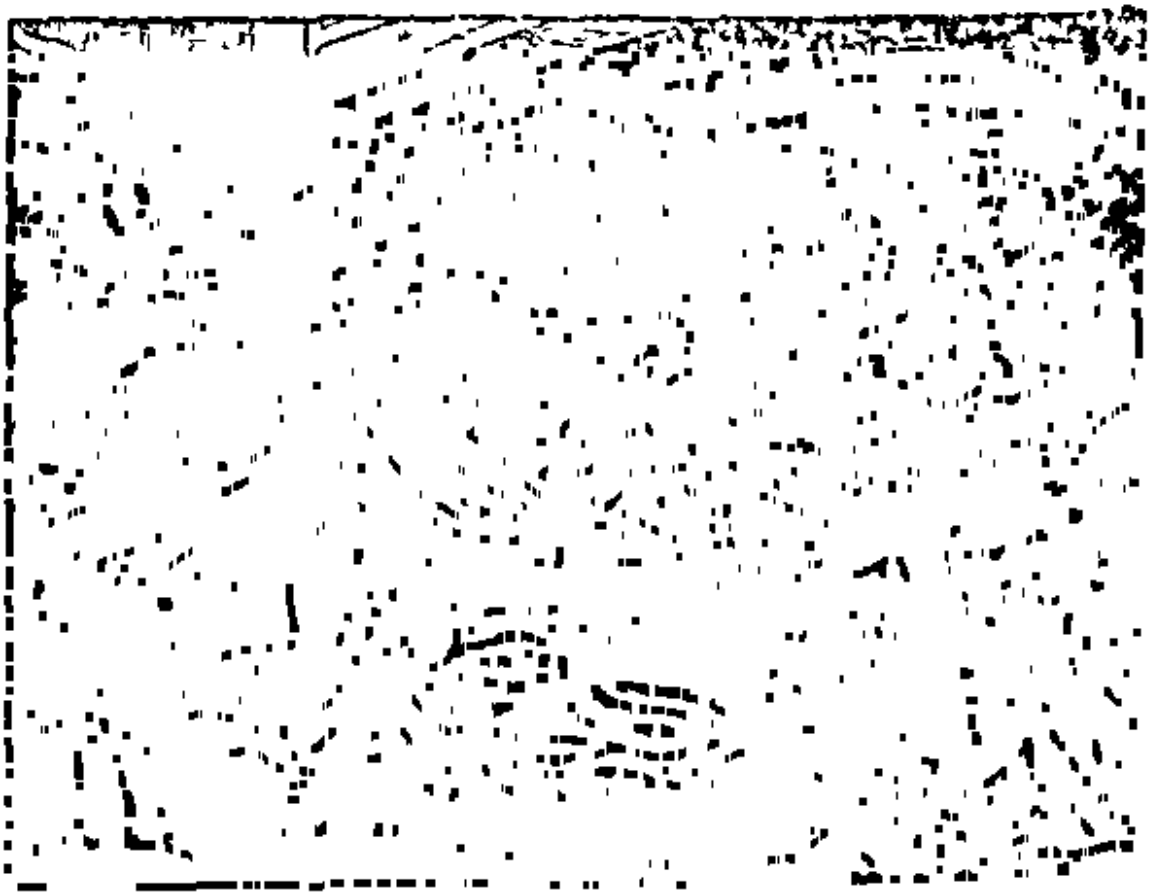

राजन् ! उस समय भगवान् स्मरण मात्र से ही वहाँ दौड़े आये। सभी को उनके घनश्याम रूप के दर्शन नहीं हुए। वहाँ उन्होंने अपना एक अद्भुत अवतार प्रकट किया। उस समय वे नील वर्ण त्यागकर विविध वर्ण के बन गये। उस समय अण्डज, पिण्डज, उद्भिज, स्वेदज, आदि शरीरों को त्यागकर उन्होंने वसन रूप धारण कर लिया। अपनी चेतनता से जड़ को चैतन्य

ज्यों द्रौपदी की साड़ी को खींचता जाता था, त्यों-त्यों वह बढ़ती जाती। उसमें से चित्र-विचित्र रंगों की सुन्दर-से-सुन्दर साड़ियाँ एक ही सूत्र में सटी हुई निकलती जाती थीं। वह द्रौपदी को वस्त्रहीन करना चाहता था किन्तु स्वयं ही वह बलहीन बन गया। साड़ी को उतारकर वह महाराज पाण्डु की पुत्रवधू, हमारी प्यारी पत्नी और द्रुपद की दुलारी दुहिता को नग्न करने पर उतारू था। किन्तु इस चमत्कार को देखकर उसका मद उतर गया। वह लज्जित होकर बैठ गया। सभा स्तब्ध रह गई। वे विचित्र वसन, भरी सभा में ऐसे ही शोभित होते थे, मानों आकाश में असंख्यों इन्द्रधनुष परस्पर में सटकर एक साथ ही उदय हुए हों। वस्त्र विक्रेता व्यापारी की वृहद् दुकान के समान वह सभा दिखाई देती थी। उनमें रोती हुई कृष्णा कृष्ण की प्रत्यक्ष झाँकी कर रही थी। सभा में सहसा कृष्ण आ गये। अब उनके पाद पखारने को पाद्य के लिये जल कहाँ से लावे। अतः उसने अपने अञ्जन मिश्रित नेत्र जल से जलद के समान सुन्दर साँवले अरुण तल वाले पादपद्मों को पखारा। उस समय सान्त्वना देते हुए श्यामसुन्दर अपनी सखी कृष्णा से बोले—"देवी! अब तुम अपने खुले हुए केश पाशों को कसकर बाँध लो। अब तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं, अब तो मैं आ गया।"

रोते-रोते कृष्णा ने कहा—"श्यामसुन्दर! अब तो वे केश खुल गये। खुल गये सो, खुल गये। हाथी के दाँत बाहर निकले सो निकल गये। कुलीन कन्या का एक बार कन्यादान हुआ सो हो गया। दूध एक बार फटा सो फट गया। मोती एक बार टूटा सो टूट गया। वस्त्र एक बार फटा सो फट गया। जिस प्रकार ये सब फिर अपने पूर्व रूप को धारण नहीं कर सकते उसी प्रकार जिन केश पाशों का स्पर्श दुष्टों ने अपने कलुषित करों से किया है, वे फिर उसी प्रकार सौभाग्य चिह्न से चिह्नित होकर

वेणी रूप में नहीं बँध सकते।"

तुम्हारी पत्नी की ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर श्यामसुन्दर मुस्कराये और बोले—"देवि! किसी प्रकार ये केश पुनः उसी प्रकार बँध सकते हैं? मुझे तुम्हारे ये खुले केश भले नहीं मालूम होते। मैं तो इन्हें एक साथ बँधे हुए नागिन की भाँति लहराते देखना चाहता हूँ। मैं तो वेणी प्रिय हूँ। इसीलिये मेरा एक नाम वेणीमाधव है। इन खुले केशों की जिस प्रकार वेणी बन सके वह उपाय मुझे बताओ। जिस कार्य के करने से तुम्हारे ये कुटिल काले केश बँध सकें, उस उपाय को मुझे बता दो।"

इस पर द्रौपदी बोली—"प्रभो! अब तो वे केश तभी बँधेंगे, जब इन्हें खींचने वालों की पत्नियाँ विधवा बनकर इसी प्रकार केश खोलकर रोवेंगी। जिन हाथों ने इन्हें खींचा है, वे हाथ समस्त बन्धुबान्धवों के साथ निर्जीव होकर कटकर पृथ्वी पर गिरेंगे, तभी यह वेणी बँधेगी। जिन्होंने इन केशों को खींचा है, उनके शव को जब कुत्ते सियार खींचेंगे तभी ये फैले हुए बाल सिमिट कर इकट्ठे होंगे। जिन्होंने इन पवित्र केशों को नोंचा है, जब उनके मृत शरीर को कङ्क गृद्ध नोचेंगे तभी इनमें बन्धन की डोरी डाली जायगी।"

क्रोधित हुई कृष्णा के ऐसे कठोर दृढ़ वचन सुनकर श्यामसुन्दर उसे सान्त्वना देते हुए बोले—"पांडवों की प्यारी पत्नी! द्रुपदकुमारी! तुम घबराओ मत। ऐसा ही होगा। मैं तुम्हारे शत्रुओं का संहार करके उनके समस्त कुलों का नाश कराकर उनकी पत्नियों के केश खुलवा दूँगा और तुम्हारी वेणी को फिर से बँधवा दूँगा। देवि! मैंने न कभी आज तक असत्य भाषण किया है न आगे करूँगा ही।"

महाराज! उसी समय कौरवों का अन्त हो गया था। उनकी समस्त श्री नष्ट हो गई थी। वे मृत तुल्य बन गये थे। श्रीकृष्ण ने

उस समय हमारी धर्म की वृद्धि के लिये, जगत् में हमारी पावनता और प्रसिद्धि स्थापित करने के निमित्त ही कौरवों को नहीं मारा यदि वे चाहते तो उसी समय समस्त ब्रह्माण्ड को भस्म कर डालते, किन्तु वे तो हमें धर्म में स्थित कराकर हमारे ही हाथ से सबका संहार कराने वाले थे, उन्होंने ऐसा ही किया। द्रौपदी की प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन कराया, जो कहा था उसे कर दिखाया। समस्त कौरवों की पत्नियों को विधवा बनाया और द्रौपदी से अपने सामने ही फिर से केशपाश बाँधने का आग्रह किया।

उनकी कृपा की कहाँ तक प्रशंसा करूँ, किन शब्दों में उनका वर्णन करूँ? मैं निश्चिन्त था, कि मेरे सिर पर श्यामसुन्दर का हाथ है। घनश्याम की शीतल छत्र छाया है, किन्तु आज वह छाया न जाने कहाँ विलीन हो गई? अपने सिर पर अब वह साँवरा, सलौना सुहावना कर कमल दिखाई नहीं देता। अब मैं निस्सहाय हो गया। अब मैं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हूँ। मेरी समस्त चातुरी चली गई। मेरा समस्त पराक्रम प्रभु के पधारते ही समाप्त हो गया। राजन्! द्रौपदी चीर रक्षा करने वाले, उसके केशपाशों को सिर से बाँधने वाले वासुदेव न जाने कहाँ विलीन हो गये। हाय! अब मैं उनका पुनीत प्यार कब पाऊँगा, उनके पादपद्मों में प्रणत होकर मस्तक कब झुकाऊँगा।" इतना कहते-कहते अर्जुन ढाह मारकर रोने लगे।"

छप्पय–*मरी सभा में आइ चीर कूँ अक्षय कीन्हों।*
दुखित दयानिध भये, दंड दुष्टनि कूँ दीन्हों॥
जिन कच खींचे वधू बनीं विधवा उन सबकी।
खोलें डोलें केश, प्रतिज्ञा पूरी तबकी॥
सदा दुखी दुख में रहे, सुखी सबनि सुख दे भये।
किन्तु अकेले अन्त में, तनु तजि निजपुर चलि गये॥

दुर्वासा के शाप से बचाने वाली कृपा का वर्णन

[५४]

यो नो जुगोप वन एत्य दुरन्तकृच्छ्राद्
दुर्वासमोऽरिरचितादयुताग्रभुग् यः ।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥*

(श्री भा० १५ स्क० १ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

मूर्तिमान जो कोप तपस्वी दुर्वासा मुनि ।
शाप दिवावन शत्रु पठाये बन वैभव सुनि ॥
अक्षय रवि को पात्र खाइ मलि कृष्णा निबटी ।
अतिथि भये ले शिष्य सबनि चित चिन्ता चिपटी ॥
दुःख में, सुख में, शोक में, हैं जाकी गोविन्द गति ।
श्याम पुकारे करुणास्वर, भई द्रौपदी दुखित अति ॥

---

* अर्जुन कह रहे हैं—"हजार शिष्यों के साथ भोजन करने वाले, क्रोधी दुर्वासा ऋषि हमारे शत्रुओं के बहकाने से द्रौपदी के भोजन के अनन्तर वन में हमारे अतिथि बने। उस महान् कष्ट से जिन्होंने वन में पधारकर बटलोई में लगे तनिक से शेष रहे शाक को खाकर समस्त त्रिलोकी को तृप्त कर दिया? इससे जल में स्नान करते हुए समस्त मुनि भी तृप्त होकर चले गये। उस समय जिन्होंने हमारी रक्षा की वे शरणागत रक्षक श्यामसुन्दर सदा के लिये हमें छोड़ गये।"

समीप में रहने से प्रेमी के प्रेम का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना उसके परोक्ष में पड़ता है। मनुष्य गुण की परिस्थिति में ही प्रकट होते हैं। राजसूय यज्ञ करने का धर्मराज का दुष्कर मनोरथ था, वह भी श्रीकृष्ण कृपा से पूर्ण हुआ। जब दुष्टों ने छल से उनका राज्य हर लिया, द्रौपदी को दासी बना लिया और उसे भरी सभा में विवस्त्रा करने का प्रयत्न करने लगे, तो कृष्ण ने आकर उसकी लाज बचाई। इस बात का स्मरण आते ही धर्मराज को अपने वनवास की सभी बातें स्मरण हो आईं। वे अर्जुन से बोले—"अर्जुन! श्रीकृष्ण ने हमारी सर्वत्र रक्षा की। वनवास के समय हमारे सभी सम्बंधियों ने हमें त्याग दिया था, एक श्रीकृष्ण ही ऐसे थे, सदा जो वन में जाकर भी हमें धर्मोपदेश देते, तीर्थव्रत बताते, धर्म की सूक्ष्म गति समझाते, हमें भाँति भाँति से ढाँढ़स बँधाते और हमें पुनः राज्य प्राप्ति का विश्वास दिखाते। हम पर जहाँ भी कोई विपत्ति पड़ी, स्मरणमात्र से ही वे दौड़े आते। वनवास का कोई प्रसंग सुनाओ भैया! इन कथाओं से मेरा शोक कुछ कम हो रहा है। चित्त में कुछ धैर्य बँध रहा है।"

वनवास का प्रसंग चलाते ही अर्जुन की दोनों आँखें फिर भर आईं। वस्त्र से उनमें के अश्रुओं को पोंछकर अर्जुन कहने लगे—"राजन! वनवास में तो पग-पग पर उन प्रभु की कृपा का अनुभव होता था। यद्यपि वे शरीर से द्वारावती में रहते थे, किन्तु मन से सदा समीप ही बने रहते। जहाँ किसी विपत्ति की सम्भावना हुई, तुरन्त वहाँ वे सशरीर प्रकट हो जाते और हमें बड़ी-से-बड़ी विपत्ति से बात की बात में बचा लेते। दुर्योधन ने जब देखा, जीते हुए राज्य और धन को तो धृतराष्ट्र ने पुनः इन पांडवों को लौटा दिया तब उसने एक कुटिल चाल चली। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास का दाँव लगाकर

फिर से जुआ खेला गया। जो हारे उसे बारह वर्ष सर्वस्व त्याग कर वनवास करना पड़े. अन्त में एक वर्ष छिपकर अज्ञातवास करे। अज्ञातवास के समय में यदि प्रकट हो जाय, तो फिर से उसे १२ वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करना पड़े। इसी प्रकार अज्ञातवास का नियम सर्वदा बना रहे।

ऐसा दाँव लगाने से उसका अभिप्राय हमें सदा राज्य-पाट भ्रष्ट करके वनवासी बनाने का ही था। आपने यह स्वीकार किया, अंत मे आपकी हार हुई। दुर्योधन ने चीर वस्त्र पहिनाकर द्रौपदी के सहित हम सबको राज्य से निकाल दिया। उस समय सहस्रों वेदपाठी ब्राह्मण आपके पीछे पीछे हो लिए। हाथ जोड़ कर आपने उन सभी ब्राह्मणों से कहा था—"हे भूदेव! मैं जब समर्थ था, तब सदा यथाशक्ति आपका स्वागत सत्कार करता रहा, अब मैं राज्य भ्रष्ट हो गया हूँ अब मुझे अपने ही आहार की चिन्ता करनी होगी। अतः अब आप सब लौट जायं और दुर्योधन का आश्रय जाकर ग्रहण करें। वह आपकी जीविका का प्रबन्ध करेगा, मेरी ही तरह आप सबकी सेवा सुश्रूषा करेगा।"

आपकी ऐसी बात सुनकर वे ब्राह्मण विनीत भाव से बोले—"राजन्! हम दुष्ट दुर्योधन के आश्रय में कभी न रहेंगे। हमें जीविका की चिन्ता नहीं। हम स्वयं वनों से कन्दमूल फल लाकर-भिक्षा करके-अपना निर्वाह कर लिया करेंगे। आपको हमारे आहार की चिन्ता न करनी होगी। हम तो आपके धर्माचरण से सन्तुष्ट हैं। आपके धर्म प्रेम के वशीभूत होकर ही हम आपको छोड़ना नहीं चाहते, जो आपकी गति होगी, वही हमारी। आप हमारा परित्याग न करें।"

इस पर आपने यही कहा था—"विप्रो! मैं स्वेच्छा से आपका त्याग नहीं कर रहा हूँ। भरण-पोषण में असमर्थ होने के कारण ही मैंने आपसे ऐसी प्रार्थना की। मेरे रहते आप भिक्षा

को जायँगे, कन्दमूल फलों की चिन्ता करेंगे, तब तो मेरा जीना ही व्यर्थ है। मेरे क्षत्रिय होने को धिक्कार है। अच्छी बात है, कोई दूसरा उपाय सोचूँगा।"

यह कहकर आपने उन सबको सान्त्वना दी। भगवान् भुवन भास्कर की आराधना से और श्रीकृष्ण कृपा से आपको एक ऐसा अक्षय पात्र प्राप्त हुआ कि जब तक द्रौपदी भोजन न कर ले, तब तक उसमें से इच्छानुसार चाहे जितने भोज्य पदार्थ निकालते रहें, चाहे जितने मनुष्यों को भोजन कराया जाय, किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ेगी। उस पात्र को पाकर आपको परम प्रसन्नता हुई। उसी के पदार्थों से आप देव, ऋषि और पितरों का कार्य करते हुए सहस्रों ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करते हुए, असंख्यों मनुष्यों को भोजन कराते हुए, वन में भी आप इन्द्रप्रस्थ की भाँति रहने लगे। सर्वत्र आपके आतिथ्य की ख्याति फैल गई। सर्वत्र आपका गुणगान होने लगा। राज्य से भी अधिक प्रतिष्ठा और कीर्ति श्रीकृष्ण कृपा से आपकी वन में हो गई। अब तो शत्रुओं के हृदय में पीड़ा होने लगी। वे आपके वन में ऐसे वैभव को देखकर व्याकुल हो उठे। किन्तु करते भी क्या? हमारे सामने लड़ने का उन्हें साहस नहीं था। जुआ अब खेल नहीं सकते थे। हम भाइयों में फूट डाल नहीं सकते थे। वे हमारे उत्कर्ष से जलने लगे और हमारे नाश का उपाय सोचने लगे। इतने में ही क्रोध के अवतार, शाप के भंडार, परमतेजस्वी महामुनि दुर्वासा हस्तिनापुर आ पहुँचे। उनके पधारने से उन लोगों को प्रसन्नता हुई। उन्हीं का उन लोगों ने अपने कार्य सिद्धि का निमित्त बनाना चाहा।

महामुनि दुर्वासा ने अपने सहस्रों शिष्यों के साथ हस्तिनापुर में चातुर्मास्य व्रत आरम्भ किया। वे दुर्योधन की परीक्षा लेने लगे, उसे खरी खोटी सुनाने लगे, असमय में भोजन माँगने

लगे। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन को अखाद्य बताने लगे। सेवकों को डाँटने डपटने लगे। जो भी उनके विपरीत आचरण उन्हें दिखाई दिया, कौरवों को कुपित करने को वे उसी को करने लगे, किन्तु दुर्योधन तो बड़ा सावधान था। वह तन, मन, धन से समस्त शक्ति लगाकर मुनि की सेवा करने लगा। उन्हें प्रसन्न करने को उसने कुछ भी उठा न रखा। मुनि जो भी उचित, अनुचित, अनुकूल, प्रतिकूल, सामयिक, असामयिक आज्ञा देते, वह तुरन्त उसका पालन करता। उनके विपरीत एक शब्द भी न कहता। वे जो भी कहते उसी के लिये हाथ जोड़कर 'हाँ' कह देता। इस प्रकार अपनी अलौकिक सहन शीलता से उसने कभी सन्तुष्ट न होने वाले मुनि को सन्तुष्ट कर लिया। दुर्वासा ऋषि उनकी सेवा, सहन-शीलता से प्रसन्न होकर बोले—"राजन्! आपने मेरे मन के विपरीत कुछ भी आचरण नहीं किया, अनुचित और प्रतिकूल बात पर भी क्रोध नहीं किया, अतः मैं आपके ऊपर सन्तुष्ट हूँ। आप मुझसे जो भी कठिन-से-कठिन वरदान माँगना चाहेंगे, वह मैं आपको दूँगा। आपको जो कार्य प्रिय हो, उस कार्य को मैं आपकी प्रसन्नता के लिये करूँगा।"

दुर्योधन को तो धन ऐश्वर्य की तो कुछ कमी ही नहीं थी। उसके मन में तो हम ही पाँचों भाई पाँच काटों की तरह खटक रहे थे। हमारे विनाश से उसे जितनी प्रसन्नता होती उतनी त्रैलोक्य के राज्य पाने से भी नहीं हो सकती। दुष्टों को प्रसन्नता पराये सुख के नाश से ही होती है। उसने अत्यन्त ही विनीत भाव से मुनि के चरणों में प्रणाम किया और कपट भरे वचन उनसे बोले।

दुर्योधन कहने लगे—"आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिये लाखों वरदानों से बढ़कर है। मेरी सेवा से आपको सन्तोष हुआ, इसी प्रसन्नता के प्राप्त होने से मुझे समस्त वरदान मिल

गये। फिर भी आप मुझसे वर माँगने को आग्रह ही करते हैं, तो मैं यही वरदान माँगता हूँ, कि जिस प्रकार आपने मेरे ऊपर कृपा की है, उसी प्रकार अपने समस्त शिष्यों के सहित हमारे बड़े भाई युधिष्ठिर के ऊपर भी कृपा करें। वे हमारे कुल में सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। वे धर्मात्मा हैं। आजकल धर्मपाश में बँधे होने के कारण वे वनवास कर रहे हैं। वहाँ भी वे असंख्यों मनुष्यों को भोजन देकर सन्तुष्ट करते हैं। आप जाकर उनके अतिथि बनें और जैसी परीक्षा आपने मेरी ली है, उसी प्रकार उनकी भी लें।"

दुर्वासा मुनि तो इसके लिये उधार खाये ही बैठे रहते थे उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, हम अभी जाते हैं। हम धर्मराज का आतिथ्य अवश्य ग्रहण करेंगे।"

दुर्योधन के हृदय में तो पाप बस रहा था। वह तो बुरी भावना से मुनि को भेज रहा था। मुनि को कुपित कराके शाप से भस्म कराने का उसका षडयन्त्र था। अतः वह कहने लगा—"भगवन्! ऐसे नहीं। आप उस समय उनके यहाँ पहुँचें जब द्रौपदी भोजन कर चुके। जाते ही आप तुरन्त भोजन माँगें।"

दुर्वासा तो प्रसन्न ही थे। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया। दुर्योधन सोचता था—"द्रौपदी के भोजन कर लेने पर तो उस सूर्यदत्त अक्षय पात्र से उस दिन कुछ भी पदार्थ न निकल सकेंगे। ऋषि दूसरे दिन तक की प्रतीक्षा करेंगे नहीं, तुरन्त भोजन माँगेंगे। उस घोर वन में धर्मराज सहस्रों मनुष्यों का भोजन क्षण भर में कैसे जुटावेंगे। तुरन्त भोजन न मिलने पर क्रोधावतार दुर्वासा कुपित होंगे और शाप देकर पांडवों को भस्म कर देंगे। इस प्रकार अनायास ही शत्रुओं का नाश हो जायगा। 'साँप मरे न लाठी टूटे'—अपनी अपकीर्ति भी न होगी, हमारे हृदय के कांटे भी निकल जायँगे, जिससे निष्कण्टक होकर

हम पृथ्वी के सम्राट् बन जायँगे।" यही सब सोच समझकर उसने दुर्वासा मुनि को भेजा था।

उस दिन जाने क्या पर्व था, सहस्रों ऋषि मुनि तथा विप्रों को भोजन कराके अन्त में द्रौपदी ने भोजन किया। उस अक्षय पात्र को मलकर ज्यों ही द्रौपदी निबटी त्यों ही शिष्य मण्डली के सहित मुनि आ धमके। आपने उनकी यथोचित पूजा की और भोजन के लिये प्रार्थना की। वे तो आये ही इसलिये थे। अतः वे बोले—"हाँ, राजन्! हमें बड़ी भूख लग रही है। आप अत्यन्त शीघ्र रसोई तैयार कराइये, हम मध्यान्ह सन्ध्या करके अभी आते हैं। तब तक सबके लिये प्रसाद तैयार हो जाय।"

इतना कहकर मुनि बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही सरोवर में स्नान करने चले गये।

उस समय आप कितने चिन्तित थे? हमने समझ लिया था कि अब तो ऋषि के दारुण शाप से सबको भस्म होना पड़ेगा। सहस्र-सहस्र मुनियों को घड़ी भर में किन पदार्थों से हम तृप्त कर सकेंगे, किन सामग्रियों से उनका आतिथ्य सत्कार कर सकेंगे? हमें सबसे अधिक चिन्ता थी द्रौपदी की। वही गृह की स्वामिनी थी, गृहलक्ष्मी पर ही आतिथ्य का भार विशेष होता है। आये हुए अतिथियों को सब प्रकार से खिला-पिला कर सन्तुष्ट करना महिलायें ही विशेष जानती हैं। वह भोजन न करती, तब तो चाहे लाखों अतिथि आ जाते, उसे कोई चिन्ता ही नहीं थी, किन्तु वह तो भोजन कर चुकी थी। अक्षय पात्र की सिद्धि तो उस दिन के लिये समाप्त हो चुकी थी। यदि कोई साधारण सौम्य ऋषि मुनि होते, तो उनके पैर पकड़ कर अपनी सब स्थिति समझाई भी जा सकती थी, किन्तु वहाँ तो पाला पड़ा था दुर्धर्ष दुर्वासा मुनि से। उनको समझाना-

बुझाना, अपनी स्थिति बताना सब व्यर्थ था। उनकी इच्छा के जहाँ तनिक भी विरुद्ध हुआ कि उसी प्रकार वे शाप उगल देते हैं, जैसे सर्प भूल से भी पैर पड़ने पर, दाढ़ों में लगी विष की थैली से विष उगल देता है। द्रौपदी को अब अन्य कोई उपाय न सूझा। 'निर्बल के बल राम'—उसने आर्त होकर आरतहरि को पुकारा। दुखित मन से द्वारिकाधीश की शरण में गई। उसने आँखों में आँसू भरकर गद्गद कण्ठ से रोते हुए पुकारा—"हे श्यामसुन्दर! मेरी माँग के सिंदूर की रक्षा करो। मेरी चूड़ियों को अक्षय बना दो। मुझे विधवा बनाने से बचा लो। मेरे पतियों पर आई हुई विपत्तियों को भगा दो! क्रोधी मुनि असन्तुष्ट होकर शाप न दे दें। ऐसी कोई युक्ति निकाल लो। हे अशरण शरण! तुम तो मेरी एकमात्र गति हो, बड़ी-बड़ी भयङ्कर विपत्तियों से हे भयभंजन! आपने हमें बचाया है, किन्तु यह विपत्ति तो सबसे भयंकर है। विप्र शाप से दग्ध हुए पुरुषों का परलोक भी बिगड़ जाता है, इस लोक में भी अपकीर्ति होती है। आपके भक्त कहाने वाले मेरे पतियों की आपके रहते हुए ऐसी दुर्दशा हो, यह तो आपके लिये भी लज्जा की बात होगी, आपकी भक्तवत्सलता पर धब्बा आवेगा। हमारा राज्य छिन गया, घर-द्वार हीन होकर वन-वन भटक रहे हैं, इसकी हमें चिन्ता नहीं, किन्तु हमें इस विपत्ति से बचा लो।" द्रौपदी इस प्रकार रुदन कर ही रही थी, कि उसे श्यामसुन्दर के पदों की आहट सुनाई पड़ी। सामने से पीताम्बर धारी वनवारी पैदल ही आते हुए दिखायी दिये। अपने अश्रुओं से भरे दोनों अरुण नेत्रों से कमलनयनी कृष्णा ने उन्हें अर्घ्य दिया। उनके दोनों चरण भिगो दिये। अत्यन्त व्यग्रता दिखाते हुए वे मदन मोहन द्रौपदी से बोले—"द्रौपदी! मुझे बड़ी भूख लग रही है, कुछ खाने को हो तो दे।"

द्रौपदी रो पड़ी और प्रेम के स्वर में बोली—"रहने भी दो तुम्हें हर समय उपहास ही सूझता है। कुछ घर में खाने को ही होता तो तुम्हें रोकर क्यों पुकारती, क्यों द्वारिका से इतनी दूर आने का कष्ट देती ?"

वे इस उत्तर को सुनकर हँसे नहीं। अपनी व्यग्रता भी कम नहीं की। मैं बाहर खड़ा-खड़ा यह सब लीला देख रहा था, कि अब श्यामसुन्दर कौन-सा कौतुक रचते हैं। उसी स्वर में वे बोले—"इन लुगाइयों की नाक पर आँसू रखे ही रहते हैं। जब होता है तभी आँसू बहा देती हैं। बात बताओ, क्यों रोती हो ? हमें भोजन दो, इतनी दूर से आये हैं। आँसू बहा दिये। आँसुओं से पेट भरता है कहीं ?"

अत्यन्त कातर स्वर में कुपित होकर सम्पूर्ण ममत्व जताते हुए द्रौपदी ने कहा—"अब एक तुम दूसरे दुर्वासा आ गये। तुम्हारे शाप का तो मुझे डर है नहीं। मैं स्पष्ट कहती हूँ, आपको देने के लिये मेरे पास एक दाना भी नहीं है। कल भर पेट खा लेना, अब तो हमारी असली दुर्वासा से रक्षा करो हमें उनकी शापाग्नि में भस्म होने से बचाओ।"

वे उसी स्वर में बोले "उन दुर्वासा की तो पीछे चिंता करना। वे तो यहाँ हैं नहीं। गोद के को छोड़कर पेट के की आशा क्यों करनी ? वे तो जब आवेंगे तब देखा जायगा, पहिले मुझे तो कुछ खिला दो।"

कृष्णा ने अत्यन्त दीनता से कहा—"प्रभो ! अधिक उपहास न करें। असमय की हँसी अच्छी नहीं। सूर्यदत्त पात्र को मैं मल कर रख चुकी हूँ। अब उसमें से कुछ भी निकलने की आशा नहीं। आपको क्या खिलाऊँ ?"

भगवान् बोले—"देवि ! तुम अन्नपूर्णा हो, तुम्हारा भण्डार अक्षय है। वह कभी चुकने वाला नहीं। उस पात्र को लाओ तो

सही। मेरी तृप्ति मात्र के हेतु उसमें कुछ न कुछ अवशिष्ट होगा ही।"

द्रौपदी कुपित होकर उठी, बड़ी शीघ्रता से पात्र लाकर भगवान् के सम्मुख पटक दिया और बोली—"देख लीजिये, अभी तो मैं इसे भली-भाँति मलकर रख चुकी हूँ, इसमें क्या अवशिष्ट है?"

पात्र को सम्मुख देखकर, भगवान उसे बड़े ध्यान से निहारने लगे। सयोग की बात, मलते समय द्रौपदी की असावधानी से उसमें एक बथुए के साक का छोटा-सा पत्ता कहीं कोने में चिपका रह गया। द्रौपदी की उस पर दृष्टि ही नहीं पहुँची थी। उसे देखकर और बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हुए हरि बोले—"देख लो, तुम तो कहती थीं, इसमें कुछ है ही नहीं। इसमें तो इतना मसाला भरा है, कि इससे मेरे अकेले की बात ही क्या सम्पूर्ण चराचर तृप्त हो सकता है।" इतना कहकर उँगली से उसे खुरचकर भगवान् ने उसे हथेली पर रखा और यह कहकर कि इस शाकपत्र से समस्त विश्व ब्रह्माण्ड तृप्त हो जाय, उसे वे खा गये।

सचमुच उस समम हम लोगों के पेट फूल गये। स्नान करते हुए, दुर्वासा मुनि तथा उनके सभी साथियों को खट्टी-खट्टी डकारें आने लगीं। वे आपस में कहने लगे—"हमारे पेट में तो एक ग्रास के लिये भी स्थान नहीं। कहीं धर्मराज कुपित होकर भोजन न करने पर हम सबको शाप न दे डालें।" दुर्वासाजी भी घबराये। उन्हें अम्बरीश राजा वाली घटना याद हो आई। भगवान् के चक्र सुदर्शन के तेज की याद आते ही उनका मुख सूख गया और वे बिना किसी से कहे ही वहाँ से भाग खड़े हुए। उनके शिष्यों ने भी उनका अनुसरण किया।

भगवान् ने भीम से कहा—"भैया, भीमसेन! तुम शीघ्रता

से जाकर मुनियों सहित दुर्वासा को बुला लाओ कि रसोई तैयार है।"

सुनते ही भीम दौड़े गये। उन्होंने भागते हुए मुनियों को देखा कि बिना लँगोटी बदले गीले ही वस्त्रों से मुट्ठी बाँधे वे भागे जा रहे हैं। लपककर शीघ्रता के साथ भीमसेन ने उनको पकड़ा और बोले—"महाराज! यह बात ठीक नहीं। आप रसोई तैयार कराने को कह आये, अब भागे जा रहे हैं। हमारी सामग्री नष्ट हुई उसका क्या होगा?"

अत्यन्त दीनता के साथ दुर्वासाजी ने कहा—"भीमसेन! सत्य कहते हैं, न जाने क्या हो गया? पेट इतना फूल गया है, कि इसमें एक पाचक-गोली खाने का भी स्थान नहीं है। अब यदि हम कुछ खायगे तो सीधे यमपुर पधार जायँगे। अब हमें क्षमा करो। धर्मराज से हमारी ओर से कह देना हमारे ऊपर कुपित न हों। परिस्थिति से विवश न होते यो हम अवश्य ही उनका आतिथ्य ग्रहण करते।"

भीमसेन कब मानने वाले थे। वे बोले—"यदि महाराज! अब चलते नहीं, तो हमें कुछ आशीर्वाद ही दीजिये।"

दुर्वासाजी प्रसन्न होकर बोले—"भैया, मैं हृदय से यही आशीर्वाद देता हूँ, कि तुम समस्त भूमंडल के एकछत्र सम्राट् होकर खूब फूलो फलो और जिन्होंने पाप बुद्धि से तुम्हारा नाश कराने को मुझे भेजा है, उन्हीं का सर्वनाश हो। उनके कुल में कोई पानी देने वाला भी न रहे।"

इस प्रकार जिनकी कृपा से हम दुःख से मुक्त हुए, शाप से बचे, आपत्तियों के सिरों पर सदा पैर रखकर पार होते रहे। वे ही परात्पर प्रभु हम सबको छोड़कर चल बसे। हमारे सब कार्य अधूरे ही रह गये। अब संसार हमें नरक के समान प्रतीत होता है। इन भोगों के भोगने में अब हमें क्या सुख? राजन्! अब

हमें भी भगवान् के पथ का अनुसरण करना चाहिये।" यह कहते-कहते अर्जुन फिर दुखी हो गये।"

छप्पय

सुनत प्रिया की टेर बेर नाहिँ करी पधारे।
'अति भूखा कछु देहु' आइ ये बचन उचारे॥
रोई कृष्णा पात्र लाइ आगे धरि दीन्हों।
शाकपत्र कूँ पाइ तृप्त सबरो जग कीन्हों॥
न्हात मुनिनि फूल्यो उदर, लेत डकार पलायँ सब।
टारी बृहद विपत्ति जिन, गये त्याग संसार सब॥

शिव के साथ हुए युद्ध में कृष्ण कृपा

[५५]

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-
विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।
अन्येऽपि चाहमनुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

अश्वत्थामा भीम द्रोण अरु कर्ण धनुर्धर ।
डरत रहत नित आप चारिहू अति बलवत्तर ॥
दीक्षा दैके मोइ, आपने अस्त्र लैन हित ।
पठयो, प्रकटे इन्द्र, कह्यो तप में तुम हो रत ॥
तुमरे तप तें तुष्ट है, तुरत त्रिलोचन आयँगे ।
लोकपाल, शिव अस्त्र निज, आइ सभी दे जायँगे ॥

---

* अर्जुन कहते हैं—"वनवास के समय किरात वेषधारी उमा सहित महेशजी को जिनकी कृपा से मैंने युद्ध मे विस्मित बना दिया था और प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे अपना पाशुपत नामक अस्त्र दिया था यही नहीं—अन्य सभी लोकपालों ने आकर अपने-अपने अस्त्र मुझे दिये । इस मनुष्य शरीर से ही जिनकी कृपा से मैं स्वर्ग मे इन्द्र भवन मे जाकर देवराज इन्द्र के आधे आसन पर बैठा था । वे श्यामसुन्दर हमे निराशा के गर्त मे छोड़कर न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये ?"

भगवान् अपनी अनेक विभूतियों में विभक्त होकर भक्तों के ऊपर अनुग्रह करते हैं। संसार में जिसके द्वारा भी हमें कल्याण की प्राप्ति हो, समझना चाहिये, वे श्यामसुन्दर ही इस रूप से हमारे ऊपर अनुग्रह की वृष्टि कर रहे हैं। वे ही हमें कृपा करके सन्मार्ग का उपदेश दे रहे हैं। यही सब सोचकर धर्मराज कहने लगे—"अर्जुन! औरों के ऊपर तो भगवान् अलक्षित भाव से अनुग्रह करते हैं, किन्तु हमारे ऊपर तो वे सदा साक्षात् रूप से प्रकट होकर कृपा करते रहे। उन्हीं की कृपा से तो हम समर विजयी हुए, नहीं तो परशुराम को भी युद्ध में सन्तुष्ट कर देने वाले पितामह भीष्म से भला युद्ध करने का साहस कौन कर सकता था? तुम मुझे वनवास की और भी स्मृतियों को दिलाओ वहाँ की और अद्भुत घटनाओं को सुनाओ। यद्यपि ये सब मेरे ही ऊपर बीती हैं, फिर भी आज तुम्हारे मुख से सुनने पर ये नई-नई-सी प्रतीत हो रही हैं। कृष्ण कथा सुनकर किसी की भी कभी तृप्ति नहीं हो सकती।"

धर्मराज की ऐसी बात सुनकर अर्जुन कहने लगे—"राजन्! अनन्त स्मृतियों को इस एक छोटी-सी जिह्वा से सीमित समय में कैसे कहूँ, किन्तु जितनी भी कह सकूँगा, कहूँगा। इन्हें कहने से ही मेरा हृदय हलका हो रहा है। शोक सन्ताप कुछ कम हो रहा है। वनवास की विपत्तियाँ असह्य थीं, इन सबको हम श्यामसुंदर की कृपा से ही सहन कर सके। आप अपने पैतृक राज्य को लौटाने के लिये व्याकुल थे, किन्तु दुर्योधन के दुष्ट स्वभाव को स्मरण करके आप उससे बिना युद्ध किये राज्य लौटाने की आशा नहीं रखते थे। युद्ध का स्मरण आते ही आपके रोंगटे खड़े हो जाते। जब आदान, सन्धान, विसर्ग और संहार इन धनुर्विद्या के चारों चरणों के ज्ञाता भीष्म, द्रोण, कर्ण और अश्वत्थामा के बल, पराक्रम का आप स्मरण करते, तो राज्य से

सर्वथा हताश हो जाते। इनसे युद्ध में जीतने की आपको आशा नहीं थी। समस्त देवता भी मिलकर इन महाधनुर्धर वीरों को परास्त नहीं कर सकते थे, मनुष्यों की तो बात ही क्या। आप इसी चिन्ता में चिन्तित होकर सदा लम्बी-लम्बी साँसें लेते रहते थे। जब आपने इन्हें जीतने का अन्य कोई उपाय न देखा, तब भगवान् व्यास की दी हुई विद्या की आपने मुझे दीक्षा दी। जिसके बल से मुझे चराचर का ज्ञान हो सके और देवराज इन्द्र के समीप जाकर मैं दिव्य अस्त्र-शस्त्रों को सविधि प्राप्त कर सकूँ।

दीक्षा देकर अत्यन्त दुःखी मन से आपने मुझे गहन वन में तपस्या करने के लिये बिदा किया। आप से आज्ञा पाकर मैं अगम्य निर्जन वन में अकेला ही चल दिया। सिवाय कृष्ण कृपा के वहाँ मेरा और कोई आधार नहीं था। मुझे श्यामसुन्दर का ही भरोसा था। वे मेरा सर्वत्र कल्याण करेंगे, मेरे अनिष्ट और विघ्नों को सदा नाश करते रहेंगे। इसी भावना से निर्भय होकर मैं मनुष्यों से अगम्य गन्धमादन के उस प्रदेश में गया, जहाँ सिद्धों की गति भी कठिनता से होती है। उस शान्त एकान्त स्थान में मुझे मेरे पिता देवराज इन्द्र के दर्शन हुए। उन्होंने मुझे आदेश दिया कि इस प्रदेश के अधिष्ठातृ देव शूलपाणि भगवान् विश्वनाथ शिव हैं। तुम उन्हें आराधना के द्वारा प्रसन्न कर लोगे, तब मैं तुम्हें सशरीर स्वर्ग में बुलाकर अस्त्र-शस्त्रों का उपदेश करूँगा। इतना कहकर देवराज अन्तर्धान हो गये।

मेरे श्यामसुन्दर ही ने शिव रूप धारण कर लिया है। मेरे इष्ट के ही वे अभिन्न रूप हैं—इसी भावना से त्रिशूलपाणि भगवान् भूतनाथ वृषभध्वज का ध्यान पूजन करने लगा। न मुझे किसी का भय था न चिन्ता। निर्भय होकर उमापति नीलकंठ की आराधना में मैं निमग्न हो गया।

एक दिन मैं क्या देखता हूँ, एक राक्षस वाराह का रूप रखकर मुझे मारने की इच्छा से मेरे समीप आया। मुझे तो अपने स्वामी द्वारकानाथ का भरोसा था, इसी से मैं किसी को अपने सम्मुख कुछ गिनता नहीं था यद्यपि तपस्या के समय मैं किसी को मारना नहीं चाहता था, किन्तु जब वह शूकर रूपी असुर प्राण ही लेने को उतारू हो गया तो मैंने भी अपने गांडीव धनुष पर तीक्ष्ण शर रखकर उसका अन्त कर देना चाहा। इतने में ही मैं क्या देखता हूँ, कि सम्मुख एक भयङ्कर भील अपनी भीलिनी के साथ धनुष-बाण धारण किये निर्भय होकर मेरी ही ओर चला आ रहा है। वह अंजन के पर्वत के समान वृहद् डीलडौल वाला काला और भयङ्कर था। उसकी लाल-लाल आँखें जल रही थीं। सहस्त्रों किरात किरातनी उसके पीछे हू-हू करते हुए दौड़े चले आ रहे थे। उन्होंने अपनी भयङ्कर कुञ्जार से उस शान्त प्रदेश को अशान्त और कोलाहल पूर्ण बना दिया। वे सब स्वच्छन्द गति से मुझे ही लक्ष्य करके निर्भय चले आ रहे थे। आते ही उस भयङ्कर बलवान् धनुर्धारी किरात ने मुझे डाँटते हुए कहा—"तू कौन है ? यहाँ क्यों आया है ? सावधान ! तू भूलकर भी इस वाराह पर बाण न छोड़ना। यह मेरा शिकार है। यदि तूने इस पर अहङ्कार वश बाण छोड़ा तो मैं इस शूकर के सहित तुझे यमपुर पठा दूँगा।"

एक जङ्गली भील मेरे सम्मुख ऐसी कठोर बात कहने का साहस कर रहा है, यह सोचकर मुझे अत्यन्त ही क्रोध आया मैंने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान न दिया और उस वाराह रूपधारी राक्षस को लक्ष्य करके बाण चला दिया। उस भील ने भी निर्भय होकर एक बाण शूकर पर छोड़ा। दोनों बाणों के लगने से वह मूक नामक दैत्य अपने वाराह रूपी छद्मशरीर को छोड़कर-मरकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अन्त में उसने अपना

दैत्य रूप भी प्रकट कर दिया। दैत्य तो मारा गया, किन्तु किरात अत्यन्त ही कुपित हुआ। उसने मुझसे कहा—"तूने मेरे लक्ष्य किये हुए पशु को क्यों मारा ? जब मैं पहिले ही उसे मारने का निश्चय कर चुका था तब फिर तैंने बाण छोड़ने का साहस क्यों किया ?"

मैंने क्रोध में भरकर कहा—"चल हट, बक-बक कर रहा है। तू कौन होता है, मेरे ऊपर प्रहार करने वाले पशु को मारने वाला ? यह दैत्य था। मुझे मारने आया था। इसका वध धर्म से मुझे ही करना था। तूने मृगया के नियमों के विरुद्ध आचरण किया है। भाग जा यहाँ से, नहीं मैं तुझे अभी यमपुर भेज दूँगा। तू जानता नहीं, मेरा नाम अर्जुन है। इस गाण्डीव धनुष से मैंने समस्त देवताओं के सहित श्रीकृष्ण कृपा से देवराज इन्द्र तक को परास्त किया है। तुझे अपने प्राण प्यारे हों, तो अभी यहाँ से चला जा।"

निर्भय होकर वह भील बोला—"न मुझे तेरे गांडीव का भय है, न मैं तेरी बातों को सुनकर डरने ही वाला हूँ। तू मुझे भगाने वाला कौन है ? यह अरण्य हमारा है। हम इसमें स्वच्छन्द विचरते हैं। भागना तो तुझे चाहिये, जो हमारे राज्य में हमसे बिना पूछे आ गया है और हमारे कार्यों में हस्तक्षेप करता है। यह सूकर मेरे ही बाण से मारा गया।"

मैंने कुपित होकर कहा—"बहुत चिबरि-चिबरि करेगा, तो मारूँगा एक बाण, कि चौकड़ी भूल जायगी। आया कहीं का राजा का बच्चा। अरण्य सबका है। तेरे जैसे म्लेच्छ को तो इसमें आने तक का अधिकार नहीं, मैं यहाँ भगवान् भूतनाथ की आराधना कर रहा हूँ।"

यह सुनकर वह भील मेरी अवज्ञा करता हुआ बोला—"तू भूतनाथ, प्रेतनाथ, पिशाचनाथ किसी की आराधना क्यों न कर

उससे द्वन्द युद्ध करने के लिये उद्यत हो गया। वह भी इसके लिये तैयार ही खड़ा था। मेरे भिड़ने पर भी वह अचल खड़ा रहा। पूरी शक्ति लगाकर मैं उसमें मुक्के मारता, किन्तु उसके मुख पर बल भी न पड़ता। उलटे मेरे ही हाथ में पीड़ा होने लगती। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं किसी लोहे की शिला पर प्रहार कर रहा हूँ। जब मैंने देखा कि यह तो अचल खड़ा है तब तो मैंने पूरा बल लगाकर उसे पृथ्वी पर पटकने का निश्चय करके ज्यों ही उस ओर हाथ बढ़ाया त्यों ही उसने अपनी दोनों बाहुओं में कसकर मुझे ऐसा दबोचा कि मेरा मलीदा बन गया। मैंने समझा कि अब तो मेरे प्राण गये। मेरे मुख से रुधिर की धारा बहने लगी और मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। वह हँसता हुआ ज्यों-का-त्यों अपनी भीलनी के साथ खड़ा ही रहा।

थोड़ी देर मे मेरी मूर्छा भंग हुई, मैं रो पड़ा—"हे श्यामसुन्दर! आज इस भील से मुझे परास्त करा रहे हो? मैंने भगवान् शङ्कर की पार्थिव पूजा आरंभ की। मृण्मयी प्रतिमा बनाकर मैं आशुतोष परमाराध्य पशुपति की पूजा करने लगा। मैंने पार्थिव शिवलिंग पर ज्यों-ही माला चढ़ाई त्यों-ही क्या देखता हूँ, कि वह माला तो उस किरात के कण्ठ में पड़ी है। अब मुझे चेत हुआ, अब मैं समझ सका कि ये भील वेषधारी साक्षात् शंकर हैं। मैं शीघ्रता से उनके चरणों मे पड़ गया। किरात रूपी शंकर ने अपना छद्मवेष त्याग दिया और वे अपने यथार्थ रूप से भगवती भवानी के सहित मेरे सम्मुख प्रकट हुए। उन्हीं श्यामसुन्दर की कृपा से मैं शिवजी को सन्तुष्ट कर सका। पिनाकपाणि पशुपति मेरे पुरुषार्थ से परम प्रसन्न हुए, मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बोले—"अर्जुन! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे जो चाहो वरदान माँग लो।" मैंने उनसे विश्व-

विजयी होने का अमोघ वर माँगा और उन्होंने कृपा करके मुझे प्रसन्नतापूर्वक वर भी प्रदान किया और अपना पशुपतास्त्र भी दिया। राजन्! जिनकी कृपा से मैं इतना महान साहस कर सका, वे अब इस धराधाम से चले गये। अब तो मैं निर्बल हो गया। वहीं पर एक और भी बड़ी घटना घटित हुई। वह थी—

लोकपालों द्वारा मुझे अस्त्रों की प्राप्ति

इन्द्र, वरुण, यम, धनद आ, अस्त्र सहित दर्शन दिये।
करी कृपा जिन कृपा ते, कृष्ण कहाँ अब चलि गये॥

राजन्! भगवान् आशुतोष का अनुग्रह प्राप्त करके मैं मन-ही-मन अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। हा! जिन देव के देवताओं को भी दर्शन दुर्लभ हैं, वे मेरे सम्मुख भगवती पार्वती सहित प्रकट हुए। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जिनकी वेद मन्त्रों से, अनेक पावन-द्रव्यों से श्रद्धा सहित पूजा करते हैं पञ्चामृत आदि अति पवित्र पदार्थों से पूजन तथा अभिषेक करते हैं, उन नीलकण्ठ देव पर मैंने अज्ञान वश पुष्प वृष्टि करने के स्थान में बाण वर्षा की जिनके चरणों को परम पावन तपोधन मुनि डरते-डरते स्पर्श करते हैं, उनके त्रैलोक्य पूजित श्रीविग्रह में मैंने क्रोध करके मुष्टि प्रहार किया। मैं धन्य हूँ, जो देवाधिदेव महादेव का स्पर्श सुख मुझे प्राप्त हुआ। श्यामसुन्दर की कितनी अहैतुकी मेरे ऊपर कृपा है, जो मेरे इस कार्य से काल स्वरूप रुद्रदेव असन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने मेरी अवज्ञा से अप्रसन्न होकर मुझे दारुण शाप नहीं दिया। प्रत्युत प्रसन्न होकर पाशुपतास्त्र ही प्रदान किया, मेरे युद्ध कौशल से वे परमसन्तुष्ट हुए। मुझमें इतनी क्षमता कहाँ थी, जो अपने पुरुषार्थ से उन पुराण पुरुष

पशुपति नाथ महादेव को प्रसन्न कर सकता। श्रीकृष्ण कृपा से ही त्रिपुरारी, त्रिलोचन, शिव सन्तुष्ट हो सके। मैं यह सब सोच ही रहा था, कि पश्चिम दिशा से मुझे बड़ा भारी प्रकाश-सा अपनी ओर आता हुआ दिखाई दिया। वैदूर्य मणि के सदृश आभा वाला वह प्रकाश आकाश से शनैः-शनैः उतर रहा था, पहिले तो मैं समझा बिजली चमक रही है, जब मुझे विमान स्पष्ट दिखाई देने लगा, तो मैं समझ गया, कोई लोकपाल हैं। मैंने देखा भगवान् वरुण अपनी प्रभा से दसों दिशाओं को आलोकित करते हुए, मेरी ही ओर बढ़े चले आ रहे हैं उनके पीछे बहुत दिव्य रूप धारण किये जलचर, जीवों के अधिष्ठातृ देव भी हैं। नद, नदी, समुद्र सर सर्प, साध्य दैत्य आदि भी चमक दमक के सहित मूर्तिमान हुए उनका अनुसरण कर रहे हैं। मैंने उठकर उन पश्चिम दिशा के लोकपाल को अभ्युत्थान दिया। वचनों द्वारा उनका सत्कार किया। मैं बैठने भी न पाया था, कि इतने में ही दक्षिण दिशा से सूर्य के समान एक दूसरा प्रकाश भी मुझे अपनी ओर आते हुए दिखाई दिया। ध्यान से देखने पर प्रतीत हुआ कि ये सूर्य नहीं सूर्यसुत यम हैं। उस समय उन्होंने अपना देवरूप परित्याग करके मनुष्य रूप धारण कर लिया था। वे हाथ में दंड लिये पितर, गुह्यक तथा अन्य देव उपदेवों से घिरे उग्र होने पर भी सौम्य प्रतीत होते थे। उनका कृष्ण वर्ण वपु कान्ति के कारण नीलमणि के समान चमक रहा था। मैंने दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर उन समस्त प्राणियों के संहार कर्ता दक्षिण दिशा के दिग्पाल भगवान् यम को प्रणाम किया। वे भी प्रसन्नता प्रकट करते हुए मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुए।

इतने में ही पूर्व दिशा से दिव्य गन्ध उड़ाता हुआ, सुखद संगीत की ध्वनि से गूँजता हुआ, एक दिव्य विमान अपनी

ओर आता हुआ और दिखाई दिया। उसमें माता शची के सहित मेरे पिता इन्द्रदेव विराजमान थे। उनके ऊपर सैकड़ों तान वाला श्वेतछत्र तना था, स्वर्गीय दिव्याङ्गनायें चमर डुला रही थीं। देवता, गन्धर्व, ऋषि आदि उनकी स्तुति कर रहे थे। एक-से-एक अनुपम रूप लावण्ययुक्त असंख्यो अप्सराओं से वे घिरे थे। वे दिव्य हरे वर्ण के वस्त्र पहिने थे, माँ शची की साड़ी अरुण वर्ण की थी, दोनों ही नन्दन वन के कल्पवृक्ष के फूलों से बनी दिव्य मालायें धारण किये हुए थे। उन दिव्य पुष्पों की सुगन्धि से सभी दिशायें सुवासित बन गई थीं। बहुत-सी देवाङ्गनायें ताल स्वर के सहित विविध प्रकार कोकिल कूजित कंठ से दिव्य गीत गा रही थीं। इस प्रकार पूर्व दिशा के दिग्पाल, तीनों लोकों के नाथ अपने पूज्य पिता को आते देख मेरा हृदय प्रेम से परिप्लावित हो गया। मैंने श्रद्धा भक्ति के साथ शची सहित देवराज को प्रणाम किया, वे भी उस गिरि के शिखर पर अपने विमान ही पर विराजमान हुए। इसके अनन्तर उत्तर दिशा के अधिपति, समस्त धन रत्नों के स्वामी देवताओं के भण्डारी कुबेरजी अपनी कान्ति से आकाश मण्डल में प्रकाश छिटकाते हुए, विविध रत्न और मणियों को चमकाते हुए उस दिव्य पर्वत के शिखर पर उतरे और अपनी ही उत्तर दिशा के शिखर पर सुखासीन हुए।

चारों लोकपालों के आ जाने पर मैंने अपनी यथालब्धोपचारों द्वारा यथा विधि पूजा की। मेरी पूजा को शास्त्र विधि से ग्रहण करके उनमें से दक्षिण दिशा के अधिपति यमराज बोले—"अर्जुन! हम सब तुम्हारी तपस्या से सन्तुष्ट हैं। आये हुए हम चारों लोकपालों का तुम दर्शन करो, जो कि मर्त्यलोक के प्राणियों को अत्यन्त ही दुलभ है। हे पुत्र! हम तुम्हारे शील, स्वभाव, व्रत और ब्रह्मचर्य से प्रसन्न हैं। यह बड़े भाग्य की बात है, कि-

तुमने अपने प्रबल पराक्रम से पशुपति नाथ भगवान् त्रिलोचन शिव को सन्तुष्ट किया है और उनका कृपा-प्रसाद प्राप्त किया है। लो तुम मेरा अमोघ दण्ड लो। इससे तुम शत्रुओं का संहार कर सकोगे। भीष्म, द्रोण, कर्ण, कोई भी तुम्हें जीत नहीं सकेगा। जिस कर्ण के बल पराक्रम को स्मरण कर धर्मराज नित्य भयभीत रहते हैं उस कर्ण को भी तुम संग्राम में मार डालोगे।" यह कहकर उन्होंने मुझे अपना अमोघ दण्ड दिया। इसी प्रकार वरुण जी ने अपनी पाश दी, कुबेरजी ने अपना प्रस्वापनास्त्र प्रदान किया और देवराज ने भी मुझे समस्त दिव्यास्त्र देने का वचन दिया। उन्होंने कहा—"पुत्र ! मैं तुम्हें समस्त अमोघ अस्त्र दूँगा। तुम्हें देवताओं का एक अत्यन्त प्रिय किन्तु दुष्कर कार्य करना होगा। तुम्हे इसी मानुषी शरीर से स्वर्ग मे बुलाऊँगा और पुनः तुम्हारे भाइयों से इसी शरीर से मिला दूँगा। तुम सब चिन्ता छोड़कर स्वर्ग आने की तैयारी करो। मैं रथ लेकर अपने सारथि मातलि को भेजूँगा, उसके साथ तुम आ जाना।" इन्द्रदेव इतना कहकर सभी लोकपालों के सहित वहीं अन्तर्धान हो गये। मैं चारों ओर चकित होकर परम विस्मय के सहित देखता का देखता ही रह गया। ये सब बातें मुझे स्वप्न के समान प्रतीत हुईं। लोकपालों की इतनी कृपा मैंने भगवान् वासुदेव के अलक्षित अनुग्रह के ही कारण प्राप्त की।

राजन् ! एक साथ ही भगवान् भूतनाथ और सभी लोकपालों की कृपा प्राप्त करके तथा उनके दिये दिव्यास्त्रों को पाकर मेरा मन-मुकुर खिल उठा। मैं स्वर्ग के स्वप्न देखने लगा। स्वर्ग कैसा होगा, वहाँ के नन्दन वन की बड़ी प्रशंसा है। सुना है वहाँ सब विमानों पर ही रहते हैं, वे विमान इच्छानुसार गमन करने वाले होते हैं। देवराज की पुरी दिव्य है, वहाँ के समस्त भोग दिव्य हैं। वहाँ ऐरावत हाथी है, मूर्तिमान सभी तीर्थ और नद-

नदियों के अधिष्ठातृदेव वहाँ रहते हैं। स्वर्ग को वे ही लोग देख सकते हैं, जिन्होंने घोर तप किया हो, चिरकाल तक शम, दम तथा संयम आदि सद्गुणों का आचरण किया हो। धर्म मार्ग का अनुसरण किया हो। बड़े-बड़े राजर्षि, महर्षि और देवर्षि तथा यशस्वी, तपस्वी, सत्यपुरुष ही स्वर्ग का दर्शन कर सकते हैं, सो भी इस मर्त्यलोक के शरीर से नहीं। मरकर दिव्य देह धारण करके ही प्राणी स्वर्ग जा सकते हैं। मैंने ऐसा कौन-सा सुकृत किया है, जिससे मैं इस पाञ्चभौतिक पार्थिव शरीर से ही स्वर्ग की यात्रा कर सकूँगा। जो प्राणी स्वर्गगामी हो जाते हैं, वे फिर लौटकर उस शरीर से पृथ्वी पर नहीं आ सकते। क्षीण पुण्य होने पर अन्य योनियों में जन्म लेते हैं। वहाँ से असत्कार पूर्वक ढकेल दिये जाते हैं। मुझसे तो देवराज कह गये हैं, तुम इसी शरीर से लौटकर फिर अपने भाइयों को आकर देखोगे। मैंने कौन-सा पुण्य कार्य किया है कौन से ऐसे सुकृत का फल है, जो मैं इसी शरीर से स्वर्ग का दर्शन कर सकूँगा। मेरा अपना तो कोई पुण्य है नहीं, श्रीकृष्ण की कृपा से यह देव-दुर्लभ सुयोग मुझे प्राप्त हो सकता है। जिस पर देवकीनन्दन की दया है, जिसके ऊपर यदुनंदन का अनुग्रह है उसके लिये कोई कार्य असम्भव नहीं। मैं यह सोच ही रहा था, कि एक बड़े भारी द्वीप के समान दिव्य रथ आकाश से मन्दराचल पर उतरता हुआ दिखाई दिया।

उस रथ का सूर्य से भी अधिक प्रकाश था, छोटी-छोटी घण्टियाँ उसमें बँधी थीं जो चलते समय मधुर ध्वनि करती थीं। अनेक आयुध उसमें रखे थे। वह इच्छानुसार घट-बढ़ सकता था। अपनी चमक-दमक से सम्पूर्ण मन्दराचल को आलोकित करता हुआ वह मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुआ। वह पृथ्वी पर नहीं टिका अधर में ही खड़ा रहा। सैकड़ों हरे रङ्ग के घोड़े

उसमें जुते हुए थे। उनकी बाग एक दूसरे से बँधी थी। जिन्हें मातलि नाम का दिव्य सारथि चला रहा था। मेरे समीप आकर जब रथ खड़ा हो गया, तो देवराज के परम विश्वास पात्र सारथ्य-कर्म में विशारद, महामना मातलि उससे उतरकर मेरे समीप आये। उन्होंने मुझे आते ही प्रणाम किया, खड़े होकर मैंने उनका अभिनन्दन किया। उन्होंने मुझसे कहा—"हे कुरुकुल नन्दन! आपको आपके पिता देवेन्द्र ने बुलाया है। वे स्वर्ग में आपको देखना चाहते हैं। वे आप पर वहाँ वात्सल्य स्नेह प्रकट करने को उत्सुक हैं, आप चलकर उन्हें प्रसन्न करें। आपने चराचर के स्वामी भगवान् वासुदेव को अपने सद्गुणों से प्रसन्न किया है, इसीलिए यह अन्य लोगों द्वारा दुष्प्राप्य सुअवसर आपको प्राप्त हुआ है। आपको स्वर्ग जाने के लिये पार्थिव देह परित्याग करके दिव्य देह धारण न करनी पड़ेगी। आप अपने इसी शरीर से स्वर्ग सुखों का उपभोग करेंगे और इच्छानुसार फिर लौटकर मर्त्यलोक में भी आ सकेंगे। आप अब देर न करें और मेरे साथ स्वर्ग पधारें।"

मैंने विनीत हुए मातलि से नम्रतापूर्वक कहा—"इन्द्र सारथि! मैं आपका स्वागत करता हूँ। आपके विनीत वचनों का अभिनन्दन करता हूँ। हे धर्मज्ञ! यह बड़े सौभाग्य की बात है, कि इस दिव्य रथ सहित मैं आपका दर्शन कर रहा हूँ, जो मर्त्यधर्मा प्राणियों के लिए अत्यन्त ही दुर्लभ है। इस रथ में सैकड़ों अश्वमेध राज-सूय यज्ञ करने वाले राजर्षि ही चढ़कर जाते होंगे, श्रीकृष्ण कृपा से मैं सशरीर इस पर चढ़ सकूँगा। आप पहिले इसमें विराजें तब मैं भी चढ़ूँगा।" मेरी बात सुनकर मातलि रथ पर जा बैठे और घोड़ों की बागों को ठीक करने लगे।

मैंने दशों दिशाओं के देवताओं को प्रणाम किया। उस देवर्षि, ब्रह्मर्षि और सिद्धों द्वारा सेवित परम रमणीय शिखरों

वाले मन्दराचल से आज्ञा माँगी। मेरे समीप जो पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म थे सभी से विदा होकर, उस दिव्य रथ की परिक्रमा करके मैं उस पर चढ़ गया। कितना सुन्दर था वह रथ, कैसी अद्भुत कारीगरी हो रही थी उसके कोने-कोने में, कैसी दिव्य गन्ध से वह सुवासित हो रहा था, उसमें बैठकर मेरा मन अत्यंत ही आह्लादित हुआ। भगवान् वासुदेव की कृपा से मानुषी शरीर से मैं देवराज के रथ में बैठ सका। मेरी प्रसन्नता का पारावार नहीं था। मैं समस्त शोक, चिन्ता, ग्लानि, सन्ताप आकुलता से रहित होकर अत्यन्त ही प्रमुदित हो रहा था। इतनी ही देर में स्वर्ग के विमान दिखाई देने लगे, नन्दनवन आ गया और मातलि ने कहा—"महाभाग! आप आ गये, अब स्वर्ग को देखिये।" बात-की-बात में हम अमरावती नगरी के समीप पहुँच गये। सैकड़ों देव गन्धर्व और अप्सराओं ने मेरा स्वागत किया। और सभी बड़े सत्कार पूर्वक मुझे देवराज की दिव्य सभा में ले गये। मुझे सबसे दुर्लभ तो एक सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह था मुझे—

(३)

देवराज का अर्ध सिंहासन प्राप्त होना

देखि देवपति मुदित मन, पुत्र प्रेम परगट कियो।
सिर सूँघ्यो मुँह चूमिके, आधो सिंहासन दियो॥

देवराज ने दूर से ही मुझे आते देखा, उनका मुख कमल देखते ही खिल उठा। मैंने शीघ्रता से आगे बढ़कर उनके दोनों परम पावन चरणों में अपना सिर रखा। जिन चरणों में नित्य ही असंख्यों मुकुटों के सहित देवताओं और राजर्षियों के सिर झुकते हैं, जो चरण त्रैलोक्य वन्दित हैं, उन्हीं चरणों को मैंने पकड़कर अपना मस्तक रगड़ा और पलकों से उसे पोंछा। देव-

राज ने अत्यन्त ही स्नेह से अपने गोल-गोल सुडौल हाथों से मुझे बलपूर्वक उठाकर छाती से लगाया। मेरे सिर को सूँघकर उन्होंने अपने कोमल करों से मेरा मुँह पोंछा। बालों को सुलझाया और खींचकर मुझे अपने बराबर आधे आसन पर बिठाया। उस समय हम दोनों पिता पुत्रों को एक ही आसन पर बैठे देखकर स्वर्ग के समस्त देवता, ऋषि, गन्धर्व, राजर्षि, देवर्षि अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। सभी एकटक भाव से हम दोनों की ओर निहार रहे थे। मुझे अपने इस महान् सौभाग्य पर मन-ही-मन बड़ा गर्व हो रहा था। देवराज के साथ मर्त्य शरीर से उनके सिंहासन पर बैठने में मुझे बड़ी लज्जा आ रही थी, संकोच के कारण मैं सिर उठाकर सबको देख भी न सकता था। सिकुड़ा हुआ देवराज की गोदी में बैठा था। स्वर्ग की अनुपम रूप लावण्य युक्त देवाङ्गनायें मेरे ऊपर चँवर डुला रही थीं। सहस्रों लक्षों असंख्यों अप्सराओं से देवराज की वह सभा इसी प्रकार दमक रही थी, जिस प्रकार आकाश में सहस्रों बिजलियाँ एक साथ चमक रही हों।

देवराज की आज्ञा से अप्सराओं और गन्धर्वों ने मेरे पैर धोये, विधिवत पूजा की। स्वर्ग में अपना अमानुषीय सत्कार पाकर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। मैं अपने आपको भूल नहीं गया था, मैं सब समझता था, कि इतना सम्मान का पात्र मैं किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। यह सब श्यामसुन्दर की ही कृपा का फल है। वे ही मुझे खर से उतार कर ऐरावत पर चढ़ा सकते हैं, वे ही तृण से सुमेरु बनाने में समर्थ हैं। जिन पर उनकी कृपा है, उसके लिये स्वर्ग की तो बात ही क्या ब्रह्मलोक भी तुच्छ है। लोक पितामह ब्रह्मा भी उनकी कृपा के लिये सदा उत्सुक रहते हैं।

राजन्! जिन्होंने हमें मनुष्य से देवता बनाया, निर्बल होने

पर भी सबल बनाया। राज्य भ्रष्ट होने पर भी चक्रवर्ती पद प्रदान किया, असहाय होने पर भी जिन्होंने सब प्रकार की सहायता दी, अपने ज्येष्ठ भाई बलराम के मना करने पर भी जिन्होंने कौरवों को छोड़कर हमारा पक्ष लिया, निःशस्त्र रहते हुए भी जिन्होंने मुझे निमित्त बनाकर समस्त शत्रु सेना का संहार कराया, वे ही आज हम सबकी नौका को मझधार में डगमगाती छोड़कर न जाने कहाँ विलीन हो गये। प्रभो! अब यह संसार रहने योग्य नहीं रहा। कहाँ तो स्वर्ग मे मैंने उन निवात कवच दैत्यों को मारा जो कि देवताओं से भी नहीं मारे गये थे, जिनके मारने से मेरी स्वर्ग मे, पृथ्वी में सर्वत्र प्रशंसा हुई और कहाँ आज श्रीकृष्ण के विहीन होने पर मुझे जंगली भीलों ने परास्त कर दिया। इसलिये राजन्! अब इस संसार मे हमारे लिये कोई मोहक वस्तु नहीं है। अब तो हमें भी शीघ्र से शीघ्र उसी पथ का अनुसरण करना चाहिये, जिससे श्यामसुन्दर पधारे हैं।"

इतना कहते-कहते अर्जुन मूर्छित-से हो गये—

छप्पय

करत तपस्या भील वेष धरि शिव तहँ आये।
जानि जंगली जाति, लड़्यो हरि अति हरषाये॥
भयो युद्ध घनघोर, भई नहिं कुंठित मो मति।
कृष्ण कृपा तें उमा सहित, शिव तुष्ट भये अति॥
जिनकी कृपा प्रसाद तें, नर तनु तें सुर पुर गयो।
अर्ध सिंहासन हरि दयो, अब उन बिनु निरबल भयो॥

—o—

निवात कवच वध के समय की कृपा का वर्णन

[५६]

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मम्
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

कछुक काल सुख सहित स्वर्ग सुख भोगे भारी ।
दिव्य अस्त्र सब सीखि चलन की करी तयारी ॥
देवराज सब देव कहैं इक कारज कीजे ।
अस्त्र-शस्त्र तो लये दक्षिणा गुरु की दीजे ॥
है निवात कवचादि अति, प्रबल दैत्य तिनतें लरो ।
मारो रण में सबनि कूँ, निष्कंटक सुरपुर करो ॥

---

* अर्जुन कहते हैं कि—"राजन् ! जब मैं स्वर्गमे कुछ दिन रहा तो वहाँ निवात कवच नामक दैत्य के वध के लिये सम्पूर्ण देवताओं के सहित देवराज ने मेरी गाडीव लक्षित भुजाओं का आश्रय लिया । मेरी भुजाओं मे बल अपना निजी नही था, उन्ही श्यामसुन्दर के बल से वे बलवती बनी हुई थी । हे आजमीढ़वंशावतंश प्रभो ! आज उन्ही महा-महिम भूमा पुरुष ने मुझे ठग लिया । मुझे छोड़कर वे चले गये ।"

कहाँ वे दिन थे जब मैं देव, दानव, यक्ष राक्षसों से भी नहीं जीता जा सकता था, कहाँ आज वे दिन आ गये, कि साधारण भीलों ने मुझे मार भगाया। यही सब सोचकर और विलाप करते हुए अर्जुन बिना ही धर्मराज के पूछे कहने लगे—"राजन्! अब कहने सुनने की बात रही नहीं। जब मुझे स्वर्ग की वे बातें याद आती हैं, तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। अब वे बातें चिरकाल पूर्व देखे स्वप्न की भाँति अथवा पूर्वजन्म की घटित घटना के समान प्रतीत होती हैं। मैं ५ वर्षों तक स्वर्ग में रहा। वहाँ मैंने श्रीकृष्ण कृपा से ऐसे-ऐसे कठिन कार्य किये जिन्हें देवता भी करने में असमर्थ थे।

जब मैं सभी प्रकार के दिव्य अस्त्रों को आदान, सन्धान, विसर्ग और संहार सहित सीख गया और उनके चलाने आदि की निपुणता प्राप्त हो गई, तो मैंने आपके चरणों के समीप जाने की देवराज को इच्छा प्रकट की। हे भरतवंशावतंस महाराज! यद्यपि मैं स्वर्ग में निवास कर रहा था, स्वर्गीय दिव्य भोगों का भोग कर रहा था, तो भी मेरे मन में शान्ति नहीं थी। मुझे रह-रहकर जुए की वे सब बातें याद हो आतीं। भरी सभा में हुए द्रौपदी के अपमान की जब भी स्मृति हो आती, तभी मेरा संपूर्ण शरीर क्रोध से काँपने लगता और इच्छा होती, अभी यहाँ से सीधा कौरवों के समीप जाकर इन्हीं दिव्यास्त्रों से उन सबको भस्म कर दूँ। किन्तु फिर मुझे आपकी प्रतिज्ञा की याद आती। आप धर्मात्मा हैं, आप धर्म के विरुद्ध कोई कार्य न करेंगे। वनवास की अवधि के पूर्व आप किसी प्रकार भी लौटकर नहीं जायँगे। यदि समय के पूर्व मैं कौरवों को मार भी डालूँ, तो आप निश्चय ही अधर्मी और छली समझकर मेरा परित्याग कर देंगे। इसी भय से मैं अपने क्रोध को अपने शरीर में ही सुखाता, मन मसोस कर समय की प्रतीक्षा करता। स्वर्ग में भी मुझे

आपके बिना अच्छा नहीं लगता, आप वनवास में दुःख उठा रहे हों और मैं स्वर्ग सुख भोगूँ, ऐसे भोगों को धिक्कार है। ऐसी दशा में इन्द्रलोक की तो बात ही क्या, ब्रह्मलोक भी मुझे सुखप्रद प्रतीत नहीं हो सकता था। किन्तु कार्यवश आपकी आज्ञा पालन के निमित्त मुझे वहाँ रहना ही पड़ा और देवराज के आग्रह से स्वर्ग सुखों का बेमन से उपभोग भी करता ही था।

जब मैं सभी अस्त्र-शस्त्रों में भली-भाँति पारंगत हो गया, तो एक दिन देवराज ने मुझसे अत्यन्त ममत्व के साथ कहा—"वत्स, अर्जुन! अब मुझे विश्वास हो गया, कि तुम त्रैलोक्य विजयी बन गये। अब तीनों लोकों में तुम्हें कोई भी जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। तुमने बड़े मनोयोग से समस्त दिव्य अस्त्र-शस्त्रों को सीखा है। तुम्हारी धारणा शक्ति और हस्त-लाघवता से मैं अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। अब तुम्हें मेरा भी कुछ कार्य करना होगा। सिखाई हुई विद्या की गुरुदक्षिणा चुकाने का यही समय है।"

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! मुझे जो भी आप आज्ञा करेंगे और वह मेरी शक्ति के बाहर की बात न हुई, तो उसे आप सम्पन्न हुई ही समझें। आप आज्ञा कीजिये मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?"

देवराज प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"अर्जुन! अब हम सबको तुम्हारे बाहुबल का ही भरोसा है। जिस काम को समस्त देवताओं के साथ मिलकर भी मैं नहीं कर सकता, उस काम को तुम्हें करना होगा। देखो, मेरे कुछ निवात कवच नाम के शत्रु दैत्य हैं। वे समुद्र के नीचे पाताल में रहते हैं। उनकी संख्या लगभग तीन करोड़ है। वे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष किसी से भी मारे नहीं जा सकते। अतः तुम उनको जाकर मारो और देवताओं को सुखी करो।"

देवराज के मुख से अपनी ऐसी प्रशंसा सुनकर मुझे गर्व हुआ मैंने सोचा—"मैं कितना बली हूँ, देवराज मेरे बाहुबल पर विश्वास करते हैं, कि देवताओं से भी अवध्य दैत्यों का संहार करने मुझे भेज रहे हैं। उस समय मैं इस बात को भूल ही गया था, कि वह बल मेरा नहीं, श्यामसुन्दर का है। निवात कवच और हिरण्यपुर वासी दैत्य दानवों को मारने की मुझमें स्वतः शक्ति नहीं है, किन्तु उन्हीं सर्वाधार की दी हुई शक्ति से वे मारे जायँगे।" मैं देवराज की आज्ञा पाकर और मातलि के द्वारा चलाया जाने वाला उन्हीं का रथ लेकर दैत्यों को मारने स्वर्ग से चला। उस समय सभी स्वर्गवासी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। देवता और ऋषिगण मेरे पराक्रमों का बखान कर रहे थे। गंधर्व मेरे ही गुणों का गान कर रहे थे और स्वर्ग की अप्सरायें नन्दन वन के दिव्य पुष्पों की मेरे ऊपर वर्षा कर रही थीं। सभी का यथोचित सत्कार करके मैं देवराज के दिव्य रथ में बैठकर अनेक जल-जन्तुओं से पूर्ण वृहद् ऊर्मि रथ चलाने में, यह बात मुझे उसी समय मालूम हुई। बात की बात में हरे रङ्ग के सहस्रों घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले उस रथ को वह टेढ़ा-मेढ़ा घुमाकर निवात कवच की—पृथ्वी के नीचे की दिव्य पुरी में ले गया। उसमें स्वर्ग से भी बढ़-चढ़कर सुख सामग्रियाँ थीं, वहाँ के वैभव को देखकर स्वर्ग का वैभव फीका-फीका-सा प्रतीत होता था। मातलि से ही मुझे ज्ञात हुआ, कि यह पुर पूर्वकाल में देवताओं के ही अधीन था। देवगण ही इसमें निवास करते थे, किन्तु देवताओं से प्रबल पराक्रमी दैत्यों ने इसे छीन लिया। ये दैत्य बड़े बली हैं, ब्रह्माजी के वरदान से ये सभी देवयोनि के प्राणियों से अवध्य हैं।

मुझे देखकर वे दैत्य क्रोध में भरकर शूल, पट्टिस, खड्ग, क्षोमर, भुसुण्डी आदि नाना अस्त्र-शस्त्रों को लेकर मेरे ऊपर टूट

पड़े। मैंने भी उन्हें सहस्रों बाण मारकर घायल किया। बहुत-से मेरे बाणों से मरकर गिर पड़े और बहुत-से अपने-अपने प्राण लेकर रण से भाग गये, किन्तु कुछ काल के पश्चात् फिर वे अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर मेरे सम्मुख लड़ने आये। अबके उन्होंने अपनी आसुरी माया का प्रयोग किया। कभी तो माया के द्वारा भयङ्कर वृष्टि करते, कभी पत्थर बरसा देते, कभी सर्वत्र अग्नि ही अग्नि दिखाई देती। कभी घोर अन्धकार कर देते, कि हमें भी दिखाई न देता। उसी समय वे अलक्षित भाव से विविध प्रकार के अस्त्रों की वर्षा करते। उस घोर अन्धकार में जब मातलि भी रथ चलाने में असमर्थ हुआ, तब वह घबड़ाने लगा। उसने कहा—"अर्जुन! दैत्य बड़े प्रबल हैं। इतना घोर युद्ध तो मैंने कभी नहीं देखा। तुम अपने वज्रास्त्र से इस माया का नाश करो।"

मातलि को भयभीत देखकर मेरा हृदय भी काँपने लगा। मुझे भी कुछ दिखाई नहीं देता था, मेरी भी अस्त्र चलाने की गति रुक गई थी, तब मैंने श्यामसुन्दर का स्मरण किया। उन्हीं लीलाधारी गिरधारी की मैंने मन-ही-मन स्तुति की। स्मरण करते ही उन्होंने मुझे बुद्धि-योग प्रदान किया। मैंने वज्रास्त्र छोड़कर दैत्यों की समस्त माया का नाश कर दिया। अब अन्धकार का नाम भी नहीं था, सर्वत्र दिव्य प्रकाश फैल रहा था। मातलि भी सावधान हुआ। उसने घोड़े की रास कसकर पकड़ी। अब मैं शब्दवेधी बाण छोड़कर छिपे हुए दैत्यों को मारने लगा। मेरी दिव्यास्त्रों की मार से मरकर सभी दैत्य निर्जीव होकर गिरने लगे। उनकी नगरी में सर्वत्र हाहाकार मच गया। मातलि मेरे बल पराक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। मुझे इन्द्र से भी बढ़कर शूरवीर और पराक्रमी बताने लगा। उसे क्या पता था कि यह शक्ति मेरी नहीं है। श्यामसुन्दर ही मुझे इन मरे हुए—काल-

पाश में फँसे हुए-दैत्यों को निमित्त बनाकर मरवा रहे हैं। उनकी शक्ति से ही मैं अस्त्र-शस्त्रों का सविधि प्रयोग कर रहा हूँ। यदि मेरा ही बल होता तो आज मैं जङ्गली भीलों से क्यों परास्त हो जाता ? जिन बाणों ने निवात कवच और हिरण्यपुरवासी दैत्यों का संहार किया, वे इस समय साधारण मनुष्यों पर कुण्ठित क्यों हो जाते ?"

राजन् ! इस प्रकार समस्त निवात कवचों को मारकर और विजय का शङ्ख बजाकर मैं अत्यन्त हर्ष के साथ उस पातालपुरी से बाहर हुआ। मार्ग मे आते समय आकाश में अधर लटका हुआ एक दिव्य पुर मैंने देखा। उसे आकाश में ही अधर स्थिर देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, मैंने मातलि सारथि से पूछा—"महाभाग ! तुम देवराज के श्रेष्ठ सारथि हो, सर्वज्ञ हो, मुझे इस आश्चर्य-जनक नगर का परिचय दो, यह किसका पुर है, क्यों इतना देदीप्यमान है और बिना किसी आधार के भी वह आकाश में किसके वरदान से स्थिर है ?"

इस पर मातलि ने मुझे बताया—"हे पाण्डुनन्दन ! यह पौलोम और कालकेय नामक दैत्यों का हिरण्यपुर नामक नगर है। इन दैत्यों की पुलोमी और कालिका नाम वाली दोनों माताओं ने देवताओं के हजार वर्ष तक बड़ी घोर तपस्या की थी। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी ने उनसे वरदान माँगने को कहा। उन्होंने यही वरदान माँगा कि-"हमारे पुत्रों को देवता, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व आदि कोई भी मार न सकें और उनके रहने को एक ऐसा सब विमानों से बढ़कर सुवर्णमय पुर मिले जो आकाश में जहाँ चाहे जा सके, अधर में ही स्थिर रहे।"

ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कहकर उन्हें ऐसा ही वरदान दिया। पितामह ब्रह्माजी के वरदान के प्रभाव से ही यह नगर आकाश में सदा अधर ही टँगा रहता है, इसमें रहने वाले दैत्य बड़े ही

बलवान् हैं, ये देवताओं के शत्रु हैं, सदा देवराज को पीड़ा पहुँचाते रहते हैं, देवताओं के द्वारा तो ये वरदान के प्रभाव से अवध्य ही हो चुके हैं। अतः देवता तो इन्हें मार ही नहीं सकते। इसीलिये इन्हें बड़ा गर्व हो गया है और नित्य नूतन उपद्रव करते रहते हैं।"

मैंने कहा—"मातलि! मेरा रथ इसी पुर में ले चलो। जब ये देवराज के शत्रु हैं, तो मेरे भी शत्रु हैं। लगे हाथों मैं इन्हें भी मारता चलूँ।"

मातलि ने कहा—"महाभाग! आप उन्हें अवश्य मार सकते हैं। मैंने एक बार ब्रह्माजी से सुना भी था, कि ये देवताओं से तो अवध्य होंगे किन्तु एक मनुष्य के हाथों मारे जायँगे। आप इन्हें मारकर अवश्य ही देवताओं के दुख को दूर कीजिये।"

इतना सुनना था कि मैंने उन सबको मारने का निश्चय कर लिया। उस पुर में प्रवेश करते ही घोर युद्ध हुआ। सभी दैत्य मेरे ऊपर अस्त्र-शस्त्र लेकर टूट पड़े। मैंने भी अपने दिव्य अस्त्रों से उनके सभी अस्त्रों को व्यर्थ बना दिया और बात की बात में ही सबको मार भगाया। तब तो वे सब अपने दिव्य नगर में घुस गये। मैंने अनेकों तीक्ष्ण बाण मार-मारकर उस सुवर्ण के नगर के टुकड़े-टुकड़े कर उन दैत्यों को पृथ्वी पर गिरा दिया। इस पर उन्होंने मेरे रथ के घोड़ों के पैर पकड़ लिये। मैंने अपने वज्रास्त्र से उन्हें भी मार गिराया।

इस प्रकार उन भगवान् वासुदेव की कृपा से मैं देवताओं से भी दुर्जय दैत्य दानवों को मारकर विजयी होकर देवेन्द्र की अमरावती नगरी में आया। वहाँ सभी ने मेरा बड़ा स्वागत-सत्कार किया।

जिनकी कृपा से यह सब हुआ, जिनके बल भरोसे मैं अजेय दैत्यों से भी निर्भय होकर लड़ सका, वे सर्वान्तर्यामी प्रभु इस

धराधाम पर नहीं रहे। वे मुझे छलकर वैकुण्ठधाम को पधार गये। राजन्! अब हमारा आश्रय नष्ट हो गया। हम हतवीर्य और पराक्रम हीन हो गये। अब हमारा जीवन व्यर्थ है, अब तो हमें एक साधारण मनुष्य भी हरा सकता है। नीच-से-नीच भी हमें नीचा दिखा सकता है।" इतना कहते-कहते अर्जुन का गला भर आया और वे आगे कुछ न कह सके।"

छप्पय

मारि सकें नहिं देव तिन्हीं ते मैं जा जूझ्यो।
कृष्ण कृपा तें कछू कठिन कारज नहिं सूझ्यो॥
दिव्य अस्त्र तें मारि शत्रु सबही संहारे।
माया छलतें लड़े, तऊ रण में सब हारे॥
कालिकेय पौलोम सब, स्वर्णपुरी वासी हने।
जिनके बल तें बली बनि राजन् अब तिनुबिनु बने॥

गोधन हरण के समय हुए युद्ध की कृपा का वर्णन

(५७)

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतार्यसत्त्वम् ।
प्रत्याहृतं बहु धनं च मया परेषां
तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः ॥*

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

कौरव और त्रिगर्त सन्धि करि करी चढ़ाई ।
करें वास अज्ञात जहाँ हम पाँचों भाई ॥
भीष्म, कर्ण, गुरु द्रोण, सुयोधन सब मिलि करिकें ।
मत्स्य देश पै चढ़े चले गोधन बहु हरिकें ॥
बृहन्नला तें सारथी, बन्यो हर्ष हिय में अमित ।
कहे उत्तरा सुघर पट, लावें मम गुड़ियान हित ॥

---

* अर्जुन कह रहे हैं—"राजन् ! जिन सुहृद् श्यामसुन्दर की सहायता से अकेले ही रथ पर चढ़कर मैंने समुद्र के समान अत्यन्त दुस्तर अनन्त अपार कौरव सेना को बिना प्रयास ही पार किया था । सहस्रों सम्मोहित हुए शत्रुओं के सिर से अत्यन्त मूल्यवान् मुकुट और पगड़ी उष्णीष आदि हर लिये थे, वे श्रीकृष्ण हमें छोड़कर चले गये ।"

समृद्धिशालिनी राजधानी की महान् नगरी के बृहद् कपाट जब खुल जाते हैं, तो उनसे जैसे चित्र-विचित्र वेश वाले नर-नारी निरन्तर निकलते ही रहते हैं, उसी प्रकार अर्जुन की स्मृति रूपी नगरी के कपाट खुल गये, उनमें से कृष्ण कृपा की अनन्त कथायें निकलने लगीं। कृष्ण कृपा से जो-जो कार्य उन्होंने किये थे, जो-जो अमानुसिक पौरुष उन्होंने दिखाये थे, उनकी स्मृति मात्र से उनका हृदय भर आता और उन सबके भीतर उन्हें मूर्तिमान् अच्युत का अनुग्रह दिखाई देता।

वनवास के अनन्तर उन्हें अज्ञातवास की स्मृति हो उठी। वे बड़े ही करुण स्वर में अपने ज्येष्ठ भाई धर्मराज से कहने लगे—"राजन्! कहाँ तक कहूँ, कृष्ण कृपा का कहीं पार नहीं। हम सब पर उनकी अपार कृपा थी। हस्तिनापुर के समीप ही मत्स्य देश की राजधानी में महाराज विराट् के यहाँ हम वेष बदले छिपकर अज्ञातवास की अवधि व्यतीत कर रहे थे। जब चारों ओर हमारी खोज करा-कराके कौरव थक गये, तब दुर्योधन ने समझा हम लोगों ने बनवास के दुःखों से दुखी होकर आत्मघात कर लिया। किन्तु हम तो कछुए की भाँति अङ्ग छिपाये पड़े थे। बगुले की भाँति ध्यान लगाये राज्य रूप अपने आहार की प्रतीक्षा में आँख मूँदे मृषा समाधि लगाकर खड़े थे। घिसे अन्धे ब्राह्मण की भाँति कालक्षेप कर रहे थे। उसी समय कौरव और त्रिगर्तों ने मिलकर मत्स्य देश पर चढ़ाई कर दी। त्रिगर्त देश के राजा को अपने सेनापति कीचक की सहायता से मत्स्याधिपति महाराज विराट ने पहिले बहुत तंग किया था। अपने उसी पूर्व वैर को चुकाने के लिये सुशर्म्मा कौरवों की सहायता पाकर मत्स्य देश पर चढ़ आया। उसने एक ओर से चढ़ाई की। कौरवों ने सोचा था जब विराट अपनी सेना सहित त्रिगर्तों से लड़ने चला जायगा तब हम शून्य नगरी से समस्त गोधन और रत्न आभू-

पणों को हरकर भाग जायँगे। उन लोगों ने ऐसा ही किया। आप तो भीमसेन के सहित महाराज विराट के साथ त्रिगर्तों से लड़ने चले गये थे। इधर विराट का कुमार उत्तर अकेला ही नगर की रक्षा के लिये रह गया था। उसी समय कौरवों ने विराट की समस्त गौएँ हर लीं। गौओं के रक्षक गोपों ने आकर यह सब समाचार राजकुमार को सुनाया। कुमार उत्तर रनिवास से अपनी डींग हाँकने लगा—"यदि मेरा कोई योग्य सारथि हो, तो मैं अभी जाकर समस्त कौरव सेना को हराकर गौओं को छुड़ा लाऊँ।"

उस समय आपकी पत्नी द्रौपदी सैरन्ध्री का वेष बनाकर महलों में रहती थी। मैं नपुंसक बृहन्नला का वेष बनाकर महाराज विराट की पुत्री उत्तरा को गाने बजाने और नाचने की शिक्षा दिया करता था। द्रौपदी के द्वारा कुमार उत्तर को मालूम हुआ, कि मैं सारथि कर्म में परम प्रवीण हूँ। उसने मेरा यथार्थ स्वरूप न समझ कर मुझसे अपना सारथि बनने का आग्रह किया। अज्ञातवास की अवधि समाप्त हो जाने के कारण मैंने इसे युद्ध का उत्तम अवसर समझकर स्वीकार किया और मैं रथ जोतकर उत्तर के सम्मुख खड़ा हो गया।

जब हम सब सुसज्जित होकर चलने लगे, तो बाल चापल्य से उत्तर की बहिन उत्तरा ने मुझसे कहा—"बृहन्नला! जब मेरा भाई कौरवों को विजय करके आवे तो मेरी गुड़ियों को अच्छे-अच्छे रंग-बिरंगे बहुत-से वस्त्र अवश्य लाना।" मैंने भी विनोद में कह दिया—"दुर्योधन कर्ण आदि सभी के सुन्दर-से-सुन्दर वस्त्र हम सब तेरे लिये लावेंगे।" हँसी-हँसी में इतना कहकर और उत्तर कुमार के रथ को हाँककर मैं कौरव सेना की ओर चला। वर्षा कालीन घनघोर घटाओं के समान सर्वत्र छाई हुई, समुद्र के समान उमड़ती हुई कौरवों की अपार सेना को

देखकर बालक उत्तर के छक्के छूट गये। उसके शरीर से पसीना बहने लगा। डर के मारे वह थर-थर काँपने लगा। डरते-डरते उसने कहा – "बृहन्नले ! तुम शीघ्र ही मेरे रथ को नगर की ओर लौटा ले चलो। मुझमें इन योद्धाओं से लड़ने की सामर्थ्य नहीं। हमारी गौओं को यदि ये ले जाते हैं, तो ले जाने दो। गौएँ और भी आ जायँगी। जीवन रहेगा तो ऐश्वर्य फिर भी प्राप्त हो सकता है।"

मैंने उस बच्चे को बहुत प्रकार से समझाया, भाँति-भाँति से ढाँढ़स बँधाया, वीरता के वाक्य कहकर आश्वासन दिया। वीरों का धर्म बताया, युद्ध का मर्म बताया, युद्ध से पराङ्मुख होना क्षत्रिय के लिये महान अधर्म है, यह भी सुझाया, किन्तु उसने मेरी एक भी बात न मानी। वह इतना भयभीत हो गया था कि मुझे रथ लौटाते न देखकर अकेला ही रथ से कूद कर भाग निकला। मैंने रथ खड़ा करके दौड़कर उसे पकड़ा। वह अत्यन्त ही व्याकुल हो गया और मेरी भाँति-भाँति से अनुनय विनय करने लगा। विविध प्रकार के प्रलोभन देने लगा। तब मुझे हँसी आ गई, मैंने कहा—"बच्चे ! तुम डरो मत, युद्ध मैं करूँगा। तुम मेरा रथ हाँकना।"

उसने डरते-डरते कहा—"आप तो नपुंसक हैं, गाने नाचने वाला युद्ध करना क्या जाने। तुम स्वयं डूबोगे और साथ ही मुझे भी डुबाओगे।"

उसे अत्यन्त ही भयभीत और काँपते देखकर मैंने अपना परिचय देते हुए बताया —"मैं नपुंसक नहीं। गांडीव धनुषधारी श्रीकृष्ण का सखा अर्जुन हूँ। भगवान् वासुदेव की कृपा से मैं सब कुछ करने में समर्थ हूँ। इस इतनी बड़ी सुसज्जित सेना को मैं अकेला ही पराजित कर सकता हूँ। कृष्ण कृपा से मेरे लिये

कोई कार्य कठिन नहीं। कोई अकार्य नहीं। कुछ भी असंभव नहीं, तुम निर्भय हो जाओ।"

अनेक प्रकार के प्रश्न पूछने के अनन्तर और शमी वृक्ष पर छिपे मेरे गांडीव धनुष को देखकर जब उसे पूरा विश्वास हो गया कि ये अर्जुन हैं, तब उसने मेरी बात मान ली और मेरा सारथी बनना स्वीकार किया।

मैंने अपने गांडीव धनुष पर रौंदा चढ़ाकर महान् टङ्कार की। मेरे धनुष की टङ्कार सुनकर कौरवों के छक्के छूट गये। वे समझ गये, कि यह प्रलय कालीन अन्तक के समान अर्जुन ही हमसे युद्ध करने आ रहा है। उस समय गांडीव धनुष को लिये हुए त्रैलोक्य विजयी, भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन आदि प्रबल पराक्रमी प्रसिद्ध योद्धाओं के सम्मुख मैं अकेला ही युद्ध करने को उपस्थित हुआ। कहाँ एक ओर अनेकों अक्षौहिणी सेना से सुसज्जित सकल संसार संहारक सैकड़ों शूर वीर सेनापतियों का झुण्ड और कहाँ एक ओर मैं अकेला! किन्तु मुझे तो भगवान् का भरोसा था, द्वारिकाधीश का आश्रय था। बलराम के भाई का बल था। कृपासागर की कृपा का अवलम्ब था। मैं न डरा न घबड़ाया, निर्भय होकर उन सबको युद्ध के लिये ललकारा।

मुझे युद्ध को आया देखकर कौरव सैनिक आपस में ही वाद-विवाद करने लगे। कर्ण मुझे तुच्छ बना रहा था। कृपाचार्य मेरी प्रशंसा कर रहे थे, कोई कुछ कहता कोई कुछ, इस प्रकार परस्पर में ही वाद-विवाद बढ़ते देखकर बूढ़े पितामह भीष्म ने सबको शान्त किया और वे सब मिलकर मुझसे युद्ध करने आये।

राजन्! उस समय घनघोर युद्ध हुआ। सभी सैनिक पूरी शक्ति लगाकर मुझे पराजित करने का प्रयत्न कर रहे थे। सभी सम्पूर्ण

बल लगाकर मुझे पछाड़ना चाहते थे, किन्तु नन्दनन्दन आनन्द-कन्द श्रीकृष्ण की अपारअनुकम्पा से उनका मनोरथ सुफल न हो सका। कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भीष्म, दुर्योधन सभी एक के पश्चात एक मुझसे लड़ने आये, किन्तु मैंने सभी को परास्त किया। सभी युद्ध से भय खाकर भाग गये। सबके पराजित हो जाने पर कर्ण फिर सम्हलकर मुझसे लड़ने आया। उस समय किसी को मार डालने का तो मेरा अभिप्राय ही नहीं था, मैं तो केवल उन्हें पराजित करके विराट् की गौओं को लौटाना चाहता था। इसीलिये किसी भी सेनापति को मैंने मारा नहीं। हाँ, सैनिक तो मरने ही को थे। जब सब पराजित हो गये तो मैंने अपना दिव्य मोहनास्त्र छोड़कर सभी को मोहित कर दिया। सभी संज्ञा शून्य होकर समर भूमि में मृतक तुल्य बन गये। मैंने कुमार उत्तर से कहा—"बेटा! तुम जाओ और इन सब मूर्छित और मोहित हुए मुख्य-मुख्य वीरों के मणिमय मुकुटों को और सुन्दर-सुन्दर चमकते हुए रेशमी उत्तरीयों को उत्तरा के लिये उतार लाओ। हम जाकर तुम्हारी बहिन उत्तरा को ये चमकते हुए वस्त्राभूषण देंगे, इन्हें पाकर वह बच्ची बहुत प्रसन्न होगी। मुदित मन से इन्हें लेकर वह गुड़ियों को पहिनावेगी उल्लास, के साथ खेलेगी।"

मेरी आज्ञा पाकर उत्तरकुमार रथ खड़ा करके सभी के अमूल्य वस्त्राभूषणों को उतारने लगा। सबके उतारते-उतारते जब वह पितामह भीष्म की ओर बढ़ा, तो मैंने उसे रोकते हुए कहा—"बच्चे देखो, उधर मत जाना। ये भीष्म मेरे रक्षक भगवान् वासुदेव के परम भक्त हैं। संसार में न इन्हें कोई पराजित कर सकता है न संमोहित। इस सम्मोहनास्त्र से भी ये भगवान् की कृपा से मोहित नहीं हुए हैं, सावधान ही हैं। इनकी ओर हाथ बढ़ाओगे, तो अपने प्राणों को गँवाओगे।"

मेरी बात सुनकर उत्तर जैसे गढ़ा था, वैसे ही लौट आया। उसने पितामह के वस्त्र, मुकुट लेने का विचार छोड़ दिया।

राजन्! उस समर में कैसा अद्भुत काण्ड हुआ, दुर्योधन का सभी अभिमान चूर हो गया। कौरवों का सभी मनोरथ विफल हो गया। त्रिगर्तों के साथ की हुई सम्मति सफल नहीं हुई। न तो हाथों धन ही लगा न वे महाराज विराट की गौओं को ही ले सके। उलटे उन्हें पराजय का ही सामना करना पड़ा। जब सभी सैनिकों को मैंने मोहित देखा, तो अपनी गौओं के रक्षक गोपालों से बोला- "अपनी सब गौओं को हाँक ले चलो।" मेरा इतना कहना था, कि सभी गोपालों ने गौएँ हाँक दीं। गौएँ भी शत्रुओं के पंजों से मुक्त होकर अपनी-अपनी पूँछों को उठा कर नगर की ओर अत्यन्त शीघ्रता के साथ भागने लगीं।

इसी प्रकार राजन्! जिस इतने बड़े कौरव सैन्यसागर को मैंने जिनकी कृपा से हँसते हुए, हेला के साथ, बात की बात में पार कर लिया, जिनके अनुग्रह से भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, दुर्योधन जैसे वीर मुझे तृण के समान दिखाई दिये, वे ही भगवान् वासुदेव हमें छोड़कर अपने धाम को पधार गये। अब मेरा न वह बल रहा न तेज। न वह शक्ति रही न साहस, अब तो मैं निर्बल और साहसहीन हो गया। राजन्! अब हमें भी उसी पथ का अनुसरण करना चाहिये।" इतना कहते-कहते अर्जुन का कंठ रुद्ध हो गया।" छप्पय

उत्तर उतही चल्यो जायँ कौरव गौ लूटें।
सेना लखी महान कुँवर के छक्के छूटें॥
निज परिचय करवाइ युद्ध की करी तयारी।
संधान्यो गांडीव शत्रु सेना सहारी॥
लही विजय मूर्छित करे, मुकुट वस्त्र गोधन लये।
करे काज जिन कृपातें, हाय! कृष्ण वे तजि गये॥

महाभारत युद्ध में की हुई कृपा का वर्णन

[५८]

यद्दोष्षु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्तशलसैन्धववाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नो पस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

कैसी किरपा करी हमारे ऊपर रन महँ ।
भीष्म द्रोण सम वीर बाण तकि मारहिँ तनमहँ ॥
जाहिँ सर्र करि निकरि तनिक तनमहँ नहिँ लागैं ।
लागत मेरे बाण शत्रु रण तजि सब भागैं ॥
मेरे रथ पै बैठिकैं, सबकूँ निरबीरज कर्‌यो ।
दृष्टि डारि मृत सरिस करि, ओज, तेज, वय बल हर्‌यो ॥

---

* अर्जुन कह रहे हैं—"राजन् ! जिन भगवान् वासुदेव की भुजाओं के आश्रय में रहने से द्रोण, भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ और बाह्लीक आदि बलवान् वीरों के द्वारा छोड़े हुए अमित प्रभाव वाले अमोघ अस्त्र, उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर सके, जिस प्रकार दैत्यों द्वारा छोड़े हुए अस्त्र-शस्त्र नृसिंह भगवान् के दास प्रह्लादजी को स्पर्श नहीं कर सके थे । वे ही श्यामसुन्दर अब मुझे दुर्बल बनाकर स्वधाम पधार गये ।"

शस्त्र स्वयं मारने में समर्थ नहीं जब तक कि उन्हें कोई सविधि छोड़ने वाला न हो। कठपुतली स्वयं नृत्य नहीं कर सकती, जब तक उसे कोई नचाने वाला न हो। यही सब सोचकर महाभारत युद्ध के समय की कृपा स्मरण करते हुए। अर्जुन फिर आँसू पोंछकर धैर्य धारण करके कहने लगे—

"राजन्! भगवान जब तक इस धराधाम पर विराजे तब तक कोई क्षण ऐसा नहीं बीता, जब उन्होंने हमारी सुधि न ली हो, हमें विपत्ति से न बचाया हो, हमें विपत्ति सागर तरने में सहारा न दिया हो। कंस को मारते ही उन्होंने तुरन्त मामा अक्रूरजी को हमारे पास हमारी सुधि लेने भेजा। तब हम पितृहीन अनाथ बच्चे ही थे, हमने तब तक श्यामसुन्दर के दर्शन भी नहीं किये थे। तभी हम समझ गये, ये ही हमारे सर्वस्व हैं, हमारे सिर पर उन्हीं का हाथ सदा बना हुआ है।

महाभारत युद्ध के समय स्वयं निःशस्त्र रहते हुए भी असंख्यों अस्त्र-शस्त्र वाले योद्धाओं से भी बढ़कर कार्य उन्होंने किया। न लड़ने पर भी लड़ाई के मुख्य पात्र वे ही थे। काठ की बनी पुतलियाँ नाचती हैं, अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखाती हैं, एक आदमी वहाँ चुपचाप बैठा बिना आश्चर्य और विस्मय के उस नृत्य को देखता रहता है। अन्य दर्शक समझते हैं, यह भी कोई हमारी ही भाँति दर्शक है, किन्तु उसका एक हाथ छिपा रहता है, उस हाथ में ही उन निर्जीव पुतलियों की बागडोरी रहती है, उसी के संकेत पर वे सब नाचती हैं। उन गतिहीन पुतलियों में गति उस उदासीन के समान बैठे हुए पुरुष के द्वारा ही होती है। दर्शक उन निर्जीव कठपुतलियों को भाँति-भाँति के हाव-भाव दिखाकर नाचते हुए निरख कर परम विस्मित होते हैं, महान् आश्चर्य करते हैं किन्तु उन्हें पता नहीं कि यह सबके सामने निश्चेष्ट-सा बैठा व्यक्ति ही सब नाच नचा रहा है, यही बैठा-बैठा

मंत्र फूँक रहा है। यही अपने छिपे हाथ के झटके से सब कौतुक दिखा रहा है। इसी प्रकार महाभारत में सब किया कराया उन्होंने, संसार में प्रसिद्धि यह हुई कि अर्जुन ने इतना भारी महाभारत युद्ध जीता, इतने बड़े-बड़े शूर वीर योद्धाओं को मार कर सुरपुर पठाया! राजन्! आप ही सोचिये उसमें मेरा था ही क्या?

विराट् नगर में गौ-हरण के युद्ध के समय जब हम सबके सम्मुख प्रकट हुए, तब तक अज्ञातवास की अवधि बीत चुकी थी। दुर्योधन के हृदय में तो पाप था, वह तो किसी भी भाँति हमें राज्यभ्रष्ट करना चाहता था, हमारा पैतृक राज्य देने की उसकी आन्तरिक इच्छा नहीं थी, इसीलिये उसने भाँति-भाँति के बहाने बनाये। कहने लगा—"अज्ञातवास की अवधि के पूर्व ही पांडव प्रकट हो गये। अतः वे नियमानुसार फिर बारह वर्ष बनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करें। पितामह भीष्म ने गणना करके उसे भाँति-भाँति से समझाया, कि पांडव अवधि के पूर्व प्रकट नहीं हुए, किन्तु अज्ञातवास के वर्ष से कुछ समय और भी अधिक हो गया है। किन्तु उसने किसी की भी बात न सुनी, वह अपनी हठ पर अड़ा ही रहा। अन्त में युद्ध होना ही स्थिर हुआ। दोनों ओर से सैन्य-संग्रह होने लगा। दुर्योधन अधिकारूढ़ था, हम सब राज्यभ्रष्ट और साधनहीन थे, फिर भी धर्मात्मा राजा श्रीकृष्ण की सहायता से उनकी प्रेरणा से हमारी ओर लड़ने को तैयार हुए। शेष सभी बलवान् वीरों को सेना सहित दुर्योधन ने अपनी ओर मिला लिया। इस प्रकार उसकी ओर ११ अक्षौहिणी सेना हो गई और हमारी ओर सात ही अक्षौहिणी रही। किन्तु मेरे रथ के सारथि गोपीजनवल्लभ वृन्दावन विहारी श्यामसुन्दर थे। मैंने उनसे कहा—"वासुदेव, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के, बीच में खड़ा कीजिये। मैं देखना

चाहता हूँ, किन-किन शूर-वीरों से मुझे युद्ध करना होगा।"

मेरी आज्ञा पाते ही उन्होंने तुरन्त ही घोड़ों की बागों को खींचा और बात-की-बात में मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीचों-बीच में लाकर खड़ा कर दिया। दो समुद्र जैसे मिलने को बड़े वेग से आ रहे हों, उसी प्रकार मैंने उभय पक्षीय सेना के वीरों को परस्पर में भिड़ने के लिये उत्सुक देखा। जब मेरी कौरव पक्षीय वीरों के ऊपर दृष्टि गई, तो मेरा सभी उत्साह भंग हो गया। भय से नहीं, कायरता से नहीं, मुझे बन्धु-बान्धवों के मोह ने कृपण बना दिया था। मैं जहाँ तक अपनी दृष्टि दौड़ाता तहाँ तक सब अपने सम्बन्धी-ही-सम्बन्धी दिखाई देते। वे सबसे आगे, सबके सेनापति, सफेद दाढ़ी और केश वाले, साक्षात् वीरता की मूर्ति कौरवों के प्रधान सैन्य संचालक पितामह भीष्म खड़े हैं, ये हमारे सगे पिता-के-पिता ही तो हैं। इन्होंने पुत्रवत् हमारा पालन किया है। जब हम धूलि भरे वस्त्रों से निःशंक इनकी गोदी में चढ़कर इनके शुभ्र स्वच्छ वस्त्रों को मलिन बना देते थे, तो ये हम पर क्रोध न करके कितने प्रेम से हमारा मुँह चूमते थे। कितने स्नेह से ये हमें छाती से चिपटाते थे। आज उन्हीं से लड़ना पड़ेगा। इन्हीं की छाती में तीक्ष्ण बाण मारने पड़ेंगे। यह मुझसे न होगा। मैं राज्य के लिये यह क्रूर कर्म कभी न करूँगा।

इनके समीप ही जो वीरता और ब्रह्मतेज की साकार मूर्ति के समान ये दुबले-पतले, किन्तु कठोर पूजनीय विप्रदेव खड़े हैं, ये ही तो हमारे गुरुदेव द्रोण हैं। इन्हीं आचार्य चरणों के अनुग्रह से तो हमें समस्त अस्त्र-शस्त्र प्राप्त हुए हैं। मुझे बली बनाने वाले, त्रैलोक्य विजयी के नाम से प्रसिद्ध कराने वाले ये ही तो भगवान् गौतमनन्दन हैं। कितना स्नेह रखते थे, ये हम पर। मेरे साथ कितना पक्षपात करते थे, ये आचार्य समदर्शी। जब हम

श्रद्धांजलि के पुष्प लेकर इनके चरणों में इन्हें चढ़ाकर अपने जगमगाते मुकुट के सहित सिर को इनके पादपद्मों में रखते, तब ये कितने स्नेह से कहते—"वत्स ! आयुष्मान् हो।" क्या वे ही गुरुदेव आज हमसे लड़ेंगे ? क्या आज हम उनकी बाणों से पूजा करेंगे ? क्या आज हम उन्हें अपने ही बाणों से रक्तरंजित हुआ देख सकेंगे ? यह पाप मैं अपने हाथों कभी नहीं कर सकता।

यह सूतपुत्र कर्ण यद्यपि क्रूर है, सदा हमसे प्रतिस्पर्धा ही किया करता है, फिर भी हमारा सहाध्यायी भाई भी है। हम सब एक ही आचार्य के शिष्य हैं। राजन् तब तक मुझे पता नहीं था, हम गुरु भाई ही नहीं सगे माँ जाये भाई हैं। वे महाभाग कर्ण सूतपुत्र नहीं, किन्तु आपसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ और सम्माननीय मेरे श्रद्धेय आर्य बन्धु हैं। तब तक मैं उन्हें संसार का एक अद्वितीय धनुर्धर और संसार में एकमात्र अपना प्रतिस्पर्धी वीर ही समझता था। यद्यपि मैं उनकी बढ़ती हुई ख्याति से सदा भयभीत ही रहता था, फिर भी उन्हें मार डालने की इच्छा मेरे मन में न हुई। क्यों इन इतने बड़े वीर का व्यर्थ प्राण लिया जाय।

ये अश्वत्थामा हैं। मेरे गुरु पुत्र हैं। सगे भाई के समान हैं। विद्या में, वर्ण में, वय में, बल पराक्रम में मुझसे ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, मेरे पूजनीय हैं, सम्माननीय हैं। ब्राह्मण होकर भी ये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध करने के लिये खड़े हैं। इन्हें मारने के अनन्तर जो राज्य मिलेगा, वह तो ब्रह्मरक्त से सना, भूत प्रेतों का भक्ष्य होगा। उसे भोगकर हम कैसे सुखी होंगे ? मैं गुरुपुत्र तथा ब्राह्मण को कभी मार नहीं सकता, चाहें ये मुझे भले मार दें।

ये हमारे मामा शल्य खड़े हैं। हम इन्हें अपने सगे मामाओं

से भी बढ़कर प्यार करते हैं। ये हमारी दूसरी माँ नकुल सहदेव की जननी माद्री के भाई हैं। मद्र देश से जब ये हमें देखने आते थे, तो कितने सुन्दर-सुन्दर उपहार लेकर आया करते थे। जब हम इन्हें दूर से ही आते हुए देखते, तो दौड़कर माँ कुन्ती के पास उछलते-कूदते जाते और हड़बड़ाहट में उनसे लिपट कर हाँपते हुए कहते—"माँ! माँ! मामाजी आये हैं!" इतना कहकर फिर द्वार पर दौड़ जाते और उनसे लिपट जाते। ये हमें गोद में उठाकर अपने पुत्र के समान प्यार करके, मुँह चूमते और बहुत से उपहारों को सामने रखकर पूछते—"अर्जुन! बता भैया, तुझे कौन-सी वस्तु प्रिय है? बोल तू इनमें से कौन-सी चीज लेगा। मैं झट से एक दो उठा लेता ये हँस जाते, पुचकारते, प्यार करते। आज ये धनुष बाण लिये हमारे प्राण लेने को उतारू हैं। मामा तो हँसी में भी भानजे को नहीं मारते, ये चाहें मारें, मैं इन पर अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग नहीं कर सकता।

ये दुर्योधन हैं। इनकी प्रकृति क्रूर है, इनका स्वभाव निन्दित है, किन्तु किया क्या जाय? अपने अङ्ग की उँगली टेढ़ी हो, तो उसे काट थोड़े ही देते हैं। आँख यदि कानी हो, भैंड़ी हो तो उसे निकाल कर थोड़े फेंक देते हैं। कुछ भी हो ये मेरे सगे ताऊ के लड़के हैं। अवस्था में मुझसे बड़े हैं, अनेकों बार मैंने इनके पैर छुए हैं, बनावटी ही सही शिष्टाचार से ही क्यों न किया हो, इन्होंने मुझे प्यार किया है। आज ये सम्राट पद पर आसीन हैं। ग्यारह अक्षौहिणी सेना के स्वामी हैं। इन्हें मारकर इनके भोगे हुए जूठे राज्य को हमने प्राप्त भी कर लिया, तो क्या उससे हम सुखी होंगे? इनकी रानियों को विधवा बनाकर उनकी उष्ण निश्वास से क्या हमारे हृदयों पर फफोले नहीं पड़ जायँगे? यदि ये सम्राट बनने में ही सन्तुष्ट हैं, तो बने रहें। हम जैसे अब तक भीख माँगकर निर्वाह करते रहे हैं, आगे भी वैसे ही कर लेंगे। कितने

दिन जीना है, इस क्षणभंगुर जीवन के लिये ऐसा क्रूर कर्म क्यों करें। क्यों अपने एक रक्त के भाई का वध करके कुलहत्या का कलङ्क अपने सिर पर चढ़ावें।

इस प्रकार सभी बन्धु-बान्धवों को देखकर मुझे मोह हो गया, मैंने गाण्डीव धनुष धर दिया। तर्कस तूणीर उतार कर फेंक दिये और अपने सारथि श्यामसुन्दर से बोला—"वासुदेव! मेरे रथ को हस्तिनापुर ले चलो।"

चकित होकर वे बोले—"क्यों, वहाँ कुछ भूल आये क्या? युद्धारम्भ के समय यह तुम्हें क्या सूझी?"

अयमनस्क होकर मैंने कहा—"मैं युद्ध नहीं करूँगा।"

आँखें फाड़कर, सूखी हँसी हँसकर, मेरी अवज्ञा-सी करते, वे संसार नाट्यस्थली के सूत्रधार बोले—"क्यों डर गये क्या? बस बोल गई कुकूड़कूँ? इतने ही गहरे पानी में थे?"

मैंने अत्यन्त रोष के साथ कहा—"घनश्याम! आप मेरी हँसी न करें। शूलपाणि-पिनाकपति भगवान् भूतनाथ को जिसने युद्ध में सन्तुष्ट किया हो, वह अर्जुन इन मत्यलोक के प्राणियों से डर सकता है? जिसने अकेले ही निवात कवचों और हिरण्य-पुरवासी देवताओं से भी अवध्य-दैत्यों का, क्रीड़ा के साथ वध कर दिया हो, वह अर्जुन मनुष्यों से डरने वाला है? डर से नहीं, दयावश मैं अपने इन बन्धु-बान्धवों को मारना नहीं चाहता।"

कुछ व्यङ्ग के स्वर में वे श्यामसुन्दर बोले—"बड़े दयावान् हो भैया, फिर तुमने दया करके महाराज पाण्डु को क्यों नहीं बचा लिया?"

मैंने कहा—"तब तो मैं छोटा-सा अबोध बालक ही था, और फिर बड़ा भी होता, तो काल से किसका वश चलता है। अवश्यम्भावी मृत्यु से कौन बचा सकता है?"

वे बोले—"तब जब तुम मृत्यु से नहीं बचा सकते, तो डरते

क्यों हो ? ये सदा जीते ही रहेंगे। तुम दया करके छोड़ दोगे, तो ये अजर-अमर ही बने रहेंगे क्या ?"

मैंने बल देकर कहा—"अपनी मृत्यु से मर जांय यह दूसरी बात है। हम व्यर्थ की हत्या क्यों लें। काल के वशीभूत होकर ये मरेंगे, तो पाप न लगेगा।"

तब वे खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"भैया, अरे अर्जुन ! तू समझता नहीं, इतने दिन साथ रहकर भी तू अज्ञानी ही बना रहा। मैं ही तो काल स्वरूप हूँ। मैं ही आज समस्त लोकों का संहार करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। मैं ही तो तुझे निमित्त बनाकर सबका संहार करा रहा हूँ। तेरी क्या शक्ति है, जो भीष्म, द्रोण जैसे वीरों के सम्मुख खड़ा हो सके ? तेरे रथ पर बैठकर ही मैं सबको निस्तेज और मृतवत बना रहा हूँ। तू न भी लड़ेगा, तो भी ये तो मारे ही जायँगे। ऐसा हो भी नहीं सकता कि तू न लड़े। मैंने तो तेरे द्वारा ही इनकी मृत्यु निश्चित कर दी है। यदि अहङ्कार के वशीभूत होकर तू युद्ध से हटना भी चाहेगा, तो तेरी प्रबल वेगवती प्रकृति तुझे हठात् इस कार्य में नियुक्त कर देगी। ये सब मरे हुए हैं। केवल तुझे प्रतिष्ठा दिलाने को, तेरा सम्मान कराने को, तेरे बाणों से मैं इन्हें फिर मरवाना चाहता हूँ। इसलिये हे वीर ! कायरता का परित्याग करो और मेरे कहने से युद्ध करो।"

उस समय इच्छा न रहने पर भी मुझे लड़ना पड़ा। उनकी नकों के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा। उनके ज्ञान के झण्डे के नीचे विवश होकर नमना पड़ा। राजन ! वे मेरे रथ को क्या चला रहे थे, मानों दो चक्कों वाले काल-चक्र को चला रहे हों। जैसे बिजली जिसके ऊपर भी गिर पड़ती है, उसी का संहार कर देती है, उसी प्रकार उनके नेत्र जिसकी ओर भी उस समय पड़ जाते थे, वही हतवीर्य होकर मृतवत् बन जाता था।

कौरवपक्षीय समस्त योद्धाओं ने सम्पूर्ण बल बटोर कर पूरी शक्ति लगाकर मुझ पर प्रहार किये। वे सभी अस्त्र-शस्त्र अमोघ थे, कभी भी व्यर्थ होने वाले नहीं थे, किन्तु कृष्ण कृपा से वे मुझे स्पर्श तक न कर सके। मेरे समीप होकर सर्र से निकल जाते। सभी महारथी मुझे ही लक्ष्य बनाकर बाण-वर्षा करते, किन्तु उनकी वर्षा उसी प्रकार व्यर्थ हो जाती, जैसे गोवर्धन धारण के समय की, की हुई वर्षा व्यर्थ हो गई थी। नृसिंह भगवान् ने तो अपने तीक्ष्ण नखों से हिरण्यकशिपु का पेट फाड़ा था, किन्तु इन्होंने तो अपनी दृष्टिमात्र से ही सबके हृदय फाड़ दिये थे। सबको हृदय-हीन, बलहीन और क्षीण आयु बना दिया। जिस प्रकार प्रह्लाद को मारने के लिये हिरण्यकशिपु की आज्ञा से दैत्यों ने भाँति-भाँति के उपाय किये, उन्हें जहर पिलाया गया, सर्पों से डसाया गया, पहाड़ से गिराया गया, समुद्र में डुबाया गया, अग्नि में जलाया गया तथा और भी अनेकों यातनायें दी गईं किन्तु उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। उसी प्रकार दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये भीष्म, द्रोण, कर्ण शल्य, आदि सेनापतियों ने मुझे अनेक प्रकार के अमोघ अस्त्र छोड़कर परास्त करना चाहा, किन्तु वे सभी अस्त्र कुण्ठित और व्यर्थ बन गये। मेरा वे कुछ भी न बिगाड़ सके। जो मेरे रथ पर बैठकर सदा मेरी रक्षा करते रहे, शत्रुओं के तेज बल को हरते रहे और मुझे बाणों से बचाते रहे, आज वे मुझे बीच मझधार में तड़फता छोड़कर मेरी आँखों से ओझल हो गये। मेरे सामने से अदृश्य हो गये। उनके बिना मुझे सम्पूर्ण संसार सूना-सूना दिखाई देता है। राजन्! अब यह संसार उसी प्रकार सारहीन धान के तुष के समान हो गया है, जिसमें से चावल निकाल लिया हो। अब हमारी बात पूछने वाला जगत् में कोई नहीं। अर्जुन यह कहते-कहते विकल हो गये।

छप्पय

बार-बार यों कहें फिरैं रणमहँ लै मोकूँ ।
शत्रु पक्ष के अस्त्र परसि पावैं नहिँ तोकूँ ॥
दरसावैं निज कला विविध विधि रथकूँ हाँकैं ।
तजै तेज बल वीर जाहि तिरछे ह्वै ताकैं ॥
राजन् ! रण में काल बनि, सहारे सबही जने ।
अवनि त्यागि अब अखिलपति, वर विकुण्ठवासी बने ॥

हाय ! मैंने हरि से रथ हँकवाया

[५९]

सौत्ये वृतः कुमतिनाऽऽत्मद ईश्वरो मे,
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः ।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठम्,
न प्राहरन्यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १५ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

जिनके कमल समान, पूजि पग मुनि न अघावें।
हृदय कमल महँ ध्याइ, पार भवसागर जावें॥
नहिं पूजे पद पद्म निन्द्य कारज करवायो।
मनमोहन तें महामोह वश रथ हँकवायो॥
समुझि सक्यो नहिं श्याम कूं, मोह्यो तब मैं मन्दमति।
हाय लुट्यो वञ्चित भयो, हृदय फटत मन दुखित अति॥

---

* पश्चात्ताप करते हुए अर्जुन कह रहे हैं—"हाय ! जिन पादपद्मों का ध्यान ज्ञानी पुरुष मोक्ष के निमित्त करते हैं। उन्हीं जगत के स्वामी को मुझ मन्दमति ने अपना सारथि बनाया—घोड़ों की रास पकड़ा कर रथ हँकवाया। जयद्रथ वध के दिन जब मेरे घोड़े थक गये थे, तब जिनकी आज्ञा से बीच युद्ध में दिव्यास्त्रों से सरोवर बनाकर मैं रथ से उतरकर पृथ्वी पर खड़ा हो गया था। उस समय शत्रु पक्ष के महारथी मिलकर मुझे मार सकते थे, किन्तु जिनके प्रभाव से मुग्ध चित्त होकर वे कुछ भी मेरा बिगाड़ न सके, वे ही श्यामसुन्दर आज मुझे छोड़कर चले गये।"

नित्य निरन्तर साथ रहने से बड़ों से भी हम निर्भीक हो जाते हैं, उनसे उतना संकोच नहीं रहता। फिर जो बड़े स्वयं अपने को बड़ा न समझ कर बराबरी वालों का सा ही बर्ताव करते हैं, उनसे तो कुछ भेद-भाव रहता ही नहीं। हम उनकी कृपा और उदारता के कारण उनका महत्व भूल जाते हैं और बराबरी का-सा व्यवहार करने लगते हैं। जब वे छोड़कर चले जाते हैं, तब उनका महत्व स्मरण होता है और उसकी सभी बातें हमारे हृदयपटल पर चलचित्र के समान आ-आकर नृत्य करने लगती हैं। यदि कभी भूल में स्वार्थवश हमने उनसे किसी अयोग्य कार्य करने का प्रस्ताव कर दिया हो और उन्हें स्नेह पूर्वक यह कहकर निषेध कर दिया हो, कि भैया, देखो—यह काम मेरी पद प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है, इसे मुझसे मत कराओ। तब पीछे हमें सन्तोष होता है, कि उन्होंने उस समय हमें पाप से बचा लिया। इसके विपरीत यदि वे निषेध न करके अपनी उदारता वश उस अनुचित कार्य को भी हमारे स्नेह के कारण प्रसन्नता से कर दें, तो पीछे बड़ा पश्चात्ताप होता है—हाय! हमने अपने स्वार्थ वश उन महान् से-महान् व्यक्ति से कैसा निन्दित कार्य कराया। उनकी पद प्रतिष्ठा पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। यह बात हृदय को रह-रहकर नोंचती है, मार्मिक पीड़ा पहुँचाती है।

भगवान् से अपना सारथ्य कार्य कराकर अब अर्जुन को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्हें भगवान् का महत्व अब मालूम हुआ, अब उन्हें ज्ञात हुआ कि जिनकी पूजा करनी चाहिये थी, उनसे मैंने भृत्य का, सेवक का, सूत का, अनुचित कार्य कराया। पहिले जो युद्ध के रथ होते थे, वे खुले हुए हुआ करते। उनमें सबसे ऊँचे आसन पर रथी बैठता था। रथी के पीछे अत्यन्त दृढ़ रथ का ध्वज दण्ड रहता था। जिसके ऊपर

अपने-अपने पृथक्-पृथक् चिन्हों से चिन्हित विशाल ध्वजा फहराया करती थी। जिस ध्वजा को देखकर ही सब समझ जाते थे, कि यह अमुक का रथ आ रहा है। ध्वजा इतनी विशाल होती थी, कि योजनों से दिखाई देती थी। ध्वजा के पीछे कुछ लोगों के खड़े होने की जगह होती थी। जहाँ रथी के पृष्ठ रक्षक योद्धा अस्त्र-शस्त्र लिये उनके पृष्ठ भाग की रक्षा करते थे। दोनों पहियों के पास भी कुछ जगह होती थी। जहाँ पार्श्वरक्षक खड़े होकर उसकी दायीं बाईं ओर से रक्षा करते थे। सामने इतनी नीची जगह पर रथ हाँकने वाला सारथि बैठता था, जहाँ रथी के दोनों पैर पहुँच सकें। सारथि के इधर-उधर कुछ सैनिक खड़े रहते थे जो सारथि और घोड़ों की रक्षा करते थे। रथ के पीछे एक छोटा-सा रथ के आकार का ही ठेला-सा और जुड़ा रहता था। जिसमें भाँति-भाँति के अस्त्र-शस्त्र भरे रहते थे, रथी पर अस्त्र चुकते ही पृष्ठ रक्षक उनमें से निकाल-निकाल कर देते जाते थे। रथ में और जो सैनिक रहते थे, वे धर्मानुसार किसी से युद्ध नहीं करते थे, उनका काम केवल आये हुए बाणों से रथी और सारथी की रक्षा करना और उन अस्त्रों का प्रतीकार करना मात्र ही था युद्ध अकेला रथी ही करता था। युद्ध के कोलाहल में रथी अपने सारथि को मुँह से आज्ञा प्रायः नहीं दिया करता था, कि मेरे रथ को दायें लौटाओ या बायें। मुँह से आज्ञा न देने के कई कारण थे। एक तो कोलाहल में सुनाई नहीं देता था। दूसरे रथी का सम्पूर्ण ध्यान शत्रुओं के संहार की ही ओर रहता था। तीसरे उसकी बात को सुनकर सम्मुख शत्रु उनका तुरन्त प्रतीकार कर सकते थे। चौथे रथ में स्थित अन्य सैनिकों का ध्यान भी बँट सकता था। इन्हीं सब कारणों से रथी मौन होकर ही आज्ञा देता था। बातें तो वह प्रायः अपने शत्रुओं से ही करता था। रथ के लोगों से वह संकेत

कार्य चलाता था।

सारथि की दोनों कनपुटियों पर रथी के पैर के अँगूठे रखे रहते थे। जिस ओर रथ घुमाने की इच्छा हुई, उधर की ही कनपुटी अँगूठे से दबा दी। सारथि तुरन्त उसी ओर रथ ले जाता था। यदि एक साथ तुरन्त पीछे रथ घुमाने का काम पड़ता, तो रथी पैर के दोनों अँगूठे में बल लगाकर सारथि का मुँह मोड़ देता जिससे सारथी तुरन्त लौटाकर भगा देता। अर्जुन भी ऐसा ही करते थे। उनके दोनों अँगूठे श्यामसुन्दर की काली-काली घुँघराली लटकी हुई लटों से ढकी कनपुटियों पर ही रहते थे। निरन्तर अँगूठों के घर से प्रतीत होते थे। आज उसी को स्मरण करके अर्जुन रो रहे हैं। हाय! जिनके पादपद्मों की पूजा, ऋषि, मुनि, ज्ञानी, ध्यानी, ब्रह्मर्षि, देवर्षि बड़े-बड़े तपः-पूत पुरुष मोक्ष के निमित्त करते हैं। जिन पादपद्मों को त्रैलोक्य सुन्दरी लक्ष्मीजी डरते-डरते स्पर्श करती हैं, कि कहीं मेरे कठोर करों से कष्ट न हो, जिन पादपद्मों की पावन पराग को पाकर ब्रह्मादिक देवता भी अपने को कृत-कृत्य मानते हैं, जिनके धोवन से त्रैलोक्य को पावन करने वाली, भगवती भागीरथी उत्पन्न हुई हैं, उन प्रभु के अरुण चरणों की मैंने सिर से पूजा नहीं की। उनकी जगत् पावन पराग को मस्तक पर नहीं धारण किया। उलटे उनके ही जगद्वन्द्य मस्तक पर अपना कलुषित पैर रख-रखकर पाप बटोरा।'

वे कितने महान् थे, उनकी महानता की बराबरी संसार में कौन कर सकता है। मैंने उन्हें जो बनाया बन गये, जो कराया वही किया, जो बात कही वही सुन ली! हाँ कितने प्यार से मुझसे बोलते थे। अर्जुन! भैया पृथानन्दन! मित्रवर! हे कुरु-कुल तिलक! जब वे मुँह भरकर इन सम्बोधनों को कहते, जब मुझे भैया कहकर पुकारते, तो कितनी प्यारी लगती थी, उनकी

वाणी। उनके उच्चारण में कितना स्वारस्य था। हाय! अब मुझसे इतने प्रेम से कौन बोलेगा? कौन इस प्रकार कह-कहकर मेरे उत्साह को बढ़ावेगा। वे बातें जब याद आती हैं, हृदय चूर-चूर हो जाता है, छाती फटने लगती है। चित्त में उथल-पुथल होने लगती है।

हस्तिनापुर में मैं देखता कि वे रात्रि में बड़ी देर तक बैठे ही हैं, मुझे अन्तःपुर से आने में कुछ विलम्ब हुआ उन्हें बैठे देखकर मैं पूछता—"श्यामसुन्दर! आप अभी सोये नहीं?" अत्यन्त स्नेह के स्वर में कहते—"भैया, अर्जुन! तेरे बिना मुझे नींद आती ही नहीं।" उन वासुदेव को मेरी क्या अपेक्षा थी, किन्तु उनका स्नेह था। घूमने जाते तो बच्चों की भाँति डरते-डरते आपके पास आते। जैसे छोटा बच्चा सकुचाकर अपने माता, पिता अथवा गुरु से आज्ञा माँगता है, वैसे ही आपके सम्मुख खड़े हो जाते और संकोच के स्वर में कहते—"हम लोग घूमने जाना चाहते हैं, आपकी आज्ञा हो तो चले जायँ, जल्दी ही लौट आवेंगे।" आप जब आज्ञा दे देते, तो बड़े प्रमुदित होकर मेरे गले में गलबहियाँ डालकर चल पड़ते। उस समय वे कितनी घुल-घुल कर बातें करते थे।

कहीं बैठना हुआ और हमारे दोनों के लिये दो आसन बिछाये गये हों, तो वे अपने आसन पर नहीं बैठते थे। मेरे आसन पर आकर मुझसे खूब सट कर बैठ जाते और हँस पड़ते। मैं कहता—"श्यामसुन्दर! तुम्हारा लड़कपन अभी तक नहीं गया?" इतना सुनते ही बड़े जोरों से खिलखिला कर हँस पड़ते। हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते और फिर प्यार से कहते—"अर्जुन! मैं नहीं चाहता, मेरा लड़कपन चला जाय। मैं इसी तरह बच्चों की तरह हँसता-खेलता ही सदा बना रहना चाहता हूँ। यह लड़कपन ही तो मेरी सम्पत्ति है। हँसना

तो जीवन का व्यापार है, रोवे वह जिसकी नानी मर गई हो। मेरी नानी जीवित है नाना जीते हैं। एक नहीं सात-सात मातायें जीती हैं, सब मुझसे प्यार करती हैं। फिर मेरे रोने का क्या कारण है ?"

तब मैं हँसते-हँसते कहता—"तब फिर वह जो सोलह हजार की पूरी फौज इकट्ठी कर रखी है, सो ? यह सुनते ही फिर हँस पड़ते। न बुरा मानते न कभी अप्रसन्न होते। बात-बात पर हँसना, मुस्करा जाना यही उनका स्वभाव था।"

द्वारका में हम रहते, भोजन का समय हो जाता। महल से बुलावे पर बुलावे आते वे नहीं जाते। यही बार-बार पूछते—"अर्जुन कहाँ गया ? अर्जुन कहाँ गया ?" जब मैं आ जाता तो मुझे साथ लेकर ही जाते। एक साथ ही खाते। कभी-कभी मौज में आकर अपने सम्बन्ध की बड़ी बातें करने लगते। मैंने यह किया, मैंने वह किया, इसे मारा, उसे मरवाया। उसको पछाड़ा, उसे यमपुर पठाया। तब मैं कहता—"तुम रहने दो, अपनी बहुत डींगे क्यों हाँकते हो ? यशोदा के सामने मिट्टी खाने पर झूठ बोले। डरकर मथुरा छोड़कर समुद्र में आ छिपे। बड़े सत्यवादी बने हैं। तुम्हें डींग ही मारनी हो तो उन रानियों के सामने मारा करो, जो भेड़ बकरी की तरह इतनी इकट्ठी कर रखी हैं। मेरे सामने ये आकाश पाताल के कुलावे एक मत किया करो।" उनकी स्त्रियों के सामने ऐसी बातें कहने पर भी वे कभी क्रोध न करते। इन बातों को उसी प्रकार सह लेते जैसे छोटे बच्चे के प्रहार को माँ सह लेती है। जैसे युवा पुत्र की कड़ी बातों को पिता अनसुनी करके उपेक्षा कर देता है।

जब महाभारत युद्ध होगा ही यह बात एक प्रकार से निश्चय हो गई तब आपने मुझे द्वारका में भगवान् के समीप रण निमन्त्रण देने भेजा। दुर्योधन तो सदा इसी घात में रहता था,

कि संसार के सभी योद्धा उसी की ओर से लड़ें। हमारी ओर कोई भी राजा न आने पावे। क्षत्रियों का यह नियम होता है, कि जिसका रण निमन्त्रण पहिले पहुँचता है, उसी की ओर से युद्ध करते हैं, तो दुर्योधन किसी प्रकार श्यामसुन्दर को अपनी ओर करना चाहता था। जब उसने सुना कि मैं उन्हें निमन्त्रित करने जा रहा हूँ, तो वह शीघ्रगामी रथ के द्वारा मुझसे पूर्व ही रातों-रात चलकर द्वारका पहुँच गया। भगवान् उस समय शयन कर रहे थे। वह अभिमानी शयन गृह में ही उनके सिरहाने आकर तन कर बैठ गया। पहुँचने पर जब मुझे पता चला कि दुर्योधन तो भगवान् के शयन-गृह में ही चला गया, तो मैं भी जल्दी-जल्दी उधर ही गया। वैसे भगवान् सदा अरुणोदय पूर्व ही उठ जाते थे, किन्तु उस दिन सूर्योदय तक सोते ही रहे। जब मैं जाकर उनके चरणों के समीप बैठ गया, तो वे राम-राम नारा-यण-नारायण करते हुए अपनी बड़ी-बड़ी कमल के समान अरुण आँखों को मलते हुए उठे। उन्होंने दुर्योधन को देखते हुए भी नहीं देखा। मुझसे उठते ही पूछने लगे—"ओहो ! आज तो अर्जुनजी आये हैं ? स्वागतम् ! स्वागतम् !" इतने में दुर्योधन बोल उठा—"महाराज ! मैं इस अर्जुन से पहिले आकर आपकी सेवा में बैठा हुआ हूँ।"

इतना सुनते ही पीछे मुड़कर अनजान की तरह संभ्रम के साथ कहने लगे—"अहा ! अच्छा ! महाराज दुर्योधन भी पधारे हैं ? धन्यवाद ! धन्यवाद !"

दुर्योधन दृढ़ता के स्वर में बोला—"धन्यवाद, धन्यवाद तो पीछे होगी। धर्मवेत्ता क्षत्रिय पहिले आये हुए का ही निमन्त्रण स्वीकार करते हैं, अतः आपको मेरी ओर से लड़ना पड़ेगा।"

भगवान् बोले—"हाँ भाई, युद्ध का तो नियम ऐसा ही है। जो भी दोनों पक्षों में से पहिले आ जाय धर्मात्मा क्षत्रिय उसे

ही वचन देते हैं। फिर आप तो दोनों ही हमारे सम्बन्धी हैं, हमारे लिये एक-से हैं। दोनों की ही हमें सहायता भी करनी चाहिये। यद्यपि आप पहिले आ गये होंगे। इस बात को मैं मानता हूँ, किन्तु मैंने तो सबसे पहिले उठकर अर्जुन को ही देखा है, अतः आप पूर्व आने से और अर्जुन को आपसे पूर्व देखने से दोनों मेरे लिये बराबर हो गये। अब मैं दोनों की ही समान रूप से रक्षा करूँगा।"

दुर्योधन बोला—"नहीं महाराज! आप यह अन्याय कर रहे हैं। सबसे पूछ लें मैं पहिले ही आकर बैठा हूँ।"

भगवान् कुछ चिढ़कर बोले—"हाय! महाराज आप कैसी बातें कर रहे हैं। दूसरों की साक्षी क्यों लूँ। मुझे आपकी बात पर विश्वास है। आप अवश्य ही पहिले आये होंगे किन्तु मेरी दृष्टि तो उठते ही अर्जुन पर ही पड़ी। देखिये, मेरे पास करोड़ो गोपों वाली रण में कभी न पराजित होने वाली नारायनी सेना है। एक ओर तो मेरी वह नारायनी सेना और दूसरी ओर अकेला निहत्था मैं। सो मैं भी युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊँगा, लड़ूँगा नहीं, केवल ऊपरी काम सम्मति आदि दे सकता हूँ। इन दोनों में आप अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ग्रहण कर लें। अर्जुन आपसे छोटा है। वस्तुओं को पाने में बच्चे का सर्व प्रथम अधिकार होता है, बच्चों से बचने पर ही बड़े लेते हैं, अतः पहिले अर्जुन एक चीज ले लें।"

दुर्योधन समझ रहा था, कि कहीं मैंने समस्त नारायणी सेना माँग ली तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। किन्तु मुझे सेना क्या करनी थी, मैंने छूटते ही कहा—"भगवन्! मुझे सेना नहीं चाहिये आपको चाहिये।"

भगवान् मेरी ओर आश्चर्य चकित होकर बार बार देखते हुए बोले—"भैया! भली प्रकार कान खोलकर सुन लो। मैं

लड़ूँगा नहीं। रण में शस्त्र न उठाऊँगा। तुम मोह में मत फँसो, अपना हिताहित सोच समझकर तब किसी वस्तु को ग्रहण करो।"

इतने में ही दुर्योधन बोला—"महाराज ! यह आप बहुत गड़बड़-सड़बड़ कर रहे हैं। जब उसने आपको स्वीकार ही कर लिया, तब आप उसे उलटी पट्टी क्यों पढ़ा रहे हैं। अब आपकी प्रतिज्ञानुसार समस्त सेना मेरी ओर हुई, आप अकेले अर्जुन के भाग में आये। अब इसमें फेर फार न होगा। मुझे यह निर्णय सहर्ष स्वीकार है।"

भगवान् फिर हँसते हुए अर्जुन से बोले—"अरे, मुझ निहत्थे को लेकर अर्जुन तुम फिर ठग गये। लड़ने वाली नारायणी सेना तुमने क्यों नहीं माँगी ?"

मैंने दृढ़ता के साथ कहा—"वासुदेव ! मुझे सेना की आवश्यकता नहीं, मुझे तो आपकी आवश्यकता है।"

दुर्योधन शीघ्रता से अपने आसन से उठा और बोला—"अच्छी बात है यदुनन्दन ! आप अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहें। आपकी समस्त सेना मेरी रही।" इतना कहकर वह उसी समय उठकर बलदेवजी के पास चला गया।

दुर्योधन के चले जाने के अनन्तर श्यामसुन्दर मुझे अपनी रेशमी रजाई में छिपाते हुए, मेरा दृढ़ आलिङ्गन करते हुए बोले—"अर्जुन ! भैया, तुमने सेना न माँगकर मुझ निहत्थे को क्यों माँगा ? मुझसे तुम क्या काम कराना चाहते हो ?"

हाय ! उस समय मेरी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये। उस समय श्यामसुन्दर ने मेरे विवेक को हर लिया। अपना समस्त ऐश्वर्य मेरे सामने से छिपा लिया। उस समय मुझे कहना चाहिये था—"प्रभो ! मैं नित्य आपकी पूजा किया करूँगा। नित्य आपके अरुण चरणों को धोकर पीया करूँगा। युद्ध में जाते समय और

युद्ध से लौटते समय अपने पलकों से आपके पादपद्मों की पुनीत पराग को झाड़ा करूँगा। आपको अपने हृदय मन्दिर में बिठाकर सर्वदा आपका ध्यान किया करूँगा।" यह सब न कह कर मैंने कहा—"श्यामसुन्दर! तुम्हें मैं अपना सारथी बनाना चाहता हूँ। हे वासुदेव! यदि आप मुझे सारथी मिल जायँ, मेरे रथ को हाँकने वाले हो जायँ तो मैं अकेला ही त्रैलोक्य को विजय करने में समर्थ हो सकता हूँ।"

राजन्! उस समय वे मुझे डाँट देते, या स्नेह से ही कह देते—"भैया! यह काम मेरे अनुरूप नहीं। यह काम तो हीन वर्ण वाले सूतों का है।" किन्तु प्रभो! उन्होंने ऐसा नहीं कहा। अत्यन्त उल्लास के स्वर में मेरी प्रशंसा करते हुए बोले—"वाह! यह तुमने बड़ी सुन्दर बात सोची। रथ हाँकने की विद्या में तो मैं परम प्रवीण हूँ। मैं तुम्हारा रथ हाँकूँगा।"

महाराज! अब मैं सोचता हूँ, तनिक-सी विजय के लिये प्रशंसा और प्रतिष्ठा के लिये, मैंने अखिल भुवनों के ईश्वर से, जिनके पादपद्मों की पूजा बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, मोक्ष प्राप्ति के निमित्त करते हैं, उनसे तुच्छातितुच्छ सारथ्य कर्म कराया। उनके सिर पर पैर रखकर मैंने उन्हें आज्ञा दी और वे भी मेरी प्रत्येक आज्ञा का सच्चे सेवक की तरह, वेतन भोगी भृत्य की भाँति-पालन करते रहे।

महाराज वह दिन मुझे कभी न भूलेगा जिस दिन अपने पुत्र को मारने वाले जयद्रथ के वध की मैंने घोर प्रतिज्ञा की थी। मेरी भीषण प्रतिज्ञा थी, कि आज सूर्यास्त तक यदि जयद्रथ को न मार सका, तो मैं जीवित ही अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। उस इतनी बड़ी विपुल सेना में से अनेकों द्रोण, कर्ण, शल्य आदि के समान वीर योद्धाओं से घिरे जयद्रथ को ढूँढ़कर निकालना और उसे मार डालना उतना ही कठिन कार्य था, जितना सर्प के

लिये सुमेरु के नीचे छिपे बिल से चूहे के बच्चे को निकालना कठिन है, किन्तु कृष्ण की कृपा से मेरी वह असंभव प्रतिज्ञा भी सम्भव हो गई। पूरी न होने वाली प्रतिज्ञा भी पूरी हो गई।

यद्यपि वे बनावटी सारथी बने थे, किन्तु उन्होंने जो भी बाना पहिना, उसी का पालन बड़ी बुद्धिमानी के साथ किया। सारथ्य कर्म इतनी निपुणता के साथ किया, कि कोई कुलपरंपरागत सारथी क्या कर सकता है। जयद्रथ वध के दिन ही सभी महारथियों ने मुझे घेर लिया। असंख्यों बाण सभी ने एक साथ मेरे ऊपर छोड़े। उस दिन सभी ने मुझे मार डालने और जयद्रथ को बचाने की प्राणपण से चेष्टा की। जयद्रथ को कोसों दूर अनेकों व्यूहों से सुरक्षित करके सबने छिपा लिया उसके पास तक मैं न पहुँच सकूँ, इसीलिये सब मुझे घेरकर बीच में ही उलझाये हुए थे। वे मेरे दिव्य रथ को तोड़ नहीं सके किन्तु घोड़ों को बुरी तरह घायल कर दिया।

बीच रणक्षेत्र में जहाँ चारों ओर से बड़े-बड़े शूर वीर योद्धा मुझे घेरे खड़े हैं, वहीं मेरे सारथी श्यामसुन्दर बोले—"अर्जुन ! अब घोड़े नहीं चल सकते।"

इतना सुनते ही मेरा मुख मलिन पड़ गया। मैंने सोचा—"आज मेरी प्रतिज्ञा पूरी न होगी, मुझे अपने आप अग्नि में जीते हुए ही प्रवेश करना पड़ेगा।" भयभीत होकर विनीतभाव से मैंने कहा—"श्यामसुन्दर ! किसी तरह भी हो मेरे रथ को जयद्रथ के सम्मुख ले चलो।" वे रुखाई के साथ बोले—"अजी, तुम कैसी बात कर रहे हो ? यदि घोड़ों में कुछ भी शक्ति होती, तो मैं कोई बात उठा रखता ? तुम देखते नहीं इनके शरीर में तिल भर भी स्थान ऐसा नहीं जिनमें बाण न घुसे हों। युद्ध करते-करते ये श्रांत हो गये हैं, अब ये एक पग भी नहीं बढ़ सकते।"

चिन्तित स्वर में मैंने कहा—"तब प्रभो! कोई उपाय है? कैसे हम आज प्रतिज्ञा पूरी कर सकेंगे?"

वे बोले—"हाँ, एक उपाय है। यदि घोड़ों को पानी मिल जाय और वह पानी इतना विपुल हो, कि घोड़े उसमें तैर सकें, मैं इनकी मालिश कर दूँ, बाण निकाल दूँ, तो फिर स्वस्थ होकर ये दौड़ सकते हैं।"

बीच रण में शत्रुओं से घिरे हुए वहाँ इतना जल कहाँ हो सकता है, किन्तु उन्होंने मेरे अन्तःकरण में घुसकर प्रेरणा की। मैंने कहा—"वासुदेव! आप रथ में से घोड़ों को खोल दें, मैं अभी यहाँ सरोवर बनाता हूँ।"

आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए वे बोले—"अरे, भैया! तेरे चारों ओर बड़े-बड़े बलवान् शत्रु खड़े हैं, तुझे पृथ्वी में नीचे खड़ा देखकर मार डालेंगे। यह तू कैसी बात कर रहा है?"

मैंने दृढ़ता के साथ कहा—"देवकीनन्दन! आपके रहते हुए न तो मुझे कोई मार सकता है, न पराजित ही कर सकता है, आप मेरी परीक्षा न लें। देर करने का काम नहीं। जयद्रथ वध में विलम्ब हो रहा है।"

इतना सुनते ही द्वारकानाथ मुस्कराये। उन्होंने घोड़े ढील दिये। मैं अपना गाण्डीव धनुष तान कर पृथ्वी पर खड़ा हो गया और चारों ओर से घिरे शत्रुओं को देखने लगा। मेरे सारथी श्यामसुन्दर ने स्वयं घोड़ों के शरीर से खींच-खींच कर बाण निकाले। अपने कर कमलों से उनकी भली-भाँति मालिश की। भगवान् की मोटी-मोटी हथेलियों की गद्दियों की रगड़ से घोड़ों की सभी थकावट दूर हुई। तब मुझसे वे घोड़ों के रक्षक यदुकुल तिलक बोले—"अर्जुन! घोड़े अब जल चाहते हैं।" मैंने अपने धनुष पर वरुणास्त्र से अभिमन्त्रित करके एक दीप्तिमान् बाण चढ़ाया और उसे तान कर पृथ्वी में छोड़ा।

देखते-देखते पलक मारते ही वहाँ सुन्दर, स्वच्छ जल वाला एक मनोहर सरोवर बन गया। भगवान् यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने घोड़ों को उसमें जल पिलाया। स्वयं घोड़ों के साथ उस अगाध सरोवर में घुस गये। मलते हुए उन्हें जल में तैराया। तैरकर जब घोड़ों ने फुरहरी ली, तभी उनकी सभी क्लान्ति तथा थकावट मिट गई। भगवान् मेरी प्रशंसा करते हुए बोले—"वाह ! अर्जुन ! तुम धन्य हो।" मेरे इस आश्चर्य-जनक कार्य को देखकर सभी शत्रु भौंचक्के से रह गये। वे मेरे ऊपर प्रहार करना भूल गये और एकटक होकर मेरे और श्यामसुन्दर के कार्यों को कुतूहल की दृष्टि से देखते-के-देखते ही रह गये।

इस प्रकार हे भरतकुलभूषण, महाराज ! भगवान् ने कैसे-कैसे स्थानों में मेरी रक्षा की। कैसे-कैसे संकटों से मुझे बचाया। गर्भस्थ बालक की जैसे माता सावधानी से रक्षा करती है, उसी प्रकार वे मेरी सदा रक्षा किया करते थे। ऐसे जगत्पति को मैंने लोभवश, प्रशंसा और प्रतिष्ठा के लिये, क्षणमात्र के सम्मान के लिये युद्ध में सारथी बनाया। अब तक मुझे अभिमान था, महाभारत युद्ध में मेरे बाहुबल से ही विजय प्राप्त हुई, मैंने ही अपने तीक्ष्ण बाणों से भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे महारथियों को पराजित किया है, किन्तु अब मुझे प्रतीत हो गया कि वह मेरी विजय न होकर श्यामसुन्दर की विजय थी। मैंने उन्हें न मारकर काल स्वरूप श्रीकृष्ण ने ही उन्हें अपनी दृष्टि-मात्र से मारा था, उनके बिना मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं तो वही हूँ, किन्तु आज मुझे जङ्गली भीलों ने हरा दिया। श्रीकृष्ण के रहित होने पर मेरे धनुष-बाण सब धरे के धरे ही रह गये। मेरे सभी अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित हो गये। आज उस तपस्विनी का शाप सत्य हुआ। आज मैं नगण्य पुरुषों से परा-

जित हुआ। आज मेरा भी बढ़ा हुआ अभिमान चूर-चूर हो गया। राजन् अब आगे संसार में अपमान ही अपमान देखना हो, पापियों से पराजित होना हो, तब तो इस पृथ्वी पर रहिये, नहीं तो शीघ्र ही उत्तराखण्ड की ओर प्रस्थान करें। अब कलियुग आ गया, अब पृथ्वी रहने योग्य नहीं रही।" इतना कहकर अर्जुन रोने लगे।"

छप्पय

कहूँ कहाँ तक प्रभो! श्याम मोकूँ अपनायो।
घोड़े घायल भये चले नहिं मैं घबरायो॥
सब शत्रु निते घिर्यो डर्यो हरि नेह निहार्यो।
समुझि श्याम संकेत बाणतें नीर निकार्यो॥
हय प्यासे तैराइकें, शर निकारि मलि जोरि रथ।
चले, शत्रु मोहित करे, गये त्यागि अब हम विरथ॥

देवर्षि नारद

श्रीभागवत-दर्शन

भागवती कथा

(चतुर्थ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन
झूसी (प्रयाग)

प्रकाशक
संकीर्तन भवन प्रतिष्ठानपुर
झूसी, प्रयाग

मुद्रक
भागवत प्रेस
झूसी, प्रयाग

॥ श्रीहरिः ।

(ब्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य पाठ के योग्य अनुपम महाकाव्य)

श्रीभागवतचरित

[रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी]

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रंथ हैं। हिन्दी भाषा रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये था, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रंथ ब्रजभाषा के छप्पय छंदों में लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागों में विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल, सरस तथा प्राञ्जल छंदों में गाया गया है। सैकड़ों नर-नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पण्डित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पंडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठकी पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़ेकी टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उसपर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजारमें ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधार लें। न्यो-छावर केवल ५.२५ न०पै० सवापाँच रुपये मात्र, डाकव्यय पृथक्।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
६०—जङ्गली गोपों द्वारा पराजित होने का शाप	... ५
६१—जङ्गली गोपों द्वारा पराजय ...	... २२
६२—यदुवंश विनाश वार्ता ...	... ३१
६३—भगवत् वियोग में कुन्ती का देह त्याग	... ४०
६४—महाराज परीक्षित् का राज्याभिषेक	... ५१
६५—पाँचों पाण्डवों का परलोक प्रयाण	... ६०
६६—महाराज परीक्षित् ...	... ७१
६७—महाराज परीक्षित् की दिग्विजय ...	... ८४
६८—भगवान् पाण्डवों की रक्षा कैसे करते थे ?	... ९४
६९—दिग्विजय के प्रसंग में पृथ्वी धर्म सम्वाद	... ११०
७०—पृथ्वी द्वारा निज दुःख का कारण बताना	... १२१
७१—महाराज परीक्षित् की कलियुग से भेंट	... १३३
७२—धर्म और परीक्षित् सम्वाद ...	... १४२
७३—महाराज परीक्षित् द्वारा कलि को अभयदान	... १५५
७४—कलियुग के रहने को स्थान प्रदान	... १६९
७५—महाराज परीक्षित् के उत्तर चरित का प्रश्न	... १८२
७६—महाराज परीक्षित् शमीक मुनि के आश्रम में	... १९४
७७—विधि के विधान की प्रबलता ...	... २१२
७८—मुनि के गले में मरा सर्प डाल कर लौटना	... २३९

जंगली गोपों द्वारा पराजित होने का शाप

(६०)

सोऽहं नृपेन्द्र ! रहितः पुरुषोत्तमेन,
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेनशून्यः ।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्,
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० २० श्लो०)

छप्पय

राजन् ! हरि ने ठग्यो घट्यो बल मेरो सबरो ।
गये सुदिन वे बीति अंत अब आयो हमरो ॥
अस्त्र न आवै याद शस्त्र सब भूले अबई ।
पुरुषोत्तम तैं रहित भयो गुण गमने सबई ॥
गंगा तट पै तापसी, शाप क्रोध करि जो दयो ।
सम्मुख आयो आजु वो, अबला सम मैं लुटि गयो ॥

विधि की कैसी विडम्बना है, काल की कैसी कुटिल गति है। संसारी सुख की सब वस्तुओं के रहते हुए भी मनुष्य दुखी से

---

१ अर्जुन जी महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं—हे राजेन्द्र ! जिसने ऐसे-ऐसे पराक्रम के कार्य किये वही मैं आज अपने परम प्रेमास्पद

दिखाई देते हैं, इसके विरुद्ध बहुत से संसारी कुछ भी वस्तु न रहने पर सुखी प्रतीत होते हैं। यथार्थ बात तो यह है, वस्तु में सुख नहीं। समय की बलिहारी है। किसी समय जो वस्तु सुख देने वाली होती है, वही दूसरे समय दुःख की जननी हो जाती है। कभी जिससे विजय प्राप्त करते हैं, कुछ समय आने पर उसी से पराजय का सामना करना पड़ता है। जब अर्जुन ने बार-बार गोप भिल्ल जंगली जाति के दस्युओं द्वारा पराजय की बात कही, तब धर्मराज विस्मित होकर अर्जुन से पूछने लगे—'भैया' अर्जुन तूने कई बार यह बात कही, कि मुझे दस्युओं ने लूट लिया। उनसे पराजय हुआ। यह कब की बात है? इसके पूर्व तो तुमने कभी हमें यह बात सुनाई नहीं। क्या द्वारका पुरी से लौटते समय तेरे साथ यह घटना घटित हुई? कैसे तुझे जङ्गली गोपों ने जीत लिया? आभीर तुम्हारा सामना कैसे कर सके? क्या तेरे पास गांडीव धनुष नहीं था। और किस तापसी का शाप तुम्हें हुआ था जो सत्य हुआ? इन बातों को बताकर मेरी समस्त शङ्काओं का समाधान करो।"

धर्मराज के ऐसा पूछने पर रोते-रोते अर्जुन बोले—"राजन्! क्या कहूँ, कुछ कहते नहीं बनता। कहने में लज्जा भी आती है और ग्लानि भी होती है। अपने इस परिवर्तन से मेरा हृदय फटा जाता है, बार-बार घनश्याम की अहैतुकी

सखा और सुहृद् श्री कृष्ण से रहित होकर शून्यहृदय हो गया हूँ। महाराज! भगवान् की स्त्रियों को यहाँ ला रहा था, सो मार्ग में ही मुझे नगण्य जंगली गोपों ने एक अबला स्त्री की भाँति परास्त कर दिया। उनके सामने मेरा कुछ भी पुरुषार्थ न चला।

कृपा का स्मरण होता है। वे प्रेमवारि बरसाकर चले गये और फिर सूखा डालकर उगे हुए अंकुर को सुखा गये। जिस वेलि को प्रेमजल से सींचा था उसे कुकाल की गर्मी से जीवन-हीन बना कर जाने किधर भाग गये? यह गोपों द्वारा लूटे जाने की घटना अभी की है। द्वारका से लौटते समय ही वह हृदय को विकल बना देने वाली घटना घटित हुई। भगवान ने इसका आभास तो मुझे अपने सन्मुख ही करा दिया था किन्तु तब तक मैंने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। उस समय मुझे अपने गांडीव धनुष का, अपने बल पौरुष और दिव्यास्त्रों का अभिमान था। मैं सोचता था—मेरा कोई कर ही क्या सकता है? जिन अस्त्रों से भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे महारथियों को परास्त किया है, उसका सामना संसार में दूसरा कौन कर सकेगा? मुझे अपने बाहु-बल से पराजित करने का साहस किसमें हो सकता है? यह बात तो अब मालुम हुई, कि वह बल मेरा नहीं था, बलदेव के छोटे भाई का बल था।

"महाराज! एक दिन की बात है, कि श्यामसुन्दर मुझे साथ लिये हुए गङ्गाजी से दूर बहुत बड़े बीहड़ वन में पहुँच गये। वैसे ही हम अनेक भृत्य सेवकों के सहित घूमने फिरने चले गये थे। सब साथियों को तो श्यामसुन्दर शिविर के समीप ही छोड़ गये। केवल मुझे साथ लेकर रथ में चल दिये। बहुत घने अरण्य में पहुँचने पर उन्होंने रथ भी छोड़ दिया, केवल हम दोनों ही पैदल-पैदल चले। उस समय गरमी के कारण हमें बड़ी प्यास लगी हुई थी, मुँह सूख रहा था, सम्पूर्ण शरीर से पसीना भी बह रहा था. चलते-चलते थक भी गये थे, भूख भी लगी हुई थी। पता नहीं, उस दिन श्यामसुन्दर को क्या सूझी थी? अपने आप ही तो काँटे बोये और अपने आप ही

घबड़ा कर मुझसे उसके प्रतीकार का उपाय पूछने लगे ! वे मुझसे बोले—'अर्जुन ! बड़ी प्यास लगी है भैया, कहीं जल मिले तो प्राण बचें।"

'मैंने झुँझला कर कहा—'आपको यह उचंग कैसे उठी ? न कोई सेवक साथ लिया, न गङ्गाजल की झारी रखी, चल पड़े। अब गङ्गा जी भी यहाँ से दूर हैं, अब जैसा आप कहें ?'

"श्यामसुन्दर उस दिन बड़े घबड़ा से रहे थे। व्यग्रता का नाटक कर रहे थे, नहीं तो वे तो भूख प्यास से सदा निर्मुक्त ही थे। बड़ी शीघ्रता से एक पेड़ पर चढ़ गये और इधर-उधर देख कर वहीं से प्रसन्नता प्रकट करते हुए बच्चों की तरह उछलते हुए बोले—'अर्जुन ! अर्जुन ! अरे यार ! काम बन गया। यहीं कहीं पास में ही किसी तपस्वी का स्थान है। मुझे धुआँ दिखाई दे रहा है। वृक्षों से ढकी एक छोटी सी कुटी भी दीख रही है। अवश्य ही यहाँ कोई महात्मा रहते होंगे। चलो, वहाँ पानी भी मिलेगा और कुछ प्रसाद का भी डौल डाल लग जायगा। मुनियों के समीप कंदमूल फलों की क्या कमी ?' इतना कहते-कहते झट से उतर आये। थोड़ी दूर चलने पर सचमुच एक लिपी पुती स्वच्छ सुन्दर कुटी दिखाई दी। जिसमें चारों ओर बड़े सुन्दर-सुन्दर फल और फूलों वाले वृक्ष लगे थे। बड़े-बड़े गहरों में लदे केले खड़े थे। गरमी से श्रान्त हम लोगों को आश्रम के दर्शन से ही बड़ी प्रसन्नता हुई। आश्रम के भीतर जाकर हमने देखा, एक तेज-पुंज तापसी बैठी हुई है। हम दोनों ने श्रद्धा सहित उस तपस्विनी को प्रणाम किया। उसने भी बड़े प्रेम से हमारा स्वागत-सत्कार किया।

हमें देखते ही वह उठी। झट से जल लाकर उसने हमारे हाथ पैर धुलाये। बिना कुछ पूछे ही सुन्दर-सुन्दर पके फल लाकर

हमारे सम्मुख रखे। स्वच्छ निर्मल शीतल जल दो पात्रों में

ले आई। हमें बड़ी प्यास लगी थी। पहिले तो भरपेट पानी पिया। जब जल पीकर चित्त स्वस्थ हुआ, मन में प्रसन्नता आई, तब शनैः-शनैः स्वाद के साथ उन फलोंको खाने लगे। कितने स्वादिष्ट थे वे अमृतोपम फल, उनमें से दिव्य गंध निकल रही थी और सभी रसीले मधुर तथा हृदय को आनन्द देने वाले थे। हम जब फल खा रहे थे, तो हमारी दृष्टि तापसी के पूजन के सिंहासन पर पड़ी। उस पर एक सुन्दर पुष्पों से सजी सजाई भगवान् की मनोहर मूर्ति विराजमान थी। उन पर मंजरी सहित सुन्दर हरी-हरी तुलसी जी के दल चढ़े हुये थे। खिले हुए सुन्दर सुगंधित पुष्पों से ढकी थी। भगवान् की ऐसी पूजा को देख कर हमारा मन अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। किन्तु पास में ही हमने एक ऐसा आश्चर्य जनक कार्य देखा कि उसे देख कर हमें भय भी हुआ और कुतूहल भी। भगवान् के सिंहासन के समीप ही तीन बड़ी बड़ी तलवारें लटक रही थीं। इतनी बड़ी खड्गें हमने बहुत ही कम देखी थीं वे तीनों गंध, अक्षत, धूप, दीप द्वारा पूजित थी। प्रतीत होता था, भगवान् की पूजा के साथ तापसी उन खड्गों की भी पूजा करती थी। मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आता था, कि इतनी सीधी सादी दया-भरी यह तापसी इस प्रकार की तीक्ष्ण तलवारों को रखकर क्यों पूजती है? मेरे विस्मय को देख कर और मेरी बढ़ी हुई उत्सुकता को समझ कर श्यामसुन्दर ने उससे पूछा—'देवि! हम आपसे एक प्रश्न करना चाहते हैं। हमें भय भी होता है और संकोच भी। यदि आप अनुचित न समझें और हमारी अशिष्टता को क्षमा कर दें, तो हम आपसे पूछें।'

"बड़े स्नेह से वह तापसी बोली—बेटा! अरे, कहीं तपस्वियों से ऐसा शिष्टाचार किया जाता है? तपस्वी तो सबको

अभयदान देकर ही तपस्या की दीक्षा लेते हैं। उनसे किसी को भी भय नहीं हुआ करता। तुम तो मेरे पञ्चे के समान हो, तुम्हें जो पूछना हो निर्भय होकर पूछो।'

"भगवान् बोले—'यही तो मुझे माता जी! आश्चर्य हो रहा है कि आपके लिये तो संसार में सभी समान हैं। आपका कोई शत्रु नहीं। सभी आपसे अभय प्राप्त कर चुके हैं, फिर आप तपस्विनी होकर इन—एक नहीं तीन-तीन—तीक्ष्ण तलवारों को रख कर क्यों पूजा करती हैं? इसका रहस्य जानने की हमारी बड़ी इच्छा है। तपस्या में तीन-तीन तलवार रखना तो उसी प्रकार है जैसे खीर में नमक, मिर्च और हींग मिलाना, अथवा सुन्दर स्त्री के दाढ़ी मूँछ लगाकर उसका शृंगार करना या विवाह के समय—'रामनाम सत्य है, रामनाम सत्य है सत्य बोलें गत्य है, ऐसे मृतक कालीन शब्दों का उच्चारण करना। आप इसका हमें रहस्य बताइये। आप तपस्विनी होकर भी तलवार क्यों रखती हैं?'

"यह सुनकर बुढ़िया कुछ हँसी और बोली—'बेटा! वैसे तो संसार में मेरे लिये सभी समान हैं, किन्तु फिर भी मेरे तीन शत्रु हैं, उन तीनों को मारने के लिये ही मैंने ये तीन तलवारें रख रखीं हैं। यदि मेरी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान नन्दनन्दन मुझे मेरे शत्रुओं से मिला दें, तो मैं इनसे उनके सिर काट लूँ।'

"उस तेजस्विनी तपस्विनी के दमदमाते और क्रोधपूर्ण मुख मण्डल को देखकर मुझे भय सा होने लगा, किन्तु श्रीकृष्ण उसी प्रकार हँसते-हँसते उससे पूछने लगे—'माँ! हम तुम्हारे शत्रुओं के नाम भी तो सुनें? उन्होंने तुम्हारा ऐसा कौन सा

महान् अपराध किया है, जो संन्यासिनी होने पर भी आप उन्हें क्षमा नहीं कर सकीं हैं ? यदि कोई छिपाने योग्य बात न हो तो हमसे कहिये। अपने शत्रुओं का परिचय कराइये।'

"बुढ़िया बोली—'बेटा ! मेरे शत्रु छिपे नहीं हैं, उन्हें जग जानता है। उनमें दो तो स्त्रियाँ हैं और एक पुरुष है। उनके तुम नाम सुनना चाहते हो ? अच्छा, सुनो—पहिली शत्रु तो मेरी यशोदा है, दूसरी द्रौपदी है और तीसरा शत्रु मेरा अर्जुन है।'

"उस बुढ़िया के मुख से अपना नाम सुनते ही मेरा मुँह सूख गया, शरीर पसीने-पसीने हो गया। देवराज से भी कभी न डरने वाला मुझे डर सा प्रतीत होने लगा। अपनी चेष्टा को छिपाने के लिये मैं भगवान् के ओट में हो गया, किन्तु भगवान हँस रहे थे। हँसते-हँसते ही वे बोले—'माता जी ! इन लोगों ने आपका क्या बिगाड़ा है, कौन सा अपराध किया है, जिस कारण आप इन तीनों पर इतनी कुपित हैं ? इन तीनों के अपराध की बात आप हमसे सत्य-सत्य बतावें।'

"भगवान् के ऐसा पूछने पर बुढ़िया का मुख क्रोध के कारण लाल हो गया। थोड़ी देर ठहर कर वह बोली—'बेटा, तुम क्या करोगे पूछ कर ? बात बड़े रहस्य की है। इन्होंने मेरे इतने बड़े अपराध किये हैं, कि इन तीनों को मैं कभी भी क्षमा नहीं कर सकती। इन्हें मारने के लिये ही मेरी तपस्या है।'

"भगवान् बड़े प्रेम से बोले—'माँ जी, आप हमसे कुछ छिपाव न करें, हमें सब बात यथार्थ बतावें। हम शक्ति भर आपकी सहायता करेंगे।'

"बुढ़िया बोली—'अच्छी बात है, बेटा! तुम सुनना ही चाहते हो, तो सुनो। सब से बड़ा अपराध तो मेरा यशोदा ने किया है। मेरे नील-कमल के समान सुन्दर, नवनीत से भी अधिक कोमल, परम सुकुमार श्यामसुन्दर को नेक माखन के पीछे मूँज की रस्सी से बाँध दिया। हाय! उस ग्वालिनी को दया भी नहीं आई। कितने मनोहर मेरे श्यामसुन्दर हैं! अरे, उस माखन को क्या करती? भाड़ में डालती? सब श्याम-सुन्दर की प्रसन्नता के लिये ही तो है। उन्होंने खा लिया, खा लिया, अपने वस्तु में कहीं चोरी होती है? चोरी ही सही तो कहीं ऐसे बाँधते हैं?'

"भगवान् बोले—'माता जी! यशोदा मैया तो श्रीकृष्ण को माखन खिलाने को सदा व्यग्र बनी रहती थी किन्तु कृष्ण को चोरी की लत पड़ गई थी, मैया को क्रोध माखन खाने पर नहीं आता था। चोरी से उन्हें चिढ़ हो गयी थी कि अभी से बच्चा चोरी सीख जायगा तो बुरी बान पड़ जायगी। फिर मैया को सबसे अधिक क्रोध तो उस सास सुसर के सामने से चले आये युगादि माट के फोड़ने से हुआ, जिसे श्रीकृष्ण ने अकारण ही फोड़ दिया था। माखन खाकर ही कृष्ण चले जाते तो सम्भव था माँ रस्सी से न बाँधती।'

"यह सुनकर बुढ़िया बड़ी कुपित हुई और भगवान् को डाँटते हुए बोली—'छिः छिः! तुम कैसी बातें कर रहे हो। मिट्टी के माट के प्रति तो इतना ममत्व और मेरे मदनमोहन के साथ इतनी क्रूरता! माट फूट गया, फूट जाता, एक सेर घी पी लेने से माट चिकना हो जाता है। यह और भी बड़ा अन्याय है, कि मिट्टी के बर्तन के पीछे मेरे मुनमुना से मन

मोहन की कमर को कस देना। तुम्हीं बताओ—यह उसने अच्छा किया ?' संसार उसे क्षमा कर दे किन्तु मैं उस अहीरिनी को कभी क्षमा नहीं कर सकती। यह सामने की तलवार उसी का सिर काटने को मैंने रख रखी है। नित्य उसकी पूजा करती हूँ।'

"बात को बदलते हुए बनवारी बोले—'अच्छा, माँ जी! यशोदा मैया के अपराध की तो बात सुन ली, अब द्रौपदी के अपराध की बात हम और सुनना चाहते हैं, उसने आपका कौन सा अपराध किया ?'

"बुढ़िया आवेश के साथ बोली—'द्रौपदी की बात मत पूछो उसने इतना बड़ा अपराध किया है, कि यशोदा को तो मैं किसी तरह छोड़ भी दूँ, उसे किसी भी दशामें नहीं छोड़ सकती। मेरे श्यामसुन्दर द्वारका में बैठे रुक्मिणीजी के महलों में प्रसाद पा रहे थे। उसी समय इस लुगाई ने दुश्शासन के चीर खींचने की टेर लगाई—'हे श्यामसुन्दर! मेरी लाज बचाओ, मुझे नंगी मत होने दो!' मेरे मदनमोहन हाथ का कौर हाथ में, मुँह का कौर मुँह में ही लिये, लैयाँ-पैयाँ वहाँ से भागे और उन्हें कौरवों की सभा में आकर वस्त्र बनना पड़ा। वस्त्र भी किसी पुरुष का नहीं, लुगाई का बनना पड़ा। ऐसी वैसी लुगाई भी नहीं, उस लुगाई का जो मासिक-धर्म में थी, रजस्वला थी। जिसे शास्त्रकारों ने छूने का कौन कहे देखने का भी निषेध किया है। तीन दिन जिस पर ब्रह्म-हत्या बताई गई है, उसकी साड़ी में छिपना पड़ा।'

"भगवान् बोले—'माताजी! स्त्रियों की लज्जा ही तो सर्वस्व है, एक कुलवती वधू अपने ज्येष्ठ ससुर के सामने अनावृत कैसे हो सकती है? उसने विवश होकर ऐसा किया होगा।'

"घुड़ककर वह तपस्विनी बोली—'तू कैसी बातें कर रहा है, रे लड़के! लज्जा, लज्जा, काहे की लज्जा? इस हाड़-चाम के बने शरीर में लज्जा करने की कौन सी वस्तु है? किसी भी अंग में पंचभूतों के अतिरिक्त कोई वस्तु हो तो उसे मुझे बताओ। रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेदा, अस्थि, रज, वीर्य, मूत्र, विष्ठा, केश, रोम, शिरा, नाड़ी इनके अतिरिक्त इस शरीर में क्या है? सभी अंग इन्हीं चीजों से बने हैं। किसी अंग में कोई विशेषता नहीं। जिन वस्तुओं के हाथ, पैर मुँह आदि बने हैं उन्हीं से सब गुप्त प्रकट इन्द्रियाँ बनी हैं। इसमें लज्जा की कौन सी बात? नंगी ही हो जाती तो उसका क्या बिगड़ जाता? हो जाती! मेरे श्यामसुन्दर को इतना कष्ट तो सहन नहीं करना पड़ता? उनके सुख में विघ्न तो न पड़ता।

"भगवान् बोले—'माताजी! भक्त अपने भगवान् से दुःख में सब कुछ कहता है।'

"बुढ़िया बोली—'ऐसी भी क्या भक्ति? अपने सुख के लिये अपने इष्ट को कष्ट देना। अपने काम के लिये भगवान् के कार्यों में विक्षेप डालना। मैं तो इसे भक्ति नहीं मानती और इसीलिये उन पांडवों की मेहरारू के ऊपर मुझे बड़ा क्रोध आ रहा है। यह बीच वाली तलवार उसी के लिये मैंने रख छोड़ी है कि जहाँ वह मुझे मिल जाय, वहीं उसका सिर धड़ के अलग कर दूँ। उसके अपराध की बात याद आते ही मेरे वृद्ध शरीर में बल आ जाता है, रग-रग में रक्त दौड़ने लगता है।'

"भगवान् हँसते हुए बोले—'अच्छी बात है, अर्जुन के अपराध को हम और सुनना चाहते हैं। उस पर आप इतनी क्यों कुपित हैं?'

दाँत पीसकर वह बुढ़िया कोप के स्वर में कहने लगी। मैं मन ही मन डर रहा था, सोच रहा था—'इस बुढ़िया को मैंने कभी देखा नहीं, इससे कभी बातें नहीं की, फिर भी यह मुझसे इतनी कुपित है। मैंने ऐसा कौन सा अपराध किया! श्यामसुन्दर को मैं प्राणों से अधिक प्यार करता हूँ। उनकी प्रत्येक उचित-अनुचित आज्ञा का पालन करता हूँ। पता नहीं मुझ पर वह क्या दोष लगावेगी। भगवान् के पीछे छिपा हुआ मैं यही सब सोच रहा था। उस बुढ़िया की ओर ताकता भी नहीं था, कि कहीं मेरे मनोभावों को ताड़ कर यह अभी न मुझे तलवार के घाट उतार दे। मैं उसकी आकृति से भयभीत हो रहा था। वह उसी आवेग में भर कर कहने लगी—'बेटा। इन दोनों से बढ़कर अपराधी अर्जुन है। उस पर तो मुझे बहुत ही क्रोध आ रहा है। हाय, तनिक सी वाहवाही के लिये उसने मेरे श्यामसुन्दर से रथ हँकवाया। अरे मन्दमति! विजय-पराजय—ये वर्षों के खेल हैं। हार ही जाता तो उसका क्या बिगड़ जाता? मेरे मदनमोहन सुन्दरश्याम को इतना कष्ट तो न सहन करना पड़ता। उनके सुस्निग्ध, कोमल श्री अंगों में निरन्तर बाण तो न लगते। उनके नील जलधर के समान मनोहर श्री अंग से रक्त की धारायें तो न बहतीं। हाय! उस कुन्ती के छोकरे ने कैसा क्रूर कार्य किया?'

"यह कहते-कहते बुढ़िया फूट-फूट कर रोने लगी। मेरे मन में भी आया कि हाँ, बुढ़िया यह तो ठीक कह रही है। मैंने केवल विजय के लोभ से ही श्यामसुन्दर को सारथ बनाया। सोचा था—'श्यामसुन्दर के रहते, मेरा कोई बाल बाँका भी नहीं कर सकता। उनकी उपस्थिति में मेरा पराजय असम्भव है। उनके रथारूढ़ हो जाने पर मेरी विजय में कोई सन्देह नहीं।

सचमुच मैं वध करने योग्य हूँ। मेरी भी आँखों में आँसू आ गये, किन्तु बुढ़िया की उधर दृष्टि ही नहीं थी। श्यामसुन्दर उससे स्नेह वश बोले—'माताजी! आप शोक न करें। श्यामसुन्दर को तो बाण लगे ही नहीं।'

"बुढ़िया हिचकियाँ भरते हुए बोली—'द्रोण और भीष्म जैसे योद्धा बाण छोड़ें और रथी सारथी उनसे बच जायँ, यह असम्भव है, तुम मुझे भुलाओ मत। मिल जाने पर यह जो सबसे अन्त की तलवार है, उससे अर्जुन का अवश्य ही वध करूँगी।'

"यह सुनकर अत्यन्त ही मधुर स्वर में भक्त वत्सल भगवान् वासुदेव बोले—'माता जी! तपस्या में ऐसा क्रोध नहीं किया करते, यह तपस्या का विघ्न है। इन तीनों ने जो भी कुछ किया शत्रुता से नहीं किया, प्रेम के वशीभूत होकर ही इन्होंने ऐसे आचरण किये, प्रेम में मर्यादा नहीं रहती। वहाँ शिष्टचार के भी पैर नहीं जमने पाते। प्रेम से जो भी कुछ किया जाय सब उचित ही होता है। वहाँ अनुचित तो कुछ होता ही नहीं। यशोदा ने ऊपर के भाव से ही श्यामसुन्दर को बाँधा था, उसके हृदय में तो अपार प्रेम भरा था। वह ऊपर से ही श्यामसुन्दर को घुड़कती थी, भीतर तो उसका हृदय पिघल रहा था। जनार्दन तो भाव ग्राही है, उसके आन्तरिक भाव को देखकर वे इसके ऊपर प्रसन्न ही हुए। रस्सी से उन्हें क्या कष्ट होना था, रस्सी उनसे अलग थोड़े ही है?'

"रही द्रौपदी की बात, सो उसने तो यही सिद्ध किया कि संसार में श्रीकृष्ण से बढ़कर अपना कोई हितैषी, प्रेमी और

रक्षक नहीं। इसीलिये उसने भगवान् को पुकारा। भगवान् को वस्त्र में घुसने से कोई कष्ट थोड़े ही हुआ। उनके लिये ऊँच-नीच कुछ है ही नहीं, ऊँच-नीच का ही उन्हें विचार होता तो लोक निन्दित सुअर, मछली, कछुआ आदि योनियों में अवतार धारण क्यों करते? फिर वस्त्र में तो वे पहले ही से विद्यमान थे, केवल उस समय अपना रूप विस्तार कर दिया था। वे द्रौपदी की इस एक निष्ठा से प्रसन्न ही हुए, उन्हें कुछ भी कष्ट नहीं हुआ!"

"अब अर्जुन ने सारथि बना कर श्यामसुन्दर को कष्ट क्यों दिया, इसका भी कारण सुनो। पृथ्वीपर राजाओं के रूप में असुर बढ़ गये थे। वे महाबली राजचिह्न धारण किये हुये असुर, धर्म-कर्म भी करते थे और साथ ही क्रूरता भी करते थे। पापी का नाश तो उसका पाप ही कर देता है, किन्तु जो तपस्या के बल से अपने को अजर-अमर बना लेते हैं, धर्म-कर्म को करते हुए भी साधु पुरुषों को कष्ट देते हैं, उनका वध भगवान् के सिवाय कोई कर ही नहीं सकता। इसलिये उन सब का वध करने के निमित्त श्यामसुन्दर स्वयं ही स्वेच्छा से सारथि बने। अर्जुन की क्या शक्ति थी, जो उनसे रथ हँकवा सकता। भगवान् को तो दुष्टों का संहार करना ही था। अर्जुन को उन्होंने निमित्त मात्र बना लिया। अतः हे देवि! तुम अपने इस विचार को बदल दो। इन तीनों के ऊपर उठे हुये क्रोध का परित्याग करो। इन तीनों के तलवार को फेंक दो और निश्चिन्त होकर भजन करो।"

"भगवान की ऐसी बातें सुनकर अत्यन्त आश्चर्य के साथ उस बुढ़िया ने पूछा—'आप कौन हैं, जो ऐसी रहस्य की भीतरी बातें बता रहे हैं?

"यह सुनकर भगवान् बोले—'मैं ही वसुदेव का पुत्र श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण हूँ। देवि! तुम्हारी अत्यन्त माधुर्य्य रस की निष्ठा से खिंच कर ही मैं तुम्हें दर्शन देने आया हूँ। यह मेरे साथ गांडीव-धारी अर्जुन है। यदि मेरे इतने समझाने पर भी आपको संतोष न हो, तो अर्जुन तो आपके सम्मुख ही बैठा है। इसकी तलवार से तो इसका सिर अभी उड़ा दीजिये। शेष दोनों शत्रुओं को भी मैं तुम्हारे सम्मुख बुला दूँगा।'

"इतना सुनते ही बुढ़िया उठी, उसने भगवान् की विधिवत् पूजा की, अश्रु-विन्दुओं से उसने भगवान् के चरण भिगो दिये, गद्-गद् कंठ से उनकी स्तुति की और प्रणाम करके बोली—'श्यामसुन्दर आज मेरी तपस्या पूरी हुई। आज मेरे सम्पूर्ण मनोरथ सफल हुए। यद्यपि मैंने इन तीनों के वध का विचार तो पक्का कर ही लिया था। फिर भी जब आप स्वयं ही मना कर रहे हैं, तो इन खड्गों को तो फेंक देती हूँ, इन्हें मारूँगी तो नहीं, किन्तु मेरा क्रोधअभी तक शान्त नहीं हुआ है, अतः मैं इन तीनों को शाप अवश्य दूँगी। यशोदा के भीतर स्नेह रहने पर भी बाहरी कोप से श्यामसुन्दर के शरीर को बाँधा तो सही। इसलिये मेरा शाप है, कि उन्हें श्यामसुन्दर के बाह्य शरीर का सदा वियोग सहना पड़ेगा। द्रौपदी ने अपने पतियों के बल के अभिमान में भर कर उन्हें चुपचाप सिर नीचा किये देख कर अपने सौन्दर्य की ठसक

में इस शरीर की लज्जा को ही लज्जा मानकर तुम्हें, ... था। अतः मेरा शाप है कि अन्त समय में उसके शरीर का संस्कार भी न होगा। वह बरफ में वैसे ही पड़ा रहेगा। जिन पतियों के ऊपर उसे इतना अभिमान है, अंत समय में वे उस की ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे। जिस अर्जुन ने अपने त्रैलोक्य विजयी होने के अभिमान में—अपनी विजयजनित कीर्ति के लोभ से—जो आपसे निन्दित कार्य करवाया, उसे अंत में जंगली गोप भीलों से पराजित होना पड़ेगा। अंत समय में उसे सभी अस्त्र-शस्त्र भूल जायेंगे।' इतना कह कर उस तापसी ने वहीं अपना तन त्याग दिया। हम दोनों ने गंगा किनारे ले जाकर उसका संस्कार किया।

"उस समय मेरा मन उदास हो रहा था, बुढ़िया की बातें मुझे व्यथित कर रही थीं। इसलिये भगवान् उन्हें भुलाने के लिये हँसते हुये बोले—'मालूम पड़ता है, इस बुढ़िया का मस्तिष्क विकृत हो उठा था। तभी तो ऐसी अंटसंट बे सिर-पैर की बातें बक रही थी। ऐसी अनेक बातें कह कर उस समय भगवान् ने मुझे भुला दिया। किन्तु राजन! आज उस तापसी का शाप प्रत्यक्ष सम्मुख आगया। सचमुच मुझे जंगली गोपों ने जीत लिया। मेरा तेज, बल, अस्त्र, पराक्रम कुछ भी काम नहीं आया। मैं देखता का देखता रह गया।'

„धर्मराज ने पूछा—"भैया, गोपों ने तुम्हें क्यों लूटा, कहाँ लूटा, किस प्रकार लूटा? इन सबबातों को सुनने की

मेरी इच्छा है। संक्षेप मे इस दुःखद घटना को भी सुनाओ।"

धर्मराज के ऐसा पूछने पर अर्जुन जिस प्रकार इन्द्रप्रस्थ आते समय लुटे थे वह सब सुनाने लगे।

छप्पय

एक दिना वन माँहि तापसी तीनि खड्ग धरि।
बैरी मेरे तीन बतावे जब पूछी हरि॥
बाँधे माखन हेतु यशोदा ताकूँ मारूँ।
दीन्हों कृष्णा कष्ट पार्थ हित तीसरि धारूँ॥
तीन शाप क्रमशः दये, बहु समुझायो श्याम जब।
सुत वियोग, पति उपेक्षा, दस्यु पराजित करहिं तब॥

जंगली गोपों द्वारा पराजय

(६१)

तद् वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते,
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं,
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

हरि आज्ञा सिर धारि नारि लैके मैं आयो ।
डाँकू मग में मिले मोह मिलि के धमकायो ॥
अपनो परिचय दयो नामु अरजुन बतलायो ।
किन्तु न माने दुष्ट नारि लखि चित्त चलायो ॥
हरि की सोलह सहस प्रिय, पत्नी तिन ढांढस दयो ।
तऊ लूटि लै भगे मैं, देखत को देखत रह्यो ॥

जैसी भवितव्यता होती है, उसके अनुसार ही घटनायें होने लगती हैं। मनुष्य बली या निर्बल नहीं है, काल ही उसे कभी बली बना देता है, कभी निर्बल कर देता है। सौन्दर्य

---

१ अर्जुन कहते हैं—राजन्! जिससे महाभारत समर विजय किया था वही मेरा यह गांडीव धनुष है, बाण भी वे ही अमोघ हैं, और वही

या असौन्दर्य्य वस्तुओं में नहीं, वे सब कालकृत गुण, दोष हैं।'

आज जो परम स्वरूपवान् है, कालान्तर में वही कुरूप हो जाता है। आज जिसे काला कलूटा कह कर लज्जित करते हैं, काल पाकर वह सुन्दर हो जाता है। अतः प्रधानता काल की ही है। यही सब सोचकर दुखित मन से अर्जुन कहने लगे—"राजन्! मेरा पुरुषार्थ तो कालस्वरूप कृष्ण के साथ चला गया, अब तो मैं बलहीन, पुरुषार्थ रहित और अस्त्र-शस्त्रों को भूला हुआ, सामान्य मनुष्य के समान हो गया हूँ, महाभारत का वह पराक्रम तो श्रीहरि के साथ चला गया, वे तो अब स्वप्न की सी बातें हो गईं। आपने गोपों द्वारा कैसे लूटा गया यह बात मुझसे पूछी है। यद्यपि यह कहने योग्य घटना नहीं है, फिर भी मैं आपकी आज्ञा से कहता हूँ। आप हृदय को कठोर बनाकर श्रवण करें।'

"श्री भगवान् स्वधाम पधार गये, यह बात मुझसे आकर भगवान् के सारथि दारुक ने कही। दारुक ने मुझे बताया कि अन्त समय में भगवान् मुझे आज्ञा दे गये हैं, कि आज के सातवें दिन समस्त द्वारकापुरी को समुद्र अपने भीतर लीन कर लेगा। एक मेरे घर को छोड़कर समस्त द्वारकावती नगरी

रथ तथा वे ही घोड़े हैं। उस रथ में बैठने वाला वही मैं रथी अर्जुन हूँ, जिसके सम्मुख समस्त भूपति नतमस्तक होते थे किन्तु केवल अपने सारथि श्यामसुन्दर के अभाव में, मैं उसी प्रकार क्षण भर में व्यर्थ बन गया जैसे राख में किया हुआ हवन व्यर्थ हो जाता है। अथवा वंचक स्वामी की की हुई सेवा या ऊसर में बोया हुआ बीज, जैसे निष्फल हो जाता है उसी प्रकार मैं उनके बिना व्यर्थ हो गया।

जल में डूब जायगी, अतः अर्जुन समस्त स्त्रियों को, बाल-बच्चों तथा नौकर चाकरों को लेकर इन्द्रप्रस्थ चले जायँ। मैं उनके ही ऊपर समस्त यादव वंश के बाल-बच्चों और स्त्रियों का भार सौंपता हूँ। वे हमारे मोह में पड़ कर प्रमाद न करें।' इस प्रकार कह कर भगवान स्वधाम सिधार गये, अब आप जैसा उचित समझें करें।'

"भगवान की ऐसी आज्ञा सुनकर मुझे दुःख हुआ, भगवान से रहित होकर मैं एक क्षण भी जीवित रहना नहीं चाहता था, किन्तु उनकी आज्ञा को कैसे टाल सकता था। मैंने जैसी शास्त्र की विधि है, उसके अनुसार समस्त मरे हुए मुख्य-मुख्य लोगों के पितृ-कार्य, श्राद्ध, तर्पण आदि किये। अत्यन्त शीघ्र इन सब कार्यों से निवृत्त होकर मैं सब स्त्री बच्चों और सेवकों को साथ लेकर चला। चलते-चलते जब मैं पंचनद (पंजाब) के आस-पास के प्रदेश के समीप पहुँचा, वहाँ एक नदी के समीप मैंने समस्त श्रीकृष्ण की पत्नियों के सहित विश्राम किया। राजन्! वहाँ बहुत से जङ्गली जाति के आभीर दस्यु रहते हैं। मेरे साथ बहुत धन था, स्त्रियाँ थीं, उन दुष्टों ने बुरे भाव से हमें लूटने के लिए लाठियाँ लेकर हमारे ऊपर धावा बोल दिया। उनके इस दुस्साहस को देखकर मैं हँसा और हँस कर बोला—'अरे, दुष्टो! जैसे पतंगा जानबूझ कर अग्नि में कूदता है, उसी प्रकार तुम काल के गाल में क्यों कूद रहे हो? जैसे मछली बंशी में लगी आटे की गोली को—लोभसे—अपना आहार समझ कर निगल जाती है और अन्त में फँस कर अपने प्राणों को गँवाती है, उसी प्रकार धन के लोभ से तुम अपने प्राणों को क्यों गँवा रहे हो? जैसे अबोध बालक बिना समझे सर्प को पकड़ लेता है और उसके द्वारा मारा

जाता है, उसी प्रकार तुम मेरे बाणों द्वारा क्यों मरना चाहते हो ? अरे, तुम मुझे साधारण पथिक मत समझो। मेरा नाम सुनोगे तो तुम थर-थर काँपने लगोगे। मैं महाभारत समर का विजयी—द्रोण, भीष्म, कर्ण जैसे त्रैलोक्य विजयी वीरों को परास्त करने वाला—पांडुनन्दन अर्जुन हूँ। तुम्हारे लिए इतना ही पर्याप्त है। संसार में ऐसा कौन सा पुरुष होगा, जिसने जगत् प्रसिद्ध मेरे गांडीव धनुष का नाम न सुना हो। तुम्हें अपने प्राण प्यारे हों, तो इस बुरे विचार को छोड़ दो और तुरन्त ही यहाँ से भाग जाओ। मैं तुम्हें अकारण न मारूँगा।'

"राजन्! मैंने इतना कहा, बार-बार अपना नाम सुनाया, तो भी वे दुष्ट नहीं भागे। उन्होंने हमें लूटने का अपना विचार दृढ़ रखा और वे सब बड़ी-बड़ी लाठियाँ लेकर हमारे ऊपर टूट पड़े। तब तो मुझे बड़ा क्रोध आया, मैंने अपने गांडीव धनुष पर डोरी चढ़ानी चाही, किन्तु आज मैं उस पर डोरी भी न चढ़ा सका। मैं मन्त्र मुग्ध की भाँति खड़ा का खड़ा ही रह गया। जब धनुष पर डोरी ही न चढ़ी, तब तो मैं अत्यन्त विस्मित हो गया। डाकुओं ने हमारे झुंड पर धावा बोल दिया था, वे सेवकों के देखते-देखते धनरत्न लूट रहे थे, तब तो मैंने दिव्य अस्त्रों की सहायता से उन्हें मारना चाहा, किन्तु बहुत याद करने पर भी वे मंत्र मुझे याद नहीं आये। मैं उनको समस्त छोड़ने तथा लौटाने की विधि भूल गया। डाकू मेरे देखते ही देखते भगवान् की पत्नियों को पकड़ कर ले जाने लगे। स्त्रियाँ डर कर इधर-उधर भाग रही थीं, बच्चे भय के कारण रो रहे थे, बूढ़े बड़े सेवक चारों ओर चिल्ला रहे थे, सर्वत्र हाहाकार मच रहा था। स्त्रियों के बाल खुल गये थे, डाकू उन्हें बलपूर्वक घसीटे

ले जा रहे थे। इस प्रकार बलात्कार करते देख कर बहुत सी स्त्रियाँ अपने आप ही उन दस्युओं के साथ होलीं।

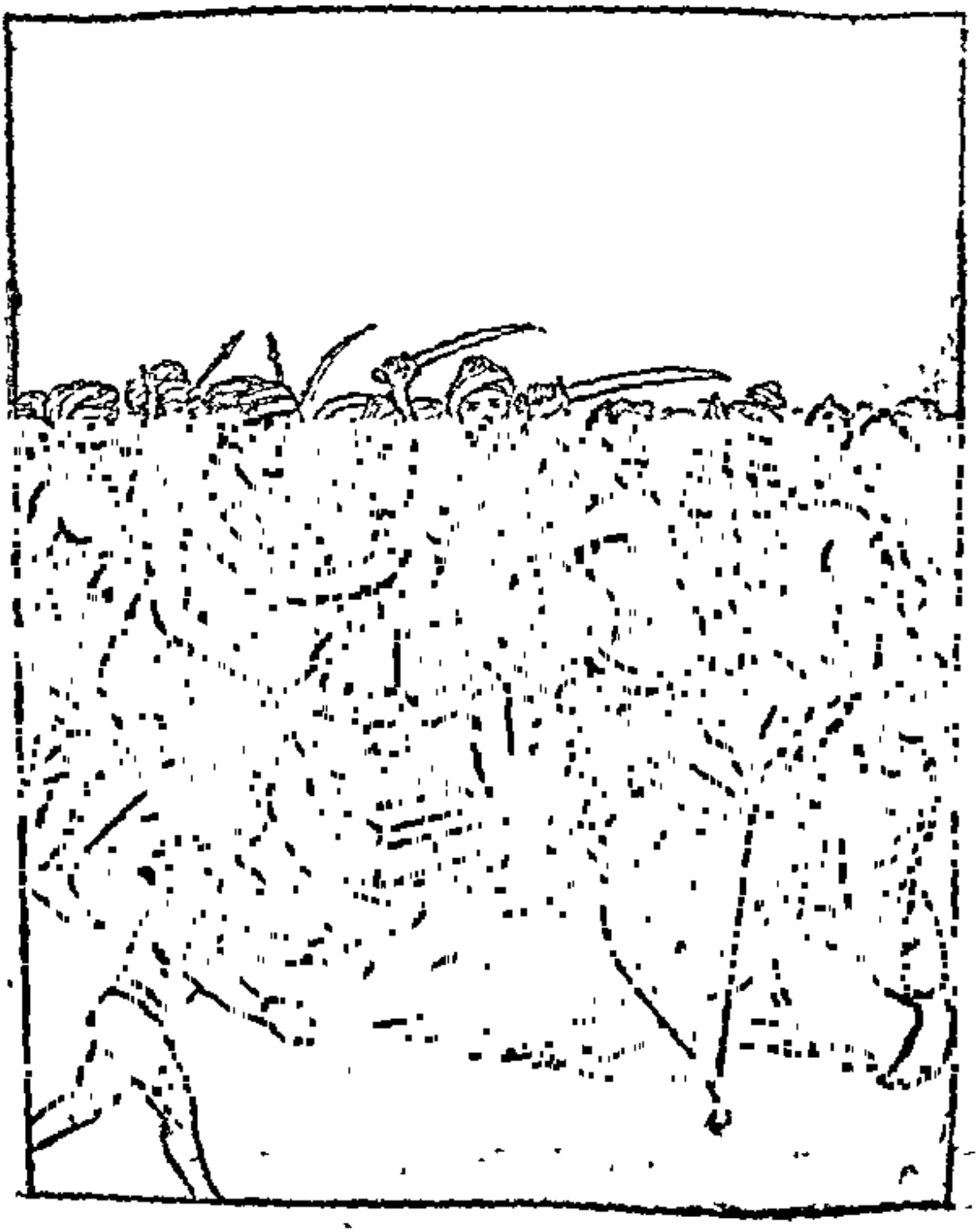

"महाराज! मैं क्या बताऊं? उस समय मेरे हृदय पर क्या

क्या बीत रही थी, मेरा हृदय जल रहा था, जैसे किसी सिंह के पंजे काट लिये हों, दाँत तोड़ दिये हों—वही दशा मेरी थी। मुझसे न धनुष पर डोरी चढ़ती थी, न दिव्य अस्त्रों के मंत्र ही याद आते थे। मैं बहुत घबड़ाया, साथ के सैनिकों की सहायता से जैसे तैसे सब ने मिल जुल कर धनुष पर किसी प्रकार डोरी चढ़ाई और मैं उन पर बाण छोड़ने लगा। किन्तु वे बाण व्यर्थ से प्रतीत होने लगे। उनका उन दस्युओं पर कोई प्रभाव ही नहीं होता था। थोड़ी देर तक बाण छोड़ने से ही मेरे समस्त बाण चुक गये।"

धर्मराज बोले—"अर्जुन! तुम्हारा तूणीर तो अक्षय था, उसके बाण तो कभी चुकते ही नहीं थे?"

रोते हुए अर्जुन बोले—"महाराज, वह अक्षयता तूणीर में नहीं थी, वह तो भगवान् वासुदेव में थी। उनके साथ मेरे बाणों की अक्षयता भी चली गई। नहीं तो जंगली लुटेरे डाकुओं की क्या सामर्थ्य थी, जो मेरे सामने ऐसा क्रूर कार्य कर सकते। जब मैंने देखा, मेरे बाण भी समाप्त हो गये और ये दस्यु सभी रोती हुई रानियों को पकड़े ले जा रहे हैं, तो मैं उन सब पर धनुष की नोक से प्रहार करने लगा, किन्तु जब बाण ही बेकाम हो गये, तो धनुष क्या करता? मेरा समस्त श्रम उसी प्रकार विफल हो गया, जैसे बुझी अग्नि में किया हुआ हवन विफल हो जाता है। ऊसर भूमि में अथवा वन्ध्या

में पड़ा हुआ बीज जैसे व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही वहाँ मेरा पराक्रम विफल निर्वीर्य बन गया।

"राजन्! जैसे धान निकालने पर भूसी फिर वृक्ष नहीं पैदा कर सकती, जैसे पक्ष काटने पर पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार वही रथ, वही घोड़े, वही धनुष, वे ही बाण रहते हुए भी मैं अपने सारथि श्यामसुन्दर के बिना निकम्मा बन गया। मेरे बल, पौरुष, साहस, उत्साह,शौर्य, तेज, प्रभाव सब के सब नष्ट हो गये। विजय मुझे छोड़ कर चली गई। उसने मेरा परित्याग कर दिया। न चाहने पर भी पराजय ने मेरे गले में माला डाल दी। बलपूर्वक उसने मुझे वरण कर लिया। मैं उस अभागिनी पराजय को लिये हुए, सर्वस्व गँवाये व्यापारी की भाँति रोता हुआ वहाँ से चल दिया। हाय! जो श्रीकृष्ण की रानी थीं, जिन्होंने भगवान वासुदेव की कृपा से द्वारावती में सुवर्ण के महलों में रहकर, रत्नों के सिंहासनों पर बैठ कर भाँति-भाँति के दिव्य भोग भोगे थे, जिन्हें प्रयत्न करने पर भी आकाशचारी जन्तु नहीं देख सकते थे, जिनके भाग्य पर स्वर्ग की देवाङ्गनायें, देवराज की पत्नियाँ भी ईर्ष्या करती थीं, आज उन्हें जङ्गली भील बलात्कार उठा ले गये! उन दुष्टों ने उन सुकुमारियों की न जाने क्या क्या दुर्दशा की होगी? संसार को अभय दान देने वाला मैं अभागा खड़ा-खड़ा इस दृश्य को अपनी आँखों से देखता रहा। उनके बहुत रोने और चिल्लाने पर भी उन की रक्षा न कर सका। काल की गति

कैसी क्रूर है ? पता नहीं यह भाग्य कहाँ ले जाकर पटक दे, कब न जाने कौनसा दृश्य दिखा दे ? कोई स्वप्न में भी यह अनुमान नहीं कर सकता था, कि चराचर विश्व के स्वामी भगवान् वासुदेव की परिणीता पत्नियों की—उनके न रहने पर—ऐसी दुर्दशा होगी। उनका भाग्य उन्हें ऐसी घटना दिखावेगा।

"इस प्रकार राजन् ! मैं मन ही मन दुखी होता, वहाँ से चल दिया। जो स्त्रियाँ, बच्चे, सेवक शेष थे—उन सबको लेकर इन्द्रप्रस्थ में आया। इन्द्रप्रस्थ का वह समृद्धिशाली नगर मुझे सूना-सूना दिखाई देने लगा। नगर की श्री नष्ट हो गई थी, मैं यह निश्चय न कर सका, कि यह मेरी दृष्टि का भ्रम है या यथार्थ अब पहिले जैसी श्री, समृद्धि, कान्ति और प्रभा नहीं रही। उन सबों को वहीं छोड़ कर मैं अकेला ही आपके दर्शन के लिये यहाँ हस्तिनापुर में आया हूँ। राजन् ! अब हमारा भी अन्त समय आ गया है, काल भगवान् हमें भी अपने में लीन करने के लिए उत्सुक हैं। अब हमें श्रीकृष्ण-हीन इस जगत् में एक क्षण भी न रहना चाहिये, अब हमें भी महाप्रस्थान की तैयारियाँ करनी चाहिए। महाराज ! अब कलियुग आ गया, नहीं तो इतने बुद्धिमान यादव जिनके रक्षक, शिक्षक, प्रतिपालक श्रीकृष्ण हों, वे इस प्रकार परस्पर में लड़कर मर जाँय ? इसे मैं श्रीकृष्ण की क्रीड़ा ही मानता हूँ उनको ऐसा ही अभीष्ट था, उनका अपना कोई भी सगा सम्बन्धी नहीं

सभी उनके लिये खिलौने हैं। दूध के कुल्हड़े हैं, दूध पी लिया और फट्ट से कुल्हड़ फोड़ दिया। महाराज! अब आप विलम्ब न करें।"

इतना कहते-कहते अर्जुन का फिर गला भर आया और वे आँसू बहाते हुए चुप हो गये।

छप्पय

जीत्यो भारत युद्ध दिव्य रथ घोड़े वे हैं।
धनुष वही गांडीव समर विजयी सर वे हैं॥
विश्व विदित हैं रथी साज सामान वही हैं।
किन्तु नहीं हैं श्याम सारथी व्यर्थ सभी हैं॥
बुझी आग महँ हवन जिमि, ऊसर बोयो बीज ज्यों।
जिमि सेवा कंजूस की, व्यर्थ होइ है गयो त्यों॥

—:o:—

यदुवंश विनाश वार्ता

(६२)

राजंस्त्वयाभिपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे ।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥
वारुणी मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।
अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥१

(श्रीमा० १ स्क० १५ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

राजन् पथ की व्यथा बताई सबरी हमने ।
पूछी जिनको कुशल नाम ले-ले के तुमने ॥
वे सब तो बनि मूढ़ परस्पर लरे विचारे ।
मद पीकें मदमत्त भये मरि स्वर्ग सिधारे ॥
जैसे जल-चर दीर्घ लघु, खाँय बली निरबलिन कूँ ।
त्यों यदुवंशी लरि मरे, मरवाये हरि सबनि कूँ ॥

अत्यन्त दुःख की बात को सुनकर उसके सम्बन्ध में बार-बार पूछने की, उसके समस्त कारण जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक होती है। जब अर्जुन अपनी पथ की व्यथा सुना

---

१ राजन् ! द्वारावती के जिन बन्धु-बान्धवों की आपने कुशल-क्षेम पूछी है, वे तो विप्र शाप से विमूढ़ बनकर, वारुणी नामक मदिरा पी

चुके, तो धर्मराज ने फिर उनसे पूछा—"भैया, तुमने इतनी बातें तो सुनाईं, किन्तु यह नहीं बताया कि भगवान् स्वधाम कैसे पधारे ? वे अकेले ही गये या उनके साथ बलरामजी भी गये ? हमारे मामा वसुदेव जी का क्या हाल हुआ ? हमारी देवकी प्रभृति सातों मामियों की दशा बताओ तथा समस्त यादवों का भी कुशल समाचार सुनाओ।"

इतना सुनकर अर्जुन ढाह मारकर रोने लगे। वे रोते-रोते बोले—"राजन् ! अब इन सब बातों को कैसे कहूँ ? भगवान् को तो यह लीला करनी थी, वो तो बढ़ते हुए यादवों के बल पराक्रम को नाश करना चाहते थे। महाभारत युद्ध में और सब राजाओं को तो परस्पर में लड़ा कर मरवा डाला, केवल यादव ही शेष रहे थे। भगवान् समझते थे, मेरे भुजबल से रक्षित इन यादवों को कोई अन्य मारने में समर्थ नहीं। अतः उनकी ही बुद्धि भ्रष्ट कर दी। वे सब भी आपस में ही लड़ कर मर गये।"

धर्मराज अत्यन्त आश्चर्य में पड़ कर बोले—"भैया, अर्जुन ! तुम कैसी बातें कह रहे हो ? यादवों में तो परस्पर बड़ा स्नेह था। वे तो सब श्रीकृष्ण की आज्ञा में ही सदैव रहते थे। वे आपस में क्यों लड़ पड़े ? यह तो तुम कुछ विचित्र सी बातें बता रहे हो।"

अर्जुन बोले—"राजन ! विचित्रता हम संसारी लोगों के

कर और उसके मद में मतवाले होकर, बिना पहिचाने की भाँति परस्पर में मुष्टियों और ऐरकाओं से एक दूसरे के ऊपर प्रहार करके, सब के सब मर गये। उनमें से अब केवल ४, ५ ही शेष रह गये हैं।

लिये होती है। भगवान के लिये न कोई विचित्र बात है, न कुछ असंभव कार्य है। जिस समय जिससे वे जो कराना चाहते हैं, उस समय वैसी ही बुद्धि बना देते हैं। यादव सभी ब्राह्मण भक्त थे, उनकी ऐसी बुद्धि कर दी कि यादवों के लड़कों ने अपने लड़कपन से ब्राह्मणों को कुपित कर दिया। उन्होंने क्रोध में भरकर यदुकुल के क्षय होने का शाप दे दिया। ब्राह्मणों ने क्या शाप दिया, भगवान् ने ही उनके मुख से ऐसा कहला दिया नहीं तो श्रीकृष्ण द्वारा रक्षित यादवों को शाप देने की शक्ति किस में है? विप्रशाप से शापित वे यादव श्रीकृष्ण को साथ लेकर प्रभास क्षेत्र में गए। भगवान् ही उन्हें हठ-पूर्वक ले गए थे। वहाँ उन सबों ने वरुणलोक से वरुण द्वारा भेजी गई वारुणी का पान किया और मदोन्मत्त हो गए। अब उन्हें अपने पराये का कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहा। आपस में एक दूसरे पर आक्षेप करने लगे, क्रोध में भर कर गाली गलौज होने लगी। बस, फिर क्या था? बात बढ़गई, एक दूसरे पर प्रहार आरंभ हुआ। सभी अपने सौहार्द्र और सम्बन्ध भूल कर एक दूसरे को मारने लगे। भाई-भाई पर प्रहार करता, चाचा भतीजे को मारता, पिता पुत्र का पेट फाड़ता, नाना धेवते को यमपुर पहुँचाता, मामा भानजे के प्राणों को हरता। साला बहनोई के रक्त का प्यासा बन गया। इस प्रकार एक दूसरे से परस्पर लड़ते-लड़ते सभी मर गये। भगवान् ने जब देखा, कि पृथ्वी का सम्पूर्ण भार उतर गया, तो उन्होंने भी योग समाधि द्वारा शरीर का परित्याग कर दिया। बलदेव जी पूर्व ही पधार चुके थे। इस प्रकार राजन्, भगवान् अपने समस्त कुल परिवार का संहार करके इस धराधाम से पधारे हैं। अब यादवों में केवल ४, ५ बच्चे ही रह गये हैं, नहीं तो सबके सब

स्वर्ग सिधार गए। श्री भगवान के वंश में तो केवल अनिरुद्ध का पुत्र वज्र ही बच गया है।"

धर्मराज बोले—"अर्जुन! यह क्या हुआ? ऐसी भी क्या मदान्धता, उन्होंने अपने सगे-सम्बन्धियों का कुछ भी ध्यान नहीं किया। भगवान ने बीच बिचाव नहीं किया? वे तो सब निग्रह-अनुग्रह करने में समर्थ थे। उनके रहते हुए यादव कैसे परस्पर में लड़ मरे?"

अर्जुन रोते-रोते बोले—"महाराज! आप सब समझ बूझ कर ऐसी बात क्यों कर रहे हैं? हम भी तो कौरव पांडव भाई-भाई ही थे। दोनों ओर हमारे भी तो सगे सम्बन्धी थे। भगवान श्यामसुन्दर हमारे भी बीच में तो थे, यदि वे न चाहते तो क्या कभी महाभारत युद्ध हो सकता था? उनकी इच्छा के बिना १८ अक्षोहिणी सेना की तो कौन कहे एक चींटी भी नहीं मर सकती थी। उनको तो भूभारहरण करना था। समस्त बलवानों का संहार कराना था। स्वयं तो वे निर्लेप बने रहे, जैसे सूत्रधार स्वयं तो चुपचाप दर्शकों में बैठकर खेल देखता है और उसके सिखाये पढ़ाये प्रेरित किये पात्र भाँति-भाँति के अभिनय दिखाते हैं, क्रोध करते हैं, लड़ते हैं, गाते बजाते हैं। जब नाटक समाप्त हो जाता है तो सूत्रधार उठ कर अपने घर चला जाता है। यद्यपि सम्पूर्ण नाटक—आदि से अंत तक सभी उसकी प्रेरणा से ही हुआ। जिस पात्र को उसने जिस कार्य को करने के निमित्त नियुक्त किया, उसने उसी कार्य को सम्पन्न किया, फिर भी अल्प-दर्शक उसके मर्म न समझ सके, सब यही समझते थे, अमुक पात्र ने अत्यन्त ही करुणापूर्ण दृश्य दिखाया, अमुक ने अपना अभिनय

अत्यन्त ही उत्तमता के साथ किया। इसी प्रकार सबके हृदय में प्रेरणा करने वाले तो वे श्यामसुन्दर ही हैं। जैसे महाभारत में हम सगे सम्बन्धी लड़ मरे, वैसे ही हाल यादवों का भी हुआ भगवान् को कराना ही था। वैसे लोक दिखाने के निमित्त जब वे आपस में लड़ने लगे तो भगवान् बीच में पड़कर सब को कहते—'अरे भैया, यह तुम क्या कर रहे हो? लड़ते क्यों हो? आपस की लड़ाई भिड़ाई अच्छी नहीं होती। तीर्थ में गाली-गलौज मत करो।' भगवान् के ऐसा कहने पर और लड़ाई से निवारण कराने पर, वे मद से मत्त हुए महामूढ़ सबके सब मिलकर भगवान के ही ऊपर प्रहार करने को उद्यत हो गये। भगवान् ने उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी। विनाश काल में बुद्धि विपरीत हो ही जाती है। वे भगवान् की महिमा को भूल गये। तब तो भगवान ने भी स्वयं प्रहार करना आरम्भ कर दिया। जो दशा हमारी हुई, वही यादवों की भी हुई।"

धर्मराज बोले—"भैया, हम सब तो राज्य के पीछे लड़े थे और विशेष कर द्रौपदी के अपमान से हम अत्यन्त ही कुपित हो गये थे। लड़ाई के तीन ही कारण होते हैं—पैसा, पृथ्वी और प्रिया पत्नि। यादवों में तो मरने-कटने के इनमें से कोई कारण नहीं थे। वे सभी समृद्धिशाली थे, धनधान्य की उन्हें कमी नहीं थी। सभी महाराज उग्रसेन के शासन में रहते थे! सभी अपनी-अपनी पत्नियों में सन्तुष्ट थे, फिर ऐसा विग्रह क्यों हुआ जिसमें सब के सब मर गये?"

अर्जुन अत्यन्त दुःख के साथ बोले—"महाराज! ये सब तो बाह्य कारण हैं। ये सब तो निमित्त बन जाते हैं। काल

आने पर इनको ही निमित्त बनाकर लोग लड़ने लगते हैं वास्तविक बात तो यह है कि काल रूप श्रीहरि ने सबका काल निश्चित कर दिया है! उस समय के आते ही जीवों को किसी के द्वारा मरवा देते हैं। सर्प, चोर, विष, अग्नि, शस्त्र नाना प्रकार के रोग, तभी जीवों को मारने में समर्थ होते हैं जब उनका काल आ जाता है। भगवान् पहिले जीवों के द्वारा ही जीवों को उत्पन्न कराते हैं। माता पिता के रज-वीर्य के संयोग से भगवान् ही जीवों को उत्पन्न कराते हैं फिर जीवों के द्वारा ही काल आने पर उनका विनाश भी करा देते हैं। सर्पिणी अपने पुत्रों को पैदा करके फिर उन्हें ही खा जाती है। वह भी सबको नहीं खा जाती। उनमें से जिनका काल आ जाता है उन्हें ही खाती है, जिनका काल नहीं आता वे भग जाते हैं जीवित रह जाते हैं। जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं। बड़ी-बड़ी मछलियों को तिमि नाम की महाकाय मछली खा जाती है। उस इतनी बड़ी तिमि नाम की मछली को भी द्वीप के समान आकार वाले तिमिङ्गिल नाम का मत्स्य निगल जाता है। छोटे-छोटे पतंगों को मेढक खा जाता है मेढक को साँप निगल जाता है, साँप को मयूर खा जाता है मयूर को लोग मार देते हैं। चूहों को बिल्ली खा जाती है बिल्ली को कुत्ता मार डालता है। दुर्बल कुत्ते को बलवान् कुत्ता परास्त कर देता है। इसी प्रकार छोटे-बड़ों के द्वारा मारे जाते हैं, निर्बलों को बलवान् दबाकर मार डालते हैं। इसमें किसको दोष दिया जाय? वे ही बनवारी बल देकर सबकी शक्ति बढ़ाते हैं, एक दूसरे से उत्पन्न करा कर दूसरे से मरवा देते हैं। राजन्! सब उन्हीं खिलाड़ी का खेल है। सब उन्हीं का विनोद है। न यादवों का दोष, न कौरवों का। ये विचारे

ॉच भौतिक पिंड प्रभु की प्रेरणा के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं।

"राजन्! हम भगवान् की लीला को तब न समझ सके। हमें क्या पता था—अन्त में हमारी ऐसी दुर्दशा होगी। हमें श्रीकृष्ण को उस अनुपम कृपा का गर्व था। हमें उनका पुनीत प्रेम प्राप्त हुआ था। वे हमसे कैसी घुल-घुल कर बातें करते थे कितना स्नेह प्रदर्शित करते थे, किस प्रकार हमारे कार्यों में सबसे आगे रहते थे? मुझे तो उन्होंने अपना सम्पूर्ण स्नेह अर्पित किया था। मेरे ऊपर तो उन्होंने अपना स्नेह से भरा हृदय उदारता के साथ उड़ेल दिया था। जिस समय जैसा देश होता वैसे ही बातें करते। अन्तःपुर में स्त्रियों के सम्मुख ऐसा विनोद करते कि, मैं हँसते-हँसते लोट पोट हो जाता। रानियाँ खीज जातीं और भौंहें तान कर उनपर अपना प्रेम कोप प्रकट करतीं। जंगलों में जाते, तो वहाँ वैसी ही बातें करने लगते। युद्ध में मुझे वीर रस से भर देते। उन्होंने कभी असामयिक बातें नहीं कहीं। जिस बात के कहने का जब समय होता तभी कहते। वे कैसे देश काल के मर्म को जानने वाले थे। जिस काम के करने से हमारा प्रयोजन सिद्ध होता, उसी काय के लिए कहते और स्वयं भी उसे ही करते। वे बिना प्रयोजन की बातें कहना सीखे ही नहीं थे। व्यर्थ के कार्यों से उन्हें घृणा थी और मुझे भी सदा उन्हें न करने के लिए वर्जते रहते थे।

"जब मैं किसी कारण से दुखी हो जाता, तब कैसे मधुर स्वर में सान्त्वना देते। जब मैं किसी विषय में विमूढ़ बन जाता तो अनेक उत्तम युक्तियों के द्वारा उस मोह को छिन्न-भिन्न कर

भिन्न कर देते। वे कभी मुझे दुखी नहीं देख सकते थे। वे मेरा म्लान-मुख देखना नहीं चाहते थे। आज वे मुझे देखकर क्यों नहीं आते? क्यों नहीं आकर मुझे धैर्य बँधावे क्यों नहीं मेरे शोक को शान्त करते?"

इस प्रकार श्रीकृष्ण विरह से विरहित अर्जुन श्रीकृष्ण के चरणों का ध्यान करते-करते उन्हीं के ध्यान तल्लीन हो गये। उस तल्लीनता के कारण अत्यन्त बढ़े हुए ने अर्जुन के अखिल अशुभों का नाश कर दिया, उनकी बु निर्मल और शान्त हो गई। जब अत्यन्त वेगवती भक्ति अर्जुन के काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि मलों का नाश दिया, तब भगवान् ने जो गीता-ज्ञान महाभारत युद्ध के दिया था और वह अर्जुन को कालकर्मजन्य तमोगुण कारण विस्मृत हो गया था, वह फिर याद आ गया। विरह जनित अश्रुओं के निकलने से निर्मल हुआ अन्तःकरण में वह दिव्यज्ञान, पुनः उसी प्रकार स्पष्ट प्रकट हो गया, जिस प्रकार वर्षा के कारण गिरे हुए घर में रखी हुई स्वर्णराशि, पुनः खोदने से प्रकट हो जाती है

इस प्रकार अज्ञान के नाश होने से—तमोगुण के विलीन होने पर—उन्हें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गयी। वे सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर को ही देखने लगे। जब उन्हें सर्वत्र ही अपने इष्ट दिखाई देने लगे और अपने में भी उन्हीं का अनुभव करने लगे, तब तो उनका समस्त शोक मोह दूर हो गया! अब माया का आवरण हट जाने से उनका भेद भ्रम जाता रहा। वे अपने को गुणातीत अनुभव करने लगे। अब वे भूल गये, कि

मैं गांडीवधारी अर्जुन हूँ। लिङ्ग, कारण और स्थूल तीनों शरीरों से अपने को पृथक् समझने लगे।

इस प्रकार जब धर्मराज ने यदुकुल के संहार की बात सुनी तो वे भी अब आगे का अपना कर्तव्य निश्चित करने लगे।

छप्पय

कैसी क्रीड़ा करें कौतुकी श्याम खिलारी।
विषयवासना बद्ध न समुझति बुद्धि विचारी॥
जीव जीव सों करें जीवतें पुनि मरवावें।
करहिं परस्पर प्यार शत्रुता पुनि करवावें॥
महाराज! सब काज तजि, चलो विजन वन तनु तजो।
राज पाट धनधाम गृह, छोरि मोरि मुख हरि भजो॥

भगवत् वियोग में कुन्ती का देह त्याग

[६३]

पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितम्,
नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम् ।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे,
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

भयो भोर सब ओर शोक घर-घर में छायो ।
कुन्ती माता सुनी द्वारका ते सुत आयो ॥
स्वामी सखम मगे बाहिरी प्रान हमारे ।
वे हरि हमकूं त्यागि हाय ! बैकुंठ पधारे ॥
नाश भयो यदुवंश को, लरि भिरि के सब मरि गये ।
तनु त्याग्यो तत्काल माँ, शोकाकुल सुत सब भये ॥

सुख की घड़ियाँ बीतती हुई प्रतीत नहीं होती, सुख में समय छोटा हो जाता है, किन्तु दुःख की घड़ियाँ तो बिताने पर भी नहीं बीततीं। वे पहाड़ से भी अधिक अगम्य हो जाती हैं, छण

---

१ अर्जुन के मुख से जब माता कुन्ती ने यदुकुल विनाश और भगवान् के स्वधाम पधारने की बात सुनी, तो अधोक्षज भगवान् वासु-

क्षण कल्प के समान प्रतीत होने लगता है। रात्रि, प्रलय-रात्रि से भी बड़ी हो जाती है, किन्तु वही समय भगवत् चर्चा और श्रीकृष्ण नामगुण कीर्तन में बिताया जाय तो, दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है। शोक भी आनन्द के रूप में बदल जाता है और समय सुखपूर्वक व्यतीत हो जाता है।

अर्जुन द्वारका से सीधे इन्द्रप्रस्थ आ रहे थे। महाराज युधिष्ठिर की पहिली राजधानी इन्द्रप्रस्थ ही थी, किन्तु जब महाभारत युद्ध में सभी कौरव मारे गये, तो उन्होंने अपना पैतृक-सिंहासन हस्तिनापुर में ही रखा। कभी वे इन्द्रप्रस्थ में रहते थे और कभी हस्तिनापुर में। अर्जुन पहिले सब को लेकर इन्द्रप्रस्थ ही आये। वहाँ आकर जब उन्होंने देखा कि उनके भाई माता आदि हस्तिनापुर में हैं, तो वे द्वारका से जो साथ आये थे, उन सब को वहीं छोड़कर अकेले ही भगवान् के पौत्र वज्र को साथ लिये हुए हस्तिनापुर में आये। अर्जुन बड़े दुखी थे, गोपों के द्वारा पराजित हो जाने से उन्हें बड़ी मानसिक ग्लानि हो रही थी। वे अपना मुख भी किसी को दिखाना नहीं चाहते थे। किसी के सामने होने में भी उन्हें लज्जा प्रतीत होती थी। धर्मराज के सम्मुख तो जाना ही पड़ेगा, उन्हें तो यह सब समाचार सुनाने ही हैं। अतः वे नगर के समीप एक स्थान में छिपे रहे। जब अँधेरा हो गया तो अपने शरीर को छिपा कर चले। वज्र को उन्होंने एक सुरक्षित स्थान में सुख से ठहरा दिया। वे हत्यारे की तरह अपने मुँह को ढाँक

देव की अनन्य भक्तिद्वारा अपना चित्त स्थिर करके उन्होंने संसार से उपरामता ग्रहण कर ली अर्थात उन्होंने अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्याग दिया।

कर रोते-रोते युधिष्ठिर के समीप जाने लगे। प्रहरी ने भीतर जाने से रोका, किन्तु उन्होंने धीरे से उनके कान में दिया, "किसी से कहना मत।" वह तो अपने स्वामी को दशा में देखकर डर गया और पैरों में पड़ गया। अर्जुन सभा में चले गये। उस समय धर्मराज अपने प्रधान-प्र मंत्रियों, भाइयों और अन्तरङ्ग स्नेहियों के साथ बैठे भगवान् ही सम्बन्ध में चिन्ता कर रहे थे। उसी समय ऐसे विचित्र वे में अर्जुन को अपने सम्मुख देखकर उन्होंने एक साथ ही अनेक प्रश्न कर डाले। अर्जुन ने उनमें से एक का भी उत्तर नहीं दिया, वे रोते ही रहे।

जब उन्होंने यदुकुल संहार और भगवान्के स्वधाम पधारने की सभी बातें सुनाईं, तब तो सब के सब शोक-सागर में मग्न हो गये। एक बूढ़े, बुद्धिमान् मंत्री ने, रात्रि में यह समाचार अन्तःपुर में या नगर में न फैलने पावे, इसलिये सभा के बाहर के सभी द्वार इस अभिप्राय से बन्द कर दिए, कि न तो कोई बाहर का आदमी भीतर आने पावे और न भीतर का बाहर जाने पावे। धर्मराज तो बेसुधि बन गये थे। उन्हें अपने शरीर का भी ज्ञान नहीं रहा। वे प्राणों के धारण करने में भी समर्थ नहीं थे, किन्तु उनके लिए प्राण धारण करने का एक ही आधार था—कृष्ण कथा। कृष्ण कथा सुनते-सुनते वे भाव में श्रीकृष्ण संयोगसुख का अनुभव करने लगे और वियोग-जन्य दुःख को भूल गये। वे अर्जुन के मुख से कृष्ण कथा सुनते-सुनते ऐसे तल्लीन हो गये, कि वह सम्पूर्ण रात्रि एक क्षण के समान व्यतीत हो गई।

इस प्रकार जब अर्जुन ने सभी यादवों के संहार का समाचार सुनाया, तो धर्मराज बड़े दुखी हुए। इस पृथ्वी को भगवान के पादपद्मों से शून्य समझकर अब वे उस पर रहना

नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने आत्मज्ञान से बढ़े हुए शोक को रोका। चित्त को स्थिर किया और फिर सभी भाइयों से सम्मति करने लगे। उन्होंने भाइयों से कहा—"देखो भगवान् के पादपद्मों से रहित इस पृथ्वी पर अब धर्म नहीं रह जायगा। सभी सद्गुण तो भगवान् के साथ ही उनके धाम को सिधार गये। अब तो सर्वत्र इस धराधाम पर अधर्म का ही साम्राज्य छा जायगा। सर्वत्र कलह का ही बोलबाला होगा। अतः हम सब को अब क्या करना चाहिये? मेरी तो अब एक क्षण भी जीने की इच्छा नहीं होती। मैं तो उत्तराखण्ड में जाकर इस शरीर का परित्याग करना चाहता हूँ। बोलो, आप सब भाइयों की क्या सम्मति है।"

रोते-रोते भीमसेन ने कहा—राजन्! हमारी पृथक् सत्ता थोड़े ही है जैसे एक शरीर में हाथ, पैर, नाक, कान, मुँह आदि अंग होते हैं, वैसे ही शरीरी रूप आपके हम सब भाई तो अंग हैं। जहाँ शरीरी जाता है, शरीर तो उसके साथ स्वतः ही चलता है। अतः प्रभो! हमसे पूछने की क्या आवश्यकता है। जो आपकी गति वह हमारी गति। हमने तो अपनी इन्द्रियाँ अन्तःकरण सब आपमें मिला दिये है। हमने कभी आपके किसी काम में हस्तक्षेप नहीं किया। हमें आपने जुये के दाँव पर लगा दिया, हम दुर्योधन के दास बन गए, उसके अधीन हो गए। महाराज! हमारी पृथक् सत्ता होती, तो क्या दुर्योधन इतने दिन जीवित रह सकता था। जिन हाथों से द्रौपदी के काले-काले घुँघराले बाल सब के सामने खींचे थे, यदि हम अलग कुछ करने में समर्थ होते, तो क्या दुष्ट दुःशासन के वे हाथ वहाँ शरीर में लगे रहते? महाराज! हम तो आपके

अधीन हैं। जो निश्चय आप करेंगे, वही हम सबके लिये मंगल-प्रद होगा।"

धर्मराज गम्भीर स्वर में बोले—"हाँ, ठीक है। अब भैया, सब को छोड़ो। देखो, परीक्षित् अब समर्थ हो गया है, उसका आज ही राज्याभिषेक हो जाना चाहिए। वज्र को भी इन्द्रप्रस्थ में समस्त माथुर मण्डल के सिंहासन पर यहीं अभिषिक्त कर दो।" फिर सहदेव की ओर देखकर कहने लगे—"सहदेव भैया! जाओ, तुम अभी सब तैयारियाँ करो।"

हाथ जोड़ कर सहदेव ने पूछा—"महाराज! क्या तैयारियाँ करूँ?"

सहदेव को इस प्रकार हक्का-बक्का होकर प्रश्न करते हुए देख कर, अधिकार के स्वर में धर्मराज उन्हें समझाते हुए कहने लगे—"अरे, सहदेव! तुम भैया, इतने बुद्धिमान ज्ञानी ध्यानी पंडित होकर कैसी मोह की सी बातें कर रहे हो? भैया, जो होना था सो हो गया। भगवान् के विधान को कोई भी टालने में समर्थ नहीं अतः अब तुम धैर्य्य धारण करो। देखो, ये हमारे पूज्य पुरोहित धौम्य हैं, कृपाचार्य हैं, करने कराने वाले तो ये ही सब हैं। आज तो साधारण रीति से नियमानुसार परीक्षित् को राज्यगद्दी पर बैठा दो। उसका विशेष-उत्सव आदि ये सब करते रहेंगे। उसमें राज्य-काज करने की तो बुद्धि ही अभी क्या है। राज्य शासन तो सब ये हमारे कुल के माननीय विप्रवृन्द ही करेंगे, केवल इनके आज्ञानुसार नाम उसका होगा। इनसे पूछकर जो ये कहें, जो-जो सामग्री सम्भव हो, उसी को जुटा कर आज ही मेरा यह छत्र परीक्षित के सिर पर रखवा दो। उसे छत्रपति बनाकर मैं

अपने कर्तव्य से मुक्त हो जाऊँगा। भरतवंश की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहेगी, तब फिर हम सब महाप्रस्थान के पथ में अग्रसर होंगे।"

सहदेव ने हाथ जोड़ कर कहा—"जैसी आज्ञा!" इतना कहकर सहदेव उठे, तब अर्जुन ने कहा—"महाराज! मैं माता जी के भी दर्शन कर आऊँ, अन्तःपुर में मेरे आने का समाचार तो सम्भव है, उन्हें मिल ही गया होगा, वे चिन्तित हो रही होंगी कि मैं अभी तक उनकी सेवा में उपस्थित क्यों नहीं हुआ?"

धर्मराज ने कहा—"हाँ, ठीक है, तुम अन्तःपुर में जाओ। भीम वहाँ जाकर सेनाओं को तैयार करावें। नकुल से कहो पुरवासियों से परीक्षित् के राज्याभिषेक की तैयारियाँ करावें।" इस प्रकार सबको आज्ञा देकर धर्मराज नित्य कर्मों से निवृत्त होने के लिये उठे। उनके उठते ही सभी मंत्री, पुरोहित और राज्याधिकारी उठकर खड़े हो गये।

अर्जुन प्रणाम करके अन्तःपुर की ओर अकेले ही चले। हाथ जोड़े हुए नौकर जो उनके पीछे-पीछे आ रहे थे, उनको उन्होंने रोक दिया, "मेरे पीछे किसी के आने का काम नहीं है। तुम सब लोग अपना काम देखो। मैं अन्तःपुर का मार्ग जानता हूँ।"

आज अपने स्वामी का ऐसा रूखा उत्तर सुनकर सभी सेवक उदास हुए और वे दुखित मन से लौट गये।

महारानी कुन्ती ने एक बूढ़ी दासी से कुछ संदिग्ध सा समाचार सुना तो था, कि सम्भव है अर्जुन द्वारका से लौट आये हैं। जब रात्रि में बहुत देर तक प्रतीक्षा करने पर भी अर्जुन

नहीं आये, तो उन्होंने उस दासी से बार-बार पूछना प्रारंभ किया—"क्योंरी, तू तो कहती थी—अर्जुन आया है। आता तो मेरे पास सबसे पहिले प्रणाम करने आता। तू जा, देख तो सही, सभा में तो नहीं बैठा है?" बिचारी दासी गई, लौट कर उसने समाचार दिया—'महारानी जी, आज सभा का तो द्वार बन्द है। प्रहरी ने मुझे जाने ही नहीं दिया। महाराज धर्म-राज भी आज अपने महलों में नहीं पधारे। कोई विशेष राज काज आ गया होगा। मुझे सम्भव है भ्रम ही हुआ हो, मँझले महाराज सम्भव है द्वारका से अभी न लौटे हों।"

महारानी कुन्ती को इन संदिग्ध बातों से बड़ी विकलता हो गई। चारों में से कोई भी मेरे पास प्रणाम करने नहीं आया। किसी ने आज ब्यालू भी नहीं पाई। सभा का द्वार बन्द क्यों है, ऐसा कौनसा राज-काज आ गया? दासी कहती है—मैंने मँझले महाराज को भी जाते देखा है। तो क्या अर्जुन द्वारका से लौट आया? द्वारका में कोई अशुभ घटना तो नहीं घट गई, कहीं श्यामसुन्दर का कुछ अनिष्ट तोनहीं हुआ? यही सब सोचते-सोचते माता अधीर हो गईं। उन्हें रात्रि में नींद नहीं आई। वे सम्पूर्ण रात्रि भाँति-भाँति के तर्क वितर्क करती हुई घड़ियाँ गिनती रहीं। प्रातः काल जब सूत मागध वन्दियों ने प्रातःकालीन स्तुतियाँ आरंभ की, तो उनका हृदय फटने लगा। न जाने क्यों रह-रह कर उन्हें आज समस्त यदुवंशियों के अनिष्ट की ही शंका हो रही थी। प्रेम में पग-पग पर अनिष्ट की ही आशंका होती है। प्रेमी हृदय आशंका से भरा रहता है।

अरुणोदय में जब दासियों ने समाचार दिया, कि मँझले महाराज आ रहे हैं, तब चिरकाल के पुत्र वियोग के पश्चात

तो मिलन का अनुपम आह्लाद होना चाहिए, यह माता को नहीं हुआ। उन्हें बार-बार द्वारका के समाचारों के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की शंकायें हो रही थीं। अर्जुन ने आकर अपनी बूढ़ी माँ के पैर पकड़े। उन्होंने माँ के अरुण चरणों में सिर रख कर उन्हें प्रणाम किया। माँ ने अपने पुत्र को प्रणाम करते देखकर उसे हृदय से लगाया। सिर पर हाथ फेरा और भाँति-भाँति के आशीर्वाद दिये। उन्होंने बिना कुशल प्रश्न पूछे ही कहना आरम्भ कर दिया—"बेटा, मैंने सुना था, तुम कल ही आ गये थे? क्या यह बात ठीक है? यदि ठीक है, तो तुम कल मेरे पास क्यों नहीं आये? तुम किवाड़ बन्द करके अपने भाइयों से क्या सम्मति कर रहे थे? पहिले तुम जब भी कहीं से आते सबसे पहिले मुझे प्रणाम करने आया करते थे, अब के द्वारका से आने पर तुमने विपरीत आचरण क्यों किया? इतने दिनों बाद भी मुझे देख कर तुम प्रसन्न क्यों नहीं हो रहे हो? तुम्हारा मुख म्लान क्यों है? तुम्हारी कान्ति क्षीण क्यों हो रही है? द्वारका में तो सब कुशल है? मेरे भाई वसुदेव, उनके सब पुत्र-पौत्र अच्छी तरह तो हैं? सब की बातें तो पीछे बताना, मुझे तो मेरे हृदय धन, जीवन-सर्वस्व, श्री श्यामसुन्दर के समाचार सुना दो। उनकी कुशल बता दो। उनकी कुशल से ही संसार की कुशल है।"

एक साथ माता के इतने प्रश्न सुनकर अर्जुन रो पड़े। रोते-रोते उन्होंने कहा—"माँ! कुशल तो श्यामसुन्दर के साथ चली गई। समस्त यदुवंशी आपस में ही लड़कर स्वर्ग सिधार गये। बलराम जी के सहित भगवान् वासुदेव भी निज धाम

पधार गये। अब तुम्हारे वंश में अनिरुद्ध का पुत्र वज्र ही शेष है।"

संभ्रम के साथ माता ने पूछा—'क्या श्यामसुन्दर इस धराधाम का परित्याग कर गये ?"

रोते-रोते अर्जुन ने कहा—'हाँ, माँ! यह पृथ्वी विधवा बन गई, हम अनाथ हो गये। श्यामसुन्दर हमें छोड़ कर चले गये।"

बस, इतना सुनना था कि श्रीकृष्ण को ही सर्वस्व समझने वाली माँ कुन्ती का हृदय फट गया। आँखें पथरा गईं और उसी क्षण उनके शरीर से प्राण निकल कर श्यामसुन्दर को खोजने चले गये। अब वहाँ माता कुन्ती नहीं थीं, उन्होंने तो श्यामसुन्दर के पथ का अनुगमन किया। वहाँ रह गया था केवल उनका निर्जीव शरीर। महारानी की ऐसी दशा देखकर दासियाँ दौड़ पड़ीं। क्षण भर में समस्त अन्तःपुर में यह समाचार बिजली की भाँति फैल गया अन्तःपुर की रानियाँ आ-आ कर छातियाँ पीटने लगीं, भाँति-भाँति से विलाप करने लगीं। तुरन्त यह समाचार धर्मराज को दिया गया। सुनते ही वे अपनी जननी के शव के समीप आये। वे तो भगवान् के स्वधाम पधारने की बात सुनते ही सभी संसारी सम्बन्धों से उदासीन हो गये थे, अतः वे रोये नहीं, उन्होंने शोक भी प्रकट नहीं किया। किन्तु उन्हें अपनी माँ की ऐसी अद्भुत मृत्यु पर ईर्ष्या अवश्य हुई। हा! हमारी माँ का ही प्रभु प्रेम धन्य है, जो उनके स्वधाम पधारने के समाचार को सुनते ही स्वर्गवासिनी बन गईं। भगवान् से रहित पृथ्वी पर उन्होंने एक क्षण भी जीना उचित नहीं समझा। एक हम भी भगवान् के भक्त

कहलाते हैं जो इस समाचार को सुन कर भी जीवित हैं। संसारी काज कर रहे हैं, अवश्य ही हमारा हृदय वज्र का बना हुआ है, जो भगवान् के वियोग को श्रवण करके भी नहीं फटता।

रोती हुई स्त्रियों को रोक कर धर्मराज बोले—"तुम लोग माताजी के लिये रोओ मत। उनकी मृत्यु तो परमप्रशंसनीय है।" तब उन्होंने अर्जुन से कहा—"भैया अर्जुन! अब विलम्ब करने का काम नहीं है। सब लोगों को बुलाओ। माँ का अभी दाह संस्कार करो, आज ही परीक्षित् का राज्याभिषेक कर दो। हम आज ही यहाँ से चल देंगे। अब हमें एक-एक क्षण यहाँ भारी हो रहा है।"

रोते-रोते अर्जुन ने धर्मराज की आज्ञा का पालन किया। वे उठकर स्वयं सब लोगों को बुलाने गये। सहदेव, नकुल, भीम, सभी परीक्षित् के राज्याभिषेक की तैयारियाँ कर रहे थे।

हाय! यह राज्य-काज कितना कठोर है? इन राजाओं के महलों में कैसी विपरीत घटनायें एक साथ होती रहती हैं। एक ओर बाप के मरने का शोक है, अभी उसका शव उठा नहीं, कि दूसरी ओर राज गद्दी की तैयारियाँ होने लगती हैं। कोई रानी मर रही है, किसी के लड़का हो रहा। धर्मराज के ही महल में आज एक ही दिन में कितनी विपरीत घटनायें घटित हो रही हैं। एक ओर बूढ़ी माँ घर में मरी पड़ी है, दूसरी ओर पौत्र को राजसिंहासन पर बिठाया जा रहा है, तीसरी ओर चक्रवर्ती महाराज अपना सर्वस्व त्याग कर भाइयों के सहित वन को जा रहे हैं। ये सब घटनायें धर्मराज के ही अनुकूल थीं, उन्होंने धैर्य्य धारण करके इन सब का निर्वाह

किया। उन्होंने ही बिना व्यग्रता प्रकट किये सब कामों को यथावत् निभाया।

सर्व प्रथम उन्होंने अपनी माता का गङ्गा किनारे जाकर विधिवत् दाह-संस्कार किया। रोते-रोते सब भाइयों ने उन्हें जलाञ्जलि दी। फिर आकर वे परीक्षित् के अभिषेक की तैयारियाँ करने में लग गये।

छप्पय

स्वर्ग सिधारीं मातु धर्मसुत नहिं घबराये।
धन्य-धन्य मम मातु विरह हरि प्रान गँवाये॥
अरु अभागे हमीं बज्र सम हिये हमारे।
सुनत श्याम संबाद प्रान हरि सँग न सिधारे॥
जलज मीन फणि-वारि मणि, बिनु न रहे जीवित अधिक।
मातु निबाह्यो प्रेम भल, हम जीवित अस नेह धिक॥

महाराज परीक्षित् का राज्याभिषेक

(६४)

स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः ।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद् गजाह्वये ॥
मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः ।१

(श्रीभा० १।स्क० १५.अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

धर्म राखने लख्यो, राष्ट्र महँ दम्भ कपट अति ।
कलि कूँ आयो जानि, कीन्ह परलोक गमन मति ॥
बन पर्वत नद नदी, ससागर सबरी पृथ्वी—
के कीन्हें सम्राट परीक्षित् परम यशस्वी ॥
हस्तिनापुर महँ परीक्षित्, बज्र ब्रजेन्द्र बनाइकें ।
गुणी पौत्र लखि मुकुट निज, सिर धरि दयो सिंहाइकें ॥

त्याग और ग्रहण, श्रेष्ठ और हेय, बुद्धि से किया जाता है। जिसे हम अनुकूल समझते हैं, उसको ग्रहण करते हैं, जिसे प्रतिकूल समझते हैं उसका परित्याग करते हैं, किन्तु

---

१ चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिर ने अपने ही समान गुण वाले विनयी, अपने पौत्र परीक्षित् को समुद्र पर्यन्त समस्त पृथ्वी के राज्य-

जहाँ वह प्रतिकूल बुद्धि है ही नहीं, जहाँ या तो सभी वस्तुएँ त्याज्य ही हैं या सभी ग्रहणीय हैं, वहाँ न अनुकूल है न प्रतिकूलता, न ग्रहण है न त्याग, न हर्ष न शोक। भगवान् जो कच्छ, मत्स्य, वाराह, नृसिंह आदि रूप धारण करते हैं, उन शरीरों में उनका न मोह होता है न आसक्ति। केवल भूभार उतारने और अपने भक्तों को सुख देने के निमित्त वे इन शरीरों में प्रकट हुए से दिखाई देते हैं। जहाँ उस शरीर से होने वाला कार्य सिद्ध हुआ वहाँ से उसी प्रकार त्याग देते हैं जैसे पूड़ी साग खाकर दोनें को फेंक देते हैं, अथवा दूध पीकर कुलड़े को फेंक देते हैं, या पान खाने पर उसमें लगे पत्ते को फेंक देते हैं, इलायची खाने पर जैसे उसके छिलके को थूक देते हैं, गन्ने का रस चूस लेने पर उसके फुक्कस को, बेर और आम खा लेने पर उनकी गुठलियों को और यज्ञ कर लेने पर जैसे कुशाओं को, बिना कष्ट के, बिना मोह ममता के हम परित्याग कर देते हैं, उसी प्रकार भगवान भी अवतार कार्य हो जाने पर अपने तन को त्याग कर स्वधाम पधार जाते हैं। जैसे पथ में चलते-चलते पैर में कांटा लग गया, एक दूसरा कांटा तोड़ कर यत्न से उसे निकालते हैं, जब पैर में का कांटा निकल आता है, तो फिर दोनों ही व्यर्थ हो जाते हैं, दोनों को ही फेंक देते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी के कंटक रूप जो क्षत्रिय उत्पन्न हो गये थे, उन्हें भगवान् ने क्षत्रिय रूप रखकर ही मारा और मरवाया। जब मरकर सब समाप्त हो गये, तो भगवान् ने अपने मानुषी श्री विग्रह को भी अन्तर्हित कर लिया।

पर हस्तिनापुर में अभिषिक्त किया तथा भगवान् के पौत्र अनिरुद्धजी के पुत्र वज्र को शूरसेन देश के राज्य पर मथुरापुरी में अभिषिक्त किया।

महाभारत के पूर्व ही कलियुग का आगमन तो हो चुका था, किन्तु भगवान् के पृथ्वी पर रहते, उसका हाथ-पैर फैलाने का साहस नहीं हुआ। जैसे कोई खिलाड़ी बच्चा नियत समय पर दूसरे बच्चों को बुलाकर मनमाना खेल-खेलता है। एक दिन नियत समय पर निश्चित स्थान पर आया, वहाँ क्या देखता है, कि उसके वृद्ध गुरु बैठे हैं। बच्चा आकर बहुत सीधे-सादे सौम्य शिशु की भाँति चुपचाप आकर बैठ जाता है, मानों बहुत भोला-भाला है। कुछ भी लड़ाई-झगड़ा उपद्रव नहीं जानता। जब गुरूजी अपने साथियों के सहित वहाँ से उठ कर चले जाते हैं, तब देखिये उस खिलाड़ी के ठाठ। कूदेगा, उछलेगा, एक लड़के से दूसरे लड़के को भिड़ा देगा, रुला देगा, मारेगा, पीटेगा, लड़ेगा, झगड़ेगा, हू-हू हा-हा करके सबको सिर पर उठा लेगा। यही दशा कलियुग की थी। वह नियत समय पर अपने परिवार अधर्म, मृषा, दम्भ, माया, लोभ, शठता, क्रोध, हिंसा, भय, मृत्यु, यातना, निरय आदि को साथ लेकर पृथ्वी पर बहुत दिनों से आ गया था, किन्तु वहाँ अपने बाबा के भी बाबा भगवान् को देख कर भीगी बिल्ली की भाँति सिकुड़ कर बैठा रहा। जब श्री भगवान् इस अवनि से उठकर अपने बैकुंठधाम को पधार गये और उनके साथ ही साथ सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, कोमलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र विचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शूरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, मानसिक बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, मान, निरहंकारिता आदि गुण भी

जब इन सब गुणों के सहित भगवान् धराधाम को परित्याग कर गये, तब तो कलि को खुलकर खेलने का अवसर प्राप्त हो गया। उसने धर्मराज का भी शील-संकोच नहीं किया। उद्दण्ड लड़के को देखकर जिस तरह समझदार मनुष्य उसको उपेक्षा कर देते हैं। उसके सामनेसे हट जाते हैं। उसी प्रकार धर्मराज ने जब देखा कि यह दुष्ट कलियुग तो मेरे सामने ही अपनी कुत्सित क्रीड़ायें करने लगा है, तो उन्होंने अब पृथ्वी पर रहना उचित नहीं समझा। उसी दिन महाप्रस्थान के लिये निश्चय कर लिया।

इधर माता के संस्कार की तैयारियाँ हो रही हैं, उधर परीक्षित् को राज्याभिषेक किया जा रहा है। धर्मराज ने अत्यन्त शीघ्रता से साधारण विधि से ही ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर महाराज परीक्षित् को भरतवंश के यशस्वी सिंहासन पर सम्राट-पद के ऊपर अभिषिक्त किया। वे जानते थे, 'परीक्षित् धर्मात्मा है, इसमें मुझसे किसी प्रकार कम योग्यता नहीं है, प्रजा का इसके ऊपर प्रेम है, मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण इसके गुणों से सन्तुष्ट हैं। अतः उन्होंने बालक होने पर भी उन्हें सिंहासन पर बिठाया और अपने हाथ से अपना स्वर्ण मंडित दिव्य मुकुट उनके सिर पर रखने लगे, तब परीक्षित् ने रोते-रोते धर्मराज के पैर पकड़ कर कहना आरम्भ किया—"प्रभो! आप हमें छोड़कर न जायँ। महाराज! मैं अभी बच्चा हूँ, मेरी बुद्धि भी मलिन है, मैं इतने बड़े राज्य का भार वहन करने में असमर्थ हूँ। हे लोकनाथ! आप मेरे ऊपर कृपा करें, मेरे निर्बल कंधों पर, इतना भारी भार न रखें। मैं इसे कभी भी न उठा सकूँगा।'

धर्मराज ने भीगी आँखों से अत्यन्त स्नेह के साथ पुत्र-

करते हुए कहा—"बेटा ! ऐसे अधीर नहीं होते हैं। तुम भरत-वंश में उत्पन्न हुए हो। तुम सब कर सकते हो। आज से तुम्हारे माता, पिता, गुरु, रक्षक ये ब्राह्मण ही हैं, इनसे पूछ कर तुम सब राज्य-काज करना।"

अत्यन्त स्नेह से हठपूर्वक परीक्षित् कहने लगे—"नहीं महाराज ! मुझमें इतनी योग्यता नहीं है। आपके चले जाने पर मैं तो एकदम निराश्रित ही हो जाऊँगा। मेरे सिर पर कौन रहेगा ? आप कुछ दिन और रहकर मुझे शिक्षा दें, मुझे राज्य-काज करना सिखा दें। अभी तो मैं खेलने के अतिरिक्त कुछ जानता ही नहीं। आप मेरे दुर्बल हाथों में इतना महत्वपूर्ण कार्य सौंप जायँगे और यदि उसका यथावत् पालन न हुआ, तो संसार में आपकी, आपके वंश की अपकीर्ति होगी। इसलिये प्रभो ! आप अभी हमारा परित्याग न करें। हमें असहाय, अनाथ आश्रयहीन बनाकर वन को न जायँ। मैंने अपने पिता को तो देखा नहीं मैं तो अपना पिता, गुरु, ईश्वर, भगवान् जो भी कुछ समझता हूँ आपको ही समझता हूँ।"

अपने पौत्र के ऐसे प्रेम पूर्ण वाक्यों को सुन कर धर्मराज का हृदय भर आया। उनकी आँखों में प्रेम के आँसू आ गये। उन्हें पोंछ कर और अपने को सम्हालते हुये वे कहने लगे—"देखो, बेटा ! सब के माता, पिता, स्वामी वे ही भगवान् वासुदेव हैं। तुम्हारी तो देखो, उन्होंने गर्भ में ही रक्षा की थी। जिसने माता के पेट में—झिल्ली में लिपटे और उलटे होने पर भी रक्षा की, वह क्या अब रक्षा न करेंगे ? भगवान् सब मंगल ही करेंगे। तुम समस्त काम उनकी प्रसन्नता के लिये उन्हें समर्पण करके ही करना।"

परीक्षित् रोते-रोते बोले—"प्रभो! मुझे ऐसी आज्ञा न दें आप चाहें जिसे इस राज्य सिंहासन पर बिठा दें। मैं तो आप की सेवा करता हुआ आपके साथ-साथ वन को चलूँगा। मैंने अब तक कुछ भी तो आप की सेवा नहीं की।"

धर्मराज अत्यन्त महत्व के स्वर में बोले—"अरे, परीक्षित तू तो भैया पगला है। ऐसी विकलता प्रकट नहीं करते हैं तुम अपने पूर्वजों के राज्य का धर्मपूर्वक पालन करो, यही मेरी सब से बड़ी सेवा है। देखो, मैं यदि कोई नई बात करने होऊँ तो बताओ। हमारे वंश में सदा से यही रीति चली आई है, कि पुत्र के समर्थ हो जाने पर पिता उसे राज्य देकर वन चला जाय। हमारे सभी पूर्वजों ने ऐसा किया है और तुम भी हम इसी प्रकार की आशा रखते हैं।"

परीक्षित् जी अधीरता के साथ कहने लगे—"महाराज यह सब तो सत्य है, मैं अकेला क्या करूँगा। आप सब के सब मुझ अनाथ को छोड़ कर जा रहे हैं। आप तो बड़े दयालु हैं, मेरे ऊपर दया क्यों नहीं करते? मेरे साथ ऐसा कठोरता का व्यवहार क्यों कर रहे हैं?"

धर्मराज अत्यन्त स्नेह से उनके शरीर पर हाथ फेरने लगे। परीक्षित् जी के दोनों कमल नयनों से मोतियों की भाँति आँसुओं की लड़ी सी लग रही थी। उनका हृदय फटा जा रहा था। जब भी वे स्मरण करते कि मेरे पाँचों पितामह आज मुझे परित्याग करके चले जायँगे, तभी वे विकल हो उठते। अपने नन्हें से पौत्र को इस प्रकार अधीर देख कर धर्मराज अपने को न रोक सके। आँसू पोंछते हुए वे पास में ही बैठे धौम्य और कृपाचार्य्य आदि कुल के पूजनीय ब्राह्मणों से

कहने लगे—"आप लोग इस परीक्षित् को समझाते क्यों नहीं। अब हम सदा थोड़े ही इस राज्य भार को ढोते रहेंगे। बच्चों को बड़ों का भार हलका करना चाहिये।"

आँखों में आँसू भर कर कृपाचार्य कहने लगे—"क्या समझावें महाराज! हमारी समझ में भी कुछ नहीं आ रहा है। जिस राज्य के पीछे इतना झगड़ा टंटा हुआ, लाखों करोड़ों प्राणियों की हिंसा हुई, इतना रक्तपात हुआ, आज उसे ही आप तृणवत् परित्याग कर रहे हैं। हजार दो हजार, सौ दो सौ वर्ष उसका उपभोग भी न किया। इन्हीं बातों को देख कर हमारी बुद्धि विमूढ़ बन जाती है। काल की गति समझ में नहीं आती, महापुरुषों की चेष्टायें जानी नहीं जातीं।"

अत्यन्त गंभीरता के साथ धर्मराज कहने लगे—"आचार्य! मैंने जो कुछ भी किया, श्रीकृष्ण भगवान् की आज्ञा से किया। मेरे समस्त कार्य उन्हीं के प्रीत्यर्थ थे। मैं जो भी कुछ करता उसे उनके सम्मुख समर्पण कर देता। वे ही सूत्रधार थे, जैसा नाच नचाते थे, मैं विवश होकर वैसा ही नाच नाचता था। मेरी अपनी कोई पृथक् सत्ता थी ही नहीं। अब जब वे स्वयं इस धराधाम को परित्याग कर गये, तब हमारा रहना व्यर्थ है। अब हम किसी भी प्रकार रुक नहीं सकते। धर्म भगवान् के साथ चला गया। सर्वत्र अधर्म ने अपना अधिकार स्थापित करना आरम्भ कर दिया। कलियुग ने मेरे राष्ट्र में, नगरों में, यहाँ तक कि मेरे महलों में भी प्रवेश करने का विचार निश्चित कर लिया। अब हमें यहाँ से चले जाना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। आप सब मिल कर इस बच्चे की रक्षा करते रहें, इसे उचित शिक्षा दीक्षा—देते रहें, जिससे यह कुमार्गगामी

न बन सके, पथभ्रष्ट न हो सके। धर्म का आचरण करें, अपनी वंश-मर्यादा का पालन करें, कुल में कलंक न लगाएं और समस्त प्रजा का पुत्र की भाँति लालन-पालन करें।"

इतना कहकर धर्मराज ने अपने पौत्र परीक्षित् जी को सम्राट्-पद पर अभिषेक किया। उन्हें अपना दिव्य मुकुट पहिनाया। सभी सैनिक, सामंत, मंत्री तथा मंडलीक राजाओं ने सम्राट् भाव से उनका अभिवादन किया और प्रजा ने उनके अभिषेक का अभिनन्दन किया।

उसी समय धर्मराज ने वहीं यदुवंश-सूत्र वज्र को बुलाकर मथुरा और शूरसेन देश के राज्यपर अभिषिक्त किया। उन्हें विधिवत् वहाँ का राजा बनाकर परीक्षित् से कहने लगे—"देखो बेटा, इस वज्र की तुम सब प्रकार से रक्षा करना। इसे कोई शत्रु पीड़ा न पहुँचाने पावे। तुम दोनों चचा भतीजे मिल कर धर्म पूर्वक पृथ्वी का शासन करना। यह हमारे सर्वस्व श्रीकृष्ण का वंशधर है। श्रीकृष्ण की कृपा से ही हम राज्य-पाट, सुख समृद्धि और तुम्हें प्राप्त कर सके हैं। तुम कभी भूल कर भी इसके साथ कुटिलता का व्यवहार मत करना। इसे अपने पुत्र से भी बढ़ कर प्यार करना।" इतना कह कर वे वज्र को समझाने लगे—"देखो, यह परीक्षित् तुम्हारा चाचा है इसे तुम अनिरुद्ध की ही भाँति मानना। सदा इसका आदर करना, इसकी आज्ञा में रहना और कोई शत्रु तुम्हें कष्ट दे, तो इसी से सहायता लेना। तुम दोनों का वंश एक ही है। दोनों बड़े प्रेम से रहना।" इस प्रकार धर्मराज ने दोनों को ही राजा बना कर भाँति-भाँति के उपदेश दिये। दोनों ने रोते-रोते सिर झुकाकर हाथ जोड़े हुए धर्मराज की शिक्षा शिरोधार्य की। उन्होंने अपने-अपने दिव्य मुकुटों वाले सिर से

जिनके बाल अभिषेक के पवित्र जल से भीगे हुए थे, धर्मराज तथा सभी पांडवों के चरणों में प्रणाम किया। सभी ने पुत्र स्नेह से भरे हृदय से दोनों को छाती से चिपटा कर उनका मुँह चूमा, प्यार किया, आशीर्वाद दिया और वे ब्राह्मणों को प्रणाम करके उसी समय महाप्रस्थान के लिये उठ खड़े हुए।

छप्पय

कहें परीक्षित् प्रभो! प्रजा पालन अति दुष्कर।
हौ मति मन्द मलीन अज्ञ अतिशय हे नृपवर॥
कृपासिन्धु! करि कृपा काज सब मोइ सिखावें।
आश्रयहीन अनाथ नाथ! अबहीं न बनावें॥
कहु पिपीलिका हिमालय, कैसे निज सिर पर धरे।
कस कपोत निज पंख पै, धरणीधर धारण करे॥

पाँचों पांडवों का परलोक प्रयाण

(६५)

उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः ।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः ॥
सर्वे तमनुनिर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः ।
कलिनाधर्ममित्रेण दृष्टा स्पृष्टाः प्रजा भुवि १ ॥

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० ४४, ४५ श्लो०

छप्पय

किये परीक्षित् नृपति चले सब पांडव बनकूँ ।
राज पाट परिवार सभी तें खेंच्यो मन कूँ ॥
चीर बसन आहार तजे, कच कुंचित खोलें ।
जड़ उन्मत्त समान न काहू तें कछु बोलें ॥
जैसी बीती जामिनी, नहिं लौटति पुनि जाइकें ।
उत्तर दिशि कूँ चल दिये, हरिपद हिय में लाइकें ॥

धर्म की गति कितनी सूक्ष्म है, इसे वे जिनका विषयोपभोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है, ऐसे विषय-वासना में बद्ध प्राणी कैसे समझ सकते हैं ? सभी कार्य समयानुसार शोभा

---

१ महाराज युधिष्ठिर अपना सर्वस्व त्याग कर हृदय में परब्रह्म का चिन्तन करते हुए उसी उत्तर दिशा की ओर चल दिये, जिस

हैं। किसी के लिये कोई काम एक समय अधर्म होता है, ा दूसर समय धर्म हो जाता है। गुरुकुल में रहते समय स ब्रह्मचारी के लिये स्त्री छूना, देखना तो कौन कहे, चिंतन ना भी अधम है, वही जब समावर्तन करा के स्नातक होकर ह-गृह से निकलता है, तो उसे एक दिन भी विना दारा के ना अधर्म हो जाता है। उस समय उसे अग्निहोत्र के साथ साथ दारा ग्रहण भी करना परम धर्म है। दारा और अग्नि-त्र को छोड़ कर वह एक दिन भी उनसे पृथक् नहीं हो कता।

यदि हम सभी कार्यों को इन्द्रिय सुख के लिये नहीं, धर्म लिये—कर्तव्य पालन की दृष्टि से—ग्रहण करें तो हम अनेक कार के पाप, ताप और दुःख, शोक से बच सकते हैं। धर्म ही एक ऐसा बन्धु है जो इस लोक और परलोक में सुख ुँचाता है। यह सम्भव हो सकता है, कि धर्म से कुछ काल के लिये इस लोक में कष्ट सा भी उठाना पड़ता है, किन्तु धर्म के लिये उठाये जाने वाले कष्ट में भी एक प्रकार के सुख संतोष का अनुभव होता है। परलोक में तो उसका फल सुख ही सुख है। इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि अधर्म से कुछ काल के लिये ऐश्वर्य वृद्धि सी भी दिखाई देती है। इन्द्रिय जन्य सुख सामग्री की भी बहुलता हो जाती है, किन्तु अधर्म से उपार्जित धन वालों को सदा मानसिक चिन्तायें बनी

दिशा में सदा से बहुत से महात्मा गये हैं और जहाँ जाकर कोई लौटता नहीं। उनके सब भाइयों ने भी जब देखा, कि सभी प्रजा के लोगों पर कलियुग ने अपना आतंक जमा लिया है, तो उन्होंने भी महाप्रस्थान का निश्चय करके धर्मराज का अनुगमन किया।

ही रहती हैं। सुन्दर शैया पर पड़े-पड़े भी उनका मन ही बना रहता है, उन्हें नींद नहीं आती, स्वादिष्ट में स्वाद का अनुभव नहीं होता। दूसरे अज्ञ पुरुषों को तो ठाठबाट रहन-सहन से सुखी सा प्रतीत होता है, भीतर ही भीतर उनका हृदय जलता रहता है। संताप शोक की ज्वाला दहकती रहती है। इस लोक में तो वह इस प्रकार उद्विग्न बना रहता है और मर कर भी उसे नरकों की यातनायें भोगनी पड़ती हैं।

दुर्योधन ने अन्याय से पांडवों का राज्य छीन लिया राज्य पाकर भी वह सुखी नहीं हुआ। पांडवों के भय से सदा भयभीत ही बना रहा। उसे इतनी अधिक सामग्रियाँ आनन्दित न कर सकीं। वह सदा चिंता शोकाकुल, दुखी और विकल ही बना रहा। रात्रि दिन पांडवों को नष्ट करने के ही उपाय सोचता रहता था, अंत में उसे ही अपने समस्त कुटुम्ब, परिवार तथा सगे सम्बन्धियों के सहित नष्ट होना पड़ा। जिस राज्य को उसने भाँति-भाँति के छल-कपट और अधर्म से बढ़ाया था, वह यहीं का यहीं पड़ा रहा। अंत में उसे नरक की यातनायें भोगनी पड़ीं।

जब हम पांडवों को विराट नगर की राजधानी में युद्ध के लिये उद्योग करते देखते हैं तो ऐसा लगता है कि वे राज्य के लिये अत्यन्त ही उत्सुक हैं। राज्य प्राप्ति के लिए उनके मन में इतना अधिक लोभ है, कि ये सभी कर्तव्य अकर्तव्य कर सकते हैं। फिर जब युद्ध में भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य आदि अपने परम पूजनीय, माननीय गुरुजनों को, श्रीकृष्ण की सहायता से भाँति-भाँति के छल-कपट और अनीति उपायों

मारते देखते हैं, तब तो हमें निश्चय हो जाता है कि ये डव भूखे बाघ की भाँति सिंहासन के लोभ से सब कुकर्म कर कते हैं। ये अपने सभी प्रतिपक्षियों और प्रतिद्वन्दियों को ार कर समस्त पृथ्वी पर सदा निष्कंटक राज्य करना चाहते । जब इन्हें राज्य मिल जायगा, तो जीवन पर्यन्त उसका निर्द्वन्द होकर उपभोग करेंगे। किन्तु जब उन्हें ही श्रीकृष्ण के स्वधाम पधारने पर, समस्त राज्य-पाट को तृणवत् त्याग कर उन्मत्त पागलों के वेष में वन जाते देखते हैं, तब हमें ध्यान होता है—अरे, इन्हें राज्य का लोभ नहीं था। राज्य और संसारी सुखों के लिए ही ये संहार आदि कार्य करते तो इस इतने समृद्धिशाली राज्य को स्वयं स्वेच्छा से त्याग कर क्यों जाते ? इन्होंने जो भी कुछ किया धर्म के लिए किया, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के निमित्त उनकी आज्ञा समझ कर किया। भगवान् वासुदेव के स्वधाम सिधारते ही ये इन सभी तुच्छ, अनित्य, नाशवान् भोगों को त्याग कर उसी प्रकार चल दिये, जैसे सर्प अपनी पुरानी केंचुली को त्याग कर चल देता है।

धर्मराज युधिष्ठिर ने सभी करने योग्य कार्य किये। अपनी माँ के श्रीकृष्ण प्रेम को देखकर उनका वैराग्य और बढ़ गया। उन्होंने अग्निहोत्र की समस्त अग्नियों को अपने भीतर लीन कर लिया। अब वे अग्निहोत्र हीन होकर उसके बन्धन से मुक्त हो गये। अग्नियों को शरीर में धारण करके उन्होंने अपने समस्त बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये। गृह, कुटुम्ब, राज्य, परिवार में जो अहंता ममता थी, उसका भी उन्होंने परित्याग कर दिया। उन्होंने अपनी वाणी को प्राण में, प्राण को अपान में, अपान को मृत्यु कराने वाले समान में और उस समान को पंचभूतात्मक शरीर में लीन कर दिया। अब उन्हें

अपने शरीर के प्राणों में और विश्व में व्याप्त प्राणों में कोई भी अन्तर दिखाई न देने लगा। वे अपने शरीर को अनित्य और नाशवान् समझने लगे।

शरीर का मूल कारण है सात्विक, राजसिक और तामसिक—ये तीन गुण। अतः शरीर को उन्होंने त्रिगुण में लीन किया। त्रिगुण मूल प्रकृति से ही विषम होकर इस सृष्टि संघात को उत्पन्न करते हैं। अतः त्रिगुण को उन्होंने मूल प्रकृति में मिला दिया और प्रकृति को शरीराभिमानी आत्मा में लीन किया तथा आत्मा को समान रूप से विश्व में व्याप्त सर्वान्तर्यामी अविनाशी परब्रह्म में लीनकर दिया। अब उनकी दृष्टि में अपने इष्ट के अतिरिक्त कुछ रहा ही नहीं। यह सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत् उनके सामने से विलीन हो गया।

एक चीर का वस्त्र वे पहिने थे, जब से उन्होंने श्रीकृष्ण के स्वधाम पधारने की बात सुनी थी तभी से उन्होंने सभी प्रकार के आहारों का परित्याग कर दिया था। शरीर का शृङ्गार करना उन्होंने छोड़ दिया था। आज अपना मुकुट परीक्षित् के सिर पर रख कर, वे उन्मत्त पागलों के समान बन गये। उन्होंने सिर के बाल खोल दिये थे, सम्पूर्ण शरीर में धूलि लपेट ली थी।

उनकी ऐसी दशा देखकर समस्त पुरजन, परिजन, बन्धु-बांधव सगे सम्बन्धी तथा अन्तःपुर की रानियाँ ढाह मारकर रोने लगीं। महाभारत के पश्चात् जो करुण दृश्य उपस्थित हुआ था, वही दृश्य आज फिर दिखाई देने लगा। प्रजा के लोग रोते हुए कह रहे थे—"महाराज! आप हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं? प्रभो! हम आपके बिना कैसे जीवित रहेंगे?

अन्तःपुर की स्त्रियाँ रोती, चिल्लाती और विलाप करती हुई महाराज के पीछे-पीछे चल रही थीं। धर्मराज न तो किसी की ओर देखते थे, न किसी की बात सुनते थे, न किसी के नमस्कार, प्रणाम का उत्तर देते थे, न किसी से कुछ पूछते थे। ये आँखें रहते हुए भी अन्धों के समान बन गये थे। कान रहते हुए भी नहीं सुनते थे, बुद्धि रहते हुए भी उन्मत्त पुरुषों की सी चेष्टायें कर रहे थे। उनके लिये अब कोई न अपना था, न पराया। स्त्रियाँ छाती पीट रही थीं, मन्त्री रो रहे थे, महाराज परीक्षित् बालकों की भाँति विलाप कर रहे थे, सभी भाई उनके पीछे चल रहे थे। नगर के, राज्य के स्त्री-पुरुष उनका अनुगमन कर रहे थे, किन्तु वे न किसी की ओर देखते न अपने साथ आने से ही मना करते थे। जब सभी लोग नगर से बहुत दूर निकल आये, सुकुमारी स्त्रियों के धूप के कारण मुख कुम्हला गये, चलने का अभ्यास न होने से अब वे थक गईं, तो सबको समझाते हुए कृपाचार्य बोले—"महाराज युधिष्ठिर अब परमहंस हो गये हैं, उन्होंने मन से सभी कार्यों का, समस्त सम्बन्धों का परित्याग कर दिया है। अब उनसे नगर में लौट चलने की आशा करनी व्यर्थ है। अब इनको सुख पूर्वक जाने दो। इनके मार्ग में विघ्न उपस्थित न करो।"

इतना सुनकर प्रजा के सब लोग खड़े हो गये। स्त्रियाँ थक कर बैठ गईं। आगे बढ़कर रोते-रोते पृथ्वी में लोट कर दुखित चित्त से महाराज परीक्षित् ने धर्मराज को साष्टांग प्रणाम किया उनकी पद धूलि उठाकर समस्त शरीर में मली और वे विलखते हुए भूमि में ही पड़े रहे। धर्मराज ने उनकी ओर देखा तक नहीं, वे उसी प्रकार निरपेक्ष भाव से आगे बढ़ते गये।

महाराज परीक्षित् को आशा थी, कि मेरे अन्य चार पितामह मेरे समीप रहेंगे, किन्तु उन्होंने जब देखा वे पीछे जा रहे हैं तब तो बड़े वेग से दौड़कर उन्होंने रास्ता रोक लिया और रोते-रोते बोले—"महाराज! आप कहाँ जा रहे हैं? आप तो लौट कर नगर में चलें।"

अर्जुन का हृदय भर आया। अपने फूल की भाँति सुकुमार पोते को इस प्रकार रोते बिलखते देख कर उनकी में आँसू आ गये। अपने प्रेम के वेग को रोककर बोले—बेटा अब तुम लौट जाओ, हमने तो सदा अपने भाई अनुसरण किया है। अन्त समय हम उन्हें अकेले कैसे छो सकते हैं? सुखपूर्वक राज्य पाट करो।

अत्यन्त कातर स्वर में रोते-रोते महाराज परीक्षित् "महाराज! आप सभी मुझे अनाथ बना कर चले जायँगे मुझे शिक्षा कौन देगा, मेरी रेख-देख कौन करेगा?"

अर्जुन बोले—"भैया, तुम्हारे नाथ तो श्रीद्वारकानाथ हैं। वे सर्वान्तर्यामी प्रभु ही तुम्हारी रक्षा करेंगे। जाओ तुम, अब देर हो रही है।" इतना कह कर चारों भाई शीघ्रता से चले। द्रौपदी ने भी उन सब का अनुसरण किया। नगरवासियों के सहित महाराज परीक्षित् थोड़ी देर तक तो खड़े-खड़े अपने पितामहों को देखते रहे। जब वे वृक्षों की आड़ में हो जाने के कारण उनकी दृष्टि में ओझल हो गये तो जिस उत्तर दिशा में उनके पूर्वज गये थे उस दिशा को प्रणाम करके वे लौट पड़े। समस्त अन्तःपुर की स्त्रियों को उन्होंने वाहनों में बिठाया और आप स्वयं कृपाचार्य तथा युयुत्सु के साथ रथ में बैठकर हस्तिनापुर आये और वहाँ आकर धर्मपूर्वक राज्य-काज करने लगे।

पांडव महाप्रस्थान का निश्चय करके नगर से निकले थे। महाप्रस्थान उसे कहते हैं, कि—बिना कुछ खाये पिये, बिना विश्राम लिये उत्तराखण्ड की ओर चलते ही रहें। जब तक शरीर-पात न हो जाय तब तक बिना किसी की ओर देखे, बिना कोई शारीरिक क्रिया करे, आगे बढ़ते ही जायँ। पांडव भी धर्मात्मा थे। उन्होंने अपनी बुद्धि में पाप को कभी स्थान नहीं दिया था। सब से बड़ी बात तो यह थी, कि वे भगवान् वासुदेव के अनन्य भक्त थे। उनकी आनन्द-घन-नन्द-नन्दन श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में अनपायिनी अहैतुकी भक्ति थी, अतः उन्हें महाप्रस्थान में न कोई शारीरिक कष्ट हुआ न मानसिक। वे संसार से उदासीन बने हुए, बिना एक दूसरे की ओर देखे, आगे बढ़े जा रहे थे। कोई किसी के दुःख सुख की चिन्ता नहीं करता था, न किसी से कोई कुछ कहता ही था। तब द्रौपदी ने देखा कि ये सब तो मेरी ओर से उदासीन हो गये हैं, इन्हें मेरी अपेक्षा ही नहीं, तब इनका पीछा करना व्यर्थ है। यह सोचकर वह एक स्थान में बैठ गई। वह अपने चित्त में अपने सर्वस्व परमाराध्य भगवान् वासुदेव का ध्यान करती हुई उन्हीं में लीन हो गई।

पांडवों ने शास्त्र की आज्ञानुसार विधिवत् सभी धर्मों का अनुष्ठान किया था। उनकी अन्तिम शरण श्रीश्यामसुन्दर ही थे अतः उन्होंने हृदय से और सब प्रपंचों का तो परित्याग कर दिया, किन्तु हृदयधन श्यामसुन्दर को वे अपने चित्त में धारण किये रहे। निरन्तर भगवान् का ध्यान करने से उनके हृदय में अहैतुकी पराभक्ति उत्पन्न हुई। अत्यन्त वेग के साथ बढ़ी हुई भक्ति के कारण उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया। इस प्रकार सभी मलों के दूर हो जाने से वे सब के सब निष्पाप

पांडव परमगति को प्राप्त हुए। भगवान् के उस धाम को प्राप्त किया, जिसे विषयासक्त पुरुष कभी भ.— कहीं भी द्वारा—प्राप्त नहीं कर सकते। वे भगवान् के लोक में चले गये।

इस प्रकार भगवान् के स्वधाम पधारने के अनन्तर राष्ट्र और गांधारी ने दावाग्नि में जलकर, कुन्ती ने महलों ही भगवत् वियोग में, विदुरजी ने प्रभास-क्षेत्र में और सहित पांडवों ने उत्तराखण्ड में, अपने अपने पाञ्चभौतिक शर को त्याग दिया। ये सभी अपनी तीव्र भक्ति के कारण शु आत्म स्वरूप से भगवत् गति को प्राप्त हुए।

इसपर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो सुन था, पांडव अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग में गये और उन्हें भाव से नरक के भी दर्शन करने पड़े, परन्तु आप कह रहे हो कि सब शरीर त्यागते ही भगवत् गति को प्राप्त हुए। यह क्या बात है? हमारी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

शौनकजी के इस प्रश्न को सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"ब्रह्मन्! महाभारत के प्रसंग में मैंने भी ऐसा सुना है। ये सब कर्ममार्ग की गति हैं, जहाँ काम्य-कर्मों को ही प्रधानता दी गई है, वहाँ स्वर्ग, नरक कर्मानुसार भोगने ही पड़ते हैं। किसी कल्प में पांडवों ने ऐसे ही कर्मगति प्राप्त की होगी, किन्तु इस "भगवती कथा" के प्रसंग में ऐसी बात नहीं हुई। इस मार्ग में कर्मों की प्रधानता नहीं। यहाँ तो समस्त कर्म ब्रह्मार्पण बुद्धि से भगवान् वासुदेव के प्रीत्यर्थ ही किये जाते हैं। भक्तों के लिये स्वयं कोई पुरुषार्थ करने का विधान नहीं है, जिन्होंने अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण चरणों में अर्पित कर दिया है, जो मनसा, वाचा, कर्मणा भगवत् शरण में प्राप्त हो चुके हैं। जो

पन्न हो गये हैं, वे स्वतः किसी कर्मानुष्ठान को कैसे कर सकते हैं। वे तो जो भी कुछ करते हैं अपने स्वामी भगवान् नन्द-नन्दन की प्रेरणा से ही करते हैं। वे अपने अहंभाव को तो अपने इष्ट के चरणों में पहिले ही चढ़ा चुके हैं। उनके द्वारा जो भी कोई कार्य प्रारब्धानुसार भगवत् प्रेरणा से हो जाता है, उसे वे उसी क्षण "श्रीकृष्णार्पणमस्तु" कहकर भगवान् को समर्पित कर देते हैं और प्रार्थना करते हैं—'हे नाथ! मेरे द्वारा जो कार्य हुए हैं, जो हो रहे हैं अथवा जो आगे होंगे, वे सब मैंने नहीं किये, आपने ही किए कराये हैं। जब उनका मैं कर्ता न होकर आप ही कर्ता और प्रेरक हैं, तो उनके फलों को भी आप ही भोगिये। सेवक जो कार्य करता है, व्यापार में लाभ या हानि करता है, वह सब स्वामी का ही माना जाता है। उसे तो नियत वृत्ति ही मिलती है। इसलिए मैं तो आपका वृत्तिभोगी दास हूँ। कर्ता-भोक्ता तो आप ही हैं।'

हमारी इस 'भागवती कथा' के पांडव इसी बुद्धि से कार्य करते थे, फिर आप ही सोचिये उनको नरक या स्वर्ग का दुख सुख क्यों भोगना पड़ेगा? वे तो दुख-सुख सभी से छूटकर निर्द्वन्द्व होकर भगवत् धाम को पधार गये। पांडवों की बात तो कहनी ही क्या, वे तो भगवान् के परमप्रिय पार्षद उनके स्वरूप ही थे, उनकी तो ऐसी गति होनी थी! मेरे गुरु के भी गुरु भगवान् व्यास देव ने तो, बड़ी दृढ़ता के साथ बड़े स्पष्ट शब्दों में बिना किसी लगाव-लपेट के यह बात कही है "जो भी मनुष्य भगवान् के परमप्रिय पार्षद इन पांडवों के महाप्रयाण की इस परमपवित्र और अत्यन्त ही कल्याणकारिणी कथा को श्रद्धापूर्वक सुनेंगे वे भी भगवान् की अहैतुकी भक्ति प्राप्त करके

परमसिद्धि को प्राप्त करेंगे[१]।" जिनकी कथा सुनने वालों को परमसिद्धि की प्राप्ति हो, उनको सिद्धि के सम्बन्ध में तो कहना ही नहीं।

सूतजी के मुख से अपनी शङ्का का इस प्रकार समाधान सुन कर शौनकादि मुनि परम सन्तुष्ट हुए और वे कहने लगे "सूतजी! आपने बड़ी बुद्धिमानी से हमारी शङ्का का समाधान किया। अब आप हमें महाराज परीक्षित् का अग्रिम-चरित सुनाइये।"

ऋषियों के ऐसा कहने पर सूतजी अब परीक्षित्—चरित कहने को उद्यत हुए।

छप्पय

गांधारी धृतराष्ट्र विदुर कुन्ती हरि हिय धरि।
पांडव पत्नी सहित गये परिवार दुखी करि॥
तनु त्यागो यश छाँड़ि धाम बैकुण्ठ सिधारे।
सब के सुख कर मधुर चरित हैं अतिशय प्यारे।
जे श्रद्धा तें सुनहिं नर, पढ़हिं प्रेम तें गायँगे।
पुण्य परम पद पायँगे, भवसागर तर जायँगे॥

---

१ यः श्रद्धयैतद् भगवत्प्रियाणाम्,
पांडोः सुतानामिति संप्रयाणम्।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रम्,
लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम्॥
(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० ५१ श्लो०)

महाराज परीक्षित्

(६६)

ततः परीक्षिद् द्विजवर्यशिक्षया,
महीं महाभागवतः शशास ह ।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः,
समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा ॥ १

(श्रीभा० १ स्क० १६ अ० १ श्लो०)

छप्पय

पूज्य पितामह परमपुण्य परलोक पधारे ।
भये परीक्षित् नृपति सुनत सब सन्त सुखारे ॥
यज्ञ याग बहु करे दान दुखियन कूँ दीन्हें ।
इरावती में चारि गुणी सुत पैदा कीन्हें ॥
कृपाचार्य की कृपा तैं, अश्वमेध कैई करे ।
यों ऋषि-ऋण सुरपितर-ऋण, तीनों ऋणतें नृप तरे ॥

संसार की परम्परा अविच्छिन्न है। एक आता है एक जाता है। कुछ मरते हैं कुछ जन्मते हैं। बहुत से पुराने स्थान टूट जाते हैं, बहुत से नये बन जाते हैं। जो स्थान खाली होते

---

१ सूतजी कह रहे हैं—'हे विप्रवर्य शौनकजी! इसके अनन्तर विद्वान् ब्राह्मणों की शिक्षा के ही अनुसार महाभाग महाराज परीक्षित्

हैं समयानुसार उनकी पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार विश्वप्रपञ्च सदा से चला आया है, सदा चलता रहेगा संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं नाशवान् हैं। न सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है उनके नाम यशगुण-कीर्तन के जो जुट गये हैं उन सब का तो कभी नाश होता नहीं, वे तो सदा सर्वदा एक रस बने रहते हैं। शेष सब तो पानी के बुद बुदे की भाँति उत्पन्न होते हैं मरते हैं। अतः श्रीकृष्ण उनके भक्तों का यश ही सदा श्रवणीय है।

"पांडव महाप्रस्थान करके परलोक पधार गये। अब भरतवंश की गद्दी पर महाराज परीक्षित् बैठे। महाराज परीक्षित के सिंहासनारूढ़ होते ही सब प्राणियों को परम आनन्द प्राप्त हुआ। वे बड़े धर्मात्मा, न्यायपरायण और प्रजावत्सल महाराज थे उनके राज्य में सिंह और बकरी एक घाट पर पानी पीते थे, कोई भी बलवान् पुरुष निर्बलों को सता नहीं सकता था। उनके राज्य में वायु भी किसी की वस्तु को हरण नहीं कर सकती थी, फिर चोरों की तो बात ही क्या! यदि वे सुन भी लेते कि किसी ने पर-स्त्री की ओर बुरी दृष्टि से देखा है, तो उसे कठिन से कठिन दंड देते। समय पर वर्षा होती, पृथ्वी यथेष्ट अन्न-धान्य उत्पन्न करती, प्रजा के सभी लोग सुखी थे, केवल दुष्ट-दुर्जन पुरुष ही उनके उग्रशासन से सदा भयभीत बने रहते थे।"

जी समस्त पृथ्वी का शासन करने लगे। उनके जन्म के समय फलित ज्योतिष विद्या-विशारद, पंडितों ने उनकी लग्न को देखकर जो जो, महान् गुण वाले फल बताये थे, वे सब के सब गुण ज्यों के त्यों उनमें प्रकट हुए।

महाराज परीक्षित् ने अपने मामा उत्तर की लड़की इरावती साथ विधि पूर्वक विवाह किया।" इस बात को सुनकर नकजी ने पूछा—"सूतजी! धर्मात्मा महाराज परीक्षित् ऐसा अधर्म का सम्बन्ध क्यों किया? मामा की लड़की तो हिन होती है। शास्त्रों में तो ऐसा सम्बन्ध सर्वथा निन्दनीय ौर गर्ह्य माना गया है, फिर धर्मात्मा महाराज ने ऐसा लोक-निन्दित शास्त्रगर्हित विवाह क्यों किया?"

शौनकजी की शङ्का को सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! या बतावें। संसर्ग से अच्छे-अच्छे लोगों में गुण, दोष आ जाते हैं। तभी तो आर्य-संस्कृति में अनार्यों के संसर्ग को सबसे बड़ा पाप बताया है। वैदिक पुरुषों को, समाज वेद को आप न माने वर्णाश्रमी इसे सह सकता है, ईश्वर को न मानें इसे भी क्षमा कर सकता है। ईश्वर को निराकार मानें, साकार मानें, उसे द्वैत, अद्वैत किसी भाव से पूजें, समाज इसमें हस्तक्षेप नहीं करता किन्तु जब कोई अनार्यों से संसर्ग करता है, समाज की परम्परागत रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करता है, तो समाज उसे अपने से पृथक् कर देता है। किन्तु जब सम्पूर्ण समाज ही किसी कुप्रथा को स्वीकर कर ले, तो फिर वह लोकरीति बन जाती है। पिता की आज्ञा न मानने पर महाराज ययाति ने अपने पुत्र यदु को शाप दिया था, कि तुम्हारे वंश के लोग अपने मामा की लड़कियों से भी विवाह सम्बन्ध कर लिया करेंगे।" जब तक यादव इस ब्रह्मर्षियों से सेवित ब्रह्मावर्त देश में रहे, तब तक उनमें यह प्रथा प्रचलित नहीं हुई थी। जब वे इस पुण्यभूमि को त्याग कर दक्षिण की ओर द्वारकापुरी में चले गये, तभी से उनमें देशाचार मान कर यह कुप्रथा आरम्भ हो गई। दक्षिण में अनार्यों के संसर्ग

के कारण यह प्रथा बहुत दिनों से प्रचलित थी। आश्चर्य बात तो यह है कि वहाँ के ब्राह्मणों में भी यह प्रथा है। वहाँ तो मामा की लड़की तथा फूआ की लड़की से विवाह करते हैं। भगवान् ने भी अपनी फूआओं की लड़की से विवाह किये। उनके लड़कों ने फिर उनका किया। उनसे ही अर्जुन ने सीखा फिर यह प्रथा इस भी चल पड़ी। नहीं तो जैसा आप कह रहे हैं, ऐसे शास्त्रानुसार सर्वथा विरुद्ध हैं, परन्तु जो परम्परा पड़ है, उसे लोग इच्छा से अनिच्छा से स्वीकार कर ही लेते। इसीलिए महाराज परीक्षित् ने भी इस सम्बन्ध को स्वीकार किया।

महारानी इरावती बड़ी सती, साध्वी और सर्व सुलक्षण से लक्षित पतिपरायणा रानी थी। उनके गर्भ से जनमेजय आदि चार पुत्ररत्न उत्पन्न हुए। ये सभी अश्वमेध आदि यज्ञों को करने वाले और कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाले राजर्षियों के समान नरपति हुए। महाराज जनमेजय तो धर्म के स्वरूप ही थे। उनके द्वारा ही संसार में पुराण, इतिहास और महाभारत आदि का प्रचार तथा प्रसार हुआ।

धर्मराज महाप्रस्थान के समय महाराज परीक्षित् को अपने कुल पुरोहित कृपाचार्य को सौंप गये थे। महाराज ने उनका बड़ा सम्मान किया, वे जो भी कोई काय करते सभी आचार्यकृप से पूछ कर ही करते। बिना वेदज्ञ ब्राह्मणों की सम्मति लिये वे कुछ भी कार्य नहीं करते। इसीलिये सभी ऋषि मुनी तथा धर्म के मर्म को जानने वाले विद्वान उनका बड़ा आदर करते। उन्होंने अपने कुल के रीति के अनुसार पृथ्वी

मण्डल के सभी राजाओं को जीतकर गङ्गा जी के किनारे तीन अश्वमेध यज्ञ किये। उनके यज्ञों में ब्राह्मणों को बड़ी बड़ी दक्षिणायें दी गईं। उन सब यज्ञों को कुलगुरु कृपाचार्य्य ने ही विधिवत् सम्पन्न कराया। इससे उनकी ख्याति समस्त भू-मंडल तथा स्वर्ग तक फैल गई। सब लोग यही कहने लगे—"ये महाराज तो भरतवंश के तिलक हैं, इन्होने पांडवों की कीर्ति को अक्षुण्य बनाये ही नहीं रखा, किन्तु उसे और भी विस्तृत किया है।

महाराज परीक्षित् के समय में एक भी ऐसा राजा नहीं था, जो उनकी अधीनता स्वीकार न करता हो, सभी उनकी आज्ञाओं का यथावत् पालन करते। समस्त भू-मंडल पर उनकी आज्ञा मानी जाती, इसीलिए उन्हें किसी से लड़ाई करने का, जीतने का कभी अवसर ही प्राप्त न होता। वे अपने रथ पर चढ़कर समस्त पृथ्वी पर भ्रमण करते, किन्तु कोई उनके सम्मुख नहीं आता था। हाँ, एक बार कलियुग का उन्होंने प्रयागराज में अवश्य निग्रह किया था। उससे तो उनकी मुठभेड़ हुई थी, किन्तु वह उन धर्मात्मा से युद्ध करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने दीनता से उनकी शरण ग्रहण की और भिक्षुक की भाँति हाथ जोड़कर कहीं रहने का स्थान माँगा। राजन्! ये विधर्मी पहिले ऐसे ही सीधे सादे गौ बनकर आते हैं, फिर जहाँ इनके पैर जमे वहीं सिंह बन जाते हैं। महाराज परीक्षित् ने दीन शरणहीन समझ कर इसे रहने को स्थान दे दिया था। बस धीरे-धीरे इस कलियुग ने अपने पैर फैला लिये। पाँच हजार वर्ष तो धर्मराज के वरदान से यह भीतर ही भीतर बढ़ता रहा। पाँच हजार वर्ष पूरे होने पर तो यह खुलकर खेलने लगा। इसने अपना यथार्थ रूप सबके सम्मुख प्रकट कर दिया। इसी भाँति यह बढ़ते-बढ़ते जब धर्म का सभी प्रकार से लोप कर देगा,

तब भगवान् कल्कि रूप से प्रकट होकर इसका नाश करें और फिर से सतयुग स्थापित हो जायगा।

महाराज परीक्षित् इतने धर्मात्मा थे, कि कलियुग का ऐसा साहस न हुआ कि वह उनके बिना पूछे राज्य में रह सके। महाराज से आज्ञा प्राप्त करने का उसने एक उपाय सोचा। उसने शूद्र राजा का वेष बनाया और डंडे से एक बैल और गौ को मारने लगा। बैल रूप में तो साक्षात् धर्म ही थे और गौ का रूप पृथ्वी ने धारण कर रखा था। सदा से गौ और बैल अवध्य बताये गये हैं। कोई भी वर्णाश्रमी आर्य न इनका कभी वध करता है और न शारीरिक दंड ही देता है। गौ को लोक-माता मानकर मानते और पूजते आये हैं। कलियुग ने सर्वप्रथम उनपर ही प्रहार किया। ऐसा विपरीत आचरण करते देखकर ही धर्मावतार परीक्षित् ने उसे निग्रह किया।

सूतजी के मुख से ऐसी बात सुनकर समस्त मुनियों की ओर से शौनकजी पूछने लगे—"सूतजी, आप बड़ी अद्भुत बात कह रहे हैं। कलियुग तो एक देवयोनि का दिव्य पुरुष है मनुष्य होकर महाराज परीक्षित् ने उसका दमन कैसे किया? एक संदेह हमें और भी हो रहा है। कलियुग तो पाप तथा अधर्म का स्वरूप ही है। दुर्गुणों का सागर ही है। जब दिग्विजय के समय महाराज को वह मिल ही गया था तो उसे मार क्यों नहीं डाला? उस धर्म-कंटक को सदा के लिए संसार से विदा क्यों नहीं कर दिया? उसे जीवित ही क्यों छोड़ दिया? राजाओं के चिह्न धारण किये हुए वह शूद्र कौन था, कलियुग ने ही अपना ऐसा रूप धारण कर लिया था

ा वह सूक्ष्म रीति से किसी शूद्र के शरीर में प्रवेश कर गया
ा। वहाँ जो गौ और बैल को आप बतला रहे हैं, वे कौन थे ?
न सब बातों को हमें विस्तार से बताइये।

आप कहेंगे कि तपस्वी, होकर आप कलियुग की बातें क्यों पूछ रहे हैं ? सो सूतजी हमारा अभिप्राय कलियुग-चरित्र श्रवण करने का नहीं है। यह प्रश्न हमने इसलिए कर दिया कि महाराज परीक्षित् भगवद्भक्त हैं। गर्भ में ही भगवान् ने उनके ऊपर कृपा की थी, बाल्यकाल से ही वे श्रीकृष्ण चरणारविन्दों के अनुरागी थे। उनका समस्त जीवन ही भक्तिमय होगा, उनका चरित्र श्रवण करने से स्वतः ही भगवत् सम्बन्धी कथाओं का, भक्तों के पावनयश का कथन होगा, इसी लोभ से हमने यह प्रश्न किया है। यदि इससे कुछ श्रीकृष्ण कथा का आश्रय हो अथवा उनके चरणारविन्द मकरन्द के लोलुप भ्रमर रूपी भक्तों का कोई प्रसंग हो, तब तो आप इस विषय को हमें सुनावें और यदि यह सब न हो, तो इसे छोड़कर आगे की कथा कहें। हम ये संसारी व्यथ की बातें सुनना नहीं चाहते। संसारी लोग जहाँ इकट्ठे होंगे वहाँ वही विषय चर्चा करेंगे। यहाँ हम गये हमने ऐसी-ऐसी वस्तुओं का उपभोग किया जो देवताओं को भी दुर्लभ हैं। वहाँ हमारा ऐसा मान-सम्मान हुआ। अमुक आदमी हमें देखकर ऐंठने लगा, हमने उसे ऐसा मुँहतोड़ उत्तर दिया, कि उसकी वाणी ही बंद हो गई, कुछ बोल ही न सका। अमुक धनी अपनी ठसक जताने लगे, अपने धनवैभव का प्रदर्शन करने लगे। मैंने स्पष्ट कह दिया—"आप धन्नासेठ होंगे तो अपने घर के होंगे जी। मुझे आपसे कुछ लेना तो है नहीं। आप मेरे सामने ये बढ़-बढ़ कर बातें न बघारें। मुझे आपसे कुछ ऋण तो लेना ही नहीं।

मेरी बात सुनकर उनका मुँह फक पड़ गया। तुम ही बताओ हम किसी से कम हैं।" बस, ऐसी ही कामिनी कांचन और कीर्ति की कथाएँ कहते हुए कालयापन करते हैं। इससे विपरीत जहाँ सज्जन-सन्त पुरुष परस्पर में मिलते हैं, तो परस्पर में देह सम्बन्धी न तो प्रश्न पूछते हैं और न विषय सम्बन्धी चर्चा ही करते हैं। ये एक दूसरे को देखकर "जय श्रीकृष्ण जय श्रीकृष्ण, जय जय श्रीसीताराम, जय जय श्रीराधेश्याम" कह कर लिपट जाते हैं और फिर भगवत् चर्चा आरम्भ कर देते हैं। जैसे सुन्दर सुगंधित पके आम को लोग मिठास से धीरे-धीरे चूसते हैं, जैसे सत्पति अपनी सती-साध्वी पतिपरायणा पत्नी से प्रेम-पूर्वक घुल-घुल कर एकान्त में तन्मय होकर बातें करता है, उसी प्रकार भक्त भी भगवत् कथा में तन्मय हो जाते हैं। उन्हें बाह्य-ज्ञान नहीं रहता। जैसे प्रेमियों को अपनी प्रेयसी की प्रिय बातों के सुनने से तृप्ति नहीं होती, किन्तु और अधिकाधिक उत्सुकता बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार भक्त बार-बार सुनने पर भगवत् चरित्रों से अघाते नहीं। बातें वे ही गिनी चुनी हैं। वही राम-रावण की कथा, ध्रुव, प्रह्लाद विभीषण की बातें, गज को ग्राह से बचाया, विदुर के घर शाक खाया, सुग्रीव को राज्य दिया, विभीषण को राक्षसेन्द्र किया, पूतना को मारा कंस को पछाड़ा, ये ही सब बातें हैं। आप ही सोचें श्रीकृष्ण और गोपियों की कितनी शृंगारमयी बातें हैं। यदि इनमें से श्रीकृष्ण और गोपियों के नाम निकाल कर किन्हीं प्राकृत पुरुषों के नाम रख दिये जायें और फिर वे शृंगार से भरी बातें कही जायें, तो किसी स्त्री पुरुष का मन वश में रह सकता है? कोई भी अपने चित्त को स्थिर रख सकता है? किन्तु नायक के स्थान पर श्रीकृष्ण के आते ही

ये अत्यन्त शृङ्गारमयी वार्तायें करुणारस से परिपूर्ण हो जाती हैं। भक्तों के मन में इनके श्रवण से विषय-विकार की बात तो अलग रही, करुणा का स्रोत बहने लगता है, हृदय गद्गद् हो जाता है। आँखों से अश्रुओं का प्रवाह आरम्भ हो जाता है और हृदय फटने लगता है! उस दशा का अनुभव ये इस हाड़-मांस के शरीर में ही सुख समझने वाले विष्ठा मूत्र से सने, मांस और चर्म के बने, रक्त तथा अश्लील वस्तुओं से भरे अपवित्र स्थानों में ही आनन्द को मानने वाले विषयी पुरुष कैसे कर सकते हैं? इसलिए सूतजी! हमें तो आप भगवान् और भक्तों के ही चरित्र सुनावें। इन अन्य विषय सम्बन्धी वार्तों-से हमें क्या लेना। इनके कहने और सुनने में जो समय बीतता है, वह मानों अपनी आयु का अमूल्य समय व्यर्थ ही नष्ट हुआ।

आप एक शङ्का और भी कर सकते हैं, कि आप प्रत्येक बात को तो विस्तार से पूछते हैं, किन्तु मनुष्य की आयु का क्या पता? कब मृत्युदेव आ धमकें और कब अपने पंजों में पकड़ कर चम्पत हो जाँय! इसलिये मृत्यु से डरते हुए आप प्रश्न करें। काल के सम्बन्ध में शङ्कित होकर कथा श्रवण करें।" सो, सूतजी! आप इसकी चिन्ता न करें। मृत्यु को तो हम लोगों ने अपने तप के प्रभाव से वश में कर रखा है। हम लोग तो मरने वाले हैं ही नहीं और भी यहाँ आकर जो कोई कथा सुनेगा और उसकी भी तब तक मृत्यु न होगी जब तक हमारा यह यज्ञ होता रहेगा।"

सूतजी बड़े आश्चर्य में पड़े, वे बोले—"महाराज यह आप कैसी बात कर रहे हैं, मृत्युदेव अपने काम को कैसे छोड़

सकते हैं। किसी को शील सङ्कोच न करने वाले काल आपकी बात कैसे मान सकते हैं। वे तो आप अपने लोक बैठे-बैठे प्राणियों के दिन गिनते रहते हैं। उन्हें आपके यज्ञ क्या प्रयोजन ?"

सूतजी की बात सुनकर शौनकजी हँसे और बोले—सू भगवन् कृपा के सम्मुख मृत्युदेव की कुछ नहीं चलती। भगवान् के परम भक्त ध्रुवजी जब इस लोक का परित्याग परलोक पधारने लगे, तो मृत्युदेव डरते-डरते उनके आये और कहने लगे—"हे मनुवंशावतंस राजन्! मनुष्य शरीर धारण किया है, अतः इस लोक को त्या नियमानुसार मुझे ग्रहण करके—इस शरीर का यहीं करके—तब परलोक पधारें।" मृत्यु के ऐसे वचन सुनकर शिरोमणि ध्रुवजी हँसे और बोले—"अच्छी बात है बैठो, तुमसे भी काम लूँगा।" उनके ऐसे आश्वासन को सु काँपते हुए मृत्युदेव दूर बैठ गये। ध्रुवजी को लेने के भगवान् का दिव्य विमान आया था, देवताओं के विमान पृ का स्पर्श नहीं करते, अतः वह विमान अधर में ही स्थित ध्रुवजी जब अपने सब कर्मों से निवृत्त होकर ध्रुव धाम पधारने लगे तब उन्होंने मृत्युदेव को बुलाया और सिंहासन नीचे बैठने की आज्ञा दी। मृत्युदेव डरते-डरते सिंहासन समीप बैठ गये। ध्रुवजी ने आव गिना न ताव झट से सिर पर पैर रखकर—उसे सीढ़ी बनाकर—दिव्य विमान चढ़ गये और हँसते हुए बोले—"जाओ, भाग जाओ भी मैंने सत्कार कर दिया।" सो, सूतजी! भगवत् भक्त, भक्ति के प्रभाव से श्रीकृष्ण-कथा रूपी अमृत के पान मृत्यु के सिर पर भी पैर जमा देते हैं। वैसे अन्य

के लिये मृत्यु बड़ी ही दुस्तर है। हमने यज्ञ के समय सोचा, कि यदि मृत्यु ने हमारे कार्य में विघ्न किया तो हमारा सहस्र-वत्सर का यह यज्ञ सम्पूर्ण ही न होगा, अतः हमने मृत्यु को बुलाकर उससे कहा—"आप को हमारे कार्य में भी कुछ हाथ बटाना चाहिये। यज्ञ का कोई कार्य आप भी करें।"

मृत्यु ने कहा—"महाराज, जो आप की आज्ञा हो सो मैं करूँ ?"

हमने सोचा—"और अब इनसे क्या काम लेंगे, इनसे सभी प्राणी तो डरते हैं, न जाने क्या गड़बड़ घुटाला कर डालें। इसलिये हमने कहा—"मृत्युदेव ! आप हमारे यज्ञ में शामित्र कर्म—यज्ञ सम्बन्धी बलिकर्म ही करें। उस कर्म के अतिरिक्त यहाँ जो भी आवें उनमें से किसी को यज्ञ समाप्ति तक न मारें।" मृत्युदेव ने इसे स्वीकार किया और वे यहीं रह कर इसी काम को करते हैं। दूसरे किसी प्राणी से वे बोलते भी नहीं। इसीलिये आप मृत्यु की शङ्का को छोड़ कर निर्भय होकर विस्तार के साथ श्रीकृष्ण-कथा का कथन करें। श्रोता वक्ता किसी को भी काल का भय न करना चाहिये, जब तक यज्ञ हो रहा है काल यहाँ रहेंगे और जब तक वे रहेंगे, तब तक कोई मर नहीं सकता। अतः आप बड़े प्रेम से समझा-समझा कर कथा कहें। हम सब सावधानी के साथ एक चित्त होकर उसका श्रवण करेंगे। इसी प्रकार यह काल बीत जायगा। बुद्धिमान् पुरुषों के समय का यही सर्वश्रेष्ठ सुन्दर सदुपयोग है वे अपने काल

को कृष्ण कथा, कीर्तन सत्सङ्ग में ही बिताते हैं। जो मूर्ख हैं, मन्द बुद्धि हैं, पूर्वकृत पाप कर्मों के द्वारा जिनकी श्रीकृष्ण कथा में रुचि ही नहीं होती, जिन्हें सन्तों का सङ्ग सुहाता ही नहीं, जो कथा, कीर्तन में जाते ही नहीं और यदि किसी के आग्रह से चले जाते हैं तो वहाँ ऊँघते हैं, जम्हाई लेते हैं, भक्तों के छिद्रान्वेषण करते हैं। उनके कार्यों की आलोचना अथवा निन्दा करते हैं, उन खलों का समय ऐसी व्यर्थ की बातों में ही बीत जाता है। दिन भर तो वे दूसरों की निंदा, परचर्चा विषय-भोगों के जुटाने में ही लगे रहते हैं। रात्रि में या तो तान दुपट्टा सोते हैं या विषय प्रसङ्गों में निमग्न हो जाते हैं। उनके लिये परमात्मा परलोक कुछ भी नहीं। पेट भर लेना ही उनका परम पुरुषार्थ है, संसारी विषयों की प्राप्ति ही उनके लिए सर्वश्रेष्ठ आनन्द है।

यहाँ हमारी सभा में ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है। ऐसे पुरुषों का यहाँ मन ही कैसे लग सकता है। यहाँ सभी तो सत्सङ्ग और शुभ कर्मों में लगे रहते हैं। उन्हें परचर्चा और परनिन्दा के लिये समय ही नहीं। दुष्ट पुरुष एक दो दिन बिना खाये रह सकते हैं, किन्तु जब तक उनकी जिह्वा इधर उधर की १० बुरी बातें न बक ले, किन्हीं भले पुरुषों की झूठी सच्ची निन्दा न कर ले तब तक उन्हें चैन ही नहीं पड़ता। परनिन्दा, परचर्चा यह भी एक बड़ा भयंकर व्यसन है, जैसे अफीम खाने वाला अफीम के बिना, मद्य पीने वाला मद्य के

बिना नहीं रह सकता उसी प्रकार निन्दक निन्दा किये बिना व्याकुल बना रहेगा। ऐसे लोगों का यहाँ निर्वाह कहाँ? इसी लिए आप हम सब सुनने की इच्छा वाले पुरुषों को भगवत् भक्त महाराज परीक्षित् का चरित्र विस्तार के साथ सुनावें।" शौनकजी के ऐसा कहने पर सूतजी प्रसन्नता के साथ आगे का वृत्तान्त कहने को उद्यत हुए।

छप्पय

सुन्यो परीक्षित् राज्य माहिँ कलियुग घुसि आयो।
धावा बोल्यो तुरत सुनत कलियुग घबरायो॥
पूछे शौनक-सूत! कर्यो कलि कैसे वश में।
नृपति वेश मे शूद्र गऊ ताडत किहि थल मे॥
राजवेष धारी वृषल, वृषभ गऊ ताडन करत।
बल पूर्वक कस वश कर्यो, कस नृप सब के दुख हरत॥

महाराज परीक्षित् की दिग्विजय

(६७)

यदा परीक्षित् कुरुजांगलेऽशृणोत्
कलिं प्रविष्टं निज चक्रवर्तिते ।
निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः,
शरासनं संयुगशौण्डिराददे ॥१॥
(श्री भा० १ स्क० १६ अ० १० श्लो०)

छप्पय

कुरु जांगल महँ बसत, युद्ध अवसर नहिं आवें ।
धीर धनुर्धर नृपति, बिना रण हाथ खुजावें ॥
कलि प्रवेश सुनि कुपित, शीघ्र सब सैन सम्हारी ।
दशों दिशा कूँ विजय करन की करी तयारी ॥
जायँ जहाँ जहँ जनेश्वर, तहँ निज कुल कीरति सुनत ।
कहँ कहँ कृष्ण कृपा करी, सुनत होत अति मन मुदित ॥

जिस पुरुष को जिस वस्तु का स्वभावानुसार व्यसन हो जाता है, उसे उस वस्तु के बिना चैन नहीं पड़ता। वह उसके लिये अवसर खोजता रहता है। जैसे जिन्हें शास्त्रीयवाद

---

१ कुरु जांगल प्रदेशों में रहकर शासन करते हुए महाराज परीक्षित् ने जब यह बात सुनी कि मेरे द्वारा शासित प्रदेश में कलियुग

विवाद का व्यसन होता है, वे शास्त्रार्थ के लिये लालायित रहते हैं। मल्ल अच्छी कुश्ती की बाट जोहता रहता है। व्याख्याता भरी सभा में व्याख्यान देने के लिये उत्सुक रहता है, कलाकार अपनी कला के प्रदर्शन के लिये प्रयत्न करता है, नट अपनी कला दिखाने को व्यग्र रहता है। जिनके बाल सुन्दर होते हैं, वे उन्हें भाँति-भाँति से टेढ़े मेढ़े बनाकर इधर-उधर घुमाते रहते हैं, कि कोई इन्हें देखकर हमारी प्रशंसा करे। इसी प्रकार शूरवीर भी संग्राम की प्रतीक्षा करता रहता है कि रण में अपना बल, पुरुषार्थ और कौशल दिखा सके, शत्रु के दाँत खट्टे कर दें।

महाराज परीक्षित् प्रसिद्ध शूरवीर और प्रख्यात धनुर्धर थे, किन्तु उन्हें युद्ध का अवसर ही प्राप्त नहीं होता था। उनके पूर्वज पांडवों के प्रताप की अब तक इतनी धाक थी, कि कोई राजा उनके विरुद्ध सिर उठाता ही नहीं था। सभी ने स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार कर रखी थी। उस समय राज्य करना एक धर्म समझा जाता था। साम्राज्य बढ़ाने के इच्छा से अथवा व्यापार करने के लोभ से किसी देश पर कोई धर्मात्मा राजा चढ़ाई नहीं करता था। जो राजा दिग्विजय आदि करते थे, वे कुछ दूसरे राजाओं की स्वतंत्रता अपहरण की इच्छा से नहीं करते थे। केवल अपना प्रभाव जमाने और कीर्ति बढ़ाने की ही चढ़ाई, लड़ाई हुआ करती थी। जहाँ दूसरे राजा ने उनका लोहा मान लिया बस युद्ध समाप्त, न फिर कोई दंड था न कर। दोनों अपने अपने कार्यों को पूर्ववत करने लगते

ने प्रवेश किया है, तो इस अप्रिय बात को सुनकर समर में शत्रुओं को परास्त करने वाले समरशूर महाराज ने अपना धनुष उठाया।

थे। जो हमारी बराबरी करना चाहता ही नहीं, उससे बिना बात लड़ना झगड़ना—यह भले राजाओं का कार्य नहीं था, धर्मात्मा राजा ऐसे युद्धों का अनुमोदन नहीं करते थे।

एक दिन महाराज परीक्षित् ने किसी से सुना कि उनके राज्य में कलियुग घुस आया है। तब तो उन्हें चिन्ता हुई और वे उसका दमन करने के लिये उद्यत हुए। उन्हें हर्ष भी हुआ और चिन्ता भी। हर्ष तो इस बात से हुआ, कि चलो बहुत दिनों के पश्चात् एक युद्ध का अवसर तो आया और दुःख इस बात का हुआ, कि इतना धर्म का ध्यान रखते हुए भी अधर्म का मित्र कलियुग मेरे राज में घुस किस प्रकार आया? वे सोचने लगे—कलियुग का निग्रह कैसे करूँ? वह तो गुप्त रीति के छिप कर आता है, यदि वह शरीर धारण करके आवे तो उससे युद्ध भी करूँ। फिर भी मेरे धर्म का ऐसा प्रभाव है कि बिना मेरी अनुमति के कलियुग आ नहीं सकता। प्रजा में जब कोई छिद्र कलियुग को दिखा देगा तो उसी के द्वारा वह प्रवेश कर सकता है। इसलिये सेना सजाकर उसके आगे-आगे धनुषबाण धारण करके स्वयं चलूँगा। इस प्रकार सभी दिशाओं में मैं भ्रमण करूँगा। इससे दिग्विजय भी हो जायगी और कलियुग किस छिद्र से प्रवेश कर रहा है, इस बात का भी पता लग जायगा। यही सब सोचकर महाराज ने हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल इस प्रकार चतुरंगिणी सेना को सजाने के लिये सेनापति को आज्ञा दी महाराज की आज्ञा पाते ही सभी सैनिक प्रसन्नता के कारण उन्मत्त से हो गये। बहुत दिनों से राजधानी में बैठे-बैठे वे ऊब गये थे। सैनिकों को तो मार-धाड़, लूट-पाट, लड़ाई-झगड़े ही प्रिय हैं। किसी को मार दिया, किसी नगर

को लूट लिया, किसी में आग लगा दी, इसी में उन्हें आनन्द आता है। शिविर में बैठे-बैठे उनका मन प्रसन्न नहीं रहता। महाराज की आज्ञा पाकर वे सभी बड़ी शीघ्रता के साथ सुसज्जित हो गये। सेना को सजाकर नगर की रक्षा का प्रबन्ध करके, अपने विश्वासपात्र, बुद्धिमान् और बूढ़े मंत्रियों को लेकर महाराज सेना के साथ दिग्विजय के निमित्त निकल पड़े। वे भद्राश्व, केतुमाल, भारत, उत्तर कुरु तथा किंपुरुष आदि देशों में दिग्विजय करते हुए गये। महाराज जिस-जिस देश में भी जाते, वहीं के राजे महाराजे भाँति-भाँति की भेटें लेकर महाराज के आगे आकर उन्हें प्रणाम करते, उनके आगे भेंट रखते और अधीनता स्वीकार करते। महाराज भी उनके राज्य के, मंत्री, पुरोहित, युवराज, कोष, किला, सेना वाहन और प्रजाजनों के कुशल पूछते तथा भाँति-भाँति की धर्मचर्चा करके उनका आतिथ्य स्वीकार करके उनसे विदा लेते। इस प्रकार महाराज जहाँ भी जाते वहीं उनका भाँति-भाँति से स्वागत सत्कार होता। उनके स्वागत में परिषदें होतीं, जिनमें उनके पूर्वजों की कीर्ति गाई जाती कथा-वाचक पांडवों से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ कहते, उनकी भगवत्भक्ति का वर्णन करते। भगवान् वासुदेव ने पांडवों की कैसे-कैसे संकटों से रक्षा की, उनके कैसे-कैसे काज सम्हाले, गर्भ में अश्वत्थामा के छोड़े शस्त्र से महाराज परीक्षित् की कैसे रक्षा की, इन बातों को सुनकर भगवत् भक्त महाराज बड़े प्रसन्न होते। कहीं-कहीं उनके शुभागमन के उपलक्ष में नटनर्तक नाटक करते, उनमें वे ही श्रीकृष्ण और पांडवों के सम्बन्ध के अभिनय दिखाते जिन्हें देखकर महाराज बड़े प्रसन्न होते। श्रीकृष्ण की मेरे पूर्वजों के ऊपर कितनी कृपा थी

इसका स्मरण करके महाराज गद्गद् हो जाते और भरी सभा में आँसू बहाने लगते। सूत, मागध, बन्दी और कथा कहने वालों ने जब देखा, कि महाराज श्रीकृष्ण-कथाओं के श्रवण से अत्यन्त आनन्दित होते हैं, तब वे अन्य सभी बातों को छोड़कर महाराज के सामने उन्हीं कथाओं को विविध प्रकार से उपमा और अलंकारों से अलंकृत करके सुनाते जिससे महाराज की प्रसन्नता का ठिकाना न रहता। जो भी लोग श्रीकृष्ण-कथा कहते, उन्हें महाराज अत्यन्त स्नेह के साथ कातर दृष्टि से बार-बार निहारते, उनके कथन की प्रशंसा करते और उन्हें मणि-माणिक्य, धन-रत्न तथा बहुमूल्य वस्त्राभूषण पारितोषिक में देते। वे सब भी उन सब वस्तुओं को ग्रहण करके महाराज की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए चले जाते। इस प्रकार महाराज की यात्रा का अधिकांश समय श्रीकृष्ण कथा श्रवण में ही व्यतीत होता।

बूढ़े-बूढ़े ब्राह्मणों को जब यह बात मालूम हुई, कि महाराज परीक्षित् श्रीकृष्ण-कथा के बड़े रसिक हैं, तब तो वे उनके समीप आते और आकर कहते—"महाराज, हमने तो पांडवों के साथ श्यामसुन्दर को देखा था। हमारा वे बड़ा सत्कार करते थे। हम कई यज्ञों में सम्मिलित हुए। वहाँ भगवान् वासुदेव ने अपने हाथों हमारी पूजा की थी।"

इस बात को सुनकर महाराज बड़े प्रसन्न होते और बार-बार पूछते—"आपने भगवान् के कैसे दर्शन किये? हमने सुना है कि कभी वे चतुर्भुज रूप धारण कर लेते थे, कभी द्विभुज। आपने किस रूप में उनके दर्शन किये थे?"

ब्राह्मण कहते—'महाराज! हमने भगवान् के चतुर्भुज रूप के भी दर्शन किये और द्विभुज रूप के भी। महाभारत

युद्ध में भी हम पांडवों को आशीर्वाद देने गये थे। वहाँ हमने स्वयं श्यामसुन्दर को चतुर्भुज रूप में आपके पितामह अर्जुन का रथ हाँकते हुए देखा था।"

अत्यन्त ही उत्सुकता से महाराज पूछने लगे—"भगवान् कैसे रथ हाँकते थे? हाथ में तोत्र (कोड़ा) भी रखते थे, अकेले ही रहते थे या कोई दूसरा सारथि भी रहता था? मेरे पितामह ऊपर बैठते होंगे, भगवान् घोड़ों की रासों को थामते होंगे। अहा! कैसी भक्तवत्सलता है उन सर्वेश्वर की।"

ब्राह्मण कहते—'महाराज भगवान् वासुदेव अकेले ही रथ हाँकते थे। यहीं नहीं, वे स्वयं अपने हाथों घोड़ों की मालिश भी करते थे। वे उनकी रास पकड़ कर टहलाते भी थे। सूत के जितने काम होते हैं, वे सब पांडवों के स्नेहवश श्यामसुन्दर स्वयं करते थे।"

इतने में दूसरा ब्राह्मण कहता—"राजन्! सारथि का काम तो अलग रहा, मैंने उन्हें आपके बड़े पितामह धर्मराज युधिष्ठिर के पीछे-पीछे हाथ जोड़े हुए सेवकों की भाँति चलते देखा था। महाराज जब सिंहासन पर बैठते तो भगवान् उनके नीचे आसन पर विराजते। धर्मराज कोई बात पूछते, तो वे उसका खड़े होकर शिष्टाचार से उत्तर देते।"

इतना सुनते ही महाराज परीक्षित् के नेत्रों से अश्रु बहने लगते और वे कहते—"मेरे पितामह ही धन्य हैं, जिनके ऊपर श्यामसुन्दर का इतना अधिक अनुग्रह था। तभी तो मेरे पितामह भगवान् की ही भाँति लोकवन्द्य और प्रातःस्मरणीय बन गये। एक मैं ही ऐसा अभागा हूँ, कि जिसे छोड़ कर सभी चले गये।"

इस पर कोई दूसरा बूढ़ा ब्राह्मण कहता—"महाराज! आप ऐसी बातें क्यों कह रहे हैं? आपके बराबर भाग्यशाली संसार में कौन होगा? आप तो परम भागवत् हैं। किसी को तो हजारों, लाखों, करोड़ों वर्ष अनेकों जन्मों तक तपस्या करने से तब कहीं जाकर भगवान के दर्शन होते हैं, आपको तो अनायास ही—माता के पेट में ही—भगवान् के दर्शन हो गए। आपकी तो उन्होंने, आपके साथ गर्भ में रहकर रक्षा की। उसी कृपा का ही तो यह फल है, कि आपको श्रीकृष्ण-कथा श्रवण में ऐसी रुचि है। आपके पितामहों के भाग्य के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। महाराज! जिस समय धर्मराज के दूत बनकर भगवान् हस्तिनापुर में पधारे थे तब मैं वहीं था। बड़े-बड़े ऋषि मुनि, देवर्षि, महर्षि, भगवान् के उस संवाद को सुनने आये थे। भरी सभा में भगवान् ने बड़े गर्व के सहित मेघ गंभीर वाणी में धृतराष्ट्र से कहा—"मैं धर्मराज का दूत बन कर आया हूँ। आपसे भी मेरा सम्बन्ध है, अतः मैं आपके हित की बातें कहता हूँ। दुर्योधन ने बीच में ही भगवान् की बात काटकर कहा—'यदि आप हमारे सम्बन्धी हैं, तो आपने हमारा आतिथ्य-सत्कार ग्रहण क्यों नहीं किया? आप विदुर के घर भोजन करने क्यों चले गये?"

"उस समय निर्भय होकर भरी सभा में भगवान् बोले—'दुर्योधन! देखो, भोजन या तो प्रेम से किया जाता है, या विपत्ति पड़ने पर। मेरे ऊपर कोई विपत्ति तो है नहीं जो मैं

तुम्हारे घर भोजन करूँ। प्रेम तुम मुझसे करते नहीं। तुम पांडवों का पैतृक राज्य नहीं देते, उनसे शत्रुता रखते हो। जो पांडव का शत्रु वह मेरा भी शत्रु है, अतः शत्रु के घर भोजन करना नीति के विरुद्ध है।'

"महाराज! भरी सभा में सभी के सामने ऐसा दो टूँक स्पष्ट उत्तर सुनकर दुर्योधन का मुँह फक पड़ गया। फिर उसने चूँ भी नहीं की। उसने अपने साथियों से ऐसी भी मंत्रणा की, कि पांडवों के बल ये श्रीकृष्ण ही हैं। इन्हें बाँध लेने से पांडव अपने आप ही निर्बल बन जायँगे, फिर उन्हें राज्य माँगने का साहस ही न होगा। किन्तु हे कुरुकुलकेतु राजन्! उन जगदीश्वर को कौन बाँध सकता है? संसार उनके संकेत से नाच रहा है। उन्हीं की प्रेरणा से सभी प्राणी प्रारब्ध के बंधन में बँधे हुये हैं। उनको बाँधने का विचार करना हास्यास्पद ही था।"

महाराज परीक्षित् इन सब बातों को बड़े ध्यान से—सब कामकाज छोड़कर सुनते। एक ब्राह्मण ने कहा—"राजन्! एक बार मैं युद्ध के समय ही दुर्योधन के समीप गया। वहाँ से मेरी इच्छा धर्मराज युधिष्ठिर के दर्शन की हुई। हम ब्राह्मणों के लिये तो कहीं रोक-टोक थी ही नहीं। चाहें जिस सेना में चले जायँ चाहें जहाँ से दान-दक्षिणा ले आवें। राज्य के परिचित ब्राह्मणों के लिये तो दोनों सेना के द्वार खुले हुए थे। हाँ, जो अपरिचित ब्राह्मण जाते उनपर कड़ी दृष्टि रखी जाती थी, इस शङ्का से कि

ये कहीं शत्रु सेना के गुप्तचर न हों, हमारा भेद जाकर न बता दें। मुझे तो कौरव-पांडव सभी जानते थे। इसीलिये मैं निर्भय होकर दोनों ओर जाता था। धर्मराज के पास कैसा भी पठित-अपठित मूर्ख विद्वान ब्राह्मण चला जाता, सभी का आदर-सत्कार करते। वे बड़े ही ब्राह्मण-भक्त थे। मुझे वहाँ रात्रि हो गयी धर्मराज ने वहीं मेरे रहने का प्रबन्ध कर दिया। राजन्! मैंने अपनी आँखों से देखा—पांडव तो सब अपने-अपने शिविरों में युद्ध के अनन्तर सुख से सो जाते थे, किन्तु श्यामसुन्दर जागते हुए धनुष-बाण लिये वीरासन से बैठकर उनका पहरा देते रहते थे। उन्हें रात्रि दिन यही चिंता बनी रहती थी, कि पांडवों का कोई अनिष्ट न होने पावे। इसीलिये दिन में तो रथ हाँकते थे और रात्रि में पहरा देते थे।"

यह बात सुनकर महाराज परीक्षित् रोने लगे और रोते रोते बोले—ब्राह्मणदेवता! आपने यह अद्भुत बात सुनाई सारथिपने की, दूत होने की, सभासद् बनने की, मन्त्री बनकर सम्मति देने की बातें तो मैंने भगवान् के सम्बन्ध की बहुत बार, अनेकों भाँति से सुनी हैं, किन्तु भगवान् रात्रि में पहरा भी देते थे—यह तो मैं आपके के ही मुख से ही सुन रहा हूँ। कृपा करके मुझे इसके सम्बन्ध में विस्तार से सुनाइये। मेरे पितामहों के शिविर में वे शस्त्र धारण करके कैसे पहरा देते थे? इस सम्बन्ध की और भी कोई अद्भुत घटना घटित हुई हो, तो उसे भी आप मुझे सुनावें।"

महाराज की उत्सुकता देखकर वे बूढ़े ब्राह्मण बोले—"राजन्! आपको मैं इस सम्बन्ध की एक अद्भुत घटना सुनाता हूँ, आप अपने सभी मंत्रियों के सहित इसे ध्यान-पूर्वक सुनें।"

इतना कहकर वह ब्राह्मण, भगवान् ने किस प्रकार शस्त्र धारण करके पांडवों का पहरा दिया, उसकी कथा कहने को उद्यत हुए।

छप्पय

कहें विप्रवर आइ कृष्ण ने करी कृपा कस।
बने सारथी दूत, भृत्य घनश्याम दयावस॥
भक्तवस्य भगवान् दीनता तें बँधि जावें।
किन्तु करें अभिमान ताहि यम सदन पठावें॥
करें कृपा करुणायतन, जीव क्षुद्रता नित करें।
शरणागत के अघ अखिल, अखिलेश्वर छिन में हरें॥

भगवान् पांडवों की रक्षा कैसे करते थे!

(६८)

सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्य—
वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत् प्रणतिं च विष्णो—
र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥*
(श्रीभा० १ स्क० १६ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

बोले ब्राह्मण वृद्ध—युद्ध की बात बताऊँ ।
राजन् ! सुनिये कथा सरस शुभ सुखद सुनाऊँ ॥
करी प्रतिज्ञा भीष्म अवनि पांडव बिनु करिहौं ।
सब शङ्का-संताप सुयोधन के अब हरिहौं ॥
सुनत हँसे हरि दयामय, लै कृष्णा कौतुक कियो ।
'हो सौभाग्यवती सती' भूलि वृद्ध ने वर दियो ॥

आनन्द कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ता। विषाद किसी वस्तु से निकल कर हमारे हृदय में प्रवेश नहीं करता। सुख दुःख का स्रोत तो हृदय में ही है। अज्ञानवश मनुष्य बाह्य

---

* पांडवों में अत्यन्त अनुरक्त हुए श्यामसुन्दर ने कभी उनका सारथ्य किया, कभी सभासद बन कर व्यवहार किया, कभी सेवक बने

वस्तुओं में सुख दुःख का आरोप करके उनकी निन्दा स्तुति करता है। यदि बाह्य वस्तुओं से ही सुख हो, तो वे सब को समान सुख देने वाली होनी चाहिये, किन्तु ऐसा संसार में दिखाई नहीं देता। जिस वस्तु से एक को सुख होता है, उसी से दूसरों को दुखी होते देखा गया है। एक वस्तु किसी को रुचिकर है, तो वही दूसरे को अरुचिकर है। एक बात सुनकर कोई आनन्द से नृत्य करने लगता है, तो दूसरे पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता, इन सब बातों से प्रतीत होता है, कि पूर्व जन्मों के संस्कारों के वशीभूत होकर, हमारे मन ने जिसे अनुकूल मान लिया है, उसके देखने, सुनने, छूने तथा समीप रखने में हम सुख का अनुभव करते हैं और जिन्हें प्रतिकूल समझ लिया है, उनसे हम बचना चाहते हैं, उनके सम्बन्ध में प्रशंसित वाक्य सुनने से हमें दुःख होता है। अतः सुख दुःख बाह्य वस्तुओं में न मानकर उनका बीज अन्तःकरण में ही समझना चाहिये।

जो विषयी पुरुष हैं, पूर्व जन्मों के संस्कारों से जिनकी प्रवृत्ति सदा पाप-कर्मों के करने में ही होती है, उन्हें कृष्ण-कथा अच्छी नहीं लगती। जहाँ कहीं भक्ति, भक्त और भगवान्

कभी मित्र का सा नेह निबाहा और कभी दूत बनकर उनके कार्य करने गये। इतना ही नहीं, वे समय पड़ने पर रात्रि भर जाग-जाग कर वीरासन से बैठ कर पहरा भी देते थे। कभी धर्मराज का अनुगमन करते, कभी उनकी स्तुति करते। कभी स्वयं पहिले उठकर पैर छूते, कभी अन्य राजाओं से प्रणाम करवाते। इन सब चरित्रों को जब महाराज परीक्षित् सुनते, तो उनकी श्रीकृष्ण-चरणों में और भी अधिक भक्ति होती थी।

का प्रसङ्ग आया, कि वे नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं और कहने लगते हैं—"अजी, यह आपने क्या बेसुरा राग अलापना आरम्भ कर दिया ? कोई राग-रङ्ग की बात होने दो। राम-राम बकने चिल्लाने को तो ये बेकार भगत ही बहुत हैं।" किन्तु इसके विपरीत भक्तों को इन संसारी राग-रङ्गों की बातों से बड़ी घृणा है। वे अपने रसिकशिरोमणि रँगीले श्यामसुन्दर के ही राग में रँगे रहना चाहते हैं। उन्हें भगवत्-कथा को बार-बार सुनने पर भी तृप्ति नहीं होती। वे भगवत् चरित सुनने को सदा अतृप्त ही बने रहते हैं। जब अत्यन्त उत्सुकता के साथ महाराज परीक्षित ने उस वृद्ध ब्राह्मण से भगवान् की पहरेदारी करने का प्रश्न पूछा, तो वे ब्राह्मण गद्गद् कंठ से कृष्ण-कृपा और उनकी भक्तवत्सलता का स्मरण करके कहने लगे।

ब्राह्मण बोले—"राजन् ! भगवान् को वीरासन में पांडवों के शिविर की रक्षा करते, धनुष-बाण धारण करके पहरा देते मैंने स्वयं देखा था। वे पांडवों की रक्षा के लिये उसी प्रकार व्यग्र रहते थे जैसे शरीर की रक्षा के लिये हाथ व्यग्र रहते हैं। शरीर के किसी भी अङ्ग में तनिक सी खुजली हो, बिना कहे अनायास ही हाथ वहाँ पहुँच जाता है और खुजाकर वहाँ का दुःख दूर करता है। श्रीकृष्ण को सदा यह चिन्ता रहती, कि कहीं सोते हुए पांडवों पर कोई दुष्ट प्रहार न कर बैठे। उन्हें सेना के पहरे से संतोष नहीं होता था, पांडवों के सो जाने के अनन्तर वे स्वयं ही अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर बिना सोये पहरा देते रहते। उसी पहरेदारी के प्रसङ्ग में एक बड़ा अद्भुत इतिहास सुना जाता है। राजन् ! यह मैंने अपनी आँख से तो देखा नहीं, युद्ध के अनन्तर मैंने कथा कहने वाले

के मुख से सुना है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ आप सावधान हो कर श्रवण करें।"

महाराज परीक्षित् बोले—"विप्रवर! श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करने में तो मैं सदा सावधान ही रहता हूँ, आप उस अद्भुत इतिहास को, जिस प्रकार आपने सुना है, उसी प्रकार अवश्य ही सुनाने की कृपा करें।"

वृद्ध ब्राह्मण बोले—"राजन्! महाभारत युद्ध में आपके पितामह पांडवों की सेना के सेनापति तो धृष्टद्युम्न थे और कौरवों के सेनापति भीष्मपितामह थे। भीष्मपितामह यद्यपि बड़े परिश्रम से लड़ते थे, फिर भी कौरव पांडव दोनों के लिये समान ही थे। उनके हृदय में पांडवों के प्रति प्रेम भी था, अतः वे जान-बूझकर पांडवों पर प्रहार नहीं करते थे। उनकी आन्तरिक अभिलाषा यह थी, कि मेरे ही हाथों से मेरे वंश का सर्वनाश न हो। जिन पांडवों को मैंने गोद में बिठाकर खिलाया है, अपने सगे पुत्रों से भी बढ़कर स्नेह करके पाला पोसा है, उनकी हत्यासे मेरे हाथ रक्तरञ्जित न हों। दुर्योधन यह सब समझता था, किन्तु वह वृद्ध के जीवित रहते दूसर को सेनापति भी नहीं बना सकता था, अतः वह इस बात से बहुत चिन्तित हुआ। उसने सोचा—'जब मेरा सेनापति ही शत्रुओं के प्रति दया दिखाता है तब तो मेरी विजय असम्भव ही है।' यही सब सोचकर वह पितामह के समीप गया। उनके पैर पकड़ कर उसने अपनी चिंता का कारण प्रकट किया।

"दुर्योधन बोला—पितामह! आप हमारे कुल में सब से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। यही सब सोचकर मैंने आपको अपनी ११ अक्षौहिणी सेना का सेनापति बनाया। अब हम सब का

जीवन आपके ही अधीन है। आप चाहें हमें बचा लें पहुँचा दें। इस बात को मैं क्या संसार जानता है, कि जब आप क्रुद्ध होकर हाथ में धनुष-बाण धारण कर लें, तो मनुष्य और प्राणियों की तो बात ही क्या, समस्त देवता, दानव, यक्ष, राक्षस, असुर मिलकर भी आपको नहीं जीत सकते। आप यदि चाहें तो केवल एक ही बाण में पांडवों की समस्त सेना का संहार कर सकते हैं। किन्तु मुझे कहने में लज्जा लगती है, दुःख भी होता है, सङ्कोच भी हो रहा है, फिर भी कहे बिना मेरा काम भी नहीं चलता। आप पक्षपात कर रहे हैं। आप सेनापति होकर भी शत्रुओं के प्रति दया दिखा रहे हैं। आप मन लगाकर युद्ध नहीं करते। आप पांडवों के मारने में हिचकते हैं। प्रभो! ऐसे मेरा कैसे काम चलेगा? इस प्रकार मेरी विजय कैसे होगी? यदि आपको नहीं लड़ना था, तो आप मुझसे पहिले ही कह देते। मेरे तो एकमात्र आधार आप ही हैं। आपके बल भरोसे ही पर मैंने युद्ध करने का साहस किया है।"

दुर्योधन की ऐसी दीनतापूर्ण और अपनी प्रशंसा से भरी बातें सुनकर पितामह का रक्त उबलने लगा। उन्हें अपने सेनापति के पद का गर्व हो उठा और उसी गर्व में उन्होंने दुर्योधन को प्रसन्न करने के निमित्त प्रतिज्ञा की—'बेटा, दुर्योधन तुमने मुझे सेनापति बनाकर मेरा अधिक सम्मान किया और तुमने जो मेरी प्रशंसा की है, इससे मैं तुम पर और भी प्रसन्न हूँ। अच्छी बात है, कल तुम मेरी वीरता देखना। या तो संसार में कल पांडव ही न रहेंगे या मैं ही न रहूँगा। मैं निश्चय ही मोह छोड़कर कल अपने तीखे बाणों पांडवों को मार डालूँगा। अब तुम शोक को छोड़ दो और

निश्चिन्त होकर विश्राम करो।' पितामह की ऐसी प्रतिज्ञा सुन कर दुर्योधन अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उसने समझ लिया, कि पांडव तो मर गये, किन्तु महाराज ! जिनके रक्षक नन्दनन्दन हैं, जिनके सिर पर श्याम सुन्दर हैं, जिनके रथ को भगवान् वासुदेव चला रहे हैं, उनका कौन बाल बाँका कर सकता है ? उन्हें कौन प्रतिज्ञा करके मार सकता है ? किन्तु दुर्योधन तो यही समझे बैठा था। उसे तो चराचर के स्वामी उन देवकीनन्दन के प्रभाव का पता ही नहीं था। वह रात्रि भर अपनी विजय के सुखद स्वप्न देखता रहा।

"इधर बात की बात में वायु की भाँति यह समाचार दोनों सेनाओं में फैल गया। पांडव पक्ष के सभी वीर घबरा गये। वे पहले से ही भीष्म की बाण-वर्षा से सन्त्रस्त हो रहे थे। अब जब पांडवों के मारने की बात सुनी, तो सब के छक्के छूट गये। केवल पाँचों पांडवों ही निश्चिन्त थे। उन्हें न शोक था, न भय। उन्होंने तो अपना सर्वस्व नन्दनन्दन के चरणारविन्दों में समर्पित कर दिया था। उन्होंने तो अपने रथ की बागडोर वासुदेव के हाथ में दे दी थी, वे उसे जिधर चाहें घुमावें जहाँ चाहें ले जायँ। उन्होंने तो अपना कर्तृत्व कृष्ण के करकमलों में सौंप दिया था। यदि विजय होगी, तो विश्वेश्वर की ही होगी। यदि पराजय होगी, तो उसके भोक्ता वे ही होंगे। हम तो उनके यन्त्र हैं, जैसे चाहें घुमावें, जहाँ चाहें बैठावें। यही सब सोच विचार कर पांडव तो निश्चिन्त होकर तान दुपट्टा सो गये, किन्तु कृष्ण को नींद कहाँ ? वे तो सदा भक्तों की रक्षा में व्यग्र बने रहते हैं। वे अत्यन्त ही दुःख की मुद्रा बनाते हुए द्रौपदी के समीप पहुँचे और अधीरता के साथ बोले—"पांचाली ! ले तेरा सुहाग लुट गया !"

"भगवान् के श्रीमुख से इन हृदय को हिला देनेवाले वाक्यों को सुनकर द्रौपदी अत्यन्त ही व्याकुल हो उठीं, उन्होंने रोते-रोते कहा—'हे अशरणशरण! आपके रहते हुए भी मेरा सुहाग लुट जायगा—इसकी तो मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी। मैं तो आपकी कृपा के ही भरोसे निश्चिन्त हुई बैठी थी। अब तो आप ही ऐसी अधीरता की बातें कर रहे हैं, तब तो मेरा जीवन ही व्यर्थ है। प्रभो! बात क्या है?"

"भगवान् अत्यन्त चिन्ता प्रकट करते हुए बोले—'देवि! क्या बताऊँ, भीष्मपितामह ने प्रतिज्ञा की है कि कल या तो मैं पृथ्वी से पांडवों को परलोक पठा दूँगा, या स्वयं ही न रहूँगा। उस बूढ़े के बल को मैं जानता हूँ। वह जो करना चाहेगा, कर डालेगा। तीनों लोकों में कोई भी उसका सामना नहीं कर सकता।'

द्रौपदी ने कातर वाणी से कहा—'हे दीनानाथ! इसका कोई उपाय कीजिये, किसी प्रकार मेरे पाँचों पतियों को बचाइये। जैसे हो तैसे उन्हें जीवन दान दीजिये।' भगवान् विवशता के स्वर में बोले—'देवि! और कोई ऐसी प्रतिज्ञा करता, तो मैं उसका कुछ उपाय भी कर सकता था, किन्तु इस बूढ़े सिंह के सामने मेरा कुछ वश नहीं चलता। तीनों लोकों में ऐसा वीर पैदा ही नहीं हुआ जो उस कुपित नाहर की झड़प सह सके। हाँ यदि शस्त्र-ग्रहण न करने की मैंने प्रतिज्ञा न की होती, तो उस वृद्ध व्याघ्र से दो-दो हाथ मैं कर सकता था, किन्तु मैं तो प्रतिज्ञा करके अपने हाथ कटा चुका, अब तो कोई उपाय ही नहीं।'

निराशा के स्वर में कृष्णा बोली—'तो अब मैं अपने जीवन की आशा छोड़ दूँ। मैं अपनी आँखों से इस वीभत्स कांड को

देखना नहीं चाहती। सौभाग्यवती सती साध्वी स्त्री अपनी आँखों के सामने पति को परलोक प्रयाण करते नहीं देखना चाहती। प्रभो! मैं अपने पतियों से पूर्व ही अग्नि में जल मर जाना चाहती हूँ। मेरे लिये अब अग्नि के सिवाय दूसरा कोई आश्रय नहीं। एकमात्र आपही मेरे आश्रय थे, सो आप ऐसी निराशापूर्ण बातें कर रहे हैं।

'भगवान् बोले—'जो बात सत्य थी, वह मैंने तुमसे कह दी। अब जो तुम्हें दिखे सो करो। इतना कहकर भगवान् चले गये। पांडव सो रहे थे किन्तु द्रौपदी के आँखों में नींद कहाँ उसका तो विश्व विलीन हो चुका था। बहुत सोच समझ कर उसने अग्नि में जलकर मर जाने का ही निश्चय किया। अपने निश्चय को कार्य रूपमें परिणित करने के निमित्त वह अपने आसन से उठी और द्वार पर आई। द्वार पर वह क्या देखती है, कि हाथ में धनुषबाण लिये वीरासन से भगवान् श्यामसुन्दर बैठे पहरा दे रहे हैं। द्रौपदी ने अपना समस्त अङ्ग एक बड़े वस्त्र से ढक लिया था। वह धीरे-धीरे दबे पैरों जा रही थी। हलकी सी पैंछर सुनकर श्यामसुन्दर ने पूछा—कौन है? द्रौपदी कुछ भी न बोली। तब तो सावधान पहरे वाले को सन्देह हुआ—कोई शत्रु का आदमी है। डाँट कार वह बोला—'कौन जा रहा है? खड़ा हो!' द्रौपदी ने डरकर रोकर कहा—'कोई दुखिया अपने दुःख से असहाय होकर कहीं जा रहा होगा। उसे क्यों रोक रहे हो? बड़े पहरेदार बने हो! तुम रक्षा करने में समर्थ हो नहीं तो यह पहरेदार का वेष व्यर्थ में क्यों बना रखा है?'

"राजन्! आपकी पितामही के ऐसे कोपयुक्त स्नेह से सने वचन सुनकर और उनकी वाणी पहिचान कर भगवान्

बोले—'कौन, द्रौपदी ! तुम कहाँ जा रही हो ? तुमने यह कैसा विचित्र वेष बना रखा है ?

"द्रौपदी ने उसी दृढ़ता के स्वर में कहा—जा रही हूँ अपना भाग्य निर्णय करने, अब तक मैं श्रीकृष्ण को ही अपना आश्रय और सहायक समझती थी, जब उन्होंने ही हमें आश्रय विहीन बना दिया, तो चराचर जगत् में व्याप्त अग्निदेव ही मेरे एक मात्र आश्रय हैं, उन्हीं के शरण में जा रही हूँ।'

"भगवान् भयभीत से होकर बोले—'क्या तुमने सचमुच अग्नि में प्रवेश होने का निश्चय कर लिया है ? अभी कल तो होने दो, पता नहीं कल क्या होता है ?'

द्रौपदी ने कहा—'बीती कल, आज और आगामी कल सबका कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता जो कह रहा है, जो उसने निश्चय कर लिया है, वही होगा। उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किसमें है ? निर्णय तो हुआ ही हुआ है। मैं इस घटना को अपनी आँखों देखना नहीं चाहती। इसके पूर्व ही मैं परलोक प्रयाण करना चाहती हूँ। आगे जाकर मैं अपने पतियों का परलोक में स्वागत करूँगी। आप यदि मेरा अन्तिम एक उपकार और कर दें, तो मैं अपने कार्य में सफल हो सकूँ।'

"भगवान् बोले—'देवि ! तुम जो भी करने को कहोगी और वह मेरी शक्ति के बाहर यदि न होगा, तो मैं अवश्य करूँगा।

द्रौपदी ने बिलखते हुए कहा—'प्रभो ! आपकी शक्ति के बाहर तो संसार में कुछ है ही नहीं। अच्छी बात है, आप मेरे लिए एक चिता बना देने का प्रबन्ध कर दें।'

"भगवान् बोले—हाँ, यह मैं कर सकता हूँ। यदि तुमने अग्नि-प्रवेश का निश्चय ही कर लिया है तो सती सोलहों शृङ्गार करके चिता में प्रवेश करती है। तुम सब शृङ्गार करके आओ, तब तक मैं तुम्हारे लिए चिता तैयार करता हूँ।' भगवान् की आज्ञा पाकर द्रौपदी शृङ्गार करने भीतर चली गई। उधर श्यामसुन्दर ने सूखी लकड़ी इकट्ठी करके बड़ी भारी चिता बना ली।'

"रोते-रोते द्रौपदी ने सोलहों शृङ्गार किये। आज उसे शृंगार करने में प्रसन्नता नहीं हो रही थी, वह अपने कर्तव्य का पालन मात्र कर रही थी। शृङ्गार करके वह बाहर आई, पांडव गहरी नींद में सो रहे थे, उन्हें संसार का कुछ भी पता नहीं था। रात्रि साँय-साँय कर रही थी। कुछ बादल भी हो आये थे। सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था। केवल पहरियों की आवाजें सुनाई दे रही थीं। द्रौपदी ने देखा—दूर अश्वत्थ के नीचे धू-धू करके चिता दहक रही है। उसने अपने पतियों को मन ही मन प्रणाम किया और वह भगवान वासुदेव के साथ चल दी।

"राजन्! तुम्हारे पाँचों पितामहों को कुछ पता ही नहीं था, कि बाहर क्या हो रहा है। संसार सो रहा था, जाग रहे थे दो, कृष्णा और कृष्ण। तुम्हारी पितामही द्रौपदी रोती-रोती अश्वत्थ के समीप पहुँची, उसने अश्रु भरे नेत्रों से एक बार दृष्टि भरकर श्यामसुन्दर को निहारा और फिर चिता में कूदने को उद्यत हुई। तब पहरेदार वेष में धनुषबाण धारण किये हुए भगवान् वासुदेव बोले—'द्रौपदी! तुम परम सती होकर भी ऐसी भूल कर रही हो। पहिले अग्नि की प्रदक्षिणा करनी होती है. तब सती अग्नि में प्रवेश करती है।

तुम अग्नि की पहिले प्रदक्षिणा तो कर लो। रोते-रोते पांचाली ने कहा—'मेरी तो प्रभो! सब प्रदक्षिणा ही है। यदि आपकी ऐसी ही आज्ञा है तो लीजिये मैं प्रदक्षिणा किये लेती हूँ।' यह कहकर द्रौपदीजी ने अग्निके एक प्रदक्षिणा करके प्रवेश करना चाहा। तब श्यामसुन्दर बोले—'अग्निकी एक प्रदक्षिणा नहीं होती, सात प्रदक्षिणा करनी चाहिए।'

"द्रौपदी ने दुखित मन से कहा—'प्रभो! मेरी सामर्थ्य तो अब है नहीं। मेरे पैर उठते ही नहीं। मुझसे अब दूसरी भी प्रदक्षिणा न होगी। चाहे विधि हो या न हो, अब मैं तो अग्नि में प्रवेश करती ही हूँ।'

"भगवान् गम्भीर होकर बोले—'देखो, एक काम करो। अविधि कार्य उचित नहीं। तुम मेरी पीठ पर चढ़ जाओ इस प्रकार तुम सातों प्रदक्षिणा कर सकोगी।'

श्रीकृष्ण के साथ सुभद्रा के कारण द्रौपदी को सगे भाई का सा सम्बन्ध था। फिर भगवान् से उसे किसी प्रकार का संकोच भी नहीं था, अतः भगवान् की आज्ञा उसने शिरोधार्य की। भक्तवत्सल भगवान् ने उसे अपने कंधे पर चढ़ा लिया राजन् तुम्हारे पितामहों के लिए सर्वान्तर्यामी प्रभु ने क्या क्या नहीं किया? जिनके चरण-कमल की धूलि के लिए योगिजन अनेकों जन्म तपस्या करते हैं वे ही भक्तवत्सलता वश भक्तों के धूलि भरे चरणों को सिरपर धारण करते हैं द्रौपदी अपने अश्रुओं से उनके पीताम्बर को भिगो रही थी वे उन्हें लेकर अग्नि प्रदक्षिणा कर रहे थे। प्रदक्षिणा करते करते बड़ी दूर भीष्मजी के शिविर के समीप पहुँच गये। तब बड़ी हड़बड़ाहट के स्वर में बोले—'देवी! एक बड़ी भूल हो

गई। सती को चिता पर चढ़ने के पूर्व अपने कुल के वृद्ध पुरुष को प्रणाम करना चाहिए। तुम्हारे कुल में पितामह ही सबसे वृद्ध हैं, अतः तुम जाकर उन्हें प्रणाम कर आओ।'

"महाराज! उस समय अंधेरी रात्रि थी, हाथ से हाथ दिखाई नहीं देता था। असमय में घनघोर घटायें घिर आई थीं, छोटी-छोटी बूँदें भी पड़ रही थीं। श्यामसुन्दर एक कम्बल स्वयं ओढ़े थे, एक से द्रौपदी को ढके हुए थे, जिससे उसके वस्त्र न भीगने पावें। जब भगवान् ने भीष्म को प्रणाम करने की आज्ञा दी तब द्रौपदी ने कहा—'प्रभो! पितामह इस समय शयन कर रहे होंगे, फिर उनके यहाँ तो कड़ा पहरा रहता है, मुझे भीतर प्रणाम करने कौन जाने देगा? मैं यहीं से उन अपने बूढ़े श्वसुर को प्रणाम किए लेती हूँ।'

"भगवान् बोले—'नहीं, ऐसा विधिहीन कार्य मत करो। जब वे यहाँ स्वयं उपस्थित हैं, तो साक्षात् जाकर उनकी चरण वन्दना करनी चाहिए। यह सत्य है कि भीष्मपितामह के यहाँ कोई जा नहीं सकता, किन्तु साधु, ब्राह्मण, कन्या, सती स्त्री और दीन-दुखी जब चाहें पितामह का दर्शन कर सकते हैं। इन सब के लिये उनका द्वार सदा खुला रहता है। हाँ, रही मेरी बात, सो मैं बाहर बैठा रहूँगा। तुम पहिले अपना परिचय मत देना, जाकर प्रणाम करना। जब वे आशीर्वाद दे दें, तब अपना परिचय देना। वे पूछें तुम इतनी रात्रि में किसी के साथ आई हो मेरा नाम न बताना, कह देना—मेरा एक भृत्य साथ आया है।'

अब द्रौपदी को कुछ-कुछ आशा हुई, कि यह तो श्याम-सुन्दर मेरी रक्षा का ही उपाय कर रहे हैं। उसे बड़ी शान्ति

हुई। इतने में ही भगवान् पितामह भीष्म के शिविर द्वार पर पहुँच गये। प्रहरी ने पूछा—कौन है? भगवान् ने डरते-डरते कहा—'यह सती है, पितामह के दर्शन करना चाहती है।'

प्रहरी ने अकड़ कर कहा—'हाँ सती, तो भीतर जा सकती है। उसके लिये पितामह का द्वार सदा खुला रहता है, किन्तु तुम भीतर नहीं जा सकते।'

भगवान् ने दीन स्वर में कहा—'भैया, भीतर न भी जाने दो, तो कहीं बैठने को छाया में जगह तो बता दो, हम भीग रहे हैं।'

इस पर उसने डाँटते हुए कहा—"यहाँ कहाँ छाया रखी है! बाहर बैठो, भीतर जाने की आज्ञा ही नहीं। तब विवशता दिखाते हुए भगवान् ने द्रौपदी से कहा—'देवि! तुम्हीं जाओ, मैं यहीं बैठा हूँ।' इस पर प्रहरी ने कहा, भीतर जूता पहिन कर न जाना होगा। पैर के जूतों को यहीं छोड़ जाओ।' द्रौपदी ने डरते-डरते कहा—'यहाँ वर्षा में तो मेरे जूते भीग जायेंगे।' इसपर भगवान् बोले—'देवि! तुम मुझे दे जाओ, जब तक तुम न लौटोगी, मैं इन्हें अपने कम्बल में छिपाये रखूँगा।'

"राजन्! तुम्हारी पितामही तो यन्त्र की भाँति भगवान् की सभी आज्ञाओं का यथावत् पालन करती थीं। उन्होंने जूते श्यामसुन्दर को सौंपे और भीतर शीघ्रता के साथ चली गईं। भीतर जाकर उन्होंने देखा कि वह बूढ़ा सिंह सो नहीं रहा है। अपने शिविर में मदोन्मत्त सिंह की भाँति शनैः शनैः इधर से उधर टहल रहा है। पितामह के तम्बू में एक क्षीण सा प्रकाश हो रहा था। उनकी मुख-मुद्रा से प्रतीत होता था, कि वे किसी गहरी चिन्ता में मग्न हैं। किसी अत्यन्त गम्भीर विषय को सोचकर

हैं। द्रौपदी ने शनैः शनैः जाकर अपने वस्त्रों को सावधानी से समेट कर, सिर को भूमि में टेक कर, पितामह को पंचाङ्ग प्रणाम किया। उसने बहुत ही क्षीण स्वर में कहा—'देव ! मैं सती अपने सुहाग की रक्षा के लिये आपको प्रणाम करती हूँ।' घोर चिन्ता में मग्न हुए पितामह ने जब सहसा एक सती साध्वी कुलवधू को अपने सम्मुख प्रणाम करते देखा, तो स्वभावानुसार उनके मुख से आपसे आप ही निकल पड़ा—'सौभाग्यवती हो !' बस, अब पांचाली की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह पृथ्वी पर बैठ गई और रोते-रोते बोली—'देव ! आप सत्यवादी हैं, आप कभी हँसी में भी असत्य भाषण नहीं करते, किन्तु आज आपका आशीर्वाद सत्य होता है कि नहीं, इसमें मुझे संदेह है। मेरे सौभाग्य की तो आपने कल नाश करने की प्रतिज्ञा की है।' अब पितामह का ध्यान भंग हुआ। वे पांचाली को पहिचान कर बोले—'कौन, बेटी ! द्रौपदी ! अरे, तू यहाँ इतनी रात्रि में कैसे आ गई ? तेरे वस्त्र भी नहीं भीगे हैं, पैरों में भी कीच नहीं लगी है, तुझे मेरे शिविर का रास्ता बताया किसने ?'

"रोते-रोते द्रौपदी ने कहा—'प्रभो ! मैं अपने एक सच्चे सेवक के साथ आई हूँ।'

"बूढ़ा समझ गया, कि इतनी युक्ति बताने वाला सिवाय श्यामसुन्दर के दूसरा कोई सेवक नहीं। उन्होंने घबड़ाहट के साथ पूछा—'वह सेवक कहाँ है ?'

द्रौपदी ने कहा—'प्रभो ! वह द्वार पर जूता लिए बैठा है, द्वारपाल ने उसे बहुत कहने पर भी भीतर नहीं आने दिया।'

"इतना सुनते ही पितामह द्वार की ओर दौड़े। प्रहरी सब हुए वे डर गये। जाते ही पितामह श्यामसुन्दर के शरीर से लिपट गये और अपने प्रेमाश्रुओं से उन्हें भिगोते हुए बोले—'श्यामसुन्दर! जिनके रक्षक आप हैं उन्हें कौन मार सकता है? जिनके सुहाग को आप रखना चाहते हैं, उसके सुहाग को कौन मेंट सकता है। हे दीनबन्धो! हे भक्तवत्सल! हे अशरण शरण! हे शरणागत प्रतिपालक! आपकी इतनी नम्रता—इतनी शरणागत वत्सलता—देखकर मैं भटक जाता हूँ, अपने आपे में नहीं रहता। हे दयासागर! अब तो मैं मरूँगा ही, किन्तु मेरी एक भीख है—मरते समय आप इसी श्यामसुन्दर चतुर्भुज वेष से मेरे सम्मुख उपस्थित रहें। आपके दर्शन करते-करते मैं इस पांचभौतिक शरीर का त्याग करूँ, यह वरदान आप मुझे दें।'

"भगवान् ने 'तथास्तु, कहकर उन्हें वरदान दिया। इस प्रकार राजन्! बड़े कौशल से उन्होंने पितामह द्वारा ही पांडव को निर्भय बना दिया, द्रौपदी के सौभाग्य की रक्षा की। ऐसी एक नहीं अनेकों घटनायें हैं जिनका वर्णन शेषजी अपनी दो सहस्र जिह्वा से भी नहीं कर सकते। महाराज! वे तुम्हारे पितामहों के छोटे से छोटे कार्य को करने में भी अपना बड़ा गौरव समझते थे। सेवकों की भाँति धर्मराज के पीछे-पीछे चला करते थे। उनकी खड़े होकर स्तुति करते थे। पहिले उठ कर उन्हें स्वयं प्रणाम करते तथा समस्त भू-मंडल के राजाओं से प्रणाम कराते थे। उन्होंने तुम्हारे पितामहों के यश को दिगन्त व्यापी बना दिया। महाराज! यह बड़े सौभाग्य की बात है, कि आप भी अपने पूर्वजों की भाँति श्रीकृष्ण के परम भक्त हैं, आपका भी भगवान् के चरणों में—उनकी लीला गुण

सुनने में—अत्यन्त अनुराग है। यही जीवन की सार्थकता है। मनुष्य शरीर का यही एकमात्र फल है, कि भगवान् वासुदेव में अव्यभिचारिणी अहैतुकी भक्ति हो।"

महाराज परीक्षित् इस कथा को श्रवण करके अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और उन्होंने अनेक धन, रत्न तथा वस्त्र, भूषण देकर उन ब्राह्मण देव का सत्कार किया।

छप्पय

कृष्णा ते यों कहें कृष्ण कछु बात सुनो है ?
पांडव मारूँ काल्हि प्रतिज्ञा भीष्म करी है॥
कहे द्रौपदी दुखित दयालो ! दया दिखाओ।
पावक में जरि मरूँ नाहिं पति मोर बचाओ॥
रची चिता फेरीनि मिस, भीष्म द्वार पै ले गये।
गङ्गा सुत आसिस दई, तब पांडव निर्भय भये॥

—:o:—

दिग्विजय के प्रसंग में पृथ्वी धर्म सम्वाद

(६९)

यद्वाम्ब ते भूरिभरावतार—
कृतावतारस्य हरेर्भरित्रि ।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा,
कर्माणि निर्वाणिविलम्बितानि ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १६ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

हरि लीला अतिमधुर आइ सब नृपहिं सुनावहिँ ।
सब समाज के सङ्ग सुनहिं, अति हिय हरषावहिँ ॥
तबहिं शिविर समीप घटी घटना अद्भुत अति ।
एक पैर तें धर्म वृषभ बनि चलहिँ मन्द गति ॥
धेनु रूप धरणी धरे, रोवे सुत बिनु मातु ज्यों ।
मातु दुखित पूछहि तनुज, धर्म धरनि तें कहे यों ॥

यदि निरन्तर दिन ही होता रहे, कभी रात्रि हो ही नहीं, तो फिर न दिन का महत्व रहे, न नित्य नूतनता ही प्रतीत हो। दुःख से सुख का महत्व जाना जाता है, अन्धकार से प्रकाश की

---

१ वृषभ रूप धारी धर्म, गो रूपधारिणी पृथ्वी से पूछ रहा है—हे माता धरणि ! आप दुखी क्यों हैं ? आपके दुःख के बहुत से कारणों

महत्ता प्रतीत होती है। अधर्म से धर्म का गौरव समझा जाता है। इसी प्रकार संसार में सभी वस्तुओं मे द्वन्द्व है। जीवन मरण, हानि लाभ, यश अपयश, जय, पराजय सुख, दुःख, अच्छा बुरा, मीठा कड़वा, अनुकूल प्रतिकूल, इन द्वन्द्वों का ही नाम संसार है। जो इन द्वन्द्वों से रहित होकर ऊपर उठ गया वही निर्द्वन्द्व है, वह संसारी नहीं संसार का स्वामी है, वह जीव नहीं ब्रह्म है, वह जगत् का प्राणी नहीं जगत्पति है। परिवर्तन सदा द्वन्द्व में ही संभव है। निर्द्वन्द्व तो सदा निर्विकार, निर्लेप और अपरिवर्तनशील रहता है। इसीलिये शास्त्रकार पहिले अधर्म को त्याग कर धर्माचरण करने के लिये आग्रह करते हैं, अन्त में फिर धर्म अधर्म दोनों का ही परित्याग करके निर्द्वन्द्व हो जाने पर बल देते हैं। बिना निर्द्वन्द्व हुए, सुख नहीं, सच्ची शांति नहीं, संस्कृति का अंत नहीं और संसार का सर्वदा नाश नहीं हो सकता। दिन के पश्चात् जैसे रात्रि का होना अवश्यम्भावी है, जैसे जन्म लेने वाले प्राणियों का मरण निश्चित है, उसी प्रकार धर्म के पश्चात् अधर्म का प्रचार होना सनातन नियम है। सत्ययुग के पश्चात् त्रेता, त्रेता के बाद द्वापर और द्वापर के पश्चात् कलियुग का आना अपरिहार्य है। उसे कोई प्रयत्न करके हटा नहीं सकता, टाल नहीं सकता, अन्यथा नहीं कर सकता। हाँ, बीच-बीच में उसकी रोक-थाम करने के प्रयत्न होते हैं, किन्तु उनसे और भी उनका प्रचार होता है। प्रवाह को सर्वथा कोई नहीं रोक सकता। आप यन्त्रों के द्वारा थोड़ी

में से एक प्रधान कारण यह भी हो सकता है, कि जिन्होंने तुम्हारा महान् भार उतारने के लिए ही अवतार लिया था, उनके अन्तर्हित हो जाने से, उनसे रहित होकर उनके अद्भुत चरित्रों को याद कर रही हो क्या, जिन चरित्रों के श्रवण पर मोक्ष अवलम्बित है?

दूर तक रोक ले जायेंगे, जहाँ उन प्रयत्नों में शिथिलता हुई, वहाँ फिर प्रवाह नीचे की ही ओर अपनी स्वाभाविक गति से बहने लगेगा।

पांडवों के सम्मुख धर्म का सर्वत्र प्रचार था। कलियुग के आ जाने पर भी श्रीकृष्ण भगवान् के रहने से वह पृथ्वी पर अपना प्रभाव न जमा सका। अब भगवान् स्वधाम पधार गये, पांडवों ने भी अपनी इहलौकिक लीला समाप्त कर दी। अब कलियुग को खुलकर खेलने का अवसर प्राप्त हो गया। उसने चारों ओर अपना प्रभाव जमाना आरम्भ किया। फिर भी उसके मन से कुछ अभी डर बैठा था। महाराज परीक्षित् बड़े धर्मात्मा थे। उनके शरीर में भरतवंश का रक्त था। श्रीकृष्ण की बहिन के लड़के के वे लड़के थे, महाराज पांडु के पौत्र थे पुत्र थे। इसीलिये कलियुग उनसे डरता था। वह अवसर खोज रहा था, कि किसी प्रकार महाराज तक मेरी पहुँच हो जाय। क्योंकि जब तक राजा की अधर्म में प्रवृत्ति नहीं होती तब तक प्रजा अधर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे भाव राजा के होंगे, वैसे ही प्रजा के होंगे। राजा की भावना दुष्ट होने से ही ऋद्धि सिद्धियों का क्षय होता है। एक राजा आखेट करने जङ्गल की ओर जा रहा था। रास्ते में एक सूअर का पीछा करते हुए उसके साथी बिछुड़ गये। वह अकेला ही रह गया। धूप में बहुत दौड़ने से उसे बड़े जोर से प्यास लगी। पास में ही एक ईख का खेत था, उसकी रक्षा एक युवती कुमारी कर रही थी। राजा ने उससे पानी माँगा। उसने उन्हें साधारण पथिक समझ कर उसी समय एक गन्ना उखाड़ कर, उसे निचोड़ कर उसके रस से एक पात्र भर कर राजा को दिया। सुन्दर स्वादिष्ट तत्काल के निकले

मधुर रस को पीकर राजाकी तृषा शांत हुई। वे बड़े सन्तुष्ट हुए, किन्तु एक गन्ने में इतना रस निकलने से उन्हें विस्मय हुआ। उन्होंने मन ही मन सोचा—ओहो, जब एक गन्ने में इतना रस निकलता है, तब तो ये कृषक मालामाल हो जाते होंगे। हमें ये केवल छठा ही अंश देते हैं, इन पर और अधिक कर लगाना चाहिये। अधिक कर लगाने से मेरा कोष बढ़ेगा। यह सोचते-सोचते वे दूर निकल गये। सूअर कहीं विलीन हो गया, साथियों से भेंट नहीं हुई। राजा पुनः लौट कर उसी लड़की के खेत में आये। अब के उन्होंने फिर रस माँगा। लड़की ने फिर एक गन्ना उखाड़ कर निचोड़ा। अब के उसमें आधा भी रस नहीं निकला। तब तो राजा ने आश्चर्य से चकित होकर पूछा—"देवि! क्या कारण है पहिले तो एक गन्ने में पूरा पात्र भर गया था, अब के आधा भी नहीं भरा?" तब उस समझदार बालिका ने कहा—"हे पथिक! मैंने तो कोई मन में बुरी बात सोची नहीं, मेरे पिता धर्मात्मा हैं। मालूम होता है, इस देश के राजा के हृदय में कोई पाप आ गया। उसके मन में किसी का द्रव्य हरण करने का लोभ आ गया होगा, इसी से इसका रस कम हो गया होगा।" राजा को अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने अतिरिक्त कर लगाने का विचार त्याग दिया। इस कथा से इतना ही भाव निकलता है कि जब तक राजा अधर्मी न होगा, तब तक सम्पूर्ण प्रजा अधर्मी न बनेगी। पाप का सर्वत्र प्रचार न होगा। राजा के अधर्मी हो जाने से प्रजा के सभी लोग उसी के सभी अवगुणों का आँख बन्द करके अनुसरण करते हैं। राजा के आचार का अनुवर्तन ही अन्य लोग किया करते हैं और उसी में अपनी उन्नति का अनुभव भी करते हैं। इसीलिये कलियुग किसी प्रकार राजा के शरीर में

प्रवेश करने की बात सोच रहा था। वैसे तो सब लोगों की प्रवृत्ति कलियुग के कारण अधर्म की ओर झुक गई थी। सभी लोग अपने कुलागत सदाचार का परित्याग करके जहाँ तहाँ सभी के साथ खाने पीने लगे थे। यज्ञ याग और श्राद्ध तर्पण आदि पारलौकिक कार्यों के प्रति लोगों के मनमें कुछ-कुछ अविश्वास . . . . . से और . . . . . पुरुषों के सम्मुख समर्थन नहीं करते थे। बेमन से ही सही कुछ-कुछ धर्म-कार्य भय से भी होते ही हैं।

धर्म तो बुद्धिमान है, उसे देश-काल का अनुभव है। वह समझता है—अब मेरा समय गया। अब अधर्म का पलड़ा भारी है। उससे विरोध करने से काम न चलेगा। इसलिये वह दुखी होने पर भी अपने दुःख का कारण अधर्म को नहीं बताता। अपने प्रारब्ध के भरोसे दुःख को भोगता है। किन्तु पृथ्वी तो स्त्री ठहरी। स्त्रियों को शृङ्गार स्वभाव से ही प्रिय होता है और विशेषकर भाग्यवती स्त्री को। पृथ्वी का सौभाग्य है धर्म। उसके स्वामी हैं—धर्म के रक्षक भगवान वासुदेव। पृथ्वी पर जब धर्म का प्रचार होता है, तो मारे हर्ष के पृथ्वी के रोम-रोम खिल उठते हैं। जैसे अत्यन्त प्रसन्न हुई पत्नी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ पति के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर देती है, वैसे ही धर्म के द्वारा वृद्धि को प्राप्त वसुन्धरा सच्ची वसुन्धरा बन जाती है। वह अत्यन्त आह्लाद और उमंग के साथ स्थान-स्थान पर सुवर्ण और विविध प्रकार के रत्नों की खानें उत्पन्न कर देती है। नाना प्रकार के फल, फूल और कंदमूलों को प्रकट करके प्रजाजनों को सुखी बना देती है। इसके विपरीत जब

उसके ऊपर अधर्म छा जाता है, तो दुखी होकर सभी बीजों और धनों को अपने भीतर छिपा लेती है। पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ शृङ्गार—सब से मूल्यवान् शिरोभूषण—तो भगवान् नंदनंदन के वज्र, अंकुश, ध्वजा आदि चिन्हों से चिह्नित, इन्द्रादि देवताओं से सदा वंदित उनके पादपद्मों की उनके वक्षःस्थल पर उभड़े हुए चरण चिन्हों की रेखा ही हैं। वे चरण अब अवनि से अन्तर्हित हो गये। भगवती वसुन्धरा अब उन अनुपम चरणों की छाया से रहित हो गई। इसीलिये उसका मुख म्लान हो गया। अश्रु बहाती हुई वह रुदन करने लगी। उसे इस प्रकार रुदन करते देखकर धर्म उससे पूछने लगा।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी तो जड़ है, वह रोने कैसे लगी। धर्म कोई सजीव प्राणी तो है नहीं जो बोल सके। इसलिये इन दोनों में सम्वाद हुआ कैसे?"

सूतजी बोले—हे धर्मज्ञ! यह शङ्का आपकी अपनी निजी नहीं है। आप तो सब जानते हैं, किन्तु इन कलियुगी जीवों के हितार्थ आप पूछ रहे हैं। हे महामुनि! संसार में जड़ कोई पदार्थ नहीं। जैसे संसार में न कोई छोटा है न बड़ा, न कोई भारी है न हलका। ये भेद अपेक्षाकृत हैं। जैसे हाथी से घोड़ा छोटा होता है, घोड़ा से गधा छोटा होता है, गधा से हिरन छोटा होता है, हिरन से कुत्ता छोटा होता है, कुत्ते से बिल्ली छोटी होती है और बिल्ली से चूहा छोटा होता है। इनमें स्वयं छोटा बड़ापन नहीं है। हाथी से बड़े भी जीव हैं, उनकी अपेक्षा वह छोटा है। चींटी से भी छोटे बहुत हैं, उन सबसे चींटी बड़ी है। सुमेरु से भी बड़ी वस्तुएँ संसार में होंगी, उनकी अपेक्षा वह छोटा है, त्रिसरेणु से भी छोटा परमाणु बताया

जाता है अतः त्रिसरेणु परमाणु से बड़ा है। यही दशा जड़-चेतन की है। जिनमें चैतन्य का प्रकाश जितना ही अधिक प्रतीत होता है, वे उतने ही अधिक सजीव कहलाते हैं। जिनमें चैतन्य का प्रकाश दूसरों की अपेक्षा कम होता है, उन्हें लोग जड़ कहने लगते हैं। जैसे मनुष्यों में जिनकी बुद्धि हीन होती है उन्हें लोग 'जड़' कह देते हैं। पत्थर जड़ नहीं है, पृथ्वी [illegible] इनमें चैतन्य का प्रकाश कम होता है। इनसे [illegible] होता है, अतः वृक्ष पत्थरों की अपेक्षा चैतन्य [illegible] वृक्षों से कीट पतंग, उनसे पशु-पक्षी, फिर बुद्धिजीवी—मनुष्य जीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ माना गया है। संसार में जितनी भौतिक वस्तुयें हैं, उन सब के एक अधिष्ठातृदेव होते हैं। वे देवताओं की तरह अशरीरी होते हैं। भाव जगत् में रहते हैं, जब कोई बात करनी होती है, तो किसी अपने अनुरूप शरीरी के शरीर में प्रवेश करके बातें करते हैं। जैसे भूत-प्रेतों का आवेश मनुष्यों में होता है। महाभाग! हमने स्वयं देखा है, कि बहुत से मनुष्य जिस भाषा को जानते भी नहीं, उन्हीं के शरीर में उस भाषा को जाननेवाला कोई प्रेत प्रवेश कर जाता है, तो वह मनुष्य उस भाषा को स्पष्ट बोलने लगता है। वह क्या बोलता है, उसकी वाणी से वह अशरीरी प्रेत ही बातें करता है। इसी प्रकार धर्म पृथ्वी, कलियुग ये सभी अशरीरी देव हैं। जब ये मनुष्यों पर अपने भाव प्रकट करना चाहते हैं, तो या तो तदनुरूप अपना स्वरूप धारण कर लेते हैं या किसी के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। यहाँ पर पृथ्वी ने गौ का रूप धारण कर लिया, क्योंकि गौ और पृथ्वी में बहुत अधिक साम्यता है। जैसे पृथ्वी हमें धारण करके हमारा पालन-पोषण करती है उसी प्रकार गौ भी दूध पिलाकर, बैल पैदा करके हमारी रक्षा करती है।

जिस प्रकार गौ का पुत्र वृषभ होता है उसी प्रकार पृथ्वी का पुत्र धर्म है। धर्म का उपार्जन अधिकतर पृथ्वी पर ही किया जाता है। अन्य लोक तो धर्म अधर्म के फलों को भोगने के लिये हैं। धर्म की वृद्धि पृथ्वी पर ही होती है। इसीलिए धर्म ने वृषभ का रूप धारण किया था। सत्ययुग में धर्म के तप, शौच, दया और सत्य—ये चार चरण थे। त्रेता में तप के नष्ट होने से धर्म तीन चरणों वाला हो गया। द्वापर में शौच के नष्ट होने से धर्म के दो ही चरण रह गये और कलियुग में दया नष्ट हो जाने से अब धर्म केवल सत्य के ही सहारे खड़ा हुआ है। घोर कलियुग आने पर जब उसका सत्य रूपी पैर भी नष्ट हो जायगा, तो कृपालु भगवान् अवतार लेकर धर्म के फिर चारों पैरों को यथावत् बना देंगे, फिर सत्ययुग हो जायगा। इस प्रकार यह क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है, अनन्त काल तक चला जायगा। यही प्रकृति का—सृष्टि का धर्म है। अब कलियुग आ गया था इसलिये धर्म ने एक पैर के बैल का रूप बनाया। पृथ्वी रूपी गौ, दुबली, पतली, रोती, बिलबिलाती, पछताती, दुखी होती हुई वहाँ महाराज परीक्षित् के शिविर के समीप खड़ी थी। एक पैर वाला वृषभ उससे पूछ रहा था।

वृषभ रूपी धर्म ने पूछा—"माँ! तुम इतनी रो क्यों रही हो? तुम्हारे दुःख का क्या कारण है? अपनी कुशल-क्षेम बताओ, अपने मुरझाने होने का कारण बताओ। मालूम होता है, आपको कोई आन्तरिक क्लेश है।"

पृथ्वी ने कहा—"भैया, काहे का क्लेश है, क्या बताऊँ? बताने योग्य बात नहीं, अपने भाग्य के लिये रो रही हूँ। सुख दुःख मनुष्य को अपने भाग्य से ही मिलता है।"

धर्म ने कहा—"यह तो ठीक ही है। दुःख-सुख प्रारब्ध
नुसार ही होता है, फिर भी दुःख के कुछ कारण होते हैं।
माताओं को विशेष कर चार ही कष्ट विशेष होते हैं। या तो
उनका कोई बन्धु-बान्धव परदेश चला गया हो, या पुत्र
दुखी हो, या आश्रित परिवार वालों पर कोई विपत्ति हो अथवा
अपने पति का वियोग हो गया हो। इनमें से तुम्हें कौन सा
कष्ट है? तुम्हारे हितैषी जो सद्गुण हैं, वे कहीं चले गये
क्या? या मेरे तीन पैर कट जाने के कारण तुम्हें दुःख हो
रहा है? या तुम पर अब शूद्रों और म्लेच्छों का आधिपत्य
हो रहा है और निकट भविष्य में होने वाला है, उसके लिए
तुम इतनी व्यग्र हो रही हो? अथवा आजकल धर्म न होने से
कुपित हुए इन्द्र समय पर वर्षा नहीं करते इससे तुम्हारे
आश्रय में रहने वाली प्रजा दुखी है, उनके दुःख से तुम दुखी
हो रही हो? अथवा निरीह वर्णों और अबलाओं पर राक्षस
प्रकृति के दुष्ट लोग मनमाना अत्याचार कर रहे हैं, इस
कारण आपका हृदय द्रवीभूत हो रहा है? या जिन ब्राह्मणों का
कार्य ही सदा अध्ययन-अध्यापन तथा धर्म-कार्यों में लगे
रहना था, वे उस कार्य को छोड़कर दुष्ट राजाओं की सेना में
लग रहे हैं, इससे आपका मुख म्लान हो गया है? अथवा
अनधिकारी कुकर्मी सदाचारहीन ब्राह्मणों के समीप सरस्वती
के फँस जाने से उस वागदेवी के लिये आप दुखी हो रही
हैं? अथवा इन नाममात्र के राजा कहलाने वाले दस्युओं द्वारा
पीड़ित प्रजा के शोक से तुम रो रही हो? या इन हरे भरे
समृद्धिशाली राष्ट्रों को कलिकाल के प्रभाव से उजड़े हुए
देखकर आपका हृदय विदीर्ण हो रहा है? या आजकल लोग
सभी सदाचार के नियमों को भूलकर, जहाँ तहाँ सबके यहाँ

सबके साथ, सब वस्तुएँ, सब समय में खाने पीने लगे हैं, उन अनाचारी पुरुषों के लिये तुम शोक कर रही हो ? या आज कल काम वासना बहुत प्रबल हो जाने से लोगों ने प्राचीन मर्यादा का त्याग कर दिया है, गम्या, अगम्या किसी का भेद भाव ही नहीं रहा है, सभी स्वेच्छाचारी स्वच्छन्द कामी हो गये हैं, उन कामुक पुरुषों की बढ़ी हुई काम-वृत्ति के लिये आप पश्चात्ताप कर रही हैं ? अथवा हे माता ! तुम्हारे जो अनन्य आश्रय, एक मात्र रक्षक तुम्हारे स्वामी श्रीश्यामसुन्दर हैं, उनके परलोक पधारने के कारण आप इतनी दुखी हो रही हैं ? इनमें से आपके दुःख का कौन-सा कारण है ? मुझे तुम ठीक ठीक बता दो, सभी स्पष्ट रीति से समझा दो, तुम्हारे दुःख से मैं भी दुखी हूँ। आज तुम सौभाग्यहीन विधवा अबला की भाँति बिलख रही हो। तुम्हारे सौभाग्य के दाता तो आनन्द कन्द श्री नन्दनन्दन ही थे न ? तुम उन्हीं के लिये रो रही हो क्या ?"

धर्म के ऐसा पूछने पर भी पृथ्वी कुछ भी न बोल सकी। उसके दुःख के ये सभी कारण थे। किसे अपने दुःख का कारण बताती। उसके दुःख का एक मात्र कारण तो श्रीश्याम-सुन्दर का स्वधाम पधारना ही था। यदि देवताओं से भी वन्दित भगवान् के पाद-पद्म पृथ्वी पर विराजमान रहते तो इनमें से कोई भी दुःख पृथ्वी माता को न देखना पड़ता। श्री भगवान् के पधारते ही, अधर्म-बन्धु कलियुग ने सर्वत्र अपना प्रभाव जमा लिया। सभी प्राणियों की बुद्धि को पाप ने आच्छादित कर लिया। अधर्म के भार से दबी हुई पृथ्वी तीन पैर वाले धर्म के प्रश्नों का यथावत् उत्तर देने लगी।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! क्या धर्म को ज्ञात

नहीं था, कि कलियुग आ गया है ? इसी कारण पृथ्वी दुखी है। यदि वे सब जानते थे, तो जान-बूझ कर ऐसे व्यर्थ के प्रश्न क्यों पूछे ?"

सूतजी बोले—"महाभाग ! प्राणी जान-बूझ कर भी दुःख सुख की बात पूछता है। पूछने से उस सम्बन्ध की चर्चा करने से दुःख कम होता है, सुख की अभिवृद्धि होती है। अपने स्नेही के सम्मुख दुःख कहने से हृदय हलका हो जाता है यही चर्चा चलाने के लिये धर्म ने ये प्रश्न किये। अब इनका पृथ्वी माता ने जो उत्तर दिया, अपने दुःख के जो विस्तार साथ कारण बताये, उन्हें अब मैं आप के सम्मुख कहूँगा। आप सब उसे समाहित चित्त होकर श्रवण करें। उसके श्रवण कर कराने से धर्म की वृद्धि होती है, और जहाँ धर्म और पृथ्वी का यह सम्वाद श्रद्धा-भक्ति से पढ़ा और सुना जाता है, वहाँ कलियुग के दोष नहीं रह सकते। वहाँ से कलियुग अपना डेरा-डंडा उठाकर भाग जाता है अतः मैं आपको इस सम्वाद को सुनाता हूँ।" इतना कहकर सूतजी आगे की कथा कहने को उद्यत हुए।

छप्पय

बीतति सुखद बसन्त ग्रीष्म में गरमी आवे।
प्रथम पक्ष शशि क्षीण द्वितिय महँ पुनि खिलजावे॥
महामोद में हँसे वही दुख में पुनि रोवे।
त्यों कलियुग पश्चात् सुखद शुभ सतयुग होवे॥
जननी ! दुख तें दुखित है, काहे अश्रु बहावती।
कान्तिहीन मुख म्लान करि, कस डरि-डरि हकरावती॥

पृथ्वी द्वारा निज दुःख का कारण बताना

(७०)

तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः,
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी ।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो विभूतिम्,
लोकान् स मां विसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ॥१

(श्री.भा० १ स्क० १६ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

बोली वसुधा, बत्स ! विपति की बात बताऊँ ।
प्राणनाथ पद पद्म परस बिनु अति अकुलाऊँ ॥
बिनसी कृपा कटाक्ष पाइ पावन सब होवें ।
मधुर मन्द मुसकान नारि लखि धीरज खोवें ॥
तिनु बिनु हौं विधवा भई, सब सुहाग सुख छुटि गयो ।
शम, दम, बल, तप, तेज, गुण, गये धैर्य मन छुटि गयो ॥

श्रीहरि सभी सद्गुणों की खानि हैं। वैसे तो हरि ब्रह्म भाव से चराचर विश्व में व्याप्त हैं, किन्तु जहाँ उनका विशेष रूप से प्रादुर्भाव होता है, जिस भक्त के हृदय में वे भगवती

---

१ जिन भगवान् के श्री चरणारविन्द कमल, वज्र, अंकुश और ध्वजा आदि चिह्नों से चिह्नित हैं। वे ही चिह्न अब मेरे अंगों पर

भक्ति के द्वारा प्रकट होते हैं—उस हृदय में सभी सद्गुण स्वयं ही आ-आकर निवास करने लगते हैं। भगवान् वासुदेव के प्रादुर्भाव का और सद्गुणों का शरीर और छाया के समान सम्बन्ध है। शरीर जहाँ रहेगा उसकी छाया उसके साथ ही साथ रहेगी। धवलता जैसे दूध से, शीतलता जैसे चन्द्रमा से, उष्णता जैसे अग्नि से गन्ध जैसे पृथ्वी से पृथक् नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सद्गुणों को सर्वेश्वर से भिन्न नहीं बनाया जा सकता। समस्त संसारातीत सद्गुणों से ही श्रीहरि का श्रीविग्रह बनता है। उस श्रीविग्रह के अन्तर्हित होने से उसके साथ ही साथ सब सद्गुण भी विलीन हो जाते हैं। सुख स्वयं ही एक सद्गुण है। जहाँ सुख न रहेगा, वहाँ दुःख अपना आसन लगा लेगा। जहाँ से आनन्द चला जायगा, वहाँ विषाद का बोलबाला हो ही जायगा, जहाँ आह्लाद न रहेगा, वहाँ ताप, संताप, चिन्ता आदि आकर बस ही जायँगे। सभी प्राणी आनन्द, आह्लाद, सुख से हीन होकर ही दुःखी और चिन्तित होते हैं। जब पृथ्वी को रोते हुए अत्यन्त दुःखी देखकर धर्म ने उससे उसके दुःख का कारण पूछा, तो म्लान मुख से गोरूप धरिणी पृथ्वी कहने लगी।

पृथ्वी ने कहा—"बेटा धर्म! तुम जो मुझसे पूछ रहे हो उसे स्वयं नहीं जानते क्या? ऐसे अनजान भोले-भाले बनकर मुझसे क्यों पूछ रहे हो? तुम अपनी दशा नहीं देख रहे हो क्या?"

विभूषित होते थे, तो उस समय मैं अपने को महान् सौभाग्यशालिनी समझकर अत्यधिक सुशोभित होती थी। किन्तु हाय! आज उस सौभाग्य का अन्त हो गया। मुझ अभागिनी को श्यामसुन्दर त्याग कर स्वधाम पधार गये। मुझे दीन दुःखी बना गये।

धर्म बोले—"देवि ! मेरे तो ये तीन पैर टूट गये हैं, चौथे में भी पीड़ा हो रही है। इसका कारण तुम्हीं बताओ। क्यों ऐसा हुआ ? क्यों मैं पादहीन दुर्बल और उत्साह हीन हो गया ?"

पृथ्वी बोली—"देखो तुम्हारे शौच, तप दया और सत्य—ये चार पैर हैं। ये चार गुण ही प्रधान गुण हैं। इन्हीं गुणों का आश्रय लेकर सहस्रों गुण रहते हैं। सत्य से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं। शौच से ही मनुष्यों का हृदय पवित्र होता है, पवित्र हृदय में ही प्रभु का वास होता है। दया धर्म की जननी ही ठहरी। जहाँ दया नहीं वहाँ तुम रहते ही नहीं। क्षमा क्षोभ को नाश करती है। त्याग संसार बन्धन से छुटा कर मोक्ष मार्ग में ले जाता है। सन्तोष सुख का सहोदर भाई ही है। कोमलता कमनीयता की सगी बहिन है, जहाँ कोमलता नहीं वहाँ उसकी सौत कर्कशता है, वहाँ सौन्दर्य्य नहीं, सुख नहीं। भीतर की इन्द्रियों—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—को अन्तःकरण कहते हैं। उनको वश में करने का नाम शम है। ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करने को दम कहते हैं। कर्मेन्द्रियों को कुमार्ग पर न जाने देना, उनके इच्छित संसारी सुख भोगों को उन्हें न देने का नाम तप है। प्राणी मात्र में उसी प्रभु की सत्ता का अनुभव करना—इसको समता कहते हैं। जिसकी बुद्धि समता में स्थिर होगई है उसे शोक-मोह कभी होता ही नहीं। जब सभी उसके स्वामी सर्वेश्वर के स्वरूप हैं, तब फिर वह विरोध, झगड़ा-टंटा किससे करे ? किसे बुरा भला कहे, जो किसी को बुरा नहीं कहता उसे कभी दुःख होता ही नहीं। आये हुए दुःखों को जो बिना उनकी निंदा किये हुए स्वेच्छा से सहन कर लेता है, उसे तितिक्षा कहते हैं और विषयों की ओर से

उदासीन हो जाने का नाम ही उपरति है। चित्त के लिये तो कुछ चिन्तनीय वस्तु चाहिये, वह बिना विचारे बैठ नहीं सकता। अतः जो व्यर्थ की बातों का विचार न करके मन को शास्त्रीय विषयों में बहलाये रहते हैं, उसे श्रुत कहते हैं। इस शास्त्रीय चिन्तन से अन्तःकरण के मल विक्षेप दूर होते हैं। सद्-असद् के विवेक का नाम ज्ञान है। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में सुख-दुःख आदि द्वन्द्व रहते ही नहीं। जहाँ निर्द्वन्द्व हुए नहीं कि दुःख-शोक का जो मूल कारण यह संसार है, वह तत्क्षण विलीन हो जाता है। चित्त की वृत्ति स्वभाव से ही विषयों की ही ओर जानेवाली है, उसे विषयों से खींचकर श्यामसुन्दर की ओर लगाने का ही नाम वैराग्य है। जिसे वैराग्य है, उसे संग्रह की क्या आवश्यकता? जो कुछ संग्रह नहीं करता उसे रक्षा की भी चिंता नहीं, किसी पर अविश्वास भी नहीं। संग्रह ही दुःख का हेतु है। अधिक संग्रह करने से ही अधिक चिंता बढ़ती है। संसार में जितना भी ऐश्वर्य है उन्हीं नन्दनन्दन का है, अतः विश्वब्रह्माण्ड के समस्त ऐश्वर्य को अपनी बपौती समझकर उसमें मेरे-तेरे का पृथक् भाव न करना—समस्त ऐश्वर्य को अपने पिता का ही समझकर अपने को ऐश्वर्यवान् समझना—यही यथार्थ ऐश्वर्य गुण है। जब सभी ऐश्वर्य हमारे बाप का ही है, तो हम दूसरे के ऐश्वर्य से डाह क्यों करने लगे? दूसरे का है ही कहाँ? सबके एकमात्र उत्तराधिकारी तो हम ही उन जगत् पिता के इकलौते पुत्र हैं। हमारी आज्ञा से ही सर्वत्र प्रबन्ध हो रहा है, जैसे किसी सेठ की देश-विदेश में बहुत सी व्यापारिक शाखायें होती हैं, उनमें लाखों मुनीम नौकर कार्य करते हैं। किन्तु उस समस्त ऐश्वर्य का स्वामी तो सेठ और उसका पुत्र ही है। संसारी विषयों से सदा लड़ते रहना, उनसे कभी भी हार न मानना, दुर्गुणों को सदा

संहार करते रहना ही सच्ची शूर-वीरता है। जिसमें ऐसी शूर-वीरता है, जो धनुष चढ़ाये, शर संधाने, सदा सावधानी से सन्नद्ध रहता है, उसका संसार में कोई क्या बिगाड़ सकता है ? उसे कौन पराजित कर सकता है ?

"सूर्य्य में, चन्द्रमा में, अग्नि में, चराचर विश्व में, जो तेज है, सब हमारे श्यामसुन्दर का है। उसी तेज से तेजस्वी होकर सदा दुर्गुणों को तापित करते रहना, यही तेज का उपयोग है। इसका उपयोग सदा करते रहना चाहिए, नहीं तो निस्तेज पुरुष को सभी दबा देते हैं। बल तीन प्रकार का है—शारीरिक बल, इन्द्रियों का बल और मन का बल। मन के बल को सह कहते हैं, इन्द्रिय बल का नाम ओज है और शरीर में जो बल शक्ति बढ़ जाती है उसे बल कहते हैं। ये सभी बल उन—सबसे बली काल स्वरूप—कृष्ण के ही हैं। उनके यत् किंचित बल के कारण ही अन्य प्राणी अपने को बली बताते हैं। जिन्होंने उन बलराम के भाई कंसनिपूदन नटवर को हृदय में धारण कर लिया है, वही सच्चा बली है।

"विस्मरण ही मृत्यु है। स्मृति को ही शास्त्रकारों ने जीवन कहा है। इसीलिये ऋषियों ने बार-बार इस बात पर बल दिया है, कि सदा सर्वदा विष्णु का स्मरण करना चाहिये। कभी भूलकर भी उनका विस्मरण न करे। जिसे सर्वदा हरि-स्मृति बनी रहती है, उसकी विपद् सब टल जाती है, क्यों कि 'हरि-स्मृति' को सर्व विपद् विमोचिणी बताया है। यह जीव विषयों के अधीन है। विषयों की अधीनता स्वेच्छा से ग्रहण करने के कारण यह परतन्त्र बन गया है। पराधीन पुरुष को स्वप्न में भी सुख नहीं होता। अतः इन दुर्व्यसनों को

प्रबल आन्दोलन के द्वारा जो जीतकर आत्मा में स्थित हो जाता है, समझ लो उसी ने स्वराज्य को प्राप्त कर लिया, वही सच्चा स्वतंत्र है। स्वतंत्रता के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ा रहता है।

कर्मों के करने में जो निपुणता है, उसे कुशलता कहते हैं। पहिले सभी शुभ कार्यों में मनुष्य कुशाओं को धारण करते थे, क्योंकि कुशा परम पवित्र मानी गई है। अतः जो कुश धारण किये रहता था, उसे लोग समझते थे—यह बहुत ही सुन्दर कार्य कर रहा है। इसीलिये उसे 'कुशल' कहते थे, अथवा जो कुशों को लाकर उन्हें बड़ी सुन्दरता से अलग करके बीन-बीन कर सुन्दर मूठा बना देता था उसे भी कुशल कहते थे। इसी कारण यह शब्द बुद्धिमानी के साथ शुभ काय करने वालों के लिये रूढ़ि हो गया। अर्थात् जो सुन्दर कर्म करे वह कुशल। जिसने कुशों को धारण कर लिया है। उसे पाप कैसे स्पर्श कर सकता है? पाप का ही भाई कलियुग है। पाप का ही पुत्र दुःख है। कुशल पुरुष के पास ये सब नहीं फटकते।

"सद्गुणों की जो एक आभा निकलती है, उसे कान्ति कहते हैं। जिनके पास सद्गुण नहीं हैं, उन विषयी पुरुषों में कान्ति कहाँ? वे तो प्रभा, कान्ति, तेज आदि से हीन होते हैं। अतः कान्ति देखकर समझना चाहिये—इस पुरुष के हृदय में कमलाकान्त विराजमान हैं।

"विकारों की सामग्रियाँ सम्मुख रहते हुए भी जिसके मन में धैर्य के कारण विकार उत्पन्न नहीं होते, उसे धीर पुरुष कहते हैं। धैर्यवान् पुरुष के लिये संसार में असम्भव कोई भी बात नहीं, वह पाताल को फोड़ सकता है, आकाश को तोड़

सकता है, मन्दराचल को उखाड़ कर मरोड़ सकता है; स्वर्ग और पाताल को एक करके जोड़ सकता है। मनुष्य जब धैर्य छोड़ देता है, तभी दुखी होता है।

"मनुष्य किसी से तब डरता है, जब वह कर्कश हो जाता है। कर्कश पुरुष का हृदय सदा भयभीत बना रहता है, वह औरों से डरता है, और उससे डरते हैं, किन्तु जिसने मृदुता धारण की है, उससे कोई नहीं डरता। सभी उसकी ओर आकर्षित होते हैं। पुष्प मृदु होते हैं। सभी उन्हें देखकर प्रसन्न होते हैं। कुलवती कामिनी, अबोध शिशु, घी दूध की बनी मिठाइयाँ ये सब मृदु होती हैं और प्रायः सभी के मन को हरती हैं। श्यामसुन्दर सबसे अधिक मृदु हैं। अतः जिसने श्यामसुन्दर को हृदय में धारण कर लिया है, उसका हृदय टटके नवनीत से भी मृदुल हो जाता है।

"दूसरों को अनिष्ट पहुँचाने की मन में भावना आते ही भाव उत्पन्न हो जाता है। जिसने सभी प्राणी मात्र को अभय प्रदान कर दिया है, जिसने निर्भयता का व्रत धारण कर लिया है, वह सभी स्थानों में सभी दशाओं में सुखी ही होता है। यह गुण विषयियों में नहीं आ सकता क्योंकि भय तो सदा द्वैत में होता है। जो सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर को ही निहारता है, जिसने अद्वैत अच्युत का आश्रय ग्रहण किया है, उसके लिये भय का स्थान ही कहाँ?

"उद्धत स्वभाव ही दूसरों से मन में क्षोभ उत्पन्न करता है। जिसने अशिष्टता को त्याग कर विनय का पल्ला पकड़ लिया है, उस विनयी पुरुष के सम्मुख सभी मस्तक झुकाते हैं। विनय हमें स्वर्ग से भी ऊँची सीढ़ी पर चढ़ाकर मोक्ष तक

पहुँचाती है, भगवती भक्ति के मन्दिर में प्रवेश करा देती है। अतः भक्तों का सर्वश्रेष्ठ भूषण विनय ही है। जो दुःशील है, शालीनता को जिन्होंने त्याग कर दिया है, वे इस लोक तथा परलोक में प्रतिष्ठित नहीं कहा सकते। कड़े, छड़े, बाजूबन्द, कङ्कण, मुकुट आदि अनेक शरीर को सजाने के लिये भूषण हैं, किन्तु इन सब साजों से सजा सजाया शरीर भी यदि शील गुण से रहित हो, तो वह व्यर्थ है। स्त्री पुरुष सभी का सर्वश्रेष्ठ भूषण शील ही है।

"प्रत्येक कार्य की सिद्धि उत्साह के द्वारा होती है। मन में कार्य करने की दृढ़ उमङ्ग उठना, यही उत्साह कहलाता है। उत्साही पुरुष सब कुछ करने में समर्थ होता है, एक उत्साही पुरुष बहुत कायरों को भी वीर बना देता है। सद्गुणों से ही सौभाग्य उदित होता है। गुण हीन सौभाग्यशाली कैसे हो सकता है? अतः सौभाग्य कार्य है, सद्गुण कारण हैं।

"प्रत्येक कार्य में छिछोरापन करना, कार्य के फलाफल को बिना जाने उसमें प्रवृत्त होना, यह बुद्धि की अस्थिरता के लक्षण हैं। जो प्रत्येक कार्य को भली भाँति समझ सोचकर गम्भीरता के साथ करते हैं और निश्चय किये हुए कार्य को स्थिरता के साथ करते हैं, वे संसार में विपुल कीर्ति और देव-दुर्लभ मान सम्मान प्राप्त करते हैं। ये सब गुण नास्तिकों में हरि-भक्ति विहीन पुरुषों में—कभी नहीं आ सकते। अतः इन सब सद्गुणों की जननी है—आस्तिकता। जिस प्रकार माता की गोदी में बच्चे निर्भय होकर खेलते हैं, उस प्रकार आस्तिकता का पल्ला पकड़ लेने पर संसार में सर्वत्र सुख ही सुख प्रतीत होता है। आस्तिकता पुरुष से कभी पाप कर्मों की

सम्भावना ही नहीं हो सकती क्योंकि वह तो सर्वत्र अपने श्रेष्ठ स्वामी को देख रहा है। बड़ों के सम्मुख पाप कर्म करने का साहस हो ही नहीं सकता। आस्तिक पुरुष को अपना निजी अहंकार भी नहीं होता। वह स्वयं निरहंकारी बनकर अपने स्वामी को सर्वत्र देखता है।

"ये सभी सद्गुण तथा इनके अतिरिक्त और भी जो श्रेष्ठ-श्रेष्ठ गुण हैं। जिनकी प्रशंसा श्रेष्ठ पुरुष सदा से करते आये हैं, इन सभी गुणों के एकमात्र धाम श्रीहरि ही हैं। उनमें ये गुण किसी साधन से, प्रयत्न करने से या कहीं अन्य स्थान से नहीं आये हैं। ये गुण उनके स्वाभाविक हैं। ये गुण उनसे न कभी पृथक् होते हैं, न किसी कारण से न्यून ही होते हैं। उन्हीं सर्वगुणधाम श्रीनिवास से आज मैं रहित हो गई हूँ। उनके स्वधाम पधारने से कुटिल कलिकाल ने मेरे ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। उस कुटिल कलियुग के ही कुत्सित कार्यों के कारण मैं कातर और दुखी बनी हुई हूँ। मेरे दुःख का यही प्रधान कारण है।"

धर्म ने पूछा—"तो तुम्हें अकेले अपना ही सोच है या और किसी का भी सोच है?"

पृथ्वी ने कहा—"मुझे अपना ही सोच होता, तो मैं इतनी दुखी न होती। मुझे तुम्हारा भी सोच है। तुम्हारे तीनों पैर कट गये, चौथा भी जर्जरित सा हो रहा है। यद्यपि तुम पहिले सभी देवताओं में श्रेष्ठ समझे जाते थे, किन्तु अब तुम्हें कोई पूछता ही नहीं। सर्वत्र तुम्हारा तिरस्कार देखकर मैं अत्यन्त ही दुखी हो रही हूँ। पृथ्वी पर यज्ञयागों पर पहिला सा प्रकार नहीं रहा। अतः देवताओं को भी यज्ञ भाग मिलना बंद हो

गया है। कुछ नास्तिक लोग स्वर्गीय पितरों को मानते ही नहीं, अतः पितरों का पिंड तर्पण नहीं करते। इससे पितर भी दुखी हैं। मनुष्य क्षीण आयु, क्षीण पुरुषार्थ वाले हो गये। ऋषि, मुनि मुझको छोड़कर महर्लोक चले गये। जहाँ मेरे एक-एक वनों में हजारों ऋषि, मुनि, साधु, सन्त तपस्या किया करते थे, वहाँ अब एक भी देखने को नहीं मिलते। साधुओं के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। संसारी सुखों को ही सर्वत्र समझने वाले भौतिकवादी आध्यात्मिकता से चिढ़ते हैं, साधु-सन्तों से घृणा करने लगे हैं, उनका भी मुझे सोच है। सभी तो मेरे पुत्र हैं। सभी वर्णाश्रमधर्मी तो मेरे ही अङ्ग से उत्पन्न हुए हैं, मेरे ही ऊपर बड़े हुए हैं। सभी को आज कलिकाल के प्रभाव से प्रभावित देखकर, सभी के ऊपर अधर्म का आधिपत्य देखकर, मैं अधीर हो रही हूँ। फिर सबसे अधिक दुःख तो मुझे भगवान् वासुदेव के स्वधाम पधारने का है। जब इस मर्त्यलोक में मानुषी शरीर से मेरे ऊपर विराजमान थे, तब उनके अति सुकोमल चरणारविन्द मेरे ऊपर पड़ते थे, तब मेरे सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो जाते, मैं कृतकृत्य बन जाती थी।"

धर्म ने पूछा—"देवि माँ! उन भगवान् के श्रीचरणों में ऐसी क्या विशेषता थी?"

धरणी बोली—"हे धर्म! तुम क्या भगवान् के चरणारविन्दों का महत्व जानते नहीं? देखो, ब्रह्मादि देवता सदा इसी

लिये तपस्या करते हैं, कि एक बार लक्ष्मी जी हमारी ओर कृपाकटाक्ष से देखभर लें। वह त्रैलोक्य वन्दिता प्राणिमात्र से अभिलषित लक्ष्मी जी जिनके चरणारविन्दों का सदा श्रद्धा से सेवन करती हैं, उन्हें चंचला होने पर भी नहीं छोड़तीं, उन श्रीचरणों की महिमा मैं क्या वर्णन करूँ? जिन चरणों में वज्र, अंकुश, ध्वाजा और कमल आदि के चिह्न सुशोभित थे, जब वे चरण मेरे ऊपर पड़ते तो मैं अपने सौभाग्य पर फूली न समाती। हाय! मेरे उसी सौभाग्य का आज अन्त हो गया। आज श्यामसुन्दर मुझ अभागिनी को बिलखती छोड़कर स्वधाम पधार गये।

"जिन्होंने अपनी माया से ही मनुष्य वेष बना लिया था, स्वेच्छा विहारी होने पर भी जो यदुकुल में अवतीर्ण हुए थे, जिन्होंने मेरे बढ़े हुए भार को हलका कर दिया था, जिन्होंने राजाओं के वेष में उत्पन्न हुए राक्षस और असुरों को मरवाकर मुझे निष्कंटक बनाया था, जिन्होंने सर्वत्र तुम्हारी विजय कराई, सब स्थानों में तुम्हारा आधिपत्य जमाया, उन पुरुषोत्तम के वियोग को सहन करने की सामर्थ्य किसमें है? जिन्होंने अपनी रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों को गर्वित बना दिया था, अपने अत्यन्त ही कमनीय कटाक्षों द्वारा उनपर प्रेम प्रदर्शित करके, अपनी मन भावनी मनोहर मुस्कान द्वारा सभी के मन को हर के, उनके मान की वृद्धि की थी, जिनकी मिश्री से भी मधुर वाणी को सुनकर

कामिनी अपने धैर्य को छोड़ देती थीं, 'हे धर्म ! वे ही अनुपम सौन्दर्य के धाम घनश्याम मुझे छोड़कर चले गये।"

धर्म और पृथ्वी का यह सम्वाद हो ही रहा था, कि इसी बीच ब्रह्मावर्त क्षेत्र में प्राची सरस्वती के तटपर वहाँ महाराज परीक्षित् पहुँच गये।

इतना कहकर सूतजी कुछ देर के लिये ठहर गये। आगे की कथा का प्रसङ्ग वे सोचने लगे।

छप्पय

जलज सरिस जे चरन, योगिजन जिनकूँ ध्यावें।
जिनमें वज्र, त्रिशूल, कमल ध्वज शोभा पावें॥
दुखहर सुखकर पाद पद्म मम हिय जब परते।
रोमाञ्चित करि देह हर्ष हिय में अति भरते॥
आज उन्हीं तें हीन है, भाग्यहीन अबला भई।
श्री, ह्री, लज्जा कान्ति धृति, सुख समृद्धि बिनु ह्वै गई॥

महाराज परीक्षित् की कलियुग से भेंट

(७१)

धर्म ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक्।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापिवेतद् भवेद ॥१

(श्रीमा० १ स्क० १७ अ० १ श्लो०)

छप्पय

जहाँ धरणि अरु धर्म, करे सम्वाद कष्टकर।
करत दिगविजय तहाँ, परीक्षित् पहुँचे नृपवर॥
बने वृषभवर धर्म, धेनु तनु धरणी धारे।
छद्म वेष में वृषल नृपति बाँने तिनकूँ मारे॥
वृषभ एक पगतें व्यथित, कामधेनु लखि दुखित अति।
शूद्रहनैं थर-थर कपें, करयो क्रोध बोले नृपति॥

समय की गति ऐसी दुर्निवार है, कि उसे हम जिन उपायों से मिटाना चाहते हैं, यदि उसका समय आ गया हो, तो वे ही उपाय उसको प्रवृत्ति में सहायक हो जाते हैं। काल

---

१ प्रयागराज के समीप प्राची सरस्वती के तट पर पहुँच कर महाराज परीक्षित् ने देखा, कि एक राज वेषधारी शूद्र हाथ में डंडा लिये हुए एक अनाथ गौ और बैल के जोड़े को बुरी तरह से मार रहा है।

स्वरूप श्रीकृष्ण को जिस समय जो कराना होता है, संयोग के रूप में वे वैसे ही बनकर आ उपस्थित होते हैं। लोग भ्रमवश ऐसा कह देते हैं—यह कार्य ऐसा होना तो न चाहिये था, अकस्मात् हो गया। सच पूछा जाय तो कार्य कोई भी कभी अकस्मात् नहीं होता। सब का समय बँधा हुआ है। अज्ञानी लोग भूल से पश्चात्ताप करते हैं, कि यदि हम ऐसा करते, तो ऐसा न होता। तम कैसा भी करते, होता वैसा ही जैसा हुआ है। फिर तुम कैसा करने को स्वतंत्र भी तो नहीं, जो होना होगा वही तुम्हारे द्वारा होगा। मङ्गल तो एकमात्र मङ्गलायतन श्रीहरि को अपना सर्वस्व सौंपने में है।

गंगा यमुना के परम पावन पुण्य प्रदेश में, भगवती प्राची सरस्वती के समीप जहाँ धर्म और पृथ्वी बैल और गौ का रूप धारण किये हुए ये सब बातें कर रहे थे, वहाँ संयोग से अकस्मात् धनुष-बाण लिये सुवर्ण मंडित रथपर चढ़े हुए महाराज परीक्षित् जा पहुँचे। महाराज परीक्षित् ने देखा—एक शुभ्र शंख के समान, बगुले के पंखों के समान, हंस की भाँति सफेद रंग का बैल खड़ा है। उसके तीन पैर टूटे हुए हैं। उसके समीप एक अत्यन्त दुबली पतली, बछड़े से हीन, भूखी गौ खड़ी है। हाथ में डंडा लिए हुए, शिर पर किरीट मुकुट धारण किये हुए—राजाओं के सदृश वेष बनाये हुए—एक व्यक्ति उन दोनों को निर्दयतापूर्वक मार रहा है। उस व्यक्ति का वेष-भूषा तो भूपतियों का जैसा है, किन्तु देखने से वह द्विजेतर शूद्र जान पड़ता है। देखते ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह वेष इसका यथार्थ नहीं, फिर उसका कार्य इतना नीच था, कि कोई भी धर्म को जानने वाला वीर पुरुष इसे क्षमा नहीं कर सकता था। बेचारे एक पैर के बल पर खड़े हुए असहाय बैल

पर वह बुरी तरह से प्रहार कर रहा था। बैल बार-बार मूत्र पुरीष त्याग करता, भयभीत होकर कातर दृष्टि से चारों ओर अपने किसी रक्षक को खोजता हुआ आँखों से आँसू बहा रहा था। यही दशा उस दीन दुबली गौ की थी। वह वृषल बार-बार अपने पैरों की ठोकर से उसे मारता, बेचारी गौ असहाय, बलहीन, रक्षक हीन होकर थर-थर काँपती, दुखी होकर रम्हाती और भूख के कारण, कातर होकर आँसू बहा रही थी।

जब दयालु महाराज परीक्षित् ने अपने राज्य में ही गौ बैल को इस प्रकार दुखी देखा, तब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उस राजवेषधारी निर्दयी शूद्र पर उन्हें अत्यधिक क्रोध आया। महाराज परीक्षित् ने अपने रथ पर बैठे-बैठे ही, अत्यन्त कोप के साथ, मेघ गंभीरवाणी से, उसे डाँटते हुए कहना आरम्भ किया—"अरे, दुष्ट तू कौन है? खबरदार! अब तैंने यदि इस बैल और गौ पर प्रहार किया, तो मैं तेरे सिर के सैकड़ों टुकड़े करके फेंक दूँगा। नीच! तुझे लज्जा नहीं, बलवान होकर दीन दुर्बलों पर प्रहार कर रहा है। स्वयं स्वस्थ अंगवाला होकर, लूले लँगड़ों को मार रहा है? मेरे राज्य में रहकर भी ऐसी अनीति कर रहा है। मेरे आश्रय में रहने वाले प्रजा के लोगों पर कोई भी कभी इस प्रकार प्रहार नहीं कर सकता, कोई उन्हें इस तरह नहीं सता सकता। तू राजा नहीं है, पापी है। जैसे नाटक में नट राजा के से वस्त्र आभूषण पहिनकर नकली राजा का रूप रख लेता है, उसी प्रकार तैंने यह छद्मवेष धारण कर रखा है।

"तू समझता होगा, कि सम्पूर्ण संसार की रक्षा करने वाले भगवान् वासुदेव स्वधाम पधार गये। त्रैलोक्य विजयी गांडीव

धनुषधारी भगवान् के सखा, मेरे पितामह वीर शिरोमणि अर्जुन अब अवनि को परित्याग कर गये। अब चाहें जो मन मानी करे, अब कोई रक्षक नहीं। सो तेरा यह विचार व्यर्थ है। मेरे रहते हुए संसार में कहीं भी ऐसा अन्याय नहीं हो सकता। चाहे मनुष्यों से भरा नगर हो या निर्जन वन हो, सर्वत्र मेरा शासन है। शरीर से चाहे मैं सर्वत्र न जा सकूँ किन्तु मेरी आज्ञा तो सर्वत्र पहुँचती है। मेरा तेज तो सर्वत्र व्याप्त है। बस, अब तू खड़ा रह, मैं बिना प्राण लिये तुझे छोड़ने का नहीं।"

महाराज परीक्षित् के ऐसे ओज तेज पूर्ण वचनों को सुन कर वह छद्मवेषधारी राजा डर गया और वह वहाँ का वहीं पत्थर की मूर्ति की भाँति चुपचाप खड़ा हो गया। उसने अब गौ तथा बैल पर प्रहार करना बंद कर दिया। उस निर्दयी वृषल को अपने पाप से निवृत्त होते देखकर महाराज परीक्षित् अब उस एक पैर वाले बैल से बोले—"हे वृषभ! आप देखने में बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं। ऐसा सुन्दर बैल तो मैंने आज तक कभी देखा नहीं, इसी से मैं अनुमान करता हूँ, कि आप बैल का रूप बनाये कोई देवता हैं। देवता न भी हों तो भी आप साधारण बैल नहीं। बैल तो चार पैर वाले जीव होते हैं। आपके तो एक ही पैर है, फिर भी आप उस एक पैर से ही कूद-कूद कर चल रहे हैं। इससे मुझे दुःख हो रहा है। मेरे राज्य में इस प्रकार बैल के कोई तीन पैर काट ले, यह तो मेरे लिए लज्जा की बात है।

"आपके कानों की आकृति को देखकर मैं समझ रहा हूँ, कि आप मेरी बात भलीभाँति सुन रहे हैं और सुन ही नहीं

रहे हैं अक्षर-अक्षर समझ रहे हैं। इसी से मैं कहता हूँ कि जब तक पृथ्वी पर कुरुवंशीय राजाओं का शासन है, तब तक कोई

भी प्राणी दुखी नहीं हो सकता। कोई बली पुरुष निबलों को इस तरह सता नहीं सकता। आज पहिले पहिल ही मैं एक राजवेष

को लांछित करने वाले, वृषल के द्वारा आप जैसे श्रेष्ठ वृषभ को ताड़ित हुआ देख रहा हूँ। मेरे राज्य में गौपुत्र और वृषभ इतना दुखी! हाय! मुझे धिक्कार है। अस्तु। हे सुरभिनन्दन! अब तुम रोना बन्द करो। समझ लो, तुम्हारे दुःख दूर हो गये। तुम्हें जो दुःख सहना था, वह सह चुके। अब तो तुम्हें भय देने वाले को भय है। अब उसकी मरम्मत होगी।"

इस प्रकार धर्म को आश्वासन देकर महाराज परीक्षित फिर गौ माता से कहने लगे—"माँ कपिले! अब तुम अपने आँसू पोंछ डालो। तुम अपने दुःख का अब अन्त ही समझो। तुम्हें दुःख देने वाले के लिये यमराज के रूप में मैं आ गया हूँ। अब किसी का साहस नहीं, कि तुम्हारी ओर क्रूर दृष्टि से देख भी सके। यदि अब फिर कोई तुम्हारी ओर दुष्ट भाव से देखने का साहस करेगा, तो मैं उसकी दोनों आँखें निकाल लूँगा। तुम्हें ताड़ना देने के लिए जो एक पैर भी बढ़ायेगा उसके दोनों पैरों को काट कर मैं उसकी चलने की गति नष्ट कर दूँगा। यदि अब किसी ने तुम्हारे ऊपर बल के गर्व में हाथ उठाया तो मैं अंगदों सुवर्ण के बाजूबन्दों सहित, उसके बलवान हाथों को शरीर से अलग कर दूँगा। यह दुष्ट तुम्हें दुःख नहीं दे रहा है, मेरा अपमान कर रहा है। मेरे पुण्य को क्षीण कर रहा है। जिस राजा के राज्य में दुष्ट पुरुष प्रजा के उन लोगों को कष्ट पहुँचाते हैं, जो अपनी रक्षा करने में स्वयं असमर्थ हैं, तो उस असावधान राजा की समस्त कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक सम्बन्धी पुण्य आदि सभी सुकृत नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि राजा की असावधानी से ही दुष्टों को ऐसा करने का साहस होता है। राजा का परम धर्म यही है, कि जिस प्रकार भी हो सके, जिन उपायों से भी हो सके, उसे प्राणपन से प्रजा

का रक्षा करनी चाहिए, अपने शासन को ऐसा उग्र प्रचण्ड बना देना चाहिए कि नगर में, अरण्य में कहीं भी कोई अनाथ न सताये जायँ, कहीं भी दुर्बलों पर सबल प्रहार न करें।

"तुम्हें जिससे भय हुआ है, मेरे राजा रहते हुए भी तुम्हारा जिसने अपमान किया है, इस पापी को मैं अभी मारे डालता हूँ। अब इसकी रक्षा साक्षात् यमराज भी नहीं कर सकते।"

सूतजी ऋषियों से कह रहे हैं—ऋषियों! इस प्रकार महाराज परीक्षित्ने वृषभ रूपधारी धर्म को और धेनु रूपधारी धरणी को भाँति-भाँति से धैर्य बँधाया। मधुर और तेज पूर्ण वचन कहकर उनसे निर्भय होने को कहा। अब वे सोचने लगे—यह दुष्ट है कौन? यह इस गौ को मारता क्यों है? यह बैल भी साधारण बैल नहीं है। इसके तीन पैर नहीं है। यह भी बात नहीं कि अभी ही किसी ने काटे हों, यह तो एक पैर का ही मालूम पड़ता है। मेरे मन में ऐसा हो रहा है कि यह पशु नहीं हैं, कोई देवता है, मुझसे कुछ कहना चाहता है। अतः मैं इसी से इस पापी का परिचय पूछूँ। इसे तो मैं अभी मार ही डालूँगा, किन्तु इसके परिवार में और भी इसी प्रकृति के लोग हुए, तो परिचय पाते ही अभी जाकर उन सब का भी मैं बधकर डालूँगा। मैं नहीं चाहता मेरे राज्य में एक भी क्रूर कर्मा पुरुष रहे। यही सब सोच समझकर महाराज परीक्षित् ने उस वृषभरूपी धर्म से पूछने लगे।

राजा ने पूछा—"हे सुरभिनन्दन! मैं आपकी आकृति देखकर अनुमान लगा रहा हूँ, कि आप मेरी सभी बातों को सुन और समझ रहे हैं। मैं सर्व प्रथम आपका ही परिचय

जानना चाहता हूँ। आप कौन हैं? बैल तो सदा चार पैर वाले होते हैं, आपके तीन पैर कहाँ गये? आप जन्म से ही एक पैर वाले हैं या पीछे आपके तीन पैर किसी ने काट दिये? यदि ऐसा हुआ हो, किसी दुष्ट ने दुष्टतावश आपके पैर काटे हों, तो तुम उस कुल-कलंक का मुझे नाम बताओ। मैं अभी उसे इस पाप का फल चखाऊँगा, अभी उसे नरक का दरवाजा दिखाऊँगा। किसी ने भी आपके पैर काटे हों। उसने आपके पैर नहीं काटे, किन्तु पार्थकुल की कमनीय कीर्ति को कलंकित किया है। तुम उस दुष्ट का हमें नाम बता दो। ये पैर तुम्हारे आज के कटे हुए नहीं हैं। क्या इसी दुष्ट ने पहले कभी इनको काटा था क्या? तुम डरो मत, मेरे सम्मुख यह पापी तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। अब यह तुम्हारी ओर दृष्टि उठा कर भी नहीं देख सकता। मेरा तो काम ही दुष्टों का दमन करना और पापियों को दंड देने का है। दूसरों को दुःख देनेवाला चाहे देवता ही क्यों न हो, मैं उसे पृथ्वी पर जीवित नहीं छोड़ सकता। राजा का यही परम धर्म है, कि अपने-अपने वर्ण और आश्रम के धर्मों में स्थिर प्रजाजनों का पुत्र की भाँति पालन करे। घोर आपत्ति के समय में तो धार्मिक मर्यादायें शिथिल हो ही जाती हैं, किन्तु आपत्ति न रहने पर जो कुमार्ग का अनुसरण करता है, उसे दंड देना राजा का कर्तव्य हो जाता है। इसलिये पहिले आप अपना परिचय दें और फिर इस पापी दुष्ट पुरुष का भी नाम स्थान आदि सब बतावें।'

महाराज परीक्षित् इतना कहकर चुप हो गये। वह राज वेषधारी वृषल सम्मुख ही भयभीत हुआ खड़ा था। गौमाता ने आँसू बहाने बन्द कर दिये, किन्तु अभी वह पूर्णतया निर्भय

दिखाई देती नहीं थी, उसे आन्तरिक भय बना ही हुआ था। बैल एक पैर से खड़ा-खड़ा राजा की ओर देख रहा था और उनकी सभी बातों को बड़े ध्यान पूर्वक सुन रहा था। जब राजा ने सभी प्रश्न बैल को ही लक्ष्य करके किये, उसी से कष्ट देने वाले नृप वेषधारी शूद्र का और अपना परिचय पूछा, तब वह वृषभ वेषधारी धर्म राजा को बड़ी गंभीरता के साथ धर्म पूर्वक उत्तर देने लगा।

सूतजी कहते हैं मुनियो! राजा परीक्षित् में और धर्म में जो अत्यन्त ही मनोहर धर्म को बढ़ाने वाला शिक्षाप्रद सम्वाद हुआ, उसे मैं आगे आपके सम्मुख कहूँगा। उसे आप सब अत्यन्त ही एकाग्रचित्त से, बिना व्यग्रता प्रकट किये हुए, सावधान होकर श्रवण करें। उसे सुनने से फिर किसी को कलि के अधर्म का भय न रहेगा।

छप्पय

अरे दुष्ट! तूँ कौन स्वयं बलवान बन्यो है।
बल हीननि कूँ हने, ठहर, यह तीर तन्यो है॥
पुनि पूँछें गोतनय दुखित कस तीन पैर ते।
राजवेष में वृषल हनहि कहु कौन बैर तें॥
जो हो कारन कष्ट को, वेगि वृषभ बतलाइ दो।
दुष्ट मारि बदलो लऊँ, सब सच-सच समझाइ दो॥

धर्म और परीक्षित् सम्वाद

(७२)

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत् ।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे वृषलाञ्छनम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १७ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

धर्म कहें हे देव ! दुःख देवे को काकूँ ।
होवे कारन एक बताऊँ हौं तब ताकूँ ॥
ईश्वर, कर्म, स्वभाव भिन्न मुनि भिन्न जनावें ।
स्वयं समझ लें आप काहि दुःख बीज बतावें ॥
कहें नृपति—तुम धर्म हो, धर्म बिना अस को कहे ।
अघकारी के पाप कहि, सूचक हू अघगति लहे ॥

पापी और पुण्यात्मा की परीक्षा दुःख के समय ही होती है। जिसने सदा पाप ही किये हैं, जिसकी प्रवृत्ति पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण पाप में ही जाती है, उन पर यदि विपत्ति आ जाती है, तो अनेक झूठ बोल कर, बहुतों को अपने

१ वृषभ रूप धारी धर्म ने जब अपने ऊपर अत्याचार करने वाले का नाम न बताया तब महाराज परीक्षित् बोले—"हे धर्मज्ञ ! प्रतीत होता है, कि आप वृषभ का रूप धारण किये हुए साक्षात् धर्मदेव हो

दुःख का व्यर्थ ही कारण बता कर, अपने को दुःख से मुक्त करने का प्रयत्न करता है। पापी पुरुष दुःख का कारण अपने पूर्वकृत पापों का न समझ कर दूसरों को मानते हैं और उनसे द्वेष करने लगते हैं। जो धर्मात्मा हैं, जिनकी प्रवृत्ति भूलकर भी पाप कर्मों की ओर नहीं जाती, उन्हें चाहे कोई साक्षात् ही कष्ट क्यों न दे, वे उसे अपने कष्ट का कारण नहीं मानते। वे पूछने पर कह देते हैं—'भैया कोई पुरुष किसी को सुख दुःख नहीं दे सकता। मनुष्य अपने-अपने किये कर्मों को ही भोगता है। मैंने पूर्व जन्म में इनका कोई अपकार किया होगा, उसी का इन्होंने बदला चुकाया है। इन्होंने तो मेरे ऊपर कृपा ही की जो मुझे ऋण से मुक्त कर दिया। मैंने अपने किये कर्म का फल भोग लिया।' ऐसा कहने से प्रहार करने वाले पर—दुःख देने वाले पर—इन धर्मात्मा पुरुष का जितना भी पाप है सब उसी के पास चला जाता है, किन्तु जो ऐसा न कहकर दुःख देने वाले की निन्दा करते हैं, उसका अपमान करते हुए उसके अपकार में प्रवृत्त होते हैं, तो वही पाप निन्दा करने वाले पर आ जाता है। इसलिये धार्मिक पुरुषों की नीति यह रहती है, कि किसी के पापों को प्रकाशित न करना चाहिये। अपने ऊपर आये दुःखों को अपने भोग समझ कर सहन कर लेना चाहिये और यह मन में दृढ़ धारणा

है। धर्म के बिना इतनी विशुद्ध धर्म वाली बात कौन कर सकता है। शास्त्रकारों का मत है, कि अधर्म करने वालों के पापों को जो सबके सम्मुख सूचित करता है, तो जो नरकादि लोक अधर्म करने वाले को होते हैं, वे ही उसके अधर्मों को प्रकट करने वाले सूचक को भी होते हैं।"

कर लेनी चाहिये, कि सभी को अपने प्रारब्धानुसार दुःख सुख मिलते हैं। सुख दुःख देने वाले स्वयं दुःख सुख नहीं हैं। वे तो केवल निमित्त मात्र हैं।

जब महाराज परीक्षित् ने एक पैर वाले वृषभ रूपी धर्म से बार-बार अपने दुःख देने वाले का नाम और परिचय पूछा, तो वह एक पैर वाला बैल मनुष्यों की जैसी वाणी में कहने लगा—"प्रभो! आपने मुझे अभयदान दिया, मैं आप का आभारी हूँ। संसार में जितने भी अन्नदान, सुवर्ण दान, गोदान, रत्नदान, कन्यादान आदि बड़े-बड़े दान हैं, उन सब दानों में श्रेष्ठ अभयदान ही शास्त्रकारों ने बताया है। आप ने मुझ दीन दुःखी को अभयदान देकर कोई आश्चर्य का काम नहीं किया। यह आपके अनुरूप ही है, क्योंकि आपका जन्म भरतवंश में हुआ है। आप पुण्यात्मा पुण्यश्लोक प्रातःस्मरणीय पांडवों के पौत्र हैं। गुणों में आप उनके अनुरूप ही हैं। दीन दुखियों के दुःख दूर करना यह तो आपके कुल के सभी नरपतियों का प्रधान कार्य ही रहा है। आपके पितामह ने ब्राह्मण की गौओं की रक्षा के निमित्त अपने बड़े भाई के साथ की हुई प्रतिज्ञा तक को भंग किया था। पांडवों ने वनवास में द्रौपदी के कारण यह सलाह कर लिया था, कि जो भाई निर्धारित समय तक एकान्त में द्रौपदी के साथ रहे, यदि उस बीच में कोई दूसरा भाई वहाँ पहुँच जाय, तो उसे १२ वर्ष तक वनवास करना पड़े। एक दिन किसी ब्राह्मण की गौओं को दुष्ट डाकू ले जा रहे थे। ब्राह्मण ने आकर अर्जुन से गौओं की रक्षा की प्रार्थना की। उस समय अर्जुन का धनुष वहाँ रखा था, जहाँ धर्मराज द्रौपदी के साथ एकान्त में थे। अतः उन्होंने विचार की रक्षा को प्रधान समझकर निर्भय होकर उन

स्थान में चले गये और शीघ्र ही अपना धनुष लेकर ब्राह्मण की गौओं को दस्युओं से छुड़ा लिया और उन्हें यथोचित दंड दिया। तदनन्तर अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के निमित्त वे १२ वर्षों तक वन और जंगलों में घूमते फिरते रहे।

"जिस वंश में दोनों की रक्षा ऐसी तत्परता से की जाती हो, जिस वंश के लोगों का व्रत ही गौ ब्राह्मणों तथा आश्रितों की रक्षा करना हो, उस वंश के चक्रवर्ती महाराज के लिये ऐसा अभयदान देना कोई असाधारण कार्य नहीं है। महाराज, आप के पितामहों ने अपने सदाचार और सद्गुणों से जगत् पति भगवान् वासुदेव को ऐसा सन्तुष्ट कर लिया था, कि भगवान् ने उनका सारथ्य, दैत्य तथा भृत्य तक का कार्य किया। आप उसी वंश की कीर्ति बढ़ाने वाले यशस्वी नरपति हैं। आपने मेरा कष्ट दूर किया, यह आपने अपनी कुल परम्परा गत मर्यादा का ही अनुसरण किया।"

महाराज परीक्षित् बोले—"वृषभ देव! तुम्हारी वाणी बड़ी मधुर है, तुमसे बातें करने को चित्त बहुत अधिक उत्सुक है। तुम्हारे अत्यन्त कोमल, सुसंस्कृत और मनोहर वाक्यों से मेरा मन स्वतः ही आकर्षित हो रहा है। मैं तुमसे बातें तो पीछे करूँगा। पहिले तुम अपने दुःख का कारण मुझे बता दो। किसने तुम्हें इस प्रकार विरूप कर दिया, किस पापी ने तुम्हारे साथ ऐसा अन्याय किया है? मैं उसका नाम सुनना चाहता हूँ।"

वृषभ बोले—"महाराज! यदि दुःख देने वाला कोई एक निश्चित हो, तो मैं उसका नाम भी बताऊँ। किन्तु इस विषय में तो बड़ा मतभेद है।"

यह सुनकर महाराज अत्यन्त आश्चर्य के साथ कहने लगे—"आप कैसी बात कह रहे हैं? आपको कोई दुःख दे और आप उसको न पहिचानें, यह कैसे हो सकता है? उसका निर्देश कीजिये कि इसने मुझे दुःख दिया।"

वृषभ रूपी धर्म बोले—"राजन्! मैं किसे दुःख का कारण बताऊँ? मान लो एक आदमी हमें तलवार से मार रहा है, तो इसमें किसे दुःख देने वाला कहें, उस मनुष्य को या तलवार को?"

राजा बोले—"वह मनुष्य ही दुःख देने वाला हुआ, यह तो प्रत्यक्ष ही है। तलवार तो साधन है, दुःख तो मनुष्य दे रहा है।"

वृषभ बोले—"हाँ, तो फिर दोषी मनुष्य का हाथ है, कि जिससे मार रहा है, या आखें हैं जिनसे देखकर मारता है, या बल है, कि जिसके द्वारा प्रहार कर रहा है, या मन है, कि जिसकी सहायता से इन्द्रियों को सावधान करके मारने के कार्य में वह प्रवृत्त हो रहा है, या आत्मा है जिसके अधिष्ठान से समस्त कार्य होते हैं?"

राजा यह सुनकर विचार में पड़ गये और सोच समझकर बोले—"भाई, यह तो शास्त्रीय विषय रहा। ऋषि, मुनि तथा आप्त पुरुषों ने जो भी कारण बताया हो, उसे ही दुःख का बीज समझना चाहिये।"

वृषभ रूपी धर्म बोले—"राजन्! एक मुनि हो और इस विषय में उनका एक ही मत हो, तब तो मैं आपको निश्चित उत्तर दे भी सकता था, जीवों के क्लेश के बीज को बता भी सकता था, किन्तु मुनि तो अनेक हैं और इस विषय में सभी

के भिन्न-भिन्न मत हैं। वह मुनि, मुनि ही नहीं कहलाता जिसका मत भिन्न न हो। देखिये किन्हीं का तो मत है, कि सुख दुःख आत्मा के द्वारा ही होता है। दूसरा कोई भी अपना शत्रु मित्र नहीं। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है तथा आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। उनकी दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। किन्हीं-किन्हीं का मत है, कि जन्म के समय मनुष्य जैसी लग्न में उत्पन्न होता है उसी के अनुसार ग्रह उसे दुःख सुख देते रहते हैं। बुध, बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शनि, राहु, केतु आदि ग्रह जब शुभ स्थानों में पहुँच जाते हैं, तो मनुष्य को सुख होता है यदि अशुभ स्थानों में पहुँचे, क्रूर ग्रहों की दृष्टि हो गई, तो वे दुःख देते हैं, अतः दैव ही दुःख सुख का कारण है।

किन्हीं-किन्हीं का निश्चित मत है, कि दुःख का कारण कर्म है। इस जन्म में या पूर्व जन्मों में हमने शुभ कर्म किये होंगे, तो सुख प्राप्त होगा, बुरे कर्म किये होंगे, तो दुःख प्राप्त होगा। मनुष्य कर्मसूत्र में बँधा हुआ है। कर्म के अतिरिक्त ईश्वर, ब्रह्मा, परमात्मा कुछ नहीं, अतः उनके मत में कर्म ही प्रधान है।

"किन्हीं का मत है, कि यह सब स्वभाव वश हो रहा है। इसमें ईश्वर आदि किसी की आवश्यकता नहीं। जैसे गरमी, जाड़ा वर्षा, प्रातः, मध्याह्न, सायं, भोजन, निद्रा, सन्तानोत्पत्ति आदि सब स्वभावानुसार होते हैं। सभी कार्यों को मनुष्य प्रकृति वश करता है, उसी प्रकार दुःख भी स्वभाव से होते हैं। कोई कहते हैं, कि स्वयं जड़ प्रकृति कुछ करने में समर्थ नहीं। इसका नियामक ईश्वर है। यह जगत् ईश्वरेच्छा पर ही अवलम्बित है। क्लेश, कर्म, विपाकादि से रहित एक पुरुष विशेष है, उसी को ईश्वर कहते हैं। वही सुख दुःख का स्वामी है।

तो यह निन्दक उस पापी के पापों में साझीदार हो जाता है, जो नरक आदि पापियों के होते हैं, वही पापों को प्रकट करने वाले निन्दकों को होते हैं। अतः सिद्धान्त की बात तो यह है कि किसके पाप पुण्यों को वाणी से कहने से, कहने की क्या, मन से भी चिन्तन न करे। यदि न रहा जाय, स्वभाव वश किसी के सम्बन्ध में कुछ सोचना या कहना ही पड़े, तो दूसरे के पुण्य कर्मों को ही सोचे। पुण्यात्माओं की प्रशंसा करे। पापियों की बात मन में भी न आने दे। मन में आ भी जाय, तो दूसरों पर कभी भूलकर भी प्रकट न करे।

"अब रही जीवों के क्लेश के बीजवाली बात, सो इस विषय में मैंने विचार किया है। आपने आत्मा, देव, कर्म, स्वभाव, ईश्वर इन सबको दुःख-सुख का कारण बताते हुए अन्त में एक अचिन्त्य शक्ति को भी कारण बताया है। मेरी बुद्धि तो यही बात जँच रही है। मैं तो सब सोचकर समझकर इस निर्णय पर पहुँचा हूँ, कि परमेश्वर की माया की गति प्राणियों के मन-वाणी का विषय नहीं है।"

महाराज की बात सुनकर धर्म बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! आपने अनिर्वचनीय माया परे तत्व बताया सत्य ही कहा। मैं धर्म हूँ। और दुःख का कारण, जो आपने कहा उससे मैं सहमत हूँ। अब आप यह बतावें कि मेरे ये तीन पैर किसने काट लिए?"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"धर्म देव! अब मैं सब समझ गया। आपके तप, शौच, दया और सत्य—ये चार चरण हैं। सत्ययुग में जब प्राणियों में ये चारों पूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं, तब आप सर्वाङ्ग रूप से स्वस्थ और सुखी होकर इस

अवनि पर विराजते हैं। अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से जब काल कर्मानुसार सत्ययुग का अन्त हो जाता है और त्रेतायुग का प्रारम्भ होता हैं, तब आपका एक तप रूपी पैर नष्ट हो जाता है, धर्म के तीन पैर रह जाने से ही उस युग को त्रेता कहते हैं। जब त्रेतायुग का भी अन्त हो जाता है तब आपका दूसरा शौच—पवित्रता—रूपी पैर नष्ट होने से आप दो पैर के ही रह जाते हैं। इसीलिए त्रेता के अनन्तर के काल को द्वापर कहते हैं। जब द्वापर युग भी बीत जाता है और अधम के परिवार वाले गर्व, आसक्ति और मद आदि का चारों ओर प्रभाव छा जाता है, तो आपका दया रूपी तीसरा पैर भी नष्ट हो जाता है। कलियुगी सभी प्राणी दया हीन हो जाते हैं। कलियुग में केवल आप अपने एक ही सत्यरूपी क्षीण पैर से खड़े रहते हैं। अन्त में जब वह भी टूट जाता है और आप पैर हीन हो जाते हैं, तब भगवान् तुम्हारे ऊपर दया करके अवतार धारण करते हैं और तुम्हारे चारों पैरों को फिर यथावत् बना देते हैं। इसीलिए घोर कलियुग के पश्चात् एक साथ शुद्ध सत्ययुग आ जाता है।

धर्म बोले—"महाराज! हाँ, आपने यह तो यथार्थ बात कही। अब इस प्रहार करने वाले को भी बताइये, यह कौन है? यह इतना मोटा ताजा क्यों हो गया है?"

राजा बोले—"अब धर्मराज! तुम तो स्वयं कहने से डरते हो, मुझसे ही कहलाते हो। स्वयं पापी का परिचय न देकर

मुझसे पूछते हो। अस्तु, आप पूछते ही हैं तो मैं बताता हूँ। यह अधर्म का मित्र कलियुग है। यह इतना मोटा और पुष्ट असत्य से हो गया है। कलियुग में बिना असत्य के कोई मोटा नहीं बन सकता। यह तुम्हारे सत्य रूपी पैर को भी नष्ट करना चाहता है और अन्त में कर भी देगा। उन अचिन्त्य शक्ति सर्वेश को जो करना कराना होगा, उसे अवश्य करेंगे करावेंगे। उसे कोई भी पुरुष किसी भी प्रयत्न के द्वारा अन्यथा नहीं कर सकता।"

धर्म बोले—"हाँ, महाराज! बात यही है। इसीलिये मैं चुप चाप बैठा हूँ, कि किसी के भी दिन सदा एक से नहीं रहते। आज इसका समय है, इसके द्वारा मैं पीड़ित हो रहा हूँ। फिर कभी मेरा भी समय आवेगा। दुःख तो धैर्य से ही कट सकता है। अधीरता से दुःख दूर न होकर और बढ़ता है। अब आप इस गौ को बताइये—यह कौन है?"

महाराज परीक्षित् बोले—"इन्हें तो मैं जानता हूँ। ये तो श्यामसुन्दर की प्रेयसी भगवती भू-देवी हैं। भगवान् वासुदेव ने दुष्ट राजाओं का विनाश कराकर इनके बढ़े हुए भार को उतारा है। जब इनके श्रीअङ्ग पर श्रीवृन्दावन विहारी के पाद-पद्म पड़ते थे, और उनके वज्रांकुशादि चिह्नों से ये चिह्नित हो जाती थीं, तब इनकी अपूर्व शोभा होती थी। ये अपने सौभाग्य पर अत्यन्त गर्व करती थीं। आज ये उन्हीं सुकोमल,

परम शोभा युक्त, अरुण चरणों से रहित होकर अशरण सी बनी हुई हैं। आज ये दुःख से दुखी होकर अश्रु बहा रही हैं। इनको अब रह-रह कर यही सोच हो रहा है, कि धर्म की दुर्दशा हो जाने से सदाचारी धर्मात्मा राजा तो मुझे छोड़कर चले जायँगे। मेरे ऊपर दस्युधर्मी, राजा का वेश बनाये ब्राह्मण द्रोही, गौ-घातक, पापी, अधर्मी, क्रूर पुरुष राज्य करेंगे।"

धर्म बोले—'राजन्! आप धर्मात्मा हैं। पांडवों के पौत्र हैं, गर्भ में ही आपको भगवान् वासुदेव की अहैतुकी कृपा प्राप्त हो चुकी है। आप अपने योगबल से सब कुछ जानने में समर्थ हो सकते हैं। आपने हम तीनों का यथार्थ रूप पहिचान लिया। अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें।"

धर्म की ऐसी बात सुनकर महाराज परीक्षित् धर्म और पृथ्वी को सान्त्वना देते हुए बोले—"आप दोनों अब तनिक भी न घबड़ावें। मेरे रहते हुए अब आपका कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता। आपको सभी प्राणियों से निर्भय हो जाना चाहिए। मैं अब आपके इस शत्रु कलियुग को इसी समय तीक्ष्ण तलवार लेकर मारता हूँ। आज मैं इसके सिर को धड़ से अलग करके आप दोनों को तथा साधु पुरुषों को सुखी कर दूँगा। संसार से कलियुग का अस्तित्व ही मिटा दूँगा। जब कलियुग ही न रहेगा, तब फिर अधर्म का प्रचार ही न होगा। अधर्म ही न होगा, तो किसी को दुःख भी न होगा। इसलिये अब इसका अन्त कर देना ही उचित है।"

इतना कहकर महाराज ने उस राजा का वेष बनाये हु
को मारने का ही निश्चय कर लिया।

छप्पय

हरि की माया अमित न पहुँचे मन अरु बानी।
शौच, दया, तप, पाद बिना तुमरे मन ग्लानी॥
गौ रूपी के धरनि पद्म पद प्रभु के सोचति।
चरण चिह्न तें रहित दुखित है, अश्रु विमोचति॥
धरहु धीर धरणी! धरम! क्षत्रिय हौं शर धनु धरूँ।
नृप लांछन कलि क्रूर को, सिर धड़तें न्यारो करूँ॥

महाराज परीक्षित् द्वारा कलि को अभयदान

(७३)

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो,
धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये ।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै,
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १७ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

यों कहिकें भूपाल तीक्ष्ण तरवारि निकारी ।
ज्यों आगे कूँ बढे तुरत कलि युक्त विचारी ॥
पापी पैरनि परयो कृपा की भिक्षा माँगी ।
धरी म्यान में खड्ग दया दुखिया लखि लागी ॥
कहैं क्रूर ! यह का करै, काहे मम पग सिर धरै ।
असि कुरुवंशी बीर की, नहिं शरणागत पै परै ॥

दया सत्पात्र पर दिखाई जाय, तो उसका फल शुभ होता है। कुपात्र पर की हुई दया अन्त में दुःखदायिनी ही सिद्ध होती है। सर्प पर दया करके उसे दूध पिलाओ, उसका विष ही बढ़ेगा।

---

१ जब कलियुग डर के कारण महाराज परीक्षित् के पैरों पर पड़ गया तब उसे अभय देते हुए महाराज बोले—"हे अधर्म के मित्र ! तू मेरी

बिच्छू को दयावश जल से निकालो, वह डंक मार ही देगा। मतवाले हाथी के घावों को पोंछो, वह प्रहार करेगा ही, चूहे पर दया करके उसे अन्न खिलाओ, वह काटेगा ही। दुष्टों को दया करके आश्रय दो, वे बिना दुष्टता किये मानेंगे नहीं, क्योंकि ये सब अपने स्वभाव से विवश हैं। जैसे उपकार करने वाले के प्रति भी क्रूरकर्मा प्राणी अपकार करने को विवश हैं, उसी प्रकार धर्मात्मा दयावान् पुरुष भी दया करने को विवश हो जाते हैं। उनका चाहे कोई कैसा भी बड़े से बड़ा अपराध करे, किन्तु जब वह दीनभाव से उनकी शरण ग्रहण कर लेता है, तब फिर उसे वे अभयदान दे देते हैं। फिर उस पर प्रहार नहीं करते हैं।

इस बात के अनेकों उदाहरण हैं कि ऐसे लोगों ने अवसर पाने पर फिर दुष्टता की है, यह सब जानते हुए भी धर्मात्मा लोग कह देते हैं—जब वह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ सकता, ऐसा करने के लिए वह विवश हो जाता है, तब फिर हम अपने धर्म को क्यों छोड़ें? जो जैसा करेगा वैसा भरेगा। उसकी करनी उसके साथ, हमारी करनी हमारे साथ।

दुष्ट पुरुष निर्बलों पर तो अपना बल पौरुष दिखाते हैं। उनके सामने तो अपना प्रभाव जमाते हैं, किन्तु किसी को

शरण आ गया है, अतः मैं तुझे मारता नहीं हूँ, किन्तु गंगा यमुना के बीच की जो परमपावन भूमि है, जहाँ सत्य और धर्म के ही रहने का स्थान है वहाँ तू मत रहना। क्योंकि इसी देश से यज्ञों की विधि को जानने वाले बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, नाना भाँति के यज्ञों द्वारा भगवान् यज्ञ पुरुष की आराधना किया करते हैं।"

अपने से बलवान् समझते हैं, तो उसके सम्मुख दीन हो जाते हैं। उस समय की उनकी दीनता, भक्तों की जैसी यथार्थ दीनता नहीं होती, वह तो उनकी एक नीति है, स्वार्थ साधने की एक कला है, कछुआ की जैसी समाधि है, बगुला का जैसा ध्यान है। उनकी वाणी में जो मधुरता है, वह स्नेह की मधुरता न होकर, व्यापारी बनिये की मधुरता की भाँति—स्वार्थ-कार्य सिद्धि की—बनावटी मिठास है। जहाँ स्वार्थ सिद्ध हुआ, फिर लाला जी मुँह से भी न बोलेंगे, फिर अपना वैभव दिखावेंगे।

जब महाराज परीक्षित् ने पृथ्वी और धर्म को इस प्रकार समझाकर उन्हें सान्त्वना दी, तो वे कुछ-कुछ प्रसन्न हुए। अब चक्रवर्ती वीरशिरोमणि महाराज उस राजवेष धारी दुष्ट कलि-युग की ओर बढ़े। उन्हें उस समय उस पर बड़ा क्रोध आ रहा था। वे उसे मार डालना चाहते थे, इसीलिए उससे बिना कुछ पूछे ही अपनी तीक्ष्ण तलवार निकाल कर उसे मारने को उद्यत हो गये। कलियुग ने जब देखा कि यह धर्मात्मा राजा तो मुझे मार डालने पर ही उतारू है, इसके सम्मुख मेरी वीरता नहीं चल सकती, इसे मैं धर्म युद्ध में पराजित नहीं कर सकता तब उसने एक नई चाल चली। तुरन्त ही उसने अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण, किरीट, मुकुट आदि राज चिह्न उतार कर फेंक दिये। मुख में तृण दबाकर, वस्त्र से अपने दोनों हाथों को बाँधकर, शीघ्रता के साथ महाराज के चरणों में जाकर गिर पड़ा और दीनता से कहने लगा—"हे धर्मात्मा

राजन्! मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा करो; मुझे जीवन दान दो।"

अब तो महाराज परीक्षित् बड़े असमञ्जस में पड़े। धर्म

और पृथ्वी के साथ किये हुए इसके दुर्व्यवहार को देखकर तो वे क्रुद्ध हुए थे, किन्तु जब वह उनकी शरण में आ गया, तब वे सोचने लगे—अब क्या करूँ ? जो पुरुष दीन होकर दया की भिक्षा माँग रहा है, उस पर धर्म का जानने वाला मैं प्रहार कर ही कैसे सकता हूँ और यदि इसे इस समय मारता नहीं, तो राज्य में फिर यह ऐसा ही अधर्म करेगा। इसलिये ऐसा उपाय करना चाहिए, कि शरणागत का वध भी न हो और इस दुष्ट का यहाँ प्रभाव भी न जमने पावे। यही सब सोच समझकर अपनी खड्ग को म्यान में रखते हुए महाराज उससे बोले।

उस समय महाराज ने क्रोध की मुद्रा त्याग दी थी। कलियुग को पैरों पर पड़ा देखकर वे हँसते हुए कहने लगे—"अरे भाई वृषल ! अब तू क्यों काँप रहा है ? जब तैंने एक भरतवंशी वीर की शरण ग्रहण करली, तब तुझे किस बात का भय है ? मैं धर्मात्मा अभिमन्यु का पुत्र और गांडीव धनुषधारी महाराज अर्जुन का पौत्र हूँ, जो सदा शरणागतों की रक्षा में तत्पर रहते थे। जिनके सभी अस्त्र-शस्त्र शरण में आये, भयभीत, पैरों पर पड़े, दया की भिक्षा माँगने वाले पुरुषों के सम्मुख कुण्ठित हो जाते थे। अब तुझे अपने प्राणों का तो भय नहीं करना चाहिये किन्तु तुझे मेरी एक आज्ञा माननी होगी।"

कलियुग ने डरते-डरते पूछा—"हे नरदेव ! आप आज्ञा करें, मेरे लिये क्या आदेश होता है ? जब मैंने आपकी शरण ही ग्रहण की है, तब आपकी सभी आज्ञाओं का मैं अक्षरशः पालन करूँगा।"

महाराज ने अपने पैरों से कलियुग को उठाया। वह सिर नीचा किये भयभीत की भाँति महाराज के सम्मुख हाथ जोड़े

हुए खड़ा था, उस डरे हुए दुष्ट से महाराज बोले—"देखो, भाई ! मैं तुम्हारे प्राण तो लेता नहीं, किन्तु तुम्हें मेरे राज्य में नहीं रहना चाहिए।"

कलियुग ने दीनता के साथ कहा—"क्यों प्रभो ! आप तो दीनप्रतिपालक हैं, सभी प्रजा के लोग आपकी छत्रछाया में रहकर निर्भय बने हुए हैं, मुझे आप अपने शासन से पृथक् क्यों कर रहे हैं ?"

महाराज बोले—"देखो भैया ! मैं असमर्थ होकर तुम्हें नहीं निकाल रहा हूँ, किन्तु मैं तुम्हारे स्वभाव को जानता हूँ। तुम्हारी अधर्म के साथ घनिष्टता है। अधर्म का धर्म से वैर है। मेरे राज्य में सर्वत्र धर्म का ही प्रचार है। तुम दोनों मिल कर धर्म को नीचा दिखाने का प्रयत्न करोगे, तुम में संघर्ष होगा। मुझे धर्म का पक्ष लेना पड़ेगा, तुम न मानोगे तो तुम्हें फिर मारना ही पड़ेगा। इसलिये तुम मेरे राज्य से बाहर हो जाओ।"

कलियुग ने कहा—"नहीं महाराज, मैं किसी से द्वेष न करूँगा, चुपचाप एक ओर पड़ा रहूँगा।"

कलियुग की बात सुनकर उसे धुड़कते हुए महाराज बोले—"चुपचाप कैसे पड़ा रहेगा ? तू और चुपचाप पड़ा रहे, यह असम्भव है ? घर के भीतर रहकर भी बिल्ली चूहों पर प्रहार न करे, यह हो नहीं सकता। तेरे रहने मात्र से ही सब पर तेरा आधिपत्य हो जायगा। प्रजा के सर्वसाधारण लोग तो निर्बल होते ही हैं, उनका मुझे उतना भय नहीं, भय है राजाओं का। यदि राजाओं के हृदय पर तैंने, शनैः शनैः अपना प्रभाव जमा लिया, तब तो सर्वत्र तेरा आधिपत्य हो जायगा, क्योंकि जैसा राजा हो जाता है वैसी ही प्रजा हो जाती है।"

कलियुग ने कहा—"महाराज ! कहाँ इतने-इतने वीर पराक्रमी राजा, कहाँ मैं अकेला ? मैं उनका क्या बिगाड़ सकता हूँ।"

महाराज हँसे और बोले—"अरे भैया, मैं सब तेरी चालाकी जानता हूँ। तू अकेला नहीं है, तेरे पेट में फौज भर रही है। जहाँ तू आया कि तेरे साथ, लोभ, असत्य, चोरी अनार्यता, स्वधर्म त्याग लक्ष्मी की बड़ी बहिन दरिद्रता, कपट, कलह दम्भ—ये सब के सब निकलने लगते हैं। इनमें से भी एक-एक के पेट से हजारों लाखों, सन्तान उत्पन्न होने लगती हैं। तेरे एक के न आने से ही ये सब रुक सकते हैं।"

इस पर कलियुग ने कहा—"तब, महाराज ! फिर मैं कहाँ रहूँ ? मुझे भी तो कहीं आश्रय मिलना चाहिए।"

महाराज ने कहा—"जहाँ पहिले से रहते थे, वहीं रहो। मेरे इस परम पुण्य प्रदेश गङ्गा यमुना के मध्य की भूमि में जिसे ब्रह्मावर्त या महर्षि देश कहते हैं, वहाँ भूलकर भी पैर न रखो, क्योंकि धर्म के वेत्ता ऋषि महर्षि इसी देववन्दित पावन प्रदेश में निवास करते हैं।"

इस बात को सुनकर तो कलियुग का मुख फक पड़ गया, वह उदास होकर भूमि की ओर देखने लगा।

इस बात को सुनकर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग, सूतजी ! महाराज परीक्षित् ने कलियुग के इसी ब्रह्मावर्त प्रदेश से निकल जाने को क्यों कहा ? कलियुग ने पहिले पहिल इसी पावन प्रदेश में प्रवेश क्यों किया ? कलियुग का भी आग्रह इसी देश में रहने का क्यों था ? इसी प्रदेश में ऐसी क्या विशेषता है ? इस बात को हमें विस्तार के साथ बताइये।

हमारी इस शङ्का का समाधान कीजिये, तब आगे की कथा कहिये।"

शौनकजी के ऐसा प्रश्न करने पर सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और शौनकजी की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"हे शुनक नन्दन! हे मुनियों के अग्रणी! आपका यह प्रश्न बहुत ही श्रेष्ठ है। मैं इसका उत्तर देता हूँ, आप सभी मुनियों के सहित सावधान होकर श्रवण करें।

"मुनियो! गंगा और यमुना के दोनों तटों का प्रदेश परम पावन माना गया है। विशेष कर गङ्गा यमुना के मध्य की भूमि तो अत्यन्त ही पुण्यप्रद मानी गई है। इस भूमि पर एक तिल भी ऐसी पृथ्वी नहीं, जो अत्यन्त पुण्य की देने वाली न हो। कुरुक्षेत्र, गङ्गाद्वार (हरिद्वार) से लेकर काशी प्रयाग तक की भूमि को महर्षि प्रदेश, ब्रह्मावर्त, पावन प्रदेश अथवा यज्ञ भूमि कहते हैं। संसार में इससे पवित्र भूमि और कहीं नहीं है। समस्त ऋषि, महर्षि, अवतार तथा महापुरुषों ने इतनी ही भूमि का आश्रय ग्रहण किया है। इसी को धर्म-अर्जन का विशिष्ट स्थान माना है। श्रीगंगा जी और श्रीयमुना जी के दोनों ही तट परम पावन हैं। दोनों के बीच की भूमि तो सर्वत्र ही पवित्र है, किन्तु गङ्गा जी के पूर्व तट और यमुना जी के पश्चिम तट की एक योजन पृथ्वी भी उसी प्रकार पावन है। इस भूमि में तो सर्वत्र ही यज्ञ याग आदि करने से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है। कुछ भूमि पुरियों के कारण पावन हैं, कुछ धामों के कारण। जैसे सातों पुरियाँ परमपावन हैं, उत्कल जैसे देश में जगन्नाथपुरी पावन हैं, मगध जैसे कीकट देश में गयाजी परम पावन हैं। कुछ प्रदेश नदियों के

कारण परम पावन माने जाते हैं। जैसे दक्षिण के अनार्यों के रहने के प्रदेश चन्द्रवशा, ताम्रपर्णी, आवटोदा, कृतमाला, कावेरी, वैणी, तुङ्गभद्रा, कृष्णा, भीमरथी, गोदावरी, नर्मदा आदि अमृतोपम जलवाली नदियों के कारण पवित्र माने गये हैं। जो लोग इन नदियों के किनारे रहकर इनका जल पीते हैं वे प्रायः भक्त हो जाते हैं। इसीलिये इन पवित्र महा नदियों के तट से एक कोश तक ही इन देशों की पवित्रता मानी गई है, जिससे इनका जल पी सकें। वैसे ये देश स्वयं ब्रह्मावर्त की भाँति पावन नहीं माने गये हैं। मगध जैसे देश में पुनः पुनः नदी परम पावन मानी गई है। अन्य देशों की पावनता निमित्तकृत मानी गई है, किन्तु ब्रह्मावर्त देश तो सर्वत्र स्वयं ही परम पुण्यप्रद माना गया है। भारतवर्ष के अन्तर्गत ही जो समुद्र के पार और द्वीप उपद्वीप हैं जहाँ स्वेताङ्ग नर-नारी निवास करते हैं, वे भारतवर्ष के अन्तर्गत होने से कर्म भूमि तो हैं, किन्तु उनमें वर्णाश्रम धर्म नहीं रहता। वर्णाश्रम से हीन दस्युधर्मी अनार्यों के स्थान हैं। वर्णाश्रमी भी वहाँ जाकर बस जाता है, तो उसकी भी गणना उन्हीं में होने लग जाती है। बहुत से क्षत्रिय राजा तुरुष्क, आभीर, किरात हूण आदि अनार्य जातियों को जीत कर उन पर शासन करने लगे, तो उनको भी ऋषियों ने द्विजों से पृथक् कर दिया। आर्य और अनार्य वर्णाश्रमी तथा अवर्णाश्रमी सदा से रहे हैं, सदा रहेंगे। वर्णाश्रमी आर्यों ने इस आर्यावर्त को ही सर्व-श्रेष्ठ माना है। इसी देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से नाना भाँति की विद्यायें सीख कर उसका सर्वत्र प्रचार होता है। इसी देश का सदाचार सर्वत्र श्रेष्ठ माना जाता है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"काशीजी में तो यमुना जी

नहीं हैं, फिर आप उसे इस प्रदेश में सम्मिलित क्यों कर रहे हैं ?"

तब सूतजी बोले—"महाभाग! काशी और प्रयाग तो एक ही हैं। वैसे तो काशी सप्तपुरियों में से है, भगवान् भूतनाथ की क्रीड़ा स्थली है, त्रिशूल पर बसी है, विमुक्ति क्षेत्र है फिर भी उसे प्रयाग से पृथक् नहीं मनना चाहिए। अन्तर इतना ही है, कि प्रयाग पुरुष हैं, काशी स्त्री है। प्रयाग लोग हैं, काशी उनकी लुगाई है। प्रयाग मनसेधू हैं, काशी उनकी मेहरारू हैं, प्रयाग महाराजा हैं, काशी उनकी महारानी हैं। स्त्री पुरुषों में कोई भेद थोड़ी ही होता है। इसलिए काशी प्रयाग तो उसी प्रदेश में सम्मिलित है।

"अब आपका एक प्रश्न यह भी है, कि इस देश को इतना पवित्र क्यों माना है? अब इसमें तो शब्द ही प्रमाण है। सदा से शास्त्रकारों की ऐसी ही मान्यता रही है। जहाँ प्रजापति के अंगों के साथ तुलना की गई है वहाँ प्रयाग को उनकी उपस्थेन्द्रिय माना है और जहाँ पृथ्वी का नारी रूप से वर्णन हुआ है वहाँ प्रयाग को उनका जघन माना गया है। स्त्री पुरुषों के ये ही अंग उनके प्रधान चिह्नों के द्योतक हैं। इन्हीं अंगों से विश्व की उत्पत्ति होती है। अतः इसे सर्वश्रेष्ठ कहा है। भगवान् व्यास ने माथुर प्रदेश से लेकर उसके सामने गंगा के दोनों तट पाञ्चाल प्रदेश को और भी श्रेष्ठ माना है। पाञ्चाल प्रदेश के दो भाग माने गये हैं। उत्तर पाञ्चाल की राजधानी अहिच्छत्रपर, गंगा के समीप है। पूर्व पाञ्चाल की राजधानी कांपिल्य ब्रह्मावर्त बिठूर के समीप है। ऋषि मुनियों के आवास, इसी प्रदेश में बहुत अधिक हैं। इसी बीच में असंख्यों राजसूय और अश्वमेध यज्ञ हुए हैं। मुनियो!

गोमती के तट पर आप जिस नैमिषारण्य में महायज्ञ करते हुए मुझसे कथा श्रवण कर रहे हैं, यह प्रदेश भी परम पावन है।

"अब आपका एक यह भी प्रश्न है, कि इसी प्रदेश मे पहिले-पहिल कलियुग ने प्रवेश क्यों किया? इसी प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने को कलियुग अत्यधिक लालायित क्यों था, सो इसका भी मैं कारण बताता हूँ। आप सब इसे सावधानी के साथ श्रवण करें। देखिये, फलवान् वृक्ष की ही सब आशा करते हैं, धनी पुरुष के समीप ही सब धन की इच्छा से जाते हैं। छायादार वृक्ष का ही थके हुए लोग आश्रय करते हैं। जलवाले सरोवर पर ही प्यास से लोग प्यास बुझाने जाते हैं। जो स्वयं भूखा है वह दूसरों को क्या देगा? जिस वस्तु के द्वारा अपने गुण का विज्ञापन नहीं होता कुशल व्यापारी उससे सम्बन्ध करना व्यर्थ समझता है। जो पृथ्वी पर सोया हुआ है, उसे पतन का भय नहीं। गिरेगा तो वही जो पृथ्वी से ऊँचा सोया होगा। संसार में किसी भी वस्तु का अत्यन्ताभाव नहीं होता। रहती सब हैं, कभी किसी की वृद्धि हो जाती है, कभी किसी का ह्रास हो जाता है। कलियुग भी सदा से है सदा रहेगा। सत्ययुग में भी वह वर्तमान था, किन्तु उस समय उसका कुछ प्रभाव नहीं था, कहीं इधर-उधर छिपा हुआ, अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा था।

"अनार्य देशों में—अपुण्य स्थानों में—तो कलिकाल पहले से ही विद्यमान था। वहाँ भी आर्य राजाओं के प्रभाव से वह डरता रहता था। किन्तु अब जब उसका समय आ गया, तो उसने पुण्य प्रदेशों पर भी अपना अधिकार स्थापित करना

चाहा। जब तक पुण्यवानों का पतन न होगा, उनमें दम्भ, छल, कपट का प्रवेश न होगा, तब तक कलियुग बलवान् नहीं बन सकता। इसीलिये वह इस देश के लोगों पर अपना आतङ्क जमाना चाहता था। इस देश में यदि उसके पैर जम गये, यहाँ के लोगों के सदाचारों में यदि कलि के कुकर्मों का प्रवेश हो गया, तो यहीं से सीख-सीख कर सब लोग उसे प्रमाण मान लेंगे। अधर्म यदि अधर्म के ही रूप में आवे तब तो लोग उसे स्वीकार करने में हिचकते हैं। किन्तु वह तो सुधार का रूप बनाकर आता है उन्नति की आड़ में अपना अधिकार जमाता है। प्रभावशाली पुरुषों के मुख से अपना समर्थन कराता है, तभी उसका प्रचार होता है।

"अब आप कहेंगे, कि उसने आकर राजा परीक्षित् के ही सामने गौ तथा बैल को मारने का प्रदर्शन क्यों किया? सो, इसका कारण मुनियो! यह है कि बिना राजाश्रय लिये हुए न तो किसी धर्म का प्रचार होता है, न अधर्म तथा पाखंड का। जितने भी धर्म-प्रचारक आचार्य तथा अधर्म और पाखंड के प्रचारक प्रभावशाली पुरुष हुए हैं, सभी ने राजाश्रय लेकर ही अपने मतका प्रचार किया है। जिस प्रचारक को राजाश्रय प्राप्त हुआ है, उसका भी प्रचारक यथेच्छ हुआ है। जिसे राजाश्रय प्राप्त नहीं, वह कुछ दिन चलकर अन्त में टाँय-टाँय फिस्स हो गया है।

यह कलियुग भी किसी तरह महाराज परीक्षित् को फँसाना चाहता था। बुद्धिमान् पुरुषों को फँसाने का उपाय यह है, कि उनके सम्मुख सदा नम्र रहे, उनकी मन लगाकर सेवा करे, सदा हाथ बाँधे खड़ा रहे। नम्रता से ही श्रेष्ठ पुरुष वश में किये जा सकते हैं। वे जब प्रसन्न हो जायँ, तो फिर उनसे जो

चाहो वरदान माँग लो। इसीलिये यह नम्रता बगुला भक्ति के समान थी। महाराज तो धर्मात्मा ही थे, समय का प्रभाव था, आ गये इसके चक्कर में। मीठी-मीठी बातों से उनका हृदय पिघल गया और उसे प्रवेश करने का अवसर प्रदान किया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, अब मेरी शङ्काओं का समाधान हो गया। अच्छा, जब राजा ने कलियुग से यह बात कही, कि ब्रह्मावर्त भूमि में जो लोग बड़े-बड़े यज्ञ यज्ञादि करते हैं, उनकी समस्त कामनायें सर्वान्तर्यामी हरि पूर्ण करते हैं, इससे तुम मेरे इस पुण्य प्रदेश में मत रहो, तब कलियुग ने क्या कहा? क्या वह वहाँ से अपना डेरा-डंडा उठाकर चला गया?"

सूतजी बोले—"चला कैसे जाता? उसे तो यहीं से अपना प्रचार प्रारंभ करना था यज्ञ योगों का प्रचार भी प्रजापति और मनुओं ने इसी प्रदेश से आरम्भ किया और कलियुग का प्रचार भी यहीं से हुआ। उसे तो महाराज परीक्षित् के सिर पर चढ़ना था, उन्हें ही अपने प्रचार का प्रधान पात्र बनाना था, अतः उसने अपनी दशा और भी दयनीय बनाई। वह महाराज की ऐसी बात सुनकर थर-थर काँपने लगा। अपने ऊपर दया उत्पन्न कराने के निमित्त वह बहुत ही भयभीत सा बन गया था। उसे इस प्रकार भय से विह्वल देखकर महाराज परीक्षित् ने डाँटकर कहा—"तू मेरी बात मानता है या अभी तुझे तलवार के घाट उतार कर यमपुरी पहुँचा दूँ?"

कलियुग ने कहा—"प्रभो! कौन सी बात?"

महाराज बोले—"यही, कि तुम मेरे राज्य में मत रहो। यहाँ से अभी चले जाओ।"

डरते-डरते कलियुग बोला—"हे शरणागत वत्सल! फिर मेरी रक्षा कहाँ हुई? आप तो इस सम्पूर्ण वसुन्धरा के चक्रवर्ती महाराजा हैं। पृथ्वी पर कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ आपका राज्य न हो, आपकी आज्ञा न मानी जाती हो। यद्यपि आप ब्रह्मावर्त देश में ही शासन कार्य करते है, किन्तु आपकी आज्ञा तो सभी देशों के शासकों और राजाओं को शिरोधार्य होती है। आपके राज्य को छोड़कर मैं कहीं जाना भी चाहूँ, तो नहीं जा सकता। अतः आप मुझे कुछ निश्चित स्थान बता दें। आपकी आज्ञा मान कर मैं उन्हीं में रहूँगा। उनसे बाहर कहीं न जाऊँगा।"

कलियुग की अपनी प्रशंसा से सनी युक्ति-युक्त बातें सुनकर महाराज उसके योग्य स्थान की खोज करने लगे। वे थोड़ी देर सोचने लगे—इसे कौन सा स्थान रहने को बताऊँ?

छप्पय

प्रान दान तो देऊँ किन्तु अब ही तुम जाओ।
ब्रह्मावर्त सुदेश भूल इत कबहूँ न आओ॥
विप्र करें इत याग भाग देवनि कूँ देवें।
सबही सुख तें सदा सर्व पति शिव कूँ सेवें॥
बोल्यो कलि सर्वत्र है, राज्य तुम्हार बसूँ कहाँ।
मोकूँ ठौर बताई दें, आज्ञा मानि रहूँ तहाँ॥

कलियुग के रहने को स्थान प्रदान

(७४)

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः ।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ।१

(श्रीभा० १ स्क० १७ अ० ३८, ३९ श्लो०)

छप्पय

बोले नृप—मम द्वार विमुख याचक नहिं जाहीं ।
वेश्या, हिंसा, द्यूत, मद्य महँ बसहु सदाहीं ॥
सोची भूपति यही चार अति निन्दित थल हैं ।
आसक्ती मद, झूठ क्रूरता के ये बल हैं ॥
गिड़गिड़ाय पुनि कलि कहे, निन्दित अधम सभी दये ।
एक मनोहर नाथ ! दें, तब राजा सोचत भये ॥

साहित्य शास्त्र में एक 'पाद प्रसरण न्याय' आता है । उसका अभिप्राय यह है, कि पहिले तनिक बैठने की जगह कर लो । जब बैठने की जगह मिल जाय तो धीरे-धीरे पैर भी फैलाने

१ कलियुग की इस प्रकार प्रार्थना करने पर महाराज परीक्षित् ने उसे जूआ, मद्यपान, वेश्यासंग और हिंसा—ये चार स्थान दिये । अर्थात्

आरंभ कर दो। जब साधु पुरुष किसी जंगल या नदी-तट की भूमि पर अपना अड्डा जमाना चाहते हैं, तो पहिले जाकर वहाँ छत्ता गाड़कर बैठ जाते हैं, फिर एक चबूतरा सा बना लेते हैं, भगवान की पूजा स्थापित करते हैं, चौतरे से दूर दूर तुलसी जी लगा देते हैं। फिर तुलसी जी की रक्षा के निमित्त काँटों की बाड़ लगाते हैं। किसी से कहते हैं—'यह ठाकुर जी के भोग को दूध नहीं है। एक गौ का प्रबन्ध होना चाहिये।' कोई धर्मात्मा पुरुष गौ दे देते हैं, उसे बाँधते हैं। 'अब तो बच्चा! वर्षा आ गई, छत्ते से काम न चलेगा।' इधर उधर से फूँस इकट्ठा करके झोपड़ियाँ बन गईं। कद्दू, लौकी आदि की बेल लग गई। कोई चेला चेत गया। झोपड़ी के स्थान में सुन्दर पक्का मन्दिर बन गया। जय-जय सीताराम की धुनि होने लग गई। आश्रम बन गया। लोग देखते के देखते ही रह गये। साल भर पहले जो साधु चुटकी माँगता हुआ आया था वही गद्दीदार महन्त बन गया।

कलियुग ने भी सोचा—इस धर्मात्मा के राज्य में मुझे पैर टेकने को थोड़ा सा स्थान मिल जाय, फिर तो मैं अपना विस्तार कर लूँगा। इस प्रकार जब दीन होकर कलियुग ने स्थान माँगा, तो राजा ने कहा—"भैया, तुम अधर्म से स्नेह

जहाँ-जहाँ ये पाप हुआ करें, वहीं तुम रहा करो। इन्हीं चारों के कारण असत्य, मद, काम और रजोगुण जनित क्रूरता—ये सब अधर्म हुआ करते हैं। जब उसने और भी एक सुन्दर स्थान की प्रार्थना की, तब महाराज ने उसे सुवर्ण और दिया जिसमें पिछले चारों—असत्य, मद, काम और रजोगुण के सहित पञ्चम वैर भी भरे हैं। इन पांच स्थानों में कलि को रहने की आज्ञा दी।

रखते हो। मेरे राज्य में तुम गड़बड़ करोगे। इसलिये मैं तुम्हें स्थान बताने में डरता हूँ।"

कलियुग ने अत्यन्त दीनता के साथ कहा—"कृपानाथ! सभी तो आपका आश्रय चाहते हैं। आपको छोड़कर कोई रह ही कहाँ सकता है? छोटे बड़े सभी आपकी छत्र-छाया से रह कर पल रहे हैं, सुख से समय व्यतीत कर रहे हैं। मैं ही एक ऐसा अभागा हूँ, जो आपके दरबार से भी निराश होकर लौटूँगा। आप मुझे बुरे से बुरा स्थान बता दें, आपके निर्दिष्ट किए हुए स्थानों से मैं बाहर न जाऊँगा।"

जब कलियुग ने बार-बार दीनता के साथ आश्रय की याचना की, तब तो दयालु महाराज को दया आ गई। वे सोचने लगे—ऐसे कौन से बुरे स्थान हैं, जहाँ कलियुग को रहने को कह दें? ऐसे कौन से अत्यन्त निन्दित दुर्गुण हैं, जिनसे सच्चरित्र पुरुष बचते रहना चाहते हैं? सोचते-सोचते महाराज की बुद्धि में यह बात आई, कि यह असत्य सबसे बड़ा पाप है। सत्य से बढ़कर कोई परम धर्म नहीं। असत्य से बढ़कर कोई कुकर्म नहीं। यह असत्य जूए में सदा रहता है। जुआड़ियों को सत्य असत्य का विवेक नहीं होता। इसलिए एक स्थान तो इसे जुए में देदें। जब यह जुए में रहने लगेगा, तो सज्जन पुरुष कलियुग के डर से कभी जूआ खेलेंगे नहीं, जूआ न खेलेंगे, तो झगड़ा भी न होगा। हमारे पितामह जूए के कारण ही वन-वन भटकते रहे। दूसरे हमारे कौरव पक्षीय पितामह जूए के कारण ही सब के सब युद्ध में मारे गये। जूए के कारण ही संसार व्यापी इतना बड़ा महाभारत युद्ध हो गया। इसलिये आज से कलियुग जूए में नित्य निवास करे।

फिर महाराज ने सोचा—जब तक मनुष्य की सद् असद् विवेक करने वाली निर्मल बुद्धि बनी रहती है, तब तक वह पाप कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता। जब बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है, उसमें उन्माद आ जाता है, मद का मलिन आवरण छा जाता है, तभी पाप कर्मों के करने की इच्छा उत्पन्न होती है। बुद्धि को सबसे अधिक मलिन बना देने वाली यह सुरा ही है। सुरापान करने वाले शनैः शनैः सभी पापों को करने लग जाते हैं। मद्य के नशे में मतवाले होकर मनुष्य अंट-संट बकते हैं, न करने योग्य काम को करते हैं, काम वासना बढ़ने से गम्या अगम्या का विचार छोड़ देते हैं, सर्वाभिगामी बन जाते हैं। अतः मदिरा में भी कलियुग सदा रहे। इसके रहने से सज्जन पुरुष उसे छूने से भी घृणा करेंगे।

फिर एक बात उनकी समझ में और उसी प्रसङ्ग में आ गई। वे सोचने लगे—मतवाला होकर मनुष्य अत्यन्त कामी बन जाता है, उसकी कामवासना उत्तेजित हो उठती है, उस समय उसे कामिनी की अभिलाषा होती है। जो सती साध्वी पतिपरायण स्त्रियाँ हैं, उनमें तो अपने पातिव्रत और सत्य धर्म का इतना अधिक प्रभाव होता है, कि उनका कोई धर्षण नहीं कर सकता, किन्तु जो अकुलीन, कुटिला, स्वैरिणी स्त्रियाँ होती हैं, वे कामियों की कामवासना में फँस जाती हैं। एक तो उन्हें यौवन का स्वाभाविक ही उन्माद होता है, तिस पर यदि वे मद्य का भी सेवन करलें तब तो शील, सङ्कोच, लज्जा, कुल, धर्म सभी को तिलांजलि दे देती हैं। जब उन्हें व्यसन पड़ जाता है, तब तो वे सदा अतृप्त ही बनी रहती हैं। आठों पहर उन्हें वही वासना व्यथित करती रहती है। ऐसी स्त्रियाँ यदि किसी की पत्नी हो चुकी हैं, तो अपने पतियों को धोखा देती हैं,

उसे ठगती हैं, उसके सामने कपट व्यवहार करती हैं और कभी-कभी अपने पुरुष पर प्रेमी से किसी प्रकार उसका अन्त भी करा देती हैं। यदि वे स्वच्छन्द चारिणी, स्वैरिणी, पण्य स्त्री बन जाती हैं, तब तो निरन्तर पाप बटोरती ही रहती हैं। उनमें यदि कलियुग सदा बसेगा, तो धर्मात्मा लोग दूर से ही उनका परित्याग करेंगे। पापी ही उनके समीप जायँगे। सब पापी-पापी एक ओर हो जायँगे। इससे धर्म का सबदा लोप न होगा। धर्मात्मा पुरुष सर्वथा उनसे पृथक् बने रहेंगे।

महाराज जब मदिरा और मदिरेक्षणा के सम्बन्ध में सोच रहे थे, तभी उन्हें जिह्वा इन्द्रिय के विषय की याद आई। वे सोचने लगे—मनुष्य दो ही इन्द्रियों के लिए सब से अधिक पाप करता है, उपस्थेन्द्रिय के लिये और जिह्वा के लिये। जिसने इन दोनों को अपने वश में कर लिया, उसने तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर ली। जो इन दोनो के विषयों में फँस गया, वह मानों चौरासी के चक्कर से निकलते-निकलते फिर से फँस गया। जिह्वा स्वाद के लिये मनुष्य नाना पाप करता है। जब सुन्दर पदार्थों को खा-खा कर पेट भर जाता है, तब उसका उत्तेजित रस बनकर उपस्थेन्द्रिय को काम के लिये प्रेरित करता है। सब में स्वादिष्ट और काम वासना को बढ़ानेवाला पदार्थ मांस है। मांस से बढ़कर जिह्वा को सुख देने वाला पदार्थ दूसरा नहीं। मांस सदा हिंसा से प्राप्त होता है। जीवों का वध करके तब उनका मांस लोगों को खाने के लिये मिलता है। इसलिये वधकर्म में भी सदा कलियुग रहे। इसमें कलियुग रहेगा, तो धर्मात्मा लोग मांस से घृणा करेंगे। जब वे मांस न खायँगे तब उसके द्वारा होने वाले अन्य पापों से भी वे बचे रहेंगे।

महाराज ने सोचा—कलियुग शरण में आगया है, इस लिये इस स्थान तो देना ही है। यह मानी हुई बात है, कि जहाँ यह रहेगा, अपना प्रभाव दिखावेगा ही! फिर इसका प्रभाव सब पर क्यों पड़े? दो विभाग हो जाय—एक शुद्ध पुण्यात्मा पुरुषों का, एक पापियों का। जो कलियुग के रहने के स्थानों में आसक्त हो वे पापी कहलावें और जो इनसे बचते रहें, वे पुण्यात्मा हो जायँ। ऐसा करने से पाप पुण्य, धर्म अधर्म दोनों ही मेरे राज्य में सुखपूर्वक अलग-अलग रह सकेंगे। यही सब सोच समझकर महाराज कलियुग से बोले—"अच्छा, भैया! मेरे यहाँ से कोई याचक निराश होकर नहीं लौटता। जाओ. मैंने तुम्हें द्यूत में, मद्य में, अधर्म पूर्वक किये स्त्री प्रसङ्ग में और प्राणियों की हिंसा में, रहने को चार स्थान दिये। इन चारों में ही तुम रहना। यदि इनसे अलग कहीं गये, तो फिर बिना मारे न छोड़ूँगा।"

एक कहावत है 'उँगली पकड़कर पहुँचा पकड़ा जाता है।' उँगली के स्पर्श को बिना बाधा के सह ले, तो समझ लो अब वह चक्कर में फँस गई। जब महाराज ने चार स्थान दिये, तो कलियुग मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—मैंने अपनी झूठी नम्रता से राजा को फँसा लिया। किन्तु लाभ से सदा लोभ बढ़ता है। कलियुग इतने से सन्तुष्ट न हुआ। उसे ये चारों स्थान बहुत ही संकुचित दिखाई दिये।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वे चार स्थान महाराज ने क्यों दिये? इन चारों में तो पहिले से ही अधर्म रहता था। जहाँ अधर्म है वहाँ कलियुग है ही। फिर कलियुग इन चारों स्थानों को पाकर क्यों प्रसन्न हुआ।"

तब सूतजी बोले—"महाभाग! यह आपका कहना सत्य है, कि द्यूत, मद्य, स्त्री प्रसङ्ग और हिंसा इन कार्यों की सदा से धर्मात्मा पुरुष निन्दा करते रहे हैं। फिर भी दूसरे युगों में इन कार्यों में भी समयानुसार धर्म का वास माना जाता था। जैसे द्यूत को ही ले लीजिये। कुछ अवसरों पर तीनों युगों में द्यूत खेलना धर्म समझा जाता था। विवाह के समय, महारात्रि दीपावली के समय, एक राजा दूसरे राजा को युद्ध की ही भाँति जूए को ललकारे, उस समय जूआ खेलना धर्मानुसार श्रेष्ठ समझा जाता था। यदि ऐसा न होता? तो साक्षात् धर्म के अवतार, असत्य से दूर रहनेवाले महाराज युधिष्ठिर इस निन्द्य कुत्सित कर्म में क्यों प्रवृत्त होते? लोभ तो उन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकता था। दुर्वासनाओं से वे सदा बचते रहते थे। केवल धर्म समझकर ही उन्होंने जूआ खेला था। जब से महाराज परीक्षित् ने कलियुग को जूए में स्थान दे दिया, तब से जूए मे धर्म किसी भी दशा में नहीं रहा। उसमें सदा कलियुग का वास है, इसलिए किसी भी दशा में पूर्व युगों के लोगों का अनुसरण करके भूल से भी कभी जूआ न खेलना चाहिये।

"इसी प्रकार मदिरा की बात है। बहुत पहिले मदिरा निषिद्ध नहीं समझी जाती थी। जब असुरों ने दुष्टता के कारण बृहस्पति के पुत्र कच को मार कर, जलाकर उसकी राख तक सुरा के साथ अपने गुरु शुक्राचार्य को पिला दी, तब कुपित होकर सर्व समर्थ असुरों के प्रतापी पुरोहित ने संसार के लिए यह मर्यादा स्थापित कर दी कि, जो द्विज होकर मद्य-पान करेगा उसे ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। इसमें द्विजों के लिए ही मर्यादा थी, द्विजेतरों को पाप वाली बात नहीं थी। इस पर भी स्मृति-

कारों ने कुछ विशेष नियम बना दिये थे। ब्राह्मण के लिये तो सभी भाँति की सुरा निषिद्ध बताई गई थी, किन्तु अन्य वर्णों के लिये कुछ विशेष-विशेष वस्तुओं से बनी वारुणी आदि की छूट थी। यह तो रही वर्णगत बात। कुछ विशेष-विशेष अवसरों पर अन्य युगों में धार्मिक क्रिया के रूप में विधान भी था। जैसे 'सौत्रामणि' नामक यज्ञ में सुरा का विधान था, वहाँ धर्म मान कर उसका ग्रहण था। जब से महाराज परीक्षित् ने कलियुग को सुरा में निरन्तर रहने का वरदान दे दिया, तब उन्नति चाहने वाला, चाहे किसी भी वर्ण का, किसी भी आश्रम का, पुरुष क्यों न हो, उसे किसी भी अवसर पर कैसे भी सुरा का—पान की बात तो अलग रही—स्पर्श तक न करना चाहिये। हाँ, यदि वैद्य रोग को असाध्य बतावे और उसमें आसव के बिना किसी प्रकार चिकित्सा न हो और जीवन की इच्छा प्रबल हो, तब उस समय विवशता की दूसरी बात है। वैसे कलियुग में सभी को सर्वदा मदमत्त कर देनेवाली मदिरा से सदा बचते रहना चाहिये, क्योंकि इसमें अधर्म के मित्र कलह के बन्धु कलियुग का वास है।

"प्राचीन-काल में लोगों के विवाहित पत्नियाँ तो होती ही थीं, कुछ अविवाहित उप-पत्नियाँ भी रखते थे। वे सभी वर्णों की होती थीं, उनके लिये भी मर्यादा थी। कुछ जो सार्वजनिक वाराङ्गनायें होती थीं उनको भी शास्त्रकारों ने बहुत से धर्म बताये थे। उनके लिए भी व्रत, उपवास, और दान आदि पुण्य कर्मों का विधान था। किन्तु जब से महाराज परीक्षित् ने स्त्री सङ्ग में निरन्तर कलियुग को रहने को कह दिया, तब से ऋतुकाल में अपनी धर्म-पत्नी को छोड़कर और जितने प्रकार के भी व्यवसाय हैं, वे सब अधर्म हैं, पाप हैं। धर्मात्मा पुरुषों

को पर स्त्री की बात तो कौन कहे, अपनी माता, युवती बहिन और लड़की को भी एकान्त में स्पर्श न करना चाहिये, न उन्हें अकारण देखना ही चाहिये। वैसे तो स्त्रियों के सभी अंगों में काम का वास है, किन्तु विशेष कर बालों में, मस्तक पर, भौंहों में, आँखों में, ओष्ठ में, मुख में दोनों ओर, हृदय में, नाभि और जंघाओं में विशेष रूप से वास है। अतः उन्नति चाहने वाले पुरुषों को कामिनियों के इन अंगों को न तो देखना ही चाहिये, न स्पर्श ही करना चाहिये। जो इन्हें स्पर्श करेगा उनके सिर पर कलियुग तुरन्त सवार हो जायगा।

"सत्ययुग, त्रेता और द्वापर आदि युगों में यज्ञयागों में की हुई वैदिकी हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती थी। महाराज परीक्षित् समझते थे, कि आगे कलिकाल में लोग दम्भी और पाखंडी ही विशेष होंगे, वे यज्ञ और देवता का बहाना करके अपनी जिह्वा लोलुपता की ही पूर्ति करेंगे। अपने पेट के लिये ही ये सब करेंगे। इसीलिये उन्होंने सभी प्रकार की हिंसा में कलियुग को रहने की आज्ञा दे दी। कलियुग में यज्ञों में भी—देवता के निमित्त भी—जीवों की बलि देना निषेध है। फल और पुष्पों की बलि से काम चलावे। जो किसी भी कार्य में जीव हिंसा करेगा, कलियुग तुरन्त उसके शरीर में प्रवेश कर जायेगा।

"इस प्रकार पहिले जो ये काम निषिद्ध होने पर भी देश, काल और पात्र भेद से कभी विहित भी माने जाते थे, महाराज परीक्षित् के कलियुग को वरदान देने के अनन्तर ये कार्य सर्वथा निषिद्ध बन गये। आठों पहर इनमें कलियुग बैठा रहता है, वह किसी का कुछ भी बहाना नहीं सुनता।

"इन स्थानों में रहकर भी कलियुग सब पर अपना अधिकार नहीं जमा सकता था। बहुत से पुण्यात्मा पुरुषों को तो इन कार्यों से स्वाभाविक ही घृणा होती है। कलियुग कोई ऐसा एक स्थान और चाहता था, जो व्यापक हो। जिसका व्यवहार सभी लोग किसी न किसी रूप में करते हों और उसमें ये चारों दोष—अनृत, मद, काम और निर्दयता के साथ कलह और वैर भी हों। इसीलिए उसने हाथ जोड़कर विनीत भाव से महाराज से पुनः प्रार्थना की। कलियुग बोला—'धर्मावतार! आपने चार स्थान जो मुझे बताये हैं, उनमें तो मैं आपकी आज्ञा से रहूँगा ही, किन्तु हे शरणागतवत्सल! आपने ये सभी गन्दे-गन्दे स्थान मुझे दिये। इनमें तो भले आदमी वैसे ही नहीं फँसते, इनसे सदा दूर ही रहते हैं। कोई एक अच्छा सा, सुन्दर, स्वच्छ, चमकीला स्थान मुझे और दे दें, जब इन बुरे स्थानों से ऊब जाया करूँ, तो वहाँ आकर मनमानी क्रीड़ायें किया करूँ। बस, स्वामिन्! एक ही और दे दीजिये, फिर मैं आपको अधिक कष्ट न दूँगा।'

"महाराज ने कलियुग की बातपर फिर विचार किया। बहुत सी चमकीली वस्तुओं पर उनकी दृष्टि गई। विचार करते-करते उनके ध्यान में आया, कि यह सुवर्ण ही हत्या की जड़ है। सुवर्ण के पीछे ही सगा भाई शत्रु के समान बन जाता है। धन के लोभ के पीछे ही मेरे पितामहों में वैर हो गया। कौरवों ने धन के लोभ से ही मेरे पितामहों को राज्य नहीं लौटाया। त्यागी के पास भी धन आ जाता है, तो वह पाप कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है, अतः इसे सुवर्ण में भी स्थान दे दो।

"यही सोचकर भावी वश अकस्मात् महाराज के मुख से निकल गया—'अच्छी बात है! जाओ, मैंने तुम्हें सुवर्ण में भी स्थान दिया।'

"इतना सुनते ही कलियुग अत्यधिक प्रसन्न हुआ। उसने मन ही मन कहा—'अब तो मैंने बाजी मार ली। अब तो यह पांडवों के वंश का धर्मात्मा राजा बुरी तरह से फँस गया। इसके सिर पर चमचमाता हुआ मुकुट सुवर्ण का ही है। सर्व प्रथम इसमें ही घुस कर इसकी बुद्धि भ्रष्ट करूँगा। इसीसे न करने योग्य कार्य कराऊँगा। इसी पर अपना बल पौरुष दिखाऊँगा। इसी को अपना प्रथम ग्रास बनाऊँगा। इसी को मरवा कर मजा चखाऊँगा। इतना सोचकर तुरन्त वह महाराज परीक्षित् के सुवर्ण मंडित मुकुट में प्रवेश कर गया।"

सूतजी कहते हैं—"ऋषियों! तभी से पृथ्वी पर कलियुग ने अपने पैर फैलाने प्रारम्भ कर दिये। इसलिये पुरुषों को द्यूत, मदपान, स्त्री प्रसङ्ग, जीव हिंसा और सुवर्ण के लोभ से सदा बचे रहना चाहिये। जिसे परमार्थ पथ का पथिक बनना हो, जिसे उन्नति के ऊँचे शिखर पर चढ़ना हो, जिसे इस संसार सागर को पार करने की इच्छा हो, जिसे जन्म मरण के बंधन से मुक्ति पानी हो, उसे भूलकर भी इन पाँचों वस्तुओं में आसक्ति न करनी चाहिये। विशेष कर समाज के नेता को शासक को, धर्माचार्य को और लोक-भिक्षक को तो इससे सर्वदा ही बचे रहना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! आगे फिर क्या हुआ? महाराज परीक्षित् कहाँ गये? कलियुग ने फिर क्या किया? धर्म और पृथ्वी का क्या हुआ? इन बातों को कृपा करके और बताइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न पूछने पर सूतजी उदास मन से बोले—"महाराज भृगुवंश भूषण! हुआ क्या? जो होना था सो हो गया। कलियुग का काम बन गया। उसे उत्तम से उत्तम स्थान मिल गया। वह तो महाराज के मुकुट में घुस गया। धर्म और पृथ्वी—गौ बैल बने वहीं खड़े थे। राजा ने उन्हें उस समय आश्वासन दिया। बैल को उस समय चारों पैर वाला बना दिया अर्थात् धर्म से कहा दिया—मेरे राज्य में कोई असत्य भाषण, मदिरापान, परस्त्रीगमन और जीव-हिंसा न करेगा। सब लोग तप, शौच, दया और सत्य में स्थित रहकर धर्म कार्यों को करते रहेंगे। इस प्रकार धर्म और पृथ्वी को ढाँढस बँधाकर, समस्त पृथ्वी पर अपनी वीरता स्थापित करके दशों दिशाओं को जीत कर, महाराज परीक्षित् हस्तिनापुर में आकर धर्मपूर्वक राज काज करने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन्हीं धर्मात्मा राजा परीक्षित् के राज्य काल में आपने अपने यज्ञ का बहुत सा समय व्यतीत किया है। आपका यज्ञ तो महाराज युधिष्ठिर के राजकाल में ही आरम्भ हो गया था, वनके महाप्रस्थान के अनन्तर जब महाराज परीक्षित् सम्राट् हुए, तब उनके तो पूरे शासनकाल में आपका यज्ञ चलता रहा। अभी वे स्वधाम पधार गये। उनके शासन में धर्म की बड़ी उन्नति हुई। चारों ओर योगों की भरमार रही, किन्तु कराल काल की कुटिल गति के कारण वे महाराज अब नहीं रहे। व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुक ने उन्हें श्रीमद्भागवत रूपी अमृत पिलाकर अमर बना दिया। भगवान् की सुमधुर कथा रूपी नौका पर बिठाकर, अपार संसार सागर से बात की बात में उस पार पहुँचा दिया। मुनियों! श्रीमद्भागवत ही संसार समुद्र में डूबे हुए प्राणियों का एक-

मात्र अवलम्ब है। उसी भागवती कथा को मैं आपके सम्मुख कहूँगा, आप सब प्रभु पाद-पद्मों में दत्तचित्त होकर सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

स्वर्ण एक संसार माँहि हत्या की जर है।
स्वजन विजन बनिजायँ बैर को यह ही घर है॥
कौरव पांडव लरे नाश सब जग को कीन्हो।
दोष खानि लखि नृपति पाँचवों सोनो दीन्हों॥
सुखी स्वर्ण सुनि कलि भयो, अति प्रसन्न ह्वै हँसि गयो।
स्वर्ण मुकुट नृप सिर निरखि, तुरत ताहि महँ धँसि गयो॥

महाराज परीक्षित् के उत्तरचरित का प्रश्न

(७५)

तन्नः परं पुण्यमसद्वृतार्थ—
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नम्,
पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १८ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

पूछ्यो शौनक—'सूत! दुष्ट कलि क्यों नहिं मारयो ।
काहि न क्रूर कराल राज्य तें पकरि निकारयो ॥
सूत कहें—'नृप भ्रमर सरिस रसग्राही ऋजु अति ।
सोच्यो कलि महँ लगहिं, पाप करि पुण्य होयँ मति ॥
यह खल कलि कायरनि कूँ, डरपावे वृक के सरिस ।
धीर वीर हरि भक्त लखि, डरे कँपे नहिं करहिँ रिस ॥

यह संसार गुण दोषों से भरा हुआ है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें दोष ही दोष भरा हो, एक भी गुण न हो। इसके विपरीत ऐसी भी कोई वस्तु नहीं जिसमें गुण ही गुण

---

१ शौनकादि मुनि सूतजी से कह रहे हैं—"हे सूतजी! आप हमसे महाराज परीक्षित् का उत्तर चरित कहें। महाराज परीक्षित् का चरित

हों, एक भी दोष न हो। बुद्धिमत्ता और मूर्खता उनके ग्रहण में ही देखी जाती है, बुद्धिमान पुरुष सब वस्तुओं में से गुणों को ही ग्रहण करते हैं, अवगुणों को परित्याग कर देते हैं। जैसे मक्खन से घृत बनाने वाला अग्नि पर नवनीत को तपा कर घृत-घृत निकाल लेता है, उसके मलको फेंक देता है। गन्ने में से रस निकालने वाला फुक्कस को फेंक देता है, रस को ग्रहण करता है। तेली नीम की निबौरी में से तेल निकाल लेता है, खरी को फेंक देता है। हंस पानी मिले दूध में से दूध-दूध पी लेता है, पानी को छोड़ देता है। इसके विपरीत जो दुष्ट पुरुष होते हैं, वे गुणों को छोड़कर अवगुणों को ही ग्रहण करते हैं। कैसी भी सुन्दर गुणकारी खाद क्यों न हो, यदि वह आम के पेड़ में दी जायगी, तो आम उसमें से मीठा रस ग्रहण करके आम को मीठा बनावेगा, वही नीम में दी जाय तो नीम उसमें से कड़वाहट को ही ग्रहण करके कड़वा रस उत्पन्न करेगा। दूध माता को पिलाया जाय, तो उससे बालक को जीवन दान देने वाला अमृतोपम पय बनेगा। वही सर्प को पिलाया जाय, तो विष की वृद्धि करेगा, जो तत्काल प्राणियों के प्राण हरण में समर्थ हो सकता है। जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर सुन्दर है, उसमें जहाँ घाव होगा, गंदगी होगी, मक्खी वहीं बैठेगी। उसी प्रकार पुरुष चाहे कितना भी गुणी, तपस्वी, भगवत् भक्त क्यों न हो, दुष्ट पुरुष उसके छिद्रों का ही अन्वेषण करेंगे। उसमें तनिक सी भी कोई त्रुटि उन्हें दीख पड़ेगी, उसी का विस्तार करके वर्णन करते फिरेंगे, किन्तु सज्जन पुरुषों को या तो किसी के दोष दिखाई ही नहीं देते,

---

परम पवित्र और अद्भुत योग युक्त है, जो भगवत् सम्बन्धी चरित्रों से सम्पन्न है तथा भगवद् भक्तों को अत्यन्त ही प्रिय हैं।

यदि वह अनेक दोषों का भंडार ही हो, प्रत्यक्ष दोषों से भरा हो, तो भी उसके दोषों की वे उपेक्षा कर देते हैं। वे तो उसमें एक भी गुण देखते हैं, तो उसी पर रीझ जाते हैं। उस एक गुण के कारण ही उसका अत्यधिक आदर करते हैं। महाराज परीक्षित् तो गुणग्राही थे। अनेक दोषों तथा नाना भाँति के अधर्मों की खानि इस कलियुग में उन्होंने कौन सा ऐसा गुण देखा, जिससे वे उस पर रीझ गये और दया वश अपने राज्य में उसे स्थान दे दिया? यही सब सोचकर शौनकजी सूतजी से प्रश्न कर रहे हैं—"सूतजी! महाराज परीक्षित् जी तो बड़े धर्मात्मा थे, दूरदर्शी थे, सभी प्रकार के गुण दोषों का विवेचन करने में समर्थ थे, फिर उन्होंने कलियुग को अपने राज्य में स्थान क्यों दिया? उस दुष्ट को उसी समय मार क्यों नहीं दिया? उसमें उन्होंने ऐसा कौनसा गुण देखा, जिस पर रीझकर इसे पाँच-पाँच स्थान दिये? सुवर्ण में कलि का वास होने से तो वह सर्व व्यापी बन गया। संसारी सभी कर्म धन से ही चलते हैं। धन से लोभ बढ़ता है, लोभ ही पाप का मूल है, पाप में ही कलियुग का वास है, यह तो अपने हाथों ही अपने पैर में कुल्हारी मारने के समान हुआ। इसका कारण हमें बताइये।"

शौनकजी के ऐसा प्रश्न करने पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो! आपका कथन सत्य है, कि कलियुग दोषों की खानि है, बड़ा बलवान है, फिर भी जो शूर वीर पराक्रमी पुरुष होते हैं, वे दूसरों के बल को तुच्छ समझते हैं। उन्हें इतना आत्माभिमान होता है, अपने बल पुरुषार्थ का इतना भरोसा होता है, कि उसके सामने वे दूसरों के बल को तुच्छ समझते हैं। वे सोचते हैं—ये क्षुद्र बल वाले

पुरुष हमारा बिगाड़ ही क्या सकते हैं? भय तो निर्बलों को हुआ करता है। बली पुरुष डरते नहीं। महाराज परीक्षित् कलियुग से क्यों डरने लगे? उन्हें तो अपने धर्म और सत्य का बल था, अतः उन्होंने कलियुग के दोषों की ओर ध्यान न देकर उसके गुणों को ही ग्रहण किया।"

इसपर शौनकजी ने फिर पूछा—"सूतजी! हम वही तो सुनना चाहते हैं, कलियुग में महाराज ने ऐसा कौन सा गुण देखा?"

सूतजी बोले—"मुनियो! जैसे काँटेदार वृक्षों के फूलों से भी भ्रमर सुन्दर सुस्वादु रस ही ग्रहण करता है, उसके काँटो से उसे कोई प्रयोजन नहीं, उसी प्रकार सारग्राही महाराज परीक्षित् ने कलियुग से द्वेष नहीं किया। क्योंकि कलियुग में एक बड़ा भारी गुण यह है, कि इसमें शुभ कर्म तो मन से भी यदि किये जायँ, तो उनका फल हो जायगा और पाप कर्मों का फल तभी होगा, जब वे शरीर से किये जायँगे। अन्य युगों में ऐसा होता था, कि मन में भी कोई पाप करता था, तो उसका फल सबको भोगना पड़ता था। सत्ययुग में कोई एक पुरुष पाप करता था, पूरे राष्ट्र को उसका फल भोगना पड़ता था। त्रेता में ऐसा हुआ कि एक व्यक्ति के पाप पुण्य के भागी नगर वासी होते थे, द्वापर में कुल परिवार और सम्बन्धी पाप के भागी होते थे। अब कलियुग में जो पाप पुण्य करे, वही उसका फल भोगे। पाप कर्म यदि भूल से मन में स्वतः ही आ जायँ, तो उनका कुछ भी फल नहीं होता, किन्तु पुण्य कर्म मन में भी आजायँ, तो वे शुभ फल देने वाले होते हैं। बस, महाराज कलियुग के इसी गुण पर रीझ गये। यद्यपि कलियुग दोषों की खानि है,

किन्तु उसमें एक यह भी बड़ा भारी गुण है, कि बिना किसी अन्य साधनों की अपेक्षा किये, जो भगवान् के नामों का कीर्तन करता है वह भगवद् धाम को प्राप्त हो जाता है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पापी पुरुषों के मन में शुभ कर्मों के संकल्प आ ही कैसे सकते हैं? प्याज खाने वाले को तो डकार भी प्याज की ही आवेगी। मूली खाने वाले के उद्गार में मूली की ही गंध आती है। अतः निरन्तर पाप कर्मों में ही प्रवृत्त रहने वाले कलियुगी जीव शुभ संकल्प किस प्रकार कर सकते हैं?"

सूतजी इस बातको सुनकर हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"महाराज! सब लोग अपनी मान्यता के ही अनुसार कार्य करते हैं। चोर सबको चोर ही समझता है। व्याभिचारी पुरुषों को सच्चरित्र पुरुषों की विशुद्ध बातों में भी काम की गंध आती है। धर्मात्मा सभी को अपने समान शुद्ध समझ कर व्यवहार करता है। बली पुरुष जैसे स्वयं निर्बलों से नहीं डरता, दूसरों से भी वह इसी बात की आशा रखता है, कि मेरी ही भाँति सभी निर्भय बनें। महाराज परीक्षित् बुद्धिमान् और बलवान् थे। उन्होंने सोचा—यह कलियुग असावधान मूर्ख पुरुषों को ही डरानेवाला है। जो पुरुष धर्मात्मा हैं, प्रबल पराक्रमी हैं, उनसे तो यह पापी स्वयं ही डरता है। भले पुरुषों का यह बिगाड़ ही क्या सकता है? जैसे भेड़िया डरपोक छोटे-छोटे बालकों पर ही प्रहार करता है, हाथ में डंडा लिये निर्भीक पुरुषों को देखकर ही भाग जाता है; उसी प्रकार जो सदा सावधान रहते हैं, धर्म कार्यों में लगे रहते हैं, पाप से सदा बचते रहते हैं, उनका कलियुग कुछ भी अनिष्ट नहीं कर

सकता। महाराज तो अपनी ही भाँति सबको समझते थे। इसीलिये उस दुष्ट को जान बूझकर अपने राज्य में बसाया।

"कलियुग आ तो पहिले ही गया था, किन्तु भगवान् के भय से एक ओर चुपचाप छिपा हुआ बैठा रहा। जिस दिन भगवान् स्वधाम पधारे, उस दिन से ही उसने अपने पैर फैलाने शुरू किये। महाराज परीक्षित् के राज्य शासन में वह सर्वत्र फैल गया था। पृथ्वी भर में उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। फिर भी महाराज परीक्षित् इतने धर्मात्मा थे कि उनके रहते हुए कलिकाल अपना कुछ प्रबल प्रभाव नहीं जमा सका। जब महाराज विप्र-शाप से तक्षक द्वारा डसे जाकर भगवद् धाम को पधार गये, तभी से कलियुग खुलकर खेलने लगा।

"मुनियो! देखिये, कैसे आश्चर्य की बात है; गर्भ में जो द्रोण पुत्र अश्वत्थामा द्वारा छोड़े हुए ब्रह्मास्त्र से नहीं मरे, अद्भुत कर्मा भगवान् वासुदेव ने अपने चक्र द्वारा गर्भ में घुसकर जिनकी रक्षा की, वे महाराज भी एक साधारण तक्षक द्वारा निधन को प्राप्त हुए। यद्यपि उन्हें महाविषधर नागों के राजा तक्षक ने काटा, सात दिन पहले ही उन्हें यह समाचार मिल गया था, कि अमुक दिन तुम्हें सर्प अवश्य काटेगा, फिर भी भगवान् में चित्त लगे रहने के कारण वे विप्रशाप से तथा तक्षक के विष के भय से भी विकल नहीं हुए। उन्होंने गंगा तट पर परमहंस शिरोमणि शुक का शिष्यत्व स्वीकार करके और उनके द्वारा भगवत् स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके अपना यह पाञ्चभौतिक शरीर वहीं सब मुनियों के सम्मुख हँसते-हँसते त्याग दिया। जिस दिन उन्होंने शाप की बात सुनी, उसी दिन राज्य पाट, सेना कोष सब का परित्याग

करके सर्व संग विनिर्मुक्त हो गये। ऋषियो! इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। भगवत् भक्ति का ऐसा ही प्रभाव होता है। जो निरन्तर भगवान् वासुदेव की ही वार्ताओं का श्रवण करते हैं, कानों द्वारा उन्हीं की कमनीय कथाओं का श्रवण करते हैं, मन के द्वारा उन्हीं के चरण कमलों का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, उनको अन्तकाल में भी मृत्यु की अनन्त वेदना होने पर भी कष्ट नहीं होता। वे हँसते-हँसते जैसे सर्प अपनी केंचुली का त्याग कर देता है, वैसे ही नश्वर शरीर को त्याग देते हैं।

"मुनियो! आपने मुझसे महाराज परीक्षित् का जो चरित्र पूछा था, वह मैंने यथावत् आपको सुना दिया। उनके पूर्वजों का संक्षेप में परिचय कराकर उनके जन्म से लेकर निधन तक की कथा मैंने आपको सुनाई, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? अब कौन सी कथा मैं आपके सम्मुख कहूँ? क्योंकि श्रवण करने योग्य तो वे ही कथायें हैं, जिनमें श्रीकृष्ण के गुण और कर्मों का सम्बन्ध हो। साधारण लोगों की कथायें तो विषय वार्ताओं से भरी हुई होती हैं। भगवत् भक्तों की कथाओं में भगवान् की महिमा का ही वर्णन रहता है। अतः उन्नति चाहने वाले पुरुषों को भक्त और भगवान् की कथाओं को छोड़ कर अन्य कथायें भूलकर भी न सुननी चाहिये।"

सूतजी की ऐसी बात सुनकर सभी मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए। भक्त और भगवान् की कथा तथा उनकी महिमा का श्रवण करके उनके रोम-रोम खिल उठे, कंठ गद्गद हो गया, नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे। वे सूतजी की प्रशंसा करते हुए सभी एक स्वर से कहने लगे—"सूतजी! हे महाभाग!

हे सौम्य ! आप चिरञ्जीवी हों, हजारों वर्ष की आयु हो ! अहा, आपके समान उपकारी संसार में कौन होगा ? सभी मरणशील पुरुषों को अमर बना देने वाली कथा आप हमें सुना रहे हैं। मरणासन्न पुरुषों के मुख में कृपा करके स्वतः ही अमृत उड़ेल रहे हैं। उन अनन्तकीर्ति भगवान् वासुदेव की निर्मल कीर्ति वाली कथा सुनकर हमारी तृप्ति नहीं हो रही है। आप हमें ऐसा श्रेष्ठ बल प्रदान कर रहे हैं, जो किसी भी लौकिक वैदिक कर्मों से प्राप्त नहीं हो सकता।"

हाथ जोड़े हुए, सिर झुका कर दीनता के साथ सूतजी ने कहा—"मुनियो ! आपका आशीर्वाद मेरे लिए परम कल्याण-कारक है। आप सब तो उत्तर फल देने वाला, अत्यन्त विधि विधान के साथ महायज्ञ कर रहे हैं। आपको मैं क्या उत्तम फल प्रदान करता हूँ, जो भी कुछ टूटी-फूटी सेवा मुझसे हो रही है, कर रहा हूँ।"

इसपर शौनकजी बोले—"सूतजी, यह तो सत्य ही है, हम सब दीर्घ सत्र में प्रवृत्त हैं। किन्तु इसके फल में हमें सदा संदेह ही बना रहता है। जहाँ तनिक सी विधि विपरीत हुई, वहीं सब गुड़ गोबर बन जाता है, सब किया कराया व्यर्थ हो जाता है। इस विधि प्रधान यज्ञमें पग-पग पर संदेह है। शास्त्रकारों का कथन है—विधिहीन यज्ञ का कर्ता तत्काल ही विनाश को प्राप्त होता है। इसलिए इस महायज्ञ में यदि कोई निश्चित महाफल हमें मिल रहा है, तो वह यही है, कि आपके मुख से भगवान् श्यामसुन्दर की कथा सुनने को मिल रही है। आप कथा क्या सुना रहे हैं, यज्ञ धूम से धूम्रवर्ण हुए हम लोगों के कानों को, पान पात्र बनाकर, उसमें आनन्दकन्द

श्रीकृष्णचन्द्र के विश्ववन्दित चरणारविन्दों का, मधुर मधु उड़ेल कर, हमें निरन्तर तृप्त बना रहे हैं।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! आप सबतो वयो-वृद्ध, ज्ञान-वृद्ध, विद्या-वृद्ध और तपस्या-वृद्ध हैं, मेरे पूजनीय पिता के भी आदरणीय और वन्दनीय हैं। मैं तो अभी अल्प-काल से ही आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। सो मैं भी कथा सुना कर आप सबकी तृप्ति नहीं कर सकता। आप सब इतनी कथा सुनकर भी सदा अतृप्त से ही बने रहते हैं, सदा श्रवण करने को ही उत्सुक रहते हैं। मेरे कहने में ही कोई दोष होगा, जो आपको भली भाँति सन्तोष नहीं होता।"

इस पर ऋषियों ने सूतजी से कहा"—नहीं, सूतजी! ऐसी बात नहीं है। अल्पकाल से क्या होता है? जो भगवान् के भक्त हैं, जिनकी श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में अहैतुकी भक्ति है, उनका यदि एक क्षण भी सङ्ग मिल जाय, तो उस क्षण भर के सत्सङ्ग सुख की बराबरी हम स्वर्ग तथा मोक्ष सुख के साथ भी नहीं कर सकते। फिर इस मर्त्यलोक के क्षण-भंगुर अनित्य, नाशवान् सुखों की तो बात ही क्या है? सूतजी! भक्तों के सत्सङ्ग में कितना सुख होता है, उनकी वाणी में कितनी मिठास होती है, यह कहने की बात नहीं, अनुभव करने की बात है। जहाँ कई भक्त मिलकर भगवत् चर्चा करते हैं, वहाँ सत्सङ्ग रूपी सुरसरि का सुन्दर, स्वच्छ, सुखकर, सर्व हितकारी प्रवाह बहने लग जाता है, जिसमें निमज्जन करने से संसार-ताप से संतप्त प्राणी निस्ताप बन जाते हैं।

"रही तृप्ति की बात, सो, सूतजी! जिसे भगवत् कथा का तनिक भी रस प्राप्त हो चुका है, जिसकी जिह्वा से उस मधु-

राति मधुर रस की एक विन्दु भूलकर भी छू गया है, फिर भला वह कभी कृष्णकथा को छोड़ सकता है? उसकी कभी तृप्ति हो सकती है? शेषजी अपने सहस्र फणों से भगवत् कथाओं का निरन्तर वर्णन करते रहते हैं। अनेक कल्प जीवी चिरञ्जीवी ऋषि, मुनि तथा सिद्ध सृष्टि के आदि से अन्त तक निरन्तर सुनते रहते हैं, उनकी भी तृप्ति नहीं होती। इस रस के निरन्तर पान करते रहने पर भी उनकी तृष्णा अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। अन्य लोगों की बात जाने दीजिये। जो ब्रह्माजी तथा सदाशिव—जिन भगवान् के अभिन्न स्वरूप समझे जाते हैं, वे भी उन निर्गुण निराकार श्रीहरि के गुणों का पार नहीं पा सकते। वे भी अपने को भगवान् के सम्पूर्ण गुण वर्णन करने में असमर्थ पाते हैं।"

"सूतजी! आप पर भगवान् की कृपा है, आपको भगवान् के चरित्रों में आनन्द आता है, आपकी वाणी में रस है, आप भगवत् कथा कहते-कहते स्वयं भी गद्गद् हो जाते हैं, आपके सम्पूर्ण शरीर में सभी सात्विक विकारों का उदय हो जाता है, आप वर्णन करते-करते तन्मय हो जाते हैं। इसलिये देखिये, न तो आपको कोई संसारी कार्य है और न हमें ही। संसारी लोग हम साधुओं को बेकार निठल्ले समझते हैं, समझें। हमने किसी की समझ का ठेका नहीं लिया है। जिसकी जैसी समझ है, वह अपनी समझ के अनुसार ही समझेगा और सच्ची बात यह है, कि हम संसार की ओर से निठल्ले ही हैं। हमारा तो एक मात्र कार्य कृष्ण कथा श्रवण करना और कृष्ण नाम का सबके साथ मिलकर कीर्तन करना, यही रह गया है। आप सुनाने को उत्सुक हैं, हम सुनने को लालायित हैं। आप कहते-कहते नहीं थकते, हमारा सुनते-सुनते पेट नहीं भरता।

संसार में तो चारों ओर कलियुग छा गया है। इन कलियुगी जीवों को तो तड़कीले भड़कीले, संसारी समाचार सुनने का ही व्यसन पड़ गया है। उन्हें ये भगवत् कथायें अच्छी नहीं लगतीं। उन्हें इनके श्रवण करने में आनन्द नहीं आता। इसलिये आप घूम-घूम कर प्रचार करने की वासना को तो दीजिये छोड़। आइये, आप हमें विस्तार के साथ भगवान् श्यामसुन्दर के अति मनभावने, हृदय को सरल और सरस बनाने वाले चरित सुनाइये, लीलाधारी की लीलाओं का कथन कीजिये। इस प्रकार हम मिल जुलकर कृष्ण कथा करते हुए काल क्षेप करें। समय की सार्थकता भगवत् चर्चा में ही है।

"आपने महाराज परीक्षित् के उत्तर चरित का अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन किया। आप ही पहिले कह चुके थे, कि कथा कहने की प्राचीन प्रणाली ऐसी ही होती है, कि किसी बात को पहिले संक्षेप में कहते हैं, फिर उसका विस्तार के साथ वर्णन करते हैं। अतः हम महाराज परीक्षित् के निधन के समाचार को सुनने को उत्सुक हैं। महाराज परीक्षित् को ब्राह्मण का शाप क्यों हुआ? वे राज्य-पाट छोड़कर गङ्गा किनारे कैसे चले गये? इतने ऋषि मुनि वहाँ तुरन्त कैसे आ गये? परमहंस शिरोमणि, विरक्त, अवधूत, व्यासनन्दन भगवान् शुक वहाँ कहाँ से आ गये? महाराज परीक्षित् ने उनसे क्या-क्या प्रश्न किये? श्री शुकजी ने उनका क्या उत्तर दिया? महाराज परीक्षित् बड़े धर्मात्मा साधु सेवी और गुणी थे, वे जहाँ श्रोता और प्रश्न करता हों और उसी प्रकार ज्ञान, भक्ति, त्याग, वैराग्य के साक्षात् साकार स्वरूप महामुनि शुकदेव जहाँ वक्ता और संशय छेत्ता हों, उन दोनों का जो सम्वाद हुआ होगा, वह तो अत्यन्त ही अद्भुत होगा। उसमें तो सर्वत्र भगवान् और

भागवतों की ही महिमा का वर्णन हुआ होगा। कृपा करके इन सब बातों को आप विस्तार के साथ हमें सुनायें। समय का संकोच न करें, समय अनन्त है। विस्तार भय से किसी विषय का अधूरा वर्णन न करें, क्योंकि अधूरी बात समझ में आती नहीं। इस प्रकार सरलता के साथ समझाइये, कि किसी भी श्रेणी के लोग समझ सकें। शास्त्रीय दाँव पेंच को छोड़कर जैसे भगवत् चरित्र हैं, उसी सरलता के साथ समझावें। महाभागवत् महाबुद्धिमान, महामहिम, महामना महाराज परीक्षित् जिस ज्ञान के श्रवण करने से गरुड़ध्वज भगवान् वासुदेव के चरण कमलों में सदा के लिए लीन हो गये, उस ज्ञान को आप हम सबके सम्मुख कहिये तथा महाराज परीक्षित् का अद्भुत चरित्र भी हमारे सम्मुख वर्णन करें।"

इतना कहकर सभी ऋषि सूतजी की ओर उत्सुकता के साथ एकटक भाव से निहारने लगे।

छप्पय

शौनकादि मुनि कृष्ण कथा सुनि अति हर्षाये।
आशिष दीन्ही दौरि हृदय तें सूत लगाये॥
अश्रु विमोचन करें सूत सें पूछें पुनि पुनि।
तृप्त न होवें मधुर सुखद हरिलीला सुनि सुनि॥
सब ऋषि बोले—सूतजी, पुनि हरि के गुन गाइये।
नृपति परीक्षित् चरित शुभ, शुक सम्वाद सुनाइये॥

—:०:—

परीक्षित् शमीक मुनि के आश्रम में

(७६)

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयांवने ।
मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥
जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम् ।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १८ अ० २४, २५ श्लो०)

छप्पय

गद्गद् ह्वै के सूत ऋषिनि ते बोले बानी ।
कृष्ण कृपा को पात्र बन्यो अब मैंने जानी ॥
कृष्ण चरित हैं अमित सभी मति सरिस सुनावैं ।
निज बल के अनुसार पक्षि नभ माँहि उडावैं ॥
कीर्तनीय गुण कर्म अति, जिनके परम उदार हैं ।
धनि धनि ते नर तिनहिं जे, सुनहिं गुनहिं धुनि तें कहैं ॥

जो जिस गुण का ज्ञाता नहीं, यदि वह उसी गुण के गुणी की प्रशंसा करता है, तो बुद्धिमान् पुरुष उससे उतने प्रसन्न नहीं होते । यही नहीं—वे उसे परिहास समझते हैं, किन्तु उस गुण

---

१ एक दिन महाराज परीक्षित् हाथ में धनुष-बाण लिए हुए मृगया के निमित्त वन में गये । मृगों का पीछा करते-करते वे बहुत

का मर्मज्ञ यदि प्रशंसा करता है, तो गुणी अपने गुण की सफलता समझते हैं। उनका रोम-रोम प्रसन्नता से खिल जाता है। वे अपने परिश्रम को सार्थक समझते हैं और प्रशंसा से अत्यन्त उत्साहित होकर अपनी कला को और भी उत्तमता से प्रदर्शित करते हैं।

जब ऋषियों ने सूतजी की भगवत् भक्ति की, उनकी कथा कहने की शैली की भूरि-भूरि प्रशंसा की, तो सूतजी का हृदय स्नेह से भर आया। उनका कंठ गद्गद् हो गया, नेत्रों से प्रेम के अश्रु निकलने लगे। वे अपने प्रेम के वेग को रोककर बड़ी कठिनता से गद्गद् स्वर में कहने लगे। उनके शब्द स्पष्ट नहीं निकल रहे थे। वे आँसू पोंछकर बोले—"ऋषियो! आज मैं धन्य हो गया। देखिये, नीच कुल में उत्पन्न होने वाला पुरुष जब सज्जनों की सभा में बैठता है, तो उसे अपनी कुलागत नीचता की एक मानसिक व्यथा होती है। किन्तु नीच पुरुष भी जब ज्ञान वृद्ध भगवद् भक्तों का अनुवर्तन करने लगता है, उनका सत्सङ्ग करता है, तो उसकी मानसिक व्यथा दूर हो जाती है। महात्माओं का सत्सङ्ग, उनकी श्रद्धा से की हुई सेवा, भगवद् भक्ति यह सभी प्रकार की नीचता का नाश करने में समर्थ है। मेरा जन्म विलोम जाति में हुआ है। ब्राह्मणी माता में क्षत्रिय वीर्य से सूत जाति की उत्पत्ति हुई है। हमें द्विजातियों के सम्मुख उच्चासन पर बैठने का नियमानुसार अधिकार

थक गये थे और भूख-प्यास से भी बहुत अधिक व्याकुल हो गये थे। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने पर भी उन्हें कोई जलाशय दिखाई नहीं दिया। अन्त में वे समीप ही एक ऋषि के आश्रम में घुस गये। भीतर जाकर उन्होंने देखा कि एक मुनि शान्त भाव से नेत्र बन्द किये हुए बैठे हैं।

नहीं है, किन्तु आप सब जो मेरा इतना आदर सत्कार कर रहे हैं, आचार्य और गुरु की भाँति मानकर पूज रहे हैं, इसका कारण मैं नहीं, भगवान् के चरित हैं। गुरुदेव भगवान् श्रीशुकदेवजी की कृपा का यह प्रत्यक्ष प्रसाद है, जो मैं आज आप इतने ज्ञान-वृद्ध कुलीन मुनियों को कथा सुनाकर कृतार्थ हो गया। भक्तों के संसर्ग से श्वपच भी पूज्य बन जाता है, फिर जो साक्षात् श्रीहरि के सुमधुर नामों का कीर्तन करता है उन्हें उच्च स्वर से गाता है, उनके लिये तो कहना ही क्या? जितने अनन्त गुण भगवान् में हैं उतने ही उनके त्रैलोक्य पावन नामों में हैं। भगवान् के नामों का कोई प्रत्यक्ष वर्णन नहीं कर सकता। उनका कुछ अनुमान किमुतक न्याय से किया जाता है। किमुतक न्याय उसे कहते है जो छोटे की महत्ता या लघुता का वर्णन करके उस महत्ता या लघुता के साथ बड़े की महत्ता या लघुता को बड़ी बताते हैं। जैसे जिसकी फूँक से सुमेरु उड़ जाता है, उससे तृण का उड़ जाना कौन सी बात है। अगस्त्यजी समुद्र को एक चुल्लू में पी गये उनके लिये एक पंचपात्र का जल क्या है। यहाँ अगस्त्यजी की महत्ता बतानी है। समुद्र महान् है उसे पी जाना ही बड़े आश्चर्य का काम है, उनके सम्मुख समुद्र से छोटे जितने जलाशय हैं, वे सब तुच्छातितुच्छ हैं। अर्थात उनकी शक्ति समुद्र से भी बहुत अधिक बड़ी है। इसी प्रकार जब भगवान् की महत्ता का वर्णन किया जाता है, तो जो सबसे महान् लक्ष्मीजी समझी जाती हैं, पहिले उनकी महत्ता बताते हैं।

जिन लक्ष्मीजी की ब्रह्मादिक देवता सदा उपासना करते रहते हैं, कि वे एक बार हमारी ओर कृपा कटाक्ष से देख

भर लें। वे इतनी महान् से महान् प्रभाव वाली लक्ष्मी जिन के पादपद्मों की निरन्तर सेवा करती रहती हैं। वे उन्हें चाहते भी नहीं, तो भी वे श्रीहरि के चरणारविन्दों का त्याग कर एक क्षण भी नहीं जातीं उनकी महत्ता की तुलना किससे की जाय? उनके सम्पूर्ण भाव को वर्णन करने की सामर्थ्य किसमें है?

श्रीहरि के सम्पूर्ण अंगों की तो कथा ही अलग है, उनके पादपद्म में लगी मकरन्द का ही इतना प्रभाव है, कि उससे संसर्ग हुआ जल ही समस्त लोकों को पावन बनाने की सामर्थ्य रखता है। जग को पावन बनाने वाली त्रिपथगामिनी भगवती भागीरथी क्या कम हैं? त्रिविक्रमावतार में बलि को छलने के समय जब श्रीभगवान् ने वामन से विराट् रूप धारण किया, तब उनका श्रीचरण सातों ऊपर के लोकों को अतिक्रमण करके ब्रह्मलोक में पहुँचा। वहाँ उस चरण के चमकीले अंगुष्ठ नख को ब्रह्माजी ने अपने कमण्डलु जल से धोया। बस, उसी से जगद्वन्द्य सुरसरि की निर्मलधारा निकल पड़ी। ऊपर के सभी लोकों को पावन बनाती हुई जब उसने पृथ्वी पर पदार्पण किया, तो उसे परम पावन पय समझकर पशुपति भगवान् भोलानाथ शिव ने श्रद्धा सहित अपने सिर पर धारण किया। जिनके एक पद के अंगुष्ठ के धोवन का इतना प्रभाव है, उन्हें छोड़कर परमेश्वर पद वाची भगवान् दूसरा और कौन कहला सकता है?

देखिये, राजर्षियों के और भगवत् भक्तों के घरों में किस वस्तु की कमी होती है? आठों सिद्धियाँ नवों निद्धियाँ हाथ जोड़े उनके समीप खड़ी रहती हैं, किन्तु जिनमें अनुरक्त होकर

वे धीर वीर पुरुष धन, रत्न, स्त्री, पुत्र राज्य पाट यहाँ तक कि अपने शरीर के समस्त सुखों को त्यागकर, त्यागी विरागी बन जाते हैं। परमहंस वृत्ति धारण करके घर-घर से टुकड़े माँगते फिरते हैं, सब प्रकार की हिंसा से रहित होकर वाणी का निरोध करके मननशील मुनि बन जाते हैं, तो फिर उनके गुणों की, सौन्दर्य की, महत्ता और प्रभाव की तुलना किससे की जा सकती है ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप तो ऐसी-ऐसी उपमायें देकर भगवान् को अवाच्य सिद्ध कर रहे हैं। तब तो भगवान् के सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं कहा जा सकता।"

सूतजी शीघ्रता के साथ बोले—"नहीं, मुनिवर। मेरा यह अभिप्राय नहीं। हाँ, वास्तव में तो भगवान् के गुण अवाच्य ही हैं, उनको अकथनीय ही कहा गया है, फिर भी बिना कहे रहा भी नहीं जाता। क्योंकि कथन करने योग्य एक केशव की ही कमनीय कीर्ति है। गुणगान करने योग्य गोविन्द के ही गीत हैं। श्रवण करने योग्य पुण्यश्लोक नन्दनन्दन के ही अनुपम चरित्र हैं। सभी ने उनका वर्णन किया है। पारपाने के अभिप्राय से नहीं, अन्त कर डालने की इच्छा से नहीं, अपनी वाणी को पवित्र करने के लिये अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये ही सभी ने उनका कथन किया है। आकाश अनन्त है, उसका पार पाना असम्भव है, किन्तु उसमें भी पक्षी उड़ते हैं। पार पाने के लिये नहीं, अपनी वृत्ति चलाने के निमित्त, अपनी सामर्थ्य के अनुसार उड़ान भरते हैं। मैं भी अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी बुद्धि के अनुसार, अपनी वाणी को पवित्र बनाने के लिये, भगवान् और भक्तों के चरित्र का कथन करूँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

"हाँ, तो आपने मुझसे महाराज परीक्षित् के उत्तर चरित का प्रश्न किया है। उसी कथा को फिर से आरम्भ करता हूँ। महाराज जब दिग्विजय करके अपनी राजधानी हस्तिनापुर में लौटे, तब प्रजा ने बड़े प्रेम और उल्लास के साथ उनका स्वागत किया। समस्त नगरी उसी प्रकार सजाई गई, जैसे विवाह के समय नव वधू सजाई जाती है, अथवा ससुराल जाते समय जैसे दूल्हा बन ठन के जाता है। उत्सव और पर्व के समय जैसे मातायें अपने बच्चों को भाँति-भाँति के वस्त्राभूषणों से अलंकृत करती हैं उसी प्रकार समस्त प्रजा के लोगों ने महाराज के स्वागत में अपने-अपने घर, बिना राजाज्ञा पाये ही सजाये। उसी सजी सजाई नगरी में महाराज ने उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार वसन्त में भाँति-भाँति के फूलों से फूले वन में सिंह प्रवेश करता है। जैसे इन्द्र अपनी अमरावती नगरी में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार महाराज परीक्षित् ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। चिरकाल में अपने स्वामी के दर्शन करके समस्त प्रजा उसी प्रकार प्रसन्न हुई, जिस प्रकार अत्यन्त उत्कंठिता प्रोषितभर्तृका चिरकाल में परदेश से लौटे अपने पति को पाकर प्रसन्न होती है। नगर में प्रवेश करके राजा ने अपनी समस्त प्रजा को उसी प्रकार समान भाव से यथायोग्य सत्कार करके सन्तुष्ट किया, जिस प्रकार परदेश से आया पिता अपने बहुत से पुत्र पौत्रों को उनके अवस्थानुसार प्यार दुलार करके सन्तुष्ट करता है।

इस प्रकार महाराज परीक्षित् अपने राज्य में आकर सुख के साथ धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। उनका न कोई शत्रु था, न प्रतिपक्षी। उनकी मति सदा धर्म-कार्य में

लगी रहती, पाप का वे कभी मन से भी चिन्तन न करते। महाराज की पत्नी बड़ी ही पतिपरायणा थी। वे सदा स्वयं अपने पति की सेवा में लगी रहतीं, उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करतीं। महाराज के जन्मेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन ये चार पुत्र थे। चारों स्वरूपवान् सुशील धर्मात्मा और पितृभक्त थे। महाराज के मंत्री, अमात्य, सेनापति, कोषाध्यक्ष और भी भृत्य नौकर, चाकर भी उनके आज्ञानुवर्ती थे। इस प्रकार महाराज को संसारी सभी सुख प्राप्त थे।

महाराज की प्रिय पत्नी इरावती देवी, जब बच्ची ही थीं, और अपने पिता के घर में ही रहती थीं, तभी उनके यहाँ एक ज्योतिषी आया था। राजकुमारी इरावती का यद्यपि विवाह नहीं हुआ था, फिर भी वह सयानी थी, ऊँच नीच सब समझती थी, उसकी माता ने अपनी बच्ची का हाथ ज्योतिषीजी को दिखाया। मुनियों! माताओं की अपनी पुत्रियों के प्रति एक ही सब से उत्कट आकांक्षा रहती है, कि मेरी बच्ची को अच्छे से अच्छा घर वर मिले जिससे वह सुखी रह सके। आर्यसंस्कृति का कैसा शील संयुक्त सदाचार है। जिन पति पत्नी को साथ रह कर सम्पूर्ण आयु बितानी पड़ती है, उसके सम्बन्ध में वे स्वयं कुछ करते नहीं। माता पिता अपने लड़की-लड़कों के सुन्दर सम्बन्ध के लिये कितने चिन्तित और व्यग्र बने रहते हैं। चढ़ती अवस्था में, यौवन के आवेग में, लड़के लड़कियों को इतना विवेक नहीं रहता, कि वे स्वयं संसार रथ को निरन्तर खींचने के लिये, अपने साथ जूए में जुतने को एक अपने ही समान सुन्दर साथी खोज लें। इसकी चिन्ता

माता पिताओं को ही अधिक रहती है। लड़की-लड़के वैसे हृदय से तो चाहते हैं, किन्तु उनके सामने विवाह की बात कह दो तो वे तुनक जाते हैं, झूठा रोष प्रकट करते हैं। सभी समझदार समझ लेते हैं, कि यह रोष बनावटी है। इस रोष के भीतर एक गूढ़ रहस्य छिपा है। 'मन-मन भावे, मूँड़ हिलावे' वाली बात है। हाँ, तो महारानी इरावती की माता ने ज्योतिषी को हाथ दिखाते हुए सर्व प्रथम यही प्रश्न किया, 'महाराज! यह देखिये, इसके भाग्य में कैसा पति है? इसे कोई सुन्दर राजकुमार पति मिलेगा कि नहीं? यह राजरानी बन सकेगी या नहीं?' लड़की इन प्रश्नों को सुनकर लज्जित हुई, माता ने इसे कसकर गोद में दबा लिया। ज्योतिषीजी देखने लगे। हाथ देखते-देखते ज्योतिषीजी बोले—'महारानी जी! यह इसके हाथ में चक्रवर्ती सम्राट् की पत्नी होने की रेखा पड़ी है। यह राजर्षि की पत्नी होगी और स्वयं ऐसे चार राजर्षि पुत्र उत्पन्न करेगी, जो संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध होंगे और बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञ के करने वाले होंगे। यह सबकी स्वामिनी बनेगी। सभी इसके सम्मुख सिर झुकावेंगे, किन्तु एक ऐसी अशुभ रेखा पड़ी है, कि उसका फल मैं कहना नहीं चाहता।'

महारानी के हृदय में बड़ी शंका हो गई। यों कोई अनिष्ट वाली बात होगी और उसकी सूचना ज्योतिषी न देते तब तो कोई बात ही नहीं थी। अधूरी बात सुनकर उसे भली भाँति जानने को सभी की उत्कट इच्छा होती है। यह स्वाभाविक बात है, कि छिपी वस्तु को जानने की लालसा अत्यधिक होती है।

रानी ने आग्रह के स्वर में कहा—'नहीं महाराज! आप

कोई चिन्ता न करें, मुझे अनिष्ट की रेखा का फल अवश्य बतावें जिससे अभी से उसके निवारण का उपाय किया जाय।"

जब रानी ने बार-बार आग्रह किया और अनिष्ट रेखा के फल को सुनने की अत्यधिक उत्कंठा प्रकट की, तब तो विवश होकर दैवज्ञ ज्योतिषी को सब बात कहनी ही पड़ी। ज्योतिषी ने कहा—'महारानीजी, जब ये राजरानी हो जायँगी और चार पुत्र हो जायँगे, तब इनके पति एक दिन दक्षिण दिशा को मृगया के लिये जायेंगे। आखेट में वे बहुत से जङ्गली जीवों को मारेंगे। उसी समय एक बलवान हिरन का पीछा करते-करते, एक ऋषि के आश्रम पर पहुँच जायँगे। वहाँ ऋषि का कुछ अनिष्ट करने से उनके शाप से ही इनके पति की मृत्यु होगी।"

इस समाचार को सुनकर रानी को बड़ा दुःख हुआ। कुमारी इरावती का भी मुख सूख गया। अपनी विकलता छिपाने को वह माँ की गोद में से उठकर चली गई। ज्योतिषी भी उदास होकर बिना दान-दक्षिणा लिये लौट गया।

कालान्तर में कुमारी इरावती का महाराज परीक्षित् के साथ विवाह हुआ। इरावती इतनी अधिक सुन्दरी थी, कि महाराज ने आते ही अपना हृदय उन्हें अर्पण कर दिया। दोनों राजा रानी संसारी भोगों का भोग करते हुए हस्तिनापुर में इन्द्र और सची के समान सुखपूर्वक रहने लगे। रानी के मन में तो एक खटक लगी हुई थी। उसे ज्योतिषी की बात भुलाने पर भी नहीं भूलती थी।

एक दिन एकान्त में रानी ने अपना सम्पूर्ण स्नेह बटोर कर उसे महाराज के ऊपर उड़ेलते हुए कहा—"प्राणनाथ!

यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, कि आप मुझे हृदय से इतना प्यार करते हैं। आप मुझे ऐसे-ऐसे भोगों को देते हैं, जो स्वर्ग में देवाङ्गनाओं को भी दुर्लभ हैं। फिर भी मैं आप से एक वरदान माँगना चाहती हूँ। यदि आप उसे देने का वचन दें तो निवेदन करूँ।"

अपनी प्रिया के ऐसे स्नेह में सने हुए वचन सुनकर महाराज ने उनकी आँखों में अपनी प्रेम-दृष्टि को डालकर और उनका आलिंगन करते हुए कहा—"प्रिये! आज तुम कैसी बातें कर रही हो? आज तो तुम ऐसी बातें कर रही हो, कि मैं कोई और हूँ, तुम और हो। अपनों से ऐसे थोड़े ही कहा जाता है? अभिन्न हृदयों में शिष्टाचार को स्थान नहीं। मेरा सर्वस्व तुम्हारे सुख के लिये है, मुझसे वरदान क्या माँगना, प्रार्थना क्या करनी, मुझे आज्ञा दो। तुम समस्त प्रजा की ही रानी नहीं हो, मेरे हृदय की भी रानी हो। तुम्हारे हृदय में जो इच्छा उठी हो उसे पूरी ही समझो। बोलो, अपने सेवक के लिये क्या आज्ञा देती हो।'

रानी ने प्रेम-कोप के स्वर में कहा—"देखो, तुम मुझसे ऐसी बातें मत कहा करो। यह जो तुम सेवक, दास कह कर मुझे लज्जित किया करते हो, इससे मुझे बड़ा दुःख होता है। मुझे पता है, कि आप मुझे हृदय से कितना प्यार करते हैं? मुझे अपने सौभाग्य पर सबसे अधिक गर्व है। मैं अपने इस सौभाग्य-सुख को सदा अक्षुण्ण बनाये रखने को व्याकुल रहती हूँ। आप सदा सुखी बने रहें, इसी प्रकार युग-युगान्तर तक मुझे प्यार करते रहें, यही मेरी एक मात्र अभिलाषा है। तुम सदा इस वन-शैलपूर्ण सप्त द्वीप

वाली वसुन्धरा के शासन के साथ मेरे हृदय पर भी इसी प्रकार शासन करते रहो, यही मेरी सर्वोत्कृष्ट मनोरथ है। जिस कार्य के करने से आपके अनिष्ट की अणुमात्र भी आशंका हो, उसे मैं न तो स्वयं ही कभी स्वप्न में भी करना चाहती हूँ और न तुम्हें ही करने देना चाहती हूँ। मेरी प्रार्थना यही है, कि आप कभी भूलकर भी दक्षिण दिशा को न जायँ।'

महाराज हँसते हुए बोले—"क्यों, बात क्या है? बताओ क्यों न जाऊँ? मैं तो चारों दिशाओं का चक्रवर्ती राजा हूँ। मुझे सब दिशाओं में जाना पड़ता है।"

रानी ने अपना अधिकार जनाते हुए कहा—"देखो, मैं इसीलिये तो कहती नहीं थी, कि तुम मानोगे नहीं। बड़े हठी हो। अपने बाहुबल के सामने तुम किसी की भी सुनते नहीं।"

महाराज हँसते हुए अपनी बात पर बल देकर बोले—"कुछ कारण भी बताओ कि वैसे ही आज्ञा निकाल दी कि खबरदार, उधर मत जाना! यह तो सरकार की आज्ञा अवैध है।"

रानी ने चिढ़ते हुए कहा—"देखो, तुम हर बात में मेरी हँसी मत किया करो। मैं रोती नहीं, मेरा हृदय रो रहा है। मुझे आन्तरिक पीड़ा हो रही है।" इतना कहते-कहते रानी सिसकियाँ भरकर रोने लगी।

महाराज ने उन्हें खींचकर अपने अंक में रखकर उनके आँसू पोंछते हुए अत्यन्त स्नेह से कहा—"बस तुम रोना ही सीखी हो, जब देखो तब टपटप आँसू गिरा दिये। बात तो बताती नहीं, बच्चों की तरह रो रही हो। अच्छी बात है, दक्षिण दिशा की ओर न जाऊँगा। और बोलो, वहाँ क्या

करूँ, उस दिशा की ओर कभी सिर करके सोऊँगा भी नहीं। अब तो राजी हुईं।

रानी ने आँसू पोंछते हुए कहा—"महाराज, मेरा अभिप्राय यह नहीं है। बात यह है, कि जब मैं अपने पिता के घर में थी, तब एक ज्योतिषी ने मेरी हस्तरेखा और कुण्डली देखकर यह बात बताई थी, कि दक्षिण दिशा में जाने से आपका कुछ अनिष्ट सा होने की सम्भावना है।"

राजा हँस पड़े और बोले—"इन स्त्रियों का हृदय सदा शंका से ही भरा रहता है। किसी ने कुछ कह दिया, उसी को सत्य समझकर दुखी बनी रहती हैं। यह कैसे हो सकता है, मैं दक्षिण दिशा की ओर न जाऊँ। नित्य ही मुझे उधर जाना पड़ता है। मेरी सभा से तुम्हारा भवन उत्तर में ही है। तुम कहो कि मेरे महल से अब आप सभा में न जाया करें, क्योंकि वह दक्षिण में है—तो यह कैसे होगा ? फिर तो सदा मैं तुम्हारे ही पास बैठा रहूँ, राज-काज करूँ ही नहीं।"

रानी ने कोप के स्वर में कहा—"तुमसे कोई शास्त्रार्थ करके तो जीत नहीं सकता। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि आप दक्षिण दिशा की ओर जायँ ही नहीं। जायँ, राज-काज के लिये जायँ। उधर शिकार खेलने न जायँ।"

महाराज शीघ्रता से बोले—"यह भी कैसे हो सकता है ? उधर किसी सिंह व्याघ्र ने जनता को सताना आरम्भ कर दिया, तो उसे मारने मैं नहीं जाऊँगा ? उस समय तो मैं हजार काम छोड़कर जाऊँगा।"

रानी ने कहा—"मैं उस समय जाने को मना नहीं करती। उस समय उसे मारने को आप जायँ किन्तु उसे मारकर

तुरन्त लौट आवें। स्वेच्छा से उधर मृगया को भूलकर भी न जायँ। यदि जाना ही हो, तो उधर किसी ऋषि के आश्रम पर न जायँ। यदि पहुँच ही जायँ यो वहाँ बैठें नहीं।"

राजा बोले—"यह तुम अच्छी पट्टी मुझे पढ़ा रही हो ऋषि के आश्रम पर न जाऊँ, उनका आतिथ्य स्वीकार न करूँ राजा के लिये यह कैसे सम्भव हो सकता है ?"

रानी ने अत्यन्त कुपित स्वर में कहा—"तुम तो बाल की खाल निकलवाना चाहते हो। ऐसी ही तर्क की बातें कर करके लोगों से झूठ सच उगलवा लेते होगे राजसभा में। देखो, अब मैं तुमसे सच्ची बात कहती हूँ। वह ज्योतिषी साधारण नहीं था। उसने कहा था—दक्षिण दिशा में किसी ऋषि का अपराध करने से आपका अनिष्ट हो सकता है। अतः आप दक्षिण दिशा में भूलकर किसी ऋषि के आश्रम पर चले भी जायँ, तो कभी मन में भी उनका अपमान या अन्य किसी प्रकार का अपराध करने की बात न सोचें।"

राजा ने कहा—"मैं भंग नहीं पीता, और कोई नशा पत्ता नहीं करता। किसी ऋषि का अपमान क्यों करने लगा ? ब्राह्मणों से, ऋषि मुनियों से तो मैं सदा डरता रहता हूँ। तुम मेरी ओर से निश्चिन्त रहो। ऐसा अनुचित कार्य मेरे द्वारा कभी स्वप्न में भी नहीं हो सकता।" इस आश्वासन को पाकर रानी को प्रसन्नता हुई, किन्तु उनके मन में शंका बनी ही रही। जब भी अवसर देखती, महाराज से पूछ लिया करती—"आप दक्षिण दिशा की ओर तो मृगया के निमित्त नहीं गये ?" महाराज हँसकर कह देते—"मेरे दो सिर होते, तो महारानी की आज्ञा के उल्लंघन करने का साहस भी करता।

मैं ऐसा अपराध भला कैसे कर सकता हूँ।" रानी हँस जाती, कुपित हो जाती और कभी-कभी कह देती—"अच्छी बात है, नहीं मानते हो तो, ऐसे ही सही। मेरी आज्ञा ही है। तुमने यदि कभी भूल करके भी मेरी आज्ञा भङ्ग की, तो फिर……!"

महाराज कहते—"हाँ, हाँ, कहो, ठीक कह रही हो, रुकती क्यों हो, तो फिर क्या?"

रानी निरुत्तर सी होकर कहती—"तो फिर क्या? फिर मुझसे बुरा कोई न होगा।"

महाराज कहते—"तुम से बुरा मैं हूँ, जो तुम्हारी आज्ञा भङ्ग करने का विचार करूँ।" इस प्रकार दोनों में इसी एक विषय पर बार-बार वाद-विवाद होता। अपना जीवन सभी को प्यारा होता है, इस डर से और रानी की प्रसन्नता के लिए भी राजा कभी भूलकर भी दक्षिण दिशा में मृगया के निमित्त न जाते।

दिग्विजय करके जब राजा लौटे और कलियुग उनके मुकुट में घुस गया, तो एक दिन वे अपने मन्त्री सेवकों के साथ शिकार के लिये नगर के बाहर निकले। उस दिन प्रारब्ध के वश या मुकुट में बैठे कलियुग की प्रेरणा के वशीभूत होकर राजा के मन में आया—"मेरी रानी मुझे बार-बार दक्षिण दिशा में आखेट के लिये जाने से रोका करती है। आज इधर ही चलें। देखें इधर क्या होता है? उसने ऋषि मुनियों का अपराध करने के लिये भी मना किया था, सो वह मैं कभी करता ही नहीं। आज इधर ही चलें।" ऐसा सोचकर महाराज ने अपने साथी और सेवकों को दक्षिण

की ही ओर चलने की आज्ञा दी। उधर जाकर महाराज ने बहुत से सिंह, व्याघ्र, शूकर आदि हिंस्र जीवों को मारा। इतने में ही महाराज की दृष्टि एक बड़े भारी मोटे ताजे लम्बे-लम्बे सींग वाले मृग पर पड़ी। उन्होंने उसी के पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। हिरन भी चौकड़ियाँ भरता हुआ वायु-वेग से भागने लगा। हिरन का पीछा करने से महाराज के सभी साथी छूट गये, सैनिक इधर-उधर हो गये। अङ्ग-रक्षकों के घोड़े इतने तेज दौड़ न सके, अतः राजा अकेले ही रह गये। एक घोर जङ्गल में जाकर हिरन न जाने कहाँ अदृश्य हो गया।

बहुत वेग से घोड़ा दौड़ने से महाराज बुरी तरह से थक गये थे। उनके सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा सी होने लगी। प्रातः से अभी जलपान भी नहीं किया था, अतः भूख भी बड़े जोरों से लग रही थी, प्यास के कारण गला सूख रहा था। साथी सेवक जिनके पास भोजन की सामग्री और गंगा जल की झारी थी, वे पीछे रह गये थे। महाराज चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर किसी जलाशय को खोज रहे थे। उस घोर वन में उन्हें कहीं भी जल दिखाई नहीं दिया। थोड़ी दूर घोड़ा बढ़ाकर ज्यों ही वे आगे बढ़े, त्यों ही उन्हें एक ऋषि का आश्रम दिखाई दिया। महाराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा—"ऋषि के यहाँ चलेंगे। अपने आश्रम में जब वे अपने देश के चक्रवर्ती राजा को देखेंगे, तो सत्कार करेंगे, पैर धोने को जल देंगे, अर्घ्य प्रदान करेंगे और खाने को सुन्दर स्वादिष्ट फल तथा पीने को शीतल सुगन्धित गंगाजल देंगे।" यही सब सोचकर महाराज ने उधर ही जल्दी से अपना घोड़ा बढ़ा दिया।

वह महामुनि शमीक ऋषि का आश्रम था। ऋषि बड़े

योगाभ्यासी थे। एकान्त में बैठकर समाधि द्वारा परब्रह्म का ध्यान किया करते थे। जिस समय वे समाधि में तल्लीन हो जाते, उस समय उन्हें इस बाह्य—जगत् का भान ही न रहता। सभी प्रपंच की विस्मृति हो जाती। और परम प्रकाश रूप आत्मा में अपनी समस्त वृत्तियों को लीन कर लेते।

महाराज ने घोड़े को बाहर ही एक वृक्ष से बाँध दिया और वे पादत्राण उतार कर आश्रम में घुस गये। आश्रम गौ के गोबर से स्वच्छ लिपा पुता था। एक एकान्त स्थान में समाधि में निमग्न शमीक मुनि बैठे थे। वे समाधि में ऐसे तल्लीन थे, कि उन्हें महाराज के आने का भान ही न हुआ महाराज, थोड़ी देर खड़े रहे। मुनि का मुख मण्डल तेज से देदीप्यमान हो रहा था। वे समस्त इन्द्रियाँ, प्राणों तथा मन और बुद्धि के निरुद्ध हो जाने से परम शान्त होकर दिव्य सुख का अनुभव कर रहे थे। वे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर, निष्क्रिय हुए तुरीयपद जो ब्रह्मस्वरूप है, उसमें स्थित थे।

मुख मण्डल शान्त था, सुवर्ण के समान पीली-पीली जटायें उनके मुख मण्डल पर बिखर रही थीं। वे उनके रक्तवर्ण के मुख पर ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों किसी गेरू के पहाड़ के शिखर पर पीले साँपों के बच्चे लटक रहे हों। काले हिरन का चर्म वे ओढ़े हुये थे। उससे ऐसे प्रतीत होते थे। मानों प्रज्वलित अग्नि को राख ने ढक लिया हो। धर्मात्मा राजा उन तपस्वी मुनि को देखते रहे। किन्तु वे तो भूख प्यास से इतने व्याकुल थे, कि उन्हें और कुछ सुहाता ही नहीं था। थोड़ी देर खड़े रहने पर भी जब मुनि ने आँखें नहीं खोलीं, तब तो वे अधीर

हो उठे। उन्होंने जोर से पुकारा—"मुनिवर! मैं इस देश का राजा परीक्षित् आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। भगवन्! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे प्यास भी बड़े जोरों से लग रही है, मेरे सभी साथी पीछे छूट गये हैं, आपके पास पानी हो तो मुझे पिलाइये।"

मुनि तो तुरीयावस्था में थे, उनके लिये तो जाग्रत जगत् के व्यापार सभी विलुप्त हो गये थे। सभी इन्द्रियों की वृत्तियाँ परात्पर तत्व में जाकर विलीन हो गई थीं, मुनि ने महाराज की बात सुनी ही नहीं। इसी समय कलियुग ने अपना प्रभाव दिखाया। भूख प्यास में मनुष्य अपने विवेक को खो बैठता है। उसे धैर्य नहीं रहता। सद् असद् का निर्णय करने में वह समर्थ नहीं होता। कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान लुप्त हो जाता है। महाराज को भी उस समय क्रोध आ गया और वे अपने मन में भाँति-भाँति की कल्पनायें करने लगे।

वे सोचने लगे—"देखो, यह मुनि है कि ढोंगी। इसके आश्रम पर मैं आया हूँ। चाहिये तो यह था, पहिले से ही मेरा सत्कार करता। बैठने को आसन देता, यदि आसन न होता तो भूमि ही बता देता। राजा समझकर अर्घ्य देता। मीठी वाणी से कुशल क्षेम पूछता। यह सब तो करना अलग रहा। माँगने पर पानी भी नहीं देता, बार-बार पुकारने पर बोलता भी नहीं। इसे अपनी तपस्या का बड़ा अभिमान है। सोचता होगा—ये राजा होंगे तो अपने घर के, मैं भी तो

तपस्वी हूँ। क्यों उठकर इसका सम्मान करूँ ?" इस प्रकार महाराज ऋषि के न उठने पर अपना घोर अपमान समझने लगे और उस ऋषि से अपनी अवज्ञा का बदला लेने की बात सोचने लगे।

छप्पय

मुनिवर ! उत्तर चरित उत्तरा सुत को सुनिये।
है अति भावी प्रबल करहिं अनुभव सब मुनि ये॥
दक्षिण दिशि कूँ एक दिना नृप धनुधरि धाये।
भूख प्यास तें दुखित भये, मुनि आश्रम आये॥
करहिं तपस्या तहाँ पै, मुनि शमीक बैठे अचल।
पानी माँग्यो मुनि नहिं, सुन्यो भये नृप अति विकल॥

विधि के विधान की प्रबलता

(७७)

अलब्धतृणभूम्यादिरसंप्राप्तार्घ्यसूनृतः ।
अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ॥
अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः ।
ब्राह्मणं प्रत्यभूद् ब्रह्मन् मत्सरोमन्यु व च ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १८ अ० २८, २९ श्लो०)

छप्पय

आयो नृपकूँ कोध द्रोह मुनिवर तें कीन्हों ।
मरयो स्यांपु मुनि नारि माँहि लै पहिरा दीन्हों ॥
कबहुँ न ऐसों करयो काल की कैसी गति है ।
होनों जैसो होय तबहिं तस होवे मति है ॥
विधि विधान है कें रहे, कबहुँ होय नहिं व्यर्थ वह ।
पांडव नल अरु राम के, चरित बतावें तत्व यह ॥

यदि संसार में प्रारब्ध की प्रबलता न होती, तो ज्योतिष-शास्त्र व्यर्थ ही हो जाता । भविष्य की कोई बात कहना संदिग्ध हो जाता । प्रारब्धवाद वाले कहते हैं, मनुष्य की आयु, सुख-दुःख

---

१ प्यासे राजा के जल माँगने पर भी जब मुनि ने उन्हें तृण का आसन अथवा भूमि ही बैठने को नहीं दी और न अर्घ्य तथा मधुर

विद्या, संयोग-वियोग, ये जन्म लेने के पहिले ही निश्चित हो जाते हैं। उन्हें पुरुष अपने पुरुषार्थ से टाल नहीं सकता। क्रियमाण कर्मों द्वारा संचित कर्मों को बढ़ाया जा सकता है, किन्तु इस जन्म के प्रारब्ध तो—ज्ञान होने पर भी—शरीर द्वारा भोग कर ही क्षय करने होते हैं। ज्ञानी अथवा भक्त अपने ज्ञान तथा भक्ति के प्रभाव से उनका अनुभव नहीं करते, क्योंकि उनकी वृत्ति सुख-दुःख से ऊँची उठी रहती है, फिर भी शरीर तो प्रारब्ध के अधीन ही है। प्रारब्ध भोगने को ही शरीर मिला है।

ज्योतिषी ने महाराज परीक्षित् के जन्म के समय जो उनके निधन का निधान बताया था, उसका समय आ गया। कलियुग उनके सुवर्ण मंडित मुकुट पर बैठा हुआ था। जब बार-बार पुकारने पर भी महामुनि शमीक की ओर से कोई उत्तर न मिला, अर्घ्य-आसन की बात तो अलग रही, मुनि ने नेत्र खोलकर राजा की ओर देखा तक भी नहीं, तब तो राजा घोर रजोगुण के वशीभूत हो गये। उन्हें मुनि के ऊपर सन्देह ही नहीं होने लगा, उनकी परीक्षा लेने का, उनका अपमान करने का भी मन में दृढ़ निश्चित विचार उठने लगा।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह आप कैसी बात कर रहे हैं? राजा एक तो स्वयं धर्मात्मा तथा ब्राह्मण भक्त थे, वे कभी भूलकर भी किसी तपस्वी, विद्वान्, ब्राह्मण का अपमान

वचनों से उनका सत्कार ही किया, तो राजा अपने को अपमानित मान कर क्रोधित हो गये। हे ब्रह्मन्! ऐसा पहिले कभी नहीं हुआ था, भावीवश भूख-प्यास के कारण महाराज व्याकुल थे। दैव की गति—उन्हें सहसा मुनिश्वर पर ईर्ष्या हुई तथा क्रोध भी आ गया।

नहीं करते थे। कभी किसी ब्राह्मण को शारीरिक दंड नहीं देते थे। वे सदा सत्सङ्ग करते थे। उन्हें इतना भी ज्ञान नहीं हुआ कि मुनि समाधि में हैं। वे मुनि का अनिष्ट करने पर उतारू क्यों हो गये? उन्हें तपस्वी मुनि पर क्रोध क्यों हो आया? आप कहेंगे कि 'उस समय भूख प्यास के कारण उनका विवेक नष्ट हो गया था। उन्हें सद्-असद का विवेक ही नहीं रहा।' यह ठीक है, कि भूख-प्यास से मनुष्य अपने आपे से बाहर हो जाता है, परन्तु ऐसा भी क्या बुद्धिभ्रम! राजा उस दिन जान बूझकर उसी दिशा में आये थे, जिसके लिये रानी उन्हें बार-बार रोका करती थी। अवसर पाते ही मना करती रहती थी। अच्छा, यदि आ भी गये, तो उन्हें ब्राह्मण के आश्रम को देखकर ही समझ लेना चाहिये था कि मेरी रानी इसीलिये मना करती थी। उस समय वे लौट आते। वे मुनि पर इतने क्रुद्ध क्यों हो गये? उनके मन में ईश्वर तुल्य तपस्वी के प्रति ईर्ष्या उदय ही क्यों हुई?"

इस प्रश्न को सुनकर सूतजी बोले—"शौनकजी, इसका उत्तर अब मैं आपको और क्या दूँ। इसके अतिरिक्त की भावी प्रबल थी। होनहार ऐसी ही थी और कुछ कहा नहीं जा सकता। यह सम्पूर्ण संसार दैवाधीन है। विधि के विधान को यदि मिटा देने की सामर्थ्य जीवों में होती, तो रावण, कुंभकर्ण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, दिलीप, प्रियव्रत जैसे प्रबल पराक्रमी राजा कभी मरते ही नहीं। रावण ने तो अपनी मृत्यु न होने के अनेकों उपाय किये। तपस्या करके बड़े-बड़े दुर्लभ वरदान प्राप्त किये। उसे अपनी मृत्यु का पता भी लग गया था। ब्रह्माजी ने बता भी दिया था, फिर भी उसने उनकी अवहेलना की। अपनी मृत्यु को असम्भव माना। अंत में उसे

भी विधि के विधान के आगे सिर झुका देना पड़ा। उसे भी मानना पड़ा कि भावी को कोई मेट नहीं सकता। प्रारब्ध अन्यथा हो नहीं सकती। जान बूझकर भी उसने दशरथजी को जीवित छोड़ दिया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! महाराज दशरथजी से रावण की भेंट कहाँ हुई। कहाँ उसने महाराज दशरथ को पाया? उसे कैसे मालूम हुआ कि इनके ही घर मेरे मारने वाला उत्पन्न होगा? इस कथा को हमें सुनाकर तब आगे बढ़िये!"

इस पर सूतजी ने कहा—"हे तपस्वियों के अग्रणी शौनक जी! यह कथा बहुत बड़ी है। इसे मैं यदि विस्तार के साथ आपके सम्मुख वर्णन करूँ, तो इस कथा का प्रवाह रुक जायगा। विषयान्तर तो नहीं कह सकते, क्योंकि भगवत् सम्बन्धी चरित्रों में विषयान्तर होता ही नहीं, इसलिये विस्तार के साथ तो नहीं, पर संक्षेप में इस शिक्षाप्रद सारगर्भित कथानक को मैं आपके सम्मुख सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

सूर्यवंश में एक प्रबल पराक्रमी महाराजा रघु हुए हैं। उनके ही नाम से वह कुल रघुवंशियों का कुल कहलाता है। उनके पुत्र अज हुए और अज के एक पुत्र हुए जिनका महाराज ने नाम दशरथ रखा। राजकुमार दशरथ, बड़े ही शूरवीर, ब्रह्मण्य, सुशील और सभी गुणों के सागर थे। ऐसे सुशील योग्य और होनहार पुत्र को पाकर महाराज की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। वे अपने पुत्र को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। कुमार अवध के विस्तृत राजमहल में ताराओं के समान चमकने वाली अपनी माताओं के बीच में उसी प्रकार

बढ़ने लगे जिस प्रकार आकाश मण्डल स्थित हुआ शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से सभी को प्रसन्नता प्रदान करता हुआ नित्यप्रति बढ़ता रहता है। राजकुमार को अस्त्र-विद्या से अत्यधिक अनुराग था। कुछ ही काल में वे सभी अस्त्र-शस्त्रों के छोड़ने, लौटाने आदि की विद्या में पारंगत हो गये। जब वे विवाह के योग्य हुए, तो महाराज अज को अपने पुत्र के विवाह की चिन्ता हुई।

मुनियो! उस समय का ऐसा सदाचार था, कि वर पक्ष के लोग योग्य कन्या को देखकर स्वयं उसकी उसके पिता से याचना किया करते थे। महाराज अज के दशरथजी, अकेले ही पुत्र थे। वे भी अद्वितीय धनुर्धर, परम सुन्दर, महान्गुणी और सभी विद्याओं में पारंगत थे। अतः महाराज की आन्तरिक इच्छा थी, कि मेरे पुत्र का विवाह किसी सर्वगुण संपन्ना कन्या के साथ हो। जिस कन्या के अंग में एक भी कुलक्षण न हो जो सुन्दरी, सुशीला, कुलीन वंश की और ज्योतिष शास्त्र के अनुसार जिसकी रेखायें, अन्य अंगों के लक्षण, जन्म के सभी ग्रह अनुकूल और शुभ हों। यह सोचकर महाराज ने बहुत से ज्योतिषी विद्वानों को बुलाया और उनका सत्कार करके बोले—"हे भूदेवो! आप सभी शुभाशुभ लक्षणों के ज्ञाता हैं। जन्म-पत्री देखकर, हस्त रेखाओं को देखकर तथा शरीर के अन्य, तिल, भौंरी, लहसन, मसा आदि चिह्नों को देखकर तथा अङ्गों की बनावट, छोटे बड़ेपन को देखकर सभी भूत, भविष्य की बातें जानने में समर्थ हैं। मेरे पुत्र के लिये एक ऐसी सर्व—शुभ लक्षण वाली कन्या खोजिये, जिसकी बराबरी वाली दूसरी कन्या इस पृथ्वी मण्डल पर न हो।"

महाराज अज के अभिप्राय को समझकर दैवज्ञ ब्राह्मण सभी देशों के राजाओं के यहाँ गये। जहाँ भी वे सुनते कि अमुक राजा की कन्या अत्यन्त ही रूपवती है, वहीं वे जाते और जाकर कन्या को देखते। इस प्रकार वे पृथ्वी के समस्त बड़े-बड़े राजाओं के यहाँ घूम आये। जैसे शुभ लक्षणों वाली कन्या वे चाहते थे, वैसी उन्हें नहीं मिली। वैसे राजाओं की एक से एक सुन्दरी कन्यायें थीं, किन्तु किसी का कोई लक्षण अशुभ था, किसी का नक्षत्र ठीक नहीं था, किसी के ग्रह अनुकूल नहीं थे। किसी का कोई अंग छोटा बड़ा था। जिसमें वे लोग कुछ भी त्रुटि पाते उसे वहीं छोड़ देते। इस प्रकार समस्त पृथ्वी भ्रमण करने पर भी जब ब्राह्मणों को जैसी वे चाहते थे, वैसी कन्या न मिली तो वे दुखी होकर अयोध्या पुरी को लौटने लगे। पहिले तो वे उत्तर दिशा के राजाओं के यहाँ गये थे, फिर समस्त पश्चिम दिशा में भ्रमण करते हुए दक्षिण देश के राजाओं के यहाँ गये। जब दक्षिण में भी मनोनुकूल कन्या न मिली, तो वे पूर्व दिशा की सब राजधानियों में होते हुए सरयूजी के किनारे-किनारे अयोध्याजी को आ रहे थे। मार्ग में वे एक राजधानी में ठहरे। यह राजधानी अवध राज्य के ही अन्तर्गत थी। एक छोटे से मण्डलीक राजा वहाँ राज्य करते थे और अयोध्या के महाराज को सदा नियत कर दिया करते थे। जब उन्होंने सुना, कि हमारे सम्राट् के ब्राह्मण आये हैं, तो उन्होंने इन सबका बड़ा स्वागत सत्कार किया। पैर धुलाकर विधिवत् अर्घ्य दिया और धूप दीप आदि से उन भूसुरों की पूजा की। जिस समय राजा उन वृद्ध ब्राह्मणों की अपने अन्तःपुर में पूजा कर रहे थे, उस समय राजा की रानी भी वहाँ उपस्थित थी। राजा की

परम सुन्दरी कन्या बड़े शील-संकोच के साथ अपने पिता के कार्य में सहायता दे रही थी। ब्राह्मणों की दृष्टि उस लड़की पर पड़ी। उन्होंने पूछा—"राजन्! यह आपकी ही पुत्री है?"

हाथ जोड़कर विनीत भाव से राजा ने उत्तर दिया—"हाँ, महाराज! आपकी ही कन्या है।"

ब्राह्मणों ने उस लड़की को पुचकारते हुए अत्यन्त स्नेह से कहा—"बेटी, यहाँ तो आ! ला तेरा हाथ देखें!" यह सुनकर लड़की अत्यन्त ही लजाती और सकुचाती अपने पिता के मुख की ओर देखने लगी। पिता ने अत्यन्त स्नेह से पुचकारते हुए कहा—"हाँ, जा बेटी, महाराज बुलाते हैं। जा अपना हाथ दिखा! अरे, तू तो सकुचाती है। ये ब्राह्मण ही तो हमारे माता पिता हैं। इनसे क्या संकोच?"

अपने पिता की आज्ञा पाकर अपने सभी अंगों को सिकोड़े हुए अत्यन्त लज्जा के साथ लड़की नीचा सिर किये ब्राह्मणों के समीप गई। जाकर उसने सावधानी से अपने वस्त्रों को सम्हाल कर भूमि में सिर रखकर ब्राह्मणों को प्रणाम किया और चुपचाप सिर झुकाकर उनके सम्मुख बैठ गई। उन ब्राह्मणों में जो सबसे वृद्ध, अनुभवी और शुभाशुभ लक्षण देखने में परम प्रवीण थे, वे उस बच्ची का हाथ देखने लगे। राजकुमारी जितनी अधिक सुन्दरी थी, उससे भी अधिक उसके शुभ लक्षण थे। उसके सभी अङ्गों में एक से एक बढ़कर कल्याणकारी लक्षण थे। ब्राह्मणों ने आज तक इतनी शुभलक्षणोंवाली कन्या कहीं भी नहीं देखी थी। जब वे सम्पूर्ण अंगों के, हस्त रेखाओं के लक्षण देख चुके, तो उन्होंने राजा से कहा "राजन्! इस बच्ची की हम जन्म-पत्री और देखना चाहते हैं?"

इतना सुनते ही रानी शीघ्रता से उठीं और अपनी सुवर्ण की पिटारी से भोजपत्र में लिपटी हुई जन्म-पत्री को ले आई और लाकर अपने पति के हाथ में दे दी। राजा ने उठकर जन्मपत्री ब्राह्मणों को दी। राजकुमारी ब्राह्मणों को प्रणाम करके अपने माता के समीप जाकर उससे खूब सटकर बैठ गई। उस समय उसका हृदय धक्-धक् कर रहा था। सयानी लड़की समझ रही थी, कि यह सब मेरे विवाह की भूमिकायें बाँधी जा रही हैं।

सूतजी कहते हैं—"शौनकजी! आप सबने तो विवाह किया ही नहीं, जिससे आपके लड़के-लड़की होते। सयानी लड़की के कुलीन आर्य संस्कृति वाले पिता को पुत्री के विवाह की कितनी अधिक चिन्ता रहती है, इसे बिना पिता बने कोई अनुभव नहीं कर सकता। उसे सबके सम्मुख नवना पड़ता है। अपने से छोटे लोगों के सम्मुख भी दीनता प्रकट करनी पड़ती है। लड़की के हृदय की तो कुछ पूछिये नहीं। वह अपने विवाह के सम्बन्ध की कोई भी बात भूल में भी पिता-माता के सम्मुख नहीं कह सकती। जहाँ ऐसी चर्चा होती है, वहाँ से वह उठ जाती है, मुँह छिपाती है, बात को बदलने का प्रयत्न करती है, किन्तु उसका हृदय धक्-धक् करता रहता है। जैसे कम तैरने वाला पानी में डूबते हुए कभी जल के भीतर चला जाता है फिर उछलता है। कभी किसी मनुष्य की आशा करता है, फिर नौका देखकर आशान्वित होता है। फिर सम्पूर्ण शक्ति लगाकर किसी जहाज की ओर आशा से बढ़ता है। वहाँ से निराश होने पर घास तिनकों की ओर ही आश्रय पाने को बढ़ता है। यही दशा सयानी कुमारी कन्या की होती है। माता-पिता परस्पर में किसी वर की चर्चा करते हैं, छिप-

कर लड़की सब सुनती है। उसके सम्बन्ध में भाँति-भाँति की आशायें बाँधती है। दूसरे दिन सुनती है, वह सम्बन्ध नहीं हो सका। निराश हो जाती है। फिर दूसरे की चर्चा चलती है जब तक उसका किसी के साथ गँठबन्धन नहीं हो जाता, जब तक प्रज्वलित अग्नि के आस-पास पति के साथ सात परिक्रमा नहीं दे लेती, तब तक वह अगाध जल में सदा डूबती और उतराती सी ही रहती है।

ब्राह्मण जन्म-पत्री पढ़ रहे थे, राजा रानी उनकी चेष्टाओं को पढ़ते जाते थे और कन्या अपने हृदय सागर में उठे ज्वार भाटे के प्रवाह में बही जा रही थी। जन्म-पत्री देखकर ब्राह्मणों ने सन्तोष की साँस ली और बोले—"राजन्! हम आपकी कन्या को अपने महाराज अज के राजकुमार दशरथ के लिये माँगते हैं।"

इतना सुनते ही राजा की आँखों में प्रेम के अश्रु आ गये। रानी का मुखमण्डल प्रसन्नता से भर गया। कन्या उठकर भीतर चली गई। राजा इतने अधिक प्रसन्न हुए कि उनकी वाणी गद्गद् हो गई। कुछ काल तक वे कुछ बोल ही न सके। फिर अपने को सम्हाल कर ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त ही सम्मान प्रदर्शित करते हुए बोले—"ब्राह्मणो! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं? कहाँ चक्रवर्ती महाराज, कहाँ मैं उनका अत्यन्त ही क्षुद्र एक सेवक? कहाँ पृथ्वी की कुमुदिनी, कहाँ स्वर्ग के चन्द्रमा? सम्बन्ध तो समान गुण वालों में होता है। मेरे पास तो न उतना धन है न सम्पति, कि इतने बड़े महाराज का स्वागत सत्कार भी कर सकूँ।"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज! हमें आपकी धन-सम्पत्ति से क्या प्रयोजन? हमें तो आपकी कन्या चाहिये। समस्त

पृथ्वी पर हम खोज आये, इतने शुभ लक्षणों वाली कन्या आज तक हमें कहीं नहीं मिली। यों धन सम्पत्ति की कुछ कमी हो, तो महाराज के यहाँ से आ सकती है।"

इस अन्तिम वाक्य से महाराज के हृदय को ठेस लगी। उन्होंने इससे अपना घोर अपमान समझा। वे ब्राह्मणों से कुछ कहना ही चाहते थे, किन्तु तुरन्त वे सम्हल गये। उन्होंने अपनी स्थिति का अनुभव किया, उन्होंने सोचा—अरे, मैं तो कन्या का पिता हूँ। कन्या के पिता को हजार अपमान सहकर भी अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये। इसीलिये बाहर से नम्रता प्रकट करते हुए बोले—"महाराज, कन्या आपकी है। आप ही उसके माता-पिता हैं। आप जिसे देना चाहें दे दें, मुझसे पूछने की तो कोई बात नहीं। रही महाराज के स्वागत सत्कार की बात, सो मैं तो उनके अनुरूप तो सेवा कर नहीं सकता। वैसे मेरे द्वार पर सरयूजी बह रही हैं। जल की कोई कमी नहीं। शाक मेरे यहाँ इतना होता है, कि महाराज चाहे जितनी सेना लेकर पधारें। इसलिये मुझे उनके कोष में से कुछ याचना करने की आवश्यकता न पड़ेगी।"

ब्राह्मण समझ गये, कि राजा को बात बुरी लग गई। अतः वे अपनी बात पर लीपा-पोती करते हुए बोले—"नहीं, महाराज हमारा यह अभिप्राय नहीं था, कि आपके यहाँ धन-सम्पत्ति की कमी है। आपके घर में साक्षात् लक्ष्मी से भी बढ़कर यह कन्या उत्पन्न हुई है। आपके घर आठों सिद्धियाँ, नवों निद्धियाँ सदा हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। हमारा अभिप्राय इतना ही था, कि इस कन्या के ग्रह, नक्षत्र और शुभ लक्षणों से हम सब बड़े सन्तुष्ट हुए हैं। हम इसे जैसे भी हो सके वैसे

अपने महाराज की पुत्र वधू बनाना चाहते हैं। इसके ग्रहों को देखकर हमने यह निष्कर्ष निकाला है; कि संसार में प्रलय पर्यन्त इसकी ख्याति होगी और इसके उदर से स्वयं साक्षात् लक्ष्मीपति श्रीमन्नारायण का प्रादुर्भाव होगा।

इतना सुनते ही अधीर होकर रानी ने कहा—"महाराज, आप ही हमारे रक्षक और स्वामी हैं। जैसे भी हो आप हमारा इस चिन्ता से उद्धार करें। बच्ची सयानी हो गयी है। हमें रात्रि दिन इसी की चिन्ता बनी रहती है। आपके आशीर्वाद से उसे अच्छा घर-वर मिल जाय, तो हमारी सभी चिन्तायें दूर हो जायँ।"

बूढ़े ब्राह्मण दृढ़ता के स्वर में बोले—"रानी जी! आप इतनी चिन्तित क्यों होती हैं? महाराज हमारी बात को कभी टालते नहीं। हम आपकी कन्या को, राजरानी, सम्राट् की पत्नी, भू-मण्डल की सर्व प्रधान महिषी बनायेंगे। जब तक इस संसार में सूर्य चन्द्रमा रहेंगे, तब तक तुम्हारी कीर्ति दिग्दिगन्तों में छाई रहेगी। इसे परब्रह्म परमात्मा की जननी होने का अत्यन्त ही दुर्लभ पद प्राप्त होगा।"

ब्राह्मणों की बात सुनकर रानी ने उन्हें, सिर से प्रणाम किया। किवाड़ की ओट में खड़ी कोशल-राज की दुहिता यह सब सुन रही थी। उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। मारे प्रसन्नता के उसके सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकलने लगा। उसे चक्कर सा आने लगा और वह जल्दी से जाकर अपने पलँग पर पड़ गई।

इधर ब्राह्मण कोशल-राज से बिदा होकर अयोध्या पहुँचे। उन्होंने महाराज अज से जाकर आद्यन्त सभी समाचार

विस्तार के सहित वर्णन किये। उन्होंने सभी बातें बताईं। हम यहाँ गये, वहाँ गये, वहाँ हमारा ऐसा स्वागत सत्कार हुआ अमुक राजा ने आपकी कुशल पूछी, अमुक ने प्रणाम कहा। वहाँ ऐसी कन्या देखी, उसमें सब गुण थे, एक महा अशुभ लक्षण था। इस प्रकार सभी बातें बताकर कहा—"हमें अब तक समस्त पृथ्वी पर सम्पूर्ण सुलक्षणों वाली एक ही कन्या मिली है। वह है आपके अधीनस्थ राजा कोशल की भाग्यवती कन्या। कौशल्या उसका नाम है। गुण, रूप और सौन्दर्य की धाम है। वही सर्वथा राजकुमार दशरथ की पत्नी बनने के अनुरूप है।'

ब्राह्मणों की बात सुनकर महाराज ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"ब्राह्मणों! कोई बात नहीं। राजा हमारे अनुरूप नहीं है, न सही। हमें राज्य से क्या लेना? हमें तो गुणवती, सुलक्षणवती कन्या चाहिये। अच्छी बात है। आप सन्देश भिजवायें। राजा तैयारी करें, इसी मास में विवाह हो जाना चाहिये। इस जीवन का क्या पता? मैं अपने पुत्र को शीघ्र ही पुत्र वधू के साथ देखकर सुखी होना चाहता हूँ। राजा को यदि कुछ धन की आवश्यकता हो, तो यहाँ के राजकोष से मँगा सकता है।"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज, यह बात हमने पहिले ही उनसे कही थी। यह बात उन्हें कुछ बुरी-सी लगी और बुरी लगने की बात है भी। साधारण गाँवों के लोग, जिस गाँवमें उनके गाँव नाते की लड़की का विवाह होता है, उस गाँव के कूए का जल नहीं पीते, तो इतने बड़े राजा कन्या का धन कैसे ले सकते हैं? उनके यहाँ किसी बात की कमी नहीं। हम

स्वयं देखकर आये हैं। आप चाहें जितनी धूम-धाम से विवाह करने चलें। हाँ, ठीक, इस महीने के शुक्लपक्ष में बड़ी सुन्दर लग्न है। उसी में विवाह संस्कार सम्पन्न हो।"

इतना कहकर ब्राह्मणों ने तुरन्त योग्य दूतों के द्वारा यह समाचार कोशलराज के समीप भेज दिया। इस समाचार को पाकर समस्त अन्तःपुर में आनन्द का सागर उमड़ने लगा। राजकुमारी कौशल्या के भाग्य को सभी स्त्री पुरुष आ-आकर प्रशंसा करने लगे। कन्या भी जब सुनती, लज्जित होती और मन ही मन प्रसन्न होकर अपने सौभाग्य पर सिहाती।

नियत तिथि से तीन दिन पूर्व अयोध्यापुरी से बरात सज-धज कर कोशलराज की राजधानी की ओर चली। महाराज अज चक्रवर्ती सम्राट् थे। सभी देशों के राजा और राजपुत्र कुमार दशरथ के विवाह में सम्मिलित होने के निमित्त अयोध्या-पुरी में आये थे। सैकड़ों लाखों राजा और राजकुमार अपने सुवर्ण मंडित मुकुटों से वहाँ ऐसे ही शोभायमान होते थे जैसे इन्द्रपुरी में दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित देवगण शोभित होते हैं। अनेक राजकुमार चिरञ्जीव कुमार दशरथ के समवयस्क साथी और परम मित्र थे। शौनकजी! युवकों को वृद्धों में बैठना बहुत रुचिकर नहीं होता। वृद्धों के सम्मुख बड़े शिष्टाचार से बैठना पड़ता है। कछुए की तरह सभी अङ्गों को सिकोड़ कर शान्त होकर सर्वदा अपने को सम्हाले रहना पड़ता है। किन्तु जहाँ एक अवस्था के जुट जाते हैं, वहाँ खुलकर बातें होती हैं। बनावटी शील संकोच नहीं रहता। निर्भय होकर हँसते खेलते हैं। इसी-लिये बूढ़े बूढ़ों के पास बैठते हैं, लड़के लड़कों के साथ सुखी होते हैं।

महाराज ने कुमार से पूछा—"बेटा बोलो ! कौन-सी सवारी तुम्हें प्रिय है ? रथ में चलोगे, पालकी में चलोगे, या हाथी पर चलोगे अथवा नौका में चलोगे ?

राजकुमार ने लजाते हुए कहा—"पिताजी ! मुझे तो नौका की सवारी अत्यन्त प्रिय है। वह भी यदि सीधे प्रवाह की ओर चले तो। अन्य सभी सवारियों में शरीर हिलता है, थकान हो जाती है, किन्तु नौका में न शरीर हिलता है न थकते हैं और न धूल ही आती है। बड़े आनन्द से प्रकृति का दृश्य देखते हुए चलते हैं। जल को देखकर वैसे ही प्राणी मात्र को प्रसन्नता होती है, क्योंकि जल ही जीवों का जीवन है। इसीलिये स्नान करने जल में घुसते ही सभी हँस पड़ते हैं। मुझे भी जल में स्नान करना, तैरना बहुत प्रिय है। और नौका की सवारी तो मुझे बड़ी ही भली मालूम होती है। यदि आप आज्ञा दें, तो मैं तो नौका से ही चलूँ।"

कोशल नगरी सरयू के किनारे ही थी। सरयूजी उस समय बढ़ी हुई थीं, फिर भी महाराज ने अपने पुत्र की प्रसन्नता के लिये नौका से जाने की आज्ञा दे दी। एक बहुत सुन्दर बड़ी सी सुदृढ़ नौका [illegible] अनेक प्रकार के मणि मुक्ताओं [illegible] समान बना दी गई [illegible] स्नेही राजकुमारों के साथ बैठे। महाराज के मन्त्री का लड़का सुमन्त नाम का सूत जो उस समय कुमार दशरथ की ही अवस्था का था, उनके साथ बैठा। बहुत से सैनिक अङ्गरक्षकों से घिरे अपने सुहृदों के साथ बैठे हुए राजकुमार उसी प्रकार शोभित हो रहे थे, जैसे इन्द्र अपने विमान में देवताओं के साथ शोभित होते हैं। हँसते-खेलते, गाते बजाते

भाँति-भाँति के मनोरञ्जनों से मन को बहलाते हुए कुमार अपनी सजी हुई नौका में अपनी नववधू की चिन्ता करते हुए, सुखपूर्वक विवाह करने ससुराल जा रहे थे।

जिस समय राजकुमार दशरथ विवाह करने जा रहे थे उसी समय संयोग की बात—ब्रह्माजी किसी काम से लङ्का में रावण के समीप आये। सभी उस दुष्ट से डरते थे। जिन ब्रह्माजी से तपस्या करके उसने दुर्लभ वर प्राप्त किये थे, उनकी भी यह अपने बल पराक्रम के मद में भरकर अवहेलना करने लगा। उन्हें भी वह अपने सामने कुछ नहीं समझता था। ब्रह्माजी भी सोचते थे—अब इसका समय है। इसे मनमानी कर लेने दो। एक दिन समय आवेगा कि इसका जड़मूल से नाश हो जायगा। यही सोच कर वे चुप हो जाते और उसकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहते।

ब्रह्माजी को आया हुआ देखकर रावण ने बड़े-मन से उनका सत्कार किया और फिर अभिमान के स्वर में पूछने लगा—"पितामह! आप अपने लोक में बैठे-बैठे क्या काम किया करते हैं?"

भगवान् ब्रह्माजी ने सरलता से कहा—"भैया, मैं जीवों के भाग्यों को बनाता रहता हूँ। उनके संयोग, वियोग और उसके कारणों को लिखता रहता हूँ।"

अवहेलना के स्वर में रावण ने पूछा—"अच्छा बताइये, मेरी कैसे मृत्यु होगी और किसके द्वारा होगी?"

ब्रह्माजी घबड़ाये, कि यह तो बड़ा दुष्ट है। इसे अभी से इसकी मृत्यु का समाचार बताना ठीक नहीं, अतः बात को

बदलते हुए बोले—"अरे, तुम इतने शूर-वीर, पराक्रमी होकर भी मृत्यु की चिन्ता करते हो, जैसे होनी होगी हो जायगी। उसके लिये अभी से क्या सोचना ? हाँ, तो बताओ! तुम्हारे यहाँ सब कुशल तो है ?"

किन्तु रावण अब कब मानने वाला था। बलवानों को जो धुन सवार हो जाती है, उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं। रावण अपनी धुन क्यों छोड़ने चला ? उसने कहा—"महाराज, कुशल-क्षेम की बात तो पीछे होगी। अब तो आपको मेरी मृत्यु की बात बतानी पड़ेगी। मुझे आज आपके झूठ सच की परीक्षा करनी है। अब आप बहानेबाजी छोड़िये। सब सच-सच बता दीजिये।"

ब्रह्माजी समझ गये, अब यह मूर्ख मानेगा नहीं, अतः बोले—"अरे, भैया ! तुम नहीं मानते हो, तो बताता हूँ। रघुवंश में एक परम पराक्रमी राजा अज हैं। उनके पुत्र दशरथ का विवाह कोशल देश के राजा की पुत्री कौशल्या के साथ होगा। उसी के गर्भ से रामचन्द्र नामक एक राजा होंगे। वे ही तुझे मारेंगे।"

यह सुनकर रावण बड़े जोरों से हँसा और हँसते-हँसते बोला—"पितामह ! लोग जो कहते हैं, कि बूढ़े आदमियों की बुद्धि सठिया जाती है, उसे आज सत्य ही पा रहा हूँ। भला, बताइये मनुष्य तो हमारे आहार हैं। कोई मनुष्य मुझे कैसे मार सकता है ?"

ब्रह्माजी सरलता से बोले—"भैया, मैंने तो ऐसा ही लिखा।

गर्व के साथ रावण बोला—"हो कैसे जाय, हम तो सदा से सुनते आये हैं कि—

"जो विधिना ने लिखि दई, छटी रात के अङ्क।
राई घटे न तिल बढ़े, रहु रे जीव निशङ्क॥

ब्रह्मा की लिखी लकीर कभी व्यर्थ होती ही नहीं। अच्छा, यह बताइये दशरथ का कौशल्या के साथ विवाह अभी हुआ या नहीं ?"

ब्रह्माजी घबराये कि अच्छे इस दुष्ट के चक्कर में फँसे। किन्तु करते क्या, अब छुटकारे का कोई उपाय ही नहीं था, अतः बोले—"नहीं भाई, अभी तो विवाह नहीं हुआ है।"

रावण ने पूछा—"कब होगा ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"आज से तीसरे दिन हो जायगा।"

रावण हँसा और बोला—"अच्छी बात है महाराज, अब तीन दिन तक तो आप कहीं जा ही नहीं सकते। अभी आपके झूठ सच की परीक्षा हुई जाती है। यह सामने घर है, इसी में आप जो लिखना पढ़ना चाहें, लिखते-पढ़ते रहिये। मैं अभी जाकर दोनों का अन्त किये देता हूँ। जब वे दोनों रहेंगे ही नहीं, तो रामचन्द्र कैसे पैदा होंगे तो फिर आपका विधान व्यर्थ हो जायगा। यदि आपकी बात झूठी सिद्ध हो जायगी, तो फिर आपको अवकाश दे दिया जायगा। किसी दूसरे को ब्रह्मपद पर मैं नियुक्त कर दूँगा।"

ब्रह्माजी फँस चुके थे, बोले—"अच्छा, भैया! तू अपने मन की भी करके देख ले। मेरी बात तो कभी झूठी हो ही

नहीं सकती। मेरा बनाया विधान किसी भी प्रकार व्यर्थ नहीं हो सकता।"

रावण ने अवहेलना के स्वर में कहा—"अच्छी बात है, 'नाई! नाई! बाल कितने हैं?" उसने कहा—"सरकार सामने ही आये जाते हैं, गिन लेना कितने हैं।" तीन दिन में, आपकी बात की सत्यता असत्यता मालूम ही पड़ जायगी।"

इतना कहकर ब्रह्माजी को वहीं छोड़कर रावण आकाश मार्ग से उड़ा और अयोध्या में पहुँचा। वहाँ जब उसे पता चला कि आज ही नौका द्वारा दशरथजी विवाह के लिये गये हैं, तो वह उसी वेग से सरयू किनारे-किनारे चला। सरयू में जाती हुई सुंदर नौका में, वर के वेष में बैठे हुए कुमार दशरथजी को दुष्ट रावण ने दूर से ही देखा। उसने सोचा—इस सम्पूर्ण नौका को ही तोड़ फोड़कर जल में डुबा दूँ, इसी में सब मर जायँगे। यह सोचकर वह ऊपर से चील की भाँति झपटा। उसने एक झपट्टे में नौका के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। सभी राजकुमार, नौकर चाकर डूबकर मर गये। उसने सब पर ऐसा प्रहार किया कि एक भी नहीं बचा, नौका के खण्ड-खण्ड हो गये। संयोग की बात, सुवर्ण का दृढ़ छत्र टूटकर सुमन्त और दशरथ के ऊपर पड़ा, इससे वे दोनों गहरे जल के भीतर चले गये। दोनों ने एक दूसरे को कसकर पकड़ लिया। रावण थोड़ी देर खड़ा रहा। जब उसने देखा—नौका खण्ड-खण्ड हो गई, सभी राजकुमार नौकर चाकर डूबकर मर गये। बहुत से मृतक शरीर जलपर तैरने लगे तो उसने समझ लिया, दशरथ की भी साथ में मृत्यु हो गई। यह सोचकर और प्रसन्न होता हुआ वह कोशल नगरी की ओर चला।

रावण सर्वथा पापी ही होता, तब तो वह अपने पाप से ही मारा जाता, उसके लिये भगवान् को अवतार न लेना पड़ता। वह तो वेदज्ञ, नीति शास्त्र विशारद और बड़ा भारी पण्डित भी था। निर्बलों पर वह कभी प्रहार नहीं करता था। जो अपने को बली, श्रेष्ठ और सर्वमान्य समझते थे उन्हीं से उसकी चिढ़ थी। वह अपने सामने किसी को अपना प्रतिस्पर्धी शूर वीर, कीर्तिमान् और सम्माननीय देखना नहीं चाहता था। वह अत्यधिक महत्वाकांक्षी था, न स्त्रियों पर वह कभी अस्त्र ही छोड़ता। उसने निश्चय कर लिया था, कि कौशल्या को मैं मारूँगा नहीं। उसे तीन दिन तक अपने अधीन गुप्त स्थान में समुद्र के भीतर रखूँगा। जब ब्रह्माजी की बताई अवधि समाप्त हो जायगी, तब या तो उसे छोड़ दूँगा और यदि वह प्रसन्नता से मेरे यहाँ रहने को सहमत हो गई, तो अपने यहाँ रख लूगा। इसीलिये वह अपने साथ एक ऐसी सुन्दर पेटी ले गया था, कि जिसे समुद्र में डाल दो तो समुद्र के भीतर भी उसमें हवा जाती रहे। वह पेटी इतनी बड़ी थी कि उसमें आदमी स्वेच्छापूर्वक सो सकता था, टहल सकता था। उसमें खाने पीने को बहुत से फल, मेवा, मिठाइयाँ आदि रखी हुई थीं और पीने को सुन्दर मीठा पानी भी। कोशलपुर में जाकर रावण ने सबसे पहिले अपनी माया से बड़ी भारी आँधी चलाई। आँधी इतने वेग से चली कि किसी को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। अन्तःपुर में धूल ही धूल भर गयी। उसी समय रावण उस भवन में गया, जहाँ दुलहिन के वेष में हल्दी लगाये कौशल्या बैठी थी। रावण ने उन्हें पकड़ कर उस पेटी में बिठा दिया और उस पेटी को लेकर आकाश में उड़ गया और समुद्र के समीप गङ्गासागर के आस-पास

पहुँचा। वहाँ एक बड़ा भारी तिमिङ्गिल रहता था। तिमि उस मत्स्य को कहते हैं जो कई कोस लम्बा होता है, जो बड़े बड़े जहाजों को अपनी पूँछ से ही पानी में डुबा देता है। इतने बड़े भारी मत्स्य को भी जो निगल जाता है, उसे तिमिङ्गिल कहते हैं। यह एक प्रकार का छोटा मोटा द्वीप सा ही होता है। जब वह समुद्र में मर जाता है, तो उसी के ऊपर द्वीप बस जाता है। ऐसा ही एक तिमिङ्गिल वहाँ था। उससे रावण की मित्रता थी। रावण ने उससे कहा—"देखो, मत्स्य राज! यह मेरी एक धरोहर है। इस पेटी को तुम बड़ी सावधानी से अपने मुँह में जल के भीतर रखना। इसकी कोई वस्तु नष्ट न होने पावे। मैं जब चाहूँगा, तब तुमसे ले जाऊँगा। यदि तुमने इसमें कुछ भी गड़बड़ी की तो मैं तुम्हें उसी क्षण मार डालूँगा।"

वह महामत्स्य रावण का प्रभाव जानता था। उसने विनीत भाव से कहा—"हे राक्षसेन्द्र! आप कैसी बात कह रहे हैं? आप मेरे ऊपर विश्वास करें। मैं आपकी इस धरोहर को सदा अपने मुख में ही लिये रहूँगा। मुझे खोलने देखने से क्या काम? जब आप कहेंगे, तभी मैं ज्यों का त्यों इसे लौटा दूँगा।"

महामत्स्य की ऐसी बात सुनकर रावण बहुत प्रसन्न हुआ और उस पेटी को उसे सौंपकर, अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ अपनी लंकापुरी में चला गया। उसे बड़ी भारी प्रसन्नता थी, कि मैंने आज अपने पुरुषार्थ से ब्रह्माजी का विधान मेंट दिया, भावी को व्यर्थ बना दिया। भाग्य विधाता ब्रह्माजी को भी भूल भुलैया में डाल दिया।

इधर जल में डूबे हुए, परस्पर में एक दूसरे को पकड़े हुए—"कुमार दशरथ और मन्त्रीपुत्र सुमन्त उछले। जिस स्थान पर वे उछले थे, उसी पर नौका के सुन्दर टूटे हुए दो दृढ़ तैरते हुए पटरे दिखाई दिये। वे जल पर नौका की तरह तैर रहे थे। दोनों उनके ऊपर बैठ गये। वे बोझ से जल में डूबे नहीं, नौका की भाँति तैरने लगे। सूर्यास्त हो चुका था। अतः दोनों सरयू के प्रबल प्रवाह में बहने लगे। सुमन्त ने कहा—"कुमार चिल्लाते चलो, कोई केवट मल्लाह होगा, तो हमें दया करके बचा लेगा।"

इस पर राजकुमार दशरथजी ने कहा—"सुमन्त! अब अपने को भाग्य पर छोड़ दो। राजकुमारी कौशिल्या के गुणों की प्रशंसा सुनते-सुनते मेरा मन उसी में आसक्त हो गया है। अब जब वही हमें नहीं मिल सकती, उसका भी इसी प्रकार कुछ अनिष्ट हुआ हो तो हमारे इस जीवन को धिक्कार है। अब तो चुपचाप प्रवाह में बहते चलो। प्रारब्ध अब जहाँ ले जाय। देखो, भगवान को क्या करना है?" राजकुमार की बात सुनकर सुमन्त चुप हो गया। वे जुड़े हुए तीन-चार तख्ते वेग से साथ सरयू के तीक्ष्ण प्रवाह में सागरकी ओर बहे चले जा रहे थे। आगे चलकर अंग देश में महानदी सरयू भगवती भागीरथी से मिली हैं। अब दोनों सरयू से बहकर गङ्गाजी में आ गये, गङ्गाजी उस टूटी नौका को अपनी चपेटों से नचाती हुई, सागर की ओर द्रुतगति से ले जारही थीं। दूसरे दिन रात्रि में वे लोग गंगासागर के समीप एक टापू में पहुँच गये। उनका वह भग्न नौकाखंड एक बड़े भारी टीले से टकराया। सुमन्त ने कहा—"कुमार! अब हम समुद्र में आ गये। देखिये, यह पृथ्वी आगई, अब अपने को समुद्र में जाने से बचाइये।

आइये, इस सुन्दर हरी-भरी पृथ्वी में उतर पड़ें। कुमार की भी समझ में बात आ गई। वे सब उस भूमि में उतर पड़े। वहाँ बहुत से जङ्गली फलों के वृक्ष थे, भूमि सुन्दर थी, उसमें हरी-हरी घास थी। बहुत-सा सूखा ईंधन भी था। दोनों ने वह रात्रि वहीं काटी। प्रातःकाल उन्होंने गङ्गाजी से सङ्गम करते हुए बड़ी-बड़ी तरङ्गोंवाले समुद्र को हँसते हुए नायक के समान देखा। वहाँ की प्रकृत छटा को देखकर दोनों सुखी हुए।

इधर उस महामत्स्य तिमिङ्गिल से लड़ने एक दूसरा तिमिङ्गिल आगया। इस रावण के मित्र तिमिङ्गिल ने सोचा—लड़ाई झगड़े में यदि यह पेटी टूट गई तो रावण मुझे जीवित न छोड़ेगा, तुरन्त मार डालेगा। इसलिये इसे इस टापू में रख दूँ। यही सोचकर किनारे आकर उसने वह पेटी रख दी और अपने शत्रु दूसरे तिमिङ्गिल से युद्ध करने चला गया।

कुमार दशरथ और मन्त्री-पुत्र सुमन्त घूमते-घूमते उसी स्थान पर आ गये। उस इतनी बड़ी भारी पेटी को एकान्त में रखी देखकर उन्हें बड़ा भारी कुतूहल हुआ। यह जानने के लिये कि इसमें क्या रखा है, वे उसे खोलने का प्रयत्न करने लगे। इतने में ही पेटी अपने आप ही फट से खुल गई। वे दोनों क्या देखते हैं, कि उसमें पीले वस्त्र पहिने अग्निशिखा के समान, सुवर्ण की कान्ति को भी लज्जित करने वाली, अत्यन्त सुन्दरी मनोहर गुड़िया की तरह सजी हुई एक नववधू बैठी है। उसके सौन्दर्य को देखकर कुमार तो हक्के-बक्के से रह गये। पृथ्वी पर इतना अनिन्द्य सौन्दर्य आज तक उन्होंने नहीं देखा था। पूछने से पता चला, ये ही कौशलराज की कन्या राजकुमारी कौशल्या हैं। कुमार ने उसी समय अपना मन प्राण तथा

सर्वस्व उस अनुपम सुन्दरी के ऊपर अर्पित कर दिया। उन्होंने सुमन्त से कहा—"आओ, भैया! हम भी इसी पेटी में बैठ जायँ जो इनकी गति वही हमारी गति।"

सुमन्त ने कहा—"महाराज! मैं तो बैठ नहीं सकता। किसी भी स्त्री के साथ एकान्त में ऐसे सटकर बैठना शास्त्र विरुद्ध है।"

कुमार ने बड़ी दीनता से कहा—"भैया! देखो, आपत्ति में मर्यादा नहीं होती। मैं इन्हें छोड़कर अब कहीं जा नहीं सकता। जो इनकी गति सो मेरी गति। तुम मेरी बात मानलो और अब देर न करो।"

सुमन्त ने कहा—"महाराज! एक उपाय तो है। आपके विवाह की यही लग्न है। आप दोनों यहाँ धर्मपूर्वक विवाह करलें, तब तो ये धर्म से मेरी माता हो जाईं। माता-पिता के साथ बैठना धर्म विरुद्ध नहीं है।"

कुमार ने कहा—"अच्छा भैया, यही सही। दो लकड़ी घिसकर अग्नि जलाओ। अग्नि को साक्षी करके हम दोनों धर्म-पूर्वक पति-पत्नी हो जायें।"

सुमंत ने ऐसा ही किया, अग्नि जलाई और कुमार ने त्रैलोक्य सुन्दरी राजकुमारी कौशल्या का शास्त्र विधि से पाणि-ग्रहण किया और फिर वे तीनों जाकर उस पेटी में बैठ गये। पेटी बड़ी थी, तीनों सुखपूर्वक उसमें आगये। वह भीतर से भी बन्द होती थी और बाहर से भी। तीनों जब बैठ गये, तो वह पेटी बन्द हो गई।

इतने में ही वह तिमिङ्गिल अपने शत्रु को मारकर तीर पर आया। पेटी वहाँ रखी थी, उसने उठाकर उसे मुँह में रख

लया। इतने बड़े जन्तु के लिये जैसे एक वैसे ही तीन। उसे कोई बोझ नहीं प्रतीत हुआ। उसके मुँह में वह सन्दूक सरसों के समान प्रतीत होता था।

जब तीन दिन बीत गये तब रावण ने हँसते हुए ब्रह्माजी से पूछा—"कहिये महाराज, विधाताजी! कौशल्या और दशरथ का विवाह हो गया क्या?"

ब्रह्माजी ने बड़ी सरलता से कहा—"हाँ, भैया! हो गया। उसी लग्न में विधिपूर्वक दोनों पति पत्नी हो गये।"

यह सुनकर रावण हँसा और बोला—"यदि नहीं हुआ हो तो?"

ब्रह्माजी बोले—"तो क्या? न हुआ हो तो हम ब्रह्म पद छोड़ देंगे।"

रावण को आश्चर्य भी हुआ और हँसी भी आई। आश्चर्य इसलिये कि ब्रह्माजी बड़ी दृढ़ता से कह रहे हैं, कुछ दाल में काला तो नहीं है? हँसी इसलिये आई कि मैं दशरथ को मार आया हूँ, फिर भी ये कह रहे हैं—नियत समय पर विवाह हो गया। यह सोचकर वह बोला—"अच्छी बात है, महाराज! अभी विराजे रहिये। मैं आपको प्रत्यक्ष दिखाता हूँ।"

इतना कहकर वह आकाश में उड़ा और तिमिङ्गिल के समीप पहुँचा। वहाँ जाकर उसने पेटी माँगी। उसने बड़ी सावधानी के साथ पेटी उसे सौंप दी। उसे लेकर रावण लङ्का में आया और हँसते हुए ब्रह्माजी से बोला—"पितामह! आप तो कहते थे, कौशल्या का दशरथ के साथ विवाह हो गया, कौशल्या तो तीन दिन से इनमें बन्द हुई बैठी है।"

बूढ़े ब्रह्माजी ने वृद्धावस्था की गंभीरता के स्वर में कहा—"बेटा, इसे खोलकर देखो। इसमें क्या है ?"

रावण खोलकर देखता है, तो उसमें तो गुड्डा गुड़ियों की तरह वहू और दुल्हा बैठे हैं। पास ही सुमन्त बैठा है। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पितामह से पूछने लगा—"महाराज, यह कौन हैं ?"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"अरे, उतावले! यही महाराज अज के पुत्र महाभाग कुमार दशरथ हैं। इनको ही मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के पिता बनने का देव दुर्लभ पद प्राप्त होगा।"

इस पर रावण बड़ा कुपित हुआ और अपनी तलवार निकाल कर दशरथजी का सिर काटने को उद्यत हो गया। उसने कहा—"मैं अभी इसका सिर काटे देता हूँ। जब वृक्ष की जड़ ही न रहेगी तो फल कैसे लगेंगे ? बाँस ही न रहेगा, तो बाँसुरी कैसे बनेगी ?"

इस पर उसे रोकते हुए ब्रह्माजी ने कहा—"बेटा! इतने उतावले मत बनो। प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता। विधि का विधान व्यर्थ नहीं बन सकता। तुमने विवाह रोकने के कितने प्रयत्न किये, सभी व्यर्थ हुए। अब यदि तुम इन्हें मारोगे भी तो ये मर नहीं सकते। यदि मरें भी तो अभी इनके रक्त से रामचन्द्र उत्पन्न होकर तुम्हें यहीं मार डालेंगे। इसलिये तुम अकाल में कालकवलित क्यों होते हो ? चुपचाप इन्हें उठाकर अभी अयोध्या के समीप डाल आओ, नहीं तुम्हारी कुशल नहीं। अभी क्षण भर में तुम्हारा सभी ऐश्वर्य विलीन हो जायगा।"

इस बात से रावण डर गया। पापी का हृदय ही कितना होता है ? उसने सोचा—कह तो ठीक रहे हैं, मेरे सभी

प्रयत्न विफल रहे। अब मैं इसी समय जान बूझकर अपनी मृत्यु क्यों बुलाऊँ। यही सब सोच समझकर वह उसी समय उस पेटी को लेकर उड़ा और अयोध्या के समीप रख कर लंका में आ गया। ब्रह्माजी अपने लोक में चले गये। महाराज अज जो बड़े व्याकुल हो रहे थे, वे पुत्र-वधू सहित अपने पुत्र को पाकर परम प्रसन्न हुए और अनेक प्रकार के दान धर्म करने लगे।

"सो, शौनकजी! विधि का विधान बड़ा प्रबल है, भावी को कोई मेट नहीं सकता। महाराज परीक्षित् धर्मात्मा थे, उनकी रानी को सब मालूम था, वह इसीलिए बार-बार मना भी करती थी। राजा कभी भूल में भी ब्राह्मणों पर क्रोध नहीं करते थे, मन से भी कभी किसी तपस्वी का तिरस्कार नहीं करते थे, किन्तु उस दिन प्रारब्ध वश सहसा अभूतपूर्व घटना घट गई। राजा को क्रोध आ गया, उन्हें समाधि में स्थित शमीक मुनि के प्रति ईर्ष्या और मत्सर के भाव उत्पन्न हुए। वे अपने अपमान का बदला लेने के लिए ऋषि की समाधि की अवहेलना करते हुए उनकी परीक्षा लेने लगे। पास में ही पड़े एक मरे साँप को ऋषि के गले में डालकर वे इस बात की परीक्षा करना चाहते थे, कि देखें, सचमुच यह मुनि समाधि में स्थित है या मुझे देखकर ढोंग बनाकर अकड़ में बैठ गया है।"

यह सुनकर शौनकजी को बड़ा दुःख हुआ और वे पूछने लगे—"सूतजी! फिर क्या हुआ। यह तो बड़ा अन्याय राजा ने किया। राम-राम धर्मात्मा राजा को ऐसी बुद्धि भ्रष्ट क्यों हो गई।"

सूतजी बोले—"महाभाग! मैं सब सुनाऊँगा। थोड़ी देर मैं भगवान् वासुदेव का ध्यान कर लूँ।" यह कह सूतजी क्षणभर के लिए चुप हो गये।

छप्पय

रावण जैसो शूर वीर बल को गरवीलो।
पुरुषारथ लखि व्यर्थ भयो चिन्तित अति ढीलो॥
दसरथ हों वर बधू कुमारि कौशल्या वरिहैं।
तिनतें होवें राम वही तोकू रण मरिहैं॥
ब्रह्मदेव तें सुनी अस, कुमर डुबाय कुमारि ले।
लङ्का आयो तउ भयो, ब्याह देखि खल कर मले॥

मुनि के गले में मरा सर्प डालकर लौटना

(७८)

स तु ब्रह्मऋषेरंस गतासुमुरग रुपा ।
विनिर्गच्छन् धनुष्कोट्या निधाय पुरमागतम् ॥
एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः ।
मृषासमाधिराहोस्वित किं नु स्यात् क्षत्रबन्धुभिः ॥१

(श्रीभा० १।स्क० १८ अ० ३१, ३० श्लो०)

छप्पय

होनहार नहिं होय अन्यथा काहू विधि तें ।
मृत्यु टरे नहिं जोग जग्य तप रिद्धि सिद्धि तें ॥
नृप सोचें—'मुनि नेत्र मूँदि का ध्यान लगावे ।
अथवा देखत मोहि अकड़ि कै ढोंग बनावे ॥
लैन परीक्षा मुनि गरे, मृत अहि डारयो कुपित अति ।
आश्रम तें निकसे तुरत, पहुँचे निजपुर मँह नृपति ॥

जिनसे जिस बात की स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती, यदि दैवयोग से उनके द्वारा वैसी घटना घटित हो जाती है, तो दुष्ट लोग अपनी दुष्टता वश उनकी भर पेट निन्दा

---

१ महाराज परीक्षित् ने सोचा "यह मुनि क्या वास्तव में अपनी समस्त इन्द्रियों से उपरत होकर अपने नेत्र बन्द किये हुए बैठा है अथवा

करते हैं, किन्तु सज्जन पुरुष समझ लेते हैं, विधान ऐसा ही होने वाला था। प्रारब्ध के वशीभूत ही होकर उनके द्वारा ऐसा विपरीत आचरण संभव हो सका। होनहार ऐसी थी। यही सब सोचकर और भली प्रकार स्वस्थ होकर अपने आप ही सूतजी कहने लगे—"मुनियो! जैसा समय होता है, वैसे ही आशा दिखाई देने लगते हैं। वसन्त आते ही स्वतः वृक्षों के पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और उनके स्थान में नूतन छोटे-छोटे कोंपल निकलने लगते हैं। वर्षा समाप्त होते ही अपने आप वायु ठंडी हो जाती है, गर्मी समाप्त होकर सर्दी पड़ने लगती है। युवावस्था में पदार्पण करते ही लड़के लड़कियों के विशिष्ट अंग अपने आप ही बढ़कर यौवनावस्था की सूचना देने लगते हैं। आपका समय बँधा है। सब संयोग निश्चित हैं। जैसी भवितव्यता होती है वैसे ही बानक बन जाते हैं। जहाँ जीव की मृत्यु होती है, वहाँ वह इच्छा न होने पर भी चला जाता है। इस सम्बन्ध में मैं आपको एक अत्यन्त ही महत्व का इतिहास सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

"एक दिन की बात है, कि भगवान् विष्णु अपने गरुड़ पर चढ़कर लक्ष्मीजी को साथ लिए हुए घूमते फिरते भगवान् भूतनाथ की पुरी वाराणसी में पहुँच गये। भूतपति भगवा-

---

यह सोचकर कि "इन नीच क्षत्रियों से हमें क्या प्रयोजन" इसने अपनी आँखें मीच ली हैं। इसकी परीक्षा करने के निमित्त ही राजा ने क्रोध में भरकर आश्रम में लौटते हुए एक मरा सर्प अपने धनुष की नोक से उठाकर, मुनि के गले में डाल दिया और अपनी राजधानी को लौट आये।

भोलानाथ के दर्शन करने के निमित्त वे गरुड़जी को द्वार पर ही छोड़कर चले गये। इतने में ही अपने भैंसे पर चढ़े हुए दंडपाणि यमराजजी भी आ पहुँचे। द्वार पर गरुड़जी को देखकर यमराज जी उन्हें प्रणाम किया और हँसते हुए बोले—"गरुड़जी ! आप यहाँ कैसे खड़े हैं ?"

गरुड़जी ने कहा—"भगवान् भीतर दर्शन करने पधारे हैं, मैं यहाँ खड़ा-खड़ा उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

यमराज ने कहा—"अच्छा, भगवान् पधारे हैं ? मैं भी दर्शन कर आऊँ।' यह कहकर वे भी अपने लम्बे-सींगों वाले नीलाञ्जन पर्वत के समान भैंसे को द्वार पर छोड़कर भीतर चले गये। जब यमराज मन्दिर के दरवाजे से भीतर घुस रहे थे, तो उन्हें वहाँ एक बड़ा ही सुन्दर स्वस्थ कबूतर प्रसन्नता के साथ चहकता हुआ दिखाई दिया। अपने गले को फुलाकर अपनी स्त्री के साथ वह सुख के साथ क्रीड़ा कर रहा था। उसे देखकर यमराज हँसे और तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए भीतर चले गये। यमराज की जिसे देखकर भौंहें तन जायँ, जिसे देखकर वे सूखी हँसी हँस दें, समझ लो उसका अन्त समय आ गया। यह सोचकर कबूतर का सभी आनन्द विलीन हो गया। वह मारे डर के थर-थर काँपने लगा। उसका मुख म्लान हो गया और इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। टहलते हुए गरुड़जी भी दरवाजे के समीप आ पहुँचे। गरुड़जी तो सब पक्षियों के राजा ही ठहरे। कबूतर को इस प्रकार दुखी देखकर दयावश वे उससे बोले—"कपोतराज ! तुम इतने दुखी क्यों हो रहे हो। अपनी चिन्ता का कारण मुझे बताओ

तुम मेरी प्रजा हो, मैं भगवान् चक्रपाणि का वाहन हूँ। मैं सब कुछ करने में समर्थ हूँ, तुम्हारे दुःख को मैं सभी उपायों से मेटने में समर्थ हूँ। बोलो, तुम्हें क्या चिन्ता है? मैं तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य करूँ?"

कबूतर ने काँपते हुए कहा—"हे पक्षिराज! हे दीनबन्धो! अभी यमराज मुझे देखकर भौंहें तानते हुए मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से मुस्कराते हुए गये हैं। इससे मैं समझता हूँ मेरा अन्त समय निकट आ गया है।"

गरुड़जी ने यह सुनकर बड़ी दृढ़ता के साथ कहा—"अरे, तुम इस बात से इतने चिन्तित क्यों हो रहे हो? आओ मेरी पीठ पर बैठो, मैं अभी तुम्हें लोकालोक पर्वत पर पहुँचा दूँ, जहाँ तुम्हें किसी जीव से भय नहीं।"

'मरता क्या न करता?' कबूतर बिना सोचे समझे गरुड़जी की पीठ पर बैठ गया। गरुड़जी वायु से भी अधिक वेग से उड़े और एक मुहूर्त भर में वे इस पृथ्वी मंडल के पार लोकालोक पर्वत पर पहुँच गये। उस कबूतर को वहाँ बैठाकर तुरन्त लौट आये कि कहीं भगवान् निकल न आवें। गरुड़जी इतने वेग से उड़े थे, कि उनके सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकल रहा था। बड़ी शीघ्रता से वे लम्बी-लम्बी साँस ले रहे थे। इतने में ही यमराज विश्वनाथजी को प्रणाम करके बाहर निकल आये। उन्होंने जब गरुड़जी की ऐसी दशा देखी तो पूछा—"महाभाग गरुड़जी! आप इतने हाँफ क्यों रहे हैं? अभी-अभी तो आप बड़े आनन्द से खड़े थे। इतनी ही देर में आपका सम्पूर्ण शरीर पसीने से क्यों भीग गया? आप थके हुए भी प्रतीत होते हैं? इसका क्या कारण है?"

अत्यन्त उपेक्षा के साथ, गरुड़जी बोले—"क्या बतावें यमराज, तुम सबको तङ्ग करते हो। तुम्हारी सूरत से सभी भयभीत हो जाते हैं। तुम्हारे दर्शन सभी को भयानक हैं। तुम्हारी हँसी भी विष बुझे खड्ग के समान है। तुम्हारी हँसी के कारण ही हमें इतना कष्ट उठाना पड़ा।"

सब समझते हुए भी बनावटी व्यग्रता दिखाते हुए यमराज बोले—"बात तो बताओ! तुम्हारे सामने मैं क्या कर सकता हूँ? तुम तो मेरे स्वामी भगवान् विष्णु को भी ले जाने वाले हो। उनको भी युद्ध में सन्तुष्ट करनेवाले हो। तुम्हारी जिह्वा पर तो सदा भगवान् का नाम रहता है। इसलिये तुमको तो मुझसे भय न होना चाहिये।"

गरुड़जी हँसते हुए बोले—"अजी, मुझे भला आपसे क्या भय होना था? मैं तो अपने स्वामी के नाम के प्रभाव से आपको भी भयभीत कर सकता हूँ, किन्तु आप जो जाते समय उस कबूतर को देखकर हँसे थे, वह आपसे बहुत अधिक डर रहा था। मैं उसे निर्भय बनाने को अभी-अभी लोकालोक पर्वत पर छोड़ आया हूँ, जहाँ कोई जीव जन्तु नहीं। अब आप मुझे यह बताइये कि आप उसे देखकर हँसे क्यों?"

इतना सुनते ही यमराज अट्टहास करते हुए और भी बड़े जोर के साथ हँसते हुए कहने लगे—"गरुड़जी! मैं हँसा था, विधि विधान पर। आप जानते ही हैं, हम स्वयं किसी को मारने में समर्थ नहीं। ब्रह्मदेव जिसके लिये जैसा विधान बना देते हैं, जिस स्थान पर जिसके द्वारा जिस जीव की मृत्यु निश्चय कर देते हैं, मेरा मन्त्री मृत्यु उसी काल में वहाँ से

प्राणी को उठा लाता है। इस कबूतर की मृत्यु दो मुहूर्त बाद लोकालोक पर्वत पर रहने वाली एक बिल्ली के द्वारा लिखी थी। मैं यह सोचकर हँसा था, कि दो मुहूर्त में इसकी मृत्यु लोकालोक पर्वत पर बिल्ली के द्वारा होनी है। यदि यह अपने पंखे से उड़े, तो हजारों वर्षों में भी नहीं पहुँच सकता। यदि वह बिल्ली ही स्वयं चलकर इसे यहाँ खाने आवे, तो अरबों वर्षों में भी नहीं आ सकती। मृत्यु इसकी दो मुहूर्त के अन्दर ही है, कैसी होगी ? सो, गरुड़जी ! आपने उसे मृत्यु के द्वार पर ले जाकर पहुँचा दिया। वह बिल्ली भूखी थी, आज उसे भोजन न मिलता, तो मर जाती। अब उस कबूतर को खाकर वह तो जीवित हो गई और कबूतर मेरे लोक में पहुँच भी गया।"

यह सुनकर गरुड़जी भी हँसे और बोले—"भैया, विधि का विधान ऐसा ही अटल है। उसे अन्यथा करने की किसमें शक्ति है। उसी विधान के वशीभूत होकर अहङ्कार वश मैं उसे लोकालोक पर्वत पर छोड़ आया।" यह सुनकर हँसते हुए यमराज अपने लोक में चले गये और गरुड़जी भगवान् को लेकर वैकुण्ठ धाम की ओर उड़ गये।

सो, शौनकजी ! महाराज परीक्षित् को भावी ही इस ओर ले आई। यदि घड़ी भर पीछे महाराज आते, तो यह घटना घटित न होती। मुनि समाधि से निवृत्त होकर राजर्षि परीक्षित् का स्वागत करते, उन्हें पाद्य, अर्घ्य, फल, मूल देकर सत्कृत और सन्तुष्ट करते, किन्तु जो घटना जिस काल में होने वाली होती है, वह उसी काल में घटित हो जाती है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! राजा ने मरा हुआ सर्प मुनि के गले में क्यों डाला ? यदि उन्हें उनका कुछ

अनिष्ट करना ही अभीष्ट था, तो जीवित सर्प डालते ? फिर ऋषि तो अहिंसा व्रती होते हैं, उनके आश्रम में तो स्वाभाविक वैर वाले जन्तु भी अपना नैसर्गिक वैर त्याग देते हैं। फिर वहाँ मरा सर्प कहाँ से आया ? ऋषि के उस पवित्र आश्रम में सर्प को किसने मार दिया ?"

यह सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"मुनियो ! मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ, काल सब कुछ करा लेता है। तक्षक नाग के परिवार को जलाने के लिये अग्निदेव बहुत उत्सुक थे। किन्तु जिस समय खांडव वन जलाया गया, उस समय संयोगवश तक्षक कुरुक्षेत्र चला गया था, अतः वह तो बच गया, किन्तु उसकी पत्नी को, जो अपने पुत्र अश्वसेन को मुँह में दबाये हुए भागी जा रही थी, अर्जुन ने मारा। उसके मुँह में से उसका बच्चा अश्वसेन जीवित ही निकल गया। उसने अर्जुन से अपनी माता के मारने का बदला लेने के लिये कर्ण-अर्जुन के युद्ध में चेष्टा की। वह कर्ण के समीप जाकर बोला—"तुम मुझे बाण में चढ़ाकर अर्जुन पर छोड़ो। मैं उसे मार डालूँगा। किन्तु कर्ण वीर और स्वाभिमानी थे। उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया। वे गर्व के साथ बोले—"कर्ण दूसरे के बल पर युद्ध नहीं करता। मैं तुम्हारे ऐसे अनुचित प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकता। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो चले जाओ।' किन्तु वह दुष्ट तो अर्जुन का प्राण लेने पर उतारू था। एक बार तो वह छिपकर वह कर्ण के बाण पर बैठ गया था और अर्जुन को मारने गया था। परन्तु जिसके रथ पर श्याम-सुन्दर स्वयं रक्षा के लिये बैठे हैं, उसे ऐसे करोड़ों नाग मारने में समर्थ नहीं हो सकते। श्रीकृष्ण ने कर्ण के बाण पर बैठे हुए नाग को आते देखकर घोड़े बिठा दिये। निशाना

व्यर्थ गया। जब दुबारा कर्ण ने उसे फटकार दिया, तो वह अकेला ही अर्जुन को मारने चला। तब वह अश्वसेन नाग अर्जुन

के बाणों से कटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इससे तक्षक और

भी कुपित हुआ। पांडवों का तो कुछ बिगाड़ न सका, अब उनके वंशज परीक्षित् से उसका बदला लेना चाहता था। शौनकजी! वह विचारा क्या बदला लेना चाहता था, उसी के द्वारा महाराज की मृत्यु का विधान निश्चित था। इसीलिये वही सर्प वहाँ मृतक बनकर पड़ गया था। नहीं तो, वहाँ मरे सर्प का ऋषि के आश्रम में क्या काम। रही जीवित सर्प डालने की बात? सो, राजा कुछ मुनि के प्राण लेना तो चाहते ही नहीं थे। भूख प्यास के कारण उनको मुनि के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो आई थी। केवल परीक्षा के लिए उन्होंने सर्प डाल दिया, कि ये ढोंग बना रहे होंगे, तो गुलगुले सर्प का स्पर्श पाते ही चौंक उठेंगे। तब मैं कहूँगा—"कहो, ढोंगी मुनि! तुम्हारी समाधि अब कहाँ चली गई?"

सर्प डालने के अनन्तर राजा को ध्यान ही नहीं रहा। वे आश्रम से बाहर आये। उनके साथी भी उनके घोड़े के पदचिह्नों को देखते हुए वहाँ आ पहुँचे। महाराज ने जल्दी से जल पिया और अतिकाल समझकर बिना उस सर्प को मुनि के गले से निकाले ही अपने नगर को चले गये।

छप्पय

पूछैं शौनक—सूत! सर्प कौन तहँ डारयो।
मुनि आश्रम अति शांत जीव किहि अहिकूँ मारयो॥
सभी भाग्यवश करहिं, सूत समझावहिं पुनि पुनि।
मारे किनकूँ कौन—कौन जीवन देवे मुनि॥
अजी, कहा पूछहिं प्रभो! विधि विधान अति विकट है।
बने बुद्धि वैसी वहीं, मृत्यु जहाँ जिहि निकट है॥

आगे की कथा खण्ड ५ में पढ़िये।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री बदरीनाथ-दर्शन

(*श्रीब्रह्मचारीजीका एक अपूर्व महत्वपूर्ण ग्रन्थ*)

श्रीब्रह्मचारीजीने अनेकों बार श्रीबदरीनाथजीकी यात्रा की है। यात्रा ही नहीं की है, वे वहाँ महीनों रहे हैं। उत्तराखण्डके छोटे बड़े सभी स्थानोंमें वे गये हैं उत्तराखण्ड कैलाश, मानसरोवर, शतोपन्थ, लोकपाल और गोमुख ये पाँच स्थान इतने कठिन हैं कि जहाँ पहाड़ी भी जानेसे भयभीत होते हैं। उन स्थानोंमें ब्रह्मचारीजी गये हैं वहाँका ऐसा सुन्दर सजीव वर्णन किया गया है, कि पढ़ते-पढ़ते वह दृश्य आँखों-के सम्मुख नृत्य करने लगता है। उत्तराखण्डके सभी तीर्थों-का इसमें सरस वर्णन है, सबकी पौराणिक कथायें हैं। किंवदन्तियाँ हैं, इतिहास हैं और यात्रावृत्त हैं। यात्रा सम्बन्धी जितनी उपयोगी बातें हैं सभीका इस ग्रन्थमें समावेश है। बदरीनाथजीकी यात्रा पर इतना विशाल महत्वपूर्ण ग्रंथ अभी तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ। आप इस एक ग्रंथसे ही घर बैठे उत्तराखण्डके समस्त पुण्यस्थलोंके रोमाञ्च-कारी वर्णन पढ़ सकते हैं। अनुभव कर सकते हैं। यात्रामें आपके साथ यह पुस्तक रहे तो फिर आपको किसीसे कुछ पूछना शेष नहीं रह जाता। लगभग सवा चार सौ पृष्ठकी सचित्र सजिल्द पुस्तकका मूल्य ४. रुपया मात्र है थोड़ी ही प्रतियाँ हैं, शीघ्र मँगावें दूसरा संशोधित संस्करण छप गया है।

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(खण्ड ५)

★

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-

पंचम संस्करण
१००० प्रति] पौष कृष्णा २०२९
दिसम्बर १९७२ [मूल्य २) रु०

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठाङ्क
१. महाराज परीक्षित् को शाप	...	१
२. महाराज परीक्षित् का पश्चात्ताप	...	१४
३. गङ्गातट पर महाराज परीक्षित्	...	२२
४. महाराज परीक्षित् का पारमार्थिक प्रश्न	...	३०
५. मुनि मण्डली में श्रीशुक का शुभागमन	...	४०
६. श्रीशुकजी से पारमार्थिक प्रश्न	...	४९
७. महाराज परीक्षित् के प्रश्न का उत्तर	...	५७
८. समय की न्यूनता पर राजर्षि खट्वाङ्ग का दृष्टान्त		६८
९. भागवती कथा का पुनीत प्रश्न	...	७५
१०. कथारम्भ	...	८६
११. सूकरावतार	...	९८
१२. अवतार कथा	...	१०४
१३. श्रीराम-कृष्णावतार	...	११३
१४. अन्य अवतार-कथा	...	१२६
१५. परीक्षित् की दृढ़ता और विविध प्रश्न	...	१३५
१६. ब्रह्माजी की तपस्या तथा वैकुण्ठ दर्शन	...	१४६
१७. पञ्चश्लोकी भागवत	...	१५७
१८. दस लक्षण वाली भागवत	...	१७६
१९. विराट् ब्रह्माण्ड वर्णन	...	१८७
२०. विराट् पुरुष की कर्मेन्द्रियादिकों की उत्पत्ति	...	१९८
२१. श्री भागवत की दूसरी परम्परा का उपक्रम	...	२०९

...०...

महाराज परीक्षित् को शाप

(७९)

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः ।
राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ॥
इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।
दंक्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० १८ अ० ३२–३७ श्लोक)

छप्पय

हो मुनिको इक पुत्र संयमी परम तपस्वी ।
धरम करम महँ निरत तपोनिधि महायशस्वी ॥
पिता अवज्ञा सुनी कोप अति मन महँ आयो ।
मुनि पुत्रनि के निकट क्रोध करि बचन सुनायो ॥
अरे दुष्ट क्षत्रिय अधम, ऐसो साहस करि सके ।
गरुड़ गरे में काटि अहि, कहु को जीवित रहि सके ॥

क्रोध तभी आता है, जब कोई हमारी इच्छा का विघात

---

* उन शमीक मुनि का एक अत्यन्त तेजस्वी पुत्र अन्य ऋषिकुमारों के साथ आश्रम से दूर खेल रहा था। उसने जब सुना, कि राजा ने आकर मेरे पिता के गले मे सर्प डालकर उनका अपमान किया है, तो वह क्रोध मे भरके कहने लगा—'धर्म की मर्यादा को तोड़ने वाले, मेरे पिता के साथ व्यर्थ ही द्रोह करने वाले इस कुल कलङ्क राजा को मेरी प्रेरणा से, आज के सातवे दिन तक्षक नाम का सर्प डस लेगा।"

करता है। जो हमारे मनमाने कार्यों में हस्तक्षेप करता है। जो हमारी बात नहीं मानता उसके प्रति प्रथम मन में क्रोध आता है। त्रिगुणातीत महापुरुषों को छोड़कर क्रोध सभी को आता है, किन्तु जो अपने को सब प्रकार से बलहीन दुर्बल समझता है, उसका क्रोध भीतर ही भीतर उसी प्रकार जीर्ण हो जाता है, जैसे उपवास करने से पेट में बढ़ा हुआ अजीर्ण पचकर जीर्ण हो जाता है। इसके विपरीत यदि मनुष्य बलवान् है, तो उसका क्रोध प्रचण्ड होता है और वह जिस पर क्रोध हुआ है, उससे बदला लेकर ही क्रोध शान्त करेगा। जिसे जितना ही अधिक अभिमान होगा, उसका उतना ही अधिक क्रोध भीषण होगा। अभिमान के मुख्य पाँच ही कारण हैं—

१—अच्छे श्रेष्ठ सम्मानित कुल में जन्म होना।

२—विविध प्रकार के ऐश्वर्यों के उपभोग से भी अभिमान बढ़ता है, कि देखो हम कितने ऐश्वर्यशाली हैं।

३—विद्या का भी बड़ा अभिमान होता है।

४—धन और अधिकार के अभिमान का तो कुछ कहना ही नहीं। इन्हें पाकर तो मनुष्य अन्धा ही हो जाता है।

५—इन सबसे बढ़कर अभिमान त्याग और तपस्या का होता है। यदि भक्तिहीन तप और त्याग हैं, तो वे अभिमान को अत्यधिक बढ़ाने वाले होते हैं। असली भक्त के सम्मुख अभिमान नहीं आता क्योंकि भक्ति का वाहन है विनय—दीनता अथवा नम्रता। जहाँ नम्रता पर चढ़ी हुई भक्ति उपस्थित है, वहाँ अभिमान उसी प्रकार नहीं रह सकता, जिस प्रकार बिल्ली के भय से चूहे नहीं रहते। गरुड़ के भय से जिस प्रकार सर्प भाग जाते हैं, हृदय में भगवन् भक्ति के उदय होने पर—ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर—अहङ्कार कुछ कर नहीं सकता। क्रोध का कारण ही नष्ट हो जाता है।

महाराज परीक्षित् को शाप

राजा परीक्षित् को उस समय अपने राज्य का तथा एश्वर्य का अभिमान हो आया। मुकुट में बैठे कलियुग ने उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। श्रेष्ठता के अभिमान ने ईर्ष्या और मत्सरता का स्थान दिया। भूख प्यास के कारण क्रोध ने अपना यथार्थ रूप प्रकट कर दिया। जब मरे सर्प को मुनि के गले में डालकर राजा चले गये, तब संयोगवश मुनियों के बालक वहाँ खेलते हुए आ पहुँचे। महातेजस्वी शमीक मुनि के गले में मरा सर्प देखकर और आश्रम से घोड़े पर चढ़कर राजा को जाते देखकर बच्चे दौड़ते हुए नदी तट पर गये। वहाँ शमीक मुनि का एक तेजस्वी बालक अन्य ऋषिकुमारों के साथ खेल रहा था। लड़कों ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा—"अरे शृङ्गी! भैया, तू यहाँ खेल रहा है, तुझे कुछ अपने पिता का भी पता है, उनके साथ कैसी दुर्घटना घटित हो गई?"

ऋषि पुत्र ने पूछा—"क्या हुआ? भैया! बताओ, मेरे पूज्य पिताजी तो समाधि में स्थित थे, उनके साथ क्या घटना घटित हो सकती है?"

ऋषिकुमारों ने कहा—"उन्होंने स्वयं कुछ नहीं किया। इस देश का राजा परीक्षित् आया था, वह उनके गले में मरा सर्प डालकर चला गया।"

कुमार ने पूछा—"हँसी तो नहीं करते? सच बात है?"

कुमारों ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"भैया, तू ही अपने को बड़ा सत्यवादी समझता है। हम ऋषिकुमार नहीं हैं? हम तो कभी भूलकर हँसी में भी झूठ नहीं बोलते। इतने पर भी तुझे हमारी बात पर विश्वास न हो तो चलकर देख ले।"

अब तो शमीक पुत्र को बड़ा क्रोध आया। बच्चा ही था, उसे अपने ब्राह्मणपने का, तपस्वी होने का-अभिमान था, ब्रह्म तेज के कारण वह ग्रीष्म-ऋतु की अग्नि की भाँति जाज्वल्य-

मान था, जिसे स्पर्श करने का सहसा किसी को साहस नहीं होता। क्या एक क्षत्रिय राजा ऐसा साहस कर सकता है? क्या मेरे त्रैलोक्यवंदित पूज्य पिता का मेरे रहते कोई इस प्रकार अपमान कर सकता है? यह विचार हृदय में आते ही उसके ओठ फरकने लगे, दोनों नेत्र अरुण रंग के होकर अग्नि के समान जलने लगे।

सब लड़कों को सुनाते हुए वह क्रोध में भर कर बोला—"अरे, उस अधम क्षत्रिय का ऐसा साहस? जिस पत्तल में खाय, उसी में छिद्र करे। जिन्होंने इसे राजा बनाया, उन्हीं के साथ ऐसी धृष्टता? यह तो वैसी ही बात हुई, कि एक बनिये के घर में एक कौआ रहता था। वह लड़कों की जूठन खा-खाकर बड़ा मोटा हो गया था। अब उसे गर्व हुआ, मुटाई से वह अपने को हंसों के समान समझने लगा और हंसों के साथ होड़ लगाकर मानसरोवर में उड़ने को उद्यत हुआ। जिस प्रकार वह कौआ हंसों की बराबरी न कर सकने के कारण अपने प्राण खो बैठा था, उसी प्रकार यह दुष्ट राजा भी अपने प्राणों को खोवेगा।"

दूसरे ऋषिकुमारों ने कहा—"भैया, वह इस देश का रक्षक है। उससे कोई क्या कह सकता है? समस्त प्रजा की चोर, डाकुओं और बली पुरुषों से रक्षा करता है।"

अत्यन्त क्रोध में भरकर ऋषिपुत्र ने कहा—"उसे रक्षक बनाया किसने? यज्ञ के समय हम ब्राह्मण लोग द्वार की रक्षा के लिये कुत्ता रख देते हैं कि वह द्वार की रक्षा करे। तो इसके मानी यह तो नहीं होते, कि वह आकर हमारे हवि को उच्छिष्ट करे, हमारे घृत में मुख डाले, स्रुक स्रुवा को सूँघ ले। यदि वह ऐसा साहस करेगा, तो उसके डंडे लगेंगे, कमर तोड़ दी जावेगी, कचूमर निकाल दी जायगी।"

एक दूसरे बुद्धिमान बालक ने कहा—"अरे भैया, कुत्ते की दूसरी बात है। यह राजा तो मनुष्य है, वीर है, अस्त्र-शस्त्र धारण किये है।"

क्रोध करके शृङ्गी बोला—"मनुष्य है, तो क्या अधर्म करेगा? अस्त्र-शस्त्र बाँधकर क्या अन्याय करेगा? क्या सेवक स्वामी की बराबरी कर सकता है? किसी ने अपने द्वार पर कोई पहरेदार रख दिया, कि तुम अस्त्र-शस्त्र बाँधकर घर की रक्षा करते रहो, तो क्या वह द्वारपाल भीतर घुसकर स्वामी के आसन पर बैठ सकता है? उसकी शैया का उपयोग कर सकता है अथवा उसके बर्तनों में भोजन कर सकता है? ब्राह्मणों ने ही तो क्षत्रियों को अपना रक्षक, पहरदार और द्वारपाल बनाया है, उसका काम मर्यादा के अन्दर रहकर अपने कर्तव्य का पालन करना है। उसे जहाँ बैठने को स्थान दिया गया है, वहीं बैठे। वह स्वामी का अपकार नहीं कर सकता। आज उसने यह धर्म विरुद्ध-शिष्टता से रहित-मनमाना आचरण किया है।"

ऋषिकुमारों ने पूछा—"अब तक ऐसा क्यों नहीं होता था? अब तक कोई राजा ब्राह्मणों का इस प्रकार अपमान क्यों नहीं करता था?"

शृङ्गी ने कुपित होकर कहा—"अब तक इन सबके ऊपर परम ब्रह्मदेव भगवान् वासुदेव थे। उनके रहते हुए ऐसा अधर्म करने का साहस किसका हो सकता था? ब्राह्मणों की इस प्रकार अवज्ञा को मन से भी कौन सोच सकता था। अब दुष्टों को दंड देने वाले भगवान् श्यामसुन्दर स्वधाम पधार गये। अब ये अधर्मी अपने को स्वतन्त्र समझने लगे। अब ये सोचते हैं-हमारा कोई कर ही क्या सकता है?"

ऋषिकुमारों ने विवशता के स्वर में कहा—"तब भैया, अब क्या किया जाय? भगवान् स्वधाम पधार गये, तब हम

सबको सहन करना चाहिये। हम क्षत्रिय तो हैं नहीं, कि शस्त्र लेकर अपकारी से बदला ले सकें। क्षमा ही हम ब्राह्मणों का बल है।"

अत्यन्त क्रोध के स्वर में शमीक पुत्र बोला—"क्षमा! ऐसे दुष्ट को कभी क्षमा किया जा सकता है? भगवान स्वधाम पधार गये तो क्या हुआ? हम में क्या तपस्या का बल नहीं है। अस्त्र-शस्त्र तो दुर्बल क्षत्रिय बाँधते हैं। हमारा बल तो तप है। वाणी ही हमारा अमोघ वज्र है। आज मैं उसी अमोघ वाक्वज्र से अधर्मी राजा का अन्त कर दूँगा। उस अन्यायी नरपति को शीघ्र ही अपने किये का फल भोगना होगा। अविलम्ब उसे यमराज का सदन देखना होगा। जिसने मेरे पिता के गले से मृतक सर्प का आलिङ्गन कराया है, उसे स्वयं मृत्यु से आलिंगन करना होगा।"

इतना कहकर वह शमीक पुत्र क्रोध में भरकर कौशिकी नदी के जल में आचमन करके राजा को भीषण शाप देने को उद्यत हुआ।

उस समय ऋषिपुत्र के दोनों नेत्रों से क्रोध के कारण चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं। वह अपने आपे में नहीं था। कौशिकी नदी का जल हाथ में लेकर, सभी ऋषिकुमारों को सुनाते हुए वह बोला—"जिस दुष्ट कुलाङ्गार राजा ने मेरे पिता के गले में मरा सर्प पहिना दिया है, उसे आज से सातवें दिन मेरे शासन से महा विषधर तक्षक काटेगा और उसी से उसकी मृत्यु होगी।"

इस प्रकार शाप देकर वह तेजस्वी कुमार अन्य मुनिपुत्रों के सहित अपने आश्रम की ओर चला। कुमार अभी बच्चा ही था। उसकी खेलने खाने की अवस्था थी। ऋषिपुत्र होने से वंश-परम्परागत तेज और तप उसके शरीर में व्याप्त था।

फिर भी लड़कपन का स्वभाव कहाँ जा सकता है ? आश्रम में आकर जब उसने अपने पिता के गले में बड़ा भारी मरा हुआ सर्प माला की भाँति पड़ा हुआ देखा, तो बच्चा अपने को सम्हाल न सका। वह फूट-फूटकर बड़े जोरों के साथ रुदन करने लगा। उसके रुदन को सुनकर मुनि की समाधि भङ्ग हुई और वे चारों ओर नींद में उठे पुरुष की भाँति देखने लगे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! राजा ने मुनि को कई बार पुकारा तब तो मुनि की समाधि भङ्ग हुई नहीं, और अपने बेटे का रुदन सुनते ही समाधि छूट गई, इसका क्या कारण है ? क्या सचमुच मुनि ने राजा को देखकर आँखें बन्द कर ली थीं ? नहीं तो ऐसा कैसे हो सकता है कि इतने बड़े राजा की वाणी तो सुने नहीं और छोटे बच्चे का रोना सुनते ही तुरन्त समाधि खुल जाय ? हमारे इस संशय को दूर कीजिये।"

मुनि के ऐसे प्रश्न सुनकर सूतजी कहने लगे—"महाभाग ! समाधि लगाने के पहिले समय का संकल्प कर लेते हैं, कि अमुक समय हमारी समाधि टूटे। यह सम्पूर्ण संसार सङ्कल्प के ही ऊपर अवलम्बित है। जो निःसंकल्प हो गया है, वह संसार सागर को पार कर गया है। समाधि में यद्यपि यह दृश्य प्रपञ्च नहीं रहता, किन्तु समय की अवधि समाप्त होते ही उसी समय बाह्यवृत्ति हो जाती है और इस दृश्यमान जगत् का इन्द्रियों के साथ पुनः सम्बन्ध हो जाता है इसका मैं एक बहुत ही स्थूल उदाहरण देता हूँ। कोई भी मनुष्य रात्रि में सोते समय दृढ़ता के साथ यह संकल्प करके सोवे, कि मेरी आँख उस समय खुल जाय, तो ठीक उसी समय आँखें अवश्य खुल जायँगी। उसमें एक निमेष का भी आगा पीछा न होगा।

संयोग की बात थी, जब उनका बच्चा रो रहा था, तभी समाधि के अभ्युत्थान का समय आ गया। बाह्यवृत्ति होने से मुनि का ध्यान सर्वप्रथम बच्चे के रुदन की ही ओर गया। फिर उन्होंने अपने गले में मरा हुआ काला सर्प पड़ा हुआ देखा। उसे उन्होंने हाथ से पकड़कर तुरन्त ही एक ओर फेंक दिया।

सर्प को फेंककर वे बड़े स्नेह से अपने पुत्र से पूछने लगे—"बेटा! तुम इस प्रकार क्यों रो रहे हो? किसने तुम्हें कष्ट पहुँचाया है? किस पुरुष ने तुम्हारा अपकार किया है? किस कारण से तुम्हें इस प्रकार की मानसिक व्यथा हो रही है? यह मरा हुआ सर्प मेरे गले में कैसे आ गया। इन सब बातों को मुझे बताओ, रोना बन्द करो। इस प्रकार अधीर होना ठीक नहीं!"

पिता के ऐसा पूछने पर आँसू पोंछकर कुमार शृङ्गी ने आदि से अन्त तक सभी वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—"इस देश का राजा परीक्षित् आया था। आपको समाधि में स्थित देखकर मरा सर्प आपके गले में डालकर चला गया। जब मैंने यह समाचार सुना तो उसे उसी समय यह शाप दे दिया—"आज से सातवें दिन यही सर्प तक्षक बनकर तुम्हें काटेगा।"

अपने पुत्र के मुख से शाप की बात सुनकर मुनि अपने अपमान को तो भूल गये, उन्हें पुत्र को शाप देने की बात सुन कर बड़ा दुःख हुआ। सोचने लगे—"राम-राम, इस छोकरे ने लड़कपन के कारण यह कैसा अन्याय कर डाला? भला कहीं ऐसे धर्मात्मा राजा को ऐसा भीषण शाप दिया जाता है?" वे पुत्र को डाँटते हुए बोले—"मूर्ख! यह तैंने क्या लड़कपन कर दिया? तपस्या का क्या यही फल है, कि तनिक-सी बात पर वाग्वज्र चला देना। निरपराध प्राणियों पर शाप का प्रहार कर देना।"

रोते-रोते बच्चे ने कहा—"पिताजी ! निरपराध आप उसे कैसे बताते हैं ? जो पुरुष हमारे पूज्यों का इस प्रकार अपमान करेगा, उसे हम दण्ड दिये बिना कैसे रह सकते हैं ?"

घुड़कते हुए मुनि ने कहा—"चुप रह ! आया कहीं का दंड देने वाला। ऐसे कहीं दंड दिया जाता है। यह तो अपने तप को क्षीण करना है, फिर वह भी किस पर ? किसी अन्य साधारण पुरुष पर नहीं, राजा पर जो कि साक्षात् विष्णु भगवान् का अंश माना जाता है। उसी के तेज से आज हम यहाँ घोर जङ्गल में निर्भय हुए तपस्या कर रहे हैं। उसी के पुरुषार्थ के कारण यज्ञ याग आदि धार्मिक कार्यों में दुष्ट और राक्षस आकर विघ्न नहीं करते।"

डरते हुए बच्चे ने कहा—"उसने फिर ऐसा अधर्म का काम क्यों किया ?"

ऋषि ने गम्भीरता के साथ दुःख पूर्ण स्वर में कहा—"भैया ! अभी तुम बच्चे हो। तुम्हारी बुद्धि अभी कच्ची है, तुम्हें इसके परिणाम का पता नहीं, कि तुम्हारे शाप से क्या-क्या अनर्थ हो सकते हैं ? देखो, यह राजा बड़ा धर्मात्मा है। इसके समान सदाचारी, बली, प्रतापी, प्रभावशाली दूसरा कोई राजा नहीं। तुम्हारे शाप से जब यह विष्णु स्वरूप नरदेव मर जायगा, तो पृथ्वी पर दस्यु और चोरों का प्राबल्य हो जायगा। जब चारों ओर चोर ही चोर हो जायँगे तो सभी स्थानों में लूट मार मच जायगी। एक दूसरे का धन छीन लेंगे, दूसरों के पशुओं को ले जायेंगे, कन्याओं के साथ बलात्कार करेंगे, स्त्रियों का हरण होगा। प्रजा में हाहाकार मच जायगा, जनता, इधर-उधर बिना रक्षित भेड़ों के झुण्डों के समान भागती हुई कुँओं में गिर जायगी। सर्वत्र अनर्थ और अत्याचार का बोलबाला हो जायगा। ये सब दुःख हमें भी भोगने पड़ेंगे। हम भी इस पाप

के भागीदार बनेंगे, क्योंकि हमारे ही कारण ये सब अनर्थ उत्पन्न हुए हैं।

"इतना ही नहीं। धार्मिक राजा के न रहने से वर्णाश्रम धर्म न रहेगा। वर्णाश्रम धर्म के न रहने से वेद विहित आचार भी लुप्त हो जायँगे। आचार-विचार कुल परम्परागत मर्यादा के नष्ट हो जाने से सभी वर्ण के लोग सभी वर्णों के साथ विवाह सम्बन्ध करने लगेंगे, सभी जहाँ तहाँ सबके साथ सर्वत्र बिना आचार-विचार के खाने पीने लगेंगे। काम-वासना बढ़ जायगी, लोक मर्यादा नष्ट हो जायगी, लोग कुत्ते और बन्दरों की तरह गम्या अगम्या का विचार न करके सभी वर्ण सभी प्रकार की स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न करने लगेंगे। वे वर्णसंकर सन्तानें धर्म कर्म से हीन—परलोक कार्यों से रहित—होकर पाप कर्मों में ही प्रवृत्त रहेंगी।"

कुमार शृङ्गी यह सब सुनकर बड़े दुखी हुए और रोते-रोते बोले—"मुझे यह सब क्या पता था? मैं तो उस राजा की अविनय सुनकर कुपित हो उठा। आपके प्रति ऐसा अभद्र व्यवहार मेरे लिये असह्य था। मैंने समझा—यह राजा बड़ा अहंकारी, अशिष्ट, अधार्मिक और अभक्त है, जो ऋषि आश्रम मे आकर भी ऐसा अनुचित व्यवहार करता है। इसीलिये मैंने ऐसा शाप दे दिया।"

महामुनि शमीक समस्त ममता बटोर कर रोते हुए अपने पुत्र से कहने लगे—"देखो, बेटा! महाराज परीक्षित् तो बड़े ही धर्मात्मा हैं। वे समस्त भूमण्डल के चक्रवर्ती राजा हैं। उन्होंने इस कलिकाल में भी धर्म की कितनी रक्षा की है, उनके भय से ही कोई अधर्म कार्यों में प्रवृत्त नहीं हो सकता, परदारा, परधन का अपहरण नहीं कर सकता। उन्होंने बड़े-बड़े अश्वमेध आदि यज्ञ किये हैं। उनका यश त्रिभुवन में व्याप्त है। इतना ही नहीं

वे बड़े यशस्वी हैं, वे भगवान् वासुदेव के अनन्य भक्त भी हैं। भगवान् ने गर्भ में ही उन्हें दर्शन दिया और गदा से उनकी द्रोण पुत्र अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से रक्षा की। उन्हें ऐसा शाप देना कहाँ तक उचित है ?"

कुमार ने उदास मन से कहा—"पिताजी ! जब राजा इतने भगवत् भक्त, यशस्वी, तेजस्वी और धर्मात्मा हैं, तो उन्होंने यह अनुचित कार्य क्यों किया ? उन्होंने आप जैसे तपोनिधि का अपमान क्यों किया ? आपके गले में मृतक सर्प डालने से उनका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हुआ ?"

महामुनि बड़ी गम्भीर वाणी में बोले—"बेटा ! समय बड़ा बलवान है। वही सब करा लेता है। कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं, कि मनुष्य का सभी विवेक नष्ट हो जाता है। तुम ध्यानपूर्वक राजा की परिस्थिति पर विचार करो। एक तो सम्राट हर समय सहस्रों दास दासी उनकी सेवा में लगे रहते हैं। संकेत पाते ही उनकी समस्त आज्ञाओं का तत्क्षण पालन होता है। बाहर जहाँ भी वे जाते हैं, बड़े-बड़े राजा पहिले से ही उनके स्वागत सत्कार के लिये प्रस्तुत रहते हैं। सदा से ऐसा होते रहने से उनका ऐसा स्वभाव बन गया है। यहाँ वे अकेले ही आये थे। वे सदा हमसे सम्मान पाते रहे हैं, यही आशा उन्हें अब भी थी। यहाँ आने पर एक तो उनका सम्मान नहीं हुआ। बुलाने पर कोई उत्तर नहीं मिला। माँगने पर भी उन्हें पानी तक प्राप्त नहीं हुआ। भूख प्यास से वे इतने व्याकुल हो रहे थे, कि उनका विवेक नष्ट हो गया था। ऐसी दशा में यदि उन्होंने कोई तनिक-सा अनुचित कार्य मान लो, कर भी दिया, तो उसके बदले में हम लोगों को उन्हें ऐसा घोर शाप देना क्या उचित है ? छिः तुमने यह बहुत ही बुरा कार्य किया। अभी तुम बच्चे हो, बुद्धि के कच्चे हो, कर्तव्याकर्तव्य का तुम्हें ज्ञान नहीं। अव्यग्र भाव

से जो हम सबकी सदा सेवा करता रहता है, ऐसे निरपराध सेवक से कभी कोई अपराध बन भी जाय, तो हमें क्षमा करना चाहिये।"

बच्चे को इस प्रकार डाँट-डपटकर मुनि अत्यन्त दुखी हुए। अब कोई दूसरा उपाय था नहीं। अतः आँखें बन्द करके वे सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव से प्रार्थना करने लगे—"हे प्रभो! लड़कपन के कारण मेरे इस अबोध बालक ने जो उन राजा का अपराध किया है, हे घट-घट के व्यापी जगदाधार स्वामिन्! उसे आप क्षमा करें। इस बच्चे का कल्याण करें। राजा का भी कल्याण हो।"

सूतजी कहते हैं—"ऋषियो! इसी का नाम है साधुता। देखिये, राजा ने कलि के प्रभाव से अभिमान वश मुनि का कितना घोर अपमान किया, मुनि ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। बार-बार स्मरण दिलाने पर भी वे उसे साधारण, नगण्य क्षुद्र और अल्प अपराध ही कहते रहे, किन्तु शृङ्गी के दिये शाप से वे अत्यन्त व्यथित हुए। पुत्र को डाँटा डपटा, भगवान् से क्षमा माँगी, राजा का कल्याण चाहा। प्रायः देखा जाता है, एक आत्म-ज्ञानी भगवद्भक्त महात्मागण दूसरों के द्वारा दिये हुए दुःख-सुखों को पाकर न तो बहुत व्यथित होते हैं और न बहुत प्रसन्न हो। क्योंकि वे जानते हैं, ये दुःख-सुख आदि द्वन्द्व तो मन के धर्म हैं, आत्मा तो निर्द्वन्द्व निर्लेप, दुःख-सुख से परे सदा परम सुख स्वरूप है, उस निर्गुण को कौन सुख-दुःख दे सकता है?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब महामुनि को इतना पश्चात्ताप हुआ, तो शाप तो पुत्र ने ही दिया था, वे तो अपने पुत्र से अधिक शक्तिशाली, तेजस्वी, तपस्वी और सर्वसमर्थ थे। उन्होंने उस शाप को अन्यथा क्यों नहीं कर दिया?" राजा को चिरायु होने का वरदान क्यों नहीं दे दिया?"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग ! यह सत्य है, शमीक मुनि परम तेजस्वी और सर्वसमर्थ थे। उन त्रिकालदर्शी मुनि ने फिर ध्यान लगाकर देखा, तो उन्हें पता चला, राजा की मृत्यु इसी प्रकार तक्षक के द्वारा होनी ही है, ऐसी भावी ही है, वे विधि के विधान को अन्यथा करना नहीं चाहते थे। भावी को वे अव्यर्थ मानने वाले थे। अतः उन्होंने शाप को तो अन्यथा नहीं किया। उसी समय अपने एक सर्वसमर्थ शिष्य को बुलाकर कहा -"बेटा ! तुम अभी योगमार्ग से हस्तिनापुर जाओ और उन धर्मात्मा राजा को इस बात की सूचना दे दो, कि मेरे पुत्र ने लड़कपन के कारण आपको ऐसा अनुचित शाप दे दिया है, आज के दिन को छोड़कर सातवें दिन आपको तक्षक डसेगा। इन सात दिनों में आप जो भी अच्छे-से-अच्छा, श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कार्य कर सकें करें। हमारा हृदय से आपको आशीर्वाद है। आप भगवान् के परम भक्त हैं, अतः सर्प के काटने से मृत्यु होने पर भी आपकी दुर्गति न होगी। आप भगवान् के अनन्त वैकुण्ठ धाम को पधारेंगे।"

इस प्रकार शिष्य को संदेश देकर शमीक मुनि ने उसे तुरन्त भेजा। शिष्य भी अत्यन्त शीघ्र आकाश मार्ग से हस्तिनापुर की ओर चल दिया।"

छप्पय

डार्‌यो पितु उर स्याँपु शाप हौं देहौं वाकूँ।
डसे साँतवें दिवस महा अहि तक्षक ताँकूँ॥
यों देकें सुत शाप पूज्य पितु के ढिँग आयो।
मर्‌यो स्याँपु उर निरखि, बहुत रोयो चिल्लायो॥
जगे महामुनि सुनी सब, बात बहुत दुख मन कर्‌यो।
धिक्कार्‌यो सुत विविध विधि, नृप सन वृत्त पठै दियो॥

——

महाराज परीक्षित् का पश्चात्ताप

[८०]

स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद् यथा
मुनेः सुतोक्तो निऋतिस्तक्षकाख्यः ।
स साधु मेने नचिरेण तक्षका-
नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० १९ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

इत नृप पुरमहँ पहुँचि कनक जब मुकुट उतार्यो ।
आश्रम कर्यो कुकृत्य चित्तमहँ फेरि विचार्यो ॥
अरे, बुद्धि मम भ्रष्ट भई, अनुचित यह कीन्हों ।
योगनिष्ठ ते महा तपस्वी मुनि अब चीन्हों ॥
सोचें—अब मुनि कोप तें, मम सरवसु नसि जायगो ।
ताही छिन सन्देश लै, शिष्य नृपति ढिंग आइगो ।

संसार में ऐसा कौन जीवधारी है, जिससे कभी भूल में

---

* नगर में लौटने पर महाराज को अपने इस कार्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे उसी बात की चिन्ता कर ही रहे थे, कि इतने में ही उन्होंने तक्षक द्वारा डसने वाली मुनि के शाप की बात सुनी। यह बात उन्होंने अपने लिये अत्यन्त ही हितकर समझी। वे सोचने लगे—"मेरा चित्त संसार में बड़ा आसक्त हो रहा था। यह तक्षक की विषाग्नि उसके लिये वैराग्य का कारण बन गई।"

भी कोई अपराध न हुआ हो। भले, बुरे, सज्जन, दुर्जन, मूर्ख, पंडित सभी से कुछ-न-कुछ प्रकृतिवश अपराध बन जाता है। दुष्ट पुरुषों के द्वारा हुए अपराध में और सज्जन पुरुषों के द्वारा हुए अपराध में इतना ही अन्तर है, कि दुष्ट पुरुष किसी का अपराध करके अत्यन्त ही प्रसन्न होते हैं और गर्व पूर्वक कहते हैं—"मैंने उस ढोंगी को खूब छकाया। इतना उसे मजा चखाया कि बच्चू जीवन भर याद करेगा।" इसके विपरीत सज्जन पुरुषों के द्वारा हाल तो किसी का अनिष्ट या अपकार होता नहीं। यदि कभी भूल से प्रकृतिवश किसी कारण से कोई छोटा-सा अपराध बन भी जाता है, तो प्रकृतिस्थ होते ही उनका हृदय उन्हें उसके लिये बार-बार धिक्कार देता है। वे पश्चात्ताप की अग्नि में जलते रहते हैं, बार-बार सोचते हैं—"हाय! उस समय मेरी इस प्रकार बुद्धि भ्रष्ट क्यों हो गई? क्यों मैंने यह महान् अनर्थ कर डाला? क्यों मैं इन्द्रियों के अधीन हो गया? इस प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि से वे अपने मल को जला डालते हैं। उस पाप का यथाशक्ति प्रायश्चित्त करते हैं। उसके प्रतिकार के लिये जो भी संभव होता है—जप, तप, अनुष्ठान आदि करते हैं। पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त से बहुत पाप नष्ट हो जाते हैं, बहुत से कम हो जाते हैं।

महाराज परीक्षित् अत्यन्त शीघ्रता के साथ अपने नगर में चले गये। पुर में पहुँच कर उन्होंने अपना सुवर्ण का रत्नों से मंडित मुकुट उतार कर रखा। मुकुट उतारते ही उन्हें चेत हुआ। आश्रम में किये हुए कृत्य की स्मृति आते ही उनका हृदय फटने लगा। वे पश्चात्ताप रूपी अग्नि में जलने लगे उन्हें संसार शून्य दिखाई देने लगा। उनके मन में निश्चय हो गया, कि अब मेरी कुशल नहीं। मुनि के शाप से मेरा सर्वस्व नष्ट हो जायगा। वे एकान्त में बैठे चुपचाप आँसू बहा रहे थे। रह-रह

कर उन्हें अपने उस निन्द्य कुकृत्य पर आन्तरिक पश्चात्ताप हो रहा था। वे उसी बात को अनेकों तर्क-वितर्कों द्वारा सोचते—"हाय! मेरी कैसी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, उस समय मैंने उन निरपराध, गूढ़, तेजोमय मुनीश्वर के साथ यह कैसा अनार्य पुरुषों का-सा नीच व्यवहार किया? उन्होंने मेरा क्या बिगाड़ा था? नगर से दूर रह कर घोर जंगलों में कसैले, तीखे, कड़वे कन्द-मूल फल खाकर वे अपना काल यापन कर रहे थे। वे कभी मुझसे कुछ माँगते नहीं थे, मेरी उन्हें कुछ अपेक्षा नहीं थी। भगवान् का ध्यान कर रहे थे। अपने तप रूपी धन को बढ़ा रहे थे। मैंने अकारण उनके गले में सर्प डाल दिया। वह मैंने उनके गले में मरा सर्प नहीं डाला, अपितु विषधर भुजंग के फन पर अपना पैर रख दिया। कुपित हुआ, सर्प तो एक ही प्राण लेकर निवृत्त हो जाता है, उसकी विषाग्नि से तो अपकार करने वाला ही जलता है, किन्तु मुनि की कोपाग्नि से तो मुझ पापी का राज्य, समस्त सेना, यह इतना बड़ा कोष, बन्धु-बान्धव, मेरा सर्वस्व जलकर भस्म हो जायगा। एक मेरे अपराध से करोड़ों निरपराध प्राणियों के प्राण नष्ट होंगे। हाय! मैंने क्या कर डाला? मेरा काय ही इतना निन्दनीय है कि मुझे जो भी कठिन से कठिन व बड़ा से बड़ा दण्ड दिया जाय, वही मेरे लिए कम है, वही अत्यन्त अल्प है। अच्छा मुनि के दारुण शाप से मेरे पाप का प्रायश्चित हो जायगा। फिर मुझे या अन्य किसी को ऐसा अपराध करने का साहस तो न होगा, मेरे दण्ड से सभी को शिक्षा तो मिल जायगी, कि तपस्वियों का अपराध करने वालों की ऐसी दुर्दशा होती है। फिर मैं मेरे वंशज तथा अन्य पृथ्वी के नृपति गण, ब्राह्मण, देवता और गौओं के प्रति ऐसा अनादर या अपमान तो न करेंगे।"

आते ही महाराज को यह चिन्ता व्याप गई। उन्होंने आकर

न आचमन किया, न हाथ पैर धोए, दासियाँ सोने की झारियों में जल लिये बड़ी देर से प्रतीक्षा कर रही थीं, किन्तु राजा का उधर ध्यान ही नहीं था। वे तो कुपित हुये मुनि के भाव जगत् में दर्शन कर रहे थे और उनसे भयभीत होकर थर-थर काँप रहे थे। इतने में ही प्रहरी ने आकर महाराज का जय-जयकार किया और हाथ जोड़कर विनीत भाव से बोला—"प्रभो! भगवान् शमीक मुनि के आश्रम से आये हुए उनके एक परम तेजस्वी शिष्य द्वार पर खड़े हैं। वे महाराज से शीघ्र ही भेंट करने को कह रहे हैं। अब जैसी आज्ञा हो, उनको यहीं लाऊँ या अग्नि-होत्र-शाला में बिठाऊँ?"

'शमीक मुनि के आश्रम से उनके शिष्य आये हैं'—यह सुनते ही महाराज चौंक पड़े। अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ प्रहरी से बालकों की भाँति पूछने लगे—"अरे भैया, मुनि शिष्य क्या कह रहे हैं, वे बड़े कुपित होंगे? उनकी चेष्टा कैसी दिखाई देती है? वे क्या कहना चाहते हैं?"

प्रहरी ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"प्रभो! मुनि बड़े शान्त हैं? वे महाराज का जय-जयकार कर रहे हैं। वे कुछ कहने को बहुत व्यग्र प्रतीत होते हैं। उन्होंने आशीर्वाद पूर्वक मुझे आपके समीप शीघ्र आने को प्रेरित किया है। मैंने निवेदन भी किया—"ब्रह्मन्! मेरे स्वामी अभी इस समय थके हुए वन से लौटे हैं, आप एक मुहूर्त विराज जायँ, तब मैं सूचित करूँगा।" इस पर उन्होंने अत्यन्त गम्भीर होकर शान्त भाव से कहा—"भैया! मुझे बहुत ही आवश्यक कार्य है। मुझे अभी अपने आश्रम पर लौटकर आचार्यदेव को सूचना देनी है। तुम बड़ी सावधानी से नम्रता पूर्वक महाराज से मेरा सन्देश कहो, इसे सुनकर भी वे मुझे बैठने को कहेंगे, तो मैं बैठकर प्रतीक्षा करूँगा।"

"मुनि शिष्य कुपित नहीं हैं, शान्त हैं, मुझे आशीर्वाद पूर्वक बुला रहे हैं।" इतना सुनते ही महाराज जैसे बैठे थे वैसे ही नंगे सिर द्वार की ओर दौड़े। दास-दासी, नौकर-चाकर, प्रहरी आदि सभी महाराज की इस अभूतपूर्व व्यग्रता को देखकर आश्चर्य चकित हो गये। द्वार पर आकर महाराज ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से अत्यन्त ही अधीरता के साथ पृथ्वी पर लेटकर मुनि के शिष्य को साष्टांग प्रणाम किया।

काले मृग चर्म को ओढ़े, जटा बिखेरे हाथ में कुशों का मूँठा और दण्ड कमण्डलु लिये मुनि शिष्य साक्षात् शरीर धारी तप ही दिखाई देते थे। राजा को इस प्रकार भूमि में पड़ा देखकर मुनि शिष्य ने उन्हें कठिनता के साथ उठाया, उनका आलिङ्गन किया और बड़ी गम्भीरता के साथ कहने लगे—"राजन्! मेरे गुरु भगवान् शमीक ने आपकी कुशल पूछी, और आपको आशीर्वाद भेजा है।"

अहा! मुनि ने मेरी कुशल पूछी है, साथ ही मुझे आशीर्वाद भी भेजा है। यह सुनते ही महाराज अत्यन्त ही अधीर हो उठे और कहने लगे—"ब्रह्मन्! मैंने उन महामुनि का बड़ा अपकार किया है। मैंने उन तपोधन का इतना घोर अपमान किया है, कि इसके बदले में वे मुझे जो भी दंड दें वही थोड़ा है। ऐसी दुष्टता मुझ दुष्ट के ही अनुकूल है। इस पर भी कुपित न होकर उन्होंने मेरी कुशल पूछी है, मुझे आशीर्वाद भेजा है, यह उन तपोनिधि क्षमासागर महामुनि के ही अनुरूप है, महाभाग! मेरी समस्त कुशल तो उसी समय नष्ट हो गई, जब मैंने उन समाधिनिष्ठ मुनि के ध्यान में विघ्न डाला, उनके गले में अकारण मृतक सर्प पहिना दिया। अब मेरी कुशल कहाँ है? सर्वत्र अकुशल ही अकुशल है। बस, इसमें एक ही कुशल की क्षीण-सी रेखा है, कि महामुनि ने मुझे आशीर्वाद भेजा है।

मेरे महान् अपराध पर भी उन्होंने मेरा सर्वस्व नष्ट नहीं कर दिया।"

इस पर शिष्य ने कहा—"एक बड़ी चिन्ता की बात है, इससे महामुनि बड़े दुखित हैं। उसी के कहने के लिये मुझे विशेष रूप से भेजा है। वह यह है कि मेरे गुरुदेव के एक परम तेजस्वी पुत्र शृङ्गी हैं। ऋषिकुमारों से जब उन्होंने यह बात सुनी तब उन्होंने वहीं ऋषि के परोक्ष में आपको अत्यन्त दारुण शाप दे दिया।"

राजा ने अत्यन्त ही उत्सुकता से पूछा—"हाँ, ब्रह्मन्! मुनि पुत्र ने मुझे कौन-सा शाप दिया? इसे मैं सुनना चाहता हूँ।"

मुनि शिष्य बोले—"प्रभो! मेरे गुरु-बन्धु ने कौशिकी का जल स्पर्श करके आपको यह भीषण शाप दिया है, कि आज के सातवें दिन तक्षक सर्प आपको डस लेगा। इसे सुनकर मुनि अपने पुत्र पर बहुत असंतुष्ट हुए और उन्हें बहुत अधिक बुरा भला कहा।"

महाराज अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए शीघ्रता के साथ कहने लगे—"बस, यही शाप? मुझे अकेले को ही तक्षक काटेगा? सो भी आज नहीं, आज के सातवें दिन? ब्रह्मन्! यह शाप क्या है, यह तो ऋषिपुत्र का वरदान है। मैं इस राज-काज में इतना आसक्त हो गया था, कि श्रीकृष्ण चिन्तन जो जीवन का मुख्य ध्येय है, उसे भूल ही गया था। ऋषिपुत्र ने सात दिन की अवधि देकर मुझे उसके लिये सन्नद्ध कर दिया। अब मैं सब व्यापार को त्यागकर श्रीकृष्ण चरणों का ही आश्रय लूँगा।"

शमीक मुनि के शिष्य ने कहा—"राजन्! मेरे गुरुदेव ने कहा है, आप धर्मात्मा हैं, मेरे पुत्र का भी कोई दोष नहीं, मैंने समाधि द्वारा देखकर यही निर्णय किया है, कि भावी ऐसी ही

थी। अदृष्ट को—दैव अथवा प्रारब्ध को—अन्यथा करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। फिर भी सर्प के काटने पर भी आपकी दुर्गति न होगी। आप भगवान् के परमधाम को पधारेंगे। महाराज! आपका कल्याण हो। गुरुदेव ने मुझे शीघ्र ही लौटने को कहा है। मैं अब जा रहा हूँ।"

महाराज ने अत्यन्त विनीत भाव से मुनि शिष्य के पैर पकड़े उनका पूजन किया। महामुनि शमीक और उनके तेजस्वी पुत्र शृङ्गी से उन्होंने अपने कुशल समाचार और प्रणाम निवेदन करने की प्रार्थना की। इस प्रकार राजा से सत्कृत होकर शमीक मुनि के शिष्य अपने आश्रम को लौट गये और जाकर अपने गुरुदेव को सभी समाचार सुना दिये।

इधर महाराज परीक्षित् फिर लौटकर महलों में नहीं गये। द्वार पर ही उन्होंने अपने बड़े पुत्र कुमार जनमेजय को बुलाया। उसे अपना मुकुट पहिनाया और समस्त बूढ़े बूढ़े ब्राह्मणों के हाथों में उन्हें सौंपकर, वे पैदल ही नगे पैरों गङ्गाजी की ओर चल पड़े। मन्त्री, पुरोहित, अमात्यों ने बहुत आग्रह किया, नाना प्रकार के हाथी, घोड़े, रथ, पालकी आदि वाहनों के रहते हुए भी महाराज उनमें नहीं बैठे। इस प्रकार राजा को सर्वस्व त्यागकर भगवती भागीरथी की ओर जाते देखकर नगर के समस्त नर-नारी, राज्य के सभी लोग, सभी वर्ण और आश्रमों के पुरुष रोने-रोते महाराज के पीछे-पीछे चले। वे किसी की ओर न देखते थे और न किसी की बात ही सुनते थे, उन्होंने सभी की ओर से मुख मोड़ लिया था। नन्दनन्दन भगवान् श्यामसुन्दर से ही अपने मन का सम्बन्ध जोड़ लिया था, सभी सम्बन्धों से मन को हटाकर उनसे अपना सम्बन्ध तोड़ लिया था। इस प्रकार बिना कुछ खाये पिये, महाराज हस्तिनापुर के निकट ही गङ्गा किनारे एक वट वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये।

छप्पय

सुन्यो शिष्य आगमन नृपति तहँ तुरतहिँ आये।
भूप निरखि भयभीत शिष्य ने वचन सुनाये॥
राजन्! ऋषि-सुत शाप दयो सो सब सुन लीजे।
सात दिवस मँह होहि मुक्ति सो कारज कीजे॥
सुनी शाप की बात नृप, सौंपि सुतहिँ सब राजधन।
कृष्ण चरन महँ चित्त दै, चले गङ्गतट मुदित मन॥

—०—

गङ्गा तट पर महाराज परीक्षित्

[८१]

अथो विहायेममुं च लोकम्
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान
उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० १९ अ ५ श्लो०)

छप्पय

कमल बसैं जल माहिं किन्तु निरलेप रहे नित ।
त्यों ही नृप सब करत रहे कारज रखि हरि चित ॥
शापित सुरसरितीर चले सुनि सबई धाये ।
ऋषि मुनि त्यागी सन्त विरागी तपसी आये ॥
मुनिनिमाँहिं सुरपति बसैं, श्रीपृथु सोहैं सत्रमहँ ।
त्यों संतनितें घिरे नृप, अतिशय शोभित होयँ तहँ ॥

जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि की लपटें जलते-जलते कम हो जाती हैं, तो उसके ऊपर राख छा जाती है। उस समय भीतर

---

* महाराज परीक्षित तो पहिले से ही राज्य पाट और संसारी सुखों को हेय मानते थे, अब शाप सुनकर इहलोक तथा परलोक के सुखों की आस्था को त्यागकर तथा अन्न-जल त्यागकर प्रायोपवेश व्रत लेकर भगवती भागीरथी के तट पर जा बैठे। क्योंकि वे श्रीकृष्ण चरणारविन्दों की सेवा को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाले थे।

तो वह दहकती रहती है, किन्तु ऊपर से देखने में वह बुझी-सी प्रतीत होती है। जहाँ उसमें फूँक मारी, कि ऊपर से राख उड़ जाती है, तनिक कुरेदने से वह फिर दहकने लगती है। उसी प्रकार महाराज परीक्षित् तो आरम्भ से ही वैराग्यवान थे। उन्हें ये संसारी भोग सुखकर प्रतीत नहीं होते थे, किन्तु कर्तव्य बुद्धि से राजकाज करते रहने से वे संसारासक्त नरपतियों की भाँति, अनुरक्त से दिखाई देते थे। जहाँ उन्होंने सुना कि आज से सातवें दिन मेरी मृत्यु होगी तो इसे सुनते ही उनका वैराग्य उसी प्रकार प्रज्ज्वलित हो उठा, जिस प्रकार पुराना जङ्ग लगा हुआ धातु का बर्तन खटाई लगाकर मल देने से चमकने लगता है। अब उन्हें सम्पूर्ण संसार असार दिखाई देने लगा। बिना छेड़खानी के, बिना ठेस लगे माधुर्य आता नहीं। वीणा के जब तक कान नहीं ऐंठते, जब तक उसके तारों को कसते नहीं तब तक विशुद्ध राग उत्पन्न नहीं होता। जमे हुए घृत को जब तक गरमी नहीं पहुँचाई जाती, तब तक वह पिघलता नहीं। चन्दन को जब तक रगड़ा नहीं जाता, तब तक वह सम्पूर्ण रूप में सुगन्ध नहीं पहुँचाता। सुवर्ण को जब तक अग्नि में नहीं तपाया जाता, तब तक वह चमकता नहीं। हीरे को जब तक शान पर नहीं चढ़ाया जाता, तब तक उसकी कान्ति उज्ज्वल नहीं होती, मृदंग को जब तक मार-मारकर चढ़ाया और मिलाया नहीं जाता, तब तक विशुद्ध ताल नहीं देता। इसी प्रकार जब तक कोई बड़ी ठेस नहीं लगती, तब तक इन अनित्य और क्षणभंगुर विषयों से सर्वदा के लिये यथार्थ दृढ़ वैराग्य नहीं होता।

'अब तो मृत्यु सिर पर आ ही गई'—इतना सोचते ही महाराज परीक्षित् उसी समय सर्वस्व त्यागकर भगवती सुरसरि की शरण में जाकर, उनके तट पर जा बैठे। अहा! ये जगज्जननी सबकी शरण्य हैं, सबको आश्रय देनेवाली हैं। त्रिवि-

क्रम रूप में जब भगवान् ने भक्तराज बलि को छला था, तब एक पैर में ही सातों लोकों को नापने वाला उनका चरणारविन्द ब्रह्मलोक में पहुँचा, तो ब्रह्माजी ने उस विश्ववन्दित पादपद्म की प्रेम से पूजा की। पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय आदि समर्पण करके उसमें सुन्दर-सुन्दर, हरी-हरी मञ्जरी वाली महारानी तुलसीजी के दल चढ़ाये। जिन वृन्दा देवी के दर्शन सभी पापों को नाश करने वाले हैं, जिनकी दिव्य गन्ध समस्त अशुभों को भगाने में समर्थ हैं, जो उन भगवान् वासुदेव को अत्यन्त ही प्रिय हैं, उनकी अभिन्न हृदया हैं, अपने सौभाग्य मद से जो उनके सिर पर चढ़ने वाली हैं, उन तुलसी-दलों से भगवान लोक पितामह ने उन अरुण चरणों को ढक दिया और उसी समय अपने कमण्डलु के दिव्य जल से उन्हें धो दिया। वह दिव्य धोवन ही पतितपावनी त्रैलोक्यवन्दिनी भगवती सुरसरि के रूप में प्रकट होकर तीनों लोकों में व्याप्त हो गया। उस कृष्णचरणच्युत वारि की विशेषता का वर्णन कौन कर सकता है? एक तो वह जल ब्रह्माण्ड कटाह को भेद कर निकाला था, दूसरे उसे ब्रह्मदेव ने अपने दिव्य कमण्डलु में धारण किया, तीसरे उससे त्रैलोक्य पूजित प्रभु के पादपद्म पखारे गये, चौथे हरिप्रिया तुलसी की पवित्र रेणु उसमें मिल गई, पाँचवें प्रभु-पादपद्म की पावन पराग से उस पय का संसर्ग हो गया। इसीलिये समस्त लोकपालों ने अपने को पावन बनाने के निमित्त उस जल में अवगाहन किया। समुद्र मन्थन के समय विष पीने से शिवजी को गरमी बहुत सताने लगी। उस गरमी को शान्त करने के निमित्त शिवजी को इससे उत्तम उपाय कोई दिखाई न दिया। त्रिपथगा गंगा की उस प्रबल वेग वाली धारा को उन्होंने अपने जटाजूटों में धारण किया। इससे वे गंगाधर के नाम से प्रसिद्ध हुए। जो गंगाजी अपनी तीनों

धाराओं से तीनों लोकों को पवित्र करती हैं, उन जगज्जननी जाह्नवी का पवित्र बनने की इच्छा वाला कौन-सा मुमुर्षु पुरुष सेवन न करेगा ? मुनियो ! आप लोग श्रीगंगाजी के जल को साधारण जल न समझें और न गंगाजी को भगवान् के श्री विग्रह से पृथक् ही समझें। श्रीकृष्ण और सुरसरि ये दोनों अभिन्न विग्रह हैं। ये जल रूप से तो नास्तिकों और अश्रद्धालुओं को दिखाई देती हैं। वास्तव में ये तो ब्रह्मद्रवा हैं। जैसे अत्यन्त ताप से सुवर्ण गलकर द्रव हो जाता है, पिघल जाता है, जैसे उष्णता से नवनीत का लौंदा जल की भाँति बहने लगता है, उसी प्रकार परात्पर ब्रह्म ही किसी कारण से जल हो गया है।"

सूतजी की ऐसी बात सुनकर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग सूतजी ! यह आपने अद्भुत बात सुनाई। अब तक तो हम श्रीगंगाजी को विष्णुपादाब्ज सम्भूता ही समझते थे। अब आप कह रहे हैं-यह तो पिघला हुआ ब्रह्म-विग्रह ही है। सो यह कैसे हुआ, ब्रह्म जल रूप में क्यों प्रवाहित हुआ ? हमारी इस शङ्का का समाधान करके तब आगे बढ़ें।"

सूतजी, शौनकजी के इस प्रश्न को सुनकर गद्गद हो उठे, उनकी आँखों में अश्रुओं का प्रवाह बहने लगा। मानों उनके हृदय से गंगा-यमुना की धाराओं के दो स्रोत फूट पड़े हों। उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो आये। आँसू पोंछकर और आचमन करके सूतजी कहने लगे—"महाभाग ! आपने अत्यन्त ही सुन्दर प्रश्न किया। यह कथा बड़ी ही रसमय है। इस कथा के श्रवण करने से आप समझ सकेंगे, कि भगवत् गुणों में कितना सौंदर्य्य है। जो कथा मैं कहने जा रहा हूँ, उससे भगवान् के त्रैलोक्य विमोहन कथारस का महत्व प्रकट होगा। अच्छा तो आप अब सुनें।"

"एक दिन की बात है, कि वैकुण्ठधाम में भगवान् विराज-

मान् थे, बड़े-बड़े विष्णु भक्त पार्षद उनकी परिचर्या कर रहे थे। बहुत से ऋषि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व और देवगण भगवान् की सभा में उपस्थित थे। शंकरजी, ब्रह्माजी तथा अन्य प्रधान देवता और लोकपाल भी वहाँ उपस्थित थे। इतने में ही वीणा बजाते हरिगुण गाते, प्राणिमात्र को अपनी वीणा की झंकार से रिझाते हुए देवर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे। नारदजी को देखकर समस्त सभा के सभासद खिल उठे। सभी ने उनका अभिनन्दन किया। वे भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों को प्रणाम करके, सबका यथोचित सम्मान सत्कार करके भगवान् के बताये हुए आसन पर विराजमान हुए। इतनी बड़ी सभा को देखकर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए। जो गन्धर्व गा रहे थे, उन्होंने नारदजी को देखकर गाना बन्द कर दिया और नारदजी से कुछ गाने के लिये आग्रह करने लगे। नारदजी को कुछ संकुचित-सा देखकर भगवान् ने हँसते हुए कहा—"हाँ हाँ, नारदजी! गाओ कुछ, तुम ही तो एक तन्मयता के साथ सभा में गुणगान करने वाले हो। भगवान् के मुख से ऐसा प्रशंसा-वाक्य सुनकर नारदजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। हर्ष से उनका हृदय खिल उठा। हृत्-तन्त्री के तार अपने आप झंकृत हो उठे। अपनी स्वरब्रह्म विभूषिता वीणा को बजाकर अत्यन्त आह्लाद के साथ तन्मय होकर वे गाने लगे उस दिन ऐसा समा बँधा—राग का ठाठ ऐसा जमा-कि सभी सभा चित्र लिखित के समान स्तब्ध रह गई। भगवान् भी स्तम्भित हो गये। उनके अङ्ग की सभी चेष्टायें शिथिल हो गईं। भगवान् अपने गुणों के श्रवण में इतने तल्लीन हो गये कि उनका श्री विग्रह हर्ष से पिघलने लगा। पास में बैठे हुए ब्रह्माजी को कुछ-कुछ चेत था। अतः उन्होंने अपने कमण्डलु में उस ब्रह्मद्रव को धारण कर लिया। इस प्रकार श्रीहरि गुण-यश-कीर्तन सुनने से द्रवीभूत हो

गये। जब कालान्तर में भगवान् का पादपद्म ब्रह्मलोक में पहुँचा, तो प्रेम की व्यग्रता में ब्रह्माजी सब कुछ भूल गये। उसी कमण्डलु के जल से शीघ्रता में भगवान के चरणों का प्रक्षालन किया। उसी से भगवती सुरसरि की तीन धारायें निकलीं जो पाताल में भोगवती के नाम से प्रसिद्ध हुईं, स्वर्ग में देवसरिता और पृथ्वी में अलकनन्दा के नाम से विख्यात हैं। पुनः उनकी एक धारा को महाराज भगीरथ लाये, इससे ये भागीरथी कहलाईं। जह्नु मुनि ने इन्हें पुत्री रूप में स्वीकार किया, इसी से इन्हें जाह्नवी भी कहते हैं। इसीलिये ये गङ्गाजी जगत्वन्द्य और परम पावन मानी जाती हैं। सभी ऋषि, और परमार्थ पथ के पथिक इन्हीं का आश्रय ग्रहण करते हैं। सभी इन्हीं की शरण में जाते हैं। अन्त में इन्हें ही पाकर मुक्त होते हैं। महाराज परीक्षित ने भी इन्हीं के तट पर बैठकर अपने जीवन के अन्तिम सात दिन बिना कुछ खाये पीये बिताने का निश्चय किया।

महाराज परीक्षित चक्रवर्ती राजा थे, तब तक ऋषि-मुनियों ने इस धराधाम को कलिदोष के कारण त्यागा नहीं था। वे सशरीर इस पर विद्यमान थे। बात-की-बात में यह समाचार सर्वत्र फैल गया कि महाराज ने राज्य पाट त्याग दिया है, विप्र-शाप से सात दिन में उनका देहान्त हो जायगा। विषधर तक्षक नाग उन्हें आकर डसेगा। ये बातें राज्य भर में फैल गईं। त्रिकालज्ञ मुनियों ने जब देखा कि धर्मात्मा राजा परीक्षित जब इस पृथ्वी का परित्याग करके चले जायँगे, तब तो कलियुग का सर्वत्र साम्राज्य हो जायगा। फिर तो यह मनमाने अन्याय, अत्याचार करेगा। ऐसे समय में किस साधन से साधु पुरुष अपना समय बितायेंगे। सभी के पापी हो जाने से पृथ्वी एक दिन भी टिक नहीं सकती। कलि के कुकृत्यों के कारण धर्मात्मा पुरुष बिना किसी आश्रय के अवनि पर रह नहीं सकते। अतः

इन सात दिनों में ही सभी ऋषि, महर्षि मिलकर कोई सरल, सुगम, सर्वोपरि, सुन्दर साधन स्थिर करके उसे सर्व साधारण के लिये प्रकट करें। यही सब सोचकर और समाधि द्वारा सभी समाचार जानकर, चारों दिशाओं से झुण्ड-के-झुण्ड ऋषि, महर्षि हस्तिनापुर के समीप, आनन्दतट नामक स्थान में जहाँ महाराज परीक्षित् प्रयोपवेश व्रत लेकर बैठे थे, आने लगे। साधु सन्त तो सदा संसारी संताप से संतप्त प्राणियों को सुखी बनाने के लिये पृथ्वी पर भ्रमण करते ही रहते हैं। यद्यपि वे यह नहीं कहते कि हम जगत् के उद्धार के निमित्त विश्व का कल्याण करने घूमते हैं। पूछने पर वे यही कहते हैं कि हम तो तीर्थ यात्रा के निमित्त जा रहे हैं। शौनकजी! आप ही सोचिये, जिन्होंने समस्त तीर्थों के स्वामी श्रीहरि को अपने हृदय में बैठा लिया है, उन्हें भला तीर्थ क्या पवित्र कर सकेंगे। उन्हें तीर्थ-यात्रा आदि पुण्य कर्मों की क्या अपेक्षा हो सकती है, किन्तु इसी मिस से वे तीर्थों को पावन करते फिरते हैं। तीर्थों के पापों को स्नान करके नष्ट किया करते हैं। इस प्रकार मुनिगण कोई गङ्गा स्नान के मिस से, कोई हरिद्वार, बदरीवन जाने के बहाने से गङ्गातट पर आने लगे। बहुत से तो अकेले ही थे, बहुत अपने शिष्य-प्रशिष्य, पुत्र पौत्रों को भी साथ लेकर आये थे, बहुत से नंगे थे, बहुत से वल्कल धारी थे। बहुतों के सिर मुड़े थे, बहुतों ने जटा धारण कर रखी थीं। कोई मौनी थे, कोई दिगम्बर थे। कोई एकाहारी, फलाहारी, दूधाहारी, पयाहारी और निराहारी थे। कोई वायु पीकर ही रहने वाले थे। कोई ज्ञाननिष्ठ थे तो कोई भक्तिनिष्ठ भागवत थे। कोई कर्मकांडी थे, जो अपने अग्निहोत्र की अग्नियों को साथ लिये हुए थे। इस प्रकार नाना देशों से नाना आचार-विचार, वेष-भूषा और रहन-सहन वाले ऋषि-मुनि-सन्त उस स्थान पर आ-आकर एकत्र होने लगे। उनमें से

कुछ प्रधान-प्रधान ऋषि-मुनियों के नाम ये हैं—अत्रि, वसिष्ठ, च्यवन, शरद्वान, अरिष्टनेमि, भृगु, अंगिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाह, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भरद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, अगस्त्य, भगवान् व्यासदेव, नारद, अरुण तथा और भी अनेकों देवर्षि, राजर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि और त्यागी, तपस्वी तथा उदासी महात्मा वहाँ पधारे थे।

महर्षियों को अपनी ओर चारों दिशाओं से आते देखकर महाराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा—ये सब जगत्वंद्य महापुरुष अन्त समय में मुझे दर्शन देने स्वतः ही पधारे हैं। यह मेरे लिये कितने सौभाग्य की बात है।

यही सोचकर महाराज का हृदय गद्गद हो उठा। उनका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो गया। हाथ जोड़े हुए महाराज ने उठकर उन सब ऋषि-मुनियों का सत्कार किया और अर्घ्य पाद्य आदि से उन सबकी यथायोग्य पूजा की।"

छप्पय

माघ मकर के मध्य मनुज माधव ज्यों धावें।
त्यों सब दिशि तें सबहिं सत गङ्गा तट आवें॥
उठें, अरघ दें नृपति योग्य आसन बैठावें।
चरन धूरि धरि शीश विनय तें वचन सुनावें॥
पाप करम करि क्रूर अति, विप्र शाप शापित भयो।
किन्तु सत दरसननितें, धन्य आज हौं ह्वै गयो॥

महाराज परीक्षित् का पारमार्थिक प्रश्न

[८२]

ततश्च वः पृच्छ्यमिमं विपृच्छे,
विश्रम्य विप्रा इतिकृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यम्,
शुद्धं च तत्रामृशतामियुक्ताः ॥*

(श्रीभा० १ स्क० १९ अ० २४ श्लोक)

अर्थ

बार-बार सिर नाइ नृपति बोले यों सबतें ।
कर्यो अकारज काज चित्त चंचल मम तबतें ॥
मूर्तिमान हैं वेद आपु ऋषि-मुनि तनुधारी ।
दरशन दैकें सपदि बिपदि चिन्ता मम टारी ॥
मुनि प्रेरित अहि डसै भल, शुभ कर्तव्य बताइ दें ।
भ्रम भय भेद मिटाइ दें, कृष्ण कथा सुनवाइ दें ॥

---

* आये हुए समस्त ऋषियों का सत्कार करके महाराज परीक्षित् उनसे विनय पूर्वक पूछने लगे—"हे विप्र वृन्द ! मैं आप सब पर श्रद्धा विश्वास करके 'मनुष्य का क्या कर्तव्य है' इस पूछने योग्य बात को पूछना चाहता हूँ । ऐसा कौन-सा विशुद्ध कर्म है, जो सभी पुरुषों को सम्पूर्ण अवस्थाओं में विशेष कर उन लोगों को जिनकी मृत्यु सन्निकट है, समस्त इन्द्रियों और अन्तःकरण के द्वारा करना चाहिये । आप सब लोग आपस में परामर्श करके इसका उत्तर दें ।"

दुःख में इस बात की परीक्षा होती है कि किनका हमसे हार्दिक स्नेह है, कौन दिखावटी स्नेह दर्शाता है। सुख-सम्पत्ति में तो सहानुभूति दिखाने वाले, प्रेम प्रदर्शित करने वाले बहुत हो जाते हैं। सच्चे प्रेमी तो वे ही हैं जो दुःख में भी साथ न छोड़ें, सुख से अधिक दुःख के समय प्रेम प्रदर्शित करें। दुःख में मनुष्य दीन हो जाता है। चारों ओर सहायता और सहानुभूति के लिये निहारता है, उस समय जो उसको धैर्य बँधाता है, दो मीठी बात कहकर आश्वासन देता है, वह मानों उसे बिना दाम के मोल ल लेता है। दुखी मनुष्य ऐसे समय के सहायक के प्रति अत्यन्त ही कृतज्ञता प्रकट करता है।

महाराज परीक्षित् समझ रहे थे—"मुझसे अनुचित कार्य बन गया, अकारण मैंने ब्राह्मण का अपमान किया है। इसलिये सभी ब्राह्मण, सभी ऋषि-महर्षि मुझे नीच, अनार्य तथा ब्राह्मण द्वेषी समझकर त्याग देंगे, वे मेरे काम की निन्दा करेंगे, मुझे बार-बार धिक्कार देंगे, इसलिये वे एकान्त में गङ्गातट पर जा बैठे थे, किन्तु बात इसके विपरीत ही हुई। चारों दिशाओं से बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, तपस्वी आ-आकर उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने लगे, तब तो महाराज का हृदय भर आया। वे कृतज्ञता के भार से दब-से गये। सबका यथोचित सत्कार करके हाथ जोड़े हुए गद्गद कण्ठ से महाराज परीक्षित् कहने लगे—"महर्षियो! मुझे प्रजा के लोग राज-राजेश्वर, सम्राट् महाराजाधिराज और भी न जाने क्या-क्या कहते थे। उन शिष्टाचार सम्बन्धी सम्बोधनों से मुझे कुछ प्रसन्नता नहीं होती थी, क्योंकि आश्रित और स्वार्थी लोग तो सदा से ही बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा किया करते हैं, किन्तु आज मैं यथार्थ में अपने को सम्पूर्ण राजाओं में श्रेष्ठ समझने लगा। इस बात को स्मरण करके मेरे रोम-रोम खिल उठते हैं कि निन्दनीय कर्म करने वाले

मुझ अधम के ऊपर भी आप सबने इतनी कृपा की। मरते समय सभी ने एक साथ ही मिलकर मुझे अपने देव-दुर्लभ दर्शन दिये। मैं धन्य हो गया, कृतकृत्य हो गया। आज मेरा समस्त शोक, मोह, दुःख, निर्वेद और सन्ताप दूर हो गया। मुनियो! एक तो राजा लोग वैसे ही बड़े अभिमानी होते हैं। उन्हें राज्य का, धन का, शासन का, अधिकार का, अत्यधिक गर्व होता है। वे अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं। इतने पर भी यदि राजा होकर अविवेकी हुआ, सद्-असद् के विचार से शून्य हुआ, तब तो फिर कहना ही क्या? 'गिलोय वैसे ही कड़वी थी, तिस पर नीम पर चढ़ गयी।' अविवेकी राजा की सदा अधर्म में प्रवृत्ति होती है। देखिये अविवेक के ही कारण मेरे द्वारा ऐसा पाप कर्म बन गया। जिससे मुनिपुत्र ने मुझे शाप दे दिया।"

एक वृद्ध-से महर्षि बोले—"राजन्! उड़ता हुआ समाचार तो हमने भी सुना है, किन्तु अब आप यथार्थ बात बताइये, क्या हुआ? शमीक मुनि के पुत्र ने शाप क्यों दिया?"

महाराज अत्यन्त लज्जित होकर आँसू बहाते हुए बोले—"महर्षियो! आप सर्वज्ञ हैं। सब कुछ जानकर ही तो आप मेरे ऊपर कृपा करके यहाँ पधारे हैं। फिर भी आप मेरे कल्याण के लिये मेरे पाप को मुझसे ही प्रकट कराना चाहते हैं। यह आपकी साधुता है, क्योंकि पाप और पुण्य प्रकट करने से क्षीण होते हैं। मैं मृगया के निमित्त वन में गया था। वहाँ एक मृग का पीछा करते-करते भूख-प्यास से व्याकुल होकर महामुनि शमीक के आश्रम पर गया। मैंने कई बार मुनि को बुलाया। वे समाधि-मग्न थे। उस समय मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। एक मरा सर्प मुनि के गले में परीक्षा के लिये डालकर बिना विचार किये राजधानी को लौट आया। पीछे उनके तेजस्वी तपस्वी पुत्र ने मुझे शाप दे दिया—"यही मरा सर्प तक्षक बनकर आज से

सातवें दिन डालने वाले को डस लेगा।" यह समाचार जब मैंने सुना, तभी सर्वस्व त्यागकर मैं यहाँ गङ्गातट पर चला आया। मुझ अधर्मी का आश्रय कोई नहीं है। हे विप्रगण! श्री गङ्गा माता और आप ही अब मेरे रक्षक हैं, आप सबके ही चरणों की शरण मैंने ली है। आप मुझ पर कृपा करें, मेरा उद्धार करें।"

इस पर सहानुभूति प्रकट करते हुए उन मुनि ने कहा—"अरे, शाप देकर तो मुनिपुत्र ने बुरा काम किया। इतने छोटे अपराध पर इन धर्मात्मा राजा को इतना बड़ा दण्ड देना उचित नहीं था।"

यह सुनकर बड़ी शीघ्रता के साथ महाराज परीक्षित् बोले—"नहीं महाराज जी! ऋषिपुत्र ने मेरे साथ बड़ा उपकार किया। उन्होंने शाप न देकर मुझे वरदान ही दिया। न जाने कब तक मैं देह-गेह में आसक्त बना रहता? न जाने कब तक राज्य रूपी पापड़ों को बेलता रहता? भगवान् को भूलकर न जाने कब तक भोगों में भटकता रहता? मुझे तो ऐसा लगता है कि साक्षात् भगवान् ही शाप का रूप रखकर मुझे वैराग्य का उपदेश देने के लिये पधारे हों। मृत्यु से तो संसारी लोग डरते हैं, कि अब हमारा अन्त हो जायगा। मैंने तो आपकी शरण गह ली है। अब मुझे किस बात का भय हो सकता है? आप सब मिल कर मेरी बात बना देंगे, मुझे अधोगति से बचा लेंगे, संसार सागर में डूबते हुए मुझे हाथ पकड़कर उबार लेंगे।"

महाराज के ऐसे दीनतापूर्ण गम्भीर वचन सुनकर वे बूढ़े महर्षि आपस में सभी से सम्मति करने लगे। सबसे पूछने लगे—"राजा को तक्षक नाग काट न सके, इसके लिये आप लोग कोई जन्त्र, मन्त्र, ओषधि, प्रयोग हों तो बतावें।"

इस पर महाराज ने कहा—"मुनियो! अब मैं जीना नहीं

चाहता। अधिक जीने से इस अधर्मपूर्ण कलिकाल में लाभ ही क्या ? मैंने अब अपने चित्त की वृत्ति सब ओर से हटाकर भगवान् वासुदेव के चरण-कमलों में लगा दी है। अब मुझे न शाप का भय है और न उस कपट वेषधारी तक्षक का ही भय। आप सब तो मुझे नन्दनन्दन श्यामसुन्दर की सुमधुर कथायें सुनाइये। मुझे सब मिलकर प्रभु प्रेम रूपी पीयूष पिलाइये और यह आशीर्वाद दीजिये कि दूसरे जन्म में भी उन अनादि, अनन्त, अच्युत के चरण-कमलों में दृढ़ अनुराग बना रहे। अब जिस योनि में भी मैं जन्म लूँ फिर ऐसा पाप न कर सकूँ, सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर को ही समझकर सबके साथ सम्पूर्ण जगत् में मेरा मैत्री भाव हो, किसी को भी अपना शत्रु न समझूँ। क्रोध करके किसी का कभी भी अपकार न करूँ।"

महाराज की ऐसी दृढ़ता देखकर सभी ऋषि मुनि चकित हो उठे। वे सर्वस्व त्याग चुके थे, पृथ्वी का शासन भार अपने बड़े पुत्र जनमेजय को सौंप चुके थे। वे उत्तराभिमुख बैठे थे। उनके कुसाशन की कुशाओं के मुख दक्षिण की ओर न होकर पूर्व की ओर थे। पितृ कर्मों को छोड़कर शुभ कार्यों में कभी कुशाओं के मुख दक्षिण की ओर नहीं होते। इस प्रकार अपने प्रायोपवेश व्रत में दृढ़ बैठे हुए राजा को देखकर आकाश में विमानों पर बैठे देवतागण उनकी प्रशंसा करने लगे। उन्होंने धर्मात्मा त्यागी राजा के ऊपर दुन्दुभी आदि स्वर्गीय बाजे बजाकर पारिजात के पुष्पों की वृष्टि की। सभी ऋषि, मुनि, त्यागी, तपस्वी साधु-साधु कहकर महाराज की प्रशंसा करने लगे। सभी ने एक स्वर से कहा—"राजन् ! आप धन्य हैं। ऐसे वचन आपके अनुकूल ही हैं।"

इस प्रकार सबके द्वारा अनुमोदित और सत्कृत हो जाने

के अनन्तर वे वृद्ध मुनि ही सब की ओर से कहने लगे—"हे राजर्षि श्रेष्ठ ! धर्मात्मन् राजन् ! ये वचन आपके ही अनुरूप हैं, क्योंकि आपका जन्म पांडवों के वंश में हुआ है। जिन पांडवों की चित्त की वृत्ति कभी भूलकर भी अधर्म की ओर नहीं जाती थी, जो सदा श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों का ही अनुसरण करते थे, उन्हीं के पद-चिन्हों को परम लक्ष्य मानकर आगे बढ़ते थे। उनको जहाँ भगवान् बैठाते थे वहीं बैठते थे, जहाँ जाने को कहते थे वहीं जाते थे, जिस कार्य के करने को मना करते, उसे भूलकर मन से भी न करते थे। तभी तो वे प्रातः स्मरणीय और पुण्यश्लोक बन सके। उन्होंने जिस क्षण भगवान् के स्वधाम पधारने की बात सुनी, उसी क्षण अपना राज मुकुटों से सेवित दिव्य सिंहासन त्याग दिया और उत्तराखण्ड की ओर चले गये। उन्हीं के उत्तराधिकारी तो आप हैं। आप फिर अपना सर्वस्व त्यागकर श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में चित्त क्यों न लगावेंगे ?"

मुनियों के ऐसे सारगर्भित वचन सुनकर महाराज परीक्षित् अत्यन्त ही नम्र हो गये। उन्होंने समस्त मुनियों को फिर से प्रणाम किया। अब वे ऋषि मुनि आपस में ही कहने लगे—"देखो, यह राजा कितना धर्मात्मा है, कितना नम्र है। भूल से एक छोटा-सा अपराध बन गया है उसी के कारण यह कितना दुखी है। उस मुनिपुत्र ने लड़कपन ही किया। उसके पिता ने उसकी बात का समर्थन नहीं किया। यही नहीं उसे बहुत डाँटा-डपटा भी। अब जो हुआ सो हो गया। हम अपनी योग दृष्टि से देख रहे हैं, राजा की मृत्यु इसी कारण से होनी थी। इनके जन्म के समय ही ज्योतिषियों ने यह बात बता दी थी। अब हम लोगों का एक कर्तव्य है—जब तक ये राजर्षि अपना शरीर त्याग न करें, तब तक हम सब यहीं बैठे रहें।

इन धर्मात्मा राजा की दुर्गति न होने दें। ब्राह्मणों की अपकीर्ति न होने दें कि इतने धर्मात्मा राजा को शाप देकर–अपमृत्यु करा-कर नरक भेज दिया। अब हम सब मिलकर इनके उद्धार का उपाय सोचें।"

वृद्ध मुनि की बात सुनकर सभी ऋषि मुनियों ने हर्ष के साथ कहा—"सत्य है, सत्य है, हम सब सात दिनों तक कहीं भी न जायेंगे, इन राजर्षि के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए यहीं बने रहेंगे।"

जो ऋषि माया मोह से सदा दूर रहने वाले हैं, उनके ऐसे सहानुभूति सूचक वचन सुनकर महाराज प्रेम में अधीर हो उठे. उनके नेत्रों में जल आ गया। उन त्यागी विरागी ऋषियों के अमृतोपम पक्षपात शून्य गम्भीर और छल कपट से रहित वचन सुनकर कृतज्ञता के भार से नत हुए महाराज परीक्षित् कहने लगे—"मुनियो! किन शब्दों के द्वारा मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ? क्या कहकर मैं अपने मनोगत भावों को व्यक्त करूँ? आप सबके सम्बन्ध में मैं जो भी कुछ कहूँगा, वही न्यून होगा और वह आपका सम्मान न होकर अपमान ही होगा। यह प्राकृत मानुषी वाणी तो संसारी विषयों को ही व्यक्त कर सकती है। इस लोक के ही पदार्थों का संकेत कर सकती है। आप सब इस लोक के जीव हैं नहीं। आप सब तो सीधे सत्यलोक से पधारे हैं। आप अपने भोगों को भोगने के निमित्त अवनि पर अवतरित नहीं हुए हैं। लोकों पर अनुग्रह करने के निमित्त, केवल दयावश ही आपने अपना यह मानुषी विग्रह धारण किया है। परोपकार करना तो आपका स्वभाव ही है। दया किये बिना आप रह ही नहीं सकते। उस दया के वशीभूत हो कर ही आपने मुझ अधम नीच पर अहैतुकी कृपा की है। आप सबके ज्ञान-विज्ञान की कोई नाप तोल नहीं। आप सबका ज्ञान अगाध है।

मानों साक्षात् वेद ही अनेक रूप धारण करके यहाँ पधारे हैं। अब जब आप सबने इस सेवक पर इतनी कृपा की ही है, तो मैं आप सबसे एक प्रश्न करना चाहता हूँ। आप सबकी आज्ञा मिलने पर मैं अपने प्रश्न को पूछूँगा।"

यह सुनकर वे वृद्ध मुनि बोले—"राजन् आप निर्भय होकर, बिना संकोच के अपना प्रश्न पूछिये। हम सब अपनी-अपनी मति के अनुसार उसका उत्तर देंगे।"

महाराज बोले—"मुनियो! एक तो मेरा सामान्य प्रश्न है, एक विशेष प्रश्न है। आप सब शास्त्रों के ज्ञाता हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है, कि आप सब मिलकर जो भी निर्णय करेंगे, जो भी उत्तर देंगे, उससे मेरा ही नहीं, प्राणिमात्र का उपकार होगा। मेरा सामान्य प्रश्न तो यह है कि आप सब ऐसा कोई सर्वश्रेष्ठ सुन्दर, सुगम साधन बताइये, जिसे सभी जीवों को सभी अवस्थाओं में सर्वदा करते रहना चाहिये। जिसके करने से आत्यन्तिक कल्याण की प्राप्ति हो और विशेष प्रश्न यह है कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त ही सन्निकट हो, उसे कौन-सा कर्म करना चाहिये?"

इस पर वे मुनि बोले—"राजन्! यह तो सभी जानते हैं, कि सदा शुभ कर्म करते रहना चाहिये, अशुभ कर्मों से बचते रहना चाहिये।"

महाराज अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"हाँ, मैं यही तो जानना चाहता हूँ कि सबसे श्रेष्ठ शुभ कर्म कौन-सा है? शुभ कर्मों की कोई एक निश्चित संख्या तो है नहीं। किसी अवस्था में कोई कर्म शुभ समझा जाता है, वही देश-काल-पात्र और अवस्था भेद से कभी अशुभ भी हो जाता है। कोई कभी कहीं पर विहित माना जाता है, वही दूसरे स्थानों में अविहित ठहरा दिया जाता है। मैं एक ऐसा कर्तव्य कर्म जानना चाहता हूँ, जो सर्वथा सब अवस्थाओं में शुभ ही हो।

जिसके करने से सभी को सर्वदा सुख की ही प्राप्ति हो। यज्ञ याग, जप, तप, तीर्थ, व्रत, दान, पूजा, अर्चा, ज्ञान, ध्यान, सभी श्रेष्ठ हैं। बहुत अवस्था हो, तो इन सबको करते हुए काल यापन करना चाहिये, किन्तु जब मृत्यु सिर पर ही आ गई हो, उस समय तो सब कुछ छोड़कर एक ही कर्म करके परम पद की प्राप्ति हो सके, उसका आप सब मिलकर आदेश करें। यहाँ ऋषि मंडली में जो निर्णय हो जायगा, वह सभी को मान्य होगा।"

महाराज के गूढ़ प्रश्न को सुनकर सभी ऋषि चकित हो गये। अब वे परस्पर में मुख्य कर्तव्य के विषय में वाद-विवाद करने लगे। कोई ज्ञान को श्रेष्ठ बताते। कोई कर्म की प्रशंसा करते, कोई उपासना का महत्त्व बताते, कोई दान, धर्म, जप, योग, समाधि, मंत्रानुष्ठान आदि पर बल देते। सब मिलकर कोई निर्णय न कर सके। ऋषि-मुनियों में इस प्रकार परस्पर में वाद-विवाद होते देखकर महाराज परीक्षित हाथ जोड़कर खड़े हो गये और बोले—"महर्षियो! ऐसे काम न चलेगा। मैं एक सर्वोत्कृष्ट सबसे ऊँचा सिंहासन लगवाये देता हूँ, जिनमें साहस हो, जो इसकी निर्भीक होकर प्रतिज्ञा करें कि हम अपने साधन द्वारा सात दिनों में अवश्य ही राजा की मुक्ति करा देंगे, वे उस आसन पर विराज जायँ। मैं तो सब प्रकार से आपका सेवक ही हूँ। मैंने अपने चित्त को सभी संसारी बातों से हटा लिया है। आप सब एक मत होकर मुझे जो भी करने को कहेंगे, उसे ही मैं बिना विचारे करूँगा। अब देर करने का काम नहीं, अब वाद-विवाद और शास्त्रार्थ का समय नहीं। अब तो मुझे पल-पल भारी हो रहा है। अब तो आप सब मिलकर सार तत्व बता दीजिए। सर्वश्रेष्ठ सुगम साधन मुझे सुझा दीजिए।"

इतना कहकर महाराज ने एक बहुत सुन्दर दिव्य सिंहासन

सजवाकर व्यास-पीठ बना दी। उस उत्तम सिंहासन को देखकर सभी एक दूसरे के मुख की ओर ताकने लगे। वे सब मुनि तो त्रिकालज्ञ थे। वे जानते थे इस आसन का अधिकारी कौन है? अतः उनमें से किसी ने भी उस उत्तमोत्तम आसन पर बैठने का साहस नहीं किया। यह देखकर राजा को बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—"मेरा उद्धार नहीं होगा क्या? क्या ऋषि मुनि मुझे विप्रद्रोही समझकर मेरा तिरस्कार तो नहीं कर रहे हैं।"

छप्पय

सब मुनि! मोकूँ महामन्त्र दै पार लगावें।
कृष्ण चरन महँ चित्त लगे सो गैल बतावें॥
विद्या, साधन, शास्त्र सबहिँ हैं न्यारे न्यारे।
जो जिनकूँ अनुकूल परैं, ते तिनकूँ प्यारे॥
सरल सुगम सुन्दर सरस, सब मिलि सुठि साधन कहैं।
जिहिँ कलियुग नर नारि गहि, भक्ति-मुक्ति दोऊ लहैं॥

मुनि-मण्डली में श्रीशुक का शुभागमन

[८३]

तत्राभवद् भगवान् व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १९ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

मधुर बचन नृप कहे मुनिनि के मन महँ भाये ।
ताही छिन निरपेक्ष व्याससुत शुक तहँ आये ॥
तरुन अरुन कर चरन कमल सम नयन रगीले ।
मनहर लोल कपोल अङ्ग सुकुमार गठीले ॥
कंध सिंह सम विपुल उर, कारे कुञ्चित केश अति ।
मृदु मुसकावन श्याम तनु, मत्तगयन्द समान गति ॥

संसारी किसी पुरुष से आशा न रखकर जो भगवान के

---

* ऋषि मुनि जब परस्पर में साध्य साधन तत्त्व का विचार कर ही रहे थे कि इतने में स्वच्छन्दता से पृथ्वी पर विचरण करते हुए निरपेक्ष व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजी वहाँ आ पहुँचे । उनके शरीर पर किसी वर्ण या आश्रम का कोई चिह्न नहीं था । वे अवधूत वेष में आत्म-लाभ में सन्तुष्ट हुए चले आ रहे थे । बहुत-सी स्त्रियाँ तथा बालक उन्हें पागल समझ कर घेरे हुए थे ।

भरोसे पर ही रहते हैं, जिन्होंने अपना शरीर तथा मन प्राण प्रभु के पादपद्मों में अर्पण कर दिया है, उनके कोई मनोरथ विफल नहीं होते। उनके मन में जो इच्छा उठती है, श्यामसुन्दर उनके कल्याण के निमित्त उसे ही पूरी करते हैं। जब मनुष्य विश्वास खोकर अधीर हो जाता है, तभी दुःख पाता है। जो अन्त तक विश्वास को नहीं छोड़ता, जिसका यह अटल निश्चय बना रहता है कि वे सर्वान्तर्यामी प्रभु किसी न किसी रूप में आकर मेरे मनोरथ को पूर्ण करेंगे, उसके न जाने कैसे सभी कार्य किसी न किसी को निमित्त बनाकर पूरे हो जाते हैं। एक बार नहीं लाखों बार का यह अनुभव है कि जिसे सभी लोग असम्भव समझते थे, ठीक उसी समय ऐसी सहायता प्राप्त हुई है कि असम्भव सम्भव बन गया है, दुष्कर सुकर हो गया। यदि ऐसा न होता हो तो भगवान् पर कोई अब तक विश्वास करता ही नहीं।

महाराज परीक्षित् के पारमार्थिक प्रश्न का जब मुनि मंडली की ओर से कोई निश्चित उत्तर न मिला, तब वे कुछ चिन्तित से हो उठे। उनके मन में यह बात आई कि अब मेरा उद्धार कैसे होगा? बस इस विचार के उठते ही क्या देखते हैं कि उत्तर दिशा की ओर से कुछ हल्ला-सुनाई दिया। सभी का ध्यान उसी ओर आकृष्ट हुआ। सभी ने देखा—बहुत से बालक और स्त्रियों से घिरे हुए परमहंस शिरोमणि भगवान् शुक अपनी मस्ती में चले आ रहे हैं।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित के प्रयोपवेश व्रत की बात सर्वत्र फैल गई, तो दैवयोग से मैं भी तब उधर ही घूम रहा था। सब ऋषि मुनियों को गंगा तट जाते देखकर कुतूहल वश मैं भी उनके साथ-साथ चला गया। यह सब दृश्य मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा था। सर्व प्रथम अपने गुरुदेव भगवान् शुक के दर्शन मुझे वहीं हुए थे।

वहीं मैंने उन सौन्दर्य के साकार विग्रह को निरखकर अपने नेत्रों को सफल बनाया था। अहा! कैसी थी उनकी अनुपम छटा, कैसा था उनका अनिन्द्य निरवद्य सौन्दर्य! कैसी थी उनकी मत्त गयन्द के समान मस्ती से भरी हुई चाल। संसार से वे कितने निरपेक्ष दिखाई देते थे। संसार में ऐसा देखा गया है कि कुरूप पुरुष भी जब नाना प्रकार के तेल फुलेल, बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अपने को सजा लेता है, तो वह उस सजावट के कारण कुछ आकर्षक बन जाता है, किन्तु जो स्वभाव से ही सुन्दर है, वह जिस अवस्था में भी रहे, उसी में सुन्दर लगता है वस्त्राभूषणों से उसकी शोभा बढ़ती नहीं, किन्तु उसके अङ्गों में जाकर वे वस्त्राभूषण ही सुशोभित बन जाते हैं। वह अपने शरीर पर धूलि भी लगा ले, तो भी उसी के द्वारा उसकी अनुपम शोभा हो जाती है। स्वाभाविक मनोहरता के लिये मंडन की, साज-शृङ्गार की अपेक्षा नहीं।

पाँच पाण्डवों में सहदेव सबसे सुन्दर थे। एक तो वे अश्विनी कुमारों के अंश से उत्पन्न हुए थे, जो स्वर्ग के देवताओं में सबसे सुन्दर समझे जाते हैं। दूसरे उनकी माता मद्र देश की थीं, जहाँ के स्त्री-पुरुष प्रायः गौरवर्ण के ही होते हैं। इन्हीं सब कारणों से उस समय ये सुन्दर पुरुषों में अद्वितीय माने जाते थे। यहाँ तक सुनते हैं कि वन में जब वे किसी ग्राम से होकर निकल जाते थे, तो सियानी लड़कियाँ और स्त्रियाँ कोसों अपने आपे को भूलकर उनके पीछे-पीछे उनके सौन्दर्य को निहारती हुई चली जाती थीं। इसीलिये वे अपने सम्पूर्ण शरीर में वनवास के समय मिट्टी लपेटे रहते थे कि कोई उनके असली सौन्दर्य को न देख सके। मुनियो! मैंने पाण्डुनन्दन सहदेव को देखा था, सचमुच वे बड़े ही सुन्दर थे। किन्तु मेरे गुरुदेव भगवान् व्यासनन्दन के सामने मुझे संसार भर का सौन्दर्य

कुछ दिखायी दिया। या तो अनुपम लावण्य, माधुर्य भगवान् श्यामसुंदर के ही श्री विग्रह में था या इन परमहंस-चक्र चूड़ामणि व्याससुअन भगवान् शुक के ही श्रीअङ्ग में, दोनों में मुझे तो कोई भी भेदभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। एक-सी आभा, एक-सी कान्ति, एक-सा वपु, एक-सी वय, एक-सी उठन बैठन, चलन चितवन, मन्द मुस्कान। सभी में साम्य था। अन्तर इतना ही था, वे सदा सजे बजे-से रहते थे, ये अवधूत होने के कारण नङ्ग धड़ंगे, बाल खोले प्रेत पिशाच तथा पागल की भाँति इधर से उधर अकारण घूमते रहते थे, इस स्वाभाविकता के कारण इनका सौन्दर्य और भी, निर्मल स्वच्छ और मनोहर प्रतीत होता था।

सिर के बाल काले घुँघराले, घने, न बहुत बड़े, न बहुत छोटे, टेढ़े और अत्यन्त कोमल हों तो श्रेष्ठ माने जाते हैं। उन्हें नाना प्रकार के सुन्दर सुगन्धित गुणकारी पदार्थों से धोया जाय, भाँति-भाँति से चिकने गन्ध-युक्त तेल फुलेलों से तर किया जाय, उनमें चित्र-विचित्र पुष्प लगाये जायँ, तो और चित्ताकर्षक और नयनानन्ददायक दिखाई देते हैं, किन्तु मेरे गुरुदेव के बालों में यह सब कुछ भी नहीं हुआ था। कभी न धोने के कारण उनकी छोटी-छोटी लटें-सी बन गयी थीं। वे कंधों तक बिना व्यवस्था के बिखरी हुई थीं। उनमें धूलि भरी हुई थी। जिस समय वे सिर हिलाते उस समय ऐसा प्रतीत होता था, मानों छोटे-छोटे नागों के छोने टेढ़े होकर चन्दन की शाखा में लटके हुए हिल रहे हों। उनके बाल स्वाभाविक ही घुँघराले थे। कभी उनमें स्निग्धता तेल आदि न पड़ने से बीच-बीच में मोटी-मोटी गाँठें पड़ गयी थीं। टेढ़ी-मेढ़ी लटों में वे गाँठें ऐसी ही लगती थीं मानों बहुत से लटके हुए छोटे-छोटे तार के टुकड़ों में पंक्ति बद्ध भ्रमर लटक रहे हों। वे बाल कपोलों का स्पर्श कर

रहे थे। इससे ऐसा लगता था मानों मुख रूपी कमल के सौरभ के लम्पट भ्रमर उसे पान करने का प्रयत्न कर रहे हों। उनका मस्तक विशाल था। धूल से भरा होने से, वे भस्म लगाये शिव भक्त के समान दिखाई देते थे। भौंएँ टेढ़ी और धनुष के आकार की अत्यन्त ही मनोहर थीं, ध्यान करने के कारण जब वे ऊपर चढ़ जातीं, तो ऐसी प्रतीत होतीं मानों आकाश को फोड़ने के लिये कामदेव ने दो बाण ताने हों। उनकी नासिका उन्नत थी। नीचे की ओर अत्यन्त नुकीली होने से वे साक्षात् शुक ही से दिखाई देते थे। अन्तर इतना ही था, कि शुक की नाक अत्यन्त लाल वर्ण की अधिक टेढ़ी होती है, इनकी नासिका ललाई लिये हुए नील वर्ण की कम नुकीली थी। दोनों बड़े-बड़े नेत्र कमल के समान थे। उनके पलक काले थे। भीतर का भाग गङ्गाजल के समान स्वच्छ था। यमुना जल के सदृश गहरे नीले रङ्ग की पुतलियाँ थीं। सरस्वती के सदृश अरुणता लिये हुए लाल-लाल डोरों से, कमल के सबसे भीतरी कोश के सदृश कोमल और लाल होने से शुभ्र रक्ताभा छिटक रही थी। इस प्रकार उन विशाल नेत्रों में त्रिवेणी का-सा दृश्य दिखाई देता था। निरन्तर ध्यान मग्न होने के कारण आँखों की पुतलियाँ सदा चढ़ी रहती थीं। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों दोनों पुतलियाँ दोनों भौंहों की दो पुत्रियाँ हैं और उन्हें पलक रूपी बाढ़ ने बन्द कर रखा है, फिर भी वे अपनी माताओं से मिलने के लिये बार-बार प्रयत्न कर रही हैं।

उनके दोनों लोलकपोल गोल और उभरे हुए थे। उन पर लगी धूलि ऐसी ही प्रतीत होती थी, मानों होली में वन विहार के समय श्यामसुन्दर के कपोलों पर गुलाल के स्थान पर अबीर ही मल दिया हो। कभी-कभी आँखों की कोर से अश्रु बिन्दु लुढ़क-लुढ़ककर कपोलों से होकर वक्षस्थल की ओर जाते

हुए ऐसे प्रतीत होते थे। मानों माता के स्तन से निकले दुग्ध बिन्दु बच्चे के मुख के दोनों ओर से बहकर उसके वस्त्रों को भिगो रहे हों।

चिकने लाल पतले दोनों ओठ दो कमल के कोशों के समान निरन्तर नाम स्मरण करने से उसी प्रकार हिल रहे थे जैसे मछलियों के आने जाने से कमल-कोश हिल जाते हैं। उनकी दन्तावली शुभ्र स्वच्छ चाँदनी के समान निर्मल थी। जब वे बालकों को देखकर हँस पड़ते, तो दाँतों की शुभ्र आभा उसी प्रकार शोभा देती जैसे शरद के दिन पूर्व में दो लाल रङ्ग के बादलों के बीच से चन्द्रमा उदित हुआ हो। उनकी अवस्था षोडश वर्ष की थी। ऊपर का ओष्ठ कुछ-कुछ काला पड़ने लगा था, उसमें से छोटी-छोटी रेख निकलती हुई उसी प्रकार प्रतीत होती थी जैसे काले कमल की कर्णिका के भीतर से अंकुर निकलने आरम्भ हुए हों। उनके दोनों कान समान थे, ग्रीवा शंख के समान उतार चढ़ाव की थी। कन्धे सिंह के समान विशाल और भरे हुए थे। जिस समय वे ग्रीवा को हिलाते उस समय कन्धों पर लटकी हुई लटें इसी प्रकार हिलती थीं, मानो किसी सम्राट् के ऊपर दो कृष्ण वर्ण के चमर हिल रहे हों। सुन्दर सुहावनी उतार चढ़ाव की दोनों भुजाएँ उसी तरह दिखाई देती थीं, मानो तमाल वृक्ष की दो बड़ी-बड़ी शाखायें हों। उनकी छाती चौड़ी, स्तन काले थे, धूलि लगने से वक्षस्थल के बाल सफेद-सफेद उसी प्रकार दिखाई देते थे, मानो विशाल कृष्ण-वर्ण की शिला पर सफेद ऊन का आसन बिछा हो। उदर में त्रिवली शोभा दे रही थी। गम्भीर नाभि गंगाजी के श्रावण भादों के भँवरों के समान गोल और पेचदार थी। दशों दिशायें ही उनके बहुमूल्य वस्त्र थे। धूलि के अतिरिक्त शरीर पर एक वस्त्र की चीर भी नहीं थी। कदली स्तम्भ के सामन उनकी

मोटी-मोटी जंघाएँ, उतार चढ़ाव की पिण्डलियाँ और सुन्दर सुकोमल लाल तलवे वाले चरण थे। उनका एक-एक अंग सुन्दर से भी सुन्दर था। उनके सौन्दर्य की किसी संसारी सौन्दर्य से तुलना नहीं की जा सकती थी। सौन्दर्य को भी लज्जित करने वाला उनका रूप था। वे अपनी मस्ती में झूमते हुए—आत्मानन्द में निमग्न हुए—चले आ रहे थे। उनके अद्भुत सौन्दर्य माधुर्य से आकृष्ट होकर बहुत-सी ग्रामीण स्त्रियाँ तथा बच्चे उनके पीछे-पीछे आ रहे थे। बच्चे उन्हें सिड़ी पागल समझते। कोई उन पर धूलि फेंकता, कोई उन पर ढेला चला देता। बड़े लड़के छोटों को डाँटते, ऐसा करने से रोकते, बच्चे चिल्ला उठते—"पागल है, लू-लू है।" इतना कह कर सब हँस पड़ते। शुकदेवजी भी उनकी हँसी में हँसी मिलाकर हँस पड़ते। कभी चलते-चलते खड़े हो जाते, कभी बालकों की ओर निहारते, फिर चल पड़ते। इस प्रकार अद्भुत क्रीड़ा करते हुए वे गुरुओं के गुरु, मेरे आराध्यदेव श्रीकृष्णद्वैपायन-तनय भगवान् श्रीशुक उस मुनि-मण्डली के सन्निकट आ पहुँचे। सभी की दृष्टि उधर ही लगी थी। पहिले तो कोई उन्हें पहिचान ही न सका। जब वे एक दम समीप ही आ गये, तो जानने वालों ने उन्हें जाना, लक्षणों से पहिचाना। यौवनावस्था के उभार के कारण श्याम रङ्ग का उनका शरीर बिना शान पर चढ़ाई नीलमणि के समान धूलि से ढका हुआ अत्यन्त तेजस्वी दिखाई दे रहा था। इन्हें देखते ही सभी ऋषि-मुनि अपने-अपने आसनों से उनका आदर करने के निमित्त उठ खड़े हुए। उन्होंने सभा में किसी की ओर देखा भी नहीं। उनके पिता भगवान् व्यासदेव वहाँ बैठे थे, पितामह पराशर जी उपस्थित थे, पितामह के भी पितामह भगवान् वशिष्ठ उस सभा की शोभा बढ़ा रहे थे। किसी की कुछ भी चिन्ता न करके वे सीधे उस सबसे ऊँचे सिंहासन

छप्पय

धूरि भरयो तनु दृष्टि इष्ट चरननि महँ लागी ।
रतिपति सम अति सुघर देह की सुधि बुधि त्यागी ॥
वेष दिगम्बर केश खुले सँग बालक भागें ।
निरखि नारि सौन्दर्य चलीं सब कारज त्यागें ॥
ऋषि-मुनि निरखे व्यास सुत, जानि सबनि आदर दयो ।
बैठे पूजित पीठि पै, नृप-मन अति आनँद भयो ॥

स विष्णुरातोऽतिथय आगताय
तस्मै सपर्यां शिरसाऽऽजहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १९ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

विधिवत् पूजा करी नृपति यों वचन उचारे ।
दीये दरशन देव ! दुरित सब हरे हमारे ॥
जिनको सुमिरन करत रागयुत होहिं विरागी ।
तिनको दरशन पाहिं भाग्यशाली बड़ भागी ॥
अहो, आज द्विज-द्रोह करि, के हूँ हौं पावन भयो ।
अतिथि आइ श्रीशुक भये, निन्द्य कृतारथ है गयो ॥

गुरु में और भगवान् में कोई भेद नहीं। जैसे भगवान् सर्व-

* अतिथि रूप मे पधारे हुए श्रीशुक को देखकर विष्णुरात महाराज परीक्षित् ने मस्तक नवाकर उन्हें प्रणाम किया और उनकी विधिवत् पूजा की। उन दिगम्बर परमहंस की महाराज के द्वारा पूजा होते देखकर उनके पीछे जो स्त्रियाँ और अज्ञ बालक आये हुए थे, वे लौट गये और राजा द्वारा पूजित होकर श्रीशुकदेवजी सबसे ऊँचे आसन पर विराजमान हो गये।

व्यापक हैं, उसी प्रकार गुरु तत्त्व भी सर्व व्यापक है। बिना भूख के दूसरों के आग्रह से किये हुए भोजन में न तो अपने आपको स्वाद ही आता है, न उसका शुद्ध रस बनकर शरीर का पोषण ही करता है। यही नहीं बिना भूख अनिच्छा पूर्वक किया हुआ भोजन दूषित आँव को उत्पन्न करके विष के समान प्रभावशाली बन जाता है। खूब कड़ाके की भूख लग रही हो, उस समय जो सुन्दर स्वादिष्ट स्वतः ही भोजन आता है, उसे देखकर प्रसन्नता होती है, पाते समय हृदय प्रसन्न होता है, भीतर शुद्ध रस बनता है। तुष्टि, पुष्टि और भूख की निवृत्ति प्रत्येक ग्रास ग्रास पर होती है। इसी प्रकार जब हृदय में परमार्थ की प्रबल जिज्ञासा हो, सर्वान्तर्यामी गुरु स्वयम् ही अधिकारी समझ कर उसके सम्मुख प्रकट होते हैं और उसके सम्पूर्ण संशयों का छेदन करते हैं! योग्य गुरु अपात्र को कभी उपदेश नहीं करते, क्योंकि अपात्र में किया हुआ उपदेश उसी प्रकार व्यर्थ हो जाता है, जैसे ताँबे के पात्र में रख देने से दधि व्यर्थ हो जाता है, भस्म में किया हुआ हवन व्यर्थ होता है, अथवा कड़वी तुम्बी के बनाये हुये साग में डाला हुआ घृत या मसाला व्यर्थ होता है।

महाराज परीक्षित् सात दिन में अपनी मृत्यु की बात सुनकर विषयों से विरक्त हो चुके थे। उन्होंने राज्य-पाट, धनधान्य स्त्री परिवार सभी का त्याग कर दिया था। यहाँ तक कि उन्होंने अन्न-जल भी त्याग दिया था। कृष्ण में ही अपना चित्त लगाए, सर्वश्रेष्ठ साधन की जिज्ञासा में, मुनियों से घिरे गंगा तट पर बैठे थे। उनसे उत्तम अधिकारी और कौन हो सकता है? इसीलिए सर्वसङ्ग विनिर्मुक्त, निरपेक्ष, परम त्यागी विरागी भगवान शुक भी उनकी प्रबल जिज्ञासा के आकर्षण से खिंचकर बिना बुलाये ही उनके समीप चले आये। क्षण भर पहिले परमसाध्य तत्त्व

के प्रश्न से जो मुनियों में परस्पर वाद-विवाद हो रहा था। जिसे सुनकर महाराज को कुछ-कुछ निराशा-सी होने लगी थी, श्रीशुक के पधारने से वह निराशा आशा के रूप में परिणित हो गई। व्याससुअन शुक स्वयम् ही सर्वोच्च आसन पर आसीन हो गये, तब तो महाराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। दौड़कर उन्होंने परमहंस शिरोमणि महामुनि के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। उनकी चरण धूलि शिर पर धारण की। सुन्दर जल से उनके धूलि में भरे-पङ्क लगे पङ्कज के समान अरुण चरणों को मल-मलकर धोया, अर्घ्य आचमनीय, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प फलों से उनकी विधिवत् पूजा की। एक सुन्दर सुगन्धित कमलों का हार उनके गले में पहिनाया। श्रीशुक ने राजा की, की हुई पूजा शास्त्र विधि से स्वीकार की। राजा के द्वारा पूजित और उच्चासन पर विकसित कमलों की लम्बी माला को पहिने वे उसी प्रकार शोभा दे रहे थे, जिस प्रकार महाराज बलि के यज्ञ में ऋषियों से घिरे भगवान् वामन शोभित हुए थे। अथवा मुनि मण्डली मे ब्रह्मापुत्र सनत्कुमार कथा कहने को बैठे हों। जिस प्रकार ताराओं के बीच में शरद कालीन चन्द्रमा की शोभा होती है, उसी प्रकार परीक्षित् परिषद् में—मुनियों के बीच में—परमहंस श्रीशुक शोभा पा रहे थे।

श्रीशुकदेवजी के पीछे जो बहुत-सी ग्रामीण स्त्रियाँ तथा छोटे-छोटे अज्ञ बालक आ रहे थे, उन्होंने जब देखा कि इन पागल की तो चक्रवर्ती महाराज परीक्षित् ऐसी पूजा कर रहे हैं, इनके सम्मुख साष्टांग प्रणाम कर-रहे हैं, तब तो वे सब मारे डर के वहाँ से भाग गये। सभी ऋषि मुनि अपने-अपने आसनों पर बैठ गये। सम्पूर्ण सभा में शाँति छा गयी। सभा मौन थे। वायु भी अत्यन्त मन्द-मन्द गति से बहने लगी। प्रकृति की स्तब्धता को भङ्ग करते हुए, महाराज परीक्षित् श्रीशुक के समीप आकर

उन्हें पुनः प्रणाम करके दोनों हाथों की अंजलि बाँधे हुए गद्गद कंठ से बोले ।

महाराज उन आये हुए अपने अद्वितीय अतिथि का स्वागत करते हुए कहने लगे—"ब्रह्मन् ! आपकी अहैतुकी कृपा के सम्बन्ध में कुछ कहने की शक्ति तो मुझमें है ही नहीं। आप तो कृपा के सागर ही हैं। जीवों पर दया करना, उन्हें कुपथ से हटाकर सुपथ पर लगाना, यह तो आपका स्वभाव ही है। आपकी प्रत्येक चेष्टा लोक कल्याण के ही निमित्त होती है। अतः आपके लिये जो भी कुछ कहा जाय, जो भी कुछ प्रशंसा की जाय, सब व्यर्थ है। मैं तो आज अपने भाग्य की प्रशंसा कर रहा हूँ। मैं कितना भाग्यशाली हूँ जो आज मुझे आपके देव दुर्लभ दर्शन का सर्वोत्तम सौभाग्य प्राप्त हुआ। महाराज ! हम अब नाम मात्र के ही क्षत्रिय रह गये हैं, किसी की भी दुःख से रक्षा नहीं करते, उलटे साधु ब्राह्मणों को और दुःख देते हैं। ऐसे होने पर भी आपने हमारे अवगुणों की ओर ध्यान नहीं दिया। अतिथि रूप में पधारकर हमें परम पावन बना दिया।

योगशास्त्र के आचार्यों का मत है कि योगेश्वरों का स्मरण करने से योग में आये हुए समस्त विघ्नों का नाश हो जाता है। आपके स्मरण मात्र से ही सब दुरित दूर हो जाते हैं, तो फिर जिन्हें आपके दर्शनों का, पादस्पर्श का, आपके संग बात-चीत करने का, आपके श्रीअंगों की सेवा करने का, आपके पैर धोने का तथा आसन, भोजन आदि देकर सेवा करने का शुभ अवसर प्राप्त हो जाय, उनके तो भाग्य के सम्बन्ध में कुछ कहना ही व्यर्थ है। जो सौभाग्य देवताओं को भी दुर्लभ है, वह आज भाग्यवश मुझे स्वतः ही प्राप्त हुआ। मैं इसी चिन्ता में था कि मेरे पाप कैसे दूर होंगे ? किन्तु अब आपके आ जाने से मैं निश्चिन्त हो

गया। जैसे दैत्यों से भयभीत देवता गदा लेकर रण में भगवान् विष्णु के पधारने से निर्भय हो जाते हैं, और समस्त दैत्य भगवान् के भय से भाग जाते हैं, उसी प्रकार मेरे भी पाप, ताप, संताप आपको सन्निधि से नष्ट हो जायँगे, विनाश को प्राप्त हो जायँगें।"

महाराज के विनीत वचन सुनकर श्रीशुक ने उनका अभिनन्दन किया और बोले—"राजन्! तुम बड़े धर्मात्मा और साधु-सेवी हो। तुम्हारे पुण्य के प्रभाव से ही तो इतने ऋषि-मुनि बात की बात में यहाँ एकत्रित हो गये हैं।"

अत्यन्त ही दीनता के साथ महाराज बोले—"प्रभो! धर्मात्मा ही होता तो मुझे विप्र शाप क्यों होता? क्यों मेरी बुद्धि अधर्म-कार्य में प्रवृत्त होती। मेरा अपना निजी तो कोई ऐसा प्रबल पुण्य है नहीं, जो आप जैसे सन्तों का सत्संग प्राप्त हो सकता, स्वयं तो मेरे ऐसे सुकृत हैं नहीं। प्रतीत होता है, मेरे पूर्वजों के पुण्य से ही मुझे यह सुअवसर प्राप्त हो सका है। मेरे पितामहों पर भगवान् श्यामसुन्दर का अनुग्रह था। वे उन्हें अपनी बुआ का पुत्र कहकर उनके सब कार्य करते थे, उनके हित में सदा संलग्न रहते थे। प्रतीत होता है, उसी नाते को निभाते हुए पांडवों के सौहार्द का स्मरण करके उन्हीं की प्रसन्नता के निमित्त उन्होंने मेरे ऊपर ऐसा अनुग्रह किया है। कृपा करके आपका साक्षात्कार कराया है। नहीं तो सदा ही वन में रहने वाले आपका दर्शन मरने के समय मुझे कैसे हो सकता था? आपकी गति अव्यक्त है, आप सिद्ध हैं, इच्छानुसार रूप बना सकते हैं, जहाँ जाना चाहें, क्षण में जा सकते हैं। अपने पुरुषार्थ से—प्रयत्न करके—कोई आपको पाना चाहे तो नहीं पा सकता। ऐसे सिद्ध महापुरुषों का दर्शन संसार-पङ्क में फँसे हम विषयासक्त प्राकृत प्राणियों को होना असम्भव ही है। अब मेरा

एक प्रश्न है उसी को मैं इन सभी महर्षियों से पूछ रहा था। सौभाग्यवश इतने ही में आप भी आ गये। आज्ञा हो तो मैं पूछूँ ?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन ! मैं आपके प्रश्नों का उत्तर देने ही आया हूँ। आपको जो भी पूछना हो निःसंकोच होकर पूछें।"

हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो ! मैं यही पूछना चाहता हूँ कि मनुष्यों के लिये सब कुछ छोड़कर कौन-सा ऐसा कर्तव्य है जिसे करना ही चाहिये और विशेषकर उसके लिये जिसकी मृत्यु अत्यन्त सन्निकट आ गई हो। सर्वप्रथम आप यही बताइये कि जिसे यह निश्चय हो गया हो कि अब तो शीघ्र मुझे मरना ही है, उसके लिये क्या करना चाहिये ? उसको कौन-सी बात सुननी चाहिये, किस मन्त्र का निरन्तर जप करते रहना चाहिये और किसका भजन करना चाहिये। मरने वाले के लिये आप अचूक रामबाण औषधि बता दें, जिससे उसका फिर जन्म-मरण न हो। वह चौरासी के चक्कर से छूटकर भगवान् के परम धाम को प्राप्त कर सके। औषधि के साथ उसका पथ्य भी बताइये, क्योंकि पथ्य के बिना औषधि का उतना प्रभाव नहीं होता, जितना होना चाहिये। इसलिये कर्तव्य के साथ ही साथ यह भी बताइये कि कौन-कौन से कार्यों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

आप कह सकते हैं कि तुम्हारा यह प्रश्न बहुत गूढ़ है। इसका उत्तर देने में बहुत समय लगेगा। इतनी देर हम ठहर नहीं सकते। सो, यह तो मैं दीनबन्धो ! जानता हूँ कि आप कहीं भी किसी गृहस्थ के यहाँ अधिक नहीं ठहरते। जितनी देर में एक गौ दुही जाती है, उतनी ही देर किसी भाग्यशाली गृहस्थ के घर पर भिक्षा के मिस से जाकर खड़े हो जाते हैं।

सो भी कुछ भिक्षा के लोभ से नहीं। संसार का समस्त ऐश्वर्य आपके चरणों में लोटता है। आपको भिक्षा की क्या अपेक्षा? आप तो संसार में फँसे दीन-हीन, साधन-विहीन गृहस्थों पर कृपा करके अपने दर्शनों से उन्हें कृतार्थ करने कभी-कभी चले जाते हैं। इतना होने पर भी आप कृपा के भंडार हैं, दया के सागर हैं। आप मेरे संशयों का अवश्य ही छेदन करेंगे। यहाँ सात दिन निवास करके मेरा अवश्य ही उद्धार करेंगे। हे भगवन्! अब मैं आपकी शरण हूँ! आप मेरी सभी शंकाओं का समाधान करने में समर्थ हैं। आप सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी हैं। आपसे कोई बात छिपी नहीं है। कोई भी ऐसा विषय नहीं जिसे आप जानते न हों।" इतना कहकर राजा ने श्रद्धा भक्ति-पूर्वक महामुनि शुकदेवजी को पुनः प्रणाम किया।

सूतजी अब शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"ऋषियो! राजा के ऐसे मधुमय भाषण को श्रवण करके तथा उनकी परम मधुर स्निग्ध और विनम्र वाणी को सुनकर व्यासनन्दन भगवान् शुक बड़े ही प्रसन्न हुए। जिनके लिये कोई विषय अज्ञात नहीं, वे ही सब धर्मों के ज्ञाता श्रीशुकदेवजी राजा के प्रश्नों का उत्तर देने को उद्यत हुए।

मुनियो! यह मैंने आप से महाराज परीक्षित् का परम पावन भक्ति को बढ़ाने वाला उत्तर चरित्र कहा। अब भागवत के श्रोता और वक्ता एकत्रित हो गये। मेरी इस 'भागवती कथा' की भूमिका समाप्त हो गई। अब इसके आगे परीक्षित् और शुक सम्वाद आरम्भ होगा। परमहंस शिरोमणि मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेव, परम भागवत महाराज परीक्षित् के प्रश्न का जिस प्रकार उत्तर देंगे उसे मैं अब आप सबके सम्मुख वर्णन करूँगा। अब मैं मूल कथा का आरम्भ करूँगा। आप सब तत्परता के साथ दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

प्रभो ! परम पुरुषार्थ कृपा करि मोहि बतावे ।
मरणशील कस तरहिं तुरत ताकूँ समुझावें ॥
सुने सुधासम बैन नीर नैननिमहँ आयो ।
बोले शुक–नृप धन्य जगत् तें चित्त हटायो ॥
नृपवर ! सब चिन्ता तजहु, मनमोहन महँ मन धरहु ।
कहूँ भागवत तत्व अब, दत्तचित्त ह्वै के सुनहु ॥

इति भूमिका समाप्त

महाराज परीक्षित् के प्रश्न का उत्तर

[८५]

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितो नृप ।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥
तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरोहरिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥*

(श्री भा० २ स्क० १ अ० १, ५ श्लोक)

छप्पय

भरतवंश अवतंस ! प्रश्न अति उत्तम कीन्हों ।
मुनिमण्डल के मध्य मोइ आदर बहु दीन्हों ॥
भूप ! मूढ़जन विषय-भोगमहँ समय बितावें ।
प्रभु पद प्रेम न करहिं अन्तमहँ पुनि पछतावें ॥
नृपवर ! नरतनु नाव दृढ़, कृष्ण कथा पतवार है ।
केशव कूँ केवट करहिं, सो भवसागर पार है ।

---

* महाराज परीक्षित् के प्रश्न को सुनकर श्रीशुकदेवजी उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"हे नरपति ! आपने यह अत्यन्त ही उत्तम प्रश्न पूछा । इस प्रश्न से आपका ही नहीं, सम्पूर्ण संसार का परम हित होगा । जितने भी श्रवण, मनन और कीर्तन करने योग्य विषय हैं, उन सब में आपका यह प्रश्न सर्वश्रेष्ठ है । राजन् ! यह प्रश्न साधारण लोगों को ही नहीं, आत्मज्ञानियों को भी प्रिय है ।"

इसलिए हे भरतवंशावतंस राजन् ! जिसे अभय पद की अभिलाषा हो, उसे तो सर्वात्म स्वरूप, सबके स्वामी, सभी पापों को हरने वाले,

संसार में सर्वत्र विषमता का ही साम्राज्य है। 'मुंडे मतिर्भिन्ना' के न्याय से प्रायः दो मन मिलते नहीं। सन्त में और प्रेमियों में भी कुछ-न-कुछ मत भेद बना ही रहता है। पति-पत्नी में, पिता-पुत्र में, भाई-भाई में भी बुद्धि वैषम्य कारण कलह, द्वेष तथा लड़ाई झगड़े होते देखे गये हैं। किन्तु जिसे कोई अपने मन के अनुरूप मिल गया है, एक मन ने दूसरे मन को नीर क्षीर के सदृश मिला लिया है। वे बड़भागी पुरुष हैं। किसी को अपने आपको समर्पित कर देने के मानी है अपनी सत्ता को खो देना। जब तक द्वैत है, तब तक प्रेम नहीं। जहाँ पृथकता मिटा दी, अपनी सब वृत्तियाँ प्रेमास्पद में मिला दीं, तो दो मन मिलकर दुगुने ही नहीं होते, उनकी शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है। एक और एक मिलकर ग्यारह बन जाते हैं। वे छोटे भाई धन्य हैं जिन्होंने अपनी समस्त चेष्टायें अपने बड़े भाई की चेष्टा में मिला दी हैं। पाँचों पाण्डवों से बढ़कर इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण और कहाँ मिलेगा? लक्ष्मणजी इसके अनुपम उदाहरण हैं। वनवास के समय जब भगवान् पञ्चवटी पहुँचे, तब लक्ष्मणजी से बोले—"सौमित्र! तुम अपनी इच्छा से सुन्दर-सा स्थान खोजकर वहाँ एक पर्णकुटी बनाओ।" बस, इतना सुनना था, कि लक्ष्मणजी अत्यन्त घबरा गये। वे थर-थर काँपने लगे मुख म्लान हो गया। वे रोते-रोते बोले—"हे रघुनन्दन! मेरी अपनी इच्छा कहाँ है? मैंने तो अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणों में समर्पित कर दिया है। आज मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया है, जो आप ऐसे कठोर वचन कह रहे हैं। राघव! मैं तो पराधीन हूँ। अनन्त

समस्त ऐश्वर्य के स्वामी भगवान् वासुदेव का ही श्रवण कीर्तन और स्मरण करना चाहिए। यही सारातिसार तत्त्व है।"

काल तक मैंने तो आपकी अधीनता स्वीकार कर ली है। मेरी अपनी इच्छा, रह ही नहीं गई। जहाँ आप आज्ञा करें, वहाँ मैं कुटी बना दूँ।" * रामजी ने साधारण स्वभाव से कह दिया था। जब लक्ष्मणजी ने ऐसा कहा, तो वे निरुत्तर हो गये। उनसे कुछ भी इसका उत्तर नहीं दिया गया। इसका कोई उत्तर था भी नहीं। रामजी उसी समय गये और जाकर बताया—"यह बड़ा सुन्दर स्थान है, यहाँ कुटी बनाओ।" तब बताइये, यहाँ मतभेद कैसे हो सकता है? इसी प्रकार पत्नी अपना सर्वस्व पति के चरणों में समर्पित कर दे, तो कभी कलह न हो। द्रौपदी, सीता, सावित्री, दमयन्ती इसके अनेकों उदाहरण हैं। शिष्य अपने गुरुदेव को आत्मसमर्पण कर दे, तो वह जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर सर्वोत्कृष्ट पद का अधिकारी बन जाता है। महाराज परीक्षित् ने यही किया। उन्होंने अपना सर्वस्व श्रीशुक के पाद-पद्मों में समर्पित कर दिया। इसीलिये वे पुण्यश्लोक, परम भागवत, प्रातः स्मरणीय और मुनियों के भी वन्दनीय बन गये। बीज जब तक अपने आपे को खोकर धूलि में नहीं मिलता, तब तक अंकुरित होकर पल्लवित, पुष्पित और फलवान् नहीं बन सकता।

महाराज परीक्षित् सच्चे जिज्ञासु थे। सच्चे जिज्ञासु को ही गुरु की प्राप्ति होती है। जो एक विधि पूरी करने को, व्यवहारिक शिष्टाचार को ही पूरा करने को कान फुँकाते हैं, उन्हें वैसे ही व्यवहारिक वृत्ति वाले गुरु भी मिलते हैं। सभी में भावना की प्रधानता है। भगवान् को भी जो जिस भाव से भजते हैं, उन्हें

---

* परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयिवर्षशत स्थिते।
स्वयन्तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मा वद॥
(श्रीवाल्मीकि आर० का० १४ स० ७ श्लोक)

उसी भाव के अनुसार दर्शन होते हैं। श्रीशुक तो सर्वज्ञ थे। वे राजा के भाव को जानकर ही तो उन्मत्तावस्था में होने पर भी उपदेश देने आये थे। उन्हें पाकर महाराज परीक्षित् ने भी उनसे वे ही दो प्रश्न किये। सब प्राणियों का सब समय सर्वोत्कृष्ट कर्त्तव्य क्या है और जो म्रियमाण है-जिसकी मृत्यु सन्निकट आ गई हो-उसे क्या करना चाहिये ? श्रीशुक ने राजा का और राजा के प्रश्न का अभिनंदन किया। उन्होंने कहा—"राजन् ! यह प्रश्न आपने लोकहित के लिये किया है। अर्थात् तुम्हारा हित तो तभी हो गया जब तुमने अपना सर्वस्व भगवान् वासुदेव के चरणों में तथा उनके अभिन्न रूप श्री गुरुदेव के चरणों में समर्पित कर दिया। तुम तो कृतार्थ हो चुके। तुम्हारे लिये न कुछ कर्तव्य कर्म रहा न पूछने को कोई प्रश्न ही रहा। ऐसे कृतकृत्य हुए पुरुष भी यदि कोई जप, तप, मन्त्रानुष्ठान, प्रश्न, संभाषण तथा और कोई शुभ कार्य करते हैं, तो वह अपने लिये न होकर लोक-कल्याण के निमित्त होता है। फिर आपका यह प्रश्न तो समस्त कहने सुनने और विचार करने वाले प्रश्नों में सर्वश्रेष्ठ है। इसकी प्रशंसा तो आत्मज्ञानियों ने भी की है।"

इतना कहकर शुकदेव ने सर्वप्रथम इसी प्रश्न का उत्तर दिया, कि सब प्राणियों का सब समय सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य कौन-सा है ?"

श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् ! जो विषय-वासना से पृथक् होकर परतत्त्व के जिज्ञासु हैं, उनके लिये तो सुनने योग्य एक ही विषय है और जो विषयासक्त माया जाल में फँसे गृहस्थी हैं, उनके लिये तो सुनने को असंख्यों विषय हैं। उनकी कोई गणना ही नहीं। पैदा होते ही वे शारीरिक सुख चाहते हैं। माता-पिता उन्हें ताड़ना देते हैं। हित की बात बताते हैं, वे उसे न सुनकर खेल-कूद की बात सुनना चाहते हैं। आज मैं उससे चड्डी लूँगा,

आज मैं उस खेल में जीत जाऊँ तो अच्छा है, आज साथियों के साथ दूर बाग में खेलने जायँगे, खूब पके-पके आम खायँगे, इमली तोड़कर लायँगे उसकी चटनी बनावेंगे। गेहूँ चना की रोटी पर मक्खन रखकर मट्ट-मट्ट खायँगे। अम्मा ने जहाँ दही बिलोया नहीं कि टटके मक्खन को बासी रोटी पर ल्हेसकर उसके ऊपर पिसा हुआ नमक बुरककर दाँतों से कट्ट-कट्ट कतरकर खायँगे। आज पढ़ने नहीं जायँगे। पिताजी पूछेंगे तो कह देंगे-मेरे तो सिर में दर्द है। वह अध्यापक गड़ा मारता है। भगवान् करे वह चला जाय। दूसरा कोई ऐसा आवे जो मारे नहीं। इसी प्रकार की हजारों खेल-कूद, सैर सपाटे की बातें बालकपन में सुनने की इच्छा होती हैं।

"जहाँ कुछ बड़े हुए तो माता-पिता विवाह की चर्चा चलाने लगते हैं, उन बातों की कानों में भनक पड़ते ही हृदय बाँसों उछलने लगता है। सर्वदा उसी विषय को सुनने की अभिलाषा रहती है। कैसी बहू आवेगी। काली या गोरी? लड़ाई-झगड़ा करने वाली आई, तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। गुड़िया की तरह सजी सजाई, लज्जावती की तरह लजीली, मन के अनुरूप काम करने वाली आवे तभी चित्त सुखी होगा। उस समय सदा सर्वदा बहू के सम्बन्ध की ही भाँति-भाँति से हजारों प्रकार की बातें सुनने को मन चाहता रहता है।

"घर में बहू आ गई तो अब गृहस्थी की चिन्ता लगी। कैसे धन आवे, कैसे सबसे अधिक भाग्यवान् बनें? यह चिन्ता लगी रहती है। कान हमेशा यही सुनने को उत्सुक रहते हैं, कि तुम्हें वहाँ से इतना धन मिला। वहाँ आपकी वृत्ति लग गई। इतनी भूमि मिल गई। उस व्यापार में इतना लाभ हो गया। वहाँ नौकरी चाकरी ठीक हो गई। इसके साथ-साथ पति-पत्नी की इच्छा पुत्र का मुँह देखने की भी होती है। ज्योतिषियों को जन्म-

पत्री दिखाते हैं, स्थानों के भूत प्रेत पुजवाते हैं, वैद्यों से दवा माँगते हैं। किसी तरह कानों में यह शब्द सुनाई दे जाय कि तुम्हारे घर पुत्र-रत्न का जन्म हुआ है। उस समय धन तथा पुत्र की ही बातें अच्छी लगती हैं।

"बाल-बच्चे लड़की-लड़के हो गये, तो उनके पढ़ाने की, विवाह-शादी की चिन्ता लग जाती है। लड़की सयानी हो गई है। उस नगर में सुना है, एक अच्छा वर है, वहीं चलो। यहाँ सम्बन्ध ठीक नहीं हुआ, वहाँ हो। उस वर-वधू का जोड़ा जुटाने की बात सुनने में ही सुख होता है। लड़के-लड़कियों के विवाह भी हो गये। अब उनके भरण-पोषण की चिन्ता। आज घर में अमुक वस्तु नहीं है। गेहूँ मिलते नहीं, गाड़ी टूट गई है, बैल बूढ़े हो गये हैं। घोड़ी की पीठ पर घाव हो गया है। दो दिन से गौ दूध नहीं देती। बड़ी बछिया भाग गई है। खेत में कीड़े लग गये हैं। कुएँ में पानी नहीं रहा। आज चौका बर्तन करने नौकरानी नहीं आयी, वह धीवर का छोकरा नौकरी छोड़कर चला गया। कोई अच्छा-सा नौकर ही नहीं मिलता। संसार स्वार्थी हो गया है। धर्म कर्म लुप्त हो गये हैं। वे महाशय हमारे रुपये ही नहीं देते। यह महाजन यम के दूतों के वंश के हैं। जब देखो तब खोपड़ी पर चढ़े रहते हैं। जाओ, कह देना—नहीं हैं हमारे पास रुपये। राजा के यहाँ अभियोग चलाओ, देख लेंगे। देखो वे कितने मित्र थे समय पर उन्होंने ऐसा धोखा दिया? तीन दिन से छोटी बच्ची ने कुछ खाया नहीं। यह बूढ़ा सर्वदा खों-खों करता रहता है। मरता भी नहीं! अब रोज रोज इतनी दवा कहाँ से लाऊँ? इतनी बड़ी गृहस्थी है, कोई बात पूछता नहीं। जिसके पास जाते हैं मुँह फेर लेते हैं। सहानुभूति तो लोगों में रही ही नहीं।

"स्त्री कहती है—लड़की का छूछक देना है। अब लड़की अपने घर की हुई। रोज-रोज छूछक, भात, भाजी, बांड़ना, बस, यही सब लगा रहता है। उसे तो पता नहीं कैसे पैसा पैदा होता है। आज उसे धोती देनी है। आज वहाँ साड़ी भेजनी है। अपनी धुनि में लगी रहती है। मेरी बात अनसुनी कर देती है। अरे 'दान वित्त समान'! घर में चूहे फुदक रहे हैं, उसे दान धर्म की ही सूझ रही है। ये पण्डित पुरोहित भी बड़े मायाजाली होते हैं। आज व्यतीपात है, आज संक्रान्ति है, आज सोमवती है, तो आज संकट चौथ है। ३६० दिन और हजार त्योहार, बताओ, कहाँ तक दान धर्म करें? कोई मरे चाहे जीए, इनको सीधा जरूर चाहिये। बच्चों को दूध नहीं उनके लिये खीर बनाती है। कहते हैं तो लोग नास्तिक बताते हैं। नास्तिक ही सही, हमने किसी का कर्जा तो खाया नहीं। ये कथावाचक न जाने कहाँ की अंट संट हाँकते रहते हैं। न किसी का सिर न पैर। ऐसी कथा तो भैया, मुझे अच्छी नहीं लगती। देखो, वहाँ कैसा नाच गाना हुआ था। व्याख्यान दाता ने कैसा व्याख्यान दिया। हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।"

"सो राजन्! ये संसारी तो इन्हीं के चक्करों में सदा पड़े रहते हैं। एक बात हो तो बतावें। हजारों, लाखों, करोड़ों बातें ये रोज सुनते हैं, सोचते हैं। रात्रि का समय तो इन लोगों का विषय भोग तथा निद्रा में बीतता है और दिन भर यह ला, वह ला, यह रख वह उठा। आज इतने रुपये आये, इतने खर्च हुए! आज लड़के का विवाह, कल लड़की की शादी, परसों लड़की के लड़के का छूछक, किसी का नाम करण, किसी का चूड़ाकर्म इन्हीं सब में धूमधाम की बातों में बीतता है। इन मूर्खों को यह नहीं सूझता, कि लोग रोज मरते हैं। हमारे घर में ही जब से पैदा हुए, कितने लोग मर गये। एक दिन हमें भी मरना

है। जिन स्त्री पुरुषों में इतनी आसक्ति है। एक दिन या तो हमें ही इन्हें छोड़कर चला जाना पड़ेगा या ये ही हमारे सामने चल बसेंगे। जिस धन को नाना उपायों से एकत्रित किया है, यह सङ्ग न जायगा। यह धन जिसके पास से आया है, जब उसी के पास नहीं रहा, तो हमारे पास क्या रहेगा? जिस देह को इतनी सावधानी से पालते पोसते हैं, जिसे मोटा बनाने को नाना पाप कर्म करते हैं-यह यहाँ की यहीं पड़ी रह जायगी। या तो इसकी भस्म हो जायगी, या कीड़े पड़ जायँगे, अथवा पशु-पक्षी खाकर विष्ठा बना देंगे! इसलिये राजन्! जिन्हें अभय पद की इच्छा हो, जो संसार के भयों से निर्भय बनने के अभिलाषी हों, उन्हें तो सब कुछ त्यागकर सदा सर्वदा, सर्वत्र, सर्वेश्वर श्यामसुन्दर के ही नाम और गुणों का श्रवण कीर्तन और स्मरण करते रहना चाहिये।

"संसार में सभी मनीषियों ने, सभी ज्ञानी, ध्यानी, विरक्त और शास्त्रकारों ने मनुष्य जीवन का यही एकमात्र परम पुरुषार्थ बताया है, कि अन्त काल में जिस किसी प्रकार भी भगवान् का स्मरण बना रहे। यदि स्वधर्म का आचरण करने पर उससे अंत में भगवत् स्मृति न हो, तो वह दम्भ है। योगसाधन से अन्त में योगेश्वर का स्मरण न हो सके, तो वह योग कपट-योग है। सांख्य शास्त्र का निरन्तर विचार करते रहने पर भी अन्त में भी ब्रह्म साक्षात्कार न हो तो वह एक व्यसन मात्र है। इसलिये गोविन्द के गुणगान में रमण करते रहना ही मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है।"

इस पर राजा ने पूछा—"प्रभो! जो महात्मा त्रिगुणातीत हो गये हैं-जिनके लिये कोई भी विधि निषेध की मर्यादा नहीं रही है-ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिये भी क्या श्रवण, भगवन्नाम कीर्तन की आवश्यकता शेष रह जाती है क्या?"

इस पर शुकदेवजी ने कहा—"जो त्रिगुणातीत हो गया जिसके लिये कर्तव्याकर्तव्य कुछ रहा नहीं, उसके लिये यह कैसे कहा जा सकता है, कि उसे यह करना ही चाहिये। किन्तु प्रायः देखा गया है, कि ऐसे ज्ञानी ध्यानी विरक्त और स्थितप्रज्ञ पुरुष भी हरिगुण गान, कृष्ण कथा कीर्तन में सदा निरत रहते हैं। कर्तव्य बुद्धि से नहीं, भगवान् के गुणों में माधुर्य ही ऐसा है, कि वे त्रिगुणातीत होने पर भी स्वभाव-वश उन्हीं में निमग्न रहते हैं। उन्हें यदि छोड़ दें तो और करें भी क्या ? बिना कुछ किये तो यह शरीर एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसीलिये मैं अब तुम्हें श्रीमद्भागवत की कथा सुनाता हूँ।"

इस पर महाराज परीक्षित बोले—"महाराजजी ! आप जो यह श्रीमद्भागवत संहिता सुनाने को कह रहे हैं। यह जैसे ये १८ पुराण हैं, उसी प्रकार एक पुराण है या इसमें कुछ विशेषता है ? आपने यह सात्वत संहिता कब सुनी, कहाँ सुनी और किससे सुनी ?"

महाराज के प्रश्न सुनकर श्रीशुक उनका उत्तर देने लगे—"राजन् ! यह भागवत शास्त्र केवल पुराण मात्र ही नहीं। वेदों के समान ही यह माननीय और आदरणीय है। द्वापर के अन्त में गन्धमादन पर्वत पर अपने पिताजी श्रीवेदव्यासजी के आश्रम पर उन्हीं के द्वारा मैंने यह सर्वश्रेष्ठ संहिता बड़े परिश्रम से पढ़ी थी।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित जी ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से पूछा—"प्रभो ! हम तो सदा से यही सुनते आये हैं, कि आप तो जन्म के ही त्यागी विरागी हैं। आप बिना उपनयन संस्कार कराये उत्पन्न होते ही अरण्य की ओर चले गये थे। आपकी तो सदा निर्गुण ब्रह्म में निष्ठा रहती है फिर आपको भी

इस इतने बड़े भक्ति शास्त्र के ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? आप किस विधिवाक्य से प्रेरित होकर इसके पठन पाठन में प्रवृत्त हो गये ? कृपा करके मेरी इस शंका का समाधान कीजिये ।"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! मैं तो विधि निषेध से परे हूँ। मैंने किसी विधि वाक्य के अधीन होकर इसका अध्ययन नहीं किया। यह भी सत्य है कि मैं सदा निर्गुण ब्रह्म में ही लीन रहता हूँ। फिर भी भगवान् की लीलाओं में इतना माधुर्य है, कि मैं विवश होकर इनकी ओर खिंच गया। अपने पिता भगवान व्यासदेव के शिष्यों के मुख से भगवान् के अनुपम सौन्दर्य माधुर्य का वर्णन सुनकर, उनकी अहैतुकी कृपा की महिमा सुनकर, मेरा मन स्वतः ही इन लीलाओं के श्रवण तथा पठन की ओर आकृष्ट हुआ और बिना पढ़े सुने मुझसे रहा ही न गया। पढ़कर मैं आनन्दसागर में मग्न होकर इधर-उधर अलक्षित भाव से घूमता रहता हूँ। आज अवसर समझकर स्वतः ही तुम्हारे समीप आ गया हूँ। उसी भागवत शास्त्र को आज मैं तुम्हे सुनाऊँगा। क्योंकि तुम ही एक मात्र मुझे उसके उत्तम अधिकारी दिखाई दिये। तुम पर पुरुषार्थ की दीक्षा लेना चाहते हो। तुम में सामर्थ्य भी है श्रवण करने की उत्कण्ठा अभिलाषा भी है। तुम से दृढ़ता के साथ, प्रतिज्ञा पूर्वक यह बात कहता हूँ, कि जो भी पुरुष इस कथा को श्रद्धा पूर्वक सुनेगा और सुनकर भक्ति पूर्वक इसका मनन करेगा, उसको अत्यन्त शीघ्र ही भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में अहैतुकी, अनन्य प्रेम वाली-भक्ति उत्पन्न होगी। उसकी मति मनमोहन की माधुरी में फँस जायगी।

"मैं अपने अनुभव से, इस बात को बल पूर्वक कहता हूँ

कि जिन पुरुषों को संसार के इहलोक तथा परलोक के सभी संसारी तथा दिव्य भोगों से अत्यन्त वैराग्य भी हो, किन्तु वे अभय पद के इच्छुक हों, तो उन योगियों को भी भगवन्नाम संकीर्तन करना ही चाहिये। निरन्तर भगवान् की कथा का श्रवण करना, सदा भगवन्नामों का मन से अथवा वाणी से कीर्तन करते रहना—इससे बढ़कर कोई भी श्रेष्ठ कार्य, कोई उत्तमोत्तम साधन नहीं। राजन्! यही परम पुरुषार्थ है। यही अंतिम साध्य है। यही चरम स्थिति है। जिन्होंने अपना मन कथा कीर्तन में लगा लिया वे धन्य हो गये, कृतार्थ हो गये, उनके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह गया। यही सभी मनुष्यों के लिये सर्वदा सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! इस प्रकार मेरे गुरुदेव महाराज परीक्षित् से दृढ़ता के साथ यह कह-कर चुप हो गये। राजा अत्यन्त विस्मय के साथ उनके श्री मुख को निहारते रहे। अब वे अपने प्रश्न के दूसरे भाग का उत्तर सुनने की जिज्ञासा प्रकट करने लगे, कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त सन्निकट है, उसके लिये क्या कर्तव्य है?"

छप्पय

है प्रपच बहु विषय भोग महँ फँसे नरन कूँ।
हरि लीलातें सुखद और अवलम्ब न मन कूँ॥
आकर्षति अति भयो रूप हरि लीला सुनि कें।
भूल्यो निर्गुन ब्रह्म सगुन के गुन कूँ गुनि कें॥
भव्य भागवत भूपवर! तुमहिं सुनावहुँ सरस अति।
सुनत श्याम पद कमल महँ, होहु तुरन्त अनन्य मति॥

—०—

समय की न्यूनता पर राजर्षि खट्वाङ्ग का दृष्टान्त

[८६]

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः ।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥
तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ।
उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ॥*

(श्री भा० २ स्क० १ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

अन्तकाल की कछू आप चिन्ता नहिं करिहै ।
सात दिवस तो बहुत कथा सुनि छिन महँ तरिहै ॥
एक मुहूर्तहि माँहि तरे खट्वाङ्ग विरागी ।
शेष आयु सप्ताह आपु तो सरबसु त्यागी ॥
अन्तकाल कुँ निकट लखि, गृह देह ममता तजहिं ।
ते ध्रुव पावहिं परम पद, जे सब तजि प्रभुपद भजहिं ॥

---

* महामुनि शुकदेवजी कहने लगे—"देखिये, राजन् ! पूर्व काल में राजर्षि खट्वाङ्ग को जब पता चला, कि मेरी आयु का अन्त आ गया है, तो वे एक मुहूर्त में ही सर्वस्व त्यागकर श्रीहरि के निर्भय पद को प्राप्त हो गये । फिर आप की तो अभी सात दिन की अवधि शेष है । इसलिये हे कुरुकुल तिलक, आप इसी बीच में अपने परलोक सुधार का उपाय कर लें ।"

बातें तो सभी सुनते हैं, किन्तु उन पर विश्वास होने से ही सिद्धि मिलती है। मन्त्र में, अनुष्ठान में, औषधि में, शुभ कर्मों में भावना को ही प्रधान माना गया है। अपने साधन पर जिसे पूर्ण विश्वास हो वही दूसरों का कल्याण कर सकता है। जो स्वयं तो उस पर विश्वास नहीं रखता, उसका आचरण नहीं करता और दूसरों से उसे करने को कहता है, तो उसके कहने का कुछ भी प्रभाव नहीं। वह अरण्य रोदन की भाँति, यन्त्र में गाये गीत के समान प्रभाव हीन होता है। शुकदेवजी को अपने साधन पर विश्वास था। उनकी दृढ धारणा थी, कि जो कोई इस भागवत शास्त्र को सुनेगा, उसकी अवश्य ही मुक्ति हो जायगी। इसीलिये उन्होंने महाराज को उसका अधिकारी समझकर स्वतः ही सुनाने के लिये प्रस्ताव किया। महाराज परीक्षित ने सोचा—"ये कहीं कथा ही सुनाने में लग गये और मैं उसी में फँसा रहा, कोई उच्च पारमार्थिक साधन न कर सका तब तो मेरी मुक्ति में सन्देह ही है। समय बहुत न्यून है। ये महाराज मुझे भागवत सुनाने को कह रहे हैं यही सब सोच कर वे बोले—"प्रभो! समय की न्यूनता देखकर ही मुझे सर्वोत्तम उपदेश दें। वैसे तो सभी का समय सात दिन के अन्तर्गत है। सात दिनों में से किसी दिन जीव मृत्यु को प्राप्त हो सकता है, किन्तु मेरे तो यथार्थ इने गिने सात ही दिन शेष हैं।"

इस बात को सुनकर शुकदेवजी मुस्कुराये और बोले—"राजन्! संसार में बहुत से विषयासक्त पुरुष चिरकाल तक जीवित रहते हैं। उनके जीवन से क्या लाभ? दिन हुआ हाय-हाय में लग गये। बहुत से शुद्ध अन्न-जल को मल-मूत्र बना दिया। शूकर, कूकर की तरह व्यर्थ बच्चे पैदा कर दिये, जिनका भली प्रकार भरण-पोषण भी नहीं कर सकते। दिन भर झूठ

सच बोलकर, लोगों को ठगकर, पेट भर लिया, रात्रि में तान दुपट्टा सो गये। युवा हुए, बुढापा आया, मर गये। वृक्ष भी बहुत दिनों तक जीते हैं। सुनते हैं कौए को जब तक कोई मार न दे तब तक स्वतः मरता ही नहीं। उठते ही उसे कलेवा की चिन्ता होती है। एक आँख से सब देखता है। जिस जीवन में साधन भजन नहीं, कथा वार्ता नहीं, रात्रि दिन पेट की ही चिन्ता, विषयों का भजन ऐसे लोग चाहे दस वर्ष जीवें चाहे सौ वर्ष, उन्हें तो वही आहार, निद्रा, भय और मैथुन में समय काटना है। किन्तु जिन्होंने मनुष्य तन का यथार्थ कर्तव्य समझ लिया है, विषय भोगों को अनित्य, नाशवान, क्षण-भंगुर और संसार में फँसाने वाले समझकर उनका परित्याग करके श्रीहरि के चरणों में चित्त लगा लिया है, उनके लिये एक मुहूर्त का जीवन बहुत है। उसी में वे अपना कल्याण कर सकते हैं। इस विषय का आपको मैं एक अत्यन्त ही सुन्दर उपाख्यान सुनाता हूँ। आप इसे सावधान होकर सुनें।

"सूर्यवंश में एक परम प्रतापी खटवाङ्ग नाम के राजर्षि हो गये हैं। वे भारी शूरवीर, 'दानी' यशस्वी और धर्म परायण भूपति थे। पृथ्वी पर उनके समान धनुर्धर और बली उस समय और कोई नहीं था। एक समय दैत्य-दानवों ने देवताओं पर चढ़ाई की। देवताओं का पक्ष निर्बल पड़ रहा था, दैत्य-दानव प्रबल हो गये थे। अतः देवता बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने मर्त्यलोक में आकर महाराज खटवाङ्ग से प्रार्थना की, कि आप हमारी ओर से दैत्यों से युद्ध करें। राजा तो सदा युद्ध के लिये लालायित ही बने रहते थे। तुरन्त ही उन्होंने अपना धनुष बाण उठाया और दिव्य रथ पर बैठकर देवताओं के साथ युद्धस्थल में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने असुरों से ऐसा घनघोर युद्ध किया, कि सभी के छक्के छूट गये। महाराज के बाणों के प्रहारों से

व्यथित होकर सभी दैत्य-दानव असुर रण छोड़कर दशों दिशाओं में भाग गये। युद्ध छोड़कर भागते हुए शत्रुओं का पीछा करना धर्म के विरुद्ध है, यह समझकर राजा ने उनका पीछा नहीं किया, उन्हें छोड़ दिया इस बात से समस्त देवता तथा देवराज महाराज खट्वांग के ऊपर परम प्रसन्न हुए और उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"राजन्! आपके समान शूरवीर संसार में दूसरा नहीं है। आपने इस घोर संकट से हम सबकी रक्षा की। हम आप पर अत्यन्त प्रसन्न हैं, अतः आप हमसे जो भी वरदान माँगना चाहें माँग लें।"

महाराज खट्वांग ने कहा—"देवताओ! आप सब देवलोक में रहने वाले, दिव्य भोगों को भोगने वाले, परम पुण्यात्मा हैं। यज्ञ-याग आदि समस्त शुभ कर्म आपकी प्रसन्नता के ही निमित्त किये जाते हैं। ऐसे आप मुझ पर प्रसन्न हैं। इससे बढ़कर मेरे लिये अन्य वरदान क्या होगा? आप सबकी प्रसन्नता ही मेरे लिये पर्याप्त है।"

इस पर आग्रह करते हुए देवताओं ने कहा—"नहीं महाराज! कुछ तो माँगिये ही। हम आपका कुछ प्रत्युपकार अवश्य करना चाहते हैं।"

देवताओं के अत्यन्त आग्रह को देखकर महाराज बहुत सोच समझकर उनसे बोले—"देवताओ और देवराज! सर्वप्रथम मैं यह जानना चाहता हूँ, कि मेरी आयु कितनी शेष है। अपनी आयु की अवधि जानकर ही मैं आपसे कुछ वरदान माँगने का विचार करूँगा।"

यह सुनकर देवराज बोले—"राजन्! आपकी आयु तो समाप्त हो चुकी, अब एक मुहूर्त भर ही और शेष है।"

इतना सुनते ही राजर्षि खट्वांग सावधान हो गये। उन्होंने कहा—"देवताओ! अब मुझे कुछ भी नहीं माँगना है। मैंने इस

लोक के तथा परलोक के सभी भोगों को तुच्छ समझ लिया है। मैं अब इन विषयों में न फँसूंगा, किसी इन्द्रिय सुख की याचना न करूँगा। मैं तो भगवान् के उस परमधाम को प्राप्त करना चाहता हूँ, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता, जहाँ जाकर सभी दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है।" इतना कहकर महाराज भगवान् के ध्यान में मग्न हो गये और एक मुहूर्त में ही समस्त विषय भोगों की अभिलाषा को मन से त्यागकर श्रीहरि के निर्भय पद को प्राप्त हो गये। सो, राजन्! अभी आपके तो सात दिन हैं। सात दिन में ही आप अपने उद्धार का उपाय कर लें। इसी बीच में परमपद की प्राप्ति के अधिकारी बन जायँ।"

श्रीशुक के ऐसे सान्त्वनापूर्ण वचन सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने संक्षेप में सर्व साधारण पुरुषों के लिये सर्वकाल में सर्वदा श्री भगवन्नाम गुण कीर्तन को करते रहने का उपदेश दिया। अब मैं इस बात को सुनना चाहता हूँ, कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त निकट आ गई हो, उसे क्या करना चाहिये? उसके कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन करें।"

महाराज परीक्षित् के प्रश्नों को सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"राजन्! जब पुरुष को यह ज्ञात हो जाय, कि अब मेरी मृत्यु सन्निकट है, तो सर्वप्रथम तो उसे अपने शरीर के मोह को तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले घरबार, स्त्री परिवार, धन-धान्य आदि सभी के मोह का परित्याग कर देना चाहिये। वैराग्य रूपी खड्ग से मोहरूपी सुदृढ़ जाल को काटना चाहिये। सबसे मोह हटाकर, परिवार वालों की ममता त्यागकर, घर से निकल पड़ना चाहिये और किसी पुण्यतीर्थ में गङ्गा आदि पुण्य सरिताओं के समीप-अपना आसन लगाना चाहिये।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"ब्रह्मन्! यदि घर में ही रहकर भगवान् में चित्त लगावे तो क्या हानि है?"

श्रीशुक बोले—"हानि तो कुछ नहीं है। भगवान् का ध्यान जहाँ भी किया जाय, वहीं श्रेयस्कर है। किन्तु हर समय आँखों के सामने सम्बन्धियों तथा परिवार वाले पुरुषों के रहने से स्वाभावानुसार मोह हो ही जाता है। यदि मरने समय भूल से भी परिवार वालों में चित्त चला गया तो फिर उन्हीं में आकर जन्म लेना पड़ेगा।"अन्ते या मतिः सा गतिः" इसलिये सर्वश्रेष्ठ यही है, कि जब इन परिवार वालों से विवश होकर पृथक् होना ही है, तो स्वेच्छा से पहिले ही—मृत्यु के पूर्व ही—उनका परित्याग क्यों न कर दे। पुण्य क्षेत्रों में स्वभाव से ही शुभ संस्कार रहते हैं। अनन्त काल से असंख्यों पुरुषों की उनके प्रति विशुद्ध भावना होने से, वहाँ का वायु मण्डल सत्संस्कार वाला विशुद्ध बना रहता है। सभी बड़े-बड़े लोगों ने अन्त समय प्रयाग जैसे पुण्य क्षेत्रों का, गंगा जैसी पावन सरिताओं का आश्रय लिया है। देखिए, आप ही अपना समस्त राज्य वैभव त्यागकर अन्त में गंगा किनारे बैठे हैं। आपसे किसी ने कहा थोड़े ही है? आपके पूर्वजों ने जैसा किया आप ने भी उनका अनुकरण किया।"

"अच्छा, तो जब घर छोड़कर पुण्यतीर्थ में आ जाय, तो वहाँ पहिले तो विधिवत् स्नान करके जैसा शास्त्रों में बताया है कुश का आसन बिछावे, उसके ऊपर काला मृग चर्म और काले मृग चर्म के ऊपर वस्त्र। मृगछाला के ऊपर जब तक वस्त्र न बिछाया जाय, वह बैठने योग्य नहीं मानी जाती। इस प्रकार आसन बिछाकर उस पर सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिक आसन से बैठ जाय। फिर प्रणव का या उसी के नामान्तर भगवन्नाम का जप करे, प्राणवायु का दमन करे किन्तु अक्षर ब्रह्म का विस्मरण न होने दे।" इतना कहकर राजा के पूछने पर श्रीशुक ने उन्हें ध्यान की विधि बताई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस समय तो मैं कथा मात्र

का वर्णन कर रहा हूँ। श्रीशुक ने महाराज परीक्षित् के सम्मुख भगवान् के ध्यान का जैसा प्रभावोत्पादक सजीव वर्णन किया है उसे मैं प्रसङ्गानुसार आप लोगों के सम्मुख फिर वर्णन करूँगा। इस समय तो आप इसी कथा प्रवाह को चलने दें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जैसी आपकी इच्छा! हम सब तो सुनने की इच्छा से आपके सम्मुख बैठे हैं। आप जैसे भी उचित समझें वैसे ही सुनावें।"

सूतजी बोले—"मुनियो! यही मुझे उचित जान पड़ता है, कि पहले कथा भाग सुनकर, तब ध्यान की तथा भक्ति की सब बातों को क्रम से फिर बताऊँगा।"

इतना कहकर सूतजी आगे का प्रसंग कहने को ज्यों ही उद्यत हुए, त्यों ही शौनकजी कुछ कहने लगे, इससे सूतजी रुक गये।"

छप्पय

जीवन धन बिनु जीवन जीवन नहीं कहावै।
भक्ति हीन नर मृतक सरिस है काल बितावै॥
खावैं सोवैं लड़ैं वृद्ध बनि यमपुर जावैं।
बार बार ते जनमि जगत में जावैं आवैं॥
कोटि कल्प को काल हू, भक्ति बिना निस्सार है।
छिन भरि हरि हिय महँ बसै, सोइ समय सुखसार है॥

भागवती कथा का पुनीत प्रश्न

[८७]

अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलम्
प्रभापसे भागवतप्रधानः ॥
यदाह वैयासकिरात्मविद्या-
विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः ॥*

(श्रीमा० २ स्क० ३ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

सूत ! सुनाओ सुखद परीक्षित् शुक प्रश्नोतर ।
जहाँ सन्त जन मिलहिं तहाँ सम्वाद होय वर ॥
गङ्ग यमुन मिलि हरें महापातक हू भारी ।
तैसे ही शुक विष्णु-रात वार्ता अघहारी ॥
केवल कृष्ण कथा सदा, श्रवननि कूँ श्रवनीय है ।
करें कृष्ण कैंकर्यकूँ, ते ही कर कमनीय हैं ॥

जिनको जो वस्तु अत्यन्त प्रिय होती है, उसका निरन्तर सेवन करने से भी उनकी तृप्ति नहीं होती। ऐसा न होता तो

---

* शौनकजी, सूतजी से कह रहे हैं—"हे अङ्ग ! आप जो भागवत कथा कह रहे हैं वह हमारे मन के सर्वथा अनुकूल है। अब हमें आप वह बात सुनाइये, जो महाराज परीक्षित के पूछने पर समस्त भगवद्भक्तों में प्रधान आत्म-विद्या में विशारद व्यासनन्दन भगवान् शुक ने उनके प्रति कही थी।"

मादक वस्तुओं के व्यसनी नित्य एक ही वस्तु का इतनी व्यग्रता से क्यों सेवन करते ? जिसे जो शाक, जो मिठाई, जो चरपरी चीज, जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय हैं, उन्हें वह नित्य खाता है, फिर भी उसकी इच्छा बनी ही रहती है। ऐसा न होता तो वृद्धावस्था में सभी इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर सभी प्राणी विरागी बन जाते। किन्तु जगत् में ऐसा देखा नहीं गया है। पदार्थों के भोग की सामर्थ्य न रहने पर भी अन्त तक उनमें तृष्णा बनी ही रहती है। जिसे एक बार जिस वस्तु का स्वाद मिल गया है और मन उस स्वाद में रम गया है, उसका जब भी प्रसंग आता है, तभी शरीर में फुरहरी-सी आ जाती है और उसे उपभोग करने की हठात् इच्छा हो उठती है। जब इन अनित्य, असुखकर, क्षण-भंगुर पदार्थों में इतनी आसक्ति हो जाती है, तो जो श्रीहरि नित्य हैं, शाश्वत हैं, जिनकी लीलाओं में, कर्मों में, गुणों में, अत्यन्त माधुर्य है, अपूर्व रस है, उस रस का जिन्हें एक बार स्वाद मिल गया है, वे उन्हें फिर कैसे छोड़ सकते हैं। जिसे अच्युत भगवान् की अमल-विमल, निर्मल कथाओं के अमल का अभ्यास हो गया है वह इन संसारी अमलियों-मादक द्रव्य सेवियों-के सदृश सदा श्रीकृष्ण-कथा रूपी अमल के लिये व्यग्र बना रहता है। जिस दिन उसे श्रीकृष्ण-कथा सुनने को न मिले, उस दिन को वह व्यर्थ समझता है। जिस प्रकार पदार्थ एक ही हैं, किन्तु नित्य की तृष्णा और वासना के कारण उनमें नित्य ही नूतन स्वाद प्रतीत होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण कथायें एक होने पर भी नित्य सुनते-सुनते भक्तों की तृप्ति नहीं होती। वे ही अवतार, वे ही चरित, वे ही लीलायें, सब वेद, पुराण, इतिहास, धर्म-शास्त्रों में घुमा फिराकर वे ही बातें हैं, फिर भी न जाने क्यों ये भगवत् भक्त उन्हें सुनकर अघाते ही नहीं। यही सब सोच कर श्रीशुक ने पहिले तो महाराज परीक्षित् को सर्वकाल में सभी

मनुष्यों का क्या कर्तव्य है—यह बात बताई। इसके अनन्तर म्रियमाण पुरुष को वैराग्य धारण करके किस प्रकार गृह त्याग-कर तीर्थ क्षेत्र में जाना चाहिए और वहाँ कैसे रहना चाहिये, इसका निरूपण किया फिर भगवान् के ध्यान की विधि और भगवान् के विराट् रूप का वर्णन किया। फिर सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति का कथन किया। इसके अनन्तर भिन्न-भिन्न कामनाओं से भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना का वर्णन करते हुए भगवत् भक्ति की प्रधानता बतलाई और सबसे अन्त में कह दिया—"जिस कृष्ण-कथा के श्रवण करने से सत्व, रज और तमोगुण के कारण उठी हुई अनन्त तरंगें स्वतः ही शान्त हो जाती हैं, जिनके श्रवण करने से अध्यात्म प्रसाद की उपलब्धि होकर मनुष्य गुणातीत बन जाता है। जिनके श्रवण से कैवल्य मोक्ष तथा भगवत् भक्ति की प्राप्ति होती है, उन कमनीय कृष्ण कथाओं को कौन ऐसा क्रूर पुरुष होगा, जो श्रद्धा भक्ति के साथ श्रवण न करे।"

इसे सुनकर शौनकजी पूछने लगे—"महाभाग, सूतजी! अब आप शीघ्रता के साथ बतलायें, कि जब शुकदेवजी ने यह सब सुनाया, तो फिर महाराज परीक्षित ने क्या प्रश्न किया? उसका श्रीशुकदेव ने किस प्रकार उत्तर दिया? उन दोनों में जो प्रश्नोत्तर हुए हों, उन सबको आप हमें अनुपूर्वक सुनावें। उन दोनों के सम्वाद सुनने की हमें बड़ी चटपटी लगी हुई है। अब आप देर न करें, हमारी उत्सुकता को और अधिक न बढ़ावें।"

सूतजी बोले—"मुनिश्रेष्ठ! आपकी उत्सुकता से मुझे प्रसन्नता भी हो रही है आश्चर्य भी हो रहा है। प्रसन्नता तो इसलिये, कि आपको मेरा कथन प्रिय लग रहा है और आश्चर्य इसलिये कि बिना ही सुने आप कैसे समझ गये, कि इन दोनों का सम्वाद सर्वश्रेष्ठ परमोत्तम ही होगा?"

इस बात को सुनकर शौनकजी हँसे और बोले—"अजी सूतजी ! और कोई कहे तो कहे भी,ऐसी भूली-भूली-सी बातें आप कर रहे हैं ? कस्तूरी कहने से थोड़े ही बताई जाती है ? गुणी लोग गन्ध पाते ही समझ जाते हैं। कपूर की सुगंध ही उसके अस्तित्व को बता देती है। ऊख को पेरते देखकर बिना चखे ही लोग समझ जाते हैं, इससे मीठा रस ही निकलेगा। इसी प्रकार जहाँ दो सज्जन एकत्रित हों, वहाँ निश्चय ही भागवतीय कथायें ही होंगी। सज्जन लोगों की जिह्वा पर दूसरी बात आती ही नहीं। जैसे अंगूर की बेल में सदा अंगूर ही लगेंगे। गौ के स्तनों में-से सदा दूध ही निकलेगा, गंगाजी में कभी भी कैसे भी स्नान करो, पाप ही कटेंगे। भगवन्नाम को कभी भी किसी भी दशा में कैसे भी लो, उससे कल्याण ही होगा, कभी भी अकल्याण न होगा। जैसे इन सबका नैसर्गिक स्वभाव है, उसी प्रकार सज्जनों का, भक्त और भगवान् के सम्बन्ध में चर्चा करना भी नैसर्गिक स्वभाव है। हमने महाराज परीक्षित् को भी देखा है और श्री शुकदेवजी के सम्बन्ध में भी तुम्हारे पिता से तथा अन्य ऋषियों से बातें सुनी हैं।

"जब कभी हम हस्तिनापुर में जाते थे, तो महाराज युधिष्ठिर शीघ्रता से परीक्षित्जी को बुलाकर हमें प्रणाम कराया करते थे। तब वे बहुत छोटे बच्चे ही थे। हमने देखा उस समय भी वे खेल में श्रीकृष्ण लीलाओं का ही अनुकरण किया करते थे। जिह्वा से भगवन्नामों का ही कीर्तन करते। बहुत से बालकों को बुला लेते, किसी को गोप बनाते,किसी को गौएँ बनाते और स्वयं श्रीकृष्ण बनकर गौएँ चराने जाते। कभी गोवर्धन धारण लीला का अनुकरण करते, कभी वन भोजन का खेल खेलते। इस प्रकार खेल-खेल में ही वे सम्पूर्ण श्रीकृष्ण लीलाओं का अनुकरण स्वयं करते और अपने साथी बालकों से भी कराते। श्री

ुकदेवजी के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। वे तो जन्म ोते ही जंगल को भाग गये। उनके त्याग वैराग्य की बातें सुन-कर तो हमें अपने ऊपर ग्लानि होती है। सोचते हैं—"एक हम भी मुनि कहलाते हैं जो इतना प्रपंच बाँधे हुए हैं। एक वे भी मुनिवंशावतंस परमहंस शिरोमणि मुनि-तनय हैं जो लँगोटी भी नहीं रखते। कभी किसी एक वृक्ष के नीचे दूसरे दिन शयन भी नहीं करते। जहाँ ऐसे दो परम भागवत एकत्रित हुए हों, वहाँ तो अवश्य ही हरि कथा रूपी सुरसरि की निर्मल धारा बही होगी। हम लोग उसी कथा को सुनने को इतने उत्सुक हैं।"

सूतजी ने नम्रता के साथ कहा—"मुनियो! आप बार-बार श्रीकृष्ण-कथा का ही प्रश्न क्यों करते हैं? इसी पर इतना बल क्यों देते हैं? कुछ सामाजिक प्रश्न पूछिये? राजनैतिक चर्चा कीजिये। सरस साहित्य की लच्छेदार बातें हों, कुछ इधर-उधर की हलचलों का समाचार पूछें। बार-बार वही बात! आपका एक ही विषय की बातें सुनते-सुनते मन नहीं ऊबता है?"

इस पर आश्चर्य चकित होकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आप हमारी परीक्षा ले रहे हैं क्या? अजी, यदि हमें यही सब करना होता तो घर-बार छोड़कर यहाँ नैमिषारण्य में आकर क्यों रहते? यदि जीवन की सार्थकता इधर-उधर व्यर्थ विषय सम्बन्धी बातों में ही समय बिताने में होती, तो बड़े-बड़े राजर्षि, महर्षि समस्त विषयों से मुख मोड़कर एकान्त में घोर तपस्या क्यों करते? जीवन की सार्थकता तो निरन्तर श्रीकृष्ण-कथा सुनते रहने में ही है। जिनका समय भगवान् उत्तमश्लोक के गुणगान में व्यतीत होता है, उन्हीं की तो आयु सार्थक है, शेष सब तो अपने दिन काट रहे हैं। सूर्य भगवान् प्रातः उदयाचल में से उदय होते हैं। शनैः-शनैः अस्ताचल में जाकर अस्त हो जाते हैं, श्रीकृष्ण विमुख पुरुषों की आयु में से एक दिन का

समय व्यर्थ नष्ट कर देते हैं। इसलिये हम अपने समय सार्थक बनाने के ही निमित्त आपसे सर्वदा श्रीकृष्ण-चरित्र सम्बन्धी प्रश्न पूछते हैं।"

सूतजी ने विनम्रता के साथ कहा—"ब्रह्मन्! मैं आपकी परीक्षा भला क्या ले सकता हूँ? इसी बहाने मैं आपके मुख से कुछ कथा माहात्म्य सुन लेता हूँ, इसलिये ऐसे प्रश्न पूछ लेता हूँ। आप मेरी अशिष्टता को क्षमा करें। अब मैं समझ गया, कि मनुष्य का जीवन तभी सार्थक है जब वह अपने समय को कथा-कीर्तन आदि में बितावे। आठों पहर खाने-पीने की ही चिन्ता में फँसे रहने वालों को तो सदा हाय-हाय ही बनी रहती है उन्हें आन्तरिक शान्ति तो प्राप्त होती ही नहीं।"

शौनकजी शीघ्रता के साथ बोले—"नहीं सूतजी! अशिष्टता की तो कोई बात नहीं। आप ही सोचें जीवन किसे कहते हैं? क्या पैदा होना, बढ़ना, अपने समान और संतति पैदा करना, दुखी-सुखी होना और मर जाना इसी का नाम जीवन है। यदि इसे ही जीवन कहें, तब तो ये सब बातें वृक्षों में भी होती हैं। वृक्ष पैदा होते हैं, बढ़ते हैं, अपने समान अनेकों वृक्षों को अपने बीजों से पैदा करते हैं, दुखी-सुखी भी होते हैं, बुड्ढे भी होते हैं और मरते भी हैं। मनुष्य जीवन पाकर जो इन्हीं सब में लगा रहा, भगवत् चिंतन में चित्त नहीं दिया तो उनमें और वृक्षों में क्या अन्तर है?"

थोड़ी देर सोचकर सूतजी बोले—"महाराज! अन्तर तो दिखाई देता नहीं। मुझे तो स्वार्थी लोगों की अपेक्षा ये वृक्ष श्रेष्ठ दिखाई देते हैं। इनके पत्ते, फल, फूल काम में आते हैं। सूखने पर लकड़ी से भाँति-भाँति की वस्तुएँ बनती हैं। छाल, बक्कल, राख इनकी कोई भी व्यर्थ नहीं जाती। सभी से तो प्राणियों का उपकार होता है। मनुष्य की तो मर कर खाल भी

किसी काम में नहीं आती, वह या तो जल जाती है या सड़ जाती है। इतना ही अन्तर दीखता है, कि मनुष्य स्वाँस लेते हुए दिखाई देते हैं, वृक्षों में स्वाँस लेने की शक्ति नहीं।"

इस पर शौनकजी बोले—"नहीं सूतजी! वृक्ष भी स्वाँस लेते हैं। हमारे यहाँ तो सनातन से उद्भिज, अंडज, स्वेदज और जरायुज ये चार प्रकार के प्रधान जीव माने गये हैं। उद्भिज वे ही जीव हैं, जो पृथ्वी को फोड़कर बढ़ते हैं जैसे वृक्ष, इतनी ही बात है कि इनकी साँस अव्यक्त होती है। ये स्वाँस लेते हैं, तो मनुष्यों को सुनाई नहीं देती। फिर साँस लेना ही तो जीवन नहीं कहलाता। यदि यही हो, तो लुहार की धौंकनी तो फूँ फूँ करके बहुत साँस लेती रहती है।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! धौंकनी तो दूसरों के द्वारा साँस लेती है, वह खाती-पीती तो नहीं। चलती-फिरती भी नहीं है, वह तो एक दम निर्जीवहै।"

शौनकजी बोले—"यही तो मैं कह रहा हूँ। सजीव कौन है? भगवत्-कथा से विहीन सभी निर्जीव हैं। रही दूसरोंके द्वारा साँस लेने की बात सो, हम ही कौन से स्वतन्त्र हैं? आज प्राणवायु निकल जाय, फिर शरीर ज्यों-का-त्यों पड़ा रहता है, कहाँ सांस लेता है? हम भी तो पराधीन ही हैं। रही खाने-पीने की बात, सो ये शूकर,कूकर नहीं खाते-पीते हैं क्या? ये मल-मूत्र त्याग नहीं करते क्या? क्या इनके बाल-बच्चे नहीं होते? जब खाना-पीना ही जीवन है, तो इनमें और मनुष्य में क्या अन्तर रहा?"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज, है तो ठीक, किन्तु पशु घास-फूँस ऐसी-ऐसी तुच्छ चीजें खाते हैं। मनुष्य अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खाता है।"

शौनकजी बोले—"अच्छी आप किसे कहते हैं? जिसे जो

अच्छा लगे। बहुत से लोगों को मांस देखते ही वमन हो जाती है, बहुत से लोग कहते हैं—संसार में मांस से बढ़कर दूसरा पदार्थ नहीं। कोई वस्तु जो एक को स्वादिष्ट लगती है दूसरे को वही स्वादहीन प्रतीत होती है। जिसका मन जिसमें रम गया उसे वही वस्तु मीठी-स्वादिष्ट प्रतीत होती है। कूकर, शूकर, कौए आदि को विष्ठा बड़ी स्वादिष्ट लगती होगी। तभी तो प्रातः काल वे बड़े स्वाद से बड़े चाव से खाते हैं। उसके लिये शूकर आदि परस्पर में लड़ते हैं। माता दौड़कर पहिले खाती है, अपने बच्चों को नहीं खाने देती। असली स्वाद इन पदार्थों में नहीं। स्वाद तो श्रीकृष्ण की रसभरी, सुखकरी, मधुरता से पूर्ण मनोहर कथाओं में है। जिन्हें उस स्वाद का चस्का लग गया, उनके लिये ये संसारी स्वाद अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होते हैं। जो कथा कीर्तन से रहित होकर गृह-प्रपंच में ही आठों पहर लगे रहते हैं वे गर्दभराज हैं कि भर पेट खा लिया और चीनी, मिट्टी, मल, चन्दन जो भी पीठ पर लाद दिया, लेकर चलते रहे। या ऊँट के समान हैं, कि सुन्दर मीठी वनस्पति, फल फूलों को छोड़कर काँटेदार बबूल को खाकर ही तृप्ति मानता है।"

सूतजी बोले—"महाराज ! कृष्ण-कथा को तो कान ही श्रवण करेंगे। अन्य इन्द्रियों की सार्थकता किसमें है ?"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी ! जो कान कृष्ण-कथा नहीं सुनते, वे तो व्यर्थ के छिद्र हैं। सर्प चूहे और नेवले के रहने के बिल हैं। कान वही हैं जो कृष्ण कथा श्रवण में ही लगे रहें। जिह्वा की सार्थकता व्यर्थ की बकवाद में नहीं है, भगवन्नाम संकीर्तन ही उसका मुख्य और प्रधान कर्तव्य है। जो जिह्वा कृष्ण नाम कीर्तन नहीं करती, वह मेढक की जिह्वा के समान है, जो व्यर्थ में टर्र-टर्र करती रहती है।"

"बड़ा सिर हो उस पर काले कुञ्चित केश हों सुवर्ण का मुकुट बँधा हो, इतने से ही उसकी सार्थकता नहीं। इतने से ही वह सुन्दर शोभायमान सिर नहीं कहा जा सकता। यथार्थ सिर वही है, जो साधु वैष्णवों को देखते ही अपने आप नत हो जाय, भगवान् के मन्दिर की धूलि मे लोट जाय। भगवत् विग्रहों को देखते ही नम्र हो जाय।

"इसी प्रकार चाहे हाथ सुन्दर सुडौल हैं, उनमे शंख चक्रों के सुन्दर चिन्ह हैं, इत्र फुलेल लगाकर चिकने बनाये गये हैं, कंकण, अंगद आदि सुन्दर आभूषणों से मंडित भी हैं, यदि उनसे भगवत् पूजा सम्बन्धी कार्य नहीं होता, भगवान् के लिये पुष्प नहीं चुनते, फल अमनिया नहीं करते, भगवान् के मन्दिरों में मार्जन नहीं करते, तो उन हाथों को मृतक शरीर में लगे, निर्जीव हाथ ही समझना चाहिये। मृतक पुरुषों के मांस को जब कछुए नोच कर खाते हैं, तब वे हाथ भी तो इधर से उधर हिलते हैं। इसीलिये सूतजी! हाथों की सार्थकता श्याम-सुन्दर की सेवा सामग्री संचय करने में-इधर-उधर से जुटाने में ही है।

"जो नेत्र नित्य नन्दनन्दन के श्री विग्रहो के दर्शन नहीं करते, जिनमें भगवान् की बाँकी-झाँकी करके प्रेमाश्रु नहीं आते जो भगवान् के सुन्दर शृङ्गार को निहार कर निहाल नहीं बन जाते, वे तो चित्र में बनाये नेत्रों के समान हैं। कानी कौड़ी की तरह फूटे हुए हैं अथवा मोर पंख में बनी नेत्र के आकार की निर्जीव रेखा मात्र हैं।

जो पैर भगवान् के मन्दिरों में दर्शन करने नहीं जाते, तीर्थों में नहीं जाते, महापुरुषों के, संत-महात्माओं के दर्शनों को नहीं जाते, वे तो वृक्ष के तने के समान हैं। जिस अंग से भगवत् पूजन का संसर्ग है वह तो जीवित अंग है नहीं तो उसे मृतक शरीर

का अंग ही समझना चाहिये। सिर पर भगवान् की चरण-रज, उनकी निर्माल्य की माला, उनके चरणों की चढ़ी तुलसी, भगवत् प्रसादी चन्दन चढ़े, तो उसकी सार्थकता है। इसी प्रकार नासिका भगवान् की प्रसादी तुलसी को सूँघकर सुखी हो, तो वह यथार्थ घ्राण है नहीं तो उसे लुहार की धौंकनी की नली ही समझनी चाहिये।

"सूतजी! हृदय तो वही सराहनीय है, जो चन्द्रकान्त मणि के समान स्वच्छ, निर्मल, दोष रहित हो। जहाँ अपने कान्त चन्द्रमा की किरणों से संसर्ग हुआ कि चूने लगे, द्रवित होने लगे। कृष्णचन्द्र के चारु चरित्रों को सुनते ही गद्गद हो जाय, पिघल कर आँखों के द्वारा प्रवाहित हो जाय। वही सराहनीय प्रशंसनीय है। यदि ऐसा नहीं है, शुष्क है, नीरस है, तड़फड़ाहट शून्य है, तो उसे तो लोहसार फौलाद का एक गोला ही समझना चाहिये। वे भक्त वन्दनीय और पूजनीय हैं, जिनका हृदय कोमल है, सरस है, बहने वाला है, तड़फने और बिलबिलाने वाला है, जो छुई-मुई की तरह लजीला है, नवनीत के सदृश स्निग्ध है, मोम के समान मुलायम है, गंगा के समान स्वच्छ है। ऐसे सुहृदय सरलहृदय भक्तों के चरणों में हमारा बार-बार प्रणाम है। सूतजी! अब आप हमें शुकदेव और परीक्षित् सम्वाद सुनाइये।"

इतना कहकर शौनकजी चुप हो गये। शौनकजी के चुप हो जाने पर सूतजी ने कहा—"महाभाग! शौनकजी! आपके मुख से भगवद् भक्ति वर्द्धक ये बातें सुनकर मेरा चित्त अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। यथार्थ में मनुष्य के अंगों की सार्थकता भगवत् सेवा सम्बन्ध से ही है। आप तो त्रिकालज्ञ हैं, अपने योग प्रभाव से सब कुछ जानकर भी लोक-कल्याण के निमित्त मुझसे पूछ रहे हैं। अतः मैं आपको सुनाने के अभिप्राय से

नहीं, अपनी वाणी को सार्थक करने के निमित्त भगवत् चरित्रों का वर्णन करूँगा। महाराज परीक्षित् ने जो कुछ पूछा है और श्रीशुक ने उसका जो उत्तर दिया है, उस प्रसंग का जितना इस भागवती कथा से सम्बन्ध है वह मैं आपसे कहूँगा। आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

पायौ पुण्य शरीर मनुष क्यौं पाप बटोरै।
अरे, अमृत महँ अधम-व्यर्थ क्यौं विषकूँ घोरै॥
पतिनी, पशु परिवार पुत्र धन संग न जावैं।
मलि मलि धोवै देह अन्त महँ गीदड़ खावैं॥
काहे भूल्यो बावरे, मेला जग को द्वै दिवस।
कृष्ण कृष्ण रटि कृष्ण जपि, कृष्ण कथा सुनि अहरनिस॥

कथारम्भ

[८८]

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणम्
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषम्
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥*

(श्रीभा० २ स्क० ४ अ० १५ श्लोक)

छप्पय

जिनको बन्दन, श्रवन, कीरतन, सुमिरन दरशन ।
पूजन अरचन नामगान करि नर हों पावन ॥
संजीवनि रुज हरे मृतनि कूँ सुधा जियावै ।
हरे दीप ज्यों तिमिर तूल तृन अग्नि जरावै ॥
त्यों ही अघ की राशिकूँ, जिनको नासै नाम है ।
तिनि प्रभु के पद पद्म महँ, पुनि-पुनि पुन्य प्रनाम है ॥

जहाँ हम परमार्थ का चिन्तन करते हैं, सबसे पहले यह नाम रूपात्मक जगत् हमारे सम्मुख आ उपस्थित होता है। नाना रूपों में दीखने वाला यह चमकीला, भड़कीला, मोहक संसार क्या है, इसे किसने बनाया, क्यों बनाया ? ये प्रश्न सीखने नहीं

---

* श्रीशुकदेवजी मंगलाचरण कर रहे हैं—"जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन तत्काल ही मनुष्यों के पापों को नष्ट कर देता है। उन पुण्यकीर्ति प्रभु के पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम है।"

पड़ते, स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। प्रायः सभी मुनियों ने विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के सम्बन्ध में विचार किया है और यह विचार आवश्यक भी है। हमारे प्रत्येक अणु-अणु में तो यह संसार घुसा है। जब तक इसका यथार्थ रूप न समझा जाय, तब तक यह मन से कैसे निकल सकता है? हृदय में जब तक संसार बसा हुआ है, तब तक वहाँ श्यामसुन्दर का वास कैसे सम्भव हो सकता है। यही सब सोचकर महाराज परीक्षित् ने सर्वप्रथम यही प्रश्न श्रीशुकदेवजी से किया और शौनकादि मुनियों ने भी सूतजी से यही बात पूछी। इसे सुनकर सूतजी कथारम्भ करने का उपक्रम बाँधने लगे।

सूतजी बोले—"मुनियो! जब व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजी ने महाराज परीक्षित् को आश्वासन दिया, श्रीकृष्ण ही एक परात्पर तत्त्व हैं—इस पर जब बार-बार बल दिया, तो महाराज ने अपना चित्त उन्हीं सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान् वासुदेव के चरणों में लगाया। वे स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन, बन्धु-बान्धव सप्त द्वीपवती पृथ्वी का एक छत्र राज्य—इन सबका तो पहिले ही परित्याग कर चुके थे। किन्तु इनमें जो कुछ थोड़ी ममता रह गई थी तथा मैं क्षत्रिय हूँ, मैं राजा हूँ आदि शरीर में जो अहंता थी, इसका भी इन्होंने परित्याग कर दिया। अब वे अहंता-ममता से शून्य होकर तथा अर्थ, धर्म और काम जो त्रिवर्ग के साधक लौकिक वैदिक कर्म हैं, उन कर्मों का भी त्याग करके एकमात्र कृष्ण-कथा-श्रवण में दत्तचित्त होकर यही बात श्रीशुकदेवजी से पूछने लगे।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! आप कृपा के सागर हैं, अनुग्रह के भंडार हैं, दया के निधि हैं। आप जो वचन बोलते हैं, वे मुझे उतने ही सुखकर होते हैं, जितना अत्यन्त भूखे पुरुष को जाड़े में वह गरमागरम हलुआ प्रिय लगता है, जिसमें से घी

चू रहा हो, भाँति-भाँति की मेवा जिसके ऊपर लगाई गई हो उष्ण होने के कारण जिसमें से धूँआ निकल रहा हो। ऐसे सयाव हलुआ का एक ग्रास जैसे भूखे पुरुष को सुखकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार हे सर्वज्ञ! आपका एक-एक वचन मेरे अज्ञान को दूर कर रहा है। जैसे सूर्य निकलने के पूर्व ही उसकी आभा मात्र से ही समस्त अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार कथा कहने के पूर्व ही आपके आश्वासन से मेरा शोक संताप दूर हो गया है। जैसे जल में डूबते हुए पुरुष के समीप नौका पहुँच जाती है, बिना उस पर चढ़े ही वह यदि उसकी लटकती हुई रस्सी को भी पकड़ लेता है, तो जिस प्रकार वह फिर जीवन से आशान्वित हो जाता है, उसी प्रकार आपके दर्शनमात्र से अब मुझे दुर्गति का भय नहीं रहा।"

जिस व्यक्ति को चोर सता रहे हों और दूर से कोई दृढ़ता के साथ कह दे 'घबराना मत, हम आ रहे हैं।' जिस प्रकार इन वचनों को सुनकर ही चोर भाग जाते हैं और सताया जाने वाला पुरुष निर्भय हो जाता है। उसी प्रकार मैं भी महाराज खट्वाङ्ग की बात सुनकर निर्भय हो गया हूँ। अब हे प्रभो! आप मेरी शङ्काओं का समाधान कीजिये और मेरे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दीजिये।

"अब महाराज, मैं यह जानना चाहता हूँ, कि यह जगत क्या वस्तु है? बड़े-बड़े ब्रह्मादि देवता, लोकपाल, मनु, प्रजापति भी जिस संसार के यथार्थ रूप को नहीं समझ सकते, उसकी रचना भगवान् ने अपनी माया से कैसे खेल, खेल में ही कर डाली? उत्पत्ति करके कैसे वे इसका पालन करते हैं, कैसे फिर नाश कर डालते हैं? जिस-जिस शक्ति को आश्रय बना कर हँसी-हँसी में बिना प्रयास, लीला से ही इस चित्र विचित्र नाना रूप रंग वाले जगत् को बना देते हैं, उन्हें भी आप सुनाइये।

एक ही भगवान तीन रूप रखकर उत्पत्ति, स्थित और प्रलय कैसे करते हैं—"इसे भी समझाइये ? अवतार कैसे लेते हैं, अवतार धारण करके क्या-क्या क्रीड़ा करते हैं, इसे भी बतलाइये ? आप कह सकते हैं कि जिसे ब्रह्मादिक देवता भी यथार्थ नहीं जानते उसे मैं क्या जानूँ ? सो बात नहीं। आप तो सर्वज्ञ हैं, शब्द ब्रह्म और परब्रह्म—वेद विद्या और अध्यात्म विद्या—दोनों में निष्णात हैं। इसलिये आप मेरे गूढ़ प्रश्नों का भी यथार्थ उत्तर दे सकते हैं।

सूतजी बोले—"मुनियो ! महाराज परीक्षित् के ऐसे तत्व-ज्ञान सम्बन्धी गूढ़ वचन सुनकर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक-देवजी कथारम्भ करने के लिये प्रस्तुत हुए। वे कुछ सम्हल कर सीधे तकिये के सहारे सावधानी से बैठ गये। इन्होंने अपने दोनों नेत्र बन्द कर लिये। दोनों हाथों की बँधी हुई अंजलि ऐसी मालूम होती थी, मानों दो नील कमलों के भीतर एक लाल कमल रखा हो। ध्यान लगाकर नेत्र बन्द करके हाथ जोड़े हुए उन्होंने कथा कहने के पूर्व मंगलाचरण किया। वे गद्गद कंठ से गम्भीर वाणी में बड़े स्वर के साथ भगवान् की दयालुता का, उनकी महिमा का वर्णन करते हुए स्तव पाठ करने लगे।

मुनियो ! शास्त्रकारों ने मङ्गलाचरण के तीन प्रकार बताये हैं—वस्तु निर्देशात्मक, नमस्कारात्मक और आशीर्वादात्मक।

मेरे गुरुदेव ने अपने मंगलाचरण में इन तीनों का ही निर्देश किया है। उन्होंने अपने मङ्गलाचरण में ही इतनी सुन्दरता से समस्त भागवत का सार तत्व कह दिया है, कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी उनके बुद्धि कौशल को देखकर मोहित हो जाते हैं। जो कुछ कहना चाहिये था। ११ श्लोकों में उन्होंने सब कुछ कह दिया है। ११ श्लोकों से उन्होंने बताता कि तत्व एक

ही है। उसने अपने ही आकार प्रकार के दो रूप (राधा कृष्ण) बना लिये हैं। उनमें न कोई भेद है, न अन्तर। दूसरे को बढ़ा रहे हैं। ११ श्लोक कहने का भाव यह भी कि मायिक जगत में ११ वस्तु प्रधान हैं। पञ्चभूत, पञ्च इन्द्रियाँ एक मन। ११ कहने का तात्पर्य यह भी जान पड़ता है कि भगवान् के प्रधान १० अवतार माने गये हैं। श्रीकृष्ण दशों के कारण अवतारी ११ वें हैं। एकादश रुद्र ही इस जगत् के प्रलय में हेतु हैं। इस प्रकार जो कुछ कहना था वह सब मङ्गलाचरण के मिस से गुरुदेव ने इन ११ श्लोकों में ही कह दिया। आगे के सभी स्कन्धों में इसी का विस्तार है, उन्हीं का भाष्य है। मुनियो! नित्य पाठ करने योग्य हृदय का हार बनाने योग्य इन ११ श्लोकों का भाव तो मैं फिर कहूँगा। इस कथा प्रसङ्ग में तो उनका दिग्दर्शन ही कराये देता हूँ। पहिले श्रीशुक ने जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के निमित्त सत्व, रज और तम से ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप धारण किये तथा सर्वान्तर्यामी रूप से सब में व्याप्त उन भूमापुरुष को प्रणाम किया। फिर गुरु रूप से, इष्ट रूप से, आधार रूप से, अर्चा विग्रह रूप से, ब्रह्म रूप से, पतितपावन रूप से, सद्गुण आलय रूप से, पति रूप से, ज्ञान रूप से, कर्ता रूप से, और पुरुष रूप से भगवान् की वन्दना की। अनन्तर जिनके मुख कमल से निकले हुए ज्ञानामृत का साधु पुरुषों ने तथा स्वयं उन्होंने भी यथेष्ट पान किया, उन परम तेजस्वी अपने पिता भगवान् व्यासदेव की वन्दना की।

इस प्रकार बड़े स्वर से, बड़ी लय के साथ परमहंस चूड़ामणि मेरे गुरुदेव ने स्तुति गान किया। मुनियो! मैं वहाँ उनके सामने बैठा हुआ सुन रहा था, उनके ओजपूर्ण मधुर गान को सुनकर समस्त सभा स्तम्भित हो गई, सर्वत्र सन्नाटा छा

गया। वायुदेव भी मन्द-मन्द चलने लगे। पक्षियों ने कलरव करना बन्द कर दिया। सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य था। इतनी भारी परिषद् में कोई जोर से सांस भी लेता, तो वह भी स्पष्ट सुनाई देती। सभी ऋषि मुनि, देवर्षि ब्रह्मर्षि चित्र लिखे के समान बन गये। मैं मंत्रामुग्ध की भाँति बिना पलक मारे अपने गुरुदेव के मुख कमल को निरन्तर निहार रहा था। मंगलाचरण करने के अनन्तर वे कुछ देर ठहरे। फिर धीरे-धीरे उनके विशाल बड़े-बड़े नेत्र उसी प्रकार खुलने लगे, जैसे सूर्योदय के समय मुँदे हुए कमल खिलते हैं। एक बार उस स्तम्भित हुई सभा की ओर विहंगम दृष्टि डाल कर राजा की ओर लक्ष्य करके उन्हें सम्बोधित करते हुए मेरे आचार्यदेव बोले—"राजन्! लोक पितामह ब्रह्माजी के अन्तःकरण में इस विश्वब्रह्माण्ड के उत्पत्ति के पूर्व अपने आप वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। बिना सिखाये पढ़ाये ही भगवत् प्रेरणा से उसके हृदय में वेदों का प्रकाश हो गया। उस समय कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी को साक्षात् श्रीमन्नारायण देव ने श्रीमद्भागवत का उपदेश दिया। उस परम ज्ञान को पाकर ब्रह्माजी कृतकृत्य हुए। फिर ब्रह्माजी ने अपने पुत्र नारदजी के पूछने पर उसी भागवत तत्व का उपदेश उन्हें दिया। नारदजी ने खिन्न बैठे हुए मेरे पिता भगवान् व्यास को उसी तत्व को समझाया। अपने पिता से मैंने इस परम पावन ज्ञान को पढ़ा। उसी श्रीमद्भागवत रूपी महान् ज्ञान उपदेश को मैं आपके सम्मुख करूँगा।

"एक समय की बात है, कि देवर्षि नारदजी वीणा बजाते, हरिगुन गाते अपने पिता ब्रह्मदेव के लोक में पहुँचे। चिर काल के अनन्तर अपने प्रिय पुत्र को आये देखकर ब्रह्माजी ने उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित किया। नारदजी भी पिता के पाद

पद्मों में प्रेमपूर्वक प्रणाम करके उनके बताये हुये आसन पर बैठ गये। बैठने के अनन्तर अब वे ब्रह्माजी से प्रश्न पूछने को उद्यत हुए। प्रश्न पूछने का नियम यह है, नम्रता के साथ हाथ जोड़कर फिर प्रणाम करके बड़ी सावधानी से सारगर्भित शब्दों में संक्षेप में भी न पूछे, जिससे प्रश्न का अभिप्राय स्पष्ट समझ में न आवे। और इतने विस्तार से भी न पूछे, कि विस्तार करने में मुख्य प्रश्न का पता ही न चले। व्यर्थ एक भी शब्द न हो। इसी नियम के अनुसार नारदजी ने पूछा।

नारदजी ने नम्रता के साथ निवेदन किया—"हे समस्त देवताओं के भी देवता! हे समस्त प्राणियों से भी पूर्व उत्पन्न होने वाले! हे सब के उत्पन्न करने वाले भगवन्! आपके अरुण चरणों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करके कुछ पूछना चाहता हूँ। कृपा करके आप मुझे उस ज्ञान का उपदेश करें, जिसके द्वारा आत्मतत्व का साक्षात्कार हो सकता है। स्वामिन्! यह दृश्यमान प्रपञ्च जिसका रूप है, जिसके आश्रय से यह विद्यमान रहता है, अन्त में जाकर जिसमें यह लीन हो जाता है तथा जो इसका नियामक है, जिसके अधीन होने से यह सदा इसी प्रकार चलता रहता है। उस परतत्व का आप मुझे उपदेश करें।"

ब्रह्माजी ने हँसकर कहा—"अरे, भैया! मैं यह सब क्या जानूँ? किसी और से पूछो।"

इस पर नारदजी बोले—"नहीं प्रभो! आप यह सब जानते हैं। आपसे भला कौन-सी बात छिपी है? आपतो तीनों काल के नियामक हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान सभी के स्वामी हैं। किसी के हाथ पर कोई फल रखा है, कुछ हथेली से दबा हुआ है उस पर कोई चींटी चढ़ रही है तो जो दबा हुआ भाग है उसे चींटी नहीं देख सकती, जो उसके पीछे के भाग में है उसे

भी नहीं देख सकती। किन्तु जिसके हाथ में वह रखा है उसके लिये तो फल का कोई भाग अज्ञात नहीं। इसी प्रकार अन्य प्राणी भूत भविष्य नहीं समझ सकते, किन्तु आपके लिये तो कोई भेदभाव है ही नहीं। आप ही तो यह सब विभाग बनाने वाले हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अरे भैया! मैं कहाँ बनाता हूँ, बनाने वाला तो कोई और है। मैं तो उसी के आधार से सब करता हूँ।"

इस पर नारदजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! मैं यही तो जानना चाहता हूँ, कि आपको यह विचित्र विज्ञान शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई? आपका आधार क्या है? आप भी किसी के अधीन हैं क्या? हम तो महाराज, आपको ही देखते हैं। जैसे कुम्हार चाक चलाकर उस पर मिट्टी का लौंदा रखकर मनमाने सकोरा, कुल्हड़, घड़े, नाँद, मटका जो चाहता है, बनाता जाता है। उसे न कुछ प्रयास करना पड़ता है, न विचार! इसी प्रकार आप इस चराचर विश्व को बनाते हैं कुम्हार को तो मिट्टी लानी पड़ती है। चाक, डंडा, सूत, पानी आदि सामग्रियाँ इकट्ठी करनी पड़ती हैं। आपको यह भी सब नहीं करना पड़ता। जैसे मकड़ी अपने मुँह में से ही सूत निकाल कर जाला बुन देती है, उसी प्रकार आप भी बैठे-बैठे स्वतः संकल्प से यह सब बनाते रहते हैं। मकड़ी के लिये भी सम्भावना की जा सकती है, कि निरन्तर बनाती रहे, तो सम्भव है उसका तार चुक जाय, वह थक जाय, किन्तु आप में कभी कोई विकार न्यूनाधिकता दिखाई नहीं देती। एक रस से आप बनाते रहते हैं। जगत् में जिधर भी मैं दृष्टि डालता हूँ, उधर आपकी बनाई हुई ही सामग्रियाँ दिखाई देती हैं। ऊँची से ऊँची, नीची से नीची, बड़ी से बड़ी, छोटी से छोटी, पतली से पतली, मोटी-से-मोटी; दिखाई देने वाली, न दिखाई

देने वाली, सद्-असद् सभी की उत्पत्ति आप से ही होती है। आपके सिवाय और कोई रचियता दिखाई देता नहीं।

यह सब होने पर भी सबके स्वामी, कर्ता, ईश्वर और विधाता होते हुए भी आप कभी घोर तप करते हैं, कभी प्रेम में रोते हैं, कभी हाथ जोड़कर स्तुति करते हैं। इससे मुझे बड़ी शङ्का होती है। आप तो सबके वन्दनीय हैं, फिर आप किसकी वन्दना करते हैं? आप तो सबके ध्येय हैं। फिर आप किसका ध्यान करते हैं? आप ही सबके पूजनीय हैं, आप से बढ़कर कौन है जिसका आप पूजा करते हैं? मेरी इन शंकाओं का समाधान कीजिये।"

इस बात को सुनकर लोक पितामह ब्रह्माजी हँसे और बोले—"बेटा, नारद! तुमने जो शंका की है, यह तुम्हारी अपनी नहीं है। लोकों के अनुग्रह के लिये, जगत के कल्याण के निमित्त तुमने संसारी लोगों का प्रतिनिधित्व करते हुए यह प्रश्न किया है। यह प्रश्न करके संसारी लोगों पर तो तुमने कृपा की ही है, मेरे ऊपर भी बड़ी कृपा की। इसी बहाने मुझे भगवत् गुण लीला वर्णन करने का अवसर मिल जायगा।

"तुम जो मुझे सबका स्वामी बता रहे हो यह तुम्हारी भूल है। जिस माया के अधीन यह सब प्रपंच दिखाई देता है, मैं भी जिस माया का ही आश्रय लेकर सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होता हूँ, उस माया के भी एक पति हैं। वे ही मेरे भी स्वामी हैं। मेरे ही नहीं, चराचर विश्व के स्वामी हैं। उन्हीं की प्रेरणा से यह सब हो रहा है। मैं तो उनके हाथ का खिलौना हूँ। जो कराते हैं करता हूँ, जो कहलवाते हैं कहता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर ब्रह्माजी ने नारदजी को सृष्टि कैसे होती है, इसका क्रम बताया। महानुभावो! सृष्टि का तो बड़ा गोरखधन्धा है। इसे तो मैं सृष्टि

प्रकरण में ही विस्तार से बताऊँगा। सृष्टि के अनन्तर विराट् स्वरूप का वर्णन किया। मुनियो! सच्ची बात तो यह है, अब मेरा काम ही कथा कहने का ऐसा है, कि इसमें प्रसंगानुसार सभी कहना पड़ता है। वैसे विराट् भी भगवान् का ही रूप है, हम उन्हें बार-बार प्रणाम करते हैं, किन्तु हम तो मधुरता के उपासक हैं। हजार बाहु, हजार नेत्र, सम्पूर्ण संसार के अच्छे बुरे, सुखद, वीभत्स दृश्य जिसमें दीखें उस विराट रूप को दूर से ही दण्डवत है। परन्तु फिर भी मैं प्रसंगानुसार तत्त्व ज्ञान के प्रकरणमें इसका वर्णन करूँगा।"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी ठीक है। ऐसे गंभीर प्रसंगों को तो प्रातःकाल ही सुनना और पढ़ना चाहिये। इसमें बुद्धि को बहुत एकाग्र करने की आवश्यकता है। बहिरंग वृत्ति वाले पुरुष तो ऐसे प्रसंग को तनिक सुनते ही ऊब जाते हैं, कोई जंभाई लेते हैं, कोई नींद में झूमते हैं, कोई उठकर चले जाते हैं। इसलिये अब तो कथा प्रसंग को ही कहें। कथा प्रसंग को साधारण-असाधारण सभी लोग बड़े चाव से सुनते हैं। हाँ, तो विराट् भगवान् का वर्णन करने के अनन्तर ब्रह्माजी ने नारदजी से फिर किसका वर्णन किया?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"शौनकजी! जब विराट् पुरुष के सभी अंग-प्रत्यंगों में इस विश्व की वस्तुओं की कल्पना करके यह सभी जगत विष्णुमय है, इस सिद्धान्त को बता दिया है। तब ब्रह्माजी ने स्वतः ही नारदजी से कहा—"मुनिवर! इन यक्ष, राक्षस, देवता, पितर, सिद्ध चारण आदि के अतिरिक्त जो भूमा-पुरुष के परम पावन प्रधान-प्रधान अवतार हैं, उनका मैं क्रमशः वर्णन करूँगा। उन अवतारों के चरित्रों को सुनते ही सभी पाप-ताप दूर हो जाते हैं। इतना कहकर ब्रह्माजी प्रधान-प्रधान अवतारों का वर्णन करने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिस प्रकार ब्रह्माजी ने नारद जी के सम्मुख अवतार लीलाओं का वर्णन किया था, उन्हीं को मैं आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"महाभाग ! अवतारों का वर्णन तो आप पीछे कर चुके हैं। पीछे आपने २२, २३ अवतारों की संक्षिप्त कथायें सुनाई हैं अब आप उनके अतिरिक्त अन्य नये अवतारों का वर्णन करेंगे या फिर से उन्हीं को कहेंगे ?"

इस पर सूतजी बोले—"अजी शौनकजी ! अब आप भी ऐसी बातें कहने लग गये ? अवतार कथाओं का ही नाम तो भागवती कथा है। उनका बार-बार कथन करने पर भी पुनरावृत्ति दोष नहीं होता। ये अवतार चरित्र तो जितनी बार भी सुने जायँ, उतने ही कम हैं।"

यह सुनकर शीघ्रता से शौनकजी ने कहा—"नहीं, नहीं, सूतजी ! मेरा यह अभिप्राय नहीं था कि आप न कहें, अवश्य कहें किन्तु नई कथा में उत्सुकता के कारण मन अधिक लगता है जैसे एक मिठाई खाते-खाते चित्त ऊब जाय, तो दूसरी खाकर स्वाद बदल लिया।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"मुनिवर ! मिठाइयों में पृथकता क्या है ? आटा, घी और चीनी—इन्हीं से समस्त अन्न की मिठाइयाँ बनती हैं। मैदा को पतली करके कुंडली के आकार की जलेबी घी में सेक कर चीनी के बग्घर में डाल दीं, उनका नाम जलेबी हो गया। नुकती उतार कर चासनी में डालकर गोल-गोल बना लिये, लड्डू हो गये। इसी तरह सभी मिठाइयों में पदार्थ एक ही है। खोये की मिठाइयों में भी यही बात है। खोये को गाढ़ा करके चीनी मिलाकर चिपटे से बना दिये, पेड़े हो गये, पतला करके जमाकर कतरी काट

ली, बरफी बन गई। कतरी न काटी गोल-गोल बना दिये, खोये के लड्डू बन गये। पदार्थ वे ही हैं, केवल रूप आकृति में अन्तर हो जाता है। इसी प्रकार अब के मैं दूसरी तरह से बड़ी मस्ती के साथ कहूँगा। आप सुनते-सुनते हँस पड़ेंगे। एकदम नवीनता दिखाई देगी।"

इतना कहकर सूतजी भगवान् के उन चरित्रों का वर्णन करने लगे। जो ब्रह्माजी ने नारदजी के सम्मुख वर्णन किये थे।

छप्पय

बोले राजा—प्रभो! सृष्टि उतपत्ति बतावें।
निरगुनतें यह सगुन भयो कैसे समुझावें॥
शुक बोले—विधि निकट यही पूछी नारद मुनि।
कहूँ भागवत भूप! समाहित मन करिकें सुनि॥
ब्रह्मा विष्णु महेश बनि, रचि पालहिँ मारहिँ सबहिँ।
हरि अवतारनि की सुखद, कथा कहहुँ नृप सुनु अबहिँ।

सूकरावतार

[८६]

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः ।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार ॥*

(श्रीभा० २ स्क० ७ अ० १ श्लोक)

छप्पय

बनिगे सूअर श्याम मेघ सम लम्ब तड़ंगे ।
घुरु घुरु करि घुसे नीर महँ नंग घड़ंगे ॥
आयो भीषण दैत्य भिड़े नख दाँत चलावें ।
गई सिटिल्ली भूलि बली लखि मुँह मटकावें ॥
पटक्यो फिरि सटक्यो तुरत, भटक्यो लटक्यो चोटतें ।
चट्ट पट्ट मारयो असुर, धरणी देखे ओटतें ॥

सूतजी बोले—"सूकराय नमोनमः, चक्रतुण्डायनमः, बृहद्

---

* ब्रह्माजी नारदजी से कह रहे हैं—'जिस समय अनन्त प्रभु ने रसातल में गई पृथ्वी का उद्धार करने के निमित्त ऐसा वाराह रूप धारण किया जो सर्व यज्ञमय था। उस समय प्रलय कालीन महासमुद्र के भीतर उनसे लड़ने को आदि दैत्य हिरण्याक्ष आया। उसे उन्होंने अपनी दाढ़ों से उसी प्रकार विदीर्ण कर दिया, जैसे देवराज इन्द्र ने अपने वज्र से पर्वतों को विदीर्ण कर दिया था।"

वाराहायनमः, वज्रदंष्ट्रायनमः। जो है सो, मुनियो! तुम्हारा रामजी भला करें, बूढ़े बाबा ब्रह्माजी को बैठे-बैठे एक दिन छींक आ गई। कमल ठंडा होता ही है। कमल के आसन के कारण ही सम्भव है, पितामह को सरदी हो गई होगी। छींकते ही अँगूठे के पोरुए की तरह एक सूअर का बच्चा उनकी नाक से फट्ट से निकल पड़ा। बूढ़े बाबा चौंक पड़े, बड़े घबड़ाये—अरे, यह क्या हो गया? किसी के पेट में छोटे छोटे कीड़े पड़ते हैं, नीचे से निकलते हैं। मेरे पेट में सूअर हो गये। राम राम राम! क्या करूँ? मालूम पड़ता है पेट में कोई सूअरी घुस गई, उसी ने बच्चे दे दिये। ऐसे और भी होंगे। क्या चूर्ण खाऊँ, कौन सी चटनी से ये पेट के सूअर नष्ट हो सकते हैं? कीड़े पड़ जाते हैं तो नीम की पत्ती पीने से ठीक हो जाते हैं। अब पेट में पैदा हुए सूअरों को क्या औषधि है, किससे पूछते? तब तक अश्विनी-कुमार पैदा नहीं हुए थे। पितामह यही सोच रहे थे, कि तब तक सूअर मेढक का बराबर होकर फुदकने लगा। ब्रह्माजी ने अपना आसन कुछ हटाया तब तक तो वह एक चूहे की तरह हो गया। ब्रह्माजी एक दृष्टि से उसे ही देख रहे थे। झट्ट वह बिल्ली की बराबर बन गया। अब तो ब्रह्माजी को सन्देह होने लगा। यह तो क्षण-क्षण में बढ़ता है। देखते-देखते वह साधारण सूअर के बराबर हो गया। ब्रह्माजी भयभीत होकर अपने पेट को मसलने लगे, कि कहीं इसकी माँ भी भीतर इतनी बढ़ती हो तब तो जय-जय सीताराम हो जाय। तब तक सूअर स्वामी मतवाले हाथी के बराबर हो गये। ब्रह्माजी ने देखा पेट तो नरम है, उसमें कोई गड़बड़ वाली बात है नहीं। यह साधारण सूकर नहीं, यह तो कोई अद्भुत, अचिन्त्य सत्य है। ब्रह्माजी सन्देह में पड़ गये। यह सब सत्यलोक की बातें हैं। तब तक महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक इतने ही लोक उत्पन्न

हुए थे। वैसे तो चौदह भुवन हो गये थे, किन्तु उनमें बस्ती नहीं बसी थी, जीवों ने आकर अपने डेरे-डंडे नहीं जमाये थे। ब्रह्माजी ने देखा—सूअर बाबा तो आकाश में पहाड़ के शिखर के समान-बड़े भारी जलधर नीलमेघ के सदृश-शून्य में अधर खड़े हैं। ब्रह्माजी समझ गये-अरे, यह तो भगवान् हैं, यज्ञ वराह प्रभु हैं, मेरे स्वामी हैं, आदि अवतार हैं, सबके त्राता हैं, मेरे रक्षक हैं, पृथ्वी के प्रतिपालक हैं, दुष्टों के संहारक हैं, अनादि, अनन्त, अच्युत हैं, ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, उत्तमों में भी उत्तम हैं, ऋषियों के माननीय, पूजनीय, वन्दनीय, अर्चनीय, आराधनीय, सेवनीय और स्तवनीय हैं। यह सोचकर ब्रह्माजी लैंयाँ-पैंया भागे और अधीर होकर बार-बार साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे, अपने चक्र के समान गोल तुण्ड को हिलाकर उन्होंने ब्रह्माजी को आशीर्वाद दिया और वहाँ से तीर की तरह सीधे बड़े वेग से नीचे उतरे। बात की बात में तपलोक, जनलोक, महर्लोक, स्वर्गलोक और भुवर्लोक इन सभी लोकों को पार करते हुए पृथ्वी के समुद्र के समीप आ पहुँचे, जहाँ सातों समुद्र एक हुए बड़े भारी सरोवर के समान दिखायी दे रहे थे। सूअर भगवान् ने आव गिना न ताव, सर्र से जल के भीतर घुस गये। वहाँ नव वधू के समान गुड़मुड़ी मारे सिकुड़ी बैठी हुई पृथ्वी को उठाकर अपनी दाढ़ों पर रखकर ज्यों ही चले, त्यों ही पीछे से सुनाई पड़ा—"ओ सूअर के बच्चे! कहाँ भागता है, खड़ा रह। खबरदार! आगे बढ़ा तो हड्डी-हड्डी चकनाचूर कर दूँगा।" सूअर भगवान् ने अपने दोनों हाथ-चाहे पैर कह लो-आगे उठाये, पृथ्वी डरी, यह क्या गड़बड़ सड़बड़ हुई। इतने में ही भूत की तरह आकाश से भी ऊँचा मणिजटित किरीट मुकुट पहिने हिरण्याक्ष नाम का दैत्य वराह भगवान् के सामने ताल ठोंकता हुआ आ उपस्थित हुआ।

ये भी किसी से कम तो थे नहीं, पृथ्वी से बोले—"सुनती हो, वसुधा देवी! इस कुत्ते से मैं निपट लूँ, तुम यहीं बैठ जाओ। घबड़ाना मत। मैं लड़ाई करूँगा।" डरती हुई वसुन्धरा बोली—"ना, ना, स्वामी। मेरे प्राणनाथ! लड़ाई-झगड़ा मत करो। मार-धाड़ अच्छी नहीं होती। पूँछ दबाकर भाग चलो।" भगवान् उसे डाँटते हुए बोले- "अरे हट, स्त्री की जाति। मैं तेरी तरह चूड़ी पहने हूँ या घूँघट लगाये हूँ क्या, जो भाग चलूँ। तू चुपचाप बैठी रह, अभी मैं इसका कचूमर बनाता हूँ, अभी इसकी हेकड़ी भुलाता हूँ। अभी इसे यमपुर पठाता हूँ।" इतना कह कर ताल ठोंककर यज्ञ वराह रणाङ्गण में घुर्र-घुर्र करते हुए गदा लेकर उपस्थित हो गये। वह अधम असुर तो उधार ही बैठा रहता था लड़ाई-झगड़े के लिये। आज अपने से लड़ने वाले को देखकर वह मेघ के समान गरजा और गदा लेकर सूकर भगवान् की ओर बढ़ा। इधर से ये भी झपटे। दोनों में कला-बाजी होने लगी।

दैत्य ने अपनी तलवार सूकर भगवान् के उठे हुए पैरों के नीचे मारी। इन्होंने भी अपने पैने नखों से उसके पैर को खसोट लिया। तब उसने इनकी एड़ी में चोट की। इन्होंने भी उसको नोंच लिया। अब दोनों में गुत्थमगुत्था होने लगी।

वह इनके टखनों पर प्रहार करता है, तो ये उसकी पिंडलियों को पीड़ित करते हैं। वह घुटनों पर चोट मारता है, तो ये उसके कटि भाग में मारते हैं। उसने देखा कि यह सूअर साधारण नहीं है, तब तो उसने बड़ी भारी गदा उठाकर इनके वक्षस्थल में मारी। ये भी कब चूकने वाले थे? इन्होंने भी गदा उठा ली। वह छाती में मारे, तो ये हृदय में मारें। वह बायें स्तन पर मारे, तो ये दाहिने पर प्रहार करें। वह बायें मणिबन्ध पर चोट करे, तो ये दाँयें को तोड़ने की चेष्टा करें।

वह बाँई भुजा में मारे, तो ये दाँई में मारें, वह गले में मारे, तो ये उसकी हँसुली में मारें। वह इनके तुण्ड को तोड़े, तो ये उसकी हनु को मरोड़ें। वह नीचे के ओठ में मारे, तो ये ऊपर के ओठ में कूदकर प्रहार करें। वह दाँई कनपटी पर मारे, तो ये बाँई पर झपट्टा मार दें। वह बायें कान पर गदा छोड़े तो ये उसके दाँयें कान को पकड़ कर मरोड़ें। वह इनकी बाईं आँख में लक्ष्य लगावे, तो ये दाँत मारकर उसकी दाहिनी आँख को फोड़ दें। वह इनके थूथरे में घुमाकर गदा मारे, तो ये उसके गाल पर तड़ाक से तमाचा जड़ दें। वह इनकी बाँई भ्रुकुटी की ओर झपटे, तो ये उसकी दाँई भ्रुकुटी में दाँत गड़ा दें। वह इनके मस्तक पर मारे, तो ये उसके भाल पर प्रहार करें। वह इनके बालों में मारे तो ये उछल कर उसकी खोपड़ी को फट्ट से फोड़ दें। वह इनके सिर में मारे तो ये उसके चमचमाते मुकुट को तोड़ दें। इस प्रकार वह उधर से मारे ये इधर से मारें। वह उधर झपटे, ये इधर से डपटें। वह उधर से तड़के ये इधर से भड़कें। वह उधर से अटके, तो ये इधर से सटकें। उधर से इसकी गदा चटके, तो ये इधर से पैर पटकें। इस तरह दोनों एक दूसरे से लिपट-लिपट कर अपना बल दिखाने लगे। देवताओं की सिटिल्ली भूल गई। वे सोचने लगे—पता नहीं, इस दैत्य से ये सुअर देवता जीत भी सकेंगे कि नहीं। वराह भगवान् को जो आया जोश, तो उसे उठाकर पट्ट से पटक दिया और उससे बोले—"बोल बेटा! चटनी बनाऊँ या हलुआ?"

उसने मारी जो ऐंड़ सो एक झटक्के में ऊपर। सूकर स्वामी घुर्र-घुर्र ही करते रह गये। तब तो सूकर भगवान् की भी सिटिल्ली ढीली हो गई। वे समझने लगे—यह हमारे जोड़-तोड़ का ही जन्तु है, किन्तु कुछ चिन्ता नहीं। आज मुझे इसे यमसदन पहुँचाना है, इसके इतने बड़े शरीर को उसी तरह

फाड़ूँगा जैसे बजाज कपड़े के थान को फाड़ता है या चटाई बुनने वाला एरका को बीच में से फाड़ देता है या बच्चे जैसे खरबूजों, तरबूजों और फूटों को फाड़ देते हैं। आज मैं नारियल की तरह इसके सिर को फट्ट से फोड़ दूँगा। आज इसकी हड्डी-हड्डी तोड़ दूँगा। आज इसके सिर को पीठ की ओर मरोड़ कर पैरों से जोड़ दूँगा। इसके साखू के समान लम्बे-लम्बे हाथों को देह से तोड़ कर दूर फेंक दूँगा। आज इसे देवताओं के अपमान का स्वाद चखाऊँगा। ऐसा सोच कर सूकर भगवान् ने अपनी गोलाकार सूँड़सी को फाड़ कर जोर से एक दाँत उसकी छाती में गड़ा दिया और एक पैर को नीचे दबाकर फर्र से उसे बीच से फाड़ दिया। बोल दे वराह भगवान् की जय! बोल सूकर भगवान् की जय!"

छप्पय

हे सूकर भगवान्! चरण तव शीश नवावें।
यज्ञ रूप हैं आपु शास्त्र अरु वेद बतावें॥
स्वामिन सूकर रूप धरयो क्यों भेद बतायो।
ऊँच नीच नहिं जीव यही का मर्म जताओ॥
जिनि पृथिवी उद्धार करि, मुदित करे सब देवगन।
तिनि वराह भगवान् की, जय बोलो अब सन्तजन॥

अवतार-कथा

[९०]

येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वसृगालभक्ष्ये ॥*

(श्री भा० २ स्क० ७ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

सूकर, हरि अरु कपिल, दत्त सनकादि तपस्वी ।
नरनारायन, ऋषभ, विष्णु, ध्रुव परम यशस्वी ॥
हयग्रीव, पृथु, कच्छ, मत्स्य, वामन, धन्वन्तरि ।
परशुराम, श्रीराम हंस, मनु बनि प्रकटे हरि ॥
श्रीबलदाऊ, व्यासजी, बुद्ध, कल्कि आनन्दमय ।
सब अवतारिन के परम, अवतारी यसुमति तनय ॥

---

* ब्रह्माजी देवर्षि नारदजी से कह रहे हैं—"हे पुत्र ! जिन पर वे ही स्वयं साक्षात् श्रीहरि भगवान कृपा करें वे ही इस दुस्तर माया को पार कर सकते हैं और भगवान् की कृपा उन्ही पर होती है, जो सर्वात्मभाव से निष्कपट होकर उन्ही के चरणो की शरण गहते हैं। ऐसे पुरुषों को इन सियार, कुत्तों के खाने योग्य शरीर में अहबुद्धि नहीं होती है।"

सूतजी कहने लगे—"मुनियो ! जितना प्यार हाथी अपनी हथिनियों से करता है, उतना प्यार स्यात् ही कोई जानवर अपनी जानवरी से करता हो। गृहस्थ का सर्वश्रेष्ठ सुख यही है कि गृहस्थ की घर वाली उससे स्नेह करे। उसके सुख-दुःख में सुखी-दुखी हो, बाहर से आने पर दो मीठी बात कहे, दुःख में धैर्य बँधावे, उत्सवों में उत्साह दिखावे, राग रंग मचावे। उस हाथी की हथिनियाँ ऐसी ही थीं। गजराज पहाड़ के समान ऊँचे डील-डौल का था। सैकड़ों हथिनियाँ हजारों पुत्र-पौत्र, उसको चारों ओर से घेर कर चल रहे थे। उन सबसे घिरा हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था, मानों साक्षात् नीलांजन पर्वत अपने छोटे-बड़े शिखरों के साथ सजीव होकर जा रहा हो। समीप ही एक सरोवर था, जिसमें कमल खिले हुए थे, जल-पक्षी किलोल कर रहे थे। उसका नीला जल स्फटिक मणि के समान स्वच्छ था। तीर पर चन्दन, देवदारु आदि के वृक्ष थे। अपने समस्त परिवार को लिये हुए वह निर्भय होकर सरोवर में घुस गया। अब तो होने लगी जलक्रीड़ा। कभी अपनी सूँड़ में जल भरकर किसी हथिनी पर डालता, कभी किसी को पकड़ कर जल में डुबाता, किसी को स्वयं नहलाता, किसी का बदन सुहलाता, किसी को विचित्र मुँह बनाकर रिझाता, किसी को सूँड़ उठाकर खिजाता, किसी के मुँह में अपनी सूँड़ डाल कर हठ-पूर्वक उसे पानी पिलाता, किसी को अपनी बोली में कुछ गाकर सुनाता।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप बुरा न मानें। आपकी यह शैली हमें पसन्द नहीं है। अब आप कथा न कह कर नाटक का सम्वाद कहने लगे। कविता-सी करने लगे। जैसे आप पहिले कह रहे थे वैसे ही कहिये।"

इस पर उदास मन से सूतजी बोले—"अरे, मुनियो ! तुम

सब बड़े शुष्क हृदय के हो। मैं कितने उत्साह से कथा कह रहा था। तुमने बीच में टोक कर मेरा उत्साह भंग कर दिया। हम लोग ठहरे कथा-वाचक। जिस समय श्रोता की जैसी रुचि देखते हैं, वैसी ही कथा कहने लगते हैं। किन्तु आप लोग सब बड़े गम्भीर हैं, हँसी-विनोद पसन्द नहीं करते। अच्छी बात है, मैं अब केवल नाम ही गिनाये देता हूँ। संक्षेप में ही टरकाये देता हूँ। शीघ्रता में सुनाये देता हूँ।"

इस पर शीघ्रता से शौनकजी बोले—"नहीं नहीं सूतजी! हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि आप कथा संक्षेप में कहें। खूब विस्तार करें, अपनी रुचि से कहें, उत्साह भङ्ग न करें। किन्तु उसने उसकी ठोढ़ी में मारा, उसने उसके हनु में मारा, उसने यह मारा, वह मारा, यह लटका, वह भटका, इत सटका, उत भटका, इन लच्छेदार बातों को कुछ कम कहें फिर आपकी जैसी इच्छा। हमने तो इसलिये कहा कि अवतार-कथा को तनिक गम्भीरता के साथ कहना चाहिये।"

सूतजी बोले—"यहाँ मैं विस्तार से नहीं कहूँगा। इस स्थल पर तो ब्रह्माजी ने नारदजी को केवल अवतारों की सूची मात्र ही बताई है। उस सूची का विस्तार बारहों स्कन्धों में समस्त भागवत में है। इसलिये यहाँ मैं सूची सुना कर सब का विस्तार से वर्णन आगे करूँगा।"

हाँ, तो सरोवर में गज को ग्राह ने पकड़ लिया फिर उसने अपनी सूँड़ में कमल लेकर स्तुति की। उसी समय हरि भगवान् दौड़कर आये। चक्र से नक्र का वक्त्र काट कर उसका उद्धार किया। इन भगवान् का नाम हरि था। ये हरि भगवान तामस मन्वन्तर में हरिमेधा नामक ऋषि की हरिणी नामक भार्या से उत्पन्न हुए थे। इन हरि के अतिरिक्त एक और भी हरि अवतार हुए हैं। उनका जन्म रुचि प्रजापति की भार्या दक्षिणा के गर्भ

से हुआ। उन्होंने सुयाम नामक देवताओं के गण को उत्पन्न किया। उन्होंने त्रिलोकी का महान कष्ट हरा था। इसीलिये ये हरि कहाये।

ऋषियो! प्रजापति कर्दम की देवहूति नामक भार्या से नौ कन्या उत्पन्न होने के अनन्तर भगवान् कपिल रूप से प्रकट हुए, जिन्होंने अपनी सगी माता को ही चेली बनाकर तत्व का मोक्ष-कारी उपदेश दिया।

अत्रि भगवान की पत्नी ने भगवान् को पुत्र रूप में माँगा तो भगवान् ने कहा—'दत्त—जाओ दिया।' इसीलिये दत्तात्रेय अवतार अत्रि पत्नी अनसूया के यहाँ हुआ, जिन्होंने सहस्रार्जुन और यदु आदि राजाओं को राजसुख भोगते हुए भी योग की सम्पूर्ण सम्पत्ति दे डाली। वे ही भगवान् कल्प के आदि में सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन रूप में सदा नंग-धड़ंगे ही घूमने वाले बनकर बाल रूप से प्रकटे। जब देखो तभी पाँच वर्ष के बने रहते हैं। फिर धर्म की पत्नी मूर्ति देवी में नर-नारायण रूप से प्रकट होकर प्रभु बदरीवन में रहने वाले, क्रोध को जीत कर तपस्या करने वाले युग्म मुनि बने, जिन्होंने इन्द्र की भेजी अप्सराओं पर भी क्रोध न किया, किन्तु अपनी उरु से त्रैलोक्य सुन्दरी उर्वशी को उत्पन्न करके सत्कार स्वरूप इन्द्र के लिये स्वर्ग की शोभा बढ़ाने को उसे दे दिया। बालक ध्रुव की तपस्या से प्रसन्न होकर ध्रुव विष्णु ने उन्हें दर्शन देकर नित्य ध्रुवलोक का स्वामी बना दिया। उत्पथ गामी वेन को जब मुनियों ने मिल-कर मार डाला, तो उसी के शरीर मन्थन से पृथ्वीपाल रूप में पृथु भगवान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने नरक में गये अपने पिता का ही उद्धार नहीं किया, किन्तु समस्त पृथ्वी का ही उद्धार कर दिया। संसार की काया पलट कर दी, पृथ्वी पर ग्राम, नगर, पुर,

पत्तन बसा दिये, जिनमें बिना चुनाव की चहल-पहल के नगर समितियाँ अपना काम काज करती थीं।

फिर महाराज नाभि की सुदेवी नामक पत्नी से परमहंस रूप में श्री ऋषभदेव भगवान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने त्याग का महत्त्व प्रकट किया। फिर ब्रह्माजी के यज्ञ में यज्ञ रूप से भी भगवान् का एक अवतार हुआ, जिनकी ग्रीवा से ऊपर का भाग घोड़े के आकार का था। इसीलिये वे 'हयग्रीव' कहलाये, जिनके श्वांस लेते समय दोनों नासिका के पुटों से वेदों के वाक्य प्रकट होते थे। फिर भगवान का बड़ा भारी मत्स्यावतार हुआ, जिसने प्रलयसागर में घूमते-घूमते असुर के द्वारा हरे हुये वेदों का उद्धार किया। अमृत मन्थन के समय एक द्वीप के आकार के भगवान् बड़े भारी कछुआ बन गये। जिनकी पीठ पर रुई की तरह घर-घर शब्द करके घूमता हुआ मन्दराचल ऐसे ही प्रतीत होता था, मानों चींटी रेंग रही हो। अथवा कोई सोते समय पैरों को सुहरा रहा हो अथवा कहीं खुजली हुई हो, तो उसे दिव्य अम्बर की सहायता से कोई खुजा रहा हो। उस महा पर्वत की सुहलाहट से जल में ही कछुआ भगवान् को नींद-सी आने लगी और मीठी-मीठी झपकियां लेने लगे। एक समय हिरण्यकशिपु की सभा में बिना माता पिता के पत्थर के खम्भ में से ही प्रकट हो गये। वह भी साधारण वेष से नहीं, धड़ तो मनुष्यों का-सा और सिर सिंह के समान, इसीलिये वे नृसिंह के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने अपने तीक्ष्ण नखों से उस दुष्ट दैत्यराज का पेट फाड़ उसकी अन्तड़ियों की माला से अपने गले की शोभा बढ़ाई। मुनियो! उस भयङ्कर रूप को देखकर देवता भी डर गये। दूर से ही दंडवत् करने लगे और की तो बात क्या, लक्ष्मी जी भी घबड़ा गयीं। जिन्होंने गज को ग्राह से बचाया। उन हरि भगवान् की चर्चा तो मैं सर्वप्रथम कर ही

चुका हूँ। अपने परमभक्त दैत्यराज बलि को छलने को भगवान् ने कपट वामन बालक का विचित्र वेष बनाया। बलि की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। आकाश-पाताल के कुलावे एक करके मिला दिये। दैत्यराज आ गया इनके चक्कर में और अपना राज्य-पाट खो बैठा। ये उसी प्रकार बढ़ने लगे जैसे वैशाख- ज्येष्ठ की दोपहरियों में बवण्डर के भीतर से भूत बढ़ता है। बेचारा बलि क्या करता? जब भिखारी बनकर हाथ फैला दिया, सबसे नीचा कर्म याञ्चा को विश्वेश्वर ने स्वीकार कर लिया, तो वे प्रसन्नता से बँध गये। धर्मात्मा पुरुष भी भिखारी से डर जाते हैं। जैसे-तैसे उससे अपना पिंड छुड़ाते हैं। इसी प्रकार महाराज बलि ने अपना राज्य-पाट ही देकर पिण्ड नहीं छुड़ाया, अपना शरीर और सर्वस्व समर्पण करके सदा के लिये ससार-सागर से पिंड छुड़ा लिया। वे भगवान् की दुस्तर माया को भी बात की बात में सरलता से तर गये।

एक बार नारदजी के बढ़े हुए भक्ति भाव से प्रसन्न होकर हरि ने हंस का रूप धारण करके सत्यलोक में उस भागवत तत्व का उपदेश दिया जिसके द्वारा भक्तजन भगवान् वासुदेव की निर्मल भक्ति प्राप्त कर संसार सागर से सरलता के साथ सुखपूर्वक तर जाते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में ही मनुरूप के प्रकट होकर समस्त मन्वन्तर के समय तक अपने तीक्ष्ण धार वाले सुदर्शन चक्र को धारण करते हुए निष्कंटक शासन करते हैं और अपने बल पराक्रम से पापी, अनाचारी, अधर्मपरायण दैत्यों का दमन करते हुए अपनी कमनीय कीर्ति से सातों लोकों को शुभ्र बना देते हैं। सर्वत्र अपना स्वच्छ यश फैला देते हैं। मुनियो! मैंने जो समुद्र-मन्थन के समय कच्छपावतार की बात बताई थी, उसी समय समुद्र में से अमृत लेकर धन्वन्तरि रूप में भगवान्

प्रकट हुए जो पीयूषपाणि हैं। उन्हीं से रोगों की चिकित्सा सीख कर बहुत से मनुष्य भी चिकित्सक बन गये, जो वैद्य, भिषक्, चिकित्सक के नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं। पहिले वैद्यों को यज्ञ में भाग नहीं मिलता था। इन भगवान ने ही वैद्यों को यज्ञ में भाग दिलाया। जब क्षत्रिय स्वधर्म को छोड़कर पाप कर्मों में प्रवृत्त हो गये तब भगवान् ने परशुराम रूप धारण करके २१ बार पृथ्वी के समस्त दुष्ट क्षत्रियों का संहार करके पृथ्वी को निः क्षत्रिय बना दिया।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! अब तो आप घास-सी काटने लगे। इतनी शीघ्रता उचित नहीं। हम यह मानते हैं आप पूरी अवतार-कथा नहीं सुना रहे हैं। केवल सूची निर्देश कर रहे हैं। फिर भी ऐसी क्या सूची, कुछ विस्तार से कहिये। इस ढँग से कहें कि भगवच्चरित्रों को सुनकर हृदय में कुछ करुणा उत्पन्न हो, रुद्ध हुए स्नेह का स्रोत खुलने लगे। कुछ प्रेम का पुट देते हुए, किसी लीला की ओर संकेत करते हुए कहें।"

सूतजी दुखित होकर बोले—"क्या बतावें, महाराज! यह कथा कहने का काम भी ऐसा कठिन है कि किसी प्रकार श्रोता को प्रसन्न ही नहीं कर सकते। जब मैं कुछ विस्तार से कह रहा था, तब तो आपने कहा—यह तो तुम लच्छेदार नाटकी सवाद-सा सुना रहे हो। जब मैंने संक्षेप किया, तो अब आप कहते हैं घास-सी काट रहे हो। इसी से कहता हूँ भगवान् किसी को कथावाचक न बनावे। यदि बनाना ही हो, तो गृहस्थों का कथावाचक बनावे, जो चुपचाप सुनते रहते हैं। इन साधुओं का रुख ही मालूम नहीं पड़ता, जाने किस समय क्या सुनना चाहते हैं?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अजी, सूतजी! आप बुरा मान गये क्या?"

सूतजी हँसते हुए बोले—"नहीं, महाराज ! बुरा मानने की क्या बात है। मेरे कहने में ही कोई दोष है।"

इस पर शौनकजी बोले—"नहीं, सूतजी ! आप बड़ी ही सुन्दर कथा कहते हैं। आपका स्वर, आपकी शैली, आपकी समझाने की शक्ति सभी सुन्दर है। हमारा अभिप्राय उतना ही है कि कुछ विस्तार से कहें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं उस ढँग से कहूँगा, जिस ढँग से ब्रह्माजी ने श्रीनारदजी से यह प्रसङ्ग कहा है। जिस समय यह नारद-ब्रह्मा-संवाद हुआ था, तब सत्ययुग था। जिन अवतारों का मैंने वर्णन किया है, वे सब तो तब तक हो चुके थे, उस समय परशुराम अवतार वर्तमान था। वे सभी क्षत्रियों का संहार कर रहे थे। इसीलिये ब्रह्माजी ने उनके लिये वर्तमान क्रिया का प्रयोग किया है। श्रीराम कृष्ण आदि अवतार होने वाले थे, उनके लिये भविष्य की क्रिया दी है कि ये अवतार होंगे, ऐसी-ऐसी लीलायें करेंगे। अब मैं उन्हीं के कथनानुसार शेष भविष्य अवतारों का वर्णन करता हूँ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भविष्य अवतारों की लीलाओं का वर्णन जैसे किया, जो हुई ही नहीं उनका वर्णन कैसा ?"

बड़े जोरों से हँसते-हँसते सूतजी बोले—"महाराज ! कभी-कभी तो आप बच्चों के-से प्रश्न पूछ देते हैं। आप तो स्वयं त्रिकालज्ञ हैं। कलियुग में होने वाले अधर्म और पापों को आप अभी से अपनी दिव्य दृष्टि से कैसे देख लेते हैं। फिर ब्रह्माजी के लिये तो काल का भेद ही नहीं। श्रीसीताजी को ढूँढ़ने के लिये श्रीहनुमान प्रभृति वानर गये थे, समुद्र तट पर बैठे-बैठे वे सोच रहे थे—श्रीसीताजी कहाँ हैं, क्या कर रही हैं, उन्हें हम कैसे पायेंगे ? उनके लिये सीताजी का समाचार भविष्य के गर्भ में

छिपा था। किन्तु शैल-शिखर पर बैठा हुआ सम्पाती सीताजी के सभी समाचार जान रहा था। उनके दर्शन था, उसके लिये उनके सभी चरित्र वर्तमान थे। भूत, भ और वर्तमान भेद तो बुद्धि कृत है। आप जिसे वर्तमान कहते वही किसी के लिये भविष्य है। आप जिसे भूत कहते हैं, किसी के लिये वर्तमान है, काल नित्य है, भगवान नित्य उनकी लीलायें नित्य हैं, ब्रह्माजी सर्वज्ञ हैं, अतः उनके लि सृष्टि में कुछ भी भूत भविष्य नहीं, सभी वर्तमानवत् हैं। उ चार के लिये वे नारदजी से भविष्य में ऐसा होगा, इस प्रक कह रहे हैं। वास्तव में तो वे उन घटनाओं को प्रत्यक्ष अपने भा जगत् में होती हुई देख रहे हैं।"

सूतजी की बात सुनकर शौनकजी प्रसन्न हुए और बोले- "हाँ, तो सूतजी! अब आप शेष अवतारों के संक्षिप्त चरि सुनाइये। विस्तार से तो आगे आप उसी क्रम से सुनावेंगे ही जिस क्रम से परमहंस श्रीशुक ने महाराज परीक्षित् को सुनाये हैं। शौनकजी के कहने पर सूतजी शेष संक्षिप्त चरित्रों को कहने के लिये उपक्रम बाँधने को उद्यत हुए।"

छप्पय

है अपार पर पुरुष पार नर कैसे पावें।
का लै पूजा करें, कौन-सी वस्तु चढ़ावें॥
श्रीपति सबके ईश, कोटि ब्रह्माण्डनि नायक।
मन बानीतें परे चरित कस गावै गायक॥
सहसबदन श्रीशेषजी, सृष्टि आदि तें अन्त तक।
करें गान गुणगननिको, पार न पायो अब तलक॥

—:—

श्रीराम कृष्णावतार

(६१)

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः ।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥*

(श्री भा० २ स्क० ६ अ० ३७ श्लोक)

छप्पय

मधुर मूर्ति रघुनाथ साथ सीता सुकुमारी ।
अनुपम जोरी सुघर मनोहर अतिशय प्यारी ॥
कैसी हियहर चलनि उठनि चितवनि बर बोलनि ।
नंगे पग ते कठिन अवनि पै बन-बन डोलनि ॥
मनुष सरिस क्रीड़ा करी, करुणाकर कीन्हें चरित ।
तिनकूँ गावत सुनत अति, नर नारिनिको होइ हित ॥

सूतजी बोले—"मुनियो ! कच्छ, मत्स्य, वाराह, हंस, नृसिंह, हयग्रीव आदि-आदि उन्हीं अखिलेश्वर प्रभु के अवतार हैं। सभी अवतार पूजनीय, वन्दनीय और स्तवनीय हैं। यह सब होते हुये भी श्रीराम की लीलायें जितनी मधुर हैं, जितनी चित्ताकर्षक हैं, वैसे और भी अवतारों की हो सकती हैं। मैं उन सर्वान्तर्यामी परिपूर्ण प्रभु के अवतारों में भेद-बुद्धि करके बड़े छोटे का विभाग

---

* श्रीब्रह्माजी नारदजी से कहते हैं—"नारदजी ! हम उन श्रीभगवान् को बारम्बार प्रणाम करते हैं, जिनकी अवतार लीलाओं का हम केवल गान तो करते हैं, किन्तु उन्हें तत्वतः जान नहीं सकते।"

करके—पाप का भागी क्यों बनूँ ? किन्तु मुनियो ! भगवान् कौशलेन्द्र की-सी कमनीयता, उनका जैसा सौन्दर्य, माधुर्य मुझे तो कहीं दिखाई देता नहीं। वे प्रेम के घनीभूत विग्रह हैं, आनन्द की राशि हैं, शोभा के धाम हैं, सौन्दर्य के अर्णव हैं, गुणों के सागर हैं, माधुर्य-निचय हैं। अहा ! कैसा उनका भोलापन है, नेत्र कितने लजीले हैं। दृष्टि उठाकर ऊपर भी नहीं देखते, कितना शील, कितना सदाचार, कैसी सरलता, कैसी भक्त वत्सलता है उन विदेह-राजकुमारी के हृदय सर्वस्व में। ऐसी सौम्यता, ऐसी सुघरता, इतनी मर्यादा आज तक न किसी दूसरे अवतार में हुई, और न होगी। मुनियो ! नारदजी के सम्मुख अवतारों का वर्णन करते हुए, लोक पितामह ब्रह्माजी ने जिस प्रकार श्रीरामजी से परवर्ती अवतारों का वर्णन किया है, उसे ही मैं आप सबके सम्मुख वर्णन करूँगा।"

ब्रह्माजी अपने पुत्र नारदजी से कहने लगे—"वत्स ! अब आगे इक्ष्वाकु वंश में अपनी कलाओं के सहित मायापति भगवान् दशरथ तनय होकर भाग्यवती जगद्वन्द्या श्रीकौशल्याजी के गर्भ से अवतार लेंगे। उनके अवतार का प्रधान हेतु होगा—भक्तों के ऊपर अनुग्रह करना। मुनियो ! राघव कितने दयालु हैं, उनके यहाँ ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं। वे महाज्ञानी, सर्व-शास्त्र विशारद, गुरुओं के भी गुरु, वेद-शास्त्रों में पारङ्गत, भगवान् वशिष्ठ से भी मिलते हैं, और उसी स्नेह, उसी भाव और उसी अनुग्रह के साथ निषादराज गुह को भी गले लगाते हैं। वे ससुराल में परमज्ञानी, परम विरागी, सम्पूर्ण-ऐश्वर्य-पूर्ण महाराज विदेह श्रीजनक की पत्नियों—अपनी सासों के हाथ के बनाये हुए नाना प्रकार के व्यञ्जनों को भी पाते हैं और उसी चाव से उसी उल्लास से, वहाँ से भी अधिक स्नेह के साथ जंगली भील की पुत्री भीलिनी के लाये हुए सूखे, जूठे बेरों को भी उसी स्वाद

से खाते हैं। वे सप्तद्वीपवती वसुन्धरा के स्वामी, अनेकों राजसूय अश्वमेध यज्ञों को करने वाले, देवराज इन्द्र के साथ आधे आसन पर बैठने वाले, ऋषि-महर्षियों से भी सम्मान पाने वाले अपने पिता महाराजाधिराज दशरथजी की भी नम्रता-पूर्वक श्रद्धा के सहित सेवा करते हैं। उसी भाव से नहीं, उससे भी बढ़कर स्नेह प्रदर्शित करते हुए मांसभोजी, लोकनिन्दित, समस्त पक्षियों में अधम, साधारण अधम नहीं इतना अधम की जिस घर पर वह बैठ जाय, उसका फिर से संस्कार कराना पड़े– ऐसे गीध को भी गोद में बिठाकर अपनी जटाओं से उसकी धूलि झाड़ते हैं। पुत्र जैसे पिता का तर्पण आदि करता है, उसी प्रकार उस अधम योनि वाले पक्षी का पिता के सदृश क्रिया-कर्म करते हैं। सौन्दर्य की खान, सुशीलता के अवतार, कोमलता भी जिनकी कोमलता को देखकर लज्जित होती है, वे प्रेमावतार पैरों में पड़े अपने अनुज भरत को जिस स्नेह से, जिस प्यार-दुलार से उठाकर छाती से चिपटाते हैं, उससे भी अधिक प्यार से जंगली, चंचल बड़े-बड़े नखों वाले लाल-लाल मुखवाले, बड़ी-बड़ी दाढ़ों वाले, सम्पूर्ण शरीर पर रूखे-रूखे बालों वाले हनुमत् प्रभृति वानरों को भी अपने हृदय से लगाकर स्नेह दान देते हैं। उनसे भी कहते हैं– तुम मुझे भरत से भी अधिक प्यारे हो। वत्स, नारद! श्रीराम का बराबर दयालुता जगत में ढूंढ़ने पर भी कहीं मिलेगी? उनका बराबर समता संसार भर में खोज आइये दुर्लभ है, असम्भव है, अभूतपूर्व है!

"हाँ तो वे ही भगवान् सरयूतट पर अयोध्यापुरी में अवतार ग्रहण करेंगे। पिता की आज्ञा से अपने छोटे भाई लक्ष्मण और अपनी प्राणप्रिया वैदेही के साथ वन को जायँगे। वहाँ दशमुख रावण उनकी प्राणों से भी प्यारी पत्नी को छल से हर ले जायगा। इस पर क्रुद्ध होकर अपनी शरणागत वत्सलता

दिखाते हुए सीताजी की खोज करावेंगे और फिर बड़ी भारी वानरों की सेना को सजाकर, समुद्र का सेतु बाँधकर उस पार लंका में पहुँच जायँगे। तब वह दशशीश और भुजबीस वाला बली रावण उनसे लड़ने आवेगा, जिसकी छाती में ऐरावत हाथी के दाँतों के लगने से गड्ढे-से पड़ रहे हैं। उसी को ये अपने तीक्ष्ण बाणों से मारकर परलोक पठा देंगे। अपने यश से संसार को भर देंगे और रोती हुई, दुखी, पति-वियोग से कृश बनी अपनी प्राणप्रिया के आँसुओं को अपने कमल से भी कोमल करों से जाकर पोंछेंगे और पूछेंगे—"प्रिये! तुम मुझे याद करती थीं क्या? मैं तो निरन्तर तुम्हारा ही ध्यान करता रहता था।"

"इसके अनन्तर हे नारद! जिस समय पृथ्वी दैत्य-दानवों के द्वारा अत्यन्त पीड़ित की जायगी, उस समय उसका भार उतारने के लिये तो वे अपने काले सफेद केशों से क्रमशः कृष्ण और बलराम के रूप में उत्पन्न होंगे और साक्षात् श्रीकृष्ण रूप में स्वयं भी प्रकट होंगे। अर्थात् पृथ्वी का भार उतारने को तो उनका एक बाल ही पर्याप्त है, अतः अपनी कला के द्वारा उन दुष्कर्म करने वाले दैत्यों को मारकर तो पृथ्वी का भार उतारेंगे और अपने आप ऐसे कर्म करेंगे कि उन्हें समझना मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात होगी। यह अवतार नारदजी, ऐसा होगा कि न उसके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है, न सोचा जा सकता है।"

नारदजी बोले—"पिताजी! अभी-अभी तो आप कह रहे थे, कि श्रीरामावतार ही अभूतपूर्व अवतार है। इतना सौम्य, सरल, सुन्दर, सदाचार-पूर्ण, सत्य में स्थित शरणागत वत्सल सर्वसमर्थ, सर्वगुणसम्पन्न अवतार न भूतो न भविष्यति। अब आप श्रीकृष्णावतार के सम्बन्ध में भी वैसी ही बातें कहने लगे?"

नारदजी की ऐसी बात सुनकर ब्रह्माजी के नेत्रों में जल भर

आया और वे बोले—"नारद, भगवान् के सभी अवतार एक से एक श्रेष्ठ हैं, सभी परिपूर्ण है, सभी सुन्दर हैं, सभी अवाङ्मनस गोचर हैं। फिर भी इन सबमें श्रीराम और श्रीकृष्ण ये दोनों ही प्राणियों के लिये अत्यन्त आनन्द देने वाले हैं। दोनों एक ही परात्पर के पूर्णावतार होने पर भी इनमें आकाश पताल का सा, दिन-रात्रि का सा, सरदी गरमी का सा, स्त्री पुरुष का सा भेद है। श्रीरामजी की लीलाओं का तो कहना ही क्या. एक से एक सुन्दर लीला की है, किन्तु इनकी तो कुछ पूछिये ही नहीं। कौशलेन्द्र की लीला के सर्वथा विरुद्ध हैं इन महात्मा की लीलाएँ। अनुकरणीय और शिक्षापूर्ण लीलायें तो श्रीदशरथ-कुमार की ही हैं इनका तो कुछ पता ही नहीं चलता, स्वयं टेढ़े, इनकी लीलायें भी टेढ़ी, इनकी चाल-ढाल, हँसन-बोलन, सब टेढ़ी ही मेढ़ी हैं। इसीलिये नारद ! मैं सबको सावधान किये देता हूँ कि जिन्हें पूजा करनी हो, उपासना करनी हो—श्रीराम भगवान् की ही करें। प्रेम करना हो, तो श्रीसीताराम महाराजाधिराज की जुगलजोड़ी से ही करें। इन टेढ़े देवता की ओर भूल से भी न देखें, क्योंकि जिसने इन्हें एक बार देखा, फिर उसे ये नङ्गा कर देते हैं। बिना इच्छा के बल पूर्वक चोरी से उसके वस्त्र लेकर भाग जाते हैं। साधक चाहे, या न चाहे—ये उसे अपनी ओर खींच लेते हैं। हठ-पूर्वक दास ही बना लेते हों सो बात नहीं, उसके नाक-कान छेदकर, चूड़ी बिछुआ पहिनाकर, लोग से लुगाई बना देते हैं। इसलिये भैया, इन टेढ़ी टाँग वाले मोर-मुकुटधारी को दूर से ही दंडवत कर देनी चाहिये और महाराजाधिराज, चक्रवर्ती, ब्रह्मादिक देवताओं के भी पूजनीय, मर्यादा के अवतार भगवान् कौशलाधीश की शरण में जाना चाहिये। कहाँ एक सिंहासनासीन सम्राट कहाँ गौवों के पीछे वन-वन में फिरते रहने वाला एक ग्वाला। सभी बातें तो इनमें विपरीत हैं।

"श्रीरामचन्द्रजी कितने सौम्य हैं। हरी मखमल की पोशाक पहिने, धनुष-बाण चढ़ाये, पीताम्बर की धोती पहिने स्वर्ण-मण्डित किरीट-मुकुट पहिने, जब लज्जा के साथ पृथ्वी की ओर देखते हुए चलते हैं, तो हृदय पिघलने लगता है। देखो, कैसी मर्यादा है, मानों आँख उठाकर ऊपर देखना जानते ही नहीं। और इन ग्वालों को देखो महा चंचल, चलेंगे पूर्व, तो देखेंगे पश्चिम। आँखों ही आँखों में बातें कर जायँगे। भौंह और पलकों से संकेत में ही सब बता जायँगे, न लाज न शरम। न गाँव की बहू बेटी का लिहाज, न सगे सम्बन्धियों का। चलेंगे तो धुआँधार मचाते चलेंगे। जिधर निकल जायँगे, उधर ही हल्ला मच जायगा। जैसे समुद्र से ज्वार-भाटा आता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष बाल-बच्चों में इनके आगमन से एक प्रकार का तूफान-सा उठ खड़ा होगा।

"श्रीरामचन्द्रजी कैसे सरल हैं। जब कोई कुछ देता है, प्रेम से पूजा करके इनके सामने नैवेद्य अर्पण करता है, तो उसी प्रकार धीरे-धीरे छोटे-छोटे ग्रासों से खाते हैं, जिस प्रकार दूल्हा अपनी साली, सलहज और सास के सामने लजाते हुए चींग-चींगकर थोड़ा सा खाता है। और इनकी तो कुछ पूछो ही मत। इन अहीर को देने तो लगा ही कौन? जबरदस्ती छीनकर खाते हैं। जल्दी-जल्दी कुछ खाया, कुछ मुँह में लपेटा, कुछ फेंका, कुछ बाँटा और बहुत-सा बन्दर की तरह मुँह में भरा और जूठे मुँह ही भाग गये, न शील न संकोच।

"अब रही सुन्दरता की बात, सो इस सम्बन्ध में तो नारदजी मैं कुछ कह नहीं सकता, क्योंकि यह तो अपनी-अपनी रुचि के ऊपर है। किसी को कोई सबसे सुन्दर प्रतीत होता है वही दूसरे को असुन्दर लगता है। इसलिये दोनों में सुन्दर कौन है, इसका निर्णय तो भक्त महानुभाव अपने आप ही करें। हाँ,

सदाचार की बात है। देखो, श्रीरामजी कैसे सदाचारी हैं। भगवती जगज्जननी मैथिली के अतिरिक्त उनके लिये सभी बड़ी स्त्रियाँ कौशल्या माँ के समान हैं, बराबर की बहिन शान्ता के समान हैं और छोटी अपनी सगी पुत्रियों के समान हैं। नारदजी! तुम्हारी तो ससुराल ही कहीं नहीं, अब तुम्हें मैं कैसे समझाऊँ? नहीं तो ऐसा होता है कि जिस गाँव में अपनी ससुराल होती है, उस गाँव में जितने भी युवक-युवती नर-नारी होते हैं, वर से अपना वही नाता मानकर सभी हँसी दिल्लगी करते हैं। और वह भी अपनी ससुराल के सभी बराबर वालों और गाँव नाते से सम्बन्ध वालों से हास्य परिहास्य करने का अधिकारी होता है। किन्तु ये हमारे कौशल्यानन्द-वर्धन जब कभी ससुराल में भी जाते हैं, तो अपनी सास के ही पास बैठे रहते हैं। सालो सरहज आ आकर छेड़खानी करती हैं, तो ये उनकी ओर दृष्टि भी नहीं उठाते, उत्तर देना तो अलग रहा। तब महाराज विदेह की राजरानी उनको डाँटते हुए कहती हैं—"लड़कियो! क्यों मेरे लल्लाजी को तङ्ग कर रही हो? तुम्हें हँसी दिल्लगी करनी हो, तो लक्ष्मण के पास जाओ। मेरे रामलाल तो बोलना ही नहीं जानते।" यह तो उनका ससुराल का सदाचार है। और इन श्रीकृष्ण मुँहफट्ट को जब देखो, तभी हा-हा हू हू अपने घर में, गाँव घर की बहू लड़कियों के साथ। कोई एक कहे, तो उससे दश कहें। कोई इन्हें एक गाली दे, तो ये उसे हजार दें। कोई इन्हें छेड़े, तो ये उसके ऊपर चढ़ बैठें। कुछ पूछिये मत, ऐसा भी क्या अवतार? अवतार क्या है, आफत का पुतला है।

"अब सत्य की भी बात सुनो। रामजी कितने सत्य-परायण हैं। दशरथजी ने अपने मुँह से नहीं कहा कि तुम वन को जाओ। कैकेयी के मुख से सुनते ही चले गये। लक्ष्मणजी ने

कुछ उलटी-सीधी बातें कहकर उन्हें जाने से रोकना चाहा, तो उन्होंने मेघ-गम्भीर वाणी से कह दिया—'रामो द्विर्नाभिभाषते, राम कभी झूठ नहीं बोलता। जो वाणी एक बार मुख से निकल गई, श्रीराम का बाण और वाणी दुबारा बदली नहीं जाती।' इधर इन चोर-जार-शिखामणि की बात सुनिये। अकेले में भी नहीं, सबके सामने मिट्टी खाई और जब माता ने छड़ी लेकर पूछा—'क्यों रे, तूने मिट्टी खाई तो बड़े साँवाधारी की तरह छाती फुलाकर कहने लगे—"ये सब के सब झूठे हैं। अम्मा! मैंने मिट्टी छुई तक नहीं, इसी का नाम है चोरी और सीनाजोरी। रोज छिपकर बरसाने की ओर जाते। माता पूछती—"क्यों रे, तू बरसाने की ओर जायो करै का? दारी के अबई पक्की सगाईऊ नाहिं भई।" तब आप दृढ़ता के साथ कह देते—"अम्मा! मैं तो बरसाने की गैल भी नहीं जानता। अब बताइये, यह तो झूठ की पराकाष्ठा हो गई। अपनी सगी माँ से भी सफेद झूठ!"

"अब रही शरणागत-वत्सलता की बात, सो श्रीरामजी इसके लिये संसार में प्रसिद्ध हैं। रावण के कुछ दूत बन्दर बनकर श्रीराम की सेना में घुस आये। सेनापति बानरों ने उन्हें पकड़ लिया। मारते-पीटते श्रीरामजी के पास ले गये। भगवान् ने दयावश, करुणा के वशीभूत होकर तुरन्त कहा—"इन्हें छोड़ो, छोड़ो! कैसे भी सही, कपट से ही क्यों न हो, इन्होंने बानर का रूप तो बनाया है। बानर हमारी शरण हैं, अतः इन्हें दण्ड देना उचित नहीं।" शत्रु का सगा भाई ठीक लड़ाई के समय आया। सभी सेनापति उसे रखने के विरुद्ध थे, किन्तु श्रीरामजी ने ललकार कर कह दिया—"जो एक बार मेरी शरण में आ गया, जिसने एक बार कैसे भी कह दिया मैं तुम्हारा हूँ, बस उसे मैं प्राणिमात्र से अभय बना देता हूँ।" कहाँ तो इतनी

करुणा, इतनी भक्त-वत्सलता, इतनी शरणागत-प्रतिपालकता और कहाँ इन अहीर की निष्ठुरता। पूतना माँ बनकर आई थी, उसे भी मार डाला। मान लो मारकर सुगति ही दे दी, तो प्राण तो हरे ही। अपने प्राण सभी को प्यारे होते हैं। अतः यह मात्रिद्रोह हुआ। एक असुर गोप का वेश बनाकर आया, उसे गोपों से छाँटकर मरवा दिया। यह सरासर सखा-द्रोह है। एक असुर बछड़ा बन करके बछड़ों में आ मिला। उसकी पूँछ पकड़कर ऐसा घुमाया कि घूमते-घूमते ही मर गया! यह शरणागत के साथ विश्वासघात ही नहीं, गोहत्या भी है। तुम कहोगे—"रामचन्द्रजी ने भी तो मारीच को मारा था, सो उसने मृग का रूप बनाया था। मृग राजा का वध्य है। फिर वे उसे पकड़ना ही चाहते थे, वह मरना चाहता था, इसलिये रामजी ने अपनी इच्छा का परित्याग किया। उसकी इच्छा पूरी की। इनको देखो, उस धोबी ने इनका क्या बिगाड़ा था? दूसरों के कपड़े धोकर ले जा रहा था, तुम उससे कहते हो—हमें कपड़े दे दो। क्यों दे, दे जो तुमको? ऐसे दूसरों के कपड़े बाँटते फिरें, तो हो गया धोबीपन। यदि तुम बली हो, तो हम कंश को दिये आते हैं, उससे लड़कर छीन लेना। हम गरीबों को क्यों सताते हो, हम निर्बलों पर अपना बल क्यों अजमाते हो। किन्तु सुने कौन? यहाँ तो अन्धेर नगरी है। 'अन्धेर नगरी अनबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा!' एक तमाचे में ही उसे मार डाला और चौराहे पर ही वे पुराने—दूसरों के पहिने-कपड़े छीन लिये। यह दास-द्रोह हुआ। मामा, पिता के समान होता है। उसे मार ही नहीं डाला, चोटी पकड़ कर खींचते-खींचते उसे यमुनाजी तक ले गये। तुम कहोगे, श्रीरामजी ने भी तो ब्राह्मण-पुत्र रावण को मारा था। सो एक तो वह राक्षस था, दूसरे आततायी था, तीसरे उसने बड़ा भारी

अपराध किया, श्रीराघव की प्राणप्रिया को हर ले गया। साधारण पुरुष की भी स्त्री को और कोई कुदृष्टि से देख ले, तो मनस्वी लोग उसकी आँख निकाल लेते हैं। सो, वह तो काम-भाव से ले गया था, और १० महीने अपने यहाँ रक्खा, भाँति-भाँति की यातनायें दीं। इतने पर भी कृपासागर राघवेन्द्र ने कह दिया-वह आकर शरण ले, तो हम उसके सब अपराध क्षमा कर देंगे। किन्तु वह तो मरना चाहता था, रघुकुल-तिलक के बाणों से मरने में ही उसने अपना कल्याण सोच रक्खा था। दुःख के साथ राघव ने उसकी मनोकामना पूर्ण की, फिर भी वे सदा दुखी ही बने रहे। उसे मारने के अपराध में प्रायश्चित स्वरूप बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञ किये। सदा अपने को ब्राह्मण घाती समझकर खिन्न रहते थे, किन्तु इन नचकैया नटवर के मुँह पर विषाद की रेखा भी नहीं दिखाई दी। मामा को मार कर उसकी धन-सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमा लिया और जिन्होंने प्राणपण से पालन-पोषण किया, उन नन्द यशोदा माता-पिता को क्षण भर में भूल गये। ऐसों से किसी को क्या आशा हो सकती है? इस प्रकार नारदजी! भजनीय, स्मरणीय तो, श्रीराघवेन्द्रजी ही हैं, किन्तु ये काले कलूटे, टेढ़े, उत्पाती, चोरी-जारी वाले गोपाल जबरदस्त हैं। कहावत है 'जबरदस्त का ठेंगा सिर पर'—"सो, ये जबरदस्ती लोगों को अपनी ओर खींच लेते हैं। स्वेच्छा से इनकी ओर कौन से गुणों से आ सकता है। ये तो गुणहीन निर्गुण ही हैं, न शील, न संकोच, न सदाचार। लिपे-पुते गोपियों के घरों को गन्दा बना देते हैं। छीन-झपटकर, लुक छिपकर माखन के लोंदे उड़ा लेते हैं, कुछ खा लेते हैं कुछ बन्दरों और बन्धु-बान्धवों को बाँट देते हैं।

"श्री रामजी तो प्रत्येक त्रेतायुग के अन्त में उत्पन्न होकर संसार में मर्यादा स्थापित करते हैं, धर्म की स्थापना करते हैं,

साधुओं की रक्षा करते हैं, भक्तों को सुख देते हैं। किन्तु इन गोपाल की सभी बातें उलटी, सभी नियम अनिश्चित। ये कब अवनि पर अवतरित होंगे—"किसी को पता नहीं! सुना है, इस बार अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में, कलियुग की सन्धि में, उनका अवतार होगा।"

बाल्यावस्था में ही पूतना को मारेंगे, तृणावर्त को पछाड़ेंगे, शकट का भंजन करेंगे, माखन की चोरी करने पर माता द्वारा बाँधे जायँगे, दो यमलार्जुन वृक्षों के बीच से भागते हुए उन्हें उलूखल के सहारे उखाड़ेंगे। यमुना के जल को विषैला बनाने वाले विषधर कालिय नाग का दमन करेंगे, गोपों की दावानल से रक्षा करेंगे। माता जिस समय इनकी कमर में रस्सी बाँधने लगेगी, तो रस्सी में अनन्त रूप दिखाकर गोपियों-सहित अपनी माँ को परम विस्मित बनावेंगे। जम्हाई लेते समय मुख में विश्व रूप दिखावेंगे, अपने पिता नन्दजी को वरुण-पाश से छुड़ावेंगे। व्योमासुर के द्वारा भयभीत बने अपने ग्वाल-बालों को उस दुष्ट का वध करके उन्हें निर्भय बनावेंगे। गोकुल वासी गाँव के गँवार गोपों को अपना दिव्य गोलोक वैकुण्ठ दिखावेंगे। नन्दजी से गिरिराज का पूजन करावेंगे, इन्द्र का पूजन छुड़ावेंगे। ऐसा कर्म करके इन्द्र को चिढ़ावेंगे। उसके वर्षा करने पर गोवर्धन को अपनी उँगली पर उठावेंगे, वर्षा से भयभीत हुए गोपों को निर्भय बनावेंगे। प्रेम में पगली हुई गोपियों के साथ रास रचावेंगे, उन्हें परम भाग्यवती बनावेंगे, उनके साथ छेड़खानी करने पर चन्द्रचूड़ यक्ष को यमसदन पठावेंगे। इसके अतिरिक्त प्रलम्ब, धेनुक, बक, केशी, अरिष्ट, चाणूर, मुष्टिक, कुवलयापीड़ हाथी, कंश, कालयवन, नरक, पौण्ड्रक, शाल्व, द्विविद कपि, बल्वल, दन्तवक्त्र, राजा नग्नजित् के मदमाते सात बैल, शम्बर, विदूरथ, रुक्मी, काम्बोज, मत्स्य,

कुरु, कैकय, सृञ्जय आदि पृथ्वी पर उत्पन्न हुए असुरों में से किसी को स्वयं मारेंगे किसी को अर्जुन, बलरामजी आदि से मरवा डालेंगे। मरकर भी वे उन्हीं के लोक को प्राप्त होंगे उनकी संसार चक्र से मोक्ष हो जायगी।

इस प्रकार यह विलक्षण अवतार होगा। इस अवतार की सभी लीलायें अद्भुत होंगी। क्रोध में भी इनका प्रेम प्रकट होगा, शृङ्गार में भी ये करुणा की सरिता, बहायेंगे, खेल में भी ये गोलोक का सुख प्रदान करेंगे। अपने दर्शन करने वालों को भी संसार से छुड़ावेंगे, नाम लेने वालों को भी अमर बनायेंगे, प्रेम करने वालों की तो बात ही क्या, द्वेष करने वालों को भी परमधाम की प्राप्ति करावेंगे। ऊपर से दीखने वाली विपरीत क्रीड़ाओं में भी ये दिव्य रस का आस्वादन करायेंगे। इनकी लीला सुनने के भी सभी अधिकारी नहीं। इसलिये नारदजी! अब इस अवतार की बातें तुमसे क्या कहूँ? मनुष्य तो कोई वर्णन कर नहीं सकता। फिर जीवों का उद्धार कैसे हो? उद्धार करने वाली तो एकमात्र भगवत् लीलायें ही हैं। सर्वदा श्रवणीय तो श्रीकृष्ण-चरित ही है, इनका प्रचार कैसे हो? यह सोचकर स्वयं अपने आप ही व्यास-रूप-में प्रकट होकर अपनी लीलाओं को लिखेंगे, अपने पुत्र शुक को पढ़ावेंगे। शुक परीक्षित् को सुनावेंगे, श्रीशुक से सूतजी सुनकर नैमिषारण्य में शौनकादि मुनियों को सुनावेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह बात ब्रह्माजी ने नारदजी से पहिले ही कह दी थी। सो, मैं आपको कथा सुना ही रहा हूँ। अब बताइये क्या कहूँ?"

छप्पय

चंचल चपल चटोर चोर वे अति ही खोटे।
बरबस खेंचें चीर लगें देखन में छोटे॥
बाहर भीतर श्याम नयन तिरछे अनियारे।
तीखे विष तें बुझे बान सम तोऊ प्यारे॥
मनमन्दिर महँ मोहना माखन के हित मचलि जा।
अरे, लड़ैते नन्दके, आ जा, मोकूँ पिचलि जा॥

अन्य अवतार-कथा

[९२]

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठम्
यस्मात्त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥*

(श्री भा० २ स्क० ८ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

कलिक बुद्धि बनि व्यास, करहिँ जगकारज नटवर ।
माया अपरम्पार बिलक्षण अति ही दुस्तर ॥
ब्रह्म, रुद्र अरु देव दैत्यहू पार न पावें ।
वेद भेद बिनु लखें नेति कहिकें समुझावें ॥
तोऊ श्वपच, किरात, शठ, पशु पक्षीहू तरि गये ।
जो सब तजि श्रद्धा सहित, चरन शरन हरि की भये ॥

भगवान् अवतार क्यों लेते हैं ? इसका कोई अभी तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हुआ । निर्णय हो भी तो कैसे ? निर्णय करने

---

* कोई कवि चाहे तो पृथ्वी के समस्त रज कणों को भले ही गिन ले, किन्तु ऐसा कौन है, जो श्रीविष्णु भगवान् के पराक्रमों की गणना कर सकता है । जिन्होंने अपने अस्खलित वेग से पाताल से लेकर सत्य-लोक तक काँपते हुए समस्त भुवनों को एक ही चरण में नाप लिया ! उनकी महिमा कैसे कही जा सकती है ?

वाली बुद्धि ही है और प्रभु बुद्धि से परे हैं। इसीलिये भिन्न-भिन्न अवतारों के लिये भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये जाते हैं। कोई धर्म की रक्षा के लिये, कोई दैत्यों के विनाश के लिये, कोई वरदान को सत्य करने के लिये, कोई भक्तों को सुख देने के लिये और कोई शाप को सत्य करने के लिये, भगवान् का अवतार बताते हैं, किन्तु कुछ लोगों का मत है कि ये सब कार्य तो प्रभु अपने संकल्प-मात्र से बिना अवतार लिये ही कर सकते हैं। उनके अवतार का मुख्य प्रयोजन है—लीला, विस्तार। धराधाम पर प्रकट होकर वे जो भी क्रीड़ायें करते हैं, उन्हें जो सुनते हैं, पढ़ते हैं, अनुमोदन करते हैं, वे संसार सागर से सदा के लिये पार होकर प्रभु के परम धाम को प्राप्त होते हैं। यह कार्य भगवान् के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। प्रेम का प्रदान, प्रेम का प्रसार, प्रेम का प्रदर्शन बिना प्रेमार्णव प्रकट हुए प्रकाश में नहीं आ सकता। उनकी लीलायें इतनी प्रेममय होती हैं कि साधारण ऋषि मुनि न उन्हें लिख सकते हैं, न प्रकाशित कर सकते हैं। वेद तो साक्षात् भगवान् की वाणी ही हैं। कलियुग में वेद लुप्त हो जाते हैं, मनुष्य वेद-धर्म से विहीन, क्रिया-कर्म शून्य बन जाते हैं। अतः अपनी वाणी को आप ही प्रकट करने, अपनी मधुमय, प्रेममय तथा आनन्दमय लीलाओं का प्रकाशन करने के निमित्त स्वयं श्रीहरि ही व्यास रूप से अवतीर्ण होकर वेदों का व्यास करते हैं, इतिहास-पुराणों का संग्रह करते हैं और सर्व साधारण के लिये इन सबको सुलभ बनाते हैं। यदि प्रभु व्यास रूप में अवतीर्ण न हों, तो उनकी दिव्य लीलाओं का, उनके अपौरुषेय प्रभाव और ज्ञान का प्रचार-प्रसार कैसे हो? इस द्वापर के अन्त में भगवान् व्यासदेव महामुनि पराशर के वीर्य से कुमारी भगवती सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न हुए। उन्होंने

वेद-पुराणों का तो व्यास किया ही, एकमात्र भगवत् लीलाओं को ही कथन करने वाली परमहंस सात्वत संहिता महापुराण इस भागवत की भी रचना की, जिससे असंख्यों संसार-सागर में डूबते हुए प्राणियों का उद्धार हुआ।

मय दानव के द्वारा बनाये हुए, तीनों पुरों के दैत्यों को शिव जी ने अपने बाणों से नष्ट कर दिया था। पीछे प्रसन्न होकर सुवर्ण के पुर को नष्ट करने से छोड़ दिया था। वह अभी तक अलक्षित भाव से आकाश में घूम रहा है। उसमें जब फिर देव-द्रोही दैत्य बढ़ जायँगे और वे राजा और ब्राह्मणों के रूप में पृथ्वी के पुरों में भी प्रकट होकर दम्भ यज्ञ करेंगे, 'वैदिकी हिंसा हिंसा नहीं होती,—इन वेद वचनों के आधार पर यज्ञ के नाम से असंख्यों पशुओं की हिंसा करेंगे, धर्म के रूप में अधर्म करेंगे, तब उन धर्मध्वजियों को ठगने के लिये, उनकी बुद्धि को मोहने के लिये, भगवान् बुद्ध रूप से अवतरित होंगे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् के वाक्य ही वेदवाक्य कहलाते हैं। जब स्वयं भगवान् बुद्ध रूप से यज्ञ याग आदि का खंडन करते हैं, तो उनकी आज्ञा माननी ही चाहिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! यह ठीक है, भगवत् वाक्य ही वेद वाक्य हैं, किन्तु कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण माना गया है। ऐसे अचिन्त्य भाव मानुषी तर्क द्वारा सिद्ध नहीं होते। जब शास्त्र स्वयं बता रहा है कि भगवान् बुद्ध केवल असुरों को मोहित करने के ही निमित्त ऐसे वेद विरुद्ध उपदेश करेंगे, तो उन उपदेशों को असुरों के लिये ही समझना चाहिये और सत्य, धर्म, दया, दान, परोपकार आदि सद्गुणों के सम्बन्ध में उनके जो उपदेश हैं, वे तो ठीक ही हैं। किन्तु जहाँ वैदिक क्रिया कलाप आदि का खंडन है, वहाँ यही

समझना चाहिए कि यह वेदमार्ग में स्थित नीच असुरों के मोहने के लिये है।"

इसपर शौनकजी बोले-"तब भगवान् ने ऐसा उलटा उपदेश दिया ही क्यों ? यदि असुर वेदमार्ग में स्थित होकर वेदमार्ग का प्रचार करते हैं, यज्ञ याग आदि वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, तो फिर भगवान् को उन्हें उल्टी पट्टी पढ़ाने की क्या आवश्यकता पड़ी ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महानुभाव ! गुणज्ञ पुरुष के समीप ही गुण शोभित होता है, नीच पुरुष के पास गुण भी अवगुण हो जाता है। जैसे तीक्ष्ण तलवार शूरवीर के हाथ में हो, तो वह उससे शत्रु संहार रूपी पुण्य कार्य कर सकता है, वही बच्चे के हाथ में दे दी जाय, तो अपने ही अंगों को काट लेगा। इसलिये असुर यदि वैदिक क्रियायें करके बल प्राप्त करेंगे, तो उनका बल परपीड़न के ही निमित्त होगा। इसीलिये भगवान् उन्हें वेदमार्ग से भ्रष्ट करके वैदिक श्री से सम्पन्न नहीं होने देते।"

हाँ, तो जब घोर कलियुग आ जायगा, वर्णाश्रम धर्म नष्ट प्रायः हो जायगा। यदि नाममात्र के द्विज रह भी जायँगे तो वे पाखण्डी धूर्त और वंचक बन जायँगे। शूद्र, अन्त्यज, म्लेच्छ, विधर्मी शासक हो जायँगे, जो वैदिक धर्म के विरोधी आर्य संस्कृति से द्वेष रखने वाले अपने को ही सर्वज्ञ और उन्नति का विधायक मानने वाले होंगे और यज्ञ याग आदि का विरोध करेंगे, तब कहीं भी स्वाहा, स्वधा तथा वषट्कार की ध्वनि सुनाई न देगी। सज्जनों के घरों में भी वेदशास्त्रों की चर्चा न होकर-भगवत् चरित्रों की कथायें न होकर-उत्तेजक और कामासक्ति को बढ़ाने वाले समाचार नित्य पढ़े जायँगे, तब श्रीभगवान् कल्कि

रूप से उत्पन्न होकर कलियुग का अन्त करके सत्ययुग की स्थापना करेंगे।"

नारदजी से ब्रह्माजी कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! मैं जो सृष्टि रचना के लिये तप करता हूँ, यह सब उन प्रभु की प्रेरणा से करता हूँ। जब उन्हें सृष्टि करनी होती है, तो वे मेरी (ब्रह्माजी) की तथा मेरे ही समान मरीचि आदि प्रजापतियों की सृष्टि करते हैं। हम लोग उन्हीं की प्रेरणा से रात्रि-दिन सृष्टि बढ़ाने में ही लगे रहते हैं। हमें सदा यही चिन्ता रहती है कि कैसे सृष्टि बढ़े? हम लोग प्रत्येक मनुष्य से यही आशा रखते हैं, कि वह खूब पुत्र पुत्रियों को पैदा करके सृष्टि की वृद्धि करे। भगवान् ने हमारी बुद्धि की प्रवृत्ति ही इसी काम में कर दी है। इसलिये जितने प्रजापति हैं सबको मेरा अंशावतार ही समझना चाहिये और लोगों में जो प्रजा बढ़ाने की भावना है, उसे मेरी ही भावना समझनी चाहिये। जो जितनी ही अधिक संतान बढ़ावे उसमें उतना ही अधिक मेरा अंश मानना चाहिये।

वे ही भगवान् इस उत्पन्न हुई सृष्टि की रक्षा के लिये प्रत्येक मन्वन्तर में मनुरूप से उत्पन्न होकर सृष्टि की रक्षा करते हैं। अपने समान पुत्र उत्पन्न करके सृष्टि रक्षा के लिये देवता और ऋषियों की रचना करते हैं, इन्द्र बनाते हैं और स्वयं अवतार भी लेते हैं। इसलिये यज्ञरूप विष्णु, मनु, मनुपुत्र, राजा, ऋषि, देवगण और इन्द्र ये सब रक्षा करने वाले विष्णु के ही अंश माने जाते हैं।

"बढ़ती हुई सृष्टि का संहार करने के निमित्त वे ही सर्वेश्वर रुद्र रूप से उत्पन्न होकर भूत, पिशाच, अत्यन्त क्रोधी दैत्यों को उत्पन्न करते हैं, लोगों में अधर्म और क्रोध की वृद्धि करते हैं। इसलिये क्रोध, अधर्मी दैत्य, काल, अन्तक आदि ये सब रुद्र भगवान् के अंश हैं। सब में वे ही हरि व्याप्त हो रहे हैं।

उनकी अनन्त महिमा है। उसका पार नहीं। मनुष्य अपने साधनों से उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता, अपने तर्क से उन्हें सिद्ध नहीं कर सकता। जिनके ऊपर वे ही कृपा करें, वही उन्हें जान सकता है, वही इस अपार संसार-सागर से पार हो सकता है। उन्हें सर्वात्मभाव से पूर्णरीत्या तो कोई देव, दानव ऋषि, मुनि, यहाँ तक कि मैं भी नहीं जानता। फिर भी उनको कुछ लोग जान सकते हैं, उनकी कृपा हो तो उनकी माया का पार पा सकते हैं, बहुत से लोगों ने उन्हें जाना है और वे माया से पार हो गये हैं, उनमें से कुछ के नाम बताता हूँ। देखो, मैं उनकी माया को उन्हीं की कृपा से जानता हूँ। तुम भी जानते हो, भगवान भोलानाथ भी जानते हैं। प्रह्लाद, मनु पत्नी शतरूपा, स्वायम्भुव मनु, प्रियव्रत आदि मनुपुत्र, प्राचीनबर्हि, ऋभु, ध्रुव, इक्ष्वाकु, इलापुत्र पुरूरवा, मुचुकुन्द, जनक, गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, ययाति, मान्धाता, अलर्क, शतधन्वा, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्तरय, दिलीप, सौभरि ऋषि, उत्तङ्क, शिवि, देवल, पिप्लाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण, विभीषण, हनूमान्, उपेन्द्र, दत्त, अर्जुन, आर्ष्टिषेण, विदुर, श्रुतदेव आदि और बहुत से भागवत् पुरुष हैं, जो भगवान् की माया को जानते हैं। ये सब तो बड़े-बड़े राजर्षि, ब्रह्मर्षि, राजपुत्र, कुलीन तथा यशस्वी पुरुष हैं। यदि भक्तों का संग करें उनसे शिक्षा-दीक्षा लेकर जो भगवत्-परिचर्या-भगवत्-कथा श्रवण आदि करते हैं, वे चाहे द्विज हों, शूद्र हों, स्त्री हों, अन्त्यज हों अथवा म्लेच्छ हूण, शबर आदि जङ्गली जाति के भी पुरुष क्यों न हों वे भी भगवान् की माया को पार कर जाते हैं। फिर शास्त्रज्ञ महात्मा और भक्त के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या?

"वे भगवान् के कारणों के भी कारण हैं, नित्य, अक्षय, सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। यह सब प्रपञ्च उन्हीं की प्रेरणा से

दिखाई दे रहा है, इसके नष्ट होने पर वे ज्यों-के-त्यों ही बने रहते हैं।"

ब्रह्माजी कह रहे हैं—"वत्स नारद! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में तुम्हें भागवत तत्त्व बता दिया। अर्थात् मैंने कुछ भगवान् के अवतारों की संक्षिप्त लीलायें कहीं हैं, कुछ भागवतों के नाम बताये हैं। भगवान् और भागवतों के सम्बन्ध जिनसे हों वे ही भागवत हैं। जो भी कुछ तुम्हें दीख रहा है, यह भगवान् से पृथक् नहीं है, सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है, इतना होते हुए भी वे जगत् से सर्वथा पृथक् हैं। यही भागवत तत्त्व मुझे कमल पर बैठे-बैठे साक्षात् श्रीमन्नारायण ने सुनाया था। वही संक्षेप में मैंने तुम्हें सुना दिया। अब तुम इसका विस्तार करके संसार में प्रचार करो।"

नारदजी ने पूछा—"प्रभो! सब कार्य, किसी न किसी संकल्प से होते हैं। मन में पहिले यह विचार कर ले कि मेरे इस कार्य से यह वस्तु सिद्ध हो। और आप यह कहते हैं, कि सङ्कल्प से ही सृष्टि होती है। संकल्प से ही आदमी बन्धन में फँसता है। इसलिये सभी प्रकार के संकल्पों का परित्याग करना चाहिये। अब आप कहते हैं, तुम इस भागवत शास्त्र का विस्तार करो, प्रचार और प्रसार करो। सो, आप मुझे कर्मों में क्यों प्रवृत्त करते हैं? नैष्कर्म्य ही मुक्ति का मार्ग है!"

यह सुनकर ब्रह्माजी बड़े स्नेह से बोले—"देखो, भैया! यह यथार्थ है कि कर्मों से बन्धन होता है। यह भी सत्य है कि कर्म संकल्प पूर्वक ही किये जाते हैं। फिर भी केवल भगवान के निमित्त किये हुये कर्म संसारी बन्धन के हेतु नहीं होते। यही नहीं, वे संसारी बन्धनों को छुड़ाने वाले होते हैं। मनुष्य जिसका भी चिन्तन करेगा, उसी का रूप हो जायगा। अन्त में स्त्री का चिन्तन करते-करते मरे तो दूसरे जन्म में स्त्री होना

पड़ेगा। इसी प्रकार संसारी किसी भी वस्तु का चिन्तन करोगे, तो उसी की अगले जन्मों में प्राप्ति होगी। यदि संसारी बातों को छोड़कर निरन्तर भगवान् के दिव्य गुणों के कथन में उनकी मनोहर लीलाओं के श्रवण कीर्तन में मन को फँसाये रहोगे, तो अन्त में उन्हीं को प्राप्त होगे। भगवान् की प्राप्ति होना ही संसार से छूटना है-यही मोक्ष है। इसीलिये भगवत लीलाओं का विस्तार करना तो बन्धन को छुड़ाने वाला है। इसलिये तुम इस संकल्प से इस भागवत शास्त्र का विस्तार करो कि समस्त लोगों की भक्ति सर्वान्तर्यामी सर्वाधार श्री भगवान् के चरणारविन्दों में हो। सभी का मन भगवान् की दिव्य लीलाओं में निमग्न हो जाय।"

नारदजी बोले—"हाँ, महाराज! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। किन्तु किसी रूप से माया तो आकर मुझे अपने चंगुल में न फँसा लेगी?"

इस प्रकार ब्रह्माजी बड़े स्नेह से अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"नारद! तुम कैसी बातें कर रहे हो। अरे, तुम्हारी तो बात ही पृथक् है। तुम्हारे पास तो वैसे ही कभी माया फटकने नहीं पाती। जो पुरुष इस भागवत तत्त्व का वर्णन करेंगे, जो पुरुष अचिन्त्य माया के स्वामी श्रीहरि की लीलाओं का समर्थन तथा अनुमोदन करेंगे, जो श्रद्धा के सहित नित्य प्रति श्रवण करेंगे, उनका भी चित्त माया से मोहित न होगा। आप लोक-कल्याण के निमित्त इस कार्य को करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेव महाराज परीक्षित् से ब्रह्मा नारद सम्वाद कहकर चुप हो गये। उनके चुप हो जाने पर परम भागवत महाराज परीक्षित् फिर उनसे कुछ कहने को उद्यत हुए।"

—o—

छप्पय

बोले ब्रह्मा—'बत्स ! बजाओ वीना. बरतर !
भनो भागवत तत्त्व सुनत भवपार होयँ नर ॥
करम बन्ध के हेतु किन्तु हरिचरित ललित अति ।
कहत सबनि की होय राधिका पति चरननि रति ॥
सब संसारी सुख लहैं, जग विषयनि तें मन हटे ।
मुक्त मुमुक्षू बद्ध सब, सेवें भव बन्धन कटे ॥

परीक्षित् की दृढ़ता और विविध प्रश्न

[६३]

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥
धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति ।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा ॥*

(श्री भा० २ स्क० ८ अ० ५, ६ श्लोक)

छप्पय

कहैं परीक्षित्—"गुरो ! आप विस्तार बतावें ।
जाकूँ नारद कह्यो ताहि अब मोहिं सुनावें ॥
बरषा बीते शरद स्वच्छ करि देवै जलकूँ ।
त्यों हरि-लीला नाम हिये के मेंटे मलकूँ ॥
पीवत पानी पन्थ को, निजपुर पहुँचे पान्थ ज्यों ।
हरषित होवै हृदय हरि, भक्त परसि पद शान्त त्यों ॥

श्रोता का अधिकार समझकर ही वक्ता उसे उपदेश करते हैं। हीन श्रेणी के श्रोता को उच्च श्रेणी का ज्ञान सहसा देना व्यर्थ है, क्योंकि वह उसे सहसा, धारण करने में

---

* महाराज परीक्षित् आगे की कथा सुनने के लिये कथा-माहात्म्य कथन करते हुए आगे का प्रश्न पूछने का उपक्रम बाँध रहे हैं। राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! वर्षा काल मे नदियों का समस्त जल गँदला हो जाता है। जिस प्रकार वर्षा के बीतने पर शरद ऋतु के प्रवेश करते ही

असमर्थ है। उसी प्रकार उच्च श्रेणी के श्रोता को निम्न श्रेणी का उपदेश दें, तो उसकी उससे तृप्ति ही न होगी। श्रोता की उत्सुकता देखकर ही वक्ता का उत्साह बढ़ता है, इसीलिये वह किसी प्रसङ्ग का बीजारोपण करके कथा का सूत्रपात कर देता है। जैसी योग्यता का श्रोता होगा, जितनी अधिक उसे श्रवण की उत्सुकता होगी, उसी के अनुसार वह स्वयं आगे का प्रश्न करेगा। ब्रह्मा-नारद सम्वाद को कथन करके और यह कहकर कि ब्रह्माजी ने नारदजी से संक्षिप्त भागवत तत्त्व को विस्तार करने की आज्ञा दी—इतना कहकर श्रीशुक जब चुप हो गये, तब महाराज आगे का प्रश्न पूछने लगे।

महाराज ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने कहा कि ब्रह्माजी ने नारदजी को निर्गुण स्वरूप श्रीभगवान् के गुणों को विस्तार पूर्वक वर्णन करने की आज्ञा दी। लोक पितामह तथा अपने पिता भगवान् चतुरानन की आज्ञा पाकर नारदजी ने वह कथा किस किससे कही? कैसे उसका विस्तार हुआ? यह सब आप मुझे विस्तारपूर्वक सुनावें।"

श्रीशुकदेव ने कहा—"राजन्! इतने गूढ़ तत्व को हम कैसे समझ सकते हैं और समझ भी लें तो उसका वर्णन करना, दूसरों को समझाना यह तो और भी कठिन है।"

सब गँदलापन नीचे जमकर जल स्वच्छ निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार जो भगवान् के भक्त श्रीकृष्ण-कथा-श्रवण करते हैं, उनके कान के छिद्रों से भगवान् उनके हृदय-कमल में घुसकर उसके समस्त मनोमल को नष्ट कर देते हैं। जैसे बटोही नित्य उठते ही चलता रहता है, मार्ग में नाना कष्ट सहता है। जहाँ अपने घर पहुँचा कि उसके सब क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। फिर उसे प्रातः उठते ही चलने की चिन्ता नहीं रहती। जैसे वह सुखी होकर फिर चलने की चिन्ता छोड़ देता है, उसी प्रकार चित्त शुद्ध हो जाने पर मनुष्य भगवान् के चरणों को नहीं छोड़ता।"

इस पर हँसकर महाराज बोले—"भगवान्! मुझे भुलावा न दें। भला ऐसी कौन-सी बात है, जिसे आप न जानते हों आप वेदवेत्ता ही नहीं, वेदवेत्ताओं में भी सर्वश्रेष्ठ तथा शिरोमणि हैं। आप भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ जानते हैं।"

महाराज की बात सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! आप इतने उतावले क्यों हो रहे हैं? धैर्य धारण करें, मैं सब सुनाऊँगा।"

इस पर महाराज बोले—"प्रभो! उतावलेपन की तो कोई बात नहीं, मुझे चिन्ता यही है कि अन्त समय मेरा मन मदन मोहन के चरणारविन्दों में लीन न हुआ, यदि मरते समय भी चित्त ससारी विषयों में आसक्त रहा, तो फिर चौरासी के चक्कर में फँसना होगा। अतः मैं अपने अनासक्त चित्त को आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के चरणाविन्दों में लगाकर प्राणों को छोड़ना चाहता हूँ।"

हँसते हुए श्रीशुकजी बोले—"राजन्! कथा कान से सुनोगे, मन भगवान् के चरणारविन्दों में कैसे लगेगा? इस विषय में आप अपना मत बतावें।"

इस पर हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता के साथ महाराज बोले—"भगवन्! मैं क्या जानूँ? मैंने तो आप जैसे ही सन्त पुरुषों के मुख से यह सुना है कि भगवान् में तथा उनके नाम और गुणों में कोई अन्तर नहीं, एक ही हैं! जब अपने कानों से सुमधुर भगवन्नामों को, कलिमलहारिणी कमनीय-श्रीकृष्ण-कथा को श्रवण करेंगे, तो हमारे कानों के छिद्रों से कथा के साथ ही साथ अपने नाम गुण रूपी दाम से बँधे हुए दामोदर हृदय में स्वतः प्रवेश कर जायँगे। उनके प्रवेश के पूर्व हृदय अज्ञान अन्धकार से व्याप्त रहता है। ज्ञान स्वरूप श्रीकृष्ण के प्रवेश करते ही नाना प्रकार के दुर्गुण हृदय से उसी प्रकार

भाग जाते हैं, जैसे वन में सिंह के प्रवेश करते ही गीदड़ों के झुण्ड इधर-उधर छिप जाते हैं। जैसे बिल्ली के आने पर चूहे बिलों में घुस जाते हैं, गरुड़ के आने से सर्प सर्र से इधर-उधर भाग जाते हैं। जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार विलीन हो जाता है, वर्षा के दिनों में सभी नदियों का पानी गँदला हो जाता है, वह किसी प्रकार स्वच्छ नहीं होता। एक घड़े के जल को निर्मली बूटी डालकर–फिटकिरी डालकर– उसकी मिट्टी को नीचे बिठाकर निर्मल बना सकते हैं, किन्तु पूरी नदी के जल को किसी भी उपाय से निर्मल बनाने में समर्थ नहीं, किन्तु जहाँ शरद् ऋतु ने प्रवेश किया वह सब गँदलापन दूर हो जाता है। जल स्वच्छ काँच की तरह निर्मल बन जाता है, उसी प्रकार अन्य उपायों से क्षणिक अनित्य स्वर्गीय सुख भले ही मिल जायँ, किन्तु हृदय विशुद्ध बनकर उसमें वासुदेव भगवान का निरन्तर निवास तो नहीं हो सकता। इस श्रीकृष्ण-कथा रूपी अमृत की यही विशेषता है कि जहाँ यह कानों के द्वार से भीतर गया, सभी गन्दगी को धोकर स्वच्छ स्थान बना देता है, वहाँ कमल के ऊपर दिव्य सिंहासन बिछा देता है, फिर उसी प्रवाह में यमुनातट विहारी वासुदेव को बहा लाता है। और उस पर सदा के लिये आसीन कर देता है। चित्त ने जहाँ उन मनमोहन की बाँकी झाँकी की, जहाँ उसने नवनीत से भी कोमल, मखमल से भी मुलायम, वट और पीपल के नवजात पल्लव से भी अरुण मृदुल चरणों के दर्शन किये कि वह उनमें फिर फँस जाता है। फिर उसकी इच्छा उन्हें छोड़कर बाहर जाने की नहीं होती।"

इस पर श्रीशुक ने पूछा—"भगवान के चरणों को पाकर चित्त अपनी चंचलता कैसे छोड़ देता है, उसका स्वभाव ही है इधर से उधर चलने का? अपने स्वभाव को छोड़ना तो कठिन है।"

यह सुनकर महाराज मुस्कराये और बोले—"महाराज! बुरा न मानें तो मैं एक दृष्टान्त दूँ। बुरा न मानने वाली बात इसलिये कही कि महाराज, हम गृहस्थियों के दृष्टांत भी घर-गृहस्थियों के ही होते हैं। गृहस्थी में सबसे प्यारी, सब से मोहक, सब तरह से मन को लगाये रहने वाली होती है गृहिणी। गृहिणी के बिना घर, घर ही नहीं कहलाता। घर की शोभा गृहिणी ही है। नाना दुःखों को भुलाकर भी घर बाँधे रखने वाली पत्नी ही है। ऐसा कौन गुण ग्राही पति होगा जो, अपनी सती साध्वी, रूप गुण-सम्पन्ना, अपने में परम स्नेह रखने वाली, मृदु मधुर मुस्कान वाली, प्रिय भाषण करने वाली, पत्नी को छोड़कर क्षण भर के लिये भी उससे पृथक् होना चाहेगा। ऐसी सर्वाङ्ग सुन्दरी पत्नी को पाकर भी प्रारब्धवश लोगों को परदेशों में भटकना पड़ता है। अर्जीविका के निमित्त, पद-प्रतिष्ठा के निमित्त उसे भी छोड़कर बाहर जाना पड़ता है। कोई आवश्यक कार्य आ जाता है, तो ऐसी जगह पहाड़ों पर जाना पड़ता है, जहाँ कोई सवारी नहीं जाती। काम हो जाने पर फिर वह व्यक्ति घर की ओर दौड़ता है। अब उसे एक ही धुनि रहती है कि किसी प्रकार जल्दी से जल्दी घर पहुँचे। प्रातःकाल हुआ नहीं कि वह पोटली बगल में दबाकर चल पड़ता है, चलता ही रहता है। दोपहर को भोजन बनाया खाया, फिर चल दिया। सूर्यास्त हो गया, अँधेरा हो गया, कहीं खा-पीकर पड़कर सो गया। जहाँ अरुणोदय हुआ कि फिर वही चलने की तैयारी। इस प्रकार उसे सदा चलने की ही धुनि सवार रहती है। दूसरा कोई देखे, तो समझ ले इसे तो चलने का व्यसन है, यह एक जगह बैठ नहीं सकता। किन्तु जहाँ वह अपने गृह पहुँचा, जहाँ अपनी प्राणप्रिया पत्नी का चन्द्रमुख देखा कि फिर आगे जाता ही नहीं। अब कहाँ जाय? जहाँ के लिये चल रहा था, वहाँ तो

पहुँच गया ? जिसे देखने के लिये व्याकुल था, उसे तो देख लिया, अपने गन्तव्य पर पहुँच गया। अब वह पान्थ, बटोही, यात्री, राहगीर नहीं रहा। अब तो वह अपने घर का हो गया। इसी प्रकार यह चित्त तभी तक भटकता है, तभी तक चंचल रहता है, जब तक कि चित्तचोर के चारु चरणों की ओर नहीं झुकता, उन तक नहीं पहुँचता। जहाँ उसने उन अरुण-वर्ण के विमोहक प्रकाशवान् पादपद्मों को निहारा कि फिर उन्हीं का हो जाता है, उन्हें छोड़कर अन्यत्र रति करता ही नहीं। करे भी तो कैसे ? उनसे कमनीय संसार मे कोई पदार्थ है ही नहीं, इसीलिये चित्त अपनी चंचलता को छोड़कर उनमें सदा के लिये रम जाता है।"

यह सुनकर श्रीशुक हँसे और बोले—"राजन् ! बड़ा सुन्दर तुमने दृष्टांत दिया। अच्छा, आप कौन-कौन प्रश्न पूछना चाहते हैं ? उनकी एक छोटी-सी सूची मुझे बताएँ। उसी का मैं विस्तार करके तुम्हारे सामने वर्णन करूँगा।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज बोले—"भगवन् ! प्रश्न करने को भी तो योग्यता होनी चाहिये। सब कोई प्रश्न नहीं पूछ सकते ! आप अपने ही आप जो मेरे हित का उपदेश हो उसे करें। वैसे मैं कथा प्रसंग चलाने को कुछ प्रश्न किये देता हूँ, किन्तु आप यह न समझें कि मैं इतनी ही बातें पूछना चाहता हूँ। आप इतने ही प्रश्नों का उत्तर दें। इनके अतिरिक्त जो मैं न पूछ सका हूँ और जो मेरे हित के हों, उन्हें आप बिना पूछे ही मुझे अपना शिष्य समझकर उपदेश करें। हाँ, तो मेरे कुछ ये प्रश्न हैं—

१—यह जीव तो स्वतः पंचभूतों से रहित है, किन्तु जिस देह में रहकर यह सुख-दुःख का भोग करता-सा दीखता है, वह पंचभूतों का बना है। यह स्वभाव वश ही जीव देह को प्राप्त होता है अथवा किसी कर्म के अधीन होकर ?

२—एक बात आपने यह कही कि पुराण पुरुष की नाभि से ही एक कमल उत्पन्न होता है, उसी से समस्त सृष्टि की रचना होती है। तो क्या वह परमात्मा भी जीव के समान ही परिमित अवयवों से परिच्छिन्न ही है या जीव में और ब्रह्म में कुछ अन्तर है ?

३—जिनकी कृपा से ब्रह्माजी समस्त लोकों की रचना करते हैं, जिनकी कृपा से ही ब्रह्माजी उनका साक्षात्कार करते हैं, जो समस्त भूतों की उत्पत्ति,स्थिति और लय के आधार हैं, जो माया के नियामक स्वामी हैं, वे सर्वान्तर्यामी पुराण पुरुष अपनी माया से पृथक होकर कहाँ शयन करते हैं ?

४—एक बार आपने कहा कि उन विराट् पुरुष के अंगों से ही समस्त लोक तथा लोकपालों की रचना हुई, फिर आपने कहा कि समस्त लोक और लोकपालों से ही उनके अंग कल्पित हैं, सो इसका भी रहस्य बताइये। यह क्या बात है ?

५—महाकल्प क्या है और उसके अन्तर्गत अवान्तर कल्प कितने हैं ?

६—यह भूतकाल है, यह वर्तमान है। और यह भविष्य है, इसका अनुमान किस आधार पर किया जाता है ?

७—स्वर्गलोक तथा मर्त्यलोक के प्राणियों की आयु का परिमाण क्या है ?

८—काल की सूक्ष्म और स्थूल गति किस प्रकार जानी जाती है ?

९—किन-किन कर्मों के करने से जीवों को कौन-कौन-सी गतियों की प्राप्ति होती है ?

१०—त्रिगुणों के परिणाम स्वरूप जो देव, मनुष्य आदि योनियों की इच्छा रखने वाले प्राणी हैं, वे किस कर्म के द्वारा किस-किस योनि की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं ?

११—ये जितने पृथ्वी, पाताल, दिशा, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप तथा इन सब में रहने वाले सभी प्रकार के जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ?

१२—यह ब्रह्माण्ड भीतर से कितना बड़ा है ? बाहर इसका कितना परिमाण है ?

१३—महापुरुषों के आचरण कैसे होते हैं ? उनके चरित्र और गुणों का कथन कीजिये ?

१४—वर्णाश्रम धर्म का विभाग किस प्रकार होता है ? किस वर्ण का, किस आश्रम का क्या धर्म है—यह भी समझाइये ?

१५—भगवान् के परम आश्चर्यमय अवतारों की सुललित, कमनीय कथाओं का भी कथन कीजिये ?

१६—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग इनका भेद बताइये। कैसे जानें कि अब अमुक युग है ?

१७—इन युगों का परिमाण बताइये कि कितने दिन तक कौन-सा युग रहता है ?

१८—चारों युगों के धर्म भी बताइये कि किस युग में कौन-सा कर्म करने से शीघ्र ही मुक्ति अथवा भगवत् प्राप्ति हो सकती है ?

१९—मनुष्यों के साधारण धर्म और विशेष धर्मों का भी कथन करें।

२०—भिन्न-भिन्न व्यवसाय वालों का धर्म बताइये ?

२१—राजर्षियों के भी धर्म का वर्णन करें ?

२२—आपत् धर्मों का भी कथन करें ?

२३—संसार में कितने तत्त्व हैं ? यह भी बताइये ?

२४—सभी तत्त्वों के स्वरूप, लक्षण और हेतु लक्षण भी समझाइये ?

२५—भगवत् उपासना का रहस्य विस्तार के साथ वर्णन करें ?

२६—अध्यात्म योग की भी विधि विस्तार से बतावें।

२७—योग के द्वारा योगेश्वरों को जिस ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, उसकी भी गति बताइये।

२८—शरीर तीन प्रकार के बताये हैं-स्थूल, सूक्ष्म और कारण। योगी पुरुष सूक्ष्म शरीर का भेदन कैसे करते हैं ? इसका भी रहस्य समझावें।

२९—वेद का स्वरूप क्या है ? उपवेद किनको कहते हैं और किस वेद का कौन-सा उपवेद है ? धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण इनका स्वरूप, इनकी संख्या आदि का वर्णन करें।

३०—सर्ग, स्थिति और प्रलय का क्रमानुसार रहस्य समझावें।

३१—इष्ट कहाने वाले यज्ञादि वैदिक कर्म कैसे किये जाते हैं ? इनका भी कथन करें।

३२—जितने पूर्त कर्म हैं, जैसे वापी, कूप, तड़ाग, आराम और देव मन्दिर आदि का निर्माण उनकी विधि आदि को भी समझावें।

३३—स्मार्त कर्म, काम्य कर्म, तथा धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग के साधनों की भी विधि बताइये।

३४—जिन लोगों को मोक्ष प्राप्त तो नहीं है, पर प्रकृति में लीन हो गये हैं, उनकी फिर किस प्रकार उत्पत्ति होती है, इसे भी बतावें।

३५—पाखंड धर्म का प्रचार और प्रसार कैसे और क्यों होता है ? इसे भी समझावें।

३६—आत्मा के बन्धन और मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

३७—आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति कैसे होती है ?

३८—सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, सर्वसमर्थ, सर्वेश्वर अपनी अघटन घटनापटीयसी प्रियतमा के साथ किस प्रकार क्रीड़ा करते हैं ?

३९—स्वेच्छा से ही अपनी माया को छोड़कर उदासीन भाव से केवल साक्षी रूप होकर कैसे स्थित होते हैं ?

"हे महामुने ! मैं अपने इन प्रश्नों के उत्तर तथा इनके अतिरिक्त आप और भी जो मेरे लिये उचित समझें, उन सबको मैं अत्यन्त ही शीघ्र सुनना चाहता हूँ। मैं आपकी शरण आया हूँ। साधु पुरुष शरणागत की सदा रक्षा करते हैं। आप भी मुझे शरणागत जानकर संसार-सागर से पार कर दें और मेरी इन समस्त शंकाओं का समाधान करके निःशंक बना दें। मैं आपसे इसीलिये पूछता हूँ कि आपका ज्ञान स्वतः सिद्ध है। आपने शास्त्र को पढ़ सुनकर उसका स्वयं साक्षात्कार किया है और ऋषि-मुनि तो प्रायः सुनी सुनाई बात कहते हैं।"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन् ! आप एक साथ इतने प्रश्न पूछ देते हैं। न आपने कुछ खाया न पिया। अजी, भोजन करें, कुछ फलहार ही कर लें। वह भी न हो दूध ही पी लें। न सही दूध, फल, श्रीगङ्गाजी का निर्मल जल ही पान कर लें। बिना खाये-पिये कैसे काम चलेगा ? शरीर की स्थिति अन्न जल पर ही है। बिना खाये पिये बीच में ही आपको कुछ हो गया, तो आप शंकित ही रह जायँगे। आपका पूर्ण समाधान भी न होगा।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् बड़ी दृढ़ता के साथ बोले—"प्रभो ! अमृत पीकर भी कोई मर सकता है क्या ? आप मुझे मधुरातिमधुर श्रीकृष्ण कथा रूपी सुधा पिला रहे हैं। मेरे कानों में अमृत उड़ेल कर हृदय तक पहुँचा रहे हैं। मृत-

संजीवनी सुधा को सम्पूर्ण शरीर पर छिड़क रहे हैं। फिर मैं कैसे मर सकता हूँ, बीच में ही मेरा कैसे अनिष्ट हो सकता है? कुपित हुए भगवान् शृङ्गी ऋषि ने मेरी मृत्यु की मर्यादा न बाँधी होती, यदि वे मुझे सात दिन में तक्षक के द्वारा मृत्यु का शाप न देते, तो मैं निरन्तर कथा सुनते-सुनते कभी न मरता। निरन्तर इसी प्रकार निराहार रहकर कथा श्रवण करता रहता। आप मेरे खाने-पीने की चिन्ता छोड़ दें। मुझे तो केवल केशव की ललित कथाओं को ही सुनावें। मुझे शङ्का रहित करके परम-पद का अधिकारी बनावें। मुझे दुर्गति से बचावें, यही आपके श्रीचरणों में मेरी बार-बार विनीत प्रार्थना है।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जब महाराज ने मेरे गुरुदेव महामुनि श्रीशुक से अपने प्रश्नों का उत्तर देने की प्रार्थना की तब वे राजा के प्रश्नों को सुनकर अत्यंत ही हर्षित हुए और उसी श्रीमद्भागवत तत्व को सुनाने के लिये प्रवृत्त हुए, जो ब्रह्मकल्प के आरम्भ में साक्षात् श्रीमन्नारायण ने कमल पर बैठे हुए लोक पितामह ब्रह्माजी को सुनाया था। महाराज परीक्षित् ने जो-जो प्रश्न किये उन सबका क्रमशः उत्तर देने को व्यासनन्दन भगवान् शुक प्रवृत्त हुए।"

छप्पय

ब्रह्मन्! यह संसार भूमि आकाश नदी नद।
बन, परबत, ग्रह, दिशा, स्वरग, पाताल, कमल, ह्रद॥
इन सबकी उतपत्ति प्रलय रचा बतलावें।
धरम काम अरु अरथ मोक्ष को मार्ग दिखावें॥
चरन धरम आश्रम नियम, भगवत चरित सुनाइकें।
शङ्का नाथ मिटाइदें, शरणागत अपनाइकें॥

ब्रह्माजी की तपस्या तथा वैकुण्ठ दर्शन

[९४]

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परं ।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसम्
स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् ॥*

(श्रीमा० २ स्क० ६ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

है प्रसन्न शुक कहें—भूप ! सुनु सुख के मगकूँ ।
माया ब्रह्म प्रकाश पाइ दरसावै जगकूँ ॥
सोचें ब्रह्मा - सृष्टि करूँ कस, नभधुनि आई ।
तप ही सबको सार, करो तप भ्रम मिटि जाई ॥
दिव्य सहस बत्सर परम, तप कीन्हों विधि उग्र अति ।
परमधाम वैकुण्ठ महँ, लखे मुदित मन रमापति ॥

इन्द्रियों को विषय भोगों में फँसाये रहने से संसार बन्धन अधिकाधिक जकड़ता जाता है, हमारी स्वाधीनता नष्ट हो जाती है, हम पराधीन बन जाते हैं । दूसरे हमें जैसे नचाते हैं वैसे ही

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"जब भगवान् की आज्ञा से ब्रह्माजी ने घोर तप किया, तो उससे प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें अपने परमधाम के दर्शन कराये । जो सभी प्रकार के क्लेश, मोह और भय से रहित है, जिससे श्रेष्ठ कोई अन्य लोक नहीं तथा जिसकी पुण्यात्मा देवतागण सदा स्तुति करते हैं ।"

नाचना पड़ता है, जहाँ बिठाते हैं, वहीं बैठना पड़ता है। अपनी इच्छा पूर्ण करने की शक्ति उसमें कैसे आ सकती है, जो विषयों के अधीन हो गया है। इसके विरुद्ध जिसने समस्त इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन को तपस्या में लगाया है, वह स्वराज्य का अधिकारी हो जाता है, वह सब कुछ कर सकता है। अतः सार सिद्धान्त हुआ कि विषयों में मन को फँसाना ही बन्धन है। विषयों से मन को खींचकर उसे तपस्या में लगाना—यही मोक्ष का मार्ग है।

ये जो चित्र-विचित्र मोहक संसारी पदार्थ दिखाई देते हैं, उनका ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु से भला क्या सम्बन्ध है। ये पदार्थ अनित्य हैं, श्रीहरि नित्य हैं। ये नाशवान् हैं, आनन्द घन प्रभु अविनाशी हैं। ये परिणाम में दुखदायी हैं, भगवान् सदा सर्वदासुखस्वरूप हैं। यही सोचकर भगवान् शुक महाराज परीक्षित से कहने लगे—"राजन्! इन संसारी पदार्थों के साथ उन विशुद्ध ज्ञानस्वरूप भगवान् का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कुछ भी है तो उसी प्रकार है, जैसे स्वप्न देखने वाले का स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थों के साथ सम्बन्ध है। स्वप्न में हाथी, घोड़ा, सागर, पर्वत, सभी दिखाई देते हैं। आँख खोलो—न वहाँ पर्वत, न नदी, न समुद्र, अपनी छोटी-सी कुटी में, टूटी-सी खाट पर, फटी-सी चद्दर ओढ़े सो रहे हैं।"

इस पर महाराज ने पूछा—"प्रभो! स्वप्न में तो मनुष्य वही देखता है, जो उसने पूर्व में सत्य देखा हो। इससे यह प्रतीत होता है, कि पहिले कोई सत्य पदार्थ रहे होंगे। स्वप्न द्रष्टा स्वप्न में सभी पदार्थों को सत्य समझता है। नींद खुलने पर उसे अपना बुद्धि भ्रम समझता है, अपने को अज्ञान से निवृत्त समझता है, तो क्या भगवान् में कभी भ्रम होता है?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! दृष्टान्त का एक देश लिया जाता है। इस स्वप्न के दृष्टान्त से इतने ही देश से तात्पर्य है कि स्वप्न देखने वाले का सम्बन्ध स्वप्न के पदार्थों से कल्पित था। न वे वहाँ पदार्थ थे, न उनका सम्बन्ध था, केवल स्वप्न के आश्रय से न होते हुए भी वे विद्यमान से दीखते थे। इसी प्रकार परब्रह्म का इन संसारी पदार्थों से न कभी सम्बन्ध हुआ, न है, न होगा। किन्तु उनको अपनी माया के द्वारा ये उनसे सम्बन्धित सत्य से प्रतीत होते हैं।"

राजा ने पूछा—"प्रभो! एक पदार्थ हो तो उसे मान लें कि यह माया से ऐसा सत्य-सा प्रतीत होता है। संसार में तो नाना रूप, नाना आकृतियाँ हैं और वे सभी सत्य हैं, फिर आप इन्हें स्वप्नदृष्ट पदार्थों के समान क्यों बता रहे हैं?"

श्रीशुक बोले—"महाराज! इस ठगिनी माया ने ही नाना रूप रख लिये हैं। राजाओं के दरबार में 'बहुरूपिया' जब आते हैं तो वे कभी भिखारी बन आते हैं, कभी स्त्री बन आते हैं, कभी राजा तथा राज पुरुष का रूप रख आते हैं और सभी को अपने रूप से विस्मित बना देते हैं। पहिले पहिल तो लोग उन्हें सच्चा ही समझते हैं। जब ज्ञान हो जाता है—अरे, यह बहुरूपिया है तो सभी हँस पड़ते हैं। यह माया भी वैसी बहुरूपिणी है। इस नाना रूप वाली माया के सम्बन्ध से ही जीव शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने पर भी इन मायिक गुणों के रमण करने से देह में, घर में, स्त्री-पुत्रों में, धन में, भूमि में, वाहन और वस्त्राभूषणों में ममभाव करता है। ये सब मेरे हैं और इस अनित्य, नाशवान् क्षणभंगुर पांचभौतिक शरीर में अहंभाव करता है, मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, मेरी वह शक्ति है, मैं इसे मार सकता हूँ, उसे पछाड़ सकता हूँ, उसको चौकड़ी भुला सकता हूँ, उसे मजा चखा सकता हूँ, वहाँ जा सकता हूँ, यह ला सकता हूँ, वह दे सकता हूँ, मैं

ऐसा ज्ञानी हूँ, वैसा ध्यानी हूँ, बड़ा मानी हूँ, मैं उस वस्तु का कर्ता हूँ, उनका भरण-पोषण करने वाला भर्ता हूँ, ये सब अहंकार युक्त बातें शरीर को ही 'अहं' मैं – मानकर बकता है। यह सब क्यों होता है ? प्रकृति माया अथवा अविद्या के कारण। काल आने पर जब गुणों में क्षोभ होता है, तो यह सब प्रपंच निर्माण होने लगता है। किन्तु जो माया के भी पति हैं, काल के भी नियन्ता हैं, स्वभाव के भी प्रवर्तक हैं, यह जीव जब उनकी शरण में जाता है, या अपने को समस्त प्रपंच की जननी मोहिनी माया का शासनकर्ता मानकर अपनी महिमा को समझ कर अक्षर ब्रह्म में रमण करता है, तब वह शुद्ध चेतन अज्ञान-रहित हो जाता है, फिर इन मायिक पदार्थों में जो अहं ममभाव कर लिया है, उसे छोड़कर उदासीन हो जाता है।"

महाराज परीक्षित् बोले—"भगवन ! यह तो बहुत ही गूढ़ बात आपने कह दी। इस विषय को फिर समझूँगा। अब तो आप मुझे सृष्टि-क्रम की कथा सुनाइये। यह सृष्टि कैसे हुई ? ब्रह्माजी के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही क्यों हुई ? वे अपने आप सृष्टि करने लगे या किसी ने उन्हें उपदेश दिया ?"

महाराज के प्रश्न को सुनकर हँसते हुए भगवान् शुक कहने लगे—"राजन् यह सृष्टि-क्रम इसी प्रकार अनादि काल से चला आ रहा है। एक सौ वर्ष एक ब्रह्मा रहते हैं, फिर बदल जाते हैं। उसे महाकल्प कहते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन को कल्प कहते हैं। महाकल्प में महाप्रलय हो जाती है। कल्प में तीनों लोकों का ही प्रलय होता है। मैं इसी कल्प की बात सुनाता हूँ, जिसमें ब्रह्माजी श्रीमन्नारायण की नाभि के पद्म से उत्पन्न हुए, इसीलिये इसे पाद्म कल्प कहते हैं। इस सृष्टि के आदि में जो भगवान् ने ब्रह्माजी को उनके तप से प्रसन्न होकर भागवत

तत्व का उपदेश दिया था, वही आत्म-तत्व की प्राप्ति का एकमात्र साधन है।"

इसपर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"ब्रह्मन्! सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी ने किसके आदेश से तप किया? उन्हें तप करने की प्रेरणा किसने की?"

तब श्रीशुक कहने लगे—"महाराज! सृष्टि के आदि में भगवान् श्रीमन्नारायण की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। उस कमल से ही ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न होते ही ब्रह्माजी को चारों ओर देखने की इच्छा हुई। अतः चारों दिशाओं में दो-दो नेत्रवाले चार मुख उनके उत्पन्न हो गये जिससे वे आठों दिशाओं को देख सकें। इसीलिये ब्रह्माजी चतुरानन कहाये। दिशा तो दस हैं, इसलिये पहिले ब्रह्माजी के पाँच मुख हुए थे। उस पाँचवें मुख को महादेवजी ने कतर लिया था।"

इस बात को सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! अपने पिता ब्रह्माजी का पाँचवाँ सिर श्रीशिव ने क्यों काट लिया था? ऐसा लोक विरुद्ध कार्य भगवान् भोलानाथ ने क्यों किया? इसे भी आप हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"यह कथा तो है बहुत बड़ी इसे तो कभी समयानुसार मैं आपको फिर सुनाऊँगा। इस समय तो आप उसी सृष्टि प्रसंग को सुनें, जिसे मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित् को बताया है। आप यह न समझें कि मैं सृष्टि के तत्वों का प्रकृति, विकृति आदि का निरूपण करूँगा। इस समय तो केवल इस कथा-प्रसंग को ही बताना है, कि श्रीनारायण भगवान् ने लोक पितामह ब्रह्माजी को भागवत तत्त्व का उपदेश कैसे दिया?"

शौनकजी बोले—"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, सूतजी! आप जैसे उचित समझें वैसे ही सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी कहने लगे—"हाँ, ब्रह्मन्!" ब्रह्माजी इधर-उधर आँख फाड़-फाड़ कर देखने लगे। भगवान् ने उनके हृदय में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा पैदा कर दी थी। उत्पन्न होते ही उन्हें सृष्टि रचना की चिन्ता हुई। कैसे सृष्टि बढ़े, किस वस्तु से सर्गवृद्धि हो? इसी चिन्ता में वे मग्न हो गये। उसी समय पता नहीं कहाँ से उन्हें 'तप तप' ये दो शब्द सुनाई दिये।"

ब्रह्माजी समझ गये कि बिना 'तप' के काम चलेगा नहीं। तप के ही द्वारा सम्यक् ज्ञानदृष्टि प्राप्त हो सकेगी। उसी से मैं प्रपञ्च रचना की विधि समझ सकूँगा। यही सोचकर पद्मयोनि ब्रह्माजी पद्म पर बैठकर, पद्मासन लगाकर हृदय-पद्म में पुराण पुरुषोत्तम प्रभु का ध्यान करने लगे। उन्होंने दिव्य सहस्त्र वर्ष स्वाँस रोककर घोर तप किया। उन्होंने अपने प्राण, मन, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का निरोध करके मन को परब्रह्म में लगाकर समस्त लोकों को प्रकाशित करने वाला घोर तप किया।"

शौनकजी ने पूछा—"जब विषय-भोगों के पदार्थ ही नहीं थे, तो ब्रह्माजी ने मन किस वस्तु से हटाया? क्या तप किया?"

इस पर सूतजी बोले—"शौनकजी! आप भी जान बूझकर ऐसी बातें पूछते हैं। अजी, इन बाह्य वस्तुओं में रखा ही क्या है? विष की जड़ तो मन है। चंचलता तो संकल्प से होती है। तपस्या से बिखरी वृत्तियों को सब ओर से हटाकर एक ओर लगाते हैं। ब्रह्माजी ने तपस्या द्वारा यह जानना चाहा, कि मुझे उत्पन्न किसने किया है और यह सृष्टि बढ़ाने की प्रेरणा कौन मुझे कर रहा है? इन बातों का ज्ञान न होने पर जीव स्वयं ही अपने आप जाल बनाकर मकड़ी की तरह फँस जाता है। इन बातों का ज्ञान होने पर ज्ञानी कुछ भी करे वह पाप-

पुण्य, सुख-दुःख में कभी लिप्त नहीं होता। ब्रह्माजी अपना और अपने संकल्प का कारण ढूँढ़ने को मन का निरोध करके तपस्या करने लगे। मन का निरोध होना ही तप का चरम लक्ष्य है।"

"महाविष्णु भगवान् नारायण श्रीब्रह्माजी की तपस्या से सन्तुष्ट हुए और उन्हें अपने परमधाम वैकुण्ठ लोक के दर्शन कराये। जहाँ नित्य सत्व ही अवस्थित रहता है।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! जब वैकुण्ठ धाम में ही सत्व है, तब तो वह भी मायिक ही हुआ, क्योंकि सत्व, रज और तम ये तीनों प्राकृतिक हैं।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! वहाँ यह त्रिगुणों वाला सत्व नहीं है। त्रिगुणों से परे एक मायातीत दिव्य सत्व है, जिसकी कोई उपमा ही नहीं। वह भगवान् का दिव्य गुण है। उसी के द्वारा वैकुण्ठ धाम शान्त रहता है त्रिगुणों में तो उसी प्रकार ऊर्मियाँ उठती रहती हैं, जैसे समुद्र में लहरें उठती रहती हैं। वहाँ ऊर्मियों का क्या काम? वहाँ तो नित्य सुख है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! हमें वैकुण्ठ की शोभा का कुछ वर्णन सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरे तो ऐसे भाग्य कहाँ जो मैं इन चर्म चक्षुओं से वैकुण्ठ के दर्शन कर सकूँ। मेरे बाबा, गुरु के भी गुरु भगवान् नारदजी सदा वैकुण्ठ में आते जाते रहते हैं। उनके द्वारा जो मैंने परम्परा से कुछ वैकुण्ठ का वर्णन सुना है उसे मैं आपके सम्मुख सुनाता हूँ। आप सावधानी से श्रवण करें।"

"मुनियो! वैकुण्ठ धाम में काल की भी दाल नहीं गलती। वह कालातीत लोक है। माया का वहाँ लेश भी नहीं, अन्य विकारों की तो बात ही क्या? वहाँ पर भगवान् के जितने पार्षद

हैं सभी चतुर्भुज हैं, सभी के रूप, रङ्ग, रेखा, आकृति, प्रकृति, अस्त्र तथा आयुध भगवान् के ही समान हैं। उन विष्णु पार्षदों की सभी देव दैत्य वन्दना करते हैं। सबका शरीर स्वच्छ, सुन्दर और साँवले रङ्ग का है। सभी के नेत्र विकसित कमल के समान शोभायमान और आकर्षक हैं। सभी के अङ्गों पर बिजली के समान चमचमाता दिव्य पीताम्बर शोभित होता है। वे बड़े सुकुमार, कान्तिवान्, प्रभावान्, ऐश्वर्यवान्, शौर्य-वीर्यवान् हैं। सभी मणि-जटित सुवर्ण-भूषणों से सदा विभूषित रहते हैं। उनकी ऐसी दिव्य आभा होती है कि उसकी कोई उपमा नहीं। मूँगे की कान्ति फीकी है, कमल की कमनीयता कम है, वैदूर्य मणि विरूप-सी प्रतीत होती है। उनके कानों में कनक के कमनीय कुण्डल चमकते रहते हैं, मस्तक पर मनोहर मुकुट दमकते रहते हैं। कण्ठ में मोतियों की मनभावना मालायें लटकती रहती हैं। सबके हाथों में तुलसीजी की सुमिरिनी लटकती रहती हैं। देवलोक की दिव्य देवाङ्गनायें भी जिस रूप को निहार कर भटकती रहती हैं। मुनियो! वैकुण्ठ में भी कमनीय कान्ति वाली कामिनियों का अभाव नहीं है। वहाँ भी लक्ष्मीजी की सहचरी वैकुण्ठवासिनी असंख्यों अनुपम रूप लावण्यवती अप्सरायें इधर से उधर बिजली की तरह चमकती रहती हैं। उनकी चमक-दमक और चाक-चिक्य के कारण वैकुण्ठ सदा जिस प्रकार मेघ-मालाओं से आच्छादित आकाश विद्युत की प्रभा से प्रभासित होता रहता है, उसी प्रकार वैकुण्ठ की शोभा दिखाई देती है।"

लक्ष्मीजी वहाँ मूर्तिमती होकर सदा निवास करती हैं। वहाँ अपने चंचल स्वभाव को वे त्याग देती हैं। पुराण पुरुष की पत्नी का चंचला होना स्वाभाविक ही है, किन्तु वहाँ श्रीहरि सदा किशोरावस्थापन्न रहते हैं। इसलिये लक्ष्मीजी सदा

उन्हीं के गुणगान में तल्लीन बनी रहती हैं। बड़ा दिव्य वहाँ एक बगीचा है। उसमें परम दिव्य-दिव्य अनेक जन्मों से अनन्त पुण्य, विविध आराधनायें करके जो वैकुण्ठ के पक्षी हुए हैं, वे सदा उन वृक्षों पर कूदते रहते हैं। शुक हैं, सारिकायें हैं, पारावत, दादुर, मयूर, चकोर सभी वहाँ संगीत के ही स्वर में बोलते हैं। अनन्त पुण्यों के द्वारा युग-युग की आराधना के स्वरूप जो वहाँ के वृक्ष बने हैं, उनमें से सदा दिव्य गन्ध निकलती रहती है। उन वृक्षों की डाली पर दिव्य रेशम की डोरियों से झूला पड़ा रहता है। उस पर बड़ी लीला के साथ अपने हाव-भाव कटाक्षों से वैकुण्ठ को मोहित करती हुई लक्ष्मीजी अपनी सखियों के सहित जाकर झूलती हैं। झूलते समय जो गीत गाती हैं उनमें अपने प्राणनाथ गोविन्द के ही गुणों का बखान होता है। जब वे गोविन्द के गीत गाती हैं, तो वृक्षों पर बैठे शुक, सारिका, मयूर, भ्रमर आदि लक्ष्मीजी का गुणगान करने लगते हैं, इससे वे लज्जित हो जाती हैं और भौं तानकर प्रेम के रोष से उनकी ओर ऐसे ही देखती हैं, जैसे प्रणयकोप में भरी प्रमदा अपने प्राणनाथ की ओर निहारती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वैकुण्ठ का वर्णन करना वाणी का विषय नहीं है। ऐसे दिव्य वैकुण्ठधाम के दर्शन ब्रह्माजी को सहस्रों, लाखों वर्ष की तपस्या के अनन्तर हुए। वहाँ ब्रह्माजी ने जाकर देखा कि समस्त संसार के स्वामी, लक्ष्मीजी के जीवनाधार, भक्तों के सर्वस्व श्रीहरि अपने नन्द, सुनन्द, सुबल और अर्हण आदि प्रधान-प्रधान पार्षदों के सहित विराजमान हैं। सभी सावधानी से भगवान् की सेवा में संलग्न हैं। भगवान् तो भक्तवत्सल हैं। उनकी मुद्रा से यही प्रतीत होता है कि वे अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये सदा कातर बने

रहते हैं। वे सदा यही चाहते रहते हैं कि जीव मेरी कब शरण में आवें, कब मैं उन पर कृपा करूँ? किन्तु मुनियो! ये जीव तो इन तुच्छ संसारी विषयों में—इन रक्त, मूत्र मल के दुर्गन्ध-युक्त स्थानों में—रमण करने में ही अपने को परम सुखी माने बैठे हैं। विष्ठा के कीड़े को उसमें दुर्गन्धि नहीं आती, उसी में सुख समझता है। पीव के कीड़े सड़े हुए राध तथा पीव में ही घूमने में अपने को सुखी समझते हैं। जीव जब इन तुच्छ विषयों से मन को हटावे, तब वैकुण्ठ के मार्ग की ओर बढ़ सकता है।"

"हाँ, तो ब्रह्माजी ने देखा लक्ष्मीजी के गले में गलबाँही डाले हुए, अपने मुख की मन्द-मन्द मुस्कान को उनकी आँखों में घोलते हुए—किरीट, मुकुट धारण किये, रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओं में अङ्गद, कङ्कड़ आदि दिव्य आभूषण शोभायमान हैं। गले में लम्बी वनमाला है, वक्षस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह है, जिसमें लक्ष्मीजी सदा लोटती रहती हैं। दमदमाता हुआ रेशमी पीताम्बर धारण किये हैं। चारों ओर मूर्तिमान पुरुष, प्रकृति, महतत्व, अहंकार, पाँच कर्मेन्द्रिय—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, पंचतन्मात्रायें, पंचभूत ये सबके सब दिव्य रूप से अवस्थित हैं। भगवान् पूर्ण षडैश्वर्य सम्पन्न हैं। किसी ऐश्वर्य का कोई भी अंश उनमें कम नहीं है। वे यथार्थ में भगवत पद वाच्य हैं।"

"ऐसा महाऐश्वर्य पूर्ण, सौन्दर्य की राशि, आनन्द की निधि, शोभा के धाम भगवान् के दर्शन करके ब्रह्माजी का हृदय आनन्द से भर गया। हृदय में आनन्द का ऐसा वेग उठा कि उनके शरीर में रोमांच हो आया। नेत्रों से प्रेम के शीतल अश्रु निकलने लगे। वे प्रेम में इतने विभोर हुए कि अपने आपको भूल गये। इन भगवान् के दर्शन अनन्त तपस्या से,

चिरकाल तक श्रद्धा और प्रेम के सहित यति-धर्म के पालन से, उन्हीं की कृपा होने पर होते हैं। ऐसे भगवान् को अपने नेत्रों के सम्मुख देखकर ब्रह्माजी ने अपने को सम्हाला और फिर उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ भगवान् के चरणारविन्दों में प्रणाम किया।"

अपने चरणों में चतुर्भुज ब्रह्माजी को नत मस्तक देखकर, भगवान् ने अत्यन्त स्नेह के साथ, सम्पूर्ण ममता बटोरकर उन्हें प्यार किया और उनका हाथ पकड़कर अपने समीप बैठाया। उन पर कृपा की दृष्टि डाली। उनके चिन्तित मुख को देखकर भगवान् हँस पड़े और फिर उनसे बातें करने के लिये उद्यत हुए।"

छप्पय

परम दिव्य वैकुण्ठ कान्ति ऐश्वर्य अमित जहँ।
सुखासीन परिवार पारषद सह श्रीहरि तहँ॥
नारायनकूँ निरखि नीर नयननि में छायो।
पकरि बाँह भगवान् पुत्रकूँ ढिंग बैठायो॥
वेदगरभतें विष्णु वर, बोले बचन सुधासने।
वत्स! बताओ बात सब, सृष्टि समय क्यों अनमने॥

पञ्चश्लोकी भागवत

(९५)

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥*

(श्री भा २ स्क० ९ अ० ३० से ३५ श्लो०)

---

* श्री भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा—"हे वत्स ! मैं तुम्हें विज्ञान से समन्वित परम गुह्यज्ञान को उसके सभी अंगों और रहस्य के साथ बताता हूँ, उस मेरे कहे हुए ज्ञान को तुम यथावत् ग्रहण करो।" इतना

छप्पय

बोले ब्रह्मा—बिभो ! जीव जग तत्त्व बतावें।
दिव्य भागवत धरम सार संक्षिप्त सुनावें॥
हँसि हरि बोले—मोइ कृपा ही तें सब पावें।
आदि अन्त मैं रहूँ, नेति कहि निगम जनावें॥
बिना भये दीखै गुही, माया मेरी मानियो।
अन्वय अरु व्यतिरेकतें, सदा मोइ पहिचानियो॥

साधन की सिद्धि के अनन्तर जो प्रसन्नता होती है, वह अवर्णनीय है। लगाये हुए वृक्ष को फलवान देखकर, माता-पिता को अपने पुत्र को पुत्रवान् देखकर, कृषक को पकी हुई खेती को देखकर, गुरु को सर्वगुण सम्पन्न विद्वान् हुए योग्य

कहकर पाँच श्लोकों में ही समस्त भागवत का सार बताया। भगवान् बोले—"मैं जितना हूँ, मेरा जैसा भाव है, मेरा जैसा रूप तथा गुण कर्म हैं इन सबका तत्त्वतः ज्ञान तुम्हें मेरी ही कृपा से हो जायगा। सृष्टि से पूर्व मैं ही था, उस समय सत् असत् और इनसे परे जो प्रकृति है, ये कुछ नहीं थे। सृष्टि के अन्त में मैं ही रहूँगा। यह जो दृश्यमान जगत् है वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बचा रहता है वह भी मैं ही हूँ। बिना अर्थ के जो आभास की भाँति प्रतीत होता है, आत्मा में नित्य विद्यमान् होने पर भी जो तम की भाँति प्रतीत न हो, उसे ही आत्मा की माया समझो। जिस प्रकार छोटे बड़े सभी जीवों में ये पञ्चभूत प्रविष्ट हुए बिना भी प्रविष्ट हुए से प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार मैं भी सम्पूर्ण प्राणियों में उनके आत्मस्वरूप में स्थित होता हुआ भी सर्वदा उनसे पृथक् ही हूँ। अन्वय और व्यतिरेक दोनों कारणों से यही सिद्ध होता है कि वह सदा और सर्वत्र व्याप्त है। हे ब्रह्मन् ! बस, आत्मतत्त्व के जानने की इच्छावालों को इतना ही जानने योग्य है। जिसने इतना जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया।"

शिष्य को देखकर, योग्य पिता को अच्छा घर-वर देखकर दी हुई कन्या को सुखी देखकर, विवाह के अनन्तर परस्पर वर-वधू को अपने-अपने अनुकूल जोड़ी देखकर, इन सबको जितनी प्रसन्नता होती है। उससे कोटि गुणी प्रसन्नता भक्त को भगवद् दर्शनों से होती है। भगवान् कृपा करके साधक की साधना को सफल बना दें, अपने अति दुर्लभ दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करा दें, उस समय जो हर्ष होता है वह वाणी का विषय नहीं, अनुभव करने की वस्तु है। दिव्य सहस्र वर्ष के अनन्तर स्वयम्भू चतुरानन को माया-पति श्रीहरि के दिव्य दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हुआ। केवल दर्शन ही नहीं हुए, भगवान् ने उनके ऊपर कृपा भी की, उन्हें अपनाया, बाँह पकड़कर अपने समीप बैठाया, तब तो ब्रह्माजी के आनन्द का पारावार नहीं रहा। वे इतने आनन्द-मग्न हो गये कि स्तुति करना ही भूल गये। इस प्रकार ब्रह्माजी को हक्के-बक्के की भाँति आवाक् हुआ देखकर मुस्कुराते हुए मधुसूदन बोले—"हे वेदगर्भ! आपका योग निर्व्यलीक है। आपने मेरी निष्कपट भाव से आराधना की है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि आप मेरे दर्शन कर रहे हैं।"

ब्रह्माजी ने हाथ जोड़कर पूछा—"प्रभो! इसी बात से कैसे समझा जाय कि मैं निष्काम हूँ।"

भगवान् बोले—"देखो, जिन्हें संसार से आशा है और दम्भ से मेरा भजन करते हैं, उन्हे तो मैं कभी दर्शन देता ही नहीं। जो एकमात्र मेरा ही आश्रय ग्रहण करके, मुझे ही सर्वश्रेष्ठ मानकर मेरी आराधना करते हैं। उन्हें ही मेरे दर्शन होते हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"स्वामिन्! मैंने निष्काम भाव से तो आपकी आराधना की नहीं, मेरे मन में तो सृष्टि रचने की वासना है।"

भगवान् बड़े-स्नेह से बोले—"देखो, ब्रह्माजी! जो मनुष्य दुखी होकर, जिज्ञासु होकर, अर्थार्थी होकर या ज्ञानी बनकर संसारी किसी से भी आशा न रखकर एकमात्र मुझे ही अपना त्राता, रक्षक और पालक मानकर मेरी ही आराधना करता है, उसके मैं सभी मनोरथों को पूरा करता हूँ। मेरे भक्त के मन से पहिले कोई कामना उठती ही नहीं। यदि उठे भी और वह उसकी प्राप्ति के लिये निरन्तर मेरी ही आराधना में तल्लीन बना रहे, तो उसे मेरी ही प्रेरणा समझनी चाहिये। तुम्हारे हृदय में सृष्टि-रचना की प्रेरणा मैंने ही की है। मेरी ही प्रेरणा से आप सृष्टि बढ़ाने के निमित्त इतने व्यग्र हो रहे हैं। अब तुम क्या चाहते हो? जो चाहो, मुझसे वर माँग लो। अभी तुम्हारा मन कुछ दुखी-सा दिखायी देता है। अब दुःख का परित्याग करो। अजी, पृथ्वी में गड़े हुए धन को खोदने आदि का प्रयास तभी तक किया जाता है, जब तक कि वह बाहर न निकल आवे। जहाँ गड़े हुए सभी सोने चाँदी के हण्डे बाहर निकल आये काम बन गया, परिश्रम सफल हो गया, फिर धन का स्वामी चैन की वंशी बजाता है, मौज उड़ाता है, खूब पीता-खाता है, रागरङ्ग मचाता है या उसे रखकर ही सन्तोष मानता है। इसी प्रकार साधक पुरुष जब तक मेरा दर्शन नहीं करता तभी तक उसे कल्याण प्राप्ति के लिये परिश्रम करना पड़ता है। तुम जब मोहित बैठे थे, तो मैंने आकाशवाणी द्वारा तुम्हें तप करने का आदेश दिया था। तुमने मेरा आदेश शिरोधार्य करके एकान्त में घोर तपस्या की। इसी के परिणाम स्वरूप तुम मेरी कृपा के भाजन हुए। मेरा अनुग्रह होने से ही तुम्हें सर्वसाधारण को न होने वाले मेरे दिव्य लोक के दुर्लभ दर्शन भी प्राप्त हुये।"

ब्रह्माजी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! किस साधन के द्वारा मैं आपकी कृपा का अधिकारी बन सका?"

भगवान् बोले—"मेरी कृपा साधन साध्य नहीं है। जिस पर मैं कृपा कर दूँ, वही मेरी ओर बढ़ता है, वही साधन में प्रवृत्त होता है।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"प्रभो! जब आपकी उस पर कृपा ही हो गई, तो फिर आप उससे ऐसा कठिन-कठिन साधन क्यों कराते हैं?"

भगवान् ने कहा—"केवल उत्कंठा बढ़ाने के लिये, अधिकाधिक सुख प्रदान करने के लिये। भगवत् दर्शनों के लिये जितनी अधिक उत्कंठा होगी, उतनी ही तीव्र साधनों में प्रवृत्ति होगी। उन साधनों के करने से दिन-दिन इच्छा बलवती बनती जायगी। इच्छा जितनी ही बलवती होगी, उतना ही अधिक दर्शनों में रस आवेगा। उत्कंठा आनन्द की वर्धिनी है, प्रतीक्षा इष्ट के साथ तन्मयता कराती है। ये सब रसास्वादन के प्रकार हैं। इसीलिये तप को मेरा हृदय बताया है। हृदय क्या है? मैं तपमय ही हूँ। तपस्या ही मेरी आत्मा है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! तप का अर्थ क्या है?"

भगवान् बोले—"तप माने हैं साधन। उसी तप रूपी साधन से मैं सृष्टि करता हूँ, फिर अनेक तपों द्वारा-विविध साधनों से-उनकी रक्षा करता हूँ, और अन्त में कल्प का अवसान होने पर तप रूपी साधन से ही उसका संहार भी कर डालता हूँ। उसे चाहे बल कहो, वीर्य कहो, साधन कहो, तप कहो-बात एक ही है, शब्दों का भेद है। तुमने तपस्या मेरी ही प्रेरणा से की थी। अब बोलो, क्या चाहते हो? मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? कौन-सा उत्तम वरदान मैं तुम्हें दूँ?"

यह सुनकर ब्रह्माजी बोले—"प्रभो! अब आपके सामने भी कुछ कहना पड़ेगा क्या? यदि आप न जानते होते, तो कहना उचित भी था। आप तो घट-घट की जानने वाले हैं,

अणु परमाणु में व्याप्त हैं, छोटी से छोटी, बड़ी से बड़ी वस्तु में समान भाव से अवस्थित हैं। आप ही अन्तर्यामी रूप से सबकी बुद्धि रूपी गुहा में स्थित होकर कार्य करा रहे हैं, सबको नाच नचा रहे हैं, सबको खेल खिला रहे हैं। सभी साजों को आप ही सजा रहे हैं। सभी ठाठों को आप ही बना रहे हैं। मेरे भी मन की बात को आप जानते ही हैं, फिर भी जब आप पूछ ही रहे हैं, तो आपकी आज्ञा मानकर, आपके आदेश का पालन करने के निमित्त मैं अपने मनोगत भावों को व्यक्त करता हूँ, अपनी मनोवांछित अभिलाषा को प्रकट करता हूँ। आपके सम्मुख अपनी इष्ट वस्तु की भीख माँगता हूँ। कृपा करके आप उसे मुझ दीन-हीन, साधनविहीन को प्रेमपूर्वक प्रदान करें।"

भगवान् बोले—"ब्रह्माजी! आप जो भी माँगेंगे, मैं वही दूँगा। मेरे यहाँ तो कोई अदेय वस्तु है ही नहीं।" तब ब्रह्माजी ने विनीत भाव से कहा—"हे नाथ! हे स्वामिन्! जब मैं आप सर्वसमर्थ दाता के द्वार पर आ गया हूँ, तो विमुख होकर न लौटूँगा। यही याचना है, कि आपको सभी अरूप बतलाते हैं। अतः मैं होते हुए भी—आपके स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के रूपों को जान लूँ।"

भगवान् बोले—"ब्रह्माजी! मैं तो विष्णु हूँ, केवल जगत् की रक्षा करना ही मेरा काम है, प्रजा की सृष्टि करना आपका काम है, संहार करना श्रीशिव का काम है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—"नहीं, प्रभो! यह सब आपकी ही क्रीड़ा है। मकड़ी जैसे अपने ही मुख से तार निकाल-कर जाल बनाती है, फिर अपने ही आप इधर-से-उधर मस्त होकर घूमती रहती है। उसी प्रकार यह सब प्रपंच आपकी क्रीड़ा का आलय है। जब आपको सृष्टि रचनी होती है तो आप

ही ब्रह्मा बन जाते हैं, पालन करते समय विष्णु कहाते हैं, और प्रलय करते समय रुद्र रूप धारण कर लेते हैं। आप किस प्रकार अपनी अचिन्त्य माया शक्ति का आश्रय लेकर प्रपंच के समस्त कार्यों को करते हैं, यह बात अभी मेरी समझ में नहीं आई, आप इसे समझाइये। माया का स्वरूप बताइये। और इस प्रपंच का आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, इसे भी समझाने की कृपा कीजिये।"

भगवान् ने कहा—"ब्रह्मदेव! आप तो सृष्टि के कार्य में लग जाइये। चराचर विश्व के जीवों को उनके कर्मानुसार उत्पन्न कीजिये और अधिकाधिक प्रजा की वृद्धि कीजिये।"

ब्रह्माजी हाथ जोड़कर बोले—"भगवान्! मुझे आप जो भी उपदेश तथा आदेश देंगे, उसका पालन मैं बड़ी सावधानी के साथ करूँगा। उसके पालन में कभी आलस्य अथवा प्रमाद न करूँगा। किन्तु मेरी प्रार्थना यही है कि चराचर सृष्टि को उत्पन्न करते हुए भी मैं अपने को सृष्टि का कर्ता न मान बैठूँ। अभिमान आकर मेरे अन्तःकरण में अपना आसन न जमा ले। घमंड आकर मुझे घोर अज्ञान की फँसरी में फँसाकर जकड़ न ले। मैं जो भी कुछ करूँ, उसे आपकी प्रेरणा ही समझकर करूँ।"

भगवान् बोले—"अजी, ब्रह्माजी! आप कैसी भूली-भूली-सी बातें कर रहे हैं? आपको भला अभिमान हो सकता है? आप तो मेरे सदृश ही हैं, मेरे समान ही ईश्वर हैं?"

ब्रह्माजी गद्गद कण्ठ से कहने लगे—"हे ईश्वरों के भी ईश्वर! अब तक तो मैं ऐसा नहीं था, किन्तु जब आपने स्नेहपूर्वक प्यार से मेरा हाथ पकड़ लिया, मेरी भुजा पकड़ अपने चरणों के समीप बिठाया, तो प्रभो! इसे सदा निभाते रहें। विवाह में वर एकबार वधू का पाणिग्रहण करता है,

इसीलिये जीवन भर उसका भरण-पोषण और पालन करता है। इसी प्रकार बाँह पकड़े की लाज तो आपको निभानी ही पड़ेगी। इसीलिये मैं फिर वही प्रार्थना करता हूँ कि जिस समय आपकी आज्ञा से-आपकी सेवा समझकर-मैं सृष्टि के कार्य में संलग्न हो जाऊँ और उद्भिज, स्वेदज, अंडज और जरायुज सभी छोटे, बड़े, मध्यम ऊँचे-नीचे जीवों का विभाग करूँ, उस समय अपने आपको स्वतन्त्र स्वामी मानकर अभिमान के वशीभूत न हो जाऊँ।"

इतना सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"परम प्रेमास्पद चतुरानन! मैं तुम्हें एक परम दिव्य ज्ञान बताये देता हूँ, जिसे जान लेने पर कोई भी प्राणी मोह को प्राप्त नहीं होता।"

बड़ी उत्सुकता से ब्रह्माजी ने पूछा—"नाथ! आपका वह ज्ञान कैसा है?"

भगवान् ने कहा—"वह मेरा ज्ञान जन्म कर्मों की दिव्यता का प्रबोधक है, विज्ञान सहित वह ज्ञान है, वह रहस्य के सहित परमगुह्य तत्त्व है, वह साङ्गोपाङ्ग है। इसलिये तुम उस परात्पर गोप्य से भी गोप्य-ज्ञान को ग्रहण करो।"

ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! मेरा प्रश्न तो यह था कि रूप रहित जो आप हैं, उनके स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के रूपों को मैं भली प्रकार जान सकूँ, ऐसा उपदेश अथवा आशीर्वाद दें।"

भगवान् ने कहा—"भाई! वही तो मैं बतला रहा हूँ। मेरे इस ज्ञान के धारण करने से आपको मेरे परिमाण का पता चल जायगा कि मैं कितना छोटा, बड़ा, लम्बा, चौड़ा हूँ। विश्व में मेरी सत्ता किस प्रकार व्याप्त है इसे भी जान जाओगे। मेरे रूप और गुणों का पता भी चल जायगा कि वास्तव में अरूप और निर्गुण होने पर भी मैं कैसे-कैसे मनोहर

दिव्य रूप धारण करता हूँ और सौन्दर्य, माधुर्य तथा सौष्ठव आदि अनन्त दिव्यातिदिव्य मधुरातिमधुर गुणों के द्वारा कैसे आलौकिक कर्मों को करता हूँ। इन सब विषयों का ज्ञान तुम्हें अपने अभिमान से, अपने पुरुषार्थ से कभी नहीं हो सकता। उसका केवल एकमात्र उपाय मेरी कृपा ही है। मेरी कृपा के द्वारा ही प्राणी उस परमपद को प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञान अनुग्रह के ही द्वारा उपलब्ध होने वाला है। जो अपने प्रारब्धों को भोगता हुआ केवल मेरी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है, वह ही मेरे इस अलौकिक ज्ञान का अधिकारी होता है।"

ब्रह्माजी बोले—"हे भक्तवत्सल! मैं कृतार्थ हुआ, जो आपकी कृपा का भाजन बन सका। अब यह बतावें कि यह जगत् है क्या? इसमें सदा रहने वाला परमतत्त्व, जिसकी त्रिकाल में सत्ता समान बनी रहती है, वह क्या है?"

भगवान् ने कहा—"देखो ब्रह्मन्! जब तक यह भौतिक सृष्टि नहीं हुई थी, उसके पूर्व भी मैं विद्यमान था। उस समय सत्, असत्, स्थूल, सूक्ष्म तथा इनकी कारण भूत प्रकृति भी नहीं थी। यह जो दृश्यमान जगत् है, वह भी मेरा ही स्वरूप है, सृष्टि के अनन्तर मैं ही रहूँगा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! यह जो नानात्व दिखाई देता है, सृष्टि में अनेक पदार्थ, अनेकरूप, अनेक रङ्ग, अनेक नाम दिखाई देते हैं। सृष्टि के अन्त में ये सब कहाँ चले जाते हैं?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"यह जो तुम्हें नानात्व दिखाई देता है, यह सब मेरी ही क्रीड़ा है जैसे दिवाली के दिन चीनी के बहुत से हाथी, घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा, गूजरी, तिलंगा सिपाही, फिरङ्गी, बहू, दूल्हा, बच्चा, बच्ची आदि खिलौने आते हैं, बच्चा बड़ी देर तक उनसे खेलता है—देखो यह मेरा घोड़ा है, यह

इसका बछेड़ा है। उस बच्चे को ऊँट ला दो। उस खिलौने को हाथी पर चढ़ा दो। खेल-खाल के हाथी को तोड़-मरोड़ दिया। अब हाथी नहीं रहा, चीनी में विलीन हो गया। घोड़े को सिल पर पीस दिया। वह अपना नाम रूप मिटाकर चीनी में समा गया। सिपाही के हाथ-पैर तोड़कर मसल दिया, सिपाही अन्तर्धान हो गया, बच गई तोले भर चीनी। बात की बात में खेल समाप्त हो गया। अब वहाँ न हाथी है, न घोड़ा, केवल मात्र थोड़ी-सी चीनी शेष है। इसी प्रकार प्रलय के अन्त में सबका नाश होते-होते जो शेष रह जाता है, वह मैं ही हूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"यह तो महाराज! आपका रूप हुआ। अब अपनी माया का स्वरूप और बतावें।"

इतना सुनते ही भगवान् खिल-खिलाकर हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"ब्रह्मन्! वही तो एक भूल-भुलैया है। इसी के चक्कर में फँसकर तो ज्ञानी, भक्त, योगी, कर्मकाण्डी, जपी, तपी, संन्यासी सभी भूल जाते हैं। जिसने मेरी माया को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। मेरी माया के बिना जाने मेरा परिचय हो ही नहीं सकता। इस मेरी विचित्र बहू ने ही सबको चक्कर में डाल रखा है।"

ब्रह्माजी विस्मित होकर बोले—"प्रभो! उसका स्वरूप तो बताइये।"

भगवान कुछ रुक-रुक कर बोले—"स्वरूप, स्वरूप क्या बताऊँ, कुछ स्वरूप हो तो बताऊँ। नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न होती तो उसकी प्रतीति ही न होती। आँख के नीचे उँगली लगाओ, तो दो सूर्य चन्द्रमा दिखाई देते हैं। वृद्धावस्था में किसी को वैसे ही दूसरे चन्द्र आदि का आभास दिखाई देता है। इसी प्रकार यह प्रपञ्च-किसी की सत्ता से-होते हुए भी सत् सा प्रतीत होता है। जो सत् है, वह

किसी कारण से दीखता भी नहीं। जैसे कोई ऐसा भीतरी घर है, जिसमें सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता, सदा अंधकार ही विद्यमान रहता है। वहाँ दीपक ले जाइये, अंधकार नहीं दिखाई देगा। अंधकार वहाँ से चला नहीं गया, किन्तु दीपक के कारण दीखता नहीं। दीपक को हटा दो, फिर ज्यों-का-त्यों अंधकार छा जायगा। राहु नक्षत्रमण्डल से कहीं चला जाता हो, सो बात नहीं। रहता है नक्षत्रमण्डल में ही, किन्तु दिखाई नहीं देता। यह माया के ही द्वारा हो रहा है। मेरी माया के द्वारा ही इस 'माया' के विद्वानों ने अनेक अर्थ किये हैं। जो किये हैं, सब ठीक ही हैं, क्योंकि मेरी माया में सभी सम्भव है, असम्भव नाम की वस्तु ही माया में नहीं है। शेष सभी का उसमें सामवेश हो जाता है।"

ब्रह्माजी बहुत सोचकर बोले—"हाँ, प्रभो! कुछ ठीक-ठीक समझ में आया नहीं, मामला गड़बड़-सड़बड़-सा हो रहा है। एक बार आप कहते हैं, सब मेरा ही रूप है। फिर आप कहते हैं, मैं इस प्रपंच से सर्वथा पृथक हूँ। यह बात कैसे है? इसे स्पष्ट समझावें।"

भगवान् बोले—"अजी, ब्रह्माजी! यह तो मोटी बात है। देखो, जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचभूत-अपने कारण रूप से सभी बड़े भौतिक पदार्थों में व्याप्त से दिखाई देते हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा न होगा, जो इन भूतों से पृथक् हो। फिर भी पंचभूत इन सबसे पृथक् हैं। शरीरों के नाश होने पर महाभूतों का नाश नहीं होता। अपना ही शरीर पार्थिव है। इस शरीर में पंचभूतों के अतिरिक्त स्थूल और क्या पदार्थ है। आज यह शरीर मृतक हो जाय, तो सब भूत अपने कारणों में लीन हो जायँगे। शरीरों के नष्ट होने से महाभूतों में कोई वृद्धि नहीं होती, अनन्त शरीरों में व्याप्त होने पर उनमें कुछ

कमी नहीं होती। जैसे नदियाँ बरसात में कितने भी वेग से समुद्र में मिलें, तो भी उनसे वह बढ़ नहीं जाता। ज्येष्ठ अषाढ़ में अत्यल्प जल हो जाने से उसमें कमी भी नहीं होती। उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मा स्वरूप से सर्वान्तर्यामी भाव से स्थित होते हुए भी वास्तव में उन सबसे मैं अलग ही हूँ। इन सब बातों को वेद अन्वय और व्यतिरेक से बताते हैं और अनेक हेतुओं के द्वारा यही सिद्ध करते हैं कि भगवान् ही इस विश्व में सर्वत्र और सर्वदा व्याप्त हैं।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"अन्वय और व्यतिरेक क्या होता है?"

भगवान् ने कहा—"देखो अन्वय कहते हैं मिलाने को, एक करने को, व्यतिरेक कहते हैं अलग करने को। जैसे बहुत से लोग काले, गोरे, पीले, छोटे, मोटे, पतले हैं। इन सबका दो हाथ, दो पैर वाले पुरुषों में अन्वय है, अर्थात् एक पुरुष संज्ञा बाँध दी। अब जो जरा नामक झिल्ली से पैदा होने वाले जीव हैं, उन सबका जरायुज में सामवेश कर दिया। पक्षियों की नाना जातियाँ हैं, नाम कहाँ तक गिनावें, जो अंडे से पैदा हों, वे अंडज जीव। वृक्षों की असंख्यो जातियाँ हैं, उन सबका उद्भिज संज्ञा में समावेश कर दिया। पसीने वालों का स्वेदज में अन्वय कर दिया। अब इन चारों प्रकार को एक जीव में मिला दिया। जिसमें जीवन शक्ति हो वह जीव, सबका जीव में अन्वय कर दिया। इसी प्रकार श्रुति सब पदार्थों को कह कर अन्त में बताती है—यह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। इसमें जो नानात्व दिखाई देता है, वह कुछ नहीं है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ, यह तो ठीक है। जिसमें सत्ता हो, चैतन्यता हो और आनन्द की अनुभूति हो, वही ब्रह्म। यह सभी जीवों में न्यूनाधिक दिखाई देता है, अतः सभी तारतम्य से सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। अब व्यतिरेक को और समझावें।"

भगवान् बोले—"अजी, व्यतिरेक कहते हैं असली वस्तु को छाँट लेने से सार-सार निकाल लो, फुक्कास को फेंक दो। इस पर एक दृष्टान्त सुनो। मथुरापुरी में एक ब्राह्मण देवता रहते थे। उनकी एक बड़ी ही सुन्दरी, रूप गुणवती सुशीला; लज्जावती, शीलवती नाम की कन्या थी। शीलवती यथा नाम तथा गुण वाली थी। लड़कियों में प्रधान गुण होना चाहिये—शील। जिसमें शील है उसमें सभी गुण आ जाते हैं। जिसने शील-संकोच का परित्याग कर दिया है, उसके पास से शनैः शनैः सभी गुण जाने लगते हैं और उनके स्थान की पूर्ति दुर्गुण आ-आकर करने लगते हैं।

"पिता ने अपनी प्यारी पुत्री शीलवती का विवाह समीप के ही एक ग्राम में बड़े सुशील विद्वान् कुमार के साथ कर दिया। उस ग्राम में और भी यहाँ की लड़कियाँ विवाही थीं। श्रावण का महीना था। वे सभी सुन्दर-सुन्दर अँगरखा, पगड़ी और रंग-बिरंगे चीरा बाँध कर अपनी-अपनी ससुरालों में खाँड़ खाने के लिये जाने लगे। कोई घोड़ी पर चढ़कर जा रहा था, उसके पीछे-पीछे लोटा डोर लेकर नाई चल रहा था। कोई बहली में बैठकर, कोई रथों में सवार होकर हँसते खेलते ससुराल जा रहे थे। श्रावण के दिनों में सभी पिता अपनी पुत्रियों को ससुराल से घर बुला लेते हैं। शीला भी अपने पिता के घर पर ही थी। उसका पति सुन्दर कपड़े पहिन कर अपने चार और साथियों के साथ बूरा खाने के लिये ससुराल के लिए चला। उन चारों की भी ससुराल वहीं थी। सभी एक अवस्था के थे। सभी ससुराल में आने के कारण सजे-बजे थे। सभी ने वस्त्राभूषणों से अपने आप को सजाया था। विश्राम घाट पर आकर वे लोग यमुनाजी में आचमन करने के लिये आये। संयोग की बात, उसी समय शीला अपनी सुन्दरी सहेलियों को साथ लिये हुए यमुना स्नान के निमित्त आई। दूर से ही उसने अपने पति को देखा। वह लज्जा

के मारे शरीर में सिमिटने लगी और एक सहेली के पीछे छिप गई। सब समझ गईं इसके स्वामी इन लोगों में ही कोई है। सहेलियाँ बड़े उल्लास के साथ पूछने लगीं—शीला ! बहिन, बता कौन से हैं वे ?" शीला चुप। कुलवती, शीलवती कन्या अपने पति को संकेत से खुलकर कैसे बता सकती है। वह द्वापर युग का समय था। यदि कलियुग होता, तो वह झट चुड़ैल की तरह सिर खोलकर दाँतों को दिखाती हुई सबके सामने उसके सिर पर सवार हो जाती और उसका नाम लेकर पुकारती—'रमेश ! तुम कब आये ? चलो चलें, यह कहकर हाथ पकड़ कर ले जाती। यह अनार्यों की संस्कृति है। द्वापर युग में ऐसा निर्लज्ज व्यवहार अनार्य भी नहीं करते थे।

'हाँ, तो जब लड़कियाँ उसे बार-बार तंग करने लगीं और वह और भी अधिक सिकुड़ने लगी, तो उन विवाहित लड़कियों में एक सियानी लड़की थी। वह ससुराल हो आई थी। ससुराल के सदाचार को जानती थी। उसने उन पाँचों की ओर देखकर कहा—'अच्छा' वे जो साँवले रंग के, पीला दुपट्टा ओढ़े हैं वे हैं क्या ?' शीला ने संकोच से सिर हिला दिया। फिर उसने पूछा—"उनकी बगल में जो एक छरहरे से गोरे, सुरङ्गी रङ्ग की लाल पगड़ी पहिने, सफेद अँगरखा वाले हैं ?" शीला ने निषेधसूचक संकेत किया। लड़कियों की उत्सुकता बढ़ रही थी।

"उस सियानी लड़की ने पूछा—"वह जो हस-हँसकर बातें कर रहे हैं, रेशमी नीले रंग का चीरा पीली पाग पर बाँधे हैं, वे हैं ?" यह सुनकर शीला ने फिर सिर हिला दिया। उसने कहा—"अच्छा' वह जो गेहुँए रङ्ग के से हैं, जिनके अङ्गरखे में लाल रेशमी गोट लगी है, वे हैं ?' शीला ने फिर धीरे से सिर हिला [illegible]। चार को कह दिया—नेति-नेति। यह नहीं है, यह नहीं

है। तब लड़कियाँ समझ गईं जो पाँचवाँ शेष रहा वही इसका पति है। उससे पूछा—"तब हम समझ गईं, वह जो मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं, सफेद अँगरखा पहिने छड़ी हिला रहे हैं वे ही हैं।" क्यों, बोलती क्यों नहीं? अबके शीला ने कुछ नहीं कहा। वह लज्जित होकर मौन हो गई।

"इसी प्रकार भगवती श्रुति लज्जा के साथ अपने परमपति परमेश्वर के सम्बन्ध में 'नेति नेति' कह कर—लज्जित होकर चुप हो जाती है, संकेत से बताती है। इसी का नाम है व्यतिरेक। इस प्रकार चाहें अन्वय करके उसे समझो या सबको अलग करते-करते जो शेष रह जाय इस प्रकार समझो, दोनों भाँति से वही एक आत्मतत्व शेष रहेगा। बस, आत्मतत्व के जानने की इच्छा वालों के लिये इतना ही ज्ञातव्य विषय है, जिसने इतना जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। जिसने यह नहीं जाना उसने कुछ भी नहीं जाना।"

भगवान् ब्रह्माजी से कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! यही मेरा सारतत्त्व है। आप कल्पकल्पान्तरों में भी इसे न भूलें। इसे स्मरण रखते हुए आप चाहे जैसे सृष्टि करें, चाहे जितना प्रपंच का विस्तार करें, आपको कभी भी मोह न होगा। समझ गये न?"

ब्रह्माजी ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—"हाँ, महाराज! मैं आपकी महत्ता, आपका स्वरूप, माया का स्वरूप समझ गया। और यह भी समझ गया कि आप अनुग्रह द्वारा ही प्राप्त होते हैं।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! 'स्पष्टवक्ता न वंचकः' स्पष्ट कहने वाला ठग नहीं होता। न जाने आप यह क्या गोलमाल कह गये। ब्रह्माजी तो ईश्वर हैं, समझ ही गये होंगे, उन्हें क्या समझना, किन्तु सच्ची बात तो यह है, कि हम कुछ

भी नहीं समझे। माया, सत्, असत्, अन्वय, व्यतिरेक है भी, नहीं भी है। ऐसे-ऐसे पारिभाषिक शब्द कहकर आपने एक चक्कर-सा डाल दिया। हम भी आपकी हाँ में हाँ मिलाते गये। बिना समझे बूझे हूँ-हूँ करते गये। बीच में कुछ कहें, तो आप विक्षेप मानते हैं।"

इतना सुनते ही सूतजी बड़े जोरों से हँस पड़े और हँसते-हँसते कहने लगे—"महाभाग! आपके लिये क्या समझना बूझना? आप तो सब समझे समझाये बैठे हैं। न जाने कब से समझते चले आ रहे हैं? यह तो आप संसारी लोगों की ओर से कह रहे हैं। इस विषय का विस्तार करना चाहते हैं, सो मुनिवर! इस कथा-प्रसंग में इस गूढ़तत्त्व का विस्तार नहीं किया जाता। मतभेद का कारण यह माया ही है। 'यथा भासो यथा तमः' के ऊपर अनेक आचार्यों ने अनेक मत प्रकट किये हैं। उन सबको कहने लगूँ, तो मेरी कथा का प्रवाह रुक जायगा। कथा-प्रसङ्ग बहुत गम्भीर जटिल बन जायगा। इसलिये यहाँ तो इतना ही रहने दें। इस माया को ही लेकर अनेक वाद विवाद हैं। कोई इसे भगवान् की नित्य शक्ति मानते हैं, कोई अघटन घटना पटीयसी बताते हैं। कोई इसे न सत्, न असत्, न सदसत् कहकर पिंड छुड़ाते हैं। इस प्रकार इस विषय में बड़े-बड़े मतभेद हैं। माया का चक्कर ही ऐसा है, कोई भी तर्क द्वारा इसका यथार्थ रूप निर्णय नहीं कर सके हैं। सभी अँधेरे में टटोल रहे हैं। जो सब कुछ त्यागकर मायापति की ही शरण में चले गये हैं। वे इसका मर्म जान गये हैं। उनके सामने यह छिप जाती है जैसे बाघाल स्त्री मेले ठेले में मिले, तो कैसी बढ़ बढ़कर बातें बनाती है, सभी को खरी खोटी सुनाती है। जहाँ उसके पति से मिलना हुई कि वह पर्दा करने लगती

है, छिप जाती है। या यों समझ लो माँ का पिता के साथ जो भी सम्बन्ध हो। हमारी तो वह जननी ही है। जननी रूप से ही हम उसे जानते, मानते या आदर सत्कार करते हैं। मुनिवर! अब आप मुझे माया के ही चक्कर में न अटकाये रहिये। कुछ-कुछ कृष्ण-कथा होने दीजिये। आगे के प्रसंग को चलने दीजिये।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है सूतजी, इस गोरखधन्धे को फिर कभी अवकाश के समय समझाना। हाँ, तो ब्रह्माजी भगवान् से शिक्षा पाकर आगे क्या करतेभये? सो अब सूतजी, आपका श्रीसीतारामजी महाराज श्रीराधेश्यामजी ग्वाल-बाल भला करें। हमें सब वृत्तान्त सुनाइये।"

इस पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् नारायण, लोक पितामह ब्रह्माजी को उपदेश देकर अन्तर्धान हो गये। भगवान् के तिरोहित हो जाने पर सर्वभूतमय ब्रह्माजी ने उस दिशा को प्रणाम किया, जिस दिशा में भगवान् विराजमान थे। फिर पिछले कल्पों के अनुसार वे सृष्टि रचना में प्रवृत हुए। झुण्ड के झुण्ड जीवों को वे उसी प्रकार निकालने लगे जिस प्रकार बाजीगर बात की बात में रुपयों का ढेर लगाता जाता है। अपनी झोली में से चित्र विचित्र वस्तुएँ निकालता जाता है।

"एक समय की बात है, ब्रह्माजी ने एक अनुष्ठान आरम्भ किया। वह अनुष्ठान किसी सांसारिक वस्तु की प्राप्ति के निमित्त नहीं था। केवल 'प्रजा का मङ्गल हो'—यही उनका शुभ संकल्प था। उसी समय घूमते-फिरते वीणा बजाते, हरि गुण गाते ब्रह्माजी के सब पुत्रों में श्रेष्ठ महाभागवत महामुनि नारदजी वहाँ आकर उनकी सेवा करने लगे।"

जिस प्रकार शौनकादि मुनि सूतजी से पूछते हैं उसी

प्रकार महाराज परीक्षित् महामुनि शुकदेवजी से पूछते हैं—"मुनिवर ! नारद जी तो ब्रह्माजी के पुत्र ही ठहरे। वे क्या कुछ समझना चाहते थे, या कर्तव्य बुद्धि से निष्काम ही सेवा कर रहे थे ?"

इस पर शुकदेवजी बोले—"राजन् ! आप निष्काम किसे समझे बैठे हैं ? वास्तव में सकाम तो वह है, जो इन्द्रिय सांसारिक कामना से—भोगों के लिये—कर्म किये जायँ। जो भगवत् तत्त्व समझने को केवल भगवान् की प्रसन्नता के निमित्त ही कर्म किये जाते हैं वे ही निष्काम कर्म कहलाते हैं। सो नारदजी ने भी मायापति भगवान् का कर्म जानने की इच्छा से बड़े सुन्दर शील के साथ, अत्यन्त विनय के साथ, इन समस्त इन्द्रियों को विषयों से हटाकर, अपने ज्ञानी पिता ब्रह्माजी की मनोयोग के साथ सेवा करने लगे। इस प्रकार सेवा द्वारा उन्होंने अपने पिता को सन्तुष्ट किया। नारदजी ने जब देखा—मेरे जगद्भावन पिता मेरी सेवा से सन्तुष्ट हैं, तब उन्होंने ये ही प्रश्न उनसे पूछे। तब पिताजी ने उन्हें, दस लक्षणों वाली श्रीमद्भागवत का उपदेश दिया। इस दस लक्षणों में ही आपके जितने चालीस के लगभग पिछले प्रश्न हैं, उन सबका समावेश हो जाता है। उन दस लक्षणों को श्रद्धापूर्वक सुनकर तथा समझकर मनुष्य निस्सन्देह हो जाता है। अपने पिता से सीखकर उसी को श्रीनारदजी ने मेरे पिता को सुनाया, जब वे शोकसागर में मग्न थे। उन अपने पिता से वह सब मैंने सुना। अब आपने भी मुझसे मिलते-जुलते ही बहुत से प्रश्न पूछे हैं। उन सबका उत्तर मैं इस दस लक्षणों वाली श्रीमद्भागवत के ही द्वारा दूँगा। आप सावधान होकर सुनें।"

सूतजी मुनियों से कहने लगे—"मुनियो ! इतना कहकर

मेरे गुरुदेव ने दस लक्षणों वाले इस श्रीमद्भागवत महापुराण का आरम्भ किया ।"

छप्पय

वेदगर्भ ! सुनु सबहिँ शास्त्र को सार सुनाऊँ।
हूँ व्यापक सर्वत्र सर्वदा नहीं लखाऊँ॥
जाहि जानि जग रचो मोह होवै नहिँ कबहूँ।
देके सद् उपदेश भये अन्तरहित हरिहूँ॥
बीणावादक देवऋषि, सुनी पितातें भागवति।
तिनि उपदेशे मम जनक, तोहिँ सुनाऊँ सो नृपति॥

दस लक्षण वाली भागवत

[९६]

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥*

(श्रीभा० २ स्क० १० अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

जामें सर्ग, बिसर्ग, स्थान, पोषण, ऊती सब ।
मन्वन्तर ईशानुकथा सुन लक्षण नृप ! अब ॥
है निरोध पुनि मुक्ति दशम आश्रय बतलावें ।
दशम तत्त्व की सिद्धि हेतु नौऊ कहलावें ॥
श्रुतितें अरु बहु अर्थतें, साक्षात कोई कहें ।
जापै हरि किरपा करें, भक्ति अहैतुकि ते लहें ॥

किसी भी विषय का निरूपण करने के पूर्व संक्षेप में उनके भेद लक्षण बताकर विद्वान तब उसकी व्याख्या किया करते

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"इस भागवत शास्त्र में सर्ग, विसर्ग स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध मुक्ति और आश्रय—ये दस विषय हैं। इन सब में से दशवें आश्रय की ही विशुद्धि के लिये, उसी का यथार्थ मर्म जानने के लिये—महात्माओं ने शेष नौओं का लक्षण किया है।"

हैं। महाराज परीक्षित् ने पीछे लगभग चालीस प्रश्न किये थे। आचार्य्य भगवान् शुक उन प्रश्नों को भूले नहीं हैं। उन प्रश्नों के ही उत्तर देने का उपक्रम बाँध रहे हैं। महाराज के समस्त प्रश्नों का उत्तर वे श्रीमद्भागवत से ही देंगे। अतः पहिले भागवत की उत्पत्ति और उसका मूल स्वरूप समझाया। बीज छोटा होता है, जब उसमें से अंकुर निकल कर पल्लवित और पुष्पित होकर वृक्ष बन जाता है और फल भी आने लगते हैं, तो वही बीज का विस्तार कहलाता है, मूल भागवत का बीज पाँच श्लोकों में ही है। जिसका उपदेश भगवान् ने सृष्टि के आदि में लोक पितामह ब्रह्मा को किया था। मूल बताकर फिर अपनी परम्परा बताकर यह सिद्ध किया, कि मेरा ज्ञान ऐसा नहीं है कि जो वैसे ही इधर-उधर से सुन लिया हो, वह परम्परागत है। सम्प्रदाय-पुरस्सर है और हमारे सम्प्रदाय के मूल पुरुष हैं श्रीमन्नारायण। इस प्रकार शास्त्र का विषय, प्रयोजन सम्बन्ध और अधिकारी बताकर लक्षण बताते हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहने लगे—"राजन्! आपके जितने प्रश्न हैं, वे सब पुराण सम्मत हैं। इन सबका पुराणों में निरूपण है।"

महाराज ने पूछा—"प्रभो! पुराण किसे कहते हैं, पुराण के लक्षण क्या हैं? पुराण सब कितने हैं?"

श्रीशुक बोले—"जिसमें पुराने आख्यान हों, वेद के संक्षिप्त वचनों की व्याख्या की गई हो, उन्हें पुराण कहते हैं। पुराण असंख्य हैं, किन्तु इस समय अठारह महापुराण, अठारह उप-पुराण और अठारह ही औपपुराण, इतने प्रसिद्ध हैं सभी का संग्रह मेरे पिता भगवान् व्यासदेव ने किया है। दस लक्षण जिसमें हों, उसे पुराण कहते हैं और जिसमें पाँच ही हों वह उपपुराण कहलाता है। वे दश लक्षण ये हैं—सर्ग, विसर्ग,

स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और दशवाँ आश्रय कहलाता है। आश्रय ही प्रधान है, उसी की सिद्धि के लिये शेष नौ का कथन है। जैसे (१) दुहनी लेकर गौ के समीप जाना, (२) बछड़ा छोड़ना, उसे सुहलाना, (३) स्तन धोकर उनका दुहनी से संयोग करना, (४) दूध दुहना, (५) उसे गरम करना, (६) जामन देकर जमाना, (७) बने हुए दही को मथने के लिये मथानी, रई, रस्सी जुटाना, (८) दही को रई से निरन्तर मथते रहना, (९) ऊपर आये हुए झागों के सहित मक्खन के कणों को एकत्रित करना और (१०) लौंदा बनाकर पट्ट से उसे हाथ से निकाल लेना। यहाँ दूध दुहने से लेकर मक्खन का लौंदा निकालने तक जितने उपक्रम हैं, सभी आवश्यक हैं। किंतु उन सबमें प्रधान है मक्खन का लौंदा। उसी के लिये ये सब किये गये हैं। इसी प्रकार आश्रय तत्त्व की सिद्धि के लिये ही सर्ग विसर्ग आदि का वर्णन है। इसी को कहीं श्रुति ने वाक्यों के द्वारा, कहीं तात्पर्य से और कहीं साक्षात् रूप से वर्णन किया है।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो! आपने कहा कि तुम्हारे प्रश्न पुराण सम्बन्धी हैं, तो आप मुझे कौन-सा पुराण सुनावेंगे! सब पुराण श्रवण करने का समय नहीं है। मेरी मृत्यु के सात दिन ही हैं। सात में जो समाप्त हो जाय, और जिसमें मेरे सभी प्रश्नों का साङ्गोपाङ्ग उत्तर मिल जाय, वही पुराण मुझे सुनाइये।"

इस पर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्, मैं आपको श्रीमद्भागवत् महापुराण सुनाऊँगा। उसमें आपके सभी प्रश्नों के उत्तर मिल जायँगे, यह सभी पुराणों का तिलक रूप है। इससे बढ़कर कोई पुराण नहीं। पुराण के जो दस लक्षण बताये गये हैं, वे सब इसमें विद्यमान हैं।"

इस पर महाराज ने कहा—"भगवन्! आपने जो मुझे पुराण के दस लक्षण बताये हैं, उन सबकी मैं क्रमशः संक्षेप में व्याख्या सुनना चाहता हूँ। पहिले यही बतावें कि 'सर्ग' किसे कहते हैं?"

भगवान् शुक ने कहा—"हे नृपवर्य! ब्रह्मा की जो एक अचिन्त्य शक्ति है मूल प्रकृति, उसमें जब काल कर्मों के अधीन क्षोभ उत्पन्न होता है तो उसमें कुछ क्रिया होने लगती है। सत्त्व, रज और तम जब तीनों समान भाव से रहते हैं, तो उसे प्रकृति कहते हैं। उस समय वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं होती। जैसे, दोनों पैरों को मिलाकर समान उठावें तो चल नहीं सकते। एक कुछ मुड़कर आगे हो, एक पीछे हो, दोनों में कुछ विषमता हो तो गमन हो सकता है। पति पत्नी एक वय, एक रंग, एक रूप, एक बराबर के हों, तो उनसे संतति नहीं हो सकती। दोनों में कुछ छोटा-बड़ापन, कुछ विषमता होने से ही आगे का वंश बढ़ सकता है। भाव यह है कि साम्यावस्था निश्चेष्ठ होती है। विषमता में ही हलचल, वृद्धि, क्षय, लड़ाई-झगड़े, मार-धाड़ आदि सम्भव हैं। जब मूल प्रकृति से पृथ्वी, जल, वायु और आकाश ये पंचभूत तथा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पंचतन्मात्रायें, वाक, पाणि, पाद, लिङ्ग, गुदा, ये पंचकर्मेन्द्रियाँ, आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन तथा महत्त्व और अहंकार ये दो और तीन तत्त्व जब ये सब उत्पन्न होते हैं, तो इसे सर्ग कहते हैं।"

इस पर फिर महाराज ने पूछा—"महाराज! विसर्ग क्या हुआ? अब विसर्ग के लक्षण बताइये।"

इस पर महामुनि श्रीशुक ने कहा—"जो विशेष रूप से सर्ग है उसी को विसर्ग कहते हैं। विराट पुरुष के सम्बन्ध से जो अनेक

आकृति वाले, चित्र-विचित्र कर्म करने वाले नाना जाति के असंख्य जीवों की उत्पत्ति का ही नाम विसर्ग है।"

"स्थान की क्या परिभाषा है" महाराज ने पूछा।

तब श्रीशुक बोले—"राजन्! वस्तुएँ उत्पन्न तो होती जायँ किन्तु उनको मर्यादा में रखने की व्यवस्था न हो, तो वे बेकार हो जायँगी। अतः उत्पन्न हुए पदार्थों का यथावत मर्यादा में रखना, उन्हें मर्यादा से बाहर न होने देना, इसी का नाम 'स्थान' है। जैसे कोई यन्त्र है, उसमें चाभी देने से वह चलने लगता है, यदि वह मर्यादा में न रखा जाय, तो चलता ही रहेगा, बिगर जायगा, क्या अनर्थ कर डालेगा, जब तक उसे कोई मर्यादा में रखने वाला न हो, तब तक वह इष्ट की प्राप्ति नहीं करा सकता। इसलिये सृष्टि सम्बन्धी पदार्थों को मर्यादा में रखने से भगवान् का उत्कर्ष प्रकट होता है, वही स्थान है।"

"फिर पोषण क्या रहा?" महाराज ने पूछा।

श्रीशुक बोले—"राजन्! पोषण और कोई वस्तु नहीं। भगवान् के अनुग्रह को ही पोषण कहते हैं। बिना भगवत् अनुग्रह के न तो साधन आरम्भ हो सकता है, न किसी प्रकार की सिद्धि ही प्राप्त हो सकती है। अतः सृष्टि कार्य पोषण से ही वृद्धि को प्राप्त होता है। वृक्ष लगा तो दिया, किन्तु उसका पालन-पोषण न करें, तो वह सूख जायगा, फल न दे सकेगा।"

फिर महाराज परीक्षित् बोले—"मन्वन्तर की क्या परिभाषा है? मन्वन्तर में भगवान् क्या करते हैं?"

यह सुनकर शुकदेवजी ने कहा—"राजन्! आठ पहर का एक रात्रि दिन कहलाता है। तीस दिनों का एक महीना। बारह महीने का एक वर्ष। हमारा एक वर्ष देवताओं का एक दिन कहलाता है। इसी दिन के परिमाण से तीन सौ साठ दिनों का देवताओं का एक वर्ष होता है। ऐसे हजार दिव्य वर्ष का कलि,

दो हजार का द्वापर, तीन हजार का त्रेता और चार हजार का सत्ययुग। इनमें क्रम से दो, चार, छः और आठ सौ वर्ष के सन्धि सन्ध्यांश और होते हैं। इस प्रकार बारह हजार दिव्य वर्षों की एक चौकड़ी कहलाती है। ऐसी चौकड़ी हजार बार जब बीत जाती है तो उसे ब्रह्माजी का एक दिन कहते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन में चौदह मनु बदल जाते हैं, एक मनु इकहत्तर चौकड़ी से कुछ अधिक रहते हैं। उतने काल को मनवन्तर कहते हैं। इसमें भगवान छः रूप रखकर उस मन्वन्तर की रक्षा करते हैं। मनु, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि, देवगण और मन्वन्तर का विशेष अवतार— ये सब भगवान के ही कला और अंशावतार होते हैं।"

फिर महाराज परीक्षित् ने कहा—"हाँ, प्रभो! मन्वन्तर का अर्थ तो मैं समझ गया, अब 'ऊति' के लक्षण और बताइये।"

श्रीशुक बोले—"राजन्! नाना जीव नाना योनियों में क्यों जन्म लेते हैं। आप कह सकते हैं, भगवान उन्हें उन योनियों में डाल देते हैं। हाँ, यह ठीक है, सब भगवत् प्रेरणा से ही हो रहा है, फिर भी एक को वेदज्ञ ब्राह्मण बना देते हैं, दूसरे को श्वपच। एक को हाथी, दूसरे को सूकर। इसमें कुछ तो आधार होगा, नहीं तो भगवान् में वैषम्य दोष आ जायगा; किन्तु ऐसा है नहीं, उनकी समस्त जीवों में साम्य दृष्टि है। इससे यही सिद्ध हुआ कि सभी जीव कर्म वासनाओं के ही अधीन होकर नाना योनियों में जन्म लेते हैं। आप कहेंगे, सृष्टि के आदि में जीवों की कर्म वासनायें कहाँ से आयीं, तब तक तो सृष्टि थी ही नहीं। बिना सृष्टि के कर्म हो नहीं सकते। बिना कर्मों के वासना बनती नहीं। सो, इसका उत्तर यह है कि सृष्टि का कोई आदि तो है ही नहीं। इस सृष्टि के पूर्व भी तो सृष्टि हो चुकी है, उन्हीं के कर्म जीवों के साथ लिपटे हुए थे। जैसे बहुत-सी औषधियों के

बीज जमीन में पड़े रहते हैं। हम समझते हैं वे नष्ट हो गये, किन्तु जहाँ वर्षा हुई कि वे जम आते हैं। फल पुष्प उत्पन्न करने लगते हैं। उसी प्रकार प्रलय के समय कारण रूप से वासनाओं के बीज बने रहते हैं। जहाँ सृष्टि का समय आया कि जीव शरीर धारण करके अपनी-अपनी वासनाओं के अनुसार कर्मों में स्वतः ही प्रवृत्त हो जाते हैं। आप कह सकते हैं कि—इतने असंख्य जीव हैं, इनमें कुछ गड़बड़ नहीं हो जाती? किसी के कर्म किसी के कर्मों में मिल नहीं जाते? सो, राजन्! उन प्रभु की व्यवस्था अचूक है। हजारों गौओं का झुण्ड खड़ा हो। बहुत से बछड़ों को एक साथ छोड़ दो, बछड़े उनमें से अपनी माँ को ढूँढ़ लेंगे। उसी के स्तन का पान करने लगेंगे। इसी प्रकार जिसके जो कर्म होते हैं, उसी को वे पकड़ लेते हैं। इस कर्म में वासना का ही नाम 'ऊति' है।"

महाराज बोले—"हाँ, महाराज! यह सत्य है कि जीव कर्म वासनाओं में ही बद्ध होकर सब कार्य कर रहे हैं। अब आप मुझे ईशानुकथा का मर्म समझाइये।"

महाराज परीक्षित् के प्रश्न को सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"राजन्! ईश कथा और उनके अनुयायी भक्त और पार्षदों की कथा को ईशानुकथा कहते हैं। भगवान् नाना योनियों में-कर्म के अधीन न होकर-स्वेच्छा से अवतार ग्रहण करते हैं, भाँति-भाँति की दिव्य अलौकिक लीलायें करते हैं, जिनके श्रवण मात्र से भवबन्धन छूट जाता है। भगवान् के अवतारों की उन्हीं प्यारी, मनभावनी, चित्ताकर्षक कथाओं का नाम ईशानुकथा है। भगवान् के समान ही उनके पार्षदों और भक्तों की सुललित कथायें होती हैं। उनमें स्थान-स्थान पर भगवत् कृपा का वर्णन होता है। वे भक्तों की कथायें भी अन्य नाना प्रकार के उपाख्यान और इतिहासों से वृद्धि को प्राप्त होती हैं। भगवान् और भक्तों के संसर्ग

से कुटिल अभक्त भी वर्णनीय और स्मरणीय बन जाते हैं। परम भागवत रामदूत श्री हनुमान्‌जी जगज्जननी सीताजी को खोजने गये। खोजते-खोजते वे क्रूरकर्मा राक्षसराज रावण के अन्तःपुर में घुस गये। रात्रि का समय था, रावण अपनी हजारों स्त्रियों के सहित सोया हुआ था। वहाँ भाँति-भाँति की मदिरायें, विविध जन्तुओं के मांस रखे हुए थे। आदि कवि भगवान् वाल्मीकि ने उन मांस मदिराओं का कितना विशद वर्णन किया है। जिस मदिरा को स्पर्श करने से पाप लगता है, भूल में भी एक बार ब्राह्मण पी ले, तो उसका विप्रत्व नष्ट हो जाता है, ऐसी निषिद्ध वस्तुओं का वर्णन भी परम भागवत हनुमान्‌जी के संसर्ग से पुण्य बन गया है। असंख्यों भक्त सुन्दर काण्ड का नित्य पाठ करते समय इन अमेध्य वस्तुओं का धर्म समझकर श्रद्धा से पाठ करते हैं इस प्रकार भगवान् और भक्तों के सम्बन्ध से बढ़ी हुई सभी कथाओं का समावेश ईशानुकथा के अन्तर्गत हो जाता है।"

फिर महाराज ने पूछा—"स्वामिन्! निरोध का क्या लक्षण है?"

श्रीशुक बोले—"राजन्! भगवान् जब अपनी समस्त शक्तियों को समेटकर अपने में लीन कर लेते हैं और झपकियाँ लेते हुए योगनिद्रा को स्वीकार कर लेते हैं, उसी का नाम निरोध है। सब जीवों को अपने में रुद्ध कर लेते हैं, कैद कर लेते हैं कि अब तुम यहीं चुपचाप पड़े रहो। जैसे बनिया अपने सभी फैले हुए सामान को समेट कर दूकान में रखकर ताला लगाकर उन्हें बन्द कर देता है, ये महा दुकानदार श्रीमन्नारायण भी यही करते हैं। इसे चाहे प्रलय कह लो या संहार। साठ कहो या तीन बीसी, बात एक ही है।"

राजा ने फिर पूछा—"प्रभो! मुक्ति का भी लक्षण बतावें।"

भगवान् शुक हँसे और बोले—"राजन्! मुक्ति के लक्षण क्या तुम्हारे कारावास में अपराधी हैं, कारावास से छूट गये, मुक्त हो गये। अज्ञान से ही लोग बँधे हैं। ममता ही बन्धन है। मोह जीव को कसे हुए है। मोह का जहाँ क्षय हुआ, मोक्ष हो गई। अज्ञानजन्य अनात्मभाव को छोड़कर आत्मा का अपने स्वरूप में हो जाना ही मुक्ति है।"

राजा बोले—"जब मुक्ति ही हो गई तो आश्रय क्या रहा?"

श्रीशुक शीघ्रता से बोले - "अरे भैया! आश्रय बिना कोई कैसे रह सकता है? मुक्ति भी तो किसी के आश्रित है। संसार सर्वत्र आश्रय ही खोजता है वहाँ रहना हो तो किस आश्रय से रहे। संसार एक दूसरे के आश्रय पर ही अवलम्बित है। पुरुष अपने बड़ों का आश्रय चाहते हैं, सेवक स्वामी के आश्रय के उत्सुक हैं। पंडित किसी राजा के आश्रय में रहने का प्रयत्न करते हैं। स्त्री पति को अपना आश्रय मानती है। जिससे सम्पूर्ण चराचर जगत की उत्पत्ति स्थिति, और प्रलय होती है, वही परब्रह्म इस सम्पूर्ण विश्व के आश्रयभूत हैं। उसी को शास्त्र परमात्मा कहकर वर्णन करता है।

"आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक- इन तीनों को जो जानता है, उसे आत्मा को ही सबका अनन्य आश्रय समझना चाहिये।"

इस पर राजा ने कहा—"भगवन्! यह आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक क्या वस्तु हैं?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा - "देखो, राजन्! मैं इस फूल को देख रहा हूँ। तो फूल हुआ अधिभूत पदार्थ, देखता किससे हूँ? आँखों से। आँखों में देखने की शक्ति कहाँ से आई? चक्षु के अधिष्ठातृ देवता सूर्य से। आँखें बिना सूर्य के नहीं देख सकतीं। आँखें तो वे ही हैं। अन्धेरे में सूर्य प्रकाश नहीं देता,

इससे वे नहीं देख सकतीं। इसलिये सूर्य हुआ आधिदैव, बहुत सी आँखें ऐसी हैं, जो देखने में सुन्दर दीखती हैं, सूर्य भी रहता है। तो भी उनसे देख नहीं सकते। क्यों कि उनमें चक्षुत्व नहीं है। जो सूर्य और गोलक दोनों में प्रकाश विभाजन करता है। वह चक्षु आदि इन्द्रियों का साक्षी जीव ही अध्यात्म पुरुष है।"

"जो अध्यात्मिक पुरुष जीव हैं, इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव सूर्य आदि देवता हैं और ये समस्त आधिभौतिक दृश्य पदार्थ हैं। इनमें से एक का भी अभाव हो जाय, तो हम दूसरे को नहीं जान सकते। जैसे मैं फूल को देख रहा हूँ आँख और जीवात्मा के द्वारा। फूल ही न रहे, तो आँखों के देव और जीव रहते हुए भी क्या देखेंगे? आँखों में देखने की शक्ति ही न हो, तो फूल और जीव के रहते हुए भी नहीं देख सकते। फूल भी रहें, आँखें भी रहें, किन्तु जीव न रहे, तो क्या देखेगा? इन तीनों का परस्पर में अन्योन्य सम्बन्ध है। इन तीनों का भी जो साक्षी है, इन तीनों को जो जानता है वही आत्मा है, उसी को परमात्मा कहते हैं। वही सबका अनन्य आश्रय है। वह स्वयं सबका आश्रय होते हुए भी वह किसी का आश्रय नहीं। वह विभु है, सर्वान्तर्यामी और परिपूर्ण नित्य शुद्ध और कार्य कारण से रहित है। समस्त शास्त्रों का वही लक्ष्य है। ये जो सर्ग, विसर्ग स्थान आदि नव बताये हैं—ये सब इसी दशम आश्रम तत्त्व की सिद्धि के लिये हैं। वह दशम आश्रय इस भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण ही हैं। अन्य सब स्कन्ध उस दशम की परिपुष्टि के लिये ही हैं। उसी की भूमिका और उपक्रम हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने तुमसे श्रीमद्-भागवत तथा अन्य सभी पुराणों के दश लक्षणों का संक्षेप में

वर्णन किया। अब इसके अनन्तर आप क्या पूछना चाहते हैं ?"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैंने दश लक्षणों को तो समझ लिया, आप आगे इनका विस्तार करेंगे ही। अब आप मुझे इस विषय को समझाइये कि विराट् पुरुष इस ब्रह्माण्ड को फोड़कर उत्पन्न कैसे हुआ ?"

इतना सुनकर श्रीशुकदेवजी थोड़ी देर चुपचाप शान्त होकर सोचने लगे, कि राजा को किस प्रकार इस गहन विषय को उपाख्यान के रूप में, सरल विधि के साथ समझाऊँ।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहने लगे—"मुनियो ! जिस प्रकार मेरे गुरुदेव ने बड़ी सुन्दर अलंकारिक भाषा में इस गहन विषय को समझाया, उसे मैं आगे आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। आप इसे धैर्य के साथ सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

आश्रय सबके वही अखिलपति अलख अगोचर।
रसनाकूँ विधि बने भरन कूँ हो विश्वम्भर॥
सृष्टि समेटें सबहिं तबहिं हरि शिव कहलावें।
यों वे व्यापक मल्ल विविध विधि रूप बनावें॥
भौतिक दैविक आतमिक, तीनिहु कूँ नियमनि करें।
बालकवत् क्रीड़ा करें, रचें ताहि पोसें हरें॥

विराट् ब्रह्माण्ड वर्णन

[९७]

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः ।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः ॥
तास्वयात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान् ।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥*

(श्री भा० २ स्क० १० अ० १० ११ श्लो०)

छप्पय

करयो सृष्टि संकल्प रच्यो जल बसे उदरमहँ ।
इन्द्रिय, मन, तनु-शक्ति रची पुनि प्राण उदित तहँ ॥
भूख प्यास जब लगी कर्ण गोलक सब निकसे ।
अन्तःकरण प्रकाश अहं, मन, चित, धी विकसे ॥
कर्ता भोक्ता हरि नहीं, सदा रहैं निरलेप हैं ।
धरें रूप तोऊ विविधि, उदासीन रचिकै रहैं ॥

---

* जब इस ब्रह्माण्ड को भेद कर विराट् पुरुष बाहर निकला तो उसे अपने रहने को निवास स्थान की चिन्ता हुई। वे तो शुद्ध संकल्प थे, अतः शुद्ध जल की रचना की। उस अपने ही रचे हुए जल में वे नारायण पुरुष हजार वर्ष तक रहे। उन परम पुरुष 'नर' से उत्पन्न होने के कारण जल का नाम नीर है। उसमें जिनका अयन हो वे ही नारायण कहलाते हैं।"

शास्त्र का एक सिद्धान्त है 'जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है।' जैसे एक छोटा-सा चित्र है, उसमें हाथ, पैर, आँख, कान, नाक सभी हैं, जब वह यन्त्र की सहायता से या चित्रकार के कौशल से बृहद् बनाया जाता है, तो उसमें दो कान की जगह दस कान नहीं बढ़ जाते, एक नाक की जगह पाँच नाक नहीं लग जातीं वे ही सूक्ष्म चिन्ह बड़े दिखाई देने लगते हैं। इसी प्रकार इस देह रूपी पिंड में जो-जो वस्तु हैं, वे ही इस विश्व ब्रह्माण्ड में हैं। अन्तर इतना ही है, कि देह भी अति सूक्ष्म व्यष्टि रूप वाली है, ब्रह्माण्ड में वे समष्टि रूप की हैं। जिस प्रकार सृष्टि-स्थिति,प्रलय प्रतिक्षण पिंडों में होती है, उसी भाँति ब्रह्माण्डों में। इसलिये पहिले अपने को ही समझना चाहिये।

लोग ज्ञान प्राप्ति के लिये इधर-उधर भटकते फिरते हैं। अरे देवताओ! बाहर ज्ञान कहाँ धरा है, वह तो तुम्हारे भीतर ही है, उसे समझो। बहुत से पुस्तक पढ़ने को व्यग्र रहते हैं। अरे, उतावले पाठको! क्यों इन निर्जीव पुस्तकों के पीछे पड़े हो? यह पिंड ब्रह्माण्ड ही महान् ग्रन्थ है, इसमें सभी ज्ञान भरे हैं, इसके समस्त पृष्ठ खुले हैं, इन्हें तुम क्यों नहीं पढ़ते। बिना चश्मे के ही ये पढ़े जाते हैं। अज्ञान रूपी चश्मे को उतार दो, अरे! तू समझ भैया, ज्ञान के भंडार को छोड़कर—महान् सागर छोड़कर क्षुद्र तलैयों की खोज क्यों करता है? लोग कहते हैं 'हमें ज्वर आ गया।" ज्वर कहाँ से आ गया जी? क्या अयोध्या, काशी, कांची से दौड़कर तुम्हारे शरीर में घुस गया? बड़े-बड़े चिकित्सकों को दिखाते हैं। अणुवीक्षण यन्त्र लगाकर उसके जन्तुओं का अन्वीक्षण करते हैं। कैसा अज्ञान है, कैसा भ्रम है? अरे, भूले हुए बन्धुओ? ज्वर की सृष्टि तुमने ही की। वह कहीं से आया नहीं। यहीं पैदा हुआ है। तुम ही उसके जनक पिता हो। पैदा करके पुत्र को नहीं पहिचानते? मूर्खता की हद हो गई।

लोग कहते हैं 'हमें सृष्टि रहस्य समझाइये।' क्या समझावें खाक, रोज इतने बच्चे पैदा होते हैं तुमने भी पैदा किये होंगे। न किये होंगे, तो देखे तो होंगे ही, विवाह न हुआ होगा तो बरात तो गये ही होंगे। बुद्धिमान को संकेत ही यथेष्ट समझा जाता है। इस रहस्य को समझो—बिखरी हुई चित्त वृत्ति को सूक्ष्म करके देखो। दर्शन शास्त्र और क्या कहता है, वह तो देखना ही समझाता है, इस प्रकार इस प्रपंच का दर्शन करो। इस प्रकार बुद्धि से विचार करो, किन्तु इन संसारी विषयासक्त प्राणियों की बुद्धि तो अनित्य क्षणिक संसारी भोग्य पदार्थों की वासनाओं में फँसकर इतनी अशुद्ध हो गई है, कि वह सामने के पदार्थों को भी नहीं देख सकती। नित्य समीप रहने वाले को भी नहीं पहिचान सकती। वह तो इन हाड़, रक्त, पीव, मल, मूत्र, विष्ठा से मांस पिण्डों को सोचती रहती है। निर्जीव चमकीली मिट्टी या कागजों के टुकड़ों में फँसी रहती है। इस क्षुद्र सौन्दर्य को ही सर्वस्व समझकर उसी की प्राप्ति में व्यग्र बनी रहती है।

मनुष्य तनिक भी सुस्थिर चित्त होकर सोचे तो उसे ज्ञात होगा, कि हम कैसे मोह में फँसे हैं। स्त्री जिस पुरुष के बाहरी सौन्दर्य को स्मरण करके बेचैन बनी रहती है, पुरुष जिस स्त्री को समस्त सुखों की खानि समझकर उसके रूप-लावण्य में आसक्त होकर अन्धा बना रहता है, इसका वास्तविक रूप समझ जाय, तो उसकी आँखें खुल जायँ। जिस देह में रमण करके सुखी बनना चाहता है, उसके वस्त्र उतार कर ऊपर के चमड़े को अलग करके खड़ा कर दें, तो जीवित ही इसे चील, गिद्ध नोंच-नोंच कर खा जायँ। उसके लिये कितनी उपमायें, कितने विशेषण इन बैठे ठाले निठल्ले कवियों ने बना दिये हैं।

सृष्टि के जिज्ञासुओ! अपने भीतर सृष्टि का दृश्य देखो।

पिण्ड से ब्रह्मांड की सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करो। तभी तुम यथार्थ तत्त्ववेत्ता बन सकोगे। यों तोते की तरह रट लिया, प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहङ्कार, अहङ्कार की सात्विक, राजस, तामस तीन भेद, फिर पृथ्वी, जल तेज आदि हुए। इससे कोई लाभ नहीं। वाणी का विलास मात्र है। सृष्टि के रहस्य को समझना—यही परमार्थ पथ की प्रथम और मुख्य सीढ़ी है। जिसने सृष्टि रचना को समझ लिया उसे कभी न कभी सृष्टि-कर्ता से भी परिचय हो जायगा। क्योंकि पुरुष का यथार्थ परिचय उसकी कला ही है। कला में ही कलाकार का हृदय अन्तर्भूत रहता है। यही सम्पूर्ण सृष्टि सर्वेश्वर की सर्वोत्कृष्ट क्रीड़ा कला है। यही सब सोचकर महाराज परीक्षित् ने श्रीशुक से पूछा—"प्रभो! विराट पुरुष ने इस विचित्र ब्रह्मांड की वस्तुओं की रचना किस प्रकार की? यह मुझे बताइये।"

इस पर श्रीशुक कहने लगे—"राजन्! यह तो बड़ी रहस्य की बातें हैं। फिर भी मैं इस कथा-प्रसङ्ग में उन्हें अत्यन्त संक्षेप में रूपक से सुनाता हूँ। जो मैं ब्रह्मांड की रचना कहूँगा, उसे पिंड में भी ज्यों-की-त्यों समझने जाना, क्योंकि समष्टि पुरुष का पिंड ही ब्रह्मांड कहलाता है और व्यष्टि का पिंड, पिंड के नाम से प्रसिद्ध है।"

"सुनो, वे पुराण पुरुष सो गये। सो क्या गये, स्वस्थ होकर बैठ गये। इच्छा रहित हो गये। हो क्या गये, संकल्प नहीं किया। किया, कहना भी ठीक नहीं। किन्तु काम चलाने को कल्पना करो, भगवान् अपने आपमें ही रमण करने लगे। अब उन्हें एक से बहुत होने की इच्छा हुई। क्यों?' हुई जी! अब तुम यह गड़बड़ घुटाला मत मचाओ। हर बात में क्यों मत पूछो। क्यों का कहीं अन्त भी तो होना चाहिये, तभी गाड़ी आगे बढ़ सकती है। हाँ, तो अब तक उनका वीर्य (पराक्रम)

एक गोल अंडे में एकत्रित होकर जमा हुआ था। संकल्प से कामना उत्पन्न हुई। काम संकल्प का पुत्र है। संकल्प के बिना काम उत्पन्न ही नहीं हो सकता। वे प्रभु शुद्ध संकल्प सत्य काम हैं, इसलिये उनका जमा हुआ वीर्य शुद्ध कामना से द्रवीभूत हुआ। इसी से शुद्ध तीर्थ रूप जल की सृष्टि हुई। उनके संकल्प से उत्पन्न हुए काम ने ही उनके वीर्य में जीवन-शक्ति का संचार किया। इसीलिये जल का दूसरा नाम नार है। नार की सहायता से बच्चे को उदर में आहार मिलता है। अपने उत्पन्न किये नीर में अपने आप ही प्रवेश करके उसने उसमें सहस्र वत्सर तक निवास किया। यहाँ हजार वर्ष बहुत का उपलक्षण मात्र है। अर्थात् बहुत दिन तक उसमें वास करता रहा। प्रवेश करते ही, उस द्रव का द्रव्य बन गया। द्रव्य बनते ही उसमें क्रिया का संचार हुआ अब तक तो समय होते हुए भी उसकी गणना नहीं थी। जब उसने प्रवेश किया तो समय की भी गणना आरम्भ हुई, कि आज एक दिन का हुआ, एक महीने का हुआ, दो महीने का हुआ, आदि-आदि। फिर उसका अपना घटने बढ़ने का, कहाँ से क्या निकलेगा, कौन अंग पहिले होगा, ऐसा स्वभाव भी द्रव्य के साथ ही होता है। क्योंकि वह चैतन्य है, इसलिये जीवन शक्ति भी होनी ही चाहिये। इसीलिये द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव स्थिति उन्हीं की सत्ता से है। इनकी सत्ता के बिना इनका अस्तित्व ही न हो।

"अच्छा, तो क्रम यों रहा, कि पहले वे एक ही थे। उन्होंने एक से अनेक बनने की कामना की। एक से अनेक होने को आश्रय चाहिये। अकेला पुरुष चाहे कि मैं स्वतः सृष्टि कर लूँ, तो मानसिक चाहे जितनी रचना कर ले, प्रत्यक्ष क्रिया में तो

बिना माया का आश्रय ग्रहण किये एक से अनेक हो नहीं सकते, इसलिये उसने माया का आश्रय ग्रहण किया।

अब आप पूछेंगे—"यह भूतिनी माया अपने आप कहाँ से टपक पड़ी ? सो, इसका तो अब क्या उत्तर दें कुछ समझ में नहीं आता। यों ही समझो, उसी के आप-पास किसी देश में वह छिपी थी, संयोग से भेंट हो गई। उस पुराण पुरुष ने इस 'बहू' रूप वाली को अपने कार्य में सहकारिणी बना लिया। उससे अपने सुवर्ण के सदृश चमकीले वीर्य, स्थूल सूक्ष्म और अति सूक्ष्म, द्रव्य, देवता और जीव आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन भाग कर लिये। अर्थात् उसी वीर्य से भौतिक देह और इन्द्रियों के गोलक आदि बने। वही उनमें उनका अधिष्ठातृदेव होकर बैठ गया और उसी के वीर्य से जीवन संचार करने वाला बना। कैसे बना ? सो भी सुनो। इस शरीर में जीवन की मुख्य शक्ति क्या है। सूत्रात्मा अर्थात् प्रधान प्राण। प्राणों के रहने से ही प्राणी जीवित कहलाते हैं। इसलिये शरीर में प्राण ही मुख्य है। प्राण न रहे तो कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती। निष्प्राण शरीर की सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। वह प्राण पैदा कैसे हुआ ? विराट पुरुष ने चेष्टा की, तो उनके देह के अन्तर्वर्ती आकाश से इन्द्रियों में बल देने वाली शक्ति उत्पन्न हुई, जिसे वीर्य का सार ओज कहते हैं। वही शक्ति जब मन में प्रवेश करती है, तो बल का नाम सह हो जाता है। 'सह' से ही साहस आता है। जब वह शक्ति शरीर में संचार करके कार्य करती है, तो उसी का नाम शारीरिक बल है। इस प्रकार बल के तीन प्रकार हैं। जिस प्रकार आकाश अरूप है उसी प्रकार बल का भी कोई रूप नहीं। वह ओज साहस और पराक्रम के द्वारा प्रकट होता है। समस्त इन्द्रियाँ मन आदि मुख्य प्राण के ही

अधीन हैं। जैसे सेना सेनापति के अधीन रहती है। रानी मक्खी के अधीन अन्य सभी मधु-मक्खियाँ रहती हैं। जैसे राजा के अधीन सेवक होते हैं। राजा के चलने पर वे भी चलते हैं, राजा के रुकने पर वे भी रुक जाते हैं।

"वीर्य के उस जमे कठिन बुद्-बुद् में जब मुख्य प्राणशक्ति का संचार हो गया, तब तो इसमें अपने आप ही बसे हुए उन विराट् भगवान् को प्राणों के संचार होने से भूख-प्यास भी लगने लगी, क्योंकि बिना प्राण के संचार हुए भूख-प्यास लगती नहीं। यह नियम है कि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी होती है। अतः उसके शरीर में एक छिद्र हो गया। वही सबसे पहिले उत्पन्न हुआ। मुख्य होने से उसका नाम मुख हो गया। उस मुख में तालु बिना, रसना इन्द्रिय का मानों घर बन गया। अब सृष्टि बढ़ने लगी। रसना का घर बना तो रसना आकर रहने लगी। खाली घर में खाली हाथ हिलाते आकर बैठ जायँ, तो कै दिन रह सकते हैं। अपने उपयोगी सामान भी चाहिये। इसलिये रसना के उपभोग के लिये खट्टे, मीठे, चरपरे नाना प्रकार के रसीले पदार्थों की सृष्टि हुई। उसी नार के द्वारा विराट् उनका उपभोग करने लगा, क्योंकि कोई भी पदार्थ जल के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। हत्या की जड़ यह मुख ही है और इसमें बैठी हुई यह डाइन रसना इन्द्रिय है। रसना रसों का आस्वादन न करे, तो कोई क्रिया न हो, पुरुष निश्चेष्ट बैठा रहे। जहाँ दो मुट्ठी चावल पेट में पड़े नहीं, कि फिर सभी उत्पात सूझते हैं। अब मुख बन गया और खाने-पीने लगे, तो वस्तुओं को माँगने के लिये बोलने की इच्छा भी उन विराट देवता को हुई। तो उन सत्य संकल्प भूमा पुरुष के मुख में अग्निदेव की सहायता से वाक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई। इन सबके तीन-तीन विषय होते हैं। एक अधिष्ठातृ

देवता, एक इन्द्रिय और एक उसका विषय। जैसे तालू में आकाश देवता हैं, रसना इन्द्रिय है और खाना-पीना उसका विषय है। उसी प्रकार मुख में अग्निदेवता हैं, वाक् इन्द्रिय है और उससे बातें करना-बोलना उस इन्द्रिय का विषय है।

"विराट् भगवान् जल में इतने दिनों से डुबकी लगाये पड़े थे। जब तक प्राण का संचार नहीं हुआ तब तक तो कोई बात ही नहीं थी। अब जब प्राण का भी संचार हुआ और खाने-पीने भी लगे, तो प्राणों का जोर से संचार होने से उन्हें साँस लेने की भी इच्छा हुई। इच्छा होते ही तुरन्त पनाले की तरह नाक बन गयी और उसमें दो छिद्र भी हो गये। छिद्र हो गये तो उनकी इच्छा की वृद्धि हुई, लाभ से लोभ बढ़ता ही है। उन्होंने सोचा—"कुछ सुगन्धित पदार्थ सूँघने को मिलें। बस सोचते ही घ्राण इन्द्रिय वहाँ आकर घर वाली बनकर बैठ गई। इसको दो दरवाजों वाला घर मिला। वायुदेव इस इन्द्रिय के पति बन गये। बस, दोनों मिल-जुलकर सूँघने के विषय सुख भोगने लगे।

"अब जब खाने भी लगे, बोलने भी लगे, सूँघने भी लगे। कहीं दूर से सुगन्धि आ रही है, तो इच्छा हुई—देखें, यह कहाँ से सुगन्धि आती है? ज्यों ही देखने की इच्छा हुई, कि उन विराट् भगवान् के कमल के समान भीतर सफेद रङ्ग के लाल डोरों वाले काली पुतलियों से युक्त दो नेत्र, छिद्र पैदा हो गये। चक्षु इन्द्रियों ने देखा कि सभी अपना घर बसाने में लगे हैं तो मैं क्यों चूकूँ? उसने भी सामने दिखाई देने वाले सूर्यदेव से शादी करके दोनों नेत्र गोलकों पर अपना अधिकार जमा लिया और दोनों पति-पत्नी मिलकर नाना प्रकार के दृश्य विषयों को देखकर चैन की वंशी बजाने लगे। नेत्र गोलकों के अधिष्ठातृदेव सूर्य हैं, चक्षु इन्द्रिय है और रूप उनका विषय है।"

भगवान् के शरीर में वेद तो सदा ही अन्तर्भूत रहते हैं। वेदों ने देखा कि अब तो ये निर्गुण से सगुण हो रहे हैं। अरूप से सरूप बन रहे हैं, तो उनके भी वाणी हो गई, क्योंकि वे भगवान् से अभिन्न ही ठहरे। उन्होंने प्रसन्नता में भरकर गाना आरम्भ कर दिया। विराट् पुरुष अपनी बड़ी बड़ी आखें फाड़-फाड़कर देखने लगे कि वेदों के ओंठ क्यों हिल रहे हैं। उन्हें भान हुआ कि ये कुछ कह रहे हैं, किन्तु क्या कह रहे हैं इसे कैसे सुनते, कान तो थे ही नहीं। ज्यों ही सुनने की इच्छा हुई कि कनेर के फूल की तरह दो कान इधर-उधर निकल पड़े और दो उनमें छिद्र हो गये। दिशाओं ने देखा हम तो रही ही जाती हैं, जल्दी से घुस गईं। इतने में ही श्रोत्रेन्द्रिय आई। दिशाओं ने कहा—"निकलो बाहर, यहाँ नहीं रह सकतीं, हम सब ब्रह्मचारिणी हैं।" श्रोत्रेन्द्रिय ने कहा—"घर मेरे लिये बना और आपने आकर अड्डा जमा लिया। मालिकिन तो मैं हूँ।"

दिशाओं ने कहा—"भले ही तू मालिकिन हो, हम दस हैं तू अकेली है। आजा लड़ाई कर ले। हमने पहिले दखल जमा लिया है, इसलिये हमारा अधिकार पहिले है। तेरा घर है तो रहा आवे, हम क्या करें?"

श्रोत्रेन्द्रिय ने देखा, इन दशों से मैं जीत नहीं सकूँगी। इसलिये उसने हाथ जोड़कर कहा—"बहिनो! अब मैं कहाँ जाऊँ, मुझे अपने घर में रहने दो? तुम भी यहीं बनी रहो।"

दिशाओं ने कहा—"हमें तुम्हारे रहने में कोई आपत्ति नहीं है किन्तु हम ठहरीं ब्रह्मचारिणी, तू मालिकिन बनकर किसी देवता से शादी करेगी। इसलिये गृहस्थियों का संग हमें पसन्द नहीं।"

तब श्रोत्रेन्द्रिय बोली—"अच्छी बात है, मैं भी ब्रह्मचारिणी

रहूँगी। तुम सब मेरी अधिष्ठात्री देवी रहीं। मैं तुम्हारी दासी रही। इस प्रकार परस्पर में राजी नामा हो जाने पर सब वहीं रहने लगीं। अतः कानों का अधिष्ठातृ दशों दिशायें हैं, श्रोत्र इन्द्रिय है और शब्द सुनना इसका विषय है।"

अब रसना, आँख, कान, नाक ये तो हुई। कोई दूर की अथवा समीप की वस्तु है यह जानने की इच्छा हुई कि यह कोमल है या कठिन, हलकी है या भारी, तीती है या सीरी? यह इच्छा होते ही सम्पूर्ण शरीर पर चर्म छा गया। उसमें स्पर्शेन्द्रिय ने अपना अधिकार जमा लिया। अब ऊपर से नीचे, भीतर से बाहर इतनी बड़ी देवी घरवाली हुई, तो वैसे ही लम्बा तड़गा अधिष्ठातृदेव भी चाहिये। इसीलिये समान वायु ने उसे अपनी पत्नी बना लिया। इसलिये समानवायु अधिष्ठातृदेव, त्वचा इन्द्रिय तथा छूकर उनके विषयों को पहिचानना यह विषय हुआ। इस प्रकार विराट् पुरुष के शरीर में ज्ञानेन्द्रियों का प्रादुर्भाव हुआ। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये इन पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं। ज्ञान के पश्चात् उसकी कर्म करने की भी इच्छा हुई। क्योंकि पहिले ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तभी मन उसके लिये कर्मेन्द्रियों को प्रेरित करता है। माता के गर्भ में भी बालक के पहिले सिर और ज्ञानेन्द्रियों के गोलक निकलते हैं, तब कर्मेन्द्रियाँ—हाथ पैर आदि निकलते हैं।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! यह मैंने विराट् पुरुष की ज्ञानेन्द्रियाँ जिस प्रकार प्रकट कीं, वह विषय अलंकार के सहित वर्णन किया। इसके अनन्तर किस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्य शरीरोपयोगी अङ्ग प्रत्यङ्ग उत्पन्न हुए, उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप इस वर्णन से ऊबें नहीं। यह बड़ा आवश्यक विषय है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसके आगे जो वर्णन होगा उसे मैं ठहर कर सुनाऊँगा। इतने बड़े गहन विषय को एक साथ सुनाने से मन चञ्चल हो जाता है, इसलिए बीच-बीच में थोड़ा ठहर-ठहर कर सुनाना उत्तम है।"

छप्पय

प्रभु विराट्ते ओज और सह बल प्रकटे सब।
पुनि उपजे ये सबहिं विषय इन्द्रिय देवहु तब॥
तालुमाहिं नभ देव रसन इन्द्रिय रस चाखै।
मुख महँ बाचा, अग्निदेव बाणी बहु भाखै॥
प्राण, चक्षु, श्रोत्रहु, त्वचा, गन्ध, रूप, शब्दहु परस।
बायु सूर्य दिग प्राण सब, क्रमशः देव भये हरष॥

विराट पुरुष की कर्मेन्द्रियादिकों की उत्पत्ति

(६८)

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया ।
तयोस्तु बलमिन्द्रश्च आदानमुभयाश्रयम् ॥
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् ।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः ॥*

(श्री भा० २ स्क० १० अ० २४, २५ श्लो०)

छप्पय

भये हस्त जिनि काज ग्रहण सुरपति देवहु तहँ ।
चलिबेकूँ द्वै चरण, विषय गति, विष्णु देव जहँ ॥
विषय कामना हेतु उपस्थ प्रजापति जामें ।
पायु गुदा मलत्याग देव मित्रहु है तामें ॥
तनु तजि जावै अन्यमहँ, नाभि अपानहु मृत्यु मय ।
कुक्षि आंत नस नदी-पति, देव तुष्टि पुष्टी विषय ॥

---

* उन विराट् पुरुष ने जब विविध कार्य करने की इच्छा की, तो उनके दो हाथ निकल आये। उसमें बल हस्त शक्ति इन्द्रिय हुई, इन्द्र उसके देवता हुए, उठाना, धरना, पकड़ना यह विषय हुआ। जब उन्हें रुचि से उधर अभीष्ट स्थानों में जाने की इच्छा हुई, तो उसी क्षण दो पैर निकल आये। उन चरणों के स्वयं भगवान् विष्णु देवता हैं, पाद कर्मेन्द्रिय हैं, गति विषय है। इन्हीं के द्वारा फिरकर मनुष्य यज्ञसाधन सम्बन्धी सामग्रियों को एकत्रित करता है।"

पिता ही पुत्र बनकर स्त्री के उदर से प्रकट होता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने पत्नी की 'जाया' संज्ञा बताई है। विराट् पुरुष ही माया का आश्रय ग्रहण करके जीव रूप से नाना रूपों को धारण करता है। सृष्टि की इच्छा रखने वाला, एक से बहुत बनने की कामना वाला विराट् पुरुष ही समस्त सृष्टि का कारण है। सत्य संकल्प और अमोघ इच्छा होने के कारण वह सृष्टि के लिये अपने शरीर में जिस वस्तु की भी आवश्यकता अनुभव करता है, वह तुरन्त प्रकट हो जाती है आधिभौतिक वस्तुएँ इन भौतिक चर्मचक्षुओं से दीखती हैं। बहुत-सी नहीं भी दीखतीं। आधिदैविक और आध्यात्मिक वस्तुओं का बुद्धि द्वारा ज्ञान होता है। जो भौतिकवादी हैं, वे किसी को इस सृष्टि कार्य में कर्ता नहीं मानते। वे कहते हैं परस्पर में मिलकर यह सब प्रपंच स्वभाव से ही हो जाता है। उनका वह मत कितना भ्रम मूलक है। इस बात पर प्रसङ्गानुसार विचार किया जायगा। इस समय तो विराट् पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन है। इस वर्णन में क्रम नहीं समझना चाहिये कि अमुक इन्द्रियों के पश्चात् ही अमुक उत्पन्न हो या पहिले सब ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति बताकर तब कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति बताई जायँ। यहाँ तो केवल यही वर्णन करना है, कि आध्यात्म रूप इन्द्रिय, आधिदैविक उनके देवगण और आधिभौतिक उनके विषय—ये तीनों साथ उत्पन्न होते हैं। जहाँ रसना की उत्पत्ति का वर्णन है वहाँ कर्मेन्द्रिय वाणी का भी प्रसंगानुसार वर्णन हो चुका है। इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक वाणी। इस प्रकार छः के वर्णन करने के अनन्तर श्रीशुकदेवजी अब आगे का वर्णन करते हैं।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! उस विराट् पुरुष के मनमें आई, कि पत्थर की तरह एक स्थान में पड़े-पड़े क्या करेंगे, कुछ काम-काज करना चाहिये। यह इच्छा होते ही ५-५ उंगलियों

और ५-५ नख वाले दो लम्बे-लम्बे हाथ उनके उस गोलाकार धड़ से उसी प्रकार निकल आये, जैसे वृक्ष के तने से बड़ी-बड़ी शाखायें निकल आती हैं। इन्द्रदेव ने सोचा—"अच्छा है, इनसे काम-काज होगा। वे उनमें घुस गये। बलवान् के सम्मुख कोई चूँ भी नहीं करता। सब उससे डरते हैं। अतः हाथों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसलिये हस्तेन्द्रिय के देवता इन्द्र हुए और वस्तुओं को ग्रहण करना, यह विषय हुआ।

"अब उनकी इच्छा हुई, कहीं इधर-उधर घूमें फिरें, कुछ वस्तुओं को चलकर लायें, अभीष्ट स्थानों में जावें इसी प्रकार मन बहलावें। यह इच्छा होते ही, दो लम्बे-लम्बे पैर भी निकल आये। ये सबसे नीचे के अंग थे। सभी शरीर को उठा कर इधर-उधर ले जाने का भार इन पर था। इनको ही जमीन पर टिकना था। इसलिये इन सबसे नीचे वाली इन्द्रिय में किसी देव ने रहने की इच्छा नहीं की। तब तो विष्णु भगवान् ने कहा—"सबसे नीचे की इन्द्रिय में हम रहेंगे। जिसे कोई न अपनावे उसे हम अपनावेंगे। जिसे कोई न चाहे उसे हम चाहेंगे, जिसका सब तिरस्कार करें, उसे हम प्यार करेंगे। तुम सब देवताओं की तो भेद बुद्धि है। हमारे लिये ऊँच-नीच का भेदभाव ही नहीं। यह कहकर चरण इन्द्रिय के स्वामी विष्णु हुए आना आना, यह उनका विषय हुआ। पैरों से चलकर ही मनुष्य जीवन साधन सामग्री, यज्ञीय वस्तुएँ एकत्रित करते हैं।

"अब उन्होंने सोचा—"अकेले कहाँ-कहाँ घूमेंगे, कौन-कौन काज करेंगे? अपने ही समान और भी पुत्र पैदा करें, जिनसे इस लोक का भी सुख प्राप्त हो और उसी के साथ पुत्र भी पैदा हो जायँ, जो स्वर्ग की प्राप्ति करा सकें। यह सोचते ही उपस्थेन्द्रिय उत्पन्न हो गई। प्रजापति देव ने कहा—"अच्छी बात

है, इसके देवता हम हुए।" प्रजापति के वहाँ स्थित होने पर काम विषय उत्पन्न हुआ। इसीलिये जननेन्द्रिय के प्रजापति देवता हैं, उपस्थ इन्द्रिय है और काम सुख और मूत्रोत्सर्ग, ये विषय हैं।

तालु पहिले ही उत्पन्न हुआ था। उसमें खाने-पीने को रसना जिह्वा भी उत्पन्न हो चुकी थी। खायँगे पार्थिव पदार्थ, पार्थिव पदार्थों में कुछ अंश रस का रहता है, कुछ मल का भी। रस से तो शरीर को पुष्टि होगी, किन्तु मल का भाग यदि शरीर में ही जमा होता गया तब तो यह मलालय बन जायगा। इसीलिये मल-त्याग की इच्छा होते ही तुरन्त मलद्वार उत्पन्न हो गया। मित्र देवता बैठे थे, कि किसी अच्छी जगह पर अधिकार जमालें, किन्तु जब देखा अब तो सब ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय समाप्त हो रही हैं, तब तो उन्होंने सोचा—"चलो भागते भूत की चोटी हाथ लगे चोटी ही सही।" अब और अधिक प्रतीक्षा की, तब तो इससे भी हाथ धो बैठे। यह सोचकर वे उसमें प्रवेश कर गये। इसलिये उस छिद्र में पायु इन्द्रिय है, मित्र देवता हैं और मल त्याग उसका विषय है। अब विराट् पुरुष सोचने लगे—"पञ्चभूतों के शरीर में तो प्रवेश किया, यह है अनित्य, क्षण-भंगुर, परिवर्तनशील। वह जीर्ण शीर्ण हो गया, तो इसे छोड़कर तुरन्त दूसरे शरीर में चले जायँ—ऐसा भी कोई मोरी होनी चाहिये। इतना विचार उठते ही उनके नाभि उत्पन्न हो गई। वहाँ आकर अपानवायु बैठ गई। मृत्यु ने भी इसे अपने योग्य स्थान समझकर वहाँ अपना आसन बिछा लिया और आनन्द के साथ दोनों लेट गये। हृदय में प्राणवायु का निवास है, नाभि के नीचे अपानवायु का, इनके बीच में समानवायु इनकी गति को ठीक रखने वाला मध्यस्त है। जहाँ अपान और प्राण पृथक् हुए, वहाँ जयजय-भीसियाराम हो जाती है। मृत्यु देव सभी देवताओं को साथ लिये हुए दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

"अब ढाँचा ठीक-ठीक बन गया। रोग का ठाठ ठीक-ठीक जम गया। गाड़ी के पहिये ठीक होकर चलने योग्य हो गये। तालु बना, जिह्वा बनी, हाथ पैर बने, नाभि बनी रसना के लिये रस बने। अब विराट् पुरुष ने सोचा—"लाओ, परीक्षा करके देखें तो सही, कोई गड़बड़ तो नहीं। सब मामला ठीक-ठीक है न? यह सोचकर उन्होंने कुछ खाया, थोड़ा जल पिया! क्षण भर में ही वह मुख द्वार से नीचे गया। मलद्वार से उसी समय निकल गया। तब तो विराट् पुरुष चिन्तित हुए। अरे, यह तो चानक बना नहीं, गाड़ी चल नहीं सकती। जब तक खाया पिया कुछ देर उदर में ठहरे नहीं, उसका विशुद्ध रस बने नहीं, तब तक यह शरीर कै दिन चलेगा। भौतिक शरीर का पोषण नियम से होना चाहिये। इतना सोचते ही, छोटी और बड़ी आँतें उदर में उत्पन्न हो गईं। रस आदि को बहाने वाली बहुत-सी नाड़ियाँ भी निकलने लगीं। दोनों ओर कुक्षि बन गई। आँत और कुक्षियों के देवता तो समुद्र हुए और नाड़ियों की स्वामिनी नदियाँ हुईं। कुक्षियों का विषय तुष्टि और नाड़ियों का विषय सम्पूर्ण अंगों की पुष्टि करना हुआ।

"अब वे सोचने लगे, मैं तो निःसंग निर्लिप्त और अकर्ता हूँ। यह स्वाँग कैसे बन गया, यह प्रपंच कैसे रच गया? ओहो, यह मेरी माया का पसारा है। कैसी है मेरी माया? यह विचार उठते ही विचार का स्थान, हृदय उत्पन्न हो गया। इन्द्रियों का नाम करण है। ये हाथ, पैर, आँख, कान, बाह्य करण अर्थात् बाहर की ओर देखने वाली इन्द्रियाँ कहाती हैं। अब भीतर ही जो देखें उसे इन्द्रिय कहते हैं। अन्तःकरण का निवास स्थान हृदय है। मन इन्द्रिय है, चमकीले चन्द्रमा उसके देवता हैं और नाना कामना, भाँति-भाँति के संकल्प विकल्प करना, यह इसका विषय है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! यह मन इन्द्रिय स्त्री है या पुरुष? इसका क्या रूप है?"

यह सुनकर श्रीशुक बड़े जोर से हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"राजन्! इस मन के, सम्बन्ध में कुछ न पूछें। यह धूर्त न तो स्त्री है न पुरुष, हिजड़ा है, नपुंसक है। कभी यही स्त्री बन जाता है, यही नपुंसक हो जाता है।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! एक ही व्यक्ति चार प्रकार कैसे बन जाता है?"

श्री शुकदेवजी हँसे और बोले—'राजन्! यह क्या शङ्का हुई? आप जब राज-सिंहासन पर बैठकर राज-काज करते हैं, तो राजा कहलाते हैं। जब यह यज्ञ करने को दीक्षा लेते हैं, यजमान कहलाते हैं। और बाँधकर विवाह करने जाते हैं, तो दूल्हा कहाते हैं। प्रजा आपको राजा कहती है, आपके पुत्र आपको पिताजी कहते हैं। लड़की के लड़के नानाजी कहते हैं। बहिन के लड़के मामाजी कहते हैं, पत्नी पति कहती है, पत्नी के भाई जीजाजी कहते हैं, पत्नी के भाई के लड़के फूफाजी कहते हैं। सास लल्लूजी कहती हैं। ससुर बच्चाजी कहते हैं। आपके गुरु-जन परीक्षित् कहते हैं। एक होते हुए भी आपको लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। जिस समय जो कार्य करते हैं उसी समय लोग आपको वैसा ही कहते हैं। आप यात्रा करें तो लोग कहेंगे यात्री जा रहा है। बीमार हो जायँ तो वैद्य कहेंगे—मुझे बीमार को देखना है। इसी प्रकार जब यह नपुंसक किसी बात को निश्चय कर लेता है, तो यह स्त्री लिंग बुद्धि कहलाता है। जब अपने को अहं कहता है, तो यही अहंकार कहलाता है, स्त्री शरीर में घुसकर स्त्रीवत् बोलता है। वह कहता है मैं जाती हूँ, मैं आती हूँ। पुरुष शरीर में घुसकर पुरुष की तरह बोलता है—मैं आता हूँ, मैं जाता हूँ। जब चिन्ता करता है, चित्त हो जाता

है। इसलिये राजन्! यही है सब झंझट का बीज। इसे ही विष की पुड़िया समझ लो। जिसने मन को वश में कर लिया, उसने सबको वश में कर लिया। जो मन के अधीन है, मन के वश में हो गया, वह मानो संसार के वश में हो गया।

"इस प्रकार जब विराट् पुरुष अन्न खाने और जल पीने लगा, तो अन्न जल से उसके शरीर में त्वचा, चर्म, मांस रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि—ये सात धातुएँ उत्पन्न होने लगीं और जल, वायु तथा आकाश से प्राण उत्पन्न हुए। अब फिर से समझो—जितनी ये कर्ण आदिक इन्द्रियाँ हैं, इनका काम है शब्द आदि विषयों का ग्रहण करना। समस्त विषयों का ग्रहण इन्द्रियों के ही द्वारा होता है। ये शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जितने विषय हैं, वे भूतों के आदि कारण अहंकार से ही उत्पन्न हुए हैं। इसीलिये अहङ्कार पूर्वक पुरुष कहता है—यह मेरा है, क्योंकि लड़के में सभी का ममत्व होता है। ये जितने पृथ्वी आदि भूत हैं, इनके गन्ध आदि विषय हैं, सबके बाप अहङ्कार हैं। मन वायू तो बैठे-बैठे व्यर्थ की बातें विचारते रहते हैं। बिला सूत कपास के धुनते बुनते रहते हैं। हर्ष, शोक आदि जितने विकार हैं ये इन नपुंसक सरकार की ही अशरीरी सन्तानें हैं। बुद्धि तो रानी ही ठहरी। परदे में बैठी-बैठी हुकुम चलाती रहती है। किसी की क्या शक्ति जो इनकी बात को टाल सके, जो इन्होंने निश्चय कर दिया, मन वायू उसी तरह करने लगते हैं जैसे स्त्रीजित् पुरुष अपनी पत्नी की सभी आज्ञाओं को बिना चीं-चपड़ किये करता रहता है। राजन्! यही विश्व ब्रह्मांड के विराट् पुरुष का स्थूल रूप है। जो ब्रह्माण्ड में विराट् का रूप है, वही पिंड में जीव का रूप है। जो वस्तुएँ ब्रह्मांड में हैं, वे ही पिंड में हैं। ब्रह्मांड वृहद्राज संस्करण है और यह पिंड संक्षिप्त जेबी संस्करण है।

"यह तो ब्रह्माण्ड का भीतरी रूप है। इस ब्रह्माण्ड के बाहर भी आठ परकोटा और भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इस ब्रह्माण्ड के बाहर पहिले सूक्ष्म पृथ्वी का आवरण है, फिर जल का। इसी प्रकार तेज, वायु, आकाश, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व, और प्रकृति तत्त्व का-इस प्रकार आठ आवरण हैं। इस इतने बड़े ब्रह्मांड से परे भगवान् का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! उन भगवान् के सूक्ष्म रूप का वर्णन करें। कैसा है, किस प्रकार रहकर इस ब्रह्माण्ड का संचालन करता है!"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! वह भगवान् का सूक्ष्म रूप तो मन और वाणी का विषय ही नहीं। उसे तो 'अवाङ्मनस गोचर' कहकर वेदों ने वर्णन किया है। वह अव्यक्त और निर्विशेष है। उनका न आदि है, न मध्य और न अन्त। वह तो बस, जैसा है तैसा ही है। उसे अत्यन्त सूक्ष्म ही कह सकते हैं। इस प्रकार मैंने भगवान् के विराट् रूप और सूक्ष्म रूप दोनों का ही तुम्हारे सम्मुख वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

महाराज बोले—"प्रभो! एक शंका मुझे रह ही गई। यह जो आपने पंचभूत, पंच तन्मात्रा, इन्द्रियों और अन्तःकरण आदि से संयुक्त विराट् पुरुष का वर्णन किया और ब्रह्माण्ड के बाहर आठ आवरण बताकर जो भगवान् के अत्यन्त सूक्ष्म रूप का निरूपण किया, तब तो ये स्थूल सूक्ष्म दोनों ही रूप माया के ही आश्रित हुए। माया का आश्रय लेकर ही भगवान् ने विश्व ब्रह्माण्ड की रचना की। भीतर स्थूल रूप से और भीतर बाहर सूक्ष्म रूप से माया का आश्रय लेकर ही वे व्याप्त हैं। तब भगवान् के किस रूप की उपासना करें, स्थूल की या सूक्ष्म की?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन् ! पहिले स्थूल जगत् में लगे हुए मन को विराट् रूप में स्थिर करना चाहिए। जब विराट् में स्थिर हो जाय, तो फिर उसे सूक्ष्म में लगाना चाहिये। जब सूक्ष्म में चित्त स्थिर हो जाय, तो स्थूल सूक्ष्म दोनों का ही परित्याग करके इनसे परे जो स्वयं साक्षात् स्वरूप श्री नन्दनन्दन हैं उनके चरणों में जाकर इस चित्त को विलीन कर देना चाहिये। बिन्दु को सिन्धु में मिला देना चाहिये। अंश को अंशी में घोल देना चाहिये। चंचल चित्त को चंचल चूड़ामणि के चरणों में चढ़ाकर—चेष्टा रहित होकर चैन की वंसी बजाते रहना चाहिये या बजती हुई बंशी को निरन्तर सुनते रहना चाहिये।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् बोले—"यह तो महाराज ! आप गोलमाल कर गये। कथावाचकों की-सी चाल चल गये। पहिले उन प्रभु को अकर्मा बताया, फिर कहा उसी की इच्छा सृष्टि रचने की हुई, उसी ने स्थूल रूप धारण किया। सूक्ष्म रूप से बाहर-भीतर व्याप्त हुआ। फिर कहा—वह दोनों से परे है। सो कैसे ?"

इस पर श्रीशुक ने कहा—"राजन् ! इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जहाँ तक पहुँचे उन सबको तुम माया का ही पसार समझो। वास्तव में तो भगवान् अकर्मा ही हैं, न उन्हें कोई कर्मबन्धन है, न कर्म करने की प्रवृत्ति। फिर भी क्रीड़ा के लिये, विनोद के लिये, मन बहलाव के लिये, यह सब धूम-धाम करते रहते हैं। बैठा बनिया बाट तराजू ही तौलता रहता है। इसीलिये इस विचित्र संसार को पैदा करते हैं।"

महाराज ने कहा—"महाराज ! जिनका मन चंचल होता है, जो काम करते करते थक जाते हैं, या बैठे बैठे ऊब जाते हैं या एक काम से घबरा जाते हैं, उनको मन बहलाने की आवश्यकता

होती है। भगवान् को क्यों यह बेतुकी बात सूझी ? किस बात से ऊबकर क्रीड़ा करने में प्रवृत्त हुए ?"

इस पर श्रीशुक कुछ विनोद के स्वर में बोले—'अजी, राजन् ! आप भी ऐसे प्रश्न पूछते हैं, जिनका उत्तर देना अपने को वाक् जाल में फँसाना है। अब भगवान् को क्रीड़ा करने की क्यों सूझी ? उसे तो वे ही जानें। हमारी बुद्धि तो उनकी चेरी माया की भी नतिनी है। अब दादी के विवाह में कौन से गीत गाये गये थे, कैसी बरात गई थी, इसे नतिनी पौत्री कैसे बतावे, सुनी सुनाई बात कह देती है। हम तो सदा से यही सुनते आये हैं उनकी माया है, क्रीड़ा है, लीला है, विनोद है।

"राजन् ! भगवान् सर्वसमर्थ हैं। उनके यहाँ सम्भव असम्भव कुछ नहीं। वे अपने अचिन्त्य सामर्थ्य से अकर्मा होते हुए भी सुकर्मा से बन जाते हैं। वे अरूप होते हुए भी विराट् रूप धारण कर लेते हैं। वे स्वयं ही वाच्य बन जाते हैं और स्वयं ही उसके वाचक हो जाते हैं। अपने आप ही नाम रूप वाले बन जाते हैं, स्वयं ही क्रिया शक्ति से क्रिया बनकर, कर्म करने लगते हैं। एक होते हुए भी अनेक रूपों में विभक्त हो जाते हैं। वे स्वयं ही प्रजापति, मनु देव, ऋषि पितृगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, गुह्यक, किन्नर, अप्सरा, नाग, सर्प, किम्पुरुष, उरग, मातृका, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कूष्मांड, उन्माद, वेताल, गण, यातुधान, ग्रह, पक्षी, मृग, पशु, वृक्ष, पर्वत, सरीसृप इत्यादि-इत्यादि अनेक नाम रूपों को धारण करते हैं।"

"अपने आप ही स्थावर बन जाते हैं और स्वयं ही जंगम बनकर घूमने-फिरने वाले हो जाते हैं। स्वयं ही जरा नाम की झिल्ली में घुसकर जरायुज नाम वाले जीव बन जाते हैं। कहीं पक्षियों के पेट में अंडे के भीतर से पैदा होकर अण्डज तत्त्व

कहलाते हैं। कहीं-कहीं पसीने से ही लूलू बाबू बनकर उन्हीं शरीरों को काटते हैं, उन्हीं का रक्त पान करके पुष्ट बन जाते हैं। कहीं पृथ्वी को फोड़कर लम्ब तड़ंगे सीधे-सादे वृक्ष बन जाते हैं। कहीं ऊपर से खाते हैं, नीचे के अंग पुष्ट होते हैं और कहीं वृक्ष आदि में नीचे से आहार लेते हैं, ऊपर की शाखाओं और पत्र पुष्पों को रस पहुँचाते हैं। कहीं स्थल में रहते हैं, कहीं जल-जन्तु बनकर जल में ही रहते हैं। वहीं खाते-पीते हैं वहीं सोते हैं। तीक्ष्ण धार वाला नदियों के भीतर कैसे सोते होंगे ? देव ! तुम्हीं जानो। कहीं अधर आकाश में रहकर जीवन धारण करते हैं।

"इसलिये राजन् ! कुछ कहा नहीं जाता। वे ही वे हैं। उनकी माया अपरम्पार है। अपार तेरी माया, माया है तेरी अपार। राजन् ! उन भूमा पुरुष को प्रणाम करो, उन्हीं की शरण में जाने से सब रहस्य अपने आप समझ में आ जायगा।"

छप्पय

निराकार निरलेप निराश्रय नित्य निरंजन।
माया आश्रय करत होहिं साकार सगुन तन॥
उद्भिज अंडज और जरायुज होवें स्वेदज।
स्थावर जंगम रूपजीव बीन प्रविशे हरि अंज॥
कर्म रहित कर्ता बनहिं, नाम रूप धारण करहिं।
स्वयं वाच्य वाचक नृपति ! धरि तनु धरणी दुख हरहिं॥

—०—

श्रीभागवत की दूसरी परम्परा का उपक्रम

[९९]

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ।
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान् ॥
कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः ।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ॥*

(श्री भा० २ स्क० १० अ० ४८-४९ श्लो०)

छप्पय

अजी सूतजी ! यादि बात इक आई अबई ।
गये विदुरजी तीर्थ भ्रमण हित तजिकें सबई ॥
मुनि मैत्रेय समीप ज्ञान पायौ कहँ उनने ।
का का कीन्हें प्रश्न दयौ का उत्तर तिननें ॥
सन्त समागम महँ सदा, कथा कृष्ण की होहि नित ।
सूत ! सुनाओ सरस सब, सुभ सम्वाद प्रसच चित ॥

---

* शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आपने पीछे कहा था, कि महाबुद्धिमान् परमभागवत श्रीविदुरजी अपने अत्यन्त दुस्त्यज कुटुम्बियों को त्यागकर पृथ्वी के सम्पूर्ण तीर्थों की यात्रा करते रहे । सो, उस समय उनकी भेंट महामुनि श्रीमैत्रेयजी के साथ कहाँ पर हुई ? उन दोनों का आत्मज्ञान सम्बन्धी सम्वाद किस स्थल पर हुआ तथा उनके पूछने पर श्रीमैत्रेयजी ने उन्हें क्या-क्या उत्तर दिये ? इस विषय को हमें सुनाइये ।"

भ्रम सदा अनजान पुरुष को होता है। जान पहिचान वाले को पहिले तो भ्रम होता ही नहीं, किसी कारण विशेष से हो जाय, तो वह भ्रम शीघ्र ही निवृत्त भी हो जाता है। हमारा एक परिचित व्यक्ति है, वह कोई विचित्र रूप बनाकर सबके सामने आया है। जो उसे जानते नहीं, वे तो उसके उसी रूप को यथार्थ मानकर डरते हैं या सम्मान-सत्कार करते हैं किन्तु जो उसे जानते हैं और यह भी अनुभव करते हैं, कि यह रूप इसका बनावटी है—"यथार्थ नहीं, उन्हें उससे कोई भय नहीं, उस रूप में सजे-बजे होने पर भी वे उसका वही पुराना असली रूप देखते हैं। यह छद्म रूप उनकी दृष्टि में मिथ्या है। इसी प्रकार अनादि, अज, शाश्वत, निर्विकार, निर्गुण प्रभु माया का आश्रय लेकर जब अपना विश्वरूप बना लेते हैं, तो ज्ञानी पुरुष उसमें भी उनके उसी मायातीत रूप का ही दर्शन करते हैं। वे माया के चक्कर में नहीं फँसते। माया को ये कहीं से पकड़ लाये हैं। अच्छी बात है, पकड़ लावें सर्वसमर्थ हैं, ये परम स्वतन्त्र हैं, कोई रोकने-टोकने वाला नहीं, जो मन में आती है करें। हमें इस चटक-मटक वाली माया से क्या लेना? हमें तो अपने पिता से प्रयोजन है। उससे ये भुगत लेंगे। इसलिये भगवान् चाहे माया के गुणों को धारण किये हुए हों या इनसे परे निर्लेप गुणातीत हों। योगीजन दोनों दशाओं में उन्हीं को समान भाव से देखते हैं, उनकी किसी भी दशा में विषय दृष्टि नहीं होती। अपनी माया का आश्रय लेकर वे छोटी-बड़ी, उच्च-नीच योनियों का भेद किस कारण से करते हैं, यही सोचकर महाराज परीक्षित् ने श्रीशुक से पूछा।

राजा बोले—"प्रभो! ये नाना योनियाँ किस कारण से बनीं? विराट् भगवान् ने इन चित्र-विचित्र कर्म करने वाली इतनी योनियों की सृष्टि किस हेतु से की?"

श्रीशुक ने कहा—"राजन् ! यह सब गुणों का खेल है। प्रकृति के जो सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं, इन्हीं के द्वारा उच्च-नीच, शुभ-अशुभ और बीच की योनियाँ होती हैं। सत्वगुण की प्रधानता से देव आदि योनियाँ उत्पन्न होती हैं, रजोगुण की प्रधानता से कर्म से आसक्त होने वाले मनुष्य आदि की और तमोगुण की प्रधानता से कीट, पतंग, कूकर, शूकर आदि नारकी योनियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें भी दो गुणों को दबाकर एक कुछ प्रबल हो गया, इस प्रकार तीन-तीन भेद और भी हो जाते हैं। इसी प्रकार ये सब भेद गुणों के द्वारा होते हैं। भगवान् इन सबमें समान रूप से व्याप्त हैं। उनके लिये छोटा-बड़ा, उच्च-नीच का कोई भेदभाव ही नहीं। यह सब तो प्रकृति और विकृति के द्वारा भेदभाव, उच्च-नीच आदि कल्पित हैं।

वे हरि जब इस जगत् की उत्पत्ति करते हैं, तो स्वयं ही ब्रह्मा बन जाते हैं। जब रक्षा करनी होती है, तो विष्णु बन कर नाना योनियों में अवतार धारण करके अपनी रची सृष्टि का सावधानी के साथ पालन करते हैं। जब प्रलय काल आकर उपस्थित होता है, तो त्रिनेत्र रुद्र बनकर अपने ललाट के नेत्र से कालाग्नि प्रकट करके सबको भस्मसात् कर देते हैं। पैदा करते समय हर्ष नहीं, पालन करते समय गर्व नहीं, नाश करते समय दुःख नहीं, तीनों ही क्रीड़ायें उनकी हैं। एक खेल के तीन दृश्य हैं। बालक उल्लास के साथ गुब्बारा लाये। उसमें मुँह से फूँक भरकर उसे खूब फुलाकर खेलते रहे। फूला हुआ देखकर आनन्दित होते रहे। जब मन में आई, जोर से फूँक मारी और हाथ से एक थप्पड़ मारा कि फट्ट से फूट गया। फूटते समय जोरशब्द हुआ, उसे सुनकर भी बड़ी प्रसन्नता हुई। एक दिन का खेल समाप्त हुआ, घर गये, माँ की गोद में जल्दी से जाकर बैठे। उसने मुँह पर हाथ फेरा, धोया, आँचल से मुँह पोंछा, काजल

लगाया, दूध पिया, सुख से शैया पर सो गये। सुबह फिर वही खेल आरम्भ हुआ। पुराण पुरुष भी बालक बन जाता है। बालकपन में सुख भी बड़ा रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब हम बच्चे थे, दिन भर खेलते रहते थे। जंगल में जाकर कच्चे-पक्के, मीठे-खट्टे जो भी फल मिल जाते, पेड़ों पर चढ़कर खाते रहते, उस समय न अजीर्ण होता था न अपच, जो कुछ खाया सब स्वाहा। अनेक प्रकार के खेल खेलते, धूप में दौड़ते फिरते। गरम-गरम रेत पर उछलने में भी एक आनन्द का अनुभव करते। कभी न लू लगी, न सिर में दर्द हुआ। जहाँ वर्षा आई वहाँ नंगे होकर वर्षा में कूदते थे। 'बरसो राम धड़ाके से, बुढ़िया मर गई फाके से' कहते हुए नाचते फिरते। सब मिलकर पूरी वर्षा को सिर पर सहते। जब वर्षा कुछ कम होने लगती तो जोर से चिल्लाते। 'बरसो राम घने दुनियाँ, खाय किसान मरे गनियाँ।' ऋषियो! तब इन सबका हम कुछ भी अर्थ नहीं समझते थे। न कभी सरदी होती, न छींक आती। अब तो थोड़ा अधिक प्रसाद पा लें तो कोष्ठबद्ध, अजीर्ण, शरीर शैथिल्य तुरन्त हो जाता है। जटाओं को भिगो कर स्नान कर लें, उसी दिन सरदी हो जाती है। अहा! वे बालकपन के दिन कितने सुवर्ण के दिवस थे, न चिन्ता, न शोक, न भय। बस, निरन्तर खेलते रहना ही जीवन का व्यापार होता था। हम लोग कर्म-बन्धनों के अधीन हैं। इसलिये इच्छा होने पर भी सदा बालक नहीं बने रह सकते। भगवान् को तो कर्म-बन्धन हैं ही नहीं। वे तो सबसे स्वतन्त्र हैं, इसलिये वे निरन्तर बालवत् क्रीड़ा करते रहते हैं। अपनी खिलौना बनाने वाली माया को साथ लेकर खेलते रहते हैं। किसी भी दशा में दुखी, विषण्ण नहीं होते। दुखी भी बनते हैं, तो यह भी क्रीड़ा का एक अंग ही है, विनोद वृद्धि का ही साधन है।"

राजा ने पूछा—'प्रभो! जब भगवान स्वयं ही वाच्य वाचक रूप से सम्पूर्ण चराचर में हैं, तब इस माया को बीच में व्यर्थ घसेड़ने की क्या आवश्यकता है?"

इस पर श्रीशुक हँसे और बोले—"राजन्! उन भूमा पुरुष के कर्तृत्व का निषेध करने के लिये, माया के द्वारा ही इस जगत् प्रपंच का आरोप किया गया है। वास्तव में इस स्वरूप भूत जगत् की उत्पत्ति आदि में उनका कर्तृत्व है ही नहीं। माया के द्वारा वे कर्ता से दिखाई देते हैं।

इस प्रकार हे पांडववंश विवर्धन राजन्! यह मैंने आपसे अत्यन्त संक्षेप में कल्प, उपकल्प और अवान्तर कल्पों की सृष्टि आदि का वर्णन किया। इस सबमें कुछ हेर फेर से प्राकृत वैकृत सृष्टि का क्रम समान ही माना जाता है। अब काल, काल का परिणाम, कल्प और उनके अन्तर्वर्ती मन्वादिकों का प्रसंगानुसार आगे वर्णन करेंगे। अब तुम पाद्म कल्प की कथा सुनो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक कुछ देर के लिये मौन हो गये।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी आपने तो बड़ी गंभीर किन्तु बहुत ही सरल भाषा में यह सृष्टि कथा अत्यन्त ही उत्तमता के साथ सुनाई। अच्छा, अब हम एक प्रश्न पूछते हैं। आप तो कथा के प्रवाह में उसे भूल ही गये होंगे।"

सूतजी ने नम्रता से कहा—"हाँ, भगवन्! मुझे आप स्मृति दिलावें। अनेक कथा उपाख्यानों में किसी प्रसंग को अधूरा छोड़ दिया होगा। बताइये उसी को अब पूरा करूँ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"आपने पीछे हस्तिनापुर के प्रसंग में यह बात कही थी, कि दुर्योधन की अनीति से असन्तुष्ट होकर श्रीविदुरजी अपने समस्त प्रिय बन्धु-बान्धव और परिवार वालों का परित्याग करके तीर्थ यात्रा के निमित्त निकल गये थे।

उसी यात्रा के प्रसंग में उन्होंने महामुनि भगवान् मैत्रेयजी से आत्मज्ञान की उपलब्धि की थी। सो इसी प्रसंग को हमें सुनाइये। महामुनि मैत्रेय के साथ विदुरजी की भेंट कैसे हुई? उन भ्रमण करने वाले मुनि का पता उन्हें किसने बताया? यह बात उन्हें कैसे मालूम हुई, कि मेरे संशयों का छेदन श्रीमैत्रेयजी के द्वारा ही होगा? मैत्रेयजी को किसने विदुरजी को ज्ञान-दान देने के लिये प्रेरित किया? इन दोनों का सम्वाद कहाँ हुआ? विदुरजी ने उनसे क्या-क्या प्रश्न किये और श्रीमैत्रेयजी ने उनके क्या-क्या उत्तर दिये? इन सब बातों को हमें बतावें। इन दोनों परम भागवत् महानुभावों के सुखद-संवाद को हमें सुनावें।"

हमें एक यह भी शंका है, कि एक बार तो वे धृतराष्ट्र आदि को छोड़कर चले गये, फिर दुबारा उन्हीं धृतराष्ट्र के समीप क्यों आये? इस प्रसङ्ग को आप सुनावें।"

इन बातों को सुनते ही सूतजी बड़े जोर से हँसने लगे। सूतजी को हँसते देखकर आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी! हमारे प्रश्न कुछ गड़बड़ हुए क्या? हमने कुछ प्रसंग विरुद्ध बात पूछ डाली क्या? आप इतने हँसे क्यों?"

सूतजी शीघ्रता से बोले—"नहीं, नहीं भगवन्! यह बात नहीं। मैं इसलिये हँसा कि यह प्रश्न करके तो आपने अपनी सर्वज्ञता प्रकट कर दी। आप त्रिकालज्ञ हैं, यह बात आपके इस समय के प्रश्न से भली भाँति विदित हो गई।"

शौनकजी ने पूछा—"सो, कैसे?"

सूतजी बोले—"इसलिये, कि महाराज परीक्षित् ने भी ठीक यही प्रश्न श्रीशुक भगवान् से किया था। क्योंकि इसी प्रसङ्ग में श्रीमद्भागवत की एक नवीन परम्परा, एक पृथक् सम्प्रदाय का वर्णन होगा। भगवान् मैत्रेयजी ने जो ज्ञान श्रीविदुरजी को दिया था वही तो श्रीमद्भागवत-तत्त्व है उसका

मैं उसी प्रकार वर्णन करूँगा जिस प्रकार महाराज परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरुदेव भगवान् श्रीशुक ने महाराज परीक्षित् के सम्मुख वर्णन किया था उस प्रसंग को अब मैं विस्तार से सुनाऊँगा। आप सब प्रभु में दत्तचित्त होकर इस कमनीय कथा को श्रवण करें।"

छप्पय

सूत सुने मुनि बैन नैन भरि आये उनके।
बोले गद्गद गिरा प्रश्न सुनके निज मनके॥
शौनकजी! सर्वज्ञ आपु सब जानें बूझें।
कहाँ करें कस प्रश्न आपकूँ तत्क्षण सूझें॥
अजी, यही तो नृपति ने, करयो प्रश्न शुकदेव तें।
दें हुँकारी तो कहूँ, बिवस देव! निज टेव तें।

—:—

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये।

श्री भागवत-चरित सटीक

टीकाकार

'भागवत चरित व्यास' पं० रामानुज पाण्डेय,
बी० ए० विशारद

'भागवत चरित' विशेषकर ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। जो लोग ब्रजभाषा को कम समझते हैं, उन लोगों को छप्पय समझने में कठिनाई होती है। उनके लिये लोगों की माँग हुई कि छप्पयों की सरल हिन्दी में भाषा-टीका की जाय। संवत् २०२२ विक्रमी में इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ। उसकी दो हजार प्रतियाँ छपायीं। छपते ही वे सब-की-सब निकल गईं। अब उत्तरार्द्ध की माँग होने लगी। जो लोग पूर्वार्द्ध ले गये थे, वे चाहते थे पूरी पुस्तक मिले किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण छपने में विलम्ब हुआ साथ ही लोगों की यह भी माँग थी, कि कुछ मोटे अक्षरों में छापा जाय। प्रभु कृपा से अब के रामायण की भाँति बड़े आकार में मोटे अक्षरों में (२० पा०) अर्थ सहित प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक खंड में ८५० से अधिक पृष्ठ हैं मजबूत एवं सुन्दर कपड़े की जिल्द, चार-चार तिरंगे चित्र और लगभग ३५० एकरंगे चित्र हैं। मूल्य लागत मात्र से भी कम ४२) रु० रखा गया है। एक खंड का मूल्य २१) रु०। डाक खर्च अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें।

—व्यवस्थापक

भागवती कथा खण्ड—६

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीभागवत-दर्शन—

भागवती-कथा

(षष्ठम खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

—:॥:— अग्रिम मूल्य २ ० ०

तृतीय संस्करण १००० प्रति] अधिक श्रावण सं० २०२३ वि० [मू० १-२५ पै०

विषय-सूची

षष्ठ खण्ड

अध्याय	विषय		पृष्ठाङ्क
(अ)	बाबाजी चक्कर में फँस गये	...	४
१००	विदुर मैत्रेय सम्वाद का उपोद्घात	...	२१
१०१	श्रीविदुरजी की धृतराष्ट्र को शुभ सम्मति	...	३८
१०२	दुष्ट पुत्र को त्याग देने की सम्मति	....	४९
१०३	दुर्योधन द्वारा श्रीविदुरजी का तिरस्कार	...	५८
१०४	विदुरजी का हस्तिनापुर त्याग और तीर्थ भ्रमण		६३
१०५	विदुरजी की वृन्दावन में उद्धवजी से भेंट	...	७३
१०६	भगवान के परिवार का कुशल प्रश्न	...	८०
१०७	विदुरजी के प्रश्न से उद्धवजी को भावसमाधि		९२
१०८	श्रीकृष्ण-कथा का उपक्रम	...	१०३
१०९	भगवान् का लोकोत्तर सौन्दर्य	...	११३
११०	भगवान् का लोकोत्तर माधुर्य्य	....	१२०
१११	अजन्मा का जन्म	...	१२७
११२	दीन तथा दुष्टों पर दयामय की अपार दया		१३४
११३	आत्माराम की रमणीय क्रीड़ायें	...	१४१
११४	मथुरापुरी की लीलायें	...	१४९
११५	द्वारावती की लीलायें	....	१५६
११६	यदुवंश का विनाश	....	१६४
११७	श्रीभगवान् द्वारा उद्धवजी को उपदेश	....	१७२
११८	विदुरजी से विदा लेकर बदरीवन गमन	..	१८१
११९	विदुरजी का हरिद्वार में जाना	...	१८९
१२०	हरिद्वार में मैत्रेयजी के समीप श्रीविदुरजी	...	१९६
१२१	विदुरजी का मैत्रेयजी से पारमार्थिक प्रश्न	...	२०४

भागवती कथा

हिन्दी खड़ी बोली के सार्वभौम कवि श्री बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त

की

शुभ सम्मति

प्रिय महाशय,

'भागवती कथा' के रूप में ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजी ने भावुक जनों के लिये सुस्वादु और पुष्टिकर मानसिक भोजन प्रस्तुत किया है। एतदर्थ धन्यवाद।

चिरगाँव (झाँसी)
२-२-४७

भवदीय
मैथिलीशरण गुप्त

अध्याय	विषय	पृष्ठाङ्क
१२२	विदुरजी के अन्य प्रश्न ...	२१०
१२३	श्री मैत्रेयजी द्वारा विदुरजी के प्रश्नों का उत्तर	२१८
१२४	विदुरजी की माया विषयक शंका ...	२२७
१२५	श्री मैत्रेयजी की भागवती परम्परा ...	२३८

❀ श्री हरिः ❀

बाबाजी चक्कर में फँस ही गये

[लेखकीय वक्तव्य]

न कुर्यात् कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद् विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥
नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली॥
कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद्बुधः॥❀

(श्री भा० ५ स्क० ६ अ० ३, ४, ५ श्लो०)

छप्पय

घर तें नातो तोरि जगत् तें जे नर जोरें।
उभय भ्रष्ट तें होहिं बीच महँ लुटिया बोरें॥
मन है भावुक भूत लिपटि जाके सँग जावे।
तब सब ज्ञान विराग भक्ति तप योग भुलावे॥
करें जगत् व्यवसाय जे, कथा कीरतन छोरि कें।
हरि चिन्तन होवे नहीं, नातो जग तें जोरि कें॥

हमारी भागवती कथा के पाठक दैनिक, साप्ताहिक, मासिक आदि पत्रों के पाठकों की भाँति शीघ्र विस्मृतकारी न होंगे,

---

❀ अनवस्थित चंचल चित्त से कभी मित्रता न करे। देखो, इस पर विश्वास करके महादेवजी ने मोहिनी रूप के कारण—अपना

क्योंकि 'भागवती कथा' कोई सामयिक साहित्य नहीं है। यह तो अमर कथा है। सृष्टि के आदि से लेकर अंत तक कही जाने वाली एक रस वार्ता है। पाठकों को स्मरण होगा—मैंने प्रथम खण्ड की भूमिका में यह शंका की थी, कि ये भगत लोग मुझे फँसा कर अलग हो जायँगे। मैं इस चक्कर में फँस जाऊँगा, अपने लक्ष्य से च्युत होकर व्यापारी बन जाऊँगा। सो, वह मेरा अनुमान अक्षरशः सत्य निकला। इस प्रकाशन के झंझट में मेरा पूजा, पाठ, नियम, अनुष्ठान, सभी प्रायः छूट गया! अब जो कुछ होता है, मन को समझाने को लकीर पीटी जाती है। आज कागज नहीं, अभी प्रूफ नहीं आया, दूसरा खण्ड निकला नहीं, चित्र कब तक बनकर तैयार होंगे; ब्लाक बनने में इतनी देर क्यों हो रही है, प्रेस वाले इतनी सुस्ती क्यों कर रहे हैं। किस तिकड़म से कागज मिले, कैसे प्रचार हो, कैसे ग्राहक बढ़ें? ये सब विचार इच्छा न रहने पर भी मस्तिष्क में घूमते रहते हैं। बातें करते हैं तो उसी 'भागवती कथा' के सम्बन्ध की। चिंतन करते हैं तो इसी 'भागवती कथा' के प्रचार, प्रसार और लेखन का। रात्रि में स्वप्न भी प्रायः इसी के सम्बन्ध के दीखते हैं। ऐसी

चिरोपार्जित तप नष्ट कर दिया। साधन में प्रवृत्त जो साधक योगी इस मन पर विश्वास करते हैं। उनका मन काम और उनके अनुयायी लोभ, मोह, क्रोधादि शत्रुओं को अवकाश देकर उसे उसी प्रकार नष्ट करा देते हैं जैसे व्यभिचारिणी स्त्री जारों को अवकाश देकर, अपने विश्वासी पति को नष्ट करा देती है। जो मन काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह तथा भय आदि शत्रुओं और कर्मबन्ध का मूल है, उस दुष्ट, मन पर बुद्धिमान् पुरुष कैसे विश्वास कर सकता है?"

स्थिति में चित्त भजन में स्थिर कैसे हो ? उँगलियाँ स्वभावानुसार माला के दानों को खटकाती रहती हैं। मनीराम इधर-उधर प्रकाशन और प्रचार में भटकते रहते हैं। गीता-वक्ता के शब्दों में यह मिथ्याचार है। यह सच्चा यथार्थ सुमिरन नहीं कहा जा सकता। कर में माला फिरती रहती है, जीभ मुख में और मनुआ चावू जगत् में।

पहिले मैं प्रायः सबसे उदासीन रहता था, क्योंकि किसी से किसी प्रकार का व्यवसायिक संसर्ग ही नहीं था। अब वह निस्पृहता भी मुझे प्रकाशन के चक्कर में फँसा देखकर रफूचक्कर हो गई। अब चक्रपाणि के चरण चक्र में चित्त न फँसकर वह प्रेस के चक्के के चाकचिक्य में चिपट गया। सीधे न सही द्राविड़ी प्राणायाम से याचना भी आरम्भ हो गई। याचक का जो पग-पग पर अपमान होता है, उसका भी अव्यक्त अनुभव हुआ। आश्वासन देने वाले भक्त जो पहिले मेरे पत्रों के लिये लालायित रहते थे, अब मैं उनके पत्रों के लिये लालायित रहता हूँ। जो इसके प्रकाशक कहे जाते हैं, वे श्रीमान् बाबू शङ्कर लालजी साहब बहादुर मोतीबाजार में बैठ कर दुशाला बेच रहे हैं। उन्हें पता भी नहीं यहाँ क्या हो रहा है ? पत्र पढ़ने का भी उन्हें अवकाश नहीं, क्योंकि 'इसमें अपना पारमार्थिक लाभ होगा' वह दिखाई नहीं देता। यही दशा अन्यों की है। शङ्कर तो मुझसे छोटा है। इससे उसका नाम ले दिया। अब बड़ों का नाम कैसे लूँ ? यही कहना पर्याप्त होगा, कि मनुष्य का जहाँ तक वश चले बड़ों से बचता ही रहे। उनके बड़े पेट में भूल कर भी प्रवेश न करे। एक राजा हाथी पर चढ़ कर शिकार को गया। मार्ग में हाथी मर गया। राजा छोड़ कर चले आये। एक सियार उसके मुख से पेट में घुस गया। भीतर

खाने को मिला, पानी भी। दो चार दिन खाता रहा। मोटा हो गया। तब तक हाथी का मुख सूख गया। अब तो गीदड़ बाबू हाथी के पेट में फँस गये। कुछ यात्री जा रहे थे। उसने उनकी वाणी सुन कर कहा—"मैं देवी हूँ, पानी लाकर इस हाथी के मुख पर डालो। मैं वरदान दूँगी।" यात्रियों ने ऐसा ही किया। मुख मुलायम होने से गीदड़ बाबू बोले—"देखो निराशा की कोई बात नहीं मैं तुम्हें लाख रुपये की एक बात बताता हूँ। बड़ों के पेट में कभी न घुसना चाहिये, क्योंकि घुसना तो सरल है, कुछ दिन माल भी मिलते हैं, किन्तु उसमें से बाहर निकलना टेढ़ी खीर है।" गीदड़ देवता का उपदेश तो ठीक है, किन्तु जिसके मन में कोई वासना उत्पन्न हो गई है और भगवान् को भूल गया है, तो उसे तो इन्हीं की ओर देखना पड़ेगा।"

वास्तव में यह प्राणी अपनी ही वासना से बँधता है। यह कहना अज्ञानजन्य है, कि उसने हमें फँसाया। कोई किसी को नहीं फँसाता। सब अपनी वासना से फँसते हैं। भीतर जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार भरे रहते हैं। परिस्थिति, काल और वस्तु को पाकर वे संस्कार जाग्रत होकर अपना फल दिखाने लगते हैं। ये संसारी विषय ऐसे हैं, इन्हें जितना ही ग्रहण करो, उतना ही अभाव प्रतीत होगा। उस अभाव की पूर्ति किसी वस्तु के संग्रह से करो, तो फिर और अभाव दीखेगा और संग्रह की इच्छा बलवती होगी। एक बड़ी प्रसिद्ध कहानी है।

कोई साधु एक कुटी में रहकर अपने गुरु से गीता पढ़ते थे। सत्रह अध्याय हो गये; अठारहवाँ चल रहा था। गुरु जी कहीं लम्बी तीर्थ यात्रा को चले गये। साधु बड़े विरक्त गाँव से नित्य मधुकरी भिक्षा कर लाते, उसे ही पाकर

का श्रवण, मनन करते रहते। एक दिन एक चूहा गीता के वस्त्र को काट गया। साधु को बड़ा दुःख हुआ। उन दिनों गीता दो आने की नहीं मिलती थी। हाथ से लिखाकर बड़ी कठिनता से प्राप्त होती थी। दूसरे दिन पुस्तक को भी काट गया। साधु ने दो [illegible] —"महाराज, एक [illegible] नहीं।" [illegible] गई। बिल्ली रोटी खाने में आनाकानी करने लगी। उसके लिये दूध माँग कर लाने लगे। नित्य प्रति साधु को भिक्षा में दूध कौन दे? जब दो चार बार लोगों ने मना किया, साधु को बुरा लगा तो किसी ने कहा—"महाराज! ऐसे रोज दूध कौन देगा? आपके समीप कितना जंगल है। एक गौ रख लो। बिल्ली भी पीवे आप भी पीवें।" बात साधु के मन पर बैठ गई और एक भक्त ने सुन्दर सी गौ भी दे दी। नित्य समीप रहने से दूध देने से गौ पर साधु का ममत्व भी हो गया पाँच-छः महीने दूध देकर गौ बिसुक गई। जिस जिह्वा को दूध की लत पड़ गई, वह अब दूध के बिना लपलपाने लगी। एक दूसरी गौ आई। अब दो गौ का केवल घास से काम कैसे चले—साधु बाबा चारा माँग कर लाने लगे। तब भूमि के पति ने सम्मति दी—"महाराजजी, नित्य कोई भूसा चारा न देगा। आप एक काम करें। जैसे दो गौएँ हैं, दो बछड़े हैं, दो बैल और रख लो। कुटी के आस पास की जो भूमि है, उसे जोत बो लिया करो। भूसा हो जायगा और कुछ अन्न भी। आये हुए महात्माओं का स्वागत सत्कार भी हो जायगा और द्वार-द्वार याचना भी न करनी पड़ेगी।"

बात साधु के अनुकूल थी। दो बैल भी मिल गये। खेती होने लगी। दिन भर साधु बाबा खेत में काम करते रात्रि में

थक जाते, भोजन भी बनाना कठिन हो जाता। छः छः पशुओं की सेवा, गोबर, पानी, झाड़ बुहारी खेती-बारी, पूरी गृहस्थी का काम काज था। एक विधवा साधु के समीप आकर दयावश कभी-कभी उनकी रोटी बना देती थी, झाड़ बुहारू देती थी और भी उनके काम में हाथ बटा लेती थी। जिस दिन न आती, उस दिन आधी रात्रि तक काम नहीं निपटता। साधु बाबा भूखे ही सो रहते।

एक दिन उस विधवा ने प्रस्ताव किया—"महाराज, मेरे कोई है नहीं, आपका कष्ट मुझसे देखा नहीं जाता। आज्ञा हो तो यहीं मैं पड़ रहा करूँगी। झाड़ बुहारी गोबर पानी कर लिया करूँगी, रोटी भी बना लिया करूँगी, आपको भी कष्ट न होगा, मेरे भी दिन कट जायँगे।" क्या करते साधु बाबा? इच्छा न होने पर भी उन्हें स्वीकार करना पड़ा। उसके आने से बड़ी सुविधायें हो गईं। आधे से अधिक काम उसने बाट लिया। दिन भर घर के काम में लगी रहती; साधु थक जाते तो चरण सेवा भी कर देती। इधर गौओं का भी वंश बढ़ने लगा। उधर साधु बाबा की भी वंश वृद्धि आरम्भ हो गई। पाँच सात बच्चे भी हो गये।"

बारह वर्ष की तीर्थ यात्रा करके गुरुजी लौटे तो उन्हे ध्यान आया—शिष्य को चलकर अठारहवाँ अध्याय पढ़ाना है। बिना अठारहवाँ पढ़े सत्रह का फल ही क्या? यही सब सोचकर गुरुजी शिष्य के समीप आये। दूर से उन्होंने देखा—चेले के कंधों पर दो छोकरे बैठे हैं। एक पीठ पर चढ़ा है, दो गोदी में हैं, एक पीछे दौड़ रहा है। देखते ही गुरु आश्चर्य चकित हो गये। शिष्य अब तो बोझ से लदे थे, साष्टाङ्ग कैसे करते? दूर से ही बोले—"गुरुजी! डंडौत!"

गुरुजी ने विस्मय के साथ पूछा—"अरे, बच्चा ! यह तेरी क्या दशा है ? यह क्या हुआ ?"

शिष्य ने सरलता के साथ कहा—"गुरुजी ! हुआ क्या, गीता ब्याहि पड़ी ?"

सब वृत्तान्त सुनकर गुरुजी बोले—"अरे, छोड़ इस झंझट को। यह तो मायाजाल है।"

इस पर शिष्य ने कहा—"महाराज, कैसे छोड़ूँ ? मैं तो बहुत चाहता हूँ छोड़ दूँ, किन्तु ये तो मुझे छोड़ते ही नहीं। चलिये, आप कुटी पर।"

गुरुजी शिष्य को लेकर कुटी पर पहुँचे। शिष्य ने अपनी भगतिनि से कहा—"सुनती है, गुरु महाराज आये हैं। कहते हैं इस झंझट को छोड़ो। तेरी क्या सम्मति है ?"

यह सुनते ही वह बिलख-बिलख कर रोने लगी। बच्चे भी रोने लगे। स्त्री बच्चों का हास्य उतना मोहक और आकर्षक नहीं होता जितना उनका कारुणिक रुदन और प्रेमकोष आकर्षक होता है। शिष्य ने कहा—"गुरुजी, क्या करूँ ? अब तो इन्होंने मुझे बाँध लिया है, ये छोड़ते ही नहीं।"

गुरुजी की शिष्य पर कृपा थी, वे उसका उद्धार चाहते थे। अतः उन्होंने कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन उन्होंने समीप के ही एक वृक्ष की जाकर जेट भर ली और चिल्लाने लगे—"अरे, बच्चा चलियो, चलियो ! मुझे वृक्ष ने पकड़ लिया है।" गुरुजी की वाणी सुनकर शिष्य महोदय दौड़े-दौड़े गये। उनके पीछे उनके बच्चे-कच्चे भी दौड़े गये। देखा, गुरुजी बड़ी दृढ़ता से वृक्ष को जेट में भरे खड़े हैं। देखते ही शिष्य ने कहा—"गुरु-जी, आप वृक्ष को छोड़ दीजिये।"

विवशता के स्वर में गुरुजी ने कहा—"कैसे छोड़ दूँ ? भैया ! यह मुझे छोड़े तब तो। इसने तो मुझे पकड़ रखा है।"

इस पर हँसकर शिष्य ने कहा—"महाराज, उसने कहा पकड़ रखा है। आप ही उसे जेट में भरे हैं। आप छोड़कर अलग हो जायँ, तो वृत्त तो कुछ कर नहीं सकता।"

यह सुनकर गुरुजी हँस पड़े और बोले—"भैया, जो शिक्षा तू मुझे देता है, उसका पालन स्वयं क्यों नहीं करता ? इन ब्रा वर्गों ने तुझे पकड़ रखा है, कि अपनी वासना से—इनकी सृष्टि करके, इनमें ममत्व स्थापित करके—तू इन्हें पकड़े हुए है ?"

अठारहवें अध्याय का सार यही है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥

वास्तव में कोई अन्य व्यक्ति किसी को न चक्कर में फँसा सकता है, न अपने लक्ष्य से च्युत करा सकता है। मनुष्य वासनाओं के वशीभूत होकर रेशम के कीड़े की भाँति स्वयं ही जाल बनाता है और स्वयं ही फँसता है। लोगों के सम्मुख अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के निमित्त दूसरों को दोष देता है। दूसरों पर टाल देता है। मेरे यहाँ बहुत लड़के आते हैं—"महाराज, मैं विवाह नहीं करूँगा। बड़ा झंझट है, मरण होता है, मनुष्य फँस जाता है, स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, उन्नति नहीं होती आदि आदि।" मैं कहता हूँ—"न, भैया ! यह ठीक नहीं। विवाह अवश्य करना चाहिये। देखो, ऐसे बिना घरद्वार के रहना ठीक नहीं।"

इस पर वे मुझसे असन्तुष्ट होकर कहते हैं—"महाराज आप भी ऐसी सम्मति देते हैं। आपको तो हमें बचाना चाहिये। मैं कभी न करूँगा।" नित्य ही ऐसी बातें सुनते-सुनते मैं तो नाड़ी की गति समझ गया हूँ। कह देता हूँ—"अच्छी बात है अभी कुछ दिन प्रतीक्षा करो। देखें, भगवान् क्या करते हैं?" कुछ काल के पश्चात् वे आते हैं—घरवालों के साथ, एक दो बच्चों के साथ। मेरा स्वभाव तो मुँह फट है ही। बिना शील संकोच के हँसी-हँसी में सभी बातें कह डालता हूँ, पूछता हूँ—"क्यों, भैया! तू तो विवाह करना ही नहीं चाहता था?"

इस पर वे अन्यमनस्क होकर कहते हैं—"अजी, महाराज! क्या बतावें, हमारी तो तनिक भी इच्छा नहीं थी। पिता जी बड़े अप्रसन्न हुए। माताजी ने भोजन बन्द कर दिया। बड़े भाई पीछे ही पड़ गये। क्या करता? विवश हो गया, करना ही पड़ा।" इस पर हँस कर मैं कह देता हूँ—"विवाह तो उनके कहने से किया और यह किच-पिच किसके कहने से की?"

बात यह है, छिपी हुई वासनाओं के उदय होने का जब अवसर आता है, तो मनुष्य अनेक सुविधाओं को सोचता है। मति उस समय वैसी ही उड़ जाती है। व्यापारी जिस व्यवसाय को आरम्भ करता है, उसमें वह लाभ ही लाभ सोचता है। यदि उसे हानि की सम्भावना हो, तो कभी आरम्भ ही न करे। पीछे हानि हो जाय, तो दूसरी बात है।

लिखने का मुझे व्यसन है। इसके लिये मैंने प्रयत्न भी किया कि यह व्यसन छूट जाय, किन्तु न छूटा, तो मैं इसके सम्मुख नत मस्तक हो गया। मेरे जीवन में स्थिरता नहीं।

सोचा यह था—'जब लिखना ही है' तो भगवत् तथा भागवत सम्बन्धी बातें लिखो। इसी लिये 'भागवती कथा' लिखने की अन्तःकरण से प्रेरणा हुई। उसका लिखना आरम्भ कर दिया। पाँच-सात खण्ड लिख गये। तब उन्हें प्रकाशित करने की वासना उत्पन्न हुई। प्रकाशित करने में मुख्य उद्देश्य प्रसिद्धि तो है ही, एक यह भी उद्देश्य था, कि प्रकाशित होना आरम्भ हो जायगा, तो मैं लिखने के लिए विवश हो जाऊँगा। एक दो पुस्तक को छोड़ कर मेरी सभी पुस्तकें इसी लोभ से पूरी हुई हैं, कि मैं लिखता गया हूँ, प्रकाशक छापते गये हैं और मुझे बार-बार विवश करते हैं—'शीघ्र भेजो, काम रुका है। इसे पूरा कर लें तब दूसरे कार्य में हाथ डालें।' इस प्रकार वे पुस्तकें पूरी हुई हैं। जिसमें ऐसी बात नहीं हुई, वे पुस्तकें प्रायः अधूरी ही पड़ी रह गईं। ऐसी कई पुस्तकें अधूरी ही अब तक पड़ी हैं। अब रह गईं सो रह गईं। यदि कोई परमार्थ भावना वाला प्रकाशक इसे स्वतः प्रकाशित करता, तो मैं बहुत से झंझटों से मुक्त हो जाता। पाँच छः महीने मैंने इसी के लिये कइयों से लिखा-पढ़ी की। किन्तु इस कागज की इतनी महँगाई में कोई भी बड़े से बड़ा प्रकाशक इतने बड़े महाग्रंथ को प्रकाशित करने को तैयार नहीं हुआ। तब मेरे कुछ हितैषी भगतों ने सम्मति दी, कि यहीं संकीर्तन भवन से प्रकाशित हो तो क्या हानि? मैं तो प्रकाशन का, प्रेस का, छपाई का सभी अनुभव किये बैठा हूँ। बात मुझे यह जँची नहीं। चिरकाल तक टालमटोल करता रहा। अन्त में मेरी प्रबल वासना ने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त कर ही दिया। आरम्भ में यही सोचा था—चार-पाँच खण्ड निकाल दूँगा, गाड़ी चल पड़ेगी। सब लोग सम्हाल लेंगे परमार्थ कार्य है। कथा कीर्तन का प्रचार हो, इससे बढ़कर

भगवत् सेवा और क्या हो सकती है ? यही बात मैंने प्रथम खण्ड की भूमिका में लिखी थी। प्रकाशन आरम्भ हो गया। पाँच खण्ड इसके प्रकाशित हो गये, यह छठा खण्ड आपके हाथों में है इनकी छपाई में कितनी कठिनाइयाँ हुईं, इसे मैं जानता हूँ या नन्दलाल भगवान् के अतिरिक्त और कोई इसे जानता हो, यह कहना कठिन है।

जमे हुए पुराने काम में कोई कठिनाई नहीं। कोई भी बुद्धिमान पुरुष कर सकता है। किन्तु जब सब वस्तुओं पर रोक थाम, नियम आदि लगे हों। बिना आज्ञा के कागज मिलता ही न हो, ऐसे समय बिना प्रेस और बिना पैसे वाले व्यक्ति को प्रति मास दो-सौ पचास पृष्ठ के सचित्र ग्रन्थ को प्रकाशित करना अत्यन्त ही कठिन है। इन कठिनाइयों के कारण मेरे साधन भजन में बहुत धक्का लगा। मेरी चित्त की वृत्ति दूसरी ओर लगी। मन में वणिक् वृत्ति जाग्रत हो गई। उत्थान के स्थान पर पतन हुआ। उन्नति की अपेक्षा जीवन मे अवनति हुई। चित्त चंचल हो गया। जिन लोगों मे बीसों वर्ष से निस्पृह था, उनसे पुराने परिचय निकालने लगा। कामना भी मन में उत्पन्न हुई, लोभ की मात्रा भी बढ़ गई, छोटे बड़ों में भेद भाव बढ़ गया, समय पर इच्छानुकूल कार्य न होने से क्रोध भी आने लगा। पहिले प्रायः निरन्तर नाम स्मरण होता था' अब वह धारा अविच्छिन्न न रहकर विच्छिन्न होने लगी न, कितना भी अविच्छिन्न नाम जप का अभ्यास हो, तीन बातों में वह विच्छिन्न हो ही जाता है। काम वासना के प्रबल होने से नाम की धारा टूट जाती है' क्योंकि जहाँ काम है वहाँ राम रहते नहीं। दूसरे हृदय मे क्रोध आने पर नाम की धारा टूट जाती है। तीसरे अनुचित लोभ उत्पन्न हो जाने पर धारा

अविच्छिन्न नहीं रहने पाती। जिसके मन में भगवत् सेवा के अतिरिक्त किसी कार्य की प्रबल वासना है, उसका चित्त स्थिर नहीं रहने पाता। उसमें चंचलता आ ही जाती है।

जितना मेरा अनुमान था, उससे यह ग्रन्थ कहीं अधिक बड़ा होगा, अब तक लगभग २२ खण्ड लिखे जा चुके हैं और छठा स्कन्ध समाप्त भी नहीं हुआ। अभी कितने और होंगे भगवान् जानें, यदि भगवान् की इच्छा इसे पूर्ण करने की हुई तो लिखने में तो मुझे कोई विक्षेप होता नहीं। उस समय तो सब ओर से चित्त की वृत्तियाँ हट कर तन्मय हो जाती है, समाधि सुख का अनुभव होने लगता है। लिखना मेरी प्रकृति के अनुकूल है, किन्तु यह प्रकाशन का झंझट मेरी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है। आज यह नहीं, कल वह नहीं, समय पर नहीं निकला, इन बातों से चित्त में चंचलता होती है। जिससे प्रकाशन की आशायें थीं, उन्होंने सर्वथा कुछ नहीं किया—यह कहना तो झूठ भी होगा, पाप भी होगा किन्तु वह करना न करने के ही बराबर है। रुपये में एक आना समझिये। शेष पन्द्रह आना में हम और सब हैं। यदि यह साढ़े सात आना भर भार मेरे सिर से और उतर जाय, तो मैं कुछ उलटा सीधा भजन भी कर सकूँ और लिख भी सकूँ। इस पुस्तक को लोगों ने पसन्द न किया हो, सो भी बात नहीं है। अब तक की माँगों से तो हमने यही अनुभव किया है, कि यदि कुछ सच्ची लगन से निस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले व्यक्ति मिलें, तो इसके प्रकाशन में आर्थिक घाटा भी नहीं है और इसका बहुत प्रचार हो सकता है। अभी इसे प्रकाशित हुए सात-आठ महीने ही हुए हैं। इसके लिये कोई विशेष प्रयत्न भी नहीं किया गया। बाहर प्रचारक भी नहीं गये,

विज्ञापन भी नहीं हुआ। फिर भी लगभग १८०० प्रतियाँ इसकी बाहर जाने लगी हैं। अधिक प्रयत्न इसलिए नहीं किया कि यदि अधिक माँग आने लगी तो हम कागज की कमी के कारण सब की माँगों को पूरी न कर सकेंगे। प्रथम खण्ड का दूसरा संस्करण हो गया, तीसरा होने वाला है। दूसरे खण्ड का द्वितीय संस्करण हो रहा है। यदि भागवती कथा के पाठक प्रयत्न करें और यहाँ से प्रचारार्थ बाहर प्रचारक भी जायँ, तो इस साल में पाँच हजार ग्राहक हो जाना कोई बड़ी बात नहीं। यदि वर्ष के अन्त में पाँच हजार ग्राहक हो जायँ और तीन-चार निस्वार्थ सेवा करने वाले बन्धु मिल जायँ, और छपाई का नियमित सुन्दर प्रबन्ध हो जाय, तो इसका पूरा प्रकाशन बिना किसी विघ्न बाधा के हो सकता है। अब तो मैं इस प्रकाशन में फँस कर लक्ष्यच्युत सा हो रहा हूँ। सैकड़ों पुरुषों के अग्रिम १५) २५) आ चुके हैं। समय पर खण्ड नहीं पहुँचता; तो वे इतनी खरी खोटी बातें लिखते हैं, इतना अविश्वास प्रकट करते हैं मानो उनसे १५) ठगने के लिये ही यह सब ढोंग रचा। उनका भी कोई दोष नहीं। दूध का जला हुआ छाछ को फूँक-फूँक कर पीता है। आज कल अधर्म की वृद्धि से लोगों ने इतना अविश्वास पैदा कर दिया है, कि एक दो अंक निकाल कर साल भर के मूल्य को हड़प जाते हैं। मैं 'भागवती कथा' के पाठकों को प्रकाशकों की ओर से विश्वास दिलाता हूँ, वे किसी प्रकार का अविश्वास न करें। यों कोई महान् दैवी घटना हो जाय उसकी बात दूसरी है, नहीं तो बराबर खण्ड प्रकाशित होंगे। उनके पास पूरे खण्ड पहुँचेंगे, यो कागज न मिलने के कारण अथवा छपाई के कारण देर सबेर हो जाय, यह दूसरी बात है। यदि किसी कारण से

प्रकाशक इसे प्रकाशित करने में असमर्थ होंगे, तो शेष खंडों का मूल्य धन्यवाद सहित लौटा दिया जायगा। हम लोग रुपयों के पीछे अपने धर्म को, सदाचार को खो बैठें, ऐसी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। रुपयों को हमने कभी भी महत्व नहीं दिया है। हमारा धन है भगवत् स्मृति। उसमें जब विघ्न होता है, तो हमें कष्ट होता है। हम समझते हैं हम अपने स्वरूप से च्युत हो रहे हैं।

मेरे जीवन में कभी वैराग्य की लहर आई थी। ज्वर जैसे उतर जाता है वैसे ही यह वैराग्य की लहर उतर गई। उसका जब स्मरण करता हूँ और आज के जीवन से उसकी तुलना करता हूँ, तो मुझे ग्लानि होती है। लोग कहने लगे हैं—'ब्रह्मचारीजी अब तो महन्त बन गये हैं। महन्त शब्द कोई बुरा तो है नहीं। महान्त से महन्त बना है, किन्तु विरक्तों में वर्तमान परिस्थिति के अनुसार यह गाली समझी जाती है। जैसा मेरा जीवन प्रवाह चल रहा है, उसमें यदि यह गाली मुझे दी जाती है, तो यह अनुचित नहीं। निश्चय मेरी कीर्ति और प्रतिष्ठा की वासना ने मुझे व्यवसाय में फँसा दिया है और इसमें श्री भगवान् ही निकालना चाहें तो निकाल सकते हैं। अब चक्कर में तो फँस ही गया हूँ।

कुछ लोगों का कहना ऐसा है—"महाराज ! चक्कर-फक्कर में आप कुछ नहीं फँसे हैं। ऐसी बातें कह कर आप दूसरों को फँसाना चाहते हैं। इसी बहाने कुछ माल मार कर अपनी पूँजी बढ़ाना चाहते हैं! दूकान जमाना चाहते हैं। यह कथन सर्वांश में सत्य न भी हो, तो भी इसमें कुछ सत्यांश है। मैं फँसाना अवश्य चाहता हूँ, किन्तु माल मारने के लिये नहीं। चाहता मैं यह हूँ कि जो इन व्यावसायिक कार्यों में चतुर हो,

जिनकी ऐसे कार्यों में स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, वे निस्वार्थ भाव—पुण्य और परोपकार की भावना—से इसे अपना लें। अपना कार्य समझ कर करें, जिससे मैं इन कागज स्याही और छपाई प्रेस के झंझटों से मुक्त हो जाऊँ।

कुछ लोगों का कहना है, कि तुम इसे झंझट समझते ही क्यों हो ? भगवत् सेवा समझ कर अनासक्त भाव से करो। फल की इच्छा मत रखो, तुम्हारा अधिकार कर्म करने में है, फल की चिन्ता को भगवान् पर छोड़ दो। सोच लो, भगवान् को तुमसे यही कार्य कराना है। इन सबको झंझट न समझ कर भगवान् की देन समझो। गुलाब के फूल के साथ काँटा रहेगा ही। उससे घृणा मत करो, उसे आवश्यक मत मानो।

बात तो यह सत्य है, अमूल्य है। दो ही बातें हैं, या तो सब कुछ छोड़ कर एक मात्र भगवान् का भजन ही करें या जो भी कुछ करें उस सबको भगवत् भजन ही समझें। इन दोनों में से एक भी बात हो जाय, तो बानिक बन जाय। किन्तु होता नहीं है। सब कुछ व्यापार छोड़ कर निरन्तर भगवान का भजन होता नहीं है और कार्य करते समय कर्तृत्वपने का अभिमान आही जाता है। पश्चात्ताप तथा दुःख का कारण यही है। यदि अनुकूल प्रतिकूल सभी को प्रभु-दत्त समझ कर उसमें वह भाव हो जाय तब तो न कोई चक्कर है न फक्कर अब तो अनुकूल होता है, तो उसको अपना ही किया समझकर कर्तृत्वपने का भाव आरोप करते हैं। यदि प्रतिकूल हुआ, तो उसे भगवान् की अकृपा समझते हैं। यही माया का चक्कर है। यही बन्धन का मूल कारण है। यह भाव मिट जाय, तो न कोई बन्धन, न कोई मुक्ति का साधन। अतः समस्त 'भागवती कथा'

के पाठक मिल कर मुझे हृदय से आशीर्वाद दें, कि मेरे मन का मैल दूर हो, मेरे संशयों का नाश हो, मेरी प्रभु पाद पद्मों में प्रीति हो। मुझे फँसावट तो प्रत्यक्ष ही दीख रही है। 'भागवती कथा' पूरी लिखी जाय, इसकी वासना भी प्रबल है। वासनाओं के प्राबल्य से ही परिग्रह संग्रह करने की इच्छा होती है। किन्तु इस फंसावट में, इस वासना में आशा की एक ही किरण दिखाई देती है यह मैं सब कुछ भगवान् के नाम पर कर रहा हूँ यद्यपि मुझ में भक्ति नहीं, पद प्रतिष्ठा से रहित होकर कार्य कर सकूँ यह शक्ति नहीं। अपने में उत्थान के स्थान में पतन के ही लक्षण पा रहा हूँ। अब मैं पतन के किनारे ही पर खड़े होकर अपने स्वरूप को निहार रहा हूँ। जब तक आत्मस्मृति है तब तक आशा है, जब यह भी विस्मृत हो जायगी, तो करार टूट जायगा और मैं विषय के गर्त मे धड़ाम से गिर जाऊँगा। यदि भगवान् को लाज होगी तो मुझे हाथ पकड़कर उबार लेंगे। आज-कल मेरी परीक्षा के दिवस हैं। आज तक मैं कभी किसी ऐसा परीक्षा में नहीं बैठा। अब तक परीक्षाओं से डरता रहा, बचता रहा, किन्तु अब जान बूझ कर इस आग में कूद पड़ा, या किसी ने बलपूर्वक परीक्षा स्थल में घुसा दिया। हे आशुतोष! मैंने परिश्रम नहीं किया, पाठ्य पुस्तकों का लगन के साथ अध्ययन भी नहीं किया, फिर भी तुम्हारी मनौती मानता हूँ, तुम्हारा नाम लेता हूँ। इस महाशिवरात्रि के पुण्य पर्व पर मुझे भिक्षा दो! इस परीक्षा मे मुझे उत्तीर्ण कर दो। देखो, लोग यह न कहें कि जन्म कर्म में तो यह एक परिक्षा में बैठा, उसमें भी असफल रहा। नाम तुम्हारा बदनाम होगा। मैं तो पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पाप संभव' रटता ही हूँ। अपने नाम की लाज सम्हारो।

"जाइगी लाज तुम्हारी नाथ ! मेरो का बिगरेगो ।'

हे पशुपति शिव विश्वनाथ अज दानी ओघर ॥
हे हर शंकर शम्भु सतीपति अलख अगोचर ।
हे त्रिनेत्र त्रिपुरारि कामरिपु सबके स्वामी ॥
हे अज अच्युत अखिल जगपति अन्तर्यामी ॥
हे मा जगदम्बा जननि ! भोले बाबा ते कहो ।
क्यों बहरे बैठे बने, क्यों निज शिशु दुर्गति सहो ॥

श्रावण, सं० २००५ वि०
संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) } —प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

विदुर मैत्रेय सम्वाद का उपोद्घात

(१००)

एवमेतत् पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान्किल ।
क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥
यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः ।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

श्रीशुक बोले—"भूप ! विदुर ने ये ही बातें ।
मैंने मुनि तें सुनी कहूँ तिनही कूँ तातें ।
राजा पूछें—"प्रभो ! विदुरजी की मुनिवर तें ।
भेंट भई कब कहाँ ? गये जब बनकूँ घर तें ।
श्रीशुक बोले—"का कहूँ ! विदुर भवन मुनि मन हरन ।
तिहि तजि तीरथ कूँ गये, जहँ निवसे राधारमन ।"

संसारी लोगों के सम्बन्ध की स्मृति-वस्तु में किया हुआ मोह संसारी बन्धन को दृढ़ बनाता है, वही मोह यदि भगवत् सम्बन्ध से भगवान् और भक्तों की स्मृति-वस्तुओं से किया

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! जैसे प्रश्न आपने मुझसे पूछे हैं वैसे ही प्रश्न जब अपने समृद्धिशाली घर

जाय, तो उससे भगवत् स्नेह बढ़ता है। तीर्थों में और है क्या ? उनका सम्बन्ध भगवत् और भागवतों से है। उनमें जाने से भगवान स्मृति होती है। ये वे ही गंगाजी हैं जो भगवान् के पखारे हुए पाद-पद्मों के पय से प्रवाहित हुई हैं। यह वही पुरी है, जहाँ उत्पन्न होकर कौशल्यानन्दवर्धन रघुनन्दन ने भाँति-भाँति की मनुष्योचित क्रीड़ायें की हैं। यह जन्मस्थान है, यह दशरथ भवन है, यह कनक महल है, यह सीता रसोई है। यहाँ भगवान् बनवास के समय पधारे थे, अतः यह चित्रकूट साकेतधाम के ही समान है जिनका नाम लेने से भक्त भगवान् की स्मृति हो, किसी भी प्रकार जिनका भगवल्लीलाओं से प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो, वे ही परम पावन तीर्थ हैं। संसारी लोग स्मृति बनाते हैं, इस घर में मेरा जन्म हुआ था, इस घर को मेरी सास ने पहिले-पहिले मुझे रहने को दिया था। यहाँ उनकी स्मृति बनाओ, यहाँ उनका नाम लिखो ! उनकी संगमरमर की समाधि बना दो। अरे, अज्ञानियों ! जब वह इस सजीव शरीर को ही छोड़कर चला गया, वही उसकी स्मृति को स्थाई न रख सका, तो ये निर्जीव ईंट पत्थर उसकी स्मृति को कितने दिन जीवित रख सकेंगे ? इसीलिए जो मुमुक्षु हैं, भगवत् भक्त हैं वे सब वस्तुओं में भागवत् और भक्तों की स्मृति को ही प्रधानता देते हैं। सौभाग्य से

को त्याग कर विदुरजी वन में (तीर्थ यात्रा में) गये थे, तब उन्होंने भगवान् मैत्रेय से किये थे। अरे, राजन् ! उन विदुरजी के घर का जितना भी महत्व बताया जाय, सब थोड़ा है। जिस घर में पांडवों के दूत बनकर भगवान् दुर्योधन के राजमहल को छोड़ कर, उसे अपना ही घर समझकर बिना बुलाये चले गये थे।"

उनके घर में कोई सन्त पधार जाते हैं, तो उनकी छवि को उनके सुन्दर चित्र को—वह स्मृति रूप में लगाते हैं, उनकी पादुका स्थापित करते हैं, चरण चिह्नों के लिए पीठ बनाते हैं, घर में पूजा स्थापित करते हैं, उत्सवों के लिए अलग-अलग स्थल निश्चित करते हैं, जिससे बार बार स्मरण हो जाय। पूजा वाले घर में वह वस्तु रक्खी है, जन्मोत्सव वाले चौक को लीप दो, रथ यात्रा वाली कोठरी की सफाई कर दो, आदि-आदि। वे परम भक्त धन्य हैं, जिनके घर में भगवान् स्वयं सशरीर मानुषी विग्रह बना कर पधारते हैं, महाभाग परम भागवत जगद्वन्द्य महामना विदुरजी उन्हीं भाग्यशाली भगवद् भक्तों में से हैं। वे स्वयं तो वन्दनीय, पूजनीय और प्रातःस्मरणीय हैं ही, उनके घर की धूलिका कण-कण भी परम पवित्र हैं, जहाँ पतितपावन परात्पर परमेश्वर पांडवपति प्रभु के पादपद्मों की पावन पराग पड़ी थी। उनका घर इस कारण से कोटि तीर्थों से भी श्रेष्ठ बन गया था। यही सब स्मरण करके गद्गद् कंठ से महामुनि शुकदेवजी कहने लगे।

श्रीशुक बोले—"राजन्! तुम जो मुझसे प्रश्न पूछ रहे हो। यही प्रश्न महात्मा विदुरजी ने भाग्यवान् मैत्रेय मुनि जी से पूछा था।"

महाराज ने बीच में ही पूछा—"प्रभो! मैत्रेय मुनि से महाभागवत विदुरजी की भेंट कहाँ हो गई? क्या मैत्रेयजी हस्तिनापुर पधारे थे?"

श्रीशुक बोले—"नहीं राजन्! मैत्रेय भगवान् हस्तिनापुर नहीं पधारे थे। जब विदुरजी अपने परम समृद्धिशाली, परम ऐश्वर्ययुक्त, सर्वश्रेष्ठ, सर्व सौभाग्ययुक्त सुन्दरों से भी सुन्दर

भवन को दुखी मन से त्याग कर वन के लिए पधारे थे। उसी समय हरिद्वार में—कुशावर्त क्षेत्र में—श्रीमैत्रेयजी के साथ उनका संवाद हुआ।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित कुछ आश्चर्य चकित होकर पूछने लगे—"प्रभो ! आप श्रीविदुरजी के भवन की इतनी प्रशंसा कर रहे हैं, इतनी श्रेष्ठ-श्रेष्ठ उपमायें दे रहे हैं, इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। यद्यपि श्रीविदुरजी मेरे पितामहों के भी पितृव्य (चाचा) थे, किन्तु मैंने ऐसा सुना, कि वे दासी पुत्र थे। उन्हें राज्य की ओर से कोई साधारण सा घर मिला होगा। उस साधारण घर की तो आप इतनी प्रशंसा करते हैं, उसे परम समृद्धिशाली बता रहे हैं और वास्तव में जो समृद्ध है, जिनमें संसार के सभी श्रेष्ठ-श्रेष्ठ रत्न, मणि-माणिक्य एकत्रित थे, उन कौरवों के भवनों का आप नाम भी नहीं लेते, यह क्या बात है ?"

इतना सुनते ही श्रीशुक के दोनों कमल के समान नेत्र जल से भर गये और उनमें से ओस-कण के समान शनैः शनैः—कपोलों पर लकीर करते हुए—अश्रु-बिन्दु उनके वक्षस्थल को भिगोने लगे। आँसू पोंछ कर श्रीशुक कहने लगे—"राजन् ! उन महाभाग विदुरजी के घर के लिये जो भी उपमायें दी जायँ, वे सब कम हैं। अहा ! वे कितने भाग्यशाली थे, उनका वह घर कितना परमपावन था, उस घर की धूलि के स्पर्श मात्र से पापी पुरुष भी पावन बन सकता था। उसी घर को विदुरजी ने अनिच्छापूर्वक त्याग दिया। दुष्टों ने उस परम प्रिय आवास को त्यागने के लिये उन्हें विवश बना दिया। राजन् ! तुम्हारे पितामहों के सन्धि दूत बन कर हस्तिनापुर में

पधारे हुए भगवान् नन्दनन्दन ने विदुरजी के ही भवन को अपनी पद-धूलि से पावन बनाया। बिना बुलाये ही अपने घर के समान बिना रोक-टोंक उसमें चले गये। और जाकर वहाँ माँग कर केले नहीं, केले के छिलके खाये।'

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! महाभारत के प्रसंग में मैंने यह कथा सुनी तो है, किन्तु उसमें केलों के छिलके खाने वाली बात नहीं है। इस प्रसङ्ग को आप मुझे सुनावें।"

यह सुन कर श्रीशुक महाराज की प्रशंसा करते हुए बोले—"राजन्! तुम धन्य हो, तुम्हारा मन सदा ही श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में लगा रहता है, तभी तो श्रीकृष्ण-कथा का सूत्र पाते ही आप उसका विस्तार से वर्णन सुनना चाहते हैं। महाराज! यह प्रसंग बहुत बड़ा है इसलिये विस्तार से न बताकर मैं आपको इसे अत्यन्त संक्षेप में ही सुनाऊँगा।

"अज्ञातवास का समय समाप्त करके आपके पितामह अपने राज्य की प्राप्ति के लिये उद्योग करने लगे। जब वे सब प्रकार से शान्तिमय उपायों में असफल रहे, तब तो—उन्होंने सैन्य संग्रह करना आरम्भ किया। फिर भी धर्मराज की इच्छा युद्ध करने की नहीं थी, वे जाति द्रोह कुलनाश से अत्यधिक डरते थे। उनके अभिप्राय को समझ कर भक्तवत्सल मधुसूदन उनसे बोले—"राजन्! आप इतने चिन्तत क्यों होते हैं? मैं आपका दूत बनकर हस्तिनापुर जाऊँगा, उद्धत कौरवों को मैं डाँट फटकार कर सीधे रास्ते पर लाऊँगा, मैं उन्हें सब ऊँच-नीच समझाऊँगा, अपना बल पौरुष बताऊँगा, आपका सन्देश सुनाऊँगा। अपनी ओर से कोई बात उठा न रखूँगा।

इतने पर भी वे दुष्ट न मानेंगे, तो मैं उन्हें वहीं पर मार डालूँगा। आप चिन्ता त्यागिये। मुझ सेवक के रहते हुए आपको दुखित होना— चिन्ता करना—योग्य नहीं।'

आँखों में आँसू भर कर धर्मराज बोले—'मधुसूदन! आप ही एक मात्र हमारी गति हैं। हे अशरण-शरण! हमने तो आपके ही मुनिजनवन्द्य चरणारविन्दों को जकड़ कर पकड़ लिया है। आप हमारी उसी प्रकार सदा रक्षा करते हैं, जैसे पक्षी की स्त्री अपने अंडों की रक्षा करती है। फिर भी हे द्वारिकानाथ! हे यादवेन्द्र! आपको दूत बना कर भेजना मैं उचित नहीं समझता। यह कार्य आपके अनुरूप नहीं है। यह आपके पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, महिमा और सम्मान के सर्वथा विरुद्ध है। किसी बुद्धिमान् अन्य व्यक्ति को आप दूत बना कर कौरवों के पास भेजें।'

इस पर मेघ गम्भीर वाणी में भगवान् वासुदेव बोले—'राजन्! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं? अपने काम में कहीं प्रतिष्ठा देखी जाती है? अपने शरीर के मल-मूत्र को धोने में क्या कोई अपमान समझता है। ये बातें तो अन्य लोगों के सम्बन्ध में सोची जाती हैं। आपका काम, मेरा काम है। यदि मैं सन्धि करा सका, तो संसार में मेरी बड़ी कीर्ति होगी, मुझे पुण्य प्राप्त होगा और सबसे बड़ा पुण्य मैं यही समझता हूँ कि आप प्रसन्न होंगे। मैं आपकी प्रसन्नता के लिये सब कुछ कर सकता हूँ, दहकती हुई अग्नि में भी हँसते-हँसते कूद सकता हूँ।'

सिसकियाँ भरते हुए आपके ज्येष्ठ पितामह धर्मराज युधिष्ठर बोले—'वासुदेव! इतनी भक्तवत्सलता आपके ही

अनुरूप है। हे प्रभो! अब मैं कुछ भी नहीं कह सकता। आप को जो उचित जान पड़े वही करें। आप जो करेंगे, उसी में हमारा कल्याण होगा!'

धर्मराज की ऐसी बात सुनकर कंसनिपूदन भगवान् गरुड़ध्वज हस्तिनापुर चलने के लिये तैयार हुए। स्नान करके वे नित्य कर्मों से निवृत्त हुए। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने आकर उनका स्वस्त्ययन किया। भगवान् ने भी हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और वृद्ध ब्राह्मणों की चरणधूलि मस्तक पर रख कर, उनसे अपने कार्य की सिद्धि के लिये आशीर्वाद लिया। धर्मराज, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी अश्रु भरे नेत्रों से निहारते हुए उन्हें घेर कर खड़े हो गये। भगवान् ने सब को सान्त्वना देते हुए कहा—"आप सब घबड़ावें नहीं। मैं वही कार्य करूँगा, जिससे धर्मराज युधिष्ठिर इस समस्त वसुन्धरा के एक छत्र सम्राट् हो सकें। मैं महाराज पाण्डु के ज्येष्ठ श्रेष्ठ, गुणी और धर्मात्मा पुत्र को सम्राट् पद पर अभिषिक्त करके ही चैन लूँगा। जब तक कुन्तीनन्दन राज्य सिंहासन पर आसीन न हो जाँयगे, तब तक मुझे कुछ भी अच्छा न लगेगा।'

आँसू बहाते हुए द्रौपदी ने कहा—'प्रभो! सन्धि करते समय मेरे इन खुले बालों को न भूल जायँ। भक्तवत्सल! चीर बन कर आपने जो मेरी द्यूत सभा में रक्षा की थी और मुझसे वेणी बाँधने का आग्रह किया था। उस समय की मेरी की हुई प्रतिज्ञा का हे सर्वान्तयामी! आप स्मरण रखें।'

कुछ खीजते हुए भगवान् ने कहा देवि! तुम मुझे वे बातें चलते समय स्मरण न दिलाओ, वे सब बातें शूल की

तरह से मेरे हृदय में चुभी हुई हैं।' इतना कहकर वासुदेव ने धर्मराज की वन्दना की और लोगों ने उन्हें प्रणाम किया और वे अपने दिव्य रथ पर जा बैठे। सात्यकि उनके समीप बैठे। सारथि ने रथ हाँक दिया और रथ घर-घर शब्द करता हुआ चल पड़ा। भगवान् की विशाल गरुड़ की ध्वजा वायु में उसी प्रकार चंचल होने लगी, जैसे विषय भोगों की सामग्रियों के सामने आने से कामियों का चित्त चंचल होने लगता है।

इधर जब धृतराष्ट्र ने, सन्धि-दूत बनकर भगवान् के शुभागमन का सम्वाद सुना, उनका चित्त बहुत चंचल हुआ। भीष्म, द्रोण तथा विदुर की सम्मति से उन्होंने भगवान् का अभूतपूर्व स्वागत करने का निश्चय किया। हस्तिनापुर की समस्त सड़कें सुन्दर सामग्रियों से सजाई गईं। स्थान-स्थान पर वन्दनवार और तोरण लटकाये गये। चौराहों पर धूप और आगुरु आदि सुगन्धित द्रव्य जलाये गये। सर्वत्र सुगन्धित पुष्पों की मालायें लटकाई गईं। बड़े-बड़े विशाल फाटक बनाये गये। नगर के मुख्य-मुख्य पुरुष भीष्म द्रोण, अश्वत्थामा भूरिश्रवा, धृतराष्ट्र के सभी पुत्र उन्हें लेने के लिये नगर से बाहर गये। भगवत् दर्शनों की उत्कण्ठा से नगर के आबाल वृद्ध पुरुष अपने-अपने घरों से निकल कर भगवान् की सवारी के दर्शनों को दौड़ गये। राज-पथ के दोनों ओर के बने महलों की छतें नगर की नारियों के बोझ से हिलती-डुलती सी दिखाई देने लगीं। इस प्रकार सजी-बजी समृद्धि शालिनी नगरी में भगवान ने उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार विवाह के समय वर श्वसुर के घर में प्रवेश करता है।

आगे बढ़ कर सबने भगवान् का स्वागत किया। भगवान् ने बड़े बूढ़ों और पूज्य पुरुष को प्रणाम किया तथा छोटे

लोगों ने उन्हें प्रणाम किया। सबसे यथायोग्य मिल भेंट कर अब भगवान् की सवारी राज-पथ की ओर चली। सड़कें सब दर्शनार्थी स्त्री-पुरुषों से भरी हुई थीं। कुलीन स्त्रियाँ अटारियों पर चढ़कर भगवान के दर्शन कर रहीं थीं और उनके ऊपर फूल बरसा रहीं थीं। अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से सजी हुई छोटी कन्याओं ने भगवान् को मालायें पहिनाईं उगे हुए जव के अंकुरों को उनके मस्तक पर चढ़ाया और लावा-बताशों की उनके ऊपर वृष्टि की। इस प्रकार सभी से सत्कृत होकर भगवान् धृतराष्ट्र के राज-भवन में गये। तीन ड्योढ़ियों में भगवान् सवारी से ही पधारे। तीसरी ड्योढ़ी के अन्त में—राजसभा के भवन पर—भगवान् अपने विशाल रथ से उसी प्रकार उतरे, जिस प्रकार इन्द्र अपने दिव्य रथ से उतरते हैं। खड़े होकर धृतराष्ट्र ने उसका स्वागत-सत्कार किया पुरोहितों ने महाराज की ओर से भगवान् की राजसी सामग्रियों से पूजा की। नाना भाँति के व्यंजनों को उनके सम्मुख उप-स्थिति किया। उन्होंने शास्त्रीय ढंग से साधारण पूजा को तो स्वीकार किया, किन्तु उन व्यंजनों की ओर दृष्टि भी नहीं डाली। भोजन का समय हो रहा था, दुर्योधन ने भगवान् को भोजन के लिए निमन्त्रित किया; किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार ही नहीं किया। वे उठ कर अपने रथ पर आ चढ़े और सारथि से बोले—'रथ को हाँको।' सात्यकि जी ने पूछा—'प्रभो! कहाँ चलना होगा?'

भगवान् ने गंभीरता के साथ कहा—'विदुरजी के घर चलो।' रथ उधर ही चलने लगा। सर्वत्र सन्नाटा छा गया। कुछ लोग रथों पर चढ़ कर भगवान् के रथ का अनुगमन करने लगे। तब भगवान् ने कहा—मेरे साथ किसी के आने की

आवश्यकता नहीं। इस समय मैं विदुरजी के घर जा रहा हूँ। मध्याह्नोत्तर मुझसे लोग मिल सकेंगे, भगवान् की आज्ञा पाकर सभी लोग लौट गये। भगवान् का रथ विदुरजी के घर के सामने आकर ठहर गया। विदुरजी उस समय घर पर नहीं थे। घर के भीतर विदुरानीजी अकेली थीं। उस समय वे श्री गंगाजी की परम पावन गंगारज लगाकर अपने बालों को धो रही थीं। राजन्! उस समय सभी बड़े बड़े घर की स्त्रियाँ भी गंगारज से ही अपने सुन्दर बालों को धोती थीं! अब तो कुछ लोग तैल, सोडा, आटा, तथा और भी कई सुगन्धित द्रव्य मिलाकर एक पिंड बना कर उससे सिर धोते हैं। झाग निकलने से उससे मल तो निकलता है, किन्तु वह बालों के लिये, चर्म के लिये और मस्तिष्क के लिये हानिप्रद होता है। बालों में उससे अत्यन्त रूक्षता बढ़ जाती है, चर्म पर घिसने से स्वाभाविक सुन्दर चर्म की प्राकृतिक स्निग्धता नष्ट हो जाती है, दो दिन न लगाओ, तो चेहरा अत्यन्त तेजहीन रूखा-रूखा प्रतीत होगा। इतनी रूक्षता बढ़ जाती है, कि उसके लगाने के अनन्तर तैल आदि स्निग्ध पदार्थ का लगाना अनिवार्य हो जाता है, किन्तु गंगारज स्वास्थ्य के लिये; मैल निकालने के लिए और चर्म के लिये अत्यन्त ही हितकर है। गंगाजी की रज में इतनी स्वाभाविक चिकनाहट होती है, कि बालों को तथा शरीर को कोमल बना देती है, उसे लगाने के अनन्तर तैल की आवश्यकता ही नहीं, रूक्षता होती ही नहीं। शरीर के मल को तो साफ करती ही है, हृदय के मल को भी धोती है। चर्म का सौन्दर्य बढ़ता है। ऋषि मुनियों का मुखमंडल गंगारज लगाने से ही कितना चमकता रहता है, उनकी जटायें केश कितने स्वच्छ रहते हैं! जहाँ गंगारज न मिले, वहाँ श्रीप्रह्लाद

जी के जन्म-स्थान मुल्तान की मृत्तिका (मुलतानी मिट्टी) लगानी चाहिये, क्योंकि वह भूमि भक्तप्रवर प्रह्लादजी के पाद पद्म पड़ने से परम पावन बन चुकी है। बिना महत् पाद-रजोभिषेक के मन का मल दूर होता ही नहीं, अतः गंगारज के अभाव में भक्त पादरज को लगाना श्रेष्ठ है। मूल स्थान की मृत्तिका तैल के समान चिकनी होती है। गरमी, फोड़ा, फुन्सी सभी का नाश करती है। उसे लगाकर तैल आदि न भी लगावें तो कोई हानि नहीं।

प्राचीन काल में सिर धोने की प्रथा यह थी, कि पहिले सिर को गंगारज या मूल स्थान की मृत्तिका अथवा और किसी स्वच्छ जलाशय की मृत्तिका से मलकर साफ करते थे। जब सब मिट्टी बालों से निकल जाती, तो उनमें भिगोये हुए आँवलों का जल डालते। आयुर्वेद शास्त्र में आँवले से बढ़कर दूसरा कोई रसायन नहीं। धर्म शास्त्र में आँवले से बढ़कर कोई फल नहीं। कैसा भी पापी क्यों न हो, यदि वह आँवले के नीचे मर जाता है या एक आँवला खा लेता है, तो उसकी दुर्गति नहीं होती, सीधा स्वर्ग चला जाता है। आँवलों के जल से जब केश मुलायम हो गये, तो फिर धोकर उसमें भाँति-भाँति के सुगन्धित द्रव्य डाल कर कंघा से काढ़ते और अगरु के धुएँ से सुखाते हैं इससे वे सुगन्धित भी हो जाते हैं और सफेद भी नहीं होते, फिर सौभाग्यवती स्त्रियाँ उन्हें भाँति-भाँति से सजा कर शृंगार करती थीं।

हाँ तो, विदुरानीजी उस समय गंगारज लगाकर बालों को मल रही थीं। शरीर में भी सर्वत्र गंगारज पोत रखी थी जिससे शरीर निर्मल हो जाय। स्त्रियों की आदत होती है,

एकान्त में—निर्जन-स्थान में—पर्दा कर के प्रायः नग्न ही नहाती हैं। विदुरानीजी भी नग्न होकर ही मिट्टी मल रही थीं। उसी समय श्यामसुन्दर ने पुकारा—"विदुरजी! विदुरजी! किवाड़ खोलिये!" भीतर से कोई उत्तर नहीं मिला। फिर भगवान् ने जोर से पुकारा—'विदुरजी घर में नहीं हैं, तो विदुरानीजी तो होंगी ही?'

अब विदुरानीजी के सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हुए। वे वाणी पहिचान गईं। अहा! ये तो श्यामसुन्दर हैं। मेरे नन्दनन्दन यहाँ कहाँ? वे कब पधारे, कल कुछ सुनाई तो पड़ा था, घनश्याम इस रूखी भूमि हस्तिनापुर में अमृत की वृष्टि करने उमड़ेंगे घुमड़ेंगे। इन विचारों में विदुरानी अपने शरीर की सुधि भूल गईं। वे भगवान् वासुदेव के प्रेम में इतनी मग्न हुईं, कि उनकी वृत्ति प्रकृति से परे पहुँच गई। उन्हें यह भान ही न हुआ कि मैं नग्न हूँ, स्नान कर रही हूँ। यन्त्र की भाँति उठीं और झट किवाड़ खोल दिये।

भगवान् वासुदेव उनकी ऐसी दशा देख कर सहम गये। उन्होंने अपना पीताम्बर उन्हें उढ़ा दिया और कमर का फेंटा खोल कर उससे उनके शरीर को कस दिया। उनको होश नहीं, शरीर की सुधि नहीं, जगत् का भान नहीं, प्रेम में पगली हुई, प्रणाम करना भी भूल गईं। क्या कहना चाहिये, कहाँ बिठाना चाहिये? इन सब का भी उन्हें ध्यान नहीं था। सर्वान्तर्यामी प्रभु सब समझ गये और जाकर उनके घर में एक साधारण से आसन पर अपने आप बैठ गये।

राजन्! संकोच होता है दूसरों से, जिस घर को हम अपना घर समझते हैं, जिनको हम अपने निजी आत्मीय

ते हैं, वहाँ न कोई संकोच न भय। जो अपनी वस्तु है के लिये पूछना किससे ? भगवान् बैठ गये। हक्की-बक्की बनी दुरानी वनवारी को एक टक निहार रही थी। भगवान् मता प्रकट करते हुए बोले—"विदुरानीजी ! बड़ी भूख लग ी है, कुछ खाने को हो, तो लाओ।"

"हाय ! मेरे श्यामसुन्दर भूखे हैं। इस इतनी बड़ी राजधानी भी किसी ने इनसे खाने-पीने की बात नहीं पूछी। इन इतने ार्थों के रहते हुए भी मेरे श्यामसुन्दर भूख से व्याकुल । इन सबमें आग क्यों नहीं लग जाती। दौड़ी-दौड़ी ीतर गईं। आंखों की दृष्टि श्यामसुन्दर की दृष्टि में दाकार हो गई थी। घर में रखे हुए अनेक फल-फूल भी न्हें नहीं दीखते थे। संयोगवश एक केलों की गहर उनके ाथों लग गई। उसी को जल्दी से उठा कर श्यामसुन्दर के ामीप आ बैठीं और केलों को छील-छील कर अपने आराध्यदेव ो भोग लगाने लगीं। दोनों हाथ गंगारज में सने थे। बालों ो गंगारज से मिश्रित जल-कण निरन्तर टपक रहे थे। कीच से सना पीताम्बर इधर-उधर अस्त-व्यस्त भाव से कमर में बँधा था। वे केलों को छीलतीं, उनकी मिंगी को तो नीचे फेंकती जातीं और कीच से सने छिलकों को वे भगवान् को देती जाती। भगवान् को तो मिट्टी खाने की आदत बालकपन से ही है। गौओं के बछड़ों के साथ फलों के वलकल भी उड़ा जाते थे। इसलिये यह भोजन उनके तो अनुकूल ही था। बच्चों की भाँति बैठे-बैठे उन छिलकों को बड़े स्वाद से खा रहे थे।

इतने में ही कहीं यह सुनकर कि भगवान् मेरे घर की ही ओर गये हैं, शीघ्रता से दौड़ कर विदुर जी घर आये। द्वार

पर देखा गरुड़ध्वज रथ खड़ा है। वे हर्ष, विस्मय, लज्जा से दबे से शीघ्रता पूर्वक घर में घुसे। वहाँ जाकर जो कुछ देखा, उसे देख कर तो वे सन्न रह गये। जल्दी से विदुरानी के हाथ को जोर से पकड़ कर बोले—"अरे, हट पगली। तेरा तो मस्तिष्क खराब हो गया है। न शरीर की सुधि न कर्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान। भाग यहाँ से!"

अब विदुरानीजी को बाह्य ज्ञान हुआ। हाय! मैंने यह क्या किया? जल्दी से घर में घुस गईं। किवाड़ बन्द करके अत्यन्त दुखी होकर आँसू बहाने लगीं।

इधर भगवान् हाथ पसारे हुए थे। विदुरजी ने शीघ्रता से हाथ पैर धोये, आचमन किया, केलों को धोया और उन्हें छील कर भगवान् के पसरे हुए श्री हस्त पर रखा। भगवान उसे चट मुँह में डाल गये, फिर हाथ किया। विदुर ने फिर दिया। उसे खाकर रुक गये और बोले—"विदुरजी! आप बुरा न माने तो एक बात कहूँ?"

विदुरजी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! अपने सेवकों से ऐसे पूछा जाता है क्या? आज्ञा कीजिये, महाराज! मुझे तो कुछ पता नहीं था। आप मुझ दीन-हीन की कुटी को इस प्रकार पवित्र करेंगे?"

बीच में ही बात काटते हुए श्यामसुन्दर बोले—"हाँ, सो तो सब ठीक ही है, किन्तु मैं दूसरी बात कह रहा था। ये केले बड़े सुन्दर हैं और आपके प्रेम के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। किन्तु सच्ची बात यह है, कि जो स्वाद मुझे छिलकों में आ रहा था, वह इन केलों की गिरियों में नहीं आया।"

इतना सुनते ही विदुरजी की आँखें बहने लगीं। अब उन्हें

ज्ञान हुआ। अरे, मेरी पत्नी भूल नहीं कर रही थी। मैं ही भूला हुआ था। ये सम्पूर्ण विश्व को तृप्त करने वाले वासुदेव इन केलों से क्या सन्तुष्ट हो सकते हैं? इन्हें कोई क्या खिलाकर तृप्त कर सकता है। ये तो सदा भाव के भूखे रहते हैं। अपनी स्त्री के बराबर प्रेम मुझमें कहाँ है, ऐसा निष्कपट लोकोत्तर भाव मुझमें कहाँ से आ सकता है? उन्होंने भूमि में लोटकर भगवान् को प्रणाम किया और गद्गद् कण्ठ से बोले—'हे भक्तवत्सल! आप में प्रेम किसी साधन से नहीं हो सकता। आप जिस पर कृपा करें, जिसे अपनावें वही आपके प्रेम का भाजन बन सकता है। मैं अधम इस योग्य कहाँ था कि आप का आतिथ्य कर सकूँ। आप पदार्थों से प्रसन्न होने वाले होते, तो दुर्योधन के राजभवन में पदार्थों की क्या कमी थी? आप कृपा करके जिसे अपना लें, वही आपके अनुग्रह का पात्र बन सकता है।'

भगवान् हँसते हुए बोले—विदुरजी! आप तो हमारी आत्मा ही हो। अपना घर न समझता, तो मैं इस प्रकार तुम्हारे न रहते हुए भी बिना रोक टोक भीतर क्यों चला आता?

भगवान् के ऐसे स्नेह भरे वचनों को सुनकर विदुरजी बड़े सन्तुष्ट हुए। उन्होंने अनेक प्रकार के व्यंजनों से भगवान् का और उनके साथियों का सत्कार किया। भगवान् ने ब्राह्मणों और अतिथियों को भोजन कराके पीछे सब के साथ प्रेम पूर्वक प्रसाद पाया।

सो राजन्! जिस घर में बिना बुलाये ही श्यामसुन्दर पधारे थे, जिसमें उनके चरण का धोवन जल छिड़का गया था, जहाँ उनके जगत्वन्द्य पाद-पद्म पड़े थे, जहाँ की भूमि उनकी ऋषि-मुनि वन्दित चरण धूलि से पावन हुई थी, विदुर

जी उसी भूमि में नित्य लोटते थे और उस रज के स्पर्श से उनके शरीर में रोमांच होते थे। उसी घर को दुष्टों के दुर्व्यवहार से वे त्याग वन को चले गये। उसी प्रभु पद-रज से तीर्थ बने गृह को उन्हें अनिच्छा पूर्वक त्यागना पड़ा। उसी यात्रा में उनकी भगवान् मैत्रेयजी से भेंट हुई।'

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! मुझे भगवान् मैत्रेय के साथ जो विदुर जी का सम्वाद हुआ, उसका पूरा वृत्तान्त सुनाइये। विदुरजी और मैत्रेयजी की कहाँ पर कैसे भेंट हुई? हस्तिनापुर से निकलते समय या लौटते समय, कब उन दोनों का सम्वाद हुआ? विदुरजी ने उनसे क्या प्रश्न किये? उन्होंने उनका क्या उत्तर दिया? इन सब बातों को सुनने का मुझे बड़ी लालसा हो रही।"

श्रीशुक ने पूछा—"राजन्! आप उनका ही सम्वाद सुनने को इतने लालायित क्यों हैं?"

इस पर राजा बोले—"भगवन्! महामुनि मैत्रेय ज्ञान के निधि हैं—भक्ति के भंडार हैं। ऐसा मैं सभी के मुख से सुनता आ रहा हूँ। महात्मा विदुरजी के सम्बन्ध में तो कुछ पूछना ही नहीं उनकी प्रशंसा उनकी भगवत् भक्ति की बातें तो मैंने माता के स्तन पान से साथ ही साथ कर्ण रूपी पान-पत्रों से पान की हैं। इस लिए इन दोनों परम भागवतों का जो सम्वाद हुआ होगा वह अल्प आशय वाला न होगा, वह अवश्य ही अत्यन्त ही महत्व पूर्ण हुआ होगा, जिसका बड़े-बड़े महात्माओं ने भी अनुमोदन किया होगा।"

सूतजी कहते हैं मुनियो! महाराज परीक्षित् ने जब में गुरुदेव से ये प्रश्न पूछे तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता प्रक

करते हुए पृथ्वीपाल की प्रशंसा की और उनके प्रश्नों का उत्तर देने को प्रस्तुत होकर बोले—"अच्छी बात है राजन्! मैं आपको यह सम्वाद सुनाऊँगा। आप दत्तचित्त होकर सावधानी के साथ श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

राजन्!—बनि के दूत देवकीनन्दन आये।
कौरव करि सत्कार राज महलनि महँ लाये॥
नाना व्यंजन धरे न तिनकी ओर निहारे।
करिके शिष्टाचार विदुर के भवन सिधारे॥
पत्नी पगली प्रेमकी, छिलका हरिहिं जिमा रही।
विदुर मिगी केला दई, खाइ कही वो रस नहीं॥

श्रीविदुरजी की धृतराष्ट्र को शुभ सम्मति

(१०१)

यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो—
मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन।
अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्,
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥❀
(श्री भा० ३ स्क १ अ० १० श्लो०)

छप्पय

ता घर महँ बसि विदुर बन्धुकूँ सम्मति देवें।
विदुर नीति विख्यात जाहि सज्जन सब सेवें॥
पूछी जब धृतराष्ट्र सत्य सम्मति यह दीन्हीं।
राजन्! घोर अनीति बन्धु पुत्रनि सँग कीन्ही॥
भ्राता! भूलो गई जो, आगे की सोचो सई।
धर्मराज के राज कूँ, देहु गई सो तो गई॥

जीव अल्पज्ञ है। संसार से सम्बन्ध हो जाने के कारण जीव सदा शंकित बना रहता है। यदि ऐसा हो जायगा, तो हमारा काम कैसे चलेगा? उसने हमें निकाल दिया, तो हमारी

❀ श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! अब विदुरजी को उनके बड़े भाई धृतराष्ट्र ने सम्मति लेने के लिए बुलाया, तब सम्मति देने वालों में सर्व

क्या दुर्दशा होगी ? उनसे सम्बन्ध विच्छेद हो गया, तो जीवन दुखःमय ही बन जायगा। वहाँ मेरा अपमान हुआ तो मरण ही हो जायगा। ये सब विचार जीव के मन में तभी आते हैं, जब वह अपने को स्वतन्त्र कर्ता समझता है, इस प्रपञ्च का अपने को नियामक समझता है। जो भगवत् भक्त अपने को कर्ता नहीं मानते—केवल अपने को जो श्यामसुन्दर का यन्त्र समझते हैं, जिनका यह दृढ़ निश्चय है, कि इस जगत् रूपी नाट्यशाला के सूत्रधार सर्वेश्व भगवान् वासुदेव हैं, उनका शिवस्वरूप है, कल्याण के वे धाम हैं, आनन्द के वे घनी भूत विग्रह हैं, उनके सभी विधान कल्याण के ही लिये हैं; जीवों से वे जो भी कार्य कराते हैं, एक दूसरे से मिलाते और बिछुड़ाते हैं, इन सब में उन्होंने प्राणियों का हित ही सोच रखा है। हाँ, अहित की बात तो वे कभी करते ही नहीं। क्योंकि अहित का तो उनके समीप अभाव है, जो वस्तु जिसके समीप है ही नहीं, वह दूसरों को उसे देगा ही कहाँ से। ऐसे भक्त किसी भी दशा में रहें, कहीं भी रहें, कैसे भी वेष में रहें, किसी भी देश में रहें, सर्वत्र मग्न रहते हैं, क्योंकि उनके श्यामसुन्दर, उन्हें जैसा नाच-नचाते हैं वे वैसा ही नाच नाचते हैं। अबोध बालक को माता-पिता जहाँ बिठा देते हैं, बैठ जाता है, जहाँ ले जाते हैं चला जाता है, उसे अपने कल्याण की चिन्ता स्वयं नहीं है। उसका भार तो जनक जननी पर है। वह तो रोना, हँसना, मग्न होना तथा क्रीड़ा

-श्रेष्ठ समझे जाने वाले—विदुरजी राज भवन में गये। अन्धे राजा के पूछने पर उन्होंने ऐसी सुन्दर सम्मति दी, जिसे राजनीति को जाननेवाले पुरुष इस समय तक भी 'विदुरनीति' कह कर पुकारते हैं।"

करना यही जानता है। विदुरजी जब हस्तिनापुर में राज्य प्रधान मन्त्री बन कर रहे, तब उन्हें कोई अभिमान नहीं था जब वे भिक्षुक होकर वन को चले गये, तब कोई शोक यही सब विचार कर श्रीशुक ने कहा—"राजन्! विदुरजी जब दुष्टों ने राजधानी छोड़ने को विवश किया तो, वे अप कुटुम्ब, परिवार,गृह आदि के मोह को छोड़ कर उसी प्रकार से चले गये, जैसे बटोही दूसरे दिन बिना मोह-ममता के धर्मशा को छोड़ कर चल देता है।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! यह कि समय की बात है? सुना है, कि मेरे पितामहों के भी पि श्रीधृतराष्ट्रजी तो विदुरजी से बड़ा स्नेह करते थे। वे उनसे पू कर ही समस्त कार्य करते थे। उन्होंने अपने इतने प्यारे बुद्धिम भाई को घर से क्यों निकाल दिया? किस अपराध पर उन्हें दे निकाला दे दिया?"

इस पर श्रीशुक बोले—'हे कुरुकुलतिलक राजन्! भा बड़ा बलवान् है, जहाँ का जिस समय अन्न जल बदा होता है, उ समय वहाँ जाने को वैसी ही सबकी बुद्धि हो जाती है, धृतरा ने स्वयं तो निकल जाने को कहा नहीं था, किन्तु उनका दुष्ट पु दुर्योधन ही सब हत्या की जड़ था। उसी ने तुम्हारे पितामहों साथ घोर अन्याय किये। धृतराष्ट्र ने पुत्र के वशीभूत होकर उस अन्याय कार्यों का भी समर्थन किया। विदुरजी का अपमा करते हुए अपने पुत्र को नहीं रोका इसीलिये विदुरजी चले गं कि इस अंधे की सम्मति से ही सब हो रहा है। इसलिये यह रहना ठीक नहीं।

राजन! जब तुम्हारे पांचों पितामह पितृहीन हो गये महाराज पांडुके परलोक पधारने के अनन्तर ऋषि-मुनि उ

पांडु पुत्रों को धृतराष्ट्र को सौंप गये, तभी से दुर्योधन के मन में द्वेष का अंकुर उत्पन्न हुआ। पापी सदा डरता रहता है, न्यायतः दुर्योधन राज्य सिंहासन का अधिकारी नहीं था। उसकी बात तो अलग रही, अंधे होने के कारण उसके पिता धृतराष्ट्र भी नियमानुसार राजा नहीं हो सकते थे। राज्य के अधिकारी तो महाराज पांडु ही थे। वे स्वेच्छा से राजकाज अपने बड़े अंधे भाई को सौंपकर वन में चले गये थे। वे धृतराष्ट्र को राजा नहीं बना गये थे। न्याय की भाँति—धरोहर के रूप में—वे कुछ दिन के लिये राज्य उन्हें सौंप गये थे। महाराज के स्वर्ग पधारने के अनन्तर उनके ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र धर्मराज ही राज्य के एक मात्र अधिकारी थे, किन्तु पिता के अंधे होने के कारण राज्य पर अधिकार दुर्योधन ने जमा रखा था। इसीलिये वह पांडवों को अपने राजा होने में कंटक समझता था। वह रात्रि-दिन यही सोचा करता था, किस प्रकार इन पांचों पांडवों का प्राणान्त करके—मैं निष्कंट राज्य का अधिकारी बन सकूँ? किस प्रकार अपने हृदय में रखे इन पाँचों शूलों को निकाल कर सुख की नींद सो सकूँ। वह रात्रि-दिन पांडवों के विनाश की ही बात सोचा करता था। यद्यपि धृतराष्ट्र मन से यह नहीं चाहते थे, कि पांडव मारे जायँ, या इन्हें निर्वासित कर दिया जाय; किन्तु पुत्र-स्नेह के कारण वे कुछ कह नहीं सकते थे। दुर्योधन जब रोकर उनसे पांडवों के विनाश की सम्मति लेता तो इच्छा न रहने पर भी पुत्र को प्रसन्न करने के निमित्त वे ऐसा करने की अनुमति दे देते थे। राजन्! पुत्र-स्नेह ऐसा ही होता है, मोह में फँसकर बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। विदुरजी धर्मात्मा थे। वे समझते थे, कि दुर्योधन पांडवों के साथ अन्याय कर रहा

है, इसलिये वे सदा पांडवों का पक्ष लेते। सब प्रकार से पांडवों को संकटों से बचाते, उन्हें शुभ सम्मति देते और उन्हीं के कारण अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ भाई को भी निर्भीक होकर डाँटते-डपटते रहते।

विदुरजी धृतराष्ट्र के प्रधान मंत्री थे। धृतराष्ट्र उनके बिना पूछे कोई काम नहीं करते थे। विदुरजी भी बिना चापलूसी के जो सत्य बात होती, उसे निर्भय होकर सबके सामने कह देते। दुर्योधन सब समझता था, कि विदुरजी का झुकाव पूर्णतया पांडवों की ओर है, वे शरीर से तो हमारी ओर हैं किन्तु मन उनका पांडवों के साथ है। इसलिये दुर्योधन ने उन्हें अपना मन्त्री नहीं माना। उसने अपने अनुकूल दुःशासन, शकुनि और कर्ण को अपना मन्त्री बनाया। ये सब उस दुष्ट की सदा चापलूसी करते रहते और उनकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहते। इन्हीं सबकी सम्मति से दुर्योधन ने गंगा किनारे अपने राज्य की सीमा पर वरणावत नाम के नगर में लाख का एक घर बनवाया। उन सबने यह षड्यन्त्र रचा था, कि जब पाँचों पांडव अपनी माता के सहित उस घर में सुख से सोते रहेंगे, उसी समय उस घर में आग लगा दी जायगी। जिससे सब उसी में जलकर भस्म हो जायँगे। ऐसा करने से 'साँप मरेगा न लाठी टूटेगी', बदनामी भी न होगी, हम निर्दोष भी बने रहेंगे और शत्रुओं का भी बिना परिश्रम के संहार हो जायगा। किन्तु उनकी यह मन्त्रणा किसी प्रकार विदुरजी को मालूम हो गई। उन्होंने उस घर में एक गुप्त सुरंग खुदवा दी और एक नौका भेजकर उस सुरंग द्वारा निकालकर पांडवों को गंगा पार पहुँचाने की व्यवस्था कर दी। विदुरजी की बुद्धिमानी से पांडव सकुशल बच गये और वेष बदल कर भिक्षा

पर निर्वाह करते हुए वन-वन भटकते रहे। जब द्रौपदी के साथ उनका विवाह हो गया, तब बहुत कहने-सुनने पर इन्हें आधा राज्य देकर इन्द्रप्रस्थ में भेज दिया। वहाँ पांडव अपनी पृथक् राजधानी बनाकर सुखपूर्वक राज्य करने लगे। धृतराष्ट्र को यह सब पता था कि उसके पुत्र पांडवों को मारने का षड्यन्त्र रच रहे हैं, किन्तु उन्होंने अधर्मी पुत्र के मोह के कारण उसे पाप से बरजा नहीं।

इन्द्रप्रस्थ में धर्मराज के राजसूय यज्ञ के समय उनकी अनुपम श्री और अतुल वैभव को देखकर जब दुर्योधन ईर्ष्या के कारण जलने लगा और उन्हें राज्य-भ्रष्ट करने के लिए उसने जुआड़ियों की मंडली जुटाई तब भी धृतराष्ट्र ने उसे रोका नहीं। जुए के अनर्थ को जानते हुए भी आज्ञा दे दी। यही नहीं, जब अधर्म पूर्वक शकुनि आदि धूर्त जुआरी साधु स्वभाव, सत्यपरायण, अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर को छल रहे थे, तब भी धृतराष्ट्र ने मना नहीं किया, किन्तु बार-बार यही पूछते रहे—कौन जीता, कौन जीता? जब उनके पुत्रों की जीत होती, तो प्रसन्नता से उनका मुख खिल उठता।

दुष्टों ने छल से उनका सर्वस्व जीत लिया। उन्हें राजभ्रष्ट करके तेरह वर्ष के लिये वन को भेज दिया। अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करके धर्मात्मा युधिष्ठिर जब वन से लौटे और अपना पैतृक राज्य माँगा, तब भी उनका राज्य नहीं लौटाया गया! पुत्र मोह से वशीभूत हुए महाराज धृतराष्ट्र ने पुत्र की हाँ-में-हाँ ही मिलाई। धर्मराज का न्यायानुकूल राज्य फिर प्रतिज्ञानुसार दिया नहीं।

धर्मभीरु सर्वशक्ति सम्पन्न महाराज युधिष्ठिर युद्ध करना नहीं चाहते थे, इसीलिये वे सबको क्षमा करते रहे। उन्होंने

कौरवों के महान् से महान् अपराधों को क्षमा कर दिया। नहीं तो ऐसा कौन मनस्वी पुरुष होगा, जिसकी सती साध्वी प्राण प्रिया धर्मपत्नी को शत्रु भरी सभा में नंगी करने का प्रयत्न करे और वह उनके उन हाथों को शक्ति रहते जलाने का प्रयत्न न करे। जिस समय अपने आँसुओं से वक्षःस्थल को भिगोती हुई कृष्णा विलाप कर रही थी, उस समय भी अंधे ने अपने पुत्रों को इस क्रूर कर्म से नहीं रोका। इस सब को भुलाकर धर्मराज सन्धि करना चाहते थे। वे पूरा राज्य भी नहीं मांगते थे पाँच गाँवों को ही लेकर सन्तुष्ट हो जाना चाहते थे। वे सर्वप्रयत्नों से अपने कुल के नाश को बचाने के लिये लालायित थे। इसीलिये उन्होंने द्वारकाधीश भगवान् वासुदेव को अपना सन्धिदूत बनाकर हस्तिनापुर भेजा। भगवान् ने भी वहाँ जाकर शान्ति के समस्त प्रयत्न किये। प्रेम से, नीति से भय दिखाकर, धमका कर, अपने आत्मीय की भाँति दुर्योधन को अपने अमृतोपम वचनों से विविध प्रकार से समझाया बुझाया किन्तु उसने भगवान् की एक भी बात नहीं मानी। उलटे उन्हें कैद कर लेने की मन्त्रणा की।

"जब धर्मराज ने देखा, किसी भी प्रकार शान्ति नहीं हो सकती। तब तो उन्हें विवश होकर भगवान् की सम्मति से युद्ध करने का ही निश्चय करना पड़ा। युद्ध होगा—इस बात को सुनकर अब धृतराष्ट्र घबड़ाये और उन्होंने अपने छोटे भाई सम्मति देने में सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान—विदुरजी को बुलाया और कहा—भैया, विदुर! मैं चाहता था—भाई भाइयों में युद्ध न हो। शान्ति से सब काम हो जाय, किन्तु मुझे शान्ति होती हुई दिखाई देती नहीं। इससे मेरा चित्त बड़ा घबड़ा रहा है। तुम अब कोई उपाय बताओ जिससे मेरी घबड़ाहट दूर हो जाय।

अपने ज्येष्ठ भाई की ऐसी बात सुनकर धर्मावतार विदुर ने निर्भीक होकर सब के सामने कहा—"राजन् ! यह सब दोष आपका ही है। ये सब आपके ही बोये हुए बीज हैं। आप यदि दुर्योधन की दुष्टता का समर्थन न करते, तो आज ये दिन देखने को न मिलते। पांडवों के साथ जितने अन्याय हुए हैं, उन सब का उत्तरदायित्व आपके ही ऊपर है। आपने ही उन्हें भाँति-भाँति के उपायों से मरवा डालने का प्रयत्न किया।'

इस पर धृतराष्ट्र ने कहा—'भैया, विदुर ! अरे तू भी ऐसी बातें कहेगा क्या ? मैंने कब पांडवों को मारने की सलाह दी ? मैं तो उन्हें अपने पुत्रों की तरह मानता हूँ। ये सब उत्पात तो मेरे दुष्ट पुत्र दुर्योधन के ही किये हुए हैं।'

यह सुनकर विदुरजी बोले—'नहीं, महाराज ! यह बात नहीं हो सकती। दुर्योधन कौन होता है ? जब तक आप जीवित हैं, दुर्योधन का कोई अधिकार नहीं। वर्णाश्रम धर्म से अनुसार पिता के जीते पुत्र का, पति के जीते पत्नी का, कोई स्वत्व नहीं। आप इसे डाँटते-डपटते नहीं। इसकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहते हैं इसीलिये यह इतना सिर पर चढ़ गया है।'

जब धृतराष्ट्र ने कहा—'अब, भैया ! तुमही बताओ—मैं क्या करूँ ? किस प्रकार यह झगड़ा शान्त हो। तुम तो नीतिशास्त्र के पंडित हो।'

इस पर विदुरजी बोले—'हाँ महाराज ? मैं बताता हूँ आप मेरी बात मानिये। सब लड़ाई झगड़ा शान्त हो जायगा। आप अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर को उनका भाग दे दें।"

इस पर धृतराष्ट्र बोले—'भैया ! दे तो दूँ, किन्तु हमने तो उनके साथ बड़े बड़े अपराध किये हैं। राज्य पाकर वे उन सब अपराधों के कारण कुपित होकर मेरे पुत्रों से बदला लेंगे, इन्हें मार डालेंगे।'

यह सुनकर अपनी बात पर बल देते हुए विदुरजी बोले—'नहीं राजन् ! धर्मराज बड़े धर्मात्मा हैं। अब तक जैसे वे तुम्हारे सभी अपराधों को क्षमा करते आये हैं, वैसे ही आगे भी आपके पुत्रों को वे अपना भाई समझ कर क्षमा ही करते रहेंगे और यदि अपने लोभवश उन्हें उनका भाग नहीं दिया, तो धर्मराज तो साधु स्वभाव के हैं। किन्तु भीमसेन मानने वाले नहीं हैं। वे चुन-चुन कर आपके सभी पुत्रों की खोपड़ियों को उसी प्रकार फोड़ेंगे जैसे सिंह हाथियों के मस्तकों को अपने नखों से फाड़ता है।

यह सुनकर धृतराष्ट्र बोले—'विदुर ! तू भीम की इतनी प्रशंसा करके मुझे डरपाना चाहता है क्या ?

इस पर सूखी हँसी-हँस कर विदुरजी बोले—'महाराज ! मैं—क्या डरपाना चाहता हूँ, भीमसेन से आप स्वयं डरे हुए हैं। उनके डर के कारण आपको रात्रि में नींद तक नहीं आती। सभी पांडव एक से एक बली हैं। अर्जुन स्वर्ग से सभी अस्त्र-शस्त्र सीखकर सकुशल लौट आया है। नकुल, सहदेव भी कम पराक्रमी नहीं हैं। इन सब को भीम सदा उत्साहित करते रहते हैं। द्रौपदी के चीरहरण की बातें सुना-सुना कर सब के क्रोध को

बढ़ाते रहते हैं। वे सब तुम्हारे पुत्रों को मार ही डालेंगे।'

तब धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! युद्ध में विजय निश्चित नहीं। कभी-कभी बली भी हार जाते हैं, निर्बल भी हार जाते हैं। मेरे पुत्र तो बली हैं, शूरवीर हैं, अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता हैं। ११ अक्षोहिणी सेना उनके पास है। फिर तुम यह बात निश्चित कैसे कह रहे हो, कि पांडव युद्ध में मेरे पुत्रों को परास्त कर ही देंगे।'

यह सुनकर विदुरजी ने कहा—'प्रभो ! एक तो सभी पांडव स्वयं बली हैं। बली होने पर भी सन्देह किया जा सकता था, किन्तु अब तो सन्देह के लिये भी स्थान नहीं रहा। स्वयं साक्षात् भगवान् वासुदेव ने पांडवों को अपना लिया है। अब तो सन्देह की बात ही नहीं रही। भगवान् समस्त यादवों के एकमात्र आराध्यदेव हैं। उन्होंने पृथ्वी मण्डल के समस्त बली से बली राजाओं को परास्त करके द्वारका में अपना किला बनाया है और वहीं अपने समस्त बन्धु-बान्धुवों के साथ निवास करते हैं। वे देवता और ब्राह्मणों के रक्षक हैं। वे इनकी पूजा करते हैं और ये उनकी। इस प्रकार भगवान् को अपना लेने पर पांडवों की विजय निश्चित है। अतः आप उनका ही शील संकोच करके पांडवों का भाग दे दीजिये।' इस प्रकार विदुरजी ने बहुत सी धर्मयुक्त नीति की बातें कही, जो पृथ्वी में अब भी 'विदुर-नीति' के नाम से विख्यात हैं।

सूतजी कहते हैं मुनियो ! विदुरजी ने धृतराष्ट्र को बहुत समझाया, किन्तु उन्होंने उनकी एक भी बात न मानी, तब तो वे समझ गये कि इनके सिर पर काल मँडरा रहा है।

छप्पय

जिनके सिर पै श्याम तिन्हें फिर कौन अँदेशो।
निश्चय तिनकी विजय जासु रथ हाँके केशो॥
धर्म-निति तें डरो राज्य यह संग न जावे।
पाप पुण्य ही जाँय विपुल धन काम न आवे॥
आये मुट्ठी बाँधि के, हाथ पसारे जायँगे।
पुण्य करें सुख पायँगे, पाप करें पछितायँगे॥

दुष्ट पुत्र को त्याग देने की सम्मति

(१०२)

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।
पुष्णासि कृष्णाद् विमुखो गतश्री—
स्त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय ॥ ❀

(श्री भा० ३ स्क० १ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

राजन्! निकसे मैल देह तें कोइ न राखे।
डींगर तन महँ होयँ तनय कोई नहि भाखे॥
विष्ठा बहु मल-मूत्र देह ही तें नित होवें।
तन ते होवें पृथक् परसि के सब तन धोवें॥
स्वयं तरें तारें कुलहिं, ते सतपुत्र कहावते।
नहिं तो मल के कीट सम, ऋषि-मुनि तिन्हें बतावते॥

किसी के किसी अङ्ग में कोई विषैला फोड़ा हो जाय और वह किसी भी उपाय से अच्छा न हो सके, जहरबाद होने से उसका प्रभाव दूसरे अङ्ग पर भी पड़ता हो, तो बुद्धि-

---

❀ महात्मा विदुरजी महाराज धृतराष्ट्र से कहते हैं—"राजन्! यदि आप कहें, कि दुर्योधन मेरी बात नहीं मानता, तो आप इस

मान् चिकित्सक उस अङ्ग को काट देने की ही सम्मति देता है। उस समय वह सम्पूर्ण अङ्ग की रक्षा के लिये एक अङ्ग का मोह नहीं करता। वह जो कहता है—धर्म समझ कर—रोगी के हित के ही लिये कहता है। उसकी बात को सुन कर भी रोगी उसे न माने और कहे—कि मैं अपने शरीर के अङ्ग को कैसे कटवा सकता हूँ, तो इसका परिणाम क्या होगा? उसका वि सम्पूर्ण शरीर में फैल जायगा और एक अङ्ग के कारण स अङ्ग विषैले बन जायँगे। यही सब सोचकर विदुरजी इस बा पर बार-बार बल देने लगे और धृतराष्ट्र से आग्रह पूर्व कहने लगे—राजन्! समस्त लड़ाई-झगड़े की जड़ र दुर्योधन ही है।"

इस पर धृतराष्ट्र ने धीरे से कहा—"भैया, विदुर! मैं स जानता हूँ। इस दुर्योधन की बुद्धि विपरीत है। यह आरम्भ ही पांडवों से द्वेष करता है। उनकी बढ़ती नहीं देख सकता। स उन्हें नीचा दिखाने का प्रयत्न करता रहा है—बीच में ही व काट कर विदुरजी बोले—"हाँ, और करता रहता है, आप सम्मति से।"

अधीर होकर धृतराष्ट्र बोले—"अरे, भैया! मैंने कब ऐ सम्मति दी है, मेरे लिये तो पाण्डु के पुत्र भी मेरे पुत्र

अमंगल रूप को अपने समस्त कुल के कल्याण के निमित्त त्याग आप इसे अपना पुत्र मान कर पाल रहे हैं, यह दुर्योधन तो मूर्तिम दोष ही है, और की बात तो अलग रही—यह साक्षात् श्रीहरि से द्वेष करता है। यदि आपने इसे नहीं त्यागा, तो इसी के कारण भगवत् विमुख होकर श्रीहीन हो जायँगे।"

समान हैं। यही नहीं, वे तो इस समय पुत्रों से भी बढ़ कर पालनीय हैं, क्योंकि अब उनके पिता नहीं रहे।"

विदुरजी बोले—"राजन्! भगवान् आपको सुबुद्धि दें। नन्दनन्दन श्यामसुन्दर आपके सदा ऐसे ही विचार बनाये रखें। किन्तु महाराज! आप मेरे पूज्य हैं, श्रेष्ठ हैं, ज्येष्ठ हैं, राजा हैं, मुझे आपसे ऐसी कड़ी बातें कहनी तो नहीं चाहिये, किन्तु कर्तव्य वश कहनी ही पड़ती हैं। यदि आप पाण्डवों को अपना पुत्र समझते, तो इस प्रकार उन्हें चीर-वल्कल पहिना कर वन को न भेजते। इस प्रकार उनका सर्वस्व अपहरण न करते। प्रतिज्ञा पूरी करके लौटे हुए उन धर्मात्मा पाँचों भाइयों के राज को लौटाने में आना-कानी न करते।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"देखो, भैया! तुम जान बूझकर ऐसी बातें क्यों कह रहे हो? मैंने कब कहा है, कि पांडवों के राज्य को मत लौटाओ। मैं तो इस दुर्योधन से बार-बार कहता हूँ—सब भाई मेल जोल से रहो। लड़ाई—झगड़े को समाप्त करो। वाद-विवाद की कोई बात नहीं तुम हस्तिनापुर में राज्य करो, वे इन्द्रप्रस्थ में प्रजा पालन करें, किन्तु यह मेरी बात मानता ही नहीं ....।"

बीच में ही विदुरजी बोले—"हाँ, वह तो आपकी बात मानता नहीं, किन्तु आप उसकी सब बात मान लेते हैं, उसकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहते हैं, उसके सभी पापों का समर्थन करते रहते हैं।"

धृतराष्ट्र ने विवशता के स्वर में कहा—"विदुर! भैया, मैं क्या करूँ? अपने मन को बहुत समझाता हूँ, किन्तु मेरी ही दुर्बलता है। पुत्र स्नेह के कारण मैं उसे दुखी नहीं देख सकता।

कितना भी अयोग्य दुष्ट पुत्र क्यों न हो, पुत्र तो पुत्र ही है। पिता की आत्मा है, अपने शरीर से उत्पन्न हुआ है। उसकी बातें कैसे न मानूँ ?"

इस पर विदुरजी बोले—"महाराज ! शरीर से उत्पन्न होने के ही कारण पुत्र हो जाता है क्या ? दाढ़ी, मूँछ और शिर के बाल तो शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्यों नहीं सुरक्षित रखते ? विष्ठा, मल, मूत्र तो शरीर के भीतर ही बनते हैं, उनसे इतनी घृणा क्यों करते हैं ? क्यों उन्हें शरीर से पृथक् होते ही त्याग देते हैं ? क्यों उन्हें स्पर्श करके सचैल स्नान करते हैं ? रोग तो शरीर से ही पैदा होते हैं, उन्हें नाश करने का प्रयत्न क्यों करते हैं, क्यों कड़वी-कड़वी औषधियाँ खाकर ज्वर को नष्ट करना चाहते हैं ?"

इस पर धृतराष्ट्र बोले—"विदुर ! भैया, तू तो बड़ा बुद्धिमान् है। तभी तेरा बड़े-बड़े विद्वान इतना सम्मान करते हैं। तू भैया, ठीक कहता है। किन्तु निर्जीव मल, मूत्र, केश आदि वस्तुओं के साथ तू जीवित पुत्र की समानता क्यों कर रहा है ? मल तो मल ही है, पुत्र तो पुत्र ही है, वह अपने वीर्य से उत्पन्न होता है।"

विदुरजी ने कहा—"राजन् ! सजीव होने से ही कोई सजीव होता है क्या ? सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु तो सजीव होते हैं, बलवान् होते हैं, पर भीलों के अधीन होने से वे उन्हें मार डालते हैं। मदमस्त हुए अपने घर के प्यारे हाथी को भी उनके बाण और भाले नहीं देखते तो मार देते हैं। वही शरीर बलवान होने से क्या, सो शरीर में घाव हो जाने पर कीड़े पड़ जाते हैं। औषधि मीठा या उड़द आदि की पिट्ठी खाने

पेट में कीड़े पड़ जाते हैं, उन्हें कोई पुत्र मान कर रक्षा नहीं करते। अपने पसीने से जूएँ हो जाते हैं, उनको कोई तनय कह कर पालता पोसता नहीं। रही वीर्य से उत्पन्न होने की बात, सो वीर्य में तो कीड़े रहते हैं, कीड़े पड़ भी जाते हैं। महाराज! जहाँ से मूत्र उत्पन्न होता है, वहाँ से ही पुत्र उत्पन्न होता है। यदि वह अपने अनुकूल है, कुल वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला है तब तो वह पुत्र है, नहीं तो वह मूत्र की भाँति त्यागने योग्य है।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर, भैया! तुम ठीक कहते हो, जो अपने अनुकूल नहीं, वह कुपुत्र है। फिर भी पुत्र कैसा भी कुपुत्र हो, कोई धर्मात्मा पिता अपने सुपुत्र को कभी नहीं त्यागता।"

इस पर रोष के साथ विदुरजी बोले—"नहीं राजन्! आप ऐसा न कहें। जो धर्म के मर्म को नहीं जानते—वे ऐसा कहते हैं। यदि अपना कुल कलंकित हो गया हो और उसके त्यागने से सम्पूर्ण ग्राम का भला होता हो, तो ऐसी दशा में बुद्धिमान् को चाहिये कि अपने कुल को त्याग दे। और किसी अपने एक आत्मीय जन से समस्त कुल के नाश की संभावना हो, तो उस एक व्यक्ति को त्याग देना चाहिये। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि राजाओं ने अपने अन्यायी पुत्रों को त्याग दिया है। महाराज सगर के एक पुत्र थे असमञ्जस। वे नगरवासी पुरुषों के छोटे-छोटे बच्चों को सरयू में फेंक देते थे। इसलिये राजा ने उन्हें त्याग दिया। यद्यपि वे योगी थे, अपने योग के प्रभाव से उन्होंने जाते समय सब डूबे हुए पुत्रों को जीवित भी कर दिया, फिर भी राजा ने प्रजा की भलाई के लिए उनका त्याग कर ही दिया।

सूर्यवंश में एक इक्ष्वाकु नाम के राजा हो चुके हैं, उन्होंने अपने पुत्र विकुक्षि को श्राद्ध के लिए मेध्य पशु लाने के लिये जंगल में भेजा था। भूख के कारण उस श्रद्धीय पदार्थ को उन्होंने श्राद्ध से ही पहिले खाकर उच्छिष्ठ कर दिया था। ऐसे नियम को त्यागने वाले पुत्र को राजा ने इसी एक अपराध के कारण त्याग दिया था। देवराज इन्द्र ने अपने पुत्र जयन्त को इसीलिये शरण नहीं दी थी कि उसने जगज्जननी सीताजी के साथ अशिष्ट व्यवहार किया था। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं, कि अनीति पर चलने वाले अपने पुत्रों को पिताओं ने शत्रु की भाँति त्याग दिया है।

राजन्! आप तो बुद्धिमान् हैं, ज्ञान-दृष्टि से आप देखें संसार में कौन किसका पुत्र है? सभी पूर्वजन्म के सम्बन्धी पुत्र, भाई, सगे सम्बन्धी बन कर अपना बदला लेने आते हैं। कभी-कभी किसी घोर अपराध से राक्षस ही पुत्र का रूप धारण करके आ जाते हैं। आप इस दुर्योधन को अपना पुत्र न समझें। यह मूर्तिमान अवगुण है। कलियुग ने ही आपके घर में पुत्र बन कर जन्म लिया है। पुरुषों से द्वेष करना ही महापाप है। सो यह तो पुरुषोत्तम से द्वेष करता है आपके सामने ही इसने अपनी यह सम्मति प्रकट की थी, कि श्रीकृष्ण को पकड़ कर कैद कर लो। यह क्रूरकर्मा भला उन पुरुषोत्तम को कैसे कैद कर सकता है? जैसे गीदड़ सिंह को स्पर्श नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भगवान वासुदेव को छू भी नहीं सकता। जो पुरुष भगवद् विमुख है, उसका तो मुख देखना भी महापाप है। भगवान ने क्रुद्ध समझ कर ही इसे क्षमा कर दिया है, नहीं तो वे चाहते तो इसे तुरन्त उसी

प्रकार मार डालते, जैसे धर्मराज के राजसूय यज्ञ में सबके देखते-देखते—भरी सभा में सभी राजाओं के सम्मुख—उन्होंने शिशुपाल को मार डाला था। हे कुरुकुल कीर्ति वर्धन राजन्! आपको अपनी कीर्ति प्यारी हो, आप अपना भला चाहते हों तो इस घर में घुसे पुत्र रूप धारण किये जगत् के शत्रु—मूर्तिमान कलि—का परित्याग कर दें। यह दुष्ट भगवान् की शक्ति को जानता नहीं। जिन्होंने ग्यारह वर्ष की छोटी अवस्था में जरासन्ध जैसे त्रैलोक्य विजयी वीर को युद्ध में सन्तुष्ट करने वाले कंस को, उसके घर जाकर भरी सभा में बिना अस्त्र शस्त्र के ही केवल घूसों से मार डाला, उन श्रीकृष्ण के सामने आपका यह क्षुद्र—पाप से मृतक के समान बना हुआ—पुत्र क्या वस्तु है? इसे आप अँगरखे की बाँहों के भीतर छिपा हुआ सर्प समझें। सम्बन्धी के रूप में शत्रु मानें। यदि आप मेरी बात न मान कर, इसका पुत्र की तरह पालन करेंगें, तो इसमें आपका कल्याण नहीं हो सकता।

आप कह सकते हैं, कि श्रीकृष्ण यदि इसे मार डालें तो मेरे निन्नानवें पुत्र तो बच ही जायँगे। सो बात नहीं, इस एक के अपराध से आपके कुल का समूल नाश हो जायगा, उसमें कोई पिण्ड पानी देने वाला भी न रह जायगा। अतः आप मेरी बात मानें, अपने समस्त कुल के कल्याण के निमित्त आप इस एक अधर्मी का त्याग कर दें। इसको घर से निकालते ही सम्पूर्ण कुल में ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र में शान्ति छा जायगी।

यदि आप यह सोचें, कि त्यागने से यह कुछ उपद्रव करेगा, तो इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है, कि आप इसे पकड़ कर श्रीकृष्ण भगवान् को सौंप दें। वे इसे ठीक कर लेंगे। उनके सामने यदि इसने कुछ चीं-चपड़ की, तो वे इसे उस प्रकार से यम के नगर की ओर पार उतार देंगे, जिस प्रकार उन्होंने इसी के भाई-बन्धु अघासुर, बकासुर, वत्सासुर, धेनुकासुर, चाणूर, मुष्टिक और कंस आदि को यम के घाट दिया है।"

इस प्रकार जब विदुरजी ने बिना लगाव लपेट के अपने कुल की रक्षा के लिये महाराज धृतराष्ट्र से कहा, तो वे इस हित पूर्ण बात का कुछ भी उत्तर न दे सके। समीप में ही बैठा-बैठा दुर्योधन यह सब बातें सुन रहा था। इन बातों के सुनने के उसका हृदय क्रोध से भर गया। रोष के कारण उसके रोम-रोम से क्रोध रूपी चिनगारियाँ सी निकलने लगीं, आँखें लाल हो गईं, ओठ हिलने लगे और विदुरजी के ऊपर अत्यन्त कुपित होकर उन्हें भली बुरी सुनाने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हित के वचन सभी को प्राय बुरे लगते हैं। किन्तु पापी पुरुष को तो अपनी भूल मालूम ही नहीं पड़ती। दूसरों में सरसों की बराबर दोष हों, तो उसे वे पहाड़ के समान देखेंगे और अपना सुमेरु के समान भी दोष उन्हें परमाणु के बराबर भी दिखाई न देगा। विदुरजी से कैसी कड़ी-कड़ी बातें उस दुष्ट दुर्योधन ने कहीं, उन सबको मैं आगे सुनाऊँगा। आप सब इसे समाहित चित्तसे श्रवण करें।

छप्पय

यह दुर्योधन दुष्ट इष्ट कूँ, नहिं पहिचाने।
मधुसूदन कूँ मूर्ख मन्दमति मानुष माने॥
कपटी कुटिल कुबुद्धि क्रूर कलि की यह मूरति।
तैसे ई सब सचिव शकुनि दुस्सासन खलमति॥
राजन्! चाहो कुशलता, कुल की यह कारज करो।
कृष्णार्पण जाकूँ करो, सब जग को संकट हरो॥

दुर्योधन द्वारा श्रीविदुरजी का तिरस्कार

(१०३)

क एनमत्रोपजुहाव जिह्मम्,
दास्याः सुतं यद् बलिनैव पुष्टः ।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते,
निर्वास्यतामाशु पुरच्छ्वसानः ॥❀

(श्री भा० ३ स्क० १ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

सुनत विदुर के बचन दुष्ट दुर्योधन अधमति ।
भौंह चढ़ी म्हीं लाल अधर फरके कोप्यो अति ॥
तिरस्कार करि कहे—क्रूर कौनें बुलवायो ।
काहे दासी पुत्र राज परिषद् महँ आयो ॥
कान पकरि कें कुटिल कूँ, करि कारो म्हीं मूड़ि सिर ।
देहु निकासो देश तें, लौटे नहिं यह अधम फिर ॥

संसार में अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो रुख देख कर बातें किया करते हैं। चाहे उसमें हमारा हित हो या अहित हमें अप्रसन्न करना नहीं चाहते, मुँह मीठी बात कह देंगे और

❀दुःशासन और शकुनि के सहित दुर्योधन श्रीविदुरजी का तिरस्कार करते हुए कहने लगा—"अरे इस नीच दासी पुत्र को यहाँ

अपना रास्ता लेंगे कोई उनसे यह पूछे कि 'अजी, आपने ऐसी ठकुरसुहाती बात क्यों कह दी? इससे तो उसकी हानि हो सकती है। तब वे अपने को निर्दोष बताते हुए कह देते हैं। "भैया, अपना उससे प्रयोजन ही क्या? सत्य बात कहते तो वह अप्रसन्न होता। इससे हमें साँचाधारी बनने की आवश्यकता ही क्या? हमने उसकी हाँ में-हाँ मिला दी, अपने को तो न ऊधो का लेना, न माधो का देना, सदा मस्त रहना', ऐसे भाव उन लोगों के होते हैं जिनका हमसे हार्दिक बन्धुत्व नहीं, जो उदासीन हैं। एक हमारे शत्रु भी होते हैं, जो अकारण हमारे छिद्र ही देखते रहते हैं और हमें सदा नीचे गिराने का ही प्रयत्न करते रहते हैं। एक अपने सुहृद् सम्बन्धी तथा बन्धु होते हैं, जो सदा हमारे हित की ही सोचते हैं। इस प्रकार सुहृद् दुर्हृद् और उदासीन तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। सुहृदों में एक तो ऐसे होते हैं जो प्रेम से हमारा हित बता देते हैं, यदि हम उनकी बात मानते हैं, तब तो ठीक ही है नहीं मानते; तो वे चुप हो जाते हैं। दुखी होकर कह देते हैं। "अच्छा भैया! अब तुम्हें जो दीखे सो करो।" एक अत्यन्त हितैषी होते हैं, जो अन्त तक सभी प्रयत्न करके—कड़ी से कड़ी बातें कह कर—हमें समझाने का प्रयत्न करते हैं। वे इस बात की अपेक्षा नहीं रखते, कि हमारे सब वचन मीठे ही हों, उनका लक्ष्य सदा हमारे हित में रहता है, हमारा

किसने बुलाया है? यह जिनके टुकड़े खा खा कर पला है, पुष्ट हुआ है, उन्हीं के विरुद्ध होकर शत्रुओं का हित चाहता है। अभी इस दुष्ट को नगर से बाहर निकाल दो। अब इसे प्राणदण्ड तो दिया दूँ, जीते जी इसे राजधानी से बाहर छोड़ आओ।

जिसमें हित हो उसके लिये वे अप्रिय से अप्रिय बात तक कह देते हैं। ऐसे हितैषी पुरुष संसार में सर्वत्र नहीं मिलते, दुर्लभ हैं। किसी भाग्यशाली को पूर्व जन्मों के पुण्यों से प्राप्त होते हैं। विदुरजी कौरवों के ऐसे ही हितैषी थे। वे सत्य बात कहने में कभी चूकते नहीं थे। अन्याय करना, पक्षपात से बात बनाना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था, क्योंकि वे साक्षात् न्यायकर्ता धर्मराज के अवतार ही थे। दुर्योधनादि कौरवों को वे बड़े सुकृतों से प्राप्त हुए थे। किन्तु उन दुष्टों ने उनका आदर नहीं किया, उनकी बात मानी नहीं, अपने राज्य और कुलीनता के अभिमान में उनका तिरस्कार किया।

जब विदुरजी ने सबके सामने स्पष्ट धृतराष्ट्र से कह दिया—"राजन्! जब तक आप इस दुष्ट दुर्योधन का पुत्र समझ कर पालन करेंगे, इसे अपने घर में रखेंगे, तब तक आपका कल्याण नहीं। यदि आप अपना अपने कुल का अपने पुर और परिवार का, अपने राज्य का तथा सम्पूर्ण विश्व का कल्याण चाहते हैं, तो इस मूर्तिमान् क्रोध को, इस कलियुग के अवतार दुर्योधन को पकड़वा कर या तो श्रीकृष्ण को सौंप दीजिये या इसे देश निकाला दे दीजिये। इसके अतिरिक्त आपका कल्याण नहीं। जब तक आप इसे अपने यहाँ से पृथक् न करेंगे, तब तक आपकी कुशल नहीं।"

इस बात को सुन कर तो दुर्योधन मारे क्रोध के थर-थर काँपने लगा और अत्यन्त ही रोष में भर कर दाँतों से अपने ओठ को काटते हुए भौंहें तान कर बोला—"इस नीच दुष्ट, अप्रियवादी दासी पुत्र को यहाँ किसने बुलाया है? राज सभा में इस अप्रियवादी लज्जा और विनय से हीन दुश्चरित्र शूद्र

का काम ही क्या है। राजसभा में तो सदा मधुरभाषी ही सम्मान पाते हैं, क्योंकि राजा मधुरवचन प्रिय होते हैं। यह विष-मुख तो जब बोलता है, तभी विष ही उगलता है, जैसे सर्प के मुख में विष की थैलियाँ होती हैं, वैसे ही इसके मुख में विष ही विष भरा है। कभी प्रेम से, सत्कार, शिष्टाचार से, विनय पूर्वक बोलता ही नहीं। यह किस आधार पर इतनी बढ़-बढ़ कर बातें करता है? हम राजा हैं, शासक हैं, स्वतन्त्र है, जो चाहें सो करेंगे, इस नीच को हमारे बीच में बोलने का अधिकार ही क्या है?

यह नौकर है, हमारा पालतू कुत्ता है हमारे टुकड़े खा-खा कर ही पला है, हमारी थाली का जूठा अन्न खा-खा कर ही यह मोटा बना है, फिर हमी पर अधिकार जमाता है, हमारे सामने ही अपनी बुद्धिमानी जनाता है। जिस पत्तल में खाता है उसी में छेद करता है, जिस हाँड़ी में पकाता है उसी को फोड़ता है, स्वामी से द्रोह करता है। नीचता की भी सीमा होती है। यह तो उस सीमा को भी उल्लंघन कर गया है, नितान्त कृतघ्नी बन गया है, वेतन यहाँ से पाता है, हित हमारे शत्रुओं का चाहता है, रोटी हमारी दी हुई खाता है, काम हमारे विरुद्ध करता है। हमारे रिपुओं से मिला रहता है, हमें ही निर्वीर्य, नपुंसक और पराक्रम रहित समझ कर सदा निरुत्साहित करता रहता है। यह दुष्ट यहाँ बैठने योग्य नहीं, यह तो वध करने योग्य है। किन्तु इस नीच का जन्म मेरे पितामह की दासी से हुआ है। इस नाते से अपने पितामह का आदर करते हुए मैं इसे प्राण दण्ड देना नहीं चाहता, किन्तु अब मैं इस कटुभाषी का मुख भी देखना नहीं चाहता। मुझे इसकी सूरत से घृणा है। अभी इसे बाँध ले जाओ और नगर से बाहर जीवित ही छोड़

दो और इसे सावधान कर दो, कि नीच ! यदि फिर इस पुर
कभी लौट कर आया तो तुझे जीवित ही कुत्तों से नुचवा
जायगा।"

दुर्योधन को अपने सगे चाचा के लिये ऐसे क्रोध पूर्ण वच
कहते देख कर सभी सभा स्तम्भित रह गई। किसी के मुख
से कोई वचन न निकला। वहाँ जितने लोग बैठे थे सब पत्था
की मूर्ति के समान निश्चेष्ट हो गये। विदुरजी जो भी कुछ
कहते थे कौरवों के हित के लिये—अपना अधिकार और कर्तव्य
समझ कर—धृतराष्ट्र के बल पर कहते थे। उन्हें विश्वास था
राज्य के स्वामी धृतराष्ट्र हैं, मैं उनका छोटा भाई और प्र
मन्त्री हूँ। मैं जो भी राज्य के हित के लिये कहूँगा, मेरे
उसे मानेंगे और अब तक ऐसा होता ही था, किन्तु आज धृत
राष्ट्र के सामने ही दुर्योधन ने उन्हें इतनी कड़ी-कड़ी बातें
दीं। न देने योग्य गालियाँ दीं, इसलिये उन्हें मानसिक दुः
हुआ। वे महाराज धृतराष्ट्र के मुख की ओर निहारने लगे।
उन्हें आशा थी, कि वे दुर्योधन को डाटेंगे, फटकारेंगे और
उसे मना करेंगे, कि मेरे भाई से तू ऐसी बातें क्यों कहता है।
इसी आशा से वे इतनी गालियाँ सुन कर भी चुपचाप बैठे
रहे। जब उन्होंने देखा धृतराष्ट्र तो मौन हैं, वे कुछ बोलते
ही नहीं तब तो वे समझ गये, कि अब कौरव-कुल का नाश
अत्यन्त ही सन्निकट आ गया है। पाप रूपी वृक्ष के फल पक
गये हैं। उनकी सुन्दरता पर ये सब मुग्ध हो गये हैं। जहाँ
सबने उन्हें तोड़ कर खाया नहीं, कि सभी के जीवन का अन्त
हो जायगा। अब इस वीभत्स दृश्य को मैं अपनी आँखों से
क्यों देखूँ ? क्यों अपने परिवार के संहार को देख कर दुखी
बनूँ ? यही सोचकर वे बड़ी नम्रता से बोले—"भैया, दुर्यो-

धन ! तुम्हें मुझे देश से निकाल देने के लिये दूतों को दुःख न देना पड़ेगा। तुम अपने राज्य को सम्हालो। अपने नगर को रखो, मैं स्वयं ही जा रहा हूँ। तुम्हारे जीवित रहते, अब मैं इस नगर में लौट कर न आऊँगा।" इतना कह कर वे जैसे बैठे थे, वैसे ही उठ खड़े हुए। इतने पर भी धृतराष्ट्र ने उन्हें रोका नहीं। मना नहीं किया कि भाई, तुम कहाँ जाते हो। मुझ अंधे की ओर ध्यान दो। इस उद्धत लड़के की बातों को भूल जाओ।" यदि उस समय धृतराष्ट्र इतना भी कह देते, तो संभव है विदुरजी रुक जाते किन्तु धृतराष्ट्र ने तो कुछ भी नहीं कहा। अतः वे इसे विधि का विधान ही समझने लगे। यद्यपि दुर्योधन ने ऐसे वचन कहे जो कानों में बाणों के समान विंधने वाले थे, मर्म स्थान में पीड़ा पहुँचाने वाले थे, किन्तु विदुरजी ने उनका कुछ भी बुरा न माना। वे समझ गये—यह मायापति माधव की मोहिनी माया का प्रभाव है। वे जिससे जब जो कराना चाहते हैं, तब उसकी वैसी ही बुद्धि बना देते हैं। वे तुरन्त राजमहल से उठ कर सभा के बाहर आये और सभा द्वार पर अपना विशाल धनुष रख कर; तुरन्त वहाँ से चल दिये।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! धनुष को द्वार पर धरने का क्या कारण था ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन् धनुष द्वार पर रखने के कई कारण थे एक तो यह कि धनुष शत्रुओं से रक्षा करने के लिये था। जब तक हम राजकाज करते थे, तब तक उपचार से भी शत्रु मित्र का सम्बन्ध था। अब जब राजकाज ही त्याग दिया, तो न हमारा कोई शत्रु रहा न मित्र, अब धनुष

की क्या आवश्यकता ? दूसरी बात यह थी, कि अब वे अलक्षित होकर अवधूत होकर विचरना चाहते थे, जिससे उन्हें कोई पहचान न सके। धनुष रहेगा, तो लोग समझ लेंगे—ये किसी राज परिवार के पुरुष हैं, इसलिये भी धनुष उन्होंने रख दिया। तीसरे यह भी सोचा—धनुष लेकर जाँयगे, तो ये सभी कौरव शंका करेंगे, कि ये हमारे शत्रु पांडवों से तो नहीं मिल जायँगे। अतः इस शंका को भी निर्मूल करने के लिये कि हम तो अब त्यक्तदण्ड हो गये हैं, किसी का भी पक्ष ग्रहण न करेंगे इसलिये भी धनुष को रख गये। चौथे उन्होंने सोचा—हत्या की जड़ तो यह धनुष ही है। इसी कारण भाई अपने सगे भाई के रक्त का प्यासा बन जाता है, यदि मेरे चले जाने पर भी ये चेत जायँ और अपने-अपने धनुषों को रख दें तो कौरव पाँडवों का विनाश न हो, इसलिये अंतिम संकेत भी करते गये कि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अब भी धनुषों को धर दो। पाँचवे यह कि जब तक तुम्हारा हम धनुष धारण करते थे, तब तक तुम्हारा काम करते थे, अब तुम अपनी थाती सम्हालो, हम तो अब भगवत्-भजन करेंगे। मानों वे अपने प्रधान मन्त्रित्व से धनुष रखकर ही त्याग पत्र दे गये। छठा यह कि हम तो केवल तुम्हारा धनुष धारण करने से ही तुम्हारे हित की बात कहा करते थे। मन तो हमारा पांडवों की ओर ही था। अतः मन से तो हम उनका कल्याण अब भी चाहेंगे और हम तभी लौटेंगे जब हमें फिर धनुष धारण न करना पड़े अर्थात् जब धर्मराज सिंहासनरूढ़ हों। इस प्रकार अनेक गूढ़ रहस्यों को विचार कर विदुरजी निःशस्त्र होकर नगर से बाहर निकल पड़े।

छप्पय

भौच्चके से भये बन्धु कूँ बिदुर निहारें।
करे नीचता नीच न ताकूँ तनिक विचारें॥
किन्तु अन्ध कूँ मौन निरखि कैं अति घबराये।
सोचे: अब तो अन्त दिवस इन सबके आये॥
बोले—भैया! स्वयं ही, तेरे घर तें जाउँगो।
अब कबहूँ जा भवन महँ, म्हौ तोकूँ न दिखाउँगो॥

विदुरजी का हस्तिनापुर त्याग और तीर्थ भ्रमण

(१०४)

स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो—
गजाह्वयात्तीर्थपदः पदानि ।
अन्वाक्रमत्पुण्य चिकीर्षयोर्व्याम्,
स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १ अ० १७ श्लो०

छप्पय

परम भागवत विदुर भये बाहर जब पुरतें ।
मानों सदगुण पुण्य सभी निकसे वा घरतें ॥
करिबे कूँ व्योपार वणिक् धन लेके धावें ।
त्यों लीये सँग पुण्य, वृद्धि हित तीरथ जावें ॥
दरवाजे पै धनुष धारि, नंगे पाइन चलि दये ।
शत्रु मित्र सम्बन्ध तजि, त्यक्त दंड मानों भये ॥

हित की बात कहने पर भी जिसे बुरा लगे अपने हितैषि को भी जो शत्रु समझे, पूज्यों के लिये भी जो कुवाच्य वचन बोले, गुरुजनों के वचनों की भी जो अवहेलना करे, साधु पुरुषों

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कौरवों ने जिन विदुरजी को अपने पुण्यों के प्रभाव से प्राप्त किया था, वे विदुरजी हस्तिनापुर से

का भी जो तिरस्कार करे, समझना चाहिये उसका विनाश समीप है। मृत्यु के वश में होकर अपना सर्वस्व नष्ट करने के लिये ही मनुष्य ऐसे आचरण करता है। जो अपने हित में सदा निरत रहते हैं, वे यदि हमारे दुर्व्यवहार से दुखी होकर हमें परित्याग करके चले जाँय और हमें उनके जाने पर प्रश्चात्ताप न हो, तो समझ लेना चाहिये हमारा कल्याण नहीं। यही सोच कर महाराज परीक्षित् ने पूछा। "प्रभो! परम भागवत विदुरजी के हस्तिनापुर से चले जाने के अनन्तर क्या हुआ, वे कहाँ-कहाँ गये? इस सब वृत्तान्त को आप मुझे सुनाइये।"

महाराज की ऐसी उत्सुकता देखकर श्री शुक बोले—"राजन्! फिर हुआ क्या? जो होना था वही हुआ। विदुरजी कौरवों के यहाँ से क्या गये मानों कौरवों के महल से उनका समस्त पुण्य ही चला गया। किसी प्रबल पुण्य के प्रभाव से उन्होंने पद, प्रतिष्ठा, राज्य सिंहासन और परम बुद्धिमान् विदुरजी जैसा मन्त्री पाया था। वह पुण्य आज समाप्त हुआ। समस्त पुण्य और सद्गुणों के साथ विदुरजी हस्तिनापुर से बाहर हुए। पृथ्वी के समस्त राजाओं ने उन्हें धर्मराज के राजसूय यज्ञ के समय तथा हस्तिनापुर मे अनेकों अवसरों पर प्रधान मन्त्री के रूप में देखा था। सहस्रों पुरुषों पर आज्ञा चलाते हुए उनके दर्शन किये थे। आज उन्हें अकेला ही अकिंचन के वेष में देख कर लोग भाँति-भाँति के प्रश्न करते। विदुर जैसे

बाहर निकल गये। अब वे पुण्य करने की इच्छा से तीर्थपाद श्रीहरि के पवित्र क्षेत्रों में पर्यटन करने लगे। जिनमें भगवान् अपनी भिन्न-भिन्न सहस्रों मूर्तियों से अवस्थित हैं।"

महात्मा किसी के दोष कैसे बता सकते थे? इसलिये उन्होंने अपना ऐसा वेष बना लिया, कि कोई उन्हें पहिचान ही न सके। सब राजसी वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये। साधारण फटे पुराने चीर वल्कल शरीर पर धारण कर लिये। सम्पूर्ण शरीर में भस्म लगाली, जटा दाढ़ी बढ़ाली, मौन व्रत धारण कर लिया, एक बड़ा सा दण्डा हाथ में ले लिया। इस प्रकार वे विचित्र वेष बनाकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे। भोजन का कोई नियम नहीं था। जो भी भगवत् इच्छा से कन्द, मूल फल रूखा-सूखा मिल जाता, उसी को खाकर सन्तोष करते। जिस दिन कुछ भी न मिलता, उस दिन उपवास कर जाते। वे जिस जिस तीर्थ में जाते वहाँ जाकर पहिले स्नान करते, फिर भगवान् का ध्यान करते। जहाँ रात्रि हो जाती वहीं पृथ्वी पर पत्ते बिछाकर पड़े रहते। जहाँ समझते कोई अपने आत्मीय सम्बन्धी हैं, वहाँ नहीं जाते। इस प्रकार वे अपना अज्ञात जीवन बिताने लगे। आस पास के राजा महाराजाओं से तो उनका नित्य ही काम पड़ता रहता था, इसलिये पास के देशों में न घूमकर वे दूर दक्षिण देश के तीर्थों में ही पहिले गये।

विदुरजी ने देखा, दक्षिण देश में भगवान् के बड़े-बड़े विशाल दिव्य देश हैं। कहीं भगवान् विष्णु के बृहत् मन्दिर हैं, तो कहीं शिवजी के दीर्घ आकार प्रकार वाले विशाल पर्वतों के समान मन्दिर बने हुए हैं। जिन-जिन नगरों में भगवान् के बड़े-बड़े गोपुर (प्रधान द्वार) वाले मन्दिर देखते उनमें चले जाते। दक्षिणी लोग आपस में जाने क्या किड़बिड़ किड़बिड़ बोलते थे, उसे विदुरजी नहीं समझते थे। समुद्र के किनारे के वे देश बड़े ही मनोहर और हरे भरे थे। उन परम पवित्र नगर, वन, उपवन, पर्वत, नद, नदी निकुंज, निर्मल नीर वाले सरोवर

आदि को देख-देख कर विदुरजी बहुत ही प्रसन्न होते। विदुरजी बड़े बुद्धिमान थे। वे सभी भाषाओं को जानते थे, यहाँ तक कि उन्हें म्लेच्छ भाषा का भी यथेष्ट ज्ञान था। किन्तु दक्षिणियों की भाषा को वे बहुत ध्यान देने पर भी न समझ सके। इधर के कोई साधु सन्त मिल जाते, तो उनसे बातचीत कर लेते, नहीं तो सदा मौन ही रहते। आवश्यकत बातें संकेत से करते। एक समय उन्हें कोई एक बड़े विरक्त राम भक्त साधु मिले। बातचीत होने पर उन्होंने एक कहानी सुनाई। वह इस प्रकार थी।

जब हमारे सरकार श्री कौशलकिशोरजी अश्वमेध आदि बड़े-बड़े यज्ञ कर चुके, तो उन्होंने अपने तीनों भाइयों को सभी देशों में भेजा कि जाकर तुम लोग सभी देशों की भाषा सीख आओ। चक्रवर्ती राजा को सभी भाषाओं का ज्ञान होना चाहिये। लक्ष्मणजी को दक्षिण दिशा में भेजा। लक्ष्मणजी बड़े बुद्धिमान् थे, किन्तु दक्षिणियों की भाषा सीखने में उन्हें भी बड़ी कठिनता प्रतीत हुई। उनका सम्पूर्ण उच्चारण गले से ही होता था सीख-साख कर अवधपुरी में पहुँचे। भगवान् ने सबसे पूछा—'भाई, हमें सुनाओ तुम लोगों ने किस-किस भाषा को सीखा?' सबने सुनाई जब लक्ष्मणजी की बारी आई तो उन्होंने एक खाली घड़े में कंकड़ी भर कर उसे हिलाना आरम्भ कर दिया। इस पर हँसते हुए श्रीरामजी ने कहा—'भाई, यह तुम क्या बाजीगर का सा खेल कर रहे हो? दक्षिण की भाषा सुनाते हो या खेल करते हो?' इस पर हाथ जोड़ कर लक्ष्मणजी ने कहा—"प्रभो! बस, यही दक्षिण की भाषा है, खाली घड़े में कंकड़ी डाल कर हिलाने से जैसा शब्द हो, ठीक वैसी ही दक्षिणी भाषा समझनी चाहिये।'

इसको सुनकर विदुरजी बहुत हँसे और जब भी दक्षिणियों को बातें करते देखते, उन्हें वही लक्ष्मण जी की बात याद आ जाती। इस प्रकार भारत वर्ष के समस्त तीर्थों में विचरते-विचरते वे प्रभास पट्टन क्षेत्र में पहुँचे, जो द्वारका-पुरी के समीप है। वहीं उन्होंने सुना, कि महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया। समस्त कौरव मारे गये। अठारह अक्षोहिणी सेना का संहार हो गया। भगवान् वासुदेव की सहायता से धर्म-परायण धर्मात्मा धर्मराज समस्त वसुन्धरा के एक छत्र सम्राट् बन गये।

विदुरजी कौरवों के आचरणों को देख कर पहिले से ही दुखी थे। वे समझ गये थे, कि अब उनका विनाश समीप आ गया है, तभी तो इन सब की विपरीत बुद्धि हो गई है। वे नहीं चाहते थे, कि कौरव-पाडवों का युद्ध हो। किन्तु भावी को कौन मेंट सकता है? जब उन्होंने समझ लिया, कि अब युद्ध रुक नहीं सकता और दुर्योधन हमारी बात मानेगा नहीं अन्धे धृतराष्ट्र इसके सामने कुछ कह नहीं सकते, तो वे तीर्थ यात्रा के बहाने निकल पड़े। जब उन्होंने सुना, कि जैसे एक स्थान से उत्पन्न होने वाले बाँस परस्पर में रगड़ खाकर अपने आप ही अग्नि उत्पन्न करके—दावानल से—जल कर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार अपनी स्पर्धा और कुटिलता के कारण कौरव कुल का संहार हो गया, तो उन्हें दुःख भी हुआ। कैसे भी थे वे अपने परिवार के ही थे। क्या करते? वे कुल विनाश के शोक से संतप्त होकर चुपचाप सरस्वती नदी के किनारे पहुँचे। जहाँ प्राची सरस्वती समुद्र में मिलती है, उस स्थान पर स्नान करके वे आगे बढ़े। फिर त्रित, उशन, मनु, पृथु, अग्नि, असित, वायु, सुदास, गौ, गुह और श्राद्धदेव—इन ११

देवताओं के नाम से जो प्रसिद्ध तीर्थ हैं, उन सब में स्नान करते हुए वे दक्षिण के सभी तीर्थों में घूमे।

जहाँ वे मन्दिरों की फहराती हुई ध्वजाओं को देखते, वहीं भूमि में लोट कर प्रणाम करते। भगवान् विष्णु के मन्दिरों के गोपुरों पर, अन्य द्वारों पर भगवान् के शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिह्न चित्रित देखते, तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहता। शिवजी के मन्दिरों में बड़े-बड़े नन्दीश्वरों के दर्शनों से उन्हें बड़ा सुख मिलता। किसी-किसी मन्दिर में तो शिवजी के नन्दी की पहाड़ के समान विशाल प्रतिमा देखकर आश्चर्य करते, कि हमारे उत्तर भारत में इतने बड़े-बड़े नन्दीश्वर नहीं होते। कहीं गरुड़जी की बहुत लम्बी मूर्ति के दर्शन करते। इस प्रकार भगवान् के अस्त्र, आयुद्ध, पार्षद, परिवार, वाहन आदि के दर्शनों से उनका रोम-रोम खिल जाता। जहाँ शंख, चक्र गरुड़ आदि को देखते, वहीं उन्हें भगवान् वासुदेव का स्मरण हो आता। अहा! मेरे श्यामसुन्दर के चरणों में भी ये ही वज्र, अंकुश, ध्वज, कमल, शंख, चक्र आदि के चिन्ह हैं। मेरे नन्द नन्दन ही कहीं चतुर्भुजी विष्णु बन कर, कहीं लिङ्गाकार शिव बन कर विराजे हुए हैं। वे नटवर बहु रूपधारी, सब उन्हीं के विग्रह हैं। सब रूपों में वे ही व्याप्त हैं। सब स्वरूपों से वे ही सब की भावानुसार पूजा ग्रहण कर रहे हैं। इस प्रकार वे बिना भेद बुद्धि के सभी तीर्थों में स्नान पूजन करते हुए उत्तर की ओर चले। वे अत्यन्त समृद्धिशाली सौराष्ट्र-सौवीर, मत्स्य, कुरु, जांगल आदि देशों को लांघते हुए यमुना जी के किनारे किनारे भगवान् नन्दनन्दन की क्रीड़ास्थली—परम पावन ब्रज भूमि में पहुँचे, जिसकी रज के एक कण के लिये ब्रह्मादिक देवता तरसते रहते हैं। उस भूमि में आकर विदुरजी को

भाव समाधि हो गई। उनके समस्त शरीर के रोम खड़े हो गये और नेत्रों से निरन्तर अश्रु बहने लगे। इसी दशा में वे यमुनाजी की बालू में पड़े-पड़े भगवान् के ध्यान में मग्न हो गये।"

छप्पय

वन उपवन वर पुण्य सरोवर सरिता सुन्दर।
चिह्नित देखे शंख चक्र तें मनहर मन्दिर॥
कहूँ कृष्ण धरि विष्णु रूप श्रीरङ्ग विराजें।
विश्वनाथ श्रीशम्भु विविध रूपनि महँ राजें॥
सब तीरथ की सार जो, आये ता ब्रजभूमि महँ।
नील बाल क्रीड़ा करी, माखन खायो चोरि जहँ॥

विदुरजी की वृन्दावन में उद्धवजी से भेंट

(१०५)

स वासुदेवानुचरं प्रशान्तम्,
बृहस्तेः प्राक्तनयं प्रतीतम्,
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रम्,
स्वनामपृच्छद् भगवत्प्रजानाम् ॥*

(श्री० भा० ३ स्क० १ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

देखी रसमय भूमि विदुर हिय महँ हर्षाये।
कृष्ण विरह में विकल वहाँ तब उद्धव आये॥
पथ भ्रम वश ज्यों भूलि मिले परकीया उपपति।
गंगा यमुना सदृश मिले मनमोद भयो अति॥
उद्धव तें बोले विदुर, कुशल कृष्ण कुल की कहो।
कृष्ण बिना कस भ्रमत हो, संग सदा तुम तो रहो॥

भगवद् दर्शन में क्या सुख है? वह तो सुखातीत है और जिसे होता है, वही उसका अनुभव करता है। उस सुख की किसी अन्य सुख से तुलना नहीं। किन्तु वैसा ही सुख, जिसे

---

*व्रजभूमि में श्रीविदुरजी ने भगवान् के पीछे-पीछे चलने वाले, शान्त स्वभाव और बृहस्पति के विख्यात श्रेष्ठ शिष्य श्रीउद्धवजी को

सब देखते हैं, इस दुःखमय जगत् में जो इन चर्मचक्षुओं से देखा जाता है एक भक्त का दूसरे भक्त के साथ मिलना है। इस के मिलने पर दोनों परस्पर में कितने प्रसन्न होते हैं, यह वाणी का विषय नहीं है। प्रेम हीन पुरुष भी जब दो प्रेम के मतवाले श्रीहरि के प्यारे, संसारी सम्बन्धों से निराले भक्तों का मिलन देखते हैं, तो उसका भी हृदय प्रेममय बन जाता है।

एक भक्त दूसरे भक्त को देखते ही यह चाहता है—मैं पहिले इसे प्रणाम करूँ। दूसरा चाहता है—मैं पहिले प्रणाम करूँ। दोनों के हृदयों में भक्तवांछा-कल्पतरु भगवान् श्याम-सुन्दर बैठे रहते हैं। अपने सम्मुख भक्त को देखते ही भक्त शीघ्रता से भूमि में लेट कर प्रणाम करता है। उतने में दूसरा भी अति शीघ्र साष्टांग करने लगता है। भगवान् देखते हैं इन दोनों की इच्छा पूर्ण करो। झट से वे बीच में आकर खड़े हो जाते हैं, दोनों के हृदयों से निकलकर। लो भैया, तुम दोनों मुझे प्रणाम करो। मुझे तो भक्तों की इच्छा रखनी है। इसी-लिये भक्तों में ऊँच नीच, छोटे, बड़े, अधम श्रेष्ठ किसी का विचार नहीं किया जाता। यद्यपि स्मृतिकारों ने प्रणाम के बड़े-बड़े नियम बनाये हैं—किसे प्रणाम करें किसे न करें? अपने से उच्च वर्ण के लोगों को प्रणाम करें नीच वर्ण के लोगों को पहिले से प्रणाम न करें आदि-आदि बहुत से प्रणाम सम्बन्धी नियम हैं, किन्तु भक्ति मार्ग में ऐसा कोई नियम नहीं। जो भागवत है, हरि शरणापन्न है, प्रपन्न हो चुका है, विष्णु भक्ति-

---

जब देखा, तो उन्होंने प्रेम पूर्वक उनका गाढ़ आलिंगन किया। तदनन्तर उनसे अपने आत्मीय बन्धु श्रीभगवान् के पुत्र पौत्रों की कुशल पूछी।

मार्ग में दीक्षित हो चुका है, वैष्णवी दीक्षा जिसने धारण कर लिया है, वैष्णवों के चिन्ह जिसने धारण कर लिये हैं, वैष्णवों के लिये वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो, किसी भी जाति का क्यों न हो, वन्दनीय है, श्लाघनीय है; आदरणीय है और आलिंगनीय है। जिस शरीर में नन्दनन्दन आसन बिछाकर बैठे रहते हैं, जिन करों से सदा कृष्ण कैंकर्य ही होता रहता है, जो पग सदा पुण्य भूमियों में ही विचरते हैं, जो सिर सदा श्रीपति और उनके शरणागतों के लिये नमता रहता है भक्तों के वे अङ्ग कितने पावन हैं, उनका स्पर्श कितना सुख कर है ?

संसारमें वे लोग धन्य हैं, जो दो भक्तों के मिलन-दर्शन की अभिलाषा रखते हैं। जिन नेत्रों ने प्रेम में पागल हुए दो भक्तों का मिलन देख लिया, वे नेत्र धन्य हो गये। जिन श्रवणों ने परस्पर में सहसा मिला हुए दो भक्तों के एकान्त में हुए वार्तालाप को सुन लिया, उनके मध्य में हुई भगवत् कथा रूपी सुधा को कर्णपुटों में भर कर पी लिया, वे कण कण बहकाने के योग्य हो गये। उनका श्रवण नाम सार्थक हो गया। संसार में सब सुलभ है,किन्तु भक्तों का मिलन. भक्त दर्शन,भक्तों का आलिंगन और भक्तों का सत्संग यही दुर्लभ है। भक्तों का सत्संग पुण्य क्षेत्रों में, भगवत् धामों में पावन पुरियों में, ही प्रायः होता है। जहाँ भगवान् ने अपना अलौकिक गुणातीत विग्रह धारण करके दिव्य-दिव्य क्रीड़ायें की हैं उनके दर्शनों से भावोद्रेक होता है, रस की वृद्धि होती है। अतः भक्त प्रायः उन्हीं भगवत की क्रीड़ास्थलियों के समीप रहते हैं, वहीं इधर उधर विचरते रहते हैं।

श्रीवृन्दावन भूमि में आकर विदुरजी को परम शान्ति

हुई। वे व्रज की योगिन्द्र मुनीन्द्रों और ब्रह्मादिक देवों द्वारा वंदित उस परम पावन रज में लोटने लगे। यह वही कमनीय कालिन्दी कूल है, जहाँ श्रीकृष्ण ने गोपियों के अज्ञान आवरण को हटाकर उनमें अपना अद्वैत भाव स्थापित किया था। यह वही अमृत वाहिनी सुधामयी सरिता है, जिसके निभृत निकुञ्जों में नन्दनन्दन ने व्रजाङ्गनाओं के साथ रास रचाया था। इसी सूर्यतनया के तट पर अपने अरुण अधरों पर धर कर मुरलीधर मनोहर मुरली बजाया करते थे। इसी व्रज की जीवन रूपी सरिता के सुन्दर स्वच्छ सलिल को विषमय बनाने वाले कालिय नाग का श्यामसुन्दर ने यहाँ दमन किया था। इन्हीं व्रज के वृक्षों के नीचे बैठकर श्रीकृष्ण के एकान्तिक दूत उद्धवजी ने प्रेम में पगली बनी गोपियों को कृष्ण संदेश सुनाया था। इन्हीं कदंब खोडियों की शीतल छाया में बैठकर महाबुद्धिमान् बृहस्पति-शिष्य उद्धवजी ने प्रेमपाती सुनाई थी। अहा, वे उद्धवजी धन्य हैं, जिन्होंने व्रजभूमि में गुल्मलता बनने की इच्छा की थी जिन्होंने जंगली अहीरों की अज्ञा स्त्रियों की चरणधूलि को ही अपना सर्वस्व समझा था। विदुरजी ऐसा विचार कर ही रहे थे कि इन्हें सामने से उद्धवजी आते हुए दिखाई दिये। उनकी गति विचित्र थी। पैर रखना चाहते थे कहीं पड़ते थे कहीं। भौंहे चढ़ी हुई थीं आँखे लाल हो रही थीं, बाल बिखरे हुए थे, आंखों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। इस दशा में उद्धवजी को देखकर विदुरजी भौचक्के से रह गये।

पहिले तो उन्होंने समझा मैं स्वप्न देख रहा हूँ। ऐसा भ्रम होते ही उन्होंने दोनों हाथों से अपनी आंखें मलीं, इधर उधर मन्द गति से यमुना भी वही बह रही हैं, वे वृक्ष लता भी वे ही हैं, वे ही मयूर हैं, हरिण हैं। वे उठ कर खड़े हो गये, सोचने

लगे—यह स्वप्न नहीं, अरे, यह तो मनोरथ है। जिसका हम एकाग्र होकर चिन्तन करते हैं, उसकी सजीव मूर्ति हमारे नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष नाचने लगती है। इतनी देर से मैं उद्धवजी का चिन्तन कर रहा था। देखो, उनकी मनोमयी मूर्ति कैसी प्रत्यक्ष होकर मेरे सम्मुख आ गई। इतने ही में उद्धवजी और भी निकट आ गये। अब विदुरजी सम्हले। उनकी क्षण भर को बाह्य वृत्ति हुई। अरे यह मनोरथ नहीं, उद्धवजी की मनोमय मूर्ति नहीं, ये तो प्रत्यक्ष उद्धवजी हैं। इतना सोचते ही वे उनको आलिंगन करने के लिये दौड़े। उधर से उद्धवजी भी लपके। दोनों इसी तरह मिल गये जैसे तमाल की शाखा में पीलू की शाखा सट गई हो। उनके मिलने से श्रीवृन्दावन में प्रयागराज का दृश्य उपस्थित हो गया। गंगा यमुना के सदृश वे परस्पर में एक दूसरे से सट गये थे। कभी वे उन्हें जोर से आलिंगन करने के कारण पीछे हटा देते, कभी वे उन्हें थोड़ा बढ़ा देते। दूध और पानी की तरह, सत्तू और जल की तरह, वे दोनों एक हो गये थे। उनके प्राण से प्राण ही नहीं मिल गये, शरीर भी परस्पर में ऐसे सट गये, कि वे चार पैर वाले कोई एक ही पुरुष दिखाई देते थे। बड़ी देर तक वे दोनों अपने-अपने हृदय को शीतल करते रहे। जब प्रेम का वेग कुछ शान्त हुआ, तो परस्पर में एक दूसरे से पृथक् होकर वहीं यमुना कूल पर, रजत चूर्ण के समान चमकीली बालू पर बैठ गये। अब परस्पर में कुशल प्रश्न होने लगा।

विदुरजी बड़े विह्वल हो रहे थे। आज बीसों वर्ष के पश्चात् अपने एक सुहृद, सम्बन्धी, स्नेही मिले। संसारी लोगों से तो वे सम्बन्ध त्याग ही चुके थे। किन्तु श्रीकृष्ण तो उनके सर्वस्व थे। उनसे सम्बन्ध जोड़ने के लिए ही तो ये समस्त साधन

हैं। जिनका श्रीकृष्ण से सम्बन्ध है, वे तो अपने सम्बन्धी ही। उनकी स्मृति तो भगवत् स्मृति ही है। उनके सम्बन्ध चर्चा करना तो भगवत् कथा ही है। यही सब सोचकर वि जी बोले—"उद्धवजी ! अब आप मुझे भगवान् वासुदेव के अ सम्बन्धियों की कुशल सुनाइये।'

आँख में आँसू भर कर उद्धवजी बोले—"विदुरजी ! वि किन की कुशल पूछते हो ? कितनी कुशल बताऊँ ?"

यह सुनकर अत्यन्त ही स्नेह के साथ विदुरजी क लगे—"महाराज ! मुझे संसारी लोगों से अब क्या प्रयो रहा ? जब मैं प्रभास क्षेत्र में विचरण कर रहा था, तब मैं सुना था, पांडवों को छोड़कर मेरे समस्त सम्बन्धियों विनाश हो गया। वह तो अवश्यम्भावी ही था। उन सबने जान बूझकर विनाश के पथ पर पैर रखा था। समझ बूझकर विषधर नागों को छेड़ा था। वे सब तो अपने पाप कर्मों से म हुए ही थे। अब मुझे श्रीकृष्ण के परिवार की कुशल सुनाइये यदुवंशी तो सभी धर्मात्मा हैं। भगवान वासुदेव उनके एक मा रक्षक हैं। उनका तो कभी अनिष्ट सम्भव ही नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहकर विदुरजी सबका नाम ले लेकर उद्धवजी से जिस प्रकार सबकी कुशल पूछेंगे, यह प्रकरण मैं अब आपको आगे सुनाऊँगा।"

शौनकजी बोले—"हाँ, महराज, इस प्रकरण को विस्तार से ही सुनावें। दो भक्तों का मिलन है। इनमें जो कथावार्ता हुई हो, उसे भी आप सुनावें। समय का संकोच न करें।

शौनकजी के ऐसे आग्रह को देखकर सूतजी प्रसन्न हुए और आगे का कथा प्रसङ्ग सुनाने को उद्यत हुए।

भगवान् के परिवार का कुशल प्रश्न

(१०६)

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना—
मवस्थितानामनुशासने स्वे।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० १ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

सखे! कहो अब कुशल कुशल के कारण जे हैं।
शरणागत प्रतिपाल अवनि के त्राता ते हैं॥
संकर्षण बलराम देव की कुशल सुनाओ।
हैं सुख तें बसुदेव सबनि की बात बताओ॥
उद्धवजी! प्रद्युम्न अनु-रुद्रादिक जे स्वजन हैं।
ते यदुवंशी कुशल हैं, जे सब हरि की शरन हैं॥

बात करने की प्राचीन प्रथा यह थी, कि परस्पर में जब बातें होतीं, तो प्रश्न करने वाले का पहिले स्वागत सत्कार करते। उसकी यथायोग्य पूजा सम्मान करके विश्राम कराते;

---

* श्रीविदुरजी उद्धवजी से कह रहे हैं—'हे सखे! हे उद्धवजी! जो प्रसन्न पुरुषों का, इन्द्रादिक समस्त लोकपालों का और अपनी

र उसके समीप जाते। उसकी सम्पूर्ण बातों को बड़े धैर्य से नते। फिर उपक्रम उपसंहार पूर्वक उनका न बहुत संक्षेप न हुत विस्तार से उत्तर देते। इसके अनन्तर प्रसङ्गानुसार और ी अवान्तर प्रश्नोत्तर छिड़ जाते। इस प्रकार बातें करने से रस ा सञ्चार होता है आजकल तो न स्वागत, न सत्कार न कुशल क्षेम। गये तो प्रश्न हुआ—'कहो कैसे आये जी?' वह ो उत्तर में लाठी सी मार देता है—'एक काम से आया था। स काम को आप कर देंगे?' वह टका सा उत्तर दे देता है, 'मुझे वकाश नहीं।'

इतना कह कर फिर बिना उनकी ओर देखे अपने काम में ग गये, वे अपना सूखा सा मुँह लिये हाथ हिलाते मन ही मन से कोसते हुए चले गये। इन्होंने सोचा—'अनाड़ी लोग व्यर्थ ो तंग करते रहते हैं—यह करो, वह करो। मुझे अपने काम से ी अवकाश नहीं।' आने वाला सोचता है 'कैसा रूखा आदमी है, कितनी आशा से हम गये थे, बात भी नहीं पूछी।' ऐसी दशा ें परस्पर में रस का संचार कैसे हो? इसीलिये आजकल परस्पर में बातें होने पर भी आनन्द नहीं आता। मिथ्या आडम्बर बढ़ गया है। हृदय खोलकर प्रायः लोग बातें नहीं करते। हृदय खोलकर सब से बातें हो भी नहीं सकतीं। वे तो तभी होती हैं, जब दोनों एक मन के अभिन्न हृदय हों। विदुरजी और उद्धवजी ऐसे ही अभिन्न हृदय सखा थे। दोनों ही भगवान् के परम प्रिय थे। दोनों ने अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण को

आज्ञा में अवस्थित अनुचरों का प्रिय करने के निमित्त यदुवंश में उत्पन्न हुए हैं' उन पवित्र कीर्ति, अज, अच्युत भगवान् वासुदेव की बातों को सुनाइये। अर्थात् सब कुछ छोड़ कर कृष्ण कथा होने दीजिये।'

ही समझ रखा था। दोनों ही पर भगवान् का महान् अनुग्रह था। उन्हें वे अपना सखा, मन्त्री, दास और स्वजन मान कर सत्कार करते थे। भक्त जो पूज्य बुद्धि भगवान् में रखता है, वैसी ही नहीं, उससे भी बढ़कर भगवान् के दासों में उसकी श्रद्धा होती है। इसीलिये विदुरजी उद्धवजी को पूज्य मानते थे और उद्धवजी विदुरजी को अपने से श्रेष्ठ समझते थे। जब दोनों प्रेम से मिल भेंट लिये, तो यमुना किनारे एकान्त में बैठ कर वार्तालाप आरम्भ हुआ।

विदुरजी ने पूछा—"उद्धवजी! आप यहाँ कब आये? आप अकेले यहाँ क्यों घूम रहे हैं? आप का मुख म्लान क्यों है? मैं ये सब बातें इसलिये पूछ रहा हूँ, कि मुझे हस्तिनापुर छोड़े बहुत दिन हो गये। तब से मुझे अपने स्वजन बन्धु बान्धवों का कोई समाचार नहीं मिला। मैंने किसी से जिज्ञासा भी नहीं की। बहुत से परिचित कहीं-कहीं पुण्य तीर्थों मे मुझे दिखाई भी दिये; किन्तु उनसे मैंने भेंट ही नहीं की। मैं अपना रूप छिपाये; वेष बदले तीर्थों में अब तक घूमता रहा हूँ। आज आप से ही भेंट हुई है। आप अब मुझे सब बन्धु बान्धवों की कुशल सुनाइये।"

उद्धवजी ने दुखी होकर कहा—"महाराज; विदुरजी! किनकी कुशल पूछते हैं आप?"

विदुरजी बोले—"उद्धवजी! ऐसे अनमने होकर क्यों बातें कर रहे हैं? जो अज, अव्यक्त होते हुए भी यदुवंश मे दो रूपों से अवतीर्ण हुए हैं, जिन्होंने अपने नाभि कमल से वेदगर्भ लोकपितामह चतुरानन को उत्पन्न किया है, उन्हीं की प्रार्थना से जिन्होंने भूमि के भार उतारने को शूकर आदि अनेक

अवतार धारण किये हैं। राजाओं के रूप में पृथ्वी पर बढ़े हुए असुरों के संहार के निमित्त तथा भक्तों को सुख देने के निमित्त, जो वसुदेवजी के यहाँ रामकृष्ण रूप से अवतीर्ण हुए हैं, उन दोनों विश्ववन्दित बन्धुओं की कुशल तो पूछनी ही क्या। किन्तु शिष्टाचार वश पूछ रहा हूँ, वे आनन्द से तो अपने कुल का पालन कर रहे हैं ?

हमारे परम सुहृद् वसुदेवजी की कुशल सुनाइये। वे तो हमारी भाभी कुन्ती के भाई ही हैं। अपनी बहिनों पर वे कितनी स्नेह रखते हैं ? अब तक भी सदा उन्हें बच्चियों की तरह मानकर दान मान द्वारा सत्कृत करते रहते हैं ? चिर काल से उनसे हमारी भेंट नहीं हुई। वे अपने भानजों को पुत्र की तरह प्यार करते हैं और उनकी सब अभिलषित वस्तुओं को प्रदान करते रहते हैं।

भगवान् के बड़े पुत्र प्रद्युम्न की कुशल सुनाइये। उनके बराबर सुन्दर संसार के राजकुमारों में स्यात् ही कोई हो। हैं भी तो वे कामदेव के अवतार ही। अनंग ने ही अङ्ग धारण करके रुक्मिणी के गर्भ से जन्म लिया है। महारानी रुक्मिणी देवी ने उनकी प्राप्ति के लिये कितनी आराधना की थी, कितनी ब्राह्मणों की लगन के साथ सेवा की थी। रुक्मिणी ने ही नहीं, उनके पति ने भी बड़ी तपस्या की थी। उद्धवजी ! गृहस्थियों को पुत्र का मुख देखने की कितनी उत्कट अभिलाषा होती है, इसका अनुमान इसी से लगता है, कि ईश्वरों के भी ईश्वर अवतारों के भी अवतारी साक्षात् भगवान् वासुदेव ने पुत्र प्राप्ति के लिये हिमालय में जाकर आशुतोष भगवान् भोलानाथ की बहुत दिनों तक शरीर को सुखाकर आरा-

घना की थी। इसी से प्रद्युम्नजी का जन्म हुआ। वे मूर्तिमान कामदेव होने पर भी शूरवीर और महान् बलशाली हैं। समस्त यादवों की सेना के वे ही प्रधान सेनापति हैं; जिनके भुजबल से निर्भय होकर समस्त यदुवंशी स्वर्गीय सुखों का उ भोग कर रहे हैं।

उद्धवजी! मैं भूल जाता हूँ, सबसे पहिले आप महाराज उग्रसेनजी की कुशल सुनाइये, जिन्होंने अपने दुष्ट पुत्र कारण कारावास में रहकर विविध कष्ट उठाये थे। जो अप कुल-कलंक पुत्र के कारण सदा दुखी रहते थे। वे अब सु पूर्वक तो हैं न? देखो, भगवान् ने कंस को मार कर भी स्व राज्य सिंहासन ग्रहण नहीं किया। कंस के पिता अपने माता को ही सात्वत, वृष्णि, भोज, और दाशार्ह वंशी यादवों अधिपति बनाया। स्वयं भगवान् जिनके सेवक बनकर सिंहास के नीचे बैठते हैं और हाथ जोड़ कर, खड़े होकर जिनके प्रश्न का उत्तर देते हैं, उन यादवों के स्वामी उग्रसेन जी का कुश सुनाइये।

हाँ, जाम्बवती सुत साम्ब के सभी समाचार सुनावें। कितने सुन्दर हैं, कितने कोमल प्रकृति के हैं, उनके सौन्दर्य में जादू है। कुलकामिनी भी उनके अनुपम रूपलावण्य को देखकर धैर्य छोड़ देती हैं। माता होने पर भी भगवान् की षोडस सहस्र महिषियों का मन जिन्हें देखकर चंचल हो जाता है, जिन्हें पूर्व जन्म में पार्वतीजी का प्रिय पुत्र बनने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है, जो स्वामी कार्तिकेय नाम से सुरों के सेनापति रह चुके हैं, जिन्हें जाम्बवती ने बहुत से बड़े-बड़े व्रत करके प्राप्त किया है, जो गुण तथा शील में सर्वथा

श्रीहरि के ही समान हैं वे श्रीकृष्ण के तनय अत्यन्त स्निग्ध अङ्गों वाले, सुकुमार, शूरवीर, महारथियों में भी प्रशंसनीय साम्ब सकुशल तो हैं ?

सात्यकिजी के समाचार सुनाइये । उनके लिये तो जो कुछ कहा जाय वही कम है। वे तो भगवान् के बाह्य प्राण हैं भगवान उनके बिना नहीं रहते, वे भगवान् को छोड़ कर एक क्षण का भी अन्यत्र नहीं जाते। इस प्रकार उन्होंने भगवान् की उस परमगति को सुगमता से प्राप्त कर लिया है, जो बड़े-बड़े जपी, तपी, ध्यानी और योगियों को भी दुर्लभ है। भक्त होने पर भी जो शूरवीर हैं, गांडीव धनुर्धारी अर्जुन के प्रियशिष्य हैं, भगवान् के परम कृपापात्र हैं, वे तो सुख पूर्वक रहते हुए श्यामसुन्दर की श्रद्धा से सेवा करते हैं न ?

उद्धवजी! आपके पधारने के पूर्व, इस व्रज रज को देखकर मुझे अक्रूरजी की बड़ी स्मृति आ रही थी। देखिये, वे कंस के दूत बन कर आये थे, किन्तु आते-आते मार्ग में ही जहाँ उन्होंने इसी व्रज रज, वज्र, अंकुश, ध्वज, कमल आदि चिह्नों से चिह्नित भगवान् नन्दनन्दन के अवनि पर उभरे हुए पाद चिह्न देखे, कि विह्वल होकर वे रथ से कूद पड़े और प्रेम में पागल बने उसी व्रज रज में लोटने लगे। भगवान् में कितनी उनकी भक्ति है, कैसा अटूट स्नेह है, कितनी ऐकान्तिकी निष्ठा है ? उन सबका वर्णन करना मेरी बुद्धि के बाहर की बात है। जो अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण यादवों के दानाध्यक्ष हैं, अपने पिता श्वफल्क की ही भाँति शुभ दर्शन और मंगलमय हैं, उन कृष्ण किंकर श्रीअक्रूरजी की कुशल क्षेम सुनाइये।

वसुदेवजी की सब पत्नियाँ तो कुशलपूर्वक हैं ? हमें तो द्वारका गये बहुत दिन हो गये। देवकी जी कितनी

भाग्यवती हैं? उन्होंने श्रीभगवान् मधुसूदन को उसी प्रकार उत्पन्न किया, जिस प्रकार वेदत्रयी यज्ञ के विस्तार वाले अर्थों को उत्पन्न करती है अथवा जैसे अरणी अग्नि को उत्पन्न करती है। सीपी जैसे मोती को, प्रभा जैसे प्रकाश को, पृथ्वी जैसे गन्ध को, रसायन जैसे सुवर्ण को, लता जैसे सुगन्धित पुष्प को, अथवा सिंहनी जैसे प्राथमिक पुत्र को उत्पन्न करती है और इन सबसे जैसे इनकी जननी धन्य हो जाती है, वैसे ही देवकीजी श्रीश्यामसुन्दर को अपने उदर में धारण करके धन्य हो गईं। वे तो अपनी झुंड की झुंड बहुओं के साथ सुख पूर्वक हैं न?

उपासना करने वाले मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन अन्तःकरण चतुष्टय के अधिष्ठाता अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, वासुदेव और संकर्षण इनको मानते हैं, सो मन के जो अधिष्ठातृ देव अनिरुद्ध हैं, जिन्होंने बाणासुर के यहाँ जाकर, उसकी पुत्री ऊषा से विवाह किया था, जो अपने कार्यों से सदा शरणागतों को सन्तुष्ट करते रहते हैं वे सपरिवार सकुशल हैं न?

अब भैया, सब यादवों के नाम तो मुझे याद नहीं हैं। एक दो हों तो याद भी रखूँ। ५—६ कोटि सब के सब सुने जाते हैं। उनमें से मुख्य-मुख्य की कुशल बताइये। जैसे हृदीक, चारुदेष्ण, गद तथा सत्यभामाजी के सभी सुत सकुशल तो हैं?

यादवों और पांडवों का परस्पर में सम्बन्ध ही नहीं है, हार्दिक प्रेम भी है। पांडवों के प्राण तथा जीवनाधार श्रीश्यामसुन्दर ही हैं, उनके आश्रय में रहकर उन्होंने अपनी गई हुई राज्य लक्ष्मी फिर से प्राप्त कर ली है। उन पांडवों का समाचार

तो सदा श्रीकृष्ण के समीप आता ही रहता होगा। आप मुझे धर्मराज युधिष्ठिर के भी समाचार सुनावें। धर्मराज तो अब सुना है, सम्राट् हो गये हैं। सम्राट् होने पर भी उनकी बुद्धि धर्म में ही रहती है न? राज्यलक्ष्मी के अभिमान में वे सम्माननीय पुरुषों का स्वल्प सम्मान या तिरस्कार तो नहीं करते? अपने राज्य का पालन वे धर्मपूर्वक करते हैं न?

उनके छोटे भाई भीम बड़े क्रोधी स्वभाव के हैं? वे कौरवों की क्रूरता के कारण सदा क्रुद्ध हुए काले सर्प की भाँति लम्बी-लम्बी विषैली साँस छोड़ा करते थे। अब तो उनका क्रोध सफल हो गया। सुना है; उन्होंने धृतराष्ट्र के सौ के सौ पुत्रों को अपनी गदा से मारा है। अपने शत्रुओं को मारकर अब वे क्रोधहीन होकर शान्त हो गये हैं न? उनके मन में अब कौरवों के प्रति कुछ क्रोध शेष तो नहीं रहा है?

गांडीवधारी कुन्तीनन्दन पांडु भरतवंश की कीर्ति बढ़ाने वाले संसार के अद्वितीय योद्धा अर्जुन के भी कुशल समाचार सुनाइये। मनुष्यों की तो कौन कहे; जिन्होंने अपने बाणों की वर्षा से त्रिपुरारि भगवान् भूतनाथ को भी सन्तुष्ट किया था, जो दोनों हाथों से समान वेग से बाण छोड़ते हैं। वे धनञ्जय अपने शत्रुओं को मार कर प्रसन्नता पूर्वक धर्मराज का अनुगमन तो करते हैं न?

भैया, उन नकुल, सहदेव की कुशल सुनाओ; जो सौभाग्य वश सभी भाइयों में छोटे हैं और अपने सभी बड़े भाइयों के सदा अनुकूल चलने वाले हैं। जिन पर कुन्ती ने, धर्मराज ने, भीम और अर्जुन ने अपना समस्त प्यार उड़ेल दिया है। सभी लोग उनकी उसी प्रकार रक्षा करते हैं, जैसे पलकें आँखों

की रक्षा करती हैं। उद्धवजी, वे छोटे धन्य हैं जिन्हें बड़ों का प्यार दुलार प्राप्त है। वे बड़े होने पर भी सदा बच्चे ही बने रहते हैं। बड़ों की छत्र-छाया में रहने से कितनी निश्चिन्तता रहती है, यद्यपि वे दोनों अश्विनीकुमारों के वीर्य से उत्पन्न माद्री के पुत्र हैं, किन्तु कुन्ती ने कभी उन्हें पराया नहीं समझा। वे सगे पुत्र की भाँति ही सदा उनका लालन-पालन करती हैं। वे पाँचों को अपना ही पुत्र कहती हैं, नकुल, सहदेव लड़ने में भी बड़े कुशल हैं, उन्होंने शत्रुओं से राज्य छीनने में अपने भाइयों की उसी प्रकार सहायता की होगी, जिस प्रकार रथ के पहिये रथ को गन्तव्य स्थान में पहुँचाने में सहायता करते हैं।

उद्धवजी! पांडवों की माता कुन्ती का क्या हाल चाल है? देखो, भाग्य का कैसा विचित्र खेल है? जिसके इतने शूर-वीर पति हों, कि जो अकेले ही धनुष लेकर समस्त पृथ्वी को जीत लाये थे, जिसके ऐसे-ऐसे पुत्र हों, जो जीवित ही स्वर्ग जाकर लौट आये हों और जिन्होंने अपने अस्त्र शस्त्र से सदा शिव को भी सन्तुष्ट किया हो, वह विचारी वर्षों के लिये विपत्ति की मारी वन-वन भटकती फिरी। विधवा होने पर भी वह सती नहीं हुई। इसी आशा पर जीवन धारण करती रहीं, कि बड़े होने पर मेरे बच्चे राजसिंहासन के अधिकारी होंगे? उस विचारी को तो जीवन भर विपत्तियों का ही सामना करना पड़ा। उसने श्यामसुन्दर से वरदान भी यही माँगा था। वांछा कल्पतरु भगवान ने उसकी मनोकामना पूर्ण की। सदा विपत्तियों के बादल ही उसके सिर पर मंडराते रहे। उसकी क्या कुशल पूछूँ? वह तो कृष्ण कृपा से विपत्तियों में अपनी कुशल मानती है। उन अपनी भाभी की मुझे चिन्ता नहीं।

हाँ, उद्धवजी ! मुझे अपने बड़े भाई अन्धे धृतराष्ट्र का अवश्य शोक है। बुढ़ापे में उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, माया मोह ने उन्हें कसकर जकड़ लिया है। वे इष्ट-अनिष्ट का विचार नहीं करते। अपने दुष्ट पुत्रों के हाथ के खिलौने बन गये हैं। आप ही सोचिये, राज्य के अधिकारी पांडु थे। जब वे परलोक वासी हो गये, तो न्याय से उनके पुत्रों को राज्य दे देना चाहिये था। यह न करके उन्होंने उनके अनाथ बच्चों को, विधवा पत्नी को घर से निकाल दिया। वे आश्रय हीन होकर चिरकाल तक भीख माँगकर निर्वाह करते हुए इधर-उधर भटकते फिरे। एक अपने छोटे भाई के पुत्रों के साथ उनका ऐसा व्यवहार, एक तो भी उनका भाई था। सदा उनके कल्याण में ही लगा रहता था। उत्तम से उत्तम सम्मति उन्हें देता रहता था, सो मेरा भी तिरस्कार करके मुझे घर से निकाल दिया। मुझे अपराधी की भाँति देश निकाला दे दिया।

आप यह न समझें कि इस अपमान से दुःखी होकर मैं उनकी बुराई कर रहा हूँ। जीव की क्या सामर्थ्य है, कि वह दूसरे को दुख-सुख दे सके। यह सब तो उन लीलाधारी की लीला है, नटवर की कलाबाजी है, अन्तर्यामी की प्रेरणा है। उन्हें जिससे जब जो कराना होता है, उसकी तब तैसी ही बुद्धि बना देते हैं। उसे वैसी ही बात सुझा देते हैं। वे स्वयं अजन्मा होकर जन्म लेते से दिखाई देते हैं। पुरुषोत्तम होते हुए भी साधारण मानवोचित लीला करते हुए से दीखते हैं। मेरे ऊपर तो उन्होंने कृपा ही की। वे अन्यायी लोग मेरा स्वागत सत्कार करते, तो सम्भव है मैं जीवन भर उनके ही यहाँ फँसा रहता। उनके अन्यायों का भी; अनिच्छा पूर्वक ही सही समर्थन करना पड़ता। जगदाधार श्यामसुन्दर ने बड़ी अनुकम्पा की। उनकी

बुद्धि ऐसी बना दी। अब मैं उन महामहिम की अद्भुत महिमा का अवलोकन करता हुआ, उन्हीं की कृपा से दूसरों की दृष्टि से अलग रह कर, आनन्दपूर्वक तीर्थों में भ्रमण करता-फिरता हूँ। भगवद् धामों में आनन्द लेता फिरता हूँ।

उद्धवजी! मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है, कि जो निग्रह अनुग्रह करने में सर्व समर्थ हैं, उन प्रभु ने कौरवों को इतना क्यों कर दिया? उन्होंने इतने-इतने बली और मद में मत्त हुए महीपों को मृत्यु का द्वार दिखा दिया, बहुतों को स्वयं दिया, बहुतों को दूसरों से मरवा दिया, अपने भक्त पांडवों साथ इतना अपराध करने पर भी उन्होंने कौरवों को स्वयं मारा। उनके अत्याचारों को देखते रहे, जब उनके पापों घड़ा भर गया, अन्याय पराकाष्ठा पर पहुँच गया, दुष्टता स को पार कर गई, तो सबको एक साथ ही उसी प्रकार दिया, जैसे चैत्र और कार्तिक में पके हुए खेतों को कटवा लेता है।

भगवान् को जन्म लेने की क्या आवश्यकता है? वे अजन्मा हैं, कर्मों से पृथक् हैं। वे अपनी इच्छा से का परित्राण करने के लिये, दुष्कृतियों का नाश करने के लिये, धर्म की संस्थापना करने के लिये युग-युग में नाना अवतारों को धारण करके, उन-उन योनियों की सी क्रीड़ायें करते हैं। कभी-कभी उनसे विलक्षण लोकोत्तर प्रभाव भी दिखाते हैं। उनके अवतार के धर्म रक्षण और अधर्मियों का विनाश ये तो गौण कार्य हैं' वास्तव में तो वे भक्तों को सुख देने के ही निमित्त इस अवनि पर शरीर धारण करते हैं। कर्म बन्धनों के अधीन होकर तो भक्त भी जन्म नहीं लेते, फिर भगवान् की तो बात

सरी ही है। भगवान् मानवीय तन में प्रकट होकर कर्णों को
ख देने वाली, हृदय में अमृत रस का संचार करने वाली
समय लीलायें करते हैं। अतः उद्धवजी! और बातें तो मैंने
से ही शिष्टाचार के वशीभूत होकर पूछ लीं। अब यथार्थ
त तो यह है, मेरे पूछने का मुख्य हेतु यह है, कि जो अपनी
रण में आये भक्तों का समस्त इन्द्रादि लोकपालों का और
पने सेवकों का प्रिय करने के निमित्त ही यदुकुल में अवतीर्ण
ए हैं, उन परमकीर्ति अजन्मा भगवान् वासुदेव की बातें
नाइये।'

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! इतना
हकर विदुरजी चुप हो गये और वे एकटक उद्धवजी के श्री
ख की ओर निहारने लगे।"

छप्पय

पांडव प्रभु के भक्त सबनि की कुशल सुनाओ।
अंध-बन्धु धृतराष्ट्र करें का सब समुझाओ॥
करिकें दर्शन यादि आपके आये सबई।
स्मृति पट पै खिंचे चित्र जीवित से अबई॥
अथवा छोड़ो सबनि कूँ, चर्चा हरि ही की करो।
तृषित हृदय की शांति हित, कर्णनि हरि गुनतें भरो॥

विदुरजी के प्रश्न से उद्धवजी को भाव समाधि

(१०७)

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः ।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसंप्लुतः ॥
शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन् ॥*

(श्री भा० ३ स्का० २ अ० ५, ६ श्लो०

छप्पय

सुनि उद्धव हरिनाम देह की सुधि बिसराई ।
नाम धाम तें रूप यादि लीला ह्वै आई ॥
गद्गद् बानी भई रूप सागर महँ न्हाये ।
रोमाञ्चित वपु भयो देह बन्धन सब आये ॥
भूले या संसार कूँ, नयन मूँदि तन्मय भये ।
नित्य धाम वृन्दाविपिन, ध्यान धरत मन तें गये ॥

कुछ शंकायें तो अपनी निजी होती हैं, उन्हें प्रायः मुमुक्षु पुरुष गुरुजनों के सन्मुख श्रद्धा सहित निवेदन करते हैं और गुरुजन उनका यथोचित उत्तर देकर शास्त्रीय पद्धति से समाधान

---

*विदुरजी के श्रीकृष्ण सम्बन्धी प्रश्न पूछने पर उद्धवजी के सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो गये। ध्यान के कारण उनके नेत्र बन्द थे,

करते हैं। कुछ प्रश्न पञ्चायती होते हैं। पूछने वाले को वास्तव में वह शंका होती नहीं; किन्तु सर्व साधारण को वह शंका होती है, किन्तु सभी अपनी शंका को विधि पूर्वक व्यक्त नहीं कर सकते। हृदयगत भावों को यथावत् प्रकट कर देना, यह भी एक कला है और वह किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होती है। कोई हमारे मनोगत भावों को समझ कर व्यक्त कर देता है, और यदि वे गोपनीय भाव न हों, तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है और कह देते हैं, 'अजी, यही तो मुझे शंका थी। आपने मानों मेरे मन की बात ही कह दी।' महर्षि शौनक और महाराज परीक्षित् दोनों ही सिद्ध पुरुष हैं। दोनों ने ही बाल्यकाल से—अनेक जन्मों से—भगवद् भक्ति करते-करते यह दशा प्राप्त की है। वे जो भी प्रश्न करते हैं, वह अपने लिये नहीं, संसार के हित के लिये। अपने उपकार के निमित्त नहीं; लोकोपकार की दृष्टि से पूछते हैं। उन्हें स्वयं कोई शंका नहीं, किन्तु वे संसारी लोगों का प्रतिनिधित्व करके पूछते हैं, वे हम सब संसारी लोगों के भाव व्यक्त करने वाले हैं। शंकायें पहिले कभी उन्हें रही होंगी, इसलिये वे शंका करना भी जानते हैं कि कौन सी कहाँ करनी चाहिये।

अनेक जन्मों से साधन करते-करते भक्त की ऐसी दशा हो जाती है, कि उन्हें कोई इधर-उधर की बात प्रिय ही नहीं लगती,

---

अतः उनमें से प्रेमाश्रु बहने लगे। उद्धवजी को इस प्रकार प्रेम प्रवाह में डूबे हुए देखकर। विदुरजी समझ गये, कि ये महाभाग कृतार्थ हो चुके हैं। कुछ देर के अनन्तर उद्धवजी अपने मन को धीरे-धीरे भगवद् लोक से मनुष्य लोक में ले आये। उन्होंने अपने बहते हुए आँसुओं को पीताम्बर से पोंछा, फिर बड़े विस्मय के सहित विदुरजी से बोले।

वे श्री कृष्ण कथा के व्यसनी बन जाते हैं, उनके रोम-रोम में भगवत् चर्चा सुनने का रोग उत्पन्न हो जाता है, जैसे कामी पुरुषों को कामिनी की कथा के अतिरिक्त कोई कथा प्रतीत ही नहीं होती। जैसे व्यसनी को अपने व्यसन के अतिरिक्त अन्य वार्ता अच्छी नहीं लगती वैसे ही भगवत् भक्तों को या तो भगवान् की कथा प्रिय होती है या भागवतों की। विदुर जी जब उद्धवजी से यदुवंश के छोटे-बड़े, बहू, पतोहू, बाल-गोपाल सभी की कुशल पूछी, तो महाराज परीक्षित् को सन्देह हुआ और वे बोले—"प्रभो! महाभागवत विदुरजी ने ये कैसे प्रश्न कर डाले, कि उसकी कुशल बताओ, उसके समाचार बताओ, उसकी राजी खुशी कहो। एक भगवान् के सम्बन्ध में पूछ लेते। सभी पैर हाथी के पैर के भीतर समा जाते हैं। भगवान् की कुशल पूछली—मानों सब की पूछली। यह उन्होंने किया नहीं, सब के नाम गिना डाले। यह क्या बात है इसका कारण बताइये।"

यह सुन कर श्रीशुक हँसे और बोले—"राजन! यह प्रश्न आपके अनुरूप ही है। विदुरजी के इतने प्रश्नों के अनेक कारण हैं। पहिला तो यही की भागवत लोग भगवान् से भी बढ़कर भक्तों को मानते हैं। भक्तों द्वारा ही तो भगवान् मिलते हैं, बिना उनके अनुचरों की पूजा किये प्रभु के पास प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसलिये विदुरजी ने विस्तार से भगवान के शरणागतों की कुशल पूछी। दूसरी बात यह है कि बात चलाने का प्रकार भी इसी भाँति होता है, सर्व प्रथम तो उन्होंने भगवान् और बलदेवजी की कुशल पूछी। बिना सोचे समझे उनके मुख से यह बात स्वभावानुसार निकल गई।

क्योंकि उनके इष्ट ही भगवान् वासुदेव थे; फिर उन्हें ध्यान आया, कि अरे, मैं तो शिष्टाचार का उल्लंघन कर गया। पहिले बाप की कुशल पूछी जाती है; तब बेटे की इसीलिये उस प्रश्न को अधूरा सा ही छोड़ कर झट से पूछ बैठे—'वासुदेवजी तो अच्छे हैं?' फिर उसी प्रसङ्ग में जिस जिसका नाम याद आता गया पूछते गये। फिर पांडवों की पूछी, धृतराष्ट्र की पूछी, पुरानी बातें याद आईं। तब वे सम्हले और सोचने लगे—अरे, मैं यह क्या गोरखधंधा पूछने लगा। मुझे इन कौरव और धृतराष्ट्र से क्या लेना? इसलिये उन्होंने अन्त में इस पर बल दिया—उद्धवजी! और सब की चर्चा छोड़ो। तुम तीर्थकीर्ति श्यामसुन्दर की बातें सुनाओ।'

एक बात और भी रस वृद्धि के लिये पहिले इधर-उधर की बातें कह कर; तब मुख्य बात कहने से उस रस की वृद्धि होती है। श्रोता वक्ता दोनों की ही उत्कंठा होती है। उद्धवजी विदुरजी के बालसखा थे वे उद्धवजी का स्वभाव जानते थे, कि अकस्मात् मैंने भगवान् का ही प्रश्न कर दिया, तो उद्धवजी को भाव समाधि हो जायगी। इसलिये पहिले इधर-उधर की बातें कह कर उनकी कृष्ण में समाहित हुई वृत्ति को बिखेर दें। तब भगवान् का प्रश्न करेंगे, जिससे एक साथ वे भाव-सागर में निमग्न न होने पावेंगे, किन्तु उद्धवजी ने तो वे सब नाम सुने ही नहीं। उन्होंने तो बस, अन्तिम एक ही शब्द सुना, 'हे सखे तीर्थकीर्ति भगवान् की बातें कहो।' जो भय विदुरजी को हो रहा था, वही हुआ। भगवान् का नाम सुनते ही उनके धाम रूप और लीलाओं का एक साथ ही स्मरण हो आया। उत्कंठा बस उन्हें वहीं अन्तिम लीला 'स्वधाम-गमन' स्मरण हो उठी। उसके स्मरण मात्र से वे

विह्वल हो गये, उनका गला भर आया, स्वर गद्गद् हो गया, प्रयत्न करने पर भी कुछ न बोल सके! विदुरजी के इतने प्रश्नों में से एक का भी उत्तर न दे सके।"

इस पर श्रीपरीक्षित्जी ने श्रीशुक मुनि से पूछा—"प्रभो! यह तो प्रेम की पराकाष्ठा हो गई। उद्धवजी का प्रेम तो अद्भुत निकला। इतना विलक्षण प्रेम, कि नाम श्रवण मात्र से समाधि लग गई? प्रश्न सुन कर दो चार भगवान् की लीलाओं का वर्णन करते। सब के कुशल समाचार बताते। कथा प्रसङ्ग में प्रेमवश मूर्छा तो प्रायः ऊँचे भक्तों को होती हुई देखी गई है किन्तु केवल नाम स्मरण से ऐसी दशा तो आप उद्धवजी की बता रहे हैं। किस साधन द्वारा उन्हें यह दशा प्राप्त हुई।"

यह सुनकर श्रीशुक मुस्कराये और बोले—"राजन्! प्रेम कुछ सौदा तो है नहीं कि पैसा फेंका और तुरन्त खरीद लाये। यह तो जब भगवत् कृपा हो, अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए संयोगवश जीव भगवान् की ओर उन्हीं की प्रेरणा से बढ़े और उन्हीं में मन लगाकर उन्हीं की परिचर्या में अपना सब समय व्यतीत करे, तभी उसे ऐसे उत्कट प्रेम की उपलब्धि होती है। जो भगवज्जन हैं, भगवान ने जिन्हें अपना कह कर वरण कर लिया है, वे जन्म लेते ही पूर्व जन्मों के संस्कारों के अनुसार भगवत् पूजन में लग जाते हैं। गो बच्चा पैदा होते ही माँ की पूँछ को क्यों नहीं पीने लगता? पास में पड़ी चीजों को क्यों नहीं खाता, स्तन की ही ओर क्यों झटपता है? किस महा विद्यालय के महा अध्यापक ने उसे शिक्षा दी, कि इन स्तनों में दूध बनता है, यों हुड्डमार कर उसे पीना होता है। किसी के न सिखाने पर जैसे वह पूर्व जन्मों के संस्कार वश,

स्तनों को ही पीने लगता है, उसी प्रकार अनेक जन्मों में भक्ति करने वाले भागवत जन बाल्यकाल से वही खेल खेलने लगते हैं। भगवान् के सुमधुर नामों के उच्चारण से ही वे बोलना आरम्भ करते हैं। बच्चों के साथ भी वही गोपालजी का ही खेल खेलेंगे। ईंट, पत्थर जो भी मिल जायँ, उन्हीं में गोपालजी की ही भावना से पूजा प्रारम्भ कर देंगे। अम्मा दूध दुहने जाय, तो उसके पीछे छोटी घण्टी लेकर जाते हैं, 'अम्मा ! मेरे गोपालजी को दूध निकाल दे।' बच्चे का विनोद समझ कर माँ निकाल देती है। भक्त बालक उसे ले जाते हैं। इधर उधर से फूल तोड़ लाते हैं, कोई जंगली फल मिला तो उसे भी पेड़ पर चढ़ कर ले आते हैं। हरे-हरे चौड़े पत्ते बच्चों की सहायता से ले आते हैं। पत्तों को बिछाकर उस पर अपने गोपालजी को पधारते हैं। माँ से पीतल के छोटे बर्तन मँगा दिये तो उनसे, नहीं तो मिट्टी के ही पूजा पात्र बना लेते हैं। गोपाल को ही भोग लगाना, उन्हीं से खेलना, उन्हें ही लाड़ लड़ना यही उनका दैनिक व्यापार रहता है। राजन् ! आप तो सब जानते हैं, आप भी तो जब छोटे थे, तब ऐसे ही खेल खेला करते थे। यही भगवत् पूजा साधन रूपी खेल आज आपके लिये सत्य हो गया। वही साधन बाल्यकाल से उद्धवजी ने किया था।

महाराज ! उद्धवजी के विषय में मैंने अपने पिताजी से सुना है, जब वे पाँच वर्ष के ही थे, तो बच्चों को लेकर भगवान् की ही सुमधुर लीलाओं का अनुकरण करते, उन्हीं का गान करते, उन्हीं के नाम का संकीर्तन करते, उन्हीं की पूजा करते, धूप, दीप नैवेद्य से उन्हीं की आराधना करते। खेल-खेल में मिट्टी का मन्दिर बना कर मनमोहन की मधुर मूर्ति स्थापित करते। प्रातःकाल तड़के ही उठ जाते और यमुना पुलिन में चले

जाते। दिन चढ़ जाता, माँ चिन्तित होती—बच्चे ने अभी तक कलेवा भी नहीं किया है। ढूँढती हुई आती और प्रेम कोप से कहती—'अरे ऊधो! भैया, तू तो खेल में ऐसा मग्न हो जाता है, कि खाना पीना सभी भूल जाता है। देख तो सही, कितना दिन चढ़ गया है, सब लड़के दो दो बार खा पी चुके, तैंने अभी कलेवा भी नहीं किया है। बेटा! ऐसा खेल अच्छा नहीं। चल, थोड़ा खा पी ले, तब आकर खेलना। दिन भर पड़ता है।'

माता के ऐसे प्रेम भरे वचन सुन कर भी उद्धवजी अपनी पूजा को अधूरी छोड़ कर जाने को राजी न होते। वे माता से कह देते—'मा! तू चल! मैं अभी आता हूँ। देख, तुझसे पहिले घर पहुँचूंगा।'

माँ डाट कर कहती—'तू यहाँ ऐसी कौन सी कमाई कर रहा है? तेरे पास कौन सा विमान है, कि मुझसे पहले पहुँच जायगा।

तब उद्धवजी कहते—'माँ! देख, अभी मैंने अपने गोपाल जी को भोग नहीं लगाया। चार लड्डुआ दे दे, उनका भोग लगा के प्रसाद बाँट कर तब आऊँगा। मा तो सब जानती थी अंचल में बंधे लड्डू निकालकर देती और कहती—'जल्दी से भोग लगा ले—और चल!"

उद्धवजी पलाश के पत्तों पर लड्डू रख कर गोपालजी के सामने रखते। अपने डुपट्टा का परदा करते और आँख मूंद कर भोग लगाते। उनकी माँ पास में खड़ी-खड़ी मन ही मन बड़ी सिहाती। देखो, मेरे बच्चे के बाल्यकाल से ही कैसे शुभ संस्कार हैं। जब भोग लग जाता प्रसाद बाँट देते, तब माता के बहुत कहने पर जाते। ऐसी दशा बाल्यकाल से ही उद्धवजी की

थी। यही सब करते-करते उन्हें साक्षात् श्यामसुन्दर की प्राप्ति हो गई। पहिले जो पूजा प्रतिमा में करते थे वह प्रत्यक्ष करने लगे। पहिले जो खेल था, वह अब कर्तव्य बन गया। वे भगवान् वासुदेव के कंठ के बहुमूल्य हार बन गये। ऊधो जी जहाँ श्याम-सुन्दर को बिठावें वहाँ बैठते जहाँ उठावें उठते। छाया की तरह उद्धवजी भगवान् के साथ रहते। उनकी न कहीं रोक थी न टोक। महलों के भीतर दनदनाते हुए घुस जाते। उनसे न रानियां परदा करतीं न भगवान् ही संकोच करते। पलंग पर प्रिया के साथ श्यामसुन्दर बैठे हैं। उद्धवजी बिना संकोच सेवा में उपस्थित हैं। वे श्यामसुन्दर के बाहरी प्राण थे। कोई भी छोटी से छोटी बड़ी से बड़ी बात होती भगवान अबोध बच्चों की तरह पूछते—'उद्धव! इस विषय में हमें क्या करना चाहिए?' तब ये भी हाथ जोड़ कर बिना संकोच कह देते—'प्रभो! इस अवसर पर यह करना उचित है।' भगवान् वही करते।

इस प्रकार सेवा करते करते अब उद्धवजी बूढ़े हो गये हैं। उनकी सौ वर्ष से भी अधिक आयु हो चुकी है। श्यामसुन्दर स्वधाम को पधार चुके हैं, उन्हीं के शोक से सन्तप्त हुए कस्तूरी के मृग की भांति वे इधर उधर घूम रहे हैं। आज अपने बालसखा विदुरजी को एकान्त में वृन्दावन के यमुना पुलिन में पाकर प्रसन्नता का अनुभव करने लगे हैं। मानों श्यामसुन्दर ही मिल गये। किन्तु जब विदुरजी ने कहा—'भगवान् वासुदेव की बातें सुनाओ'! तब तो उन्हें वही लीला

स्मरण हो आई। वे कुछ कहना चाहते थे, गला भर आया, वे कुछ कह न सके। बोलना चाहते थे वाणी रुद्ध हो गई। अपने स्वामी के चरणकमलों की स्मृति हो आने के कारण प्रेम में इतने आकुल हो गये, कि उत्तर देना उनके लिये अशक्य हो गया। उनकी वृत्ति एक साथ ऊपर चढ़ गई, वे तीव्र भक्ति योग के कारण श्रीकृष्ण-स्मृति रूप अमृत सिन्धु में निमग्न होकर आत्म-विस्मृत हो गये। उन्हे शरीर की सुधि नहीं रही। उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो गये। झरबेरिया के बेरों के समान उनके रोम-रोम में फफोले से पड़ गये। शरीर के समस्त रोम सेह के काटों की भाँति शरीर पर खड़े हो गये। दोनों नेत्र उसी प्रकार मुँद गये जिस प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने से कमल मुँद जाता है। उनमें अश्रु बिन्दु उसी प्रकार झरने लगे, जिस प्रकार जमा हुआ पाला कमल के कोश से पिघल कर बहने लगता है। वे पाषण की प्रतिमा की तरह निश्चेष्ट होकर भगवान् के ध्यान में मग्न होकर इस लोक को भूल गये। उनका मन भगवत् लोक में भगवान् का साक्षात्कार करने लगा।

उनकी ऐसी प्रेम दशा को देख कर विदुरजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा—'वे सोचने लगे, अहा ? ये उद्धवजी ही धन्य हैं। इनकी सेवा सफल हो गई। इनका साधन साध्य मिल गया, इन्हें अपनी क्रिया का फल प्राप्त हो चुका—ये कृत्य-कृत्य हो चुके, इन्होंने मनुष्य शरीर धारण करने का फल पा लिया।

अब क्या करें ? विदुरजी को तो श्रीकृष्ण कथा की चटपटी पड़ी थी। वे समाधि से श्रीकृष्ण-कथा को श्रेष्ठ समझते थे। रस के लम्पट विदुरजी उद्धवजी के कमल रूपी मुख से निकले मधु को पीकर मत्त होना चाहते थे। अतः उन्होंने उनके कान में कमनीय श्रीकृष्ण नाम उच्चारण करना आरम्भ कर किया। वे बार-बार उनके श्रोत्रों के समीप 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।' इन मधुर नामों का कीर्तन करने लगे। इस से धीरे-धीरे वे भगवत् लोक से मर्त्यलोक की ओर आने लगे। उनकी चित्तवृत्ति मानव संसार की ओर लौटने लगी। उन्हें कुछ-कुछ देहानुसंधान होने लगा। सामने कल-कल करती हुई कालिन्दी दिखाई दी। व्रज की वे झूमती हुई झुकी ललित लतायें दृष्टिगोचर हुईं। सामने बैठे हुए विदुरजी भी दिखाई देने लगे। इस प्रकार वे बहते हुए आँसुओं को अपने पीताम्बर से पोंछ कर, विदुरजी से कुछ कहने को प्रस्तुत हुए।

श्रीशुक महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् का प्रश्न करते ही उद्धवजी की दशमी दशा के समान दशा हो गई। उच्च भक्तों की ऐसी ही दशा होती है। अब जिस प्रकार उद्धव और विदुर सम्वाद हुआ, उसे मैं आगे आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। अब आप सम्हल जाइये, दो परम भागवतों का सम्वाद है, जिसमें से श्रीकृष्ण रस रूपी सरिता का प्राकट्य होगा।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं "मुनियों ! इतना कह कर मेरे गुरुदेव भी थोड़ी देर के लिये विदुर और उद्धवजी के प्रेम की स्मृति आते ही मौन हो गये।"

छप्पय

उद्धव देखे विकल विदुर पहिले घबराये।
प्रेम दशा पहिचानि कान महँ नाम सुनाये॥
देखी दशवीं दशा बहुत मन महँ हरषावें।
जानि कृतारथ कृष्ण-कृष्ण कहि चेत करावें॥
मङ्गलमय मधुमय मधुर, मन मोहन के नाम सुनि।
शनैः शनैः सम्हले सखा, पात श्रवन महँ मधुर धुनि॥

श्रीकृष्ण कथा का उपक्रम

[१०८]

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

बोले उद्धव सम्हरि धरी सिर रज ब्रज थल की।
बन्धु विदुर! अब कहूँ कुशल कैसे यदुकुल की॥
भाग्यहीन यह लोक अधिक यदुवंशी तामें।
पहिचाने प्रभु नहीं भये परगट कुल जामें॥
अजी, कुशल अब कहाँ वह, यादवेन्द्र के सँग गई।
समृधिशालिनी श्री सहित, द्वारावति विधवा भई॥

जल में सर्वथा ही डूबा हुआ पुरुष दूसरे को जल-क्रीड़ा का सुख नहीं अनुभव करा सकता और जिसने जल का स्पर्श भी नहीं किया है, वह भी केवल वाणी से वहाँ का सुख दूसरे

---

* उद्धवजी विदुरजी से कह रहे हैं--"गगन चूड़ामणि भगवन् भुवन भास्कर रूप श्रीकृष्ण के अस्त हो जाने पर; श्रीहीन और काल-

को अनुभव नहीं करा सकता। उस दिव्य शीतल सुख का अनुभव कराने में वही समर्थ हो सकता है, जो डूबना तो जानता है, किन्तु डूब कर उछल भी आता है, कटि तक तो जल में खड़ा रहे और आधा बाहर निकला रहे, जिसमें अपने को भी साधे रहने की सामर्थ्य हो और दूसरे को भी सम्हाले रह सके। जो डूबना ही नहीं जानता, जल के बाहर खड़ा रह कर अनुमान से युक्ति बताता है, वह वाचक है। उसका ज्ञान शाब्दिक ज्ञान है, वह अनुभव शून्य है, स्वयं जिस सुख का आस्वादन नहीं किया, उसे दूसरे को कैसे करा सकता है?

जो लोग प्रेम में इतने विह्वल हो जाते हैं, कि उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती, वे अपने भावों द्वारा लोगों पर प्रभाव भले ही डालें, किन्तु उनके द्वारा कोई शारीरिक उपकार, बाह्य साधन नहीं हो सकता। जिन्होंने प्रेम का रास देखा ही नहीं, केवल इधर उधर की पुस्तकें पढ़ सुनकर—'का की ईंट कहीं का रोड़ा' जोड़कर व्यर्थकी बकवाद करते रहते हैं उन्हें कुछ आर्थिक लाभ भले ही हो जाय, किन्तु उनसे किसी का पारमार्थिक उपकार नहीं हो सकता। जो प्रेम जगत् में जाकर भी आधी वृत्ति को लौटा लाये हैं, उन मध्य के लोगों से ही लोकोपकार होता है। वे देखते तो दिव्य लोक की लीलाओं

रूपी भुजंग से ग्रसे जाने पर; अब मैं यदुवंशियों की क्या कुशल कहूँ! विदुरजी! यह संसार बड़ा अभागा है, इस संसार में भी ये यदुवंशी तो नितान्त ही भाग्यहीन निकले, जिन्होंने निरन्तर समीप रहने पर भी भगवान् का यथार्थ रूप नहीं पहिचाना। जैसे समुद्र में रहते समय मछलियों ने चन्द्रमा को भी एक साधारण जीव ही समझा था।"

को हैं, किन्तु उनका वर्णन करते हैं लौकिक भाषा में। उसका मन तो फँसा है वहाँ की छटा में, किन्तु लिखते हैं प्राकृतिक साधनों से। यों उनकी वृत्ति तो ऊँची उठी हुई हैं, किन्तु उसे लगाते हैं सांसारिक व्यवहारों के साथ। इस प्रकार वे प्राकृतिक और अप्राकृतिक के मध्यस्थ होकर वहाँ से दिव्य सुख को इस मरण शील संसार में—इस अधूरी लौकिक भाषा में—स्थापित करते हैं। उसी का नाम है 'समाधि भाषा' श्रीमद्भागवत समाधि भाषा में ही लिखी गई है।

उद्धवजी श्रीकृष्ण की स्मृति होते ही दिव्य लोक में चले गये। आनन्दरस सिन्धु में डूब गये। श्रीकृष्ण चरणारविन्द मकरंद के मादक मधु का पान करके मदमत्त हो गये। उन्हें बाहरी जगत् का भान न हुआ। पर निरन्तर के नाम संकीर्तन श्रवण से उनकी वृत्ति कुछ-कुछ नीचे उतरी। प्रेम का नशा कुछ कम हुआ। सर्वथा उतर गया हो, सो बात नहीं और बिलकुल ऐसे छके भी नहीं थे, कि कुछ कह ही न सकें। मध्य अवस्था में आ गये। विदुरजी ने जिन-जिनके नाम लेकर कुशल पूछी थी उनकी ओर तो ध्यान ही नहीं दिया। जैसे शिष्टाचार से विदुर-जी ने पूछा था, वैसे ही वे भी उन बातों को अनसुनी कर गये। उनके कानों में वही अन्तिम शब्द गूंज रहा था 'वार्ता सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः' उन तीर्थकीर्ति भगवान् वासुदेव की बातें सुनाओ। वे उसी बात को सुनाने का उपक्रम बाँधने लगे। जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रकान्त मणि पिघलने लगती है, जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर समुद्र के हृदय में हिलोरें उठने लगती हैं, जैसे अत्यंत रूपवान् पुरुष को देखकर असती कामिनियों का चित्त द्रवित होने लगता है, जैसे मनोनुकूल सुगंधित मधुर पदार्थों को देखकर जिह्वा लोलुप पुरुष की जीभ

में से पानी निकलने लगता है, जैसे कमनीय कामिनी के कटाक्षों से कामी पुरुषों के चित्त में अधीरता होने लगती है, जैसे अत्यन्त प्रिय शिशु को देखकर माताओं के स्तनों से स्वतः ही दूध बहने लगता है, उसी प्रकार योग्य अधिकारी श्रोता को देखकर श्रीकृष्ण-कथा के रसिक भावुक वक्ता की वाक् धारा अपने आप बहने लगती है। इसीलिये श्रीकृष्ण-कथा के पूछने पर उद्धवजी ने कहना आरम्भ किया। कथा के दो भाग होते हैं, एक तो कथा भाग, एक पूर्व-रंग या उपक्रम। कथा कहने के लिये मुखबन्ध बाँधने को ही उपक्रम या प्रस्तावना कहते हैं। विदुरजी ने भी अपने प्रश्न की प्रास्तवना कुशल प्रश्न से ही की। उनका मुख्य प्रश्न तो था—भगवान् की बात सुनाइये। इसी की भूमिका के लिये—बात चलाने के निमित्त, उन्होंने इतने लोगों की कुशल पूछने के अनन्तर अपना असली अभिप्राय प्रकट किया। उद्धवजी तो परम भागवत ठहरे। वे समझ गये—विदुरजी का अभिप्राय श्रीकृष्ण-कथा से है कुशल प्रश्न तो एक प्रासंगिक शिष्टाचार है। यही सब समझ कर श्रीकृष्ण-कथा का उपक्रम बाँधते हुए बोले।

अत्यन्त निराश के स्वर में उद्धवजी कहने लगे—"विदुर-जी! क्या आप कुशल पूछ रहे हैं? किसकी कुशल पूछते हैं? यदु-कुल की या संसार की? कुशल तो प्रकाश में होती है। अन्धकार में तो चारों ओर भय ही भय है। सूर्य के अस्त हो जाने पर तम से आवृत्त साँय-साँय करती हुई भयंकर निशा आ जाती है। अन्धकार में कुशल कहाँ? भुवन भास्कर रूपी भगवान् के प्रस्थान कर जाने पर अब कैसी कुशल? अब तो सर्वत्र अकुशल ही अकुशल है। जो द्वारावती परम पुण्य-वती और स्वर्गादि लोकों को भी तिरस्कृत करने वाली कही

जाती थी, आज अपने स्वामी द्वारकाधीश के बिना वह श्रीहीन विधवा हो गई। उसकी माँग का सिंदूर पुँछ गया, उसका अतुल वैभव नष्ट हो गया, उसकी अलकावली कट गई, चूड़ी बिछुओं से हीन वह शोभा और शृङ्गार से रहित अप्रिय दर्शन बन गई।

यदि आप सम्पूर्ण संसार की कुशल पूछते हैं, तो यह संसार अभागा है। यथार्थ में यह दुःख शोक का आलय है। जैसा पहिले था, वैसा ही हो गया। स्वभाव को कौन मेंट सकता है। कुत्ते की पूंछ को कोई अपने प्रभाव से सीधी करता रहेगा, जहाँ वह प्रभावशाली हटा कि फिर टेढ़ी की टेढ़ी। दुःख, शोक, आपत्ति, विपत्ति, चिन्ता, ग्लानि, भय, आधि-व्याधि से भरे इस संसार में शान्ति कहाँ, सुख कहाँ? इस मेद से बनी अशुद्ध मेदिनी में पवित्रता कहाँ, इसकी उत्पत्ति ही अशुद्ध मेद से हुई है। सो, वह मेद भी किसी भले आदमी का नहीं। क्रूरकर्मा मधु कैटभ नामक राक्षसों की चर्बी से इसकी रचना हुई है। इसमें पावनता कहाँ रह सकती है? हाँ, जब इस पर परम पावन प्रभु के पुनीत पाद-पद्म पड़ते हैं, तब यह पवित्र से भी पवित्र बन जाती है जहाँ उन जगद्-वन्द्य चरण कमलों का धोवन बहने लगता है, वही स्थान सब को पवित्र बनाने वाला तीर्थ बन जाता है। इस शोक पूर्ण संसार को प्रभु ही अपनी पद-रज से पूत बनाते हैं। वे स्वयं अकेले ही नहीं पधारते। अपने परिकर, परिवार, धाम और आयुधों सहित अवतरित होते हैं। यह पृथ्वी इसीलिए बड़भागिनी मानी जाती है, कि इस पर प्राकृत गुणों से रहित श्रीवृन्दावन धाम है। जब भगवान् अपनी प्रकट लीला में पधारते हैं, तब पृथ्वी श्रीसम्पन्न हो जाती है, वह परम भाग्यशालिनी बन जाती है। जब वे अपनी

लीला को संवरण कर लेते हैं, तब यह सम्पूर्ण लोक अदृश्य दर्शन हो जाता है। भगवान् जिस जीव की ओर कृपा कर देख दें या जीव ही उन्हें स्नेह भरी दृष्टि से देख ले, तब वह कृतार्थ हो जाता है। विदुरजी! औरों की बात छोड़िये, जिस यदुवंश में देवकीनन्दन अवतीर्ण हुए उस कुलवालों ने—सदा साथ रहने पर भी—उन्हें नहीं पहिचाना। ये यादवगण कितने अभागे हैं, कितने मन्द बुद्धि हैं, कि समीप रहने पर भी उनके स्वरूप से वञ्चित रहे?

इस पर विदुरजी ने पूछा—"उद्धवजी! आप यह कैसी बात कह रहे हैं? भगवान् को वैसे कोई न भी जाने, किन्तु जब वे पृथ्वी का भार उतारने के लिए स्वयं साक्षात् सगुण रूप अवतीर्ण हुए, तब उनके प्रभाव को देख कर तो सब समझ गये होंगे, उनके लोकोत्तर कार्यों से तो उनकी भगवत्ता प्रकट हो ही गई होगी?"

यह सुनकर उद्धवजी बोले—"विदुरजी! यही तो भगवान् का माया है। इतना प्रभाव, इतना ऐश्वर्य प्रकट करने पर भी यादवों ने समझा, यह भी हमारी ही भाँति एक यदुवंशी हैं। एक उदर में से उत्पन्न होने पर भी सबके भाग्य अलग-अलग होते हैं, कोई प्रभावशाली होता है कोई प्रभाव हीन, कोई शक्तिशाली होता है कोई निर्बल, कोई प्रकाशवान होता है कोई प्रकाशहीन। ये हमसे कुछ अधिक बलवान् हैं, अधिक शक्तिशाली हैं। बस, इतना ही अन्तर है। जिस प्रकार हिमालय पर उत्पन्न होने वाली लताओं ने पार्वती को भी अपने समान ही अपनी बहिन माना, जैसे पृथ्वी से उत्पन्न दूब ने सीताजी को भी अपनी

ही सहेली समझा। जैसे देह से उत्पन्न जुँओं ने गणेशजी को भी एक बड़ा जुँआ ही माना, जैसे अरण्य के कमल आदि पुष्पों ने स्वामी कार्तिकेय को भी अपनी जाति का ही माना, जैसे समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा को उसमें रहने वाले जल-जन्तुओं ने—अमृत-मय न समझ कर—अपने ही सदृश जल-जन्तु माना। वैसे ही यादव भी उन्हें कोई अपना भाई, कोई पिता, कोई पितामह, कोई पितृव्य और कोई पुत्र कह कर पुकारते थे। उनके यथार्थ रूप को किसी ने न समझा।"

इस पर विदुरजी ने पूछा 'उद्धवजी! क्या यदुवंशी विवेकहीन थे? वे भाव को ग्रहण करने में समर्थ नहीं थे क्या? इतने दिन समीप रहने पर भी वे भगवान् के अतुल भावपूर्ण पराक्रम से अपरिचित ही क्यों रहे?'

दुखित मन से उद्धवजी बोले—"अब विदुरजी! इसका क्या उत्तर दूँ? यही कह कर सन्तोष करना पड़ता है, कि भगवान् उन्हें अपना यथार्थ रूप दिखाना नहीं चाहते थे। उन्होंने अपनी योग-माया का ऐसा पर्दा सबके हृदयों पर डाल दिया था, कि सभी उन्हें एक यशस्वी, पराक्रमी, श्रेष्ठ यादव ही मानते थे। यही समझ कर वे उनका आदर करते थे वैसे वे सब भगवान् के संकेत समझते थे, सभी बड़े बुद्धिमान् थे, सभी श्रद्धा सहित उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे, किन्तु भगवत् बुद्धि रखकर नहीं। कैसे भी करें कल्याण तो उनका होगा ही। जान में, अनजान में,

कैसे भी अमृत पीओ, अमर तो हो ही जाओगे, किन्तु अज्ञ
जान में रसास्वादन से वञ्चित रह जाते हैं। इसीलिये भक्त
भगवान को नहीं चाह कर प्रेम चाहते हैं। अनन्त पराक्रम
अतुल वैभव, अनुपम सौन्दर्य लोकोत्तर दिव्यातिदिव्य
गुण, महान् ऐश्वर्य, अद्भुत लावण्य, अभूतपूर्व दया दाक्षिण्य
भगवान् के इन सब गुणों को यह अल्पज्ञ जीव कैसे सहन कर
सकता है? उन्हें वह इस प्राकृतिक बुद्धि से कैसे समझ सकता
है? भगवान् प्रकट हुए हमें उनका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ
जिसका होना अल्पज्ञ जीव को सम्भव ही नहीं—तब उ
दर्शन से हम रस का आस्वादन कैसे कर सकते हैं? इसीलि
वे कहते हैं—'प्रभो! हमें प्रेम प्रदान कीजिये। आप में
हो, जिससे आपके दिव्यगति-दिव्य रस का शनैः शनैः—स्वाद
मिठास के साथ आस्वादन कर सके।' दर्शन तो दैत्य, रा
को भी होते थे। मुक्ति तो भगवान् उन्हें भी प्रदान करते ही
किन्तु वे उस रस के आस्वादन से वञ्चित ही रहते थे। ध
राज के राजसूय यज्ञ में शिशुपाल ने क्रोध में भर
भगवान को कैसी-कैसी गालियाँ दीं, कितने कितने कुवा
शब्दों का उच्चारण किया। श्याम सुन्दर हँसते ही रहे और उ
भी अपनी सायुज्य मुक्ति प्रदान की, किन्तु रस से तो वह वञ्चि
ही रहा।"

विदुरजी ने कहा—"उद्धवजी! आप रस-रस बार-
कह रहे हैं, रस क्या? रस तो वे परमब्रह्म परमात्मा

श्री श्यामसुन्दर ही हैं। जब वे प्राप्त हो गये, तब फिर और रस की क्या आवश्यकता ? रस तो मिल ही गया। यदि गाली देने से ही मुक्ति मिलता हो, तो हम तो माला झोली फेंक कर गाली ही दिया करें। 'हर्रा लगे न फिटिकिरी, रंग चोखो ही आवे।' वैर भाव से मुक्ति प्राप्त हो जाय, तो प्रेम के पचड़े में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है ?

यह सुन कर उद्धवजी मुस्कराये और बोले—"विदुरजी ! आप भी ऐसी बातें कहोगे क्या ? अजी, मुक्ति के लोभ से हम लोग अनुपम रस का परित्याग कर सकते हैं क्या ? जो सौन्दर्य्य माधुर्य्य हमारे हृदय में बस गया है, वहाँ वैर को स्थान दे सकते हैं क्या ? जो माधुरी मूरति हमारे नेत्रों में गड़ गई है, वहाँ भयंकर मूर्ति को स्थान कहाँ ? चक्र को तो हम दूर से ही डंडौत करते हैं। हमारी तो मित्रता मुरली से है। हमें तो मुरलीधर की उस प्यारी-प्यारी धुनि ने अपनी चेरी बना लिया है। जिन्हें भुक्ति-मुक्ति की पिशाचिनी स्पृहा बेचैन बनाये हो, वे भले ही इन बातों में आ जायें, किन्तु जिन्होंने अपना अन्तःकरण आत्मा रूप श्रीहरि ही में लगा दिया है, उन लोगों की बुद्धि इन बातों को सुन कर भ्रम में नहीं पड़ सकती। अहा ! कैसा उनका सौन्दर्य्य था, कैसी उनकी अनुपम छटा थी, क्या संसार में उसकी समानता किसी अन्य से हो सकती है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! इतना कहते-कहते उद्धवजी

भगवान् के सौन्दर्य का अनुभव करते-करते फिर प्रेमार्णव में निमग्न से हो गये।"

छप्पय

हाय ! कहाँ वो परम सुखद श्रीहरि की झाँकी।
मन्दमन्द मुसकान चित्तहर चितवन बाँकी॥
आँखिनि कूँ वा छटा पान को चसको लाग्यो।
भये न जौलौं तृप्त, हमें हरि तौ लौं त्यागो॥
उठवनि चितवनि करपरसि, हँसनि अँक भरि-भरि मिलनि।
चेष्टा ये सब श्याम की, परम मधुर बोलनि चलनि॥

भगवान् का लोकोत्तर सौन्दर्य

(१०६)

यद्धर्मसूनोर्वत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गतं विधातु—
र्वाक्सूतौ कौशलमित्यमन्यत ॥❀

(श्री भा० ३ स्क० २ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

कारे कारे कुटिल केश मलि तेल सम्हारें।
गोरोचन को तिलक मोर मुकुटादिक धारें॥
कंकण कुंडल हार करधनी अङ्गद नूपुर।
शोभित होवे स्वयं पाइ तनु सुन्दर मनहर॥
निरखहिं निज प्रतिबिम्बकूँ, अपन पपनपो भूलि कें।
सुख मलूक मनहर स्वयं, चकित होहिं छवि देखि कें॥

भक्त दो प्रकार के होते हैं। एक तो ज्ञान प्रधान भक्त और दूसरे भावुक-हृदय प्रधान—भक्त। इनके भी फिर अधिकार भेद से, साधन भेद से, असंख्यों भेद हो जाते हैं। ज्ञान प्रधान भक्त

❀ विदुरजी से उद्धवजी कह रहे हैं—"विदुरजी! भगवान् के सौन्दर्य को तो आपने धर्मराज के राजसूय यज्ञ में भली

दृश्य संसार रहस्य को समझ कर भगवान् की अनन्य भाव से उपासना करते हैं। किन्तु भावुक भक्तोंका इस संसार के तत्वों से कोई प्रयोजन नहीं। उनकी दृष्टि में तो एक ही तत्व है। उनकी दृष्टि—काली पुतलियों के कारण—उसी रंग की हो जाती है। वे जहाँ देखते हैं, उस कारे टेढ़े कन्हैया को ही देखते हैं उन्हें न संसार से प्रयोजन, न माया, अविद्या, प्रकृति से काम संसार दुःखमय हो या सुखमय, उनके श्यामसुन्दर तो सदा सुख स्वरूप हैं। वे विशुद्ध अद्वैत को मानते हैं।

एक ऐसे भी भक्त होते हैं, जो वाणी के विनोद के लिये इस दृश्य प्रपंच के विषय में कुछ कहते सुनते हैं। इस कहने सुनने का प्रयोजन यही एक मात्र है, कि इससे अपने इष्ट का स्मरण हो। मालूम पड़ता है, उद्धवजी ऐसे ही भावुक हृदय प्रधान भक्त हैं। एकादश स्कन्ध में किये गये उनके प्रश्नों को सुनकर तो हमें ऐसा लगने लगता है, कि कोई मजा हुआ दार्शनिक समन्वय कराने की जिज्ञासा से समस्त उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है। विभिन्न से दिखाई देने वाले मतों का एकीकरण कर रहा है, किन्तु जब उन्हें, श्रीकृष्ण-प्रेम में रोते और छटपटाते देखते हैं, जब उन्हें प्रेम के आवेग में विह्वल पाते हैं, व्रजङ्गनाओं को बार-बार प्रणाम करते हुए जब वे भगवान् से व्रज को गुल्मलता बनने की याचना करते

प्रकार देखा ही था। कैसे आश्चर्य की बात है। वहाँ जिसने ही उनके नयनाभिराम रूप को देखा, उसी ने यह दृढ़ता के साथ कह दिया, कि ब्रह्माजी की नूतन सृष्टि रचना सम्बन्धी जितनी भी चतुरता है, वह सब कृष्ण मूर्ति में ही पूरी हो गई। अर्थात् संसार का समस्त सौन्दर्य इसी एक मूर्ति में सन्निहित हो गया।"

हैं, तब तो ऐसा लगता है मानों वे तत्व ज्ञान की बातें उन्होंने लोक संग्रह के ही निमित्त कह डाली हों।

विदुरजी उतने भावुक भक्त नहीं हैं। वे सरस ज्ञानी भक्त हैं, वे समझते हैं—हमारे श्यामसुन्दर न कभी आते हैं, न जाते हैं। उनका आविर्भाव, तिरोभाव एक विनोद मात्र है। तभी तो उद्धवजी के मुख से भगवान् के स्वधाम पधारने की बात सुनकर, यादवों और कौरवों के विनाश का समाचार सुनकर शोक सूचक एक शब्द भी उन्होंने नहीं कहा, कि हाय! बड़ा बुरा हुआ। उद्धवजी तो विरह में कितने विह्वल थे, भगवान् के स्वधाम पधारने से कितने व्याकुल और बेसुध हो रहे थे। विदुरजी के मन में भी स्वभावानुसार कुछ शोक सा जब उत्पन्न होने लगा, तो उन्होंने उसे अपने विवेक से शान्त कर लिया। वे तो श्रीकृष्ण गुण कीर्तन, श्रवण के लोलुप थे। वे समझते थे, जहाँ श्रीकृष्ण कथा है, वहाँ मेरे श्यामसुन्दर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। जहाँ विषय वार्ता होने लगती है, वहाँ से भाग जाते हैं। इसीलिये उनका प्रश्न था—'तीर्थकीर्ति भगवन् वासुदेव की बातें बताओ। उन्हींकी लीला सुनाओ। उन्हीं के सौन्दर्य माधुर्य का वर्णन करो।' उद्धवजी भी इसी अमल के अमली थे। एक ही अमल के दो अमली जब मिल जाते हैं, तो उस अमल में अद्भुत आनन्द आता है। प्रायः देखा गया है कि मादक द्रव्यों के अमली अकेले अमल नहीं करते। भङ्ग घोटेंगे तो एक-एक चुल्लू सबको देंगे। जो व्यसनी न होगा, उससे भी कहेंगे—'देखिये तो सही, इसका लटका खाली मिरच बादाम है, विजया की पत्तियाँ तो नाममात्र को हैं।' अमल का आनन्द मिलकर ही पीने में आता है यदि एक अमल के दो अमली अपने मन के—एक प्राण दो तन मिल जायँ, तब तो स्वर्ग—तीन चार अँगुल ही ऊपर रह जाता है।

जैसे पागल विदुरजी थे, वैसे ही पागल उन्हें उद्धवजी मिल गये। जब दो पागल मिल जायँ, तब तो संसार भूल ही जाता है दोनों अपनी धुन में मस्त हो जाते हैं। विदुरजी को सुनने में रस आता था, उद्धवजी को कहने में। अतः विदुरजी तो चुप चाप एकाग्र मन से उद्धवजी के मुख को देख रहे थे और उद्धवजी आनन्द में मग्न हुए भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य का कथन कर रहे थे।

उद्धवजी बोले—"विदुरजी! भगवान् के दर्शन एक जन्म के के पुण्यों से नहीं होते। सहस्रों जन्मों तक जो तप, यज्ञ, समाधि के द्वारा उन परमाराध्य प्रभु की आराधना करते हैं, उन महाभाग्य-शाली पुरुषों को ही भगवान् के देवदुर्लभ दर्शन का सुयोग प्राप्त होता है। एक तो उनका दर्शन ही दुर्लभ है। तिस पर निरन्तर उनकी रूप माधुरी का अनिमेष भाव से पान करते रहना— यह तो उन्हीं की कृपा से संभव हो सकता है। नेत्रों का साफल्य श्यामसुन्दर की त्रिभुवन कमनीय मूर्ति के दर्शनों में ही है। अल्पपुण्य वाले, दर्शन के परम पिपासु लोगों को कुछ समय तक अपना भुवन-मोहन मनोहर रूप दिखाकर, उनकी आँखों को बिना तृप्त किये ही, उन्हें पिपासित ही छोड़कर भगवान् अब इस अवनि से अन्तर्हित हो गये, इस धराधाम को त्याग गये, अपनी मानवीय लीला का संवरण करके स्वधाम-पधार गये। मानों दर्शन पिपासुओं को नेत्र हीन बना गये।

विदुरजी! उन मदन-मोहन ने रूप तो मनुष्यों जैसा बना लिया था, किन्तु क्या वे मनुष्य थे? नहीं-नहीं! विदुरजी! मनुष्य देह में ऐसा सौन्दर्य संभव नहीं। अपनी योग-माया का आश्रय लेकर उन्होंने अपने अंग प्रत्यंग तो प्राकृतिक पुरुषों के ही आकार का बना लिया था, जिसके द्वारा वे मानवीय लीला

कर सकें। मनुष्योचित क्रीड़ा करके इन राग, द्वेष, काम, क्रोध में फँसे हुए दुखी लोगों के हृदयों में सुख का संचार कर सकें, नीरस नर जीवन में सरसता का सम्पुट दे सकें, आधि-व्याधि चिन्ता-संताप में संलग्न जीवों को प्रेम का रसास्वादन करा सकें। किन्तु वह रूप इतना सुन्दर बन गया था, कि अन्य संसारी लोगों की बातें तो छोड़ दीजिये, वे स्वयं ही अपने कारे-कारे घुँघराले बालों को सम्हालने के लिये दर्पण में उस शारदीय कमल, पूर्णचन्द्र आदि को भी तुच्छ और तिरस्कृत करने वाले श्रीमुख को जब निहारते, तो स्वयं ही विस्मित हो जाते थे, दर्पण देखते देखते आश्चर्य से कहने लगते—'अरे यह इतना सुन्दर कौन है? यह देव है, दानव है, यक्ष है, गन्धर्व है' अथवा किंपुरुष है, कौन है? ऐसी सुन्दरता तो मैंने कभी देखी नहीं'। विस्मय से हाथ हिल जाता, तब सोचते—अरे, यह तो मेरा ही प्रतिबिंब है। क्या मेरा मुख इतना सुन्दर है? विस्मय में भर कर फिर देखते और मुग्ध हो जाते। जो रूप, रूप के सागर को भी विस्मित बना सके, उसकी उपमा विदुरजी! किस संसारी वस्तु से दें?

विदुरजी! आप महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की शोभा को भूल गये क्या? आप तो वहाँ के मुख्य कार्यकर्ताओं में थे। उस समय देश-देशान्तरों के राजा और राजकुमार एकत्रित हुए थे। आये हुए राजाओं में एक से एक रूपवान्, सुन्दर और सुकुमार राजकुमार थे। वे यज्ञ की उसी प्रकार शोभा बढ़ा रहे थे, जिस प्रकार आकाश की शोभा तारागण बढ़ाते हैं। उन सब में श्रीकृष्णचन्द्र—लांछन रहित चन्द्र के समान—चारों ओर चमक रहे थे। अग्रपूजा का प्रश्न उठते ही सहदेव ने उन भगवान् वासुदेव को ही पूजा का प्रथम अधिकारी बताया।

सभी धर्मात्मा राजाओं ने इसका समर्थन किया। धर्मराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। किसी साधारण मनुष्य की तो पूजा थी ही नहीं, साक्षात् गोलोकविहारी भगवान् नन्द-नन्दन की पूजा थी। करने वाले भी साधारण व्यक्ति नहीं थे। आसमुद्रान्त सप्तद्वीपवती इस समस्त वसुन्धरा के एकछत्र सम्राट् धर्मराज यजमान थे। यज्ञ में दीक्षा लेने के कारण हरित के सींग को लिये हुए दायीं ओर अयोनिजा द्रुपदसुता सम्राज्ञी द्रौपदी विराजमान थीं। भगवान् के ऊपर श्वेत छत्र तन रहा था। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने नाना उपचारों से वैदिक मंत्रों द्वारा दिव्यौषधि महौषधि के जलों से विधिवत् अभिषेक कराया था। अश्रु भरे नेत्रों से धर्मराज ने दिव्य पीत रंग में रँगे कौषेय रेशमी वस्त्र उनके नीलमणि के समान चमकते हुए श्रीअंग में धारण कराये। नानारत्न और मणियों से युक्त हार और दिव्याभूषण समर्पित किये थे। उस समय उनकी कैसी छटा थी, कैसी आभा थी? समस्त सभा चित्र लिखित के समान बन गई थी। निरन्तर निहारते रहने पर भी सभी अतृप्त से ही बने रह गये। सब की आँखों में चकाचौंध छा गया। सभी विस्मय और आश्चर्य के साथ कहने लगे—'धन्य, धन्य! ऐसा सौन्दर्य, इतना अनुपम लावण्य! ब्रह्माजी ने अपनी सभी कारीगरी खर्च कर दी। उन्होंने अपनी समस्त चातुरी इसी एक श्रीविग्रह में लगा दी। संसार में इसकी उपमा न किसी रूप से दी जा सकती है, न किसी से समानता की जा सकती है।

विदुरजी! हम तो उस रूप को जितना ही देखते, उतनी ही हमारी तृष्णा बढ़ती थी। हाय! आज वह रूप हमारी आँखों से ओझल हो गया। आज हमें वह अनुरूप रूप लावण्य युक्त श्रीविग्रह दिखाई नहीं देता, हमारी आँखें तो उसी रूप को

देखने की आदी हो गई थीं। अब उन्हें ये सभी संसारी रूप फीके-फीके दिखाई देते हैं। आँखें अब और किसी को देखना ही नहीं चाहतीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार कहकर उद्धवजी उस रूप के ध्यान में मग्न हो गये। विदुरजी भी बिना बोले चाले चुप-चाप उद्धवजी के मुख-निसृत रस का एकाग्रचित्त से पान कर रहे थे।"

छप्पय

देश-देश के भूप यज्ञवर राजसूय महँ।
निरखि मुग्ध सब भये नन्दनन्दन की छवि तहँ॥
घन-चातक, जल-मीन, शलभ-पावक उपमा सब।
फीकी सबरी भईं एकटक लखें रूप जब॥
रचना विषयक चातुरी, विधि की सब पूरी भई।
सब थल की सुषमा छटा, कृष्णमूर्ति महँ धरि दई॥

———

भगवान् का लोकोत्तर माधुर्य्य

(११०)

यस्यानुरागप्लुतहासरास—
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त—
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २ अ० १४, श्लो०

छप्पय

जिनकी मधुमय हँसनि हृदय महँ मिश्री घोरति।
जिहिँ चितवहिँ चितचोर भट्ट पागली ह्वै डोलति॥
मुरली अधरनि धरें बजावहिँ स्वरतें गावहिँ।
छोड़ि-छोड़ि गृह काज-विवश व्रज बाला धावहिँ॥
लखि मोहन की माधुरी, चुप्प होहिँ नहिं कछु कहत।
आँखि मींचि थिर चित्त करि, आभीरिनि जोगिनि बनत॥

मधुरता को मन स्वतः ही पकड़ लेता है। स्वादिष्ट पदार्थ को जिह्वा अधीरता के साथ चखती है। प्रिय पदार्थ को निहार कर हृदय बरबश उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। भगवान् के

---

* उद्धवजी कह रहे हैं—"विदुरजी! जिनकी प्रेमपूर्ण हँसी, विचित्र विनोद और लीलामय चितवन से सम्मानित हुई व्रजाङ्गनाएँ

ऐश्वर्य्य को निहार कर कोई उनसे डरते हैं, कोई दुष्टों के दमन से प्रसन्न होते हैं, कोई डाह करते हैं कोई क्रोध, किन्तु उनके माधुर्य्य का जादू तो सभी पर एक सा होता है। खर दूषण शत्रुभाव से मारने के लिये दूर्वादलश्याम रघुकुलतिलक श्री अवधमंडन श्रीकौशलकिशोर के समीप आये थे। जब उन्होंने इनके अनुपम सौन्दर्य्य लोकोत्तर माधुर्य्य का अवलोकन किया, तो उनके मुख से सहसा ये शब्द अपने आप ही निकल पड़े—'यद्यपि इन्होंने हमारी भगिनी को कुरूप किया है, किन्तु ये अनूप माधुर्य्ययुक्त भूप वध करने के योग्य नहीं हैं।' जादू उसी का नाम है जो शत्रु के सिर पर चढ़ कर बोले। इस श्रीकृष्ण रूप में तो माधुर्य्य की पराकाष्ठा ही हो गई। जिसने भी एक बार उन्हें देख लिया, मानों वह बिना मूल्य के क्रीत दास हो गया। यह तो सर्व साधारण की बात है। किन्तु जो स्नेहमयी हैं, प्रेममयी हैं, सहृदया हैं, श्रीकृष्ण में ही जिन्होंने अपने मन और प्राणों को न्यौछावर कर दिया है उन व्रजाङ्गनाओं के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं। उद्धवजी को सौन्दर्य्य की चर्चा करते हुए उन व्रजबालाओं के अनुपम प्रेम का स्मरण हो आया वे उसी आवेश में कहने लगे।

उद्धवजी बोले—"विदुरजी! उन मूर्तिमान् माधुर्य्य रूप श्रीहरि के लोकोत्तर लावण्य के सम्बन्ध में कैसे कहूँ, कैसे बताऊँ? यह कहने का विषय नहीं, बताने की बात नहीं।

अपने नेत्रों को और चित्त की वृत्ति को उन्हीं में लगाये रहती थीं, इसी कारण वे अपने घर के काम-काजों को अधूरा ही छोड़ कर, उन्हीं का ध्यान करते करते तन्मय हो जाती थीं (उनके माधुर्य्य का क्या वर्णन करें?)।"

वाणी से परे की गाथा है और आप कहते हैं श्रीकृष्ण-वार्ता कहो। भगवान् ने अनेकों अवतार धारण किये और उनमें अनेकों लोकोत्तर चमत्कार भी दिखाये। अपना ऐश्वर्य भी प्रकट किया; किन्तु इस अवतार में तो कुछ विलक्षण ही स्वारस्य प्रदर्शित किया। मानो मूर्तिमान् रस ने ही विग्रह बना लिया हो। जिस समय अपने छोटे-छोटे मोतियों के सदृश शुभ्र स्वच्छ दाड़िम के दानों को भी लज्जित करने वाले दर्शनों की प्रभा से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए हँस जाते, उस समय प्रेमवती महाभागवती उन वृन्दावन-वासिनी वनिताओं के हृदय में एक प्रकार की विकलता छा जाती। जिस समय वे अपने कोमल करों से उनके श्रीअंगों को स्पर्श करते हुए, कमनीय कटाक्षों से व्यथित करते हुए, उनसे बातें करते, विनोद करते, कुछ हास-परिहास की कथायें कहते, उस समय वे धन्य हो जातीं। संसार में अपने को सर्व श्रेष्ठ सौभाग्यवती समझतीं। कुछ भी काम क्यों न कर रही हों, जहाँ श्रीकृष्ण की दृष्टि पड़ी वे चित्र लिखी मूर्ति के समान, पुत्तलिका के समा निश्चेष्ट, बन जातीं।

जिस समय विदुरजी! मैं श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर उन महाभाग्यवती वृन्दावनवासिनी विरहिणियों की शरण में गया, तब मैंने वहाँ उनका अनुराग प्रत्यक्ष देखा। भगवान् के प्रति उनका कितना स्नेह था, कितनी आसक्ति थी, कितनी अनुरक्ति थी, उसे देखकर मैं तो चकित रह गया। गोपों ने और गोपाङ्गनाओं ने प्रेम की जो-जो बातें बताईं, पुरानी जितनी भी कहानियाँ सुनाईं, उन सबको सुनकर मैं निहाल हो गया, धन्य बन गया। गया तो था एक दिन के लिये, किन्तु उस रस सागर में ऐसा डूबा, कि महीनों मैं वहीं रहा आया और ये ही सब

बातें सुनता रहा। भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्य्य की छटा व्रज में ऐसी व्याप्त थी कि सजीव निर्जिव बन जाते और निर्जीव सजीव हो जाते। बहुत सी गोवर्धन की शिलायें मैंने पिघली हुई देखीं। उन में अब तक श्रीकृष्ण के, गोप-गोपी और गौओं के चरण चिन्ह ज्यों के त्यों बने हुए हैं। वृक्षों के रोमांच हो जाते, वे पुरुषों की भाँति प्रेमाश्रु बहाने लगते। उनकी वंशी की ध्वनि को सुनकर प्रकृति स्तब्ध हो जाती। उनके रूप को देख कर व्रजङ्गनायें भूली सी, भटकी सी, अकी सी, जकी सी, प्रेम में छकी सी रह जातीं।

व्रज में घर-घर में अपनी बरोसी या चूल्हे में सभी व्रजाङ्गनायें अग्नि को सुरक्षित रखती हैं। यदि किसी की अग्नि बुझ जाती है, तो दूसरे के घर से मांग लाती हैं। शाम को एक के घर में दीपक जल जाता है, तो उसी से आ-आकर सब अपना दीपक जोर ले जाती हैं। व्रजराज के घर सब से पहिले दीपक जुरता, इसलिये सभी व्रजबालायें उनके ही यहां आ-आकर अपना-अपना दीपक जोड़ ले जातीं। एक पंथ दो काज हो जाते, दीपक भी जुड़ जाता और व्रजकुल दीप श्रीश्याम-सुन्दर के दर्शन भी हो जाते। इसी लिये शाम को उनके घर झुंड की झुंड गोपियाँ आतीं। कोई प्रेम की पगली नई व्याहता आई थी। उसने पहिले ही पहिले उस अनुपम माधुरी का रस चाखा था। उस दिन दीप के सामने ही श्यामसुन्दर माँ से कुछ झगड़ा कर रहे थे। कैसी छटा थी उनकी? प्रेम कोप में

कितना कामनीय हो गया था, उनका कमल मुख। नई बहू दीपक जोड़ते-जोड़ते उसी माधुरी में निमग्न हो गई। उसके नेत्रों के पलक गिरते नहीं थे। अनिमेष भाव से वह दामोदर की ओर निहार रही थी, उस सौन्दर्य्य-सुधा में वह इतनी तन्मय हो गई, कि दीप को जोड़ने में अपने आप को भी भूल गई, दीपक के साथ ही उँगलियाँ भी जलने लगीं और उसे कुछ सुधि ही नहीं। जब उगलियाँ जलते जलते अग्नि हाथ तक पहुँची, तब यशोदा मैया की दृष्टि पड़ी। शीघ्रता से वे दौड़ कर गईं और उसे खींचकर बाहर लाईं। अग्नि बुझाई और दुःखी होकर बोलीं—'हाय! सुतेमन! यह तैंने क्या कर लिया? क्यों जला लिया? दीपक कहीं ऐसे जोड़ा जाता है? तू भङ्ग पीकर तो नहीं आई? अरे, तेरा हाथ जला और पता भी नहीं चला?"

अब जब दृष्टि श्यामसुन्दर के मुखारविन्द से हटी उसे चेत हुआ। अब कुछ बाह्य जगत का भान हुआ। वो लज्जित हुई और उसके मुख से अवश में ही निकल पड़ा 'हा! श्यामसुन्दर, हा! मदन मोहन!'

दूसरी कोई सखी जो इस रोग में पहिले से ही ग्रस्त हो चुकी थी, सब बात समझ गई और प्रेम के रोष में बोली—'महरि! तुमने यह बेटा क्या जना एक जादू की पीटारी जनी। न जाने इसके मुख में कौन सा मसाला पोत दिया है जो भी इसे देखते हैं, उन्हीं की यह दशा हो जाती है।'

मैया ने कहा—'हाय, बहू ! मेरे बच्चे को नजर मत लगा देना, कैसा भोला-भाला बच्चा है ?'

गोपी ने कहा—दादीजी ! हम तुम्हारे बच्चे को क्या नजर लगावेंगी, तुम्हारा बच्चा ही सबको नजर लगा देता है ! उसकी नजर का ही तो यह जादू है कि देखो, बेचारी का हाथ जल गया।'

इतने में ही श्यामसुन्दर भी अकबकाते हुए आ गये और बोले—'अरे, क्या हुआ ? क्या हुआ ? देखूँ, कहाँ जली है ?' यह कह कर उन्होंने अपने अमृतमय श्रीकर से उस महाभाग्यवती बहू का हाथ पकड़ा। उनका स्पर्श पाते ही वह ज्यों का त्यों सुन्दर, निरामय बन गया। आप तो बार-बार उलट-पलट कर उसे देखते हैं और अपने आप ही कहते हैं—'कहीं तो नहीं जला। तनिक सा लाल पड़ गया है, कुछ लपट सी लग गई है। अम्मा ! नेंक सो मक्खन तो दे दे। ला, मक्खन लगाने से सब ठीक हो जायगो।'

दूसरी सखी ने कहा—'श्यामसुन्दर ! तुम्हारे श्रीहस्त में जो स्निग्धता है, वह मक्खन में कहाँ से आवेगी ? तुम्हारा स्पर्श ही करोड़ों ओषधियों की ओषधि है। हे नन्दनन्दन ! तुम्हारी दृष्टि ही मधुमय, अमृतमय है। उस दृष्टि के पड़ते ही वड़वानल भी शान्त हो सकता है।'

सो, विदुरजी ! जिस माधुर्य को देख कर व्रजांगनायें जलते हुए अंगों का भी ध्यान नहीं करती थीं, जिनके अव-

लोकन से सजीव शरीर भी निर्जीव सा बन जाता था, आज वे ही हमें विरह सागर में निमग्न करके स्वधाम को पधार गये।"

छप्पय

केश पाश ई पाश पास आवें फँसि जावें।
भौंह कमान समान नाइ लखि डोरि चढ़ावें॥
चितवन तिरछी तीर लगे घायल करि जावें।
नहिं जीवें नहिं मरें अधमरी ह्वै बिललावें॥
तब गोदी महँ सिर धर्यो, भक्त भुक्त भोगी विदुर।
अजी, अवतलक जाँघ में, चिह्न परम शुभ है मधुर॥

अजन्मा का जन्म

(१११)

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै—
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो—
ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

विदुर ! अजन्मा होहि जन्म लीयो मनमोहन ।
करुणावश बनि तनय करहिं गैयनि को दोहन ॥
मथुरा महँ ले जन्म भागि गोकुल महँ आये ।
चोरी के अपराध दाम तें श्याम बँधाये ॥
अज अविनाशी गुण रहित, वेद जाहि अच्युत कहहिं ।
डर डरपै जातें सतत, सो डरि के व्रज महँ रहहिं ॥

जन्म होता है कर्मों से। शुभ कर्म करोगे तो देवता आदि पुण्य योनियों में जन्म लेना पड़ेगा, अशुभ कार्यों के फल स्वरूप पशु-पक्षी तथा नारकीय पाप योनियों में दुःख भोगना

---

* शान्त स्वरूप ऋषि मुनि तथा घोर रूप दानवादि दोनों ही उन्हीं के रूप हैं, फिर जब दानवादि दुष्टों ने साधुस्वभावसन्ता

पड़ेगा और शुभ-अशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्य आदि योनियाँ मिलेंगी। कर्मों का क्षय, बिना भोग के नहीं होता और भोग बिना देह के नहीं हो सकता। इसलिये योनियों की सृष्टि शुभाशुभ कर्मों के भोग के ही निमित्त है। भगवान् तो कर्म बन्धनों से परे हैं, फिर उनका जन्म क्यों होता है? वे अवतार क्यों धारण करते हैं, अजन्मा का जन्म कैसा? अच्युत का अवतरण किस कारण से हुआ? पानी में आग कैसे लग गई? ये कुछ विपरीत सी बातें दिखाई देती हैं। इसीलिये कुछ लोग तो यही मान बैठे हैं, कि भगवान् का अवतार होता ही नहीं। भगवान् तो घट-घट व्यापी हैं, वांछा-कल्पतरु हैं, जिनकी जैसी भावना होती है, उन्हें वे वैसा ही फल देते हैं। यदि कोई उन्हें निर्गुण कह कर भजे, तो उसके लिये वे निर्गुण बन जाते हैं। सगुण कह कर आराधना करे, तो मनोहर रूप धारण कर लेते हैं। शून्य कह कर उनका निराकरण करे, तो उसके लिए शून्य हो जाते हैं। कर्म वाले को कर्म बन कर फल देते हैं; किन्तु हम तो मधुरता के उपासक हैं, हम तो उन्हें अपना सा देखना चाहते हैं। हमने जन्म लिया है, अतः हम अपने श्यामसुन्दर का भी जन्म देखना चाहते हैं। हम अपनी वर्ष गांठ मानते हैं, अतः हम भगवान् का भी जन्मोत्सव धूमधाम से मनाना चाहते हैं। जो हम करते हैं, जिससे हमें सुख होता है, वही सम्बन्ध हम श्यामसुन्दर से बनाने को उत्सुक रहते हैं। यदि वे सर्वज्ञ हैं, सर्व समर्थ है, तो कर्म बन्धन न रहने पर भी केवल हमारी इच्छा को पूर्ण करने के लिये

को पीड़ा पहुँचाई, तब करुणावश आप अजन्मा होकर भी अपने महान् अंश बलदेवजी के सहित उसी प्रकार प्रकट हुए जिस प्रकार व्यापक अग्नि काष्ठादि में प्रकट हो जाती है।

उन्हें अजन्मा होकर भी जन्म लेना पड़ेगा। अच्युत होकर भी अवनि पर अवतरित होना पड़ेगा। इसलिये भगवान् अवतरित होते हैं। यह ठीक है, कि जेल में अपराधी ही जाते हैं। कारावास दन्ड भोगने का ही तो स्थल है, किन्तु कभी-कभी विनोदी राजा भी करुणावश या कौतुकवश वेष बदल कर निरपराध भी जेल में जाकर जेलियों का सा वेष बनाकर, उन्हीं के सदृश काम करने लगते हैं। चक्की पीसते हैं, बाध बटते हैं। जेलर सब समझता है, मन ही मन उससे डरता है, किन्तु कुछ बोलता नहीं। उनसे काम करने को कहता नहीं, वे हँस कर काम करते हैं। उनके रहने से विपण्ण बने जेली भी सुखी हो जाते हैं। वे जिसे चाहें मुक्त कर सकते हैं, जिसकी चाहे सजा घटा सकते हैं। उनका वह रूप दंड स्वरूप नहीं कौतुकवश है। यही सब सोच कर उद्धवजी बड़े आश्चर्य के साथ कह रहे हैं—"विदुरजी! देखिये, भगवान् को अवतार की क्या आवश्यकता है? धर्मात्माओं में धर्म का बल वे ही देते हैं। दानवों में पराक्रम और साहस उनसे ही मिलता है। यदि वे चाहें तो दानवों को उत्पन्न ही न करें। धर्मात्मा साधु पुरुषों की ही सदा सृष्टि किया करें, किन्तु वे ऐसा न करके दुष्टों में अत्यधिक बल साहस दे देते हैं। वे साधु पुरुषों को पीड़ा पहुँचाते हैं, फिर आप देवताओं की ओर से लड़ते हैं। कैसी क्रीड़ा है? लड़ते हैं और सदा अपराजित होने पर भी कभी-कभी स्वयं उनसे पराजित भी हो जाते हैं। मधु कैटभ नामक दो असुर सृष्टि के आदि में सहसा उनके अंग से उत्पन्न हो गये। क्यों हो गये जी? क्योंकि उन्हें उत्पन्न होना था आँखों में जम चू क्यों हो जाते हैं? शरीर में, बालों में जूंए क्यों पड़ जाते हैं?

उन्हें भी भगवान् के डींगर ही कहना चाहिये। उत्पन्न होते ही वे भगवान् की ओर लड़ने को दौड़े। ये तो योग निद्रा में शयन ही कर रहे थे। फिर भी उनसे लड़े, किन्तु हाय रे! सर्वसमर्थ उन दैत्यों को जीत न सके। दैत्य ही सही, हैं तो अपने तनय ही। अब क्या करें? अच्युत भी घबरा गये। इतने में ही उन अहंकारी दैत्यों ने कहा—"विष्णो! हम तुम पर प्रसन्न हैं, हमसे कोई वरदान माँगो?' इसे सुन कर हँसिये नहीं कि दैत्य भी वरदान देने का साहस करते हैं? उन्हीं की कृपा से, साहस सामर्थ्य सब उन्हीं का है। भगवान् भी प्रसन्न हुए और बोले—'भैया, मैं यही वरदान माँगता हूँ, कि तुम मेरे हाथ से मारे जाओ।' दैत्य तो घबड़ा गये, अच्छा फँसे। परन्तु करें क्या? लीलाधारी से कैसे जीत सकते हैं? भगवान् ने उन्हें मारडाला। उन्हीं के मेद से यह पृथ्वी बनी। इसीलिये इसका नाम मेदिनी है। जब अच्युत अपराजित होने पर भी दैत्यों से डर जाते हैं, तो यदि वे अजन्मा होकर जन्म ले लें तो विदुरजी! इसमें कौन सी आश्चर्य की बात है?

आप कहते हैं—'हमें श्रीकृष्ण लीला सुनाओ। भगवत् चर्चा होने दो।' क्यों आप भगवत् चरित्र ही पूछते हैं? आपने तो उन्हें अनेकों बार सुना है?

विदुरजी बोले—"उद्धवजी! क्या बतावें? उन चरित्रों में रस ही ऐसा है, की बार-बार सुनने पर भी तृप्ति नहीं होती, जितनी बार सुनते हैं, उतनी ही तृषा बढ़ती जाती है। जैसे तृषा रोग में जितना ही पानी पीओ, उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है।"

यह सुन कर उद्धवजी हँसे और बोले—"बस, इसीलिये

तो भगवान् अवनि पर अवतरित होकर नाना योनियों में जन्म धारण करके, भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते हैं, कि भक्तों को सुख मिले। अब आप क्रमशः उनकी लीलाओं की ओर ध्यान दें।

भगवान् अपरिच्छिन्न हैं, देश काल से रहित हैं, फिर भी वे परिच्छिन्न से दिखाई दिये। अट्ठाईसवें कलियुग के अन्त में व्रज-मंडल में प्रकट से प्रतीत हुए। अजन्मा होकर भी भाद्रपद की अष्टमी की आधी रात्रि को उनका जन्म सा हुआ। जन्म हुआ मथुरा में, भाग गये गोकुल। क्यों भागे जी? डर कर भागे कि कहीं मामाजी मार न डालें? भगवान् को भी डर लगता है क्या? वाह, जिसने जन्म लिया उसे डर भी लगेगा। अजन्मा निडर होता है, जन्म लेने वाले को प्रबल से भय होता है। पैदा होते ही वसुदेवजी से बोले—'चुपके-चुपके मुझे गोकुल भेज दो।' वे बोले—'ये जो बड़े-बड़े ताले पड़े हैं सो?' झट आपने अपनी योग माया को पुकारा, वह भी डरी थी। उसने आनन-फानन में चट-पट ताले खोल दिये। पहरेदारों को सुला दिया। अब चोरी-चोरी चले चोर चूड़ामणि पिता के कंधे पर बैठ कर।

विदुरजी! उन श्रीकृष्ण की बातें क्या सुनाऊँ? उनकी सभी लीलायें एक से एक अद्भुत हैं। संसार में भगोड़े की सब हँसी करते हैं, चोर से सब डरते हैं। पता नहीं उनमें ऐसा कौन सा जादू है, कि ये ही बातें जब उनके सम्बन्ध में आती हैं, तो हृदय को पिघला देती हैं। मूढ़ लोग कह सकते हैं, वे भगवान् थे तो कंस से डरने का क्या काम था? वहीं रहते और उसे मार डालते। अनन्त पराक्रम शाली होकर भी वे कालयवन के डर

से क्यों भागे ? उसे लड़कर मार डालते। अब इनका क्या उत्तर दें ? उन्हें मारना ही होता, तो इसके लिये तो उनका रुद्र रूप ही बहुत है, जो तीसरे नेत्र के ईक्षण मात्र से ही इस चराचर विश्व को भस्म कर डालता है। तब उनको किसी को मारने के लिये अवतार लेने की क्या आवश्यकता थी ? मारने के लिये अवतार नहीं लेते, तारने के लिये लेते हैं। वे मृत्यु न देकर अमृतत्व की प्राप्ति कराते हैं। वे रुलाते नहीं, हँसाते हैं तुम कहोगे कि वे तो स्वय यशोदा की छड़ी को देखकर रो पड़े, फिर वे दूसरों को कैसे हँसायेंगे ? जो स्वयं आँसू बहाता है, वह दूसरों का मुख कमल कैसे खिला सकता है ? अजी, वे आँसू तो मृषा थे, झूठे थे। वह तो नाटक का एक अभिनय था। जैसे नाटक के पात्र झूठे ही रोते हैं, उन्हें देख कर दर्शकों को आनन्द ही मिलता है, सुख होता है। उस अभिनय की वे प्रशंसा ही करते हैं। इसी प्रकार माता के हृदय को पिघलाने के लिए उन्होंने पलकों को मसल कर, थोड़ा थूक लगा कर. कुछ काजल को कपोलों तक घिसघिसा कर, जैसे तैसे दो चार बूँदें निकाली थीं। उससे माता का नवनीत के समान हृदय द्रवीभूत हो गया। तुरन्त हाथ पकड़ लिया। छड़ी फेंक कर स्नेहप्लावित स्वर से बोली—'अच्छी बात है, मारूँगी तो नहीं, तुझे बाँधूँगी।'

माता ने भी समझा—मुन्नाजी ! तुम सब को बाँधते हो, आज तक तुम्हें कोई बाँधने वाला नहीं मिला। आज सब सिटिल्ली भूल जाओगे। भगवान् तो भक्तवश्य हैं। 'मां, तुझे बाँधने में सुख मिलता है बाँधकर ही तुझे संतोष होता है—तो ले बाँध ले ! असीम को सीमा में जकड़ दे।' कालयवन को इसी में सुख मिलता था—'अरे कृष्ण की तो हमने बड़ी प्रशंसा सुनी

थी, बड़ा बली है। यह तो भगोड़ा निकाला रण छोड़ कर भाग निकला। यह तो रणछोड़ टीकम है।' इस प्रकार विदुरजी! उनकी लीलायें अद्भुत हैं।"

श्रीशुक महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! कृष्ण चरित्र तो मैं आगे सुनाऊँगा, यहां प्रसंगानुसार विहंगम दृष्टि डालते हुए मैं इस प्रसंग को पूरा कर रहा हूँ।"

छप्पय

व्यापक प्रकटे वह्नि काष्ठ महँ मंथन करिकें।
जलतें हिम ह्वै जाय उछारो करपै धरिकें॥
इक्षु अमल रस जमे मधुर मिश्री ह्वै जावे।
माखन पय महँ व्याप्त मथें तें सो विलगावे॥
सुखद मनोहर मधुर रस, घनी भूत नरतनु भयो।
नेत्रनि कूँ ललचाय कें, अन्तर्हित अब ह्वै गयो॥

दीन तथा दुष्टों पर दयामय की अपार दया

(११२)

अहो बकी यं स्तनकालकूटं,
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यम्,
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥*
(श्री भा० ३ स्क २ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

जैसी पूजा करे देव तैसो फल देवें ।
वैसो वेतन मिलहि भूप को जिहि विधि सेवें ॥
किन्तु कृष्ण की बानि सबनि तें परम निराली ।
भाव कुभावहु आइ, द्वार तें जाय न खाली ॥
बाल घातिनी पूतना, रक्त पान राक्षसि करहि ।
दई दयावश मातु गति, तिहि बिनु को भव दुख हरहि ॥

रस का स्वाद स्वस्थ चित्त से ठहर-ठहर कर प्रेमी के साथ एकान्त में होता है । जहाँ दूसरों का संकोच हो, भय हो, चिन्ता हो, दो में से एक भी अन्यमनस्क हो, उसका चित्त

---

*उद्धवजी कह रहे हैं—"विदुरजी—जिन श्यामसुन्दर को पापिनी पूतना मारने की इच्छा से आई थी और इसलिये उसने उन्हें विष

किसी दूसरे विषय में अनुरक्त हो, तो रस का विपर्यय हो जाता है। कृष्ण कथा के लम्पट विदुरजी जब चुपचाप एकाग्र चित्त से भगवान् के चरित्रों को सुनते ही जाते थे, तो उद्धवजी भगवान् के दिव्यातिदिव्य गुणों का गान करने लगे। लीला गायन तो गौण है, लीलाओं का तो उदाहरण रूप से वे कहते थे। अब वे भगवान् की दयालुता का वर्णन करते हैं।

उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् के लिये जब कर्म बन्धन हो नहीं तो कर्तव्य कैसा ? अक्रूरजी उन्हें कंस के कहने से मथुरापुरी ले गये थे। वहाँ जाकर उन्होंने यदुवंश के कंटक रूप कंस को नष्ट कर दिया, फिर बन्दी-गृह में पड़े हुए अपने माता-पिता वसुदेव देवकी के समीप गये और दोनों हाथ जोड़ कर विनीत भाव से कहने लगे—'पूज्य-पिताजी ! ममतामयी माताजी ! आप हम पर कृपा करें, हमारे अपराधों की ओर ध्यान न दें। वैसे तो हमने बड़ा अपराध किया है। बाल्य, पौगण्ड, कैशोर और युवा बच्चों की ये चार अवस्थायें माता-पिता के अधीन होती हैं। युवा होकर तो वे स्वतन्त्र हो जाते हैं। फिर वे घर वालों के अधीन न रहकर बाहर से आई हुई के अधीन हो जाते हैं, फिर वे माता-पिता के न होकर बहू के बन जाते हैं। स्वयं पिता पद को सुशोभित करते हैं। जितना सुख बच्चे से बाल्यकाल में (पाँच वर्ष तक) होता है उतना पाँच वर्ष के बाद नहीं होता और जितना पौगंड में (पाँच से दस तक) होता है, उतना किशोर अवस्था (दस से-

---

लगाये स्तन का पान कराया। कैसे आश्चर्य की बात है, कि ऐसी दुष्टिनी को भी जिन्होंने माता के समान गति दी, उन श्रीकृष्ण को छोड़ कर और हम किस दयालु की शरण जायँ।"

पन्द्रह) तक नहीं होता। पन्द्रह वर्ष के पश्चात् तो युवावस्था आ जाती है। माता-पिता को परम सुख देने वाली हमारी बाल्य और पौगंडावस्था तो व्रज में ही व्यतीत हो गई। आपकी कुछ भी सेवा न कर सके। इसमें हमारा कुछ वश नहीं था। हम तो कंस के भय से भयभीत ही बने हुए थे। इसलिये हम स्वयं भी सेवा से वंचित रहे और आपको भी प्रसन्न न कर सके।'

विदुरजी! भगवान् की ये बातें अब जब भी याद आ जाती हैं, तब ही मेरा चित्त भर जाता है। कैसा उनका लोकोत्तर पराक्रम था, जिनके भृकुटी विलास से समस्त भूभार बात की बात में नष्ट हो गये, उनके चरणारविन्द की पावन पराग की गंध का सेवन करने वाला कौन-सा ऐसा त्रैलोक्य में पुरुष होगा, जो उन्हें भूल सकेगा?

वे हमारे स्वामी थे, सेव्य थे, आराध्यदेव थे। हम उनके नित्यकिंकर, शरणागत, भक्त तथा दास थे। प्रायः ऐसा होता है, कि स्वामी उन्हीं सेवकों पर कृपा रखते हैं जो उनमें अनुराग रखते हों, किन्तु वे तो अपने समीप आने वाले विरागी, रागी, द्वेषी, अभिमानी सभी पर कृपा करते हैं। आप से क्या कहें—धर्मराज के राजसूय यज्ञ में क्या आपने नहीं देखा था कि चेदिराज शिशुपाल भरी सभा में खड़ा होकर भगवान् को कैसी-कैसी गालियाँ दे रहा था, कैसी-कैसी कड़ी बातें सुना रहा था। भगवान् ने उसके बदले में भी वही मुक्ति उसे प्रदान की,—जिसे योगीगण निरन्तर अनेकों जन्मों तक योगाभ्यास करके प्राप्त करते हैं। आप ही सोचें—ऐसे कृपालु स्वामी, ऐसे शरणागत-वत्सल प्रभु के वियोग को हम कैसे सहन कर सकते हैं?

महाभारत के युद्ध में अर्जुन के सारथी बने थे। आप अपने कटाक्षों द्वारा जिसे एक बार देख लेते, जो आपके देव दुर्लभ-दर्शन को करते-करते अर्जुन के बाणों विद्ध होकर प्राणों का परित्याग करते, उनको भी परमधाम की प्राप्ति हो जाती थी। किसी भाव से जो उनके सम्मुख हो गया वह संसार सागर से पार हो गया।

भगवान् अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त छोटे-से-छोटे काम करने में भी अपना गौरव समझते थे। उनके ऐश्वर्य की किसी भी ऐश्वर्य से तुलना नहीं की जा सकती। उनके प्रबल पराक्रम की किसी भी तुला से नाप-जोख नहीं हो सकती। वे अपनी परमानन्द स्वरूप स्वतः सिद्ध त्रिगुणातीत सात्विकी सम्पत्ति से सम्पन्न होने के कारण पूर्ण काम थे। समस्त ब्रह्मादि देव, इन्द्रादि लोकपाल मनु आदि प्रजापति तथा बड़े-बड़े शूरवीर नरपतिगण श्रद्धा भक्ति से, नाना प्रकार की पूजा सामग्रियों द्वारा उनकी श्रद्धाभक्ति के सहित पूजा करते और अपने दिव्य मुकुटों की मणियों के द्वारा उनके अरुण चरणों को सदा प्रकाशित करते रहते थे। उनको भी जब हम महाराज उग्रसेन के सम्मुख हाथ जोड़े खड़े हुए देखते तब हमारी बुद्धि चक्कर खा जाती। हम सोचते—भगवान् यह कैसी लीला कर रहे हैं? कैसा नर-नाट्य दिखा रहे हैं? भक्तों के वश होकर वे क्या नहीं कर सकते इसका प्रत्यक्ष आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। महाराज उग्रसेन उच्च सिंहासन पर बैठे रहते थे और आप भृत्य की भाँति अन्य सभी सेवकों के समान शिष्टाचार से निवेदन करते—'देव हमारी यह प्रार्थना सुनिये। महाराज, इस बात पर विचार कीजिये।' इस प्रकार जब वे कहते, तो हम तो मारे लज्जा के डूब जाते। लज्जा

हमें इस बात पर नहीं होती थी कि हम दास के भी दास हैं। किन्तु हम सोचते यह थे, कि हमारे स्वामी जिस प्रकार के सेवा-भाव का आदर्श उपस्थित कर रहे हैं, हममें उसका शतांश भी नहीं है, हम तो वैसे ही नाम मात्र के सेवक हैं।

विदुरजी! आप कह सकते हैं, कि शिशुपाल तो उनका सम्बन्धी था, बूआ का बेटा था। अपनी बूआ से उसकी रक्षा करने का—सौ अपराध क्षमा करने का—वचन दिया था। उग्रसेन उनके नाना ही ठहरे। सम्बन्ध में बड़े थे, गुरु थे, इन सब पर कृपा की, तो कौनसा प्रशंसा का कार्य किया? अंधा भी रेवड़ी बाँटता है, तो फिर-फिर के अपने घर वालों को ही देता है। अतः इन सब के उद्धार में भगवान् ने कोई विलक्षण बात नहीं की। किसी ऐसे को तारा हो जो उनको शत्रु समझता हो, सो विदुरजी! इसके एक नहीं अनेकों दृष्टान्त हैं। जिन-जिन असुरों का उन्होंने अपने चक्र से संहार किया, उन सबको मुक्ति दी। आप कहेंगे—'वे लोग हृदय के भक्त रहे होंगे?' सो भी बात नहीं। भगवान् भक्त के अपराधों की ओर नहीं देखते। अपनी भक्त वत्सलता का ही उन्हें सदा स्मरण बना रहता है, कि मेरे नाम के प्रतिकूल कार्य न हो जाय। देखिये, पूतना का क्या काम था? यही न, कि दस दिन तक के सभी बच्चों को मार डाले। उसने एक नहीं हजार दो हजार नहीं, असंख्यों बच्चों के प्राण हर लिये थे। यदि कहें उसकी जाति बड़ी होगी? सो बात भी नहीं। जाति की वह राक्षसी थी। आप कहेंगे राक्षसों में भक्त नहीं होते क्या? प्रह्लाद, विभीषण, बलि, बाणासुर ये सब के सब राक्षस ही थे। इसलिये राक्षस होने पर भी सदाचारिणी होगी? उसका भोजन विशुद्ध होगा? सो बात भी नहीं। उसका

भोजन था छोटे-छोटे बच्चों का रक्त। जिनसे सभी को स्वाभाविक स्नेह होता है, उनकी छाती पर चढ़ कर यह उनका रक्त पान कर जाती। दयाहीन होकर बच्चों को माताओं की गोदों से सदा के लिये अलग कर देती।

आप कहेंगे, राक्षसी और अमेध्य भक्षण करने वाली होने पर भी वह किसी शुभ संकल्प से श्रीपति के समीप आई होगी? यह बात भी नहीं। कुचों में कालकूट विष लगाकर भगवान् को मारने की इच्छा से आई थी। तिस पर भी भगवान् ने उसे नरक नहीं भेजा, उसकी दुर्गति नहीं की। उन्होंने अपने धाने की ओर निहारा। यह मेरे समीप चल कर आई है, जो संसार के सभी व्यक्तियों को छोड़कर मेरे समीप आता है, उसे मैं अपने में ही मिला लेता हूँ। वेष भी उसने धाय का बनाया था। यद्यपि उसके मन में कपट था, किन्तु कपट को तो कपटी ही पहचानता है। भगवान् में कपट का लेश भी नहीं, अतः कपट की ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। आकर उसने स्तनों का पान कराया, दुग्ध अर्पण किया। इस प्रकार उसने पूजा भी की। यद्यपि उसने दूध जहर मिला हुआ अर्पण किया, किन्तु ऐसा सन्देह तो वह करता है, जिसके मन में स्वयं पाप होता है। भगवान् तो पाप पुण्य से परे ही ठहरे। इसलिये इनके समीप आने, धाई का रूप बनाने और दुग्ध अर्पण करने के कारण ही अपनी सगी माता के सदृश गति दी। उनका संसार बन्धन सदा के लिये छुड़ा दिया। उस पूतहीना को सपूता बना दिया। आप स्वयं उसके पुत्र बन गये और मरने पर व्रजवासियों द्वारा उसे जलवा भी दिया। राक्षस आकाशचारी गुप्त होते हैं, अतः अपनी विष पिलाने वाली माता के श्राद्ध के लिये ही उन्होंने

राक्षसों को भोजन कराने को शकट का भंजन किया। राक्षसों को तृप्त किया। ऐसे दयालु को छोड़ कर और किसकी शरण में जायँ ?"

छप्पय

नाम जाति कुल कर्म भाव सम्बन्ध न पेखें।
कहहु जीव अल्पज्ञ अलख कूँ कैसे देखें॥
कैसे हू आजाय ताहि श्री हरि अपनावें।
दुर्जनता दुख मेटि परम निज धाम पठावें॥
पापी, द्वेषी, गुण रहित, नित निन्दे नित अघ करें।
तामस, क्रूर, पिशाच खल, देखि मरें, तेहू तरें॥

आत्माराम की रमणीय क्रीड़ायें

(११३)

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।
रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥
स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् ।
चारयन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत् ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २अ० २८, २९ श्लो०)

छप्पय

श्री - वृन्दावन परमरम्य कालिन्दी कुंजें ।
नित वसंत जहँ बसे मधुर स्वर मधुकर गुंजें ॥
गावें रोवें हँसे तहाँ नर नाट्य दिखावें ।
स्वरमय वेनु बजाय ग्वाल सँग गाय चरावें ॥
मामाजी सौगात महँ, भेजे भीषण असुर गन ।
खेले तिनतें बालवत, मारि दई चरननि शरन ॥

स्वभाव को दुस्त्यज बताया है। सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु का नित्य आनन्द में मग्न रहना ही स्वभाव है। वे किसी भी वेष में अपने को छिपावें, किसी भी देश में विशिष्ट मूर्ति धारण

---

*उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी ! सर्व समर्थ होने पर भी भगवान् ने कैसी-कैसी कौमारी क्रीड़ाओं का प्रदर्शन किया। सिंह शावक के

कर लें। उनका वह सहज स्वभाव नहीं जायगा। उनकी सभी चेष्टायें सुखमय तथा आनन्दमय होंगी, दूसरों को उन्हें देखने से अपार सुख होगा, हे स्वयं भी अपनी क्रीड़ा से सुख से दिखाई देंगे। उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! मथुरा के कारा-वास से, चोरी से छिप कर डर कर भाग आने पर, ग्यारह वर्ष आप जंगली ग्वालबालों के साथ व्रजमंडल के वन और उप-वनों में घूमते रहे। बलदेवजी भी साथ थे। असंख्यों छोटे-छोटे गोपकुमार उनके सखा थे, बहुत सी व्रजबालायें और व्रजाङ्गनायें उनकी सहचरी थीं। वहाँ इन्होंने अपनी समस्त बाल लीला की सुषमा बिखेर दी। दिव्य अप्राकृतिक बालक की जो मनमोहिनी चित्ताकर्षिणी लीलायें होती हैं, वे सब उन्होंने व्रज के वनों में प्रदर्शित कीं। वे व्रज के ग्वालबाल धन्य हैं, वन्दनीय और पूजनीय हैं, जिनके साथ श्यामसुन्दर ने अति मनोहर बालकपन के खेल किये। वे गोप, गोपी, गौ तथा ग्वालबाल तो उनके नित्य सहचर ही थे वे तो वन्दनीय हैं ही, हम तो उन असुर और दैत्यों दानवों की भी वन्दना करते हैं, जो चक्रायुध भगवान् के हाथ से मारे गये। जिन्होंने गरुड़ की पीठ पर विराजमान, उनके कन्धे पर कर रखे हुए जगद्वन्द्य भगवान् के दर्शन किये हैं। कैसे भी हों, वे भी भगवान् के भक्त ही हैं। अन्तर इतना ही है, कि द्वेष भाव से भजते हैं और गोप गोपीगण उनकी स्नेह और प्रेम भाव से अर्चना करते हैं।

समान वे अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में मोलेपन के सहित देखते, कभी हँसते, कभी रोने लग जाते। इसके अनन्तर जब कुछ-कुछ बड़े हुए तब परम शोभायुक्त शुभ्र गौ वृषभ, बछड़े वाले गोधन को चराते हुए अपने सखा ग्वाल बालों को बाँसुरी बजाकर आनन्दित करने लगे।"

वसुदेवजी जब इन्हें नन्दभवन में छोड़ आये, तो वहा नित्य यही धुन सुनाई देती थी—'नन्द के आनन्द भयो जय कन्हैया लाल की।' घुँटुअन चलते थे, व्रज की रज को अपने श्रीअङ्ग में पोत कर दिगम्बर अवधूतों की चर्या का प्रदर्शन करते थे। जब कुछ बड़े हुए, तो माता की उंगली पकड़ कर पाँ-पाँ-पैंया चलने लगे। कुछ और बड़े होने पर ग्वालबालों के साथ श्री यमुनाजी के पुण्य पुलिनों में व्रज के वन्दनीय वनों में बछड़े चराने जाने लगे। जैसे शुभ्र स्वच्छ शोभा युक्त बछड़े थे, वैसे ही मनहर आप भी थे। वे स्वच्छ थे, ये काले थे। वे चार पैर के थे, ये दो पैर के। वे इन्हें प्यार करते, वे उन्हें अपना बन्धु समझते। ये उनके शरीर को खुजाते, निल्हाते, थपथपाते और दूब खिला कर गले से लगाते। वे इन्हें चाटते अपने छोटे-छोटे सींगों की हुड्ड मारते। नित्य जिसमें वसन्त की बहार ही बनी रहती है, ऐसे वृन्दावन में बस कर वृन्दावन विहारी बछड़ों और बालकों के बीच में बढ़ने लगे।

थोड़े और बड़े होने पर अब गौओं और साँड़ों को भी लेकर गोचारण को जाने लगे। कैसी भोली-भोली थी उनकी चितवन, कैसा सुन्दर गठीला था उनका श्री अङ्ग, कैसे उतार चढ़ाव वाले और उपयुक्त थे उनके अंग-प्रत्यंग, कैसी मधुर थी उनकी वंशी? सिंह शिशु की भांति वे इठला कर चलते, राजहंस के समान उनके चरणों के नुपूर कल-कल करते वे इधर से उधर सबको मुग्ध बनाते हुए बिना पादत्राण के नंगे पैरों ही पृथ्वी पर विचरण करते। उनके पाद पद्म इतने सुकुमार थे, कि मेदिनी भी लज्जित हो जाती, वह पिघल जाती और उन चरणों के चिह्नों को अपने हृदय में छिपा लेती। आप बाल विनोद में कभी ठुमक-ठुमक कर नाचते, कभी कान पर हाथ

रख कर उच्च स्वर से गाते, कभी लाठी को घुमाते, कभी पेड़ पर चढ़ते, कभी किसी के कंधे पर उछल कर चढ़ते कभी किसी से लड़ते झगड़ते। कभी विचित्र वेष बनाकर विविध प्रकार की क्रीड़ायें करते।

उनके मामा कंस ने खेलने के लिए बहुत से खिलौने भेजे। वे खिलौने भयंकर हैं—इस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। वे खेलने को नहीं, अनिष्ट करने को भेजे हैं, यह सोचा ही नहीं। वे किस भाव से भेजे गये हैं, इस पर विचार करना उन्होंने व्यर्थ समझा। बस भेजे हैं, यही उनके लिए पर्याप्त था। अच्छे बुरे का भेद हम स्वार्थियों ने अपनी सुविधा के लिए बना लिया है। संसार में न कोई अच्छा है न बुरा। ये सभी श्यामसुन्दर के है। वे स्वयं अच्छे हैं, अतः उनकी सब वस्तुयें भी अच्छी ही हैं। जो स्वयं शिव स्वरूप है, वे अशुभ की सृष्टि करेंगे ही क्यों? जिन्हें हम बुरा कहते हैं, दूसरे लोग—जिनका उनसे स्वार्थ सधता है उन्हें अच्छा बताते हैं। भगवान् को शिशुपाल ने गालियाँ दीं। उन्होंने गालियों को ही स्वीकार कर लिया। पूतना ने जहर दिया, जहर को पी गये। सुदामा ने चावल दिए उन्हें ही चबा गये। दुर्योधन ने उनके सम्मुख मान का प्रदर्शन किया, अतः आपने उसके मान का भी मर्दन करा दिया, उसे भी अपनाया। कंस मामा ने, मारने को ही सही; ये राक्षस रूपी खिलौने भेजे तो हैं, अब मामा की दी हुई चीजों को लौटावे कैसे? यह तो शिष्टाचार के विरुद्ध है। दान की वस्तु लौटाई नहीं जाती। मामा की सौगात ग्रहण कर लेना भानजे का कर्तव्य है। अतः मामा ने जितने भी असुर राक्षस भगवान के समीप भेजे एक को भी उन्होंने मथुरा लौटने नहीं दिया। थोड़ी देर उससे खेल कर चकना-

चूर करके नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, तोड़ मरोड़ कर ब्रजरज में छोड़ दिया।

कालिग नाग ने उन्हें काटना चाहा, उनके समस्त श्री अंग में विष भर देना चाहा। आप तो विषहारी ही ठहरे। विष उनका क्या कर सकता था? कालिय नाग का दमन किया और उससे कह दिया—यमुनाजी से अपने डेरे डंडे उठाओ। अपने टाट कमंडलु बाँधकर फिर रमणक द्वीप में चले जाओ। गौओं और गोपों के विष को उतारा और कालियह्रद का परम स्वादु पय गौ और गोपों को पिलाया।

विदुर जी! भगवान् ने बालक होने पर भी अपने बड़े बूढ़ों को कैसी-कैसी सुन्दर शिक्षायें दीं। घर में यदि धन बढ़ जाय और नौका में यदि पानी भर जाय, तो बुद्धिमान् पुरुष इन दोनों को उलीचते हैं। यदि लोभवश इन बढ़ी हुई वस्तुओं को जमा होने दें, तो बोझा बढ़ जायगा, नौका भी डूब जायगी और हम उस पार भी न जा सकेंगे। अतः बढ़े हुए धन का सर्वश्रेष्ठ सद्व्यय यह है, कि उससे यज्ञ पुरुष भगवान् श्यामसुन्दर का भजन करे, उनके अभिन्न विग्रह श्रेष्ठ विप्रों को मान सम्मान और दान द्वारा सन्तुष्ट करे। विविध यज्ञों द्वारा पुराण पुरुष की पूजा करे। ऐसा करने से लोक परलोक दोनों बनते हैं।

भगवान् जब से ब्रज मंडल में प्रकट हुए, तब से समस्त ब्रज भूमि लक्ष्मी की क्रीड़ास्थली बन गई। वहाँ आकर लक्ष्मी खुल कर खेलने लगी। नन्दजी की धन-सम्पत्ति का ठिकाना नहीं। उनके द्रव्य की गणना नहीं। लाखों गौओं का इतना घृत एकत्रित हो गया था, कि उसे रखने को कहीं स्थान ही न

रहा। तब भगवान् श्यामसुन्दर ने उनसे इन्द्र की पूजा छुड़ा-कर गोवर्धन की पूजा कराई। आप पूछेंगे इन्द्र की पूजा क्यों छुड़ा दी? क्या इन्द्र देवताओं के अधिपति नहीं हैं? क्या वे पूजार्ह नहीं हैं? क्यों नहीं, अवश्य हैं। वे देवताओं के राजा भी हैं, वर्णाश्रमियों को उनकी पूजा करनी ही चाहिये; किन्तु जहाँ उनके बाप का भी बाप बैठा है, वहाँ उनकी ही आज्ञा से यदि पूजा न भी की जाय तो कोई हानि नहीं। दूसरे विनोदी का विनोद ही जो ठहरा। लीलाधारी की लीला ही जो ठहरी। इन्द्र के अभिमान को भी चूर करना था, उसे भी दंड देना था उसे भी यह बताना था, कि तुमसे भी ऊपर कोई है। उस समय का इन्द्र भगवान् को भूले हुए था। वह भगवान् को भी एक मर्त्यलोक का गोप बालक ही मानता था। उसे अभिमान हो गया था कि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। अतः गर्वहारी ने उसके गर्व को खर्व करने के लिए ऐसी क्रीड़ा रची, ऐसा विनोद किया। जब गोपों ने भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके इन्द्र के स्थान में प्रत्यक्षदेव हरिदासवर्य गिरिराजगोवर्धन की पूजा की तब तो इन्द्र के कोप का ठिकाना नहीं रहा। एक तो भूखा बाघ, दूसरे उसे कुपित कर दिया जाय, जिस प्रकार वह अपने कुपित करने वाले का सर्वनाश करने पर उतारू हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्र ने नन्दनन्दन के सहित समस्त व्रज-वासियों को नष्ट कर डालने का निश्चय किया और प्रलय की वर्षा के समान व्रजवासियों के ऊपर मूसलाधार वर्षा की। भगवान् हँसे। वे इधर उधर छाता ढूँढ़ने लगे। व्रजवासियों के पास छाते तो थे, किन्तु इतने बड़े नहीं थे जिनसे सभी गोप-गोपी गोपकुमार और गायें वर्षा से बच सकें। मूर्तिमान गोवर्धन माल खा-खाकर मोटे हुए भगवान् के भाव को ताड़

गये। वे उछल कर भगवान् के हाथ में आ गये। उन्होंने उसे उंगली पर ही रख कर सब को वर्षा के जल से बचा लिया, करुणा वश सब की रक्षा की। अपने श्रीहस्त से छत्र-छाया करके उन अनाथों को सनाथ बना दिया। उन्हें विपत्ति-वारिधि में डूबते देख दया वश बचा लिया।

विदुरजी! व्रज में असंख्यों लीलाएँ उन यशोदा-आनन्द-वर्द्धन, व्रजमंडल-मंडन, गोपीजन-वल्लभ ने की। वे सब की सब रसमय और भावमय लीलायें थीं। उनके श्रवणमात्र से मनुष्य संसार सागर से बात की बात में पार हो जाता है। पूतना-बध से लेकर अक्रूरागमन तक जो-जो लीलायें की वे सभी मन-हर रस से पूर्ण हैं, किन्तु रासलीला में जो उन्होंने अपना दिव्यरस अलौकिक आनन्द प्रकट किया, वह वाणी का विषय नहीं। रासलीला व्रज की समस्त लीलाओं से सुखद मनोज्ञ और रस रूपा है। उस लीला में उन्होंने अपने सौन्दर्य माधुर्य की पराकाष्ठा कर दी। कोटि कन्दर्पों को भी लज्जित करने वाले उनके उस रूप रस का जिन्होंने नयनों द्वारा पान किया और आलिंगन परिरंभण और चुम्बन द्वारा उन आत्माराम के साथ रमण किया, विदुरजी, मैं तो उन्हीं गोपियों की चरणरज का उपासक हूँ। वे ही भाग्यवती व्रजांगनायें मेरी शिक्षा-दीक्षा की गुरु है। उन्हीं के पाद-पद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ। विदुरजी! रासलीला का विषय बड़ा ही गहन है, अतः उसका मैं यहाँ वर्णन करूँगा, वह तो भावमय वस्तु है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! इतना कहकर उद्धवजी थोड़ी देर के लिए चुप हो गये। रास क्रीड़ा का प्रकरण आते ही उन्हें भाव समाधि हो गई।"

छप्पय

नाथ्यो कालियनाग नीर—ह्रद निर्मल कीन्हों।
इन्द्रयाग को भाग राज गिरवर कूँ दीन्हों॥
कर्‌यो कोप सुरराज प्रलय को जल बरसायो।
ब्रज वासिनि करि अभय शैल कर कमल उठायो॥
ग्वाल बाल गोपी गऊ, जब जल तें निर्भय भये।
रस बरसायौ रास महँ, हरि अन्तर्हित ह्वै गये॥

———

(११४)

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो—
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथम्,
हतं व्यकर्षद्व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० ३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

वृन्दावन महँ प्रकट चरित अनुपम दरसाये।
मथुराजी तें गये फेरि मथुरा महँ आये॥
मामा को आतिथ्य ग्रहण करि हरषि पधारे।
गज मुष्टिक चाणूर दुष्ट सब पकरि पछारे॥
सब असुरनि के मुकुटमणि, कुल कलंक वा कंस कूँ।
मारि घसीट्यो गलिन महँ, अभय करयो यदुवंश कूँ॥

पृथ्वी गोल है। संसार चक्र बार-बार घूमता रहता है। आज जिसे हम छोड़ कर चल दिये, कालान्तर में हम फिर वहीं पहुँच जाते हैं। कल जिससे डरते थे, आज वही हमसे

*उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! फिर श्यामसुन्दर अपने भाई बलदेवजी के सहित माता पिता को सुख देने के निमित्त व्रज से मथुरा

डरता है। कल जिसके डर से बड़े-बड़े चक्रवर्ती काँपते थे, आज वही साधारण मनुष्यों से अपमानित होता है। यह सब समय की महिमा है, काल भगवान् की क्रीड़ा है। बलाबल को करने वाले कालदेव की कुटिल गति है, इसे ही दर्शाने को भगवान् ने मनोज्योचित क्रीड़ायें कीं।

उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी ! ग्यारह वर्ष तक भगवान् व्रज में प्रकट लीलाओं के द्वारा व्रजवासियों तथा व्रजाङ्गनाओं को संयोग सुख का आस्वादन कराते रहे। फिर आपने अपनी प्रकट लीला को व्रज से संवरण किया। व्रजवासियों के हृदयों से तो वे जा ही कैसे सकते थे ? उनके हृदयों में तो वे सदा निवास करते थे। उनके संग तो उनकी नित्य लीला होती है, किन्तु लोक दिखावे को वे अपने मामाजी के बुलाने से अक्रूर के साथ मथुरापुरी गये।

आप पूछेंगे—क्या कंस मामा से बदला लेने गये ? अजी कृष्ण कहो, बदला लेने की उन्हें क्या आवश्यकता थी ? बदला तो वह लेता है, जो क्रोधी हो, जिसकी दृष्टि में मान अपमान का ध्यान हो। भगवान् तो वसुदेव और देवकीजी को सुख पहुँचाने गये थे। उनकी बढ़ी हुई भावना को पूर्ण करने पधारे थे। उनके प्रत्येक कार्य का एक ही उद्देश होता है; वह यही कि किसी भी प्रकार मेरे भक्तों को सुख मिले। मथुरा वासिनी नारियाँ जब वृन्दावन की बातें सुनतीं, व्रजाङ्गनाओं के अनुपम प्रेम की चर्चा उनके कर्ण कुहरों में प्रवेश करती, तो वे बार-बार पश्चात्ताप करतीं—'हाय ! हम उस सौन्दर्य्य माधुर्य्य की सजीव

पधारे। वहाँ समस्त शत्रु समुदाय के अग्रणी कंस को उच्च मंच से गिरा कर उसकी निर्जीव देह को बलपूर्वक पृथ्वी पर घसीटा।"

साकार मूर्ति को न देख सकीं। क्या कभी हमारे भी ऐसे भाग्य होंगे, जो श्यामसुन्दर को अपने इन चर्म चक्षुओं से प्रत्यक्ष निहार सकेंगी ?' मथुरा नगर निवासी पुरुष जब गोपों के सौभाग्य के समाचार सुनते तो सोचते—कभी उन नट-नागर व्रजनवचन्द्र घनश्याम की छटा देखने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त होगा क्या ? मल्लों के कानों में जब कृष्ण की अखाड़े की कुश्तियों की बात सुनाई देतीं, तो उनकी भुजाएँ फरकने लगतीं। क्या श्रीकृष्ण कभी अपने अङ्गों को हमारे अङ्गों में सटा कर हमसे भी कभी युद्ध करेंगे ? क्या पशु बल में ही पड़े हुए हम द्विपद पशुओं का कृपा के सागर आकर कभी उद्धार करेंगे ? कंस मामा तो सोते-जागते, उठते-बैठते चलते-फिरते, खाते-पीते, नहाते-धोते सब समय उन्हीं का ध्यान करते। कहीं आ तो नहीं गये ? श्याम मेरे काल हैं, कृष्ण मुझे कब मारेंगे ? मेरा वध उनके ही द्वारा होगा।' भय से व्याकुल हुए मामा भानजे का ही ध्यान करते रहते। वसुदेवजी जब सुनते—अब मेरा बच्चा बड़ा हो गया। अब तो वह असुरों को मुष्टि से ही मार देता है, दानवों को हँसते-हँसते पछाड़ देता है—तब तो उनके हर्ष का ठिकाना न रहता। गत भाद्रपद की अष्टमी को मेरा बच्चा दस वर्ष का हो गया। इस अष्टमी को ग्यारह वर्ष का पूरा हो जायगा। वह शुभ दिन मंगल मुहूर्त कब होगा, जब मैं अपने बच्चे को छाती से लगा कर प्यार कर सकूँगा ?

इधर माताजी दिन रात अपने उस नूतन जलधर के समान श्याम रङ्ग वाले पुत्र को याद करती रहतीं। स्नेह से उनके स्तनों से दूध बहने लगता, वे विह्वल हो जातीं, उनको क्षण-क्षण भारी हो जाता। वे इसी प्रतीक्षा में सोतीं, कि सम्भव

है प्रातः—अपने प्रिय पुत्र का सुन्दर मुख देख सकूँ। उठते ही वे वृन्दावन की ओर निहारने लगतीं। ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता, उनका मुख म्लान होता जाता। भगवान् भुवन भास्कर अस्ताचल में प्रस्थान कर जाते। माँ निराश हो जातीं अब आज क्या आवेगा? कल आवे तो आवे। इस प्रकार दिन रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्ष के ऊपर वर्ष बीत जाते। दिन गिनते-गिनते ग्यारह वर्ष इसी चिन्ता में बिताये।

पूर्व समय में देवताओं ने सांदीपनि मुनि से कहा था—स्वयं साक्षात् परब्रह्म तुम्हारा शिष्यतत्व स्वीकार करेंगे। तुम्हारे समीप अवन्तिपुरी में पढ़ने आवेंगे। वे काशी वासी ब्राह्मण थे, वहीं उत्पन्न हुए, वहीं पढ़े। अब भगवान् तो आवेंगे अवन्ति पुरी मे वहाँ चलो चलें। अवन्तिका व्रज के समीप है। काशी से चलकर ब्राह्मण अपनी पत्नी के सहित अवन्तिपुरी में आये। दूर-दूर से छात्र उनके समीप पढ़ने आने लगे, किन्तु भगवान् तो अभी नहीं आये। रात्रि दिन उन्हें यही चिन्ता बनी रहती थी। ये सभी भगवान् के अनेकों जन्मों के भक्त थे। जैसे चातक स्वाति बूँद की प्रतीक्षा में मुँह खोले बैठा रहता है, उसी प्रकार ये सब बैठे रहते थे। घट-घट की जानने वाले प्रभु उनकी उत्सुकता को बढ़ाने के लिये व्रज में खेल करते रहे। जब इन सब की उत्कंठा पराकाष्ठा पर पहुँच गई, तब तो आप अपने बड़े भाई बलदेवजी को साथ लेकर—अक्रूर चचा के संग रथ पर बैठ कर—सजी सजाई मथुरापुरी में आ गये। मथुरा निवासी नर-नारियों ने उनकी अनुपम सौन्दर्य माधुर्य रूपा सुधा का अतृप्त होकर, उत्सुकता के सहित पान किया। सभा में बैठे सभासदों ने उस सजीव

सौन्दर्य का स्वागत किया। अपनी चिरभिलषित वस्तु को नेत्रों के सम्मुख पाकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। मल्लों ने दो दो हाथ किये, नवनीत से भी कोमल उनके श्रीअङ्ग का स्पर्श किया। उसमें मुक्के मारे और उसे कसकर पकड़ कर छाती से चिपटा लिया। उन महाभाग मल्लों के भाग्य की सराहना कौन कर सकता है, जिनके एक अङ्ग अधर के एक बार स्पर्श करने के लिये व्रजाङ्गनाओं ने कितने व्रत, उपवास, जप, तप किये। उन्हीं श्यामसुन्दर के समस्त शरीर को अङ्ग में भर कर वे बलपूर्वक मसल रहे थे। श्यामसुन्दर उनके ऊपर चढ़ कर अपने कमल से भी कोमल करों से उन पर प्रहार कर रहे थे। जिनको श्यामसुन्दर ने अपना लिया; फिर वे इस शोक मोह पूर्ण संसार में रह कर क्या करेंगे? भगवान् ने उन्हें अपने सुखमय आनन्दमय धाम पहुँचा दिया।

मामाजी को तो मारो-मारो यही दो शब्द याद हो गये थे। उसे पकड़ो, उसे मारो उसे पछाड़ो—यही बार-बार बक रहे थे। यह मुझे मार डालेगा, यह मेरा काल है। यही उनकी दृढ़ धारणा थी। भगवान् तो सबके हृदय को भी जानते हैं। इसीलिये ऊँचे मंच से मामाजी को गिरा कर उन्हें उनकी भावना के अनुसार मार दिया। फिर सोचा—मामा तो बड़े मानी थे। उन्होंने कभी साष्टांग प्रणाम न किया होगा। बिना साष्टांग प्रणाम किये शरीर में व्रजरज लग नहीं सकती। जिस शरीर का स्पर्श व्रजरज से नहीं हुआ उनका उद्धार होना असंभव है। अतः इनके अङ्ग का अभिषेक व्रजरज से न हुआ, तो इनकी दुर्गति होगी। यही सोच कर उन्हें मार कर टांग पकड़ कर श्री मथुरा की गलियों में उसी प्रकार उन्हें घसीटा जैसे बच्चे खेलनी गाड़ी को घसीटते हैं।

फिर बन्दी-गृह में पड़े हुए अपने माता पिता को जाकर सन्तुष्ट किया। वृन्दावन में तो चटसाल थी ही नहीं, वहाँ दिन भर गौएँ चराते रात्रि में सो जाते, पढ़ने लिखने का काम भी नहीं था। गौओं की गणना का काम था, सो उसे माला के दानों के संकेत से कर लेते। वहाँ तो अपढ़ ही रहे। माता पिता ने सोचा—बच्चे पढ़े नहीं तो इनका विवाह भी न होगा। बिना पढ़े-लिखे को अपनी कन्या कौन देगा? इसी चिन्ता से इच्छा न होने पर भी उन्हें अपने घर से दूर अवन्तिका नगरी में दोनों को पढ़ने के लिये भेजना पड़ा।

सान्दीपनिजी देखते ही ताड़ गये, हो न हो ये ही भगवान् हैं। एक बार जो पढ़ाया उसी समय कण्ठ हो गया, तब तो वे समझ गये—ये पुराण पुरुष हैं। पढ़ना लिखना तो इनका लोक संग्रह मात्र है, ये सब पढ़े, लिखे हैं, इन्हें कुछ भी पढ़ना लिखना नहीं है। फिर भी गुरु बनने का लोभ तो सब लोभों से बड़ा है। मूर्ख से मूर्ख के पास जाओ, उससे भी कुछ पूछो, वह भी गुरु बन जायगा। सभी लोग इसी ताड़ में रहते हैं, कोई न कोई चेला बन जाय, कोई फंस जाय। चाहे उपदेश करने की योग्यता न भी हो, तो भी हम समीप आये हुओं के सम्मुख अपने को ब्रह्मा से भी चार हाथ ऊँचा प्रदर्शित करते हैं। सान्दीपनि मुनि ने सोचा—इस देव दुर्लभ पद को क्यों छोड़ते हो? जब चौंसठ दिनों में चौंसठ कलायें सुनकर ज्यों की त्यों सुना दीं और गुरु दक्षिणा के लिये कहा, तो वृद्ध ब्राह्मण हक्का-बक्का रह गया इन सर्व समर्थ ईश्वरों के भी ईश्वर से क्या माँगें? अपनी घर वाली से सलाह ली। स्त्री को सबसे सुख की वस्तु है पुत्र संयोग; सबसे बड़ा दुःख है पुत्र वियोग। मरे हुए पुत्र की

माँग गुरु माता ने की। भगवान् ने मरे हुए पुत्र को लाकर दे दिया और फिर मथुराजी में आ गये।

बालकपन में जैसी टेव पड़ जाती है, वह अन्त तक नहीं छूटती। पैदा होते ही भगोड़े बने। मथुरा छोड़ कर गोकुल भाग गये। अब यहाँ से भी भागदौड़ मचाई। डर कर भागे और समुद्र के बीच द्वारावती में जाकर अपना ठाठ जमाया।"

उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! भगवान् की लीलाओं में कोई कारण नहीं, कोई हेतु नहीं। वे होती हैं, क्योंकि वे आनन्द के राशि हैं। उस राशि में से जो भी निकलेगा वह सुखद ही होगा। अतः उनकी प्रत्येक लीला सुख देने वाली ही होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विदुरजी वृन्दावन और मथुरा की लीलाओं का संकेत करके अब द्वारका की लीलाओं को सुनाने को प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

विदुर! कृपा वश कृष्ण करें क्रीड़ा जा जग महँ।
जहँ जहँ सुमरहिं भक्त, होयँ परकट प्रभु तहँ तहँ॥
कहूँ पुत्र बनि प्रेम सहित पितु पगकूँ पूजें।
कहूँ धारि के अस्त्र शस्त्र ले रण महँ जूझें॥
जाकी वाणी वेद हैं, सभी शास्त्र उच्छ्वास हैं।
जाहिं पढ़न चटसारते, सब उनके परिहास हैं॥

द्वारावती की लीलायें

(११५)

कालमागधशाल्वादीननीकैं रुन्धतः पुरम् ।
अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ॥
शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च ।
अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत्कांश्च घातयत् ॥*

(श्री भा०.३, स्क० ३ अ० १०, ११ श्लो०)

छप्पय

मथुराहू तें भगे डरे द्वारावति आये ।
करे न कोई ब्याह दाव अरु पेंच भिड़ाये ॥
कर्यो राक्षस ब्याह, छीनकें कन्या लीन्हीं ।
रुक्मी क्रोधित भयो दुर्दशा ताकी कीन्हीं ॥
बाणासुर, शम्बर, द्विविद, दंतवक्त्र बल्वल असुर ।
मरवाये मारे कछू, हर्यो भार भू सुरेश्वर ॥

जिसका जन्म जैसे नक्षत्र में होता है। जीवन भर उसे वैसी ही घटनाओं का सामना करना पड़ता है। पूतके पाइँ पालने में ही दिखाई दे जाते हैं। जन्म के शुभाशुभ, पैदा होते ही

* उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी ! मथुरा में आने पर कालयवन, जरासन्ध और शाल्व आदि दुष्टों ने जब सेनाओं सहित भगवान् की

प्रतीत होते हैं। छठी के दूध का प्रभाव प्रारम्भ से ही प्रकट होने लगता है। कृष्ण पक्ष में जन्म हुआ, इसलिये काला रङ्ग होना स्वाभाविक ही है। रात्रिमें जन्म, अतः कोई भी उनकी चेष्टा को नही समझ सकता। पैदा होते ही योग माया को बुलाया अतः सामने होते हुए भी लोगों की बुद्धि पर परदा पड़ जाता है। अन्तःकरण के भीतर बैठे हुए भी उन्हें कोई माया से मोहित होने के कारण देख नहीं सकता। पैदा होते ही भगे, इसलिये इनके घर द्वार का निश्चय नहीं। जब अवसर देखा भाग खड़े हुए। जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर बताया है, किन्तु जब इन्हें भागने की धुनि सवार हो जाती है, तो जननी जन्मभूमि सभी को भुलाकर भाग खड़े होते हैं। जिसका पैर एक बार निकल गया, फिर वह स्थाई रूप से एक घर में टिक नहीं सकता। पालने में ही पूत ने पूतना को पीस दिया, इसलिये जीवन भर पापियों को पीटते पिटवाते रहे।

उद्धवजी कहते हैं—'विदुरजी! भगवान् की वाता पूछते हो, उनकी बातें तो सभी विचित्र ही हैं। दूसरों की यह बातें होतीं, तो हमें कहने में लज्जा भी लगती, किन्तु इनके लिये तो सभी धान बाईस पसेरी ही हैं। मान अपमान, जय पराजय में भी ये आनन्द का ही स्रोत बहाते रहते हैं। देखिये, काल-

---

पुरी को घेर लिया, तो उन दुष्टों को भगवान् ने स्वयं मारा यद्यपि उन्हे मुचुकुन्द भीमसेन आदि से मरवाया था, किन्तु उन अपने भक्तों को उन्होने मारनेवाला दिव्य तेज स्वयं ही प्रदान किया था, शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, बल्वल, तथा दन्तवक्त्र आदि असुरों में से किसी को तो स्वयं ही मारा और किसी को अपना तेज देकर दूसरों से मरवा डाला।"

यवन और जरासन्ध के भय से मथुरा छोड़ कर नंगे पैरों उनके सामने ही मुट्ठी बाँधकर भाग खड़े हुए और समुद्र के बीच में द्वारावती पुरी बसाकर रहने लगे! अब ऐसे भगोड़े का विवाह कौन करे? विवाह में तो घर और वर दोनों देखे जाते हैं। घर तो इनका कोई निश्चय ही नहीं। वृन्दावन में कंधे पर लाठी रख कर काला कम्बल ओढ़े, छकड़े में बर्तन भाँड़े लादे, गौओं को आगे-आगे हाँकते हुए, एक वन से दूसरे वन में भटकते रहे। जहाँ कहीं रहना हुआ, घास फूस के गोष्ठ बना लिये, करील, बबूल की बाढ़ बाँध कर गौशाला रच ली। आज इस वन में हैं, कल उस वन में। इस प्रकार व्रज चौरासी कोस के बारह वन और बारह उपवनों में घूमते फिरे। फिर आये मथुरापुरी में कि अब ग्वारिया से राजा बनेंगे। राजधानी बना कर राज्य सुख भोगेंगे। किन्तु नक्षत्र का फल अन्यथा कैसे हो सकता है? वहाँ से भी घर द्वार उठाकर भागे और समुद्र के बीच में घर बनाया। द्वारावती नई-नई ही बसाई थी। अभी तक लोगों को विश्वास नहीं था, कि 'यहाँ भी ये टिकेंगे या नहीं मेरी बच्ची गृहणी बनेगी, घर की मालिकिन होगी, जिसके घर ही नहीं उसे लड़की दे दें, तो उसका क्या पता, छोड़ छाड़कर भाग खड़ा हो। इसलिये सभी राजा ऐसे भगोड़े से डरते थे। जान बूझकर अपनी कन्या को कौन घर द्वार हीन बनावे। बलदेवजी ने तो जैसे तैसे छोटी बड़ी का विचार न करके किसी तरह गठबंधन कर लिया था; किन्तु इनकी कहीं से तिकड़म न भिड़ी। तब तो नारदजी की सहायता लेनी पड़ी। छीनने-झपटने की आदत तो व्रज से ही पड़ चुकी थी। माखन चुराते-चुराते साहस बढ़ गया था। सुई चुराते-चुराते ही सुमेर चुराने का साहस हो जाता है। वे सोचने लगे—अच्छी बात है, कोई राजी

से कन्या नहीं देता, तो हम विना राजी के ही ले आवेंगे, बल पूर्वक छीन लावेंगे। अविवाहित रह कर अपनी हँसी न करावेंगे।

विदुरजी! भगवान् को विवाह की क्या कमी थी और क्या आवश्यकता थी, किन्तु उन्हें तो लोकवत् लीला करनी थी, अपना अतुल ऐश्वर्य और अप्रतिम प्रभाव दिखना था। सबके देखते-देखते भवानी के मन्दिर से पूजा करके लौटती हुई रुक्मिणीजी को ब्याह के दिन दूसरे दूल्हा को द्वार पर ही रोता छोड़ कर रथ में बिठाकर भगा लाये। सब कहने लगे—कौन ले गया, कहाँ गया? किन्तु इन्होंने किसी की सुनी ही नहीं आनन-फानन में अपनी चीज को लेकर यह गये वह गये। सब टुकुरु-टुकुरु देखते के देखते ही रह गये। अब तो साहस बढ़ गया। एक, चार, दो, छै, दस, बीस, सौ, दो सौ, पाँच सौ, हजार, इस तरह सोलह हजार एक सौ आठ विवाह किये। कैसी उनकी लीला है?

नानजिती को जीतने के लिये सात बैलों को सात रूप रख कर नाथ लिया। किसी को जीतने के लिये मत्स्यभेद किया। कहीं जाकर कन्या को मांग लिया। इस प्रकार पत्नियों की अलग एक बस्ती ही बसा दी। विदुरजी! आप तो भगत ही ठहरे। विदुरजी भी भगतिनि ही हैं। आपको क्या पता कि पुरुषों को अपनी रूठी हुई पत्नियों को मनाने के लिये, उन्हें प्रसन्न करने के लिये क्या-क्या अकर्तव्य कार्य करने पड़ते हैं। भगवान् इन सब कामों में बड़े दक्ष थे। उनकी एक पटरानी सत्यभामा, बड़ी मानिनी थी। बात-बात में तुनुक उठती, मुँह फुला कर बोलना बंद कर देती। भगवान् को भी खरी-खटी सुना देती, किन्तु

वे तो ईश्वर थे, सर्वज्ञ थे, सर्व समर्थ थे, अपनी प्रिया का प्रिय करने के लिये वे सब कुछ कर सकते थे। उनके कहने से बल पूर्वक बिना पूछे इन्द्र के नन्दन वन से कल्पवृक्ष को उखाड़ लाये। इस पर उनके प्रभाव को भूलकर, क्रोध में अन्धे होकर इन्द्र लड़ने आये। उनकी बहूने भी उन्हें उकसाया, किन्तु बलवान् से क्या लेते ? अपना सा मुँह लेकर लौट गये। आठ पटरानियों को तो इधर उधर से लाये, सोलह हजार एक सौ तो एक ही जगह मिल गईं—भाग्य वश एकत्रित खजाना मिल गया। भौमासुर के बन्धन में पड़ी उन कन्याओं का उसे मार कर उद्धार किया। उसकी पत्नी—पृथ्वी के अंश से उत्पन्न होने वाली की प्रार्थना से उसके पुत्र भगदत्त को भौमासुर का राज्य दे दिया और सब कन्याओं से तत्काल उतने ही रूप बनाकर विवाह कर लिया। लड़ाई झगड़े से बचने के लिये बिना भेदभाव के सबसे अपने समान सुन्दर दस-दस पुत्र पैदा किये।

व्रज में तो अनेकों असुरों को बिना शस्त्र के लात घूँसो तथा मुक्कों से ही मारा था। वहाँ से आकर भी अनेकों असुररूप धारी पराक्रमी और सिंहासनासीन राजाओं को स्वयं मारा या दूसरों से मरवाया उनमें कालयवन, जरासन्ध, शाल्व, शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, दन्तवक्त्र, दुःशासन, शकुनि दुर्योधन के सौ पुत्र ये मुख्य थे।

यह तो विदुरजी ! मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि इन पर टालो बैठे रहा नहीं जाता। बैठना ही होता तो क्षीर सागर से बढ़ कर सुन्दर शान्त एकान्त जगह और कहा मिलेगी ? जहाँ न मच्छर न मच्छर, खटमल और जूओं का भी भय नहीं शेषजी के अत्यन्त कोमल गुदगुदे अंग की सुन्दर शैया

लक्ष्मीजी जहाँ उनके श्रीचरणों को अपने सुखस्पर्शी ऊरुओं पर रख कर कमल से भी कोमल करों से दबाती रहें, आराम करने को इससे सुन्दर साधन कहाँ मिलेंगे। जब आराम करना होता है, तब तो वहाँ सोते हैं। जब धूमधड़ाके की इच्छा होती है, तब अवनि पर अवतार लेते है। तब इसे मार, उसे मार इससे भिड़, उससे भिड़, यही कौतुक करते रहते हैं। अपने से कोई न भी लड़े तो किसी का पक्ष ले लेते हैं, एक को दूसरे से लड़ा देते हैं और आप तटस्थ बन कर तमाशा देखते रहते हैं। समयानुसार कभी किसी का बल बढ़ा देते हैं, कभी किसी का घटा देते हैं।

धृतराष्ट्र और उनके पुत्रों ने इनके पधारने पर इनका बड़ी धूमधाम से स्वागत किया था। वे बार-बार कहते थे, कि आप जैसे ही पांडवों के सम्बन्धी वैसे ही हमारे। किन्तु ये मानते ही नहीं थे, इनकी एक ही टेक थी। जो मेरे भक्तों से शत्रुता रखता है, वह चाहे मेरी कितनी भी ठाठ बाट से पूजा प्रतिष्ठा करे वह मेरा शत्रु है। उन्हें बहुत पहल पसन्द थी। कुछ धूमधड़ाका होता रहे। उन्हें भूमि के बढ़े हुए भार को हलका करना था, भाई भाइयों को परस्पर में भिड़ा दिया और आप निःशस्त्र होकर देखते रहे। दुर्योधन ही जिन सबका अग्रणी था, उन सब पराक्रमी शूरवीरों को मार कर अंत में दुर्योधन को भी भीमसेन से मरवा दिया। सब को बड़ी प्रसन्नता हुई। सबने सोचा—चलो अच्छा हुआ, पृथ्वी का बढ़ा हुआ भार उतर गया। अठारह अक्षोहिणी सेना मारी गई। इसमें सभी भूमंडल के अभिमानी, देवताओं के कंटक मनुष्य शरीर में उत्पन्न हुए दैत्य मारे गये किन्तु भगवान् प्रसन्न नहीं हुए। सोचने लगे—बाहर के शत्रु तो

अवश्य मारे गये, किन्तु मेरे घर में जो ये शत्रु बैठे हैं, वे भी तो पृथ्वी के भार ही हैं। मदिरा पान करके तृप्त हुए ये यादव अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं। मेरी छत्रछाया में रहने के कारण कोई इन्हें मार भी नहीं सकता। इनका बाल भी बांका नहीं कर सकता। दूसरों के द्वारा ये अजेय हैं। जब तक ये जीते हैं, तब तक पृथ्वी का सम्पूर्ण भार उतरा हुआ नहीं समझा जा सकता। कैसे मारे जायँ ? यही विचार उनके मन में उठा।

विदुरजी ! उनके लिये अपना-पराया नहीं। उनके यहाँ प्रेम को स्थान है, मोह को नहीं। दुष्टता कोई भी करे उनका दमन वे करते हैं। भक्ति किसी वर्ण, किसी आश्रम का करे उसका प्रतिपालन वे हर प्रकार से करते हैं। अब उन्हें यादवों के संहार की चिन्ता हुई। भगवान् सोचने लगे—किसी तरह से ये परस्पर में ही लड़ पड़ें। मदिरा के मद से उन्मत्त होकर ये मोह ममता का परित्याग करके एक दूसरे को मारने लगें, तब तो इनका संहार संभव है। नहीं तो मेरे अंश से उत्पन्न होने वाले इनको कोई दूसरा मारने में समर्थ नहीं हो सकता। इसके लिये यदि मेरा उद्योग हो तो ये मर सकते हैं।

भगवान सत्य संकल्प हैं, उनके संकल्प होते ही मानों यादव गतायुष हो गये। उनकी कान्ति नष्ट हो गई। उनका विवेक जाता रहा और वे मृत्यु के द्वार पर पहुँच गये।

विदुरजी ! विनाशकाल से बुद्धि विपरीत बन जाती है। इसीलिये यादवों को अभिमान हो गया। यह सब हुआ प्रभु प्रेरणा से ही। धर्मराज को, समस्त भूमंडल का राजा बना दिया। उनसे तीन अश्वमेध कराये। वंश परम्परा चलाने को नष्ट हुए उत्तरा के गर्भ को ब्रह्मास्त्र से बचा कर महाराज परीक्षित् को जीवित किया और अब द्वारका में रह कर यादवों का अन्त होने की प्रतीक्षा करने लगे।"

छप्पय

हरि सोचें भूभार न उतरयो सबरो अबई।
यदुकुल को संहार होय उतरेगो तबई॥
बहुत बढ़यो यदुवंश अंश मेरे हैं सब ये।
मदमाते ह्वै लड़े परस्पर नासिहैं तब ये॥
प्रेम प्रदर्शित करयो बहु, पुनि मरवाये बन्धु सब।
भार उतारयो अवनि को, गवने हरि गोलोक तब॥

यदुवंश विनाश

(१०६)

पुर्यां कदाचित् क्रीडद्भिर्यदुभोजकुमारकैः ।
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः ॥❀

(श्री भा० ३ स्क० ३ आ० २४ श्लो०)

छप्पय

जाते जब जे श्याम करावें जहँ जो जैसे ।
सो तब तुरतहि तहाँ करे प्रेरित ह्वै तैसे ॥
यदुकुल को संहार करन चित महँ जब आयो ।
तबहीं तपते पूत मुनिनि तें शाप दिवायो ॥
ज्यों बाजीगर बानरहिँ, जस नचाव नाचे तसहिँ ।
त्योंई ईस अधीन ह्वै, जीव नचे यह स्ववशनहिँ ॥

वर्षा का जल कहीं भी गिरे, एक दिन उसे समुद्र में अवश्य ही पहुँचना है । गाँव से बहकर वह तालाब में जायगा। तालाब से नदी में, नदी महानदी में और महानदी

❀उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी ! एक बार यदुवंशियों और भोज वंशियों के बालक खेल रहे थे । खेलते-खेलते उन्होंने अपने अशिष्ट व्यवहार से मुनियों को क्रुद्ध कर दिया । मुनि गण तो भगवान् के भाव को जानने ही वाले थे कि, आप इनका विनाश करना चाहते हैं, अतः उन्होंने सम्पूर्ण वंश के नाश का शाप दे दिया ।

से समुद्र में। यदि वहीं कहीं सूख जायगा तो वाष्प बन कर फिर सूर्य्य खींच लेंगे, फिर मेघ बनेगा, फिर बरसेगा। कोई जल तो सीधा समुद्र में गिरता है, वह तुरन्त उसी में मिल जाता है। कोई महानदी में गिरता है, उसे कुछ देर लगती है। क्षुद्र नदी में गिरने वाले को अधिक देर लगती है। मरु देश में गिरने वाले को समुद्र में पहुँचने में बहुत देर लगती है। देर सवेर कैसे भी हो, पहुँचना सभी को समुद्र में है। इसी प्रकार भगवान् से पृथक हुए इन समस्त जीवों की एक दिन अवश्य मुक्ति होनी है। कोई शीघ्र मुक्त होंगे कोई देर से। भगवान् को कब किस पर कृपा होती है, उसे कोई भी जीव जान नहीं सकता। किस कार्य से वे कृपानाथ रीझ जाते हैं? इसे कोई कह नहीं सकता। उन्हें कोई तो पाकर भी भूल जाता है, कोई एक बार दर्शन पाते ही मुक्त हो जाता है। गज तो जीवन भर भूला रहा, मरते समय उसने 'हरि' कह कर पुकारा—मुक्त हो गया। गृद्ध ने तो जीवन भर अमेध्य भक्षण किया, हिंसा की, किन्तु नयनाभिराम दूर्वादलश्याम के अंक में सिर रख कर उसने प्राणों का विसर्जन किया। इसके विपरीत भगवान् की सोलह हजार रानियाँ तो सर्वदा उनकी सेवा में ही रहीं। वे श्यामसुन्दर की मधुर मुसकान, स्नेह भरी चितवन नित्य निहारतीं, अमृत में बोरी हुई मधुमय सुखद सरस वाणी को सुनतीं। उनके अनुपम शोभा सम्पन्न श्री अंग की सदा सेवा करतीं। अनुराग और उत्कण्ठा के सहित भगवान् मरीचि माली के अस्त होने तथा अपनी प्रिय सखी निशा के आगमन की प्रतीक्षा करतीं, जिसके आगमन से उन्हें अपने प्राणवल्लभ के संयोग सुख का अवसर प्राप्त होता था। वे लोकाभिराम, कोटि कन्दर्प शोभायुक्त श्रीघनश्याम उनका आदर भी अत्यधिक करते

थे। उन्हें सभी सुख देते, उनकी सभी इच्छाओं की पूर्ति करते, किन्तु अन्त में वे ही जंगली आभीरों के हाथों लूटी गईं। विश्वात्मा की भोग्या होने पर भी उन्हें आभीरों की भोग्या बनना पड़ा। गोपियों का भी आकर्षण पहिले-पहिले ऐसे ही हुआ था, किन्तु उन्होंने उनके स्वरूप को पहिचान लिया। ये इसी अभिमान में डूबी रहीं—ये हमारे अधीन हैं, इन्हें जैसा नाच नचावेंगी वैसा नाचेंगे। ये हमारे पति हैं। उन्हें वही सुख मिला। यादवों ने उन्हें सम्बन्धी ही समझा, उनके यथार्थ रूप को वे न जान सके, अतः वे परम लाभ से वंचित ही रहे।

उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! यद्यपि भगवान् द्वारावती में रह कर लोक और वेद सम्बन्धी व्यवहारों का अनुसरण अवश्य करते थे। समस्त संसारी विषयों का उपभोग भी करते थे; किन्तु वे स्वात्माराम होने के कारण कभी उनमें आसक्त नहीं हुए। बहुत वर्षों तक दिव्य-दिव्य भोगों को भोगते रहे, रानियों को सुख देते रहे, लड़के लड़कियों के साथ खेलते रहे, गृहस्थियों का व्यवहार करते रहे। उपनयन, मुंडन, कर्णवेधन आदि-आदि संस्कार करते, लड़के लड़कियों का विवाह करते, उन्हें विदा करते, विदा कराके लाते, यह सब करते हुए आपको अंत में इन कार्यों से विराग हो गया।

क्या कभी श्रीहरि को राग भी था? बिना राग के विराग कैसा? आप यह प्रश्न करेंगे। सो विदुरजी! मैं एक उपचार से कह रहा हूँ। उन्हें क्या विराग होना था? अब वे अपने धाम को जाने के लिये उद्यत होने लगे। विषयी लोगों को शिक्षा देने के लिये उदासीनता ग्रहण कर ली; कि जब हम सर्वस्वतन्त्र

ईश्वर होकर भी विषयों को अंत में त्याज्य ही समझते हैं, तो जो दैवाधीन हैं और दैववश से ही जिन्हें भोग प्राप्त हुए हैं, उनको तो कभी विषयासक्त होना न चाहिये।

अपने द्वारा लगाये विषवृक्ष को भी बुद्धिमान् पुरुष नहीं काटते। सर्प, बिच्छू जैसे दूसरों को दुःख देने वाले विषैले जीवों को दयालु पुरुष स्वतः नहीं मारते। इसी प्रकार अपने ही अंश से उत्पन्न होने वाले यादवों का नाश श्रीहरि ने अपने हाथ से करना उचित नहीं समझा। मुनियों को निमित्त बनाकर दो चार बच्चों की धृष्टता से समस्त यदुवंश के नाश का शाप दिला दिया। यादवों ने बहुत चेष्टा की, कि मुनियों का शाप अन्यथा हो जाय; किन्तु मुनियों ने स्वतः तो शाप दिया नहीं था। वे तो भगवान् के भावों को जानने वाले थे, उनके यन्त्र थे। वे उन्हें जैसे घुमाते थे, घूमते थे, जो कराते थे करते थे श्रीहरि ने ही उनके हृदय में प्रवेश करके ऐसी प्रेरणा की थी। यादव निश्चिंत थे कि हमने शाप के हटाने का अमोघ उपाय कर लिया है। इसलिये वे प्रमत्त होकर विहार कर रहे थे, किन्तु काल अप्रमत्त भाव से भगवान् का संकेत पाकर चुपचाप उन सबको ग्रसने के लिये खड़ा था। उसकी उँगलियाँ तेजी से चल रही थीं। वह समय की गणना कर रहा था। मालूम ऐसा होता था, कि अब इसकी गणना समाप्त होने वाली है। अंतिम पोरुए पर अँगूठा पहुँचने में कुछ ही देरी थी, कि भगवान् की आज्ञा से सभी यादव प्रभास क्षेत्र को तीर्थ यात्रा और पुण्य करने गये। वहाँ जाकर सबने स्नान किया। गो, घोड़ा, रथ, हाथी, सोना, चांदी, वस्त्र, आभूषण, बाघम्बर, पीताम्बर, ऊनी रेशमी वस्त्र, मृगचर्म, कम्बल, पृथ्वी, दूध, दही, घृत, मधु, कन्या, पृथ्वी तथा और भी श्रेष्ठ-श्रेष्ठ वस्तुओं

के विधि पूर्वक वेदज्ञ ब्राह्मणों को दान दिये। सबको सन्तुष्ट किया। दान देकर कृष्णार्पण करके संकल्प किया। देवता पितर और ऋषियों का तर्पण किया। सबको भोजन कराया, दक्षिणा दी, तास्बूल दिये और श्रद्धासहित सभी ब्राह्मणों को देवताओं को और गौओं को प्रणाम किया।

यह सब करने के पश्चात् उन्होंने ब्राह्मणों से पूछा—"महाराज, हम लोग भी अब प्रसाद पावें ?" सब प्रकार से सन्तुष्ट हुए उन ब्राह्मणों ने प्रसन्नमन से उल्लास के साथ कहा—"हाँ, अब आप सब बड़े आनन्द और उल्लास के साथ प्रसाद पावें ?"

सभी यादव भाई थे, सभी एक वंश के थे। बड़े आनन्द से वे सब साथ ही प्रसाद पाने बैठे। विदुरजी ! उनको पता नहीं था—यह हमारा आज अन्तिम प्रसाद है। कालदेव की हिलती हुई उँगलियाँ बन्द हो गईं। उनकी गणना पूरी हो गई। भगवान् चुपचाप बैठे उनकी ओर देख रहे थे। भोजन के बीच में ही बोले—"थोड़ी वारुणी भी चढ़ा लो, यहाँ तीर्थ में।" किसी ने कहा—"अरे, तीर्थ में यह सब गड़बड़ मत करो।" दूसरे ने कहा—"वाह जी, आनन्द तो यहीं आवेगा।" फिर क्या था, छनने लगी वारुणी, प्याले पर प्याले उड़ने लगे। आँखों में अरुणिमा दौड़ने लगी। पीने में लोभ बढ़ने लगा। आपस में होड़ लगा कर—कौन अधिक पीता है ? यह खेल आरम्भ हुआ। मूर्तिमती वारुणी ने अपना अधिकार जमा लिया। सबका विवेक नष्ट हो गया, बुद्धि भ्रष्ट हो गई। एक दूसरे को बुरा-भला कहने लगे। अकारण कोई किसी पर कीच उछालने लगा। मामला बढ़ गया। अब तो वे आपस में

लड़ने लगे। जैसे एक ही साथ उत्पन्न हुए बाँस परस्पर में रगड़ लगने से अपने आप ही अग्नि उत्पन्न करके भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार यादव कलह रूपी अग्नि उत्पन्न करके नष्ट हो गये। सूर्यास्त होते होते सभी का संहार हो गया। भगवान् की रची हुई नाट्यस्थली का यह अन्तिम जवनिका का पर्दा अत्यन्त करुण था। यह सबसे अन्त का दृश्य बहुत ही करुणा-पूर्ण खेला गया। सबके संहार हो जाने पर भगवान् स्वस्थ चित्त से समुद्र तट पर एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठ गये। वे भी स्वधाम पधारने का विचार कर रहे थे कि इतने में ही मैं वहाँ जा पहुँचा।

विदुरजी ने पूछा—"उद्धवजी! आप वहाँ कहाँ से पहुँच गये? क्या आप प्रभास की यात्रा में भगवान् के साथ नहीं थे? आपको छोड़कर तो श्यामसुन्दर कहीं भी नहीं जाते, फिर आपको उस यात्रा में वे साथ क्यों नहीं ले गये? क्या आपने यादवों के विनाश का यह दृश्य अपनी आँखों से नहीं देखा था? आप उनके युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए थे?"

विदुरजी के प्रश्नों को सुन कर उद्धवजी कहने लगे—"महाभाग! जिस समय भगवान् द्वारावती में ही रह कर अपने समस्त कुल के संहार की बात सोच रहे थे, उसी समय भगवान् ने मुझे एक दिन एकान्त में बुला कर मुझसे कहा—"उद्धव! अब मैं अपनी लीला संवरण करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ तुम अभी कुछ समय तक पृथ्वी पर और रहो।" मैंने तो कभी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करना सीखा ही नहीं था। उन्होंने जैसे ही मुझे बदरीवन जाने की आज्ञा दी वैसे ही मैं उनके श्रीचरणों की वन्दना करके द्वारावती से

बाहर हुआ। किन्तु मेरे पैर आगे पड़ते ही नहीं थे। हृदय इतना भर गया था, कि उसका बोझ मुझसे सम्हलता ही न था। मैं चलने का प्रयत्न करता; किन्तु चल नहीं सकता था। मैं आगे बढ़ने को पैर उठाता, किन्तु वे बरबस पीछे ही पड़ते। इसी दशा में न जाने मैं कहाँ-कहाँ चक्कर लगाता रहा। मैं बार-बार सोचता—मेरे स्वामी ने तो मुझे बदरिकाश्रम जाने की आज्ञा दी है। मुझे द्वारकापुरी का परित्याग करके विशालापुरी की ओर बढ़ना चाहिये, किन्तु कब से चल रहा हूँ, ये द्वारका के सुवर्ण के महल मेरी आँखों से ओझल ही नहीं होते, मालूम पड़ता है। मेरे साथ ही साथ यह द्वारावती भी बदरिकाश्रम की ओर चल रही है।

इतने में ही मैंने क्या देखा, कि भगवान् अपने दिव्य रथ पर विराजमान हुए प्रभास की ओर जा रहे हैं। दारुक सारथि रथ हाँक रहा है। मैंने भगवान् के दर्शन किये हैं। यह कैसे कहूँ कि भगवान् ने मुझे नहीं देखा। वे तो सदा सर्वदा सब देखते रहते हैं। उनकी दृष्टि से तो कोई पृथक् हो ही नहीं सकता। फिर भी उस समय भगवान् अनजान से बने रहे। मैं एक वृक्ष की ओट से सब देखता रहा। रथ आगे बढ़ गया। पैर अपने आप ही उसी ओर बढ़ गये। जब मैं प्रभास पहुँचा था, तब समस्त यादवों का संहार हो चुका था। मेरे दुःख का ठिकाना नहीं रहा। मैं इधर उधर पागलों की तरह भटकता हुआ उच्च स्वर से रुदन करने लगा। मैंने सोचा—इस महायुद्ध में ही श्रीश्यामसुन्दर ने अपने मानवीय शरीर का परित्याग कर दिया। मैं सर्वस्व गँवाये व्यापारी की भाँति, जल से पृथक् की हुई मछली की भाँति, मणि छिने सर्प की भाँति बिलबिलाता हुआ तड़पने लगा। मुझे चारों ओर अन्धकार ही

अन्धकार दिखाई देता। सभी यादव मरे पड़े थे। प्रद्युम्न, शाम्ब, गद, सारण, अनिरुद्ध जिन्हें देखता वे ही निर्जीव हुए पृथ्वी पर पड़े थे। किसी का सिर कट गया था, किसी का हृदय फट गया था, कोई एक दूसरे से सट गया था, किसी का धड़ सिर से हट गया था। मेरी दृष्टि तो श्यामसुन्दर के श्रीअङ्ग में अटकी थी उन अनन्त निर्जीव शरीरों में मैं अपने प्राण धन के श्रीविग्रह को खोज रही था। किन्तु अत्यन्त खोजने पर भी मुझे भगवान् का त्रैलोक्य मोहन वह विश्व-वन्दित वपु दिखाई न दिया मैं ढाह मार कर रोने लगा और मूर्छित होकर वहीं गिर पड़ा।"

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज, इस प्रकार परम भागवत उद्धवजी कृष्ण वियोग की बातें कहते-कहते, उसी घटना के स्मरण आने से सचमुच मूर्छित हो गये। उनका बाह्य-ज्ञान लुप्त हो गया।

छप्पय

द्वारावति महँ कृष्ण दरस हित मुनि गन आये।
करयो हास परिहास कुमारनि बहुत खिजाये॥
कुपित तपोधन भये शाप कुल भरि कूँ दीन्हों।
सुन्यो श्याम सब शाप समर्थन हँसि कै कीन्हों॥
सब मिलि गये प्रभास महँ, भयो परस्पर युद्ध अति।
वंश अग्नि कलितें जरे, हरि प्रेरित अस भई मति॥

श्रीभगवान् द्वारा उद्धवजी को उपदेश

[११७]

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये,
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासम्,
यत्सूरयो भागवतं[1] वदन्ति ॥

(श्री भा० ३ स्क० ४ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

मोतें हरि ने कही जाहु बदरीवन ऊधो।
किन्तु दैवगति समुझि चल्यो हरि पाछे सूधो॥
यदुकुल को संहार कर्यो हरि पीपर तरुतर।
बैठे, हौं ढिंग गयो विहँसि बोले श्रीयदुबर॥
भले मिले उद्धव सखे! आये तुम हो विमल मति।
कहूँ भागवत सरस अति, सुने पढ़े होवे सुगति॥

कभी-कभी गुरुजन अपने कर्तव्यवश वात्सल्य भाव से हमें ऐसी आज्ञा दे देते हैं, जिससे हमें उनके श्री चरणों से पृथक् रहना पड़ता है। उस उचित अनुचित आज्ञा का पालन

---

१ उद्धवजी कहते हैं—"विदुरजी! जब मैं भगवान् के समीप पहुँचा तो उन्होंने मुझसे कहा—उद्धव! मैं तुमको उस परम ज्ञान का

करना छोटों के लिये कर्तव्य ही है; किन्तु स्नेह वश विवश होकर, कभी हम उसका उल्लंघन भी कर देते हैं, गुरुजन हम पर कृपा ही करते हैं, हमारे आज्ञा-उल्लंघन के उस अपराध की वे अवहेलना कर जाते हैं। जब यदुकुल के संहार का समय समीप आया तो श्यामसुन्दर ने अपने सचिव, सखा, स्नेही, सुहृद् श्रीउद्धवजी को आज्ञा दी कि अब इस कुल का नाश होने वाला है। तुम सब कुछ छोड़ कर मेरी आज्ञा से बदिरकाश्रम चले जाओ। वहीं मेरा ध्यान करना, तप करना, मेरे दर्शन तुम्हें वहीं हृदय में हुआ करेंगे। भगवान् की आज्ञा कैसे टाली जाती? उद्धवजी उस समय तो चल दिये, किन्तु उनके पैर आगे नहीं पड़ते थे। भगवान् जब यादवों को लेकर प्रभास पधारे, तब अलक्षित भाव से उद्धवजी भी उनके पीछे-पीछे गये। यादवों का संहार हो चुका था। वे भगवान् को खोजने लगे। इसी प्रसंग को उद्धवजी अपने बाल्यसखा श्रीविदुरजी से बता रहे हैं।

उद्धवजी कहने लगे—"विदुरजी! मैं जब उन मृतक पुरुषों में अपने आराध्यदेव के चिन्मय श्रीविग्रह को नहीं देखा, तो मैं रोता-रोता सरस्वती के किनारे-किनारे चला। दूर से मुझे तुलसी मंजरी की भीनी-भीनी सुगन्धि आई। मेरे हृदय में आनन्द की हिलोरें उठने लगीं। मैं समझ गया यह भगवान्

उपदेश करता हूँ जिसे मैंने पहिले पाद्मकल्प के आदि में अपने नाभि कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी को अपनी महिमा को प्रकाशित करने वाले श्रेष्ठज्ञान का उपदेश किया था। जिसे बुद्धिमान पुरुष 'भागवत' कहकर पुकारते हैं।"

के उसी वनमाला की गन्ध है, जो हमें नित्य प्रसाद में मिलती थी, जिसे अपने कंठ में पहिन कर हम अपने को धन्य समझते थे। मेरे इष्टदेव यहीं कहीं समीप में ही विराजमान हैं। चारों ओर मैंने दृष्टि दौड़ाई। दूर पर एक सघन अश्वत्थ वृक्ष के नीचे फहराता हुआ पीताम्बर और एक नील मणि की आभा सी दिखाई दी। मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। मैं उसी ओर बिना विचारे बढ़ता गया! आगे क्या देखता हूँ, समस्त शोभा के धाम, श्रीनिवास, आश्रय शून्य, मेरे प्रियतम प्रभु एक पीपल वृक्ष के सहारे सरस्वती के तट पर शान्त भाव से विराजमान हैं। अहा! उस समय उनकी शोभा कितनी कमनीय थी! कैसी मोहक मुद्रा से वे विराजमान थे। सजल जलद के समान, हरी-हरी नित्य पानी पाने वाली दूर्वा के समान, नील कमल के समान, मयूर के कंठ के समान, अलसी के पुष्प के समान, नील वर्ण का उनका श्रीविग्रह था। तीनों गुणों से परे जो विशुद्ध सत्व हैं उसमें वे स्थित थे। सदा ही वे गुणों से परे रहते थे। उस समय वे तुरीयावस्था का आश्रय लिये थे। कमल के समान सुन्दर अधखुले अरुण वर्ण के उनके नयनद्वय चन्द्रमा की किरणों के समान शीतलता की वर्षा कर उस प्रदेश को सुखमय, शान्तिमय बना रहे थे। उस समय उन्होंने चार भुजायें धारण कर रखीं थीं, जिसमें मूर्तिमान शंख, चक्र, गदा और पद्म प्रत्यक्ष सशरीर हाथ जोड़े विराजमान थे। उनके श्रीअंग पर पीत वर्ण का रेशमी पीताम्बर उसी प्रकार चमक रहा था, जिस प्रकार श्रावण भादों में जल भरे मेघों में बिजली चमक रही हो। अश्वत्थ के छोटे से वृक्ष के सहारे पीठ लगाये वे आधे लेटे और बैठे थे। अपनी सुन्दर सुडौल और केले के स्तम्भ के समान बाईं जँघा पर अपना सुन्दर श्रीचरण

कमल रखे हुए थे। आत्मानन्द में परिपूर्ण हुए वे संसार से उदासीन हो रहे थे।

मैंने देखा एक परम विरक्त संत कहीं से विचरते हुए उनके समीप आ गये। ध्यान से मैंने देखा—हैं! अरे, ये तो भगवान व्यासदेव के सुहृद् परमज्ञानी मेरे पूर्व परिचित भगवान् मैत्रेयजी हैं। मैंने भूमि में लेट कर पहले श्रीभगवान को फिर मुनि श्रेष्ठ मैत्रेयजी को प्रणाम किया। मैं डर रहा था—प्रभु मुझसे रुष्ट न हों, कि तुझे तो हमने बदरिकाश्रम भेजा था, तू यहाँ क्यों चला आया? किन्तु यह मेरा भ्रम ही निकला। प्रभु मुझे देखते ही खिल उठे और अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"उद्धव! तुम भले आये, भले आये। मैं तुम्हारा ही ध्यान कर रहा था! मैं अब इस मर्त्य-लोक का परित्याग करने वाला था। मैं सोच रहा था अपना अन्तिम सन्देश किससे कहूँ? उद्धवजी ही इसके एकमात्र अधिकारी हैं। वे यदि आ जाते तो मैं संसार के लिये अपना चलते समय का सन्देश दे जाता, किन्तु उनको तो मैंने बदरिकाश्रम भेजा है। सो, तुम ठीक समय पर आ गये।'

भगवान् की इतनी कृपा के बोझ से मैं दबा सा जा रहा था। प्रभु अपने सेवकों का कितना ध्यान रखते हैं? कितनी कृपा करते हैं वे अपने अकिंचन किंकरों पर? मैंने पुनः भूमि में लेट कर साष्टांग प्रणाम किया। तब भगवान् सम्मुख ही विनय से सिर झुकाये, सम्मुख हाथ जोड़े खड़े हुये अपने में अनुरक्त चित्त महामुनि मैत्रेयजी को सुनाते हुए मुझसे बोले। उस समय भगवान् की चितवन मन्द-मन्द मुसकान से युक्त थी, अत्यन्त ही स्नेह से मेरी ओर देखते हुए मुझसे कहने

लगे—'उद्धव ! तुम्हारा मैं अभिप्राय समझ गया हूँ। तुम मेरे कहने पर अभी तक मेरे स्नेहवश बदरिकाश्रम नहीं गये, यह मुझे मालूम है। इसमें भी तुम मेरी प्रेरणा ही समझो।'

मैंने हाथ जोड़ कर विनीत भाव से कहा—'प्रभो ! मैं आपके चरणों के बिना रह नहीं सकता। मेरे मन मधुप के लिये वे ही नीचे अरुण ऊपर से नील, ये दो पाद-पद्म ही रस के आलय और निवास के निकेत हैं। मैंने अपने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन किया, अपराधी होने पर भी मुझे अन्यत्र आश्रय ही नहीं है। इन चरणों को छोड़कर मैं कहीं जाना भी चाहूँ तो नहीं जा सकता !'

भगवान् मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले—'उद्धवजी ! तुम अपने को भूल गये क्या ? तुम साधारण जीव नहीं हो ! पूर्वकाल में तुम आठ वसुओं में से एक वसु थे। एक बार सृष्टि को बढ़ाने वाले सभी प्रजापतियों ने तथा वसुओं ने मिलकर एक बड़ा भारी यज्ञ किया था। उसमें अन्य वसुओं ने तथा प्रजापतियों ने अपनी कामना के अनुसार वर माँगे। जब मैं तुम्हारे सामने प्रकट हुआ, तो तुमने उस समय मुझसे यही वरदान माँगा था, कि 'मुझे आपका सान्निध्य प्राप्त हो और आपकी महा महिमा को प्रकाशित करने वाला सर्व श्रेष्ठ ज्ञान मुझे प्राप्त हो और आपके चरणों में मेरी निरन्तर अहैतुकी भक्ति बनी रहे।' उसी के फल स्वरूप तुम्हें मेरी कृपा से मेरा सान्निध्य और मुझसे ऐसी प्रगाढ़ भक्ति प्राप्त हुई है। अब मैं तुम्हें अपनी प्राप्ति का साधन स्वरूप ज्ञान देता हूँ। यह बहुत ही गोपनीय और रहस्य का विषय है। अन्य जीवों के लिये यह ज्ञान अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है।'

मैंने कहा—'प्रभो! मुझे ज्ञान-ध्यान नहीं चाहिये। मैं तो निरन्तर आपके चरणों के समीप ही रहना चाहता हूँ। यही मेरा जप, तप, साधन, है।'

भगवान् बोले—उद्धव! अब मैं इस नर-लोक को त्याग कर अपने स्वधाम को जाना चाहता हूँ। तुम अभी मेरी आज्ञा से लोक कल्याण के लिये—मेरे बताये ज्ञान के प्रचार और प्रसार के लिये—पृथ्वी पर कुछ दिन और रहो। तुम घबड़ाओ मत, अब तुम्हें संसार बन्धन न होगा। अब तुम फिर चौरासी के चक्कर में न फँसोगे। यह तुम्हारा अन्तिम जन्म है। इस शरीर को त्याग कर कर्म बन्धनों से बँध कर, अब तुम्हें पुनः संसार में न आना पड़ेगा। यह भाग्य की बात है, जो एकान्त में स्वधाम पधारते समय तुमने मेरा दर्शन किया। अब मैं तुम्हें उस भागवत तत्व का उपदेश करूँगा, जिसका उपदेश पाद्मकल्प के आदि में मैंने ब्रह्माजी को किया था। इस को लोग 'भागवत तत्व' कहते हैं। जिस तत्व के श्रवण मनन से जीव संसार बन्धन से सदा के लिये छूट जाता है और भगवान के नित्य धाम का अधिकारी बन जाता है।'

अहा! मैं कितना भाग्यशाली हूँ, भगवान् मुझ दास पर इतनी कृपा रखते हैं। मैं भगवान् का इतना स्नेह भाजन बन सकूँगा; विदुरजी! इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था तथापि प्रभु मेरे ऊपर अतिशय कृपा रखते थे, मुझे अपना उच्छिष्ट प्रसादी अन्न, पहिने हुए प्रसादि वस्त्र, मालायें प्रदान करते थे। किन्तु अन्तिम समय मुझे वे अपने गूढ़ रहस्य के अमृत का अधिकारी समझें, ऐसा मुझे अनुमान भी नहीं

था। इस कृपा को स्मरण करते ही मेरे सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो गया। नेत्रों से झर-झर अश्रु बहने लगे मेरी वाणी रुक गई थी। अपने को प्रयत्न पूर्वक सम्हाल कर हाथ जोड़ कर मैंने निवेदन किया—"प्रभो! जिसने आपके चरण कमलों का आश्रय ग्रहण कर लिया है, उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों में से कौन-सी वस्तु दुर्लभ है। ये सब तो किंकरों को बिना माँगे मिल जाती हैं।'

यह सुन कर भगवान हँसे और बोले—'उद्धव! तुम इन चारों को मुझसे माँग लो। मैं मोक्ष तक तुम्हें दे सकता हूँ।'

तब मैंने शीघ्रता से कहा—'न, प्रभो! मुझे मोक्ष नहीं चाहिये। मुझे तो आप अपने चरण कमलों की भक्ति प्रदान कीजिये। मैं तो उसी के लिये निरन्तर उत्कंठित बना रहता हूँ। जिन्हें बन्धन से छूटने की इच्छा हो, उन्हे आप मोक्ष दें हम तो सदा आपके चरण कमल के बन्धन में बंधे रहना चाहते हैं। जब आपके चरणों से बंध जायँगे, तो संसार से तो स्वतः ही अलग हो जायँगे।'

भगवान् बोले—'भाई हम भी तो कर्मों मे फंसे हैं?'

मैंने विनीत भाव से कहा—'आप फंसे हों या न फंसे हों किन्तु हम तो आपके सेवा रूपी कर्म में सदा फंसे ही रहना चाहते हैं आप जैसे फंसे हैं, वह तो मैं सब जानता हूँ। अजन्मा होकर भी आपका जन्मा लेना, निरीह होकर भी कर्म करना, स्वयं डर को भी डराने वाले! काल स्वरूप होकर भी शत्रु से डर कर रण छोड़ कर भागना, समुद्र के बीच में छिप कर किला बनाकर निडर होकर भी डरते की भाँति रहना, सदा आत्मा में ही रमण करने वाले होकर हजारों स्त्रियों के साथ रमण करना—ये सब आपकी विचित्रलीलायें हैं। इन्हें देखकर अज्ञानी

भले ही आपके यथार्थ रूप को भूल जायँ, किन्तु हम आपके दास तो सदा आपके मायातीत रूप को ही हृदय में धारण किये रहते हैं।

आपने मेरे ऊपर अनुग्रह करके मुझे अपना सम्मति दाता मन्त्री बनाया था। जब कोई ऐसा कार्य आता, तो आप अबोध बालक की भाँति बड़ी सरलता से गम्भीर होकर चिन्ता प्रकट करते हुए, मुझसे सम्मति पूछते और बार-बार कहते—'उद्धव! भाई, यह विषय तो बड़ा उलझन का है। इसे तुम ही सुलझा सकते हो। तुम ही उचित सम्मति दे सकते हो।" आपकी वे बातें नर लीला के अनुरूप थीं। उनका अब स्मरण करता हूँ, तो मेरा मन मोहित हो जाता है। आपकी क्रीड़ाओं में कितना कुतूहल और प्रेम भरा रहता था।'

भगवान् मेरी बात सुनकर मुस्कराये और बोले—'बुद्धिमान् उद्धवजी! अब आप क्या चाहते हैं?'

मैंने कहा—'प्रभो! यदि मैं अधिकारी होऊँ तो कृपा करके वही भागवत ज्ञान मुझे दें जो पूर्वकाल में आपने पद्मयोनि, वेदगर्भ, लोक पितामह, चतुरानन ब्रह्मदेव को दिया था।'

विदुरजी ने पूछा—'उद्धवजी! फिर क्या हुआ? भगवान् ने आपको उस गुह्यातिगुह्य ज्ञान—भागवत तत्व—का उपदेश किया?'

उद्धवजी बोले—'हाँ, जब मैंने इस प्रकार विनीत होकर प्रार्थना की, तब ब्रह्मादिक देवताओं से भी जिनके चरण कमल वंदनीय हैं, उन परब्रह्म कमल नयन भगवान वासुदेव ने अपनी परमस्थिति का मुझे उपदेश किया। उसे सुनकर मैं कृतार्थ हो गया और उन्हीं परम गुरु स्वरूप श्रीहरि की आज्ञा

पाकर उनकी परिक्रमा करके मैं यहाँ चला आया। महाभाग विदुरजी! आप सर्व समर्थ हैं, आप सौभाग्यशाली हैं। अब आपसे और श्रीकृष्ण-कथा क्या कहूँ? श्रीकृष्ण-कथा अनन्त है। शेषनाग भी अपनी दो सहस्र जिह्वाओं से निरन्तर कहते रहने पर भी वर्णन नहीं कर सकते। अब मैं प्रभु के दर्शन से आनन्दित होकर भागवत तत्व के श्रवण से कृतार्थ होकर और भगवान् के वियोग रूपी दुःख से दुखी होकर उन्हीं के परम प्रिय क्षेत्र श्रीबदरिकाश्रम—विशालापुरी को जा रहा हूँ। जहाँ पर भगवान् नर और नारायण ये दो विग्रह बना कर लोक कल्याण के निमित्त शान्त और उपद्रव रहित दुस्तर घोर तप कर रहे हैं। भगवान् के वियोग में मेरी पागलों की सी दशा हो गई है। अब मुझे संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब तो मैं केवल भगवद् आज्ञा के पालन के ही निमित्त बदरिकाश्रम जा रहा हूँ।"

श्रीशुकजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहते-कहते उद्धवजी भगवान् के ध्यान में पुनः मग्न हो गये।

छप्पय

भूखे कूँ ज्यों खीरि पिपासित कूँ ज्यों पानी।
त्यों अतिशय प्रिय लगी मधुर श्रीहरि की बानी।
विनय करी हे प्रभो! भक्ति को तत्व बतावें।
शुद्ध भागवत ज्ञान दान करि दुःख मिटावें॥
कमल नयन विनती सुनी, परम तत्व मोतें कह्यो।
आयसु सिर धरि वन्दि पद, बदरीवन कूँ चलि दह्यो॥

विदुरजी से विदा लेकर बदरीवन गमन

(११८)

इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्ताम्,
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० ४ आ० २७ श्लो०)

छप्पय

सूधो आयो यहाँ आपुने दर्शन दीन्हें ।
शोक मोह संताप कृपा करि सब हरि लीन्हे ॥
विदुर कहें—'हे सखे ! कृपा हमहू पै कीजे ।
हरितें पायो ज्ञान ताहि हमहूँ कूँ दीजे ॥
उद्धव बोले विदुरजी ! बड़भागी हैं आपु अति ।
जिनकूँ हरि सुमिरन करें, अन्त समय महँ अखिलपति ॥

यह मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, कि एक स्वामी के कई सेवक या कृपापात्र हों और उनमें से किसी एक पर स्वामी विशेष कृपा करें, तो दूसरों के मन में डाह होता है। इस

*श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—'राजन् ! उद्धवजी को जो भगवत् वियोग से मानसिक संताप हो गया था, वह

पर इतनी कृपा क्यों हुई ? हम इस कृपा के पात्र क्यों नहीं समझे गये ? सौतियाडाह सनातन से चला आया है, सृष्टि के अन्त तक रहेगा। इसे सम्पूर्ण रूप से कोई मिटा नहीं सकता। संसारी लोगों में जैसा डाह होता है, वैसा ही भगवान् के भक्तों में भी होता है। अपने से श्रेष्ठ भक्त की प्रेम दशा देखकर उनकी एक निष्ठा, तन्मयता तथा प्रथम प्रेम की अवस्थायें देख कर, भक्त सोचता है—हाय ! मेरी ऐसी दशा कब होगी ? मै कब इस प्रकार प्रेम में पागल होकर, लोक लाज छोड़ कर, उन्मत्त होकर, स्नेह में नृत्य करने लगूँगा ? देखो, इन्हें भगवान् की कैसी कृपा प्राप्त हो चुकी है ? कृपा सागर ने इनके ऊपर कैसा अनुग्रह किया है ? इस प्रकार भक्त परस्पर में दूसरे भक्तों की दशा देख कर प्रेम पूर्वक ईर्ष्या करते हैं और अपने को धिक्कारते हैं। संसारी लोग ईर्ष्या वश द्वेष और कलह करते हैं, किन्तु भगवन भक्तों की ईर्ष्या प्रेम को बढ़ाने वाली होती है। भगवान् को निमित्त बना कर जो कर्म किया जायगा, उसका फल अनन्त होगा, क्योंकि वे स्वयं अनन्त हैं। कारण का गुण कार्य में आता ही है।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—'राजन् ! जब उद्धवजी के मुख से महाभागवत विदुरजी ने यह वंश विनाशकी वार्ता सुनी, तो उन्हें दुःख तो हुआ, किन्तु अपने बढ़े हुए विवेक के द्वारा उन्होंने अपने असह्य बन्धु वियोग

विदुरजी के साथ विश्वमूर्ति भगवान् वासुदेव के गुण-कथन-रूपी सुधा के द्वारा शान्त हो गया। भगवच्चर्चा करते-करते यमुनाजी के किनारे दोनों ने वह रात्रि क्षण के समान बिताई। प्रातःकाल होते ही उद्धवजी वहाँ से चल दिये।

जनित शोक को शान्त कर लिया। उन्होंने संसार को असार समझकर इसे अवश्यम्भावी भगवान् का एक विनोद ही समझा। श्यामसुन्दर जिससे जब जो कराना चाहते हैं, तब वह वही करने को विवश हो जाता है। इसमें न यादवों का दोष, न शाप देने वाले ब्राह्मणों का दोष। यदुकुल संहार की बात तो उन्होंने भुला दी। अब उनके मन में एक बात बार-बार उठ रही थी। देखो, ये उद्धवजी कितने भाग्यशाली हैं। भगवान् के समस्त बन्धु बान्धव मित्र तथा सुहृदों में ये सर्व श्रेष्ठ हैं, महाभागवत हैं, भक्ताग्रगण्य हैं। अन्तिम समय में भगवान् ने इन्हें ही अपनी कृपा का पात्र समझा। ये जो कुछ कह रहे हैं, बना कर थोड़े ही कह रहे हैं। ये तो परम विश्वसनीय हैं। एक शब्द भी ये असत्य अपने मुख से उच्चारण नहीं कर सकते। आह! इनके भाग्य की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। अब ये बदरकाश्रम जा रहे हैं; सब कुछ छोड़ छाड़ कर तपस्या करने। जो बदरीवन जाते हैं, वे फिर कभी लौट कर थोड़े ही आते हैं। अब इनसे इस जीवन में भेंट काहे को होगी। इन्हें भगवद्दत गुह्यातिगुह्य भागवत ज्ञान प्राप्त हुआ है। सो भी किसी ऋषि मुनि से नहीं, स्वयं भगवान् वासुदेव ने आचार्य रूप से इन्हें उपदेश किया है। उस ज्ञान को मैं इनसे क्यों न प्राप्त करलूँ? क्यों न मैं इनका शिष्य बन जाऊँ? मेरे ऐसे भाग्य तो कहाँ थे, जो मैं स्वयं श्रीहरि के श्रीमुख से उस अमोघ ज्ञान को प्राप्त करता। न सही, इतनी कृपा के पात्र कोई अपने साधनों द्वारा तो बन नहीं सकते, जिन्हें वे ही वरण करें, वे ही जिस पर कृपा करें। इस प्रकार के परम्परागत ज्ञान को प्राप्त करके मेरा भी उद्धार हो जायगा। यही सब सोचकर विदुरजी उद्धवजी से कहने लगे।

विदुरजी बोले—उद्धवजी ! श्रीभगवान् के द्वारा आपने उनके स्वरूप के गूढ़ रहस्य को समझने वाला जो गुह्यातिगुह्य परम ज्ञान प्राप्त किया है, उसकी दीक्षा कृपा करके हमको भी दीजिये। यदि आप हमें उसका अधिकारी समझते हों तो उस ज्ञान का उपदेश हमें भी दीजिये। यह कोई संसारी भोग्य सामग्री तो है नहीं, जिसे लोभवश संसारी लोग दूसरों को देने में हिचकते हैं। यह तो परमार्थ ज्ञान है। आप जैसे परम भागवत्, भगवत् भक्त अपने सेवकों का प्रयोजन सिद्ध करने के ही लिये पृथ्वी पर विचरण करते रहते हैं। अधिकारी देखकर वे गूढ़ से गूढ़ ज्ञान को भी प्रदान कर देते हैं। मैं आपका सेवक हूँ, आपमें अनुरक्त हूँ। आप के सदृश तो नहीं हों, भगवान् मेरे ऊपर भी यत्किञ्चित् कृपा करते थे। उसी नाते से मैं आप की कृपा का पात्र होने का अधिकारी हो सकता हूँ।"

इस प्रकार जब विदुरजी ने उद्धवजी से प्रार्थना की, तब अत्यन्त ही संकोच के साथ, गद्गद् कंठ से प्रेमाश्रु बहाते हुए उद्धवजी बोले—विदुरजी ! आप कैसी बातें कर रहे हैं ? अपने को क्या समझते हैं ? आप इस प्रकार अपने को छोटा क्यों बता रहे हैं ? मेरी तो धारणा है—संसार में आप से बढ़कर भाग्यशाली स्यात् ही कोई हो। भगवान् की आप पर जितनी कृपा है, उतनी किसी दूसरे भक्त पर भी है, इसे मैं नहीं जानता। यदि ऐसा न होता, तो हस्तिनापुर में राजभवन को छोड़ कर भगवान् आपके साधारण भवन में क्यों जाते ? मान लिया दुर्योधन मानी था, भगवान् उसका आतिथ्य ग्रहण करना नहीं चाहते थे, तो और भी तो वहाँ उनके सम्बन्धी थे जो उनके भक्त थे। भीष्म पितामह के घर क्यों नहीं गये ?

वे भी तो उनके अनन्य उपासक थे। द्रोणाचार्य के ही घर चले जाते, कृपाचार्य का ही आतिथ्य ग्रहण करते। इन सबको छोड़ कर वे केवल आपके ही घर क्यों पधारे? उस बात को जाने दीजिये। अन्तिम समय, स्वधाम पधारते समय भगवान् ने किसी का स्मरण नहीं किया। केवल आप का ही स्मरण किया।"

अहा, दीनबन्धु ने अन्तिम समय मेरा स्मरण किया! इतना सुनते ही विदुरजी के रोम-रोम खिल उठे। उनके नेत्रों से झर-झर प्रेमाश्रु बहने लगे। बड़ी ही उत्सुकता, अत्यन्त ही उल्लास के साथ चौंक कर विदुरजी बोले—"उद्धवजी! यह क्या कहा? क्या श्यामसुन्दर ने मेरा स्मरण किया था? सच-सच बताइये। शिष्टाचार से ऐसा न कहें। भगवान् ने क्या कहा था? किस प्रसंग में मेरा नाम लिया था? आपने ठीक-ठीक सुना था?

विदुरजी की ऐसी उत्कंठा, ऐसी संदिग्धता को सुनकर उद्धवजी मन ही मन सोचने लगे—देखो, भगवान् के भक्त कितने भोले, कितने निष्कपट, कितने अभिमान शून्य होते हैं? उन्हें कभी भान भी नहीं होता, कि हम भक्त हैं, हमारे हृदय में अनुराग है। विदुरजी पर भगवान का कितना ममत्व है, फिर भी ये इसी बात पर आश्चर्य कर रहे हैं, कि भगवान् ने मेरा नाम लिया था क्या? यह सोचकर वे हँसते हुए बोले—महाभाग! आप कैसी बातें कर रहे हैं? अजी, मैंने खूब सुना था! मैं सो नहीं रहा था, स्वप्न नहीं देख रहा था। एक बार आपका नाम ही नहीं लिया। आपके सम्बन्ध में तो भगवान ने बहुत सी बातें कहीं थीं।"

विदुरजी का हृदय भर रहा था। भरी हुई वाणी में उन्होंने पूछा—"किस प्रसंग में मेरा नाम लिया था ?"

उद्धवजी बोले—"बात यह थी भगवान् ने यह भागवत तत्व मुझे सुनाते हुए महामुनि मैत्रेयजी से कहा था। जब सम्पूर्ण भागवतसार का उपदेश भगवान् कर चुके तब उन्होंने मुनिवर से मेरे सम्मुख ही स्पष्ट शब्दों में कहा—'मुनिवर! आप इस ज्ञान का उपदेश मेरे परमभक्त विदुरजी को अवश्य करें। वे इसके सर्वथा अधिकारी हैं। वे गंगाद्वार में आपकी सेवा में आवेंगे, उस समय आप उन्हें यह सब सुनावें।' सो, विदुरजी! मैं तो उपदेश करने के अयोग्य हूँ। मैं आपको उपदेश कर ही क्या सकता हूँ। आप हरिद्वार में जा कर भगवान् श्रीमैत्रेयजी की श्रद्धा सहित सेवा करें। वे ही आपको इस ज्ञान का उपदेश करेंगे।"

उद्धवजी के मुख से यह बात सुनकर और भगवान् की भक्त-वत्सलता को स्मरण करके विदुरजी रोने लगे और बार बार अपने भाग्य की सराहना करने लगे। तब उद्धवजी बोले—"महाभागवत विदुरजी! आप अपने को इतना छोटा क्यों समझ रहे हैं? देखिये, आपकी भगवान् के चरित्रों में कितनी श्रद्धा है? आप तब से कितनी श्रद्धा के साथ शान्त चित्त से श्रवण कर रहे हैं। देव? ऐसी निष्ठा बड़े भाग्य से होती है।"

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! दो पगले एकान्त में यमुना के पावन पुलिन में रजत चूर्ण के समान कालिन्दी कूल की रेती में बैठे बातें कर रहे थे। प्रकृति स्तब्ध थी। पक्षी अपने घोसलों में सो रहे थे। संसारी लोग

निद्रा देवी के अंक में अपने को सौंप कर निद्रा सुख का अनुभव कर रहे थे। सब की गति रुकी हुई थी। केवल यमराज की भगिनी और हनुमानजी के पिता ही मंद-मंद गति से चल रहे थे। यमुनाजी का प्रवाह इतना शान्त प्रतीत होता था, मानों ठहर कर वे भी अपने प्रियतम की बातें सुन रही हों। पवन इतनी शीतलता और सुगंधि बटोर लाया था, मानों व्रजांगनाओं का प्रतिनिधि होकर व्रज वल्लभ के दो सखाओं का श्रद्धा से स्वागत-सत्कार कर रहा हो। सहसा पक्षियों का कलरव सुनाई दिया। रसाल की मंजरी पर बैठी कोयल कूक उठी। पक्षियों के बच्चे जाग उठे, उद्धवजी चौंक उठे—हैं! प्रातःकाल हो गया? अरे, एक क्षण भी नहीं हुआ और रात्रि बीत गई। कृष्ण विरह में मालूम होता है समय भी छोटा हो गया। इस प्रकार विदुर जी से कह कर आँसू बहाते हुए उद्धवजी ने कहा—"विदुरजी! आपके दर्शन से भगवान् के वियोग का दुःख तो कम हो गया; किन्तु अब एक नया दुःख उत्पन्न हो गया। भगवान् की आज्ञा का तो मुझे पालन करना ही है। बदरीवन तो मुझे जाना ही होगा; किन्तु अब आपके दर्शन कहाँ होंगे? प्रतीत होता है, यह हमारी आपकी अन्तिम भेंट है। देखो, काल की कैसी कुटिल गति है? दैव प्रेमियों को एकत्रित नहीं रहने देता है। मिलन विछोह ही के लिये होता है। संयोग से सटा ही वियोग बैठा रहता है। अब मैं जाना चाहता हूँ। मेरे ऊपर आप की इसी प्रकार कृपा बनी रहे। कभी कभी मुझे अपना सेवक समझकर स्मरण कर लिया करें।"

उद्धवजी के मुख से जाने की बात सुन कर विदुरजी फूट-फूट कर रोने लगे। आज उनके इतने दिन के जमे हुए सभी

आँसू उद्धव के वियोग से पिघल-पिघल कर बहने लगे। वे उद्धवजी की पदधूलि लेने को बढ़े ही थे कि झपट कर उद्धवजी ने उन्हें छाती से चिपटा लिया। बड़ी देर तक दोनों एक दूसरे से लिपटे रहे। इस वृन्दावन भूमि में आज दो भक्तों के मिलन को देखकर कालिन्दी स्तब्ध रह गई। आज उसे वे मिलन की बातें याद आने लगीं, जब एकान्त में श्यामसुन्दर से उनकी सहचरी हृदय से हृदय लगा कर मिलती थीं। दोनों ही अपने आपे को भूल गये।

कुछ समय के बाद प्रेम का वेग कम हुआ। दोनों एक दूसरे से अलग हुए। एक दूसरे ने परस्पर में प्रणाम किया, प्रदक्षिणा की और उद्धवजी विदुरजी को बार-बार निहारते हुए यमुना किनारे-किनारे बदरिकाश्रम को चल दिये। विदुरजी वहीं रोते खड़े खड़े उन्हें निहारते रहे। जब ये उनकी आँखों से ओझल हो गये, तो कटे वृक्ष की तरह यमुनाजी की बालू में धम्म से गिर पड़े।

छप्पय

मुनि मैत्रेय समीप कही हरि ने यह बानी।
मोर भक्त है विदुर परमप्रिय अतिशय ज्ञानी॥
तिनकूँ मेरो ज्ञान अवसि मुनिवर उपदेसें।
जिनकूँ सुमिरें श्याम सराहें तिनकूँ कैसें।
आप पधारें गङ्ग ,तट हौं बदरीवन जायके।
हरि आराधन करौं तहँ, कंद मूल फल खायके॥

विदुरजी का हरिद्वार में जाना

(११९)

आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् ।
ध्यायन्गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥
कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभः ।
प्रापद्यत स्वः सरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ॥❀

(श्री भा० ३ स्क० ४ अ० ३५, ३६ श्लो०)

छप्पय

कीन्हीं हरि ने सुरति दीन की अन्त समय महँ ।
विदुर भये अति विकल गिरे मूर्छित ह्वै के तहँ ॥
करिकैं दण्ड प्रणाम चले उद्धव बदरीवन ।
विदुर भये यों दुखित कृपण को ज्यों खोयो धन ॥
कृष्ण कथा सबरी सुनी, संस्कार पिछले जगे ।
सुमिरि सुमिरि लीला ललित, दाह मारि रोवन लगे ।

संसार में सर्वश्रेष्ठ सुख क्या है ? अनुरागियों का संतों का, सच्चे सुहृदों का मिलन । दुःख क्या है ? उनका विछोह । विदुरजी अपने सगे सम्बन्धियों को इसलिये छोड़ आये थे,

---

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे कुरुकुल तिलक राजन् ! जब विदुरजी ने यह सुना कि परमधाम पधारते समय भगवान् ने मेरा

कि वे श्रीकृष्ण के विमुख थे। जिसे श्रीकृष्ण प्रिय नहीं हैं, वह सम्बन्धी होने पर भी शत्रु समान है। जो भगवत् भक्त प्रभु प्रेमी है, अच्युत अनुरागी है, वह कोई भी क्यों न हो, कहीं का भी क्यों न हो, अपना सुहृद है, सखा है। सर्वस्व है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! उद्धवजी के चले जाने पर उनके वियोग से विदुरजी अत्यन्त ही दुखित हुए। एक ओर तो हृदय में भगवान् की दयालुता का स्मरण हो रहा था, कि अन्तिम समय भगवान् ने मेरा स्मरण किया; दूसरी ओर उद्धवजी का प्रेम, उनका अनुराग, उनकी अहैतुकी भक्ति का स्मरण करके वे विकल हो रहे थे। उद्धवजी के प्रति उनका इतना प्रगाढ़ प्रेम था, कि उनके वियोग में विदुरजी फूट-फूट कर रोने लगे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज, उद्धवजी की आप बहुत अधिक प्रशंसा कर रहे हैं। उनमें ऐसी कौन सी विशेषता थी ? फिर जब समस्त यदुवंश का विनाश हो गया, तो उद्धवजी कैसे बचे रहे ? ब्राह्मणों के शाप से भोज, वृष्णि, अन्धक, कुकुर, सात्वत, सभी यदुवंशी नष्ट हो गये, यहाँ तक कि ब्रह्मादिक देवताओं के भी अधीश्वर भुवनपति भगवान् ने भी अपना भुवन मोहन त्रैलोक्य सुन्दर स्वरूप तिरोहित कर

स्मरण किया था, तब तो वे परम भगवत् भक्त उद्धवजी के चले जाने पर इस बात को स्मरण करके प्रेम में विह्वल होकर रोने लगे। हे भरतवंशावतंस राजन् ! इसके अनन्तर वे परमसिद्ध विदुरजी यमुनाजी के किनारे से चलकर कुछ ही दिनों में गङ्गाजी के किनारे हरिद्वार में उस स्थान पर पहुँच गये; जहाँ महामुनि मैत्रेयजी निवास करते थे।

लिया तो उस चपेट से उद्धवजी को भगवान् ने क्यों बचा दिया ? उनमें ऐसी कौन सी विलक्षणता थी ?"

इस प्रश्न को सुनकर श्रीशुकदेवजी हँसे और बोले—"राजन् ! भगवान् कभी भी किसी वस्तु का बीज नाश नहीं होने देते। बीज नाश हो जाय, तब तो क्रीडा समाप्त हो जाय। क्रीडा-प्रिय नटनागर ऐसा चाहते नहीं। वे तो नित नूतन क्रीडा करने के आदी हैं ? किसान यद्यपि खेत को काट लेता है, खेत में दाना भी नहीं छोड़ता है, किन्तु घर में छिपा कर आगे के लिए कुछ बीज अवश्य रख छोड़ता है, कि समय पर ये ही बीज फिर वृक्ष होकर फलने फूलने लगें। बीज दो प्रकार का होता है—नाद बीज और बिन्दु बीज। नाद बिन्दु से ही सृष्टि और मुक्ति है। जहाँ नाद नहीं बिन्दु नहीं, वहाँ सृष्टि नहीं मुक्ति नहीं। कलियुग में अधर्म के कारण सूर्यवंश, चन्द्र वंश नष्ट हो जायँगे। उन्हें सुरक्षित रखने को भगवान् ने अभी से प्रबन्ध कर दिया है। तुम्हारे वंश के एक देवापि और सूर्यवंश महाराज मरु ये दोनों राजा कलाप ग्राम में गुप्त भाव से योग समाधि में मग्न होकर तपस्या कर रहे हैं। जब कलियुग का अन्त हो जायगा, तो ये दोनों विवाह करके फिर सूर्यवंश, चन्द्रवंश की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखेंगे। यदुवंश की परम्परा के लिये भगवान् ने अपने पौत्र वज्र को उस संहार से बचा लिया। फिर भगवान् ने सोचा—'जब मैं इस अवनि से तिरोहित हो जाऊँगा, तो मेरा परम रहस्यमय तत्व ज्ञान भी लुप्त हो जायगा। यदि तत्व ज्ञान लुप्त हुआ, तब तो यह लोक अमंगल युक्त और ज्ञान शून्य भौतिकवादी बन जायगा। जीवों की स्वाभाविक रुचि विषयों में ही है। आचार से हीन होकर स्वेच्छाचार में प्रवृत्त होना—यह मनुष्यों का स्वभाव है, जहाँ-तहाँ

बिना विचार के भोजन, गम्यागम्य का विचार न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करना—यही पाशविक प्रवृत्ति है। पारलौकिक कार्यों का विरोध करना या उनके प्रति उदासीनता धारण करना—ये ही आसुरी भाव हैं। यदि मेरा तत्व ज्ञान भी मेरे साथ चला गया, तो सभी लोग परमात्मा, परलोक और परमार्थ को भूल जायँगे। सर्वत्र भौतिकवाद का बोलबाला हो जायगा, यद्यपि कलियुगी जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाप कर्मों में ही होगी, वे परमार्थिक कार्यों को ढोंग, दम्भ और व्यर्थ की बकवाद समझेंगे, फिर भी कुछ लोगों में तो धार्मिक चर्चा का बीज बना ही रहना चाहिये। मेरे ज्ञान में किसी जाति वर्णका भेद भाव नहीं। श्रद्धावान् स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र कोई भी क्यों न हो, सभी इस ज्ञान के श्रवण के अधिकारी हो सकते हैं, किन्तु अश्रद्धावान्, अपात्र में यह ज्ञान ठहर नहीं सकता। सिंहनी का दूध सुवर्ण पात्र मे ही रह सकेगा। अन्य किसी पात्र में रख दें, तो पात्र फट जायगा, दूध बिखर जायगा। मेरे पश्चात् मेरे इस ज्ञान बीज को धारण करने में और उसकी परम्परा बनाये रखने में एकमात्र उद्धवजी ही समर्थ हो सकते हैं। अतः उन्हें ही इस ब्रह्मश्राप रूपी अनल के प्रकोप से बचा कर अपना गुह्य ज्ञान देकर मैं बदिरकाश्रम भेज दूँ। वहाँ ये भावना द्वारा तपस्या करते हुए समस्त संसार का कल्याण करते रहेंगे। साधन शरीर से बदिरकाश्रम में साधन करेंगे और दूसरे सिद्ध शरीर से रसमयी व्रज भूमि में लता रूप में रह कर मधुरातिमधुर रस का आस्वादन करते रहेंगे। इस प्रकार लोक कल्याण भी होता रहेगा और इन्होंने जो व्रज में जाकर गुल्मलता बनने की इच्छा प्रकट की थी, वह भी पूरी हो जायगी। मेरे पश्चात् उद्धव ही ऐसे हैं, जो इस ज्ञान को

सुरक्षित रख सकें। उद्धवजी तेज में, प्रभाव में मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं। कैसी भी परिस्थिति में क्यों न रहें, संसारी विषय भोग इनके चित्त को कभी चंचल नहीं कर सकते। इसलिये अभी विश्वकल्याणार्थ लोकोपकार के निमित्त, परोपकार की भावना से इन्हें मर्त्यलोक में ही रहना चाहिये।

राजन्! भगवान् तो सत्य संकल्प ठहरे। उनकी इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती। उनका सोचना और हो जाना दो नहीं जो सोचा वही तत्क्षण हो गया। अपना ज्ञान देकर भगवान् ने उद्धवजी को बदिरकाश्रम के लिये भेजा। रास्ते में उनकी भेंट महाभागवत विदुरजी से हो गई। दोनों में रात्रि भर भगवान् के ही सम्बन्ध की बातें होती रहीं। प्रातःकाल होते ही दोनों पृथक् हो गये। उद्धवजी रोते हुए विदुर को बार-बार निहारते हुए चल दिये।

उद्धवजी के चले जाने पर विदुरजी को वे वृन्दावन की कुंजें सूनी-सूनी सी दिखाई देने लगीं। पक्षियों के कलरव में उन्हें रुदन की सी ध्वनि सुनाई देने लगी। मन्थर गति से जाती हुई माधव प्रिया कालिन्दी का मुख म्लान प्रतीत होने लगा। जिन उद्धवजी को भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से अपने ही सदृश बताते हैं, उनके वियोग से विदुरजी जैसे परम भक्त की ऐसी दशा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उन्होंने अपने सभी कुटुम्बियों को छोड़ दिया था। यात्रा में भी किसी से मिलने की इच्छा नहीं हुई, किन्तु आज सहसा अपने बाल-सखा उद्धवजी को पाकर वे हर्ष हो गये। समस्त शोक सन्ताप भूल गये। किन्तु वे भी निर्मोही की भाँति छोड़ कर चले गये। इससे उनके मन में बड़ी ठेस लगी। हाय! यह संयोग-वियोग

का विधान विधिना ने कैसा क्रूर बनाया है ? अपने परम प्रेमी सुहृदों से मिलकर बिछुड़ना कैसा वीभत्स कांड है ? किन्तु करें क्या ? सभी के कर्म पृथक्-पृथक् हैं। प्रारब्धों की विभिन्नता से अनिच्छा पूर्वक भी ये दुःख हृदय पर पत्थर रख कर सहन करने पड़ते हैं।

बड़ी देर तक विदुरजी आँसू बहाते रहे, जब रोते-रोते हृदय कुछ हलका हुआ, प्रेम का वेग कम हुआ, तब वे धैर्य धारण करके उठे। उन्होंने उस उत्तर दिशा को प्रणाम किया जिस ओर उनके परम स्नेही उद्धव जी पधारे थे। फिर उन्होंने व्रज की धूलि को मस्तक पर चढ़ाया, वृन्दावन की गुल्मलताओं और पशु पक्षियों को प्रणाम किया, तदन्तर वे दुखित चित्त से वहाँ से चल दिये।

जिन्होंने लीला से ही मनुष्य शरीर धारण किया है, जो वेदों की उत्पत्ति के स्थान हैं, जो उद्धवजी के ही नहीं, सम्पूर्ण जगत् के गुरु हैं, वे भगवान् स्वधाम पधार गये। बन्धु बान्धओं का विनाश हो गया। अब विदुरजी को जीने की अभिलाषा नहीं रही, किन्तु एक ही लोभ उन्हें जीवित रखने को विवश कर रहा था। स्वधाम पधारते समय प्रभु ने मेरा स्मरण किया है। मुनियों में श्रेष्ठ भगवान् मैत्रेय को मुझे भागवत तत्व के उपदेश करने का आदेश दिया है, किसी प्रकार गङ्गाद्वार चलकर उस भगवदुच्छिष्ट ज्ञान का मैं पान करके कृतार्थ हो जाऊँ। उद्धवजी के सम्मुख भगवान् ने जो मुझे ज्ञान-दान का अधिकारी समझा है, उस ज्ञान को पाकर मैं अपने जीवन को सफल बना लूँ। यही सब सोचकर वे यमुनाजी के किनारे-किनारे कुछ दूर चले। फिर यमुनाजी को पार करके कुछ काल में वे भगवती भागीरथी के तटपर आ गये और उनके तट का

आश्रय लेकर थोड़े ही दिनों में अत्यन्त शीघ्रता के साथ वे कुशावर्त क्षेत्र—मायापुरी हरिद्वार में पहुँच गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हरिद्वार में जो विदुर मैत्रेय सम्वाद हुआ उसे मैं आगे आप सबको सुनाऊँगा। उसे आप सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

विदुर सँग नहिँ गये चेतना उद्धव सँग ई।
गई, चेतना शून्य भये व्याकुल वे तब ई॥
धरयो धीर पुनि उठे शून्य सब देइ दिखाई।
पुनि कृपालु की कृपा यादि तबई ह्वै आई॥
मुनि मैत्रेय समीप वे, तुरत तहाँ तें चलि दये।
सुरसरि-तट की बाट गहि, हरिद्वार पहुँचत भये॥

———

हरिद्वार में मैत्रेयजी के समीप श्रीविदुरजी

(१२०)

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरुणाम्,
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभावशुद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥
(श्री भा० ३ स्क० ५ अ० १ श्लो०)

छप्पय

पिता गोद तें जहाँ अवनि पै आईं गंगा ।
हर-हर गायन करहिं ताल दें तरल तरंगा ॥
कुशावर्त अति विमल द्वार गंगा मायापुर ।
सप्त स्रोत तें बहे देवसरि अति उमगे उर ॥
वास करे तहँ भक्तवर, मुनि मैत्रेय कृपायतन ।
भये विदुर सन्तुष्ट अति, सुठि स्वभाव लखि मुदित मन ।

जिनके हृदय में कभी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने की उत्कण्ठा उत्पन्न नहीं हुई, जिनके मन में कभी सद्गुरु के चरणों में पहुँचने की चटपटी नहीं लगी, वे इसके स्वारस्य को समझने

---

१ श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! अच्युत भाव से भावित कुरुकुल श्रेष्ठ विदुरजी हरिद्वार क्षेत्र में पहुँच

में समर्थ नहीं हो सकते। हृदय में जब ज्ञान-प्राप्ति की—दीक्षा ग्रहण करने की—आकाँक्षा उठती है, तब समस्त संसार सूना-सूना सा प्रतीत होता है। अपुत्रिणी स्त्री को प्रथम गर्भस्थ बालक के मुख दर्शन की जैसी उत्कण्ठा होती है, नव वधू के मिलने के लिये वर को जितनी उत्कण्ठा होती है, सती-साध्वी, पति परायणा प्रोषितभर्तृका को परदेश से आने वाले पति के दर्शनों की जैसी उत्कण्ठा होती है, इन सब से भी शत-गुणी सत्शिष्य को सद्गुरु के दर्शनों की आकांक्षा हुआ करती है। नियम ऐसा होता है कि पहिले हम किसी से द्वारा किसी महापुरुष की प्रशंसा सुनते हैं, उसके सम्बन्ध में पढ़ते हैं, तो हमारे मन में उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा होने पर हम उनका अधिक परिचय पाने को उत्सुक होते हैं। दूर से परिचय पाकर हम उनके सम्पर्क में आने को लालायित हो उठते हैं। यदि सम्पर्क में आने पर हमारी उनके प्रति श्रद्धा बनी रहे, हमें उनकी प्रतीति हो जाय, तो प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति होने पर अपनापन हो जाता है।

कभी-कभी ऐसा होता है, दूर से तो हम किसी के गुणों की प्रशंसा सुन कर उसके प्रति आकर्षित होते हैं, किन्तु समीप आने पर हमारा वह आकर्षण नहीं रहता। हमारी श्रद्धा कम हो जाती है। इसका कारण यह है, कि सुन कर जो हमें आकर्षण हुआ था, वह उसकी कला का आकर्षण था। अच्छा चित्रकार भगवत् भक्त भी हो, यह आवश्यक नहीं। सुन्दर

गये। वहाँ पर उन्होंने अगाध बोध सम्पन्न महामुनि मैत्रेयजी को शान्त भाव से चुपचाप बैठे हुए देखा। उसके साधुस्वभाव से सन्तुष्ट होकर वे प्रश्न पूछने को उद्यत हुए।"

लेखक सदाचारी ही हो, यह आवश्यक नहीं। अच्छा वक्ता व्यवहार पटु भी हो, यह कोई नियम नहीं। किसी कला में निपुण होना और जीवन को संयम के साँचे में ढाल कर अपने बाहर-भीतर के जीवन को एक सा सरल बना लेना—ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। सरल सदाचारी सन्त विशेष कला कोविद भी हो सकते हैं और कलाकार शिष्टाचार सदाचार से हीन भी हो सकता है। ऐसे कलाकार की कला के प्रति सम्मान रखने पर भी, कलाकार के निजी जीवन के प्रति हमारा असम्मान बना रहता है।

विदुरजी ने महामुनि मैत्रेय का समाचार श्रीउद्धवजी से श्रवण किया। सुनते ही उनके हृदय में मैत्रेयजी से दर्शनों की उत्कण्ठा हुई। अहा! भगवान् ने मुझे उपदेश करने के लिये महामुनि मैत्रेय जी को आज्ञा दी है, कैसे होंगे वे तपोधन? पता नहीं, मेरे ऊपर कृपा करेंगे या नहीं? मैं शूद्रा माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ, आजकल बन्धु-बान्धवों से भी परित्यक्त हूँ, धनहीन अकिंचन हूँ, बिना घर द्वार के अलक्षित भाव से घूम रहा हूँ, महामुनि महान् होंगे। सैकड़ों शिष्यों से घिरे होंगे, मुझे कोई उनके समीप जाने भी देगा कि नहीं? फिर पता नहीं, पहिले पहल में कैसे जाकर उनसे मिलूँगा? किस प्रकार मैं अपना परिचय दूँगा?" इसी प्रकार की अनेक ऊहा-पोह करते हुए वे महामुनि के दर्शनों की अभिलाषा से जा रहे थे। हरिद्वार में पहुँच कर उन्होंने किसी से मैत्रेय मुनि के आश्रम का मार्ग पूछा। उसके बताये मार्ग से वे मुनि के आश्रम के समीप पहुँचे। उन्होंने जाकर देखा—गङ्गाजी के तट पर बहुत ही शान्त एकान्त निर्जन स्थान में महामुनि का

सुन्दर स्वच्छ, लिपा-पुता आश्रम है। वहाँ बहुत भीड़-भाड़ नहीं है। एक-दो साधारण शिष्य हैं। चारों ओर हरे-भरे वृक्ष खड़े हैं। कूप के समीप ही केलों का बन है, जिसमें फलों से लदे बहुत से बड़े-बड़े केले खड़े हैं। सामने ही तुलसी का बन है, जिसमें हरी, काली तुलसी के सैकड़ों वृक्ष मञ्जरी से युक्त खड़े हैं। उसके समीप ही भाँति-भाँति के फल फूल वाले बहुत से वृक्ष हैं। चारों ओर शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। आश्रम से सटकर ही कल-कल निनादिनी भगवती भागीरथी बह रही हैं। किनारे पर लाल, काले सफेद तथा और भी अनेकों रङ्ग के गोल-गोल छोटे बड़े पाषाण पड़े हैं। हिमालय से जब बालिका अलकनन्दा चलती हैं तो स्नेहवश उनके पिता बहुत से पाषाण-खण्ड रूपी सेवकों को उनके साथ कर देते हैं। छोटी बच्ची है, अकेली अपने पति समुद्र के यहाँ जाने में डरेगी। गङ्गा को तो अपने पति से मिलने की चटपटी पड़ी रहती है। वह वहाँ से बड़े वेग से दौड़ती हैं। पाषाण-खण्ड रूपी सेवक भी उसके प्रवाह के साथ दौड़ते हैं। किन्तु मोटा भारी आदमी चञ्चल बालिका के साथ दौड़ कितना सकता है? बहुत से दीर्घ काय पाषाण खण्ड तो वहीं अटक जाते हैं। गंगा उन सब की प्रतीक्षा नहीं करती। उसे तो भागने की धुनि लगी रहती है। जो साथ चल सकता है, उसे तो साथ लेती है, जो नहीं चल सकता उसे वहीं छोड़ देती है। हरिद्वार में आते-आते मोटे-मोटे बड़े-बड़े तो सब हृषीकेश तक ही रह जाते हैं, छोटे-छोटे फुरतीले यहाँ तक आते हैं। यहाँ आते-आते गंगा अब कुछ सयानी हो जाती है। पिता की गोद से कूद पड़ती है। पिता भी सोचते हैं—अब आगे कोई भय की बात नहीं। अब ऊबड़-खाबड़ पथ तो समाप्त हो गये। आगे अब सम भूमि

है। अतः वे गंगा को वहीं से विदा कर देते हैं। वहीं उनके घर का अन्तिम द्वार है। सीमा पर जो सेवकों की सेना रहती है, उनमें से छोटे-बड़े कुछ दूर गंगाजी के साथ और चलते हैं। बहुतों को गंगाजी छोड़ देती हैं। उनके पैर तो नहीं, नग की संतान ही ठहरे। शरीर के बल गंगा के सहारे से लुढ़कते हैं। लुढ़कने के कारण गोल-मटोल बन जाते हैं। हरिद्वार में ऐसे गोल-मटोल नग के वंशज गंगा के जाति-बन्धु बहुत से हैं। वे हिमालय से गंगाजी के साथ आये थे। गंगा उनमें से कहीं किसी को, कहीं किसी को छोड़ कर भाग जाती है। इसीलिये वे लाखों करोड़ों की संख्या में जहाँ-तहाँ हरिद्वार में अनाथों की भाँति पड़े रहते हैं। गंगाजी के मार्ग में पड़े वे प्रतीक्षा करते रहते हैं, कि वर्षाकाल श्रावण में पिता से प्यार पाकर गंगा हममें से किसी को साथ ले जाती हैं। श्रावण भादों में कुछ को गंगा ले भी जाती है, किन्तु दस-बीस कोस ले जाकर उन्हें छोड़ देती है। फिर तो उसे अनेकों बहिनें मिल जाती हैं। प्रयाग में बड़ी बहिन यमुना को भी साथ ले लेती है। अतः प्रयाग तक कोई भी नहीं आता। हरिद्वार में विदुरजी ने ऐसे गोल-मटोल लाखों पाषाण खण्ड मुनि मैत्रेय की कुटी के समीप पड़े देखे। वे सोचने लगे—ये पाषाण खण्ड ही धन्य हैं जो विष्णु पादाब्जसंभूता भगवती भागीरथी के मार्ग में पड़े-पड़े इन ऋषि मुनियों की चरण धूलि को अपने सिर पर धारण करते हैं। गंगा स्नान करके जब ये तपःपूत ऋषि मुनि भगवत् भक्त आते होंगे, तो इन्हीं के ऊपर अपने चरण कमल रखते हुए कुटियों में जाते होंगे। उस प्रकार की अनेक बातें सोचते, गंगातट की शोभा देखते हुए विदुरजी मैत्रेय मुनि के आश्रम में पहुँच गये।

जाते ही उन्होंने देखा, एक वस्त्र से ढके मृगचर्म पर शान्त भाव से महामुनि मैत्रेयजी बैठे हैं। वे अपने आप में तृप्त हुए, ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव कर रहे हैं। देखते ही विदुरजी के रोम-रोम खिल उठे। उन्होंने भूमि में लोटकर उन मूर्तिमान तपस्या के पुंजीभूत विग्रह उन महामुनि को साष्टांग प्रणाम किया। अपने सामने भूमि मे लोट कर प्रणाम करते हुए विदुरजी को देखकर मुनि का मुख कमल शारदीय ज्योत्सना की भाँति खिल उठा। उन्होंने शीघ्रता से उठकर बल पूर्वक विदुरजी को भूमि से उठाया और उनका गाढ़ालिंगन किया। उनके शरीर की धूलि उन्होंने अपने कोमल करों से झाड़ी और अत्यन्त ही स्नेह से उनके सम्पूर्ण शरीर पर हाथ फेरते हुए बोले—'विदुरजी! आप भले आये, भले आये! मैं आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था। आपका शरीर स्वस्थ है न? आप सब प्रकार से सकुशल हैं न? स्वधाम पधारते समय भगवान् ने मुझे आदेश दिया था, कि उनके दिये हुए परमतत्व भूत भागवत ज्ञान को मैं आपको बताऊँ। मुझे अब इस पापपूर्ण संसार में अधिक दिन रहने की इच्छा नहीं है। जिस पृथ्वी को भगवान् ही त्याग गये, उसमें तो अब कलि और अधर्म का साम्राज्य हो जायगा। उसमें अब अधिक रहना व्यर्थ है। मुझे एक ही अभिलाषा थी, कि भगवान् की आज्ञा का पालन कर सकूँ, तुम्हें ज्ञानोपदेश देकर परमपद को प्राप्त करूँ। सो तुम आही गये। अब तुम मुझ से परमार्थ

सम्बन्धी प्रश्न करो। उसका मैं भगवान् के बताये हुए उपदेश के अनुसार उत्तर दूँगा।"

श्रीशुक कहते हैं—'राजन्! इतना कह कर मैत्रेयजी ने विदुरजी का स्वागत सत्कार किया। उन्हें जल और खाने को कंद मूल फल दिये। प्रसाद पाकर और विश्राम करके विदुरजी मैत्रेयजी से प्रश्न पूछने को उद्यत हुए।

छप्पय

देखे मुनि आसीन प्रेम महँ तन्मय विह्वल।
परम शान्त गम्भीर निरामय निर्मल निश्चल॥
करिकें दर्शन शोक मोह सब भय भ्रम भागे।
जाइ दंडवत परे अवनि पै मुनि के आगे॥
करत दंडवत विदुर कूँ, लखि मुनिवर ठाढ़े भये।
बरबस तुरत उठाइकें, निज हिय में चिपका लये॥

विदुरजी का मैत्रेयजी से पारमार्थिक प्रश्न

(१२१)

सुखाय कर्माणि करोति लोको—
न तैः सुखं वान्यदुपारमंवा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखम्,
यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्नः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० ५ अ० २ श्लो०)

छप्पय

विधिवत् करि आतिथ्य कुशल पूछी सब की मुनि ।
कुछ करिके विश्राम चलाई बात विदुर पुनि ॥
हँसि बोले मुनि विदुर ! यादि हरि तुम्हरी कीन्हीं ।
करूँ तुम्हें उपदेश मोहि यह आयसु दीन्हीं ॥
पूछो जो शंका तुमहिं, सब संशय अब ही हरहुँ ।
जो उपदेस्यो मोहिं हरि, समाधान तातें करहुँ ॥

संसार के समस्त सांप्रदायिक-ग्रन्थों में, सभी शास्त्रों में प्रधानतया एक ही प्रश्न है—दुख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति कैसे हो ? सभी ने घुमा फिरा कर नाना हेतु और प्रमाण

---

*विदुरजी मैत्रेयमुनि से पूछते हैं—"भगवन् ! संसार में सभी लोग सुख प्राप्ति के ही लिये समस्त कर्मों को करते हैं, किन्तु उनसे

देकर इसी प्रश्न को उठाया और इसी के समाधान में सारा पांडित्य खर्च किया है। इस प्रश्न से यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि संसार में प्रधानतया दुःख ही दुःख है, सुख नहीं है। जीव मात्र चाहता है सुख। उसके समस्त प्रयत्न सुख के लिये होते हैं। दुःख कोई नहीं चाहता। न चाहने पर भी दुःख हमारी छाती पर सदा सवार ही रहता है। अतः उस दुःख की निवृत्ति करना और शाश्वत सुख की प्राप्ति करना चाहिये।

इस बात को एकाग्रचित्त से गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय, कि ये संसार के समस्त प्राणी जो रात्रि दिन कर्मों में व्यस्त बने रहते हैं, रात्रि दिन घोर परिश्रम करते हैं, यह किसलिये ? इसीलिये न कि हमारा दुःख दूर हो, सुख की उपलब्धि हो। इसी बात को ध्यान में रखकर विदुरजी ने विनीत भाव से महामुनि मैत्रेयजी से प्रश्न किया।

विदुरजी स्वस्थ चित्त होकर मुनि के सम्मुख बैठे, उनकी विधिवत् पूजा की, उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर बोले—"भगवन् ! मेरी एक प्रधान शंका है पहिले उसी को पूछता हूँ, तब तब अन्य प्रश्न करूँगा।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए हँसकर वे अगाध बोध मुनि बोले—"विदुरजी ! आप बड़ी प्रसन्नता से, संकोच छोड़ कर

उन्हें न तो सुख ही होता है और न दुःख की ही निवृत्ति होती है। यही नहीं उनसे उलटा दुःख ही उठाना पड़ता है। इस विषय में आप जो उचित समझते हों हे प्रभो ! उसका उपदेश आप मुझे कीजिये।"

श्न कीजिये। भगवान् ने जो मुझे ज्ञानोपदेश किया है, उसी के अनुसार मैं आपके समस्त प्रश्नों का उत्तर दूँगा।"

यह सुनकर विनीत भाव से विदुरजी बोले—"प्रभो! ये संसार के सभी लोग दुःख निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के ही लिये प्रयत्न करते हैं, किन्तु इन प्रयत्नों से न तो उनके दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही होती है, न शाश्वत सुख की उपलब्धि ही होती है। यही नहीं, प्रयत्न सुख के लिये करते हैं, मिलता है उलटा दुःख।

देखिये, किसान रात्रिदिन परिश्रम करता है, जाड़ा, गर्मी वर्षा किसी की परवाह नहीं करता। न भरपेट खाता है, न पूरी नींद सोता है। इसीलिये कि जहाँ यह खेती पकी तहाँ मुझे सुख ही सुख है। मेरे सब दुःख दरिद्रता दूर हो जायेंगे। किन्तु खेती बीच में ही नष्ट हो जाती है, कभी अति वर्षा से, कभी बिना वर्षा के कभी मूसों के उपद्रव से, कभी टिड्डियों के प्रकोप से। कभी कीड़े लग गये, कभी पाला पड़ गया, कभी दैविक, भौतिक और भी बहुत उपद्रव हो गये। यदि ये सब न हुए, सकुशल पककर आ गई तो राजदण्ड, भूमिकर, महाजन का ऋण, चोरों का उपद्रव, याचकों की भीड़ आदि अनेक कारणों से अन्न छिन जाता है। न भी छिने तो उनसे जितना सुख होना चाहिये नहीं होता, इच्छानुसार तृप्ति नहीं होती।

हम एक गाड़ी मोल लेते हैं, कि इससे सुख मिले। किन्तु वह टूट जाती है पुरानी हो जाती है, मैली हो जाती है, माँगने वाले तंग करते हैं, उसके उपयुक्त सामग्री नहीं मिलती। सुख के स्थान में दुःख ही होता है। हम एक मकान बनाते हैं, कि उससे सुख मिले, किन्तु उसे बनवाना, मरम्मत करवाना, सामान

जुटाना इन सबमें दुःख ही दुःख है। फिर गिर गया, दूसरे ने छीन लिया, द्रव्य के अभाव में बेचना पड़ा, प्रबल प्रभाव से छोड़ना पड़ा, इन सब कारणों से दुःख ही होता है। कोई अच्छी चीज सुख के लिये खाने की इच्छा हुई, कि इसे खाने से सुख मिलेगा, किन्तु खाने के पश्चात् तृष्णा और बढ़ जाती है, दुःख होता है। अधिक खा जायँगे, रोग हो जाता है। क्षण भर के स्वाद के पीछे महीनों क्लेश सहना पड़ता है। किसी सुन्दर रूप को देखने की इच्छा होती है, उसे ज्यों-ज्यों देखते हैं त्यों-त्यों उसकी ओर आकर्षण बढ़ता है। उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं। उनमें नाना क्लेश होते हैं। प्राप्त करके भी उससे सर्वथा सुख नहीं होता, दुःख ही होता है। संसार में आज तक कितने-कितने प्रबल पराक्रमी नरपति हो गये, कितने शूरवीर, यशस्वी, तेजस्वी और भोगवान् पुरुष हो गये। किसी ने यह नहीं कहा—हमें इन संसारी पदार्थों से सर्वदा सुख हुआ है। यही नहीं, सबही ने एक स्वर से कहा है—संसार में जितने धान्य हैं, खाने के पदार्थ हैं, जितने सुवर्ण आदि धन हैं, जितने घोड़ा, गौ, मनुष्य के उपयोगी पशु हैं, जितनी मनुष्य को प्रिय दिखाई देने वाली, विषय सुख प्राप्त कराने वाली वराङ्गनाएँ सभी एक ही मनुष्य को दे दी जायँ, तो भी इन सबसे एक आदमी की भी तृप्ति न होगी। भोग सामग्री जितनी ही बढ़ती जायगी, तृष्णा भी उससे सतगुणी बढ़ती जायगी। जिसकी जितनी ही अधिक तृष्णा है, वह उतना ही अधिक दरिद्री है। तृष्णा का अन्त नहीं, वह अनन्त है। इसी प्रकार दुःख भी अनन्त हैं। इन दुःखों से छूटने का उपाय क्या है? कौन सा कार्य करने से मनुष्यों की दुःखों से निवृत्ति और परमसुख शान्ति की प्राप्ति हो सकती है? मनुष्य इधर से उधर

सुख के लिये भटकता रहता है। बड़े बड़े नगरों के चौराहे पर बैठ जाइये। हजारों लाखों आदमी इधर-उधर व्यग्र होकर आते जाते दिखाई देंगे। उनमें से प्रत्येक से प्रश्न कीजिये—आप क्यों जा रहे हैं? सबका एक ही उत्तर होगा दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति के लिये जा रहे हैं। कोई कहेगा—मेरा पिता, भाई, लड़का, माता, बहिन, स्त्री, सगे सम्बन्धी मित्र आदि बीमार हैं। उनके लिये औषधि लेने वैद्य को बुलाने जा रहा हूँ, कोई कहेगा—न्यायालय में मेरा अमुक अभियोग चल रहा है, उससे मुक्ति के लिये प्रयत्न करने जा रहा हूँ। कोई कहेगा—मुझे खाने पीने का कष्ट है। उसकी निवृत्ति के लिये नौकरी, चाकरी, व्यापार, सट्टा जूआ, दगा, चोरी, ठगई, बेईमानी, पाठ पूजा देवार्चन करने जा रहा हूँ। कोई कहेगा—दिन भर काम करते-करते चित्त ऊब गया है, थोड़ा मन बहलाने, घूमने, फिरने जा रहा हूँ। कोई कहेगा—नशे के बिना चित्त चंचल हो रहा है, भंग, अफीम, गाँजा, पान, तमाखू, सुरती, मद्य पीने या लेने जा रहा हूँ। कोई काम तप्त होकर कामिनी के यहाँ, कोई कलवार के यहाँ, कोई किसी के यहाँ अपने स्वार्थ के लिये जाने को बतावेगा। उनमें से एक भी ऐसा न होगा, जो दुःख निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा कारण बतावे। उनमें से सबसे पूछिये—आपके दुःख की अत्यन्त निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हो गई? सबका एक ही उत्तर होगा—दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तो नहीं हुई, मेरा सम्बन्धी दवा से कुछ तो अच्छा हुआ किन्तु कुछ कसर रह गई, नौकरी मिली तो सही, किन्तु आवश्यकता के अनुसार यथेष्ट वेतन नहीं मिलता। व्यापार में लाभ तो हुआ किन्तु जितना होना चाहिये उतना नहीं हुआ। सब लोग इसी ताक

में इधर से उधर घूम रहे हैं। सभी सुख पाने के लिये गमन कर रहे हैं किन्तु वे दुखी ही दिखाई देते हैं।"

इस पर मैत्रेयजी ने कहा—"भाई! हम लोग भी तो इधर से उधर घूमा करते हैं। देखो दस-बीस दिन पूर्व हम प्रभास क्षेत्र में थे फिर नाना तीर्थों में होते हुए हरिद्वार में आ गये। अब थोड़े दिनों में वहाँ से भी चलते हैं—जैसे सब घूम रहे हैं वैसे हम भी घूमते हैं।"

इस पर शीघ्रता से विदुरजी बोले—"नहीं, भगवन्! आप के घूमने में और संसारी लोगों के घूमने में अन्तर है। संसारी लोग तो समझते हैं—विषयों की प्राप्ति में, उनकी प्रचुरता में ही सुख है। अतः वे तो विषयों को पाने की अभिलाषा से घूमते हैं, किन्तु आप जैसे परोपकारी भगवद्भक्त तो दुर्भाग्य वश भगवान् से विमुख हुए मूढ़ लोगों के ऊपर कृपा करने के निमित्त, अधर्म परायण और संसारी तापों से सन्तप्त हुए अत्यन्त दुखी लोगों के दुःख दूर करने के निमित्त, परोपकार बुद्धि से वैसे ही संसार में विचरते रहते हैं। यदि आप जैसे सन्त पृथ्वी पर पर्यटन न करें तब तो सभी संसारी लोग सदा दुखी ही बने रहें। क्योंकि सन्तों के उपदेश के बिना ये विषया सक्त पुरुष विषयों के मोह को छोड़ नहीं सकते। बिना विषयों के मोह को छोड़े कोई सुखी बन नहीं सकते। अतः आप जैसे महात्माओं का विचरण तो स्वयं अपने दुःखों की निवृत्ति के लिये नहीं, संसार में फँसे लोगों को दुःख से छुड़ाने के निमित्त होता है। इसलिये हे साधुवर्य! हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवन्! आप मुझे उस आराधना का उपदेश करें, जिसके करने से मनुष्यों के अन्तःकरण में साक्षी रूप से विराजमान श्रीहरि अपना यथार्थ रूप प्रकट कर सकें। जिसके द्वारा अन्तःकरण

शीशे से समान शुद्ध हो जाय, जिससे सम्पूर्ण जगत के साक्षी श्यामसुन्दर दिखायी देने लगें। जिस उपासना से हृदय में प्रकट होकर प्रभु ऐसे बुद्धियोग का उपदेश दे सकें, जिसके द्वारा हम उन्हें प्राप्त कर सकें, उनके समीप सदा के लिये पहुँच सकें। ऐसे सर्वदा सुख शान्ति कराने वाले मार्ग का मुझे उपदेश करें।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! इस मुख्य प्रश्न को करके श्री विदुरजी महामुनि मैत्रेय जी की ओर एकटक भाव से देखते के देखते ही रह गये।"

छप्पय

तब बोले श्रीविदुर—विभो! इक बात बतावें।
काहे ये सब जीव कर्म करि दुख ई पावें॥
दुख निवृत्ति सुख हेतु करहिँ शुभ अशुभ कर्म नर।
किन्तु न दोनों होयँ क्लेश ही पाहिँ निरन्तर॥
नर सुरतरु तर ज्यों मुदित, सन्त दरश त्यों सुख लहें।
साधहिँ पर कारज सतत, सन्त देह धरि दुख सहें॥

विदुरजी के अन्य प्रश्न

(१२२)

ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषाम्,
आयुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥*
(श्री भा० ३ स्क० ५ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

बिभो ! विशुद्ध चरित्र श्याम के मोहिं सुनावे।
पावें शाश्वत शान्ति सुगम सी गैल बतावें॥
धर्म काम अरु अर्थ पिता सन सब मुनि जाने।
तृप्ति न तिनते भई क्षुद्र कैतव युत माने।
कृष्ण कथा की लगन ई, विषय विरक्त बनावती।
मन महँ मोद बढ़ावती, सबरे दुःख मिटावती॥

भागवत कथा के जिस श्रोता को भी आप पावेंगे, उसके वे ही इने गिने प्रश्न होंगे। वे सभी रहस्य की बात पूछते हैं। सबसे बड़ा रहस्य तो यह दृश्यमान् संसार है। अतः भागवत

---

* उद्धवजी महामुनि मैत्रेयजी से कह रहे हैं "भगवन्! जो पुरुष पूर्व जन्मों के पापों के कारण पुण्यमयी पुरुषोत्तम की कथा से

मुमुक्षुओं का पहिला प्रश्न तो इस संसार के विषय में होता है। यह नाना रूप, नाना पदार्थों वाला, प्रतिक्षण बदलने वाला संसार कैसे हुआ? इसकी सृष्टि कौन करता है? कौन इसका नियमन करके सुव्यवस्था में रखता है? कौन इसका पालन करता है और अन्त में संहार करता है? जीव क्यों बन्धनों में क्यों भटकता है? इस बन्धन से जीवों की मुक्ति किस प्रकार हो सकती है? इस जगत् के आश्रय कौन हैं—वे अवनि पर अवतरित होकर क्या-क्या करते हैं? कौन कौन सी दिव्य क्रीड़ाओं के द्वारा वे प्राणियों को प्रसन्नता तथा प्रेम प्रदान करते हैं? जिसे भी देखोगे, घुमा फिरा के इन्हीं प्रश्नों को करेगा। जान में अनजान में, सभी के मस्तिष्क में ये प्रश्न घूमते रहते हैं। सभी को भगवान् की जब तक प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक ये प्रश्न बेचैन बनाये रहते हैं। आप कहेंगे कि नास्तिक तो भगवान् को मानते ही नहीं। जब वे भगवान् का अस्तित्व ही नहीं मानते, तो वन्ध्या पुत्र के समान उनके सम्मुख तो भगवत् प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं। किन्तु बात ऐसी है नहीं। हम कहें कि हम पृथ्वी को नहीं मानते, पक्षी कहें कि हमें आकाश दीखता नहीं, इसलिये आकाश को नहीं मानते। मुँह से भले ही बकते रहें। पृथ्वी को न मानने पर भी रहेंगे पृथ्वी में ही। उसे छोड़ कर कहीं क्षण भर को भी नहीं जा सकते। आकाश का अस्तित्व पक्षी

विमुख रहते हैं, उन अत्यन्त ही शोचनीय पुरुषों के लिये मुझे बड़ा शोच है, क्योंकि उनकी वाणी के द्वारा, देह के द्वारा तथा मन के द्वारा व्यर्थ ही व्यापार होते रहते हैं और इनको करते-करते ही उनकी आयु के अमूल्य क्षणों को काल भगवान् नष्ट करते रहते हैं।"

न मानें किन्तु हर प्रकार से उड़ेंगे आकाश में ही। नास्तिक यदि ईश्वर को नहीं मानता तो वह झगड़ा क्यों करता है? जो चीज है ही नहीं, उसके अस्तित्व के विरोध में इतना बवंडर क्यों उठाते हैं।? क्यों आस्तिकों से शास्त्रार्थ करते हैं? क्यों उनका वध कराते हैं? क्यों उन्हें जल में डुबाते हैं? क्यों उनके ग्रन्थों को नष्ट कराते हैं? इससे सिद्ध होता है, कि उन्हें भी यह ही प्रश्न व्यथित किए हुए है। जब इन चर्म चक्षुओं से वे भगवान् को नहीं देख सकते, तो उन्हें भगवान् के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है, कि तुम्हारा अस्तित्व ही हम मिटा देंगे, तुम्हारी चर्चा ही बन्द कर देंगे। उसी के लिये वे प्रयत्न करते हैं। बालू के मैदानों में एक बहुत बड़ा जन्तु होता है, व्याधा जब उसे मारने आता है, तो वह अपने मुँह को बालू में छिपा लेता है। उसका धड़ बाहर दिखाई देता रहता है। वह विश्वास कर लेता है; कि जब मैं व्याधा को नहीं देख रहा हूँ, तो व्याधा भी मुझे नहीं देख रहा होगा, किन्तु व्याधा तो अप्रमत्त है, वह बाण छोड़ कर उसे मार डालता है। चाहे 'अस्ति' रूप से हो या 'नास्ति' रूप से हो, खटका सभी को लगा है। आस्तिक नास्तिक दोनों ही प्रकार के दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय ईश्वर ही है। एक सिद्ध करता है, वह है, एक कहता है नहीं है। भगवान् दोनों से पृथक् बैठकर हँसते रहते हैं। नास्ति वाले की जिह्वा नहीं काट लेते। उसकी वाणी का निरोध नहीं कर देते। अस्ति वाले को सहस्र जिह्वा नहीं लगा देते, उसे आकाश से ऊँचा नहीं उठा देते। दोनों उनके ही विषय में सोचते विचारते हैं, इसीलिये फल भी दोनों को समान होता है। दोनों की बुद्धि विचार से तीक्ष्ण हो जाती है। अन्तर इतना ही होता है आस्ति वाले को 'रस' की प्राप्ति होती है।

नास्तिक वाला रस से वंचित रहता है। विदुरजी तो रसिक ठहरे! वे तो रसलोलुप मधुप ही हैं। इसीलिये वे मैत्रेयजी से बोले—"हे दीन बन्धो! गुरुदेव! आप हमें जगत् की कथाओं में से सारभूता, परम सुखदायिनी भगवान् वासुदेव की कथाओं को चुन-चुन कर उसी प्रकार सुनाइये जैसे माली सुन्दर गजरे में चुन-चुन कर सुन्दर सुगन्धित फूलों को गुंफित करता है। जैसे मधुप सभी पुष्पों से सारभूत मधु को एकत्रित करके उसे ही ग्रहण करता है। जैसे हंस दूध पानी में से दूध ही दूध को पीता है। जैसे जठराग्नि सम्पूर्ण अन्न में से सारभूत रस को ग्रहण करके फुक्कस को नीचे फेंक देती है। जैसे धान कूटने का यन्त्र धान की मिगी को पृथक् करके भूसी को अलग कर देता है, उसी प्रकार आप सभी कथाओं में से सारकथा—केवल कृष्ण-कथा हमें सुनावें।"

विदुरजी के प्रश्न सुनकर मैत्रेयजी हँसे और बोले—"विदुर जी? आपको जो पूछना हो सभी मुझे बताइये, क्या-क्या पूछेंगे?"

विदुरजी बोले—"भगवन्! मुझे तो भक्ति को बढ़ाने वाले, कानों को अत्यन्त प्रिय लगने वाले भगवत् चरित्र सुनने हैं। मैं तो समझता हूँ, इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के एक मात्र कारण वे कंस-निषूदन भगवान् वासुदेव ही हैं। वे नाना अवतार लेकर जो-जो चरित्र करते हैं, ब्रह्मस्वरूप धारण करके कल्प के आदि में जिस प्रकार सृष्टि करते हैं, विष्णु रूप धारण करके उस बनाई हुई सृष्टि का जैसे पालन करते हैं और और अन्त में रुद्र रूप से जैसे उसका संहार करते हैं—ये सभी विषय आप मुझे समझावें। भगवान् तो अद्वितीय हैं। किस

प्रकार वे अनेक रूप धारण करते हैं ? इन सब को संक्षेप में सुनाकर फिर हमें भगवान् के अवतार की कथायें सुनावें। किस प्रकार वे गौ, ब्राह्मण और साधु पुरुषों की रक्षा के लिये अनेक अवतार धारण करते हैं, उनमें क्या-क्या चरित्र करते हैं ?"

इस पर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी ! बार-बार वही बातें वही अवतारों की कथा आप क्यों पूछते हैं ? क्या आपने कभी पहले अवतार कथायें सुनी नहीं ? आप साक्षात् भगवान् व्यास देव के पुत्र ही हैं। समस्त कथाओं के सागर तो वे ऋषियों के अग्रणी भगवान् सत्यवतीनन्दन ही हैं। उन्होंने तो महाभारत जैसे पंचम वेद की रचना की है। अनेक बार सुनने पर भी आप मुझसे वही प्रश्न कर रहे हैं, यह क्या बात है ?"

इस पर विदुरजी बोले—"भगवन् ! आप सत्य कहते हैं। मैंने भगवत् चरित्र अनेकों बार सुने हैं। किन्तु आप से सत्य कहता हूँ; उन पुण्यश्लोक शिरोमणि भगवान् वासुदेव के पवित्र चरित्रों को सुनते-सुनते मेरा मन भरता नहीं। हाँ, मैंने अपने पिता भगवान् व्यास देव के मुख से भगवान् की कथाओं के रस का आस्वादन किया है। किन्तु वह इसी प्रकार किया है, जिस तरह मूंगफली, बादाम, काजू, पिस्ता, अखरोट के फलों का आस्वादन किया जाता है। पहिले पत्थर से उन्हें फोड़ो, उनकी गिरी अलग करो छिलका उतारो, भूनो तब खाओ। इस कार्य में बड़ा श्रम करना पड़ता है। भगवन् ! हम तो सारग्राही हैं। व्यास जी ने तो ऊँच-नीच वर्णों के धर्मों का बार-बार कथन किया है ! उनमें कहीं प्रसंगवश भगवन् चरित्र भी आ गये हैं, तो

उनका भी वर्णन किया है। उनकी धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कथाओं में से मुझे प्रसंगानुसार आई हुई भगवत् कथाओं को छोड़ कर और बातें रुचिकर प्रतीत नहीं होतीं। ये सब क्षुद्र सुख हैं। यह करो तो यह फल मिलें। उस देवी देवता को पूजो, तो वह यह आशीर्वाद दें, इस कर्म से इतने दिन स्वर्ग में वास हो, इतनी अप्सरायें मिलें इतनी भोग सामिग्रियाँ मिलें, ऐसा सुन्दर विमान मिलें। ये बातें सुनते-सुनते मेरा चित्त ऊब गया है, मुझे तो वे ही कथा अत्यन्त प्रिय हैं, जिनके सुनने मात्र से ही यह संसारी बन्धन सदा के लिए छूट जाता है। मनुष्य अन्य कोई भी साधन न करे, केवल प्रेम के साथ निरन्तर कृष्ण कथा ही श्रवण करता रहे, तो उसे इसी एक कार्य से समस्त धर्मों के फल, समस्त क्रियाओं का पुण्य तथा समस्त साधनों का सार प्राप्त हो सकता है।

इस पर मैत्रेयजी बोले—तो क्या भगवान् व्यास ने महाभारत की रचना केवल संसारी और स्वर्गादि सुखों में फँसे रहने के लिये ही की है?"

इस पर शीघ्रता से विदुरजी बोले—"नहीं-नहीं, भगवन् यह मेरा अभिप्राय नहीं है। मेरे पिता भगवान् व्यासदेव तो सर्वज्ञ हैं। उनको तो सभी प्रकार के अधिकारियों का उपकार करना है। किसी को अरुन्धती का सूक्ष्म तारा दिखाना हो, तो पहिले समस्त आकाश के तारों को दिखावेंगे फिर उन सबसे सप्तर्षियों के तारे को पृथक् करेंगे। उनमें भी आगे के चार तारों को, उनमें भी वशिष्ठ जी के तारे को दिखाकर तब अन्त में कहेंगे—'उनकी बगल में जो छोटा सा चमकीला तारा है, वही अरुन्धती का तारा है।' यहाँ तार-

नम्य से सूक्ष्म वस्तु का ज्ञान कराया है। इसी प्रकार भगवान् व्यासदेव ने पहिले इन संसारी और स्वर्गीय भोगों के सुखों का वर्णन करते-करते अन्त में यह बता दिया है, कि इन सुखों से भी सर्वश्रेष्ठ सुख श्री श्यामसुन्दर की शरण में जाने से ही प्राप्त होता है। आपके प्रिय सखा भगवान् व्यास देव का महाभारत रचने का मुख्य उद्देश्य भगवान् के चरित्रों का वर्णन करना ही है। किन्तु उन्होंने उस बात को कर्म में आसक्त लोगों को समझाने के लिये इतना घुमा-फिरा कर कहा है, कि साधारण बुद्धि वाले, तो समझते हैं—बस पुत्र पैदा करना और देव ऋषि और पितरों का पूजन करते रहना यही परम पुरुषार्थ है। वास्तव में उन्होंने तो विषय सुख का वर्णन करते-करते मनुष्यों की बुद्धि को भगवत् गुणानुवाद की ओर लगाने का ही प्रयत्न किया है। जहाँ श्रद्धालु पुरुषों की भगवत् कथा में रुचि हुई, तहाँ विषयों से विरक्त तो स्वयं ही हो जाती है। विषयों से विरक्त होने पर कथा सुनते-सुनते भगवत् चरणारविन्दों में अनुराग बढ़ने लगता है। उस बढ़े एहु अनुराग से ही मनुष्य के सभी दुःखों का अन्त हो जाता है अतः मुझे आप वे ही मधुरातिमधुर भगवत् कथायें सुनावें।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन! इतना कह कर श्रीविदुर जी चुप हो गये और भगवान् मैत्रेयजी की ओर लालसा भरी दृष्टि से देखते हुए उनके मुख से निसृत अमृत का पान करने के लिये उत्सुकता प्रकट करने लगे।"

छप्पय

नित झारू जहँ लगे न कूरो करकट होवे।
त्यों मन के सब मैल कथा जल तिनकूँ धोवे॥
सुनिके सिंह दहाड़ शशक गीदड़ भगि जावें।
कामादिक सब भगें कथाते हिय हरि आवें॥
शोचनीय ते पुरुष अति, हरि चर्चा ते जे विमुख।
कथा श्रवन कीर्तन बिना, जीव लहहिँ नहि शान्ति सुख॥

विदुरजी के प्रश्नों का उत्तर

(१२३)

स एवं भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः ।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहु मानयन् ॥*

(श्री भा० ३ स्क ५ आ० १७ श्लो०)

छप्पय

सुनी विदुर की बात बहुत मुनि हिय महँ हरषे ।
रोमांचित तनु भयो नयन वर्षा सम बरषे ॥
विदुर धन्य तुम धन्य धर्म हो नर तनुधारी ।
पावन, कुरु कुल करयो व्यास सुत दृढ़ व्रतधारी ॥
पर उपकार विचारि हिय, प्रश्न करयो पावन परम ।
जस हरि सिखयो तस कहहुँ, परम धरम को सुनु मरम ॥

जिसके कुल, शील, विद्या, बुद्धि, वर्ण तथा वृत्ति के अनुरूप जो कार्य होता है, विद्वान् लोग उनकी सराहना उसकी परम्परा को लेकर करते हैं कि यह कार्य आपके परम्परागत गुण के

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! जब विदुरजी ने महामुनि मैत्रेयजी से इस प्रकार पूछा, तो वे उनका बहुत सम्मान करते हुए, समस्त लोकों के कल्याण के निमित्त इस प्रकार कहने लगे।"

अनुरूप ही है। किन्तु जो शील, सदाचार और कुलागत आचार को त्याग कर व्यवहार करते हैं, तो सब नाक भौं सिकोड़ कर करते हैं—'देखो, यह उस पावन कुल में कैसा कुपूत पैदा हुआ ? विदुरजी यद्यपि दासी पुत्र थे, किन्तु भगवान व्यास के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। यद्यपि वे शूद्र योनि में थे, फिर भी अपने शील, सदाचार विद्वत्ता तथा नीति निपुणता इन सभी गुणों के कारण सभी के सम्मान भाजन थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनका आदर करते, उनकी बातों को प्रामाणिक मानते। आज जब भगवान् मैत्रेय के समीप भी आकर उन्होंने ऐसे गम्भीर प्रश्न किये, तब तो मुनि मैत्रेयजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगे।

श्रीमैत्रेयजी बोले—"महाभाग, विदुरजी ! हम आपकी पहिले बड़ी प्रशंसा सुना करते थे, किन्तु आज आपके प्रश्नों को सुनकर हमारा रोम-रोम खिल उठा। कैसी सरलता से, कितने गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण प्रश्न किये हैं आपने ? क्यों नहीं, यह आपके अनुरूप ही है। कारण का गुण कार्य में आता ही है। पिता की सम्पत्ति का पुत्र अधिकारी होता ही है। आम के वृक्ष पर आम का फल लगता ही है। आप भगवान् व्यासदेव के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं। आपने अपना सर्वस्व त्याग कर अखिल पति अच्युत का अनन्य आश्रय ग्रहण किया है। आपके द्वारा ऐसे प्रश्नों का किया जाना कोई विचित्र बात नहीं। आपके कुल, शील और विद्वत्ता के अनुरूप ही ये प्रश्न हैं।"

अत्यन्त ही सकुचाते हुए विदुरजी ने कहा—"गुरुजन तो अधमों पर भी अपार कृपा करते हैं। साधु पुरुष दूसरों के

दोषों को देखते ही नहीं, स्नेह में अवगुण दृष्टिगोचर नहीं होते। मैं शूद्रा माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ हीन वर्ण का हूँ। मेरे भाई भतीजों ने परित्याग कर दिया है। केवल आपकी कृपा का अवलम्ब लेकर ही मैं कुछ सीखने के लिये आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ। आप मेरे ऊपर कृपा करें, मेरे प्रश्नों का उत्तर दें।"

यह सुनकर आनन्द में विभोर हुए मुनिवर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! कैसी भूली-भूली बातें कर रहे हैं आप? क्या आप अपने आपको भूल गये? आप क्या साधारण मनुष्य हैं? आप तो समस्त प्रजा को दंड देने वाले संयमनी पति साक्षात् भगवान् धर्मराज हैं। आपने लोक कल्याण के निमित्त माण्डव्य मुनि के शाप को स्वीकार करके महाराज पांडु की दासी के गर्भ से, भगवान् के वीर्य से जन्म धारण किया है। आपको क्या शंका हो सकती है? आप तो समस्त शंकाओं का स्वतः ही समाधान करने में समर्थ हैं? यह तो आप उपचार से लोक कल्याण के निमित्त प्रश्न कर रहे हैं। मेरा महत्व बढ़ा रहे हैं। मुझे सम्मान प्रदान कर रहे हैं। इस सम्वाद द्वारा मेरी कीर्ति को अक्षुण्ण बना रहे हैं आपकी भक्ति के विषय में जो कहा जाय वही थोड़ा है। सदा से हम यही सुनते आये हैं कि भक्त भगवान् का भजन किया करते हैं, अन्त समय में ऋषि मुनि भी भगवत् स्मरण करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु आपके सम्बन्ध में हमने ये बातें विपरीत ही पाईं। भगवान् स्वयं आपका सदा स्मरण किया करते हैं। अन्त समय में स्वधाम पधारते समय भगवान् ने आपका ही स्मरण किया और मुझे आज्ञा भी दी, कि मेरे परम भक्त विदुरजी को मेरे इस गुह्यातिगुह्य ज्ञान का अवश्य उपदेश

करना। सो श्रीभगवान् ने जो उपदेश मुझे दिया है, उसी के अनुसार मैं आपके प्रश्नों का उत्तर देता हूँ। आपने प्रधानतया दो प्रश्न किये हैं—एक तो यह कि निरन्तर सुख के लिये प्रयत्न करने पर भी लोगों को दुःख क्यों होता है और दूसरा यह कि निर्गुण भगवान् से यह सगुण संसार क्यों और कैसे होता है? ये प्रश्न यद्यपि गूढ़ हैं, फिर भी मैं बहुत संक्षेप में इनका उत्तर देता हूँ।

यह ठीक है, कि सुख की इच्छा सभी के हृदय में होती है। क्योंकि सुख स्वरूप श्रीहरि के सकाश से ही इस जीव की उत्पत्ति है, किन्तु भ्रम वश यह उस वस्तु की खोज करता है संसारी विषयों में। सुख तो नित्य है। वह इन अनित्य पदार्थों में कहाँ मिलेगा? सुख तो एक रस है। वह इन नित्य परिवर्तन शील, क्षण-क्षण में बदलने वाली वस्तुओं में कैसे मिल सकता है? सुख तो सत्य है। वह असत् पदार्थों का आश्रय कैसे कर सकता है? सुख की आशा से श्रम तो सभी करते है, किन्तु वह श्रम उस वस्तु में आशा रख कर करते हैं, जिसमें वह है नहीं। आप आक के वृक्ष को खूब सींचे, नित्य पानी दें, कि इसमें मधुर फल लगेंगे, जो हमारी जिह्वा को तृप्त करेंगे। आप के सींचने से वह बढ़ेगा, फूल भी आवेंगे, आम के समान देखने में सुन्दर फल भी लगेंगे, किन्तु पक कर जब वे फूटेंगे, तो उनमें रस के स्थान में रुई निकलेगी। अन्त में सब श्रम व्यर्थ हो जायगा। जिस आशा से इतनी सेवा की थी वह निष्फल हो जायगी। सूआ सेमर को इसी आशा से सेता है। अन्त में उसे चोंच मारने पर निराश ही होना पड़ता है। जाना है आपको पूर्व समुद्र में, किन्तु पश्चिम समुद्र की सड़क को पकड़ कर आप चाहें जितना चलें, पूर्व समुद्र पर नहीं पहुँच सकते।

बबूर के वृक्ष को बोकर आप आशा करें, कि आम के फल इसमें लग जायँ—असम्भव है। उसमें तो काँटे ही लगेंगे। कुतिया को खिला-पिलाकर आप मोटा करें और आशा करें कि बच्चा देने पर यह हमें कामधेनु के समान सुन्दर स्वादिष्ट दूध पिलावेगी, तो आप की आशा और सेवा दोनों व्यर्थ होंगी। वह बच्चा तो देगी, दूध होगा, किन्तु वह आपके काम का न होगा कामधेनु के समान स्वादिष्ट न होगा। उससे कूकर की तृप्ति हो सकती है, मनुष्य की नहीं। कंकड़ की खानि को खोदने पर उसमें से हीरे कैसे निकल सकते हैं? कितना भी श्रम करें उनमें से कंकड़ ही निकलेंगे। पाप से उत्पन्न हुई सन्तान से आप आशा करें, कि यह सदाचारी हो, तो आपकी आशा व्यर्थ है। व्यापारी से आप यह चाहें, कि वह निस्वार्थ प्रेम करेगा, तो आपकी भूल है। जब तक जीव इन तड़कीले भड़कीले विषय पदार्थों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करेगा, तब तक न तो उसके दुःखों की ही निवृत्ति हो सकती है और न शाश्वत सुख ही प्राप्त हो सकते हैं।"

इस पर श्रीविदुरजी ने कहा—"प्रभो! यह बात तो हमारी समझ में नहीं आई। सभी धन प्राप्ति के लिये व्यस्त बने रहते हैं। बिना धन के संसार में कैसे काम चल सकता है? सुख तो धन से मिलता है।"

इस पर हँसते हुए श्रीमैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! आप धन किसे कहते हैं?"

सरलता से विदुरजी बोले—"धन, यही रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, अन्न, वस्त्र, मणि, माणिक्य।"

मैत्रेयजी बोले—"अच्छा, मान लो हम आपको रुपे

सोना, चाँदी, रुपया, पैसा दे दें किन्तु जल न दें, तो आप सुखी हो जायँगे ?"

हँसकर विदुरजी बोले—"सो कैसे होगा, महाराज ! जल के बिना तो जीवन ही न रहेगा।"

मैत्रेयजी बोले—"अच्छा जल दे दें, हवा न दें तो ?"

तो क्या महाराज, कुछ क्षणों में ही, 'रामनाम सत्य है सत्य बोले गत्य' हो जायगी—विदुरजी ने दृढ़ता से कहा।

तब मैत्रेयजी बोले—"तब रुपया, पैसा, सोना, चाँदी से तो वायु जल—ये ही श्रेष्ठ हुए ?"

हाँ महाराज ! हुए तो सही; किन्तु रुपये पैसे वाला सभी वस्तु को सरलता से प्राप्त करके सुखी हो सकता है ?" विदुरजी बोले।

मैत्रेयजी मुस्कराये और बोले—"विदुरजी ! कोई रुपये पैसे वाला आपने आज तक सुखी देखा है ?"

विदुरजी यह सुनकर चक्कर में पड़ गये। कुछ देर मे बोले—"नहीं !' इस पर मैत्रेयजी स्वयं ही कहने लगे—'महाभाग ! यह लोगों का भ्रम है। भिखारी समझता है—किसान सुखी है जिसके द्वार पर हमें रोज भीख मांगने जाना पड़ता है। किसान सोचता है—महाजन सुखी हैं जो हमें कर्ज देता है। छोटा महाजन सोचता है—बड़े व्यापारी सुखी हैं जिनको रोज लाखों की आमदनी होती है। बड़ा व्यापारी सोचता है—मण्डलीक राजा सुखी है जिसके द्वार पर बिना परिश्रम के ही छोटे-छोटे भूमि-पति कर देने और प्रणाम करने नित्य आते हैं। मण्डलीक सोचता है - सम्राट् सुखी है जिसकी देहली पर हम जैसे सैकड़ों मण्डलीक नाक रगड़ते रहते हैं। सम्राट् सोचता

है—चक्रवर्ती सुखी है, जिसकी सम्पूर्ण पृथ्वी पर आज्ञा मानी जाती है। चक्रवर्ती सोचता है—स्वर्ग के देवता सुखी हैं, जो न कभी बूढ़े होते हैं न बीमार, जिनके भोगने को सदा यौवन से मतवाली अप्सरायें मिलती हैं, पीने को स्वर्गीय सुधा, पहिनने को नन्दन कानन के पुष्पों के हार। स्वर्गीय देवता सोचते हैं—इन्द्र सुखी हैं, जो तीनों लोकों के और हमारे स्वामी हैं, जिनके भोगों की कोई सीमा नहीं, चाहें जितना भोग करें, असंख्यों अप्सरायें जिनके संकेत पर नाचती हैं। इन्द्र सोचता है—बृहस्पतिजी सुखी हैं, जिनके सामने मैं भी हाथ जोड़े खड़ा रहता हूँ। बृहस्पतिजी सोचते हैं—मनु सुखी हैं, जिनके शासन में हम रहते हैं। मनु सोचते हैं—ब्रह्मा सुखी हैं जिनकी सेवा में असंख्यों मनु, इन्द्र, प्रजापति लगे रहते हैं। ब्रह्माजी कहते हैं—हम भी क्या सुखी, जहाँ सौ वर्ष हुए कि हमें भी डेरा डंडा उठाकर भागना पड़ेगा।

यदि रुपये पैसे ऐश्वर्य में ही सुख होता, तो ये लोग सब के सब सुखी होने चाहिये। जिनके पास जितना ही अधिक धन होगा, उसकी उतनी ही बढ़ी हुई तृष्णा होगी। जिनकी जितनी ही बढ़ी तृष्णा होगी, वह उतना ही अधिक चिन्तित और व्यग्र होगा। जो जितना ही चिन्तित और व्यग्र होगा वह उतना ही अधिक दुखी होगा। धन से भोग जरूर मिलते हैं, किन्तु भोगों में शान्ति नहीं। जितने ही अधिक भोग भोगोगे उतनी ही अधिक अशान्ति बढ़ेगी, अशान्ति ही दुःख की मूल है।

विदुरजी बोले—"फिर महाराज, ये लोग धन के लिये इतने व्यग्र क्यों बने रहते हैं? क्यों एक सगा भाई दूसरे

सहोदर भाई का शत्रु बन जाता है? क्यों सभी इसी के लिये व्यग्र बने रहते हैं?"

मैत्रेयजी बोले—"महाराज! यह अन्ध परम्परा चल पड़ी है। हजारों अन्धों का झुण्ड चल पड़ा है, एक कहता है—कमल-नयनजी! किधर रास्ता है? दूसरा कहता है—सजीव लोचनजी, सीधा है, चले आइये। इस प्रकार एक दूसरे के पीछे नेत्रहीन चल पड़ते हैं। अगला कुएँ में गिरता है तो दूसरा पूछता है—नयनसुखजी, क्या है? काहे का धमाका हुआ? वह कुएँ में से कहता है—बड़ा आनन्द है पङ्कजाक्षजी, मैंने एक शिकार मारा है। बस धड़ाम-धड़ाम उसी में सब गिरते जाते हैं। इसी तरह वह अपने से बड़े को देख कर वह उससे भी बड़े को देख कर मृगतृष्णा में दौड़ रहे हैं। सच्चा सुख तो श्यामसुन्दर की शरण में जाने से ही मिलेगा। विषयों की आसक्ति को छोड़ कर विश्वम्भर में आसक्ति करने से ही समस्त दुःखों का अन्त हो सकेगा। अनित्य पदार्थों के मोह को छोड़ कर नित्यानन्द स्वरूप सच्चिदानन्द घन श्रीनन्दनन्दन के पाद पद्मों में जब प्रेम करेगा, तभी उसे शाश्वती शान्ति की प्राप्ति हो सकेगी। विदुरजी, विषयों में सुख नहीं, शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं। वे तो दुःख, अशान्ति और अतृप्ति को ही देने वाले हैं। इसलिये जिन्हें यथार्थ सुख की अभिलाषा हो, उन्हें विषयों का मोह छोड़ कर भगवान् की शरण लेनी चाहिये, तभी यथार्थ प्राप्य पदार्थ की प्राप्ति हो सकती है। यह संक्षेप में मैंने आपके प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया। अब दूसरे सृष्टि विषयक प्रश्न का भी संक्षेप में उत्तर देता हूँ। इसे आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"ऋषियो!

इसके अनन्तर भगवान् मैत्रेयजी ने विदुरजी को सृष्टि विषयक ज्ञान समझाया। उसका प्रसंगानुसार मैं इकट्ठा ही वर्णन करूँगा। यहाँ इस भागवती कथा प्रसंग में तो उसका सार बता कर भगवत् अवतारों की कथाओं का ही वर्णन मैं करूँगा। आप लोग कुछ और न समझें।" इतना कह कर सूतजी आगे का प्रसंग कहने को उद्यत हुये।

छप्पय

खोजें जे सुख विषय वासना महँ ते जड़मति।
जग के चंचल विषय भोग तें रोग बढ़हिं अति।
सूआ सेमरि सेइ अन्त महँ सो पछितावे।
रोपे वृक्ष बबूर आम फल कैसे खावे॥
दुःख नाश सुख जे चहहिँ, विषवत् विषयनि कूँ तजहिँ।
है अनन्य अखिलेश कूँ, सर्व भाव तें नित भजहिँ॥

विदुरजी की माया विषयक शंका

(१२४)

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।
लीलया चापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥❀
(श्री भा० ३ स्क० ७ अ० २, ३ श्लो०)

छप्पय

नट नागर की नाट्य भूमि जा जगकूँ जानो ।
जहाँ दृष्टि मन जाहि ताहि सब माया मानो ॥
लीला तें गुण कर्म गहें पुनि विहरें तामें ।
लीला ललित ललाम करहिँ बहु तनु धरि जामें ॥
बालकवत् क्रीड़ा करहिँ, हर्ष, शोक इच्छा रहित ।
कटहिँ जगत बन्धन तुरत, सुनहिँ चरित श्रद्धा सहित ॥

एक प्रश्न को बार-बार कहने सुनने से वह स्मरण हो जाता है। किसी विषय की पुनः-पुनः आवृत्ति का ही नाम अभ्यास है। यदि इस जगत् के पदार्थों की परिवर्तन शीलता, अस्थिरता

❀ महामुनि मैत्रेयजी से विदुरजी शंका करते हैं—"ब्रह्मन् ! आपने जो भगवान् के साथ गुण क्रिया का सम्बन्ध बताया है, वह केवल

और अनित्यता का बोध हो जाय, तो जीव की इन वैषयिक पदार्थों से आसक्ति छूट जाय। कारण कि आसक्ति ही बन्धन का हेतु है। इसलिये समस्त शास्त्र पहिले सृष्टि क्रम का वर्णन करके इस सृष्टि के मूल में नित्य रूप से स्थित उन सर्वेश्वर श्रीहरिका ही बोध कराते हैं।

दुःख का हेतु बताकर अब मैत्रेयजी विदुरजी से सृष्टि का क्रम बताते हैं। उन्होंने कहा—"विदुरजी! सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय ही था। एकमात्र श्रीहरि ही हरि थे। माया, अहंकार से रहित वे ही श्रीहरि थे। फिर उन्होंने अपनी सद् असद् रूप विलक्षण मायाशक्ति का आश्रय करके इस विश्व ब्रह्मांड की रचना की। त्रिगुणमयी माया में माया पतिने अपने अंश भूत पुरुष रूप से चेतन रूप बीज को स्थापित किया। कहीं से काल भी आगया। वह तो जीव के साथ बँधा ही है। बस, गर्भिणी माया ने महत्तत्व रूपी पुत्र को उत्पन्न किया। पुत्र ही अपने सदृश पैदा करके पिता बन जाता है, महत्तत्व ने एक पुत्र अहंतत्व पैदा किया। यही कार्य, कारण और कर्त्ता रूप होने से बहुत सी सन्तानें पैदा करने वाला हुआ। पंचभूत, दस इन्द्रियाँ, मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव, तन्मात्रायें ये सब उत्पन्न हुईं। इसी ने अपने तीन रूप बनाकर त्रिगुणात्मक सृष्टि

चिन्मात्र निर्विकार निर्गुण ब्रह्म के साथ लीला से ही सही कैसे सम्भव हो सकता है? आप कहेंगे कि बालकों की क्रीड़ा की भाँति। किन्तु बालक का खेलने में जो प्रयत्न देखा जाता है, वह तो उसकी कामना और दूसरों के साथ खेलने की इच्छा से होता है, किन्तु भगवान् तो स्वतः पूर्ण, दूसरों से सदा सम्बन्ध रहित तथा अद्वितीय हैं, उनके सम्बन्ध में क्रीड़ा की कामना कैसे सम्भव हो सकती है?"

की रचना की। ये जो अधिष्ठातृ देव हैं, सभी विष्णु भगवान् की कलायें हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न होने से ये अपनी-अपनी ढपली बजाकर अपना-अपना पृथक्-पृथक् राग अलापने लगे। बिना संगठन के रचना रूपी क्रिया करने में असमर्थ, वे सब देवता भगवान् की शरण में गये। उनकी हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे। भगवान् तो एक से बहुत होने को चाह ही रहे थे। वे काल शक्ति का आश्रय लेकर तेईसों तत्वों में अन्तर्यामी रूप से घुस गये। बोल सर्वान्तर्यामी भगवान की जय! गाड़ी चलने लगी, संसार चक्र घूमने लगा। बन्द हुई सृष्टि फिर से आरम्भ हुई। क्योंकि उन तत्वों में घुसते ही उनमें जो कार्य करने की क्रिया शक्ति सोई थी, वह जाग्रत हो गयी। वे तत्व हनुमान की तरह थे, कि जब तक उन्हें कोई बोध न कराये कुछ कर ही न सकें। अब सब ने संगठन करके, अपने-अपने अंश को एकत्रित करके मिल जुलकर विश्वरचना करने वाले विराट् पुरुष को उत्पन्न किया। उसमें असख्यों जीव उसी तरह भरे थे, जैसे गूलर के फल में भिनगे भरे रहते हैं। वह विराट् पुरुष कच्चे अंडे की भाँति उत्पन्न हुआ था. इसलिये दिव्य हजारों वर्ष पकने को पानी में पड़ा रहा। पकने पर उसके मुख, आँख, कान, नाक ये सब हो गये। वह फूट गया। उन सब स्थानों में ये देवता, इन्द्रिय और अपने-अपने विषयों को साथ लेकर अपना-अपना अधिकार जमाकर बैठ गये। उसी विराट् रूपी अंडे से चौदह भुवन तीन लोक उत्पन्न हो गये। वेद, वर्ण, आश्रम ये सभी उत्पन्न हुए। सब वर्णों ने उत्पन्न होकर अपनी-अपनी वृत्ति स्वीकार करली।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आप तो बड़ी जल्दी कर गये?"

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"महाराज, यह विषय है ही इतना गहन कि इस भागवती कथा में इसका विस्तार करने से कथा का स्वारस्थ हो चला जायगा। फिर आपही सोचें, संक्षेप से न कहकर विस्तार करूँ, तो इसके विस्तार का तो कोई अन्त ही नहीं। काल, कर्म और स्वभाव से युक्त होकर भगवान् जो क्रीड़ायें करते हैं तथा अपनी योग माया के प्रभाव को प्रकट करने वाले इस विराट् पुरुष के रूपका यथार्थ वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है? इसलिये यहाँ तो कथा की संगति जोड़ने को इतना ही पर्याप्त है, फिर जल सृष्टि का ही वर्णन करेंगे, तब देखा जायगा। इस समय तो आप भगवान् के अवतार कथा का ही श्रवण करें। कर्णों की सार्थकता कथा श्रवण में ही है।"

शौनकजी बोले—"अच्छी बात है, सूतजी! हाँ, तो फिर विदुरजी से मैत्रेयजी ने क्या प्रश्न किया?"

इस पर सूतजी कहने लगे—"मेरे गुरुदेव ने जो महाराज परीक्षित् को मेरे सम्मुख विदुर मैत्रेय सम्वाद वर्णन किया था, उसका सारातिसार तत्व मैं आपके सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ। आप इस गूढ़ रहस्य को समाहित चित्त से श्रवण करें।"

जब विदुरजी ने सुना कि भगवान् अपनी माया का आश्रय लेकर निर्गुण होकर भी काल कर्म को स्वीकार करके साक्षात् रचना रूपी क्रिया में प्रवृत्त हो गये, तो उन्होंने शंका की। वे मैत्रेय मुनि से बोले—"प्रभो! यह बात मेरी समझ में नहीं आई। आप कहते हैं भगवान् स्वतः तृप्त हैं। उन्हें अपने आनन्द सुख के लिये किसी अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं। वे इन मायिक गुणों से सदा रहित हैं उनमें जड़ता का लेश भी नहीं,

शुद्ध चैतन्य घन स्वरूप हैं। विकार की उनके सम्बन्ध में कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे निर्विकार, निःसंग, निर्गुण और अक्रिय हैं। फिर उनका सम्बन्ध इन नाशवान्, परिवर्तन शील मायिक गुणों के साथ कैसे हो सकता है ?"

इस पर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी ! अब यह 'कैसे' हो सकता है, इस 'कैसे' का क्या उत्तर ? उनकी इच्छा ! बालक है, जब मौज आती है अपने आनन्द के लिये खिलौने से खेलने लगता है। यह बना, वह बना, बाग लगा, हाथी बना, घोड़ा बना। इच्छा हुई तब तक खेले, फिर तोड़कर बिगाड़ा, दूध पिया, सो गये। खेल है, इसी प्रकार भगवान् की लीला है। इसमें कारण क्या बतायें ?"

यह सुनकर विदुरजी बोले—"नहीं महाराज ! यह नहीं हो सकता। भगवान् बालक वत् क्रीड़ा करें, तो वे अकर्ता निरीह और संकल्प रहित नहीं हो सकते। बालक के मन में पहिले खेलने की इच्छा उत्पन्न होती है, खेल किसी साधन से होता है, इसलिये वह खिलौने आदि साधन एकत्रित करता है। अपने साथियों को खेलने को एकत्रित करता है। खेल से पूर्व उसे आनन्द नहीं था। सामग्री के जुट जाने से खेल होने पर उसे आनन्द की उपलब्धि होती है। बिना कामना से बच्चे के हृदय में खेलने की इच्छा और उसके लिये प्रयत्नवान् होना बन नहीं सकता। उस आनन्द के लिये बाह्य साधन जुटाने पड़ते हैं। भगवान् तो सदा अपने आप में ही मग्न रहते हैं। आत्मा में ही रमण करने के कारण वे आत्माराम कहलाते हैं। उन्हें अपनी तृप्ति के लिये साधनों की अपेक्षा नहीं। वे अद्वितीय, सभी सम्बन्धों से रहित, निरालम्ब हैं। वे लीला के लिये इस

सृष्टि रूपी जंजाल में क्यों पड़ने लगे ? यह मानी हुई बात है कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार बिना किसी हेतु के हो नहीं सकते। आप यह भी नहीं कह सकते कि माया में फँस कर वे करने लगते हैं, क्योंकि भगवान् तो अखण्ड ज्ञान स्वरूप हैं। उनके ज्ञान का लोप देश, काल अवस्था आदि किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता। फिर उन्होंने जान बूझ कर इस बहु-रूपिणी माया का आश्रय लिया ही क्यों ? यदि वे माया का आश्रय लेते ही हैं, तो उन्हें कर्म जन्य क्लेशों की प्राप्ति होनी ही चाहिये, किन्तु भगवान् को यह सब होती नहीं। तब यह क्या गोरख धन्धा है ? मेरी इस शंका का निवारण कीजिये।"

यह सुन कर मैत्रेयजी हँसे और बोले—"विदुरजी ! प्रश्न तो बड़ा सुन्दर किया, किन्तु आप इस प्रश्न के मूल में नहीं पहुँचे। यदि भगवान् काल, कर्म और गुणों के अधीन होकर जीव रूप से ही सही, क्लेश ही पाते तो मनीषी पुरुष माया की कल्पना ही क्यों करते ? अब बताइये आप माया किसे समझते हैं ?"

विदुरजी ने कहा—"माया वही रही जो इस असत् जगत् को सत् के समान दिखावे।"

प्रसन्न हो कर मैत्रेयजी बोले—"बस, अब तो आपने अपनी शंका का स्वतः ही समाधान कर दिया। जब नहीं होते हुए भी जो प्रतीति करावे, तो वह सदा रहने वाले सत्य स्वरूप भगवान् को कैसे मोह सकती है ? उन्हीं के अंश भूत जीव को कैसे दुःख दे सकती है ?"

विदुरजी ने पूछा—"फिर महाराज ! ये संसार में लोग दुःख क्यों उठा रहे हैं ? क्यों दीन दुखी होकर इधर-उधर भटक रहे हैं ?"

मैत्रेयजी बोले—"भक्तवर! यही रोना तो मैं भी रो रहा हूँ। जीव को कभी क्लेश नहीं हुआ भगवान् का अंशभूत उनके आश्रय में रहने वाला जीव सदा सब दुःखों से रहित है। यही माया है जो बिना होवे हुए भी उसकी प्रतीति करावे। हौआ कभी किसी ने देखा है आज तक? किन्तु बच्चे हौआ का नाम सुनकर ही डर जाते हैं। सीप में चाँदी निकली है किसी ने कभी देखा? किन्तु दूर से सीप देख कर सभी को भ्रम हो ही जाता है। टेढ़ी-मेढ़ी सर्प के आकार वाली अन्धेरे में पड़ी रस्सी ने कभी किसी को काटा है? किन्तु उसे देखकर अब तक लोग डरते हैं। खेत में लकड़ी गाड़कर पुरुष जैसे वस्त्र पहिना कर खेत वाले जो मिथ्या पुरुष बना देते हैं, उसने कभी किसी गीदड़, हिरन आदि जानवर को चरने से रोका है? किन्तु जानवर पुरुष के भ्रम से देखते ही भाग जाते हैं। वेग के साथ चलती नौका में तथा तेज दौड़ने वाली सवारी में बैठे हुए बालक समझते हैं, कि उनके साथ किनारे के वृक्ष भी दौड़ रहे हैं, किन्तु कोई वृक्ष अपने स्थान से कभी दौड़ा है? जल में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को वायु के द्वारा कांपते देख कर अज्ञानी लोग समझते हैं चन्द्रमा कॉप रहा है किन्तु क्या चन्द्रमा में कम्प होता है क्या वह वास्तविक चन्द्र है? केवल जल के काँपने से उसमें मिथ्या प्रतीति होती है। बच्चे चैंया-मैंया करके जोर से घूमते हैं, भ्रामरी नित्य करते हैं, तो सोचते हैं हमारे साथ पृथ्वी भी घूम रही है, वृक्ष भी नृत्य कर रहे हैं, तो क्या यह उनकी धारणा सत्य है? रोग के कारण या आँख में उँगली लगाकर दो सूर्य्य चन्द्र दिखाई देते है, तो क्या वास्तव में दो सूर्य्य चन्द्र हो गये हैं? हिरनों को ज्येष्ठ वैसाख की कड़ी धूप मे सूर्य की किरणों के पड़ने से मरुदेश

में चमकती हुई बालू में जल का भ्रम होता है? उस जल से कभी किसी मृग की प्यास बुझी है? किन्तु वह भ्रम मृगों को अब तक बना ही है। जिसके पास रुपये आते हैं, वही कहता है मेरे हैं। रुपये कभी किसी के हुए हैं? किन्तु मेरा-मेरा अभी तक सभी कह कर आसक्ति करते ही हैं। स्वप्न में भूख प्यास लगती है, दुःख होता है, सिर तक कटा हुआ प्रतीत होता है उस समय दुःख भी होता है। जागने पर कभी किसी ने कटा सिर देखा है? किन्तु स्वप्न में यह भ्रम तो सत्य दिखाई देता ही है। हाथी पकड़ने वाले जो काठ की बनावटी हथिनी बनाकर रख देते हैं और कामी हाथी आसक्ति में उसकी ओर बढ़ता है; तो ऐसी हथिनी से किसी हाथी की काम तृप्ति हुई है? किन्तु हाथियों का भ्रम तो होता ही है। जिस प्रकार इन सब के न होने पर भी उन-उन वस्तुओं की प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मा में भी सुख-दुःखादि अनात्मा के गुण—बिना हुए ही, होते हुए से दिखाई देते हैं।

विदुरजी ने कहा—"महाराज, यह भ्रम कब से हुआ? इसका आदि, अनादि है?"

यह सुनकर मैत्रेयजी बड़े जोर से हँस पड़े और बोले—"विदुरजी! अब आप मुझे चक्कर में डालना चाहते हैं। अब मैं इसे आदि कहूँ तो सृष्टि के अन्त में इस भ्रम का भी अन्त हो जाना चाहिये, सो होता नहीं। यदि कहूँ तो आप इसे भगवान् को बराबर का भाई मानेंगे। इसलिये यों ही समझो—यह माया का भाई है।"

विदुरजी बोले—"नहीं, महाराज मैं आपको फंसाने के निमित्त नहीं कह रहा हूँ। माया का भाई या भगवान् का यह

तो चक्कर की सो ही बात रही। फिर माया का ही यथार्थ रूप बताइये।"

मुस्कराकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ? इस बहुरूपिणी माया का यथार्थ रूप क्या बतावें ? ऐसे ही सट्ट-पट्ट है। तुम इस माया के चक्कर को ही छोड़ो।"

विदुरजी बोले—"जाने दीजिये महाराज, इसके रूप रङ्ग से हमें क्या ? इसका चक्कर कैसे छूटे ? यही बताइये।"

मैत्रेयजी बोले—"यदि कर्म करोगे तो यह कभी छूटने की नहीं। कर्म ही इसके फँसाने का जाल है, ज्यों-ज्यों शुभ अशुभ कर्म करोगे, त्यों-त्यों यह बन्धन को कसती जायगी।

विदुरजी ने कहा—"महाराज कर्म किये बिना प्राणी कैसे रह सकते हैं ? एक क्षण भी बिना कर्म किये कोई खाली नहीं बैठ सकता।"

मैत्रेयजी बोले—"कर्म कामना लेकर मत करो। भगवान् के लिये उनकी पूजा, अर्चा, उपासना के लिये ही कर्म करो। इससे भगवान् में ही मन लगाकर उनके ही लिये कर्म करके उनकी ही शरण में जाने से, उनकी ही कृपा से यह माया भ्रम दूर हो सकते हैं। दूसरा इनके हटाने का अन्य कोई उपाय नहीं। प्रपन्न होना—शरणागति प्राप्त करना—आत्म समर्पण करना—सर्वस्व उनको ही समझ कर उनके किंकर बने रहना; यही माया से छूटने का, भ्रम से बचने का उपाय है। देखो, मछुआ जाल डालता है। दूर की मछली जाल में फँस जाती हैं। उसके चरणों के समीप की बच जाती हैं, अतः भगवान् से दूर मत जाओ, उनके चरणों की शरण गहो। कोई कुतिया भौंक रही है, आप उसे जितना बन्द करोगे उतनी और भौंकेगी। आप मालिक के पास चले जाओ, झट पूँछ हिलाकर चुप हो

जायगी। कोई लड़की तुमसे लड़ रही हो, उसके बाप के पास चले जाओ, वह झट सकुचा जायगी। तुम अपने नवविवाहित मित्र की बैठक में न जाकर रसोई में जाकर भोजन माँगो, तो तुम्हें रोटी भी न मिलेगी और उलटी चार बातें सुननी पड़ेंगी। रसोई में न जाकर मित्र की बैठक में जाओ और उनका आश्रय लेकर रसोई में आओ, तब रोटी भी मिलेगी और आदर भी। फिर न अपमान सहना पड़ेगा, न कड़ी बातें। इसलिये माया का आश्रय न लेकर मायापति का आश्रय लो। मालिक से मित्रता होने पर यह तो घूँघट मार कर घर में छिप जायगी। भ्रम साला बनकर तुम्हारे सामने लज्जित हो जायगा, फिर उससे तुम चाहे जो कहो, चाहे जैसी गाली दो हँसता ही रहेगा, बुरा न मानेगा। नाता ही ऐसा निकल आया। बोलो कुछ आई समझ में बात ?"

विदुरजी बोले—"हाँ, महाराज ! आ गई समझ में बात। माया के पीछे पड़ना अपने को और अधिक बन्धन मे डालना है। सचमुच में भगवान् अकर्ता निर्लेप और सर्व स्वतन्त्र हैं। जीव परतन्त्र है। जब तक यह भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करेगा, तब तक ऐसा ही भटकता रहेगा। आपने जो स्वप्न के समान भगवान् की माया के आश्रय से, इस जीव के व्यर्थ के क्लेशों का होना बताया है, यह बिल्कुल सत्य बात है। क्योंकि माया के बिना जगत् का अस्तित्व ही नहीं। इसलिये भगवन् ! मैं तो समझता हूँ या तो जो आदमी एकदम मूढ़ हैं, जिन्हे खाने पीने के सिवाय परमार्थ का विचार ही नहीं उठता, वे अच्छे है या जो पूर्णज्ञानी हैं वे ही सुखी हैं। हम बीच वालों को ही दुःख होता है, जो न इधर हैं न उधर। न बिलकुल मूढ़ ही न ज्ञानी ही। न शुद्ध चावल न दाल, मिले जुले खिचड़ी

के समान हैं। न घोर संसारासक्त हैं न परमार्थ पथ के लगन वाले पथिक ही हैं, किन्तु उभय भ्रष्ट हैं। यह सब माया, भ्रम मिथ्या विचार हम जैसों को ही चक्कर में फँसाये रहते हैं।

आपके कहने से यह तो मैं समझ गया, कि यह संसारी अनात्म विषय भोगों के पदार्थ, प्रतीति होने पर भी यथार्थ में कुछ नहीं हैं। किन्तु अभी तक मेरा भगवान् मधुसूदन के चरणारविन्दों में प्रेम नहीं बढ़ रहा है। जब तक प्रभु पाद पद्मों में प्रेम उत्पन्न न होगा, तब तक यह मिथ्या प्रतीति बनी ही रहेगी। वह भी आप जैसे संतों की सेवा से ही प्रेम उत्पन्न होकर दूर हो सकती है। सो, अब तो मैंने आपके चरणों की शरण ले ली है। अब तो मेरा उद्धार हो ही जायगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर मैत्रेयजी ने विराट् पुरुष से जो ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई है, उसका वर्णन किया। उसे मैं आगे आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

अन्तःकरण समेत बाह्य करणादिक सबई।
विषयनि तें उपराम होय दुख कटिहहिं तबई॥
माया, मिथ्या ज्ञान अविद्या भ्रम भगि जावे।
होवे ज्ञान यथार्थ प्रतिष्ठा निज पद पावे॥

मायापति मैत्री करहु, माया चरचा त्यागि के।
चवर चवर दुलहिन करे, पति लखि जावे भागि के॥

मैत्रेयजी की भागवती परम्परा

(१२५)

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखम्,
महद्गतानां विरमाय तस्य।
प्रवर्तये भागवतं पुराणम्।
यदाह साक्षाद् भगवानृषिभ्यः॥
(श्री भा० २ स्क० ८ अ० २ श्लो०)

छप्पय

कहैं विदुर हे प्रभो! सृष्टि को सार बतावें।
नाना रूप बनाय विश्वपति काहि लुभावें॥
हँसि बोले मुनि, विदुर धन्य कुरुकुल के भूषन।
कहूँ भागवत सुनत दूर हो, सब दुख दूषन॥
संकर्षण भगवन् ने, सनकादिक मुनि सन कही।
तिनतें सांख्यायन सुनी, पूज्य पराशर पुनि लही॥

जल तो एक ही है। भिन्न-भिन्न रंग के पात्रों में रखने से यह देखने में भिन्न-भिन्न रंगवाला सा प्रतीत होता है। कभी-कभी काल के प्रभाव से भी उसके गुणों में भिन्नता आ जाती

श्रीमैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"हे भगवत् भक्तों में अग्रणी विदुरजी! जो पुरुष इन क्षुद्र सुखों की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े

है। वर्षा में नदी के जल का गुण भिन्न होता है, शरद् में भिन्न और ग्रीष्म में और ही गुण वाला होता है। कभी अन्य द्रव्यों के मिलाने से उसके स्वाद में, गुण में भी भिन्नता आ जाती है। हिम आदि शीतल पानीय द्रव्य मिलाने से ठंडा, सुगन्धित, रस आदि मिलाने से मीठा और सुगन्ध युक्त बन जाता है, किन्तु अपेय पदार्थ न मिलाये जायँ, तो वह सभी अवस्था में हृदय को शीतलता प्रदान करने में, प्यास बुझाने में समर्थ होता है। इसी प्रकार ज्ञान एक है। उसके ग्रहण करने वाले ऋषियों के कारण वर्णन में कुछ भिन्नता हो जाती है, प्रक्रिया में भी कुछ अन्तर सा प्रतीत होने लगता है, किन्तु किसी भी प्रामाणिक मुनि के द्वारा क्यों न कहा गया हो, अज्ञान के नाश करने में तो समर्थ होता ही है। पुराणों के वक्ता बहुत से मुनि हो गये हैं। भगवान् व्यासदेव ने उन सभी की बातों का सार लेकर वर्तमान पुराणों का संग्रह किया है। नहीं तो पुराण अनन्त हैं, असंख्य हैं। एक मत्स्य पुराण को ही साक्षात् भगवान् सप्तर्षियों को प्रलय से लेकर सृष्टि तक हजारों लाखों वर्ष सुनाते रहे। इसी प्रकार श्रीमद्भावत की भी कई परम्परायें हैं। आदि वक्ता तो सबके श्रीमन्नारायण ही हैं। मैत्रेय मुनि की परम्परा दूसरी है। इसीलिये विदुरजी के प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व उन्होंने अपनी ज्ञान परम्परा बताई।

क्लेशों को शिरोधार्य कर लेते है, उन्हीं पुरुषों के दुःखों की निवृत्ति के लिए श्रीमद्भागवत पुराण आपके सम्मुख कहता हूँ। जिसका उपदेश पूर्वकाल में शेष रूपधारी साक्षात् श्रीभगवान् ने सनकादि ऋषियों को किया था।"

जब माया सम्बन्धी प्रश्न हो चुका तब विदुरजी ने महा मुनि से सृष्टि विषयक और भी अनेक प्रश्न पूछे। उन्होंने कहा—"मुनिवर! विराट् पुरुष की विभूतियों को आप मुझे बतावें और उनकी सन्तानों का भी वर्णन करें जिससे यह ब्रह्मांड भर गया है। सर्ग, अनुसर्ग, प्रजापति, मनु, मन्वन्तर, इनकी उत्पत्ति, राजाओं और भक्तों के चरित्र, अंडज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज जीवों की उत्पति, तीनों देवों के कार्य, वर्णाश्रम विभाग, भगवत् प्राप्ति के सभी साधन, त्रिवर्ग तथा मोक्ष आदि समस्त विषयों का आप मुझसे वर्णन करें और यह भी बतावें भगवत् प्राप्ति का, उन्हें प्रसन्न करने का सरल सुगम उपाय कौन सा है।"

इस बात को सुनकर मैत्रेयजी हँसे और बोले—"विदुरजी! एक साथ आपने तो इतने प्रश्न कर डाले। मुझसे आप क्या पूछते हैं। स्वतः ही अपनी बुद्धि से इनके उत्तर सोचिये।"

यह सुनकर विदुरजी बोले—"महाराज! आज तक स्वतः बिना गुरु के किसी को ज्ञान हुआ है क्या? संशयों का छेदन तो श्रीगुरु के चरणों में बैठने पर ही होता है। मैं आपका शिष्य हूँ, सेवक हूँ, भृत्य हूँ, दास हूँ, मित्र हूँ, माया से मोहित हूँ। मेरे ऊपर कृपा कीजिये और संसार से भयभीत हुए मुझ अज्ञानी को परमार्थ का उपदेश देकर निर्भय बनाइये। जितने भी दान, धर्म, शुभ कार्य आदि पुण्यप्रद कार्य हैं, वे ज्ञान देकर जीव को अभय करने की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं।"

इस प्रकार विदुर जी के कहने पर हँसते हुए निरभिमान होकर महामुनि मैत्रेयजी उनसे अत्यन्त स्नेह के साथ कहने लगे—"विदुरजी! आप धन्य हैं, जो आपकी प्रवृत्ति इस

पारमार्थिक प्रश्नों के प्रति हुई है। संसार में देखा गया है—लोगों की प्रवृत्ति इन बाह्य विषयों में ही होती है। कुछ मनोरञ्जक बातें, कुछ दूसरों की निन्दा स्तुति, कुछ शृङ्गार की चटपटी चटनी कुछ हँसने-हँसाने वाली व्यर्थ की बातें, ये ही प्यारी लगती हैं। साधारण लोगों की आँखें सुन्दर रूप देखते ही अटक जाती हैं। पर-निंदा सुनते ही कान उसी ओर लग जाते हैं, मन विषय की बातों में बिना प्रयत्न के घुल मिल जाता है और आप यह सब कुछ न करके सृष्टि, स्थिति और परमार्थ परलोक सम्बन्धी चर्चा छेड़ रहे हैं। इसीलिये प्रतीत होता है आप "भागवती कथा के श्रवण करने के यथार्थ अधिकारी हैं। अतः मैं आपसे भागवती कथा कहूँगा। उसी में आपके समस्त प्रश्नों के उत्तर आ जायँगे।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"प्रभो! आपको यह भगवद्-तत्व किनसे प्राप्त हुआ? आपकी ज्ञान परम्परा किन ऋषि से आरम्भ होती है।"

इस पर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी 'भागवती कथा' के माने हैं भगवत् सम्बन्धी कथा या भगवत् भक्तों की कथा या भगवान् से सम्बन्ध रखने वाली—उनसे ही परम्परा गत अविच्छिन्न रूप से चली आने वाली—कथा। यह ज्ञान साक्षात् श्रीमन्नारायणजी ने ऋषियों को दिया। इसके आदि उपदेशक भगवान् वासुदेव ही हैं।"

तब विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! मुनियों से आपका अभिप्राय किन मुनियों से है? उन्हें भगवान् ने किस रूप से उपदेश दिया? आप मेरे पिता भगवान् व्यासदेव की ही परम्परा में हैं या आपकी दूसरी परम्परा है?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी, ज्ञान तो एक ही है। वही व्यासजी का है, वही मेरा है, वे मुझ पर बड़ा स्नेह रखते हैं, किन्तु उनकी परम्परा में और हमारी परम्परा में कुछ अन्तर है। उनकी परम्परा तो इस प्रकार है कि श्रीमन्नारायण ने कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी को उपदेश किया। श्री नारदजी की सेवा से सन्तुष्ट होकर उन्हें अपना प्रिय पुत्र जानकर वही ज्ञान उन्होंने नारदजी को दिया। नारदजी ने बदरीवन में विषाद में बैठे भगवान् बादरायण को जाकर स्वयं इस ज्ञान का उपदेश दिया और व्यासजी ने अपने पुत्र श्री शुक को उस भागवत् ज्ञान को सिखाया। हमारी परम्परा पातालवासी सहस्र फणवाली भगवान् की पाताल में स्थित संकर्षणमयी मूर्ति से है। भगवान् संकर्षण अपनी ही मूर्ति, जिन्हें वेद वासुदेव के नाम से कहकर पुकारते हैं, उन श्रीमन्नारायण की सदा मानसिक पूजा किया करते हैं और उन्हीं के मधुमय, आनन्दमय, अमृतमय नामों का सदा कीर्तन करते रहते हैं। पूरा 'राम' इतना नाम भी नहीं लेते। केवल 'रां-रां-रां-रां' यही जपते रहते हैं। 'म' कहने से ओष्ठ बन्द होंगे, नाम जप में उतनी देर को व्यवधान पड़ेगा, इसलिये वे एकाक्षर रां, इसी महामंत्र का जप करते हैं। मुँह खुला रहने से उनके मुख से जो लार गिरती है वह अमृत की सरिता हो जाती है। नाम जापकों में भगवान् सकर्षण सर्वश्रेष्ठ जापक हैं। उनका नामजप भी चलता है और मानसिक पूजा में भी सदा संलग्न रहते हैं।

एक दिन की बात है, कि ब्रह्माजी के मानसिक पुत्र सनक-सनन्दन, सनतकुमार और सनातन ये चारों भाई घूमते-फिरते संकर्षण भगवान् के दर्शनों के लिए सुमेरु पर्वत से चलकर

शरण में आये हुए प्राणियों के कल्मषों को काटने वाली भागवती त्रिपथगामिनी गंगा की जो धारा भोगवती के नाम से प्रख्यात होकर जिस रास्ते से पाताल में गयी है, उसी रास्ते से वे चारों कुमार मुनि पाताल में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने क्या देखा, कि एक दिव्य सिंहासन पर भगवान् अनन्त अपने प्रकाश से समस्त पाताल को प्रकाशित करते हुए विराजमान हैं। उनके हजारों फणों में हजारों मुकुट शोभा पा रहे हैं, जिनमें असंख्यों बहुमूल्य मणियाँ जगमग-जगमग करती हुई प्रकाशित हो रही हैं। प्रकाशित होती हुई समस्त मणियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानों आकाश में एक साथ असंख्यों चन्द्र उदित हो गये हों। नाग कन्याओं ने जिन पाद-पद्मों की प्रेम पूर्वक पूजा की है, जिनमें पड़े हुए असंख्यों सुगन्धित पुष्प वहां के प्रदेश को सुवासित कर रहे हैं, उन्हीं पाद-पद्मों में जाकर इन चारों कुमारों ने श्रद्धा भक्ति सहित सिर से प्रणाम किया। भोगवती के प्रवाह के साथ-साथ आने वाले नंग-धड़ंगे मुनियों की सुवर्ण वर्ण की जटायें भीग गई थीं। वस्त्र तो थे ही नहीं, जो भीग जाते। भीगी हुई जटाओं को ही उन्होंने सकर्षण भगवान् के चरणों में रखा। चरणों में ठंडी ठंडी जटाओं के स्पर्श होने से, भगवान् शेष जी ने अपने बन्द हुए नयन कमलों को कुछ-कुछ खोला। अर्ध विकसित उनके दो सहस्र नेत्र ऐसे ही प्रतीत होते थे, मानो आकाश में एक साथ ही अर्धोन्मीलित सहस्रों कमल खिलने को प्रस्तुत हो रहे हों।

नेत्र खोल कर उन्होंने कुमारों को देख तो लिया, किन्तु उनसे बातें कैसे करते, कुशल कैसे पूछते? बातें करने से तो नाम जप में व्यवधान होता है। जो ओष्ठ बन्द होने के डर से "म" तक का उच्चारण नहीं करते, उनसे भला बातें करने की

आशा कैसे की जा सकती थी ? किन्तु चारों कुमार तो बड़े बुद्धिमान थे। वे भगवान् संकर्षण के भावों को समझते थे, कि ये भगवत् चर्चा के सिवाय दूसरी कोई भी संसारी बात नहीं करते। अतः उन्होंने भगवान् के चरित्रों का वर्णन करना आरम्भ किया। भगवत् चरित्रों का श्रवण करने से शेषजी के समस्त सिर हिलने लगे। सरसों के दाने के समान एक फल पर रखी समस्त पृथ्वी डगमग डगमग करके डोलने लगी। उनके समस्त अङ्गों में पुलक आदि सात्विक विकारों का प्रादुर्भाव हो गया। जब उन्होंने देखा, अब तो शेष भगवान् प्रसन्न हैं तब उन्होंने कहा—'प्रभो ! आप ही कोई भागवती चर्चा सुनावें। इतना सुनते ही शेषजी ध्यान में मग्न हो गये और प्रसन्न होकर उन्होंने कुमारों को भागवत तत्व का उपदेश दिया।

भागवत तत्व को श्रवण करके कृतार्थ हुए कुमार, भगवान् संकर्षण के पाद-पद्मों में प्रणाम करते वहाँ से चले आये। घूमते फिरते वे कभी परमव्रत शील, भगवत् भक्ति परायण महामुनि सांख्यायन के आश्रम पर आये। उन्होंने अपने आश्रम पर आये हुए कुमारों का श्रद्धा सहित स्वागत सत्कार किया। उनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर, तथा उनके श्रद्धा सहित प्रश्न पूछने पर वही भागवत ज्ञान उन्होंने उन सांख्यायन महामुनि को दिया।

उन सांख्यायन महामुनि के प्रधान शिष्य थे, भगवान् पराशर। वे बड़े ही व्रत परायण, सदाचारी, सुशील, सेवा प्रिय और आचार्य के अनुगत चलने वाले थे। उनके शील से सन्तुष्ट हुए आर्य ने उसी ज्ञान का उपदेश महामुनि पराशर

और बृहस्पतिजी को दिया। किसी प्रकार मैंने यह बात सुन ली, तब मुझे इस आदि पुराण के सुनने की चटपटी लगी। कैसे वे महामुनि मुझे इस गुह्यतम ज्ञान को देंगे। मेरी बुद्धि उतनी तीक्ष्ण भी नहीं है। मुझमें इतनी योग्यता भी नहीं है, कि मैं अपनी सेवा से भगवान् पराशर को सन्तुष्ट कर सकूँ। उनके तेज और प्रभाव को देख कर उनके सम्मुख यह प्रस्ताव करने का साहस भी मुझे नहीं हुआ। भगवान् पुलस्त्य मेरे ऊपर बड़ी कृपा रखते थे।

मैंने डरते डरते उनसे कहा—"भगवन्! सर्वश्रेष्ठ आदि पुराण श्रीमद्भागवत के श्रवण की मुझे बड़ी इच्छा हो रही है। सनकादि कुमारों ने उसका उपदेश शक्ति पुत्र भगवान् पराशर को किया है। उनसे यह ज्ञान मुझे कैसे प्राप्त हो? मेरा तो उनसे निवेदन करने का साहस होता नहीं।'

इस पर हँसते हुए पुलस्त्य मुनि ने कहा—'अरे, इसमें संकोच की क्या बात? पराशरजी तो बड़े दयालु हैं, जहाँ तुमने जाकर प्रार्थना की, वहीं वे तुम्हें बड़े प्रेम से पढ़ावेंगे।

मैंने कहा—'भगवन्! अकेले जाने का तो मुझे साहस होता नहीं।'

तब पुलस्त्य मुनि ने कहा—'अच्छा, चलो। मैं चलता हूँ। मैं उनसे कह दूँगा कि वे तुम्हें प्रेम से पढ़ावें।'

मुनि की ऐसी कृपा देख कर मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। मैं उनके साथ महामुनि पराशर के आश्रम पर गया। दण्ड, प्रणाम, पाद्य, अर्घ्य और कुशल-क्षेम के पश्चात् पुलस्त्यजी ने पराशरजी से कहा—'मुनिवर! यह मैत्रेय आपका शिष्यत्व ग्रहण करके आपसे भागवत तत्व श्रवण करना चाहता है। इसे आप अपना ही पुत्र समझ कर प्रेम से पढ़ावें।'

मुनि की ऐसी बात सुनकर भगवान् पराशर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'इस बात से मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ, कि इनकी भागवत धर्मों में रुचि है। मैं इन्हें बड़े स्नेह से सब पढ़ाऊँगा।' इतना कह कर उन्होंने मुझे उस गुह्यातिगुह्य भागवत तत्व का उपदेश दिया।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुर! जो ज्ञान मैंने अपने गुरुदेव भगवान् पराशर से सुना है, उसी को मैं तुम्हें सुनाता हूँ। तुम सावधान होकर इसको श्रवण करो। तुम श्रद्धालु हो, मेरे अनुगत हो, भक्त हो, अनुरक्त हो, विरक्त हो और भागवत गुणों में परम आसक्त हो।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—'प्रभो! आपने तो कहा था, मैं उस ज्ञान को प्रदान करूँगा जिसे प्रभास में श्यामसुन्दर ने आपको सिखाया था।"

इस पर मैत्रेयजी ने कहा—"उसी भागवत ज्ञान को भगवान् ने भी मुझे दिया। इस प्रकार मेरा ज्ञान गुरु-मुख से और भगवत् मुखाम्भोज से निकला होने के कारण परम-मधुर और अत्यन्त सुस्वादु है। तुम्हीं इसके एक मात्र अधिकारी मुझे आज तक मिले हो! आज मैं इसे तुम्हें देकर, भगवान् के और अपने गुरुदेव के ऋण से मुक्त हो जाऊँगा।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् मैत्रेय विदुरजी से सन्तुष्ट होकर, उनके सामने भागवत तत्त्व का उपदेश करने लगे।"

छप्पय

मैं हूँ चाहूँ किन्तु भागवत तत्व लहूँ कस।
श्रद्धा संयम रहित जाहि गुरु निकट कहूँ कस॥
मुनि पुलस्त्य ने कही चलो हम तुम्हें दिवावें।
शक्ति पुत्र मम मित्र प्रेम तें तुम्हें सिखावें॥
करी कृपा गुरुदेव ने, गुह्य ज्ञान मोकूँ दयो।
तात! तुरत तिहि तुम गहो, हरिहू ने जो पुनि कह्यो॥

आगे की कथा सप्तम खण्ड में पढ़ें

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६९ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.२५ पै० डाकव्यय पृथक्।
२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५.२५
३—सटीक भागवत चरित—बारह बारह सौ पृष्ठ के सजिल्द दोनों खण्ड का मू० १३.००
४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४.००
५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० सं० ३५६ मू० २.७५
६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.००
७—कृष्ण चरित—मू० २.००
८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०
९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.००
१०—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें प्रथम खंड का मू० १.००
११—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.५०
१२—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.५०
१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५
१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१
१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखदसंस्मरण पृ०सं०१३० मू०
१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१
१७—प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१२
१८—राघवेन्दु चरित—मू० ०.३१
१९—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५
२०—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछंदोंमें) मू० ०.१५
२१—आलवन्दार स्तोत्र—छप्पयछन्दों सहित मू० ०.२५
२२—प्रभुपूजा पद्धति मू० ०.१९
२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.८
२४—गोपीगीत—अमूल्य।

[श्री रासविहारी जी]

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(सप्तम खण्ड)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग
संशोधित मूल्य २-०० रुपया

चतुर्थ संस्करण १००० प्रति] अधिक वैशाख शु० २०२९ अप्रैल १९७२ [मूल्य—१.६५

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ गुट्टीगंज प्रयाग

विषय-सूची

विषय			पृष्ठाङ्क
भूमिका कागद की कटु कथा	...	...	३
१२६. ब्रह्माजी की उत्पत्ति	...	...	१८
१२७. सृष्टि रचना के निमित्त परम मोहक सामग्री		...	२७
१२८. पृथ्वी-उद्धार के लिए मनु की प्रार्थना		...	३७
१२९. श्रीवाराह भगवान् की कथा	...	...	४४
१३०. श्रीवाराह चरित्र के लिये विदुरजी का आग्रह			५३
१३१. कश्यपजी से अनुचित प्रार्थना		...	५९
१३२. मन्मथ का प्राबल्य	...	...	७३
१३३. दिति का पश्चात्ताप	...	...	९६
१३४. दिति के गर्भ से देवताओं को भय		...	१०६
१३५. सनकादि मुनियों से वैकुण्ठ लोक का वर्णन		...	११४
१३६. श्री वैकुण्ठ वर्णन	...	...	१२४
१३७. जय विजय को शाप	...	..	१३२
१३८ श्रीहरि का नंगे पैरों आगमन		...	१४१
१३९. भगवान् की भक्त-वत्सलता		...	१५१
१४०. कुमारों की भगवान् से विनती और विदा		...	१५९
१४१. ब्रह्माजी द्वारा देवताओं को सान्त्वना		...	१६६
१४२. हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष का जन्म		...	१७७
१४३. हिरण्याक्ष का वरुणलोक में गमन		...	१८६
१४४. हिरण्याक्ष की वरुणजी से बात-चीत		...	१९४
१४५. हिरण्याक्ष को हरि-दर्शन		...	२०१
१४६. हिरण्याक्ष और भगवान् की कहासुनी		...	२०९
१४७. हिरण्याक्ष और वाराह भगवान् का युद्ध		...	२१५
१४८. हिरण्याक्ष का उद्धार		...	२२३

कागद की कटु कथा

(भूमिका)

तव कथामृतं तप्तजीवनम्,
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततम्,
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३१ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

ज्यों दधि घृत के सङ्ग पात्र स्वाभाविक आवें ।
गुठली, छिलका, बीज बिना नहिँ नर फल पावें ॥
यदि पाटल के पुष्प पेड़ पै पैदा करिहो ।
कंटक होवें अवसि चाहिँ जितनो हू डरिहो ॥
ज्यों द्विज रस हित सहें सब, ईख दंड चूसन व्यथा ।
त्यों भागवती कथा संग, यह कागद की कटु कथा ॥

---

* ब्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं—"हे प्रभो ! आपकी भागवती कथाएँ संसार ताप से संतप्त जीवों को जीवन दान देने वाली हैं । भाग्यवान् कवियों द्वारा कीर्तन की जाने वाली हैं । कलि कल्मषों को कुठार के समान है, श्रवण सुखद हैं और सुख शान्ति तथा समृद्धिदायिनी हैं । उन मङ्गलमय कथाओं का जो लोग इस भूलोक में प्रचार और प्रसार करते हुए वर्णन करते फिरते हैं, वे ही सबसे बड़े दाता हैं । (चार ठीकरी या कागज़ के टुकड़े देने वाले ही दाता नहीं) ।

श्री गणेशाय नमः। श्रीगुरवेनमः। सरस्वत्यै नमः। गोविन्दाय नमो नमः, जो है सो भागवती कथा के प्रिय पाठको! अब हम भागवती कथा के पूर्व कागद की कटु कथा कहते हैं, आप अपने कर्ण कुहरों को कड़ा करके कष्ट के सहित इस कर्ण कटु प्रसंग को अनिच्छा पूर्वक भी श्रवण करने की कृपा करें।

आप कहेंगे—"महाराज! देखिये, आहारे व्यवहारे त्यक्त-लज्जो सुखी भवेत्। शील संकोच का काम नहीं। बात स्पष्ट हो जानी चाहिये। लगाव लपेट से बात बिगड़ जाती है। सो, महाराज! हमने जो आपको सवा रुपया दक्षिणा के अग्रिम दिये हैं, वे कृष्ण की कर्णप्रिय कमनीय कलित कथा के निमित्त दिये हैं। अब आप हमें मधुरातिमधुर कलित कथा न सुनाकर कागद की कर्ण कटु कथा सुना रहे हैं, यह अन्याय नहीं तो क्या है? हमने आप से कागद की कथा कहने को तो कहा नहीं। बिना जिज्ञासा के अनिच्छा पूर्वक आप हमारे माथे यह व्यर्थ की कथा क्यों मढ़ रहे हैं?"

सो, महानुभावो! उसका भी उत्तर सुनिये। देखिये! आप गन्धी की दूकान पर जाते हैं, कहते हैं—"हमें ४.२५ न० पै० का सुन्दर सुगन्धित सर्वश्रेष्ठ तेल दे दीजिये।" वह आपको एक पतले चर्म की कुप्पी में तेल देता है। आप कहें—"हमें कुप्पी में नहीं चाहिये, केवल तेल ही दे दीजिये, कुप्पी तो हमने माँगी नहीं।" आप माँगे चाहें न माँगे तेल के साथ कुप्पी मिलेगी। मूल्य आप भले ही दही का ही दें, किन्तु उसके साथ दोना या कुल्हड़ मिलेगा ही। आप काँच के वर्तन भेजने को पत्र लिखें तो उनके साथ सन्दूक, घास, फूँस, कागद की कतरन आवेगी ही। उनके लिए पृथक आज्ञा देने की आवश्यकता नहीं। आपको सिंघाड़े खाने होंगे, तो उनके काँटेदार छिलके साथ आवेंगे।

पीछे चाहे आप उन्हें फिकवा ही दें। बेर खाने की, आम चूसने की, जामुन उड़ाने की आपकी इच्छा होगी, तो गुठलियाँ साथ ही नहीं आवेंगी मुँह में डालकर उन्हें चूसना भी होगा, पीछे चाहे आप उसे अनावश्यक समझकर फेंक ही क्यों न दें। यद्यपि आप ईख का मधुर रस ही चूसना चाहते हैं, किन्तु तो भी रस निगलने के पूर्व मुँह में ईख की लकड़ी ही जाती है। इसी प्रकार यह सत्य है कि आपने दक्षिणा 'भागवती कथा' के लिये ही दी किन्तु उस कथा के पहुँचने का आधार तो कागद ही है। समीप होते तो सुन भी लेते, दूर बैठकर आप क्या श्रवण करना चाहते हैं, वह तो कागद पर ही छप कर पहुँचेगी, अतः कटु होने पर भी आपको कागद की कथा सुननी ही पड़ेगी।

हाँ, तो जब गत वर्ष के आषाढ़ में भागवती कथा के प्रकाशन की चर्चा चल रही थी, तब महायुद्ध समाप्त होकर एक वर्ष हो चुका था। सोचा यह था कि युद्ध के कारण जो कागद का अभाव था, वह कुछ काल के अनन्तर न रहेगा। काँग्रेसी सरकार आते ही कागद का प्रतिबन्ध हटा देगी, प्रचुर परिमाण में कागद मिलने लगेगा। चाहे जितना छापो, चाहे जितना प्रचार करो। यह संसार आशा पर ही टिका है आशा न हो, तो संसार में प्राणी एक दिन भी जीवित न रहे। कोई सुख की आशा से, कोई धन की आशा से, कोई प्रेम और प्रेयसी की आशा से, कोई उन्नति की आशा से और कोई प्रिय पदार्थों की आशा से जी रहे हैं, अभ्युदय के लिये आशान्वित हो रहे हैं। आशा के सहारे ही संसार का चक्र घूम रहा है। उसी समय हमें ४० रिम का स्पेशल कोटा मिला था।

कथा बड़ी है, पाठकों के लिये विषय नीरस है। इसे पूरी कहें तो बात बढ़ जायगी, हाथ कुछ भी न आवेगा। अतः संक्षेप में

पाठक यों समझें कि तब से अब तक नित्य प्रति कागद के लिये कॉइ-कॉइ और लेयोरे, दैयोरे, इधर से ला, इसके पास जा; उसके पास जा, इसकी चिरौरी कर, उसकी अनुनय विनय कर, यही मचा रहा। हम प्रति माह पाँच हजार भागवती कथा छापना चाहते हैं। उसके लिये हमें अस्सी रिम कागद प्रति माह चाहिये। यदि कागद की स्थाई आज्ञा हमें मिल जाती तो अब तक हमारे ग्राहक भी बढ़ जाते और बहुत-सी चिन्ताओं से भी मुक्त हो जाते। कागद के अभाव के कारण हम अब तक प्रत्येक खण्ड को दो-दो हजार ही छापते हैं। प्रथम खण्ड कब का समाप्त हो गया। दुबारा छपाया, वह भी समाप्त होने वाला है। दूसरा खण्ड तीन हजार पुनः छपाया है। लगभग हजार ग्राहक हैं, कुछ कृपालु महानुभाव मँगाकर अपने यहाँ बिक्री के लिये रखते हैं। कुछ भेंट में, सम्मान में पुरस्कार और सम्मति आदि में चली जाती हैं। ऐसे दो हजार का तो प्रायः प्रति महीने खर्च भी है। अब जो अङ्क समाप्त हो जाता है उसे दुबारा छपाने के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है। तब तक काम रुका रहता है। एक साथ छप जाती, तो झंझट भी न रहता, खर्च भी कम लगता। दुबारा छपाने में खर्च भी अधिक लगता है समय भी अधिक लगता और झंझट चिन्ता व्याज में, किन्तु कागद की कमी के कारण यह सब सहना ही पड़ता है।

गत चौथे खण्ड में हमने सूचना दी थी, कि हमने अपना स्थाई मासिक कोटा स्वीकृत कराने के लिये युक्त प्रान्तीय सरकार के समीप प्रार्थना पत्र भेजा है। हमारी प्रार्थना विचाराधीन है 'हमें पूर्ण आशा है कि हमारी प्रार्थना शीघ्र ही स्वीकृत हो जायगी।' पूर्ण आशा इसलिये लिख दी थी कि जिनके सम्मुख यह बात विचार के लिये आती है, उन्होंने आशा दिलायी थी

कि कोई बड़ी बात तो है नहीं, आपको ८० रिम कागद प्रति महीने मिलने लगेगा। हम चकोर की तरह, पपीहा की भाँति आशा लगाये बैठे थे, दिन गिन रहे थे, आज्ञापत्र की प्रतीक्षा कर रहे थे, एक-एक करके ८ महीने बीत चुके थे, सहसा सरकार का निम्नलिखित पत्र प्राप्त हुआ। समस्त आशाओं पर पानी फिर गया। "हा हन्त हस्त नालिनीं गजमुज्जहार।" वह पत्र यह था—

GOVERNMENT OF THE UNITED PROVINCES

Eood and Civel Supplies (B) Department

No. 864/XXIX-B (D)

Dated Lucknow, February 25, 1947

OFFICE MEMORANDUM

With reference to his application deted October 31, 1947 requesting for and alloutment of 80 reams of Paper per month for publishing the Book Bhagwati Ketha the undersigned has the honour to infrome the Manager, Sankirtan Bhawan, Jhusi, Allahabad that Government regret that they are unable to accede to his request.

(Sd.) Shri Pat.

For Commissioner

युक्त प्रान्तीय सरकार

खाद्य तथा नागरिक वितरण (बी०) विभाग

लखनऊ फरवरी २५ सन् १९४७ ई०

व्यवस्थापक संकीर्तन भवन, झूसी इलाहाबाद को, उनके ता० १३ अक्टूबर १९४६ ई० के पत्र पर जिसमें 'भागवती कथा' पुस्तक को छपाने के हेतु ८० रिम कागद मासिक के लिये प्रार्थना की गई थी, अत्यन्त दुःख के साथ विनीत भाव से सूचित करता हूँ, कि सरकार उनकी प्रार्थना को स्वीकार करने में असमर्थ है।

(ह०) श्रीपत
वास्ते कमिश्नर

अब क्या करें ? स्थाई कोटा न मिलने से प्रति मास पुस्तक कैसे निकल सकेगी ? एक उपाय और था, जिस किताबी कागद पर आज कल 'भागवती कथा' छपती है उसका प्रतिबन्ध (कन्ट्रोल) के अनुसार ११.९६ न० पै० प्रति रिम का भाव है। ८० रिम के ९५५) रुपया हुए। विलायती कागद पर प्रतिबन्ध (कन्ट्रोल) नहीं है। वह भी सुगमता से तो प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु पैसा पास में हो और प्रयत्न करने की सामर्थ्य हो, तो वह मिल जाता है। उसका भाव २२) २३) २४) २५) २६) रुपया प्रति रिम है। जैसे भी मिल जाय। अब सुना भाव फिर बढ़ने वाला है। यह सातवाँ खण्ड उसी विलायती कागद पर छपा है। अपेक्षाकृत पहिले कागद से यह कुछ अच्छा और चिकना अवश्य है, किन्तु मूल्य तो दुगुना है। इसे २२) रु० रिम के हिसाब से मोल लिया है। ८० रिम में देशी की अपेक्षा ८०५) रुपये अधिक लगे। भागवती कथा का मूल्य वैसे ही कम रखा गया है। फिर

प्रयाग से झूसी आने-जाने में छपाकर यहाँ लाने में, कार्यालय के नये-नये कार्यों में, खर्च अधिक होता है। अभी गत महीने यू०पी० सरकार की ही शिक्षा प्रसार समिति ने भागवती कथा की तीन-तीन सौ प्रतियाँ पुस्तकालयों के लिये ली थीं। २५) प्रतिशत कमीशन काटकर हमने दे दीं। इस पर एक प्रकाशक ने हमें बताया—आपने बड़ी भूल की। सरकार के यहाँ से दो आने तीन आने प्रति फार्म की स्वीकृति है। आपकी पुस्तक प्रायः १६ फर्म की होती है। २) लिख देते २५० न० पै० प्रति पुस्तक आपको मिल जाता। यों ०.९४ न० पै० में पुस्तक देने में तो आपको बड़ा घाटा रहेगा।

हमने कहा—"भैया, हम तो ये सब व्यापारिक दाँव-पेंच जानते नहीं। हमारा उद्देश्य तो जैसे हो तैसे 'भागवती कथा' का प्रचार करना है। यदि विलायती कागद का प्रबन्ध हो जाय, तो चाहें जैसे हो, हम प्रति मास इसे प्रकाशित करेंगे ही।"

'भगवती कथा' का प्रचार अधिक से अधिक हो सके इस-लिये हमने इसकी दक्षिणा कम-से-कम रखी थी। हमें सब से बड़ा लाभ यही है, हमारे बाल-बच्चों में कुछ धार्मिक संस्कार शेष रह जायँ, वे भारतीय आर्य संस्कृति को सर्वथा भूल न जायँ, जैसे शिक्षा हमारे बालक बालिकाओं को दी जा रही है, यदि यह क्रम एक शताब्दी तक और ज्यों-का-त्यों बना रहा, तो निश्चय ही हम व्यास, वसिष्ठ वाल्मीकि आदि महर्षियों के उपदेशों को ही न भूल जायंगे, अपितु इनके नामों को भी भुला देंगे। बहुत से राष्ट्रीय विचारों की प्रबलता से प्राचीन आर्य संस्कृति को देश के लिये घातक समझते हैं। वे आर्य सन्तान होने पर भी आर्य संस्कृति का सर्वनाश करने के लिये सतत् प्रयत्न कर रहे हैं—उनका विश्वास है, कि जब तक भारतीय आर्य अपने वेद, पुराण

वर्णाश्रम धर्म, परलोक आदि की रूढ़ियों को न भुलाकर पश्चिमीय सभ्यता के उपासक न बनेंगे, तब तक उन्नति नहीं, स्वराज्य नहीं, सुख नहीं। इसीलिये जिस प्रकार प्राचीनता का, प्राचीन कथा कहानियों का प्रचार रुके इसके लिये वे प्रतिदिन नई-नई योजनायें बनाकर शक्ति भर भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं।

एक विश्वसनीय बंधु ने बताया है, कि आधुनिक विचार वालों का कहना है कि यों व्यक्तिगत रूप से तो हमारी ब्रह्मचारी जी के प्रति श्रद्धा है, किन्तु वे जो यह धरम-करम का पचड़ा पीछे बाँधे फिरते हैं, इन बातों में हमारी श्रद्धा नहीं। 'भागवती कथा' के लिये कागद दिलाना, कागद का दुरुपयोग करना है। किसी अच्छे काम में कागद लगे तो उसका उपयोग है। हम इन पुरानी बातों का प्रचार अब नहीं चाहते। इन बातों से ही वर्तमान राष्ट्रीय विचार के नेताओं के भाव जाने जा सकते हैं, कि वे आर्य संस्कृति के कैसे कट्टर विरोधी हैं। 'भागवती कथा में अधिकांश शिक्षाप्रद पौराणिक कहानियाँ हैं और शास्त्रीय ढङ्ग से धर्म, सदाचार, आचार, व्यवहार और नीति आदि विषयों का प्रसङ्गानुसार विवेचन है। मैं दृढ़ता के साथ कहता हूँ, कि इसमें जैसी उत्कृष्ट कहानियाँ हैं, वैसी विश्व साहित्य में कहीं भी न मिलेंगी। आज जो पश्चिमीय लेखकों के लिखे या उनकी शैली पर उनके हाव-भाव का अनुसरण करते हुए लिखे उपन्यास, नाटक तथा कहानियाँ समाज में विष के बीज का वपन कर रही हैं, ये कहानियाँ युवक, युवतियों की वैषयिक प्रवृत्ति को उभारकर उन्हें व्यभिचार के गर्त में गिराने को प्रोत्साहित करती हैं। ये धर्म-कर्म से रहित आचार, विचार और सदाचार से हीन साहित्य, विषय सुख को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करके नर-नारियों के मन में वैसे ही भावों को भरता है। इससे जो दुष्परिणाम होता है, वह हमारे

सामने है। 'भागवती कथा' को लोग पढ़ते नहीं। पढ़ें कैसे? उनकी इधर प्रवृत्ति नहीं होती। धर्म का नाम सुनते ही वे चौंक जाते हैं। मेरा विश्वास है यदि इसे लोग एक बार भी पढ़ लेंगे, तो उनके मन का भ्रम दूर हो जायगा।

ब्रह्मचारी जी से जब लोग कहते हैं—"आप इतने उत्साही और कर्तव्य परायण व्यक्ति होकर इन पौराणिक कथाओं के पीछे अपनी शक्ति का ह्रास क्यों कर रहे हैं? क्यों अब हजारों वर्षों के पृथ्वी में गड़े हुए मृतक पुरुषों के शरीर को उखाड़ रहे हैं? कुछ देश सेवा करिये, समाज का काम कीजिये।"

इस पर हम उनसे कहते हैं—"भाई, प्राचीन वस्तुओं के संग्रहालयों में आप पुरानी-पुरानी वस्तुएँ लाकर रखते हैं, उस पर द्रव्य भी व्यय करते हैं, लोगों को दिखाते हैं—अमुक वस्तु ५ हजार वर्ष पूर्व की है। अमुक चित्र इतने दिन का है। तो कुछ प्राचीन आचार, विचारों और क्रिया कलापों की भी तो रक्षा करो पुराने खँडहर, भवनों को राजाज्ञा से सुरक्षित रखा जाता है। उसकी एक-एक ईंट सावधानी से रखी जाती है। उसे कोई तोड़ नहीं सकता, नष्ट नहीं कर सकता। फिर तुम प्राचीन कहानियों, भावों और संस्कृति के ऊपर कुल्हाड़ी लिये उसका जड़-मूल से नाश करने को क्यों तुले हो? विदेशी राष्ट्र भी प्राचीन खोज के लिये कितना द्रव्य व्यय करते हैं। उस दिन प्रयाग विश्वविद्यालय के विधान महाविद्यालय (ला कालेज) के आचार्य (प्रिन्सपल) पं० आनन्दी प्रसादजी दूबे, न्याय मन्त्री पं० कैलाशनाथजी काटजू से कह रहे थे, कि ब्रह्मचारी जी जैसी पुस्तक लिख रहे हैं, यदि विलायत में ऐसी पुस्तक कोई लेखक लिखता, तो उस पर सरकार की ओर से लाखों रुपये व्यय किये जाते और आपकी सरकार उन्हें कागद तक नहीं देती।

बात यह है, कि स्वतन्त्र देश वाले अपनी संस्कृति को सुर-

चित रखना चाहते है। हम शताब्दियों से दासता में रहते-रहते और पश्चिमी आचार, विचार और शिक्षा-दीक्षा में पलने के कारण अपने प्राचीन गौरव को भूल गये है। हमारी दृढ़ धारणा हो गई, है, कि जब तक हम ईसाई, मुसलमानों की प्रत्येक बात का अनुकरण न करेंगे, जब तक इन वेद पुराण पन्थियों के सभी विचारों का सर्वनाश न कर देंगे, तब तक सभ्य न बन सकेंगे। इसी का आज यह परिणाम है, कि हिन्दुत्व के विनाश के निमित्त नित्य नये विधान बनाकर उनके सिर पर लादे जा रहे हैं। विधर्मियों को प्रसन्न करने के निमित्त कैसी-कैसी धर्म विरुद्ध बातें कर रहे हैं। इन सब बातों को समाचार पत्रों के विवेकी पाठक जानते ही होंगे। यहाँ उनका उल्लेख करके हम विषयान्तर करना नहीं चाहते।

हमारा दृढ़ विश्वास है, कि धर्म के बिना न हिन्दुत्व की ही रक्षा होगी, न संगठन ही होगा और धर्म विहीन राष्ट्रीयता इस भारत में कभी सफल न होगी। 'भागवती कथा' का एक मात्र उद्देश्य मानव-धर्म वर्णाश्रम धर्म का प्रचार करना है। आज यदि ईसाई और मुसलमनों की कोई ऐसी पुस्तक निकलती तो उसके लिए बड़े से बड़ा ईसाई बड़े से बड़ा मुसलमान प्रयत्न करता। आज आप बाइबिल, कुरान जितनी चाहें ले सकते हैं, किन्तु कन्याकुमारी से हिमालय तक रामायण की पुस्तकें सभी बाजारों में अप्राप्य हैं। बड़े-बड़े प्रकाशकों के यहाँ नहीं हैं। यह दूसरों का दोष नहीं, अपना ही दोष है।

"अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्"

'भागवती कथा' के पास न कोई कोष है, न कोई स्थाई आय। नित्य कुआ खोदना नित्य पानी पीना। प्रतिबन्ध के भाव पर कागज मिल जाता, तब तो सरलता से अमिम अंक छप जाते। आज तो इतने मँहगे कागद पर छपाना बड़ा कठिन है।

फिर इस भाव पर भी विलायती कागद मिलता रहेगा, इसका भी निश्चय नहीं।

जब हमें यह पत्र मिला तभी हमने फिर आदमी भेजकर अधिकारियों के द्वार को खटखटाया। नीचे से ऊपर तक सब के पास गये। यहाँ तक कि सरपंच को इसके लिये विवश किया। अन्त में बहुत कहने सुनने पर सरकार का यह पत्र मिला—

No. XXIX-B (D. 1)-43 (3) /47

From,

The Commissoner,
Food and Civil Supplies
UNITED PROVINCES.

To,

The Provincial Paper Controller.
U. P. ALLAHABAD.

Dated Lucknow March 31, 1947.

Sir,

I have the honour to forward in original an application dated February 12, 1947 from Mr. Prabhu Datt Brahmchari of the Sankirtan Bhawan Allahabad, and to say that he may be allotted special ad-hoo quota of 40 reams.

I have the honour to be,
Sir,
Your most obedient servant
(Shri Pat)
For Commissioner.

No. /XXIX-B (D-4)-26(5) /46

Copy forwarded to Mr. Prabhu Datt Brahmchari Jhusi, Allahabad for information.

सं० ।। —बी० (डी०—१)—४३ ( ) ।।४९

प्रेषक—

कमिश्नर,

खाद्य तथा नागरिक वितरण, संयुक्त प्रान्त, लखनऊ

प्रान्तीय कागज नियंत्रक, संयुक्त प्रान्त, इलाहाबाद

खाद्य तथा नागरिक वितरण (बी०) विभाग

तारीख लखनऊ, मार्च ३१, १९४७ ई०

महोदय,

सेवा में मैं संकीर्तन भवन, झूसी इलाहाबाद के मिस्टर प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का मूल प्रार्थना पत्र भेजता हूँ तथा सूचित करता हूँ कि उनको विशेष रूप से इस प्रयोजन के लिए ४० रिम कागज का कोटा दिया जाय।

आपका—

(ह०) श्रीपत

वास्ते कमिश्नर

नकल श्रीमान् प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, झूसी इलाहाबाद के सूचनार्थ—

स-आज्ञा

(ह०) श्रीपत

वास्ते कमिश्नर

अब आप ही सोचें ४० रिम से क्या होगा ? एक खण्ड के लिए भी नहीं है। सो भी स्याई नहीं, केवल एक बार के लिये है। यह तो वही बात हुई कि भिखारी बहुत अड़ता है, तो इसे मुट्ठी भर अन्न देकर विदा कर दो। हाय ! कैसा समय आ गया ? प्राचीन काल में बड़े लोगों के पास भिक्षुक जाते थे। मनमानी

वस्तु पाते थे, अब माँगने भी जाते हैं तो कागद। सो भी मूल्य देकर, केवल स्वीकृति माँगने। वह भी मिलती नहीं। जान बूझकर अधिकारी न देते हों सो भी बात नहीं। देश में और विशेष कर युक्तप्रान्त में कागज की अत्यन्त कठिनाई है। सुना है कागद की एक बड़ी मिल बन्द पड़ी है एक मिल में चिरकाल से हड़ताल है। जितना कागज का कोटा इस प्रान्त के लिये स्वीकृत है, उतना कागद यातायात की अव्यवस्था के कारण आ नहीं सकता। अतः गत ४ महीनों से प्रान्त में कागद की त्राहि-त्राहि मची हुई है। बड़े-बड़े प्रकाशक बेकार बैठे हैं। समाचार पत्रों के कागद से प्रतिबन्ध ('कन्ट्रोल) उठ गया है। 'भागवती कथा' तो पुस्तकी कागद पर छपती है। सुना है अब उस पर से भी प्रतिबन्ध उठने वाला है। यदि प्रतिबन्ध उठ गया, तो सम्भव है कागद का भाव और भी अधिक तेज हो और कुछ काल के लिये तो मिलना ही दुर्लभ हो जाय। अतः हमारी 'भागवती कथा' के पाठकों से यही विनीत प्रार्थना है कि आगे के खण्डों में परिस्थिति के कारण कुछ देर सबेर हो जाय तो वे बुरा न मानें प्रयत्न हमारा यही रहेगा कि खण्ड समय पर प्रकाशित हों, किन्तु सर्व साधन विहीन होने से यदि हम शीघ्र प्रबन्ध न कर सकें, तो पाठक धैर्य रखें। अब पहुँचने में गड़बड़ी तो हो नहीं सकती, क्योंकि अब हमने सभी ग्राहकों को रजिष्ट्री से भेजने का निश्चय कर लिया है। पाँचवे छठे खण्ड रजिष्ट्री से पहुँचने से ही हमारे पास सैकड़ों पत्र आ रहे हैं हमें तीसरा खण्ड नहीं मिला, हमें चौथा खण्ड नहीं मिला। चौथा खण्ड बहुत खोया है। अब दुबारा खण्ड भेजने से हमारे पास बचते ही नहीं। अब तक तो लिखते थे, उन्हें बिना मूल्य फिर से भेज देते थे। इससे अनेक प्रकार की और भी गड़बड़ियाँ हो गईं। इसलिए अब जिन्हें जो खण्ड मँगाने हों उसे दाम देकर मँगावें। कागद कितना भी मँहगा हो, दक्षिणा तो हम बढ़ा नहीं

सकते। क्योंकि कथा कहने वालों से लोग वैसे ही बहुत प्रसन्न नहीं रहते। यदि वे भी अपनी दक्षिणा में वृद्धि के लिए कुछ वर्तमान आन्दोलनों की भाँति प्रयत्न करें तो वे सफल न होंगे। आज से हजार दो हजार वर्ष पूर्व इस देश में धर्म भाव था। प्रत्येक धार्मिक कार्यों में गोदान का विधान है। बात-बात पर गोदान होता था। उन दिनों देश में असंख्यों गौएँ थीं। नित्य लाखों गौओं का दान होता था। उस समय साधारणतया १. २५ न० पै० में अच्छी गौ मिल जाती थी और ०. ३१ न० पै० में बछिया, तभी यह नियम हुआ, कि किसी अवसर पर गौ न मिल सके, तो १. २५ न० पै० उसका निष्क देकर गौदान दिया जाय। तब से जो १. २५ न० पै० बँधा सो बँध गया। अब अच्छी गौ ५००) में भी नहीं मिलती, किन्तु ब्राह्मण को गौदान देना होगा, तो १. २५ न० पै० ही देंगे। सबका वेतन शुल्क बढ़ गया, किन्तु कथा कहने वालों की दक्षिणा नहीं बढ़ी। इसलिये 'भगवती कथा' की दक्षिणा तो १. २५ न० पै० ही रहेगी। इसमें वृद्धि करना सदाचार के विरुद्ध है, किन्तु रजिष्ट्री के १. १२ न० पै० तो न्यायानुसार पाठकों को देने ही चाहिये। अगले वर्ष से अग्रिम दक्षिणा वी० पी० के साथ यह भी लिये जायँगे। इस वर्ष तो स्वतः ही भेज देने चाहिये।

हाँ, तो अब कागद की कटु कथा को समाप्त करके मधुरातिमधुर भागवती कथा को आरम्भ करते हैं। छठे खण्ड से आगे की कथा को सुनिये। भागवती कथा के पाठकों में कोई कागदी हों जिनका देशी-विदेशी किसी प्रकार के कागद से, कैसा भी प्रत्यक्ष या परम्परा से सम्बन्ध हो वे ८० रिम प्रति मास कैसा भी किसी भी भाँति का कागद दिलाने की सट्ट-पट्ट कर सकते हों, तो स्मरण रखें और क्या ? भगवान् का काम है, भगवान् ही करेंगे, किसे किस समय, किस कार्य के लिये, कब

कैसे किसके द्वारा, किस भाँति वे निमित्त बनाते हैं, कैसे वे कागद पहुँचाकर "भागवती कथा" को घर-घर पहुँचाते हैं ? वे ही जानें। जिसके जिम्मे जो कार्य कर देंगे उसे वह इच्छा से अनिच्छा से करना ही पड़ेगा। मनुष्य अभिमान करता है— यह मैंने किया, यह मेरे द्वारा हुआ, नहीं तो करने कराने वाले तो वे ही श्रीहरि हैं।

छप्पय

हरि की इच्छा बिना हिले नहिँ पत्ता भाई।
हरि ने ई यह स्वयं कथा अपनी लिखवाई॥
भक्तनि हिय हरि बैठि सुनें वे ई बचवावें।
वे ई करि उद्योग स्वयं छापें छपवावें॥
पाठक ! चिन्ता मति करो, सब कछु वोई करिहैं।
अघहारी हरि अवसि ई, चिन्ता सब की हरिहैं॥

सतुआ संक्रान्ति, सं० २०२४ वि०
संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

प्रकाशक की ओर से—

ब्रह्माजी की उत्पत्ति

[१२६]

तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायां—
मवस्थितो लोकमपश्यमानः ।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्र—
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥१

(श्री भा० ३ स्कं० ८ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

अच्छा अब उत्पत्ति सृष्टि की तुम्हें सुनाऊँ ।
ज्यों हरि माया सङ्ग रचें सब क्रम बतलाऊँ ॥
नाभि कमल तें ब्रह्म भये जलई जल पेखें ।
ऊपर नीचे निरखि जनक हरि कूँ नहिं देखें ॥
विफल मनोरथ जब भये, योग ध्यानमहँ लगि गये ।
योग भाव भावित हृदय, महँ दरशन हरि के भये ॥

सृष्टि-क्रम यद्यपि रूखा विषय है, किन्तु जब तक इसे बार-बार सुनेंगे समझेंगे नहीं, तब तक इसमें बिखरी हुई वृत्ति एकाग्र नहीं हो सकेगी। किसी प्रकार पूरी तरह यह दृढ़ धारणा

---

१ मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुर ! जब भगवान् के नाभि कमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, तब वे उस कमल कोष पर बैठकर सम्पूर्ण जगत् को न देखकर आश्चर्य से चारों ओर गर्दन मोड़-मोड़कर आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगे। इसलिये चारों दिशाओं में देखने को उनके चार मुख हो गये।"

हो जानी चाहिये की जगत् में सर्वत्र वे ही हरि व्याप्त हैं। उनके बिना न जगत् की सत्ता है, न जीव की सत्ता। विषयों में जो एक प्रकार का स्वाभाविक राग हो गया है, उसे हटाने का एकमात्र उपाय यही है, कि इन विषयों के मूल कारण को समझें। यही सब सोचकर सूतजी मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! यद्यपि मैं यहाँ सृष्टि के विस्तार में जाना नहीं चाहता, किन्तु इस विषय को एकदम छोड़ भी नहीं सकता। विस्तार में जाने से कथाओं में विरसता आ जायगी, छोड़ने से कथा प्रसङ्ग भंग हो जायगा। अतः इस विषय को अत्यन्त ही संक्षेप में सुनाकर, तब मैं कथाओं उपाख्यानों को सुनाऊँगा। मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेव ने राजा परीक्षित् को जो सृष्टि का विषय विस्तार से बताया है, उसे ही संक्षिप्त करके मैं आपके सम्मुख सुनाता हूँ। महाराज परीक्षित् के पूछने पर श्रीशुक कहने लगे।

श्रीशुक बोले—"जिस समय प्रलय के जल से यह सम्पूर्ण जगत् डूब गया, तो उस एकार्णव हुए जल में भगवान् नारायण योगनिद्रा की तकिया बनाकर सो गये। जो सोता है वह कभी जागता है, 'सोया सो खोया, जागा सो पाया'। नारायण देव सो गये, जगत् खो गया। जब जागे तब काल शक्ति को लेकर इधर-उधर खोये हुए जगत् को ढूढ़ने लगे। घर में खोई वस्तु घर में ही मिलती है। वहीं जल में जगत् खोया था, वहीं पड़े-पड़े नारायणदेव ने अपने में लीन हुए सूक्ष्म भूतों की ओर दृष्टिपात किया। काल के साथ रजोगुण भी मिलकर खोजने में सहायता देने लगा छोटा मोटा शरीर होता तो शीघ्र ढूढ़ भी लेते, शरीर तो इतना बड़ा है, कि असंख्यों ब्रह्माण्ड उसमें कीटाणुओं की भाँति घूम रहे हैं। काल ने देखा—"अरे, जगत् तो भगवान् की नाभि में छिपा है। भगवान् शयन कर रहे हैं। नाभि में छिपी वस्तु को बिना

ऊपर उठाये कैसे दिखावें, इसलिये उस नाभि से उसे ऊपर उठाया।

ऊपर उठाने से उसमें एक नाल उत्पन्न हो गया और उस नाल में एक सुन्दर-सा खिला हुआ सुगन्धित कमल भी हो गया। सुन्दर

खिले कमल को देखकर भगवान् का मन लुभा गया। वे मन से उसमें प्रवेश कर गये। जहाँ अन्तर्यामी की इच्छा उसके भीतर पहुँची, उनमें से एक मूर्तिमान् देवता उत्पन्न हुए। भगवान् की इच्छा से उत्पन्न हुए अतः वे सूक्ष्म तो थे, किन्तु भगवान् की अपेक्षा बहुत स्थूल थे। उन्हें जल के अतिरिक्त न भगवान् दिखाई दिये न उनकी कोई शक्ति ही। वे इधर-उधर चौंककर देखने लगे। इससे चारों ओर उनके चार मुख हो गये इसीलिये उनका नाम चतुरानन हुआ स्वयं उत्पन्न हुए इसीलिये स्वयंभू कहाये।"

अब स्वयंभू देव के हृदय में ऊहापोह होने लगी—मैं कौन हूँ कहाँ से उत्पन्न हुआ, मेरे जनक कौन हैं? पूछें किससे? अकेले ही ठहरे, इसलिये उस कमल की नाल में घुसे, कि कहीं तो उसकी जड़ होगी। वे घुसते ही चले गये, उसका ओर नहीं, छोर नहीं, अन्त नहीं। धत्तेरे की, यह तो द्रौपदी का चीर हो गया। ब्रह्माजी थककर लौट आये। क्या करें? बड़े घबराये, अच्छे फँसे, सोचा—अब बाहर मत देखो, अपने भीतर ही ध्यान करो। बाहर की चिन्ता छोड़कर वे ध्यान करने लगे। ध्यान करते-करते हृदय में ही उन्हें भगवान् के दिव्य दर्शन हुए। उन दर्शनों से आदि देव की दृष्टि चकाचौंध हो गई। शेषशैया पर लेटे हुए वे मूर्तिमान् सौन्दर्य शरीरधारी आनन्द, विग्रहवान् सुख, सजीव शान्ति और आह्लाद की घनराशि ही दिखाई दिये। वस्त्राभूषणों से वे इतने सुसज्जित थे, कि ब्रह्माजी अवाक् रह गये, किंकर्तव्यविमूढ़ बने हक्के-बक्के से रह गये। फिर कुछ सम्हल कर हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उस ब्रह्मस्तुति का एक-एक शब्द अमूल्य है, उसका वर्णन स्तुति प्रकरण में फिर कभी करूँगा। समस्त वेद शास्त्रों का सार उस स्तुति में है। इतनी बड़ी स्तुति करने पर भी जब वे आनन्दमूर्ति कुछ न बोले; तो बोलते-बोलते

ब्रह्माजी थक गये, हार गये, हाँफते-हाँफते चुप हो गये। जीव जब अपनी शक्ति से निराश होकर थक जाता है, तब श्यामसुन्दर उसे शक्ति प्रदान करते हैं। निर्बल के बल राम। ब्रह्माजी को उदास देखकर भगवान् बोले—"चतुरानन! थक गये क्या? मैं तुम्हारे अभिप्राय को जानता हूँ, मेरी इच्छा से ही तुम्हारे मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा उत्पन्न हुई तुम सृष्टि रचना में उद्योग करो, साहस मत छोड़ो, उत्साह से काम लो धैर्य धारण करो, अतन्द्रित होकर प्रयत्न करो, आलस्य का क्या काम, घबड़ाने की कौन-सी बात है? सृष्टि की सब सामग्री तो मैंने पूर्व से ही जुटा रखी है। अब तुम फिर ध्यान लगाओ। जैसे मेरे दर्शन तुम्हें अन्तःकरण में ही हुए हैं, वैसे ही सृष्टि रचने की सब सामग्री भी तुम्हारे भीतर ही दिखाई दे जायगी। सम्पूर्ण जगत् जञ्जाल अपने आप ही तुम्हारे सम्मुख आ जायगा।"

ब्रह्माजी घबराये और बोले—"महाराज उस जाल में कहीं मैं न फँस जाऊँ।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"ब्रह्माजी फँसते वे हैं जो मुझे भूलकर अपने को ही कर्ता मान बैठते हैं, जो मेरी कृपा की अपेक्षा नहीं रखते, जिन पर मेरी कृपा है, जो मुझे कभी भूलते नहीं, जो मुझे ही कर्ता मानकर अपने को मेरा यन्त्र मानते हैं, वे सब कुछ करते हुए भी कभी जगत् जाल में नहीं फँसते। तुम्हारे ऊपर तो मेरी पूर्ण अनुग्रह है, तुम इसमें नहीं फँस सकते। सृष्टि के लिये मुझे मन में रखकर तुम निःशङ्क होकर उद्योग करो।

इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। ब्रह्माजी ने फिर अपने को उसी प्रलय के जल में अकेले पद्म पर बैठे देखा अब तो ब्रह्माजी निःशङ्क हो गये। भगवत् आज्ञा पाकर वे तपस्या में प्रवृत्त हुए। तपस्या करने से उन्हें सृष्टि विषयक सम्पूर्ण ज्ञान हुआ। तब उन्होंने उस कमल को चौदह भागों में बाँटकर उसी में

चौदह भुवनों की कल्पना की और इन चौदह लोकों में दस प्रकार की सृष्टि उत्पन्न की।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! दस प्रकार की सृष्टि कौन-कौन-सी है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुख्यतया सृष्टि दो प्रकार की है, सूक्ष्म और स्थूल। इसी को प्राकृत और वैकृत कहते हैं। तीनों गुण जब साम्यावस्था में रहते हैं, तो उसी का नाम 'प्रकृति' है। जब तीनों गुणों में विषमता होने से जो एक महान् तत्व उत्पन्न होता है उसी का नाम 'महत् तत्व' है। यह प्रथम प्राकृत सृष्टि है। महत्तत्व से 'अहंकार' उत्पन्न होता है यह दूसरी है। सात्त्विक, राजस् और तामस तीन प्रकार का होने से यही पञ्चभूत ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को भी उत्पन्न करता है। पञ्चतन्मात्राओं की तीसरी सृष्टि है। चौथी सृष्टि इन्द्रियों की है और पाँचवीं इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों की तथा मन की है। छठी सृष्टि तामिस्र, अन्धतामिस्र आदि पाँच प्रकार की अविद्या की है, जो जीवों की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करती हैं। ये छः तो प्राकृत हैं, अब चार वैकृत सृष्टि का वर्णन करते हैं। पहले वृक्षादि की स्थावर सृष्टि दूसरी पशु-पक्षी आदि की, तीसरी मनुष्यों की, चौथी पृथ्वी से ऊपर के लोक वाले देवता असुर गन्धर्व आदि की दैव सृष्टि इस प्रकार ६ प्राकृत और चारवैकृत—ये ही दस प्रकार की सृष्टि हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"इन सनकादि देवताओं की गणना प्राकृत में है या वैकृत में?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"महाभाग! इन आदि ऋषियों को प्राकृत भी कह सकते हैं और मनुष्यों का-सा शरीर धारण करके विचरते हैं, इसलिए वैकृत भी कह सकते हैं। इसलिये

इन्हें प्राकृत, वैकृत मिला-जुला समझना चाहिए। यही दस प्रकार की सृष्टि है।"

इस प्रकार सृष्टि के विचार के साथ काल का विस्तार होता है। ब्रह्माजी अपने बहुत से प्रजापतियों के रूप बनाकर इस सृष्टि को बढ़ाते हैं। विष्णु भगवान् इन्द्र, मनु, ऋषि, मनुपुत्र, देव तथा अवतार आदि अनेक रूप धारण करके बनाई हुई सृष्टि का पालन करते हैं। अन्त में रुद्रदेव काल रूप से सभी का संहार करते हैं। कल्प के अन्त में तीनों लोकों का संहार करके ब्रह्माजी सो जाते हैं उतनी ही बड़ी रात्रि का अन्त होने पर फिर सृष्टि करने लग जाते हैं। उनके एक वर्ष में तीन सौ साठ कल्प होते हैं। ऐसे सौ वर्षों तक ब्रह्मा रहकर बदल जाते हैं। यही सृष्टि का क्रम सनातन से चला आ रहा है। इसका न ओर है न छोर। जैसा यह एक ब्रह्माण्ड है, ऐसे असंख्यों ब्रह्माण्ड उनके एक रोम कूप में फैल फूट कर पड़े हुए हैं। वे ही हरि सब कारणों के कारण हैं। उन्हीं की शरण में जाने से जीवों के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो सकती है।

ब्रह्माजी ने सबसे पहले तम (अविवेक) मोह (अन्तःकरण में विभ्रम) महामोह (ग्राम्य सुखों की वासना) तामिस्र (क्रोध) और अन्धतामिस्र (मरण) इन पाँच प्रकार की अज्ञान वृत्तियों को उत्पन्न किया—फिर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार इन चार ऋषियों को। इनसे जब सृष्टि बढ़ाने को ब्रह्माजी ने कहा और इन्होंने नहीं स्वीकार किया, तो रोष आ जाने से रुद्र की उत्पत्ति हुई। रुद्रदेव ने सृष्टि को बढ़ाना तो स्वीकार किया, किन्तु अपने ही समान, भूत-प्रेत पिशाचों को बनाया। यह देखकर ब्रह्माजी घबड़ाये, कि यह सम्पूर्ण संसार इन भूत-प्रेतों से ही भर जायगा। इसलिये उन्हें सृष्टि कर्म से रोककर तप करने की आज्ञा दी। रुद्रदेव पिता की आज्ञा पाकर तप में लग गये।

अब ब्रह्माजी ने बड़ी सावधानी से चित्त को एकाग्र करके अपने ही समान दस पुत्र उत्पन्न किये। जिनके नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद हैं। ये सब बिना मैथुन के, संकल्प से ही ब्रह्माजी के पृथक-पृथक अंगों से उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्माजी के स्तन से धर्म और पीठ से अधर्म भी उत्पन्न हुए हैं फिर काम, क्रोध, लोभ, सरस्वती, समुद्र, निर्ऋति तथा छाया से कर्दम ऋषि उत्पन्न हुए। फिर वेद, उपवेद, वर्ण, आश्रम यज्ञ आदि सबको उत्पन्न किया।

अब वे बार-बार अपने पुत्रों से कहने लगे—"भैया, सृष्टि करो, भैया, सृष्टि करो। किन्तु सृष्टि में उन सबकी प्रवृत्ति ही नहीं होती थी, जैसे लोगों की सन्ध्या वन्दन और पूजन में आज-कल प्रवृत्ति नहीं होती। भगवान् को छोड़कर ऋषि-मुनि क्यों सृष्टि के पचड़े में पड़ने लगे। उनके सम्मुख कोई आकर्षण तो था ही नहीं। ब्रह्मा बाबा के वाक्य ही प्रमाण थे, किसी ने मान-कर दस-बीस मानसिक बच्चे पैदा किये, ये लोग भी पैदा होते ही लँगोटी लगाकर तप करने चले गये। ब्रह्माजी उनके पास दौड़े-दौड़े पहुँचे। 'भैया, इस तप-फप में क्या रखा है, इसे पीछे ही कर लेना, पहिले सृष्टि करो।' बेटा तो बाप का कुछ शील संकोच करता भी है। पर बेटे का बेटा तो किसी बात को मानता है, किसी को नहीं। किसी ने शील संकोच में पड़कर दस-बीस मानसिक बच्चे पैदा कर दिये, किसी ने कह दिया—बाबाजी, तुम बूढ़े हुए, फिर भी तुम्हें हर समय सृष्टि की ही चिन्ता बनी रहती है। अपनी सफेददाढ़ी की ओर देखो, कुछ राम-राम भी करो, इस प्रपञ्च में ही फँसे रहने से क्या लाभ ?"

अपने पौत्रों के मुख से ऐसी बातें सुनकर ब्रह्माजी का मुख फक पड़ गया। अरे, ये कल के छोकरे मुझे ही उपदेश देने चले हैं। भैया, ऐसे काम न चलेगा। बिना प्रलोभन पैदा किये सृष्टि बढ़

नहीं सकती। ऐसे मैं कब तक दौड़-दौड़ कर सबसे अनुनय विनय करता फिरूँगा। बेगार का काम तो ऐसा ही होता है, बे-मन की बात, शील संकोच से की हुई क्रिया फलदायिनि नहीं होती। सृष्टि बढ़ाने का यह उपाय उपयुक्त नहीं, कुछ और उपाय करना चाहिये। ऐसा सोचकर चिन्तित होकर ब्रह्माजी भगवान् का ध्यान करने लगे।

छप्पय

स्तुति विधि ने करी ईस हँसि आयसु दीन्हीं।
सृष्टि पूर्ववत रचो सुनत दश विधि की कीन्हीं॥
अत्रि, अंगिरा पुलह दक्ष भृगु श्री नारद मुनि।
रचे वसिष्ठ, मरीचि और क्रतु मुनि पुलस्त्य पुनि॥
इन मानस सब सुतनि ते, वृद्धि सृष्टि की नहि भई।
चिंतित चतुरानन भये, युक्ति विचारी पुनि नई॥

सृष्टि रचना के निमित्त परम मोहक सामग्री

(१२७)

दृष्ट्वैकान्तिक भूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः ।
स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसांमनिर्हृता ॥१
कस्य रूपमभूद् द्वेधा यतकायमभिचक्षते ।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥२

(श्री भा० ३ स्क० १२ अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

सृष्टि करन कूँ कहें जिन्ही तें ते खिसियावें ।
बे मन तें कछु करें, कछू बहु बात बनावें ॥
विधि हरि को करि ध्यान देहतें नारि बनाई ।
आधे तें नर भये नारि लखि बुद्धि लुभाई ॥
हक्के-बक्के सब भये, सृष्टि करन इच्छा भई ।
मृगनयनी मनहरमुखी, सतरूपा मन कूँ दई ॥

सचमुच, यदि सृष्टि सन्ध्या वन्दन की भाँति कर्तव्य समझ

---

१ सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने देखा सभी ऋषि मुनि सृष्टि करने में उदासीन हैं, तो उन्होंने अपनी आधी देह से स्त्री की रचना की, जिसके द्वारा सभी की बुद्धि भुला गई ।

सृष्टि बढ़ाने की चिन्ता में बैठे हुए ब्रह्माजी का शरीर सहसा दो भागों में बँट गया । इसीलिये 'क' ब्रह्मा से होने के कारण इस शरीर का नाम काय हुआ । उन दोनों रूपों के पृथक्-पृथक् हो जाने से—एक स्त्री, एक पुरुष इस प्रकार जुगल जोड़ी बन गयी ।

कर की जाय, इसमें दोनों ओर से आकर्षण न हो तो ये, इतने नगर, ग्राम, पुर तथा चारों ओर स्त्री पुरुषों से भरे जनपद दिखाई न दें। जैसे कुछ धर्मात्मा पुरुष वेद की आज्ञा मानकर सन्ध्या वन्दन करते हैं, उसी प्रकार जहाँ-तहाँ विरले स्त्री पुरुष दिखाई दें। इसी प्रकार यदि माता के मन में बालक के प्रति स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न न हो, उस बच्चे का हृदय से चिपकाने में, उसके मल मूत्र साफ करने में आन्तरिक प्रसन्नता न हो, तो बहुत से बच्चों का जन्म होते ही अन्त हो जाय। भगवान् ने माता पिताओं के हृदयों में ऐसा आकर्षण उत्पन्न कर दिया है कि सृष्टि का कार्य अबाधित रूप से बिना किसी के कहे, बिना सिखाये पढ़ाये स्वतः चलता रहता है और सदा चलता रहेगा। कलियुग में कला के नाम पर कुछ माता रूप में राक्षसी पैदा होते ही बच्चे को अपने से पृथक् कर देती हैं। स्वास्थ्य के नाम पर उत्पन्न हुए स्तनों के दुग्ध को विशेष क्रिया से रोककर नौकरों के द्वारा गौ आदि के बाहरी दूध से बच्चों का पालन कराती हैं। वे हाथ पैर वाले लड़की लड़के तो देखने में हो जाते हैं, किन्तु माता का जो 'पुत्र पुत्री को प्यार प्राप्त होना चाहिये, वह उन्हें नहीं होता। ऐसी सन्तानें माता को बालक पैदा करने का एक यन्त्र समझती हैं। उनके प्रति उनका स्नेह नहीं, आकर्षण नहीं प्रेम नहीं, ममत्व नहीं। वृद्धि होने पर उन्हें अनाथालयों में भरती कराके निश्चिन्त हो जाते हैं। स्नेह तो माँ के हृदय से, लगने से प्रेम का दुग्धपान करने से, बार-बार चूमने चाटने से, हर समय समीप रहने से बढ़ता है। कुछ कलाकार गौओं के वत्सों को भी उनकी माता से जन्म होते ही पृथक् कर देते हैं। जन्म के समय माँ की आँखों में पट्टी बाँध देते हैं, उसे देखने चूमने चाटने तक नहीं देते। दूसरी गौओं का दूध पिलाकर उन्हें बढ़ाते हैं। बिना बछड़े के माँ के स्तनों से दूध निकालते हैं। उस दूध में और

रक्त में कोई अन्तर नहीं। मनुष्य अपने स्वार्थवश पशुओं के स्वाभाविक प्रेम को हरता है ये सब क्रियायें सृष्टि के लिये अत्यन्त हानिकारक हैं। मोह ममता से रहित सन्तानें एक दूसरे के रक्त की प्यासी बन जाती हैं। वे राग द्वेष के वशीभूत हो सदा रक्तपात में ही संलग्न रहती हैं। धर्म से हीन होकर विषय भोगों के लिये सदा लड़ती झगड़ती रहती हैं।

इसीलिये ऋषियों का कथन है, यदि तुम्हें विषय का भोग करना ही है, तो धर्म को बीच में करके करो। धर्महीन विषय-भोग, दुःख, नरक, यातना तथा क्लेशों को देने वाले होते हैं। इनसे इस लोक में सुख नहीं, शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं। परलोक में सुगति नहीं, सुयश नहीं, और इनसे भी सुन्दर दिव्य भोगों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये पहिले ब्रह्माजी के स्तनों से धर्म उत्पन्न हुआ। धर्मपूर्वक हुए विवाह से धर्मपूर्वक हुई संतान, माता के स्तनों का धर्मपूर्वक पान करे, तो वह सन्तान धर्मात्मा होती है।

ब्रह्माजी ने जब देखा कोरे कर्तव्य के सहारे सृष्टि की वृद्धि असम्भव है, तब तो वे बड़े घबराये। आसन मार, एकाग्रचित्त होकर, दृढ़ संकल्प द्वारा भगवान् का ध्यान करने लगे और उनसे प्रार्थना करने लगे—"हे प्रभो! कोई ऐसी आकर्षक वस्तु उत्पन्न करो, जिससे लोग बिना कहे, स्वतः ही अपने आप सृष्टि में उल्लास के साथ प्रवृत्त हो जायँ। ब्रह्माजी तो सत्य संकल्प ठहरे। उनकी प्रार्थना तो अमोघ होती है, कभी व्यर्थ जाने वाली नहीं। अकस्मात् उनके शरीर के दो भाग हो गये। एक भाग से तो नर हुआ और एक भाग से ऐसी सुन्दर, ऐसी आकर्षक, ऐसी मन मोहक नारी हुई कि उसे देखते ही सब हक्के-बक्के रह गये। उनकी खटकती हुई माला रुक गई। सब आँख फाड़-फाड़कर

उसी ओर देखने लगे। बीच में ब्रह्माजी के हृदय से उत्पन्न हुआ काम खड़ा था। पास ही स्तनों से उत्पन्न हुआ धर्म खड़ा था।

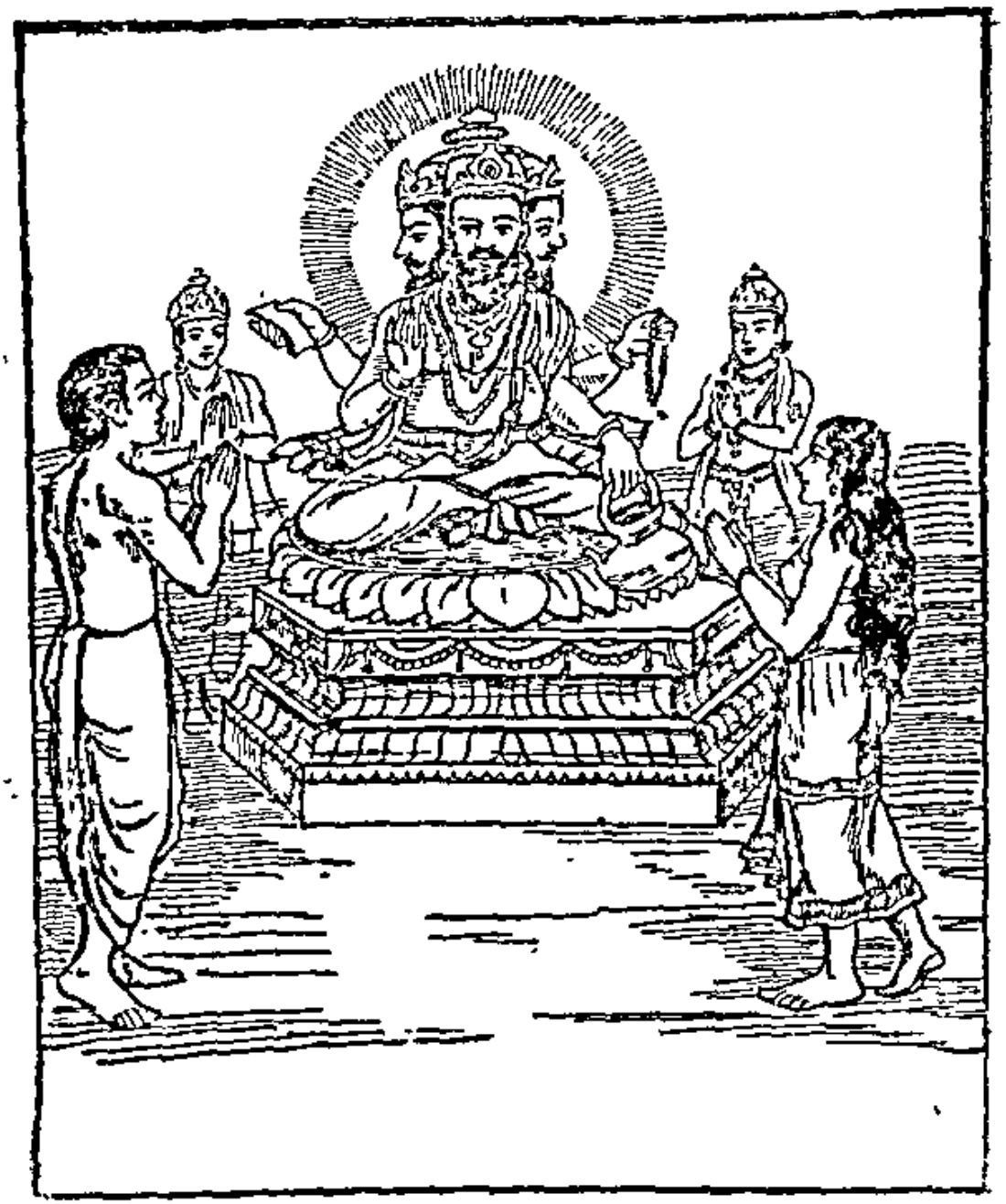

जब वे काम को देखते तब, तो चित्त और भी अधिक चञ्चल हो जाता। धर्म की ओर दृष्टि डालते तो आँख नीची हो जाती। माला को फिर खटकाने लगते। ब्रह्माजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा।

बड़े प्रसन्न हुए, मार ली बाजी, मिल गई सृष्टि बढ़ाने की कुञ्जी, हो गया मेरा संकल्प पूर्ण। नर की ओर देखते हुए बड़ी प्रसन्नता से बोले—"तुम मेरे मन के अनुरूप हुए हो इसलिये तुम्हारा नाम मनु होगा। मुझ स्वायंभू के पुत्र होने से तुम्हारा स्वायंभुव नाम भी प्रसिद्ध होगा। यह जो तुम्हारी बगल में अपने शत-शत रूपों से सभी के मन को आकर्षित करने वाली सुन्दरी खड़ी है, इसका नाम शतरूपा होगा। तुम नर होगे, यह नारी होगी। तुम पुरुष यह स्त्री, तुम पति यह पत्नी। मेरे आधे अंग से यह बनी है इसलिये तुम्हारी अर्धाङ्गिनी होगी। अब तुम दोनों, यह जो तुम्हारे बीच में धर्म खड़ा है, इसे साक्षी देकर आपस में गठबन्धन कर लो। एक दूसरे को कभी छोड़ना मत। तुम्हारे बीच में धर्म के पड़ने से यह धर्म-पत्नी कहलावेंगी, तुम इसके पति होगे। तुम्हारे वंशज मनुष्य कहलावेंगे, तुम आदि राजा माने जाओगे।"

स्वायंभुव मनु तो चाह ही रहे थे, पिताजी ने उनके मन की ही बात कह दी। दोनों ने विवाह कर लिया। धर्म उनके मध्यस्थ हुए। अब किसी को बोलने का स्थान ही नहीं रहा।

सभी निराश हो गये, सब की आशा पर पानी पड़ गया। वे निराश होकर बोले—"तब, महाराज! हम लोग जायँ?"

ब्रह्माजी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—"अरे, तुम लोग ऐसे निराश से क्यों हो रहे हो, अब तो रास्ता मिल गया। अब जो होंगी, उनसे तुम्हारी साँठ-गाँठ लगाऊँगा। तुम्हारा भी मुझे ध्यान है, तुम्हारे लिये भी प्रबन्ध करूँगा।" और सब तो सुनकर चुप हो गये। वे तो सब मन ही मन चाह ही रहे थे, किन्तु नारद जी को यह लीला अच्छी नहीं लगी, वे बोले—"महाराज! मेरे ऊपर तो दया करना। मेरे लिये तो प्रबन्ध करना मत।"

आश्चर्य के साथ ब्रह्माजी ने कहा—"क्यों, क्यों, बात क्या है ? अरे तुम अनोखी बात क्यों कर रहे हो। सृष्टि में योग देना तो बड़े पुण्य का काम है।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! यह पुण्य का काम आपके ही लिये रहे। मैं तो आपकी इस कारे मूढ़ की काया को दूर से ही डंडौत करता हूँ। मुझे यह गठबन्धन अच्छा नहीं लगता।"

ब्रह्माजी ने अपना बड़प्पन जताते हुए वृद्धों की भाँति समझाते हुए कहा—"देखो, तुम यह लड़कपन मत करो बिना स्त्री के मनुष्य आधा होता है। द्वैत से ही तो सृष्टि है। भीतर घर की स्वामिनी गृहिणी होती है, बाहर का स्वामी पुरुष। दोनों मिलकर चैन की बंशी बजाते हैं। पुरुष कमाकर लावेगा, घरवाली उसे सावधानी से व्यय करेगी। चाहे जब आओ, घर में रोटी तैयार। न आग फूँकने की आवश्यकता न चूल्हा जलाने की चिन्ता। बनी बनायी गरमागरम खाओ। अतिथि सत्कार का प्रबन्ध, झाड़-बुहार, लेन-देन सब झंझटों से मुक्त। आनन्द से संसार का काम भी करो और दोनों मिलकर राम-राम भी रटो जब छोटे-छोटे बच्चे घर में घुटुअन चलते हुए किलकेंगे, तो स्वर्ग और मुक्ति का सुख उनकी तोतली वाणी में ही मिल जायगा।"

नारदजी ने कहा—"नहीं, महाराज ! मेरे ऊपर दया करो। मैं तो आधा ही अच्छा हूँ। आधा मैं और एक मेरे श्यामसुन्दर, इस प्रकार मैं तो डेढ़ हो जाऊँगा। ये लोग आधे-आधे मिलकर एक ही होंगे।"

ब्रह्माजी ने कुछ घुड़कते हुए कहा—"अरे, तुम यह क्या गड़बड़ घुटाला कर रहे हो ? देखो, मुझे तो कुछ नहीं है, तुम्हारी इच्छा, किन्तु याद रखो, बिना घर-बार के हुए द्वार-द्वार भीख

माँगते फिरोगे। आज यहाँ, कल वहाँ, न तुम्हारा नाम चलेगा, ऐसे ही फक्कड़ बने घूमोगे।"

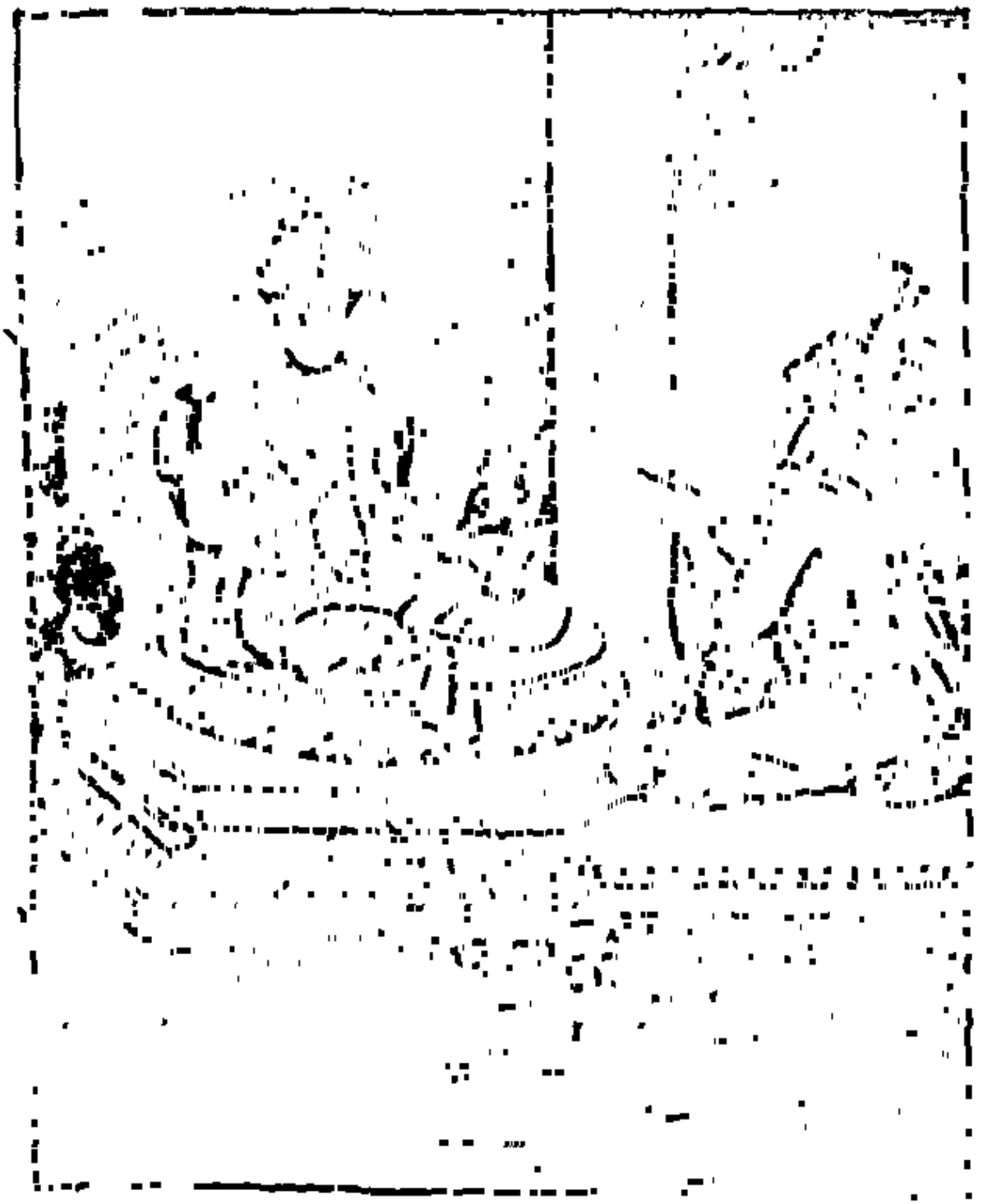

नारदजी बोले—"हाँ महाराज! मुझे तो फक्कड़पन ही प्रिय है। अपना नाम क्या चलाना, मुझे तो भगवान् का नाम प्रिय है,

उसे ही सदा रटता रहूँगा, रही गोत्र की बात, सो, मेरा तो 'अच्युत गोत्र' ही अच्छा है। मुझे भीख माँगकर खाना, द्वार-द्वार घूमना ही स्वीकार है, किन्तु जान-बूझकर पैरों में बेड़ी पहिनना मुझे स्वीकार नहीं।"

ब्रह्माजी ने देखा—"इन पर रङ्ग नहीं चढ़ा, तब हताश होकर बोले—"अच्छा, भैया! तुझे जो दीखे सो कर, किन्तु यह उल्टी पट्टी औरों को मत पढ़ाना।"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी बोले—"पिताजी! यदि मैं पट्टी पढ़ाना भी चाहूँ तो कौन पढ़ेगा। आपने यह कबूतरी ही ऐसी पैदा कर दी है, कि सभी पंख फटफटाने लगे हैं। आप देख ही रहे हैं। ये धर्मदेव बीच में न होते, तो यहीं देवासुर संग्राम छिड़ जाता। इसलिये महाराज, मेरी पट्टी को तो कोई विरला ही पढ़ेगा। लाखों करोड़ों में कोई एक ऐसा होगा।"

यह सुनकर ब्रह्माजी नारदजी को हाथ के संकेत से एकान्त में ले गये और बड़े ही स्नेह से बोले—"भैया, नारद! तू कहता तो ठीक है, इस प्रवृत्ति मार्ग में फँसना अपने को भगवान् से दूर हटाना ही है, किन्तु करें क्या? जीवों को अनादि काल की कर्म वासनायें बलपूर्वक इस मार्ग में प्रवृत्त कराती हैं फिर भी जो धर्म का आश्रय न छोड़ेंगे वे प्रवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त होने पर भी नीचे न गिरेंगे, क्रमशः वे भी परम पद की प्राप्ति कर सकेंगे। यदि निभ जाय तो, तुम्हारा निवृत्त मार्ग सर्वश्रेष्ठ है ही, किन्तु निभता नहीं। जीव पूर्व वासनाओं के अधीन होकर फिर विषयों में फँस जाते हैं। इसलिये संसार में दो मार्ग रहेंगे। एक तो धर्मपूर्वक प्रवृत्ति मार्ग जिसके उपदेशक मनु आदि होंगे और दूसरा निवृत्ति मार्ग जिसके उपदेशक तुम्हारे बड़े भाई सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार तथा तुम होगे। तुम्हारा मार्ग श्रेष्ठ होने पर भी छुरे की धार की तरह कठिन रहेगा। निवृत्ति मार्ग कनिष्ठ

होने पर भी यदि धर्म के साथ निभाया जाय, तो सरल,सुगम, बिना बाधा के राजपथ के सदृश होगा। तुम्हारी लड़ाई मैदान की है। तुम्हें हर समय शत्रुओं से सावधान रहना पड़ेगा। इन लोगों की लड़ाई किले की है। किले में रहो आनन्द से सुखोपभोग करो, शत्रु आवे, तो उस पर भीतर से ही प्रहार करो। तुम्हारा कल्याण हो! जाओ तुम तो जीवनमुक्त ही हो, भगवान् के गुणानुवादों को गाते हुए संसारी संतापों से तप्त प्राणियों को सदा सुख शान्ति का पाठ पढ़ाते हुए उनके हृदयों को शीतल बनाते रहो। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम्हारे और भाई तो धर्म के आश्रय से प्रवृत्ति मार्ग का आदर्श उपस्थित करेंगे।"

इतना कहकर नारदजी को ब्रह्माजी ने विदा किया। तब सब ऋषियों से कहा—"तुम लोग तपस्या करो। अब जो लड़कियाँ होंगी मैं उनके साथ सबका विवाह कर दूँगा।" ब्रह्माजी की ऐसी आज्ञा पाकर सभी उनके चरणों में प्रणाम करके अपने-अपने स्थानों को चले गये। स्वायंभुव मनु ने शतरूपा के सकाश से प्रियव्रत और उत्तानपाद दो सुत और आकूति, प्रसूति, और देवहूति ये तीन कन्यायें उत्पन्न कीं इन तीनों कन्याओं का विवाह ब्रह्माजी ने क्रमशः रुचि प्रजापति, दक्ष प्रजापति और कर्दम प्रजापति के साथ कर दिया। दक्ष प्रजापति ने ६० और कर्दम प्रजापति ने ९ कन्यायें उत्पन्न की। उनका विवाह और ऋषियों के साथ हुआ। फिर क्या था, अब तो बढ़ने लगी सृष्टि। हजारों संन्तानें उत्पन्न होने लगीं ब्रह्माजी का बाण लक्ष्य पर लग गया। थोड़े ही दिनों में यह सम्पूर्ण जगत् जीवों से ठसाठस भर गया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! यही सृष्टि का संक्षिप्त वृत्तान्त है। विदुर जी के पूछने पर यही मैत्रेय मुनि ने उन्हें बताया था। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

इस पर महाराज परीक्षित बोले—"प्रभो! यह तो बड़ी

अद्भुत कथा आपने सुनाई। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि इसके अनन्तर विदुर जी ने मैत्रेय मुनि से कौन-कौन से प्रश्न किये ? विदुर जी महाभागवत ठहरे, वैसे ही मुनियों के अग्रणी महामुनि मैत्रेय जी ध्याननिष्ठ योगी और भगवत् भक्त वक्ता थे। इन दोनों में जो प्रश्नोत्तर हुआ होगा, वह तो परम कल्याणप्रद ही होगा। मुझे इन दोनों के प्रश्नोत्तरों को विस्तार के साथ सुनाइये।"

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरुदेव ने जिस प्रकार आगे का विदुर-मैत्रेय सम्वाद सुनाया, उसका वर्णन अब मैं आपसे विस्तार के साथ कहूँगा। इसमें वाराह भगवान् के अवतार की पुण्यमयी कथा भी होगी। अब आप परम रसीली कथा को एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

विधि सामग्री सुखद सृष्टि की लखि हरषाये।
उदासीन जे पूर्व निरखि ते हू ललचाये॥
बोले ब्रह्मा—वत्स ! ब्याह हम सबको करिहैं।
कुंजी अब तो मिली सृष्टि करि जगकूँ भरिहैं॥
नारद बोले—पिताजी, श्री हरि के गुन गाउँगो।
कारे सिर की के नहीं, हौं चक्कर महँ आउँगो॥

पृथ्वी-उद्धार के लिये मनु की प्रार्थना

[१२८]

आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन ।
स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो ॥
यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि ।
अस्या ऊद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम् ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १३ अ० १४, १५ श्लोक)

छप्पय

सुन्दर दुलहिनि पाइ कहैं मनु पितु सन बानी ।
करहुँ कहा-अब काज रचहुँ कहुँ निज रजधानी ॥
विधि हँसि बोले-अनघ ! सृष्टि को चक्र चलाओ ।
पुत्र, पौत्र, परपौत्र रचो, बहु वंश बढ़ाओ ॥
पय महँ पृथ्वी परी प्रभु, ताकूँ बाहर करहिँ अब ।
बसहिँ जीव सुख लहहिँ सब, होहि मही उद्धार जब ॥

सभी पुरुष पूर्व संस्कारों और स्वभाव के अनुसार कार्य

---

* जब ब्रह्माजी ने स्वायम्भुव मनु को सृष्टि करने की आज्ञा दी तब मनुजी कहने लगे—"हे अघहारी प्रभो ! मैं आपकी आज्ञा के अनुसार कार्य करने को तत्पर हूँ, किन्तु आप मेरे तथा मेरी प्रजा के रहने योग्य स्थान तो बता दीजिये पृथ्वी जो सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाली है वह इस समय जल में डूब गई है अतः हे देवादि देव ! आप इस पृथ्वी के उद्धार का कोई उपाय सोचिये ।"

करते हैं। जो हमारे मन की बात होती है और उसे हमारे गुरुजन किसी भी प्रकार कह देते हैं, तो हमें एक आड़ मिल जाती है। हम बार-बार अपने को निर्लेप बताते हुए कहते हैं—"ऐसा करने की हमारी इच्छा तो नहीं थी, किन्तु करें क्या ? बड़े लोगों की आज्ञा माननी ही पड़ती है।" यदि बड़े लोग हमारी इच्छा के विरुद्ध आज्ञा देते हैं, तो उसे प्रायः सभी लोग टालमटोल कर जाते है, करते भी है तो बेगार टालने को। यथार्थ बात यह है, कि गुरुजनों को बीच मे डालकर हम अपनी इच्छा का समर्थन कराते हैं। प्रायः लड़की-लड़के विवाह की बात छिड़ते ही बिदुकने से लगते हैं—'हम विवाह नहीं करेंगे।' जब विवाह हो जाता है, और कोई हँसी मे पूछता है—"क्यों जी ! तुम तो विवाह को मना करते थे।" तब वह विवशता के स्वर मे कहता है—"अजी, क्या करें पिताजी ने बहुत आग्रह किया माताजी रोने लगीं। मैंने कहा अच्छी बात है। अब आप ही सोचिये बड़ों की आज्ञा कैसे टाली जा सकती है।" इस आज्ञा के पालन करने को तो वे बड़े मातृ-पितृ भक्त बन जाते हैं किन्तु माता-पिता सन्ध्या, पूजन को कहें, तो प्रायः नाक सिकोड़ने लगते हैं। उस समय उनकी मातृ-पितृ भक्ति घास चरने जङ्गल में चली जाती हैं। इसीलिये आचार्य अपने सभी शिष्यों को एक-सा साधन नहीं बताते। पहिले वे शिष्य की परीक्षा करते हैं। इसकी प्रवृति सतगुण, निर्गुण, योग ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा अन्य किसी साधन की ओर स्वाभाविक है। प्रवृत्ति, या निवृत्ति किस की ओर इसका झुकाव है ? ऐसा देख कर ही वे स्वभावानुसार उपदेश करते हैं। श्रीब्रह्माजी के जो मानस पुत्र हुए, ये पूर्व कल्पों में भी सृष्टि रचने वाले प्रजापति ही थे। पूर्व कल्पों में भी इन्होंने प्रवृत्ति धर्म को स्वीकर करके धर्मपूर्वक प्रजा का सृजन किया था। अतः भगवत् प्रेरणा से ही ब्रह्माजी के आधे शरीर से स्त्री, आधे से पुरुष उत्पन्न

हुआ। अब तक जो मानसिक पुत्र उत्पन्न हुये थे, वे ऋषि थे। उनकी सन्तान मनुष्य ही हो यह आवश्यक नहीं। वे वृक्षों और सर्पों को भी पैदा कर सकते हैं। बन्दर, भालु, व्याघ्र भी उनके पुत्र हो सकते हैं। किन्तु ब्रह्माजी के अंग से जो दो भाग हुए उनमें से एक स्त्री, एक पुरुष। स्त्री का नाम शतरूपा हुआ, जो समस्त स्त्रियों में आदि स्त्री हुई। पुरुष का नाम मनु हुआ, जो समस्त पुरुषों के आदि पुरुष हैं। अब तक तो मानसी सृष्टि होती थी। इनसे ही मैथुनी सृष्टि आरम्भ हुई। इन्होंने ही पृथ्वी पर अपनी राजधानी बनाकर चारों वर्णों को तथा अन्य लोगों को उत्पन्न किया। अन्य ऋषियों ने भी मनुष्यों की सृष्टि की, किन्तु उन्होंने और भी जाति के जन्तु पैदा किये। इस कथा को सुनकर विदुरजी, मैत्रेयजी से पूछने लगे—"ब्रह्मन्! शतरूपा पत्नी को पाकर स्वायंभुव मनु ने क्या किया? क्या उन्होंने उनको धर्मपत्नी रूप में स्वीकार कर लिया? उन्होंने सनकादि मुनियों के मार्ग का अनुसरण नहीं किया?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि अपनी हँसी रोकते हुए बोले—"अजी विदुरजी! तुम भी कैसी बात कर रहे हो। शतरूपाजी के दर्शन ही से मनुजी अपने आपे को भूल गये। सर्वज्ञ ब्रह्माजी उनके भाव को ताड़ गये और अपनी दाढ़ी फटकारते हुए गम्भीर वाणी से बोले—"बेटा मनु, तुम मेरी एक बात मानो। देखो भैया! सृष्टि का कार्य तो करना ही है, इसे बिना किये कैसे काम चलेगा? इसलिये तुम मेरे काम में सहायता दो।"

हाथ जोड़कर बड़े ही विनीत भाव से स्वायंभुव मनु बोले—"भगवन्! आप हमसे ऐसी बातें क्यों कह रहे हैं। आप तो हमारे गुरु हैं, हमारे ही नहीं अखिल विश्व के आप ही एक मात्र अन्नदाता, जन्मदाता तथा स्वामी हैं। हमें तो आप आज्ञा प्रदान करें कि भाई! तुम्हें यह काम करना होगा। हमसे सम्मति लेने

की आवश्यकता नहीं। आप जो भी हमें आज्ञा करेंगे, यदि हम करने में समर्थ होंगे, तो उसे बिना विचार के निष्कपट भाव से करेंगे। हम जानते हैं आप हमें ऐसी ही आज्ञा देंगे, जो इस लोक तथा परलोक के लिये भी सुखदायिनी ही होगी। उसके पालन करने से हमें इस लोक में कीर्ति और परलोक में पुण्य की प्राप्ति—शुभ गति मिलेगी।"

मनुजी के ऐसे विनीत वचन सुनकर ब्रह्माजी प्रसन्न होते हुए और वात्सल्य प्रेम प्रदर्शित करते हुए बोले—"वत्स! तुम्हारा कल्याण हो! तुमने बड़ी अच्छी बात कही। तुम्हारे शील से मैं सन्तुष्ट हूँ, तुम्हारी पितृ-भक्ति से मुझे परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। तुमने निष्कपट भाव से मुझसे कहा कि 'आज्ञा दीजिये।' अच्छा, बच्चा मेरी यही आज्ञा है, कि तुम इस शतरूपा को अपनी धर्म-पत्नी बना लो और इसमें अपने समान ही धर्मपूर्वक सुन्दर सन्तानें उत्पन्न करो। इस पृथ्वी के तुम आदि राजा बनो, प्रजा पालन करो, न्यायपूर्वक शासन करो और यज्ञ-यागादि करके भगवान् का श्रद्धाभक्ति पूर्वक पूजन करो। देखो बेटा, सत्पुत्र का यही कर्तव्य है, कि वह पिता को आत्म-समर्पण कर दे। वह जो भी आज्ञा दे, उसका बिना विचार के पालन करें। तुम्हारे पूर्वज सनकादि बड़े भ्राताओं ने मेरी बात नहीं मानी। सो देखो वे नंगे घूम रहे हैं? तुमसे मुझे ऐसी आशा नहीं है।"

यह सुनकर सकुचाते हुए मनुजी ब्रह्माजी से बोले—"हाँ, प्रभो! मैं आपकी इस आज्ञा का तो पालन करूँगा ही, और भी जो मेरे योग्य सेवा हो, उसके लिये भी आदेश कीजिये। मैं तो आपको सन्तुष्ट करना चाहता हूँ।"

इस पर ब्रह्माजी परम सन्तुष्ट होकर कहने लगे—"देखो, भैया! मेरी सबसे श्रेष्ठ सेवा यही है कि तुम सावधान होकर सृष्टि की वृद्धि करो और समस्त प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करो।

देखो, यह सब जगत् भगवान् का ही तो रूप है। जनता की सेवा करने से जनार्दन परम सन्तुष्ट होते हैं। अकेले रहकर पेट भर लिया—इसमें क्या पुरुषार्थ ? सब की सेवा करते हुए सबको सन्तुष्ट करना—यही सर्वेश्वर की सर्वोत्तम उपासना है। इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं। जिसने जगत् की सेवा करके विष्णु भगवान् को प्रसन्न नहीं किया, उसका सभी श्रम व्यर्थ है। राख में हवन करने के समान उसका किया कराया सब निष्फल है।"

यह सुनकर मनुजी बोले—"हाँ महाराज ! मैं आपकी सभी आज्ञाओं का पालन करूँगा। अपने समान सन्तानों को भी उत्पन्न करूँगा और प्रजा का भी पालन करूँगा, किन्तु मुझे तथा मेरी प्रजा को रहने के लिये स्थान तो चाहिये। यहाँ आपके सत्य लोक में स्थूल सृष्टि हो नहीं सकती। स्वर्ग लोक और भुवलोक तक भी सूक्ष्म सृष्टि से ही जीव रहते हैं। स्थूल सृष्टि रहने योग्य और कर्म करने योग्य तो एक मात्र पृथ्वी ही है।"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ, हाँ, ठीक है। पृथ्वी में ही जाकर तुम अपनी राजधानी बनाओ।"

यह सुनकर स्वायंभुव मनु ने शीघ्रता के साथ कहा—"महाराज ! पृथ्वी तो पाताल में चली गयी। वह तो जल में मग्न हो गई। उसका उद्धार हो, रसातल से किसी प्रकार जल के ऊपर आवे तब कहीं काम चले।"

इतना सुनते ही ब्रह्माजी ने ध्यान किया और ध्यान करके बोले—"अरे, हाँ, जिस समय मैं सातों लोकों की रचना कर रहा था और अनेक प्राणियों को उत्पन्न कर रहा था, उसी समय पृथ्वी तो रसातल में चली गयी। इसे किसी प्रकार निकालना चाहिये।"

इस पर मनुजी ने कहा—"महाराज ! बिना पृथ्वी के तो काम चलने का नहीं। रुद्र भगवान् के बनाये हुए भूत, पिशाच,

डाकिनी साकिनी वैताल आदि तो भुवर्लोक में रह सकते हैं। देवता स्वर्गलोक में वास करेंगे। महर्षिगण महर्लोक में अपना निवास स्थान बना लेंगे। ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी जो भगवान् के शरणापन्न अप्रजावान् जन हैं, वे जनलोक में रह सकते हैं, तपस्वी तपलोक में रहकर ध्यानमग्न रह सकते हैं। आपके शरणापन्न सत्य संकल्प लोग, ज्ञानी तथा परम पुण्यात्मा लोग अपने सत्यलोक में रहेंगे किन्तु मनुष्य का आश्रय तो एकमात्र पृथ्वी ही है। वह पृथ्वी रसातल को चली गई तो दूसरी पृथ्वी की रचना कीजिये।"

ब्रह्माजी बोले—"अरे, भैया! मैं स्वयं किसी की रचना करने में समर्थ थोड़े ही हूँ। वे सर्वान्तर्यामी हरि मेरे हृदय में जो प्रेरणा करते हैं, वही कार्य मैं करता हूँ। जब सृष्टि बढ़ाने में असमर्थ हुआ, तो उन्हीं की कृपा से मेरे दो रूप हो गये जिनसे तुम्हारी पत्नी शतरूपा और तुम उत्पन्न हुए अब वे ही प्रभु पृथ्वी के उद्धार का भी उपाय करेंगे। वे ही मेरे अन्तः-करण में प्रकट होकर पृथ्वी को रसातल से ऊपर लाने में मेरी सहायता करेंगे।"

मनुजी ने कहा—"आप जैसा उचित समझें मैं तो हर प्रकार से आपकी आज्ञा का पालन करने में तत्पर हूँ। पृथ्वी का उद्धार होते ही उस पर मैं अपनी राजधानी बना लूँगा। वहाँ रहकर मैं सृष्टि की वृद्धि और प्रजा पालन रूपी कार्य करूँगा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी रसातल को चली गई, यह बात हमारी समझ में नहीं आई, पाताल तो पृथ्वी के सात विवरों में से एक विवर ही है। वहाँ पृथ्वी कैसे चली गई?"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग! यहाँ पृथ्वी कहने से

पृथ्वी की अधिष्ठातृ देवी से तात्पर्य है। सभी नाम रूपवाली वस्तुओं के एक-एक अधिष्ठातृदेव रहते हैं। जिसके अधिष्ठातृदेव नहीं रहते, वह वस्तु श्रीशून्य हो जाती है। जैसे दस इन्द्रियों के इन्द्र, विष्णु आदि अधिष्ठातृदेव हैं। मृत्यु के समय वे शरीर की इन्द्रियों के गोलकों को छोड़कर सूक्ष्म देह से अन्यत्र चले जाते हैं, तो इन्द्रियों के गोलक ज्यों-के त्यों बने रहने पर भी वे श्रीशून्य तथा चेष्टा रहित हो जाते हैं। इसी प्रकार इस पृथ्वी की जो अधिष्ठातृदेवी थीं, वे रसातल में चली गई। इसलिये इस सम्पूर्ण देखने वाली स्थूल पृथ्वी पर कहीं पानी, कहीं ज्वालामुखी, कहीं मैल आदि भर गया। यह मनुष्यों के रहने के सर्वथा अयोग्या हो गई थी। भगवान् के अनुग्रह से जैसे उसका उद्धार हुआ उसका वर्णन मैं आगे करता हूँ। आप उसे सावधान होकर सुनें।"

इतना कहकर सूतजी चुप हो गये। शौनकजी सन्तुष्ट होकर आगे की कथा सुनने को उत्सुकता प्रकट करने लगे।

छप्पय

सुनिकें मनुके बचन ध्यान चतुरानन कीन्हों।
पृथिवी तो पाताल गई विधि ने सब चीन्हों॥
अति ही चिन्तित भये करूँ का अब मैं भाई।
सृष्टि चक्र तब चले करें जब श्याम सहाई॥
हम तो उनके यन्त्र है, वे ही कारण काम हैं।
अपने तें होवे न कछू, करनहार घनश्याम हैं॥

श्रीवाराह भगवान् की कथा

(१२९)

इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः ॥❀

(श्रीभा० १ स्क० १३ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

ध्यान करत विधि युगल नयन सरसिज सम विकसे ।
हरि शिशु शूकर वेष धरयो नासा तें निकसे ॥
लघु अंगुष्ठ समान यज्ञ तनु वेद बखानें ।
केवल किरपा प्राप्त मनस्वी जिनकूँ मानें ॥
अति अद्भुत तनु निरखि कें, विधि विस्मितवत् ह्वै गयो ।
तब तक सूकर रूप हरि, हस्ती सम नभ महँ भये ॥

दुःख का कारण है कर्तृत्वाभिमान। जब मनुष्य अपने को कर्ता मान लेता है, तभी उसे संसारी सुख दुःख होता है। नित्य ही लाखों रुपये आते हैं जाते हैं, नित्य ही सैकड़ों, वापी, कूप, तड़ाग, आराम, वाटिका, गृह, उद्यान, सभा मण्डप बनते हैं, बिगड़ते हैं। न हमें उनके बनने से हर्ष, न बिगड़ने से शोक।

❀ मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"हे निष्पाप! जब भगवान् ब्रह्मा इस बात का विचार कर रहे थे, तो उसी समय उनकी नासिका के छिद्र से सहसा एक वाराह का बच्चा निकल पड़ा, जो आकार में अँगूठे के ही समान था।"

किन्तु जिसमें हमारा निजी अभिमान है, जिसे हम अपनी वस्तु समझते हैं, जिसके कर्ता, रचयिता, रक्षक, स्वामी अपने को मानते हैं, उसके बनने पर हर्ष बिगड़ने पर दुःख शोक होता है। वास्तव में कौन गृह, मकान बनाता है। यही भगवान् की बनाई पृथ्वी है, भगवान् का बनाया जल है, भगवान् की बनाई अग्नि है, भगवान् के बनाये मनुष्य हैं, भगवान् की बनाई सोना चांदी ताँबा आदि धातु हैं। जब हम किसी भगवान के बनाये, दैववश अपने पास आये धातुओं के सिक्के को भगवज्जनों को देते हैं, तो जल में मिट्टी घोलकर उनकी ईंटें बनाकर अग्नि में पक्का करके पृथ्वी में आकाश की ओर एक मकान बना देते हैं। उनमें हमारी कौन-सी वस्तु है? न पृथ्वी हमारी, न जल हमारा, न अग्नि, न आकाश, न पाताल। केवल "अहङ्कार" हमारा है। उस अहङ्कार को भी भगवान् को जो समर्पित कर देता है, उसके सभी कार्यों को प्रभु स्वतः ही पूरा कर देते हैं, उसका काम ही क्या रह जाता है? सब काम ईश्वर का ही है, उन्हें जो प्रिय होवे करें। अभिमान करोगे, तो दुःख भोगोगे, फँसोगे, हाथ कुछ भी न लगेगा। वासना बढ़ेगी, ८४ के चक्कर में पड़ोगे। यही सब सोचकर मैत्रेय मुनि विदुर जी से कहते हैं—"विदुर! जब स्वायंभुव मनु ने लोक पितामह ब्रह्मा को यह बात बताई, कि पृथ्वी तो पाताल में चली गई, तो उन्होंने ध्यान लगाकर देखा और फिर बोले—"हाँ, यथार्थ में पृथ्वी तो पाताल में चली गयी, जलमग्न हो गई। इसका उद्धार कैसे करें। नीचे रस्सी बाँधकर ऊपर खींचें, तो हम जानें खींच सकें या नहीं खींचने में टूट-फूट जाये निर्जीव हो जाय। जल में हम सब चलें, तो फिर उसे लादकर किस पर लावें। नीचे असुर भी हैं, वे लड़ पड़े तो लाना भी असम्भव है। इसलिये पृथ्वी का अपने पुरुषार्थ से उद्धार

करना तो हमारी शक्ति के बाहर की बात है। जिन्होंने मुझे सृष्टि रचना की शक्ति प्रदान की है वे ही कृपा करें, वे ही उपाय बतावें, तब तो पृथ्वी ऊपर आ सकती है। भगवान् की शक्ति सहायता और बुद्धि योग प्रदान किये बिना कार्य होना असम्भव है। इसलिये मैं तो उन्हीं भगवान् की शरण में हूँ, जो शरणागत वत्सल, प्रणत प्रतिपालक और प्रपन्न पारिजात हैं।

इस प्रकार भगवान् का आश्रय ग्रहण करते ही ब्रह्माजी की नासिका से अत्यन्त मनोहर, अत्यन्त ही दर्शनीय, एक शूकर के सुन्दर शिशु का प्रादुर्भाव हुआ। शूकर रूप में वे साक्षात् श्री हरि ही प्रकट हुए थे। वे आकाश में अधर खड़े थे। ब्रह्माजी को इस बात की कल्पना भी नहीं थी, कि चराचर के स्वामी ऐसे लोक निन्दित जीव का रूप धारण करेंगे। वे बड़े विस्मय की दृष्टि से उस वाराह बालक को देखने लगे। समीप में स्थित अपने मानस पुत्रों से कहने लगे—"देखो, यह अंगुष्ठ मात्र सत्त्व मेरी नासिका से निकलकर नभ में कैसा प्रकाशित हो रहा है? कैसा कान्तियुक्त है इनका शरीर? ये तो कोई विलक्षण ही जीव हैं।"

ब्रह्माजी इतना कह ही रहे थे, कि वे वाराह भगवान् तो बढ़कर वारणेन्द्र की तरह बहुत बड़े डील डौल के हो गये और क्षण भर में ही उससे भी सौ गुने बढ़कर पर्वताकार बन गये। अब तो ब्रह्माजी को चेत हुआ। अरे, ये उत्पन्न करने वाले सर्वान्तर्यामी हरि तो नहीं हैं पुराण पुरुष ने ही तो ऐसा रूप धारण नहीं कर लिया है। साक्षात् यज्ञ रूप भगवान् ही साकार विग्रह धारण करके अवतरित तो नहीं हुए हैं। इस विचार के आते ही ब्रह्माजी के रोम-रोम खिल गये, हृदय आनन्द से भर गया, नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे, स्नेह के कारण कंठ रुद्ध हो गया। भगवान् सबके सामने देखते-देखते ही बहुत बड़े नीले

पर्वत के समान होकर, बड़े जोरों से दशों दिशाओं को गुञ्जायमान करते हुए महान गर्जना करने लगे। उनकी भीमरव वाली

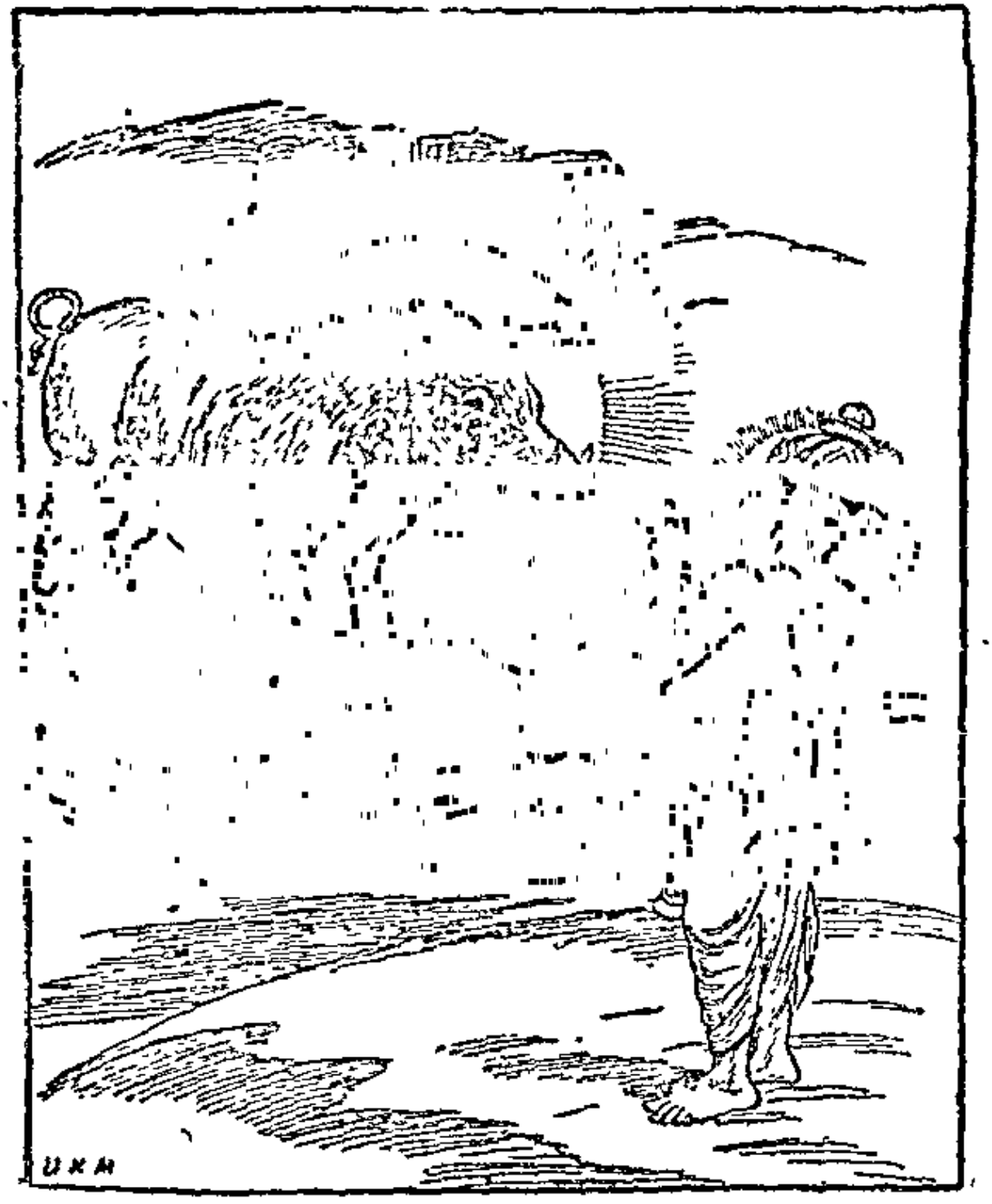

गर्जना से दशों दिशायें भर गईं आकाश में वही महान् शब्द छा गया। इससे सनकादि तथा मरीचादि ब्रह्माजी के जितने मानस

ऋषिगण वहाँ उपस्थित थे, सभी परम आनंदित हुए। उनके हृदयों में प्रेम का प्रवाह उमड़ने लगा। सबको निश्चय हो गया, ये साक्षात् श्रीमन्नारायण ही हैं।

तब वे सभी महाजन, तप और सत्यलोक के निवासी ऋषि मुनि भगवान् की स्तुति करने लगे। अपनी स्तुति सुनकर भगवान् को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। वे उत्साह में भरकर बार बार गर्जना करने लगे और पूँछ को फटकारने लगे। इस प्रकार ऋषियों को आनन्दित करते हुए वह वाराह वपुधारी मुरारी सबके देखते-देखते प्रलय के बढ़े हुए जल में पूँछ उठाकर घुस गये। उस समय उनकी शोभा दर्शनीय थी। सातों लोकों की रचना हो चुकी थी, भुवर्लोक तक जीव भी बस गये थे, किन्तु पृथ्वी पर जीव नहीं बसे थे। ब्रह्माजी को असावधानी से सृष्टि रचते समय पृथ्वी पाताल में चली गई थी, इससे वह रहने योग्य नहीं थी। सर्वत्र जल-ही-जल भरा हुआ था। ऊपर नीला-नीला आकाश नीचे नीला-नीला नीर, बीच में जल से भरे नीले-नीले बादल हाथियों की तरह इधर-उधर घूम रहे थे। सत्यलोक से शूकर भगवान् कूदे। कूदते समय अपने खुरों से वे आकाश के मेघों को उसी तरह चीरकर नीचे जा रहे थे, जिस प्रकार कुहरे को चीरकर सूर्य भगवान् आगे बढ़ते हैं। उनके दोनों नेत्र सूर्य चन्द्रमा के समान चमक रहे थे, मानों पूर्णिमा के दिन सूर्य चन्द्र दोनों मिल कर आकाश से उतर रहे हों। उनके कंठ में पड़ी वनमाला ऐसी ही शोभा दे रही थी, मानों आकाश से टूटकर इन्द्र धनुष गिर रहा हो। पीताम्बर उसी प्रकार फहरा रहा था मानों नभ से चमकती हुई विद्युत पृथ्वी की ओर गिर रही हो। शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म के चकाचौंध से सभी ऋषि मुनियों की आँखें बन्द हो गई थीं। उनके निकले हुए शंख के समान, रजत दंड के समान, मोती और श्वेत पुष्पों के समान शुभ्र दाँत उसी प्रकार शोभा पा

रहे थे, मानों मूर्तिमती कीर्ति ही उनके आनन में विराजमान होकर फैलने के लिये पृथ्वी पर आ रही हो। सम्पूर्ण शरीर पर कठोर और कड़ी त्वचा थी, उनके ऊपर उठे हुए रोयें उसी प्रकार उग रहे थे मानों नीलांजन पर्वत के शिखर पर मरकत मणि के सदृश दूर्वा उग रही हो। वे बार-बार अपनी गरदन के बालों को फटकारते जाते थे। फुरहुरी लेने के कारण सेह के काटों के सदृश रोयें खड़े हुए थे। वे अपनी तुण्ड से समुद्र सलिल को फाड़ते चीरते पाताल में पहुँच गये। जिस समय वे समुद्र के वक्षःस्थल को विदीर्ण करके अपने पर्वताकार शरीर से उसमें घुसे, तो समुद्र की ऊँची-ऊँची लहरियाँ आकाश तक उछलने लगी, मानों वे अपनी रक्षा के लिये सभी लोकों में भागकर अपने रक्षक को खोज रही हों। उत्ताल तरङ्गों से सम्पूर्ण समुद्र में बड़े वेग का शब्द हो रहा था, मानों अपना कोई रक्षक न पाकर अंत में हार कर समुद्र कह रहा हो—"हे प्रभो! तुम्हीं एकमात्र सबके रक्षक हो। तुम्हीं सबके दुखों को दूर करने में समर्थन हो।" भगवान् ज्यों-ज्यों नीचे जाते त्यों-त्यों समुद्र का जल फटकर हटकर ऊपर उठता जाता था। पाताल में पहुँचकर और चारों ओर घूमकर भगवान् सूँघकर पृथ्वी को खोज रहे थे। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ'। भगवान् तो बहुत गहरे पानी में पैठे थे और नेत्रों से ही नहीं, नासिका से भी खोज रहे थे। खोजते-खोजते पृथ्वी मिल गई। वह तो उनकी पूर्व परिचिता सहधर्मिणी ही थी। वही समस्त जीवों का आश्रय स्थान थी। सोते समय जिसे भगवान् विश्व के साथ उदर में छिपाकर सो गये थे। आज उसे पाताल में पाकर प्रसन्न हुए। चार आँखें हुईं, आप मुस्कुरा उठे और बोले—"क्यों देवि! बड़े नीचे बिल में आकर छिप गईं?" प्रेम के रोष से भू देवी बोलीं—"तुम ठहरे पुराण पुरुष, हर समय सर्प के ऊपर समुद्र में सोते रहते,

हो। मेरी तो तुम्हें चिन्ता ही नहीं रहती। तुम्हें तो मेरी सौत लक्ष्मी प्यारी है। उसके पीछे मुझे भूल ही जाते हो, तुम्हें लज्जा आनी चाहिये। ये मेरे ही पुत्र असुर यहाँ ले आये।"

भगवान् हँसे और बोले—"देवि! कोई बात नहीं। सब तुम्हारे ही पुत्र हैं, कोई कुपूत है कोई सुपूत। माता पर तो सभी का अधिकार है।"

कुपित होकर धरारानी बोलीं—"अब तुम ऐसी छल बल की बातें मुझसे मत करो। जब तक स्त्री का पति विद्यमान है, तब तक पुत्रों का उस पर कोई अधिकार नहीं। पत्नी के लिये एक मात्र आश्रय हैं पतिदेव के चरण। मुझे तो आप अपने चरणों की शरण में रखो। चक्र; अंकुश, ध्वजा आदि चिह्न से चिह्नित अपने चरणों को मेरे हृदय पर रखकर मेरे दुःखों को दूर करो, यहाँ से मुझे ले चलो। और 'यह तुमने रूप कैसा बना लिया है, चार पैरों वाला। पूँछ अलग लगा ली है। गोल-गोल तुण्ड बना लिया है। मेरे बैठने का स्थान तो है आपके चरणों के नीचे। ये चरण आपने ऐसे बना लिये हैं कि इन्हें पकड़ूँ तो नीचे ही गिर पड़ूँ। इसलिये मैं तो चाँदी के समान चमकती हुई आपकी इस दाढ़ के ही ऊपर बैठूँगी, कि कहीं गिरने गिराने का भय हुआ तो कसकर आपके गले को पकड़ लूँगी। कंठ से लिपट जाऊँगी। इतना कहकर पृथ्वी उछलकर भगवान् की दाढ़ पर बैठ गई। ज्यों ही वे पृथ्वी को लेकर चले, त्यों ही भूत के समान हिरण्याक्ष दैत्य ने उन्हें रोका। उसे मारकर और उसके रक्त से अपनी तुण्ड को रँगकर वे जल के भीतर आ गये। उस समय उनकी शोभा का वर्णन करना कवि के बुद्धि के बाहर की बात है।

वे स्वयं तो नीलांजन के समान काले थे नीली रेशमी साड़ी पहने पृथ्वी रानी उनकी सफेद दाढ़ पर घूँघट मारे बैठी थीं। वेग से चलने के कारण उनकी चूड़ियाँ खनखना रही थीं। दैत्य

के मारने से तुण्ड रक्त वर्ण की हो गई थी। भू देवी की साड़ी पर लाल-लाल छींटे पड़े हुए थे। उस समय वे ऐसी लगतीं थीं,

मानों गजराज ने किसी नील कमलिनी को उखाड़ कर दाँतों पर रख लिया हो और उसमें गेरू की मिट्टी के कण गिर गये हों।

लज्जा से सिमटी सिकुड़ी गुड़मुड़ी मारे नववधू के समान अपनी प्रिया को पाताल से लेकर परात्पर वाराह भगवान् बाहर निकले और उन्होंने उसे जल के ऊपर स्थापित कर दिया।

पृथ्वी को जल के ऊपर देखकर और वाराह भगवान को प्रसन्न देखकर सभी ऋषि मुनि आनन्द में विभोर होकर भाँति-भाँति के स्तोत्रों और सूक्तों से उनकी स्तुति करने लगे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने तुमसे पृथ्वी उद्धार की संक्षिप्त कथा कही। अब इसके पश्चात् जो तुम पूछोगे उसका उत्तर दूँगा।"

छप्पय

तुरत शिला सम बढ़े पर्वताकार भये पुनि।
कान्ति तेज ऐश्वर्य निरखि निर्वाक् भये मुनि॥
विधि सोचें—ये यज्ञ परुष मन मेरो मोहें।
रूप अनूप बनाय अधर नभमहँ अति सोहें॥
सूकर हरि पय महँ घुसे, लाये पृथ्वी दाढ़ धरि।
हिरण्याक्ष मार्‌यो असुर, धरी धरित्री जल उपरि॥

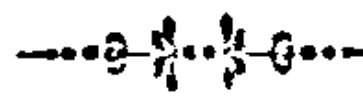

श्रीवाराह चरित्र के लिये विदुरजी का आग्रह

[१३०]

निशम्य कौपारविणोपवर्णिताम्,
हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि—
र्न चातितृप्तो विदुरो घृतव्रतः ॥*
(श्रीभा० ३ स्क० १४ अ० १ श्लोक)

छप्पय

सुनी विदुर हरि कथा सुखद संक्षिप्त सरस अति ।
तृप्ति न मन महँ भई कथा कीर्तन महँ दृढ़मति ॥
बोले—मुनि ! वाराह चरित का पूर्ण भयो है ।
नहिँ सुनिके सन्देह हमारो नाथ गयो है ॥
हिरण्याक्ष काको तनय, कहाँ भेंट हरि तें भई ।
युद्ध भयो कस कहाँ 'पै, कस पाताल मही गई ॥

संसारी लोग विषयों के भोग से कभी तृप्त नहीं होते और भगवत् भक्त भगवान् की तथा भक्तों की कथा और

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— 'राजन् ! जिन्होंने विशेष कारण से ही सूअर का-सा रूप बना लिया है, उन भगवान् की इतनी संक्षिप्त कथा को श्री मैत्रेय मुनि के मुख से सुनकर व्रतपरायण परम भागवत विदुर जी तृप्त नहीं हुए। इसलिए हाथ जोड़कर पुनः प्रश्न करने लगे।"

भगवन्नाम गुण कीर्तन करने से तृप्त नहीं होते। इन विषयों में दोनों ही सदा अतृप्त बने रहते हैं। एक सी अतृप्ति होने पर भी इन दोनों के फल में बहुत अन्तर है। विषयों की अतृप्ति तो बार-बार जन्म मरण प्रदान करती हुई जीव को जगत् में खींचकर लाती है और भगवत् तथा भागवतों के सम्बन्ध की अतृप्ति संसार बन्धन को काटकर भगवान् के समीप पहुँचाती है। यह तो सीधी सी बात है, जिसका जिस पर सत्य स्नेह होगा, जो पुरुष जिस विषय का सदा चिन्तन-मनन करता रहेगा, अन्त में वह उसी को प्राप्त होगा।

शौनकादि मुनियों की रुचि सदा भगवान् की कथा भगवत् सम्बन्धी कथाओं में ही लगी रहती है। तभी तो बार-बार उन्हीं पुराणों की कथा सुनकर भी वे पुनः-पुनः उन्हीं का प्रश्न करते हैं। सभी पुराणों में प्रायः अवतारों की कल्प भेद से कुछ-कुछ हेर-फेर के साथ एक-सी ही कथायें हैं फिर भी वे उन्हें बड़े उल्लास के साथ सुनते हैं। बड़ी मिठास के साथ उनके रस का आस्वादन करते हैं।

जब सूतजी ने संक्षेप में वाराह-चरित कहकर उसकी फल-श्रुति कह दी, कि जो पुरुष श्रीहरि की इस परम पवित्र मङ्गल-कारिणी, सर्व पाप विनाशिनी सूकरावतार की कथा को श्रद्धा के सहित श्रवण करता है, उसके हृदय में विराजमान श्री जनार्दन भगवान् उससे शीघ्र ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और जहाँ जीव पर भगवान् सन्तुष्ट हुए, तब फिर उसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। वह कृतकृत्य हो जाता है। फिर वह इन संसारी क्षुद्र विषयों की ओर फिरकर भी नहीं देखता। वह देखना भी चाहे, तो उसके हृदय में स्थित श्रीश्यामसुन्दर उसकी समस्त विषयों सम्बन्धी वासनाओं को मेटकर अपना दुर्लभ परम पद उसे प्रेम-

पूर्वक प्रदान करते हैं। अतः मुनियो! सदा अवतार कथा ही श्रवण करनी चाहिये।"

इतना सुनते ही आश्चर्य के सहित शौनकजी पूछने लगे—"सूतजी! वाराह चरित्र की कथा समाप्त हो गयी क्या? कितने दिनों से आप पीछे से बार-बार कहते आ रहे हैं, कि आगे चल करके हम वाराह चरित्र विस्तार से सुनायेंगे, विस्तार से सुनायेंगे। इतने ही विस्तार के लिये इतने गीत गा रहे थे। इतनी कथा तो आप पीछे कुछ भाषा के हेर फेर से दो बार सुना चुके। हम इसी आशा में थे, आप आद्योपान्त सब सुनायेंगे कि भगवान् ने क्यों अवतार धारण किया? पृथ्वी कैसे पाताल में चली गई? यह हिरण्याक्ष दैत्य कौन था? किसका बेटा था? क्यों यह इतना पराक्रमी हुआ कि इसने भगवान् से लड़ने का साहस किया? भगवान् के साथ उनका कैसे युद्ध हुआ? भगवान् पाताल में हैं—उसे यह पता किसने बताया? पूर्वजन्म में यह कौन था? किस कारण से इसने भगवान् के शत्रुता की, इस बलवान् दैत्य को मारकर भगवान् ने उसे कौन-सी गति दी? इन सब बातों की जिज्ञासा तो हमें बनी की बनी ही रह गयी और अपने फलश्रुति कहकर कथा की समाप्ति की सूचना भी दे दी।

शौनकजी की ऐसी बात सुनकर सूतजी का रोम-रोम खिल उठा और अत्यन्त उल्लास के सहित बोले—"क्यों न हो मुनिवर! यह आपके अनुरूप ही प्रश्न है। भगवद्भक्त रसग्राही मधुप होते हैं। बार-बार सुस्वादु मधु पीने पर भी उनकी तृप्ति नहीं होती। महानुभाव! जैसे श्रोता आप हैं, वैसे ही राजर्षि परीक्षित भी थे। उन्होंने भी जब यहाँ पर ही कथा को समाप्त होते देखा, तो वे भी अकबकाकर पूछने लगे—"क्यों भगवन्! विदुरजी इतनी कथा से ही सन्तुष्ट हो गये क्या?"

यह सुनकर श्री शुकदेव जी हँसते हुये बोले—"राजन्!

विदुर जी की बात तो पीछे बताऊँगा, तुम्हारी तृप्ति हुई कि नहीं।"

शीघ्रता के साथ महाराज परीक्षित् बोले—"नहीं, महाराज! मेरी तो संतुष्टि नहीं हुई। मेरी उत्कंठा तो इस कथा को सुनने की और अधिक बढ़ गई।"

तब श्रीशुक जी बोले—"जब राजन्! आपको ही संतुष्टि नहीं हुई तो परम भागवत आपके पितामह के भी पितृव्य विदुर जी की संतुष्टि कैसे हो सकती है? जहाँ मैत्रेय जी ने फलश्रुति कही वहीं वे बोल उठे—"महाराज! यह क्या? भगवान् पाताल में गये, वहाँ हिरण्याक्ष को मारकर पृथ्वी को ले आये। इतने में ही कथा हो गई क्या? हे मुनिवर! जब तक मनुष्यों की भी सृष्टि हुई नहीं, पृथ्वी भी जल पर टिकी नहीं, तभी तक यह राक्षस कहाँ पैदा हो गया? यह आदिदैत्य किसका पुत्र था? क्यों भगवान् से लड़ा, यह सब सुनाइये। जिसने भगवान् से टक्कर ली, वह कोई साधारण जीव तो होगा नहीं। भगवान् की कृपा के बिना, उनकी ही दी हुई शक्ति के बिना कोई उनके सम्मुख खड़ा होने का तो साहस कर ही नहीं सकता। लड़ने भिड़ने की बात तो अलग रही। अतः पहिले तो आप उन महाभाग्यशाली हिरण्याक्ष का चरित्र सुनावें जिन्हें शूकर भगवान् ने स्वयं ही मारा। पुनः उनके युद्ध की बात सुनाइये।"

भगवत् कथा के श्रवण में विदुरजी की ऐसी उत्सुकता देखकर उनकी प्रशंसा करते हुए मैत्रेय मुनि बोले—"विदुर जी! आप धन्य हैं, जो ऐसे प्रश्न कर रहे हैं। प्रायः लोग ऐसे ही व्यर्थ के संसारी प्रश्न पूछते हैं, जिनसे संसार बन्धन और अधिक जकड़ा जाय, जिससे बार-बार जन्म-मृत्यु की प्राप्ति हो, किन्तु आपके प्रश्न तो ऐसे हैं, कि आप तो इनको सुनकर मुक्त होंगे ही, और भी जो लोग सुनेंगे उनका भी कल्याण होगा। देखिये, जितने

विभीषण, प्रह्लाद, ध्रुव ययाति तथा अंबरीष आदि भगवत् भक्त हुए हैं वे सब हरि कथा के ही प्रभाव से स्वयं भी मृत्यु के सिर पर पैर रखकर परम पद को प्राप्त हुए हैं तथा अपनी अक्षुण्य कीर्ति भी सदा के लिये पृथ्वी पर छोड़ गये हैं, जिसके श्रवण से अब तक संसारी लोग तर रहे हैं और आगे भी तरते रहेंगे। इस प्रकार इस प्रश्न से आप भी अमर हो जायँगे। यह हिरण्याक्ष प्रजापति भगवान् कश्यप का पुत्र था। वह प्रजापति दक्ष की कन्या अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। वह बड़ा शूरवीर और पराक्रमी था। भगवान् के अतिरिक्त और कोई भी इसे मारने में समर्थ नहीं था। इसलिये भगवान् ने वाराह रूप धारण किया।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! इतने तेजस्वी और धर्मात्मा भगवान् कश्यप के वहाँ ऐसा क्रूरकर्मा पुत्र क्यों उत्पन्न हुआ? प्रायः दुष्ट संतान माता या पिता के बुरे विचारों से निन्दित आचरणों से होती है। भगवान् कश्यप के सम्बन्ध में तो ऐसे कर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। दिति भी अच्छे वंश में उत्पन्न हुई थी। प्रजापति दक्ष की कन्या ही ठहरी। वह भी कोई ऐसा वैसा कार्य करे, यह भी सम्भव नहीं। फिर, ऐसा भगवत् द्वेषी पुत्र क्यों उत्पन्न हुआ? और फिर भगवान् ने सूकर का ही वेष क्यों बनाया? इन बातों को मुझे विस्तार के साथ सुनाइये।"

इसपर महामुनि मैत्रेय बोले—"विदुरजी! इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि भगवान की माया का यथार्थ तत्व कोई मानवीय तर्कों के द्वारा जान नहीं सकता। सभी जीव पूर्वजन्मों के संस्कार वश कार्य करते हैं। जिसके जैसे संस्कार होते हैं, उसके लिये वैसे ही संयोग जुट जाते हैं। नहीं तो भगवान् से लड़ने का साहस जीव कर ही कैसे सकता है और भगवान् को

भी ऐसे-ऐसे रूप रखने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु जब वे स्वयं ही क्रीड़ा करना चाहते हैं, जब वे स्वयं ही माया का आश्रय ग्रहण करके लड़ाई-भिड़ाई में प्रवृत्त होने को उद्यत हो जाते हैं, तो उन्हें रोके भी कौन ? किसकी सामर्थ्य है जो उनसे कहे, यह आपके अनुरूप नहीं है। रही, सूकर शरीर धारण करने की बात, सो यह ऊँच-नीच का भेद तो हम मनुष्यों के लिये है। भगवान् के लिये न कोई ऊँचा है न नीचा, न कुछ निन्दनीय है, न श्लाघनीय। उनके लिये सब समान है, सब एक-सा है। हमने ऐसा सुना है, कि पाताल में हिरण्याक्ष आदि दैत्यों ने पृथ्वी को ऐसी गन्दी वस्तु के परकोटे के भीतर रखा था कि उसे सूकर ही पार कर सकता था। सूकर जल में, स्थल में समान रूप से जा सकता है। सूकर से ही हिरण्याक्ष की मृत्यु बदी थी। ये सब तो गौण कारण हैं, मुख्य कारण तो है—उनकी इच्छा। उनकी इच्छा को उनके अतिरिक्त कौन जान सकता है ?

विदुरजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! मानवीय बुद्धि की पहुँच तो प्राकृतिक पदार्थों तक ही है। प्रभु तो प्रकृति से परे हैं। अच्छी बात है, अब आप मुझे हिरण्याक्ष और वाराह भगवान् सम्बन्धी कथा सुनावें।"

यह सुनकर मैत्रेयजी बोले—"महाभाग ! एक बार मैं ब्रह्माजी की सभा में गया था। वहाँ बहुत से देवता भी बैठे थे। संयोग की बात कि वहाँ देवताओं ने पितामह ब्रह्माजी से यही हिरण्याक्ष-वाराह युद्ध सम्बन्धी प्रश्न किया था। उन्होंने जो कुछ इस विषय में कहा था, उसे मैंने भी देवताओं के साथ समाहित चित्त होकर श्रवण किया था। भगवान् चतुरानन के मुख से मैंने जिस प्रकार यह इतिहास सुना है, उसी प्रकार मैं आपको सुनाता हूँ, आप एकाग्र मन से श्रवण करें।"

इतना कहकर मैत्रेयजी आगे की कथा कहने लगे।

छप्पय

कृष्ण कथा रुचि होहि सफल जीवन है जबई।
सुनें सुयश सब समय श्रवन सार्थक हैं तबई॥
सोवें खावें करें पुत्र पैदा पशु पच्छी।
नर तनु यही विशेष लगें हरि लीला अच्छी॥
सन्त सरल चित-जगत् जन, चरण गहत सब सुख लहहिं।
यदपि भक्त नहिं हौं तदपि, कथा कृपा करिकें कहहिं॥

कश्यपजी से अनुचित प्रार्थना

[१३१]

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम् ।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ॥
एष मां त्वत्कृते विद्वन्काम आत्तशरासनः ।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १४ अ० ७, ९ श्लोक)

छप्पय

बोले मुनि मैत्रेय—'विदुर विस्तार बताऊँ ।
जस विधि सन इतिहास सुन्यो तस तोहि सुनाऊँ ॥
इक दिन सन्ध्या समय दक्ष दुहिता दिति देवी ।
ह्वैके कामातुरा गई जहँ पति हरि सेवी ॥
कजरारे नैनानितें, घूँघट महँ ते चोट करि ।
चाहहि पति तें रति तुरत, शील त्यागि पटुका पकरि ॥

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"हे क्षत्तः ! एक समय की बात है कि प्रजापति दक्ष की पुत्री कामातुरा होकर पुत्र प्राप्ति की इच्छा से सायंकालीन सन्ध्या के समय, अपने पति मरीचि पुत्र भगवान् कश्यपजी से रति की प्रार्थना करते हुए कहने लगी—'हे विद्वन् ! आपको निमित्त बनाकर यह महाबली कामदेव, हाथ में बाण-धनुष धारण किये मुझे उसी प्रकार पीड़ित कर रहा है, जिस प्रकार कदली के वृक्ष को मतवाला मातङ्ग मसल डालता है। अतः हे स्वामिन् ! मुझ पर कृपा कीजिये।"

जब जीव भगवान् के ध्यान को त्याग कर संसारी क्षुद्र विषयों का ध्यान करने लगता है, तो उन विषयों में एक प्रकार की आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति से ही काम वासना उत्पन्न होती है। कामना पूरी होने पर उसमें अत्यधिक राग बढ़ता है, न पूरी होने पर—विघ्न होने से—क्रोध की उत्पत्ति होती है, इसलिये अनर्थ का मूल कारण है, विषयों का ध्यान करना। दूसरों को विषय—सुख में प्रवृत्त देखकर ईर्ष्यावश अपने भी उसे प्राप्त करने के लिये उचित-अनुचित उपायों से प्रयत्न करना। ऐसा करने से जीव का पतन होता है और इससे कैसे-कैसे अनर्थ हो जाते हैं, इसी को बताने के लिये सूतजी विदुर-मैत्रेय सम्वाद के अन्तर्गत दिति-कश्यप सम्वाद को सुनाते हैं।

सूतजी बोले—"मुनियो! जब राजा परीक्षित् ने विस्तार से वाराह चरित सुनने की जिज्ञासा की, तब श्री शुकजी उसी विदुर मैत्रेय सम्वाद को विस्तार के साथ कहने लगे। विदुरजी के पूछने पर ब्रह्माजी के मुख से सुने इतिहास को मैत्रेय मुनि इस प्रकार सुनाने लगे।"

मैत्रेयजी बोले—"विदुर! हम बता ही आये हैं, सृष्टि के आरम्भ में मरीचि आदि १० मानसिक पुत्र ब्रह्माजी के हुए। मरीचि के कश्यप मुनि हुए जिनकी सन्तानों से यह सम्पूर्ण जगत् भर गया है। कश्यपजी के बहुत-सी पत्नियों में से एक पत्नी दिति भी थी, जिसके पुत्र दैत्य हुए। ये हिरण्याक्ष हिरण्यकशिप इसी दिति के गर्भ से उत्पन्न हुए।"

विदुरजी ने पूछा—"ब्रह्मन्! किस दोष के कारण ये लोग क्रूर कर्मा दैत्य हुए? दक्षसुता दिति देवी ने ऐसा कौन-सा बुरा कार्य किया था? इसे आप मुझे बतावें।"

इस पर मैत्रेयजी कहने लगे—"विदुरजी! दिति देवी ने

ईर्ष्यावश पुत्र प्राप्ति के लिये अपने परमात्मा सदृश पति से असमय में गर्भाधान के लिये आग्रह किया था। बात यह थी, भगवान् कश्यप की और सब पत्नियों के तो बहुत सी सन्तानें हो गई थीं, किन्तु दिति के अभी तक कोई सन्तान नहीं थी। इसलिये वह अपनी सौतों से ईर्ष्या करती थी। उसने सोचा—मैं ही एक अभागिनी हूँ, जो मेरे पति ने मुझे सन्तान प्रदान नहीं की। मैं इसी समय उनसे महा बलवान् सर्वश्रेष्ठ सन्तान के लिए प्रार्थना करूँगी। यह सोचकर वह महामुनि के समीप गई।"

उस समय सन्ध्या की वेला थी। कश्यप मुनि अग्निहोत्रशाला में स्नान करके सायंकालीन सन्ध्या और अग्निहोत्र की तैयारी कर ही रहे थे, कि इतने में यह अपने हाव-भाव कटाक्षों को प्रदर्शित करती हुई मुनि के समीप पहुँची। असमय में इस प्रकार के भाव को देखकर मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चिन्तित हुये और उन्होंने बात को टालने की दृष्टि से इधर-उधर की बातें करना आरम्भ किया—"अरी, देवी! देखो वह अग्निहोत्र वाली गौ चरने गई थी, वह आई या नहीं। उसका बच्चा बहुत छोटा है, उसे तुम दूध पिलाती हो या नहीं।"

दिति को तो दूसरी ही धुन सवार थी, वह प्रेम के कोप के साथ बोली—"आपको हर समय अपने ही काम की पड़ी रहती है, कि कुछ हमारी भी आप चिन्ता करते हैं। सबको अपना ही सुख प्रिय है, दूसरे चाहें भाड़ में पड़ें, उनकी कोई बात नहीं पूछता।"

कश्यपजी उसके भाव से ही समझ गये, कि आज कुछ दाल में काला है, अतः बड़े स्नेह से बोले—"हाँ, कहो क्या बात है, तुम्हें कौन-सा कष्ट है? मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? किसके द्वारा तुम्हें क्लेश हुआ है?"

दिति ने अपनी प्रेम और ममता भरी दृष्टि मुनि की दृष्टि में

बोलते हुए कहा—"भगवन् ! आज मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आप मेरा कष्ट पूछते हैं। क्या कष्ट बताऊँ, महाराज ! जो जिस कष्ट का अनुभव नहीं कर सकता उसके सम्मुख उस कष्ट का कथन करना व्यर्थ ही है। आप ठहरे पुरुष, पुरुषों को क्या पता, स्त्रियों को अपनी सौतों के द्वारा कितना कष्ट होता है ?"

कश्यपजी ने चिन्तित होकर पूछा—"देवि ! किसने तुम्हारा अपकार किया। किसने तुम्हें अपमानित किया ? किसके द्वारा तुम्हें ऐसी मानसिक वेदना हो रही है ?"

दिति बोली—"देव ! मेरा किसी ने अपमान नहीं किया है। मुझे आपके ही कारण मानसिक पीड़ा हो रही है। यह सामने देखिये, ऊख का धनुष चढ़ाये कुसुमों के बाणों से यह कामदेव मुझे पीड़ित कर रहा है। आप इससे मेरी रक्षा कीजिये। इसके प्रहारों से मुझे बचाइये, मेरी मनोकामना पूर्ण कीजिये।"

कश्यपजी ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ प्यार से अपनी पत्नी को घुड़कते हुए कहा—"देवि ! तुम ये कैसी गड़बड़-सड़बड़ बातें कर रही हो। दक्ष की पुत्री के लिये ऐसी बातें शोभा नहीं देती। कुलीन महिलायें कभी काम के अधीन होकर ऐसी असामयिक बातें नहीं कहतीं। काम के वश तो अकुलीन अनार्य होते हैं जो क्षुद्र पुरुष होते हैं, जो धर्म के मर्म को नहीं जानते, जिन्होंने कभी श्रद्धा से सत्पुरुषों की सेवा सुश्रूषा नहीं की है। पति-पत्नी का संग काम के लिये नहीं होता, केवल कुल वृद्धि और पुत्र प्राप्ति के ही निमित्त होता है।"

स्नेह से आँसू बहाती हुई दिति बोली—"यही तो मुझे दुःख है कि आप मेरे ही साथ सदा पक्षपात करते हैं। मेरी सौतों के अब सैकड़ों सन्तानें हो गई हैं और मेरे एक भी नहीं। मैं नहीं जानती थी कि आप मेरे साथ ऐसा अन्याय करेंगे। कितनी आशा, कितनी आकांक्षा के साथ मैंने आपको वरण किया था, मेरी

समस्त आशाओं पर पानी फिर गया, आपने मेरे प्रेम को ठुकरा दिया। जिस प्रकार पाला पड़ने से कुमुदिनी झुलस जाती है। उसी प्रकार आपने मेरे मन को झुलसा दिया।"

कश्यपजी ने ममत्व के साथ कहा—"देवि! आज तुम कैसी बातें कर रही हो। ऐसी बातें तो तुम मुझसे पहिले कभी नहीं करती थीं। तुम तो सदा मुझसे बड़ा स्नेह रखती थीं।"

उसी कोप के स्वर में दिति कहती गई—"महाराज! स्नेह की बात पूछ रहे हैं। मैंने कभी अपने मुँह से यह बात कही नहीं, न कभी कहना ही चाहती थी, किन्तु आज प्रसङ्ग आने पर बिना कहे मुझसे रहा नहीं जाता। जिस समय से मेरा मन आपके चरणकमलों में अटक गया था। मेरे पिता भगवान् दक्ष हम सभी पुत्रियों पर बड़ा स्नेह रखते थे, हमें प्राणों के समान प्यार करते थे। सदा हमें सुखी देखना चाहते थे। एक दिन उन्होंने हम सब बहिनों को एकान्त में पृथक्-पृथक् बुलाकर बड़े स्नेह के साथ पूछा—"बेटियो! तुम सच-सच बता दो, तुम किनके साथ विवाह करना चाहती हो? पिता का अपनी सयानी पुत्रियों से ऐसा प्रश्न करना है तो अनुचित, किन्तु स्नेह वश पूछना ही पड़ता है। मैं चाहता हूँ, तुम सदा सुखी रहो, तुम्हारे मन के अनुरूप ही पति प्राप्त हो, जिससे तुम्हारा समस्त जीवन आनन्द और सुखमय हो सके।

पिता के पूछने पर हम तेरह बहिनों ने लजाते हुए बड़े सङ्कोच से आपकी ही ओर संकेत कर दिया। उन सबमें मैं तो आपके गुण, शीतलता तथा सदाचार से बहुत ही आकर्षित हुई थी। मैंने तो विवाह के पूर्व ही अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणों में समर्पित कर दिया था। तब से सदा आपकी सेवा ईश्वर बुद्धि से अव्यग्र होकर करती रहती हूँ।"

कश्यपजी ने कहा—"देवि! तुम प्रेम की बात को प्रकट करके

उसका महत्व मत घटाओ। मैं तुम्हारा स्नेह जानता हूँ, तुम मेरे ऊपर कितना अनुराग रखती हो—यह मुझे अविदित नहीं।"

दिति ने मुख ढककर रोते हुए कहा—"प्रेम का प्रदर्शन नहीं कर रही हूँ। अपने भाग्य को रो रही हूँ, कि जिनके प्रति मेरा ऐसा अनुपम अनुराग है, उनका मेरे प्रति ऐसा कठोर व्यवहार मेरे किन्हीं पूर्व-जन्म के पापों का ही फल है।"

कश्यपजी ने दीनता के स्वर में कहा—"मैंने ऐसा कौन-सा कठोर व्यवहार किया तुम्हारे साथ?"

आँसू पोंछते हुए दिति ने कहा—"महाराज! इससे अधिक कठोर व्यवहार और क्या होगा? मेरी सभी बहिनें पुत्रवती हो गई हैं, सौभाग्यशालिनी बन गई हैं। मैं अकेली ही दीना, भाग्य-हीना और सन्तान रहित, बनी हुई हूँ, मुझे आपने अब तक कोई सन्तान प्रदान नहीं की।"

कश्यप मुनि ने देखा कि यह असम्बद्ध प्रलाप कर रही है, अपने आपे में नहीं है। इसके सिर पर कुसुमायुध सवार है। अब क्या करें? साम, दान, भेद और दण्ड ये चार उपाय होते हैं। इसलिये मुनि ने चारों का प्रयोग किया पहिले शान्ति के साथ समझाते हुए बोले—"प्रिये! आज तुम कैसी रूखी-रूखी बातें कर रही हो? बताओ, मैं कभी तुम्हारी इच्छा के बाहर हुआ हूँ, जो कार्य तुम्हें प्रिय न हो, ऐसा कोई कार्य मैंने किया है? मैं क्या, कोई भी समझदार आदमी सब सुख देने वाली अपनी सहधर्मिणी की इच्छा के विरुद्ध कभी कोई अप्रिय कार्य करने का साहस नहीं कर सकता। पत्नी तो घर की कामधेनु है, कल्पलता के समान है। उसकी शरण में जाने से मनुष्य जो कामना करता है, वही तत्क्षण पूरी होती है। ऋषियों ने धर्म, अर्थ और काम, इनको

त्रिवर्ग कहा है। संसार में ये ही तीन पुरुषार्थ हैं। पुरुष पत्नी से ही इन तीनों को प्राप्त कर सकता है। पत्नी के बिना सभी यज्ञ याग आदि धार्मिक कृत्य अधूरे हैं, यज्ञ तो पत्नी के बिना हो ही नहीं सकता। धर्म करने से अर्थ की वृद्धि होती है। अर्थ का सुख भी पत्नी के ही साथ भोगा जा सकता है। बिना पत्नी के अर्थ किस कामका ? काम का तो स्त्री जननी ही है। इसीलिये उसे काम-धुरा, कामिनी और कामप्रसूता कहा है। ऐसी पत्नी का आदर भला कौन नहीं करेगा ?"

दिति ने क्रोध से कहा—"महाराज ! कहना तो नहीं चाहिये, किन्तु समय पर कहना ही पड़ता है, आप जैसे सदा धर्म में ही लगे रहने वालों को छोड़कर और कोई गुणग्राही पुरुष तो अपमान करेगा नहीं।"

कश्यपजी ने कहा—"आज तुम कैसी बातें कर रही हो, मानों लड़ने को तैयार होकर ही आई हो। देखो, हम तो गृहस्थ हैं न ? गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य धर्म का पालन करना है। काम भोग तो गौण है। घर में रहते हुए गृहस्थ स्त्री के सहारे से ही धर्म-कार्य करता-करता अन्त में मोक्ष तक को प्राप्त कर सकता है। संसार रूपी यह बड़ा भारी अगाध दुस्तर सागर है। गृहस्थ इसे पार करना चाहे, तो उसके लिये नारी रूपी दृढ़ नौका ही पार जाने का एकमात्र उपाय है। स्त्री का आश्रय लेकर गृहस्थ बड़ी सुगमता से सुखपूर्वक इस दुःख सागर को बात की बात में हँसते हुए पार कर सकता है।"

दिति बोली—"आप जैसे समर्थ पुरुषों को नौका की क्या अपेक्षा ? आप तो अपने बाहुबल से अथवा उड़कर भी सागर के पार जा सकते हैं।"

कश्यपजी बोले—देवि ! समुद्र को किसी ने बाहुबल से पार किया भी है ? जो बिना विचारे अकेले तैरने लगते हैं, उनका

बीच में ही पतन हो जाता है। कोई हनुमान की तरह बाल ब्रह्मचारी इसे लाँघ भी जाते हैं, किन्तु ऐसे इने-गिने विरले ही होते हैं। ये काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सदा मनुष्य को घेरे रहते हैं, उसे पराजित करने का प्रयत्न करते हैं। बिना आश्रय का मैदान में अकेला खड़ा पुरुष, सदा सावधान रहने पर भी तनिक-सी असावधानी होते ही, शत्रुओं के वश में हो जाता है। किन्तु गृहस्थी में पत्नी रूपी किले का आश्रय ग्रहण करके शत्रुओं को मनुष्य बात की बात में जीत सकता है। स्त्री शत्रुओं से रक्षा करने वाली दृढ़ परकोटा वाली रक्षिका है, भय से बचाने वाली है। हे मानिनि! तुम मान को छोड़ो, तुम घर की ही स्वामिनी नहीं हो, मेरे हृदय की भी सम्राज्ञी हो।"

दिति सूखी हँसी हँसकर प्रणय कोप के साथ कुटिल कटाक्ष निक्षेप करती हुई बोली—"मैं तुम्हारी इन बनावटी मीठी-मीठी बातों में आने वाली नहीं हूँ। पुरुष बड़े स्वार्थी होते हैं। जब इन्हें कोई काम निकालना होता है, तो ऐसी बढ़ावे की बातें बना-बनाकर वनिताओं को वञ्चित कर लेते हैं। मैं समझ गई, आपको मुझसे प्रेम नहीं है, इस अग्निहोत्र और यज्ञशाला से ही आपको अत्यधिक स्नेह है, तभी तो आप मेरी इतनी प्रार्थना पर भी इसे त्याग कर मेरे कार्य के लिये स्थानान्तर में जाना स्वीकार नहीं करते।"

मुनि ने देखा साम से काम न चला, अतः उन्होंने दान का आश्रय लिया। वे बोले—"वरवर्णिनी! देखो, तुम मेरे ऊपर विश्वास रखो। मैं तुम्हें अवश्य पुत्र दूँगा। बहुत दिनों में नहीं, आज ही। देखो, यह तो हम गृहस्थियों का कर्तव्य है। जो गृहिणी रात्रि दिन अपने शरीर सुखों की ओर ध्यान न देती हुई, घर के कार्यों में लगी रहती है और पति को हर प्रकार से सुखी बनाने

की चेष्टा करती रहती है, उसका प्रत्युपकार पुरुष सम्पूर्ण आयु में किसी भी कार्य से नहीं कर सकता। अपने जीवित शरीर का चर्म उतार कर भी उसके ऋण से उऋण नहीं हो सकता। पुत्र प्राप्ति के लिये प्रार्थना करना पत्नी का धर्म है, अधिकार है, स्वत्व है। किन्तु अभी तुम थोड़ी देर ठहर जाओ। क्षण भर को धैर्य धारण करो। यह सन्ध्या का बड़ा घोर समय है। इस समय यदि मैं तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकार कर लूँगा,तो संसार में बुरा आदर्श उपस्थित होगा। सब लोग हमारी निन्दा करेंगे। हम ही धर्मप्रवर्तक माने जाते हैं। हमारे आचरणों का ही लोग अनुकरण करते हैं। सन्ध्या को समाप्त होने दो। भगवती निशा को भली-भाँति आ जाने दो। मैं कुछ काल के अनन्तर ही तुम्हारे समस्त मनोरथों को पूर्ण करूँगा। तुम्हारी इष्ट वस्तु का दान दूँगा।"

दिति बोली—"भगवन्! आप ये घुमा फिरा कर चक्कर की बातें क्यों कर रहे हैं। स्पष्ट मना कर दें, कि मेरा तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं, मैं तुम्हारी किसी बात को नहीं सुनता।"

भगवान् कश्यप को कुछ क्रोध आ गया। फिर उन्होंने सोचा- क्रोध करने से काम बिगड़ जायगा। साम, दान के व्यर्थ हो जाने पर बुद्धिमान् को 'भेद' डालकर काम निकालना चाहिये। यही सोचकर वे बोले—"दिति! तुम असमय में अनुचित प्रस्ताव कर रही हो। अपने कुल की ओर ध्यान दो। समय का विचार करो। तुम भगवान् भूतनाथ शिव की पत्नी सती की बहिन हो। यह उन्हीं तुम्हारे बहनोई शिवजी के घूमने फिरने का समय है। इस समय में तुम्हें ऐसे कार्य में प्रवृत्त होते देखकर वे हँसेंगे,जाकर सती से कहेंगे—"अरे, तेरी बहिन तो विवेकशून्या है।" तुम्हारी हमारी दोनों की वे निन्दा करेंगे। कभी तुम्हारे पिता के यज्ञ में भेंट होगी, तो वे तुम्हें लज्जित करेंगे हमें भी सिर नीचा करना

पड़ेगा। फिर वे हमसे इतने स्नेह से न मिलेंगे, सम्बन्धियों में परस्पर में भेद हो जायगा।

इस बात को सुनकर भी दिति ने अपनी हठ को नहीं छोड़ा। बालहठ से राजहठ कठिन होती है और राजहठ से त्रियाहठ और भी भयंकर होती है। ये तीन हठ ही संसार में कठिन कही गयी हैं। दिति बोली—"महाराज! मैं दूध पीने वाली बच्ची तो हूँ नहीं, जो आप मुझे फुसला लेंगे। अपने घर में सभी अपने-अपने काम करते हैं। शिवजी को क्या आवश्यकता कि हमारे घर में घुसकर देखें।"

कश्यपजी ने कहा—"उनको घुसना नहीं पड़ता, वे तो सर्वज्ञ हैं। इस समय तो वे सम्पूर्ण आकाश में अपने गण भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, तथा वेतालों के साथ व्याप्त रहते हैं। इस समय जो भी प्राणी उचित अनुचित जो भी कार्य करता है, रुद्रदेव उस सबको देखते हैं।"

दिति ने कहा—"देखें, हम कोई पाप तो करते नहीं। वे क्या जानते नहीं? क्या सतीजी ने उनसे ऐसी हठ कभी न की होगी?"

अब मुनि ने देखा बिना क्रोध किये काम न चलेगा। अब साम, दान, भेद के अनन्तर दण्ड का ही प्रयोग करना शेष रहा। अतः वे दिति को दण्ड का भय दिखाते हुए बोले—"तू क्या समझती है, शिवजी देखकर ही छोड़ देंगे। वे क्रोध करके अपने त्रिशूल से तेरे गर्भ के सौ टुकड़े कर देंगे। तेरा मनोरथ वे भूतनाथ विफल कर देंगे। उनके विहार वेला में तू अनुचित कार्य करके सुखी न हो सकेगी।"

दिति ने कहा—"मैं कहाँ उनका अपराध कर रही हूँ। आप व्यर्थ का भय उत्पन्न कराके मुझे अकारण डरा रहे हैं।"

इतने में ही कश्यपजी ने ऊपर देखा कि अपने भूत-प्रेतों

को लिये हुए रुद्र भगवान् प्रत्यक्ष आकाश में उपस्थित हैं। वे भगवान् शिव को प्रणाम करते हुए, दिति को उन्हें दिखाते हुए बोले—"अरे चण्डी देख, ऊपर तो देख! जिनका सम्पूर्ण शरीर श्मशान की धूलि से धूसरित हो रहा है। जिनके जटा जूटों में चिता की भस्म लिपटी हुई है। शुभ्र भस्म के कारण जिनका गौर शरीर कान्ति से देदीप्यमान होकर दशों दिशाओं को को आलोकित कर रहा है, वे तेरे पति के ही समान सम्बन्धी तेरी बहिन के पति रुद्रदेव आकाश में स्थित हैं। क्या तू उन्हें देख नहीं रही है?"

शिव के दर्शन निर्मल नेत्रों से होते हैं, जिनके नेत्र काम रूपी रोग से व्याप्त हैं, उन्हें प्रत्यक्ष होने पर भी शिवजी दिखाई नहीं देते। दिति को भगवान् रुद्र के दर्शन नहीं हुए। वह बोली—"मुझे तो अपनी बहिन सती के स्वामी शिव दिखाई देते नहीं। देखिये, आप बार-बार उनका नाम लेकर मुझे डरावें नहीं। एक तो वे यहाँ हैं नहीं। मान लो, वे उपस्थित भी हों, तो वे अकारण मेरे गर्भ को नष्ट क्यों करेंगे? गर्भ का नाश तो शत्रु भी नहीं करते, फिर वे तो हमारे सुहृद् हैं, सम्बन्धी हैं, बहनोई हैं।"

यह सुनकर रोष में भर कर कश्यपजी बोले—"इस भूल में मत रहना! वे हमारे सम्बन्धी हैं। उनका संसार में न कोई अपना है, न पराया। न उनके लिये कोई प्रेम-पात्र है न द्वेष करने योग्य। वे सबके साथ समान बर्ताव करते हैं, अधर्म, पाप जो भी करेगा उसे ही वे दण्ड देंगे। पुण्य जो भी करेगा, उसे ही वरदान देंगे। उनको संसारी ऐश्वर्यों की भी अभिलाषा नहीं लोक-परलोक किसी वस्तु की वासना नहीं, जिन सम्पत्तियों के लिये हम सतत प्रयत्न करते हैं, सहस्रों साधनों के द्वारा जिन्हें प्राप्त करना चाहते हैं, वे सम्पत्तियाँ—आठों सिद्धि, नवों निद्धि—उनके चरणों में सदा लोटती रहती हैं। वे उनकी ओर आँखें उठाकर भी नहीं देखते।"

यह सुनकर दिति बोली—"मैं कब कहती हूँ, वे निर्धन हैं। किन्तु आप ही कहते हैं, वे नंगे रहते हैं, भीख माँगते हैं, श्मशान में लोटते रहते हैं। भूत, प्रेत, पिशाचों के साथ नाचते हैं। वे नाचें, हम उनकी निन्दा तो करते नहीं।"

कश्यपजी ने कहा—"देखो, वे ईश्वर हैं, सर्वसमर्थ हैं, भक्तों की इच्छानुसार वर देने वाले हैं, अद्वितीय हैं, ब्रह्मादिक देवताओं तथा इन्द्रादिक लोकपालों के भी नियामक हैं, माया के वे स्वामी हैं, संसार उनके संकेत से उत्पन्न होता और विलीन होता है। यह सब होते हुए भी उन्होंने स्वेच्छा से प्रेतचर्या ग्रहण की है। जो दुष्ट बुद्धि पुरुष, जान बूझकर अथवा अनजान में उनका अपराध करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं, वे अभागे पुरुष कभी सुख शान्ति के अधिकारी नहीं हो सकते। इसीलिये तुम हठ को छोड़ो, भगवान् भूतपति रुद्रदेव का अपमान मत करो, बैठे ठाले विपत्ति मोल मत लो। यदि तुम मेरी बात न मानोगी, तो अन्त में घोर दुःख उठाओगी सदा पछताओगी।"

कश्यपजी के इतना समझाने पर भी दिति ने अपनी हठ नहीं छोड़ी। वह अपनी बात पर अड़ी ही रही। तब तो मुनि दुखी हुए और क्षण भर मौन होकर सोच में पड़ गये।

छप्पय

साम दाम अरु भेद दंड तें मुनि समुझावहिं।
असमयमहँ यह कार्य निन्द्य पुनि-पुनि बतलावहिं॥
भीषण वेला कही रुद्र को भय दिखलायो।
किन्तु काम वश भई धर्ममत मन नहिं भायो॥
कामातुर नर नारि है, सत्य, शील, संयम तजहिं।
विनय विवेक विसारिकें, विषय वासना ही भजहिं॥

मन्मथ का प्राबल्य

[१३२]

सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया ।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १४ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

हाथी बश महँ करें सिंह कूँ पकरि पछारें ।
परबत डारें तोरि सिन्धु तें रतन निकारें ॥
जायँ रसातल फोरि गगन महें अधर उड़ावहिं ।
विष-हालाहल तीक्ष्ण खाहिं पुनि ताहि पचावहिं ॥
कबहुँ न पग पीछे परयो, सदा समर विजयी भये ।
किन्तु काम के कुसुम सर, लगत तुरत ते गिरि गये ॥

विनय, लज्जा, शील संकोच आदि सद्गुण मनुष्यों के हृदयों में तभी तक रहते हैं, जब तक उनके हृदयों में काम का प्रवेश नहीं हुआ। वह काम रूपी शत्रु ऐसा प्रबल है, कि यह अकेला ही समस्त गुणों का नाश कर देता है। काम से ही लोभ, मोह, क्रोध आदि सभी दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। जो इस काम को अवसर नहीं देते, निरभिमान होकर अपने को भगवत् चरणार

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! कामदेव ने जिसकी समस्त इन्द्रियों को मथित कर डाला है, ऐसी वह कामातुर दिति पति के बहुत समझाने पर भी न मानी। उसने वाराङ्गना की भाँति निर्लज्जता पूर्वक महर्षि कश्यपजी का वस्त्र पकड़ लिया।"

विन्दों का सेवक समझकर सर्वदा सेवा सुश्रूषा तथा कथा कीर्तन में लगे रहते हैं, उनके समीप काम आता तो है, किन्तु दूर खड़ा होकर प्रतीक्षा करता रहता है; कि कब ये भगवत् चिन्तन से विमुख हों और कब मैं उनके हृदय में प्रवेश करके अपना अधिकार जमाऊँ। यदि उसे छिद्र मिल जाता है, अर्थात् साधक कथा कीर्तन तथा नित्य कर्मों में प्रमाद करता है, तो काम को उसी समय प्रमाद बुला लाता है। किन्तु जो प्रमाद को ही नहीं आने देते, नित्य नियम से सावधानी से लगे रहते हैं, उन्हें काम छोड़ देता है। क्यों कि जहाँ राम हैं, वहाँ काम रह ही नहीं सकता। निरभिमान होकर निरन्तर नारायण के चिन्तन के अतिरिक्त काम को भगाने का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। मनुष्य कितना भी बली हो, कितना भी शूर हो, कितना भी तेजस्वी यशस्वी हो, कितना भी विद्वान्, बुद्धिमान, जपी, तपी, त्यागी तथा विरागी क्यों न हो, अहङ्कार आते ही कामवश होकर गिर जाता है। इसी काम की प्रबलता को स्मरण करते हुए विदुरजी मैत्रेय मुनि से पूछते हैं—"मुनिवर! भगवान् कश्यप के इतने समझाने पर भी दिति ने अपनी हठ नहीं छोड़ी। इससे तो मैं यह समझता हूँ कि जब मनुष्य काम के वश हो जाता है, तब उसे कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता, वह बड़ों का शील, संकोच भी खो बैठता है, अपनी ही बात को रखने के लिये विमूढ़ बन जाता है।"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुर जी! आप यथार्थ कह रहे हैं। काम सदा संकल्प से होता है। मन में जहाँ काम उत्पन्न हुआ नहीं, कि फिर उसे संसार में कुछ सूझता नहीं। काम एक प्रकार का भूत है। जिसके सिर पर यह सवार हो जाता है, उसकी समस्त इन्द्रियों को मथकर अपने अधीन कर लेता है। तभी तो दिति ने अपने पूज्य पति, जो प्रजपति हैं,

ब्रह्मर्षि हैं, सुर असुरों के जो पूजनीय पिता हैं, उनकी भी बात नहीं मानी। इसमें हम किसे दोष दें। काम को, दिति को अथवा प्रारब्ध कर्मों को ?"

तब विदुरजी ने पूछा—"हाँ, तो महाराज ! फिर जब कश्यप भगवान् ने उसके प्रस्ताव को अनुचित बताकर अस्वीकार कर दिया, तब उसने क्या किया ?"

मैत्रेयजी बोले—"किया क्या ? उसने अपने अधिकार का प्रयोग किया। यज्ञशाला में बैठे हुए अपने प्रजापतियों के भी पूजनीय पति का निर्लज्जता के साथ पल्ला पकड़ लिया। उसने शील संकोच को तिलांजलि दे दी।"

इस पर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"सूतजी ! यह बात हमारी समझ में आई नहीं, दक्ष प्रजापति की पुत्री, कश्यप भगवान की पत्नी एक ऐसी क्षुद्र सी बात पर इतना आग्रह करे। कोई बड़ी बात तो थी नहीं। घड़ी दो घड़ी की बात थी, धैर्य धारण कर लेती। ऐसी भी क्या आकुलता। हमें तो इस प्रसंग में कुछ अतिरञ्जन सा प्रतीत होता है।

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"अब महाराज ! मैं आप से क्या कहूँ ? आप प्रातःकाल से उठकर अर्ध रात्रि पर्यन्त तो भगवत् कैंकर्य में लगे रहते हैं। आपको इसका अनुभव कैसे हो सकता है ? आप काम को अवसर ही नहीं देते। काम आता है मद से। मद होता है स्वामीपने से। मैं कुलीन हूँ, विद्वान हूँ, धनी हूँ, ऐश्वर्यशाली हूँ। मैं इतने ग्राम का स्वामी हूँ, मेरे इतने नौकर शिष्य सेवक हैं, मैं इनका शासन कर्ता हूँ, मैं त्यागी हूँ, तपस्वी हूँ, आदि-आदि। ये ही मद के चिह्न हैं। मद में भरकर अहङ्कारवश जब मनुष्य स्वेच्छा पूर्वक इन्द्रियों के अधीन होकर काम करने लगता है, तभी उस मन में मनसिज-कामदेव का प्रादुर्भाव होता है। जिन लोगों को परमार्थ सम्बन्धी बहुत कार्य नहीं, जो खाली बैठे विषयों का ही चिन्तन करते हैं, उन्हें ही आकर काम पीड़ा पहुँचाता है। जो हर समय शुभ कार्यों में लगे हैं, उनके पास काम फटकता ही नहीं। दूर खड़ा खड़ा उनकी गति विधि को देखता रहता है। आप प्रातःकाल नित्य ही अप्रमत्त होकर ऊषाकाल में उठ जाते हैं। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर सूर्योदय से पूर्व ही भगवती गोमती में स्नान कर लेते

हैं, स्नान करते ही संध्या वन्दन जप करके अग्निहोत्र और विशिष्ट यज्ञ के कार्यों में लग जाते हैं। शालिग्राम भगवान् का पूजन करते है, हरी-हरी तुलसी की मंजरियों से भगवन्नामों को लेकर उन पर चढ़ाते हैं। मध्याह्न तो इन्हीं कृत्यों में हो जाता है भगवान् का भोग लगता है, प्रसाद पाते हैं। इतने मे ही पुराण की कथा का समय हो जाता है। पुराण श्रवण करते हैं। भगवन्नाम कीर्तन होता है, सायंकालीन संध्या, जप, अग्निहोत्र करते हैं, शास्त्र चर्चा होती है, इन सब कार्यों के करने से आप इतने श्रान्त हो जाते हैं, कि पड़ते ही गहरी निद्रा आ जाती है। ऊषाकाल में ही आँखें खुलती हैं। आपके पास आकर कामदेव क्या करेगा, अपना सिर फोड़ेगा ? स्वामी आप बनते नहीं, भक्ति मार्ग का आपने आश्रय लिया है, त्याग का आपको अभिमान नहीं, यज्ञ के ही लिये सही—भगवद् आराधना के ही लिये क्यों न हो—आपने यह इतना समह कर रखा है। इसलिये आप तो काम के सभी द्वारों को बन्द करके किले में भीतर निश्चिन्त बैठे हैं, अभिमान को आने ही नहीं देते। उससे बाहर आवें, मन की लगाम को कुछ ढीली करें, कथा कीर्तन और भगवन् कैंकर्य से अवसर निकाल कर मन को थोड़ा इधर-उधर स्वच्छन्द होकर घूमने फिरने दें। तब आपको पता चलेगा, कि काम कितना प्रबल होता है। महाराज ! ऐसे लोगों की बात तो मैं; कहता नहीं, जिन्होंने अपना सर्वस्व श्रीहरि के चरणों में समर्पण कर दिया है। ऐसे लोगों को छोड़कर और कोई इसके चक्कर से बचा नहीं। भगवन् ! ऐसे लोगों को मैं जानता हूँ, जो पहिले बड़े त्यागी, तपस्वी और विरक्त थे। उनके त्याग वैराग्य से आकर्षित होकर बहुत से स्त्री-पुरुष उनके समीप आने लगे और श्रद्धा भक्ति प्रकट करते हुए उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित करने लगे।

संसारी लोगों का प्रेम तो आप जानते ही हैं। सभी का

नियम यह है जिसमें वह अपने को सुखी मानता है, वही अपने प्रेमी को देता है। संसारी लोगों के लिये सबसे बड़ा आनन्द विषय सुख है, संसारी लोग उन त्यागी-तपस्वी सन्तों को विषय सामग्रियाँ लाकर देते हैं। उनके संसर्ग से उनका त्याग वैराग्य नष्ट हो गया और वे संसारी पुरुषों की भाँति बन गये। इसलिये त्यागी-वैरागी पुरुषों के लिये निस्संगता ही मुक्ति का द्वार बताया है। सब दोष सङ्ग से ही उत्पन्न होते हैं। जिसने निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर वैराग्य को धारण किया है, उसके आश्रय श्री हरि हैं, वह अहङ्कार के वशीभूत होगा, तो पतित हो जायगा और जो गृहस्थी है उनका आश्रय धर्म है। जो गृही धर्म को छोड़कर अधर्म को अपनायेगा उसका पतन अवश्यम्भावी है। इस विषय में आपको मैं एक प्राचीन बड़ा मनोरञ्जक इतिहास सुनाता हूँ। उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।

यह बहुत प्राचीन आदि त्रेतायुग की बात है, तब तक शंकर जी ने अपने तीसरे नेत्र से कामदेव को भस्म नहीं किया था। उस समय कामदेव सशरीर होकर अपने ईख के धनुष पर फूलों के बाण चढ़ाये, स्वेच्छा पूर्वक इधर-उधर ऋषियों के आश्रमों में घूमा करते थे। जिस ऋषि को तपस्या में प्रमत्त देखते, उसे किसी बहाने से शिक्षा देकर पुनः तप में लगाते। वे सावधान और प्रमत्त मुनियों के यहाँ भी जाते। किन्तु उनसे कुछ बोलते नहीं थे। पेड़ की आड़ में छिपकर उनकी गति विधि देखकर लौट आते।

एक बड़े भारी तपस्वी थे, वे सदा उग्र तप में लगे रहते। वे ऐसी तपस्या करते, कि देव, गन्धर्व अन्य ऋषि मुनि सभी चकित रह गये। वे न अन्न खाते, न फूल, फल, मूलों का ही आहार करते आठ पहर में एक बार समीप के ही वृक्षों में चले जाते। पुराने वृक्षों के सूखे बल्कल में मुँह मारते। एक बार मुँह में जो

आ जाता उसी सूखी लकड़ी को चबाकर नदी से जल पीकर पुनः तपस्या में लग जाते। इस प्रकार तपस्या करते उन्हें बहुत समय व्यतीत हो गया। मुनि का आसन पृथ्वी को छोड़कर अधर में स्थित होने लग गया। अब ऋषि के मन में अहङ्कार ने प्रवेश किया। वृक्ष भी डर गये। जिधर वे जाते वृक्ष अपने वल्कल स्वयं ही निकालकर रख देते। इससे मुनि का अहङ्कार और भी बढ़ा। देखो, तप का प्रभाव, वृक्ष भी मेरी आज्ञा में चलने लगे। क्यों न हो, मेरा तप ही ऐसा है। दूसरा कौन-सा मुनि ऐसा उग्र तप कर सकता है ?

एक दिन घूमते फिरते कुसुमायुध मन्मथ उनके आश्रम पर आ निकले। मुनि को देखते ही ताड़ गये, इनके हृदय तो मेरे मंत्री अहङ्कार ने आसन जमा लिया है। मुनि को कुछ प्रबोध करना चाहिये, अतः वे अपना धनुष तानकर मुनि के आश्रम के द्वार पर खड़े हो गये। मुनि जब वल्कल खाने को बाहर निकले—तो उन्होंने देखा, एक अत्यन्त ही सुन्दर पुरुष धनुष पर बाण साधे उनके रास्ते को रोके खड़ा है। मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह मूर्ख मेरे तप-तेज को बिना जाने ही मेरा अपमान कर रहा है। अतः उसे डाँटते हुए बोले—"क्यों रे, तू कौन है ? क्यों मेरा अपमान कर रहा है ? मुझे देखकर भी तू रास्ता नहीं छोड़ता ? क्या तुझे मेरे तप-तेज के प्रभाव का पता नहीं ?"

नम्रता से कामदेव ने कहा—"भगवन् ! मेरा नाम मन्मथ है, कामदेव भी मुझे लोग कहते हैं। फूलों के बाण होने के कारण कुसुमायुध भी मेरा एक नाम है, मुझे आपके तेज और तप का पता है।"

मुनि ने उसे घुड़कते हुए पूछा—"कौन, कामदेव ?"

मन्मथ बोले—"महाराज ! वही कामदेव जो अच्छे-अच्छे

तपस्वियों के मुँह में लगाम डालकर उन्हें घोड़े की तरह घुमाता है। नाक में नकेल डालकर इच्छा पूर्वक नचाता है।"

मुनि अहङ्कार के साथ उसे डाटते हुए बोले—"चल हट, आया कहीं का लगाम डालकर घुमाने वाला! भाग यहाँ से! किन्हीं साधारण तपस्वियों की नाक में नकेल डाली होगी। यहाँ तेरी दाल नहीं गलने की, यहाँ वे फल नहीं जिसे सियार खा जायँ। मेरे तप के प्रभाव को जानता नहीं। कहे तो तुझे अभी भस्म कर डालूँ। अपना कल्याण चाहता हो, तो यहाँ से तुरन्त चला जा।"

कामदेव ने उपेक्षा के भाव से कहा—"अच्छी बात है महाराज! मैं जाता हूँ, समय बता देगा, आपकी बात सत्य है या मेरी। देखेंगे, आपकी तपस्या।"

तमक कर मुनि ने कहा—"जा, देख लेना। जो तुझे करना हो सो करना। तेरे जैसे ३६० गन्मथ यहाँ जूतियाँ चटकाते घूमते रहते हैं। तू अपनी करनी में कसर मत करना।"

कामदेव चले गये, ऋषि पूर्ववत् तपस्या में तल्लीन हो गये। किन्तु अहंकार ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया—"देखो, मैंने कामदेव को भी कैसा डाट दिया। अपना-सा मुँह लिये चला गया। मेरी बात सुनकर कैसा सिर पर पैर रखकर लैंया-पैंया भाग गया।" कालान्तर में बात पुरानी पड़ गई। मुनि उसी प्रकार वृक्षों के समीप जाने, सूखी छाल में मुँह मारने, उसी छाल को चबाकर सन्तोष कर लेते। एक दिन उन्होंने देखा छाल तो बड़ी कोमल है, चिकनी है, मुँह मारा तो मुँह में बहुत-सा गुलगुला मीठा मीठा गरम-गरम पिंड-सा भर गया। जिह्वा को बड़ा सुख हुआ। मुनि भौचक्के से रह गये। यह कैसी छाल! आज तो यह चबानी भी नहीं पड़ी। सट्ट से गले के नीचे उतर गई, कैसी मधुर, कैसी चिकनी, कैसी गरमागरम थी। मालूम होता है,

मेरी तपस्या से डरकर वृक्षों ने ऐसी सुन्दर छाल बनाकर देनी आरम्भ कर दी है। चित्त में प्रसन्नता भी हुई, जिह्वा की लालसा भी बढ़ी। एक जगह दो तीन बार मुख मारा। थोड़े दिनों में मुनि का एक बार मुँह मारने का नियम भङ्ग हो गया। स्वाद के कारण मुनि जितनी बार इच्छा होती; मुँह मारते और उस मधुराति-मधुर गुलगुले लुचलुचे गरमागरम पदार्थ को भर पेट खाते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! काम को बढ़ाने वाली यह स्वादेन्द्रिय है। चाहे सब इन्द्रियों को वश में क्यों न कर लिया हो, यदि जिह्वा इन्द्रिय को वश नहीं किया, स्वाद को नहीं जीता, तो मानो कुछ नहीं किया और जिसने स्वादेन्द्रिय पर विजय पा ली, उसने सबको विजय कर लिया। रसना का जीतना ही मोक्ष मार्ग पा लेना है। जैसे मछली रसना के ही वश में होकर जाल में फँस जाती है, वैसे ही मनुष्य जिह्वालोलुपता के कारण विषयों में फँस जाता है। उस पौष्टिक पदार्थ के नित्यप्रति अधिक पा लेने से मुनि की इन्द्रियों में चंचलता आ गई, आलस्य और प्रमाद ने भी शनैः-शनैः मुनि के शरीर में प्रवेश किया। अब भोजन के पश्चात् कुछ विश्राम को भी समय निकाला जाने लगा। विश्राम करते-करते मनीराम इधर-उधर की ऊहापोह करने लगे। देखो, ये वृक्ष कैसा सुन्दर पदार्थ मुझे देने लगे हैं। शरीर भी पहिले से मोटा हो गया है। बल भी बढ़ गया है। आँखों में भी तेज आ गया है। मुनि इसी प्रकार की बातें सोचते रहते।

एक दिन वे वृक्षों के समीप गये, तो क्या देखते हैं एक षोडश वर्षीया युवती उन वृक्षों पर कुछ लगा रही है। मुनि की पैछर पाते ही, वह शीघ्रता से अपने वस्त्रों को सम्हालती हुई भाग गई और समीप के वृक्षों के झुरमुट में जाकर खड़ी हो गई। अब तो मुनि को सन्देह हुआ। यह वृक्ष छाल नहीं देते। यह तो कोई स्त्री गरमागरम मोहनभोग बनाकर वृक्षों पर लपेट जाती है। मन में

उठा, इसे खाना चाहिये या नहीं। किन्तु जिह्वा उसके स्वाद में फँस चुकी थी, मन में तो उसका स्वाद बस चुका था, विवेक को तो अहंकार ने दबा ही लिया था, नियम भङ्ग करने से साहस तो मुनि को छोड़ ही चुका था। वे मन को समझाते हुए बोले—'मैं किसी से कहने तो जाता नहीं, मुझे यह वस्तु दो। यदि अपने आप बिना माँगे कोई पदार्थ आता है, तो उसके ग्रहण करने में कोई हानि नहीं।' आज का मोहनभोग अत्यधिक स्वादिष्ट था, और दिनों की अपेक्षा गरम भी अधिक था, मुनि को आज सब दिनों से अधिक आनन्द आया। इसलिये सोचा—जब खाना ही है, तो देर करके आने से क्या लाभ? शीघ्र आ जाया करेंगे; जिससे ठण्डा भी न हो, स्वाद भी आ जाय और शीघ्र निबट कर चले भी जायँ। विश्राम भी कुछ अधिक हो जाया करेगा। ऐसा सोचकर दूसरे दिन से वे समय से कुछ पूर्व आने लगे।

अब वे नित्य देखते, वह लड़की आती है और इन्हें देखते ही भाग जाती है। एक दिन वह लगाने को उद्यत ही थी, कि मुनि पहुँच गये। लड़की पात्र को ही छोड़कर भाग गई। अब मुनि चक्कर में पड़े। उन्होंने पहिले पेड़ की छाल में मुँह मारा, मुँह में सूखी छाल आ गई, किन्तु मुनि से वह चबाई न गई। दाँतों ने जवाब दे दिया, जिह्वा ने निगलने से मना कर दिया, मन ने सत्याग्रह ठान दिया, ऋषि को सबकी सम्मति के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा। सोचने लगे—जैसा ही वृक्ष से खाया वैसा ही पात्र में से उठाकर खाया। लाओ, इस पेट को तो भरना ही है उन्होंने सुवर्ण का पात्र उठा लिया। आज और दिनों से भी अधिक स्वाद आया। अब तो मुनि का मन उस लाने वाली के विषय में विचार करने लगा।

यह कौन है, क्यों यह पेड़ों में लगा जाती है। मुझमें इसकी बड़ी श्रद्धा है, कैसा शील-सङ्कोच है। देखते ही भाग जाती है,

कल इससे पूछूँगा कौन है, जो इतना उपकार करती है उसका परिचय पाना आवश्यक है। नहीं तो हम कृतघ्नी कहलावेंगे। अपने प्रति जिसका इतना अनुराग हो, उसकी इस प्रकार उपेक्षा उचित नहीं।"

दूसरे दिन मुनि पहुँचे, तो वह आई ही नहीं थी। बड़ी देर तक मुनि एक वृक्ष की ओट में खड़े रहे। कुछ काल के अनन्तर वह आई, ज्यों ही पात्र रखकर उसने वृक्षों में लगाने का उपक्रम किया, त्यों ही मुनि झट से उसके सम्मुख खड़े हो गये। मुनि को सहसा अपने सम्मुख खड़े देखकर वह अपना कर्तव्य स्थिर न कर सकी। हक्की-बक्की होकर वह अति शीघ्र पात्र रखकर भागने को उद्यत हुई। तब मुनि ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—"डरने की कोई आवश्यकता नहीं। भागने का कोई काम नहीं। सुनो, तुमसे मुझे एक बात पूछनी है।"

अत्यन्त लजाती हुई, अपने ही शरीर में सिमिटती हुई, वस्त्रों को सम्हालकर, नीची दृष्टि करके, वह मुनि से दूर जाकर खड़ी हो गई। मोहनभोग का पात्र उसके हाथ में ही था। मुनि घबड़ाये कि कहीं इसे भी लेकर यह न भाग जाय, नहीं तो आज बिना बात की एकादशी हो जायगी।

हाथ के संकेत से बुलाते हुए मुनि कहने लगे—"तुम डरो मत। यह मोहनभोग मेरे हाथ पर दे दो। मैं कोई बाघ, सिंह तो हूँ नहीं, जो इतना डरती हो?"

मुनि की सान्त्वना पाकर धीरे-धीरे लड़की समीप आ गई और पात्र मुनि के सम्मुख रखकर दूर खड़ी हो गई। मुनि पात्र उठाकर खाने लगे और खाते-खाते ही बोले—"तुम कहाँ रहती हो? तुम्हारा स्थान यहाँ से कितनी दूर है? कितनी देर का मार्ग है? तुम अकेली कैसे आती हो? तुम देवकन्या हो या गन्धर्व, यक्ष, मुनि या किसी अप्सरा की कन्या हो?"

लड़की ने इन बातों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। केवल हाथ के संकेत से अपने आश्रम की ओर संकेत कर दिया। मुनि भी प्रसाद पाकर चले गये।

अब तो मुनि ध्यान-फ्यान सब भूल-भाल गये। उसी के सम्बन्ध में सोचने लगे। वे ज्यों-ज्यों उसे भुलाना चाहते थे, त्यों-

ही-त्यों उसकी स्मृति अधिकाधिक उन्हें विकल बनाने लगी। दूसरे दिन उन्होंने साहस करके उससे कहा—"देखो, जब तक तुम मुझे अपना परिचय न दोगी, तब तक मैं तुम्हारे इस प्रसाद को नहीं पाऊँगा।"

लजाते हुए युवती ने कहा—"महाराज! मुझे आपसे डर लगता है?

मुनि बड़े स्नेह से बोले—"किस बात का डर लगता है? मैं तुम्हारी ही तरह दो पैर का आदमी हूँ। आदमी को आदमी से क्या डर?"

लड़की ने कहा—"महाराज! आप तपस्वी हैं, मुझसे कोई अनुचित कार्य हो जाय या आपका कोई अपराध हो जाय, आप क्रुद्ध होकर शाप दे दें, तो मेरा तो सर्वनाश हो जायगा?"

खिलखिला कर हँसते हुए मुनि ने कहा—"मान लो दाँत, जिह्वा को भूल से काट भी ले, तो कोई दाँत को तोड़ थोड़े ही देता है। मुनि तो सदा आश्रितों पर कृपा करते हैं। तुम इस बात को मन से निकाल दो, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, तुम कुछ भी कहोगी, मैं कभी भी उसको बुरा न मानूँगा।"

इस पर युवती का साहस बढ़ा। उसने कहा—"अच्छी बात है महाराज! यदि यही बात है, तो आप अब जो भी पूछेंगे उसका मैं उत्तर दूँगी।"

मुनि ने पूछा—"तुम कौन हो? कहाँ रहती हो, क्यों मेरी ऐसी सेवा करती हो?"

लड़की बोली—"मैं एक राजर्षि की कन्या हूँ। माता के साथ मैं भी वन में आई थी। मेरे पिता थोड़े दिन हुए स्वर्गगामी हो गये हैं। अब मैं और मेरी माताजी दो ही हैं। एक वृद्धा तापसी हमारी देख-रेख करती है। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर हमारा आश्रम है।"

मुनि ने पूछा—"तेरा विवाह हुआ कि नहीं ?"

लजाती हुई लड़की ने निषेध सूचक सिर हिला दिया, मुँह से कुछ भी नहीं कहा। देर हो गई थी, उसने कहा- "मेरी माँ मुझसेअप्रसन्न होगी, अब मुझे आज्ञा दीजिये। कल मैं शीघ्र ही आऊँगी। आप भी तनिक पहिले ही पधारें।" इतना कहकर वह पात्र को छोड़कर, बिना मुनि के उत्तर की प्रतीक्षा किये ही चली गई।

मुनि ने सोचा—"पात्र को यहीं छोड़ दूँ, तो कोई उठा ले जायगा। आश्रम को ही लेता चलूँ। पात्र लेकर आश्रम में आये। आज उनका मन उदास हो रहा था। भजन पूजन में लगाने पर भी मन नहीं लगता था। जैसे-तैसे समय कटा, प्रातःकाल हुआ पात्र लेकर वे फिर वहीं पहुँचे। प्रतीक्षा की घड़ियाँ कितनी कठिनता से कटती हैं, इसे भुक्तभोगी के अतिरिक्त दूसरा कोई अनुभव कर ही नहीं सकता।

नियत समय से पूर्व ही लड़की आ गई। आज उसने संकोच नहीं किया। मुनि को पात्र में परोसने लगी। मुनि प्रसाद पाने लगे। प्रसाद पाते-पाते उन्होंने अपने मन के भावों को व्यक्त करना आरम्भ किया। मुनि बोले—"मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ। तुम बुरा तो न मानोगी ?"

मुनि के कहने के ढङ्ग से ही लड़की समझ गई। वह बोली—"महाराज ! बुरा मानने वाली बात पर तो बुरा माना ही जाता है। यदि आपको शंका है, तो ऐसी बात कहें ही क्यों, जिससे मुझे बुरा लगे और आपको दुःख हो ?"

मुनि कुछ विवशता के स्वर में बोले—"नहीं, ऐसी कोई बुरा मानने वाली बात तो है नहीं। अच्छा, मान लेना बुरा ही। परन्तु मैं तो कहूँगा ही, मुँह पर आई बात को रोकना ठीक नहीं ?"

लड़की ने व्यंग से कहा—"ठीक है, तो कहिये। फिर मुझसे क्या पूछते हैं ?"

मुनि कुछ रुक-रुक कर बोले—"मैं यह कहता हूँ, कि हमारा तुम्हारा आपस में विवाह हो जाय तो क्या हानि ?"...

लड़की ने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वह लजाती हुई नीचे देखने लगी। तब मुनि ने प्रसाद पाना बन्द कर दिया और अत्यन्त उत्सुकता से कहने लगे—"देखो, संशय वाली बात ठीक नहीं। यहाँ कोई और तो है नहीं। जो तुम्हारे मन की बात हो, उसे बिना सङ्कोच के कह दो। आज निर्णय हो जाना चाहिये।" इतना सुनकर भी लड़की ने कुछ नहीं कहा। जब कई बार मुनि ने कहा, तो उसने प्रेम कोप से घुड़कते हुए कहा—"महाराज ! आपको ऐसी बातें कहने में लज्जा भी नहीं लगती ?"

हँसते हुए मुनि ने कहा—"इसमें लज्जा की कौन-सी बात है ? स्त्री और पुरुषों का ही तो विवाह होता है। तुम अविवाहिता कुमारी हो, मैं भी अविवाहित हूँ। कोई अधर्म की बात तो है नहीं।"

लड़की ने उसी स्वर में कहा—"आप त्यागी, महात्मा मुनि होकर ऐसी बातें करते हैं ?"

मुनि बोले—"क्या महात्मा मुनियों का विवाह नहीं होता ? मरीच, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ सभी तो विवाहित हैं। सभी के बाल-बच्चे हैं।"

लड़की ने कहा—"वे तो प्रवृत्ति मार्ग के मुनि हैं, आपने तो निवृत्ति मार्ग की दीक्षा ले रखी है।"

मुनि बोले—"निवृत्ति मार्ग का कोई ठेका थोड़े ही है। जब तक निभा निभाया, न निभा तो विवाह करके प्रवृत्ति में आ गये। बोलो, क्या कहती हो ?"

लड़की ने कहा—"नहीं महाराज ! यह नहीं हो सकता ?"

मुनि दृढ़ता से बोले—"क्या नहीं हो सकता ? यह विवाह, या हमारा तुम्हारा यह सम्बन्ध ठीक नहीं है।"

लड़की ने कहा—"अब मैं क्या बताऊँ, आप ही सोचें।"

मुनि को कुछ आशा हुई, बोले—"या तुमको मैं पसन्द नहीं हूँ ?"

लड़की ने कहा—"हाँ !" और इतना कहकर वह खिलखिला कर हँस पड़ी। उसके हास्य में विचित्र मोहकता-सी थी।

मुनि बोले—"बताओ न, क्यों पसन्द नहीं हूँ ?" लड़की अपनी हँसी रोकते-रोकते बोली—"महाराज ! आपके शरीर का यह भैंसा जैसा कठोर काला-काला चर्म, ये रूखी-रूखी जटायें, यह बकरे जैसी दाढ़ी, मूँज का अगड़बन्ध और सम्पूर्ण शरीर में लगी राख, ये सब बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं।" इतना कहते-कहते बहुत रोकने पर भी उसकी हँसी फूट पड़ी।

मुनि बोले—"देखो, ये सब तो तपस्या के चिह्न हैं, जब विवाह करेंगे, तो ऐसे थोड़े ही रहेंगे। इन जटा दाढ़ियों को मुड़वा देंगे, ठाट-बाट से रहा करेंगे। बताओ, क्या कहती हो ?"

उपेक्षा के स्वर में लड़की ने कहा—"महाराज ! मुझसे ऐसी बातें मत करो। मैं क्या जानूँ ? लड़की अपना विवाह करने में स्वतन्त्र थोड़े ही होती हैं ? मेरी माँ जिसके साथ मुझे कर देगी, उसी के साथ मुझे जाना पड़ेगा।"

मुनि बोले—"तुम, अपनी माता से ही पूछना।" घुड़क कर लड़की ने कहा—"महाराज ! कैसी बातें कर रहे हैं आप ? लड़कियाँ अपने आप माता-पिता से अपने विवाह की बात कैसे कह सकती हैं ?"

मुनि बोले—"अच्छा तो हम ही चलें ?" हँसते-हँसते लड़की बोली—"न, बाबा ! आप मत चलना, आपको देखकर मेरी माँ बिदक जायगी।"

मुनि खिसियाने से बोले—"तुम कहोगी नहीं, मुझे देखकर तुम्हारी माँ बिदक जायगी, तो काम कैसे चलेगा। मुझे बड़ी अशान्ति रहती है। इसका एक निर्णय हो जाय, तो मन स्थिर हो। या इधर हो हो या उधर ही। बीच में लटके रहना ठीक नहीं।"

लड़की ने कहा—"अच्छी बात है, कभी अवसर आने पर मैं पूछूँगी।"

मुनि अपनी बातों पर बल देते हुए बोले—"अवसर नहीं, मुझे कल उत्तर मिल जाना चाहिये।"

प्रयत्न करूँगी—"इतना कहते-कहते वह पात्र उठाकर जल्दी से भाग गई। मुनि देखते ही रह गये।

जैसे-तैसे मुनि ने जागकर वह सम्पूर्ण रात्रि काटी। अब कहाँ का भजन, कहाँ की पूजा? उनके सिर पर तो भूतिनी सवार हो गई थी। प्रातःकाल उठकर उसी ओर चल दिये जिधर उसका आश्रम था। कई आश्रम थे, मुनि निर्णय ही न कर सके कि कौन-सा उसका आश्रम है। चार-पाँच बार गये आये। साहस करके जाते, फिर कुछ सोचकर लौट आते। इतने ही में वह आती हुई दिखाई दी। मुनि पालथी मारकर बैठ गये। उसने आकर मुनि को मोहनभोग परोसा। पहिला ग्रास मुख में डालते ही मुनि ने कहा—"तुमने अपनी माता से पूछा था?

लड़की चुप रही। मुनि बड़े व्यग्र हुए और दुखी होकर बोले—"देखो, ऐसी हँसी अच्छी नहीं, किसी को आशा में लटकाये रहना ठीक नहीं।"

लड़की ने मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए कहा—"मैंने आपको कब आशा दी थी? आशा निराशा तो आपने अपने आप ही पैदा कर ली है।"

मुनि दृढ़ता से बोले—"क्या नहीं हो सकता ? यह विवाह, या हमारा तुम्हारा यह सम्बन्ध ठीक नहीं है।"

लड़की ने कहा—"अब मैं क्या बताऊँ, आप ही सोचें।"

मुनि को कुछ आशा हुई, बोले—"या तुमको मैं पसन्द नहीं हूँ ?"

लड़की ने कहा—"हाँ !" और इतना कहकर वह खिलखिला कर हँस पड़ी। उसके हास्य में विचित्र मोहकता-सी थी।

मुनि बोले—"बताओ न, क्यों पसन्द नहीं हूँ ?" लड़की अपनी हँसी रोकते-रोकते बोली—"महाराज ! आपके शरीर का यह भैंसा जैसा कठोर काला-काला चर्म, ये रूखी-रूखी जटायें, यह बकरे जैसी दाढ़ी, मूँज का अगड़बन्ध और सम्पूर्ण शरीर में लगी राख, ये सब बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं।" इतना कहते-कहते बहुत रोकने पर भी उसकी हँसी फूट पड़ी।

मुनि बोले—"देखो, ये सब तो तपस्या के चिह्न हैं, जब विवाह करेंगे, तो ऐसे थोड़े ही रहेंगे। इन जटा दाढ़ियों को मुड़वा देंगे, ठाट-बाट से रहा करेंगे। बताओ, क्या कहती हो ?"

उपेक्षा के स्वर में लड़की ने कहा—"महाराज ! मुझसे ऐसी बातें मत करो। मैं क्या जानूँ ? लड़की अपना विवाह करने में स्वतन्त्र थोड़े ही होती हैं ? मेरी माँ जिसके साथ मुझे कर देगी, उसी के साथ मुझे जाना पड़ेगा।"

मुनि बोले—"तुम, अपनी माता से ही पूछना।" घुड़क कर लड़की ने कहा—"महाराज ! कैसी बातें कर रहे हैं आप ? लड़कियाँ अपने आप माता-पिता से अपने विवाह की बात कैसे कह सकती हैं ?"

मुनि बोले—"अच्छा तो हम ही चलें ?" हँसते-हँसते लड़की बोली—"न, बाबा ! आप मत चलना, आपको देखकर मेरी माँ बिदक जायगी।"

मुनि खिसियाने से बोले—"तुम कहोगी नहीं, मुझे देखकर तुम्हारी माँ बिदक जायगी, तो काम कैसे चलेगा। मुझे बड़ी अशान्ति रहती है। इसका एक निर्णय हो जाय, तो मन स्थिर हो। या इधर हो हो या उधर ही। बीच में लटके रहना ठीक नहीं।"

लड़की ने कहा—"अच्छी बात है, कभी अवसर आने पर मैं पूछूँगी।"

मुनि अपनी बातों पर बल देते हुए बोले—"अवसर नहीं, मुझे कल उत्तर मिल जाना चाहिये।"

प्रयत्न करूँगी—"इतना कहते-कहते वह पात्र उठाकर जल्दी से भाग गई। मुनि देखते ही रह गये।

जैसे-तैसे मुनि ने जागकर वह सम्पूर्ण रात्रि काटी। अब कहाँ का भजन, कहाँ की पूजा? उनके सिर पर तो भूतिनी सवार हो गई थी। प्रातःकाल उठकर उसी ओर चल दिये जिधर उसका आश्रम था। कई आश्रम थे, मुनि निर्णय ही न कर सके कि कौन-सा उसका आश्रम है। चार-पाँच बार गये आये। साहस करके जाते, फिर कुछ सोचकर लौट आते। इतने ही में वह आती हुई दिखाई दी। मुनि पालथी मारकर बैठ गये। उसने आकर मुनि को मोहनभोग परोसा। पहिला ग्रास मुख में डालते ही मुनि ने कहा—"तुमने अपनी माता से पूछा था?

लड़की चुप रही। मुनि बड़े व्यग्र हुए और दुखी होकर बोले—"देखो, ऐसी हँसी अच्छी नहीं, किसी को आशा में लटकाये रहना ठीक नहीं।"

लड़की ने मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए कहा—"मैंने आपको कब आशा दी थी? आशा निराशा तो आपने अपने आप ही पैदा कर ली है।"

मुनि क्रुद्ध होकर बोले—"मैं तुमसे ज्ञान-ध्यान सुनना नहीं चाहता। यह बताओ, तुमने माताजी से पूछा या नहीं ?"

लड़की ने सिर हिलाते हुए कहा—"हाँ पूछा था।" अत्यन्त ही उत्सुकता प्रकट करते हुए व्यग्रता के साथ मुनि बोले—"तब उन्होंने क्या उत्तर दिया ?"

लड़की बोली—"माँ ने कहा—"अच्छी बात है, कोई हानि नहीं, किन्तु उन्हें हमारे यहाँ घरजमाई बनके रहना पड़ेगा।"

मुनि अपनी प्रसन्नता को रोकते हुए बोले—"घरजमाई बनने में क्या-क्या करना पड़ता है ?"

हँसते हुए लड़की ने कहा—"पति को पत्नी का जमूड़ा बनना पड़ता है।"

मुनि बोले—"जमूड़ा क्या होता है ?"

लड़की ने हँसते-हँसते कहा—"बाजीगर एक लड़के को अपने खेल में सामने बैठा लेता है। उससे कहता है, 'उठ रे जमूड़ा, बैठ रे जमूड़ा, नाच रे जमूड़ा, गा रे जमूड़ा।' इस प्रकार बाजीगर जो कहता है, उसी के संकेत पर उसे नाचना पड़ता है। इसी प्रकार पति को सदा स्त्री का रुख देखकर ही व्यवहार करना होता है।"

हँसते हुए मुनि बोले—"मैं तो विवाह के पहिले ही जमूड़ा बन चुका हूँ। चलो चलें, अब देर करने का काम नहीं। आज ही शुभ मुहूर्त है। शुभ कार्य को शीघ्र कर डालना चाहिये। आज ही हमारा तुम्हारा धर्म को साक्षी देकर बंधबन्धन हो जाये।" इतना कहकर मुनि बिना खाये ही उठ पड़े। आगे-आगे वह देवी चल रही थी, पीछे-पीछे देवताजी प्रसन्नता में भरे हुए जा रहे थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब घर को पीठ देकर मुनि निकले थे, तब तो भगवान् को आगे करके चले थे। आज जब

कुटी को छोड़कर चले तो माया को आगे करके उसके पीछे-पीछे चलने लगे। इसी का नाम है माया का चक्कर।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! आपने भी क्या माया की कथा छेड़ दी, कोई भगवान् की कथा सुनाते।"

यह सुनकर चौंककर सूतजी बोले—"अब देखिये, महाराज! मुझे दोष देते हैं। आप ही तो प्रश्न करते हैं। जब मैं उत्तर देता हूँ तो कहते हैं, माया की कथा न कहें। पुराणों में तो ऐसे-ऐसे अनेकों उपाख्यान हैं। उनका तात्पर्य शिक्षा देने में है। इन दृष्टान्तों से शिक्षा मिलती है। इनके कथन का तात्पर्य विषयों से निवृत्ति कराने में है, न कि माया की प्रशंसा करने में। यदि आप को रुचिकर न हो, मैं इसे छोड़ दूँ।"

शौनकजी बोले—"नहीं, सूतजी! मेरा यह अभिप्राय नहीं। यह तो वैराग्यवर्धिनी ही कथा है किन्तु हम तो शुद्ध अवतार चरित्र के श्रोता हैं। हाँ, तो इस कथा को तो पूरी कर ही दें। उन महात्मा का क्या हुआ? फँस गये क्या माया के चक्कर में?"

सूतजी बोले—"महाराज! हुआ क्या? यह चक्कर ही ऐसा है, कि भगवान् ही बचावें तो बच सकते हैं। हाँ, तो वह लड़की आश्रम पर पहुँची। उसकी माता ने मुनि का स्वागत सत्कार किया। मुनि को तो विवाह की चटपटी लगी थी, जाते ही उन्होंने कहा—"अब मुझे क्या करना होगा? ये दाढ़ी, जटायें, मुड़ानी होगीं? कौन मूड़ेगा?"

लड़की ने कहा—"अभी दाढ़ी, जटा मुड़ाने की आवश्यकता नहीं। विवाह के पूर्व हमारे यहाँ एक कुलाचार होता है, पहिले तो उसे करना होगा।"

मुनि बोले—"उसमें क्या करना होता है?"

लड़की ने कहा—"विवाह के पूर्व दुलहा, दुलहिन दोनों मिलकर सिल पर कोयले घिसते हैं, उस घिसे हुए कोयले से

दुलहिन दूल्हा के मुख को पोतती है। फिर दुलहा को घोड़ा बनना पड़ता है, दुलहिन उसके मुँह में लगाम डालकर उसके ऊपर सवार होती है, रेशमी दुपट्टा के कोड़े से उसे हाँकती है। दुलहा घोड़े की तरह-हाथों को पैर की तरह रखकर-हिनहिनाता हुआ चलता है। इसके अनन्तर विवाह होता है।"

मुनि बच्चों की तरह बोले—"फिर वह मुख की कालिख धुल जाती है न ?"

लड़की बोली—"धुल क्यों नहीं जाती। सदा काला ही मुख थोड़ा ही रहता है। वह तो उसी समय का नेग है।"

मुनि बोले—"वहाँ और भी कोई रहता है क्या ?"

लड़की बोली—"नहीं और कोई नहीं रहता। केवल दुलहा और दुलहिन ही दोनों रहते हैं।"

मुनि बोले—"तब तो कोई आपत्ति नहीं, इसे भी कर लो। देर का काम नहीं है।" तुरन्त तापसी एक सिल और कोयले उठा लाई। दोनों ने मिलकर कालिख तैयार की। मुनि ने बड़े चाव से अपना मुँह आगे कर दिया। लड़की ने उनके मुख पर कालिख पोत दी। मुँह में लगाम लगाई और उछलकर ऊपर सवार हो गई। मुनि तो उसे हर प्रकार से प्रसन्न करना चाहते थे। उसके स्पर्श से उनके रोंगटे खड़े हो गये और बड़े उल्लास के साथ घोड़े की तरह हिनहिनाते हुए इधर से उधर घूमने लगे। देवी जी भी लगाम खींचकर कोड़े मारती, इससे मुनि और भी पुलकित होते।

एक बार जोर से जो लगाम खींची, तो मुनि का मुख मुड़ गया। वे क्या देखते हैं—पीठ पर देवी तो है नहीं, धनुष-बाण धारण किये एक देवता सवार हैं और लगाम खींच रहे हैं। संभ्रम के साथ मुनि ने पूछा—"अरे, तू कौन है ? जो मेरी पीठ पर सवार है ?"

हँसकर देवताजी बोले—"बाबाजी महाराज, दंडौत ! मैं वही हूँ जिसने अच्छे-अच्छे तपस्वियों के मुख में लगाम डालकर उन्हें घोड़े की तरह नचाया है।"

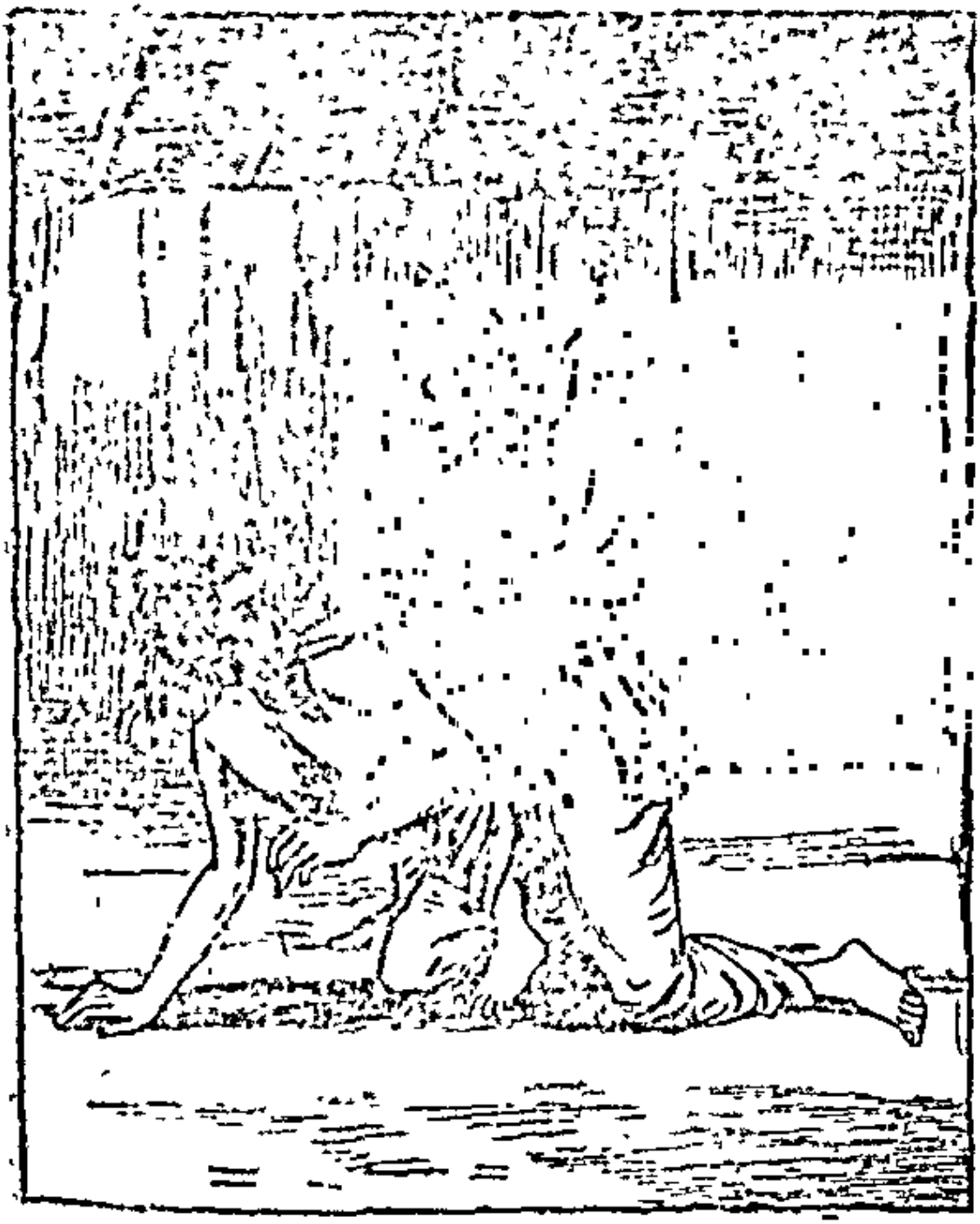

मुनि खड़े हो गये और खिसियाकर बोले—"अरे तैंने वही

कामदेव ने कहा—"भगवन्! जो निरन्तर भगवत् कैंकर्य में लगा रहता है, उससे मैं बोलता भी नहीं। मैं तो अहङ्कारियों के गर्व को खर्व करता हूँ। जाइये, अहङ्कार छोड़कर भगवान् को ही सर्व कर्म समर्पण करके भजन कीजिये।" यह सुनकर मुनि चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने प्रसंगानुसार काम की प्रबलता का आख्यान आपसे कहा। शिवजी ने इस काम को क्रोध करके भस्म तो कर डाला, किन्तु आशुतोष ही ठहरे। बिना शरीर के ही मनुष्यों के मन में व्याप्त होकर रहने का उसे वरदान हो गया। यह संकल्प द्वारा मनमें उत्पन्न होता है। जिस स्त्री या पुरुष के मनमें यह प्रकट होता है, उसकी समस्त इन्द्रियों को तथा मन को मथ डालता है। विवेक शून्य बना देता है। तभी तो पति के इतना समझाने पर भी दिति देवी ने उनकी बात नहीं मानी और उनका हठ पूर्वक वस्त्र पकड़ लिया। मुनियो! हृदय में राम-रम जाते हैं, तो कामदेव भग जाते हैं, जब कामदेव आ जाते हैं, तो राम रमतेराम हो जाते हैं। यह संसार युद्ध क्षेत्र है, सदा सद्गुणों का दुर्गुणों के साथ युद्ध होता रहता है। जो निरन्तर भगवान् का स्मरण करते हुए उनको अपने शरीर रूपी रथ पर बिठाये रहते हैं, वे सदा विजयी होते हैं। जो भगवान् को भुला कर अपने अहंकार के बल पर लड़ते हैं, उनकी क्षण भर को विजय भले ही हो जाय, अन्त में पराजय ही होती है।"

इतना कहकर सूतजी चुप हो गये।

छप्पय

अहङ्कार अविवेक काम कूँ तुरत बुलावें।
नर नारिनि संमोह मान मद खींचि गिरावें॥
विद्या, जप, तप शास्त्र मौन व्रत सबहि भुलावें।
रहें न विरति विवेक कुसुम हिय में घँसि जावें॥
कृष्ण कथा कीर्तन सतत, होय काम आवे न तहँ।
जिनको मन मन्मथ मथ्यो, ते पुनि पावें शान्ति कहँ॥

—:—

दिति का पश्चात्ताप

[१३३]

स विदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाधोपविवेश ह ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १४ अ० ३० श्लोक)

छप्पय

कश्यप दितिकूँ ऊँच नीच सब विधि समझायो।
किन्तु काम वश भई, धर्ममत मन नहिँ भायो॥
होनहार अति प्रबल प्रजापति मनमहँ मानी।
विधि को यही विधान अवश्यम्भावी जानी॥
नारि विरोध अनिष्ट अति, तासु व्यथा मुनि ने हरी।
करिकें गर्भाधान तब, दिति इच्छा पूरी करी॥

गृहस्थी रूपी रथ के जूए में स्त्री पुरुष रूपी दो बैल जुते हुए हैं। और दोनों ही मिलकर सुपथ से इसे भगवान् की ओर खींचकर ले जा रहे हैं। दोनों मिलकर चलेंगे, तो रथ सुख पूर्वक चलेगा, दोनों को कष्ट न होगा और आनन्दपूर्वक अपने गन्तव्य मार्ग को पहुँच जायेंगे। जहाँ दोनों में विरोध होगा, एक पूर्व को खींचेगा दूसरा पश्चिम को। एक आगे बढ़ जायगा

---

* संजयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब महामुनि कश्यप ने देखा इसका इस निषिद्ध कार्य में अत्यन्त ही आग्रह है, तो उन्होंने भाग्य विधाता की वन्दना की और उसके साथ एकान्त में गये।"

दूसरा कंधा डालकर खींचना बन्द कर देगा, तो दोनों को ही कष्ट होगा। रथ रुक जायगा और लक्ष्य से च्युत होकर बीच में ही अटक जायगा।

गृहस्थ में नित्य ही बात-बात पर विरोध, मतभेद होते हैं। साथ रहने से कलह होना स्वाभाविक ही है। बहुत से बर्तन एक स्थान में रखने पर प्रयत्न करने पर भी खटक जाते हैं, किन्तु यह खटका सदा बना रहे, तो कान ही फूट जायँ। खटका हुआ, क्षण भर में बन्द हो गया। इसी तरह मतभेद, कलह, विरोध होने स्वाभाविक ही नहीं कुछ अंशों में आवश्यक भी हैं। निरन्तर मीठा खाते-खाते बीच-बीच में कुछ कड़वा चरपरा भी चाहिये। करेला, हरी मिर्च, अदरक ये रुचि को बढ़ाते हैं। इसी तरह प्रेम की कलह से स्नेह और बढ़ता है, किन्तु यदि निरन्तर ही कड़वी, चरपरी चीजें खाते रहे तो भयंकर रोग उत्पन्न होकर शरीर को नष्ट कर देते हैं। मतभेद होने पर पति-पत्नी से अड़ रहा हो, तो ऐसी दशा में पत्नी को चुप हो जाना चाहिये। उसकी हाँ-में-हाँ मिला देनी चाहिये। जब दो चार दिन में उसका रोष शान्त हो जाय, तो नम्रतापूर्वक उसके दोषों को हँसते हुए समझा देना चाहिये। इसी प्रकार जब पत्नी का किसी बात पर अत्यन्त आग्रह हो और धर्म के सदाचार के बहुत विरुद्ध न हो, तो पति को उस समय विरोध को बढ़ाना न चाहिये। उसकी बात मान लेनी चाहिये। ऐसा करने से कोमलाङ्गी मृदु स्वभाव वाली नारी को पीछे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होता है। हाय, मैंने उनकी बात नहीं मानी। वे कह तो ठीक रहे थे। यह गृहस्थ रूपी रथ को खींचने की कुञ्जी है। यही सब सोचकर सूतजी कहने लगे—"मुनियो! जब भगवान् कश्यप के बहुत समझाने पर भी दिति ने अपनी हठ न

छोड़ी, तो वे अपना कर्तव्य निश्चित करने के निमित्त क्षण भर के लिये मौन होकर सोचने लगे।"

मुनि ने सोचा—"यदि मैं इस समय इसकी बात नहीं मानता तो, पता नहीं यह क्या अनर्थ कर डाले। स्त्रियों का चित्त बड़ा चंचल होता है। चित्त तो सभी का चंचल ही होता है, किन्तु किसी में उसे रोकने का गाम्भीर्य होता है, कोई उसे रोक सकने में असमर्थ होते हैं। मालूम होता है, विधि का ऐसा ही विधान है। इसमें भी मंगलमय भगवान् की कोई क्रीड़ा छिपी है। आज तक जो सदा मेरी आज्ञा में चलती रही, आज उसका सहसा स्वभाव बदल जाना, अपनी बात पर दृढ़ता से अड़ जाना, यह अवश्यम्भावी का ही कारण है। अच्छी बात है। जैसी भगवान् की इच्छा।"

ऐसा सोचकर मुनि एकान्त में गये और उन्होंने उसकी मनोकामना पूर्ण की। अमोघवीर्य की महर्षि ने उसी क्षण गर्भ में स्थापना की, पुनः स्नान किया, यज्ञशाला में बैठकर तीन आचमन किये और सायंकालीन सन्ध्या में तल्लीन हो गये।

इधर गर्भाधान होने के अनन्तर दिति का वेग शान्त हुआ। अब उसकी बुद्धि ठीक ठिकाने पर आई। उसे अपने ऊपर बड़ी ग्लानि आई—हाय! मैंने यह कैसी अनर्थकारी हठ की। अपने त्रैलोक्य वन्दित पति की आज्ञा का उल्लङ्घन किया। उनको अहंकार के वशीभूत होकर अवहेलना की। देखो, उस समय मेरी बुद्धि पर कैसे पत्थर पड़ गये? मैं कैसी विवेकहीना हो गई! अब पता नहीं मेरा कौन-सा अनिष्ट होगा? कहीं रुद्र भगवान् मेरे इस गर्भ को नष्ट न कर दें। इसी प्रकार अपने मन में दुखी होती हुई, पश्चात्ताप से अत्यन्त ही लज्जित होकर वह अपने पति के पास आयी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! पाप हो जाने के पश्चात् उसका हृदय से पश्चात्ताप हो, उसको गुरुजनों से कह दे, क्षमा माँग ले, शास्त्रीय विधि से प्रायश्चित कर ले, तो बहुत से पाप तो इतने से ही नष्ट हो जाते हैं। बहुत से कम हो जाते हैं। पाप करने के पश्चात् जो मानसिक ताप होता है, उसी का नाम पश्चात्ताप है। जैसे अग्नि में सुवर्ण को तपाने से उसका मैल नष्ट होकर वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार हृदय से निष्कपट भाव से किया हुआ पश्चात्ताप मन को मलिनता को धोकर उसे स्वच्छ बना देता है।

दिति लज्जित होती हुई अग्निशाला में चुपचाप नीचा सिर किये हुए जा बैठी। मुनि सन्ध्या वन्दन प्राणायाम के अनन्तर मौन होकर शुद्ध, सनातन ज्योति स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करने लगे। अनन्तर उन्होंने जप किया। जप से जब वे निवृत्त हुए तब अत्यन्त ही लज्जित होकर लड़खड़ाती हुई वाणी से नीचा मुख किये हुए हाथ जोड़कर दिति ने अपने प्राणनाथ भगवान् कश्यप से प्रार्थना की—"प्रभो ! मुझसे बड़ा अपराध हो गया। आप तो दयालु हैं, मेरे प्राणेश्वर हैं, सर्वसमर्थ स्वामी हैं। मैं आपकी दासी किंकरी और चरणसेविका हूँ। आश्रितों से कोई अपराध बन भी जाता है, तो स्वामी उसे क्षमा कर देते हैं। मुझे मान दे-देकर आपने मेरा इतना साहस बढ़ा दिया, कि मैं आज इस दशा में पहुँच गई, कि आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन करने का भी साहस कर बैठी। मेरे इस अपराध से कुपित होकर आप मेरा कोई अनिष्ट करेंगे, इसकी तो मुझे कभी स्वप्न में भी आशा नहीं। किन्तु एक मुझे बड़ा भारी डर लग रहा है। मैं उस समय का स्मरण करके थर-थर काँप रही हूँ, मेरा हृदय फटा जा रहा है।"

आचमन करके कश्यपजी ने कहा—"वह कौन-सा भय है ?"

दिति ने कहा—"वह यही, कि आपने कहा था, कि यह रौद्री वेला है। रुद्र भगवान् कुपित होकर तेरे गर्भ के त्रिशूल से सैकड़ों टुकड़े कर देंगे। सो, हे नाथ! ऐसा न हो। ये कृपा के सागर आशुतोष भगवान् मुझ दीना पर अनुग्रह करें, मेरे गर्भ को हानि न पहुँचावें।"

कश्यप जी बोले—"उनके यहाँ दया मया का काम नहीं। उनका नाम ही रुद्र है। क्रोध से ही तो उनकी उत्पत्ति है। वे तुम्हारी इन बातों में आने वाले नहीं।"

दीनता से हाथ जोड़े हुए दिति बोली—"हाय! नाथ आप ऐसा न कहें। वे तो आशुतोष हैं, उनकी दुर्धर्षता दुखियों के दुःख दूर करने में ही है। वे सकाम पुरुषों की भी कामना पूर्ण करते हैं; वे फिर निष्कामों को मुक्ति प्रदान करना तो उनका कर्म ही है। वे तो ब्रह्मन्! औघड़ दानी हैं। जिसे सब त्याग देते हैं, उसे भगवान् भोलानाथ अपना लेते हैं। यद्यपि वे त्रिशूल, धनुष आदि अस्त्र-शस्त्र धारण करते हैं, किन्तु क्रोध के लिये उनका प्रयोग नहीं करते, दुष्टों का दमन और शिष्टों के पालन के लिये ही उनके अस्त्रों का प्रयोग होता है। मैं उन रुद्र भगवान् के चरणों में बार-बार प्रणाम करके अपने अपराध के लिये क्षमा माँगती हूँ।"

कश्यप जी बोले—"अपराधी को दण्ड देना, यह तो धर्म है। तुमने उनका अपराध किया है, दण्ड भोगना पड़ेगा।"

तब दिति ने कहा—"प्रभो! देखिये, अपराध किससे नहीं होता? अज्ञों से सदा अपराध होते हैं। विज्ञ सदा उनके अपराधों को क्षमा करते आये हैं। फिर हम स्त्रियों को तो शास्त्रकारों ने अवध्य बताया है हम पर तो सदा क्रूर कर्म में ही निरत रहने वाले बहेलिया व्याधा भी कृपा करते हैं। वे भी हमारे प्राणों का सहसा हरण नहीं करते। फिर मेरी बहिन सती के पति सदा-शिव क्या मेरे इस अपराध को क्षमा न करेंगे? वे मेरे बहनोई

हैं। स्त्रियों के स्वभाव को जानते हैं। मैं उनके द्वार पर दया की भिखारिणी होकर खड़ी हूँ। वे दया के सागर मुझ पर प्रसन्न हों, मेरे ऊपर कृपा की दृष्टि करें।"

मैत्रेय जी कहते हैं—"विदुर जी! इस प्रकार अपनी सन्तान की शुभ कामना तथा इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति की इच्छा चाहने वाली दिति को दुःख से काँपती पश्चात्ताप से दुखी और शिवजी की विनय करते देखकर कश्यप जी रोष भरी दृष्टि से उसे देखते रहे। उन्होंने अपने शेष कृत्य को समाप्त किया और सायंकालीन नियम से निवृत्त होकर अपनी पत्नी दिति से दुःख के स्वर में कहने लगे—"देखो, तुम्हारा एक अपराध होता, तो क्षमा किया जा सकता था। तुम्हारे तो बहुत बड़े-बड़े चार अपराध हैं।"

दिति डर गयी और बोली—"भगवन्! चार अपराध कौन-कौन से हैं?"

कश्यप जी ने कहा—"देखो, पहिला अपराध तो यह है कि, उस समय तुम्हारा चित्त कामाशक्त था। विशुद्ध पुत्र कामना से तुम्हारी प्रार्थना होती, तो वह क्षम्य हो सकती थी। किन्तु उस समय तुम्हारे चित्त में समस्त अनर्थों की जड़ मन्मथ विराजमान था। तुम्हारा अपराध यह कि वह असमय था। सन्ध्या के समय सभी वृत्ति वाले अपनी-अपनी वृत्ति को छोड़कर भगवत् चिन्तन में लग जाते हैं। उस समय जो भूलकर भी लोक निन्दित कर्म करता है उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। तीसरे तुमने मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन किया। पत्नी के लिये पति सबसे अधिक पूजनीय है। उसकी आज्ञा को न मानना सबसे बड़ा अपराध है। चौथे तुमने रुद्र आदि देवताओं का भी अनादर किया है। मेरे बार-बार समझाने पर भी तुमने भगवान् भूतनाथ के गणों का सम्मान नहीं किया। ये चार ऐसे अपराध हैं, जिनका

फल अवश्य भोगना पड़ेगा। अतः तुम्हारे दो बड़े क्रूरकर्मा पुत्र होंगे।"

दिति तो बड़ी भयभीत हुई और बोली—"भगवान् शूलपाणि मेरे गर्भ को नाश तो न करेंगे ?"

कश्यप जी ने कहा—"मेरा वीर्य अमोघ है। वह कभी भी किसी भी दशा में, कहीं भी रहेगा, वहीं फलवान् होगा। इसलिये गर्भ का नाश तो न होगा। किन्तु तुम्हारे पुत्र सुपुत्र न होंगे। वे अमङ्गलमय, अधम, नीच और जनता के द्वेषी होंगे।"

दिति बोली—"हाय ! महाराज, ऐसा क्यों होगा ? वे क्या-क्या पाप करेंगे ?"

कश्यप जी बोले—"देखो, बात यह है, तुमने मुझे असन्तुष्ट करके, क्रोध उत्पन्न कराके, मेरी इच्छा न रहने पर भी गर्भाधान कराया है। इसीलिये तो वे क्रोधी और देवता ब्राह्मणों के द्वेषी होंगे। लोकपालों के भी परम पूजनीय भगवान् शंकर का तुमने सम्मान नहीं किया, इसलिये वे सब लोकपालों और प्रजाओं को पीड़ा पहुँचाने वाले पापी होंगे। आसुरी वेला में भूत, प्रेत, पिशाचों के समय में गर्भाधान हुआ, इसलिये आसुरी प्रकृति के दैत्य होंगे। वे निरपराध दीन प्राणियों को सदा दुःख दिया करेंगे तुम्हारे मन में अत्यन्त काम का वेग था, इसलिये इस दोष से वे बड़े कामी होंगे। मेरा अमोघ वीर्य था, रौद्र समय था। मुझे भी क्रोध हो रहा था, इसलिये वे इतने शूर वीर पराक्रमी होंगे, कि संसार में उनके समान दूसरा कोई भी न होगा। कोई उन्हें मार न सकेगा।"

इस पर दिति बोली—"हाय ! जब वे इतने क्रूर होंगे, इतना पाप करेंगे, मानवीय तथा देवताओं के अस्त्र-शस्त्रों से अवध्य होंगे, और देव ब्राह्मणों का अपराध करेंगे, तो निश्चय ही ब्राह्मणों

के शाप से भस्म होंगे। फिर तो उनका नरक से उद्धार हो ही नहीं सकता।"

तब कश्यप जी बोले—"वे इतने पराक्रमी और तेजस्वी होंगे कि उन पर ब्रह्मतेज का भी प्रभाव नहीं हो सकता। उन दोनों को मारने के लिये तो साक्षात् श्रीमन्नारायण ही पृथक्-पृथक् दो अवतार धारण करेंगे। वे दोनों भगवान् के ही हाथों से मारे जायँगे।"

यह सुनकर दिति को सन्तोष हुआ और वह बोली—"चलो, यह तो अच्छा ही हुआ। ब्रह्मशाप से बच गये। ब्रह्मदण्ड से दग्ध प्राणियों पर नारकी जीव भी कृपा नहीं करते, उनका कभी उद्धार ही नहीं होता, भगवान् के हाथ से मारे जायँगे, तो उनका उद्धार तो हो जायगा। सुदर्शन चक्रधारी भगवान् श्यामसुन्दर के अस्त्रों द्वारा जिनकी मृत्यु होती है, वे सभी मुक्ति के भागी बन जाते हैं। मेरे पुत्रों को निमित्त बनाकर भगवान् अवतार लेंगे, यह तो मङ्गल की ही बात है। यही एक दुःख की बात है, कि वे भगवत् भक्त न होंगे।"

भगवान् के प्रति इस प्रकार आदर भाव प्रकट करते देखकर मुनि का कोप शान्त हो गया। वे प्रसन्न चित्त से कहने लगे—"प्रिये! मैं ज्ञानदृष्टि से देख रहा हूँ। यह सब तो होगा ही। पहिले से ही भगवान् ने ऐसा विधान बना रखा है। तुम तो इसमें एक निमित्त मात्र बन गई। जैसे तुमसे भूल में चार अपराध बन गये हैं। उसी प्रकार चार शुभ कार्य भी तुम्हारे द्वारा हो गये हैं।"

दिति ने मन ही मन प्रसन्न होते हुए पूछा—"वे चार शुभ कार्य कौन से हो गये हैं, भगवन्!"

कश्यप मुनि ने कहा—"देखो, एक तो तुम्हें तुरन्त अपने किये हुए कर्म पर हृदय से पश्चात्ताप हुआ। दूसरे तुम्हारी बुद्धि ठिकाने आ गई, शुभ-अशुभ का तुम्हें विवेक हो गया, उचित

अनुचित को समझ गई। तीसरे तुमने शिवजी के प्रति सम्मान प्रकट करके उनकी स्तुति की, चौथे तुमने मेरे प्रति आदर के भाव प्रकट किये। भगवान् के द्वारा पुत्रों के मारे जाने पर प्रसन्नता और अभक्त होने के कारण दुःख किया, तो इनका भी फल होगा। इन चारों कार्यों का ऐसा फल होगा कि संसार में तुम्हारी कीर्ति प्रलय पर्यन्त व्याप्त हो जायगी। तुम्हारा समस्त कुल तर जायगा। तुम्हारा एक ऐसा पौत्र होगा, जो भगवत् भक्तों में अग्रणी समझा जायगा।"

अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए दिति ने पूछा—"प्रभो! मेरा वह पौत्र कैसा होगा। कैसे उसके गुण होंगे? कृपा करके विस्तार के साथ उसके गुणों का वर्णन करें। इस बात से मुझे इतनी अधिक प्रसन्नता हो रही है, कि इसे सुनकर मैं अपने पुत्रों को क्रूरता, निर्दयता आदि के दुखों को भूल गई हूँ।"

तब कश्यप मुनि कहने लगे—"देवि! तुम्हारे बड़े पुत्र के चार पुत्र होंगे। उनमें एक ही ऐसा भक्त होगा, जो २१ पीढ़ियों का तारक होगा। वह परम भागवत, उदाराशय, परम प्रतापशाली, महान्, से भी महान् अपनी विशुद्ध भक्ति से प्रशंसित होगा। कभी भी वह विषय भोगों में लिप्त होने वाला न होगा। उसका स्वभाव मधुर होगा। दूसरों के दुःख में दुखी, दूसरों के सुख में सुखी होने वाला, सबका सुहृद्, चन्द्रमा के समान सभी को शीतलता प्रदान करने वाला तथा समस्त गुणों का आकार होगा। वह भगवत् भक्तों का मुकुट मणि माना जायगा। सभी स्थानों में उसके चरित्र प्रमाण माने जायँगे। वह भगवान् वासुदेव के गुणों में ही सदा अनुरक्त होगा। अधिक क्या कहें, संसार में उसकी कीर्ति भगवान् के समान व्याप्त होगी। जैसे भगवत् भक्त भगवान् के चरित्रों को भक्ति-भाव से श्रवण करते हैं। उसी प्रकार उसके

भी गुण चरित्र सुने जायँगे। भगवान् के साथ ही साथ उसके भी गुण गाये जायँगे।"

दिति ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"भगवन्! भगवान् जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं। चलो, मेरे कुल में एक तो भगवान् का भक्त होगा। एक ही भक्त समस्त कुल परिवार को तार देते हैं। मेरे पुत्रों की मृत्यु साक्षात् भगवान् के द्वारा होगी। इससे अधिक मुझे और क्या चाहिये?"

श्री मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार दिति अपने पति के मुख से ये बातें सुनकर उन्हें श्रद्धा सहित प्रणाम करके भीतर चली गई।"

छप्पय

होत काम के शान्त भई दिति लज्जित भारी।
बोली गद्गद् गिरा क्षमहु प्रभु चूक हमारी॥
मुनि बोले—तव पुत्र होहिंगे पापी कामी।
बली साहसी बड़े हनहिं तिनि अन्तर्यामी॥
किन्तु पौत्र हरि भक्त है, यश जग महँ फैलायगो।
वाके भक्ति प्रभाव तैं, कुल समस्त तरि जायगो॥

—:—

दिति के गर्भ से देवताओं को भय

[१३४]

प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दिति ।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ॥
लोके तेन हतालोके लोकपाला हतौजसः ।
न्यवेदयन्विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम् ॥१

(श्री भा० ३ स्क० १५ अ० १,२ श्लोक)

छप्पय

सुने पुत्र अति क्रूर अधम सब कूँ संहारें ।
शंकित है शत वर्ष रही गरभहिं दिति धारें ॥
उग्रतेज तें भये हीन सूरज शशि जब ई ।
मृत लोक कूँ गये देवता मिलिकें सब ई ॥
इन्द्रादिक चोले प्रभो, ओज तेज सब को गयो ।
दशों दिशा महँ दयामय ! अन्धकार काको भयो ॥

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! प्रजापति भगवान् कश्यप के तेजयुक्त गर्भ को, इस आशङ्का से कि मेरे इन पुत्रों से देवताओं को कष्ट होगा और इनका तेज दूसरों के तेज को नाश करने वाला होगा सौ वर्षों तक दिति अपने गर्भ में धारण किये रही । उसी गर्भ के कारण लोक में जितने सूर्यादि आलोक हैं, वे सब आलोक हीन हो गये, इन्द्रादि लोकपाल तेज हीन हो गये । अतः उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओं में फैले हुए अन्धकार के कारण हुई अवस्था की बात लोकपितामह ब्रह्माजी के समीप जाकर निवेदन किया ।"

ऐसा नियम है, महान् प्रकाश के सम्मुख क्षुद्र प्रकाश फीका पड़ जाता है। दिन में तारे कहीं चले नहीं जाते, किन्तु वे सूर्य के प्रकाश के सामने दिखाई नहीं देते। महान् तेजस्वी पुरुषों के सम्मुख अल्प तेज वाले पुरुष दब जाते हैं। किसी भी विषय की महानता हो, वह अपने से कम को ढक ही लेती है। एक बलवान् महान् गुण सभी दुर्गुण सभी सद्गुणों को दबा लेता है। इसी बात को लक्ष्य करके महामुनि मैत्रेय विदुरजी से कहने लगे—"विदुरजी! कश्यप के उस अत्युग्र तेज को दिति ने धारण तो किया, किन्तु वह सर्वदा चिन्तित बनी रही। उसने सोचा—"देखो, मेरे गर्भ से क्रूरकर्मा दैत्य उत्पन्न होंगे। उत्पन्न होते ही ये देवताओं को, ब्राह्मणों को तथा समस्त प्रजाओं को दुःख देने लगेंगे। अतः जितने ही दिन ये उत्पन्न न हों, उतने ही दिन कल्याण है। अतः उसने सौ वर्षों तक उनको गर्भ में ही धारण किये रखा। मुनियो! आप इसमें सन्देह न करें। कश्यप की पत्नी साधारण स्त्री तो थी नहीं। उसे समस्त शक्तियाँ अपने पति के प्रभाव से प्राप्त थीं। अतः बिना किसी विघ्न बाधा के वह उतने दिनों अपने उदर में कश्यपजी के तेज को सुखपूर्वक धारण किये रही। फिर भी तेज तो तेज ही है। कितने भी बादल क्यों न घिर जायँ, सूर्य का प्रकाश तो प्रकट हो ही जायगा। चन्द्रमा को वस्त्र में छिपाकर रखें, फिर भी अपना तेज तो प्रकाशित करेंगे ही। दिति के गर्भ के तेज ने सूर्य चन्द्र के प्रकाश को इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम आदि के तेज को फीका बना दिया। गर्भ में से ही अन्धकार मय ऐसा एक बवण्डर-सा निकलकर सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो गया, कि उसने सबकी प्रभा को दबाकर सम्पूर्ण दिशाओं को तम से आवृत्त कर लिया।"

इस पर विदुरजी बोले—"महाभाग! प्रकाश और तम में तो बड़ा विरोध है। वह इतना अधिक प्रकाश था, कि सूर्य चन्द्रमा

भी तेजहीन बन गये, तो उससे दिशाओं में अन्धकार कैसे छा गया ?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! वह प्रकाश तो अवश्य था, किन्तु अत्युग्र तममय प्रकाश था। सभी सात्त्विक प्रकाशों को दबाकर तामस् प्रकाश का प्रभाव सर्वत्र फैल गया अर्थात् उस तेज के सम्मुख किसी का तेज महत्व नहीं रखता था। सर्वत्र अशांति छा गई। देवता हतप्रभ होकर चिन्ता में पड़ गये। देवताओं के तो एक मात्र आश्रय वे ही चतुर्मुख विधाता हैं और उनके आश्रय चराचर के स्वामी श्रीहरि हैं। अतः संकट पड़ने पर देवता ब्रह्माजी के पास जाते हैं, ब्रह्माजी महादेवजी आदि को साथ लेकर भगवान् की सेवा में उपस्थित होते हैं। ये लोग अपने बल के भरोसे कभी कुछ नहीं करते। इसीलिये ये सब देवता कहलाते हैं। असुर जो भी जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान करेंगे, अपने अहङ्कार को बढ़ाने को करेंगे। उन्हें अपने अहं पर भरोसा है। इसीलिये वे असुर कहलाते हैं। असुरों में शारीरिक बल देवताओं से भी अधिक होता है। कभी-कभी विजय भी उन्हीं की होती है, किन्तु देवता अपनी दृढ़ भक्ति के द्वारा भगवान् की सहायता से फिर उन पर विजय पा लेते हैं। इसीलिये देवता सदा पूजनीय समझे जाते हैं, असुर उपेक्षणीय।"

हाँ, तो उस तमोगुणयुक्त तेज से घबड़ा कर सभी देवता ब्रह्माजी की शरण में गये, और उन्होंने लोक पितामह को विधिवत् प्रणाम किया और सुन्दर-सुन्दर सूक्तियों द्वारा उनकी स्तुति की। देवताओं ने कहा—"प्रभो ! आप तो काल से परे हैं। आपके लिये भूत भविष्य और वर्तमान ये काल के भेद कुछ नहीं हैं। हाथ पर रखे हुए जल से भरे काँच के पात्र के भीतर बाहर की सभी बातें जैसे मनुष्य प्रत्यक्ष जानता है, उसी प्रकार आप

जगत् के भीतर बाहर की सभी बातें जानते हैं। आपसे कोई भी संसार की आगे पीछे की बात छिपी नहीं है।"

ब्रह्माजी हँसकर बोले—"इस अप्रासंगिक बात के कहने से तुम्हारा प्रयोजन क्या है? अपना अभिप्राय सीधे शब्दों में बताओ। द्राविड़ प्राणायाम क्यों कर रहे हो?"

देवताओं ने कहा—"प्रभो! यह जो चारों दिशाओं में अन्धकार व्याप्त हो रहा है, यह क्या है? यह तो हमें बड़ा ही असह्य मालूम पड़ता है। आप तो इसके विषय में सब जानते ही होंगे, इसका कारण जानने की हमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है। आप देवताओं के भी परम देव हैं, जगत् के रचयिता हैं, लोकपालों के भी नियामक हैं, सभी के भावों को जानने वाले हैं, विज्ञान के बल से ही आप सृष्टि रचते हैं। अपनी माया से ही आपने अपना यह चतुर्मुख रूप धारण कर लिया है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भाई, हम तो रजोगुण को स्वीकार करके सृष्टि रचते हैं।"

देवताओं ने कहा—"नहीं महाराज, यह तो आपकी लीला है। आपने स्वेच्छा से रजोगुण को स्वीकार किया है। आप तो ज्ञान-दाता, भयत्राता, सृष्टि बनाने वाले, सबको वेद वाक्य रूप रस्सी में बाँधे रहने वाले, सबको जीवन दान देने वाले, प्राणों के प्रेरक और जीवों के प्रपितामह हैं। भगवन्! इस अन्धकार ने हमें बहुत भयभीत बना रखा है, सभी डरे हुए हैं। पृथ्वी पर के समस्त धर्म कर्म लुप्त होते जा रहे हैं। इसका कारण हमें बताइये। इस दुःख से हमें बचाइये। इस अन्धकार को हटाइये। हम शरणागतों को अपनाइये और अपनी दया दृष्टि द्वारा दीन हुए देवों को सनाथ बनाइये।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"अच्छा तुम लोगों ने क्या समझा है? कहाँ से यह तमोगुण तेज आ रहा है?"

देवता बोले—"महाराज ! हम तो यही समझते हैं, कि भगवान् कश्यपजी ने माता दिति के गर्भ में अपना तेज स्थापित किया

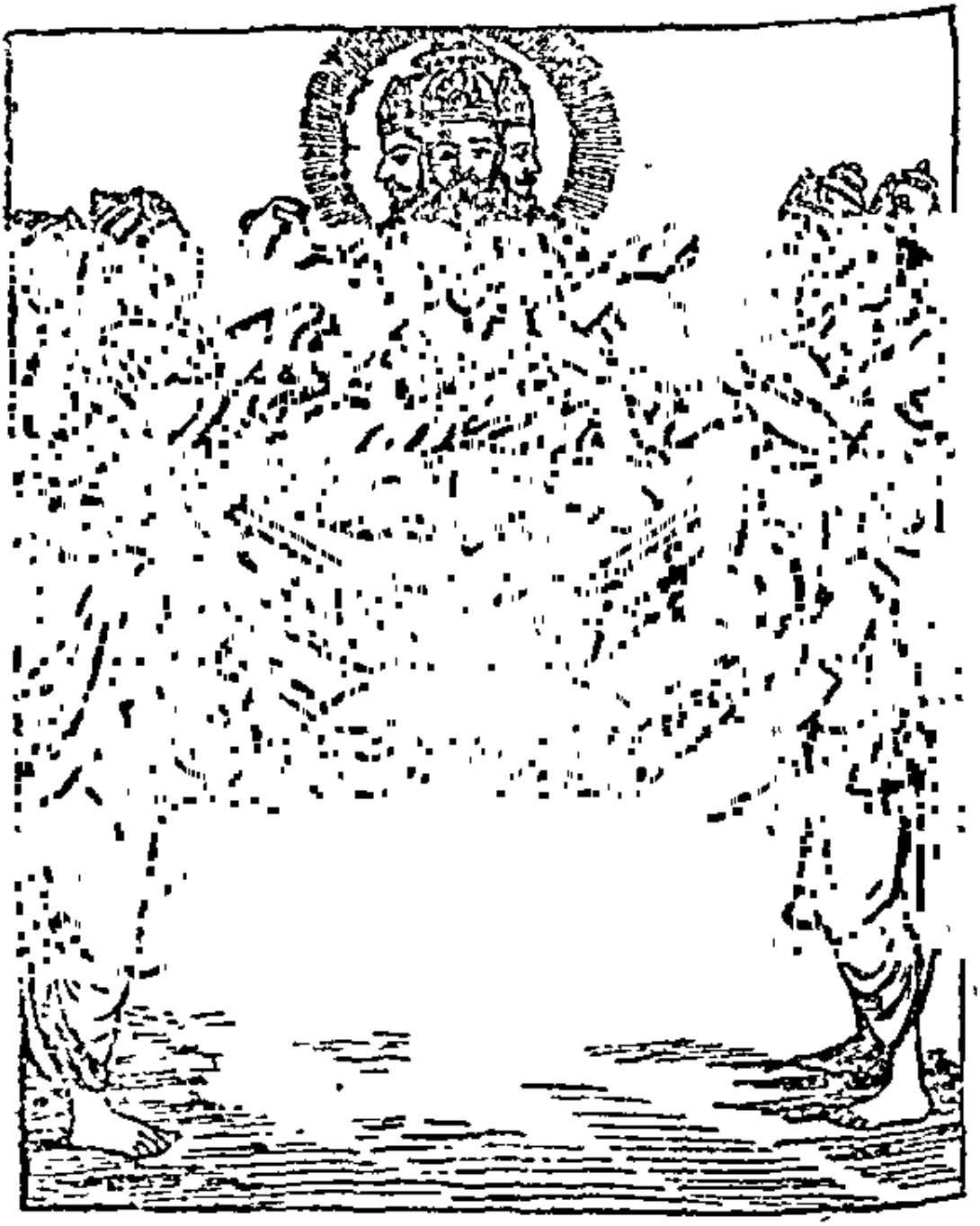

था। सम्भव है, वही तेज बढ़ता हुआ विश्व को व्याप्त कर रहा है, उधर से ही यह सबको भयभीत और प्रभाहीन बनाने वाला तमोमय तेज आ रहा है। दिति के गर्भ में ऐसा कौन-सा देव, दैत्य,

यक्ष, गन्धर्व, नाग या और कोई अद्भुत प्राणी आ गया है, कि उसने अभी से बिना उत्पन्न हुए ही हम सबको हतप्रभ बना दिया है, उत्पन्न होकर तो न जाने यह क्या-क्या अनिष्ट कर डालेगा ?"

यह सुनकर लोक पितामह ब्रह्माजी हँसे, वे सब बातें समझ गये यह तेज किसका है ? इस रहस्य को जान गये। अतः अपनी परम मधुर वाणी से देवताओं को आनन्दित करते हुए कहने लगे—"तुम लोग अभी इसका रहस्य नहीं समझे ?"

देवता बोले—"महाराज, समझे ही होते, तो आपसे इस भाँति विनय क्यों करते ?"

ब्रह्माजी बोले—"देखो, यह साधारण तेज नहीं है। भगवान् वैकुण्ठनाथ के दो प्रधान पार्षद दिति के गर्भ में आ गये हैं।"

चौंककर देवताओं ने कहा—"भगवन् ! यह कैसी असम्भव बात आप कह रहे हैं ? भगवान् वैकुण्ठनाथ के प्रधान पार्षद और गर्भ में सो भी दैत्य योनि में। यह बात तो हमारी समझ में आती ही नहीं, और न आने ही योग्य है।"

ब्रह्माजी गम्भीर होकर बोले—"अरे भैया ! यह बात तुम्हारी समझ में आ ही कैसे सकती है ? यह तो भगवान् की लीला है। वे कब क्या करना चाहते हैं ? इसे उनके सिवाय कोई जान नहीं सकता। सम्भव-असम्भव तो हमारे लिये है। उनके लिये सब सम्भव है। असम्भव नामक कोई वस्तु उनके यहाँ है ही नहीं। बस, एक ही बात उनके लिये असम्भव है, एक ही कार्य करने में वे असमर्थ हैं।"

देवताओं ने पूछा—"महाराज, वह कौन-सा कार्य है जिसे सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सम्पन्न सर्वेश्वर भी नहीं कर सकते ?"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ, एक कार्य सर्वसमर्थ होने पर भी वे करने में समर्थ नहीं। वह है सर्वात्मभाव से शरण में आये

हुए का परित्याग करना। जो पुरुष स्त्री, धन, पुत्र भृत्य तथा और भी समस्त ममता की वस्तुओं को त्यागकर भगवान् की शरण में कैसे भी आता है, उसका त्याग वे करना भी चाहें, तो भी नहीं कर सकते। शरण में आये हुए को त्यागने की उनमें सामर्थ्य नहीं। इसके अतिरिक्त उनके लिये सभी सम्भव है।"

देवताओं ने पूछा—"हाँ, तो प्रभो! हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है, कि भगवान् विष्णु के उस लोक से जहाँ जाकर कोई संसार में लौटता नहीं, उसी अपुनरावृत्ति वाले लोक से साधारण पुण्यवान् जीव भी नहीं, साक्षात् श्रीपति के प्रधान पार्षद गर्भ में किस कारण से आये? यह ठीक है कि इसमें भगवान् की इच्छा ही प्रधान कारण है, फिर भी कुछ न कुछ तो कारण होगा ही। किसी न किसी को किसी न किसी कार्य के द्वारा निमित्त बनाया ही होगा। इसे सुनने की हमें बड़ी इच्छा है। यदि हम इसके अधिकारी हों, तो इस कथा को हमें आप सुनावें।"

देवताओं के इस प्रकार पूछने पर लोकपितामह ब्रह्माजी कहने लगे—"देवताओ! जिस कारण से ये लोग दिति के गर्भ में आये हैं और भगवान् ने जो यह अद्भुत लीला रची है, उसे मैं तुम सबको सुनाता हूँ। तुम सब एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा सावधानी के साथ श्रवण करो।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जिस प्रकार ब्रह्माजी ने प्रभु के पार्षदों के पृथ्वी पर पतन की गाथा सुनाई, उसी को मैं आपके सम्मुख कहूँगा। आप दत्तचित्त होकर इस पुण्याख्यान को सुनें।"

छप्पय

आप काल के काल जगत्पति अन्तर्यामी ।
भूत—भविष्यत—वर्तमान सबई के स्वामी ॥
हस्तामलक समान विषय सब विदित जगत के ।
करहिँ कर्म नित सोहि होयँ जो जग के हित के ॥
देव, दैत्य, दानव, असुर, को प्रविस्यो दिति उदर महँ ।
तेज हीन सबई करे, व्यथित भये अब रहहिँ कहँ ॥

—:—:—

सनकादि मुनियों से वैकुण्ठ लोक का वर्णन

[१३५]

मानसा मे सुता युष्मत् पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १५ अ० १२ श्लोक०)

छप्पय

हँसिके ब्रह्मा कहें—विष्णु पार्षद ये आये ।
सनकादिक हैं कुपित शाप दे भूमि गिराये ॥
बोले विस्मित देव विभो ! सब बात बताओ ।
माया रहित कुमार दयो कस शाप सुनाओ ॥
ब्रह्मा बोले मम तनय, हरिलीला महँ नित निरत ।
हरि दरशनकूँ गये मिलि, विष्णुलोक घूमत फिरत ॥

स्वर्ग में भी नरक है और नरक में भी स्वर्ग है। इसलिये न तो स्वर्ग में सर्वथा सुख ही सुख है और न नरक में दुःख ही दुःख। आप पूछेंगे स्वर्ग तो सुख की खानि है, उसमें भला क्या दुःख हो सकता है, नरक तो यातना का घर ही है, उसमें सुख कहाँ से आया ? इस बात पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो

---

* श्री ब्रह्माजी देवताओं से कह रहे हैं—"देवताओ ! सनकादि जो मेरे मानसिक पुत्र हैं, जो तुम सबसे पूर्व उत्पन्न हुए हैं, वे लोकों की आसक्ति रहित होकर स्वेच्छापूर्वक आकाश मार्ग से सभी लोकों में घूमते रहते हैं।"

पता चल जायगा, कि इन लोकों में अत्यन्त दुःख सुख नहीं। नरक क्या हैं ? पृथ्वी के नीचे एक अन्धकार मय लोक विशेष हैं। वहाँ बड़े-बड़े दुःख देने के साधन हैं। काँटों का वन है, रक्त की नदियाँ हैं, मूत्र विष्ठा के कुण्ड, सर्प, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र जैसे जीव हैं। तपाये हुए तैल के कड़ाहे, आदि-आदि बहुत से भयंकर, वीभत्स हृदय को हिला देने वाली दुखदायी वस्तुएँ हैं। वे इन चर्म चक्षुओं से नहीं देखी जा सकतीं। इस स्थूल शरीर को उनसे कुछ भी कष्ट नहीं हो सकता। वे सभी वस्तुएँ सूक्ष्म हैं और यातना का सूक्ष्म शरीर ही उनको भोगने से सुखी-दुखी होता है। जैसे कोई स्वप्न में किसी को मारे तो स्वप्नावस्था में कितनी पीड़ा होती है, कितना मर्मान्तक दुःख होता है। कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है, कि जागने पर भी कुछ देर वह भय नहीं जाता, आँखों में प्रत्यक्ष अश्रु बहते हुए दिखायी देते हैं। स्थूल वस्तु दुःख देने वाली नहीं। स्वप्न को सूक्ष्म शरीर को ही वेदना होती है। वहाँ पापी जीव ही अनेक प्रकार के तापों द्वारा तपाये जाते हैं। वहाँ भी कभी-कभी ऐसे पुण्यात्मा पुरुष पहुँच जाते हैं, कि उनके शरीर की गन्ध से वहाँ के सभी लोग सुखी हो जाते हैं कि, उनके दुःख कुछ समय को दूर हो जाते हैं। कोई-कोई करुणा-वश अपने पुण्यों को देकर समस्त नारकीय जीवों को सुखी बनाते हुए वहाँ से निकलवा भी देते हैं। यह तो नरक जैसे दुःख के स्थान में सुख की बात रही।

इसी प्रकार स्वर्ग में भी दुःख है। स्वर्ग का सुख भोगने प्रायः पुण्यात्मा पुरुष ही जाते हैं, सबके पुण्य एक समान तो होते नहीं। जिन्होंने बहुत पुण्य किया है, उन्हें बहुत-सी सुख की सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। अच्छे-से-अच्छे भोग, सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें, उत्तम से उत्तम संगीत, सुगन्धि, विमान सेवक आदि मिलते हैं। जो साधारण पुण्य वाले होते हैं, उन्हें

साधारण सुख सामग्रियाँ मिलती हैं। इसलिये कम सुख वाले बड़े सुख वालों से पृथ्वी की ही भाँति डाह करते हैं। उन्हें ईर्ष्या होती है। यह बड़ा भारी दुःख है। यह सातिशय दोष भी हृदय को पीड़ित करके मनुष्य को दुखी बनाता है, स्वर्ग में एक सबसे बड़ा दुःख यह है कि, इस बात का पहिले ही पता हो जाता है, कि हम इतने दिनों के पश्चात् यहाँ से गिरा दिये जायँगे। ज्यों-ज्यों दिन कम होते जाते हैं, त्यों-त्यों गिरने के भय से दुःख होता है। गिरते भी हैं तो उलटा सिर करके ढकेल देते हैं। फिर कोई शील संकोच भी नहीं करता। बहुतों को गिरते हुए देखते हैं, इससे भी दुःख होता है; कि एक दिन हमें भी इसी भाँति गिरना पड़ेगा। उन दुःखों के कारण स्वर्ग का सुख भी निरादर नहीं। वहाँ भी भय है, शंका है, काम-वासना है, भोगों की लिप्सा है, डाह, मत्सर्य है, ईर्ष्या है और है पतन की प्रतिपल चिन्ता। जहाँ सुख-ही-सुख है, दुःख का लेश भी नहीं है, वह लोक है वैकुण्ठ धाम। जहाँ लक्ष्मी जी के सहित श्रीमन्नारायण विराजते हैं, वहाँ दिव्य सुख-ही-सुख है, दुःख का नाम नहीं है। स्वर्ग से भी अनन्त सुख उस लोक में है। जिनके हृदय में पाप का लेश भी है, वे उस लोक के दर्शन भी नहीं कर सकते। इसी बात को लक्ष्य करके भगवान् लोक पितामह ब्रह्मादेव वैकुंठधाम का विस्तार के साथ वर्णन करते हैं।

ब्रह्माजी देवताओं से बोले—"देवताओ! तुम अपने पूर्व सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन इन चारों ऋषियों को तो जानते ही हो। ये मेरे मानसिक पुत्र हैं। सृष्टि में सब से प्रथम ये ही उत्पन्न हुए हैं। ये तुम सबसे श्रेष्ठ हैं, ज्येष्ठ हैं। इन्होंने प्रवृत्त धर्म स्वीकार नहीं किया है। स्वेच्छा से सब लोकों में घूमते रहते हैं। ये न कभी घटते हैं न बढ़ते हैं, सदा पाँच वर्ष के ही नग्न बढ़ंगे इस लोक से उस लोक में, उस लोक

से इस लोक में फिरते रहते हैं। इनका न कोई शत्रु है न मित्र, अपना है न पराया, निस्पृह होकर सदा भगवत् भजन में तल्लीन रहते हैं।

एक दिन ये लोग मेरे पास आये और आकर कहने लगे—"पिताजी! हमने अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, पाताल और रसातल ये ७ नीचे के लोक; भू, भुव, स्वर्ग, मह, जन तप और आपका सत्यलोक ये सातों ऊपर के लोक इस प्रकार चौदहों भुवन छान डाले, किन्तु कहीं शाश्वती शान्ति नहीं मिली, आप जानते ही हैं, हमने काम क्रोध को वश में कर ही लिया है, माया तो पास भी नहीं फटकने पाती, हमें कोई ऐसा लोक बताइये जहाँ दुःख का लेश भी न हो, सुख ही सुख हो।"

इन कुमारों की बात सुनकर मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, कि इनके मन में कुछ अभिमान का अंकुर उत्पन्न होने लगा है। देवताओ! तुम्हारा बार-बार स्वर्ग से पतन क्यों होता है? इसी लिये कि तुम स्वर्गीय सुखों में संलग्न होकर अपने को ही सर्वेसर्वा मान बैठते हो। उन सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को भूल जाते हो। तब तुममें और असुरों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दोनों ही पशु बुद्धि के अधीन हो जाते हैं। पशुओं में जो बलवान् होता है, वह अपने से निर्बलों को जीत लेता है। असुर तुमसे बलवान् है, इसीलिये वे तुम्हें जीत लिया करते हैं।

मैंने सोचा—"ये लोग ज्ञानी तो हैं, इन्हें शब्द ब्रह्म और परब्रह्म का ज्ञान तो प्रायः हो गया है, किन्तु अभी इन्हें भक्ति का चसका नहीं लगा है। बिना भक्ति मार्ग का आश्रय लिये हुए सर्वात्मभाव से अहंकार का समूल नाश होता नहीं। कभी-कभी अहंकार उदित हो जाता है। इन्हें समझाऊँगा तो ये मानेंगे नहीं, एक तो इन्हें यह अभिमान है, कि हम त्यागी हैं, हमारे पिता प्रपञ्च में फँसे हैं। दूसरे लाड़-प्यार के कारण अपने पुत्र अपने से

पढ़ते नहीं, इन्हें दूसरों के पास पढ़ाने को भेजना पड़ता है। इन्हें सिवाय वैकुण्ठनाथ के और कौन पढ़ा सकता है। इनके अहंकार के अंकुर को समूल नाश करने की शक्ति और है ही किसमें ? वे सभी की नाड़ी जानते हैं, किसे प्यार से समझाना चाहिये, किसे बड़ा बनाकर समझाना चाहिये, किसे डाट-डपट कर, शाप देकर, कैसे शिक्षा देनी चाहिये ? इन सब बातों की कुञ्जी तो वे ही जानते हैं। इसलिये वे बोले—"पुत्रो ! तुमने इन चौदह लोकों में क्या देखा ? सर्वत्र माया है, कहीं सूक्ष्म, कहीं स्थूल। ये सब पुनरावृत्ति लोक हैं। कोई ऊपर से नीचे आता है, कोई नीचे से ऊपर जाता है, तुम लोगों ने वैकुण्ठ को देखा है ?"

सनकादिक सम्भ्रम के साथ बोले—"नहीं, महाराज ! वैकुण्ठ तो हमने नहीं देखा।"

यह सुनकर उपेक्षा के स्वर में मैंने कहा—"तब तुमने क्या देखी, धूल ? वैकुण्ठ नहीं देखा तो कुछ नहीं देखा।"

उन्होंने उत्सुकता के स्वर में कहा—"पिताजी, हमें वैकुण्ठ का वर्णन सुनाइये। हम उस दिव्य लोक के दर्शन अवश्य ही करेंगे। उसकी रूप रेखा बता दीजिये, उसका हमें परिचय करा दीजिये।"

मैंने कहा—"पुत्रो ! जिस प्रकार श्रीहरि के गुण अवर्णनीय हैं, वैसे ही उनके लोक के भी गुणों के वर्णन की सामर्थ्य किसी में नहीं है। भगवान का नाम, भगवान् का धाम, भगवान का रूप और भगवान् की लीलायें, ये सब वस्तुएँ चिन्मय एक-सी गुण वाली पृथक्-पृथक् नाम होने पर भी वास्तव में एक ही हैं। वैकुण्ठ की शोभा अवर्णनीय है। उसका वर्णन करना बुद्धि के बाहर की बात है।"

इस पर सनकादिकों ने विनय से कहा—"फिर भी प्रभो ! थोड़ी बहुत संक्षेप से ही सही, कुछ तो सुनाइये।"

उत्सुकता देखकर मैंने कहा—"देखो, वैकुण्ठधाम में वे

लोग कभी नहीं जा सकते, जिन्होंने निरन्तर एकाग्र चित्त होकर भगवान् श्यामसुन्दर की संसार बन्धन को काटने वाली सुमधुर कथायें न सुनी हों। जिन्होंने बिना किसी संसारी भोगों की कामना के श्रीकृष्ण चरणारविन्दों की निष्कपट भाव से आराधना नहीं की हों। वे समस्त लोकों से नमस्कृत उस लोक के कभी दर्शन नहीं कर सकते। वहाँ के दिव्य रूप को बिना भगवत् कृपा के कोई धारण नहीं कर सकता।"

सनकादिकों ने पूछा—"प्रभो! वहाँ के वासियों का कैसा रूप होता है?"

मैंने कहा—"भैया! अब वैकुण्ठ वासियों के रूप का हम अधिक वर्णन क्या करें? यही समझ लो कि भगवान् के और उनके रूप में कोई भी अन्तर नहीं होता। सभी चतुर्भुज होते हैं। सभी के हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुध होते हैं। सभी पीताम्बर पहिने रहते हैं। सभी के कंठों में वनमाला पड़ी रहती हैं। सभी दिव्य वस्त्रों और आभूषणों से सदा सुसज्जित रहते हैं। सभी की कान्ति अतुलनीय होती है। सभी दिव्यातिदिव्य विमानों पर घूमते है। सभी को सभी प्रकार से सर्वसुख सदा प्राप्त होते रहते हैं।"

सनकादियों ने पूछा—"तब उनमें और साक्षात् वैकुण्ठपति भगवान् में कुछ भी अन्तर नहीं रहता? फिर पहिचाने कैसे जायँ, कि ये वैकुण्ठवासी सुकृति हैं, ये ही साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं?"

इस पर मैंने कहा—"बस, दो चिह्नों से ही भगवान् और उनके लोकपालों में कुछ अन्तर है। एक तो सबके श्रीवत्स का चिह्न नहीं होता, दूसरे श्रीमती लक्ष्मीजी केवल मूर्तिमयी होकर श्रीभगवान् के ही साथ रहती हैं। इन दो विशेषताओं से ही भगवान् श्रीहरि वैकुण्ठवासियों से पृथक् प्रतीत होते हैं, नहीं तो

रूप, रंग, वय, शोभा, कान्ति सभी वैकुण्ठवासियों की भगवान् के अनुरूप-सी ही होती है।"

वहाँ वेद-वेदान्त प्रतिपाद्य धर्ममूर्ति पुराणपुरुष सनातन सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् वासुदेव अपने निजी जनों पर अनुग्रह करने के हेतु ही अपनी विशुद्ध सत्वमयी मूर्ति बनाकर सर्वदा निवास करते रहते हैं। वहाँ के वासियों को सभी समय आनन्द की राशि, शोभा के धाम, नयनाभिराम, घन के सदृश श्याम श्रीहरि के निरन्तर दर्शन होते रहते हैं।

उस लोक में ये संसारी ऋतुएँ नहीं। दिव्य ऋतुएँ मूर्तिमयी होकर, हर समय समस्त लोक सहित भगवान् की सेवा में सदा संलग्न रहती हैं। जब जिस समय जो जिस ऋतु का सुख चाहता है, तब उसी समय वह उसी ऋतु के सुख का अनुभव करने लगता है। वहाँ प्रयत्न नहीं, संकल्प के साथ सब हो जाता है। इस लोक में नैःश्रेयस नाम का एक वन है। वह वन क्या है, कैवल्यपद मुक्ति ने ही वन का वेष बना रखा है। उस वन में स्वर्ग के समान कल्पवृक्ष नहीं वहाँ के वृक्ष दिव्यातिदिव्य हैं। असंख्यों वर्ष जिन्होंने इसी इच्छा से निष्काम होकर आराधना की है, कि हमें वैकुण्ठ में वृक्ष बनकर वैकुण्ठनाथ की सेवा का सुयोग प्राप्त हो सके, वे ही महाभाग मुक्ति को ठुकराने वाले परम भागवतों ने यहाँ वृक्षों का विग्रह बना लिया है। उस लोक में जड़ चैतन्य छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेद नहीं। वहाँ सभी चिन्मय हैं, सभी एक से हैं। सभी का कार्य भगवान की सेवा करना ही है। सभी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ हैं। वहाँ नाना कर्म करने वाले छोटे-बड़े लोग तो जाते नहीं, सभी एक ही कर्म करने वाले भगवत् भक्ति में परायण ही वहाँ पहुँच सकते हैं। सुविधा और सेवा के अनुरूप वे अपने-अपने रूप बना लेते हैं।

वहाँ दिव्य गन्धर्व भी अपनी प्रिया गन्धर्वियों के साथ गोलोक-

पति गोविन्द के गुण गान की अपनी सेवा को समर्पित करते हैं। वहाँ के गन्धर्व और किसी विषय का गान नहीं करते, केवल मधुर स्वर में ताल और लय के साथ वैकुण्ठनाथ की ही माधुरी का बखान करते हैं, उन्हीं की लीला को गाते हैं, यद्यपि गन्धर्व बड़े कामी होते हैं, वे वासन्ती, शीतल, मन्द सुगन्धित वायु के लगते ही अपनी प्रियाओं के संग रहने पर कामासक्त हो जाते हैं, किन्तु वैकुण्ठ के गन्धर्वों को तो हरिकथा में ही इतना आनन्द आता है, कि कितनी भी मोहक सामग्री क्यों न हो, वे हरिकथा को नहीं छोड़ते। वहाँ काम का तो काम ही नहीं। काम होता है अतृप्ति में। वहाँ तो सभी आप्तकाम और तृप्त ही हैं। केवल भगवत् कथा में ही सभी अतृप्त हैं। जिसे देखो वही श्रीकृष्ण-कथा, कीर्तन का प्यासा-सा घूम रहा है। कोई श्रीकृष्ण-कथा कह रहा है, कोई श्रद्धा से सुन रहा है। असंख्यों भ्रमर जब गुञ्जार करते हुए सुन्दर सरोवरों में खिली हुई, कुमुदिनी के कुसुमों पर अथवा मालती के मकरन्द भरे पुष्पों पर बैठते हैं, तो अन्य पक्षी कबूतर, कोकिला, हंस, सारस, चक्रवाक, चातक, शुक, सारिका, तीतर, मयूर, सभी अपना बोलना बन्द करके भ्रमरों के मुखों से निसृत कथा रूपी रसामृत का इकटक भाव से पान करने लग जाते हैं। जिस पक्षी का भी शब्द सुनो उसी में श्रीहरि के गुणों का ही गान रहेगा। जिस वृक्ष के नीचे बैठो, वहीं वैकुण्ठ-वासी जन भगवत् ध्यान में तल्लीन मिलेंगे। वहाँ कोई ऐसा वृक्ष नहीं जिसकी गन्ध मन को मोहित करने वाली न हो, वहाँ कोई ऐसा पादप नहीं जो हरि-सेवा में न आता हो। भगवान् सभी वृक्षों का अत्यधिक सम्मान करते हैं, किन्तु तुलसी देवी का तो सबसे अधिक आदर करते हैं ?"

इस पर सनकादियों ने पूछा—"भगवन्! यह तो पक्षपात हुआ। जब सभी को समान सेवा का अधिकार है, तो भगवान्

तुलसीदेवी का इतना आदर क्यों करते हैं।"

इस पर मैंने आँखों में आँसू भरकर कहा—"पुत्रो! यह पक्षपात नहीं, भगवान् की भक्तवत्सलता है। वैकुण्ठ को ले जाने वाली तुलसी ही तो हैं। जिन्होंने कभी प्रभु के पुनीत पाद-पद्मों में तुलसीदेवी को समर्पित नहीं किया, जिन्होंने श्रीचरणों पर चढ़ी हुई तुलसी को सिर पर नहीं चढ़ाया, उसकी दिव्य गन्ध को सूँघा नहीं, जिन्होंने भगवान् के गले में पहिनाई तुलसीदलों की मनोहर माला को श्रद्धा से सिर पर चढ़ाकर प्रसादी रूप में अपने गले में धारण नहीं किया, जिन्होंने तुलसी मिश्रित चरणामृत का पान नहीं किया, जिन्होंने हरी-हरी मंजरी सहित नैवेद्य का भक्षण नहीं किया, जिन्होंने तुलसी की बनी काष्ठ माला को कण्ठ में, कानों में, मस्तक पर, भुजाओं में, हाथों में धारण नहीं किया, जिन्होंने तुलसी वृक्ष को अपने घर में रोपकर उसका दर्शन स्पर्श नहीं किया, उनकी प्रदक्षिणा नमस्कार नहीं की, जल नहीं दिया, उनके आगे दीपक नहीं जलाया, पूजा नहीं की, उनको भला वैकुण्ठधाम के दर्शन कैसे हो सकते हैं? ये देवी अपनी महिमा से ही प्राणियों को वैकुण्ठधाम को ले जाती हैं। इसीलिये भगवान भी इनका अत्यधिक आदर करते हैं और समस्त वैकुण्ठवासी भी इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। दूसरे वृक्ष इनके सौभाग्य पर ईर्ष्या नहीं करते, डाह नहीं करते, बुरा नहीं मानते, क्योंकि ये सब तो वहाँ हैं ही नहीं। महारानी तुलसीजी से वैकुण्ठ की शोभा है, वहाँ के मंदार, कुन्द, तिलक, उत्पल, कमल, चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेशर, मौलश्री, अम्बुज, पारिजात आदि जितने देव वृक्ष हैं सभी महारानी तुलसी के तप को, सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। सभी उनके चरणों में नतमस्तक होते हैं। वे गुणग्राही मात्सर्य हीन और भक्त हैं। स्वयं श्रीहरि को तुलसीजी की गन्ध अत्यन्त प्रिय है। इसलिये सभी भक्त उनके चरणों में मञ्जरी-

युक्त तुलसी को ही चढ़ाते हैं। निरन्तर तुलसी के चढ़ाने से उनके चरण कमलों से सदा दिव्य तुलसी की गन्ध निकलती रहती है। वे तुलसी के दलों से सुगन्धित मालाओं को बड़े प्रेम से धारण करते हैं। अतः वह लक्ष्मीजी के सम्मुख ही उनके वक्षः-स्थल पर सदा लोटती रहती हैं। इतने पर भी लक्ष्मी बुरा नहीं मानतीं, रोष नहीं करतीं। उनके रहने से दुखी नहीं होतीं।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ! सनकादिकों के पूछने पर जब मैं महारानी तुलसी देवी का वर्णन करने लगा, तो मेरे सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो गया। गला भर आया, आगे कुछ भी कहने में मैं समर्थ हो गया।"

छप्पय

दिव्य धाम वैकुण्ठ बसें हरि शुद्ध सत्वमय।
जहाँ न ईर्ष्या द्वेष दम्भ छल कपट कष्ट भय॥
नैःश्रेयस वन जहाँ दिव्य पादम सुखकारी।
सब ऋतु ह्वै साकार रहें अतिशय प्रियकारी॥
कमल कुमुदिनी सोहिं सर, लता माधवी मधुमयी।
मधुप गुञ्जि गुन गावते, कृष्ण कथा नितई नयी॥

श्री वैकुण्ठ वर्णन

[१३६]

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दम्,
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि,
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १५ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

कमला तुलसी हिली मिली निज नाथ रिझावें।
हृदय कण्ठ में लिपटि प्रेम परिरम्भन पावें॥
तजि लक्ष्मी चांचल्य गहें कर कमल घुमावें।
मानों मणिमय भवन माँहि मार्जनी लगावें॥
कथा कीर्तन ते विमुख, तिन को नर तनु ही वृथा।
ते नहिं निरखैं नाकपुर, हरिपुर की पुनि का कथा॥

---

* ब्रह्माजी देवताओं से कह रहे हैं—"देवताओ! जिन लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये अन्य लोग बड़े-बड़े यत्न करते है, जो चञ्चल होने के कारण कही भी एक स्थान मे अधिक नही ठहरतीं वहाँ वैकुण्ठ, धाम में वे भी अपनी चञ्चलता के दोष को छोड़कर मूर्तिमती होकर रहती हैं। रहती क्या हैं, मानों श्रीहरि के स्फटिक मणियों की भीतों वाले सुवर्ण मण्डित भवन में अपने चरण नूपुरो की झङ्कार करती हुई क्रीड़ा कमल को लीला से घुमाती हुई इस प्रकार घूमती हैं, मानों वहाँ झाड़ू दे रही हों, महल का मार्जन कर रही हों।"

हाय ! मनमोहन की कैसी मोहिनी माया है, जिसके वशीभूत होकर जीव अकर्त्तव्य कार्यों में जान-बूझकर प्रवृत्त होते हैं और उन्हें आनन्द के लिये करते हैं। बताइये, हम दूसरों की बिना ही प्रयोजन निन्दा करते हैं, इधर-उधर की व्यर्थ बातें बकते रहते हैं। परनिन्दा, परचर्चा से हमारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है। हम न्यायाधीश नहीं, शासक नहीं, सर्वज्ञ नहीं, विधाता नहीं, फिर व्यर्थ में बिना समझे बूझे दूसरों की निन्दित कथायें कह सुनकर अपने इहलोक और परलोक को नष्ट करके नरक के द्वार को क्यों अपने लिये खोलें ? क्यों अपने पूर्व पुण्यों को नष्ट करके आश्रयहीन होकर नरक की यातनाओं को भोगें ?

अरे मनुष्यो ! तुम अत्यन्त मनहर, कानों को अति मधुर लगने वाली, हृदय के समस्त पापों को नष्ट कर देने वाली, जीवन में सुख-शान्ति और नित नवीन उल्लास को बढ़ाने वाली कमनीय कृष्ण कथाओं को क्यों नहीं सुनते ? तुम विश्वास रखो, नित्य उन्हें श्रद्धा से सुनो, नित्य उन्हीं का चिन्तन करो, ताल स्वर और लय के साथ अथवा बिना ही ताल स्वर के उनका गान करो। तुम सुखी होगे, शान्ति तुम्हारी सहचरी होगी और अन्त में भगवान् के वैकुण्ठ धाम में जाकर वहाँ के कभी नष्ट न होने वाले, जिनमें क्षय की-पतन की-सम्भावना भी नहीं, ऐसे दिव्य-दिव्य सुखों का सदा उपभोग करते रहोगे। सदा वैकुण्ठाधिपति श्रीहरि का सानिध्य प्राप्त कर सकोगे, जो सभी सुखों के आलय, सभी आनन्दों के उद्गम और सभी विश्रामों के एकमात्र विश्राम स्थान हैं। वहाँ माया का लेश नहीं, किसी प्रकार का क्लेश नहीं और काम वासना की गन्ध नहीं।

ब्रह्माजी देवताओं से कहते हैं—"देवताओ ! जब मैं तुम्हारे

अग्रज कुमारों के सम्मुख वैकुण्ठ धाम का वर्णन कर रहा था, तो उन्होंने पूछा—"ब्रह्मन् ! वैकुण्ठ में भी स्वर्गादि लोकों की भाँति अप्सरायें हैं क्या ?"

मैंने कहा—"हाँ, हैं क्यों नहीं, वहाँ भी अप्सरायें हैं। वैकुण्ठ-वासी भी अपने वैदूर्य और मरकत मणियों के सुवर्णमय दर्शनीय विमानों पर बैठकर इच्छानुसार वैकुण्ठ में घूमते हैं। उनमें क्षीण-कटि, पृथु नितम्ब, उन्नत वक्षःस्थल, कुटिल भ्रू और दीर्घ नयनों वाली अनुपम दिव्य सुमुखी सुन्दरियाँ भी बैठी हुई, हास परिहास करती हुई, आनन्द की क्षण-क्षण में वृद्धि करती हैं।" इस पर अखंड व्रतधारी सनकादि बोले—"जब ये ही सब काम की सामग्रियाँ वैकुण्ठ में भी हैं, तो फिर स्वर्ग में और वैकुण्ठ में अन्तर ही क्या रहा। यहाँ के भोग अपेक्षा कृत स्वल्प हैं, वहाँ के महान होंगे। यहाँ कुछ कम रूप, सौन्दर्य लावण्य होगा। वहाँ कुछ अधिक होगा। इतना ही तो अन्तर मालूम पड़ता है।"

इस पर मैंने कहा—"नहीं भैया ! ऐसी बात नहीं। स्वर्गादिकों के भोग काम को उत्पन्न करते हैं। शरीर सुख और उपभोग की लालसा बढ़ाते हैं। वहाँ यह बात नहीं, वहाँ सभी वस्तुओं से भगवद् भक्ति ही बढ़ती है। वैकुण्ठवासिनी सुन्दरियाँ भी सदा श्यामसुन्दर के ही विषय की चर्चा करती हैं, उनका ही कीर्तन करती हैं। उन्हें देखकर उसने बात करके भगवत् स्मृति ही होती है।

इस पर कुमारों ने पूछा—"फिर वे वहाँ रखी ही क्यों गई हैं।"

मैंने हँसकर कहा—"वाह ! यह कोई प्रश्न है ? भगवान् सभी के हैं, सभी को उन्हें पाने का, प्रेम करने का पूर्ण अधिकार है। सभी उनके आश्रय में समान भाव से रह सकते हैं। सभी उनकी

सेवा सुश्रुषा में लग सकते हैं। जिन सुन्दरियों ने लक्ष्मी की सहचरी होने के लिये ही जन्म जन्मान्तरों तक तप किया है, उन्हें नारायण के साथ लक्ष्मी जी का सहचरीपन प्राप्त होता ही है। लक्ष्मीजी सर्वत्र चञ्चला हैं। बिजली की भाँति अभी यहाँ चमकीं, फिर छिप गईं। उनके पैर एक स्थान में टिकते नहीं। पुराण पुरुष की पत्नी की भाँति एक घर से दूसरे घर में घूमती रहती हैं, किन्तु इस लोक में वे अपना चाञ्चल्य परित्याग कर देती हैं। यहाँ वे सती साध्वी पतिव्रता के समान प्राणधन की परमप्रिय प्राणेश्वरी बनकर, सदा उन्हीं की सेवा में तत्पर रहती हैं। यहाँ वे न ईर्ष्या करती हैं न सौतिया डाह। तुलसी से साथ वैकुण्ठनाथ के हृदय में निवास करती हैं। न तुलसी जी को कोई रोष, न इन्हें आपत्ति। अपने नूपुरों की झनकार से भगवान् के दिव्य भवनों को गुञ्जायमान करती हुई, क्रीड़ा कमल को नचाती हुई, प्रेम के गर्व में इठलाती हुई, अपने लटकते हुए कौषेय दिव्य वस्त्रों से बुहारी-सी देती हुई, स्फटिक और वैदूर्य की मणिमय भित्तियों में अपना प्रतिबिम्ब निहारती हुई इधर से उधर छम्म-छम्म करके घूमती रहती हैं। उनके वदनारविन्द पर श्रीहरि के कृपा प्रसाद से प्राप्त प्रेम चिह्न कुंकुम से रंजित उसी प्रकार शोभित होता है, जिस प्रकार शारदीय शशि के ऊपर कुंकुम बिखेर दिया गया हो। उसी चिह्न से चिह्नित होकर जब वे क्रीड़ा वाटिका में जाती हैं और हरिप्रिया तुलसी द्वारा अपने सरोवर के सभी सिंहासन पर सुशोभित होकर श्यामसुन्दर की समाहित चित्त से आराधना करती हैं, तो उन्हें अपने प्रतिबिम्ब से भ्रम हो जाता है। यहाँ जल में कोई मेरे ही सदृश हरिवल्लभा और भी बैठी हुई है। उसे भी प्राणनाथ के द्वारा प्रेम प्रसाद प्राप्त हुआ है। उसका भी अनुपम आनन उसी कृपा प्रसाद पूर्ण प्रेम चिह्न से चिह्नित है, तब उन्हें न द्वेष होता है न मत्सर, न मान होता है न

सौतियाडाह । स्वयं तुलसी को अपने हृदयधन के अमल कमल सदृश चारु चरणों में मञ्जरी सहित अर्पण करती है

और उसी नाट्य को प्रतिबिम्ब में देखकर प्रसन्नता प्रकट करती हैं।"

सनकादिकों ने पूछा—"प्रभो ! कैसे लोग उस अनुपम शोभा युक्त वैकुण्ठ धाम में जाते हैं ?"

मैंने कहा—"देखो, जिन्होंने श्रीहरि को ही अपना एकमात्र आश्रय, अवलम्ब और जीवन सर्वस्व मान लिया है, ऐसे अनन्याश्रयी शरणागत प्रपन्न पुरुष ही उस वैकुण्ठ धाम में जाने के अधिकारी होते हैं। जिन्होंने विषय की बातों को विषवत् त्याग दिया है। जो निरन्तर, हरिलीला चिन्तन, हरिलीला कथन, हरिगुन गान में ही और कृष्ण कथा-श्रवण में ही तल्लीन रहते हैं, ऐसे अनन्याश्रयी सच्चे सेवक ही उस सर्वश्रेष्ठ लोक के दर्शन कर सकते हैं। जिनके कर कृष्ण कैंकर्य के अतिरिक्त और कोई काज करते ही नहीं, जिनके पाद उनकी पूजा सम्भार के जुटाने के ही लिये गतिमान् होते हैं, जिनके नयन श्यामसुन्दर और उन्हीं के आश्रित भक्तों के ही दर्शनों से उल्लसित, अश्रुपूर्ण और विकसित होते हैं, जिनका मस्तक मदनमोहन के चल और अचल विग्रहों के ही लिये ही सदा नत रहता है, जिनकी रसना भगवत् नैवेद्य के अतिरिक्त सभी को हलाहल विष के समान समझती है। कृष्ण कैंकर्य के अतिरिक्त जिनका अन्य कोई कार्य ही नहीं, ऐसे सेवापरायण कृष्णकृपा प्राप्त भक्त ही वैकुण्ठ में जाकर अपने जीवनधन की अनन्य भाव से आराधना करते हैं। वहाँ के दिव्यातिदिव्य अक्षय भोगों का उपभोग करते हैं। जो परम-भागवत भक्त नित्यप्रति नियम से, नियत समय पर मिल जुलकर बैठकर, वैकुण्ठ गुण वर्णन करते हैं, उस गुण वर्णन और श्रवण के समय जिनका शरीर प्रेम से रोमांचित हो जाता है, अंगों में कम्पन होने लगती है, हृदय द्रवीभूत होकर आँखों के मार्ग से अश्रु बनकर बहने लगता है। रोमकूपों से सात्त्विक स्वेद और फुरहुरी-सी उठकर जिनके अंग प्रत्यङ्गों में विद्युत-सी चंचला उठने लगती है। जिनकी कथा श्रवण करते-करते तृप्ति होती ही

नहीं, जो कथा श्रवण मात्र से सभी सांसारिक धर्मों को भूल जाते हैं। ऐसे ऐसे परम प्रेमास्पद प्रभु-प्रेमी ही उस पुण्यपद को प्राप्त कर सकते हैं। वे ही उस मेरे लोक से भी वन्दित और सर्वश्रेष्ठ उच्चलोक में जाने के अधिकारी हो सकते हैं।"

सनकादिक मुनियों ने कहा—"भगवान् के उस लोक का दर्शन किन पुण्यों के प्रभाव से होता है ?"

तब मैंने कहा—"वह लोक पुण्यों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। साधन साध्य लोक नहीं है। वह एकमात्र कृपा-साध्य लोक है। करुणासागर की जिस भाग्यशाली पर कृपा हो जाय, जिसे अनुग्रह करके वे अपना लोक दिखाना चाहते हैं, वही उनके उस लोक के दर्शन करता है। जिन्हें अपने साधन का अभिमान है, अपने बल पुरुषार्थ तथा पुण्य कर्मों का भरोसा है, वे लोग अधिक से अधिक मेरे लोक तक आ सकते हैं। इससे ऊपर नहीं।"

इस पर वे बोले—"तब तो साधन व्यर्थ ही है ?"

मैंने कहा—"साधन व्यर्थ क्यों हैं ? व्यर्थ भी हो, तो मनुष्य बिना कुछ साधन किये रह ही नहीं सकता। इसलिये मनुष्य का दूसरा नाम साधक है। साधन अनेक हैं, किन्तु सर्वश्रेष्ठ साधन तो यही है, कि उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते हुए, आये हुए सुख-दुःखों को प्रारब्ध का भोग समझकर, बिना व्यग्र हुए प्रसन्नता से भोगते हुए निरन्तर उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करते रहना। इससे बढ़कर वैकुण्ठ धाम तक पहुँचाने वाला कोई अन्य साधन नहीं। वैकुण्ठ में जाकर भगवान् वैकुण्ठनाथ के दर्शन करके जीव कृतार्थ हो जाता है, उसका संसार बन्धन सदा के लिये कट जाता है। वह कृत-कृत्य हो जाता है। जिसने वैकुण्ठनाथ के दर्शन नहीं किये, उनका जन्म व्यर्थ है।"

यह सुनकर उत्सुकता प्रकट करते हुए कुमारों ने कहा—

"भगवन्! हम उस दिव्यातिदिव्य लोक का दर्शन करना चाहते हैं। हम सब वैकुण्ठनाथ के कृपा प्रसाद को पाकर कृतार्थ होना चाहते हैं। आपकी आज्ञा हो तो हम जायें?"

मैंने कहा—"बड़ी अच्छी बात है। जाओ, किन्तु सावधान होकर जाना। वहाँ कुछ गड़बड़ मत करना।"

उन्होंने कुछ अभिमान पूर्वक कहा—"हमें गड़बड़ सड़बड़ क्या करनी। माया को तो हमने स्वीकार ही नहीं किया। काम, क्रोध हमारे पास फटकते ही नहीं। हम किसी को ऊँच नीच समझते नहीं, किसी को दंडनीय, श्लाघनीय मानते नहीं। समान भाव से सभी को समझकर स्वच्छन्द होकर विचरते रहते हैं।"

मैंने कहा—"भगवान् तुम्हारा कल्याण करें, जाओ मेरे भी पूजनीय पिता परब्रह्म परमेश्वर का दर्शन कर आओ।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ! इस प्रकार मेरी आज्ञा पाकर ये चारों कुमार वैकुण्ठधाम को चले गये।"

छप्पय

श्रद्धा संयम सहित सुयश हरि सुनें सुनावें।
प्रेम पुलक तनु होहि, गिरें हँसि रोवें गावें॥
तुलसी पूजन करें भागवत भगवत मानें।
परधन लोष्ठ समान मातु सम परतिय जानें॥
त्रिभुवन की सम्पति मिलै, तऊ न जावे विषय मन।
स्वाँस-स्वाँस पै हरि रटैं, ते निरखें वैकुण्ठ जन॥

—o—

जय विजय को शाप

[१६७]

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यम्,
दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्य विमानशोचिः ।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग—
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १५ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

चित्र विचित्र विमान विभूषित परम दिव्य जहँ ।
सनकादिक मुनि मुदित योग बलतें पहुँचे तह ॥
चित्त न चञ्चल भयो निरखि शोभा उपवन की ।
मनमहँ अति ई उग्र लालसा हरि दरशन की ॥
महल मनोहर मनि जटित, श्रीहरि के देखत भये ।
द्वारपाल तें बिनु कहें, नंग घड़ंगे घुसि गये ॥

अहा ! कैसे हैं वे भाग्यशाली मुनि जो सङ्कल्प करते ही अपने योग प्रभाव से जिस लोक में चाहें पहुँच सकते हैं। हम

---

* ब्रह्माजी देवताओं से कह रहे हैं—"देवताओ ! वे सनकादि मुनीश्वर जगद्गुरु श्रीहरि के निवास स्थान उस वैकुण्ठधाम में पहुँचे जो सम्पूर्ण भुवनों का एकमात्र वन्दनीय है, जो वैकुण्ठवासी जनों के विचित्र विमानों से विभूषित है। उस परम दिव्य और अद्भुत लोक में पहुँच कर उन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ।"

लोगों के पास न योग शक्ति है, न तुच्छ सांसारिक सम्पत्ति ही। फिर भी मन रूपी रथ पर चढ़कर इन्हीं हेयातिहेय विषयों को सर्वसुख मानकर इनका एक काल्पनिक जगत् बनाते हैं। ऐसा करेंगे, यह सुख प्राप्त करेंगे उस वस्तु का संग्रह करेंगे, उससे यह कहेंगे, इस प्रकार सुखी होंगे। होना जाना कुछ नहीं, केवल मनमोदक खाते-खाते लार बहाते रहते हैं। कोई कहे तुम इन झूठे काल्पनिक विचारों को छोड़ क्यों नहीं देते, तो हम पर वे-झूठे विचार मन से ही उत्पन्न किये हुए मानसिक मिथ्या भोग—ही नहीं छोड़े जाते, फिर भुक्ति मुक्ति की स्पृहा का त्यागना तो बहुत दूर की बात है। जब तक सर्वात्मभाव से अपने "अहं" को त्यागा नहीं जाता, तब तक भगवत् साक्षात्कार होता नहीं। भगवत् साक्षात्कार होने पर अपना अहं रहता नहीं। भगवदीयों को या तो कभी अहंकार आता नहीं, यदि कभी भूल से भगवत् इच्छा से आ भी जाता है, तो प्रभु स्वयं ही लीला से हँसी-हँसी में उसका मूलोच्छेदन कर देते हैं। सनकादि तो नित्य शुद्ध मुक्त और माया से निर्लेप रहते हैं। किन्तु जब स्वयं मायापति ही अपनी अघटन घटनापटीयसी माया का आश्रय लेकर क्रीड़ा करना चाहते हैं, तब अपने लीलालोक में जिससे जो कराना चाहें, करा सकते हैं। सब उन्हीं के तो अङ्ग हैं। जब हम शैया पर सोते रहते हैं तब सभी इन्द्रियाँ निद्रा-सुख का शान्ति के साथ रसास्वादन करती रहती है। जब हम शैया त्यागकर चेष्टा और व्यापार करने को उद्यत हो जाते हैं, तो हाथों को इधर-उधर फटकारते हैं। पैरों को चलाते हैं। नेत्रों को घुमाते हैं, मुँह को मटकाते हैं। सभी स्वस्थ अंग अपने अंगी की आज्ञा का बिना विरोध किये पालन करते हैं। जो अस्वस्थ अङ्ग हैं, उनकी चिकित्सा करके उन्हें योग्य बनाने का प्रयत्न करते हैं। जगत् भगवान् की क्रीड़ा है, वे इसके नियामक हैं और नित्य, मुक्त,

मुमुक्षु और बद्धजीव उनके यन्त्र हैं। जिसे जब जैसे चाहें घुमाते हैं। जिससे जो चाहें कराते हैं, कोई आपत्ति कर नहीं सकते। करें भी तो उनकी आपत्ति चल नहीं सकती।

भगवान की ही इच्छा से चारों कुमार बड़ी उत्सुकता से उनके दर्शनों के निमित्त वैकुण्ठ लोक को चले। प्रभु को आज इन्हें निमित्त बनाकर कुछ क्रीड़ा करनी है। कुछ चहल-पहल लड़ाई-झगड़ा शापाशापी का स्वांग रचना है। मर्त्यलोक के भक्तों के ऊपर कृपा करनी है। इसीलिए कुमार मन से भगवान का चिन्तन करते हुए, वाणी से गोविन्द गुन गाते हुए अपने अमित योगबल से वैकुण्ठ लोक में पहुँच गये।

वैकुण्ठ धाम की दिव्य मनोहर अवर्णनीय शोभा उनके मन को लुभा न सकी। उन्होंने इधर-उधर नहीं देखा, सीधे दिव्य विमानों की श्रेणियों को पार करते हुए वे वैकुण्ठपति भगवान् विष्णु के परमधाम की ही ओर बढ़ने लगे। सम्मुख ही उन्होंने भगवान् के मणिमय महल का विदूर्य मरकत आदि मणियों से युक्त विशाल गोपुर (प्रधानद्वार) देखा जो कि शंख चक्र आदि दिव्य आयुधों के चिह्नों से चिह्नित था और जिसके ऊपर विशाल गरुड़ध्वजा फहरा रही थी। बहुत से वैकुण्ठवासी भृत्य, सेवक और दौवारिकों की वहाँ भीड़ थी। सहस्रों विमान इधर-उधर घूम रहे थे। विशाल राजपथों पर कल्पवृक्ष के पुष्पों की मनमोहक सुगन्धि आ रही थी, चारो ओर दिव्य सुगन्धित जलों का छिड़काव हो रहा था सभी शंख चक्र आदि धारण किये पीताम्बर पहिने विष्णु भगवान् के समान ही इधर से उधर आ जा रहे थे। हाथ में वेत्र लिये शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये द्वारपाल खड़े थे। सनकादिकों को तो कोई शंका थी ही नहीं। उनकी तो सर्वत्र समान दृष्टि थी उनके लिये अपने पराये का भेद भाव ही नहीं था। भगवान् वैकुण्ठनाथ उनके पिता के भी पिता हैं।

वैकुण्ठ धाम उनका घर है। भगवान् सभी के सुहृद हैं, पिता हैं, माता हैं। सर्वस्व हैं। उनका घर अपना घर है। पूछा-पाछी दूसरों के घर में होती है। शंका संदेह से होती है। बच्चा अपने घर में घुसता है, निकलता है, उसे किसी सेवक से पूछना नहीं पड़ता। सनकादि मुनि भी निःशंक होकर भीतर घुस गये। किसी ने इन्हें रोका ही नहीं। पाँच वर्ष के होने पर भी वे सब इतने तेजस्वी थे, कि किसी का कुछ पूछने का साहस ही नहीं हुआ। पहिली ड्योढ़ी को नांघकर वे दूसरी पर, दूसरी से तीसरी पर, तीसरी से चौथी पर, इस प्रकार ६ ड्योढ़ियों को वे बिना रोक-टोक, बिना किसी से पूछे-ताछे आनन्द पूर्वक पार कर गये।

जब वे सातवीं ड्योढ़ी पर पहुँचे, तब तो उन्होंने इधर-उधर बड़ी सावधानी से खड़े हुए भगवान् के प्रधान पार्षद् जय और विजय को देखा। उनकी वेषभूषा, रूप लावण्य सब भगवान् के ही तुल्य था। वे चरण पर्यन्त लम्बायमान वनमाला को धारण किये थे। जिन पर वैकुण्ठ के कल्प वृक्षों के मधुसौरभ के लंपट मधुकर गुञ्जार कर रहे थे, जिनके माथों पर महामूल्य मणिमय मुकुट शोभायमान था। कानों में कनक के मकराकृत कुण्डल दमक रहे थे। सम्पूर्ण अंगों में दिव्य वस्त्राभूषणों में के रत्न चमक रहे थे। हाथ में गदा लिये वे कुछ गंभीर से दिखाई दे रहे थे। उनकी चेष्टा अन्य द्वारपालों की-सी नहीं थी। उनकी आँखों में रोष के कारण लाल-लाल डोरे पड़े हुए थे। उनकी भ्रुकुटि कुछ चढ़ी हुई थी, नासिका के रंध्र कुछ टेढ़े होकर फड़क रहे थे। माथे पर बल पड़ रहा था और मुख म्लान होने के कारण क्षुब्ध-सा दिखाई देता था।

कुमारों ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया और वे बिना पूछे ही इस ड्योढ़ी के दरवाजे में भी उसी प्रकार घुसने लगे, जिस प्रकार अन्य दरवाजों में घुसते हुए यहाँ तक आये थे, किन्तु यहाँ

वे घुसने नहीं पाये। यहाँ के द्वारपालों ने बेंत अड़ाकर उन्हें भीतर जाने से रोक दिया। यह आचरण इन ब्रह्मज्ञानी मुनियों के अनुरूप नहीं था। इन ब्रह्मज्ञानी मुनियों को, जो सभी पूर्वजों के पूर्वज हैं, सभी के वन्दनीय पूजनीय और आदरणीय हैं, उन्हें इस प्रकार अपमान पूर्वक रोक देना उचित नहीं था।

यद्यपि ये काम क्रोध आदि विकारों से रहित थे, फिर भी न जाने काम का छोटा भाई क्रोध इनके हृदय में कहाँ से आ गया? ये उसी के वश में हो गये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! एक तो सनकादि मुनि ही सर्वथा काम क्रोध से हीन हैं। मान लो, किसी कारण उन्हें जगत् में क्रोध आ भी सकता है, किन्तु भगवान् के वैकुण्ठ-धाम में जहाँ काम क्रोध का प्रवेश तक नहीं, वहाँ उन्हें क्रोध कैसे आ गया? वहाँ क्रोध का प्रवेश हो कैसे गया?"

इस पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो! सनकादियों को अपने किसी स्वार्थ पर क्रोध नहीं आया और न उन्हें अपने अपमान से क्रोध हुआ। उन्हें तो इस बात से क्रोध आया, कि यह हमारे भगवत् दर्शनों में विघ्न कर रहे हैं। हम तो शीघ्र श्रीहरि के चरणारविन्दों का दर्शन करना चाहते हैं, ये हमें चरणों में जाने से रोक रहे हैं, हमारे दर्शनों में विघ्न डाल रहे हैं। उनका क्रोध भगवान् के सम्बन्ध को लेकर था। भगवान् के सम्बन्ध से तो सभी श्लाघनीय हैं। इसलिये इनको क्रोध अपने निजी कार्य के लिये नहीं था। अब रही यह बात कि वैकुण्ठ में क्रोध पहुँच कैसे गया? सो मुनियो! वहाँ का क्रोध संसारिक क्रोध नहीं था, वह दिव्य ही था। उसमें एकमात्र भगवान् की इच्छा ही कारण कही जा सकती है। उन्हें लीला करनी थी। उसी के लिये रंगभूमि का यह उपोद्घात था। उनकी इच्छा तो पहिले से ही थी, उसे इस रूप में प्रकट किया।"

शौनकजी कहने लगे—"सूतजी ! भगवत् इच्छा, उनकी क्रीड़ा, लीला—ये ऐसे शब्द हैं, कि आस्तिक लोग इनके आगे कुछ कह ही नहीं सकते। हाँ तो फिर क्या हुआ ?"

सूतजी कहते हैं—"देवताओं के पूछने पर ब्रह्माजी फिर उसी प्रकार कहने लगे—"देवताओ ! जब जय विजय नामक

द्वारपालों ने मेरे मानसिक पुत्र सनकादिकों को रोक दिया, तो भगवत् दर्शनों में अन्तराय के उपस्थित करने वाले उन दोनों द्वारपालों पर उन्हें सहसा क्रोध आ गया। इस प्रकार का क्रोध होना अभूतपूर्व था, कभी उन्हें किसी पर क्रोध नहीं आया। उन्होंने उन दोनों को डाँटते हुये कहा—"क्यों रे! तुम लोग भगवान् के लोक में आकर —भगवान् के इतने सन्निकट रह-कर—भी अशिष्ट ही बने रहे। जिसने भली प्रकार भक्तिभाव-पूर्वक भगवत् परिचर्या नहीं की है, वह इस लोक में आ ही नहीं सकता और जो भगवत्भक्त है, वह कभी किसी के साथ कठोर बर्ताव कर नहीं सकता। दीनता, नम्रता, सरलता, ऋजुता तथा मृदुता यही तो भक्तों के भूषण हैं। भक्तों में भगवान् के सभी गुण आ जाते हैं। भगवान् का कितना शान्त स्वभाव है और तुम कितने उद्धृत और विषम व्यवहार करने वाले हो?"

उन्होंने अधिकार के स्वर में कहा—"महाराज! हमने क्या विषमता की? द्वारपाल रखे ही इसीलिए जाते हैं, कि वह किसी को न जाने दें, जो जाने योग्य होवें वे ही भीतर जा सकें। आप लोग नंग-धड़ंगे बेधड़क बिना पूछे चले जा रहे हैं आप उल्टे हमें ही डाँटते हैं।"

सनकादिकों ने कठिन-स्वर में कहा—"शंका होती है पाप से यहाँ भगवत् भक्ति से शून्य पुरुष तो आ ही नहीं सकता। जिसने भगवान् के साथ आत्मीयता प्राप्त नहीं की है, वह गोपुर के भीतर प्रवेश ही नहीं कर सकता। तुम स्वयं कपटी हो, इसलिये दूसरों को भी कपटी समझते हो। इसीलिये तुम्हारी ऐसी भेद बुद्धि है। यही सोचने की बात है, ज्ञानी पुरुष अपनी आत्मा में सब भूतों को तथा सब भूतों को अपनी आत्मा में ही देखते हैं, फिर भगवान् के विषय में तो कहना ही क्या? उनके यहाँ तो भेद-भाव का काम ही नहीं।"

इस पर जय विजय लाल-लाल आँखें करके बोले—"भेद-भाव तो आप ही स्वयं कर रहे हैं। हमें तिरस्कृत समझकर अपने को ही श्रेष्ठ मानते हुये हमारा अपमान कर रहे हैं। हम आपकी बातों से डरने वाले नहीं हैं। आप बिना आज्ञा के भीतर नहीं जा सकते।"

उन दोनों को इस प्रकार काम क्रोध के वशीभूत देखकर उनके कल्याण के ही निमित्त-कुपित हुए मुनियों ने उसी समय उन्हें शाप देते हुए कहा—"तुम दोनों मन्दमति हो। तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। अतः हम तुम्हारे हित के ही लिये तुम्हें यह शाप देते हैं, कि अब तुम इस लोक में रहने योग्य नहीं रहे। तुम्हारे हृदय में आसुरी भाव आ गया है, अतः तुम अभी आसुरी योनि में प्राप्त होकर उस लोक में गिर जाओ जहाँ के लोग काम, क्रोध और लोभ के अधीन रहते हैं, क्यों कि बिना भेद बुद्धि के काम क्रोधादि होते नहीं। अतः तुम्हारा इस लोक से तुरन्त पतन हो जाय।"

अब तक तो जय विजय अपने द्वारपाल होने के मद में थे। शाप सुनते ही उनका मद शान्त हो गया। उन्होंने समझ लिया ब्रह्म शाप अमोघ होता है। यह किसी भी साधन से टाला नहीं जा सकता। अतः उन दोनों ने अत्यंत कातर भाव से दौड़कर व्याकुलता के साथ मुनियों के पैर पकड़ लिये। उनके पादपद्मों की रज में लोटते हुए अत्यन्त दुःख के साथ रोते-रोते वे कहने लगे—प्रभो! हमें आपका शाप स्वीकार है। शाप क्या है, यह हमारे ऊपर अनुग्रह है। इस दंड से हमारे मद का नाश होगा। भेद बुद्धि दूर होगी भगवान् की आज्ञा उल्लङ्घन रूपी पाप का प्रायश्चित हो जायेगा। इनमें सभी प्रकार हमारा कल्याण ही कल्याण है। किन्तु हे करुणा वरुणालय मुनियो! हमारी एक भीख है। वह यह कि हम भले ही असुरी अधम योनि में जायँ, किन्तु भगवत् स्मृति

सदा बनी रहे। किसी भी भाव से सही, हम क्षण भर को भी भगवान् को न भूल सकें। कृपा करके यह वरदान हमें और देते जायँ।"

भगवान् के प्रधान पार्षदों के मुख से शाप के बदले में ऐसे दीनता पूर्ण वचन सुनकर सनकादिक मुनिगण तो हक्के-बक्के से रह गये। उन्हें अब चेत हुआ, वे उन वैकुण्ठ के परम माननीय पार्षदों को देखते के देखते रह गये।

छप्पय

छै ड्योढ़िनि कूँ लांघि सातवीं पै पहुँचे सब।
दौवारिक है कुपित लखे कर बेत्र लिये तब॥
ज्यों ई भीतर घुसे तुरत तिनने ते टोके।
मुनि बोले करि कोप क्रूर कस हम सब रोके॥
भू पै जनमो दैत्य है, फिर ऐसो न करो कहीं।
सुन्यो शाप पग परि कहे—हों, परि हरि विसरें नहीं॥

श्रीहरि का नंगे पैरों आगमन

[१३८]

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः,
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।
तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीना—
मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १५ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

दया सिन्धु ने सुनी ब्रह्म मानस सुत आये ।
अपमानित है शाप दयो सुनिकें घबराये ॥
नंगे चरननि चलें चरनदासी हूँ त्यागीं ।
छत्र चँवर ले भृत्य भगे कमला सँग लागीं ॥
जिन चरननि की चाह महँ, चारों चंचल चित भये ।
मुनि ध्यावैं हियमहँ जिन्हें, करि नंगे तिनकूँ गये ॥

किसी कारण से कुपित हुए पुत्र को सुनकर सत् पिता कोप नहीं करता, किन्तु उसे प्रसन्न करने का उपाय सोचता

* ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ ! इधर श्रेष्ठ पुरुषों के पूजनीय पद्मनाभ भगवान् पुरुषोत्तम ने जब सुना, कि मेरे सेवकों ने सनकादि मुनियों का तिरस्कार किया है, तो उसी समय नंगे पैरों ही लक्ष्मीजी को साथ लिये हुए बिना सवारी ही उन्हीं चरणों से चलकर वहाँ आये, जिनका अन्वेषण परमहंस महामुनि सदा करते रहते हैं ।"

है। अन्य पुरुषों की अपेक्षा पुत्र को प्रसन्न करना पिता ही अधिक जानता है। पिता से भी कुपित पुत्र प्रसन्न न हो, तो उसे माता प्रसन्न कर लेती है। स्नेहमयी माँ के समान रूठे हुए पुत्र को मनाने की विधि संसार में कोई नहीं जानता। कोई पुत्रवत्सला माँ अपने नन्हें से नटखट चञ्चल पुत्र को पति की गोदी में सौंपकर जल लेने यमुना जी चली गई। पुत्र तो हठी ठहरे, रोते-रोते उसने कहा—"मैं तो गुड़ लूँगा।"

पिता ने आँवले के बराबर गुड़ लाकर दिया। सिर हिलाते हुए सुत ने कहा—"नहीं, मैं तो बहुत-सा लूँगा।"

पिता ने गूलर के समान दिया। सुत ने फिर सिर हिलाया—"मुझे तो बहुत चाहिये।" आम के समान, बिल्व के समान, अन्त में कोहड़े के समान दिया। किन्तु पुत्र बार-बार कहता रहा मुझे तो बहुत चाहिये। दोनों में थोड़े बहुत का विवाद हो रहा था इतने में माता ही पहुँच गयी। हँसकर बोली—"बाप बेटे में क्या झगड़ा हो रहा है?"

पिता ने कहा—"तुम ही निर्णय करो यह बहुत माँगता है।"

माता हँस पड़ी। उसने एक छोटी एक उससे बड़ी दो डेली उठाकर कहा—"इनमें से एक ले लो। बच्चे ने हँसते-हँसते बड़ी ले ली और प्रसन्न हो गया।"

इसी प्रकार संसार में न कुछ बड़ा है न छोटा। यह छोटा बड़ापन अपेक्षाकृत है। यह इससे बड़ा है, यह इससे छोटा है। भगवान् तो माता-पिता दोनों ही हैं। वे कैसा भी कुपित पुत्र क्यों न हो, उसे भी अपनी मोहक वाणी से प्रसन्न कर लेते हैं। जब किसी पर अपना प्रेम प्रदर्शित करते हैं, तो भगवान् कह देते हैं—"मैं ब्रह्मा को जो मेरे पुत्र हैं उन्हें उतना प्यार नहीं करता, लक्ष्मीजी मेरी प्राणप्रिया हैं, उनसे उतना स्नेह नहीं करता, शेषजी जो सदा मेरी शैया बनकर सेवा में समुपस्थित रहते हैं,

उन्हें भी उतना नहीं चाहता, जितना तुम्हें चाहता हूँ, तुम्हें प्यार करता हूँ।" इतना सुनते ही भक्त के रोम-रोम खिल जाते हैं, वे श्यामसुन्दर के सदा के लिये क्रीतदास बन जाते हैं। भगवान् इन बातों को बनावटी कहते हों, सो बात नहीं। यहाँ भक्त की, शरणागत की तारतम्य से उत्कृष्टता बताने से अभिप्राय है। अर्थात ब्रह्माजी मुझसे उत्पन्न हुए मेरे पुत्र हैं, लक्ष्मीजी मेरी अर्धाङ्गिनी पत्नी हैं, किन्तु ये मुझे पुत्रत्व, पत्नीत्व इस सम्बन्ध से प्रिय नहीं। ये सदा मुझे चाहते रहते हैं, इसीलिये प्रिय हैं। मुझे शरणागत सबसे अधिक प्रिय हैं। यही इस कथन का अभिप्राय है। जिसने शरणागत धर्म का पालन न किया हो, जो प्रपन्न न हुआ हो, जिसने सर्वधर्म समर्पण पूर्वक श्यामसुन्दर की श्रद्धा सहित सेवा न की हो, वह वैकुण्ठ में आ ही नहीं सकता। इसलिये यहाँ तो सबके सब शरणागत भक्त ही हैं, सनकादिक भी शरणागत के प्रभाव से ही यहाँ तक आ सके हैं, किन्तु आज वे कुपित हैं, नये ही नये आये हैं। नये के ऊपर पुराने की अपेक्षा अधिक प्यार होता है। नये वत्स के पैदा हो जाने पर गौ सबसे पहिले दौड़कर उसी को चाटती चूमती है। इसी बात को दर्शाते हुए ब्रह्माजी देवताओं को भगवान् की भक्तवत्सलता सुना रहे हैं।

ब्रह्माजी बोले—"देवताओ! जब भगवान् वैकुण्ठनाथ ने सुना कि, सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चारों ब्रह्माजी के पुत्र मेरे चरणों के दर्शन को आ रहे थे, बीच में ही क्रोध करके मेरे प्रधान पार्षद जय विजय इन दोनों ने उन्हें रोक दिया, इस पर उन्होंने कुपित होकर उन्हें शाप दे दिया तो लक्ष्मीनाथ बड़े घबड़ाये। तुरन्त अपने अमूल्य मणि जटित आसन से यों ही उठकर नंगे पैरों, पैदल ही चल दिये। इस प्रकार व्यग्रभाव से भगवान् को जाते देखकर लक्ष्मीजी उनके सङ्ग-सङ्ग चल दीं और सेवक चँवर छत्र लिए पीछे-पीछे दौड़े गरुड़जी ने भी जब

देखा, कि आज गोविन्द बिना मेरा स्मरण किये ही चले गये, तो अवश्य कहीं कुछ गड़बड़ हो गई है, वे भी भगवान् के समीप आकर उन्हें प्रणाम करके उनके पार्श्व में चलने लगे। उस समय की श्रीहरि की शोभा अवर्णनीय थी। दोनों ओर दो श्वेत चँवर उसी तरह चल रहे थे, मानों दो राजहंस लीलापूर्वक पंख फट-फटा कर लड़ रहे हों। अथवा भक्त और भगवान् की कीर्ति दो मूर्ति बनाकर परस्पर में होड़ लगा रही हों, कि कौन किसे परास्त करती है। अथवा दो चन्द्रमा अपनी समस्त शीतल किरणों के साथ परस्पर में विवाद करते चल रहे हों, कि कुपित हुए मुनियों को हम शान्त कर देंगे। सेवकों ने भगवान् के उत्तमाँग के ऊपर अत्यन्त दर्शनीय मनोहर श्वेत छत्र लगा रखा था। जिसमें नील रङ्ग की गोट के नीचे मोतियों की झालर झलमल-झलमल करती हुई हिल रही थी, मानों विस्तृत हुए चन्द्र अपनी किरणों से अमृत बिन्दुओं की वर्षा कर रहे हों, अथवा दिव्य-श्वेत कमल के कोष से ओस के कण टपक रहे हों। अपने सभी चतुर्भुज सेवकों से घिरे हुए भगवान् आगे-आगे जा रहे थे। उनकी बाईं ओर लजाती हुई, इठलाती हुई क्रीड़ा कमल को घुमाती हुई भगवती कमलादेवी उनके पीताम्बर को पकड़े हुए चल रही थीं। दाईं ओर गरुड़जी मुँह लटकाये चिन्तातुर चल रहे थे। पता नहीं, उन्हें अपनी उपेक्षा की चिन्ता थी या अपने साथी जय विजय पार्षदों के वियोग का दुःख था। भगवान् ने अपना कमनीय कंकण से विभूषित करकमल उनके कंधे पर रख लिया था। दूसरे हाथ में कमला ने एक कमल दे दिया था। वह क्रीड़ा के लिये नहीं स्वभाव से ही घूम रहा था। अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त भगवान् व्यग्र थे, वे शीघ्र से शीघ्र पहुँचना चाहते थे, किन्तु एक तो पैदल चलने का अभ्यास नहीं, दूसरे हंसिनी की चाल को भी लज्जित करने वाली लक्ष्मी

उनका पल्ला पकड़े हुए थीं। गरुड़जी उनके सम्मुख कुछ कह नहीं सकते थे। अतः भगवान् के चरणारविन्दों का अनुसरण करते हुए, वे भी अपनी चाल को उनकी चाल में मिलाये हुए थे। पीताम्बर से ढके हुए उनके विशाल नितम्बद्वय पैदल चलने से आगे पीछे हिल रहे थे, जिससे उनके ऊपर पड़ी अपनी प्रभा से झिलमिलाती हुई दिव्य करधनी खन-खन शब्द कर रही थी विशाल वक्षःस्थल में पड़ी हुई मणिमुक्ता की मालायें तथा दिव्यहार वनमाला से उलझकर लड़ रही थीं। विद्युत प्रभा को भी लजाने वाले उनके लोल-कपोल मकराकृत कुण्डलों की कान्ति और अपनी चमक-दमक से दशों दिशाओं को रक्त वर्ण की बना रहे थे। उन्नत नासिका में लटका हुआ मोती मोटे खा रहा था, मानो भगवान् को इतनी व्यग्रता करने के लिये रोक रहा हो। महामूल्यवान् मणिमय मुकुट के चाकचिक्य से चारों ओर चकाचौंध-सा हो रहा था। मानो सौंदर्य ही साकार रूप बनाकर कुपित मुनियों को शान्त करने जा रहा हो, उनके सौंदर्य के सम्मुख मानों लक्ष्मीजी का सौंदर्य गलित हो गया हो, और पराजित होकर क्रीतदासी की भाँति उनके पीछे-पीछे जा रही हों। इस प्रकार अनुपम शोभा से युक्त श्रीहरि सनकादिक मुनियों के समीप पहुँच ही तो गये।"

भक्तवत्सल भगवान् को अपने सम्मुख ही देखकर सनकादिक मुनियों का कोप तुरन्त शान्त हो गया। वे हक्के-बक्के से होकर भगवान् के विचित्र सौन्दर्य के चकाचौंध से किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये। वे यह निर्णय न कर सके, अब हमें क्या करना चाहिये? कुछ काल में वे स्वस्थ हुए, जिनका नित्य समाधि अवस्था में ध्यान करते थे, उन्हें प्रत्यक्ष अपने नेत्रों के सम्मुख देखकर, अत्यन्त बढ़ी हुई उत्कंठा के साथ वे उन अरुण कमल

दल के समान कोमल पुनीत पादों में पड़ गये जो किसी भी पुण्य से प्राप्त नहीं हो सकते, केवल कृपा के द्वारा ही जिनका साक्षात् हो सकता है।

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ! जिन चरणों का योगी जन अपने हृदय कमल में ध्यान करते हैं, जो चरण मेरे तथा महादेव जी के मन मन्दिर में सदा विराजमान रहते हैं, जिनके धोवन से

संसार को सर्वसिद्धि प्रदान करने वाली भगवती सुरसरी का प्रादुर्भाव हुआ है, जो तुम सब देवताओं के भी पूजनीय, स्मरणीय, अर्चनीय, वन्दनीय हैं, उन्हीं चरण कमलों में पड़ी मञ्जरी सहित तुलसी की गन्ध को सूँघकर वे मेरे मानस पुत्र अत्यन्त ही हृष्ट हुए। उनके सभी संताप दूर हो गये। चिरकाल की लालसा पूर्ण हुई। नेत्रों ने आज ही अपनी सफलता समझी योग, ध्यान, समाधि की सार्थकता भगवद्दर्शनों से ही पूरी हुई। चिरकाल तक वे चरणारविंद के मकरन्द का मत्त होकर पान करते रहे। पुनः चरणों से दृष्टि हटाकर उन्होंने क्रमशः ऊरु, जङ्घा, कटि, उदर, हृदय, विशाल भुजाओं और शङ्ख के समान सुन्दर ग्रीवा आदि के दर्शन किये। इसके अनन्तर उनकी श्रीमुख की ओर दृष्टि गई, जो कि मानों अनुग्रह रूपी अमृत ही जमकर ऐसी आकृति वाला बन गया है, जिसमें कृपा ही कटाक्ष होकर निवास करती है। उन रसीले रङ्गीले युगल नयनों को देखकर उनके सभी दुःख दूर हो गये उन्नत नासिका और लोल कपोलों की आभा से वे आनन्द के सागर में मग्न हो गये। जिसमें अति मनोहर कुँदरू के फल सदृश अरुण अधर शोभायमान हैं, जिन पर कुन्दकली के सदृश शुभ्र हास की छटा छिटक रही है। विकसित नील कमलिनी पर सोई हुई विद्युत के समान आभा वाले उस अद्भुत आनन को निहारकर वे चारों कुमार अपने आपे में नहीं रहे। आत्मविस्मृत होकर सुख सागर में डूब गये। उसी श्रीमुख के ध्यान में तन्मय हो गये।"

फिर सोचा—"अरे, जो प्रत्यक्ष सगुण साकार रूप से हमारे सम्मुख खड़े हैं उनका नेत्र बन्द करके ध्यान क्या करना, अतः वे दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर बड़ी ही श्रद्धा भक्ति के सहित गद्गद् कंठ से भगवान् की स्तुति करने लगे।"

प्रभो! हम आपके पुत्र के भी पुत्र हैं, हम आपको प्रणाम

करते हैं। अपने पिता के मुख से हम आपके सौन्दर्य-माधुर्य की प्रशंसा सुनकर समाधि में नित्य उसी रूप का ध्यान करते थे, किन्तु यह प्रत्यक्ष तो आज ही हुआ। आप सबके सम्मुख प्रकट नहीं होते, साधनों द्वारा नहीं कृपा के ही द्वारा आप प्राप्त होते हैं, दुष्ट चित्त वाले तो आपका मन से ध्यान तथा वाणी से नाम कीर्तन भी नहीं कर सकते, उनकी दृष्टि से तो आप सदा ओझल ही रहते हैं। संसार के सभी जीवों का योग-क्षेम वहन करना भोगियों को भोग देना, मोक्षार्थियों को मुक्ति प्रदान करना तो आपका सहज कार्य है। यह तो आपके द्वारा बिना प्रयत्न के ही स्वतः होता रहता है।

भगवान् मुस्कराये और स्नेह दृष्टि की वृष्टि करके प्रेम रूपी अमृत वारि से उन्हें प्लावित करते हुए अत्यन्त ही ममता के स्वर में बोले—"कुमारो! तुम क्या मुझसे मुक्ति माँगना चाहते हो?"

यह सुनकर कुमारों ने कहा—"प्रभो! हम मुक्ति माँगकर अपने को ठगना नहीं चाहते। सूर्य की आराधना करके और उससे प्रार्थना करें कि आप हमारे भवन में चलकर कृपा पूर्वक हमारे यहाँ का अंधकार दूर कर दें, तो कैसी मूर्खता होगी। सूर्य देव के पधारते ही अन्धकार तो आप से आप ही भाग जायगा। न माँगने पर भी अन्धकार उनके सम्मुख रह ही नहीं सकता। उनसे याचना तो किसी अमूल्य मणि का करनी चाहिये। अन्धकार दूर होना तो उनकी कृपा का प्रासङ्गिक फल ही है। इसी प्रकार आपसे मुक्ति की भी याचना क्या करनी आपके दर्शनों से मुक्ति तो आप से आप संग से ही प्राप्त हो जाती है। हमें तो आप अपने अमल चरण कमलों की अहैतुकी भक्ति प्रदान करें। परन्तु प्रभो! हम प्रार्थना किस मुख से करें। हम तो वरदान के अधिकारी ही नहीं रह गये हैं। हमसे तो एक बड़ा भारी अपराध बन गया है।"

जानते हुए भी अनजान की भाँति भगवान् पूछने लगे—"कुमारो! तुम कैसी बातें कह रहे हो? तुमसे और अपराध! काम क्रोध तो तुम्हारे पास भी नहीं फटक सकते। सब अपराध काम के ही द्वारा होते हैं?"

दीनता के स्वर में कुमारों ने कहा—"महाराज! वही हो गया, हमसे। हमें क्रोध आ गया, हमने क्रोध में आकर महान अनर्थ कर डाला।"

व्यग्रता के स्वर में भगवान् ने कहा—"क्या हुआ? कौन-सा अनर्थ हो गया?"

आँसू बहाते हुए कुमारों ने कहा—"इन दोनों द्वारपालों के रोकने पर हमने व्यर्थ में ही इन्हें भयंकर शाप दे दिया।" इनको क्या शाप दिया। आपका अप्रिय कार्य किया। हम बड़े अपराधी हैं। प्रभो! हमें आप दण्ड देकर पाप से बचा लें। हमें आप नरक में भेज दें। कूकर योनियों में भेज दें। बुरे से बुरे लोकों में अनन्त काल तक डाल दें। किन्तु प्रभो! न्याय करते समय तनिक अपनी कृपालुता का भी स्मरण कर लें। अपराध तो हमारा ऐसा है कि उसमें दया कृपा के लिये स्थान नहीं। किन्तु आप हमारे अपराधों की ही ओर न देखें, अपने विरुद्ध का ध्यान रखकर हमारे ऊपर इतना अनुग्रह करें, कि किसी भी योनि में जायँ, किसी भी लोक में रहें, हमारा मन मधुप सदा आपके चरणारविन्द के मकरन्द पान में ही आसक्त बना रहे। वाणी सदा आपके सुमधुर ललित मधुमय नामों का ही गान करती रहे। कर्ण सदा आपकी ही कमनीय कथा और कीर्तन को ही श्रद्धा से श्रवण करते रहें और शरीर सदा आपकी सेवा तथा कैंकर्य में ही संलग्न रहे। इतना होने पर आप हमें जिस योनि में भी भेजें, जो भी दंड दें, वह सब स्वीकार है। हे पुण्यश्लोक शिरोमणि! हे विपुल कीर्तिशाले प्रभो! यद्यपि हम निर्गुण

निराकार अक्षर ब्रह्म के उपासक थे, किन्तु आज आपकी इस अमित ऐश्वर्य शालिनी मूर्ति के दर्शनों से हम सब कुछ भूल गये। हम तो इसी अद्भुत और अनुपम रूप को बार-बार प्रणाम करते हैं।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओं! इस प्रकार जब कुमारों ने वैकुण्ठपति भगवान् रमावल्लभ श्रीमन्नारायण की स्तुति की तो वे सब बातों को तो अनसुनी-सी कर गये। पर उन्हें एक दो बात बार-बार खटकने लगी, कि मेरे पार्षदों ने मेरे इतने प्रेमी भक्तों को मेरे पास आने से रोक दिया। इस बात के स्मरण से ही उनका कमल के समान विकसित श्रीमुख गम्भीर हो गया और वे अपराधी की भाँति कुछ लज्जित से होकर कुछ द्वारपालों पर कुपित से होकर कुछ कहने को उद्यत हुए।"

छप्पय

गरुड़ कन्ध कर धरें कोटि मन्मथ मन मोहैं।
पद्मा पद्म घुमाय संग विद्युत सम सोहैं॥
अस्त व्यस्त पग परें अनुग्रह हित अति आतुर।
प्रेम स्रोत बहि चल्यो हियो करुणा तें कातर॥
नयननि महँ संजीवनी, अंजन रंजन सो करत।
सम्मुख निरखे मुनिनि हरि, शशि सम तम हियको हरत॥

भगवान् की भक्त वत्सलता

(१३९)

यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः,
सद्यः पुनाति जगदा श्वपचाद् विकुण्ठः ।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति—
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥ ❀

(श्रीभा० ३ स्क० १६ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

लखि हरि रूप अनूप मुनिनि के भव भय भागे ।
चरण कमल महँ परे विकल ह्वै रोवन लागे ॥
क्षमा प्रार्थना करी कह्यो सब दोष हमारो ॥
किन्तु कृपानिधि कहें कियो अपराध तिहारो ॥
करयो मलिन जय विजय ने, मुनियो ! मेरो अमल यश ।
अज्ञ न जाने मर्म मम, पराधीन हो भक्तवश ॥

❀ श्री भगवान् सनकादिक मुनियों से कह रहे हैं—"कुमारो ! जो मेरे अमल यश रूपी अमृत रस में श्रवणों द्वारा स्नान करते हैं, वे लोग फिर चाहे चांडाल ही क्यों न हों, तुरन्त पवित्र हो जाते हैं, इसलिये मेरा नाम वैकुंठ है। किन्तु मुझे यह महान् कीर्ति आप ब्राह्मणों के ही द्वारा प्राप्त हुई है। आप ही इस सम्मान के देने वाले हैं, अतः जो आपके प्रतिकूल आचरण करेगा, उसे मैं तुरन्त काट डालूँगा, फिर चाहे वह मेरा हाथ ही क्यों न हो।"

जीव को भगवान् की भक्तवत्सलता का पता नहीं। पता होता, तो यह अनित्य और क्षणभंगुर भोगों में व्यग्र हुआ क्यों इधर से उधर भटकता रहता? क्यों नहीं उन संसार के एक मात्र शरण्य की ओर बढ़ता? जीव किसी प्रकार भी किसी भाव से भी भगवान् की ओर चलता है, तो वे भी उसकी ओर चलते हैं। जीव उन्हें पाने को एक पग बढ़ता है, तो वे ९९ पग बढ़कर उसके समीप आ जाते हैं। भगवान ऐसा क्यों करते हैं? क्योंकि वे पुण्यश्लोक सुतीर्थ कीर्ति हैं। उन्हें अपनी कीर्ति बहुत प्यारी है। अपकीर्ति से वे डरते हैं। अजामिल ने कोई तरने योग्य कार्य तो किया नहीं, लोगों को बाँधता था, चोरी करता था, हिंसा करता था, शूद्रा के साथ सहवास करता था। उसने जाति, धर्म, कुल-धर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म सभी का परित्याग किया था। भूल में बहाने से अभ्यास वश बिना संकल्प छोटे पुत्र को पुकारा। संयोग से वह वैकुण्ठनाथ का नामारासी था। नारायण कहकर पुकारा। अब भगवान् घबड़ाये—मेरा नाम लेकर भी इसकी दुर्गति हुई, तो सब मुझे छी-छी करेंगे। अरे नारायण कहकर भी नरक भोग रहा है। शीघ्रता के साथ दूतों को भेजा। देखना यम-दूत उसे न ले जायँ। गृद्ध तो सदा ऐसे अमेध्य पदार्थों को खाता रहा जिनका स्मरण करना भी पाप है। किन्तु उस दीर्घदर्शी पक्षी ने सम्बन्ध जोड़ लिया भतीजे का। भगवान् भयभीत हुए। कहीं चाचाजी नरक में गये तो लुटिया डूब जायगी। इसलिये उसे सीधा अपने धाम को पहुँचाया। व्याध ने उनके चरणों में बाण ही मारा था, उसको निमित्त बनाकर तो भगवान् ने अपने श्रीअंग का परित्याग किया, भगवान् ने सोचा—मेरी प्रसिद्धि ऐसी है कि मैं जिसे मारता हूँ, वह मुक्त हो जाता है। किन्तु मारने वाला नरक गया, तो लोग कहेंगे—"अजी मरने पर तो साधारण लोग भी वैर भाव नहीं मानते। भगवान् ने अपने अनुरूप काम नहीं

किया। इसी डर से व्याध को उत्तम लोक प्रदान किये। पूतना विष पिलाने आई भी माता बनकर। आपने सोचा—माता बनने वाली की भी दुर्गति हुई, तो बात बिगड़ जायगी। तनिक-सी बात से सब इतनी बढ़ी हुई कीर्ति नष्ट हो जायगी। इसलिये उसे भी माता की गति प्रदान की। आप कहेंगे कि यदि भगवान् अपनी कीर्ति के ही लिये करते हैं, तो हम में और उनमें फिर क्या अन्तर रहा, संसार में लोग तो कीर्ति के लिये फाँसी पर चढ़ जाते हैं। अन्तर क्या रहा? वे महान् हैं, हम क्षुद्र हैं। उनकी कीर्ति स्थाई शाश्वत सत्य है। हम इन संसारी क्षणभंगुर नाशवान पदार्थों के द्वारा कीर्ति स्थापित करना चाहते हैं। शाश्वती कीर्ति तो श्रीहरि के शरण में ही है, वे कीर्ति स्वरूप हैं। उनकी ओर बढ़ते ही जीव के सब अनिष्ट दूर हो जाते हैं। कुमारों ने उनके महलों में एक पैर रखा था, सो भी बीच में प्रबल पराक्रमी दो द्वारपालों ने रोक दिया जब कुमार अवश हो गये, अपने पुरुषार्थ से भीतर जाने में असमर्थ हो गये, हरिदर्शन के भूखे-प्यासे ब्राह्मण बाघ के समान हो गये, तो उनकी विवशता को देखकर भक्तवत्सल ब्रह्मण्यदेव वैकुण्ठनाथ स्वयं ही उनके समीप आ गये। जीव जहाँ तक जा सकता है जाय, पुरुषार्थ काम न दे वहाँ फिर हरि स्वयं आ जाते हैं।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ! जब सनकादिकों ने भगवान् की भाँति-भाँति से स्तुति की और सभी समाचार सरलता पूर्वक सुनाकर अपने अपराध के लिए क्षमा याचना की तब अत्यन्त रोष में भरकर भगवान् ने कहा—"मुनियो! अब ये जय विजय इतने मदान्ध हो गये हैं, कि ये मेरा भी अपमान करने लगे हैं। ये इतने धृष्ट हो गये हैं, इन्होंने आप लोगों को रोककर बहुत बड़ा अपराध किया है।"

इस पर सनकादि मुनि बोले—"प्रभो! इन बेचारों का तो

कोई अपराध नहीं। द्वारपाल का कर्तव्य ही यह है कि असमय में अपरिचित आये हुए लोगों को स्वामी की आज्ञा बिना भीतर न जाने दे। अपराध तो उलटा हम लोगों ने ही किया है, कि अकारण इन्हें घोर शाप दे डाला।"

भगवान् उसी रोष के स्वर में बोले—"मुनियो! तुम कैसी बातें कह रहे हो? जो मेरे प्राणों से भी प्यारे हैं, जो संसार के सभी सुखों को छोड़कर, सभी ओर से मुँह मोड़कर एकमात्र मेरी ही शरण में आ गये हैं, जिन्होंने मुझे ही अपना पिता, माता, सखा, सुहृद् गुरु, और सर्वस्व समझ लिया है, उनका अपमान करना, क्या मेरा अपमान करना नहीं है। माना कि मैं अकेला लक्ष्मीजी के साथ अन्तःपुर में था, किन्तु क्या लक्ष्मीजी मुझे तुम से अधिक प्यारी हैं?"

यह सुनकर लक्ष्मीजी का तो मुँह फक पड़ गया। सोचने लगीं—ये नंगधड़ंगे कहाँ से आ गये, कि भगवान् इनके पीछे मुझे भी तुच्छ समझ रहे हैं, किन्तु कुछ बोलीं नहीं। भगवान् ताड़ गये, आया था इन बालकों को मनाने, कहीं घरवाली रूठ जाय, तब तो लेने के देने पड़ जायँगे। बच्चा तो रो-धोकर थोड़ी देर में ठीक हो जाता है, रूठी हुई घरवाली को मनाना बड़ी टेढ़ी खीर है, रोटी ही न मिले सो बात नहीं, कभी कभी मुखपूजा और पीठ पूजा तक की नौबत आ जाती है। इसीलिये वे कहने लगे—"इन मूर्खों ने क्या समझ रखा है। ये समझते हैं मुझे अपना शरीर प्यारा है, मैं अपने अनुगत भक्तों के लिये शरीर को भी तुच्छ समझता हूँ। आप लोगों ने जो शाप दिया वह तो उचित ही किया मैं तो कहता हूँ शाप नहीं, इनका सिर काट देते तो भी कम था। इनकी बात तो अलग रही। मेरी बाहु भी यदि आप लोगों के विरुद्ध आचरण करे, तो मैं तुरन्त उसे काटकर फेंक दूँ। लक्ष्मीजी को संतोष हुआ कि भगवान् अपनी भक्तवत्सलता दिखा रहे हैं। मेरे अप-

मान में उनका तात्पर्य नहीं है। अतः उनका मुखकमल कुछ-कुछ विकसित होने लगा। अपनी घरवाली को जो बात प्रिय लगती है उसे पुरुष और उत्साह से कहता है। अतः भगवान् कहने लगे—"इन लक्ष्मीजी के तनिक से कृपा कटाक्ष के लिए ब्रह्मादि देव करोड़ों असंख्यों वर्ष घोर तपस्या करते हैं कि, तनिक हमारी ओर दया की दृष्टि से देख भर दें, वे ही ये विश्ववन्दिता लक्ष्मी जी सदा मेरी सेवा में तत्पर रहती हैं। यद्यपि मुझे जैसा करना चाहिए वैसा मैं इनका आदर सत्कार नहीं करता, अनेकों काम धन्धे रहने से मैं इनकी ओर से उपराम-सा ही बना रहता हूँ, किन्तु ये मुझे त्यागती नहीं। क्षणभर को भी मेरा वियोग सहन नहीं कर सकतीं, छाया की भाँति मेरे पीछे-पीछे लगी डोलती हैं।"

यह सुनकर लक्ष्मीजी का मुखचन्द्र तो शरदकालीन कमल के समान खिल गया। किन्तु कुमार कुछ सकपका गये, भगवान क्या करना चाहते हैं, अतः बात को टालने के लिये कहने लगे—"महाराज! जो हुआ सो हुआ सेवकों से त्रुटियाँ हो ही जाती हैं, स्वामी को उनकी ओर विशेष ध्यान न देना चाहिये।"

भगवान् बोले—नहीं, ऐसा नहीं। सेवक स्वामी से पृथक् नहीं होता। वह उसका अंग ही है। उसका किया हुआ अपराध स्वामी का ही किया हुआ माना जाता है। किसी ने किसी को एक चपत मार दी, तो यह थोड़े ही कहा जाता है कि हाथ से भूल हो गई, किसी अंग का किया हुआ कार्य अंगी का ही किया हुआ होता है। इसलिये आप लोगों ने शाप दिया सो तो उचित ही किया, मैं तो अपने अपराध के लिये आप से याचना करना चाहता हूँ।"

हाथ जोड़कर दीनता के स्वर में कुमारों ने कहा—"प्रभो! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं? हमें दूसरा क्यों समझ रहे हैं हमें अपने से इतनी दूर क्यों फेंक रहे हैं? क्षमा तो अन्यों से

माँगी जाती है। हम तो आपके पुत्र के भी पुत्र-पौत्र हैं। आपके वात्सल्य के भूखे हैं।"

भगवान् बोले—"यह ठीक है। आप मेरे बच्चे हैं, सभी मेरे बच्चे ही हैं, किन्तु आप श्रेष्ठ बच्चे हैं। ब्राह्मणों को मैंने ही अपनी शक्ति प्रदान करके पतितपावन परमपूज्य बनाया है, बनाया नहीं, उन्हें इस पद पर प्रतिष्ठित करके मैं स्वयं भी उनकी पूज्यभाव से पूजा करता हूँ। इसीलिये मेरी त्रिभुवन में कीर्ति व्याप्त है, कि भगवान् ब्रह्मण्य देव है, भक्तवत्सल हैं आज इन्होंने मेरी उस बढ़ी हुई कीर्ति को चौपट कर दिया। सब यही कहेंगे—भगवान् का द्वार भक्तों के लिये रुक गया। वहाँ भक्त नहीं जा सकते।"

कुमारों ने कहा—"नहीं भगवान्! यह तो छोटी-सी बात है, कौन इसे जानेगा?"

भगवान् ने कहा—"आप इसे छोटी ही बात समझते हैं, छोटी होने पर भी बड़ी खोटी है। बड़ों का छोटी-छोटी बातें भी सर्वत्र फैल जाती हैं। लोग तो छिद्रान्वेषी होते हैं। बड़ों के छोटे से छोटे छिद्र पाकर उन्हें बड़े से बड़ा बनाकर विख्यात करते हैं। एक छोटी-सी भी अपकीर्ति समस्त बढ़ी हुई कीर्ति को नष्ट कर देती है। घड़े भर जल को एक बिन्दु सुरा अपेय बना देती है। छोटी-सी चींटी नाक में घुस कर हाथी को मार देती है। इतने बड़े भारी शरीर में थोड़ा भी कुष्ठ हो जाता है, तो सम्पूर्ण शरीर को नष्ट कर देता है। इसलिये यह छोटा अपराध होने पर भी महान् है। यह तो वही बात हुई कि जिसके द्वारा बढ़े उसी को अन्त में नष्ट किया। जिस पत्तल में खाना उसी में छिद्र करना। मुझे ब्राह्मणों ने ही इतना बड़ा बनाया है, उनका अपमान करना मानों मूल पर प्रहार करना है।"

कुमारों ने कहा—"प्रभो! आप को कौन बढ़ा सकता है?

आप तो पुराणपुरुष हैं, यज्ञ रूप हैं। अनेक बड़े-बड़े राजसूय अश्वमेध आदि यज्ञों के द्वारा आप की ही आराधना की जाती है। बड़े विधि विधान से यजमान जब यज्ञ करते हैं, तब कहीं आप प्रसन्न होते हैं।"

इस पर भगवान् ने कहा - "हाँ यह सत्य है। यज्ञ मेरा रूप है। यज्ञ में दी हुई विधिपूर्वक आहुतियों को देवताओं के द्वारा मैं ही ग्रहण करता हूँ। यदि वह विधि हीन हुआ, तो मैं वहाँ जाता भी नहीं, असुर ही उसके भागों को उड़ा जाते हैं और कर्ता का भी विनाश करते हैं। सांगोपाङ्ग सविधि यज्ञों से मैं सन्तुष्ट अवश्य होता हूँ, किन्तु उससे भी अधिक सन्तुष्ट मैं ब्राह्मणों के मुख में आहुति देने से होता हूँ। जिसमें से घी चू रहा हो, ऐसा गरमागरम हलुआ यदि ब्राह्मण के मुख में डाला जाय, तब तो मेरी प्रसन्नता का क्या कहना है ? सत् ब्राह्मण मेरे मुख से उत्पन्न हुए हैं मेरे मुख के पुत्र हैं। पिता को स्वयं खाने में उतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी पुत्र को खिलाने से होती है। इसी प्रकार ब्राह्मण को खिलाने से मेरा मुख सन्तुष्ट होता है, खिल जाता है, विकसित हो जाता है। सो हे ब्राह्मणो ! आपका शाप सत्य हो, इनका दैत्ययोनि में जन्म हो, ये असुर होकर उत्पन्न हों, किन्तु इन पर इतना अनुग्रह करो, कि शाप के अन्त में ये पुनः मेरे ही पास लौट आवें। इनका निर्वासन चिरकाल के लिए न हो। इतना आप लोग कर देंगे, तो मानो मेरे ऊपर आप सब का अत्यन्त अनुग्रह होगा।"

भगवान् के ऐसे वचन सुनकर कुमार तो भौचक्के से रह गये। वे निर्णय ही न कर सके, भगवान् किस भाव से कह रहे हैं। भगवान् की मधुमयी वाणी को सुनकर वे इतने बेसुध बन गये थे, कि कहने की इच्छा होने पर भी कुछ देर तक कुछ भी न कह सके।

छप्पय

मेरी बानी वेद ताहि जो तप करि धारें ।
अति चञ्चल जो चित्त योग करि ताकूँ मारें ॥
पूजनीय ते विप्र तृप्ति करि तिन्हे जिमावें ।
परम धाम बैकुण्ठ सुकृति ते निश्चय पावें ॥
भुज उठाय करि शपथ हौं, सत्य-सत्य बानी कहहुँ ।
सबहि सहन तो करहुँ परि, विप्र निरादर नहि सहहुँ ॥

कुमारों की भगवान् से विनती और विदा

[१४०]

यं वानयोर्दममधीश भवान्विधत्ते,
वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो,
येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्विषेण *

(श्रीभा० ३ स्क० १६ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

सनकादिक पुनि कहैं प्रभो ! हम दास तिहारे ।
दया दीन जन जानि करी नहिँ दोष विचारे ॥
आपु न ऐसी कहहिँ विप्र कूँ फिरि को मानें ।
जग महँ विप्र न रहहिँ धर्म कू फिरि को जानें ॥
वेद धर्म के मूल हैं, विप्र तिनहिँ धारन करहिँ ।
हानि होहि जब धर्म की, तब तनु धरि प्रभु भय हरहिँ ॥

क्रोध क्रोध से शान्त नहीं होता, दब जाता है अहङ्कारी बलवान् अहङ्कारी को देखकर नव तो जाता है, किन्तु हृदय में

* सनकादिकों ने कहा—"प्रभो ! अब हम क्या कहें—आप जो भी उचित समझें करें । इन्हें दंड दें या इनकी और वृत्ति बढ़ा दें । हमें सब बिना छल कपट के स्वीकार है । यदि आप यह समझें कि हमने आपके निरपराध अनुचरों को व्यर्थ शाप दिया है, तो हमें ही इसके लिए जो उचित दंड समझते हो वह दें ।"

द्वेष और उपेक्षा रखकर ही फिर झुकाता है। विनय के सम्मुख अहंकार पानी हो जाता। क्रोधी के प्रति क्रोध न करना, उसी की हाँ-में-हाँ मिला देना और उसके सम्मुख, उसी के अनुकूल मधुर स्निग्ध वचन कहना, मानों उसे बिना मोल के खरीद लेना है। भगवान् तो इस विद्या में बड़े कुशल हैं। कहाँ कैसा बर्ताव करके किसका किस प्रकार कल्याण हो सकता है, इसे भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई जानता नहीं। इसलिये भगवान् की जितनी भी लीलायें हैं सभी जगत् के कल्याण के निमित्त, सभी लोक संग्रह और शिक्षा के ही निमित्त होती हैं। हम अपनी मानवीय बुद्धि के द्वारा उनके विषय में नाना भाँति के तर्क-वितर्क करते रहते हैं। ऐसा क्यों हुआ? भगवान् को यह बात तो करनी नहीं चाहिये थी। यह लीला करने से क्या लाभ? अरे, भूले हुए भाइयो! लाभ-हानि तो वे ही जानते हैं। तुम तो उन्हें सुनो और कर्णों को पवित्र करो, तुम्हारे लिये यही बहुत बड़ा लाभ है। भगवान् की लीला, कथा श्रवण करने से तुम सुख के भागी बन जाओगे।

ब्रह्माजी कहते हैं—"भगवान् ने जब कुपित हुए कुमारों के सम्मुख इस प्रकार सुन्दर, मधुर कानों को प्रिय लगने वाली वाणी कही, तो कुमारों के रोंगटे खड़े हो गये। आनन्द के कारण अङ्ग प्रत्यङ्ग पुलकित हो उठे। वाणी क्या थी, सुधा से संपुटित सञ्जीवनी थी, हृदय को प्रेम से प्लावित कर देने वाली थी। पहले तो कुमारों ने समझा—प्रभु हम पर कृपा करके स्नेहवश ऐसा कह रहे हैं। किन्तु अत्यधिक स्नेह में शङ्का होती है, कि हम तो इतने स्नेह के पात्र हैं नहीं, हमारा इतना सौभाग्य कहाँ कि हमारा प्रेमास्पद हमसे इतना प्यार कर सके। इसीलिये मुनि अब सम्हले। उन्होंने सोचा—"हमने अकारण भगवान् के प्रिय पार्षदों का अनिष्ट किया है, सम्भव है भगवान् कुछ दूसरे

भाव से कह रहे हों, अतः वे हाथ जोड़ कर गद्गद् कंठ से कहने लगे।"

सनकादिक बोले—"प्रभो! हम समझ नहीं सके, कि आप हमें शिक्षा दे रहे हैं या वात्सल्य स्नेह प्रकट करते हुये ये बातें कह रहे हैं। आपने अन्त में कहा—"यदि तुम इन्हें शीघ्र शाप से मुक्त करने का वरदान दोगे, तो मेरे ऊपर तुम्हारा बड़ा अनुग्रह होगा।" सो, हे भक्तवत्सल! इसका अभिप्राय क्या है। हममें क्या सामर्थ्य है, जो आप पर अनुग्रह कर सकें।"

भगवान् ने कहा—"कुमारो! वेद-वेदाङ्ग पारङ्गत ब्राह्मणों में सभी सामर्थ्य विद्यमान हैं। उन्हीं के कृपा-प्रसाद से तो आज मैं अजितों को भी जीतने वाला सर्वश्रेष्ठ बना हुआ हूँ।"

कुमारों ने कहा—"प्रभो! यह तो आप लोक संग्रह के लिये ऐसा कह रहे हैं, कि आपको देखा-देखी और भी ऐसा करें। कोई वेदज्ञ ब्राह्मण की अवहेलना न करे। नहीं तो सत्य बात तो यह है, कि ब्राह्मणों में यह शक्ति देने वाले भी तो आप ही हैं। अतः आप ब्रह्मण्यदेव होते हुए भी ब्राह्मणों के, देवताओं के तथा समस्त चराचर विश्व के पूजनीय तो एकमात्र आप ही हैं।"

भगवान् हँसे और बोले—"विप्रो! यह सब आपकी कृपा का फल है।"

कुमारों ने कहा—"नहीं भगवन्! कामार्थी जिनकी कृपा से समस्त कामों को, अर्थार्थी जिनकी कृपा से अखिल अर्थों को, मोक्षार्थी जिनकी कृपा से सहज में ही मोक्ष पाकर संसार सागर से पार हो जाते हैं, उन पर कृपा करने की सामर्थ्य किसमें है?"

भगवान् ने कहा—"ये मेरे द्वारपाल, इतने दिन समीप रह कर भी मेरे स्वभाव को नहीं जान सके। मैं तो अपने अनुगतों के सदा पीछे-पीछे घूमता रहता हूँ, कि उनके चरणों की धूलि मेरे ऊपर पड़े और मैं कृतार्थ हो जाऊँ।"

सनकादिक ने कहा—"हे अशरणशरण! हे भक्तवत्सल! हे दीनबन्धो! ये वचन आपके अनुरूप ही हैं। जिन लक्ष्मीजी की तनिक-सी कृपा के लिये ब्रह्मादिक देव लालायित रहते हैं वे भी आपकी चरणधूलि की वांछा से आपके चरणों का परित्याग करके कहीं नहीं जातीं। जहाँ आपके चरण पड़ जाते हैं, वह परमधाम हो जाता है। वहाँ की धूलि त्रैलोक्य को पावन करने वाली बन जाती है। ये बातें तो आप सब को सिखाने के लिये विप्रों का महत्व जताने, धर्म मर्यादा को बनाये रखने को कहते हैं। प्रभो! हमें अहंकारवश क्रोध आ गया। हमने अपने को इन द्वारपालों से श्रेष्ठ समझा, तभी तो ऐसा दारुण शाप दे दिया। हे कृपालो! आप हमारी इस अविनय को क्षमा करें। हमारे अपराध को मन में न लावें।"

इस पर भगवान् बोले—"कुमारो! तुम कैसी बातें कह रहे हो अपराधी तो ये जय विजय हैं। इन्होंने आपका अपमान किया। किसी का पशु, भृत्य, अथवा आश्रित यदि अपराध करता है, तो उसका उत्तरदायित्व उसके स्वामी ही पर होता है। अतः इस न्याय से मैं भी अपराधी हूँ। अब इसका निर्णय आप करें। आप लोगों ने जो इन्हें दंड दिया है, वह तो उचित ही किया है। अब आप चाहें तो इन्हें इससे भी अधिक दंड दे सकते हैं। इन्हें सदा के लिये यहाँ से निर्वासित कर सकते हैं। आप जो भी कहेंगे वह सब मुझे सहर्ष स्वीकार है।"

इस पर कुमारों ने कहा—"हे दयासागर! आप हमें अधिक लज्जित न करें। हम तो आपके अनुचर तथा भृत्य हैं। करने

कराने वाले तो आप ही हैं। हम चारों ही अपना अभियोग लेकर आपके सम्मुख उपस्थित हैं। हम चारों में से आप जिसे भी जो दंड या पारितोषिक देना चाहें, वही सबको स्वीकार है। आप चाहें इन द्वारपालों को दंड दें, क्षमा कर दें या इनकी वृत्ति, पद प्रतिष्ठा और बढ़ा दें। अथवा हमने अकारण इनका अपमान किया है, इन्हें शाप दिया है, तो हमें जो उचित समझें दंड स्वयं दें अथवा इनके द्वारा दिला दें। हमें किसी में भी आपत्ति न होगी।"

जब इस प्रकार बिना छल कपट के सरलभाव और शुद्ध अंतःकरण से कुमारों ने कहा, तब भगवान् उनके ऊपर कृपावारि की वृष्टि करते हुए, उन्हें अपने स्नेहामृत से भिगोते हुए बोले—"देखो, इन लोगों को आसुरी योनि अवश्य प्राप्त होगी इसमें कोई संदेह नहीं। आपकी वाणी अमोघ है, वह कभी अन्यथा हो ही नहीं सकती।"

इस पर दीनता के स्वर में कुमारों ने कहा—"नहीं दयालो! हम अपनी वाणी की अमोघता नहीं चाहते। उस समय हमने बिना समझे बूझे क्रोध के आवेश में शाप दे डाला। अब आपको जो भी उचित प्रतीत हो, जो भी रुचिकर हो वही काज करें। हमारी वाणी को अमोघ बनाने के अभिप्राय से इनका पतन न हो।"

यह सुनकर श्री वैकुण्ठनाथ मुस्कराये और बोले—"कुमारो! तुम चिन्ता मत करो। यह तो मेरा ही संकल्प है, मेरी ही इच्छा थी, उसी को मैंने आप लोगों के मुख द्वारा कहलाया है। ये लोग दैत्ययोनि को अवश्य प्राप्त होंगे, किन्तु वैरभाव से ये मेरे प्रति तीव्र क्रोध करेंगे। मुझमें निरन्तर क्रोध बुद्धि रखने से इनका चित्त मेरे में ही एकाग्र हो जायगा। मुझमें सर्वात्मभाव से मन लगाने का ही नाम भक्ति है। अतः ये वैरभक्ति के द्वारा शीघ्र ही मुझे पुनः

प्राप्त कर सकेंगे। बहुत स्वल्प काल में ही ये पुनः अपने पूर्वपद पर प्रतिष्ठित होंगे। इस विषय में आप लोग तनिक भी चिन्ता न करें। यह सब मेरा ही विधान है।"

भगवान् की ऐसी मधुर और सान्त्वना पूर्ण वाणी सुनकर कुमार बड़े ही प्रसन्न हुए। अब तो आगे कुछ कहने योग्य बात रही ही नहीं। भगवान् के विधान को अन्यथा करने की शक्ति ही किसमें है। भगवान् के धाम में आने पर उनके हृदय में जो तनिक-सा अहंकार का अंकुर-सा उगने लगा था वह भगवान् के इस व्यवहार से और इस अद्भुत घटना से जड़ मूल सहित सर्वथा नष्ट हो गया। अहंता के नष्ट होने से वे सन्तुष्ट और पूर्ण स्वस्थ हो गये। उन सबों ने श्री लक्ष्मी जी के सहित वैकुण्ठपति श्रीमन्नारायण के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और बोले—"प्रभो! आज हमारी समस्त इच्छायें पूर्ण हो गईं। आज हम सचमुच ही कृतार्थ हो गये। अब कोई भी कर्तव्य हम लोगों का शेष नहीं रहा। देह धारण करने का परम फल हमें प्राप्त हो चुका। आपके इस अनुपम लोक के दर्शन करके तथा आपकी चरणवन्दना और कृपा प्रसाद पाकर हम सब परम सन्तुष्ट हुए। अब आज्ञा हो तो हम अपने पिता के ब्रह्मलोक में चले जायँ।"

कुमारों की बात सुनकर भगवान् ने उनका अभिनन्दन किया और उनसे प्रेमपूर्वक बोले—"अच्छा, सनकादिक मुनियो! बड़े आनन्द की बात है, तुम लोग यहाँ आये। तुमने मुझे और मेरे परम दुर्लभ वैकुण्ठधाम को देखा। अब तुम जाओ, सदा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और अभिमान से शून्य होकर मेरा स्मरण करते रहना। सब काल सर्वदा, सर्वत्र 'हरिशरणम्' इस महामन्त्र को जपते रहना।"

इस प्रकार भगवान् से आज्ञा लेकर, उनकी कृपा को प्राप्त

करके उनकी छवि को हृदय में धारण करके मुनियों ने उन्हें पुनः प्रणाम किया, प्रदक्षिणा की और स्वच्छन्द होकर अपनी इच्छानुसार अन्य लोकों में चले गये।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ! इस प्रकार मेरे मानस पुत्रों का अहंकार भी भगवान् ने दूर कर दिया और अपनी क्रीड़ा के लिये एक नया कौतुक भी रच दिया।"

छप्पय

काम अनुज वश भये शाप हम दयो भूल तें।
अहङ्कार अब नाथ! हमारो नस्यो मूल तें॥
हरि हँसि बोले—नहीं कुमारो! दुख मत मानो।
शाप अनुग्रह माहिं सदा मम इच्छा जानो॥
तुष्टि भई हरि दरस तें, वचन सुनत निर्भय भये।
चरण कमल सिर धूरि धरि, सनकादिक मुनि चलि दिये॥

ब्रह्माजी द्वारा देवताओं को सान्त्वना

[१४१]

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो,
योगेश्वरैरपि दुरत्ययमायोगमायः ।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश,
स्तत्रास्मदीय विमृशेन कियानिहार्थः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १६ अ० ३७ श्लोक)

छप्पय

जो जगकी उत्पत्ति, प्रलय, पालन के स्वामी ।
अच्युत अखिल अनादि अखंडित अन्तरयामी ॥
जिनकी माया कठिन पार पंडित नहिँ पावहिँ ।
वेद दाम महँ बँधे जगतकूँ नाच नचावहिँ ॥
जगकूँ जिनने रच्यो है, जो जाको पालन करहिँ ।
जीव करें फल होहि का, श्रीहरि ही संकट हरहिँ ॥

जीव में अपना कर्तृत्वाभिमान न हो, वह जगत् के कर्ता, हर्ता, धर्ता और विधाता श्रीहरि को ही सर्वस्व माने तो उसका जीवत्व ही छूट जाता है। वह त्रिगुणातीत हो जाता है। गुण

---

* जो विश्व की उत्पत्ति, पालन और प्रलय के कारण हैं, जो आदि पुरुष हैं जिनकी माया योगीजनों के भी द्वारा कठिनाई से पार की जाने योग्य है, वे ही तीनों गुणों से स्वामी हमारा कल्याण करेंगे। फिर इस विषय में हमारे विचार करने से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ?

रूप रस्सी में बँधे जीव नाना संकल्प विकल्प करते रहते हैं। यदि हम यह करेंगे, तो यह फल होगा। यदि हम उस कार्य को यों करते, तो उसका ऐसा परिणाम न होता। अनेक कल्पनायें करके जीव व्यर्थ में अपने को चिन्ता-सागर में निमग्न किये रहता है। दिति के गर्भ के तेज से हतप्रभ होकर देवगण लोकपितामह ब्रह्मा के पास इसके प्रतीकार का उपाय पूछने गये, कि यह तेज इतना बलवान्, पराक्रमी, प्रभावशाली और वीभत्स क्यों है? क्यों यह हमें अभी से श्रीहीन बनाये हुए है? इससे बचने का हम लोग क्या उपाय करें? इस पर ब्रह्माजी ने जय विजय को सनकादि मुनियों के शाप की बात सुनाई।

ब्रह्माजी कथा प्रसंग को चालू रखते हुए कहने लगे "देवताओ! मेरे मानस पुत्र कुमार तो इस प्रकार भगवान् की स्तुति करके चले गये, किन्तु जय-विजय बड़े उदास हुए। भगवान के लोक से गिरना पड़ेगा, भगवान् का विछोह होगा, तामसी तन में जाना पड़ेगा। इससे उनका मुख फीका पड़ गया। वे बार-बार अपने अपराध का स्मरण करके मन में बड़ी भारी ग्लानि मानने लगे। वे दुखी होकर अत्यधिक पश्चात्ताप करने लगे। तब भगवान् उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—"देखो, भैया! घबड़ाने की बात नहीं है। मुझमें सब सामर्थ्य है। मैं सब कुछ करने में समर्थ हूँ, किन्तु ब्राह्मणों के वचन को अन्यथा करना नहीं चाहता।"

रोते-रोते जय और विजय ने कहा—"प्रभो! हमें आसुरी योनि से भय नहीं। भय तो यह है कि हम आपकी भक्ति से शून्य हो जायेंगे। हम आपको भूलकर न जाने क्या-क्या करते रहेंगे? आपसे वियोग भी होगा। इसी से हमारा हृदय फट रहा है।"

इस पर श्रीहरि बोले—"देखो! तुम इसकी भी चिन्ता मत करो। आसुरी योनि में रहने पर भी तुम विरोध भक्ति करोगे।

मुझे शत्रु समझ कर द्वेष से सदा मेरा स्मरण करते रहोगे। मेरा स्मरण तो कैसे भी हो, निष्फल जाता नहीं, तुम शीघ्र ही फिर मेरे पास आ जाओगे।"

द्वारपालों ने आँसू बहाते हुए कहा—"दुःख तो हमें इस बात का हो रहा है कि हमने कुमारों का अपराध किया, उन्हें कुपित किया, दुखित किया।"

भगवान् बड़े स्नेह से बोले—"अरे नहीं, भैया! यह सब तो मेरी इच्छा से ही हुआ। नहीं तो मायातीत कुमारों को क्रोध कैसे आ सकता है? वैकुण्ठ में भी वे क्रोध के वशीभूत कैसे हो सकते हैं? तुम भी उनका अनादर कैसे कर सकते हो? यह तो मुझे क्रीड़ा ही ऐसी करनी थी।"

यह सुनकर दोनों जय-विजय फूट-फूटकर रोने लगे—"महाराज! ऐसी भी क्या क्रीड़ा? किसी को क्रोध कराकर, किसी को शाप दिलाकर, किसी को बिछुड़ा कर खेल करना—यह कुछ अच्छी बात है? अब निरन्तर इन चरणारविन्दों का दर्शन कब होगा?" इतना कहकर दोनों वैकुण्ठभवन के प्रधान द्वारपाल फूट-फूटकर रोने लगे। उन्हें रोते हुए देखकर लक्ष्मीजी का हृदय भर आया। मातृहृदय ही जो ठहरा, तनिक देर में पसीज जाता है। पुरुष तो कठोर हृदय के होते हैं। देर में प्रसन्न होते हैं, देर में क्रुद्ध होते हैं। किन्तु मातृहृदय में कभी क्रोध भी आ जाता है, तो शीघ्र प्रसन्नता भी आ जाती है।"

भगवान् ने देखा—"लक्ष्मीजी ने प्रसन्न होकर यदि इन्हें अभय कर दिया, तब तो गड़बड़ी हो जायगी। मेरी बनी बनाई लीला चौपट हो जायगी। अतः उन्हें उन दोनों की ओर से फिराने के लिये बोले—"देखो, भैया! कुमारों के शाप की तो कोई बात ही नहीं। वे तो बच्चे ही ठहरे। उनका शाप के प्रति आग्रह भी नहीं था। तुम्हारे सम्मुख बार-बार कह रहे थे। इन्हें

क्षमा करो, हमें दण्ड दो, अपराध हमारा ही है। उनका शाप तो नहीं के बराबर है। तुमने तो लक्ष्मीजी का बड़ा भारी अपराध किया है।"

अब तो लक्ष्मीजी के कान खड़े हुए। हैं! मेरा इन्होंने क्या अपराध किया? जय-विजय भी न समझ सके कि माताजी के प्रति हमने कौन-सा अनिष्ट व्यवहार कर डाला। कौन-सी अविनय प्रदर्शित की। तब भगवान् स्वयं ही बोले—"इस समय नहीं, यह पुरानी बात है। जिस समय मैं योगनिद्रा में अवस्थित था, उस समय भी तुम लोग मेरे द्वार पर पहरा दे रहे थे। इतने में ही लक्ष्मीजी आईं, वे भीतर जाने लगीं, तुम लोगों ने उन्हें भी यह कहकर रोक दिया कि इस समय भगवान् शयन में हैं"

इस पर लक्ष्मीजी को बड़ा क्रोध आया। वे बोलीं—"शयन में हैं तो क्या हुआ। घरवाली को भी कोई रोक सकता है? स्वामी शयन में हों या जाग्रत में। भार्या को सब समय, सब दशाओं में उनके यहाँ बिना रोक-टोक जाने का स्वत्व है।" इतने पर भी तुमने इन्हें नहीं जाने दिया, तो इन्होंने ही पूर्व में कुपित होकर तुम्हें शाप दिया था, कि तुम लोग दैत्य हो जाओ।

"अब भैया, सोच लो तुम ही। कुमारों के शाप की तो कोई बात नहीं। इन लक्ष्मीजी का शाप तो अमोघ है, यह तो कभी झूठा हो नहीं सकता। इसे मेटने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है।"

यह सुनकर तो लक्ष्मीजी को पुनः कोप आ गया। हाँ, ये वे ही हैं, जिन्होंने मुझे अपने पति के पास जाने से रोका था, स्वामी के वियोग का दुःख दिया था। अच्छी बात है, बच्चू! अपने किये का फल भोगो। अब तुम भी अपने नाथ से वियुक्त होकर उसी दुःख-सा अनुभव करो। कुमारों ने जो कुछ किया ठीक किया। अवश्य ही तुम दण्डनीय हो। लक्ष्मीजी तो यह सोच रही थीं, उधर भगवान् के समीप ही खड़े-खड़े गरुड़जी मुस्करा रहे थे।

वे सोच रहे थे, भगवान् की लीला जानी नहीं जा सकती। हम सोचते थे, यह घटना अकस्मात् घट गई। कुमारों को सहसा क्रोध आ गया, किन्तु यह सब विधान तो भगवान् ने पहले से ही

बाँध रखा था। घरवाली को प्रसन्न करने को भगवान् ने अवसर पाकर उपाय निकाला। इतने दिनों तक उसे दबाये रहे। बेचारे

कुमारों को व्यर्थ ही बीच में डाल दिया, किन्तु उनके अहंकार के अंकुर को भी तो उखाड़ना था। ब्राह्मणों का भी महत्व तो प्रकट करना था। अपनी लीला का संभार जुटाने के लिये ही कुमारों को रोष कराया, जय-विजय को धृष्ट बनाया। लक्ष्मीजी को भी शाप का स्मरण दिलाया, इस प्रकार भगवान की एक-एक क्रीड़ा में अनन्त कारण छिपे रहते हैं, क्योंकि वे अनन्त हैं। अनन्त के सभी कार्य अनन्त ही होते हैं। भगवान् गरुड़जी के भाव को ताड़ गये और उनके कन्धे को बलपूर्वक दबाया, कि यहाँ कुछ गड़बड़-सड़बड़ मत करना, नहीं लक्ष्मीजी बुरा मान जायँगी।

लक्ष्मीजी ने अवहेलना के स्वर में कहा—"अब महाराज! उन तेजस्वी मुनियों ने जो शाप दे दिया, सो दे दिया। आपने भी उनका अनुमोदन कर दिया। आप भी विप्रशाप को अमोघ बता कर अपनी मर्यादा को भङ्ग करना नहीं चाहते। अच्छी बात है, तो ये दोनों दैत्य योनि में जन्म लें।"

भू देवी भी पास में ही खड़ी थीं। उन्होंने भी लक्ष्मी जी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए कहा—"अब इन्हें दैत्य तो बनना ही होगा, भगवान् इसे अन्यथा नहीं कर सकते, किन्तु भगवान् इनका उद्धार करें।"

दोनों देवियों का समर्थन सुनकर उन दोनों द्वारपालों को मन ही मन बुरा लगा। क्योंकि शाप के लगते ही उनके मन में आसुरी भाव आ गया था। जय ने लक्ष्मी जी की ओर देखकर मन में सोचा—"अच्छी बात है, करवाओ तुम हमें अपने स्वामी से अलग। दैत्य बनकर हम भी कुछ दिन को ही सही, तुम्हें भी तुम्हारे स्वामी से अलग कर देंगे। यही बात विजय ने भू देवी को देखकर सोची।"

उनके भावों को भगवान् समझ गये, क्योंकि उन्हें तो यह अभीष्ट ही था। उन्हें तो पृथ्वी पर नर-नाट्य रचना ही था।

अतः उनके भाव का समर्थन करते हुए बोले—"अच्छी बात है, तुम लोग जो सोच रहे हो, वही होगा। तुम्हारा कल्याण ही होगा। तीन जन्मों को धारण करके पुनः तुम तीसरे जन्म में मेरे द्वारा मारे जाकर इस लोक को प्राप्त करोगे। मेरा स्मरण तुम्हें आसुरी योनि में भी वैर भाव से रहेगा।"

इस प्रकार भगवान् द्वारपालों को भली-भाँति समझा-बुझाकर अपने सजे-सजाये, विमानों की श्रेणियों से शोभित, मणिमय दिव्य देदीप्यमान महल में अपनी प्रिया लक्ष्मी जी के साथ चले गये।

ब्रह्माजी देवताओं से कहते हैं—"देवताओ! वे ही दोनों वैकुण्ठपति प्रभु के प्रधान पार्षद जय-विजय, वैकुण्ठ से पतित होकर ब्रह्मर्षि कश्यप की पत्नी के उदर में प्रविष्ट हुए हैं। उन्हीं असुरों के तेज से तुम सब तेजहीन हो गये हो। उनके सामने तुम सब लोकपाल मिलकर भी नहीं ठहर सकते। उन्हें कोई अपने बल पौरुष से जीत नहीं सकता। वे अपराजित और अप्रमेय बल वाले दैत्य होंगे। तुम लोग देख रहे हो, अभी गर्भ से बाहर नहीं हुए, उदर में रहने पर ही इतना उपद्रव हो रहा है। जब प्रकट होंगे तब तो कहना ही क्या?"

यह सुनकर तो देवताओं की सिट्टी भूल गई। वे घबड़ाकर कहने लगे—"प्रभो! अभी से इस संकट से बचने का कोई उपाय करो। गर्भ में ही ये नष्ट हो जायँ, इसकी व्यवस्था करो।"

भगवान् ब्रह्माजी बोले - "देवताओ! एक काम करो। वह गर्भ इतना प्रभावशाली है, कि इन प्रकृति के रचित तत्वों से उनकी कोई हानि नहीं हो सकती। जल में डूब नहीं सकता, पृथ्वी में कोई अस्त्र उन्हें काट नहीं सकता, अग्नि उसे जला नहीं सकती, वायु की सामर्थ्य नहीं कि उन्हें उड़ा ले जाय या सुखा

दें। सूर्यदेव उन्हें तपा नहीं सकते। अब तुम लोग एक काम करो या तो इन प्राकृतिक अस्त्रों को छोड़कर किसी अन्य नये धातु के अस्त्र बनाओ, या कोई नूतन जल का सागर बनाओ, या इस अग्नि से एक विलक्षण अग्नि बनाओ। इनमें से किसी के द्वारा इन्हें नष्ट कर दो।"

देवताओं ने उदास मन से कहा—"महाराज! विलक्षण जल के समुद्र बनाने की बात पृथक् रही। हम तो जल की एक बिन्दु भी नहीं बना सकते। अग्नि का एक कण भी नहीं रच सकते। इन सबको रचने की सामर्थ्य तो आप में ही है। रक्षा करने की सामर्थ्य भगवान् विष्णु में और प्रलय करने की सामर्थ्य सदाशिव रुद्रदेव में है।"

ब्रह्माजी बोले—"न भैया! मुझ में तो बनाने की सामर्थ्य है नहीं। वे भगवान् वैकुण्ठनाथ ही अपनी शक्ति देकर बनाते हैं। वे ही पालन करते हैं। अन्त में रुद्र होकर वे ही संहार करते हैं।"

देवता उदास मन से बोले—"जब महाराज! आप ही कुछ करने में समर्थ नहीं हैं, तो हम तो आप से ही उत्पन्न हैं, आप ही हमारे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, जनक पितामह और पूर्वजों के भी पूर्वज हैं। तब हम क्या कर सकते हैं?"

ब्रह्माजी बोले—"भैया! यही तो मैं कहता हूँ, जिन्होंने इस इतने बड़े भारी प्रपञ्च को संकल्प मात्र से बनाया है, एक अंश से इसकी रक्षा संहार आदि करते हैं, रक्षा का भार उन्हीं पर है। वे जो भी करेंगे उसी में मङ्गल होगा, कल्याण होगा।"

इस पर देवता बोले—"तब हम क्या करें? हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें?"

ब्रह्माजी बोले—"बैठे क्यों रहो, जो सुख दुःख आ जायँ उन्हें प्रारब्ध भोग मानकर भोगो। एकमात्र उन्हीं की कृपा की प्रतीक्षा

करते हुए, उन्हीं का नाम स्मरण, गुण गान द्वार कालक्षेप करके समय बिताओ।"

देवताओं ने कहा "तब तो महाराज! पुरुषार्थ कोई वस्तु ही नहीं है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"पुरुषार्थी के मानी क्या?"

ब्रह्माजी के इस प्रश्न को सुनकर देवता कुछ देर सोचते रहे और बोले—"पुरुषार्थ यही, पुरुष का बल, सामर्थ्य, उद्योग।"

ब्रह्माजी ने कहा—"यह तो तुम अभी कह चुके कि हम अपने बल से जल का एक बिन्दु भी नहीं बना सकते।"

देवताओं ने कहा—"जल बिन्दु चाहें न बना सकें, किन्तु पुरुषार्थ ही द्वारा धन प्राप्त होता है पुरुषार्थ से शरीर के उपयोगी सामग्री जुटाई जाती है। पुरुषार्थ न करें तो रण में शत्रु कैसे पराजित हो सकता है। संसार में जो भी हो रहा है पुरुषार्थ से ही हो रहा है। सभी प्रारब्ध के भरोसे हाथ पर हाथ रखे बैठ जायँ, तो संसार का कार्य ही न चले। आप नित्य प्रति प्रजा की उत्पत्ति के लिये पुरुषार्थ करते रहते हैं। सभी प्राणी पुरुषार्थ के ही द्वारा दुःखों की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होते रहते हैं।"

ब्रह्माजी बोले—"अच्छा जितने लोग पुरुषार्थ करते हैं सबको कीर्ति, जय, धन और भोग सामग्रियाँ मिलती हैं।"

देवता बोले—"नहीं, सबको तो नहीं मिलती कोई सफल होते हैं, कोई-कोई पुरुषार्थ करके भी असफल होते हैं।"

ब्रह्माजी बोले—"ऐसा क्यों होता है। एक ही गुरु से छात्र पढ़ते हैं। गुरु एक-सा पाठ पढ़ाते हैं। किसी को बिना श्रम के ही शीघ्र स्मरण हो जाता है, किसी को निरन्तर घोर श्रम करने पर भी स्मरण नहीं होता। एक से ही कार्य में दो समान श्रम करते हैं, एक को लाभ होता दूसरे को हानि, यह क्या बात है?"

देवताओं ने कहा—"उनके पुरुषार्थ में कमी होगी।"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखने में तो जिस लड़के को याद नहीं होता, वह सुनकर ही याद हो जाने वाले की अपेक्षा अधिक श्रम तथा पुरुषार्थ करता है।"

देवताओं ने कहा—"तब फिर महाराज! इसमें बुद्धि का दोष है।"

ब्रह्माजी बोले—"हाँ, यही तो मैं कह रहा हूँ। आयु, विद्या, बुद्धि, धन, दुःख-सुख—ये जन्म से पहले ही बन जाते हैं। इसी का नाम है प्रारब्ध। इसलिये इन संसारी पदार्थों की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ को लगाना मूर्खता है। वे तो तुम्हें प्राप्त होंगे ही, उसके लिये तो तुम इच्छा न होने पर भी पुरुषार्थ करोगे ही उसमें तो प्रारब्धवशात् तुम्हारी स्वतः प्रवृत्ति होगी ही। प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दो इस जीवन रूपी रथ के पहिये हैं। ये जीव रूपी पक्षी के दो पङ्ख हैं। इसलिये संसारी भोगों को तो प्रारब्ध पर छोड़ दो। आने पर बहुत हर्ष नहीं, जाने पर विषाद नहीं। जो हमारे प्रारब्ध का होगा, उसे कोई ले नहीं सकता। जो हमारे प्रारब्ध का नहीं है वह किसी भी प्रयत्न से, किसी भी पुरुषार्थ से हमें मिल नहीं सकता। इन भोगों को तो दैवाधीन समझो। अपने पुरुषार्थ का प्रयोग भगवत् कृपा की प्रतीक्षा में करो। गद्गद् कण्ठ से अधीर होकर रोओ। प्रभो! हम पर अब कब कृपा होगी? कब हमारी बारी आवेगी। कब हम आपके अनुग्रह के भाजन बन सकेंगे?"

देवताओं ने कहा—"तब फिर जीव का कर्तव्य क्या रहा? वह करे क्या?"

इस पर ब्रह्मा जी बोले—"बस, तीन ही काम करने चाहिए, इन्हीं में अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ को लगा देना चाहिये।"

देवताओं ने पूछा—"वे तीन काम कौन-कौन से हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, पहिला तो यह है कि भगवान् की अनुकम्पा की प्रतिक्षण प्रतीक्षा करता रहे। दूसरा यह कि प्रारब्धानुसार जो सुख-दुःख आ जाय, उसका उदासीन भाव से भोग करता रहे और तीसरा यह कि निरन्तर हृदय से, शरीर से और वाणी से भगवान् को नमस्कार करता रहे। जो इन तीनों कार्यों को करते हुए कालक्षेप करता है, वह संसार सागर से सहज में ही पार हो जाता है।"

देवताओं ने कहा—"तब हम क्या करें?"

भगवान् ब्रह्माजी बोले—"तुम करो क्या? भगवान् का स्मरण करो, उनकी कृपा की प्रतीक्षा करो। उन्हें सबकी स्वयं चिन्ता है। वे उत्पन्न होकर इन असुरों को स्वयं मार देंगे। इस विषय की तुम चिन्ता भी करो, तो उसका कोई मूल्य नहीं। व्यर्थ अपने को दुखी करना है। अतः समय की प्रतीक्षा करो और अपने सम्पूर्ण बल पुरुषार्थ को भगवत् स्मरण में लगाओ।"

ब्रह्माजी का ऐसा सारातिसार उपदेश सुनकर देवता स्वर्ग को चले गये और ब्रह्माजी भगवत् स्मरण करते हुए अपने लोक में चैन की वंशी बजाते रहे।"

छप्पय

नर तनु को फल जिहीं विष्णु शरणागत होनों।
विषय वासना माँहि व्यर्थ जीवन कूँ खोनों॥
स्वेच्छा तें को रोग शोक कूँ पुरुष बुलावे।
बिन प्रयत्न आजाहिं सुक्ख त्यों ही आ जावे॥
कृपा प्रतीक्षा नित करहु, दुःख दयामय हरिहैं।
मानि वचन विधि चले सुर, प्रभु सब मङ्गल करिहैं॥

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष का जन्म

[१४२]

दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी ।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ।
उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १७ अ० २, ३ श्लोक)

छप्पय

दितिदेवी इत डरी, करहिँ नहिँ प्रसव सुतनिकूँ ।
कश्यप आयसु दई निकारो अब दैत्यनिकूँ ॥
पति आज्ञा सिर धारि यमज सुत जनमे दुर्धर ।
स्वर्ग भूमि नभ माँहि भये उत्पात भयङ्कर ॥
ब्रह्माजी पंडित बने, नामकरण तिनिको कर्‌यो ।
हिरनकशिपु बड़ नाम धार, हिरण्याक्ष लघु को धर्‌यो ॥

यह सम्पूर्ण जगत् भावमय है। जिस समय जगत् में जैसे भावों का प्राबल्य होगा, उस समय वैसा ही वातावरण बन जायगा। संसार की सभी घटनाओं का वातावरण के ऊपर

---

* सती साध्वी दितिदेवी ने जो कि पुत्रों के द्वारा शंकाकुला थी, अपने पति की आज्ञा से पूरे सौ वर्ष हो जाने पर दो यमज पुत्र उत्पन्न किये। उनके जन्म के समय स्वर्ग में, पृथ्वी में, तथा अन्तरिक्ष में बड़े-बड़े उत्पात होने लगे, जो कि सम्पूर्ण लोकों को भयभीत करने वाले थे।

प्रभाव पड़ता है, किन्तु जो सामान्य घटनायें हैं, उनका कम प्रभाव पड़ता है और जो भारी घटनायें हैं। उनका अधिक प्रभाव पड़ता है। एक चावल को जल में डालो। उससे भी जल में क्षोभ होगा। उसके पड़ने से भी लहरियाँ पैदा होंगी। किन्तु वे सामान्य होंगी। जितनी ही भारी और बड़ी वस्तु डालोगे, उतनी ही ऊँची ऊर्मियाँ उठेंगी, उतना ही अधिक क्षोभ होगा। इसी प्रकार यह संसार भी एक सागर है। इसी विशाल वायुमंडल में भाव रूपी जल भरा है। सामान्य लोग इस आकाश को पोल समझते हैं, किन्तु वास्तव में यह पोल नहीं। इसमें ठूँस-ठूँसकर भाव भरे हैं। सभी घटनाओं से इस जगत् में सर्वदा छोटी-बड़ी ऊर्मियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु स्थूल बुद्धि होने के कारण हम छोटी घटनाओं की ओर ध्यान नहीं देते। प्रतिपल आदमी की आयु क्षीण होती है, शरीर बदलती रहती है, परिवर्तन होता रहता है, किन्तु परिवर्तन का पता हमें तब लगता है, जब छोटे से बहुत बड़े हो जाते हैं। काले बालों से सफेद हो जाते हैं। आयु क्षीण होने का पता तब लगता है, जब मर जाते हैं। सभी घटनाओं से सुख-दुःख तो होता है, किन्तु उत्तम, मध्यम और सामान्य के भेद से दुःख-सुख में भी तारतम्य होता है। सामान्य घटनाओं का सम्बन्ध सामान्य और सीमित व्यक्तियों ही से होता है। अतः उसके दुःख-सुख का प्रभाव भी विशेष कर उसी सीमा में व्यक्त होता है। जिन घटनाओं का सम्बन्ध सम्पूर्ण संसार से होता है, उनके सुख-दुःख का प्रभाव संसार भर में व्याप्त हो जाता है, जैसे भगवान् के अवतार से सम्पूर्ण जगत् का कल्याण होगा, वे चराचर को सुखी करेंगे, अतः उनके जन्म के समय सम्पूर्ण संसार में आनन्द छा जायगा। जड़ चैतन्य सभी के हृदयों में आनन्द की एक लहर उठने लगेगी, क्योंकि वे असीम हैं, अतः उनके प्रकट होने के आनन्द की भी कोई सीमा नहीं। इसी प्रकार जब

भगवान् से विरोध करने वाले महापराक्रमी दैत्य उत्पन्न होते हैं, तो सम्पूर्ण जगत् में भय उत्पन्न होता है। वास्तव में दोनों ही रूप भगवान् की प्रेरणा से, उनकी इच्छा से उत्पन्न हुए हैं। दोनों में उन्हीं की शक्ति है, नहीं तो सर्व शक्तिमान् सर्वेश्वर से समर करने की शक्ति किसमें हो सकती है। एक ही पात्र है जब वह रंगमंच में वीभत्स रूप रखकर आता है, तो दर्शक डर जाते हैं, मोहक रूप रखकर आता है, सब मोहित हो जाते हैं। जो इस रहस्य को जानते हैं जिन्हें उसका यथार्थ रूप विदित है, वे न डरते हैं, न मोहित होते हैं, हँस जाते हैं। जय-विजय वैकुण्ठनाथ के अंग हैं, उनके ही द्वारा उन्हें शक्ति प्राप्त है। जब उन्हीं की इच्छा से वीभत्स रूप रखकर क्रोध करने की इच्छा से उत्पन्न होते हैं, तो सम्पूर्ण जगत् क्षुब्ध होता है, जब उनके उत्पातों से दुखित हुए तो जगत को सुखी करने, उन्हें मारने को विचित्र रूप बनाकर वैकुण्ठनाथ आते हैं, तो सब हर्ष से आनन्दित होकर प्रसन्नता प्रकट करने लगते हैं।

मैत्रेय मुनि उसी कथा को चालू रखते हुए विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! जब दिति के गर्भ से सम्पूर्ण संसार तमोमय हो गया, सभी तेजस्वी तेजहीन हो गये, तब महामुनि कश्यपजी ने अपनी प्रिया दिति देवी से कहा—"देवि! तुम्हारे गर्भ में ये कौन भूत-प्रेत आ गये हैं, जो अभी से सबको भयभीत बना रहे हैं?"

लजाती हुई दिति ने कहा—"अब महाराज! आप ही जानो, करने कराने वाले तो आप ही ठहरे। मुझसे क्या पूछते हैं। मनुष्य जैसा बोवेगा वैसा काटेगा?"

भगवान् कश्यप बोले—"हत्या का बीज तो तुमने ही बोया।" दिति ने व्रीड़ा के साथ कहा—"अब मैंने बोया या आपने, भगवान् जानें। किन्तु जो हुआ सो हुआ। अब क्या करूँ, मुझे तो डर लग रहा है, कि उत्पन्न होते ही न जाने क्या-क्या उपद्रव

करेंगे। आप कितने यशस्वी तपस्वी हैं। आपके ही पुत्र तो कहलायेंगे। आपकी अपकीर्ति होगी।"

कश्यपजी ने कहा—"देवि! ये तो तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होंगे। दिति के पुत्र होने से इन्हें सब दैत्य ही कहकर जानेंगे। ये तो तुम्हारे ही नाम को बड़ा करेंगे।"

दिति ने दुखित मन से कहा—"अच्छी बात है, मेरे ही नाम से सही, किन्तु अब मैं क्या करूँ? ऐसे ही इन्हें गर्भ में धारण किये रहूँ या इन्हें उत्पन्न कर दूँ?"

कश्यपजी ने कहा—"देवि! भगवान् के विधान को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। सौ वर्ष हो गये, अब तुम इनको गर्भ से बाहर करो, नहीं तो ये अपने तेज से कहीं तुम्हें ही न जला डालें। ये साधारण जीव नहीं, भगवान् वैकुण्ठनाथ के ही प्रिय पार्षद हैं। इन्हें भगवान् के अतिरिक्त कोई मार भी नहीं सकता।"

दिति देवी ने अपने पति की आज्ञा शिरोधार्य की। उसने एक साथ ही दो बड़े तेजस्वी दुर्धर्ष पुत्र उत्पन्न किये। उनके उत्पन्न होते ही संसार में सर्वत्र अशान्ति छा गई, चारों ओर महान् उत्पात होने लगे। पृथ्वी में, अन्तरिक्ष में, स्वर्ग में, सर्वत्र हाहाकार मच गया। सभी अपशकुन एक साथ ही होने लगे। पृथ्वी इन दैत्यों के जन्म से भयभीत होकर डरी हुई अबला की भाँति थर-थर काँपने लगी। उसके शिरोमुकुट और स्तन रूपी पर्वत हिलने लगे। पर्वतों के शिखरों पर खड़े हुए वृक्ष भूकम्प के कारण हिल रहे थे, उनमें से निरन्तर पुष्प गिर रहे थे, मानों भयभीत हुई भूमि देवी की वेणी खुल जाने से उसमें से मालती के पुष्प बिखर रहे हों। नगरों में निरानन्द छा गया। कुत्ता, सियार, गीदड़, उल्लू, चील, गिद्ध तथा और भी अपशकुन की सूचना देने वाले मांसभोजी जीव चीत्कार करते हुए कर्कश शब्द करने

लगे। सूअर, गधे, आदि अमङ्गल पशु अपने खुरों से इसी प्रकार पृथ्वी को खोदकर क्षत-विक्षत करने लगे, जिस प्रकार क्रूरकर्मा जुआरी पुत्र धन के लोभ से अपनी माता को पीड़ित करता है। देवताओं की प्रतिमायें रोने लगीं, उनके शरीरों में पसीने निकलने लगे, अङ्गों में कम्प होने लगे। गौएँ भयभीत होकर काँपने लगीं। उनके स्तनों का दूध डर से सूख गया। रक्त पानी हो गया। दुग्ध दुहते समय स्तनों से रक्त की धारा निकलने लगी। ब्राह्मणों के चित्त चंचल हो गये। उनको अपने योगक्षेम की चिन्ता होने लगी। वे धन संग्रह की चिन्ता करने लगे। रोग, शोक और वृद्धावस्था के भय से विश्वेश्वर का विश्वास खोकर द्रव्य और पृथ्वी में गाड़ने लगे। इसी प्रकार और भी अनेकों पार्थिव अपशकुन हुए।

इसी तरह जलीय उपद्रव भी होने लगे। सभी समुद्रों का जल क्षुभित हो गया, उनमें ऊँची-ऊँची आकाश को छूने वाली ऊर्मियाँ उठने लगीं। समुद्र की गम्भीरता नष्ट हो गई, वह भयंकर शब्द करता हुआ उसी प्रकार रुदन करने लगा, जिस प्रकार बलवान् से सताया हुआ भयभीत कापुरुष डाह मारकर रोता है। सभी जल जन्तु क्षुभित होकर जल के ऊपर आ गये। उनमें बड़ी-बड़ी चमकीली मणियों को धारण करने वाले सर्प, तीखी-तीखी दाढ़ों वाले मकर, सुवर्ण और चाँदी के समान चमचमाती मछलियाँ, बड़ी-बड़ी पीठ वाले कछुए, दीपों के समान तिमि, तिमिंगिल और तिमिङ्गिलगिल ऐसे दिखाई देते थे मानो आकाश में एक साथ असंख्यों चमकीले तारे उदित हुए हों। कहीं-कहीं का जल रक्त के सदृश लाल हो गया।

सूर्य, चन्द्र और अग्नि का तेज मन्द ही नहीं पड़ गया, वे तेजहीन होकर अदृश्य-से हो गये, मानो सूर्य चन्द्र में एक साथ ही ग्रहण लग गया हो ग्रह सभी छिप गये। सर्वत्र अन्धकार का

साम्राज्य हो गया। यज्ञशालाओं की अग्नियाँ बुझ गईं धूम्रकेतु, अग्नि का धुआँ ही धुआँ दिखाई देता था। बहुत देखने पर भी अग्नि के दर्शन नहीं होते थे।

वायु ने आज प्रचण्ड पराक्रमी शूरवीर सेनापति का सा रूप धारण कर लिया। वह अपने सम्पूर्ण वेग से आँधी रूपी सेना को साथ लेकर चलने लगी। मार्गों के, पर्वतों के, नगर और ग्रामों के वृक्षों को उखाड़कर, तोड़कर जड़ मूल से नष्ट कर उसी प्रकार फेंकने लगी, जिस प्रकार शत्रु सेना वाले अपने प्रतिपक्षी सैनिकों का नाश करते हैं। साँय-साँय करती हुई आँधी सम्पूर्ण दिशा और विदिशाओं में छा गई। रज कण रूपी बाणों से उसने सभी को अन्धा बना दिया। गाँवों के छप्पर गिरने लगे, पत्थरों के घर हिलने लगे, समुद्रों में भरे जहाज डगमग-डगमग करके डोलने लगे, घोंसलों में बैठे पक्षी वृक्षों के गिरने से भयंकर शब्द बोलने लगे, इस प्रकार वायु ने वीभत्स रूप रखकर मानो प्रलय करने का संकल्प करके उद्योग आरम्भ कर दिया हो।

आकाश से उल्कापात होने लगे, शनि, राहु, मंगल आदि क्रूरग्रह, चन्द्रबृहस्पति आदि सौम्य ग्रहों तथा अन्य भी नक्षत्रों का असमय में उल्लङ्घन करके वक्रगति से चलकर अतिचार युद्ध करने लगे। सब दिशाओं में अग्नि की वर्षा होने लगी, कहीं रक्त की वृष्टि होने लगी। बिजलियों में गड़गड़ान-तड़तड़ान से प्रलय-कालीन दृश्य-सा उपस्थित हो गया। सम्पूर्ण संसार में महान भय की सूचना देने वाले धूम्रकेतु आदि अशुभग्रह दिखाई देने लगे।

इस प्रकार सर्वत्र भय छा गया, महान् उत्पातों को देखकर प्राणी डर गये, सभी ने समझा मानो अकाल में ही प्रलय होने वाली है। सब लोग तो इन उत्पातों के कारण से अभिज्ञ थे, अतः वे तो भाँति-भाँति की कल्पनायें करने लगे, किन्तु सनकादिक मुनियों को ब्रह्माजी को और देवताओं को तो विदित ही था,

ये असुर रूप में उत्पन्न हुए जय-विजय के जन्म के कारण ही सब उत्पात हो रहे हैं।

वे दोनों दितिपुत्र दैत्य उत्पन्न होते ही उसी प्रकार बढ़ने लगे, जिस प्रकार वैशाख ज्येष्ठ की दुपहरी की आँधी में बवण्डर बढ़ता..

है। उनके बढ़ने को पक्ष, मास, वर्ष की आवश्यकता नहीं थी। क्षण-क्षण में बढ़कर पर्वत के समान हो गये। उनके पैर पृथ्वी पर पड़ते थे और सिर आकाश को छूता था। पादत्राण पृथ्वी में सटे थे और सिर का मुकुट स्वर्ग में चमकता था। अंजन के पहाड़ के समान लम्बायमान, जल भरे बादलों के समान, खड़े हुए समुद्र के समान वे राक्षस दिखाई देते थे।

ब्रह्माजी तो सबके पितामह ही ठहरे। अपने पौत्र कश्यप के घर पुत्र जन्मे हैं, यह सुनकर वे अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ घुमाते, चारों मुखों से वेद की ऋचाओं को गाते, हाथ में कमण्डलु लिये, बगल में पञ्चाङ्ग दबाये, हंस पर चढ़े हुए दिति के आश्रम के समीप आये। अपने बूढ़े ससुर को देखकर दिति ने घूँघट मार लिया। उन लम्बे तड़ंगे बच्चों को देखकर ब्रह्माजी डर गये। दिति ने उन्हें भगवान् कमलासन के चरण कमलों में डाला। उनके लेटने से सम्पूर्ण पृथ्वी ढक-सी गई। उनके सिरों पर हाथ फेरते हुए ब्रह्माजी दिति से बोले—"यह जो तेरा छोटा लड़का है, जो पहिले उत्पन्न हुआ है, इसका नाम हिरण्याक्ष होगा और जो बड़ा है, पीछे उत्पन्न हुआ है, इसका नाम हिरण्यकशिपु होगा।"

इस पर विदुरजी ने मैत्रेयजी से पूछा—"प्रभो! जो पहिले उत्पन्न हुआ है, उसे तो बड़ा होना चाहिये और जो पीछे उत्पन्न हुआ है उसे छोटा। फिर ब्रह्माजी ने पहिले वाले को छोटा और पीछे वाले को बड़ा क्यों कहा?"

इस पर मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुरजी! बड़ाई छुटाई गर्भ से हिसाब से होती है। हिरण्यकशिपु गर्भ में पहिले आया था। इसके पश्चात् हिरण्याक्ष आया। हिरण्यकशिपु के निकलने के मार्ग को हिरण्याक्ष रोके हुए था। जब वह गर्भ से निकल गया, तब हिरण्यकशिपु निकला। इसलिये गर्भ में पहिले आने वाला पीछे

उत्पन्न होने पर भी बड़ा ही हुआ और पीछे गर्भ में आने से पहिले उत्पन्न होने पर भी यह छोटा कहाया।"

विदुरजी ने कहा—"हाँ महाराज ! मेरा संशय दूर हुआ फिर क्या हुआ ?"

मैत्रेयजी बोले—"फिर क्या हुआ, नाम रखकर ब्रह्माजी तो अपने लोक को चले गये और ये लोग बढ़कर संसार में उपद्रव करने लगे। तीनों लोकों को अपने वश में करने के लिये लड़ाई-झगड़ा करते हुए लोकपालों के यहाँ जाने लगे।"

छप्पय

दिति देवी के पूत भूत सम पलपल बाढ़े।
सिरतें छूयें स्वर्ग होहिं जब दोनों ठाढ़े॥
सब डरिकें भग जायँ दूरितें दैत्यनि देखें।
तेज हीन है जायँ जिन्हें स्वाभाविक पेखें॥
करहिं उपद्रव नित नये, तीनि लोक वश महँ करे।
कबहुँ न कोई कछु कहे, दुबके देव रहें डरे॥

हिरण्याक्ष का वरुण लोक में गमन

[१४३]

स वर्षपूगानुदधौ महाबल-
श्चरन्महोर्मीञ्छ्वसनेरितान्मुहुः ।
मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरी-
मासेदिवांस्तात पुरीं प्रचेतसः ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १७ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

हिरनकशिपु ने जगत् करयो वश विधिके वरतें ।
हिरण्याक्ष ले गदा विजय कूँ निकस्यो घरतें ॥
स्वर्गलोक महँ गयो भयो कोलाहल अतिशय ।
इत उत सुर सब भगे छिपे सबकूँ भारी भय ॥
सुरनि नपुंसक समुझि खल, दैत्य हँस्यो गर्जन करी ।
घूमिघामकें चलि दयो, देव विपति सिरतें टरी ॥

विनाश का मूल कारण है मद । मद होता है बल से । धन बल, जन बल, ऐश्वर्य बल तथा शारीरिक बल इस प्रकार बल अनेकप्रकार का होने पर भी उसमें मुख्य होता है अहंकार ।

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"हे तात ! महाबली हिरण्याक्ष अनेकों वर्षों तक समुद्र की तरल तरङ्गों पर अपनी फौलाद की गदा से प्रहार करता हुआ वहीं घूमता रहा । इस प्रकार घूमता फिरता वह वरुणजी की राजधानी विभावरी नामक नगरी में पहुँचा ।"

"मैं ऐसा हूँ। मेरे सामने कौन ठहर सकता है ?' दूसरों का अपमान मनुष्य अहंकार के ही कारण करता है। यही बल यदि आध्यात्मिक हो और सर्वत्र अपने इष्ट को ही समझे, तब वह जीव मात्र का सम्मान करने लगता है, फिर उसके लिये संसार में कोई भी निन्दनीय या उपेक्षणीय नहीं रह जाता। किन्तु पृथक् दृष्टि वाले पुरुष जिन्हें अपने से अधिक ऐश्वर्यशाली शूरवीर या पराक्रमी समझते हैं, उन्हें परास्त करने के लिये सतत प्रयत्न करते रहते हैं। वे चाहते हैं—हम भी सबसे श्रेष्ठ रहें। हमारी बराबरी का दूसरा कोई भी न रहे। सभी हमारा सम्मान करें, सभी हमारे सामने घुटने टेकें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के भी ऐसे ही भाव थे।

उत्पन्न होते ही वे बढ़कर बली बन गये। पहिले उन्होंने समस्त पृथ्वी के शूरवीरों को अपने वश में किया, फिर वे इधर-उधर अन्य लोकों में घूमने लगे। दोनों भाइयों में बड़ा स्नेह था, एक दूसरे को हृदय से प्यार करते थे। छोटा भाई सदा बड़े भाई की आज्ञा में रहता। महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! हिरण्यकशिपु का चरित्र तो नृसिंहावतार के प्रसंग में वर्णन होगा। क्योंकि उसका वध तो भगवान् नरहरि ने ही अपने तीक्ष्ण नखों द्वारा किया था। यहाँ तो मैं आप को सूकरावतार की कथा सुना रहा हूँ। हिरण्याक्ष को वाराह भगवान् ने ही मारा था, अतः पहिले उसी को सुनिये।"

हिरण्याक्ष ने सोचा—नीचे के सातों लोक और पृथ्वी के सम्पूर्ण देश तो हमारे अधीन हो गये, अब स्वर्ग को भी अपने वश में कर लेना चाहिये। आठों लोकपालों को जीत कर हमें तीनों लोकों का एक मात्र शासक बनना है। इसलिये पहिले देवताओं के राजा इन्द्र पर ही चढ़ाई करें। यह सोचकर वह शचीपति शक्र से युद्ध करने स्वर्ग की ओर चला। उसके भाई ने

कहा भी—"कुछ सेना साथ में ले जाओ।" इस पर उ
हेलना के स्वर में कहा—"सेना तो वे साथ लेते हैं, जिन्हें
बाहुबल का भरोसा न हो। मेरी ये दोनों फरकती हुई भु-
असंख्यों सैनिकों का एक साथ ही संहार करने में समर्थ
सेना की क्या आवश्यकता ?"

यह कहकर वह अपने बाहुबल के मद में चूर हुआ
तुच्छ समझता हुआ, अपनी गदा को हाथ में लेकर
स्वर्ग की ओर चल दिया। क्रोध के कारण उसकी भौंहें
थीं, काले-काले ओठ फरक रहे थे। बड़ी-बड़ी बाहुओं
को घुमाता हुआ, पैरों से पृथ्वी को कँपाता हुआ, अपनी
दहाड़ से दिशाओं को गुञ्जाता हुआ, स्वर्ग के
पहुँचा। उसे देखते ही सुरलोक की अप्सरायें डरकर
गन्धर्व अपने साज समाज को छोड़कर पहाड़ों की
छिप गये। विमानों में घूमने वाले देवता विमान छोड़कर
इन सबको भय से भागते देखकर हिरण्याक्ष हँसकर
सुधर्मा सभा की ओर चला। सुर सैनिकों ने जब इस
वरदान, बल, वीर्य और शौर्य के मद से उन्मत्त हुए
सभा की ओर ही जाते देखा, तो सब इसके डर से अस्त्र-
छोड़कर भाग खड़े हुए। कुछ ने दौड़कर देवराज से निवेदन
"देव ! दितिपुत्र हिरण्याक्ष चरणों के नूपुरों से छम-छम
वैजयन्ती माला पहिने और कंधे पर गदा रखे इधर ही आ
तब तो देवराज की सभी सिटिल्ली भूल गईं। वे पास
देवी से बोले—"प्रिये ! अब क्या किया जाय ?"

शची ने कहा—"प्राणनाथ ! गान बन्द करो।
चलो, मैं तुम्हें उपाय बताऊँगी।"

भय से काँपते हुए देवराज ने यही किया। अप्सरा
कहा—"तुम सभाभवन के ऊपर चली जाओ" गन्धर्वों से

"तुम पीछे के द्वार से अपने-अपने यहाँ जाओ।" इतना कहकर शची के साथ वे अन्तःपुर में चले गये। फिर भी देवराज डरे हुए थे। तब शची ने कहा—"आप इतने डरे क्यों हैं?"

इस पर शतक्रतु देवराज बोले—"देवि! बलवान् दुष्टों से डरते ही रहना चाहिये। मैं लोकपितामह ब्रह्माजी के मुख से सुन चुका हूँ—इस दुष्ट को भगवान के सिवाय कोई जीव नहीं मार सकता। उद्धत ही जो ठहरा, न जाने क्या उपद्रव कर बैठे।"

इस पर शची देवी ने अपनी हँसी रोककर कहा—"तब एक काम करो। लो मेरी चूड़ी पहिन लो। घूँघट मारकर बैठ जाओ। चूड़ियों की खनखनाहट सुनकर कैसा भी क्रोधी हो, उसका क्रोध भाग जाता है और स्त्री समझकर कोई लड़ाई झगड़ा भी नहीं करता।"

देवराज बोले—"देखो, वह वीर है। वीर लोग कभी अन्तःपुर में नहीं आते। वे तो सम्मुख युद्ध करते हैं। अतः बिना चूड़ी पहिने ही—तुम्हारे समीप रहने से ही—मेरी रक्षा हो जायगी। समय की बात है—कभी गाड़ी नाव पर कभी नाव गाड़ी पर। कभी मेरे आश्रय में रहने से इसी प्रकार तुम्हारी रक्षा हो जायगी।"

इन्द्र और शची की ये बातें हो ही रही थीं, कि इतने में ही अपनी भयंकर गदा को घुमाता हुआ हिरण्याक्ष इन्द्र की सभा में घुसा। सभा को शून्य देखकर वह इन्द्रासन पर जाकर बैठ गया और बड़े जोरों से गर्जना करने लगा। उसकी गर्जना से सभा गूँजने लगी। प्रतीत होता था मानों सभा इस शब्द से ही गिर जायगी। जब उसकी गर्जना को सुनकर भी कोई उसके सम्मुख नहीं आया, तो वह उठकर यह कहता हुआ चल दिया कि, 'स्वर्ग में सब नपुंसक ही रहते हैं। शूरवीर तो एक भी देखने में नहीं आया। यदि कोई शूरवीर होता, तो सामने आता।' भीतर

बैठे-बैठे इन्द्र यह सब सुन रहे थे। उन्हें यह बात लगी तो बहुत बुरी, किन्तु करते क्या ? उसे जीतने में तो वह सर्वथा अपने को असमर्थ पाते थे।

इस पर हिरण्याक्ष स्वर्ग में अपना शौर्य वीर्य प्रदर्शित करके सुमेरु के समीप आया। उसके तो लड़ाई के लिये हाथ खुजा रहे थे। इसलिये उसने सुमेरु के सुवर्णमय शिखरों को उखाड़-उखाड़कर फेंकना आरम्भ किया। सुमेरु बड़े घबड़ाये कि यह भूत कहाँ से आ गया। वे शरीर धारण करके उसके समीप आये और बोले—"हे दिति वंशावतंस राजन्! यह आप व्यर्थ का कार्य क्यों कर रहे हैं ? इन शिखरों को तोड़ने से आपको क्या लाभ होगा ?"

हिरण्याक्ष ने डाँटकर कहा—"तुम पूछने वाले कौन होते हो ? हमारी जो इच्छा होगी सो करेंगे। हमने सुना है सुमेरु सबसे श्रेष्ठ है। इसके बराबर ऊँचा और कोई विशाल नहीं। इसलिये हम इससे युद्ध करना चाहते हैं। लड़ाई के लिये हमारे हाथों में खुजली हो रही है ?"

हाथ जोड़कर विनीतभाव से डरते-डरते सुमेरु ने कहा—"हे शूरवीरों के मुकुटमणि राजन्! मेरा ही नाम सुमेरु है। अवश्य मैं सबसे बड़ा हूँ, किन्तु आपके साथ युद्ध करने में अपने को मैं असमर्थ समझता हूँ। मेरा क्या साहस जो आपके साथ युद्ध करने का विचार कर सकूँ।"

तब उस दैत्य ने गरज कर कहा—"अच्छी बात है यदि तुम युद्ध नहीं कर सकते तो मेरे अनुरूप युद्ध करने को कोई बली योद्धा ही बताओ।"

सुमेरु बड़े घबड़ाये। अब इसे किसका नाम बताऊँ ? देवराज तो इसका नाम सुनकर ही भाग गये। कौन इससे युद्ध कर सकता है ? यदि किसी का नाम न बतावेंगे तो यह मानेगा नहीं।

इसीलिये सोच समझकर सुमेरु बोले—"राजन्! मैं तो समझता हूँ—समुद्र अगाध है, गंभीर है, महान् है। आपको सम्भव है, वह युद्ध में सन्तुष्ट कर सके।"

इतना सुनते ही वह दैत्य बड़ी शीघ्रता के साथ समुद्र की ओर चल दिया। नद-नदीपति परम गंभीर महासमुद्र को भयंकर गर्जना करते देखकर उसने समझा यह मुझे लड़ने के लिये ललकार रहा है। अतः वैसे ही क्रीड़ा के निमित्त वह समुद्र में घुस गया। वह शूरवीर था इसलिये पहिले प्रहार करना नहीं चाहता था। उसके घुसते ही समुद्र में रहने वाले वरुणजी के दूत डरकर इधर-उधर भागने लगे। यद्यपि उसने किसी को मारा नहीं प्रहार नहीं किया फिर भी उसके तेज से ही प्रभावहीन होकर वरुण देव के अनुचर भाग खड़े हुए। समुद्र की लहरें उसके शरीर में टक्कर खाने लगीं। उसने समझा समुद्र अपनी तरल तरंगों से मेरे ऊपर प्रहार कर रहा है। अतः उसने समुद्र की ऊँची-ऊँची उठती हुई लहरों पर अपनी भीषण गदा का प्रहार करना आरम्भ कर दिया। ज्यों ही वेग से वह गदा मारता, त्यों ही जल बहुत ऊँचा उछल कर उसके शरीर पर गिर पड़ता। इससे वह हँस पड़ता और फिर अधिक बल लगाकर प्रहार करता। उसके लिये यह एक खेल हो गया। इसमें उसे बड़ा आनन्द आने लगा। अतः वह वर्षों इसी प्रकार लहरियों के साथ खेल करता रहा मानों समुद्र से युद्ध कर रहा हो।

इस प्रकार उदधि के साथ क्रीड़ा करता हुआ वह लोकपाल वरुण की दिव्य विभावरी नामक नगरी में जा पहुँचा। उसे वरुणलोक में आया हुआ देखकर वहाँ के भी सब वरुणदेव के गुह्यक किन्नर आदि अनुचर इधर-उधर भागने लगे। वरुणजी तो बड़े बूढ़े ही ठहरे। वे अपनी सभा में ही बैठे रहे। उन्होंने सोचा—इस बलवान् के सामने से भागकर भी कहाँ जा सकते

हैं। आजकल इसका समय है, अतः इसे समझा बुझाकर यहाँ से

विदा कर देना चाहिये। यही सब सोचकर वे अपने आसन पर बैठे रहे।

छप्पय

स्वर्गलोक तें निकसि दैत्य जलनिधि ढिँग आयो ।
सुनि गर्जन गम्भीर समुझि ललकार रिस्यायो ॥
गदावेग तें तरल तरंगनि तोरत फोरत ।
वरुण लोक महँ गयो मत्तमद मूँछ मरोरत ॥
अद्भुत जान्यो जन्तु जिह, जलचर जीव भगे डरे ।
किन्तु वरुणजी असुर लखि, सिंहासन तें नहिँ टरे ॥

हिरण्याक्ष की वरुणजी से बातचीत

[१४४]

तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकम्,
यादोगणानामृषभं प्रचेतसम् ।
स्मयन्प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचवत्,
जगाद मे देह्यधिराज संयुगम् ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १७ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

पहुँचि कर्‌यो उपहास विहँसि खलबचन उचार्‌यो ।
'लोकपाल डंडौत' लहु सिरपै जनु मार्‌यो ॥
वरुणदेव ने कही—असुरपति इत कित आये ।
कैसे किरपा करी कहो कस भूप रिसाये ॥
को करिकें अपकार तुम, रहे जगत में कुशल बसि ।
वचन सरल मधुमय सुने, असुर अकड़ि बोल्यो बिहँसि ॥

बलवान् अधर्म निर्बल धर्म को दबा लेता है। अन्त में जय तो धर्म की होती है, किन्तु प्रबल अधर्म के द्वारा धैर्य और सहन-शक्ति की परीक्षा हुआ करती है। विपत्ति में भी जो

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! वह दैत्य वरुणलोक में पहुँचकर वहाँ के स्वामी, सभी जलचरों के अधीश्वर श्रीवरुणजी को देखकर उसने उपहास पूर्वक हँसते हुए नीच पुरुष की भाँति उन्हें प्रणाम किया और बोला—"हे राजचेश्वर! मुझे युद्ध की भिक्षा दीजिये।"

धर्म को नहीं त्यागता, सब प्रकार के कष्ट सहकर भी जो धर्म की रक्षा करता है, अन्त में धर्म उसकी भी रक्षा करता है। दृढ़ता से रक्षित धर्म ही इस लोक और परलोक में प्राणियों की रक्षा करता है।

जिस समय ऐश्वर्य तथा बलवीर्य के मद में उन्मत्त हुआ पुरुष अपने सदृश किसी को नहीं मानता, उस समय उसका अभिमान अत्यधिक बढ़ जाता है, पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है जब वह पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं। जो अधर में लटकते रहते हैं, वहाँ व्यवहार तो चल सकता है, भगवान् नहीं मिल सकते। ऐसा न होता तो रावण, कुम्भकर्ण, दन्तवक्र, शिशुपाल तथा कंस आदि क्रूरकर्म करने वालों को मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती थी? हिरण्याक्ष का भी अहङ्कार पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। युद्ध के लिये किसी को सम्मुख आते न देखकर उसका दर्प आवश्यकता से अधिक बढ़ गया। देवेन्द्र वज्रपाणि शचीपति ही त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ वीर समझे जाते थे, जब वे ही मुझे देखकर अन्तःपुर में छिप गये, तब मेरा सामना अब कौन कर सकता है? यही विचार कर हिरण्याक्ष समुद्र में होकर वरुण लोक में गया।

मैत्रेय मुनि कह रहे हैं—"विदुरजी! जब हिरण्याक्ष को देखकर वरुण लोक के निवासी इधर-उधर भागने लगे तब यह अभिमानी वीर भी किसी की ओर न देखता हुआ वरुणजी की सभा में पहुँचा। वहाँ वरुणजी अपने कुछ मंत्रियों के साथ सिंहासन पर विराजमान थे। एक तो वे वृद्ध थे, कश्यपजी भी उनका आदर करते थे, अतः वैसे ही व्यवहार वश हँसते हुए उनका अपमान-सा करते हुए, नीच पुरुष के समान इसने गदा को तानकर छाती फुलाकर अकड़ से साथ कहा—"उद्दौत वरुणजी!"

वरुणी इसके रुख से ही समझ गये—यह नीच मेरा अपमान करने आया है। यह दंडवत नहीं कर रहा है, अपितु मेरा तिरस्कार कर रहा है। किन्तु करते ही क्या, बलवान् की बात सहनी ही पड़ती है। अतः शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए वरुणजी ने प्रेमयुक्त संभ्रम के साथ कहा—"आइये, आइये, दैत्यराज! बड़ी कृपा की, कहाँ से पधारे? विराजिये, इस मणिमय दिव्य आसन को सुशोभित कीजिये।"

यह सुनकर वह दुष्ट बड़ी अवहेलना के साथ वहीं उनके सम्मुख खड़ा हो गया। अपनी विशाल गदा को टेककर उसके ऊपर दोनों हाथ और कपोल रखकर खड़े-खड़े ही कहने लगा—"इस समय मैं स्वर्ग से आ रहा हूँ, आपके ही पास आया हूँ। आपकी मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी है। अतः कुछ भीख माँगने को आपकी सभा में उपस्थित हुआ हूँ।"

वरुणजी तो सब समझ रहे थे, कि यह दुष्ट किसी न किसी बात को निमित्त बनाकर उलझना चाहता है। अतः उसे समझाते हुए बड़ी नम्रता से बोले—"आप बैठिये तो सही क्या बात है, यहाँ तो सब वस्तु आपकी ही है। अपनी वस्तु को किससे माँगना?"

इस पर वह गर्व के साथ बोला—"नहीं मुझे आपके ये मणिमाणिक्य नहीं चाहिये। मैं बहुत दिनों से आपकी प्रशंसा सुनता आ रहा हूँ। मैंने सुना है, आपने पहिले एक बड़ा भारी राजसूय यज्ञ किया था, जिसका करना दूसरे लोगों को अत्यन्त ही कठिन है। क्योंकि राजसूय यज्ञ वही कर सकता है, जो अपने बाहुबल से समस्त वीरों के वीरता सम्बन्धी गर्व को खर्व कर सके, जो तीनों लोकों में सबसे बलवान् हो। आपने यह सब किया है। अपने वीर्य मद से मदमाते महारथियों के मद को चूर्ण किया है, दशों दिशाओं में आपकी कीर्ति व्याप्त है आप

सभी लोकपालों के अधीश्वर और सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। इसलिये मैं भी आपसे दो-दो हाथ करना चाहता हूँ। बहुत दिन से मुझे कोई लड़ने वाला नहीं मिला। जहाँ भी जाता हूँ, वहीं से लोग मेरा नाम सुनते ही भाग जाते हैं। अभी स्वर्ग गया था, मुझे देखते ही देवराज अन्तःपुर में छिप गये। तब फिर मैं आपके समीप आया। आप तो बलशाली हैं। वीर लोग युद्ध के लिये आये हुए को देखकर भागते नहीं, किन्तु उनका उत्साह और भी अधिक बढ़ जाता है। अतः आप मुझे युद्ध की भिक्षा दीजिये। चिरकाल से युद्ध न मिलने से मेरे हाथ खुजला रहे हैं। बोलिये, मेरी इच्छा पूरी करेंगे ?"

उस दैत्य के ऐसे दर्प पूर्ण कठोर तथा तिरस्कार युक्त वचन सुनकर वरुणजी को क्रोध तो बहुत आया, किन्तु उन्होंने बुद्धि के बल से उसका शमन किया और हँसते हुए बोले—"राजन्! जब हम भी आपके बराबर थे, तब ऐसे ही थे, जैसा कि आप कह रहे हैं। उस समय हमारे शरीर में नूतन रक्त था, नया उत्साह था, चढ़ती हुई अवस्था की उमंग थी। अब तो हम युद्ध करते-करते थक गये। इन लड़ाई-झगड़ों से विरक्ति भी हो गई। सब वस्तुओं का अन्त होता है। इतना युद्ध किया कि अब हम तृप्त हो गये हैं।"

हिरण्याक्ष ने अभिमान के साथ कहा—"युद्ध के लिये नहीं मेरे सत्कार के ही लिये आप लड़ें। मैं युद्ध की इच्छा वाला अतिथि आपके स्थान पर आया हूँ, अतिथि सत्कार के ही नाते कुछ अपना बल-पराक्रम दिखाइये। हम भी तो देखें आपने तीनों लोकों को किस प्रकार जीता है।"

भगवान् वरुणजी बोले—"भैया, युद्ध होता है बराबर बल वालों में। मेरी तुम्हारी क्या बराबरी। तुम्हारी चढ़ती हुई उम्र

अवस्था है। मैं अब पुराना हो चुका। हमारा-तुम्हारा युद्ध शोभा न देगा।"

दैत्य ने शीघ्रता से कहा—"कोई चिन्ता नहीं। बलवानों में बल ही देखा जाता है, वहाँ छोटे बड़े का विचार नहीं होता।"

वरुणजी ने कहा—"यह सत्य है कि बलवानों में वय का विचार नहीं होता, किन्तु तुम्हारे बराबर बल भी तो मुझमें नहीं है। मैं तो तुमसे बिना ही लड़े हारा हुआ हूँ।"

यह सुनकर असुर बहुत हँसा और मुँह बनाकर बोला—"अरे! आप की तो बड़ी प्रशंसा सुनी थी, हमें तो बड़ी आशा थी, आप अपने पैंतरे दिखावेंगे, कुछ बल पौरुष जतावेंगे, कुछ युद्ध का आनन्द चखावेंगे, सो आपने तो पहिले ही जूआ डाल दिया। आपने तो अपनी बढ़ी हुई कीर्ति पर पानी फेर दिया। दिगन्तव्यापी यश को धूल में मिला दिया। अच्छी बात है, आप युद्ध नहीं कर सकते, तो किसी ऐसे वीर का नाम बताइये जो मुझे युद्ध में सन्तुष्ट कर सके। या संसार में अब कोई योद्धा रहा ही नहीं?"

यह सुनकर पश्चिम दिशा के अधीश्वर जलचरों के स्वामी भगवान् वरुण बोले—"भैया, अब मैं और किसे बताऊँ। श्रीमन्नारायण को छोड़कर और ऐसा कौन है जो तेरे बढ़ते हुए दर्प का नाश करके तुझे युद्ध में सन्तुष्ट कर सके।" यह सुनकर बनावटी आश्चर्य प्रकट करता हुआ अवहेलना के स्वर में दैत्य बोला—"ओहो! नारायण नाम का कोई देवता है क्या जो मुझसे युद्ध करने का साहस कर सके? उसका क्या पराक्रम है? कुछ बताइये भी तो सही, उसने किसी मेरे समान योद्धा से कभी युद्ध किया भी है?"

रोष के स्वर में वरुणजी बोले—"बच्चूजी! बहुत बढ़-बढ़ कर बातें मत बनाओ, आपे से बाहर मत हो, इतनी लम्बी

चौड़ी डींग मत हाँको, तुम्हें अभी भगवान् विष्णु से कभी पाला पड़ा नहीं। तुम जैसे कुत्तों को तो वे ऐसे ही पकड़कर चीर डालते

हैं, जैसे चटाई बनाने वाला एरका को चीर डालता है। उनका काम ही यही है कि, शिष्टों का पालन करना और दुष्टों का दमन

करना। उनके सामने पहुँचते ही सभी चौकड़ी भूल जाओगे। इतनी देर से यहाँ खड़े-खड़े जो चबर-चबर बक रहे हो, वहाँ तुम्हारी बोलती बन्द हो जायेगी। मुँह फाड़े कुत्ते और गीदड़ों के बीच में तुम्हारी लाश पड़ी दिखाई देगी। वहीं तुम जाओ। वहीं तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी। उनके समीप जाने पर ही जीव की समस्त इच्छायें परिपूर्ण हुआ करती हैं।"

दर्प के साथ क्रुद्ध हुआ दैत्य बोला—"उस विष्णु का कैसा रूप है? वह कहाँ रहता है? मै उसके पास अवश्य जाऊँगा और युद्ध करके उसे रण में परास्त करूँगा। तुम उसका पता ठिकाना मुझे बताओ।"

वरुणजी बोले—"भैया, पता ठिकाना तो ठीक-ठीक हम भी नहीं जानते। उनका एक रूप हो तो बतावें भी। किसी एक ही स्थान मे रहते हों, तो निर्देश भी किया जा सकता है। उन्हें पाने की तेरे मन मे उत्कट इच्छा होगी, तो उसे बताने वाले गुरु भी आपसे आप तुझे कहीं मिल जायँगे। उनकी खोज कर, उनको उत्साह के साथ ढूँढ़ने में लग जा। खोजते-खोजते कभी न कभी तो कहीं मिल ही जायँगे। बैठे-बैठे तो मिलते नहीं। उन्हीं का नाम लेकर उन्हीं को मनमें रखकर निकल पड़ो, तो पता लग ही जायगा। समय आने पर मिल ही जायँगे।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुर! वह दुष्ट वरुण जी के मुख से ऐसी बात सुनकर भगवान् को खोजने के लिये निकल पड़ा।"

छप्पय—लोकपाल है आपु जगत् महँ यश बहु छायो।
शौर्य वीर्य बल कीर्ति सुनी तुम्हरे ढिँग आयो॥
द्वै-द्वै होवै हाथ गदा मेरी सहि लीजे।
गदा युद्ध वा द्वन्द युद्ध की भिक्षा दीजे॥
वरुण हँसे बोले असुर! ते दिन तो अब लदि गये।
लक्ष्मीपति तोसे लड़हिं, अब हम तो बूढ़े भये॥

हिरण्याक्ष को हरि दर्शन

[१४५]

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितम्,
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदात्,
रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १८ अ० १ श्लोक)

छप्पय

को लक्ष्मीपति कहाँ रहे कैसे वो पावे।
किहि विधि वो बलवीर समरमहँ सम्मुख आवे॥
असुर सुनत रिस भर्यो चल्यो श्रीहरिकूँ खोजत।
सम्मुख नारद लखे सुघड़ वीना कर शोभित॥
वर वीणा के सुरनि पै, गुन गावत गोविन्द के।
मत्त मधुप मकरन्द के, श्रीहरि पद अरविन्द के॥

जीव जब तक भगवान् की ओर बढ़ता नहीं, उन्हें पाने को उत्कंठित नहीं होता, तब तक भगवान् को बताने वाले सद्गुरु की प्राप्ति होती नहीं। गुरुदेव स्वयं सद्शिष्य की खोज में

---

* मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"विदुर! वरुणजी के मुख से विष्णु भगवान् की प्रशंसा सुनकर वह मद से मत्त हुआ दैत्य बड़ा प्रसन्न हुआ। वरुणजी के कथन की अवहेलना करता हुआ वह नारदजी से भगवान् का पता पाकर शीघ्रता पूर्वक पाताल लोक में घुस गया।"

घूमते रहते हैं। शिष्य को गुरु खोजना नहीं पड़ता। गुरु ही स्वतः शिष्य को खोज लेते हैं। शिष्य का काम तो एकमात्र चाह उत्पन्न करना है। उनकी ओर एक पग बढ़ाना है। अँधेरे ही में दृढ़ संकल्प करके निकल पड़ना है। भूले भटके मार्ग पर ही प्रयाण कर देना है। गुरुदेव तो दया के सागर होते हैं। हमें पथभ्रष्ट देखकर—विमार्ग की ओर जाते देखकर—वे प्रकट हो जायँगे और हमारे भावों को समझकर हमें निष्कंटक पन्थ का निर्देश कर देंगे। उन्हें कहीं से आना जाना तो है नहीं, वे तो सर्वत्र व्यापक हैं, जहाँ प्रेम देखते हैं, वहाँ प्रकट हो जाते हैं शुद्ध मन की उस वृत्ति के अधिष्ठातृदेव नारद हैं, जो भगवान् की ओर ले जाते हैं, जो हमें अपने इष्ट की ओर पहुँचाते हैं। चौदहों भुवनों में नारदजी की अव्याहत गति है। वे सर्वत्र जा सकते हैं। उनके लिये कुछ दुर्ज्ञेय नहीं, अगम्य नहीं। दैत्य हो, दानव हो, यक्ष हो, राक्षस हो, मनुष्य, पक्षी, कीट, पतंग कोई भी क्यों न हो, अधिकारी भेद से उसे भगवान् के सम्मुख पहुँचा देना यही उनका एकमात्र कार्य है। नाम है, उनका कलह प्रिय। कलह बिना सम्मिलन के—योग के—होती नहीं। अतः किसी भी प्रकार से कलह कराकर साधक को साध्य से मिला देते हैं। इसीलिये वे जगद्गुरु कहलाते हैं। सभी उनका समान भाव से आदर करते हैं।

शबलाश्व हर्यश्व ये दक्ष के हजारों पुत्र तपस्या करने गये। अधिकारी समझकर मूँड़ मुड़ाकर उन्हें संन्यासी बना दिया। ध्रुवजी घर से निकले ही थे, कि प्रकट हो गये और सिर पर हाथ फेर कर वैष्णवाग्रणी कर दिया। प्रह्लाद को माता के उदर में ही जिज्ञासा हुई। उदर में से वे जा नहीं सकते थे, अतः उनकी माँ को ही इन्द्र पकड़ ले गया। उसे उससे छुड़ाकर अपने आश्रम पर रखकर, उदर में ही बालक प्रह्लाद को उपदेश देकर प्रातः स्मरणीय और भक्तचूड़ामणि बना दिया।

कंस को उलटी पट्टी पढ़ाकर भगवान् से मिला दिया। इनके समस्त उद्योग जीवों को भगवान् के सम्मुख करने के होते हैं। कहीं वीणा बजाकर लोगों को रिझाते हैं, कहीं गुण गाकर उन्हें मुग्ध कर देते हैं। कहीं लड़ाई-भिड़ाई का सामान जुटाकर वहाँ से चम्पत हो जाते हैं, कहीं सप्ताह सुनते हैं, कहीं मन्त्र जपते हैं, कहीं दीक्षा देते हैं, सारांश कि जिस कार्य से भी लोक का कल्याण हो उसे करने में इन्हें हिचक नहीं, संकोच नहीं, लज्जा नहीं। आलस्य तो इनके पास फटकने नहीं पाता। सदा घूमते ही रहते हैं। एक जगह पैर टिकते ही नहीं। अभी सत्यलोक में हैं, क्षण भर में मर्त्यलोक में पहुँच गये। हाँ कहीं कथा कीर्तन भगवान् के दर्शन का आनन्द होता है, तो वहाँ जम जाते हैं। वहाँ इनका शाप भी बाधा नहीं पहुँचाता। नारदजी की कृपा के बिना जीव न कोई परमार्थ कार्य कर सकता है, न ज्ञानी हो सकता है और न भगवान् को ही प्राप्त कर सकता है। ये कर्मकाण्ड में भी निष्णात हैं, योगशास्त्र के भी आचार्य हैं, योग के भी प्रवर्तक हैं, भक्तिमार्ग के भी विशेषज्ञ हैं और ज्ञानियों के भी चूड़ामणि हैं। सत्यनारायण जी की कथा सुननी हो तो भी 'एकदा नारदोयोगी परानुग्रहकांक्षया' से ही आरम्भ होती है, इन्हें बुलाने की आवश्यकता नहीं। तुम भगवान् की ओर बढ़ो वे स्वयं ही तुम्हारे सम्मुख उपस्थित होंगे।

मैत्रेयजी कह रहे हैं—"विदुरजी! जब भगवान् वरुणदेव से उस दैत्य ने वैकुण्ठनाथ विष्णु के बल की प्रशंसा सुनी तो वह उनसे ही लड़ने, उन्हें ही खोजने, उनका ही स्मरण करते हुए ऊपर की ओर चला। अब उसे एक ही धुन थी कि विष्णु से साक्षात्कार हो, एक ही टेक थी—विष्णु मिलें तो उनसे दो-दो हाथ हों। यह सोचता हुआ जा ही रहा था कि आकाश से

जटायें हवा के साथ उसी प्रकार फहरा रहीं थीं, मानों कल्प-वृक्ष के ऊपर अमर बेल हिल रही हो। उनके मस्तक पर वैष्णवोचित तिलक लगा हुआ था। कंठ में तुलसी की मालायें शोभा दे रही थीं। पीत वस्त्र वायु से इस प्रकार हिल रहा था, मानो आकाश में बिजली चमक रही हो। स्वर ब्रह्म विभूषित वीणा हाथ में उसी प्रकार कसकर पकड़े थे, जिस प्रकार स्नेहमयी माँ अपने बच्चे को गोद में चिपकाये रहती है। दूसरे हाथों में करताल थे, जो परस्पर में लड़ते हुए निरन्तर उन्हें कलह का स्मरण कराते हुए भगवन्नाम उच्चारण का पाठ सा पढ़ा रहे थे। अपने ध्यान में मग्न हुए राम, कृष्ण गुन-गान करते हुए नीचे उतर रहे थे। इधर यह दैत्य कंधे पर गदा रखे, कोयले के पङ्खयुक्त पहाड़ के समान, जल भरे मेघ की भाँति आकाश में उड़ रहा था। नारद जी की दृष्टि उसके ऊपर पड़ी, देखते ही खिल उठे। बड़ा स्नेह प्रकट करते हुए बोले—"ओ हो! कौन? दैत्यराज! हिरण्याक्ष जी! धन्यवाद-धन्यवाद, सुस्वागतम्। आप इधर-किधर भटक पड़े? कहाँ की तैयारियाँ हैं? किस पर धावा बोल दिया?"

यह सुनकर गर्वयुक्त नम्रता से प्रणाम करते हुए दैत्य बोला—"नारद जी! क्या बतावें, संसार सूरवीरों से शून्य हो गया। इन देवताओं को तो व्याकरण शास्त्र वाले भी नपुंसक ही बताते हैं, किन्तु आजकल तो मुझे सभी नपुंसक दिखायी देते हैं। कोई मेरे सामने आता ही नहीं। देखिये इन्द्रलोक में गया। इन्द्र देखते ही अन्तःपुर में शची के समीप छिप गया और भी लोकों में गया कोई सम्मुख ही नहीं आया। सुना था—वरुण सब लोकपालों में श्रेष्ठ हैं, शूरवीर हैं, त्रैलोक्य विजयी हैं, शत्रु संहारी हैं, किन्तु मुझे देखते ही उन्हें भी ज्वर चढ़ गया। गिड़गिड़ाने लगे बार-बार युद्ध को ललकारने पर भी टस में मस न हुए। कहते रहे—"मैं तुमसे कैसे

लड़ सकता हूँ, बल में तो मैं तुम्हारे पसंगे के भी बराबर नहीं।"

नारदजी ने कहा—"तब फिर क्या हुआ ?"

अवहेलना के स्वर में असुर बोला—"हुआ क्या ? मैंने उसे फिर एक डाँट बताई कि या तो लड़ो या मुझसे जो लड़ सके ऐसे किसी शूरवीर का नाम बताओ। इस पर उसने विष्णु नाम के किसी देवता की बड़ी प्रशंसा की। अब मैं उस विष्णु को ही खोजने जा रहा हूँ। वरुण ने बताया कि वह बहुरूपिया है। जब चाहे जैसा रूप बना लेता है। उसका कोई एक घर नहीं, कभी किसी को कहीं मिल जाता है, कभी कहीं। यह भी कहा कि वह गुण रहित है। उसी की खोज में जा रहा हूँ, कहीं मिल जाय, तो मेरी मनोकामना पूर्ण हो जाय।"

नारदजी ने कहा—"तब फिर इधर-उधर कहाँ जा रहे हैं ?"

दैत्य ने कहा—"सुना है, वह वैकुण्ठ में अधिक रहता है। उसका सोने का स्वभाव बहुत है। एकान्त समुद्र में सर्प के ऊपर सोता रहता है। वैकुण्ठ में न मिला तो क्षीर सागर में जाऊँगा।"

नारदजी हँसे और बोले—"आप उन्हें न वैकुण्ठ में पावेंगे न क्षीर सागर में। वे तो अभी-अभी मेरे सामने सूकर बनकर पाताल में गये हैं।"

चौंककर दैत्य बोला—"अरे, सूकर क्यों बन गया ? तभी वरुण जी ने कहा था वह बहुरूपिया है। राम-राम ! छिः छि ! सूकर काहे को बना जी ?"

नारद जी बोले—"अब, भैया ! क्यों का क्या उत्तर ? उनकी इच्छा। वे जब जैसा चाहते हैं रूप बना लेते हैं।"

दैत्य बोला—"अच्छा, यह तो बताओ। वह पातल में क्यों गया है। मेरे डर से छिपने गया है क्या ?"

नारदजी बोले—"भैया ! वे डरते तो किसी से भी नहीं तुम

बुरा मानो चाहे भला। तुम्हारे जैसे हजारों भी दैत्य आ जायँ, तो वे चुटकी में उड़ा दें। तुम उनके सामने किस खेत की मूली हो ? तुम्हारी तो बिसात ही क्या, काल भी उनसे डरता है ये डरकर नहीं गये हैं। पाताल में गई हुई पृथ्वी का उद्धार करने गये हैं।"

दैत्य क्रोध के स्वर में बोला—"नारदजी ! अब आप भी वरुण की तरह बकवाद करने लगे। मैं आपके इस गले में पड़े जनेऊ का और इस तुमढ़ी का संकोच करता हूँ, इसी से कुछ बोलता नहीं। विष्णु मेरा कुछ नहीं कर सकता। मेरे सामने उसे हारना पड़ेगा। हारकर उसे अपना लोक मुझे देना पड़ेगा।"

नारद जी प्रसन्न हुए और मन ही मन सोचने लगे—"भगवान् तो अपने भक्तों से सदा हारे ही रहते हैं। ऊपर से बोले—"दैत्यराज ! समय बता देगा कि तुम उन्हें हराओगे या वे तुम्हें हरावेंगे। देरी करने का काम नहीं। अभी सीधे पाताल लोक में चले जाओ। वहाँ उनके सम्मुख अपनी गदा का कौशल दिखाओ। वे तुम्हारे हाथों की खाज को ही न मिटावेंगे, किन्तु खोपड़ी की खाज को भी सफाचट कर देंगे। खाज ही न मिटावेंगे, खाज जहाँ होती है इसे भी मिटा देंगे शीघ्र जाने से ही मिलेंगे, नहीं तो पृथ्वी को लेकर चले आयेंगे।"

उपेक्षा के स्वर में दैत्य बोला—"पृथ्वी लेकर चले आना कोई हँसी का खेल है ? पृथ्वी को तो लोकपितामह ब्रह्माजी ने हम असुरों को दे दिया है। विष्णु हमारे यहाँ से लाने वाला कौन होता है ? मैं अभी जाता हूँ और उसे यमपुर का रास्ता दिखाता हूँ।"

नारदजी बोले—"अच्छी बात है, जय श्रीकृष्ण ! जाइये और मृत्यु शैया पर सदा के लिये शयन कीजिये।"

इतना कहते-कहते नारदजी यह गये वह गये, क्षण भर में

अदृश्य हो गये। नारदजी के अन्तर्धान हो जाने के अनन्तर वह दैत्य रसातल की ओर चला।"

वहाँ जाकर क्या देखता है कि अपनी शुभ्र दाढ़ों के अग्र भाग पर पृथ्वी देवी को रखे वाराह भगवान् भागे जा रहे हैं। उस समय वे ऐसे लगते थे, मानों विशाल गजराज ने क्रीड़ा के लिये छत्राक नामक बरसाती लकड़ी के फूल को उखाड़कर अपनी सूँड़ में दाब लिया हो। भगवान् के दोनों अरुण नेत्र उसी प्रकार चमक रहे थे, जिस प्रकार दिव्य विमान में दोनों ओर लगा हुआ विद्युत् का लाल काँच वाला प्रकाश चमकता हो। वे अपने तेजोमय प्रभावशाली प्रकाश से असुर की प्रभा को हीन बना रहे थे उन्हें इस प्रकार दाढ़ों पर पृथ्वी रखकर भागते देखकर असुर ठहाका मारकर बड़े जोर से हँसा और सोचने लगा—"रूप तो बड़ा विचित्र बनाया है। यही मायावी विष्णु प्रतीत होता है, नहीं तो सूकर तो इतना बड़ा,इतना पराक्रमी होता नहीं। फिर वाराह तो वन का जन्तु है, यह तो जल में तैरता है। अवश्य ही इसने माया से यह रूप बनाया है। कुछ भी हो आज मैं इसे रण में भली प्रकार छकाऊँगा। सीधा यमपुर पहुँचाऊँगा।" यह सोचकर वह वाराह भगवान् से बोला—"अरे ओ सूअर! खड़ा रह! खबरदार आगे बढ़ा तो! तू यह दाढ़ों पर क्या लिये जाता है। अरे, यह पृथ्वी तो ब्रह्माजी ने हमें दी है। इसे ले जाने वाला तू कौन है—मैं समझ गया हूँ, तू विष्णु है। तू ही छल से, बल से, माया से दैत्यों को मारता रहा है आज मेरे सामने तू अपनी सब माया भूल जायगा। आज मेरी गदा से तेरे सिर के सहस्रों टुकड़े हो जायँगे। आज तू अपनी करनी का फल भोगेगा। आज मैं अपने सभी वंशजों का बदला तुझे मारकर चुकाऊँगा। मेरे सामने से तू भाग नहीं सकता आज मैं तुझे यमपुर का रास्ता दिखाऊँगा। देवता तेरी चापलूसी करते रहते हैं, ब्राह्मण तेरे गुण गाते

रहते हैं; आज उन सबके मूलभूत तुझे मारकर उन सबको आश्रयहीन अनाथ बना दूँगा।" इस प्रकार अनेक कठोर-कठोर बातें कहकर वह वाराह भगवान् को क्रोध दिलाने लगा, किन्तु भगवान् तो सम्हले हुए थे। उन्हें डरी हुई, भय से काँपती हुई पृथ्वी की चिन्ता थी। इसलिए उसकी बातों को अनसुनी करके वे शीघ्रता के साथ जल से बाहर निकल आये।

छप्पय

हिरण्याक्ष मुनि लखे मन्द हँसि कीन्हों आदर।
दैत्यराज कित चले, कहें नारद मुनि सादर॥
बोल्यो—"मुनि! ममहाय खुजावहिं युद्ध दिवाओ।
कैसे हूँ मुनिनाथ! विष्णु ते मोहि मिलाओ॥
मुनि बोले—पाताल महँ, हरि बराह वपु धारिकें।
विचरहिं नाशहिं गर्व कूँ, असुर! तोहि वे मारिकें॥

हिरण्याक्ष और वाराह भगवान् की कहा-सुनी

[१४६]

सत्यं वयं भो वन-गोचरा मृगा,
युष्मद् विधान्मृगये ग्रामसिंहान ।
न मृत्युपाशैः विमुक्तस्य वीरा,
विकत्थन तव गृह्णन्त्यभद्र ॥❀

(श्रीभा० ३ स्क० १८ अ० १० श्लोक)

छप्पय

विष्णु वीर्य बल सुनत चल्यो निज गदा घुमावत ।
श्रीवराह भू लिये लखे सम्मुख ही आवत ॥
बोल्यो सूअर ! शूर ! कहाँ कूँ भाग्यो जावे ।
पूँछ दबाये भजत लाज तोकूँ नहिँ आवे ॥
विकट असुर को रूप लखि, पृथिवी देवी डरि गई ।
तातें सो हरि ने तुरत, जल के ऊपर धरि दई ॥

श्रीहरि से किसी प्रकार सम्बन्ध हो जाना ही जीव का परम पुरुषार्थ है, तिरस्कार और सत्कार तो शरीर सम्बन्ध

❀ हिरण्याक्ष के ललकारने पर वाराह भगवान् ने उनसे कहा—"भैया ! तू ठीक कहता है, हम वन में फिरने वाले मृग ही हैं किन्तु तुझ जैसे कुत्तों को ढूढ़ते हैं । हे अभद्र ! जो वास्तव में वीर होते हैं, वे तुझ जैसे अभागे जीव की आत्मश्लाघा की ओर ध्यान नहीं देते, क्योंकि तू तो मृत्युपाश में बँधकर ही ऐसी बातें बक रहा है ।"

से होता है। उसने हमारा वहाँ सत्कार किया। हम गये तो इसने हमारा वाग्वाणों से बड़ा तिरस्कार किया। यहाँ हमारा कहने से प्रयोजन है शरीर से। आत्मा तो नित्य शुद्ध निर्लेप और सम्मान-असम्मान से परे है। इसका कोई क्या कैसे सत्कार और तिरस्कार कर सकता है? इसलिये भगवान् को कैसे भी भजे उसका फल शुभ ही होता है। इच्छा से, अनिच्छा से अग्नि के ढिंग पहुँच जाओ तो अन्धकार शीत और भय—ये तीनों बिना प्रयत्न के ही भाग जाते हैं। इसी प्रकार भगवान् के समीप जाते ही संसार के सभी बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

अहा! वे दैत्य बड़भागी हैं वे पूजनीय वन्दनीय श्लाघनीय और आदरणीय हैं, जो भगवान् को शत्रु समझकर उन पर प्रहार करते हैं और भगवान् भी उन्हें खरी-खोटी सुनाते हैं, उनके अङ्गों का स्पर्श करते हैं, उनसे युद्ध करते हैं और अपने हाथों से मारकर देवदुर्लभ अपना धाम देते हैं। हमारा तो विचार है भगवान् का अवतार असुरों के ही हित के लिये होता है। जो भक्त हैं, शरणापन्न हैं, परमहंस वैष्णव हैं, नित्य हैं उनके सम्मुख तो नाम रूप से सदा भगवान् रहते हैं। जिनके मुख में सुमधुर भगवन्नाम सदा निवास करता है उन्हें दर्शनों की तथा अन्य रूप की क्या आवश्यकता? भगवान् में अभिन्न सम्बन्ध हैं, किन्तु जो क्रोध करके सदा उनके रूप का चिन्तन करते हैं, उनको गाली देना चाहते हैं, लड़ाई-भिड़ाई करके उनसे दो-दो हाथ करना चाहते हैं, दयासागर प्रभु उन्हीं के ऊपर कृपा करके अनेक रूपों को रखते हैं, उनकी मनोकामना पूर्ण करके उनका उद्धार करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर जी! नारद जी से प्रभु का पता पाकर वह दैत्य सीधा रसातल में पहुँचा। वहाँ उसने भगवान् को भू-देवी को लिये हुए भागते देखा तो वह भी उनके पीछे लग लिया। भगवान् मुट्ठी बाँधकर भागे। क्यों भागे

जो ? अब इस क्यों का उत्तर क्या दूँ ? डर के भागे, अपनी आदत से विवश थे। भागना उनके लिये कोई नई बात नहीं। मधु दैत्य को जब युद्ध में परास्त न कर सके तब धनुष उठा कर भाग खड़े हुए और भागते-भागते गन्धमादन पर्वत पर बदरीवन में एक पहाड़ की गुफा में जाकर छिप गये। वहाँ भी दैत्य पीछा करता हुआ चला गया तो उनके श्री अंग से एकादशी देवी ने निकलकर उस दैत्य को मारा। कालयवन से डरकर भागे सो जाकर मुचुकुन्द गुफा में छिप गये। सोते हुए मुचुकुन्द से उसे मरवाया। मधुकैटभ दैत्यों को भी लड़ाई में जीत न सके तब राम-राम करके उनसे किसी प्रकार वरदान प्राप्त करके मार सके। ये सब भगवान् की मनोहर लीलायें हैं। भक्तों को सुख देने और अभक्तों को मोह में फँसाने के लिये ये कौतुक हैं। उनकी क्रीड़ा में ऐसी-ऐसी आश्चर्यजनक बातें न हों, तो फिर जीवों की उधर रुचि कैसे हो ? कोई कुतूहल वश, कोई प्रेम वश, कोई द्वेश वश, कोई आलोचना समालोचना के ही लिये इन चरित्रों को सुनते पढ़ते हैं। चाहें वे किसी भाव से सुनें अथवा पढ़ें, उनसे कल्याण सभी का होता है। देर सबेर की बात दूसरी है। भगवान् दैत्यों की गालियों का बुरा नहीं मानते, प्रसन्न ही होते हैं। छोटा बच्चा अपने नन्हें-नन्हें हाथों से माता पिता पर प्रहार करता है, पिता की दाढ़ मूँछ पकड़ लेता है, इस पर माता-पिता हँस जाते हैं प्रसन्न होते हैं क्योंकि उसमें अपनापन है प्रेम है। स्त्री कुपित होकर प्रेमकोप में पति को कैसी-कैसी कड़ी-कड़ी बातें सुना देती है। कभी-कभी कोमल चरण कमलों से प्रहार भी कर देती है, किन्तु पति उसे अपना अहोभाग्य समझता है, उसे भाँति-भाँति की अनुनय विनय के द्वारा मनाता है। प्रेम की सभी लीलायें सुखद होती हैं। ससुराल में जिसे देखो वही गाली देकर ही बोलता है। बिना गाली के वहाँ का भाषण रूखा

लगता है। गाली भी साधारण नहीं, ऐसी कि दूसरा दे तो हृदय में आर पार हो जायँ। किन्तु वहाँ वे मीठी लगती हैं, प्रेमपूर्वक सब सहते हैं, क्योंकि उनमें अपनापन है। अपना सम्बन्ध ही ऐसा सरस है।

इसी प्रकार भगवान् भी दैत्यों की गालियों को सुनकर उनके कठोर वाक्य सुनकर सुखी होते हैं और स्वयं भी क्रोध की सी मुद्रा बनाकर घूँसे का उत्तर लात से देते हैं। इन उत्तेजना पूर्ण सम्वादों से भक्तों को कितना सुख मिलता है, इसका अनुभव भक्तिहीन हृदय कर ही नहीं सकता।

हाँ, तो भागते हुए भगवान् के पीछे हिरण्याक्ष भी उसी प्रकार भागा जैसे ग्राह की पूँछ को देखकर आहार के भ्रम से बड़ा मत्स्य उसे खाने को भागता है। शत्रु ने समझा जब तक सूकर स्वामी जल के ऊपर नहीं पहुँचते तभी तक मैं इन्हें पकड़ लूँगा, किन्तु सूकर स्वामी भी सचेष्ट थे। झट उछले पट पृथ्वी को रख दिया, सट से अपनी आधार शक्ति का उसमें संचार करके, दैत्य के सम्मुख खट से खड़े हो गये। दैत्य ने देखा चार पैर वाला जन्तु क्रोध से लाल-लाल आँखें करके उनके सम्मुख ताल ठोकता हुआ खड़ा है। यह देखकर दैत्य को कुछ भय-सा हुआ। हाँ, यह साधारण सूकर नहीं है। इसमें शौर्य है, साहस है, शक्ति है, तभी तो मेरे सम्मुख निर्भय खड़ा है। किन्तु कोई चिन्ता नहीं मैं इसे अभी पछाड़ता हूँ, अभी इसके मद को चूर करता हूँ। इधर दैत्य यह सोच रहा था, उधर पृथ्वी रानी दृढ़ता से जल के ऊपर चिपक कर बैठ गईं। उनके बैठते ही आकाश से दिव्य पुष्पों की वृष्टि हुई। नन्दनकानन के कमनीय कुसुमों से वाराह भगवान् ढक गये। पृथ्वी पुष्पों से छा गई। उन पुष्पों से ढके हुए वाराह भगवान् उसी प्रकार शोभित हो रहे थे, जिस प्रकार कमल के खिले पुष्पों

के सरोवर में घुसा हुआ गजराज शोभित होता है। उन्हें इस प्रकार श्रीसम्पन्न देखकर हिरण्याक्ष उनका उपहास करते हुए बोला—"अरे, बस इतना ही तुझ में पानी है? हमने तो तेरी बड़ी प्रशंसा सुनी थी, बड़ा बली है, पराक्रमशाली है। तू तो भगोड़ा निकला मेरे सामने टिक भी नहीं सका, मुट्ठी बाँधकर भागा। इसी बल पर देवता तेरी स्तुति करते हैं। इसी बल पर वे उछलते हैं। तू तो बड़ा डरपोंक है, किन्तु आज मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं।"

वाराह भगवान् हँसे और बोले—"भैया, अब जैसे हैं, तैसे तेरे सामने खड़े हैं। तुझ बली से डरकर भागना भी चाहें, तो भागकर कहाँ जा सकते हैं? बलवान् से बैर बाँधकर कोई सुखी कैसे हो सकता है। अब आ जा मेरे-तेरे दो-दो हाथ हो जायँ।"

तिरस्कार के स्वर में हिरण्याक्ष ने कहा—"चल हट, सूअर का बच्चा! आया लड़ने के लिये, एक गदा मारूँगा कि पौं-पौं करता हुआ लुढ़क जायगा, खोपड़ा चकनाचूर हो जायगी। सब चबर-चबर करना भूल जायगा।"

भगवान् बोले—"हाँ, भैया! हैं तो सूअर ही किन्तु तुझ जैसे कुत्तों को बीच में से चीर कर दो टुकड़े कर ही सकते हैं। तू अपना बल-पौरुष दिखा। वीर लोग बकवाद नहीं करते। वे तो कर्त्तव्य करके दिखाते हैं।"

सुखी हँसी हँसकर हिरण्याक्ष बोला—"अरे, हट, आया कहीं का बहुरूपिया। हमारी धरोहर पृथ्वी को चोर की तरह चुराकर लाने में और डर से युद्ध छोड़कर भागने में तुझे लाज भी नहीं आती? निर्लज्ज कहीं का तू मेरे सामन लड़ेगा क्या? अब जब घिर गया है तो अपनी बहादुरी बघारता है।"

भगवान् बोले—"हमें चोर, निर्लज्ज, भगोड़ा—"तू जो चाहे

कह ले। हम तो इन बातों का बुरा मानते नहीं। बुरा माने भी क्यों ? इन कामों के करने में हमें किसी का भय नहीं। हम चार पैर वाले जानवर ही सही, किन्तु तू तो दो पैर वालों का राजा है। आ जा, गदा से गदा खटकें। दोनों के अस्त्र-शस्त्र आकाश में चटाचट चटकें, एक दूसरे को उठाकर पटकें। यदि तैंने अपने वचनों को पूरा न किया तो नीच कहलायेगा।"

इस प्रकार जब भगवान् ने उसे कठोर-कठोर वचन कह कर अत्यन्त ही कुपित किया, तो वह मारे क्रोध के लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगा। भगवान् को इस प्रकार तीक्ष्ण दृष्टि से देखने लगा मानों अपने तेज से ही भस्म कर देगा। क्रोधित हुए सिंह के समान, विषधर कुपित सर्प के समान, मदमत्त ऐरावत हाथी के समान, पङ्ख लगे कुपित विन्ध्याचल के समान वह बड़े वेग से भगवान् की ओर झपटा। भगवान् भी असावधान नहीं थे। दैत्य को प्रहार करते देखकर वे भी सम्हल गये और उससे लड़ने को तत्पर हो गये।

छप्पय

धम्म धरा धरि दई, उलटि कें असुर निहार्‌यो।
बोले—आओ असुर ! करूँ सत्कार तिहार्‌यो॥
दाँत पीसि खल कहे—बके का सूअर ! आ जा।
मोकूँ जाने नहीं तीनि लोकनि को राजा॥
हरि बोले—बक-बक न करि, वीर न बात बनावते।
नहिं वे डींग बघारते, रण कौशल दिखलावते॥

हिरण्याक्ष और वाराह भगवान् का युद्ध

[१४७]

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य माया,
गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विपतोर्विमर्दनम्,
दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १८ अ० २० श्लोक)

छप्पय

असुर सुने हरि बैन क्रोध रग-रग महँ छायो ।
किटकिटाय कें दाँत, गदा ले आगे आयो ॥
लपकि दुष्ट ने गदा हृदयमहँ हरिके मारी ।
करी व्यर्थ पुनि झपटि चोट करि फिरे मुरारी ॥
गदा गदा महँ लगहिँ परि, दोनों के बल नहिँ घटहिँ ।
चट चटायँ घम-घम बजहिँ, चिनगारी चहुँदिशि उठहिँ ॥

वस्तुओं के आदान-प्रदान से, खाने खिलाने से और परस्पर में रहस्य पूर्ण अपने सुख-दुःख की बातें कहने-सुनने से

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"हे कुरुकुलोद्भव विदुरजी ! जिन्होंने अपनी माया से सूकर रूप धारण कर लिया है, उन महामना यज्ञ मूर्ति श्रीहरि का पृथ्वी के निमित्त उस दैत्य हिरण्याक्ष के साथ क्रोध पूर्वक युद्ध होने लगा। उस युद्ध के देखने के लिये ऋषि—मुनियों से घिरे हुए ब्रह्माजी भी वहाँ आ पहुँचे।"

जैसे स्नेह बढ़ता है, प्रेम-पाश में जिस प्रकार प्राणी बँध जाता है। उसी प्रकार दूसरे को परुष कहने से, उसकी निन्दा करने से, अपनी आत्मश्लाघा करते हुए दूसरे के बल को तुच्छ बताने से और गाली का उत्तर गाली से देने से क्रोध बढ़ता है और प्राणी परस्पर में भिड़कर युद्ध करने लगते हैं। युद्ध रूपी अग्नि का कठोर वचन ईंधन है। युद्ध रूपी हवन में वरुण वाक्य रूपी घृत जब तक पड़ता नहीं, तब तक उसकी लपटें प्रचंड नहीं होतीं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब वाराह भगवान् ने उस अहंकारी दैत्य को इस प्रकार तिरस्कृत किया तब तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। अब तक उसके सम्मुख कठोर वचन कहने की बात कौन कहे, कोई उसके आगे भी नहीं आया था। आज एक चार पैर का सुअर मेरे सामने ही तिरस्कार कर रहा है और निर्भय हुआ युद्ध के लिये ललकार रहा है। तब तो दैत्य ने आव गिना न ताव, अपनी गदा घुमाकर इस प्रकार जोर से मारी कि वह सीधी वाराह भगवान् की छाती की ओर चली। ये जगत् भर के खिलाड़ी ठहरे, इन्होंने ऐसा पैंतरा बदला, कि उसकी गदा व्यर्थ हो गई यह देखकर तो उसके रोम-रोम में अग्नि सी लग गई ज्यों ही उसने फिर गदा उठाई त्यों ही वाराह भगवान् ने अपनी गदा घुमाकर उसकी भौंह पर मारी। वह भी शूरवीर था। ऐसी उछाल मारा, कि अपने को बाल-बाल बचा लिया तब तो भगवान् भी समझ गये कि आज बराबर वाले से पाला पड़ा है।"

इधर दैत्य भी कुपित था, भगवान् भी घुर्र-घुर्र करके कोप से काँप रहे थे। अब तो दोनों भिड़ गये। परस्पर में एक दूसरे पर प्रबल प्रहार करने लगे, उछलने और कूदने लगे। कभी पृथ्वी में सट जाते, कभी आकाश में उछल जाते, कभी वह इनके ऊपर प्रहार करता, कभी ये उसे घायल करते। कभी वह

इनके श्रीअंग से रुधिर निकालता, कभी वे उसे रक्त से स्नान करा देते। इस प्रकार दोनों रक्त से सने हुए ऐसे प्रतीत होने लगे मानो वसन्त ऋतु में दो टेसू के वृक्ष वायु से हिल-हिलकर परस्पर में मिल रहे हों। अथवा दो पंख वाले गेरु के पर्वत आपस में लड़ रहे हों, अथवा एक गौ के लिये दो साँड़ सींगों की टक्कर लगा कर सम्पूर्ण बल से युद्ध कर रहे हों, अथवा आकाश में दो लाल बादल गरज-गरजकर तड़तड़ा रहे हों। उन दोनों के रक्त में भीगे हुए वस्त्र आकाश में बिजली की भाँति चमक रहे थे। दोनों में से कोई हारने वाला नहीं था, किसी को भी प्राणों का मोह नहीं था। पूरी शक्ति लगाकर हथेली पर जान रखे हुए युद्ध कर रहे थे, मानो प्राणों की बाजी लगाकर युद्ध रूपी जुआ खेल रहे हों। दोनों ही यश की आकांक्षा रखने वाले थे। दोनों ही अपराजित थे, दोनों ही दुर्धर्ष, अप्रतिम, विक्रान्त, शूरवीर, सत्त्वसम्पन्न, तेजस्वी, यशस्वी, और जगत् विजयी थे। विमानों पर बैठे हुए इन्द्रादिदेव, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, महर्षि, सिद्ध, चारण, गुह्यक इस भयंकर युद्ध को देख रहे थे। गन्धर्व गा रहे थे, अप्सरायें नाच रही थीं। देवता भगवान् के ऊपर पुष्प वृष्टि करके तथा जय घोषों द्वारा उनके उत्साह को बढ़ा रहे थे। भगवान् भी अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होकर शरीर को फुला-फुलाकर दुगुने उत्साह से दैत्य का दमन करने को दाँव-पेंच लगा रहे थे। इस दोनों में घमासान युद्ध हो रहा था उनके युद्ध के भयंकर शब्द प्रकार से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो असमय में ही प्रलय हो जायगी।

भगवान् को बड़ा आनन्द आ रहा था। उन्हें किसी से राग द्वेष तो है नहीं। खिलवाड़ प्रिय हैं, उन्हें खेलने को मन बहलाने को कोई खिलौना चाहिए। ऐसा लम्बा-तड़ंगा खिलौना और कहाँ मिलेगा, इसलिए वे उसमें जोर से गदा मारते और दूर जाकर

उसकी ओर मुँह बनाते, उसे बुरी तरह चिढ़ाते, अँगूठा दिखाते। जब वह क्रोध करके इनकी ओर आता, तो उछलकर बचा जाते। कभी वह प्रहार भी करता तो रक्त के फौहारे भगवान के शरीर से निकलते। जिससे दैत्य का सम्पूर्ण शरीर भीग जाता, यह देखकर वाराह भगवान् विकट हास्य करने लगते। आकाश में देवता और ऋषियों के सहित विमान में बैठे ब्रह्माजी घबड़ा गये, कि भगवान् को बाल लीला बड़ी प्रिय है। इनकी क्रीड़ा हो रही है, हमारे प्राण निकले जा रहे हैं। क्रीड़ाप्रिय प्रभु कहीं क्रीड़ा करते-करते ही इस दैत्य को खिलाते रहे, तब तो सृष्टि का संहार हो जायगा। अतः वे भय से काँपते हुए ऊपर से ही व्याख्यान देने लगे—ब्रह्माजी मेघगम्भीर वाणी से कहने लगे—"हे अशरण शरण! खिलवाड़ का भी समय होता है, हर समय की क्रीड़ा ठीक नहीं। यह दैत्य साधारण खिलौना नहीं। प्रभो! यह बड़ा बली है, इसने अनेकों निरपराध जीवों को मारा है। यह देवता, गौ और ब्राह्मणों का द्वेषी है, यह किसी अन्य से मारा भी नहीं जा सकता। मैंने इसे सभी प्राणियों से अवध्य होने का वरदान दे दिया है।"

सूकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"ब्रह्माजी! जब आपने इसे वरदान दे दिया है, तो हम क्यों मारें? बड़ा आनन्द आ रहा है। बहुत दिन से वैकुण्ठ में बैठे-बैठे कुछ सुस्ती-सी आ गई थी। लड़ाई-भिड़ाई करने को ही तो यह कौतुक रचा है। अब आप कहते हो, इसे मार दो। ऐसा खिलौना और कहाँ मिलेगा, जो युद्ध में हमें भी सन्तुष्ट कर सके?"

इस पर ब्रह्माजी बोले—"महाराज! यह साधारण बली नहीं। सभी लोकों को परास्त करता हुआ अपने प्रतिद्वन्दी की खोज में यह निकला है। यह देवताओं का कंटक महा अभिमानी, वीर्य-शौर्य से संयुक्त, मायावी, मदान्ध दृप्त और निरंकुश दुष्ट

दैत्य है। आप क्रोधित हुए बाल सर्प की भाँति इससे खिलवाड़ न करें। इसे शीघ्रातिशीघ्र मार दें।"

भगवान् अपनी तुण्ड को ऊपर उठाकर और दैत्य के प्रहार से सावधान होते हुए बोले—"ब्रह्माजी! शीघ्रता करने का क्या काम है, कुछ देर खिलवाड़ ही होने दो। मारना तो है ही, कभी मार देंगे।"

डरते हुए वेदगर्भ बोले—"न, प्रभो! अब आप देर न करें। कुछ ही देर में सायंकाल होने वाला है। यह दारुण वेला दैत्यों के लिये बलवृद्धिकारिणी होती है। सन्ध्या समय के अनन्तर असुर प्रबल हो जाते हैं, अतः जब तक सन्ध्या नहीं होती तभी तक इसे मार दें। हे ब्रह्मण्य देव, हे गोविन्द, हे सुरेश्वर, हे त्रिभुवन-पति अब देर करने का काम नहीं। क्रीड़ा तो बहुत हो चुकी।"

तब तक दैत्य ने भगवान् के एक गदा मारी। वह भगवान् के बायें हाथ में या आगे के पैर में लगी। इससे उन्हें बड़ा क्रोध आया। अपनी गदा को सम्हालते हुए वे नीची दृष्टि करके ही बोले—"ब्रह्माजी! पोथी, पत्रा, पंचाङ्ग साथ हो, तो देखो कोई अच्छा-सा मुहूर्त।"

काँपते हाथों से शीघ्रता पूर्वक पंचाङ्ग खोलकर और उँगलियों पर शीघ्रता से गिनते हुए चतुरानन बोले—"प्रभो! अब देरी करने का अवसर नहीं। बड़ा सुन्दर मुहूर्त है। अभिजित् नाम का योग है। परम मङ्गलमय मुहूर्त है, इसमें आपकी अवश्य विजय होगी। मुहूर्त को टलने न दीजिये। इसका अन्त कर दीजिये। ये सभी देवता इससे बड़े दुखी हैं। काल से प्रेरित जैसे पतंगा अपने आप ही अग्नि की लोय में आ जाता है और उसमें भस्म हो जाता है। इसी प्रकार मृत्यु सन्निकट आ आने से यह बिना बुलाये आपके सम्मुख आ गया है। अब देरी करने से काम सिद्ध न होगा। बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। इसे मारकर विश्व

का कल्याण कीजिये, अधर्म का क्षय कीजिये, धर्म की वृद्धि कीजिये और प्राणियों को अभय प्रदान कीजिये।"

ब्रह्माजी की ऐसी सरल, भय से युक्त बातें सुनकर भगवान् हँस पड़े, कि बड़े बूढ़े कितने सीधे होते हैं। काल का भी काल जो मैं हूँ, मुझे मुहूर्त बता रहे हैं, भय दिखा रहे हैं। उन्हें देवताओं के सहित डरा देखकर भगवान् ने नेत्र के संकेत से ही कह दिया—"चिन्ता की कोई बात नहीं। कुछ काल इस क्रूर से क्रीड़ा और कर लूँ फिर इसे मार दूँगा। ज्यों ही भगवान् सम्हले, त्यों ही उसने भगवान् के उसी हाथ में फिर प्रहार किया। अब तो भगवान् उसके ऊपर टूट पड़े। ऐसी एक गदा उसकी ठोढ़ी पर मारी कि उसे छठी तक का दूध याद आ गया। आँखों के सामने दिन में ही तारे चमकने लगे। फिर भी दैत्य सम्हल गया। अबके सम्पूर्ण शक्ति लगाकर ज्यों ही उसने घुमाकर गदा मारी, त्यों ही भगवान् की तनी हुई गदा उनके हाथ से छूट कर पृथ्वी पर गिर गई। यह भगवान् के लिये अद्भुत बात हुई। आज तक कोई भी युद्ध में उनके हाथों से गदा को नहीं गिरा सका था। इतना पराक्रम किसी दैत्य, दानव असुर ने नहीं दिखाया था। देवताओं के मुख फक्क पड़ गये, वे भय से थर-थर काँपने लगे। उन्होंने सोचा इसने तो भगवान् को भी जीत लिया। वाराह भगवान् तो निहत्थे हो गये।

भगवान समझ गये कि ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व और ब्रह्माजी आदि सभी मेरी इस क्रीड़ा से दुःखी हो रहे हैं, तब वे खड़े हो गये। हिरण्याक्ष चाहता तो भगवान् पर प्रहार कर सकता था। किन्तु इस समय प्रहार करना उसने युद्ध धर्म के विरुद्ध समझा। निहत्थे पर प्रहार करना दुर्बलों का काम है। इसलिये उसने अवसर प्राप्त होने पर भी भगवान् के ऊपर प्रहार नहीं किया। तब भगवान् ने अपने दिव्य सुदर्शन चक्र को स्मरण किया, स्मरण

करते ही चक्र भगवान् के करकमलों में शोभित होने लगा। अब चक्र लेकर भगवान् उसके ऊपर दौड़े। वह भी सावधान था, अतः क्रोध के कारण दाँतों से ओठ को काटता हुआ, भौंहों को चढ़ाकर लाल-लाल आँखें करके फिर मारने की इच्छा से भगवान् के ऊपर दौड़ा और घुमाकर फिर गदा मारी। भगवान् ने पैर की ठोकर से ही उसे नीचे गिरा दिया।

अपनी गदा को गिरी देखकर गर्वीले दैत्य के हृदय पर बड़ा आघात हुआ। वह किंकर्तव्य विमूढ़ बना वहाँ खड़ा का खड़ा ही रह गया। तब हँसकर यज्ञमूर्ति भगवान् बोले—"बेटा, उठा लो अपनी गदा को। घबड़ाओ मत, सावधानी से लड़ो, शीघ्रता करने का काम नहीं। अभी तुम बच्चे हो, वय के कच्चे हो, कुछ-कुछ सच्चे हो, देखने में अच्छे हो। मैं निःशस्त्र पर प्रहार न करूँगा।"

दैत्य गदा को उठाना तो नहीं चाहता था, किन्तु करता क्या—दूसरा कोई उपाय ही नहीं था। शत्रु के सम्मुख घुटना टेकना तो उसने सीखा ही नहीं था। विवश होकर उसने गदा उठा ली और शक्ति लगाकर ज्योंही फिर भगवान् के ऊपर छोड़ी, त्योंही उन्होंने अपने बड़े-बड़े नख वाले पंजों से उसे पकड़कर उसके हाथ से खींच लिया और मुँह मटकाते हुए बोले—"कहो बच्चू! अब क्या करोगे? बोलो—लेते हो गदा।"

शत्रु के हाथ से गदा लेने में उसने अपना घोर अपमान समझा, इसलिये भगवान् के देने पर भी उसने गदा नहीं ली। अब तो उसका उत्साह भङ्ग हो गया, मुँह फीका पड़ गया। तेज नष्ट हो गया। प्रभाहीन और कान्ति से शून्य हुआ दैत्य त्रिशूल तानकर भगवान् की ओर लपका और पूरी शक्ति लगाकर उसने भगवान् को लक्ष्य करके बलपूर्वक उसे फेंका, किन्तु भगवान् ने

उसे बीच में ही अपने तीक्ष्ण धारों वाले सुदर्शन चक्र से काटकर फेंक दिया।

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार लीला से ही वाराह बने श्रीहरि के साथ दैत्यराज हिरण्याक्ष का घनघोर युद्ध होता रहा। पहिले तो दोनों का समान युद्ध हो रहा था। अब भगवान् का पलड़ा कुछ भारी दिखाई देने लगा। दैत्य का पक्ष गिरता-सा दिखाई दिया।"

छप्पय

इततें मारे दैत्य देवपति उततें मारहिं।
छिन-छिन करिहैं प्रहार किन्तु दोनों नहिं हारहिं॥
असुर गदातें विष्णु गदा गिर गई मही महँ।
चतुरानन अति डरे विष्णु तें विनय करीं तहँ॥
मंगलमय है शुभ घरी, अभिजित् को शुभयोग है।
अबई मारें जाइ हरि, जिह सब जग को रोग है॥

हिरण्याक्ष-उद्धार

[१४८]

स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया,
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः ।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्,
यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १० अ० २६ श्लो०)

छप्पय

विधिके भोरे बैन सुने हरि अति हरषाये ।
चक्र तानि वाराह दैत्यकूँ मारन धाये ॥
मायावी खल कपट कर्यो हरिपै पुनि झपट्यो ।
ओठ काटि करि क्रोध विष्नुके तनुते लिपट्यो ॥
निकसे वाकी भुजनितें, एक तमाचो जड़ि दयो ।
धम्म धड़ाको सो भयो, कटे वृक्ष सम गिरि गयो ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! अत्यन्त अवज्ञा के साथ जब विश्वजित् भगवान् ने उस दैत्य पर प्रहार किया तो उसके सम्पूर्ण शरीर में चक्कर आने लगा आँखें फट गईं । हाथ, पैर और बाल छिन्न-भिन्न होकर छितर गये । वह उसी प्रकार पृथ्वी पर मरकर गिर गया, जिस प्रकार वेगवती आँधी से उखड़ कर विशाल वृक्ष निर्जीव होकर गिर पड़ता है ।"

जीव माया के पाश में बँधकर कैसा भूल जाता है वह मायापति के साथ भी माया करना चाहता है। जगत् के एक-मात्र स्वामी श्रीहरि भी जब इस त्रिगुणमय संसार में शरीर धारण करके अवतरित होते हैं, तो कैसी-कैसी मोहक लीलायें करते हैं, जिन्हें देखकर ब्रह्मादिक देवताओं को भी उनकी ईश्वरता में सन्देह होने लगता है। यह गड़बड़ घुटाला तभी होता है, जब हम माया को मायापति से मिला देते हैं, उन्हें भी उसी के अधीन समझने लगते हैं। निरन्तर जीव को यह स्मृति बनी रहे, कि ये प्रभु मायातीत हैं। उनमें माया का लेश भी नहीं, त्रिगुणों का उन पर कोई प्रभाव नहीं, दुःख सुखों की उनके समीप पहुँच नहीं। इतना ज्ञान होने पर क्रीड़ा नहीं बन सकती। क्योंकि क्रीड़ा के लिये माया का आश्रय लेना ही होगा, वे उससे निर्लेप होकर भी खेलते हैं। कैसी माया है, कैसी क्रीड़ा है, कैसा कौतूहल है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान् ने उस हिरण्याक्ष दैत्य के प्रखर तेज से प्रकाशित त्रिशूल को अपने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया जैसे बादलों को वायु छिन्न-भिन्न कर देती है, तब तो दैत्य के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने भगवान् के कौस्तुभ मणि से सुशोभित श्रीवत्स चिह्न से चिह्नित वक्षःस्थल में एक कसकर घूँसा मारा। उसे ऐसा लगा मानों मेरा घूँसा किसी दृढ़ पर्वत की चट्टान पर अथवा लोहे की शिला पर पड़ा हो। भगवान् को ऐसा लगा मानों देवताओं ने उनकी छाती को लक्ष करके कल्पवृक्ष का फूल गिरा दिया हो। वे न उससे विचलित हुए न दुखी ही हुए। क्रोध करके उस दैत्य के ऊपर झपटे। इतने में ही दैत्य अपनी माया का आश्रय लेकर वहीं अन्तर्धान हो गया और छिपकर मायापति के प्रति माया का प्रयोग करने लगा।"

आकाश में चारों ओर अन्धकार छा गया, बिजली चमकने लगी असमय में ही वर्षा होने लगी। बादलों की गड़गड़ान-तड़तड़ान से दिशायें फटने लगीं। पशु-पक्षी घोसलों से उड़ने लगे, पृथ्वी हिलने लगी, नदियाँ क्षुभित हो गईं, अग्निहोत्र की अग्नियाँ बुझ गईं। वायु वेग से चलने लगी। सूर्य चन्द्रादि ग्रह आकाश में लुप्त हो गये। समय बड़ा ही वीभत्स प्रतीत होने लगा। विष्ठा, मूत्र, पीव, रक्त, केश तथा अन्य अमङ्गल वस्तुओं की भी आकाश से वृष्टि होने लगी। हाथ में खप्पर लिये जीभ लपलपाती जोगिनी नग्न होकर नाचने लगीं, हूं-हूं शब्द करके कोलाहल करने लगीं। राक्षसी त्रिशूल लिये मुँह से अग्नि की लपटें निकलती हुई, मारो काटो आदि शब्द कहकर चारों ओर दौड़ने लगीं। भूत, वैताल, डाकिनी, साकिनी, यक्ष, राक्षस चारों ओर भयङ्कर अमङ्गल युक्त वीभत्स शब्द करने लगे। उनमें से कोई सिंहों पर, कोई घोड़ों पर, कोई रथों पर चढ़े थे, कोई-कोई पैदल ही विचर रहे थे। चट्ट-चट्ट पट्ट-पट्ट शब्द निरन्तर सुनाई देते थे। चलियो रे, लीजियो रे, पकड़ियो रे, सम्भालियो रे, यह गया, वह गया, यह आया, उसे सम्हाल, जाने न पावे। मार दो, काट दो, बाँध लो, ऐसे शब्द सर्वत्र सुनाई देने लगे।

इस प्रकार दैत्य की आसुरी माया से मोहित होकर सम्पूर्ण प्रजा के लोग हाहाकार करने लगे, भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे, सभी ने समझा कि प्रलय काल उपस्थित हो गया। देवता भी डर गये, ब्रह्माजी भी चक्कर में पड गये, वे बार-बार वेद मन्त्रों का पाठ करने लगे। ऋषि मुनि स्वस्ति-स्वस्ति, कल्याण हो, मङ्गल हो। वाराह भगवान की जय हो ऐसे शब्दों का उच्चारण करने लगे।

भगवान् ने देखा कि दैत्य की माया का प्रभाव तो चराचर

जगत् के लोगों पर व्याप्त हो गया है, तब तो वे हँसे और उन्होंने अमित तेज से उत्पन्न हुए अपने सुदर्शन चक्र को छोड़ा। उस चक्र ने दैत्य की माया का उसी प्रकार नाश कर दिया जैसे उदित हुए सूर्यदेव कुहरे का नाश कर देते हैं। माया नष्ट हो गई, दैत्य दिखाई देने लगा। देवताओं के हर्ष का वारापार नहीं रहा, दिति का हृदय काँप उठा हिरण्याक्ष का हृदय क्षुभित हो उठा, उसे अपनी मृत्यु प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। फिर भी वह विचलित नहीं हुआ। सामने खड़े हुए सूकर भगवान् को देखकर वह पूरी शक्ति लगाकर आँखें बन्द करके इस इच्छा से उन्हे पकड़ने के लिये झपटा की इन्हें दोनों हाथों से पकड़कर मसल दें। ज्यों ही उसने पकड़कर अपनी भुजाओं के बीच में दबाया, त्यों ही भगवान् फट से बाहर निकल आये। अब तो दैत्य हक्का बक्का रह गया। उसके सब प्रयत्न विफल हो गये। उसने अब भगवान् पर थप्पड़ और मुक्कों का प्रहार करना आरम्भ कर दिया। भगवान् ने भी सोचा अब इस अस्त्र शस्त्रहीन पर किसी आयुध के द्वारा प्रहार क्यों करें। यह विचार कर भगवान् ने जोर से एक चपत उसके गाल में मारी। कनपटी पर तमाचा लगते ही दैत्य तिड़ी-बिड़ी होकर गिर पड़ा। उसकी बोलती बन्द हो गई, आँखें फट गईं, जीभ बाहर निकल आई। हाथ पैर कटे हुए साखू वृक्ष की शाखाओं के समान इधर-उधर फैल गये। स्वास की गति रुक गई और वह दैत्य प्राणहीन होकर उसी प्रकार शोभित होने लगा, जिस प्रकार अंजन पर्वत का शिखर टूटकर पृथ्वी पर पड़ा हो।

यद्यपि दैत्य मर गया था, किन्तु ब्रह्मादिक देवताओं को अब भी भ्रम बना हुआ था कि कहीं फिर उठकर यह भगवान् से न लड़े। इसलिये कुछ मिली जुली सी स्तुति करने लगे—"देखो इस दैत्य राज के भाग्य को, ऐसा सौभाग्य भला किसे प्राप्त हो

सकता है, ऐसी मृत्यु प्राप्त होना तो योगियों के लिये भी दुर्लभ है। सभी योगी, त्यागी, विरागी इसीलिये भजन पूजन जप-तप नियम अनुष्ठान आदि करते हैं, कि अन्त समय में हमें भगवान् की स्मृति हो जाय, किन्तु इसके सम्मुख तो साक्षात् श्री हरि ही चतुर्भुज रूप से खड़े हैं। इसकी महिमा क्या कही जाय कि भगवान् के श्रीमुख में अपनी दृष्टि गड़ाकर इसने पांञ्च-भौतिक शरीर का त्याग किया। ये दोनों भगवान् के पुराने पार्षद ही हैं। अब ये कुछ काल में अपने पद पर पुनः प्रतिष्ठित होंगे।"

जब देवताओं ने देखा, दैत्य सचमुच मर गया है, इसके शरीर में प्राण शेष नहीं है। तब तो वे भगवान् की निर्भय होकर स्तुति करने लगे—"हे भगवन्! आपकी जय हो, जय हो बड़ा अच्छा किया आपने जो इस दुष्ट का वध किया। यह बड़ा नीच था, पापी था, हमें बड़ा दुःख देता था। इसके कारण हम सब बड़े दुखी थे, इसने सभी सुरों के नाकों चने चबवा दिये थे। सबको बिल्ली बना रखा था। सबको तुच्छ समझता था।"

वाराह भगवान् यह सुनकर बड़े हँसे। देखो, इन स्वार्थी देवताओं की बात, अब तक तो उसकी हाँ में हाँ मिला रहे थे अब दूसरा ही राग अलापने लगे। रुख हीं बदल दिया ठाठ ही पलट दिया। यह सोचकर बिना देवताओं से कुछ कहे ही वे अपने अखंड आनन्द युक्त अनुपम स्थान को प्रस्थान कर गये। ब्रह्मादिक देवता स्तुति करते के करते ही रह गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर जी! यह मैंने आपसे अति विस्तार करते हुए संक्षेप में सूकरावतार की कथा कही है। विस्तार के साथ तो असंख्यों वर्षों में भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। मैंने अपने गुरुदेव भगवान् सांख्यायन के श्रीमुख से यह कथा

इसी प्रकार सुनी है। कल्प भेद से कहीं-कहीं कथाओं में भेद भी होता है।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार महाराज परीक्षित् के पूछने पर भगवान् शुकदेव जी ने जो विदुर मैत्रेय सम्वाद के अन्तर्गत यह वाराह-चरित्र कहा था वह मैंने आपको सुनाया। अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमें कुछ इस चरित्र में एक दो सन्देह रह गये हैं। उनका निवारण आप पहले करें। तब हम आपसे आगे की कथा कहने को कहेंगे।"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज! कहिये, मैं यथामति आप की शंकाओं का समाधान करूँगा।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! पहिली शङ्का तो हमें यह है कि वैकुण्ठ में तो किसी को क्रोध होता नहीं, परम त्यागी सनकादिकों को क्रोध क्यों हुआ?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! इसका इसके अतिरिक्त कि भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी, दूसरा कोई उत्तर ही नहीं। नित्य विहार धाम में तो कुछ कहना ही नहीं वह सदा एकरस होता है। लीला धाम में ये क्रीड़ायें होती हैं उनमें भगवान् खेल के लिये जिसे चाहें जो बना लें उनके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे नाटक में राजा अपने मन्त्रियों को सभासदों को चाहें जो बना देता है। स्वयं भी कुछ बन जाता है, किन्तु उसके पद में उसकी प्रतिष्ठा में उसके व्यक्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं। इसलिये क्रोध करने पर भी सनकादिकों के भाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।"

शौनकजी बोले—"अच्छा, यह तो ठीक है। किन्तु हम यह जानना चाहते हैं, कि जय विजय भगवान् के यहाँ रहे ही नहीं।

उनका सर्वथा पतन हो गया क्या ? यदि ऐसा हुआ तो उसी समय वैकुण्ठ में जय-विजय का फिर उल्लेख क्यों आता है बलि के यज्ञ में भी जय विजय का फिर उल्लेख क्यों मिलता है तब तक तो तीनों जन्मों में उनका असुर योनि से मुक्ति हुई नहीं, फिर वे वहाँ कैसे आ गये ?"

सूतजी बोले—"महानुभाव ! जय-विजय तो भगवान् के नित्य पार्षद हैं। वे एक रूप से वहाँ भी रहे और अपने अंश से यहाँ भी अवतीर्ण हुए। तीन जन्मों में भगवान के साथ क्रीड़ा करके अपने अंशों में मिल गये। जब स्वर्गीय देवता ही एक ही समय अनेक स्थानों में की हुई पूजा को अनेक रूप रखकर ग्रहण करते हैं, तब वैकुण्ठ के नित्य पार्षदों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ?"

शौनकजी बोले—"हाँ, यह बात तो हम समझ गये अब यह बताइये, कि आपने हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु को आदि दैत्य बताया है। जब तक पृथ्वी पर बस्ती नहीं हुई थी, जब तक मनु शतरूपा नहीं उत्पन्न हुए उसके पहिले ही दैत्य विद्यमान थे, फिर आपने इन्हें कश्यपजी का पुत्र बताया है। कश्यपजी तो मरीचि के पुत्र थे। जब सृष्टि के आदि में कश्यपजी का ही जन्म नहीं हुआ तो फिर ये दैत्य कहाँ से आ गये ?"

यह सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"शौनकजी ! आप भी ऐसे प्रश्न करते हैं। आप इन मानवी दिन-रात्रि को क्यों गिनते हैं, पहिले कल्प में ये उत्पन्न हुए। कल्प के अन्त में भगवान् के उदर में रहे। दूसरे कल्प में सृष्टि होते ही इन्हें भगवान् ने मारा। दृष्टि को विशाल करके अपने दिनों को छोड़कर ब्रह्माजी के ही दिनों पर ध्यान देंगे, तो ये शंकायें ही न उठेंगीं।"

शौनकजी बोले—"अच्छी बात है यह कल्प भेद वाला उत्तर ऐसा है, कि इसके आगे कोई शंका रहती ही नहीं। ठीक है

हिरण्याक्षवध की कथा को सुनकर विदुरजी ने मैत्रेय मुनि से क्या कहा ?"

सूतजी बोले—"कहा क्या ? विदुरजी बड़े प्रसन्न हुए। होना ही चाहिये। जब हम भगवद् भक्तों के चरित्रों को सुनकर गद्गद् हो जाते हैं। तब यह तो साक्षात् भगवान् का चरित्र है भगवान् दया के सागर हैं, कृपा के निधि हैं। भक्त भयहारी हैं आर्तों के दुख हारी हैं। उन्होंने गज को ग्राह से बचाया अनेक दुखियों को सुखी बनाया ऐसे भक्तवत्सल भगवान् का भजन कौन भवभय से भीत हुआ पुरुष न करेगा ? कौन आनन्द की इच्छा रखने वाला पुरुष उनका श्रद्धा सहित सेवन न करेगा ?"

जो पुरुष श्रद्धा सहित इस सूकरावतार की कथा को सुनते हैं वे सब पापों से छूट जाते हैं। यह परमपवित्र, सदा श्रवणीय, कानों को सुख देने वाला और अन्त में भगवत् लोक को पहुँचाने वाला चरित्र है। मुनियो ! आप इसे बार-बार सुनें जितनी ही बार सुनेंगे, उतना ही अधिक आनंन्द आवेगा। इतना कहकर सूतजी चुप हो गये।

छप्पय

योग समाधि लगाइ जिनहिँ योगीजन ध्यावहिँ।
नेति-नेति नित कहें वेदहू पार न पावहिँ॥
अन्तकाल महँ अवश नाम ले नर तरि जावहिँ।
चौरासी तें छूटि जगतमहँ फिरि नहिँ आवहिँ॥
बड़भारी दितिसुत असुर, हरि निरखत निजतनु तज्यो।
प्रभु प्रहारतें ई मर्‌यो, शत्रु भाव तें हरि भज्यो॥

आपके ज्ञान की वृद्धि, विश्वसाहित्य की समृद्धि एवं राष्ट्रभाषा
को कीर्ति प्रदान करने वाला सत्यं शिवं सुन्दरम्
के आदर्श से अनुप्राणित

हिन्दू धर्म और हिन्दी-साहित्य में युगान्तकारी धार्मिक प्रकाशन

भागवती कथा

इसके लेखक हैं :—कोटि-कोटि भारतीयों के हृदय में अपनी लेखनी से अविरल भक्ति भागीरथी प्रवाहित करने वाले सन्त शिरोमणि पूज्यपाद श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज। इसमें आप—

१—श्रीमद्भागवत तथा अन्यान्य पुराणों की कथाओं का रहस्य सरलता और घरेलू ढङ्ग से समझेंगे।

२—दैनिक जीवन को सात्त्विक, धार्मिक और राष्ट्रीय जीवन की सार्थकता में परिणत करेंगे।

३—व्यवहारिक या गार्हस्थ्य जीवन को जीने के लिये नहीं, जीवन के लिये इसके पठन से उसे उच्च और धार्मिक बनायेंगे।

४—श्रेय और प्रेय, योग और भोग—एक साथ सम्पादन करने-प्राप्त करने-की शिक्षा घर बैठे प्राप्त करेंगे।

५—जननी जन्मभूमि की महत्ता को समझकर स्वधर्म, स्ववर्ण, स्ववेश, तथा स्वदेश के प्रति निष्ठावान् बनेंगे।

६—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, कर्म, वेदान्त, आदि समस्त उच्च भारतीय दार्शनिक विचारों का औपन्यासिक शैली में अत्यन्त सरल, रोचक एवं हृदयाकर्षक भाषा में वर्णन पायेंगे जिसे आबाल वृद्ध नर-नारी सब समझ सकते हैं। अधिक कहाँ तक कहा जाय इसमें श्री ब्रह्मचारीजी ने 'गागर में सागर' वाली कहावत को चरितार्थ कर दिया है।

इस अभूत पूर्व ग्रन्थ में १०८ भाग होंगे। ९१ खण्ड प्रकाशित हो गये हैं, शेष छप रहे हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य १.६५ है।

।।श्रीहरिः।।

श्री प्रभुदत्तजी-ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डो मे)—९१ खण्ड छप चुके है। प्रति खण्ड का मू० १.६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२–श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६.५०

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डो मे)— एक खण्ड का मू० ११.००

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३.४५

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २.५०

७–कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २.५०

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९–गोपालन शिक्षा—गौओ का पालन कैसे करे मू० २.५०

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पांच खण्डो मे)— प्रथम खण्ड का मू० १.६०

११–नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ०.६०

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.६५

१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३१

१४–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१

१५–मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, मू० ०.३१

१६–भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७–राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ०.४०

१८–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३१

१९–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ०.२५

२०–भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४.०० द्वितीत खड मू० २.५०

२१–सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दो सहित मू० ०.७५

२२–प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२० २५–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२ २६–श्री हनुमत्-शतक— मू० ०.५०

२४–सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० २७–महावीर-हनुमान्— मू० २.५०

पता—संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)

कपिल देवहूति

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

खण्ड

*

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

•

पंचम संस्करण] कार्तिक शुक्ल [illegible] [मूल्य [illegible]
१००० प्रति नवम्बर १९७२

मुद्रक-बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१. अग्रिम सृष्टि का वर्णन	१
२. विवाह के लिये कर्दमजी की तपस्या	८
३. श्रीकर्दमजी को भगवद्-दर्शन और वरदान	१६
४. मनु का कर्दम मुनि के आश्रम में आगमन	२७
५. कर्दम मुनि से विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव	४०
६. देवहूति का कर्दम मुनि के साथ विवाह	५०
७. कर्दम मुनि की तपस्या और देवहूति की सेवा	५८
८. देवहूति को वर प्रदान	६५
९. कर्दम मुनि का पत्नी सहित सुखों का उपभोग	७५
१०. कर्दमजी का लोकपालों की पुरियों में विहार	८३
११. कर्दमजी को विराग	९१
१२. भगवान् कपिलदेव का अवतार	१०१
१३. कपिलजी की स्तुति	११०
१४. कर्दमजी का संन्यास ग्रहण	११८
१५. भगवान् कपिलदेव से तत्वज्ञान की जिज्ञासा	१२५
१६. भगवान् कपिल के उपदेश का सार	१३३
१७. भगवान् कपिलदेव का गृह त्याग	१४२
१८. माता देवहूति को ब्रह्म प्राप्ति	१४९
१९. दत्तात्रेय भगवान् के अवतार का उपक्रम	१५८
२०. अनसूया के यहाँ तीनों देवों का पुत्र होना	१६५
२१. पतिव्रता का प्रभाव	१८३
२२. पुत्र प्राप्ति के लिये अत्रि ऋषि की तपस्या	१९५
२३. तीनों देवों का पुत्र रूप से प्रकट होने का वरदान	२०२
२४. भगवान् दत्तात्रेय का अवतार	२०८

•••०(७)०•••

अग्रिम-सृष्टि का वर्णन

[१४९]

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य सीते स्वायंभुवो मनुः ।
कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २० अ० १ श्लो०)

छप्पय

शौनक पूछें—'सूत ! विदुर की बात बताओ ।
पुनि जो कही कथा ताहि अब सौम्य सुनाओ ॥
कृष्ण कथा अति विमल गङ्ग सम यह अघ हरनी ।
भव सागर के पार करन कूँ दृढ़तर तरनी ॥
खर, कूकर, सूकर सरिस, वृथा भार तनु को वहहिं ।
हतभागी मृतवत् पुरुष, जो न कथा सुनि सुख लहहिं ॥

जो भी बनता है, पहिले उसका कारण होता है । फिर सूक्ष्म रूप से रचना होती है, तब वह स्थूल रूप धारण करता है । रहने की विभिन्न असुविधाओं के कारण एक घर बनाने का संकल्प उठा । सङ्कल्प उठते ही मन में उसकी रूप रेखा बनने लगी । इतना बड़ा बनावेंगे, ऐसा बनावेंगे, ऐसी सुविधायें

---

* शौनकजी सूतजी से पूछते हैं—"हे रोमहर्षणजी के आनन्द-वर्धन ! स्वायंभुवमनु ने जीवों की आधारभूत पृथ्वी को पाकर फिर आगे होने वाली सन्तति के लिये किन-किन उपायों का अवलम्बन किया ?"

रखेंगे। फिर उसके लिये प्रयत्न करते हैं, तो अपनी इच्छा को स्थूल रूप देते हैं। बनकर तैयार हो जाता है तब लोग कहते हैं—बड़ा सुन्दर घर बना। बाहरी लोग तो उसका बनना तभी समझते हैं जब वह बनकर तैयार होता है, किन्तु बनाने वाले के मन में तो वह बहुत दिनों से बन रहा था और उससे भी पहिले कारण रूप से बना हुआ था। क्योंकि पहिले कभी ऐसा न होता तो ऐसा बन ही नहीं सकता। गृह का कारण तो नित्य है। इसे यों समझें—एक मूर्ति बनाने वाला पत्थर में श्री विष्णु-भगवान् की मूर्ति बनाता है। पहिले मन से सोचकर वह एक चित्र बनाता है, फिर छेनी आदि लेकर पत्थर की शिला को खोद-खोदकर अपने मन के अनुकूल मूर्ति में अंगों के चिन्ह अङ्कित करता है। जब बनकर मूर्ति तैयार हो जाती है, तब लोग कहते हैं—उस कारीगर ने उस काल में बड़ी भव्य मूर्ति बना डाली। वास्तव में बनाने के काल के पूर्व ही उसके मन में वह बन गई थी। मूर्ति कहीं से लाकर उस पाषण में रख दी हो सो नहीं, कारण रूप से श्रीविष्णु का नित्य ही उसमें वास था। अव्यक्त रूप से उसमें रहते ही थे। चित्रकार ने उन्हें केवल व्यक्त कर दिया। व्यक्त करने की कला उसे किसी अव्यक्तशक्ति द्वारा प्राप्त हुई थी, क्योंकि सभी पुरुष अव्यक्त पाषाण की श्रीविष्णु की मूर्ति को व्यक्त नहीं कर सकते। जिन्हें सामर्थ्य प्राप्त हो, वे ही ऐसा करने में समर्थ हो सकते हैं।

यह जगत् प्रवाह नित्य है। इसका ओर नहीं छोर नहीं, आदि नहीं अंत नहीं। अनंतकाल से यह प्रवाह बह रहा है, अनादिकाल तक बहता रहेगा। अपनी शक्ति से वे ब्रह्मा को उत्पन्न करते हैं, या यों कहो ब्रह्मा बन जाते हैं। ब्रह्मा बन कर प्राचीन-ऋषि मुनियों का स्मरण करते हैं। प्राचीन संसार के सभी उपकरणों को सोचते हैं। कारण में छिपे वे समस्त संसार ब्रह्माजी के मन में प्रकट

होवे हैं। यही सूक्ष्मसृष्टि कहलाती है। जब उस सूक्ष्म-सृष्टि के पदार्थों में वासना का प्राबल्य होने लगता है तो वह स्थूलता का रूप धारण करने लगता है। श्रीभगवान्, प्रकाश रूप हैं। उनसे जो जितना ही दूर हटता जायगा वह उतना ही तम की ओर बढ़ता जायगा। तम की ओर बढ़ना अर्थात् स्थूलता को ग्रहण करना है। ब्रह्माजी से ऋषि मुनि कुछ दूर हैं। उनसे प्रजापति, फिर मनु, मनु से मनु पुत्र, मनुपुत्रों से मनुष्य, मनुष्यों से पशु-पक्षी और पशु-पक्षियों से वृक्ष पाषाण आदि। इस प्रकार जो स्थूलता से हटकर सूक्ष्मता की ओर बढ़ेगा, वह उतना ही भगवान् की ओर बढ़ेगा। यह चक्र निरन्तर चलता है। इसे ही उत्पत्ति, प्रलय और जन्म-मरण का प्रभाव कहते हैं। अब सृष्टि का प्रकरण चल रहा है। भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्माजी हुए, ब्रह्माजी से दस मानस पुत्र, फिर मनु शतरूपा ये दो मिथुन-जोड़े। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल सृष्टि होने लगी। इसी को लक्ष्य करके शौनकजी सूतजी से पूछते हैं—"सूतजी! आपने बाराहावतार तथा हिरण्याक्ष उद्धार की बड़ी अद्भुत कथा सुनाई। भगवत् कथा सुनते-सुनते जीवन को बिता देना यही तो मनुष्य जन्म की सार्थकता है। जीवन का यथार्थ लाभ तो विदुरजी ने पाया जो तीर्थयात्रा करके अपने अन्तःकरण को शुद्ध किया, भगवत् भक्ति करके इस लोक-परलोक को बनाया और मैत्रेयजी से कथा प्रसङ्ग चलाकर लोकोपकार किया। सूतजी! संसार में गंगाजी न आतीं और भगवत् कथा न होती तो कोई भी प्राणी इस संसार सागर को पार करके शाश्वत्-शान्ति तथा अक्षय सुख का अधिकारी बन सकता? क्योंकि देहधारियों से ज्ञान में, अज्ञान में, मन से, कर्म से तथा वचन से निरन्तर असंख्यों पाप होते ही रहते हैं। कभी पुण्य भी हो जाता है। यदि उन सबको यथावत् पुण्य पाप भोगना ही पड़े

तो जीव सदा नरक की अग्नि में ही पचता रहे और यदि स्वर्ग का अनित्य, नाशवान्, क्षयिष्णु भोग विलास प्राप्त भी हों—तो वह कुछ दिन के ही लिये। किन्तु भागवत कथा और श्रीत्रिपथ-गामिनी गंगाजी तो सदा पाप को काटती ही रहती हैं। इसलिये आप उन समस्त पापहारिणी कथाओं को हमें सुनावें जिन्हें विदुरजी ने मैत्रेयजी से पूछा था और पूछने पर उन्होंने जो-जो कही थीं।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर सूतजी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—"ऋषियो! आप ही संसारी तापों से संतप्त प्राणियों के सच्चे माता-पिता, हितैषी और सुहृद हैं जो ऐसे प्रश्न करके संसारी लोगों के लिये निष्कंटक—सीधा राज-पथ तैयार कर रहे हैं। जब महामना मैत्रेयमुनि ने विदुरजी से वाराह चरित्र कहा तब वे प्रसन्न होकर उनसे अग्रिम-सृष्टि के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगे।"

विदुरजी ने पूछा—"ब्रह्मन्! ब्रह्माजी ने मरीचादि दस पुत्रों को और मनु शतरूपा को उत्पन्न करके फिर और कौन-कौन सी सृष्टि की? आगे की सृष्टि सबने मिलकर बढ़ाई या अकेले ब्रह्माजी ही यन्त्र की भाँति बनाते गये? कृपा करके मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दें।"

यह सुनकर हँसते हुए मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! बार-बार सृष्टि का प्रश्न करने से आप हमें सृष्टिकर्ता का सर्वदा स्मरण कराने की चेष्टा करते हैं, यही जीव का परम पुरुषार्थ है। महा-भाग! यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि भगवान् की इच्छा होने पर काल कर्म और प्रकृति के संसर्ग से तीनों गुणों में क्षोभ हुआ। इससे महत्तत्व, तीन प्रकार के अहंकार, पंचतन्मात्रायें, पंचभूत, पाँच-पाँच ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठातृदेव आदि उत्पन्न होकर अंडाकार बन गये। भगवान् के उसमें प्रवेश

करने पर उनकी नाभिकमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उन्होंने पंचपर्वा, अविद्या, यक्ष, राक्षस, देवता, असुर आदि की सृष्टि की। फिर दिन-रात्रि सन्ध्या आदि उत्पन्न करके काल विभाग किया। तदनन्तर अप्सरा, गन्धर्व, भूत, पिशाच, निद्रा, तन्द्रा, उन्माद, पितर, साध्य, किन्नर, किंपुरुष, सर्प आदि की रचना की। यह सब रचना होने पर भी ब्रह्माजी को संतोष नहीं हुआ। तब उन्होंने पुरुषाकार शरीर में मनुष्यों को उत्पन्न किया। मनुष्य शरीर को देखकर ब्रह्माजी बहुत प्रसन्न हुए। देवताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे बोले—"पितामह! यह तो आपने अद्भुत-अनुपम सृष्टि की। हमारे भी अन्न जल का प्रबन्ध कर दिया। ये लोग यज्ञ-याग करके हमें भी सन्तुष्ट करेंगे और इसी शरीर से मोक्ष लाभ भी कर सकेंगे। मनुओं के अनन्तर तप, विद्या, योग और समाधि से युक्त ऋषियों की रचना की। उसी समय स्वायंभुवमनु और शतरूपा रानी की उत्पत्ति हुई। शतरूपा सृष्टि में सबसे पहिली नारी हुई। उनका विवाह स्वायंभुव मनु के साथ हुआ।"

विदुरजी ने पूछा—"इनमें श्रेष्ठ कौन हुआ, पुरुष या स्त्री?"

मैत्रेयजी हँसकर बोले—"अब विदुरजी! तुम्हीं समझो इस बात को, कि श्रेष्ठ कौन हुआ? अपने-अपने स्थान पर दोनों ही श्रेष्ठ हैं! दोनों हाथ, दोनों पैर, दोनों नाक-छिद्र, दोनों आँखें, इनमें बड़ा छोटा कौन है? ब्रह्माजी के अंग के ठीक दो भाग हुए। अब इनमें बड़ाई का छोटाई का अनुमान कैसे किया जाय? पुरुष दायें अंग से हुआ स्त्री बायें अंग से हुई। सृष्टि के लिये दोनों ही उपयोगी हैं। बिना दो हाथों के ताली बज ही नहीं सकती। इसलिये दोनों समान हैं।"

विदुरजी बोले—"फिर भी कुछ तो छुटाई-बड़ाई होगी ही।"

मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! हम तो यह समझते हैं पहिले-

पहिले पुरुष (ब्रह्म) ने ही दोनों को उत्पन्न किया इस क्रम से तो पिता श्रेष्ठ है, सृष्टि-वृद्धि शतरूपा से ही हुई इसीलिये माता श्रेष्ठ है। इसलिये माता रूप में जो स्त्री है वहाँ तो स्त्री श्रेष्ठ है और पति पत्नी रूप में जहाँ स्त्री पुरुष का सम्बन्ध है वहाँ पुरुष श्रेष्ठ है। जहाँ पर इस प्रकार की श्रेष्ठता मान्य न होगी, वहाँ कलह अर्थात् कलि आरम्भ हो जायगा।"

यह सुनकर विदुरजी बड़े हँसे और बोले—"महाराज! आपने तो फिर प्रकारान्तर से दोनों को ही समान बता दिया! ठीक भी है, सर्वथा समानता में सृष्टि होती भी नहीं। कुछ असमानता चाहिये और सर्वथा विपरीत में भी सृष्टि संभव नहीं, सृष्टि में आनुकूल्य आवश्यक है। हाँ, तो मनु और शतरूपा ने मिलकर कितनी संतानें उत्पन्न कीं और उनकी वंशवृद्धि किस प्रकार हुई?"

इस पर मैत्रेय मुनि ने कहा—"भगवान् मनु ने भगवती शतरूपा के गर्भ से प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो परम धार्मिक पुत्र उत्पन्न किये जो इस पृथ्वी के राजा हुए। इन्होंने समस्त वसुन्धरा का पुत्रवत् पालन किया। इनके अतिरिक्त आकूति, देवहूति और प्रसूति नामक तीन कन्यायें भी उत्पन्न कीं। देवहूति का विवाह उन्होंने महायोगी-कर्दम प्रजापति के साथ किया, जिनके गर्भ से साक्षात् श्रीमन्नारायण के अंशावतार भगवान् कपिल का जन्म हुआ। आकूति का पाणिग्रहण दक्ष नामक प्रजापति ने किया। इनके द्वारा इतनी संतानें हुईं कि यह चराचर-विश्व उन्हीं की संतानों से भर गया।"

इस पर विदुरजी ने कहा—ब्रह्मन्! हम तो अवतार चरित सुनने को सदा उत्सुक रहते हैं। आप हमें भगवान् कपिलदेव का चरित सुनावें। भगवती-देवहूति का विवाह-महामुनि कर्दमजी

के साथ कैसे हुआ और कैसे भगवान् ने अवतार लिया ? यह सब चरित विस्तार के साथ हमें सुनावें।"

विदुरजी के ऐसा प्रश्न करने पर प्रसन्न हुए मैत्रेय मुनि कहने लगे—"महाभाग ! आप धन्य हैं जो अवतार-कथाओं को सुनने को इस प्रकार उत्सुक बने रहते हैं। अब मैं भगवान् कपिल के चरित को सुनाऊँगा, आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

शौनक मुनि को प्रश्न सूत सुनि हरषे मन महँ।
प्रेम विकल अति भये रोम पुलके सब तन महँ॥
बोले—ऋषियो सुनो ! गये मनु शतरूपा संग।
दम्पति महँ अति प्रीति प्रेमतें पुलकित अँग-अँग॥
द्वै जनमे अति सुघड़ सुत, प्रियव्रत अरु उत्तानपद।
बाईं तनया तीन जग, यश छायो जिनतें विशद॥

विवाह के लिये कर्दमजी की तपस्या

(१५०)

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः ।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥
तावत्प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे ।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० २१ अ० ६-८ श्लो०)

छप्पय

देवहूति जिहि भाँति विवाही कर्दम ऋषि तें ।
कहूँ भयो कस प्रथम व्याह सो वैदिक विधि तें ॥
विधि की आज्ञा पाइ चले कर्दम तप के हित ।
विषयनि तें मन रोकि लगायो श्रीहरि महँ चित ॥
बरष सहस-दश तप करयो, तनु तें कृश अति ही भये ।
भीषण तप तें तुष्ट है, कमलनयन दरशन दये ॥

श्रीभगवान् की आराधना सकाम भावे से की जाय अथवा

---

* मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! जब ब्रह्माजी ने भगवान् कर्दम मुनि को आज्ञा दी कि तुम भी प्रजा की उत्पत्ति करो, तो उनकी आज्ञा पाकर सरस्वती नदी के तट पर वे दश हजार वर्ष तक तपस्या करते रहे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर वेद-प्रतिपाद्य ब्रह्म स्वरूप श्रीकमलनयन भगवान् वासुदेव ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिये। यह सतयुग का समय था।"

निष्काम भाव से, दोनों ही कल्याणकारी हैं। भक्तों के हृदयों में कामना उत्पन्न करने वाले भी तो वे ही श्रीपति हैं। हृदय में उत्पन्न हुई कामना की पूर्ति के लिये हृदयेश से ही प्रार्थना की जाय, उसकी पूर्ति के लिये उनकी ही शरण ली जाय तो वे कामना की पूर्ति भी करेंगे और अन्त में अपना पद भी प्रदान करेंगे। कोई दीन है भूख से व्याकुल! यदि किसी कृपण क्षुद्र पुरुष से वह प्रार्थना करे तो वह संकोच वश उसे एक दिन की क्षुधा निवृत्ति के लिये कुछ रूखा-सूखा देना चाहे तो दे भी सकता है, नहीं तो मना ही कर देगा। किन्तु किसी उदारमना दयालु समर्थ पुरुष की शरण में जाय तो उसके दुःख को मिटा भी देगा और आगे के लिये भी उसकी वृत्ति का कुछ-न-कुछ प्रबन्ध कर देगा। ईसी प्रकार जो, कामना उत्पन्न होने पर इन संसारी मनुष्यों की, भूत, प्रेत पिशाचों अथवा अन्य क्षुद्र-देवों की शरण में जाते हैं और उनसे याचना करते हैं, तो किसी अंश में उनकी कामना थोड़ी बहुत भले ही पूरी हो जाय, किन्तु उनके सदा के लिये दुख दूर नहीं होते। जो भगवान् की शरण में जाते हैं, उनसे ही अपनी कामनाओं को निवेदन करते हैं, तो कामना पूर्ति के साथ वे परमार्थ पथ के भी पथिक बन जाते हैं, शाश्वती-शान्ति के अधिकारी हो जाते हैं। जो भगवान का दास कहाकर संसारी क्षुद्र-पुरुषों से अपनी कामना की पूर्ति की आशा रखता है, वह हरिदास न होकर विषयदास या मायावी है। वह सदा चौरासी के चक्कर में घूमता रहता है। भगवान् कर्दम मुनि सकाम तपस्या करके अपनी कामना को भी प्राप्त कर सके और अन्त में मुक्ति पद के भी भागी बन गये। इसी प्रसङ्ग को आरम्भ करते हुए भगवान् मैत्रेय विदुरजी से कहने लगे—

महामुनि मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! भगवान ब्रह्माजी के एक मानस पुत्र कर्दमजी थे। जब शतरूपा के साथ स्वायंभुव

मनु का विवाह हो गया, तो उनके मन में भी कुछ विवाह की इच्छा हुई। भगवान् की प्रेरणा ही ऐसी थी, नहीं तो उनके मन में भला कामना का अंकुर कैसे उत्पन्न हो सकता था? हाथ जोड़कर उन्होंने समस्त प्राणियों के पितामह भगवान् ब्रह्मदेवजी से निवेदन किया—"प्रभो! मेरे लिए क्या आज्ञा होती है?"

ब्रह्माजी को तो वही एक ही धुनि, किसी प्रकार प्रजा की वृद्धि हो, सृष्टि का चक्र चले। इसीलिये वे बड़े स्नेह से बोले—"भैया! इस समय तो सर्व श्रेष्ठ कार्य यही है कि सृष्टि-वृद्धि में तुम भी हमारा हाथ बटाओ। प्रजा उत्पत्ति में ही प्रयत्नशील होओ।"

हाथ जोड़कर नम्रता के साथ उन्होंने कहा—"महाराज! मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु कैसे प्रजा की वृद्धि करूँ? यह बात अभी मेरी बुद्धि में नहीं आती।"

ब्रह्माजी समझ गये उनके भाव को और बोले—"देखो भैया! भगवान् के भजन के सम्मुख कोई बात असाध्य नहीं। तुम भगवान् की शरण में जाओ, तपस्या करो! तपस्या से सभी सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो सकती हैं। तुम तो पत्नी ही चाहते हो, भक्ति करने से पत्नी भी मिलेगी और भगवान् भी मिलेंगे।"

ब्रह्माजी की ऐसी आज्ञा पाकर महामुनि कर्दम, अर्बुद-शैल के समीप भगवती सरस्वती के तट पर जाकर घोर तपस्या करने लगे। वे यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योग के अंगों को करते हुए समाधि के द्वारा परात्पर-प्रभु की आराधना में निमग्न हो गये। सब ओर से उन्होंने अपने चित्त की वृत्तियों को बटोर कर मन को श्रीभगवान् की ओर लगाया और इस प्रकार वे दस हजार वर्ष तक घोर तपस्या करते रहे।

इधर शतरूपा के साथ विवाह करके स्वायंभुवमनु ने, पृथ्वी

में गंगा यमुना के मध्य में ब्रह्मावर्त प्रदेश को सर्वश्रेष्ठ महा-पुण्यप्रद समझकर, वहाँ अपनी राजधानी बनाई। ब्रह्मावर्त में रहकर वे पृथ्वी का धर्मपूर्वक शासन करने लगे। उनके प्रियव्रत, उत्तानपाद नामक दो बड़े ही प्रतापशाली पुत्र हुए और देवहूति, आकूति और प्रसूति नाम की तीन कन्यायें हुईं।

देवहूति बड़ी सुशीला, धर्म परायणा, भक्तिमती और साधुस्वभाव की लड़की थी। वह निरन्तर भगवान् के भजन में ही तत्पर रहती थी। उसे न तो क्रीड़ा ही प्रिय थी और न बहुत इधर-उधर की बातें ही अच्छी लगती थीं। चुपचाप बैठी वह भगवान् का चिन्तन ही करती रहती। बाल्यकाल से ही वह इतनी सुन्दरी थी, कि जो भी कोई उसे देखता वही प्रसन्न हो जाता। जब वह कुछ सयानी हुई, तो वैसे ही एक समय कौतुकवश क्रीड़ा-कन्दुक को लेकर, अकेली अपनी छत पर उसे उछालती हुई इधर से उधर घूम रही थी। उसी समय विश्वावसु गन्धर्व अपने विमान पर बैठकर आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था। उसने जब यह अनुपम रूप-लावण्य युक्त बाला को इस प्रकार क्रीड़ा करते देखा, तो वह कामी-गन्धर्व इसके सौन्दर्य से ऐसा मोहित हुआ कि शरीर की सुधि भूलकर विमान से धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। अपने मानसिक-पाप का उसने उसी क्षण फल भोग लिया।

जिस प्रकार शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा, नित्य प्रति बढ़कर अपनी शीतल किरणों से संसार के अन्य सभी लोगों को तो सुख प्रदान करता है, किन्तु कामियों की चिन्ता को और बढ़ाता है। उसी प्रकार देवहूति के प्राप्तवयस्का होने पर और सबको तो सुख हुआ, किन्तु उसके माता-पिता की चिन्ता बढ़ गई। अब देवहूति ने बाल्यावस्था को पार करके यौवनावस्था में पदार्पण किया। माता-पिता की इच्छा थी अपनी सर्वगुण सम्पन्ना प्राणों

से भी प्यारी पुत्री को किसी योग्य वर को प्रदान करें जिससे इसका भविष्य जीवन सुखमय हो सके। वे इस प्रकार चिन्ता समूह में मग्न ही थे, कि राम-कृष्ण गुन गाते वीणा बजाते देवर्षि नारद बर्हिष्मती नामक मनु की राजधानी में पहुँच गये। ब्रह्मपुत्र भगवान् नारद को आते हुए देखकर सातों द्वीपों के अधिपति महाराज स्वायम्भुव मनु उठकर खड़े हो गये। उन्होंने पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और फल मूल देकर ऋषि का सत्कार किया। उन्हें बैठने को सुन्दर मणिमय आसन दिया। शास्त्रीय विधि से सम्राट् की पूजा को स्वीकार करके जब स्वस्थ चित्त से नारदजी बैठ गये, तब उन्होंने सम्राट् के मन्त्री, कोष, अन्तःपुर, परिवार आदि की कुशल पूछी। दोनों ओर से कुशल प्रश्न हो जाने के अनन्तर महारानी शतरूपा पधारीं उन्होंने आकर विधिवत् मुनि को प्रणाम किया और अपने बच्चों को भी मुनि के चरणों में डाला। सबको यथा योग्य प्यार करके, आशीर्वाद देकर मुनि ने उन्हें बैठने की आज्ञा दी। महाराज के बगल में महारानी-शतरूपा बैठ गईं, बच्चे सब उनके सम्मुख बैठे।

इसके अनन्तर भगवान् नारद ने हँसते हुए महाराज मनु से पूछा—"राजन्! आप कुछ चिन्तित से दिखाई देते हैं। मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ कि आपको कोई भारी मानसिक चिन्ता है; आप अपनी चिन्ता का कारण मुझे बताइये। यथाशक्ति मैं आपकी चिन्ता को मिटाने का प्रयत्न करूँगा।"

देवर्षि नारद की ऐसी मधुर, सुखद और ममता भरी वाणी सुनकर महाराज मनु बोले—"ब्रह्मन्! यह गृहस्थ-आश्रम चिन्ता का सागर ही है। इसमें निरन्तर एक के पश्चात् दूसरी चिन्ता रूपी ऊर्मियाँ उठती ही रहती हैं। गृहस्थी की चिन्ता के प्रधान दो ही कारण होते हैं, धन और सन्तान। धन न हो तो उसकी प्राप्ति की चिन्ता। यदि हो, तो उसे बढ़ाने, रक्षा

करने आदि की चिन्ता। सन्तान न हो तो उसकी चिन्ता, हो तो उसके पालन-पोषण, योग्य बनाने और विवाह आदि की चिन्ता। इन सभी चिन्ताओं से बढ़कर सयानी लड़की के विवाह की चिन्ता होती है। धर्म को जानने वाले पिता के लिये उसके सम्बन्ध की चिन्ता उसे तब तक व्यथित करती रहती है जब तक कि योग्य घर-वर देखकर उसका विवाह न हो जाय। विवाह के पश्चात् भी उसके सुख आदि की चिन्ता रहती तो है ही, किन्तु वह उतनी अधिक नहीं होती। आपकी कृपा से मेरे यहाँ धन की कोई कमी नहीं। भगवान् की दी हुई सन्तानें भी पाँच हैं। इस समय मुझे सबसे अधिक चिन्ता इस बच्ची देवहूति की है। यह अब विवाह योग्य हो गई। मैं चाहता हूँ इसे इसके अनुरूप ही कोई भगवान् का परमभक्त, तपस्वी सदाचारी वर मिले। यही चिन्ता मुझे सदा व्यथित करती रहती है।"

समीप में बैठी हुई देवहूति यह सब सुन रही थी। वह लज्जा के कारण सिकुड़ी जाती थी, निरन्तर पृथ्वी की ओर देख रही थी और पैर के अँगूठे से पृथ्वी को कुरेद रही थी।

देवर्षि नारद यह सुनकर कुछ देर मौन रहे और फिर देवहूति को लक्ष्य करके बोले—"बेटी! इधर आना, तेरा हाथ तो देखूँ।"

लड़की सकपका गयी, लज्जित होकर वह अपने माता-पिता की ओर देखने लगी। दोनों ने एक साथ ही शीघ्रता से कहा—"जा बेटी! देख भगवान् बुला रहे हैं, प्रणाम करके उनके सम्मुख जा।" अत्यन्त सम्भ्रम के साथ देवहूति ने मुनि को प्रणाम किया और बहुत अधिक लजाती, अपने शरीर में विलीन-सी होती हुई, सिर नीचा करके मुनि के समीप खड़ी हो गई। मुनि ने अरुण कमल की आभा के सदृश उसके कोमल कर को अपने हाथ में लेकर रेखाओं द्वारा उसका शुभाशुभ

देखा। सब देख-सुनकर वे बोले—"राजन्! यह आपकी बच्ची तो बड़ी भाग्यवती है। यह तो संसार में बड़ी यशस्विनी होगी। अब मुझे याद आ गई। सरस्वती के तट पर महामुनि कर्दम, बड़ी घोर तपस्या कर रहे हैं। वे दूसरे प्रजापति ही हैं। रूप में, गुणों में, वय और सदाचार में सर्वथा इस बच्ची के अनुरूप हैं। उनसे बढ़कर तपस्वी, यशस्वी, धर्मात्मा और सत्यपरायण मैं किसी को नहीं देखता। आप अपनी इस कन्या का विवाह उनके ही साथ कर दें।"

देवहूति का हाथ देखते-देखते ही भगवान् नारद यह कह रहे थे, देवहूति का हृदय बाँसों उछल रहा था। लज्जा के कारण वह गड़ी जा रही थी। यदि मुनि हाथ न देख रहे होते तो वह भागकर महल में चली जाती, किन्तु अब तो वह भाग भी नहीं सकती थी। वहीं नीचा सिर किये खड़ी रही। मुनि ने जब हाथ छोड़ा तो वह उन्हें प्रणाम करके भीतर चली गई।

मुनि के वचन सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् मनु बोले—"भगवन्! महामुनि कर्दम की प्रशंसा तो मैं भी बहुत दिनों से सुन रहा हूँ। किन्तु मुझे साहस नहीं हुआ कि उनसे ऐसा प्रस्ताव कर सकूँ। वे तपस्वी हैं, ब्रह्मचारी हैं, ऐसा न हो इस प्रस्ताव से वे कहीं मुझ पर कुपित हो जायँ। यदि वे मेरी इस बच्ची को स्वीकार कर लें तो इसका जन्म सुफल हो जाय और मैं भी सदा के लिये निश्चिन्त हो जाऊँ। वे सर्वथा इसके अनुरूप ही हैं।"

महामुनि नारदजी ने कहा—"राजन्! आप इस विषय में चिन्ता न करें। महामुनि कर्दम के भावों को मैं जानता हूँ। देखिये, ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं एक तो नैष्ठिक दूसरे उपकुर्वाण। जो जीवन पर्यन्त विवाह न करके अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे नैष्ठिक कहलाते हैं और जो केवल विवाह

पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हैं, वे उपकुर्वाण कहे जाते हैं। कर्दमजी उपकुर्वाण ब्रह्मचारी ही हैं। ब्रह्मचर्य के पश्चात् वे योग्य कन्या मिलने पर विवाह भी कर सकते हैं। इसलिये आप अपनी इस सर्वलक्षण सम्पन्ना कन्या को उन्हीं त्यागी, तपस्वी, सर्वसमर्थ मुनि को प्रदान कर दें। ऐसा करने से इसका भी संसार में यश बढ़ेगा और आप भी परम पुण्य के भागी बनेंगे।"

नारदजी की ऐसी बात सुनकर स्वायंभुवमनु के हर्ष के मारे रोम-रोम खिल उठे। प्रेम के कारण कंठ रुक जाने से वे कुछ भी न कह सके। कुछ काल में वे प्रकृतिस्थ होकर कहने लगे—"महामुने! आपने बड़ी कृपा की। मुझे महान् चिंता से मुक्त कर दिया। संसार में साधु-सन्तों का भ्रमण परोपकार के ही निमित्त होता है। उनके दर्शन मात्र से ही मनुष्यों के दुःख दूर हो जाते हैं। भगवन्! मैं कल अवश्य ही अपनी पुत्री और पत्नी को साथ लेकर भगवती सरस्वती के तट पर महामुनि कर्दमजी के आश्रम पर जाऊँगा, और उन्हें प्रार्थना–विनय–के द्वारा प्रसन्न करूँगा।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार स्वायंभुवमनु से सत्कृत होकर, उनसे विदा होकर देवर्षि नारद स्वेच्छा से वीणा बजाते हुए अन्य लोकों की ओर चले गये। इधर महारानी शतरूपा भी पुत्री के सहित कर्दम मुनि के आश्रम में जाने की तैयारियाँ करने लगीं।"

छप्पय

इत नारद मुनि देवहूति पितु के ढिंग आये।
कन्या हित अति खिन्न लखे तब बचन सुनाये॥
कन्या-दान निमित्त जाहु ढिंग कर्दम मुनि के।
अति प्रसन्न नृप भये बैन मुनिवर के सुनिके॥
यदि कर्दम कन्या गहहिं, मन वांछित फल पाउँगो।
पुत्री पत्नी संग लै, कालि तहाँ हौं जाउँगो॥

तथा स चाहं परिवोढुकामः,
समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलम्
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २१ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

तपपति, तपते तुष्ट भये निज रूप दिखायो ।
अद्भुत शोभा सहित, निरखि मुनि चित्त लुभायो ॥
चरण, अधर, कर, अरुण, मधुर सिर मुकुट मनोहर ।
आयुध अस्त्र समेत कमल कर लिये गदाधर ॥
श्रीपति सम्मुख निरखि के, परम मुदित मुनिवर भये ।
हड़बड़ाइ के दंड सम, विकल मही पर परि गये ॥

जीव में में यही अपूर्णता है, कि वह अपनी कामना पूर्ति के

---

* महामुनि कर्दमजी भगवान् से वरदान मांगते हुए उनसे विनय करते हैं—"हे प्रभो ! जो कामना से उपासना करते हैं उन्हीं के समान मैं दुरात्मा हूँ, कल्पवृक्ष के समान इच्छाओं को पूर्ण करने वाले आपके चरणों की शरण में आकर, अपने अनुकूल स्वभाव वाली धर्म अर्थ और काम रूपी त्रिवर्ग को प्राप्त कराने वाली गृहस्थ की कामधेनु—पत्नी को चाहता हूँ।"

लिये भगवान् से याचना करता है। चराचर विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के एकमात्र स्वामी, कर्मों के नियामक प्रभु घट-घट की जानते हैं। किस जीव का किस कार्य से कल्याण होगा, इसका सबसे अधिक पता उन्हें ही रहता है। हम बीच में अपना कर्तृत्व स्थापित करके चिन्ता और बढ़ा लेते हैं। भगवान् अपने भक्तों के लिये कल्प-तरु के समान मनोवांछित फल देने में समर्थ हैं। मुक्ति उसके आश्रय से प्राप्त नहीं हो सकती किन्तु भगवान् वासुदेव तो भुक्ति-मुक्ति दोनों ही देने में समर्थ हैं। उनका आश्रय ग्रहण करने पर जीव जो भी चाहता है, वही प्राप्त हो जाता है। इसी बात को लक्ष्य करके मैत्रेय मुनि, विदुरजी से आगे की कथा कहने लगे।

मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! इधर नारद मुनि तो स्वायंभुवमनु से ऐसा कहकर चले गये। उधर कर्दम मुनि की भी तपस्या पूर्ति का समय आ उपस्थित हुआ। उनके घोर तप से प्रसन्न होकर वर देने वालों में श्रेष्ठ, भक्तवत्सल-भगवान् कर्दममुनि के सम्मुख प्रकट हुए। मुनिवर कर्दम, सरस्वती तट के अपने परम रमणीय आश्रम में स्वस्थ चित्त होकर सुखासन से विराजमान थे। उन्होंने चित्त की बिखरी वृत्तियों को एकत्रित करके भगवान् में लगा दिया था। वे धारणा ध्यान से ऊँचे उठकर समाधि में श्यामसुन्दर-श्रीहरि का साक्षात्कार कर रहे थे। भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य रूपी-अमृत के पान करने के कारण वे इतने सन्तुष्ट थे, कि उन्हें बाह्य जगत् का भान ही नहीं था कि बाहर क्या हो रहा है! भगवान् की जिस मनोमयी-मूर्ति का वे ध्यान कर रहे थे, सहसा वह उनके हृदय से अन्तर्हित हो गई। ध्येय वस्तु के विलीन हो जाने से व्याकुल हो गए, उनकी समाधि भंग हो गई, हड़बड़ाकर उन्होंने आँखें खोल दी। आँखें खोलते ही वे क्या देखते हैं—

समाधि में जिस मनोमयी—मूर्ति का ध्यान कर रहे थे, वह प्रत्यक्ष, हँसती हुई सम्मुख खड़ी है। शंख, चक्र, गदा और पद्म आदि आयुधों को धारण किये, वनमाला पहिने, कौस्तुभ-मणि की चमक-दमक से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए रेशमी पीताम्बर को फहराते, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए श्रीविष्णु सशरीर मूर्तिमान खड़े हैं। कोटि सूर्य-चन्द्रों के समान उनका निर्मल प्रकाश चारों ओर छिटक रहा है। अद्भुत अनुपम आनन पर असित अलकावलि बिखरकर फहरा रही है। विद्युत-प्रभा को भी लज्जित करने वाला पीताम्बर हिल-हिलकर मानों भक्तों को आश्वासन देता हुआ अभय प्रदान कर रहा है। कान के कमनीय कनक कुण्डल कपोलों की कौमुदी को प्रकाशित करते हुए झोंके खा रहे हैं, कमनीय कर में सुशोभित क्रीड़ा-कमल चित्त के समान चंचल हो रहा है। मन्द-मन्द मधुर मनहर मुसकानमयी चितवन, चित्त को चुराती हुई भक्तों के हृदयों में संजीविनी सुधा का संचार कर रही है। वायु के वेग को भी लज्जित करने वाला जिनका वेग है, जिनके पंखों से सदा स्वतः सामवेद के मन्त्रों की ध्वनि निकलती रहती है, उन विनतानन्दन गरुड़जी की पीठ पर स्थित दिव्यासन पर जो विराजमान हैं, भगवान् को आकाश में अधर खड़े देखकर कर्दम मुनि की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। संभ्रम के साथ सहसा हड़बड़ा कर उठ खड़े हुए। प्रेमोद्रेक में वे अपने कर्तव्य का निर्णय ही न कर सके। किंकर्तव्यविमूढ़ से बनकर प्रेम में व्याकुल हुए अपने को कृतकृत्य समझकर साष्टांग प्रणाम करते हुए दण्डे के समान पृथ्वी पर पड़ गये। अत्यंत प्रेम के कारण उनके दोनों नेत्रों से स्नेह के अश्रु बह रहे थे। प्रणाम करने के अनन्तर वे गद्गद-कंठ से भगवान् वासुदेव की स्तुति करने लगे।

कर्दम मुनि ने कहा—"प्रभो ! ये आँखें इन संसारी पदार्थों को वासनायुक्त देखते-देखते कलुषित हो गई हैं। इनका होना

तभी सफल कहा जा सकता है जब इनसे आपके दर्शन हो सकें। आपके दर्शन, योग आदि साधनों से भी बिना आपकी कृपा के नहीं हो सकते। यह जीव संसार में माया के वशीभूत

होकर अवश हुआ नाना योनियों में घूम रहा है। संसारी भोगों का जब इन्द्रियों से संसर्ग होता है, तो उनके उपभोग की इच्छा होती है। उपभोग से वासना बढ़ती है, वासना से संसार बन्धन बढ़ता है। इसलिये संसार से मुक्त करने वाले आपकी जो लोग विषयों की प्राप्ति के लिये उपासना करते हैं, वे उसी प्रकार हैं जैसे कोई सम्राट् को प्रसन्न करके उससे भूसी की याचना करे। कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर मदार के दूध की इच्छा करे। भगवती भागीरथी के तट पर पहुँच कर भी क्षुद्र सड़े तालाब के जल को पीना चाहे। किन्तु आपके लिये तो कोई वस्तु अदेय है ही नहीं। आपके चरणों की शरण में जो जिस भावना से जाता है, आपके समीप भक्त जिस वस्तु की याचना करता है, आप उसे वही देते हैं। आप आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी सभी प्रकार के भक्तों की मनोकामना पूरी करते हैं। अर्थार्थी को अर्थ, विद्यार्थी को विद्या, धनार्थी को धन, पुत्रार्थी को पुत्र, कामार्थी को काम और भार्यार्थी को सुन्दर मनोनुकूल भार्या भी देते हैं।"

भगवान् हँस पड़े और बोले—"कर्दमजी! हाँ, वे लोग माँगते होंगे किन्तु आप तो इतनी घोर तपस्या दस हजार वर्ष से कर रहे हैं, आप तो उनमें नहीं हैं? आप तो मेरी निष्काम-भाव से आराधना करते होंगे?"

कर्दमजी ने कहा—"नहीं भगवन्! मैं भी उन्हीं अज्ञ पुरुषों में से हूँ, मेरी भी तपस्या निष्काम नहीं है। मन में कामना रख कर ही मैं आपका ध्यान करता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"कर्दमजी! आपकी क्या कामना है? मुझे बताओ। मैं उसे अवश्य पूरी करूँगा।"

कर्दमजी कुछ लजाते हुए बोले—"महाराज! क्या बताऊँ? आप सर्वज्ञ, घट-घट की जानने वाले हैं। मैं धर्म, अर्थ, काम

तथा समस्त विषय सुखों को देने वाली एक सुन्दर-सी कामधेनु चाहता हूँ।"

भगवान् हँसे और बोले—"समुद्र-मन्थन के समय पाँच कामधेनु तो निकली थीं, किन्तु वे ऋषियों ने ही ले लीं, उन्हीं गौओं में से एक कामधेनु-गौ तुम कहो तो किसी ऋषि से तुम्हें दिला दूँ! तुम्हारे आश्रम में बँधी रहेगी। उससे जो कहोगे सामग्रियाँ उत्पन्न कर देगी।"

कर्दमजी संकोच में पड़ गये। भगवान् बड़े खिलाड़ी हैं, सब बात खोद-खोदकर पूछ रहे हैं, स्पष्ट कहलाना चाहते हैं, अतः लजाते हुए बोले—"महाराज! मुझे चार पैर वाली कामधेनु नहीं चाहिये। मुझे तो चार पैर वाली कामधेनु से भी श्रेष्ठ दो पैर की कामधेनु चाहिये। वह कामधेनु तो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि सुख देने वाली वस्तुओं को ही उत्पन्न करती है, किन्तु यह जो मैं दो पैर वाली कामधेनु माँग रहा हूँ, यह स्वयं इन सब तन्मात्राओं के सुखों को देने वाली है। उसका स्वर सदा वीणा को विनिंदित करने वाला बना रहता है। पुरुष तो जहाँ पन्द्रह, सोलह वर्ष के हुए कि उनकी वाणी भारी होकर भर्रा जाती है। जिसका रूप सुखद, सब रसों की दातृ, गंध और स्पर्श मनोज्ञ होता है—मैं उस कामधेनु को हृदय खूँटी पर बाँधना चाहता हूँ, गृहेश्वरी—और हृदयेश्वरी बनाना चाहता हूँ। गृह स्वामिनी होने से उसे गृहिणी भी कहते हैं।"

समीप में बैठी लक्ष्मीजी मन-ही-मन मुस्कुरा रही थीं, भगवान् ने भी उनकी ओर देखा, दोनों की आँखें चार हुईं। दोनों ही हँस पड़े। फिर बोले—"अच्छा, मुनिवर! आप अपने अनुरूप बहू चाहते हैं? अब गृहस्थ बनने की इच्छा है?"

कर्दम मुनि लजाते हुए बोले—"भगवन्! क्या बताऊँ?

इच्छा को उत्पन्न करने वाले भी आप ही हैं। आपकी वेदाज्ञा रूपी रस्सी में सभी जीव बँधे हैं, आप उन्हें जैसे घुमाते हैं, घूमते हैं। हमारा इसमें क्या दोष ? नहीं तो आपको प्रसन्न करके भी आपसे मैं विषय-सुखों की ही याचना क्यों करता ? आपके भक्त तो इन संसारी विषयों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वे तो निरन्तर आपके कथा-कीर्तन रूपी अमृत का ही परस्पर मिलकर व्यग्रता के साथ पान करते रहते हैं। आपके नाम कीर्तन से, गुण कीर्तन से उनकी कभी तृप्ति ही नहीं होती, सदा अतृप्त बने-देह धर्मों को भूले-बावलों की भाँति पागल और सिड़ियों की तरह सदा आपके ध्यान में ही मग्न रहते हैं। आपकी कीर्ति रूपी सुधा का पान करके वे अजर-अमर बन जाते हैं। आप सर्वत्र हैं, सर्वशक्तिमान हैं। भक्त आपसे जो माँगता है, आप उसे वही देते हैं, फिर भी इन संसारी विषयों का प्रदान आपको इष्ट नहीं। अपने भक्तों को वैषयिक वस्तुयें देकर आप सन्तुष्ट नहीं होते। इसलिये आप मेरी इस विवाह की इच्छा को भी पूरी कर दें, और अन्त में इस संसार-सागर से मेरी मुक्ति भी कर दें। आपके समान ही एक सुन्दर-सा पुत्र मेरे हो जाय, उसे पाकर मैं इस लोक-परलोक दोनों के ही चरम सुखों को अर्थात् भोग व मोक्ष को प्राप्त कर सकूँ।"

भगवान् हँस पड़े और मन-ही-मन सोचने लगे—"देखो, मुनि कितने बुद्धिमान हैं। तपस्या करने से कितनी बुद्धि निर्मल हो गई है। एक साथ ही सुन्दर वधू माँग ली। पुत्र माँग लिया, पुत्र भी साधारण नहीं, मुझे ही बेटा बना लिया। अन्त में मुक्ति भी माँग ली। किन्तु मैं तो भक्तों के हाथ बिक चुका हूँ। वे मुझसे जो भी माँगेंगे वही मैं उन्हें बिना विचार के दूँगा। यह सोचकर भगवान् बोले—"मुनिवर ! आपने तो एक साथ सब वस्तुएँ ही माँग लीं।"

यह सुनकर मुनि मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए बोले—"महाराज! सुमेरु पर पहुँचकर सुवर्ण की कंजूसी क्यों की जाय? आपके दर्शन हो जाने पर भी फिर कोई इच्छा आगे के लिये शेष रह सकती है क्या? आप दया-सागर की शरण में प्राप्त होकर भी क्या मैं अपूर्ण-काम रह सकता हूँ? आपके दर्शन ही समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"मुनिवर! जो भावना रखकर आपने मेरी आराधना की है, वह मुझसे छिपी हुई नहीं है। मैं आपके मनोगत भावों को जानता हूँ। मेरी आराधना कोई किसी भी भाव से कितनी भी करे, वह कभी निष्फल जा ही नहीं सकती। फिर तुम्हारे जैसे त्यागी, विरागी मुझमें ही सदा मन को लगाये रहने वाले मुनीश्वर की तपस्या व्यर्थ कैसे हो सकती है? मैं तुम्हारी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करूँगा। तुम्हारे कहने से पूर्व ही मैंने तुम्हारे विवाह का डौलडाल ठीक कर रखा है। सब साज सामान जुटा रखा है। सब संयोग पहिले ही से भिड़ा रखे हैं।"

मुनि का हृदय तो बाँसों उछलने लगा। वे बोले—"तब, महाराज! अब मैं कब तक और प्रतीक्षा करूँ?"

भगवान् हँसते हुए और अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"अजी, अब कब तक का क्या काम? बस, कल का दिन गया, परसों चाई-माई फिर जायँगी, भाँवरें पड़ जायँगी। तुम्हें मनोहारिणी-गृहिणी मिल जायगी।"

कर्दम मुनि अपनी उत्सुकता को दबाते हुए बोले—"महाराज! अभी न कुछ बात न चीत, सगाई न सम्बन्ध। परसों कैसे हो जायगा विवाह? कहाँ से लड़की आयगी, कौन मुझ जटाजूट, धूल धूसरित बाबाजी को अपनी बेटी ब्याह देगा? किन्तु आपके लिये कुछ असम्भव भी नहीं। आपके स्वाँस लेने

और छोड़ने से सृष्टि-प्रलय होती है, फिर एक विवाह की बात है ?"

मुनि को अत्यन्त उत्सुक देखकर भगवान् बोले—"मुनिवर! आप धैर्य धारण करें। साधारण पुरुष की लड़की से नहीं सातों द्वीपों के चक्रवर्ती सम्राट् महाराज मनु की पुत्री से आपका विवाह होगा। वह लड़की भी ऐसी-वैसी नहीं, लक्ष्मीजी के समान रूप, गुण, वय, शील और सदाचार से युक्त परम-सुन्दरी राज-पुत्री होगी! उसी के साथ तुम्हारा विवाह होगा, तुम्हें कन्या माँगने उनके घर न जाना पड़ेगा। कन्या को लेकर राजा-रानी स्वयं ही आपकी कुटी पर आवेंगे और आपके चरणों में नाक रगड़ेंगे। मेरे भक्तों की सभी इच्छायें, प्रतिष्ठा के सहित पूरी होती हैं। उनके सभी कामों को मैं स्वयं ही सम्पन्न करता हूँ।"

कर्दमजी के मन में यह बात आई, कि कहीं राजा की लड़की मुझ त्यागी, विरागी के आश्रम पर रहकर असन्तुष्ट न हो जाय। कहीं हम दोनों में मनमुटाव न हो जाय। भगवान् उनके मनोभाव समझकर बोले—"देखो, वह लड़की परम सुशीला, श्यामा, सुन्दर, सद्गुणसम्पन्ना है वह तुम्हें पति रूप से प्राप्त करके ईश्वर बुद्धि से श्रद्धा सहित तुम्हारी सेवा करेगी। वह भी मेरी आराधना करती रही है, तुम्हारा दस हजार वर्ष तपस्या करने से अन्तःकरण परम निर्मल हो गया है। अतः तुम दोनों की जुगल जोड़ी अनुरूप होगी, दम्पति में दिन दूना रात चौगुना प्रेम बढ़ेगा।"

कर्दमजी ने सोचा—"गृहस्थ के जब तक सन्तान नहीं होती, तब तक उसका घर सूना-सूना-सा दिखाई देता है। संतानें जाने होंगी कि नहीं ?" उनके मनोगत भावों को समझकर भग-

वान् बोले—"मुनिवर आपके वीर्य से उस मनु पुत्री के परम यशस्विनी नौ कन्यायें होंगी।"

कर्दमजी ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! एक दो भी नहीं-पूरी नौ, सो भी कन्यायें ही कन्यायें। एक कन्या के लिये ही वर ढूँढ़ने को पिता सदा चिन्तित रहता है। नौ के लिये मैं कहाँ वर ढूँढ़ता फिरूँगा? मैं तो संसार के व्यवहार भी नहीं जानता।"

भगवान् उनके भोलेपन पर हँस पड़े और बोले—"मुनिवर! कन्या का जन्म घर में बड़े भाग्य से होता है। संसार में अन्नदान, पृथ्वी दान, गौदान, सुवर्णदान, ये सर्वश्रेष्ठ दान बताये गये हैं, किन्तु कन्यादान इन सभी दानों से श्रेष्ठ है। एक सुशीला सुन्दरी कन्या का वस्त्रालंकारों सहित दान करके मनुष्य अक्षय पुण्य का भागी बनता है। आपको वर ढूँढ़ने कहीं जाना न पड़ेगा। नौ के नौऊ वर यहीं आ जायँगे, यहीं उनका विवाह हो जायगा। आपकी कन्याओं के गर्भ से ऐसे पुत्र उत्पन्न होंगे, जो इस पृथ्वी को अपनी सन्तानों से भर देंगे।"

कर्दमजी ने कहा—"महाराज! कन्या तो ठीक ही हैं, किन्तु एक आध वंश चलाने वाला—'पुं' नामक! नरक से उद्धार करने वाला पुत्र भी तो चाहिये।"

भगवान् मुस्कुराये और बोले—"मुनिवर! मैं आया तो था, पिता बन के, किन्तु तुमने मुझे पुत्र बना लिया। मेरे भक्त के मुख से भूल में भी कोई बात निकल जाती है, तो मैं उसे पूरी करता हूँ। तुमने कहा था 'मेरे आपके सदृश पुत्र हो।' मेरे समान तो संसार में मैं ही हूँ। अतः मैं ही अपने अंश से तुम्हारे यहाँ पुत्र बनकर, प्रकट होकर तुम्हारे यश को संसार में विस्तारित करूँगा और तुम दोनों को संसार से सदा के लिये मुक्त कर

दूँगा। बोलो और क्या चाहते हो? और भी जो तुम
उसे मैं दूँगा।"

यह सुनकर गद्गद् कण्ठ से कर्दम मुनि कहने
"प्रभो! अब भी कुछ माँगने को शेष रह गया क्या? मैंने पत्नी
के लिये तप किया था। राजपुत्री-सुन्दरी पत्नी का
नौ कन्याओं का वरदान, आप पुत्र बनकर मेरे यहाँ
होंगे, इसका वरदान और मुझे पत्नी सहित संसार से पार
कर देंगे! ये सब वरदान आपने एक साथ ही दे दिये। भुक्ति
मुक्ति दोनों ही तो मिल गईं। बड़ों के सम्मुख थोड़ी याचना
करने पर भी बहुत मिलता है, अब मैं क्या कहूँ?"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! इतना कह
कर प्रेम विह्वल हुए मुनि भगवान् के सम्मुख साष्टाङ्ग-दण्डवत
करने को पड़ गये। आँख उठाकर जो ऊपर देखते हैं, तो
सामवेद की ऋचाओं को अपने पंखों से उच्चारण करते हुए
गरुड़जी भगवान् को उड़ाये लिये जा रहे हैं। क्षण भर में ही
वे मुनि की दृष्टि से ओझल हो गये। कर्दमजी ऊपर देखते के
देखते ही रह गये।"

छप्पय

कीन्हीं बहु विधि विनय बताई इच्छा अपनी।
कामधेनु सम सुखद सुन्दरी चाहूँ घरनी॥
हरि हँसि बोले—बहु मिलेंगी सरसिज नयनी।
मनु पुत्री अति सुघड़ सुशीला कोकिल बयनी॥
नौ कन्याहू होयेंगी, निज यश तें जग भरिहीं।
देहुँ ज्ञान तव तनय बनि, आप तरें माँ तरिहीं॥

मनु का कर्दम मुनि के आश्रम में आगमन

(१५२)

मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् ।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम् ॥
तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत्समादिशत् ।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २१ अ० ३६, ३७ श्लो०)

छप्पय

दीन्हों हरि वर बिन्दु अश्रु नयननि तें निकसे ।
बिन्दुसरोवर भयो विमल जल सरसिज बिकसे ॥
इत मनु पत्नी सहित संग कन्याकूँ लीन्हें ।
नारद आज्ञा मानि, बिन्दु सर नृप चलि दीन्हें ॥
जहं कदम्ब, चम्पक, बकुल, कुटज, कुन्द, मंदार नग ।
पहुँचे मुनि आश्रम निकट, चहुँदिशि कूजहिं वृन्द खग ॥

संसार में अधिकांश विषय ऐसे हैं, जो अनुमान से जाने और समझे जा सकते हैं। कवि, व्युत्पन्नमति और विशाल

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"हे सुन्दर धनुर्धर विदुरजी ! इधर महाराज मनु भी अपने सुवर्ण जटित रथ पर स्त्री सहित अपनी कन्या को बिठाकर, पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए शान्त मूर्ति-महर्षि कर्दमजी के आश्रम पर उसी दिन पहुँच गये, जिस दिन के लिये भगवान् कह गये थे।"

बुद्धि वाले होते हैं। जिन विषयों को लोग जीवन भर उनके सम्पर्क में रहते हुए नहीं समझ सकते, उन्हें कवि अनुमान के ही द्वारा समझ लेता है। तभी तो कहा है "जहाँ न जाय रवि तहाँ पहुँचे कवि।" किन्तु कुछ ऐसे विषय हैं, जो अनुभव के बिना जाने ही नहीं जा सकते! बिना अनुभव के उनका वर्णन करना अनधिकार चेष्टा है। सगाई हो जाने के अनन्तर विवाह की तिथि निश्चित हो जाने पर, प्राप्त वयस्क वर और वधू के हृदय में जो उत्कण्ठा होती है, इसका अनुभव उनके बिना कोई कर ही नहीं सकता जिनके जीवन में ऐसा अवसर कभी आया न हो।

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुर! भगवान् तो कर्दमजी को वर देकर चले गये। अब कर्दम मुनि अपने आश्रम में अकेले रह गये। 'मनीराम' ने अब अपनी दौड़ लगानी आरंभ कर दी। आज मङ्गल है, बुध का दिन बीच में है, बृहस्पति को तो राजा आ ही जायेंगे। उसी दिन शुभ मुहूर्त है, विवाह हो जायगा। भगवान् के वचन कभी असत्य तो होने के नहीं! राजा रथ पर चढ़कर आवेंगे। अपने यहाँ तो उनके स्वागत सत्कार का भी कोई प्रबन्ध नहीं। कल से ही बहुत कन्द, मूल, फलों को मैं जुटाऊँगा। भगवान्, उन सम्राट की पुत्री की प्रशंसा करते थे। लक्ष्मीजी से उसकी उपमा दे रहे थे। अब तक तो वह सुख में पली है, महलों में रही है, सहस्रों दास-दासी सदा सेवा में उपस्थित रही हैं। अब उसे यहाँ वन में रहना पड़ेगा। उसका मन इस बीहड़-वन में कैसे लगेगा? हाँ, यदि वह प्रकृतिप्रिया हो, प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासिका हो, तब तो यहाँ उसके मन लगने की बहुत-सी सामग्रियाँ हैं। यहाँ का वन कितना सघन है, नन्दन कानन के सदृश सभी ऋतुओं में फलने वाले यहाँ असंख्यों वृक्ष हैं। देखो ये कदम्ब के कितने पुनीत-पादप हैं, इनके फूलों

पर परागयुक्त कैसे कमनीय-काँटे से हैं। भ्रमर जब इन पर बैठ जाते हैं तो ऐसे लगते हैं, मानों सुवर्ण कन्दुक के ऊपर नीलमणि रखी हो। चम्पा की कितनी सघन लता है, इसके पुष्पों में कितनी मोहक गंध है! भ्रमर इनके पास भी नहीं फटकते, जिस प्रकार परम पुण्यात्मा तेजस्वी पुरुष के सम्मुख पापी जाने में डरता है। इन अशोक के वृक्षों के कितने चिकने-चिकने नूतन पल्लव हैं, इनका अशोक नाम सार्थक है। इनके नीचे बैठने से किसी प्रकार का शोक रहता ही नहीं। प्रथम बार जब अशोक का वृक्ष फूलता है, तो ऐसा ही लगता है, मानों परम पुण्यात्मा गृहस्थ अपने अनेकों पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रों से घिरा हुआ मुदित मन सुशोभित होता है।

यह मौलश्री भी कितनी दर्शनीय है। इसके पुष्पों की गन्ध कितनी भीनी-भीनी मन्द और हृदय को आह्लादित करने वाली है। बहुत से पुष्पों के गिर जाने से इसके नीचे की पृथ्वी उसी प्रकार शोभित है, मानों किसी ने वन विहार के समय कुञ्ज में पुष्प शैया का निर्माण किया हो। कुन्द और मन्दार के पुष्पों से दशों-दिशायें सुवासित बन जाती हैं। कुटज की कैसी तीक्ष्ण गन्ध है, जो इन सबसे निराली है। माधवी की कुञ्जों मे बैठने मे आकाश छिद्र जैसा दिखायी देता है। मालती के पुष्प, लता से उसी प्रकार गिरते रहते हैं जिस प्रकार वनिता की वेणी खुल जाने पर उसमें की माला के सुमन गिरते हैं। भिन्न-भिन्न रङ्गों के पाटल, लताओं पर उसी प्रकार सुशोभित होते हैं, जिस प्रकार धूर्त-पुरुषों की सेवा से प्रसन्न होकर उनके वश में हुए सन्त पुरुष!

इन वृक्षों के आश्रय में भाँति-भाँति के पक्षी उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार सज्जन-राजा के आश्रय गुणी, कलाकार, पंडित-पुरुष सुखपूर्वक रहते हैं। फूले हुए पुष्पों के ऊपर

मँडराते हुए मत्त-मधुप उसी प्रकार शोभित होते हैं, जिस प्रकार उद्यानों में मनोरंजन करते हुए कामी पुरुष किसी कमनीय-कामिनी को देखकर उसके चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं। मेघों को देखकर उन्मत्त-मयूर उसी प्रकार नृत्य करने लगते हैं जिस प्रकार राजा के आने पर नट नर्तक प्रसन्नता से नाचते हैं। वसन्त के आगमन पर कोकिल अपने कमनीय कलकण्ठ से उसी प्रकार मधुर तान छेड़ती है, जिस प्रकार परदेश से पति के लौटने पर उसे प्रसन्न करने को गुणवती सती-साध्वी गीत गाती है। इन पक्षियों के सुन्दर शब्दों से यह वन सदा गूँजता हुआ-सा प्रतीत होता है। यहाँ अवश्य ही मनु-पुत्री देवहूति का मन लग जायगा। वह इन वृक्षों की छाया में बैठा करेगी। पक्षियों के शावकों के साथ क्रीड़ा किया करेगी। यहाँ जंगली पशु भी बहुत हैं। कैसे भोले-भाले हरिन हैं ? उनकी आँखों में अपनी आँखें भिड़ाकर वह उन्हें प्यार करेगी। नीलगायें कितनी सीधी हैं ? उन्हें पकड़-कर खेलेगी। लंगूर-बन्दरों से उसका अवश्य ही मनोरंजन होगा। यद्यपि सूअर, सिंह, व्याघ्र, हाथी, चीते—ये क्रूर और घात करने वाले जीव हैं, किन्तु मेरे तप के प्रभाव से ये भी अपने स्वभाव को छोड़कर यहाँ पालतू हरिन की भाँति ही बैठे रहते हैं, किसी से बोलते चालते नहीं। मनु-पुत्री उनके साथ विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करेगी, उन्हें प्यार दुलार करेगी। इस प्रकार उसका मन यहाँ लग जायगा।

वन में यदि चित्त ऊब जायगा, तो इस बिन्दु सर के समीप जाकर बैठा करेगी। कैसा आरोग्यप्रद, अमृत के समान सुन्दर शीतल, सुस्वादु जल है इस सरोवर का। भगवान के प्रेमाश्रु-बिन्दु से कितना मनोरम यह तीर्थ बन गया है। भगवती सरस्वती के जल से घिरा हुआ परमरम्य-तालाब दुखी-पुरुषों को भी सुखी करने वाला है। इसके चारों ओर इतने हरे-भरे सघन वृक्ष

हैं, उनकी शीतल छाया में बैठकर वायु से हिलती हुई वारि-वीथियों को जब वह देखेगी तो राजमहलों को भूल जायगी। जल में ये रंग-बिरंगी मछलियाँ कमल की कलियों को कम्पित करती हुई इधर से उधर फुदकती हुई कितनी भली मालूम पड़ती हैं। पशु पक्षी इसके पुण्य पय को पीकर कितने प्रमुदित होते हैं। यह पुष्करिणी अवश्य ही राजपुत्री का मनोरंजन कर सकेगी। ये हंस, सारस, चक्रवाक, चकोर, बगुला, जलकुक्कुट, कुरर, बतक, जल-कौए तथा अन्य भी अनेक प्रकार के जल-पक्षियों से शोभित यह सरोवर सम्राट् के विविध रत्नों से भरे कोष के सदृश सुन्दर और चित्त को सन्तोष देने वाला है। नक्र, घड़ियाल, मगर आदि इसके भीतर उसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार भीतर दम्भ छिपा रहता है। कमल के पत्तों को यह स्वच्छ मरकत के सदृश जल उसी प्रकार अपने उदर के भीतर नहीं छिपा सकता, जिस प्रकार स्त्रियाँ किसी गुप्त बात को नहीं छिपा सकतीं। भगवान् के नेत्र बिन्दु से निर्मित हुआ नीले रंग के स्वच्छ जल से पूर्ण कैसा नयनाभिराम यह सुखकर सरोवर है। मेरी प्रिया जब इसके किनारे के कुञ्जों में विहार करेगी, तो वह राजधानी के सुखों को भूल जायगी। नगर में स्त्री पुरुष और पालतू पशुओं का बाहुल्य होता है। यहाँ वन में उनके स्थानों में वृक्षलता, जंगली जीवों का बाहुल्य है। ये सब भी प्रेम करते हैं। इनसे जिनका सम्बन्ध हो जाता है उन्हें संसारी लोगों की अपेक्षा नहीं रहती।

आज तो अब सूर्य अस्त होने ही वाले हैं, कल का ही दिन बीच में समझो। परसों तो राजा आ ही जायँगे। अभी से कुछ तैयारियाँ करनी चाहिये, जिससे राजा-रानी आश्रम को देखकर प्रसन्न हो जायँ। राजपुत्री का भी मन उदास न होने पावे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार मुनिवर उसी

विषय का ऊहापोह करते रहे। रात्रि में उन्हें नींद भी नहीं आई। प्रातःकाल हुआ, शीघ्रता से उठकर उन्होंने आश्रम को झाड़ा बुहारा। शीघ्रता से ही नित्य कर्मों से निवृत्त होकर वे आश्रम को सजाने लगे। उन्होंने सूत लगाकर एक कुटी तक चौड़ी सड़क बनाई। उसके किनारे-किनारे कंकड़ लाकर रख दिये। जिधर बाँसों का वन था, उधर से ही एक सुन्दर द्वार बनाया। रसालों के ऊपर जो मालती की लताएँ चढ़ी हुई थीं उन्हें भली प्रकार बाँध दिया। पुरानी सूखी लकड़ियाँ तोड़ दीं। आज दिन भर मुनि इसी कार्य में लगे रहे। माता, पिता या भाई बन्धु होते, तो विवाह की तैयारियाँ करते, मुनि को स्वतः ही सब साज-सामान जुटाना पड़ा। मन में बड़ा उत्साह था। प्रतीक्षा की घड़ियाँ बहुत लम्बी हो जाती हैं, इसलिये वे दिन भर काम करते हुए मन को फँसाये रहे। जैसे-तैसे वह दिन भी कट गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था, मुनि का उत्साह त्यों-त्यों बढ़ता जाता था। आज की रात्रि उन्हें बहुत भारी लगी। दश हजार वर्षों में इतनी लम्बी एक भी रात्रि नहीं थी। तारों को गिनते-गिनते वह रात्रि उन्होंने काटी। प्रातःकाल कोकिल कुहू कुहू करके बोल उठी। वासन्ती, शीतलमन्द सुगन्धित समीर नये उत्साह के साथ मुनि को बधाई देने आया। आम की मंजरी की भीनी-भीनी सुगन्ध लेकर समीर ने मुनि के नासिका-छिद्रों द्वारा हृदय में प्रवेश किया। कोकिल की कूज से कर्दम मुनि की हृतन्त्री के तार झंकृत हो उठे। वे अरुणोदय के पूर्व ही उठ गये। भगवान्-भुवनभास्कर अभी प्राची दिशि की अरुण साड़ी में मुँह छिपाये सो रहे थे। अरुण-अम्बर से ढकी हुई मदमाती प्राची, पति के भावी वियोग को स्मरण करके म्लान वदना बनी हुई थी। मुनि को आज अत्यन्त शीघ्रता थी। सरस्वती के स्वच्छ सलिल में स्वभावानुसार, वेद मन्त्रों को पढ़ते हुए उन्होंने

स्नान तर्पण किया। अग्निशाला में अग्नि को प्रज्वलित करके विधिवत् हवन किया। कुछ नियम पूर्ति के लिये साधारण-सा जप करके वे अपने आसन पर बैठ गये। रात्रि में ही उन्होंने गौ के गोबर से समस्त आश्रम लीप दिया था। अग्निहोत्र के सुगन्धित धूम्र ने समस्त आश्रम को सुगन्धित बना रखा था। भगवान्-मरीचिमाली ने अपनी सहस्र रश्मियों के द्वारा हँसते हुए मुनि के आश्रम में प्रवेश किया। उनके उदित होते ही लज्जावती बहू के समान निशादेवी भाग गई। लिपा पुता-आश्रम बाल-सूर्य के प्रकाश से जगमग-जगमग करने लगा। समस्त मंगलों ने स्वतः आकर ऋषि के कार्य में सहयोग दिया। नारायण की प्रिया श्री ने आकर आश्रम में अपनी कान्ति छिटका दी। मुनि, आज स्वतः ही आश्रम की शोभा को देखकर विमुग्ध हो रहे थे।

विधिवत् भस्म धारण करके हाथ मे माला लिये मुनि जप कर रहे थे। आज के जप का भार हाथ और जिह्वा को ही दे रखा था। मन तो आज महाराज स्वायंभुवमनु के रथ की खोज में गया था। तनिक सी पत्तों की खड़खड़ाहट सुनायी देती, मुनि चौंक पड़ते और उधर ही देखने लगते।

इधर जब स्वायंभुवमनु को उपदेश देकर नारद मुनि चले गये, तो रानी ने कन्यादान के सभी संभारों को एकत्रित करके यथा स्थान रखा। देवहूति का मन हर्ष शोक के बीच में झोंके से खाने लगा। हर्ष तो था अपने प्राणनाथ स्वामी के साथ संयोग का और शोक था पुरजन और परिजनों के साथ वियोग का। उसकी बहिनें तथा सखियाँ आ-आकर उसे बधाइयाँ देने लगीं—"जीजी! इतने बड़े तपस्वी की पत्नी बनकर हमें भूल मत जाना तू तो ऋषि पत्नी हो जायगी। देवता, गन्धर्व, ऋषि, मुनि आकर तेरे पैरों पर पड़ा करेंगे, तब हमारी तू काहे को सुधि करेगी? हमें तो फिर पहिचानेगी भी नहीं।"

देवहूति, प्रेम के कोप के स्वर में कहती—"जानें तुम सब अभी से क्या वे सिर पैर की बातें कह रही हो ? 'सूत न कपास कोरिया से लठा ही लठा'। अभी बात न चीत, तुम वैसे ही मन-मोदक खाने लगीं।"

सखियाँ कहतीं—"जीजी ! क्यों हमें बहकाती हो, सूर्य पूर्व में न उदय होकर भले ही पश्चिम में उदय होने लगे, किन्तु नारद जी का वचन कभी झूठा नहीं हो सकता। यों क्यों नहीं कहती, कि अब तुम्हें हमारी बातें अच्छी ही नहीं लगतीं। तुम कोई दूसरी ही बात सोच रही हो।"

देवहूति कहती—"देखो, भैया ! क्या होता है, भगवान् के ऊपर है। तुम सब तो मुझे प्राणों की तरह प्यारी हो, तुम सब का वियोग मुझे दुखित बना रहा है।" यह कहते-कहते देवहूति के नेत्रों में जल भर आता। सखी सहेली अपने अञ्चल से आँसू पोंछते हुए उसका आलिङ्गन करते हुए कहतीं—"जीजी ! यह लड़की का जन्म ही ऐसा है, जीवन भर क्लेश सहना-दूसरों को क्लेश पहुँचाना। पैदा हों तो—घर भर में उदासी छा जाय। सयानी हों, तो माता-पिता रात्रि-दिन चिन्तित बने रहें। विवाह होकर ससुराल जाते समय सबको रुलाकर जायँ। विधाता ने तो स्त्रियों को रोने को ही बनाया है। पिता, पुत्री को दूसरे के लिये पालता है। जैसे कृपण दूसरों के लिये कष्ट सह कर धन एकत्रित करता है। लड़की सदा घर में थोड़े ही रह सकती है। एक दिन तो उसे पति गृह जाना ही है। भगवान् तेरा मङ्गल करें, तू अपने प्राणनाथ की प्रिया बन सके। पुत्र पुत्रियों से गोद भरे, खूब फले फूले। यही हमारी हार्दिक इच्छा है।" इस प्रकार रात्रि भर यहाँ चर्चा होती रही, देवहूति निरन्तर रोती रही।

प्रातःकाल हुआ। महाराज की आज्ञा से विशाल रथ

सुसज्जित होकर अन्तःपुर की ड्योढ़ी पर खड़ा हो गया। सभी सामान रथ में लदने लगा। महाराज, महारानी से शीघ्रता करने को कह रहे थे। महारानी–शतरूपा अपनी पुत्री को साथ लिये हुए रथ के समीप आईं। बहुत से दास दासी और बहिन तथा सखी सहेलियों से घिरी राजपुत्री-देवहूति रथ के निकट खड़ी हो गई। उसकी आँखों से अपने आप अश्रु बह रहे थे। रोती-रोती वह सबको गले से लगा-लगाकर फूट-फूटकर रो रही थी। सभी का हृदय फट-सा रहा था, महाराज शीघ्रता कर रहे थे। रानी बार-बार कहतीं—"बेटी, यात्रा के समय रोते नहीं हैं। हम सब शीघ्र लौट आवेंगे। इस प्रकार माता के बहुत समझाने पर आँसू बहाते हुए देवहूति रथ में बैठ गई। पीछे से महारानी भी बैठीं। आगे महाराज बैठ गये। सारथी ने रथ हाँक दिया। मेघ के समान घर-घर घोष करते हुए रथ चल पड़ा। सर्वस्व लुटे झुण्ड के समान यहाँ स्त्री, पुरुष, दास-दासी खड़े के खड़े ही रह गये। डबडबाई आँखों से देवहूति अपनी बहिनों और सखी-सहेलियों की ओर देख रही थी। जब रथ राजमहल को पार करके राजपथ पर आ गया, तो उसने अपनी दृष्टि हटाई। आगे पीछे, सहस्रों घुड़सवार चल रहे थे। इस प्रकार अनेक देश, नद-नदियों और नगरों को पार करता हुआ रथ बड़ी शीघ्रता से दौड़ा हुआ जा रहा था। बीच में एक दिन ठहर कर महाराज ने सेना के सभी लोगों को वहीं छोड़ा। वे अकेले ही रथ पर चढ़कर महामुनि-कर्दम के आश्रम की ओर चले।

छोटे-छोटे पर्वतों की श्रेणियों से वह प्रदेश अत्यन्त ही शोभा सम्पन्न प्रतीत होता था। भाँति-भाँति के फल पुष्पों से लदे वृक्षों को देखते हुए महाराज, सरस्वती के तट के समीप महामुनि कर्दम के आश्रम के निकट पहुँच गये। आश्रम से दूर वृक्षों की

छाया में उन्होंने रथ को खड़ा कर दिया और बिना 'पादत्राण' के नंगे पैरों ही–पैदल चलकर–वे मुनि के समीप जाने को प्रस्तुत हुए। आगे-आगे महाराज चल रहे थे उनके पीछे रानी और सबके पीछे देवहूति इधर-उधर देखती हुई चल रही थीं। अत्यन्त सुन्दर आश्रम के दर्शन से उसे बड़ा कुतूहल हो रहा था।

मुनि को पल-पल भारी हो रहा था। वे क्षण-क्षण में उठ-उठकर देखते और सोचते—"इतना समय हो गया, इतनी धूप चढ़ गई अभी मनुजी आये नहीं। आज ही तो गुरुवार है, भगवान् आज के ही लिये तो कह गये थे। भगवान् की बात भला असत्य कैसे हो सकती है? आ रहे होंगे। इस प्रकार वे सोच ही रहे थे—कि, उन्हें रथ की घर घराहट सुनाई दी। मुनि का हृदय बाँसों उछलने लगा। अपनी प्रसन्नता को दबाते हुए भूपापथ में अर्धोन्मीलित दृष्टि से निमग्न हो गये। दूर से ही उन्होंने पुत्री और पत्नी के साथ महाराज-स्वायंभुवमनु को आश्रम की ओर आते हुए देखा। देखते ही बड़े स्नेह और सम्भ्रम के साथ महामुनि कर्दम उठकर खड़े हो गये और गद्-गद्–कण्ठ से अत्यन्त ममत्व प्रदर्शित करते हुए दूर से ही कहने लगे—"ओ हो! धन्यवाद-धन्यवाद!! सुस्वागतम्-सुप्रभातम्! आज हमारा बड़ा अहोभाग्य जो महाराज मनु ने अकस्मात् दर्शन दिये। आज का प्रातःकाल बड़ा ही मंगलमय हुआ।"

इस प्रकार मुनि को स्वागतवचन कहते देखकर महाराज मनु शीघ्रता के साथ दौड़े, उन्होंने पृथ्वी पर लोटकर मुनि के चरण में साष्टाङ्ग-प्रणाम किया। सप्तद्वीप-पति वसुमति के एक छत्र सम्राट् महाराज मनु को इस प्रकार अपने पैरों में पड़ा देखकर मुनि ने उन्हें अपने हाथों से बलपूर्वक उठाया। उनकी धूलि झाड़कर बड़े स्नेह से अपने समीप ही सुन्दर तृण के आसन पर बिठाया। इतने में ही पुत्री को लिये हुए महा-

रानी आ पहुँचीं। उन्होंने मुनि के चरणों में प्रणाम किया। माता के प्रणाम कर लेने के अनन्तर लजाती हुई देवहूति ने

अपने वस्त्रों को भली प्रकार सम्हाल कर प्रेम भार से भरित-हृदय को थामकर पृथ्वी में सिर टेककर प्रणाम किया। प्रणाम करने के अनन्तर ज्योंही वह उठी, मुनि की दृष्टि से उनकी

दृष्टि मिल गई, आँखें-चार हुईं, बीच में उसी क्षण लज्जादेवी आ खड़ी हुई। राजपुत्री के पलक गिर गये। वह लजाती हुई अपनी माँ की ओट में छिपकर बैठ गई। न जाने क्यों आज उसके नेत्र द्रोही हो गये थे। वे अंचल की ओट में से बिना प्रयत्न के ही अग्नि के समान दमकते हुए तेजस्वी मुनि के श्रीअंग की ओर अपने आप ही भटक जाते।

मुनि की दृष्टि को बचाकर माता के वस्त्रों की ओट से देवहूति ने देखा, इतनी तपस्या के अनन्तर भी मुनि का शरीर दुर्बल नहीं है, भगवद्-दर्शन से पुनः हृष्ट-पुष्ट हो गये थे। वे ठिगने नहीं हैं, शरीर इकहरा और ऊँचा है। दुग्ध के फेन के समान स्वच्छ, कमलदल के समान विशाल, चन्द्रमा के समान सुन्दर और दर्शनीय उनके दोनों नेत्र बड़े-बड़े हैं। शिर पर पीली-पीली जटाओं का मुकुट ऐसा शोभा दे रहा है मानों साक्षात् शिवजी ही विराजमान हों! कमर में एक वल्कल वस्त्र लिपटा हुआ है, सम्पूर्ण श्रीअंग पर भस्म लगी हुई है, उसमें से कान्ति उसी प्रकार फूट-फूट कर निकल रही थी, जैसे तत्काल खानि में से निकली हुई परममूल्यवान् बिना सान पर चढ़ी महामणि मलिन होने पर भी दमक रही हो! देवहूति ने अपना सर्वस्व उनके चरणों में अर्पण कर दिया।

महामुनि कर्दम ने पहिले गन्ध, अक्षत्, पुष्प और कुशाओं से मिश्रित अर्घ्य महाराज को दिया। जल, फल, कन्द मूल तथा और भी अन्य सामग्रियों से उनका यथोचित सत्कार किया। मुनि की दी हुई शास्त्रीय पूजा को शास्त्रीय ढंग से ही स्वीकार करके महाराज ने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। इसके अनन्तर ऋषि ने महाराज के राज्य की, कोष की, सेना और मंत्री, आत्मीयों तथा परिवार की कुशल पूछी। अपनी कुशल बताकर महाराज ने भी मुनि से उत्कृष्ट—तपकी, अग्निहोत्रि की

अग्नि-वृक्षों की कुशल पूछी। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर अब महामुनि कर्दम जी शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए उनके आगमन का कारण पूछने की भूमिका बाँधने लगे।

छप्पय

आवत देखे भूप उठे मुनि स्वागत कीन्हों।
वर आसन बैठाय अर्घ्य विधिवत पुनि दीन्हों॥
भावी पतिकूँ कुँवरि ओटतें निरखे पुनि पुनि।
दृष्टि बचाय तरेरि नेत्र लखि लेहिं कबहुँ मुनि॥
चीर वसन, सरसिज नयन, जटा मुकुट मुनिवर वदन।
मन्द हँसनि युत मधुर मुख, निरखि कुमरि को लुभ्यो मन॥

कर्दम मुनि से विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव

[१५३]

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम ।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः ॥१॥
यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान् ।
अश्रृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ॥२॥*

(श्रीभा० ३ स्क० २२ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

कर्दम पूछें—प्रभो ! कहो कस किरपा कीन्हीं ।
सह परिवार पधारि बड़ाई मोकूँ दीन्हीं ॥
मनु बोले—"मुनिराज ! दयायुत मोहि निहारें ।
चिन्ता सागर मग्न पकरि के हाथ उबारें ॥
परम सुशीला गुणवती, कन्या स्यानी है गई ।
चित चिन्ता निसि दिन यही, ब्याह योग तनया भई ॥

परस्पर के स्वार्थ से ही व्यवहार चलता है। हमें एक वस्तु

---

* महाराज मनु, कर्दम मुनि से कह रहे हैं—"भगवन् ! यह प्रियव्रत और उत्तानपाद की बहिन तथा मेरी पुत्री है। यह अपने समान शील, वय और गुणसम्पन्न पति की इच्छा रखती है। जब से इसने श्रीनारदजी के मुख से आपके शील, ज्ञान, रूप, तप और गुणों की प्रशंसा सुनी है, तभी से आपको ही अपना पति बनाने का निश्चय कर लिया है।"

को लेने की आवश्यकता है, दूसरे को बेचने की आवश्यकता है—वहाँ सम्बन्ध स्थापित हो जावगा। क्रय, विक्रय, आदान, प्रदान, केवल एक के स्वार्थ में नहीं बन सकते। दोनों का परस्पर में समान स्वार्थ होने पर भी कोई अपना स्वार्थ लेकर जिसके समीप जाता है, उसका पलड़ा भारी होता है। हमें दही की आवश्यकता है, दही बेचने वाले को दही बेचने की आवश्यकता है, यदि पैसा और पात्र लेकर हम स्वयं दही वाले के पास जाते हैं तो वह अकड़ कर कह देता है—"इस भाव में आपको लेना हो तो लीजिये नहीं अपना रास्ता देखिये।" हमें तो लेना ही है, दो बातें सुनकर भी ले लेते हैं। किन्तु जब बेचने वाला स्वयं ही "दही! लो दही!" चिल्लाता हुआ हमारे घर आता है, तो हम आवश्यकता होने पर भी दस बहाने बनाते हैं! "दही तो तुम्हारा अच्छा है नहीं, हमें ऐसी आवश्यकता भी नहीं, यदि तुम्हें देना ही है तो इस भाव से दे जाओ।" कुछ इधर-उधर झुकने से काम चल जाता है तो सौदा हो जाता है नहीं तो बात समाप्त हो जाती है।

महामुनि कर्दम को विवाह करने की प्रबल इच्छा थी। इसी भावना से इतनी घोर तपस्या की थी—भगवान् की आराधना की और उनके प्रसन्न होने पर वरदान में 'गृहमेध धेनु' की ही याचना की। इधर महाराज मनु भी अपनी पुत्री का विवाह करने को व्याकुल हो रहे थे। यदि कोई ऋषि, पुत्री माँगने उनके द्वार पर आता तो वे इधर-उधर की बातें बताते, किन्तु आज तो वे पुत्री को लेकर स्वयं ही उसे दान करने मुनि के आश्रम पर आये हैं, इसी से कर्दमजी का पलड़ा भारी था। मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महामुनि कर्दम सब समझते थे। भगवान् उनको सब बता ही गये थे। वे भली-भाँति जानते थे, कि महाराज मुझे पुत्री प्रदान करने आये हैं। फिर भी अपने—आप पहिले से ही

अशिष्टता पूर्वक इस प्रस्ताव को कैसे करते, अतः अनजान की भाँति वे महाराज मनु से पूछने लगे—"महाराज ! मुझ अकिंचन के आश्रम पर पधारकर सम्राट् ने कृपा की है, आप साक्षात् विष्णु स्वरूप हैं ! क्योंकि भगवान् की पालना-शक्ति के अंश से ही आपका अवतार हुआ है, आपके शरीर में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, धर्म और वायु सभी की शक्ति विद्यमान है। आपके दर्शन, भगवान् के दर्शनों के समान ही हैं। आप मेरे यहाँ स्नेह वश ही पधारे हैं। फिर यदि आपके पधारने का कोई विशेष कारण हो तो उसे आप मुझसे कहें।"

महाराज मनु तो कुछ सङ्कोच में पड़ गये कि कैसे इनसे कहूँ। तब अपने आप ही मुनि कहने लगे—"अथवा आपके पधारने का प्रयोजन तो प्रत्यक्ष ही है। यदि आप इस प्रकार अपना धनुष धारण करके पृथ्वी पर पर्यटन न करते रहें, तो वर्णाश्रम धर्म की यथावत् व्यवस्थिति कैसे बनी रहे ? शिष्टों का पालन और दुष्टों का दमन आपका प्रधान-कर्तव्य है। आप अपने प्रचण्ड-धनुष की टङ्कार करते हुए इधर से उधर भ्रमण न करें, तो दस्युधर्मी लोग प्रजा को त्रास दें और उनके धन आदि को लूट लें। आप सदा सर्वथा सावधान चित्त से जब प्रजा की देख-रेख और सार-सम्हार करते रहते हैं, तो प्रजा भी सुखी रहती है और अधर्म का ह्रास तथा धर्म की वृद्धि होती है। आप प्रजा के पूजनीय-माननीय और वन्दनीय हैं। यह बड़े मंगल की बात है कि प्रजा के दुःखों को देखते हुए आप मेरे आश्रम पर भी पधारे। मुझे भी अपने देव दुर्लभ दर्शनों से आपने कृतार्थ किया। मैं आपके अनुरूप आपका कुछ स्वागत सत्कार भी नहीं कर सकता।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब मुनि ने इस प्रकार अनजान की भाँति मधुरवाणी में महाराज से बातें की, तब तो

राजा बड़े प्रसन्न हुए और कृतज्ञता प्रकट करते हुए बोले—"भगवन्! ऐसे प्रेम पूर्ण सारगर्भित वचन आपके अनुरूप ही हैं। हम और आप यद्यपि दोनों ही ब्रह्माजी के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, किन्तु आपकी उत्पत्ति उनके मुख से हुई है और हमारी बाहुओं से। आप मुख से उत्पन्न होने के कारण मुख्य तथा श्रेष्ठ हैं। आप विषयों से अनासक्त, तप, विद्या और योग से सम्पन्न सर्वथा मोक्ष धर्म का अवलम्बन करने वाले ब्राह्मण कहलाते हैं। आपका तप, स्वाध्याय निर्विघ्न होता रहे, कोई आपको क्लेश न पहुँचा सके, इसके लिये आपकी सेवा करने तथा प्रजाओं का पालन करने के लिये ब्रह्माजी ने हम क्षत्रियों को उत्पन्न किया। इसलिए प्रजा का पालन करना तो हमारा धर्म ही है। आपके चरणों की शरण में जाकर शिक्षा ग्रहण करना तो हमारा प्रधान कार्य ही है। आपने बड़े कौशल से मेरी प्रशंसा की जिसमें मुझे राजधर्म का उपदेश दिया। राजा को क्या करना चाहिये, किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये इस बात की शिक्षा दी। रही प्रजा की रक्षा की बात, सो हम प्रजा की क्या रक्षा कर सकते हैं रक्षा करने कराने वाले तो वे ही श्रीहरि हैं।"

मुनि ने कहा—"राजन्! आप उन्हीं श्रीभगवान् की श्रेष्ठ-विभूति हैं। आपके दर्शनों से परमपुण्य होता है।"

महाराज मनु के कहा—"महाराज! हम तो आपके सेवक हैं, द्वारपाल हैं। अपने को कृतकृत्य करने आपके चरणों के निकट आये हैं। सब किसी को आपके दर्शन होते भी नहीं, जिनके अनेक जन्मों के पुण्य उदय होते हैं उन बड़भागियों को ही आपके दर्शन हो सकते हैं। आज मेरा बड़ा सौभाग्य है जो आपके दर्शन कर रहा हूँ। मैं प्रजापालन के कार्य से इस समय आपके चरणों में उपस्थित नहीं हुआ इस समय तो मैं एक

विशेष प्रयोजन से आपकी सेवा में आया हूँ किन्तु उसे कहने में मुझे सङ्कोच हो रहा है।"

बड़े स्नेह से मुनि ने कहा—"राजन्! सङ्कोच की क्या बात? अपने लोगों से कहीं सङ्कोच किया जाता है? आप निःसङ्कोच होकर मेरे योग्य जो कार्य हो उसकी आज्ञा दें। मेरा यह बड़ा सौभाग्य होगा, जो आपकी सेवा करने का सुयोग प्राप्त कर सकूँ।"

मनुजी बोले—"प्रभो! यह मेरी देवहूति नाम वाली परम सुशीला कन्या है। इस समय यह विवाह के योग्य हो गई है। महाराज! पिता की यह हार्दिक इच्छा रहती है कि मेरी पुत्री को योग्य वर मिले। सयानी-पुत्री के विवाह की चिन्ता से बढ़कर माता-पिता के लिये दूसरी इतनी बड़ी चिन्ता कोई है ही नहीं। इसी चिन्ता से मेरा चित्त अत्यन्त दीन हो गया है, मुझे सोते-जागते सदा इसी की चिन्ता लगी रहती है। इसके अनुरूप पति मिल जाय तो मैं एक बहुत बड़ी चिन्ता से मुक्त हो जाऊँ।"

मुनि कुछ निस्पृहता प्रदर्शित करते हुए बोले—"राजन्! आप सत्य कहते हैं, पुत्री, माता-पिता की आत्मा ही होती हैं। माता-पिता सदा उसे सुखी देखना ही चाहते हैं। आपके कितनी संतानें हैं?"

महाराज मनु को कुछ आशा हुई, कि मुनि सब बातें जानना चाहते हैं। शास्त्रकारों ने उस कन्या की प्रशंसा नहीं की है जिसके भाई न हो, ऐसी कन्या के साथ विवाह कर लें तो साला कहने को कोई नहीं रहता। यह सम्बन्ध इतना सुखद है कि इसमे कहनी-अनकहनी सभी बातें कही जा सकती हैं। कहीं मुनि यह न समझें कि इसके भाई नहीं है। यही सोचकर मनुजी बोले—"आपकी दया से मेरे दो पुत्र और तीन पुत्रियाँ हैं। प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो बड़े पुत्र हैं तथा आकूति, देवहूति और

असूति ये तीन कन्यायें हैं। इसका नाम देवहूति है। निरन्तर भगवान् के ही ध्यान में लगी रहती है। क्रोध करना तो यह जानती ही नहीं, घर भर में सबकी सेवा करती है।" मुनि ने कनखियों से देवहूति की ओर देखा। वह एकटक मुनि के लावण्य युक्त मुखमंडल को ही आँचल की ओट से निहार रही थी। आँखें चार होते ही दृष्टि, से दृष्टि मिलते ही राजपुत्री के पलक नीचे गिर गये और वह भूमि की ओर देखने लगी। अपने को सम्हाल कर मुनि बोले—"महाराज! आप बड़े भाग्यशाली हैं जो ऐसी सर्वगुण सम्पन्ना आपकी सन्तानें हैं। आपने इस बच्ची के लिये कोई योग्य वर तो खोज ही लिया होगा?"

इस प्रश्न को सुनकर देवहूति का मुख तो उदास-सा हो गया, उसे शंका सी होने लगी। मुनि तो बड़ी निस्पृहता से बातें कर रहे हैं। इनकी बातों में विवाह करने की इच्छा तो झलकती नहीं! पिता अपनी पुत्री के भाव को समझ गये और अत्यन्त ही विनीत भाव से बोले—"भगवन्! अभी तक तो मुझे कोई इसके योग्य वर दिखाई दिया नहीं। हाँ, भगवान् नारद के मुख से आपके रूप, शील, स्वभाव और सौन्दर्य आदि गुणों की प्रशंसा सुनकर पहिले से ही इसके मन में यह आकांक्षा हो गई है, कि "मैं आपके ही चरणों की किङ्करी बनूँ।" महाराज! मुझे तो ऐसा निवेदन करने में बड़ा संकोच हो रहा है, किन्तु इस बच्ची का बहुत आग्रह है। इसीलिये मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।" अपने पिता के मुख से ऐसी बात सुनकर देवहूति लज्जा के कारण अत्यन्त ही सकुचाती हुई, गुड़मुड़ी-सी हुई पृथ्वी की ओर देखने लगी। उसके हृदय में विचित्र कुतूहल हो रहा था।

मुनि उसके भाव को ताड़ गये और बड़े धैर्य से अपने को सम्हालकर बोले—"महाराज! आप कैसी बातें कर रहे हैं?

कहाँ हम वनवासी मुनि, कहाँ राजोचित-सुखों का उपभोग करने वाली आपकी यह प्यारी दुलारी पुत्री ? मेरी ऐसी सामर्थ्य कहाँ, जो आपकी पुत्री को प्रसन्न रख सकूँ ?"

महाराज मनु बोले—"भगवन् ! आप इस बात की तो चिंता करें नहीं ! राजमहलों में रहकर भी यह सदा विषय भोगों से निस्पृह ही बनी रहती है। यदि आप कृपा करके मेरी इस कन्या को स्वीकार कर लें, तो यह आपकी सब प्रकार से सेवा करेगी और आपके आश्रम के सभी कार्यों को स्वयं सम्हाल लेगी। गृहस्थोचित सभी झन्झटों से आप मुक्त हो जायँगे।"

साहित्य में एक 'स्थूणाखनन न्याय' होता है। जैसे—एक खूँटे को गाड़ते हैं, गाड़ने के अनन्तर उसे हिलाते हैं, फिर गाड़ते हैं। हिलाने से तात्पर्य उखाड़ना नहीं है। बार-बार हिला हिलाकर यह देखते हैं, कि यह दृढ़ता के साथ गड़ा है या नहीं। यहाँ हिलाने से प्रयोजन उसे दृढ़तर और गाड़ने से है। इसी प्रकार मुनि जो बार-बार निस्पृहता दिखा रहे हैं, उससे उनका प्रयोजन विवाह के निषेध में नहीं है, उस बात को और दृढ़तर बनाने में है। अतः वे बोले—"राजन् ! यह सत्य है, आपकी पुत्री बड़ी सुशीला है, धर्मपरायणा है, सेवा करने में दक्ष है, फिर भी महाराज ! हम तो तपस्वी ही ठहरे। तपस्या में और पत्नी में तो बड़ा विरोध होता है।"

देवहूति का मुख तो फक्क पड़ गया। अरे, यह तो मुनि ने स्पष्ट कह दिया, दो टूक उत्तर दे दिया, क्या मुझे यहाँ से निराश होकर जाना पड़ेगा। लौटकर जाऊँगी, तो मेरी सखी सहेलियाँ क्या कहेंगी ? नारदजी के वचन भी अन्यथा हो सकते हैं क्या ? हाथ की रेखायें भी मिट सकती हैं ? क्या ? किन्तु मुनि तो बिना लगाव लपेट के बातें कर रहे हैं। यह विचार आते ही उसका सम्पूर्ण अंग शिथिल हो गया। वह गिरना ही चाहती थी, कि

माताजी के सहारे से सम्हल गई। सम्पूर्ण शरीर में पसीना आ गया।

महाराज मनु ने गम्भीर वाणी से राजकीय स्वर से कहना आरम्भ किया—"मुनिवर देखिये, मैं श्रद्धापूर्वक इस लड़की को लेकर आपके समीप आया हूँ। मैं कभी भी ऐसा साहस न करता, यदि मुझसे नारदजी न कहते तो। मैंने सुना है कि आपने नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा ग्रहण नहीं की है। आप उपकुर्वाण-ब्रह्मचारी हैं। आपकी इच्छा ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करने की है। यदि यह बात यथार्थ है, तो आप को मेरी बात मान लेनी चाहिये।"

चाहे कितना भी त्यागी क्यों न हो, कोई श्रद्धा से उसके उपयोगी वस्तु लाया हो तो अपने त्याग के घमण्ड में उसका तिरस्कार न करना चाहिये। उसकी प्रसन्नता के लिये ही उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। अपने काम में न भी आवे, तो उसके चले जाने पर किसी को दे देनी चाहिये या उसे ही प्रसाद रूप में यह कहकर कि हमारी समझकर आप इसे ग्रहण करें—लौटा देनी चाहिये। यह बात तो परम त्यागियों के सम्बन्ध में है। किन्तु जिन्हें कामना है, इच्छा है और इच्छित वस्तु कोई श्रद्धा सहित लाकर देता है,तो उसे तो प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करही लेनी चाहिये। जो ऐसा नहीं करता, अपना त्याग-वैराग्य जताने को श्रद्धा से लायी हुई वस्तु का तिरस्कार करता है, उसे ठुकराता है, तो उस लानेवाले का हृदय दुखी होता है,उसका शाप उसे लगता है। ठुकराने वाले की इच्छा और प्रबल होती है, फिर वह उसी वस्तु की अन्य लोगों से याचना करता है। जिनसे माँगता है, उनमें बहुत से कृपण भी होते हैं वे देते नहीं, तिरस्कार करते हैं, उसकी निन्दा करते हैं! ऐसा करने से उसका यश नष्ट हो जाता है, कीर्ति मलिन हो जाती है। अतः श्रद्धा से स्वतः आई अपनी

इच्छित वस्तु की कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। लाने वाले का तिरस्कार न करना चाहिये, यही शास्त्रीय नीति है। कुमारी कन्या के लिये तो सहस्रों पति हैं, एक से ठीक न हुआ दूसरे से बातें कीं। विवाह हो जाने पर अमिट-सम्बन्ध होता है।

केवल भगवान् नारदजी की आज्ञा से ही मैंने आपसे ऐसा प्रस्ताव करने का साहस भी किया। यदि आपकी इच्छा नहीं है तब कोई बात नहीं। मैं कहीं दूसरे स्थान पर खोज करूँगा।"

अपने पिता की ऐसी स्पष्ट बातें सुनकर देवहूतिजी तो डर गई। पिताजी ने यहाँ भी अपनी तेजस्विता दिखाई। मुनि करना भी चाहते हों तो इस बात को सुनकर न करेंगे। वह मन ही मन भयभीत हो रही थी।

इधर महामुनि कर्दम ने सोचा—"अब तो बात नीरस होना चाहती है इसलिये बड़े ही स्नेह के साथ बोले—"नहीं-नहीं राजन्! मेरा अभिप्राय यह नहीं था। भगवान् नारद ने जो कुछ आपसे कहा था, सब सत्य ही कहा था, हाँ, मैं विवाह करना चाहता हूँ, मैं उपकुर्वाण-ब्रह्मचारी ही हूँ, किन्तु मैंने जो आपसे ये बातें कहीं वे इसलिये कि कहीं आपकी कन्या को कष्ट न हो? नहीं तो भला सप्तद्वीपा—वसुमति के एकछत्र शासक महाराज स्वायंभुवमनु की पुत्री, प्रियव्रत और उत्तानपाद की भगिनी जो रूप, गुण, सौन्दर्य में संसार में अद्वितीया है उसके साथ विवाह करने में अपना सौभाग्य कौन न समझेगा? किन्तु महाराज! एक बात आप और सोच लें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज मनु बोले—"वह कौन-सी बात है? उसे भी बताइये?"

मुनि कुछ दृढ़ता के स्वर में बोले—"महाराज? मैं विवाह तो करूँगा, किन्तु तभी तक मैं गृहस्थी में आपकी पुत्री के साथ रहूँगा जब तक इससे कोई सन्तान न हो। सन्तान के हो जाने

पर मैं, सर्वसङ्ग-विनिर्मुक्त होकर, शमदमादि हिंसा रहित धर्मों का आचरण करता हुआ, न्यस्तदण्ड होकर संन्यास धर्म का पालन करने लगूँगा। मैं फिर अनन्य भाव से उन सर्वेश्वर अनन्त भगवान् की उपासना में लीन हो जाऊँगा।"

इस प्रकार मुनि के मुख से ये वचन सुनकर महाराज मनु को बड़ा हर्ष हुआ। महारानी शतरूपा को भी बड़ी हार्दिक प्रसन्नता हुई। देवहूति का मुख जो अभी तक मुरझाया हुआ था—अपने पिता और मुनि की बातों से जो उसके हृदय में शंकारूपी बवंडर उठ रहा था—वह शान्त हुआ। मुख, शरदकालीन चन्द्रमा के समान खिल गया। जिस प्रकार चकोरी चन्द्रमा को एकटक भाव से निहारती है, उसी प्रकार वह मुनि के मुख-चन्द्र को निहारती की निहारती ही रह गई।

महाराज मनु ने देखा, बानक बन गया। मुनि ने हृदय से विवाह की स्वीकृति दे दी। मेरी पत्नी भी इस सम्बन्ध से सन्तुष्ट है और पुत्री की भी पूर्णरूप से सम्मति है, तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे अब वैदिक-विधि से विवाह करने की तैयारियाँ करने लगे।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अब जंगल में मंगल होने लगे। अद्वैत से द्वैत की सृष्टि होने लगी—एक ने बहुत्व-में स्थित होने का उद्योग किया।"

छप्पय

मुनि नारद तें सुनी गृहस्थाश्रम कूँ भगवन्।
स्वीकारेंगे यही सोचि आयो तव चरनन॥
कन्या तव अनुरूप जाहि मुनिवर स्वीकारें।
पुत्री चिन्ता उदधि मग्न मोहि नाथ उबारें॥
मुनि बोले इच्छा हती, पर झंझट तें हौं डरूँ।
तनया लै आये स्वयं, फिरि नाहीं कैसे करूँ॥

देवहूति का कर्दम मुनि के साथ विवाह

(१५४)

सोऽनु ज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुःस्फुटम् ।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥
शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्महाधनान् ।
दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २२ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

कपट रहित मुनि वचन सुने नृप मुदित भये अति ।
देवहूति मुख कमल खिल्यो समुझी मनु अनुमति ॥
सबकी सम्मति समुझि ब्याह की विधि सब कीन्हीं ।
राजा रानी हरषि सुता मुनिवर को दीन्हीं ॥
दूल्हा दुलहिन मिलि गये, जंगल महँ मंगल भयो ।
कनक अँगूठी जस सुघड़, तस सुन्दर नग जड़ि गयो ॥

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! जब महाराज मनु ने समझ लिया कि इस सम्बन्ध में मेरी पत्नी, पुत्री दोनों की ही स्पष्ट अनुमति है, तब उन्होंने सर्वगुणसम्पन्न भगवान् कर्दम के साथ उनके अनुरूप ही गुणवाली अपनी पुत्री का विवाह प्रसन्नतापूर्वक कर दिया। उस समय महारानी शतरूपा ने अपनी पुत्री और जामाता को प्रीतिपूर्वक बहुत से बहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा गृहस्थोपयोगी और बहुत सामग्रियाँ दीं।"

शास्त्रकारों ने उस कुमारी को कन्या कहा है, जिसे अभी विवाह की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ऐसी कन्या का शास्त्रीय विधि से दान करने को ही कन्या-दान कहते हैं। जिस कुमारी ने बाल्यावस्था को पार करके यौवनावस्था में प्रवेश कर लिया है और जिसे विवाह की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है, उसे ऋषियों ने विवाह कहा है। विवाह के भी ब्राह्मविवाह, गन्धर्वविवाह, राक्षसविवाह, पैशाचविवाह आदि अनेक भेद होते हैं। कन्यादान में माता-पिता ही जिसे चाहें दान कर दें, उसमें कन्या की सम्मति की अपेक्षा नहीं होती। इसीलिये कहावत है, "गौ को और कन्या को जिसके साथ कर दें उसी के साथ चली जाती हैं।" विवाह में माता-पिता की इच्छा तो प्रधान होती ही है, क्योंकि कच्ची अवस्था में बालक-बालिका सहसा ऐसे गंभीर विषय का निर्णय करने में समर्थ नहीं होते। वे क्षणिक प्रलोभन में प्रायः फँस जाते हैं। माता-पिता के ऊपर अकारण अविश्वास करना यह महान् अधर्म है, जितना हित वे हमारा कर सकते हैं, उतना कोई दूसरा कर ही नहीं सकता। हमारे कल्याण सुख की सबसे अधिक चिन्ता तो उन्हें ही है। वे जो करेंगे, हमारे हित के ही लिये करेंगे। फिर भी माता-पिता का यह धर्म हो जाता है, कि युवावस्थापन्ना सयानी लड़की की भी आकार प्रकार और चेष्टा से विवाह के पूर्व सम्मति समझ लेनी चाहिये, कि इस सम्बन्ध से वह असन्तुष्ट तो नहीं है। क्योंकि ऐसा हो जाने से भविष्य-जीवन दुःखमय बन जाता है।

देवहूति तो विवाह के योग्य थी। वह ऊँच-नीच सब समझती थी। महाराज मनु तो बातें कर रहे थे कर्दम मुनि से, किन्तु बीच-बीच में अपनी पुत्री के हृद्गत-भावों को जो उसके मुख पर स्पष्ट अंकित होते जाते थे—पढ़ते जाते थे। वे पहिले से ही जानते थे कि नारदजी के मुख से भगवान् कर्दम के रूप, शील,

वय आदि गुणों की चर्चा के कारण मेरी पुत्री का उनकी ओर आकर्षण है ! किन्तु जब उन्होंने देखा, कि मुनि के स्वीकृति देने पर तथा उनके मधुर मुस्कान से शोभित मुख कमल को देखकर देवहूति का हृदय आनन्द से भर गया है और उसका चित्त लुभाने लगा है, तब तो महाराज मनु को बड़ा सन्तोष हुआ। उनकी कन्या-विषयक बड़ी भारी चिन्ता दूर हुई। अपनी पत्नी की भी स्पष्ट सम्मति समझकर, वे विवाह की सामग्री सजाने में स्वयं जुट गये।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! वह प्रथम सत्य-युग के आरम्भ का ही समय था। मनु शतरूपा का विवाह भी हुआ था, किन्तु उसमें साक्षात् ब्रह्माजी की आज्ञा ही प्रधान थी। तब तक विवाह की वैदिक-विधि का प्रसार और प्रचार नहीं हुआ था। वेद के मन्त्रों से अग्नि को साक्षी देकर वर्णाश्रम धर्म की मर्यादानुसार यह प्रथम ही विवाह था। जैसी शास्त्रों में विवाह की विधि बताई है, उसी विधि के अनुसार मन्त्रों द्वारा प्रजापति भगवान् कर्दम का देवी-देवहूति के साथ विवाह हो गया।

इस विवाह से संसार में सर्वत्र आनन्द छा गया। देवताओं ने हर्ष के सहित दुन्दुभी बजाकर वरवधू के ऊपर कल्पवृक्ष के दिव्य-पुष्पों की वर्षा की ! अप्सराओं ने आकर नृत्य किया, गन्धर्वों ने अनेक स्वर मूर्छना के साथ गायन किया, ऋषियों ने सामवेद के मन्त्रों की ध्वनि की। मनु और शतरूपा ने वर-वधू को हृदय से लगाकर प्यार किया। उन्हें भाँति-भाँति से आशीर्वाद दिये।

महारानी शतरूपा जो अनेक-भाँति के रेशमी सूती वस्त्र, विविध भाँति के मणिमाणिक्य, रत्नजटित सुवर्ण के आभूषण तथा और भी गृहस्थाश्रम के उपयोगी वस्तुएँ साथ लायी थीं, वे सब उन्होंने बड़े हर्ष के साथ अपनी कन्या को दीं। इस प्रकार

दोनों का विधिवत् विवाह हो गया। महाराज की चिन्ता दूर हुई, उनके सिर पर से मानों एक बहुत बड़ा भार उतर गया।

अब तो सम्बन्ध दूसरा हो गया, पुत्री के घर पर राजा-रानी पानी कैसे पी सकते हैं, इसलिये अब वे अपनी राजधानी को चलने को तैयार हो गये थे। अब तक तो सबको विवाह की उमंग थी। भावी कार्य के विषय में कुतूहल था। कार्य समाप्त होने पर कुतूहल भी समाप्त हुआ। अब तो कर्तव्य ने कुतूहल का स्थान ग्रहण कर लिया। आज अपनी पुत्री से वियोग होगा, यह विचार आते ही महाराज का हृदय भर आया। जिसे आज तक कितने ममत्व से कितने लाड़-प्यार से पाला था, आज वह परदेशिनी बन जायगी। दूसरे परिवार और दूसरे गोत्र वाली हो जायगी, इसका स्मरण आते ही महाराज की छाती फटने-सी लगी। इधर कभी भी माता-पिता से पृथक् न होने वाली पुत्री अब वनवासिनी हो जायगी! पिता मुझे यहीं छोड़कर चले जायँगे, यह सोच कर देवहूति की आँखों के सामने भी अँधेरा-सा छाने लगा। महाराज जब वर-वधू को आशीर्वाद देकर चलने को उद्यत हुए, कन्या का कोमल हृदय फूट पड़ा। धैर्य का बाँध टूट गया। वह अपने माता-पिता से लिपट गई और ढाह मारकर रुदन करने लगी। महाराज जो अब तक अपने को रोके हुए थे, उनसे भी अब न रहा गया। श्रावण-भादों की वर्षा की धारा के समान उनके नेत्रों से अश्रु बहने लगे, जिससे देवहूति की वेणी, सुन्दर अलकावली और वस्त्र सभी भीग गये। पिता बार-बार उसके सिर पर हाथ फेरते। गद्गद् कण्ठ से भर्राई हुई वाणी में रुक-रुक कर कहते—"बेटी! रोते नहीं हैं। ये मुनि ही अब तेरे सर्वस्व हैं, हम जल्दी बुलावेंगे तुझे।" उसे तो रोने को मना करते और स्वयं रोते जाते थे। पुत्री स्नेह भी कैसा विलक्षण होता है। इधर देवहूति पिता को

छोड़ती ही नहीं थी। रानी ने आकर उसके सिर पर हाथ फेरा। बार-बार पुचकारा—"अरे, बेटी! ऐसे व्याकुल नहीं हुआ करते हैं। लड़कियाँ सदा घर में थोड़े ही रहती हैं, उन्हें तो एक न एक दिन अपने घर जाना ही पड़ता है।"

अब देवहूति पिता को छोड़कर अपनी स्नेहमयी-जननी से लिपट गई और उसके अंचल में अपना मुँह ढाँककर फूट-फूट कर रो रही थी—"अरे अम्मा! यहाँ जंगल में मुझे अकेली कहाँ छोड़े जाती है—मेरी जननी!" माता का हृदय पिघल रहा था। माँ बेटी को इस प्रकार प्रेमपूर्वक रोते देखकर मुनि का भी हृदय भर आया। वे सोचने लगे—"गृहस्थाश्रम में कितने करुणाजनक प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं। वे भी चुपचाप नीचा सिर किये हुए खड़े थे, उनकी भी आँखें डबडबाई हुई थीं। अपने सास ससुर को पहुँचाने मुनिवर पत्नी के सहित आश्रम के द्वार तक गये। जब राजा-रानी रथ पर बैठ गये, तब तो देवहूति का धैर्य छूट गया, उसने रथ को कसकर पकड़ लिया, रानी भी रो रही थीं। महाराज ने उतर कर अपनी पुत्री को फिर आलिङ्गन किया—"बेटी! चिन्ता नहीं करते हैं। हम तो अब आते ही जाते रहेंगे।" इस प्रकार समझा बुझाकर महाराज ने रथ चलाने की आज्ञा दे दी। रथ घर-घर शब्द करता हुआ चल पड़ा, उसकी विशाल—ध्वजा वायु के वेग से उसी प्रकार चंचल हो रही थी, जिस प्रकार माता-पिता के वियोगजन्य दुःख से देवहूति का चित्त चंचल हो रहा था।

दोनों पति-पत्नी वायु के वेग से जाते हुए रथ को देखते रहे, कुछ काल में रथ आँखों से ओझल हो गया। उसकी ध्वजा दिखाई देती रही, अब ध्वजा नहीं केवल उड़ती हुई रथ की धूलि दीखने लगी। थोड़ी देर में वह भी विलीन हो गई। खिन्न मन से दोनों अपने आश्रम में लौट आये।

इधर महाराज स्वायंभुवमनु अपनी पत्नी के सहित सरस्वती के किनारे-किनारे मुनियों के सुन्दर पवित्र-आश्रमों को देखते हुए जा रहे थे, जिनमें से अग्निहोत्र का धूम्र निकल रहा था। वल्कलवस्त्र इधर-उधर सूख रहे थे। कटी हुई समिधायें पड़ी थीं। फल और फूलों के वृक्षों से वे आश्रम बड़े ही भले मालूम पड़ते थे।

इस प्रकार पुण्य वन-उपवनों की शोभा निहारते हुए वे अपनी गंगा तट की वर्हिष्मती नामक नगरी के समीप पहुँचे। ब्रह्मवर्त (बिठूर) की प्रजा ने जब अपने महाराज का प्रत्यागमन सुना, तो वह उनके स्वागत के लिये व्यग्रता पूर्वक दौड़ी। महाराज के सत्कार के लिये नगरी चित्र-विचित्र प्रकार से सजाई गई थी। समस्त प्रजा ने उनका हृदय से स्वागत किया और वे अपनी राजधानी में आकर सुखपूर्वक राजकाज करने लगे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज मनु की नगरी का नाम वर्हिष्मती क्यों पड़ा? पृथ्वी में यही भूमि सर्वश्रेष्ठ, सबसे पवित्र और ब्रह्मर्षियों के सेवन करने योग्य क्यों मानी गई? इसका कारण आप हमें बताइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! भगवान्, पृथ्वी को लेकर पाताल से जब आये थे, तो इसी देश में वे पहले-पहल प्रकट हुए। इसलिये इसी प्रान्त में सूकर-क्षेत्र (सोरों-एटा) है। ब्रह्मवर्त (बिठूर) में भगवान् ने फुरहुरी ली-अपने शरीर को कँपाया—इससे उनके बहुत-से रोम झड़ गये। वे रोम ही कुश-काँश रूप में हरे भरे होकर उत्पन्न हो गये। यज्ञ रूप-वाराह भगवान् के रोम से उत्पन्न होने के कारण कुशा बहुत पवित्र मानी जाती हैं और श्राद्ध, यज्ञ आदि देवता, ऋषि तथा पितरों के काम में आती हैं। महाराज मनु ने भी इसी स्थान में कुश-काश की वर्हिष बिछाकर पूजा की थी, इसीलिये इस नगरी का

नाम भी वर्हिष्मती पड़ गया। अब भी उस देश में कुशायें बहुत होती हैं। इसीलिये यह भूमि ब्रह्मर्षियों के द्वारा परम पवित्र और यज्ञादि कार्यों के लिये बहुत पावन मानी गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज मनु अपना सम्पूर्ण समय कैसे बिताते थे?"

इस पर सूतजी शीघ्रता से बोले—"महाराज! उनके समय के सम्बन्ध में न पूछिये। उनका तो एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता था। वे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठते थे, तब से और जब तक सोते नहीं थे, तब तक भगवत् पूजा, सेवा, अर्चा तथा कथा कीर्तन में ही निरन्तर लगे रहते थे। उनका सभी समय सफल ही व्यतीत होता था। उन्हें शारीरिक, मानसिक, दैविक और भौतिक दुःख कभी हुआ ही नहीं। हो भी कैसे? जो सदा सुख स्वरूप श्रीहरि की चर्चा करता रहता है, उसे ये दुःख कैसे सन्ताप पहुँचा सकते हैं। इस प्रकार हे मुनियो! महाराज स्वायंभुवमनु एक मन्वन्तर तक पृथ्वी पर शासन करते रहे।"

महामुनि मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार तुम्हें—यह आदिराज-महाराज स्वायंभुवमनु का परम पवित्र-चरित्र सुनाया। ये ही सृष्टि के आदि नियमकर्ता हुए। ये इतने धर्मात्मा और पवित्र चरित्र हृदय के थे, कि बड़े-बड़े त्यागी, विरागी, यती, तपस्वी इनके समीप आकर अपनी शंकाओं का समाधान किया करते थे। एक बार समस्त बड़े-बड़े ऋषियों ने आकर इनसे नाना प्रकार के वर्णाश्रम सम्बन्धी प्रश्न किये। मुनियों का काम ही यह होता है कि वे सदा प्रजा के हित में लगे रहें। जब मुनियों ने इनसे इस प्रकार प्रश्न किये तो इन्होंने उन सबके शास्त्रीय ढङ्ग से बड़े सुन्दर उत्तर दिये। उन उत्तरों की स्मृति ही संसार में आज तक 'मनुस्मृति' के नाम से प्रसिद्ध है। सभी वर्णाश्रम धर्मावलम्बी

उसके नियमों का आदर करते हैं और यथाशक्ति-यथासामर्थ्य उनके पालन की भी चेष्टा करते हैं। विदुरजी ! जिस प्रकार आप नीतिशास्त्र पण्डित हैं, आपकी नीति 'विदुरनीति' के नाम से विख्यात है, उसी प्रकार महाराज मनु सभी विषयों के ज्ञाता, पण्डित और जानकार थे ! संसार में उन्होंने जो नियम बाँध दिये, उन्हीं का पालन उनके पुत्र, पौत्र और वंशधर आज तक करते आ रहे हैं। घोर कलियुग आने पर इन नियमों में शिथिलता आ जायगी—प्राय लुप्त हो जायँगे, किन्तु फिर सत्ययुग आने पर ऋषिगण इन्हीं नियमों का प्रचार करेंगे।

इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप में यह मनुचरित्र सुना दिया, अब आप महामुनि कर्दम और देवहूति के चरित्र को श्रवण करें।

छप्पय

भये नृपति निश्चिन्त ब्याह करि मिलि कर्दम तें।
दोनों कूँ समुझाय चले मनु मुनि आश्रम तें॥
तनया निरखि वियोग मातु-पितु हिय भरि आयो।
छाती तें लिपटाय नेह को नीर बहायो॥
वत्स धेनु बिलगत समय, बार-बार घबराय जस।
मनु शतरूपा तें लिपट, देवहूति बिलखाय तस॥

कर्दम मुनि की तपस्या और देवहूति की सेवा

[१५५]

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा ।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥
विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २३ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

मात पिता पुर गये कुँवरि ने धीरज धारयो ।
पति सेवा सर्वस्व सती को धर्म विचार्यो ॥
तजे दम्भ, छल, कपट, काम तें चित्त हटायो ।
संयम शौच समेत धर्म सेवा अपनायो ॥
असन बसन सुधि नहिँ रही, मलिन कुटिल कच सब बदन ।
तन मन तें सेवा निरत, करहिँ सदा इन्द्रिय दमन ॥

---

* मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! जब देवहूति के माता-पिता चले गये, तो वह अपने पति की सेवा से उसी प्रकार सन्तुष्ट रखने लगीं जैसे पार्वतीजी शिवजी को अपनी सेवा से सन्तुष्ट रखती हैं। क्योंकि वह उनके सभी संकेतों को समझ गई थी। निरन्तर सावधानी पूर्वक विश्वास, शौच, इन्द्रिय-दमन, शुश्रूषा, सौहार्द, आदर और मधुर वाणी के द्वारा अपने पति को सन्तुष्ट करने लगी।"

जब तक विषयों का इन्द्रियों से संसर्ग नहीं होता तब तक धैर्य की परीक्षा नहीं होती। इन्द्रियों में विकार उत्पन्न करने के हेतुभूत विषयों के सम्मुख उपस्थित रहने पर भी जिसके मन में विकार उत्पन्न नहीं होता, वही धीर पुरुष है। वस्तु के अभाव में संयम करना भी श्रेष्ठ है। अन्न के न रहने पर एकादशी-व्रत करना उत्तम है, किन्तु सब कुछ उपस्थित होने पर भी मन को उधर से रोके रहना सर्वश्रेष्ठ है। विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध मनीषियों ने अग्नि और मक्खन के सदृश बताया है। अग्नि के समीप पहुँचने पर नवनीत पिघल ही जाता है, विषयों से संसर्ग होने पर चित्त में चचलता होनी स्वाभाविक है, किन्तु उस समय भी जो मन को संयम मे रखते हैं, उसके आधीन नहीं हो जाते, वे ही आदर्श पुरुष कहलाते हैं! उन्हीं का नाम चरित्रवान् है। उनके स्मरण से हमारा हृदय पवित्र होता है, उनके अनुकरण से जीवन में महानता आती है।

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कह रहे हैं—"विदुरजी! अब तक तो मुनि विवाह के लिये उत्सुक थे। विवाह होते ही उनकी उत्सुकता विलीन हो गई। उन्होंने दृढ़तापूर्वक मन को विषयों की ओर से रोका और अपनी पत्नी से बोले—"राजपुत्रि! तुम घबराओगी तो नहीं? मेरे प्रति तुम्हारी अश्रद्धा तो न होगी? तुम जानती हो हमारा धन तो तपस्या है, इसलिये हम लोग तपोधन कहाते हैं। मैं फिर तपस्या करूँगा, तुम दुखी तो न होगी?"

हाथ जोड़कर देवहूति अग्नि के समान तेजस्वी, तप के प्रभाव से देदीप्यमान–अपने पति से बोली—"प्रभो! बाल्यकाल से ही मुझे यह शिक्षा दी गई है, कि सती साध्वी-स्त्रियों के पति ही सर्वस्व हैं। पति सेवा ही उसका मुख्य कर्तव्य है। उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिला देने से उसे अक्षय लोकों की प्राप्ति होती

है। जिसमें आपकी प्रसन्नता हो उसी से मैं प्रसन्न हूँ, आप तपस्या करें, मैं हर प्रकार से आपकी सेवा करूँगी।"

अपनी पत्नी के ऐसे धर्मयुक्त वचन सुनकर कर्दम मुनि को बड़ा सन्तोष हुआ और वे फिर से तपस्या में लग गये। वे तो समाधि सुख का आनंद ले चुके थे, फिर उन्हें ये विषय सुख क्या आनन्द दे सकते थे ? अतः वे प्रातःकाल नित्य कर्म से निवृत्त होकर ध्यान में बैठते, तो कभी रात में ध्यान भङ्ग होता, कभी दूसरे दिन और कभी कई दिनों के पश्चात्। अग्निहोत्र आदि का समस्त कार्य देवहूति ही करती। वह, मैं राजपुत्री हूँ इस अभिमान को छोड़कर निरन्तर मुनि की सेवा में संलग्न रहती। स्वयं, वन से सूखी लकड़ी लाती, अपने हाथ से समस्त आश्रम को झाड़ती बुहारती, पानी छिड़कती, फिर गोबर से लीपती, स्वस्तिक और ग्रह-मण्डल बनाती, कन्द-मूल फल एकत्र करके लाती और ध्यान भङ्ग होने पर भगवान् को निवेदन करती, पति के प्रसाद पा लेने पर बचा हुआ थोड़ा बहुत प्रसाद पाती। जब पति कई दिन निरन्तर ध्यान में मग्न रहते, तो वह उपवास करती। इस प्रकार वह निष्कपट भाव से पति की सेवा करती रहती।"

विदुरजी ने पूछा—"ब्रह्मन् ! देवहूति तो युवावस्थापन्ना थी, उसे सर्वगुण सम्पन्न पति प्राप्त थे, फिर उसके मन में सांसारिक सुखों की इच्छा क्यों नहीं उत्पन्न हुई ?"

इस पर मैत्रेयजी बोले—"महाभाग ! इच्छा कभी हो भी तो वह धर्म-पाश में बँधी थी। पति की तपस्या में सुख है, मुझे भी अपनी इच्छा उनकी ही इच्छा में मिला देनी चाहिये। छल कपट से नहीं, दम्भपूर्वक दिखाने को वह ऐसा करती हो सो बात नहीं। हृदय से वह अपने पति को परमेश्वर मानती थी, कभी मन से उनके प्रति द्वेष नहीं करती थी। पति की इच्छा के विरुद्ध

कभी वह आचरण नहीं करती थी। कभी आलस्य नहीं करती थी। अतिन्द्रिल-भाव से सदा सावधान होकर सेवा में ही संलग्न रहती। तीनों समय सरस्वती के सुन्दर स्वच्छ सलिल में स्नान करती, शौच और यम के साथ रहती। कभी शृङ्गार नहीं करती थी। कंघी न करने और तैल आदि न डालने से उसके काले-काले घुँघराले बाल मलिन हो गये थे। उनकी लटें बन गई थीं। वेणी चिपट कर एक हो गयी थी। यौवनावस्था के सब चिन्ह विलुप्त-से हो गये थे। उसका सुन्दर शरीर काँटे की तरह सूख कर अत्यन्त कृश हो गया था। शरीर का चर्म काला पड़ गया था। कभी तैल उबटन न लगाने से उसमें झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। शरीर पर मैल जम गया था, आँखें नीचे गड़ गयी थीं, कपोल पिचक गये थे। फिर भी वह सब कामों को हँसती हुई करती, मुनि से सदा प्रेमपूर्वक डरते हुए सम्भाषण करती। कोई भी बात कहने के पूर्व वह मुस्कुरा देती। बिना हँसे-प्रसन्न वदन हुए-वह नहीं बोलती थी। ऐसी छल कपट रहित प्रेमपूर्वक परिचर्या से तो पाषाण भी पिघल सकता है, फिर तपस्या से उन महर्षि का नवनीत से भी स्निग्ध हृदय क्यों न पिघलेगा? वे देवहूति के शील, स्वभाव, सन्तोष, इन्द्रिय-दमन और श्रद्धा-पूर्वक की हुई सेवा से सन्तुष्ट हुए। एक दिन अत्यन्त स्नेह से समस्त ममता बटोरकर उसके सिर पर हाथ फेरते हुए भगवान् कर्दम बोले—"हे महापुत्री! मैं तुम्हारी इस निष्कपट भाव से की हुई सेवा से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। मेरी सेवा के सम्मुख तुमने अपने शरीर की कुछ भी चिन्ता नहीं की। उसे सुखाकर काँटे के सदृश बना दिया। तुम्हें पत्नी रूप से पाकर मैं कृतार्थ हो गया।"

हाथ जोड़े हुए डरते-डरते देवहूति ने कहा—"प्रभो! आज आप कैसी बातें कर रहे हैं? यह शरीर तो आपका ही है।

सेवा करना ही तो मेरा परम धर्म है। यदि मैं सेवा न करती तो पाप लगता, अपने धर्म से च्युत होती। मैंने तो कोई प्रशंसा के योग्य कार्य किया नहीं, केवल अपने कर्तव्य का पालन किया है। सो भी अबला होने के कारण प्रमाद से वह भी पूरा न हुआ होगा।"

भगवान् कर्दम बोले—"राजनन्दिनी! प्राणिमात्र को सबसे अधिक प्रिय अपने प्राण होते हैं। प्राण देह में रहते हैं, अतः देह को क्षीण करना स्वेच्छा से कोई नहीं चाहता। किसी की इच्छा नहीं होती कि हमारा शरीर नष्ट हो जाय। तुमने मेरे पीछे अपने शरीर की भी सम्हाल नहीं की। तुम्हारा कार्य अत्यन्त ही प्रशंसनीय है। कर्तव्य का पालन भी तो सभी नहीं करते। पुण्यात्मा पुरुषों द्वारा ही कर्तव्य पालन रूप दुरूह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होता है। इसलिये देवि! आज मैं तुम्हारी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करूँगा। आज मेरी कृपा का द्वार चारों ओर से खुला है। तुम केवल मुझे भभूतिया-बाबाजी ही मत समझो, मेरी लँगोटी को देखकर मुझे अकिञ्चन न जानो! मैंने धर्मपूर्वक, शास्त्रीय ढङ्ग से भगवान् पुराण पुरुष की विधिवत् उपासना की है। अपनी तपस्या, समाधि, ज्ञान और योग के द्वारा मुझे सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। संसार के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सम्बन्धी विषय भोग तुच्छ हैं, क्षणिक हैं, नाशवान् हैं। मैंने भगवान् की आराधना के प्रभाव से उन भोगों को प्राप्त कर लिया है जो दिव्य हैं, जिनका भोग कल्प-कल्पान्तरों तक करते रहो तो भी नाश न हो। आज मैं अपनी उन समस्त सिद्धियों का उपभोग तुम्हारी प्रसन्नता के लिये करना चाहता हूँ, बोलो, तुम क्या चाहती हो?"

अपने आराध्य देव, अपने प्राणनाथ पति की इस अपरिमेय कृपा को देखकर देवहूति का हृदय बाँसों उछलने लगा। उसके

हर्ष का पारावार नहीं रहा। नीचे धँसी हुई आँखों में ज्योति चमकने लगी। म्लान हुआ मुख, कमल की भाँति खिल गया, उसके रोम-रोम से प्रसन्नता फूटकर निकल रही थी। वह अपने आनन्द को सम्हालने में समर्थ न हो सकी। अत्यन्त उल्लास के साथ गद्गद् वाणी से कहने लगी—"प्रभो! सेवा का सर्वोत्कृष्ट पारितोषिक यही है कि अपना आराध्यदेव प्रसन्न हो जाय। मेरे लिये इससे बढ़कर और श्रेष्ठ वरदान क्या होगा, कि आप सभी सिद्धियों के स्वामी मेरे आराध्यदेव इस दासी की क्षुद्र सेवा से सन्तुष्ट हैं। आपकी प्रसन्नता ही मेरे समस्त सुखों की मूल है। आपका कृपा-प्रसाद ही मेरे लिये सब कुछ है?"

भगवान् कर्दम अपनी प्रिया के ऐसे विनीत वचन सुनकर अधिक प्रसन्न हुए और दुगुने उत्साह और उल्लास के साथ बोले—"प्रिये! तुम मेरे गौरव से ऐसी बातें कह रही हो। अभी तुम्हें मेरी महिमा का पता नहीं। वह महिमा इन चर्म चक्षुओं से देखी भी नहीं जा सकती। जिन्होंने भक्ति भाव से भगवान् को ही सर्वस्व समझकर उनकी अनन्यभाव से उपासना नहीं की हो, वे उस महिमा के तत्व को समझ ही नहीं सकते। देवि! मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ। तुम मेरी उस महिमा को देखो—जिसे इन्द्र तीनों लोकों के ऐश्वर्य के मूल्य में भी नहीं मोल ले सकता।"

यह कहकर मुनि ने देवहूति को दिव्य-दृष्टि दी। उसके मुख पर अपना तपः पूत कर कमल फेर दिया। अब तो देवहूति को समस्त दिव्य सुख प्रत्यक्ष दिखाई दिये। आठों सिद्धियाँ उसे हाथ जोड़े हुए ऋषि के सम्मुख प्रत्यक्ष दिखाई दीं। ऐसा पहिले कभी न सुने न देखे हुए दिव्य विषय सुखों को देखकर देवहूति हक्की-बक्की-सी रह गई। अब उसे ज्ञात हुआ, मेरे पति साधारण ऋषि ही नहीं साक्षात् दूसरे ब्रह्मा हैं, माया के स्वामी हैं, समस्त ऐश्वर्य के अधिपति हैं। उन दिव्य सुखों को देखकर ही उसका

चित्त लुभा गया और वह प्रेमपूर्वक पतिदेव के पादपद्मों में पड़ गई।

महामुनि कर्दम ने पत्नी को उठाकर प्रेमपूर्वक हृदय से लगाया और बोले—"प्रिये! अब तुम संकोच त्यागकर अपनी इच्छा बताओ।"

पति के इतने प्यार को पाकर देवहूति ने आज अपने जन्म को सफल समझा और वह प्रेम में इतनी विभोर हो गई कि ऋषि के बार-बार पूछने पर भी वह कुछ न बोल सकी।"

छप्पय

दृढ़तर प्रेम कपाट कृपा करि मुनिवर खोले।
सेवा से सन्तुष्ट प्रिया तें हँसिके बोले॥
हे मनुनन्दिनि! मोहि कर्‌यो सेवातें वश में।
देहुँ अतुल ऐश्वर्य दिव्य सुख भामिनि अब मैं॥
वर माँगो दुख भगि गयो, अब आई सुख की घड़ी।
अष्ट सिद्धि, नव निद्धि ये, कर जोरे सम्मुख खड़ीं॥

देवहूति को वर प्रदान

[१५६]

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः ।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो-
भूयाद्गरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २३ अ० १० श्लोक)

छप्पय

प्रीति युक्त पति वचन सुने बोली प्रियवानी ।
हे द्विज वृषभ ! तुम्हारि अतुल महिमा अब जानी ॥
मुनि बोले—मनुपुत्रि ! मोहि कस बैल बतावै ।
देवहूति हँसि कहे—धेनुपति वृषभ कहावै ॥
हँसे बात वर मुनि सुमिरि, प्रिया अंकमहँ भरि लई ।
कटि कदली सम शिथिल है, पिय-हिय महँ सटि गिरि गई ॥

---

* अपने पति के द्वारा दिखाई हुई दिव्य-माया देखकर देवहूति उनसे कहने लगी—"हे द्विज वृषभ ! आप अमोघ माया के अधिपति हैं । समस्त ऐश्वर्य आपको प्राप्त है यह बात मैं मानती हूँ, सत्य है, किन्तु हे सर्वसमर्थ स्वामिन् ! विवाह के समय मेरे पिता के सम्मुख जो आपने प्रतिज्ञा की थी—सन्तानोत्पत्ति तक मेरे साथ आपका अंग संग होगा, वह प्रतिज्ञा अब पूरी होनी चाहिये । क्योंकि अपने पति के द्वारा पतिव्रता स्त्रियों को पुत्र की प्राप्ति होना परम लाभ है ।"

दूरी में शिष्टाचार और संकोच रहता है। समीपता मनुष्य को कांचित् धृष्ट बना देती है। गम्भीरता की एक सीमा होती है। मनुष्य, कुछ पुरुषों में कुछ अवसरों पर, कुछ काल तक गम्भीर रह सकता है। सदा सर्वदा कोई भी गम्भीर नहीं रह सकता और उसकी आवश्यकता भी नहीं। कभी मनुष्य बनावट को छोड़कर स्वाभाविकता का भी अनुभव करना चाहता है। जिन राजे-महाराजों को, जिन आचार्य और धर्मोपदेशकों को हम सभा में अत्यन्त गम्भीर, शिष्टाचार युक्त और नपे तुले शब्द बोलने वाले पाते हैं, उन्हें ही जब अपने अत्यन्त निकटवर्ती-स्त्री, पुत्र, भृत्य, शिष्य तथा अन्य घनिष्ट सम्बन्धियों के साथ एकान्त में बातें करते देखते हैं, तो उनकी वह अस्वाभाविक गम्भीरता वहाँ नहीं रहती। वे खुलकर बातें करते हैं, हँसते हैं, खेलते हैं और विनोद भी करते हैं। गम्भीर से गम्भीर पुरुष जब बच्चों के साथ खेलता है, तो वह बच्चा बन जाता है।

पति-पत्नी का सम्बन्ध भी ऐसा ही होता है, आरम्भ में जब तक एक दूसरे के हृदय पर अधिकार नहीं कर लेते, संकोच लज्जा, शिष्टाचार और भय रहता है। सम्पर्क बढ़ता जाता है, एक दूसरे को स्नेह पाश में बाँधते हैं, त्यों-त्यों संकोच, शिष्टाचार हटता जाता है और धृष्टता आकर उनका स्थान ग्रहण करती जाती है।

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी! विवाह के अनन्तर कर्दम मुनि फिर घोर तपस्या में लग गये। दोनों में स्त्री-पुरुष का जो व्यवहार होता है, वह हुआ ही नहीं। देवहूति उन्हें अपना श्रद्धेय समझकर बड़े शिष्टाचार के सहित सेवा करने लगी। मुनि उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, वह भी डरती-डरती नीचा सिर किये, हाथ जोड़कर कुछ कहना होता तो कहती। नहीं चुपचाप सेवा में संलग्न रहती। अब जब, मुनि

उसकी सेवा से सन्तुष्ट होकर उसे वरदान देने को उद्यत हुए, साथ ही उन्होंने अपना समस्त ममत्वपूर्ण प्यार उस अपनी अनुरक्ता पत्नी के ऊपर उड़ेल दिया, तब तो वह निहाल हो गई। मुनि के नेत्रों में स्नेह था, देवहूति का भय दूर हुआ, सङ्कोच भाग गया। उनके योग माया के अतुल ऐश्वर्य को देखकर वह मन्त्र-मुग्ध की भाँति बन गई। मेरे आराध्य-देव आज मुझे समस्त सुख देने को उद्यत हैं। आज वे अपनी सिद्धियों के चमत्कार को मेरी प्रसन्नता के लिये उपयोग में लाना चाहते हैं, इसके स्मरण मात्र से उसके रोम-रोम खिल उठे। मुनि आज गम्भीर नहीं थे, हँस-हँस कर बातें कर रहे थे। उसके मुख पर हाथ फेरकर उसे अपने दिव्य ऐश्वर्य का दर्शन कराया था, इससे उसका साहस बढ़ा। महामुनि बच्चों की तरह खिलकर बोले—"प्रिये! देखा, तुमने मेरी तपस्या का प्रभाव? तुम्हारे बाप के घर ऐसा ऐश्वर्य था?"

बाप का नाम सुनकर तो देवहूति को प्रणय-कोप आ गया। अब तो धृष्टतापूर्वक सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार प्राप्त हो गया और ऐसे समय जब कि पतिदेव स्वयं विनोद कर रहे हैं। देवहूति ने बनावटी गम्भीरता के स्वर में हाथ जोड़कर हँसी रोकते हुए कहा—"हे द्विज वृषभ! आपके ऐश्वर्य का क्या कहना है। आप तो समस्त ऐश्वर्य के स्वामी हैं।"

यह सुनकर महामुनि हँसे और बोले—"मनुपुत्री! हम तो समझते थे, तुम बड़े बाप की बेटी हो। बोलना, चालना, संयम, शिष्टाचार जानती होगी, तुम तो निरी ग्रामीण ही निकलीं। द्विज वृषभ के क्या माने होते हैं? ब्राह्मणों में बैल। पति को बैल कहकर सम्बोधन करना चाहिये क्या?"

अपनी हँसी को रोककर हाथ जोड़कर मृषा-शिष्टाचार के स्वर में देवहूति ने कहा—"प्रभो! पति-पत्नी की बोली तो कूआँ

की बोली के समान है। कुआँ में जैसा शब्द करोगे, उसके उत्तर में वैसा ही शब्द निकलेगा। यहाँ तो मेरे आपके अतिरिक्त दूसरा कोई अन्य पुरुष है नहीं। एकान्त में तो पति-पत्नी चाहें जो कुछ कहें। आपने तो भगवान के सम्मुख मुझे गृहमेध धेनु कहा था। उनसे कामधेनु की याचना की थी। गौ का पति तो बैल ही होता है। मैंने कौन-सी अनुचित बात कही ?"

इतना सुनते ही मुनिवर बड़े उच्च स्वर से खिल-खिलाकर हँस पड़े और अपनी दोनों भुजायें फैलाकर उसका स्नेह से आलिंगन करते हुए बोले—"तुमसे यह बात किसने कह दी ?"

पति का प्रेमालिंगन पाकर देवहूति आज निहाल हो गई। उसके सभी अंग शिथिल हो गये। कटी-कदली की भाँति वह अपने प्रियतम के वक्षःस्थल में लुढ़क गई। मुनि को उसके अत्यंत क्षीण शरीर को देखकर बड़ी दया आई। उसके चिकटे और रूखे बालों को देखकर उनका हृदय भर आया, सोचने लगे—"देखो, सभी सुखों को भोगने योग्य इस राजपुत्री की कैसी दुर्दशा हो गई है। अब मैं इसे ऐसे सुख दूँगा, जो मर्त्यलोक के चक्रवर्तियों की पत्नियों को तो दुर्लभ हैं ही, स्वर्ग में शची भी ऐसा सुख नहीं भोग सकती। अत्यन्त स्नेह के साथ बोले—"प्रिये! अब मुझे शीघ्र बताओ तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?"

देवहूति ने मुनि की दृष्टि में अपनी दृष्टि घोलते हुए कहा—"आप अब मुझसे क्या बार-बार पूछ रहे हैं ? अब मेरे लिये क्या वस्तु दुर्लभ है ? आप मुझे प्राप्त हो गये सब कुछ प्राप्त हो गया। सबकी स्वामिनी मैं स्वतः बन गई। हम स्त्रियों का यही सौभाग्य है, पुरुष अनेक वर्ष पढ़कर पण्डित की पदवी प्राप्त करता है। स्त्री उसके घर में आते ही बिना पढ़े पंडितानी बन जाती है। गुरु की कितनी सेवा शुश्रूषा करके मनुष्य वैद्य बन पाता है। पत्नी आते ही वैद्यानी बन जाती है। इसी भाँति आपने

सहस्रों वर्ष तपस्या करके तपस्वी की उपाधि प्राप्त की, मैं आते ही तपस्विनी हो गई। आपकी सब सिद्धियाँ मुझे स्वतः ही प्राप्त हो गईं। फिर भी पति के प्रसन्न होने पर पत्नी की एक ही इच्छा……!"

मुनि बोले—"वह कौन-सी इच्छा रहती है ?"

देवहूति ने कहा—"वह यही कि विवाह का मुख्य सुख प्राप्त हो, साथ ही श्रेष्ठ सन्तान की भी प्राप्ति हो। पत्नी को यदि संसार की सभी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ सामग्रियों को स्वामी समर्पित करे, किन्तु उससे पत्नीत्व का मुख्य सम्बन्ध न रखे—पति के द्वारा योग्य सन्तान की प्राप्ति न हो—तो सभी सुख उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार नमक के बिना साग व्यर्थ-से हो जाते हैं। आपने विवाह के समय मेरे पिता से भी यह बात कही थी कि इसके गर्भ धारण पर्यन्त मेरा इससे अंग-संग होगा। उस प्रतिज्ञा के पूरा होने का अब समय आ गया है। आपकी यदि मेरे ऊपर प्रसन्नता है, यदि मुझे गृहस्थोचित सुखों को प्रदान करना चाहते हैं—तो उसी के लिये प्रयत्न कीजिये।"

हँसते हुए मुनि बोले—"इसके लिये प्रयत्न ही क्या करना ?"

देवहूति हँसती हुई बोली—"अब महाराज ! आप तो बाबा जी ठहरे क्या बताऊँ आपको ? कुछ वस्त्र, आभूषण चाहिये, तेल फुलेल चाहिये, उबटन अंगराग चाहिये, महावर मिहदी चाहिये, चूड़ी बिछिया चाहिये और सबसे मुख्य बात यह है एक घर चाहिये। घर के बिना गृहस्थी कैसी ! घर हो और घर वाली हो, तभी वह गृहस्थी कहला सकता है। और घर न हो, घर वाली को लिये बिना घर बार के घूमता रहे, वह भी यथार्थ गृहस्थी नहीं।"

कर्दम मुनि बोले—"यह कुटी है तो सही।"

देवहूति ने खीजकर कहा—"अब आपको कैसे समझाऊँ ?

ऐसी घास-फूँस की कुटी में कहीं गृहस्थ का सुख भोग किया जाता है ? साल भर से अधिक मुझे आपकी इस कुटी में आये हो गये। गर्मियों में ऐसी लू चलती है, कि शरीर झुलस जाता है। आँधी में चारों ओर से धूलि भर जाती है। बर्तन, फल, फूल, वल्कल, तथा सभी सामग्रियाँ धूलि से ढँक जाती हैं। वल्कल भीग जाने से नींद नहीं आती, इच्छा न रहने पर भी जागरण हो जाता है। स्वतः तपस्या हो जाती है, जाड़ों की तो कुछ न पूछो। चारों ओर ठंडी-ठंडी सुर-सुर हवा आती है। वह शूल की भाँति आकर शरीर में चुभ जाती है। कहाँ का विश्राम, कहाँ की निद्रा, बैठे-बैठे पेट में घुटने देकर रात्रि बितानी पड़ती है। इसलिये यदि गृहस्थ-सुख भोगना है, तो एक सुन्दर-सा भवन होना चाहिये—जैसे मेरे पिता के यहाँ है।"

यह सुनकर कर्दमजी हँस पड़े और बोले—"प्रिये ! मेरी महिमा समझकर भी तुम मर्त्यलोक की वस्तुओं की ही इच्छा रखती हो। तुम्हारे लिये ऐसे भवन का निर्माण करूँगा, जिसके सदृश इस लोक में तो क्या तीनों लोकों में भी ऐसा भवन न होगा।"

देवहूति ने कहा—"महाराज ! इतने बड़े की आवश्यकता नहीं। उसके लिये बहुत-सा चूना, ईंट, पत्थर आदि सामान चाहिये। बहुत से बनाने वाले राज खोजने पड़ेंगे। वर्षों में बनकर तैयार होगा। आप ऐसा ही काम चलाऊ घर बना लें जिसमें एक उठने-बैठने का भवन हो, एक अन्तःपुर का, एक रसोई का और एक आने-जाने वालों के लिये। इतने से ही साधारण गृहस्थी का ठाठ जम जायगा।"

हँसते हुए भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है। तुम थोड़ी आँखें तो मीच लो।" देवहूति ने यह सुनकर आँखें बन्द कर लीं। मुनि बोले—"देखो, तुम कौन से देख रही हो, सर्वथा बन्द

कर लो।" देवहूति ने दोनों हाथों से आँखें बन्द करते हुए कहा—"और कैसे बन्द करूँ, मेरा विश्वास न हो तो तुम्हीं बन्द कर लो।" हँसते हुए मुनि बोले—"अच्छी बात है, खोल दो आँखों को। देखो, सामने यह क्या है ?"

देवहूति ने ज्यों ही आँखें खोलीं, कि उसकी दृष्टि चकाचौंध हो गई। पहिले तो वह समझ ही न सकी, कि मैं सो रही हूँ या जाग रही हूँ। मुझे जो दिखाई दे रहा है, वह यथार्थ है या स्वप्न का संसार। कई बार आँखों पर हाथ फेरकर वह हक्की-बक्की होकर बार-बार पति की ओर देखती और फिर उनके ऐश्वर्य को निहारती।"

मुनि मुस्कुरा रहे थे। देवहूति हर्ष और विस्मय के मध्य में झोंके खा रही थी। उसने सामने देखा—एक अत्यन्त ही दिव्य सतखडा-भवन खड़ा है। उसकी सभी दीवारें शुद्ध-सुवर्ण की बनी हुई हैं, वह सर्व सम्पत्ति सम्पन्न, सर्वश्रेष्ठ, अतिशय सुन्दर, समस्त दिव्य कामनाओं को पूर्ण करने वाला, संसार की सर्वातिशय-शोभा से सुशोभित और अत्यन्त ही मनोहर था। उसके सभी खम्भे मणिजटित थे। जिन पर इन्द्रनील-मणि पुखराजों की कारीगरी हो रही थी। एक के ऊपर एक, इस प्रकार सात खण्डों में चार-चार उप भवन थे। बीच में सबमें विशाल भवन और बरामदे थे। सभी भवनों में पृथक्-पृथक्, सुन्दर सुसज्जित, स्वच्छ तोपक तकिओं से युक्त शैयायें बिछी थीं। जिन पर दूध के झाग के समान, चन्द्रमा की चाँदनी के समान, धुले वस्त्र बिछे थे। स्थान-स्थान पर आसन बिछे थे, जिन पर सुवर्ण का काम बना हुआ था। अत्यन्त ही सुकोमल बड़े तकिये रखे थे, रंग-बिरंगी खूँटियाँ लगी थीं, जिन पर रंग-बिरंगे बहुमूल्य-वस्त्र टँग रहे थे। जिसकी छतों में तथा भीतों में अनेक प्रकार की कारीगरी हो रही थी। सुवर्ण की रत्नजटित-चौकियाँ रखी थीं। आराम करने की

चौकियाँ पृथक् थीं, जिन पर मखमली-गद्दियाँ बिछी थीं। सर्वत्र छोटे बड़े पंखे यथा स्थान रखे थे।

यह विशाल भवन सभी ऋतुओं में सुखदाई था। जाड़ों में वह उष्ण रहता था। गुलाबी-धूप से सब भवन, उपभवन भर जाते। गरमियों में ठंडा रहता था। टट्टियों और परदे डाल देने से लू नहीं लगती थी। कितनी भी आँधी आवे, धूलि का एक कण भी भीतर नहीं जाता था। उष्णता तो उसके द्वारों पर भी पैर नहीं रखती, बाहर से झाँककर चली जाती।

वर्षा में वह धुल जाता। मक्खी मच्छर का नाम नहीं। मक्खी जहाँ भी बैठती रपट जाती। मच्छरों का प्रवेश नहीं, उष्णता का नाम नहीं। उसमें बैठकर वर्षा ऋतु बड़े सुख पूर्वक बिताई जा सकती थी। उसमें स्नान-गृह, मनोरंजन-गृह, शृङ्गारगृह, शयन-गृह, विहार-गृह, भोजन-गृह—सभी पृथक् बने थे। सब में जल का प्रबन्ध था। शौचालय उसी से सटा दूर था। रसोई-गृह पृथक् था, वहाँ आग जलाने की आवश्यकता नहीं। जो इच्छा करो वही सामग्री तत्काल आ जाती। झंडी और पताकाओं से वह सुसज्जित था। रंग-बिरंगी झंडियाँ, वायु में हिलती हुई बड़ी भली मालूम पड़ती थीं।

साज, शृङ्गार, भोजन, वस्त्र, किसी भी सामग्री का वहाँ अभाव नहीं था। दिव्य-पुष्पों की कभी न कुम्हलाने वाली मालायें वहाँ टँगी थीं, जिनकी योजनों दूर तक गन्ध जाती। जिन पर मधुलोलुप मत्त भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे।

वहाँ का प्रांगण, महा मरकत मणि से बनाया गया था। दूर से ऐसा लगता था मानों मानसरोवर में लहरियाँ उठ रही हों। विचित्र-विचित्र वेदियाँ बैठने के लिये बाहर भीतर विद्रुम की बनी हुई थीं। हीरों और मोती से जड़ी हुई सुवर्ण की कपाटें लगी

थीं। ऊपर इन्द्र नीलमणि के शिखरों पर, विचित्र प्रकार की कारीगरी से युक्त कलशे रखे हुए थे।

उसके ओखा-मोखा, झारी-झरोखा सभी सौन्दर्य युक्त थे, नेत्रों को सुख देने वाला वह विमान अद्वितीय था। तोरण-वन्दनवारों से सुसज्जित था। उसके भीतर एक सुन्दर उपवन और सरोवर भी था। उपवन में विविध भाँति के दिव्य पुष्प खिल रहे थे। सुन्दर-सुन्दर सघन वृक्ष, सुस्वादु फलों के भारों से नमित हो रहे थे। सरोवर में विविध भाँति के रक्त, नीले, पीले, सफेद और बहुरंगे कमल खिल रहे थे। उसके किनारे मणियों के घाट बने थे। सुन्दर-सुन्दर छोटे-छोटे सुहावने बुर्ज से बनाये गये थे, जिन पर हंस, सारस, चक्रवाक तथा मयूर आदि पक्षियों की कृत्रिम-मूर्तियाँ ऐसी बनाई गई थीं, कि वे सजीव-सी ही जान पड़ती थीं। हंस, सारस, चकोर, कोकिला आदि सजीव पक्षी भी कलरव कर रहे थे। चारों ओर पुष्पों पर षट्पद गूँज रहे थे। उस विमान की शोभा अवर्णनीय थी। इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि उसके सदृश तीनों लोकों में ऐसा विमान नहीं था।

क्षण भर में ऐसे विमान को देखकर देवहूति परम विस्मित हुई और वह मारे प्रेम के अपने पति की ओर देखती की देखती ही रह गई। वाणी रुद्ध हो जाने के कारण उसके मुख से एक शब्द भी न निकला, फिर भी वह ऐसे विमान को देखकर बहुत हर्षित नहीं हुई। वह हर्ष-शोक के बीच में पड़ गई, हर्ष तो उसे अपने पति के इस दिव्य ऐश्वर्य और अलौकिक सामर्थ्य के ऊपर हुआ और शोक अपनी दशा देखकर हुआ, वह सोचने लगी—"विमान तो इतना सुन्दर है, किन्तु मेरा शरीर इतना कृश और मलिन है कि मैं इस पर चढ़ भी नहीं सकती। चढ़ूँ भी तो मेरे मलिन शरीर के संसर्ग से वह इतना चमकता-

दमकता विमान मैला हो जायगा। इसलिये वह अपने पति से कुछ भी न बोली।"

छप्पय

बोली—अब हृदयेश! तपस्या सिद्धि दिखाओ।
गृही सरिस सुख भवन सुभग इक नाथ बनाओ॥
सुनत तुरत मुनि दिव्य योग तैं भवन बनायो।
मणिमय सम्मति युक्त भवन लखि चित्त लुभायो॥
सब सुख उपयोगी जहाँ, विविध वस्तु भवननि भरी।
सुन्दर शैया सुखद अति, स्वर्ण जटित चौकी धरी॥

कर्दममुनि का पत्नी सहित सुखों का उपभोग

[१५७]

तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रियया अनुरक्तो-
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीच्य-
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २३ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

दासी दास विहीन मलिन तनु भवन न पायो ।
समुझि भाव मुनि बिन्दुसरोवर जल परसायो ॥
भई दिव्य जल परसि सहस वर दासी आईं ।
करि सेवा शृङ्गार भवन महँ मुनि ढिंग लाईं ॥
इत मुनि मौजी मूँज की, तजि सुर सम सुन्दर भये ।
उततें हँसि आई प्रिया, उभय प्रेम तें मिलि गये ॥

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! इतनी सिद्धि प्रकट करने पर भी जिनकी महिमा लुप्त नहीं हुई है, वे महामुनि कर्दम अपनी प्राण-प्रिया पत्नी में अनुरक्त हुए तथा विद्याधरियों द्वारा सेवित उसी प्रकार अपने विमान पर सुशोभित हुए, जिस प्रकार विकसित कुमुद-कुसुम युक्त तारागण से घिरे चन्द्रमा आकाश में सुशोभित होते हैं।"

जिन विषय भोगों की प्राप्ति के लिये संसारी लोग निरन्तर व्यग्र बने रहते हैं, विषयों की प्राप्ति ही जिनके जीवन का परम लक्ष्य है, उन्हें इच्छानुसार विषयों की भी प्राप्ति नहीं होती और भगवान् से तो वे दूर ही हट जाते हैं। किन्तु जिन्होंने भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझ लिया है, जो अपना सुख दुःख भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य से कहते ही नहीं, जो एकमात्र उनकी ही शरण में होकर अनन्य-भाव से उन्हीं की आराधना में तत्पर हैं, उन्हें यदि विषय भोगों की भी इच्छा होती है, तो उन्हें ऐसे विषय भोग प्राप्त होते हैं जो तीनों लोकों में अत्यन्त दुर्लभ हैं। किसी कारण विशेष से वे उन्हें कुछ काल के लिये ग्रहण कर लेते हैं। अन्त में वे उन्हें उसी प्रकार त्याग भी देते हैं जैसे पुरुष, मल-मूत्र का त्याग करके उससे निस्पृह-उदासीन हो जाते हैं।

महामुनि मैत्रेय विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! जब अपनी प्रिया देवहूति की प्रार्थना पर भगवान् कर्दम ने बात की बात में अपनी योग-माया की ऐश्वर्य शक्ति से सर्वसुख सम्पत्ति सम्पन्न, इच्छानुसार जहाँ चाहो वहीं जाने वाला दिव्य विमान बना दिया, तब देवहूति हर्ष विस्मय के साथ बोली—"भगवन! कृश शरीर और इतना ऊँचा भवन! कैसे मैं इसमें चढ़ूँगी? कौन इसमें झाड़ बहारू देगा? आपने तो भवनों की भरमार कर दी। दिन भर इनमें झाड़ू देते-देते ही मैं थक जाऊँगी।"

कर्दम मुनि उसके अभिप्राय को समझकर बोले—"तुम डरती क्यों हो? पहिले श्रीभगवान् के निर्मित इस परम रम्य, महापावन-बिन्दुसरोवर में जाकर स्नान तो करो, फिर तुम्हारी सब कामनायें पूर्ण होंगी।"

देवहूति ने कहा—"महाराज! स्नान तो मैं नित्य ही तीन

चार करती हूँ, अब फिर आपकी आज्ञा से कर लूँगी। आज के स्नान में कुछ विशेषता है क्या ?"

गम्भीर स्वर में मुनि बोले—"हाँ, आज का विशेष-स्नान है। भगवान् के द्वारा निर्मित यह तीर्थ कल्पवृक्ष के समान है। इसमें जिस कामना से स्नान किया जायगा, वह तुरन्त पूर्ण होगी।"

यह सुनकर देवहूति अपने वल्कलों को उठाकर चलने लगी। मुनि ने कहा—"आज वल्कल ले जाने की आवश्यकता नहीं।"

देवहूतिजी ने कहा—"आप कैसी बातें कर रहे हैं। ये वल्कल इतने कोमल होते हैं, कि जहाँ भी तनिक बल लगा कि फट से फट जाते हैं, बिना सूखे वल्कलों के मैं वहाँ क्या पहिनूँगी क्या ओढ़ूँगी ?"

मुनि आग्रह के स्वर में बोले—"तुम जाओ तो सही, भगवान् सब प्रबन्ध करेंगे।। तुम श्रीहरि पर विश्वास रखकर समस्त कार्यों को किया करो।"

देवहूति बड़े उल्लास के साथ चल दी। उनके कृश और मलिन शरीर में आज नवीन उत्साह-सा आ गया था। जटा के आकार में बने चिकटे हुए बाल सूर्य की प्रभा में चमक रहे थे। वक्षस्थल में नवयौवन के चिन्ह जो मुरझा गये थे उनमें पुनः कान्ति-सी छिटकने लगी। उन्होंने इस सरस्वती के निकटवर्ती सुन्दर सरोवर के स्वच्छ जल में ज्यों ही डुबकी लगाई त्यों ही देखती हैं, कि उसके भीतर तो एक बड़ा ही सुन्दर महल बना हुआ है। चारों ओर से घिरा उसमें अत्यन्त रमणीय-स्नान-गृह है। वहाँ एक सहस्र नवयौवन सम्पन्ना युवतियाँ बैठी हुई हैं। सभी परम सुन्दरी और मनोज्ञा हैं। सबके नेत्र, कमल के समान विकसित हैं। सभी के शरीर से दिव्य गन्ध आ रही है। ये मानुषी नहीं, देव जाति ये विद्याधरों और किन्नरों की कन्यायें हैं। देवहूति को देखकर वे बड़े सम्भ्रम और श्रद्धा के साथ उठ

कर खड़ी हो गयीं। इन इतनी सुन्दर सुकुमारी कन्याओं को देखकर कुतूहल के स्वर में देवहूति ने पूछा—"बहिनो! तुम कौन हो? यहाँ क्यों बैठी हो? किसकी प्रतीक्षा कर रही हो? तुम्हारे हाथों में ये विविध प्रकार की शृङ्गार की सामग्रियाँ क्यों हैं?"

यह सुनकर हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर, शिष्टाचार के स्वर में उनमें से एक ने कहा—"हे स्वामिनी! हम आपकी दासी हैं, आप ही की प्रतीक्षा में बैठी हैं। स्नान कराकर हम आपका शृङ्गार करना चाहती हैं। कृपा करके आप हमें अपनी अनुरक्ता-सेविका समझकर अपनायें और सेवा का सुयोग प्रदान करें।"

इतनी सुन्दरी, सुकुमारी-कोमलाङ्गी, दिव्य-गन्ध वाली सेविकाओं को पाकर देवहूति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह स्नान के लिये बैठ गई। किसी ने सिर मला, किसी ने पीठ का मैल छुड़ाया, कोई शनैः-शनैः चरणों को दबाकर मलने लगी-कोई दिव्य गन्धयुक्त अंगराज लगाने लगी, किसी ने दिव्यौषधि-महौषधि के जलों से स्नान कराया। किसी ने परम सुगंधि युक्त सुखकारी तैल लगाया, इस प्रकार सभी अपनी सुकुमारी-स्वामिनी की सेवा में संलग्न हो गईं। स्नान कराके उन्होंने विविध प्रकार की शृगार की सामग्रियों से उनका शृङ्गार किया। उन्हें सुन्दर-सुन्दर नवीन दिव्य रेशमी वस्त्र पहिनाये जिनमें सुवर्ण के कलाबत्तू का काम हुआ था। बेल-बूटेदार कंचुकी पहिनाई। किसी ने पैरों के तलुओं में मिहदी लगाई, तो किसी ने एड़ी में महावर लगाया। किसी ने नखों को रँगा। उनमें बिछुए और छल्ले पहिनाये। फूल युक्त तीन सिकड़ी उनमें शोभित हो रही थी। किसी ने सुवर्ण के कड़े-छड़े और नूपुरों से चरणों को सुशोभित किया। पैर के तनिक से हिलने-से वे छम-छम बजते थे। किसी ने कमर में रत्न जटित सुवर्ण शोभा युक्त

चौड़ी करधनी पहिनाई, जिसके कारण देवहूति की शोभा अपूर्व हो गई। किसी ने हाथों की उँगलियों में छल्ले, छाप, अँगूठी और आरसी पहिनाई। किसी ने सुन्दर चमकती हुई रंग-बिरंगी-

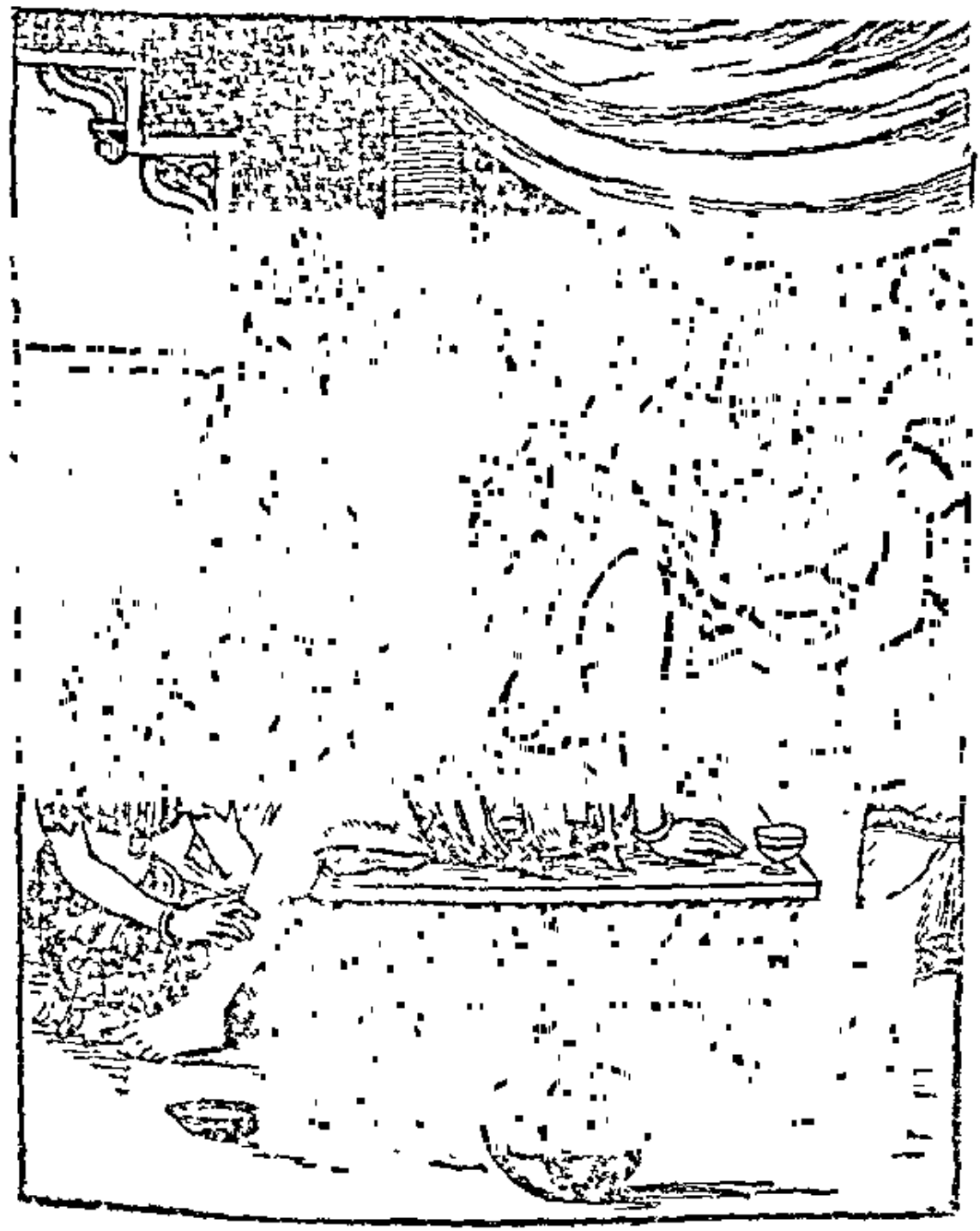

चूड़ियाँ पहिनाईं। किसी ने पहुँची पहिनाई, किसी ने कंकण पहिनाये, किसी ने मनोहर बंगली पहिनाई, किसी ने कुहनियों

में अंगद और बाहुओं में बाजूबन्द पहिनाये, तो किसी ने गले का शृङ्गार किया। उसमें हँसली, गुलूबन्द, मोतियों के हार, सुवर्ण की हमेल, मणिमुक्ता से जटित मोहनमाला पहिनाई तथा विविध प्रकार के सुवासित पुष्पों की सुन्दर मालायें पहिनाईं। किसी ने दाँतों में मिस्सी लगा दी। किसी ने बहुमूल्य सुन्दर सुवासित मसालेदार पान दिया। किसी ने कपोलों पर पत्रावलियों की रचना की, नेत्रों में सुन्दर अंजन लगाया, किसी ने भौंहों को सम्हाल कर उनके मध्य में कुंकुम, कस्तूरी, गोरोचन आदि से युक्त सुवासित चन्दन का तिलक लगाया। किसी ने नाक में नथ तथा कानों में कुण्डल और कर्णफूल पहिनाये। किसी ने बिन्दी ही लगाई। किसी ने काली-काली घुँघराली कुटिल-अलकावलियों को सम्हाल कर उनमें बीच-बीच में पुष्प लगाकर सुन्दर वेणी गूँथी। किसी ने सिर में चूड़ामणि और चन्द्रिका को सुशोभित किया। इस प्रकार नख से शिख तक दिव्य शृङ्गार करके सभी दासियों ने प्रजापति स्वायंभुवमनु की पुत्री, महामुनि भगवान कर्दम की पत्नी को भली-भाँति सजाया। भाँति भाँति के मंगल-द्रव्यों से उसे मूर्तिमती मंगलमयीलक्ष्मी के सदृश ही बना दिया।

इस प्रकार दिव्य वस्त्राभूषणों से सजाकर, सोलहों शृङ्गार करके किसी दासी ने दिव्य-दर्पण लाकर उनके सम्मुख रखा। दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर देवहूति चकित रह गईं। वे अपने आपको स्वयं भी न पहिचान सकीं कि, मैं वही तपस्विनी हूँ जिसका सम्पूर्ण अंग मैल से आवृत था।

शृङ्गार किया जाता है किसी को रिझाने के लिए। अब वे शृङ्गार कर चुकीं, तो उनको उत्कण्ठा हुई कि मैं अपना यह दिव्य रूप अपने प्राणनाथ को दिखाऊँ। उन्हें सहसा जाकर आश्चर्यचकित बनाऊँ। उन्हें अपने अनुपम सौन्दर्य से रिझाऊँ

उसके मन में ज्यों ही पति के मिलने की उत्कण्ठा हुई, त्यों ही वह बिना चले ही अपने प्रभावशाली पति के समीप उपस्थित हो गई।

आज कर्दमजी भी कल के तपस्वी कर्दम नहीं रहे। उन्होंने मूँज का अगड़बन्ध फेंक दिया था। भस्म के स्थान में गन्ध-युक्त अंगराग उनके शरीर की शोभा को बढ़ा रहा था। वल्कल-वस्त्र विदा हो चुके थे। उनके स्थान पर सुन्दर स्वच्छ रेशमी धोती पहिने और रेशमी दुशाला ओढ़े वे बहुमूल्य आसन पर विराजमान थे। जटाओं के स्थान पर नील-वर्ण की कुटिल-अलकावली उनके मुख-मण्डल पर उसी प्रकार बिखर रही थी मानों चन्द्रमा के ऊपर अमृत पीने की इच्छा से नाग के छौने चढ़कर टेढ़े-मेढ़े हिल रहे हों। उनके कानों में मकराकृति-कुण्डल विराजमान थे, माथे पर मनोहर मुकुट। हँसते हुए वे सुकोमल बहुमूल्य तकिये के सहारे बैठे थे। बहुत-सी विद्याधरियाँ छत्र-चँवर लिये उनकी सेवा में खड़ी थीं। अपने पति के ऐसे दिव्य रूप को देखकर देवहूति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। इधर प्रजापति भगवान् कर्दम ने भी जब देखा कि आज तो मेरी प्राण-प्रिया अपने सौन्दर्य से त्रिभुवन की सुन्दरियों को तिरस्कृत कर रही है। विद्याधरियों से घिरी वह उसी प्रकार प्रतीत होती थी मानों लोकपालों की पत्नियों से घिरी हुई लक्ष्मीजी! तब तो वे उन्हें देखकर हँस पड़े। देवहूति ने भी अपने हाव-भाव कटाक्षों से कामदेव के समान सुन्दर, लोकपितामह-ब्रह्माजी के समान प्रभावशाली अपने पति को प्रसन्न किया। वे उनके योग प्रभाव से अत्यन्त ही विस्मित हो रही थीं। कर्दमजी ने उन्हें अपने कर-कमलों से पकड़कर उस विमान पर बिठाया और अत्यन्त स्नेह के साथ बोले—"आज तो तुम पहिचानी भी नहीं जातीं।"

अत्यन्त स्नेह भरित हृदय से मधुर वाणी में कृतज्ञता

प्रदर्शित करते हुए मनु पुत्री बोली—"प्रभो! आपकी तपस्या की शक्ति अपूर्व है। सत्य है, जिन्होंने आराधना द्वारा अच्युत को प्रसन्न कर लिया है, उनके लिये संसार में भोग-मोक्ष सभी सुलभ हैं। भुक्ति की तो बात ही क्या मुक्ति भी उनके सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार दोनों ही उस दिव्य-विमान पर निवास करते हुए दिव्यातिदिव्य सुखों का उपभोग करने लगे। सुखपूर्वक गृहस्थ्य धर्म का पालन करते रहे।"

छप्पय

सोलह हू शृङ्गार करैं कर कमल घुमावत।
कमला सम निज नारि निरखि मुनि मन मुसकावत॥
नव यौवन सम्पन्न अधर मुसिकानि मनोहरि।
शोभा भई सजीव तपस्या अथवा तनु धरि॥
जस मनु तनया मुनिहु तस, शोभैं सुन्दर तनु धरैं।
मानो अंग अनंग धरि, रति सँग सुख क्रीड़ा करैं॥

कर्दमजी का लोकपालों की पुरियों में विहार

[१५८]

तेनाष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु
रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० २३ अ० ३९ श्लोक)

छप्पय

बोली भामिनि-बिभो ! विश्ववैभव हौं देखूँ ।
सुखद स्वर्ग सौन्दर्य इन्हीं नयननि तें पेखूँ ॥
सुनि मुनि उड़्यो विमान कुलाचलपतिपै आयो ।
सुर क्रीड़ा वर भूमि दिव्य ऐश्वर्य दिखायो ॥
नन्दन, सुरसन, चैत्ररथ, वैभ्रम्भक, मानस सुबन ।
पुष्पभद्र उद्यान सब, लखे भयो अति मुदित मन ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महामुनि कर्दम अपनी प्रिया के सहित रमणीक रत्नों के झुण्डों से घिरे हुए उस विमान पर चढ़कर सुमेरु पर्वत की कन्दराओं में, जो आठों लोकपालों की विहार की भूमि है, जहाँ का सखा समीर सुगन्धित हुआ मन्द-मन्द बहता है, जहाँ स्वर्ग से गिरती हुई भगवती सुरसरि की मंगलमयी ध्वनि होती रहती है, उन्हीं रमणीय कन्दराओं में सिद्धगण द्वारा वन्दित होकर कुबेर के समान विहार करते रहे।"

दिव्य हों अथवा पार्थिव, इन विषयों में सुख नहीं! इनके सेवन में शाश्वती-शान्ति नहीं, फिर भी परम्परा से ऐसा प्रवाह चला आ रहा है कि इन्हीं विषयों में सुख समझ कर उत्तरोत्तर इन्हीं की प्राप्ति के लिये हम व्यग्र रहते हैं। साधारण-निर्धन समझता है, लखपति सुखी होंगे, उनके समीप सुख की प्रचुर सामग्री है। लखपति समझता है कि करोड़पति सुखी होगा। करोड़पति, अरबपति को, वह पद्मपति को-चक्रवर्ती को, वह चक्रवर्ती इन्द्र को, इन्द्र ब्रह्मा को और ब्रह्मा सर्वस्व त्यागी विरागी को सुखी समझते हैं। वास्तव में इन्हीं की समझ सत्य है। जितनी ही विषयों की अधिक प्राप्ति होगी, उतनी ही तृष्णा बढ़ेगी। जिसकी जितनी ही अधिक बड़ी तृष्णा है, वह उतना ही अधिक दुखी है। परन्तु यह ज्ञान, बिना अनुभव के केवल सुनकर ही प्रायः नहीं होता। इसलिये क्रम मुक्ति वाले साधक इन सब दिव्यलोकों के सुखों का अनुभव करते हुए ऊपर बढ़ते हैं। कोई-कोई बुद्धि द्वारा इन सब विषयों को दृढ़-धारणा से तुच्छ समझकर, प्रकृति से परे पुरुषोत्तम-धाम में सदा नित्य सुखों के अधिकारी बन जाते हैं।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब देवहूति ने अपने कामद-विमान पर बैठकर पृथ्वी के सभी सुख ऐश्वर्य का अनुभव कर लिया, उसने दशों-दिशाओं के देशों को, उनके दर्शनीय स्थानों को देख लिया, तो वह अपने सर्वसमर्थ पति से बोली—"प्राणनाथ! मैंने सुना है, सुमेरु पर्वत के ऊपर आठ-लोकपालों की दिव्य-पुरियाँ हैं। वहाँ के वन उपवन बड़े ही मनोरम हैं। सुना है, उसमें कल्पवृक्ष के बहुत-से अद्भुत वृक्ष हैं, जिनके नीचे बैठने से जो भी इच्छा करो, वही मिल जाता है। समस्त पर्वतों के स्वामी सुमेरु के सुन्दर शिखरों पर सदा संगीत की सुमधुर ध्वनि सुनाई देती है। उसकी कमनीय-कन्दराओं में किन्नर,

विद्याधर और गन्धर्वों की कामिनियाँ अपने पतियों के साथ सदा क्रीड़ा करती रहती हैं। वहाँ सदा सब ऋतुओं के अनुरूप शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु बहती रहती है। वहाँ से भगवती-अलकनन्दा सदा हर-हर शब्द करती हुई गिरती हैं। वहाँ न शोक है, न ग्लानि! वहाँ पर न पसीना आता है, न आलस्य। वृद्धावस्था का तो नाम ही नहीं। सभी, सदा तरुण बने रहते हैं, सभी दिव्य-सुखों का आस्वादन करते हैं, सभी रूपवान, सुन्दर और दर्शनीय होते हैं। विहार में व्यग्र बने रहना ही वहाँ का व्यापार है। उसे शास्त्रकारों ने भोग भूमि कहा है। मेरी इच्छा उन सभी वन और उपवनों को देखने की है। मैं भी देवाङ्गनाओं की भाँति उन पुण्य प्रदेशों में आपके साथ विहार करना चाहती हूँ। मैं भी अपने अतुल ऐश्वर्य से स्वर्गीय-ललनाओं को लज्जित बनाती हुई उनके हृदय में कुतूहल पैदा करना चाहती हूँ। आप सर्वसमर्थ हैं। अपने संकल्प से ही सब कुछ कर सकते हैं, अतः मेरी इस इच्छा को पूर्ण कीजिये।"

महामुनि कर्दम तो देवहूति की सेवा से सन्तुष्ट होकर उन्हें इच्छानुसार सभी उत्तम से उत्तम सुख देने को उत्सुक थे, उसकी सभी इच्छाओं को पूरा करना चाहते थे, उसे प्रसन्न करने को अपनी समस्त तपस्या को लगा देना चाहते थे। उन्हें यान-सवारी की तो आवश्यकता ही नहीं। सकल्प करते ही वह सजा-सजाया विमान-भवन आकाश में उठने लगा। देवहूति अत्यन्त कुतूहल के साथ देख रही थी। अन्तरिक्ष, भुवर्लोक में उन्होंने असंख्यों सूक्ष्म-शरीर वाले, वायु के आधार से ही रहने वाले, भूत, पिशाच तथा सिद्धों को देखा। उनका विमान बादलों को चीरता-फाड़ता ऊपर जा रहा था। नीचे के वृक्ष छोटे छोटे पौधे-से दिखाई देने लगे, बड़े-बड़े विशाल पथ, चित्र में लिखी लकीरों जैसे प्रतीत होने लगे, वक्रगति से बहने वाली बड़ी-बड़ी

नदियाँ, पतली लम्बी-सर्पिणी के समान दिखाई देने लगीं। चलते हुए नर-नारी, मक्खी-मच्छरों की तरह प्रतीत होते थे। हाथी, रथ, अन्य यान उड़ते हुए पक्षी-से दिखाई देते थे। देवहूति को विचित्र कुतूहल हो रहा था। वह आश्चर्य और उत्सुकता के साथ खड़ी-खड़ी देख रही थी। विमान के उड़ने से न धूलि उड़ती थी, न किसी प्रकार की दुर्गन्ध ही आती थी। दिव्य-मणियों के प्रभाव से वह जगमगा रहा था। उसमें शब्द नहीं हो रहा था, हिलता-डुलता भी नहीं था। उसके उड़ने से शरीर में श्रम भी प्रतीत नहीं होता था। इस प्रकार उड़ते-उड़ते बात की बात में वह मन्दराचल के शिखरों के समीप पहुँच गया।

वहाँ की शोभा को देखकर तो देवहूति भौंचक्की-सी रह गई। कितना अनुपम सौंदर्य था उस दिव्य सुवर्ण-शैल का। कितनी भव्य थीं वहाँ की बड़ी-बड़ी विशाल गुफायें और कन्दरायें। सर्वत्र मन को लुभाने वाली सुगन्धियुक्त मन्द-मन्द वायु चल रही थी। पुष्पों की भरमार थी, पक्षियों के कलरव में मादकता थी। वहाँ मानों शोभा बिखर रही थी, सौन्दर्य का ही साम्राज्य था, सभी के शरीरों में काम व्याप्त था। वसन्त वहाँ स्थायी रूप से रहता था। वायुदेव, स्वाधीन नहीं थे। उन्हें अनुकूलता के अधीन रहना पड़ता था। वृक्षों को शोभा के अनुरूप फल, पत्र, पुष्प, पैदा करने पड़ते थे। वहाँ के फलों से एक प्रकार की मादक गन्ध आ रही थी। पुष्पों पर षट्पद मंडरा रहे थे। वे पुष्पश्री को झकझोरकर उसके साथ कलित-क्रीड़ा कर रहे थे, उसे अपने गुञ्जार रूपी गीतों से रिझा रहे थे, मना करने पर भी उसके मधु का पान कर रहे थे। पत्ते चंचल हो रहे थे, पुष्प हिल-हिलकर भ्रमरों को निषेध कर रहे थे। मकरन्द पान करके भ्रमर उड़ रहे थे। देवाङ्गनायें इठलाती, मदमाती, अलसाती इधर से उधर अपने-अपने पतियों के साथ घूम रही थीं। गन्धर्व

गा रहे थे, अप्सरायें नाच रही थीं। देवता विहार कर रहे थे। वीणा, पणव, मुरज की ध्वनि और प्रतिध्वनियों से मन्दराचल की कन्दरायें गूँज रही थीं। विमानों की श्रेणियाँ पंक्तिबद्ध खड़ी थीं, कुछ विमान उड़ रहे थे, कुछ उतर रहे थे। किसी में सुन्दर गान हो रहा था, किसी में पान का ही दौर-दौरा था, किसी में नृत्य का समारोह था, किसी में नाटक का अभिनय हो रहा था। कुछ देवता अपनी देवाङ्गनाओं के साथ विमानों से उतर कर उपवनों की ओर जा रहे थे। उपवनों की रंगभूमि में मनोरंजन के असंख्यों साज-सामान थे। जिधर देखा उधर रूप यौवन की गर्वीली, नशीली औषधियों के सेवन से मदमाती-देवाङ्गनायें घूम रही थीं। उन्हें न लज्जा थी न भय ही था। सभी विनोद में व्यस्त थे। सभी हँस रहे थे हँसा रहे थे, गा रहे थे गवा रहे थे, नाच रहे थे नचा रहे थे, नहा रहे थे नहला रहे थे, जा रहे थे, आ रहे थे, खा रहे थे खिला रहे थे, पी रहे थे पिला रहे थे, सज रहे थे सजा रहे थे,कोई किसी से प्रेमपूर्वक मिल रहा था, कोई किसी की ओर आँख तरेर कर जा रहा था। कोई पुण्य के प्रभाव से आ रहा था, कोई पुण्य क्षीण होने पर औंधा मुख करके गिराया जा रहा था। विचित्र चहल-पहल थी। न वहाँ कथा थी न कीर्तन, न उत्सव नहीं पर्व ! खाओ, पिओ, विहार करो—इसी का बोलबाला था। मुनि के विमान को देखकर सभी सिद्ध, चारण, गन्धर्व, देवता और ऋषि विस्मित हो जाते। वे उसे आँखें फाड़-फाड़ कर देखते। ऐसा विमान लोकपालों की आठों-पुरियों में से किसी में नहीं था। देवाङ्गनायें अपने पतियों से पूछतीं—"प्राणनाथ ! यह कौन इतनी सौभाग्यशालिनी ललना-रत्न है, जो अपने प्रियतम के साथ इस दिव्यातिदिव्य-विमान में विहार कर रही है। आकृति-प्रकृति से तो यह कोई मानवीय-महिला मालूम पड़ती है, किन्तु ऐश्वर्य में तो यह हम सबसे बढ़ी-चढ़ी है।"

देवता कहते—"ये भगवान् कर्दम मुनि की धर्मपत्नी हैं। भगवान् कर्दम का प्रभाव अमित है। उन्होंने श्रीहरि की आराधना से वे सिद्धियाँ प्राप्त की हैं, जो किसी भी कर्म से प्राप्त नहीं हो सकतीं।"

इस प्रकार देवताओं, सिद्धों और गन्धर्वों से वन्दित होते हुए—उनके द्वारा अपनी स्तुति सुनते हुए—महामुनि अपनी प्रिया के साथ एक वन से दूसरे वन में, दूसरे से तीसरे वन में विहार करने लगे। सर्वत्र उनका स्वागत ही होता। सभी उनको पुष्पांजलि भेंट करते। देव, गन्धर्व और सिद्ध आदि की कन्यायें उनके ऊपर पुष्प वृष्टि करतीं। पुष्पों से उनका विमान भर जाता और वे पुष्प उसी प्रकार नीचे गिरते, जिस प्रकार आकाश से वर्षा में बड़ी-बड़ी बूँदें अथवा ओले गिरते हैं।

इस प्रकार भगवान् कर्दम स्वर्ग के सभी—वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र, मानस तथा चैत्ररथ आदि दिव्य-काननों में बहुत काल पर्यन्त घूमते रहे। देवताओं के विमान, उनका ऐश्वर्य, उनकी प्रभा, कान्ति सभी कुछ महामुनि कर्दम से पिछड़ी-सी जाती। देवगण तो पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में आये हैं किन्तु ये तो भगवत् उपासना के प्रभाव से आये हैं। जिसके हृदय में भगवान् की भक्ति है, जिन्होंने पवित्र-चरित्र, पुण्यश्लोक, जगत-मंगलकारी, भवभयहारी भगवान पुरुषोत्तम के पावन-पादपद्मों का आश्रय ग्रहण किया है, उनके लिये संसार में दुर्लभ वस्तु कौन-सी हो सकती है? उनके सामने स्वर्गीय सुख तुच्छ हैं। मुनिवर जिस लोकपाल की पुरी में जाते, वे ही उनके दर्शनों को आते। लोकपालों की पत्नियाँ, भगवती देवहूति के पादपद्मों में आकर प्रणाम करतीं। मुनि-पत्नी उन्हें गले से लगातीं और अत्यन्त स्नेह से कहतीं—"हम तो मृत्युलोक के जीव हैं, आप स्वर्ग की रमणियाँ हैं, तीनों लोकों के अधीश्वर लोकपालों की

पूजनीया-पत्नियाँ हैं। आपकी समता संसार में कौन कर सकता है ?"

वे सब विनयावनत होकर श्रद्धा से अंजलि बाँधे हुए निवेदन करतीं—"देवि ! काहे के हम अधीश्वर हैं। आपके तनिक-से शाप से कीट-पतंग-योनियों में जा सकते हैं। संसार का समस्त ऐश्वर्य तो आपके अधीन है। हम सब तो विषय के कीड़े हैं। आपने अपनी अलौकिक उपासना के प्रभाव से अखिलेश को अपने वश में कर रखा है। आपके ऐश्वर्य के सम्मुख सभी का ऐश्वर्य फीका है।" इस प्रकार सभी लोकपाल-ललनाओं से सत्कार पाती हुई, देवहूति अपने पति की अप्रतिम-महिमा से भली-भाँति परिचित हो गयी।

चिरकाल तक महायोगी-भगवान कर्दम अपनी प्राणप्रिया पत्नी को, तीनों लोकों की अति आश्चर्यमयी चित्र-विचित्र रचनाओं को दिखाते हुए द्वीप, वर्ष, नद, नदी, समुद्र, कानन, अन्तरिक्ष सभी स्थानों में घूमते-घूमते सरस्वती तट के अपने उसी बिन्दुसरोवर के समीप के आश्रम में आ गये। देवहूति की सभी इच्छायें पूरी हुईं। भूगोल देखने का उनका भारी कुतूहल शान्त हुआ। विद्याधरी और किन्नरियों के द्वारा सेवित वे संसार के उत्तम-से-उत्तम विषयों का भोग करने लगीं। अपने प्राणप्रिय की प्रसन्नता प्राप्त करके वे संसार में अपने को अत्यन्त भाग्यवती नारी समझती थीं। जिस पत्नी के ऊपर उसके प्राणेश्वर प्रसन्न हों उसके लिये संसार में कौन-सी वस्तु दुर्लभ है और उससे बढ़कर सुख और हो ही क्या सकता है। इन सबको देख लेने के पश्चात् अब उन्हें सन्तान की सर्वश्रेष्ठ कामना उत्पन्न हुई।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! स्त्रियों को सुन्दर सन्तान की प्राप्ति से बढ़कर दूसरा और कौन-सा सर्वश्रेष्ठ सुख है ? देवहूति ने अपने पति के सम्मुख अपनी यह इच्छा प्रकट की

और भगवान् कर्दमजी ने उसके स्नेह के कारण उसकी वह भी इच्छा पूरी की।"

छप्पय

जहँ शुभ सुखद समीर सुगन्धित सब श्रमहारी।
मन्द-मन्द डरि बहे काल अनुरूप विचारी॥
कोकिल की कल कूँज गूँज मधुमय मधुकर की।
देवहूति है चकित लखै शोभा गिरिवर की॥
देव, सिद्ध, सुर बधुनि तैं, पूजित मुनि बिहरत भये।
निरखि निखिल भूगोल पुनि, निज आश्रम कूँ चलि दये॥

कर्दमजी को विराग

[१५६]

सर्वं तद्भगवान्मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम् ।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि ॥
ब्रह्मन्दुहितृभिस्तुभ्य विमृग्याः पतयः समाः ।
कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २१ अ० ५१, ५२ श्लो०)

छप्पय

आये आश्रम लौटि सुरति सुख अतिशय दीन्हों ।
नवधा करि निज वीर्य यथा विधि थापित कीन्हों ॥
नव कन्यायें भईं उभय कुल यश विस्तारिनि ।
कमल गन्धमय देह जनक जननी सुखदायिनि ॥
बाल मरालिनि के सरिस, किलकें कूजें सुता सब ।
कुटुम बढ़त जब मुनि लख्यो, भयो उदित वैराग्य तब ॥

---

* नौ कन्याओं के उत्पन्न हो जाने पर वन जाने के लिये जाते हुए अपने पति से देवहूतिजी कहती हैं—'हे प्रभो ! आपने जो भी प्रतिज्ञा की थी, वह सब तो आपने पूरी कर दी, फिर भी मैं आपकी शरणागता हूँ, कुछ और निवेदन करना चाहती हूँ, उसके लिये आप मुझे अभय दान दें । देखिये ब्रह्मन् ! आप की ये नौ कन्यायें हैं, इनके अनुरूप आप को वर की खोज करनी चाहिये । इनका विवाह करके और मेरे लिये कुछ आधार छोड़कर ही आप वन जायँ । आपके परिव्राजक होने पर मेरे शोक को दूर करने के लिये कोई योग्य पुत्र भी होना चाहिये ।"

दुःख की घड़ियाँ कल्पों के समान लम्बी हो जाती हैं और सुख के सैकड़ों वर्ष क्षण के समान व्यतीत हो जाते हैं। काल की गति तो एक-सी ही है। वह प्राणियों के दुखों को देखकर शनैः-शनैः नहीं चलता सुखों को देखकर मुट्ठी बाँधकर भागता नहीं। उसकी चाल सुख-दुःख में समान है, किन्तु हम अपने मन से, अपनी भावना और सुविधानुसार शनैः और शीघ्र की सृष्टि करते हैं। सुख-दुख को भी हम मन से ही खड़ा कर लेते हैं। जिसने मन को वश में कर लिया, उसने संसार को वश में कर लिया। जो मन के अधीन हो गया, वह संसार में फँस गया। सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष आदि सभी का कारण मन है। जिन्होंने मन की गति के रहस्य को समझ लिया है, वे पहिले तो संसारी विषयों में फँसते ही नहीं। यदि प्रारब्धवसात्, भगवत् इच्छा से उन्हें किसी परिस्थिति में विषयों को स्वीकार करना भी पड़ता है, तो वे शीघ्र ही उनसे पृथक् भी हो जाते हैं। भगवान् के ध्यान में मग्न हो जाते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महामुनि कर्दमजी इस प्रकार अपनी प्रिया को इस आश्चर्यमय-भूगोल खगोल को दिखाते हुए, स्वर्गीय वन उपवनों की शोभा निहारते हुए सबको अपने दिव्यातिदिव्य ऐश्वर्य से चकित बनाते हुए अपने आश्रम में लौट आये। उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को संसारी सुख देने में कुछ भी कोर-कसर नहीं छोड़ी। अनेक वर्षों तक वे उसके साथ रमण करते रहे। दोनों ने ही एक दूसरे को अपना हृदय अर्पित कर रखा था। दोनों ही यौवन के मद में मतवाले-से बने हुए थे। कब दिन हुआ, कब रात्रि हुई? उन्हें पता ही नहीं लगता था। इस प्रकार अनुराग में आसक्त हुए उन दम्पति के दिन क्षण के समान बीत रहे थे। क्रमशः मुनि के वीर्य द्वारा देवहूति के गर्भ से नौ कन्याओं का जन्म हुआ। वे सभी सुन्दरी, सुशील, चारु-

हासिनी थीं। उन सबके अंगों से दिव्य-कमल की-सी गन्ध सदा निकलती रहती थी, जिनकी सुवास से वह विमान सदा सुवासित बना रहता। वे अपनी तोतली वाणी से, बाल सुलभ चंचलता और चपलता से माता-पिता के मन को लुभाने लगीं। पुष्पों के समान हँसती हुई चारों ओर निकलती और कूदती हुई वे बच्चियाँ उस विमान में ऐसी लगती थीं, मानों समुद्र में छोटी-बड़ी रंग-बिरंगी मछलियाँ तैर रही हों। मुनि की गृहस्थी बढ़ने लगी। वे एक के बहुत हो गये। देवहूति अब जाया हो गई। मुनि के हृदय में तो वही भगवान् की छवि बसी थी। वे तो ब्रह्माजी की आज्ञा से भगवत् सेवा समझकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए थे। वे तो निवृत्ति-धर्म के उपासक थे। प्रवृत्ति को तो उन्होंने लोक संग्रह के लिये स्वीकार किया था। जब उन्होंने देखा मेरी बच्चियों से घर भर गया है, सम्पूर्ण भवन उनके कलरव से गूँजता रहता है, देवहूति उन्हीं के लालन पालन में व्यग्र बनी रहती है, अपने भी मन की स्थिति कुछ फंसती हुई सी देखी, मन में कुछ मोह का-सा उठता हुआ अंकुर दिखाई देने लगा, तब तो मुनि को चेत हुआ—"अरे, मैं तो ठग गया। भगवान् की माया ने मुझे फँसा लिया। मैं तो विषयों के आधीन हो गया। गृहस्थी रूपी कीचड़ में फँस गया। माया मोह ने मुझे अपना किंकर बना लिया। अब अधिक दिन इस झंझट में फंसे रहना ठीक नहीं। इस विचार के आते ही उन्होंने देवहूति से कहा—"मानवि! मेरा वह कमण्डलु कहाँ है?"

उपेक्षा के स्वर में देवहूति बोली—"अब, इतने तो ये सोने-चाँदी के रत्न जटित बर्तन पड़े हैं। उस लौकी के तूँबे की कैसे याद आ गई? कहीं ऊपर पड़ा होगा।"

गम्भीर स्वर में भगवान् कर्दमजी बोले—"नहीं-नहीं, यह

बात नहीं, अभी उसे ढूँढ़कर लाओ और वह मेरी मूँज की मौंजी भी लाओ।"

देवहूति काँपती हुई चली गई। दो तीन कन्यायें भी उससे लिपट गयीं। किसी को पुकारती, किसी को प्यार करती, किसी को स्नेह से डाँटती हुई वह ऊपर चढ़ गई। छोटी बच्ची उसकी गोद में थी। ऊपर से कमंडलु उठा लाई, मूँज की मौंजी लड़की ने दोनों हाथों से पकड़कर मुँह में दे ली थी। इससे हँसती हुई वह अपने पति के समीप आई, कुछ व्यङ्ग स्वर में बोली, "लो, मिल गई आपकी यह निधि। आज कैसे इन बातों को याद आ गई?"

मुनि कुछ न बोले—उन्होंने दिव्य-रेशमी वस्त्र उतार कर फेंक दिया। मूँज का अगड़बन्ध पहिन लिया। केले की छाल की लँगोटी लगा ली। कमंडलु हाथ में ले लिया और खड़े होकर बोले—"मनुपुत्री! जय-जय सीताराम! अपने राम तो अब चले, अब तुम सम्हालो इस गृहस्थी को।"

अब तक देवहूति हँसी समझ रही थी, विनोद से बातें कर रही थी, अब उसे चेत हुआ। अरे यह तो मुनि की बात सच्ची है। मैं समझती थी कि ये मेरे वश में हो गये। मेरे क्रीड़ा-मृग बन गये। मेरा ध्यान था—मैं जमूड़े की भाँति इन्हें जैसा नाच नचाऊँगी वैसा नाच नाचेंगे, जहाँ बिठाऊँगी वहीं बैठेंगे, जो कराऊँगी वही करेंगे, किन्तु यह मेरा कोरा भ्रम ही निकला। ये विरागी किसी के होते नहीं। "राजा किनके पाहुने, जोगी किनके मीत।" उसने लड़की को गोद से उतार दिया, रेशमी साड़ी को गले में लपेटकर घुटने टेककर हाथ जोड़े हुए हृदय से भयभीत होकर, ऊपर से मुस्कराती हुई बोली—"प्रभो! यह आपके अनुरूप ही है। किन्तु मुझ अबला की ओर भी तो कुछ ध्यान दें।"

विरक्ति स्वर में मुनि बोले—"देवहूति ! संसार में सबल कौन है ? सभी निर्बल हैं, निर्बल के बल राम हैं। तुम उन्हीं का आश्रय ग्रहण करो। संसारी सम्बन्ध तो क्षणभंगुर हैं। कौन किस पर कोप करता है, कौन कृपा करता है ? करने कराने वाले तो वे श्रीहरि ही हैं। उन्हीं का आश्रय ग्रहण करो, वे समस्त चराचर जीवों का—असंख्यों ब्रह्माण्डों का—योगक्षेम करते हैं।"

दीनता के स्वर में देवहूति ने कहा—"स्वामिन् ! यह तो सब सत्य है, किन्तु मेरे सर्वस्व तो आप ही हैं। स्त्रियों के तो पति ही परमेश्वर हैं ! मैं आपकी शरणागता हूँ, मेरे कोई और अवलम्ब नहीं। अतः प्रभो ! आप मुझे इस प्रकार अधर में छोड़कर अभी न जायँ।"

मुनि बोले—"देखो, मैंने तो तुम्हारे पिता के सम्मुख पहिले ही कह दिया था। तुम्हें स्मरण होगा, विवाह के पूर्व स्पष्ट शब्दों में मैंने कहा था, कि जब तक इसके सन्तानें न होंगी, तभी तक मैं इसके साथ रहूँगा। सन्तान होते ही मैं अपने मुख्य कार्य में लग जाऊँगा। विवाह तो मैंने ब्रह्माजी की आज्ञा से किया था, नहीं तो हम मोक्ष धर्मावलम्बी हैं। भगवान् वासुदेव के पादपद्मों के रस को पान करने वाले मत्त-मधुप हैं। अब एक नहीं तुम्हारे नौ-नौ सन्तानें हो गईं, उन्हें ही तुम पालो-पोसो, मैं अब भगवत् परिचर्या में अपना चित्त लगाऊँगा।"

माता-पिता की ऐसी बातें सुनकर लड़कियाँ इधर-उधर से आ गईं। आज अपने पिता का ऐसा विचित्र वेष देखकर लड़कियाँ हक्की-बक्की-सी रह गईं, वे बार-बार पिता के मुख को आश्चर्य के साथ देख रही थीं। अपनी माता को भी उनके सम्मुख घुटने टेके रोते हुए देखकर लड़कियों की आँखों में आँसू आ गये। छोटी-छोटी बच्चियाँ रोने लगीं। बहुत-सी बड़ी-सियानी-विवाह योग्य हो गई थीं, वे सब समझती थीं, इसलिये

वे भी बार-बार अपने आँसुओं को पोंछ रही थीं। रोते-रोते देवहूति ने कहा—"स्वामिन्! मैं आपको भगवत् आराधना से रोकती नहीं। आपका धन ही तप है। आपकी तपस्या के प्रभाव से ही तो मैं अपने को संसार में सर्वश्रेष्ठ सौभाग्यशालिनी समझती हूँ। मैं आप पर दोषारोपण भी नहीं करती। मेरे पिता के सम्मुख आपने जो भी प्रतिज्ञा की थी, वह सब आपने पूरी की। मुझे दिव्य सुख दिया, सन्तानें दीं, प्यार दिया, सर्वस्व दिया। किन्तु इस समय मेरी एक और भीख है, उसे और दीजिये। उसे देकर आप प्रसन्नता से वन में चले जायँ और सदा के लिये सर्वेश्वर की निश्चिन्त होकर आराधना करें।":

मुनि बोले—"तुम क्या चाहती हो?"

आँसू पोंछकर दीनता के साथ गद्गद् स्वर में देवहूति बोली—"प्रभो! मैं तो अबला ठहरी। अकेली गृहस्थी के कार्यों को कैसे कर सकती हूँ, स्त्री जाति ठहरी। ये लड़कियाँ सयानी हो गई हैं, सभी विवाह के योग्य हो चली हैं, इनके लिये योग्य वर खोजने मैं कहाँ जाऊँगी? मैंने तो आपके इस विमान से नीचे पैर नहीं रखा, इसी पर बिठाके आप मुझे तीनों लोकों में घुमा लाये। किस मुनि से प्रार्थना करूँगी? कौन मुझ अबला की बात सुनेगा? लड़कियों का विवाह न हुआ, तो आपकी ही अपकीर्ति होगी। इसलिये इन लड़कियों का तो योग्य वरों के साथ विवाह कर जाइये। और-और.....।"कहते-कहते देवहूति रुक गई।

तब मुनि बोले—"और क्या? उस और को भी कह दो। उसे क्यों छिपाती हो?"

देवहूति ने कुछ लजाते हुए कहा—"महाराज! और कहने में मुझे लज्जा लगती है। देखिये, शास्त्रकारों ने स्त्रियों को स्वाधीनता पूर्वक स्वतन्त्र रहने का निषेध किया है। बाल्यकाल में वे माता-पिता, गुरुजनों के आधीन रहती हैं। विवाह होने पर

पति के आधीन और सन्तान होने पर पुत्र के आश्रय में। आप चले जायँगे तो मेरे सहारे को भी तो कोई चाहिये। फिर आप तो भगवत् आराधना के प्रभाव से संसार सागर से तर जायँगे, आपकी सहधर्मिणी और धर्मपत्नी कहा कर भी यदि मैं चौरासी के चक्कर ही में पड़ी रही, यह आपके लिये भी बड़े अपयश की बात है। अतः मेरे उद्धार का भी कोई उपाय सोचें। मेरे आश्रय का प्रबन्ध करके ही जायँ। ये लड़कियाँ तो दूसरे घर के लिये पाली-पोसी जाती हैं। इनके तो जहाँ पंख निकले कि फुर्र-फुर्र करके उड़ जाती हैं। फिर माता-पिता को भूल-सी ही जाती हैं। स्त्रियों के आश्रय तो पुत्र ही होते हैं जो किसी तरह जीवन भर निभाते हैं, मरने पर श्राद्ध तर्पण करके 'पुं' नामक नरक से उद्धार करते हैं। इसलिये बहुत नहीं एक पुत्र की और भिक्षा है।"

पुत्र का नाम सुनते ही मुनिवर कर्दमजी को भगवान् के वरदान की याद आ गई और बड़े स्नेह के साथ हँसते हुए बोले—"अभी तुम्हारा सन्तानों से पेट नहीं भरा क्या ?"

देवहूति ने लजाते हुए कहा—"महाराज ! तृष्णा कभी शान्त थोड़े ही होती है। धन-सन्तानों से आज तक किसी की तृप्ति हुई है ? किन्तु अब मैं लोभवश नहीं, मुक्ति की कामना से पुत्र चाहती हूँ। किन्तु भगवान् की कैसी विचित्र माया है आप जैसे समस्त ऐश्वर्य और सिद्धियों के स्वामी पति को पाकर भी मैं विषय-भोगों ही में फँसी रही। आपसे मुक्ति सम्बन्धी प्रश्न भी नहीं किया। फिर भी कैसे भी हो, सत्सङ्ग तो हुआ ही। जैसे अनजान में भी विष खाने से पुरुष मर जाता है और भूल में अमृत पीने पर भी अमर हो जाता है, उसी प्रकार आपका अमोघ-सत्संग व्यर्थ तो होना नहीं चाहिये। अतः मेरा यह जीवन सार्थक होना चाहिये। जीवन की सार्थकता इसी में है, कि इस शरीर से

महापुरुषों की यथाशक्ति सेवा हो सके और जो भी कार्य किये जायँ, भगवान् की प्रीति के निमित्त, संसार से वैराग्य उत्पन्न करने के ही निमित्त हों। माया के चक्कर में पड़ कर मैंने ऐसा नहीं किया, मेरी भूल अब ठीक हो जाय, अब मैं विवेक वैराग्य से युक्त होकर भक्ति के साथ उन सर्वान्तर्यामी-अखिलेश की आराधना में तल्लीन हो जाऊँ।"

अपनी पत्नी के ऐसे विवेक वैराग्य पूर्ण वाक्य सुनकर कर्दम मुनि को बड़ा सन्तोष हुआ। उसे सान्त्वना देते हुए वे बोले—"हे मनुनन्दिनी! हे अनन्दिते! हे अनघे! स्वायंभुव-मनु की पुत्री के अनुरूप ही वचन हैं—तुम घबराओ नहीं। तुम्हारी दुर्गति नहीं होगी। मेरा सत्सङ्ग कभी निष्फल न जायगा। तुम चौरासी के चक्कर में कभी भूलकर न फँसोगी। मैं तुम्हें पुत्र दूँगा। ऐसा वैसा पुत्र भी नहीं। स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ही तुम्हारी भक्ति से सन्तुष्ट होकर पुत्र रूप में तुम्हारे गर्भ से अवतीर्ण होंगे। तुम अवतार-जननी और जगन्माता कहलाओगी। संसार में तुम्हारी कीर्ति तब तक गाई जायगी, जब तक पंचभूत और सूर्य-चन्द्र रहेंगे।"

अत्यन्त हर्ष के स्वर में देवहूति ने कहा—"प्रभो! मैं इस सौभाग्य के योग्य अपने को नहीं समझती। मैं तो एक मूढ़-अबला हूँ, साक्षात् विश्वम्भर को अपने उदर में कैसे धारण करूँगी, जो असंख्यों ब्रह्माण्डों को अपने उदर में रखे हुए हैं। चींटी, सुमेरु को कैसे अपने सिर पर रख सकती है?"

अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कर्दम मुनि बोले—"देवि! तुम मेरे वचनों पर विश्वास करो। तुम अपनी सामर्थ्य से उन्हें धारण नहीं कर सकतीं। जब वे कृपा करके तुम्हारे गर्भ में पधारेंगे, तो धारण करने की सामर्थ्य भी वे स्वयं देंगे। वरदान देते समय स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ने अपने श्रीमुख से ही

मुझे आशा बँधाई थी, कि मैं अपने अंश से तुम्हारे वीर्य द्वारा देवहूति के गर्भ से प्रगट हूँगा।"

प्रसन्नता से जिसका मुख-मंडल दमक रहा था, ऐसी देवहूति अपने को सम्हाल कर रुक-रुककर बोली—"तब प्रभो! मुझे क्या करना होगा? कौन-सा संयम, नियम, व्रत, उपवास करना होगा? जो-जो मेरा कर्तव्य हो उसका मुझे भली-भाँति उपदेश करें।"

भगवान् कर्दम बोले—"देवि! जिसने पति-सेवा न की हो, नाना व्रतों का पालन न किया हो, सर्वात्मभाव से सर्वेश्वर श्रीहरि की आराधना न की हो उसके यहाँ भगवान् का प्राकट्य हो नहीं सकता। तुम्हारे जन्म-जन्मातरों के बड़े पुण्य हैं, जो तुम्हें ऐसा देव दुर्लभ-सौभाग्य प्राप्त होगा। अब तुम सावधानी के साथ समस्त इन्द्रियों का दमन करो, अतिथि-अभ्यागतों का, अंधे, लंगड़े, भूखे, दरिद्रियों और दुखियों को अन्नदान करो, सत्पात्रों को विविध भाँति के मणि-माणिक्य दो, सबकी कामना पूरी करो, नियम से रहो, तपस्या करो। शीघ्र ही भगवान् तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करेंगे।"

देवहूति ने कहा—"फिर महाराज! मेरा संसारी बन्धन कैसे छूटेगा?"

शीघ्रता से मुनि बोले—"अब भी संसार-बन्धन रह गया क्या? अरे जब साक्षात् श्रीहरि ही आ गये, तब संसार कैसे रहेगा? सूर्य के उदय होने पर अन्धकार रह सकता है? रात्रि बीतने पर तारे प्रकाशित हो सकते हैं? गंगाजी में घुसने पर पापों का अस्तित्व क्या सम्भव है? श्रीहरि प्रकट होकर तुम्हारे सभी संशयों का छेदन करेंगे। लोक में तो माता-पिता, पुत्र को उपदेश देते हैं, किन्तु तुम्हारा पुत्र ही तुम्हें उपदेश देगा। वह तुम्हें निमित्त बनाकर संसार भर के लिये उपदेश देगा, उससे तुम

तो तर ही जाओगी, उसे श्रवण-मनन करके असंख्यों प्राणियों का भी उद्धार होगा। वे भी बाद में भगवान् की माया से पार हो जायँगे।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! अपने पति की ऐसी बातें सुनकर देवहूति परम प्रसन्न हुई और पति के बताये हुए नियमों का सावधानी के साथ पालन करने लगी।"

छप्पय

गह्यो कमण्डलु हाथ चले तप हित मुनि बनकूँ।
कच्ची-गृहथी निरखि तपस्विनि के दुख मनकूँ॥
अञ्जलि बाँधे डरपि विनय युत बोली बानी।
करी प्रतिज्ञा पूर्ण महामुनि हौ अब जानी॥
किन्तु प्रभो! पुत्रीनिकूँ, योग्य वरनितें व्याहिकें।
कछु अवलम्बन छाँड़ि पुनि, करहिं तपस्या जाइकें॥

भगवान् कपिलदेव का अवतार

(१६०)

देवहूत्यपि सन्देश गौरवेण प्रजापतेः ।
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थममजद्गुरुम् ॥
तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० २४ अ० ५-६ श्लो०)

छप्पय

आई वर की यादि कमण्डलु धरि पुनि दीन्हों ।
मुनि दयार्द्र ह्वै गये दूरि दयिता दुख कीन्हों ॥
बोले—"भामिनि ! दुःख शोक चिन्ता तजि डारो ।
गर्भ माँहिं तव प्रकट होहिं हरि शुभ व्रत धारो ॥
हर्षित ह्वै तप व्रत करहिं, हरि प्रसन्न अतिशय भये ।
उपजे अरणी तें अनल, त्यों प्रभु परगट ह्वै गये ।

रज-वीर्य्य से शरीर बनता है। संस्कारों से अन्तःकरण

---

* मैत्रेयमुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! देवहूति ने बड़े गौरव और श्रद्धा सहित प्रजापति कर्दम भगवान् की आज्ञा को स्वीकार किया। वह कूटस्थ-जगत् गुरु भगवान् परम-पुरुष की आराधना करने लगी। इसके अनन्तर बहुत काल बीत जाने पर मधुसूदन भगवान् कर्दम मुनि के वीर्य्य का आश्रय लेकर मुनि पत्नी के गर्भ से उसी प्रकार प्रकट हुए, जिस प्रकार ईंधन का आश्रय लेकर अग्नि प्रकट होती है।"

बनता है। गर्भाधान के समय माता-पिता के जैसे संस्कार होंगे सन्तान में भी बीज रूप से वैसे ही संस्कार होंगे। वे ही संस्कार जातिकरण, नामकरण आदि संस्कारों के द्वारा परिपुष्ट और दृढ़ बनाये जाते हैं। इसलिये वर्णाश्रम धर्म में संस्कार तथा रज-वीर्य की शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया गया है। ऐसी कन्या के साथ विवाह करो, उसका कुल ऐसा हो, उस कुल में दुराचार न हो, शुद्ध कुल हो। अपना भी कुल शुद्ध हो। शुद्ध संस्कारों के द्वारा वेद-मन्त्रों से गर्भाधान करो. अमुक-अमुक तिथियों में अमुक काल में मत करो। इन सबका एकमात्र उद्देश्य है भावी सन्तान के शुद्ध संस्कार बनाना। जो पाप की सन्तान है, जिनका गर्भाधान अवैध-रीति से हुआ है, वे सन्तानें प्रायः पाप प्रवृत्ति वाली ही होंगी, क्योंकि माता-पिता दोनों के संस्कार पाप पूर्ण थे। उनकी परमार्थ कार्यों में रुचि न होगी। विषय सुखों को ही सर्वस्व समझ कर धर्म से, अधर्म से उन्हें ही पाने के लिये जीवन पर्यन्त प्रयत्नशील होंगी। इसीलिये तो कलियुग में वेद, सत्-शास्त्र, परमार्थ-पथ प्रायः लुप्त हो जाते हैं, क्योंकि सबकी प्रवृत्ति अधर्म में हो जाने से रज-वीर्य की शुद्धि पर ध्यान नहीं दिया जाता। गम्या-गमन का विचार नहीं, संस्कारों की पवित्रता नहीं, विषय भोगों का प्राबल्य होने से स्वेच्छाचार बढ़ जाता है।

भगवान् जिस दम्पति को निमित्त बनाकर अवतीर्ण होना चाहते हैं, वे साधारण दम्पति तो होते नहीं। जन्म जन्मान्तरों के असंख्यों पुण्यों से, शुभ कर्मों से, विविध-धर्मों के आचरणों से ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है। यद्यपि श्रीहरि कर्मों के अधीन नहीं हैं। न तो कर्म भोगों को भोगने के लिये ही अवतीर्ण होते हैं और न उन्हें कोई पुण्य कर्म विविध-धर्मों के द्वारा प्राप्त ही कर सकता है। उनकी प्राप्ति का एकमात्र कारण तो उनकी कृपा ही है। किस पर वे कृपा कर दें, कहाँ अवतीर्ण हों, किसे दर्शन दें,

इन बातों को उनके अतिरिक्त कोई जान ही नहीं सकता। फिर भी सिंहिनी का दूध सुवर्ण के ही पात्र में टिकता है। भगवान् भी तपः—पूत, धर्माचरण में निरत, परम पुण्यात्मा, महान् संस्कारी, श्रेष्ठ सदाचारयुक्त दम्पति के यहाँ ही अवतरित होते हैं जो उनकी कृपा के भाजन बन चुके हैं। जिस पति-पत्नी को वे अपने जन्म का निमित्त बनाते हैं, उनकी वैसे तो आरम्भ से ही धर्म में प्रवृत्ति होती है, किन्तु अवतरण के समय तो उनका मन सदा श्रीहरि के चरणों में ही लगा रहता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवती देवहूति ने अपने पति से यह बात सुनी कि उसके यहाँ साक्षात् श्रीहरि अवतीर्ण होंगे, तब तो वे बड़े ही संयम, नियम से रहने लगीं। जन्म कर्म से रहित, निरंजन, निर्विकार, जगत्-गुरु परात्पर-पुरुषोत्तम मुझे दर्शन देंगे, मेरे गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न होंगे, यह स्मरण आते ही उनके रोम-रोम खिल गये और सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, उन्हीं अचिन्त्य-शक्ति वाले सर्वेश्वर का ध्यान करने लगीं। इस प्रकार श्रद्धा संयम से रहते हुए निरन्तर पुराण-पुरुष का ध्यान करते हुए उन्हें बहुत समय व्यतीत हो गया।"

अब भगवान् के प्राकट्य का काल उपस्थित हुआ। प्रथम भगवान् ने संकल्प रूप से प्रजापति-कर्दम के वीर्य में प्रवेश किया। फिर जिस प्रकार अधरारणि-उत्तरारणि के संघर्ष से अग्निदेव उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार भगवती देवहूति के गर्भ से साक्षात् श्रीहरि कपिलरूप से अवतीर्ण हुए। भगवान के जन्म के समय सर्वत्र आनन्द छा गया। चराचर जीव सुखी हुये, विशेष कर मुमुक्षु और ज्ञानियों को परम आनन्द हुआ, क्योंकि यह 'ज्ञानावतार' ही था। लुप्त हुए सांख्य-ज्ञान के प्रचार के निमित्त ही भगवान् ने यह कपिल रूप धारण किया था। उस समय देव-

ताओं ने उनके ऊपर पुष्प वृष्टि की, आकाश में गन्धर्व गाने लगे—देवता दुन्दुभी बजाने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। मेघ अपनी गड़गड़ान-तड़तड़ान से प्रसन्नता प्रकट करने लगे। मुमुक्षुओं के मन में स्वाभाविक प्रसन्नता छा गई। प्रसन्नता के कारण समुद्रों का जल उमड़ने लगा, अग्निहोत्र की अग्नियाँ स्वतः ही प्रज्वलित हो उठीं। दशों दिशाओं में आनन्द छा गया, प्राणिमात्र का हृदय भर गया।

पुत्र से बढ़कर पौत्र की उत्पत्ति पर प्रसन्नता होती है! ब्रह्माजी ने जब देखा, कर्दमजी के साधारण पुत्र ही नहीं हुआ है, स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ही पुत्र रूप में उनकी पुत्रवधू के गर्भ से अवतीर्ण हुए हैं—तब वे बहुत शीघ्रता पूर्वक ब्रह्मलोक से कर्दम मुनि के आश्रम की ओर चले। वे अपने चारों सिरों पर चमचमाते हुए दिव्य चार मुकुट धारण किये हुए थे। कमण्डलु, पोथी-पत्रा लिये हुए वे हंस को शीघ्रता से चलने का निर्देश कर रहे थे। उन्हें इस प्रकार व्यग्रता से जाते देखकर उनके जो नौ मानसपुत्र थे, वे बड़ी उत्सुकता से बोले—"प्रभो! आप इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रहे हैं?"

भगवान ब्रह्मा, विस्मय का भाव प्रकट करते हुए बोले—"अरे तुम लोगों को कुछ पता ही नहीं। मेरी छाया से उत्पन्न मेरे समान पुत्र प्रजापति-कर्दम के यहाँ स्वयं साक्षात् श्रीहरि प्रकट हुए हैं। वे सबकी मनोवांछा को पूर्ण करने वाले हैं। उनके सम्मुख बिना छल कपट या निर्मल और निष्कपट होकर जो जिस भावना से जायगा, उसकी वह भावना तत्क्षण पूरी होगी।"

इन सब मुनियों का मन, भगवान् की प्रेरणा से प्रवृत्ति धर्म स्वीकार करने में-विवाह करने में-लगा था। उन्होंने मन में सोचा—"यदि हमारा विवाह हो जाय तो हम भी भगवान ब्रह्माजी के साथ श्रीहरि के दर्शनों के लिये चलें।"

घट-घट की जानने वाले भगवान् ब्रह्माजी उनके भाव को ताड़ गये और शीघ्रता से बोले—"हाँ, हाँ, तुम लोग भी मेरे साथ चलो, मंगलमूर्ति-मधुसूदन तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करेंगे। तुम सबकी वांछा को पूर्ण करेंगे। इतना सुनते ही वे नौ महर्षि भी ब्रह्माजी के साथ चल दिये।"

भगवती सरस्वती से घिरे हुए बिन्दु-सरोवर के समीप महामुनि कर्दम का दिव्य-आश्रम था। भगवान् के प्रेमाश्रुओं से निर्मित यह तीर्थ, प्राणियों के समस्त अशुभों को नाश करने वाला था। महामुनि कर्दम, भगवान् के जन्मोत्सव की तैयारियाँ कर रहे थे कि इतने में ही उन्हें आकाश से उतरते हुए महर्षियों के सहित भगवान् ब्रह्मा दिखाई दिये। यह देखकर वे बड़ी ही प्रसन्नता के सहित उठकर खड़े हो गये। भूमि में लोटकर उन्होंने लोक पितामह-चतुरानन के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। तदनन्तर अन्य ऋषि-महर्षियों का भी यथायोग्य स्वागत-सत्कार किया। कर्दमजी की, की हुई पूजा को मुनियों सहित यथावत् स्वीकार करके हँसते हुए ब्रह्माजी बोले—"वत्स कर्दम! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने ही यथार्थ में मेरी सच्ची सेवा की। इस बाह्य-पूजन की अपेक्षा मैं आज्ञा पालन रूपी आन्तरिक पूजन को सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।"

हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से महामुनि कर्दम बोले—"महाराज! हमसे तो आपकी कुछ सेवा बन ही न सकी। आपने तो हमें इस गृहस्थी रूपी झंझट में ऐसा फँसा दिया कि हम तो सेवा सुश्रूषा सब कुछ भूल गये। इसी नौन तेल और कच्चे-बच्चों की चिन्ता में लगे रहे।"

यह सुनकर ब्रह्माजी बोले—"अरे, भैया! शारीरिक-सेवा ही सेवा थोड़े ही है। अपने पिता, गुरु जो भी आज्ञा दें, उसे बिना ननु-नच किये श्रद्धा सहित पालन करना यही सबसे श्रेष्ठ सेवा

है। तुमने मेरी आज्ञा का निष्कपट-भाव से पालन किया है। मुझे सृष्टि रचना में आशातीत सहयोग प्रदान किया है, यह तुम्हारी सर्वोत्तम सेवा है।"

ब्रह्माजी यह कह ही रहे थे, कि महामुनि कर्दम की नौ की नौओं पुत्रियों ने आकर लोक पितामह को प्रणाम किया। अत्यंत स्नेह के साथ बच्चियों के सिर पर प्यार से हाथ फेरते हुए ब्रह्माजी बोले—"ये तुम्हारी लड़कियाँ बड़ी सुशीला हैं, बहुत सरल स्वभाव की हैं।"

कर्दमजी ने कहा—"क्या करूँ भगवन्! ये सब-की-सब विवाह योग्य हो गई हैं, इन सबकी मुझे बड़ी चिन्ता रहती है। मैं चाहता हूँ इनके अनुरूप ही वर मिल जायँ तो इनका भविष्य जीवन-सुखमय हो सके। अब मुझे इन बच्चियों की ही एक चिन्ता और शेष है कि ये अपने-अपने घर चली जायँ, इनके हाथ पीले कर दूँ तो मानों मैं गृहस्थी के सभी कृत्यों से निर्मुक्त हो चुका।"

ब्रह्माजी हँसते हुए बोले—"तुमने इतने दिन भगवान् की आराधना की है। उनका साक्षात्कार किया है, उनसे दुर्लभ-वर भी प्राप्त किया है, फिर भी तुम चिंता करते हो। जो देव, विश्वम्भर हैं, जिन्हें चींटी से लेकर मेरे कार्य तक की चिन्ता है, जो सबका समय पर योगक्षेम चलाते हैं, वे क्या तुम्हारे कामों को भूल जायेंगे? भगवान अपने भक्तों का कार्य स्वयं करते हैं। कितनी हैं ये सब तुम्हारी कन्यायें?"

कर्दमजी बोले—"महाराज! सबकी सब सम्मुख ही तो हैं, पूरी की पूरी सेना है। 'नवग्रहों' की तरह ये नौ-की-नौ मुझे घेरे हुए हैं।"

आये हुए नौ ऋषियों का मन उन कन्याओं के शरीर से निकली हुई कमल की गन्ध के कारण लुभा रहा था। ब्रह्माजी

तो सब समझ सोचकर ही उन्हें अपने साथ लाये थे। अतः वे बोले—"देखो, ये नौ ऋषि हैं, इनके साथ तुम अपनी कन्याओं का विवाह कर दो।"

कर्दमजी ने कहा—"महाराज! मेरा बड़ा सौभाग्य है, घर बैठे वर मिल गये। सो भी एक दो नहीं पूरे नौ-के-नौ। अब यह आज्ञा कीजिये किस ऋषि को कौन-सी कन्या दूँ?"

ब्रह्माजी शीघ्रता से बोले—'भैया! इसे तुम लोग आपस में ही सुलझ लो। तुम्हें जो मुनि जिस कन्या के अनुरूप जान पड़े या जो मुनि जिस कन्या को वरण करें, उसी के साथ कर दो। अच्छी बात है, यह सब तो पीछे करते रहना। चलो, तुम्हारे यहाँ पुत्र रूप में जो परमात्मा प्रकट हुए हैं, उनके दर्शन तो हमें और कराओ। मैं बहुत-सा कार्य छोड़कर आया हूँ, मुझे बहुत शीघ्रता है। चौदहों भुवनों का—पूरे ब्रह्माण्ड का—काम देखना है।"

ब्रह्माजी की ऐसी बात सुनकर महामुनि कर्दमजी आदर के साथ लोकपितामह को अपनी पत्नी के भवन में ले गये। पितामह को आते देखकर देवहूति घूँघट काढ़ने लगी, लजाकर वह एक ओर प्रणाम करके खड़ी हो गई। तब ब्रह्मदेव बोले—"अरी बेटी! अब घूँघट का क्या काम? अब तो तू हमारी भी पूजनीया हो गयी। जो मेरे तथा सम्पूर्ण जगत के पिता हैं, वे ही जब आकर तेरे पुत्र बन गये तब तू जगन्माता बन गई। देख ये किसी के पुत्र नहीं हैं, साक्षात् वैकुण्ठाधिपति-श्रीहरि हैं! तू देखती नहीं इनके केश कैसे नील वर्ण के हैं। कमल के समान खिले हुए सुन्दर विशाल नेत्र, वज्र-अंकुश-ध्वजादि चिन्हों से चिन्हित छोटे-छोटे नवीन पीपल के पत्ते के समान कोमल चरण ये सब भगवत्ता के चिन्ह हैं। ये शास्त्र-ज्ञान और अनुभव-ज्ञान के द्वारा सभी के संशयों का मूलोच्छेद करेंगे।"

घूँघट की ओट में, बड़ी लड़की द्वारा देवहूतिजी ने कहलाया—"महाराज! सबका संशय तो छेदन करेंगे, मैं ऐसी की ऐसी ही अब अज्ञ बनी रहूँगी क्या? कुछ मेरे ऊपर भी तो कृपा होनी चाहिये।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"अरी बेटी! सर्वप्रथम ये तुझे ही उपदेश देकर संसार-सागर से पार करेंगे, ये सिद्धगणों के अधीश्वर और सांख्याचार्यों के स्वामी होंगे। तेरी कीर्ति को ये अमर बनायेंगे। तुम दोनों ने तपस्या और वैराग्य के द्वारा इन्हें प्रकट किया है, अतः ये त्यागी-विरागी के रूप में विचरेंगे।"

लजाते हुए देवहूति ने कहा—"तब तो महाराज, बड़े आनन्द की बात है। किन्तु पञ्चाङ्ग देखकर इनका नामकरण तो कर दें।"

यह सुनकर ब्रह्माजी खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले—"अरी बेटी! तू कैसी भोली-भाली बातें कर रही है? इनका कोई एक नाम हो तो बता दूँ। इनके तो अनन्त नाम हैं। असंख्यों-नामों से ये पुकारे जाते हैं, फिर भी संसार में ये 'कपिल' इस नाम से प्रसिद्ध होंगे और तेरे यश को संसार में विख्यात करेंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा, दोनों पति-पत्नियों को समझाकर भली-भाँति आश्वासन देकर अपने हंस पर चढ़कर फुर्र-फुर्र करते हुए ब्रह्मलोक की ओर उड़ गये।"

—o—

छप्पय

प्रकटे प्रभु परमेश । पितामहँ सुनि तहँ आये ।
अत्रि-अङ्गिरा-पुलह आदि नव ऋषि सँग आये ॥
कर्दम निरखे पिता यथा विधि स्वागत कीन्हों ।
ऋषि सँग पूजा करी सबनिकूँ आसन दीन्हों ॥
करहु ब्याह तनयानि को, विधि बोले इन ऋषिनि तें ।
कपिल रूप धरि पुत्र बनि, हरि आये निज बरनि तें ॥

कपिलजी की स्तुति

[१६१]

परं प्रधानं पुरुषं महान्तम्
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपंचम्
स्वच्छंदशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २४ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

विधि आज्ञा सिर धारि ऋषिनिकूँ कन्या दीन्ही ।
वैदिक विधि तें ब्याह करे विनती बहु कीन्ही ॥
सब ऋषि पत्नी लई चले हिय हरिकूँ सुमिरत ।
कर्दम चिन्ता मिटी भयो मन अतिशय हरषित ॥
गृही बने सब सुख लहे, हरि प्रकटे, कन्या दई ।
करुणाकर की कृपा तें, सब इच्छा पूरन भई ॥

भोगों में सुख तभी तक प्रतीत होता है, जब तक उनमें थोड़ी बहुत आसक्ति हो, जहाँ विषयों में से आसक्ति हटी, कि वे ही

* महामुनि कर्दमजी कपिल भगवान् की स्तुति करते हैं—'जो परमात्म स्वरूप, प्रकृति और पुरुष स्वरूप तथा महत्तत्व, काल, ब्रह्मा, त्रिविध-अहङ्कार तथा लोकपाल स्वरूप है, सम्पूर्ण प्रपञ्च, चेतनाशक्ति के द्वारा जिनमें समाया हुआ है, ऐसे स्वच्छन्द शक्ति वाले भगवान् कपिल को प्रणाम करता हूँ।"

विषय विषवत् प्रतीत होने लगते हैं। आसक्ति के आधार पर ही यह संसार प्रपञ्च चल रहा है। जहाँ संसार से वैराग्य हुआ कि फिर संसार नाशवान्, क्षणभंगुर, अनित्य और मिथ्या प्रतीत होने लगता है। आत्मा के सम्बन्ध से हम इस शरीर में नाना प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह मेरा पिता है, पुत्र है, पति है, सम्बन्धी है इत्यादि। जहाँ जीवात्मा इस शरीर से पृथक् हुआ, तहाँ सब सम्बन्ध टूट जाते हैं। शरीर बुरा लगने लगता है, शीघ्र-से-शीघ्र उसे घर से बाहर करने के लिये व्यग्र हो जाते हैं। जिन अंगों को देखकर सम्बन्धी सिहाते थे, आज वे सब भयानक दिखाई देने लगते हैं। जिन्हें इन विषयों की अनित्यता का ज्ञान हो गया है, उन्हें फिर संसारी-झंझटों में फँसा रहना भार-सा प्रतीत होता है। कर्तव्य-वश कुछ दिन और रहना ही पड़े, तो वे दिन गिनते रहते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब महामुनि कर्दम के यहाँ भगवान् कपिल का प्रादुर्भाव हो गया, और ब्रह्माजी उन दोनों—पति-पत्नियों को समझा-बुझाकर चले गये तथा आज्ञा दे गये कि, इन ऋषियों के साथ अपनी कन्याओं के विवाह कर दो, तब उन्होंने ऐसा ही किया। उनकी कला, अनसूया, श्रद्धा, हविर्भू, गति, क्रिया, ख्याति, अरुन्धति और शान्ति ये कन्यायें थीं। इसलिये उन्होंने क्रमशः नौ की नौओं ऋषियों को दीं। प्रजापति भगवान्-मरीचि के साथ कलादेवी का विवाह कर दिया। अत्रिमुनि ने भगवती अनसूया का पाणिग्रहण किया, जिनके यहाँ भगवान्-दत्तात्रेय के रूप में प्रकट हुए और जिनका पतिव्रत धर्म संसार में विख्यात है। अंगिरा मुनि का श्रद्धादेवी के साथ गठबन्धन हुआ, जिस श्रद्धा से रहित होकर किया हुआ कोई भी कार्य सफल और श्रेष्ठ नहीं समझा जाता है, भगवान् पुलस्त्य के साथ हविर्भूदेवी का विवाह हुआ, जिनके वंश में क्रूर

कर्मा-राक्षस हुए। पुलह ऋषि ने गति देवी को स्वीकार किया, जिनसे इस संसार की स्थिति है। गति न हो तो सब अगति हो जायँ। क्रियादेवी को भगवान्-क्रतु को दिया, जिस क्रिया के सहारे ही समस्त यज्ञादिक कार्य होते हैं। प्रजापति भगवान् भृगु के साथ ख्यातिदेवी का विवाह हुआ, जिस ख्याति के लिये संसार के सभी प्राणी लालायित रहते हैं। इसी वंश में भगवान्-परशु-राम का अवतार हुआ। भगवान् वसिष्ठ को महामुनि कर्दम ने अरुन्धती देवी को दिया, जो पतिव्रताओं में श्रेष्ठ हैं जो अब भी सप्तर्षियों के तारों के बीच आकाश में अपने पति के साथ प्रकाशित हुई दिखाई देती हैं। ये ही भगवान् वसिष्ठ, सूर्य-वंश के पुरोहित हुए। अथर्वा मुनि के साथ शान्ति देवी का विवाह किया, जिनके द्वारा यज्ञादि सभी कार्यों का विस्तार किया जाता है। जिन कार्यों में शान्ति नहीं वे कर्म व्यर्थ हैं इसलिये समस्त ऋषि, सम्वाद के अन्त में तीन बार शान्ति-शान्ति-शान्ति का उच्चारण करते हैं।

अपने-अपने अनुकूल पति पाकर कन्याओं को बड़ा हर्ष हुआ! ऋषिगण भी कृतकार्य हो गये, उन्हें भगवान् के दर्शनों का प्रत्यक्ष फल मिल गया। कहाँ तो वे सहस्रों-वर्षों की समाधि लगाकर भगवान् की तनिक-सी झाँकी को लालायित रहते थे, कहाँ अब उनसे प्रगाढ़ सम्बन्ध जुट गया। जीव, व्यर्थ ही चिन्ता करता है! अश्रद्धावश इधर-उधर भटकता रहता है जहाँ भगवान् की शरण में गया नहीं, कि उसके समस्त मनोरथ सफल हो जाते हैं। फिर उसे अन्यत्र कहीं याचना करने की आवश्य-कता नहीं रह जाती है। कल्पतरु के नीचे जाकर लोग मुक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु कृष्ण कल्पतरु की छाया में मुक्ति-भुक्ति दोनों ही हाथ जोड़े खड़ा रहती हैं। भगवद् भक्त, मुक्ति तक को भी भगवान् की सेवा के बिना नहीं चाहते। किन्तु भगवान् के

समीप भी तो वही जा सकता है जिन पर वे कृपा करें। वे प्रभु, मात्र कृपा के ही द्वारा प्राप्त होते हैं। अतः सदा सर्वदा उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करनी चाहिये।

इस प्रकार महामुनि कर्दम, कन्याओं का विवाह करके गृहस्थ की इस सबसे बड़ी चिन्ता से मुक्त होकर निश्चिन्त हो गये, अब उन्हें कुछ भी करने को शेष नहीं रहा।

गृहस्थ की सबसे बड़ी अभिलाषा होती है, कि उनके यहाँ पुत्र जन्म हो जो मरने पर श्राद्ध, तर्पण और पारलौकिक कार्य करे, नरक में पड़े हुए पितरों को उबारे, वंश की परम्परा अक्षुण्ण बनाये रखे। कर्दमजी के यहाँ पुत्र-रत्न का भी जन्म हुआ। पुत्र भी साधारण नहीं–स्वयं साक्षात् निर्गुण निराकार श्रीहरि ही सगुण साकार स्वरूप बनाकर अवतीर्ण हुये! यह स्मरण आते ही उनका हृदय भर आया। वे प्रेम भरित अन्तःकरण से उन्हीं कपिल भगवान् की शरण में गये।

कुछ काल के अनन्तर कपिल भगवान् बड़े हो गये। उनमें बाल सुलभ चंचलता नहीं थी। बाल्यकाल से ही वे शान्त, गम्भीर और मननशील थे। पहरों तक वन प्रदेश के एकान्त स्थानों में बैठकर इन तत्वों का विवेचन करते रहते। प्रकृति पुरुष के गूढ़तम रहस्यों पर विचार करते रहते।

एक दिन सघन वन के घोर प्रदेश में विशाल-वट वृक्ष की शीतल छाया में, मुनि ने अपने पुत्र को ध्यान मग्न बैठे देखा! उनकी छोटी-छोटी लटायें वायु से बिखर रही थीं। कमल के समान खिले हुए नयन खुले थे, मुख मण्डल पर अद्भुत दैवी-शक्ति विराजमान थी। वे पद्मासन से बैठे हुए थे और किसी गम्भीर विषय के विचारों में निमग्न थे। महामुनि कर्दम ने जब भगवान्–कपिल को इस भाँति एकान्त में विराजमान देखा तब तो उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा। वे ऐसे ही अवसर की

खोज में थे। उनका मन अब गृहस्थी में लगता नहीं था। यद्यपि गृहस्थी में फँसाने वाली कोई भी वस्तु नहीं थी। लड़कियाँ सब अपने-अपने घर चली गई थीं। देवहूतिजी, सदा आराधना में ही लगी रहती थीं। कपिल भगवान् बाल्यकाल से ही विरक्त थे, फिर भी अहङ्कार का लेश तो था ही। यह मेरा घर है, यह मेरी पत्नी है, मैं इसका भरण-पोषण करने वाला भर्ता हूँ, ये मेरे पुत्र हैं, मैं इनका पिता हूँ! वे इस अहङ्कार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बीज को भी नष्टकर डालना चाहते थे। वे मन से ही नहीं, शरीर से भी इन सब सम्बन्धों का त्याग करना चाहते थे, किन्तु भगवान् की आज्ञा के बिना यह सब कैसे हो सकता है? प्रभु चाहें तो सब संभव है, वे न चाहें तो मनमोदक खाते रहो भूख तो बुझने की नहीं। अतः भगवत् आज्ञा प्राप्त करने के निमित्त वे ध्यान मग्न भगवान् कपिल की सेवा में गये, उनके समीप पहुँचकर उन्होंने भगवान को साष्टाङ्ग दण्डवत् किया।

अपने पिता को अपने चरणों के समीप साष्टाङ्ग प्रणाम करते देखकर लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए भगवान् कपिल सम्भ्रम के साथ खड़े हो गये और उन्हें उठाते हुए बोले—"पिताजी! आप यह क्या कर रहे हैं, बच्चों को भला इस प्रकार लज्जित किया जाता है। हम तो आपके बच्चे हैं, आपको तो हमें आशीर्वाद देना चाहिये। प्रणाम करने के अधिकारी तो हम हैं। आप यह कैसी उलटी गङ्गा बहा रहे हैं।"

कर्दमजी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! आप मुझे ठगें नहीं। आप किसके पुत्र? संसार आपका पुत्र है। आप कृपा के सागर हैं। किसी साधन से आप प्रसन्न नहीं होते। साधनों से तो देवगण भी बड़ी कठिनता से चिरकाल के पश्चात् यदि विधान ठीक हुआ तो-प्रसन्न होते हैं। फिर आपकी तो बात ही पृथक् है। आप तो केवल कृपावश, अपनी अनुकम्पा से ही

प्रसन्न होते हैं। नहीं तो अनेकों योगी, असंख्यों-जन्मों तक सुदृढ़ समाधि द्वारा आपका ध्यान करते रहते हैं कि एक बार उन्हें समाधि में आपकी छटा दिखायी दे जाय। उनमें से किसी भाग्यशाली को दर्शन होते हैं, बहुतों को नहीं भी होते। ऐसे होने पर भी आप हम विषय-लोलुप गृहस्थों के अपराधों की ओर कुछ भी ध्यान न देकर हमारे यहाँ पुत्र रूप में अवतीर्ण हुए यह एक विडम्बना ही तो है। बिना आपकी कृपा के यह कभी संभव हो सकता है ?"

भगवान् बोले—"पिताजी ! भगवान् तो अजन्मा हैं, उनका रूप इन चर्म-चक्षुओं से दिखाई भी नहीं देता, इसलिये वे अरूप कहलाते हैं। मेरा तो आप रूप देख रहे हैं, माता के गर्भ से मेरा आपके घर जन्म हुआ है। फिर आप मुझे भगवान् क्यों बता रहे हैं ?"

कर्दमजी ने कहा—"नहीं भगवन ! आप अरूप होने पर भी भक्तों की इच्छानुसार अनेक रूप धारण कर लेते हैं। अनेक कर्मों के फल भोगने को आप जन्म नहीं लेते। भक्तों की इच्छा-पूर्ति के लिये आप जन्म भी लेते हैं और पुत्र, मित्र, सखा, सेवक, दूत, किंकर इत्यादि उनकी प्रसन्नता के निमित्त सब कुछ बन जाते हैं। आप अपने भक्तों का सदा मान बढ़ाते ही रहते हैं। उनकी सभी उचित-अनुचित बातों को आप पूर्ण करते हैं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं ही हूँ। मैंने भूल में अज्ञान वश आपके सदृश पुत्र की याचना कर डाली। आप तो अपने सदृश अकेले ही हैं, अतः मेरी उस इच्छा को पूर्ण करने और अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के निमित्त मेरे घर पुत्र रूप में प्रकट हो गये"

भगवान् बोले—"पिताजी ! भगवान में तो समस्त ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और सम्पत्ति—ये षड्गुण सर्वदा

निरन्तर विद्यमान रहते हैं। मुझमें ये सब आप कहाँ देख रहे हैं ?"

कर्दमजी ने विनीत भाव से कहा—"प्रभो! आपका यह अवतार, तत्त्व-जिज्ञासु-विद्वज्जनों के उपदेशार्थ ही हुआ है। आपके पादपद्मों की पावन पीठ की वन्दना बड़े-बड़े ज्ञानी, सांख्याचार्य, योगीगण सदा करते ही रहते हैं। षडैश्वर्य में सदा विद्यमान रहते हैं। आप, प्रकृति और पुरुष के भी नियामक पुरुषोत्तम हैं। महत्तत्व, काल, ब्रह्मा, तीनों गुण, अहंकार, देवता, लोकपाल, जड़, चेतन जो भी कुछ है—सबका अस्तित्व आपकी शक्ति में ही है। आप स्वच्छन्द, शक्ति, सर्वज्ञ और अनन्त हैं! मुझे भुलावें नहीं, मैं आपके चरणों में पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ।"

इतना सुनते ही भगवान् हँस पड़े और बोले—"महामुनि! आपका ज्ञान बड़ा दृढ़ है। माया आपको स्पर्श भी नहीं कर सकती।"

कर्दम मुनि लजाते हुए बोले—"महाराज! जिनके ऊपर आपकी कृपा है, जिनके उद्धार का भार आपने अपने ऊपर ले लिया है, जो आपके अतिरिक्त और किसी को कुछ समझते ही नहीं उन्हें माया भला कैसे स्पर्श कर सकती है? एक बार आपने जिसे अपना कहकर वरण कर लिया, वह यदि किसी कारण वश कुछ काल के लिये विषय-भोगों में आसक्त भी हो जाय, तो आप उसका शीघ्र ही उद्धार करते हैं, बलपूर्वक उसे संसार-सागर से हाथ पकड़कर उबार लेते हैं। मुझ, संसार मग्न को ही उबारने के लिये आप मेरे यहाँ पुत्र रूप में अवतरित हुए हैं।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार जब महामुनि कर्दमजी ने भगवान् कपिल की स्तुति की, तो वे उनके ऊपर

प्रसन्न हुए और उन्हें तत्वज्ञान का उपदेश देने के लिये प्रवृत्त हुए।"

छप्पय

पुत्र रूप हरि लखे एक दिन बैठे बन महँ।
आज्ञा ले घर त्याग चलूँ सोची मुनि मनमहँ॥
करके दण्ड प्रणाम विनय श्रद्धा युत बानी।
बोले—हे अखिलेश! तुम्हारी महिमा जानी॥
माया मोहित मूढ़ हौं, तुम महेश, अज, अखिलपति।
साधन सुलभ न दरश तव, प्रकटे कीन्हीं कृपा अति॥

कर्दमजी का सन्यास ग्रहण

(१६२)

आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानाम्
त्वयावतीर्णार्ण उतात्तकामः ।
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहम्
चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन् विशोकः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २४ अ० ३४ श्लोक)

छप्पय

भयो कृतारथ देव पितृ ऋषि ऋणते छूट्यो ।
जग के भोगे भोग मोह को नातो टूट्यो ॥
एक कृपा अब करो मूर्तिहिय महँ तव धारूँ ।
विचरूँ है निर्द्वन्द तुम्हें सर्वत्र निहारूँ ॥
इच्छा द्वेष विहीन बनि, देह गेह ममता तजहुँ ।
सुख दुख महं सम भाव करि, है अनन्य तुमकूं भजहुँ ॥

अमृतत्व प्राप्ति का एकमात्र उपाय है त्याग । त्याग के बिना सुख नहीं, शाश्वती शान्ति नहीं, संसार से सर्वदा के लिये मुक्ति

---

* महामुनि कर्दम, भगवान् कपिल से प्रार्थना कर रहे हैं—"प्रभो ! आप सम्पूर्ण प्रजाओं के पति हैं, आपके अवतीर्ण होने से मैं तीनों ऋणों से मुक्त हो गया तथा मेरी समस्त कामनायें पूर्ण हो गईं । अब मेरी इच्छा है कि मैं संन्यासाश्रम को ग्रहण करके हृदय में ध्यान करते हुए शोक रहित होकर विचरण करूँ । इसके लिये मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ ।"

नहीं। निःश्रेयस का मूल कारण है त्याग। जो लोग प्रवृत्ति मार्ग को ग्रहण करते हैं वे फँसने के लिये नहीं करते। ग्रहण करना—विषयों में सदा लिप्त रहना—यह कर्मयोग अथवा वर्णाश्रम-धर्म का अभिप्राय नहीं। वह भी त्याग के लिये है। जैसे युद्ध करते समय किसी अवसर पर शत्रु को फँसाने को पीछे हटते हैं, जहाँ शत्रु फँसा कि एक दम आगे बढ़कर उस पर प्रहार करते हैं। सिंह, शिकार करते समय तनिक पीछे हट कर तब आक्रमण करता है। वहाँ पीछे हटने से प्रयोजन आक्रमण को भीषण बनाने के लिये है। आगे कूदने के लिये कुछ हटकर बल को बढ़ाना पड़ता है, गति को द्रुत करने का यह उपाय है। अनेक जन्मों के संस्कारों के कारण जीवों का विषयों के प्रति आकर्षण होता है, प्रारब्ध-कर्म बलात् उधर ले जाते हैं, इसलिये मनीषियों ने 'कर्म-त्याग' के मार्ग से-वर्णाश्रम धर्म को श्रेष्ठ बताया है। ब्रह्मचर्याश्रम में त्याग की शिक्षा प्राप्त करो। गृहस्थाश्रम में प्रारब्ध-कर्मों को भोगते हुए धर्मपूर्वक काम तथा विषय का सेवन करो। वानप्रस्थाश्रम में ज्ञान-अज्ञान में किये हुए पापों का प्रायश्चित्त करते हुए पूर्ण त्याग के लिये तैयारियाँ करो। संन्यासाश्रम में सब कुछ त्यागकर, समस्त प्राणियों को अपने से अभय-दान देकर परिव्राजक बन जाओ। यही वर्णाश्रम धर्म का रहस्य है। दारा-ग्रहण त्याग के ही निमित्त है। त्याग ही चरम लक्ष्य है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! ऋषिप्रवर श्री कर्दमजी ने भगवत् आज्ञा समझकर त्याग को आगे रखकर ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था। उन्होंने अपने ससुर महाराज स्वायंभुवमनु से विवाह के पूर्व ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया था—"देखिये, मैं गृहस्थाश्रम को स्वीकार तो करता हूँ—किन्तु आप सोचते हों कि मैं मरते समय तक सदा गृहस्थाश्रम में ही फँसा रहूँ, मेरी मृत्यु खों-खों खाँसते हुए, परिवार वालों से घिरे हुए घर

में खटिया पर ही हो—सो न होगा। जहाँ तुम्हारी पुत्री के कोई सन्तान हुई कि फिर जय-जय राधेश्याम हो जायगी! मैं सब छोड़-छाड़कर वन में चला जाऊँगा। महात्याग की सर्वोत्तम दीक्षा ग्रहण कर लूँगा, क्योंकि वे अनन्त भगवान् ही मेरे लिये परमप्रमाण हैं।" यह सुनकर हर्ष के सहित महाराज मनु ने कहा—"प्रभो! त्याग तो हम लोगों का भूषण ही है। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।" भगवती-देवहूति भी सुन रही थीं अतः बात दो टूक हो गई। किसी को पीछे कुछ कहने सुनने को रहा नहीं।

अब, जब नौ की नौओं के विवाह हो गये, घर में पुत्र रूप से साक्षात् श्रीहरि प्रकट हो गये, तब तो महामुनि ने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय ही कर लिया। एकान्त में जाकर उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की।

अपने पिता को इस प्रकार प्रार्थना करते देखकर जगत् के पिता भगवान् कपिल बोले—"मुनिवर! आपने अपनी तपस्या से मुझे सन्तुष्ट किया है। इसीलिये मैं आपके यहाँ पुत्र रूप में अवतीर्ण हुआ हूँ।"

कर्दमजी बोले—"प्रभो! आपको तपस्या से कौन प्रसन्न कर सकता है! आपको पाने को योग्य तप कर ही कौन सकता है? आपकी जिस पर अनुकम्पा हो जाय, वही आपके दर्शनों का अधिकारी हो सकता है।"

भगवान्-कपिल बोले—"मुनि! यह सत्य है, फिर भी लौकिक-वैदिक कर्मों में मेरा वचन ही प्रमाण है। मेरी वाणी को ही वेद-शास्त्र कहते हैं। मैंने तुमसे कहा था—मैं तुम्हारे घर अवतीर्ण हूँगा। सो उसी वचन को पूर्ण करने के निमित्त मैंने अवतार धारण किया है, यह मेरा अवतार एक विशेष-कार्य की सिद्धि के निमित्त हुआ है।"

कर्दम मुनि ने पूछा—"भगवान् ! वह कौन-सा कार्य है ?"

भगवान् कपिल बोले—"देखो ! प्राचीन-सांख्यशास्त्र लुप्त प्रायः हो गया है। जो लोग, लिङ्ग शरीर के मुक्त होने की इच्छा वाले हैं उनके लिये सांख्यशास्त्र ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। मूल-प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, भूत-इन्द्रियाँ आदि तत्वों की परि-सख्या करने का और पुरुषोत्तम को इनसे पृथक् करके जानने का ही नाम "सांख्य" है। उसी शास्त्र का प्रचार और प्रसार मेरे अवतार का प्रधान हेतु है। तुम दोनों ने वैराग्य भाव से मेरा आवाहन किया है। अतः मैं गृहस्थ धर्म को स्वीकार नहीं करूँगा। त्यागी—विरागी होकर ही संसार के सम्मुख संन्यास-धर्म का महान् आदर्श उपस्थित करूँगा।"

कर्दमजी ने कहा—"यह तो मैं जानता हूँ प्रभो ! कि आप गृहस्थ-आश्रम धर्म को स्वीकार नहीं करेंगे। मुझे इसकी इच्छा भी नहीं। मेरा यही सौभाग्य है कि, आप हम जैसे अधमों के यहाँ अवतीर्ण हुए, किन्तु मैं यह और जानना चाहता हूँ कि आप यहाँ कब तक विराजेंगे ?"

भगवान् ने कहा—"मुनिवर ! मेरा यहाँ रहने का और कोई प्रयोजन नहीं। केवल मैं अपनी माता को आत्मज्ञान का उपदेश और करना चाहता हूँ। यह मेरी भक्ता है, अनुरक्ता है, अधिकारिणी है, उसकी सांसारिक विषयों में आसक्ति नहीं। बाल्यकाल से वह मेरा ही स्मरण, भजन करती रही है। वास्तविक बात तो यह है, कि मैं उसी को उपदेश देने के निमित्त यहाँ ठहरा हुआ हूँ। उसे जब पूर्ण रूप से तत्त्वज्ञान हो जायगा तो मैं भी घर को छोड़कर चल दूँगा।"

महामुनि कर्दम ने कहा—"तब, महाराज ! मेरे लिये क्या आज्ञा होती है ?"

भगवान् बोले—"पिताजी ! आप बड़ी प्रसन्नता से जाइये।

मेरी आपके कार्य के साथ हार्दिक—सहानुभति है, मैं प्रसन्नता पूर्वक आपको आज्ञा देता हूँ। आप सभी कर्मों को मेरी प्रसन्नता के निमित्त करते हुए, उनके फलों को मुझे समर्पित करके मेरी आराधना कीजिये, मुझमें ही मन लगाइए। आप अवश्य ही दूसरों से न जाते जाने वाली दुर्जय—मृत्यु को जीतकर-माया से मुक्त होकर-मोक्षपद को प्राप्त करेंगे।"

कर्दमजी ने विनीत भाव से पूछा—"महाराज! मैं साधन क्या करूं वन में जाकर?"

हँसते हुए भगवान् बोले—"अजी, साधन क्या करना? सूक्ष्मातिसूक्ष्म-बुद्धि के द्वारा आत्मा को अपने आप में ही देखो। एकाग्र मन से स्वस्थ चित्त होकर विचार करो, कि जो आत्मा मेरे अन्तःकरण में प्रकाशित हो रहा है, वही चराचर-विश्व में व्याप्त है। अपने को सभी भूतों में समान रूप से देखो और भूतों को अपने में देखो। इस प्रकार सर्वात्मभाव से मेरा ही भजन करो, मेरा ही चिन्तन करो, मेरा ही कीर्तन करो, मेरे लिये ही कर्म करो, ऐसा करने से अन्त में तुम 'परमपद' को प्राप्त कर सकोगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं— 'विदुरजी! भगवान की ऐसी आज्ञा पाकर महामुनि कर्दमजी के हर्ष का पारावार नहीं रहा। उन्होंने भूमि में पड़कर प्रभु के पाद-पद्मों में प्रणाम किया। भगवान् ने उन्हें उठाकर गले से लगाया, दोनों की आँखें डबडबाई हुई थीं। दोनों का हृदय भरा था। पिता, पुत्र अथवा भक्त, भगवान् दोनों ही एक दूसरे को अपनी ओर खींच रहे थे। ज्ञान और वस्तु है, स्वाभाविक प्रेम दूसरी ही वस्तु है। प्रेम भरित हृदय से कर्दम मुनि ने अपने पुत्र रूप प्रभु की प्रेम पूर्वक प्रदक्षिणा की। पुनः-पुनः प्रणाम करते हुए वे वन की ओर चले गये। सर्वकर्म-फल त्याग पूर्वक वे सच्चे संन्यासी बन गये।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"मुनिवर ! ऋषि श्रेष्ठ कर्दमजी ने वन में क्या किया और अंत में उन्हें कौन-सी गति प्राप्त हुई ? कृपा करके इस बात को मुझे और सुनाइये।"

यह सुनकर मैत्रेयजी कहने लगे—"विदुरजी ! कर्दमजी को अब करना शेष ही क्या रहा था ? उन्हें तो पहिले ही भगवत् कृपा प्राप्त हो चुकी थी। स्वयं साक्षात् श्रीहरि उनके घर पुत्र रूप में अवतीर्ण हुए। फिर भी उन्होंने लोक संग्रह के लिए परमहंस-यति-धर्म का आचरण किया। सर्व प्रथम उन्होंने वाणी का संयम किया। वे वाणी का निरोध करके मौनी बन गये। अहिंसा, सत्य आदि नियमों का पालन करने लगे। गृहस्थाश्रम में जो अग्निहोत्र करते थे, उसे उन्होंने अपने प्राणों में लीन कर लिया अर्थात् निरग्नि बन गये। किसी भी घर में उन्होंने अहंभाव नहीं रखा। जहाँ भी आश्रय देखा, वहीं पड़ गये। शून्य घरों में, देवालयों में, नदियों के तट पर, वृक्षों की छाया में जहाँ इच्छा होती पड़ जाते। सर्व प्रकार के सङ्गों को त्यागकर, एकमात्र भागवत् परायण होकर सभी द्वन्द्वों को सहते हुए वे बिना संकल्प के स्वेच्छा से विचरण करने लगे। उन्होंने अपना मन, सभी व्यापारों के नियामक, कार्य-कारण से अतीत उन निर्गुण निराकार श्रीहरि में लगाया, जो भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन के द्वारा जाने नहीं जा सकते। इस प्रकार ध्यान करने से उनकी चित्त-वृत्ति गंभीर, शान्त और अन्तर्मुखी हो गई। भगवान् वासुदेव में बढ़ी हुई भक्ति के कारण वे अपने शरीर की भी सुध-बुध भूल गये, उनके हृदय की ग्रन्थि खुल गई। सभी संशयों का च्छेदन हो गया और वे सभी बन्धनों से मुक्त होकर सर्वत्र श्रीहरि को ही देखने लगे।"

इस प्रकार महामुनि कर्दम इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि सभी द्वन्द्वों से निर्मुक्त होकर भक्ति-भाव-भावित हृदय वाले हो

गये। अन्त में उन्हें अत्यन्त दुर्लभ भागवती-गति प्राप्त हुई, जो किसी साधन से नहीं—"एकमात्र भगवत्-कृपा से ही-प्राप्त हो सकती है।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! यह मैंने आपको भगवान् कर्दमजी का चरित्र अत्यन्त संक्षेप में सुनाया। अब मैं आपको देवहूतिजी का आगे का चरित्र सुनाऊँगा, उसे आप सावधान-चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

जनक वचन सुनि कपिल कहें जावो पितु बनकूँ।
चंचल चितकूँ रोकि लगाओ मो में मनकूँ॥
परम मधुर अति सरल वचन श्रीहरि के सुनिके।
प्रभु वियोग कूँ सुमिरि नैन भरि आये मुनिके॥
चले मोह—ममता तजी, बनि विरक्त बन-बन फिरहिं।
पाई भागवती-गती, सुनत चरित कलिमल टरहिं॥

भगवान् कपिल से तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा

[१६३]

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यम्
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पुरुषस्य
नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥*
(श्रीमा० ३ स्क० २५ अ० ११ श्लोक)

छप्पय

इत माता ने आइ करी हरि ते जिज्ञासा ।
प्रभो ! उबारो मोहि लगाई कबतें आसा ॥
प्रकृति पुरुष को भेद बताओ संशय नासो ।
तम अज्ञान मिटाइ हृदय रवि ज्ञान प्रकासो ॥
भव भय भंजन करहु प्रभु, भक्त वछल अशरणशरण ।
पार जगत् जलनिधि करन, तरणि रूप तव शुभचरण ॥

ब्रह्माजी ने इन चक्षुओं के गोलकों को बाहर की ओर ही

---

* माता देवहूति भगवान् कपिल से प्रार्थना करती हैं—'हे प्रभु ! आप शरणागतवत्सल हैं, अपने भक्तों के संसार रूपी वृक्ष को काटने के निमित्त कुठार के सदृश हैं। ऐसा समझकर मैं भी आपकी शरण में आई हूँ। मुझे प्रकृति और पुरुष के ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा है, उसे आप ही समझा सकते हैं, क्योंकि आप समस्त सद्धर्म के जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ हैं, ऐसे आपको मैं प्रणाम करती हूँ।"

बनाया है, अतः स्वभावतः जीव इन संसारी पदार्थों को ही देखता है, उन्हीं में रमण करता है, उन्हीं में सुख समझता है। विषयों की ओर लगाने को कोई विद्यालय नहीं, शिक्षणालय नहीं। अनेक जन्मों से विषयों को भोगते-भोगते जीव उनका आदी हो गया है। इसलिये तो उत्पन्न होते ही, बिना किसी के सिखाये ही माता के स्तन से दूध खींच लेता है। पूर्वजन्म का अभ्यास न होता, तो बालक क्या जानता कि इसमें दूध है और वह कैसी क्रिया करने से खींचा जाता है ? संसार के सभी पदार्थ हमें अपनी ओर खींच रहे हैं, हम सभी इन चित्र-विचित्र विषयों को देखकर, सुनकर, सूँघकर तथा स्पर्श आदि करके उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। यह आकर्षण जीव मात्र में है। मन तथा इन्द्रियों के साथ विषयों का संसर्ग होते ही कामना उत्पन्न हो जाती है। जो जहाँ से उत्पन्न होता है, उसका अपने उत्पत्ति स्थान की ओर स्वभाव से झुकाव होता है। उसमें नैसर्गिक-अनुराग होता है। वास्तव में तो जीव, सच्चिदानन्दघन आनन्द स्वरूप परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है। इसका अनुराग तो उनकी ही ओर होना चाहिये, किन्तु मुख्य कारण को भूलकर गौण-कारण को वह अपना जनक समझता है ! जैसे फूलों में रंग नहीं है, रंग तो सूर्य में अर्थात् प्रकाश में है। प्रकाश न हो, तो सभी पुष्प एक ही से हो जायँगे। प्रकाश में जो विविध रंग दिखाई देते हैं, वे पुष्पों के न होकर प्रकाश-किरणों के हैं। हम अज्ञान-वश उन्हें फूलों का रंग कहते हैं। इसी प्रकार प्राणिमात्र के बीज तो श्रीहरि ही हैं, हम उन्हें अपनी उत्पत्ति का कारण न समझकर जननी, जनक, रज—वीर्य आदि को कारण समझते हैं और फिर उन्हीं में रमण करके आनन्द का अन्वेषण करते हैं। हम जिस आनन्द या सुख के अन्वेषण में सदा व्यग्र बने रहते हैं, वह आनन्द क्या है ? वह आनन्द ब्रह्म

ही है ! उसे भगवान् कहो, परमात्मा कहो, ब्रह्म कहो—एक ही बात है। खोज तो रहे हैं हम अपने उत्पत्ति स्थान को ही, किन्तु हमारी खोज मिथ्या है। जिसे पाकर हम चिल्ला उठते हैं— "अरे, इसमें तो बड़ा आनन्द मिला" वह आनन्द, आनन्द नहीं है। मात्र आनन्द का आभास है। वास्तविक आनन्द उससे बहुत दूर है वह तभी प्राप्त होगा जब हमारा भ्रम दूर होगा। इस बात को एक दृष्टान्त से समझो—एक लड़का है, वह माता के सामने रोता है—"मुझे घोड़ा दो" माता एक मिट्टी का घोड़ा उसे देती है, और कहती है—"ले यह घोड़ा है।" बच्चा बड़ा प्रसन्न होता है। वह चिल्लाता-फिरता है "मुझे घोला मिल गया, मेला घोला—मेला घोला।" दूसरा बच्चा एक काठ का घोड़ा लाता है, वह कूदता है "मेला घोला तेले से अच्छा है।" दोनों बड़े प्रसन्न हैं। मेरा अच्छा, नहीं मेरा अच्छा कहकर लड़ते हैं। माता-पिता भी हँसते हुए कहते हैं—"वाह ! लालाजी ! तुम्हारा घोड़ा तो बड़ा अच्छा है, हमें भी दे दो।" वह कहता है—"नहीं, मैं अपने घोले को नहीं दूँगा।" अब विचार कीजिये, लड़का क्यों प्रसन्न हो रहा है ? घोड़ा पाकर वह समझता है मुझे घोड़ा मिल गया ! वास्तव में वह घोड़ा तो है नहीं। घोड़ा नाम का एक मिथ्या-आभास कराने वाला खिलौना है। बच्चा उसे घोड़ा समझकर प्रसन्न हो रहा है। कुछ काल में उसका वह मिथ्या भ्रम दूर हो जाता है। वह बड़ा हो जाता है। उसे असली घोड़ा मिल जाता है, फिर उसे खिलौने के घोड़े की प्राप्ति में आनन्द नहीं आता, उसे मिथ्या समझता है। आज हम जो इन सुन्दर रूप, स्वादिष्ट रस मनोहर गन्ध, सुखद स्पर्श तथा हृदयस्पर्शी शब्दों आदि को पाकर अपने को सुखी समझ रहे हैं, वास्तव में यह सुख [illegible] है। अज्ञान वश इनमें सुख मान बैठे हैं। जब तक [illegible] और उसकी विकृति के पदार्थों को पुरुष से पृथक् [illegible]

भेद न समझ लेंगे, तब तक यह अज्ञान दूर न होगा। जहाँ प्रकृति पुरुष और पुरुषोत्तम का यथार्थ-ज्ञान हो गया, वहाँ ये संसारी विषय तुच्छ दिखाई देंगे, फिर इनमें कुछ भी सुख प्रतीत न होगा। ऐसा, होता तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती समस्त सुखों को त्याग कर वन-वन क्यों भटकते रहते ? किन्तु ऐसा किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। ऐसी जिज्ञासा पूर्वजन्म के सुकृतों से ही उदित होती है। हजारों लाखों पुरुषों में से कोई एक जिज्ञासु होता है। परम भाग्यवती अवतार जननी, भगवती-देवहूति उन भाग्यशालिनी ललना-रत्नों में से हैं जो एक ही जन्म में इस दुस्तर संसार सागर को पार कर गईं। कर्दम और देवहूति के चरित्र के प्रसङ्ग में भगवान् कपिल का अवतार सुनकर ऋषियों को बड़ा कुतूहल हुआ। उनके कुतूहल को समझ कर महामुनि शौनकजी ने सूतजी से पूछा।

शौनकजी बोले—"सूतजी ! आपने भगवान् कपिल के अवतार का बड़ा ही सुखद वर्णन किया। इस पावन चरित्र को सुनते-सुनते तो हमारे कर्ण तृप्त ही नहीं होते, इच्छा होती है इसे निरन्तर सुनते ही रहें। देखिये अजन्मा होकर भी जन्म लेना, निर्गुण होकर भी गुणों का आश्रय करना—ये कैसी विपरीत बातें हैं। भगवान् ने कपिल रूप से जिज्ञासुओं को कैसे उपदेश दिया ? उन्होंने कौन-कौन-सी कमनीय-क्रीड़ायें कीं ? कौन-कौन से नर-नाट्य किये ? अपनी माता को कैसा उपदेश दिया ? इन सब बातों का सुनने की हम सबकी बड़ी उत्कन्ठा है, आप हमें इन सबको विस्तार के साथ सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाभाग ! आप यह प्रश्न करके मुझे उत्साहित कर रहे हैं। अपने प्रभु प्रेम को प्रदर्शित कर रहे हैं। धन्य है आपकी अलौकिक भक्ति को ! जो सच्चे भगवद्भक्त होते हैं, उन्हें भगवत्-कथाओं में ऐसा ही

रस आता है! जैसे कामासक्त—कामुक और कामिनियों की काम से कभी तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार भक्त, भगवत्-कथाओं के सम्बन्ध में अतृप्त ही बने रहते हैं। भगवन्! जिस प्रकार आप भगवत्-कथा रस के रसिक हैं उसी प्रकार परम-भागवत विदुरजी भी बड़े रसिक थे। जो बात आप मुझसे पूछ रहे हैं, वही बात उन्होंने भगवान् मैत्रेयजी से पूछी थी। मैत्रेयमुनि ने उन्हें जो उत्तर दिया, उसे मैं आपको उसी प्रकार सुनाऊँगा जिस प्रकार मैंने अपने गुरु भगवान्—शुकदेवजी के मुख से सुना है।"

मैत्रेयजी कहने लगे—"विदुरजी! महामुनि कर्दमजी तो भगवान् कपिलदेव की आज्ञा लेकर वन को चले गये। अब उस इतने बड़े विमान पर दासियों से घिरी हुई भगवती देवहूति ही रह गईं। कन्यायें विवाह होने पर अपने-अपने घर की स्वामिनी बन गईं। परमेश्वर की आराधना के निमित्त पति, परिव्राजक-यति बन गये। अब मोह के सब द्वार रुद्ध हो गये। पुत्र का सबसे बड़ा मोह होता है सो, पुत्र साक्षात् परमात्मा के अवतार ही हैं। अवतार भी माधुर्य्य के होते, तो कुछ क्रीड़ायें होतीं! ये तो ज्ञानावतार हैं। इनकी दृष्टि सदा नासिका के अग्र भाग पर ही लगी रहती है। पता नहीं नासा के अग्र भाग पर कौन बैठा है? बहुत-से वैष्णव भी वहीं से तिलक-स्वरूप आरम्भ करते हैं। ये पुत्र तो नाम मात्र के हैं, भगवान् ही हैं। मेरी एकमात्र गति ये ही हैं। अब इन्हीं की शरण में जाने से बेड़ा पार लगेगा।" यही सोचकर एक दिन माताजी अकेली ही विमान से उतरकर वन की ओर चलीं।

आज उन्हें यह संसार विचित्र ही दिखाई दे रहा था। बात यह है, कि संसार कैसा है इसे भगवान् ही जाने, किन्तु सभी इसे अपनी भावना से देखते हैं। भूखे पुरुषों को संसार सूना-सूना-

सा दिखाई देता है। जिसका सर्वस्व लुट जाता है उसे संसार लुटा हुआ-सा दीखता है। सुखी को दूसरे का दुख मालूम नहीं पड़ता। दुखी को सर्वत्र दुख-ही-दुख दिखाई देता है। जिसे संसार से वैराग्य हो गया है, उसे लता-पता में सर्वत्र वैराग्य की ही झलक दिखाई देती है।

माता देवहूति को आज सम्पूर्ण संसार एक नाटक-सा दिखाई दिया। वृक्ष, लता, वन-उपवन, नदी, सरोवर सभी के देखने से उनका वैराग्य बढ़ने लगा। इस प्रकार वे वन की शोभा निहारती हुई घोर अरण्य में प्रवेश कर गईं। वहाँ वे क्या देखती हैं कि, एक विशाल वट की छाया में उनके पुत्र भगवान् कपिल ध्यान मग्न बैठे हैं। माता के बाल खुले हुए थे, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई थीं, बहुत साधारण-सी वे एक साड़ी पहिने हुये थीं। ध्यानमग्न, तेजपुञ्ज अपने परमात्मा पुत्र को देखकर आज उनका समस्त मोह दूर हो गया। उन्होंने भूमि में सिर टेककर भगवान् के पादपद्मों में श्रद्धा सहित प्रणाम किया। भगवान् ने दृष्टि उठाकर जब अपनी माता को प्रणाम करते हुये देखा, तो वे हँस पड़े और अत्यन्त ही स्नेह से बोले—"माता! आप आज यहाँ अकेली कैसे चली आईं। कोई आज्ञा होती तो किसी दासी से समाचार भेज देतीं, मैं तुरन्त चला आता। मैं तो आपका बच्चा हूँ।"

माँ देवहूतिजी ने दीनता के साथ कहा—"प्रभो! अब आप मुझे और अधिक न बहकावें। आपके प्राकट्य के समय में ही लोकपितामह-भगवान्-वेदगर्भ मुझे आपके अवतार का रहस्य बता गये थे। अब तक तो मैं विमूढ़ा बनी रही, आज मुझे याद आई इसलिये मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूँ। मैं आपसे एक बात पूछना चाहती हूँ, आज्ञा हो तो पूछूँ?"

भगवान् बोले—"माता! आज आप ऐसी बातें क्यों कर रही हैं? आप जो भी पूछेंगी उसका उत्तर मैं दूँगा।"

तब माता ने पूछा—"भगवन्! यह पूछना चाहती हूँ, कि भगवान् के यहाँ भी स्त्री-पुरुष का भेद-भाव होता है क्या?"

कपिल भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"माताजी, आपका अभिप्राय क्या है?"

माँ ने कहा—"प्रभो! आपको भी अभिप्राय समझाना पड़ेगा क्या? आप तो घट-घट की बात जानते हैं। देखिये, आपने अपने पिताजी को तो ज्ञानोपदेश करके संसार-सागर से पार कर दिया। मेरी ओर ध्यान भी न दिया। आपकी माता कहलाकर भी मैं इसी चौरासी के चक्कर में पड़ी रहूँगी क्या?"

भगवान् ने कहा—"नहीं माताजी, आप चौरासी के चक्कर में क्यों पड़ी रहेंगी! भगवत् प्राप्ति के तो सभी अधिकारी हैं, चाहे वह पुरुष या स्त्री हो, बूढ़ा हो, बालक हो, युवा हो, कोई भी क्यों न हो जिसके हृदय में जिज्ञासा है, वही ज्ञान का अधिकारी है।"

माँ देवहूतिजी ने कहा—"प्रभो! इन इन्द्रियों ने मुझे अपने वश में कर लिया है। इन्होंने मुझे अपनी दासी बना लिया है। इन्द्रियों में आसक्त होकर इनकी लालसा 'दिन दूनी रात्रि चौगुनी' बढ़ती ही जाती है। तृष्णा शान्त नहीं होती। भोगों की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। जैसे जलती हुई अग्नि में जितना ही घृत डालो उतनी ही उसकी ज्वाला बढ़ती है, यही दशा इन्द्रियों की है। भोगों के भोगने से वासना की लपटें और ऊँची उठती जाती हैं। इससे कैसे छुटकारा हो? आप भक्त-वत्सल हैं, अशरणशरण हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं, मैं सबसे मुख मोड़कर आपके शरण में आई हूँ, आप मेरी रक्षा

करें! मुझे परमार्थ पथ का निर्देश करें। मैं आपकी भक्ता, अनुरक्ता और प्रपन्ना हूँ।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान् ने अपनी माता के ऐसे सुन्दर, सरल और मोक्ष में रति उत्पन्न करने वाले वचन सुने तो वे उन्हें तत्व-ज्ञान का उपदेश देने के लिए उद्यत हुए।"

छप्पय

सुनिके परम पवित्र मोक्ष हितकर वर बानी।
जिज्ञासा ह्वै गई मातु हिय हरि ने जानी॥
हरि बोले—'अध्यात्मयोग साधन' भल सुखकर।
जाके आश्रय तरें जगत् जलनिधि अति दुस्तर॥
जो मन विषयनि महँ फँस्यो, सो बन्धन को हेतु है।
हरि चरननि महँ जो लगै, तो जग तारन सेतु है॥

भगवान् कपिल के उपदेश का सार

[१६४]

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २५ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

मोक्ष भवन को द्वार सन्त-संगम मुनि भाखैं ।
सरस कथा जहँ होहि कृष्ण-हिय तहँ सब राखैं ।।
सत्संगति तैं वेगि होहि श्रद्धा सत्पथ महँ ।
श्रद्धातैं रति होहिं भक्ति पुनि पद भगवत् महँ ।।
भक्ति भवानी हिय बसैं, जग सुख विषवत् होहिं सब ।
करत-करत अभ्यास दृढ़, होहिं कृतारथ पुरुष तब ।।

सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं । एक तो शरीर के सम्बन्ध

---

* भगवान् कपिल अपनी माता को उपदेश कर रहे हैं—"माता-जी ! मेरे बल-पराक्रम का यथार्थ ज्ञान कराने वाली, हृदय और कानों को रसायन के समान प्रिय लगने वाली, मेरी मनोहर कथायें सज्जनों के सत्संग में ही कर्ण गोचर होती हैं । उन कथाओं के श्रवण करने ही से मोक्ष मार्ग में पहले श्रद्धा, फिर रति तदनन्तर भक्ति का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् मोक्ष-मार्ग का सोपान सत्संग ही है ।"

से सम्बन्ध और दूसरा शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध से सम्बन्ध! शरीर के सम्बन्ध को लौकिक-सम्बन्ध कहते हैं। ये हमारे शरीर के जनक हैं, ये हमारे भाई हैं, ये पिता के भाई हैं, यह बहिन है, यह बहिन का लड़का है, यह माता है, ये माता के पिता हमारे नाना हैं, ये माँ के भाई हमारे मामा हैं आदि-आदि। शरीर का सम्बन्ध जब तक शरीर है तब तक रहता है। जहाँ जीवात्मा ने इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर लिया तहाँ पूर्वजन्म के पिता पुत्र बन जाते हैं, माता, पत्नी बन जाती है। मित्र दूसरे जन्म में शत्रु बन जाते हैं।

शिक्षा-दीक्षा का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है। वह इस लोक में तो कम काम देता है, उसका सम्बन्ध पारलौकिक कार्यों के लिये है। पारमार्थिक शिक्षा-दीक्षा द्वारा हम दिव्य लोकों को, परमपद-मुक्ति तक को भी प्राप्त कर सकते हैं। पारमार्थिक सम्बन्ध लौकिक सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता। किसी भी स्थान में, किसी भी जाति में उत्पन्न हुए पुरुष से वह हो सकता है और अपने शरीर के सम्बन्धियों से भी हो सकता है! पारमार्थिक सम्बन्ध होने पर लौकिक सम्बन्ध गौण हो जाता है। उपनिषदों में ऐसी कथाएँ आती हैं, किसी स्वल्प-अवस्था वाले ऋषि ने अपने पिता, पितामह आदि वृद्ध ऋषियों को बालक या वत्स कहकर सम्बोधित किया। वहाँ निर्णय किया गया है, कि अल्प अवस्था होने पर भी ज्ञान के कार्यक्रम से यह वृद्ध ही हैं और शरीर सम्बन्ध से वृद्ध होने पर भी वे ज्ञान में न्यून होने से बालक ही हैं।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब अपनी माता को भगवान् कपिलदेव ने हाथ जोड़े हुए परमार्थ की जिज्ञासा से अपने सम्मुख बैठे देखा, तो वे जगत्गुरु भगवान् अपनी माता को 'सांख्य' सम्बन्धी पारमार्थिक उपदेश देने लगे।"

भगवान् बोले—"माँ! वैसे तो भगवत् प्राप्ति और निर्वाण के अनेकों साधन हैं, किन्तु मैं इन सबमें भक्ति मार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।"

माता ने पूछा—"प्रभो! भक्ति की प्राप्ति किस साधन से हो सकती है?"

भगवान् ने कहा—"माँ, भक्ति की प्राप्ति करने का एक ही सर्वश्रेष्ठ साधन है, वह है–सत्पुरुषों का सत्संग करना। साधु सज्जन पुरुषों के यहाँ सर्वदा श्रीकृष्ण-कथायें होती रहती हैं। भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन होता रहता है। कथा कीर्तन के श्रवण, मनन और अभ्यास से भगवान् के गुणों में, उनके नामों में अनुराग उत्पन्न होता है। श्रवण से श्रद्धा होती है, नित्य-प्रति श्रद्धा से सुनते-सुनते उन कथाओं के प्रति आसक्ति होती है। अत्यन्त बढ़ी हुई भगवत् सम्बन्धी आसक्ति का ही नाम भक्ति है। इसलिये जिसे भक्ति प्राप्त करनी हो वह सत्संग का आश्रय ग्रहण करे।"

यह सुनकर माताजी ने कहा—"प्रभो! आपने भक्ति की बड़ी प्रशंसा की, वह भक्ति क्या है? वह कैसे प्राप्त हो? मुझ मन्दमति को समझावें। एक तो मैं स्त्री हूँ, दूसरे मेरी बुद्धि भी बहुत विशाल नहीं है, अतः सरलता के साथ समझावें।"

जो अपनी जननी है, जिसने इस शरीर को पाला-पोसा है, जो अपनी पूजनीया है, आज वही आकर दीनता के साथ जिज्ञासा कर रही है इससे भगवान् का हृदय भर आया। वे अत्यन्त ही स्नेह भरी वाणी से कहने लगे—"माँ! तुमने भक्ति का लक्षण पूछा, सो भगवान् में सर्वात्म-भाव से चित्त की वृत्ति का लगा रहना इसी को भक्ति कहते हैं। वह अहैतुकी–बिना किसी कामना से–होनी चाहिये। इस भक्ति के सम्मुख मुक्ति तुच्छ है। मुक्ति तो वैर भाव करने वाले राक्षसों को भी प्राप्त हो

जाती है। उसमें रस नहीं। भक्ति तो रसगुल्ला की तरह, गुलाब-जामुन की भाँति, बिना बीज के मीठे अंगूर की भाँति, बड़े चौकू फल की तरह, नागपुरी कमला-सन्तरे की भाँति है-दाँत मारते ही मुँह रस से भर जाय! हृदय में लीक करता हुआ रस, चित्त को प्रसन्न कर दे यही भक्ति की विशेषता है।"

माँ देवहूति ने पूछा—"हे शरणागतवत्सल! मैं यह पूछना चाहती हूँ, उस भक्ति का रसास्वादन कैसे किया जाय?"

भगवान् बोले—"माँ, रस का आस्वादन सदा दो या दो से अधिक के साथ मिलकर किया जाता है। भक्तगण, भंगेड़ियों की भाँति मिलकर बैठ जाते हैं। एक भगवान के गुणों का गान करता है, दूसरे सुनते-सुनते प्रेम में भर कर रोने लगते हैं। एक भगवान् की दिव्य-लीलाओं और अनुपम-यशों की कथा कहता है, दूसरे बड़े चाव से घुल-मिलकर उसे सुनते हैं। कभी सब मिल-कर भगवान् के मधुरातिमधुर दिव्य रसमय, आनन्दमय, प्रेम-वर्धक, जगन्मंगलकारक परम-पावन नाम का कीर्तन करते हैं, हँसते हैं, रोते हैं, गाते बजाते हैं, नाचते हैं, कूदते हैं, उछलते हैं, गिरते हैं, लोटते-पोटते हैं, काँपते-हाँफते हैं, चिल्लाते हैं और रोते-रोते गिर जाते हैं। वे लोकबाह्य होकर सिड़ी-पागलों की भाँति उन्मत्त हो जाते हैं। मुक्ति उनके सामने आकर खड़ी हो जाती है, वे उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, उसे गुम-सुम बिना कीर्तन किये खड़े देखते हैं तो उन्हें बड़ा क्लेश होता है। यह नीरसादेवी कहाँ से आ गई, न गाती है, न कीर्तन करती है, पाषाण की तरह खड़ी है। वे उसकी ओर आँख उठा-कर भी नहीं देखते। वह भी मुँह लटकाये खड़ी रहती है कि ये, इस पागलपने से निवृत्त हों तो मैं प्रार्थना करूँ कि वे मुझे स्वीकार कर लें। किन्तु माँ, उनका पागलपन कभी समाप्त ही नहीं होता। वे कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं, ठाली कभी बैठते

ही नहीं। कभी भगवान् की सेवा करते हैं, भगवान् के विग्रहों की अर्चा करते हैं, उनसे बातें करते हैं।"

माता ने पूछा—"प्रभो! फिर मुक्तिदेवी निराश होकर लौट जाती हैं क्या?"

भगवान् बोले—"माँ, भक्तों के यहाँ से निराश तो कोई लौटता ही नहीं! वे स्वयं तो अमानी होते हैं, किन्तु प्राणीमात्र का सम्मान करते हैं। हाँ, जो कथा-कीर्तन के विरोधी होते हैं उनका ये जान बूझकर संग नहीं करते। यदि वे जाते हैं, तो उनका भी आदर करते हैं। मुक्तिदेवी जब उनके पास आकर प्रार्थना करती है, तो वे भगवान् से पूछते हैं—"हे भक्तवत्सल प्रभु! इन देवी का भी कहीं ठिकाना लगा दीजिये।" तब-भगवान् कृपा करके मुक्ति को भक्ति की दासी बना देते हैं। माँ की दासी माँ के ही तुल्य है, अतः वे वैकुण्ठ में जाकर भक्तिदेवी के आश्रय से रहने लगती हैं। इन्हें न सिद्धि चाहिये न निधि। स्वर्गीय ऐश्वर्य की तो बात ही क्या, वे वैकुण्ठ की परमोत्कृष्ट 'श्री' की भी वांछा नहीं करते। उन्हें तो बस भक्ति चाहिये। मुक्ति तो भक्ति के अधीन ही ठहरी वह तो उन्हें अनायास प्राप्त हो जाती है।"

माता ने कहा—"प्रभो! मुझे सब शास्त्रों का सार भूत कोई सर्वोत्कृष्ट-उपदेश बता दें।"

भगवान् बोले—"माँ, संसार में सर्वोत्कृष्ट-उपदेश यही है कि 'भक्ति-योग' के द्वारा इस चंचल चित्त की वृत्ति तीव्रता के साथ श्रीश्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में लग जाय। सर्वात्मभाव से सब कर्मों को मुझे ही अर्पित करके मन मुझमें ही स्थिर हो जाय, यही सारातिसार उपदेश है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने अपनी जननी को भक्ति-योग की उत्कृष्टता बताकर फिर

भिन्न-भिन्न तत्वों की उत्पत्ति का वर्णन किया। प्रकृति क्या है? पुरुष क्या है? प्रकृति की विकृति से यह चराचर विश्व कैसे उत्पन्न हुआ? पंचभूतों की उत्पत्ति, उनकी तन्मात्रायें, गुण आदि का विस्तार के साथ विवेचन किया। तदनन्तर यह बात बताई कि प्रकृत-पुरुष में विवेक द्वारा मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है। इस प्रकार 'सांख्य-ज्ञान' का उपदेश देकर फिर 'अष्टाङ्ग-योग' का विस्तार के साथ वर्णन किया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सम्प्रज्ञात-समाधि और निर्बीज-समाधि के लक्षण बताये। ध्यान की विधि बताई, फिर बड़े ही प्रभावोत्पादक शब्दों में भगवान् के सगुण-साकार स्वरूप के प्रत्येक अङ्गप्रत्यङ्गों का ध्यान-चिन्तन बताया। इस प्रकार योग की अन्तिम स्थिति का बड़े ही उल्लास और युक्ति के साथ भगवान् ने वर्णन किया। फिर भक्ति का मर्म और काल की महिमा का विवेचन किया। भक्ति के बहुभेद बताये, भक्तों के उत्तम से उत्तम सर्वोत्कृष्ट लक्षण बताकर कह दिया कि चाहे 'भक्तियोग' के द्वारा या 'क्रिया-योग' के द्वारा मेरे में चित्त लगाने से साधक मुझे ही प्राप्त कर लेता है। फिर भगवान् ने देह-गेह में आसक्त हुए पुरुषों की संसार में किस प्रकार अधोगति होती है, इसका आरम्भ से लेकर अन्त तक बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कथन किया। कैसे यह जीव प्रारब्ध-वश भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है, कैसे-कैसे क्लेश उठाकर बढ़ता है, फिर किस प्रकार छल कपट-प्रपंच करके पैसा पैदा करता है, घर बनाता है, किसी को अपनी बहू बनाता है, किसी को अपना बेटा बना लेता है, फिर उनके लिये क्रूर- कर्म करता है, बूढ़ा हो जाने पर वे इससे किस प्रकार घृणा करते हैं, कैसा कष्ट होता है, मरकर कौन-कौन से नरकों में जाता है, फिर आकर कैसे माता के उदर में प्रविष्ट होता है, रज-वीर्य के संसर्ग से कैसे बुन्द-बुन्द पिण्ड,

शरीर, हाथ, पैर बनते हैं, पेट में कैसे उसे पिछले सैकड़ों जन्मों की स्मृति रहती है, माता के उदर में कैसा भयंकर क्लेश होता है, कैसे झिल्ली से लिपटा नीचा सिर किये पड़ा रहता है, वहाँ से निकलने के लिये भगवान् से कैसे प्रार्थना करता है, कैसे जन्म होता है। फिर कैसे बालक से युवा होता है, युवावस्था में कैसी मस्ती आती है, यौवन के उन्माद में कैसे-कैसे पाप करता है, युवक-युवती परस्पर में किस प्रकार आकृष्ट हो परमार्थ से च्युत होकर विषयों में आसक्त हो जाते हैं। काम की कितनी वीभत्स क्रीड़ायें हैं, स्त्री का पुरुष के संग से पुरुष का स्त्री के संग से किस प्रकार विवेक नष्ट हो जाता है—इन सभी बातों का भगवान् कपिल ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में उपदेश दिया।

तदनन्तर भगवान् कपिल ने अपनी माता से धूम-मार्ग और अर्चिरादि-मार्ग से जाने वालों की गति का वर्णन किया। भगवान् ने बताया जो लोग सकाम कर्मों का आचरण करते हैं, वे नाना कामनाओं के अनुसार नाना लोकों में जाते हैं। वहाँ पाप पुण्यों को भोगकर कुछ शेष रहने पर कर्मानुसार फिर पृथ्वी पर जन्म धारण करते हैं। सकाम कर्मों से जन्म मरण का चक्कर छूटता नहीं, इसीलिये सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति मार्ग ही है। जिन परमपुरुष परमात्मा के पाद-पद्म-परम-पूजनीय और भजनीय हैं, उन्हीं परमेश्वर का तद्गुणाश्रयी-भक्ति के द्वारा भजन करे यही श्रेष्ठ मार्ग है, यही सरल साधन है, यही सर्वोपयोगी-पथ है और यही प्रभु प्राप्ति का उत्तम उपाय है। वास्तव में मुख्य तत्व तो एक ही है। उपनिषदों में जिसे ब्रह्म कहा गया है, योग शास्त्र वाले उसे परमात्मा या ईश्वर कहते हैं, सांख्यवादी 'पुरुष' कहकर पुकारते हैं, भक्ति शास्त्र में उन्हें ही भगवान् कहा है। ज्ञानी लोग उन्हें निर्गुण ब्रह्म कहते हैं, परम रसिक भक्त उन्हें भगवान् कहकर वन्दना

करते हैं, पूजते और आराधना करते हैं। उनकी प्राप्ति के लिये कोई नाना प्रकार के शुभ कार्य करते हैं। कोई बड़े बड़े यज्ञ याग आदि करते हैं। दान, तप, वेदाध्ययन, वेदान्तविचार, मनोनिग्रह, कर्म, संन्यास, योग, भक्ति, निवृत्ति, प्रवृत्ति मार्गों का ग्रहण सब उन्हीं की प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं, इसलिये चाहे जिस साधन से हो, चित्त को सदा भगवान् में लगाकर सब कर्मों के फलों को उन्हीं को अर्पण करते हुए निरन्तर भगवत्-चिन्तन करते रहना चाहिये, यही जीवन का परम सार है। इसी में मनुष्य जन्म की सार्थकता है, यही जीव मात्र का चरम लक्ष्य है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार भगवान् अपनी माता को तत्वज्ञान का उपदेश देकर चुप हो गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा —"सूतजी! भगवान् का चरित्र तो बड़ा ही अद्भुत है। क्या भगवान् ने अपनी माता को इसी प्रकार अत्यन्त संक्षेप में-सूत्र रूप से ही-उपदेश दिया था, या आपने ही उसे इतना संक्षिप्त कर दिया है? इससे तो सूतजी! हमारी तृप्ति हुई नहीं।"

यह सुनकर सूतजी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—"महाभाग! आपकी तृप्ति हो कैसे? आप तो परम रसिक श्रोताओं के शिरोमणि ठहरे। कपिल भगवान का चरित्र ही ऐसा है। ये ज्ञानावतार हैं, सत्ययुग के प्रथम ऋषि अवतार हैं। इस 'भागवती कथा' के प्रसङ्ग में मैंने उनके उपदेश का अत्यन्त संक्षेप में यह सार वर्णन किया है। भगवान ने तो अपनी माता को विस्तार से सभी विषयों का उपदेश किया है। मनीषियों ने सांख्य के दो भेद बताये हैं। एकेश्वर-सांख्य, दूसरा निरीश्वर-सांख्य। वर्तमान समय में 'सांख्य दर्शन' नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित है, मालूम होता है उसके रचयिता कोई तर्क-प्रधान

कपिल नामक मुनि हैं। तभी तो उन्होंने ईश्वर की सिद्धि में भी सन्देह किया है। कपिल भगवान् का जो सांख्यशास्त्र है उसका वर्णन तो श्रीमद्भागवत में ही विस्तार से मिलता है। इस प्रकार का सुन्दर प्रक्रिया सहित, विस्तार से सांख्य का वर्णन और कहीं भी नहीं मिलता। इसका वर्णन मैं फिर प्रसंगानुसार पृथक् करूँगा। यहाँ विस्तार से वर्णन करने से कथा का प्रवाह रुक जायगा और यदि आपकी आज्ञा ही हो तो कहिये उसी का वर्णन करूँ।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"नहीं, नहीं, सूतजी! हमने केवल आपको स्मरण मात्र दिलाया है। आप जिस ढँग से कह रहे हैं, ठीक है। पहिले आप कथा-भाग को ही समाप्त कर दें। कथाओं के पश्चात् ही आप हमें विस्तार से सांख्य आदि सभी शास्त्रों का रहस्य समझावें। हाँ, तो माताजी को उपदेश देकर भगवान् कपिलदेव ने क्या किया? तत्त्वज्ञान होने के अनन्तर उनकी पूजनीय माताजी की क्या स्थिति हुई? इन सब बातों को बताइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्नों को सुनकर सूतजी उनका उत्तर देने को उद्यत हुए।

छप्पय

भक्तियोग अति सरल सरस सबके हितकारी।
विप्र, शूद्र, नर-नारि सबहिं जाके अधिकारी॥
परमात्मा परब्रह्म पुरुष भगवान् कहो हरि।
ज्ञानी करिके ज्ञान लहैं नर भक्त भक्ति करि॥
कपिलदेव के वचन सुनि, मुदित मातु मन अति भयो।
हट्यो मोह आवरण सब, द्वंद कटे तम नसि गयो॥

—o—

भगवान् कपिलदेव का गृह त्याग

[१६५]

इति प्रदर्श्य भगवान् सतीं तामात्मनो गतिम् ।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ॥*

(श्री भा० ३ स्क० ३३ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

सिद्ध भई जब जननि जोरि जुग कर सिर नायो ।
गद्गद्-गिरा गँभीर मातु गुरु गौरव गायो ॥
हौं मति मन्द गँवारि नारि निज नाम सिखायो ।
जाकूँ लैके श्वपच परम शुचि श्रेष्ठ कहायो ॥
जाको कीर्तन करत ही, कलि कल्मष छिनमहँ घटहिं ।
बड़ भागी ते नारि नर, जे तव नामनि कूँ रटहिं ॥

बुद्धि द्वारा विचार कर किसी विषय का निश्चय कर लेना और बात है तथा चित्त की स्वाभाविक वृत्ति और बात है। अपने आत्मीय-जनों के वियोग से बड़े-बड़े त्यागी, विरागी-पुरुषों को भी प्रायः क्षोभ हो जाता है। स्वजनों का स्नेहानुबन्ध मुनियों के लिये भी दुस्त्यज्य बताया गया है। हम किसी के

---

* महामुनि मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार भगवान् कपिल, परम साध्वी माता को आत्मगति अर्थात् ब्रह्मज्ञान का उपदेश करके उस ब्रह्मवादिनी-जननी से अनुमति लेकर वहाँ से चल दिये।"

बच्चे को त्यागी, विरागी महात्मा देखते हैं तो कहते हैं—"अहा, इसके माता-पिता धन्य हैं। इसने अपने दोनों वंशों के पितरों को तार दिया। पुत्र हो तो ऐसा हो।" किन्तु जब अपना पुत्र गृह त्यागकर विरागी बनना चाहता है, तो हमारा हृदय फटने लगता है। इससे कह, उससे कह, नाना-भाँति की युक्तियों से हम उसे रोकना चाहते हैं। उस समय यह ज्ञान प्रायः लुप्त-सा हो जाता है कि इसके त्यागी, विरागी होने से हमारी इक्कीस पीढ़ियाँ तर जायँगी! इसे ही सहज-स्नेह कहते हैं। सहज स्नेह प्रायः अत्यन्त कठिनता के साथ छूटता है।

भगवान् कपिल ने अपनी जननी को योग का, भक्ति का तथा ज्ञान का उपदेश दिया, जीवों की गति बताई, नाना-योनियों में भ्रमण करते हुए जीवों के जन्म-मरण की कहानियाँ सुनाईं! उन्होंने उपदेश देकर, शक्ति संचार करके, माता को पूर्ण आत्म-ज्ञान सम्पन्न बना दिया। अब उन्होंने माता से कहा—"माँ! तुम परमार्थ के रहस्य को समझ गई न?"

दीनता के स्वर में देवहूति ने कहा—"हाँ, प्रभो! आपकी असीम अनुकम्पा से मेरे सभी संशयों का छेदन हो गया। प्रकृति पुरुष का भेद समझ में आ गया। आत्म-तत्व का गूढ़ रहस्य मैं आपकी दया से समझ गई। अब मुझे क्या करना चाहिये?"

भगवान् ने कहा—"ज्ञान हो जाने पर माताजी! जीव का कोई कर्तव्य रह नहीं जाता। 'चतुर्थ-भूमिका' में पहुँचने पर जीव, संसार से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। यदि 'सप्तम-भूमिका' में पहुँचने के पूर्व ही उसके शरीर का पतन हो जाता है, तो कुछ ज्ञान में कमी रह जाती है, उसकी तत्काल मुक्ति नहीं होती। ऊपर के दिव्य लोकों में उसे अभ्यास करना पड़ता है। उसके ज्ञान को ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी पूर्ण करते हैं और कल्प

के अन्त में ब्रह्माजी के साथ वह मुक्त हो जाता है। जो, क्रमशः पाँचवीं, छठीं और सातवीं-भूमिका को यहीं प्राप्त कर लेते हैं, उनकी तुरन्त मुक्ति हो जाती है। वे प्रकृति मण्डल के समस्त आवरणों को भेदकर 'सत्यस्वरूप' में लीन हो जाते हैं। सातवीं भूमिका में पहुँचे हुए आत्मज्ञानी पुरुष का शरीर दो-तीन सप्ताहों से अधिक ठहर ही नहीं सकता। क्योंकि वह तो शरीर-धर्मों से ऊँचा उठ जाता है। इसलिये अपने आप वह कोई चेष्टा कर ही नहीं सकता। छठीं भूमिका वाला भी अपने हाथ से कुछ नहीं कर सकता। मनुष्य जिस स्थिति को यहाँ प्राप्त कर लेता है, परलोक में वही स्थिति उसे प्राप्त होती है। अतः जो यहाँ मुक्त हो जाता है, उसी की मुक्ति होती है। इसलिये पंचम-भूमिका के आगे 'तितिक्षा' का ही अभ्यास करना होता है।"

माता ने पूछा—"महाराज! तितिक्षा क्या है?"

भगवान् ने कहा—"आये हुए सुख-दुखों को उनकी निवृत्ति के उपाय के बिना सहन करने का नाम तितिक्षा है जैसे जाड़ा लगते ही हम कपड़े ओढ़ लेते हैं, अग्नि जला लेते हैं, घर में घुस जाते हैं, गरज-जाड़े की निवृत्ति के लिये चेष्टा करते हैं। इस प्रकार की चेष्टा न करने का ही नाम 'तितिक्षा' है। भूख लगते ही हम उसकी निवृत्ति का उपाय सोचते हैं, उसे न सोचना। शरीर पर दंश, मसक, बिच्छू, सर्प आ जाते हैं जिन्हें हटाने को हाथ स्वतः ही पहुँच जाता है। शरीर पर इनके चढ़ने पर भी उन्हें हटाने का प्रयत्न न करना यही सब तितिक्षा है।"

माता ने पूछा—"तब प्रभो! शरीर की रक्षा कैसे होगी?"

भगवान् ने कहा—"माँ! जब तक शरीर का भान है तब तक तो शरीर रक्षा का उपाय करना ही चाहिये! उसी बुद्धि से कि इसी के द्वारा साधन करना है, इसी के द्वारा पार जाना है। जैसे रात्रि में जिस धर्मशाला में ठहरते हैं, उसे झाड़-बुहार कर

स्वच्छ रखते हैं, जहाँ चल दिये उसका ध्यान भी नहीं रखते। इसलिये चौथी-पाँचवी भूमिका तक शरीर रक्षा के लिये कर्म करते हैं। जब शरीर से ऊँचे उठ जाते हैं, तब शरीर रहे न रहे इसकी ज्ञानी को चिन्ता ही नहीं-भान भी नहीं रहता। सर्प को काटना हो काट ले, सिंह को खाना हो खा ले, ज्ञानी का तो उसमें ममत्व रहता ही नहीं। आप, अब तितिक्षा का अभ्यास करें।"

माता ने कहा—"अच्छी बात है। मैं शक्ति भर इस देह के 'अध्यास' को भुलाने की चेष्टा करूँगी। आप तो यहाँ मेरे पास हैं ही।"

भगवान हँसे और बोले—"माताजी! कौन किसके पास रहता है? सभी को स्वयं ही साधन के द्वारा स्थिति प्राप्त करनी पड़ती है। मुझे तो अब आप आज्ञा दें।"

अत्यन्त आश्चर्य के साथ माता ने पूछा—"कहाँ के लिये? आप भी अपने पिता की भाँति मुझे छोड़कर चले जायँगे क्या?"

भगवान् बोले—"माँ! सभी को एक दिन सब कुछ छोड़कर चला ही जाना है। जब विवश करके काल हमें सबसे छुड़ा ही देगा, तो हम ही स्वयं इनमें से अपना ममत्व हटाकर-इन सबको छोड़कर-क्यों न चले जायँ?"

माँ ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"हाँ प्रभो! यह तो सत्य ही है, किन्तु आपके लिये क्या छोड़ना-क्या ग्रहण करना। आप तो सदा-सर्वदा सबसे पृथक ही हैं।"

भगवान् ने कहा—"माँ, यह सब सत्य है फिर भी मुझे त्याग का आदर्श तो उपस्थित करना ही है। मुमुक्षुओं को उपदेश तो देना ही है। आपका भी मेरे प्रति, ज्ञान होने पर भी कुछ-न-कुछ ममत्व है ही! वह मेरे पृथक होने पर ही छूट सकेगा!! अतः मुझे आज्ञा दीजिये।" इतना कहकर भगवान् कमंडलु उठाकर चलने को उद्यत हुए।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! यद्यपि माता देवहूति को ज्ञान हो गया था, उन्होंने संसार का मिथ्यात्व समझ लिया था, फिर भी मातृ-हृदय तो मातृ-हृदय ही है। अपने हृदय के टुकड़े को, अपनी बाह्य-आत्मा को, अपने प्राणों से प्यारे परमात्मा स्वरूप पुत्र को जाते देख माता का हृदय भर आया। उसकी आँखों से प्रेमाश्रुओं की दो-धारायें बहने लगीं, कण्ठ रुद्ध हो गया, जैसे गौ, अपने हाल के जाये बछड़े के बिछुड़ने पर दुखी होती है, उसी प्रकार माता दुखी हो गई। पुत्र-वियोग की बाढ़ ने तत्व-ज्ञान को बहा दिया। मायामोह से रहित, विवेक वैराग्य की साक्षात् सजीव-मूर्ति भगवान् कपिल ने अपनी ब्रह्मवादिनी-माता को प्रणाम किया। माता ने भी गुरु-भाव से उनकी पूजा और प्रदक्षिणा की। इस प्रकार परस्पर वन्दित और सत्कृत होकर एक दूसरे से पृथक् हो गये। भगवान् कपिल, अपनी माता को वहीं सरस्वती के तट पर सिद्धाश्रम में छोड़कर उत्तर और पूर्व के मध्य की दिशा ईशान कोण की ओर चले गये।

वहाँ से चलकर भगवान्, गंगा के तट पर आये और श्रीगङ्गाजी की शोभा निहारते हुए उनके किनारे-किनारे ही चल दिये। त्रिपथगामिनी भगवती-सुरसरी के तट की शोभा देखते हुए वे वहाँ पहुँचे, जहाँ शैलसुता भगवती गङ्गा का समुद्र के साथ सङ्गम होता है, जिसे 'गङ्गासागर' कहते हैं। भगवान् के वहाँ पहुँचते ही समुद्र ने सशरीर आकर उनका स्वागत-सत्कार किया। वहाँ पहुँचने पर आकाशचारी-सिद्ध, गन्धर्व, चारण, विद्याधर, ऋषि, मुनि तथा देवता और अप्सरायें सभी ने उनकी स्तुति की। उनके ऊपर पुष्पों की वृष्टि की।

समुद्र से भगवान् ने कहा—"देखो, हम यहीं रहना चाहते हैं तुम हमें स्थान दो।"

समुद्र ने विनीत भाव से कहा—"प्रभो! यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आप मुझे कृतार्थ करना चाहते हैं, मुझे दैव-दुर्लभ सौभाग्य प्रदान करना चाहते हैं। मैं यहाँ से हट जाता हूँ, आपके लिये एक टापू छोड़ देता हूँ। आप उसमें सदा निवास करें"

भगवान् ने कहा—"नहीं, हम जल के भीतर ही रहकर योगाभ्यास करेंगे। वहीं तीनों लोकों को शान्ति प्रदान करने के लिये घोर तपस्या करेंगे तथा सांख्याचार्यों और सिद्धों को उपदेश करेंगे।"

समुद्र ने कहा—"भगवन्! इस मर्त्यलोक के प्राणियों को भी तो आपके दर्शन होने चाहिये। उन्हें भी तो आपके स्थान की यात्रा का पुण्य-अवसर प्राप्त होना चाहिये।"

भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा—"अच्छी बात है, साल में एक दिन मकर की सक्रान्ति के दिन तुम यहाँ से हट जाया करो, उस दिन यहाँ आकर जो मेरे दर्शन करेंगे, वे अक्षय पुण्य के अधिकारी होंगे।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! समुद्र ने भगवान् की आज्ञा स्वीकार करली। इसलिये आज तक भी मकर की संक्रान्ति के दिन समुद्र वहाँ से हट जाता है। दूर-दूर से यात्री आकर सङ्गम स्नान और भगवान् कपिल की अर्चा मूर्ति के दर्शन करते हैं। किन्हीं-किन्हीं भाग्यशाली को भगवान् कपिल के प्रत्यक्ष दर्शन भी होते हैं। इस प्रकार भगवान् कल्प पर्यन्त वहाँ रहकर तपस्या में निरत हैं। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में भगवान् कपिल का चरित्र आपको सुनाया। अब माता देवहूति का समाचार सुनिये।"

—०—

छप्पय

स्तुति सुनि के कपिल मातु तैं आज्ञा लीन्हीं।
गृह तजि बन कूँ गवन करन की इच्छा कीन्हीं॥
ज्ञान लाभ हू भयो तऊ जननी वियोग भय।
बछरा बिछुरत गऊ होहि व्याकुल ज्यों अतिशय॥
सुर मुनि पूजित कपिल हरि, गङ्गासागर ढिँग गये।
हरषि उदधि आलय दयो, सुखासीन प्रभु तहँ भये॥

माता देवहूति को ब्रह्म प्राप्ति

[१६६]

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचरितः परम् ।
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तमवाप ह ॥
तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी ॥*

(श्री भा० ३ स्क० ३३ अ० ३०, ३१ श्लो०)

छप्पय

कन्या निज गृह गई पुत्र पति ने घर त्याग्यो ।
मातु हृदय वैराग्य ज्ञान सुनि अतिशय जाग्यो ॥
बहु वैभव सम्पन्न सर्व सुखमय तजि निज घर ।
सत् चित् आनंद रूप ब्रह्म में निरत निरन्तर ॥
वस्त्रहीन सब खुले कच, तपोयोगमय दिव्य तनु ।
परमानन्द निमग्न मन, सिद्धि भई साकार जनु ॥

मनीषियों ने नित्य, मुक्त, बद्ध और मुमुक्षु—ये चार जीवों के भेद बताये हैं। नित्य जीव वे होते हैं, जो कल्प पर्यन्त रह

---

*महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"हे वीर विदुरजी ! इस प्रकार भगवान् कपिलदेवजी के बताये हुए मार्ग से देवहूतिजी ने अल्पकाल में ही अपने आत्मस्वरूप ब्रह्म-निर्वाण भगवान् को प्राप्त कर लिया। जिस स्थान पर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई वह स्थान परम पावन हुआ और त्रैलोक्य में वह 'सिद्धिपद' के नाम से विख्यात हुआ।"

कर सृष्टि के कार्य में सहयोग देते हैं, जैसे मनु प्रजापति, इन्द्र आदि। मुक्त वे कहलाते हैं जिन्हें अनित्य पदार्थों के प्रति अहंता-ममता नहीं, जो अपना कोई निज का कर्तृत्व नहीं समझते, जैसे नारद, शुक, सनकादि। बद्ध ये अज्ञानी जीव हैं, जो असत् को सत् समझ कर उन्हीं में आसक्त रहकर कर्म कर रहे हैं, जैसे संसारी मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि। मुमुक्षु वे कहलाते हैं जिनके मन में यह जिज्ञासा होती है, कि इस दृश्य-जगत के परे क्या है? अन्य युगों में नित्य और मुक्त पुरुषों के दर्शन होते थे, किन्तु कलिकाल में किसी भाग्यशाली को छोड़कर इनके दर्शन नहीं होते। अब तो बद्ध और मुमुक्षु दो ही प्रकार के दिखाई देते हैं। जिन्हें परमात्मा, परलोक के बारे में अनुराग नहीं, स्वभाववश कर्मों में आसक्त रहकर संसारी वैषयिक-पदार्थों की प्राप्ति के ही लिये प्रयत्नशील रहना वे परम पुरुषार्थ मानते हैं। खाना, सन्तानें बढ़ाना, शरीर का, परिवार का पालन-पोषण करते रहना, यही उनका नित्य व्यापार है। जिनके मन में इस संसार के स्वामी के विषय में कोई जिज्ञासा नहीं उठती, संसार बन्धन से मुक्त होने की इच्छा नहीं होती, विषयों में ही सुख समझते हैं, ऐसे जीव चाहें मनुष्ययोनि में, चाहे पक्षी या वृक्षादि योनियों में हों, ये सभी बद्ध कहलाते हैं।

जिनको यह संसार अनित्य-सा, बन्धन रूप दिखाई देता है, जिनके मन में संसार बन्धन से मुक्त होने की इच्छा का अंकुर उत्पन्न हुआ है, उन्हें मुमुक्षु कहा है। समस्त शास्त्रों का उपदेश ऐसे मुमुक्षु-लोगों के ही लिये है। मुक्त तो मुक्त ही ठहरे, नित्य भी सामर्थ्यवान हैं। बद्धों को उपदेश करना व्यर्थ है। जिसने गले तक तालाब का गन्दा जल पीकर अपने पेट को भर लिया है, उसे गंगा जल देना व्यर्थ है! वह पीवेगा ही नहीं। जिसे ज्ञान की पिपासा है, परमार्थ का उपदेश उन्हीं के लिये है।

जिज्ञासु पुरुष को ज्यों ज्यों अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है, यह अनित्य-नाशवान् संसार उसकी दृष्टि से उतना ही हटता जाता है और उसकी स्थिति उतनी ही उन्नत होती जाती है। वह एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी, इस प्रकार ज्ञान की भूमिकाओं को पार करता हुआ इस संसार में ही जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवत्व का बीज, अहंता-ममता का भास, शरीर में अहंता की दृढ़ धारणा, नाना प्रकार मन में ऊहा-पोह उठते रहना, मन से ही विविध प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प करते रहना, स्वप्न में सांसारिक पदार्थों का चिन्तन, शरीर ही सत्य है-सब कुछ है, इसकी प्रतीति और वृक्षों की भाँति चेष्टा-हीन हो जाना, ये सब अज्ञान के लक्षण हैं। दैव-वशात् भगवत्-कृपा से जीव जब इस अज्ञानता से मुक्त होकर आत्मा की जिज्ञासा करने लगता है, तो वह जिज्ञासु शास्त्र श्रवण का अधि-कारी तथा मुमुक्षु कहलाता है। ज्ञान की अनन्त भूमिकायें हैं किन्तु तत्ववेत्ताओं ने सात भूमिकाओं को मुख्य माना है। भूमिका चित्त की अवस्था का नाम है। इन सात अवस्थाओं में चार सिद्धि रूपा और तीन साधन रूपा हैं। प्रथम भूमिका 'शुभेच्छा' कहलाती है। जब सांसारिक विषयों से चित्त हटकर जीव के हृदय में ये भाव उठते हैं कि मेरा जीवन व्यर्थ ही जा रहा है, मैं भी पशु, लता, वृक्ष की भाँति विषयों में फँसकर मूढ़ हो रहा हूँ, कुछ शास्त्र-चिन्तन, सतसङ्ग भी करना चाहिये। ऐसी शुभ इच्छा जिन जीवों के हृदय में प्रबलता से उठती रहे उन्हें समझना चाहिये कि वे बड़भागी, ज्ञान की प्रथम भूमिका में स्थित हैं। ऐसी इच्छा होते ही पुरुष उन्नति के पथ की ओर अग्रसर हो जाता है।

दूसरी भूमिका का नाम है 'विचारणा' शुभेच्छा होने पर साधु-पुरुषों का सत्संग करना, शास्त्र-श्रवण का अभ्यास करना

विषयों से विराग होना, यह शुभ विचारणा की स्थिति है। इसी प्रकार सत्संग और सत्-असत् का विचार करते-करते मन अत्यन्त शूक्ष्म हो जाय, यह भान होने लगे कि वास्तव में यह सत्य है-यह मिथ्या है, चित्त की ऐसी शूक्ष्म स्थिति का ही नाम 'तनुमानसा' है। यह ज्ञान की तीसरी भूमिका कहलाती है। ये तीनों तो अभ्यास काल में होने से साधन रूपा हैं। अब चौथी भूमिका का नाम 'सत्त्वोपत्ति' है। जब तीनों अवस्थायें दृढ़ हो जायँ, संसार से वैराग्य हो जाय और श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्म-स्वरूप में स्थिति हो जाय, तब समझना चाहिये कि हमारी साधनावस्था समाप्त हो गई। हमें यथार्थ ब्रह्मज्ञान हो गया। अब आगे कुछ करने को शेष नहीं रहता।

ऐसी अवस्था होने पर यह सांसारिक माया तो कुछ बाधा देती नहीं किन्तु फिर भी अणिमा-महिमा आदि दिव्य विभूतियाँ आकर अपनी सेवायें समर्पित करती हैं। उनमें भी आसक्ति न होकर ब्रह्म पर ही अपना लक्ष्य लगाये रहने का नाम 'असंसक्ति' है। यही ज्ञान की पाँचवीं भूमिका है। इस अवस्था में चित्त सदा आत्मानन्द में मग्न रहता है, किन्तु संसार का भी भास होता है। योग्य अधिकारी मिलने पर आत्म-ज्ञान का उपदेश भी दिया जा सकता है। छठीं भूमिका में पहुँचकर यह संसार दिखाई नहीं देता, निरन्तर आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। शरीर की भी सुधि नहीं रहती। अभ्यास-वश, किसी ने मुँह में कुछ डाल दिया तो निगल लिया। कहीं चल दिये तो चलते ही रहे, बैठे तो बैठे ही रह गये। किसी से बात नहीं, चीत नहीं। शरीर से वस्त्र उतर गया तो उसका भान नहीं। किसी ने अङ्ग काट दिया, उसकी पीड़ा नहीं। सुगन्धित पदार्थ लगा दिया, उसका सुख नहीं! इसका नाम 'पदार्थाभाविनी' भूमिका है। ये छः भूमिकाएँ जहाँ पराकाष्ठा को पहुँच जाती हैं, उसी का नाम

सातवीं–'तुरीय' भूमिका है। इनमें पहले की तीन अवस्थायें जाग्रत-जगत् की हैं, चौथी ब्रह्मज्ञानी की है, पाँचवीं, छठीं, सातवीं जीवन्मुक्त-पुरुषों की हैं। इन सातों से भी परे एकआठवीं 'तुरीयातीत-अवस्था' भी है, जिसमें विदेह–मुक्त पुरुष रहते हैं। वे देखने में नहीं आते।

ज्ञान की शुभेच्छा उत्पन्न होना ही बड़े भाग्य की बात है, फिर साधन करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना तो मानों समस्त द्वन्द्वों को जलाञ्जलि देना है। चौथी अवस्था में ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी, जल में कमल-पत्र की भाँति रहकर सब कार्य कर सकते हैं। ब्रह्मज्ञानी, आचार्य बनकर उपदेश करते हैं। राजा बन के शासन करते हैं !! त्यागी बन के विचरण करते हैं, सिपाही बनकर युद्ध करते हैं, अनेक व्यापार करते हुए भी वे उनके फलों में आसक्त नहीं होते। निरहंकार पूर्वक किये हुए कर्म, बन्धन के हेतु नहीं होते। राजर्षि जनक, भगवान् वेदव्यास, नारद आदि इसी भूमिका में स्थित रहकर लोकोपकार करते हैं। वैसे तो व्यास, नारदादि ईश्वर के अवतार ही हैं। इनकी भूमिका क्या है, ये तो भूमिका से परे हैं। फिर भी स्थिति समझाने को यह बात कह दी।

पाँचवी भूमिका—असंसक्ति में रहकर जीवन्मुक्त पुरुष लोकबाह्य-सा बन जाता है। उसे अपने पराये का भान नहीं रहता। यह दृश्य जगत् कभी-कभी उन्हें स्फुरित हो उठता है। जिस प्रकार चौथी भूमिका के ब्रह्मज्ञानी पुरुष निरन्तर उपदेश करते हैं, सबसे हँसते-बोलते हैं, जैसे के साथ तैसा व्यवहार करते हैं, पाँचवीं भूमिका में यह व्यवहार नहीं रहता। हाँ कभी कोई अत्यन्त ज्ञानी पुरुष आ गया, तो उसे उपदेश भी दे देते हैं, नहीं तो अपने को छिपाये पागलों की भाँति घूमते हैं। जड़भरत, भगवान् दत्तात्रेय इसी भूमिका में स्थित होकर विचरण करते हैं।

जड़भरतजी वैसे तो पागल से घूमते थे, जिसने जो कहा वही कर दिया। पालकी में लगाया। उसी में लग गये। बलि चढ़ाने ले गये, वहीं बैठकर पेड़े उड़ाने लगे। किन्तु रहूगण को अधिकारी समझकर उसके सामने महान-ब्रह्मज्ञान का उपदेश भी दे डाला और स्पष्ट कह दिया—"बच्चूजी! हम भी एक दिन राजा थे, तू तो एक देश का राजा है, हम समस्त वसुन्धरा के राजा थे।" इसी प्रकार भगवान् दत्तात्रेय कुत्तों को लिये पागलों की तरह घूमते हैं, किन्तु कभी यदु को, कभी सहस्रार्जुन को उपदेश भी दे दिया।

छठीं—भूमिका में उपदेश आदि नहीं दिया जाता, बाह्यज्ञान भी नहीं रह जाता। शरीर पर वस्त्र आदि भी नहीं रहता, मल-मूत्र का भी ज्ञान नहीं रहता। किसी ने अन्न खिलाया तो खा लिया, गोबर खिलाया तो उसे भी खा गये। भगवान—"ऋषभदेव आदि अवधूतों ने इसी भूमिका का प्रदर्शन दिया है।"

इन चौथी, पाँचवीं. छठीं भूमिकाओं में ब्रह्मज्ञानी प्रारब्ध-वश यन्त्र की भाँति चलता-फिरता रहता है, किन्तु सातवीं भूमिका में तो शरीर के कुछ व्यापार होते ही नहीं। किसी ने उठाकर बैठा दिया तो बैठ गये, लिटा दिया तो लेट गये, कोई वस्तु मुँह में डाल दी, तो वह मुँह में ही रखी है, निगलते भी नहीं। यह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। संसार का सर्वथा लोप हो जाता है, वृत्ति अत्यन्त ऊँची चढ़ जाता है। इस स्थिति में शरीर इक्कीस या बाइस दिन से अधिक नहीं टिकता। ये सब भूमिकायें ज्ञान की हैं, किन्तु भगवत्-भक्त को ये केवल विशुद्ध-भक्ति के द्वारा स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। भगवती-देवहूति को तीव्र-भक्ति योग के द्वारा ही यह सातवीं भूमिका की स्थिति प्राप्त हुई थी।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान्-कपिल वन को चले गये, तो माताजी, भगवती-सरस्वती तट

पर बिन्दु-सरोवर के समीप अपने सर्व-सुख सम्पन्न, सर्व-ऐश्वर्य परिपूर्ण विमान में आकर रहने लगीं। जिस अनुपम—सुख की वांछा स्वर्गीय-ललनायें भी बड़े लालच के सहित करती हैं, उस दिव्य गार्हस्थ्य-सुख को माताजी ने सर्वथा त्याग दिया। वे सरस्वती के सुखद, सुन्दर, स्वच्छ, शीतल-सलिल में तीनों काल स्नान करतीं, स्नान करके न बालों को सुखातीं न उनमें कंघी करतीं। इससे उनके वृद्धावस्था के बालों की भूरी-भूरी जटायें बन गईं। एक अत्यन्त ही मलिन-वस्त्र पहिने वे ध्यान मग्न रहने लगीं।

यद्यपि, वे भगवान् कर्दम के तपोबल से प्राप्त उस दिव्य विमान में ही रहती थीं, किन्तु उसकी किसी भी वस्तु का वे अब उपभोग न करतीं। वे दूध के झागों की भाँति सुन्दर-शैय्यायें सूनी पड़ी रहतीं। हाथी दाँत के सुवर्ण मंडित पायों वाले विशाल-विशाल पलँग, जिनमें ऐसे गुदगुदे गद्दे बिछे थे कि बैठते ही ऐसा लगता मानों धुनी हुई रूई के ढेर में लेट गये हों! पुष्पों की पंखड़ियों से भी अत्यन्त कोमल गद्दे थे, कोमलातिकोमल तकिये थे, वे यों ही पड़े थे। सुवर्ण के, चाँदी के, असंख्यों मणि-रत्न-जटित बर्तन थे! वैदूर्य और मुक्ता-मणियों की वेदियाँ चमाचम चमक रही थीं। असंख्यों—अमूल्य-रेशमी-सुवर्ण के काम के वस्त्र थे। चारों ओर मणियों का प्रकाश फैल रहा था। हजारों विद्याधरी युवतियाँ अपनी चमक-दमक और चाकचिक्य से बिजली की भाँति इधर से उधर शोभा बिखेरती हुई घूम रही थीं, किन्तु अब माताजी का उन सबकी ओर ध्यान ही नहीं जाता।

सदा की भाँति इस साल भी बसन्त आया। आया क्या, वहाँ तो बारहों महीने बसन्त रहता था। उनके उद्यान में कल्प-वृक्ष की भरमार थी, जिनमें कभी पतझड़ होता ही नहीं था।

सदा फूले रहते थे। मधुलोलुप-भ्रमर सदा उनके ऊपर गुञ्जार करते रहते। सदा अपने पुष्पों की गन्ध से योजनों तक उस आश्रम प्रदेश को सुवासित करते रहते। उनका उद्यान स्वर्गीय उद्यानों से भी बढ़कर था। माताजी को अब कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब तो उन्हें बार-बार अपने परमेश्वर-पुत्र का उपदेश याद आता था। ऐश्वर्य्य भोग तथा संसारी समस्त पदार्थों से वे नितान्त उपरत हो गई थीं।

भगवान् कपिल ने जो ध्यान का मार्ग बताया था, वे उसी का अभ्यास करने लगीं। कपिलदेव ने भगवान् के सगुण-साकार रूप के अंगों का क्रमशः जैसे-जैसे ध्यान बताया था, उसी प्रकार तीव्र भक्तियोग के प्रवाह से, तथा विधिवत् षोडशादि तरह पूजन करने से उनकी दृष्टि से संसार ओझल होता गया। निरन्तर ध्यान मग्न रहने से उनका जीव भाव निवृत्त हो गया। इससे वे समस्त कायिकक्लेशों से छूटकर परमानन्द में निमग्न हो गईं।

अब, उन्हें अपने शरीर का भान ही न रहा। शरीर से वस्त्र उतर गया है, नंगी ही बैठी हैं। बैठी तो बैठी ही रहती हैं, दासियों ने लिटा दिया – लेटी ही हैं। खड़ा कर दिया तो खड़ी ही हैं। मुँह में ग्रास रख दिया तो रखा है। वे न कुछ खाती थीं न पीती थीं। इतने पर भी उनका मुख मण्डल, शरद् कालीन चन्द्रमा के समान चमकता रहता। धूलि से भरा हुआ शरीर ऐसा प्रतीत होता, मानो खानि से निकाली बिना खराद पर चढ़ाई मणि दमक रही हो। न खाने पर भी, परमानन्द की आभा से उनका दिव्य-वपु दुर्बल नहीं हुआ था, क्योंकि मन तो सदा दिव्य-रस का आस्वादन करता रहता था।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार माता देवहूति ने अपने पुत्र भगवान् कपिल के उपदेश के अनुसार अभ्यास करने पर अल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त कर ली। उन्होंने

आत्मस्वरूप, नित्य मुक्त परब्रह्म-परमात्मा को प्राप्त कर लिया। जहाँ पर माताजी को सिद्धि मिली, वह संसार में 'सिद्धिपद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ—जिसे मातृ-गया भी कहते है। शरीर में दैहिक-मल का लेश भी न रहने से ब्रह्म प्राप्ति के अनन्तर माताजी का शरीर एक स्वच्छ सलिल वाली सरिता के रूप में परिणित हो गया। हे विदुरजी! मैंने यह परम पावन भगवान् कपिल और उनकी पूजनीया-माताजी का चरित्र अत्यन्त संक्षेप में आपको सुनाया—अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

विदुरजी ने कहा—"भगवन् यह तो आपने अत्यन्त ही पावन चरित्र सुनाया। इसे सुनकर तो मेरी तृप्ति ही नहीं होती। इच्छा होती है, बार-बार इसे ही सुनता रहूँ।"

इस बात से प्रसन्न होकर भगवान् मैत्रेय बोले—"विदुरजी! यह चरित्र है ही ऐसा, जो इसे भक्ति-भाव से प्रेमपूर्वक पढ़ेंगे-सुनेंगे उन्हें भी अवश्य ही भगवत-चरणारविन्दों की प्राप्ति होगी। आप श्रवण करके इसे बार-बार विचारें और अवसर मिलने पर 'सिद्धिपद' (मातृगया) अवश्य जायँ। उस क्षेत्र में जाने से ही मनुष्य, महान् पुण्य प्राप्त करता है। अब मैं आगे की कथा सुनाऊँगा। भगवान् कर्दम के वंश का वर्णन करूँगा। उसे भी आप ध्यान से सुनें।"

छप्पय

छठ भूमिका पार करी सतवीं महँ निशि दिन।
रहे, करे नहिं कछू काज भगवत चिन्तन बिन॥
यों माता ने 'तुरिय' भूमिका प्रकट दिखाई।
प्रेमयोग ते परा भक्ति की 'पदवी' पाई॥
मातृगया वो सिद्धपद, सिद्धि मातु पाई जहाँ।
दैहिक मल ते रहित तनु, सरिता बनि विहरे तहाँ॥

—०—

दत्तात्रेय भगवान् के अवतार का उपक्रम

[१६७]

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

देवहूति की कथा सुनी मनुपुत्री-मँझली ।
आकूती रुचि वरी प्रसूती पुत्री-पिछली ॥
दक्षनारि बनि जने पुत्र-पुत्री अति श्रेष्ठा ।
यज्ञ-पुरुष अवतार जननि आकूती ज्येष्ठा ॥
अनसूया कर्दम सुता, तीन देव वश करि लये ।
"पुत्र होहिं प्रकटैं उदर" तैं, तीनों मिलि वर दये ॥

श्रीहरि ही अपने अनेक रूप बनाकर इस जगत् में विहार कर रहे हैं। वे ही कर्त्ता हैं, वे ही भोक्ता हैं। वे ही कार्य हैं, वे ही कारण हैं वे ही उत्पन्न करते हैं, फिर उत्पन्न किये आत्मांश भूत-जीवों का पालन करते फिर अपने आप में मिला लेते हैं। जैसे एक ही अग्नि नानारूपों में भासती है, एक ही वायु देश, काल

---

* श्रीविदुरजी महामुनि मैत्रेयजी से पूछते हैं—'हे गुरो ! ब्रह्मा-विष्णु और महेश ये तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के हेतु हैं। इन तीनों ने क्या काम करने की इच्छा से अत्रि-मुनि के यहाँ अवतार लिया इस कथा को कृपा करके मुझे सुनाइये।"

के भेद से सुगन्धि, दुर्गन्धि-युक्त-सी दिखाई देती है। इसी प्रकार एक ही प्रभु नाम, रूप-आकृति आदि के भेद से अनेक भाँति के भासते हैं। जब वे ही वे हैं, तब बन्धन-मोक्ष का प्रश्न ही नहीं। उनकी क्रीड़ा है आनन्द के लिए, विहार के लिए वे लीला कर रहे हैं। इस सृष्टि का भगवत् इच्छा के अतिरिक्त और कोई कार्य ही प्रतीत होता नहीं। जीवों के कर्म-भोग आदि के नियन्ता तो वे ही हैं। वे अपने नाभि-कमल से चतुरानन-ब्रह्माजी को उत्पन्न करते हैं, उनके हृदय में सृष्टि रचना की अत्युत्कट इच्छा भी वे ही उत्पन्न करते हैं। सृष्टि रचना में विविधि भाँति से उन्हें सहायता देते हैं। जिस कार्य को ब्रह्माजी करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, उसे श्रीहरि स्वयं अवतार धारण करके करते हैं। इसलिए सृष्टि में सर्वत्र उनका ही पराक्रम है, उनकी ही विजय है। ब्रह्मा, प्रजापति आदि रूपों से इसे रचते हैं, अनेक अवतारों द्वारा इसका पालन करते हैं और काल, यम, रुद्र रूप से इसका संहार करते हैं। इस समय सृष्टि का प्रसङ्ग चल रहा है। विदुरजी महामुनि मैत्रेयजी से सृष्टि सम्बन्धी प्रश्न पूछ रहे हैं।

विदुरजी ने कहा—"भगवन! यह बात तो मैंने आपके श्रीमुख से सुनी कि ब्रह्माजी ने अपने विभिन्न अंगों से मरीचादि दश—प्रजापति—ऋषियों को उत्पन्न किया। फिर स्वयं साक्षात् ब्रह्माजी के ही शरीर के दो भाग हो गये। एक से आदि-मानव स्वायंभुवमनु हुए और दूसरे से आदि-स्त्री श्रीशतरूपा हुई। उनके प्रियव्रत, उत्तानपाद ये दो पुत्र और आकूति, देवहूति और प्रसूति ये तीन कन्यायें हुईं। आपने बड़ी आकूति का चरित्र न कहकर पहिले देवहूति का वर्णन किया। इसका कारण मैंने यही समझा, कि भगवान् कपिल का चरित्र प्रधान है इसलिये उचित ही था। अब आप मुझे इन तीनों पुत्रियों के

पुत्र, पौत्रों की कथा सुनाइये, क्योंकि ये तीनों ही प्रजापतियों की पत्नियाँ हुईं। तीनों के ही द्वारा सृष्टि की वृद्धि हुई। इन तीनों के वंश में बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि, राजर्षि और अवतार प्रकट हुए, जिन्होंने अपनी भगवत-भक्ति और कीर्ति के द्वारा त्रैलोक्य को पावन बना दिया।"

विदुरजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर महामुनि मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! आपने अत्युत्तम प्रश्न किया। भगवान् स्वायंभुवमनु के वंशजों ने ही समस्त पृथ्वी पर धर्म का प्रसार और प्रचार किया। इनकी वंश परम्परा में भगवान् के बहुत से अवतार हुये। अच्छा, तो सुनिये, मनुदेव के प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे, इनका चरित्र तो मैं आगे कहूँगा। इस समय उनकी कन्याओं के वंश सुनिये।

भगवान् स्वायंभुवमनु ने अपनी बड़ी कन्या आकूति का विवाह 'रुचि' नामक प्रजापति के साथ किया, पुत्रिका-धर्म के द्वारा!"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! पुत्रिका-धर्म कैसा? उसमें क्या नियम होता है?"

मैत्रेयजी ने कहा—"विदुरजी! कन्या देते समय वर से यह प्रतिज्ञा करा ले कि इस कन्या के जो पुत्र होगा वह मेरा पुत्र कहलावेगा, उसे मैं ले लूँगा। यही पुत्रिका-धर्म कहलाता है।"

तब विदुरजी बोले—"भगवान् मनु के तो प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे, फिर उन्होंने अपनी कन्या, पुत्रिका-धर्म से भगवान् रुचि को क्यों दी?"

यह सुनकर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! उस समय सृष्टि तो बहुत थी नहीं, सभी को इच्छा होती थी हमारे बहुत पुत्र हों। जो बहुत सन्तान वाला होता था वही श्रेष्ठ समझा जाता

था। इसलिये बहुत सन्तानों का पिता कहलाने के ही लिये मनु महाराज ने ऐसा किया होगा। फिर उन्हें ध्यान में ज्ञात भी हो गया होगा कि इसके गर्भ से भगवान् का अंशावतार होगा इसीलिये ऐसा किया हो। हाँ-तो भगवती-आकूति के, परम-समाधि द्वारा भगवान्-रुचि ने दिव्य तेज सम्पन्न एक पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। वे यज्ञ स्वरूप स्वयं साक्षात्-श्रीहरि के अंशावतार थे।"

विष्णु भगवान् ही यज्ञ-रूप में अवतीर्ण हुए। जहाँ विष्णु वहीं उनकी छाया लक्ष्मीजी रहती हैं। अतः दक्षिणा नाम से लक्ष्मी भी वहीं उत्पन्न हुईं।"

इस पर विदुरजी ने कहा—"इन भगवान्-यज्ञ ने कौन-सा विशिष्ट कार्य किया?"

भगवान् मैत्रेय बोले—"इन्होंने एक मन्वन्तर पर्यन्त तीनों लोकों का शासन करके, शासन करने की पद्धति प्रचलित की। यह आदर्श उपस्थित किया कि त्रैलोक्य का पालन कैसे किया जाता है?"

विदुरजी ने पूछा - "इस बात को स्पष्ट समझावें कि त्रैलोक्य का पालन कैसे होता है?"

मैत्रेयजी बोले—"ब्रह्माजी के एक दिन में चौदह मनु बदल जाते हैं। इन मन्वन्तरों में भगवान् अपने छः रूप रखकर प्रजा का पालन करते हैं। मनु, मनु-पुत्र, देवताओं का समूह, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् का एक अंशावतार-ये ही भगवान् के छः रूप हैं, प्रत्येक मन्वन्तर में ये बदल जाते हैं। फिर इनके स्थान पर दूसरे होते हैं। यज्ञ-भगवान् अंशावतार तो थे ही, स्वयं ही इन्द्र बन गये। भगवती-दक्षिणा से उन्होंने तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, बभु, स्वन्द, सुदेव और रोचन ये बारह पुत्र उत्पन्न किये। उस

प्रथम स्वायंभुव-मन्वन्तर में अपने इन पुत्रों को ही भगवान् ने देवताओं का गण बनाया। तथा मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और भृगु इन सात महर्षियों को 'सप्तर्षि' बनाया। स्वायंभुवजी तो मनु थे ही। उनके पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद हुए। इस प्रकार छः-रूप से होकर भगवान् ने पूरे मन्वन्तर पर्यन्त त्रैलोक्य का शासन किया। यह सबसे प्रथम मन्वन्तर था।"

विदुरजी ने पूछा—"जब भगवान्-यज्ञ स्वयं इन्द्र हो गये तब अंशावतार कोई दूसरा उस मन्वन्तर का और हुआ था क्या ?"

इस पर मैत्रेयजी ने कहा—"नहीं, वे ही भगवान्, इन्द्र हुए और वे ही अवतार। यह आवश्यक नहीं कि दो ही हों। इन्द्रपद पर ब्रह्मज्ञानी भी पहुँच जाते हैं। कभी नित्य पुरुष, कभी मुमुक्षु और कभी-कभी पुण्य-प्रभाव से बद्ध-जीव भी इन्द्र हो जाते हैं। भगवान् अवतार लेकर चाहे जो लीला करने लगें। मनु हो जायँ मनुपुत्र हो जायँ, इन्द्र हो जायँ उपेन्द्र हो जायँ, पशु-पक्षी, कच्छ, मच्छ, जो उनकी इच्छा हो वही बन जाते हैं।"

इस प्रकार स्वायंभुव-मन्वन्तर में, मनुदेव के पुत्रिका-धर्म से हुए पुत्र यज्ञ-भगवान् ने इन्द्रपद का उपभोग किया। संक्षेप में यह आकूति देवी के वंश का वर्णन किया। भगवती देवहूति का चरित्र तो सुना ही दिया। सबसे छोटी प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति के साथ हुआ। उससे बहुत-सी सन्तानें हुईं। उनका वर्णन आगे हम विस्तार के साथ करेंगे।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! आपने महर्षि कर्दम की नौ कन्याओं का पीछे उल्लेख किया था और यह भी बताया था, कि उनका विवाह मरीचि आदि नौ महर्षियों के साथ हुआ। उनकी सन्तानों का चरित्र सुनने की मेरी इच्छा है। उनमें

जो विशिष्ट-भक्त हुए हों—भगवान् के अवतार हुए हों—उनका आप विस्तार के साथ वर्णन करें।"

इस पर मैत्रेय मुनि ने कहा—"महाभाग! मैंने आपको बताया था, भगवान् कर्दम की सबसे बड़ी पुत्री 'कला' का विवाह महर्षि-मरीचि के साथ हुआ। इन मरीचि के ही पुत्र भगवान्-कश्यप हुए जिनकी दिति आदि पत्नियाँ हुईं और जिनसे इतनी संतानें हुईं कि सम्पूर्ण संसार उन्हीं की संतानों से भर गया। दूसरे पुत्र पूर्णिमा हुए जिनके विरज, विश्वज, दो पुत्र हुए और देवकुल्या नाम की एक पुत्री हुई, जो गङ्गा हो गई। भगवान् मरीचि के वंश का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

महर्षि कर्दमजी की दूसरी पुत्री का नाम अनसूया था जिसका विवाह भगवान् अत्रि के साथ हुआ। ये अनसूया पतिव्रताओं में शिरोमणि हुईं। इन्होंने अपने पतिव्रत के प्रभाव से तीनों देवों को पुत्र बना लिया। इनके पातिव्रत से संन्तुष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने इन्हें वरदान किया कि हम तुम्हारे यहाँ पुत्र रूप में प्रकट होंगे। वे तीनों ही अपने-अपने अंश से उत्पन्न होकर संसार में क्रमशः दुर्वासा, दत्तात्रेय और चन्द्रमा इन नामों से प्रसिद्ध हुए। माता अनसूया ने तो वर प्राप्त किया ही था, उनके पति भगवान् अत्रि ने भी अपने तप से तीनों देवों को सन्तुष्ट किया और पुत्र होने का वरदान माँगा। इस प्रकार इन तपः-पूत-दम्पति की भक्ति से तीनों देव इनके यहाँ अवतीर्ण हुए।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवती अनसूया ने किस प्रकार तीनों देवों से पुत्र बनने का वरदान प्राप्त किया? तथा भगवान् अत्रि ने कैसी तपस्या की, कैसे उन्हें पुत्र बनाया। इन सब कथाओं को विस्तार के साथ हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो! भागवती कथा में तो

इनका संकेत मात्र ही मैं पुराणों के आधार पर करूँगा। भगवती अनसूया ने कैसे तीनों देवों को अपने पातिव्रत के प्रभाव से वश में किया इस कथा को सुनाऊँगा - आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

पति प्राना जग माहिँ सरिस अनसूया नारी।
को है वश जिन किये अखिलपति, विधि, त्रिपुरारी॥
परुष जोग जप करै सिद्धि वाकूँ नहिँ पावे।
जाहि पाइ पति प्रिया सहज जगतैं तरि जावे॥
जाके डरते देव, मुनि, इन्द्र, चन्द्र, रवि सब डरहिँ।
पतिव्रता तिहि के चरन, बार-बार बन्दन करहिँ॥

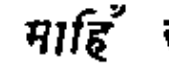

अनसूया के यहाँ तीनों देवों का पुत्र होना

(१६८)

षष्ठे अत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥*

(श्री भा० १ स्क० ३ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

सरस्वती, श्रीरमा, शिवा तीनों यह मानें ।
पतिव्रता हम श्रेष्ठ याँह सबरो जग जानें ॥
नारद सबके भरे कान अनसूया को सम ?
निज-निज पति तें कहैं पातिव्रत देखे बल हम ॥
विधि, हरि, हर भिक्षुक बने, अनसूया आश्रम गये ।
पतिव्रता की परीक्षा, हित भिक्षा माँगत भये ॥

भगवान् को अपने भक्तों का यश बढ़ाना होता है तो वे नाना-भाँति के स्वाँग रचते हैं । ऐसी-ऐसी अद्भुत क्रीड़ायें करते हैं जिनको स्मरण करके साधारण मनुष्य चकित हो जाते हैं, कि भगवान् ने ऐसी क्रीड़ा क्यों की ? हम साधारण अज्ञपुरुष, भगवान् की अचिन्त्य-लीलाओं को अपने तर्क की तुला पर तोलें तो हमारा यह प्रयास असफल ही न होगा अपितु यह हमारी अनधिकार चेष्टा भी समझी जायगी ।

---

* छठें, दत्तात्रेय नामक अवतार—अत्रि भगवान् की पत्नी अनसूया के वरदान माँगने पर उनके यहाँ पुत्र रूप से प्रकट हुए, जिन्होंने प्रह्लादजी तथा महाराज अलर्क को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया ।

संसार में दो ही सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं—"सती और सन्त! ये दोनों ही दिव्य-धाम के अधिकारी समझे जाते हैं। जो पद भगवद् भक्त सन्त का है, वही नहीं किन्तु उससे भी ऊँचा पद पतिप्राणा सती-पत्नी का समझा जाता है। सन्त से तो भगवान् चिरकाल के अनन्तर बातें करते है, बातें भी करते हैं तो अत्यन्त स्नेह के साथ-प्रेमपूर्ण वाणी से। किन्तु सती को तो प्रतिक्षण अपने पति के रुख को देखकर चलना पड़ता है, उसकी डाँट-फटकार सहनी पड़ती है, उसके मन में अपना मन मिलाना पड़ता है और उसके प्राणों में प्राण मिलाकर उसी की इच्छानुसार आचरण करना पड़ता है। पति ही परमेश्वर है-यह कितना उच्च भाव है, कितनी कठिन साधना है। इस साधना को इस पुण्य-भूमि की ललनायें ही करती हैं। तभी तो सतियों की आज्ञा के सामने देवताओं को सिर झुकाना पड़ता है। सूर्य-चन्द्र उनका रुख देखकर चलते हैं। देवताओं की तो बात ही क्या है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उनके सामने अपने को पराजित-सा समझते हैं। पतिव्रता के ऐसे प्रभाव को जताने के ही लिये भगवान ने एक विचित्र अभिनय रचा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीलक्ष्मीजी, श्रीसतीजी और श्रीसावित्रीजी को अपने पतिव्रत का बड़ा अभिमान था। भगवान् और किसी के अभिमान को चाहे सहन कर लें किन्तु वे अपने भक्तों के हृदय में उठे हुए अभिमान के अंकुर का तुरन्त नाश कर देते हैं। यही तो उनकी भक्तों के ऊपर भक्तवत्सलता है। भगवान् ने देखा कि चराचर-जगत की इन वन्दनीय देवियों को बड़ा गर्व हो गया है, तो उनके गर्व को खर्व करने के निमित्त कलह प्रिय-भगवान् नारद के मन में प्रेरणा की। नारदजी तो भगवान् की इच्छा को जानने वाले ही ठहरे। भगवान् की प्रेरणा से चले। उन्हें तो नित्य प्रति कोई न कोई नया कौतुक चाहिए।

बैठे-बिठाये उनका मन लगता नहीं। इधर की उधर और उधर की इधर लगाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। अतः वे पहिले लक्ष्मीजी के यहाँ पहुँचे।"

अपने यहाँ, वीणा बजाते—"रामकृष्ण गुण गाते, नारदजी को आते देखकर लक्ष्मीजी का मुख कमल खिल उठा। बड़ी प्रसन्नता से वे बोलीं—"आइये नारदजी! अबके तो बहुत दिनों में आये, कहाँ चक्कर लगाते रहे?"

कुछ रुक कर नारदजी बोले—"माताजी! हमारा क्या ठिकाना!! रमते-राम ठहरे, जिधर चल दिये-चल दिये। वैष्णव का और ऊँट का जिधर मुँह उठा चल दिया।"

यह सुनकर लक्ष्मीजी बड़े जोरों से हँस पड़ीं और हँसते-हँसते बोलीं—"नारदजी! आपने वैष्णव की ऊँट के साथ तुलना बड़ी सुन्दर की। ऊँट भी नीम को बिना पत्ती के बना देता है और ये वैष्णव भी तुलसी को बिना पत्ती के बना देते हैं। सहस्र-सहस्र दल शालिग्राम भगवान् पर चढ़ाते हैं। अस्तु, यह तो बताओ, तुम आ कहाँ से रहे हो?"

नारदजी बोले—"माताजी क्या बताऊँ, कुछ बताते नहीं बनता। अबके मैं घूमता-घामता चित्रकूट की ओर चला गया। वहाँ से पयस्विनी के किनारे-किनारे भगवान् अत्रि के आश्रम पर पहुँच गया। जहाँ उनकी पतिव्रता-पत्नी भगवती-अनसूया के दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया। आज संसार में उनके समान पतिव्रता कोई भी नहीं है। उन्होंने अपने तप के ही प्रभाव से गंगाजी की एक धारा प्रकट कर दी जो सब पापों को काटने वाली 'मन्दाकिनी' के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। आज संसार की सभी सती-साध्वी-प्रतिव्रताओं की वे शिरोमणि हैं। चौदहों भुवनों में मैं घूम आया, ऐसी पतिव्रता तो मुझे कहीं मिली नहीं।"

यह सुनकर तो लक्ष्मीजी को बड़ा बुरा लगा। यह मेरे ही घर का बच्चा, मेरे सामने ऐसी बातें कर रहा है, यह तो मेरा प्रत्यक्ष अपमान है, फिर सोचा—"इसने मुझे छोड़कर कहा होगा। अतः बात को स्पष्ट करने को पूछने लगीं—"नारद! तुमने अनसूया के पातिव्रत की बड़ी प्रशंसा की, नाम तो उनका मैंने भी सुना है, किन्तु क्या वे मुझसे भी बढ़कर हैं?"

नारदजी को तो उनके मन को फेरना ही था, बोले—"माताजी! आप बुरा न मानें तो मैं इसका उत्तर दूँ?"

लक्ष्मीजी बोलीं—"बुरा मानने की कौन-सी बात है, तुम निर्भय होकर उत्तर दो।"

नारदजी बोले—"माताजी! सच कहूँ या झूठ?"

लक्ष्मीजी बोलीं—"अरे, झूठ का क्या काम? तुम सच-सच बताओ।"

तब नारदजी दृढ़ता के स्वर में कहने लगे—"माताजी! सच बात तो यह है, आप उन देवी अनसूया के पासंग के बराबर भी नहीं।" इतना सुनते ही लक्ष्मीजी का मुख फक पड़ गया। वे नारदजी से ऐसे उत्तर की स्वप्न में भी आशा नहीं रखती थीं। उनके मन में सती अनसूया के प्रति डाह हुआ और मन-ही-मन उन्होंने भगवती-अनसूया को नीचा दिखाने का निश्चय कर लिया। फिर प्रकट में बोलीं—"अच्छी बात है, नारद। समय बतावेगा कि वह मेरे पासंग के समान है या मैं उसके पासंग के तुल्य हूँ।" नारदजी को तो कलह का बीज बोना था। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। ठीक समय पर जोती गई उर्वरा भूमि में बीज बोया गया है, अब अतिशीघ्र ही बीज में से अंकुर उत्पन्न होकर वह पल्लवित और फलवान् बन जायगा। यह विचार कर नारद शीघ्रता के साथ कैलास की ओर चल दिये।

इधर लक्ष्मीजी आज मुँह फुलाकर बैठ गईं। भगवान् ने

पूछा—"प्रिये ! आज किस कारण से खटपाटी लेकर पड़ी हो ? अपने दुःख का कारण मुझे बताओ।"

लक्ष्मीजी बोलीं—"देखो जी, सुन लो मेरी बात ! बहुत दिन मैंने आपके तलुए सुहराये हैं। आपने भी कृपा करके मुझे अपने कंठ का हार बनाया। मैंने आज तक आपकी हाँ-में-हाँ मिलाई है। अपनी कोई माँग उपस्थित नहीं की। आज आपको मेरी एक बात माननी पड़ेगी ?"

भगवान् बोले—"बात भी तो सुनें, क्या बात है ? बिना सुनें कैसे कह दें ?"

मुँह फुलाकर लक्ष्मीजी बोलीं—"नहीं जी, बात कुछ भी हो। मैं शशक के सींग माँगू तो आपको एक सींग वाला शशक बनाकर उसके सींग लगाने पड़ेंगे। मैं वन्ध्या का पुत्र माँगू तो आपको वन्ध्या के मुँह से पुत्र प्रकट करके लाना ही पड़ेगा। तुम, हाँ कहोगे तब मैं कहूँगी। उसके पहिले नहीं। आज ही तो आपका प्रेम देखना है। बहुत मुझे बहकाते रहते थे।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, कहो तो सही।"

लक्ष्मीजी बोलीं—"हाँ-कहो।"

भगवान् हँसकर बोले—"हाँ, हाँ, कहो और कहो कै बार कहूँ ? पट्टा लिख दूँ। गंगाजी तो मेरे अँगूठे से ही निकली हैं, जो गङ्गाजी में खड़ा होकर कहूँ।"

लक्ष्मीजी प्रसन्नता प्रकट करती हुई बोलीं—"नहीं-बस महाराज ! हो गया मुझे विश्वास। आपको जैसे भी हो तैसे अनसूया देवी का सतीत्व क्षीण करना होगा।"

भगवान् यह सुनकर हँसे और मन में ही कहने लगे—"अरे, देवि ! हममें इतनी सामर्थ्य कहाँ जो उस देवि का पातिव्रत कम कर सकें। भगवान् तुरन्त समझ गये यह सब उसी

तूमड़ियाँ नारद ने बीज बोये हैं। प्रकट में बोले—"बस, इतनी सी ही बात पर मुँह कुप्पी की तरह फुला लिया था। हम अभी जाते हैं, हम तो प्रयत्न करेंगे और जब तक इस कार्य को पूरा नहीं करेंगे तब तक न लौटेंगे, यदि तुमने बीच में कुछ विघ्न बाधा न डाली तो।"

लक्ष्मीजी बड़ी प्रसन्न हुईं। भगवान् ने अपने वाहन गरुड़ को बुलाया और वे अत्रि के आश्रम की ओर चल पड़े।

इधर नारदजी कैलास पहुँचे। सतीजी अकेली बैठी पूजा कर रही थीं। वीणा बजाते, नाचते, गाते हुए आते नारदजी को देखकर सती-पार्वती ने उनका स्वागत किया, खाने को एक लड्डू दिया। एक ही गप्पे में मुँह में डालते हुए नारदजी बोले—"अहा! कैसा स्वादिष्ट लड्डू है। अमृत का बना मालूम पड़ता है, किन्तु भगवती-अनसूया के यहाँ जैसा स्वाद था, वैसा तो स्वाद है नहीं।"

श्रीसतीजी ने मन में सोचा—"हाय! कैसे कृतघ्न से पाला पड़ा! कितने उल्लास से तो मैंने यह सुधामय-मोदक इसे दिया, यह कहता है अनसूया के लड्डू के बराबर नहीं है। तब तो उन्हें रोष आ गया और बोलीं—"नारद! क्या कह रहा है? अनसूया कौन है—जिनके लड्डू की तू इतनी प्रशंसा करता है?"

नारदजी बोले—"माताजी! सती-साध्वी भगवती-अनसूया भगवान् अत्रि की प्राणप्रिय-पत्नी हैं। आज संसार में उनके सदृश दूसरी कोई पतिव्रता नहीं।"

सतीजी ने बल देते हुए कहा—"मुझसे भी अधिक?"

नारदजी ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"माताजी! अधिक कम का तो मुझे पता नहीं। किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि उनके पातिव्रत के सामने आपका पातिव्रत फीका है।"

यह सुनते ही सती दौड़ी-दौड़ी शिवजी के पास पहुँचीं और बोलीं—"आप तो कहते थे, मैं पतिव्रताओं में शिरोमणि हूँ।"

शिवजी ने कहा—"क्यों, तुम्हें इसमें कुछ सन्देह है क्या ?"

सतीजी ने कहा—"महाराज जी ! अब तक तो सन्देह था नहीं, इस नारद ने मुझे अब सन्देह में डाल दिया है। नारद कहता है, कि अत्रि-पत्नी अनसूया के सामने तुम्हारा पातिव्रत फीका है।"

यह सुनते ही शिवजी हँस पड़े और बोले—"नारद कहाँ है ? उसे मेरे पास लिवा लाओ।" सतीजी लौटकर गईं, तो अब नारद वहाँ कहाँ ? वे तो कब के नौ-दो-ग्यारह हो चुके थे। पार्वतीजी ने लौटकर कहा—"महाराज ! वह तो चला गया। किन्तु आप बतावें, यह बात सत्य है क्या ?"

भोलानाथ, स्त्रियों के डाह की बात क्या जानें कि इनके मन में कैसी 'असूया' होती है। वे बोले—"नारद ठीक ही कहता था देवि ! तुम भगवती-अनसूया की समानता नहीं कर सकतीं।"

सतीजी ने उसी समय शिवजी के कमल के सदृश दोनों अरुण-चरण पकड़ लिये और दृढ़ता के स्वर में बोलीं—"अब इन चरणों को तभी छोड़ूँगी, जब अनसूया का पातिव्रत क्षीण करके मुझे संसार में सर्वश्रेष्ठ सती-शिरोमणि बना दोगे।"

भोले बाबा अपने माँपों को सम्हालते हुए बोले—"देवि ! हम प्रयत्न करेंगे, किन्तु बीच में फिर तुम गड़बड़ घुटाला मत मचा देना। ये स्त्रियाँ क्षण भर में तो रुष्ट हो जाती हैं, क्षण भर में संतुष्ट। फिर 'भायेलो-सहेलो' मत जोड़ लेना।"

सतीजी बोलीं—"महाराज ! मुझे तो आपका ही डर है। आप भोलानाथ ठहरे। पुरुषों की सदा यही नीति रहती है, कि छल से, बल से, कला-कौशल से, डाँट के, फटकार के, प्यार करके, झूठ-सच बोल कर स्त्रियों को ठग लेना। सो, देवताजी !

मुझे तो आज तक ठगा है। अब उस ठग-विद्या का प्रयोग अत्रि पत्नी अनसूया के साथ करो न।"

शिवजी हँस पड़े और मन-ही-मन सोचने लगे—"जो दूसरों को खाई खोदता है, उसके लिये कुँआ खुदा खुदाया तैयार रहता है।" प्रकट में बोले—"देवि! अभी जाता हूँ, तुम मेरे चरणों को छोड़ो तो सही!" सती देवी ने भगवान् वृषभध्वज के चरणों को छोड़ दिया। जो सती अपने पति के चरणों को क्षण भर भी छोड़ देती है, उसे अन्त में क्लेश-ही-क्लेश उठाना पड़ता है। शिवजी ने अपने 'नादिये' को बुलाया। वे बम-बम करते हुए तुरन्त दौड़े चले आये। शिवजी उछलकर उसके ऊपर सवार हुए और पीछे आने वाले भूत, प्रेत, पिशाचों को लौटा कर अकेले ही अत्रि आश्रम की ओर चल पड़े।

इधर नारदजी ब्रह्मलोक में पहुँचे। सावित्री माता ने उनका प्रेमपूर्वक सत्कार किया और बोलीं—"वत्स नारद! तुम तो हमें भूल ही जाते हो, अबके तो बहुत दिनों में आये। क्या नये समाचार हैं?"

नारदजी ने कहा—"माताजी! सब ठीक है, एक बड़ी अद्भुत बात मैंने मर्त्यलोक में देखी।"

उत्सुकता के साथ ब्रह्माणी ने पूछा—"बताओ, कौन-सी अद्भुत बात है?"

नारदजी ने कहा—"माताजी! क्या बताऊँ, अत्रिपत्नी अनसूया के पातिव्रत का ऐसा प्रभाव है, कि सब ऋषि मुनि आकर उनकी स्तुति करते हैं। संसार में उनके समान आज कोई पतिव्रता नहीं। मैं उनके आश्रम में गया, तो वहाँ ऐसी शान्ति थी जैसी यहाँ ब्रह्मलोक में नहीं। पतिव्रता का ऐसा प्रभाव ही होता है।"

अमर्ष के कारण ब्रह्माणी बोलीं—"तो क्या वह मुझसे भी कर है ?"

नारदजी ने कहा—"अब माताजी ! मैं कैसे कहूँ ? अपनी माँ तो माँ ही है,सर्वश्रेष्ठ है ही। किन्तु सभी ऋषि-मुनि यही बात कह रहे हैं, कि आज अनसूया से बढ़कर कोई भी पतिव्रता नहीं।"

अब तो ब्रह्माणीजी को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने कहा—"जा, शीघ्रता से अपने पिता को बुला ला।"

अपनी माताजी की आज्ञा पाकर नारदजी पितामह की सभा में गये। उस समय वे देवताओं और असुरों में जो बहुत दिन से वैरभाव चल रहा था, उसी के सम्बन्ध में कश्यपजी से बातें कर रहे थे। भगवान्-वेदगर्भ की स्तुति-वन्दना के अनन्तर नारदजी ने ब्रह्माणी का सन्देश कह सुनाया।

ब्रह्माजी ने समझा कोई आवश्यक कार्य होगा, इसलिये उठकर भीतर आये। आते ही ब्रह्माणी ने पूछा—"भगवन् ! आजकल संसार में सर्वश्रेष्ठ पतिव्रता कौन है ?"

ब्रह्माजी ने विस्मय के साथ पूछा—"इस अप्रासंगिक-प्रश्न का प्रयोजन क्या ?"

हठ के स्वर में ब्रह्माणी ने कहा—"प्रयोजन कुछ नहीं, आप मुझे पहिले इसका उत्तर दे दीजिये।"

ब्रह्माणीजी ने प्रेम के स्वर में कहा—"अब महाराज ! आप ये चाटुकारिता की बात न कीजिये, सत्य-सत्य बताइये। मैंने तो सुना है, आजकल अनसूया से बढ़कर कोई पतिव्रता संसार भर में नहीं है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी को चिन्ता भी हुई, ऊपर से मुस्कराये भी। सोचा—"कुछ दाल में काला है" स्त्रियों में 'असूया' ही आ जाती है। अनसूया में यही विशेषता है, कि किसी के

भी उनके मन में असूया नहीं, डाह नहीं, ईर्ष्या नहीं। बात तो सत्य है, उनके समान कौन हो सकता है ? बात को टालने की दृष्टि से ब्रह्माजी बोले—"तुमसे यह बात किसने कही ?"

ब्रह्माणीजी इधर-उधर देखने लगीं। नारदजी का पता ही नहीं। माता-पिता की ऐकान्तिक रहस्य की बातों के समय सयाने पुत्र को वहाँ नहीं रहना चाहिये। इसलिये नारदजी न जाने कब के अन्तर्धान हो गये थे। जब नारदजी को न देखा तो ब्रह्माणीजी ने कहा—"मुझसे काले चोर ने कहा। आप यह बताइये, बात सत्य है कि नहीं !"

ब्रह्माजी ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा—"मान लो सत्य ही है, तो इसमें तुम्हें चिन्ता करने की कौन-सी बात है ? वह तो तुम्हारी पुत्रवधू ही ठहरी।"

ब्रह्माणीजी ने जरा रोष के स्वर में कहा—"मानसिक-पुत्रों से क्या सम्बन्ध ? वे तो पृथक्-पृथक् अङ्गों से प्रगट होने से परस्पर में भिन्न ही हैं। देखिये, आप जैसे हो तैसे अनसूया को पातिव्रत-धर्म से च्युत करें।"

उसी समय सर्वज्ञ-भगवान् ब्रह्माजी ने ध्यान लगाया। सब बात वे समाधि में ही समझ गये, भगवान् कुछ कौतुक करना चाहते हैं, वे शीघ्रता से मुकुट सम्हालते हुए बोले—"अच्छी बात है, मैं जाता हूँ।" यह कहकर वे हंस पर चढ़कर अकेले ही चल दिये।

तीनों ही देव, भगवती-मन्दाकिनी तट पर महामुनि अत्रि के आश्रम में पहुँचे। परस्पर में एक दूसरे से प्रणाम-नमस्कार हुआ, सभी ने अपने-अपने आने का कारण बताया। भगवान् तो सब समझते थे, अतः वे बोले—"हम तीनों वेष बदल कर भगवती अनसूया के पातिव्रत की परीक्षा करने चलें।" सभी ने इस बात को स्वीकार किया और तीनों, साधु वेश में अनसूया देवी के

निकट पहुँचे। उस समय भगवान् अत्रि आश्रम में नहीं थे। तीन अतिथि-स्वरूप मुनियों को आते देखकर पतिव्रता अनसूया ने उनका स्वागत-सत्कार किया। पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय देकर उसने कन्द मूल, फल मुनियों को भेंट किया, परन्तु मुनियों ने देवी के आतिथ्य को स्वीकार नहीं किया।

तब देवी ने विनीत भाव से पूछा—"मुनियो! मुझसे कौन-सा अपराध हो गया जो आप लोग मेरी की हुई पूजा को ग्रहण नहीं कर रहे हैं?"

मुनियों ने कहा—"आप हमें एक वचन दें, तो हम आपकी पूजा को ग्रहण करेंगे अन्यथा नहीं ग्रहण कर सकते।"

देवी ने कहा—"मुनियो! अतिथि का सत्कार प्राणों को बलिदान करके भी किया जाता है। कपोत ने अपनी स्त्री को मारने वाले व्याधा का सत्कार स्वयं अग्नि में कूदकर—प्राण देकर—भी किया था। आप जिस प्रकार भी प्रसन्न होंगे उसी प्रकार मैं करने को उद्यत हूँ।"

तब तो मुनियों ने कहा—"देवी! तुम विवस्त्र होकर हमारा आतिथ्य-सत्कार करो।"

यह सुनकर तो पतिव्रता अनसूया हक्की-बक्की-सी रह गई। ये मुनि हैं या कोई छद्मवेषधारी कपटी, जो ऐसा अनुचित सदाचारहीन-प्रस्ताव कर रहे हैं। ध्यान लगाकर समाधि में देखा तो सब रहस्य समझ गई और बोलीं—"मैं आपका विवस्त्र होकर ही सत्कार करूँगी! यदि मैं सच्ची पतिव्रता हूँ—मैंने कभी भूल से भी, स्वप्न में भी पर-पुरुष का कामभाव से चिन्तन न किया हो तो तुम तीनों छः-छः महीने के बच्चे बन जाओ।"

पतिव्रता का इतना कहना ही था, कि तीनों के तीनों छः-छः महीने के दूध पीनेवाले बच्चे बनकर पालने पर कुलबुलाने लगे! माता ने विवस्त्र होकर अपना स्तन-पान कराया और पश्चात्

पालने पर सुला दिया। इतने में ही महामुनि अत्रि भी आ गये। तीनों सुकुमार बच्चों को देखकर वे आश्चर्यचकित होकर पूछने लगे—"देवी! ये देव-स्वरूप, परमसुन्दर अत्यन्त मनोहर, मन को स्वतः ही अपनी ओर खींच लेने वाले बच्चे किस भाग्यशाली के हैं?"

भगवती अनसूया ने कहा—"भगवन्! ये आप ही के बच्चे हैं।"

ऋषि बोले—"भला हमारे ऐसे भाग्य कहाँ?"

देवी ने कहा—"नहीं महाराज! आपके ही हैं, भगवान् ने स्वतः कृपा की है।" मुनि सब रहस्य समझ गये। अब तो तीनों देवता बच्चे बने क्रीड़ा करने लगे। माँ—अनसूया उन्हें खिलाती-पिलाती, पुचकारती, प्यार करती। वे सब भी उमंग में भरकर माँ के साथ क्रीड़ायें करते।"

इधर जब तीनों देवियों ने देखा कि, हमारे पतिदेव तो आये ही नहीं, तब तो वे बड़ी ही चिन्तित हुईं। जिससे पूछें, वह कह देता माताजी! हम तो जानते नहीं! क्या करें-कहाँ रह गये-वह तीनों ही अपने-अपने घर से निकलीं, दैवयोग से तीनों की चित्रकूट में भेंट हो गई। परस्पर में मिलकर एक ने दूसरी से अपना दुःख बताया। लक्ष्मीजी ने सतीजी से पूछा—"तुम्हें कैसे पता चला?"

उन्होंने कहा—"हमसे तो नारद ने ये सब बातें कही थीं?"

शीघ्रता से ब्रह्माणीजी बोल उठीं—"हाय! उसी ने मेरे भी कान भरे।"

लक्ष्मीजी भी सिर ठोकने लगीं। तीनों, नारदजी पर क्रोध कर रही थीं। लक्ष्मीजी बड़ी कुपित हो रही थीं। दाँत पीसकर बोलीं—"यदि वह तुमड़िया कहीं मिल जाय, तो उसकी तूमड़ी-फूमड़ी फोड़ दूँ। उसकी ऐसी मरम्मत करूँ, कि छठी तक का

दूध याद आ जाय। वे यह कह रही थीं कि सामने से "जय-जय रामकृष्ण हरि" की धुनि करते हुए नारदजी दिखाई दिये।

दूर ही से नारदजी ने कहा—"माताजी डण्डौत! सब माताओं को दण्डवत्।"

लक्ष्मीजी तो मन ही मन क्रोधित थीं, सभी का रोष पराकाष्ठा को पहुँच रहा था, अपने रोष को छिपाकर लक्ष्मीजी बोलीं—"वाह, नारदजी! बड़े अच्छे समय पर आये। दूर क्यों खड़े हो, हमारे पास आओ। तुम्हारी यह वीणा तो बड़ी सुन्दर है। देखें—तनिक इसे, कैसी है? सरस्वतीजी बड़ी सुन्दर वीणा बजाती हैं।"

नारदजी सब समझ रहे थे, बोले—"माताजी! मैं आजकल एक अनुष्ठान में हूँ। किसी के पास जाकर बातें नहीं करता। विशेषकर स्त्रियों से दूर ही रहता हूँ। किसी के पैर भी नहीं छूता। रही वीणा की बात सो यह तो मुझे प्राणों से भी प्यारी है, इसे तो मैं किसी को छूने तक नहीं देता। सरस्वतीजी अपनी वीणा बजावें, अपने राम तो चले, जय जय—सीताराम!" इतना कहा और नारदजी चल पड़े।

अब तो तीनों घबड़ाईं। बड़ी कोमल वाणी में ब्रह्माणी बोलीं—"नारद! नारद! तुझे मेरी शपथ, अपने बाप की शपथ जो तू लौटकर न आवे। भैया! एक बात सुन जा। तू सब जानता है। तीनों देवता कहाँ चले गये?"

नारदजी ने अँगुली से संकेत करते हुए कहा—"देखो, वह भगवती अनसूया का आश्रम है—उसी में खेल रहे हैं।"

लक्ष्मीजी शीघ्रता से बोलीं—"ऐसा भी क्या खेल! इतने दिन हो गये, तू हमारे पास तो आ। अब तेरी वीणा-वीड़ा नहीं फोड़ूँगी, बात तो बता—हम किस तरह अपने-अपने पतियों से मिल सकती हैं?"

नारदजी बोले—"मैं इन बातों को क्या जानूँ ? मैं तो माताओं से मिलना जानता हूँ।"

पार्वतीजी बोलीं—"अरे भैया नारद ! तेरे पेट में दाढ़ी है, तू सब जानता है। हम इस आश्रम के भीतर जाना चाहती हैं, कैसे जायँ ? भगवती अनसूया अप्रसन्न तो न होंगी ? हमें उनका बड़ा डर है।"

नारदजी ने कहा—"तुम भूलकर भी पैर मत रखना। जहाँ तुम सब भीतर गईं, कि देवी ने अपने सतीत्व के बल से तुम सबको भस्म किया।"

तीनों बड़ी घबड़ाईं और बोलीं—"नारद भैया ! देख, अब हँसी मत कर। सब बात बता दे, कहाँ हैं वे तीनों ?"

नारदजी हँसी रोक कर बोले—"वे तीनों तो म्याऊँ-म्याऊँ कर रहे हैं। तीनों की बोलती बन्द है। 'बोबो' पीते हैं और किलकिलाते हैं, बिल्ली के से बच्चे बने हुये हैं। सती जहाँ बिठाती हैं—बैठते हैं, जहाँ लिटाती हैं—लेटते हैं ! अब उनका आशा छोड़ो। पन्द्रह बीस वर्ष में बड़े होंगे, तब माता उनका दूसरा विवाह करेंगी। अब तुम सब भस्म रमाकर, माला ले, राम-राम रटो। दूसरा कोई उपाय नहीं। अब समझ गईं अनसूया के समान संसार में दूसरी कोई सती नहीं ?"

लक्ष्मीजी बोलीं—"यह सब विष की बेल तेरी ही बोई हुई है। अब भैया, तू जीता हम सब हारीं। जैसे भी हम उनसे मिल सकें वह उपाय बतादे। हमने अपने किये का फल पा लिया। सत्य है, कभी किसी गुणवान के प्रति 'असूया' नहीं करनी चाहिये। सबसे बड़ा-पाप दूसरों से ईर्ष्या-डाह करना ही है।"

नारदजी बोले—"अब आईं ठीक-ठिकाने पर। पश्चात्ताप से सभी पाप धुल जाते हैं। अब तो एक ही उपाय है। तुम सती की शरण में जाओ, तभी कल्याण होगा।"

तीनों आश्रम के समीप गईं। किवाड़ें बन्द थीं, किसी का साहस नहीं हुआ कि किवाड़ खोलकर भीतर घुस जायँ। न जाने, सती असन्तुष्ट हो जायँ। देवी सम्भव है स्नान करने मन्दाकिनी गई हों! कुटी के पीछे एक विशाल-वटवृक्ष था, उसी पर चढ़ कर देखती हैं तो तीनों, बच्चे बने एक पालने में किलक रहे हैं। विष्णुभगवान ने कनखियों से लक्ष्मीजी को देखा और चिल्ला उठे—म्याऊँ म्याऊँ! लक्ष्मी जी ने हाथ का संकेत करते हुए कहा—"क्यों ढोंग बनाये हुए हो, आजाओ।" वहीं से हाथ हिलाने लगीं। तीनों ने तीनों ही को देखा, किन्तु, भगवान् तो सती के तप के वश में थे! अतः वे तो बिना पूछे जा नहीं सकते। तीनों देवियाँ, अनसूया के शाप से भयभीत थीं—अतः उनका साहस नहीं हुआ, कि बिना पूछे नीचे उतर जायँ। थोड़ी देर में भगवती-अनसूया गीले-वल्कल पहिने आ गईं। तीनों शीघ्रता से पेड़ से उतरकर कुटी के द्वार पर खड़ी हो गईं और वहीं से पुकारने लगीं—"माताजी! माताजी, हम भीतर आवें?"

माताजी ने भीतर से ही पूछा—"तुम कौन हो?" तीनों ने कहा—"हम आपकी पुत्रवधुएँ हैं।"

माता ने कहा—"अरी, बहुओं को अपने घर में क्या पूछना? आजाओ, यह तो तुम्हारा ही घर है।" यह सुनकर तीनों लजाती हुई भीतर गईं! माता-अनसूया के पैर छूये। माता ने कहा—"बड़ी अवस्था वाली हो, अपने पति की प्यारी हो! मेरे बच्चे तो अभी छोटे-छोटे हैं—बहुएँ तो बड़ी लब-तड़गी हैं।"

इतने में ही महामुनि-अत्रिजी भी आगये। तीनों बहुएँ घूँघट निकाल कर एक ओर हट गईं! मुनि ने पूछा—"देवी! ये तीनों कौन हैं?"

अनसूयाजी ने कहा—"भगवान्! ये आपकी पुत्रवधू हैं।"

मुनि बोले—"देवी! तुम बड़े-कौतुक रच लेती हो। अभी

तो पुत्र बना लिये। वे पूरे छः महीने के भी नहीं हुए कि पुत्र-वधुएँ भी आ गईं! हाथ-हाथ भर के बच्चे, पाँच-पाँच हाथ की बहुएँ, यह कैसी विचित्र बातें हैं?"

अनसूया देवी बोलीं—"महाराज, इसमें क्या हानि? बड़ी बहू—बड़े भाग्य!! यह कहावत है, बच्चे भी एक दिन बड़े हो जायँगे।" यह सुन कर मुनि हँस पड़े और सब रहस्य समझ गये।

अब तीनों ने सती के पैर पकड़े—"देवी! हमें क्षमा करिये। अपने किये का हमने फल भोग लिया। अब हमें हमारे पतियों को दे दीजिये।"

अनसूयाजी ने कहा—"मैं कब मना करती हूँ? ले जाओ गोदी में उठाकर—ये सो रहे हैं।"

तीनों देवियों ने कहा—"माताजी! अब हमे बहुत लज्जित न करें। संसार में हमारी हँसी न करावें, कोई क्या कहेगा? इन्हें जैसा-का-तैसा कर दीजिये।"

तीनों देवियों को दुखित देखकर माता का हृदय पसीज गया। उन्होंने हाथ में जल लेकर बच्चों के ऊपर छिड़क दिया तीनों, देव अपने-अपने स्वरूपों में, अपने-अपने वाहनों पर विराजमान थे! सती माध्वी—अनसूया ने उठकर तीनों देवों की वन्दना की, पूजन किया और प्रदक्षिणा की। माता की पूजा से प्रसन्न होकर तीनों देवताओं ने कहा—"पतिव्रते! हम तुम्हारे पातिव्रत से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हैं। तुम, हम से जो चाहो वरदान माँग लो।"

यह सुनकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों को नमस्कार करके गद्गद् कंठ से भगवती-अनसूया ने कहा—"यदि आप लोग मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं यही वरदान माँगती हूँ,

कि आप तीनों मेरे पुत्र हो जायँ।"*

प्रसन्न होकर तीनों देवों ने कहा—"तथाऽस्तु! अच्छी बात है, हम तीनों अपने-अपने अंशों से आकर आपके पुत्र होंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनसूया को इस प्रकार वरदान देकर, सम्मुख लज्जा से नीचा सिर किये हुए लक्ष्मीजी, सतीजी और ब्रह्माणीजी को देखकर तीनों ने पूछा—"बताओ, आजकल संसार में सबसे श्रेष्ठ-सती कौन है?"

लजाते हुए तीनों ने एक स्वर में कहा—"पुण्यश्लोका, प्रातः स्मरणीय, भगवती—अनसूया देवी ही सर्वश्रेष्ठ सती हैं। इनसे बढ़कर पतिव्रता संसार में दूसरी कोई नहीं है।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने तो पतिव्रता का बड़ा ही अद्भुत-माहात्म्य सुनाया। पतिव्रता का प्रभाव तो सर्वश्रेष्ठ-सिद्ध हुआ, जिसके सम्मुख तीनों देवताओं ने भी आकर अपना ऐश्वर्य भुला दिया।"

इस पर सूतजी बोले—"ऋषियो! पति को ही परमेश्वर मानकर जो देवी अपनी समस्त इच्छाओं को पति की इच्छा में ही मिला देती है, वह क्या नहीं कर सकती? पति चाहे जैसा हो, वह उसके गुणों के कारण नहीं—अपने प्रभाव के कारण—अपनी साधना के सहारे, अपनी एकनिष्ठा के आधार पर जो चाहे सो कर सकती है। इस विषय में आपको एक अत्यन्त ही सुन्दर-आख्यान सुनाता हूँ, इससे आपको पतिव्रता का प्रभाव मालूम पड़ जायगा कि पतिव्रताओं के सम्मुख किसी की भी कुछ नहीं चलती। वे असम्भव को भी सम्भव कर सकती हैं।"

---

* अनसूया ब्रवीन्नत्वा देवान् ब्रह्मेशकेशवान्।
यूयं यदि प्रपन्ना मे वरार्हा यदि वाप्यहम्॥
प्रसादाभिमुखाः सर्वे मम पुत्रत्वमेष्यथ।

छप्पय

देवी भिक्षा देहिं, कहैं—"हम तब लें भिक्षा।"
वस्त्रहीन है देहु यही हम सब की इच्छा॥
सती ध्यान तें जानि कही—"तीनों शिशु होवें।"
पतिव्रता प्रन सत्य भयो, बनि बालक रोवें॥
उमा, रमा, वाणी विनय, करी देव फिरतें भये।
तीनों तव सुत होहिं हम, है प्रसन्न सब वर दये॥

पतिव्रता का प्रभाव

(१६९)

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥*

(भाग० ७ स्क० ११ अ २९ श्लोक)

छप्पय

पतिव्रता जग माहिँ अलौकिक चरित दिखावें ।
जीवित मृतपति सङ्ग सती है सुरपुर जावें ॥
पति परमेश्वर मानि अनल कूँ शीत बनावें ।
सूर्य चन्द्र गति रोकि काल बिनु प्रलय करावें ॥
प्रतिप्राणा वेश्यासदन, कोढ़ी पति इच्छा समुझि ।
जाति रही मुनि मग मिले, पति पग तिन तें गो उरझि ॥

मन में महान शक्ति है, ब्रह्माजी मन से ही इस चराचर-विश्व की रचना करते हैं। मन के सङ्कल्प द्वारा ही श्रीविष्णु विश्व का पालन करते हैं और मन से ही समस्त सृष्टि का शंकरजी संहार करते हैं। जिसने मन को वश में कर लिया उसने जगत् को वश में कर लिया। भगवान को वश में कर

---

* जिस प्रकार लक्ष्मीजी भगवान् की सेवा करती हैं, उसी प्रकार जो स्त्री अपने पति को हरि-भावना से भजती है, वह वैकुण्ठलोक मे विष्णु सायुज्य प्राप्त करके अपने पति के साथ उसी प्रकार मुदित होती है जिस प्रकार लक्ष्मी, विष्णु भगवान् के साथ मुदित होती हैं।

लिया, वह सबसे बड़ा हो गया। जो स्वयं, मन के वश में हो गया—वह तृण के भी आधीन हो गया। छोटे-से-छोटा हो गया—विषयों का दास बन गया। मन की शक्ति का पारावार नहीं। इतना शक्तिशाली मन हमारे पास रहने पर भी हम दुर्बल दुखी क्यों बने हैं? इसलिये कि हमने उसे विषयों में फँसा रखा है। बिना संयम के उसे इधर-उधर छोड़ रखा है। उसका निरोध-करके उसके गले में रस्सी बाँधकर—एक नियतस्थान पर स्थिर नहीं रखा है। जो गायें खूँटे पर बँधी है, समय पर दूध देती है—उससे दही बनता है—दही से मक्खन मट्ठा होता है—मक्खन से घृत बनता है और यज्ञ-याग होते हैं, भगवत्-प्रसाद बनता है, सबकी तृप्ति होती है, बछियाँ बछड़े होते हैं, वंश बढ़ता है, समस्त सुख देती है। उसी गौ को हमने स्वतन्त्र छोड़ दिया—वह दूसरों के खेत खाती है, खेत वाले गाली देते हैं, शाप देते हैं, अपयश होता है, दूध-दही नहीं देती, दुःख-ही-दुःख है। ठीक इसी तरह संयम में रखा मन, एक लक्ष्य पर बँधा हुआ मन महान् बलवान हो जाता है। वह जो चाहे कर सकता है। चित्त की बिखरी वृत्तियों के निरोध करने का नाम ही तो योग है। चित्त की वृत्तियाँ यथाभिमत-ध्यान से निरुद्ध होती हैं। जो प्रिय है, इष्ट हो उसी में सर्वात्मभाव से मन लगा देने का नाम योग है। कोई इस मन को भगवत्-प्रतिमा में लगाते हैं कोई मन्त्र-जप में, कोई धर्म में, कोई प्राण में, किन्तु पतिव्रता तो अपने को स्वयं, साक्षात् सजीव अपने प्राणनाथ पति में लगाकर योगियों से भी श्रेष्ठ सामर्थ्य और सिद्धियों को प्राप्त कर लेती है। वह स्वयं तो तर हो जाती है, साथ ही अपने पापी पति को भी तार लेती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपको मैं पतिव्रताओं में श्रेष्ठ शंखा का संक्षिप्त-चरित सुनाता हूँ।

"प्राचीनकाल में गङ्गा यमुना के मध्यप्रदेश के समृद्धशाली अहार नामक नगर में एक ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मण, पूर्वजन्म के किसी पाप के कारण कामी भी थे और कुष्ठी भी। उनके सम्पूर्ण शरीर में गलित कुष्ठ था, नित्य नये-नये घाव होते और उनमें से पीब बहता रहता था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! किस पाप के कारण ब्राह्मण होकर भी उन्हें गलित कुष्ठ हो गया था? क्यों वे, इतने पतितावस्था में भी कामी थे?"

सूतजी ने कहा—"महानुभाव! पूर्वजन्म में इस ब्राह्मण ने ब्रह्महत्या की थी और परनिन्दा इत्यादि जघन्य पाप किये थे। दूसरों की निन्दा करने के बराबर कोई भी पाप नहीं, इसी कारण वह कुष्ठी हुआ। किन्तु किसी पूर्वपुण्य के प्रभाव से उसे पतिव्रता-पतिप्राणा पत्नी की प्राप्ति हुई। उस पतिव्रता का नाम शैव्या था। वह अपने पति को ही परमेश्वर समझती थी। कुष्ठी होने पर भी सदा उसकी श्रद्धा सहित सेवा करती, उसके घावों को धोती-पीब को साफ करती, उसे सुन्दर से सुन्दर शैय्या पर सुलाती, अच्छे से अच्छे पदार्थ बनाकर खिलाती, सुगन्धित से सुगन्धित धूप उसके सम्मुख जलाती। सारांश वह हर प्रकार से अपने पति को सन्तुष्ट रखती।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतने बड़े पापी को ऐसी पतिव्रता पत्नी किस पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई? पूर्वजन्म में उसने कौन-सा ऐसा सर्वोत्कृष्ट-सुकृत किया जिससे शैव्या जैसी पतिव्रता का पति होने का देवदुर्लभ-पद उसे प्राप्त हुआ?"

सूतजी बोले—"मुनिवर! पूर्वजन्म में उससे एक बड़ा पुण्य-कर्म बन गया था। पहिले जन्म में उसके चार कन्यायें थीं। जब तक वे रजस्वला नहीं हुई थीं उसके पूर्व ही दश वर्ष की अवस्था में, उनको वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके, अपने सजातीय

सुशील वेदज्ञ-ब्राह्मण-कुमारों को उसने श्रद्धासहित कन्यादान किया था। शौनकजी! गृहस्थी में नित्य ही नये-नये पाप, जान में अनजान में होते रहते हैं— किन्तु इसमें सबसे बड़े दो पुण्य भी बताये हैं—"एक तो अन्नदान दूसरा कन्यादान।" गौ और भूमि का दान श्रेष्ठ बताया है, किन्तु इनसे भी बढ़कर अन्नदान का माहात्म्य है। भूखे को अन्न देने का अर्थ है—प्राणदान देना। अन्य दानों के विषय में तो बड़े-बड़े नियम हैं। यदि अपात्र को दान दिया गया तो वह निष्फल हो जाता है। कभी-कभी पुण्य के स्थान में दान से पाप भी हो जाता है, किन्तु अन्नदान में तो पात्रापात्र का विचार ही नहीं। जो भी अपने द्वार पर भूखा आ जाय और उसकी भूख को अन्न से तृप्त कर दे तो गृहस्थी के लिये इससे बड़ा कोई पुण्य नहीं। इसी अन्नदान के समान ही कन्या का दान बताया है। अपनी कन्या को योग्य वर ढूँढ़कर, श्रद्धा सहित उसे वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके, सामर्थ्यानुसार धन, वस्त्र, गौ आदि के सहित वेद की विधि से दान देना सर्वश्रेष्ठ पुण्य है। जो गृहस्थी इस प्रकार श्रद्धा सहित कन्यादान करता है उसे ही जन्मान्तर में पतिव्रता-पत्नी की प्राप्ति होती है। इस ब्राह्मण से यही पुण्य बन गया था। उसी के प्रभाव से इसे पतिव्रता-पत्नी मिली और पुराणों में सदा के लिये अजर-अमर हो गया।

हाँ, तो वह कुष्ठी ब्राह्मण जो भी इच्छा करता वही सती—शैव्या उसे लाकर देती। शैव्या के पातिव्रत की ख्याति चारों ओर फैल गयी। मुनिवर! पुण्यकर्म छिपाने से और अधिक फैलता है और पापकर्म प्रगट करने से नष्ट होता है। पुण्यकर्म तथा पापकर्म कितने भी छिपकर किये जायँ, एक दिन वे अवश्य ही प्रगट हो जायँगे। लोग समझते हैं—"हमारे पुण्य और पापों को एकान्त में कोई देखता नहीं! परन्तु परमात्मा सबको देखते

हैं। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अन्तरिक्ष, दिन, रात्रि, सन्ध्या तथा धर्म—ये सभी की बातें देखते हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परलोक में पुण्य-पाप होता होगा किन्तु जिस पाप या पुण्य को हम अत्यन्त ही छिपकर एकान्त में करते हैं वह कैसे प्रगट हो जाता है?"

सूतजी ने कहा—"महाभाग! आप एकान्त में करेंगे कहाँ? हमारे मस्तिष्क में जो विचार आते हैं, वे तो वायुमण्डल से ही आते हैं। हम जो सोचते हैं या करते हैं उसका प्रभाव वायु-मण्डल पर ही तो पड़ता है। शब्द नित्य हैं। हम जो बोलते हैं, वह शब्द नष्ट नहीं होता। यदि नष्ट हो जाता तो दूरश्रवण-यन्त्र द्वारा बिना किसी प्रकार सम्बन्ध से हम विदेशों की बातों को कैसे सुन लेते? एक राजा को उसके पुत्र के सहित किसी यवन राजा ने बन्दी बना लिया। बन्दी-राजा ने यवन राजा से दान-पुण्य करने की आज्ञा माँगी। उदारतावश उसने आज्ञा दे दी। बड़े-बड़े टोकरों में फल-मिठाइयाँ आने लगीं। एक दिन प्रातःकाल, राजकुमार सहित महाराज दो बड़ी-बड़ी टोकरियों में बैठकर बन्दी-गृह से बाहर निकल गये। यमुना पार घोड़े लगे थे—दोनों उन पर चढ़कर शीघ्रता से भागे जा रहे थे, दस पाँच-कोस जाकर सूर्योदय हुआ। बहुत से ग्रामीण-स्त्री पुरुष-नदी की ओर स्नान करने जा रहे थे। वे परस्पर में बातें करते जाते थे, कि राजा तो अपने कुमार के सहित यवन के कारागृह से भाग गये। कुमार को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने महाराज से पूछा—"पिताजी! अभी तो कारावास वालों को भी हमारे भागने का समाचार न मिला होगा, फिर इन स्त्री-पुरुषों को कैसे मालूम पड़ गया?"

यह सुनकर महाराज ने हँसकर कहा—"वत्स! हमने जब भागने का निश्चय किया, तभी यह भाव वायुमण्डल-में व्याप्त हो

गया। जब हम भागे तब हमसे पहिले इसकी लहर वायु-मण्डल में फैल गई। यहाँ किसी धर्मात्मा-पुरुष ने उसे ग्रहण कर लिया होगा और बात फैल गई। कोई भाव या विचार छिपे नहीं रह सकते। सो सुनियो! यद्यपि उस समय न तो दैनिक-साप्ताहिक समाचार-पत्र ही थे, न घर-घर सम्वाददाता ही घूमते थे, फिर भी उस पतिव्रता का यश-सौरभ सर्वत्र व्याप्त हो गया कि यह पति को ईश्वर-बुद्धि से पूजा करती है।

एक दिन वह कुष्ठी अपने घर के सम्मुख बैठा था। वहाँ होकर उस नगर की सर्वश्रेष्ठ वेश्या सज-धजकर निकली। वह वहाँ की राज-वेश्या थी। अपार-सौन्दर्य, विपुलधन, अनेकों दास-दासी थे। उसकी रूपाग्नि की लौ में असंख्यों धनी-मानी, राजे-महाराजे, पतंगों की तरह आकर अपने धन, यौवन को भस्म करते। एक तो वह वैसे ही अनुपम-सौन्दर्यवती थी, तिस पर वह राजदरबार में गाने के निमित्त अमूल्य-वस्त्राभूषणों और अलङ्कारों से अलंकृत होकर जा रही थी। उस कुष्ठी का मन उसके सौन्दर्य को देखकर लुभा गया, उसके मन में काम की ऐसी पीड़ा हुई कि किसी भी प्रकार उसका चित्त शान्त नहीं होता था। अत्यन्त उदास होकर दुखित-चित्त से वह लम्बी लम्बी साँसें लेता हुआ करवट बदल रहा था। आज अपने पति की ऐसी दशा देखकर पतिव्रता को बड़ा दुख हुआ। उसने अत्यन्त ही मधुर शब्दों में कहा—"प्राणनाथ! प्रतीत होता है, आज आपको कोई अत्यन्त मार्मिक मानसिक-व्यथा है! यदि मुझसे छिपाने योग्य न हो, तो मुझे बताइये। मैं उसके प्रतिकार की भरसक चेष्टा करूँगी। आपको क्या कष्ट है? इस दासी से कोई सेवा में त्रुटि रह गई है, या जान-अनजान में कोई अपराध बन गया है?"

यह सुनकर कुष्ठी ने अत्यन्त ही दुख के साथ कहा—"देवि, तुम तो मेरी प्राणपण से सदा सेवा करती रहती हो, तुमसे

अपराध बन ही क्या सकता है ? तुम कभी मेरे कामों में प्रमाद नहीं करतीं, इससे सेवा में त्रुटि होने की भी सम्भावना नहीं। मेरा मन आज दुखी अवश्य है, किन्तु वह मेरे निज के पाप का फल है—तुम्हारा कोई दोष नहीं। मुझे शारीरिक व्यथा उतनी व्यथित नहीं करती, जितनी यह मानसिक-व्यथा मुझे व्यथित कर रही है।"

सती ने कहा—"देव! आप मुझे अपनी मानसिक-व्यथा का कारण बतावें, मैं शक्तिभर उसके निवारण की चेष्टा करूँगी।"

कुष्ठी ने कहा—"देवि, उसे कहने में मुझे लज्जा लगती है। किन्तु तुमसे न कहूँ तो सम्भव है मेरा जीवन ही न रहे। मेरा मनोरथ पूर्ण होने वाला नहीं, दुस्साध्य मनोरथ है! मेरा पापी मन उस वारांगना के रूप में फँस गया है। बहुत समझाने पर भी मन नहीं मानता। मेरे दुःख का कारण यही है।"

सती ने कहा—"प्रभो! है तो अत्यन्त कठिन कार्य किन्तु मैं इसके लिए चेष्टा करूँगी। शक्तिभर मैं आपका मनोरथ पूर्ण करूँगी—आप निश्चिन्त हो जायँ।" इतना कह कर सती उस वेश्या को प्रसन्न करने के उपाय सोचने लगी। सोचते-सोचते उसने अपना कर्तव्य स्थिर कर लिया।"

वह प्रातःकाल बहुत ही तड़के—मुँह अँधेरे में झाड़ू और गोबर लेकर उस वेश्या के घर जाती। उसके घर के सामने के खुले चौक में झाड़ू देती, गोबर से लीपती, उसमें चौक पूरती, स्वस्तिक आदि बनाती और जब तक घर के लोग सोते-सोते से नहीं उठते—तब तक लौट आती। वेश्या उठकर जब नीचे आती और घर को इस प्रकार लिपा-पुता स्वच्छ पाती, तो वह चकित हो जाती। वह सबसे पूछती—"ऐसी सुन्दर लिपाई-सफाई किसने की है ?"

तब सभी कहते—"हमें मालूम नहीं, हमने तो किया नहीं।" तब उसे और भी आश्चर्य होता। इस प्रकार तीन दिन हो गये। चौथे दिन वह वहाँ छिप कर बैठ गई। सती ने जाकर ज्यों ही झाड़ू देना आरम्भ किया, त्यों ही उसने आकर उनके पैर पकड़ लिये और रोते-रोते बोली—"माँ ! आप सती साध्वी हो, देवता भी आपकी पूजा करते हैं। मैं एक लोकनिन्दिता, पतिता 'पण्यस्त्री' हूँ। आप मेरे ऊपर यह पाप क्यों चढ़ा रहीं हैं ? आप मुझसे क्या कार्य कराना चाहती हैं देवी ! आपको धन की आवश्यकता हो तो मेरे यहाँ हजारों मन सुवर्ण है, चाहे जितना ले जायँ। यदि आपको मणि-माणिक्य-मोती आदि की आवश्यकता हो, तो मेरे यहाँ असंख्यों भरे पड़े हैं आप ले जायँ। आप मुझे कोई सेवा अवश्य बतावें।"

सती ने बड़े स्नेह से कहा—"बहिन ! मुझे धन-सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं। हाँ, मैं तुमसे एक काम कराना चाहती हूँ किन्तु वह बहुत कठिन है-तुम उसे करोगी नहीं।"

अत्यन्त ही स्नेह के साथ दृढ़ता के स्वर में वेश्या ने कहा—"माताजी ! मैं हूँ तो पतित ही, किन्तु हृदयहीन नहीं हूँ। वेश्या वृत्ति करने पर भी मैं अपने हृदय को नष्ट नहीं कर सकी हूँ, मैं आपसे प्रतिज्ञा करती हूँ-अपने प्राणों को भी देकर यदि मैं आपका प्रिय कार्य कर सकती हूँगी, तो अवश्य ही करूँगी—अविलम्ब करूँगी ! बिना विचार के करूँगी। आप इसमें तनिक भी सन्देह न समझें। मेरी बात पर विश्वास करें।"

सती ने कहा—"देवी ! मुझे आपके प्राणों की आवश्यकता नहीं, किन्तु मैं आपके द्वारा अपने कुष्ठी पति का मनोरथ पूर्ण कराना चाहती हूँ। उसके सम्पूर्ण शरीर में गलित कुष्ठ है, जिसमें से निरन्तर पीप बहता रहता है।"

यह सुनकर वेश्या क्षण भर को घबड़ा-सी गई। फिर धैर्य

घर के बोली—"देवी ! आप जानती हैं, शरीर सबको प्यारा होता है फिर मेरे यहाँ तो राजा, राजपुत्र तथा धनी मानी पुरुष सदा आते ही रहते हैं। हाँ, एक दिन मैं आपको दे सकती हूँ।"

सती को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह अत्यन्त उल्लास के साथ पति के समीप जाकर बोली—"प्राणनाथ ! आपका मनोरथ पूर्ण हो गया। आज आप, अपनी अभिलाषा पूर्ण कर सकते हैं।"

उदास मन से कुष्ठी ने कहा—"देवि ! मेरे तो पैर गल गये हैं, वहाँ तक जा कैसे सकता हूँ ?"

सती ने कहा—"इसकी आप चिन्ता न करें, अपने कंधे पर बिठा कर मैं आपको वहाँ ले जाऊँगी।"

लज्जा से सिर नीचा करके उसने कहा—"देवि ! तुम धन्य हो, तुम मृत्युलोक की नहीं, वैकुण्ठलोक की ललना हो। दूसरी कोई नारी भला ऐसा कर सकती है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कामातुर-पुरुषों को लज्जा, शील, संकोच, निन्दा, अपवाद का भय तो रहता ही नहीं। रात्रि में वह कुष्ठी अपनी पत्नी के कंधे पर बैठकर वेश्या के घर की ओर चला। दैवयोग से रास्ते में माण्डव्य मुनि शूली पर चढ़े बैठे थे। अब तक तो वे समाधि में थे, उसी समय सहसा उनकी समाधि खुली। अंधेरी रात्रि थी, देवी को दिखाई दिया नहीं। उस कुष्ठी का पैर मुनि के शरीर से लग गया। शरीर पर पैर लगने से कुष्ठ की अत्यन्त भयङ्कर दुर्गन्धि आने से मुनि को क्रोध आ गया। उन्होंने तुरन्त शाप दे दिया, कि जिस दुष्ट का पैर मेरे तपःपूत शरीर से लगा है, वह आज के दशवें दिन सूर्योदय होते ही मर जाय।"

इस शाप के सुनते ही कुष्ठी की कामवासना तो कपूर की भाँति उड़ गई। मृत्यु के आगे कामभोग क्या अच्छे लगते हैं ?

उसने शीघ्रता से कहा—"देवि ! घर लौट चलो, अब तो मैं मरूँगा ही।"

सती ने बड़े धैर्य के साथ कहा—"प्राणनाथ ! आप चिन्ता न करें। ऋषि ने यही तो शाप दिया है कि दसवें दिन सूर्योदय होने पर मृत्यु हो। मैं कहती हूँ, आज से सूर्योदय ही न होगा। जब सूर्योदय ही न होगा, तब मरने का तो प्रश्न ही नहीं !"

इतना कहकर सती अपने पति को लेकर घर आयी। सचमुच सती के वचन से सूर्य उदय ही न हुए। लोग सोते-सोते थक गये, बार-बार करवटें बदलें, जब देखें तभी रात्रि ! सब घबड़ा गये, यज्ञ-याग रुक गये, संसार के काम बन्द हो गये। अग्निहोत्र न होने से देवताओं के भाग नहीं पहुँचे। तर्पण न होने से पितर प्यास से मरने लगे, त्रैलोक्य में हाहाकार मच गया। देवता दौड़े-दौड़े लोकपितामह ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने समाधि लगाई, सभी बात जानकर बोले—"देवताओ ! यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। सती के वचनों को अन्यथा करने की शक्ति मुझमें नहीं है। शंकरजी में नहीं, स्वयं साक्षात् विष्णु भगवान् में भी नहीं ! एक सती से हम तीनों का पाला पड़ चुका है। सती के वचन को स्वयं सती ही चाहे तो हटा सकती है। तुम सब उसी की शरण में जाओ।"

देवताओं ने कहा—"महाराज ! अकेले तो हमारा साहस होता नहीं, आप भी हमारे साथ पधारें। आप बड़े बूढ़े हैं, बड़े बूढ़ों का सभी शील-संकोच कर जाते हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है। चलो भैया, हम भी चलते हैं।" यह कहकर ब्रह्माजी को आगे करके सब देवता सती के घर की ओर चले।

सती ने देखा, मेरा घर तो विमानों की चमक-दमक से चका-

चौंध हो गया। तब तो वह बड़ी आश्चर्यान्वित हुई। उसने ब्रह्मादिक देवताओं की विधिवत् अभ्यर्चना की।

देवताओं ने उसकी पूजा स्वीकार करके कहा—"देवि! तीनों-लोकों में केवल तुम्हारे ही कारण हाहाकार मचा हुआ है! तुम सूर्य को उदय होने दो।"

सती ने कहा—"सूर्य से मेरा कोई बैर तो है नहीं। सूर्योदय होते ही मेरे पति मर जायँगे। इसीलिये मैंने सूर्य को रोक दिया है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"एक तुम्हारे पति के मरने से ब्रह्माण्ड का भला होगा, देवि! परोपकार करो— क्षुद्रता छोड़ो, ऐसा हठ ठीक नहीं।"

सती ने कहा—"भगवन्! सती का सर्वस्व पति ही है। पति से बढ़कर मैं परोपकार को नहीं समझती। विधवा होना, सती के लिये बड़ी कलंक की बात है। मैं किसी प्रकार भी नहीं मान सकती।"

ब्रह्माजी ने देखा, हमारे कहने से तो यह मानेगी नहीं। कोई श्रेष्ठ सती ही आकर इसे समझावे तब यह मानेगी। इसलिये देवताओं से कहा—"तुम सब लोग भगवती अनसूया के समीप जाओ। उनके कहने से ही यह मानेगी। इन दोनों में सखी भाव है और यह उनमें बड़ी श्रद्धा रखती है।" ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर देवता, भगवती अनसूया के आश्रम पर गये। देवताओं की प्रार्थना पर माँ अनसूया गईं। उन्होंने सती शैव्या को सब प्रकार से समझाया और बताया—"देवि! सती, कभी विधवा नहीं होती। तुम मेरे ऊपर विश्वास करो—तुम्हारे पति को मैं जिला दूँगी।" देवताओं ने भी भगवती—अनसूया की बात का अनुमोदन किया। अनसूया देवी ने देवताओं के कार्य के लिये अपने पातिव्रत के प्रभाव से दस रात्रियों की एक रात्रि बना दी।

जब रात्रि के अन्त में सूर्योदय हुआ, तब मुनि के वाक्य से उस कुष्ठी का शरीर भस्म हो गया, क्योंकि मुनि का श्राप कभी अन्यथा नहीं हो सकता, किन्तु तुरन्त ही जैसे अग्नि में से शुद्ध होकर सुवर्ण निकल आता है, उसी प्रकार दिव्य शरीर धारण करके उसका पति भी निकल आया! सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई। सती के प्रभाव को देखकर सब चकित रह गये।

इस प्रकार अनसूया देवी ने अपने पातिव्रत के प्रभाव से तीनों लोकों के संकट को दूर किया। अत्रि-पत्नी अनसूया का पातिव्रत संसार में विख्यात है, तभी तो तीनों देवता इनके यहाँ पुत्र बनकर प्रकट हुए। देवी ने अपने तपोबल से गंगाजी को भी प्रकट कर लिया था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवती अनसूया ने क्यों गंगाजी को प्रकट किया? इस कथा को आप हमें सुनायें।"

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी ने कहा—"मुनियो! जिस प्रकार भगवती अनसूया ने गंगाजी को प्रकट किया, वह वृत्तान्त मैं आपको सुनाऊँगा। आप सब उसे श्रद्धा-पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

करयो कोप मुनि शाप दयो जिहि कीन्ह अवज्ञा।
सूर्योदय के होत मरे मेरी अस आज्ञा॥
सती कहे रवि उदय होहिं-गो नाहीं अबई।
तीन दिवस तक रात्रि भई घबराये सबई॥
सुर अनसूया लै गये, सती-सखी सन्तोष करि।
पति जिवाय रवि उदय करि, गई सबनिको दुःख हरि॥

पुत्र प्राप्ति के लिये अत्रि-ऋषि की तपस्या

(१७०)

शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः ।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १ अ० २० श्लो०)

छप्पय

अत्रि करें तप उग्र, वायु भक्षण करि वनमें ।
जगत-ईश निज सरिस पुत्र दें सोचें मनमें ॥
सिर तें निकसी अग्नि तपस्या तेज दिखावै ।
सर्व भाव मुनि भये विश्वकूं आँच जरावै ॥
सुर मुनि लखि लौ अनल की, तपतें सब विस्मित भये ।
वर देवैकूं विष्णु, शिव, विधि तीनों मुनि ढिँग गये ॥

सहस्रों जन्म पुरुष तपस्या, योग तथा समाधि के द्वारा उस सर्वेश्वर, सर्वाधार, आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द-प्रभु की आराधना करते हैं तब कहीं जाकर भगवद्भक्ति की प्राप्ति होती है। सो भी जब उनकी कृपा हो जाय तब। उनकी कृपा छल-कपट रहित

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! अत्रि मुनि तपस्या करते समय यह चिन्तन कर रहे थे, कि जो हम सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं वे हमें अपने समान सन्तान दें, हम उनकी शरण मे आये हुए हैं।"

सरल पुरुषों पर हो ही जाती है। भगवान् का एक बार दर्शन होना भी दुर्लभ है, फिर उनसे सम्बन्ध स्थापित कर लेना—उन्हें अपना सगा सम्बन्धी, पुत्र, मित्र, पति, सखा, सुहृद बना लेना—यह तो अत्यन्त ही दुर्लभ है। जिन्होंने जन्म-जन्मान्तरों में सहस्रों सुकृतकर्म किये, तपस्या के बल से जिनका हृदय अत्यन्त ही पवित्र हो गया है, उन्हीं के यहाँ भगवान् का अवतार होता है।

पुत्र, माता पिता दोनों के संयोग से होता है! दोनों ही पवित्र हों, दोनों ही दया-दाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त हों, दोनों के ही हृदय में भगवद्भक्ति हो, दोनों की ही विषयों से विरक्ति हो, दोनों ही का अन्तःकरण तप द्वारा पवित्र और निर्मल हो गया हो, दोनों ही सम्पूर्ण-भूतों में अपने परम-इष्ट को देखते हों, तब उनके यहाँ अजन्मा का जन्म होता है! तभी उनके यहाँ निर्गुण-ब्रह्म सगुन-वपु धारण करके क्रीड़ायें करते हैं। अत्रि और अनसूया ऐसे ही भाग्यशाली-दम्पति थे। इनके यहाँ केवल विष्णु भगवान ही नहीं, बल्कि तीनों देवताओं ने आकर जन्म लिया।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से पूछते हैं—"विदुरजी! आपको स्मरण होगा, कथा-प्रसंग को आप भूले न होंगे—जब भगवान् ब्रह्मा, कपिल-भगवान के दर्शनों के लिये महामुनि कर्दम के आश्रम पर आये थे, तब अपने साथ मरीचि आदि नौ ऋषियों को भी साथ लाये थे। ब्रह्माजी तो भगवान् का दर्शन करके अपने लोक को चले गये, वे सब ऋषि वहाँ रह गये। भगवान् कर्दम ने अपनी पत्नी देवहूति की सम्मति से अपनी नौ-की-नौ कन्यायें उन मरीच्यादि नौ-ऋषियों को दे दीं। उनमें अनसूया नामक कन्या उन्होंने महा-तपस्वी भगवान् अत्रि को दी।

महामुनि अत्रि अपनी सर्वगुण सम्पन्न, सुशील, विनयवती,

सती साध्वी पत्नी को लेकर लोकपितामह-ब्रह्मा के समीप गये। पति-पत्नी ने जाकर समस्त लोकों के अधीश्वर भगवान्—वेदगर्भ के चरणारविन्दों में श्रद्धा सहित प्रणाम किया। अपने पुत्र को, पुत्र-वधू के साथ प्रणाम करते देखकर पितामह की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने हृदय से आशीर्वाद दिया—"तुम दोनों की सदा धर्म में रति हो, अनसूया संसार में सर्वश्रेष्ठ सती होवे। तुम अखिल जगत में अनुपम-पति हो, श्रीहरि ही तुम दोनों की गति हों! श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में तुम्हारी अहैतुकी रति हो!! संसार में सर्वत्र तुम्हारी ख्याति हो।"

ब्रह्माजी को अपने ऊपर प्रसन्न देखकर हाथ जोड़े मुनिवर अत्रि ने पूछा—"प्रभो! अब हमारे लिये क्या आज्ञा होती है?"

यह सुनकर स्नेह के साथ ब्रह्माजी ने कहा—"भैया! अब आज्ञा क्या? तुम तो स्वयं बुद्धिमान् हो, कहीं एकान्त में जाकर तपस्या करो। तपस्या से ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तप ही श्रीहरि का हृदय है। तपस्या ही द्वारा उनकी उत्तम आराधना हो सकती है।"

ब्रह्माजी की ऐसी आज्ञा पाकर भगवान्-अत्रि, अपनी पत्नी भगवती-अनसूया के साथ ऋक्ष नामक श्रेष्ठ पर्वत के समीप गये। दक्षिण दिशा में वह अत्यन्त सुन्दर, परम रमणीय, सभी ऋतुओं में फलने फूलने वाला सुन्दर सरिताओं से युक्त सुहावना पर्वत था। वहाँ पर एक परम रमणीय, पवित्र जल वाली निर्विन्ध्या नामक निर्मल नदी बहती थी। पर्वत के पाषाणों से खेलती हुई, कलकल शब्द करती हुई वह सरिता सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित किये हुए थी। उसमें कमनीय-कमल खिल रहे थे। हंस, सारस, चक्रवाक, जलकुक्कुट, आदि पक्षी अपने कलरव को उसके कलकल में मिलाकर पर्वत-

की कन्दराओं को शब्दायमान बनाये हुए थे। नदी के दोनों तटों के पुष्पित-पादप, अपने पुष्पों के सौरभ से वन्य प्रदेश को सुवासित बनाये हुए थे। हरे-हरे पत्तों वाले असंख्यों पलास के वृक्ष, अपने लाल-लाल पुष्पों को उस वन में बिखेर रहे थे। अशोक हैं, ताल हैं, तमाल हैं, जम्बीर हैं, पनस हैं, ये सभी वृक्ष उस अरण्य को अपने अस्तित्व से श्रीसम्पन्न बनाये हुये थे।

ऐसे सुन्दर वन को देखकर मुनि का चित्त अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उन्होंने वहीं तपस्या करने का निश्चय कर लिया। नदी के तट पर एक पैर से खड़े रहकर वे प्राणायाम का अभ्यास करने लगे। पहिले तो वन के कन्द मूल-फलों को खाकर रहने लगे, फिर उनको भी छोड़ दिया। केवल सूखे पत्तों के सहारे जीवन बिताने लगे। तदनन्तर केवल जल पीकर घोर तप करने लगे,। बाद में जल का भी परित्याग करके केवल वायु भक्षण करके ही मन को रोकने लगे। अन्त में उन्होंने वायु लेना भी छोड़ दिया। प्राणों को रोककर स्थाणु (ठूँठ) की तरह वे एक पैर के सहारे निश्चल होकर सौ वर्ष पर्यन्त खड़े रहे। अब तो मुनि विश्वात्मरूप हो चुके थे। उनका मन समाहित हो चुका था, सर्वत्र श्रीहरि को देखने के कारण उनका चित्त विश्वमय बन चुका था, इससे सबके प्राण रुकने-से लगे। मुनि के मस्तक से तपस्या की एक अग्नि-सी निकलने लगी जिसकी लपट से तीनों लोकों के प्राणी जलने-से लगे। देवता बड़े घबड़ाये, वे सोचने लगे—यह असमय में प्रलय क्यों होना चाहता है? किन्तु कोई इसके रहस्य को न समझ सके कि यह किनका तेज संसार को तपा रहा है।"

मुनिवर अत्रि, किसी विशेष देवता के रूप का ध्यान करते हुए उसकी आराधना नहीं कर रहे थे, अपितु वे तो कह रहे थे—"जो इस चराचर विश्व के स्वामी हैं, हम उन्हीं की शरण में

आये हैं, वे हमें अपने समान पुत्र दें।" अब, चराचर जगत के स्वामी तो ब्रह्माजी भी हैं, विष्णु भी हैं और महेश्वर भी हैं। तीनों में से कौन आवे ? तीनों समझ गये कि भगवती-अनसूया के वरदान को पूरा करने के ही लिये मुनि के मन में ऐसा सङ्कल्प उत्पन्न हुआ है। अतः वे तीनों ही अपने-अपने वाहनों पर चढ़ कर मुनि के समीप आये।

ब्रह्माजी, अपने श्वेत हंस पर बैठे हुए थे। उनके चारों दिशाओं में चार मुख थे, जिन पर मणिमय-किरीट मुकुट-दम-दमा रहे थे। शिवजी तो भोलेनाथ ही ठहरे। उनका नन्दी, हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर था, जिसकी पीठ पर मणिमय-सिंहासन रखा था। सुवर्ण के काम की झूल पड़ी थी। शरीर में सर्प लपटे हुए थे जो कभी-कभी फुफकार छोड़ते थे, जटाओं में गङ्गाजी हिलोरें ले रही थीं, माथे पर चन्द्रमा चमचमा रहा था, गले में मुण्डों की मनोहर माला शोभित थी, सम्पूर्ण शरीर में चिता की भस्म लगाये-भङ्ग चढ़ाये-जटा फैलाये-वृषभध्वज-भगवान् नील-कण्ठ अपने बैल पर बैठे वेग के साथ जा रहे थे। विष्णु भगवान् की छटा तो सबसे निराली ही थी। उनका गरुड़ तो वायु से बातें करता था। जिनके पङ्खों से सदा सामवेद की ऋचायें निकलती हैं, वे विनता-सुत पक्षिराज गरुड़ अपने पंखों पर प्रभु को आसीन किये सर्र-सर्र करते हुए उड़ रहे थे। भगवान् का पीता-म्बर गरुड़ के-वेग से- उड़ने से वायु में फहरा रहा था। नाक का बुलाक झोंटा खा रहा था। मणिमय-मुकुट माथे पर दम-दमा रहा था, काले-काले घुँघराले बाल वायु से बिखर रहे थे। विद्रुम की आभा को लज्जित करने वाले लोल-कपोल हिल रहे थे, नवीन पीपल के पत्ते के सदृश-अरुण अधर चञ्चल हो रहे थे। बनमाल की चमक-दमक से दशों-दिशायें चित्र-विचित्र-सी दिखायी देती थीं। कभी-कभी कन्धे ऊपर उठ जाते-

करों के कंकण उसी प्रकार चञ्चल हो जाते जिस तरह चित्त में कोई मोहक मूरति समा जाने पर चित्त चंचल हो जाता है। स्वाँस-प्रस्वाँस के कारण उदर की त्रिवली कभी भीतर चली जाती—कभी बाहर। दोनों जङ्घायें, गरुड़जी की पीठ से उसी प्रकार सटी थीं, जैसे यन्त्रस्थ उरू सटे होते हैं। गरुड़जी की पीठ पर इधर-उधर निकले हुए दोनों चरणों के नखों से निकलती हुई किरणें ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों शरद के नील बादलों में से पाँच पूर्व से और पाँच पश्चिम से चन्द्रमा एक साथ उदित होकर अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर रहे हों! सैकड़ों अप्सरायें, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, उरग, विद्याधर, किन्नर इत्यादि तीनों देवों का यश गान करते हुए पीछे-पीछे चल रहे थे।

इस प्रकार अपनी अलौकिक प्रभा से सम्पूर्ण आकाश को प्रकाशित करते हुए तीनों देव, अत्रिमुनि के आश्रम पर आ उपस्थित हुए। अब तक मुनि के हृदय में प्रकाश का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, आज उनका हृदय उसी प्रकार प्रकाशित हो उठा मानों सहस्रों चन्द्र-सूर्य एक साथ ही उदित हो गये हों। हृदय मे उस अनुपम तेज का प्रकाश होने से मुनि को अत्यधिक आनन्द हुआ। उस तेज ने मुनि के बाहर भीतर सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैला दिया। उस महान प्रकाश ने सर्वत्र का अंधकार नष्ट कर दिया। आँख खोलकर मुनि ने जो देखा, तो सामने तीनों देवों को अपने-अपने वाहनों पर विराजमान पाया। एक साथ तीनों देवों के दुर्लभ दर्शनों से मुनि की दशा विचित्र हो गई। वे हक्के-बक्के-से होकर सम्भ्रम के साथ एक ही पैर से भूमि में लेट गये और दण्डवत-प्रणाम करके अपनी आँखों से प्रेम के अश्रु बहाने लगे। बड़ी देर तक वे प्रेम में बेसुध बने-नेत्रों से-आनन्दाश्रु बहाते हुए अवनि पर पड़े रहे।

कुछ काल के पश्चात् बाह्य ज्ञान होने पर, उठकर खड़े हुए।

तीनों देवों का तेज इतना फैल रहा था, कि आँखें उस तेज को सहन करने में समर्थ न हो सकीं। उनकी आँखों के सम्मुख चकाचौंध-सा छा गया। अतः वे बाह्य नेत्र बन्द करके हृदय में उनके स्वरूप का ध्यान करते हुए बड़े स्नेह के साथ गद्गद कंठ से तीनों की स्तुति करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मुनि, भगवान के तेज को सहन क्यों नहीं कर सके? उनसे आँख क्यों नहीं मिला सके? बहुत-से भक्त भगवान् से घुल-घुलकर बातें करते हैं उनके साथ क्रीड़ायें भी करते हैं।"

सूतजी बोले—"महाभाग! कुछ भक्त, माधुर्य के उपासक होते हैं और कुछ ऐश्वर्य के। माधुर्य में तो भगवान् के साथ मधुरता का सम्बन्ध होता है, ये हमारे सखा हैं, बन्धु हैं, पति हैं, पुत्र हैं आदि-आदि। ऐश्वर्य में तो प्रभाव की ही प्रधानता होती है। पृथ्वी के साधारण राजा के प्रभाव को लोग सहन नहीं कर सकते-फिर ये तो तीनों ब्रह्माण्ड के स्वामी थे। उन्होंने जगत् के स्वामी भाव से उपासना की। उस रूप से तीनों देवों ने दर्शन दिये। इतना होने पर भी उनके हृदय में तो माधुर्य ही भरा हुआ था। इसलिये देवताओं के सम्मुख रहने पर भी उनके प्रभाव से भयभीत नहीं हुए। हाथ जोड़कर वे उनकी मधुर वाणी में विनय करने लगे।"

छप्पय

देखे तीनों देव तेज तैं दिशा प्रकासें।
हंस गरुड़ वृष चढ़े पूर्ण शशि सम शुभ भासें॥
यश गावें गन्धर्व अप्सरा नाचें आगे।
करि दर्शन मन मोद भयो मुनि के दुख भागे॥
अविरल जल नयननि बहै, परे लकुटि सम अवनि पै।
है अधीन ममता भरी, डारी दृष्टि सबनि पै॥

तीनों देवों का पुत्र रूप से प्रकट होने का वरदान

[१७१]

अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः ।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यशः ॥
एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः ।
सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १ अ० ३१, ३२ श्लोक)

छप्पय

चकाचौंध ह्वै गईं चक्षु चित चरण लगायो ।
हाथ जोरि सिर नाइ विष्णुविधिहर गुन गायो ॥
या जग के जो ईश पुत्र हित एक पुकारे ।
किन्तु कृपा के सिन्धु ! दया करि तीनि पधारे ॥
सुनि मुनि वच बोले सभी, तीनों ही जगदीश हम ।
इच्छा वर माँगो अनघ, अब तुमको सबई सुगम ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! तीनो देव अत्रि मुनि पर प्रसन्न होकर कहने लगे—"हे प्रिय ! तुम्हारा कल्याण हो । हम तीनो के ही अंश से आपके यहाँ तीन विश्वविख्यात पुत्र उत्पन्न होंगे । वे संसार में तुम्हारा सुयश फैलावेंगे । इस प्रकार मुनि को इच्छित वर देकर अत्रि और अनसूया से पूजित हुए वे देवगण उनके देखते-ही-देखते आँखों से ओझल होकर अपने-अपने लोकों को चले गये ।"

हम, जितने फल की आकांक्षा से कोई कार्य करते हैं उससे अधिक फल हमें सहसा प्राप्त हो जाता है तो हमारे हर्ष का ठिकाना नहीं रहता। जहाँ हम कुछ की आशा से पृथ्वी खोदते हैं, वहाँ यदि अपार सम्पत्ति मिल जाती है, तो हर्ष, विस्मय, उल्लास, संभ्रम सभी एक साथ होते हैं।

महामुनि-अत्रि, भगवान् की आराधना पुत्र की प्राप्ति के निमित्त कर रहे थे। उनका संकल्प था—'जो इस जगत् के स्वामी हैं वे कृपा करके हमें अपने ही सदृश पुत्र दें।' इस जगत् के स्वामी तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों—ही हैं! यदि किसी का नाम-रूप लेकर उपासना करते, तब वे ही अकेले देव वरदान देने को प्राप्त होते। यों गोल-माल करने से मुनि लाभ में रहे। तीनों ही देवता उन्हें वरदान देने को उपस्थित हुए। ये त्रिदेव, पहिले ही भगवती अनसूया को वर दे चुके थे! सती के पुत्र तो अत्रि मुनि के ही वीर्य से होंगे—अतः इन देवताओं ने सोचा—"पुत्र तो होना ही पड़ेगा, चलो, अत्रिजी का भी आदर कर दो—उनको भी बड़ाई ले लो—बहती गङ्गाजी में हाथ धो लो।" इसीलिये तीनों ने दर्शन दिये।

अत्रि-मुनि ने उनके चरणों की वन्दना करके विनीत भाव से प्रार्थना करते हुए कहा—"प्रभो! मैं आपके वस्त्र, आयुध, वाहन और चिह्नों से आपको श्रीब्रह्मा, श्रीविष्णु और श्रीशंकर समझता हूँ। आप ही तीनों अपनी माया के द्वारा पृथक्-पृथक् गुणों का आश्रय लेकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के लिये तीन रूप धारण कर लेते हैं। आप तीनों ने ही मुझे दर्शन दिये, अतः मैं आप तीनों के चरणों में श्रद्धा सहित वन्दन करता हूँ।"

तीनों-देवों ने कहा—"मुनिवर, हम तुम्हारी तपस्या से

सन्तुष्ट होकर तुम्हें वरदान देने आये हैं! तुम इच्छानुरूप-वरदान माँग लो।"

अत्रि ने कहा—"परम पूजनीय देवगण! मैंने तो सन्तान प्राप्ति के लिये केवल एक ही जगत के ईश्वर का चिन्तन किया था, आप तीनों ने मिलकर किस प्रकार कृपा की?"

भगवान् बोले—"तपोधन! यदि आप किसी एक देव का नाम लेते—उनके निर्दिष्ट-रूप का चिन्तन करते—तब वे ही आपके सम्मुख प्रकट होते। आपने तो गोल-माल कर दिया, अँधेरे में अटकल-पच्चू से तीर छोड़ दिया। कह दिया, जो जगत् के स्वामी हो—वे हमें अपने सदृश सुत दें, जगत् के स्वामी तो हम तीनों ही हैं।"

अत्रि मुनि ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! बड़ी कृपा की, 'अधिकस्य अधिकं फलम्' एक पुत्र के स्थान में तीन-तीन हो जायँ तो और भी उत्तम।"

मैत्रेयजी कहते हैं—'विदुरजी! कभी-कभी तो भगवान् ऐसे भोले बन जाते हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। अजामिल ने सरासर पुत्र को पुकारा था! भगवान् ने उसे अपना ही नाम मान लिया। यही बात शिवजी की है। एक चोर था, शिवजी का घण्टा चुराने उनकी पिंड़ा पर चढ़ा। बस, भोलेबाबा उस पर प्रसन्न हो गये—"कोई मेरे ऊपर पुष्प चढ़ाता है, कोई बेलपत्र चढ़ाता है। देखो यह मेरा कितना भक्त है—इसने अपने आपको ही चढ़ा दिया।" बताइये, इस भोलेपन का भी कुछ ठिकाना है? और जब चालाकी करनी होती है, तो हिरण्यकशिपु को कितने कौशल से मारा! भस्मासुर को कैसी उलटी पट्टी पढ़ाकर भस्म कर दिया, द्रोणाचार्य को कैसी इधर-उधर की बातें भिड़ाकर मरवा दिया। तभी तो कहते हैं—"दयानिधि, तेरी गति लखि न परै" जब अत्रि-मुनि ने इस प्रकार विनय की तो तीनों बोले—

"मुनिवर! तुम सत्य-संकल्प हो, हमारे भक्त हो, तुम्हारी पत्नी पतिव्रता है, तुम्हारा संकल्प कभी अन्यथा नहीं हो सकता! जैसा तुमने सोचा है वैसा ही होगा। हम तीनों ही अपने-अपने अंशों से तुम्हारे यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न होकर तीनों लोकों में तुम्हारा यश फैलावेंगे और जीवों का कल्याण भी करेंगे।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! उस समय भगवान् ने कहा—"अच्छा 'दत्त' अर्थात् हमने तुम्हें पुत्र दिया" इसीलिये भगवान् श्रीहरि के अंश से जो हुए उनका नाम तो 'दत्त' हुआ, अत्रि के पुत्र होने से वे 'आत्रेय' भी कहाये। शिवजी को उस समय कुछ कोप आ गया क्योंकि मुनि का वस्त्र तपस्या करते-करते मलिन हो रहा था, इसीलिये उनके अंश से जो हुये वे बड़े ही क्रोधी महामुनि—दुर्वासाजी हुये, जो सबके ऊपर कोप ही करते हैं—शाप तो उनकी जिह्वा पर ही रखा रहता है! ब्रह्माजी का ध्यान शिवजी के मस्तक पर उदित हुये चन्द्रमा की ओर था। उनका मन वन की शोभा देखकर अत्यन्त ही प्रफुल्लित हो रहा था। इसीलिये उनके अंश से चन्द्रमा उत्पन्न हुए जो अत्यन्त ही सुन्दर, बड़े रसिक और तीनों-लोकों को सुख देने वाले हुये। तीनों-देवों ने जब वरदान दे दिया तो, मुनि ने पत्नी सहित पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और कन्दमूल फलादि के द्वारा बड़ी—श्रद्धा सहित तीनों देवों की पूजा की। उस तपःपूत दम्पत्ति की भक्ति सहित की हुई पूजा को स्वीकार करके तीनों देव वहीं अन्तर्धान हो गये। महामुनि पत्नी के सहित खड़े-के-खड़े ही रह गये। तीनों देवों के चले जाने पर दोनों ने भक्तिभाव से उस दिशा को प्रणाम किया जिधर तीनों-देव अन्तर्धान हुए थे, फिर वे लौटकर अपने आश्रम में चले आये। कालान्तर में उनके तीन पुत्र हुये जिनका नाम क्रमशः—दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा रखा गया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमने तो सुना था चन्द्रमा समुन्द्रमन्थन के समय समुद्र से निकला था ! सभी लोग चन्द्रमा को समुद्र का ही सुत बताते हैं। आज तक भी यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि, जब पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा अपनी सोलहों कलाओं से युक्त होता है तो उसकी वृद्धि को देखकर उसके पिता समुद्र के हृदय में हिलोरें उठने लगती हैं। उस दिन समुद्र भी बढ़ता है, उसमें तरंगे उठती हैं ! लक्ष्मीजी भी समुद्र से ही उत्पन्न हुई हैं, अतः वे चन्द्रमा की बहिन कही जाती हैं। अब आप कहते हैं कि, चन्द्रमा अत्रि के पुत्र हैं—अनसूया के गर्भ से उत्पन्न हुए यह कैसे हुआ ? इसका मर्म हमें यथावत् समझाइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर हसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! आप भी ऐसे प्रश्न कर देते हैं कि मुझे भ्रम-सा हो जाता है। महाभाग ! चन्द्रमा तो नित्य ही हैं, सृष्टि-प्रकरण में बताया गया है—चन्द्रमा, विराट-भगवान् के मन से उत्पन्न हुए। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत से जीव नित्य होते हैं, वे समय-समय पर स्वेच्छा से अवतार धारण करके संसार का कार्य करते हैं। जैसे—सप्तर्षि नित्य हैं, फिर भी उनमें से विश्वामित्र मुनि ने राजर्षि-गाधि के यहाँ जन्म लिया। एक रूप से वे सप्तर्षि-मंडल में रहे और दूसरे रूप से यहाँ पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। यहाँ अपना कार्य करके फिर अपने लोक में यथावत रहने लगे। समुद्र-मन्थन के पूर्व भी चन्द्रमा थे कहीं चले तो गये ही नहीं थे, श्रीहीन होने से फीके पड़ गये थे ! समुन्द्र-मन्थन के समय श्रीसम्पन्न होकर, अमृतमय बनकर निकले और अपने अमृत से वृक्ष, लता, औषधियों तथा ब्राह्मणों को सींचने लगे। कालान्तर में वे ही अत्रि के यहाँ श्रीब्रह्माजी के अंग से उत्पन्न हुए। चन्द्रमा में पुत्र बनने से कोई विकार नहीं हुआ, उनके कार्य में

भी कोई रुकावट नहीं हुई। जितने जीव हैं वे चाहे नित्य हों, बद्ध हों, मुमुक्षु हों अथवा मुक्त हों—सब भगवान् की आज्ञा रूपी-रस्सी में बँधे हैं। उनकी इच्छा के बिना कोई कुछ कर ही नहीं सकता।"

शौनकजी ने कहा—"तब तो एक प्रकार से सभी 'बद्ध' ही रहे। फिर नित्य, मुक्त तथा बद्ध में भेद ही क्या रहा?"

इस पर सूतजी बोले "मुनिवर! वास्तव में तो सभी बद्ध ही हैं, उपचार से ये सब भेद माने जाते हैं। इसकी अपेक्षा यह नित्य हैं, इसकी अपेक्षा यह बद्ध हैं—यह भेद अपेक्षाकृत है! नहीं तो सभी के हृदय में वे ही श्यामसुन्दर बैठकर सबसे अपनी इच्छानुसार कार्य करा रहे हैं और जीव विवश होकर उन कार्यों को करता है।"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! आप सत्य कह रहे हैं। जीव का अहंकार व्यर्थ है—होगा वही जो राम ने रच रखा होगा! जीव व्यर्थ ही अपनी धुना-बुनी करता रहता है। आप, हम सबको इन तीनों के चरित्रों की मुख्य-मुख्य घटनायें सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग! भगवान् दुर्वासा और चन्द्रमा का चरित्र तो आगे यथास्थान कहूँगा। इस समय तो मैं भगवान्-दत्तात्रेय के जीवन के कुछ प्रसंग सुनाता हूँ, उन्हें आप सब समाहित-चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

बोले मुनिवर अत्रि, नाथ! माँगत सकुचाऊँ।
तुम सम सुन्दर सुघड़ सलौने सुत हौं पाऊँ॥
हँसि के बोले देव—"हमारे सम हम तीन्हौं।
जन्म रहित हम तऊ उग्र तप तुमने कीन्हौं॥
जाओ, हमई होहिंगे, तनय तुम्हारे तपोधन।
सुनि मुनि अति हरषित भये, गहे चरन है मुदित मन॥

—०—

भगवान् दत्तात्रेय का अवतार

[१७२]

सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् ।
दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० १ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

दै दुरलभ वरदान भये अन्तर्हित देवा ।
आये आश्रम अत्रि करें श्रीहरि की सेवा ॥
काल पाहि विधि चन्द्र नामतें प्रकटे आई ।
शिव दुर्वासा भये, शाप की छटा दिखाई ॥
योगेश्वर श्रीहरि भये, दत्तात्रेय महान-मुनि ।
तरैं जगत् के जीव सब, जिनको सुन्दर सुयश सुनि ॥

भगवान् के अनन्त अवतार हैं, उनकी गणना नहीं। अनेक योनियों में अवतार धारण करके भगवान् अनन्त लीलायें करते हैं। भगवान् की सभी लीलायें अनुकरणीय नहीं होतीं! कुछ लीलायें, मात्र लीला के ही लिये होती हैं, कुछ लीलायें उपदेश-प्रद भी होती हैं। जो उपदेशप्रद हों, सदाचारपूर्ण हों, लोक—

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् अत्रि के यहाँ ब्रह्माजी के अंश से तो चन्द्रमा हुए, विष्णु भगवान् के अंश से योगेश्वर-दत्त भगवान् हुए और महादेवजी के अंश से दुर्वासा मुनि हुए ! यह तो अत्रि मुनि का वंश हुआ। अब अंगिरा मुनि के वंश को सुनिये।"

वेद के विरुद्ध न हों, उनका आचरण अनुकरण करना चाहिये और जो केवल लीला के ही लिये हों, उनका सिर्फ श्रद्धा से श्रवण करना चाहिये। उनके श्रवण मात्र से ही पुण्य है। ईश्वर के वचन ही सत्य हैं, आचरण तो कहीं-कहीं अनुकरणीय माने जाते हैं। शिवजी ने जहर पी लिया, भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठा लिया, रासक्रीड़ा की इन सब लीलाओं का कभी अनुकरण न करें, नहीं तो पतन हो जायगा। कभी-कभी सामर्थ्यवान् अवतारी पुरुष लोक वेद विरुद्ध भी आचरण करते देखे गये, उसे देख कर भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिये कि, जब वे ऐसा करते हैं तो हम भी वैसा ही करें। उस समय यही समझना चाहिये कि ये समर्थ हैं, इन्होंने अपनी माया से हमारी परीक्षा लेने के निमित्त यह खेल रचा है। उस समय न तो उनकी निन्दा ही करनी चाहिये न भूलकर उनके इस कर्म का अनुकरण ही करना चाहिये। यदि मोहवश उनके विरुद्धाचरण को हम स्वयं भी करने लगें—तो पतित हो जायँगे।

इस विषय में महापुरुषों ने अपने शिष्यों को अनेक प्रकार से शिक्षायें दी हैं। एक महापुरुष भिक्षा को जा रहे थे, साथ में उनके शिष्य भी थे। शिष्यों के परीक्षार्थ उन्होंने एक से मांस माँगा। उसने दे दिया और महापुरुष खा गये। शिष्यों ने सोचा—"जब गुरूजी ने खा लिया, तो हम क्यों न खावें।" उन्होंने भी लिया और जिह्वा-लोलुपता वश खा गये। आगे काँच की भट्टी थी, काँच पिघल रहा था। महापुरुष ने काँच माँगा, भट्टी वाले ने कमण्डलु भर दिया। 'आप' उसे भी पी गये। अब शिष्य घबड़ाये। महात्मा ने कहा—"इसे भी पियो! तुम लोग हमारा अनुकरण ही करते हो तो सब में करो।"

ऋषियों तक ने उपनिषदों में कहा है—"जो हमारे सुचरित हों उन्हीं का अनुकरण करना चाहिये, निषिद्ध कर्मों का नहीं।"

इसी प्रकार-एक और महात्मा चले जा रहे थे, रास्ते में उन्हें मछलियाँ मिलीं। सब-गुरु शिष्य भूखे थे ही, गुरुजी ने मछली लेकर खा ली। शिष्यों ने भी ऐसा ही किया। आगे चलकर गुरुजी ने उन्हें बहुत डाँटा और कहा—"तुमने ऐसा क्यों किया ?" उन्होंने कहा—"महाराजजी ! जो आपने किया-वही तो हमने किया।"

महात्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, हम वमन कर देते हैं।" उनके वमन करते ही सब मछलियाँ जीवित निकल आईं। हरी-हरी तुलसी उनके साथ निकली। शिष्यों ने वमन किया तो भयंकर दुर्गन्धि ! तब शिष्यों ने गुरु के पैर पकड़े कि, अब हम बिना पूछे आपके आचरणों का अनुकरण कभी न किया करेंगे। जिस प्रकार देखने में विरुद्ध आचरणों को कभी कोई-कोई महापुरुष करते हैं, उसी प्रकार के आचरण भगवान्-दत्तात्रेय के हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महामुनि अत्रि और भगवती अनसूया को वर देने के अनन्तर तीनों देवों ने उनके घर अवतार लिया। ब्रह्माजी के अंश से चन्द्रमा हुए जो लोकपाल कहलाये। उनके समान सुन्दर, संसार में कोई नहीं। उन्होंने राजसूय, विश्वजित आदि बड़े-बड़े यज्ञ करके सभी को अपने वश में किया। वे प्रजापति हुए और चन्द्रवंश के संस्थापक कहलाये। शिवजी के अंश से परम क्रोधी-दुर्वासा हुए, उन्होंने विवाह नहीं किया। पैदा होते ही इन्होंने उन्मत्त व्रत धारण कर लिया। पागलों की भाँति जटा बिखेरे इधर-से-उधर घूमते रहते हैं। किसी ने तनिक भी अपराध किया, उसी समय ये शाप रूपी अस्त्र उसके ऊपर छोड़ देते हैं। किसी-किसी को वरदान भी देते हैं किन्तु बहुत कम। इनकी तो शाप देने में ही ख्याति है। आज भी कोई क्रोधी साधु आता है तो लोग कह उठते

हैं—"ये तो साक्षात् दुर्वासाजी ही आ गये।" दुर्वासाजी के शाप की अनेकों कथायें हैं जो प्रसंगानुसार आगे वर्णित होंगी। ये शाप द्वारा ही जीवों पर कृपा करते हैं। ईश्वर का श्राप भी वरदान के तुल्य होता है। उनका क्रोध भी कल्याण कारक ही होता है, क्योंकि शिव के कार्य कभी 'अशिव' हो ही नहीं सकते।

साक्षात् श्रीविष्णु के अंश से भगवान्-दत्तात्रेय का जन्म हुआ। देवताओं ने पुष्प-वृष्टि करके तथा दुन्दुभी बजाकर भगवान् के प्रति सम्मान प्रदर्शन किया। दत्त भगवान् परम सुन्दर थे। उनके रूप लावण्य को देखते ही दर्शक मुग्ध होकर उनके पीछे लग जाते। उन्होंने जन्म से ही अवधूत वेष धारण कर लिया, वे न गृहस्थी हुए और न उन्होंने कोई सांसारिक-प्रवृत्ति मार्ग का कार्य ही किया। वे निस्पृह होकर इधर-से उधर घूमते रहते। सैकड़ों, हजारों स्त्री-पुरुष-बालक उनके पीछे लग जाते—उनके स्वरूप में ऐसी मोहकता थी। एक बार किसी सुन्दर स्वच्छ सलिल वाले सरोवर के समीप वे समाधि में मग्न हो गये। बहुत से ऋषिकुमार उनके समीप आकर रहने लगे। उन्होंने ऋषिकुमारों को अनेक प्रकार से समझाया कि हम अवधूत हैं, हमारे पास रहने की आवश्यकता नहीं, हमारे आचरण लोक बाह्य हैं, तुम लोग किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाओ। बहुत समझाने पर भी जब वे ऋषिकुमार उन्हें छोड़कर नहीं गये—तब तो भगवान्-दत्त ने अपनी माया रची।

वे उन ऋषिकुमारों को अपने समीप रखना नहीं चाहते थे। इसलिये सबके देखते-ही-देखते एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्री उसी सरोवर के सलिल से निकली। सभी को बड़ा विस्मय हुआ। सभी आँखें फाड़-फाड़कर उस देवी की ओर देखने लगे, परन्तु

देवी ने किसी की ओर नहीं देखा, वह सीधी भगवान् दत्त की बगल में जा बैठी। वह साक्षात् लक्ष्मीजी की ही अंश थीं। भगवान् ने अपनी योग माया से उनका निर्माण किया कि, ये ऋषिकुमार हमें गृहस्थी समझकर चले जायँ। किन्तु फिर भी वे सब नहीं गये, उन्होंने समझा यह तो भगवान् की मोहिनी माया है। तब तो दत्त भगवान् अखाद्य वस्तु खाने लगे, अपेय वस्तु का पान करने लगे। इससे उन कुमारों का मन फिर गया और सोचने लगे—"ये तो सदाचार से हीन हैं, इनके समीप रहकर क्या करेंगे?" यही सोचकर सब उन्हें छोड़कर चले गये। भगवान् तो यह चाहते ही थे, उनके चले जाने पर वे आनन्द पूर्वक तपस्या करने लगे।

भगवान दत्तात्रेय को प्रसन्न करना अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि इनके आचरण लोक-बाह्य हैं। जो इनके प्रभाव को नहीं जानते, वे पहिले-पहिल इनकी रहनी-सहनी देखकर सन्देह में पड़ जाते हैं। ये अपने भक्तों की बहुत कड़ी परीक्षा लेते हैं। इनकी परीक्षा में बहुत कम ही उत्तीर्ण होते हैं, किन्तु जो उत्तीर्ण हुए हैं, वे इस लोक में सर्वऐश्वर्य-सम्पन्न-समृद्धिशाली होकर अन्त में मोक्ष के भागी बने हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् इन अल्पज्ञ-जीवों की ऐसी कठिन परीक्षा क्यों लेते हैं, क्यों ऐसे लोक विरुद्ध आचरण करते हैं?"

सूतजी ने इस पर कहा—"महाभाग! भगवान् को तो सभी शिक्षाएँ देनी पड़ती हैं। एक ऐसी भी स्थिति होती है जहाँ लोक-वेद कुछ भी नहीं रहता। जहाँ विधि, निषेध दोनों का ही अन्त हो जाता है। इसी अवस्था का नाम अवधूतावस्था है। इसके आचरण करने वाले बिरले होते हैं। यह अवस्था साधनों से प्राप्त नहीं होती। भगवत्-कृपा से ही-अनेक जन्मों के सुकृतों से-

ऐसी अवस्था स्वतः आ जाती है। भगवान् दत्त ने उसी अवधूतावस्था का दर्शन दिया है। बहुत-से विरक्तों को अपने वरदान से उस स्थिति पर पहुँचाया है। बहुत-से राजर्षियों को ज्ञान देकर उनके इस लोक के सब मनोरथ पूर्ण किये हैं, वे इस लोक में प्रसिद्ध कीर्तिशाली राजा हुए और अन्त में उन्होंने मोक्ष पदवी को प्राप्त किया है। ये भगवान्, भुक्ति-मुक्ति दोनों के ही दाता हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! दत्त-भगवान् ने जिन्हें अपने वरदान से सिद्ध बना दिया, ऐसे दो चार प्रसंग हमें सुनाइये। दत्त भगवान् के चरित्र सुनने को हम सबकी बड़ी उत्कण्ठा हो रही है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो! दत्त-भगवान् ने असंख्यों जीवों का उद्धार किया है। उसमें से दो चार मुख्य-मुख्य का मैं संक्षेप में उल्लेख करता हूँ, आप समाहित चित्त से भगवान् के चरित्र को सुनें।"

छप्पय

दत्तदेव वपु परम सुघड़ सुन्दर सुठि सोहत।
जनु सौन्दर्य शरीर धरै घूमे जग मोहत॥
एक बार जो लखै सग सो फिर नहिं छोरत।
मातु पिता घर कुटुम सबनि ते मुख कूँ मोरत॥
खाँय—अखाद्य पदारथनि, माया रचि कौतुक करहिं।
जानि अघोरी शुचि रहित, ऋषिकुमार सँग ते भगहिं॥

इससे आगे की कथा नवें खण्ड में पढ़िये:—

हमारी नयी पुस्तक–

भागवत चरित-संगीत सुधा

स्वरकार

बंशीधर शर्मा, 'भागवत चरित व्यास'

भारतवर्ष के अनेकों स्थान से लोग पूज्यपाद श्री ब्रह्मचारीजी महाराज के दर्शनों के लिये आते रहते हैं। दर्शन के साथ इच्छा होती है, कि श्री महाराज जी के मुखारविन्द से अमृतमयी कथा का श्रवण करें। आश्रम पर नित्य नियम से कथा, कीर्तन और पाठ होते रहते हैं। जो भी एक बार भागवत चरित को सुन लेता है, उसकी इच्छा होती है इसे बार-बार सुनें, किन्तु सुनें कैसे जब तक ताल स्वर बाजा तबला पर गाने वाले न हों रस नहीं आता। जिन लोगों ने धुनि नहीं सुनी उनके लिये यह नवीन राग है। अतः बहुत दिनों से लोगों के समाचार आते रहे कि भागवत चरित को शास्त्रीय संगीत में लिपिबद्ध कराके छपवा दीजिये। उसी आधार पर यह 'भागवत चरित-संगीत सुधा' तैयार की गई है। आशा है भागवत चरित पाठक इस पुस्तक से लाभ उठावेंगे। मूल्य १) रुपया।

—व्यवस्थापक

[भगवान दत्तात्रेय]

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(नवम् खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक,
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, झूसी,
प्रयाग

●

संशोधित मूल्य २-० रुपया
तृतीय संस्करण १०००] चैत्र, सं० २०२७ [मूल्य ~~१-२५~~ 2/

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्त उपदेश लिखते थे। उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अँग्रेजी में छप चुके हैं। यह छोटी-सी पुस्तक बहुत ही उपादेह है। इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं। इसे हम फिर से छाप रहे हैं। मूल्य लगभग ३० पैसे।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम

(सहस्र दोहा भाष्य सहित)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वद्जनों के हाथों में पहुँची, लोगो ने पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य, एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये। पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जी इसी प्रकार 'श्रीविष्णुसहस्र नाम' को भी लिख दीजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के ऊपर एक-एक दोहा भी बना दिया। इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनो बन गये। प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते है उसे कथा में सुनाते हैं उसका वर्णन इस परिचय सूचना-पत्र में करना असम्भव है। शीघ्र ही छपकर तैयार हो रहा है। पत्र लिखकर अपनी प्रति सुरक्षित करालें।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१. दत्त भगवान् की सहस्रार्जुन पर कृपा	५
२. दत्त भगवान् की यदु आदि राजर्षियों पर कृपा	१५
३. देवहूति की कन्याओं के वंश का वर्णन	२७
४. भृगु-पुत्री 'श्री'	३४
५. तृतीय मनु पुत्री प्रसूति के वंश का वर्णन	४३
६. भगवान् नर-नारायण का अवतार	५५
७. भगवान् नर-नारायण की तपस्या	६३
८. अग्नि के वंश का वर्णन	७५
९. पितरों के वंश का वर्णन	८४
१०. दक्षकुमारी सती का शिवजी से विवाह	९२
११. प्रयागराज में प्रजापतियों का सत्र	९८
१२. दक्ष प्रजापति का शिवजी पर कोप	१०५
१३. दक्ष का शिवजी को शाप	११२
१४. श्री शिव महिमा	११९
१५. शिव भक्त उपमन्यु के आश्रम पर भागवान्	१२५
१६. दरिद्रता से दुखी उपमन्यु मुनि	१३४
१७. उपमन्यु मुनि को शिवजी का वरदान	१४७

१८. प्रजापतियों के सत्र की समाप्ति १५७
१९. दक्ष यज्ञ में देवों का देवांगनाओं के साथ गमन १६४
२०. सती का दक्ष यज्ञ में चलने का आग्रह १७१
२१. शिवजी का सती को समझाना १८२
२२. सती जी का पितृ-गृह-गमन १९३
२३. दक्ष यज्ञ में सतीजी का प्रवेश २०३
२४. पिता के यज्ञ में अपमानित सती का कोप २१४
२५. सती द्वारा शिव गुण गान २२०

—: ० :—

दत्त भगवान् की सहस्रार्जुन पर कृपा

[१७३]

अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् ।
दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् प्राप्तयोगमहागुणः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २३ अ०, २४ श्लोक)

छप्पय

देवासुर संग्राम भयो सुर सबरे हारे।
देखि देवपति दुखी देवगुरु वचन उचारे॥
दत्तात्रेय समीप सफल हों काज तिहारे।
शरण गये लहि विजय पाइ श्री भये सुखारे॥
सहसबाहु अर्जुन भये, ऋद्धि सिद्धि जगमहं लहीं।
पायो अन्तहु परम पद, कहुँ हरि बिनु हारे नहीं॥

यथार्थ उपदेश उसी को दिया जाता है, जो सर्वथा अपने अनुरूप हो। जो आज्ञाकारी नहीं, सेवा में जिसकी निष्ठा नहीं, गुरुचरणों में अनुराग नहीं, ऐसे पुरुष को उपदेश देना निषेध

---

* श्री शुक कहते हैं—"राजन् ! महाराज कृतवीर्य के पुत्र अर्जुन हुए जो सप्त द्वीपवती पृथ्वी के अधिपति हुए। जिन्होंने भगवान् के अंशावतार श्री दत्तात्रेयजी से योगविद्या की अणिमादि सिद्धियों को भी प्राप्त किया।"

बताया है। इधर-उधर की बातें पूछ-पाछ कर उसे टाल दिया जाता है। सर्वोत्तम भाव से जिसने आत्म-समर्पण नहीं किया, जिसने अपना मन गुरुदेव के मन के साथ मिला नहीं दिया, जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के ही लिये सेवा नहीं करता अपितु गुरु चरणों में भक्ति भी रखता है, सद्गुरु उसी को अपनी निधि समर्पित करते हैं। वैसे तो सभी शिष्य की परीक्षा लेकर ही उपदेश देते हैं। जो कम से कम एक वर्ष समीप रह कर सेवा शुश्रूषा द्वारा अपनी पात्रता प्रकट न करे, उसके प्रति उपदेश देना निषेध है। परीक्षा करके पात्रता, अधिकार समझ कर जैसी योग्यता हो, उपदेश देना चाहिये। भगवान् दत्तात्रेय परीक्षा करके ही उपदेश देते थे। पहिले वे अपने निषिद्ध आचरण दिखाकर अपने प्रति घृणा उत्पन्न कराते। इतने पर भी जो घृणा नहीं करता, भक्तिभाव से उनकी सेवा ही करता रहता, उसे फिर इच्छित फल देते। धनार्थी को धन, पुत्रार्थी को पुत्र और मोक्षार्थी को मोक्ष देने में ये विलम्ब नहीं करते।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् दत्तात्रेय ने किन-किन भाग्यशाली राजर्षियों को उपदेश दिया? यदि उचित समझें, तो उन सब के सुखप्रद संम्वाद हम सबको सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनिवर! भगवान् दत्त ने तो बहुतों को उपदेश दिया है। हैहयकुलावतंस महाराज सहस्रबाहु, स्वनाम धन्य महाराज यदु, धर्मनिष्ठ महाराज अलर्क, प्रजावत्सल महाराज आयु तथा प्रातःस्मरणीय परम भक्त प्रह्लादजी आदि बहुत से मुमुक्षुओं को उन्होंने अपने उपदेशामृत से अजर अमर बनाकर इस लोक की सम्पत्ति भी दी और मोक्ष का अधिकारी भी बना दिया। ये सब कथायें इन राजर्षियों के चरित्रों के प्रसंग में वर्णन की जायंगी। यहाँ तो मैं अत्यन्त संक्षेप में इनका उल्लेख

मात्र किये देता हूँ। यदि आपकी आज्ञा हो, तो विस्तार से वर्णन करूँ ?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"नहीं, सूतजी ! आप जैसे उचित समझें, वैसे ही वर्णन करें। यहाँ संक्षेप में ही सुनाइये।"

शौनकजी के ऐसा कहने पर सूतजी कहने लगे—'ऋषियो ! परम पावन चन्द्रवंश में हैहय-वंशी क्षत्रिय कहलाये। उसी वंश में परम धार्मिक, सत्य-परायण, प्रजा-वत्सल महाराज कृतवीर्य हुए। उन्होंने बहुत वर्षों तक इस समस्त वसुन्धरा का शासन किया। अन्त में जब वे राजर्षि अपना समय समाप्त करके स्वर्ग सिधारे, तो सभी मंत्री पुरोहितों ने मिलकर उनके योग्य पुत्र अर्जुन को राजगद्दी पर बिठाना चाहा; किन्तु वे कृतवीर्य के पुत्र कार्तवीर्य महाराज अर्जुन बड़े विचारवान् थे। उन्होंने राज्य-सिंहासन पर बैठना स्वीकार नहीं किया। वे बोले—"पृथ्वी पर बहुत से राजा हैं, वे प्रजाओं से कर तो लेते हैं, किन्तु उनकी जैसी रक्षा करनी चाहिये वैसी कर नहीं सकते, क्योंकि अन्य बलवान् राजा उन्हें दबा देते हैं। यदि मैं एक ही समस्त वसुन्धरा को पालन करने में समर्थ होऊँ, तब तो मैं राज्य करूँगा, अन्यथा नाममात्र का राजा होकर मैं पाप का भागी नहीं बनूँगा।"

महाराज के ऐसे मनोरथ को समझ कर उनके कुल-गुरु भगवान् गर्ग बोले—"राजन् ! आपका विचार बड़ा सुन्दर है। यदि आप धैर्य धारण करके भगवान् दत्तात्रेय की सेवा कर सकें, तो अपने अभीष्ट मनोरथ को सहज में ही प्राप्त कर सकते हैं।"

अपने गुरु के वचनों पर विश्वास करके कार्तवीर्य महाराज अर्जुन ने पूछा—"महाराज, ये दत्तात्रेय भगवान् कौन हैं ? किनके पुत्र हैं ? कहाँ रहते हैं ? इनकी सेवा करके किसी ने

अतुल ऐश्वर्य्य प्राप्त भी किया है ? इन सब बातों का आप उत्तर दें, तब मैं निर्णय करूंगा।"

अपने शिष्य के ऐसे वचन सुनकर भगवान् गर्ग बोले—"राजन् ! दत्त भगवान् परम सती साध्वी अनसूया के गर्भ से उत्पन्न हुए महामुनि अत्रि के औरस पुत्र है। वे साक्षात् श्रीविष्णु के अंशावतार हैं। सह्य पर्वत के समीप सुन्दर आश्रम में तपस्या करते हुए निवास कर रहे है। उनकी विचित्र दिनचर्या है। उनके बाह्य रूप को देखकर जो उनसे घृणा करता है, वह ठगा जाता है और जो उनको ईश्वर समझकर उपासना करता है, उसे मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है। देखिये, राजन् ! भगवान् दत्त के प्रसाद से ही देवताओं ने दैत्यों को जीत लिया।"

यह सुनकर कार्तवीर्य अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! देवताओं ने दत्त भगवान् के वरदान से दैत्यों को किस प्रकार पराजित किया ? इस कथा को आप मुझे सुनावें।"

महाराज का ऐसा प्रश्न सुनकर भगवान् गर्ग कहने लगे—"राजन् ! पहिले देवताओं और असुरों का बड़ा भारी युद्ध हुआ। असुर बलवान् थे। देवता तो देवता ही ठहरे। असुरों की मार को न सह सकने के कारण वे भाग खड़े हुए। असुरों ने उन्हें भागते देखकर तालियाँ पीटी, देवता इधर-उधर छिप गये। स्वर्ग के सिंहासन पर असुरों का आधिपत्य हो गया।"

इस पराजय से इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। वे एकान्त में छिपकर अपने गुरु बृहस्पतिजी की शरण में गये और उनकी यथोचित पूजा करके पूछने लगे—"प्रभो ! हम किस उपाय से स्वर्ग को गई हुई लक्ष्मी को असुरों के हाथ से प्राप्त कर सकते हैं ?"

यह सुनकर देवगुरु बृहस्पतिजी बोले—"देखो, देवराज !

असुर बड़े बलवान् हैं, तुम युद्ध करके इन्हें नहीं जीत सकते। इन्हें जीतने का एक ही उपाय है।"

अत्यन्त उत्सुकता के साथ देवराज ने पूछा—"गुरुदेव! वह कौन-सा उपाय है? हमें शीघ्र बताइये। हम सब उसे अवश्य करेंगे।"

भगवान् बृहस्पति बोले—"देखो, तुम सब लोग अत्रिपुत्र भगवान् 'दत्त' की उपासना करो। यदि वे प्रसन्न हो गये, तो तुम्हारे सभी मनोरथ पूर्ण हो जायंगे।"

देवराज ने पूछा—"प्रभो! वे कैसे सन्तुष्ट होंगे?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"तुम उनके बाह्य कार्यों की ओर ध्यान न देना। वे भुलाने को लोक विपरीत आचरण करते हैं। तुम भगवद् भाव से निष्कपट होकर उनकी आराधना करना। वे चाहें तो बात की बात में विजय प्राप्त करा सकते हैं, परमपद दिला सकते हैं।"

कौन महापुरुष है? कौन क्षुद्र पुरुष है? इसे या तो शास्त्र बता सकते हैं या गुरुदेव बता सकते हैं, अथवा अपना शुद्ध हुआ अन्तःकरण बता सकता है। इन तीनों की सहायता के बिना कोई नहीं पहिचान सकता कि ये सच्चे साधु हैं या बनावटी। जब गुरुदेव ने ही आज्ञा दे दी कि वे महापुरुष हैं, तो फिर उनका बाह्य आचरण कैसा भी हो, हमें तो गुरुवचनों पर श्रद्धा होनी चाहिये। गुरु तो सदा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होता ही है। वह शास्त्र-विरुद्ध आचरण कभी करता ही नहीं।

बृहस्पतिजी की बात विश्वास करके देवताओं के साथ इन्द्र भगवान् दत्तात्रेय के आश्रम पर गये। वहाँ उन्होंने देखा भगवान् की बगल में एक परम रूप-लावण्य-युक्त लक्ष्मीजी के समान स्त्री बैठी है, गन्धर्व गा रहे हैं, अप्सरायें नाच रही हैं। देवताओं ने

इन बातों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वे बड़ी विनय के साथ भगवान् की आराधना करने लगे। भगवान् जब चलते, तो वे भी उनका अनुगमन करते। जहाँ वे बैठ जाते, देवता भी उनके बैठने के अनन्तर नीचे आसन पर बैठते। जब वे लेट जाते तो उनकी सेवा करते। सारांश यह कि वे अत्यन्त ही श्रद्धा के साथ, सावधान होकर, अव्यग्र भाव से दत्त भगवान् की परिचर्या करने लगे। उनकी सेवा शुश्रूषा से संतुष्ट होकर एक दिन भगवान् ने पूछा—"देवताओ! तुम मुझसे क्या चाहते हो, क्यों मेरी सेवा कर रहे हो?"

हाथ जोड़ कर देवराज ने कहा—"प्रभो! हम सब असुरों से पराजित हो गये है। हमें पुनः अपना ऐश्वर्य्य प्राप्त हो सके ऐसी कृपा कीजिये।"

झूठा आश्चर्य प्रकट करते हुए भगवान् बोले—'अरे, यह तुम से बिना सिर पैर की बात किसने कह दी? किसने तुम्हें बहका दिया? अरे भैया! मैं जय पराजय क्या जानूं? तुम देखते नहीं मैं कितने सुख से रहता हूँ, विषय वासनाओं में फँसा हुआ हूँ। मैं तुम्हें कैसे विजयी बना सकता हूँ?"

हाथ जोड़ कर देवताओं ने कहा—"प्रभो! आप हमारी वंचना न करें। हमारे गुरुदेव ने आपका सत् स्वरूप हमें बता दिया है। आप तो स्वयं साक्षात् जगन्नाथ हैं। ये भगवती तो लक्ष्मी देवी हैं। ये कहीं भी रहें, इनमें दोष व्याप्त ही नहीं होता। जैसे सूर्य किरणें ब्राह्मणों के घर में भी जाती हैं, चांडाल के घर में भी जाती हैं। सर्वत्र जाने पर भी वे निर्लेप बनी रहती हैं।"

यह सुनकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"देवताओं! वास्तविक बात यही है। बृहस्पति ही मेरे स्वरूप को

जानते हैं। अच्छी बात है, तुम असुर दैत्यों को मेरे सम्मुख किसी तरह ले आओ। मेरी दृष्टि पड़ते ही सब श्रीहीन हो जायँगे। वे मेरे स्वरूप को न समझ कर पाप में प्रवृत्त हो जायँगे। तब तुम स्वर्ग के राज्य पर अधिकार कर लेना।"

भगवान् दत्त की ऐसी आज्ञा सुनकर देवताओं ने ऐसा ही किया। उन्होंने असुरों को फिर युद्ध के लिये ललकारा। असुरों ने उन्हें परास्त किया। देवता भागे, असुर भी भागते हुए देवताओं का पीछा करते हुए दत्तात्रेय भगवान् के आश्रम पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने भगवान् को लक्ष्मीजी के सहित अवधूत वेष में विहार करते हुए बैठे देखा। तब तो सबके सब असुर उन लक्ष्मी जी के रूप से मोहित हो गये और कहने लगे—"इस बाबाजी के पास इस त्रैलोक्य-सुंदरी स्त्री का क्या काम? इसे सभी असुर उठाकर ले चलो।" इस प्रकार कहकर और उसे पालकी में बिठा कर सिर पर रखकर असुर उसे ले चले।

यह देखकर हँसते हुए दत्त भगवान् देवताओं से बोले—"देवताओ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ। ये लोग अपने पाप से ही पराजित हो गये। जो लक्ष्मीजी को सिर पर रखकर ले जाता है लक्ष्मी तत्क्षण उसे छोड़कर दूसरे के समीप चली जाती हैं, अब तुम युद्ध करो। तुम्हारी विजय होगी।"

महामुनि गर्ग महाराज अर्जुन से कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् दत्तात्रेय का ऐसा आशीर्वाद प्राप्त करके देवताओं ने असुरों पर चढ़ाई की और उन्हें पराजित करके स्वर्ग की अनपायिनी लक्ष्मी को प्राप्त किया। सो, महाराज! आप भी दत्त भगवान् की शरण में जायँ। उनकी कृपा से भुक्ति-मुक्ति दोनों ही आपको प्राप्त होंगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने गुरुदेव गर्ग के मुख से

दत्त भगवान् की महिमा सुनकर कार्तवीर्य अर्जुन उनके आश्रम में गये। वहाँ उन्होंने वही दशा देखी—भगवान् अवधूत वेष में पागलों की भाँति अखाद्य पदार्थ खा रहे हैं, अपेय पदार्थ पी रहे हैं। पास में परम सुन्दरी स्त्री बैठी है। नाच, गान हो रहा है। महाराज को तो ज्योतिषाचार्य भगवान् गर्ग ने सब बता ही दिया था; अतः वे उनके इस आचरण को देखकर विचलित नहीं हुए। उनकी इन बातों को देखकर अश्रद्धा नहीं हुई और वे परम भक्तिभाव से आत्रेय भगवान् की आराधना करने लगे।"

जब भगवान् ने इन्हें श्रद्धा सहित सेवा करते देखा तो बोले—"राजन्! हम तो उन्मत्त हैं, पागल हैं, हममें कोई सामर्थ्य भी नहीं। स्वयं हम विषयासक्त हैं। आप हमारी सेवा क्यों करते हैं? किसी समर्थ सिद्ध पुरुष की सेवा शुश्रूषा करें। हमारी सेवा से आपको क्या मिलेगा?"

इस पर कार्तवीर्य बोले—"प्रभो! आप साक्षात् जगन्नाथ हैं, मेरे गुरुदेव ने ऐसा ही बताया है। मैं आपके किसी भी आचरण को देखकर विचलित न हूँगा, ये जगज्जननी लक्ष्मीजी मेरी पूजनीया माता हैं।"

इतना सुनते ही भगवान् प्रसन्न हो गये और बोले—"वत्स! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे यथेष्ट वर माँगो, चाहे जितना माँगो, कठिन से कठिन माँगो, मैं वही दूँगा।"

भगवान् को इस प्रकार प्रसन्न देखकर हाथ जोड़कर महाराज अर्जुन बोले—"प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो इतने वरदान मुझे दीजिये—

१—मुझे उत्तम ऋद्धि-सिद्धि दीजिये।

२—मोक्ष सम्बन्ध पर ज्ञान प्रदान कीजिये।

३—युद्ध में कोई भी मेरा सामना न कर सके।

४—मेरे सहस्र बाहुएं हो जायं, जिससे पांच सौ बाण एक साथ छोड सकूं।

५—आकाश, पृथ्वी, पर्वत, पाताल, स्वर्ग आदि में सर्वत्र मेरी अव्याहत गति हो, जहां चाहूँ तहाँ चला जाऊं।

६—मेरा विशिष्ट पुरुष अर्थात् भगवान् के हाथ से ही मृत्यु हो।

७—प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही मार्गों का मै ज्ञाता होऊं।

८—मेरा धन, धान्य कोष सभी अक्षय हो। अतिथि मेरे यहाँ से विमुख न लौटें; मै संसार में अपने समय का अद्वितीय भूप होऊं।"

भगवान् दत्तात्रेय तो प्रसन्न ही थे। उन्होंने तथाऽस्तु कहकर महाराज को सभी वरदान दिये। तभी से उनका नाम सहस्रार्जुन हो गया। सहस्र बाहुओं में पाँच सौ धनुष चढ़ा कर वे एक साथ अकेले पाँच सौ बाण छोड़कर शत्रुओं को आश्चर्यान्वित कर देते थे। वे अपने समय के अद्वितीय शूर, वीर, योद्धा हुए। राजधानी में आकर समस्त मन्त्री, पुरोहित और प्रजाजनों ने उनका राज्याभिषेक किया और वे बड़े आनन्द के साथ सप्तद्वीपवती समस्त वसुधा का शासन करने लगे। उनका सामना करने वाला कोई भी वीर नहीं हुआ। उनको संसार के सर्वश्रेष्ठ सम्राटों में गणना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् दत्तात्रेय के प्रसाद से कृतवीर्य के पुत्र सहस्रार्जुन ने इस प्रकार इस लोक की सर्वोत्तम समृद्धि और परलोक में सर्वश्रेष्ठ गति प्राप्त की।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने महाराज सहस्रार्जुन के बल, वीर्य, पराक्रम, तेज आदि की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने दत्त भगवान् की कृपा से समस्त ऋद्धि सिद्धियों को

प्राप्त करके क्या-क्या कार्य किये ? कैसा उनका प्रभाव था ? उनकी मृत्यु किस प्रकार हुई ? यदि आप सुनाना उचित समझें और इस प्रसंग को भगवान् के चरित के साथ सम्बन्ध हो, तो कृपा करके विस्तार के साथ इन सब बातों को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"महाभाग ! महाराज सहस्रार्जुन के चरित्र के साथ भगवान् परशुराम के चरित्र का सम्बन्ध है। इन सब बातों को मैं यथास्थान परशुराम के चरित्र के प्रसंग में सुनाऊँगा। इस समय तो आपने जो दत्तात्रेय भगवान् के सम्बन्ध का प्रश्न किया है, उसी का उत्तर सुनिये। यह मैंने सहस्रार्जुन को जिस प्रकार दत्त भगवान् ने वर दिया, वह प्रसंग को सुनाया। अब अन्य राजर्षियों को जिस प्रकार उपदेश दिया, उसे भी एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

अगिनि सरिस अवधूत खाहिँ सब तुरत पचावें।
करहिं अल्प अनुकरण पतित नर ते ह्वै जावें॥
अनल अनिल रवि अशुचि शुचिहु महँ नहिँ लपटावें।
समरथकूँ का दोष उमापति विष कूँ खावें॥
बाहिर के आचरण लखि, दत्तदेव तें घिनि करहिं।
उभय लोक सुख तें रहित, होहिं नरक महँ मरि परहिं॥

दत्त भगवान् की यदु आदि राजर्षियों पर कृपा

[१७४]

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो,
दत्तो मयाहमिति यद्भगवान् स दत्तः ।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा,
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः ॥*
(श्री भाग० २ स्क० ७ अ०, ४ श्लो०)

छप्पय

जे श्रद्धायुत धैर्य धारि सेवें नित इनकूँ।
है प्रसन्न सब सिद्धि मुक्ति हू देवें तिनकूँ॥
यदु ने पूछ्यो प्रश्न यथारथ उत्तर पायो।
नृप अलर्क सुख लह्यो दत्त ने ज्ञान सिखायो॥
असुरराज प्रहलाद हू, सुनि शिक्षा निर्भय भये।
आयु नृपति सेवा करी, नहुष सरिस सुत हरि दये॥

उपदेष्टा दो प्रकार के होते हैं। एक तो ऐसे होते हैं, जिन्हें उपदेश देने का व्यसन होता है। कोई आवे, कभी आवे उन्हें उपदेश देने से काम। उपदेश दिये बिना वे रह ही नहीं

---

* ब्रह्माजी कहते हैं—"एक बार महामुनि अत्रि ने भगवान् से वर माँगा कि आप मुझे अपने समान पुत्र दें।" तब भगवान् ने कहा—

सकते। कुछ न कुछ कहते रहना, उपदेश देते रहना उनका नित्य का आहार है। ऐसे व्यसनी उपदेशक भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो स्वयं आचरण करने वाले और एक कहने ही वाले। स्वयं आचरण करने वालों से लोगों का कल्याण होता है। सब को उपदेश देते हैं, उनमें से एक आध अधिकारी निकल आता है, वह उस उपदेश को ग्रहण करके परमार्थ मार्ग की ओर अग्रसर होता है। अन्य लोग सुनकर चले जाते हैं। अस्पष्ट रूप से उनके संस्कार भी जमते हैं, किन्तु जो केवल वाणी से उपदेश मात्र ही देते हैं, स्वयं आचरण नहीं करते वे तो व्यवसाई हैं। उपदेश रूपी वस्तु देकर वे प्रतिष्ठा, पैसा, और विषयों को लेते हैं। वेश्य वृत्ति है, मैं यह देता हूँ इसके बदले तुम मुझे यह दो। परमार्थ में ऐसे उपदेश देने वाले और ग्रहण करने वालों का प्रायः कुछ भी महत्व नहीं। दोनों ही संसारिक व्यवहार कर रहे हैं। किसी ने अन्न, कपड़े का व्यापार किया, किसी ने वाणी की चातुरी दिखाकर लोगों से अपना स्वार्थ सिद्ध किया।

दूसरे ऐसे उपदेशक होते हैं कि वे किसी को उपदेश देते ही नहीं। वे भी दो प्रकार के हैं। एक तो व्यवहार कुशल होते हैं। उनके पास कोई उपदेश लेने आता है, तो उसे अनाधिकारी समझ कर इधर-उधर की दो चार बातें पूछकर टाल देते हैं। "तुम्हारे बाल-बच्चे अच्छे हैं, तुम्हारी बहू तुमसे स्नेह करती

अच्छा, मैंने अपने आपको दिया (दत्त) इसीलिये भगवान् 'दत्त' नाम से उनके घर प्रकट हुए। जिनकी चरणकमल की मकरन्द से पावन-तनु हुए महाराज यदु तथा सहस्रार्जुन आदि अनेक राजर्षियों ने भोग मोक्षरूपी दोनों प्रकार की सम्पत्तियों को प्राप्त किया।"

है ? खेती-बारी अच्छी है, व्यापार अच्छा है। बस आने वाला प्रसन्न हो जाता है। महाराज बड़े अच्छे हैं, हमसे कैसी घुल-घुल कर स्नेह की बातें करते हैं। महात्मा भी सोचते है—यह इन्हीं बातों का अधिकारी था। वह भी सोचता है महात्मा जी तो हमारे घर के ही हैं। दूसरे गूढ़ तथा निस्पृह होते है, वे अपने को लोकविरुद्ध कार्य करके छिपाते हैं। लोगों के सम्मुख अपने को सिड़ा, पागल प्रकट करत हैं। उपदेश देने से कोसों दूर भागते हैं। सर्वथा लोगों को यही दर्शाते रहते हैं, कि यह कुछ नहीं जानता, पागल है, विरुद्धाचरण करता है सदाचारहीन है। किन्तु उन्हें यदि कोई सच्चा अधिकारी मिल जाता है और इन्हें पहचान कर इनके पीछे ही लग जाता है, तो वे उसकी योग्यता समझ कर उसे उपदेश देते है, उसके संशयों का नाश करते हैं। ऐसे महापुरुष का उपदेश कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। उनका उपदेश अमोघ होता है। जिस पर भी वह कृपा कर दें, उसी का बेड़ा पार हो जाता है। जो जिस भावना से इनकी सेवा करता है, वह निश्चय ही उस पदार्थ को पाता है, क्योंकि वे उर्वरा भूमि के पारखी होते हैं। ऐसी वैसी भूमि में वे बीज नहीं डालते। उर्वरा भूमि में ही बीज बोते हैं, वह अवश्य फली-भूत होता है। भगवान् दत्तात्रेय उन्हीं आचार्य और उपदेशकों में से हैं। वे अनाधिकारी को उपदेश देना तो दूर रहा, उससे बोलते भी नहीं, उसकी ओर देखते तक नहीं। कठिन से कठिन परीक्षा करने के ही अनन्तर वरदान या उपदेश देते हैं। ऐसे बहुत से लोगों को भगवान् 'दत्त' ने कृतार्थ किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् दत्तात्रेय ने बहुत से मुमुक्षुओं को कृतार्थ किया है। इनमें महाराज यदु बहुत प्रसिद्ध हैं। भगवान् दत्त के ज्ञान को प्राप्त करके वे स्वयं ही

नहीं तरे अपितु अवधूत गीता रूपी एक दृढ़ नौका को भी अपने पीछे छोड़ गये, जिस पर चढ़कर असंख्यों जीव इस संसार सागर को तर गये हैं और आगे भी तरते जायंगे।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! महाराज यदु की भगवान् दत्तात्रेय से कहाँ भेंट हुई? उन दोनों में क्या संवाद हुआ इसे आप विस्तार के साथ हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवन्! यहाँ उस सम्पूर्ण संवाद को सुनाने का अवसर नहीं है। इसे तो मैं आगे श्रीकृष्ण उद्धव संवाद के प्रसंग में सुनाऊँगा। यहाँ पर तो दत्त भगवान् के चरित्र प्रसंग में अत्यन्त संक्षेप के साथ में इसका दिग्दर्शन मात्र ही कराके देता हूँ। विस्तार के साथ वही वर्णन करूँगा।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"हाँ-हाँ, यह बहुत उत्तम है आप ऐसा ही करें। हाँ, तो महाराज यदु को भगवान् दत्त कहाँ मिल गये।"

सूतजी बोले—"मुनियो! एक दिन महाराज यदु आखेट के निमित्त अरण्य में गये। हिमालय के नीचे की छोटी-छोटी उपत्यकाओं के समीपस्थ वनों में वे विचरण करने लगे। वह न तो सम-भू-भाग ही था, न पार्वत्य प्रदेश ही। पर्वत के नीचे का बड़ा ही मनोहर प्रान्त था। सम्मुख ऊँचे-ऊँचे पर्वत दिखाई दे रहे थे, नीचे सम विषम पृथ्वी। छोटी-छोटी पर्वत की उपत्यकायें उसी प्रकार दिखाई देती थी, मानो शत्रु के भय से भयभीत हुए सैनिक यहाँ आकर छिप गये हों। छोटी-छोटी नदियाँ पर्वतों से गिर रही थी। गोल-गोल सफेद काले पर्वत-खण्डों के असंख्यों टुकड़े वहाँ थे। नाना प्रकार के पत्र, पुष्प और काँटों वाले वृक्ष खड़े थे। सर्प की भाँति स्वच्छ जल वाले टेढ़े-मेढ़े बहुत

से नाले बह रहे थे। कहीं वृक्षों के सघन झुरमुट थे, कहीं-कहीं बिना वृक्ष की समभूमि भी दिखाई देती थी। हरिण, सिंह व्याघ्र आदि बहुत से जंगली जन्तु इधर से उधर घूम रहे थे। वहीं पर महाराज ने क्या देखा कि एक सघन वृक्ष के नीचे पाषाण का तकिया लगाये एक अवधूत मस्त पड़े हैं। शरीर उनका सुडौल है, मुखमंडल पर क्रान्ति छिटक रही थी, बिना किसी प्रकार की असुविधा का अनुभव किये वे निश्चिन्त पड़े ब्रह्मानन्द रूपी रस आस्वादन कर रहे थे। इस प्रकार घोर अरण्य में बिना किसी प्रकार की चिन्ता किये हृष्ट-पुष्ट अवधूत को देखकर; चक्रवर्ती महाराज यदु को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बड़ी श्रद्धा से उनके समीप गये और विधिवत् उन्हें प्रणाम करके पूछने लगे। "ब्रह्मन्! आप बडे आनन्द में मग्न हुए लेटे हुए हैं। न आपको कोई चिन्ता है न शोक। सर्वथा बालकों की भाँति शोक-मोह से रहित होकर ब्रह्मानन्द रस का पान कर रहें है। किस गुरु से आपने यह ज्ञान सीखा है?"

महाराज यदु को अधिकारी समझकर भगवान् ने बताया—"राजन्! हमारा कोई एक गुरु नहीं, बहुत से गुरु हैं। अपनी बुद्धि से ही विचार द्वारा मैंने उनसे ज्ञान प्राप्त किया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कह कर भगवान् ने अपने पृथ्वी आदि चौबीस गुरुओं का नाम बताया और यह भी समझाया कि किस गुरु से मैंने कौन-सी शिक्षा प्राप्त की है। इस प्रकार उनसे गूढ़ ज्ञान की शिक्षा पाकर महाराज यदु भी दुःख से अपने को मुक्त समझकर द्वन्द्वरहित हो गये। इसी प्रकार महाराज अलर्क को भी भगवान् ने बड़ा गूढ़ उपदेश दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"महाराज अलर्क किनके पुत्र थे? इनको भगवान् दत्तात्रेय से भेंट कैसे हुई?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ? महाराज अलर्क की मात मदालसा देवी ब्रह्मवादिनी थीं, उसने बाल्यकाल में ही दूध पिलाते-पिलाते अपने बच्चों को ब्रह्मज्ञानी बना दिया। वे घर-द्वार राज-पाट सब का मोह छोड़ कर वन को चले गये। मदालसा देवी के पति महाराज कुवलयाश्व ने अपनी पत्नी से कह कर अलर्क को राज्य के लिये रख लिया। जब महाराज वृद्ध हुए तो अलर्क को राजगद्दी देकर मदालसा देवी के साथ वन को चले गये। जाते समय मदालसा देवी एक तावीज में दो श्लोक रखकर पुत्र को दे गई और आदेश कर गई कि जब तुझ पर कोई घोर विपत्ति पड़े, तो इसे खोलकर पढ़ना। महाराज अलर्क ने उसे माता का प्रसाद समझ कर सुरक्षित रख लिया।"

पिता के चले जाने पर महाराज पुत्र की तरह प्रजा का पालन करने लगे। उनके पुत्र-पौत्र भी हो गये, किन्तु विषयों से उनकी आसक्ति नहीं हटी। उनके बड़े भाई जो विरक्त हो गये थे, उन्होंने सोचा—"हमारा भाई विषयों में फंसा रहे, यह उचित नहीं। किसी प्रकार इसके मन में भी विराग उत्पन्न कराना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने काशी के राजा से मिलकर महाराज अलर्क के ऊपर चढ़ाई कर दी, कि हमारा राज्य हमें दो।"

महाराज अलर्क ने कहा—"हमसे वैसे मांगो तो दे भी देते, युद्ध के भय से नहीं देंगे। काशिराज की सेना ने उनके किले को चारों ओर से घेर लिया। बाहर से सामान आने-जाने न दिया। तब तो महाराज अलर्क बड़े घबड़ाये। अब उन्हें माता के तावीज की याद आई। पवित्र होकर उन्होंने उस तावीज को खोला। जब उन्होंने उसे पढ़ा तब तो उनका शोक मोह सभी

जाता रहा। उसमें दो श्लोक थे।* पहिले का भाव तो यह था कि सभी का सब प्रकार से संग त्यागना चाहिये। यदि सबका संग न त्याग सके, तो केवल साधु पुरुषों का संग करना चाहिये। क्योंकि संग-दोष रूपी रोग की सत्संगति ही औषधि है। दूसरे का भाव यह था, कि सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग करना चाहिये। यदि ऐसा न कर सके तो केवल मुमुक्षता की कामना करनी चाहिये, क्योंकि कामना रूपी रोग की मोक्ष की इच्छा करना—यही एक मात्र औषधि है। सारांश यह कि मुमुक्षता को धारण करके सत्संग करना चाहिये।

इसे पढ़ते ही महाराज राजपाट छोड़कर भगवान् दत्तात्रेय की शरण में गये और जाकर उन्हें प्रणाम करके विनीत भाव से कहने लगे—"ब्रह्मन! मैं बड़ा दुखी हूँ, कामी, लंपट हूँ, विषयों में आसक्त हूँ, मेरे ऊपर कृपा कीजिये। मेरे दुःख को दूर कीजिये।"

मदालसा के पुत्र महाराज अलर्क को ब्रह्मज्ञान का पूर्ण अधिकारी समझ कर भगवान् दत्तात्रेय ने कहा—"राजन्! मैं अवश्य ही तुम्हारे दुःख अभी इसी क्षण दूर कर दूँगा; किन्तु तुम मुझे बता दो, कि दुख है किसको, तुम्हारे किसी अंग को दुःख है, या देह को दुःख है या देही आत्मा को दुःख है? दुःख का मूल मालूम होने पर अथवा रोग का निदान मालूम होने पर उसकी चिकित्सा की जाती है।"

---

* संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां संगो हि भेषजम्॥ १
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत् कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥ २

यह सुनकर महाराज सोचने लगे - शरीर तो पंच-भूतों का बना है। इसको क्या दुःख ? आत्मा दुःख-सुख से रहित ही है। उसे दुःख हो ही नहीं सकता। ऐसा ज्ञान होने पर महाराज बड़े प्रसन्न हुए। तब भगवान् दत्त ने उन्हें योग-ज्ञान आदि का विस्तार के सहित उपदेश किया।

सूतजी कहते है—मुनियो! दत्त भगवान् का वह उपदेश बड़ा ही महत्वपूर्ण दत्त गीता, मुमुक्षुओं के सभी संशयों को छेदन करने वाला है। यहाँ उसका विस्तार से वर्णन नही किया जा सकता। आगे प्रसंगानुसार उसका वर्णन किया जायगा। जैसा ज्ञान भगवान् ने महाराज अलर्क को दिया था, वैसा ही भक्ताग्रगण्य, परम भागवत, पुण्यश्लोक, प्रातःस्मरणीय श्रीप्रह्लादजी को भी दिया था।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परम भागवत असुराधिप महाराज प्रह्लाद की दत्त भगवान् से कहाँ भेंट हो गई ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! दत्तभगवान् का कोई आश्रम तो है नहीं, वे तो स्वेच्छानुसार इधर-उधर घूमते रहते हैं; किन्तु सह्य पर्वत के निकट कावेरी के तट पर वे प्रायः अधिक निवास करते है। एक दिन कावेरी के तट पर वैसे ही धूलि में पड़े लेट लगा रहे थे। शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था। अंग सभी हृष्ट-पुष्ट थे, देखने में बड़े ही सुन्दर लगते थे। मुख से प्रसन्नता फूट-फूट कर निकल रही थी। चिन्ता, विषाद का नाम भी नही था। इस प्रकार वे प्रसन्नवदन, आनन्द में मग्न पड़े ही हुए थे, कि दैवयोग से घूमते घामते, कुछ मंत्रियों के सहित प्रह्लादजी वहाँ आ पहुँचे। उन अवधूत दत्त भगवान् को देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्ता हुई। उनके तेज, प्रभाव और मुखाकृति

को देखकर भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजी समझ गये कि ये कोई पहुँचे हुए सिद्ध हैं। ऐसा विचार कर वे उनके समीप गये, चरणों में प्रणाम करके बड़े विनय के साथ पूछने लगे—"भगवन्! यह संसार तो चिन्ता का घर है। इसमें सभी को कुछ न कुछ चिन्ता लगी ही रहती है; किन्तु मैं देख रहा हूँ, आपको कोई चिन्ता ही नहीं, निर्द्वन्द्व हुए यहाँ एकान्त में ब्रह्मानन्द के सुख का अनुभव कर रहे हैं। यह भी बात नहीं कि आप में बुद्धि न हो, ज्ञान न हो, व्यवहार से अभिज्ञ हों। आप देखने में बड़े ज्ञानी, पंडित, व्यवहार कुशल जान पड़ते हैं। फिर भी आप सर्व संगों से रहित होकर यहाँ एकान्त में पड़े हैं। आप दुबले-पतले भी नहीं। धनिकों की तरह मोटे हैं। बिना धन के मुटाई होती नहीं। धन आता है, किसी व्यापार उद्यम से। आप व्यापार शून्य है, फिर ऐसे मोटे क्यों हैं?"

यह सुनकर अवधूत दत्तात्रेय हँस पड़े और बोले—"राजन्! और कोई मुझसे ये बातें पूछता तो मै कभी भी उत्तर न देता, सुनकर भी अनसुनी कर जाता। जानकर भी अनजान बन जाता; किन्तु आप तो भगवत् भक्त हैं। आप ने भगवान् की कृपा को प्राप्त किया है। आपकी प्रतिज्ञा सत्य करने के लिये भगवान् ने खम्भ से अवतार धारण किया है। आपको देवता दैत्य सभी समान भाव से मानते हैं। इसीलिये मैं आपको उत्तर देता हूँ। महाराज! मेरे पास सन्तोष रूपी धन है। उसी से मैं मोटा बना हुआ हूँ। मैंने जन्म मरण के रहस्य को समझ लिया है, इसीलिये मुझे कोई भय नहीं है। मुझे प्रारब्ध पर विश्वास है। इसीलिये किसी प्रकार की चिन्ता नहीं। मुझे मानापमान का ध्यान नहीं। मैं इस विश्व को एक नाटक समझता हूँ। तटस्थ द्रष्टा की भाँति इसको

गति विधि को निर्लेप भाव से देख रहा हूँ। जब मैं अपने को कर्ता ही नहीं समझता, तो कर्म के अनुकूल प्रतिकूल फलों में दुखी-सुखी ही क्यों होऊँ। मैं इन सब प्रपंचों को भगवान् की माया समझ कर निज स्वरूप में मग्न हुआ निरन्तर ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करता हूँ।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! इसी प्रकार भगवान् दत्तात्रेय ने प्रह्लादजी को अवधूत की रहन-सहन आदि सभी बातें बताईं। यहाँ उस विषय का विस्तार नहीं किया जा सकता। भगवान् दत्त अवधूत के ऐसे वचन सुनकर प्रह्लादजी को बड़ा हर्ष हुआ वे अपने को कृत-कृत्य हुआ समझ कर भगवान् दत्त के चरणों की वन्दना करके अपनी राजधानी में चले गये।"

ये भगवान् भुक्ति-मुक्ति दोनों ही को देते हैं। इनका आश्रय लेने पर कोई भी अकृत कार्य नहीं लौटता। महाराज आयु के कोई पुत्र नहीं था। उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। अन्त में वे पुत्र की इच्छा से इन्हीं भगवान् दत्त की शरण में गये। इन्हें देखते ही भगवान् ने समाधि लगा ली। सौ वर्ष तक समाधि में ही मग्न रहे। राजा बड़ी श्रद्धा-भक्ति से इनकी सेवा करता रहा। जब समाधि खुलने पर राजा को सेवा में तत्पर देखा, तो दत्त भगवान् बड़े स्नेह से बोले—"राजन्! आप व्यर्थ मेरी क्यों सेवा कर रहे हैं। मैं तो उन्मत्त हूँ। मेरा आचार-विचार भी शुद्ध नहीं है। मैं अशुचि और मलिन रहता हूँ। विषयासक्त होने से सदा उच्छिष्ट बना रहता हूँ। आप किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ऋषि की शरण में जायँ, उन्हीं की सेवा करें, वहीं आपका मनोरथ पूर्ण होगा।"

यह सुनकर बड़े ही विनीत भाव से हाथ जोड़कर राजा ने कहा—"प्रभो! आप तो साक्षात् भगवान् हैं। आपको विधि

निषेध क्या ? मैने तो आपकी शरण लेली है। अब मैं और कहीं नहीं जाऊंगा। राजा का ऐसा उत्तर सुनकर भगवान् फिर समाधिमग्न हो गये। महाराज फिर उसी प्रकार सेवा में तत्पर रहे।"

अवके समाधि से उठते ही भगवान् ने कहा—मनुष्य की खोपड़ी में मेरे लिये सुरा लाओ। महाराज ने तत्काल ऐसा ही किया। अब क्या था, भगवान् प्रसन्न हो गये। बोले—"राजन् ! मै प्रसन्न हूँ, जो चाहो वर मांगो।"

राजा ने कहा—'प्रभो ! आप घट-घट के जानने वाले है, सर्वज्ञ अन्तर्यामी हैं। मुझे अपने वंश चलाने वाले एक पुत्र की इच्छा है।"

भगवान् ने प्रसन्नता के साथ कहा—"राजन् ! तुमने मेरी निष्कपट भाव से सेवा की है। वह कभी भी व्यर्थ नहीं जायगी। तुम्हारे एक लोक विश्रुत पुत्र होगा। उसका यश पृथ्वी और स्वर्ग में प्राप्त होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार महाराज आयु पुत्र का वरदान पाकर घर आये। कालान्तर में उनके एक पुत्ररत्न हुआ; जो नहुष के नाम से तीनों लोकों में विख्यात हुआ मुनियो ! महाराज, नहुष का चरित्र बड़ा ही विलक्षण है, इसे प्रसंगानुसार चन्द्रवंश के कथा प्रसंग में कहूँगा।

इस प्रकार भगवान् दत्तात्रेय ने अनेकों मुमुक्षुओं को ज्ञानोपदेश दिया। अनेक कामार्थियों की कामना पूर्ण की। दक्षिण दिशा में भगवान् अधिक विचरते थे, अतः इस अवतार की मान्यता दक्षिण में ही विशेष है। उधर दत्त भगवान् के बहुत से मन्दिर हैं, उनके नाम के मेले लगते हैं और बहुत से दत्त-उपासक उन्हीं की उपासना करते हैं। मुनियो ! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में

दत्त भगवान् के चरित्र का दिग्दर्शन मात्र करा दिया। प्रसंगानुसार फिर यथास्थान इनके उपदेशों का वर्णन किया जायगा।"

छप्पय

'श्रद्धा' पत्नी सती 'अंगिरा' मुनि की गुणवति।
कन्या राका कुहू सिनीवाली अरु अनुमति॥
गुरु, उतथ्य द्वै पुत्र कहूँ अमिम संतति पुनि।
ऋषि, पुलस्त्य की पत्नि "हविर्भू" ने अगस्त्य मुनि॥
द्वितिय विश्रवा सुत जने, धनाधीश तिनके तनय।
कुंभकरण रावण भये, और विभीषण महाशय॥

देवहूति की कन्याओं के वंश का वर्णन

[१७५]

एष कर्दमदौहित्रसंतानः कथितस्तव ।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः ॥*

(श्री भग० ४ स्क० १ अ० ४६, श्लो०)

छप्पय

'गति' पत्नी तैं 'पुलह' जने प्रिय तीनि योगयुत ।
कर्मश्रेष्ठ अरु वरीयान तीसर सहिष्णु सुत ॥
'क्रतु' की पत्नी 'क्रिया' बालखिल्यादिक मुनिवर ।
जने 'अरुन्धति' माँहि वशिष्ठहु, शक्ति गुणाकर ॥
अमल 'अथर्वण' पत्नि 'चिति', के दधीचि सुत है गये ।
'भृगु' सुत धाता, 'ख्याति' तैं, और विधाता श्री भये ॥

पीछे हम बता चुके हैं, कि नित्य, मुक्त, मुमुक्षु और बद्ध जीव चार प्रकार के होते हैं। उनमें नित्य जीव वे कहलाते हैं, जिनकी आयु एक कल्प की होती है, अर्थात् एक हजार

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! यह मैंने आपसे महामुनि कर्दम की लड़कियों, पुत्र आदि का वर्णन किया। जो पुरुष इस मनुपुत्री देवहूति के वंश को श्रद्धापूर्वक श्रवण करते हैं, उनके पापों को यह कथा तुरन्त नष्ट कर देती है।"

चौकड़ी तक वे जीते हैं। कल्प को प्रलय होने के अनन्तर बहुत से तो मुक्त हो जाते हैं, बहुत से फिर दूसरे कल्प में उत्पन्न होते हैं। बहुत से ऐसे होते हैं, कि ब्रह्माजी की आयु पर्यन्त बने रहते हैं, उनमें बहुत से ब्रह्माजी के साथ मुक्त हो जाते है। बहुत से महाप्रलय के अनन्तर दूसरे ब्रह्मा के होने पर उनके साथ पुनः उत्पन्न होते है। ये अधिकारी जीव कहलाते है। दूसरे साधारण जीव होते है, जिनकी आयु सौ वर्ष की बताई है। सतयुग में ऐसे जीवों की आयु चार सौ वर्ष की होती है। त्रेता में तीन सौ वर्ष की, द्वापर में दो सौ वर्ष की और कलियुग में सौ वर्ष की। जो योग के द्वारा काल को जीत लेते हैं वे चाहे जब तक शरीर धारण किये रहें वे देश, काल, अवस्था के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

बहुत लोग ऐसी शंकायें किया करते हैं, सूर्यवंश की सैकड़ों पीढ़ियाँ बीत गईं, किन्तु उनके गुरु वशिष्ठजी ज्यों के त्यों ही बने रहे और एक-एक राजा की आयु पचास-पचास, साठ-साठ हजार वर्ष की बताई गई है। यह क्या बात है? वशिष्ठजी मरे क्यों नहीं? ऐसा प्रश्न लोग बिना शास्त्रीय सिद्धान्त को समझे ही कर देते हैं। ये राजा जिनकी आयु पचास-पचास साठ-साठ हजार वर्ष बताई है। इनकी आयु एक मन्वन्तर की होती है। एक मन्वन्तर तक वे चाहें यहाँ रहे या स्वर्गादि लोकों में रहें। वे साधारण जीव नहीं होते। वशिष्ठजी की आयु जो ब्रह्माजी की आयु के बराबर है इनके सामने सैकड़ों इन्द्र, मनु बदल गये। यही नहीं, इन्होंने बहुत से ब्रह्माओं को भी बदलते देखा है, क्योंकि ये नित्य जीव हैं।

साधारण लोगों के चरित्र नहीं होते। उनका तो यही चरित्र है, खाना-पीना, विषय-भोग करना, परस्पर में वाद-विवाद

करना, अन्त में मेरी, तू तेरी करते-करते मर जाना। मोक्ष की इच्छा रखने वालों को ऐसे साधारण लोगों के चरित्र कभी नहीं सुनने चाहिये, क्योंकि इनके चरित्र तो संसार-बन्धन को और दृढ़ करते हैं। वे अपने पापों का ही वर्णन करेंगे। मैं वहाँ गया, ऐसा विषय-सुख भोगा; वहाँ ऐसा आनन्द आया, उसमे मैंने यह कहा, वह कहा, आदि-आदि; किन्तु नित्य और मुक्त जीवों के चरित्र ऐसे ही होने पर भी वे हमें ऊँचे उठाते हैं, हमारी दृष्टि को विशाल बनाते हैं। उन चरित्रों में भी काम-कथायें होती हैं, जीव की स्वाभाविक दुर्बलताओं का उनमें भी वर्णन होता है, किन्तु वह विषयों से विरक्ति कराने वाले, काम से पराङ्मुख कराने वाले प्रसंग होते हैं। स्वाभाविक दुर्बलता के वश होकर मुनियों से भी अकर्तव्य कम हो जाता है, किन्तु वे उसमें लिप्त नही होते, आसक्त नहीं हो जाते, बँध नहीं जाते। अतः ऐसे प्रसंग आ भी जायं तो उनसे घृणा नही करनी चाहिये। उनसे उपदेश ग्रहण करना चाहिये, कि इससे हम क्या शिक्षा ले सकते हैं।

पुराणों में साधारण लोगों का वर्णन नहीं होता, या तो नित्य, मुक्त और भगवद्भक्तों का वर्णन होता है या भगवान् और उनके अंश, कला आदि अवतारों का वर्णन होता है। सांसारिक लोगों के वर्णन सुनने हों, तो साधारण लोगों की लिखी मनोरंजक कहानियों को पढ़ना चाहिये। पुराणों में जिन ऋषियों का, जिन राजर्षियों का वंश वर्णन किया गया है, उसके पढ़ने सुनने से पुण्य होता है, अन्तःकरण पवित्र होता है, और इस सीमित पृथ्वी को ही सब कुछ माने बैठे हैं, यह भ्रम दूर होता है। ये महर्षि राजर्षि अपने-अपने अधिकारों का भोग करके उन अधिकारों से पृथक् होने पर भी स्वर्गादिक

ऊपर के लोकों में निवास करते रहते हैं। इस मन्वन्तर में जो इन्द्र है दूसरे में मनु हो सकता है, तीसरे में मनु पुत्र। इस मन्वन्तर में जो सप्तर्षि हैं, वे दूसरे मन्वन्तर में सामान्य ऋषि हो जाते हैं। जिस प्रकार वर्तमान राज्य परिषदों में जो इस वर्ष प्रधान मंत्री है, दूसरे वर्ष वह सभापति हो जाते हैं, तीसरे वर्ष साधारण मनुष्य की भाँति हो जाता है, किन्तु उसका पदच्युत होते ही वह मर नहीं जाता। अस्तित्व तो उसका बना ही रहता है। इन वंशों के सुनने का अनन्त फल है, इसीलिये सभी पुराणों में विस्तार के साथ इनका बार बार वर्णन आता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! मैं महाराज स्वायंभुव मनु की दूसरी पुत्री देवहूति की नौओं कन्याओं के वंशों का वर्णन कर रहा था। अब तक नौ में कला और अनसूया की सन्तानों का वर्णन किया। अब शेष सात के भी वंशों को संक्षेप में श्रवण कीजिये।"

भगवान् कपिल की तीसरी बहिन अर्थात् देवहूति की तीसरी पुत्री 'श्रद्धा' का विवाह अंगिरा मुनि के साथ हुआ था। उनके सिनीवाली, कुहु, राका और अनुमति नाम की चार कन्यायें हुईं। ये अमावस्या की रात्रि की चार संज्ञायें हैं। इन कन्याओं के अतिरिक्त बृहस्पति और उतथ्य नाम के दो पुत्र हुए। उतथ्य मुनि परम विरक्त हुए और ब्रह्मनिष्ठ भगवान् बृहस्पति देवताओं के गुरु हुए। स्वारोचिस मन्वन्तर में ये अधिकारारूढ़ हुए।

कर्दम मुनि की चौथी पुत्री 'हविर्भू' का विवाह पुलस्त्य जी के साथ हुआ। जिनके दुष्कर कर्म करने वाले भगवान् अगस्त्य और महातपस्वी विश्रवा नामक दो पुत्र हुए। अगस्त्य जी का विवाह लोपामुद्रा के साथ हुआ। ये इतने प्रतापी हुए कि एक चुल्लू में ही सम्पूर्ण समुद्र को सोख गये। प्रसंगानुसार

इनके चरित्रों का आगे वर्णन होगा। ये ही दूसरे जन्म में जठराग्नि हुए। दूसरे पुत्र विश्रवा बड़े तपस्वी और तेजस्वी हुए। इनके इडविडा और केकसी नाम की दो पत्नियाँ थीं। इडविडा के गर्भ से तो उत्तर दिशा के लोकपाल धनेश्वर भगवान् कुबेर का जन्म हुआ, जो पितृवंश से हुए और केकसी ने रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण नाम के तीन पुत्र उत्पन्न किये, जो मातृवंश के कारण राक्षस हुए।

पाँचवीं पुत्री 'गति' का विवाह भगवान् 'पुलह के साथ हुआ, जिनके कर्मश्रेष्ठ, वरीयान् और सहिष्णु नामक तीन पुत्र हुए।

छठीं पुत्री 'क्रिया' का विवाह महामुनि क्रतु के साथ हुआ, जिनके अंगूठे की पोर के बराबर साठ हजार बालखिल्य आदि ऋषि हुए। ये पेड़ों पर छोटे-छोटे फलों की भाँति उलटे लटके हुए घोर तपस्या करते हैं।

सातवीं पुत्री 'अरुन्धती' का विवाह भगवान् वशिष्ठ के साथ हुआ, जिनके चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्वण, वसुभृद्यान और द्युमान नामक सात पुत्र हुए, जो दूसरे मन्वन्तर में सप्तर्षि होंगे और भी सैकड़ों पुत्र थे, जिन्हें विश्वामित्र जी ने शाप दे दिया था। शक्ति नामक एक और भी पुत्र हुए, जिन्हें राक्षस ने खा लिया था। शक्ति के ही पुत्र भगवान् पराशर हुए। पराशर मुनि के ही यहाँ भगवान् वेदव्यास का अवतार हुआ जिनके तनय श्रीशुक हुए।

भगवान् कर्दम की आठवीं पुत्री 'चिति' का विवाह अथर्वण ऋषि के साथ हुआ। जिनके तपोनिष्ठ परम परोपकारी भगवान् दधीचि मुनि हुए, जिन्होंने देवताओं के कार्य के लिये अपनी हड्डियों तक को दे दिया, जिनसे इन्द्र का वज्र बना है। उन्हीं के पिप्पलाद मुनि हुए, जिन्होंने देवताओं के दाँत खट्टे किये थे।

महामुनि कर्दम के सकाश से मनुपुत्री भगवती अनसूया ने जो नौ कन्यायें उत्पन्न कीं उनमें नौवीं का नाम 'ख्याति' था। जिसका विवाह भगवान् भृगु के साथ हुआ। इन परम साध्वी ख्याति देवी की संसार में बड़ी ख्याति हुई, क्योंकि धाता, विधाता नाम के इनके दो बड़े ही यशस्वी पुत्र और 'श्री' नाम की एक कन्या भी हुई जो साक्षात् विष्णु भगवान् की पत्नी लक्ष्मी के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुई। इनका ही नाम कमला है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! लक्ष्मीजी तो समुद्र से उत्पन्न हुई थीं। ये भृगुपुत्री कैसे हुईं?"

इस पर सूतजी ने कहा—"हाँ, महाभाग! यह बात पुराणों मे मैंने भी सुनी है कि लक्ष्मीजी समुद्र में उत्पन्न हुई हैं। लक्ष्मी जी का उत्पन्न होना, क्या वे तो श्रीनारायण की नित्य शक्ति हैं। उनकी न उत्पत्ति है न विनाश, फिर भी उपचार से उनका जन्म कहा जाता है। उनका आविर्भाव तिरोभाव कभी-कभी होता है। समुद्र से उत्पन्न होने के पूर्व भी तो वे थीं वहाँ से एक बार उनका आविर्भाव हुआ था। इसी प्रकार एक बार वे भगवान् भृगु के यहाँ भी ख्यातिदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुईं। इन्हीं के कारण तो महर्षि भृगु ने विष्णु भगवान् को शाप दिया था कि तुम्हें बार-बार अनेक योनियों में अवतार लेना पड़े। तभी तो भगवान् अवतार लेते हैं।"

यह सुनकर शौनकजी बड़े जोरो से हँस पड़े और बोले—"सूतजी! आप कभी-कभी तो बहुत ही विचित्र बात कह देते हैं। भला भगवान् को शाप लग सकता है? भगवान् को शाप देने की सामर्थ्य किसमें है? भगवान् शापवश अवतार लेते हैं या भक्तों पर कृपा करने के लिये?"

यह सुन सूतजी भी हँस पड़े और बोले—"अब, महाराज!

मैं क्या बताऊँ ? इसी का नाम तो भगवान् की माया है। भगवन् ! जैसे मकड़ी अपने मुँह से ही तो जाला बनाती है, फिर उसी में खेलती रहती है, ऐसे ही इन समस्त विश्व ब्रह्माण्डों की रचना वे श्रीहरि अपनी इच्छा से ही करते हैं, फिर अपने आप ही नाना रूप बनाकर क्रीड़ायें करते रहते हैं। उन्हें कौन शाप दे सकता है, कौन उन पर अनुग्रह कर सकता है ? उन्हीं की दी हुई शक्ति तो ऋषियों में है; किन्तु ऐसा न करें तो खेल न बने। इसलिये खेलने के लिये ये सब ढोंग रचते हैं।"

शौनकजी बोले—"अच्छा तो सुनाइये भृगु महर्षि ने किस प्रकार शाप दिया ? बात क्या थी ?"

सूतजी बोले—"अच्छा तो सुनिये।"

छप्पय

भृगु-पुत्री श्री संग ब्याह कमलापति कीन्हों।
तिहि के कारण शाप विष्णु कूँ मुनिवर दीन्हों॥
हँसि के शौनक कहे—सूतजी गप्प न मारो।
देवे हरि कूँ शाप जगत् में कौन बिचारो॥
हँसे सूत बोले—विभो ! लीलापति लीला करें।
बैठे बनिया बाट गहि, तोलें इतकी उत धरें॥

भृगु-पुत्री 'श्री'

[१७६]

भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत् ।
धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम् ॥*

(श्री भग० ४ स्क० १ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

शौनक बोले—सूत सुनाओ शाप कहानी।
कस भृगु दीयो शाप खुंस च्यौं हरितें मानी॥
सूत कहें—मुनि सुनो नगर इक विष्णु बनायो॥
ऋद्धि-सिद्धि युत निरखि ताहि मुनि निज बतलायो॥
बोले विष्णु विनोद प्रिय, दुहिता धन कस लेहु मुनि।
वक्र भृकुटि भृगु की भई, जामाता के बचन सुनि॥

जब तक हम इस संसार को नाट्यशाला नहीं मान लेते तब तक अवतार चरित्र बनते नहीं। जो स्वयं तृप्त हैं, आप्त काम हैं, उन्हें ससार की रचना करने की आवश्यकता हो क्यों

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! महामुनि भृगु ने अपनी ख्याति नाम्नी पत्नी मे धाता नामक दो पुत्र उत्पन्न किये और श्री नामक एक कन्या उत्पन्न की, जो भगवान् की प्राणप्रिया और उनकी सेवा परायण लक्ष्मीजी हुई।"

पड़ी ? किसलिये यह चित्र-विचित्र संसार रच डाला। अजन्मा होकर भी वे क्रीडा क्यों करते हैं, क्यों अनेक योनियों में अवतार धारण करते है ? क्यो देवताओं का पक्ष लेकर दैत्यों से युद्ध करते हैं, क्यों कभी-कभी डरपोक की भाँति रण से भाग खड़े होते हैं ? क्यो कभी-कभी निर्बलों की भाँति दैत्यों के सम्मुख पराजित से हो जाते हैं ? वे तो अज अच्युत हैं, अपराजित, अधोक्षज हैं। उन्हें कभी कोई पराजित कर ही नहीं सकता। सबके जनक हैं, सबके पालक और रक्षक हैं, अन्त में सभी का संहार करने की सामर्थ्य भी उन्ही में है। वे ऐसी विपरीत क्रीड़ायें कभी-कभी क्यों करते हैं ?"

इसका उत्तर उनका विनोद है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई हो नही सकता। खेल में अच्छे बुरे सभी खेल खेले जाते हैं। नाटक में ऊँच-नीच सभी पात्र होते है। एक पात्र राजा बन आता है, दूसरा श्वपच तीसरा राजपुत्र, चौथा रानी, पाँचवाँ मुनि। मुनि ले जाकर राजा रानी और राजकुमार को श्वपच के हाथों बेच आते हैं। दर्शक न श्वपच के प्रति रोष करते हैं, न राजा का राजा की भाँति आदर करते हैं। उनकी दृष्टि में सभी पात्र एकसे हैं। राजा बनकर जिसने अपने अनुरूप अभिनय नहीं किया, तो सभी कहते है इसने अच्छा नहीं किया। श्वपच बनकर जिसने श्वपच के अनुरूप अभिनय किया; तो सभी उसकी प्रशंसा करते हैं। भगवान् भी एक नाटक ही खेल रहे हैं। वे स्वय इस नाटक के सूत्रधार हैं। सूत्रधार होने पर भी कभी-कभी रंगस्थली पर अभिनेता बनकर अभिनय भी दिखा जाते हैं और जब अभिनय दिखाते हैं, तो अपने सूत्रधारपने के अभिमान को पृथक् रख देते है। फिर छोटे से छोटा पात्र आकर उनकी अवहेलना करता है उसे वे सहते हैं और अपने स्वरूप के अनुरूप वैसा ही कार्य

करने लगते हैं। यही उनकी माया है। यही उनकी क्रीड़ा है। भगवत् चरित्रों को सदा यही सोचकर; इस सिद्धान्त को सम्मुख रख कर ही सुनना और पढ़ना चाहिये। जो ऐसा न करके खिचड़ी कर देते हैं, वे भ्रम में पड़ जाते हैं। पुराणों की कथाओं को गपोड़ेबाजी कहने लगते हैं। उन्हें कोई समझाना भी चाहे तो वे नहीं समझते। यह भी उन्हीं की माया है, जिसे वे जैसा नाच नचाना चाहते हैं; जिसकी जैसी बुद्धि बना देते हैं; जिससे जो कराना चाहते हैं वही कराते हैं, वैसा ही नाच नचाते हैं। जीव विवश होकर वैसा ही करता है। सूत्रधार जिस प्रकार डोरी घुमाता है पुत्तिका वैसे ही नाचती है। पुत्तिका में स्वयं नाचने की शक्ति नहीं, सूत्रधार यवनिका की ओट में बैठा यह सब करा रहा है। उसकी ही शरण जाया जाय तभी काम चले। नहीं तो भ्रम बना ही रहेगा। बच्चे कठपुतलियों को ही नाचने वाली बताते रहेंगे और हठ-पूर्वक अपनी बात पर बल देंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामुनि भृगु के यहाँ जब श्रीदेवी उत्पन्न हुईं तो उनके रूप को देखकर माता-पिता को बड़ा हर्ष हुआ। वह संसार में अनुपम रूप लावण्यवती कन्या थी, जो भी उसके रूप को देखता वही मुग्ध हो जाता। क्योंकि वे तो साक्षात् जगज्जननी लक्ष्मी ही ठहरी। कुछ काल के अनन्तर वह लड़की बड़ी हुई। विवाह के योग्य होने पर भगवान् भृगु को बड़ी चिन्ता हुई। इस इतनी त्रैलोक्यसुन्दरी सर्वलक्षणसम्पन्ना कन्या को मैं किसे दूँ? तीनों लोकों में उन्होंने वर की खोज की, किन्तु उसके अनुरूप वर मिला ही नहीं। तब तो मुनि को बड़ी चिन्ता हुई। एक बार वे स्वेच्छा से घूमते-घामते वैकुण्ठ में पहुँच गये। विष्णु भगवान् के अनुपम रूप लावण्य को देखकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। हाथ जोड़कर उन्होंने विनय की—"प्रभो! मेरे एक

सर्वसुलक्षण-संपन्ना कन्या है, वह आपके अनुरूप ही है। यदि आप उसे ग्रहण कर लें, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हो।"

भगवान् तो यह चाहते ही थे, उन्हें इस बात का पता था कि मेरी प्राणप्रिया लक्ष्मीजी ने भृगु मुनि के यहाँ अवतार धारण किया है। अतः वे बोले—"मुनिवर! मुझे विवाह आदि की तो कुछ इच्छा है नहीं; किन्तु आपकी आज्ञा भी नहीं टाली जा सकती। अच्छी बात है, जैसा आप चाहते हैं वैसा ही होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मुनि की आज्ञा पाकर भगवान् ने उनकी पुत्री श्री को ग्रहण कर लिया और वहीं आनन्द से रहने लगे।" एक नगर भगवान् ने रचा था लक्ष्मीजी के लिए। पीछे भृगुजी उसे स्वयं लेना चाहते थे, इसी पर बात बढ़ गई? शापा-शापी की नौबत आ गई। मुनि ने शाप दिया तुम पृथ्वी पर दस अवतार लो। भगवान् ने इसे स्वीकार किया।

इसके अतिरिक्त एक प्रसंग शाप देने का और भी आता है। एक बार भृगुजी ने एक बहुत बड़ा यज्ञ आरम्भ किया। उन्हें भय था, कि दानव आकर मेरे यज्ञ में विघ्न करेंगे; अतः उन्होंने अपने जामाता श्रीविष्णु को बुलाकर कहा—"विष्णु! मैं एक यज्ञ कर रहा हूँ, आप दानवों से उसकी रक्षा करेंगे न?"

भगवान् ने कहा—"हे तपोधन! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा, आप निश्चिन्त होकर यज्ञ करें।" मुनि ने भगवान् के वचन सुनकर यज्ञ की दीक्षा ली और आनन्दपूर्वक यज्ञ करने लगे। भगवान् विष्णु वहाँ रह कर उसकी रक्षा करते रहे। दैवयोग से उसी समय दैत्यों ने देवताओं पर चढ़ाई की। देवताओं में शारीरिक बल तो दैत्यों की बराबर है नहीं, वे तो विष्णु के ही बल त्रैलोक्य में पूज्य बने हुए हैं, जब वे अपने को ही कर्ता मानकर भगवान् को भूल जाते हैं, तभी दैत्य उन्हें दबा

कर स्वर्ग के सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। पराजित होने पर जब इनका अभिमान चूर हो जाता है; तो फिर भगवान् विष्णु की शरण में जाते हैं। भगवान् इनके अपराध को क्षमा करके दैत्यों को पराजित करके फिर इन्हें स्वर्ग की सम्पत्ति दिला देते हैं। ऐसा सदा होता आया है और जब-जब देवता भगवान् को भूल जायेंगे, ऐसा ही होता रहेगा।"

हाँ, तो दैत्यों के चढ़ाई करने पर देवताओं का पक्ष निर्बल हो गया। इन्द्र दौड़े-दौड़े भगवान् की शरण में आये और रोते-रोते बोले—"भगवान्! आप अकेले ही इस यज्ञ की रक्षा में फँसे हैं, हमारा तो सर्वस्व नष्ट हो रहा है। दैत्य हमें स्वर्ग से खदेड़ रहे हैं। हमारी एक मात्र आप ही शरण हैं। आपके शरणागतों को ऐसा कष्ट न होना चाहिए। जिसने आपके चरणों की शरण ली है, उसकी कभी पराजय हो ही नहीं सकती।"

इन्द्रादि देवताओं के ऐसे करुणापूर्ण विनीत वचन सुनकर भगवान् ने अपना शार्ङ्गधनुष उठाया और सोचा—"मुनि तो यज्ञ कर ही रहे हैं, अभी दैत्यों को परास्त करके आ जाता हूँ।" यह सोचकर शरणागत-वत्सल भगवान् देवताओं के साथ दैत्यों से लड़ने चले गये। दानव तो छिद्र देख ही रहे थे। जब भृगु के यज्ञ से विष्णु ही चले गये, तो उसमें सार ही क्या रहा? उस निस्सार यज्ञ को दानवों ने आकर भंग कर दिया। मुनि को बड़ा क्रोध आया। क्रोध से वे लाल-लाल आँखें किये बैठे ही थे, कि इतनी ही देर में दैत्यों को परास्त करके दौड़े-दौड़े भगवान् आये। भगवान् को देखते ही मुनि मारे क्रोध के आग-बबूला हो गये और बोले—"विष्णु! तुम बड़े झूठे हो? देखो, तुमने मेरे यज्ञ की रक्षा की प्रतिज्ञा की थी। फिर भी तुमने यज्ञ रक्षा नहीं की। प्रतिज्ञा भंग करके बीच में ही यज्ञ को अधूरा

छोड़कर तुम दैत्यों से युद्ध करने चले गये, अतः मैं तुम्हें शाप देता हूँ—दस जन्मों तक तुम्हें भिन्न-भिन्न शरीरों में पृथ्वी पर जन्म लेना पड़े।

भगवान् तो सैर-सपाटे की बात सोच ही रहे थे। क्षीरसागर में-बैकुण्ठ में श्वेत द्वीप आदि में-पड़े-पड़े उनका मन ऊब सा गया था। पृथ्वी पर जन्म लेकर वे यहाँ की भी छटा देखना चाहते थे, अतः भृगुजी का शाप सुनकर हँस पड़े और बोले—"मुनिवर! आपका शाप मुझे शिरोधार्य्य है और भी कोई शाप देना हो तो दे लीजिये।"

भगवान् के विनीत वचन सुनते ही मुनि का क्रोध शान्त हो गया, वे उनके पैरों पर गिर पड़े और दुखित होकर क्षमायाचना करने लगे। भगवान् ने उन्हें स्नेहपूर्वक उठाया और बोले—"मुनिवर! आप चिन्ता न करें, यह तो मेरी इच्छा से ही हुआ है। नहीं तो मुझे शाप देने की सामर्थ्य किसमें है? यह सुनकर मुनि को सतोष हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् के शाप के अनेक कारण बताये जाते हैं। कहीं नारदजी ने शाप दिया, ऐसा उल्लेख है। कहीं वृन्दा ने शाप दिया, किन्तु वास्तविक बात यह है, कि न उन्हें किसी का शाप लगता है न वरदान। जब वे जैसा चाहते हैं वैसा बानक बना लेते हैं, किसी को अपने क्रीड़ा में निमित्त कर लेते हैं। जहाँ भी वे उत्पन्न होते हैं; वहीं उनकी चिरसंगिनी लक्ष्मीजी भी जन्म धारण करती हैं। वे उनके बिना रह ही नहीं सकतीं। एक जन्म में वे भृगु की पुत्री हुईं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में भृगु-पुत्री 'श्री' के सम्बन्ध से भगवान् के शाप की कथा सुनाई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने लक्ष्मीजी के

विवाह की बात तो बताई; किन्तु भृगु मुनि के जो धाता विधाता नामक दो पुत्र हुए उनका विवाह हुआ या नहीं। उनका आगे कैसे वंश चला इसे आप कृपा करके और सुनावें।"

शौनकजी के ऐसा पूछने पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो, महर्षि भृगु के दोनों पुत्र धाता, विधाता का विवाह मेरु नामक परम यशस्वी मुनि की भाग्यवती आयति और नियति नामक कन्याओं के साथ क्रमशः हुआ। धाता के गर्भ से आयति में मृकण्ड नामक मुनि हुए, जिनके पुत्र मार्कण्डेय संसार में चिरजीवी के नाम से विख्यात हैं। विधाता के नियति के गर्भ से प्राणनामक मुनि हुए और प्राण के पुत्र मुनिवर वेदशिरा हुए। धाता, विधाता के अतिरिक्त भगवान् भृगु के एक तीसरे पुत्र कवि भी थे, जिनके पुत्र काव्य कहलाये। उनका दूसरा नाम उशना या शुक्राचार्य भी है, जो असुरों के पुरोहित और गुरु हुए।"

इस प्रकार भगवान् कर्दम की इन नव पुत्रियों की सन्तानों के और भी बहुत सी सन्तानें हुईं, जिन्होंने इस सम्पूर्ण संसार को सन्ततियों से भर दिया। ब्रह्माजी अपने फलते-फूलते पौत्र प्रपौत्र और नगड़ पौत्रों को देखकर फूले नहीं समाते थे। ब्रह्माजी का तो एकमात्र उद्देश्य सृष्टि की वृद्धि करना ही है। उनके पुत्र कर्दमजी ने नव पुत्रियाँ उत्पन्न करके उनके द्वारा इतनी सन्तानें पैदा कर दीं, कि सृष्टि का कार्य आनन्द से चलने लगा।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप में मैंने यह स्वायंभुव मनु की आकूति और देवहूति दो कन्याओं के वंश का वर्णन किया। अब तीसरी प्रसूति के वंश का वर्णन सुनिये।"

छप्पय

शाप दयो तुम विष्णु जन्म दस भू पै धारौ।
हरि बोले—"मुनि शिरोधार्य है शाप तिहारो॥
पाणि ग्रहण यों विष्णु कर्‍यो भृगु पुत्री श्री तैं।
श्री भ्रातनि ने कर्‍यो ब्याहु आयति नियती तैं॥
तिनके तनय मृकण्ड अरु, प्राण भये भृगु तृतिय सुत।
कवि तिनके उशना भये, असुर पुरोहित तेजयुत॥

तृतीय मनु पुत्री प्रसूति के वंश का वर्णन

[१७७]

प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः ।
तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः ॥
त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः ।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १ अ० ४७, ४८ श्लोक)

छप्पय

तीसरि पुत्रि प्रसूति दई मनु दक्षप्रजापति ।
सोलह कन्या जनीं कमलनयनी सुन्दरि अति ॥
श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति उन्नति अरु तुष्टी ।
क्रिया, तितिक्षा, बुद्धि, मूर्ति, मेधा ही पुष्टी ॥
तेरह दीन्ही धर्म कूँ, स्वाहा अग्निनी कूँ दई ।
स्वधा विवाही पितृगण, सती शम्भु पत्नी भई ॥

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! मनु महाराज की सबसे छोटी तीसरी पुत्री का विवाह ब्रह्माजी के पुत्र दक्ष प्रजापति के साथ हुआ ।"

जिससे उन्होंने सोलह पवित्र नेत्र वाली पुत्रियाँ पैदा की । उनमें से तेरह का विवाह धर्म के साथ किया । एक अग्नि को दी, एक समस्त पितरों को तथा एक सम्पूर्ण संसार का संहार करने वाले शंकरजी को दी ।"

एक किसान के घर में नई बहू आई। बहू की आदत कुछ चोरी करने की थी। सास की जहाँ आँख बची, वहीं, जो चीज मिली उसे खा जाती। दूध रक्खा है; तो उसकी मलाई ही चट कर जाती। दही रखा है तो उसमें बूरा डाल कर पी जाती, घी उड़ा जाती। कुछ न मिलता तो मट्ठा ही पी जाती। सास उसकी इस टेव से बड़ी दुखी रहती। एक दिन उसका बड़ा भाई आया। सास उसी के सामने उसकी बुराई करने लगी—"देखो, लल्लू! तुम्हारी माँ ने तुम्हारी बहिन को ये ही बातें सिखाई हैं। मेरे घर में किसी वस्तु की कमी तो है नहीं। इसे जो खाना हो मुझसे माँगकर खाये, ऐसा न करके सब वस्तुओं को चुरा-चुरा कर खा जाती है। दूध पी जाती है, मलाई खा जाती है, मक्खन उड़ा जाती है, घी चाट जाती है, दही चट कर जाती है, मट्ठा पी जाती है।"

सब सुनकर भाई ने कहा—"पगली है, पगली।"

सास ने पूछा—"ऐसी भी क्या पगली। ऐसी टेव तो अच्छी नहीं होती। कभी कोई एक आध वस्तु पर मन चला, खाली। यह क्या कि जो मिली उसी को गप्प कर गई।"

भाई ने कहा—"यही तो मैं भी कहता हूँ। उसे दही, मट्ठा, घी, मक्खन, मलाई आदि खाने की आवश्यकता ही क्या? नित्य दूध को ही पी जाया करे। दूध से ही तो ये सब वस्तुएं बनती हैं। मूल में पानी देने से शाखा पत्ती सब हरी हो जाती हैं। घर के स्वामी से मैत्री करने से उसके लड़का, लड़की, स्त्री, बच्चे सभी अपने हो जाते हैं। मूल दूध है। बहुत झंझट न होगा और सबका सार मिल जायगा।" भाई की यह बात सुनकर सास हँस पड़ी।

यह तो हुआ दृष्टान्त। इसका दार्ष्टान्त यों समझना चाहिये।

सब सद्गुणों का मूल कारण है धर्म। जो धर्म को नहीं छोड़ता दृढ़तापूर्वक अपने धर्म की रक्षा करता है, उसके समीप सभी सद्गुण स्वतः ही आ जाते हैं। सभी सद्वृत्तियाँ धर्म की पत्नी हैं, सभी सद्गुण धर्म के पुत्र-पौत्र हैं। धर्म मूल है, सद्गुण उसके शाखा पत्ते आदि हैं। धार्मिक पुरुषों के समीप सद्गुण का वास होता है। धर्म को छोड़कर जो सद्गुणों को अपने पास बुलाना चाहे, तो उसका प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि कोई भी सत्पुत्र अपने पिता से द्वेष करने वाले के समीप चिरकाल तक न रहेगा, उससे मैत्री न करेगा। धर्म के सकाश से ही उनकी पत्नियों में सद्गुणों का जन्म होता है। उसी के वंश को मैत्रेय मुनि विदुरजी से कह रहे हैं।

महामुनि मैत्रेय ने कहा—"विदुरजी! आदि स्वयंभुव मनु के तीन पुत्री और दो पुत्र हुए। यह बात मैं आपको पीछे बता ही चुका हूँ। उनकी पुत्रियों में से आकूति और देवहूति के वंश का वर्णन तो मैं संक्षेप में पीछे कर ही चुका हूँ। अब आप उनकी तीसरी पुत्री प्रसूति के वंश को सुनिये।"

मनु पुत्री प्रसूति बड़ी ही धर्म परायण थी। अधर्म से वह सदा डरती थी। वह कोई भी ऐसा कार्य न करती, जो धर्म से तनिक भी विरुद्ध होता। महाराज मनु ने देखा मेरी पुत्री बड़ी ही धर्मपरायण है; इसका विवाह किसी परम धर्मनिष्ठ तेजस्वी प्रजापति से ही करना चाहिये। उन्होंने बहुत खोज की किन्तु ऐसा तेजस्वी धर्मात्मा कोई न मिला। किसी में कुछ त्रुटि निकल आती, किसी में कोई त्रुटि दिखाई देती। यह देख कर महाराज मनु को बड़ी चिन्ता हुई। तब वे दक्ष प्रजापति के ही समीप गये और बोले—"हे प्रजापति! आप दूसरे ब्रह्माजी के ही सदृश हैं। भगवान् ब्रह्माजी से आपकी उत्पत्ति हुई है,

आप मेरी सर्वगुण सम्पन्ना परम सुशीला पुत्री प्रसूति से विवाह कर लीजिये। वह आपके सर्वथा अनुकूल ही है। उसे पत्नीरूप में पाकर आप परम प्रसन्न होंगे। दक्ष तो अपने वंश का विस्तार करने के निमित्त विवाह करना चाहते ही थे किन्तु अभी तक अपने अनुरूप कोई पत्नी न पाने से कुमार ही बने रहे। जब आदि राजा स्वायंभुव मनु अपनी सर्वसुलक्षणा कन्या को उन्हें देने को उत्सुक हुए, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बोले—"राजन्! विवाह करने की तो मेरी इच्छा है किन्तु जैसी मैं चाहता था, वैसी पत्नी आज तक मुझे मिली नहीं। अब आपकी पुत्री की प्रशंसा सुनकर मुझे परम हर्ष हुआ। मैं उस सर्वसद्-गुणसंपन्न प्रसूति देवि का पाणि ग्रहण प्रसन्नता पूर्वक करूँगा।" यह कहकर प्रजापति दक्ष ने मनु-पुत्री प्रसूति का पाणिग्रहण शास्त्रीय विधि से कर लिया। उन प्रसूति देवी में प्रजा उत्पन्न करने में परम दक्ष श्री प्रजापति दक्ष ने सोलह कन्याओं को उत्पन्न किया। वे सभी अनुपम रूप-लावण्य-युक्त परम सुन्दरी सुशीला और सुन्दर लक्षणों वाली थीं। उन सोलह में से प्रजापति दक्ष ने तेरह का विवाह तो साक्षात् धर्म के साथ कर दिया। एक अग्नि देवता को दी। एक सभी पितरों को और एक विश्वसंहारक शिव जी को दी। अब धर्म की तेरह पत्नियों के वंश को सुनिये।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! धर्म नामक कोई ऋषि थे, या ये ही धर्म देवता?"

मैत्रेयजी ने कहा—"विदुरजी! ऐसी शंका तो वे पुरुष करते हैं, जो परलोक को नहीं मानते। वे इसी लोक को सब कुछ समझते हैं। जो देवता, पितर, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व आदि योनियों को मानते ही नहीं। जो विद्वान पुरुष को ही

देवता कहते हैं, भूत का अर्थ पंच भूतों से है। आप तो परलोक, शास्त्र, देवता सभी मानते हैं। धर्म के एक अधिष्ठातृ देव हैं, जो मूर्तिमान हैं, नित्य हैं। सृष्टि के साथ ही, अन्य ऋषि प्रजापतियों की भाँति वे भी भगवान् के स्तन देश से उत्पन्न होते हैं। अधर्म भी एक देव हैं। वे भगवान् की पीठ से उत्पन्न होते हैं। दोनों सृष्टि के साथ ही उत्पन्न होते हैं और प्रलय तक रहते हैं। धर्म वक्षःस्थान से उत्पन्न होने के कारण श्रेष्ठ हैं, अमृतमय हैं, ग्रहणीय हैं, प्रकाशमान् हैं। अधर्म पृष्ठ से उत्पन्न होने के कारण निन्द्य हैं, अग्राह्य है, तमोमय हैं, संसार-बन्धन को जकड़ने वाले हैं, यातना नरक आदि उनकी संतानें हैं। उन्हीं धर्म के साथ प्रजापति महाराज दक्ष की तेरह कन्याओं का विवाह हुआ।"

विदुरजी बोले—"हाँ महाराज ! यह तो सत्य ही है। देवता इन चर्म चक्षुओं से कलिकाल में दिखाई नहीं देते, वे तो उपासना द्वारा निर्मल दृष्टि से दीखते हैं। नास्तिक लोग तो प्रत्यक्ष को ही सब कुछ समझते हैं, उनके मत में तो भुवर्लोक, जनलोक आदि ऊपर-नीचे के लोक हैं ही नहीं। जो दीख रहा है वही सब कुछ है। मैंने उनका मत लेकर प्रश्न नहीं किया था; किन्तु मुझे शंका यह हुई कि इस नाम के ऋषि भी हो सकते हैं। हाँ, तो उन तेरह धर्म पत्नियों के नाम बताइये और उन तेरहों से जो संतानें हुईं, उनका संक्षिप्त विवरण सुनाइये।"

यह सुनकर महामुनि मैत्रेय कहने लगे—"विदुर जी ! प्रजापति दक्ष ने अपनी जिन तेरह कन्याओं को धर्म को दिया उनके नाम ये हैं श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति। ये ही धर्म की प्राणप्रिया वल्लभा सहचरी जीवन संगिनी प्यारी पत्नियाँ हैं। अब आप इनकी संतानों को सुनिये।"

विदुरजी बोले—"महाराज इन धर्मपत्नियों के नामों का संक्षेप में अर्थ और उनके पुत्रों के भी नामों का भाव समझाते जायें। जिससे मेरा भी धर्म के प्रति अनुराग बढ़े, उनके स्त्री बच्चों के प्रति स्नेह श्रद्धा के भाव हों।"

यह सुनकर मैत्रेय जी हँस पड़े और बोले—"विदुर जी मनसेघू से मैत्री हो जाने पर मेहरारू तो स्वतः भाभी बन जाती है। बच्चे अपने आप चाचा जी कहने लगते हैं। आप धर्म को पकड़े रहिये। उनके प्रति आपके मन में कभी असद्भाव न उठने पावें, फिर ये सब तो आपके मुँह को जोहती रहेंगी।"

हाँ, तो धर्म की प्रथम पत्नी का नाम है—'श्रद्धा'। गुरु और शास्त्र के वचनों पर विश्वास रखने का नाम है—श्रद्धा। जिसे गुरु के वचनों पर प्रतीति नहीं, जो शास्त्रों को नहीं मानता, उसकी श्रद्धा, श्रद्धा नहीं, वह तो तर्क को ही सब कुछ समझता है। तर्क उस स्वैरिणी स्त्री के समान है, जो कभी एक की बन कर रहती नहीं। जिसे पहिले ग्रहण किये हुये पति से श्रेष्ठ समझती है, उसी के पास पहिले पति को छोड़ कर चली जाती। वह स्थिर होकर एक का पल्ला पकड़ कर नहीं रह सकती। इसीलिये उसके बच्चे नहीं होते, उसे रोग हो जाता है। बच्चे होते भी है, तो अशुभ दर्शन, अकुलीन होते है। उनके कुल, गोत्र पिता का पता नहीं रहता, किसको वे पिता कहें? इसीलिये धर्मविरुद्ध तर्क की आस्तिक शास्त्रों में प्रतिष्ठा नहीं। तर्क करने की मनाई नहीं। किन्तु शास्त्रों पर श्रद्धा रखकर धर्म-संगत तर्क करो। उसी धर्म की श्रद्धा नामक पत्नी ने 'शुभ' नाम का पुत्र उत्पन्न किया जो धर्म में श्रद्धा रखता है, उसका सदा शुभ अर्थात् कल्याण होता है। इसीलिये धर्म के वीर्य से श्रद्धा के गर्भ से शुभ नामक सुत उत्पन्न हुआ।

अब धर्म की दूसरी पत्नी का नाम है—'मैत्री'। हृदय से प्राणिमात्र को अपना सुहृद समझने की वृत्ति का नाम है मैत्री। देखिये—सब जीव भगवत् प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं। कोई यह कहे कि मैंने यह घर बनाया, मैंने यह पेड़ लगाया, मैंने यह पुत्र उत्पन्न किया—उसका यह अभिमान व्यर्थ है। ये पंचभूत उत्पन्न न होते, तो कोई शरीर भी नहीं बन सकता था। भगवान् ही जीवों को उत्पन्न कराते हैं। जब ऐसी ही बात है, तो हम किसी से शत्रुता क्यों करें? सब हमारे सखा हैं, सब हमारे मित्र हैं। जो सदा ऐसा भाव रखता है, उसका मन सदा प्रसन्न रहता है। वह किसी पर विश्वास नहीं करता, सबसे उसे भय होता है। इसीलिये मैत्री को धर्म ने ग्रहण किया है। इस मैत्री देवी के गर्भ से धर्म के पुत्र 'प्रसाद' आह्लाद उत्पन्न हुए। जिसके हृदयरूपी मन्दिर में मैत्री देवी प्रवेश करती हैं, तो अपने नन्हें से पुत्र प्रसाद को गोद में लिये हुए ही आती हैं। उसके हृदय को आह्लाद की किलकारी से भर देती हैं।

धर्म की तीसरी पत्नी का नाम है—'दया'। बिना किसी शारीरिक सम्बन्ध के प्राणिमात्र के दुःख में दुखी होने की वृत्ति का नाम है—दया। कुछ लोग कहते हैं, मैं अपने बाल-बच्चों पर दया करके ऐसा करता हूँ। बाल-बच्चों पर दया नहीं होती, उनके प्रति सहज मोह होता है। सम्बन्धियों के दुःख से दुखी होने का नाम है—कृपा। वह दया से बहुत छोटी है। दया तो देश, काल, पात्र की अपेक्षा नहीं करती। प्राणिमात्र उसकी सीमा है। जो सब पर दया के भाव रखता है उसको कभी किसी से भय नहीं होता है। भय सदा हिंसा से हुआ करते हैं, जिसने अपने हृदय से हिंसा के भावों को निकाल दिया है, प्राणिमात्र को अपना बन्धु समझकर उनके दुःख में दुखी होता है, उसे किससे

भय है? यही कारण है कि धर्म की तृतीय पत्नी दया ने 'अभय' नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्मदेव की चौथी पत्नी का नाम है—शान्ति। चित्त में जब किसी प्रकार का उद्वेग न रहे, उस चित्त की शान्त वृत्ति का नाम 'शान्ति' है। मनुष्य दुखी कब होता है? जब वह व्यर्थ की इधर-उधर की चिन्ता करता है तो नाना झंझटों से मन में अशान्ति हो जाती है। अशान्ति ही दुःख की जननी है। संसारी लोग सदा अशान्त बने रहते हैं। उसने आज मुझे ऐसी बात कह दी, उसने मेरा अपमान कर दिया। वह काम कैसे होगा? उस कार्य की रुपये कहाँ से आवेंगे? वह वस्तु मुझे कैसे मिलेगी? मेरी वस्तु वहाँ रखी है, उसे कोई ले तो नहीं जायगा? ये ही सब अशान्ति और दुःख के कारण हैं। जब इन सभी योग क्षेम की चिन्ताओं को श्रीहरि के चरणों में समर्पित करके मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है, तब उसके हृदय में एक अपूर्व शान्ति का प्रादुर्भाव होता है। उस शान्ति से ही सुख नामक सुत उत्पन्न होता है। जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख नहीं अतः धर्म की शान्ति नामक भार्या ने सुख रूपी पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्म की पाँचवीं पत्नी है—'तुष्टि'। मनुष्य सदा बुभुक्षित बना रहता है। मुझे यह भी चाहिये, वह भी चाहिए, इससे भी तृप्ति नहीं। सौ मिल जायें तो हजार की इच्छा, हजार मिल जायें तो लाख की इच्छा। आज भर पेट खा लिया। फिर भी मन नहीं भरा, तुष्टि नहीं हुई। जब परिपूर्ण वस्तु को मनुष्य प्राप्त कर लेता है, तो उसे एक अनिर्वचनीय आनन्द होता है, जिसे मोद कहते हैं। लड्डू का नाम मोदक। खाने से मोद होता है, बच्चे बूढ़े सभी लड्डू पाकर प्रसन्न हो जाते हैं। मनस्तुष्टि होने

पर ही मोद होता है। तुष्टि मोद को माता है। अतः धर्म की तुष्टि नामक पत्नी ने मोदनामक पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्म की छठीं पत्नी का नाम है—पुष्टि, पुष्टि कहते हैं मुटाई को। जब माल खा-खाकर शरीर पुष्ट हो जाता है तो मन में अहंकार आता है—"मैं ऐसा हूँ, मेरे समान कौन है?"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! जिस पुष्टि से अहंकार उत्पन्न होता है वह धर्म की पत्नी क्यों हुई? अहंकार तो अधर्म का हेतु है?"

यह सुनकर भगवान् मैत्रेय बोले—"विदुरजी! यह ठीक है कि सांसारिक पुष्टि से हुआ जो स्मय-अहंकार होता है वह विनाश का कारण है; किन्तु ज्ञान और भक्ति से हुई पुष्टि संसार-बन्धन को सदा के लिये छुड़ाने का कारण होती है। जब विवेक, वैराग्य द्वारा मनुष्य निश्चय कर लेता है कि यह संसार अनित्य, क्षणभंगुर और नाशवान् है और ज्ञान इसको दृढ़ता से पुष्ट करता है तब यह भाव आता है 'सोऽहम्' मैं वही हूँ। जब चराचर में अपने इष्ट को देखने लगता है और भक्ति शास्त्र और गुरुजनों के द्वारा इस बात की पुष्टि होती है, कि अणु परमाणु में राम-राम रम रहा है तब भक्त सबको नमस्कार करने लगता है। सबके प्रति उसके हृदय में आदर भाव उत्पन्न हो जाता है, तब वह स्वतः कहने लगता है 'दासोहम्' और सब मेरे स्वामी के रूप हैं। केवल मैं ही सबका दास हूँ।

इसलिये धर्म की षष्ठी पत्नी पुष्टि ने अपने गर्भ से अहंकार नामक सुत को उत्पन्न किया।

धर्म की सातवीं पत्नी का नाम क्रिया है। बिना क्रिया के कोई भी कार्य होता नहीं। सभी संयोग के लिये क्रिया की अपेक्षा है। हम किसी भी मार्ग के पथिक क्यों न हों, क्रिया का

आश्रय लेना ही पड़ेगा। क्रिया करने से ही योग उत्पन्न होता है। अतः क्रिया नामक धर्म की पत्नी में योग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

धर्म की आठवीं पत्नी का नाम है 'उन्नति' जिस क्षेत्र में हम कार्य कर रहे हैं उसमें हमारा अधःपात न हो, हम दिन-दिन ऊपर को उठते जायें, उसमें सफलता प्राप्त करके उन्नत होते जायें, इसी को उन्नति कहते हैं। संसार में धन जन कुटुम्ब परिवार, पद प्रतिष्ठा की उन्नति से दर्प घमंड उत्पन्न होता है, पारमार्थिक उन्नति में अपने को बद्ध जीवों से पृथक् करके साधक समझने लगता है मैं बद्ध नहीं जिज्ञासु हूँ, मुमुक्षु हूँ, भगवत् कृपा पात्र हूँ। इसीलिए उन्नति का पुत्र दर्प हुआ।

धर्म की नवमी पत्नी का नाम है—'बुद्धि' सांसारिक बुद्धि के द्वारा सांसारिक अर्थों की प्राप्ति होती है। वही बुद्धि सूक्ष्म होकर परमार्थ-चिन्तन में लग जाती है, तो उससे परम अर्थ मोक्ष की सिद्धि होती है। बुद्धि की शरण में जाने से मनुष्य की सभी चिन्तायें दूर हो जाती हैं। निरर्थक ही पुरुष चिन्ता करता है। जहाँ बुद्धि का आश्रय लिया और बुद्धि अपने बच्चे अर्थ को लेकर हमारे हृदय में पधारी नहीं कि हमारे सभी श्रम सार्थक होते हैं। अतः बुद्धि का पुत्र अर्थ हुआ।

धर्म की दशवी पत्नी का नाम है—'मेधा'। मेधा और बुद्धि में अन्तर है। बुद्धि विचार से उत्पन्न होती है। मेधा बिना अभ्यास के शुद्ध अन्तःकरण में स्वतः प्रकाशित होती हैं। हमें संसार में नाना दुःख होते हैं। फिर भी हम संसार में फँसे ही रहते हैं, उसे छोड़ने की इच्छा नहीं करते। कारण कि हम दुःखों को कालान्तर में भूल जाते हैं। यदि विस्मृति आकर हमारे दुःखों को नष्ट न करे, तो इस संसार में कोई भी बुद्धिमान अधिक

दिन रहने की इच्छा न करे किन्तु धन्य है, विस्मृति देवी को कि जो बड़े से बड़े दुःख पर काला परदा डालती जाती है। मेधा से स्मृति उत्पन्न होती है—एक जन्म की ही नहीं अनेक जन्मों की इस जन्म जन्मान्तरों की स्मृति से वैराग्य होता है। सभी दुःखों का स्मरण करके चित्त संसार से हट जाता है। मेधावी पुरुष ही इस अगाध सागर को अपनी विलक्षण स्मृति के द्वारा पार कर सकता है। अतः धर्म पत्नी मेधा ने स्मृति नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्म की ग्यारहवीं पत्नी का नाम—'तितिक्षा'! आये हुए दुःख-सुखों को बिना प्रतीकार किये सहर्ष सहन करने का नाम तितिक्षा है। रोग हो जाने पर हम उसकी औषधि करते हैं, जाड़ा लगने पर रुई, दुई, धुई का आश्रय लेते हैं। यह सब न करके जीवन को प्रारब्ध पर छोड़ देना। आज हम निरन्तर दुःखों की निवृत्ति और सुखों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। दुःख वास्तव में कुछ है तो नहीं। मन ने ही दुःख सुख की कल्पना कर रखी है। स्वप्न में कोई सिर काट रहा है, जब तक स्वप्न निवृत्त न होगा, तब तक वह स्वप्न का मिथ्या दुःख भी निवृत्त नहीं होगा। इसी प्रकार जब तक मन से अनुकूलता में सुख, प्रतिकूलता में दुःख के संस्कार नष्ट न होंगे, तब तक मनुष्य दुखी ही बना रहेगा। तितिक्षा से सुख-दुख में समता आती है, सहन शक्ति बढ़ती है, शरीर में से आत्मबुद्धि हटती है। आत्मा और देह के पृथक्त्व का भान होता है। इसी से क्षेम होता है। अतः-धर्मपत्नी तितिक्षा ने क्षेम नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

धर्म की बारहवीं पत्नी का नाम है 'ह्री'। मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति इन्द्रियसुखों में है। यदि धर्म बीच में खड़े न हों, तो यह मनुष्य प्राणी सर्वथा पशु बन जाय। जैसे पशु जहाँ

भी चारा मिल जाता है वहीं खाने लगते हैं, जहाँ भी शौच की इच्छा होती है वहीं सब के सामने शौचादि कर देते हैं जब जहाँ भी नींद आ जाती है वहीं सो जाते हैं, चाहे जिससे डर जाते हैं, चाहे जहाँ मैथुन करने लगते हैं, वे माता, बहिन, बेटी, गोत्र, जाति किसी का विचार नहीं करते, उसी प्रकार यदि धर्म का भय न हो, तो मनुष्य भी ऐसा हो हो जाय। धर्म हमें बताता है काम भोग करना हो तो उसे संयम से करो, भोजन, व्यवहार, सम्बन्ध करना हो, तो उसे सोच-समझकर शास्त्रानुकूल करो। इतना होने पर भी धर्म से लोग उतना डरते नहीं, क्योंकि धर्म तो पुरुष ठहरा। पुरुष, पुरुष से उतनी लज्जा नहीं करता। स्त्री को देख कर लजा जाता है। यदि लज्जा न हो, तो मनुष्य उच्छृंखल हो जाय। माता, बहिन किसी की भी कान न करे, बड़ों की आज्ञा का पालन न करे। बहुत से पापों से मनुष्य लोक-लज्जावश बच जाता है कि कोई क्या कहेगा। बहुत से कार्य इच्छा न होने पर कुल, जाति, वंश, परम्परा के संकोच वश करने पड़ते हैं। ऐसा न करेंगे तो सम्बन्धियों के सम्मुख लज्जित होना पड़ेगा। इसलिए धर्म की पत्नी ही अर्थात् लज्जा के पुत्र का नाम है प्रश्रय। प्रश्रय कहते हैं विनय को, निर्लज्ज पुरुष में विनय कभी हो ही नहीं सकता।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! यह मैंने धर्म की बारह पत्नियों के पुत्रों का वर्णन अत्यन्त ही संक्षेप में किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

विदुरजी ने कहा—"भगवन्! आपने तो धर्म की तेरह पत्नी बताई थी। वंश तो आपने बारह का ही बताया। तेरहवीं कौन-सी हैं, उनके भी पुत्र का नाम बताइये।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि की आँखें भर आईं, प्रेम के कारण

उनका गला रुद्ध हो गया। वे कुछ काल के लिये मौन होकर ध्यानमग्न हो गये।

छप्पय

'शुभ' श्रद्धा के पुत्र, दया ने 'अभय' जन्यो सुत।
मैत्री पुत्र 'प्रसाद' शान्ति सुत 'सुख' शोभायुत॥
तुष्टि पुष्टि के तनय, 'मोद' अरु 'अहंकार' वर।
'योग' क्रिया के लाल, 'दर्प' उन्नति के सुखकर॥
बुद्धि 'अर्थ' मेधा 'स्मृती', 'क्षेम' तितिक्षा ने जने।
लज्जा के 'प्रश्रय' तनय, देव सरिस ये सब जने॥

भगवान् नर-नारायण का अवतार

[१७६]

मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ।
यजोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १ अ० ५२, ५३ श्लो०)

छप्पय

सर्वगुणनि की खानि मूर्ति ने पुरुष पुरातन।
विश्वम्भर श्रीकृष्ण जने हरि नर-नारायन॥
जन्म समय सुर कुसुम गगन तें बहु बरसामें।
गामे गुन गन्धर्व देव वर वाद्य बजामें॥
सब जग महँ मङ्गल भयो, साम गान ऋषि मुनि करहिँ।
प्रभु प्रकटे अब जगत् को, शोक मोह तम सब हरहिँ॥

उन अनन्त प्रभु के एक अंश में यह जगत् स्थित है और वे अज, अच्युत, अनादि, अनन्त, वासुदेव अनेक अवतार धारण करके विश्व में विहार करते रहते है। जो अज्ञानी

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सम्पूर्ण गुणों की उत्पत्ति रूपा धर्मपत्नी श्री मूर्तिजी ने ऋषि रूप भगवान् नर-नारायण को उत्पन्न किया, जिनके जन्म से अत्यन्त आनन्दित होकर इस सम्पूर्ण चराचर जगत् ने प्रसन्नता प्रकट की।"

अवतार तत्त्व का रहस्य नहीं समझते, वे अनेक प्रकार की शंकायें किया करते हैं, यह कैसे हुआ ? एक समय में ही भगवान् के कई अवतार कैसे हो गये ? अरे भैया ! यह रहस्य गुड़ का पूआ तो है नहीं, जो गप्प मुँह में डाला और चट कर गये। कुछ दिन श्रम करो, सत्पुरुषों की सेवा करो; श्रद्धा सहित शास्त्रों का अध्ययन मनन करो, तब संभव है भगवत् कृपा हो और वे तुम्हारे हृदय में अपने अवतार का प्रयोजन प्रकट कर दें। तुम कहोगे— ये सब तो बहकाने की बातें हैं फँसाने की क्रियायें हैं। इसमें तो बहुत समय नष्ट होगा, तब तक तो हम कोई दूसरा महत्व का कार्य करके बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं। इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि जब तक तुम इस रहस्य को न समझोगे, तब तक कोई भी महत्व का कार्य नहीं है। सबसे महत्व का कार्य यही है। समय निरवधि है; वह असीम है, उसकी कोई सीमा नहीं। अतः वह तो नष्ट होता नहीं। एक नहीं, लाख जन्मों में भी यह तत्त्व यदि समझ में आ जाय, तो हम लाभ में ही रहेंगे। जान मे अनजान में सब उधर ही बढ़ रहे हैं, सभी के हृदय में वही ऊहापोह हो रही है। कोई प्रत्यक्ष में प्रयत्न कर रहा है कोई अप्रत्यक्ष मे, बिना समझे अंधेरे में स्वभाव वश चला जा रहा है। जीव तो अन्धा है। वह स्वतः उस प्रकाशमय मार्ग की ओर बढ़ ही नहीं सकता, इसीलिये भगवान् अनेकों अवतार धारण करते हैं। श्रीकृष्ण, बलराम, नारद, व्यास, परशुराम, नर-नारायण इन सभी की अवतारों में गणना है। सभी एक साथ ही पृथ्वी पर उपस्थित थे। उन भूमा पुरुष के स्वरूप में इन अवतारों के धारण करने पर भी कोई विकार नहीं हुआ। उनके महत्व में कुछ न्यूनाधिक्य न हो सका। सब अवतारों के कार्य-क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हैं। ये नर-नारायण अवतार तपस्या

का आदर्श उपस्थित करने को अवतीर्ण हुए हैं। एक कल्प-पर्यन्त इनकी स्थिति बताई है। स्थिति तो इनकी नित्य ही है; किन्तु पृथ्वी पर ये इस रूप से इतने दिन अवस्थित रहते हैं। संयम का जितना आदर्श इस अवतार ने उपस्थित किया है वैसा किसी अवतार ने उपस्थित नहीं किया।"

जब महामुनि मैत्रेय का ध्यान भंग हुआ उन्होंने अश्रु भरे नेत्रों को अपने वल्कल से पोंछ लिया, तब हाथ जोड़कर विदुरजी बोले—"भगवन्! धर्म की तेरवीं पत्नी दक्ष प्रजापति की प्यारी पुत्री मूर्ति देवी ने ऐसे किन महाभाग सुत को उत्पन्न किया, जिनकी स्मृति मात्र से ही आपके शरीर में समस्त सात्त्विक भाव उत्पन्न हो गये?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि गद्गद कण्ठ से बोले—"विदुरजी! मूर्ति देवी के भाग्य की क्या प्रशंसा की जाय उनके गर्भ से तो स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ही उत्पन्न हुए। जो दो रूप धारण करके तपस्या का महत्व बढ़ा रहे हैं, जो हम मुनियों के अग्रगण्य और आदर्श हैं, जो तपस्या की साकार मूर्ति हैं, जो आकल्पान्त बदरिकाश्रम में रह कर तपस्या करके उसका महत्व दर्शाते हैं। उनको शास्त्रों में नर-नारायण के नाम से बताया गया है।

ये दो होते हुए भी एक ही कहे जाते हैं, ये कभी पृथक् नहीं होते, सदा साथ ही साथ रहते हैं। जिस समय इन दोनों का जन्म हुआ उस समय सम्पूर्ण संसार सुखी हुआ सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। देवताओं ने हर्ष के कारण पारिजात के दिव्य पुष्पों की वर्षा की। ऋषि मुनियों ने अनेक वैदिक मन्त्रों से इनकी स्तुति की। गन्धर्व अपने सुरीले कण्ठों से इनके गुण गाने लगे। अप्सरायें अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखा कर नृत्य करने लगीं। ब्रह्मादिक समस्त देवता अपने-अपने विमानों पर चढ़ भगवती

मूर्ति के सदन के समीप आये और विविध प्रकार के मधुर वचनों से दोनों की स्तुति करने लगे।

साधारण देवता तो उनके स्वरूप को कैसे समझ सकते हैं साक्षात् ब्रह्माजी ही उनकी स्तुति करने को तत्पर हुए। वे स्नेह पूर्वक कहने लगे—"भगवन् आप तो वास्तव में अज और निर्विकार हैं, न कभी आप जन्म लेते हैं, न शरीर धारण करते हैं। लोग अपने-अपने भावों के अनुसार आपकी मनोमय मनोहर मूर्ति बना लेते हैं। भक्तों की इच्छानुसार आप भी वैसे ही हो जाते हैं। आप सत्य हैं, अतः आपके नाम रूप भी सत्य हैं। आप अपनी दिव्य, योगमाया शक्ति के द्वारा नाना प्रकार की क्रीड़ायें करते हैं, जिनको सुनकर, गाकर संसार सागर में डूबते हुए प्राणी तर जाते हैं, उस पार पहुँच जाते हैं। इस समय आपने ऋषि रूप धारण कर लिया है। यह ऋषि रूप भी बड़ा विलक्षण है। यह हमारे मन को मोह रहा है, हमें हठात् अपनी ओर आकर्षित कर रहा है।

आपने इस संसार का स्वयं ही संकल्प द्वारा सृजन किया है, फिर उसकी एक मर्यादा स्थापित कर दी है, धर्म को रक्षा के लिये नियुक्त कर दिया है। जब अधर्म के द्वारा धर्म दबाया जाता है। आपकी मर्यादा, आपकी क्रीडा से भंग होने लगती है, तो आप ही उसकी रक्षा के लिये अनेक रूप रख कर उसकी पुनः स्थापना करते हैं। यह रूप तो आपने अत्यन्त ही मनोहर, अत्यन्त ही नयनाभिराम, बड़ा ही मादक और मोहक बनाया है। आप अपने अमल-कमल के सदृश नयनों को मूंदे क्यों हुए हैं, उन्हें खोलिये। हम देवताओं की ओर दया की दृष्टि से देखिये, कमनीय कमल नयन को कोर से कृपा सहित हमारी ओर निहारिये।"

ब्रह्मादिक देवताओं की ऐसी विनती सुनकर भगवान् हँस पड़े और उन्होंने कृपापूर्ण दृष्टि से उनकी ओर देखा। भगवान्

के दृष्टिपात होते ही सभी देवता अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। भगवान् के दर्शन करते-करते वे अघाते ही नहीं थे। इस प्रकार भगवान्

नर-नारायण का कृपाप्रसाद पाकर भगवान् की पूजा और परिक्रमा करके देवगण अपने-अपने धामों को चले गये।

इधर भगवान् अपनी माता से बोले—"माँ! हम अब तपस्या करने जायँगे।"

माँ ने कहा—"बेटा! अभी तपस्या की तुम्हारी क्या अवस्था। अभी कुछ दिन खेलो, खाओ, विद्या पढ़ो; ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके वेदाध्ययन करते हुए गुरु और अग्नि की सेवा करो। फिर ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके गुरुदक्षिणा देकर, व्रत, स्नान के अनन्तर विवाह करो। अग्निहोत्र पूर्वक गृहस्थ बनो। धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन कर शास्त्रीय विधि से काम सेवन करो। जब पुत्र के भी पुत्र हो जाय, तब वानप्रस्थ आश्रम धारण करके वन में जाना। जब तपस्या करते-करते पूर्णज्ञान हो जाय, तब संन्यासाश्रम में प्रवेश करके मोक्षमार्ग का अवलम्बन करना। अभी तुम्हारी अवस्था तप करने की नहीं है, अभी तो तुम घर में ही रहकर माता-पिता को सुख दो।"

इस पर भगवान् नारायण बोले—"माँ! हमारा जन्म संसारी बन्धनों में फँसने के लिये नहीं हुआ है। हम तो ऋषिरूप से निरन्तर तपस्या में ही मग्न रहेंगे। एक ही आश्रम में रहकर हम घोर तप करेंगे। हमारा तप मृदु और तीव्र होगा। उसके नियम अत्यन्त कठिन होंगे, किन्तु वह अन्य किसी को क्लेशकर न होगा। प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त ही हमारा तप होगा। हमारे पिता धर्म हैं, उनकी प्रसन्नता इसी में होगी, कि हम स्वधर्म का पालन करते हुए निरन्तर धर्माचरण करते रहें। तपस्या में ही सर्वथा संलग्न रहें।"

माता ने कहा—"यदि तुम्हें जाना ही है, किसी प्रकार भी

तुम घर में रहना नहीं चाहते, तो मुझे भी अपने साथ ले चलो।"

इस पर भगवान् ने कहा—"माँ! अभी हमारा निश्चय नहीं, कहाँ रहें, वहाँ तपस्या करें? हाँ, यदि कहीं स्थिर होकर रह जायँ, तो फिर देखा जायगा। तब तुम हमारे समीप आ सकती हो।"

माता का हृदय भर आया। हाय! इन साधु पुत्रों को पैदा करके मातायें कृतार्थ तो हो जाती हैं, उनका यश तो सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, किन्तु उनका हृदय सदा तड़पता रहता है।

दोनों ने माता-पिता के चरणों की वन्दना की, उनकी प्रेम-पूर्वक प्रदक्षिणा की। फिर दोनों का आशीर्वाद लेकर दोनों को रोते छोड़कर वे तपस्या के लिये निकल पड़े। अनेक स्थानों में घुमते-घूमते, अनेक जीवों को अपने दर्शनों से कृतार्थ करते हुए, वे गन्धमादन पर्वत पर स्थित बदरीनाथ क्षेत्र में चले गये और वहाँ रहकर घोर तपस्या करने लगे। वहीं इनकी ऊरु से उर्वशी अप्सरा उत्पन्न हुई। वहीं इन्होंने नारदजी को उपदेश दिया। नर छोटे थे, नारायण बड़े थे। फिर भी नर का नाम पहिले लिया जाता है।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! नर छोटे होकर भी प्रथम क्यों बोले जाते हैं, मुझे भगवान् नर-नारायण के कुछ चरित्र सुनाइये।"

यह सुनकर मैत्रेयजी बोले—"अच्छी बात है। वैसे तो नर नारायण के चरित्र अनन्त हैं। उनमें से कुछ मैं आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

मूर्ति तनय सुकुमार मार सम मोहक मनहर।
नर-नारायण अमित तेज तप बल युत ऋषिवर॥
ले अवतार प्रभाव तपस्या को प्रकटावें।
जनक जननि तैं कहैं तीव्र तप हित हम जावें॥
त्यागी तनयनि तप करन, हित गृह त्यागत माँ निरखि।
करि दृढ़ हिय आज्ञा दई, विकल भई रोई बिलखि॥

भगवान् नर-नारायण की तपस्या

[१७७]

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्याम्,
नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः ।
दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपम्,
देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः ॥*

(श्री भा० २ स्क० ७ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

उग्र तपस्या निरखि इन्द्र मन संशय करहीं ।
करिके तप ऋषि प्रवर इन्द्र आसन कूँ हरहीं ॥
काम कला महँ कुशल कामिनी तप नाशन कूँ ।
भेजीं बहु देवेन्द्र डिगा सकि नहिं ते इनकूँ ॥
भक्तराज प्रह्लाद हू, लखि प्रभाव विस्मय भये ।
नीमसारमहँ निवसि फिर, बदरीवन तप हित गये ॥

---

* ब्रह्माजी अवतारों की गणना करते हुए कहते हैं—धर्मदेव के यहाँ प्रजापति दक्ष की पुत्री मूर्ति के गर्भ से नर-नारायण भगवान् उत्पन्न हुए । उन्होंने अपने तप का प्रभाव प्रकट किया, देवराज इन्द्र की प्रेरणा से कामदेव की सेना स्वरूपा जो अप्सरायें उनके तप भंग करने की चेष्टा कर रही थीं, उनका सब प्रयास विफल हुआ । भगवान् के सम्मुख आते ही उनके मोहक हाव-भाव कटाक्ष सभी विफल हुए ।

तप को भगवान् का हृदय बताया है। जो निष्कपट निर्
हंकार होकर तपस्या करता है, वह श्रीहरि के हृदय में
जाता है। श्रीहरि उसे अपने हृदय का हार बनाकर सदा कण्ठ
में धारण किये रहते हैं। तप का सबसे बड़ा विघ्न है
जहाँ तप में अहंकार ने प्रवेश किया, वहीं सब गुड़ गोबर
गया। तप में बड़ा आकर्षण है, त्याग में बड़ी शक्ति है,
हमने विषयों का त्याग किया, तहाँ वे विषय जिनके लिए
लालायित रहते थे, वे हाथ जोड़े सम्मुख खड़े रहते हैं, उनका भी
निरहंकार भाव से जो त्याग कर देते हैं और अपने तप का
या क्षय नहीं करते, वे ही तपस्वी है। जो काम, क्रोध और लोभ
इन तीनों शत्रुओं से सदा सावधान होकर अपने लक्ष्य की ही
ओर ध्यान रखते हैं, वे अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने में अ
ही सफल होते हैं। इस आदर्श को भगवान् ने नर-नारायण
में प्रत्यक्ष करके दिखा दिया।

पहले भगवान् नैमिषारण्य में तपस्या करने गये। वहाँ वे धनुष-बाण धारण करके घोर तपस्या में निरत हो गये। उन्होंने प्राणायाम के अभ्यास से अपने मन को वश में किया। इसी समय दैवयोग से तीर्थ-यात्रा करते हुए प्रह्लाद जी वहाँ आ पहुँचे। घूमते-घूमते वे इनके आश्रम के समीप मन्त्रियों सहित पहुँच गये। ये दोनों भाई बड़े तेजस्वी थे, इनके तेज, तप से वे बड़े प्रभावित हुए; किन्तु इनके सम्मुख धनुष-बाण देख कर उन्हें संदेह हुआ। वे सोचने लगे—"तपस्या में धनुष-बाण का क्या काम? तप तो दूसरों को अभयदान देकर, सब प्राणियों में मैत्री भाव करके किया जाता है। प्रतीत होता है, ये लोग ठग हैं, लोगों को ठगने के लिए इन्होंने यह वेष बना रखा है।" ऐसा मन में सोचकर उन्होंने नर से इसका कारण पूछा। दोनों

में बात ही बात में रार बढ़ गई। पहले कहा-सुनी हुई, फिर तनातनी होने लगी। तदनन्दर घुस्सा-घुस्सी लड़ाई-भिड़ाई और फिर अस्त्र शस्त्रों तक नौबत पहुँच गई।"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! क्या विचित्र बात कह रहे हैं आप ! प्रह्लादजी भगवान् के परम भक्त; ये दोनों भगवान् के अवतार फिर इनमें लड़ाई क्यों हो गई ?"

सूतजी यह सुनकर खिसियाने से कहने लगे—"अब महाराजजी इस 'क्यों' का तो कोई उत्तर ही नहीं। जय विजय भी तो भगवान् के पार्षद ही थे। वे ही हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकरण, दन्तवक्र, शिशुपाल बनकर भगवान् से क्यों लड़े ? परशुराम और राम दोनों ही अवतार थे। क्यों दोनों में तनातनी हो गई, बलराम श्रीकृष्ण दोनों ही अवतार थे, एक तुच्छ सी स्यमन्तक मणि के पीछे क्यों मनमुटाव हो गया भगवन् ! यह सब भगवान् का विनोद है। प्रह्लादजी भक्त हुए तो क्या हुआ थे तो असुर ही, कभी-कभी भगवान् उनके मन में भी विनोद के लिये आसुर भाव उत्पन्न कर देते है फिर अपने आप ही उसको निकाल देते है। एक बार विष्णु भगवान् से ही प्रह्लाद लड़ने को तैयार हो गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् से क्यों लड़ने को तैयार हुए ? यह कब की बात है ?"

सूतजी बोले—"अब महाराज ! फिर वही क्यों ? मैंने कह तो दिया लीलाधारी की लीला है। यह कथा प्रसंग बहुत बड़ा है, किन्तु संक्षेप में मैं आपको सुनाता हूँ। जब प्रह्लाद जी असुरों के राजा हो गये तो पुराने-पुराने मन्त्रियों ने उनके कान भरने आरम्भ किये। महाराज, सत्पुत्र वही है जो पिता का बदला ले। देखिये आपके पिता को, पिता के भाई को विष्णु

भगवान् ने व्यर्थ मार डाला। आप समर्थ हैं, चाहें तो बदला लेकर पितृ ऋण से उऋण हो सकते हैं। यह बात प्रह्लादजी के भी मन में आ गई। उन्होंने कहा—"बात तो है, हमें विष्णु से अवश्य बदला लेना चाहिये। असुरों की चतुरंगिनी सेना सजाई जाय, हम विष्णु पर चढ़ाई करेंगे। असुर तो यह चाह ही रहे थे। सेना सजकर तैयार हो गई युद्ध के लिये सैनिक हँसते, खेलते, चिल्लाते, कोलाहल करते दिये। आगे चलकर सम्पूर्ण सेना ने शिविर डाला। ने सोचा—"हमारे भक्त के हृदय में आसुर भाव आ गया है वह हमारे प्रभाव को भूल गया है, उसे अपना प्रभाव चाहिये।" यह सोचकर वे एक वृद्ध तपस्वी का रूप रखकर वह कुटी बनाकर प्रकट हुए। थोड़ी-थोड़ी वर्षा हो रही थी, प्रह्लादजी घूमते-घामते वहाँ आ पहुँचे। वृद्ध साधु को देखकर प्रह्लादजी उन्हें प्रणाम किया। जाड़े से काँपते-काँपते बूढ़े ब्राह्मण ने कहा "राजन्! आप इतनी बड़ी सेना लेकर कहाँ जा रहे हैं?"

प्रह्लादजी ने कहा—"मेरे पिता को, पितृव्य को विष्णु भगवान् ने मार दिया है, उन्हीं से लड़ने जा रहा हूँ।" वृद्ध बोले—"अजी भक्तजी! सुना है विष्णु तो बड़े बलवान् हैं।"

अहंकार के साथ प्रह्लादजी ने कहा—"हम क्या किसी से कम हैं?" अवहेलना के साथ वृद्ध बोले—"ना, आपको कम कौन कहता है। देखो, मुझसे यह लकड़ी उठती नहीं, इसे अपने नौकरों से उठवाकर मेरी कुटी में पहुँचा दो।"

यह सुनकर प्रह्लाद जी हँस पड़े—"इतनी छोटी लकड़ी भी आपसे नहीं उठती?"

हाँफते हुए वृद्ध ने कहा—"क्या करूँ राजन्! बूढ़ा हो गया

। शरीर को ही उठाना भार हो गया है। आप समर्थ हैं, तनी सेना वाले हैं, मेरा यह काम करा दें।"

प्रह्लाद जी ने एक नौकर को आज्ञा दी, उससे नहीं उठी। दो-चार दस-बीस पूरी सेना को लगाया, किन्तु लकड़ी टस से

मस नहीं हुई। स्वयं प्रह्लाद जी ने भी पूरा बल लगाया, लकड़ी अपनी जगह से तिल भर भी न हिली।"

वृद्ध कुछ अवहेलना के स्वर में बोला—"बस, इतने ही बल के सहारे विष्णु को जीतने चले हैं?"

अब प्रह्लाद जी की आँखें खुली, वे भगवान् के पैरों पड़ क्षमा माँगने लगे। तब भगवान् ने अपने साक्षात् रूप से दर्शन देते हुए कहा—"राजन्! मेरे भक्त के हृदय में पहले तो क्रोध उठता ही नहीं। यदि कभी उत्पन्न भी हो जाता है, तो मैं तुरन्त नाश कर देता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी तरह नैमिषारण्य में हुआ जब प्रह्लाद जी समस्त अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार करने पर भी तपस्वियों को परास्त न कर सके, तब नृसिंह भगवान् ने स्वयं दर्शन देकर कहा—"राजन्! ये मेरे ही रूप हैं, इनसे नहीं जीत सकते। इनकी पूजा करके अपने अविनय के लिये माँग कर अपने घर चले जाइये।"

नृसिंह भगवान् के आदेश को पाकर प्रह्लादजी ने ऐसा किया, वे उन दोनों भाइयों की भगवद्बुद्धि से पूजा वन्दना कर अपनी राजधानी को चले गये। नर-नारायण भी उस स्थान को निरापद न समझ वहाँ से दूसरे स्थान को चले गये।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! आपने कहा था। नारायण बड़े हैं, नर छोटे है, फिर नारायण-नर न कह कर लोग "नर नारायण क्यों कहते हैं?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनिवर! कुछ काल इन दोनों ने अवन्तिका (उज्जैनी) नगरी में भी तपस्या की थी। नर की तपस्या से सन्तुष्ट होकर नारायण ने उनसे वरदान माँगने को

कहा। जब बार-बार कहा तब उन्होंने कहा—"आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं यही मेरे लिये यथेष्ट वर है।"

तब भगवान् नारायण ने कहा—"हम प्रसन्न होकर यही वर देते हैं, कि आज से बड़े होने पर भी हमारा नाम पीछे लिया जायगा तुम्हारा पहिले। जो ऐसा न करेंगे, उन्हें पुण्य न होगा। तभी से नारायण से पहिले नर बोले जाते हैं।"

इस पर नर ने वरदान माँगा—"आप मेरे सारथी बनें।"

इस वरदान को पूर्ण करने के लिये दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुन के रूप से धराधाम पर अवतीर्ण हुए और भगवान् ने महाभारत युद्ध में अपने पूर्व वरदान को सत्य करने के लिये पार्थ का सारथ्य कर्म किया।"

यह सुनकर शौनकजी ने पुनः प्रश्न किया—"सूतजी! स्वर्ग के राजा देवेन्द्र को किस कारण इनके ऊपर शंका हुई।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! शंका का कारण होता है अविश्वास, अविश्वास संदेह से होता है। संदेह स्वार्थवश होता है, स्वार्थ असद्बुद्धि करने से होता है, असत् में सत् बुद्धि विषयों में आसक्ति होने के कारण होती है। अतः विषयी पुरुषों को साधु पुरुषों पर स्वाभाविक ही संदेह होता है। उनके मन में यह बात बैठती ही नहीं, कि कोई स्वेच्छा से इन संसारी विषयों का त्याग कैसे कर सकता है।"

जब नर-नारायण निरन्तर निरालस्य होकर उग्र तप करने लगे, तब इन्द्र को संदेह हुआ कि ये तप द्वारा मेरा इन्द्रपद न छीन लें। सूखे हाड़ को लेकर भागने वाला कुत्ता सामने से इन्द्र को आते हुए देखकर इस भय से छिप जाता है कि कहीं यह मेरी इस अमूल्य निधि को बलपूर्वक मुझसे ले न लें। भला अमृत को पान करने वाले इन्द्र को मर्त्य लोक की सेवी

हड्डी से—जो कुत्ते के मुख से उच्छिष्ट हो चुकी है—क्या प्रयो
जन ? किन्तु कुत्ता तो उसी को सब कुछ समझता है।
प्रकार सम्पूर्ण विश्व को रचने वाले नर-नारायण को इन्द्रपद
क्या अपेक्षा, किन्तु इन्द्र तो उसे ही सुख की पराकाष्ठा
बैठे हैं। तभी तो जिस ऋषि को भी वे तपस्या करते देखते
उसी को देखकर उनके पेट में पानी हो जाता है, मुख म्लान
जाता है, हृदय चिन्ताकुल हो जाता है और नाना प्रका
के उपायों द्वारा तप को नष्ट करने की अनेक चेष्टायें करते हैं
उनके इस कार्य में उनके सखा कामदेव उनको सहायता करते
हैं। काम अपनी कामनी, संगीत, वसंत, मादक मारुत आ
सेना के सहित उन पर चढ़ाई करते हैं। काम का पुत्र क्रोध उन
पर प्रहार करके उनके तप को नष्ट कर देता है। लोभ उनके
मन में आसक्ति पैदा करके विषयों के संग प्रेरणा करता है।
तपस्वी विषयी बन जाते हैं। इन्द्र प्रसन्न हो जाते हैं, काम
विजयी होकर लौट जाते हैं। तपस्वी कामिनियों के क्रीड़ामृग
बन जाते हैं।

नर-नारायण को भी तपस्या से हटाने के लिये इन्द्र ने इन्हीं सब को भेजा। स्वर्ग की जितनी सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें थी उन्हें लेकर काम, वसन्त, मारुत आदि के सहित मुनि के मनोहर आश्रम में पहुँचे। वसन्त ने अपनी छटा दिखाई। मारुत ने अपनी मादकता फैलाई। देवाङ्गनाओं ने अपने हाव-भाव कटाक्षों को चातुरी दर्शाई। संगीत ने अपनी आकर्षकता फैलाई। इन सब की सहायता से काम ने अपना कुसुमायुध उठाकर दोनों भाइयों को लक्ष्य करके कुसुम के बाण छोड़े। दोनों का ध्यान भंग हुआ। दोनों समझ गये यह सब इन्द्र की करतूत है।

काम में आकर क्रोध ने कहा—"आप मेरी सहायता स्वीकार

करें, तो तपःप्रभाव को लेकर मैं इन्हें अभी भस्म कर दूँ।" नारायण भगवान् ने क्रोध की बात सुनकर नर भगवान् की ओर देखा। तब नर बोले—"नहीं प्रभो! यह क्रोध बड़ा ठग है। हमारी समस्त तपस्या को यह ठग ले जायगा। नैमिषारण्य में हम इसके चक्कर में आ गये। आप इसको अपने समीप भी न बैठने दें, इसे भगा दें। यह काम का बेटा है।" भगवान् ने उससे कहा—"मैं आपकी सहायता नहीं चाहता। मेरी सहायता तो मेरी क्षमा माता करती है। वह इन सबको वश में कर लेगी। क्रोध यह सुनकर भाग गया। क्षमादेवी उन डरी हुई अप्सराओं के पास गईं। इससे उनका भय दूर हो गया। वे बड़े स्नेह से भगवान् की वन्दना करके उनके चारों ओर बैठ गईं। तब भगवान् ने कहा—"बोलो, मैं तुम्हारा क्या आतिथ्य करूँ?"

इस प्रकार भगवान् को प्रसन्न देखकर अप्सराओं ने कहा—"प्रभो! आप हम पर कृपा करें, हमें अभयदान दें, हमारी अशिष्टता की ओर ध्यान न दें।"

इस पर भगवान् हँसे और अपनी जंघा से उन्होंने असंख्यों एक से एक सुन्दर अनुपम सुन्दरी अप्सराओं को उत्पन्न किया। उन्हें देखकर अप्सरायें, काम, वसन्त, मारुत सबके सब परम लज्जित हुए। स्वर्गीय अप्सरायें तो भगवान् के भुवनमोहन रूप को देख कर मुग्ध हो गई थीं। उन्होंने भगवान् से रति सुख का वरादान माँगा। भगवान् तो वांछा कल्पतरु हैं, भक्तवत्सल हैं, हँस कर बोले—"देवियों! इस रूप से मैं तुम्हारी मनोकामना पूर्ण नहीं कर सकता। ऐसा करने से संसार का आदर्श नष्ट हो जाएगा, धर्म की मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जायगी, अधर्म तथा पाखण्ड का प्राबल्य हो जायगा। मैं तुम्हारी इस इच्छा को श्री कृष्णावतार में पूर्ण करूँगा। कामदेव को बड़ा अभिमान है कि

मैंने त्रैलोक्य को अपने वश में कर लिया है। उस अवतार में मैं उसके अभिमान को प्रत्यक्ष चूर्ण करूंगा। मैं तुम पर अप्रसन्न नहीं

हूं। तुम इनमें से एक अप्सरा को ले जाओ, हमारी ओर से देवराज को उपहार देना।

भगवान् के ऐसे वचन सुनकर कामदेव बड़े लज्जित हुए; वे अपनी समस्त सेना के आगे उस श्रेष्ठ अप्सरा को करके भगवान् की पूजा प्रदक्षिणा करके स्वर्ग की ओर चल दिये। वहाँ जाकर उसने इन्द्र से सभी वृत्तान्त कहा, यह सुनकर देवेन्द्र को बड़ी लज्जा आई। भगवान् की ऊरु से उत्पन्न होने के कारण उस अप्सरा का नाम उर्वशी हुआ, जो स्वर्ग की सबसे श्रेष्ठ, सुन्दरी देवाङ्गना समझी जाती है। इस प्रकार भगवान् ने काम को ही नहीं जीता अपितु क्रोध को भी अपने पास नही फटकने दिया।"

इन्हीं भगवान् ने नारदजी को तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया था। श्वेत द्वीप में भगवान् के जिस स्वरूप का दर्शन किया था उसमें उन्होने नर-नारायण को भी देखा था, फिर इन्हें आकर बदरीवन में तपस्या करते पाया, तब उन्होंने आश्चर्य के साथ कहा—"प्रभो! मैंने तो आप के दर्शन श्वेतद्वीप में भगवान् के श्रीविग्रह में किये थे। यह सुनकर नर-नारायण हँस पड़े और बोले—"नारद! हमने भी तुम्हें वहाँ देखा था। तुम भगवान् के भक्तों में अग्रगण्य हो; जो तुम्हें अविनाशी विश्वरूप भगवान् के दर्शन हुए। वे ऐसे प्रायः किसी को दर्शन नही देते। तुमने जिन सनातन भगवान् परमात्मा का श्वेत-द्वीप में दर्शन किया है, वे हम दोनों की परा प्रकृति है।"

इस प्रकार भगवान् नर-नारायण के उपदेश को सुनकर नारदजी वहीं विशालापुरी में रह कर तपस्या और भगवान् बदरीनाथ की आराधना करने लगे। विशालापुरी के बदरीनाथ के देवर्षि नारद प्रधान अर्चक हैं।

सूतजी कहते हैं, मुनियो! इन भगवान् ने मार्कंडेय मुनि के ऊपर भी कृपा की, जिसका वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा। इस प्रकार ये सदा भक्तों पर कृपा करते रहते हैं।

महाभारत युद्ध में कृष्णार्जुन बन कर इन दोनों ने ही पृथ्वी के बढ़े हुए भार को कम किया था। दुष्ट राजाओं को मारकर उन्हें स्वर्ग पठाया था। ये अब तक भी विशालापुरी में पर्वत के शिखर पर निवास करते हैं और किसी भाग्यशाली को कभी-कभी प्रत्यक्ष दर्शन भी देते हैं। इनके अनन्त चरित्र है। यहाँ मैंने उनका केवल दिग्दर्शन मात्र ही करा दिया है।

छप्पय

नर-नारायण देव दया दीननि पै कीजे।
भवसागर भयहरन शरन चरननि की दीजे॥
लोक संग्रही बने करें तप बदरी बन महँ।
होहि विघ्न कल्याण यही सोचें नित मन महँ॥
तव चरननि तें विमुख नर, जाहिँ काल के गाल महँ।
भक्त तरें विनुभक्ति के, फँसे जीव जग जाल महँ॥

अग्नि के वंश का वर्णन

[१७८]

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत् ।
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम् ॥
तेभ्योऽग्नयः समभवन् चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
त एकैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १ अ० ६०, ६१ श्लो०)

छप्पय

चौदहवीं जो दक्षसुता स्वाहा पितु प्यारी ।
अगिनदेव ने वरी कमलनयनी सुकुमारी ॥
पावक शुचि पवमान जने हवि भुक तीनिहु सुत ।
पौत्र पाँचचालीस आगन सबई तेजो युत ॥
वेद विज्ञ जन यज्ञ महँ, आगनेय इष्टी करहिं ।
उनंचास सब मिलि भये, यज्ञ यागमहँ जो जरहिं ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! दक्ष पुत्री स्वाहा ने अग्नि के द्वारा अग्नि के अभिमानी, हवि का भोजन करने वाले पावक, पवमान और शुचि ये तीन पुत्र उत्पन्न किए । इन तीनों के पैंतालीस पुत्र उत्पन्न हुए । एक अग्निदेव, तीन उनके पुत्र, पैंतालीस पौत्र, इस प्रकार तीनों मिलकर ये उनचास अग्नि के ही प्रकार हैं । पूरे परिवार को मिलाकर ये उनचास अग्नि कहाते हैं ।"

अग्नि दो प्रकार की हैं परमाणु रूप से तो वे नित्य हैं और प्रकट में कार्य में आने वाली अनित्य हैं। नित्य अग्नि सर्वव्यापक है, उन्हीं से सृष्टि की उत्पत्ति है, अग्नि न हों, तो सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। संहार के लिये भी अग्नि की ही आवश्यकता रहती है और जीवन धारण करने के लिये भी अग्नि अनिवार्य हैं।

अग्नि के अनेक प्रकार हैं, किन्तु उनके पाँच प्रधान भेद हैं। एक तो सर्वव्यापक अग्नि जो अणु-परमाणु में व्याप्त है, एक वड़वाग्नि जो समुद्र में रहकर समुद्र के जल को सोखती रहती है, उसे बढने नहीं देती। दूसरी जठराग्नि है, जो सभी प्राणियों के शरीरों में रहकर खाये हुए पदार्थों को पचाती है, एक यज्ञीय अग्नि जिनसे अनेक प्रकार के वैदिक यज्ञ याग होते हैं। एक सामान्य अग्नि जिनसे लोक में पाक आदि कर्म होते हैं। एक ही सर्वव्यापक अग्नि के ये प्रधान भेद हैं। वैसे तो अग्नि का वंश बहुत बड़ा है।

सूतजी से शौनकादि मुनियों ने पूछा—"सूतजी! दक्ष प्रजापति की सोलह कन्याओं के वंश का वर्णन आप कर रहे थे जिनमें से धर्म की तेरह पत्नियों का वर्णन तो आपने किया अब चौदहवीं के वंश का वर्णन हमें और सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग! मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि प्रजापति दक्ष ने अपनी चौदहवीं कन्या स्वाहा का विवाह अग्निदेव के साथ किया, जिनके पावक, पवमान और शुचि ये हवि को खाने वाले परम तेजस्वी पुत्र हुए इन तीन के भी पैंतालीस प्रकार के अग्नि हुए। इस प्रकार पैंतालीस पौत्र, तीन पुत्र और एक अग्नि ये सब मिलकर उनचास अग्नि संसार में प्रसिद्ध हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमने तो पुराणों में सुना है कि अंगिरा मुनि ही ने अग्नि का रूप रख लिया था। उनके ही वंश में विविध अग्नि हुए। उनसे बृहस्पित वंशीय और उक्थ वंशीय भिन्न-भिन्न अग्नियाँ हुईं ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! बात यह है कि मैं इस समय पाद्म कल्प के स्वायंभुव मनवन्तर का वर्णन कर रहा हूँ। जिस कल्प में भगवान् की नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई और उस कमल से ब्रह्माजी का जन्म हुआ। ब्रह्माजी के एक कल्प में चौदह मनवन्तर हो जाते हैं। प्रत्येक कल्प में कुछ न कुछ हेर-फेर हो जाता है। वैसे इन देवताओं के कार्य तो वे ही रहते हैं, किन्तु नाम में गोत्र में कुछ-कुछ अन्तर प्रत्येक कल्प में हो ही जाया करता है। एक कल्प में अग्नि का वंश अंगिरा मुनि से ही आरम्भ हुआ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"बात क्या हुई ? अग्निदेव ने अपना अग्नित्व अंगिरा मुनि को क्यों अर्पित कर दिया था ?"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो ! एक बार अंगिरा मुनि ने घोर तप किया। तपस्या से वे अग्नि से भी बढ़कर तेजस्वी हो गये। उनके तेज के सम्मुख अग्निदेव निस्तेज हो गये। उन्होंने सोचा—"अब मुझे कौन पूछेगा ! मैं तो अब तपस्या करूँगा। ब्रह्माजी से कहूँगा मुझे अब अवकाश दिया जाय। बहुत दिन मैंने अपना कार्य किया, अब मैं दुर्बल भी हो गया हूँ, कहीं एकान्त में रहकर विश्राम करूँगा। अग्निदेव यह सोच ही रहे थे कि उन्हें अंगिरा मुनि अपने तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए सामने से आते हुए दिखाई दिये। अग्नि तो उनके तेज से हतप्रभ ही हो चुके थे, अतः वे कहीं लुक छिपने की बातें सोचने लगे।

इतने में ही अंगिरा मुनि ने आकर उन्हें प्रणाम किया। और कहा—"भगवन्! आप ऐसे अनमने से कैसे बने हैं?"

अग्निदेव ने कहा—"मुनिवर! अब मैं बुड्ढा हो चला हूँ, मेरा तेज भी कम हो गया है अतः अब अग्नि के सिंहासन को आप ग्रहण करें; मेरे कार्य का भार आप ही सम्हालें।"

अंगिरा मुनि ने कहा—"नहीं, महाराज! ब्रह्मदेव ने आपको ही प्रथमाग्नि बनाया है। आप ही तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले हैं, मैं इतने उत्तरदायित्वपूर्ण पद को सम्हालने में सर्वथा असमर्थ हूँ।'

इस पर अग्नि बोले—"अजी, आप सर्वसमर्थ हैं। देखिये, आपके सामने मेरा तेज फीका पड़ गया। मेरी ख्याति भी नष्ट हो गई। आपके सम्मुख मुझे कौन जानेगा मानेगा। इसलिये मेरी इच्छा तो है, मैं अपने पद से सर्वथा त्यागपत्र दे दूँ। यदि आप नहीं मानते मुझे रखना ही चाहते हैं, तो प्रधान अग्नि के पद को आप ग्रहण करें। मुझे उपप्रधान बना कर रखें। मैं प्रजापत्य अग्नि के नाम से आपका सहकारी बनकर रहूँगा।"

इस पर अंगिरा मुनि ने कहा—"नहीं, बड़े तो बड़े ही हैं, बच्चे बच्चे ही हैं। हममें आपमें समझौता हो जाय। आप मुझे अपना पुत्र मान लें और मुझे अपने समान एक पुत्र दें। इससे आपका सम्मान भी बना रहेगा, और प्रथम पद पर भी आप प्रतिष्ठित रहे आवेंगे और मेरा वंश भी आंगिरश अग्नि के नाम से प्रसिद्ध होगा।"

अग्नि ने समझौते को सहर्ष स्वीकार कर लिया। अंगिरा के सात पुत्र हुए, उनमें बृहस्पति अग्नि के अंश से हुए थे। उन बृहस्पति से ही विभिन्न प्रकार की अग्नियाँ उत्पन्न हुईं। बृहस्पति के छः पुत्र हुए जो अग्निस्वरूप ही थे। प्रथम 'शंयु' अग्नि है जिसे हवन

में प्रथम आहुति दी जाती है। शंयु के भरद्वाज नामक अग्नि हुए; जिन्हें पहिले आज्य भाग दिया जाता है। इस प्रकार बृहस्पति के वंश में बहुत से अग्निसदृश पुत्र पौत्र हुए, जिनका यज्ञीय कर्मों में भिन्न-भिन्न कामों में प्रयोग किया जाता है, भिन्न-भिन्न अवसरों पर पूजे जाते हैं। बृहस्पति के दूसरे पुत्र जो निश्च्यवन नामक अग्नि हैं वे तेज स्वरूप हैं। मनुष्यों में जो तेज, यश, कान्ति, श्री दिखाई देती है यह इन्हीं का रूप है। तीसरे पुत्र का नाम 'विश्व-जित्' है। सम्पूर्ण विश्व की बुद्धि को वश में करके जो अग्नि एक नियन्त्रण में रखती है, जिसके कारण अनेक-अनेक आविष्कार होते है, उस तेज का ही नाम विश्वजित् है। चौथे पुत्र का नाम विश्वभुक् है। विश्व में जितने प्राणी हैं, वे जो भी कुछ आहार करते हैं, उसे पचाने का काम इस अग्नि का है। इसे जठर में रहने के कारण जठराग्नि भी कहते हैं। पाँचवें पुत्र का नाम वाडवाग्नि है। जो समुद्र के जल में रहकर उसे पीते रहते हैं, छठें पुत्र का नाम स्विष्टकृत है। जिनमें जल से शुद्ध करके जो हवि छोड़ी जाती है घृतादि हवनीय पदार्थ भली प्रकार छोड़े जाने से भी इन्हें स्विश्टकृत कहते हैं। इस प्रकार ये छः अग्नि तो बृहस्पति, अत्रि, अग्नि ने अपनी चान्द्रमसी पत्नी से पैदा किये।

बृहस्पति की क्रोधाग्नि से एक लडकी हुई, जो मन्यन्ती कहलाई। उसके एक लड़का हुआ, जो सभी स्त्री पुरुषों के विशेषकर युवक और युवतियों के हृदयों में निवास करता है। उसका नाम कामाग्नि है। इसके तेज से तपे प्राणी, लज्जा, संकोच धैर्य, विनय, धर्म, सत्य सभी को खो देते हैं। इनका ही दूसरा भाई अमोघ है, जो क्रोधाग्नि की तरह सबको मारता है। तीसरा भाई उक्थाग्नि है, जो धर्म-कर्म और मोक्ष मार्ग में सहायक होता है। इस उक्थ अग्नि के बहुत भेद हैं। कश्यप, वशिष्ठ, प्राणक,

आङ्गिरस और त्रिवर्चा-इन नामों की एक पांचजन्य अग्नि है। ये अपनी सन्तानों सहित पच्चीस प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त शंयु भरत, शिव, उष्मा, श्रावसथ्य, ऊर्जस्कर, प्रशान्त, बृहद् भानु, बलद, मन्युमान, धृतिमान, आग्रायण, अग्रह, अग्निषोम, वैश्वानर, विश्वपति, सन्निहित, कपिल अग्रणी, वसुमान, सुरमति, उत्तर, पथिकृत्, अग्नितम, सह, अद्भुत, गृहपति, भरत, क्रतु, नियम आदि अग्नि के और भी अनेक भेद हैं। ये सब अग्नि भिन्न-भिन्न होने पर भी दीखने में एक ही दिखाई देते हैं। वेदज्ञ ऋषि ही इनके भेदों को जानते और समझते हैं। आदि अग्नि ने अंगिरा को ही अपना सम्पूर्ण उत्तराधिकार दे दिया था, उन्हीं से ये सब अग्नि उत्पन्न हुए। भिन्न-भिन्न मंत्रों से वेदज्ञ ऋषि भिन्न-भिन्न अग्नियों का आवाहन करके भिन्न-भिन्न देवताओं को हवि पहुँचाते हैं। पहिले अग्निदेव सर्व भक्षी नहीं थे, वे देवताओं को हविर्भाग ही पहुँचाया करते थे, किन्तु भृगु महर्षि ने अग्नि को शाप देकर सर्वभक्षी बना दिया।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमारे पूर्वज भगवान् भृगु ने अग्नि को सर्व-भक्षी होने का शाप क्यों दे दिया? अग्निदेव ने ऐसा क्या अपराध किया?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! क्या बताऊँ। मुझे डर लगता है, आप अप्रसन्न न हो जायें। इन ऋषियों की बात समझ में नहीं आती। न जाने किस समय कैसी धुनि इन्हें समा जाती है। आप भी भृगु वंश के हैं, बात यह थी कि भगवान् भृगु की एक पुलोमा नामक स्त्री थी प्रतीत होता है, उसके मातृ कुल का सम्बन्ध असुर कुल से था। पहिले उसके विवाह की बात पुलोमा नामक दानव से हुई थी। पीछे उसके पिता ने भृगुजी के साथ उसका विवाह कर दिया।"

पुलोमा तो दानव ही ठहरा। वह अब इस ताड़ में रहने लगा कि किसी तरह भृगु पत्नी पुलोमा को हर लू। किन्तु वह भृगु मुनि के तेज तप से डरता था। एक दिन मुनि स्नान आदि के लिये आश्रम से बाहर गये। अच्छा अवसर पाकर पुलोमा वहाँ आया। आश्रम में और कोई नहीं था। भृगु-पत्नी पुलोमा वहाँ ओट में अकेली खड़ी थी। अग्निहोत्र की अग्नि कुण्ड में दीप्त हो रही थी। उस दानव ने और किसी को न देखकर अग्नि से ही पूछा—"अग्नि देव! देखो, तुम देवताओं के मुख हो। झूठ मत बोलना, सत्य सत्य कहना। यह वही पुलोमा है न; जिसके विवाह की बातचीत मेरे साथ हुई थी, फिर इसके पिता ने अच्छे वर के लोभ से इसका विवाह भृगु के साथ कर दिया। तुम सभी प्राणियों के धर्म के साक्षी हो, मिथ्या भाषण मत करना।"

अग्नि देव तो घबड़ा गये, वे धर्म संकट में पड़ गये। सत्य कहते हैं, तो मुनि कोप करेंगे, झूठ कहते हैं तो धर्म-च्युत होते हैं। जानकर भी उत्तर नहीं देते हैं तो अनृत के समान पाप लगता है, अतः बोले—"दानव! कुछ बात तो तुम्हारे साथ इसके विवाह की हुई थी। किन्तु क्वारी कन्या के विवाह की बातें सैकड़ों के साथ होती है। पति तो वही होता है, जो मुझे साक्षी करके कन्या का पाणिग्रहण करता है। भृगु मुनि ने मेरे सामने मुझे साक्षी करके इसका पाणिग्रहण किया है, अतः वे ही इसके धर्मपूर्वक पति हैं और यह सती उन्हीं की धर्मपत्नी है।"

दानव को धर्म थोड़े ही सीखना था, उसे तो पुलोमा का परिचय पाना था। अतः वह परिचय पाकर शूकर का रूप रख कर पुलोमा को लेकर भाग निकला। अग्निदेव का मुख फक्क पड गया। पुलोमा के गर्भ में भृगु मुनि का परम तेजस्वी अमोघवीर्य था। वह गर्भिणी थी, प्रसव-काल सन्निकट हो था, दानव के

भय से भयभीत हुई पुलोमा कुररी पक्षी की भाँति चिल्लाती और केला के पत्ते की भाँति काँपती जाती थी। अत्यन्त भय के कारण उसका गर्भ-च्युत हो गया। अमोघवीर्य ऋषि के तेजस्वी पुत्र ने पैदा होकर ज्योंही उस दानव को देखा, त्यों ही वह भस्म होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

अपने तेजस्वी पुत्र को गोद में लेकर भृगु-पत्नी रोती हुई आश्रम में आई। मुनि स्नानादि से निवृत्त होकर आ गये। अपनी पत्नी से सब वृत्तान्त सुनकर मुनि के नेत्र क्रोध से लाल-लाल हो गये। वे बोले—"तुम्हारा परिचय दानव को किसने दिया?"

भृगु-पत्नी ने कहा—"भगवन्! अग्निदेव ने उसे बता दिया था।"

इतना सुनते ही मुनि ने अग्नि को शाप दिया—"जाओ तुम आज से सर्व-भक्षी हो जाओ।"

अग्निदेव ने कहा—"मुनिवर! आप कैसी विचित्र बातें कर रहे हैं। मैं न बताता तो भी आप अप्रसन्न होते, झूठ बोलता तो भी मेरा देवत्व नष्ट होता। सत्य कहने पर आपने शाप दे दिया। अच्छी बात है, सर्वभक्षी होने पर मैं फिर आपके पूजा योग्य कैसे रहूँगा। लीजिये, मैं सत्याग्रह किये देता हूँ।" यह कह कर अग्नि, अग्नि-कुण्डों से अन्तर्धान हो गये।

अग्नि के अन्तर्धान होते ही तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। यज्ञ, अग्निहोत्र सब बन्द हो गये। देवताओं के भाग नहीं पहुँचने लगे। देवता भूखों मरने लगे। सब दौड़े-दौड़े ब्रह्माजी के पास गये, ब्रह्माजी ने अग्नि को बुलाया, सब बातें पूछीं। अग्निदेव ने अपने को निर्दोष बताया। ब्रह्माजी को तो समझौता कराना था। जो हो गया सो हो गया, ऋषियों का वाक्य झूठा तो हो नहीं सकता।

ब्रह्माजी ने कहा—"अग्निदेव ! कोई चिन्ता की बात नहीं। आप तो सबको पवित्र करने वाले हैं। आपको स्पर्श करके सब पवित्र होते हैं। तुम पूरे सर्वभक्षी न होगे, तुम्हारी अपान देश की ज्वालायें तथा मांस भक्षण करने वाला अंश ही सर्वभक्षी होगा। सर्वभक्षी होने पर भी आप देवताओं को पूर्ववत् हवि पहुँचाते रहेंगे। आपकी पवित्रता में अणुमात्र भी अन्तर न पड़ेगा। तुम तो देवताओं के मुख हो। सदा पवित्र हो, इस हठ को छोड़ दो।

ब्रह्माजी के ऐसा कहने पर अग्निदेव ने अपना हठ छोड़ दिया। उनकी पवित्रता में क्या अन्तर होना था। सूर्य की किरणें सभी स्थानों पर पड़ने पर भी पवित्र ही बनी रहती हैं।

इस प्रकार अग्निदेव ने स्वधा के साथ विवाह करके बहुत से पुत्र पौत्रों को उत्पन्न किया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! यह मैंने आप से संक्षेप में अग्नि के वंश का वर्णन किया। अब आगे दक्ष प्रजापति की पंद्रहवीं और सोलहवी स्वधा तथा सती के सम्बन्ध की भी कथाओं को कहूँगा। आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

एक अग्नि सर्वत्र रहें व्यापक सब थल महं।
एक करहिं पयपान रहें नित सागर जल महं॥
जठर माँहि जो रहें पचावें अन्न पान कूँ।
एक भाग यज्ञीय पठावें उभय यान कूँ॥
एक असंस्कृत घरेलू, अग्नि पाक जिहितें करहिं।
आदि अग्नि तो एकई, रूप विविध तेई धरहिं॥

पितरों के वंश का वर्णन

[१७६]

अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः ।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥
तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा ।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे ॥ ❀

(श्री भा० ४ स्क० १ अ०, ६३, ६४ श्लोक)

छप्पय

नित्य पितरगण षष्ठ बर्हिषद सोमप साग्निक ।
अग्निष्वात्ता और आज्यपा कहें निरग्निक ॥
इन सबने मिलि स्वधा विवाहीं दक्ष कुमारी ।
इनतें तनया उभय भईं जो प्रभु की प्यारी ॥
कन्या वयुना धारिनी, स्वधा जनीं जगतें विरत ।
पारंगत परमार्थ महँ ब्रह्मवादिनी तप निरत ॥

❀ मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पितरों के अग्निष्वात्त, बर्हिषद, सोमप, आज्यप, साग्निक और निरग्निक ये छः गण हैं । इन सबकी पत्नी दक्षकन्या स्वधा हुईं । इन पितरों से स्वधा के धारिणी और वयुना नाम की दो कन्यायें हुईं । वे दोनों ब्रह्मवादिनी थीं और ज्ञान-विज्ञान में पारगता थीं ।"

सृष्टि का विषय बड़ा गहन है। यदि हम प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानें, तो हमारे पिता के पिता थे, इसमें कोई प्रमाण नहीं; ये ही हमारे माता-पिता हैं इसमें क्या प्रमाण ? हमारी आँखें हैं या पीठ है इसमें भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। अनुमान से ही सिद्ध होता है कि सब लोगों के पीठ है तो हमारे भी होगी। सबके आँखें हैं तो हमारे भी होंगी। अनुमान भी सदा सत्य नहीं होता। उसमें भी कभी-कभी बड़ी गड़बड़ हो जाती है, इसलिये आस्तिक-शास्त्रों ने 'शब्द' या शास्त्र प्रमाण को ही मुख्य माना है जिसे आप्तवाक्य या आर्षवाक्य भी कहते हैं। त्रिकालज्ञ मुनियों ने जो अपने अनुभव से कहा है वही सत्य है।

सृष्टि की सब योनियों को मिलाकर चौरासी लाख योनि मानी हैं। उन चौरासी लाख योनियों का दस प्रकार की सृष्टि में समावेश हो जाता है। संसार के समस्त प्राणी दशधा सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं। इन दश में छः प्राकृत सृष्टि हैं तीन वैकृत और एक प्राकृत वैकृत में मिली हुई। वे दस प्रकार ये हैं—(१) महत्तत्व की सृष्टि, (२) अहंकार की, (३) पञ्चतन्मात्राओं की, (४) इन्द्रियों की, (५) इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं की, (६) पंच पर्वा अविद्या की, ये छः तो प्राकृत सृष्टि कही जाती है। तीन वैकृत ये हैं (७) स्थावरों वृक्ष आदि की सृष्टि, (८) तिर्यक् पशु पक्षी आदि की। (९) मनुष्यों की इनके अतिरिक्त एक देव सर्ग है। देवताओं की गणना पहिले प्राकृत सर्ग में कर ही चुके हैं, उन प्राकृत देवताओं के अतिरिक्त वैकृत देव भी होते हैं, जो स्थूल सृष्टि के अनन्तर ऋषियों से उत्पन्न होते हैं। उनके आठ भेद हैं—(१) स्वर्गस्थ देव गण, (२) पितर, (३) असुर, (४) गन्धर्व अप्सरा, (५) यक्ष राक्षस, (६) सिद्ध, चारण, विद्याधर, (७) भूत, प्रेत, पिशाच, (८) किन्नरादि ये सभी सूक्ष्म शरीर वाले होने से

देव कहे गये हैं। इनमें से जो पितर हैं, वे दो प्रकार के होते हैं। एक तो नित्य पितर दूसरे ये साधारण। साधारण पितर वे कहलाते हैं जो यहां से मर कर पितर लोक में जाते हैं। जैसे एक तो स्वर्ग में रहने वाले नित्य देवता होते हैं, जो देवयोनि में उत्पन्न होकर ही दिव्य सुखों का स्वर्गादि लोकों में उपभोग करते हैं। दूसरे पुण्योपार्जित देवता होते हैं। इस लोक में इष्टापूर्ति कर्म करने से पुण्य के प्रभाव से देवता बन कर स्वर्ग में जाते हैं। इन सभी देवताओं के सभी के स्वामी इन्द्र होते हैं; इसीलिये वे 'देवराज' कहलाते है इसी तरह नित्य पितर तो सदा ही पितृ-लोक मे निवास करके सभी प्राणियों की वंशवृद्धि की इच्छा से वे महा-समाधि में स्थित रहते है। दूसरे जो गृहस्थी मरकर पितर लोक में जाते हैं, जिनके वंश के लोग उनके मरने पर उनके लिये जो श्राद्ध तर्पण करते हैं, वह कव्य बनकर उन्हें सूक्ष्म रूप से मिलता से। इन सब पितरों के स्वामी यम हैं, इसीलिये सूर्यपुत्र भगवान् यम पितृ-राज कहलाते हैं।

नित्य पितरों के मुख्यतया छः गण है। अग्निवात्त, बर्हिषद्, सोमप, आज्यप, साग्निक और निरग्निक। जिन्होंने स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा पितृ-लोक प्राप्त किया है वे नित्य पितर-अग्निष्वात्त कहलाते हैं। जिन्होंने वैदिक विधि से अग्निहोत्र यज्ञ यागादि करके पितृ-लोक प्राप्त किया है वे नित्यपितर-बर्हिषद् कहलाते हैं। यज्ञ में जिन्हें 'सोम' का भाग मिलता है, वे पितर सोमप कहलाते हैं। यज्ञ में जो घृत का ही पान करते है, उन नित्य पितरों की 'आज्यप' संज्ञा है। श्राद्ध दो प्रकार का होता है, एक साग्निक श्राद्ध, एक अग्नि-रहित केवल पिण्डों का ही श्राद्ध। जो अग्नि-द्वारा आहुतियों के भागों का भक्षण करते हैं, वे साग्निक-पितर होते हैं और जो बिना अग्नि के ही अपने

भाग को ग्रहण कर लेते हैं वे निरग्निक-पितर कहलाते हैं। इन सब पितरों को धर्म के जानने वाले गृहस्थ नित्य प्रति तिल-तर्पण के द्वारा तृप्त करते हैं। समय-समय पर श्राद्ध करके इनके निमित्त भाग देते हैं। इन सब पितरों के साथ दक्षकुमारी स्वधा का विवाह हुआ है। जैसे अग्निहोत्र में अग्नि की पत्नी 'स्वाहा' का नाम लेकर आहुति देते हैं, तो वे उसे ग्रहण करके यथास्थान पहुँचा देते हैं। उसी प्रकार पितरों के सब कार्यों में 'स्वधा' का उच्चारण करके जल आदि दिया जाता है। पितरों की तृप्ति श्राद्ध और तर्पण से होती है। पहिले पितरों के साथ अग्नि भाग नहीं लेते थे, जब पितरों को खाते-खाते अजीर्ण हो गया, तब उन्होंने अग्निदेव की सहायता ली, क्योंकि अग्नि दीप्त हो जाने पर अजीर्ण आदि सब रोग शान्त हो जाते हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जैसे त्रयीअग्नि का आरम्भ महाराज पुरूरवा से हुआ इसी प्रकार पहिले पहल श्राद्ध की प्रथा किस ऋषि ने प्रचलित की? पितरों को अजीर्ण क्यों हो गया। अग्नि पितरों के साथ भाग क्यों लेने लगे। यदि आप उचित समझें, तो इन बातों को भी संक्षेप से हमें सुना दीजिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनिवर! सृष्टि के आदि में देवता, पितर, ऋषि आदि सब उत्पन्न हुए। फिर अग्निहोत्र आदि कर्मों का प्रचार हुआ। देवता, पितरों को यज्ञ में भाग मिलता था, देवता पितर तो अमर ही थे। पृथ्वी लोक में तब तक कोई मरता नहीं था। ऋषि मुनि राजा जब तक चाहते जीते थे जब इच्छा होती तब सशरीर स्वर्ग चले जाते। मरने का प्रश्न ही नहीं था। जब कोई मरता ही नहीं, तो श्राद्ध-तर्पण किसके निमित्त किया जाय? किन्तु इस सृष्टि में तो सदा

परिवर्तन होता ही रहता है। आवश्यकता ही अविष्कारों की जननी है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह तो पहले ही बता चुका हूँ, कि भगवान् ब्रह्मा से सृष्टि के आदि में मरीचि अत्रि आदि दश मानस पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें भगवान् अत्रि के दत्त, दुर्वासा और चन्द्रमा ये तीन पुत्र तीनों देवों के अंश से जन्मे। भगवान् दत्तात्रेय के एक निमि नामक पुत्र हुआ। वह बड़ा तेजस्वी ज्ञानवान् और विचारशील था। उन्ही निमि के 'श्रीमान्' नामक एक परम सुदर पुत्र उत्पन्न हुआ। वह इतना रूपवान् था, कि पिता उसके सौंदर्य को देखते-देखते अघाते ही नही थे। वह एक हजार वर्ष तक तपस्या करता रहा। दैवयोग से वह मर गया। निमि मुनि को उसकी मृत्यु पर बड़ा क्लेश हुआ। दुःख के कारण उनकी इन्द्रियाँ शिथिल सी हो गईं। वे बार-बार सोचने लगे—"मैं अब अपने इस पुत्र के निमित्त क्या करूँ।" भगवान् की प्रेरणा से उनके अन्तःकरण में एक संकल्प उठा—"मरकर यह जिस लोक में भी गया हो, क्यों न मैं इसके निमित्त कुछ श्रद्धा से कार्य करूँ।" इस संकल्प के उठते ही उन्होंने श्राद्ध करने का निश्चय किया। उन्होने सोचा—"मेरे मृत पुत्र को कौन-कौन सा अन्न अत्यन्त प्रिय था।" इस बात को सोचकर उसे जो भी अन्न प्रिय थे, सब एकत्रित किये। फिर अमावस्या के एक दिन पूर्व सदाचारी वैदिक ब्राह्मणों को उन्होंने निमन्त्रित किया। अमावस्या के दिन सबको श्रद्धा से बुलाया। दक्षिणाभिमुख करके दर्भ बिछाकर ब्राह्मणों को बिठाया, बिना नमक का ऋषि अन्न उनके सामने परोसा। श्रीमान् का नाम गोत्र उच्चारण करके उसे पिंड दिये। यह सब करने के अनन्तर उनके मन में संदेह हुआ, कि यह तो मैंने नये ही धर्म का निर्माण सा कर डाला। मेरे पूर्ववर्ती ऋषि-मुनियों ने

तो ऐसा किया नहीं। मुझसे यह धर्म सांकर्य्य तो नहीं हो गया। मैंने किसी नूतन धर्म की पद्धति तो नहीं चला दी। इस विचार के आते ही उन्होंने अपने वंश के पूर्वज भगवान् अत्रि का स्मरण किया।"

उनके स्मरण करते ही उसी क्षण भगवान् अत्रि उनके सम्मुख प्रकट होकर कहने लगे—"वत्स! तुमने मुझे क्यों स्मरण किया है? तुम इतने चिन्तातुर क्यों हो रहे हो? अपनी चिन्ता का कारण मुझे बताओ। मैं उसके निवारण का यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा।"

यह सुनकर निमि मुनि बोले—"प्रभो! मैंने इस प्रकार बिना सोचे समझे अन्तःकरण की प्रेरणा से देवयज्ञ से पृथक् एक पितृ-यज्ञ किया है। मेरे मन में करने के अनन्तर यह शंका हो गई, कि यह कर्म कहीं अशास्त्रीय तो नहीं है।"

यह सुनकर भगवान् अत्रि बोले—"वत्स! तुम चिन्ता मत करो। तुम परम तपस्वी हो, तुमसे भूल में भी धर्म विरुद्ध आचरण नहीं हो सकता। तुमने जो यह पितृयज्ञ किया है, यह शास्त्रीय है, इसकी सर्व प्रथम विधि भगवान् ब्रह्माजी ने ही प्रचलित की थी, वही शुद्ध अन्तःकरण होने से तुम्हारे हृदय में प्रकट हो गई। आज से सभी लोग इसी पितृयज्ञ के द्वारा अपने समस्त पितरों को तृप्त किया करेंगे। तपोधन! तुमने यह अत्युत्तम विधि प्रचलित की।" इतना कहकर भगवान् अत्रि ने उन्हें श्राद्ध की साङ्गोपांग विधि बताई। उसी विधि से सभी लोग पितरों का श्राद्ध तर्पण करने लगे।"

देवता पितरों को बड़ा आनन्द हुआ। सभी धर्मात्मा ऋषि मुनि श्राद्ध में पितरों के निमित्त अन्न जल देते। चारों वर्ण के लोग भी तर्पण करने लगे। पितर भी मनमाना भोजन करने

लगे। आवश्यकता से अधिक भोजन करने से पितरों के फूलने लगे, उन्हें अजीर्ण और अपच होने लगी। बिना जप सर्वदा खाते रहने से ऐसा होना अवश्यम्भावी था, सब पितर मिलकर लोक पितामह स्वयंभू भगवान् ब्रह्मा के पास गये और दन्डवत् प्रणाम करके बोले—"प्रभो! आप हमारी रक्षा करें हमें भारी संकट से छुड़ावें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया, बात बताओ! तुम लोग क्यों दुखी हो किसने तुम्हें कष्ट दिया? क्या कष्ट है तुम्हें? कष्ट का कारण समझ कर उसके निवारण का उपाय बताऊंगा।"

पितरों ने कहा—प्रभो! सभी लोग पितृयज्ञ, श्राद्ध करने लगे हैं। श्राद्धान्न खाते-खाते हमें अजीर्ण हो गया है?" मन्दाग्नि हो गई है?"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले—"देखो, जैसे तुम्हें तो मैंने तुम्हारे आहार का प्रबन्ध किया है। अब तुम कहते हो, हम पचा नहीं सकते। अच्छा, एक काम करो। ये अग्निदेव जो मेरे समीप बैठे हैं, तुम लोगों के साढ़ू हैं। तुम्हारी पत्नी स्वधा और इनकी पत्नी स्वाहा दोनों सगी बहिनें हैं, इसलिये आज से अग्नि भी तुम्हारे साथ भोजन किया करेंगे।"

यह सुनकर अग्नि भी प्रसन्न होकर बोले—"अच्छी बात है आज से यही बात पक्की रही। मैं भी तुम्हारी पंक्ति में बैठ जाया करूंगा। मेरे साथ बैठकर खाने से तुम्हें कभी अजीर्ण न होगा। अग्नि मन्द होने से ही तो अजीर्ण होता है। मैं सबको भस्म कर दिया करूंगा।"

यह सुनकर पितरों को बड़ी प्रसन्नता हुई। अब वे निश्चिन्त हो गये। उसी दिन से श्राद्ध में प्रथम पिण्ड अग्नि को दिया जाता है। पहिले यह भी डर रहता था, कि ब्रह्मराक्षस आकर पितरों

के हाथ से उनका आहार छीनकर कहीं भाग न जायें। अग्नि के समीप रहने से राक्षस दूर ही रहते हैं। इस प्रकार पितरों का श्राद्ध आरम्भ हुआ।

गृहस्थियों को पितरों का पूजन अवश्य करना चाहिये। प्रसन्न हुए पितर वंश की वृद्धि करते हैं। प्रत्येक गृहस्थी से पितर यही आशा रखते हैं, कि वह उनके निमित्त श्राद्ध तर्पण करें।

सभी पितरों ने स्वधा के साथ विवाह किया, किन्तु उनका वंश आगे चला नहीं। उनके दो पुत्रियाँ हुईं, जिनके नाम धारिणी और वयुना थे। ये दोनों ही ज्ञान विज्ञान में पारंगत तथा ब्रह्मवादिनी थीं। उन्होंने विवाह ही नहीं किया। अतः आगे इनका वंश नहीं चला।

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार मैंने प्रजापति दक्ष की पन्द्रह कन्याओं के वंशों का वर्णन किया। अब सबसे छोटी जो सतीजी हैं, उनकी कथा आपसे कहूँगा। उसे आप अत्यन्त मनोयोग के साथ श्रवण करें, यह कथा बड़ी ही विचित्र है।"

छप्पय

जे श्रद्धातैं करें श्राद्ध विधिवत तिल तर्पन।
तिनपै किरपा करें प्रजाहित निरत पितर गन॥
अन्न श्राद्ध शुचि खायँ विप्र मुख तैं स्वीकारें।
प्रजा वृद्धि बहु होय यही मन सदा विचारें॥
पितर स्वधा उच्चारते, सुर स्वाहा तैं लेत हैं।
दाता श्रद्धा निरखिकें, मन वांछित फल देत हैं॥

—:o:—

दक्ष कुमारी सती का शिवजी से विवाह

[१८०]

भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः॥
पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानगसे रुषा।
अप्रौढैवात्मनाऽऽत्मानमजहाद्योगसंयुता ॥*

(श्री भाग० ४ स्क० १ अ०, ६५ ६६ श्लो०)

छप्पय

दक्षकुमरि लघु सती रूप गुण की जो खानी।
व्याही शिव के संग भक्तितैं भई भवानी॥
अर्ध अंग दे भये अर्धनारीनट ईश्वर।
सती सरिस को सतीं तज्यो तनु ततछिन नश्वर॥
हठ अघ को शोधन कर्यो, जग कीरति अक्षय करी।
पति निन्दा रूपी अनल, लगी देह छिन महँ जरी।

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! शंकरजी की पत्नी दक्ष-कुमारी सती भगवान् शंकरजी की सर्वथा अनुगामिनी थीं। फिर भी गुण और शील में उनके ही सदृश उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। उन्होंने युवावस्था प्राप्त होने से पहिले ही अपने पिता के कारण क्रोधवश योगाग्नि में अपना शरीर भस्म कर दिया, क्योंकि उनका पिता बिना अपराध के ही शंकरजी से द्वेष करता था।"

सर्व व्यापक अग्नि जो सृष्टि की स्थिति, उत्पत्ति, और संहार में प्रधान कारण हैं, उसमें से ज्वाला भी निकलती हैं और धूँआ भी निकलता है। प्राणियों के जीवनजल में शीतलता और मधुरता भी है, उसी से फेन भी निकलता है। भगवान् से ही धर्म की उत्पत्ति है और अधर्म को भी। धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, जीवन-मरण सभी की सृष्टि श्रीहरि से ही है। सृष्टि त्रिगुणात्मक है। शास्त्र इसी का विवेचन करते हैं, कि इस गुण दोषमय जगत् में यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है। ईश्वरों के चरित्र में भी कभी-कभी विपरीतता दिखाई देती है। वह विपरीतता हमारी मानवदृष्टि से दीखती है। वास्तव में तो ईश्वर में विपरीतता है ही नहीं। शिव के सभी कार्य मंगलप्रद और शुभ ही होते हैं, उनमें अमंगल और अशुभ की संभावना नहीं। जो ईश्वरों के कार्यों की आलोचना करते हैं, उन्हें मानवीय तराजू पर तोलते हैं वे पीछे पछताते हैं। हाथ मलते हुए रह जाते हैं।"

प्रजापति दक्ष प्रजावृद्धि में बड़े कुशल थे। ब्रह्माजी के प्रिय पुत्र थे। अपनी पन्द्रह पुत्रियों का विवाह करने के अनन्तर उन्हें सबसे छोटी सती के विवाह की चिन्ता हुई। सती बड़ी ही सुंदरी सुशीला और साध्वी थीं। दक्ष चाहते थे, मेरी इस पुत्री को सर्व गुण सम्पन्न पति मिले। सती विवाह योग्य हो गई थीं। ऋषि-मुनियों में इतना तेजस्वी, तपस्वी उन्हें कोई दिखाई न दिया। तब वे लोकपितामह ब्रह्माजी के समीप गये। ब्रह्मलोक में पहुँचकर उन्होंने अनेक देवता, सिद्ध, ऋषि-मुनियों से वंदित भगवान् स्वायंभू चतुरानन के दर्शन किये। उनके चरणों में श्रद्धा से प्रणाम करके उनकी आज्ञा से वे समीप के ही एक सुन्दर आसन पर बैठ गये। अपने प्रिय पुत्र दक्ष को देखकर देवाधिदेव भगवान् कमलासन अत्यन्त प्रसन्न हुए। कुशल प्रश्न के अनन्तर ब्रह्माजी ने

कहा—"दक्ष ! तुम तो बहुत दिनों में आये ? कहो संसार में सर्वत्र शान्ति तो है ? प्रजा की वृद्धि तो हो रही है ? तुम कुछ चिन्तित से दिखाई देते हो ?"

प्रजापति दक्ष बोले—"विभो ! सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है प्रजा की वृद्धि भी पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक हो रही है। आपकी सोलह बच्चियाँ थीं, उनमें से तेरह का विवाह तो मैंने धर्म के साथ कर दिया। एक का अग्निदेव के साथ और एक का पितरों के साथ। अब एक सबसे छोटी रह गई है। प्रभो ! वह अत्यन्त ही सुकुमारी सुशीला और सर्वगुणसम्पन्ना है। मैं चाहता हूँ; संसार में उसके लिये कोई सर्वश्रेष्ठ वर मिले। मेरी दृष्टि में ऐसा कोई आता नहीं। आप जिसके लिये आज्ञा कर दें, उसी के साथ मैं उसका विवाह कर दूँ।"

यह सुनकर ब्रह्माजी बोले—"देखो, भैया ! संसार में हम तीन ही देव सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें भी शिवजी सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे देवाधिदेव महादेव हैं। हम सब उनकी चरणवन्दना करते हैं। हमारी तो इच्छा है, सती का विवाह तुम उन्हीं के साथ कर दो।"

इस पर दक्षजी कुछ अन्यमनस्क भाव से बोले—"हाँ, महाराज ! यह तो सत्य ही है, वे श्रेष्ठ देव हैं, किन्तु उनकी चर्या मुझे प्रिय नहीं। देखिये, वे नंग धड़ंगे रहते हैं, उनके संगी साथी प्रेत, पिशाच हैं। उन्हें साथ लेकर श्मशान में नाचते हैं। नर-मुंडों की माला पहिनते हैं, सम्पूर्ण शरीर में चिता की भस्म लगाते हैं। सब अंगों में भूषण के स्थान में विषधर सर्प लपेटे रहते हैं। किसी साँप ने फुफकार मार दी, तो मेरी भोली-भाली सुकुमारी बच्ची डर जायगी। बैल पर वे चढ़ते हैं, बैल ने सींग ही मार दिया, तो बिचारी दुखी हो जायगी जटाओं में गंगाजी बहती हैं।

कभी बाढ़ ही आ गई तो, वह छोटी सी बच्ची बह जायगी। उनके न घर न द्वार, खप्पर में भीख मांगते हैं। ऐसा बताइये जिसके घरबार भी हो, वर भी अच्छा हो। महाराज, आप बुरा मानें चाहें भला, ये नंग-धड़ंगे भभूतिया बाबा तो मुझे अच्छे लगते नहीं। मेरी बच्ची इनके साथ में रहकर क्या सुख पावेगी ?"

यह सुनकर ब्रह्माजी अपनी दाढ़ी हिलाते हुए चारों मुखों से बड़े जोरों से हंस पड़े और हंसते-हंसते बोले—"अरे दक्ष ! तुम अभी तक बाहरी दृष्टि वाले ही बने रहे। अरे, भैया ! शिवजी तो साक्षात् ईश्वर है। उनके सभी कार्य अलौकिक है, वे तीनों लोकों के वन्दनीय हैं। उनके प्रति तुम्हें ऐसे भाव नहीं रखने चाहिये। विष्णु भगवान् भी उनका पूजन वन्दन करते हैं, मै भी उनका चरणधूलि को अपने सिर पर श्रद्धा सहित धारण करता हूँ। यदि वे तुम्हारी पुत्री को स्वीकार कर लेंगे, तो सती के भाग्य खुल जायेंगे। वह हम लोगों की भी पूजनीया जगन्माता बन जायगी। इस विषय में विचार और विलम्ब करने की आवश्यकता नही।"

ब्रह्माजी तो पिता ही ठहरे, उनकी आज्ञा भला दक्ष प्रजापति कैसे टाल सकते थे। सप्तर्षियों के द्वारा सन्देश भेजा। ब्रह्माजी की आज्ञा भी कही। शिवजी तो भोलेनाथ ही ठहरे, उन्होंने कह दिया—"हमें विवाह आदि की आवश्यकता तो है नही। अपने ध्यान में मग्न रहते है, किन्तु जब आप सबका आग्रह है, लोक पितामह ब्रह्मदेव की आज्ञा है, तो उसे टाल भी नहीं सकते, अच्छी बात है।"

शिवजी के स्वीकार करने पर सती देवी को परम प्रसन्नता हुई। प्रजापति दक्ष ने वैदिक विधि से सती का विवाह भगवान्

भूतनाथ के साथ कर दिया। सती को लेकर शिवजी अपने कैलाश पर्वत पर चले गये और वहाँ तपस्या में मग्न हो गये। इस प्रकार सबसे छोटी दक्ष पुत्री का विवाह भगवान् सदाशिव के साथ हुआ।

यह सुनकर विदुरजी बोले—"भगवन्! परम साध्वी पतिव्रता सती की सन्तानों का भी वर्णन आप करें। शिवजी के सकाश से उनके कितनी सन्तानें हुईं? जैसे और दक्ष कुमारियों के पुत्र पुत्रियों के वंश का वर्णन किया है, उसी प्रकार सती शंकर के वंश को कहें।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! सती का वंश हुआ हो, तो उसका वर्णन करूँ भी, सती तो पूरी युवावस्था को भी प्राप्त नहीं हुई थीं, तभी अपने पिता के अपमान से कुपित होकर अपने आप योगाग्नि उत्पन्न करके भस्म हो गईं।"

यह सुनकर आश्चर्य के सहित विदुरजी पूछने लगे—"प्रभो! यह आप कैसी बातें कह रहे हैं! दक्ष तो अपनी सभी पुत्रियों से बड़ा स्नेह करते थे। फिर सतीजी तो सबसे छोटी सन्तान थीं। प्रायः माता पिताओं का सबसे अधिक स्नेह, छोटी सन्तानों पर ही होता है। दक्ष से ऐसा कौन-सा अपराध बन गया, जिसके कारण दुस्त्यज प्राणों को भी सती ने स्वेच्छा से त्याग दिया। भगवन्! प्राणों की रक्षा तो प्राणी सभी उपायों से करते हैं। जब तक कोई घोर वेदना न हो, तब तक कोई प्राणों को छोड़ता नहीं।"

मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! यह सत्य है, कि प्राणियों को प्राण सबसे अधिक प्यारे होते हैं, किन्तु प्राणों से भी अधिक प्रिय स्त्रियों के लिये पति का गौरव है। सती साध्वी पतिव्रता स्त्रियाँ सब कुछ सह सकती हैं, किन्तु वे अपने पति का अपमान सहन

नहीं कर सकतीं। भूल से भी उनसे कभी पति की इच्छा के विरुद्ध आचरण हो जाता है, तो उसका प्रायश्चित्त वे प्राणों की बलि देकर भी करती हैं। दक्ष प्रजापति ने निरपराध शिवजी का द्वेषवश बहिष्कार किया था। उनके प्रति अपना विरोध-भाव प्रदर्शित किया था।"

यह सुनकर दुगुने आश्चर्य के साथ विदुरजी ने पूछा—"प्रभो! आप एक से एक अद्भुत बात कहकर मेरे कुतूहल को आवश्यकता से अधिक बढ़ा रहे हैं। शिवजी तो चराचर विश्व के गुरु हैं। वैर मनुष्य उसी से करते हैं, जो किसी से द्वेष करता है। शिवजी का तो सभी के प्रति समान भाव है, वे स्वयं भोलेनाथ शान्त मूर्ति हैं। अपनी आत्मा में ही सदा रमण करते रहते हैं। उनसे प्रजापति दक्ष ने वैर क्यों किया? श्वसुर तो अपने जामाता को पुत्र से भी बढ़ कर प्यार करते हैं, इन दोनों में ऐसा विद्वेष किस कारण हो गया? प्रभो! इस सम्पूर्ण कथा को विस्तार के साथ मुझे सुनावें। मुझे यह सब सुनने को बडा कुतूहल हो रहा है।"

विदुरजी की ऐसी उत्सुकता देखकर मैत्रेय मुनि हँसे और बोले—"विदुरजी! बड़ों की बड़ी ही बाते होती है। अच्छा, सुनिये, मैं विद्वेष का वृत्तान्त संक्षेप से सुनाता हूँ।"

छप्पय

बोले विस्मय-सहित विदुर मुनिवर तैं बानी।
प्रभो! कही का दक्ष-सती की अकथ कहानी॥
पुत्री प्रान समान प्रजापति दक्ष पियारी।
शान्त मूर्ति श्रीशम्भु चराचर गुरु त्रिपुरारी॥
जामाता अरु ससुर महँ, किहि कारन अनबन भई।
जा दुख तैं दुहिता दुखी, भई क्रोध करि जरि गई॥

प्रयागराज में प्रजापतियों का सत्र

[१८१]

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः ।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः ॥*

(श्री भग० ४ स्क० २ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

बोले मुनि मैत्रेय-विदुर ! सुनु शम्भु चरित प्रिय ।
हर गुन अघ हरि लेत होत हरषित अतिशय हिय ॥
तीरथराज प्रयाग याग मिलि करें प्रजापति ।
आये ऋषि मुनि देव सत्र शोभे अद्भुत् अति ॥
श्वेत नील वसना बहिन, सुरसरि अरु रविजा जहाँ ।
मिलें मध्य वट के निकट, भीर भई भारी तहाँ ॥

बड़ों की बड़ी वासनाएँ होती हैं, छोटों की छोटी। कहीं चले जाइये। जहाँ तक माया का सम्बन्ध है, फिर चाहे वे बड़े हों या छोटे, लटे हों या मोटे, अच्छे हों या खोटे, निन्दित हों या वन्दित, पदच्युत हों या पद-प्रतिष्ठित, किसी देश के हों, किसी

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पूर्व काल में सभी प्रजापतियों ने मिलकर एक यज्ञ किया, जिसमें सम्पूर्ण महर्षि, देवता मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियों के सहित वहाँ एकत्र हुए।"

वर्ण के हों, किसी जाति के हों, वही पद, प्रतिष्ठा की लालसा, वही छोटे-बड़े का भेद-भाव, वही मैं तू का प्रश्न, वही "मै यहाँ बैठूँगा तू वहाँ क्यों बैठ गया, मैं श्रेष्ठ हूँ, यह कनिष्ठ है, वह शुद्ध है यह भ्रष्ट है, यह शोभा युत है, यह धर्मच्युत है। इसी का नाम है भगवान् की माया। भगवान् भी जब क्रीडा करना चाहते हैं, तो इन मायिक व्यवहारों में ऐसे घुल-मिल जाते हैं, कि ज्ञानी पुरुषों को छोड़कर कोई भी यह अनुमान नहीं लगा सकता, कि ये माया से परे हैं। सब समझते हैं, यह भी हमारी ही भाँति हैं। उनसे लड़ते-भिड़ते हैं, राग-द्वेष करते हैं, खरी-खोटी सुनाते हैं। गुप्तचर-विभाग का अधिकारी जब चोरों का पता लगाने जाता है, तो चोर बन जाता है। साधुओं में कोई चोर छिपा हो, तो वह भी साधु बन जाता है, और मूड़ मुड़ा कर गेरुआ कपड़े पहिन कर सभी के सम्मुख यह दर्शाता है, मानों साक्षात् शंकरजी संन्यासी-रूप में आ गये हों, किन्तु यह वेष इसने बनावटी रखा है, इसे उसी के विभाग के विशिष्ट पुरुष भेदी ही जानते हैं। सर्वसाधारण तो स्वामी समझ कर पैर की धूलि लेते हैं। और वह भी हाथ उठा कर कमंडल को खटका कर; गंभीरता से कहता है "नारायण नारायण" ईश्वरों के चरित्रों को इसी दृष्टि से समझना चाहिए। यदि वे कहीं काम, क्रोध, लोभ, मोह करते से दिखाई दें भी; तो समझना चाहिए कि ये नर नाट्य कर रहे हैं। शिव-सती चरित्र भी ऐसा ही, नारी-हठ और पति-प्रेम तथा परस्पर में तनातनी का है।"

जब विदुरजी ने सती के योगाग्नि में स्वतः भस्म हो जाने का कारण जानना चाहा, तब महामुनि मैत्रेय कहने लगे—विदुरजी! संसार में चाहे सामान्य लोग व्यवहार करें या असामान्य, ईश्वर कोटि के माया के बिना व्यवहार बनता नहीं।

ऋषि, मुनि, देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी सभी माया का आश्रय लेकर ही कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। भगवान् की माया त्रिगुणमयी है।" तीनों गुण द्वन्दों से रहित नहीं हैं, अतः माया-पति की माया को वही पार कर सकता है, जिसने मायेश के पाद-पद्मों का आश्रय ग्रहण कर लिया है। मछुआ जाल डालता है, आस-पास की सभी मछलियाँ फँस जाती हैं, किन्तु जो मल्लाह के पैरों के पास होती हैं; वे बच जाती हैं। प्राचीन काल में महत्ता प्रदर्शन करने का साधन यज्ञों का विस्तार था। जो जितने अधिक यज्ञ करे, जितना बड़ा समृद्धशाली चिरकालीन यज्ञ करे, वह उतना ही बड़ा समझा जाता था। विदुरजी! कलिकाल में बड़प्पन यज्ञों से न रहेगा। उस समय जो जितना अधिक विनाशी हो।' विषय-भोगों में और नास्तिक विधर्मी विदेशी तथा राज्याधिकारियों की चापलूसी में; जो जितना ही अधिक धन अपव्यय करेगा, जिसके नाम के आगे जितनी ही बनावटी उपाधियाँ लगी रहेंगी, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ समझा जायगा। महाभाग! इसमें किसी का दोष नहीं, यह तो युगधर्म है।

हाँ तो उस समय सृष्टि का आरम्भ ही हुआ था। जिन्होंने सृष्टि की धर्मपूर्वक रचना में ब्रह्माजी का जितना ही अधिक सहयोग दिया, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ समझा गया। जिन्होंने प्रजा की वृद्धि की, लोक में अपना वंश स्थापित किया वे सभी लोग प्रजापति कहलाये। मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, अथर्वा, रुचि, कर्दम, मनु, दक्ष, अग्नि, धर्म आदि इन सभी की प्रजापति संज्ञा है।

सब प्रजापतियों ने सोचा—"अब तो पृथ्वी पर हमारी वंश-वृद्धि होने लगी। ब्रह्माजी ने यज्ञ-यागों की प्रथा प्रारम्भ कर ही दी है हम सब मिलकर एक बहुत बड़ा, हजारों वर्षों में समाप्त

होने वाला बृहद् यज्ञ क्यों न करें। इससे हम सबकी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी और धर्म का प्रचार भी होगा। मनुष्य करता है उन्नति के लिये, किन्तु उन्नति के साथ अवनति भी बिना बुलाये चली आती है। इसीलिये तो इसका नाम जगत् है, संसार-चक्र है। रथ के पहिये के भाँति घूमता रहता है। उन्नति के पश्चात् अवनति, अवनति के पश्चात् उन्नति। अवनति सदा उन्नति का वेष बना कर आती है। अपने रूप में आवे, तो उसे विदुरजी! कौन स्वीकार करे। कलियुग में वही उन्नत विचार का समझा जायगा, जो जहाँ-तहाँ चाहे जिनके हाथ का खा ले। चाहे जिससे वैध-अवैध सम्बन्ध कर ले। कुल गोत्र का, नियम मर्यादा का, धर्म कर्म का कुछ विचार न करे। इन सब कार्यों को साहसी लोग उन्नति और उत्थान के नाम से करेंगे। अस्तु—

सबने बृहद् यज्ञ का अनुमोदन किया। स्थान की खोज हुई। सभी ने एक स्वर से कहा—"गङ्गा यमुना की मध्य भूमि संसार में सबसे श्रेष्ठ सबसे सुन्दर और सबसे पावन तथा पुण्य प्रद है। उसमें भी जहाँ विष्णु पादाब्ज संभूता श्रीसुरसरि तथा सूर्यतनया भगवती कालिन्दी का संगम हुआ है, वह समन्त तीर्थों का सम्राट् प्रयागराज सबसे श्रेष्ठ है। अतः निश्चय हुआ कि यह यज्ञ गङ्गा यमुना के मध्य की रजत्-चूर्णिका के समान बालुका में किया जाय। सभी ने इसका अनुमोदन किया। सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई। यह माघ मास में—मकर की संक्रान्ति के अवसर पर—किया गया। जिसने भी सुना वही यज्ञ देखने दौड़ा आया। 'एक पंथ दो काज'—मकर गति रवि के माघ मास में तीर्थराज प्रयाग का संगम-स्नान और यज्ञ-दर्शन। तीनों लोकों की प्रजा उस यज्ञ में एकत्र हुई। आदि सत्युग का समय था तब तक देवता, असुर गन्धर्व प्रत्यक्ष रूप से पृथ्वी पर आते जाते थे और मनुष्यों के

साथ बैठने-उठने आदि का व्यवहार करते थे। स्वर्गीय अप्सरायें प्रत्यक्ष आकर राजाओं की सभा में नृत्य करती थीं, गन्धर्व गाते थे। प्रजापति तो देवता और पितरों के भी जनक हैं, अतः सभी उस यज्ञ में आकर सेवा-कार्य करने लगे। महान् जमघट हुआ, अपार भीड़ हुई। दर्शनीय दृश्य था। चारों ओर सुन्दर बढ़िया वेदियाँ बनी थीं। कुशाएँ बिछी थी, सुवर्ण के भांति-भांति के यज्ञीय पात्र रखे थे। पत्र, पुष्प और फलों की भरमार थी। पीले-पीले रेशमी वस्त्र पहिने ऋषि मुनि इधर से उधर उत्साह में भरे घूम रहे थे। "देखिये, आप उस सामग्री को लाना भूल गये। अजी! आप अच्छी प्रकार से देखिये, मैंने सम्हाल कर रखी है। हाँ, हाँ मिल गई, मिल गई। घृत आ गया, चरु तैयार करो, प्रधान देव की पीठ की रचना प्रथम होनी चाहिये। अरणि मथन का मुहूर्त कब है, पूजन कब आरम्भ होगा। ऋत्विज सदस्य सब को एकत्रित करें। ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, आचार्य सब के आसन पृथक्-पृथक् अति शीघ्र तैयार रहें।" इस प्रकार चारों ओर यज्ञ की तैयारियाँ हो रही थीं, सभी व्यस्त थे। सभी प्रजापति आ गये थे। यज्ञ आरम्भ हुआ, सहस्रों वर्षों तक होता रहा। अन्त में पूर्णाहुति का समय आया। पूर्णाहुति के लिये विविध भांति की तैयारियाँ होने लगी, प्रजापति आ गये थे। लोक पितामह ब्रह्मा ने पधार कर सभापति का आसन ग्रहण कर लिया था, किन्तु अभी तक दक्ष प्रजापति नहीं आये। इस प्रथम प्रजापतियों के चुनाव में ब्रह्माजी ने उन्हें प्रजापति परिषद् का प्रधान बना दिया था। प्रधान तो प्रधान ही ठहरे। प्रधान को प्रधान की ही भांति आना चाहिये। पहिले आकर बैठ जायँ, तो किसे पता चले कौन है। जब सभा खचाखच भरा हो, तो खूब ठाट बाट से गम्भीरता के साथ जाना चाहिये। आदमी

आगे से हटो-हटो, रास्ता दो, कहते हुये चलें। सभा में खलबली मच जाय। लोग चकित हो कर देखने लगें। परस्पर में पूछने लगें—"ये कौन हैं, ये कौन है ? इनका इतना आदर सभी क्यों कर रहे हैं ?" इस प्रकार जाने से प्रतिष्ठा होती है। सब सम्मान करते हैं।

सभी ऋषि-देवता एकत्रित हो गये। ब्रह्मा जी उच्चासन पर विराजमान हुए। उनकी बगल में भगवान् भूतनाथ बैठे थे। आस-पास में सभी प्रजापति, देवता, ऋषि, मुनि अपने-अपने आसनों पर सुशोभित हो रहे थे। सभी बार-बार पूछते—"क्यों जी, अभी प्रजापतियों के पति श्री दक्ष जी नहीं पधारे ? उनके बिना पूर्णाहुति का कार्य कैसे हो। सभी बड़ी उत्सुकता से दक्ष प्रजापति की प्रतीक्षा कर रहे थे इतने ही में बड़े ठाट-बाट से सज-धज कर दक्षजी आते हुए दिखाई दिये। सब के मुख, कमल की भाँति खिल गये। सभी उत्सुकता और संभ्रम के सहित उनकी ही ओर देखने लगे। बहुत से सेवक आगे-आगे पथ परिष्कृत करते हुए चल रहे थे, बहुत से सेवक पीछे-पीछे आ रहे थे। इस प्रकार बहुत से अनुयायियों से घिर कर प्रजापति दक्ष ने सभा में प्रवेश किया। उनके तेज को देखकर सभी स्तम्भित रह गये। सभी सहसा उठ-उठकर उन्हें प्रणाम करने लगे। देवता, ऋषि, मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, उरग, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, सब के सब अपने-अपने आसनों से उठकर प्रजापति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने लगे। दक्ष उन सब की ओर गम्भीरता से देखते और थोड़ा सिर हिलाकर उनके प्रणाम का उत्तर देते।

प्रधान मन्च के समीप पहुँच कर ऋषियों तथा ऋत्विजों ने उनका स्वागत किया, बैठने को उच्चासन दिया, पुष्पों को

मालाएँ पहिनाईं। वे अपनी टेढ़ी दृष्टि से बड़े कौशल से देखते जाते थे, कौन मुझे देखकर नहीं उठा। उन्होंने देखा, और सब ने तो उठकर मेरा सम्मान किया, किन्तु एक ब्रह्माजी नहीं उठे और एक शिवजी नहीं उठे। ब्रह्माजी नहीं उठे तो उनका न उठना उचित ही था। पिता थे, और यदि उठ पड़ते तो भी कोई बात नहीं थी, किन्तु यह शङ्कर क्यों नहीं उठा। इसके साथ तो मैंने अपनी पुत्री का विवाह किया है। जामाता पुत्र के समान होता है, ससुर गुरु माना गया है। यह तो मेरा सरासर अपमान है। भरी सभा में मेरा घोर तिरस्कार है। मुझे अपमानित करने को ही शिव ने ऐसी अविनय प्रदर्शित की है। ये सब लोग क्या सोचते होंगे, कि जमाई होकर शङ्कर न उठा, न वाणी से ही मेरा स्वागत-सत्कार किया।" इस प्रकार मन में सोचकर और रक्त का सा घूंट पीकर अनिच्छा पूर्वक ब्रह्माजी को प्रणाम करके उनकी आज्ञा से अपने आसन पर बैठ गये।"

छप्पय

दूरि-दूरि तैं दौरि दौरि देवादिक आये।
गङ्गा यमुना मध्य यज्ञ लखि सब हरषाये॥
उच्चासन पै विश्वजनक श्रीमख विराजै।
चन्द्रमौलि ढिंग दिव्य तेज रविसम विभ्राजै॥
दक्ष प्रजापति मानयुत, आये सब ठाढ़े भये।
विधि सम अपनी पीठ पै, बैठे ही हर रह गये॥

दक्ष प्रजापति का शिवजी के ऊपर कोप

[१८२]

एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत् ।
पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत् ॥
गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचन ।
प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० २ अ० ११, १२ श्लोक)

छप्पय

समुझि अवज्ञा दक्ष कोप तैं भ्रष्ट भई मति ।
अरुण वरण मुख भयो, भ्रकुटि चढ़ि वक्र भई अति ॥
नयन रक्त सम भये कोप की किरनें छिटकें ।
कटकटाइकें दांत, पैर पृथिवी पै पटकें ॥
भुज उठाइ शिव कूँ निरखि, अण्ड बण्ड बोले वचन ।
ज्यों द्विप लखि भूखे कुकुर, कछु न कहें हर त्यों मगन ॥

---

* शिवजी पर क्रोध करके दक्ष प्रजापति सबको सुनाते हुए कह रहे हैं—"देखो, इसने मेरा शिष्यत्व स्वीकार किया है; क्योंकि इसने साधु पुरुषों के समान मेरी सावित्री सदृश कन्या का ब्राह्मणों और अग्नि के सम्मुख पाणि-ग्रहण किया है। मेरी कन्या तो मृगनयनी है और इसकी आँखें बन्दर के समान हैं। मेरी कन्या के साथ विवाह करने

जब मनुष्य क्रोध में भर कर, अभिमान के कारण किसी को कोसने लगता है, उस समय वह धर्म की भी बात कहता है, तो अधर्म की-सी लगती है, क्योंकि अभिमानी तथा क्रोधी के समीप से सभी गुण भाग जाते हैं। क्रोधी से सभी डरते हैं। यहाँ तक कि इतने बलवान् धर्म भी क्रोधी से भयभीत होकर उसके हृदय से भाग जाते हैं। जब इतने बड़े बूढ़े धर्म ही क्रोधी के पास नहीं रहते, तो उनके स्त्री-बच्चे तो उसके समीप रह ही कैसे सकते हैं, क्रोध में भर जाने पर मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है, उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। कौन-सी बात न कहनी चाहिए, कौन-सी कहनी चाहिए, इसका उसे ध्यान ही नहीं जो मुँह में आ जाता है, वही अंड-बंड-संड बकने लगता है। देहधारियों की देह में कुछ न कुछ क्रोध का अंश तो रहता ही है, किन्तु ज्ञानी विवेकी उसे दबाये रहते हैं। जो शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, उसी के पालन पोषण और मान सम्मान में व्यस्त रहते हैं, वे क्रोध पर कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकते। वे सदा क्रोध के अधीन रहते हैं। इसीलिये उनका संसार बन्धन कटता नहीं है। वे बार-बार कर्म बन्धनों के अधीन होकर मरते और जन्म लेते रहते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब प्रजापतियों ने अपने सभापति दक्ष को कुपित देखा, तो सब विस्मित से हो गये, कोई समझ न सके कि सभापति महोदय क्यों कुपित हो उठे हैं ? हमारे स्वागत सत्कार में कौन-सी त्रुटि रह गई है ?

पर भी—मेरा जामाता होने पर भी—मेरे आने पर उठकर आदर करने की बात तो अलग रही, वाणी से भी सत्कार नहीं किया। इसका यह आचरण अत्यन्त ही अनुचित है।

बहुत से ऋषि मुनि उन पर सुगन्धित पदार्थ छोड़ने लगे। बहुतों ने मालाएँ पहिनाईं फूल बरसाये, किन्तु वह बाहरी गरमी तो थी नही, वह तो अन्तःकरण की जलन थी। दक्ष का कोप शान्त न हुआ। वे लाल-लाल आंखों से शिवजी की ओर देखते हुए, मानो वे इन्हें अपनी क्रोधाग्नि से भस्म ही कर देना चाहते हैं, सबको सुनाते हुए खड़े होकर यह कहने लगे। सब ने समझा सभापति का आरंभिक भाषण होगा। प्रजापतियों के पति महा-प्रजापति भगवान् ब्रह्मा का स्वागत सत्कार करेंगे। आये हुए ऋषि-मुनियों को धन्यवाद देंगे। अपने देर से आने के लिये क्षमा-प्रार्थना करेंगे और यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त होने के लिये सबकी ओर से प्रभु से प्रार्थना करेंगे। उपस्थित महानुभावो! माताओ और बहिनो! कहकर वे अपनी वक्तृता का आरम्भ करेंगे, किन्तु हुआ इसके विपरीत। दक्ष ने यह सब कुछ नहीं किया। हाथ उठाकर उन्होंने कहना आरम्भ किया।

क्रोध मे भरे हुए दक्ष बोले—"समस्त देवताओ! अग्नियों! और महर्षियो! आप सब लोग मेरी एक बात सुनें। देखिये, बातें कई प्रकार की होती है। (१) कुछ लोग अपना पांडित्य प्रदर्शन करने के लिये बोलते है। (२) कुछ लोग दूसरों को परास्त करने के निमित्त नाना तर्क और युक्तियों का आश्रय लेकर बोलते है। (३) कुछ पूछने पर यथार्थ बातें कहते है (४) कुछ लोगों को बोलने का व्यसन होता है, वे अपनी व्यसन की पूर्ति के लिये बोलते हैं। (५) कुछ लोग दूसरों को प्रसन्न करने के लिये चापलूसी को या हंसी ठट्ठा की बातें बोलते हैं। (६) कुछ लोग अज्ञान या मत्सरता के वंश होकर दूसरों को नीचा दिखाने को अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने को बोलते हैं। मैं इनमे से किसी भी कारण से यहाँ नहीं बोल रहा हूँ। मुझे कर्तव्य के

वशीभूत होकर शिष्ट पुरुषों का आचरण बताने के लिये बोलना पड़ता है।"

सब लोग चकराये कि इस इतनी बड़ी भूमिका का क्या अभिप्राय है। क्या बोलेंगे। भगवान् भृगु उनके सामने ही बैठे थे। सभा में यह नियम होता है, वक्ता बोलता तो सबके लिये है, किन्तु एक विशिष्ट व्यक्ति पर लक्ष्य रखता है। जो अपने वक्तव्य को विशेष ध्यान से सुनता हो, उसी की ओर बार-बार देखता है और इस तरह से कहता है, मानों अपने उचित अनुचित कथन का उससे समर्थन करा रहा हो। जिसे विशेष लक्ष्य करके बोला जाता है, यदि वह वृद्ध हुआ तो बीच-बीच में वक्ता की बातों का समर्थन भी करता जाता है। कुछ विषयों में उसके अनुरूप शंका भी उपस्थित करता जाता है, इससे वक्ता का उत्साह और बढ़ता है। दक्ष की भूमिका को सुनकर भृगु मुनि बोले, क्योंकि दक्ष बार-बार उन्हें ही देखकर कह रहे थे—"हाँ, हाँ, आप कहें, भला आप कभी अनुचित बात कह सकते हैं?"

इससे उत्साहित होकर दक्ष और भी उत्साहपूर्वक रोष के साथ कहने लगे—"देखिये, यह निर्लज्ज शिव जो मेरे सामने ब्रह्माजी की बराबर अकड़कर बैठा है, इसे भी पितामह ने लोकपाल बना दिया है। इसने समस्त लोकपालों की कीर्ति को दूषित कर दिया। लोकपालों के यश को मटियामेट कर दिया। इसने परम्परा से चले आये सदाचार को भी कलंकित कर दिया। धर्म की मर्यादा को नष्ट कर दिया, सत्पुरुषों के शिष्टाचार की अवहेलना की, मेरा ही नहीं, समस्त प्रजापतियों का अपमान किया। देखिये मुझे देखकर सभी शिष्टाचार से खड़े हो गये। यद्यपि मुझे इस बात की आकांक्षा नहीं कि कोई मुझे देखकर खड़ा हो। कोई खड़ा ही हो जाय, प्रणाम ही करे तो मुझे क्या

देगा। अपना ही भला करेगा। यह सनातन मर्यादा है कि बड़ों के आने पर खड़े होकर अभ्युत्थान करना चाहिये।"

भृगुजी बोले—"अजी, कोई बात नहीं! जो हो गया सो हो गया।"

भृगुजी को डाँटकर बोला—"हो कैसे गया जी! आप भी ऐसी धर्म-विरुद्ध बातें करते हैं। आपको पता नहीं यह मेरा जामाता है; जामाता पुत्र के समान, शिष्य के समान, सेवक के समान माना गया है। इसने धर्मपूर्वक अग्नि और ब्राह्मणों को साक्षी देकर मेरी कन्या का पाणिग्रहण किया था। हाय! मेरी कन्या के भाग्य फूट गये, अग्नि का पवित्र हवि कौवे के मुँह में पड़ गया। भगवान् के भोग के योग्य व्यञ्जनों को बन्दर उठा ले गया। सुखद बाहु समझ कर भूल में विषधर भुजङ्ग का प्रेमी ने आलिंगन कर लिया। चीनी के भ्रम से सुन्दर स्वादिष्ट खीर को नमक डालकर अखाद्य बना दिया। उस समय तो यह ऐसा भोला-भाला बन गया था। मुझे क्या पता था, यह इतना ढीठ है, इतना निर्लज्ज और कदाचारी है। देखिये, इसके नेत्र कैसे पीले-पीले बन्दर के, से हैं। मेरी मृगनयनी कन्या क्या इस कुलांगार के अनुरूप थी? क्या वह सुकुमारी इस भूत-पिशाचों के नायक के योग्य थी!"

भृगुजी उनकी हाँ में हाँ मिलाते हुए बोले—"महाराज, ये सब बातें तो पहिले ही सोचने की थी। अब सोच करने से क्या होता है?"

दाँत पीस कर हाथों को फटफटाते हुए दक्ष बोला—"क्या बताऊँ महाराज! मैंने पहिले ही कहा था कि यह अघोरी मेरी छोरी की जोरी के योग्य नहीं है। मैं पहिले ही जानता था कि वह घृणित श्मशान में रहता है। पागलों भाँति जटा बखेरे रहता

है। उन्मत्तों की तरह नंगा होकर नाचता है। सिड़ी पागलों की तरह बडबड़ाता रहता है। गले में मुण्डों की माला पहिनता है। हड्डियों के आभूषण धारण करता है। आक धतूरा खाता है, भंग पीता है, नंगा रहता है गंग सिर पर बहाता है, अंग में भभूत रमाता है; संग में भूत पिशाचों को रखता है। जैसा यह अशुचि है वैसे ही इसके सब यक्ष, राक्षस भूत, बैताल, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, प्रेत गुह्यक आदि साथी हैं। 'जैसी अहो वैसी महो। इनके चूल्ह न उनके तम्बो।' नाम तो इसका शिव है किन्तु काम अशिवों के से करता है। कहते तो हैं यह कल्याणकारी है; किन्तु सदा प्रलय ही में तत्पर रहता है। हाय! मैं ठगा गया। जैसे कोई अपात्र शूद्र को वेद वाणी देता है। जैसे अनधिकारी को कोई योग विद्या प्रदान करता है, जैसे राक्षस के हाथ में कोई अपने बालक को दे देता है, उसी प्रकार मैंने, इस अपवित्र क्रियाभ्रष्ट, लोकमर्यादा को उल्लंघन करने वाले, अशिव, अघोरी अशुचि, आचारहीन, अभिमानी को अपनी दुहिता दे दी। आरम्भ से ही मेरी इच्छा नहीं थी। परन्तु मै करता क्या, इन ब्रह्माजी की बुद्धि सठिया गई। मुझसे बार-बार आग्रह करने लगे इसे ही कन्या दे दे। इसी के साथ सती का विवाह कर दो।' मै क्या करता, विवश था, बड़ों की आज्ञा टाल नहीं सकता था, फंस गया, चक्कर मे आ गया। इसकी करतूतों को भूल गया। सोचा, विवाह हो जाने पर इसका मस्तिष्क ठीक हो जायगा। विवाहित हो जाने पर कुछ ढंग में आ जायगा। आदमी बन जायगा। सो, यह तो ज्यों का त्यों ही बना रहा। विवाह का इस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। मेरी सुकुमारी फूल सी बच्ची का इस उजड्ड पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। सत्य है बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद। हाय! मेरी बच्ची का जीवन नष्ट हो गया। ऐसे पति

को पाकर वह कैसे सुखी होगी। भरी सभा में इसने मेरा अपमान किया। मैं इसकी अविनय को क्षमा न करूंगा, इसे इस धृष्टता के लिये दण्ड दूंगा। अभी यह अपने किये का फल पावे। इसने मुझे कुछ समझा ही नहीं। यह मुझे भी साधारण प्रजापति ही समझता है। इसे पता नहीं लोकपितामह ने मुझे प्रजापतियों का भी पति बनाया है।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! इस प्रकार चराचर विश्व के स्वामी, अचिन्त्य, अप्रमेय भगवान् विश्वनाथ को बहुत से अवाच्य वचन कह कर भरी सभी में उनकी भर्त्सना और निन्दा करके भी दक्ष को संतोष नहीं हुआ। वह भगवान् वृषभध्वज को हाथ में जल लेकर शाप देने को उद्यत हो गया।"

छप्पय

बलबलाय ज्यों ऊँट भूँठवानी वहु जलपै।
अहि सम उगलै गरल मनों बड़ पागल प्रलपै॥
बोल्यो—"यह शिव अशिव मुंडमाला नित धारे।
चिता भस्म तन लेपि हँसे रोवे किलकारे॥
हाय! अधम निरलज्ज कूँ, सती सरिस तनया दई।
विधि हठ मानी व्यर्थ ई, कन्या बिनु वर सम भई॥

दक्ष का शिवजी को श्राप

[१८३]

विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम् ।
दक्षोऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे ॥
अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः ।
सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २ अ० १७, १८ श्लोक)

छप्पय

बकै बात बहु बुरी बुद्धि विधि ने हरि लीन्हीं ।
क्रोध मान वश भयो पेट भरि निन्दा कीन्हीं ॥
तऊ नहीं संतोष भयो जल हाथ उठायो ।
सम्बोधन करि शाप सबनि कूँ दक्ष सुनायो ॥
सुनहु सभासद श्रवन दै, सत्रनि महँ शिव जायगो ।
तो यह देवन में अधम, यज्ञ भाग नहिं पायगो ॥

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! सम्मुख भोले-भाले सरल स्वभाव से बैठे हुए शिवजी की विविध प्रकार से निन्दा करके जल को स्पर्श करके उन्हें शाप देने को उद्यत हुए । दक्ष बोले—यह शिव सम्पूर्ण सुरों में अधम है । अतः यह इन्द्र उपेन्द्र आदि देवताओं के साथ देवयज्ञों में यज्ञभाग का अधिकारी आज से न समझा जायगा ।

सब अनर्थों की जड़ है काम। काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य होने से क्रोध आता है। क्रोध तीन प्रकार का होता है, पत्थर की लकीर के समान, बालू की लकीर के समान और जल की लकीर के समान। श्रेष्ठ पुरुषों को पहिले तो कभी क्रोध आता ही नहीं, क्योंकि वे तो मन को वश में किये रहते हैं, फिर भी कभी प्रकृतिवश क्रोध आ जाता है, तो वह पानी की लकीर के समान होता है। आया और तत्क्षण मिट गया। जैसे पानी में लकीर खींचते चलो। आगे खिंचती चलेगी, पीछे की तत्क्षण मिटती चलेगी। साधारण लोगों को क्रोध आता है, कुछ दिन उसका वेग रहता है। कालान्तर में क्रोध शान्त हो जाता है। उसे भूल जाते हैं। जैसे बालू में अभी लकीर बना दी। कुछ देर बनी रही। जहाँ वायु आई लकीर मिट गई। कुछ कठोर हृदय के ऐसे पुरुष भी होते हैं, कि उनका क्रोध मृत्यु पर्यन्त नहीं जाता, वे बिना बदला लिये शान्त नहीं होते। कई ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, कि अपने शत्रु को किसी भाँति वश में आते न देखकर उसके साथ अपनी बहिन बेटी का विवाह करके, उसे विश्वासित करने के अनन्तर छल से मार दिया है। ऐसे लोगों का क्रोध पत्थर की लकीर के समान है, जो कभी मिटता ही नहीं। दक्ष प्रजापति उन्हीं कठोर प्रकृति के पुरुषों में से थे।

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी! क्रोधी के सम्मुख चुप-चाप बैठे रहें; तो उसका क्रोध और बढ़ता है। शिवजी को सरल भाव से बैठे देखकर दक्ष और भी अधिक बिगड़े। वे सोचने लगे—"यह मुझे कुछ समझता ही नहीं। अब भी उठकर पैरों पर नहीं पड़ता। अब भी याचना नहीं करता। अच्छी बात है आज यह मेरा प्रभाव देखे। इसे मैंने देवत्व से पृथक् न कर दिया

तो मेरा नाम दक्ष नहीं।" यह सोचकर आचमन करके हाथ में जल लेकर वे शिवजी को शाप देने लगे। सबको सुना कर बोले—"सब लोग कान खोलकर सुन लेना भैया! मैं इस सुरावम शङ्कर को यही शाप देता हूँ कि आज से यह यज्ञों में देवताओं के साथ यज्ञ भाग का अधिकारी न समझा जाय। इसे आज से हमने अपनी जाति पाँति से पृथक् कर दिया है। कोई भी इसके साथ आगे से रोटी बेटी का सम्बन्ध न करे।"

इस प्रकार जब वे शाप दे रहे थे, उस समय सज्जन पुरुषों ने बीच में उन्हें टोका, बहुत कुछ रोका और बार-बार कहा—"महाराज, यह आप क्या कर रहे है। जो हुआ सो हुआ। ये भगवान् शंकर तीनो देवों में से हैं। न सही, आपके जामाता तो हैं। आपको इन्हें शाप नहीं देना चाहिये। यह कार्य उचित नहीं, किन्तु दक्ष भला किनकी सुनते हैं, उनके सिर पर तो क्रोध का भूत सवार था; वे तो अपने आपे में ही नही थे। उन्हें तो अपनी श्रेष्ठता का अभिमान था। सज्जन पुरुषों की बातो पर ध्यान हा नही दिया।"

सभा में सभी प्रकार के पुरुष होते हैं। कुछ हाँ में हाँ मिलाने वाले होते हैं। कुछ प्रभावशालियो का सभी उचित अनुचित बातों का समर्थन ही करने वाले होते हैं। यथार्थ वक्ता तो कम ही हुआ करते हैं। महर्षि भृगु अपनी दाढ़ी हिला-हिला कर शिवजी की ओर देख रहे थे और दक्ष की हाँ में हाँ मिलाते जाते थे। उनके समीप ही बैठे भग देवता अपनी आँखों को मटका-मटका कर दक्ष को और भी अधिक उत्साहित कर रहे थे। पूषा देवता अपने श्वेत दाँतों की पंक्तियों को दिखा कर हैः हैः करके हँस रहे थे। कुछ स्वाहा-स्वाहा करने वाले शुष्क कर्मकांडी शिवकी निन्दा सुनकर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे और सोच रहे थे—

"अच्छा है ये शिव देवताओं से पृथक् कर दिये जायं। नर मुण्ड हड्डी सहित ये देवताओं की पंक्ति में बैठकर खाते पीते हैं। कोई डर से बोलता नहीं। बड़े जो करें वही अच्छा। छोटे करें तो वे दण्डनीय समझे जाते हैं। इस प्रकार दक्ष के शाप का मन ही मन कुछ ने अनुमोदन किया, कुछ ने विरोध किया।

दक्ष तो क्रोध में इतना आपे से बाहर हो गया था, कि वह फिर सभा में बैठा ही नहीं। शिवजी को शाप देकर तुरन्त वहाँ से चला गया।

शंकरजी तो भोले बाबा ही ठहरे। इतनी सब बातें हुईं। वे अपना चुपचाप अबोध बालक की भाँति निर्विकार बैठे रहे किन्तु उनके गणों में प्रधान अग्रगण्य नन्दीश्वर से अपने स्वामी को इस प्रकार की अवज्ञा सहन न हुई। शिवजी के शाप को सुनकर उनके नेत्र क्रोध से लाल-लाल हो गये। वे भी आचमन करके हाथ में जल लेकर दक्ष को तथा उनके अनुयायी और समर्थकों को शाप देने के लिये उद्यत हुए।

सबसे पहिले उन्होंने दक्ष को ही शाप दिया। दक्ष ने तो शिवजी को एक ही शाप दिया था, नन्दीश्वर ने बदले में चार शाप दिये।

१—यह मूर्ख दक्ष इस मरणधर्मा अनित्य क्षुद्र शरीर में ही आत्म बुद्धि माने बैठा है, इसलिये इसे कभी भी तत्त्व-ज्ञान न हो।

२—यह मूर्ख शिवजी के सत्य स्वरूप को न समझ कर—ये मेरे जामाता हैं—ऐसी गृहस्थियों की बुद्धि उनमें रखता है। इसे अपने यज्ञ याग अग्निहोत्र का बड़ा अभिमान है, त्रिवर्ग को ही सब कुछ समझता है, अतः यह गृहस्थाश्रम में लम्पट होकर सदा कर्मकाण्ड मे ही फँसा रहे।

३—यह अत्यन्त स्त्री-लम्पट हो और शीघ्र ही इसका मुख बकरे का सा हो जाय और बकरे की सी बोली बोला करे।

४—इसका जन्म मरण का चक्कर शान्त न हो। यह बार-बार कर्मानुसार जन्म लेता और मरता रहे। इसकी बात का जिन्होंने समर्थन किया है इसके वे साथी भी संसार चक्र में पड़े रहें।

दक्ष को शाप देकर अब उन्होंने उन कर्मकांडी, शुष्क-हृदय शङ्कर-द्रोही ब्राह्मणों को शाप दिया, जो शिव-शाप सुनकर सुखी हुए थे। नन्दीश्वर कहने लगे।

१—जो केवल दक्षिणा के लोभ से यज्ञ कराने वाले शुष्क-हृदय, शिव-द्रोही ब्राह्मण हैं वे भक्ष्य भक्ष्य के विचार से रहित हो जायं।

२—ये जो भी विद्या पढ़ें, तप करें, व्रतादि ग्रहण करें, सब धन के ही लोभ से करें। इन कार्यों से ही अपनी जीविका चलावें।

३—इन्हें सदा पेट पालने और शरीर परिवार के पालन पोषण की ही चिन्ता लगी रहे।

४—ये सदा भिखारी बने रहें। भीख मांगते-मांगते ही जीवन बितावें।

भृगुजी ने देखा—अरे, यह बैल तो बड़ी बढ़-बढ़ कर बातें बना रहा है। इसने तो ब्राह्मणकुल को घोर शाप दे दिया। इस लिये वे नाममात्र के शिव अनुयायियों को शाप देने लगे। भृगु ने शिव-भक्तों का वेष बनाने वालों को ये शाप दिये।

१—शिव-भक्तों में अधिकांश पाखंडी हों, वे वेद शास्त्रों के निन्दक हों।

२—उनके आचरण भ्रष्ट हों, वे शिवजी की देखा-देखी चिता-

भस्म, जटा, हड्डियों की माला धारण करके सदाचार से पतित हों और मदिरा मांस के सेवन करने वाले हों।

महर्षि भृगु बोले—"हम शिव जी के लिये कुछ नहीं कहते। वे जो करें करते रहें, किन्तु तुम जो अपने को शिव-भक्त कहते और वैदिक सनातन मार्ग की निन्दा करते हो, इसलिये तुम सब वेद विरुद्ध आचरण करने वाले पाखंडी हो जाओ।"

महामुनि मैत्रेय जी कहते हैं—"विदुर जी! इस प्रकार दोनों ओर से शापाशापी हुई। शिवजी को अब कुछ बुरा सा लगा कि देखो व्यर्थ मे इतनी बात बढ़ गई। इसलिये वे भी कुछ अनबने से होकर अपने अनुयायियों के सहित चुपचाप सभा से उठ कर चले गये।"

यह सुनकर शौनकजी सूतजी से बोले—"सूतजी, यह तुमने क्या शापशापी की बात सुना दी। शिव जी की तो किसी भी प्रकार निन्दा सुनना पाप है। प्रसंग-वंश ही सही, जो शिवजी की निन्दा सुनता है, उसके कान कलुषित हो जाते हैं। अब इस कथा को पूरी करने के पूर्व हमें कुछ विश्वनाथ शिव की महिमा सुना दो जिसमे हमारे कान पवित्र हो जायँ, कथा में चित्त लगे और हृदय में आह्लाद उत्पन्न हो। प्रजापति दक्ष की भी कैसी बुद्धि भ्रष्ट हो गई कि जगद्वन्द्य भगवान् भूतनाथ को ऐसी कठोर-कठोर बातें सुना दीं।

यह सुनकर सूतजी बोले—महाभाग! बातें मुझे भी ये अच्छी नहीं लगतीं; किन्तु किया क्या जाय; कथा-प्रसंग में तो ये कही ही जाती हैं। रही शिवजी की महिमा की बात, सो मैं अल्प-मति शिवजी की महिमा कह ही क्या सकता हूँ। शेष शारदा भी उनके गुणों के गान में समर्थ नहीं। फिर भी मै यथा-मति कुछ शिव-महिमा कहकर आगे इस कथा-प्रसंग को पूरा करूंगा! शिव

सब देवों में श्रेष्ठ हैं, वे वरदानियों में सबसे उदार, सर्वमान्य और सर्व-फलदाता है। उनके गुणों की संख्या नहीं, चरित्रों की गणना नहीं। जैसे गङ्गाजी में से एक चुल्लू जल पीने से ही पाप कट जाते हैं, उसी प्रकार शिव-चरित्र को थोड़ा भी सुनने से महान पुण्य होता है। मैं शिव-महिमा सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

देकें शिव कूँ शाप क्रोध में भरि चलि दीन्हों।
कछु ने अनुचित कह्यो कछुक अनुमोदन कीन्हों॥
नन्दी दीन्हों शाप दक्ष अज्ञानी होवे।
बकरा को मुख होहि प्रतिष्ठा अपनी खोवे॥
शिव-द्रोही जो विप्रगन, ते जग महँ याचक रहैं।
भृगु बोले—जो नाम के, शैव अशुचि बनि दुख सहैं॥

श्री शिव महिमा

[१८४]

हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम् ।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १४ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

शौनक बोले—सूत ! शाप की कथा सुनाई ।
शिव-निन्दा तो हमें नेंकऊ नाहिँ सुहाई ॥
शिव महिमा कछु कहो जगत् दृढ़ बंधन तोरे ।
मन महँ उपजै मोद सुधा श्रवननि महँ घोरे ॥
काशीवासी शम्भु हर, त्रिपुरारी शिव सतीपति ।
नाम रटत भव-भय कटत, गुन सुनि होवे चरन-रति ॥

---

* उन सर्वज्ञ आत्माराम भगवान् शंकर के चरित्रों को देखकर वे अभागे लोग ही हँसते हैं जो कुत्तों के भक्ष्य-रूप इस शरीर को ही आत्मा मानकर नाना भाँति के वस्त्र, आभूषण, माला तथा चन्दनादि अनुलेपों के द्वारा इसी के लालन पालन और शृंगार आदि में लगे रहते हैं ।

प्रसंग में भी कानों में गुरु-निन्दा, ईश्वर-निन्दा पड़ जाय, तो उसका प्रायश्चित करना चाहिये। भगवान् के नामों को स्मरण करना चाहिये, उनके गुणों का गायन करना चाहिये, उनके अचिन्त्य रूप का ध्यान करना चाहिये। तब श्रवण पवित्र होते हैं। तब हृदय का मल धुलकर वहाँ पावनता आती है। शिव सम्पूर्ण जगद् के जनक, पालक और संहारक हैं। उनसे बड़ा कोई देव नहीं वे देवाधिदेव हैं, महादेव हैं। अन्य सभी देव उनके अंश हैं। वे सभी को वर देने वाले हैं। संसार में सबको समान-भाव से बिना किसी भेद भाव से मनोवांछित फल देने वाले औघड़दानी शिव ही हैं। उन शिव की महिमा को वर्णन करने की सामर्थ्य किसमें है।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"महर्षियो! आप सभी शिव-भक्त हैं, आप सब भस्म धारण करके पंचाक्षरी मन्त्र का जप करते हैं; शिवाराधन करते हैं। आपके सम्मुख मैं शिव-महिमा क्या वर्णन कर सकता हूँ। मेरे तो एक मुख है एक जिह्वा है। चार मुख वाले ब्रह्माजी भी उनका गुण वर्णन करना चाहें तो नहीं कर सकते। पंचमुख रुद्र स्वयं शिव की महिमा गान करने में असमर्थ हैं। षडमुख कार्तिकेय तो उनके पुत्र ही ठहरे। छः मुखों से निरन्तर गान करें, तो वे भी थक जायेंगे। शिव-गुण-रूपी अगाध सागर से एक बिन्दु जल के समान भी वे उनके प्रभाव को नहीं उलीच सकते। दशमुख रावण तो बिचारा कहेगा ही क्या, उसे तो जो कुछ प्राप्त हुआ शिवजी की कृपा प्रसाद से ही प्राप्त हुआ। अधिक विस्तार न करके मैं तो यही कहता हूँ कि हजार फण वाले—दो हजार जिह्वा वाले शेषजी भी सृष्टि के आदि से अन्त तक बिना विश्राम के हर-गुन गाते रहें तो भी उनका पार नहीं पा सकते। श्रीकृष्ण परात्पर पुरुष माने गये हैं;

किन्तु उन्होंने भी पुत्र प्राप्ति के लिये पशुपति शिव को ही प्रसन्न किया था। उनकी आराधना से ही उन्होंने साम्ब जैसा त्रैलोक्य-सुन्दर सुत प्राप्त किया था। अब इससे अधिक मैं शिव-महिमा क्या कहूँ ?"

यह सुन कर हँसते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी ! इन श्रीकृष्ण भगवान् के लिये तो दूर से ही डंडौत है। इनकी महिमा जानी ही नहीं जा सकती। तपस्या करते तो किसी और काम के लिये। पुत्र के लिये के लिये क्यों तप किया ! इस कथा प्रसंग को आप हमें अवश्य सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! इन ईश्वरों की लीला वे ही जानें। हम मन्दबुद्धि पुरुष तो उनके ऐसे आचरणों से विमोहित से हो जाते हैं। अच्छी बात है, सुनिये; जिस प्रकार भगवान् ने भूतनाथ भुवनेश्वर की आराधना करके पुत्र प्राप्त किया।

रुक्मिणी के प्रद्युम्न आदि पुत्र हो गये थे। वे बड़े भी हो गये थे किन्तु जाम्बवती के कोई पुत्र नहीं था। मुनिवर ! स्त्रियों को पुत्र-प्राप्ति की बड़ी लालसा रहती है। वह लालसा तब और भी बढ़ जाती है, जब उनकी सौतें पुत्रवती होकर घर में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती हैं, मातृ-पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है तब उनके हृदय में सौतियाडाह उत्पन्न होता है। जाम्बवती के हृदय में भी यही भाव उत्पन्न हुआ। उसने एक दिन एकान्त में अपने सर्वसमर्थ पति भगवान् वासुदेव से कहा—"प्रभो ! देखिये, रुक्मिणीजी के दस-दस पुत्र हो गये। मेरे अभी तक कोई पुत्र नहीं है। आपने १२ वर्ष तक घोर तपस्या करके शिवजी को प्रसन्न किया था। उसी के फलस्वरूप रुक्मिणीजी पुत्रवती बन सकी। आप सर्वसमर्थ हैं। नई सृष्टि बना सकते हैं। आपके लिये कुछ भी कठिन नहीं। मैं भी चाहती हूँ, मेरे भी एक ऐसा अनुपम

सुन्दर पुत्र हो जिसकी बराबर सुन्दर संसार में दूसरा कोई न हो। आप मुझे कामदेव से भी बढ़कर सुन्दर सुत दें। प्रभो! आप मेरी इच्छा को अवश्य पूर्ण करें। मैं कभी आपसे कोई आग्रह नहीं करती, किन्तु इस विषय में मेरा आग्रह है और मुझे विश्वास है, आप मेरे आग्रह को टालेंगे नहीं।"

अपनी प्राण-प्रिया पत्नी की ऐसी बात सुनकर चराचर विश्व के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रिया को प्रसन्न करते हुए बोले—"देवि! मैं तुम्हारी मनोवांछा अवश्य पूरी करूँगा, किन्तु ऐसे भुवन-मोहन त्रैलोक्य-सुन्दर, अनुपम-रूपलावण्य वाले पुत्र की प्राप्ति के लिये मुझे पुनः भगवान् भूतनाथ की उपासना करनी पड़ेगी। बिना शङ्कर को प्रसन्न किये ऐसा पुत्र प्राप्त नहीं हो सकता। अतः कुछ दिन तुम्हें मेरा वियोग सहन करना पड़ेगा। द्वारका छोड़कर मुझे हिमालय में रहना पड़ेगा। यदि तुम्हें यह स्वीकार हो, तो 'तुम्हें परम सुन्दर पुत्र लाभ हो' इस संकल्प से सकल जगत् के स्वामी सदाशिव की मैं आराधना करूँ और उन्हें प्रसन्न करके पुत्र-प्राप्ति का वरदान पाऊँ।"

जाम्बवती को तो पुत्र-प्राप्ति की चटपटी लगी हुई थी। उसने उल्लास के साथ कहा—"हे यदुनाथ! आप अवश्य वृषभध्वज की आराधना करने हिमालय जायँ। यद्यपि आपका वियोग मेरे लिये असह्य है, किन्तु पुत्र-प्राप्ति की इच्छा मेरे हृदय में अत्यन्त बलवती हो रही है। अतः जिस किसी प्रकार भी मैं अपने जीवन को धारण करे रहूँगी। समस्त देवी देवता आपका कल्याण करें। वायु आपके अनुकूल हो। सब ऋतुएँ आपको सुखप्रद हों। भगवान् विश्वनाथ शीघ्र ही आप पर प्रसन्न हों। आप शीघ्र ही अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर सकें। हे मधुसूदन! पुत्र-प्राप्ति के लिये और मेरी सूनी गोद को भरने के लिये आप हिमालय के

गंधमादन पर्वत पर जायें। वहाँ पार्वती-सहित परात्पर परमेश्वर सदाशिव की आराधना करें।

इतना कह कर जाम्बवती ने भगवान् का स्वस्त्ययन किया, यात्रा के सभी मांगलिक कृत्य किये। इस प्रकार अपनी प्रिया से सत्कृत होकर और उससे विदा लेकर भगवान् गंधमादन की ओर चलने को तैयार हो गये।

वे अपने बड़े बूढ़ों से भी मिले। माता-पिता से भी आज्ञा माँगी। महाराज उग्रसेन से भी अनुमति ली, बलरामजी से सम्मति और अनुमति लेकर वे अकेले ही हिमालय की ओर चलने को उद्यत हुए। पहाड़ का विकट मार्ग, रथ आदि तो वहाँ जा नहीं सकते थे, अतः उन्होंने गरुड़ को स्मरण किया। स्मरण करते ही गरुड़जी तुरन्त वहाँ आ गये और हाथ जोड़कर बोले—"भगवन्! सेवक को क्या आज्ञा है? किस कारण से मुझे स्मरण किया है?"

भगवान् बोले—"भैया, फिर शिवजी की तपस्या के लिये हिमालय चलना है। बिना शङ्कर की आराधना किये कोई भी अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकता। चराचर के स्वामी शङ्कर ही हैं। वे ही वरदाताओं में श्रेष्ठ और आशुतोष हैं। अतः उनकी उपासना के निमित्त इसी क्षण गन्धमादन चलना है।"

भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके मन ही मन मुस्कराते हुए गरुड़जी बोले—"जैसी आज्ञा चलिये।" यह कह कर भगवान् उनके ऊपर सवार हो गये। गरुड़जी अपने पङ्खों से सामवेद की ऋचाओं का घोष करते हुए बात की बात में अनेक वन, पर्वत, नदी-नद और जल-प्रपातों को नाँघते हुए गन्धमादन पर्वत के निकट जा पहुँचे।

गंध-मादन पर्वत पर सदा ही भगवान् नर-नारायण तपस्वी-

रूप से निवास करते हैं। वहाँ बहुत से ऋषि-मुनियों के आश्रम हैं। पर्वत पर अनेक प्रकार की औषधियाँ हैं। फलों के वहाँ असंख्यों वृक्ष है जिनमें से सदा दिव्य गन्ध निकलती रहती है। वहाँ ऐसा एक भी पौधा नहीं जिसमें से दिव्य गन्ध न आती हो, इसीलिये तो उस पर्वत का नाम गन्धमादन है। वह किन्नर और अप्सराओं के विहार का स्थान है। यक्ष विद्याधर तथा गन्धर्व भी अपनी प्रियाओं के साथ वहाँ की कन्दराओं में विहार करते रहते है। यह समस्त भूमि भगवान् भूतनाथ की क्रीड़ास्थली है। शिवजी अपनी प्रिया पार्वती के साथ गिरि-कन्दराओं में, पर्वत-शिखरों पर, भगवती अलकनन्दा के तटों पर स्वच्छन्द क्रीड़ा करते रहते हैं। बहुत से सिद्ध; यति, योगी और ऋषि मुनि उनकी सर्वदा आराधना करते रहते हैं। उसी परम रमणीय पार्वत्य प्रदेश में जाकर भगवान् वासुदेव अपने लिये तपस्या का स्थान खोजने लगे। अनेक ऋषियों के आश्रमों को देखते हुए भगवान् महामुनि व्याघ्र-पाद के परम तेजस्वी पुत्र महात्मा उपमन्यु के दिव्य आश्रम के समीप पहुँच गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उस शान्त एकान्त परम मनोहर आश्रम को देखकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और वहीं उन्होंने रह कर तपस्या करने का निश्चय किया।"

छप्पय

सूत कहें—सूत जाम्बवती ने हरि तें मान्यो।
लखि सौतिन सुत डाह सौतिया मन महँ जाग्यो॥
श्रीहरि हँसिकें कहें—होहि सुत शिव आराधें।
विषय भोग तजि नियम कठिन व्रत यदि हम साधें॥
हरि पत्नी आमह लख्यो, गरुड़ चढ़े हिम गिरि गये।
निपसें चहँ उपमन्यु मुनि, लखि आश्रम हरषित भये॥

शिव-भक्त उपमन्यु के आश्रम पर भगवान्

[१८५]

यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं
पिशाचचर्यामचरद्गतिःसताम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १४ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

मुनि ने निरखे कृष्ण यथा विधि स्वागत कीन्हों ।
अक्षत, तुलसी, पुष्प अर्घ्य चन्दन युत दीन्हों ॥
करि पूजा स्वीकार कहें—मुनि ! हर गुन गाओ ।
शिव के सुखद प्रसंग प्रेम तें मोहिं सुनाओ ॥
मुनि बोले—इहि थल विभो ! बहुत बरष तें ! हौं रहूँ ।
सिद्धि असुर सुर जिन लही, कछुक कथा तिनकी कहूँ ॥

---

*जो मनीषी पुरुष अविद्या के आवरण को हटाने की इच्छा करते हैं, वे उन शिव के निर्दोष चरित्रों का गान करते हैं । संसार में उन शिव के समान ही जब कोई नहीं है, तो अधिक तो हो ही कौन सकता है ? वे ही विश्वनाथ शकर सत्पुरुषों की एकमात्र गति हैं, तो भी वे पिशाचों की चर्या को स्वीकार किये हुए हैं । उनकी महिमा विचित्र है ।

'श्री' के अनेक रूप हैं। सात्त्विक श्री, राजस श्री, तामस श्री, ब्राह्मी श्री, आदि अनेक प्रकार से शोभा व्यक्त होती है। ऋषि, मुनियों के आश्रम पर ब्राह्मी श्री विराजती है। विलासी धनिकों, राजा-महाराजाओं की वाटिकाओं में भी वृक्ष होते हैं और ऋषियों के आश्रमों में भी होते हैं। दोनों में बड़ा अन्तर है। विषयी पुरुषों के उद्यानों के वृक्ष राजस् होते हैं। उनके नीचे बैठ कर विषयी लोग विषय-वार्ता करते हैं। उनके पुष्पों को तत्काल तोड़कर विषय-युक्त विषैली वायु मे, वे विषयी सूंघते हैं उनके फलों को स्वतः ही वे खाते हैं, जिनसे उनकी विषय-वासना बढ़ती है; किन्तु साधु-महात्माओं के उपवनों के वृक्ष सात्त्विक होते हैं। उनके नीचे बैठ कर बालवटु वेदाध्ययन करते हैं, भक्त गण उनकी छाया में कृष्ण-कीर्तन, कृष्ण-कथा करते हैं। उनके पुष्प भगवान् की सेवा में काम आते हैं। उनके फलों को स्वतः कोई खा नहीं सकता। पहले वे भगवान् को अर्पण होंगे, तब प्रसाद-रूप से सब पावेंगे। उन वृक्षों में ब्राह्मी सम्पत्ति स्पष्ट झलकती है। धनिकों के यहाँ भी पालतू पशु रहते हैं; किन्तु बन्दी की भाँति अपने दिन काटते हैं। वे ही पशु जब ऋषि-आश्रम में स्वच्छन्द विचरते हैं, तो उनकी शोभा निराली हो जाती है। वहाँ वे प्रेम-बन्धन में बँध कर रहते हैं। उनके दर्शनों से हृदय भर जाता है। उनकी चेष्टा में सात्त्विकता टपकती है।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गंधमादन पर पहुँच कर भगवान् ने गरुड़जी को तो विदा कर दिया। अब वे महर्षि उपमन्यु के आश्रम पर आये। आश्रम क्या था, वह एक फल-फूलों का सजा-सजाया गुच्छा-सा प्रतीत होता था। भाँति-भाँति के वृक्ष उस आश्रम की शोभा बढ़ा रहे थे। वे सब फल-फूलों से सुशोभित थे। पहाड़ों पर ही फूलने वाले धव के सुन्दर वृक्ष सघन

वन के समान उगे थे। कम्दब के हरे-हरे वृक्षों पर गोल-गोल फूल ऐसे लगते थे मानों श्यामा के रोमाञ्चित पयोधर हों। नारियलों के वृक्षों पर नर-मुण्डों के समान हरे लाल रंग के बहुत से फल लटक रहे थे,। उनके लम्बे-लम्बे पत्ते वायु में उसी प्रकार हिल रहे थे, मानों कोई बाहु को हिलाकर पथिकों को बुला रहा हो। केतकी अपने यौवन के आरम्भ में फूल रही थी। जामुन के काले-काले फल इसी प्रकार प्रतीत होते थे मानों बहुत से भ्रमर उसकी शाखाओं में चिपके हों। लाल, पीले, श्वेत, गुलाबी आदि विविध भाँति के पाटल अपने बड़े-बड़े पुष्पों की सुगंधि से आश्रम को सुगन्धमय बना रहे थे। कहीं-कहीं विशाल वट के वृक्ष अपनी बड़ी-बड़ी शाखाओं से बहुत से भू-भाग को घेरे हुए थे। उनकी शाखाओं में से जटाएं निकल-निकल कर खम्भों के सदृश बन गई थीं। उनके लाल हरे कोमल पत्ते इतने सघन थे, कि आकाश दिखाई ही नहीं देता था। गोल-गोल लाल-लाल पके फलों के लोभ से बहुत से पक्षी उन पर बैठे हुए विविध भाँति के शब्द कर रहे थे। बेल के काँटेदार वृक्षों में फल भी लगे थे और वे फूल भी रहे थे। उन फूलों की भीनी-भीनी सुगन्धि बड़ी ही मादक सी प्रतीत होती थी। तीन-तीन पत्तों वाले शिवजी के अत्यन्त प्रिय वे वृक्ष अत्यन्त सघन दिखाई देते थे। ऋषि नित्य ही उनसे बेलपत्र तोड़कर शिवजी का पूजन करते थे। बेल के नीचे लक्ष्मीजी सदा रहती हैं। इसलिए बिल्व के फल का दूसरा नाम श्रीफल भी है। सरल और कपित्थ के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष मानों आकाश से बातें करने को बढ़े चले जा रहे हों। बड़े-बड़े कपित्थ के फल नीचे पड़े हुए थे जिन्हें खाने के लिए जंगली हाथियों के झुण्ड उधर ही आ रहे थे। आम के सुन्दर वृक्ष फलों से लदे हुए थे। शाल, ताल, तमाल के वृक्षों से आश्रम की पर्ण-कुटियाँ

दिखाई नहीं देती थीं। जंगली बेर के वृक्ष वहाँ के विचित्र प्रकार के थे। देश में जैसे बेर होते हैं, वैसे वहाँ के नहीं थे। वे बड़े कोमल, मृदु और दर्शनीय थे। कुन्द, मालती, यूथिका की बेलें वृक्षों से लिपट कर अपना प्रेम प्रदर्शित कर रही थीं। उनके फूले हुए फूल रोमाञ्चित अंग के सदृश दिखाई देते थे। केलों का सघन वन था, जिनके नीचे बैठकर हिरन जुगार कर रहे थे। अशोक के चिकने-चिकने चमकते हुए पत्ते, मोलश्री के छोटे-छोटे सुगन्धि-युत पुष्पों से सटकर बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। कटहल के लम्बे-लम्बे काँटेदार फल वृक्ष की शाखाओं और जड़ों में से ही निकल रहे थे। इस प्रकार के आश्रम को देखकर भगवान् को बड़ी प्रसन्नता हुई।

वहाँ भाँति-भाँति की जातियों के पतले-मोटे, बड़े-छोटे; एक सींग वाले, छः सींग वाले, बारह सींग वाले, बादामी, काले, लाल स्वच्छन्द हिरन घूम रहे थे। वृक्षों पर बन्दर बैठे थे। कहीं काले मुँह के लंगूर पूँछ लटकाये ध्यान-सा कर रहे थे। कहीं सिंह दहाड़ रहे थे, कहीं बाघ चिल्ला रहे थे, कहीं भेड़िये आ रहे थे, कहीं हाथी जा रहे थे, कहीं हिरन चौकड़ियाँ भर रहे थे, कहीं मोर नृत्य कर रहे थे, कहीं सर्प बिलों की ओर जा रहे थे, कहीं रीछ जामुन के पेड़ पर चढ़ कर उनके फलों को खा रहे थे, कहीं भैंसे लड़ रहे थे, कहीं हाथी हथिनियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे, कहीं चूहे दौड़ रहे थे, कहीं बिल्लियाँ बैठी म्याऊँ-म्याऊँ कर रही थीं। वृक्षों पर तोता मैना, बया, कौआ, हंस आदि बैठे थे।

आश्रम के भीतर बहुत-सी यज्ञ-वेदियाँ बनी हुई थीं, जिनमें सुगन्धित धूम को आकाश में फैलाते हुए अग्निदेव चमक रहे थे। भिन्न-भिन्न देवता और लोकपालों की पृथक्-पृथक् पीठें बनी हुई थीं। कल-कल निनादिनी भगवती अलकनन्दा का पो

वेद-घोष से मिलकर बड़ा ही प्रिय मालूम पड़ता था। वहाँ भाँति-भाँति के ऋषि-महर्षि रह कर तपस्या कर रहे थे। कोई जटाधारी, कोई लटाधारी, कोई दूधाधारी, कोई ब्रह्मचारी, कोई फलाहारी, कोई शाकाहारी, कोई संन्यासी, कोई वानप्रस्थी, कोई वाताहारी, कोई निराहारी। कोई पड़े रहते थे, कोई एक पैर से खड़े रहते थे। कोई नंगे रहते थे। कोई गीले वस्त्र ही पहिने रहते थे। कोई मौनी थे, कोई प्राणायाम-निरत थे।

भगवान् इन सब को देखते हुए महामुनि उपमन्यु के समीप पहुँचे। भगवान् को देखते ही मुनि शीघ्रता से पर्णकुटी से बाहर निकल आये भगवान् ने मुनि के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने भगवान् को हृदय से लगाया और उन्हें बड़े सत्कार पूर्वक यज्ञ-शाला के सम्मुख वाले चबूतरे पर ले गये। वहाँ भगवान् को सुंदर आसन पर बिठा कर उनकी विधिवत् पूजा की। अर्घ्य आदि से उनका यथोचित सत्कार करके बहुत से कन्द, मूल, फल तथा पुष्प उनको भेंट किये।

मुनि की पूजा को स्वीकार करके भगवान् ने उनके आश्रम को, मुनियों की, वृक्षों की, पशु-पक्षियों की, अग्नि की, तप की और मुनि के शिष्यों की कुशल पूछी। कुशल प्रश्न के अनन्तर महामुनि उपमन्यु बोले—"हे वासुदेव! हे मधुसूदन! हे पुण्डरीकाक्ष! हे नारायण! आपका स्वागत है, मैं यह जानना चाहता हूँ, कि आपका यहाँ पधारना किसी विशेष कारण से हुआ है, या हम सब को कृतार्थ करने के लिये आप इस घोर अरण्य में पधारे हैं?"

यह सुन कर भगवान् बोले—"मुनिवर! मैं पुत्र-प्राप्ति के लिये आशुतोष भगवान् भूतनाथ की आराधना के निमित्त यहाँ

आया हूँ। मैं ऐसे स्थान में रह कर तप करना चाहता हूँ, जो सिद्ध स्थान हो जहाँ तप करने से शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो सके।"

यह सुनकर ऋषिप्रवर उपमन्यु बोले—"हे जगन्नाथ! आपको तप की क्या आवश्यकता? आप तो चराचर जगत् के स्वामी

हैं। आपके संकल्प-मात्र से असंख्यों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती रहती है। फिर भी आप नर-नाट्य करना ही चाहते हैं, तो आप यहीं मेरे आश्रम पर रह कर तप करें। आपको पुत्र की प्राप्ति अवश्य होगी। यह सिद्ध भूमि है। यहाँ पर अनेकों सुर, असुर, गन्धर्व, राक्षसों ने शिव की आराधना करके सिद्धि प्राप्त की है।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"मुनिवर! मैं कुछ लोगों के नाम सुनना चाहता हूँ जिन्होंने इस स्थान पर सतीपति शंकर को सन्तुष्ट करके उनसे मनोवांछित फल प्राप्त किया हो। यदि आप उचित समझें तो ऐसे कुछ शिव-भक्तों के मुझे चरित्र सुनाइये; जिससे शिवजी के चरणों में मेरा अधिकाधिक अनुराग उत्पन्न हो।"

यह सुनकर महामुनि उपमन्यु बोले—"भगवन्! यहाँ तो असंख्यों शिव-भक्तों ने विश्वनाथ भगवान् शंकर को प्रसन्न करके असम्भव वरों को प्राप्त किया है। उनमें से कुछ के नाम मैं आपको सुनाता हूँ, क्योंकि यही तो भगवान् शिव की क्रीडा-स्थली है, यहीं तो वे अपने श्वशुर गिरिराज को प्रसन्न करने के लिये अपनी पत्नी पार्वती के साथ विहार करते हैं।"

राक्षसराज हिरण्यकशिपु ने यहाँ दस हजार वर्ष तक तप करके शिवजी को प्रसन्न किया और उनसे बहुत दुष्प्राप्य दुर्लभ से वरदानों को प्राप्त किया।

दावानगर मन्दार ने यहीं शिव के वरदान से अतुल बल प्राप्त करके देवताओं के राजा इन्द्र से दस हजार वर्ष तक बड़े

थका नहीं।

ने भी यहाँ शिवजी को प्रसन्न करके

उनसे त्रैलोक्य का राज्य मांगा था और शिवजी के वरदान से उसने एक लाख वर्ष तक तीनों लोकों का शासन किया।

शतमुख असुर ने अद्भुत शिवजी को सौ वर्षों तक घोर तपस्या करके योगबल, यहीं प्राप्त किया था। क्रतु नामक स्वायंभुव मनु ने शिव-सेवा के प्रभाव से सहस्र सुत प्राप्त किये थे। सो, आप तो एक सुत के लिये ही उनको घोर आराधना करना चाहते हैं।

महामुनि याज्ञवल्क्य, पराशर-नन्दन भगवान् वेदव्यास यहीं पर शिवजी के प्रसाद से संसार में इतने यशस्वी और तेजस्वी हुए हैं। इन्द्र ने यहीं तप करके इन्द्रत्व पाया। बाल-खिल्यों ने यहीं पर इन्द्र से कुपित होकर शिवजी के वरदान से पक्षिराज गरुड़ को प्रकट कराया। अत्रि-पत्नी अनसूया ने भी यहीं देवाधिदेव शंकर को प्रसन्न किया था। महात्मा विकर्ण यहीं सिद्ध हुए। शाकल्य मुनि ने यहीं घोर तपस्या करके ग्रन्थकार होने का शिवजी से वरदान पाया। सावर्णि ऋषि ने भी कवित्व-शक्ति शंकर की कृपा से इसी स्थान में प्राप्त की। नारदजी ने भी यहीं शिवाराधना द्वारा गायनाचार्य की पदवी प्राप्त की। हे मधुसूदन, मैं कहां तक गिनाऊं? असंख्यों प्राणी यहां आशुतोष भगवान् भोलानाथ की कृपा से सिद्ध हुए हैं। अनगिनती भक्तों ने यहां धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों को प्राप्त किया है। शंकरजी औघड़ दानी हैं, उनके यहां किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। उनसे जो भी चाहो मांग लो। उनके यहां नाहीं का काम नहीं, भुक्ति-मुक्ति सभी देने को वे सदा तत्पर रहते हैं। देते समय कोई विचार नहीं, कोई भेद-भाव नहीं। उनकी प्रसन्नता होने पर कोई कार्य कठिन नहीं, कोई बात असम्भव नहीं। भगवन्! और की मैं क्या कहूं? मैं स्वयं ही आपके सन्मुख प्रत्यक्ष उदाहरण हूं।

अत्यन्त दरिद्र विप्र बालक होकर—दरिद्रता के दुःख से दुखी होकर—"केवल दूध मांगने के लिये मैंने शिवजी की आराधना की। उसके फलस्वरूप भगवान् शंकर ने मुझे सब कुछ दे डाला।"

वह सुनकर भगवान् ने पूछा—"मुनिवर! आपने दूध के निमित्त शिवजी की क्यों अराधना की? आप पहिले कैसे दरिद्र थे? इन सब बातों को आप मुझे बतावें।" सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के ऐसे प्रश्न करने पर महामुनि उपमन्यु अपना पूर्व चरित्र कहने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हिरणकशिपु ने प्रभो! यही वर दुरलभ पाये।
विद्युत्प्रभ मन्दार बली बनि देव हराये॥
याज्ञवल्क्य श्री व्यास और शाकल्य महामुनि।
मंथकार बड़ भये नाम शिव रटि हरगुन सुनि॥
और कहाँ तक अब कहूँ, हौं दरिद्रता तें दुखी।
मातु वचन तें शिव भजे, भयो शंभुवर तें सुखी॥

दरिद्रता से दुखी उपमन्यु मुनि

[१८६]

तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने ।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ॥*

(श्री भग० १२ स्क० १० अ० ३२, श्लो०)

छप्पय

मुनि तैं पूछें कृष्ण—'कहो सब कथा विप्रवर ।
व्याघ्रपाद सुत कहें—'सुरभि नहिं रही मोर घर ॥
एक दिना कहुँ पियो दूध घर पै नहिं होई ।
माँग्यो माँ तें आइ सुनत जननी मम रोई ॥
मैंने हठ जब करी बहु, चून घोरि जल महँ दयो ।
पीयो परि पय स्वाद नहिं, दुःख मोर मन अति भयो ॥

ससार में दो कष्ट बहुत बड़े बताये हैं—एक तो वृद्धावस्था का कष्ट और दूसरा निर्धनता दरिद्रता का कष्ट । इसमें दरिद्रता का कष्ट सबसे बढ़कर है । जिसके पास धन नहीं, वह अपनी

---

* जो त्रिगुणात्मक होकर भी सम्पूर्ण गुणों के नियन्ता हैं, जो केवल, अद्वितीय, ब्रह्मस्वरूप जगत् के गुरु हैं, उन भगवान् भूतनाथ शंकर को नमस्कार है ।

किसी इच्छा को पूरी नहीं कर सकता। नित्य ही भूख उसे सताती रहती है। बच्चे भूख के कारण रोते हैं, स्त्री उदास रहती है, बन्धुबान्धव बोलते नहीं, जाति वाले त्याग देते हैं। सम्बन्धी उनसे मुंह छिपाते हैं, जिनके द्वार पर जाते हैं वे ही डर जाते हैं, सीधे बात नहीं करते; चाहते हैं, किसी प्रकार यह चला जाय। धनहीन का संसार पृथक् होता है, उसे सभी दिशाएं रोती हुई सी दिखाई देती है, संसार उसे काटने को दौड़ता है। सब उसके लिये कठोर हो जाते हैं। वह सब की ओर आशा-भरी दृष्टि से देखता है, किन्तु उसे कोई भी नहीं देखता। दरिद्रों को भूख भी बहुत लगती है। घर में अन्न भरा रहने पर वह भी तृप्त होकर भाग जाती है। धनवानों को प्रायः सदा अजीर्ण अपच रहता है, उनकी अग्नि मन्द ही बनी रहती है। दरिद्रता में कच्चा-पक्का, सड़ा-गला, बासी-कूसी सभी जीर्ण हो जाता है, पत्थर भी पच जाता है। उसी दरिद्रता को यदि कोई स्वेच्छा से स्वीकार कर ले, तो धन से हीन होने पर भी वह मन से प्रसन्न रहता है। द्रव्य से दरिद्र होने पर भी चित्त से वह धनवान् बना रहता है। वास्तव में तो मन की दरिद्रता को ही दरिद्रता कहा है, धन की दरिद्रता तो कोई महत्व नहीं रखती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने महर्षि उपमन्यु से उनके पूर्व चरित्र का प्रश्न किया, तो महर्षि बड़े उल्लास के साथ अपने बाल्य-काल की कथा कहने लगे।"

मुनि उपमन्यु बोले—"वासुदेव! मेरे पूजनीय पिता का नाम व्याघ्रपाद था। वे बड़े ही ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी थे; किन्तु उनके पास धन नहीं था। इससे वे अन्य मुनियों की भांति गौएं नहीं रख सके। मुनियों के निवास से दूर हमारी पर्णकुटी थी। हम दो भाई थे। बड़ा मैं और छोटे धौम्य। हम लोग जिस किसी

प्रकार वन के कड़वे कसैले कच्चे फलों को खाकर अपने दिन बिताते थे।

एक बार प्रभो! मैं अपने पिता के साथ एक यज्ञ में गया। वहाँ मुझे सुरभि गौ का सुन्दर स्वादिष्ट अधऔटा मिश्री मिला हुआ दूध पीने को मिला। वासुदेव! इससे पहिले मैंने कभी दूध नहीं पिया था। उस दुग्ध के स्वाद को अब मैं, जनार्दन! आपसे क्या कहूँ? मुझे ऐसा लगा, अमृत, इसी का नाम है। मेरी उस अनुपम पेय पदार्थ से तृप्ति ही नहीं हुई। यज्ञ समाप्त होने पर हम घर आये। बालक तो था ही, मैं वहाँ की बातें कुछ दिनों में भूल गया।

एक दिन मैं अपनी कुटी से दूर खेलने चला गया। वहाँ कुछ ऋषिकुमार एक गौ को दुह रहे थे। गौ दुह जाने पर उन्होंने मुझे भी थोड़ा दूध दिया। उस दूध को पीकर मुझे यज्ञ के दूध की याद आ गई। मैं दौड़ा-दौड़ा अपनी माँ के पास गया, और बोला—माँ! माँ मुझे तू खाने के लिये दूध और भात दे। यह सुनते ही मेरी माँ की आँखों में आँसू भर आये। उसने मुझे गोद में बिठा कर, मेरा माथा सूँघकर, मुँह चूमकर, बड़े स्नेह से कहा—"बेटा, मेरे पास दूध नहीं है?"

मैं तो बालक ही ठहरा। बच्चे माता-पिता की दरिद्रता को समझ ही नहीं सकते। उनमें उतनी विचार-शक्ति ही नहीं होती, आकर माता-पिता से माँगने लगते हैं। न देने पर रोते हैं, हठ करते हैं। 'बालानां रोदनं बलम्'—बच्चों का बल रोना ही है। माता-पिता उन्हें किसी प्रकार बातों में लगाकर फुसला देते हैं। इधर-उधर की बातें होने पर भूल जाते हैं। उनके हृदय में छल-कपट तो रहता नहीं।

मुनि कह रहे थे—"भगवन्! जब मेरी माँ ने आँखों में आँसू

भर कर दूध के लिये मना किया, तो मैं मचल गया। बार-बार दूध देने को आग्रह करने लगा। बाल-हठ को हटाने की युक्तियाँ माताएं ही जानती हैं। मेरी माँ ने जब मुझे दूध के लिये बहुत हठ करते देखा, तो उन्होंने जल में आटा घोलकर मुझसे कहा—"अच्छा ले, यह दूध पी ले।"

अपनी माँ के दूध देने पर मैं बड़े ही उल्लास के साथ उठा और उसे पीने लगा, किन्तु मधुसूदन, वह दूध तो था ही नहीं। यदि मैंने पहिले कभी दूध न पिया होता, तो उसे दूध समझ कर पी जाता; परन्तु मेरी जिह्वा तो दूध का स्वाद ले चुकी थी। मुझे वह आटा-मिश्रित जल अच्छा नहीं लगा। उसे पीने को मेरी रुचि नहीं हुई। मैंने उसे बिना पिये ही छोड़ दिया और अपनी माता से बोला—"अम्मा! यह दूध तो है नहीं।"

इतना सुनते ही मेरी माँ के धैर्य्य का बाँध टूट गया। बहुत रोकने पर भी वह अपने को न रोक सकी, फूट-फूट कर रोने लगी। उसने मुझे छाती से लिपटा लिया और अपने आँसुओं से मेरी सम्पूर्ण शिखा को भिगो दिया।

मैं यद्यपि बालक था, किन्तु माँ की अन्तर्वेदना को समझ गया और बड़े स्नेह से अपनी माँ के मुँह में मुँह मिलाकर पूछने लगा—"अम्मा! तू मुझे सच-सच बता दे। हमारे दूध क्यों नहीं होता? अन्य ऋषियों के यहाँ तो बहुत दूध होता है? यह तेंने मुझे क्या दिया था?"

मेरी माँ ने रोते-रोते कहा—"बेटा! यह यथार्थ में दूध नहीं था, यह तो पानी में घोला हुआ आटा था। बेटा! जिसके घर गौएँ हैं, उन्होंने पूर्व जन्म शिवजी की आराधना की है। हम ऐसे अभागे हैं कि हम भगवान् शिव की कृपा प्रसाद से वञ्चित हैं। हमने भक्तिपूर्वक उनकी उपासना नहीं की है, तभी तो दरिद्रता

हमारे यहाँ रहने लगी है। बेटा! आज मुझे अपनी निर्धनता पर दुःख हो रहा है। हाय! मैं अपने बच्चे को दूध भी नहीं दे सकती।"

मैंने कहा—"माँ तुम दुखी मत हो। दूध न मिला तो न सही। अब तुम ऐसा उपाय बताओ, जिससे हमारे घर में भी यथेष्ठ दूध हो। तुम जो उपाय बताओगी, वही मैं करूँगा। वे शिवजी कौन हैं, जिनकी उपासना करने से दूध मिलता है? तुम इतनी दुखी मत हो। अब मैं तुमसे दूध न मागूँगा, शिवजी की उपासना करके उन्हें प्रसन्न करके उनसे ही दूध मागूँगा!"

मेरी माँ ने कहा—"बेटा! मुझे अपनी दरिद्रावस्था पर दुःख हो रहा है। अपने लिये मुझे कुछ दुःख नहीं। जो भी भगवान् भेज देते हैं। उसी पर सन्तोष कर लेती हूँ, किन्तु तुम मेरे हृदय के टुकड़े हो, तुम्हें माँगने पर मैं दूध नहीं दे सकती इससे मुझे दुःख हो रहा है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! गृहस्थियों के लिये दरिद्रता का ही दुःख सबसे बड़ा है। विशेष कर इन ब्राह्मणों के पास दरिद्रता बहुत रहती है, इसका क्या कारण?"

सूतजी यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"महाराज, इन ब्राह्मणों की आप कुछ न पूछिए। ये लोग ऐसा दुष्कर कर्म करते हैं, कि सभी दाँतों तले उँगली दबा जाते हैं। इन्होंने दरिद्रता को अपने आप ग्रहण कर लिया है।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी जान बूझकर अपने आप दरिद्रता को कौन ग्रहण कर सकता है? यह तो आप अद्भुत बात सुना रहे हैं। यह दरिद्रता किसकी लड़की है? इसका विवाह किसके साथ हुआ है? ब्राह्मणों ने उसे ग्रहण क्यों किया? इन सब बातों का उत्तर देकर आगे की कथा कहें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज, यह कथा तो बडी लम्बी-चौड़ी है, किन्तु मैं अत्यन्त ही संक्षेप में आपको सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर इसे सुनें।"

जब दुर्वासा मुनि के शाप से लक्ष्मी विलीन हो गई, तो देवता और असुरो ने मिलकर समुद्र को मथा। कोई भी शुभ कामकरो, उसमें पहिले विघ्न आते हैं; जो विघ्नों को कुछ भी न समझकर उत्साहपूर्वक परिश्रम करते रहते हैं, तो पीछे से उन्हें अमृत की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार समुद्र मथा तो गया था अमृत के लिये, किन्तु पहिले ही पहिले निकला उसमें से विष। शिवजी उसे भगवान् का नाम लेकर पी गये। अब दूसरी बार फिर मथा तो दरिद्रता देवी निकलीं। बडी विरूप, काली कलूटी, दुबली पतली, देखने में भयानक। यद्यपि बड़े बाप की बेटी थीं, समुद्रतनया थी, किन्तु क्वारी कन्या का कुरूप होना उसके विवाह में बड़ा विघ्न है। विवाह हो जाने पर चाहे वह अन्धी ही हो जाय। सम्पूर्ण शरीर पर माता के घाव क्यों न हो जायँ फिर तो निभाना ही पड़ता है। बड़ों की क्वारी कन्या कुरूप हो, तो वे बड़े धर्म-संकट में पड जाते है। साधारण आदमी के साथ विवाह करने में अपना अपमान है। बराबर वाले कुरूप कन्या को ग्रहण नहीं करते, इसीलिये दरिद्रता के साथ किसी ने विवाह करना स्वीकार नहीं किया। तब उसने देवताओं से पूछा—"मुझे कहीं रहने का ठौर ठिकाना तो बता दो, कहाँ पर मैं रहूँ?"

यह सुनकर देवता बोले—"देखो, तुम जहाँ लड़ाई झगडा हो वहाँ रहा करो। जो लोग शुद्धता से न रहें उनके यहाँ रहो, जो दोनों सन्ध्याओं में सोवें, जो अखाद्य पदार्थ खायँ, जो अशुद्ध वस्तुओं को जैसे नख, बाल, हड्डी, मूत्र, विष्ठा, राख, कूड़ा कर-

कट आदि वस्तुओं को घर में पड़ी रहने दें, उन्हें झाड़ बुहारें नहीं उनके यहाँ तुम रहो।" बिचारी दरिद्रता अपना सा मुँह लेकर चली गई।

फिर निकली लक्ष्मीजी। वे इतनी सुन्दरी थीं कि सभी का मन उन्हें देखकर क्षुभित हो उठा। सभी उनसे विवाह करने को अत्यन्त उत्सुक दिखाई देते थे। केवल एक बार वे हमारी ओर देख भर लें, किन्तु वे किसी की ओर ताकती भी नहीं थीं। विष्णु भगवान् ने उन्हें अपने हृदय का हार बना लिया। अब तो वे जगन्माता हो गईं।

जो अच्छे स्वभाव वाली होती हैं, वे बड़े घर में विवाह जाने पर भी अपनी बहिनों की चिन्ता रखती हैं। लक्ष्मीजी तो अब जगत् के स्वामी की अर्धाङ्गिनी बन चुकी थीं। उन्होंने एक दिन अपने पति भगवान् विष्णु से कहा—"प्राणनाथ! मेरी एक प्रार्थना है।"

भगवान् बोले—"कहो, क्या बात है?"

लक्ष्मीजी ने कहा—"देखिये, मेरी एक बड़ी बहिन है—दरिद्रता देवी। उसका तो विवाह हुआ नहीं, और आपने मुझसे विवाह कर लिया। बड़े भाई बहिन के अविवाहित रहते, जो छोटे भाई बहिन विवाह कर लेते हैं, उन्हें परिवेत्तृत्व का बड़ा भारी दोष लगता है। इसीलिये स्वामिन्! मुझे इस दोष से छुड़ाइये, मेरी बहिन को कहीं विधि बैठाइये, उसे घर द्वार वाली बनाइये। आप सर्व समर्थ हैं। उसके लिये कोई मलूक सा, सुन्दर सा, दूलहा खोज दीजिये। जैसे हो तैसे मेरी बड़ी बहिन का गठबन्धन करा दीजिये।"

भगवान् बोले—"तुम्हारी बहिन है भी तो बड़ी कुरूपा। सभी तो उससे घृणा करते हैं। अब मैं किससे कहूँ? फिर एक

बात और भी है। वह है मेरी बड़ी साली। मैंने बलपूर्वक समझा बुझा कर किसी के पल्ले से उसका पल्ला बाँध भी दिया, तो सम्बन्ध में वह मुझसे बड़ा साढ़ हो जायगा। उस कुरूपा को कोई भला आदमी स्वेच्छा से ग्रहण तो करेगा नहीं।"

लक्ष्मीजी बोलीं—"अब, महाराज! कैसी भी है, है तो बहिन ही। हाथ की रेखा तो मिटती ही नहीं। कहीं भी हो, उसकी साँठ गाँठ लगा दीजिये।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, प्रयत्न करूँगा। यह कह कर उन्होंने एक तपस्वी ब्राह्मण मुनि को बुलाया और उनसे बोले—"मुनिवर! यह मेरी साली है। आप इसके साथ विवाह कर लें, तो आप सम्बन्ध में मुझसे बड़े हो जायँगे। मेरे भी ज्येष्ठ साढ़ बन जायँगे।"

मुनि बोले—"भगवन्! विवाह आदि की तो मुझे इच्छा है नहीं, किन्तु आपकी आज्ञा तो मुझे सर्वथा शिरोधार्य्य है। आपकी आज्ञा है तो मैं विवाह कर लूँगा।"

भगवान् को तो यही अभीष्ट ही था। मुनि के साथ उसका गठ-बन्धन कर दिया। मुनि इस सम्बन्ध से सन्तुष्ट-से दिखाई नहीं देते थे, किन्तु भगवान् की इच्छा में अपनी इच्छा मिला देना-यही तो उत्तम भक्तों का लक्षण है। अपनी नई बहू को लेकर मुनिवर आश्रम की ओर चले।

मुनि के आश्रम में चारों ओर सुन्दर वृक्ष लगे हुए थे। सम्पूर्ण आश्रम झाड़ा-बुहारा, लिपा-पुता, सुन्दर, स्वच्छ पड़ा था। चारों ओर वेदों की ध्वनि हो रही थी। यज्ञ-कुण्डों में विविध प्रकार की अग्नियाँ प्रज्वलित हो रहीं थीं। इस प्रकार ब्राह्मीश्री से युक्त आश्रम को देख कर दरिद्रता डर गई। जहाँ ब्राह्मीश्री विराजमान है वहाँ दरिद्रता रह ही कैसे सकती है।

उसने अपने पति मुनिवर से कहा—"स्वामिन्! मैं तो इस आश्रम में रहने की नहीं। आपने विधिवत् मेरे साथ विवाह किया है। आप तुरन्त मुझे यहाँ से दूर ले चलिये।"

मुनि ने सोचा—"यह अच्छी इल्लत भगवान् ने मेरे सिर बाँध दी। अब जाने यह चन्डी मुझे कहाँ-कहाँ घुमावेगी? इस काली मूँड वालो के पीछे मुझे भी न जाने क्या क्या करना पड़ेगा। अब तो जैसे तैसे हो निभाना ही पड़ेगा।"

यह सोचकर मुनि ने कहा—"अच्छा बहूरानी, चलो, कहाँ चलोगी?" यह कह कर मुनि उसके साथ चल दिये। वह आगे-आगे थी, मुनि उसके पीछे-पीछे चल रहे थे। सम्भवतया ज्येष्ठ वैशाख का महीना था, कड़ाके की धूप पड़ रही थी। दोनों ही थक गये। एक पीपल की छाया में बैठ गये।

मुनि ने सोचा—अच्छा विवाह किया। जप, तप, अग्निहोत्र सब छूटा। इसका जप, तप, यज्ञ, याग, वेदाध्ययन में मन ही नहीं लगता। इसके पीछे मैं इन सब को छोड़ नहीं सकता। या तो मुझे यज्ञादिक छोड़कर इसी का क्रीड़ामृग बनना पड़ेगा या इसे त्याग कर उनका फिर से ग्रहण करना पड़ेगा।

मुनि ने सोचा—भगवान् ने विवाह करने के लिये ही कहा था। उनकी आज्ञा का पालन हो गया। अब इसके पीछे कहाँ-कहाँ फिरता रहूँ? यह सोच कर मुनि किसी बहाने से खिसक गये। दरिद्रता ने जब देखा कि मेरा दुलहा तो मुझे यहाँ जङ्गल में छोड़कर भाग गया, तो वह बड़े जोरों से रोने लगी। शनीचर का दिन था; अपनी बहिन का रुदन सुनकर लक्ष्मीजी ने भगवान् से कहा—"प्राणनाथ! आपने मेरी बहिन का विवाह कैसे आदमी के साथ कर दिया? देखिये, वह उसे छोड़

कर चला गया। वह बेचारी पीपल के पेड़ के नीचे बैठी रो रही है।"

भगवान् ने कुछ चिढ़ कर कहा—"देखो जी, बहूरानी! सुनो मेरी सच्ची बात। मैंने जीवन भर का तो उसका ठेका लिया नहीं है। तुम ने विवाह कराने को कहा था, विवाह करा दिया तुम्हारा परवेत्तापने का दोष दूर हो गया। अब बहिन का अधिक स्नेह है, तो तुम ही उससे बातें करो। मैं तो अब अपने कर्तव्य से मुक्त हुआ।"

लक्ष्मीजी ने कहा—"ये पुरुष सब एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। अपना प्रयोजन हो, तो पचास मीठी-मीठी चिकनी चुपड़ी बातें बनावेंगे। चलो, मुझे मेरी बहिन के पास ले तो चलो।"

भगवान् क्या करते? पत्नी ठहरी, लेकर गये। दोनों बहिनें गले मिल कर खूब रोईं। तब भगवान् ने कहा—"अब रोने धोने से काम न चलेगा। जब तक ब्राह्मण का यज्ञ, याग, वेद, देव, गौ, अतिथि, धर्म और मुझमें प्रेम है, तब तक वह तुम्हें पास भी न आने देगा। वह मना न करेगा, किन्तु तुम वहाँ उसकी ब्राह्मीश्री के कारण जा न सकोगी। इस पीपल के पेड़ में ही रहो।"

यह सुनकर लक्ष्मीजी ने कहा—"हाँ, बहिन! तुम इसी अश्वत्थ के पेड़ में रहो। प्रत्येक शनिवार को मैं तुम्हारे समीप आज से आया करूँगी। उस दिन जो पीपल का आलिङ्गन करेंगे, उन पर मैं प्रसन्न होऊँगी।"

इस पर दरिद्रता बोली—"तब बहिन! लोग शनिवार को ही पीपल की पूजा करेंगे। अन्य दिनों में तो कोई पूजा ही न करेगा।"

यह सुनकर लक्ष्मीजी—बोलीं—"नहीं, जो नित्य पूजा करेंगे उन पर भी मैं तुम्हारे सम्बन्ध से प्रसन्न होऊंगी। अन्य दिनों

पीपल का आलिङ्गन न करना चाहिये। आलिङ्गन केवल शनिवार को ही करना चाहिये।"

इस प्रकार दोनों बहिनों में समझौता हो गया। उस दिन से प्रत्येक शनिवार को लक्ष्मीजी पीपल के पेड़ में आती हैं। उस दिन दरिद्रता स्नेह वश वहाँ से हट जाती हैं और बहिन को बैठा देती हैं। इसलिये शनिवार को पीपल के वृक्ष का विधि-विधानपूर्वक पूजन करके आलिङ्गन करना चाहिए। अन्य दिनों में केवल पूजन ही करना चाहिये, आलिंगन नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्राह्मणों ने दरिद्रता को स्वीकार तो कर लिया, किन्तु ब्राह्मी तेज के कारण दरिद्रता उनके पास फटकने नहीं पाती। जो ब्राह्मण ब्राह्मीश्री से हीन हैं उनके ऊपर तो दरिद्रता बलपूर्वक सवार हो ही जाती है। जो भगवद् भक्त नहीं, शिव की आराधना में तत्पर नहीं, कथा-कीर्तन से विमुख हैं—ऐसे ब्राह्मणों के यहाँ अपना अधिकार समझ कर दरिद्रता चली जाती है। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में दरिद्रता का चरित्र आपको सुनाया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"विदुरजी! यह आपने अद्भुत चरित्र सुनाया। हाँ तो महामुनि उपमन्यु की माता ने उन्हें दूध प्राप्त करने का कौन सा उपाय बताया और मुनि ने क्या किया? इस सम्पूर्ण कथा को आप हमें सुनावें। शिव-भक्त महामुनि उपमन्यु के चरित्र सुनने के लिये हमारे मन में अत्यन्त कुतूहल हो रहा है।"

शौनकजी के ऐसा कहने पर सूतजी बोले—"मुनिवर! मैं शिवध्यानतत्पर मुनिवर उपमन्यु का उत्तर चरित्र आपको सुनाऊँगा। तब तक मैं थोड़ा पंचाक्षरी मन्त्र का जप कर लूँ। आप भी तब तक शिव-शिव रटिये।"

शिव-शिव रटें, तो संकट कटें।

छप्पय

अम्मा ! यह पय नाहिँ मोहिँ तू च्यौं बहकावे।
अमृतोपम अति श्वेत मधुर पय च्यौं न पिआवे॥
मम हठ निरख्यो मातु नयन तैं अश्रु बहावे।
बार-बार पुचकारि हृदय तैं मोइ लगावे॥
मैं पूछ्यो—'घर सुरभि पय, होइ न च्यौं हे जननि कह।
बोली—बेटा ! विष्णु की, साली की करतूत यह॥

उपमन्यु मुनि को शिवजी का वरदान

[१८७]

त्वं कर्मणां मंगल मंगलानाम्,
कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमंगलानां च तमिस्रमुल्बणम्,
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ६ अ० ४५ श्लोक)

छप्पय

पुनि पूछ्यो हे मातु ! मगै यह कुलटा कैसे ?
सुनि माँ बोली–वत्स ! बताऊँ जावै जैसे ?
आशुतोष भगवान् शम्भु कूँ जो आराधें ।
तिनके दुर्लभ काज कपर्दी छिन महँ साधें ॥
मधुसूदन ! मम मातु ने, महादेव महिमा कही ।
उपजी सुनि शिव भक्ति हिय, शरन चरन हर की गही ॥

---

* ब्रह्माजी शिवजी की स्तुति करते हैं—"हे मङ्गलमय महादेव ! आप ही मगल कर्म करने वाले पुरुषों को स्वर्ग अथवा मुक्ति प्रदान करते हैं और पाप कर्म करने वाले को भयङ्कर नरकादि गति भी आप ही देते हैं । फिर कहीं-कहीं इस नियम के विपरीत होना भी देखा जाता है । इसे आपही जानें, ऐसा क्यों होता है ।"

जो विपदा हमें भगवत् स्मृति करावे—ऐसी विपदा हे भगवन्! सब किसी को देना। जो दरिद्रता शिव-चरणों में अनुराग करावे, हे आशुतोष भोलेनाथ! ऐसी दरिद्रता जिन्हें प्राप्त है, उनकी चरणों की धूलि हमें प्राप्त हो। जो सुख हमें शिव से विमुख करे, ऐसा सुख शत्रुओं को भी प्राप्त न हो। आज उपमन्यु महर्षि दरिद्रता के ही कारण शिव-भक्तों में सबसे अधिक सम्माननीय बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो जब महामुनि उपमन्यु की माता रोने लगी, तब मातृ-दुःख से दुखी बालक उपमन्यु कहने लगे—'माँ! तुम मुझे उन भगवान् शङ्कर का स्वरूप बता दो, उनकी उपासना की प्रक्रिया समझा दो। जननि! मैं उन त्रिशूलपाणि विश्वनाथ को तपस्या द्वारा प्रसन्न करूँगा और अब उन्हीं से दूध माँगूँगा।'

अपने आश्रम पर आये हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को स्वयं भगवान् उपमन्यु सुना रहे हैं—"प्रभो! जब मैंने अपनी माता से शिव-स्वरूप समझने का आग्रह किया, तो मेरी माँ के नेत्र श्रावण भादों की वर्षा के समान बहने लगे। उसका कण्ठ गद्गद हो गया। मुझ बालक की भोली-भाली बातें सुनकर हृदय भर आया। उन्होंने मुझे कसकर अपनी छाती से चिपटा लिया।

"वासुदेव! माता की गोदी कितनी सुखद है, उसका स्पर्श कितना प्रेममय है; किन्तु मुझे तो दूसरी ही धुन सवार थी। मैं बार-बार माता से आग्रह करने लगा। तब मेरी माँ रोते-रोते दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर कहने लगी—"बेटा! शिवजी दुराधर्ष और दुर्विज्ञेय हैं। उनका यथार्थ रूप ऋषि, मुनि, देवता, यक्ष, गन्धर्व जान नहीं सकते, शास्त्र उनका वर्णन नहीं कर सकते। वे सबसे श्रेष्ठ और सबके जनक हैं। वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही

विष्णु हैं और वे ही रुद्ररूप धारण करते हैं। उनसे परे कोई देव नहीं। वे सृष्टि, स्थिति और प्रलय के स्वामी हैं। विश्व उनकी क्रीड़ास्थली है; उसमें वे सर्वत्र व्याप्त हैं, वे भक्तवत्सल हैं, अशरणशरण हैं। वे शरण में आये हुए के सभी दुःखों को नाश करने वाले हैं। उनकी कोई किसी भाव से शरण में क्यों न जाय, वे सभी को ईप्सित वर देते हैं। उनके यहाँ भेद भाव नहीं। देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, बुरा, भला, सदाचारी, कदाचारी कैसा भी कोई क्यों न हो, सभी के मनोरथों को वे पूरा करते हैं।

उनका एक रूप भी नहीं, या तो वे अरूप हैं या सभी उन्हीं के रूप हैं; फिर भी वे विचित्र वेष बनाकर बैल पर बैठकर वेताल भूतों के साथ वनों में विहार करते हैं, श्मशानों में नाचते हैं और अपना उन्मत्त का-सा रूप दर्शाते हैं। वे बड़े जोरों से अट्टहास करते हैं। उनकी हँसी अत्यन्त ही मधुर है। चक्र, शूल, गदा, मूसल, खड्ग आदि आयुधों को भी धारण कर लेते हैं। मेखला, कुण्डल, यज्ञोपवीत बाजूबन्द सब उनके सर्पों के ही होते हैं। सिर से भी सर्प लिपटे हैं, कानों में भी सर्पों के कुण्डल हैं, गले में भी सर्प पड़ा है। यज्ञोपवीत भी सर्पों का ही पहिने हैं। कोई इधर से सर्र से जाता है, कोई उधर से फुफकार मारता है। वे हँस जाते हैं और उनके फणों पर अपने करकमल को रखकर कृपा करते हैं। जिन सर्पों से सभी भयभीत होते हैं, वे निर्भय होकर उनकी शरण में विहार करते है। व्याघ्र-चर्म ओढ़ते हैं, भस्म रमाते हैं, जटा धारण करते है, मुण्डों की माला पहिनते हैं, कपाल हाथ में रखते हैं। यह उनका रूप अज्ञानियों को मोह में डालने वाला है। ज्ञानी तो उनके उसी सत्य रूप को समझ कर उपासना करते हैं। बेटा, तुम उनके निमित्त जो भी जप, तप, भजन करोगे उसे वे स्वतः समझ लेंगे और समझकर तुम्हें इष्ट

वस्तु प्रदान करेंगे। उनसे कोई बात छिपी नहीं। वे घट-घट को जानने वाले हैं। सभी के अन्तःकरणों में वे सदा अन्तर्यामी रूप से निवास करते हैं। वत्स! यदि तुमने उनकी शरण ले ली, तो तुम्हारे समस्त दुःख दूर हो जायंगे, फिर तुम्हें किसी भी वस्तु की कमी न रहेगी।"

महामुनि उपमन्यु कहते हैं—"हे क्लेशनाशन केशव अपनी माता के ये वचन सुनकर मेरी भगवान् सदाशिव के चरणारविन्दों में प्रगाढ़ भक्ति उत्पन्न हो गई। उसी दिन से मैं आकर शिवाराधन में तत्पर हो गया। हे वासुदेव! मैं एक सहस्र वर्षों तक एक अँगूठे पर खड़ा रह कर शिवजी की आराधना करता रहा।"

"एक दिन मैं देखता हूँ कि पर्वत के समान सफेद ऐरावत हाथी पर चढ़े हुए देवताओं के स्वामी इन्द्र मेरी ओर आ रहे हैं। उनके साथ सैकड़ों देवता हैं, बहुत से ऋषि-मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व उनकी स्तुति कर रहे हैं। स्वर्गीय अप्सरायें अपने हावभाव कटाक्षों द्वारा उन्हें प्रसन्न करती हुई उनकी परिचर्या में लगी हैं। उनके माथे का मणिमय मुकुट सूर्य की किरणों के लगने से दमदमा रहा था। विविध प्रकार के आभूषणों से वे सुसज्जित थे, अनुपम-रूप लावण्य-युक्त स्वर्गीय अप्सरायें उनके ऊपर चवँर डुला रही थीं; जिसमें से सदा अमृत टपकता रहता है ऐसे मोतियों का झालरदार सफेद छत्र ऊपर लगा हुआ था। मेरे सम्मुख आकर वे खड़े हो गये और मुझे सम्बोधन करके बोले,—'मुनिवर! मैं समस्त देवताओं का तीनों लोकों का पति हूँ। यज्ञों में मेरी ही उपासना की जाती है। मैं ही त्रैलोक्य का अधीश्वर हूँ। मैं ही सबको वर देता हूँ, तुम्हारे ऊपर मैं प्रसन्न हूँ, तुम्हारी तपस्या से मैं सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझसे जो भी चाहो

वरदान माँग सकते हो। मैं तुम्हारी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करूँगा।"

"देवराज इन्द्र के ऐसे वचन सुनकर मुझे प्रसन्नता नहीं हुई। मैं देवराज से दृढ़ता के स्वर में बोला—देवेन्द्र! यदि आप त्रैलोक्य के स्वामी हैं, तो रहे आवें। मुझे आपसे कोई प्रयोजन नहीं। मैंने तो भगवान् भुवनेश्वर भूतनाथ भवानीपति की शरण ली है। मेरे वरदाता तो वे ही हो सकते हैं, उनके अतिरिक्त मैं किसी से भी वरदान नहीं माँग सकता। वे मुझे जो भी दे दें वही सहर्ष स्वीकार है। वे यदि मुझे पशु पक्षी, शूकर, कूकर की योनि भी दें, तो वह भी मैं ग्रहण कर लूँगा। दूसरा कोई मुझे स्वर्ग के सिंहासन पर ही क्यों न बिठाना चाहे, तो भी मैं नहीं बैठूँगा। मेरे सर्वस्व तो शिव हैं। मेरे इष्ट तो पार्वतीपति हैं। मेरे ऊपर अनुग्रह और निग्रह करने में सदाशिव ही समर्थ हैं, दूसरे के सम्मुख मैं हाथ नहीं फैला सकता। आप चाहें तो पधार सकते हैं, चाहें विराज सकते हैं। मुझे आपसे कोई वरदान नहीं माँगना है।"

मेरे वचन सुनकर हँसते हुए देवेन्द्र बोले—"अरे, तुम क्या शिव-शिव कर रहे हो? वर देने वाले देवता होते हैं और मैं समस्त देवों का इन्द्र हूँ, अधीश्वर हूँ। मुझसे बढ़कर कौन है? जिस शिव के तुम इतन गुण गा रहे हो उसके होने में क्या प्रमाण है? तुमने उसे देखा है?"

उपमन्यु मुनि कहते हैं—"वासुदेव! देवेन्द्र की ये बातें सुन कर मुझे कुछ रोष-सा आ गया, मैंने कहा—"हे अमराधिप! शिवजी इन चर्म चक्षुओं से बाह्य दृष्टि वाले पुरुषों को दिखाई नहीं देते, उनके अस्तित्व में वेद ही प्रमाण है। वेदों में स्थान-स्थान पर उन्हीं त्र्यंबक महेश्वर की महिमा गाई गई है। हे

सहस्राक्ष ! अनुमान भी प्रमाण है। जब यह सृष्टि है, तो किसी ने इसे उत्पन्न किया होगा, शिव के अतिरिक्त उत्पन्न करने की शक्ति किसमें है ? वे ही उत्पन्न करते हैं, वे ही संहार करते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियों ने शिवाराधन करके सिद्धि प्राप्त की है, अतः उनके अस्तित्व में आप्त ही प्रमाण है। आप देवताओं के इन्द्र शिवजी के ही कृपा प्रसाद से हुए हैं। वे देवाधिदेव महादेव हैं। आप तो उन्हीं के बनाये हुए इन्द्र हैं। उन्हीं की आज्ञा से आपका इन्द्र पद पर अभिषेक हुआ था। आप वर देने में समर्थ हैं, फिर भी मैं वरदान तो सबके वरेण्य श्री शिव से ही मागूंगा।"

उपमन्यु मुनि कहते हैं—"हे वृष्णिवंशावतंस ! हे कैटभारे ! जब मैंने यह कहा, तब तो एक ऐसी अद्भुत घटना हुई, कि मैं हर्ष और विस्मय के बीच में पड़कर कुछ काल के लिये किंकर्तव्यविमूढ़-सा बन गया। मैंने देखा, कि वह ऐरावत तो नन्दीश्वर के रूप में परिणत हो गया। दुग्ध के फेन के सदृश, शारदीय शशि के सदृश, धुले हुए शुभ्र पट सदृश, बगुला के पङ्खों सदृश, कुन्द और आक के पुष्प के सदृश उसका रंग शुभ्र हो गया था। उसका ऊँचा ककुम हिल रहा था, पीली-पीली आँखें चमक रही थीं, सुमेरु के शिखर के समान वह ऊँचा था। उसके दोनों सींग सुवर्ण से मढ़े थे, खुरों में चाँदी लगी थी। उसके दोनों पुट्ठे मोटे थे, वह अपनी पूँछ को हिला रहा था। उसके ऊपर सुवर्ण के काम की झूल पड़ी थी। उस पर दिव्य सिंहासन रखा था। भगवान् शङ्कर उसके ऊपर भगवती पार्वती के साथ विराजमान थे। उनके एक हाथ में त्रिशूल था, दूसरे से डमरू बजा रहे थे, माथे पर चन्द्रमा दमक रहा था, अंग में भभूत रमी थी। सर्प फुफकार रहे थे। गौरी उन्हें धमका रही थी शङ्कर हंस रहे थे।

वृषभ बाँ-बाँ बोली बोल रहा था। क्षण भर में ही दृश्य बदल गया। अब वहाँ न इन्द्र, न अप्सरायें मेरे सामने नन्दीश्वर पर

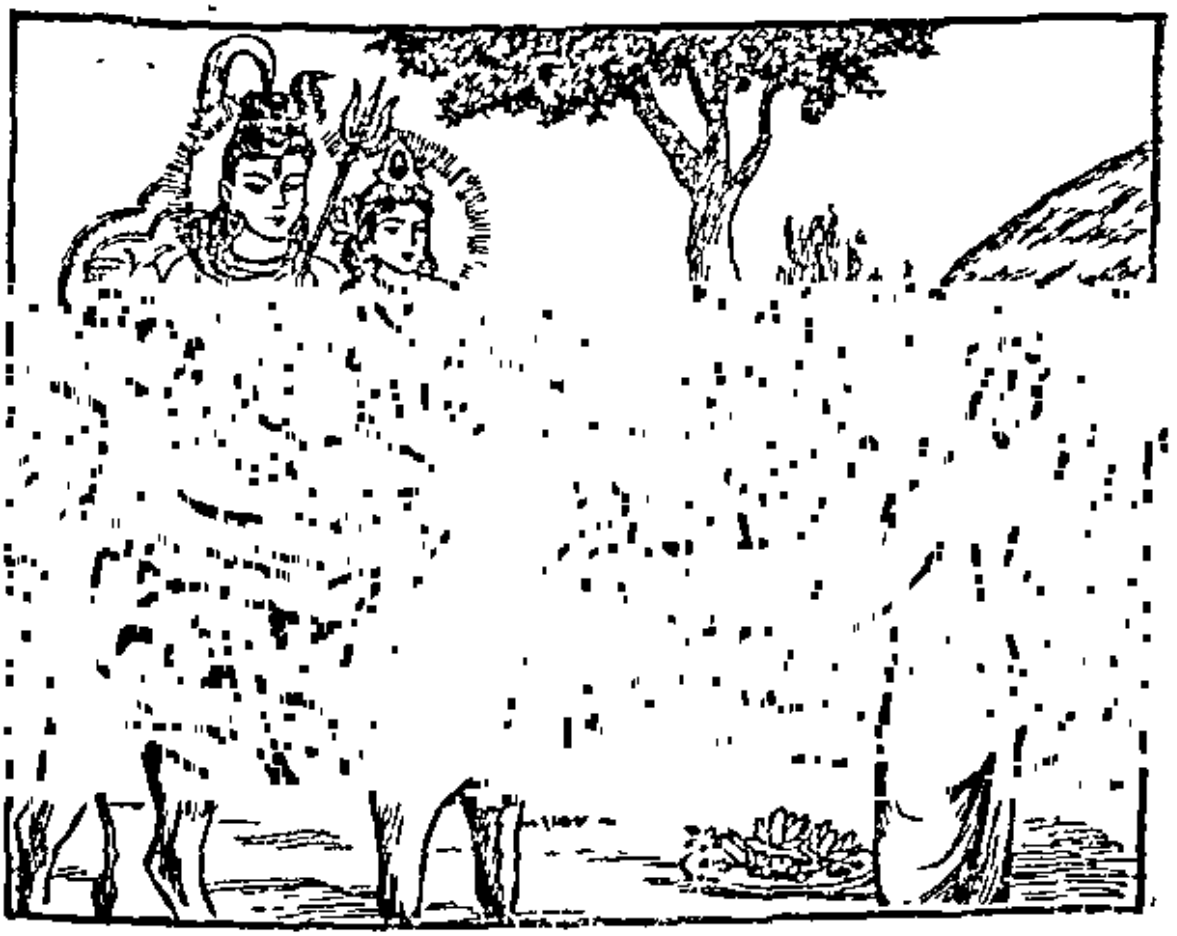

चढ़े हुए पार्वती परमेश्वर उपस्थित थे। अपने इष्टदेव को सम्मुख देखकर मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। भूमि में लोट कर मैंने भगवान् भुवनेश्वर को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। यथाप्राप्त वन्य सामग्रियों से उनकी पूजा की प्रेमाश्रुओं से मेरे नेत्र भर गये। भली भाँति अपने इष्ट के दर्शन भी न कर सकता था। तब मैंने नेत्र बन्द करके विविध स्तोत्रों से उनकी स्तुति की। मेरी स्तुति से प्रसन्न होकर भवानीनाथ मुझसे बोले—"वत्स उपमन्यु! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर तुम्हें वरदान देने के लिये उपस्थित

है। हे मुनिपुंगव ! तुम मेरा दर्शन करो, अपना अभीष्ट वर मुझसे माँगो। मैं तुम्हें सब कुछ दूँगा।"

उपमन्यु कहते हैं—"भगवन् ! जब शिवजी ने इस प्रकार मुझसे कहा, तब मैंने रुद्धकण्ठ से प्रेमाश्रु बहाते हुए कहा—'हे विभो ! जब आपने मुझे दर्शन ही दे दिये, तब मेरे लिये अब अप्राप्य क्या रहा ? मुझे तो आपके चरणों की निरन्तर अहैतु की भक्ति ही चाहिये। मैंने दूध भात के निमित्त आपकी आराधना की थी, किन्तु जब आपकी प्रसन्नता ही प्राप्त हो गई, तो इन तुच्छ वस्तुओं से क्या प्रयोजन ?"

इस पर वरदानियों में श्रेष्ठ आशुतोष गिरिनन्दिनीवल्लभ भगवान् त्रिपुरारी मेघगम्भीर वाणी में मुझसे बोले—मुनिवर उपमन्यु ! तुम्हें मेरी भक्ति तो प्राप्त हो ही गई। वह सदा तुम्हारे हृदय में बनी रहेगी। तुम मेरे भक्तों में सर्वश्रेष्ठ होगे। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें अजर, अमर तथा यशस्वी, तेजस्वी होने का वरदान और देता हूँ। तुम देवताओं के सदृश इस पृथ्वी पर हो जाओगे। तुमने दूध भात के लिये मेरी उपासना की थी, इसलिए अब मैं तुम्हें हजार पाँच-सौ गौओं का वरदान क्या दूँ। सम्पूर्ण क्षीरसागर ही मैं तुम्हें दिये देता, हूँ। तुम जहाँ भी इच्छा करोगे, वहीं क्षीरसागर तुम्हारे पास आजायगा। जितना चाहो दूध पिओ, जितना चाहो अतिथियों को पिलाया करो, दिन भर दूध ही पीते रहो। रात्रि में भी इधर-उधर भरकर रख लिया। दूध की तुम्हें कभी भी कमी न रहेगी।'

उपमन्यु मुनि कहते हैं—वासुदेव ! जब शूलपाणि भगवान् शङ्कर ने मुझे इतने दुर्लभ वरदान दिये, तब मैंने हाथ जोड़कर विनती की—'प्रभो ! एक वरदान मुझे और दें। आप सदा मेरे आश्रम पर ही निवास करें।' मेरी प्रार्थना सुनकर चन्द्रमौलि

मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए बोले—'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। आज से मैं सदा तुम्हारे आश्रम के समीप रहूँगा। तुम जब, चाहोगे, मुझे प्रत्यक्ष देख सकोगे।' सो हे जनार्दन! तब से सदाशिव सर्वदा इस आश्रम में सन्निहित रहते हैं। आप उनकी आराधना करें। अवश्य ही पशुपति भगवान् शङ्कर आपकी मनोकामना शीघ्र से शीघ्र पूरी करेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामुनि उपमन्यु के साथ शिव-गुन गाते-गाते आठ दिन भगवान् के बात की बात में निकल गये। उन्हें उतना समय क्षण के समान प्रतीत हुआ। तब भगवान् ने महामुनि उपमन्यु से शिव-मन्त्र की दीक्षा लेकर शिव-आराधना करनी आरम्भ कर दी। वे एकान्त में रह कर घोर तपस्या करने लगे। एक महीने वे फलों पर ही रहे, दूसरे महीने केवल जल का ही आहार करते रहे, फिर जल छोड़कर केवल वायु पीकर ही वे एक पैर से खड़े होकर कठिन तप में निमग्न हो गये। पाँचवें महीने के पश्चात् भगवान् शंकर ने उन्हें दर्शन दिये। त्रिशूलधारी शंकर के दर्शनों से भगवान् को परम आह्लाद हुआ। शिवजी ने उनसे कहा—'हे वासुदेव! नेत्र खोलो और मुझे देखो। मुझसे अभीप्सित वर माँगो।

तब भगवान् ने हाथ जोड़कर शिवजी से कहा—"प्रभो! मुझे सहस्रों पुत्र दीजिये, जिनको धर्म में मति हो, सब शूरवीर पराक्रमी हों, रण में उन्हें कोई जीत न सके।"

शिवजी ने कहा—"तथास्तु! ऐसा ही होगा।" फिर माता पर्वतीजी ने भी भगवान् को १६ हजार पत्नियों का, दिव्य सौन्दर्य का तथा और भी बहुत से वरदान दिये। इस प्रकार शिवजी भगवान् को दर्शन और वरदान देकर तत्क्षण अन्तर्धान हो गये। भगवान् भी महामुनि उपमन्यु की पूजा करके और उनसे सत्कृत

होकर द्वारका को लौट आये और उनके १६१०८० पुत्र हुए। सो, मुनिवर जिन चराचर के स्वामी शिवजी की सभी उपासना करते हैं, स्वयं साक्षात् श्रीहरि भी लोकसंग्रह के लिये नरनाट्य दिखाने के लिये, जिनकी आराधना करते हैं, उन शिवजी को दक्ष ने साधारण देवता समझकर भरी सभा में उनका अपमान किया। उनको कुवाच्य कहे, शाप दिया। तो भी शिवजी ने न तो शाप दिया! और न कुछ बुरा वचन ही कहा। वे चाहते तो दक्ष को वहीं भस्म कर सकते थे। जो अपने तीसरे नेत्र की अग्नि से चराचर विश्व को प्रलय कर डालते हैं, उनके सामने बेचारा दक्ष था ही क्या? किन्तु वे जो क्षमा के सागर हैं। बच्चा यदि माँ की गोद में लात मारता है, तो माँ उसे फेंक थोड़े ही देती है, क्षमा कर देती है। इसी भाँति शिवजी ने उसकी अविनय की ओर ध्यान नहीं दिया। वे उठ कर कैलास को चले गये।

छप्पय

आराधे शिव सहस बरष सब सुत तनु त्यागे।
दये देव ने दरस दुःख दारिद सब भागे॥
अजर अमर वपु करयो दूध को सागर दीन्हो।
इष्ट कपर्दी करी इतारथ किंकर कीन्हो॥
सुनि हरि हू ने हर भजे, सहस सुतनि शिव वर दये।
है सतहत ऋषि मुनिनि तें, इष्ट द्वारका कूँ गये॥

प्रजापतियों के सत्र की समाप्ति

[१८८]

तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरान् ।
संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः ॥
आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता ।
विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः ॥❀

(श्री भा० ४,स्क० २ अ०, ३४, ३५ श्लोक)

छप्पय

ऐसे शिव कूँ शाप दक्ष ने दारुण दीन्हों ।
करयो न हर ने कोप शाप शिर धारण कीन्हों ॥
शापा-शापी निरखि विमन शिव निज गिरि धाये ।
सहस साल को सत्र पूर्ण करि सब मिलि न्हाये ॥
सुखद सिद्धिप्रद अघहरन, पावन पुण्य प्रयाग महँ ।
अवभृथ मज्जन करयो सब, गङ्गा यमुना मिलीं जहँ ॥

❀ महामुनि मैत्रेय जी कहते हैं—"हे महाधनुर्धारी विदुरजी ! उन प्रजापतियों के जिस यज्ञ में सर्वश्रेष्ठ उपास्य श्री हरि थे उस हजार वर्ष मे समाप्त होने वाले यज्ञ की पूर्णाहुति करके और जहाँ गङ्गा तथा यमुना का सङ्गम है, उस तीर्थराज प्रयाग में अवभृथ स्नान करके शुद्ध चित्त होकर सभी अपने-अपने स्थानों को चले गये ।"

हृदय में जब किसी के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है, तब स्नेह सम्बन्ध सब शिथिल हो जाते हैं। मन में सदा द्वेषाग्नि जलती रहती है, चित्त चाहता है जैसे भी हो तैसे इसे नीचा दिखावें। किस तरह इसे क्लेश पहुँचावें, कैसे इस पर अपना विरोध प्रकट करें। संसार में ईर्ष्या द्वेष का अस्तित्व न होता, सब एक दूसरे से प्रेम ही करते, तो ये लड़ाई झगड़े शोक, रोग, भय, मत्सर, कुछ न होते। मनुष्य चैन की बंशी बजाते आनन्द में विचरते। पहिले रोगों को कोई जानता ही नहीं था। प्रजापतियों के यज्ञ में प्रयाग-क्षेत्र में रोगों का गर्भाधान संस्कार हुआ और दक्ष के यज्ञ में सब उत्पन्न हो गये। तभी से संसार में रोगों की उत्पत्ति हुई। आवश्कता आविष्कार की जननी है। जब रोग हुए तो उनकी शान्ति के लिये आयुर्वेद-शास्त्र का निर्माण हुआ। ब्रह्माजी ने इन्द्र को पढाया, इन्द्र ने ऋषियों को पढ़ाया, ऋषियों ने पृथ्वी पर रोगों के निदान करके चिकित्सा का प्रचार किया। देवताओं को अजर अमर और निरामय कहा है, फिर भी जब खाते पीते हैं, विषयोपभोग करते हैं, एक दूसरे से डाह करते हैं, तो उनके भी रोग होना स्वाभाविक है। अतः उनके यहाँ भी अश्विनी कुमार नामक दो देवता भाई वैद्य बनाये गये। सृष्टि पूरी बढी भी नहीं थी कि अवनति का आरम्भ हो गया, क्योंकि उन्नति के साथ ही अवनति सटी रहती है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! प्रजापतियों के यज्ञ से दक्ष चले गये। शिव चले गये। सबके मन में उदासी-सी आ गई; फिर भी यज्ञ को पूरा करना ही था। विधि-विधानपूर्वक ऋषियों ने उस सहस्र वर्ष के बृहद् यज्ञ को समाप्त किया। यज्ञ के अन्त में जो अवभृथ स्नान होता है, वह उस स्थान में हुआ जहाँ भवसोपद-पावनी, मुनि-मन-हारिणी, शिव-शिर-विहारिणी-

त्रिपथ-गामिनी, त्रिविक्रम पदांगुष्ठ-निसृता, सरित्-प्रवरा भगवती भागीरथी, अपनी बड़ी बहिन दिवाकर-नन्दिनी, कृष्ण-प्रिया कालिन्दी से आकर मिली हैं, जहाँ सितासित सलिल का सुखद सुहावना सङ्गम है, जहाँ विश्ववन्दिता वीणा-धारिणी अर्थप्रकाशिनी भगवती सरस्वती पीछे से गुप्त रूप से आकर दोनों बहिनों के बीच में खड़ी हो गई है। इसीसे जिन्हें समस्त सुखदेनी, पाप काटने की छेनी त्रिवेणी कहते हैं उस श्री माधवजी के नित्य-निवास-भूत संगम में सभी ने यज्ञान्त स्नान करके अक्षय पुण्य को प्राप्त किया। सभी ब्राह्मणों को यथेष्ट दान दक्षिणा देकर अपने-अपने स्थानों को चले गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! आप प्रयागराज की बार-बार इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं। इस क्षेत्र की इतनी पवित्रता का क्या कारण है? देखिये, हिमालय आदि में बड़े-बड़े पवित्र तीर्थ हैं, जहाँ बड़ी कठिनता से लोग जा सकते है। उनकी तो आप प्रशंसा करते नहीं और बार-बार प्रयागराज तीर्थराज, त्रिवेणी, संगम का ही राग अलापते हैं, इसका क्या कारण है? अब तक तो हम गंगाजी को ही बड़ी समझते थे, आप यमुनाजी को बड़ी कह रहे हैं—इसे भी आप हमें समझावें।"

यह सुनकर सूतजी कुछ गंभीरता के साथ बोले—"मुनिवर! यह पुण्यप्रद वस्तु है, यह पापप्रद, यह उत्तम है, यह निकृष्ट इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण है। रही कठिनता से यात्रा करने की बात, तो यह कोई नियम नहीं कि जो कठिनता से प्राप्त हो वह श्रेष्ठ ही हो। गौ-मूत्र सर्वत्र सुलभ है, उसे श्रेष्ठ माना है, पापों को नाश करने वाला कहा है। सिंह व्याघ्र का मूत्र अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है, उसे अत्यन्त निन्दनीय माना है। शास्त्र जिसे श्रेष्ठ बतावें वही श्रेष्ठ है, जिसे निकृष्ट बतावें वही निकृष्ट

है। कुछ तीर्थों का वर्णन वेदों में है, कुछ का वर्णन पुराणों में है। कुछ लौकिक तीर्थ हैं, कुछ परम्परा से प्रसिद्ध हैं; किन्तु इन प्रयागराज का वर्णन तो वेद, पुराण, इतिहास, धर्म-शास्त्र सभी में है। वंश-परम्परा से पवित्रता में यही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है कि ब्रह्माजी ने यहीं से यज्ञों का विस्तार किया। बड़े-बड़े प्रकृष्ट यज्ञ होने से ही यह प्रयागराज नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रजापतियों ने भी यहीं यज्ञ किया। प्रलय के अनन्तर अक्षयवट के पवित्र पुट पर करारविन्द से पदारविन्द के अंगुष्ठ को मुखारविन्द में देकर बालमुकुन्द यहीं शयन करते हैं। सृष्टि का आरम्भ यहीं से होता है, मार्कण्डेय मुनि को यहीं माया वैभव दिखाई देता है। प्रलय का जल यहीं से समुद्र रूप से निकल कर सातों समुद्रों को एक करता है। इसीलिये यह क्षेत्र सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि यह प्रजापतियों का क्षेत्र है फिर भी विष्णु ही इसके रक्षक हैं। बारह रूपों से श्रीमाधव ही इस पचयोजन विस्तीर्ण क्षेत्र का आधिपत्य करते हैं। इसीलिये यह विशुद्ध वैष्णव-क्षेत्र है। भगवान् ब्रह्मदेव ने विश्व-ब्रह्माण्ड के समस्त तीर्थों का प्रयागराज को सम्राट् बनाया है। इस तीर्थ का माहात्म्य तो मैं यत्किञ्चित् तीर्थ-माहात्म्य-प्रसंग में वर्णन करूँगा। यमुनाजी इस क्षेत्र में पहिले से ही विराजती थीं, गंगाजी पीछे आईं। इसीलिये यमुनाजी बड़ी हैं। यमुनाजी ने जब देखा मेरी बहिन गंगाजी आई हैं, तो अर्घ्य लेकर आईं; किन्तु गङ्गाजी ने उनका अर्घ्य स्वीकार नहीं किया। यमुनाजी ने इसका कारण पूछा। इस पर गङ्गाजी बोलीं—तुम सब सरिताओं में श्रेष्ठ हो, तुमसे जहाँ मैं मिली कि मेरा नाम ही मिट जायगा।"

यह सुनकर यमुना रानी हँसीं और बोलीं—"अब तुम हमारे घर आई हो, इसलिये तुम्हारा स्वागत सत्कार तो करना ही है।

अच्छी बात है, आगे तुम्हारा ही नाम होगा। मेरा नाम कोई न लेगा, किन्तु सौ योजन के लगभग इस प्रकार तुमसे मिलकर चलूंगी। आगे फिर मैं अलग हो जाऊँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दोनों बहिनों में जब ऐसा समझौता हो गया, तो वे एक दूसरे से गले से गला लगाकर मिलीं। ऐसी मिलीं कि एकाकार हो गईं। आगे चलकर बंग प्रदेश में (मुर्शिदाबाद मे आगे) गङ्गा, यमुना, सरस्वती तीनों पृथक्-पृथक् हो गई हैं। वहाँ यमुनाजी गङ्गाजी से निकल कर पृथक् बहती हैं। अब तक वे यमुना के ही नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ प्रयाग में गङ्गा यमुना सरस्वती मिली हैं, अतः इसे युक्त त्रिवेणी कहते हैं। जहाँ ये एक दूसरे से पृथक् हुई हैं, उसे मुक्त त्रिवेणी कहते हैं। मिलन सुख-कर है, बिछुरन दुःख-कर है। इसीलिये युक्त त्रिवेणी संसार में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। मुनियो! वेदों में, पुराणों में सर्वत्र प्रयाग की अनन्त महिमा भरी पड़ी है। पद्मपुराण जो सात्विक पुराणों में सर्वश्रेष्ठ और सबसे बड़ा है, उसमें पग-पग पर प्रयाग का गौरव गाया गया है। यहाँ उन सब बातों को कहने से इस दक्ष-यज्ञ के कथा-प्रसंग का प्रवाह रुक जायगा। इसलिये महर्षियो! मुझे क्षमा करें। मैं प्रयाग की महिमा कहूँगा, अवश्य कहूँगा, सुरेता के साथ कहूँगा, आप दृढ़ विश्वास रखें, किन्तु प्रसंगानुसार ही कहूँगा। अप्रासंगिक बात कहने से सब यही कहेंगे—"ये वक्ता तो प्रयाग के प्रति पक्षपात करते हैं।"

हाँ, तो प्रजापतियों का यज्ञ समाप्त हुआ। शिवजी कैलाश में जाकर तपस्या में निरत हुए। ब्रह्माजी ब्रह्मलोक में अपने विश्व कार्यालय के काम में व्यस्त हो गये। सब लोग उस दक्ष वाली घटना को भूल गये। सब तो भूल गये, किन्तु भला दक्ष कब भूलने वाले थे? उनके मन में तो द्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो

रही थी। वे तो इसी चिन्ता में थे, कि किस प्रकार शिवजी को नीचा दिखाया जाय, किस प्रकार वे पंक्ति से पृथक् किये जायँ, कैसे उन्हें ब्रह्माजी से लोकपाल के पद से च्युत कराया जाय?

"मुनियो! जिन लोगों के मन में द्वेष हो जाता है, वे सदा अनिष्ट की, दम्भ की बातें ही सोचते रहते हैं। वे धर्म भी करते हैं, तो दम्भ के लिये, दिखावे के लिये। यज्ञ भी करते हैं, तो अपना वैभव प्रदर्शित करने के लिये, अपने प्रतिपक्षियों को नीचा दिखाने के लिये। राग-द्वेष के वशीभूत होकर वे धर्म की आड़ में अधर्म करते हैं। देखने में पुण्य-सा लगने वाला वे पाप ही करते है। स्वार्थी चापलूस उन्हें और आकाश में चढ़ा देते हैं—अजी, आपके समान कौन है। ऐसा भला और कौन कर सकता है?

"दक्ष ने सोचा—इस शंकर को तो जाति-पाँति से पृथक् करना ही है, और किसी का तो ऐसा साहस होगा नहीं, उस भूत पिशाच के पति से सभी डरते है। इस प्रथा का श्रीगणेश हमारे ही यहाँ से हो, तब सब यज्ञों में यही प्रथा प्रचलित हो सकती हैं। हमें ब्रह्माजी ने प्रजापतियों का पति बनाया है। उसी के उपलक्ष्य में एक बहुत बड़ा बृहद् यज्ञ हम ही क्यों न करें। इससे हमारा वैभव भी प्रदर्शित होगा, शिव का बहिष्कार भी आरम्भ होगा और वह भी समझ जायगा, कि मेरे सम्मान न करने का क्या दुष्परिणाम होता है। हम 'बृहस्पतिसव' नामक यज्ञ करें। उसमें समस्त देवता, पितर, देवर्षि महर्षि तथा सिद्ध, चारण, गन्धर्वों को बुलावें। केवल शंकर को न बुलावें। उसमें शंकर का भाग भी न निकालें। ऐसा करने से सबके सम्मुख शिव का भाग सदा के लिये बन्द हो जायगा। फिर अवसर पाकर ब्रह्माजी से कहेंगे—'महाराज यह, भभूतिया को लोकपाल के पद से च्युत करके इसके स्थान पर किसी अन्य को लोकपाल बना

दो।' ब्रह्माजी तो हमारे पक्ष में ही हैं, उसी समय अपने किसी नाती धेवते को ईशान कोण के लोक-पालत्व के पद पर प्रतिष्ठित कर देंगे। रही सती की बात, यद्यपि वह मेरी पुत्री है, फिर भी उसका भाग्य फूट गया। उसे ऐसा अघोरी पति मिला। मैं समझूँगा, मेरी ओर से उसकी मृत्यु हो गई। जैसे, कैसा भी सुंदर भोजन दो, विष से यदि उसका संसर्ग हो जाता है, तो वह परिश्रम से बनाया हुआ सुन्दर भोजन भी त्याज्य हो जाता है। इसी प्रकार शिव के संसर्ग से सती भी मेरे लिये मृतवत् बन गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो, द्वेष के कारण दक्ष की बुद्धि भ्रष्ट हो गई। ईर्ष्या ने उसके विवेक को नष्ट कर दिया। तभी तो उसने दूसरों को अपमानित करने की बुद्धि से यज्ञ-जैसे पवित्र कर्म का आश्रय लिया। कर्मों के फल तो भाव के अनुसार होते हैं। कितना भी शुभ कर्म क्यों न हो, यदि वह दूषित भाव से किया जायगा, तो उसका परिणाम दुःखप्रद ही होगा। दक्ष ने द्वेष-वश ऐसा कार्य किया। उससे जो उसे क्लेश हुआ, मुनियो! उसका वर्णन मैं आप सबके सम्मुख करूँगा। आप इसे सुनकर ऊबें नहीं। हर-चरित्र समझकर श्रद्धा से श्रवण करें।"

छप्पय

कछुक कालमहँ बात सत्र की भई पुरानी।
किन्तु ईरषा अधिक दक्ष के चित्त समानी॥
सोच्यो—अब इक यज्ञ करूँ यह प्रथा चलाऊँ।
सती शम्भु कूँ यज्ञ माहिँ हौं नाहिँ बुलाऊँ॥
इहि विधि मनमहँ सोचि कें, यज्ञ बृहस्पति सब रच्यो।
पशुपति-निन्दा-रूप जो, पाप हृदयमहँ नहिँ पच्यो॥

दक्ष यज्ञ में देवों का देवाङ्गनाओं के साथ गमन

[१८६]

व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः ।
विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः ॥
दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्नृष्टकुण्डला ।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत ॥*

(श्री भा० गी० ४ स्क० ३ अ० ६, ७ श्लो०)

छप्पय

नाहिँ द्रव्य की कमी यज्ञ के ठाठ जमाये ।
दौरि-दौरि सब ठौर-ठौर धावन धरि धाये ॥
देव उरग, गन्धर्व निमन्त्रण सबनि पठाये ।
किन्तु यज्ञ के अधिप सदाशिव नाहिँ बुलाये ॥
अति उमंग ललना भरीं, सत्र माहिँ सजि-बजि चलीं ।
प्रिय पति संग विमानमहँ, लागें विद्युत् सम भलीं ॥

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! दक्ष-पुत्री सती ने अपने आश्रम के निकट देखा, सुन्दर वस्त्र पहिने तथा कानों में स्वच्छ कुन्डल और गले मे सोने की हमेल आदि पहिने उपदेवों की लोलाक्षी ललनायें अपने पतियों के साथ, विमानों में बैठी दक्ष के यज्ञ में जा रही हैं । तब अत्यन्त उत्सुकता से उन्होने अपने पति भगवान् भूतनाथ से कहा ।"

मनुष्य सदा एक सी स्थिति में रहते-रहते ऊब सा जाता है। वह कुछ परिवर्तन चाहता है। कुछ मनोरंजन की आवश्यकता सबको होती है, प्रकृति भेद से मनोरंजन की सामग्रियों में और उपायों में अन्तर तो होता है, नहीं तो कुछ विशिष्ट लोगों को छोड़कर सभी कुछ न कुछ मनोरंजन चाहते हैं। स्त्रियों को प्रायः घर के भीतर ही रहना पड़ता है। इसलिये उन्हें मेले-ठेले में जाने में, उत्सव समारोह में सम्मिलित होने की अत्यधिक लालसा रहती है। जब उन्हें किसी समारोह में जाने का सुअवसर प्राप्त होता है, तब देखो उनकी शीघ्रता। यह भी ला, वह भी ला। उस साडी को देख, इस साडी को देख। यह आभूषण ठीक नहीं, यह वस्त्र फबता नहीं, पहरों इसी सज धज में लगा देती हैं। बड़ी सज-धज के साथ बन ठन के निकलती है। पुरुष चिल्लाते ही रहते हैं--बडी देर हो रही है, चलो, चलो, किन्तु वहाँ कौन सुनता है। जब तक साज शृंगार पूरा न हो जाय, चौखट के बाहर पैर नहीं रखेंगी।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे दस-बीसों के साथ घुल मिल कर रहने में, अपने स्नेहियों के साथ वर्तालाप करने में साथ बैठकर खाने-पीने में, हँसी विनोद करने में स्वभाविक सुख होता है। पुरुषों में तो अभिमान की मात्रा अधिक रहती है, वे अपनी पद प्रतिष्ठा समझकर बड़ी गम्भीरता से दूसरों से बातें करते हैं। बहुत काल में वे सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं, किन्तु स्त्रियों में यह बात नहीं। पहुँचते ही स्त्रियाँ परस्पर में घुल-मिल जाती हैं। क्षण भर में बहिन-बहिन की तरह हो जाती है और परिचय ही नहीं कर लेतीं, थोड़े ही समय में घर बार की, पति के स्वभाव बर्ताव की सब बातें पूछ डालती हैं। उनमें स्वभाविक अभिन्नता स्थापित करने की रुचि होती है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुर जी! प्रजापति दक्ष ने अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करने तथा शिवजी को नीचा दिखाने की इच्छा से पहिले बाजपेय यज्ञ का निश्चय किया। तदन्तर बृहस्पति-सव नामक यज्ञ का। इसके लिये समस्त देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चरण, गुह्यक, प्रजापति, लोकपाल तथा अन्य सभी लोगों को निमन्त्रण भेजे गये,। सब ने प्रजापतियों के पति दक्ष के निमन्त्रण को शिरसा सहर्ष स्वीकार किया और वे सज धज कर अपनी पत्नियों के सहित यज्ञ में सम्मिलित होने को जाने लगे। देवताओं तथा उपदेवों की स्त्रियों ने जब सुना कि हमें अपने पतियो के साथ गङ्गा किनारे कनखल में दक्ष के यज्ञ में चलना है, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने भली-भाँति अपने शरीर को सजा-बजा के सोलह श्रृंगार करके चलने की तयारी कीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गृहस्थियों के यहाँ दो तरह के वस्त्र होते हैं। एक तो नित्य पहरने के, दूसरे घरऊ। जब उन्हें किसी विवाह लग्न में अथवा उत्सव समारोह में जाना होता है, तो घरऊ कपड़े को पहिनते हैं। पुरुष चाहे न भी पहिनें, किन्तु स्त्रियों को तो अपना वैभव दिखाने का बड़ा चाव होता है। इसलिये उपदेवताओं की स्त्रियाँ सोने की मालायें, हार, हमेल पहिनकर कानों में कुन्डल धारण करके सुन्दर से सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर पतियों के साथ विमानों पर आ बैठीं। विमानों के झुंड आकाश में उड़ते हुए कैलास के ऊपर से हो जा रहे थे। उनमें बैठी हुई देवाङ्गनाओं की करधनी तथा नूपुरों की खनखनाहट तथा चूड़ियों की झनझनाहट से सम्पूर्ण आकाश-मण्डल गूँजता सा प्रतीत होने लगा। सतीजी बाहिर किसी काम से आईं। उन्होंने जब असंख्यों विमनों की पंक्तियों

को एक साथ उड़ते हुए देखा, तो उनके मन में बड़ा कुतूहल हुआ। ये सब लोग कहाँ जा रहे हैं ? माघ का महीना भी नहीं कि सब तीर्थराज प्रयाग को जा रहे हों। कुम्भ का भी अवसर नहीं, कोई पर्व भी नहीं। फिर ये इतने देव उपदेव लोकपाल, प्रजापति कहाँ जा रहे हैं ? देखो, ये अपने-अपने पतियों के साथ विमानों में बैठी देवाङ्गनायें कैसी शोभित हो रही हैं ? कितने उल्लास से हँस-हँस कर अपने पतियों से बातें कर रही हैं। इनके पति भी अपना सम्पूर्ण प्रेम इनके ऊपर उड़ेलते हुए इनके सभी प्रश्नों का कितने प्रेम से उत्तर दे रहे हैं। एक मेरे भी पति हैं, सदा समाधि में ही मग्न रहते हैं। न कोई विमान है, न उड़न-खटोला, वही एक ढूँढा सा बैल है जिसकी पीली-पीली आखें जुगनू की तरह चमकती हैं। इन देवताओं को अपनी पत्नियों के साथ घूमने-फिरने में सुख होता है। नई-नई वस्तुओं को देखने की उत्सुकता होती है। हमारे पति तो भोलेनाथ ही ठहरे, इन्हें न कोई उत्सुकता, न इच्छा। वे अपने आप में ही परिपूर्ण रहते हैं। उन्हें सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थों के खाने की भी इच्छा नहीं। आक धतूरे को ही प्रेम से उड़ा जाते हैं, हलाहल विष को ही पी जाते हैं। यदि ये सब किसी पर्व-स्थान को जा रही हैं, तो मैं भी अपने प्राणनाथ से प्रार्थना करूंगी, कि महाराज, इस ढूंढ़े बैल को तो अब आप अवकाश दे दें, अपने मित्र कुबेर के यहाँ से एक विमान मँगाकर मुझे भी पर्व स्नान करा लावें।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! अभी तक सतीजी को प्रजापतियों के यज्ञ वाली बात का पता ही नहीं था। उस समय पता नहीं क्यों, शिवजी सतीजी को साथ नहीं ले गये थे। आने पर उन्होंने कोई चर्चा ही नहीं की। भोलेनाथ ही ठहरे। या तो भूल गये, या सोचा होगा—सती के बाप की बात है, सुनेगी तो दुखी

होगी। इसलिये उन्होंने किसी प्रसंग में भी उनसे ये सब बातें नहीं कहीं। इसीलिये सतीजी को कोई संदेह नहीं था। उन्होंने देवाङ्गनाओं से पूछा—"बहिनो! तुम सब इतनी सज-धज के साथ कहाँ जा रही हो?" सतीजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर देवाङ्गनायें परस्पर में एक दूसरे को देख कर विस्मय के साथ हँसने लगीं। उन्हें इस प्रकार हँसते देख कर सतीजी को और भी विस्मय हुआ और वे बोलीं—"जीजियो। तुम इस प्रकार विस्मित क्यों हो रही हो? मुझे अपने विस्मय का कारण बताओ और यह भी कहो तुम सब कहाँ पर किस तीर्थ में, किस उत्सव समारोह में जा रही हो?"

उनमें से एक चंचल सी नई उमर की देवाङ्गना बोली—"माताजी! आपको पता नहीं। आपके पिता के यहाँ से हम सबको निमंत्रण आया है। उन्हीं के यहाँ उत्सव में हम सब अपने-अपने पतियों के साथ जा रही हैं।"

सतीजी ने अत्यन्त आश्चर्य के साथ पूछा—'मेरे पिता के यहाँ किस बात का उत्सव है?"

वही देवाङ्गना जल्दी से बोली—"लो, आपको इतना भी पता नहीं। उनके यहाँ तो बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है! आपको नहीं बुलाया क्या?"

सतीजी का मुँह फक्क पड़ गया। मेरे पिता के यहाँ इतना बड़ा यज्ञ हो और मुझे उसका पता न चले! मुझसे तो पिता बड़ा स्नेह करते थे। मुझे कैसे भूल गये? आने वाला भूलकर अलकापुरी चला गया होगा।

अपनी झेंप मिटाने को सतीजी बोलीं—"जीजियो! मेरे पति को तुम जानती ही हो। वे हजारों वर्ष की समाधि लगा जाते हैं। उस समय मैं उनकी ही सेवा में संलग्न रहती हूँ। इनके अब

तो जैसे हैं, सब तुमने देखे ही हैं। टेढ़े-मेढ़े, काने-कुबड़े, लंगड़े-लूले, विरूप, कुरूप, नंगे, दो हाथ वाले, तीन, चार, दस, सौ, हजार हाथ वाले। समाधि के समय ये सब विचित्र आकृति वाले गण पहरे पर रहते हैं। कोई आया होगा, तो इन्हें देखकर ही भाग गया होगा। मैं अभी उनसे कहती हूँ। तुम चलो, मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे ही भगवान् विश्वनाथ को लेकर आ रही हूँ। यह तुमने बड़ा सुखद सम्वाद सुनाया। सोई तो मैं सोच रही थी, कि कल से ही ये झुण्ड के झुण्ड विमान कहाँ जा रहे हैं? अच्छा राम-राम! जाओ। मेरी माताओं से, मौसियों से, मौसियों की लड़कियों से, बहिनों से हमारी राजी खुशी कह देना। यह भी कह देना—सती हमें मिली थी, वह अब बस, शीघ्र आने वाली है।"

"बहुत अच्छा! हम सबसे आपका सन्देश कहेंगी" इतना कहकर देवांगनायें तो विमानों में उड़कर चली गईं और सतीजी लौटकर अपनी गुफा की ओर जाने लगीं। उन्हें पिता के यहाँ जाने की अत्यन्त उत्कंठा हो रही थी। क्षण भर में ही यज्ञमण्डप का समस्त दृश्य उनकी आँखों के आगे नाचने लगा—ऐसा यज्ञ हो रहा होगा। मेरी सभी बहिनें, बहनोई मौसी, मौसा, मामा, मामी, फूफा, फूफी तथा और सभी सम्बन्धी आये होंगे। मुझे न देख वे क्या सोचते होंगे? पिताजी मुझे कैसे भूल गये? कोई बात नहीं, पिता भले ही भूल जायँ, मैं कैसे भूल सकती हूँ? मैं जाऊँगी और कहूँगी—पिताजी! देखिये, आपने तो हमें नहीं बुलाया। हम बिना बुलाये ही आ गये। तब वे मुझे गोद में बिठा कर मेरा सिर सूँघेंगे और कहेंगे—"बेटी! मैंने आदमी तो भेजा था।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार अनेक मनोरथ करती हुई वे अपने पति भगवान् विश्वनाथ के समीप पहुँचीं।"

छप्पय

निरखीं प्रमदा सती पतिन सँग सुख तें गावति।
बैठि बिमाननि बिहँसि सिहावति अति हरषावति॥
पूछें—"मैना ! कहहु जाउ कह सब सुकुमारी।"
बोलीं—'तव पितु गेह यज्ञ उत्सव है भारी॥
अबई तुम क्यौं नहिं गईं, का कछु अनबन है गई।
अथवा रिस है प्रजापति, खबरि यज्ञ की नहिं दई॥

सतीजी का दक्ष यज्ञ में चलने का आग्रह

[१९०]

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतम्,
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल ।
वयं च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ३ अ० ८ श्लो)

छप्पय

विस्मय, लज्जा, हर्ष मोद उत्सुकता सब सँग ।
भये महोत्सव सुनत पिता घर पुलके अँग-अँग ॥
शिव समीप पुनि दौर गईं बोली सुन अधहर ।
श्वसुर तुम्हार उदार करहिँ इक बृहत् यज्ञ वर ॥
हँसि भोले बाबा कहैं—यह जग पथिक निवास है ।
हाय हाय होवै कहूँ, कहुँ उत्सव उल्लास है ॥

---

* मैत्रेय जी कहते हैं—"विदुर जी ! सती देवी अपने पति शिवजी से बोलीं—हे देव ! तुम्हारे प्रजापति श्वसुर के यहाँ इसी समय एक बड़े भारी यज्ञ महोत्सव का आयोजन हो रहा है । देखिये ये सब देवगण वहीं जा रहे हैं । यदि आपकी अनुमति हो, तो मैं भी आपके साथ यज्ञ महोत्सव में सम्मिलित होने चलूँ ?"

बच्चे जिस बात को अत्यन्त कुतूहल-पूर्ण समझ कर अपने गुरुजनों से कहते हैं, बड़े लोग उसे साधारण सी घटना समझ कर ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इन्हें न उत्सुकता होती है न महान उल्लास। अज्ञानी जिन बातों को अत्यन्त ही महत्वपूर्ण समझते हैं, ज्ञानियों के वे सब नगण्य पदार्थ हैं। जगत के व्यापार तो सब एक ही हैं, केवल दृष्टिकोण में अन्तर है। भावना से ही हम अपनी पराई, छोटी-बड़ी, कुरूप अच्छी बुरी की कल्पना कर लेते हैं। जिनसे अपनापन है, मैत्री भाव है, उनके सुख में सुख और दुःख में दुःख होता है। जिनसे अपनापन नहीं है, शत्रुता है, उनके सुख में दुःख और दुःख में सुख होता है। जो उदासीन हैं उनके सुख-दुःख में सामान्य बुद्धि होती है, किन्तु जिनका सर्वत्र समान भाव है, जिनके लिये शत्रु, मित्र, उदासीन आदि का भेद-भाव है ही नहीं, उनके लिये किसी घटना से कुतूहल नहीं; किसी बात में नूतनता नहीं, किसी के देखने की उत्सुकता नहीं। वे समझते हैं, गुणगुणों में वर्त रहे हैं। उनमें आसक्त होने की, आश्चर्य करने की कौन सी बात है?

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुर जी! जब शिव-पत्नी सती ने देवाङ्गनाओं के मुख से अपने पिता के यज्ञोत्सव का समाचार सुना, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। अब उन्हें यह एक-एक क्षण भारी हो गया। उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। यज्ञ-मण्डप का दृश्य नेत्रों के सम्मुख आते ही उनका हृदय इठलाने लगा। बार-बार सोचतीं—मेरी सब बहिनें भाँति-भाँति के वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर, थालों में भाँति-भाँति के उपहार लेकर यज्ञ मण्डप में जा रही होंगी। उनके पतियों से साथ मेरी माँ उनका स्वागत सत्कार कर रही होंगी। उन सबके लड़के बच्चे कल-कल करते हुए क्रीड़ा कर रहे होंगे। सबसे मुँह भर के मौसी-

मौसी कहते होंगे। मेरी बहिनें परस्पर में एक दूसरे के बच्चों को गोदी में बिठा बिठाकर उन्हें प्यार कर रही होंगी, उनके मुंह को बार-बार चूम रही होंगी। बच्चे सब नानी नाना, मामी मामा; मौसा मौसाओं के प्यार को पाकर उल्लास से नाच रहे होंगे। अभी मैंने अपनी बहिनों के बच्चा को देखा भी नहीं है। देखें भी तो कहाँ से ? ये भोले बाबा भी तो यहाँ बीहड़ वन में आकर बैठे हैं। अब मैं जाकर सबको देखूंगी। सब बच्चों को उपहार दूंगी।"

इन बातों को सती जी जितना ही सोचतीं उतनी ही उनकी उत्कण्ठा की वृद्धि होती। वे सोच रही थीं यदि मेरे पंख होते, तो अभी सबके पहले उड़कर पिता के यज्ञ में पहुँच जाती। इस प्रकार बड़ी शीघ्रता के साथ वे अपने प्राणनाथ भूतपति शङ्कर के सम्मुख गईं। शिवजी एकान्त में बैठे राम नाम का जप कर रहे थे। जाते ही घड़बड़ाहट के साथ बड़े स्नेह से दण्डवत् की शिवजी समझ गये इस इतनी लम्बी डण्डौत के गर्भ में कोई विशेष प्रयोजन छिपा हुआ है। यह अकारण दण्डवत् नहीं है। उत्सुकता में हांपती हुई सतीजी बोलीं—"प्राणनाथ, आप कहें तो आपको एक बड़ी ही प्रसन्नता की बात सुना दूं।"

गम्भीरता के स्वर में भोले बाबा बोले—"कहो, क्या बात है ? क्यों आज इतनी प्रसन्न हो रही हो ?"

सतीजी उमडते हुए हृदय से बोलीं—"महाराज, कुछ पारितोषिक दें तो सुनाऊं ?"

विश्वनाथ समुद्र की तरह शांत वाणी में बोले—'ऐसी कौन सी बात है ? किस बात का पारितोषिक ? बात बताओ ! चित्त को स्वस्थ करो। तुम तो फटी ही पड़ रही हो। कुछ सुनाओ भी तो।"

सतीजी सम्पूर्ण स्नेह बटोर कर अत्यन्त ममता के साथ बोलीं—"देखिये, प्रजापतियों के भी अधिपति आपके पूजनीय श्वसुरजी एक बड़ा भारी यज्ञ कर रहे हैं। ये जो कल से आप आकाश में विमानों की पंक्ति की पंक्ति जाती हुई देख रहे हैं, ये सभी देव, उपदेव, लोकपाल, प्रजापति उसी यज्ञ में जा रहे हैं।"

इस बात को सुनकर भोले बाबा के मुख पर उत्सुकता, प्रसन्नता, विस्मय किसी के भी चिह्न दिखाई नहीं दिये। वे उसी प्रकार पूर्ववत् गम्भीर होकर उपेक्षा के स्वर में बोले—"यह तो संसार है। कहीं यज्ञ होता है, कहीं हा-हा हू-हू होती रहती है।"

यह सुनकर सतीजी के आश्चर्य का तो ठिकाना नहीं रहा। उनकी समस्त आशाओं पर पाला पड़ गया। समस्त उत्साह, उल्लास, शिथिल पड़ गया। वे भौचक्की-सी रह गईं। कुछ कोप का भी उदय हो उठा और पत्नीत्व के अधिकार के स्वर में बोलीं— "डण्डौत है; महाराज! आपके इस बाबाजीपने को। अपने निजी सम्बन्धी के इतने बड़े महामहोत्सव को सुनकर भी प्रसन्नता नहीं हो रही है। यज्ञ में भी चलने को आपका चित्त व्याकुल नहीं हो रहा है?"

शङ्कर फिर अपनी उसी गम्भीरता के स्वर में बोले—"सती जी! तुम भी बस, जसी की तैसी ही रहीं। बहुत से यज्ञ होते हैं संसार का काम है, यज्ञ-याग होना, उत्सव महोत्सव होते रहना। इसके लिये तुम इतनी चञ्चल क्यों हो रही हो?"

सतीजी ने माथा ठोकते हुए कहा—"हाय! मेरा भाग्य फूट गया। अरे, आपसे मैं क्या कहूँ? अपने पिता के घर का यज्ञ और अन्य सब यज्ञ एक से हो गये?"

सूखी हँसी हँसते हुए हर बोले—"तुमने भी क्या संसारियों के से सम्बन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। संसार में कौन किसका

पिता, कौन किसकी सन्तान ? सब भगवान् की माया है। प्रभु का पसारा है, जीव कर्माधीन होकर कर्म कर रहे हैं। राम-राम रटो, चुपचाप रहो। इस भ्रम को छोड़ो।"

सतीजी के दोनों नेत्रों में से झर-झर आँसू बहने लगे। अपनी साड़ी से आसुओं को पोंछती हुई बोलीं—"हे भगवान् इन बाबाजियों से पाला किसी का न पड़े। अब, आपके तो कोई माता-पिता है नहीं, पिता के घर के उत्सव में पुत्रियों को कितनी प्रसन्नता होती है, यह तभी समझा जा सकता है, जब या तो तुम किसी की पुत्री होते या तुम्हारे बहुत सी पुत्रियाँ होतीं। तुम ठहरे त्यागी वैरागी, तुम्हे इन बातों का क्या अनुभव। वहाँ कितना स्वर्गीय सुख होगा ? वहाँ जाने पर मेरा रोम-रोम किस प्रकार खिल जायगा, उसे इस अपूर्ण भाषा के द्वारा कैसे समझाऊँ। यह तो हृदय के अनुभव करने की बात है और भभूत रमाने वाले बाबाजी होते है हृदयहीन।

सतीजी की ऐसी बातें सुनकर सदाशिव हँस पड़े और बोले—"वहाँ जाकर तुम करोगी क्या ? तुम्हारे यहाँ किसी बात की कमी है ?"

सतीजी ने आँचल से अपना मुँह ढक लिया, रोती-रोती बोलीं—अच्छे महापुरुष से मेरा पाला पड़ा। देवता जी, संसार में यही तो स्त्रियों के लिये सबसे श्रेष्ठ सुख है, पिता के घर उत्सव होगा। मेरी सब बहिनें पतियों के साथ आवेंगी। उन सबके साथ मैं मिलूँगी भेंटूँगी, मेरे सब बहनोई आवेंगे, उनसे आप मिलें भेंटे। मेरे पिता सबकी पूजा करेंगे मेरे साथ आपका भी सत्कार करेंगे। सबके साथ हमको भी भेंट और विदाई मिलेगी। तुम्हें अँगरखा, पाग दुपट्टा आदि बागेसिरोपा मिलेगी। मुझे लँहगा फरिया चोली आदि तीहर मिलेंगी। मेरी माँ देगी,

मौसी देगी, बहिन देगी। बहुत सी तीहरें बांध-बांध कर लाऊंगी।"

शिवजी ने बड़े जोरों से अट्टहास किया और बोले—"सती! यहाँ तो तुम नंगी ही रहती हो? यहाँ तुम्हें लहंगा फरिया, साडी, की सदा कमी पड़ी रहती है, जो उन्हें लेने बाप के घर दौड़ी जाओगी?"

सती ने आसूं पोछते हुए कहा—"महाराज, आपकी कृपा से सब हैं, मुझे किसी बात की कमी नहीं। आप सम्पूर्ण संसार के स्वामी हैं, विश्वनाथ हैं, आठों सिद्धि हाथ जोड़े आपके सम्मुख खड़ी रहती हैं, किन्तु पिता के घर की तीहर पिता के घर की होती है। पिता एक चीज भी दे दे वह तो भी बहुत है। अब आपको कैसे समझाऊँ, कभी आपने पिता-माता से पाया हो, लडकी को दिया हो, तो आप समझें। वहाँ बहिनें, मौसियाँ सभी के दर्शन होंगे, अपनी स्नेहमयी माँ से हृदय लगा कर मिलूंगी। सबका प्रेम पाऊँगी। तुम कैसे रूखे हृदय के हो। तुम्हे सब सम्बन्धियों से मिलने की तनिक भी उत्कन्ठा नहीं होती।"

शिवजी ने कहा—"हम तो सबसे मन से मिले ही रहते हैं, हमें तो कोई आश्चर्य है न विस्मय। हम तो यही समझते हैं, सभी लोग प्रकृतिवश व्यवहार कर रहे हैं।"

पार्वतीजी कहा—"महाराज, आपको यदि आश्चर्य नहीं है तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात भी नहीं, क्योंकि यह त्रिगुणात्मक आश्चर्यमय जगत् आप में अपनी माया से ही निर्माण किया हुआ भास रहा है, किन्तु दीनबन्धो, सब तो शिव नहीं हो सकते। मैं तो स्त्री हूँ, अभी मेरी नई अवस्था है। जब से आप मुझे ब्याह के लाये हो, तब से मैंने अपना घर नहीं देखा, सम्बन्धियों से नहीं

मिली जुली। वैसे कौन किसके यहाँ जाता है। किसी निमित्त से ही जाना होता है। सब से मिल भेंट लेते हैं, प्रसन्न होते हैं, फिर अपने-अपने घर चले जाते हैं। संसार का व्यवहार ऐसे ही चलता है। जिनके हम जाते हैं, वे हमारे आते हैं। तुम तो नंग धडंग ठहरे? कहावत है—'नगी नहाय, निचोड़े क्या?' आपने तो व्याघ्र-चर्म-रूपी लोई ओढ़ली है। 'जिसने ओढ़ली लोई, उसका क्या करेगा कोई' किन्तु मैं ऐसी नहीं हूँ। मुझे भी तो अपने बाल-बच्चों के विवाह आदि करने हैं।"

यह सुनकर शिवजी हँसते हुए बोले—"सूत न कपास कोरिया से लठा ही लठा। अभी बाल न बच्चे, विवाह की भी चिन्ता करने लगी।"

सतीजी ने लजाते हुए कहा—"अब महाराज, नहीं है, तो क्या होंगे ही नहीं मेरे बाल बच्चे? कोई मेरी अवस्था तो निकल ही नहीं गई। 'जब तक साँसा तब तक आशा। आज नहीं कल। बच्चे होंगे तो उनका सब नेग जोग भी करना ही पड़ेगा।"

शिव ने बात टालते हुए कहा—"जब होंगे, तब देखा जायगा, यहाँ कुछ स्त्रियों की कमी थोड़े ही है, कितनी डाकिनी, साकिनी, भूतिनी, पिशाचनी, यक्षिणी, गुह्यकिनी, किन्नरी, किंपुरुषी आदि हैं। सब मिल-जुल के कर लेंगी।"

सती का क्रोध अब पराकाष्ठा पर पहुँच गया और रोष से लाल-लाल आँखें करके बोलीं—"बस, तुम्हें तो डाकिनी, साकिनी, भूतिनी पिशाचिनी ही अच्छी लगती हैं। मुझे तो अपनी बहिनों भाञ्जियों को बुलाना है, भाजी बाहिना भेजना है। तुम्हें मैं कैसे समझाऊँ।" सती बड़े जोरों से रुदन करने लगीं। उनका मुख लाल पड़ गया। आँसुओं के साथ काजर बहने लगा, जिससे

हथेलियाँ, कपोल, आँखों के अपांग सभी कुछ काले पड़ गये। वे व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।"

तब शिवजी ने कहा—"अच्छा, बताओ! तुम मुझसे क्या चाहती हो?"

रोष में सतीजी ने कहा—"मैं चाहती हूँ पत्थर, जिससे अपना सिर फोड़ कर यहीं मर जाऊँ। इतनी देर से चिल्ला रही हूँ, अभी आपकी समझ में ही नहीं आया। देखो, ये सब देवाङ्गनायें कितनी सज-धज के, वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर, अपने-अपने पतियों के साथ विमानों में बैठी, कितने उल्लास के साथ यज्ञ में जा रही हैं। इनका उनसे कोई सम्बन्ध भी नहीं, तो भी ये प्रसन्नता में भर कर जा रही हैं, मेरे तो वे साक्षात् पिता हैं। फिर मुझे उनके यहाँ जाने की इच्छा न होगी? तुम्हें न हो तो न सही, मेरा भी तो आपको कुछ शील-संकोच करना चाहिये।"

शिवजी ने दृढ़ता के साथ कहा—"तो, तुम मुझसे क्या चाहती हो?"

सतीजी ने कहा—"आप से यही चाहती हूँ, की आप भी जैसे ये सब अपनी-अपनी घर-वालियों के साथ जा रहे हैं, वैसे आप भी मुझे लेकर यज्ञ में चलें। देखो, कितने उल्लास से मैं आपके पास यह सुखद समाचार लेकर आई थी। मुझे आशा थी आप सुनते ही अपने भयंकर भूत पिशाचों को बुलावेंगे, उस डूंढ़े बैल को बुलावेंगे। वह बाँ-बाँ करता दौड़ा आवेगा, उसे आप सजावेंगे, मुझे तैयारियाँ करने को कहेंगे। मैं अपनी सुरमादानी, सिंदूर की डिबिया, दर्पण, कंघी, तेल फुलेल, गहने कपड़े सब बाँध कर शीघ्रता से तैयार करूँगी। अपनी सारिका को सहेलियों को साथ लूँगी, आपके साथ प्रसन्न होकर चलूँगी। सो

आपने यह सब तो किया नहीं, उलटे मेरे सामने ज्ञान छाँटने लगे। मेरी समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया।"

शिवजी बोले—"अच्छा, ज्ञान की बात न कहूँ तो क्या अज्ञान की कहूँ ?"

सतीजी ने झुंझला कर कहा—"देखो ! अब मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ पैरों पड़ती हूँ, तुम्हारी ठोढी छूती हूँ, अब हँसी बहुत हो गई। अब सीधी-साधी बात करो, मुझे अपन साथ ले चलो। बड़ी इच्छा है, वहाँ जाने की ?

शिवजी ने दृढ़ता से कहा—"सती ! तुम चाहें ऐं करो चाहें चें करो। मैं तुम्हारे बाप के घर नहीं जाऊँगा। नही जाऊँगा।"

अब तो सती के कान खडे हुए। कुछ दाल में काला है। गहरा कारण है। आँसू पोंछकर वे सम्हल कर शिवजी के सामने बैठ गईं और अपना पत्नीत्व का अधिकार प्रदर्शित करती हुई बोलीं—अब उनके स्वर में मृदुता थी। अधिकार के स्वर में सरलता से पूछने लगीं—"न चलने का कुछ कारण भी तो होना चाहिये। बताइये क्यों न चलेंगे ?"

शिवजी ने कुछ प्रेम के व्यंग में कहा—"आई हैं बड़ी हेज वाली बेटी बन के। 'वह बोलना भी न चाहे, ये उसके ऊपर चढी ही पड़ें।' तुम्हारे बाप को बुलाना था, तो निमंत्रण भेजते। सबके यहाँ निमन्त्रण भेजा, तुम्हारे यहाँ एक पीरी चिट्ठी भी नहीं भेजी। चार चावल भी नहीं भेजे; इस पर भी तुम जाने को मचल रही हो "मान न मान मैं तेरा महमान।"

सतीजी का मुख कुम्हिला गया। वे इस युक्ति के सामने सहम सी गईं। फिर अपने को सम्हाल कर बोलीं—"अब महाराज क्या पता निमंत्रण नही भेजा। आप भी तो यहाँ पृथ्वी के ओर छोर बरफ में आकर बैठे हैं। कोई आया भी होगा तो बरफ में

ठिठुर गया होगा—अथवा तुम्हारे इन औंधी खोपड़ी के भूत पिशाचों ने उसे आने ही न दिया होगा। या आ रहा होगा। ऐसा तो नहीं हो सकता, मेरे पिता मुझे भूल जायँ। वे तो मुझे मेरी सब बहिनों से बढ़कर प्यार करते हैं।"

शिवजी उपेक्षा के स्वर में बोले—"अजी हाँ, बड़ी बाप की लडैती बेटी हैं। हमें भली भाँति पता है, तुम्हारे बाप ने जान बूझकर तुम्हारे यहाँ निमन्त्रण नहीं भेजा है।"

सतीजी अपनी झेंप मिटाने को बोली—"अच्छा, मैं तुम्हारी ही बात बड़ी करती हूँ। मान लो, उन्होंने हमें नहीं बुलाया। उनकी भूल ही सही। उन्होंने किसी कारण से भूल की तो हमें भी भूल करनी चाहिए? देखिये, शास्त्रकारों ने बताया है कि पति के यहाँ, माता-पिता के यहाँ, अपने सुहृद् मित्र तथा भायेलों सहेलियों के यहाँ बिना बुलाये भी चले जाना चाहिये। अपने पति हैं, किसी कारण से रूठ गये हैं, माई के यहाँ से लेने नहीं आते, तो पत्नी को हठ नहीं करनी चाहिए, कि वे बुलाने आयेंगे, तभी मैं जाऊँगी। उसे स्वयं चले आना चाहिए। अपना घर ही है, घर की स्वामिनी को किसके बुलाने की अपेक्षा है। अपने गुरु हैं, नहीं बुलाया, तो न सही, स्वयं उनके यहाँ विवाह, उत्सव, समारोह हो तो पहुँच जाना चाहिए। माता-पिता हैं, भूल गये, असन्तुष्ट हो गये या कोई और कारण हो गया, उन्होंने न बुलाया तो लड़की स्वयं भी चली जाय, तो कोई दोष नहीं। इसी प्रकार अपनी भायेली सहेली हैं, उनके यहाँ कोई काम-धन्धा हुआ, त्योहार बारे या उत्सव समारोह हुआ, तो अपने आप पहुँचना चाहिए और जाकर कहे—"जीजी! राम-राम, लो तुमने तो हमें बुलाया नहीं, हम स्वयं ही आ गई। अब हमें कोई काम बताओ, इस प्रकार जाने में स्नेह और बढ़ता है। वे भी समझते

हैं—देखो, ये कितने हमसे स्नेह रखते हैं। सो, वे तो मेरे देह के जनक हैं। उन्होंने नहो बुलाया, तो हमें स्वयं जाना चाहिए। अब मुझे बहुत लज्जित मत करो। आप तो आशुतोष हैं, एक चुल्लू जल से ही प्रसन्न हो जाते हो। मैं तुम्हारे ऊपर अपने घर पहुँच कर घड़ों जल चढ़ाऊँगी, तुम्हे अपनी बहिनों से तर करा दूँगी। अब हठ को छोड़ दो। तुम्हारे लिए क्या मानापमान। तुम तो भोलेनाथ ठहरे। यद्यपि तुम्हारे इन साँप और जटा-जूटों से मेरी बहिनें मुझे बहुत चिढायेंगी परन्तु मैं सब सह लूँगी। यदि वे मुझे बहुत तग करें, तो तुम अपने साँपों को तनिक संकेत कर देना कि वे फुफकार मार दें। जहाँ साँपों ने फुफकार मारी कि सब भाग जायंगी।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार सतीजी ने बड़े स्नेह से शिवजी को प्रसन्न करना चाहा, किन्तु वे जाने को तैयार नहीं हुए।"

छप्पय

सती प्रेम युत कहहि—प्रभो! मति ज्ञान सिखाओ।
मोइ संग ले चलो नाथ! पितु यज्ञ दिखाओ॥
दीना हूँ अति विभो! व्यर्थ अब मत बहकाओ।
चलो बैल पै चढ़ो मोइ हर! पकरि चढ़ाओ॥
शिव बोले—नहिं निमन्त्रण, कस जावै भामिनि! सुनो।
छोटी बेटी बाप की, व्यर्थ लड़ैती तुम बनो॥

शिवजी का सतीजी को समझाना

[१६१]

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् सुहृत्प्रियः ।
संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्
यानाह को विश्वसृजां समक्षतः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ३ अ०, १५ श्लो०)

छप्पय

बात सत्य है पिता मित्र गुरु घर बिनु बोले ।
जावे यदि वे निरखि नेहतें हियकूँ खोलें ॥
दोष दृष्टितें देखि रोषवश मुँह मटकावें ।
तिनके घरमहँ भूलि कबहुँ नहिँ सज्जन जावें ॥
सती ! तुम्हारे बाप नें, कहनी अनकहनी कहीं ।
सब के सम्मुख समामहँ, भली बुरी गारी दईं ॥

ऐसा नियम है, कि पतिप्राणा स्त्रियाँ पहले तो अपने पति से

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! शिवप्रिया सती के इस प्रकार प्रार्थना पर, सज्जनों के प्रिय भगवान् शकर को प्रजापति दक्ष के कटु स्मरण हो आये, जो उन्होंने यज्ञ में—प्रयागराज में—सम्पूर्ण प्रजापतियों के समक्ष कहे थे । जो वाक्बाण अत्यन्त ही मर्मभेदी थे ।"

कोई हठ करती नहीं, यदि किसी बात पर वे अड़ जायँ, तो वे उसे बिना किये छोड़ती नहीं। इसी का नाम है त्रिया हठ। स्त्रियाँ जितनी ही दयावती, मायावती कोमलाङ्गी तथा सरला होती हैं, यदि वे क्रुद्ध हो जायँ, तो उतनी ही कर्कशा, चंडी, उग्रा और क्रूरा बन जाती हैं, फिर वे आगा पीछा नहीं सोचतीं। सीताजी के मस्तिष्क में जहाँ यह बात आई कि यह लक्ष्मण श्रीराम के दुःख में मेरे कहने पर भी नहीं जाता, तो उन्होंने रोष में भर कर ऐसे-ऐसे कुवाच्य उन महात्मा को कहे, जिन्हें साधारण स्त्रियाँ भी कहने में हिचकेंगी। द्रौपदी ने अपने अपमान करने वालों के प्रति जो रोष किया, वह जीवनपर्यन्त गया नहीं। उन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक जो अपने केश खोले, वे तभी बाँधे जब उनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई अपमान करने वालों की स्त्रियों के जब केश खुल गये, अर्थात् वे जब सब विधवायें हो गईं। श्रीसतीजी का शिवजी कितना स्नेह करते थे, उन्हें अपनाया ही नहीं, अपितु अपने शरीर का आधा अंग ही उन्हें दे दिया। विवाह के पश्चात् ही भगवान् अर्धनारीनटेश्वर हो गये। उनके आधे अंग में सतीजी सदा रहती थीं। जब उन सतियों में शिरोमणि सती देवी को यह निश्चय हो गया कि ये शिव मुझे व्यर्थ ही पिता के घर जाने से रोक रहे हैं, तब तो उनके कोप का ठिकाना नहीं रहा। वे अपने पितृगृह के स्नेह के वशीभूत होकर शिवजी की आज्ञा की अवहेलना करने को भी तत्पर हो गईं।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब सतीजी ने शास्त्र का मत बताकर यह सिद्ध किया कि अपने माता-पिता के घर, सुहृद् और मित्रों के घर बिना बुलाये भी चला जाना चाहिये, तो इसे सुनकर शिवजी हँसे और बोले—"दक्ष कुमारी! अब तुम मुझे शास्त्र सिखाने लगीं। शास्त्रों के मत को मैं भी

जानता हूँ, सब शास्त्र मेरे ही बनाये हुए हैं। तुम जो कह रही हो कि इतने लोगों के यहाँ बिना बुलाये भी चले जाना चाहिये यह ठीक है, किन्तु कब चले जाना चाहिये ? जबकि वे हमें देखते ही खिल उठें, उनका रोम-रोम प्रसन्न हो जाय, स्नेह से गहक कर मिलें। ऐसी दशा में बिना बुलाये भी जाने से बड़ा स्नेह बढ़ता है, किन्तु जो हमे देखते ही मुंह बना लें, गाल फुला लें, भयानक आकृति बना लें, हमसे बोलें भी नहीं उठकर चले जायें मन में सोचें यह कहाँ से आ गया ऐसे लोगों के यहाँ बिना बुलाये कभी भूल से भी न जाना चाहिये, फिर वे कोई भी हो।"

सती ने चिढ़कर कहा--"यहाँ कैलास में बैठे-बैठे आपने यह कल्पना कर ही कैसे ली, कि मेरे बाप आपको देखते ही अप्रसन्न हो जायेंगे। मैं तो समझती हूँ, वे मुझे देखते ही रो पड़ेंगे, अपने आंसुओं से मेरे सब बालों को भिगो देंगे, मेरा माथा सूंघेंगे, आपका सत्कार करेंगे। तुमने मेरे पिता को, ऐसा ही ऐरा गैरा पच कल्यानी समझ रखा है क्या ? वे बड़े विद्वान है, तपस्वी हैं, धनी हैं सुन्दर शरीर वाले हैं, देवताओं की भाँति सदा युवा रहते हैं, और श्रेष्ठ कुल में उनका जन्म हुआ है, साक्षात् लोक पितामह ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं। वे आपका अपमान क्यों करेंगे ?"

शिव ने कहा—"देवि ! तभी तो मै कहता हूँ, तुम मेरी अर्धाङ्गिनी होने पर भी स्त्री ही हो। देखो तुमने जो ये विद्या, तप, धन, सुन्दर नीरोग शरीर युवावस्था और कुलीन, छः गुण अपने पिता में बताये हैं मैं मानता हूँ, कि ये सब श्रेष्ठ गुण हैं, और वे तुम्हारे पिता में विद्यमान हैं, किन्तु देवि, दूध तो अमृत है, उसे ताँबे के पात्र में रख दो विष हो जायगा। गङ्गाजल तो संसार में सर्वश्रेष्ठ पेय है, वही समुद्र में मिलने से अपेय हो जाता है। घृत तो तेज है, जीवन है, उसे ही बराबर मात्रा में शहद मिला

दो, विषवत् बन जायगा। इसी प्रकार ये गुण यदि खल पुरुषों में आ जायँ तो उनके अभिमान को और भी अधिक बढ़ाकर उनकी बुद्धि को नष्ट कर देंगे—वे महापुरुषों के सम्मुख अकड़ कर कहेंगे, 'हम क्या किसी से कम हैं, हमारी बराबर का कौन है?' इस प्रकार वे महापुरुषों का सदा अपमान करेंगे। ऐसे अव्यवस्थित चित्त वाले लोगों के समीप न तो जाना ही चाहिये और न यही समझना चाहिये, ये हमारे बन्धु-बान्धव हैं, हमारा अपमान न करेंगे।"

सती का मुख लाल पड़ गया और कुछ कुपित होकर बोली—"महाराज, आप बहुत कड़ी-कड़ी बातें मुझे सुना रहे है, मेरे बाप को खल बता रहे हैं। आपका उन्होंने कब अपमान किया? आपको उन्होंने कब खरी-खोटी सुनाई? आपको तो वे समस्त देवताओं में सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, ऐसा न समझते तो मैं उनकी सबसे छोटी सबसे प्यारी लड़की थी, मेरा विवाह आपके साथ क्यों करते?"

शिवजी यह सुनकर खिल-खिलकर हंस पड़े और बोले—"देवीजी! सच-सच बता दूँ, तुम बुरा तो न मानोगी? देखो, पहिले मुझे वे भले ही देवाधिदेव महादेव समझते रहे हों, किन्तु जब से उन्होंने मेरे साथ तुम्हारा विवाह कर दिया है, तब से उनका अभिमान और बढ़ गया है। वे अभिमान में भरकर कहते हैं—शिव मेरा दामाद है।"

सतीजी बोलीं—"तो क्या झूठ कहते हैं, तुम नहीं हो उनके दामाद?"

शिवजी बोले—"अब तुम स्वस्थ चित्त होकर पूछो तो इन बातों का उत्तर दूँ भी। तुम्हारी नाक पर तो आँसू रखे हैं, बात बात पर टप्प-टप्प आँसू बहा रही हो। क्रोध तुम्हारे रोम-रोम

में व्याप रहा है, आँखें तुम्हारी लाल हो रही हैं, मन तुम्हारा बाप के यज्ञ में पहुँच गया है, चित्त तुम्हें यहाँ से जल्दी चलने को कह रहा है. अब तुम्हें कुछ समझाऊँ भी तो वह व्यर्थ होगा। तुम्हारे बाप ने मेरे साथ कैसा बर्ताव किया है, उसे कहना नहीं चाहता। इसीसे उसके सामने जाना नहीं चाहता। तुम जानती ही हो, मैं रुद्र हूँ। मुझे कहीं क्रोध आ जायगा, तो तुम्हारे बाप का यज्ञ सब धरा का धरा ही रह जायगा इसलिये यहीं बैठकर राम-राम जपो। इस हठ को छोड़ दो मेरे कहने से।"

सतीजी ने हठपूर्वक कहा—"नहीं, मैं नहीं उठूँगी। तुम मेरे पिता पर व्यर्थ में ही दोषारोपण कर रहे हो। बता दो, उन्होंने कब तुम्हारा अपमान किया?"

शिवजी बोले—"देखो यह बात पुरानी हो गई है, उसकी आवृत्ति करके उसे फिर से नई मत बनाओ। यदि तुम पूछती ही हो, तो बताता हूँ। प्रयागराज में प्रजापतियों के यज्ञ में सबके सामने तुम्हारे बाप ने कहनी अनकहनी भली बुरी बातें मुझसे कही थीं। मेरी तो कोई बात नहीं, किन्तु यह वाणी रूपी बाण का घाव ऐसा तीक्ष्ण होता है कि, बाण का घाव तो समय पर पुर जाता है, किन्तु यह वाक् बाण का घाव कभी नहीं पुरता। हृदय में सदा कसकता रहता है। देखो, एक दृष्टान्त सुनो।"

एक वन में एक बुद्धिमान सिंह रहता था। एक गरीब ब्राह्मण दरिद्रता के दुःख से दुखी होकर आत्म-हत्या के लिये वन में गया और अपने आप मरने के लिये सिंह के सम्मुख खड़ा हो गया। सिंह ने सोचा—"यह ब्राह्मण डरता नहीं, अपने आप मरना चाहता है, इसमें अवश्य कोई कारण है।" यह सोचकर सिंह ने उससे कारण पूछा। उसने अपनी दरिद्रता का सब कारण बताया। सुनकर सिंह को दया आ गई। उसने कहा—

"देख, अमुक स्थान पर इतना धन है, उसे ले जा। अब जब भी धन की आवश्यकता हुआ करे, मुझसे ले जाया करना।" यह सुनकर ब्राह्मण बड़ा प्रसन्न हुआ। धन लेकर चला गया। अब उसे जब भी धन की आवश्यकता होती, सिंह से आकर ले जाता। एक दिन वह आया तो वहाँ सिंह नहीं था। एक महात्मा आ निकले। महात्मा ने पूछा—"भाई, यहाँ क्यों बैठे हो?" दरिद्र ब्राह्मण ने कहा—"महाराज, यहाँ एक मूर्ख सिंह रहता है। उसे मैंने ऐसा उल्लू बनाया है, कि मेरे वश में हो गया है। जब भी मुझे धन की आवश्यकता होती है उससे ले जाता हूँ।" झाड़ी की ओट से सिंह सब बातें सुन रहा था। उसके हृदय में इन शब्दों को सुनकर बड़ा घाव हो गया, कि मैं दयावश इसे देता हूँ। यह समझता है—मैंने मूर्ख बनाया है। अच्छी बात है। सिंह आया, आज वह धन नहीं लाया, एक कुल्हाड़ी साथ लाया। उस ब्राह्मण से बोला—"इन कुल्हाड़ी को मेरे कन्धे पर मारो।"

ब्राह्मण डर गया, उसके हाथ काँपने लगे। यह देख कर सिंह बोला—"नहीं नहीं, तुम डरो मत, मारो अपने सम्पूर्ण बल से। ब्राह्मण डरा हुआ था, उसने कुल्हाड़ी मारी। सिंह के कन्धे में बड़ा भारी घाव हो गया, रक्त बहने लगा। तब सिंह ने कष्ट से कहा—"आज चले जाओ, एक महीने के पश्चात् फिर आना।"

ब्राह्मण चला गया। उसकी समझ में कुछ बात न आई। एक महीने पश्चात् ब्राह्मण फिर गया। सिंह ने बुलाकर कहा—"तुमने कुल्हाड़ी मारी थी, उसका घाव अब है?" ब्राह्मण ने कहा—"अब तो नहीं है, अच्छा हो गया।"

सिंह बोला—"कुल्हाड़ी का घाव तो अच्छा हो गया, किन्तु

तैंने जो उन महात्मा के सम्मुख मेरे लिए कुवाक्य कहे थे, उनको सुनकर मेरे हृदय में जो घाव हुआ था, वह अभी अच्छा नहीं हुआ। अब तू ब्राह्मण है, तेरी हत्या तो क्या करूं? जा; भाग जा। अब फिर मेरे पास न आना। कहीं मुझे अपने स्वभाववश क्रोध आ गया; तो तेरा कल्याण नहीं है। इतना सुनते ही ब्राह्मण वहाँ से भाग गया।"

सो, सती देवी! ब्राह्मण समझकर मैंने तुम्हारे बाप को क्षमा कर दिया, नहीं तो उन्होंने जैसी बातें कहीं थीं, उन्हें सुनकर यदि मै कोप करता, तो उनकी सब चौकड़ी भूल जाती। प्रजापतियों के पति बनने का सब अभिमान तिड़ी हो जाता। वहीं टें कर जाते, मैं उन बातों को भूल गया था। आज तुमने उन्हें फिर से हरा कर दिया। देखो, तुम्हारे बाप ने जान बूझकर हमें निमन्त्रण नहीं भेजा है। यही नहीं, यह यज्ञ हमें नीचा दिखाने को ही किया जा रहा है। यज्ञ की तो आड़ मात्र है। हमें जाति-पाँति से पृथक् करना, अपना प्रभाव प्रदर्शित करना—यही इस दम्भ यज्ञ का मुख्य उद्देश्य है।"

सतीजी ने कहा—"बात तो बताते नहीं, कुवाच्य-कुवाच्य कह रहे हैं। क्या कुवाच्य कहे? मेरे पिता ऐसे तो हैं नहीं, कि आ बैल मुझे मार। तुमने भी कुछ कहा होगा। कोई न कोई बात होगी। उसे आप छिपा रहे हैं। नहीं तो पिताजी की मैं सबसे प्यारी पुत्री हूँ।"

शिवजी ने कहा—"प्रिये! मैं जानता हूँ, तुम पिता की अत्यन्त प्यारी पुत्री हो, किन्तु तुम्हारा सम्बन्ध तो मुझसे हुआ है। मुझे वे, अपना शत्रु समझते हैं। शत्रु का मित्र भी शत्रु ही होता है। मैंने कुछ उनका बिगाड़ा थोड़े है, उनका धन छीन लिया हो या उनके डाका डाला हो। क्यों ही द्वेष मानते हैं।

कुछ लोग ऐसे खल प्रकृति के होते हैं, कि वे महापुरुषों की समृद्धि देखकर अकारण ही जलने लगते हैं, उनका हृदय व्यर्थ ही व्यथित होने लगता है। द्वेषवश ही इन्द्रियाँ सन्तप्त होती रहती हैं। उनकी पदवी को तो वह प्राप्त कर नहीं सकते। केवल ईर्ष्या के कारण उनकी निन्दा ही किया करते हैं। विष्णु भगवान् ने हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष का क्या बिगाड़ा था ? किन्तु वे अकारण उनसे द्वेष करते थे।"

सतीजी बोलीं—"प्रभो ! आप अब बड़े हैं, चाहे जो कह लें, मेरे पिता की हिरण्यकशिपु से उपमा दे रहे हैं। तुमसे वे क्यों अप्रसन्न हैं ? आपकी समृद्धि को देखकर वे जलते हों, सो आपकी समृद्धि संसार जानता है। इन विषैले सांपों को लेकर कोई क्या करेगा ? सब लोग घोड़ा हाथी ऊँट पालकी पर चढ़ते हैं। आपकी सवारी बैल है। कुछ भीतरी बात है, उसे आप नहीं बता रहे है।"

भगवान् शिव बोले—"देखो, भीतरी बाहरी कोई बात नहीं। बात इतनी ही थी—वे सभा में आये, सब लोग उठ पड़े, मैं नहीं उठा। इसी पर आगबबूला हो गये !"

सतीजी शीघ्रता से बोलीं—"तो, यों क्यों नहीं कहते कि मैंने स्वयं ही पहिले उनसे छेड़-छाड़ की सब उठ पड़े तो आप भी उठ पड़ते। कैसे भी हों, हैं तो मेरे पिता ही। जब मेरे पिता है, तो आपके भी पिता के सदृश हुए। उठ ही पड़ते तो आपका क्या घट जाता, कौन से आपके लाल झड़ जाते ?"

शिवजी स्नेह से बोले—"देखो, दक्षकुमारी सती, तुम समझती नहीं। मुझे उठने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु पहिले तुम उठने का तात्पर्य समझ लो—उठा क्यों जाता है ? बड़ों को देख कर शीघ्रता से उठकर उनके सम्मुख जाना, अंजलि बाँधकर सिर

नीचा कर लेना, पैर छूना, प्रणाम करना, उनके पीछे-पीछे चलना—ये सब सत्कार करने के ढंग हैं। शिष्ट पुरुषों के आचार हैं, किन्तु यह आने वाले व्यक्ति की देह के सत्कार नहीं है। उसके अन्तःकरण में जो विराजमान श्रीहरि हैं—जिनके प्रकाश के कारण वे प्रकाशित हैं—उनके ही लिये ये सब आदर प्रदर्शित किये जाते हैं। इस नाशवान् क्षणभंगुर शरीर का क्या सत्कार। इसीलिये उनके भीतर जो भगवान् बैठे थे, उनके लिये मैंने मन ही मन प्रणाम कर लिया था। उनका आदर मैंने हृदय से किया था। वे मेरे हृदय में भी सदा बने रहते हैं। उनका मैं अपने हृदय में प्रत्यक्ष दर्शन करता हूँ।"

सतीजी ने कहा—"महाराज, अपना अपराध कोई स्वीकार नहीं करता। दूसरे के तिल भर दोष भी पहाड़ के सदृश दिखाई देते है और अपने पहाड़ के समान भी दोष नहीं दीखते। दूसरों की आँखों में एक काली रेखा भी हो तो दीख जाती है। अपनी आँखों में चाहे कपोलों तक काजर पुता रहे, तो भी नहीं दीखता। अच्छा, सर्वान्तर्यामी श्रीहरि का ही आदर सही, जब तुमने मन ही मन उनके हृदय में निवास करने वाले सर्वान्तर्यामी को प्रणाम किया, तो तुम्हें उठने में क्या आपत्ति थी, उठकर खड़े हो जाते। उनका भी मन रह जाता, तुम्हारा भी कुछ न बिगड़ता।"

शिवजी ने कहा—"देवि! तुम्हारे हृदय में तो अब पिता के प्रति पक्षपात उत्पन्न हो गया है। मैं सीधी भी बात कहूँगा, तो तुम्हें उल्टी लगेगी। देखो, जो भक्त हैं, उनके हृदय में तो भगवान् प्रकाशित रहते है। उन्हें उठकर प्रणाम करो तो भगवान् तत्क्षण प्रकट होकर बीच में खड़े हो जाते हैं। भक्त भी सब को देखकर नत हो जाता है, किन्तु जो देहाभिमानी हैं, उनके अन्तर्यामी ढक

जाते हैं, उनको उठकर प्रणाम करने से उनका अभिमान और बढ़ जाता है, अतएव उनको मन से ही प्रणाम करना चाहिये। इसलिये मैंने उनके अन्तर्यामी वासुदेव को मन से नमन कर लिया था।"

सतीजी बोली—"देखो, तुम बड़े हो, समर्थ हो। उन सब बातों को अब भूल जाओ। वे मेरे पूजनीय पिता हैं, मै उनकी प्यारी पुत्री हूँ। तुम मेरे साथ चलो, मेरे साथ रहने से वे अब कुछ न कहेंगे। बड़े लोगों को इस प्रकार घरवालों की बातों पर ध्यान न देना चाहिये। कैसे भी हों, आपके श्वशुर हैं, बड़े हैं, बड़ों की दो बातें सुन भी लेनी चाहिये।"

शिवजी ने कहा—"देखो, मुझे चलने में कोई आपत्ति नहीं। मैं तो भूल ही गया था, किन्तु मेरे भूलने से क्या होता है, तुम्हारा अभिमानी बाप तो नहीं भूला है। उसके हृदय मे तो द्वेषाग्नि भड़क रही है। यदि मै वहाँ गया और उसने फिर वही तीन पाँच लगाई, तो तुम मेरा स्वभाव जानती ही हो। उसके समस्त परिवार का कल्याण नही। तुमने बहुत आग्रह किया, तो मैने ये बातें बता दी, नहीं तो मैं तो भुला ही चुका था।"

सतीजी ने कहा—"अच्छा, जाने दो। मै तो तुम्हारा स्वभाव जानती हूँ, बड़े हठी हो। एक बार जो तुम्हारे मुँह से निकल गया, फिर उसे पूरा ही करके छोड़ते हो। अच्छा, मुझ अकेली को ही भेज दो। तुम अपने ससुर जमाई लड़ते-भिड़ते रहो। मुझे क्यों बीच मे डालते हो। मेरे वे जनक है, आप पति हैं। दोनों में से किसी के प्रति भी मै अश्रद्धा नही कर सकती।"

भगवान् भोलेनाथ बोले—"सती! तुम समझती तो हो नही! तुम्हारी बुद्धि पितृ-स्नेह से मूढ़ बन गई है। देवी! तुम चाहे उनकी कितनी भी प्यारी पुत्री हो, फिर भी दक्ष मेरे सम्बन्ध से

तुमसे भी द्वेष करता है। इसलिये वहाँ जाने की बात तो अलग रही, तुम्हें उसे देखने का भी विचार न करना चाहिये। यदि अपनी हठ पर अड़ीं और मेरी बात न मान कर वहाँ चली ही गईं, तब समझ लो फिर कल्याण नहीं, कुशल नहीं।"

सतीजी ने बड़ी दीनता से कहा—"देखो, प्राणनाथ! मेरी आशा पर पानी मत फेरो। मेरे मनोरथों को निर्दयता के साथ मत कुचलो। आशुतोष! इतने निष्ठुर मत बनो दया सागर! दासी का दुःख देकर दयनीय दशा में मत डालो। हे अशरण शरण! मुझे मेरे परिवार वालों से उल्लास और उत्सव के अवसर पर पृथक् मत करो। मैं तुम्हारी चिरसेविका हूँ, अनुरक्ता भक्ता हूँ। हे प्राणेश्वर, मुझ पर कृपा करो।"

जब सती जी इस प्रकार अधीर होकर प्रार्थना करने लगीं, तब कुछ झुँझलाहट के साथ भगवान् सदाशिव बोले—"बस, अब बहुत हो गया। मैंने तुम्हें सब ऊँच नीच समझा दिया। इतने पर भी तुम्हारी समझ में नहीं आता, तो तुम्हें जो दीखे, सो करो। अब मुझसे पूछने की कोई बात नहीं है। तुम्हारी इच्छा है, रहो या जाओ।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी, इतना कहकर शिवजी चुप हो गये। वे आँखें बन्द करके राम-राम जपने लगे।"

छप्पय

सती कहैं तुम कृपासिन्धु योगेश्वर ज्ञानी।
वेद न पावैं भेद पाहिँ फिर कस अभिमानी॥
थूको जो कछु भई गइ कूँ नाथ बिसारो।
पिता यज्ञ ले चलो, आसरो एक तिहारो॥
शम्भु कहैं—'दाक्षायणी! त्यागो हठ हरि-हरि भजो।
हौं कबहूँ नहिँ जाउँगो, जिह आशा मोतें तजो॥

सतीजी का पितृ-गृह-गमन

[१९२]

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तम्,
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा ।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान्,
प्रेम्णाऽऽत्मनो योऽर्धमदात् सतां प्रियः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ४ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

समझाई शिव सती बहुत विधि तऊ न मानी ।
भई बुद्धि विपरीत विश्वपति हिय महँ जानी ॥
पितृ-नेह इत शम्भु रुष्टता को भय भारी ।
फिरि-फिरि आवें जाइ, हिँडोले सरिस विचारी ॥
सर्पिनि सम निश्वास ले, कँपे देदे विह्वल भईं ।
आँखिनि महँ आँसू भरे, सती अनमनी ह्वै गईं ॥

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! जिन सतीजी को सत्पुरुषों की गति, भगवान शिव ने प्रेमवश अपना आधा अंग ही दे दिया है, अर्थात् जो सतीस्नेह से अर्धनारी नटेश्वर बन गये हैं, उन्हें छोड़कर वे दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई मना करने पर भी पिता के घर अकेली ही चल दीं, क्योंकि उनका अन्तःकरण शोक और क्रोध से खिन्न हो गया था तथा स्त्रीस्वभाववश उनकी बुद्धि भी विमूढ बन गई थी ।"

जब हृदय में प्रबल कामना उत्पन्न हो जाती है, तो उस समय मनुष्य अपने प्रधान कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। वासना हृदय को मथ डालती है। वासना के हृदय में होते ही उसे पूरी करने का प्रयत्न करते हैं। जो उसकी पूर्ति में बाधा देते हैं, वे प्रिय जन होने पर भी बुरे लगते हैं। श्रद्धेय होने पर भी उनके प्रति अश्रद्धा हो जाती है। सम्माननीय होने पर भी उसकी अवहेलना की जाती है। कामना की सिद्धि में विघ्न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। जहाँ हृदय में क्रोध आया कि तत्क्षण बुद्धि सम्मोह में फँस जाती है। सम्मोह में फँसी बुद्धि की वही दशा होती है जो गहरे दलदल में फँसी गौ की होती है। बुद्धि अपने सद्-असद् के विवेक को खो बैठती है। जहाँ बुद्धि भ्रष्ट हुई वहाँ मनुष्य पतन के पथ की ओर अग्रसर होने लगता है। उसका सर्वनाश निश्चित है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! भगवान् शंकर ने सतीजी को अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु उनके मन में एक भी बात नहीं बैठी। जब शिवजी ने उपराम होकर नेत्र बन्द कर लिये, तब तो सतीजी के रोष का ठिकाना नहीं रहा। मारे क्रोध के उनके ओठ फरकने लगे, आँखों में से अंगार निकलने लगे। उन्हें शान्त करने को मानो कोई भीतर पानी उँड़ेल रहा हो, किन्तु वे अंगारे शान्त नहीं होते थे। पानी आँखों की कोर से व्यर्थ बनकर निकल जाता था। चित्त बड़ा ही चंचल हो गया, सम्पूर्ण शरीर थर-थर काँपने लगा। शिवजी समझ गये कि सती के विनाश का काल निकट आ गया। उन्होंने सोचा—"यदि मैं ऐसी दशा में इसे बलपूर्वक रोकता हूँ, तो अब तो इसने चण्डी का रूप धारण कर रखा है, मेरे रोकने पर वह अवश्य ही यहीं आत्म-हत्या कर लेगी और वहाँ जायगी, तो भी इसका मरना

निश्चित है, क्योंकि वहाँ इसका अपमान होगा। मनस्वी पुरुष अपमान की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ समझते हैं। जब दोनों ही प्रकार इसको मृत्यु निश्चित है, तो हम अपने सिर हत्या क्यों लें। वहीं अपने बाप के सम्मुख मरे। इसलिये उन्होंने फिर न तो यह कहा, कि जाओ और न यही कहा कि मत जाओ।

सतीजी का मन किंकर्तव्यविमूढ़ बन गया। वे निश्चय न कर सकीं कि मुझे जाना चाहिये या न जाना चाहिए, किन्तु चित्त तो परिजनों से मिलने को उतावला हो रहा था, अतः सोचा—चलो शिवजी तो ऐसे कहते ही रहेंगे। यह सोचकर वे अकेली ही पिता के घर चल दीं। थोड़ी दूर गईं और सोचने लगीं—सती स्त्रियों का तो यह धर्म नहीं, कि पति की आज्ञा के विरुद्ध बर्ताव करें। रहना तो मुझे जीवन भर इसी घर में है। पिता के यहाँ तो दो दिन की धूम-धाम है। इस प्रकार पति परमेश्वर को रुष्ट करके जाना ठीक नहीं। इस विचार के आते ही वे लौट आईं। आकर थोड़ी देर खड़ी हुईं। इतने में ही ८-१० विमानों की टोली फिर नूपुरों की झंकारों से दिशाओं को झंकृत करती हुई ऊपर से उड़ गई। अब फिर सतीजी का चित्त चंचल हो उठा। हाय! जिनका मेरे पिता से कोई सम्बन्ध नहीं, ये सब लोग कितने ठाट-बाट से सज-धज कर जा रहे हैं, मैं उनकी सगी पुत्री और जाने की प्रबल इच्छा होने पर भी नहीं जा रही हूँ, ऐसी भी क्या परतन्त्रता। पुरुषों को जब कोई इच्छा होती है, तो स्त्रियों के लाख मना करने पर भी वे नहीं मानते, तब स्त्रियों को भी अधिकार है, कि वे आत्मा का हनन न करें। मैं कोई पाप कर्म तो कर ही नहीं रही हूँ, किसी अन्य के घर तो जा ही नहीं रही हूँ, पिता के ही घर जा रही हूँ। स्त्रियों को दो ही तो आश्रय हैं या तो पति का घर या पिता का घर, ऐसे अवसर पर मुझे किसी भी प्रकार

रुकना नहीं चाहिये। यह सोचकर वे फिर चल दीं, थोड़ी दूर गईं। फिर उनके मन में आया—शिव कहीं रुष्ट हो गये और कह दिया—'अब हमारे यहाँ पैर भी न रखना।' तब तो मैं कहीं की भी न रहूँगी। इन भोलेनाथ को ऐसा करना कोई कठिन काम भी नहीं। वैसे ही हजारों वर्षों की समाधि लगा जाते हैं। ये तो आप्तकाम हैं, मुझे ऐसी चंचलता शोभा नहीं देती। यह सोचकर फिर लौट आईं। लौटकर देखती हैं, घर उन्हें अपना प्रतीत नहीं होता, वहाँ की सभी वस्तुएं उन्हें काटने दौड़ रही हैं। उनका मन सर्वत्र शून्यता का अनुभव कर रहा है। हृदय को मानों कोई बलपूर्वक ऐंठ रहा है। शिवजी पर आज सती को रोष आ रहा है। इनको आज हो क्या गया है। एक चुल्लू जल से, दो आक के फूलों से, एक बिल्व पत्र से ही प्रसन्न हो जाने वाले शिव आज निष्ठुर क्यों बन गये हैं। अच्छी बात है, ये निष्ठुर बने रहें 'मैं तो जाऊँगी ही, पिता ने नहीं बुलाया—कोई बात नहीं। उन्होंने द्वेष ही वश न बुलाया होगा, तो अब मेरे जाने से बात सध जायगी। कोई न जानेगा। यदि इस अवसर पर भी न पहुँची, तो बात चारों ओर फैल जायगी। सबके मुँह पर यही बात रहेगी—सती क्यों नहीं बुलाई गई? जितने मुँह उतनी ही बातें बन जायंगी, कोई कुछ कहेगा कोई कुछ। बात का बतंगड़ हो जायगा। सुई का सेल बन जायगा। फिर सदा के लिये आना जाना बन्द हो जायगा, दोनों ओर से गहरी खाईं खुद जायगी, पत्थर की लकीर हो जायगी। फटे हुए मन और भी फट जायंगे, फिर उनका जुड़ना असम्भव हो जायगा। फटा हुआ कपड़ा किसी तरह कौशल से सीकर जोड़ा जा सकता है। टूटी हुई धातुएं अग्नि में तपाकर किसी तरह फिर से तो मिलाई जा सकती हैं, किन्तु अत्यन्त तीव्रता से फटा हुआ मन फिर नहीं मिल सकता।

मन मोती अरु दुध को, इनको यही स्वभाव।
फाटे पीछे न मिलें, कोटिन करो उपाय॥

इसलिये मैं बात को बढ़ने न दूँगी। ये तो हठी हैं, जब इन्हें कोई सनक सवार हो जाती है, तो फिर सुनते ही नहीं। हठ के पक्के हैं, ये नहीं चलते तो कोई बात नहीं, मैं भी तो घर की स्वामिनी हूँ, मेरे भी तो कुछ अधिकार हैं। आज मैं अपने उसी अधिकार का प्रयोग करूँगी। मैं पिता के यज्ञ में जाऊँगी। दोनों के बीच पड़ कर इस बढ़े हुए मनोमालिन्य को मिटाऊँगी, पिता को हर प्रकार से समझाऊँगी। शिव की महत्ता बताऊँगी। इनकी महामहिमा को विस्तार से सुनाऊँगी। अपना पुत्री-प्रेम दिखाऊँगी। पिता के पैरों पड़के उन्हें मनाऊँगी, फिर आदमी भिजवा कर भूतनाथ को बुलावाऊँगी। अब इनकी आज्ञा की प्रतीक्षा न करूँगी। इनके विरोध को अब न मानूँगी। ऐसे समय पर आज्ञा उल्लन्घन का दोष नहीं लगता।

महामुनि मैत्रेय जी कहते हैं—"विदुरजी! जब हृदय में कोई प्रबल बलवती इच्छा उत्पन्न हो जाती है, तो मन उसी के पक्ष में अनेक युक्तियाँ रखकर भाँति-भाँति से उसी इच्छा का समर्थन करने लग जाता है। सती जी ने पूर्ण निश्चय कर लिया कि अब मैं शंकर की बात न मानूँगी। अपने पिता के यज्ञ में अवश्य जाऊँगी। वे अब दृढ़ता से हृदय को बड़ा करके चल ही दीं।

शिवजी वहाँ बैठे-बैठे कनखियों से सतीजी के मनोभावों का अध्ययन कर रहे थे। जब वे जातीं तो आँख खोल कर देखते रहते, कहाँ तक पहुँचीं। जब वे लौट आतीं, तो भोलेनाथ भी नेत्र बन्द करके ध्यान में मग्न हो जाते। इस प्रकार जब सती

१०।५ बार आईं और गईं, तब शिवजी समझ गये इनके हृदय में घनघोर द्वन्द्व युद्ध हो रहा है।

अब जब उन्होंने देखा कि अत्यन्त विह्वलता के साथ कातर वाणी से रुदन करती, अश्रु बहाती थर-थर काँपती हुई चिन्ता, भय, शोक, मोह, उत्कन्ठा, से अभिभूत हुई सती जी अकेली ही चल दी, तब तो शिवजी समझ गये। अब के इनका निश्चय अटल है। अब ये लौटने को नहीं। भावी की प्रबलता देखकर शिवजी समझ गये—सती का अन्त समय निकट आ गया है, तभी तो इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। मेरे इतना समझाने पर भी यह नहीं मानती। इसका विनाश काल समीप ही आ गया है। वही इसे बार-बार वहाँ चलने को प्रेरित करता है। विनाश काल में बुद्धि विपरीत बन ही जाती है। जब यह जा ही रही है, तो इस प्रकार अनाथों की भाँति इसे क्यों जाने दें। जाती ही है तो अपने स्वरूप से जाय।

यह सोचकर उन्होंने अपने प्रधान-प्रधान गण, भूत, पिशाच तथा अन्य सेवक सेविकाओं को बुलाकर कहा—"देखो, तुम्हारी स्वामिनी अकेली कहाँ जा रही है? वे जहाँ भी जा रही हों, तुम सब उनकी सेवा में साथ जाओ। नन्दीश्वर, इन्हें अपनी पीठ पर बिठाकर ये जहाँ भी कहें पहुँचा दें। इनका सभी साज-शृंगार तथा विनोद क्रीड़ा का समान साथ जाय।"

शिवजी की ऐसी आज्ञा पाकर बड़े उल्लास के साथ भूतिनी पिशाचिनी, डाकिनी, साकिनी, उनके पीछे-पीछे दौड़ीं। उन सब को पीछे ठेलते हुए बाँ-बाँ करते हुए नन्दीश्वर सबसे पहिले पहुँच गये। जाते ही उन्होंने हाँफते हुए कहा—"माता जी! कहाँ जा रही हैं?"

सतीजी ने समझा, शिवजी इसे लौटाने के लिये भेजा है।

अतः तुनक कर बोलीं—"हम कहीं भी जा रही हों, तुझे क्या प्रयोजन ? भाग जा यहाँ से ! हमारे मार्ग में रोड़े मत अटकाना।"

नन्दीश्वर ने हाथ जोड़ कर कहा—"माता जी ! मैं आपको रोकता थोड़े ही हूँ। मैं तो आपकी सहायता के लिये आया हूँ। आप जहाँ भी चलें मेरी पीठ पर बैठ कर चलें। आप महारानियों की भी महारानी हैं। आपको इस प्रकार अकेले जाना शोभा नहीं देता। इसमें हमारे स्वामी का अपमान है।"

इतना सुनते ही सती जी का मुखकमल खिल उठा और बड़े स्नेह से बोलीं—"नन्दीश्वर ! तुम बड़े अच्छे हो। शिवजी के सब गणों में तुम ही मुझे बहुत प्यारे हो। मुझे आशा नहीं थी, कि भगवान् भूतनाथ की बिना आज्ञा लिये आने पर तुम मेरी सहायता करोगे। अच्छी बात है। मैं तुम्हारे ऊपर चढ़ कर अपने पिता के घर चलूँगी।"

नन्दीश्वर ने कहा—"माताजी ! पुत्र के लिये तो माता पिता दोनों समान हैं। यही नहीं, पिता से माताजी का पद सौगुना श्रेष्ठ है। माता पिता की प्रेम-कलह से पुत्रों को क्या प्रयोजन ? मैं तो परिवार भर का वाहन हूँ, जहाँ भी स्वामिनी ले जायँ। नौकर चाकर अभी झूल सिंहासन लेकर आते हैं वे आकर मेरा साज शृंगार करेंगे। तब आप बड़े ठाट बाट से चलें। ननसाल में जाने पर हमें भी खाने को माल मिलेंगे। मैं भी अपने सींग हिला-हिल कर नानी; मामी, मौसी सभी से प्रसाद पाऊँगा।"

सती जी बोलीं—"अरे, तू कैसी बातें कर रहा है ? वहाँ तो सब तुझे हाथों पर उठाये-उठाये फिरेंगी। और लोग बैल की पीठ पर चढ़ना पाप समझते हैं, किन्तु तुम्हारे भोलानाथ तो पाप पुण्य से परे हैं। उनके पीछे मुझे भी तुम पर चढ़ना

पड़ता है। मेरी बहिनें तो तेरे ऊपर चढ़ेंगी नहीं। हाँ, उनके बाल बच्चे तुझे बहुत तंग करेंगे। उन सब को तू पीठ पर चढ़ा कर घुमाना। सुन्दर-सुन्दर माल उड़ाना। यहाँ तो तू ऐसा दुबला पतला हो रहा है। वहाँ जाकर मोटा ताजा हो जायगा।

सतीजी और नन्दीश्वर में ये बातें हो ही रही थीं कि इतने में ही सेवक-सेविकायें मणिमान्, मद आदि सहस्रों शम्भुगण पार्षद यक्षों के सहित आ पहुँचे। किसी के हाथ में नन्दी की झूल थी तो किसी के हाथ में सिंहासन, किसी के हाथ में शृङ्गार का सामान था, तो कोई सतीजी की क्रीड़ा की वस्तुएँ लिये हुए थीं। बहुतों के हाथ में वस्त्रों की पेटियाँ थीं; बहुत सी आभूषणों की पेटिकायें सिरों पर लादे थीं। बहुत सी दासियाँ पिंजड़ों के उन तोता मैनाओं को लिये हुए थीं जिनसे सतीजी का मनोरंजन होता था जो अपनी सुंदर सुरीली वाणी से मधुर शब्द बोल-बोल कर सतीजी को सदा प्रसन्न रखती थी। बहुत सी खेलने की गेंदों को लिये थी, बहुत सी माला का शृङ्गार करने वाली भाँति-भाँति की मालायें लिये थीं, कुछ के हाथों में सुरमा की शीशी, सिन्दूर काजल की डिबिया, शृङ्गार की पिटारी थी जिसमें दर्पण, तिलक का सामान, तेल फुलेल, कङ्घी, वेणी गूँथने का सामान, काले डोरे, रेशमी झब्बे आदि थे। आते ही सबने सतीजी को प्रणाम किया और कहा—"स्वामिनी जी! आप हम सबको छोड़कर कहाँ अकेले ही जा रहीं हैं? हमारा यहाँ कौन है? आपकी सेवा ही तो हमारे जीवन का आधार है। जैसे छाया शरीर का कभी साथ नहीं छोड़ती, वैसे ही हम भी कभी आपका साथ नहीं छोड़ सकतीं। आप जहाँ भी चलें हमें अपने साथ ले चलें।"

यह सुनकर सतीजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—तुम

सबके बिना तो मेरा मन भी वहाँ न लगेगा, किन्तु मैंने सोचा—मैंने तुमसे कहा और शिवजी ने मना कर दिया तो मुझे बहुत बुरा लगेगा। इसीलिये मैंने तुम सबसे से कहा नहीं।"

दासियों ने कहा—"नहीं माताजी, हम तो आपकी ही सेविकायें हैं। हमें तो आप अग्नि में कूदने को कहें तो हम उसमें भी कूदने को तैयार हैं।"

यह सुनकर सतीजी प्रसन्न हो गईं। सेवकों ने नन्दीजी पर झूल डाली, सिंहासन रखकर कसा। पुट्ठों पर सुवर्ण की माला डाली, गले में मालायें पहिनायीं, सींगों पर सुवर्ण के सींग पहिनाए, रंग-बिरङ्गे कपड़े माथे में बांधे। पैरों में घुटनों पर घुंघरू बांधे। छुद्र घंटियों की माला जिसके बीच में बड़ा सा घण्टा लटक रहा था उसे गले में बांधा और सब प्रकार के शृङ्गार करके नन्दीश्वर को सजाया। जब नन्दीश्वर सज गये तो वे बैठ गये। सुवर्ण की नसेनी लगाई। पहाड़ की भाँति ऊँचे नन्दीश्वर पर सेविकाओं की सहायता से माता जी चढ़ गईं। हजारों सेविकायें तथा सेवक उन्हें घेरकर बैठ गये। उनके ऊपर श्वेत छत्र ताना गया। दोनों ओर चँवर डुलने लगे। सबने एक साथ मिल कर सतीजी का जै-जै-कार किया। अब सबको लिये हुए नन्दीश्वर उसी प्रकार उड़ने लगे जिस प्रकार कोई पखवाला पर्वत लक्ष्मी जी को उनकी सहेलियों और सेविकाओं को लिये हुए उड़ रहा हो।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार सतीजी मोहवश अपने पति सदाशिव की आज्ञा को मेट कर पिता के घर को चल दीं।"

छप्पय

बहुरि विचारें चलूँ शम्भु नहि देंगे अनुमति।
छिन-छिन बीते कल्प कोटिसम चित चंचल अति॥
राम करैं सो होहि चलूँ होवे सो होवे।
वह पीछे पछिताइ सुअवसर जो नर खोवे॥
सती सतिनि महँ शिरोमणि, विकल वासना-वश भईं।
आज्ञा उल्लंघन करी, बिनु पूछे ही चलि दईं॥

दक्षयज्ञ में सतीजी का प्रवेश

[१९५]

तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियत्,
विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः ।
ऋते स्वसॄर्वै जननीं च सादराः
प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ४ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

समुझे शिव सर्वज्ञ सती के सुकृत सिराये ।
अनुचर नन्दी आदि तुरत हर संग पठाये ॥
विनती सब मिलि करी भवानी वृषभ विराजीं ।
चँवर छत्र सिर लगे दुन्दुभी तुरही बाजीं ॥
यों सजि-बजि पितु घर चलीं, असगुन बहु मग महँ भये ।
परि न ध्यान उतकूँ दयो, नन्दी खगपति सम गये ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सतीजी को यज्ञोत्सव में आई हुई देखकर यज्ञ के यजमान उनके पिता ने उनका आदर नहीं किया । जब पिता ने ही आदर नहीं किया, तो उनके डर से किसी ने भी आदर नहीं किया, केवल उनकी माता और बहिनों को छोड़कर । उन माता बहिनों ने प्रेम के अश्रु बहाते हुए गद्गद कंठ से प्रसन्नतापूर्वक उनका आलिङ्गन किया ।"

बड़ों की आज्ञा मानने में ही कल्याण है, जो लोग बड़ों का अपमान करते है, उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन करते है, उनकी बताई हुई शिक्षा को नहीं मानते, अन्त में उन्हे पछताना पड़ता है। हम अपनी अपरिपक्व बुद्धि के कारण बड़े लोगों की बातों को व्यर्थ समझते हैं, किन्तु हम इस बात को भूल जाते है कि इनकी शिक्षा के साथ पिछला अनुभव छिपा हुआ है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते है—"विदुरजी ! जब श्रीशङ्कर की बात न मानकर सतीजी स्वेच्छा से मोहवश अपने पिता के घर चली गईं, तो मानो श्रीशिव ने अपने श्रीसम्पन्न ऐश्वर्य को खीच लिया। श्रीसतीजी श्रीहीन होकर दक्षयज्ञ मे गईं। आप जानते ही हैं सर्वत्र शक्ति से ही काम चलता है और शक्ति का ही आदर होता है। सतीजी अपनी शक्ति शिव के ही समीप छोड़ गईं। अतः उनका अब कौन आदर करता ? पत्नी को पति से। शक्तिमान् के बिना शक्ति निराधार रह नहीं सकती और शक्ति आधार में से यदि आधेय शक्ति निकल जाय, तो वह आधार शून्य हो जाता है। 'शिव' शब्द में जो इकार है वही शक्ति है। एकाक्षरी कोष में अकार को वासुदेव कहा है। और इकार को लक्ष्मी बताया है। जब तक शिव में इकार है तभी तक वे चैतन्य हैं, शक्तिमान् हैं। जब इकार पृथक् हो जाय, तो वे शिव—निर्जीव बन जाते हैं। इसी प्रकार इकार पृथक् हो जाने से फिर वह 'शिव' के काम की नहीं रहती। उसे फिर से अग्नि में शुद्ध करके ग्रहण किया जाता है।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"महाराज ! सती तो बहुत ही बुद्धिमती पति-परायणा और साधु चरित्र की थीं। साक्षात् जगदम्बा ही थीं। उन्होने ऐसी हठ क्यों की ?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! ईश्वरों की लीला

कुछ नहीं जानी जा सकती। वे क्या करना चाहते हैं, क्यों ऐसी मोह माया की क्रीडायें किया करते हैं? मै तो यही समझता हूँ,यह भगवान् का विनोद है। जब तक हम इस दृश्य प्रपंच को सत्य समझेंगे, तब तक मोह होना अवश्यम्भावी है और बन्धन का हेतु मोह है, किन्तु शिव और सती को स्वप्न में भी मोह नहीं व्याप सकता। इससे मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ, भगवान् अपनी क्रीडा के लिये जीवों को बन्धन से छुटाने के लिये, ऐसी-ऐसी लीलायें रच लेते हैं। वैसे तो कारण के बिना कोई कार्य होता ही नहीं, किन्तु श्रीशिव तो कारण से रहित हैं। फिर भी हमने इस सम्बन्ध में एक कथा सुनी है।

शिव और विष्णु में साम्य करना अपराध है। साम्य दो बराबर गुणों की वस्तुओं में होता है, किन्तु जो एक है उनमें साम्य नहीं होता। एक पेड़ के बहुत फल एक ही स्वाद के होते हैं, इस दृष्टान्त में भिन्नता हो भी सकती है, किन्तु विष्णु में किसी प्रकार की भिन्नता नही हो सकती। शिव ही विष्णु हैं, विष्णु ही शिव हैं। विष्णु ने दो रूप बना रखे है। एक द्विनेत्र चतुर्बाहु रूप है, एक त्रिनेत्र चन्द्रमौलि गङ्गाधर रूप है। विष्णु अपने इष्टदेव शिव को समझते है, शिव विष्णु को। विष्णु शिव-शिव जपते हैं, शिव राम-राम रटते हैं। अब इनमें हम किसे बडा समझें किसे छोटा, किसे बराबर का? हम तो समझते हैं विष्णुसहस्रनाम में शिव भी उनका नाम है, शिव-सहस्र-नाम में पालक विष्णु भी उन्हीं का नाम है।

हाँ, तो शिवजी के इष्टदेव श्रीराम हैं। श्रीराम अनादि हैं, उनके अवतार भी अनादि हैं, चरित्र भी सब अनादि हैं। वनवास के समय श्री सीताजी को रावण हर ले गया। भगवान् नरनाट्य करते हुए घूम रहे थे, सीताजी के विरह में रो रहे थे, वृक्ष पेड़

पत्तों से उनका पता पूछ रहे थे। गोदावरी को डाट फटकार रहे थे, लक्ष्मण उन्हें सान्त्वना दे रहे थे, उनके अश्रु रुकते ही नहीं थे, शरीर काँप रहा था, ओठ फड़क रहे थे, भृकुटी चढ़ रही थी, बराबर धनुष की टंकार कर रहे थे। कभी धूलि में लोट जाते, कभी दौड़ने लगते, कभी हा प्रिये! हा प्रिये! कहकर मूर्छित हो जाते, कभी पागलो की भाँति प्रलाप करने लगते।" उसी समय बैल पर सतीजी के साथ चढ़े सदाशिव संसार के जीवों की गति विधि देखने घूम रहे थे। उन्होंने दूर से भगवान् को ऐसी दशा देखी। बैल से उतर कर उन्होने भगवान् को प्रणाम किया और बिना उनके सम्मुख हुए ही चल दिये।

सतीजी को बड़ा सन्देह हुआ। उन्होने पूछा—"प्रभो! आप तो जगद्वन्द्य हैं। ब्रह्मादिक देवता भी आपकी वन्दना करते हैं। आपने इनको क्यों प्रणाम किया, ये कौन हैं।"

शिवजी ने कहा—"सती! ये राम हैं।"

सतीजी ने अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ कहा—"कौन राम, महाराज? आप जिनका निरन्तर राम-राम राम-राम नाम रटते हैं, वे ही राम?"

शिवजी ने कहा—"हाँ, वे ही राम।"

सतीजी ने शीघ्रता से कहा—"महाराज! वे राम ये कैसे हो सकते हैं? वे तो सर्वव्यापक हैं।"

हँसकर शिवजी ने कहा—"तो, सर्वव्यापक होने से क्या हुआ है? इस रूप में व्यापक होने से क्या उनकी सर्वव्यापकता नष्ट हो गई?"

सतीजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"नहीं, महाराज! सर्वव्यापकता तो नष्ट नहीं हुई, किन्तु यों तो सबमें ही

व्यापक हैं। मुझमें भी व्यापक है। मुझे तो आप कभी इतनी लम्बी प्रणाम करते नहीं।"

शिवजी ने हँसकर कहा—"लाओ, हम अब कर लें; तुम्हें यदि इसी में प्रसन्नता है तो ?"

सतीजी ने कहा—"यह तो तुम हँसी कर रहे हो ? मुझे तो तुम हँसी में कर भी लो, किन्तु वृक्ष, पत्ते, कूकर, शूकर सभी में तो राम रम रहे हैं। ऐसे तो मैंने कभी आपको प्रणाम करते नहीं देखा, मन से भले ही करते हों।"

शिवजी ने कहा—"हाँ, सती, मैं उन सबको मन से प्रणाम करता हूँ, क्योंकि उन सबमें जो राम हैं, वे माया से आच्छादित राम है और ये मायारहित शुद्ध राम हैं!"

सतीजी बोली—"महाराज, मायारहित विशुद्ध राम तो निर्गुण ही हो सकते हैं। जहाँ वे सगुण हुए, गुणों का आश्रय लिया, वहाँ वे प्रपंच के अन्तर्गत आये और प्रपंच माया के बिना बन नहीं सकता। और जो निर्गुण-निर्विकार अलेप है, वह सगुण हो कैसे सकता है ? उसे दुःख शोक हो ही नहीं सकता। ये तो स्त्री के वियोग मे कितने दुखी हैं, कितने विह्वल हैं, प्राकृत पुरुषों के सदृश रो रहे हैं, विलाप कर रहे हैं ?"

शिवजी ने कहा—तो, क्या विलाप करने से ये माया मे फँस गये ? इनकी विशुद्धता नष्ट हो गई ? और तुमने कहा—निगुण सगुण हो नही सकता, तुम किस आधार पर कह रही हो, वे सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं, नियमों से परे है। उन्हें तुम इन प्राकृतिक नियमों में बाँधकर उनको सर्वज्ञता नष्ट क्यों कर रही हो ? वे जो चाहें कर सकते है, निर्गुण से सगुण हो सकते हैं, अपरिच्छिन्न से परिच्छिन्न हो सकते हैं। निराकार से साकार हो सकते हैं। एक से बहु बन सकते हैं।"

उसी स्वर में स्वर मिलाती हुई सतीजी बोलीं—"चोर, डाकू बनकर लूटपाट कर सकते हैं, जुआड़ी बनकर जुआ खेल सकते हैं, कुकर्मी बनकर कुकर्म कर सकते हैं। ऐसे सर्वज्ञ राम को महाराज दूर से ही डंडौत है।"

शिवजी ने कहा—"देखो, बात को समझो। जब सबके प्रेरक श्रीहरि हैं, उनकी प्रेरणा के बिना कुछ भी नहीं होता, तो भले बुरे सभी काम के करने कराने वाले वे ही हैं। यह अच्छा है, यह बुरा है—ये नियम माया में ही सम्भव हैं। माया से परे होने पर न कुछ अच्छा है, न बुरा। बस, राम ही राम हैं। राम जब अपना सगुण साकार रूप बनाते हैं, तब इन मर्यादाओं को भी स्वीकार कर लेते हैं, स्वेच्छा से। हम लोग भी मर्यादाओं को स्वीकार करते है, किन्तु स्वेच्छा से नहीं; कर्मबन्धनों के अधीन होकर। भगवान् बन्धनरहित हैं। इनके लिये कर्म और उनका फल नही है। इस रूप को धारण करने पर भी उनकी निर्गुणता निर्विकारता, सर्वव्यापकता, सर्वसमर्थता नष्ट नहीं होती। वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं।"

सतीजी ने कहा—'महाराज, यह तो आप विचित्र बात कह रहे हैं। आँखें रहते भी अन्धा बना रहे हैं। प्रत्यक्ष को भी अप्रमाणित सिद्ध कर रहे हैं। मै प्रत्यक्ष देख रही हूँ, ये दशरथ के लड़के हैं। अपनी बहू के लिये आँसू बहा रहे हैं। इनकी बहू को खोये आज के दिन हुए ?"

शिव ने कहा—"आज दूसरा दिन है।"

सतीजी हँसकर बोलीं—"लो, दो दिन में ही ये इतने व्याकुल हो गये। प्रतीत होता है, ये उसके वियोग में जी नहीं सकते। आप तो हजारों वर्ष की ताली लगा जाते हैं, समाधि में मग्न हो

जाते हैं, मेरी ओर देखते भी नहीं। जो बहू के लिये इतना तड़फड़ा रहा है उसे आपसे श्रेष्ठ मैं कैसे समझूँ ?"

शिव ने कानों पर हाथ रखकर कहा—"देवि ! तुम मुझसे मेरे इष्ट की समता मत करो। यदि तुम्हें विश्वास नहीं होता है तो जाने दो।"

सतीजी ने कहा—"महाराज, जाने कैसे दूँ ? मुझे समझाओ जिसने रूप रखा है वह ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ। राम जब अरूप है, निर्गुण हैं, कभी प्रकट नहीं होते, तो वे रूपवान् कैसे हो सकते हैं।"

शिवजी बोले—"जाने भी दो, नहीं सगुण हो सकते तो तुम निर्गुण का ही ध्यान करो। पहिले मनुष्य भगवान् से अनभिज्ञ रहता है फिर निर्गुण का ध्यान करता है। तब कुछ दिन निर्गुण का ध्यान करते-करते चित्त किसी लक्ष्य पर जमता है, तो उसे सगुण रूप की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। हरि निर्गुण भी हैं सगुण भी। हमारी हठ नहीं कि वे निर्गुण हो ही नहीं सकते। उनका रूप इन प्राकृत गुणों से परे है। दिव्य गुणों का आश्रय लेकर वे क्रीड़ा करते हैं।"

सतीजी बोलीं—"महाराज, यह तो गड़बड़-सड़बड़ सी हो रही है।"

शिवजी बोले—"अच्छा गड़बड़-सड़बड़ ही सही, जाने दो इस झगड़े को।"

सतीजी बात पर बल देती हुई बोलीं—"महाराज ! जाने कैसे दें ? आपने तो मुझे 'राम' मन्त्र की दीक्षा दी है। जब कभी भी राममन्त्र का जप करूँगी, यह रोती, चिल्लाती बहू के वियोग में आँसू बहाती मूर्ति मेरे हृदय पटल पर नाचने लगेगी।"

शिवजी बोले—"यदि ऐसा हुआ तो तुम्हारी साधना सफल हो जायगी।"

सतीजी बोलीं—"महाराज ! मुझे तो विश्वास होता नहीं, आप इनकी परीक्षा लेकर कुछ दिखाओ, जिसमें मेरी दृढ़ता बढ़े, अच्छा हो अब जब तक इसका निर्णय न होगा, मैं तुम्हें आगे न बढ़ने दूँगी।"

शिवजी बोले—"परीक्षा सन्देह में ली जाती है या छोटों की ली जाती है। मुझे न तो इनके राम होने में कोई सन्देह ही है और न ये मुझसे छोटे है। मेरे इष्टदेव ही हैं। अतः मैं तो परीक्षा लेता नहीं। तुम्हीं जाकर ले लो।"

सतीजी तो उतावली हो ही रही थीं, झट से परीक्षा लेने चल दी। आगे जाकर सोचने लगी—कैसे परीक्षा लूँ ? जिसके कारण से ये दुःखी हैं, उन्हीं का रूप रख लूँ, तो ये देखते ही मेरी ओर दौड़ेंगे। मैं तत्क्षण अन्तर्धान हो जाऊँगी।" यह सोचकर वे आगे रास्ते में श्रीजानकी जी का—जैसे का तैसा रूप बनाकर बैठ गईं।

श्री रामचन्द्रजी ने जब सती को इस वेष में बैठे देखा, तो शीघ्रता से उन्होंने अपने आँसू पोंछे। पृथ्वी पर घुटने टेक कर कहा—"माताजी ! मैं दशरथ का पुत्र श्रीराम आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। माताजी ! आप यहाँ आज अकेली कैसी बैठी हैं ? आप तो संसार में सर्वश्रेष्ठ सती होने के नाते सदा शिव के साथ ही साथ रहती हैं। कभी भूल कर भी उन्हें आप नहीं छोड़ती। शिवजी ही तो मेरे इष्टदेव हैं। उन्हीं की पूजा करके तो मैं सब कार्य करता हूँ।"

इतना सुनते ही सतीजी बहुत लज्जित हुईं। वे वहीं छिप गईं। श्रीरामजी आगे चले गये। तब उन्होंने आगे पीछे सहस्रों, लाखों,

असंख्यों रूप श्रीसीतारामजी के देखे। सब रूपों की ब्रह्मादिक देवता स्तुति कर रहे हैं। असंख्यों शिव हैं, उतनी ही सतीजी भी हैं। यह देखकर सतीजी को बड़ा विस्मय हुआ और उन्हें जो दशरथपुत्र राम में और निर्गुण निराकार राम में भेद-भाव उत्पन्न हो गया था वह दूर हुआ। दौड़ी-दौड़ी शिवजी के समीप आईं। शिवजी ने पूछा—"कहो, कुछ बात समझ में आई। कुछ परीक्षा ली ?"

शिवजी ने सतीजी के मन में तो भ्रम पैदा कर दिया था। उन्होंने कह दिया—"क्या परीक्षा लेनी थी महाराज! आप चराचर के स्वामी हैं, आपके वचन अन्यथा तो हो नहीं सकते। आपके इष्ट यही हैं; तो मेरे भी यही हैं।"

शिवजी ने समाधि में सब समाचार समझ लिये, कि सती ने सीता का स्वरूप बनाया था। सती ने मेरे इष्ट की शक्ति का स्वरूप बनाया, अतः इस शरीर से अब मैं उनसे पति-पत्नी का भाव न रखूँगा। यह शरीर तो मेरा पूजनीय बन गया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी। देह के ही द्वारा सम्बन्ध है, नहीं तो इस जन्म में जो माता है दूसरे जन्म में वही पत्नी हो जाती है। इस जन्म में जो पत्नी है, जन्मान्तर में वह पुत्री बन जाती है। शिवजी ने लौकिक मर्यादा का पालन किया। सुवर्ण जब अशुद्ध हो जाता है—तो अग्नि में तपा कर उसका मल पृथक् करके उसे शुद्ध करके फिर धारण करते हैं। सो, विदुरजी! यह सब शिवजी की इच्छा से ही हुआ। आते ही उन्होंने हजारों वर्षों की समाधि लगा ली। समाधि से ज्यों ही उठे, त्योंही यह दक्ष के यज्ञ का बखेड़ा हो गया।

शिवजी ने लौकिक दृष्टि से मना किया। यदि उनकी इच्छा न होती, तो सती कैसे जा सकती थीं। भगवान् शंकर के भेजे

हुए गणों के साथ सतीजी की सवारी बड़ी धूम-धाम से चली।

दूर से ही सतीजी ने देखा। बड़े भारी यज्ञ का समारोह है। असंख्यों ब्राह्मण, देव, उपदेव, ऋषि, महर्षि वहाँ बैठे हैं। आगत पुरुषों का बड़ी धूमधाम से स्वागत, सत्कार हो रहा है। ब्राह्मण और दरिद्रों को अन्न, वस्त्र, सुवर्ण, चांदी आदि सभी वस्तुएं बांटी जा रही हैं। जो भी आओ वही खाओ, जैसा चाहो वैसा प्रसाद पाओ, कच्ची खाओ, फलाहार उड़ाओ, दूध पी जाओ, भर पेट फल खाओ, निरी लड्डू, जलेबी, बालूसाई ही उड़ाओ। गरमा गरम खस्ता कचौरी जो मुट्ठी में दबाते ही खील-खील हो जाय, टोकनियों, उतर रही हैं। युवा पुरुष पापड़ों को स्वाद से चबा रहे हैं, बूढ़े लोग गरमागरम हलुए को बिना दांतों की सहायता से गटक रहे है। कुछ लोग रबड़ी पी रहे हैं, कुछ रायतों के पात्रों को सफा कर रहे हैं। भात का पर्वत लगा है। दालों के टोकने भरे है। घी के कुण्ड भर रहे हैं। दूध की नदियां बह रही हैं। लोग मीठा खाते-खाते ऊब गये हैं कुछ चटपटी चटनी और पाचक गोलियों की इच्छा कर रहे हैं। कुछ कह रहे हैं अभी आप थोड़ा विश्राम करें; जहाँ यह पंक्ति उठी कि आपको ही बैठना है। बड़ा भारी एक नगाड़ा रखा है। उसे सुवर्ण के दण्डों से कई लोग बजाते है। उसके बजते ही हजारों मनुष्य भोजन को बैठ जाते हैं। एक पंक्ति उठी, फिर बजा। इस प्रकार दिन रात्रि बजता ही रहता है।

सतीजी ने देखा यज्ञशाला में बड़ी भीड़ है। पीले-पीले रेशमी दुपट्टे ओढ़े वेदज्ञ ब्राह्मण इधर से उधर सामग्री जुटाने में लगे हुए हैं। यूप में बहुत से पशु बंधे हैं। कहीं कुश बिछे हैं, कहीं स्रुवा, स्थाली आदि यज्ञपात्र तथा सुवर्ण चांदी, काष्ठ और बहुत से मृत्तिका के भी पात्र रखे हैं। यज्ञ में हवनीय पदार्थों के

पहाड के पहाड रखे हैं। वेदी को घेर कर बहुत से ब्राह्मण ऋत्विक् सदस्य और यजमान आदि बैठे हैं। यज्ञ की विधि आदि के विषय में ब्राह्मण वाद-विवाद कर रहे हैं। बहुत से किसी पक्ष का, किसी शास्त्र का प्रमाण देखकर पुष्टि कर रहे हैं, दूसरे उसी का युक्तियों से खण्डन कर रहे हैं। चारों ओर चहल पहल है। बडी धूमधाम है। सतीजी का हृदय बाँसों उछल रहा था। वे मन ही मन कह रही थीं, मैं यदि शिवजी की बातों में आ जाती, तो इस आनन्द से वंचित रह जाती। फिर पीछे पछताना ही रह जाता।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी, इस प्रकार सतीजी मन में सोचती हुई यज्ञशाला के समीप पहुँचीं। अभी उन्होंने अपने पिता के दर्शन नहीं पाये।"

छप्पय

शिव इच्छा के बिना पात नहिँ हिलें नगनिके।
नाहिँ सती कछु कर्यो काज करवाये इनिके॥
धर्यो सती सिय रूप शम्भु तब मन तें त्यागी।
इष्ट शक्ति मम मातु सरिस समझीं तब भागी॥
गाजे बाजे बजहिँ बहु, चहल पहल चहुँ दिशि हती।
चढ़ि नन्दी पै गणनि सँग, यज्ञ माहिँ पहुँचीं सती॥

पिता के यज्ञ में अपमानित सती का कोप

[१९६]

अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरम्,
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० ४ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

पिता न आदर कर्यो देखि म्हाँ अपनो फेर्यो ।
डर के मारे सती माहिं कोई नहिं हेर्यो ॥
जननी भगिनी मिलीं, प्रेम तें हिये लगाई ।
किन्तु न कोई बात सती कूं फेरि सुहाई ॥
जग जननी जगदम्बिका, अपमानित अतिशय भई ।
व्यापी तन महँ कोप अति, आग बबूला है गई ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सतीजी ने दक्ष के यज्ञ में पहुँच कर देखा कि उसमे शिवजी का भाग नहीं है, देवाधिदेव विभु का पिता के द्वारा किये हुए अपमान का विचार करके तथा यज्ञ सभा में तिरस्कृत हुई वे सम्पूर्ण लोको की स्वामिनी सतीजी अत्यन्त ही कुपित हुईं । ऐसा प्रतीत होता था मानो अपने कोप से सम्पूर्ण लोकों को जला डालेंगी ।"

जिनके समीप बड़ी-बड़ी आशायें लगाकर जाते हैं, अपनापन समझ कर जिनके यहाँ स्वतः चले जाते हैं, फिर यदि वे हमारा अपमान करें, हमें देखकर मुंह फेर लें, हमारी बात भी न पूछें तो चित्त में बड़ा क्लेश होता है। मन करता है इसकी छाती पर चढ़कर इस अपमान का प्रतिशोध करें। इसे अपने किये का फल चखा दें। यदि समर्थ होता है, तो उसका बदला ले लेता है, यदि असमर्थ हुआ, तो रक्त का सा घूंट पीकर तुरन्त लौट आता है, यदि क्षमावान् हुआ, तो भगवान् की माया समझकर उन सर्वान्तर्यामी उरप्रेरक प्रभु को प्रणाम करके न हर्ष करता है न विषाद, किन्तु ऐसे क्षमाशील विरले ही होते हैं। मानापमान का ध्यान बड़े-बड़ों को होता है और प्रायः समस्त कलह, युद्ध, लड़ाई झगड़े मनस्वी लोगों में मानापमान के ही पीछे होते हैं।

शिवप्रिया सती बड़े उल्लास से पिता के प्रेम को स्मरण करती हुई, मनमोदक खाती हुई, मन रूपी रथ पर चढ़कर अनेक मनोरम स्थानों का आनन्द लेती हुई भावमयी सुन्दर शैया पर सैकड़ों सुखद स्वप्न देखती हुई दक्षयज्ञ के निकट पहुँचीं जहाँ से यज्ञ का सभी कृत्य प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा वहीं उन्होंने नन्दीश्वर से कहा—"नन्दी! अब यज्ञशाला समीप है। देवमन्दिर में, श्रेष्ठ पुरुषों के सम्मुख, यज्ञशाला और तीर्थ के निकट वाहन पर चढ़ कर नहीं जाना चाहिये। इन सबके सम्मान के निमित्त नंगे पैरों पैदल चलकर इनके समीप पहुँचना चाहिये। तू अब बैठ जा, मैं यहाँ से पदल ही चलूँगी।"

माताजी की आज्ञा पाकर नन्दीश्वर वहीं बैठ गये। सुवर्ण की नसेनी से सेवक सेविकाओं ने उन्हें नीचे उतारा। आगे-आगे सेवक पथ परिष्कृत करते हुए चले। पीछे-पीछे बहुत से प्रेत, पिशाच, गुह्यक, प्रमथ आदि शिवजी के पार्षदगण भेरी, तुरही,

शंख, पणव बजाते हुए हू-हू करते हुए चल रहे थे। सतीजी के सिर पर श्वेत छत्र तना हुआ था। दोनों ओर देव-कन्यायें चंवर डुला रही थीं। सभी कुतूहल-वश उस जमघट को देखने लगे। सतीजी सीधी यज्ञ-मण्डप मे पहुँची। दक्ष, यज्ञ की दीक्षा ले चुके थे। वे बहुत से ब्राह्मणों के साथ विविध विषयों की बातें कर रहे थे। सतीजी ने जाते ही अपना समस्त प्रेम बटोर कर लजाते हुए पिता को प्रणाम किया। उन्हें आशा थी—मुझे देखते ही पिता अपनी छाती से चिपटा लेंगे, गोदी में बिठा कर सिर सूंघ-कर मुझसे कुशल प्रश्न करेंगे और पूछेंगे—'अकेली ही आई क्या बेटी! भगवान् सदाशिव नहीं आये?' तब मै रोष के साथ कहूँगी वे मेरी तरह निलज्ज थोड़े ही है, जो आप न बुलावें और दौड़े चले आवें। मेरी बात और है, मेरा तो घर ही है आप बुलावें न बुलावें, मैं तो आ ही गई' तब वे कहेंगे—'बेटी! यह बात नहीं मैंने आदमी भेजा था, न पहुँचा होगा' या कोई और कारण बतावेंगे। तब उसी समय उन्हें लेने मै आदमी के साथ नन्दीश्वर को भेज दूँगी, किन्तु यह क्या? दक्ष ने तो सती को देखते ही मुँह फेर लिया। उनसे बोलना तो पृथक्, उनकी ओर फिर कर देखा भी नहीं। सतीजी कुछ काल तक पाला मारी हुई लता के समान, काष्ठ पाषाण की मूर्ति के समान सन्न खड़ी रहीं। जब जनक ने ही आदर न दिया, तब और सब तो उनकी हाँ-में-हाँ मिलाने वाले पिट्ठू थे, वे सब तो यक्ष के रुख को देखकर ही बर्ताव करने वाले थे। सबको पता था, सती और शिव को इस यज्ञ में न बुलाया जायगा। आज से इसी यज्ञ में नहीं, सभी यज्ञों में शिव का बहिष्कार कर दिया जायगा। आज से भाग-सूची में से शंकर का नाम काट दिया गया, इसी-लिये उन्हें बुलाया नहीं गया। बिना बुलाये ही सती वहाँ पहुँचे

गईं और पिता ने उन्हें बैठने तक को नहीं कहा, तो सभी सोचने लगे—'यह बिना बुलाये विघ्न-स्वरूपा कहाँ से आ उपस्थित हुई ?'

पिता ने तथा यज्ञ के समस्त ऋत्विज् सदस्यों में से किसी ने भी जब सती की बात न पूछी तो यज्ञशाला में एक अग्नि तो अरणियों के मन्थन से ब्राह्मणों ने प्रकट की थी, दूसरी अग्नि सतीजी के हृदय में अपमान द्वारा उत्पन्न हुई। यह सतीजी की क्रोध-रूपी अग्नि उस पहिली अग्नि से अत्यन्त ही प्रचण्ड थी। वह अग्नि तो यज्ञ के हवनीय पदार्थों—घृत, चरु तथा अन्य सामग्रियों—को ही जलाती, किन्तु यह अग्नि तो समस्त विश्व ब्रह्माण्ड को जलाने के लिये पर्याप्त थी। सती किंकर्तव्य-विमूढा बनी वहाँ खड़ी की खड़ी ही रह गईं।

यज्ञशाला में बैठी उनकी बहिनें देख रही थीं। पिता की बगल में दीक्षा लिये उनकी माता बैठी थीं। अपनी पुत्री को देख कर वे शीघ्रता से उठीं। कैसा भी हो, माता का हृदय माता का ही है, बड़े स्नेह से अपनी प्यारी पुत्री को उन्होंने गले से लगाया। बहिनों तथा मौसियों ने भी आकर कुशल पूछी। बैठने को आसन दिया। तिल चावल से उनकी गोद भरी। सभी ने वस्त्राभूषण लाकर उन्हें भेंट किये, किन्तु सती के हृदय में तो प्रलयाग्नि के समान ही क्रोधाग्नि उत्पन्न हो चुकी थी। पिता के द्वारा किये हुए अपमान-रूपी घृत ने उसे इतना प्रज्वलित कर दिया कि आस-पास में बैठे निरपराध व्यक्ति भी उसकी लपट में झुलसने लगे। सतीजी ने माता के प्रेम की ओर ध्यान नहीं दिया। बहिनों का दिया हुआ आसन ग्रहण नहीं किया, मौसियों और बड़ी भगिनियों के उपहारों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। आभूषणों को ठुकरा दिया, उनके द्वारा पूछे हुए कुशल

प्रश्नों का भी उत्तर नहीं दिया, उन्होंने महाकाली चण्डी का प्रचंड रूप धारण कर लिया था। बिना किसी से पूछे उस स्थल पर गईं, जहाँ सभी देवताओं का भाग पृथक्-पृथक् रखा था। एक इन्द्र का भाग है, दूसरी ओर वरुण का है। तीसरी ओर कुबेर का है, चौथी ओर यम हैं। बीच-बीच में वायु नैऋत्य, अग्नि का भी है, किन्तु शिवजी की न वहाँ पीठ है, न उनका भाग ही है। इस बात को देखकर उनका क्रोध और भी अत्यधिक बढ़ा। उन्हें शिवजी की कही हुई सब बातें याद आ गईं। अरे, यह तो मेरे बाप ने यथार्थ में ही शिवजी के अपमान के ही लिये यज्ञ किया है। यह यज्ञ नहीं दम्भ है, यह धर्म नहीं अधर्म है, पुण्य नहीं पाप है, शुभ कर्म नहीं अशुभ कर्म है। यह विशुद्ध भावना से न करके द्वेष के कारण यज्ञ किया गया है। ऐसा यज्ञ कभी भी साङ्गोपाङ्ग पूरा न होगा। इसमें अवश्य बहुत से विघ्न आवेंगे। जो शिव समस्त यज्ञों के अधीश्वर हैं, उनका जिस यज्ञ में भाग नहीं, स्वागत सम्मान नहीं, वह यज्ञ कभी निर्विघ्न हो ही नहीं सकता। यह सोचते-सोचते सती का क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उनकी आँखों से क्रोध के अंगारे से निकलने लगे, शरीर थर-थर काँपने लगा, दोनों भृकुटियाँ चढ़ गईं, शरीर से पसीना निकलने लगा, माथे पर स्वेद बिन्दु झलकने लगे, मुख रक्त वर्ण का होकर तमतमाने लगा। अपनी स्वामिनी की ऐसी दशा देख कर शिवजी के गण अत्यन्त कुपित हुए। वे हाथ में जलती अग्नि लेकर तथा नाना अस्त्र-शस्त्रों को सम्हाल कर दक्ष को मारने के लिये दौड़े।

गणों को इस प्रकार दक्ष की हत्या पर उतारू देखकर उन्हें डाँटती हुई सतीजी बोलीं—"देखो, सावधान! मेरे सामने मेरे पिता पर किसी ने भी हाथ छोड़ा, तो मुझसे बुरा कोई नहीं है।

यद्यपि मेरा पिता नीच है, इसे कर्मकाण्ड के कारण आवश्यकता से अधिक गर्व हो गया है। इसी से तो यह देवताओं के भी देव भगवान् विश्वनाथ का अपमान करने पर उतारू हो गया है। फिर भी कैसा भी हो मेरा पिता है। अपनी आँखों के सामने मैं किसी अन्य को इसकी हत्या न करने दूँगी। तुम लोग यहाँ से हटकर दूर खड़े हो जाओ। मैं अकेली ही इससे निपट लूँगी।"

सतीजी की ऐसी आज्ञा सुनकर शिव-पार्षद-गण अत्यन्त कुपित होने पर भी लौट गये। अब सतीजी यज्ञ-मण्डप में बैठे हुए समस्त स्त्री-पुरुषों को सुनाती हुई अपने अभिप्राय को प्रकट करने लगीं।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! शिवजी के अपमान से उन्हें अत्यधिक क्लेश हुआ। इस समय उनको कुछ कहने की इच्छा तो नहीं थी, किन्तु वे शिव-महिमा को सब पर प्रकट करना चाहती थीं, उन्होंने वहीं पिता के सम्मुख प्राण देने का निश्चय कर लिया। अतः मरते समय शिव-गुण-गान करके उनकी आज्ञा के उल्लङ्घन-रूपी पाप का प्रायश्चित्त भी तो करना था। अतः वे अब शिव की महिमा बखान करने को उद्यत हुईं।"

छप्पय

इत उत निरखें कहूँ शम्भु को भाग न पायो।
तातें लाखनि गुनों कोप देवी कूँ आयो॥
यज्ञ अनल तें प्रबल सती हिय ज्वाला व्यापी।
काली चण्डी बनी पिता कूँ समुझ्यो पापी॥
पापी तें पैदा भयो, नहिं तनु शिव उपभोग्य है।
अशुचि ताहि पितु यज्ञ महँ, तजौं जिहीं तो जोग्य है॥

सती-द्वारा शिव-गुणगान

[१९७]

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणाम्,
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनम्,
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥❀

(श्री भा० ४ स्क० ४ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

ऐसो निश्चय करयो कोप तैं बोलीं बानी ।
ब्यौरे मङ्गलरहित, शम्भु द्वेषी, अभिमानी ॥
कर्मकांड में फँस्यो शम्भु महिमा नहिँ जाने ।
सब तैं हौं ही बड़ो, बाप तू ऐसो माने ॥
जिनके 'शिव' जा नाम कूँ, भाव कुभावहु जे रटें ।
तिनके सब दुख दुरित अघ, जग के छिन भरि में कटें ॥

❀ मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सबको सुनाती हुई देवी सती अपने पिता से कहने लगी—देखो, जिनका दो अक्षरों वाला 'शिव' ऐसा नाम किसी भी प्रकार प्रसंग-वश एक बार भी लिया जाय, तो मनुष्यों के पापों को तत्क्षण नष्ट कर देता है । सो, हे अमंगल-रूप पिता ! तू उन पवित्र-कीर्ति भगवान् शंकर से द्वेष करने का साहस करता है । जिनकी आज्ञा कोई उल्लंघन ही नहीं कर सकता ।"

जिनके प्रति अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा है, जो अपने सर्वस्व हैं, जीवनाधार हैं, प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं उनके यदि हमें अनिष्ट की, अपमान की सम्भावना हो, तो भावुकता में भर कर हम सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। न करने योग्य काम कर जाते हैं, न कहने योग्य बातें कह जाते हैं। न बर्तने योग्य व्यवहार बर्त जाते हैं। सरांश यह कि फिर हम अपने आपे में नहीं रहते।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब सतीजी ने यज्ञ में शिवजी का भाग नहीं देखा, तो वे क्रोध पूर्वक दक्ष से बोलीं—क्यों रे, मेरे बाप! तैंने इस यज्ञ में शिवजी को क्यों नहीं बुलाया? उनका भाग क्यों नहीं निकाला?"

दक्ष बोले—"हमारे यज्ञ में श्रेष्ठ-श्रेष्ठ देवताओं को ही भाग दिया जाता है। मनमाने आचरण करने वालों को भाग देना तो दूर की बात है, उन्हें यज्ञ-मंडप में घुसने भी नहीं दिया जाता।"

इस पर सतीजी सब देवताओं की ओर देखकर कहने लगीं—"क्या शिवजी देवाधिदेव नहीं हैं? क्यों इन्द्र! तुम शिवजी को नहीं जानते? कुबेर! तुम भगवान् भूतनाथ से अपरिचित हो क्या? फिर तुम उनके बिना इस दम्भ-यज्ञ में भाग ग्रहण क्यों कर रहे हो? हे वरुण! तुम्हें वरुणत्व पद पर किसने प्रतिष्ठित किया? तुम शूलपाणि शंकर को नहीं जानते? यदि जानते हो, तो तुमने इस यज्ञ का विरोध क्यों नहीं किया? तुम दधीचि मुनि की भाँति इस यज्ञ को छोड़कर चले क्यों नहीं गये? मैं यहाँ पर बैठे सभी देवताओं को भीरु तथा डरपोक समझती हूँ। ये यज्ञ कराने वाले भी सब लोभी हैं, नहीं तो जैसे दधीचि मुनि इस शिवहीन यज्ञ का बहिष्कार करके चले गये, ऐसे ही तुम सब भी चले जाते, किन्तु तुम में इतना साहस कहाँ? तुम लोभ

के वशीभूत होकर अनुचित को भी उचित कह सकते हो। न करने योग्य काम को भी कर सकते हो। इतना कहकर फिर वे अपने पिता से कहने लगीं—"पिता! तुम मुझे बताओ। शिवजी से बड़े या उनके समान ही और कौन देवता है?"

दक्ष बोले—"कोई हो या न हो, हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं। वह हमसे विरोध रखता है, इसलिये हमारा शत्रु है। हम अपने शत्रु को नहीं बुला सकते।"

यह सुनकर अत्यन्त रोष के साथ सतीजी कहने लगीं—छिः, छिः तुझे ऐसा कहने में लज्जा भी नहीं लगती। तेरी जिह्वा गिरती भी नहीं। राम राम राम, तू शिवजी को अपना शत्रु समझता है। संसार में जिनका कोई शत्रु नहीं, कोई मित्र नहीं, उन चराचर के स्वामी सर्वान्तर्यामी, व्यापक विभु भगवान् शंकर से तू द्रोह करता है। इससे तेरा और तेरे साथियों का कल्याण न होगा।"

यह सुनकर दक्ष को भी क्रोध आ गया बोला—"सती, यद्यपि तू मेरी बेटी है, किन्तु उस अशुचि अघोरी के साथ विवाह हो जाने से तू भी मेरे काम की नहीं रही। तू भी उस भभूतिया के संसर्ग से छूने योग्य नहीं रही। इसलिये मैंने तुझे भी नहीं बुलाया था। फिर भी तू बिना बुलाये ही दौड़ी चली आई, मेरा तुझसे और तेरे पति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।"

इतना सुनते ही सतीजी दाँत पीस कर बोली—दुष्ट पुरुषों को सब दुष्ट ही दिखाई देते हैं। पीला शंखा आँखों पर चढ़ा लेने से सब कुछ पीला ही पीला दिखाई देता है। संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं। एक तो ऐसे होते हैं जो किसी के गुण दोषों की ओर ध्यान ही नहीं देते। यही सोचते हैं, ये गुण गुणों में बर्त रहे हैं। दूसरे ऐसे सज्जन पुरुष होते हैं, कि जो दूसरों के

केवल गुणों को ही देखते हैं। अवगुणों की ओर ध्यान ही नहीं देते। किसी में सरसों के बराबर भी गुण हो, तो उसे सुमेरु-समान समझकर आदर से उसे हृदय में धारण करते हैं। वे केवल गुणों को ही देखते है। संसार में ऐसा कोई भी नही जिसमें एक भी गुण न हो। तीसरे ऐसे होते हैं कि दूसरों के गुण-दोष दोनों को देखते हैं। दोनों पर विचार करते है, कि इसमें यह गुण है, यह दोष है। गुण-दोषों का विचार करके जो उन्हे अच्छा गुण लगता है, उसकी प्रशसा करते हैं। अवगुणों को अवहेलना अथवा निन्दा करते हैं। चौथे वे अधम पुरुष होते हैं जो सब में दोष ही ढूंढते रहते हैं। कितना भी ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, यशस्वी प्रतिष्ठित पुरुष क्यों न हो, वे उसमें अवगुण ही खोजेंगे। जैसे कितना भी सुन्दर स्वच्छ शरीर हो? मक्खी वहीं बैठेगी जहाँ पीव, घाव, रक्त, मल आदि अशुचि वस्तु लगी हों। तू इन चौथे ही पुरुषों में से है। इसीलिये शिवजी में तुझे अवगुण ही अवगुण दिखाई देते हैं। यह अनुचित है। जिनकी इस क्षण-भंगुर नाशवान् शरीर में ही आत्म-बुद्धि है, इसी को आत्मा समझे बैठे हैं, वे तो महापुरुषों के गुणों को देख ही नहीं सकते। जैसे कसाई पशु के सौन्दर्य की ओर नही देखता वह यही देखता है, इसमे कितना मांस निकलेगा, कितना रक्त निकलेगा? महापुरुषों के अवगुण देखते-देखते और उनकी सदा निन्दा करते-करते उनका समस्त तेज नष्ट हो जाता है। शिवजी की निन्दा-रूपी पाप ने तेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी हैं।"

दक्ष ने कहा—"तू क्या बक-बक कर रही है? बिना बुलाये ही तो यहाँ दौड़ी आई, फिर हमें ही ज्ञान सिखा रही है। शिव को कौन नहीं जानता? वह नाम का ही शिव है, वास्तव में वह सर्वथा अशिव है। नर-मुण्डों की माला पहिनता है, खप्पर में

खाता है, श्मशान में रहता है, चिता की भभूति रमाता है। जटा खोलकर भूत-प्रेतों के साथ नाचता है, भांग-धतूरा खाता है। उसे तो छूना भी पाप है। देवताओं की पंक्ति में हम उसे कैसे बिठा सकते हैं? उस अपवित्र के साथ हम भोजन व्यवहार कैसे कर सकते हैं?"

सती ने अत्यन्त ही कुपित होकर कहा—"मैं क्या कहूँ-तू मेरा पिता है, जनक है, तेरे शरीर से मैं पैदा हुई हूँ, नहीं तो तुझे अभी बता देती, कि शिवजी शिव हैं या अशिव हैं। उनकी पंक्ति में बैठने से देवता अशुचि हो जायेंगे या शुचि? अरे, जो देवताओं में देवत्व स्थापित करते हैं, जिनके श्री अंग की महत्ता तो जाने दो, जिनके दो अक्षर वाले 'शिव' नाम को कोई कैसे भी, किसी भाव से भी, किसी अवस्था में भी; किसी जाति, वर्ण अथवा आश्रम का पुरुष शुद्ध, अशुद्ध जहाँ चाहे तहाँ एक बार ही लेने से पवित्र हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं, उन शिव को तू अशुचि बता रहा है। अरे, मरते समय महा पापी चोर भी 'प्रहर अपहर' ये शब्द कहकर मुक्त हो गया। वास्तव में चोर कहने का अभिप्राय शिव के नाम से नहीं था। प्रहर अपहर का अर्थ, अच्छी प्रकार लूटो; किन्तु अर्थ कुछ भी हो अन्त में 'हर' शब्द तो था। इसी से मरते समय हर-नाम मुख पर आने से पापी भी परम पद को प्राप्त हो गये, उन्हें तू अपवित्र बता रहा है? उनकी आज्ञा को उल्लंघन करने की सामर्थ्य किसमें है? ऐसे सर्व-समर्थ शिव को तू अपना शत्रु समझता है। जो अर्थियों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करते हैं, जो मुमुक्षुओं को बिना प्रयास के मुक्ति प्रदान करते हैं, जो भ्रमर रूपी भक्तों को अपने चरणारविन्द मकरन्द रूपी, ब्रह्मानन्द-रस का निरन्तर पान कराते रहते हैं उनसे तुझे छोड़कर और कौन द्वेष करेगा?"

दक्ष बोला—"सती बस, बहुत हो गई, अब तू मर्यादा का उल्लङ्घन कर रही है। अब तक तेरी बातों को बाल-स्वभाव समझ कर क्षमा करता रहा। अब तू आवश्यकता से अधिक बढ़-बढ़ कर बातें बनाने लगी है। देख, मैं उस अघोरी को कभी अपने यहाँ न बुलाऊँगा यही नहीं, आज से वह किसी भी यज्ञ में न आने पावेगा। मैं नर-मुण्डों की माला वाले भूतों के सभापति को स्पर्श करना पाप समझता हूँ। मैं खप्पर में खाने वाले की पंक्ति में बैठकर कभी नहीं खा सकता। मैं न छूने योग्य चिता की भस्म लगाने वाले को भूलकर भी गले से नहीं लगा सकता। मैं भूत, प्रेत, पिशाचों के अधिपति के साथ अब से कोई सम्बन्ध न रखूँगा। तू भी उसके सम्बन्ध से मेरे लिये त्याज्य है। तब तू चाहे यहाँ रह या चली जा। मुझसे तेरा कोई प्रयोजन नहीं।"

सती ने कहा—"जब तेने मेरा उनसे विवाह किया था तब तुझे ये सब बात नहीं मालूम थीं क्या? ये ब्रह्मादिक देवता उनकी ये सब बातें नहीं जानते है? यदि जानते हैं, तो ये उनके चरणों की धूलि को सिर पर क्यों चढ़ाते हैं? उनकी फेंकी हुई माला को क्यों सिर से प्रणाम करते हैं? उन सर्वज्ञ के सम्मुख क्यों सब हाथ जोड़े खड़े रहते हैं? साक्षात् विश्वम्भर श्रीविष्णु क्यों सदा शिव-शिव रटते हुए, शिवलिंग का पूजन करते हैं? क्या इन सबमें तेरी बराबर भी बुद्धि नही? क्या इनसे शिवजी के ये व्यवहार छिपे हैं या उनकी प्रेतचर्या संसार में अप्रकट हैं? फिर क्यों सभी शिव नाम का संकीर्तन करते हैं, क्यों सब कार्यों में शिव-पूजन करते हैं, क्यों उनके पुत्र गणपति की आराधना करते हैं?"

दक्ष ने क्रोध में भरकर कहा—"अब मैं तुझसे बोलना नहीं चाहता। मेरे कार्यों में विघ्न हो रहा है। तुझे बैठना हो, तो

उधर जाकर चुपचाप बैठ जा। जाना हो, तो इन भूत पिशाचों को लेकर इस बैल पर बैठकर चली जा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इतना कहकर दक्ष ने सतीजी की ओर से मुंह फेर लिया और वह यज्ञ कराने वालों से बातें करने लगा।"

छप्पय

महत् पुरुष मन मधुप चरन अरविन्द सरिस हर।
पान करें मकरन्द मधुर भवभयहर सुखकर॥
अर्थी पावें अर्थ काम सब पावें कामी।
करें कामना पूर्ण सबनि की अन्तर्यामी॥
अज अनादि सुख-दुख न कछु, राग द्वेष तें जो रहित।
तिनतें बैर विसाय कें, कैसे होवै तोर हित॥

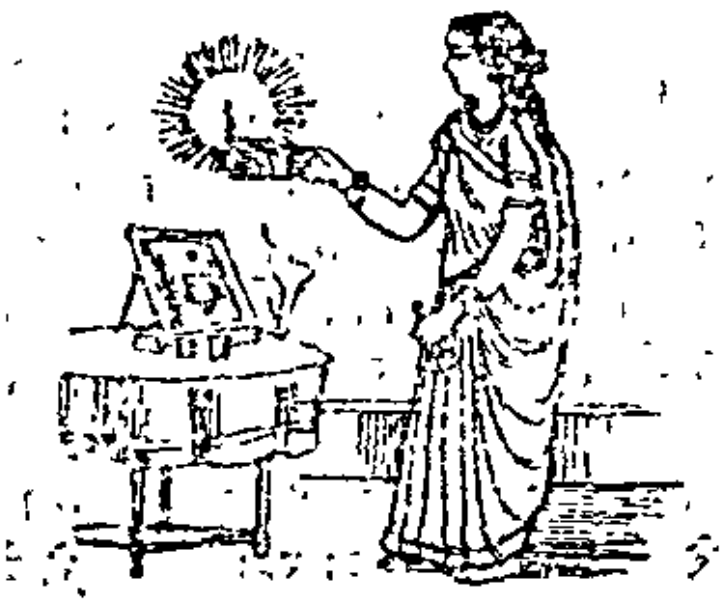

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

(पंचम संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्ष का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३५६ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ३.४८ मात्र है, शीघ्र मँगाइये, नूतन संस्करण छप गया है। डाकव्यय अलग।

मतवाली मीरा

(पंचम संस्करण)

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा? उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है। ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढङ्ग से आलोचना की है, इसमें भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्त्व का मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई

कि इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन, बेटियों, माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते-पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढङ्ग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २.५० रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये रंगीन चित्र बड़ा ही कला पूर्ण है। डाकव्यय अलग।

नई प्रकाशित पुस्तक

श्री हनुमत्-शतक

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

हनुमान् चालीसा की भाँति नित्य पाठ करने के लिये यह "हनुमत-शतक" है, इसमें हनुमान जी के जीवन सम्बन्धी १०८ छप्पय हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक कवि डाक्टर रामकुमार जी वर्मा ने तीन छप्पय में इसकी भूमिका लिखी है। हनुमान् जी के भक्तों के लिये नित्य पाठ की यह बहुत ही उपयोगी पुस्तिका है। अब तक इसके दो संस्करण छप चुके हैं। पुस्तक के आदि में श्री हनुमान् जी का बहुत ही भव्य भावमय बहुरंगा चित्र है। मध्य में २१ छोटे चित्र (लाइन ब्लाक) है। मुख पृष्ठ पर हनुमान् जी का सुन्दर भावमय चित्र है। सुन्दर छपाई वाली इस पुस्तक की न्योछावर केवल ५० पैसे हैं।

—व्यवस्थापक

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(दशम् खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनासि विचिन्विता ।
इता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक

सकीर्तन भवन, झूसी,

प्रयाग

●

तृतीय सस्करण १००० } आषाढ स० २ { मूल्य १६५ संशोधित मूल्य २-०० रुपये

मुद्रक—वशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगज, प्रयाग ।

अ० स०	विषय–अनुक्रमणिका	पृष्ठ

१. कुटिल मंत्रियों के कुमंत्र से कंसानुयायियों द्वारा क्रूर कर्म १
२. श्री नन्दलाल-जन्म १६
३. श्री नन्दात्मज का जात-कर्म संस्कार ३३
४. पुत्र जन्म के उपलक्ष में नन्दजी द्वारा विप्रों को दान ३६
५. नन्दजी ने अपना सर्वस्व सार्थक किया ४७
६. श्री नन्दजी द्वारा सबका दान- मान से सम्मान ५८
७. ब्रज मंडल में महामहोत्सव ७४
८. नये ग्वारिया के जन्म पर गौओं का श्रृंगार ८०
९. बधाई के लिये गोपो का आगमन ८५
१०. गोपियों की तैयारियाँ ९१
११. नन्द-भवन की ओर सोपहार गोपियों का आगमन ९८
१२. भावमयी गोपियो की अपूर्व शोभा १०५
१३. नन्द-भवन में गोपियों का आनन्दोल्लास ११२
१४. दधिकांदो ११९
१५. प्रभुप्रीत्यर्थ-महामहोत्सव १२४
१६. नन्दोत्सव का उपसहार तथा लालजी की छठी १३१
१७ कंस को कर देने नन्दजी का मथुरा गमन १३७
१८. नन्दजो और वसुदेव जी की भेंट १४४
१९. गोकुल में पूतना मौसी का आगमन १५७
२०. पूतना-पयपान १६९
२१. मरी पूतना की भयंकरता १७७
२२. जगरक्षक की गोपियों द्वारा रक्षा १८३
२३. पूतना की सद्गति १९२
२४. लालजी का करवटन और जन्म नक्षत्रोत्सव २०२
२५. शकट-भञ्जन-प्रसंग २११
२६. अन्य असुरों के उद्धार की कथा २१९
२७. तृणावर्त की तिकड़म और उद्धार २२७
२८. माता को विश्व रूप-दर्शन (दृष्टांतमय) २३७

बाल गोपाल

[भूमिका]

पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम् ।
भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलप्रदः ॥
तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् ।
न पुनः कल्पते राजन् ! संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ६ अ० ३९, ४० श्लो०)

छप्पय

समुझि श्यामकूँ तनय अकमें लै, लै घूमें ।
करि अति प्यार दुलार प्रेमतें मुखकूँ चूमें ॥
दूध पिआय नहाय केश काढ़ें पुचकारें ।
छातीतें चिपटाइ कमल मुख ललकि निहारें ॥
बड़भागी ते नारि नर, धन्य धन्य ते धन्य हैं ।
पीवें रस वात्सल्य नित, ते ही भक्त अनन्य हैं ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् देवकीनन्दजी कैवल्य आदि अखिल मुक्तियों के दाता हैं, उन्होंने जिन गौओं और गोपियों का पुत्र-स्नेह से अपने ही आप झरते हुए दुग्ध का पान किया है, क्या उनको फिर कभी अज्ञानजन्य संसार की प्राप्ति हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकती ।'

भाव ही भवका कारण है। भाव से ही भावना बनती है। भगवान् भावबस्य है। जहाँ जिसमे जैसी भावना करोगे, प्रभु तहाँ तैसे ही बनकर प्रकट होगे। ससार की भावना करोगे भगवान् ससारी बन जायँगे, ससार मे बाँध देंगे। उनमे भगवद् भावना करोगे, तो अपने प्रेम मे बाँध लेंगे। कभी-कभी भगवान् स्वय ससार मे आकर संसारी बन जाते हैं उस समय उनमे चाहे ससारी भावना करो या ब्रह्म भावना, सब प्रकार से हो अपन मे ही लगा लेंगे। जगत् मे न फँसने देंगे, क्योकि अमृत को जान मे पीओ, अनजान मे पीओ वह तो अमर कर ही देगा। वह अपना गुण स्वय दिखावेगा उसे तुम्हारे ज्ञान अज्ञान भाव कुभाव की अपेक्षा नही। कही भाव की ही प्रधानता होती है। विशुद्ध भावना के सम्मुख गुण लुप्त हो जाते हैं। विष का गुण है मार देना, किन्तु मीरावाई ने विष को चरणामृत बुद्धि से पान किया, उनकी भावना के सम्मुख विष का गुण नष्ट हो गया वह यथार्थ मे अमृत हो गया।

जब भगवान् व्रज मे रह कर प्रकट लीला करते थे तब बहुत मे लोग उनमें ब्रह्म-भाव रखते थे बहुत से उन्हे साधारण बालक समझ कर ही प्यार करते थे। उनसे ज्ञान से अज्ञान से कैसे भी जिसने प्रेम किया, उसी का भव-बन्धन सदा के लिये छूट गया। क्योकि पारस से कैसे भी लोहे का स्पर्श हो जाय, वह अवश्य ही सुवर्ण बन जायगा। प्रकट लीला मे चाहे उनके सम्मुख प्रेम से आओ द्वेष से आओ, क्रोध से आओ, काम भाव से आओ या सुदरता पर लट्टू होकर उनकी ओर आओ। वे सबको समान रूप से तार देंगे। कुचो मे विष लगा कर दुष्ट बुद्धि से आने वाली पूतना को भी उन्होन माता की गति दी और द्वेष भाव से आने वाले असुरो को भी मुक्ति दी। काम भाव से भजने वाली कुब्जा

को अज्ञान से पुत्र मानने वाली गोपिकाओ को गोओ को भी उन्होने सद्गति दी। यह उनकी अपनी महत्ता थी। बाल्यकाल में भगवान् ने अपने श्री अङ्ग मे कैसा अपूर्व सौन्दर्य प्रकट किया उसे देखकर वे स्वय भी चकित हो जाते थे। उनके नेत्र इसीलिये अति चचल हो गये। कभी जल मे अपनी परछाई देख लेते तो चकित-चकित भाव से उसे देखते-के-देखते ही रह जाते थे, इसमे इतना सौंदर्य ? सौन्दर्य का स्रोत उमडता रहता था। जो भी इस भोरे-भारे छोटे से मुनमुना-से चचल-म बालक को एक बार देख लेता, वही अपने मन को खो बैठता। कजरारे बडे-बडे प्रफुल्ल कमल के सदृश अपने नेत्रो से जिसे देख देते वह बेमन का बन जाता। कैसा उस अद्भुत बालक मे अलौकिक आकर्षण था। उसकी तुलना नही, उपमा नही, समता नही प्रतिमा नही।

एक दिन माता अत्यत विभोर होकर निर्निमेष दृष्टि से श्याम सुदर को निहार रही थी। श्याम जाकर माता के कठ से लिपट गये उनका श्रीअङ्ग माता के वक्ष स्थल स सट गया। माता के स्तनो से अपने आप दूध बहने लगा। श्यामसुदर चुसुर चुसुर करके उसे पीने लगे। मुख से दूध पीते थे और बडी-बडी आखो को माता की आंखो मे मिलाकर उनमे स वात्सल्यामृत उडेल रहे थे। सहसा उन्होने दूध पीना बद कर दिया। माता क स्तन को पकडे ही पकडे आप बोले — मैया, तू क्या देख रही है ?'

माता ने सम्पूर्ण ममता बटोर कर कहा—'बेटा! मैं तेरी रूप-माधुरी का पान कर रही हूँ।'

मचल कर श्यामसुदर बोले—'मैया! वह माधुरी तेरे स्तनो के दूध से भी मीठी है क्या ?'

माता ने कहा— बेटा! उससे असख्या गुनी मीठी है यह माधुरी।'

बडी उत्सुकता के साथ बालकृष्ण बोले—"तो मैया, मुझे भी उसे पिला दे।"

माता ने अत्यत मर्मस्पर्शिनी वाणी मे कहा—'बेटा! तेरा इतना भाग्य कहाँ? उसके पान करने की अधिकारिणी तो मैं ही हूँ।"

लोग ब्रह्मसुख-ब्रह्मसुख चिल्लाते रहते हैं, किन्तु यह रसोपासना इतनी मीठी है कि इसके लिये स्वय ब्रह्म भी समुत्सुक बना रहता है। भगवान् मे किसी प्रकार का सम्बन्ध हो जाय और उस सम्बन्ध से ही हम उनसे सम्पूर्ण व्यवहार करें, तो उस सुख के सम्मुख सभी सुख तुच्छातितुच्छ हैं। प्रकट लीला मे जिनका भगवान् स प्रेम का सम्बन्ध है उनसे बडा भाग्यशाली त्रिभुवन मे कोई भी नही है।"

अप्रकट लीला मे भगवान् भाव के वश मे हैं। कही भी किसी मे भी भाव करोगे वही वे प्रकट हो जायँगे। अनेक भक्तो की कथाएँ प्रसिद्ध हैं, उनसे भगवान् की प्रतिमाएँ बात करती थी। उनको ऐसी दृढ धारणा हो गयी थी, उन्हे भगवान् की प्रतिमाएँ पाषाण या धातु का दृष्टिगोचर ही नही होती थी। श्रीवल्लभाचार्य जी के पुत्र श्री विट्ठल नाथ जी के सात पुत्र हुए। पुत्र होते ही वे उनमे भगवद् भाव मानते थे। उनके उपास्य देव बाल कृष्ण थे। पाँच वर्ष की अवस्था तक वे पुत्र मे भगवद् बुद्धि रखते। फिर उनके दूसरा पुत्र हो जाता। इस प्रकार उनके सात पुत्र हुए। उन पुत्रो के ही रूप मे भगवान् ने उन्हे सब लीलाएँ दिखायी। समस्त लीलाओं का दिग्दर्शन भगवान् ने उन्हे उसी रूप मे गोकुल मे कराया। माताएँ अपने बच्चो मे बाल गोपाल की भावना करलें, तो वे अनायास ही इस ससार से तर जायँ। सच पूछा जाय, तो ससार में भगवान् के अतिरिक्त और है ही क्या? मित्र अपने

को सुदामा समझें अपने मित्र मे श्रीकृष्ण की भावना कर लें, सेवक अपने को दास अनुभव करें और अपने स्वामी को श्रीकृष्ण मान लें। माता अपने को यशोदा अनुभव करें और अपने बालको को बाल गोपाल समझें। पत्नी अपने को राधा मान ले पति में श्री कृष्ण की भावना कर लें, तो फिर अरण्य मे जानेकी आंख कान मूंदने की जप तप करने की आवश्यकता ही क्या रह जाय जो कम करें उसे श्रीकृष्ण की सेवा समझ लें। श्रीकृष्ण हा तो नाम रूपो मे क्रीडा कर रहे हैं। कामी, क्रोधी लोभी तथा दुश्चरित्र पुरुषा मे भावना होना अत्यन्त कठिन है। सिंहको सर्प को हम भगवान् मानने को बहुत मन को समझावें किन्तु उसमे भाव जमता नही, हृदय भयभीत हो जाता है किन्तु छोटे छोटे बच्चो को देखते ही उन्हे प्यार करने की इच्छा होती है। ऐसा कौन वज्र हृदय पुरुष होगा जो फूल के सदृश खिले हुए दोनो हाथो को उठा कर गोदी मे आने वाले बालक को उठा कर हृदय से चिपटाने की इच्छा न रखता हो बच्चो को देखते ही हृदय खिल जाता है। उनकी भोरी चितवन हँसता हुआ मुख और नन्हे-नन्हे सुकोमल अग हृदय मे एक प्रकार की गुदगुदी पैदा कर देते हैं। चित्त चाहता है इसे उठा कर हृदय से सटा लें मुख चूम लें। यदि इन सभी बच्चो मे बालकृष्ण की भावना हो जाय तो बेडा पार ही समझो। यह उपासना स्वाभाविक और मनके अनुकूल है। परमहस यति बाल भाव की ही उपासना करते हैं। हे मेरे बाल गोपाल ! तुम मुझे सब बालको की आंखो मे दिखायी दो, ऐसा ही वरदान आज दे दो। मेरी इस रूखी रूखी दाडी, भयावने मुख और कडे-कडे बालो को देख कर डर मत जाना। ये मैने स्वय तो बनाये नही तुमने ही ये सब बनाये हैं। अच्छे

बडी उत्सुकता के साथ बालकृष्ण बोले—"तो मैया, मुझे भी उसे पिला दे।"

माता ने अत्यंत मर्मस्पर्शिनी वाणी मे कहा—"बेटा! तेरा इतना भाग्य कहाँ? उसके पान करने की अधिकारिणी तो मैं ही हूँ।"

लोग ब्रह्मसुख-ब्रह्मसुख चिल्लाते रहते हैं, किन्तु यह रसो-पासना इतनी मीठी है कि इसके लिये स्वय ब्रह्म भी समुत्सुक बना रहता है। भगवान् में किसी प्रकार का सम्बन्ध हो जाय और उस सम्बन्ध से ही हम उनसे सम्पूर्ण व्यवहार करें, तो उस सुख के सम्मुख सभी सुख तुच्छातितुच्छ हैं। प्रकट लीला मे जिनका भगवान् से प्रेम का सम्बन्ध है उनसे बडा भाग्यशाली त्रिभुवन मे कोई भी नही है।"

अप्रकट लीला में भगवान् भाव के वश मे हैं। कही भी किसी मे भी भाव करोगे वही वे प्रकट हो जायँगे। अनेक भक्तो की कथाएँ प्रसिद्ध हैं, उनसे भगवान् की प्रतिमाएँ बाते करती थी। उनको ऐसी दृढ धारणा हो गयी थी, उन्हे भगवान् की प्रतिमाएँ पाषाण या धातु को दृष्टिगोचर ही नही होती थी। श्रीवल्लभाचार्य जी के पुत्र श्री विट्ठल नाथ जी के सात पुत्र हुए। पुत्र होते ही वे उनमें भगवद् भाव मानते थे। उनके उपास्य देव बाल कृष्ण थे। पाँच वर्ष की अवस्था तक वे पुत्र में भगवद् बुद्धि रखते। फिर उनके दूसरा पुत्र हो जाता। इस प्रकार उनके सात पुत्र हुए। उन पुत्रो के ही रूप मे भगवान् ने उन्हे सब लीलाएँ दिखायी। समस्त लीलाओं का दिग्दर्शन भगवान् ने उन्हे उसी रूप मे गोकुल मे कराया। माताएँ अपने बच्चो मे बाल गोपाल की भावना करलें, तो वे अनायास ही इस संसार से तर जायें। सच पूछा जाय, तो ससार मे भगवान् के अतिरिक्त और है ही क्या? मित्र अपने

को सुदामा समझें अपने मित्र में श्रीकृष्ण की भावना कर लें, सेवक अपने को दास अनुभव करें और अपने स्वामी को श्रीकृष्ण मान लें। माता अपने को यशोदा अनुभव करें और अपने बालकों को बाल गोपाल समझें। पत्नी अपने को राधा मान ले पति में श्री कृष्ण की भावना कर लें, तो फिर अरण्य में जानेकी आँख कान मूँदने की जप-तप करने की आवश्यकता ही क्या रह जाय जो कम करें उसे श्रीकृष्ण की सेवा समझ लें। श्रीकृष्ण ही तो नाम रूपो में क्रीडा कर रहे हैं। कामी, क्रोधी लोभी तथा दुश्चरित्र पुरुषो में भावना होना, अत्यन्त कठिन हैं। सिंहको सर्प को हम भगवान् मानने को बहुत मन को समझावें, किन्तु उसमें भाव जमता नहीं, हृदय भयभीत हो जाता है, किन्तु छोटे-छोटे बच्चों को देखते ही उन्हें प्यार करने की इच्छा होती है। ऐसा कौन वज्र हृदय पुरुष होगा जो फूल के सदृश खिले हुए दोनों हाथों को उठा कर गोदी मे आने वाले बालक को उठा कर हृदय से चिपटाने की इच्छा न रखता हो, बच्चों को देखते ही हृदय खिल जाता है। उनकी भोरी चितवन हँसता हुआ मुख और नन्हें-नन्हे सुकोमल अंग हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी पैदा कर देते हैं। चित्त चाहता है इसे उठा कर हृदय से सटा लें मुख चूम लें। यदि इन सभी बच्चों मे बालकृष्ण की भावना हो जाय तो बेड़ा पार ही समझो। यह उपासना स्वाभाविक और मनके अनुकूल है। परमहंस यति बाल भाव की ही उपासना करते हैं। हे मेरे बाल गोपाल ! तुम मुझे सब बालकों को आँखो में दिखायी दो, ऐसा ही वरदान आज दे दो। मेरी इस रूखी-रूखी दाढी, भयावने मुख और कड़े-कड़े बालों को देख कर डर मत जाना। ये मैंने स्वयं तो बनाये नही तुमने ही ये सब बनाये हैं। अच्छे

बुरे के तुम ही कर्ता हो, तुम्ही भोक्ता बनो। क्यो मेरे कनुआ ठाकुर! मेरी प्रार्थना स्वीकारोगे?

छप्पय

बाल लाल हँसि तनिक दौरि मेरे ढिंग आओ।
जानि अजनबी अजी कुमरजी मत सकुचाओ॥
कहूँ साँच हौं पकरि नहीं झोरी में डारूँ।
बाबा जी न बनाइ नहीं चिमटाते मारूँ॥
डरो न दाढ़ी देखिकें, छिपो न माँ की गोद में।
आओ खेलो संग मम, भरि भरि आनँद मोद में॥

। सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(प्रयाग)
आश्विन कृ० २। २००७ वि०

तुम्हारा ही दत्त
प्रभु

कुटिल मंत्रियों के कुमंत्र से कंसानुयायियों द्वारा क्रूरकर्म

[८३७]

एव दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः ।
ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोऽसुरः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ४ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

इत ह्वैकें अति दुखित कस घर अपने आयौ ।
मंत्री लये बुलाय वृत्त सब सत्य सुनायौ ॥
सुरद्रोही खल दैत्य कहैं—का चिन्ता स्वामी ।
अज हरि हर सुर करें कहा हम स्वेच्छागामी ॥
सुर निरबल परि विप्रगन, मख करि पोसें रिपुनिकूँ ।
मारें जहँ द्विज मुनि मिलहिँ, आयसु देवें सबनिकूँ ॥

जो अवसरवादी पुरुष होते हैं, वे जैसा अवसर देखते हैं, वैसा ही काम करने लगते हैं। किसी राजा का ऐसा ही एक मंत्री था, राजा का जैसा रुख देखता वैसा ही बातें करता। राजा ने एक दिन पूछा—"साग कौन-सा अच्छा होता है ?"

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने कुटिल मंत्रियों के साथ इस प्रकार परामर्श करके कंस ने ब्रह्म-हत्या में ही अपना हित माना, क्योंकि वह असुर था और कालपाश में आबद्ध था।"

उसने कहा—"महाराज ! साग अनेक प्रकार के हैं, मनुष्यों की भी प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकार की है। जिसे जो प्रिय लगे, उसके लिये वही साग अच्छा है।"

राजा ने कहा—"हमे तो बैंगन का साग बड़ा अच्छा लगता है "

मन्त्रीजी बोले—'अहा हा ! बैंगन का क्या पूछना है, आलू-के साथ बैंगन को मिलाकर पतले-पतले परामठो से उसे खायें, तो स्वर्ग एक हाथ ही रह जाता है। बैंगन पाचक है, उद्दीपक है क्षुधा बढ़ाता है, वायु को शमन करता है। बैंगन को जलाकर उसमे सोंठ, मिरच, पीपल, काला और सैंधा नमक मिलाकर गोली बना लो तो य "वार्ताकुवटिका" समस्त पेट के वायु रोगो की रामबाण औषधि है। शरीर मे वायु बिगड़ने से ही तो रोग होते है। तभी तो समस्त शाको ने मिलकर इसे 'शाकराज" की उपाधि दी है, इसके सिर पर छत्र रख दिया है। आप देखते हैं, शाकराज बैंगन छत्रधारी ही उत्पन्न होते हैं, ये जन्म-जात राजा हैं।"

राजा बोला—"हाँ, मन्त्रीजी ! साग स्वादिष्ट तो लगता है, किन्तु है कुछ ऐसे ही सट्ट-पट्ट ।"

शीघ्रता के साथ मन्त्रीजी बोले—"अजी, महाराज ! आप कहत हैं, सट्ट-पट्ट है, मै कहता हूँ, साक्षात् नरक का द्वार है। खाने मे भी गरिष्ट होता है, कीड़े इसमे अतिशीघ्र पड जाते हैं। अकेला बनाओ तो, हीक-सी आती है, लिबलिबा-सा हो जाता है धर्म-शास्त्रो मे इसकी बडी निन्दा है। एकादशी के दिन एक भी बीज बैंगन का पेट मे रह जाय, तो इक्कीस पीढी नरक में जाती हैं। महाराज धार्मिक लोग तो इसे छूते भी नही। शास्त्र पुराणो में जहाँ त्याज्य शाक बताये हैं, वहाँ सर्व प्रथम बैंगन का ही नाम

आता है। यथार्थ में इसका नाम है बेगुण। इसमें एक भी गुण नहीं है।"

हँस कर राजा ने कहा—"मंत्री जी! अभी तो आप बेंगन को शाकराज कह रहे थे, अभी उसे बेगुण बता दिया।"

मंत्री ने हँस कर कहा—"महाराज! हमें शाक थोड़े ही सिद्ध करना है। हमें तो अपना स्वार्थ सिद्ध करना है। बेंगन अच्छे हों, बुरे हों, आप प्रसन्न हो जायँ, यही हमारा लक्ष्य है हम तो अवसरवादी है, जैसा अवसर देखते है, वैसा कह देते हैं। हमें अपने सिद्धान्त की रक्षा थोड़े ही करनी है, हमें तो अपनी आजीविका की रक्षा करनी है।"

स्वार्थी पुरुषों का भी यही सिद्धान्त होता है, जहाँ जैसा बनने से अपना स्वार्थ सधता हो, वहाँ वैसे ही बन जाते है। जहाँ रोना होता है, वहाँ बिना रुदन के आँसू बहा देते हैं, जहाँ हँसना होता है, बिना हँसी के हँस जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कंस को हृदय से पश्चात्ताप नहीं हुआ। उसने तो देवकी वसुदेव जी को प्रसन्न करने के निमित्त उनके आगे झूठे ही आँसू बहाये थे। किन्तु उन्होंने इसके पश्चात्ताप को सत्य ही समझा और हृदय से इसे क्षमा कर दिया। देवकी वसुदेव से विदा होकर वह अपने घर आया, किन्तु उसे शान्ति कहाँ? योगमाया के वचनों से उसका हृदय धक्-धक् कर रहा था। उसने तुरन्त अपने मंत्रि-मंडल को बुलाया। सबके आने पर उसने चिन्ता प्रकट करते हुए आदि से अन्त तक सभी कथा सुनायी। योगमाया ने जो कुछ कहा था; उसे भी सुनाया और अंत में कहा—'मेरा पूर्व-शत्रु तो यहीं कहीं व्रज में उत्पन्न हो गया है। इस विषय में क्या करना चाहिये।"

यह सुन कर वे सब देवद्रोही दुष्ट देवताओं के प्रति क्रोध

प्रकट करते हुए एक साथ अवहेलना के स्वर मे हंस पडे और बोले—"अजी, महाराजाधिराज ! आपने किन भगोडो की बात कही। इतना तो पता है, आपका पूर्व शत्रु व्रज-मडल मे उत्पन्न हुआ है। फिर चिन्ता की कौन सी बात है। पैदा हुआ होगा तो इन्ही आठ दश दिनो मे हुआ होगा। इसलिये आज से दश दिनो मे जितने व्रज मे बालक उत्पन्न हुए हो, उन सब को मरवा डालें इसी झपट्टे मे आपका शत्रु भी मर जायेगा। आप हमे आज्ञा भर दे दें, हम बडे-बडे नगर मे, उपनगरो में, ग्रामो मे, पुरो मे, व्रज-गोष्ठो मे, गोपो के समूहो मे, खानो मे तथा और भी जहाँ लोग रहते हैं, सर्वत्र जाकर पता लगावेंगे। जहाँ भी नवीन-जनमा बालक देखेंगे मार डालेंगे। हमारे गुप्तचर विभाग की माननीया मत्राणी पूतना देवी अपने गुप्तचरो को भेज कर खोज करावेंगी, स्वय भी शत्रु का पता लगाने जावेंगी, ये अपने कार्य मे तत्परता दिखावेंगी, फिर ये महाराज से पूर्ण पुरस्कार पावेंगी या "गोविन्दाय नमोनमः" जो है सो अपने प्राण···।"

दूसरा बोला—"हैं, हैं, यह क्या कहते हो। पूतना मौसी के दो भाई हैं अघासुर, बकासुर; ये ही जो चाहे सो कर सकते हैं। मौसी जी तो उच्चासन पर बैठ कर विधान बनाती रहें।"

तब पूतना देवी बोली—"अरे ! तुम क्यो घबडाते हो। ये मनुष्य हैं क्या वस्तु। यद्यपि हमने मनुष्य रूप बना रखा है, किन्तु हम सब कामचारी हैं, इच्छानुसार रूप बदल सकते हैं, मनुष्यो-मे इतनी शक्ति नहीं। हम छोटे बन सकते हैं, बड़े बन सकते हैं मोटे, पतले, लम्बे, ठिगने जैसे चाहें बन सकते हैं। जैसा चाहें रूप धारण कर सकते हैं।"

कंस ने कहा—"नहीं मनुष्यों से तो मुझे कुछ डर नहीं;

किन्तु इतनी ही तो बात नही है, इन षड्यन्त्रो मे देवताओ का ही प्रधान हाथ है।"

इस पर मोटा-सा मोटी बुद्धि वाला मूर्ख मत्री बोला—'महाराज, भोजराज ! आपने भी किन नपुसको की बात कही। आप जानते ही हैं, देवताओ के बच्चे नही होते, क्योकि ये सबके सब नपुसक हैं। इतने देवासुर सग्राम हुए कभी देवता असुरो के सम्मुख ठहरे हैं। वे तो अब भी आपके धनुष की प्रत्यञ्चाके शब्द को सुनकर सदा सिर पटकते रहते हैं। देवासुर सग्राम मे जब युद्ध करते समय आपने समस्त सुरो का अपने दिव्य बाणो द्वारा बाँध दिया, तब जो जीना चाहते थे, जिन्हे अपने प्राण प्यारे थे, वे युद्ध छोडकर भाग गये। जिनको भागने का अवसर नहीं मिला, ऐसे भयभीत देवता अपने अस्त्र शस्त्रो को फेंककर नि शस्त्र होकर अत्यन्त दीनता-पूर्वक हाथ जोड़े, सिर नवाये बाल बखेरे, कच्छ खोले आपकी शरण मे आये और दीनता पूर्वक आकर कहने लगे—'हम भयभीत हैं, आपकी शरण हैं, आप हमे शरणागत समझकर क्षमा करें, हमारी रक्षा करें।'

आप ऐसे वैसे ओछे वीर तो हैं ही नही कि जो भी शत्रु सम्मुख आ गया उसी का सहार कर दिया। आप तो सम्मुख लडने वाले वीराभिमानियो से टक्कर लेते हैं, आपके साथ युद्ध करते-करते विपक्षी का रथ टूट गया हो, तो आप तुरन्त युद्ध बन्द कर देते हैं। अथवा आप रथ पर हो और कोई पैदल आपसे युद्ध करने आवे तो, आप युद्ध नीति की रक्षा करते हुए पदाति से युद्ध नही करते। युद्ध करते-करते जिन्हें अस्त्र शस्त्र विस्मरण हो गये हों, उनके साथ भी आप नहीं लडते। जो भयभीत होकर भागने का उपक्रम कर रहा हो, उसकी चेष्टा देखकर ही आप क्षमा कर देते हैं। जो युद्ध में अन्यमनस्क हो या रण से मुख मोड

लिया हो, युद्ध करते-करते जिनका धनुष टूट गया हो, ऐसे लोगों को मारना तो दूर रहा, आप उनसे धर्मानुसार युद्ध भी नहीं करते।

एक बोला—"हाँ, महाराज! इन देवताओं से डरने का तो रचक मात्र भी प्रयोजन नहीं है। ये तो वीर हैं जहाँ कोई भय नहीं होता वहाँ अपनी स्त्रियों में तो बड़े वीर बनते हैं, किन्तु युद्ध का अवसर आते ही इनकी नानी मर जाती है। उनसे बातें चाहे जितनी बनवा लो, गप्प चाहे जितनी मरवा लो, किन्तु लड़ाई के समय तो इन्होंने भागकर छिपना ही सीखा है।"

कस बोला—"अरे भाई देवताओं की ही बात थोड़े है। यह सब सुनकर देवताओं का राजा भी तो हाथ में अपना अमोघ वज्र लिये हुए आ जायगा।"

एक मूर्ख-सा असुर हँसकर बोला—'महाराज ने इन्द्र को अच्छी कही। बलि के शंख की ध्वनि सुनकर ही यह स्वर्ग छोड़कर भाग गया था। हिरण्याक्ष के आते ही शची के लहँगा में चूड़ी पहिनकर छिप गया। बुढ़िया ब्रह्महत्या के भय से मानसरोवर में कमल की नाल में सैकड़ों वर्ष छिपा रहा। महाराज बलि के भय से गदहा बना पृथ्वी पर घूमता रहा, देवताओं के राजा इन्द्र का पराक्रम बहुत स्वल्प है।

कस बोला—"केवल इन्द्र और देवता ही तो नहीं हैं, इन सबके स्वामी तो विष्णु हैं।"

एक बोला—"अजी, महाराज! विष्णु तो बिचारे बड़े शान्त हैं। उन्हें भीड़भाड़, कोलाहल, मँगतों की भीड़ अच्छी नहीं लगती। इन्हीं सब झंझटों से ऊबकर तो क्षीरसागर में जाकर बीचों बीच सोते हैं। चारों ओर दूध भरा रहने से कोई वहाँ पहुँच भी नहीं सकता। साँप पर सोते हैं, कि कोई डरके मारे

भी वहाँ न जाय। योगी लोग अत्यन्त एकान्त प्रिय होते हैं वे एकान्त अरण्य मे जनशून्य स्थान मे योग-साधन करते हैं। उनके भी एकान्त हृदय मे जाकर विष्णु छिप जाते हैं, हिरण्यकशिपु उनसे लडने गया। उन्होने सोचा "कौन लडाई झगडे के पचडे मे पडे। तुरन्त उसके एकान्त हृदय मे छिप गये, विष्णु वैसे बुरे नही एकान्त प्रिय हैं किन्तु ये देवता ही उनके कान भरते रहते हैं। असुरो के विरुद्ध उभाडते रहते हैं, जब ये जाकर रोते पीटते हैं, तो वे लडने चले आते हैं।"

कस ने कहा—"अकेले विष्णु ही तो नही है। त्रिशूलधारी शिवजी भी तो हैं।'

यह सुनकर हँसते-हंसते एक असुर बोला—"शिवजी की आपने अच्छी कही, वे तो भोलानाथ हैं। आक धतूरा खाते हैं, भांग का लोटा चढाते हैं। कैलास पर्वत के वनो मे विचरते रहते है उन्हे नगर और पुरो के झझट से क्या काम ? वे देवताओ का पक्ष लेकर यहाँ क्यो आने लगे। वे तो राक्षसो और असुरो को बडे-बडे वर देते हैं।"

कस बोला—"भाई, ब्रह्मा बाबा तो देवताओ का पक्षपात सदा करते हैं।'

वही मन्त्री तमककर बोला—'करते रहे पक्षपात। उनके पक्षपात करने से क्या होता है। आपने कही ब्रह्मा को लडते हुए सुना है। उसे जब देखो तब तप मे ही लगा रहता है। इसलिये शिव से ब्रह्मा से तो कुछ भय नही। पुरानी शत्रुता के कारण देवता विष्णु को भडकाकर युद्ध के लिये तैयार कर लेते हैं, क्योकि स्वय तो वे शक्तिहीन ही ठहरे। मन ही मन हमसे शत्रुता रखते ही हैं, यद्यपि वे हमारा कुछ कर नहीं सकते, फिर भी शत्रु और रोग जितना भी छोटा क्यो न हो, उसकी उपेक्षा कभी न

करनी चाहिये। शत्रु तो सदा हमारे छिद्र ही देखने मे लगा रहता है। कहावत है "लगा हुआ बुरा होता है।" अत राग का और शत्रु को कभी बढने न देना चाहिए। जब ये सिर उठावें, तभी इन्हे दबा देना चाहिये। तनिक-सा फोडा हुआ, हमने उसकी उपेक्षा कर दी कि, यह फोडा हमारी क्या हानि कर सकता है, तो सभव है वह भीतर ही भीतर बढ जाय सड जाय, राजरोग बन जाय सम्पूण शरीर का विषाक्त बना दे अत रोग के उत्पन्न होते ही उसकी चिकित्सा आरम्भ कर देनी चाहिये। अब इन देवताओ ने सिर उठाया है, हमे तुरन्त इनके सिरो को कुचल देना चाहिये। आप इनका मुलोच्छेदन करने के लिए हम अनुचरो को आज्ञा दीजिये। अब इनकी उपेक्षा करना उचित नही। कोई साधक है, वह इन्द्रियो की उपेक्षा करता है, तो पतित हो जाता है। कोई बनिया है यदि वह हिसाब देखने मे उपेक्षा करता है, तो दिवालिया बन जाता है। कोई ब्राह्मण है, वह नित्यकम को साधारण समझकर छोड देता है तो वह ब्रह्मत्व से च्युत हो जाता है। कोई सपेरा साँप को तुच्छ समझकर उसके दातो को नही तोडता, तो कभी असावधानी मे वह काट लेता है। इसी प्रकार शत्रु की उपेक्षा करने स उसका बल बढकर अटल हो जाता है। फिर उसे विचलित करना कठिन काय हो जाता है। देवताओ मे स्वय शक्ति नही है, वे तो विष्णु के बल पर ही कूदते हैं। विष्णु को निबल कर देने से देवता तो कुछ कर नही सकत।"

कस ने कहा—'विष्णु निर्बल कैसे हो ?"

एक बूढा-सा असुर मन्त्री बोला—"विष्णु वही रहता है, जहां सनातन धम होता है, अत सनातन धम को नष्ट कर दो, विष्णु स्वय घर बार विहीन निर्बल बन जायगा।'

कंस ने पूछा—"अच्छा सनातन धर्म का मूल क्या है।"

उसी मंत्री ने कहा—"सनातन धर्म के मुख्य पाँच मूल हैं। इन पाँचो को नष्ट कर दो, सनातन धर्म स्वतः नष्ट हो जायगा। सनातन धर्म के नष्ट होने से नास्तिकता बढ जायगी। नास्तिकता बढने से असुरो का प्राबल्य हो जायगा। असुरो की वृद्धि होने से लोग शरीर सुखो को ही मुख्य मानने लगेंगे। सबके सम्मुख रोटी का प्रश्न ही प्रधान हो जायगा। सब लोगो की दृष्टि इन बाहरी घटनाओ मे ही लग जायगी। अध्यात्मिक-चिन्तन सभी का छूट जायगा। खाओ, पीओ, मौज करो, यही मूल मन्त्र हो जायगा। हम असुर प्रकृति के तो यही चाहते हैं।"

कंस ने कहा—"हाँ, तो वे पाँच मूल कौन-कौन हैं पहिले उन्हे ही नष्ट करें।"

मन्त्री बोला—'सनातन धर्म के प्रथम मूल कारण तो ये बडी-बडी चोटी और पोथी पत्र वाले जनेऊधारी ब्राह्मण हैं। कैसे भी इनकी चोटी कटे, किसी प्रकार ये अपने प्रचीन आचार विचारो को छोड़े। दूसरे सनातन धर्म के मूल कारण वेद हैं। ये ब्राह्मण ही कष्ट सहकर बिना फल की इच्छा से वेद वेदाङ्गों को पढते और याद करते हैं। किसी प्रकार वेद वेदाङ्ग तथा पुराण शास्त्रों का प्रचार बन्द हो। इन ग्रन्थो पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। तीसरा सनातन धर्म का मूल कारण गौ है। गौ के ही दूध घी से यज्ञ याग आदि होते हैं। लोग गौ पालना छोड दें। सब गौ का भक्षण करें। यन्त्रो से या घोडो से खेत जोते जायँ, गौ को माता न मानकर भेड बकरी की भाँति एक साधारण पशु माना जाय। चौथा सनातन धर्म का मूल कारण है तपस्या। लोगो को तपस्या न करनी दी जाय। ऐसे नियम बनाये जायँ

लोग पवित्रता न रख सकें, सबके साथ खान पान विवाह सम्बन्ध अनिवार्य कर दिया जाय, जो तपस्या करते हो या तो उन्हें मार दिया जाय, या उनका विवाह करके उन्हे कृषक बना दिया जाय। पाँचवाँ सनातन धर्म का मूल कारण है दक्षिणा सहित यज्ञ। यज्ञो को जैसे हो तैसे बन्द किया जाय। इन पाँचो के नाश होने से निश्चय ही सनातन धर्म का नाश हो जायगा। इनमे दो मुख्य हैं गौ और ब्राह्मण, हत्या की जड ये ही हैं। अत. आप हमे आज्ञा दे दें कि, हम सब मिलकर वेद वेत्ता कर्म निष्ठ तपस्वी और यज्ञपरायण ब्राह्मणो का तथा यज्ञीय सामग्री हव्य देने वाली गौओ का सहार करें। इनके सहार करते ही विष्णु बिना गुण का अशरीरी निर्गुण बन जायगा। उसके शरीर को ही पहिले नाश कर दो।"

कस ने कहा—"विष्णु का शरीर कैसे नाश होगा। उसका शरीर तो नित्य है।"

मन्त्री बोला—'अजी, विष्णु का जो शरीर दीखता है, वही उनका शरीर नही है, उनके मुख्य शरीर तो ब्राह्मण, गौ, वेद, तप, सत्य दम, शम, श्रद्धा, दया, तितिक्षा, और यज्ञ यही हैं। इन्हें पृथ्वी से हटा दो, विष्णु स्वय हट जायगा। विष्णु को पृथ्वी स अवश्य हटाना चाहिये। क्योकि ससार मे इस विष्णु को ही लेकर बड़े बखेड़े हो रहे हैं, भाँति-भाँति के सम्प्रदायो की सृष्टि हो रही है। सम्प्रदायिकता के मूल ये विष्णु ही हैं। इन्हें लोग सूर्य, शक्ति, शिव, महेश, गॉड, अल्ला, विष्णु भगवान् न जाने किन-किन नामो से पुकारते हैं। यह विष्णु दैत्यो का द्रोही है, सबका अन्यर्यामी है और समस्त देवताओ का नायक है। महादेव हुए, ब्रह्मा हुए तथा इन्द्रादि देव हुए सभी इस विष्णु के ही आश्रित हैं। और उसके वध का सरल सुगम सीधा उपाय

है ऋषि मुनियो का वध करना। केवल आपकी आज्ञा भर की देरी है। फिर देखिये, एक भी तिलकधारी जटाधारी, शिखा सूत्रधारी वामन न बचने पावेगा।'

कस ने उन क्रूर कर्मा कुटिल मन्त्रियो की बात पर विचार किया और फिर सोचा—'हाँ, ये लोग सत्य ही कह रहे हैं। ऐसा ही हो। उसने सबसे कहा—"यदि आप लोग मेरा इसी मे कल्याण समझते हैं, तो इन धर्म के प्रचारको को ही पहिले पकड लो। इन्हे ही मारो, इन्ह ही यातना दो, किसी पर दया मत करो, जिससे विष्णु का जड मूल से नाश हो, वही उपाय करो। कोई कीर्तन न करने पावे, विष्णु का नाम न लेने पावे। कथा-कीर्तन पर प्रतिबन्ध लगा दो। साधुजनो का सहार कर दो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसी आज्ञा देकर कस अपनी सभा से उठकर अन्त पुर में चला गया। अब क्या था, असुर तो यह चाहते ही थे, अब तो उन्हे राजाज्ञा का सहारा मिल गया, राजविधान का भी बल प्राप्त हो गया। वे इच्छानुसार अनेक रूप रखकर साधुओ को पीडा देने लगे। उन दुष्ट दानवो की प्रकृति तो रजोगुणी थी ही। उनका चित्त तमोगुण से भी आच्छन्न था, इसीलिये वे सद् असद् के विवेक से सर्वथा शून्य थे। वे सब मृत्यु के मुख मे जाने वाले थे। जिसका विनाश निकट आ जाता है, उसे ही ऐसे कुकर्म सूझते हैं विनाश काल मे बुद्धि विपरीत हो जाती है। ऐसे लोग स्वभाव से साधुजनों से द्वेष करने लगते हैं। मुनियो! महान् पुरुषों का [illegible] मनुष्यो के आयु श्री, यश, धर्म, स्वर्गादि उच्च लोक [illegible] तथा सम्पूर्ण श्रेयो को नष्ट कर देता है अत [illegible] रखने वाले को कभी भूलकर भी महान् पुरुषों का [illegible]

करना चाहिये। यह मैंने आप से योगमाया की भविष्यवाणी के सम्बन्ध की कथा कही। अब आप लौटकर पुन गोकुल मे आ जाय। वसुदेव जी श्रीकृष्ण को यशोदा जी की शैया पर रख आये, फिर इसके पश्चात् क्या हुआ इसी कथा को अब मैं कहता हूँ कि आप भली भाँति समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

कुटिल कुमन्त्रिनि कही कस सो सब कछु मानी।
गो, द्विज, तप, मख, वेद नाशकी मनमहँ ठानी॥
काल पाशमहँ फँस्यो असुर हिंसा हित मानै।
समुझै सतनि शत्रु द्विजनि निज नाशक जानै॥
यों मथुरामहँ असुरगन, धेनु द्विजनि दुख देहिँ नित।
मातु यशोदा सुत जन्यो, सुनहु भयो जो वृत्त इत॥

श्री नन्दलाल-जन्म

[८३८]

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।
आहूय विप्रान् दैवज्ञान् स्नातः शुचिरलंकृतः ॥*

श्रीभा० १० स्क० ५ अ० १ श्लोक

छप्पय

जाइ सुनन्दा कह्यो—जन्यौ भामीने लाला ।
छिनमहँ फैली बात सुनत दौरी ब्रजबाला ॥
नन्द अकबके भये देह की दशा भुलानी ।
छायो नयननि नीर पुलक तनु गद्गद बानी ॥
आवें गावत गीत सब, अति उमङ्गमहँ गोपगन ।
पकरि नचावें नन्दकूँ, डगमग डगमग होहि तन ॥

किसी वस्तु में सुख नही, घटना में सुख नही, सच पूछा जाय तो प्रतीक्षा मे सुख है। यो सामान्यतया शास्त्रकारो ने अनुकूल वदना को सुख कहा है, प्रतिकूल वेदना को दु ख कहा है। किन्तु वैसे ही सामान्य रीति से बिना प्रयत्न के बिना प्रतीक्षा के हमे

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—'राजन ! जब महामना नन्द जी ने सुना मेरे आत्मज हुआ है, तो उनके मन मे बडा आह्लाद उत्पन्न हुआ। उन्होने ज्योतिष विद्या विशारद ब्राह्मणों को बुलाया, फिर स्वय स्नान करके वस्त्रो को धारण किया।'

इष्ट वस्तु प्राप्त हो जाय, तो उसमे कोई विशेषता प्रतीत नही होती। सामान्य सुख होता है, उसका भी अनुभव नही होता। यद्यपि जल को जीवन कहा है। प्यास न हो तो कितना भी सुन्दर जल रखा रहे, हमारे लिये उसका कोई विशेष महत्व नही। प्यास लगने पर उसके सुख का अनुभव होगा। प्यास जितनी ही अधिक तीव्र होगी, सुखानुभूति उतनी ही अधिक होगी। पपीहा के लिये वही स्वाति बूँद अमृत के सदृश है, क्योकि उसने बहुत दिनो तक प्रतीक्षा की है। हम नित्य-प्रति भूख लगने के पूर्व ही भाँति-भाँति के स्वादिष्ट पदार्थ आवश्यकता से अधिक खा लेते हैं, उनमे रस की स्फूर्ति नही होती, पदार्थ मे स्वाद का अनुभव नही होता। वही अन्न महीनो के लघन के पश्चात् अत्युत्कट भूख मे दिया जाय, तो दाल के पानी मे भी वह स्वाद आता है, जो कहा नही जाता। कुलाङ्गना पत्नी नित्य ही अपने पति से मिलती है, सामान्य सी-घटना प्रतीत होती है, किन्तु चिर प्रतीक्षा के अनन्तर जब वह परदेश से लौटता है, वह मिलन एक अत्यन्त सुखद प्रसग है। सामान्यतया जिनके घर मे खाने पीने का भी अभाव है, उनके यहाँ प्रति वर्ष एक पुत्र उत्पन्न हो जाय, तो उनके लिये सामान्य सी घटना है। वैसे पुत्र का उत्पन्न होना पिता-माता तथा परिवार वालों के लिये सुखद घटना है किन्तु आवश्यकता का अनुभव न होने पर भी जो पुत्र हो जाता है, वह किसी अश मे दु ख और चिन्ता का ही कारण होता है। जिसने कभी पुत्र का मुख न देखा हो, जो क्षण-क्षण पल-पल पर पुत्र मुख देखने के लिये लालायित हो रहा हो। माता-पिता तथा परिजन ही नही पूरा प्रात जिसकी प्रतीक्षा मे व्याकुल हो रहा हो, उसके उत्पन्न होने पर कितनी प्रसन्नता होगी यह कहने की बात नही अनुभव करने की बात है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! नन्दरानी के भवन में प्रसूति के लिये जितने उपयोगी सामान थे, वे सब जुटाये गये। गोपियाँ नन्दरानी का मन बहलाने के लिये ढालक मँजीरा बजाकर गीत

गाने लगी। गीत गाते-गाते सबकी सब सो गयी। स्वयं यशोदा मैया को भी योगमाया के प्रभाव से नींद आ गयी। उसी नींद मे उसने कुछ पैदा किया। छोरा किया या छोरी, एक बालक जना या दो ये विवाद के विषय हैं। इस विषय पर सदा

भेद बना रहेगा, विवाद होता रहेगा। हमे इस विवाद में पडना नही छोरी हो तो भली छोरा हो तो भला। एक हो तो अच्छे दो हुए हो तो उससे भी अच्छे। ये सब बातें चोरी छिपे गुप चुप की हैं। अब जो सबके सम्मुख प्रत्यक्ष बात हुई, उसे ही आप सबके सम्मुख कहता हूँ।

सबसे पहिले सुनन्दा बुआ की आँखे खुली। उन्होने देखा सूतिका-गृह के दीपक सभी बुझे हुए हैं। भाभी के शयन स्थान मे एक नीलमणि के समान तेजपुन्ज पडा हुआ है, उसकी अनिर्वचनीय आभा से समस्त सूतिका-गृह अलौकिक हो रहा है। बूआ पहिले तो समझ न सकी यह क्या है। प्रथम उन्होने सोचा, यह कोई प्रस्फुटित नील कमल है, किन्तु नील कमल तो इतना बडा होता नही, वह तो जल मे खिलता है, सम्भव है, दाई ने नील मणियो का पुन्ज बनाकर किसी प्रयोजन से रख दिया हो, किन्तु यह तो पुज नहीं, इसके तो कर चरण आदि अग दिखाई देते हैं। सम्भव है अजन के चूर्ण को नवनीत मे मसल कर सुचिक्कण बनाकर रख दिया है, किन्तु निर्जीव अजन मिश्रित पुतला तो हिलता डुलता नही इसमे तो चेष्टायें हैं।" बूआ ऐसी तकना कर ही रही थी, कि श्याम सुन्दर कुछ-कुछ अस्पष्ट स्वर मे रोए, मानो परा, पश्यन्ति वाणी में प्रणव का जन्म हुआ। अब बूआ को सदेह न रहा। समझ गयी, भाभी ने लाला जाया है। पास मे पडी दाई को झकझोरकर उसने कहा—"बुढिया, बुढिया! दाई! मर ही गयी क्या? हाय! ऐसी बूढ़ी दाई भी न बुलानी चाहिये। समय पर ही सो जाती है। दाई हड़बड़ाकर उठी और बोली—"बीबी! क्या है?"

झुंझलाकर सुनन्दा बूआ ने कहा—"है क्या, तेरा सिर

है। पडी-पडी खुरटि भर रही है। वहाँ भाभी के बच्चा भी हो गया।"

हडबडाकर दाई ने कहा—"अच्छा, बच्चा हो गया।" इतना कहते ही वह दौडी। मणियो के आलोक मे उसने देखा मानों–चिदानद सुधारस सरोवर मे एक अत्यन्त सुन्दर सुघर सुहावना नील सरोरुह खिल रहा हो। दाई ने दौडकर बच्चे को उठा लिया। पगली की भाँति चिल्ला उठी—"छोरा है, लल्ला है, राजकुमार है।" बस, फिर क्या था, इतना सुनते ही सबकी सब गोपियाँ जाग पडी। मसाले जल गयी। परिचारिकाएँ इधर-उधर दौडने लगी। परस्पर मे होड लग गयी, 'सबसे पहिले ब्रजराज को इस शुभ सम्वाद को मैं सुनाऊँगी।'

इधर दासियाँ दौड रही थी, उधर बूआ अपने अङ्गो मे नही समाती थी। कुछ भारी शरीर था; कटि के भार से छरहरी हथिनी की भाँति इधर से उधर इस प्रकार दौड रही थी, मानो उड रही हो। दौडकर घर मे से काँसे की थाली ले आयी। बच्चे के कान के समीप आकर उसे बजाया। बच्चे की शोभा निहार कर अकी-सी जकी-सी, भूली-सी भटकी-सी, प्रेम में बेसुधि-सी बन गयी। फिर उन्हे चेत हुआ। हाथ मे गोबर और गेरू लेकर द्वार पर दौडी गयी। और स्त्रियाँ तो ऊँचे स्वर-से बोल नहीं सकती, किन्तु वह तो इस घर की लडकी ही ठहरी। उसे [illegible] सुध नही। आँचल खिसक गया है। एड़ी तक [illegible] हिल रही है। द्वार पर से ही उसने [illegible]—"[illegible]! [illegible]! भाभी के बच्चा हुआ है, छोरा हुआ है [illegible] बूढी दासी आज युवतियों के भी [illegible] की तरह अपनी ओढनी को [illegible] चौपाल पर पहुँच गयी है।

बुआ सुनन्दा ने गेरू के थापे रखे। फिर दौड़ी-दौड़ी घर में गयी, एक कारी हँडिया उठा लायी। उसे आँगन मे लाकर फट्ट से फोड दिया। फिर घर मे घुस गयी, सूप उठा लायी; उसे घुमाकर दौडकर घूरे पर फेंक आयी। बात की बात मे धाय के पास आ गयी। धाय बच्चे को लिए बैठी थी, बालक के अनवद्य सौन्दर्य को निहारकर वह आत्म विस्मृत-सी बनी हुई थी। उस इन्द्र-नीलद्युति के सदृश प्रकाशवान् बालक के सौन्दर्य माधुर्य को निर्निमेष दृष्टि से निहारती हुई, अपने आपे को भूल रही थी, उसे न यह पता था, मै कौन हूँ, कहाँ हूँ, यहाँ क्यों और किस कार्य के लिए आयी हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है। बस, उस सौन्दर्य की घनीभूत राशि मे उसने अपने मन को खो दिया था।

सुनन्दा बूआ ने आकर दाई को झकझोरते हुए कहा—"सो गयी क्या मरी! इस बुढिया से तो कोई दूसरी ही दाई बुलायी जाती तो अच्छी थी। इसे नीद से ही अवकाश नही।"

सुनन्दा के झकझोरने से दायी पगली-सी कहने लगी—"बीबी! मैं कहाँ हूँ, क्या है, मैं कहाँ चली गयी?"

खीजकर सुनन्दा ने कहा—"तू वैकुण्ठ में चली गयी, ला, लाला को मुझे दे। तू जाकर पैर फलाकर सोजा।" यह कहकर बूआ ने लाला को ले लिया। स्त्रियाँ सोहर के गीत गा रही थी, द्वार पर नौबत नगाड़े बज रहे थे, बीच-बीच मे तुरही की तू तू तू तू की विचित्र ध्वनि सुनायी देती थी।

बूआ ने शीतोष्ण जल से श्रीहरि के मुख पर छीटे दिये मानो पूजा के प्रथम पाद्य अर्घ्य और आचमनीय दे रही हो, पुनः मोर पख लेकर उनका व्यंजन किया। बूआ की गोद में आते ही पाद्य, अर्घ्य का पानी पाते ही जगत्पति रोने लगे। "रोने क्यों लगे जी"—मानो ह्वाऊ-ह्वाऊ करके सामवेद के स्वरो को प्रकट

कर रहे हों; अथवा आज से श्रीकृष्णलीला आरम्भ होगी, अतः सर्वप्रथम मङ्गलाचरण करने के लिये उन्होंने प्रणवध्वनि की हो।

दाई को अब चेतना हो गयी, उसने शीघ्रता से कहा "बीबी! बीबी! मैने बच्चे के मुख में उंगली तो डाली ही नही। लाओ तनिक मुझे दे दो। तुम सुन्दर धुनी हुई रुई वहाँ छीके पर रखी है उसे ले आओ।"

इतना सुनते ही सुनन्दा ने बालक को दाई की गोदी में दे दिया, दाई ज्यो-ज्यों बच्चे को देखती, त्यों-त्यों आत्म विभोर-सी होती जाती। इतने में ही दौडकर सुनन्दा रुई ले आयी। दाई ने अपनी उंगली को देखा, उसमें तनिक भी बढा हुआ नख नही था। उसे भली भाँति स्वच्छ करके उस पर रुई लपेट कर भगवान् के मुख मे वह उंगली डाली; साधारण बच्चो के कंठ मे कफ जरा आदि का अंश लिपटा रहता है, किन्तु भगवान् तो सभी मलो से निर्मुक्त हैं, उनका शरीर तो दिव्य चिन्मय है, उसमें क्या होना था। दाई ने उंगली से तालु, ओठ और कण्ठ को स्वच्छ किया। एक रुई के फोहे मे तेल भिगोकर भगवान् के तलवे पर रखा। अब भगवान् और स्पष्ट रुदन करने लगे। मानो मध्यमा वाणी में प्रणव उच्चारित हो रहा हो। तदनन्दर लालजी को दाई ने कूड़े में रखकर स्नान कराया। मानों पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय के अनन्तर अब स्नान हो रहा हो। स्नान कराके दाई ने कहा—"मैं तो इस पात्र को रत्नो से भरवाऊँगी।"

यह सुनकर सुनन्दा बूआ थाल भरके रत्नों को ले आयी, कूडे को रत्नो से भर दिया। लालजी अब स्वस्थ हो गये, अब मानों वैखरी वाणी से स्पष्ट प्रणव ध्वनि करने लगे। लालजी जब मुक्त कण्ठ से रुदन करने लगे, तब दाई ने उन्हें उनकी बूआ की गोद में दे दिया। अब तक यशोदा मैया अचेत पड़ी थी। एक

बार उन्होंने अपने बालक की बाँकी झाँकी की थी, उसी से तन मन की सब सुधि भूल गयी थी। वे श्रीकृष्ण-दर्शन आह्लाद के सागर मे ऐसी निमग्न हो गयी कि, उन्हे चेतना ही न रही। दाई ने समझा रानी प्रसव की पीडा से अचेतन पडी हुई हैं, अतः उसने उनका उपचार करना आरम्भ किया। यशोदा मैया का शरीर कुछ स्थूल था। गोरे वर्ण के स्थूल शरीर पर उनके मातृ-स्नेह से परिपूर्ण लम्बे स्तन ऐसे प्रतीत होते थे, माना दो सुवर्ण के दिव्य पुञ्ज रखे हो। उनका कटिभाग अति स्थूल था। दाई ने उनकी नाभि पर दक्षिण हस्त रखकर नाभिको भली भाँति दबाया। बायें हाथ से पीठ को बल पूर्वक दबाकर उसे हिलाया। फिर पाँव की एडियो को शनै-शनै नाभि के ऊपर ले जाकर उनके नितबो की भली भाँति मालिस-सी की। समीप मे ही खडी दासी से कहा—'अंगीठी जल रही है, उसमें से चार बडे-बडे दहकते कोयले ले आ। दासी तुरन्त कोयले ले आयी। उन्हें दूर रखकर उसमे उसने भोजपत्र, साप की किचुली पिसा काँच और मणि के चूर्ण की धूनी दी। और तुरन्त बोली—"वह जो मैंने मौंफ, कूट, मैनफल और हीग डालकर तिल का तेल तैयार किया है, उसे उस सामने की दिवाल मे से उठा ला। दासी तुरन्त उस तेल को उठा लायी। उसका फोहा बनाकर दाई ने रखा, फिर कहने लगी—सोंठ इलायची, चित्रक, चव्य, पीपल, कालाजीरा, देवदारु कूट, वायविडग, तथा विडनमक इनके कल्क म मिश्रित क्वाथ है इसे तुरन्त ले आ। इसके पीते ही अमरा गिर जायगा।"

इस प्रकार जब सब उपचार हो गये, तब यशोदा अपने व्रज-बालचन्द्र सच्चिदानन्द-कद श्रीकृष्ण को अपनी गोद में लिया। वे देखती हैं नूतन दिव्य जलधर के समान उस दिव्य शिशु की आभा है, उनका प्रत्येक अग चम-चम करके चमक रहा है। वे समझ ही

नहीं सकती, कि यह घनीभूत आनन्द है या सुख की साकार मूर्ति है, अथवा प्रत्यक्ष सशरीरी आह्लाद है। वे जितना ही बालक को निहारती हैं, उतनी ही आनन्द मे विभोर होकर आत्म-विस्मृत सी बनती जाती हैं।

इधर जब बूढी परिचारिका ने नन्दजी को पुत्र जन्म का मधुरातिमधुर कर्णों को अमृत रस मे परिप्लावित करने वाला शुभ सम्बाद सुनाया। तो उनके हर्ष का ठिकाना नही रहा। उधर यशोदाजी ने एक बच्चा अपने उदर से उत्पन्न किया, इधर नन्दजी के हृदय से भी एक बच्चा उत्पन्न हो गया। उसकी पीडा मे ये भी मूर्छित हो गये।

यह सुनकर शौनकजी बोले—'सूतजी! आप यह कैसी उलटी गगा बहा रहे हैं। महाभाग! स्त्रियो के बच्चा होते तो हमने सदा सुना हैं। पुरुषो के कभी बच्चा हुआ हो यह बात तो हमने कभी सुनी नही। हाँ, महाराज मान्धाता अपने पिता के पेट से अवश्य उत्पन्न हुए थे, सो वह तो मन्त्रपूत जल के प्रभाव से ऐसा हुआ था। अच्छा यशोदाजी ने तो श्रीकृष्ण को उत्पन्न किया। नन्दजी के बच्चे का नाम क्या था?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! नन्दजी के बच्चे का नाम था आह्लाद। आत्मा से ही तो पुत्र उत्पन्न होता है। नन्दजी के अन्तरात्मा मे अत्यधिक आह्लाद उत्पन्न हुआ, उसी आह्लाद के कारण वे आमविस्मृत से बन गये। पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनते ही उनके रोम-रोम खिल उठे। नेत्रों से प्रेम के अश्रु स्वतः निकलने लगे सपूर्ण शरीर पुलकित हो उठा। जो हार पहिने थे, उसे सूचना देने वाली दासी को पहिना दिया। वे हक्के-बक्के से खडे ही रह गये।"

उपनंदजी ने कहा—"नन्द ! भैया ! तू घर में जा। देख कोई काम हो तो।"

नन्द का हृदय बाँसो उछल रहा था, वे चाहते थे, अभी चलकर बच्चे को छाती से चिपटा लूँ। स्वप्न मे जो पुत्र की साँवली सलोनी मूर्ति देखी थी, वह उनके नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष नाचने लगी। वे उस साकार सौंदर्य का स्मरण करते ही अचेतन-से हो उठे। अपने बड़े भाई के सम्मुख अन्तःपुर मे कैसे जायँ, अतः वे बड़े कष्ट से बोले—"मे वहाँ जाकर क्या करूँगा। व्रजभर की लुगाइयाँ तो वहाँ इकट्ठी हो रही है।"

हँसकर उपनन्दजी बोले—"अरे तू अभी तक भौंदू ही रहा। तुरन्त उपनन्दजी अपने छोटे भाई सनन्द से बोले—"भैया जा तू जितने व्रज मे ज्योतिषी ब्राह्मण हैं, सबको बुला ला। शाडिल्य जी को पहिले भेजना।"

इतना सुनते ही सनन्दजी तुरन्त लाठी लेकर चल दिये। १०।२० गोप उत्साह मे भरकर उनके पीछे-पीछे चले। उपनंदजी स्वयं दौड़े दौड़े रोहिणी देवी के घर में गये। रोहणीजी प्रोषित भर्तृका ही ठहरी। उन्हे नियमानुसार उत्सव में न जाना चाहिये। अतः कई बार सूतिका-गृह का तो चक्कर लगा आयी है, किन्तु अभी तक उत्सव में नही गयी। उपनन्दजी ने जाकर कहा—"रानी ! तुम्हारे घर में पुत्र हुआ है, तुम यहाँ बैठी हो। वहाँ सार सम्हार कौन करेगा। अपने घर में भी कोई नियम होता है क्या ?"

संकोच के स्वर में रोहणीजी ने कहा—"अजी मैं अभी तो वहाँ मे आयी हूँ, भेरी, वीणा, नौबत आदि बाजो की ध्वनि सुन कर ही मैं समझ गयी नंदरानी के लाला हुआ है, मैं अभी जाती हूँ।" यह कहकर बलरामजी को गोदी में लेकर रोहणी देवी भी

पहुँच गयी। बलदेवजी जग पडे। वे चकित-चकित दृष्टि से अपने भाई की ओर देखने लगे। हंसने लगे और किलकारियाँ मारने लगे। सभी को बडा कुतूहल हुआ, यह लडका तो कभी हंसता ही नही था। आज तो यह बहुत हंस रहा है। सभी को पौर्णमासी पुरोहितानी की बात याद आयी। रोहिणीजी ने यशोदाजी से पूछा—'बीबी! कैसा चित्त है?"

यशोदा रानी यह सुनकर रो पडी, उनका कठ अवरुद्ध हो रहा था, उन्होने कुछ भी नही कहा केवल हाथ जोड दिये। रोहिणी ने दाई से पूछा –"क्या-क्या हुआ?"

दाई अकबका गयी और कुछ रुक रुककर बोली—"बालक को स्नान करा दिया है, तालुमे फोहा रख दिया है, सेंधा नमक और घी चटाकर मैंने बालक को वमन करानी चाही, किन्तु उसने वमन नही की। बालक के अङ्ग मे न मल था न किसी प्रकार की अशुचिता। रानी ने पुत्र प्रसव के अनन्तर ही अमरा का परित्याग कर दिया है। अब जो आपकी आज्ञा हो वह करूँ।"

अधिकार के स्वर मे रोहणी देवी ने कहा—"ठीक है, अब बच्चे को ऐसे ही सुला दो। फिर सुनन्दा से बोली—"बीबी! तुमने महागोपुरो मे जो महादुन्दुभियाँ रखी हैं, उन्हे बजवाने की की आज्ञा नही दी?"

सुनन्दा शीघ्रता से बोली—"अरी, भाभी! क्या बताऊँ मैं तो भूल ही गयी थी, किन्तु बडे आश्चर्य की बात यह सुनी, वे दुन्दुभियाँ तो अपने आप बजने लगी। तुम सुन नही रही हो। उनकी ध्वनि २४ कोस मे पहुँचती होगी।"

रोहणीजी बोली—"अच्छा तो बीबी जी, एक काम करो। अभी तो बच्चे के नाल-छेदन मे देरी है, क्योकि अभी तो पण्डित आवेंगे। बडी देर तक वे पूजन आदि करेंगे। तब तक तुम एक

भीगे कपडे को नाभि मे रख दो, जिससे नाल सूखने न पावे।"

दाई बोली—"रानीजी! सो तो मैंने सब कुछ कर दिया है। अब बाहर से व्रजराज को बुलाओ। अब देखो प्रात.काल ही होना चाहता है, अब देरी करने का काम नही है।"

यह सुनकर तुरन्त रोहिणीजी ने बूढी दासी को भेजा—"व्रजराज से कहो, क्या कर रहे हैं वे। उनसे कहना जो कराना हो शीघ्र करावे। फिर हमे अपने घर के भी तो नेग जोग कराने हैं।"

दासी पुनः दौडी-दौडी गयी। वहाँ वह क्या देखती है, कि बडी-बडी पगडी बाँधे पडितो की सभा लग रही है। कोई लगन निकाल रहे हैं, कोई हाथ पर मेष, वृष, मिथुन, कर्क आदि गिन रहे हैं। कोई बालक के जन्म की यथार्थ घडी पूछ रहे हैं। महीना, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र, योग तथा कर्ण सभी ज्योतिष सम्बन्धी बातो पर विवाद कर रहे हैं।

दासी ने कहा—"व्रजराज! महारानी रोहणी ने आज्ञा दी है, अब देर करने का काम नही आप अतिशीघ्र महलो मे पधारें।"

नन्दजी कहा—"अच्छी बात है; कहना हम आते है।"

यह सुनकर दासी चली गयी, तब उपनन्दजी ने शाडिल्य से पूछा—"अब इस नन्द को क्या करना चाहिये।"

शाडिल्यजी ने कहा—"अब इन्हे स्नान करना चाहिये। अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणो को धारण करना चाहिये, तब अन्त.पुर मे ब्राह्मणो के सहित बालक के जात कर्म सस्कार के निमित्त जाना चाहिये।"

इतने मे ही गोप बोले—"बाबा यहाँ ही नहा लें। गरम पानी अभी हम लाते हैं।"

यह सुनकर शांडिल्य मुनि बोले—"तुम सब सिर्री हो गये हो क्या रे! तुम निरे भौंदू ही रहे। इतना भी तुम नही जानते पुत्र-जन्म के समय उष्ण जल से स्नान न करना चाहिये।"

गोप बोले—"अच्छी बात है महाराज, तो चलो यमुना स्नान ही कर आवे।"

यह कह कर बहुत से गोपो के साथ नंदजी यमुना स्नान करने गये। यमुना स्नान से लौट कर उन्होने अपना सफेद अगरखा पहिना। बडी सफेद पगडी बाधी उसके ऊपर पेच कसा। दुपट्टा कधे पर डाला। गोप गले मे पहिनी। कानो की मुरकियो को कपड़े से पोंछा। सोने की जजीर कंठ में पहिनी। इस प्रकार सज बज कर वे अन्त. पुर मे जाने के लिए तैयार हो गये। उनका हृदय प्रेम से भरा हुआ था। पुत्र दर्शन की चटपटी लगी हुई थी। शील सकोच से कहते नही थे, नही तो वे चाहते थे, मैं तुरन्त वहाँ पहुँच कर उस नयनाभिराम मूर्ति को देख कर अपने हृदय को शीतल करूँ। ब्राह्मण अपनी-अपनी पोथी पत्रा बाधे नन्दजी के पीछे पीछे चले। आगे आगे शांडिल्य मुनि जा रहे थे। उनके पीछे ब्रजराज और इधर-उधर दायें बाये तथा पीछे और भी बहुत-से वेदज्ञ ब्राह्मण चल रहे थे।

भीतर स्त्रियो की भीड लगी हुई थी, आँगन मे तिल रखने का स्थान नही था। नदजी इतनी भीड को देख कर सकपका गये। पहिले तो जहाँ उन्होने पौरी से खास मठार की कि, उनके खाँसने को सुन कर ही स्त्रियाँ लम्बा घूँघट मार कर एक ओर हट जाती थी, आज खास मठारने की बात तो कौन कहे शांडिल्य जी बार-बार कहते—"बेटियो! तनिक हट जाओ।

नन्दराय आ रहे हैं।" किन्तु कौन सुनता है, वे तो आनन्द मे विभोर होकर अपने आपे को भूली हुई थी।"

सूतजी कहते हैं—' मुनियो! जैसे-तैसे प्रसूति-गृह के सम्मुख आँगन मे स्थान किया गया। वहाँ सुन्दर आसन बिछाये गये। जात कर्म सस्कार की सभी सामग्री जुटाई जाने लगी। नदजी चुपचाप बैठे-बैठे इन सब बातो को देखने लगे। अब जात-कर्म की कथा आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

ज्योतिषविद्या विज्ञ बहुत से विप्र बुलाये।
नदमहरि सुत जन्यो सुनत सब द्विज उठि धाये॥
सबने आशिष दई ग्रहनि के सुफल बताये।
सबकी सम्मति समुझ नंद जमुनामहँ न्हाये॥
बूढ़े बाबा पहिन पट, आज अनंग के सम खिले।
वृद्ध गोप अरु द्विजनि सँग, प्रमुदित अन्त पुर चले॥

श्रीनन्दात्मज का जात-कर्म संस्कार

[८३९]

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै।
कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा ॥ ❀

(श्रीभाग० १० स्क० ५ अ० २ श्लोक)

छप्पय

गोपिनितैं घर घिर्‍यो गीत सोहरिके गावैं।
सुधि बुधि भूलैं खड़ीं हटैं नहिँ विप्र हटावैं॥
ज्यों त्यों भीतर गये द्विजनि सामान मँगाये।
जात करम अरु देव पितर पूजन करवाये॥
ब्रज सुख-सागर शान्त सम, उमड़ि हरष प्रकटित करैं।
उदित भये ब्रजचन्द्र हरि, रत्ननितैं तटकूँ भरैं॥

संस्कार ही सदाचार में मुख्य कारण है। जिसके जैसे संस्कार होंगे, आगे वैसा ही उसका जीवन होगा। माता-पिता कुटुम्ब, परिवार के लोगों के जैसे संस्कार होंगे बालक पर भी उनका वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। इसके अपवाद भी देखे जाते हैं, किन्तु नियम में अपवाद तो हुआ ही करते हैं, नियम ऐसा ही है।

❀ श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! पुत्र उत्पन्न होने पर नंदजी ने ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराके विधिवत् सुत का जात-कर्म संस्कार कराया तथा देवता और पितरों का पूजन कराया।"

समाज की संस्कृति का प्रभाव भावी सन्तानों पर पड़ता है, इसीलिए आर्य वैदिक सनातन धर्म में वैदिक संस्कारों के प्रति बड़ा आग्रह प्रकट किया जाता था, स्त्री विषय के लिये नहीं है। यह नहीं जब इच्छा हो संयोग करो। इन सब बातों का नियम है, गर्भाधान भी एक संस्कार है, प्रथम विधिवत् वेदोक्त विधि से हवन पूजन आदि करके वैदिक या तांत्रिक मंत्रों द्वारा गर्भाधान संस्कार करे, गर्भ रह जाने पर पुनः पुंसवन संस्कार करे। फिर सीमन्त संस्कार होता है, उत्पन्न होने पर जात-कर्म संस्कार होता है। इन सब संस्कारों का एक मात्र तात्पर्य यही है, कि बच्चे के शुभ संस्कार बनें। गर्भ में रहने के दोषों को निवारण करने के निमित्त जात-कर्म संस्कार होता है। नालच्छेदन के पूर्व ही यह संस्कार किया जाता है। जब वैदिक संस्कारों में आस्था थी, तब प्रत्येक द्विज के यहाँ ये सब संस्कार किये जाते थे, अब तो इनकी कथा मात्र ही अवशेष है। विकृत रूप में कुछ संस्कार अब भी अवशिष्ट हैं।

सूतजी कहते—"मुनियो! वेद वेदाङ्ग के जानने वाले ज्योतिष विद्या में निपुण ब्राह्मणों को साथ लिये हुए नंदजी आँगन में पहुँचे। सामने ही प्रसूति-गृह था। घर के सम्मुख पर्दा पड़ गया। आँगन में ऊनी बिछौने बिछ गये, स्त्रियाँ सब दालानों में बैठ गयीं। उनमें जालीदार परदे लग गये, सुनन्दा बूआ और दास दासियाँ ही आँगन में रह गयीं। नंदजी ने कहा—"सुनन्दा देख, ये जो ब्राह्मण कहें, वे सब वस्तुएं लाकर यहाँ रखती जा।"

सुनन्दा बूआ ने कहा—"पूजन की सामग्री तो मैंने पहिले ही इकट्ठी कर रखी है। कलश, यमुना जल, आसन, दूध, दही, घृत, दीप, नैवेद्य, सुपारी, फल, वस्त्र, कलावा, यज्ञोपवीत, ये सब तो हैं। पान अभी मँगाती हूँ, इनके अतिरिक्त और जो चाहिये सो डिनजी बतादें।" यह कहकर तुरन्त उन्होंने सेविकाओं से

सब वस्तुएं मंगा दी। पडितो ने सब वस्तुओ को यथा स्थान सजाया। फिर बोले —'अच्छा तो कार्य आरम्भ हो।"

सुनन्दा बोली—'पडित जी, भाभी तो बाहर आ नही सकती।"

पडित जी बोले—"कोई बात नही, नंदराय के दुपट्टा मे एक बडी सी पगडी जोड कर नदरानी को ओढनी मे बांध दो। इतने-से ही काम चल जायगा। जा बांध आ।'

हंस कर सुनन्दा बोली—"पहले अपना नेग जोग लेलूंगी तब बाँधूगी या वैसे ही बाँध आऊंगी।"

पडित जी बोले—'तू ही तो घर की सब कुछ है, जो चाहे सो ले लेना।'

सुनन्दा बोली—'सब कुछ होने से क्या हुआ सब बात समय पर शोभा देती है। आज मेरे लेने का समय है।"

नदजी ने हंस कर कहा—'तू अब क्या काम करती है या लडाई करती है।'

सुनन्दा बोली—"भैया! मेरी लडाई का तो यही समय है मै लडूगी झगडूंगी।"

नदजी ने हंस कर कहा— जा, जा, काम कर अपनी भाभी से मांगना।"

यह सुनकर नद जी के दुपट्टा मे गांठ बांध कर सुनन्दा सूतिका गृह मे गयी और बोली— भाभी गांठ बधाई चन्द्रहार लूंगी।"

आँखो मे आसू भर कर यशोदा मैया न कहा— बीबी! सब तुम्हारा ही तो है मैं देने वाली कौन होती हूँ।' सुनन्दा बूआ ने गाँठ बाँध दी। बच्चे को गोद मे लेकर आ बठी।

ब्राह्मणो ने प्रथम सस्वर स्वस्तिवाचन कराया। तदनतर नद-

जी से सकल्प कराया, नदजी की दृष्टि एक टक उस नीलवाल-मणि, तेजपुंज सुधारस सागर सौन्दर्य-सा सरोरुह सुत के सलोने शरीर पर ही लगी थी, वे उसकी शोभा को निरखते-निरखते आत्मविभोर-से हो रहे थे। पडित कहते 'महाराज! जल छोडो, पुष्प छोडो, नद जी कुछ सुनते ही नही थे, सुनते थे, तो कुछ का कुछ छोड देते थे। जब ब्राह्मण कई बार कहने लगे तब उन्होने कहा—'ब्राह्मणो! न जाने मुझे क्या हो गया है, मेरा चित्त कुछ अच्छा सा नही है। आप मे से कोई मेरा प्रतिनिधि बन कर इन सब कृत्यो को करावे।"

एक वृद्ध पडित बोले—"हाँ, हाँ, यह उत्तम विधि है। वैश्य क्षत्रिय अपने प्रतिनिधि ब्राह्मण से ही करा सकता है। इन पडितजी को अपना प्रतिनिधि बना दो।"

नद जी ने ऐसा ही किया, अब वे ब्राह्मणो के द्वारा करवाने लगे। ब्राह्मणो ने प्रथम कलश-पूजन, दीप पूजन, शखादि का पूजन कराया। पुन. सक्षेप मे गणपति, नवग्रह, षोडशमात्रिका, पच देवो का पूजन कराया। पुन. नान्दीमुख श्राद्ध कराया। पितर-गण स्वग मे बैठे इसी बात की प्रतीक्षा करते रहते हैं, कि हमारे वश मे कोई पुत्र उत्पन्न हो, जो हमे जल तर्पण तथा पिडादि श्राद्ध द्वारा तृप्त कर। अपने वश मे पुत्र उत्पन्न होने से पितरो को अत्यधिक प्रसन्नता होती है।

देवता और पितरो का पूजन अर्चन होने के अनतर तीन व्याहृतियो से 'उपयिदधामि' ऐसा मत्र पढ़कर चौथी ऋचा मे प्रणव लगा कर बताया गया, तेरी मेधा को मित्रावरुण बढावें। फिर पाँचवी ऋचा मे प्रार्थना की गयी तेरी मेधा को अग्नि कमलो-की माला धारण करने वाले अश्विनी कुमार बढावे ऐसे मन्त्र पढ़ कर सुवर्ण की सलाका से बालक की जिह्वा पर घृत के

विन्दु डाले गये। इस मेधा वृद्धि संस्कार से बालक तीक्ष्ण बुद्धि-वाला होता है। तदननर वेदोक्त मत्रो द्वारा मत्रित किया हुआ विषम भाग में घृत और शहद मिलाकर बालक को चटाया। जिससे बालक की कान्ति प्रकृति स्निग्ध हो, उसकी वाणी मधु के सदृश मीठी हो। फिर ब्राह्मणो ने भाँति-भाँति के आशीर्वाद दिये।

इस प्रकार जात कर्म सस्कार के सब कृत्य होने पर ब्राह्मणो ने बालक को भीतर ले जाने की आज्ञा दी। सुनन्दा बूआ बालक को यशोदा मैया की शैया पर सुला आयी। अब तक नन्दजी ब्रह्मानन्द मे निमग्न हुए अचेतन-से पड़े थे। आकर सुनन्दा ने कहा—"भैया! अब कहो तो बच्चे का नालच्छेदन किया जाय।"

नन्दजी मानो सोते से जागे हो। सम्मुख उस साँवरी सलोनी मूरति को न देखकर वे हड़बडा कर उठ खडे हुए और बोले—"सुनन्दा! अब क्या करना होगा।"

सुनन्दा ने कहा—"अब भैया! तुम चौपाल पर जाओ। हम अपने घर के नेग-जोग करेंगी। हाँ, पडितजी से पूछ लो नालेच्छेदन करे।"

नन्दजी ने कहा—"अरो, अभी नालेच्छेदन कैसे होगा, इन सब ब्राह्मणो को दान दक्षिणा देनी है। अभी नालेच्छेदन का काम नही। हमारा यही प्रथम और यही अन्तिम पुत्र है। अब हमारे कोई दूसरी सन्तान होगी, ऐसी आशा नही। मेरा मन कहता है आज मैं अपना सर्वस्व लुटा दूँ।"

सुनन्दा ने कहा—"हाँ, भैया! बडी अच्छी बात है, लोग कब से आशा लगाये बैठे हैं। ये ब्राह्मण कितने दिनो से यमुना जी पर कुटिया बनाये अनुष्ठान कर रहे हैं। सबकी इच्छा पूरी

कर दो। सबको ऐसा बना दो, कि फिर इन्हे याचना ही न करनी पड़े।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपनी बहिन के ऐसे उत्साह वर्धक वचन सुनकर नन्दजी तुरन्त चौपाल पर आये, उन्होंने अपने कोषाध्यक्ष को बुलाया और फिर वे भाँति-भाँति के दान करने लगे।"

छप्पय

लौकिक वैदिक कर्म करे सुतके मङ्गल हित।
निरखि निरखि सुत-बदन हृदय होवे आनन्दित॥
चितमहँ अति उत्साह विचारें का दै डारूँ।
ऐसे सुतकूँ पाइ क्यौं न सरवसु हौं वारूँ॥
यौं विचारि चौपारिमहँ, कोषाध्यक्ष बुलाइकें।
बोले ताले खोलकें, सब धन देहु लुटाइकें॥

पुत्र-जन्म के उपलक्ष में नंदजी द्वारा विप्रों को दान

[८४०]

धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलङ्कृते ।
तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ५ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

पुनि बुलवाये गोप कही खिरकनिकूँ खोलो ।
मनमानी द्विज धेनु लेहिँ मत तिनतें बोलो ॥
चाँदी के खुर करो-सींग सोनेतें मढ़िकैं ।
सुंदर वस्त्र उढ़ाइ पूँछ मोतिनितें जड़िकैं ॥
माँगें जितनी जो गऊ, तितनी तिनकूँ दानमहँ ।
देहु न होवे- नेंकहू, कमी-- मान सम्मानमहँ ॥

हृदय में भिन्न-भिन्न वृत्तियो की स्नायु होती हैं, जब जैसा भाव होता है, तब तैसी वृत्तियाँ उदय हो जाती हैं। बहुत-से भाव स्वतः एकान्त में उदित हो जाते हैं, बहुत-से किसी वाह्य कारण से उदित होते हैं। कामिनी को देखकर काम के भाव उदय हो जाते हैं,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! नन्दजी ने बीस लाख गौएँ ब्राह्मणों को दीं; वे सबकी सब वस्त्राभूषणों से अलकृत थी। सात तिलके पर्वत भी दिये, जो रत्नो से तथा सुनहरे काम किये हुए वस्त्रों से ढके हुए थे।"

जिन्होने काम पर विजय प्राप्त करली है, उनकी बात दूसरी है। किसी हर्ष के समाचार को सुनकर हमारा रोम-रोम खिल उठता है। चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हो जाता है, इसी प्रकार प्रियजनो की विपत्ति मृत्यु आदि सुनकर शोक सम्बन्धी स्नायुयो मे एक प्रकार का विशेष स्पंदन होता है, हृदय धडकता है, नेत्रो मे अश्रु आ जाते हैं, चित्त व्याकुल हो जाता है। कुछ वृत्तियो के आने से संग्रह का भाव जाग्रत होता है, जैसे कोई अपरिचित इष्ट वस्तु की याचना करे या संग्रहणीय वस्तु के नाश का प्रसग हो, ऐसे समय लोभ की वृत्ति प्रबल हो जाती है। किसी समय उदारता की स्नायु बलवती बन जाती है, पुत्रोत्सव के समय, विवाह के समय अथवा अन्य उत्सव-पर्व या सस्कार के समय चित्त मे देने की व्यय करने की भावना जाग्रत होती है। इन सब मे केवल काल का ही प्रभाव नही पडता है, अपितु देश और पात्र का भी संयोग होना आवश्यक है। कोई पात्र अनुपम युक्त है, उस पर देश काल का प्रभाव ही नही पडता। एक अत्यंत कृपण है, उसे किसी को खिलाना हो, विवाह हो, पुत्र-जन्म हो, व्यय करते समय उसके प्राण निकलेंगे। उस पर काल का जितना चाहिये उतना प्रभाव नही पडता। एक अत्यंत क्रूर हृदय पुरुष है, उसकी लडकी बहिन विदा हो, सगे सम्बन्धी मर जायें, उसकी फूटी आंखो मे एक भी आंसू न गिरेगा। या पूर्ण ज्ञान निष्ठ की भी ऐसी दशा होती है। माघ का महिना है, तीर्थराज प्रयाग ऐसा पुण्य क्षेत्र है, वहां स्नान करके दान पुण्य करने की स्वाभाविक इच्छा होती है, यह देश का प्रभाव है। यदि कोई उदार चित्त का व्यक्ति है, उसे यदि कोई अभूत पूर्व प्रसन्नता हो जाती है, जैसे अब तक उसके पुत्र नहीं और सहसा आशा न रहने पर भी पुत्र हो जाय, तो उस समय उसकी उदारता पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है,

देत-देते उसका चित्त भरता भी नही। ऐसा लगता है, मा
सर्वस्व दान कर दूं। बौद्ध काल मे सम्राट् हर्ष के सम्ब
मे ऐसी प्रसिद्धि है, कि जब प्रयाग में बारह वर्ष के पश्चात् क
लगता था, तो वे अपना सम्पूर्ण धन ब्राह्मणो को भिक्षुओ
तथा दीन दुखियो को बाँट देत थे। यहाँ तक कि अपना रा
मुकुट भी उतार कर दे देते थे। एक लंगोटी लगा कर रह जा
थे। सूर्यवश तथा चन्द्रवश के बहुत-से राजाओ की ऐसी कथा
हैं कि, वे अपने यज्ञो मे सर्वस्व दान कर देते थे, और अत मे मिट्टी
के पात्रो मे खाते थे। वास्तव मे यही तो धन का उपयोग है। देख
जाय तो धन है क्या। जसे भूमि से कही काली मिट्टी निकल
है, कही पीली, कही सफेद। ऐसे ही सोना, चाँदी आदि धातु
भी मिट्टी ही है, जहाँ से उत्पन्न हुई हैं। वही मिल जायँगी।
न आज तक किसी की हुई न होगी। यह लोगो का भ्रम
मोह है, कि हाथ मे रुपया पैसा या अन्य धन आते ही मेरे मे
कह कर उसमे लोभ करने लगते हैं। धन तो यही से उत्पन्न हु
है यही रह जायगा केवल यश अपयश ही शेष रह जाता
मनुष्य उसके द्वारा सद्वृत्तियो का उद्बोधन करके स्वर्ग लाभ
कर सकता है और लोभादि असद्वृत्तियो को बढा कर घोर न
क मे भी जा सकता है। हर्ष के समय जिसकी त्याग वृत्ति जाग्र
न हो उस या तो त्रिगुणातीत समझो या फिर नरपशु।

सूतजी कहते है—"मुनियो! नदजी महामना थे। उनका
चित्त अत्यत ही उदार था। व्रज मे उनकी उदारता सर्वविदि
थी। सहस्रो वेदज्ञ ब्राह्मणो को उन्होने आश्रय दे रखा था। व्र
के जितने गोप है सब उन्हे अपने पिता के समान मानते थे
जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती, अपने घर के समान न
जी के यहाँ आते और उठा ले जाते थे। भाग्य से ऐसा ही स्वभा

जाते, गोप तुरत उनके खुरो को चांदी से मढ देते। सीगो मे सोना लगा देते। कठ मे सुवर्ण की माला पहिना देते। ऊपर से सुवर्ण के काम का दुशाला उढा देते। पूंछ मे मोतियो को लगा

देते। कासे की दोहनी दे देते। अन्न रख देते, ब्राह्मण को भी अँगरखी, पगडी, पेच, दुपट्टा, साफी तथा मणि मुक्ताओ और सुवर्ण की मालायें पहिना देते। इस प्रकार अलकृत गौओ को अलकार किये हुए ब्राह्मणों के लिये तुरन्त दे देते थे। किसी

को रोक नही, टोक नही, जिसे जितनी चाहिये उतनी ले जाओ। बहुत-से आते महस्रो छांट लेते, फिर सोचते—'और गौओ का ले जाना तो सरल है, इन्हे रखेंगे कहाँ, बांधेगे कहाँ। फिर इनकी रेख-देख कौन करेगा। यही सब सोच कर वे सब को छोड देते, दो चार ले जाते। इस प्रकार दिन भर यही लीला होती रही।

एक ब्राह्मण था, घर तो उसका छोटा था, किन्तु तृष्णा बडी थी। अच्छी-अच्छी सुदर-सुदर पचास गौएँ ले आया। इसकी स्त्री कुछ ऐसी ही सट्ट-पट्ट थी। वह तो बडे उत्साह मे बडी प्रसन्नता मे गौओ को लाया। उसने सोचा—"मेरी घरवाली अत्यन्त प्रसन्न होगी।।" आते ही उसने घर मे आंगन मे पैरी मे द्वार पर सर्वत्र खूंटे गाड दिये। फिर भी गौएं न समायी। तब उसने घर मे रसोई घर मे खूंटे गाढे। अब घर मे एक तिल रखने को स्थान न रहा। गौएं फिर भी शेष थी। उसने अपनी घर वाली स पूछा—"सुनती है सुक्खा की मां! ये गौएं बच रही हैं इन्हे कहाँ बांधूं।"

उसने कहा—"एक खूंटा मेरे सिर पर गाड दो उसमे बांध दो।"

ब्राह्मण बोला—"अरी, क्रोध क्यो करती है, कैसी सुन्दर-सुन्दर तो मै गौएं लाया हूँ, तुझे प्रसन्न होना चाहिये। उलटे व्यग वचन बोल रही है।"

उसने तुनक कर कहा—"और कहाँ स्थान बताऊं। घर तो तुम्हारा जितना बडा है उतना ही रहेगा। वह बडा तो हो सकता नही। चौका चूल्हे को भी तो तुमने घेर लिया है। चूल्हे पर खूंटा गाड दिया है, अब मै रोटी कहाँ करूंगी।"

ब्राह्मण ने कहा—"अब रोटी का क्या काम? अब तो खीर बनाओ और दोनो हाथो से सपोटो।"

स्त्री बोली—'खीर बनाने को भी स्थान चाहिये।"

ब्राह्मण बोला—"बरोसी मे बने, यदि तेरी इच्छा होगी तो कुछ गौओ को ससुराल भेज देंगे।"

यह सुन कर स्त्री प्रसन्न हो गयी और उसने ब्राह्मण की बात-को स्वीकार कर लिया।" इस प्रकार दिन भर गौओं का दान होता रहा। जब सब चले गये, तो नदजी ने पूछा—"सब कितनी गौएं दान दी गयी।"

सेवकों ने गणना करके बताया—'बीस लाख गौएं अब तक दान हुई हैं।"

नदजी ने कहा—"इतने से तो हमारी तृप्ति हुई नही। उन्होने ब्राह्मणो से कहा—"ब्राह्मणो! मेरी तो इच्छा यह होती है, कि सुवर्ण के सुमेरु को दान दे दूं। किन्तु सुमेरु हमे मिले कैसे?"

ब्राह्मण बोले—"बाबा! साक्षात् सुमेरु न भी हो, तो भी पुराणो मे ऐसे उपाय है कि, सुमेरु दान का फल मिल जाता है।"

नन्दबाबा बोले—"हाँ, हाँ वह उपाय मुझे अवश्य बताओ। उसे मै करूंगा।"

ब्राह्मण बोले—"बाबा! तिलो का एक ऐसा ढेर लगाओ जिसके पीछे खड़े होने पर मनुष्य दिखाई न दे। उसे रत्नो से ढक दो उसके ऊपर पीला वस्त्र ढक कर ब्राह्मणो को दान कर दो। सुमेरु पवत के दान का फल हो जायगा। यदि ऐस सात पर्वत दान कर दो तो ब्रह्माण्ड दान का फल हो जायगा।"

नन्द बाबा बोले—"तो ब्राह्मण मुझसे ऐसे सात तिल के पर्वतो का ही आप दान करावें।"

फिर क्या था इस समाचार से सब के हर्ष का ठिकाना नही रहा। सहस्रो बोरियो मे भरे तिल मगाये गये। उतने ही मणि मुक्ता आदि रत्नो के समूह मंगाये गये। सुनहरे काम के बहुत से पीले रग के बहुमूल्य दुशाले मंगाये गये। सात स्थानो मे तिलो के बड़े-बडे सात पर्वत बनाये गये। उनके ऊपर मणि मुक्ता इस

प्रकार बिछाये गये, कि तिल दिखाई ही न दें। फिर वे सब पीले दुशालाओं से ढक दिये गये। उनको सब ब्राह्मणो के लिये दान कर दिया गया।

यह सुन कर शौनकजी बोले—"सूतजी! पुत्र उत्पन्न होने पर वृद्धि सूतक लग जाते हैं। सूतको में तो ब्राह्मण उस घर का जल भी नही पीते, फिर इतने दान ब्राह्मणो ने सूतक मे कैसे ले लिये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! पुत्र उत्पन्न होने पर सूतक तभी लगता है जब नालच्छेदन हो जाय। जब तक नालच्छेदन नहीं होता तब तक सूतक नही माने जाते। उस समय में दान लेने मे कोई दोष नही, ऐसा शास्त्र का प्रमाण* हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! आपका कथन सत्य है, अच्छा फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! फिर घर मे जो भीतर नेग जोग होते हैं, वे हुए। उन सबका भी मैं वर्णन करूंगा। नन्दोत्सव की कथा बडी सरस है। इसे शनैः शनैः कुछ रुक-रुक कर कहूँगा। आप ऊबे नही।'

छप्पय

सब गोपनि ब्रजराज नद आज्ञा सिर धारी।
कनक रतन लै धेनु दान की कीन्हीं त्यारी॥
हल्ला ब्रजमहँ मच्यौ सुनत सब द्विजमन आवें।
छाँटि-छाटि के धेनु लेहिं अतिशय हरषावें।
पाँच, सात, दश, बीस, सौ, लेश्रौ चाहें सहसहू।
आज खिरक नवई खुले, रोक टोक नहिँ नेंकहू॥

---

* यावन्न छिद्यते नाल तावन्नाप्नोति सूतकम्॥
छिन्ने नाले तत पश्चात्सूतक तु विधीयते॥

श्री नंदजी ने अपना सर्वस्व सार्थक किया

[८४१]

कालेन स्नानशौचाभ्या सस्कारैस्तपसेज्यया ।
शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्माऽऽत्मविद्यया ।*

(श्रीभा० १० स्क० ५ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

बीस लक्ष्य दै धेनु नहीं सन्तुष्ट भयो चित ।
तिलके परवत सात रत्न पट दीये हरषित ॥
दयो शुद्धि हित दान यही सद्व्यय धनको है ।
शुद्ध कालतें भूमि तोष कारन मनको है ॥
मज्जनतें तनु वस्तुकी, शुद्धि शोचतें कहें मुनि ।
गर्भादिक संस्कारतें, आशय होवे शुद्ध पुनि ॥

इस जगत की स्थिति पञ्चपर्वा अविद्या के कारण है। यदि अविद्या का आवरण न हो, तो यह ससार इस प्रकार अनेक रूप मे चित्र विचित्र दिखाई न दे, भगवान् तो नियम से परे ही है वे जो चाहे सो करें उनके लिये कोई नियम नहीं। नही तो साधारण नियम यह है, कि सब वस्तुएं मल सहित उत्पन्न होती है। क्रिया द्वारा उन्हें निर्मल बनाया जाता हैं, सस्कार

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं— राजन् ! सम्पूर्ण द्रव्यो की शुद्धि क्रमशः समय के द्वारा स्नान शौच सस्कार, तप, यज्ञ दान तथा सन्तोष के द्वारा होती है और आत्मविद्या के द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है।

द्वारा वे विशुद्ध होती हैं। खान से सुवर्ण, चाँदी, ताँबा आदि धातुएं जैसी हम देखते हैं वैसी नही निकलती। वहाँ से अशुद्ध मलावृत निकलती हैं, पीछे युक्तियो द्वारा तपा-तपाकर उन्हें शुद्ध किया जाता है। हम श्रीमानो के कठो मे आभूषणो मे जो मणियाँ देखते हैं, खान से वे ऐसी चमकीली नही निकली हैं। वहाँ से तो वे मल युक्त निकली हैं। निकालने पर उनका सस्कार किया गया। खराद पर उन्हे खरादा गया, तब उनमे चमक आयी। जिन गेहूँ, जौ, चावलो को हम खाते हैं, वे खेत से ऐसे ही विशुद्ध उत्पन्न नही हुए थे। खेत से आये तो व छिलको से ढके थे। कूट-कूट कर उनका सस्कार किया गया, छिलके उतारे गये। सूप मे रखकर फटका गया। फिर एक-एक करके बीने गये, चक्की मे पीसे गये चलनी मे छाने गये। इतने सस्कारो के अनन्तर वे खाने के योग्य हुए। बनाकर भगवान् का भोग लगाया गया। अतिथि आदि को देकर गो ग्रास आदि निकाल कर तब प्रसाद पाने योग्य हुआ। इसीलिये ये सिद्धान्त है, कि सस्कार ही शुद्धि मे मुख्य कारण हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर नन्द जी तो दान देने मे बेसुध हो रहे थे, उधर स्त्रियाँ बच्चे के नालच्छेदन के लिये व्याकुल हो रही थी। वे कहती देना लेना तो बना ही रहेगा, बच्चे को घुटी देनी है, मैया को कुछ आहार देना है, रात का बच्चा हुआ है।"

दासियो ने आकर नन्दबाबा से कहा—"नन्द बाबा ने ब्राह्मणा की ओर देखा। तब ब्राह्मण बोले—'हाँ, हाँ नालच्छेदन-हो। आपको जो देना हो, सकल्प कर लें, फिर चाहे जब तक देते रहें।"

नन्दजी ने हाथ जोड़कर आँखो मे आँसू भरकर कहा—"मेरा

तो सभी संकल्प है महाराज ! जैसी आप सबकी आज्ञा ।" फिर दासियों से कहा—"हाँ, जाओ नालेच्छेदन करो ।"

इतना सुनते ही दासियाँ दौड़ी-दौड़ी आयी और सुनन्दा से बोलीं—"बीबी ! बीबी ! व्रजराज ने आज्ञा दे दी है, नाल छेदन करो ।" यह सुनकर सभी को हर्ष हुआ ।

यशोदा मैया, लालजी को गोद में लिये हुए है, बार-बार उन्हें भाव समाधि हो जाती है, जब भी लाल की अद्भुत शोभा मन्द-मन्द मुस्कान से युक्त आनन को निहारती है, तभी वे अचेत बन जाती है, उनके नेत्रों से निरन्तर नेह का नीर निकल कर नील नीरदद्युति नन्दलाल के नील वदन को भिगो रहा था मानों नेह नीर से न्हिला रही हों। अथवा नव जलधार द्युति श्याम को संकेत कर रही हो कि बरसो-बरसो और इस व्रज मंडल को प्रेम परिप्लवित कर दो अथवा बच्चे को भूखा समझ कर स्तनों से दुग्ध न बहते देखकर नेत्रों के निर्मल नेह नीर से ही उनकी बुभुक्षा शान्त करने का प्रयत्न कर रही हों। अथवा वाणी रुद्ध होने के कारण नेत्रों से नीर बहाकर ही संकेत कर रही हों, कि इसे न्हिला दो, कुछ पिला दो। इतने में ही सुनन्दा बुआ सुवर्ण की बनी चमचमाती छुरी ले आयी। दाई के हाथ में देकर बोलीं—"दादी ! अब देर मत कर शीघ्र नाल काट दे ।"

दाई ने झिड़ककर कहा—"कोई गाजर मूली है, जो काट दूँ, नाल तो विधि पूर्वक ही काटा जायगा ।"

बूआ ने कहा—"विधि पूर्वक ही काट, बुढ़िया ! तेरे मुँह में दाँत तो एक भी नही गरजती है सिंहनी की तरह। है तो डोकरी बनी, है लोठरी-सी। कर क्या-क्या विधि करेगी ।"

बुढ़िया दाई बोली—"हल्दी लाओ रेशम का धागा वह मेरी संदूकची में रखा उसे मंगाओ जल लाओ ।"

बूआ जाकर स्वयं ही सब वस्तुओं को उठा लायीं। बुढ़िया ने अपने काँपते हुए हाथों से नाल को प्रथम नापा। नाभि से ८ अंगुल छोड़कर जहाँ उसमें एक गाँठ-सी थी, उसके नीचे रेशम का डोरा बाँधा। एक अंगुल छोड़कर ऊपर भी एक डोरा बाँधा। हल्दी लगायी, छुरी का पूजन किया और फिर बैठ गयी।

उप नन्दजी की पत्नी जो लालजी की सबसे बड़ी ताई हैं, उन्होंने दायी से कहा—"अब देर क्यों कर रही है बुढ़िया! नाल काटती क्यों नहीं?"

दाई बोली—"वैसे ही काट दूँगी? पहिले अपना नेग जोग तो ले लूँ। पहिला लाला है भगवान् करे ऐसे बहुत होवें। सदा हम नाल काटती रहें।"

हँसकर सुनन्दा बूआ बोलीं—"तब तक बुढ़िया तू बैठी ही रहेगी? मिलेगा नेग जोग काट देर मत कर।"

बुढ़िया तुनक कर बोली—"अपने लिये तो भैया भाभी से लड़ रही थी। चली है मुझे सीख देने। नहीं काटती मैं। लो, तुम ही काट लो। जब तक मेरी दक्षिणा न मिलेगी।"

हँसकर उपनन्द पत्नी बोली—"अच्छा, क्या लेगी तू?" फिर सुनन्दा से बोली—"बीबी! इसे भी एक थाल भर के मोती दे दो।"

बुढ़िया तुनक कर बोली—"मुझे मोती मूँगा नहीं चाहिये। मैं तो जो नन्द रानी नौलखाहार पहिने हैं उसी को लूँगी।"

बूआ बोली—"इसे पहिन कर तू गौने को जायगी। बड़ी अच्छी लगेगी इसे पहिन कर बन्दरी-सी। दूसरा ब्याह करले तब हार पहिनना इस पोपले मुँह में-तिनका जैसे शरीर में हार अच्छा लगेगा।"

इतने मे ही नद जी आ गये। उन्हे बालक को देखने की चटपटी लगी हुई थी, भीतर दाई और सुनन्दा मे झगडा होते देखकर वे बाहर से ही बोले—"सुनन्दा! अरी, लाली, क्या झगडा है।"

वही से अवल सम्हालती हुई सुनन्दा बूआ बोली—"भैया यह बुढिया नही मान रही है, झगडा करती है, नाल नही काटती।"

नन्दजी ने कहा—"बात क्या है क्या नहीं काटती? तुम उसका नेक जोग न देती होगी?"

सुनन्दा ने कहा—"बडी भाभी दे तो रही है, किन्तु यह अड रही है मैं तो भाभी वाला नौलखाहार ही लूंगी।"

नन्दबाबा की आँखो मे आँसू भर आये वे सोचने लगे—"धन्य मेरा भाग्य जो आज मेरे बच्चे के पीछे सभी अपना अधिकार जमा रही हैं, सभी झगडा कर रहे हैं। ऐसा अवसर भाग्यवानो को ही प्राप्त होता है उनका कठ रुद्ध हो गया। कुछ आगे बढ कर बच्चे की ओर देखकर बोले— दे दो, दे दो हार और बन जायगा। आज किसी क मन को मारो मत।'

इतना सुनते ही नन्दरानी ने अपना नौलखाहार दाई के गले मे पहिना दिया। दाई फूली न समायी।

बूआ बोली—"बुढिया लगती तो बडी अच्छी है, एक मोरी चन्द्रिका की और कमी है नही पूरी दुलहिनि सी लगती।"

अब बुढिया ने दो तीन बार छुरी को देखा फिर दोनो डोराओ के बीच से नाल को शीघ्रता से काट दिया। कटे नाल को लेकर उसमे द्रव्य रख कर घर के आंगन मे गड्ढा खोद कर गाड दिया। नाभि स जो नाल लगा रह गया था उसमें एक कंचन की मृदुल रेशम का डोरा बाँधकर उसे लालजी क गले में इस प्रकार ढीला बांध दिया मानो पीला हार पहिना दिया हो। तब तक

बूआ जन्म घुटी तैयार करके ले आयी। चमची से शनैः शनैः लालजी के मुख मे डालने लगी। लालजी मुँह बनाने लगे, इधर-उधर छटपटाने लगे। उन्हें घुटी-फुटी से क्या काम वे तो माखन मिश्री के खवैया है, किन्तु अब तो बालक बने हैं। ससार को नचा रहे थे, अब स्वय नाचना होगा। ये लुगाइयाँ जैसे रखेंगी वैसे रहना होगा, जो खिलावेंगी खाना होगा; प्रेम का बन्धन होता ही ऐसा है।

फिर दाई ने कहा—"नन्दरानी! बच्चे के मुख मे चूची देना अब तो दूध उतर आया होगा। अभी घुटी पी है, कुछ देर मे देखना पीता है या नही।" यह कह कर लालजी को माता के पलग पर सुला दिया। लालजी ने आँखें बन्द कर ली। आँखें क्यो बन्द कर ली जी? सम्भव है सोच रहे हो, आगे अब क्या करना है। अभी तक मैंने तो एक रोने की लीला की। और सब तो ये बाबा भैया, बूआ, ताई, दाई, और व्रज की लुगाइयाँ ही करती रही। अब मुझे भी कुछ करना चाहिये। यही सब सोचते-सोचते लालजी झपकियाँ लेने लगे।

नन्दरानी का शरीर स्थूल था। इस कारण स्तन कुछ बडे-बडे थे। अब तो मातृस्नेह के कारण वे दूध से भर गये थे, इस लिये परस्पर जुड से गये थे। उनके नितम्ब अति स्थूल थे अतः सम्पूर्ण शैया को घेर कर पडी थी, उस समय उनके पास संयोग से कोई था नही, स्तन दूध से भर रहे थे, माता का स्नेह उमड रहा था। समीप ही लालजी झपकियाँ ले रहे थे कि इच्छा हुई बच्चे को दूध पिलाऊँ। इसलिये उन्होने लालजी को उठाया पहिले कभी बच्चा हुआ हो, तो दूध पिलाना जानती। उन्होने अपने बड़े-बडे लम्बे दुग्ध से भरे सुपुष्ट स्तनो को आगे किया, लालजी को टेढा किया और लेटे ही लेटे उनके मुख मे स्तन

दे दिया। ये नटखट देव तो दूध के प्रेमी ही ठहरे टेढ़े होकर चुसुर-चुसुर करके दूध पीने लगे। इतने में ही उपनन्द संनन्द की स्त्रियाँ आ गयी और आश्चर्य चकित होकर बोलीं—"हाय! नन्दरानी, बच्चे को कहीं ऐसे दूध पिलाती हैं, ऐसे पिलाने से तो बच्चे-के अंग टेढ़े हो जायंगे। बैठ कर गोदी में लेकर, हाथ का सहारा देकर, घोंटू को उठा कर तब सुख पूर्वक बच्चे को दूध पिलाया जाता है।" यह सुन कर नन्दरानी उठ कर बैठ गयीं। वे लज्जित हुईं, अपने स्तन को लालजी के मुख से निकाला। दूध बह कर बाल लाल के वक्षःस्थल पर बहने लगा। माता के कज्जल मिश्रित अश्रुओं का जल भी उसके साथ ही बहने लगा। मानों गंगा जमुना का संगम वक्षःस्थल पर हो रहा हो और बाल मुकुन्द अपने छोटे से शरीर को अक्षयवट के पत्र पर हिला रहे हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! माता की तनिक-सी भूल से ही हमारे ये नटनागर तीन स्थानों मे टेढ़े हो गये। आपने देखा होगा, जब भी ये खड़े होते है इनकी गरदन झुक जाती है। कटि भी टेढ़ी हो जाती और टेढ़ी टाँग तो इनकी प्रसिद्ध ही है। जब खड़े होंगे तब टेढ़े ही खड़े होंगे। शरीर ही टेढ़ा हो सो बात नहीं। टेढ़े टाँग वाले इन देवता जी की सभी बातें टेढ़ी हैं। चितवन टेढ़ी, चलन टेढ़ी, उठन टेढ़ी, बैठन टेढ़ी, वाणी टेढ़ी, लकुट टेढ़ा, मकुट टेढ़ा, स्वभाव टेढ़ा, कहाँ तक बतावें टेढ़े की सभी वस्तुएँ टेढ़ी ही टेढ़ी हैं। इनकी टेढ़ी चितवन किसी के हृदय में चुभ जाती है, तो फिर निकलती नहीं। हाय! सीधी यशोदा के यह कैसा टेढ़ा बेटा हुआ। अपने टेढ़ेपन से इसने सबको चक्कर में डाल रखा है। जो कहते हैं—"हैं" उनको भी चैन नहीं। कैसा है सगुण है या निर्गुण है लोग है या लुगाई है बेटा है या भाई है। पति है या यति है। आस्तिक तो इसी चक्कर में पड़े हैं। नास्तिक कहते

हैं, नही है नही है। क्यों नही है इसी की युक्ति देते-देते वे पागल हो जाते हैं। अरे, जो नही है, उसके पीछे तुम व्यर्थ क्यों पडे हो। नही है समाप्त हुआ, किन्तु इस टेढ़े का चक्कर है ही ऐसा टेढा। किसी प्रकार सन्तोष नही, चैन नही। सो महाराज! इस टेढी टाँग वाले के कभी सामने न आना चाहिये, इसके सम्बन्ध को कोई बात भी न कहनी चाहिये। मौनी बन जाना चाहिये। यदि कुछ बात मुँह से निकाली, समझ लो फँस गये चक्कर में। यह मीठी सीधी सादी खीर नही है, बडी टेढ़ी खीर है, क्योंकि टेढ़े होकर इसने अपनी माँ का क्षीर पिया था। इस-प्रकार मुनियो! श्रीकृष्ण जन्म के उपलक्ष्य मे नन्द जी ने स्नान दान तथा संस्कार आदि कराये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! नन्दबाबा ने इतने दान, इतने खटराग क्यो किये? प्राकृतिक नियम है, माता-पिता के रजवीर्य मिलने से बच्चा होता है, हो गया। अब उसके लिये इतना झंझट करना यह समय का दुरुपयोग नही है?"

यह सुन कर सूतजी हँस पड़े और बोले—"हाँ, महाराज! जो लोग शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, वे नास्तिक ऐसा ही कहते है। वे बाह्य शुद्धि को ही शुद्धि कहते हैं। नहा लिये, वस्त्र सफेद पहिन लिये शुद्धि हो गयी। भीतर की शुद्धि वे जानते ही नही। नहा लेना, शुद्ध स्वच्छ धुले कपड़े पहिन लेना। यह भी शुद्धि है, किन्तु सब की शुद्धि एक-सी नही होती, एक प्रकार से भी नही होती। सब की शुद्धि के भिन्न-भिन्न प्रकार है। अशुद्धि तो पृथ्वी, तन, मन, धन, इन्द्रियो तथा सभी वस्तुओ में हो जाती है। उनकी शुद्धि के भी भिन्न-भिन्न प्रकार हैं।"

शौनकजी बोले—"पृथ्वी की शुद्धि कैसे होती है?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! जैसे माघ के महीने में लक्षों

आदमी आकर एक महीने रहकर सगम के समीप मल मूत्र द्वारा अशुद्ध कर देते हैं। माघ बीतने पर महीने बीस दिन मे भूमि स्वय पुन शुद्ध हो जाती है। अत भूमि की शुद्धि मे काल की अपेक्षा है। काल पाकर भूमि शुद्ध हो जाती है।"

शौनक जी ने कहा—"जल की शुद्धि कैसे होती है ?"

सूतजी बोले—'बहुत होने से मिल जाने से या औषधि आदि डालन से होती है। जैसे—एक छोटे से गड्ढे मे जल भरा है, अशुद्ध है। वही वर्षात मे बढ जाय शुद्ध हो गया। किसी के हाथ का हम जल नही पीते वही दूध मे दही मे मिल जाय शुद्ध हो गया। कोई नाली मोरी का जल है उसे स्पर्श भी नही करते गङ्गाजी मे मिल गया, शुद्ध हो गया।"

शौनक जी ने कहा—"और भी वस्तुओ के शुद्धि के प्रकार बताइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! कहाँ तक बतावें शुद्धि का तो बडा विस्तार है, देश काल तथा पात्र के अनुसार शुद्धि के भी असख्यो भेद हैं। ऊपर का शरीर स्नान करने से शुद्ध हो जाता है। अपवित्र पदार्थ मलने, धोने, छीलने, तपाने जल तथा मिट्टी से शुद्ध हो जाते हैं। लोटे को लेकर शौच गये। आकर तीन बार मिट्टी से मल लिया, जल से धो लिया, शुद्ध हो गया। पीतल आदि की थाली लोट मे खा पी लिया मिट्टी लगाकर मल दिया शुद्ध हो गया, सुवर्ण चाँदी के पात्रो में मिट्टी लगाने की भी आवश्यता नही, वे केवल जल से धो देने से ही शुद्ध हो जाते हैं। मिट्टी का सकोरा पानी पीने से अशुद्ध हो गया, उसे अग्नि मे तपाकर लाल कर लो, फिर पीने योग्य हो गया। काठ की कठौली है, खाने से अशुद्ध हो गयी, उसे छील दो शुद्ध हो गयी। धान्य धूप मे सुखा दो शुद्ध हो गये। इस प्रकार काल

सम्बन्धी शौच से कोई जल मिट्टी के सयोग से शुद्ध हो जाते हैं।

गर्भादि की शुद्धि सस्कार से बतायी है। जात-कर्म नाम-करण आदि सस्कार हुए प्रसूत सम्बन्धी अशौच समाप्त हो जाते हैं। रजस्वला तीन दिन अशुद्ध होती है। चौथे दिन सिर से स्नान कर लेने पर अपने आप शुद्ध जो जाती है। द्विजो के बालक जब तक यज्ञोपवीत नही होता शूद्रवत् माने जाते हैं, जहाँ उपनयन वेदारम्भादि सस्कार हुए उनकी द्विज सज्ञा हो जाती है। इन्द्रियाँ तप के द्वारा शुद्ध हो जाती हैं। द्विजातीय पुरुष यज्ञो के द्वारा विशुद्ध बन जाते हैं। धन की शुद्धि का एक मात्र उपाय है दान। दान के बिना धन की शुद्धि नही। जिस धन मे से दान के लिये नही निकाला जाता वह मल के समान है, उसको बिना दान किये जो खाता है, वह पाप को खाता है। चित्त की शुद्धि सन्तोष से होती है। जिसे सन्तोष नही, उसे चाहे जितना धन मिल जाय, वह सदा चिन्तित और दुःखी ही बना रहता है। चित्त की प्रसन्नता सन्तोष-ही सबसे श्रेष्ठ धन है। आत्मा की शद्धि आत्म विद्या से ज्ञान से होती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने बड़ा गहन विषय छेड दिया। हमे तो आप श्रीकृष्ण जन्म की कथा ही सुनावें। कैसी सरस कथा कह रहे थे, अब आप कर्म-काड को ले पड़े।"

सूतजी ने कहा—"अजी, महाराज! आप ही तो छेड देते हो। अब आप आज्ञा देते हैं, तो मैं श्री कृष्ण-जन्म की ही अत्यन्त सरस कथा कहता हूँ बड़ी लच्छेदार, आप ध्यान पूर्वक सुनें।"

छप्पय

तपतैं इन्द्रिय शुद्ध होहिँ मखतैं सब द्विजगन।
हरि भक्तनितैं देश दानतैं होहि शुद्ध धन॥
सब वस्तुनि की शुद्धि विविध विधि वेद बताई।
नदनँदन के जन्म समय विधिवत करवाई॥
देशकालवित नदको, दान देत नहिँ भरहि मन।
आवैं दशहूँ दिशानितैं, मागध बन्दी सूतगन॥

श्री नंदजी द्वारा सबका दान-मान से सम्मान

[८४२]

सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः ।
गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः ॥*

(श्री भाग० १० स्क० ५ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

सबकी आशा लगी नित्य ही टोह लगावें ।
नँदरानी कब कमलनयन लालाकूँ जावें ॥
धुनि भेरी की सुनि सुनत सब जन हरषाये ।
जामा पगड़ी पहिन दौरि गोकुलमहँ आये ॥
दूरहितें अति मुदित मन, जय जयकार सुनाइकें ।
आशिष सुतकूँ देहि शुभ, गीत मनोहर गाइकें ॥

ससार मे सदा दो प्रकार के पुरुष होते आये है, एक श्रमजीवी दूसरे बुद्धिजीवी । वैसे तो श्रमजीवी भी बुद्धि से ही काम करते हैं, किन्तु उन्हे श्रम अधिक करना पड़ता है । इसी प्रकार

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! श्रीनन्दजी के पुत्रोत्सव के समय ब्राह्मण-गण तथा सूत, मागध और बन्दी-जन सुन्दर मगल युक्त वचन बोलने लगे । गायक लोग गान लगे तथा भेरी दुन्दुभि आदि बाजे स्वय बार-बार बजने लगे ।"

बुद्धिजीवी भी कुछ न कुछ श्रम करते ही हैं, किन्तु उन्हे बुद्धि से विशेष काम लेना पडता है। श्रमजीवियो मे भी दो भेद होते है, एक कृषि वाणिज्य गो-रक्षण आदि समाजोपयोगी कार्य करने वाले, दूसरे सेवा द्वारा निर्वाह करने वाले। इसी प्रकार बुद्धि जीवियो मे भी एक मनोरजक ललित कलाओ द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले, दूसरे धर्म, समाज, राजनीति द्वारा समाज को सुव्यवस्थित रखने वाले। ये परस्पर मे मिलकर काम करते हैं, तो समाज का सगठन सुदृढ और सुन्दर रहता है। जब ये परस्पर मे एक दूसरे को सहयाग नही देते तो समाज मे विघटन हो जाता है। श्रमजीवी श्रम द्वारा धन उपाजन करते है। सेवोपजीवी सेवा करते हैं, और पुरस्कार द्वारा अपना जीवन बिताते है। विद्योपजीवियो का कार्य श्रमजीवी या शासको की सहायता से ही चलता है। सबका समय बँधा रहता है। कृषक जब खेती काटता है, तो सभी सेवोपजीवी पहुँचते हैं सबको वह देता है। ६ महीने वे बिना कुछ लिये सेवा करते हैं। विवाह, पुत्रोत्सव तथा अन्य उत्सव पर्वों पर वे पारितोषिक पाते हैं। एक के उत्सव मे सभी सम्मिलित होते हैं यही सामाजिक एकता है, इसी का नाम सम्मिलित परिवार है। आज श्रम किया, आज ही हम उसका वेतन माँगते है, यह सम्मिलित समाज का नियम नही। यह स्वार्थ पूर्ण स्नेह रहित समाज का जीवन है। इसमे सरसता नही, सहयोग नही, सद्वृत्तियो का विकास नही, उत्साह और एक दूसरे के सुख दुख मे सुखी दुखी होने का भाव नही। यह ममता और स्नेह से रहित स्वार्थ परायण नागरिक जीवन है। ग्राम्य जीवन इससे अधिक सरस और सुख प्रद हैं यह सरसता विवाह तथा पुत्रोत्सव के समय अत्यन्त बढ जाती है एक की प्रसन्नता मे सभी प्रसन्न होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! नंदराय के लाला हुआ है। यह बात सम्पूर्ण व्रजमंडल में रातो रात फैल गयी। सभी लोग आशा लगाये तो बैठे ही थे। रात्रि भर भेरी, नगाड़े तथा दुन्दुभियो की तुमुल ध्वनियाँ सुनकर ही सबने समझा लाला के जन्म का ही महोत्सव है। सभी बधाई देने गोकुल की ओर दौड़े। मार्ग में उन्होने देखा, सहस्रों ब्राह्मण लाखों गोओं को लिए जा रहे हैं। सब बड़े उत्साह से पूछते—"क्या व्रजराजजी के लाला हुआ है ?"

ब्राह्मण कहते—"लाला नहीं हुआ है; सर्व सुख समृद्धि देने वाला हुआ है। तुम जाओ, जो इच्छा हो माँग लाओ। कोई भी वहाँ से निराश या रिक्त हस्त न लौटने पावेगा।"

यह सुनकर याचक तथा सूत, मागध बन्दी तथा अन्यान्य विद्योपजीवी जन परम प्रमुदित होते। सब बड़े उत्साह के साथ, अत्यन्त उमंग आह्लाद और शीघ्रता के साथ, गोकुल की ओर दौड़े जाते।

नंदजी बड़े-बड़े गोपों से घिरे चौपाल पर बैठे थे। मंच बिछे हुए थे, जाजिम, गलीचे, तकिये पड़े थे। बड़ी-बडी जाजिमें बाहर बिछी थी, इतने मे बड़ी पगड़ी बाँधे लम्बा अंगरखा पहिने, तिलक छापा लगाये, दो चार बाल बच्चों के सहित पोथी पत्रा बाँधे सूतजी वहाँ आ गए।

नंदजी वे कहा—"आओ ! आओ ! महाराज ! आप कौन हैं ? कहाँ से पधारे।" आगत वृद्ध ने नंदजी का जय जयकार किया और बोला—

दोहा—गोपेश्वर व्रजराजजी ! मैं तुम्हरो हूँ सूत।
दौरयो आयो सुनत ही, भयो तुम्हारे पूत॥

नंदजी ने कहा—"धन्य-धन्य महाराज कुछ सुनाइये आप तो पौराणिकी गाथा सुनाया करते हैं सुनाइये कुछ।"

यह सुनकर सूत सुनाने लगा—

सवैया

व्रजराज ! कहैं सब सूत हमें, मुनि व्यास कृपा करिक अपनाये।
सुनिके सुत जन्म उमंग भरे, हियमहँ हुलसे सरसे इत आये॥
दान निहारि निहाल भये, धन धेनु सुमेरु समान लुटाये।
व्रजमहँ विहरें घुंघची पहिरें, वर देहु जिही तनु धूरि लगाये॥

नन्द बाबा ने कहा—"सूतजी ! कुछ हमारी समझ में बात आयी नही। आप क्या चाहते हैं, धन, रत्न पृथ्वी, हाथी, घोडा, ऊँट, बछेरा, गो, रथ, घर, भूमि तथा और भी अन्न, वस्त्र आप जो चाहे माँग लें।"

यह सुन कर आँखो में आँसू भरके सूत बोला—"महाराज ! मैं आपके लाला को जानता हूँ वह कौन है ? जीवन भर मैंने पुराणो में यही पढा है। माँगते-माँगते बाल सफेद हो गये। जीवन ही बीत गया। अब तो यही माँगता हूँ, कि एक बार आपके सामने माँगकर फिर अन्य किसी के सामने हाथ न पसारना पड़े यही अन्तिम याचना हो।"

नन्दजी ने उत्साह के साथ कहा—"हाँ, हाँ, ठीक है। इतना धन माँग लो, कि जीवन भर बैठे-बैठे खाते रहो। दूसरे के यहाँ याचना करने की क्या आवश्यकता है।"

सूत बोला—"आप तो महामना हैं, उदार शिरोमणि हैं। मेरी तो यही भीख है।"

सवैया

हे व्रजराज ! करूं नहिं लाज समाज जुरयो जिह फूहरि नारी।
सोवे सिदौसि अवेरी उठे नित देइ परोसिनिकूं गिनि गारी॥
आवत देखि पिछारि परी चटकीलि रंगीलि टरी नाहिं टारी।
घरवारि हमारि हिलावति हार चलावति सैन मँगावत सारी॥

यह सुन कर नन्दजी बोले—"मागध जी तो बूढ़े दीखते हैं, किन्तु मागधिनि तो अभी छरहरी बनी हुई है। छत्तीस छोरी और एक छोरा जनिके भी अभी जैसी की तैसी बनी हैं। अच्छा, भैया मागध जी की घरवारी को सुन्दर-सी बनारसी रेशमी सारी, गोटावारी दिला दो। और भी जो ये हार, हमेल, कड़े, छड़े नक-बेसर, बाजूबंद जो मांगे वह दिला दो।"

फिर नन्द जी ने पूछा—"भैया, इन ऊँटो पर क्या लदा है ?

जगा बोला—

दोहा—वही पुरानी सवनिमहँ, सब गोपनिके वंश।
आप सबनि के मुकुट मनि, गोपवश अवतंश॥

नन्दजी ने उत्सुकता के साथ कहा—"अच्छा हमारे वंश को सुनाओ।"

इतना सुनकर बड़े हर्ष के साथ जगा ने बड़े ऊँट से बहुत-सी बहियों को उतारा कई बार शीघ्र-शीघ्र पन्नो को पलट कर उसे उठा कर नन्दबाबा के समीप आया और उसमे से पढते हुए बोला—

छप्पय

प्रथम गोपकुल मुकुट भये नृप 'चन्द्र सुरभि जी'।
'भोमक' तिनके पुत्र भये तिनि 'महाबाहु जी'॥

तिनिके सुत 'गोपेश' 'काननेचर बडभागी।
'कंजनाभि' तिनि तनय यशस्वी अति अनुरागी॥
कजनाभिके पुत्र सुठि, 'वीरभानु' आभीरवर।
'कृती' तनय तिनि गोपपति, धर्मधीर' सुत धीरधर॥

छप्पय

धर्मधीर के 'भद्रश्रवा' तिनि 'देवराज' सुत।
देवराज के 'नवल' नवल के द्वै सुत श्रीयुत॥
'काननेन्दु' सुत द्वितिय पुत्र 'जयसेन' भये तिनि।
देवमीढ़ मथुरेश सग व्याही कन्या जिनि॥
ताके सुत परिजन्यजो, नानाकी गोदी गये।
तिनिके अति सुदर सुघर, पुत्र पांच पैदा भये॥

दोहा

ते पांचो ई शूर अति, भये ज्येष्ठ उपनन्द।
नन्दन अरु सन्नन्द जी, अभिनन्दन श्रीनन्द॥

छप्पय

मातामहको गोद गये गोकुलमहँ गोपति।
वृद्ध भये परिजन्य गये तप हित हर्षित अति॥
गद्दीको अधिकार पाइ उपनन्द सिहाये।
सुकृति मूर्ति श्रीनन्द यशस्वी भूप बनाये॥
इतनो जानू वश मैं, नारायण किरपा करो।
वृद्धावस्थामहँ बहुरि, गोद यशोदा की भरो॥

यह सुनकर नदजी बड़े प्रसन्न हुए और सब लोगों को सुना कर बोले—"अरे, भैया ! यह तो हमारा वश जानता है। इसे जो माँगे सो तुरन्त दो। गौएँ दो, वस्त्र दो। आभूषण दो, द्रव्य दो। जो माँगे उससे दुगुना चौगुना दो।"

इतने मे एक आदमी खिरकीदार पाग बाँधे हुए बहुत-से बाल बच्चो को साथ लिये हुए आया, नदजी ने उनसे पूछा—"अरे, भाई तुम कौन हो।" उनमे से एक छोटा सा छोरा बोला—

तुकबन्दी—मै हूँ तुमरो बन्दी, पहिने बगलबन्दी।
मिरजई मेरी गन्दी, खाऊँ सकरकन्दी॥
यह छोरा छरछन्दो, भैया है बहु धन्धी।
तेरो सुत आनन्दी, रच्यो जगत् फरफन्दी॥
दादो मेरी अन्धी, बाप बन्धो है बन्दी।
चाहूँ सोना चदी, और मिठाई कलाकन्दी॥

हँसकर नदजी बोले—'अरे, भाई तेरी तुकबन्दी लगी नही। तुम लोग रायभाट हो न ?'

यह सुनकर उनमे जो सबसे बडा था, वह बोला—"हाँ, अन्नदाता हम रायभाट ही हैं। हमारा काम ही है, तुरन्त रचना करके तुरन्त कवित्त कहना। यह अभी बच्चा है अवस्था का कच्चा है, बात का सच्चा है, यदि श्रीमान् की आज्ञा पाऊँ, तो मैं भी स्वरचित कवित्त सुनाऊँ ?"

नदजी ने कहा—'हाँ भाई, सुनाओ।"

तब वह भाट कहने लगा—

कवित्त

नदको दुलारो सुत प्यारो व्रजवासिनि को,
कोई कहे कारो परि जग को उजारो है।

- वेद नहिं पायो भेद ताही को नाल छेद,
आगन मे गाढि तापै अगिहानो वारो है ॥
भक्तनिको जीवन धन गोपिन को प्राण मन,
बालनिको बन्धु धेनु धन को रखवारो है।
यशुमतिको लाल व्रज गोपिनको ग्वाल बाल,
दर्शनते निहाल होहुँ सरवसु हमारो है ॥

नन्दजी बोले—"भैया ! तैंने तो मेरे लाल की बडी उपमा बढायी। बडी सुन्दर कविता सुनायी। अच्छा तू चाहे जितना धन ले जा छकडा भरले जा, चाहे जितनी गौवें हकवा ले जा।"

नन्दजी यह कह ही रहे थे, कि तबला, तमूरा ढोलक, मजीरा, सितार इसराज, मृदङ्ग, चङ्ग, बासुरी वीणा आदि विविध वाद्यो को लिये हुए बहुत से गायक आ गये। गायको को देखकर सबके चित्त प्रसन्न हो गये। सभी ने नन्दजी का जय जयकार किया। उन्हे गलीचो पर बिठाया। समस्त गोकुल के गोप जुट आये। बालक हँसने खेलने और किलकारियाँ मारने लगे। बड़े बड़े गोप उन्हे डांटने फटकारने लगे। बडा सुन्दर समाज लग गया। नन्दजी ने बडी नम्रता से कहा—"हाँ गायको कुछ सुनाओ। इन उपस्थित नर-नारियो के मन को रिझाओ, अपना कला कौशल दिखाओ, इन सबकी उत्सुकता मिटाओ और अपने-अपने भावो को प्रकटाओ।"

नन्दजी की आज्ञा पाकर सब साज एक स्वर ताल मे मिलाये जाने लगे। तबले के ऊपर हथौडी पडने लगी, सारङ्गी के कान ऐंठे जाने लगे, वीणा के तार झनझनाने लगे तानपूरा की खूंटी खेंची जाने लगी। बडी देर तक खट-खट, तिन-तिन, तान-तान, होती रही। जब सब साज एक स्वर मे मिल गये तो एक बूढे-

से बाबा गाने लगे। उनका स्वर सुरीला था, वाणी आकर्षक थी, गान में सरसता थी। बड़ी देर तक आ आ करने के पश्चात् गाने लगे—

पद

नन्द घर आज भयो आनन्द।
मातु यशोदा लाला जायो, ज्यो पूनोंने चन्द ॥१॥
गोपी गोप गाय गायक-गन, सब हिय सरसिज वृन्द।
नन्दनंदन रवि उदित भये हिय, विकसे पकज वृन्द ॥२॥
वसुधा मुदित समीर बहत वर, शीतल मन्द सुगन्ध।
गरजत मन्द-मन्द घन नभमहें प्रकटे आनंद कन्द ॥३॥
माया बन्धु सिन्धु सब सुखके, स्वयं सच्चिदानन्द।
प्रभुके प्रभु विभु विश्वविदित वर, काटें यमके फन्द ॥४॥

नन्दजी ने कहा—"धन्य! धन्य! साधु! साधु! बहुत सुंदर राग है, कठ बड़ा सुरीला है। और कोई पद गाओ।"

इतना सुनकर उसमें से एक तिलक छापा वाले बूढ़े-से पंडित जी अपनी सफेद दाढ़ी को हिलाते हुए, पोपले स्वर से राग अलापते हुए बार-बार तानपूरा के कानों को ऐंठते हुए, नेत्रों से पखावज वालों को संकेत करते हुए चकित-चकित दृष्टि से इत-उत देखते हुए, दृष्टि द्वारा ही औरो को कुछ बताते हुए, गाने लगे—

पद

जसोदा कैसो लाला जायो।
कोई कहे कुसुम अरसी सम, अंजन अपर बतायो ॥१॥
कोई दूर्वा घन सम शोभा, उत्पल द्युति कहि गायो।
कोई कहे जनम नहिं जाको, छिपि मधुवनतें आयो ॥२॥

कोई कहे ब्रह्म को बावा, वेदहु भेद न पायो।
कैसो कहे कहत सकुचावत, नहिं हम दरशन पायो ॥३॥
गोविंद गोकुल कुँवर गोपपति, गोपेश्वर कहलायो।
कहा कहूँ कछु कहत न आवे, चरन कमल सिर नायो ॥४॥

नन्दजी हँस पड़े और बोले—"अरे, भैया! इन्होने तो बड़ी तान भिड़ायी। यह सत्य है, जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि। अच्छा भैया, इन सबको एक-एक सिरोपा दो, इनको घर-वालियों को तोहर दो। मणिमुक्ताओ के हार दो, सोने की मालाएँ दो, सुवर्ण दो, गोएँ दो और भी जो माँगे वह दो।" ऐसा कहकर वे गोपो को समझाने लगे। इतने मे और भी याचक आ गये।"

आगत किसी याचको मे से किसी ने कहा—'हमारी धर्म में निष्ठा बनी रहे, हमारे धार्मिक कृत्य भलीभाति सम्पन्न हो सकें, इसका प्रबन्ध कर दें।" नन्दजी ने कहा—"ऐसा ही होगा।"

बहुतो ने कहा—"हम निर्धन हैं, हमे विपुल धन दिला दें, हमारे सब दुःख दारिद्र को दूर कर दें। हमे अब फिर धनके लिये तरसना न पड़े।"

नन्दजी ने कह दिया—"तुम्हे जितना चाहिये धन ले जाओ। मेरे यहाँ धन की कमी नही, आज मेरा कोषागार सबके लिये खुला है।"

किसी ने कहा—"महाराज, मेरा विवाह नही होता। विवाह के बिना आदमी का जीवन निरर्थक है। नित्य चूल्हे मे मूड़ देना पड़ता है, आग फूँकते-फूँकते आँखें लाल हो जाती हैं। फिर जो चूड़ियों की खनखनाहट के साथ बनी रोटियों में, आनन्द आता है, वह खाली हाथो से बनाई दाढ़ी मूछों को खुजाते हुए सेकने

वाली रोटियों में आनन्द कहाँ ? कहीं से थके हुए आवें घर में बहू न हो तो कौन उठकर पानी दे। कौन प्रेम की मीठी-मीठी दो बातें करे ? व्रजराज ! बहू के बिना क्या-क्या कष्ट होते हैं, इसे आप क्या जानो, कोई जान ही कैसे सकता है, जिस पर बीतती है वही जानता है, सो आज अपने पुत्र के जन्मोत्सव के समय मेरा विवाह करा दो मुझे एक सुन्दर-सी बटुआ-सी बहू दिला दो। जो छम्म-छम्म करके इधर से उधर फिरे मेरे शान्त सूखे घर में रुनझुन-रुनझुन करके सरसता संचार करे, मेरे उजड़े घर को फिर से बसा दे, मेरे सूखे हृदय को फिर से सरसा दे। मुझे भोजन का स्वाद चखा दे और मेरे पितरों को सन्तान के द्वारा तार दे।"

यह सुनकर नन्दजी हँस पड़े और बोले—"भैया ! बहू कोई कुम्हार के चाक पर तो बनती नहीं। जो मैं तुम्हें मँगाकर दे दूँ। तुम कहीं से अपनी साँठ गाँठ लगाओ। उसमें जितना धन लगेगा उतना हम देंगे।"

अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए वह बोला—'जय हो, व्रजराज की सदा जय हो। महाराज, धन के ही बिना विवाह रुका हुआ है। धन हो, तब तो मैं अपने नख नखका विवाह कर लूँगा। आपने मेरा बड़ा भारी दुःख दूर कर दिया। आपका बच्चा युग-युग जीवे। आपने मेरा एक विवाह करा दिया। आपके बच्चे के हजार विवाह हों।"

यह सुनकर नन्दजी हँस पड़े और बोले—"अरे, भैया ! एक बहू को ही सम्हालना कठिन हो जाता है, तू मेरे बच्चे के हजार विवाह का आशीर्वाद दे रहा है। यह आशीर्वाद अच्छा नहीं। बहुत-सी स्त्रियाँ होने से कोई कान खींचती हैं कोई नाक खींचती है, कोई चोटी खींचती है।"

उसने कहा—"महाराज ! देखिये, मैं ज्योतिष भी जानता हूँ, आपके बच्चे के सोलह हजार एक सौ आठ प्रकट विवाह होंगे और अप्रकट विवाहों की तो कोई संख्या ही नहीं।"

नन्दजी ने कानों पर हाथ रखकर कहा—"नारायण ! नारायण ! अरे, सोलह हजार एक सौ आठ विवाह। भैया, यह कैसी सुनायी।"

इस पर एक दूसरा बोला—"अजी, महाराज ! यह तो पागल है, बहू की चिन्तना करते-करते इसके मस्तिष्क में बहू ही बहू भर गयी हैं। आप मेरी सुनिये मुझे न तो घर चाहिये न धन, न बहू चाहिये न बाल बच्चे। मेरी आँख में तो ऐसा अंजन लगा दीजिये, कि यह नाम रूपात्मक प्रपञ्च कुछ दिखायी न दे। मैं ही मैं एक अद्वितीय शेष रह जाऊँ।"

इस पर एक बोला—"महाराज ! इसे गोवर्धन की गुफा में बन्द कर दो, वहाँ अद्वितीय होकर पड़ा रहेगा। मेरे लिए तो आप ऐसा प्रबन्ध कर दें, कि नित्य यमुना-स्नान मिले, करीलनि की कुञ्ज में निवास हो। लोटने के लिये व्रज की रज मिले, खाने के लिये इन व्रजवासियों के झूठे कूठे टुकड़े मिलें। पहिनने के लिए इनके उतारे चिथड़े मिल जाया करें। तुम्हारे लाला के नित्य दर्शन मिल जायँ। उनके साथ लकुट लेकर गौओं को चराने जाऊँ। व्रजवासियों के मुख से उसी के गीत सुनने को मिलें, मुख से उसी का नाम उच्चारण करने को मिले, उसी की कहानी सुना करूँ उसी को देखा करूँ। अपनी खिरक में मुझे गौओं के गोबर उठाने की सेवा मिल जाय। लालजी का जो कुछ जूठा-कूठा बच जाया करे, वह मुझे खाने को मिल जाय।"

नन्दजी ने कहा—"अजी, ब्राह्मण देवता ! आप यह कैसी

उल्टी गगा बहा रहे हैं, हम ठहरे गोप आप ठहरे ब्राह्मण, हम आपको अपना जूठा कैसे दे सकते हैं।"

ब्राह्मण बोले—"इस गोप कुमार के जूठे को जो जूठा बताता है, वह स्वय झूठा है। यह सम्पूर्ण जगत् उन्ही का तो उच्छिष्ट है। जो उसका जूठा समझकर इसका उपभोग करता है, वह कर्म बन्धनो मे लिप्त नही होता। फिर उसे नाक दबाने या गुफा मे घुटने की आवश्यकता नही रहती तुम्हारे लाला से जिसका सम्बन्ध हो गया। उसे फिर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की भी इच्छा नही रहती।"

नन्दजी बोले—'महाराज! न जाने आप क्या कह रहे हैं। यह तो वेद शास्त्रो की बात हैं। मैं तो वेद शास्त्र पढा नही। जीवन भर लाला का ही चिन्तन करता रहा, सो आप सब ब्राह्मणो के आशीर्वाद से मुझे यह अवसर देखने को प्राप्त हुआ। मेरा सब कुछ आपका ही है आप जो चाहो सो ले लो। खिरक आपका है चाहे गौओ को दुहो, चाहे गोबर उठाओ। मैं तो अपने लाला के लिये सब कुछ कर सकता हूँ सब कुछ देख सकता हूँ।"

उसने कहा— नन्दजी! आपने सब कुछ कर लिया। तुम्हारे लाला का चिन्तन ही सार है और सब तो निस्सार है, असार है। जिसने तुम्हारे लाला को नही जाना उसने कुछ भी नही जाना।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! इस प्रकार नन्दजी निरन्तर धन को लुटाते रहे। जो भी आता उसे मना नहीं करते। अब जब लक्ष्मी का पति ही बेटा बन गया तो बेटा की बहू तो अपनी आज्ञा मे ही रहेगी। उससे चाहे गोबर उठवा लो या पानी भरा लो। व्रज तो लक्ष्मी के क्रीडा का स्थान हो गया। यह तो मैंने अत्यन्त सक्षेप मे व्रजराज जी के दान का प्रसङ्ग कहा। अब

लालाजी के जन्म के उपलक्ष्य मे सम्पूर्ण व्रज मे कैसा उत्सव मनाया गया, उस प्रसङ्ग को सुनिये।"

छप्पय

अति आनंदित नंद सबनि को स्वागत कीन्हों।
जाने जो जो करी याचना सो सब दीन्हों॥
बार बार है मुदित गीत लाला के गावें।
गोप गान अरु वाद्य सुनत अतिशय हरषावें॥
नंदलाल के जन्म को, घर घर में उत्सव भयो।
मानो व्रज मंडल सकल, मंगलमय ही बनि गयो॥

व्रजमण्डल में महामहोत्सव

[८४३]

व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः ।
चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥

(श्री० भा० १० स्क० ५ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

सकल राज-पथ गली गिरारे घर पिछवारे ।
सबनि स्वयं मिलि सींक सोहनी लाइ बुहारे ॥
चन्दन को छिरकाव इतर करपूर मिलायौ ।
करि केशरि की कीच सबनि निज घर लिपवायौ ॥
टांगी बन्दनवार घर, घर घर सुघर बनाइकें ।
बिच-बिच कलियाँ कुसुम की, पल्लव ललित लगाइकें ॥

जिसमे सबके मन मे स्वत. ही स्वाभाविक उत्साह हो जाय उसे उत्सव कहते हैं। उत्सव मे बाह्य आभ्यन्तर की मलिनता, अशुचिता, चिन्ता, जडता, शुष्कता तथा कृपणता नही रहती।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण जन्म के उत्सव मे समस्त व्रजमण्डल के सम्पूर्ण घरो के द्वार, आँगन और भी भीतर के भागों को भली प्रकार झाड बुहारकर उनमे छिडकाव किया गया। फिर भाँति-भाँति की चित्र विचित्र ध्वजा पताका तथा मालायें लटकायी गयीं, रग-बिरगे वस्त्रों और पत्तों को बन्दनवारें लगायी गयी।"

चित्त मे उमङ्गें उठने लगती हैं। अशुचिता सुहाती नही। बाहर भीतर के समस्त मलो को जड़ से उखाड फेंकने की प्रवृत्ति होती है। अमङ्गलो के निवारण और मङ्गलमय साधनो को जुटाने की व्यग्रता होती है। जिन वस्तुओ को देखकर मन तथा नयन प्रमुदित हो उन्हें एकत्रित करना और जिनसे चित्त दुखित और चिन्तित हो, उनका निवारण करना यही उत्सव का प्रधान कर्तव्य है। जिस समारोह मे उत्साह नही स्वच्छता नही, उदारता नही, चैतन्यता नही, प्रसन्नता नही, कार्य तत्परता नही तथा स्वागत सत्कार की प्रवृत्ति नही। वह उत्सव, उत्सव नही। वह एक भार टालना है। नाम मात्र करना है, समाज के सकोच तथा लज्जा के निवारणार्थ एक प्रदर्शन मात्र है। उत्सव तो वही है जिसमे सभी एक मन प्राण एक चित्त होकर कार्य करें, अपना सर्वस्व होम देने को तत्पर हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी के लाला होने पर नन्दजी के ही महलो मे उत्सव मनाया गया हो, सो बात नही है। सम्पूर्ण ब्रजमण्डल भर मे श्रीकृष्ण जन्मोत्सव का महा-महोत्सव मनाया गया। सभी ने ऐसा ही अनुभव किया, मानो हमारे ही घर लाला हुआ हो। अपने घर लाला होने पर चाहे इतना उत्सव न भी मनाते, आज तो सभी अत्यन्त ही आनदित थे, ब्रजवासियो क हर्ष का ठिकाना नही था। सभी आश्रम के लोगो ने इस पुण्योत्सव को बडी धूम-धाम से मनाया।"

नन्दलाल का जन्म होते ही ढाढी-ढाढिनि नाई-नाइनि सभी घर-घर मे बुलावा देने दौड पडे। ढाढ़िनि और नाइनें तो लुगाइयो मे जाती और नाई तथा ढाढी लोगो मे जाते। जो सुनते वे ही आनन्द में विभोर हो जाते। अब गोपो ने सोचा—"पहिले घर को सजावें या पहिले बधाई देने नन्दबाबा के द्वार

पर चलें।' फिर सोचा—"नन्दबाबा के जो लाला हुआ है, वह कुछ नन्दबाबा का तो अकेला होगा ही नही, वह तो हम सब गोपों का राजा होगा; अतः हम सबका उस पर उतना ही अधिकार है, जितना नन्दबाबा का। यही नही हमारा उस पर अधिकार अधिक है। नन्दबाबा तो अब बूढे हुए। जीवन भर काम तो हमें उसी से पडेगा; अतः पहिले अपने घर को सजा लें, अपने यहाँ उत्सव मना लें, तब नन्दजी के द्वार पर सब मिलकर गाते बजाते नन्दोत्सव करने चलेंगे।" ऐसा सोचकर सभी अपने-अपने घरों को सजाने लगे। सब मिलकर घरो से एक-एक आदमी तो बाहर की सार्वजनिक सजावट मे लग गये। घर की स्त्रियाँ लड़के लडकियाँ तथा अन्यान्य दास दासियाँ अपने-अपने घर को सजाने में व्यस्त हो गये। प्रथम सार्वजनिक सजावट के समाचारों को सुनिये। गोकुल यमुनाजी के कगार पर चन्द्राकार बसा हुआ था। घाट से एक सीधी सड़क दूर तक चली गयी थी। उस बडी सड़क के दोनों ओर गोपों की बस्ती थी। बड़ी सडक में से छोटी-छोटी सडकें निकली हुई थीं। उन छोटी-छोटी सड़को मे से गलियाँ थी। गोपो ने मिलकर सड़क को स्वच्छ किया। दोनों ओर सडक पर केले के खम्भे बाँध दिये, जिनमें फल लटक रहे थे। रङ्ग बिरंगे वस्त्रों की झण्डियाँ बनाकर बाँधी गयी थी। स्थान-स्थान पर मङ्गल घट रखे थे, जिन पर वस्त्रो मे लपेटे श्रीफल रखे थे। बट, पीपर, गूलर, पाकर और आम के पञ्चपल्लव उनमें खुरसे हुए थे। चौमुखे दिये उन पर जल रहे थे। स्थान-स्थान पर अगरु कर्पूर घृत और चन्दन का चूर्ण मिलाकर धूप जलायी गयी थी। आम के पल्लवों और अशोक के पल्लवों के बन्दनवार बनाये गये। उनके बीच-बीच में रङ्ग बिरंगे पुष्प लगाये गये थे।

विविध प्रकार की झण्डियों के बीच में वे वन्दनवार ऐसे लगते थे, मानों सड़क के दोनों ओर गोल नहीं, दो लम्बे इन्द्र-धनुष आकाश से गिर कर केलों के खम्भों पर टिके हों, स्थान-स्थान का सुगन्धित धूम्र ऐसा लगता था, मानों बहुत से कपोत उड़ रहे हों। सड़क इतनी स्वच्छ की गयी थी, कि सुई गिरने पर भी वह तुरन्त दिखाई दे जाय, प्रधान सडक से जो छोटी-छोटी सड़कें निकली थीं, वे भी इसी प्रकार सजाई गयी थीं। चौराहों पर विशेष प्रबन्ध था। वहाँ पुष्पों के स्तवक विशेष प्रकार से लटकाये गये थे। पुष्प वाले पौधा के गमले वाटिकाओं में से ला लाकर वहाँ रखे गये थे। चौराहे और त्रिराहों पर नौबत बज रही थी। वीणा भेरी और तुरही की ध्वनि नौबत की ध्वनि में मिलकर एक विचित्र मङ्गलमय प्रसग की शुभ सूचना दे रही थी। जिनके घर प्रधान पथ के पार्श्व मे थे, उन्होंने तो आज सजावट की पराकाष्ठा ही कर दी थी। सबने अपने घर की दीवालों को लाल, पीली, हरी, नीली साड़ियों को लटका-लटका कर ढक दिया था। सबकी सम्मिलित भीतें ऐसी लगती थी मानों गोकुल नगरी दो रूप रखकर पञ्चरङ्गी साड़ी पहिने गोकुलेश की प्रतीक्षा मे सजी-बजी खड़ी हो। अपने-अपने द्वारों के सम्मुख बेलें बनाकर ऐसे वितान बनाये, मानों ये सदा से ही ऐसे बन रहे हों। उनमे फल लटकाये, पुष्प लगाये बड़ी-बड़ी ध्वजा पताकायें बनायी। मङ्गल घट, दूर्वा, अक्षत, धूप, लाजा, दधि, हरिद्राचूर्ण, श्रीफल, पुङ्गीफल, कदलीफल, बतासे तथा अन्यान्य मङ्गल की सामग्रियाँ रखी गयी। स्त्रियों ने घर-घर मे थापे लगाये। गेरू से घरों को रँगा, चौक पूरे और भाँति-भाँति के बेल बूटे लगाये। स्त्रियाँ इधर से उधर व्यस्त भाव से दौड़ रही थीं। कोई गोबर लाकर उसमें गेरू मिलाकर आँगन को

लीप रहीं थी। कोई केशर को चन्दन मे घिसवाकर उसकी कीच से ही आँगन को लीप रही थी। कोई बूढी कहती—'अरी, बहू मङ्गल की सभी वस्तुओ को लाकर रख दे। चौमुखा दीपक जोर ले उसे घर के द्वार पर रख दे। देख रम्मू की महतारी ने अपना घर कैसा सजाया है तैने अभी तक कुछ नही किया। बेटा ऐसा घर को सजा, जिससे सबकी दृष्टि हमारे ही घर पर पडे।"

बहू कहती—'सासूजी! क्या करूँ, वे तो सबके साथ बाहर की सजावट मे लगे हैं तुम्हारे छोटे लालाजी का पता ही नही जाने कहाँ कबड्डी खेल रहे हैं।"

इतने मे ही एक हँसमुख छोकरा-सा कहता—"देख, भाभी! तू अम्मा से बुराई मत करे, कितने फल वाले केले लेकर मैं अभी आया हूँ, अभी तेरे घर को ऐसे सजाता हूँ, जिससे तेरा सब फूहर पना छिप जाय।"

बहू वही से घूँघट मे से कहती—"हाँ, लल्लू मैं तो फूहरिया हूँ ही तुम्हें देखना है, कैसी सुतमन बहू लाते हो, किसी पतुरिया को ले आना जो घर का भी शृगार करे और तुम्हे भी सजाती रहे।"

बुढिया झूठा कोप दिखाती हुई कहती—"अब तुम आपस मे लडाई करोगे, या कुछ काम भी करोगे? मुझे यशोदा रानी के अभी चावल लेकर जाना है। सबके घर सज गये वाद-विवाद छोडो तुरन्त सजाओ।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! इस प्रकार व्रज मे घर-घर उत्साह छा गया। सम्पूर्ण व्रजमडल के समस्त ग्रामो मे इसी प्रकार नन्दलाल के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य मे सजावट हुई। यह तो गोपो के घरो की सजावट की बात है, अब जिस प्रकार गोपो ने

अपनी गौओ को सजाया, इस प्रसग को भी आप सब समाहित चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लीपे पोते द्वार वार घर अटा अटारी।
आंगन, पैरी, वगर रसोई और तिवारी॥
नीली पीली हरी गुलाबी पचरँग सारी।
टाँगी द्वारनि लाई कनहुँ जो नहीं निकारी॥
दीप चौमुखा वारिकें, कलिशनिक ऊपर धरे।
मङ्गलदायक द्रव्य सब, घर घर एकत्रित करे॥

नये ग्वारियों के जन्म पर गौओं का शृंगार

[८४४]

गावो वृषा वत्सतरा हरिद्रातैलरूपिताः ।
विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ५ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

गैयाँ सब बगदाइ खिरकमहँ फिरितें लाई ।
तेल फुलेल लगाइ न्हवाई फेरि सजाई ॥
मोरपङ्खके मुकुट लसैं घुँघुरू पग जिनिके ।
गेरू तेल मिलाइ रँगे तन सींग सबनिके ॥
गंडा गरमहँ चमकनों, कनकहार पहिराइकें ।
हरषित ह्वै पूजन करें, शाल दुशाल उढ़ाइकें ॥

जिसको जिसके द्वारा आजीविका चलती है, उसका वही इष्ट है, उसी को वह पूजा करता है। ब्राह्मण वेदों की पुराणों की पूजा करते हैं। क्षत्रिय शस्त्रों की रथ और घोड़ों की पूजा करते हैं। बनिया अपने तराजू की डन्डी की पूजा करते हैं, किसान अपने हल बैलों की पूजा करते हैं, मल्लाह अपनी नौका को पूजते

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में गौओं को, साड़ों को, हल्दी और तेल से रँगा गया और गेरू आदि धातुओं से, मोर पङ्ख, माल, वस्त्र और सुवर्ण की जंजीर से सजाया गया।"

इसी प्रकार गोपों की आजिविका गौओं से चलती है, अतः वे सब पर्वों पर सब उत्सवों पर गौओं की पूजा करते हैं, उन्हें ही सजाते हैं। मनुष्य को अपनी प्यारी वस्तु को सजी सजायी देखकर स्वाभाविक ही सुख हुआ करता है। माता-पिता अपने बच्चों को कैसा सजाते हैं। पुरुष स्वयं चाहे मैले कपड़े पहिने रहें, किन्तु अपनी स्त्रियों को वस्त्राभूषणों से सजाये रखने की चेष्टा करते ही हैं। हुक्का पीने वाले अपने हुक्के को ही सजाते हैं। संन्यासियों के पास कुछ नहीं होता एक कमण्डलु होता है; उसी को घोट-घोटकर चिकनाई से चुपड-चुपड़कर सुन्दर चमकीला बनाते हैं, बहुत से उसमें चौंप भी जडवाते हैं। यह सजावट उत्सव और पर्वों के अवसर पर विशेष होती है। धराऊं नये-नये वस्त्र निकाले जाते है। उत्सवों में यही तो होता है, स्वयं तथा अपने आश्रितों प्रियजनों तथा घरों को सजाना, अच्छे-अच्छे वस्त्रा भूषणों से अलंकृत करना, और सुन्दर स्वादिष्ट पकवान बनाकर प्रसाद पाना, इसी का नाम उत्सव है। जिस उत्सव में सबको प्रसन्नता न हुई वह उत्सव नहीं।

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! नन्द के लाल का जन्म आधी-रात में हुआ। गौओं को ले जाने वाले गोप सो रहे थे। प्रातःकाल उठते ही वे गौओं को लेकर चराने को चल दिये। खिरक में जब गौओं को न देखा, तो बूढ़े-बूढ़े गोप कहने लगे—"अरे भैया! आज नन्दलाल के उत्सव में गौओं को सजाना था, उनका शृंगार करना था; आज गौओं को वन में भेजने की आवश्यकता नहीं थी। गौएं खुलने ही क्यों दीं?"

जो युवक गोप थे वे बोले—"बाबा! हमें तो पता नहीं था; किन्तु कोई बात नहीं, अभी ही तो गौएं गयी हैं। आप कहो तो लौटा लावें?

बूढ़े गोपों ने कहा—'हाँ, भैया। लौटानी ही चाहिए। गौएं

ही तो हमारी परम देवता हैं। इनमे ही तो हमारी आजीविका है। इनकी प्रसन्नता में ही तो हमारा कल्याण है।"

यह सुनकर जो छरहरे युवक दौडने में प्रबल थे, वे दौडे-दौडे गये और दूर से ही पुकारने लगे—"अरे भैयाओ! गैयाओ को लौटा लाओ। यशोदा मैया ने एक नये ग्वारिया को पैदा किया है; उसी के उत्सव में सबको सजाना है।"

यह सुनते ही गोपों के हर्ष का ठिकाना नही रहा। पौहार के आगे जाकर उन्होने मार्ग रोक लिया, गौएँ अपने आपही खडी हो गयी; और बाँ-बाँ शब्द करती हुई गोष्ठ की ओर दौडने लगी। गोप सब घर-द्वार सजाने मे लगे थे। जब घरो को सजावट कर चुके, सडकें सजा-बजाकर सुन्दर बनादी, तब गौओ को सजाने की बारी आयी।

सबो ने मनो गेरू घोला। सबसे पहिले गौओ को यमुनाजी में स्नान कराया। स्नान कराके उन्हे अच्छी प्रकार से पोछा। उनके सीगो मे तेल और गेरू मिलाकर लगाया। वे सींगे लाल-लाल चमकने लगी। फिर दोवला लेकर उन्हे गेरू सेलखडी आदि धातुओ मे बोर-बोरकर उसके साँचे से बनाकर सबके शरीर मे लगाय। बहुतो न लहरियादार बेल-बूटे उन पर काढे। फिर सोने के काम की हुई सुन्दर-सुन्दर रङ्ग बिरङ्गी झूलें उन पर डाली। सबके सीगों मे कलँगीदार पगडी बाँधी। मोर के पङ्खों के बने हुए मुकुट उनके माथो पर बाँधे। मोरपङ्ख की सीकों के बने गण्डे उन्हे पहिराये। घुँघचियो की मालायें उन्हे पहिनायी सुवर्ण के सुन्दर हारो से उन्हे सावधानी के साथ सजाया गया। उनके घुटने में बजने वाले घुँघुरू बाँधे; पीले या लाल रङ्ग का वस्त्र जिसका अंतिम भाग किसी दूसरे रङ्ग से रंगा था; वह घुटनो में बाँधा गया। बछड़े इधर से उधर कुदकने लगे, साँड रम्हाने लगे। लडके

कहने लगे—"दादा ! अम्मा ! हम बछड़ों को भी सजावेंगे।"

गोप गोपी कहते—"सजाओ भाई, आज बच्चों को ही तो सजाना चाहिये गोप के बच्चा हुआ है, गौओं के बच्चों को सजाना चाहिये।"

बालक कहते—"बछड़े हमे देखकर बिदुकते हैं। तुम पकड़ लो।"

यह सुनकर गोप बछड़ो को पकडते। लडके उन पर भी सकोरे से गेरु के चिन्ह करते, थापे लगाते तथा बिन्दी-बिन्दी रखकर त्रिकोण चतुष्कोण बनाते, उन्हे भी वस्त्र उडाते। फूलो की माला पहिनाते। बछडे कण्ठ को हिलाकर फूलो को खा जाते, तब लडके कहते—"दादा ! हम तो बछडो को सोने की माला पहिनावेंगे।"

गोप कहते—"अरे भैया बछडे तो बडे ऐबी होते है। सुवर्ण और मोतियो की मालाओ को उतारकर फेंक दगे।"

बच्चे कहते—"नही दादा ! हम उन्हे गंडो के साथ बाँध देंगे।"

इस प्रकार गोपबाल भी गौओ के बछडो को गौओ की ही भाँति सजाते। साडो को भी सबने उसी प्रकार सजाया। उनके गले मे बडा भारी घंटा बाँध दिया। गौएँ कान उठा-उठाकर चकित-चकित दृष्टि से देख रही थी। मानो वे अपने नये ग्वारिया के विषय मे जानने को सुनने को समुत्सुक हो रही हों बछडे रस्सी को तोड़े ही डालते थे—मानो वे अपने रक्षक बालक को देखने के लिये लालायित हो रहे हो।

गोपो ने कहा—'सडकें सज गयी, घर द्वार सज गये, गौओ का भी साज शृंगार हो गया। अब इन गौओ को साथ-साथ लेकर नन्दबाबा के द्वार पर चलें।"

युवको ने कहा—'लाखों गौएँ हैं वहाँ इतनी गौएँ खडी कहाँ होगी। फिर सभी गोप तो गौएँ लेकर जायँगे।"

बूढे गोप बोले—"अरे, भाई बाहर वाले गोप जो बधाई देने को आवेंगे वे गौओं को लेकर थोड़े ही आवेंगे हम गाँव वाले ही गौओ को लेकर चलें। गौओ को आगे करके चलना शुभ होता है, फिर वहाँ रोकने का काम क्या? बडी सड़क से चलेंगे, नन्द महल की परिक्रमा करते हुए गोप गौओ को गोष्ठ मे लौटा लावेंगे हम सब वहाँ मिलकर दधिकाँदो करेंगे उत्सव मनावेंगे।

गोपो न कहा—"अच्छी बात है, गौएं भी चलें। यह कहकर सबने गौओ को खोल दिया। गौएं बड़े उत्साह और उमङ्ग के साथ नन्द महल की ओर चलने लगी। अन्य दिन तो वे नचाने से भी नही नाचती, आज वे अपने आप ठुमुक-ठुमुक कर नाचती हुई जा रही थी। लाखो गौओ के घण्टाओ और पैर मे बांधे नूपुरो की ध्वनि से ऐसा प्रतीत होता था मानो पथ मे से सङ्गीत निकल रहा हो सड़कें हर्षित होकर बाजे बजा रही हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। इस प्रकार सज बजकर गोप बधाई देने के लिये नन्द महल की ओर गौओ के साथ चले।"

छप्पय

बछरा गोप कुमार सजावें सब हरषावें।
बहुबिधि करें किलोल तुरावें मूड़ हिलावें॥
अति चचलता करें फुदुकि इततें उत आवें॥
मानो बालगुपाल जनम को हरष मनावें।
बहु उमंगमहँ उछरिकें, सबई भागें नंद-घर।
मनहु मुनमुने सखा की, लगी चटपटी दरश उर॥

बधाई के लिये गोपों का आगमन

[८४५]

महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः ।
गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

सजिबजिकें सब गोप ढोल करताल बजावत ।
नन्दमहल की ओर जाहिँ सब रसिया गावत ॥
पहिन अँगरखी पाग दुपट्टा उरमहँ डारें ।
लम्बे तिलक लगाइ मूँछ अरु बाल सम्हारें ॥
चले विविध विधि भेंट लै, प्रेम रसिकता महँ पगे ।
मनहु कमल बिकसित सुनत, भ्रमर तुरत उतई भगे ॥

गृहस्थी की चिन्ताओं की कोई गणना नहीं । कहना चाहिये गृहस्थी चिन्ताओं का पुञ्ज ही है । जिसने कभी गृहस्थ मे पदार्पण नही किया है, वह अनुमान भी नही लगा सकता, कि व्यक्ति को नित्य ही असख्यो चिन्ताएँ कहाँ से आ जाती हैं । परन्तु कोई भी गृहस्थी ऐसा नही, जो इन चिन्ताओं से दबा न हो । इतनी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! व्रजमण्डल के समस्त गोपगण अँगरखे पगड़ियों तथा अन्यान्य वस्त्राभरणों से विभूषित होकर, हाथ मे भेंट की सामग्रियों को लिये हुए नन्दजी के द्वार पर आने लगे ।

चिन्ताओ से दबे रहने पर भी कोई गृहस्थी को छोड़ नहीं सकता। क्योंकि उसे समाज की सहानुभूति प्राप्त है, दूसरो को विवाह, पुत्रोत्सव तथा दूसरे उत्सव पर्वों पर सुखी देखता है। स्वयं भी उनके सुखो मे सम्मिलित होता है और आशा करता है, कभी मुझे भी ऐसा सुख मिलेगा। मेरे सुख मे भी समाज के सदस्य सहानुभूति प्रकट करेंगे। समाज की सहानुभूति से सुख दुःख बँट जाता है। दुःख मे सहानुभूति प्राप्त होने से दुख घट जाता है सुख मे सहानुभूति प्राप्त होने से वह बढ जाता है। हृदय की प्रसन्नता को प्रकट करने अपनी श्रद्धा-भक्ति सहानुभूति व्यक्त करने हम कुछ वस्तुओ को ले जाते है। वास्तव मे वस्तुओ मे तो सुख है नही, हम उनके द्वारा अपने भावो को व्यक्त करते हैं। अपने गुरुजनो के निकट हम एक फूल की माला लेकर जाते है, उन्हे उस माला की कोई आवश्यकता नही। पहिनकर तुरन्त उतार देते हैं, किन्तु इसके द्वारा हम अपनी श्रद्धा को व्यक्त करते है। मनुष्य किसी न किसी रूप मे अपने भावों को व्यक्त करने के लिए विवश है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब घर द्वार तथा गोओ की सजावट हो गयी तो सभी गोप बधाई देने के लिये सज-बजकर चले। उनमे जो बूढे-बूढे गोप थे, वे तो सिर पर सफेद पगडी बाँधे हुए थे, कानो मे मुरकी और कंठ मे गोप पहिने थे। उनका अंगरखा घुटनो तक लटकता था। पाइजामा कुछ ढीला और हाथ मे लठिया लिये हुए थे। युवक गोपों की पगड़ियाँ रग-बिरगी थीं, कोई सुरगी थी कोई पीली, कोई हरी, कोई बैंजनी और कोई लहरियादार पँचरगी थी। किसी ने खिड़कीदार बाँध रखी थी, तो किसी ने लटकन, किसी ने सुई और किसी ने नोकदार सुक्केदार बाँध रखीं थी। किसी ने पगड़ी के ऊपर दुपट्टा बाँध

रखा था, किसी ने चमकना सुनहरी चीरा लगा रखा था। किसी का चीर चाँदी के रग का था, माथे पर चंदन के खौर मुख पर भी चंदन लपेट रखा था। कानो में मुरकी पहिने हुए थे, किसी-किसी के कानों में सोने की लौंग भी शोभा दे रही थी। कण्ठ में सोने की चिपकन, गोप, तोरा कण्ठा, लडी तथा जंजीरें पडा थी। अंगरखी शरीर मे पडी हुई थी। किसी-किसी की धोती धुनी और स्वच्छ थी, किसी की तेल मे चिकनी थी, उस पर लाल लंगोटा बंधा हुआ था; उंगलियो मे अंगूठी और हाथों में अंमेठवाँ कड़े पड़े थे, कमर के ऊपर कौधनी और किसी-किसी के बाजूबन्द भी बाहों में शोभा दे रहे थे। किसी के हाथ में ढप था, किसी के हाथ में ढोलक थी। कोई खंजरी बजा रहा था। किसी के हाथो में करतालें थी, कोई वीणा बजा रहा था। कोई मृदङ्ग को गले में लटकाये उसी पर हाथ मार रहा था। इस प्रकार गात-बजाते नन्दजी के महल की ओर चले।

छोटे-छोटे बच्चे गोटादार चमकनी टोपी पहिने थे। सुन्दर रग विरंगी बगलबन्दी जिनके किनारों पर गोटे लगे थे सूर्य के प्रकाश मे चमकने लगती। सभी गोपकुमार कानों में बारी हाथो में कड़ूला, कण्ठ में कठुला, गले में हंसुली और कमर में कौधनी पहिने थे। सबकी आँखों में मोटा-मोटा काजर लगा हुआ था। सभी अपने भाई, पिता तथा चाचाओं के साथ हँसते खेलते जा रहे थे। गोप पीछे-पीछे गौओं को भी सजाये हुए ला रहे थे। उस समय का दृश्य देखने ही योग्य था। इस प्रकार गोकुल के सभी गोप नन्दबाबा के द्वार पर पहुँचे। नन्द, उपनन्द तथा सनन्द आदि सभी भाइयों ने उठकर गोपो का स्वागत सत्कार किया। सब गाने बजाने और हँसी विनोद करने लगे। नन्दजी को भाँति-भाँति की बधाइयाँ देने लगे। नन्दजी प्रेम में विह्वल

हुए लज्जित से इधर-उधर देखने लगते। बात को टाल जाते।

व्रज चौरासी कोश मे बात फैल गयी। सभी गाँवो के गोप दल के दल बना-बनाकर आने लगे। सब ढप ढोल बजाते रसिया गाते परस्पर में बातें करते आते। एक दूसरे गाँव वालो से मिलते और कहते—"राम राम जी, राम राम जी।"

वे कहते—"राम रामजी चौधरी जी, राम रामजी बोहरे! वहो बाल-बच्चे सब राजी खुशी हैं। तुम्हारे यहाँ अबकी कैसी वर्षा हुई।"

वे कहते—"सब आपकी कृपा है, आप कहिये, आपके तो बाल-बच्चे अच्छे हैं न? हमारे यहाँ तो अबकी बहुत वर्षा हुई। घास का कुछ भी अकाल नही, गैयाँ भर पेट चर आती हैं। आपके यहाँ तो घास पर्याप्त है न?"

वे उत्तर देते—'पारसान तो जी, हमारे यहाँ घास की कुछ तगी रही, परन्तु अबके तो रेज है। चाहे जितनी गौएँ खायँ।"

बड़े बूढ़ा की बात सुनकर कोई होले से किसी के कान मे पूछता—'अरे ये किस गाँव के हैं?"

वह कहता—'अरे, तुम नही जानते, तुम्हारी भाभी के गाँव के हैं, हथोरा के हैं। और आगे यह 'रीठा' गाँव वालो का झुण्ड है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सभी गोप प्रेम मे पगे हुए-से, आनन्द में सने-से जा रहे थे। टोल के टोल जय जयकार करते हुए जा रहे थे। बहुत गाँवो के थे उनमे मे मुख्य-मुख्य गाँवो के नाम मैं बताता हूँ।

वे ये हैं—"हथोरा, रीठा, बारव, रावल, लोहवन, गोपालपुर बिजौली, जसौनी, माँट, आँट, आँटरम, सुनरख, बसई, छटीकरा,

नरी सेमरी, पारसौली, कोटवन वठैन कलहरा, नन्दीश्वर, वनई, कमई वरसानो, ऊँचोगांव चिकसौली सुमहरा महारानो कामवन, सोपरसो, खाइरो दाउजी, दीघ होरी, रायो, सुरीर, मदनवारो तथा और भी बहुत से गांवो के गोप थे। वे सब उमङ्ग के मारे दौडे जा रहे थे। किसी का नाम वीरभानु किसी का नाम चन्द्रभानु कोई सूर्यभानु कोई देवभानु इन्ही नामो से विख्यात थे। कोई महानन्द कोई शिवानन्द, कोई ब्रह्मानन्द कोई सुप्रभानन्द, कमलानन्द और कोई नित्यानन्द इन नामो वाले थे।"

गोपो मे मुख्यतया तीन दल थे। एक तो नन्द जी के गोत्री, जिनसे नन्दजी का भाई चारा था। वे आकर नन्दजी से भाई, ताऊ चाचा आदि कहते थे। एक महारानी के सम्बन्ध से ससुराल वाले थे आकर नन्दजी से फूफा, जीजा, बाबा आदि कहते थे, एक वृषभानु जी के गोत्री थे उनमे और ही सम्बन्ध था। इस प्रकार मिल कर चलते, कोई आगे बढ जाते कोई किसी गोल का साथ छोडकर किसी दूसरे गोल मे जा मिलते सभी नन्द के यहाँ पहुँचकर तुमुल ध्वनि से वाद्यो को बजाने लगते। किन्ही के समीप नन्दजी जाते किन्ही को उपनन्दजी बिठाते किन्ही का स्वागत सनन्द जी करते किन्ही को हुक्का तमाखू के लिये नन्द जी पूछते। पान, बीरो, सुपारी, तमाखू लौंग, इलायची तथा अन्यान्य मुख शुद्धि के पदार्थों के ढेर लगे थे। देखने मे तो स्वागत गोकुल के गोप कर रहे थे, किन्तु वास्तव मे अदृश्य रूप से सब सिद्धियाँ ही सेवा कर रही थी। सभी यह अनुभव कर रहे थे, कि नन्दजी ने हमारा सबसे बढ कर स्वागत सत्कार किया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार झुन्ड के झुन्ड व्रज भर के गोप आकर नन्दजी को बधाइयाँ देने लगे, अब जिस

प्रकार गोपियों ने आकर नन्दलाल को उपहार भेंट किये, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा। आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

मिलहिँ परस्पर गहिके हृदयतैं हृदय सटावैं।
कोई छूवै पैर गहकिकें ताहि उठावैं॥
कोई केशर मलै सुपारी बीरी देवैं।
कोई लैंन न पाहिँ झपटि तिनि करतैं लेवैं॥
सिद्धिनि सब सत्कार करि, जनम सुफल अपनो कर्‍यो।
गोकुल धन, मणि, अन्न अरु, सबई वस्तुनितैं भर्‍यो॥

गोपियों की तैयारियाँ

[८४६]

गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् ।
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः ॥*

(श्री भाग० १० स्क० ५ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

इत गोपिनि सम्वाद सुन्यो सुत जसुमति जायो ।
रोम रोममहँ हरष सुनत सबई के छायो ॥
नदभवन कूँ गमन करन की करी तयारी ।
लँहगा नयो निकारि पँचरँगी ओढ़ी सारी ॥
सुमन लगाइ सजाइ कच, वैणी बांधी विधि विहित ।
सिर सिदूर लगाइ पुनि, अधर रँगे शोभा सहित ॥

जो त्रिगुणातीत हैं, वे तो मनुष्य नही, उनकी बात तो छोड़ दीजिये, नही तो मनुष्य की इच्छा अपने को सजाने की होती है। देखने वाले हमे सुन्दर समझें यह लालसा सभी के मन मे रहती है। इसी दृष्टि से शृंगार किया जाता है। शृंगार के विविध प्रकार हैं, देश काल और पात्र के अनुसार शृंगार में

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब गोपिकाओं ने यह बात सुनी कि यशोदारानी के पुत्र हुआ है, तो उन्हे अत्यन्त हर्ष हुआ। वे वहाँ जाने के लिये अपने को वस्त्र, आभूषण और अञ्जनादि से सजाने लगी।"

भी भेद होता है। राजा का शृंगार और ही प्रकार का होता
व्यापारी के शृंगार भिन्न ही होते हैं। बूढ़े इस विचित्र ढङ्ग
शृंगार करते हैं, कि उनके वृद्धपने की मानमर्यादा बनी
युवको का शृङ्गार और ही होता है। कोई केशो में कु
लगाकर उन्हें सजाते हैं, कोई धूलि मलकर उसी में सौन्दर्य
अनुभव करते हैं। नागा महात्मा अपने सम्पूर्ण शरीर में
लगाकर उन्हें विधिवत् सम्हालते हैं। सौन्दर्य की भावना
भी है। कोई इस प्रकार शृंगार करते हैं हमारी सादगी प्र
हो। कोई तो शुभ्र-वस्त्र पहिनकर अपने मन को सन्तुष्ट करते
कोई मैले कुचैले फटे पुराने वस्त्रो को पहिनकर अपनी स्वा
विकता सादगी और सरलता समाज को दिखाते हैं।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में शृंगार करने की भावना प्र
होती है। जब से इस देश की श्री नष्ट हो गई है, तब से अधर्म
प्राचुर्य से स्त्रियों की मति भी मारी गयी है, वे शृंगार को एक
का कार्य समझती हैं। द्वेषवश वे कहती हैं—"हम कोई खि
तो हैं नही जो पुरुष को प्रसन्न करने के लिए दिन भर अङ्गों
रँगती रहें, हम भी स्वतन्त्र हैं।" किन्तु स्वतन्त्र होने पर
वे शृङ्गार किये बिना मानती नही। बालो को आकर्षक बनाने
वस्त्रों की सजावट में उनका बहुत समय जाता है, फिर चाहे
सजावट हमारी संस्कृति के विपरीत ही क्यों न हो। जो स
स्वभाव है, वह तो किसी न किसी रूप में प्रस्फुटित होगा ह
स्त्रियाँ कितनी भी उन्नति या अवनतिकी ओर अग्रसर हो जा
स्त्री सुलभ लज्जा और शृङ्गार प्रियता को वे खो नही सक
क्योंकि सहज स्वभाव दुरतिक्रम होता है। प्राचीन काल में स्त्रि
शृङ्गार न करना यह अशुभ चिह्न मानती थीं। बहुत से सौभा
चिह्न तो ऐसे थे, जिनका धारण करना अनिवार्य था। शृङ्गार

स्त्रियो की शोभा और बढ जाती है। उनके आभूषण ऐसी सम्पत्ति हैं जो विपत्ति मे काम आते हैं। पुरुष जब सब ओर से निराश हो जाता है, कही भी उसे आश्रय नही दीखता, तब उसकी दृष्टि अपनी पत्नी के आभूषणो की ओर जाती है और वे आडे समय पर काम आते हैं अत घर में स्त्रियों पर आभूषणो का रहना आवश्यक ही नही अनिवार्य है। सौभाग्य की वृद्धि के लिये शृ गार करके आवें तभी उत्सवो की शोभा है रस की वृद्धि होती है तभी सरसता आती है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब अन्त पुर मे गोपियो न श्रीकृष्ण जन्म का समाचार सुना, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना नही रहा। प्रथम झाड बुहार कर लीप-पोतकर चौक आदि पूरकर ध्वजा, पताका बन्दनवार लगा कर तथा मङ्गल द्रव्यो को यथा स्थान रखकर अपने-अपने घरो को सजाया। घर सजाने के अनन्तर फिर उन्होने अपने-अपने अङ्गो को सजाया शरीर का शृ गार किया। उत्सव मे जा रही हैं, मङ्गल का अवसर है, मङ्गलमयी बनकर वहाँ जाना चाहिये। फूहर की भाँति मैले कुचैले वस्त्रो से चली गयी तो बच्चे का अमङ्गल होगा सब घृणा करेंगी। सब प्रकार की सजावट ही तो समारोहो की शोभा है।

प्रथम उन्होने अपने शरीरो को झाड पोछकर उसमे सुन्दर सुगन्धित तैल लगाया। पुन किसी ने पिसी सरसो मे बेसन मिलाकर उसका उबटन किया। किसी ने हल्दी तैल आटा मिला कर उसी से उबटन किया किसी ने बादाम पिस्ता तथा केशर पीसकर उसी का उबटन किया। उबटन से तैल की चिकनाहट छूटकर शरीर दमकने लगता है। तदनन्तर सुन्दर सुगन्धित गुलाब जल पड़े जल के द्वारा सिर से स्नान किया। भाँति भाँति

की सुगन्धित वस्तुओ से सिर के बालो को धोया। फिर उन गीले बालो को अगुरु, चन्दन के चूर्ण का दहकते कोयलों पर डालकर उसके धूएँ से सुखाया, जिससे उनमे सुगन्धि व्याप्त जाय। फिर उन्हे बहुमूल्य सुगधित तैल आदि डालकर कंघी से सीधा किया। बूढी-बूढी स्त्रियो ने कहा—"आ बेटी! तेरी वेणी गूथ दूं।"

सबको तो श्रीकृष्ण दर्शन की चटपटी लगी हुई थी। मुनियो! आप इस कथा को प्राकृत कथा समझ कर मुझे बीच मे टोककर रस भग न करे। इसमे प्राकृत रस की गन्ध भी नही। ये गोपियाँ सभी महाभागवती हैं इनकी चरणो की धूलि के लिये ब्रह्मादि देव तरसते रहते है। यह जो सब शृंगार कर रही है, श्री कृष्ण के निमित्त ही कर रही हैं। श्रीकृष्ण के निमित्त किये हुए सभी कार्य अप्राकृत चिन्मय हो जाते है यह शृंगार कर रही है परम दिव्य अलौकिक और दिव्य रस का उत्पादक है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! महाभाग! हम विमुक्त मुनि शुष्क हृदय के नही हैं। यह तो कह नही सकते हमारा उस दिव्य अप्राकृत चिन्मय रस मे प्रवेश है; किन्तु इतना जानते हैं, श्रीकृष्ण और गोपियो का जो शृगाररस है वह दिव्यातिदिव्य अलौकिक तथा कुत्सित काम भाव से सवथा रहित है इनकी कथा सुनने से अन्त.करण शुद्ध होता है, प्राकृत काम नष्ट होता है। आप नि:संकोच गोपियो के शृंगार का वर्णन करें।"

श्री सूतजी बोले – "हाँ, महाराज! यही मुझे निवेदन करना था। अच्छा तो बडी बूढियों द्वारा उन्होने अपनी-अपनी वेणियो को बंधवाया। किसी ने एक वेणी कराई बड़े विचित्र ढग से उनमे मालती, माधवी तथा यूथिका के छोटे-छोटे पुष्पो की मालायें गूंथ कर एक प्रकार का जाल-सा बनाकर एडी तक उसे लटका दिया, उसमे रेशमी फुन्देदार लच्छे लटका दिये। किसी ने बीच से

वालों को दो करके उन्हें गुहकर उनका जूडा बनाया बीच-बीच मे कुसुम कलियो को लगवाया। किसी ने जूडे को सिर की ओर बाधा किसी ने दाईं ओर किसी ने बाईं ओर किसी ने ठीक सिर और पीठ की दोनो हड्डियो के बीच मे अपने जूडे को बाँधा और उसमे रगबिरगी मालाय लपेटीं माँग मे सिंदूर की रेखा लगायी। भाल पर केशर, कस्तूरी गोरोचन चन्दन चमकनी बेंदी अथवा सुवर्ण की बिन्दी लगायी। कपोलो पर चदन की खौर लगाकर तथा लोध्र से उन्हे लाल बनाकर उन पर पत्रावली की रचना की। भौंहो को सम्हाल कर उन्हे कुटिल बनाया। आँखो मे सुन्दर सुरमा कज्जल अजन लगाया। दाँतो मे मिस्सी, किसी-किसी ने उनमे चौंप भी लगायी। मुख मे सुन्दर लौंग, इलायची, केशर कपूर, जायफल, सुपारी तथा अन्यान्य सुगन्धित पदार्थों से युक्त सुन्दर पान दबाया। ओठो के आलक्तक स विधिपूर्वक सम्हाल कर रँगा। चिबुक पर चमकीली बिन्दी लगायी। अगो मे केशर, कस्तूरी कपूर तथा लोध्र आदि मिलाकर लगाया, जिससे सब अग सुगधित हो जायँ और अग के वर्ण मे पीतरक्त वर्ण मिलकर एक विशेष आभा को उत्पन्न करे। वक्षस्थल पर गन्धयुक्त कुकुम का लेप किया। हाथो मे मिहदी तथा नखो को आलक्तक से रँगा। चरणो मे महावर लगाया, नखो के पादतल को आलक्तक मे रँगा। पुन: दर्पण मे मुख देखकर जहाँ-जहाँ कोई त्रुटि दिखाई दी, उसे पुन सम्हाला। तदनन्तर धराऊँ सुन्दर सुगन्धित रखे हुए वस्त्रों की पेटिका निकाली। उसमे स जो सबस सुन्दर घूमघुमार साठ पाट का लँहगा था वह पहिना। किसी का लँहगा ८० गज का था। किसी का सौ गज का था। उनके किनारो मे मोतियो की लामन लगी थी, सिलमा सितारेकार गोखी का काम उन पर हो रहा था, गोखुरी की जडी, जरी के बेलबूटे उसमे कढे थे, स्थान-

स्थान पर छोटे-छोटे शीशे चढे थे, दूर से ऐसा प्रतीत होता था मानो नीले लाल रंग वाले नभ मे तारे उदित हो रहे हो। उनमे झब्बेदार रेशमी लम्बा नारा लगा था। जिन्हे पहिन कर उनकी शोभा अत्यन्त बढ रही थी। कन्चुकी हरी, लाल अथवा गाढे पीले रङ्गो की थी। सब ओढनी-फरिया रङ्ग बिरङ्गी थी जिनमे भांति-भांति के काम हो रहे थे, गोटा लगाने से वे चमक रही थी। इस प्रकार चार वस्त्र पहिनकर उन्होने आभूषणो को धारण किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आभूषणो की गडना करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है, फिर भी मुख्य-मुख्य आभूषणो के नाम मैं बताता हूँ। गोपियो ने श्रीकृष्ण जन्मोत्सव मे जाने के लिये अपने जूडे मे जूडा नामक फूलदार आभूषण लगाया, सिर पर चूडामणि और माथे के ऊपर लडोदार खौर बांधी। कानो मे कुण्डल कर्णफूल, बाला छोटी बाली तथा झुमका पहिना। दातो मे चौप और नासिका मे किसी ने नथ, किसी ने सौंने का सेंठ, किसी ने लटकन बुलाक, झलका तथा जडाऊ नग पहिना। चिबुक पर नील नग चिपकाया। कठ मे कठा कठहार, मणि-मुक्ताओ के हार, चन्द्रहार नौलखाहार, द्विमनिया, तिमनिया, पचमनिया, गुलूबन्द, इकलरी, दुलरी, तिलरी, चौलरी, पचलरी, सतलरी जोमाल, चम्पाकली, पुनरीमाल, मोहनमाल, तथा और भी अनेक प्रकार के हार यथा रुचि पहिन। भुजाओ मे बराजोसन, बाजूबन्द, कलाई मे कगनी, चुरी, छन्ना पछेली, दुआ, बगली, तारकसी, मठिया, और परोबन्द। उंगलियो मे आरसी छल्ला छाप तथा मुदरी। कटि मे कर्धनी, तथा बाजनी। पैरो मे पायजेब, पायल, रमझोल लच्छे कडे छडे साकर, सा[illegible], तथा तोडा। पजे मे पगमान, नहिया, एडीचौप, चुटकी, दुछल्ली,

बिछिया तथा छमछम आदि। इस प्रकार भाँति-भाँति के सुवर्ण चाँदी तथा रत्न जटित बहुमूल्य आभूषण पहिन कर वे नन्द भवन की ओर जाने के लिये समुत्सुक हुईं। घूम घुमारे लँहगों को पहिनकर छम्म-छम्म करती हुई वे गजगामिनी इधर से उधर घूमने लगीं। कभी इसे बुलाती कभी उसे पुकारतीं, इस प्रकार आभूषणों की झङ्कार से निर्जीव गृहों को मुखरित-सी करतीं अत्यधिक उत्सुकता प्रकट करने लगीं। उनके उत्तुंग कुच तंगदार मणि जटित कंचुकी से आबद्ध होने पर भी शरीर से पृथक् स्पष्ट दिखाई देते थे। वे श्रीकृष्ण दर्शन लालसा में घर द्वार, कुटुम्ब परिवार को भूल रही थीं। युवती चंचलता प्रकट कर रहीं थी। वृद्धा गंभीरता के साथ साज सम्हार कर रही थीं। बुढ़ियाँ कह रही थी "शरीर तो सजा लिया क्या वहाँ खाली हाथ जाकर लठ्ठ-सी खड़ी हो जाओगी। उपहार का थाल तो सजाओ!"

लजाती तथा मंद-मंद मुस्कराती हुईं युवतियाँ कहतीं—"अम्मा जी! क्या क्या चाहिये हमें तो पता नहीं आप जो कहें वही थाल में सजावें।"

सूरजी कहते हैं—"मुनियो। इस प्रकार व्रज की गोपियाँ स्वयं वस्त्राभूषणों से मंडित होकर अब नंद-गृह ले जाने के लिये थाल सजाने लगी।"

छप्पय

मुखमहँ मिस्सी पान नाक नकवेसरि सोहे।
कुच कुंकुम की कीच कठिनता रति मनमोहे॥
बेंदी, कुंडल, हार, झूमका, कण्ठा, लटकन।
चम्पकली, जौमाल वरा, बाजूबूँद कंगन॥
मुदरी, छल्ला, आरसी, पगपानहु पायल कड़े।
पहिने पैरनि साँट अरु, पाइजेब, छमछम छड़े॥

नन्द-भवन की ओर सोपहार गोपियों का गमन

[८४७]

नवकुंकुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः ।
वलिभिस्त्वरित जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥*

(श्री भग० १०स्क० ५ अ० १०, श्लोक)

छप्पय

करि सोलह शृङ्गार बनीं रति-सम सब नारी।
चोदी को ले थार चाव की वस्तु सम्हारीं॥
किसमिस, गोलागिरी, छुआरे और मखाने।
पिस्ता अरु बादाम, चिरोंजी, एलादाने॥
हँसली कठुला कौंधनी, कुरता टोपी खिलौना।
न्योछावर, राई नमक, लयो ललाकूँ झुंझुँना॥

शास्त्र का ऐसा वचन है, कि जब राजा के समीप जाना हो, किसी वेदपाठी-ब्राह्मण के पास जाना हो, अपने गुरुओं के समीप जाना हो, मुहूर्त दिखाने के लिये ज्योतिषी के समीप जाना हो,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! उन गोपियों के कमल मुख की कान्ति नव-कुंकुम के किञ्जल्क के सदृश थी व बहुत सी भेंटों को लिये हुए नन्द भवन की ओर शीघ्रता के साथ जा रही थीं, शीघ्र चलने के कारण उन-पृथु श्रोणियों के पीनपयोधर चञ्चल हो रहे थे।"

औषधि आदि पूछने वैद्य के पास जाना हो अथवा अपने कुटुम्ब परिवार मे मित्रो के यहाँ उत्सव आदि में जाना हो, तो रिक्त हस्त कभी भी न जाय, कुछ न कुछ लेकर ही जाय। उत्सव मे सभी भेंट लेकर आते हैं, भेंट क्या लाते हैं अपने प्रेम को प्रदर्शित करते हैं। लडकी के विवाह मे सम्बन्धी सम्मिलित होते है तो लडकी के लिये कुछ वस्तुएं लाते हैं, कुछ द्रव्य कन्या-दान मे देते हैं उसे उपहार की वस्तुएं देते है। विवाह होने पर लडकी याद रखती है, यह उनकी दी हुई अँगूठी है, अमुक वस्तु उन्होंने मुझे दी थी। लड़का होने पर परिवार वाले कुटुम्बी सगे सम्बन्धी तथा इष्ट-मित्र प्रेमी बच्चे के लिये बच्चे की माँ के लिये उपहार भेजते हैं। जिनसे अपना सम्बन्ध है, उत्सव-पर्वो मे जिनके यहाँ आते जाते हैं, वे लोग सभी परस्पर मे सम्मिलित होते हैं। स्त्रियाँ पृथक् सौ पचास मिलकर गीत गाती हुई चावल लेकर आती हैं। नगरों में तो यह प्रथा नाम-मात्र को ही अवशिष्ट रह गयी है। गाँवो मे अभी तक चावल ले जाने की प्रथा है, किन्तु पहिले जैसा उत्सव नही है। अब तो लकीर पीटना शेष रह गया है। चाव लेकर स्त्रियों को आने मे कितना उत्साह होता है, इसका अनुमान बिना प्रत्यक्ष देखे कोई लगा ही नही सकता। उस समय मूर्तिमान् सरसता सजीव चञ्चलता नृत्य करती हुई दिखाई देती है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! यशोदाजी के लाला हुआ है। इस समाचार ने व्रजाङ्गनाओ के रोम रोम मे आनन्द और उत्साह को उत्पन्न कर दिया। हर्ष के कारण उनके पैर पृथ्वी पर नही पड़ते थे। तितलियो की भाँति वे इधर से उधर नाच रही थी। यह ला, वह ला इसे उठा, उसे रख। यह वस्तु हमारे घर मे नही है तो श्यामा जीजी के यहाँ से माँग लो। वह कहती—

"माँजी ! अतलसका पीला कुरता तो नही है।" बुढिया कहती—"गोविन्द बीबी के यहाँ से ले आओ।" कोई दौडकर जयदेवी के यहाँ चली जाती और पच-मेवा ही माँग लाती।

कोई नई बहू पूछती—अम्मा जी ! टीके मे कौन-कौन सी वस्तुएँ जाती हैं।"

बुढिया अपना पुरखापन जताती हुई कहती—"देख बहू ! चाँदी के थाल मे मिठाई रख ले। किसमिस गरी का गोला, चिरौंजी, बादाम और छुआरे, ये पञ्चमेवा रख ले। बच्चे के लिये कुरता, टोपी, कठुला, कड़ूला, हँसली, कौंधनी, खेलने के खिलौना, झुनुंना, न्योछावर के लिये द्रव्य और माँ बच्चे के ऊपर उतारने के लिये राई और नौंन भी रख ले। यशोदारानी के लिये तीहर तो उनकी पीअर से आवेगी। हमारे यहाँ से तो इतना ही नेग होता है। न्योछावर उतारकर नाइनि को दे देना और दाई को भी कुछ देना होगा।"

वह तुरन्त इन वस्तुओ को चाँदी के थाल मे सजा लेती। अब एक दूसरी के यहाँ दौरकर जाती और कहतीं—'आनन्दी-जीजी ! अब किस बात की देर है।"

वह मुँह बनाकर कहती—"अरी बीबी ! देर काहे की है। हमारे गोकुल की रीति ही ऐसी है, साज सम्हार मे ही समय बिता देती हैं। अभी-अभी कामलता-चाची प्रेमलता चाची, रूपो-जीजी, ये सब निकलें, तब हम निकल सकती हैं। छोटी होना यह भी तो एक पाप ही है।"

इतने में ही बाहर से सुनाई दिया—"बहू सब दोष हमारा ही है क्यो ! अपनी बात नही कहती, अभी तक तुम्हारी रामा-रानी तो आँखो में अजन ही लगा रही हैं।"

यह सुनकर बहू भीतर से हड़बड़ाकर आती और कहती—

"चाची ! पड़ैन लगती हूँ।" यह कहकर उसके पैरों को दो चार बार मसलती।"

इस पर चाची कहती—"हजारी उमर हो बेटी ! तेरा सुहाग सदा बना रहे, बूढ़-बुढ़ौती हो, दूध-पूत से घर भरा रहे, बेटा हो नाती-पोता हो।"

इस पर बहू कहती—"चाचीजी ! अब देर करने का काम नहीं ? देखो, सुन रही हो तुम, उस मुहल्ले की स्त्रियाँ तो पहुँच भी

गयी; आज बडी भीड़ होगी। देर हो जाय, तो सभव है सूतिका-गृह तक पहुँच भी न सकें।"

इस पर चाची कहती— हाँ, बहू! अब चलो।" बस फिर क्या था, चाचा के निकलते ही घरों मे से स्त्रियाँ उसी प्रकार निकलने लगी, जैसे कबूतरी अपने-अपने दरों में से निकलकर दौडती हैं। सबके हाथों में नाना प्रकार के उपहारों के थाल थे। आगे-आगे बडी-बूढ़ी सौभाग्यवती स्त्रियाँ सादे सफेद कपड़े पहिने भक्ति भाव से शनः शनैः गीत गाती हुई चल रही थीं। उनके पीछे नई छरहरी युवती गोपियाँ चल रही थी। वे रङ्ग बिरंगे वस्त्राभूषणों के कारण अत्यत ही सुन्दर लग रही थी। एक-एक हाथ लम्बा घूंघट मारे सरसता में पगे हुए शृगार-रस के गीत गाती हुई जा रही थी। वे दो उंगलियों से घूंघट को सरका कर कभी-कभी एक आँख से इधर-उधर देख लेती थी। नितम्बों के स्थूल होने से वे लचक-चलक कर स्थूल हथिनियों की भाँति चल रही थी। उन्हे जाने की चटपटी लगी थी, पीछे से नितम्बों के भार के कारण और आगे से पीनपयोधरों के भार के कारण वे अधिक शीघ्रता से चलने में समर्थ नही थीं। फिर भी वे जब दौडती तो कंचुकी से कसे बिल्व के समान स्तन चचल मछली के समान हिल-हिलकर उनकी गति में बाधा डाल रहे थे। उनके मुख-चन्द्रो की आभा से लज्जित हुए सूर्य आकाश के नील अंचल मे छिप गये थे। नव-कुकुम रूप केशर मे सुशोभित उनके मनोहर मुख शारदीय अरविन्द के समान दिखाई देते थे। वे अपने सुरीले कण्ठो से ऐसे सरस गीत गा रही थी, मानों सुधारस की सगीत द्वारा वृष्टि कर रही हो। उन युवतियो के साथ जो मुख खोले हुए युवतियाँ या लड़कियाँ थी, वे इस गाँव की लड़कियाँ हैं, उनमें से बहुत—सी कुमारी थी, जिनका अभी विवाह नही हुआ था।

बहुत सी ऐसी थी जिनका विवाह तो हो गया था, किन्तु अभी गौने नही गई थी। बहुत सी गौने से लौटकर आयी थी। वे गाँव की बहुओ के गीत मे सहयोग नही दे रही थी, किन्तु भीतर ही भीतर उनका चित्त उमड रहा था, सरसता मे पग रहा था, हृदय हिलोरें ले रहा था। श्रीकृष्ण-दर्शन के लिये सभी समानरूप से लालायित थी।

सूतजी बोले—'महाराज! एक बात अभी स स्मरण रख लीजिये। व्रज की स्त्रियो के, भगवान् मे दो ही भाव थे। कुछ बुढियाओ का तो भगवान् के प्रति वात्सल्य स्नेह था, नही तो सभी का उनमे कान्त ही भाव था। श्याम सुन्दर हमारे श्रेष्ठ हैं।

शौनकजी ने हँसकर कहा—'सूतजी! आपने तो आश्चर्य की सीमा का भी उलघन कर रहे है। अभी नन्दलाल एक दिन के भी हुए नही, गोपियो न दर्शन तक भी किय नही, उनमे कान्त भाव कैस हो गया।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! ये नटनागर कभी बालक नही होते, ये तो नित्य किशोर ही बने रहत है। इनका नाम ही नन्दकिशोर है। किशोरी और किशोर ये न कभी बालक होते हैं न बूढे। इनकी सदा एक ही अवस्था रहती है। रही दर्शन की बात सो, ये तो न जाने कबसे नन्दलाल से सम्बधित हैं। बिना पूर्व के सम्बन्ध के उत्कण्ठा नही होती। ये गोपियाँ तो रात्रि-दिन उन्ही की प्रतीक्षा करती थी। इसलिये व्रज मे लडको के साथ तो सख्य भाव श्रीकृष्ण का है, किन्तु स्त्रियो से माता और कान्ता ये ही दो सम्बन्ध हैं। व्रजे सन्ति त्रयो गुण.' व्रजमे सख्य, वात्सल्य और मधुर ये ही प्रधानतया तीन रस हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा— सूतजी! भगवान् के दो ताऊ

थे दो सगे चाचा थे, इनके भी तो लडकियाँ होगी। वे तो भगवान् की बहिनें ही हुईं।

सूतजी बोल—"महाराज! मै कह तो चुका हूँ, उनमे से किसी के लडकी थी ही नही। यशोदा मैया के एक योग माया से हुई थी, उसे भगवान् ने व्रज के बाहर विन्ध्याचल में पठा दिया। व्रज-मडल भर मे उनके कोई बहिन ही नहीं थी। सुभद्रा का जन्म तो द्वारका मे हुआ था। द्वारका मे तो द्रौपदी ने श्रीकृष्ण को भाई कहा है। अस्तु, यह प्रसङ्ग तो गहन है। आगे यथा स्थान इस विषय की चर्चा होगी। यहाँ केवल वात्सल्य रस के प्रसङ्ग मे इतना ही सकेत करना था, कि बूढी गोपियो का ही वात्सल्य भाव था। ऐसी बहुत कम थी। शेष तो सरसता मे पगी गीत गाती जा रही थी।

इस प्रकार वे आनद मे मतवाली हुई गाती बजाती नन्दजी के भवन के सम्मुख पहुँची महाराज! यह तो मैंने गोकुल की गोराङ्गनाओ के सम्बन्ध मे बताया, अब अन्य गाँवों मे चाव ले लेकर व्रजाङ्गनाएँ आयी, उनके सम्बन्ध की भी कुछ बातें सुनिये।"

छप्पय

लीये कर उपहार भावमहँ भरिकें भामिनि।
कटि कुचभार सम्हारि नामित-सी है गजगामिनि॥
नेह पागमहँ पगी सरसता-सी सरसावति।
मुसरित पथकूँ करति चलति रस-सो बरसावति॥
देह गेह सुधि बुधि न कछु, कृष्ण-कृपाकी कामिनी।
नव जलधरमहँ चमकिने, चलीं मनहुँ सौदामिनी॥

भावमयी गोपियों की अपूर्व शोभा

[८४८]

गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्य-
श्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः ।
नन्दालयं सबलया व्रजतीर्विरेजु-
र्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ५ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

काननि कुंडल कनक समुज्वल मणिमय विलसित ।
चमकै दमकै हार मनहु नभ उडगन विकसित ॥
घूँघटतैं मुख ढक्यो मनहु छिपि घनमहँ निशिपति ।
झरहिं सिरनितैं सुमन मनहु शर छाँड़ै रतिपति ॥
हृदय-हार अरु कुचनिमहँ, होवै संघर्षण प्रबल ।
ज्यों झखझोरैं मीन द्वै, मानसरोवर हृत्कमल ॥

स्त्रियो मे शास्त्रकारो ने तीन प्रधान गुण बताये हैं । वे गुण

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् नन्दजी के भवन को जाती हुई गोपिकाओ की कैसी अपूर्व शोभा उस समय हुई । उनके कानो में उज्वल मणिमय कुंडल थे, हार हमेल गले मे पहिने थी, रग बिरगे वस्त्र पहिने थी, मार्ग मे उनकी चोटियो से फूलों की वर्षा-सी होती जाती थी । करो मे कंकण पहिन थी, और शीघ्र चलन से उनके कुण्डल स्तन तथा हार हिल रहे थे ।"

और किसी मे भी नही हो सकते। प्रथम सद्गुण तो इनमे यह है, कि ये पुत्ररत्नो को प्रसव करती हैं। जितने अवतार, महात्मा अथवा महापुरुष हुए हैं, उनको इन्होने ही जना है। दूसरा गुण इनमे यह है, कि ये पति के लिये अपना नाम, कुल, गोत्र तथा शरीर सब कुछ निछावर कर देती हैं। यही नही, कि जीवित पति के मन मे अपना मन मिलाकर उसकी सहगामिनी बनी रहे, अपितु मरने पर हँसते-हँसते उसकी चि । पर चढकर जल जाती हैं और परलोक मे पुन अपने प्राणनाथ से मिल जाती हैं। इतना बडा त्याग ससार मे और कोई कर नही सकता। तीसरा गुण इनमे सर्वश्रेष्ठ यह है, कि ये मङ्गलमयी हैं। घर में रहकर नित्य कोई न कोई मङ्गलकृत्य करती ही रहती हैं, व्रत, उपवास उत्सव, गीत वाद्य, नृत्य यह इनका स्वभाव है। सच पूछा जाय तो उत्सवो की शोभा तो स्त्रियो से ही है। स्त्रियाँ जिसके भी यहाँ जायँगी जाते ही काम मे जुट जायँगी। समारोह को सफल बनाने मे ये सतत प्रयत्न करेगी। घर मे जितने विवाह, पर्व तथा अन्य उत्सव होत हैं उनमे पुरुष तो सामग्री जुटा देते हैं, करती धरती तो घर की स्त्रियाँ ही हैं। स्त्रियो का हृदय सरस और सङ्गीतमय कला पूर्ण होता है। ललित कलाओ मे इनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। जिस उत्सव मे स्त्रियो का सहयोग समारोह न हो वह अधूरा है, नीरस शुष्क और केवल चहल पहल मात्र है। उत्सव स्त्रियो से चौगुना शोभा युक्त बन जाता है, तभी तो भगवान् शुकने नन्दोत्सव के प्रसङ्ग मे गोपो की शोभा का वर्णन एक ही श्लोक मे किया, किन्तु गोपियो के वर्णन मे चार श्लोक कहे। परमहस चक्रचूडामणि वीतराग नि सग सर्वत्यागी जितेन्द्रिय भगवान् शुक ने प्राकृत शृङ्गार रस को सरसता बढ़ाने के लिये ऐसा किया हो, सो तो सम्भव नही,

क्योंकि वे प्राकृत धर्मों से ऊपर उठे थे। उन्होने जो वर्णन किया वह श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ ही किया। भगवान् ने प्रथम ही क्षीरसागर पर ब्रह्माजी के द्वारा देवताओ को यह आदेश दिलाया था, कि "मेरी प्रसन्नता के लिये समस्त देवाङ्गनाएं भी मर्त्यलोक मे जाकर जन्म लें।" तो जो एकमात्र श्रीकृष्ण को ही प्रसन्न करने का उपक्रम कर रही हो, उनकी शोभा का जितना भी वर्णन किया जाय उतना ही न्यून है। इसीलिये गोकुल की ग्वालिनियो की शोभा का वर्णन करके अब समस्त व्रज की व्रजाङ्गनाओ की छटा की झाँकी कराते है।'

सूतजी कहते हैं— मुनियो! श्रीकृष्ण के जन्म का समाचार सुनकर केवल गोकुल की ग्वालिनियो को ही उनके दर्शनो की चटपटी लगी हो सो बात नही। समस्त व्रज मण्डल की बारी, बूढी तथा युवती समस्त स्त्रियो के मन मे भगवान् को देखने की उत्सुकता हो गयी। गाँव गाँव मे घर घर मे स्त्रियाँ नन्द-भवन को गमन करने के लिये तैयारियाँ करने लगी। वे मेवा मिठाई आदि टीके की वस्तुओ को लेकर अपने-अपने घरो से निकल पडी। उनमे सभी तरह की थी। कुछ बूढी टेढी भी थी कुछ युवती विमुग्धा थी कुछ मुग्धा बालिकाएँ भी थी। बुढियो के मन मे आज नवयौवन का सचार हो गया था इसलिये आज वे दौड रही थी। युवतियो मे कई प्रकार की थी, कुछ तो पतली छरहरी शीघ्रगामिनी थी, कुछ मोटल्ली धमधल्ली भारी शरीर की थी। शरीर पर अधिक मास चढ जाने से उन्हे चलने मे कष्ट होता था। वे पिछड जाती और कहती—'अरी वीर आनन्दी! पहिले तुम जाकर खीर न खा लोगी, हमे भी साथ लिये चलो।'

दूसरी हँसती हुई कहती—"अरी तुमने तो अपने भर्तार

की भी मुटाई अपने शरीर मे ले ली है। वे कितने दुबले पतले है तू कितनी धमधल्लो हो गयी है। लोभ का फल तो यही होता है। यह सुनकर सब हंस जाती।

जितना बुढी टेढी डुकरियाँ थी वे कहती—'अरे, छोरियो! तुम तो उड रही हो, माना पङ्ख लग रहे हो। हमे भी साथ लेती चलो।"

उनमे से कोई हँसती हुई कहती— दादो कभी तुम भी ऐसे उडी होगी। सबका समय होता है। बुढिया को तो घर मे ही बैठकर माला सरकानी चाहिये, ऐसे अवसरो पर जाना ही न चाहिये।"

यह सुनकर एक बुढिया कहती—"बुढियाओ के मन नही होता क्या ? तुम सदा ऐसी ही छैलछबैली नवेली बनी रहोगी। तुम भी तो कभी बुढिया होगी।"

इस पर एक छोटी सी—ठिगनी सी—गोल मुखवाली युवती घूँघट को उठाकर कहती—"बुढिया हो हमारी वैरिन, हम तो सब ऐसी ही नित्य किशोरी बनी रहेगी। व्रज मे रहकर भी जो स्त्री बुढिया हो अब उसके लिये मैं क्या कहूँ"

यह सुनकर सब हँस पडतीं। इस प्रकार हँसी-विनोद करती हुई जा रही थीं। अधिकाश गोपिकाएँ पैदल ही आ रही थी। उनके चरणों की धूलि से आकाश मण्डल भरा हुआ सा दीखता था, मानों उस परम पावन रज को देवगण अलक्षित भाव से स्वर्गादि लोको के लिये ले जाते हो। जो अत्यन्त ही बूढी डुकरियाँ थी उनको भी श्रीकृष्ण दर्शन की अति उत्कण्ठा बढी। वे भी गाडियो में बैठ-बैठकर नन्दभवन की ओर जा रही थी। चारो दिशाओं के पथ गोप और गोपियों से भर रहे थे। मार्ग मे गोपियो के झुण्ड मिलते, किसी गाँव के युवक देखते इस गाँव

की लडकी हमारे गाँव के गोप से विवाही है, तो ससुराल का नाता मानकर वह कोई सरसता की बात कह देता। युवतियाँ भी उससे ऐसी ही बातें कह देती, इससे रस की वृद्धि होती।"

उन आने वाली व्रजाङ्गनाओ के प्रत्यक्ष दो-दो गोल दिखाई देते। जो युवती थी, चलने मे शक्तिशालिनी थी, वे तो आगे-आगे हरिनियो की भाँति चकित दृष्टि से इधर-उधर देखती हुई बढ जाती थी, बुढियाएं थी अथवा बालिकाएँ थी, वे पीछे के गोल मे रह जाती। वे भला युवतियो की बराबर कैसे कर सकती थी।"

व्रज मे पुष्पो की तो कुछ कमी ही नही थी। जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ कमी का क्या काम है, व्रज तो रमा का क्रीडास्थल ही बन गया था। ऋतु के बिना ऋतु के सभी फूल खिल गये थे। प्रकृति के नियामक का प्रसन्नता के निमित्त ही जब व्रजाङ्गनाओ का अवतरण है, तब प्रकृति को तो उनके अनुकूल होना ही होगा। मालती, माधवी, मल्लिका, यूथिका, चम्पा, पाटल, गन्धराज तथा पारिजात आदि के पुष्पो से उन युवतियो की चोटियाँ गुथी हुई थी किसी-किसी की ऐडी तक लटकती चोटी मे छोटे-छोटे पुष्पो की मालाएं गूँथी गयी थी, किन्ही-किन्ही के जूडो मे स्थान-स्थान पर फूल खुरसे हुये थे। वेग से चलने के कारण उनकी चोटियो मे से पुष्प गिर रहे थे, मानो देव-गण आकाश से पुष्प बरसाकर गोपाङ्गनाओ के पथ को पुष्पमय बनाने का प्रयास कर रहे हो। उनके कानो के कमनीय कनक कुडल हिल-हिलकर अव्यक्त शब्द कर रहे थे, मानो गोपियो को शीघ्र चलने को उत्साहित कर रहे हो। उनके कोमल कपोलो का स्पर्श करके सकेत कर रहे हों। कुण्डल हिल-हिलकर आगे बढ जाते, मानो कह रहे हो, कि हमे कान से पृथक् कर दो, तो हम छिन मे दौरकर श्री-कृष्ण के दर्शन कर लें। यद्यपि उन्होने अपने पीन पयोधरो को

कंचुकियों से कस रखा था, फिर भी वे हिल - हिलकर श्रेष्ठ के अङ्ग स्पर्श के लिये व्यग्रता प्रकट कर रहे थे। हार हिल-हिल कर उनको निषेध कर रहे थे, किन्तु वे उनका शासन मानने को तैयार नही थे, वे उन्हे धक्का देकर दूर हटा देते थे, किन्तु जैसे नायक क्रोधित हुई मानिनी नायिका के पाद-प्रहार को सहकर भी उसकी ही ओर दोडता है, उसी प्रकार ढकेले जाने पर भी हार पुनः पुनः उन्ही का स्पर्श करते। इस प्रकार उन दोनो का सम्पूर्ण पथ मे सघर्षण होता आ रहा था। करो के जडाऊ कङ्कण चूडियो की झनकार मे अपना सहयोग प्रकट कर रहे थे। जिस प्रकार टिड्डीदल एक साथ उडता है, उसी प्रकार वे सब व्रजाङ्गनाएं मानो उड रही हो। नन्द-भवन की ओर उसी प्रकार तीव्र गति से जा रही थी, जिस प्रकार वर्षा काल की सरिताएं समुद्र की ओर वेग से जाती हैं। वे गाती, बजाती, हंसती, खेलती किलोलें करती और एक दूसरी को ठेलती हुई जा रही थी। उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग फडक रहे थे हृदय मे एक प्रकार की विचित्र मीठी-मीठी उत्सुकता उत्पन्न हो रही थी। वे अपने इष्ट की ओर अभिसार तो कर रही थी किन्तु यह अभिसार गुप्त न होकर प्रकट था, इसमे छिपाव नही, दुराव नहीं, संकोच नही, छल नही कपट नही, ईर्ष्या नही, डाह नही। यह सम्मिलित गमन था।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! झुण्ड की झुण्ड लाल, पीली, हरी, नीली, वैजयन्ती तथा पचरङ्गी चूनरियो को ओढे गोपियो को अपने घर की ओर आते देखकर नन्दजी का हृदय बांसो उछलने लगा। उनकी आंखो मे प्रेम के अश्रु छल छलाने लगे। वे सोचने लगे—"धन्य मेरा भाग्य जो आज सभी गांवो की गोपिकाएं मेरे लाला को आशीर्वाद देने [illegible] रही हैं [illegible] कहां थे, जो मै लाला का मुंह [illegible] नही [illegible]

लग गया है। ये सब कब से आशा लगाये बैठी थी। आज सभी अपनी निधि को देखने आ रही हैं। इस प्रकार सोचकर वे मारे हर्ष के अङ्गो मे नही समाते थे। बार-बार रोहिणी जी के पास जाते थे और कहते थे—"भाभी! देखना, किसी के आदर सत्कार मे कोई कमी न हो। जिसका जैसा सत्कार होना चाहिये, उससे सौगुना करो। नारायण की कृपा से तुम्हारे घर मे किसी वस्तु की कमी तो है ही नही।'

रोहिणीजी कहती—'लाला! तुम चिन्ता मत करो। मुझे सबका ध्यान है, फिर सुनन्दा बीबी भी हैं। बडी बीबी और हम सब ही तो है।" इस प्रकार आगत गोपियो को देखकर गोप हट जाते और वे भीतर महलो मे बिना रोक टोक के उसी प्रकार भीड मे विलीन हो जाती, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र मे जाकर विलीन हो जाती हैं।

छप्पय

ब्रजरजमहँ पदकमल परहिँ पृथिवी हरपावें।
जा रजकूँ अज शम्भु चहें परि ते नहिँ पावें॥
प्रकटे ब्रजमहँ नन्द लला हम सबके भरता।
मिलन चलीं जिमि जाहिँ उदधितैं मिलिवे सरिता॥
यह अभिसार विचित्र अति, जामें नहि ईर्ष्या कपट।
छोड़ि सौतिया डाह सब, जाहिँ हँसति खेलति प्रकट॥

नंद-भवन में गोपियों का आनन्दोल्लास

[८४९]

ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालके।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्यो जनमुज्जगुः ॥*

(श्री भाग० १० स्क० ५ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

यों सब मिलिकें नन्द भवनमहँ पहुँची बाला।
जहँ गुल गुल-से परे मुनमुना जसुमति लाला॥
बाँधे मुट्ठी नयन मूँदि कछु ध्यान लगावत।
चरननि रहे हिलाय मनहूँ जग-सार बतावत॥
बोलीं बुढ़ियाँ वत्स ! तुम, चिरजीवो सुखतैं रहो।
वेगि बढ़ो बेटा ! बिहँसि, जसुमतितैं मैयो कहो॥

वृद्धा को आशीर्वाद देने का जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी के भी छोटे बच्चे बच्चों हों, बूढ़े नर नारी उन्हें निःसंकोच बेटा-बेटी कहेंगे। लड़के भी बूढ़े बुढ़ियों को देखकर बाबा, दादी, माताजी कहने लगते हैं। वृद्धों को इस बात का अभिमान रहता है, कि हम बड़े हैं, बच्चे हमारे लाल्य हैं। कोई लड़का कुछ बढ़-चढ़कर बातें

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! नन्दभवन में पहुँचकर गोपियाँ नन्दलाल को आशीर्वाद देती हुई कहने लगीं—"बालक चिरञ्जीवी हो" फिर गोपों पर किसी हल्दी में जल और तेल मिलाकर उनके ऊपर फेंकती और उच्च स्वर से गीत गाती।"

करता है, तो बूढ़े लोग कहते हैं—"अरे भैया! हमने तुझे गोद मे लेकर खिलाया है, हमारे सामने तू नङ्गा घूमता था।" बूढ़े के लिये लडके कितने भी बढ जायँ, कितने भी उन्नत हो जायँ, वे बच्चे ही हैं। उसी पुराने नाम से पुकारेंगे, और की तो बात ही क्या भगवान् भी यदि बच्चा बनकर बूढो के बीच मे आ जायँ तो वे उन्हे भी आशीर्वाद देंगे, और चञ्चलता करने पर चपत भी लगा देंगे। वह तो उनका जन्मजात अधिकार है कोई भी क्यो न हो अपना अधिकार सरलता से नही छोड सकता।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! नन्दभवन मे आज आनन्द का सागर उमड रहा है किसी को कुछ पता नही हम कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं, सभी एक अपूर्व आनन्द सुधासागर मे निमग्न है। नदजी के छोटे बडे भाइयो की बहुओ को आज न खाने की स्मृति है न पीने की। व्रज की जो स्त्रियाँ आती हैं, उन्हे दौडकर आसन देती हैं। पान, बीरो, इलायची, लौंग आदि से उनका स्वागत सत्कार करती हैं। उनसे मीठी मीठी बातें करती हैं। लालजी को दिखाती हैं। गोपिकाएँ आकर लालजी की आरती उतारती हैं भेंट की सामग्रियाँ रखती हैं। सबसे पहिला टीका उपनदजी की पत्नी लालजी की बडी ताई के घर से आया। लालजी को सर्व प्रथम वही ताई की लायी रोली अंगुली पहिराई गयी। यशोदा मया एक तो मोटी थी, दूसरे उन्होने प्रसव किया था, तीसर, आनन्द मे विभोर बनी हुई थी, लालजी के श्रीअङ्गको देखते ही उनके नेत्रो से स्नेह का नीर बहने लगता, अत वे शैया पर सुख-पूवक पडी थी। बडी-बडी बूढी गोपियाँ आती तो नदरानी हाथ जोड देती और रो पडती। कोई आकर कहती—'यशोदा बधाई है। तेने लाला क्या जाया है, जगत् का उजियाला है। बस इतना सुनते ही उनका कंठ रुद्ध हो जाता, नेत्रो से टप-टप करके आँसू बहने लगते, शरीर

मे रोमाञ्च हो जाते और सतृष्ण नेत्रो से इधर-उधर निहारने लगती। कुछ धैर्य धारण करके कहती—"मेरा काहे का है, आप सबका है। आप सबके आशीर्वाद से यह जी जाय बडा हो जाय।"

बुढियाँ कहती—"अजी, नंदरानी लाला की लाखा वर्ष की आयु हो सदा हमारी राजा बनकर रक्षा करता रहे। ब्याह हो जाय, बहू आवे, बेटा होयँ। अब तो नारायण ने कृपा की है। हमारी रानी की गोद भरी है। यह कहकर गोपियाँ लालजी की बलैया लेती, टीका चढाती, आरती करके उन पर राई नौन उतारती।"

लालजी सुनन्दा बूआ की गोदी मे थे। दाई ने देखा, यहाँ अधिकार तो मेरा है यह बीबी! मानती ही नही, अतः बोली—"सुनन्दा बीबी! लालजी को मुझे दे दो, तुम तनिक देख भाल करो देखो, महरान से चाव आयो है।"

सुनन्दा ने कहा—'तू क्या करेगी।"

गरजकर बुढिया बोली—"मैं करूंगी अपनी आमदनी! यही तो मेरी दान दक्षिणा का समय है।"

हँसकर सुनन्दा बूआ बोली—'ले, तू सोने का सुमेरु बनवा-लेना बुढिया का पेट ही नही भरता डोकरे से कह देना वह भी अब लौठरा हो जाय।"

यह कहकर लालजी को दाई को देकर सुनन्दा बूआ वहाँ से बाहर चली गयी और गोपियो का आगत स्वागत करने लगी। दाई ने एक अत्यन्त महीन पोला रेशमी वस्त्र लालजी के श्रीमुख के ऊपर डाल रखा था, कि लालजी के मुख पर मक्खियाँ न बैठने पावें, इसलिय वस्त्र डाल दिया है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य यह था, कि लाला को नजर न लग जाय। जिसे दर्शन कराने हो,

पहिले अपनी गहरी दक्षिणा रखा लूं, नेग जोग ले लूं, तब दर्शन कराऊं।"

जो भी गोपियाँ आती वे ही कहती—'दाई दादी! तनिक लालजी का कमल मुख तो दिखा दो। तुमने तो नई बहू की तरह उसका मुख ही ढक रखा है?'

दाई कहती—"अरी, मुख ऐसे ही दिखाया जाता है। लालजी के लिये तो कुर्ता, टोपी, कठुला, कौंधनी सब कुछ ले आयी, मेरे लिये कुछ भी नही लायी।"

गोपी बल देकर कहती—'लायी कैसे नही, दाई दादी! तेरे लिये तो हम तीहर लायी है, तुझे बुढिया से बहू बनाना है।"

यह सुनकर बुढिया खीजकर कहती—'जो आती हैं, वही मुझे बुढिया बुढिया कहकर खिजाती है, बनाने की बात कहकर चिढाती हैं। मै कभी बनी नही क्या? ये ही नई बहू बनी है, इन्ही पर नया यौवन आया है। मानो हमारी कभी ऐसी अवस्था हुई ही नही। ये बाल मैंने धूप मे पका लिये है? कभी मेरे भी काले बाल थे। मेरा मन नही चलता, तीहर पहिनने, हार पहिनने को। हमे जो बुढिया बतावे, वे स्वय बुढिया, उनकी माँ बुढिया, दादी बुढिया, नानी बुढिया।"

इस पर कोई कहती—'अरी, दादी, बुढिया काहे को है, तू तो युवतियो के भी कान काटता है। नई तीहर पहिनकर तो तुझ पर नया यौवन आ जायगा। आजकल तरी ही पाँचो अगुलीघो मे है। तेरी ही दुकान तो चेत रही है। लाला के पीछे चाहे जितना धन कमा ले।"

बुढिया कहती—कितने दिनो से तो मेरी आशा लग रही थी। अब मै किसी की सोभरि का काम करने थोडे ही जाऊंगी।'

इस पर कोई कहती—"अब तो तेरी सब कामो से मुक्ति हो

जायगी। पान चबाती रहना और उसके रस को निगलती रहना। जब लाला तेरी गोद मे आ गया, तब तुझे किस वस्तु की कमी है।"

इस प्रकार सब दाई को खरी, खोटी, टेढी, उलटी सीधी व्यङ्ग की बाते सुनाती, वह सबकी सुनकर कुछ न कुछ उत्तर देती और

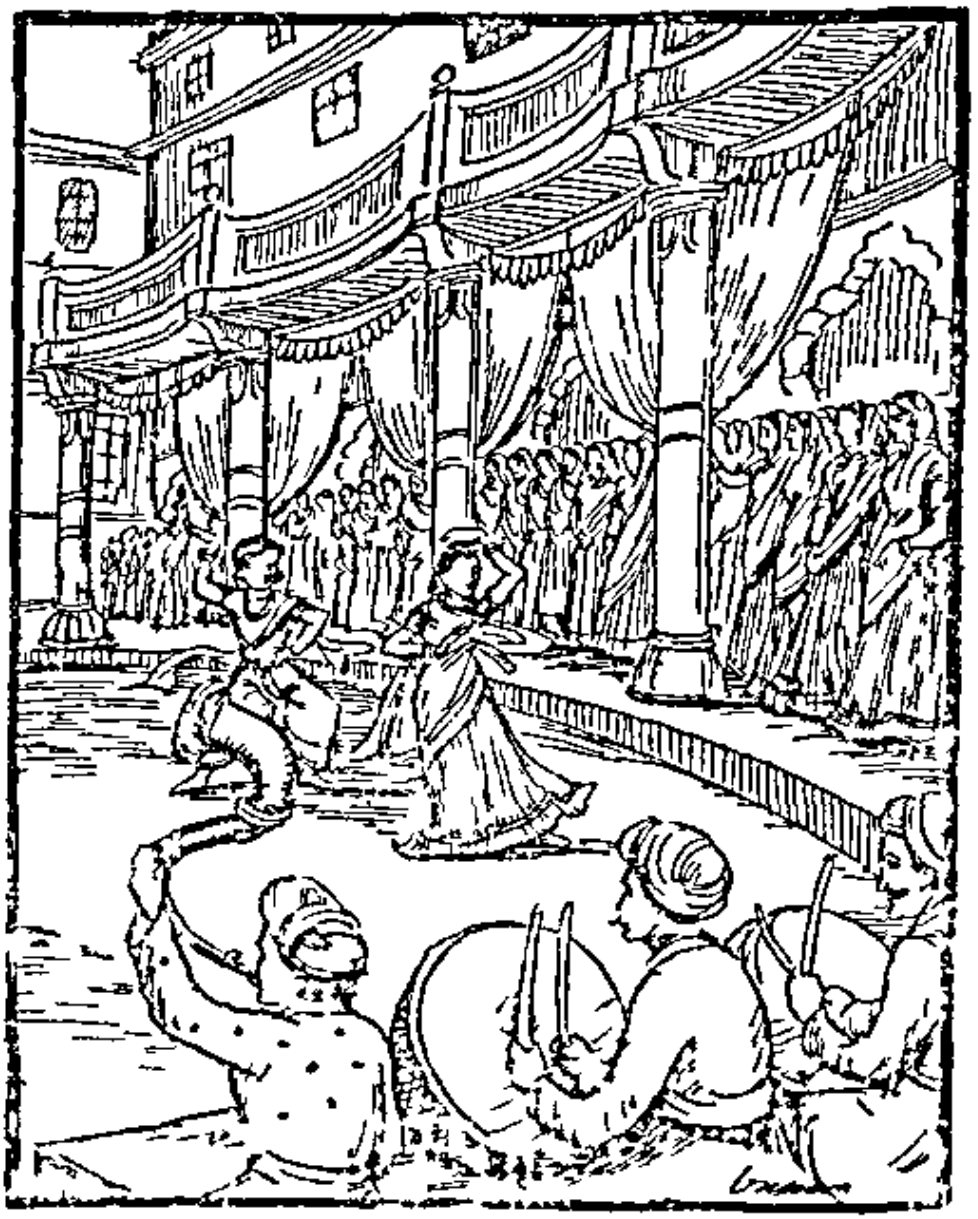

जो निछावर दक्षिणा मिलती उसे चुपके मे पीछे रख लेती। उसके समीप वस्तुओं का ढेर लग गया। इतने टीके के थाल आये, कि सुनन्दा बूआ लालजी की ताई चाची सभी थक गयी।

इतने में ही बाहर अथाई पर महराने के गोप आ गये। सब ने कहा—"हम तो लाला को देखेंगे।"

नन्द जी ने कहा—'भैया, भीतर तो लुगाइयाँ ही लुगाइयाँ भर रहीं हैं। वहाँ कैसे जाना हो सकता है?"

वे गोप बोले—"लुगाइयाँ रही आवें, वे क्या हमारे सिर पर चढ़ेगी। लाला को लुगाइयो ने ही मोल ले लिया है क्या? वे देख सकती हैं, तो हम नहीं देख सकते।"

नन्द जी बोले—"हाँ, भैया! तुम्हारी तो चूल्हे मे जड हैं। तुम्हारे लिये अथाई चौपाल से बढकर तो घर है। अच्छा चलो। यह कह कर वे गोपो के साथ चल दिये। लाल जी के दर्शनो की लालसा किस अभागे के हृदय मे न होगी, अतः और भी गोप पीछे लग लिये। नन्द जी मना कैसे करें। खाँसते मठारते भीतर चले, किन्तु आज उनके खाँसने मठारने को कौन सुनता है। नगाडखाने मे तूती की ध्वनि कहाँ सुनाई देती है? जैसे-तैसे वे महराने वाले गोपो को आगे करके आँगन मे पहुँचे। महराने वालो को ता किसी का सकोच है ही नही, उनकी कोई बहिन है, न कोई बूआ है। हमारे यहाँ की जो सुनन्दा आदि बूआ है, उनसे उनका हँसी विनोद का सम्बन्ध है, अतः वे बिना रोक-टोक भीतर घुस गये। नन्द जी को देख कर बहुएँ चिकों मे छिप गयी! महराने वाले तन्मय हुए लाल जी की छबि को देख रहे थे। इतने मे ही एक हँसमुख बुढिया-सी बोली—"छोरियो! ये नौसाल वाले आये हैं ऐसे ही सूखे ही चले जायँगे क्या?"

बस, फिर क्या था। हल्दी, चूना, तेल, नारियल का जल तो भरा हुआ रखा ही था, लडकियो ने महराने वालो के ऊपर डाला, बहुओ ने नन्दबाबा तथा दूसरे गोपो के ऊपर डाला। अब तो नन्द जी को उमङ्ग चढ़ आयी। उन्होंने भी बस पर फेंटा ५

पिचकारी निकाली। रङ्ग कुण्डा मे भरा ही हुआ था, वे मारने लगे तक तक कर पिचकारी, स्त्रियाँ आपे से बाहर हो रही थी। दाई ने सूतिका गृह की किवाड बन्द कर दी थी, फिर भी लालजी पर कुछ छोटे पड ही गये जंगले मे से नंदरानी निहार रही थी और मन ही मन सिहा रही थी बार बार इच्छा होती मैं भी इस महोत्सव मे सम्मिलित हो जाऊँ, किंतु वे तो उठ नही सकती थी बडी देर तक स्त्रियाँ पुरुषो पर रङ्ग डालती रही, पुरुष भी उनके वस्त्रो का रङ्ग मे सराबोर करने लगे, तदन्तर सभी गोप निकल कर बाहर आये। बाहर सहस्रो लक्षो गोप हाथ मे दही, दूध तथा अन्यान्य गोपो को रङ्ग मे सराबोर देख कर उन सबके मन मे भी सरसता की उमंगे उठने लगी।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! कृष्णरङ्ग मे रंगी गोपियाँ मुक्त कण्ठ से सरसतापूर्ण गीतो को गाने लगी। आँगन मे तो रङ्ग की कीच हो रही थी, और वायुमण्डल मे उनके सरसतापूर्ण गीतो से रस की कीच व्याप्त हो रही थी। उस समय व्रज मे मूर्तिमान सरसता, साकार उल्लास और प्रत्यक्ष आह्लाद दिखाई देता था। यह तो गोपियो के आनन्द के सम्बन्ध मे कहा। अब गोपो ने मिलकर श्री कृष्णजन्मोत्सव के उपलक्ष मे जैसे दधिकाँदौ किया। उसका वर्णन मे आगे करूँगा, उसे भी आप सब सावधान होकर श्रवण कर।"

छप्पय

महरानेतैं गोप लालकूँ देखन आये।
भीतर आदर सहित नन्दबाबा जब लाये॥
गोपिनि तुरतहिं अधिक तेल में हरदी घोरी।
छिरकैं रसमहँ पगी मची भादौंमहँ होरी॥
लै पिचकारी गोपहू, फेंट बाँधि ठाढे भये।
रंग रस बरसे सबहीं, सब रस रँगमहँ रँगि गये॥

दधिकाँदौं

[८५०]

अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे ।
कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य व्रजमागते ॥
गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः ।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ५ अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

भेरी, तुरही, चंग, मजीरा मधुर मधुर स्वर ।
ढोल, खोल, करताल, बजैं वंशी वीना वर ॥
कृष्ण जन्म की मची धूम जड़ चेतन हरषें ।
कल्पवृक्ष के सुमन गगन फुलझरियाँ वरषें ॥
व्रजमंडल के गोप गन, सब मिलि दधिकाँदौं करें ।
दूध, दही, घृत उलचि घट, खाली करि पुनि-पुनि भरें ॥

उत्सव मे एक के उत्साह को देखकर दूसरे को उत्साह आता है। एक को प्रसन्न होते देखकर दूसरे प्रसन्न होते हैं। परस्पर में सब एक ही रग मे रँग जायँ, एक ही भाव मे भावित हो जायँ,

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! विश्वेश्वर अनन्त श्रीकृष्ण के व्रज मे आने पर उनके जन्म महोत्सव मे विचित्र बाजे बजने लगे। गोपगण हृष्ट मन से परस्पर म एक दूसरे पर दूध, दही तथा जल उलीचने लगे। मक्खन को एक दूसरे पर फेंककर उनके बदनो पर मलन लगे।"

तभी उत्सव की श्रीवृद्धि होती है तभी उसमे आनन्द आता है। कुछ का भाव और हो, कुछ दूसरा ही राग अलापें, तो उसमे पूर्ण रस नही आता। सभी अपनी प्रसन्नता को निर्मुक्त भाव से प्रकट करें सभी हृदय खोलकर खेलें, कृपणता का परित्याग करके उदारता के साथ आनन्दोल्लास मनावें, तभी उत्सव पूरा होता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नन्दजी जब भीतर अन्तःपुर से रग मे रगे हुए आये तथा अन्य गोप भी उसी प्रकार थे तो गोपो ने कहा— अरे, भाई! भीतर स्त्रियाँ तो बडा उत्सव मना रही हैं, हम सब इस प्रकार गुम्म-सुम्म क्यो बैठे हैं, हमे भी कुछ करना चाहिये।" यही सब सोचकर कुछ लडको ने जाकर नन्द बाबा को पकड लिया और कहा—"बाबा! हम तो तुझे नचावेगे।"

भीतर ही भीतर प्रसन्नता प्रकट करते हुए नन्दजी ने कहा—"अरे, बेटाओ! तुम नाचो। मैं बूढा हो गया, मैं क्या नाचूंगा।" यह सुनकर कोई नन्दजी की ही अवस्था के गोप कहते—"बूढो के कही बच्चे होते है, जिसके बच्चा हो, वह बूढा काहे का? हाँ भैया नचाओ-नचाओ।"

अब क्या था, अब तो लडको ने नन्दजी को पकड़ लिया। नन्दजी के भीतर तो उत्साह भर ही रहा था, उन पर तो मानो नया यौवन ही आ गया हो। उन्होने कसकर फेंटा बाँधा और नाचने लगे। उनके पीछे और भी गोप नाचने लगे। बाजे बजानेवाले ताल स्वर से बाजे बजाने लगे। लडके उछलकर नाचते हुए गाने लगे—

नन्द के आनन्द भयो, जय कन्हैयालाल की।
हाथी दीन्हे घोडा दीन्हे और दीन्ही पालकी॥ नन्द...

रत्न दीन्हे हार दीन्हे गऊ व्याही हालकी।
कठा दीये कठुला दीये दीन्ही मुक्तामालकी ॥ नन्द •
कडे दीये छडे दीय विन्दी दीन्ही भालकी।
सुरमा दीन्हो दर्पण दीन्हो दीन्ही कंघी वालकी ॥ नन्द •
बोलो जय बोलो जय जय बोलो गोपालकी।
रोहिणीनदन बल जय-जय दाऊ द्यालकी ॥ नन्द—

सबको नाचत देखकर बूढे बूढे गोप भी नाचने लगे। कोई किसी का हाथ पकडकर नाचता कोई किसी के कधे पर हाथ रख कर नाचता, बहुत से गलबैयाँ डालकर नाचते। बडी देर तक यह नृत्य होता रहा। अत मे किसी ने एक हडी दूध लाकर नद जी के सिर पर उडेल दिया। मानो "दूधनि न्हाय पूतनि फलौ" यह कहावत चरितार्थ करदी। नन्दजी को दूध मे भीगा देखकर सब हसने लगे। तब तक किसी ने लाकर दूसरे पर दूध उडेल दिया। अब तो नाच बद हो गया, यही दधिकाँदो की लीला चल पडी। दूसरा आया उसने नन्दजी क मुखपर दही लेप दिया। दही मे सनी उनकी दाढी मूँछे विचित्र दिखाई देने लगी। अब तो सभी के मुख दही से लेपे गये। वह झपटकर उसके मुख को पोत देता, वह उसके सिर से उडेल देता। किसी ने लाकर गरम किया हुआ घी ही अन्य गोपो पर उडेल दिया। अब तो गोप घरो मे घुस जाते। जो भी हाथ लगता उसे ही उठा लाते। अब अपने पराये का भेदभाव नही रहा। ये तो लघु चित्त वाले पुरुषो के विचार हैं जहाँ विश्वम्भर जगत् के एक मात्र स्वामी का जन्म हो, वहाँ भेदभाव कैसे रह सकता है। गोप घरो से जिन हडियो मे मक्खन के लौदे रखे हैं उन्हे उठा लाते और इस प्रकार तक कर मुख पर मारते, कि दातो मे मक्खन चिपक जाय। जब वे लोग

जीभ से दाँतों के मक्खन को छुड़ाते, तो सब हँस पड़ते। बूढ़े बूढ़े गोपों के पोपले मुखों में सीधे नवनीत के गोले चले जाते। उनका कंठ रुद्ध हो जाता वे बार-बार अपने पोपले मुख को चलाते और माखन के लोंदे को निगल जाते, इस पर बड़ी हँसी होती। कोई पूरे लोंदे को मुख पर ही पोत देता, जिससे आँखें भौंहें दाढ़ी मूंछ सभी शुभ्र रंग के हो जाते सभी देखकर ताली पीटते, हँसते और उनका हाथ पकड़ कर इधर से उधर घुमाते। इस प्रकार वहाँ दधिकादों नवनीतकादों तथा गोरसकादों मच गयी छोटे-छोटे बच्चे दूध दही की हंडियों को ही एक दूसरे को गले में पहिनाने लगे। परस्पर में एक दूसरे के देखकर हँसने लगे।

फिर बूढ़ों में से एक बूढ़े ने कहा—"भाई, ऐसे नहीं, सब बूढ़े-बूढ़े एक ओर हो जाओ, युवक-युवक एक ओर और बच्चे सब एक ओर देखें कौन अच्छा नाचता है, कौन सुंदर गाता है।"

फिर क्या था, सभी को एक नवीन उत्साह आ गया। सबके पृथक्-पृथक् यूथ बन गये। लड़कों ने बड़े-बड़े विचित्र स्वांग बना लिये। किसी ने काला मुख करके उस पर लाल पीली चिदकियाँ लगा ली। किसी ने बड़ी सफेद दाढ़ी लगाली। किसी ने अपने पेट में बहुत से वस्त्र बाँधकर बड़ी तोंद बनाली और उस तोंद को हिलाते हुए लाठी के सहारे चलने लगे। बहुत से नट बनकर कलाएँ दिखाने लगे। बहुत से बंदर बन गये कोई मदारी बन गया, इस प्रकार बन्दरों को नचाने लगे। कोई काला कंबल ओढ़ कर शरीर पर काले बाल चिपका कर रीछ बन गया और हू हू करके सबकी ओर दौड़ने लगा। एक रीछ नचाने वाला बन गया। वह पूछता—"कहो रीछ बाबू ससुराल कैसे जाओगे?" तो वह अपने कंधे पर लाठी रखकर मचल-मचल कर चलने का अभिनय करता। फिर पूछता—कहो रीछ बाबू! बहू को कैसे

मनाओगे ? चरखा कैसे कातोगे ? ससुराल मे कैसे बैठोगे ? इन सब बातो को रीछ बने गोप इस ढग से दिखाते, कि अन्य सब गोप हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। फिर युवक गाते नाचते विविध प्रकार बाजो को बजाकर उनकी कलाओ को प्रदर्शित करते।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! उस समय गोपो के रोम-रोम से आनन्द और उल्लास के स्रोत बह रहे थे। सभी आत्मविस्मृत से बने प्रेम मे उन्मत्त से हो रहे थे। उस समय विविध प्रकार की चेष्टाएँ दिखाकर वे हँस रहे थे, हँसा रहे थे, गा रहे थे, दूसरो से गवा रहे थे, नाच रहे थे औरो को नचा रहे थे। सब एक मन एक प्राण होकर श्रीकृष्ण जन्मरूप आनन्द सुधा का समान रूप से पान कर रहे थे। उस समय वे जगत् के सभी व्यवहारो को भूले हुए थे।"

छप्पय

मुखमहँ मक्खन मारि गोप कोई भगि जावें।
कोई चुपके आइ दही मुख में लपटावें॥
कोई दूध उड़ेलि हरषमहँ नाचैं गावें।
कोई पटकें पकरि पिछौरा पाग भिगावें॥
यों खेलत लोटत हंसत, नाचत गावत गोप सब।
घड़ी काल की सुधि न कछु, उदित भये रवि अस्त कब॥

प्रभुप्रीत्यर्थ महोत्सव

[८५१]

नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम् ।
सूतमागधवन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥
तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।
विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥*

(श्री० भा० १० स्क० ५ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

प्रेम पुलकि व्रजराज आज सर्वस्व लुटावें ।
जो माँगे जो वस्तु ताहि सो तुरत दिवावें ॥
राय, भाट अरु कथक सूत सब पढ़िवेवारे ।
नर्तक, नट अरु भाँड़ विविध विधि बाजेवारे ॥
देत सिहावत अति मुदित, पुनि पुनि देवें पुनि कहें ।
और लेउ सकोच नहिँ, बिनु लीये कोउ न रहें ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महमना नन्दजी गोपों को वस्त्र, अलङ्कार तथा गौओं को देते तथा सूत, मागध बन्दी और दूसरे भी विद्योपजीवी जो वहाँ आये थे सबको उनकी इच्छित वस्तुएँ देकर सन्तुष्ट करते । यह सब इतना दान आदि उन्होंने भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिये तथा अपने पुत्र के अभ्युदय के निमित्त किया ।"

जो जिस भाव मे भवित हो जाता है उसमे उसकी लालसा अधिकाधिक बढती ही जाती है। जैसे विषयी पुरुष विषयो का सेवन करते-करते तृप्त नही होते, वैसे ही भगवद् भक्त भगवान् के चरित्रो को सुनते-सुनते उनकी रूप माधुरी का पान करते-करते कभी तृप्त नही होते। प्रगतिशील प्राणी का स्वभाव है, वह उत्तरोत्तर बढता ही जाता है। हृदय मे एक दुर्गुण आ जाय, तो वह शनैः शनैः और दुर्गुणो को आमन्त्रित करता रहेगा। जब मनुष्यो को अपना एक दुर्गुण दिखाई दे जाय, और उसे मिटाने का प्रयत्न करे, तो फिर एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा इस प्रकार अवगुण ही अवगुण दीखने लगते है, अन्त मे वह चिल्ला उठता है 'मोसम कौन कुटिल खल कामी।" जिन्हे देने का व्यसन हो जाता है, उनको दान देते-देते तृप्ति नही होती। जितना मिले उतना ही वे देने को लालायित बने रहते हैं। जिसकी तृप्ति हो गयी, उसकी प्रगति रुक गयी। नही तो चाहे सद्गुण हो अथवा दुर्गुण इहलौकिक भोग हो या पारलौकिक उनमे तृप्ति नही तुष्टि नही सन्तोष नही 'अलम् नही जो भी आगे आ जाय वही स्वाहा है, पुन आगे बढो। बढने की कोई सीमा नही, अन्त नही पार नही। अनन्त, असीम और अपार पथ है। जो गया सो गया "जो आवत इहि ढिंग बहुरि, जात नही रसखानि" तृप्त ही हो जाय तो रस ही समाप्त हो जाय। अतृप्ति ही तो रसोत्पादिनी है।

सूतजी कहते—'मुनियो! आप आश्चर्य न करें, कि नन्द के घर छोरा उत्पन्न होने पर इतना अपूर्व उत्साह सबके हृदय मे एक साथ जाग्रत कैसे हो गया। स्त्री पुरुष सभी एक दूसरे से नाचने गाने और आनन्द मनाने मे परस्पर इतनी प्रतिस्पर्धा क्यो करने लगे। बात यह है प्रतिक्षा ही आनन्दोत्साह की अधि-

कता में मुख्य कारण है। इष्ट वस्तु की जितनी ही अधिक प्रतीक्षा होगी, उतनी ही अधिक उत्सुकता बढेगी जितनी अधिक उत्सुकता के अनन्तर उसकी प्राप्ति होगी, उतनी ही अधिक प्रसन्नता होगी। ये गोप-गण अधिकांश मे देवगण हैं, गोपाङ्गनाएँ अधिकांश में देवाङ्गनाएँ है। असुरों के क्लेशों से क्लेशित देवगण चिरकाल से प्रभु के प्राकट्य की प्रतीक्षा कर रहे थे। देव-गण तो सौन्दर्योपासक तथा ललित कला प्रिय होते ही हैं। यद्यपि यहाँ सब वेष बदले हुए हैं, फिर भी उत्सव प्रिय प्रकृति थोड़े ही बदल सकती है। भगवान् तो सबकी आत्मा हैं जीव मात्र के वे ही एक मात्र इष्ट हैं। वे किसी एक के अपने नही पराये नही। वे तो सबसे समान रूप से सम्बन्धित हैं। सबके सुहृद् हैं, श्रेष्ठ हैं। उनकी प्राप्ति पर सबको समान रूप से सुख होना स्वाभाविक ही है। सभी बूढी-बूढ़ी गोपियों के स्तनो मे दूध आ गया। सभी चाहती थी, हम ही इन्हे छाती से चिपटाकर दूध पिला दें। सभी को ऐसा प्रतीत होता था, मानों हमारे ही लाला हुआ है। सबकी दृष्टि समान रूप से लाला के अनिर्वचनीय अद्भुत अनुपम आनन पर लगी हुई थी, सभी उस घनीभूत मूर्तिमान् रूप सुधाराशि के दर्शनों से अघाती नही थी। मोद मे भरी गोपिकायें गा रही थी, नाच रही थीं। वृषभानुजी की पत्नी रानी कीर्तिदेवी भी आयी। सबने उनका अत्यधिक आदर सत्कार किया। उनकी गोद मे भी एक गोरी-गोरी छोरी थी। सब गोपिकाओं ने कहा—"रानी! तुम भी नाचो।"

कीर्तिरानी बोली—"अब मैं क्या नाचूँगी। तुमही नाच लो।"

सुनन्दा बूआ बोली—'नही रानीजी! आज तो नाचने का नेग होता है, कोई बात नही चार पैर फिरा दो, सबका मन भी रह जायगा नेग भी हो जायगा। लाओ लल्ली को मुझे देदो।"

अब कीर्तिरानी क्या करती। सचमुच आज नाचने का नेग ही होता है। जब मेरे छोरी हुई थी तब नन्दरानी कितनी देर जाकर मेरे आँगन में नाची थी। वे तो मुझसे बडी ही हैं। मै तो उनसे सब प्रकार से छोटी ही हूँ। उनके यहाँ तो मुझे नाचना ही चाहिए।"

यही सब सोचकर उन्होने अपनी भोरी-सी छोरी को सुनन्दा बीबी की गोदी मे दे दिया। और स्वय नाचने लगीं। रावल की गोपिकाएं ढोलक मजीरा आदि बाजे बजाने लगी। कीर्ति रानी झुक-झुककर कमर को लचा-लचाकर नाचने लगी। सभी प्रेम मे विभोर हो गयी। रानी के ऐसे अपूर्व नृत्य को देखकर सब चकित-चकित दृष्टि से स्नेह और संभ्रम के साथ उनकी ओर निहारने लगी। इधर किसी काम से दाई ने सुनन्दा बूआ को पुकारा। तुरंत कीर्तिरानी को लल्ली को लिये हुए ही सोहरि के घर में गयी। लालजी दाई की गोदी मे नेत्र बद किये पड़े थे। सहसा बुआ के पैरों की छम्म-छम्म सुनकर उन्होने अपन नेत्र खोल दिये। मानों दो मुकलित कमल खिल गये हो। जैसा कि बालको का स्वभाव होता है, छोटे बालक को देखकर बडा बालक उसे पकड़ने का प्रयत्न करता है। बूआ की गोद मे से कीर्तिकुमारी खिसकने लगी। वे बार-बार बालक की ओर भोरी चितवन से निहारने लगी। बूआ ने समझा लाली को भूख लग रही है। चलूं इसे माँ के ही पास ले चलूं। यह सोचकर लाली को पुनः सम्हाल कर वे बाहर आयीं। अभी तक कीर्तिरानी नाच ही रहीं थीं। सुनन्दा ने हँसकर कहा—"रानी अब बहुत हो गया, थक जाओगे, लाली रोती है अब वह मेरी गोद में रहना नहीं चाहती। अब इसे दूध पिलाओ, यह भूखी है।"

यह सुनकर कीर्तिरानी ने नाच बद किया। उनका सम्पूर्ण

शरीर पसीने से भीग रहा था। बूआ ने अपने अंचल से उनके मुख का पसीना पोंछा और कहा—"हाय! रानी कबसे नाच रही हो।" लाली अब बूआ की गोद में किसी प्रकार रहती ही नहीं थी, रोती थी और पीछे की ओर देखती थी। तुरंत माता ने गोद में लेकर उन्हे दूध पिलाया।

इस प्रकार भीतर निरंतर गोपियाँ नाच रही थीं, बाहर गोप नाच रहे थे। नचकैया के जन्म होते ही सब पर अपने आप नाचना आ गया था। सबको नचाने वाला नटराज ही जो ठहरा। नट-नटी, सूत, मागध, वन्दी तथा और भी गाने बजाने तथा कला क्रीडा दिखाने वाले आ आकर अपने-अपने कला कौशल दिखाने लगे। नन्द सबको उदारता पूर्वक धन, अन्न, वस्त्र, आभूषण, गौ, घोड़े हाथी तथा और भी वे जो वस्तु, माँगते वही देते। नन्द जी बड़े उदार चित्त के थे; फिर पुत्र पैदा होने से तो उनकी उदारता पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी। आज तो वे दोनो हाथो से लुटा रहे थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! नन्दजी इतना द्रव्य इसीलिए लुटा रहे होंगे, सर्वत्र मेरी कीर्ति फैले। सब मेरे यश का गान करें।"

हँसकर सूतजी ने कहा—'नहीं, महाराज! ऐसी बात नहीं है। उन्हें यश और कीर्ति से क्या लेना। वे तो जो भी कुछ करते थे, श्रीमन्नारायण की प्रीति के ही लिये करते थे। दान, धर्म, पूजा, अनुष्ठान, देव, पितृ तथा अतिथि-पूजन करते समय वे कहते थे—"मेरे इस कर्म से सर्वान्तर्यामी श्रीविष्णु प्रसन्न हो।" वे विष्णु प्रीत्यर्थ ही सब कार्य करते थे। ये जो भी दान कर रहे थे, तो उपकार की भावना से, यहाँ यश की इच्छा से नहीं कर

रहे थे, अपना कर्तव्य समझकर श्री हरि की आराधना समझकर कर रहे थे।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर रहे थे, तो वह तो नित्य ही करते थे, आज इतनी विशेषता, ऐसी अधिक उदारता क्यों ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक तो नित्य कर्म, दूसरे किसी कामना विशेष से जो किये जाते हैं, वे काम्यकर्म कहाते हैं। नित्य कर्मों को करना तो कर्तव्य ही है। जैसा सन्ध्या वन्दनादि कर्म। नैमित्तकर्म किसी पर्व महोत्सव या विशेष अवसर के निमित्त से किये जाने वाले कर्म, जैसे ग्रहण लगने पर विशेष स्नान दान आदि। नंदजी का यह कर्म नैमित्तक कर्म ही था। इसमें भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के साथ ही साथ अपने पुत्र के अभ्युदय की भी इच्छा निहित थी।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"तब तो सूतजी ! यह सकाम दान हुआ।"

सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान् के निमित्त जो भी कुछ किया जाता है, वह सकाम नहीं होता। वे तो श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ ही कार्य कर रहे थे। श्रीकृष्ण का ही तो उत्सव मना रहे थे।

शौनक जी ने कहा—"नन्दजी कुछ भगवान् थोड़े ही मानते थे वे तो पुत्र मान कर उत्सव कर रहे थे।"

सूतजी ने कहा—"नन्द जी चाहे जो समझे भगवान् तो सब समझते हैं। उन्हें कोई पुत्र मान कर पूजता है, तो सगे पुत्र बन जाते है, पति मान कर भजता है, पति बन जाते है। और सखा मान कर भजने वालों के घोड़े बन जाते हैं, उन्हें पीठ पर चढ़ा कर ढोते हैं। इसलिए भगवान् के लिये उत्सव दान, पुत्र, सत्कर्म जान में अनजान में कैसे भी किया जाय उससे उनकी ही प्राप्ति

होती है; अतः नन्दजी के सब कर्म भगवान् की भक्ति के ही निमित्त थे।"

शौनक जी ने कहा—"हाँ, सूतजी! समझ गये अब आगे की कथा कहो।"

सूतजी बोले—"महाराज! क्या बताऊँ नन्दोत्सव के वर्णन करने को तो मेरे सहस्र मुख होते तब कहीं वर्णन करने मे सुविधा होती। मेरा एक तो मुख उसमे भी एक जिह्वा वह भी मानवीय जिह्वा कहते-कहते सूख जाती है, तनिक आचमन कर लूँ, तब आगे की कथा कहूँ।"

छप्पय

नंदराय सब करत धरत बिसरत नहिँ श्रीपति।
अद्भुत सुत तनु निरखि भई चित की चंचल गति॥
दान धर्मतैं होहिँ सुखी सुत सोचत मनमहँ।
तनय अभ्युदय सुमिरि रही आसक्ति न धनमहँ॥
याचक याचक रहे नहिँ, नंद भवनतैं लेत हैं।
पावें जो गो, रतन, धन, पुनि बनि दाता देत हैं॥

नन्दोत्सव का उपसंहार तथा लालजी की छठी

[८५२]

रोहणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता ।
व्यचरद् दिव्यवासःस्रक्कण्ठाभरणभूषिता ॥
तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् ।
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥*

(श्री भग० १० स्क० ५ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

नन्द-भवनमहँ रहें रोहणी पतितैं न्यारी ।
मलिन वसन परिधान न बैनी माँग सम्हारी ॥
किन्तु कृष्णको जन्म सुनत सजि बजिकें विधिवत ।
आज करत सत्कार सबनिको इत उत विहरत ॥
कहें स्वामिनी नारि नर, करि आदर आयसु चहहिँ ।
समाधान सबको करहिँ, मधुर वचन सबतैं कहहिँ ॥

एक भूपति के कुमार होने पर उसके राज्य मे कितनी प्रसन्नता मनाई जाती है, यदि जगत्पति ही स्वय कुमार बनकर अवतीर्ण

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाभाग्यवती रोहणीजी दिव्य वस्त्र माला और कण्ठा आदि आभूषणो से विभूषित होकर तथा

हुआ हो, तो जगत् में कितनी प्रसन्नता मनाई जायगी, इसका अनुमान कौन कर सकता है। इसका अनुमान वह भले ही कर सकेगा, जो जगत् के बाहर हो जगत् मे रहने वाले तो यही कह सकते हैं, बहुत आनन्द हुआ, अत्यन्त आनन्द हुआ, सर्वत्र प्रसन्नताछा गयी। जो जितना ही उदार मना और सम्पन्न होगा, वह उतना ही बड़ा उत्सव मनावेगा।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस श्रीकृष्ण जन्म महोत्सव मे सबसे बड़ी विशेषता यह थी, कि इसमे आज रोहणी जी की शोभा देखने योग्य थी। वे एक प्रकार से प्रोषितभर्तृका है, अपने पति से पृथक् हैं, अतः वे एक वेणी धारण करके घर के भीतर मलिन वसन धारण किये हुए रहती थी। जैसा कि पतिव्रता का धर्म है, पति से पृथक् रहकर नाच गान न करे उत्सवो मे सम्मिलित न हो, शृंगार न करे तथा हँसी विनोद की बातें न करे इत्यादि-इत्यादि। उन सबका वे विधिवत् पालन करती थी। किन्तु आज जब उन्होने श्रीकृष्ण जन्म की बात सुनी तब से उनके नियम छूट गये। उन्होने विधिवत् शृंगार किया। नन्दजी के दिये हुए बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणो को धारण किया और घर की स्वामिनी की भाँति इधर से उधर छम्म छम्म करके घूम रहीं थी। दास दासी पूछते—"स्वामिनी जी! यह काम कैसे करें?"

नदजी द्वारा सत्कृत होकर विचर रही थी भगवान् के जन्म ग्रहण करते ही उसी दिन से नन्दजी का व्रजमडल सम्पूर्ण सम्पत्तियो से सम्पन्न हो गया। व्रज वैसे ही समृद्धिशाली है, फिर श्रीहरि का भी निवास-स्थान हो गया, इन सभी गुणों के कारण वह लक्ष्मी जी का क्रीडास्थल बन गया।"

तो वे तुरन्त बताती और कहती—"तुमसे यह काम न होगा, अमुक को भेजो।" किसी से कहती—"उसे बुला लाओ, उसके बैठने का प्रबन्ध करो, वहाँ से अमुक वस्तु उठा लाओ। व्रजराज से यह बात तुरन्त कह आओ।" सेवक सेविकाएँ उनकी समस्त आज्ञाओं का तुरन्त पालन करती। उपनन्द जी की पत्नी तथा सुनन्दा आदि सभी घर की स्त्रियाँ बात-बात के लिए पूछती—'अमुक के यहाँ से यह वस्तु आयी है, इसे कहाँ रक्खें। उनके लिये अपन यहाँ से क्या जायगा, उसे क्या दिया जाय।"

रोहणी देवी सबका यथोचित उत्तर देती, सब का समाधान करतीं, सब वस्तुओं को यथा स्थान सम्हाल कर रखती वे तन्मय होकर कार्य मे जुटी हुई थी। इधर रोहणी जी मुक्त हस्त से लुटा रही थी उधर चौपाल पर नन्द जी लुटा रहे थे।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! इस दान दक्षिणा की कहीं सीमा भी है?"

हँस कर सूतजी बोले—'महाराज! जब सच्चिदानन्द धन आनंद कद श्रीकृष्णचन्द्र ही स्वय उत्पन्न हुए और वे असीम है, तो उनके उत्सव के दान की सीमा कैसे हो सकती है। व्रज तो रमा के क्रीडा का स्थान ही बन गया। इस प्रकार पाँच दिनो तक इसी प्रकार निरन्तर दान और महोत्सव होता रहा।"

इधर गोपियो ने बालक की रक्षा के लिए प्रसूति-गृह मे अनेक कार्य किये। यशोदा मया के भी विविध प्रकार के उपचार किये गये। सूतिका-गृह मे बालक को कोई भूत बाधा या बाल ग्रह पीडा न होने पावे इसके लिए खैर, बेर, पीलू तथा फालसे आदि की शाखाएँ गृह के द्वार पर लटका दी गयी। प्रसूति-गृह मे सफेद सरसो अरसी तथा चावल के दाने बखेरे जाते थे। प्रातः साय चावलो का बलिदान तथा मगल कर्म आदि किये जाते थे।

सुन्दर सुगंधित द्रव्यों की धूप जलायी जाती थी। रक्षा करने वाले अथर्ववेद के मंत्रों का पाठ ब्राह्मण आकर करते थे, प्रथम द्वार में लोहे का एक मूसल टेढ़ा करके लटका दिया गया था। वच, कूट, अजवाइन, हींग, सफेद सरसों, अलसी, लहसुन, तथा चावल आदि की पोटलियाँ बना-बना कर उन्हें सुन्दरता के साथ सी कर बन्दनवार की भाँति घर के उत्तर द्वार पर लटकायी गयी थीं। तनिक तनिक से नाबीजों की भाँति रंग बिरंगे वस्त्रों में ये चीजें भर कर उन्हें विधिवत् सी कर, लालजी के कंठ में भी ये वस्तुएँ पहिनायी गयी थीं। माता के हाथ में भी ये वस्तुएँ बाँधी गयी। जल का भरा घड़ा माता की शैया के नीचे सदा रखा रहता था। तेंदु की लकड़ी से सदा अग्नि प्रज्वलित रहती थी। बहुत-सी सुहागिनी स्त्रियाँ सदा उनकी सेवा में तत्पर रहतीं। मीठी-मीठी प्रसन्नता की बातें सुना-सुना कर उनके मन को प्रसन्न रखतीं। नित्य मंगल कर्म होते। झुण्ड के झुण्ड स्त्री पुरुष निरन्तर बच्चे को आशीर्वाद देने के लिए आते रहते। नित्य गोपिकाएँ सोहरि के गीत गाती बाजे बजते, वेद ध्वनि होती।

दाई यशोदा मैया के भोजनों का बड़ा ध्यान रखती। बात-बात पर कहती— यह वस्तु उन्हें भोजन को मत दो। उदर पर घी और तेल मिलाकर चुपड़ती उसे रेशमी सुन्दर कपड़े से बाँध देती। जिसमें वायु विकृत न होने पावे। पतली दलिया या खिचड़ी में घी मिलाकर उसमें पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक डालकर और सोंठ का चूर्ण मिला कर खाने को देती। दूध में भी पीपल औटवाती। फिर उसने सुनन्दा बूआ से कहा— "बीबी! सुंठीपुटपाक के लड्डू बनवा लिये जायँ, तो महारानी के लिये बहुत लाभदायक होंगे।

बूआ ने पूछा—"सुंठीपुटपाक के लड्डू कैसे बनते हैं?"

दाई ने कहा—एक नग सुन्दर सोंठ का चूर्ण बना लिया जाय। फिर उस चूर्ण के दो भाग करके उन्हें एरंड के पत्तों में रख ले। आधा सेर गेहूँ का आटा ले। उसकी दो रोटी-सी बनाव। उसमें एरंड के पत्ते में बंधा सोंठ को इस प्रकार भर दे जैसे कचौड़ी में पिट्ठी भरते हैं। उनके भाग से दबा ले। उन्हें जंगली गौ के कंडों में भली प्रकार तक, पकते सेंकते जब वे लाल सुर्ख हो जाय, तब उनमें से सोंठ को एक प्याले में निकाल ले। पुटमें पकने से इस सुठी को पुटपाक कहते, हैं चार बड़े हरड़ों को पाव-भर घी में भूनकर उनके ऊपर के छिलकों का चूर्ण करके सोंठ में मिला दे, उसमें घी का भी मिला दे पावभर मरोड़फली को कूट पीसकर उसे भी साठ में डाल दे। ढाई सेर घी तीन सेर बूरा ढाई सेर सूजी भूनकर सबको मिला दे। फिर इसमें किसमिस, गोला, पिस्ता, छुआर बादाम आदि मेवा मिलाकर पाव-पाव या आध-आध पाव के लड्डू बना दे। एक लड्डू नित्य खाना चाहिये। इससे पेट में दर्द हो, आव हो, वायु हो सब शुद्ध हो जाती है। प्रसूतिका को ऐसे लड्डू खाने चाहिये।"

यह सुनकर सुनन्दा बूआ ने तुरन्त ऐसे लड्डू बनवाये और नन्दरानी को दिये जाने लगे, फिर स्नान के अनन्तर छठी बड़ी धूम-धाम से की गयी। गोबर के सांतिये द्वार पर रखे गये। कुल के पितर पूजे गये। नाना प्रकार के पकवान् बनाकर वय माता को पूजा की गयी, जिससे वह बालक के भाग्य में अच्छी-अच्छी बात लिख दे। समस्त परिवार के गोपों को बुलाकर भोजन कराया गया, सबको सिरोपा दिया गया, फूलों की मालाएँ पहिनाई गयी, पान बीड़ी दी। इस प्रकार बड़े ही उत्साह से लालाजी की छठी के पश्चात् अब नन्दरानी उठने बैठने इधर-उधर लाला को गोद में लेकर घर में ही ८६

वे बालक को पलभर भी अपने से पृथक् करना नही चाहती थी। कगाल के धन की भाँति वे निरन्तर लालजी की रक्षा करती रहती। नदजी भी बार-बार महलो मे लालजी को देखने आते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तक तो नन्दजी अपने राजा कस के कर की उपेक्षा करते रहते थे। कभी भेज दिया, कभी नही भेजा। इधर कई वर्ष से उन्होने वार्षिक कर नही भेजा था। अब लालजी हो गये हैं, अत उन्हे कस के करकी चिन्ता हुई। कस दुष्ट है ऐसा न हो वह कुपित होकर कुछ अनथ करे, अत वे अब वार्षिक कर देने की बात सोचने लगे।"

छप्पय

उत्सव ब्रजमहँ नये नारि नर नित्य मनावें।
गावत गोपी गीत ग्वाल गोधन सँग आवें॥
दूध दही की बहें नदी घृत कोउ न खाई।
मदिर मदिर भरीं मनोहर मनों मिठाई॥
केसरि कीच भरी सकल, गोकुल गाँव गलीनिमहँ।
मणि मुक्ता बिखरे फिरैं, कोउ न पूछे सेंतिमहँ॥

कंस को कर देने नंदजी का मथुरा गमन

[८५३]

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः ।
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं कर दातुं कुरूद्वह ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ५ अ० १९ श्लोक)

छप्पय

भई लाल की छठी राज-कर चिन्ता व्यापी ।
सोचें श्रीव्रजराज—कस नृप अति ई पापी ॥
वार्षिक कर नहिँ जाइ करे उत्पात न दुरजन ।
छकरनिमहँ भरि दूध दही घृत चले गोप-गन ॥
गोकुल रक्षाको सकल, करि प्रबन्ध मथुरा गये ।
पुरय पुरी शोभा लखी, गोप परम हरषित भये ॥

जब तक किसी एक मे आसक्ति नही होती, तब तक तन्मयता नही होती । किसी भी वस्तु मे किसी भी व्यक्ति मे मन सर्वात्म-भाव से फँसता नही तब तक सद् असत् का यथार्थ विवेक होता नही । लोग कहते हैं—"यह दृश्य प्रपञ्च कुछ नही है । असत् है, इसमे से सत् बुद्धि हटा लो । मोह का क्षय कर दो इसमे से

---

* श्री शुकदेवजी कहते है—"हे कुरुकुल-तिलक राजन् ! नन्दजी गोकुल की रक्षा का भार गोपो को सौपकर कस का वार्षिक कर चुकाने के लिए मथुराजी गये ।"

चित्त को हटालो ससार मिथ्या प्रतीत होने लगेगा। बात तो सत्य है, मन तो किसी मे फँसे बिना रहेगा नही। जब मन किसी मे पूर्ण रूप से फंस जाता है। तो उसके अतिरिक्त सभी वस्तुएं उसे तुच्छ दिखायी देने लगती हैं। परमार्थ की बात छोड दो, लोक मे भी देखा गया है, जो जिसमे अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं, वे घर द्वार, धन, ऐश्वर्य, कुटुम्ब परिवार यहाँ तक कि शरीर को भी तुच्छ समझते है और अपने इष्ट के लिए हँसते हँसते प्राणो का परित्याग कर देते हैं। तभी तो वैष्णवो का सिद्धान्त है भगवान् से कोई सम्बन्ध जोड़ लो, क्योकि बिना सम्बन्ध के आसक्ति होती नही। किसी भी सम्बन्ध से जब भगवान् मे आसक्ति हो जायगी तो, उन्हें ही हम अपना सर्वस्व समझने लगगे, तो चाहे घर मे रहे या वन मे, विरक्त बनके रहे अथवा गृहस्थ बनके। सब दशाओ मे हमारे सब काय उन्हा के निमित्त होगे। चिन्ता भी करगे, ता उन्ही के सम्बन्ध की, कोई वस्तु चाहेगे तो उन्ही के लिये। भगवान् के निमित्त किया हुआ काय बन्धन का हेतु नही।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी के कोई सन्तान नही थी, इसलिये वे कस के राज-करकी भी चिन्ता नही करते। जब आदमी फक्कड होता है, उसे उतनी चिन्ता नही होती। सोचता है—"अकेला शरीर है, कही भी हाथ पैर से परिश्रम करके पेट भर लेंगे। जिस गृहस्थ के बाल बच्चा नही वह वास्तव मे गृहस्थ भी नही। लोग स्त्री के सम्बन्ध मे नही पूछते। यही पूछते हैं—"आपके बाल बच्चे कहाँ है? बाल गोपाल तो प्रसन्न हैं न?" स्त्री के फल बच्चे ही हैं। घर मे लड़की लडके होते हैं तो उनके आगे पीछे की सहस्रों चिन्ताएँ सिर पर लद जाती हैं। लडकी हुई, तो उसके विवाह की चिन्ता दान दहेज, छोछक,

भात और न जाने किस-किस की चिन्ता। लडका हुआ; तो उसकी पढाई लिखाई विवाह, तथा अन्यान्य सस्कारो की चिन्ता आगे के लिये उसके योग क्षेम की चिन्ता। सब चिन्ता ही चिन्ता हैं। पिता जब तक जीता है, सतान के ही लिये सोचता रहता है। सन्तान न होने पर जीवत अकर्मण्य उत्साह हीन तथा नीरस बन जाता है। नन्दजी भी सोचते थे—"हमारे आगे पीछे तो कोई है ही नही। कस बहुत करेगा, हमसे अधिकार छीन लेगा, सो छीन ले। दो हैं, किसी न किसी प्रकार गौओ की कृपा से पेट भर ही लेंगे। किन्तु अब यह बात नही है। अब तो घर मे लाला हो गया है। उसे व्रज का राजा बनाना है, किसी धनिक गोप की सुदर सी कन्या के साथ उसका विवाह करना है। उसे ऐश्वर्य शाली बनाना है। हम कोई स्वतन्त्र राजा तो हैं ही नही। कस के अधीन हैं वह जब हमारे पुत्र को युवराज स्वीकार कर लेगा, तभी वह राजा बन सकेगा। यदि वह किसी कारण से अप्रसन्न हो गया, तो हमारे पुत्र मे सैकडो त्रुटियाँ बताकर युवराज मानने से अस्वीकार भी कर सकता है। यदि मेरा इतना सुन्दर सुकुमार कुमार राजकुमार न हुआ तो मेरा जीवन वृथा है। यह सब कस की कृपा पर निर्भर है, उसे प्रसन्न रखना हमारा प्रथम कर्तव्य है। यद्यपि वह दुष्ट स्वभाव का है, फिर भी अनुनय विनय और नम्रता से प्रसन्न हो ही जायगा। यह शुभ सम्वाद स्वय जाकर उसे सुनाना चाहिये। बहुत दिनो से उसका वार्षिक कर भी नही दिया गया है, इससे भी अति शीघ्र चलना चाहिये।" यही सब सोचकर उन्होने गोपो को मथुरा चलने की आज्ञा दी।

आज्ञा पाते ही गोपों ने बहुत छकड़े निकाले उनमे सुन्दर-सुन्दर नागौड़ा बैल जोते। प्राचीन काल मे यह प्रथा थी, जो

जिस वस्तु का उत्पादन करता था, उसी को राजकर में देता था अन्नादि उत्पादन करने वाले कृषक उत्पन्न हुए अन्न का षष्ठांश राजा को देते थे। इसी प्रकार गोप ग्वाल आभीर भी घृत-दूध दही के रूप में राजकर देते थे। दूध दही तो उपहार रूप में देते क्योंकि ये वस्तुएं अधिक दिन तक नहीं टिकती। कर के रूप में वे घृत ही देते थे। अतः गोपो ने ऊंटों के चर्म के बने बड़े-बड़े कुप्पों में घृत को भरा और छकडों पर लादा। दूध, दही तथा मक्खन के भी भरे पात्र छकडो मे भरे। नन्दजी को अपने पुत्र की रक्षा की बड़ी चिन्ता थी। धनुष वाण धारण करने वाले सहस्रों गोप उन्होने गोकुल की रक्षा में नियुक्त किये। उपनन्दजी के ऊपर अन्तःपुर की रक्षा का भार था। इस प्रकार सभी रक्षा के प्रबन्ध करके सबको भली-भाँति समझा बुझाकर वे गोपों के सहित श्रीमथुरा पुरी की ओर चल दिये। घाट पर पहुँचकर बड़ी-बड़ी नौकाओं मे बैल और छकड़ों को पार पहुँचाया। इस प्रकार सब छकडो को उतारते-उतारते उन्हें तीसरा पहर हो गया। सबके पार होने पर नन्दजी स्वय पार हुए। फिर छकड़ों को जोतकर मथुरा की ओर चल दिये। यह भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी की बात है। मथुरा के समीप एक सुन्दर म उपवन में जल का सुपास देखकर यमुना जी के तट से कुछ हटकर उन्होंने अपने डेरे डाले। सायंकालीन कृत्य किये। भोजन तो सब गोकुल से ही साथ लाये थे भोजन करके सब सुख पूर्वक सो गये। दिन भर के थके थे, पड़ते ही नीद आ गयी। एक ही करवट में अरुणोदय हो गया, सभी ने उठकर प्रातः कालीन कृत्य किये फिर छकड़ों का साथ लिये हुए वे कस की राज सभा के द्वार पर पहुँचे। प्रहरी द्वारा उन्होंने अपने आने की सूचना कंस राय को दिलायी।

कंस ने जब गोपराज व्रजेन्द्रराज जी का आगमन सुना, तो उसने बड़े आदर के साथ उन्हें बुलवाया। नन्दजी राजकीय शिष्टाचारो का पालन करते हुए अपनी समस्त भेंटो को लेकर मथुरेश के सम्मुख उपस्थित हुए। आज भेटो मे घृत, दूध, दही, के अतिरिक्त बहुत से मणि मणिक्य भी थे। इतनी धनराशि को

देखकर कंस ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"इतनी बहुमूल्य भेंट किस कारण लाये हो गोपराज?"

विनीत भाव से नन्दजी ने कहा—"महाराजाधिराज ! इस वृद्धावस्था में मुझे पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है।"

चौंककर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कंस ने कहा—"अच्छा, आपके पुत्र हुआ है ? बड़े मङ्गल की बात है आपका पुत्र चिरंजीवी हो, अपने बन्धु बान्धवों तथा सभी प्राणियों को सुख देने वाला हो। अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करे।"

सिर झुकाकर नन्दजी ने कहा—"महाराज ! आपका आशीर्वाद सत्य हो। आपकी इसी प्रकार कृपा दृष्टि बनी रहे।"

इस प्रकार बहुत सी शिष्टाचार की बातें होती रहीं। कंस ने गौओं की कुशलता पूछी पशु सम्बन्धी रोग तो व्रज में नहीं है ? घास तो यथेष्ट है न ? गौएँ यथेष्ट दूध तो देती है, जंगली हिंसक पशुओं का उत्पात तो नहीं है ? इस प्रकार की बहुत-सी बातें पूछीं। नन्दजी ने उन सबका नम्रता के साथ उत्तर दिया और व्रज की कुशलता बतायी।

इन सब बातों में मध्याह्न काल हो गया। मध्याह्न कृत्य में विलम्ब होते देखकर कंस से अनुमति लेकर तथा भेंट उपहार और वार्षिक कर की वस्तुओं को देकर नन्दजी अपने डेरे में लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने मध्याह्न कृत्य किये। यमुना जी की रेती में सुन्दर दाल बाटी बनी। धुली हुई उड़द की गाढ़ी-गाढ दाल बनाई गयी, सुन्दर खस्ता बाटियाँ बनी। कुछ बाटियों को मीजकर उनका चूरमा बनाया। आधा घी मिलाकर मुठियादार लड्डू बने। उड़द की गाढी दाल में आधा घी डालकर पतली बनायी। तुलसी छोड़कर नारायण का भोग लगाया। फिर आनन्द से सबने प्रसाद पाया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मथुरा की शोभा देखकर गोप मुग्ध हो गये थे। उनकी इच्छा थी दो चार दिन और रहकर यहाँ का आनन्द लूटें। इसी उद्देश्य से वे डेरा डालकर विश्राम करने लगे।"

छप्पय

दई भेंट, कर सहित रतन अगनित घृत पय धन।
पाइ अमोलक वस्तु कंस पूछत प्रसन्न मन॥
व्रजमहँ सब जन कुशल बहुत दिनमहँ कर आयो।
सकुचि कहें—व्रजराज महरि घर लाला जायो॥
कंस कहे जुग जुग जिये, पालन सब व्रजको करे।
विजयी होवे सुत सतत, सब प्रानिनिको दुःख हरे॥

नंदजी और वसुदेवजी की भेंट

[८५४]

करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे दृष्टा वयं च वः ।
नेह स्थेयं बहुतिथ सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥*

(श्रीभाग० १० स्क० ५ अ० ३१ श्लोक)

छप्पय

नंद दयो कर कस लौटि डेरापै आये ।
समाचार वसुदेव सुनत तुरतहिं उठि धाये ॥
सजल नयन तनु पुलकि ललकि हिय नन्द लगाये ।
दोनों सुधि बुधि भूलि गहकि हिय उभय सटाये ॥
दई बधाई नन्दकूँ, कुशल प्रश्न पुनि पुनि करें ।
सुमिरि सुमिरि बल कृष्णकूँ, नीर नयन नीरज भरें ॥

इस ससार मे सब कुछ सुलभ है, किन्तु सुहृदा का द
दुर्लभ है। विधाता ने इस जगत् की रचना विचित्र की है। स
की रचना अपूर्णता से की गयी है। पति-पत्नी दोनो सुन्दर दो
सरल दोना एक मन एक प्राण मिले तो गृहस्थ धर्म यही स
बन जाय, फिर मरकर स्वर्ग जाने की आवश्यकता ही न
किन्तु ससार को रचना तो विचित्र ढङ्ग से ब्रह्माजी ने की

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! नन्दजी से मिल भेंटकर
देवजी कहने लगे—"आप राजा का वार्षिक कर दे ही चुके और ह
भी साक्षात्कार हो चुका, अब आपको अधिक दिन यहाँ न ठह
चाहिए। क्योंकि आजकल गोकुल मे बहुत से उत्पात हो सकते हैं।"

पति सुदर है, तो पत्नी कुरूप है। पत्नी रूपवती है तो पति भोंडा है, दोनो सुंदर हैं तो वे संतानहीन हैं। सतान भी है, तो द्रव्य का अभाव है, अटूट द्रव्य है तो उसे उपभोग करने वाला नही, किसी की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण है, तो धन के लिये उसे बुद्धिहीनो का आश्रय लेना पडता है। जिनके पास अटूट धन है तो बुद्धि नही। जिनके धन बुद्धि दोनों हैं वे अत्यन्त कृपण हैं। धन व्यय करने मे उनके प्राण निकलते हैं, जो उदार है, वे पैसे-पैसे का अभाव अनुभव करते हैं। कोई खाने के लिए मर रहा है तो किसी पर इतना अधिक भोजन है, कि उसे खाने की रुचि ही नही। तोले भर भी नही पचता। किन्ही का हृदय ऐसा पत्थर का बना दिया है, कि लोग उनसे प्रेम करना चाहते हैं, वे किसी से सीधे बातें भी नही करते। कोई प्रेम के लिय तरसते है, हमसे कोई प्रेम करे, दो मीठी बातें करे, किन्तु लोग उनसे बोलते तक नही, सभी उनकी उपेक्षा करते हैं। जिनके साथ हम रहना नही चाहते, विवश होकर उनके साथ हमे रहना पडता है। जिन्हे हम पल भर के लिये पृथक करना नही चाहते। वे हमसे इतने दूर फक दिये जाते हैं, कि जीवन मे कभी उनसे भेंट ही नही होती। इस प्रकार न जाने ब्रह्माजी की खोपडी मे यह क्या विपरीत भावना भर गयी, कि उन्होन सभी गडबड घुटाला कर दिया। मनुष्यो मे ऐसी विपरीतता कर दी हो सो बात नही। सर्वत्र उनकी ऐसी ही बडो-बडी भूल दिखाई देती है। मनुष्यो के पूंछ नही बनायी कितनी भारी भूल है। नेत्रा को माथे मे बना दिया। जीभ मे नेत्र होने चाहिय थे। कानो को व्यर्थ इतना लम्बा बना दिया गले मे ही छेद कर देते और देखिये वट, पीपल पाकर कितने बडे-बडे वृक्ष बनाये इनमे फल लगत हैं तनिक-तनिक से। मनुष्यो के काम भी नही आते, बड़े स्वादिष्ट आम की भाँति मीठे फल होते तो क्या पूछना

है। नीम पर फल भी लगाये तो कडवे। बबूर पर व्यर्थ मे कांटे लगा दिये, ईख की लकडी कितनी मीठी होती है, उस पर यदि फल लगता तो कितना मीठा होता, उसमे फल नही। चन्दन की लकडी कितनी सुगन्धि वाली होती है, उस पर यदि फूल लगता तो कितना सुगन्धित होता, उसमे फूल का अभाव है। सुवर्ण कितना सुदर है उसमे सुगधि और होती तो कितना आनन्द आता। उसे गन्धहीन बना दिया। इन सब बातो को स्मरण करके किसी नीतिकार न कहा है, ब्रह्माजी को भाग्यवश कोई बुद्धिमान मन्त्री नही मिला। शीघ्रता मे बूढे बाबा को जो कुछ सूझा वही बना दिया। अब जो एक बार अपने हाथ से उलटा सीधा बन गया, उसे मिटाने मे मोह होता है। अच्छा और सब त्रुटियाँ तो सही भी जा सकती हैं। क्षम्य भी मानी जा सकती है, किन्तु सुहृद् जनो को पृथक् करके जो वियोग की रचना ब्रह्माजी ने की है, वह तो असह्य है। जिस प्रेम मे वियोगजन्य दुख नहीं ऐसा प्रेम देखने मे नही आता। दो प्रेमियो को दूर फेंककर जो बूढे बाबा अपने चारो मुखो से हँसते रहते हैं वह जघन्य व्यापार है। जब दो प्रेमी मिलत हैं तो कैसा सुख होता है। ब्रह्माजी ने प्रेमियो का नित्य मिलन क्यो नही बनाया। संभव है वियोग से प्रेम निखरकर चमक उठता होगा। चिरकाल की प्रतीक्षा के पश्चात् क मिलन मे अत्यधिक सुख होता होगा, मिलन की मिठास को बढाने के लिय सभव है ऐसा किया हो। नही तो जिनके एक नही चार-चार मुख हैं। परम पुरातन अनुभवी अज ऐसी बेतुकी भूल क्यो करते। जितनी ही अधिक प्रतीक्षा के पश्चात् प्रिय का मिलन होगा उसमे उतना ही अधिक आनन्द आवेगा। दूर रहने पर जितनी उत्कठा बढती है, समीप रहने पर उतनी अनुभव नही होती।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो व्रजराज नन्दजी अपने डेरे पर आकर भोजन करके विश्राम करने लगे। इधर नन्दजी के आगमन का शुभ समाचार आनक दुदुभि श्रीवसुदेव जी ने श्रवण किया। सुनते ही उनके रोम-राम खिल उठे। प्रिय दर्शन का अवसर प्राप्त होने की आशा से किस सहृदय पुरुष का मुख कमल न खिल उठेगा। वसुदेव जी अपनी उत्सुकता को रोक न सके। उन्हें क्षण-क्षण पल-पल भारी हो गया। वे नन्दजी से मिलने को व्याकुल हो उठे। नन्दजी के दर्शन होंगे अपने लाल के कुशल समाचार प्राप्त होंगे। इन बातों को स्मरण करते ही उनके रोमाञ्च हो गये। वे चुपके-से अकेले ही अलक्षित भाव से किसी गली से चल दिये। नन्द जी एक उपवन में छकड़े के नीचे आसन बिछाये लेट रहे थे। पहरे पर हाथ में धनुष बाण धारण किये हुये गोप खड़े थे। वसुदेव जी को देखकर एक गोप दौड़ा-दौड़ा व्रजराज के समीप गया और शीघ्रता से बोला—'बाबा! वसुदेव जी पधारे हैं।"

वसुदेव जी का नाम सुनते ही नन्दजी घबड़ा कर उठ पड़े। इतने में ही वसुदेव जी आ गये। दोनों हृदय से हृदय सटाकर प्रेम पूर्वक मिले। दोनों के ही शरीरों में रोमाञ्च हो रहे थे, दोनों के ही नेत्रों से झर-झर प्रेमाश्रु झर रहे थे, दोनों के ही कंठ रुद्ध हो रहे थे। बड़ी देर तक शरीर की सुधि भूले हुए एक दूसरे को हृदय से सटाये रहे।

कुछ काल के पश्चात् उन्हें अपनी शरीर की सुधि आयी। नंद-जी ने बड़े आदर से वसुदेव जी को अपने समीप बिठाया। मृतक शरीर में प्राण आने पर प्राणियों को जितनी प्रसन्नता होती है उससे सहस्रगुणी प्रसन्नता वसुदेव जी के दर्शनों से नंदजी को हुई और इसी प्रकार वसुदेव जी को भी। दोनों के कुरुक्षेत्र कंठ रुद्ध

होने के कारण स्तब्ध ही बैठे रहे। वसुदेव जी को अपनी सन्तान की कुशलता जानने की उत्सुकता थी, अतः उन्होने धैर्य धारण करके रुक-रुक कर कहना आरभ किया।

वसुदेव जी सर्व प्रथम पुत्र पैदा होने के उपलक्ष में बधाई देते हुए बोले—"नन्द जी! जब से मैंने सुना है, कि आपको इस वृद्धावस्था मे पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है, तब से मेरी प्रसन्नता का ठिकाना नही रहा है। भगवान् की यह परम कृपा है, नही तो इस अवस्था में आपके सन्तान होगी ऐसी किसी को भी आशा नही थी। आप दोनो ही पति-पत्नी वृद्ध हो चले थे। अब तक आपके कोई सन्तान भी नही थी, इस समय पुत्र प्राप्त होने पर मैं आपको हार्दिक बधाई देता हूँ।"

यह सुनकर विनीत भाव स नन्दजी ने कहा—"मेरे तो ऐसे कोई पुण्य दीखते नही थे। यह सब आप सबकी कृपा का फल है। मेरा काहे का है। आपका ही बच्चा है। आप सब के आशीर्वाद से जी जायगा तो व्रज का नाम चलावेगा। इधर बहुत दिन से आपके दर्शन नही हुए थे। सोचा था—'एक पन्थ दो काज' चलकर कस का कर भी दे आवें और आपके दर्शन भी कर आव। हम सब आपके घर जाने की बात सोच ही रहे थे, कि स्वयं आपन ही कृपा की, दर्शन हो गये। आपके दर्शनो की उत्कठा थी, आज आपको देखकर चित्त कितना प्रसन्न हुआ, इसे शब्दो द्वारा व्यक्त करने की मुझमे सामर्थ नही है।"

वसुदेव जी बोले—"भाईजी! ससार मे सुहृद् जनो का मिलना यही अत्यन्त कठिन है। सभी वस्तुएँ प्रयत्न करने से सरलता-पूर्वक प्राप्त हो सकती है, किन्तु पृथक् हुए प्रेमियो का सम्मिलन बड़े सौभाग्य की बात है। सुहृदयो का एक दूसरे से पृथक् होना मरण के समान है। सम्भव है अब भेंट हो न हो। यदि सौभाग्य

से बिछुरे बन्धु पुनः मिल गये। तो समझो मानों पुनर्जन्म हो गया।"

नन्दजी ने कहा—"क्या बतावें भाईजी! इच्छा तो बडी होती है, सदा आपके समीप ही रहे, किन्तु परिस्थितियो से विवश होने के कारण मन की बात मन मे ही रह जाती है। सदा साथ रहने की बात दूर रही, दर्शन भी नही कर पाते।"

आह भरकर वसुदेवजी ने कहा—"भाईजी! इस ससार का चक्र ही ऐसा है। मैं कब चाहता हूँ आपसे पृथक् रहकर जीवन बिताऊँ, किन्तु हमारे चाहने से होता ही क्या है। ब्रह्मा बाबा ने सबके भाग्य भिन्न-भिन्न बनाये हैं। प्रेम भी सबसे नही होता, यह भी सस्कारो पर निर्भर है, बहुत से व्यक्ति जीवन भर साथ रहते हैं, प्रेम नही होता है। बहुतो को एक बार देखने से ही प्रेम हो जाता है, हृदय बलपूर्वक उनकी ओर खिच जाता है। जीवन मे एक बार भाग्य से मिल जाते है, क्योकि सब वस्तुओ पर सबका नाम लिखा है। अन्न के दाने-दाने पर जल के कण-कण पर प्रत्येक की छाप लगी है। जब एक स्थान के अन्न जल पर एक ही समय भोगने की छाप का सयोग होता है, जो अनेक व्यक्ति मिल जाते हैं। जब वह सयोग समाप्त हो जाता है, तो इच्छा न रहने पर भी बिछुडना पडता है। दो तिनके नदी के प्रवाह मे बहते-बहते मिल जाते हैं, कुछ दूर साथ चलते हैं, फिर कोई लहर आती है दोनो को पृथक् कर देती है। कभी फिर सयोग होता है तो फिर मिल जाते हैं, कभी नही भी मिलते। नौका में बहुत से साथ हो जाते है, पार होने पर सब अपने-अपने स्थानो पर चले जाते हैं। प्याऊ पर बहुत से एक साथ मिलकर पानी पीते हैं, हँसते खेलते हैं दोपहरी ढली, कि सब अपना-अपना मार्ग पकड लेते हैं। वायु मे उडकर बहुत से पेडो की पत्तियाँ

मिल जाती हैं, पुनः आँधी आयी पृथक् हो जाती हैं। उत्सव, मेले ठेले, विवाह पर्व, सस्कार प्रीति भोज तथा अन्यान्य समारोहों पर मनुष्य एकत्रित होते हैं, फिर सब बिछुड़ जाते है। कोई चाहे हम सदा साथ ही बने रहे, तो यह असम्भव है, क्योंकि सभी के प्रारब्ध कर्मों मे कुछ न कुछ भिन्नता होती है। प्राय देखा गया है, सभी प्रेमी साथ नही रहते, उन्हे वियोग मे तड़प-तड़पकर ही जीवन बिताना पड़ता है।

नन्दजी बोले—'वसुदेवजी ! आप सत्य कहते हैं। यह ससार ऐसा ही है। हम कब चाहते हैं, कस के अधीन रहे, किन्तु रहना पड़ता है। आपको हम अपनी आँखो मे रखना चाहते हैं, किन्तु साथ रहना तो पृथक् रहा खुलकर बातें भी नही कर सकते। इन सब बातो से हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे, कि यह जीव अवश है, किसी के नचाने पर नाचता है, किसी के सकेत पर कार्य करता है।"

वसुदेव जी ने कहा—"छोड़ो इन बातों को प्रारब्ध पुरुषार्थ का पुराना झगड़ा है। अच्छा, यह बताइये आज-कल आप अपने बन्धु-बान्धव तथा अन्यान्य गोपों के सहित जिस विशाल वन में रहते हैं उसमे जल का तो सुपास है न ? मनुष्यों तथा पशुओं के लिये जल पर्याप्त है न ? गौओं के चरने के लिये जगल पर्याप्त है न ? उसमे यथेष्ट बड़ी-बड़ी घास तो है। वृक्ष लता पत्रो का बाहुल्य है ? क्योंकि वृक्ष पुरुषों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वे जीवन की समस्त वस्तुओ को देते हैं। तुम्हारी गौएँ तथा अन्यान्य पशु तो निरोग है न ? पशु सम्बन्धी रोग तो नही है ?"

वसुदेव जी के इतने प्रश्नों को एक साथ सुनकर नन्दजी सरलता के साथ कहने लगे—"सब आपकी कृपा है। हम जिस

महावन गोकुल मे रहते हैं, उसमें पर्याप्त घास है। यमुना जी तो हमारे निकट ही वहती हैं। तट पर ही हमारे गोष्ठ है, अतः जल की तो कुछ कमी ही नही। पशु सब अच्छी प्रकार है, गोप-गण आनन्द से चैन की वन्शी वजाते हैं' किलोलें करते हैं।"

वसुदेव जी ने पूछा—"और आपके वड़े भाई छोटे भाई उनके वच्चे सब कुशल से तो हैं? हाँ, एक हमारा भी पुत्र अपनी माता के सहित आपके यहाँ रहता है। अब तक न मैंने उसे देखा न उसने मुझे देखा। आपने तथा नन्दरानी ने ही उसका पालन-पोषण किया है। वह तो आप दोनो को ही अपना माता-पिता मानता होगा।"

नन्दजी वोले—"हाँ, भाईजी! भाभी रोहिणी अच्छी प्रकार हैं उनका बच्चा भी अच्छा है। अब तक तो वह कुछ अन्यमनस्क सा रहता था, जबसे उसका एक जोटिया आ गया है, तबसे हँसता है, खेलता है, किलकारियाँ मारता है। आप किसी प्रकार की उसके सम्बन्ध मे चिन्ता न करें, जैसा वह आपका पुत्र है, वैसा ही मेरा है।"

वसुदेव जी ने अत्यन्त ही स्नेह भरित हृदय से मार्मिक वाणी मे कहा—"हाँ, भाईजी! यह कुछ कहने की वात थोड़े ही है। आपका ही तो वह पुत्र है। आपका ही धर्म और धन तो सफल है, जिन शास्त्र विहित धर्म, अर्थ और काम के द्वारा अपने आत्मीयो को सुहृद सम्बन्धियो को सुख मिले, तो सफल है नही जो धन केवल भूमि मे ही गाडने को हो, अधर्म से उपार्जित किया गया हो, न तो उसके द्वारा दान पुण्य किया गया हो, और न अपने तथा कुटुम्बियो के सुखोपभोग में व्यय किया गया, तो वह धन धर्म विरुद्ध है। इसी प्रकार जिस धर्म से लोक कल्याण हो, देवता पितर प्रसन्न होते हों, वह धर्म तो यथार्थ धर्म है इसके

विपरीति बिना विधि के केवल यश प्राप्ति और नाम के लिये जो धम किया हो, वह धर्म न होकर धर्माभास है, दम्भ है, दिखावट है। जो कामभोग–परलोक को भूलकर-केवल इन्द्रिय तृप्ति के लिये ही किया गया हो वह अधर्म है। आपके तो तीनो ही सार्थक है। आप समस्त धर्म भी आत्मीयों के सुख के निमित करते हैं। आपका धन भी दान पुण्य मे ही व्यय होता है। आप काम का भी धर्मानुकूल ही सेवन करते है, अत' आप धन्य हैं। हम तो इस कस के अधीन होकर अपने त्रिवर्ग नष्ट कर चूके, न तो अपने बन्धु बान्धवो को सुख पहुँचा सकते हैं, न स्वय ही खुल कर धर्म-कार्य कर सकते हैं। जिस त्रिवर्ग से अपने बन्धुजनो को क्लेश हो वह व्यथ है, उससे कोई लाभ नहीं।"

आह भरकर नन्दजी ने कहा—"क्या बतावें वसुदेव जी! परिस्थिति विवश कर देती है, नही आप तो उदार बडे हैं, धर्म प्राण हैं। इस दुष्ट कस ने सब गुड गोबर कर दिया। यह कितना पापी है, इसके पाप का घडा भरता भी तो नही। इतने जघन्य पाप करके फल फूल रहा है। देखिये, दुष्ट ने देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए तुम्हारे कितने नन्हें नन्हे भोले भाले सद्य.जात शिशुओ का जन्म होते ही निर्दयता-पूर्वक मार डाला। सुना है अन्त मे एक सबसे छोटी कन्या बची थी। उस पर भी दुष्ट ने दया नही की। स्त्री जाति पर तो क्रूर क्रूर से भी कृपा करते हैं। स्त्रियो को तो सभी अवध्या मानते हैं, इस खल ने इसका भी विचार नही किया, उसे भी मारकर स्वर्ग पठा दिया।"

वसुदेव जी ने सरलता के साथ कहा—'व्रजराज! अब किसे दोष द। कौन किसे सुख-दुख दे सकता है, सभी स्वकर्म सूत्र में आबद्ध हैं। बेचारा कस क्या कर सकता है, यह तो सब हमारे भाग्य का ही द ष है।"

नन्दजी ने कहा—"हाँ भैयाजी! बात तो ऐसी ही है, नि:सदेह मनुष्यो का सुख दुख भाग्य पर ही अवलम्बित है। मनुष्य जो अनेको आश्रय खोजता है, असख्यो दु ख निवृत्ति के उपाय करता है, वे एक भी काम नही आते उसका एक मात्र सच्चा आश्रय तो भाग्य ही है। "भाग्य फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्।" मनुष्यो को मोह तभी होता है जब वह दूसरो को अपने सुख दुख का कारण समझता है, इसने मुझे बडा सुख दिया, मेरा बडा भारी काम कर दिया, यह मेरा मित्र है, इसने मेरा अमुक कार्य बिगाड दिया, मुझे अमुक-अमुक क्लेश दिये, यह मेरा शत्रु है, इन विचारो मे ही मन के अनुकूल प्रतीत होने वाले के प्रति राग, प्रतिकूल प्रतीत होने वाले के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक है। राग और द्वेष ही ससार-बन्धन को दृढ करने वाले हैं। जो प्रत्येक कर्म को अपने भाग्य का ही कारण मानता है, ऐसा विवेकी पुरुष कभी मोहग्रस्त नही होता। आप विवेकी हैं तभी तो इतने कष्टो को बडे धैर्य के साथ सहते रहे और दु ख देने वाले कस के प्रति भी द्वेष रहित बने रहे। उसे दोषी न मान कर आप अपने भाग्य को ही दोष देते हैं। यह उचित ही है, आप जैसे ज्ञानीविवेकी के अनुरूप ही ये भाव हैं।"

वसुदेव जी ने कहा—'अच्छा ये बातें तो हो चुकी। यह बताइए आप राजा को अपना कर दे आये? अब तो वहाँ कोई कार्य शेष नही है।"

नन्दजी ने कहा—"हाँ, वार्षिक कर हम दे चुके। कोषाध्यक्ष स लिखा पढ़ी भी करा ली। वहाँ तो अब कोई कार्य शेष नही रहा।"

वसुदेवजी ने कहा—"ये गोप जिस प्रकार निश्चिन्त हुए इधर

उधर घूम रहे हैं, इससे तो अभी ऐसा प्रतीत होता है, आप अभी कुछ दिन यहाँ और रहना चाहते हैं ?"

नन्दजी ने कहा—"मुझे आपसे मिलना तो अत्यावश्यक था। सोचा था, एक दो दिन रहकर आपसे भी भेंट कर लूं। इनमे बहुत-से गोप ऐसे है, जो पहिले ही पहिले मथुरा आये हैं। इनकी इच्छा थी, दो चार दिन रहकर यहाँ के सब घाट, बाट, मन्दिर तथा सुन्दर-सुन्दर स्थान देखें।"

वसुदेव जी ने कहा—"देखिये यह समय हाट-बाट देखने भालने तथा मनोविनोद का नही है। आपके मुख्य काम दो ही थे, राजा को कर देना और मुझसे भेंट करना। सो दोनो ही काम हो चुके, अब आपका यहाँ अधिक दिन रहना उचित नही, क्योंकि गोकुल मे आज-कल बहुत उत्पात होने की सभावना है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! नन्द बाबा की तो स्वयं अपने लाला को छोडकर मथुरा मे रहने की इच्छा नही थी किन्तु गोपो के आग्रह से तथा वसुदेव जी से भेंट करने के लोभ से उन्होने दो एक दिन रहना स्वीकार कर लिया था, किन्तु जब वसुदेव जी ने गोकुल मे उत्पात होने की बात कही, तब तो उनका हृदय धडकन लगा। उन्होंने गोपो से कहा—"अभी तुरन्त छकडो को जोड़ो, हम अभी गोकुल चलेंगे।"

यह सुन कर शौनक जी बोले—"सूतजी! वसुदेव जी को क्या पता था, कि व्रज मे उपद्रव होने वाले हैं, क्या वे ज्योतिषी थे ?"

हंसकर सूतजी बोले—"अजी महाराज ज्योतिषी न भी हो, तो भी प्रेम मे सदा अनिष्ट की शका लगी ही रहती है। फिर चोर का हृदय सदा शकित ही बना रहता है, ऐसा न हो हमारी चोरी खुल जाय। जबसे वसुदेव जी अपने पुत्र को नन्दजी के

गोकुल मे छोड़ आये हैं, तब से वे अपनी किसी भी चेष्टा से यह प्रकट होने देना नही चाहते, कि हमारा नन्दजी से कोई प्रेम का सम्बन्ध है। वे दिखाना चाहते है, कि नन्दजी से हमारा कोई सम्बन्ध ही नही, इसीलिये वे छिपकर अकेले मिलने आये।

आजकल उनको कस सभा मे जाने पर कोई रोक-टोक भी नही थी। वे सभा मे चले जाते और इसी बात की टोह लगाते रहते, कि मेरे विरुद्ध कोई षडयन्त्र तो नही हो रहा है, किसी प्रकार मेरी बात तो नही खुल गयी है। वैसे तो वे कस के सभी असुर प्रकृति के मन्त्रियो से डरते रहते थे, किन्तु पूतना से उन्हे बड़ा डर था। यह बडी भयकर प्रकृति की थी। उन्हे यह बात विदित हो गयी थी, कि आज कल छोटे-छोटे बच्चो के वध का कार्यक्रम कार्यान्वित हो रहा है। यह दुष्टा पूतना घर-घर मे जा जाकर छोटे-छोटे बच्चो को विष मिश्रित पय पिलाकर परलोक पठाती है। नित्य व इस बात का गुप्त रूप से पता लगाते रहते, कि आज यह किधर जाने वाली है। किसी के द्वारा रात्रि मे ही उन्होने सुन रखा था, कि कल यह व्रज के बालको को मारने नन्दजी के गोष्ठ मे जायगी। वे गुप्त रीति से किसी सेवक को नन्दजी के यहाँ भेजने ही वाले थे, उसी समय सुना नन्दजी वार्षिक कर देने आये हैं।" वे सब के सम्मुख तो उनसे मिलना नही चाहते थे। टोह लगाते रहे कर देकर ये कब अपने डेरे पर लौटते हैं। जब वे लौट गये, तो तुरन्त वसुदेव जी उनसे गुप्त मार्ग से जाकर मिले। जब वसुदेव जी ने व्रज मे उत्पात वाली बात कही तब तो नन्दजी अपने सभी साथी गोपो को साथ लेकर तुरन्त गोकुल की ओर चलने को प्रस्तुत हुए। चलते समय दोनो के नेत्र सजल थे, हृदय से हृदय सटाकर दोनो मिले। अन्य गोपो ने वसुदेव जी को प्रणाम किया। इस प्रकार उनको आज्ञा लेकर

गोप बैलो से जुते छकडो पर चढकर गोकुल की ओर चल दिये और वसुदेवजी उदास मन से अपने घर लौट आये।"

छप्पय

बोले श्रीवसुदेव दयो कर भेंट भई अब।
अधिक रहें नहिँ यहाँ काज सम्पन्न भये सब॥
ब्रजमहँ नव उत्पात कौन-से कब का आवें।
तातैं अब अविलम्ब आप गोकुलकूँ जावें॥
राम-कृष्णमहँ मन फस्यो, नन्द-हृदय शंका भई।
तुरतहिँ गोकुल गमनकी, गोपनिकूँ आज्ञा दई॥

गोकुल में पूतना मौसी का आगमन

[८५५]

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी ।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ॥
सा खेचर्येकदोपेत्य पूतना नन्दगोकुलम् ।
योषित्वा माययात्मानं प्राविशत्कामचारिणी ॥*

(श्री भाग० १० स्क० ६ अ० २, ३ श्लोक)

छप्पय

छकरनि जोरे बैल नन्द वसुदेव मिले पुनि ।
गोकुलकूँ चलि दये कथा अब एक कहूँ मुनि ॥
निज रिपु हनिवे हेतु पूतना कंस पठाई ।
सब थल मारत शिशुनि खेचरी गोकुल आई ॥
पीन पयोधर भारतैं, नमित चलति छैलिनि बनी ।
केश-पाशमहँ मल्लिका, गुँथी कुसुममाला घनी ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कंस के द्वारा भेजी हुई घोर रूपा, बालकों को मारने वाली पूतना राक्षसी नगरों, ग्रामों तथा गोओं के गोष्ठ आदि में सद्यःजात शिशुओं को मार रही थी। एक दिन वह कामचारिणी खेचरी पूतना नन्दजी के गोकुल में आयी और अपनी आसुरी माया से अत्यन्त सुन्दरी युवती का वेष बनाकर अन्त:पुर में घुस गयी।"

कभी-कभी संकोचवश ऐसी-ऐसी घटना घटित हो जाती है, कि जिनका परिणाम कुछ से कुछ हो जाता है। भ्रमवश कोई कुछ समझ लेता है कोई कुछ। एक चोर ने गुरु के सम्मुख प्रतिज्ञा की, कि मैं झूठ न बोलूँगा। राजा के यहाँ चोरी करने गया बड़े ठाठ-बाट मे। सुन्दर वस्त्राभूषणो को पहिने निर्भय होकर चला गया। प्रहरी ने पूछा "आप कौन है, उसने निर्भय होकर कहा—"हम चोर है ?" सयोग की बात उन्ही दिनो महाराज का साला आया था। प्रहरी ने सोचा—"चोर तो इस प्रकार निर्भय होकर जा नहीं सकता। फिर चोर अपने मुँह से कैसे कहेगा। निश्चय ही यह रानी के भाई हैं।" इसी संकोच में पडकर उसे रोका नही। वह निर्भय होकर घुस गया और सुन्दर-सा घोडा चुराकर उसी प्रकार निकल गया। ऐसी ही अनेको भ्रमवश भूलें हो जाती हैं। परिस्थिति ऐसी हो जाती हैं कि न तो पूछते ही बनता है और सहसा अविश्वास ही किया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे दुस्साहसी पुरुषो को अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी को वसुदेवजी की बात सुनकर शका हो गयी। प्रेम मे पग-पग पर अनिष्ट की शका बनी ही रहती है। मेरे लाला का कुछ अनिष्ट न हो, वसुदेवजी ने क्या सोचकर यह बात कही। मैं तो व्रज मे सब कुशल छोड़कर आया था। मेरे यहाँ तो ६ दिन से निरन्तर उत्सव की धूम मची थी, अब सहसा गोकुल मे क्या उत्पात हो सकता है। वसुदेवजी साधारण आदमी नही हैं, उन्हे कुछ न कुछ आभास तो मिल ही गया होगा। मै तो यहाँ मार्ग मे हूँ, क्या कर सकता हूँ। इसी प्रकार की बातें सोचते-सोचते नन्दजी मार्ग मे चले जा रहे थे जब उन्हें कुछ नही सूझा तब व श्रीहरि की शरण गये। जो

विश्व का पालन करते हैं, चराचर प्राणियो की रक्षा करते हैं वे मेरे लालजी की भी उत्पातो से रक्षा करेंगे। इस प्रकार मन को समझाते हुए वे शीघ्रता के साथ गोकुल की ओर बढ रहे थे।

इधर कस मामा की मत्राणी जिसे वे बहिन जी कहते थे, उसने यह बीडा उठाया था कि मै व्रज भर मे दश दिन के पैदा हुए बालको को दश दिन मे मार डालूंगी। कस मामा ने पूछा—"बहिन जी! तुम्हारे लिये किस रथ का उडनखटोले का प्रबन्ध करदें क्योकि व्रज ८४ कोस का है पैदल तुम कहाँ-कहाँ जाओगी।"

पूतना मौसी ने कहा—"ना, भैया! मुझे जलयान थलयान, वायुयान किसी की आवश्यकता नहीं। जैसे तुम पूर्व जन्म में कालनेमि असुर थे, वैसे ही मैं भी पूर्व-जन्म मे राक्षसी थी। यहाँ व्रज में मानवी योनि मे जन्म लेने पर भी मुझे राक्षसी विद्याएँ सब आती हैं। मैं कामचारिणी हूँ, स्वेच्छा से रूप बदल सकती हूँ, आकाश मे उड सकती हूँ, बडे मे बडा छोटे मे छोटा, सुन्दर से सुन्दर कुरूप से कुरूप रूप रख सकती हूँ। मै भोजनान्तर अपने कुचो मे कालकूट विष लपेट कर घर घर जाया करूंगी। जो बच्चे छोटे होगे, उन्हे वह विष मिश्रित दुग्ध पिलाकर मार दिया करूंगी। तुम्हारा शत्रु पैदा तो व्रज मे ही हुआ है, सब बच्चो के साथ वह भी मारा जायगा।"

कस ने कहा—"तब तुम्हारा कार्यक्रम क्या रहेगा?"

पूतना ने कहा—"मेरा कार्यक्रम अत्यन्त गुप्त रहेगा। मैं किस दिन किस दिशा मे जाऊँगी, यह बात मै किसी को भी न बताऊँगी।"

कस ने कहा—"यह उपाय सुन्दर है, हमारा शत्रु भी मर

विघ्न पडता है। फल फूलवाले वृक्षो को अन्य घास फूँस या काटेदार वृक्ष हानि पहुँचाते हैं, उन्हे वह काट देता है। किसी को उत्पन्न होते ही काट देता है, किसी को बढने देता है, बडे होने पर काटता है, किसी की डालीको काट देता है। किसी को एक दूसरे से जोडकर कलम लगा देता है। इसी प्रकार विष्णु भगवान् का कार्य प्राणियो की रक्षा करना है। जगत् के प्रवाह को स्थिर रखना है, इसमें जो असुर राक्षस, मनुष्य पशु-पक्षी बाधा पहुँचाते हैं, उनका वे विनाश कर देते है, करा देते है, किसी को बढाकर मारते हैं, किसी को जन्मते ही मार डालते है। प्रतीत होता है, उन दिन कस के पक्ष को प्रबल बनाने के निमत्त असंख्यो असुर ब्रज मे पैदा हो रहे थे। भगवान् ने सोचा—"अब इन सद्यः जात शिशुओं पर मै क्या हाथ चलाऊँ। मौसी के द्वारा ही इनकी इतिश्री कराद्दूँ। जब मेरे पास यह पारितोषिक माँगने आवेंगी, तो मैं इसे मोक्ष का मार्ग दिखा दूँगा। संसार बन्धन से इसे विमुक्त बना दूँगा। मोक्ष ही सबसे उत्तम परम पुरुषार्थ है। यही मैं मौसी को दे दूँगा।" इसलिए भगवान् की प्रेरणा से ही यह असुर रूप में प्रकटे बालकों को मारती रही। गोकुल की इसे याद तक नही आयी। अब जब सब असुर बालक मर चुके, तब वह भगवान् के पास आयी। पूतना के विष मिश्रित पय को पीकर कंस पक्षीय असुर ही मारे गये। कृष्ण पक्षीय बालको की ओर तो पूतना ने आँखें उठाकर भी नही देखा।"

इस पर शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! भगवान् की प्रत्येक लीला में अनन्त गूढ रहस्य भरे पड़े हैं। यह संसार भगवान् की क्रीडा भूमि है। भगवान् इसमें जो भी कर रहे हैं। शिव की कोई भी चेष्टा अशिव नही हो सकती। आनन्द स्वरूप की कोई भी लीला निरानन्द नही होती। मनुष्य अभिमान के वशीभूत होकर

यह कहता रहता है, यह नहीं हुआ वह नहीं हुआ। यह भगवान् ने अच्छा नहीं किया। भगवान् तो अच्छाई के अतिरिक्त दूसरी बात जानते ही नहीं। जैसे मिठाई बेचने वाले के पास मिठाई ही होगी। विष बेचने वाली दुकान पृथक् होती है। अच्छा, तो फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज सुनिए; पूतना उडकर गोकुल के बाहर पहुँची। वहाँ उसने देखा पहरे पर बहुत से गोप खडे हैं। अपने यथार्थ रूप से तो वह भीतर जा नहीं सकती थी। वह इच्छा के अनुरूप रूप बनाने में समर्थ थी, अतः उसने एक अत्यंत ही सुन्दरी सुकुमारी स्त्री का रूप धारण कर लिया। ऐडी तक उसकी वेणी लटक रही थी, उसमे मालती, माधवी मल्लिका, यूथिका आदि के सुन्दर सुगन्धित पुष्पों की मालाएं गुंथी थीं। उसके रेशमी महीन वस्त्रो मे से उसका रूप यौवन छन-छनकर व्रज की गलियो में गिर रहा था। एक हाथ लम्बे घूंघट से से उसका मुख उसी प्रकार दीख रहा था, मानो चन्द्रमा के हलके आवरण से ढका हुआ हो। उसकी कमर इतनी पतली थी कि वह लता की भाँति हिलती-सी दिखायी देती थी। नितम्बको का भाग स्थूल था। इस कारण चलते समय व्रज की वीथियो मे उसकी ऐडियाँ धस जाती थी। कचुकी से आवद्ध उसके पीन पयोधर दो चचल मीनो क समान हिल रहे थे। उसके अग के लंहगा, फरिया, कचुकी आदि सभी वस्त्र सुन्दर चमकीले तथा बहुमूल्य थे। उसके कमलमुख पर बिथुरे हुए काले-काले घुंघराले बाल ऐसे प्रतीत होत थे, मानो सुवर्ण पकज के ऊपर बडी-बडी काली सिवार वायु मे हिल रही हो। कानो के कमनीय कनक कुण्डल हिलते हुए ऐसे प्रतीत होन थे मानो दो विचित्र व्यजन आनन की मक्खियों को उड़ा रहे हो और कपोलो को चमकाकर उनकी शोभा को बढ़ा

रहे हो। पहरे वाले गोप बडे सजग थे, नन्दबाबा जाते समय भाँति-भाँति से समझा गये थे, अत वे शक्ति भर किसी भी अपरचित को भीतर भवन मे नहीं जाने देते थे। किन्तु अन्त पुर में स्त्रियो को कौन रोक सकता है। कोई साधारण स्त्री होती तो उससे पूछ भी लेते—'तू कौन है कहाँ जाती है, कहाँ से आयी है क्या काम है?" किन्तु यह तो अत्यन्त बनी ठनी थी इसके प्रभाव से ही सबके सब प्रभावित हो गये। किसी ने कुछ पूछने का साहस भी किया, तो इसने घूँघट को आट म से कजरारे नैनो की जो चोट मारी, कि गोप लोट पोट हा जाते। अपनी मन्द मन्द मनोहर मुस्कान से, कुटिल कँटीले कटाक्ष से युक्त चित्त को चुराने वाली चितवन से चतुरो के भी चित्त को चुराती हुई, सबको अपने रूप जाल के जादू मे फँसाती हुई यौवन के मद मे मदमाती इठलाती हुई इत-उत अपने चचल नेत्रो से देखती हुई, छम्म-छम्म का ध्वनि से ब्रज पथ को मुखरित करती हुई, पूतना मौसी अन्त पुर में पहुँच ही तो गयी।

ऐसी परम सुन्दरी, रूपवती, नागरी युवती को देखकर गोष्ठ की रहन वाली गोपियाँ सम्भ्रम मे पड गयी। वे सहसा उठकर खडी हो गयी। रोहिणीजी भी वहाँ थी। वे समझी लालाजी ननसालकी महराने की कोई रानी होगी। यशोदा मैया समझी कोई रोहणीजी की सखी होगी मथुरा से आयी होगी। अत दोनो ने ही उसका अत्यधिक आदर किया। बैठने को पीढा दिया।

लालजी कुछ दूर पलकिया पर पौड रहे थे। उन्होने टेढी आख स उस छैल चिकनियाँ बनी सुन्दरी युवती को निहारा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने टेढी आँख से क्यो देखा?'

हँसकर सूतजी बोले—"अजी महाराज! इनके मनके यथार्थ

भाव को कौन जान सकता है। सब ऊपर ही ऊपर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अनुमान लगाते हैं। कोई कहता है—"क्योंकि यह टेढी बनकर गयी थी, भगवान् की तो प्रतिज्ञा है, जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसे उसी भाव से भजता हूँ। "इसलिये टेढी दृष्टि से देखा।" कोई कहते हैं, भगवान् ने सोचा "बनकर तो यह माँ आयी है काम माता के विपरीत करना चाहती है" इसलिए टेढ़ी दृष्टि से देखा। कोई कहते हैं—"भगवान् यदि सीधी दृष्टि से देखते, तो यह यही साधी हो जाती, इसलिए टेढे देखकर उसे टेढ़ी ही बनी रहने को बाध्य किया।" किन्तु हमारा तो मत है, "इस टेढ़ी टाँगवाले की सभी बातें टेढी ही हैं। इसलिए इसकी चितवन भी सदा टेढ़ी ही होती है। कहीं घुसकर सीधी हो जाती है, कही टेढ़ी ही बनी रहती है। हाँ, तो फिर एक बार देखकर तुरन्त उन्होंने नेत्र बन्दकर लिये और और झपकियाँ लेने लगे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने दूध पिलाने के लिए आने वाली मौसी को देखकर नेत्र क्यों बन्द कर लिये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज इस कारे की करतूतो के सम्बन्ध में कोई भी 'इदमित्थ' ऐसा ही है यह साधिकार नही कह सकता। अपने-अपने अनुमान लगाते हैं। कोई कहते हैं—"नन्द-नन्दन को लाज आ गयी, कि यह तो इतनी बन ठनकर दूध पिलाने आयी है, मैं इसके प्राण लेने वाला हूँ।" कोई कहते हैं—"भगवान् ने संकोचवश नहीं देखा कि मुझे अभयदाता कहते हैं, इसे मुझसे भय होगा।" कोई कहते है—"भगवान् नेत्र बन्द करके ध्यान कर रहे हैं, कि यह तो मुझे दूध पिलावेगी, मैं इसे इसके बदले मे कौन-सी वस्तु दूँगा।" बहुत से कहते हैं—"भगवान् ने सोचा—"यदि इस राक्षसी से मेरी चार आँख हुई और

इसने मुझे नेत्र भरकर देख लिया, तो फिर यह अपने आपे में न रहेगी; शरीर की सुधि-बुधि भूल जायगी। उसी समय इसका मायावी रूप नष्ट हो जायगा। गोपिकाएँ तथा दोनों माताएँ डर जायेंगी। व्रजभर में कोलाहल हो जायगा। धनुष बाण लेकर गोप आ जायँगे। रग मे भंग हो जायगी। गोपों द्वारा मरकर इसकी वह गति न होगी, जो मैं इसे देना चाहता हूँ।"

कोई कहते हैं—"भगवान् ने घृणा से नेत्र बन्द कर लिये, कि यह कसी बुरी लुगाई है, भीतर दुर्वासना भरी है ऊपर से चिकनी चुपड़ी सुन्दरी बन रही है। विष रस से भरी कनक के गगरी के समान इसे क्या देखें।" कोई कहते है, "भगवान् के उदर में असख्यों ब्रह्माण्ड भरे ये वे सब डर गये, कि भगवान् इसके पयके साथ विषको पी गये, तो हम सब स्वाहा हो जायँगे। इस पर भगवान् ने नेत्र बन्द करके भीतर की ओर देखा। अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करके सबको धैर्य बँधाया, कि कोई चिन्ता की बात नही विषका मैं प्रभाव न होने दूँगा।"

कोई कहते हैं—"भगवान् को तो विष पीने का अभ्यास नहीं सदा दूध पिया है। अब यह विष पिलाने आयी है। विष पीना शंकरजी पर आता है। मानो नेत्र बन्द करके शंकरजी का ध्यान कर रहे हैं।" कोई कहते हैं—"नेत्र बन्द करके भगवान् पूतना की उत्सुकता को बढा रहे हैं। बच्चा हाथ फैलाते ही गोदी में आ जाय, तो उसमें उतना आनन्द नही आता। कुछ दिन खिल-वाड करे मान करे, उपेक्षा दिखाये, तब लेने की उत्कण्ठा बढ़ती है, इसलिए उत्कण्ठा-वृद्धि के निमित्त झपकियाँ लेने लगे।"

कोई कहते हैं—"भगवान् ने सोचा, यह तो बनकर आयी है है माँ, यह कहती है मेरे पूत-ना, पूत-ना। मैं कहता हूँ मैं तेरा पूत हूँ मैं तेरा पूत हूँ। पुत्र वही है जो पुंनामक नरक से

को पार करे। अब सोचते हैं बड़ा होकर मैं इसे पार करूँ, तब तक तो मेरी माँ मुझमें भूत का आवेश समझकर डर जायगी। इसकी इच्छा मुझे दूध पिलाने का भी है। यह इच्छा इसकी शेष रह गयी, तो इसे पुनर्जन्म धारण करना होगा। अतः इसे दूध पीते ही पीते चुपके म प्राणों को पी जाऊँगा। मुझ पर भी कोई शका न करेगा और इसकी भी सद्गति हो जायगी यही सब सोचते-सोचते श्यामसुन्दर को शेष शैया की याद आ गयी और योगनिद्रा में झपकियाँ लेने लगे।"

कोई कहते हैं—"भगवान् ने सोचा यदि मैं नेत्र खोले रहूँगा, तो यह अपने भाव छिपाने को मेरी ओर न देखकर इधर-उधर देखने लगेगी। कही सकर्षण बलरामजी की इस पर दृष्टि पड गयी और उन्होने इसे क्रोध में भरकर चूस लिया तो जगम विष से स्थावर विष उतर जाता है। यह विषहीना हो जायगी। इस सुन्दरी को देखकर गोप झगड़ने लगेंगे—"मैं इसे अपनी घर वाली बनाऊँगा; मैं इसे अपनी घर वाली बनाऊँगा।" तब गोप-वंश में यह वर्णशंकरता उत्पन्न करेगी; अतः इसकी इति श्री कर दो।"

हँसकर शौनकजी ने कहा—"अब सूतजी कहते ही जाओगे, कही इसका अन्त भी करोगे? कोई कुछ कहता हो, तुम क्या कहते हो; तुम्हारा क्या मत है। भगवान् ने पूतना को देखकर क्यो नेत्र बन्द कर लिये।"

सूतजी बोले—'महाराज! मेरी बुद्धि मे तो कोई विशेष कारण दीखता नही। बाल सुलभ भंगी हैं। छोटे बच्चे प्रायः तनिक देखते हैं, पुनः नेत्र बन्द कर लेते हैं। इसी प्रकार यशोदा नन्दन ने शिशु सुलभ ललित लीला का अनुकरण किया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यही भाव सुन्दर हैं। हाँ तो उस बालघातिनी के भाव को किसी ने समझा क्यो नहीं।

सूतजी बोले—"अब महाराज ! समझने का वहाँ किसे अवकाश था, सभी लाला के जन्म के उल्लास मे अपने आपे को भूले हुए थे। नित्य ही सहस्रो स्त्री पुरुष बधाई देने लाला को देखने आते। गाँव की गोपियो ने ऐसी सुन्दरी स्त्री देखी ही नही थी। वह तो हाथ मे क्रीडा कमल लिए हुए साक्षात् लक्ष्मी-सी ही दिखायी देती थी, मानो अपने खोये हुए पति को घर-घर खोजती-फिरती हो। फिर कोई उस पर सन्देह क्यो करने लगा।"

उसने मद-मद मुसकराते हुए यशोदा मैया तथा अन्य गोपिकाओ से कहना आरम्भ किया—"आप तो मुझे क्यो जानती होगी। मेरा घर मथुरा मे हैं। मै एक वेदपाठी विप्र की बडी बहू हूँ। मैने सुना नन्दरानी के वृद्धावस्था मे बेटा हुआ है, वे सबको मनमानी वस्तु बाँट रही है। नारायण की दया से मेरे यहाँ किसी बात की कमी तो है नही, मुझे कुछ लेना तो है नही हाँ बालक को आशीर्वाद देना था, इसीलिए मैं दौडी-दौडी चली आयी।"

यशोदा मैया ने कहा— पण्डितानीजी, आपने बडी कृपा की; आपके ही आशीर्वाद से यह बच्चा जी जाय, बडा हो जाय।"

सैन चलाकर हाथ मटकाकर पूतना बोली—"तुम्हारा बच्चा जुग जुग जीवेगा। इसके बहुत से ब्याह हो, लाखो नाती बेटा हो। हाँ एक बात तो मैंने कहा ही नही। तुम देखती हो मेरी छाती मे कितना दूध भरा है। लाला मेरे दूध को पीले, तो फिर यह अजर अमर हो जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यशोदा मैया तथा रोहिणी मैया किसी को भी यह बात अभीष्ट नही थी, कि हमारे लाला को कोई अपरिचिता महिला दूध पिलावे, किन्तु वह एक अत्यन्त बनी

ठनी, सजी बजी, बडे घराने की भद्र महिला प्रतीत होती थी। वह अपने रूप के प्रकाश से नंद-भवन को प्रकाशित कर रही थी। उसके तेज से प्रभावित होकर इच्छा न रहने पर भी यशोदा जी तथा रोहिणीजीने दूध पिलाने मे अपनी स्पष्ट असम्मति प्रकट न की। दोनो माताओ को मौन-स्वीकृति समझकर उस मायाविनी महिला ने शैया पर सोये हुए श्यामसुन्दर को रहस्यमयी दृष्टि से देखा। वह नही जानती थी, कि ये दुष्ट जना के काल हैं। शिशु रूप मे उसी प्रकार छिपे हैं, जैसे राख मे अग्निदेव छिपे हुए हों, रेशमी वस्त्र की कचुकी मे ढंके हलाहल विष से लिपटे उसने अपने बडे-बडे लम्बे और पुष्ट स्तन बाहर किये और झपटकर पलकिया पर से लालजी का उठा ही तो लिया। लालजी ऐसे भोरे बन गये, कि उन्होने ऐसा भाव प्रदर्शित किया, मानो मेरी माता ने ही उठाया हो। न तो रोये और न गोद मे आने मे आनाकानी की। उन्हे जो लेना चाहता है, उसकी गोद मे तुरत चले जाते हैं। पूतना की गोद मे लालजी लेट गये; या उसने लिटा लिया।"

छप्पय

मायातैं अति सुघर नारिको रूप बनायो।
मधुर मधुर मुसकाइ सबनिको चित्त चुरायो॥
महराने की समुझ रोहिणी विहसि बिठाई।
यशुमति समझी नई बहू मथुरातैं आई॥
गगरी सोने की सुघर, भरि विष ढकितैंकें धरी।
त्यों ठगिनी गोरी बनी, कारेके पल्ले परी॥

—※:—

पूतना-पयपान

[८५६]

तस्मिन् स्तन दुजरवीर्यमुल्बणम्,
घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ ।
गाढ़ कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्,
प्राणैः सम रोपसमन्वितोऽपिबत् ॥*

(श्री भाग० १० स्क० ६ अ० १० श्लोक)

छप्पय

बनि अति सुन्दर नारि महलमहँ बैठी लुच्ची ।
गरल लपेटी दई लालके मुखमहँ चुच्ची ॥
हरिकूँ आयो रोष पकरिकर बोबो लीन्हीं ।
कचकचाइकें चढ़े घुटुमुनि मुखमहँ दीन्हीं ॥
पीवें पय प्रभु प्रान सग, अति अद्भुत छवि लालकी ।
मातु निहारति चकित चित्त, बनी अकबकी सी-बकी ॥

भक्तो की भेंट के लिये भक्तवत्सल भगवान् सदा भूखे प्यासे बने रहते हैं। भगवान् को वस्तुओ की चाह नही। उनके यहाँ मुल्यवान् अथवा साधारण इसका कोई अथ ही नही।

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—'राजन् ! व्रज म उस क्रूर स्वभाव वाली बकी ने शिशु रूप श्रीकृष्ण के मुख मे अपना दुजर विषयुक्त स्तन दे दिया। भगवान् भी उस अपने दोना हाथो से कसकर दबाते हुए रोष मे भर कर प्राणों के सहित उसके पय का पान करने लगे।'

उनकी दृष्टि मे या तो सभी मूल्यवान् हैं अथवा सभी साधारण। उन्हे चाहें छप्पन भोग लगाओ या एक तुलसी पत्र ही अर्पण कर दो। दोनो ही वस्तुओं मे से भाव ग्रहण कर लेंगे। वास्तव मे वे भाव के भूखे है। जो सात्त्विक भाव से उन्हे अर्पण करते हैं, सात्त्विक होकर पाते है। राजस् अथवा तामस् भाव से अर्पित करते हैं, तो राजसी तामसी बनकर पाते हैं। उन्हें जो जिस प्रकार भजता है, वे भी उसे उसी प्रकार भजते हैं। जो रोष से कपट से उनके सम्मुख उपहार लेकर आता है, उसके उपहार को कपट वेष रखकर रोष के साथ ग्रहण करते हैं, किन्तु परिणाम सभी का सुन्दर ही होता है। किसी भी भाव से भगवान् के समीप कोई क्यो न आवे, उसका मङ्गल ही होता है, उसकी दुर्गति न होकर सुगति ही होती है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! आँखे बन्द किये पड़े हुए लाल-जी को देखकर पूतना को भ्रम हो गया, कि यह भी साधारण सद्यःजात गोप बालक है, जैसे अपने स्तन का दुर्जर विष युक्त पय पिलाकर अन्य बालको को मार डाला है, उसी प्रकार इसे भी मार डालूँगी। यही सोचकर उसने श्रीकृष्ण को उसी प्रकार गोद मे उठा लिया, जिस प्रकार किसी सोये हुए सर्प को रस्सी समझकर कोई उठा ले, अथवा गुडमुड़ी मारे बिच्छू को कोई बहुमूल्य मणि समझ कर उठा ले, अथवा पत्तेवालो के द्वारा डारे गये बनावटी सुवर्ण को सच्चा सुवर्ण समझकर कोई मार्ग मे से उठा ले, अथवा विष मिश्रित मोदको को कोई स्वादिष्ट मिठाई समझ कर उठा ले। अथवा बिच्छू के पेड़ों को कोई सुदर साग समझकर हाथो से तोड ले। लालाजी का तो स्वभाव है, जो उन्हे बुलाता है, उसके पास जाते हैं, जो उन्हें प्यार करता है उससे सहस्र गुना प्यार करते हैं, जो उनसे छल करता है, तो उसे छल

स्वभाव है तमोगुणी, पहिले पहिल ओठो से विष का ही स्पर्श हुआ इसलिये तमोगुणी रोष हो आया। यदि ऊपर दूध होता नीचे विष होता तो पहिले पहिल हँस जाते। अथवा रोष का कारण

यह भी हो सकता है, कि भगवान् ने सोचा—"देखो, यह कैसी दुष्टा राक्षसी है। सर्पिणी को छोडकर या अत्यन्त व्यभिचारिणी को छोडकर कोई भी माता अपने बच्चे को मारना नहीं चाहती। यह स्तन पिलाकर मातृपद को कलंकित कर रही है, मैं इसे इसका

फल चखा दूं।" अथवा रोष का कारण यह भी हो सकता है, कि स्तन पिलाने का अधिकार तो मेरी माँ को ही है या धातृ को है। मेरी माँ ने इसे धातृपद पर निमुक्त भी नही किया यह अपने आप धातृ बन गयी है तो जैसा देवता हो वैसी उसकी पूजा भी करनी चाहिये, इसने बल-पूर्वक मुझे छाती से चिपटाया है, मैं भी इसे बल-पूर्वक दबाकर इसका पारितोषिक दे दूं, अथवा मेरे विचार से तो यही उचित जान पडता है कि दूध के भरे स्तनो को देखकर बालकृष्ण उनमे बछडे की भाँति हुड्डु मारने लगे। और उस पर कुपित हुए, कि इतने दूध को तुम ही भरे रहोगी ? मुझे न पीने दोगी। बालक जब स्तन को पान करता है तो कसकर माता के स्तन को पकड लेता है, इसलिए बडे-बडे स्तनो को अपने कोमल पल्लव सदृश करो से पकड पकड कर चुसुर-चुसुर करते हुए लालजी अपनी बनी ठनी धाय के दूध को उमग के साथ पीने लगे। पय के साथ उसके प्राणो को भी पीने लगे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! पूतना तो भगवान् को विष और दूध दो वस्तु पिलाने आयी थी, भगवान् उसके प्राणो को भी क्यो पीने लगे। क्या यह अधर्म या लोभ नही हुआ। भगवान् ने बिना दी हुई वस्तु पर बल पूर्वक अधिकार क्या जमा लिया।"

सूतजी बोले— महाराज! इन भगवान् मे यही तो विशेषता है। जो तनिक देने को बढता है, उसका सवस्व ल लेते हैं। बलि ने तीन पग पृथ्वी ही देने का तो सकल्प किया था, उसका सर्वस्व अपहरण कर लिया। ये तनिक से सन्तुष्ट नही होत, जिसे अपनाते हैं उसका सर्वस्व हथिया लेते हैं। फिर दान के साथ कुछ सागता भी तो चाहिए। साग वाले से साग लेने के अनन्तर कुछ रूंकघोक भी तो माँगते हैं। दूध विष उसने स्वेच्छा से दिया, प्राण भगवान् ने रूंक मे ले लिये।

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी भगवान् जब पय के साथ उसके प्राणो को भी पीने लगे, तो उसने कुछ कहा नहीं ?"

सूतजी बोले—"क्यो, महाराज ! कहती क्यो नहीं। अब बताइए, बिना इच्छा के कोई किसी के प्राणो को पीने लगे, तो वह चिल्लायेगा नही। जिस समय भगवान् समुद्र को विष के लिए मदराचल से मथ रहे थे, उस समय समुद्र उछल रहा था अपनी तरगो द्वारा अहर-अहर शब्द करता हुआ अजित भगवान् को मनाकर रहा था, किन्तु भगवान् ने उसके करुण क्रन्दन की ओर ध्यान ही न दिया। मथकर विष निकाल ही लिया। आज भी मानो वे समुद्र के स्थान मे पूतना के स्तनरूपी सुमेरु शिखर को अपने मुख रूपी रई द्वारा ओठो की रज्जु से मथ रहे हों। प्राणो के पान करने से पूतना के सम्पूर्ण मर्म स्थानो मे पीडा होने लगी। वह मोटी भैंस के समान अपने स्तनो को हिलाती हुई, हाथ पैरो को फट फटाती हुई इधर से उधर दौडने लगी और बारबार कहती–'अरे छोड दे, अरे छोड दे।" उस समय बालकृष्ण उसके स्तनो से लटके ऐसे प्रतीत होते थे मानो—बडे भारी कटहल के तने मे लम्बा-सा फल लटक रहा हो। जब उसकी पीडा अत्यन्त बढ गयी, तो बोझ से थकी घोडी की भाँति वह विवश होकर गिर गयी और चिल्लाने लगी—"छोड दे, छोड दे।"

बालकृष्ण तो सात ही दिन के थे, उत्तर कैसे देते ? चूची को मुख मे दबाये ही दबाये उसकी ओर देखने लगे; मानो सकेत से कह रहे हो—"मौसी जी ! पहिले तो मै किसी को पकडता ही नही; पकडता हूँ, तो फिर छोड़ता नही। पकडकर छोड़ना तो मैंने अपने गुरु से सीखा ही नही।"

अब राक्षसी क्या करती, वह बार-बार हाथ पैर पटकने लगी, रोने चिल्लाने लगी, उसके नेत्र फट गये, सम्पूर्ण शरीर पसीने से लथपथ हो गया। उसके मुख से चीत्कार के सहित भयंकर शब्द निकलने लगा। उस अत्यन्त भयावह शब्द से पर्वतों सहित पृथ्वी डगमगाने लगी। अन्तरिक्ष में ग्रह, नक्षत्र और तारे अपने अपने स्थान से हटने लगे। सातों पाताल खलबलाने लगे। दशों दिशाएँ गूँजने लगीं। लोगों ने समझा अवश्य ही कहीं वज्र-पात हुआ है, आशंका से उनको लोग मूर्छित होकर भूमि पर गिर गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अत्यन्त व्याकुलता में वह राक्षसी अपने मायावी रूप की रक्षा न कर सकी। हड़बड़ाहट में उसकी माया नष्ट हो गयी, वह अपने यथार्थ राक्षसी रूप में प्रकट हो गयी। उस समय उसकी आकृति अत्यन्त ही भयावह थी। पर्वत की कंदरा के समान उसका मुख था। हलकी फार के समान उसकी तीक्ष्ण दाढ़ें थीं, खूँटे के समान उसके आगे के दाँत थे। सूप के समान उसके दोनों कान थे। पहाड़ के विवर के समान उसकी दोनों आँखें थीं। लप-लप करती हुई उसकी जीभ लप-लपा रही थी। सिर के कठोर बाल अस्तव्यस्त भाव से इधर-उधर बिखर रहे थे। हाथों और पैरों को छटपटा रही थी, अत्यन्त पीड़ा होने से वह टूटी पर्वत की चट्टान के समान धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। गोष्ठ में गिरते ही वह उसी प्रकार मर गयी, जिस प्रकार इन्द्र के वज्र से वृत्तासुर मर गया था।"

छप्पय

अरे, छोड़ दे लाल ! छोड़ दे वकी पुकारे।
किन्तु लालकी बानि पकरिकें अवसि उबारे॥
हाथनि पाँइनि पटकि पटकि के हा हा खावे।
दैया बप्पा मरी राँड़ कहि कहि डकरावे॥
चूची में पीड़ा अधिक, माया वाकी खुलि गई।
मुँह फाट्यो निरजीव है, बाल बखेरें गिरि गई॥

मरी पूतना की भयंकरता

[८५७]

पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् ।
चूर्णयामास राजेन्द्र ! महदासीत्तदद्भुतम् ॥*
(श्री० भा० १० स्क० ६ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

गिरी पूतना तुरत नाश सब ब्रज को कीन्हों ।
कंस बाग छै कोस ताहि चौपट करि दीन्हों ॥
मुख मानो–गिरि गुहा दाढ़ि खूँटा सम ताकी ।
चूची पर्वत शिखर आँखि कूआ सम वाकी ॥
सूखे सर सम उदर अति, थूल देह पग सेतु सम ।
डरपे गोपी गोप गन वज्र गिरयो अस भयो भ्रम ॥

सत्य और माया दोनो देखने मे तो एक से प्रतीत होते हैं, किन्तु अन्तर इतना ही है, सत्य तो सनातन है, वह सदा बना रहता है, माया अधिक समय तक टिकती नही । आपत्ति विपत्ति तथा सकट आने पर सत्य अधिकाधिक खरा सिद्ध होता है, किन्तु माया तनिक-सा सकट आते ही खुल जाती है, बनावट के पैर भी

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पूतना के मृतक शरीर ने गिरते-गिरते भी छः कोश के वृक्षो को कुचल डाला । देखो, यह कैसी अति अद्भुत घटना हुई ।"

बनावटी होते हैं, वे तनिक-सी ठेस मे ही उखड जाते हैं ! इसीलिए माया का प्रभाव क्षणिक होता है। असत्य का प्रभाव स्थाई नही होता है। अधिक दिन तक नही चलता। बनावट जब खुलती है, तो भली भाँति खुल जाती है, तब लोगो को उसकी भयकरता प्रतीत होती है, कि किस प्रकार यह विष से भरा कनक का घट था। ऊपर से चमक रहा था, भीतर भयावह था, भगवान् तो माया के पति हैं उनके सम्मुख कोई माया करके भी जाता है, तो उसका भी कल्याण कर देते हैं। एक कथा है, कोई राजकुमारी थी, भगवान् की पूजा करती थी। कोई अन्य राजकुमार उसे वश मे करना चाहता था। उसने अनेक उपाय किये किन्तु राजकुमारी ने उसकी ओर देखा तक नही। तब उसने माया का आश्रय लिया। उसने एक बनावटी गरुड बनाया, अपने बनावटी दो हाथ लगाये किरीट मुकुट पहिनकर विष्णु का वेष रखकर वह किसी प्रकार राजकुमारी के पास जाने लगा। राजकुमारी को बडी प्रसन्नता हुई। वह उसकी पूजा करने लगी। ऐसे कई दिन हो गये। किसी ने राजा को समाचार दिया, राजकुमारी किसी से बात करती है। छिपकर राजा ने देखा। वे हाथ में नग्न खड्ग लेकर गये। जब उन्होने देखा अवश्य कोई है, तो वे क्रोध मे भरकर गये। राजकुमार डर के कारण काँपने लगा। वह सर्वात्मभाव से भय के कारण भव-भयहारी भगवान् की विनय करने लगा। उसका ऐसा चित्त एकाग्र हुआ कि वह निर्जीव गरुड सजीव होकर उसे लेकर उड गया। वेष तो उसका बनावटी ही था, किन्तु भगवान् का वेष था, उसके साथ भगवान् का साम्य सम्बन्ध था, अतः अपने वेष की लाज रखने को भगवान् ने उसकी रक्षा की। दैत्य भगवान् को शत्रु समझकर क्रोध-पूर्वक उनका स्मरण करते हैं, उनसे युद्ध करते हैं। किसी भाव से सही, कैसे भी

सही, उनका सम्बन्ध तो भगवान् से है। भगवान् उसी सम्बन्ध से उन्हें तार देते हैं, उनके क्रोध, दुर्गुण तथा माया की ओर ध्यान नहीं देते।

सूतजी कहते है—"मुनियो! पूतना जीवितावस्था में तो बड़ी सुन्दरी वहू बनकर आयी थी। मरने पर वह बडी विकराल हो गयी। उसका शरीर भूत की भाँति, कामवासना की भाँति, लोभी-की धन इच्छा की भाँति तथा रुई में लगी अग्नि की भाँति बढ़ने लगा। जीवितावस्था में तो उसने सहस्रों बालकों को मारा ही था, मरते समय गिरते-गिरते भी उसने लाखों वृक्षों को चकनाचूर कर डाला, उसका शरीर इतना बढा कि छः कोश के जितने वृक्ष थे, सब चकनाचूर कर दिये। लोग देखकर परम आश्चर्य मे रह गये, कि राक्षसी का शरीर छै कोश लम्बा हो गया और उसके शरीर के नीचे जितने भी वृक्ष दबे, वे सब कुचल गए, टुकड़े-टुकड़े हो गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! गोकुलजी से मथुराजी तो दो कोश भी नही है, तब तो मथुरापुरी भी चकनाचूर हो हो गयी होगी यमुनाजी का प्रवाह भी रुक गया होगा?"

इस पर हँसकर सूतजी बोले— 'अजी, महाराज! भगवान् के द्वारा भला इतनी भूल कैसे हो सकती है। गोकुल से मथुरा है उत्तर की ओर, जिसका भगवान् ने दूध पिया, जिसे माता बनाया, मरते समय उसका मुख उत्तर की ओर कैसे करते? तब उसकी सद्गति कैसे होती। भगवान् ने उसे दक्षिण की ओर-दाऊजी की ओर-मुंह करके फेंका। उधर कंस का छः कोश का एक सुन्दर बगीचा था। उसी का लाठी उसी का सिर; उस बगीचे मे फेंका कि मामा का इतना घना बाग गुल्ली डडा खेलने का स्वच्छ स्थान हो गया।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा जब वह मथुरा की ओर नही फेंकी गयी, तो मथुरा से लौटते समय नन्दादि गोपो को उसका मृतक शरीर मार्ग मे कैसे मिला।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! सिर ही तो उसका दक्षिण पूर्व के बीच मे गिरा; पैर तो उत्तर की ही ओर गिरे थे। ज्यो ही नन्दादि गोप यमुनाजी को पार करके आये, कि पहाड सी पडी वह पूतना दिखायी दी।'

शौनकजी ने कहा—"अब सूतजी! क्या कहे छ. कोश लम्बी लुगाई तो हमने कभी देखी नही। आप शास्त्रीय बात कह रहे हैं, उसे काट भी नही सकते।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! वह साधारण लुगाई थोडे ही थी, राक्षसी थी। माया से मेहरारू बन गयी थी। उसका मुख ऐसा था मानो पाताल का बडा भारी विवर हो। उसकी दाँढें ऐसी थी, मानो हलकी फालें हो। नासिका ऐसी थी मानो सुमेरु पर्वत के शिविर मे दो बडी-बडी गुफाएं हो। उसके दोनो स्तन ऐसे थे, मानो अजन पर्वत के दो टुकडे पडे हो। उसके कडे-कडे लाल-लाल, बिखरे हुए बाल ऐसे लगत थे, मानो मकई की भुट्टियो मे से बहुत-सा सूत निकालकर किसी ऊँचे पर्वत पर बिखेर दिया हो। उसकी आँख ऐसी लगती थी, मानो दो बिना जल के अधे कूएं हो। तीन कोश लम्बी-लम्बी जघाएं ऐसी लगती थी, मानो महानदी के दोनो शरद कालीन तट हो। उन जघाओ के नीचे के घुटने और पैर तथा उनके ऊपर पडे हुए दोनो हाथ ऐसे लगते थे, मानो नदी के ऊपर किसी ने पीपो का ऊँचा नीचा पुल बाँध दिया हो। बडा भारी लम्बा चौडा पेट जो मरने के कारण पिचक गया था, सूखे सरोवर के समान दिखायी देता था।"

पूतना के ऐसे भयकर शरीर को देखकर समस्त गोप गोपी-

गण भय के कारण थर-थर काँपने लगे। सब आश्चर्य चकित होकर इधर-उधर रहस्यभरी दृष्टि से परस्पर मे एक दूसरे को निहारने लगे। वे ऐसे डर गये थे, कि सहसा उनके मुखसे कोई शब्द नही निकलता था। जब भगवान् उसके प्राणो को पय के साथ मिलाकर पी रहे थे, तब उसने महान् चीत्कार किया। उसके उस कर्ण कटु अत्यन्त भयकर चीत्कार से समस्त व्रजवासियो के हृदय प्रथम ही व्यथित हो गये थे सबके कान सुन्न पड गये थे। मस्तिष्क मे चक्कर-से आने लगे थे, अब इसके अद्भुत भयकर रूप को देखकर तो उनका रहा सहा धय भी छूट गया।

और सब तो भयभीत हो रहे थे किन्तु बालकृष्ण उसके वक्ष स्थल पर निर्भय हुए पडे थे। उनका मुख उसकी चूची मे लगा था। वे हाथो को फटफटाकर ऐसे खेल रहे थे, मानो—मामा के भेजे खिलौने से खेल रहे हो। अपने पुत्र को विपत्ति के मुख मे देखकर कितनी भी भारी विपत्ति क्यो न हो, मातृ-हृदय नही मानता, उससे नही रहा जाता। विपत्ति के सिर पर पैर रखकर माता अपनी सन्तान की रक्षा करती है। यशोदा मैया ने जब देखा, यह दूध पिलाने वाली राँड तो कोई राक्षसी निकली, तब तो वे बालक को उठाने के लिए दौडी। रोहिणी मैया को भी तब तक चेत हो गया था, वे भी नंदरानी को दौडते देखकर राक्षसी की ओर दौडी। घर की दासियो से भी न रहा गया, वे दोनो माताओ से आगे दौडकर राक्षसी की छाती पर चढ गयीं और लालजी को उठाकर मुट्ठी बाँधकर उसी प्रकार भागी जैसे कोई जलती अग्नि मे से बच्चे को निकाल कर भागती है।

आकर गोपियो ने लालजी को माताजी की गोद मे दिया। लालजी को गोद मे सभी का भय जाता रहा, क्योकि प्रभु तो अभयदाता ठहरे। उन्हे अपना भय तो रहा नही, बालक के

विषय में उन्हे भय बना ही रहा। न जाने बच्चे को क्या हो गया ? इस राक्षसी ने न जाने क्या जादू टोना कर दिया ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जो विश्व ब्रह्माण्डों की रक्षा करते है, उन विश्वम्भर की गोकुल की गोपिकाएँ गोपुच्छादि से रक्षा करने लगीं।"

छप्पय

छातीपै प्रभु परे प्रेमतौं करत किलोलें।
मामा भेज्यो बँध्यो खिलौना मानों खोलें॥
नहिँ भय नहिँ कछु रोप सरकि इततौं उत आवें।
भैया हाहाकार करे गोपी घबरावे॥
भई रोहिणी विकल अति, गिरी लिये बलरामकूँ।
झपटि एक गोपी तुरत, ले आई घनश्यामकूँ॥

जगरक्षक की गोपियों द्वारा रक्षा

[८५८]

अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तव जान्वथोरू,
यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः ।
हृत् केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठम्,
विष्णुर्भुज मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम् ॥*

(श्री भग० १० स्क० ६ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

धरि धीरज गो-पूँछ लाल अग-अँग घुमाई ।
द्वादश गोबर तिलक करे गोरज लिपटाई ॥
करिकर अङ्गन्यास नाम पढि मत्र उचारें ।
पद अज रक्षा करें जानु मणिमान सम्हारें ॥
यज्ञपुरुष उरु उभय की, कटि अच्युत केशव हृदय ।
हयग्रीव प्रभु उदर की, ईश होहिं हियपै सदय ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकाएँ बालकृष्ण की रक्षा करती हुई कह रही हैं—' अज भगवान् तेरे चरणो की रक्षा करें, मणिमान् जानुओ की यज्ञ पुरुष ऊरुओं की, अच्युत कटि की, हयग्रीव उदर की, केशव हृदय की, ईश वक्षःस्थल की, सूर्य कण्ठ की, विष्णु भुजाओं की, उरुक्रम मुख की और ईश्वर तेरे सिर की रक्षा करें ।'

एक संत थे; उनके पास एक जिज्ञासु गया, उसने पूछा—"संतजी ! भगवान् को कैसे पावें ?" संतजी ईख की पौध को एक ओर से उठा-उठाकर दूसरे खेत में लगा रहे थे; उन्होंने सरलता से कहा—"भगवान् को पाने में क्या प्रयास ? मन को इधर से पट्ट करके उधर रखो, जो मन अब तक स्त्री, पुत्र, पति, मित्र, सखा, स्वामी आदि में लगा, उसे ज्यों का त्यों उठाकर भगवान् में लगा दो ।"

बात बड़ी सुन्दर है किन्तु संतजी को जितनी सरल दिखायी देती है, उतनी हम साधारण जीवों के लिए सरल है नहीं। भगवान् का रूप तो हमने देखा नहीं, भगवान् के स्पर्श का तो हमने अनुभव किया नहीं। संसारी रूप को हमने देखा है, उसमें हमारा मन फँस गया है, स्त्री, पुत्र के स्पर्श सुख का हमने अनुभव किया है। मन उसमें इतना आसक्त हो गया है, कि वह भगवान् की कल्पना ही नहीं कर सकता। ठीक जितना हम अपने पुत्र से प्यार करते हैं, उतना ही भगवान् से करने लगें, तो बेड़ा पार है। संसार सौन्दर्य में तो हमारे नेत्र गड़ जाते हैं, किन्तु भगवद्-विग्रहों के दर्शन करके हृदय द्रवित नहीं होता। किसी प्रकार जैसे तैसे भगवान् में किसी सम्बन्ध से उनके किसी रूप में संसार की ही भाँति आसक्ति हो जाय तो भगवान् वैसे ही बन जाते हैं। ज्ञानी लोग योगी-गण कहते हैं, भगवान् सर्वगत हैं, सर्वव्यापक हैं, ईश्वर हैं, किन्तु सर्वव्यापक के दर्शन इन चर्मचक्षुओं से होते नहीं, उनके लिए दिव्य चक्षु चाहिए। दिव्य देह चाहिए। इस प्राकृत देह में उसके प्रति प्रेम हो जाय, यह ऐश्वर्य से नहीं हो सकता। माधुर्य के द्वारा ही इसका अनुभव होता है। ऐश्वर्य में निर्मुक्त प्रेम होता नहीं, उसमें भय बना रहता है। हृदय खोलकर प्रेम नहीं कर सकते। छाती से छाती सटाकर अपने प्रेमास्पद से

नही मिल सकते। माधुर्य मे सब कुछ हो सकता है। रागानुगा जो भक्ति है, जो भगवान् से कोई सम्बन्ध स्थापित करके की जाती है, उसमें ऐश्वर्य का अभाव रहता है। कृष्ण हमारे सम्बन्धी हैं। उनमे हमारा यह सम्बन्ध है, इस सुख की कल्पना वही कर सकता है जिसका उस रस मे प्रवेश हो। वहाँ ऐश्वर्य की गन्ध भी नही, कि ये सर्वेश्वर हैं, लक्ष्मी के पति हैं, इन्हे हम क्या दे सकते हैं। नही, माधुर्य मे वे लाल्य होते है वात्सल्य रस मे श्रीकृष्ण की सब प्रकार से रक्षा करनी पडती है। एक कथा है—एक बुढिया का गोपालजी मे वात्सल्य भाव था। वह गोपालजी को अपना बच्चा मानती थी, कुछ दिनो मे साधना करते-करते गोपाल जी उससे बातें करने लगे, और इधर-उधर आँगन मे घुटुओ चलने लगे। बुढिया दिन भर उन्ही की देख-रेख मे लगी रहती। मेरा लाला बडा चञ्चल है कही बरोसी की आग मे हाथ न देदे कही इधर-उधर न चला जाय। वह गौ भी दुहती तो लाला के लिये, जो भी करती लाला के निमित्त ही करती। एक दिन उसने सुना—"गाँव मे भेडिया आ गया है।" बुढिया बडी भयभीत हुई, उसने सोचा—'ऐसा न हो, भेडिया मेरे लाला को उठा ले जाय। वह अत्यन्त निर्धन थी, घर टूटा-फूटा था, उसे भय लगा कही मेरी फूटी दीवाल से भेडिया न आ जाय। इसलिये रात्रि भर न सोती। डन्डा लिये बैठी रहती।

भगवान् ने सोचा—'यह तो बुढिया पर बडी विपत्ति आयी।" रात्रि में वे चतुर्भुज रूप बनाकर आये और किवाडें खटखटायी और बोले—"बुढिया! माँ! किवाड खोल।"

बुढिया ने कहा—"तू कौन है?"

भगवान् ने कहा—"मैं विष्णु हूँ, तुझे वर देने आया हूँ।"

बुढिया ने कहा—"मुझे विष्णु फिष्णु से क्या लेना। सम्भव है तू भेडिया ही हो, मेरे लाला को ही उठा ले जाय। मैं किवाड नही खोलती।"

भगवान् ने बहुत समझाया बुझाया, बुढिया ने किवाड खोली। चतुर्भुज रूप से भगवान् ने दर्शन दिये और वर माँगने को कहा।

बुढिया ने कहा—"यदि तुममे सचमुच वर देने की सामर्थ्य है, तो यही वर द, कि मेरे लाला को भेडिया न उठा ले जाय।" यह सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "अरी, माँ भेडिया अब कहाँ है, वह तो भाग गया।" तब बुढिया को सन्तोष हुआ। यही शुद्ध माधुर्य भाव की उपासना है। जो विश्व की रक्षा करने वाला है, उसकी कुत्ता बिल्ली से, भूत प्रेत से रक्षा करने के लिये व्यग्र रहना यही वात्सल्य भाव की पराकाष्ठा है, व्रज के अतिरिक्त इस भाव की उपलब्धि अन्यत्र कठिन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब पूतना मरकर धडाम से धरती पर गिर गयी, तो उसके शब्द से ही गोप गोपी-गण मूर्छित से हो गये। माता रोहणी बालक को पकडने के लिये दौडी, किन्तु वे प्रेम मे विह्वल होकर मार्ग मे ही गिर गयी। यशोदा जी भी दौड़ी, तब तक ही किसी गोपी ने दौडकर लालजी को उठा कर यशोदा मैया की गोद मे दे दिया। लालजी नेत्र बन्द किये हुए थे। दोनो हाथो की मुट्ठी बांधे हुए थे, मानो वे पूतना मौसी से कुछ दान दक्षिणा अपनी मुट्ठी मे दबा लाये हो। अब तो पूतना को तो सब भूल गयी। मिलकर सब यशोदाजी के चारो ओर घिर आयी। यशोदा मैया रोहिणी जी, के समीप लालजी को लेकर पहुँची। लालजी का स्पर्श पाते ही, वे उठकर खड़ी हो गयी। लालजी को देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नही रहा।

गोपियाँ वात्सल्य भावो मे भोगी हुई बालकृष्ण की रक्षा करने के विषय मे भाँति-भाँति की चर्चा कर रही थी। कोई कहती—'यह चुडैल है चुडैल। कोई भूतनी बताती, कोई डाँकिनी, साकिनी, राक्षसी, यातुधानी तथा अन्यान्य बालघातनी ग्रहो के नाम लेती। कोई कहती—'मोर पख का झाडा दो, कोई नीम के पत्तो का झाडा बताती। कोई स्याना बुलाने को कहती कोई भूत प्रेत उतारने वाले को बुलवाने पर बल देती। इतने मे ही एक बूढी-सी गोपी ने कहा—"हमारे यहाँ भूत प्रेत का उपद्रव कैसे हो सकता है। हम सब तो वैष्णव हैं, श्रीमन्नारायण के उपासक हैं, गौएँ ही हमारी परम देवता है। जहाँ लोग अपने नित्य कर्मों मे भक्तो के भर्ता भगवान् के सुमधुर नामो का कीर्तन नही करते, उनके त्रैलोक्य पावन यश का गान नही करते, वही ऐसी राक्षसियो का बल बढता है। भगवान् का नाम गुण कीर्तन तथा श्रवण तो सभी प्रकार के भयो को दूर करने वाला है। उनके सम्मुख ये राक्षस राक्षसी क्या कर सकती हैं। गो की पूँछ का झारा दो, गोबर का तिलक लगाओ, माथे पर गोरज लगाओ। अगो मे भगवान् के नाम मन्त्रो को पढो सब ठीक हो जायगा।"

अत्यन्त दीनता के स्वर मे आँसू बहाते हुए यशोदा मैया ने उसी बुढिया गोपी से कहा—"चाचीजी! तुम ही बडी बूढी हो, मन्त्र तन्त्र झाड फूँक सब जानती हो। मेरे बच्चे का जैसा उचित समझो उपचार कर दो। तुम सब का बच्चा है, किसी प्रकार यह अच्छा हो जाय।"

बुढिया ने अपनी बात पर बल देकर कहा—"लाओ सब मिलकर करें। चलो, सब गौओ के गोष्ठ मे।" यह कहकर झुड की झुड गोपियाँ गोष्ठ मे पहुची। वहाँ उन्होने प्रथम सबसे

सीधी भाग्यवती श्यामा गौ की पूंछ से लालजी को झाडा। कई बार गौ-पूंछ को लालजी के समस्त अंगो पर घुमाया। फिर सुदर सुगंधित गोबर लेकर अगो पर लगाया, फिर गोमूत्र से स्नान कराया। फिर सब अग मे गौओ के खुर को रज लगायी। तदनन्तर ललाट मे कण्ठ मे, नाभि मे, हृदय मे, वाम और दक्षिण पार्श्व मे, मूर्धा मे, पीठ मे, दाये और बाये कान मे तथा दानो भुजाओ मे इन बारह स्थानो मे गोबर के तिलक लगाये। फिर सबने शुद्ध यमुनाजल से आचमन किया। फिर भगवान् के अज, मणिमान्, यज्ञपुरुष, अच्युत, हयग्रीव, केशव, ईश, सूय, विष्णु, उरुक्रम और ईश्वर इन ग्यारह बाज मन्त्रो से अपन अङ्गो में अङ्गन्यास तथा करन्यास किया। क्योंकि स्वयं देवता बनकर ही देवता का पूजन करना चाहिए। लालजी के अङ्गो मे भी इसी प्रकार बीजन्यास किया। फिर भगवान् का नाम लेकर उनके सब अङ्गो की रक्षा करने की प्रार्थना करने लगी। गोपियाँ भगवान् के नाम मत्रो को पढती हुई प्रत्येक अङ्ग पर हाथ रखकर प्रार्थना करने लगी। मेरे लालजी, तुम्हारे लाल-लाल कोमल-कोमल छोटे-छोटे चरणो की रक्षा अज भगवान् करें। तुम्हारे सुन्दर जानुओ की रक्षा मणिमान् भगवान् करें, उरुओ की यज्ञ-पुरुष करें, केहरि के सदृश कमनीय कटि की रक्षा अच्युत भगवान् करें, पीपर के पत्ते के सदृश सुन्दर उदर की रक्षा हयग्रीव भगवान् करें। तुम्हारे हृदय की रक्षा क्लेशहारी केशव प्रभु करें। वक्षःस्थल की देख-भाल ईश करें और कण्ठ की भगवान् सूर्यनारायण देव। भुजाओ को विष्णु भगवान् सुरक्षित रखें, उरुक्रम भगवान् तुम्हारे छोटे से बटुआ-से मुख की रक्षा करें, सिर की रक्षा ईश्वर करें, वे सिर मे पीडा न होने दें। लालजी! तुम्हारे आगे-आगे चक्र लेकर चलने वाले चक्री भगवान् रक्षा-

करते रहे। पीछे गदा को धारण किये हुए गदाधर भगवान् देख-भाल किया करें। कोई जगली जीव पीछे से मारने आवे तो गदा से उसका सिर तोड दे। तुम्हारे बायें पख बांडा की रक्षा धनुष धारण करने वाले भगवान् मधुसूदन करें तथा दायें पख वाड़े की रक्षा खड्ग धारण करने वाले अजन भगवान् करते रहें। चारो कोनो में शंखधारी उरुगाय भगवान् रक्षा करें।

मेरे प्यारे लालजी ऊपर से उपेन्द्र भगवान् तुम्हारी रक्षा करें, नीचे से अपने पखो को फटफटाते हुए गरुडजी तुम्हारी सार सम्हार करते रहे। पृथ्वी पर हल को धारण करने वाले हलधर भगवान् तुम्हारी रक्षा करें और सब ओर से परम पुरुष तुम्हारी पूर्णरीत्या सब संकटो से रक्षा करें। लालजी! तुम्हारी इन्द्रियो की रक्षा हृषीकेश भगवान् करते रहे, प्राणो का पालन नारायण भगवान् करें, चित्त की सार सम्हार श्वेतद्वीपपति भगवान् करे। मन की रेख-देख सदा योगेश्वर भगवान् करें। बुद्धि को रक्षा पश्निगर्भ भगवान् करें और अहङ्कार पर अपना अधिकार षडैश्वर्य सम्पन्न परमात्मा किय रहे। लालजी! जब तुम व्रज की वीथियो मे हम सब को सुख देते हुए कमनीय क्रीडाएं करो, तब तुम्हारी रक्षा गोविन्द भगवान् करे। जब मया थप-कियाँ दे देकर तुम्हे "आजा री, नीदरियाँ काल कटे तेरी मूडरिया" कह कहकर लोरी दे देकर सुलावें, तब सोते समय नीद मे तुम्हारी रक्षा माधव भगवान् करें। जब तुम "पाँ पाँ पैया, गुर की डलियाँ।" कहकर पाँ पाँ पैयाँ चलो, तो उस समय चलने के काल मे वैकुण्ठ भगवान् तुम्हारी रक्षा करें। जब तुम बैठो तब तुम्हारी रक्षा श्रीपति भगवान् करें। जब तुम मैया के हाथ से मम्मा करो—भोजन पाओ—तब समस्त क्रूरग्रहो को भयभीत

करने वाले यज्ञभुक भगवान् तुम्हारी रक्षा करें। यदि तुम पर किसी डाकिनी, साकिनी, यातुधानी, तथा कूष्माण्डा आदि बाल-घातिनी ग्रह चढ आयी हो अथवा कोई भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, विनायक, कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना आदि क्रूरग्रह चिपट गयी हो अथवा शरीर, इन्द्रिय और प्राणो का नाश करने वाले उन्माद, अपस्मार आदि कोई रोग तुम्हारे शरीर मे घुस गये हो, अथवा जो उत्पात स्वप्न मे दिखाई देते हैं, उनमे से किसी उत्पात ने तुम्हे घर दबाया हो या कोई वृद्ध-गण की ग्रह या बाल-गण की ग्रह कही से भागती हुई तुम्हारे शरीर मे चिपट गयी हो, तो वे सब भगवान् विष्णु का नाम उच्चारण करत ही तुरन्त नष्ट हो जायँ, तुम्हारे सुन्दर शरीर को छोडकर ये सभी ग्रह, उत्पात, रोग, शोक आदि यहाँ से चले जाय "विष्णवे नम, विष्णवे नम., विष्णवे नमः!" यह कहकर गोपियो ने तालियाँ बजायी और लालजी के मुख की ओर देखने लगी।

अपने ही नाम से अपनी रक्षा करते देखकर लालजी को हँसी आ गयी। वे अपने सुन्दर से बालचन्द्र मुख को फैलाकर हँस पडे। लालजी की हँसी को देखकर सभी के हृदय खिल उठे।

उसी बूढी गोपी ने यशोदा मैया से कहा— 'नंदरानी तुम लाला को अपना आँचल तो पिलाओ। बच्चा डर गया हो और फिर यदि दूध पीने लगे, तो समझना चाहिए, उसका डर भाग गया है। बच्चे क्षण भर मे डर जाते हैं, फिर क्षण भर मे उस बात को भूल जाते है।'

यह सुनकर माता ने शीघ्रता के साथ दूध से परिपूर्ण मातृ-स्नेह क भरे, अपने स्तन कचुकी से निकालकर लालजी के मुख मे दिया। स्तन पाते ही लालजी चुसुर चुसुर करके पीने लगे।

लालजी को दूध पीते देखकर गोपियों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे बड़े उल्लास के साथ मिलकर कीर्तन करने लगीं—

"श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब लालजी दूध पी चुके, तो माता ने जाकर गुदगुदी शया पर उन्हें सुला दिया और स्वयं उन्हें झुलाती हुई गीत गाने लगीं।"

छप्पय

सूर्य कण्ठ, भुज विष्णु, उरुक्रम मुख, सिर ईश्वर।
रक्षें चक्री अग्र, हलायुध बाहर भीतर॥
मधुसूदन अरु अर्जन करें रक्षा पार्श्वनिकी।
पृष्ठ गदाधर, परमपुरुष शं सबहिं दिशनिकी॥
कौणनिमहं उरुगाय प्रभु, हृषीकेष इन्द्रिय सकल।
श्वेतद्वीप पति चित्तकूं, योगेश्वर मनकूं प्रबल॥

पूतना की सद्गति

[८५९]

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना ।
जिघांसयापि हरये स्तन दत्त्वाऽऽपसद्गतिम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

अहङ्कार भगवान् बुद्धिकूँ पृश्निगर्भ प्रभु ।
क्रीड़ामहँ गोविन्द शयन रक्षें माधव विभु ॥
चलिवेमहँ वैकुण्ठ बैठिवेमहँ श श्रीपति ।
करँ यज्ञ भुक् अशन माँहिँ भयतें कमलापति ॥
सुनि रक्षा हरि हँसि गये, स्तन पीयो कीयो शयन ।
इत गोपनि मगमहँ लख्यो, पर्यो पूतना-भीम तन ॥

जो जिनका स्वभाव होता है वे उसे छोडना भी चाहे तो नही छोड सकते । पारस का स्वभाव है, लोहे को सोना बनाना, इच्छा से, अनिच्छा से, दिन मे रात मे, नया हो, पुराना हो, शुद्ध हो, अशुद्ध हो, कैसा भी क्यो न हो ससर्ग होते ही वह लोहे को

---

* श्री शुकदेवजी कहते है—'राजन ! देखिए, पूतना लोक के बालकों को मारने वाली थी, रक्त पीती थी तथा राक्षसी थी । उसने भगवान् को दूध पिलाया था, सो भी प्रेम से नही मारने की इच्छा से, इतने पर भी उसे सद्गति प्राप्त हुई ।"

सोना बना देगा। यदि बीच मे व्यवधान हुआ, तो पारस के समीप रहने पर भी उससे सटा रहने पर भी लोहा सुवर्ण न होगा।

अनावृत भाव से व्यवधान शून्य होकर उन्मुक्त भाव से परस्पर मे सट जाना चाहिए। एक तो अपने साधन द्वारा भगवान् की ओर बढते हैं। एक को भगवान् बल-पूर्वक अपनी ओर खीच लेते हैं। कैसे भी हो भगवान् से, काम से, क्रोध से, द्वेष से, भक्ति-भाव तथा सम्बन्ध से मन लग जाय, उनके समीप चला जाय, तो भगवान् न भी चाहे, तो भी उन्हे पार करना ही होगा। घाट पर नौका लिये मल्लाह खडा है। एक तो शुल्क देकर नौका मे बैठ जाते है, जिन पर पैसा नही हाता, वे अनुनय विनय करके दीनता दिखाकर केवट की कृपा पाकर बैठ जाते हैं। एक को केवर्त बल-पूर्वक बाँधकर खेल के लिए नौका मे डाल देता है। उसका तो काम ही पार करना है। अब वह उस नौका मे बँधे पड़े हुए को न भी चाहे तो भी पार तो ले जाना ही होगा। बीच मे तो छोड नही सकता। इसी प्रकार जो जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान, समाधि आदि कठिन साधनो द्वारा भगवान् को प्रसन्न करते है, वे भी ससार-सागर से पार होते है जो विद्या, बुद्धि, धन तथा अन्य-साधन न होने से दीन हीन है, साधन विहीन है, वे रोकर उनका नाम पुकारकर उनकी कृपा लाभ करके पार हो जाते है। कुछ ऐसे हैं, उनसे लडने आन हैं, तो भगवान् उन्हे अपने अस्त्रा स मार कर पार कर देते हैं पार तो सभी हो ही जायँगे, किन्तु पार जाने मे भी अन्तर है, किसी से प्रेम हो गया उसे अपना बना लिया, किसी को तरन-तारन बना दिया; किसी को पार करके छोड दिया। साराश यह है कि भगवान् के पास कैसे भी पहुँच जाओ, कैसे भी मन उनकी ओर खिच जाय, फिर कल्याण मे कोई सदेह नही।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर तो लालजी माता के स्तनो

को पान करके सुख-पूर्वक पलकिया पर सो गये। उधर नन्दजी अत्यन्त शीघ्रता के साथ शकित चित्त से नारायण का स्मरण करते हुए व्रज की ओर आ रहे थे। उन्हे वसुदेवजी की बात एक क्षण के लिए भी नही भूलती थी। ज्योही वे पार हुए, कि उन्हे पूतना का बडा भारी शरीर मरा पडा हुआ दिखायी दिया। देख कर सभी गोप चकित रह गये। अरे, यह तो कोई रांड, चुडैल दिखाई देती है। नन्दजी अत्यन्त आश्चर्य विस्मय और भय की भगी प्रदर्शित करत हुए गोपो से कहने लगे—"भैया! वसुदेवजी को हम नही जानते थे कि ये सिद्ध हैं। अब हमे विश्वास हो गया कि नि सदेह वसुदेवजी कोई साक्षात् ऋषि ही हैं। मनुष्य रूप रखकर भूमण्डल पर अवतीर्ण हुए हैं। उन्होने मथुरा मे बैठे ही बैठे उत्पात की बात बता दी। देखो, कोई चुडैल मेरे लाला के ऊपर आयी होगी। गोपो ने इसे मार दिया होगा, किन्तु इसके शरीर मे बाणो के घाव तो हैं ही नही। किसी और कारण स मर गया होगी। अब इसे यही पडी रहने दें?"

व्रजवासी तो भोरे होते ही है उनम से एक गोप बोला—'बाबा! देखा, सर्पणी मर भी जाती है, तो भी पश्चिम की वायु लगते ही जीवित हो जाती है। ऐसा न हो यह राक्षसी कही पुन. जीवित न हो जाय, मेरी सम्मति तो यह है, कि इस रांड के अङ्गो को काटकर जला दो। न रहे बांस न बाजे बांसुरी।"

नन्दजी ने कहा—'हाँ भैया! ऐसा ही करो। काष्ठ तो यह छ कोश मे टूटा पडा है, इसके अगो को काटो और चिताएं चुन-चुनकर उन पर इसके अङ्गो को रख दो।'

गोपा ने तुरन्त अपन पेड काटने के सैकडो कुल्हाडे निकाल और काटन लग। काटत समय सबको दिव्य चन्दन की सुगन्धि आने लगी। काटकर जब उसके अङ्गो को जलाया तो उसक जल

शरीर से जो धुंआ निकलता था, उसमें दिव्य अगुरु की-सी सुगंधि आती थी।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उस पापिनी के पापमय शरीर से जिसने लाखों बालकों को विष दिया है, असंख्यों प्राणियों के रक्त का पान किया है, उसमें अगुरु की दिव्य सुगन्धि कैसे निकली?"

सूतजी बोले—"महाराज! अब वह पापिनी कहाँ रही। पारस से स्पर्श होने पर भी लोहा फिर लोहा रह सकता है क्या? भगवन्! उसके जन्म जन्मान्तरों के समस्त पाप तो भगवान् के स्तन पान करने से ही तत्काल नष्ट हो गये। मरते समय हृदय में भगवान् की मनोमयी मूर्ति ही आजाय, सम्पूर्ण मूर्ति न भी आवे केवल उनके चरण कमलों की छाया ही दिखायी दे जाय, तो प्राणी संसार सागर से पार हो जाता है। मानोमयी मूर्ति की बात तो कौन कहे, जिसने मरते समय भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन किये, उनके छोटे छोटे नन्हे-नन्हे चरणों को अपने हृदय पर धारण किया, जिसकी चूँची को भगवान् ने अपने मुख में देकर पान किया, अपने अरुण पल्लव से भी कोमल करों से जिसके स्तन को पकड़कर दबाया, उसकी सद्गति होने में भी कुछ सन्देह किया जा सकता है क्या? मरते समय ही उसका देहाभिमानी जीव दिव्य चिन्मय सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो गया। उसी समय एक परम दिव्यमय विमान आया, वह सभी प्रकार की सुन्दर-सुन्दर साज-सामग्रियों से सजा सजाया था। उसमें बहुत से भगवत् पार्षद बैठे थे, उन्होंने बड़े आदर से पूतना को बिठाया और भगवद् धाम में ले गये। उसका जो पापमय शरीर बचा रह गया, उसमें अगुरुकी सुगन्ध उठना स्वभाविक ही था।"

अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी ने पूछा—"सूतजी पूतना ने ऐसा कौन-सा पुण्य किया था, जिसके कारण देवताओ के भी पूजनीय, लोकवन्द्य, भक्तो के हृदय मे निरन्तर विराजमान् रहने वाले भगवान् के चरण कमल मरते समय हृदय पर अवस्थित रहे।"

हँसकर सूतजी ने कहा—किसी पुण्य से ऐसा सौभाग्य थोड़े ही प्राप्त होता है, भगवान् मे भावना होने से ही ऐसा सुयोग मिलता है, भगवान् मे जो जैसी भावना करता है, भगवान् उसे वैसी गति अवश्य देते है।"

शौनकजी ने कहा—'भगवान् की इसमे स्तन-पान कराने की भावना कैसे हुई। इसे भगवान् के दर्शन कहाँ हुए ?"

सूतजी बोले—'महाराज ! जब भगवान् वामन रूप रखकर बलि के छलने के निमित्त उसके यज्ञ मे गये थे, तब उनका छोटा-सा सुन्दर सुकुमार सुगठित सुहावना शरीर बडा ही मनमोहक था। जो स्त्री उसे देखती वही अपने पुत्र की भाँति छाती से चिपटाने को अधीर हो उठती। उसी यज्ञ-मडप मे बलि पत्नी विंध्यावली के उदर से उत्पन्न एक रत्नमाला नाम की उनकी कन्या थी। छोटे से बौना वामन को देखकर उस युवती कन्या की इच्छा हुई, इन्हे मैं अपना स्तन पिलाऊँ। यद्यपि वह जानती नही थी, कि ये भगवान् है, वह तो उनके नन्हे-से सुकुमार रूप को ही देखकर रीझ गयी। मन मे जो सकल्प उठता है, वह कभी न कभी अवश्य पूर्ण होता है, फिर भगवान् के सम्बन्ध मे उठा सकल्प तो अवश्य ही पूरा होगा। भगवान् ने मन ही मन उसकी अभिलाषा जानकर उसके सकल्प को करने का निश्चय कर लिया।

जब वह छोटा-सा छोरा भूत की भाँति बढने लगा, तब तो वह बलि-कन्या रत्नमाला को बड़ा खोटा दिखायी दिया, उसे उस

पर बडा क्रोध आया, वह वामन बटु को मारने के लिए दौडी। असुर की पुत्री थी, बडी बलवती थी, उसे अभिमान था, मैं वामन को मारूंगी, किन्तु महाराज बलि तो बडे धर्मात्मा थे, उन्होने उसे डाँट दिया—'क्या करती है जिसको हमने देने का वचन दिया है, उसे अवश्य देंगे। चल, उधर बैठ।"

बेटी होकर बाप की बात कैसे टालती। वध से तो निवृत्त हो गयी किन्तु बालक को मारने का उनके ऊपर क्रोध करने का सकल्प तो उसका रह ही गया। चित्र खीचने वाले यन्त्र के सम्मुख तुम हँसते हुए खडे हो जाओ हँसता हुआ चित्र खिच जायगा। रोते हुए या क्रोध करते हुए खडे हो जाओ, वैसा खिच जायगा। भगवान् को बेटा बनाने का सकल्प करो, भगवान् बेटा बन जायेंगे, शत्रु बनाने का सकल्प हो शत्रु बन जायेंगे। रत्नमाला के इस सकल्प को भी श्रीहरि ने स्वीकार किया। यही बलिपुत्री रत्नमाला व्रज मे पूतना होकर प्रकट हुई। पूर्व जन्म की भावनाओ को पूरा करने के निमित्त भगवान् ने उसका स्तन भी पान किया और अपने मारने के लिये प्रयत्न भी कराया। अन्त मे सद्गति हो गयी।"

शौनकजी ने कहा—'सूतजी! हमने तो सुना है, भगवान् के दर्शन होने पर फिर जन्म नही होता, जब रत्नमाला ने जान मे अनजान मे भगवान् के दर्शन कर लिये तो फिर उसे ऐसी भयकर राक्षसी योनि क्यों प्राप्त हुई?"

सूतजी बोले—'हाँ, महाराज भगवान् के दर्शन होने पर फिर संसार चक्र नही रहता। फिर भी अवतार रूप मे साकार होकर जब भगवान् प्रकट होते हैं तो जिन-जिन को उनके दर्शन हो जाते हैं उनके कर्म-बन्धन तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु भगवान् को देखकर जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन भावों की पूर्ति

के लिये भगवान् एक दो या तीन शरीर देकर उन भावो की पूर्ति करते हैं उनकी मनोऽभिलाषाओ को पूर्ण करते हैं। उनके ये जन्म कर्म भागो को भोगने के लिये नही, किन्तु अपनी भावनानुसार भगवल्लीला आस्वादन के रस को भोगने के लिये होते है। बलि के सिर पर पैर रखकर उसे नापा था, किन्तु इन्द्र बनने की उनकी वासना थी, अगले मन्वन्तरो मे इन्द्र बनेंगे, फिर परम पद को प्राप्त होगे। दडकारण्य के ऋषियो न तो रघुनन्दन रूप मे श्री राघवेन्द्र को आशीर्वाद दिया, उनका आतिथ्य किया, फिर भी उनकी इच्छा उन्हें हृदय से सटाने का, उनके साथ रमण करने की थी इसलिये उन्हे गोपी शरीर देकर रमण कराया और अपनी नित्य लीला मे प्रवेश कराया। भगवान् तो वाञ्छाकल्पतरु हैं न ? वे तो सबकी समस्त इच्छाओ को पूर्ण करते हैं। जिन्हे आहार निद्रा मैथुनादि मे ही सुखानुभूति होती है, उन्हे वे ही देते हैं। कर्म के चक्र मे ही घुमाते है। भगवद्दर्शन होने पर कर्म बन्धन नही रहते।"

शौनक जी बोले—"हाँ, तो फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज उस राक्षसी के मृतक शरीर के धूँएं की दिव्य गन्ध को सूँघकर समस्त गोप परम विस्मित हुए। वे इस रहस्य को समझ ही न सके। नन्दजी का हृदय धक्-धक् कर रहा था। उन्हे पग-पग पर अपने प्यारे पुत्र के अनिष्ट की आशका दबा रही थी। गोकुल मे पहुँचते ही गोपो के मुख से पूतना के आगमन का, लालजी को दूध पिलाने का तथा उसके मरकर गिरने का समस्त समाचार सुना। सुनकर वे परम व्याकुल हुए। बिना हाथ पैर धाये ही वे भीतर अन्त.पुर मे दौडे गये। मेरा बच्चा कुशल-पूर्वक है, इससे उन्हे मन ही मन अत्यन्त प्रसन्नता हो रही थी, इतनी बडी पूतना कैसे मारी गयी, इससे उन्हे परम

विस्मय हो रहा था। इसी प्रकार के द्वेषी भाव मे भावित हुए वे घरमे घुस गये। लालजी एक पलकिया पर पढे झपकियाँ ले रहे थे। मैया उन्हे झुला रही थी, उनके मनोहर मुख कमल को अपलक भाव से निहार रही थी, कि सहसा व्रजराज ने जाकर बच्चे को पलकिया से उठा लिया। बार-बार उनके छोटे से गोल-गोल बटुआ-से गोल आरसी जैसे नन्हे-नन्हे कपोलो को चूमा। मृत्यु के मुख से बचे हुए अपने बच्चे को चूमते-चूमते वे अघाते नहीं थे। सहसा अपने प्राणनाथ को देखकर यशोदा मैया चौंक पडी। सिर नीचा करके उन्होने आंचल सम्हाला और लजाते हुए बोली—"महर! आप मथुरा से कब आये? यहाँ तो बडा अनर्थ होने वाला था। नारायण ने ही रक्षा की। नही तो आज हम कही के भी न रहते। युग-युग की साधना के अनन्तर जो हमने निधि पायी थी, वह आज छिनने वाली थी, तुम तो उदासीन ही रहते हो। यह कहकर नदरानी रो पडी और रोते-रोते व्रजराज के चरणो के निकट गिर पडी। एक हाथ से लालजी को सम्हालते हुए व्रजराज ने अपनी प्राणप्रिया को उठाया और अत्यन्त स्नेह से वे उनकी पीठ को थपथपाते हुए बोले—"महरि! हमारे तो सर्वस्व श्रीमन्नारायण ही हैं। वे ही सर्वत्र मगल करेंगे। हमारा क्या है, नारायण का यह बच्चा है। उन्होने ही दिया है वे ही सकटो से रक्षा करेंगे, पाल-पोसकर बडा करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् कितने दयालु हैं, पूतना राक्षसी थी, बनावटी माता का उसने वेष मात्र बना लिया था। उसके वेष पर ही रीझकर भगवान् ने उसे उत्तम गति प्रदान की, फिर जिन्होने उन सर्वेश्वर श्रीकृष्ण को सगी माता के समान अपना समस्त स्नेह बटोरकर श्रद्धा-भक्ति से उनकी निरापाही वस्तुएँ प्रदान कीं, उन गोपियो को वे कौन-सी गति देंगे। इस

विषय मे मेरी बुद्धि विमूढ-सी बन जाती है। देखिए, पूतना ने कोई सुकृत कर्म तो किया नही, छोटे-छोटे निरपराध बच्चो का वध ही तो किया था। उसने कोई भगवान् का भोग लगाकर उत्तम नैवेद्य खाया हो, सो भी बात नहीं, वह राक्षसी कच्चे रुधिर का पान करती थी। भगवान् को भी वह विष पान कराने ही आयी थी। स्तन-पान का तो उसने ढोग रचा था, किन्तु कैसे भी सही स्तन-पान तो कराया ही। इसी स्तन-पान के कारण उसे मुक्ति दी। दूध पीने के उपलक्ष मे उसे परम पद दिया। फिर जिनके स्तन का भगवान् ने पान किया, उन माताओ और गौओ के सम्बन्ध मे तो कहा ही क्या जा सकता है। क्या उनको फिर कभी अज्ञानजन्य ससार की प्राप्ति हो सकती है?"

शौनकजी बोले—'सूतजी! आपने यह पूतना मोक्ष की कथा तो बडी ही अद्भुत सुनायी। इसे सुनकर तो भगवान् की दयालुता भक्तवत्सलता शरणागत-प्रतिपालकता पर रोना आता है। अच्छा तो इस लीला श्रवण का माहात्म्य भी हमे सुना दीजिए।"

सूतजी बोले—"महाराज! जो पुरुष छोटे से मुनमुना सात दिन के बालकृष्ण की इस 'पूतना मोक्ष" नामक अद्भुत लीला का श्रद्धा भक्ति के साथ एकाग्रचित्त से श्रवण करेंगे, उनकी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र क चरणारविन्दो मे अविचल भक्ति होगी। उनके पादपद्मो मे प्रगाढ प्रेम होगा। इस विषय मे सदेह नही। मुनियो! इतनी कथा सुनकर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक चुप हो गये। भगवान् को चुप होते देखकर श्रीकृष्ण-लीला रस के रसिक महाराज परीक्षित् उनसे पुन: प्रश्न करने लगे। उन्होने जो प्रश्न किया उसे मैं आगे कहूँगा आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कृष्ण करनितैं मरी पूतना सद्गति पाई।
काटि कूटि सब अङ्ग गोप मिलि आँच लगाई॥
विष पिआइवे द्वेष भाववश दुष्टा आई।
दई धाय-गति श्याम बकी निज लोक पठाई॥
बकी परमगति की कथा, पढ़ें सुनें जे नेमतैं।
इह सुख भोगें अन्तमहँ, पाहिँ परमपद प्रेमतैं॥

लालजी का करवटन और जन्मनक्षत्रोत्सव

[८६०]

औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी,
समागतान् पूजयती व्रजौकसः ।
नैवाशृणोद् वै रुदितं सुतस्य सा,
रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥*

(श्रीभाग० १० स्क० ७ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

कहें करीक्षित्—प्रभो ! अपर हरि चरित सुनावें ।
भक्तनि सुख हित श्याम अवनिपै तनु धरि आवें ॥
बोले शुक सुनु भूप ! श्याम ने करवट लीन्हों ।
मैया अति मन मुदित बुलावो बज महँ दीन्हों ॥
आई गोपी चाव लै, सजी बजी सब आज हैं ।
जन्मोत्सव करवट-बदल, एक पन्थ द्वै काज हैं ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जन्म नक्षत्र के तथा करवट बदलने के उत्सव मे समागत व्रजवासी गोप-गोपियों का सत्कार करने में माता यशोदा तल्लीन थीं, उसी समय श्यामसुन्दर की आँखें खुली, वे स्तनपान के लिए रोने लगे । किन्तु धूम-धडाके मे मैया को लालजी का रोना सुनायी नहीं दिया, तब रोते-रोते श्याम ने पैर फटफटाये ।"

माताओ को अपनी सन्तान की शुभ कामना की अत्यधिक चिन्ता रहती है। मेरी सन्तान का मङ्गल हो इसके निमित्त वह जप, तप, पूजा, पाठ, देवता, पितर, भूत, प्रेत तथा सेट शीतला न जाने किन-किनका पूजन करती हैं, किन किनकी मनौती मनाती हैं ? कोई भी पहिला काम हो उसके लिए उत्सव करती है, प्रसूति गृह से बाहर होने का उत्सव प्रथम स्नान का उत्सव, प्रथम उवटन तैलमर्दन का उत्सव, घुट्टी पीने का उत्सव, करवट बदलने का उत्सव, अन्न प्राशन का उत्सव, उत्सव ही उत्सव है। बच्चे का मुख ही उत्सव है, उत्साह और मातृ स्नेह से ही तो माता के स्तनो मे दूध आता है, सन्तान के लिए माताओ को जो भी कुछ करने मे आनन्द आता है, उतना अपने शरीर के लिए करने मे आनन्द नही आता। सन्तान भीतर के हृदय का एक भाग है, वह तो बाहरी प्राण है। माता का सजीव हृदय और मूर्तिमान् उल्लास तथा साक्षात् प्रसन्नता सन्तान ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब पूतना की कथा और उसका फल स्तुति कहकर भगवान् व्यास-नन्दन शुकदेव मौन हो गये। तब हुंकार बडाकर महाराज परीक्षित् ने कहा—'क्यो भगवन् ! आप चुप क्यो हो गये ? भगवान् की बाललीला समाप्त हो गयी क्या ? प्रभो ! भगवान् की सभी लीलाएँ सुखद हैं, सभी कानो के लिये रसायन रूपा हैं। क्योकि भगवान् जो भी अवतार धारण करते हैं, उस अवतार मे जो जो भी लीलाएं करते हैं, वे सभी सुखप्रद होती हैं, क्योकि वे सच्चिदानन्द सुख स्वरूप हैं, उनकी सभी कथाएँ मन के लिए औषधि स्वरूप हैं।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—'राजन् ! भगवल्लीलाओ को आप मन के लिए औषधि कैसे कहते हैं ?"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"महाराज ! आप सब जानते हैं,

जान-बूझकर आप मुझसे ऐसा प्रश्न कर रहे हैं। अनेक जन्म की वासनाओ के कारण प्राणियो के हृदय पटल पर अज्ञान का एक परदा-सा पडा रहता है जिससे मन मतङ्ग अपने विशुद्ध धाम को भूलकर विषय तृष्णा-गहन-वन मे भटकता रहता है। श्रवण-सुखद भगवल्लीलाओ के श्रवण मात्र से चित्त का मल और उसी मल के कारण उत्पन्न होने वाली विषय-तृष्णा सर्वदा के लिए छिन्न-भिन्न हो जाती है। जब मन के ऊपर से माया मोह तथा अज्ञान का आवरण हट गया तो मन, बुद्धि, चित्त और अहकार ये चारों ही मन की वृत्तियाँ विशुद्ध बन जाती हैं। अज्ञान से आवृत अशुद्ध अन्त करण ही तो ससार की पुन. पुनः प्राप्ति करता रहता है। जब अज्ञान का आवरण हट गया, तो उस विशुद्ध अन्त.करण मे भगवद् भक्ति तथा भगवदीयो मे अनुरक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे परमात्मा के परम पवित्र विशुद्ध चरित्रो को यदि उचित समझें तो मुझे और भी सुनावें।"

श्री शुकदेवजी ने कहा—"राजन्! भगवल्लीलाओ का तो कोई अन्त नही। वे तो अनन्त है, उन्हे मैं कहाँ तक सुना सकता हूँ।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—'महाराज! आप जितनी भी सुना सकें, उतनी ही सुनावें। एक दो लीला सुनकर तो मेरी तृप्ति नही हुई। यही नही जैसे अत्यन्त भूखे को अत्यन्त स्वादिष्ट वस्तु के दो चार ग्रास दे दें, तो उनसे उसकी बुभुक्षा और भी अधिक जाग्रत होती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने मृत्युलोक में अवतीर्ण होकर मानवजातीय समस्त लीलाओ का अनुकरण किया। उनमें से जितनी आप सुना सकें उतनी परम अद्भुत बाललीलाएँ आप सुनावें, क्योंकि उनकी बाल लीलाएँ अत्यन्त

सरस तथा मनको मोहित करने वाली हैं ! उन्हीं का आप मेरे सम्मुख वर्णन करने की कृपा करें ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज उत्तरानन्दन परीक्षित् ने भगवान् शुक से इस प्रकार भगवान् की लीलाओं के सम्बन्ध मे उत्सुकता के साथ प्रश्न किया, तो वे शकट-भञ्जन प्रसङ्ग कहने लगे । वे बोले—"राजन् ! यशोदा मैया सदा लाल जी को अपने नेत्रों के ही सम्मुख रखती थी । जब से पूतना प्रसङ्ग घटित हुआ, तब से वे बड़ी शंकित होने लगी । एक दिन कृतिका नक्षत्र था, माता पलना मे लालजी को लिटाकर झुला रही थी और शनैः शनैः लोरियां गा रही थी । जिससे लालजी को सुख पूर्वक नींद आ जाय । उसी समय लालजी ने अपने आप करवट बदली । आज लालजी सत्ताईस दिन के हो गये थे । पहिले ही पहिल उन्होंने आज अपने आप करवट बदली थी । माता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा । उन्होंने वहीं बैठे ही बैठे रोहिणी जी को पुकारा "जीजी ! जीजी ! क्या कर रही हो ।"

जब से पूतना वाली घटना हो गयी है, तब से रोहणीजी का का चित्त भी सदा शंकित-सा बना रहता है । शीघ्रता मे नदरानी की वाणी सुनकर वे चौंक गयी । उन्होंने सोचा— 'राँड़ पूतना की कोई दूसरी सौति तो नहीं आ गयी । 'व दौडकर नन्दरानी जी के समीप आयी । अत्यन्त ही उल्लास के साथ यशोदा मैया न रोहिणीजी से कहा—"जीजी । बड़ी प्रसन्नता की बात है, आज तुम्हारे बच्चे ने अपने आप करवट बदली है ।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए रोहिणी जी ने कहा— "तब तो रानी ! उत्सव करना चाहिए । यह तो बड़े आनन्द की बात है ।"

यशोदा मैया तो यह चाहती ही थी, उन्होने कहा—"करो मुझसे क्या पूछना है। करने कराने वाली तो तुम्ही हो।"

अब क्या था; तुरन्त पंडितजी को बुलाया गया। पंडितजी बडी-सी पगडी बांधे अंगरखा पहिने दुपट्टा के छोर मे पोथी पत्रा बाँधे आये। नन्दराय ने पंडितजी के पैर छुए बैठने को आसन बिछाया। आशीर्वाद देकर पडितजी आसन पर बैठ गये। ५ सुवर्ण मुद्रा मैया ने पत्रा पर चढा कर कहा—'पडित जी! अभी लल्ला ने करवट ली है, इसका उत्सव कब मनाया जायगा। पत्रा में मुहूर्त देखो।"

पंडितजी ने पचङ्ग खोला। मेष, वृष गिनकर तथा अश्वनी भरणी गिनकर बोले—"अच्छा, कल तो लाला का जन्म नक्षत्र रोहिणी भी है। जन्म नक्षत्र का भी तो उत्सव मनाना ही है। करोटन और जन्मनक्षत्र-उत्सव कल साथ ही साथ मनाया जाय।"

यह सुनकर नन्दरानी बडी प्रसन्न हुई, वे बोली—'हाय! मैं तो भूल ही गयी थी, कल लाल का जन्म-नक्षत्र भी है। उसका भी तो उत्सव मनाना ही था। दोनो साथ ही मनावेंगे।" यह कहकर उन्होने तुरन्त नाइन को बुलाया और कहा—"जा, सब व्रज मे बुलावा दे आ, कल करोटन और जन्म-नक्षत्र उत्सव दोनो साथ ही मनाये जायंगे।"

यह सुनकर नाइनि घर-घर मे जाती और द्वार पर से ही चिल्लाती—'सुबल की माई! नन्दरानी के यहाँ कल करोटन का का बुलावा है।"

तब तक दूसरी चिल्लाती—"अरी काहे का बुलावा है?"

तब नाइन फिर कहती—"अरी, लालजी न आज अपने आप करवट लिया है, इसलिए राजभवन मे सबका भरा बुलावा है।' इस प्रकार सब व्रज मे बुलावा दिया गया। प्रातः काल से ही

चोटियो को गुहकर सज बजकर सोलहू श्रृंगार करके गोपियाँ नन्द-भवन की ओर छम्म-छम्म करती हुई, गीत गाती हुई, चावकी वस्तुएँ तथा कोमरी लेकर आने लगी। समस्त नन्द-भवन गोपियो से भर गया। आकर गोपियो ने ऊधम मचाना आरम्भ किया। कोई नाचती कोई गीत गाती कोई ढोलक मजीरा बजाती। स्त्रियो को गाने बजाने नाचने और भाँति-भाँति के मङ्गल कृत्य करने मे बडा आनन्द आता है। पडिता ने आकर मन्त्र पढे। दिव्यौषधि महौषधियो से लालजी को स्नान कराया, विधिवत् उनका अभिषेक किया। पूजन कराकर लालजी की मङ्गल-कामना के निमित्त मैया ने उनके हाथ से स्पर्श कराकर अन्न, वस्त्र, माला तथा बहुत-सी दुधार सूधी हाल की ब्यासी गौओ का दान किया। जिसने जिस वस्तु की इच्छा प्रकट की माता ने उसे वही वस्तु बडी उदारता के साथ प्रसन्न मन होकर प्रदान की।

छोटे बच्चो को स्नान करने के अनन्तर नीद आने लगती है। माता तो दान करा रही थीं, लालजी माता का स्थन पीते ही पीते उनकी गोद मे झपकियाँ लेने लगे। बच्चे को उनीदा देखकर माता ने कुछ देर उन्हे थपथपाया। जब देखा बच्चा सो गया है तो शनै-शनै उन्हे शैया पर लिटा दिया। लुगाइयो की अपार भीड थी, सब घर भरा था। घर के सम्मुख जो बहुत भारी पौरी थी उसमे एक बहुत बडा लढा खडा था। लढा को सस्कृत मे शकट कहते है। वह शकट बहुत बडा था १००।१०० मन बोझ उसमे ढोया जाता था। बडे-बडे बली आठ बल उसे खीचते थे। कुछ दिनो से नन्दजी ने उसे पौरी मे बाँध दिया था, वह एक प्रकार से पूरा घर-सा ही था, अतः उस पर सैकडो ऊँट के चर्म से बने कुप्पे घृत से भरे रखे थे। दूध, दही के भी पुराने-पुराने बडे बडे मिट्टी के माँट रखे थे। माता ने लालजी के लिए उसी के नीचे पलना

आत्म-विस्मृत बनी हुई हैं। अब मै इससे अधिक धूम धडक्का करूँ, तो य सब गाना बजाना तथा नाचना भूलकर मेरी ही ओर दौडी आवेंगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा विचारकर भगवान् इधर उधर देखने लगे। माना धूम धडक्का मचाने का विधान बना रहे हो।'

छप्पय

द्विजनि दीन अरु दुखिनि दान दिनभर करवायो।
बुलवाये बहु विप्र महरि अभिषेक करायो॥
पीवत पीवत दूध लालकूँ निंदिया आई।
छकरा नीचे सुघर पलकिया मातु बिछाई॥
हौलें हौलें जाइके, मातु सुवाये श्याम तहँ।
भईं लीन सत्कारमहँ, गोपी उत्सव करहिं जहँ॥

शकट-भञ्जन-प्रसङ्ग

[८६१]

अधः शयानस्य शिशोरनोऽल्पक-
प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत ।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनम्,
व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥❀
(श्री भग० १० स्क० ७ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

खुली लाल की आँखि मातु तहँ नाहिं निहारी ।
रोये बालक बने साम जनु ऋचा उचारी ॥
हू हल्लामहँ फँसी सुनि नहिं माता बानी ।
धूम धड़ाको करूँ लालने मनमहँ ठानी ॥
नव पल्लव सम मधुर पग, लखि छकरा सूधे करे ।
छुवत भाँड रस घट शकट, अड़ड़धम्म करिके गिरे ॥

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! शिशु श्याम शकट के नीचे पलकिया पर पौढ़े हुए थे । उनका छोटा-सा मृदुल पल्लव के सदृश सुकोमल चरण शकट में लगा, लगते ही वह शकट उलट गया । दूध, दही आदि विविध भाँति के रसों से भरे हुए कुप्पे जो उसमें रखे थे, वे उसके उलटने से फूट गये । उसके पहिये धुरे के ऊपर हो गये तथा उसका जूआ भी टूट गया ।"

लोगो का ध्यान आकर्षित करने के लिए लोग विविध भाँति के उपाय करते हैं। बहुत से भीड एकत्रित करने को लडने लगते हैं। कोई ऐसी अद्भुत आश्चर्य की बात कहकर मनुष्यो के मन का अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कोई विस्मयोत्पादक अद्भुत घटना घटाकर सबका मन उस घटना की ओर बलात् लगाते हैं। अत्यन्त हर्षयुक्त अत्यन्त भयकर, अपूर्व तथा विस्मयोत्पादक घटना को देखकर सबका मन उस देखने को लालायित हो उठता है। सब उसका कारण जानने के लिए समुत्सुक बन जाते हैं। सभी अपने अपने कार्यों को छोडकर उस ओर दौड जाते है। बडे प्रभावशालियो के सम्मुख छोटे प्रभावशालियो का प्रभाव दब जाता है बडे दुख के आगे छोटा दुख भूल जाता है, इसी प्रकार बडी ध्वनि के सम्मुख उससे छोटी ध्वनियाँ उसी मे विलीन हो जाती है उस समय उन छोटियो का कोइ महत्व नही रह जाता। वे बडी ध्वनि मे समा जाती है। एक व्यक्ति ने एक छोटी लकीर खीच कर कहा— इसे बिना मेटे या बढाये छोटी कर दो।'

वह आदमी बडी चिन्ता मे पडा, बिना मेटे यह छोटी कैसे हो सकता है। अपनी कठिनता उसने एक बुद्धिमान् से कही। बुद्धिमान् पडित ने कहा—"एक काम करो इस रेखा के ऊपर एक इससे बडी रेखा खीच दो, यह अपने आप छोटी हो जायगी।"

सूतजी कहते हैं— मुनियो! छकडाके नीचे पलकिया पर पडे ही पडे श्यामसुन्दर ने उस इतने भारी शकट के ऊपर दृष्टि डाली। उन्होने सोचा—' इस शकट को ही उलट दूँ, इससे इतना बडा शब्द होगा, कि माता ही नही सब गोपियाँ दौडी दौडी मेरे पास आवेंगी।"

यह सोचकर उन्होने अपने कुसुम से भी कोमल, वट पीपल

के नव पल्लव से भी सुचिक्कन सुन्दर रक्तवर्ण का अपना नन्हा-सा सुन्दर चरण को जिसकी पाँचो उँगलियो के नख मणि खन्डो के सदृश चमक रहे हैं, उसे शकट मे छुआ दिया। चरण के लगते ही छकडा सहसा अडडड़धम्म करके उलट गया। उसके ऊपर जो दूध, दही, घी के वर्तन रखे थे, वे सव फूट गये घी वहने लगा। मक्खन के लौदे लुढकने लगे, दही छितरा गया। दूध नालियो मे जाकर वहने लगा। उस शब्द से दशो दिशाएँ गूँज उठी। व्रज मडल मे कोलाहल मच गया। उत्सव में आयी स्त्रियाँ इधर-उधर भागने लगीं। किसी ने समझा वज्र गिरा है, किसी ने समझा बिजली गिरी है, किसी ने सोचा प्रलय होने वाला है। स्त्रियो में भगदड मच गयी, एक दूसरी को ठेल कर घर मे भागने लगी। बुढियाँ पिच गयी, सवको अपने अपने प्राणो की परी थी, किन्तु यशोदा मैया का चित्त तो अपने श्याम सुन्दर मे लगा था। इन्होने इधर-उधर किसी ओर न देखा। वे तीर की भाँति दौडकर शकट की ओर गयी। नन्दरानी को दौडते देखकर दास दासियाँ भी उधर ही चली। रोहणी मैया भी उधर ही भागी। सवको उधर भागते देखकर और भी व्रजाङ्गनाएँ उधर ही चली।

वहाँ जाकर माता ने तथा अन्य व्रजाङ्गनाओ ने जो कुछ देखा, उसे देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। सव ने देखा, दूध, दही, घृत तथा मक्खन आदि के कुप्पे और भाड फूटे पडे है। गाडा उलटा पडा है, उसके पहिये धुरे से निकल कर इधर-उधर टूटे फूटे पडे हैं। धुरा अस्त व्यस्त हो गया है, जुआ फट कर कही पड़ा है। लालजी पालने मे पडे हाथ पैर फटफटाते हुए ह्वाउ ह्वाउ करके रो रहे हैं। माता ने दौड़-कर तुरन्त बच्चे को उठाकर छाती से चिपटा लिया। मेरा

बच्चा कुशल-पूर्वक है, इसकी स्मृति मात्र से ही उन्हें परम सुख हुआ इतने मे ही नन्दजी बहुत से गोपो को लिये हुए दौड़े आये। गोपो को आते देखकर गोपियाँ एक ओर हट गयी। बहुओं ने घूँघट मार लिये। बूढी-बूढ़ी गोपयाँ अपने युवक पुत्रों और भतीजों से कहने लगी—'लल्ला यह क्या हुआ ? इतना बडा छकड़ा उलट कैसे गया ? आपसे आप तो यह उलट नही सकता।"

इस पर गोप कहते—"चाची ! हमारी बुद्धि मे भी यह बात नही बैठती " कोई नन्दराय से ही पूछती—"बाबा ! तुम बड़े बूढ़े हो तुम ही बताओ बिना आँधी पानी के यह छकड़ा उलट कैसे गया ?"

नन्दजी भी अत्यन्त चकित और विस्मित हुए गोपो की ओर देखते हुए कहने लगे—"इस विचित्र अद्भुत व्यापार का कारण मेरी भी बुद्धि मे नही आता। इस प्रकार सभी आश्चर्य चकित होकर सोचने लगे, किन्तु कोई भी इसके उलटने के कारण को निश्चित न कर सका।

वहाँ जो बच्चे खेल रहे थे, उनसे उनकी माताओं ने पूछा—गोपो ने भी उन्हे गोद मे लेकर प्यार से पूछा—"तुम बताओ भैया ! यह छकडा कैसे उलट गया।"

इस पर सभी बालकों ने एक स्वर मे यही बात कही—"हम यहाँ खेल रहे थे, हमारे देखते देखते इस कृष्ण ने ही रोते-रोते अपने चरणो से उसे उलट दिया।"

माताएँ कहती—"अरे, हट ! इतना छोटा बच्चा, इतने बड़े छकड़े को कैसे उलट सकता है ?"

लड़के कहते—"तेरी सूँ अम्मा ! हमने अपनी आँखो देखा है, इसी ने पलटा है इसमे रंचक मात्र भी सदेह नही है।"

गोप गोपियो को भला इस असंभव बात पर विश्वास कैसे

हो सकता था। वे सब तो माधुर्य के उपासक हैं, श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य प्रभाव से तो वे अब तक अनभिज्ञ ही हैं। बार-बार बालकों के शपथ खाने पर भी उन्होने बालकों की बात पर विश्वास नहीं किया। यही कहकर बात टाल दी, कि ये तो बच्चे हैं। ऐसे ही बिना सोचे समझे कह देते हैं।

यशोदाजी ने कहा—"कैसे भी उलट गया हो, यही नारायण-की बडी कृपा है, कि बच्चे का बाल भी बाका नही हुआ। नही तो शकट उलटने पर क्या-क्या अनर्थ हो सकते थे।" यह कहकर उन्होने तुरन्त ब्राह्मणों को बुलाया। किसी ग्रह का उत्पात न हो, इस आशंका से ब्राह्मणों मे वेद मन्त्रो द्वारा शान्ति पाठ कराया। दान दक्षिणा दी, फिर किसी बूढ़ी गोपी ने कहा—"रानी! लाला के मुंह में आंचल तो दो यदि बच्चा दूध पीने लगे, तो समझ लो बच्चे का भय दूर हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बच्चे को तो कोई भय था ही नही वह तो भय को भी भयभीत करने वाला बालक था। माता के स्तन देते ही चुसुर-चुसुर करके दूध पीने लगे। तब माता का चित्त ठिकाने आया।"

नंदजी ने बड़े बली-बली सैकडों गोप बुलाये, उन सबसे उठवा कर छकड़े को फिर जैसे वह रखा था, वैसे ही रख दिया। जो पात्र फूट गये थे, उन्हे तो फेंक दिया, जो साबित थे, उन्हे फिर उसी पर रख दिया। लालजी को पालने में माता ने दूध पिलाकर सुला दिया।

नन्दजी ने कहा "अरे, भैया ओ! आज हमारे लाला का पुनर्जन्म हुआ है, कुछ उत्सव मनाओ। दान पुण्य करो।" यह कहकर उन्होने ब्राह्मणों को बुलवाया। ब्राह्मणो ने आकर शांति होम किया। दधि, अक्षत तथा कुशोदक से पूजन किया।

नन्दजी लालजी को स्वय गोदी मे लेकर ब्राह्मणो के आगे बैठ गये। ब्राह्मणो ने ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के मत्रो द्वारा सस्कृत एव पवित्र औषधियो से मिले हुए जल से लालजी का अभिषेक किया। तदन्तर एकाग्र चित्त से स्वस्तिवाचन पाठ किया। नन्दजी ने भी ब्राह्मणो को कुरुकुरे भुरभुरे, लुचलुचे घृत मे बने विविध प्रकार के स्वादिष्ट व्यञ्जनो से भोजन कराया। यथेष्ट स्वादिष्ट भोजन करने के अनन्तर ब्राह्मणो ने पेट पर हाथ फेरते हुए, लम्बी डकार छोडते हुए आशीर्वाद दिये—"नन्दराय! तुम्हारे बेटे के गुणो का गान ससार मे सदा गाया जाय। इसका नाम अजर अमर हो। यह सदा साधुओ को सुख देने वाला हो।"

नदजी ने सिर झुकाकर ब्राह्मणो के अमोघ आशीर्वाद को भक्तिभाव से ग्रहण किया और उन्हें भोजन के अनन्तर दक्षिणा मे चित्र विचित्र वस्त्र और सुवर्ण मालाओ से विभूषित बहुत-सी सर्वगुणसम्पन्न गौएं उनको दी। इस पर किसी गोप ने कहा—"बाबा! तनिक सी बात पर आपने यह इतना दान धर्म क्यो किया?

नन्दजी ने कहा—'अरे भैया! इन सुवर्ण चाँदी के ठीकरो का मूल्य ही क्या है। हमारे लाल का अभ्युदय हो, इसके लिए हम सब कुछ कर सकते हैं। ब्राह्मणो के आशीर्वाद मिलें इससे बढकर और क्या लाभ हो सकता है?"

उसी तार्किक गोप ने कहा—'ब्राह्मणो के आशीर्वाद से क्या होता है, बहुत से ब्राह्मण तो बिना पढे लिखे वैसे ही दान लेने को मारे-मारे फिरते है।"

नन्दजी ने कहा—"कैसे भी फिरे, वे हैं तो ब्राह्मण ही। दूध न भी दे तो बाँझ गौ भी गौ ही कहलाती है। किन्तु जो असूया मिथ्या भाषण, दम्भ, ईर्ष्या, हिंसा और मान से रहित

विशुद्ध ब्राह्मण हैं, उन सत्यशील ब्राह्मणों का आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता। इसलिये तुम इस बात पर विश्वास करो, मैं फिर कहता हूँ वचन-पूर्वक कहता हूँ विश्वास के साथ कहता हूँ, कि जो वेद वेत्ता तथा योगयुक्त ब्राह्मण हैं, उनका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता, यह बात स्पष्ट है ध्रुव सत्य है।

सूतजी कहते हैं— मुनियो! इस प्रकार यह शकट-भञ्जन की लीला मैंने कही।"

शौनक जी ने पूछा—'सूतजी! भगवान् ने दूध दही तथा घृतादि के भरे शकट को व्यर्थ में क्या उलट दिया? इसमें उन्हें क्या मिला?'

सूतजी बोले—"महाराज! बालक इतने सुन्दर खिलौनों को फट्ट से फोड देते हैं, उन्हें इसमें क्या मिल जाता है खेल ही जो ठहरा। बात यह थी कि एक उत्कच नामक असुर था वह वायु में उडकर अपने पूर्व-जन्म के वैर के अनुसार भगवान् को मारने के लिये उस शकट में अव्यक्त रूप से छिप गया था। उस असुर को मारकर उसका उद्धार करना था। शटक के उलटने से वह उत्कच असुर मरकर परम पद को प्राप्त हुआ। भगवान् का खेल भी हो गया ब्राह्मणों को दक्षिणा भी मिल गयी, घूम धडाका भी हो गया, और उत्कच का उद्धार भी हो गया। एक छकडा के उलटने से कितने काम हो गये। भगवान् की लीलाओं के विषय में कौन जान सकता है कि वे किस भाव में भावित होकर कौन सी क्रीडाकर रहे हैं? इसी प्रकार एक असुर कौआ बनकर और दूसरा ब्राह्मण बनकर भगवान् के समीप आया। इन दोनों का भी भगवान् ने उद्धार किया इन दोनों की कथा को तथा अन्य असुरों के उद्धार की कथाओं को मैं आगे कहूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

गोपी इत उत भगीं भईं भयतै व्याकुल अति।
एकमात्र घनश्याम नन्दरानीकी गति मति॥
दौरीं छकरा ओर अवहिं जहँ श्याम सुवाये।
उलट्यो देख्यो शकट झपटिकें लाल उठाये॥
प्यायो पय द्विज आइ सब, शांति पाठ सबने कर्‍यो।
अति विस्मित सबई भये, गोपनि छकरा पुनि धर्‍यो॥

अन्य असुरों के उद्धार की कथा

[८६२]

दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः ।
चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७ अ० २ श्लोक)

छप्पय

कागासुर इक दिवस काक बनि हरि ढिंग आयो ।
पकरि टेंटुआ तुरत कंस के पास पठायो ॥
पुनि द्विज श्रीधर असुर कंस को बनिके सेवक ।
आयो हरिकूं हनन परे जहँ जगके रक्षक ॥
श्रीहरि-लीला शक्तितें, दन्त भंजि मुख खीर भरि ।
व्रजतें बाहर कर्यो नँद, अद्भुत कीयो कृत्य हरि ।

जब भगवान् सकार रूप से अवनि पर अवतरित होते हैं—अवतार धारण करते है—तो वे सभी प्रकार के प्राणियो का उद्धार करते हैं। तीनो ही गुण श्रीहरि के ही बनाये हुए हैं। सात्त्विक हो, राजस हो अथवा तामस प्रकृतिका हो, सभी का उद्धार भगवान् करते हैं। किसी भाव से भी कोई भगवान् के

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! एक तृणावर्त नाम का दैत्य था, वह कंस का सेवक था। कंस ने उसे व्रज मे भेजा, वह बवण्डर का रूप रखकर वहाँ आया, जहाँ बालकृष्ण बैठे थे, तुरन्त वह उन्हें उठाकर आकाश मे ले गया।"

समीप क्यो न आवे, वे सबको सद्गति देते हैं। साँभर की झील मे कुछ भी पड जाय वही नमक बन जायगा। भगवान् के नित्य पार्षद तो आनन्दानुभव करते ही है, भक्तो को तो श्रीहरि अलौकिक भक्तिरस प्रदान करते ही है। दुष्ट असुर राक्षसो को भी-जो उन्हे अपना शत्रु समझते है-श्रीहरि सद्गति प्रदान करते हैं। वे तो सर्वेश्वर हैं न? सबके ही स्वामी हैं। भावानुसार सभी को सुख देते हैं।

सूतजी कहते हैं— मुनियो! मैंने आपको शकटासुर उद्धार की परमसुखद लीला सुनायी। जिस उत्कच असुर ने लालजी को मारने के विचार स शकट मे प्रवेश किया उसे ही श्याम सुन्दर ने शकट को पलट कर परलोक पठाया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा— सूतजी! यह उत्कच असुर कौन था और किस कारण इसका श्रीहरि ने उद्धार किया, इसके पूर्वजन्म का आप वृत्तान्त जानते हो, तो सुनावें।"

श्री सूतजी बोले— 'महाराज! यह उत्कच हिरण्याक्ष दैत्य का पुत्र था, चाक्षुस मन्वन्तर के पूर्व इसे महामुनि लोमश का शाप हुआ था। लोमश मुनि तो चिरजीवी है। वे सदा ध्यान मे मग्न रहते हैं। उनका आश्रम बडा सुन्दर सुहावना था, उसमें भाँति-भाँति के वृक्ष लगे हुए थे। एक दिन यह दैत्य उत्कच मुनिवर के आश्रम मे गया। आसुरी स्वभाव के जीवो की तो यह प्रकृति ही होती है, वे किसी की फली फूली वस्तु को देख नही सकते। ऐसे सुन्दर फले फूले आश्रम को देखकर असुर को मत्सर हुआ, वह उस आश्रम के फलवान वृक्षो को तोडने लगा वृक्ष तो ऋषियो की सन्तान के समान होते हैं, वे उन्हे बडे लाड प्यार से पानी पिलाकर पालते पोसते हैं। अपने हाथो से लगाये वृक्षो का अपनी ही आँखो के सम्मुख

नष्ट होते देखकर महामुनि लोमश को क्रोध आ गया उन्होंने उत्कच को शाप दिया—'हे दुर्बुद्धि ! तू देह से रहित हो जा।"

यह सुनकर असुर का मद उतर गया। उसने मुनि की अनुनय विनय की। मुनियों का क्रोध तो जल की रेखा के सदृश होता है, आया और तुरन्त मिट गया। उनका शाप आशीर्वाद रूप मे परिणत हो गया। मुनि बोले—वैवस्वत मन्वन्तर मे तुम्हारा ससर्ग आनन्द कन्द श्री कृष्णचन्द्र से होगा, उनके द्वारा तुम तीना गुणो से रहित होकर परम पद को प्राप्त होगे।' वही उत्कच असुर शकट मे प्रविष्ट होकर भगवान् के हाथ से मारा जाकर मुक्त हुआ। कागासुर के मुख से इसने श्रीकृष्ण की अद्भुत सामर्थ्य की प्रससा सुनी थी, वह भी कस की प्रेरणा स श्री कृष्ण को मारने गया था।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! यह काक असुर कौन था, इसे भगवान् ने कैसे मारा ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! काग असुर को भगवान् ने मारा नही। यह भगवान् को मारने की इच्छा से गया था। भगवान् को एकान्त मे पलकिया पर पडे देखकर इसने अपने लोहे की बनी चोच से उन पर प्रहार किया। वह समझता था, यह तो बालक है, क्या करेगा, किन्तु यह बालक असुर कुल घालक है, वहाँ कोई देखने वाला तो था नही, भगवान् ने अपने नन्हे कर कमल से उसे उठाकर ऐसा फका, कि वह मूर्छित हो कर कस के सभा मडप मे उसक सामने ही जा पडा। उसी ने बाल कृष्ण के अद्भुत पराक्रम का वर्णन किया। इसे ही सुनकर वायु मे विचरने वाला उत्कच आया और वह भी भगवान् के हाथो मारा गया। इसी प्रकार एक श्रीधर ब्राह्मणाधम को भी भगवान् ने दड दिया।'

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! श्रीधर कौन था और भगवान् ने उसे क्या दड दिया ? इस कथा को भी कृपा करके हमे सुनाइए ।"

सूतजी बोले— 'भगवन् मथुरा मे एक श्रीधर नामका बूढा ब्राह्मण था । जन्म तो उसका ब्राह्मण घर मे हुआ था, किन्तु था वह पूर्व जन्म का असुर । बडी-बडी सफेद दाढी थी, वह कुछ ज्योतिष भी जानता था । एक दिन कस ने पूछा—"पडित जी ! यह बताइये, योगमाया ने कहा है मेरा शत्रु व्रज मे ही कही उत्पन्न हुआ है, वहाँ किनके यहाँ उत्पन्न हुआ है ?"

श्रीधन ने कहा—' मे भली प्रकार जानता हूँ, वह नन्द के घर उत्पन्न हुआ है ।"

कस ने कहा—"यदि आप उसे मार सकें, या मरवा सकें तो, मैं तुम्हे अपना आधा राज्य दे दूँगा ।"

यह सुनकर श्रीधर बडा प्रसन्न हुआ । उसने कहा—"महाराज ! आप चिन्ता न करें, मैं उस बच्चे को अभी मारकर आता हूँ ।"

इस बात से कस को बडी प्रसन्नता हुई । उसने समझा मेरा शत्रु मारा ही गया । श्रीधर की बहुत प्रशसा की और अत्यधिक सम्मान करके उसे गोकुल के लिये जाने को कहा । श्रीधर भी कस से सम्मानित होकर गोकुल मे आया । ब्राह्मणो और साधुपो की तो भीतर बाहर कही रोक टोक है ही नही । श्रीधर भीतर चला गया । यशोदा मैया ने उसका बडा आदर सत्कार किया । माता ने वृद्ध ब्राह्मण समझकर उससे भोजन करने की प्रार्थना की । बहुत अनुनय विनय करने पर उसने भोजन बनाना स्वीकार कर लिया । चूल्हे पर दूध चढा दिया उसमे चावल डाल दिये । फिर श्रीधर घडा लेकर स्वय जमुनाजल

भरने चला। यशोदा मैया ने उसे रोककर कहा—"महाराज! इतने दास दासी हैं आप जल भरने क्यों जा रहे हैं, मैं चाहे जितना जल मंगा दूँगी।"

श्रीधर के मन में तो पाप था, वह बोला—"मैया! मैं दास दासियो के हाथी का लाया यमुना जल नही पीता।"

यशोदा मैया बोली—"मैं स्वयं भर के लाऊँ, तब तो तुम पी सकते हो ?"

श्रीधर बोला—"हाँ तुम्हारा लाया तो पी लूँगा।" यह सुनकर अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करती हुई मैया बोली—"तब मैं ही जाती हूँ, आप मेरे बच्चे को देखना।"

श्रीधर बोला—"अच्छी बात है, मैं बच्चे को देखता हूँ। तुम अच्छी तरह माँजकर गगरी को भर लाना।"

माता अत्यन्त ही प्रसन्न होकर सुवर्ण की गगरी लिये हुए चली। रोहिणीजी ने भी एक गगरी उठा ली। दासी दास हँसने लगे। माँ का कुछ शरीर स्थूल था वे कनक कलश लिये बड़ी ही भली लगती थी, लालजी अकेले रह गये और उनके समीप रह गया असुर प्रकृति का श्रीधर। भगवान् एकांत मे ही तो उद्धार करते हैं। अब श्रीधर ने सोचा—"इस बालक का गला घोट दूँ। यह सोचकर वह भगवान की ओर बढा। भगवान् पलकिया मे पड़े सो रहे थे, ऊपर से नेत्र बन्दकर रखे थे, भीतर से सब जानते थे उनसे क्या छिपा है। श्रीधर ज्यों ही आगे बढ़ा, कि आपने अपनी माया शक्ति से हाथ को बढा दिया; एक धक्का मारा श्रीधर चारो कोने चित्त गिर पडा। उसके रहे सहे सब दाँत टूट गये। मुख साँप के बिल के समान हो गया। अब कृष्ण चुपके से उठे। चूल्हे पर जो खीर बन रही थी। गरमागरम उसके मुख मे उड़ेल दी। उसकी दाढ़ी मोंछ खीर मे सन गयी।

मुँह गरम-गरम खीर से जलने लगा। वह भागने का प्रयत्न करता था, किन्तु पैर पृथ्वी मे चिपक गये। गर्म खीर से मुख जल रहा था, इधर-उधर छटपटा रहा था, सिर हिला रहा था, पोपले मुँह को चला रहा था, उसकी आँखे निकली हुई थी। वाणी रुक गयी थी, मनमोहन हँस रहे थे श्रीधर रो रहा था। इतने मे ही यशोदा मैया यमुना जल लेकर आ गयी। श्रीधर की ऐसी दशा देखकर वे डर गयी। सोचा—"ब्राह्मण भूखा होगा। गर्मागर्म खीर खा गया होगा।" अतः वे बार बार पूछती—"कहो महाराज क्या हुआ। इतनी शीघ्रता खाने मे क्यो की ?"

ब्राह्मणो के तो प्राणो पर बीत रही थी, अतः वह कुछ भी न बोल सका। वाणी योगमाया के प्रभाव से रुद्ध हो रही थी। मैया को भय हुआ कि कही किसी असुर का तो इस पर आवेश नही आ गया उन्होने तुरन्त नन्दबाबा को बुलाया। वे भी कुछ निर्णय न कर सके, कि बात क्या है। अन्त मे उन्होने यही निर्णय किया, कुछ भी हो इसे व्रज की सीमा के बाहर कर आना चाहिए। ब्राह्मण रूप मे न जाने कोई असुर ही हो, अपनी आसुरी लीला दिखा रहा हो। यही सोचकर उन्होन गोपा को आज्ञा दी गोप उसे व्रज के बाहर छोड़ आये। जब वह यमुना के किनारे पहुँचा तब सोचने लगा—'कस ने मुझे आधा राज देने को कहा था, राज मिलना तो दूर रहा, अपने दांतो को भी गँवा आया। यह सोच ही रहा था, कि उसे प्यास लगी। वह यमुना जी मे जल पीने को उतरा वहाँ क्या देखता है, सुवर्ण के कछुए पड़े हैं। उसने सोचा—"वहाँ कुछ नही मिला, तो इन कछुओ को ही ले चलूँ यह सोचकर उसन ज्यो ही दो कछुओ को उठाया त्यो ही दोनों कछुए उसके दोनों हाथों को काटकर ले गये। अब वह दोनों हाथो से विहीन

होकर कंस के समीप गया, वाणी तो उसकी पहिले ही बन्द हो गयी थी, वह कुछ कह ही नहीं सका। कंस ने समझा यह पागल हो गया है। पीछे भगवान् के दर्शन से उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। उसने भगवान् के सुमधुर नामों को उच्चारण करने की ज्यों ही इच्छा की त्यों ही उसकी वाणी खुल गयी। भगवान् की सेवा पूजा करने की ज्यों ही इच्छा हुई त्यों ही उसके नये हाथ निकल आये। तब से वह निरन्तर वाणी से भगवान् के नामों का उच्चारण और हाथ से भगवद् विग्रह की सेवा अर्चा ही करता रहता था उसका उद्धार हो गया, वह भक्त बन गया। इसी प्रकार भगवान् ने तृणावर्त का भी उद्धार किया।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! तृणावर्त कौन था, उसे किस ने भेजा था और वह किस रूप में श्रीकृष्ण के समीप आया था?"

सूतजी बोले—"महाराज! तृणावर्त भी कंस का ही सेवक था। वह इच्छानुसार सूक्ष्म स्थूल जैसा चाहता शरीर बना लेता। एक दिन कंस ने उससे कहा—'तृणावर्त! मैंने ऐसा सुना है, कि नन्द के व्रज में मेरा शत्रु उत्पन्न हो गया है। मैंने श्रीधर को उसे मारने भेजा था, वह न जाने क्यों, पागल हो गया, उसकी वाणी ही रुक गयी, वह कुछ बता ही नहीं सका। यथार्थ मेरा शत्रु कौन है, इसलिए तुम व्रज में जाओ, मेरे शत्रु का पता लगाओ, यदि सम्भव हो, तो उसे उड़ाकर यहाँ ले आओ, या वहीं उसे मार आओ?"

तृणावर्त ने कहा—"महाराज! आप कोई चिन्ता न करें। आपका शत्रु यदि नन्द के व्रज में है, वह यशोदा के गर्भ से पैदा हुआ है, तब तो मैं उसे अवश्य ले आऊँगा। यह कहकर वह

मथुरा से चल दिया और बवन्डर का रूप बनाकर व्रज की ओर चला। श्रीकृष्ण अकेले बैठे थे, वह उन्हें आकाश मे उड़ा ले गया।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—'सूतजी! भगवान् को दैत्य कैसे उड़ा ले गया?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज भगवान् को क्या उड़ा ले जा सकता है। भगवान् की ही इच्छा हुई कि, मैं सब गोपियो का घर देखूँ। पैदल तो अभी चल ही नही सकते थे, उसी असुर का उड़नखटोला बनाकर उसके ऊपर चढकर आकाश मे उड़ गये और वही से सभी गोपियो के घर देखे।"

शौनकजी ने कहा—"तब फिर क्या हुआ, उस असुर ने कुछ अनिष्ट तो नही किया?"

हँसकर सतजी बोले—"महाराज! जो प्राणी मात्र का इष्ट है, उसका अनिष्ट हो ही कैसे सकता है, मैं तृणावर्त उद्धार की कथा आगे कहूँगा, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

पलनामहँ पौढ़ाइ लालकूँ मातु झुलावैं।
घपथपाइ कछू कहैं हलावैं अति सुख पावैं॥
लीन्हों करवट श्याम लगे रोवन जग वन्दन।
दीयो आँचल मातु पियोपय पुनि नँदनन्दन॥
पय पियाइ मुख चूमिकें, गोदीमहँ बैठाइकें।
मातु खिलावति मगन मन, इत उत वस्तु दिखाइकें॥

तृणावर्त की तिकड़म और उद्धार

[८६३]

अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा,
बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः ।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते ॥*

(श्री भाग० १० स्क० ७ अ० ३१ श्लोक)

छप्पय

तृणावर्त हरि लख्यो देखिके मन मुसकाये ।
अति भारे बनि गये मातु के अङ्ग पिराये ॥
भूमि बिठाये श्याम मातु मनमहुँ घबरावे ।
ज्यों सुत भारो भयो भेद माता नहिं पावे ॥
लगी मातु गृह काजमहँ, असुर बवण्डर बनि गयो ।
लै हरिकूँ नभमहं उड्यौं, अन्धकार ब्रजमहँ भयो ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोप गोपी परस्पर मे कहने लगे—'अहो ! यह कैसी अद्भुत बात हुई । बालक इस तृणावर्त असुर के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होकर भी फिर बचकर लौट आया तथा वह हिंसक दुष्ट असुर भी अपने आप ही मारा गया । बडे लोगो का यह कथन सत्य ही है कि हिंसक दुष्ट अपने पाप से स्वय ही मर जाता है और साधु लोग समत्व के कारण स्वय ही भय से बच जाते हैं ।'

जो घटना होने वाली होनी है, उसकी भूमिका पहिले से ही बंध जाती है। लक्षणों को देखकर बुद्धिमान् पुरुष अनुमान कर लेते हैं, कि अब यह घटना घटित होने वाली है। वर्तमान को देख कर भविष्य का अनुमान करते हैं, किन्तु जो सर्वज्ञ है, उसके लिए तो भूत, भविष्य का कोई अर्थ ही नहीं। वह तो ऊँचे चढ़ा हुआ है, अत. भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों को देखता है। तीनों ही उनके लिए एक-से हैं। हम अपनी अल्प बुद्धि से कहते हैं, ऐसा साहसा क्यों हो गया? सहसा तो कुछ होता ही नहीं। सभी निश्चित रूप से होता है।

श्री सूतजी कहते हैं—'मुनियो! एक दिन की बात है, माता यशोदा अपने प्राणों से भी प्यारे लाल को प्रेम पूर्वक पालने में झुला रही थी। झोटा देती हुई मल्हार गा रही थी, प्यार से पुचकार रही थी और गुन-गुन करके अव्यक्त भाषा में अपने नन्हे से छोना से कुछ कह रही थी कि उसी समय लालजी ने करवट बदली। उनकी नींद खुल गयी। नींद खुलते ही भूख भी लग गयी। रोने लगे। माता ने तुरन्त लालजी को उठाया। उनके स्तनों में दूध भर रहा था। बच्चे को सुस्थिर होकर दूध पिलाया। दूध पिलाकर मैया लालजी को खिलाने लगी। वे पेड़ को दिखाती और कहती—'लल्ला! देखो, कैसा पेड़ है। भगवान् उस ओर देखते।' फिर माँ कहती—"कौआ आयो कौआ आयो। रोटी पैको माखन खायो। बजमारे के पङ्ख उखारूँ, लाला ढिग आव तो मारूँ।" माता इस प्रकार खेल कर रही थी, कि उसी समय गुप्त रूप से तृणावर्त असुर वहाँ आ पहुँचा। श्रीहरि तो सर्वदृक् हैं, वे तो सब कुछ देख सकते हैं। उन्होंने उस असुर को देख लिया, वे यह भी जान गये, कि यह मुझे आकाश में उड़ा ले जाना चाहता है। वह क्या चाहता है, इन्होंने ही मानो उसे प्रेरित करके भाव-

मयी गोपियो के घरा को देखने को बुलाया हो। आगे अब इन्हें चोरी करना है। चोरी करने के पूर्व यह देख लेना जान लेना आवश्यक है, कि कौन-सी वस्तु कहाँ रहती है। इसीलिए व ऊपर उडकर सब कुछ देखना चाहते थे, किन्तु दुष्ट आया असमय मे, माता तो मुझे गोद मे लिये बैठी हैं। मुझे इसका उद्धार करना है। यदि यह मुझे माता सहित उडा गया, तो मेरी माता बडी भोली सरल हृदय की है, आकाश मे उडते ही डर जायगी। फिर मैंने यदि अधिक बोझ बढा दिया, या मेरी मोटी मया को यह असुर न सम्हाल सका, तो मेरी मैया तो चकनाचूर हो जायगी फिर मुझे दूध पिलाकर बडा कौन करेगा। एक यह भी बात है, कि मुझे इसे मारना है, मैया के सामने इसका गला घोटा तो वह डर जायगी। सोचेगी यह मेरा छोरा नही इसके शरीर मे कोई भूत, पिशाच या राक्षस है, तब वह पूतना की मृत्यु का भी रहस्य समझ जायगी। फिर इतना वात्सल्य स्नेह कहाँ मिलेगा। ऐश्वर्य का जहाँ व्यवधान पडा, कि फिर विशुद्ध वात्सल्य रहता नही। माँ तो गोदी मे से उतारना ही नही चाहती, मैं उससे कह नही सकता। महीने भर का बालक बातें करने लगे तो सब उससे डर जायँगे। बिना गोद मे से उतरे लीला बनेगी नही यही सब सोच सकझ कर भगवान् सकट मे पड गये। उस समय सिद्धियो ने उनकी सहायता की। सिद्धियो ने अपना अहो भाग्य समझा कि इस परम सरस माधुर्य की लीला में भी लालजी को हमारी आवश्यकता प्रतीत हुई। हम भी उनकी लीला मे कुछ काम आ सकेंगी। यह सोचकर गरिमा सिद्धि ने अपना प्रभाव दिखाया। लालजी का वही श्रीअङ्ग अकस्मात् माता को पर्वत शिखर के समान भारी प्रतीत होने लगा। वे उन्हे अब अधिक देर तक गोदी मे लेने मे असमर्थ हो गयी। उनके अग दुखने लगे तुरन्त

उन्होंने लालजी को गोदी मे से उतारकर पृथ्वी पर कर दिया। उनके उदर मे असख्यो ब्रह्माण्ड बास करते हैं, उनके भार को माता उन्हो की इच्छा स उठा सकती है, जब उनकी इच्छा न हो, तो जगत् के भार को उठाने मे भोली भाली माँ समर्थ कैसे हो सकती हैं। श्रीकृष्ण को तो आज अद्भुत क्रीडा करनी थी, अतः माता उनके भार को वहन करने मे समथ न हो सकी। उन्ह अत्यन्त ही विस्मय हुआ और लज्जा भी आयी, कि पुत्र बोझ से जिस माता का अंक दुखने लगे उस माता को धिक्कार है। इस प्रकार की बातें सोचती-सोचती माँ घर के भीतर चली गयी और घरके किसी दूसरे कार्य मे लग गयी।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमे तो माता के वात्सल्य प्रेम मे कुछ न्यूनता-सी प्रतीत होती है, जब उनके सब प्रकार से लाल्य श्रीकृष्ण ही थे, तो वे और ससारी कामो मे क्यो लग जाती थी। शकट भजन के प्रसङ्ग मे भी वे लालजी को छकडे के नीचे सुलाकर नाचने गाने और अन्य लौकिक कामो मे लग गयी, अब भी लालजी को पृथ्वी पर बिठाकर गृहस्थी के दूसरे कामो मे जुट गयी तो फिर अनन्यता कहाँ रही। विशुद्ध वात्सल्य रस कहाँ रहा?"

इस पर सूतजी ने कहा—'महाराज! इस विषय पर आप गम्भीरता से विचार करें। शकट-भजन के प्रसङ्ग को ही लिजिए। लालजी को उनकी गोदी मे नीद आ गयी, अब उन्हे सुलाना, सुख देना यह तो माँ का प्रथम कतव्य था। गोदी मे लिये-लिये न तो लालजी को भली भाँति नीद ही आती, न उस हुल्लड़ मे सुख ही मिलता। इसलिए एकान्त मे उसके सुख के लिए उन्हें सुला दिया सुलाकर उनके ही पास बैठी रहती, तो सहस्रो गोपिकाएँ जो लालजी को आशीर्वाद देने उनकी मङ्गल कामना

करने उनके जन्म नक्षत्रोत्सव मे सम्मिलित होने आयी हैं, उनके पास न जातो, तो वे सब सोचती—"हम तो कितने उल्लास और उत्साह म आयी हैं, नंदरानी हमसे बात तक नही करती। लाला को ही लिए बैठी हैं, मानो इनके ही नया अनोखा लाला हुआ है। इसी प्रकार अनादर का अनुभव करके वे बच्चे को आशीर्वाद न देंगी, मेरे बच्चे का अनिष्ट न हो इसी के लिए वे शरीर से आकर गोपियो के बाच रङ्ग मे सम्मिलित हुई, वे ग्राम्यगीत नही थे, सासरिक विषयभोग के लिए राग रङ्ग नही था, श्रीकृष्ण को ही निमित मानकर उनके ही अभ्युदय के निमित्त उत्सव था। इसमे तो वात्सल्य और निखरता है, इससे अनन्यता नष्ट नही होती, किन्तु और अधिक बढी हुई प्रतीत होती है। जब भी माता लालजी को बिठाकर कर्मान्तर मे लगी, वे कर्म किसी अन्य के निमित नही थे, दूध गर्म करके नारायण का भोग लगेगा, उसका प्रसाद लालजी को दूंगी, मै भी प्रसाद पाऊंगी, मेरे स्तन मे दूध बढेगा, लालजी का पेट भरेगी। सब उन्ही के निमित्त तो व्यापार थे।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! आप सत्य कहते हैं। माता जी के तो कायिक वाचिक तथा मानसिक सभी कर्म श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ ही होते थे। हाँ, तो उस तृणावर्त का क्या हुआ, उस प्रसङ्ग को सुनायिए।'

सूतजी बोले—'हाँ तो महाराज! वह कंस का सेवक तृणावर्त घात मे बैठा था, उसने बवण्डर का रूप रख लिया। गर्मियो मे जो दिन में आंधी की भाँति भभूडा आता है, जिसे बच्चे भूत कहते हैं, वैसा वह बन गया। श्रीकृष्णचन्द्र बैठे थे उन्हे उडाकर आकाश मे ले गया और ऐसी आंधी चलायी, कि व्रज के बहुत से वृक्ष टूट कर गिर गये, छप्पर उड गये, सम्पूर्ण व्रजमण्डल धूलि से

आच्छादित हो गया। घरों मे धूलि भर गयी। सभी ने अपने-अपने नेत्र बन्द कर लिये, मुख मे, कानो में, बालों मे तथा सम्पूर्ण वस्त्र और शरीरो मे धूलि भर गयी। आंधी का सांय-सांय शब्द दशो दिशाओ मे भर गया। गोप, गोपी तथा गौएं इस भयकर आंधी, तूफान और बवण्डर से भयभीत हो गयी। एक मुहूर्त पर्यन्त सम्पूर्ण व्रज मे सर्वत्र धूलि छायी रही और घोर अन्धकार व्याप्त रहा, किन्तु माता को चैन कहाँ ? इस आंधी तूफान मे भी वे दौडकर बाहर आयी। देखा वहाँ लालजी नहीं हैं वे बड़ी घबडायी। फिर घर मे गयी फिर बाहर आयी। इधर जायँ उधर जायँ वे कुछ निर्णय ही न कर सकी। दासियाँ तथा अन्य गोपियाँ तो आंखें बन्द किय खडी थी। उस बवण्डर बने तृणावर्त की उडायी धूलि बालू से गोपी गोप ऐसे उद्विग्न हो रहे थे, कि उन्हें अपने और पराये का कुछ भी ध्यान नही था। वे उन त क्षण वायु और भयकर धूलि वर्षा के कारण आत्म विस्मृत बने खडे थे।

माता का हृदय धक्-धक् कर रहा था, वे अनिष्ट की आशका से अत्यन्त ही भयभीत हो रही थी, पगली की भांति सिर खोले इधर से उधर दौड रही थी। कोई उन्हे देख नही रहा था। किन्तु वे अपने बच्चे को हाथों मे टटोल रही थी। बार बार कह रही थीं। मैं अभी तो इसे यहाँ बिठाकर गयी थी, कही चला गया, कही उड तो नही गया, उडने की याद आते ही उनका शोक से हृदय भर आया आंखें अपने आप बहने लगी, पुत्र का पता न पाने से वे अत्यन्त ही विह्वल हुईं। शोक मे लाल की मनमोहनी मूर्ति को याद करके वे ढाह मारकर रुदन करने लगीं। जैसे किसी हाल की ब्याई गौ का बछडा उनमें पृथक् हो जाय और वह जिस प्रकार व्याकुल होकर तडफडाती है, उससे भी अधिक मैया यशोदा तडफड़ाने लगीं, वे रोते-रोते अचेत होकर पृथ्वी पर गिर गयी,

किसी ने उनका करुणक्रन्दन सुना तक नहीं।

जब कुछ काल के अनन्तर बवण्डर शान्त हुआ, धूलि कुछ कुछ कम हुई, तब अन्य गोपियों ने नंदरानी के करुणक्रन्दन की मर्मान्तिक ध्वनि सुनी। उसे सुनकर तुरंत वहाँ बहुत-सी गोपियाँ आ गयीं। यशोदाजी के अंक में तथा इधर-उधर लालजी को न देखकर वे सब मन ही मन अत्यन्त दुःख सन्ताप करती हुईं मैया के स्वर में स्वर मिलाकर आँखों में अश्रुओं की धारा बहाकर उच्च स्वर से रुदन करने लगीं। गोपियों के रुदन को श्रवण करके चौपालों से गोप भी दौड़े आये। वे सब भी श्रीकृष्ण को न देखकर अत्यन्त दुखी हुए।

इधर तृणावर्त श्रीकृष्ण को उठा ले गया। पहिले तो भगवान् उसके साथ में घूमे। छान छप्पर तो सब गिर ही गये थे, सब देख आये, कौन गोपी कहाँ दधि रखती है, कहाँ मक्खन रखा जाता है कहाँ किसके यहाँ कितने छीके लटक रहे हैं। लालजी को आकाश में उड़ने में बड़ा आनन्द आ रहा था, भोले बालक ही जो ठहरे। बच्चों को चड्डी खाने में बड़ा सुख मिलता है, भगवान् की तो इच्छा थी और चक्कर लगाव किन्तु माता के करुणक्रन्दन को सुनकर उनका नवनीत के सदृश हृदय पिघलने लगा। यह भी क्या आनन्द जिससे दूसरों को कष्ट हो। मेरे लिए व्रजवासी अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। यही सब सोचकर लालजी ने ऊपर ही अपना भार बढ़ाया। अब तो असुर उन्हें ढोने में असमर्थ हो गया। उड़नखटोले की नसें ढीली पड़ गयीं। अब श्रीकृष्ण को मारना तो दूर रहा, स्वयं अपने प्राण बचाने भारी हो गये। उसने सोचा'—'भाड़ में जायँ, कंस और चूल्हे भी जाय उसकी मृत्यु, अपने प्राण बच जायँ, यही बहुत है। प्राण बचे लाखों पाये, बुद्धू बाबू सकुशल घर आये।" वह श्रीकृष्ण

को छोड़ना चाहता था, किन्तु कृष्ण उसे कैसे छोड़ते। ये तो पकडकर छोडना जानते ही नही। भूल से भी जो इन्हें पकड़ लेता है। उसके ये गले में लिपट जाते हैं, कसकर पकड़ लेते हैं। जाड़े के दिनों में गङ्गाजी में जीवित रीछ बहा जाता था, किसी साधु ने भ्रमवश कम्बल समझकर दौड़कर उसे पकड़ लिया। उसने भी साधु को अपने पंजो मे पकड़ लिया। अब साधु बाबा कम्बल को तो भूल गये, प्राण बचाने का प्रयत्न करने लगे। किसी ने कहा—"कम्बल को छोड दो। "वे बोले—'मैं तो बहुत छोडना चाहता हूँ, कम्बल ही मुझे नही छोड़ता।" यही दशा तृणावत की हुई। वह श्याम को छोड़ना चाहता था, श्याम उसके कण्ठ को कसकर पकड़े हुए थे। वह बड़े असमजस में पड़ा, कि यह विचित्र बालक है। उसने पूरी शक्ति लगायी, किन्तु शक्तिमान् के सम्मुख उसकी शक्ति क्या काम कर सकती थी। उसका गला घुटने लगा। हुच्च-हुच्च करके हिचकियाँ लेने लगा। आँखें निकल आयी और स्वाँस बन्द होने से वह निश्चेष्ट हो गया। उसकी वाणी बन्द हो गयी। प्राणहीन होने से वह विचित्र बालक को लिये हुए, धडाम से एक बडी भारी शिला पर गिर गया। गिरते ही उसका चकनाचूर हो गया। लालजी उसे लिये हुए वही गिरे जहाँ गोपियाँ विलाप कर रही थी, रोते-रोते मैया को सान्त्वना दे रही थी। जैसे आकाश मे उड़ता हुआ कोई पहाड़ गिरा हो, अथवा शिवजी के बाणो से विद्ध होकर त्रिपुर का कोई पुर गिरा हो, अथवा कोई बडा विमान आहार चुक जाने से गिर गया हो अथवा इन्द्र का वज्र भूल से गिर पड़ा हो, उसी प्रकार वह असुर लालजी को लिये हुए पत्थर की पाटिया पर गिरा। उस पर गिरते ही उसके समस्त अङ्ग खण्ड-खण्ड हो गये। गोपियों ने अत्यन्त विस्मय के साथ देखा लालजी उसके

ऊपर पडे हँस रहे हैं और अपने दोनो हाथो को पटक रहे हैं।

लालजी को देखते ही गोपियाँ दौड, पडी वे न राक्षस से डरी और न उन्होने उसके विकराल मुख की ओर ध्यान दिया वे एक साथ झपटकर श्रीकृष्ण को उठा लायी और लाकर माता की गोद मे उन्हे लिटा दिया। अपने प्यारे पुत्र का सुखद स्पर्श पाकर माता को चेत हुआ। पुत्र के हँसते हुए मुख को देखकर माता के रोम-रोम खिल उठे। गोपी तथा गोपो के हर्ष का ठिकाना नही रहा। वे आपस मे कहने लगे—'देखो, कैसे आश्चर्य की बात है, बच्चे के तनिक भी चोट नही आयी। प्रतीत होता है, यह असुर ही लाला को उठा ले गया था।'

इस पर दूसरे ने कहा—"यही दुष्ट ले गया था। ले गया तो उसका फल भी इसने पा लिया। बडे लोग कहते हैं जो दूसरो के लिए खाई खोदता है, उसके लिए पहिले से ही कुआँ तैयार रहता है। एक पुरानी कहावत है कि पापी अपने पाप से स्वय मर जाता है, साधु अपनी समता के कारण स्वत भय से छूट जाता है।"

कोई कहता—'ये इतने राक्षस अब ब्रज मे आ कहाँ से गये। और किसी बालक पर प्रहार तो करते नही, लाला के ही ऊपर सब चोट करते हैं, बात क्या है।"

इस पर दूसरा कहता—"ये सब मरने वाले हैं, ऐसा लगता है, हमारे लाला के हाथ मे कोई छूमन्तर है, जिस राक्षस को यह छू देता है वही मरकर अपने आप गिर पडता है।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! लालजी को सकुशल देखकर आँखो मे आँसू भर कर नन्दजी कहने लगे—"हमने पूर्व-जन्म मे ऐसा कौन-सा तप किया है, अथवा विष्णु भगवान् का विधि पूर्वक पूजन किया है, वा इष्टपूर्तादि कर्म, दान, दया या दूसरे सत्कर्म किये हैं, जिनके फल स्वरूप सौभाग्यवश अपने स्वजनो को आनदित

करने के लिए मृत्यु के मुख मे गया हुआ हमारा लाला सकुशल लौट आया है।" इस प्रकार अनेक प्रकार से अपने भाग्य की प्रशसा करते हुए वे वसुदेवजी की बात का बारबार समर्थन करने लगे और उन्हे योगी, सिद्ध अथवा ऋषि बताने लगे। इसके अनन्तर जो माता को अपना अद्भुत ऐश्वर्य लालजी ने दिखाया, उसकी कथा मैं आगे कहूँगा। आप सावधान हो जायं।"

छप्पय

सैर सपट्टो करत असुर सग नभमहँ डोलत।
इत गोपी अरु गोप विरहमहँ सब मिल रोवत॥
हरि सब देखे दुखी असुर को गरो दबायो।
पटियापै लै गिरे ताहि परलोक पठायो॥
निरखि लालकूँ कुशल सब, मुदित मातु गोदी धरे।
बालकृष्ण अद्भुत चरित, यो ब्रजमहँ बहुतक करे॥

माता को विश्वरूप दर्शन

[८३४]

एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी ।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥
पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् ।
मुखं लालयती राजञ्जम्भृतो ददृशे इदम् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ७ अ० ३४, ३५ श्लो०)

छप्पय

एक दिवस लै अङ्क लालकूँ मातु खिलावै ।
मातृ-नेहमहँ झरत मधुर पय मुदित पिआवै ॥
निरखि मद मुसकान मातु मनमोंहिँ सिहाई ।
जमुहाई हरि लई मातु तब चुटकि बजाई ॥
मुखमहँ माता ने लखे, रवि, शशि, सागर, द्वीप, वन ।
अनिल, अनल, जल, नभ, अवनि सरिता, पर्वत, जीव-गन ॥

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन ! एक दिन की बात है मैया यशोदा ने लालजी को गोद मे लिया । मातृ-स्नेह के कारण उनके स्तनो से दूध झर रहा था । उसे अत्यन्त स्नेह पूर्वक माता ने पान कराया । उनके दूध पीने पर माता उनके मन्द मुस्कान युक्त मनोहर मुख का चुम्बन कर रही थीं उसी समय शिशु श्याम को जमुहाई आयी, माता ने उनके मुख म इस सम्पूर्ण विश्व को देखा ।"

शास्त्रकारो ने इस बात पर बार-बार बल दिया है, कि परम पुरुष प्रभु भक्त के वश में हैं। भक्त उन्हे जैसा नाच नचाते हैं, वैसा ही नाच वे नाचते हैं। भक्त यदि उन्हे पुत्र बनाकर दुग्ध पिलाना चाहते हैं, मुख चूमना चाहते हैं, तो वे नन्हें-से शिशु बनकर अपने आप दोनो हाथो से बोबो को पकडकर चुसुर-चुसुर करके दूध पीने लगते हैं। मुख चूमने को अपने आप अपने मुख को उनके मुख पर रख देते हैं। भक्त उन्हे मित्र सखा बनाना चाहते, हैं तो वे उनके गलों में अपने बहियाँ डालकर प्रेम से खेलते हैं उनके घोड़े बनते है। भक्त उन्हे पति बनाना चाहते हैं, तो वे मूर्तिमान रस बनकर उनके मुखावरण को हटाते है और सरसता में उन्हे न्हिला देते है। भक्त यदि दास बनकर उनकी सेवा में सलग्न रहना चाहते है, तो उन्हे सेवा का सुअवसर देकर उनकी सेवाओं को स्वीकार करते हैं। भगवान् भक्त के अधीन है, भक्तो के हाथ वे बिक जाते है। यह उनकी भक्त-वत्सलता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! एक दिन मैया यशोदा लालजी को गोदी मे लिये हुए खिला रही थीं, माता के हर्ष का ठिकाना नही था उनका वात्सल्य स्नेह पूर्णिमा के सागर के समान उमड़ रहा था। उनके बड़े बड़े स्तनो से अपने आप दुग्ध झर रहा था। पुत्र के मुख की मद-मद मुसकान तथा मन मोहिनी माधुरी का पान करते-करते माता अघाती ही नही थी, कभी उनके काले-काले घुंघराले बालों मे अपनी कोमल-कोमल उंगलियाँ डालकर उन्हे सुलझाती, कभी गुलगुली करके उन्हे हँसाती, कभी ऊपर उछालती, कभी किच किचाय के छाती से चिपटा लेती। कभी बार-बार मुख चूम-चूमकर उनके छोटे-छोटे नन्हे नन्हे गालों को लाल बना देती। कभी दोनो हाथो मे लेकर

हिलने लगती। भगवान् भी बड़े मग्न हो रहे थे। आज उन्हे याद आयी, कि अखिल ब्रह्माड मेरे पेट मे है, माता मुझे नन्हा सा शिशु ही समझती है, इसे कुछ चमत्कार भी तो दिखाना चाहिए। उसी समय बालकृष्ण को जमुहाई आ गयी। जमुहाई आ क्या गई उन्होने उसे बुला लिया। माता ने देखा मेरे बच्चे को जमुहाई आ गई। यह जमुहाई राड एक राक्षसी है, जब यह आवे तब चुटकी बजा देनी चाहिये। चुटकी की धुनि सुनकर यह तुरन्त भाग जाती है, जो जमुहाई आने पर चुटकी नही बजाते उनके ऊपर यह राक्षसी चढ जाती है। अतः अपने स्वजनो को बन्धु बान्धवो को, गुरुओ तथा राजा को जमुहाई आवे तब उनके हितैषियो को चुटकी बजा देनी चाहिये। बच्चो को जमुहाई आवे तो माताओ को अवश्य चुटकी बजानी चाहिये। इसलिये यशोदा मैया ने लालजी को देखकर चुटकी बजायी। अब तो श्याम स रहा नही गया, क्रीडा प्रिय ही जो ठहरे, उन्होने सोचा—'माता को दिखाऊँ तो सही, मेरे पेट मे यह सम्पूर्ण विश्व भरा है, सब की रक्षा तो मेरे द्वारा होती है मेरा अनिष्ट कौन कर सकता है।" उनका कुछ अभिप्राय माता को ऐश्वर्य दिखाना नही था, एक विनोद सूझा कि परम वात्सल्यमयी माता पर इस विश्व रूप दर्शन का क्या प्रभाव पडता है, इसके वात्सल्य मे कुछ न्यूनता तो नही आती। इसलिये वे मुख फाडे हो रहे। माता ने भगवान् के खुले हुए मुख मे देखा, उसमे अनन्त आकाश है, अन्तरिक्ष है, असख्यो ज्योमण्डल है, दिशाएँ हैं अगणित सूय, चन्द्र द्वीप, पर्वत, नद, नदी, वन, अग्नि, वायु, पृथ्वी तथा असख्यो स्थावर जगम प्राणी सुखपूवक निवास कर रहे है। अकस्मात् अपन पुत्र के मुख मे ऐसी अलाइ बलाइ देखकर माता डर गयी, उसे भूत प्रेत का भय हुआ।

मेरे लाला के मुख मे यह क्या वाजीगर का-सा तमाशा दीख रहा है। कोमलाङ्गी माता भय के कारण थर-थर कांपने लगी, मृगी के समान उनके भोले-भाले नेत्र भय के कारण स्वत. ही

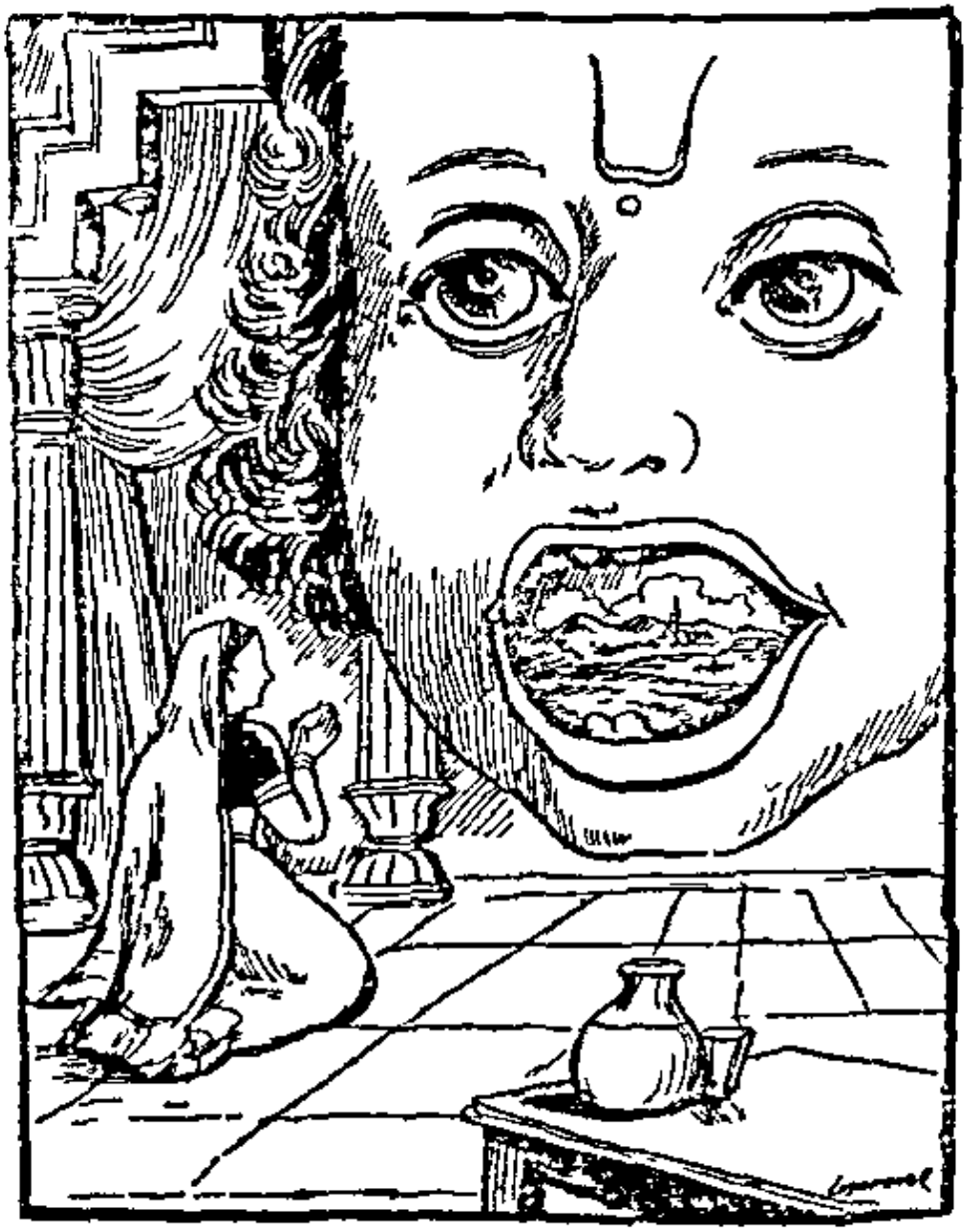

बन्द हो गये। भक्तवत्सल भगवान् अपनी माता को इस प्रकार भयभीत देखकर हस पड़े। इन्होने मुख बन्द किया। पुनः जमुहाई ली। माता ने चुटकी बजायी, भक्तवत्सल भगवान् छाती से लिपट गये और पुन. दूध पीने को रोने लगे। माता न

दूध पिलाया, वह उस बात को भूल गयी और फिर अपने लाल का मुख चूमकर प्यार करने लगी। भगवान् को भक्तवत्सल हैं अपने भक्तो के-आश्रितो के लिये व सब कुछ कर सकते हैं। भक्तो का मन रखने के लिए ही वे क्रीडा करते हैं। भीष्म पितामह को रथ का पहिया लेकर मारने दौड़े। अर्जुन तो उनकी कृतज्ञता के भार से दब गया, कि भगवान् मेरे लिये अपनी अस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा को भङ्ग कर रहे हैं किन्तु वास्तविक बात यह थी, वे भीष्म की प्रतिज्ञा को पूरी करने;को यह नाट्य दिखा रहे थे। भगवान् की भक्त वत्सलता पर और जमुहाई के ऊपर चुटकी बजाने पर मुझे एक दृष्टान्त याद आ गया, मुनियों ! आपकी आज्ञा हो तो उसे सुना दूँ, कि भगवान् अपने भक्तो को उनकी इच्छानुसार सेवा का सुयोग किस प्रकार प्रदान करते हैं।"

शौनक जी ने कहा—"हाँ; सूतजी ! दृष्टान्त अवश्य सुनाइये। दृष्टान्त मे विषय स्पष्ट हो जाता है और दृष्टान्त छोटे बडे स्त्री पुरुष सभी को याद हो जाता है विषय भली-भाँति समझ मे आ जाता है।"

सूतजी बोले—"अच्छा सुनिए महाराज ! यह त्रेतायुग की कथा है, जब अवध कुलमण्डल मथिली जीवनधन भक्तवत्सल भगवान् रावण को मारकर अवधपुरी मे राज्य कर रहे थे। राज्याभिषेक होने के अनन्तर सुग्रीव विभीषण अगद नील नल तथा अन्यान्य रीछ वानर आदि को भगवान् ने विदा कर दिया था। केवल हनुमान् जी सेवा के लिये रह गये थे। अब न तो पृथ्वी पर कोई शत्रु ही शेष रहा था, न राक्षसो का ही उपद्रव था। पहिले तो हनुमान् जी मार धाड मे लग रहते थे, अब तो उन पर एकमात्र भगवान् की सेवा ही शेष रह गयी थी,

उनका अमित पराक्रम था। अद्भुत सामर्थ्य थी, भगवान के संकेत को समझकर मन से भी अधिक वेग से जाते, काम कर लाते और निरन्तर सेवा में जुटे रहते। भरतजी, लक्ष्मणजी, शत्रुघ्न जी यहाँ तक कि महारानी जानकी जी के लिये भी कोई सेवा शेष न रहती, फिर अन्य सेवकों की तो बात ही क्या।

सेवकों की सम्पूर्ण सेवा पर कोई अधिकार कर लेता है, तो उन्हे उस सेवक क प्रति डाह होने लगता है, स्वामी का भी पक्षपात हो ही जाता है ऐसे सेवक के प्रति। इस बात से रामानुजों को श्रीजानकीजी को बडी चिंता हुई। इन सबने मिलकर एकान्त मे गोष्ठी की।

लक्ष्मणजी ने कहा—"देखो, वन मे सब सेवा मैं ही करता था, अब इस बन्दर ने सब सेवा पर स्वय ही अधिकार कर लिया है। इसे किसी तरह सेवा से हटाना चाहिए।"

भरतजी तो बड़े सरल ठहरे, वे तो कभी भगवान् की ओर आँख उठाकर भी नही देखते थे, वे किसी का विरोध करना जानते ही नही थे। उन्होने कहा—"देखो, भाई किसी के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष खंडन न करना चाहिए। अपने पक्ष का मडन करना उस पर विश्वास के सहित आचरण करना—यहीं पर पक्ष का खडन है। तुम हनुमान्‌जी को सेवा से पृथक् मत करो। स्वय सब सेवा सम्हार लो, भगवान् से स्वीकृति ले लो। जब तुम सेवा करने लगोगे, तब हनुमान्‌जी अपने आप सेवा से रहित हो जाएँगे।"

इस सम्मति को सबने स्वीकार कर लिया। अरुणोदय से अरुणोदय पर्यन्त जितनी भी छोटी से छोटी सेवा थी, सबने बाँट ली। प्रातः उठकर कौन खड़ाऊ रखेगा, कौन जल देगा, कौन उठावेगा। कौन शौच को जल देगा, कौन मिट्टी लावेगा,

कौन पात्र को मलेगा, कौन दतधावन लावेगा, कौन उबटन अगराग लावेगा, कौन स्नान करावेगा स्नान कराना, आसन बिछाना भोजन कराना सवारी लाना, पान, इलायची छत्र, चंवर आदि आदि जितनी सेवाएं थी, सबने बाँटली। बहुत सोच सोचकर छोटी से छोटी सेवा लिखली, हनुमानजी के लिए एक भी नही छोडी। लिखकर लक्ष्मणजी ने कहा— इस पर भगवान् की स्वीकृति और मिल जानी चाहिए।"

भरतजी ने कहा – "भगवान् के सम्मुख इसे उपस्थित कौन करे, मेरा तो साहस होता नही। मैं तो कभी उनके सम्मुख बोलता भी नही। मैंने ऐसी सेवाएं ली हैं, जिनमे उनके सम्मुख न होना पडे।"

इस पर लक्ष्मणजी ने कहा—'भगवान् के सम्मुख तो मैं भी इसे नही ले जा सकता।"

भगवती जनकनन्दिनी ने कहा—"तुम सब चिन्ता क्यो करते हो, भगवान् के सम्मुख मे उपस्ति करूंगी। उपस्थित ही नही करूंगी इसे स्वीकार भी करालूंगी।' सब ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"बहुत अच्छी बात है माताजी! आप का ही तो हम सबको सहारा है। आपकी बात को तो भगवान् टाल नही सकते।"

सभा समाप्त हुई। जब राजसभा लगी, तब माताजी ने चिट्ठा भगवान् के सम्मुख रखा। भगवान् ने हंसते हुए पूछा—'यह क्या है?"

माताजी ने कहा— हम लोगो को सेवा का समय ही नही मिलता, इसलिए सबने अपनी अपनी सेवा बांट ली है केवल आपकी स्वीकृति की देरी हैं।"

भगवान् ने सबकी सेवा पढी। वे तो घट-घट को जानने वाले हैं।

समझ गये, कि ये सब लोग हनुमान्‌जी को सेवा से वञ्चित करना चाहते हैं। सीधे न कहकर घुमा फिराकर कह रहे हैं द्राविण प्राणायाम कर रहे है। किन्तु मना भी कैसे करते ये भी तो सब भक्त है, आश्रित है। आश्रिता के मन को दुखाना तो दयालु दीनबन्धु जानते ही नही। बिना कुछ आपत्ति किये भगवान् ने अपना राजमुहर लगादा, हस्ताक्षर कर दिये, स्वीकृति दे दी। सबको बडी प्रसन्नता हुई।

निश्चय यह हुआ, कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा नव सवत्सरसे यह सदा के लिए लगेगी, चतुर्दशी और अमावस्या को सब अपनी अपनी सेवाएँ समझ लें। त्रयोदशी को स्वीकृति हुई। चतुदशी को हनुमान्‌जी का जन्म दिवस था, वे बडे उत्साह से भगवान् की सेवा को आये। उन्होन खडाऊँ उठाये। सीताजी ने कह दिया—"देखो, हनुमान् खडाउओ मे हाथ मत लगाना। यह तो मेरी सेवा है।" हनुमान्‌जी माताजी की आज्ञा को कसे टालते चुप हो गये, छत्र उठाने लगे, भरतजी ने कहा— यह मेरा सेवा है।" चँवर उठाने लगे लक्ष्मणजी बोले—"यह मेरी सेवा है।" हनुमान्‌जी आज चकित रह गये, कि सब सेवाएँ इन्होने ही बाँट ली। वे बोले—' भाई, मेरी कौनसी सेवा है।"

हँसते हुए लक्ष्मणजी बोले—"हम लोगो से जो बच जाय, वह तुम्हारी सेवा है।"

हनुमान्‌जी ने कहा—"दिखाओ, मुझे सब सेवाओ की सूची।"

तुरन्त लक्ष्मणजी ने सूची दिखायी। हनुमान्‌जी ने कई बार उसे आदि से अन्त तक पढा, उसम कोई सेवा शेष ही नही थी। वे बोले—"इसमे मेरी तो कोई सेवा है ही नही।"

सीताजी ने हँसकर कहा—"भैया, तू उस समय उपस्थित

ही नही था। अब तो सबकी सेवाएँ स्वीकृत भी हो गयी, महाराज की मुहर भी लग गयी। अब तुझे कोई सेवा दिखाई दे तू भी लेले।"

हनुमान्‌जी तो ज्ञानियो मे अग्रगण्य हैं। सोचकर बोले—"अच्छा, भगवान् को जब जमुहाई आवेगी, तब चुटकी बजाने की सेवा किसकी है।"

यह सुनकर सब लोग हँस पडे। भगवान् से भी न रहा गया। वे भी हंस गये। हँसते-हँसते सीताजी ने कहा—"भैया चुटकी बजाने की सेवा तेरी। जा आज से तू चुटकी वाला हुआ।" हनुमान्‌जी ने गम्भीर होकर कहा—'मैं ऐसे थोडे ही मानूंगा। जब आप सर्व लोगो ने पक्की लिखा-पढ़ी करालो है, तो मेरी भी लिखा पढी हो जाय। महाराज की मुहर लग जाय।"

भरतजी ने लिखी, भगवान् को तो सबकी सेवा स्वीकार करनी है, उन्होंने मुहर लगा दी हस्ताक्षर कर दिये। हनुमान्‌जी तुरन्त हाथ जोडकर भगवान् के मुख के सम्मुख खडे हो गये। भरतजी ने कहा—'हनुमान्‌जी तनिक पीछे हटकर खड़े हो, हम लोग सेवा कैसे करेंगे।"

हनुमान्‌जी ने दृढता के स्वर मे कहा— 'अब महाराज! सब लोग अपनी-अपनी सेवा करो। मेरी तो मुख की सेवा है। जमुहाई तो मुख मे ही आवेगी। भगवान् के स्नान भोजन घूमने आदि का तो समय नियत है। जमुहाई का तो कोई समय नहीं। न जाने कब जमुहाई आजाय, इसलिए मुझे तो मुख को ही देखते रहना रहना है।"

यह सुनकर सब लोग चकित रह गये यह इसने अच्छी सेवा लेली। हमे सेवा करने ही न देगा। भगवान् जब सभा से उठकर चले तो हनुमान्‌जी उनके मुख की ओर देखते हुए उलटे-

लटे चले। सब हँसने लगे, किन्तु सेवक तो सेवा के सम्मुख
सी को हँसी की ओर ध्यान नही देते। भगवान् जब रथ पर
राजे तो सारथी के पीछे उलटा मुख किये हनुमान्जी भी बैठ
ये। भगवान् जब गेंद आदि खेलते, तो उनके मुख को निहारते
ए आगे-आगे दौड़ने लगते। सबने कहा—"यह तो बड़ी आपत्ति
ा गयी।" अस्तु जैसे-तैसे सायंकाल हुआ। भगवान् महल
गये, व्यालू पाने लगे तो माता कौशल्या के सम्मुख ही बैठ
ये।

कौशल्याजी ने प्यार से कहा—"बेटा! हनुमान् तू भी प्रसाद
ले।"

हनुमान्जी बोले—"माँ! अब मैं जैसे पहिले भगवान् के पीछे
ता था, वैसे तो पा नही सकता। यही मेरे हाथ में दो चार फल
दे खाता रहूँगा, और भगवान् के मुख को देखता रहूँगा, ऐसा
हो मेरी सेवा मे भूल-चूक हो जाय। माता हँस पड़ी, वही
न्हे भोजन दे दिया। भगवान् के मुख को देखते-देखते वहीं
फा लगाने लगे। भगवान् कुल्ला करने चले तो वे भी आगे-
गे चले। सीताजी ने कहा—"तू सामने से हटता क्यों नही।"
धिकार के स्वर में हनुमानजी ने कहा—"हटूँ कैसे? मुझे
पनी सेवा में सावधान रहना है। आप अपनी सेवा करो, मैं
पनी करता हूँ।"

जानकीजी हँस पड़ी क्या कहती। जब भगवान् व्यालू
रके ऊपर चित्रसारी पर चढ़ने लगे, तो आगे-आगे उलटे
नुमान्जी भी उनके मुख की ओर निहारते हुए चले। चित्रसारी
भी उलटे-उलटे आगे घुस गये। भगवान् जब शैया पर
राजमान् हो गये, तो सीताजी ने कहा—"तू अब तो पिंड
ोड़ेगा भैया! जा बाहर जा।"

हनुमान्‌जी ने अधिकार के स्वर में बल-पूर्वक कहा—"बाहर कैसे जाऊँ भगवान् को जमुहाई आयी, तो चुटकी कौन बजावेगा ? मैं तो यहीं बैठा बैठा भगवान् के मुख को निहारता रहूँगा।"

जानकीजी ने मुख में कपडा ठूँसते हुए हँसते-हँसते कहा—तू बडा जंगली है रे ! देख भैया, माता-पिता जहाँ एकान्त में रहे, वहाँ पुत्र को रहना न चाहिये।"

हनुमान्‌जी ने—"यह तो मै जानता हूँ, इसे मुझे बताने की आवश्यकता नही, किन्तु रात में जमुहाई आने पर चुटकी कौन बजावेगा ?"

जानकी जी ने कहा—"जा भाग जा। चुटकी तेरे बदले में मैं बजादूँगी।"

हनुमान्‌जी ने दृढ़ता के साथ कहा—"आप कैसे बजा देंगी ? जब सेवा का बँटवारा हो गया, तो जिसकी सेवा वही कर सकता है। आपकी सेवा को मै नही लेता। फिर आप मेरी सेवा को क्यो छीनती हैं ?"

जानकीजी के तो हनुमान्‌जी बडे लाडले लडके थे, उनका इनके ऊपर अत्यत वात्सल्य था, उन्होने डाँटते हुए हँसते-हँसते कहा—"चल भग, बाहर करना अपनी सेवा।" यह कहकर उन्होने हाथ पकडकर हनुमान्‌जी को बाहर निकाला और भीतर से किवाड़े बन्द करली।"

हनुमान्‌जी ने मन में सोचा—"अच्छी बात है हमे क्या ? भीतर रहते तो भगवान् को जब जमुहाई आती तभी चुटकी बजाते, अब तो पता नही भीतर कब जमुहाई आजाय, इसलिये रात भर बैठे-बैठे चुटकी बजाते रहेंगे।" यह सोच करके चित्र-

सारी के ऊपर चढ गये और दोनों हाथों से लगे चुटने बजाने। उनकी अखड चुटकी चलने लगी।

भगवान् तो भक्तवत्सल ही ठहरे। उन्होंने देखा जब मेरा भक्त जमुहाई के लिये चुटकी बजा रहा है, तो मुझे भी जमुहाई लेनी चाहिये। मेरी तो प्रतिज्ञा है, जो मुझे जिस भाव से भजता है उसे मै भी उसी भाव से भजता हूँ। अब क्या है भगवान् को आने लगी जमुहाई पर जमुहाई। जैसे उधर उनकी अखड चुटकी चल रही थी, वैसे ही भगवान् को यहाँ अखड जमुहाई चलने लगी। मुँह बंद ही नही होता था। जानकीजी बडी घबडायी क्या हो गया महाराज को। वे बार-बार उनके श्रीअङ्ग को झकझोरती और कहती—"प्राणनाथ ! प्राणनाथ ! क्या है, क्या बात है ?"

किन्तु प्राणनाथ के प्राण तो अपने भक्त मे लगे थे, वे हाँ-हाँ करते। बोलते तो मुँह बन्द होता। मुख उन्हे बन्द करना नही था। अखड जमुहाई लेनी थी। अतः बार-बार पूछने पर भी हाँ-हाँ कर देते।

जानकीजी तो अत्यंत सुकुमारी ठहरी, वे तो वानर की मूर्ति चित्र मे भी देख लेती तो डर जाती। भगवान् की ऐसी दशा देखकर वे थर-थर काँपने लगी। डरी हुई लडखडाती गति से नीचे कौशल्या मया के पास आयी और बोली—"अम्माजी ! अम्माजी ! न जाने आपके बड़े लालजी को क्या हो गया है, वे मुँह ही नही बन्द करते।" यह सुनकर माता जैसी पडी थी वैसी ही दौड़ी गयी। राघव की ऐसी दशा देखकर वे अत्यंत भयभीत हुईं। वे कहने लगी—"हाय ! कोई भूत प्रेत लङ्का के के ऊपर आ गया। लंका मे बहुत-से राक्षस मारे थे, किसी मरे राक्षस ने ही घर दबाया। उन्होने तुरन्त भरतजी लक्ष्मण जी

तथा शत्रुघ्नजी को बुलाया। माँ रोने लगी। भूतनाशक औषधियो की पुटलियाँ लाकर श्रीराघव के कठ मे हाथो मे बाँधी। मोरपख जलायी। कई वस्तुओ की धूनी दी। मिरचाओ को लेकर अग्नि मे जलाया। तवे पर नमक राई को जलाया। किसी से कोई लाभ नही। तब वे लक्ष्मणजी से बोली—"भैया, किसी भूत उतारने वाले, स्याने ओझा या तान्त्रिक को बुलाओ। अवश्य ही कोई भूत बाधा है। माता को पता नहीं यह भक्त वत्सलता रूपी भूतिनी की भयकर बाधा है।

लक्ष्मणजी कहा—"अम्मा! भूत तो अशुचि लोगो के शरीर मे आते है, श्रीराघव तो नित्य शुचि हैं।"

माता ने डाँटकर कहा—'अरे, तुम सब ऐसे ही कहते हो। ऐसे ही कहकर तुमने मेरे बच्चे को राक्षसो से भिडा दिया। जा तू किसी तत्र मत्र जानने वाले को बुला ला।"

लक्ष्मणजी ने कहा—"मै गुरुजी को बुलाये लाता हूँ, वे जैसा कहेगे वैसा होगा।"

माता ने शीघ्रता के साथ कहा—'हाँ, हाँ, जा। यह तैने अच्छी बतायी। वे गायत्री मत्र पढ कर जल को कुशा से छिडक देंगे, सब भूत प्रेत बाधा शात हो जायगी।"

लक्ष्मणजी तुरन्त गये, गुरुजी को बुला लाये। गुरुजी ने देखा भगवान् मुख बद ही नही करते। उन्होने उनके सिर पर हाथ फेरा और स्नेह से बोले—"रामभद्र! क्या बात है? यह क्या लीला कर रहे हो।"

पडे ही पडे भगवान् ने गुरुजी के पैर छुए और—हो हाँ करने लगे। वशिष्ठजी बडे हँसे यह आज क्या लीला हो रही है।"

माता रोने लगी और गुरुजी के पैरो पडकर कहने लगी—"महाराज! बच्चा है, जगल मे बहुत से भूत प्रेत रहते हैं, राक्ष-

सोको भी इसने मारा है कोई भूत, प्रेत या राक्षस ही इसके शरीर मे घुस गया है। आप गायत्री मत्र पढ दें। कुशाका जल छिडक दें। कुछ भभूत लगा द। किसी की मानता मनानी हो, तो मानता मना दे, दान पुण्य करा दें। मेरे बच्चे को अच्छा कर दे।"

वशिष्ठजी ने हंसते हंसते कहा—"महारानीजी! भूत-बाधा-को तो मैं भली भाँति जानता हूँ भूत बाधा तो है नही।'

माता ने अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ पूछा—'तो क्या बात है महाराज!"

वशिष्ठजी ने कहा—"किसी भक्त का अपराध हो गया है।" फिर भरत शत्रुघ्न तथा लक्ष्मणजी से पूछा—"तुम लोगो ने आज कोई नयी बात तो नही की है?'

लक्ष्मणजी ने कहा—"नही महाराज! नयी तो कोई बात नही हुई।"

गुरुजी ने पूछा—'तुम लोगो ने हनुमान्‌जी से तो कुछ नही कह दिया।'

बीच मे ही जानकीजी बोल उठी—'हाँ, महाराज! हनुमान-जी के साथ इन लोगो ने बडा अन्याय किया है, उनकी सब सेवा छीन ली हैं।"

मन ही मन तीनो भाइयो न सोचा—'देखो, इन्होने ही तो सब स्वीकृत कराया और सब अपराध हमारे सिर मढ दिया। छोटो को बडी विपत्ति है। छोटा बनना ही पाप है। बोलें तो डाँट खायें न बोल तो डाँट खायें। बडे लोग जो करें वह सब ठीक, छोटे जो करें वह सब अपराध, किन्तु उनके सम्मुख कोई कहता क्या, सब चुप रहे।

गुरुजी ने कहा—"तो उनकी सेवा नही रही।"

जानकीजी ने कहा—"उन्होने अपने आप जमुहाई आने पर चुटकी बजाने की सेवा ली थी और उसे भगवान् ने स्वीकार भी कर लिया था।"

हँसकर गुरुजी बोले—"जब भगवान् ने स्वीकार ही कर लिया, तो वे जब चुटकी बजावेंगे तभी ये जमुहाई लेंगे। प्रतीत होता है, वे कहीं चुटकी बजा रहे होंगे। खोजो उन्हे कहाँ है।"

अब हनुमान्‌जी की खोज हुई। भरतजी ने देखा चित्रसारी के ऊपर से अखड चुट्ट-चुट्ट की ध्वनि सुनायी देती है। तुरन्त वे ऊपर चढ गये। देखा नेत्र बन्द किये हनुमान्‌जी दोनो हाथो से चुटकी बजा रहे हैं।

भरतजी ने कहा—"हनुमान्‌जी! हनुमान्‌जी! क्या कर रहे हो? चलो गुरुजी बुला रहे हैं।"

नेत्र बन्द किये ही किये मारुतिनन्दन बोले—"मुझसे बात मत करो, मैं अपनी सेवा मे सलग्न हूँ।"

यह सुनकर भरतजी लौट गये, लक्ष्मणजी आये, शत्रुघ्नजी आये, किन्तु उन्होने किसी की सुनी ही नही, तब गुरुजी स्वय आये और बोले—"अरे, भाई हनुमान्! क्या तुमने यह खेल बना रखा है?"

गुरुजी को देखकर उन्होने नेत्र खोले और चुटकी बजाते-बजाते ही उनके पैर छुए। गुरुजी ने कहा—"अरे, भाई! चुटकी बन्द करो, जब तक चुटकी बन्द न करोगे, महाराज जमुहाई ही लेते रहेंगे।"

हनुमान्‌जी ने कहा—"महाराज! जब तक भगवान् जमुहाई लेंगे, तब तक मैं चुटकी बन्द न करूंगा, मेरी तो सेवा ही है।"

तब तक सीताजी भी आ गयी और बोली—"अरे भैया, हमारे अपराध को क्षमा कर दें। सब सेवा तेरी ही रही। अब

तू जो भी करेगा, उसमे हम कोई हस्तक्षेप न करेंग।" यह कह कर वे पकडकर भगवान् के सम्मुख ले गयो। गुरुजी ने हनुमान्जो के हाथ पकड लिये तव भगवान् ने मुख बन्द किया। सवको घिरा देखकर भगवान् ने पूछा—'आप सव यहाँ क्यो एकत्रित हुए हैं।"

हंसते हुए गुरुजो ने कहा—"आपकी भक्तवत्सलता की लीला को देखने हम आये हैं। धन्य है प्रभो! आपकी भक्त-वत्सलता। हनुमानजी ही आपके सच्चे सेवक हैं और आपही उनके सच्चे स्वामी हैं।"

इस पर भगवान् ने कहा—"हनुमान्जी की सेवा से हम अत्यन्त सन्तुष्ट हैं आज से आपका नाम भक्ताग्रगण्य हुआ। आपके आपक जन्म दिन के दूसरे दिन दीपावली को जो आपकी घी की मूर्ति वनाकर चूरमा (मलीदा) से जो आपका पूजन करेंगे, उनसे हम सदा सन्तुष्ट रहेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उसी दिन से दिवाली के दिन सब लोग घृत का लांगुरा बनाकर पूडियो को मीडकर उसमे खील वतासे, खीर और चीनी मिलाकर-चूरमा वनाकर-प्रत्येक घर मे लाँगुरा की पूजा होती है। वे लाँगुरा और कोई नही हनुमान्जो ही है। लगूर से लाँगुरा बन गया। आजपर्यन्त घर-घर मे दिवाली के दिन उनकी पूजा होती है। सो, ऋषियो! भगवान् वडे ही भक्तवत्सल हैं, उनका जो जिस प्रकार भजन करता है, वे भी उसे उसी प्रकार फल देते हैं। जैसे को तसे बन जाते हैं। भक्तो की प्रतिज्ञा पूरी करने को वे सब कुछ कर सकते है। अखिल ब्रह्माण्डो के अधिनायक यशोदा मैया की गोदी म वालक बने पडे रहते हैं। मक्खी मच्छर श्रीअङ्ग पर वैठ जाते हैं, तो उन्हे भी नही उडा सकते हैं। रोते है और रो रोकर माताजी

से प्रार्थना करते हैं, मेरी मक्खी को उडा दे जो चराचर विश्व को अहार प्रदान करते हैं व माता के स्तन के दूध के लिये रोते हैं, और गोद मे जाने को व्याकुल हो जाते हैं। ऐसे भक्तवत्सल भगवान् को छोडकर जो जीव अन्य किसी की शरण मे जाते हैं, वे कामधेनु के सुन्दर स्वादिष्ट दूध को छोडकर मदार के दूध को पीने की इच्छा करते हैं। कल्पवृक्ष की छाया छोडकर एरड के नीचे दौडते हैं। गगाजल को छोडकर मोरी का जल पीना चाहते हैं। यह मैंने अत्यत सक्षेप म भगवान् की माता को विश्वरूप दिखाने की लीला कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा— 'सूतजी ! आपने भगवान् के नाम करण की लीला तो कहा ही नही। भगवान् एक वर्ष के भी हो गये। नाम तो दशव दिन रखा जाता है।

विस्मय स्वर मे सूतजी कहा—"अजी, महाराज ! लीला के आवेश मे मैं भूल ही गया मै ही नही भूला मेरे गुरुजी—भगवान् शुक-भी भूल गये थे। कोई बात नही मिश्री क कूंजे मे जिधर से भी मुख मारो, उधर ही मीठा लगेगा। लाइय अब मैं भगवान् के नाम करण का लीला को सुनाता हूं। आप दत्त चित्त होकर श्रवण करें।'

छप्पय

सहसा सत मुखमाँहि निरखि सब सहमी जननी।
थर-थर कापहिँ मनहुँ जाल लखि डरपति हरनी॥
निहि हित तरसत विज्ञ मातु-सो विपदा चीन्ही।
निश्छल निरख्यो नेह सवरण लीला कीन्ही॥
सूत कहैं-बल श्याम की नाम-करण लीला कहू।
भूल्यो हौं आवेशमहँ, कृष्ण भाव भावित रहू॥

— ❀ —

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भाग सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इ भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते है सैकड़ों भागवतचरित व्यास बाजे तबले पर इसकी क कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सु जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६) ५० मात्र है। थोड़े समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ८ हैं। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती हैं सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

प्राप्तिस्थान—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

ध्रुव को भगवद्दर्शन

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(एकादश खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-०० रुपये

चतुर्थ संस्करण १००० प्रति | अधिक वैशाख कृष्ण २०२९ मई १९७२ | मूल्य—१.६५

मुद्रक बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१. ध्रुवजी का जन्म	१
२. पिताजी के द्वारा ध्रुवजी का तिरस्कार	७
३. ध्रुवजी के लिये माँता का उपदेश	१३
४. माँता के उपदेश से ध्रुवजी का वन-गमन	२२
५. ध्रुवजी को नारदजी के दर्शन	२९
६. ध्रुवजी को नारदजी का उपदेश	३९
७. नारदजी द्वारा ध्रुवजी को भगवद्ध्यान का उपदेश	४६
८. ध्रुवजी को नारदजी द्वारा पूजा पद्धति का उपदेश	५५
९. ध्रुवजी को विदा करके नारदजी का उत्तानपाद के समीप आगमन	६२
१०. पुत्र ध्रुवजी की चिन्ता में निमग्न महाराज उत्तानपाद	७०
११. मधुवन में ध्रुवजी	८०
१२. मधुवन में ध्रुवजी का घोर तप	८९
१३. ध्रुवजी के तप से संतप्त प्राणियों का प्रभु के पास जाना	९६
१४ ध्रुवजी को भगवान् के दर्शन	१०२
१५. ध्रुवजी द्वारा भगवत् स्तुति और श्रीहरि द्वारा उन्हें वर प्राप्ति	१०८
१६. ध्रुवजी का खिन्न मन होकर घर लौटने का कारण	११५
१७. जन्मान्तरीय संस्कारों का फल	१२२
१८. संगति का प्रभाव	१४०
१९. निष्काम भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है	१४७
२०. ध्रुवजी का आगमन सुनकर माता-पिता को प्रसन्नता	१५८
२१. ध्रुवजी का पिता-माता के साथ प्रेम सम्मिलन	१६५
२२. ध्रुवजी का पिता के भवन में प्रवेश	१७३
२३. ध्रुवजी का राज्याभिषेक और गार्हस्थ जीवन	१८०
२४. भ्रातृवध के कारण ध्रुवजी का यक्षों पर कोप	१८७
२५. ध्रुवजी का यक्षों के साथ घोर युद्ध	१९३
२६. स्वायंभुव मनु का पौत्र ध्रुव को यक्ष वध से रोकना	२००
२७. स्वायंभुव मनु की आज्ञा से ध्रुवजी की यक्षवध से निवृत्ति	२११
२८. ध्रुवजी को धनद कुबेर का वरदान	२१७

ध्रुवजी का जन्म

[२१८]

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ
वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥
जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

शतरूपा पति स्वायम्भुव मनु तेज तपोयुत ।
प्रियव्रत अरु उत्तानपाद तिनके द्वै शुभ सुत ॥
हीं महिषी उत्तानपादकी सुरुचि सुनीती ।
किन्तु नृपतिकी अधिक सुरुचि पत्नीपै प्रीती ॥
सुरुचि पुत्र उत्तम जन्यो, नृप को अति प्रिय ह्वै गयो ।
बढ़ा सुनीति तिरस्कृता, तिनको शुभ सुत ध्रुव भयो ॥

गुण अवगुण ससार में मिले-जुले रहते हैं। यह ससार प्रवाह अनादि है। जब से जीव इस देह में अहबुद्धि करके कर्मों का

---

* स्वायम्भुव मनु के उनकी पत्नी शतरूपा म प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। य दानो ससार की रक्षा मे स्थित थे, क्योंकि भगवान् के कलावतार थे। उत्तानप द के दो सुनीति और सुरुचि नाम की पत्नियाँ थीं, किन्तु उन दोनो म सुरुचि उन्हें अधिक प्रिय थी, दूसरी सुनीति में उनका अनुराग नही था। सुनीति के ही सुत ध्रुवजी थे।

भोग करने लगा है, तभी से उसके शरीर में गुण और दोष लगे रहते हैं। गुणों का अत्यधिक प्राधान्य हो, तो देवयोनि मिलती है, दोषों का प्राधान्य हो तो असुर योनि। दोनो सामान्य रूप में हो तो मनुष्य योनि प्राप्त होती है। बड़ों में भी कुछ दोष रहते हैं, किन्तु उनकी महत्ता के कारण वे अवगुण छिप जाते हैं। मानवी सृष्टि में गुण, दोष का होना स्वाभाविक है, किन्तु मनुष्य में यही विशेषता है, कि वह अपने दोषों को समझकर उनका मार्जन कर सकता है। अन्य भोग योनियों में ऐसा नहीं होता। मानवी सृष्टि का विस्तार मनु पुत्रों से ही हुआ है।

विदुरजी ने मैत्रेय मुनि से पूछा—"भगवन्! यह बात तो आपने बताई कि भगवान् ब्रह्मा के दो रूप हो गये, आधे से स्त्री, आधे से पुरुष। पुरुष का नाम स्वायभुव मनु और स्त्री का नाम शतरूपा। ये दो ही सृष्टि के प्रथम स्त्री, पुरुष थे। इन दोनो ने विवाह करके आकूति, देवहूति और प्रसूति ये तीन कन्यायें तथा प्रियव्रत, उत्तानपाद, ये दो पुत्र उत्पन्न किये। आपने तीनों कन्याओं के वंश का वर्णन तो कर दिया, किन्तु पुत्रों के वंशों का वर्णन नहीं किया। मनु पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद के वंश को श्रवण करने की मेरी बडी उत्कंठा है। अतः कृपा करके इनके वंश का भी वर्णन मेरे प्रति और करें।"

विदुरजी के ऐसे प्रश्न करने पर मैत्रेय मुनि कहने लगे—"विदुरजी! मैं आपके सम्मुख सतरूपा पति महाराज स्वायम्भुव मनु के वश का वर्णन करूँगा। भगवान् छः रूप रखकर इस सृष्टि का पालन करते हैं। १—मनु, २—मनुपुत्र, ३—देवताओं के गण ४—इन्द्र, ५—सप्तर्षि और ६—मन्वन्तरावतार। अतः मनु भी भगवान् के अंश हैं। उनके पुत्र भी भगवान् के कलावतार होने से संसार का पालन-पोषण करते हैं। मनुपुत्र महाराज

प्रियव्रत का चरित्र तो मैं आगे कहूँगा, इस समय तो मैं आपके सामने परम भागवत उत्तानपाद के वंश का वर्णन करता हूँ।

स्वायम्भुव मनु के पुत्र दूसरे उत्तानपाद बड़े ही यशस्वी हो गये हैं। वे ब्रह्मावर्त के प्रथम राजा थे। उनके दो रानियाँ थीं, बड़ी का नाम सुनीति और छोटी का नाम सुरुचि। सुनीति उतनी सुन्दरी तो नहीं थी, किन्तु स्वभाव की मृदु थी, मधुरभाषिणी थी, सद् असद् का उन्हें विवेक था, भगवान् के चरणों में उनका अनुराग था, वह समझती थी कि संसार के सभी पदार्थ असार हैं, सार तो एक श्रीसर्वेश्वर ही हैं।

इसके विपरीत सुरुचि अत्यधिक सुन्दरी थी, स्वभाव की कर्कशा थी, परुष वचन बोलने वाली थी, वह संसारी भोगों को ही सर्वश्रेष्ठ समझने वाली तथा बड़ी अहंकारिणी थी, विदुरजी! इस शरीर सौन्दर्य का एक तो मद वैसे ही अत्यधिक होता है, यदि शरीर सौन्दर्य के साथ धन ऐश्वर्य भी हो, तब तो फिर क्या पूछना है बन्दर वैसे ही चञ्चल है! ऊपर से उसे भाँग पिलाया जाय, गिलोय वैसे ही कड़वी होता है, फिर उसे नीम पर चढ़ा दिया जाय, भाँग वैसे ही नशीली होती है, फिर उसमें ताँबा घोट दिया जाय, इस प्रकार ये जैसे आवश्यकता से अधिक मादक तथा कड़वे हो जाते हैं, उसी प्रकार सुरुचि भी गर्विणी तथा कर्कशा हो गई थी।

मनुष्य की दृष्टि ब्रह्माजी ने बाहर की ही ओर बनाई है। साधारणतया मनुष्य बाहरी सौन्दर्य पर ही लट्टू हो जाते हैं। भीतरी गुणों का आदर तो कोई विरले पारखी ही करते हैं। महाराज उत्तानपाद का भी अनुराग अपनी छोटी सुन्दरी रानी सुरुचि के ही ऊपर अधिक था। वे उसे ही अत्यधिक प्यार करते थे। नियमानुसार सुनीति बड़ी थी, अतः महिषी होने का अधिकार उन्हें ही था, किन्तु वे राजा की कृपापात्री न बन सकीं।

यदि मनुष्य के हृदय में ईर्ष्या न हो, तो वह पृथ्वी पर रहकर ही मुक्त है। बन्धन का कारण ईर्ष्या ही है। ईर्ष्या से ही राग, द्वेष, जलन, वैर लड़ाई-झगड़े सब होते हैं। ईर्ष्यावश ही हम दूसरों को उसके अधिकार से च्युत करना चाहते हैं। अपने को सर्वश्रेष्ठ बनाने के लिये ईर्ष्यावश हम दूसरों के विनाश के लिये भी उतारू हो जाते हैं।

सुरुचि के मनमें भी सौतिया डाह उत्पन्न हुआ। उसके मनमें तो खटका लगा था, कि मैंने जो राजा के हृदय पर इतना अधिकार कर लिया है, यह नियमानुसार उचित नहीं है। इसकी अधिकारिणी तो मेरी बड़ी सौत सुनीति देवी ही है, इसलिये वह सुनीति को अपने सुख में शूल समझने लगी। काँटे की भाँति सुनीति उसके हृदय में चुभने लगा। उसे भय था, कि सौन्दर्य तो सदा स्थाई रहने वाली वस्तु है नहीं, जहाँ मेरे सौन्दर्य में कमी हुई, वहाँ राजा मुझे छोड़कर उसे अपना लेंगे। वह बुद्धिमती है, गुणवती है, साधु स्वभाव की है, फिर मुझे उसके अधीन रहना पड़ेगा। उसका पुत्र राज्य का अधिकारी होगा। यह सब सोचकर वह सुनीति के विनाश की बातें सोचने लगी। उसने बड़ी रानी की बुराई करते करते राजा के ऐसे कान भरे, कि उनका मन सुनीति की ओर से और भी अधिक फिर गया। राजा तो सुरुचि के अधीन थे ही, उसके कहने से सुनीति को राजमहलों से निकाल भी दिया। वह बिचारी पति से परित्यक्ता होकर एकान्त में अपने दिन काटने लगी।

किसी समय महाराज भूले भटके सुनीति के यहाँ पहुँच गये। सुनीति के मन में तो कोई बुरा भाव था ही नहीं। वह तो महाराज को ही अपना देवता, सर्वस्व समझती थीं। वे मुझे न प्यार करें, उनको प्यार करने को और भी बहुत हैं। चन्द्रमा के [illegible] कुमुदिनी बहुत हैं, किन्तु कुमुदिनी के लिये तो चन्द्रमा एक

ही हैं। मेरी तो गति वे ही हैं। पतिव्रता के लिये पति कैसा भी हो, वह पूजनीय ही है। उस परित्यक्तावस्था में भी सुनीति को महाराज का कृपाप्रसाद प्राप्त हुआ, उनके गर्भ रहा और उसी दुखित अवस्था में ही उनके गर्भ से एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। जिसका नाम ध्रुव रखा गया। यह ध्रुव अपनी तपस्या और भगवत् भक्ति से अजर, अमर और सनातन हो गये। आज भी वे आकाश मे प्रकाशित होकर अपनी माँ सुनीति के गौरव को बढाते हुए, उसके मुख को उज्वल बनाये हुए हैं। दुःख में ही भगवान् का निरन्तर स्मरण होता है, जो गर्भिणी माता, निरन्तर भगवत् स्मरण करती रहती है, उनके गर्भ से अवश्य ही भगवत् भक्त पुत्र उत्पन्न होता है। प्रह्लादजी की माता देवताओं से सताई गई थी, कृपावश नारदजी उसे अपने आश्रम पर ले आये। दुःखिनी अनाथा वह दैत्यपत्नी मुनि की सेवा करती हुयी, निरन्तर भगवत् स्मरण करती रही, मुनि से कथा-वार्ता भगवत्चर्चा सुनती रही। तभी तो सुरासुर वन्दित भक्ताग्रगण्य श्रीप्रह्लादजी का उसके गर्भ से जन्म हुआ। माता सुनीति देवी भी अपने दुःख के समय को प्रभु की देन समझकर सन्तोष के साथ काटती हुई रात्रि दिन भगवान के ही ध्यान में मग्न रहती थीं। पुत्र हो जाने से उनका सम्पूर्ण ममत्व उसी मे केन्द्रीभूत हो गया था। उसे ही अपने पति की प्रतिकृति समझकर वे बडे स्नेह, बड़े लाड, प्यार से उसका पालन पोषण करने लगीं।

इधर सुरुचि रानी ने भी एक पुत्र पैदा किया। उसका, माता ने बडे स्नेह से नाम रखा "उत्तम"। बाहरी सुरुचि से बाहरी उत्तम की उत्पत्ति होती है, किन्तु उसकी उत्तमता स्थाई नहीं रहती। वह शीघ्र नष्ट होती है, किन्तु जो अटल है, ध्रुव है, वह सदा स्थाई रहता है। सुरुचि का पुत्र प्यारा दुलारा उत्तम होने पर भी वह अधम है, अध्रुव है, किन्तु तिरस्कृता सुनीति का दुरूप

सुत होने पर भी श्रेष्ठ है, ध्रुव है, स्थाई है। इसलिये सुरुचि अर्थात् प्रेम को छोडकर सुनीति अर्थात् श्रेय को ही अपनाना चाहिये। श्रेय से ही ध्रुवत्व प्राप्त हो सकता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! दोनों ही राजकुमार अपने-अपने यहाँ बैठने लगे। उत्तम राजमहलों में रहकर माता-पिता के प्यार को पाकर उन दोनों की गोदी में सुख से बढ़ने लगा और ध्रुव अपनी माँ की कुटी में अपनी एकाकी तिरस्कृता जननी के वात्सल्य स्नेह को पान करते हुए, हरि गुणगान और श्रवण करते हुए बढ़ने लगे।

छप्पय

परमसुन्दरी सुरुचि भूप वशमें करि लीन्हें।
ध्रुवकी मातु सुनीति दुःख ताकूँ बहु दीन्हें॥
प्रभु सुमिरन नित करे पत्र कूँ जिही सिखावै।
बेटा! जगमहँ पुरुष भाग्य ही तें सब पावै॥
हरि चिन्तन ही लाभ अति, हरि सुमिरन ही श्रेष्ठ सुख।
परम कष्ट हरि विस्मरण, शरणागतकूँ कवन दुख॥

—०—

पिता के द्वारा ध्रुवजी का तिरस्कार

[२१९]

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन् ।
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ॥*।

(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

एक दिनाकी बात गये ध्रुव महलनि भीतर ।
उत्तमकूँ लै गोद मोद यत बैठे नृपवर ॥
ललकि गोदमहँ चढ़न मनोरथ ध्रुव ने कीन्हों ।
किन्तु सुरुचि रुचि निरखि गोद सुत नृप नहिँ लीन्हें ॥
ध्रुव हिय की इच्छा लखी, सौतेली माँ हँसि परी ।
सुमिरि सौतिया डाह कूँ, ध्रुव माँ की निन्दा करी ॥

बाल हृदय कितना सरल, कितना सुकोमल, कितना भोला-भाला होता है, उसमें राग-द्वेष की गन्ध नहीं, अपने पराये का विशेष ध्यान नहीं। ऊँच नीच रूपी असाम्यता नहीं, जहाँ प्रेम देखा, वहीं चले गये। जिसने प्यार से बुलाया, उसी की गोदी में बैठ गये, जिसने खाने को दिया खा लिया, जिसने मुँह चूमना चाहा उसी से लिपट गये। फूल की तरह सदा खिले रहना

---

* एक दिन महाराज उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद मे लिये हुए थे। उसी समय ध्रुव भी राजा की गोद मे चढना चाहते थे, किन्तु राजा ने उनका अभिनन्दन नही किया, उन्हे गोदी मे नही लिया।

मोद में भरकर सदा किलकते रहना यही बच्चों का व्यापार है, भगवान् की भाँति वे भी भाव के भूखे हैं, वे भी प्रभु की भाँति भक्तों के वश में हो जाते हैं। जैसे भगवान् बिना किसी स्वार्थ के क्रीडा करते रहते हैं, उसी प्रकार बच्चे भी क्रीडा प्रिय हैं, तभी तो हमारे यहाँ बच्चों को गोपाल, कहने की प्रथा है। सचमुच बालक गोपाल के साकार स्वरूप है। इसीलिये अवधूत परमहंस बालकों से बडा स्नेह करते हैं, बालकों के साथ खेलते हैं और स्वयं बालक बन जाते हैं।

जिस प्रकार बच्चे तनिक फूल दिखाने पर ही लट्टू हो जाते हैं, उसी प्रकार तनिक-सी डाँट डपट पर वे रो भी पड़ते है, उनका हृदय छुई-मुई की भाँति है, जहाँ किसी ने अपमान और तिरस्कार पूर्वक उनकी ओर देखा कि उनका हृदय कुम्हिला गया, फिर वे अपने को रोकने मे समर्थ नहीं होते।

माता सुनीति ने अपने इकलौते प्यारे बेटे को अत्यन्त प्यार के साथ सम्पूर्ण ममता बटोरकर सम्पूर्ण आशाओं को उसी पर केन्द्रित करके कृपण के धन के समान, अपने हृदय के टुकड़े ध्रुवको पाला-पोसा। पलकें जैसे आँखों की रक्षा करती हैं, पर घर से आई नई बहू का जैसे अच्छे स्वभाव वाली स्नेहमयी सास ध्यान रखती है, वैसे ही वह सदा उसकी देख रेख करती थी। उसे रोना होता तो छिपकर रो लेती, बच्चे के सामने वह सदा हँसती रहती। उसने उसे स्नेह भरित हृदय के झुक्षने में झुलाया था। प्रेमपीयूष पिलाकर प्रेमपूर्वक पाला पोसा था। स्वयं गीले में सोती उसे सूखे मे सुलाती, स्वय नहीं खाती उसे खिलाती। उस अमूल्य निधि को पाकर वह पति के तिरस्कार को भी भूल गई, राजरानी के पद की उसने चिन्ता नहीं की। मेरा बच्चा जी पड़े, यह बडा हो जाय, यही मेरे लिये सब कुछ है। इसी के सहारे जीवन के शेष दिनों को राम-राम रटती हुई काट ले

जाऊँगी। माँ नित्यप्रति विविध भाँति के मनोरथ करती, देवताओं की मनौती मनाती बच्चे को भाँति-भाँति की बातें सुनाकर रिझाती, उसे प्यार करती, चूमती-चाटती और उसके साथ तन्मय हो जाती। शनैः-शनैः बच्चा बढ़ने लगा। घुटनुओं के बल चलने लगा, तुतली बानी मे बोलने लगा। अम्मा को 'अम्ला' कहकर पुकारने लगा। इसी प्रकार बढते बढते पाँच वर्ष का हो गया। बच्चे ने जिज्ञासा की—"अम्मा! हमारे पिता कहाँ रहते हैं?"

माँ का हृदय रो पडा, किन्तु हाय रे मातृ-हृदय! उन भीतरी आँसुओं को भीतर ही भीतर पीकर, ऊपर से हँसते हुए माँ ने उँगली से पिता का महल दिखा दिया। बच्चों को तो कोई कुतूहल की वस्तु चाहिये। बाल्यकाल मे नई वस्तुओ का परिचय पाने का बच्चो को बडा कुतूहल होता है। जिस वस्तु को भी देखते हैं, उसी से परिचित होना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध की भाँति भाँति की बातें पूछते हैं। उनके सब प्रश्नो का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! बालक ध्रुव कुतूहलवश एक दिन खेलते खेलते अपने पिता के महलो मे चले गये। कैसे भी सही, थे तो वे बडी महारानी के पुत्र ही। नौकर चाकर उनका उसी प्रकार आदर करते थे। यद्यपि राजा अपनी छोटी रानी सुरुचि के वश में थे, फिर भी पुत्र के प्रति उनका आन्तरिक स्नेह तो था ही। बूढी दासियाँ बडे सत्कार से ध्रुव जी को भीतर ले गईं। दूर से उन्होंने सिंहासन पर बैठे हुए राजा को दिखाकर ध्रुव से कह दिया—"कुमार! अपने पिता के पास जाओ।"

इतने सजे बजे उच्चासन पर पिता को देखकर ध्रुव की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। अत्यन्त उल्लास के साथ बडी उत्सुकता से कुमार ललककर पिता की गोद की ओर बढ़े। उस

समय महाराज उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद में लिये प्यार कर रहे थे। ध्रुवजी का हृदय भी पितृ प्रेम के लिये व्याकुल होने लगा। उनकी भी अभिलाषा हुई, पिता मुझे भी इसी प्रकार गोदी में लेकर प्यार करें। मुझे भी स्नेह से चूमें। अपने सगे पुत्र को इस प्रकार गोदी में चढ़ने को उत्सुक देखकर पिता का हृदय भर आया, वे भी उसे लेना ही चाहते थे कि समीप में खड़ी सुरुचि आँखों में ही संकेत कर दिया—'खबरदार, यदि इसे गोद में लिया तो ?" राजा तो उसके वश में ही थे, बेचारे बच्चे को उन्होंने उठाया नहीं। उसका अपमान किया। बच्चे के कोमल हृदय पर आघात हुआ। इस तिरस्कार से नवनीत के समान स्निग्ध बाल हृदय को ठेस लगी। इतना ही होता तो बच्चा जैसे-तैसे सह भी सकता था, उसकी विमाता ने घाव पर नमक छिड़क दिया। अपने विष बुझे तीक्ष्ण वाग्बाणों से बच्चे के हृदय को छेद दिया।

सूखी हँसी हँसकर तिरस्कार के स्वर में अपनी सौत को अपमानित करती हुई बच्चे को सुनाकर अत्यन्त ईर्ष्या के सहित उत्तम की माँ सुरुचि बोली—"बेटा तुम राजसिंहासन पर बैठना चाहते हो। उत्तम की समता करने को लालायित हो ? चक्रवर्ती की गोद में चढ़ने को मचल रहे हो ? यह तुम्हारा मनोरथ व्यर्थ है।"

ध्रुवजी ने कहा—"माँ ! क्या मैं महाराज का पुत्र नहीं हूँ ?"

द्वेषाग्नि में जलती हुई मीठे तिरस्कार के स्वर में सुरुचि ने कहा—"वत्स ! मैं मानती हूँ, तुम राजपुत्र हो, किन्तु राजपुत्र होने से ही कोई सिंहासन का अधिकारी नहीं हो जाता। राज-सिंहासन पर तो अत्यन्त पुण्यों से बैठना होता है। तुम्हारे पुण्य हैं तो सही किन्तु अल्प हैं। यदि तुम मेरे गर्भ से उत्पन्न हुए होते तो इस हिंसन पर बैठने के अधिकारी हो सकते थे, किन्तु तुमने

तो मेरी दासी के गर्भ से जन्म लिया है। हा, यदि तुम बैठने को अत्यन्त ही उत्सुक हो तो मैं तुम्हे एक उपाय बताती हूँ। तुम घोर तप करो, उस तपस्या के प्रभाव से फिर मेरी कोख से पैदा होओ तब तुम इस आसन पर बैठने के अधिकारी बन सकते हो।"

ध्रुव बालक ही थे, इन वचनों को सुनते ही उनका हृदय भर आया। वे एक शब्द भी फिर न बोल सके। अपनी माता की सौत के ऐसे तीक्ष्ण अपमानयुक्त वचन सुनकर उन्हे उसी प्रकार क्रोध आया, जैसे अत्यन्त भूखे पुरुष के सम्मुख से परसा थाल उठा लेने पर उसे क्रोध आ जाता है। दण्ड से मारे सर्प के समान वे फुफकार छोडने लगे। क्रोध से उनके ओठ फरकने लगे। दुःख से उनकी आँखों से श्रावण भादो की वर्षा के समान भर-भर आँसू बहाने लगे। उनका गला भर आया। उन्हे एक क्षण भी वहाँ रहना भार-सा प्रतीत हो रहा था। रोते-रोते उन्होंने एक बार अपने पिता के मुख की ओर देखा, राजा के मुख मण्डल पर विषाद विवशता, व्याकुलता तथा दुःख के चिन्ह स्पष्ट प्रतीत हो रहे थे, बच्चे ने फिर किसी की ओर न देखा। वह ढाह मार-कर रोते हुए अपनी माता के समीप चल दिया। अबोध बालक का आश्रय माता की गोदी के अतिरिक्त और कौन है। ध्रुव अत्यन्त ही करुण स्वर मे रोते जाते थे। उन्हें इस प्रकार रोते हुए देखकर वात्सल्य स्नेहवश बहुत से स्त्री पुरुष उसके पीछे पीछे लग लिये, पर बच्चा किसी की ओर देखता भी नहीं था। वह तो अपने करुण क्रन्दन से आकाश मण्डल को, दशों दिशाओं को भर देना चाहता था।

अपने लाल को, अपने हृदय के टुकडे को, अपनी आँखों के तारे को, अपने सबसे प्यारे दुलारे पुत्र को इस प्रकार रुदन करते हुए आते देखकर माता का हृदय धक् से हो गया। जैसे हाल

की व्याई गौ जङ्गल से आकर दौड़कर अपने वत्स से मिलती है, उसी प्रकार शीघ्र से दौड़कर माता ने लाल को लपककर उठा लिया। उसे गोद में बिठाकर, अंचल से उसके आसुओं को पोछकर बार-बार मुख चूमकर, अत्यन्त ही स्नेह से माँ बोली—"बेटा! तेरा किसने तिरस्कार किया है? इस राज्य में ऐसा किसका साहस है जो तेरा अपमान करे? तू तो सम्राट् का पुत्र है। चक्रवर्ती का कुमार है, तेरी ओर उँगली उठाने का साहस किसका हो सकता है? तू अपने दुःख का कारण मुझे बता दे।"

स्नेहमयी माँ की गोदी पाकर बच्चे का हृदय और भी उमड़ने लगा। वह फूट-फूटकर और जोरों से रोने लगा। रोते-रोते उसकी चिकियाँ बँध गईं, एक भी शब्द उसके मुख से नहीं निकला। माँ उससे बार-बार पूछती, उसे बार-बार पुचकारती बार-बार छाती से चिपकाती। क्षण-क्षण में आँचल से आँसू पोंछती, किन्तु ध्रुव और भी अधिक इन बातों से रोते। वे एक शब्द भी कहने को समर्थ न हुए।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अपने बच्चे की ऐसी दशा देखकर माता भी रोने लगी। माता के रुदन से सम्पूर्ण प्रकृति रोती-सी दिखाई देती थी।"

छप्पय

बालक तें यों विहँसि विमाता बोली बानी।
बेटा! व्यर्थ विषाद करे तू अति अज्ञानी॥
यद्यपि राजा तनय किन्तु मम कोखि न जायो।
तू सुनिती के गर्भ माहिँ किहि अघ ते आयो॥
अब तप करि मम उदर तें, लेहि जन्म सम्भव जबहिँ।
उत्तम सम नृप अङ्क महँ, बैठि सकेगो तू तबहिँ॥

ध्रुवजी के लिये माता का उपदेश

[२२०]

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व—
मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम् ।
आराधयाधोक्षजपादपद्मम्,
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ११ श्लोक)

छप्पय

सुनत विमाता वचन कोध ध्रुव कूँ अति आयो ।
फरके दोनों ओठ रोष सब तन महँ छायो ॥
खिसियानों फिरि रोइ मातु ढिंग चल्यो रिस्यानों ।
मारयो बालक सर्प दण्ड तें मणिधर मानों ॥
रुदन करत निज सुत लख्यो, दौरि गोद माता लयो ।
सुत मुख में निज मुख धर्‌यो, चूम्यो फिर धीरज दयो ॥

मातृ हृदय बनाते समय ब्रह्माजी ने पता नहीं किस मसाले का प्रयोग किया था, ज्ञात नहीं किस वस्तु का बीच-बीच में

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी ! पुत्र के रुदन का कारण सुनकर माता कहने लगी—"बेटा ! तेरी सौतेली माता ने सत्य ही बात कही है । यदि तू उत्तम के समान राजसिंहासन पर बैठना चाहता है तो ईर्ष्या द्वेष छोड़कर उसके वचनों का पालन कर—अधोक्षज भगवान् के चरण कमलों की उपासना कर ।"

सम्पुट लगाकर उसे बनाया था। उसमें पुत्र के लिये कितना ममत्व, कितना वात्सल्य, कितनी शुभ कांक्षायें, कितनी सहनशीलता, कितना त्याग, कितना अनुराग भर दिया था—यह कहा नहीं जा सकता। अपने प्यारे पुत्र को देखकर माता का हृदय स्वयं ही उसी प्रकार द्रवीभूत होने लग जाता है, जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत हो जाती है। माता अपने पुत्र के लिये दुःख सह सकती है, उसके सुख के लिये कठिन से कठिन, दुष्कर से दुष्कर काज कर सकती है, भारी से भारी आपत्तियों को झेल सकती है। अपने को दुखी बनाकर उसको सुख पहुँचाने में उसे आत्मतोष होता है, आनन्द आता है। अपने तनय के लिये सब कुछ सहने की शक्ति होने पर भी वह उसके अपमान को देखकर क्षुभित हो जाती है। उसे सहन करने की शक्ति उसमें नहीं है। इससेउसका हृदय फटने लगता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महारानी सुनीति देवी बड़ी विदुषी थी। वह संसार की गति विधि सब समझती थी, इसीलिये उसने अपने पुत्र पर यह कभी भी प्रकट नहीं होने दिया, कि वह राजा की परित्यक्ता पत्नी है। उसका हृदय सदा रोता रहता था, किन्तु पुत्र के सम्मुख उसने कभी दुःख के आँसू नहीं बहाये। उसका चित्त सदा विषादयुक्त बना रहता था, किन्तु मुख पर उसने कभी विषाद की एक रेखा भी प्रकट नहीं होने दी। वह अपने पुत्र को सुखी करने को सदा हँसती रहती। उसे राजोचित ठाठ-बाट से रखती। उसकी परिचारिकाएँ रानी के प्यारे पुत्र को सदा प्राणों से भी अधिक प्यार करतीं। उसे कभी रोने नहीं देतीं। आज सहसा अपने बाह्यप्राण रूपी प्रिय पुत्र को बुरी तरह से रोते देखकर माता का हृदय धक्-से हो गया। वे गोद में बिठाकर बालक के आँसुओं को बार-बार पोंछतीं। बच्चा जितना ही माँ का प्रेम पाता, जितना ही

उनके अंग का सुखद स्पर्श करता, उतना ही उसका हृदय भर आता। माता ने उसे कसकर हृदय से चिपका लिया। उसके एक कपोल में अपना कपोल चिपकाकर दूसरे हाथ की दो उँगलियों से उसके दूसरे कपोल को दबाकर वह बार-बार पूछती—"अरे ध्रुव! तू तो बड़ा राजाबेटा है। अपनी माँ को बता दे बात क्या है? किसने तेरा अपमान किया? तेरे बाप से कहकर मैं अभी उसे पिटवाऊँगी। तू ऐसे वैसे का बेटा थोड़े ही है, चक्रवर्ती का कुमार है।" इस बात को सुनकर बच्चे का रहा सहा भी धैर्य जाता रहा, वह और भी फूट-फूटकर सुसकियाँ भरते हुए माता के आँचल से मुँह ढाँककर रोने लगा। माता का अचल गीला हो गया। वह कुछ समझ न सकी बात क्या है। मेरा बच्चा आज क्यों ऐसा अधीर हो गया है।

तब उसने पास में खड़ी हुई स्त्रियों से बच्चों से पूछा—"मेरा बच्चा किसी से लड़ाई झगड़ा तो कभी करता नहीं। किसने इसे दुःख दिया है?"

पास में ही एक बूढ़ी सी धाय खड़ी थी, उसने इधर-उधर चारों ओर देखकर धीरे धीरे आँसू बहाते हुए कहा—"महारानी जी! क्या बताऊँ? यह स्त्री का जन्म किसी पाप ही का फल है, सदा दूसरों के मुँह की ओर जोहते रहना, फिर उसमें सौत वाली स्त्री का जीवन तो जीवन ही नहीं, वह तो विडम्बना है। बच्चा बड़े प्यार से अपने पिता की गोद में चढ़ना चाहता था। किन्तु छोटी महारानी ने महाराज से मनाकर दिया। इच्छा रहने पर भी महाराज इस फूल से बच्चे को गोद में न ले सके। इतने पर भी छोटी रानी ने ऐसे-ऐसे कठोर वचन कहे कि बच्चे का हृदय बैठ गया।"

धैर्य धारण करके माँ सुनीति ने पूछा—"क्या कहा था मेरे पति की प्राणप्रिया ने?"

दासी ने आँसू पोंछते हुए कहा—"महारानी जी ! इन बातों को आप न पूछें, एक बात हो तो बताऊँ ऐसी ऐसी ईर्ष्या भरी बातें कहीं जो विष बुझे बाणों से भी अधिक घाव करने वाली थीं। कहा—"तू राजा की गोद में बैठ नहीं सकता। तू अन्य स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ है। तप करके मरकर फिर मेरे उदर से जन्म ले तब तो इस सिंहासन पर बैठ सकता है। इसी तरह की और भी बहुत सी बातें कहीं।"

इन बातों को सुनकर आज माता के हृदय का बाँध टूट पड़ा। जिन आँसुओं को बड़े यत्न से अब तक बाँध बाँधकर हृदय में रोक रक्खा था, वह बाँध अपने आप बड़े वेग से फट गया। माँ की दोनों आँखें बहने लगीं। उसने और कसकर अपने प्यारे-दुलारे बच्चे को हृदय से चिपकाया। उसके स्तनों से दो दूध की धाराएँ निकल रही थीं, नेत्रों से अश्रुप्रवाह बह रहे थे, नाक के दोनों नथुनों से लम्बी लम्बी उष्ण साँसें निकल रही थीं। मानों आज प्रयागराज में त्रिवेणी ने दो रूप धारण कर लिये हों और वैणाकुण्ड को सुखाने के लिये प्रलयानल का धूम निकल रहा हो। माँ ने अपने अश्रुओं से बच्चे की काली काली अलकावलियों को भिगो दिया। माँ को इस प्रकार रोते देखकर अब बच्चे को चेत हुआ। क्षत्रिय का बालक था। उसने हृदय को कड़ा किया। माँ के अंचल से आँसुओं को पोंछ डाला और अपना मुँह उठा कर उसने माँ को रोते देखकर कहा—"माँ तू तो ऐसी कभी नहीं रोती थी आज तू इस बात को सुनकर क्यों रो रही है ? सचसच बता दे, मेरे पिता ने मुझे गोद में क्यों नहीं लिया ? क्या तू राज-रानी नहीं है ?"

रोते रोते माँ ने कहा—"बेटा ! मैं कहाँ राजरानी हूँ। राजा की प्रधान पटमहिषी होने पर भी आज मैं दासियों से भी गयी-

बीती हूँ। राजा मुझे अपनी रानी कहना तो अलग रहा अपनी दासी कहने में भी लजाते हैं ?"

ध्रुव ने पूछा—"तो क्या माँ मैं राजपुत्र नहीं हूँ ? मेरा कौन-सा अपराध है जो पिता ने मुझे गोदी में नहीं लिया।"

माता ने रोते-रोते कहा—"बेटा ! तू राजपुत्र ही नहीं राज्य का अधिकारी बड़ा कुमार युवराज है। राज्य पर तेरा जन्मतः अधिकार है किन्तु तेरा यही एक अपराध है, कि मुझ दुर्भागिनी, भाग्यहीना पापिनी के पेट से तू पैदा हुआ है। मेरे ही पाप के कारण तेरा ऐसा तिरस्कार हुआ है।"

क्षत्रिय बालक के अधर फरकने लगे उसने रोष के स्वर में कहा—"जननी ! मेरी विमाता ने जो तुम्हारे लिये ऐसी कडी-कड़ी बातें कही हैं। तुम्हें बुरी तरह से धिक्कारा है। तुम्हारा घोर अपमान किया है, इसे मैं किसी भी भाँति सहन नहीं कर सकता। मुझे वे बुरा भला कहतीं तो मैं सह लेता। अपनी वन्दनीया माता के तिरस्कार को मैं कभी सहन नहीं कर सकता।"

इतना सुनते ही माँ की आँखों से स्नेह दुःख मिश्रित अश्रु झर-झर झरने लगे। वे मुरझाई हुई लता के समान अबला गौ के समान अत्यन्त व्याकुल हो गयीं फिर बच्चे को शान्त करने की इच्छा से कहने लगीं—"ना, बेटा ! किसी का अनिष्ट नहीं सोचते हैं। मन से भी किसी को दुःख देने की बात सोचना महापाप है। हम यदि किसी को दुःख देंगे तो हमें दुःख भोगना पडेगा। दुख सुख को प्रारब्ध का भोग समझकर सहन करना चाहिये। सुरुचि ने जो हमें भाग्यहीना मन्दभागिनी कहा है, वह झूठ थोड़े ही है। सत्य ही है। मुझसे अधिक भाग्यहीन स्त्री कौन होगी, जिसे उसके सगे पति दासी कहने में भी लजाते हैं। यह मेरे हीन भाग्य पराकाष्ठा ही है कि सर्वगुणसम्पन्न तुझ जैसे प्यारे बच्चे को जिसे गोद में लेने को देवता भी लालायित होते हैं, उसे अपना

पिता गोदी में लेने से भी डरता हो। बेटा! यदि तैंने मेरी कोख से जन्म न लिया होता, मुझ अभागिनी के दूध को पीकर तू न बड़ा होता तो क्या आज तेरा इस प्रकार अपमान होता? क्या तू इस प्रकार ठुकराया जाता? तात! मेरे दुःख का वारापार नहीं। आज तक मैं तुझसे छिपाये रही, कि तुझे दुःख न हो, किन्तु आज मैं अपनी पीडा को छिपाने में असमर्थ हूँ।"

ध्रुव ने आँसू पोंछते हुए कहा—"माँ! पिता ने तो मुझसे एक शब्द भी नहीं कहा। मेरी सौतेली माँ ने ही मुझे अपने वाग्बाणों से घायल कर दिया। उसी के वचन मेरे हृदय में आर-पार हो गये हैं।"

माँ ने अत्यंत स्नेह से बच्चे के मुँह को अपने मुँह से सटाकर कहा—"ना बेटा! ऐसी बात मुँह से नहीं निकालते हैं। कोई किसी को दुःख सुख नहीं दे सकता। सभी अपने पूर्वजन्म के किये हुए दुख सुखों को भोगते हैं। फिर तेरी छोटी माँ ने कोई अनुचित बात तो कही नहीं। उसने यथार्थ ही बात कही। यदि तू भी उत्तम के समान राजसिंहासन पर बैठना चाहता है, तो उन अशरणशरण श्रीहरि के चरणों का चिन्तन कर उन्हीं की आराधना से जीव जो चाहे, वही प्राप्त कर सकता है। यह राजसिंहासन तो बात ही क्या तू और भी ऊँचे से ऊँचा पद उन्हें प्रसन्न करके पा सकता है।"

ध्रुव ने कहा—"माँ! किसी ने आज तक उनकी आराधना करके उच्च पद प्राप्त किया है क्या?"

माँ ने प्यार से कहा—"अरे बच्चा! किसी ने क्या, सभी उन्हीं की कृपा से पद प्राप्त करते हैं। उनकी आराधना के बिना कोई भी उत्तम पद को नहीं पा सकता। ब्रह्माजी ने ब्रह्मत्व, इन्द्र ने इन्द्रत्व, वरुण ने वरुणत्व, कुबेर ने कुबेरपन, देवताओं ने देवत्व, ऋषियों ने ऋषित्व, तथा मनुओं ने मनुत्व उन्हीं की आरा-

घना से प्राप्त किया है, तेरे पिता के भी पिता जो मनु हुए हैं उन्हीं की आराधना द्वारा हुए हैं। उन्होंने अनेकों दक्षिणा वाले, उन्हीं के निमित्त बड़े बड़े यज्ञ किये थे और लोगों को जिसे प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है, ऐसा पृथ्वी का सुख, स्वर्ग का सुख तथा मोक्ष सम्बन्धी सुख भी उन्होंने हरिस्मरण से ही प्राप्त किया था।"

ध्रुव ने कहा—"तब माँ! मुझे क्या करना चाहिये?" माँ ने प्यार से कहा—"बेटा! करना क्या चाहिये? उन्हीं मुमुक्षुओं के अनन्यशरण, सबके स्वामी लक्ष्मीपति भक्तवत्सल भगवान् की शरण में जा। उन्हीं की शरण में जाने से तेरे सभी दुःख दूर हो सकते हैं, उन्हीं की प्रसन्नता प्राप्त होने पर तेरी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं।"

ध्रुव ने कहा—"माँ! भगवान् को तो मैंने देखे नहीं। किसी और की शरण में जाने से मेरे दुःख दूर नहीं हो सकते क्या? यदि ऐसा कोई भगवान् के अतिरिक्त हो तो मैं उसी के पास चला जाऊँ।"

रोते-रोते माता बोली—"बेटा! और मैं किसे बताऊँ? संसार में सभी तो कंगाल हैं। आप्तकाम सन्त महात्माओं को छोड़कर ऐसा एक भी नहीं जो विषयों से सन्तुष्ट हो, जिसे और अधिक सुख पाने की तृष्णा न हो। जिसकी जितनी ही बढ़ी हुई तृष्णा है वह उतना ही बड़ा दरिद्री है। भूखे को एक मुट्ठी अन्न की तृष्णा है। लखपती को करोड़पति होने की व्यग्रता है। करोड़पति अरबपति होना चाहता है। जो स्वयं ही दुखी है, उसके सम्मुख हाथ फैलाना व्यर्थ है।"

ध्रुव ने पूछा—"माँ! ये सम्राट् चक्रवर्ती तो सुखी होंगे?"

माता ने कहा—'अरे बेटा! ये तो दूर के ढोल सुहावने लगते हैं। देख मैं तुझे एक कहानी सुनाती हूँ। किसी कंगाल की एक सम्राट् से मैत्री हो गयी। सम्राट् ने कहा—"जब भी तुम्हें किसी

बात को कष्ट हो मेरे पास आ जाना मैं तुझे जो माँगोगे वही दूँगा।"

कालान्तर में कंगाल की कन्या के विवाह का समय आया, उसे सम्राट् की बात याद आयी। वह द्रव्य माँगने सम्राट् के समीप गया। सम्राट् यज्ञशाला में थे। जब यज्ञ उपासना करके लौटे, तो उन्होंने कंगाल को पहिचान कर उसका सत्कार किया और आने का कारण पूछा।

कंगाल सरल था। छल-कपट नहीं जानता था। ऐसे सरलों पर ही भगवान् स्वतः रीझ जाते हैं। मायावी लोगों से वे दूर ही रहते हैं। कंगाल ने पूछा—"आप अब तक क्या कर रहे थे?"

सम्राट् ने कहा—"मैं यज्ञ कर रहा था। भगवान् की उपासना कर रहा था। उनसे धन-धान्य, पशु, पुत्रों की वृद्धि की याचना कर रहा था। मेरे मित्र बढ़ें, शत्रुओं का नाश हो, यह प्रार्थना कर रहा था। धन, आरोग्य वंशवृद्धि की भीख माँग रहा था।"

इतना सुनते ही कंगाल अपनी लाठी उठाकर चलने लगा। सम्राट् ने पूछा—"क्यों! चल क्यों दिये?"

कंगाल ने कहा—"मैं कुछ माँगने आया था। जब मैंने देखा, तुम स्वयं ही किसी से माँग रहे हो, तो फिर माँगने वाले से क्या माँगना। हम तो अब उसी से माँगेंगे जो तुम्हें भी देता है, जिसके सम्मुख तुम भी पल्ला पसारकर दीनता के वचन कहते हो।" इतना कहते-कहते कंगाल बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही चला गया।"

मैत्रेयमुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार ध्रुव की विदुषी माता और भी अनेकों प्रकार से अपने प्यारे पुत्र से भगवान् की दयालुता का वर्णन करने लगीं। वे तो भगवद्भक्त थीं, उन्हें भगवान् के अतिरिक्त और किसी पर भरोसा नहीं था, अतः

अनेक युक्तियों से आख्यान सुनाती हुई ध्रुव की निष्ठा कराने लगीं।"

छप्पय

बोली—"बेटा! बात बतादे क्यों तू रोवे?
क्यों निकासिकें नीर नयनको काजर धोवे?
पुनि पुनि पूछें मातु बात कछु नाहिं बताई।
तब पुरवासिनि कथा आदितें अन्त सुनाई॥
सुनि सुनीति सब सौतकी, सुत सम्बन्धी दुख कथा।
झुरसि अनलतें ज्यों लता, गिरे मई त्यों हिय व्यथा॥

—:—:—

माता के उपदेश से ध्रुवजी का वनगमन

[२२१]

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनात्,
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन ।
ये मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया,
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

सुत समझायो मातु कृष्ण दुख दूरि करिहैं ।
वे अनाथके नाथ शोक सन्ताप हरिहैं ॥
कमलनयन बिनु नाहिं तापत्रय हरिवैवारो ।
दीनबन्धु बिनु वत्स ! हमारो कौन सहारो ॥
जो समृद्धि सुख, परम पद, चाहो तो हरिपद गहहु ।
रटि रसना हरि रूप दृग, सुमिरि चरित मधुवन बसहु ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ध्रुव की माता सुनीति अपने प्यारे पुत्र को समझाती हुई कहती है—' बेटा ! मुझे तो उन पद्मपलाश-लोचन श्रीहरि के अतिरिक्त तेरे दुख को दूर करने वाला दूसरा कोई दिखायी देता नहीं । जिस लक्ष्मी को ब्रह्मादिक देवता ढूंढते रहते हैं, वह लक्ष्मीजी भी जिन्हें हाथ में कमल लेकर खोजती फिरती हैं, उनसे श्रेष्ठ और कौन होगा ।'

संसारी लोग संसारी भोगों को ही सब कुछ समझते हैं, उसे ही प्राप्त करने का उपदेश देते हैं, संसारी लोगों की ही शरण में जाने को कहते हैं, किन्तु जिन्होंने इस संसार को असार समझ लिया है, कि ये सभी संसारी लोग स्वयं कृपण हैं, दरिद्र हैं, ये किसी को क्या दे सकते हैं, वे इन सबकी आशा छोड़कर अखिलेश की ही शरण मे जाते हैं, उन्हें ही अपने दुःखो के विनाश का एक आधार समझते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! माता के करुणापूर्ण हृदय से निकले हुए उपदेश का ध्रुवजी के हृदय पर बडा प्रभाव पड़ा। जब माता ने भी भगवान् की ही आराधना ही करने का उपदेश दिया, तब तो उन्होंने धैर्य धारण किया। विदुरजी ! एक ही बात को जब कोई प्रेम से कहता है, तब उसका और प्रभाव पडता है; उसी बात को कोई ईर्ष्या द्वेष से कहता है उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। ध्रुवजी की विमाता ने भी यही बात कही थी, कि तपस्या करके तू उत्तम आसन को प्राप्त कर सकता है, किन्तु उसने कही थी व्यंग से तिरस्कार पूर्वक। ध्रुव को तथा ध्रुव की जननी को नीचा दिखाने उनको भाग्यहीन जताने के निमित्त, इसीलिये वह ध्रुवजी के हृदय मे चुभ गयी। इसी बात को अनन्यशरण होकर अपना और कोई आश्रय न देखकर माता ने कही, इससे ध्रुवजी को शान्ति मिली उन्होंने माता से कहा—"माँ ! तुम कह रही हो, भगवान् की ही शरण मे जाने से मेरे दुःख दूर होंगे। उन भगवान् की क्या महिमा है ?"

रोते-रोते माँ बोली—"बेटा ! उनकी महिमा का वर्णन करना वाणी का विषय नहीं। मैं क्या चतुर्मुख ब्रह्म सहस्रमुख शेषजी भी उनकी महिमा का अन्त नहीं पा सके। फिर उनकी महिमा मैं मूढमति वाली अबला कैसे कह सकती हूँ। वेद भी उनकी महिमा का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं कर सकते, तू इतने से ही समझ

ले। संसार में श्री लक्ष्मीजी सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं। ब्रह्मादिक बड़े बड़े देवता, जिन लक्ष्मीजी के तनिक से कृपा-कटाक्ष के लिये तरसते रहते हैं। हजारों-लाखों वर्ष इसी निमित्त तप करते हैं कि भगवती कमला एक बार हमारी ओर देख भर लें। ऐसी महा-महिमा वाली, जगद्वन्द्या लक्ष्मीजी भी जिन्हें कमल हाथ में लिये ढूँढ़ती रहती हैं, वह भी जिनके चरणों की धूलि के लिये सदा लालायित बनी रहती हैं उन लक्ष्मीकान्त की महत्ता का वर्णन करने की सामर्थ्य किसमें है ?"

माता की ऐसी बात सुनकर ध्रुवजी ने अपने हृदय को दृढ़ किया और बोले—"माँ! अब मैं उन्हीं अशरणशरण की शरण जाऊँगा। अब मुझे जो कुछ माँगना होगा उन्हीं से माँगूगा। अब तू मुझे हृदय से आशीर्वाद दे, कि मैं उन सर्वान्तर्यामी प्रभु को प्रसन्न कर सकूँ। उनका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर सकूँ।"

अब तो माँ का हृदय पसीजने लगा। उस समय तो करुणा के आवेश में कह गयीं, किन्तु जब ध्रुव वन जाने को तैयार ही हो गये, तब तो उनका हृदय फटने लगा और स्नेहपूर्वक बोलीं—"बेटा! तू अभी बच्चा है। वन में बड़े-बड़े कष्ट हैं, तुझे अभी दुःख सहने का अभ्यास नहीं, कभी घर से बाहर निकला नहीं, तू अरण्यों के कष्टों को किस प्रकार सह सकेगा ?"

ध्रुव ने कहा—"माँ! तैंने ही तो बताया था, भगवान् सबकी सर्वत्र सब प्रकार से रक्षा करते हैं। क्या वे अरण्य में नहीं हैं ? क्या जो मेरी यहाँ रक्षा करते हैं वे वहाँ न करेंगे ? अब मैं किसी प्रकार मान नहीं सकता। मैं अब घोर तपस्या करके उन वरदानियों में श्रेष्ठ विष्णु को प्रसन्न करके ही लौटूँगा। अब तू मुझे प्रसन्नता से वन जाने की अनुमति दे दे।"

माँ अब क्या कहती। रोते-रोते उन्होंने अपने लाल का स्वस्त्ययन किया। आँसू बहाते-बहाते बार-बार उसने वत्स के

मुँह को चूमा। गोद में लेकर सिर सूँघकर भर्राये हुए कंठ से वह बोली—"बेटा! वे सर्वान्तर्यामी प्रभु तेरी सर्वत्र रक्षा करें। वन के देवता और देवियाँ तेरे ऊपर वात्सल्य स्नेह प्रकट करें। भगवान् भुवनभास्कर तेरे लिये शीतल किरणों वाले हों, भगवान् निशानाथ अपनी अमृतमयी किरणों से तेरा सर्वदा सिंचन करें। भूदेवी तेरे लिये सुकोमल हो जायँ, बेटा! मैं उन्हीं सर्वान्तर्यामी प्रभु की गोद में तुझे सौंपती हूँ जो चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीवों का योगक्षेम चलाते हैं। वत्स! जाओ तप में मन लगाओ। आहार निद्रा को जीत लेना। प्रमाद को कभी पास भी न फटकने देना। आलस्य को दूर से ही भगा देना। एकाग्र होकर सावधानी से सचेष्ट होकर उन सर्वान्तर्यामी के ध्यान में लीन हो जाओ। वे अवश्य ही शीघ्र से शीघ्र तेरे ऊपर कृपा करेंगे। तेरे लिये अवतार धारण करेंगे, तुझे दर्शन देंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार विविध प्रकार से अपने पुत्र को आशीर्वाद देकर माता ने विदा किया। ध्रुवजी ने घर में ही सभी वस्त्रों को त्याग दिया। केवल एक कोपीन लगाकर वे राजा के नगर से निकल पड़े। समस्त प्रजा पाँच वर्ष के बालक के साहस को देखकर चकित रह गयी कि चक्रवर्ती का अबोध कुमार आज सर्वस्व त्यागकर इस अवस्था में तप करने जा रहा है।

लोगों ने जाकर महाराज को भी यह समाचार सुनाया। महाराज के हृदय में तो वात्सल्य स्नेह भरा ही हुआ था। उन्होंने शीघ्रता से अपने मन्त्री को भेजा—"ध्रुव से कहो हम उसे कुछ गाँव दे देंगे, वह लौट आवे।"

मन्त्री ने जाकर पिता का समाचार सुनाया। ध्रुव ने कहा—"अब तो मैं उन्हीं से माँगूगा जो सबको देते हैं।" इतना कहकर ध्रुव चल दिये। फिर राजा का सदेश आया १० गाँव देंगे फिर

२०।५०।१०० आधा राज्य देने को कहा, किन्तु ध्रुव ने सब बात को अनसुनी कर दी। वे आगे चलते ही गये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पाँच वर्ष के बच्चे का बड़ा साहस था, कि सहसा घर से निकल पड़ा। नहीं तो पाँच वर्ष के बच्चे तो माता की गोदी को छोड़कर कहीं जाते भी नहीं।"

सूतजी बोले—"महाभाग! यह जीव बड़ा अविश्वासी है। भगवान् तो निस्सीम हैं, सर्वव्यापक हैं, अन्तर्यामी हैं। जीव जहाँ भी चला जाय प्रारब्ध कर्म तो साथ रहते हैं। अविश्वास के ही कारण जीव सीमित बन जाता है, अपने को ही कर्ता समझने लगता है। व्यर्थ की चिन्ता करता है, कि यदि मैंने ऐसा किया, तो खाने को कहाँ से आवेगा, वहाँ मेरी रक्षा कौन करेगा? सहस्रों हाथ नीचे जल के भीतर रहने वाले जीवों को खाने को कौन देने जाता है? हमने ऐसा सुना है, कि आकाश में बहुत ऊँचे एक पक्षी रहता है। वह कभी पृथ्वी पर नहीं आता आकाश में ही उड़ता रहता है। उड़ते-उडते ही ऊपर से वह अंडा देता है। अंडा नीचे आता है। पृथ्वी के समीप आते ही वह अंडा फूट जाता है। उसमे से बच्चा, निकलकर ऊपर को उड़ने लगता है, वह पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता। उडते-उड़ते वह अपने माता पिता के पास पहुँच जाता है। उन सबको खाने को कौन देता है? भगवन्! देखिये, हम जिस वाटिका को लगाते हैं, उसकी हमें कितनी चिन्ता रहती है। वह वृक्ष कुम्हिला गया है उसमें पानी देना चाहिये। उस वृक्ष के फल छोटे होने लगे हैं, उसमें खाद दो। जब हम साधारण लोगों को अपनी वाटिका की इतनी चिन्ता है, तो जिन्होंने यह इतना बड़ा ब्रह्माड रूपी उद्यान अपने खेलने के लिये रचा है, उन्हें इसकी चिन्ता न होगी क्या?"

शौनकजी बोले—"सूतजी! यह तो आपका कहना सत्य

है, किन्तु हम कोई साधारण संसारी काम करना चाहते हैं, तो उसी के लिये पहिले उपकरण जुटाते हैं। उसकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। तब उस कार्य में प्रवृत्त होते हैं। ध्रुवजी ने किसी को गुरु नहीं बनाया, मन्त्रदीक्षा नहीं ली, फिर उपासना को कैसे निकल पड़े ?"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो ! गुरुतत्व सर्वव्यापक है। जो भगवान् को प्राप्त करादे वही गुरु है। भगवान् को भगवन्त के अतिरिक्त कोई दूसरा प्राप्त करा ही नहीं सकता, अत: गुरु भगवान् के ही स्वरूप हैं, गुरु में और भगवान् में शास्त्रकारों ने अभेद बताया है। शिष्य से अधिक गुरु अपनाने के लिये उत्सुक रहते हैं, जहाँ हमें दीक्षा का अधिकार प्राप्त हो गया, जहाँ साधना के प्रति हमारे हृदय में दृढता आ गयी, वहाँ फिर गुरु खोजना नहीं पड़ता। गुरु स्वय ही आकर उसे अपना लेते हैं और दीक्षा देकर उसे मुक्ति के मार्ग पर पहुँचा देते हैं, भगवान् का साक्षात्कार करा देते हैं। अत सबसे अधिक आवश्यकता दृढता की है। ध्रुवजी में दृढता आ चुकी थी, अब उन्हें किस बात का अभाव रह सकता था। जीव तभी तक कृपण बना रहता है, जब तक वह भगवान् की ओर बढता नहीं। जहाँ उसने एक पैर बढाया कि भगवान् ९९ पैर बढाकर उसे अपना लेते हैं। हम विषयों को छोड़ना नहीं चाहते काम को पकडे ऊपरी मन से राम को चाहते हैं, जहाँ काम है वहाँ राम कहाँ ? जिस समय हम कामों को छोड़ कर राम की ओर दौडते हैं तो राम तो मिल ही जाते हैं। काम की भी कमी नहीं रहती। यही हुआ, ध्रुवजी ज्यों ही घर से निकले कि उन्हें मुमुक्षुओं के एकमात्र सद्गुरु श्री नारदजी के दर्शन हो गये।"

छप्पय

सुनी मातुकी बात पुत्र सुनि धीरज धार्‌यो ।
ऊँच नीच सब सोचि फेरि कर्तव्य विचार्‌यो ॥
जननीतें ध्रुव कहें मातु ! अब आज्ञा दीजे ।
पथ मंगलमय होहि कृत्य अब सोई कीजे ॥
माँ इकलौते तनयकूँ, हिय लगाय आशिष दई ।
पितु पूरतें ध्रुव चलि दये, फैल बात घर घर गई ॥

ध्रुवजी को नारदजी के दर्शन

[२२२]

नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।
स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः ॥
नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानं वापि पुत्रक ।
लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडयादिषु ॥*

(श्रीमा० ४ स्क० ८ अ० २५, २७ श्लोक)

छप्पय

दये प्रलोभन बहुत न ध्रुव फिरि घरकूँ बगदे ।
दुख बन पथके सोचि करी नहिं शका हिरदे ॥
ज्यों ही आगे बढ़े मिले मुनि नारद ज्ञानी ।
जग उपकार देव बात ध्रुव मन की जानी ।
अघहर कर सिरपै धर्‌यो, बोले बेटा ! बाल तू ।
अरे, मान अपमान का ? क्रीड़ासक्त कुमार तू ॥

जीव प्रारब्धवश जन्म ग्रहण करके दु ख सुख भोगता है । जब तक प्रारब्ध और सचित कर्मों का क्षय नहीं होता, नूतन

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! ध्रुवजी जो करना चाहते हैं उनकी उस इच्छा को जानकर तथा ध्रुवजी का समाचार सुनकर नारदजी रास्ते म उसके समीप आये और अघहारी करकमल उसके सिर पर फेरते हुए विस्मित होकर उससे बोले—' बेटा ! अभी तेरा मान अपमान क्या ? हम तो ऐसा समझते हैं कि अभी तू बच्चा है खेलने खाने की तेरी अवस्था है ।'

क्रियमाण कर्म समाप्त नहीं होता, तब तक जीव का आवागमन समाप्त नहीं होता। कुछ स्वच्छन्द कर्म जीव भी होते हैं, वे प्रारब्धवश जन्म नहीं लेते। उनका जन्म प्रारब्ध भोग के लिये नहीं होता, वे जीवों पर कृपा करने संसार को व्यवस्थिति बनाये रखने को जन्म लेते हैं। वे भगवान् के अंशावतार ही होते हैं, युग-युग मे वे अवतार ग्रहण करते हैं। उनमें से बहुतों की आयु एककल्प की (अर्थात् जितने समय में चारों युगों की हजार चौकडियाँ बीतती हैं उतनी बडी आयु) होती है। बहुतों की ब्रह्माजी की आयु के बराबर और बहुत से ऐसे होते हैं कि जिनके सामने हजार ब्रह्मा बदल जाते हैं। इनमे जीवत्व इतने ही अंश में है, कि वे स्वेच्छा से रूप धारण करते हैं और जीवों के दुःख को देखकर उनका हृदय पिघलता है और ज्ञानादिक गुणों की अपेक्षा दया का अंश उनमें विशेष होता है। शेष सभी भगवान् के दिव्यगुण उनमें विद्यमान रहते हैं। भगवान् नारद ऐसे ही हैं। इनकी गणना २४ अवतारों में भी है। शरीर इनका देवताओं का है, वैसे ऋषि हैं, इसीलिये ये देवर्षि कहाते हैं। चौदहों भुवनों में इनकी अव्याहत गति है। मनके वेग के समान ये जहाँ चाहें वहीं पलक मारते पहुँच सकते हैं। जैसे हमने सोचा—हम ब्रह्मलोक में पहुँचे, झटसे मनसे ब्रह्मलोक पहुँच गये। यही दशा तूमड़िया बाबा की है। ये सर्वगुण सम्पन्न ज्ञानियों के भी गुरु हैं, भक्तिशास्त्र के भी आचार्य, संगीतविद्या में भी पारगत हैं और प्रचारकों के तो शिरोमणि ही ठहरे। देवता, असुर, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्यों तथा सभी प्राणियों द्वारा ये पूजित हैं, सभी इनका सम्मान करते हैं। शिष्य बनाने को ये बड़े लालायित रहते है। किसी के मन में भी ज्ञान का अंकुर देखते हैं, भक्ति की जिज्ञासा पाते हैं, उसी के सम्मुख अनेक रूप रखकर प्रकट हो जाते हैं और उसे जैसे होता है, वैसे भगवान्

से मिला देते हैं। असुरों को उल्टी पट्टी पढा देते हैं, जिससे वे भगवान् से वैर करें, भगवान् उन्हें स्वयं मारने आवें उनके द्वारा मरकर मुक्त हो जायँ, ज्ञानियों को ज्ञान सिखाते हैं, भक्तों को भक्तिमार्ग की शिक्षा देते है। लोग तो इन्हें कलह प्रिय कहते हैं, किन्तु इनकी कलह में सदा परोपकार छिपा रहता है, प्राणियों का जिस बात से हित हो वैसी कलह कराकर विश्व का कल्याण कराते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुर जी! ध्रुवजी जब घर से निकल पड़े थे तो ब्रह्मलोक में ध्यान से नारदजी को पता चला, कि एक चेला बनाने योग्य राजा का लडका घर से निकला है। वे शीघ्रता से वहाँ से दौड़े। ध्रुव जी जब तक नगर की सीमा को पार भी नहीं कर सके, तभी तक वीणा बजाते राम-कृष्ण गुन गाते नारद जी ने ध्रुव का रास्ता रोक लिया और हँसते हुए बोले—"कहिये कुमारजी! कहाँ चले?"

अपने सम्मुख जटा बखेरे, वीणा बजाते, हरिगुन गाते अत्यन्त सुन्दर महान् तेजस्वी पीतवसनधारी एक ऋषि प्रसादाभिमुख देखकर ध्रुवजी ने हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। माताजी के मुख से भगवान् नारद जी के जैसे स्वरूप का उसने वर्णन सुना था उसे ही याद करके ध्रुवजी समझ गये, ये कृपा के सागर जीवों के उद्धारक, चौदहों भुवनों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले भगवान् नारद जी हैं। दौडकर बच्चा देवर्षि के पैरों पर पड़ गया।

ध्रुवजी राजा के पुत्र ही ठहरे, सौन्दर्य की साकार मूर्ति ही थे। ५ वर्ष की अवस्था, सुन्दर गौर वर्ण का गठीला शरीर बडे-बडे कमल के समान विकसित नेत्र, भोला भाला मनोहर मुख तिस पर छोटी छोटी अलकावली बिखर रही थी। नारद जी का बच्चे को देखकर हृदय भर आया। वात्सल्य रस उमड़ पडा।

पैरों पर पड़े हुए बच्चे को अत्यन्त स्नेह से अपने पाप नाशककर कमलों से बलपूर्वक उठाया। उसकी छोटी-छोटी अलकों को उँगलियों से समझाते हुए, अपने पीत वस्त्र से उसके पसीने को पोछते हुए सम्पूर्ण स्नेह को बटोरकर बोले—"बेटा! तुम्हारा मुख मलीन क्यों हो रहा है?"

जैसे पके हुए फोड़े को छूने से एक प्रकार का मीठा मीठा दर्द होता है, तथा अधिक दबाने से उसमे से पीव निकलने लगता है, उसी प्रकार दुःख भरे हृदय के समय कोई सौहार्द से सहानुभूति प्रकट करता है, तो हृदय पिघलकर स्वतः ही बहने लगता है। ध्रुवजी बालक ही ठहरे। इस अरण्य में भी मुझसे प्रेमपूर्वक दुःख पूछने वाले ये महर्षि मुझ पर इतन स्नेह प्रकट कर रहे हैं, यह सोचते ही ध्रुवजी की छाती फटने लगी। नेत्रों के झरझर-झरझर आँसू बहने लगे। धैर्य का बाँध टूट गया। हृदय का आवेग पानी बनकर बह निकला।

नारदजी ने गोद में बिठाकर उसके आँसू पोंछे और स्नेह से बोले—'बेटा! तू मुझे बता दे सब बात, क्यों तू इतना दुःखी है?" रोते-रोते ध्रुव ने कहा—"भगवन्! क्या बताऊँ? आपसे कोई बात छिपी तो है नहीं। मैं अपने पिता की गोदी मे चढ़ना चाहता था, उसी समय मेरी सौतेली माँ ने मुझसे ऐसे-ऐसे बड़े वचन कहे, कि वे मेरे हृदय में शूल की भाँति चुभ गये हैं। उन बाग्बाणों ने मेरे हृदय में बड़े बड़े छेद कर दिये हैं, उस अपमान को मैं किसी प्रकार नहीं भूल सकता।"

बच्चे की बात सुनकर नारद जी मन-ही-मन सोचने लगे—"देखो! वीर्य का कैसा प्रभाव होता है। क्षत्रिय के वीर्य से उत्पन्न इस छोटे से बालक में तेजस्वी क्षत्रियों के अभी से गुण विद्यमान हैं। क्षत्रिय बातें चाहे सहन कर ले, किन्तु वह अपमान को सहने करने में समर्थ नहीं। मान भग की अपेक्षा मृत्यु को श्रेय-

स्कर समझते हैं। छोटे से बच्चे के हृदय में सौतेली माँ की बात कैसी चुभ गयी है, सब कुछ छोड़कर इस अल्पावस्था में यह घर से निकल पड़ा है। ऐसा सोचकर वे ध्रुवजी से उनके सिर पर हाथ फेरते हुए प्रेम से कहने लगे—"अरे, तू तो निरा बच्चा ही है। बच्चों का क्या मान अपमान। किसी ने पुष्प दिया प्रसन्न हो गये, छीन लिया रो पड़े। बच्चों को दो ही बात याद रहती हैं खा लिया खेलते रहे। यह तो खाने खेलने की अवस्था है बच्चा! लड़कों को मान-अपमान का ध्यान नहीं होता। कोई बात हुई भी तो उसी समय रो पड़े, क्षण भर में भूल गये।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज! यह तो सब ठीक है। मान लीजिये मेरा मान-अपमान न सही, किन्तु मेरी सौतेली माँ ने तो मेरी जननी का तिरस्कार किया था। नियमानुसार मेरी माँ ही पटरानी हैं, मैं उनका बड़ा पुत्र हूँ। पिता की गोद में राजसिंहासन पर बैठने का मेरा अधिकार था, सो पिताजी ने मुझे गोद में नहीं लिया। उलटे मेरी विमाता ने मुझे और मेरी माँ को भाग्यहीन बताया। इसे मैं सहन नहीं कर सकता।"

यह सुनकर नारद जी हँसते हुए बोले—"अरे, भैया! कौन किसका मान करता है कौन अपमान? इन सब बातों की तो मनुष्य मोह के वशीभूत होकर कल्पना कर लेता है। इसी कारण उसे अपनी स्थिति पर असन्तोष होने लगता है। सब तो राजसिंहासन पर बैठे तो तेरे नगर में बहुत से कुमार हैं, जिन्हें भर पेट रोटी भी नहीं मिलती। वे तेरी भाँति दुःखी नहीं होते।"

ध्रुव जी ने कहा—"महाराज! उनका प्रारब्ध ही ऐसा है। मैं तो राजपुत्र हूँ। मेरा तो राजसिंहासन पर अधिकार है।"

नारदजी ने हँसते हुए कहा—"अरे, कौन राजपुत्र कौन दरिद्रपुत्र? ये सब अज्ञानजन्य विचार हैं। न कोई भैया राजपुत्र न कोई कंगाल पुत्र, सभी अपने-अपने कर्मानुसार संसार में

मान-अपमान, सुख-दुःख आदि भोग रहे हैं। बहुत से राजा होने पर भी दुःखी हैं। बहुत से दरिद्र होने पर भी सुखी हैं। बहुतों के पास विषय भोग की सभी सामग्रियाँ हैं वे उनका भोग नहीं कर सकते। बहुतों पर कुछ नहीं है, फिर भी राजाओं से भी बढ़कर सुख भोगते हैं। अतः बेटा प्रारब्ध समझकर इस अपमान को सहन करो। भगवान् की विचित्र गति है, दैव इच्छा ही बलवती है, अतः शोक को छोड़ दो। अपने घर लौट जाओ।"

ध्रुवजी ने दृढ़ता के साथ कहा—"महाराज जी! अब मैं बिना भगवान् के दर्शन किये घर तो लौटने का नहीं। मेरी माँ ने बताया है कि उन कमलनयन भगवान् वसुदेव की शरण में जाने से सभी दुःख दूर हो जायेंगे। सभी क्लेश मिट जायँगे, अतः अब मैं उन्हीं की श्रद्धा भक्ति सहित आराधना करूँगा।"

इतना सुनते ही नारद जी बड़े जोर से हँस पड़े और बोले—"बेटा! भगवान् को पाना कुछ गुड़ का पूआ तो है नहीं कि झट मुँह में डाला पटट गप कर गये। मुन्ना! भगवान् को पाना टेढ़ी खीर है। जिसने अपनी सभी इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया है उसके लिये योग साधन द्वारा भगवान् को पाना अत्यन्त ही कठिन है। वह योग साधन कर ही नहीं सकता। तू तो अभी समझता नहीं, बालक है, तेरी तो बात पृथक् रही। बड़े बड़े योगीजन हजारों वर्ष निःसङ्ग रहकर निरन्तर जिनकी एकाग्र मन से उपासना करते रहते हैं, वे भी उन भगवान् को सरलता से प्राप्त नहीं कर सकते तो फिर तू तो अबोध है। माता की गोदी में खेलने योग्य है।"

ध्रुवजी ने कहा—"तब भगवन्! मैं किसी प्रकार उन भगवान् को कभी प्राप्त ही नहीं कर सकता। आप तो मेरे उत्साह को सर्वथा भङ्ग ही कर रहे हैं।"

शीघ्रता से नारद जी ने कहा—"नहीं बेटा! यह मैं कब कहता हूँ, कि तू कभी प्राप्त कर ही न सकेगा। अवश्य कर सकेगा, किन्तु मेरे प्यारे बच्चे! सब कार्यों का समय होता है, असमय का किया हुआ कार्य सफल नहीं होता। समय आने पर तू भी भगवान् को प्राप्त कर सकेगा। अभी खूब आनन्द से मौज उड़ाओ खेलो खाओ। बड़े हो जाओ तब मलूक-सी बहू विवाह के लाओ, उसके संग गृहस्थ धर्म का पालन करो। बाल बाच्चे पैदा करो। जब लड़के के भी लड़का हो जाय, सिर हिलने लगे, अंग शिथिल हो जायँ, तब पौत्र प्रपौत्र का मुख देखकर वन में जाना। वहाँ भगवान् की आराधना करना। मैं तेरा उत्साह भंग नहीं कर रहा हूँ, बच्चा! तेरे हित की बात कह रहा हूँ। अब तू अपनी माँ के पास लौट जा। यह भी मत सोचना मैं लौटकर जाऊँगा तो माँ क्या कहेंगी। बच्चों की बात तो सभी जानते हैं, क्यों कभी न कभी सभी बच्चे रहे हैं,, इसीलिये बच्चा कितना भी अपराध कर दे सब यही कह देते हैं—"अजी, अभी बच्चा ही तो है। इसलिये तू लौटने में आगा-पीछा मत करे।"

ध्रुवजी ने कहा—"भगवन्! अब मैं बिना उच्च पद प्राप्त किये कैसे लौटूँ? माता के सम्मुख मैं यही प्रतिज्ञा करके घर से निकला हूँ कि सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करके ही लौटूँगा। यदि मैं अकृत कार्य होकर लौटा तो माता चाहे मुझसे कुछ न कहे, पुरवासी मुझे हँसेंगे। मेरी सौतेली माँ मुझे बार-बार और भी अधिक धिक्कारेगी, कि बाबाजी बनने वन में गया था। फिर लौट क्यों आया। हमें ऐसा कह के डराता होगा।" ऐसी-ऐसी बहुत-सी बातें कहकर वह मेरा पग-पग पर तिरस्कार करेगी। घर में रहते हुए भी मेरा मरण ही हो जायगा।"

नारद जी ने कहा—"अरे, तू तो निरा बच्चा ही है। भैया, दुःख-सुख देने दिलाने वाला दैव ही है। दैव का जैसा विधान

होता है उसे वैसा ही सुख दुख मिलता है। तेरे भाग्य में ही तिरस्कार लिखा होगा, तो वन में भी शत्रु बन जायँगे, वे तेरा तिरस्कार करेंगे। तेरे भाग्य में सम्मान होगा, तो घर के शत्रु भी मित्र बन जायगे। नदी, नद, वृक्ष, पर्वत तक सत्कार करेंगे। देख संसार में तीन तरह के ही मनुष्य होते हैं, गुण में अपने से श्रेष्ठ अपने से अधम और अपने बराबर। जो अपने से गुणों में श्रेष्ठ हों उनका सदा सम्मान करना चाहिये, उन्हें देखकर सदा प्रसन्न होना चाहिये। उनसे कभी भूलकर भी ईर्ष्या न करनी चाहिये। उनके सम्मुख या पीठ पीछे उनकी निन्दा न करनी चाहिये। जो अपने से कम गुण वाले हों उन पर सदा कृपा रखनी चाहिये। उनका कभी तिरस्कार न करना चाहिये। हृदय से सदा उनसे प्यार रखना चाहिये। डाँटना डपटना भी हो तो भीतर से प्रेम रखते हुए उनके हित के ही लिये डाँटे डपटे। जो अपने समान गुण वाले हों उनसे मैत्री का भाव रखना चाहिये। वे जो वस्तु माँगें और हम देने में समर्थ हों तो उसे स्नेह पूर्वक दे देनी चाहिये। उनके साथ भोजन करना चाहिये, आपस में हँसी विनोद तथा दुःख सुख की बातें करनी चाहिये; इस प्रकार समझकर जो सबके साथ बर्ताव करता है उसे कभी दुःख नहीं होता। तू अपनी विमाता के बुरे वचनों को सुनकर भी बुरा न मानेगा, सदा उन्हें सुनकर उनके पैरों को ही छूता रहेगा, तो एक दिन अवश्य वह तुझे प्यार करने लगेगी। तू बालक होने के कारण हठ कर रहा है, ऐसी हठ ठीक नहीं, इसे छोड़ दे और अपने घर लौट जा।"

नारदजी के ऐसे गूढ़ वचनों को सुनकर ध्रुवजी उनका कुछ उत्तर न दे सके। बालक ही ठहरे। इतने बड़े महर्षि के वचनों को कैसे काट सकते थे। अतः वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हुए बोले—"भगवन्! आपने जो मुझे प्रारब्ध का रहस्य समः

कहा है, वह सत्य है, यथार्थ है, किन्तु 'प्रभो'! यह भाग्यवादियों के ही काम का है, जो पुरुषार्थ का आदर नहीं करते। यह शांति प्रिय सरल चित्त वाले भक्तों के लिये उपादेय हो सकता है। हे स्वामिन्! हम जैसे पुरुषार्थवादियों की पहुँच वहाँ तक अभी नहीं है। इस दृष्टि से हम अज्ञानी ही हैं, यह बातें बहुत ऊँची हैं। साधारण मनुष्य इनके आश्रय से आलसी और निकम्मा बन जाते हैं। यदि मेरे मनमें समता आ जाये, चित्त सुख दुःख मान-अपमान में समता का अनुभव करने लगे, तब कोई बात ही नहीं थी, फिर तो घर लौटने में कोई हानि ही नहीं थी, किन्तु आपके ये सुन्दर हितकारी उपदेश मेरे चित्त पर उसी प्रकार नहीं ठहरते जिस प्रकार कमल के पत्तों पर पानी नहीं ठहरता। मेरा चित्त विमाता के वाग्बाणों से बुरी तरह विंध गया है। जो घाव मेरे हृदय में हुए हैं, वे आपके इन कोमल वचनों से भर नहीं सकते, क्योंकि मेरा हृदय क्षत्रिय हृदय होने से अत्यन्त घोर और क्रूर है। इसलिये ब्रह्मन्! मैं घर तो लौटूँगा नहीं। इनके अतिरिक्त आप मुझे जो भी उपदेश देंगे, उसे श्रद्धासहित शिरोधार्य करके उसी के अनुसार साधन करूँगा।"

नारदजी भीतर ही भीतर प्रसन्न होते हुए बोले—"अच्छा तो तू चाहता क्या है?"

ध्रुवजी ने सरलता से कहा—"चाहता क्या हूँ, भगवन्! मेरा मनोरथ अत्यन्त ही कठिन है। और यदि आपकी कृपा हो जाय, तो कुछ कठिन भी नहीं। आपकी कृपा के सम्मुख कुछ भी बात असंभव नहीं। ब्रह्मन्! मैं उस पद को प्राप्त करना चाहता हूँ, जिस पर आज तक मेरे पिता प्रपितामह भी न पहुँचे हों। उस श्रेष्ठ से-श्रेष्ठ परमपद को चाहता हूँ, जो कल्पान्त में भी नाश न हो। यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है, तो उसी पद को प्राप्त करने का उपाय बताइये, किन्तु बिना उस पद को प्राप्त किये घर

न जाऊँगा, चाहे आप मुझे क्रोध से शाप दें या मेरे ऊपर अनुग्रह करके वरदान दें।"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी बोले—"अरे, भैया! यह तो तैंने बहुत बड़ी बात कह दी यह तो तेरा बहुत कठिन मनोरथ है, हम तो भीख माँगकर खाने वाले बाबाजी हैं, इतने बड़े, पद की प्राप्ति का उपाय हम क्या जानें? हम तो स्वयं ही इधर से उधर मारे-मारे फिरते हैं।"

यह सुनकर ध्रुवजी ने अत्यन्त ही विनीत भाव से कहा—"भगवन्! मेरी वंचना न करें। मुझे बहकायें नहीं, अनधिकारी समझकर मेरी उपेक्षा न करें। आप स्वयं साक्षात् भगवान् ब्रह्मा जी के मानस पुत्र हैं। आप सर्वसमर्थ हैं, आप मारे-मारे नहीं फिरते, किन्तु सूर्य के समान संसार में विचरण करके सभी को सुख पहुँचाते हैं, शांति का मार्ग दिखाते हैं, परमार्थ का रहस्य समझाते हैं। जीवों पर कृपा करने के निमित्त स्वरब्रह्ममयी वीणा को बजाते हुए सभी का कल्याण करते फिरते हैं। सबको सुखी बनाने के लिये घूमते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! नारदजी को यही तो अभीष्ट था। वे ध्रुवजी को घर लौटना नहीं चाहते थे, किन्तु ठोक पीटकर उसे देख रहे थे, कि यह कच्चा तो नहीं है। जब उन्होंने समझ लिया कि चेला पक्का है, फूटने फिसलने वाला नहीं है, तब वे परमार्थ का उपदेश देने को उद्यत हुए।"

छप्पय—चेटा! जग में जीव मायतें दुख सुख पावे।
जा घर अपने लौटि व्यर्थ क्यों धक्का खावे॥
ध्रुव बोले—हे विभो! बात बैठे नहि मनमें।
वाग्बाण बहु विधे विमाता के मम तनमें॥
घर लौटैंगो तबहिं जब, सर्वोत्तम पद पाउँगो।
नहिं तो मुनिवर! घोर तप, करत करत मरि जाउँगो॥

ध्रुवजी को नारदजी का उपदेश

[२२३]

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निश्रेयसस्य ते ।
भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ४०, ४१ श्लोक)

छप्पय

मुनि प्रसन्न अति भये देखि दृढ़ता बालककी ।
बोले—बेटा बात मातु की अति ही हितकी ॥
सब रोगनि की एक औषधी हरि-पद-सेवन ।
जा कालिन्दीकूल धाम जहँ मनहर मधुवन ॥
गोवर्धन गिरिवर जहाँ, कृष्ण करें क्रीड़ा कलित ।
ललित कुंज झुकि झूमिकें, चूमें हरिपद-रज सतत ॥

फूटे घड़े में जल ठहरता नहीं, बह जाता है। कच्चे घड़े में

❀ मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! नारदजी ध्रुवजी की दृढ़ता देखकर बोले—' देखो बच्चा ! तेरी माँ ने जो तुझे पन्था बतायी है यथार्थ में यही तेरे लिये कल्याण कारक है। तू भगवान वासुदेव में चित्त लगाकर उन्हीं का भजन कर। जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप अपने कल्याण का इच्छुक हो, उसके लिये इनकी प्राप्ति का कारण एकमात्र श्रीहरि के पाद पद्मों का सेवन ही है।'

जल भर देने से कुछ देर जल ठहर तो जाता है, किन्तु कुछ ही देर में घड़ा भी फूट जाता है, जल भी बह जाता है। अतः चतुर पुरुष सत्पात्रकी परीक्षा करके उसे भली-भाँति ठोक बजाकर देख लेते हैं, तब पानी भरते हैं। सुन्दर निश्छिद्र पके पात्र में जल भरने से वह बहुत दिन तक उसमे बना रहता है। सबकी तृषा को शान्त करता है, जीवन को धारण कराता है। इसीलिये सद्गुरु शिक्षा देने के पूर्व सच्छिष्य की भाँति-भाँति से परीक्षा करते हैं। संसारी विषयों की बड़ाई करके उसके हृदय को टटोलते हैं, इसमें कहीं इनके लिये छिद्र तो नहीं है। प्रेमपूर्वक उसे ठोक बजाकर हिला-डुलाकर सब ओर से देख लेते हैं। इसमें कचाई तो नहीं है। जैसे खूँटे को गाड़कर उसे बार-बार हिला-हिलाकर देख लेते हैं, दृढ़ता से गड़ा या नहीं। हिलता तो नहीं है। जब उसे भली-भाँति दृढ़ समझते हैं तब उसमें पशु को बाँधकर निरोध करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर जी! परमार्थ को बहुत कठिन बताकर साधन के भय दिखाकर पहले तो नारदजी ने ध्रुवजी की परीक्षा ली। जब उन्हें अपने निश्चय में दृढ़ पाया, तब बड़े प्रसन्न हुए और उनके कल्याण के निमित्त बड़े स्नेह से उन्हें उपदेश देने लगे।"

नारजी बोले—"बेटा! यदि तू अब घर नहीं लौटना चाहता तो वन में ही रहकर कालक्षेप कर।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज! मैं तो अज्ञ बालक हूँ, कुछ जानता बूझता नहीं। किसी ने आज तक मुझे शिक्षा दीक्षा नहीं दी। वन में रहकर क्या करना चाहिये। मेरी माँ ने तो मुझे इतना ही बताया है, भगवान् की शरण में जाने से सब दुःख दूर हो जायँगे। कृपया मेरा कर्तव्य मुझे बताइये। जिससे शीघ्र इष्ट-सिद्धि प्राप्त हो सके ऐसा उपदेश मुझे दीजिये।"

नारदजी ने कहा—"हे सुनीतिनन्दन! तेरी माँ ने जो तुझे उपदेश दिया है, उसी के द्वारा तेरा कल्याण हो सकता है। बिना भगवान् वासुदेव की शरण गये, संसार में आज तक न किसी का कल्याण हुआ है न होगा। समस्त दुखों को दूर करने वाले दया-सागर भगवान् मधुसूदन की पाद परिचर्या से ही परमार्थ का पथ परिस्कृत हो सकता है, अतः तुम अपने को प्रभु पादपद्मों में समर्पित कर दो। उन्हीं अखिलेश को आत्मसमर्पण करके तुम समस्त आधिव्याधियों से मुक्त हो जाओगे। उनके नाम का निरन्तर गान करो, उनके चारु चरित्रों का चिन्तन करो, उनके मुवन मोहन रूप का ध्यान करो। कृपालु कृष्ण तुम्हारे ऊपर कृपा की वृष्टि करेंगे। भक्त भयहारी भगवान् तुम्हारे भय शोक आदि को दूर कर देंगे। चराचर में समान भाव से बसने वाले वासुदेव तुम्हारी समस्त वासनाओं का नाश कर देंगे।"

ध्रुव ने पूछा—"प्रभो! मैं रहूँ कहाँ? कहाँ रहकर उन सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव का चिन्तन करूँ? कहाँ मेरा मन स्वतः ही एकाग्र हो जायगा। ऐसा कोई सुन्दर सा पुण्य स्थान मुझे बता दें।"

गद्गद् कंठ से नारद जी बोले—"बेटा! जीव मात्र का एक मात्र आश्रय व्रजमण्डल ही है। समस्त जीव व्रज की ही ओर बढ़ रहे हैं। जिसने व्रज मण्डल का वास पा लिया। उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया, उसका जीवन सफल होगा। यह भूमि इसीलिये भाग्यशाली है, कि उसके ऊपर ८४ कोस का व्रजमण्डल है। वसुन्धरा इसे ही अपना सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य समझती है, कि व्रज में उसके ऊपर परात्पर प्रभु के पादपद्म पड़े थे। उसी के ऊपर यज्ञ, अकुश, ध्वजा आदि चिन्हों से चिह्नित चरण नंगे ही गौओं के पीछे-पीछे पधारे थे। संसार में सभी के लिये साधन और सिद्धि का स्थान रसमयी भूमि व्रजमण्डल ही है, जिसकी धूलि

के लिये ब्रह्मादिक देवता सदा तरसते रहते हैं। उद्धव जैसे परम ज्ञानी भक्त जहाँ गुल्म लता बनकर वास करने में अपना सौभाग्य समझते हैं। मनु वंशावतंस कुमार! तुम भगवान् की परम पुण्य-मयी क्रीड़ास्थली मथुरापुरी में जाओ। मधुवन में भगवती कालिन्दी के कमनीय कूल पर कालक्षेप करते हुए कृष्ण-कृष्ण रटते रहो। जितना घोर तप कर सकते हो करो। भगवान् तो सर्वत्र ही विराजमान हैं, किन्तु व्रज में वे साक्षात् रसरूप होकर नित्य निवास करते हैं गोप, गोपी, गौ, ग्वालों को लिये हुए सर्वदा क्रीड़ा करते है।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज! वहाँ मैं कैसे कालक्षेप करूँ? मेरी चर्या बता दीजिये। प्रातःकाल से सायंकाल तक के सब कृत्य समझा दीजिये।"

नारदजी बोले—"देखो, बेटा,! बहुत तड़के भोर मे ही उषा काल से पूर्व ही आसन से उठ जाना। बाहिरी शौचादि से निवृत्त होकर अमृतोपम यमुनाजी के सुन्दर सलिल में श्रद्धा सहित स्नान करना। स्नान करके अपने आसन पर पद्मासन से स्वस्ति-कासन से बैठ जाना फिर प्राणायाम करना।"

ध्रुव जी बोले—"महाराज! प्राणायाम तो मैंने कभी किया नहीं मुझे प्राणायाम की विधि बता दीजिये।"

नारदजी बोले—"भैया, प्राणायाम कोई कठिन क्रिया थोड़े ही है। सभी मनुष्य निरन्तर प्राणायाम करते रहते हैं। नाक के द्वारा स्वांस आती है। भीतर जाती है कुछ ठहरती है। यही प्राणायाम है। जब वायु को पूर्ण करते हैं, उसे पूरक प्राणायाम कहते हैं कुम्भ-घड़े की तरह प्राण को भरकर रोक लेते हैं इसे कुम्भक कहते है। जब उसे रेचन अर्थात् छोड़ते हैं उसे रेचक प्राणायाम कहते हैं। अनामिका और मध्यमा दायें हाथ की दो उँगलियों से बायें नाक के नथुने को बंद करके दायें नथुने से धीरे

धीरे वायु को भरने का नाम पूरक प्राणायाम है जितने देर में पूरक करे उससे चौगुनी देर तक उसे रोके रहे, न स्वास को आने दे न जाने। अमानिका और मध्यमा से बायें नथुने को और अँगूठे से दायें नथुने को दृढता पूर्वक बन्द किये रखे। ओठ से मुँह को बद रखे। फिर बायें नथुने से दोनों उँगलियों को हटाकर उससे धीरे धीरे वायु को रेचन करे। जितने देर में वायु भरी थी अर्थात् पूरक किया था उससे दुगुनी देर में शनैः शनैः वायु को निकाले शीघ्रता न करे साधारणतया यही प्राणायाम है। इनके अनेक भेद है। वास्तव में यह प्राणाम नहीं श्वासायाम हैं। श्वासायाम करते करते स्वय प्राणायाम होने लगेगा। वायु भरने की नली श्वासायाम करते-करते शुद्ध हो जायगी। फिर भोजन की आवश्यकता नहीं रहती। पेट में वायु भर लो वही आहार यथेष्ट है इसी से प्राण धारण हो सकते हैं। यह निरन्तर के अभ्यास से होता है। प्राणायाम से प्राणों की इन्द्रियों की और मन की मलीनता नष्ट हो जाती है। पहिले यम-नियमों का पालन करते हुए बाह्य और आभ्यान्तर शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। फिर आसन को दृढ करके प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करते प्राणायाम की सिद्धि होने लगे, भीतर के मल जितने ही नष्ट होते जायँगे उतना ही भीतर प्रकाश दिखायी देने लगेगा। सुषुम्ना का द्वार खुल जायगा। पहिले नीलवर्ण की फिर लालवर्ण की और फिर अत्यन्त शुभ्रवर्ण की सुषुम्ना नाड़ी प्रत्यक्ष दिखायी देने लगेगी। आँख खोलो चाहे बन्द करो वह दीखेगी ही। पहिले एक बिन्दु दिखायी देगा। आँख खोलकर जिधर भी दृष्टि डालो उधर ही वह अत्यन्त गहरे रग का चलता-सा दिखायी देगा। ये नीले, लाल और शुभ्र तीनो रग इतने गहरे और सुहावने होते हैं, कि ससार के किसी रग से भी हजारों गुना नीला दीखता है। लाल दिखायी देता है तो शशक के रक्त के भी

सैकड़ों गुणा लाल और शुभ्र दिखाता है तो शंख, चाँदी, कुन्द तथा शारदीय चन्द्रमा से भी शुभ्र वह वर्ण होता है। साधक को इस चमत्कार से विस्मित न होना चाहिये। यह तो केवल नाड़ी शुद्धि का रूप है। जब तक नीला दिखायी दे समझना चाहिये तमोगुण की वृद्धि है, लाल दिखायी दे तो रजोगुण का प्राबल्य और शुभ्र दिखायी दे तब समझना चाहिये अब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है। मन में बाहिरी विषय का चिन्तन हो तो उसे बल-पूर्वक रोक देना चाहिये योगशास्त्र में इसका नाम प्रत्याहार कहा है।

जब ऐसी स्थिति हो जाय, तब भगवान् के साकार स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। ध्यान ही मुख्य है। ध्यान की ही बढ़ी हुई अवस्था का नाम समाधि है। जब ध्यान परिपक्व हो जाता है, तो उसे धारणा कहते हैं और धारणा ही समाधि में परिणत हो जाती है। ध्यान, धारणा और समाधि इन तीनों का इकट्ठा हो जाना ही संयम कहलता है। यम नियम तो बाहिरी साधन है, इनकी आवश्यकता तो सर्वत्र है, इनके बिना परमार्थ के किसी भी मार्ग में प्राणी नहीं बढ़ सकता। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये मध्यम साधन हैं। विविक्त देश में बैठकर किये जाते हैं॥ ध्यान धारणा और समाधि में अन्तिम साधन हैं। ये अनेक जन्मों के अभ्यास से शुद्ध चित्त वाले साधक को बड़ी कठिनता से भगवत् कृपा से ही प्राप्त हो सकते हैं। सब साधनों के लक्ष्य ध्येय वस्तु का ध्यान करना ही है।"

ध्रुवजी ने कहा—"भगवन् मुझे ध्यान की विधि बताइये। मैं ध्यान कैसे करूँ ? किस वस्तु का ध्यान करूँ ? ध्यान के लिए भी तो कोई आधार चाहिये। निराधार वस्तु का तो ध्यान होता नहीं। शून्य का तो ध्यान ही क्या ? इसलिये ध्येय स्वरूप आप मुझे समझा दें।"

भगवान् नारदजी बोले—"वत्स ! ध्यान के लिये यह आवश्यक नहीं, कि अमुक रूप ही का ध्यान करने से सिद्धि होती है। यथाभिमत जो भी अपने को भगवान् का रूप प्रिय हो उसी का ध्यान करना चाहिये। फिर भी मैं तुझे चतुर्भुज भगवान् विष्णु के ध्यान की विधि बताता हूँ। मेरी बतायी विधि से तू ध्यान करेगा, तो निश्चय ही विष्णु भगवान् स्वयं साकार होकर तेरे सम्मुख प्रकट हो जायँगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इतना कहकर नारदजी ध्रुवजी को भगवान् विष्णु का सर्वोत्कृष्ट ध्यान का उपाय बताने को उद्यत हुए।"

छप्पय

जा, करि मधुवन वास आस जगकी तज दीजो।
कालिन्दीमें तीन काल मज्जन नित कीजो॥
यम नियमनिकूँ साधि बाँधि आसन जो सुखकर।
पूरक, कुम्भक और नित्य रेचक-करियो वर॥
मन इन्द्रिय अरु प्रान मल, मेटो प्राणायामतैं।
प्रत्याहार सम्हारिकैं, चित्त लगइयो श्यामतैं॥

—❀—

श्रीनारदजी द्वारा ध्रुवजी को भगवद्-ध्यान का उपदेश

(२२४)

स्मयमानमभिध्यायेत् सानुरागावलोकनम् ।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम् ॥
एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ५१, ५२ श्लोक)

छप्पय

धरियो हरिको ध्यान भाव जगको नहि होवे ।
श्रीहरिको शुभ ध्यान दुःख जगके सब खोवे ॥
मधुमय सुखकर मृदुल सुधासम मनहर बैना ।
सुन्दर लोल कपोल कमल मुख विकसित नैना ॥
कर कङ्कण केयूर वर, कुण्डल काननिमें लसें ।
करुणासागर प्रणत प्रिय, मन्द मन्द माधव हँसे ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् नारदजी ध्रुवजी को ध्यान की प्रक्रिया बताते हुए कह रहे हैं—"देखो वत्स ! एकाग्र चित्त से भगवान् की मनोहर मूर्ति का इस प्रकार ध्यान करे, मानो वे मन्द-मन्द मुस्कराते हुए मेरी ओर निहार रहे हों । इस प्रकार वरदानियों में श्रेष्ठ श्री श्यामसुन्दर का एक चित्त से ध्यान करे । इस प्रकार उन मंगलमय

संसार भावमय है, जो जैसी भावना करेगा, वह वैसा ही हो जायगा। भगवान् का ध्यान कोई भाग्यशाली ही कर सकते हैं, विषयासक्त मनसे भगवान् का ध्यान हो ही नहीं सकता। जिस मन में काम व्याप्त है, उसमें राम आ ही कैसे सकते हैं, यदि मन में राम आकर बैठ जायँ, तो फिर काम वहाँ फटक भी नहीं सकता। अनेकों जन्मों के ऐसे संस्कार पड़ गये हैं, कि विषयवार्ता तो अमृत से भी प्यारी लगती है, जहाँ भगवत् सम्बन्धी कोई बात छिड़ी कि नानी मर जाती है, मन भाँति-भाँति के बहाने बना कर वहाँ से भागना चाहता है। बड़े परिश्रम से यत्नपूर्वक भगवद्-विग्रह का ध्यान करे तो स्वप्न में भी वह दिखायी नहीं देती, इसके विपरीत किसी कमनीया कामिनी को एक बार भी देख लेते हैं, तो मन उसमें फँस जाता है। स्वप्न में भी दिखायी देती है। क्योंकि जन्मजन्मान्तरों के संस्कारानुसार उधर मनकी स्वाभाविक रुचि है। पानी ढालू पृथ्वी में तो आपसे आप बह जाता है। ऊँचे ले जाने को प्रयत्न करना पड़ता है।

जिन्होंने हजारों जन्मों में निरन्तर तपस्या, यज्ञ, दान आदि सत्कर्म किये हैं, इन शुभ कर्मों को करते-करते जिनके मनके मल विक्षेप आदि आवरण नष्ट हो गये हैं, ऐसे क्षीण पाप पुरुष ही भगवद् ध्यान के अधिकारी होते हैं। पूर्वजन्मों के अभ्यास के कारण उनकी स्वाभाविक ही भगवद्ध्यान में प्रीति होती है। अन्त में ध्यान करते-करते परम पद को प्राप्त कर लेते हैं। स्वनाम-धन्य सुनीतिनन्दन ध्रुवजी भी उन्हीं पुण्यश्लोक पूजनीय पुरुषों में से हैं।

प्रभु का ध्यान करते-करते मन अत्यन्त ही शीघ्र परमानन्द में निमग्न हो जाता है और ऐसा तल्लीन हो जाता है, कि फिर लौटकर नहीं आता। तन्मय हो जाता है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ध्रुवजी के पूछने पर नारदजी उन्हें ध्यान की विधि बताने लगे नारदजी ने कहा—"वत्स! भगवान् का वस्त्र आभूषणों के सहित ध्यान करना चाहिये। ध्यान करने वाला एकाग्र चित्त से ऐसा अनुभव करे कि स्वयं साक्षात् भगवान् मेरे हृदय कमलरूपी आसन पर विराजमान हैं। उनका ध्यान बैठे हुए, खड़े हुए, लेटे हुए जैसे अच्छा लगे वैसे ही करे। यह भावना रहे कि भगवान् समस्त सद्गुणों के आकार हैं। सौन्दर्य, माधुर्य, दया, कृपा, ऐश्वर्य, यश कान्ति ह्री श्री आदि सभी पूर्ण रूप से उनमें विद्यमान हैं। वे भक्तों पर कृपा करने के लिये सदा व्यग्र बने रहते हैं। वे गुरुओं के भी परमगुरु और सर्वश्रेष्ठ हैं, वरदानियों में सर्वश्रेष्ठ वरदाता हैं, उनकी अवस्था सदा किशोर रहती है। देवताओं के सौन्दर्य से भी असंख्यों गुणा सौन्दर्य उनके श्रीअंग में विद्यमान है। वे प्रणतजनों के आश्रय, सुख की खानि करुणा के निधान और परम शोभावान हैं। यह सोचे कि भगवान् अपने कमल नेत्रों से कृपा की वृष्टि करते हुए प्रेमपूर्वक मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं, मुझे करुणावश निहार रहे हैं। चाहे नख से शिखा तक सब अङ्गों का क्रमशः ध्यान करे या शिखा से लेकर चरण नख पर्यन्त पृथक् पृथक् अंगों का उनके वस्त्राभूषण और आयुधों सहित ध्यान करे।"

ध्रुवजी ने कहा—"प्रभो! विस्तार से ध्यान की विधि बतावें। भगवान् के श्रीअंगों का किस प्रकार ध्यान करें।"

नारदजी बोले—"देखो, भगवान् की पहिले एक भावमयी अत्यन्त सुन्दर अत्यंत मनोहर मनोमयी मूर्ति बनानी चाहिये, फिर एकाग्र चित्त से सभी अंगों का क्रमशः शनैः शनैः ध्यान करना चाहिये। जब एक अंग में भली-भाँति मन टिक जाय तब दूसरे अंग पर मन को ले जाना चाहिये। ध्यान में शीघ्रता न करनी चाहिये व्यग्रता करने से ध्यान निष्फल हो जाता है।"

ध्रुवजी ने कहा—"किस अंग का पहिले ध्यान करे ?"

नारदजी बोले—"चाहे पाद पद्मों से प्रारम्भ करे या श्रीमुख से। मैं श्रीमुख से ही ध्यान की प्रक्रिया बताता हूँ। भगवान् के सिर पर सुन्दर सुहावना सर्व मणियों से युक्त चमचमाता मुकुट विराजमान है, जिसकी आभा करोड़ों सूर्य के समान है, उसमें लगी हुई मणियाँ उसी प्रकार दमक रही हैं मानों आकाश मे एक साथ ही सहस्रों पूर्ण चन्द्र उदित हुए हों। काली-काली घुँघराली कुटिल लटों पर वह मुकुट अत्यन्त ही शोभा दे रहा है। इसके अनन्तर भगवान् के मस्तक का ध्यान करे। जो विशाल है, जिस पर गोरोचन कुंकुम आदि का तिलक शोभित है। लाल वर्ण के ऊर्ध्व पुण्ड्र के इधर-उधर पीली चन्दन की खौर बड़ी ही भली मालूम होती है। श्रीजी ने भ्रुकुटियों से लेकर कपोल तक टेढ़ी पत्रावली अंकित कर दी है। फिर भगवान् की उन्नत नोकदार शुक के समान नासिका का ध्यान करे जिसमें लटकता हुआ मोती फोटे खा रहा है। धनुष के समान कुटिल भ्रुकुटिद्वय का ध्यान करते-करते उसमें तन्मय हो जाय। फिर कमल कोष के सदृश खिले अरुण डोरियों वाले कृष्ण पुतलियों से युक्त काले-काले अपांगों वाले नेत्रों को अपने हृदय में धारण करे। उन नेत्रों से सर्वदा कृपा की किरणें निकलती रहती हैं जो अज्ञान रूपी अंधकार को तत्क्षण मेंटने में समर्थ हैं। फिर सुन्दर भरे हुए, उभरे हुए, अत्यन्त चिकने बालों से रहित गोल-गोल कपोलों का ध्यान करे। यद्यपि वे नील मणि के सदृश हैं, फिर भी उनमें अरुणता की आभा उसी प्रकार दीखती है मानो गोल नील मणि के भीतर से लाल दिखायी दे रहा हो। मानो जो सुवर्ण के मकराकृत कुण्डल हैं उनकी आभा से दोनों कपोल दीप्त हैं, कानों ने कष्ट सहकर अपने आपको छिपाकर कुण्डलों को धारण किया है। किन्तु सौन्दर्य कपोलों का ही बढ़ रहा है। परोपकार का

इससे सर्वोत्कृष्ट उदाहरण और कहाँ मिलेगा। भगवान् के कपोल इतने सुन्दर इतने सुहावने हैं, कि जिनकी स्मृति में ही ऐसी मादकता है, कि लक्ष्मी जी उन्हें निहारते निहारते आत्मविस्मृत हो जाती हैं। श्रीमुख पर मन्द मन्द मुस्कान छिटक रही है जिसमें उनकी मनोरम दाडिम के सदृश दन्तावली का कुछ भाग दिखायी देता है। दूध के फेन के सदृश सफेद कुन्द के समान स्वच्छ और अनार के दानों के सदृश झलमलाते हुए वे दर्शन ओष्ठ और अधर की आभा से ऐसे प्रतीत होते हैं मानों बन्धूक पुष्प की दो कलियों के ऊपर अत्यन्त छोटी-छोटी रोमावली उभडने के लिये उत्सुक हो रही है नीचे का अधर ओष्ठ इतना सलोना इतना पतला, इतना लाल है कि वह कमल कलिका के समान सर्वदा चंचल ही बना रहता है। ठोढ़ी पर बनाया हुआ तिल चन्द्रमा के लांछन को लज्जित कर रहा है।

शङ्ख के समान उतार चढाव की ग्रीवा में मणि मुक्ताओं के हार तथा वनमाला उसी प्रकार प्रकाशित हो रही है मानो नील वर्ण के आकाश में इन्द्र धनुष शोभित हो रहे हो। भगवान् की उतार चढाव की बडी-बड़ी विशाल बाहुओं में अगद बजूबन्द उसी प्रकार लटक रहे हैं मानो वट की बडी-बडी शाखाओं में लटें लटक रही हों। कलाई के ककण कभी ऊपर चले जाते कभी नीचे आ जाते हैं। भगवान् के चारों हस्तों में शङ्ख चक्र गदा और पद्म विद्यमान है जो भक्तों के भय हरने और अनुरक्तों को सुख प्रदान करने में सदा सजीव होकर विद्यमान रहते हैं। पाँचों उँगलियों के नख उसी प्रकार चमक रहे हैं मानो पाँच फण वाले अमृत मुख वाले सर्प के मुकुट में पाँच मणियाँ दमक रही हों। करतल रक्तवर्ण की रेखाओं और शङ्ख चक्रादि चिह्नों से सुचिह्नित हैं।

भगवान के विशाल वक्षःस्थल में श्री वत्स का चिह्न है, वह उसी प्रकार शोभित होता है मानो सजल जलधरों के बीच में

भ्रमरों की वृत्ताकर पंक्ति शोभित हो। कौस्तुभ मणि उसमें दमदम करती हुई दमक रही है। त्रिवली से युक्त उदर श्वासों के कारण कभी किञ्चित भीतर जाता है कभी बाहर आता है। गंगा से आवर्त के समान गोल नाभि रोमावली से ढकी अत्यन्त ही सुशोभित हो रही है। भरे हुए मोटे जघन पीताम्बर से ढके हुए अत्यन्त ही शोभायुक्त प्रतीत हो रहे हैं। उनके ऊपर दमकती हुई सुवर्ण की करधनी हिल रही है। उनमे छोटे-छोटे नूपुर बज रहे हैं। मानों सर्वोत्तम सौन्दर्य का जय घोष करते हुए डिमडिम पीट रहे हों। भगवान् की ऊरु केला के स्तम्भ के समान चिकने और चित्त को चुराने वाली है। गोल-गोल पिंडुरियाँ पापों को अपने प्रहार से पछाड़ने को सर्वथा समर्थ है। भगवान् के उभरे हुए टखने अत्यन्त ही दीप्तिमान हैं। उनके उभरे हुए कछुआ के पीठ के समान उतार चढ़ाव के चिकने पद ऐसे स्निग्ध हैं, मानों नील रङ्ग के मक्खन को जमाकर उसी की आकृति बनायी हो, भगवान् की उँगलियों के दशों नख दशों दिशाओं मे तिमिर को ध्वंस करने के लिये मानों दश चन्द्र एक साथ उदित हुए हों। लाल-लाल पदतल इतने सुकुमार हैं कि कोमल तुलसी के प्रहार को भी कठिनता से सहते हैं। लक्ष्मी जी जब अपने अत्यन्त कोमल करों से लज्जित हुई लीला से उन्हें अपने मुट्ठी में पकड़ कर हौले-हौले दबाती हैं तो अत्यधिक लाल हो जाते हैं। वे चरण ही भक्तों के सर्वस्व हैं। वे हृदय कमल के ही ऊपर टिकते हैं कठिन अवनि का स्पर्श करने योग्य वे नहीं हैं। इस प्रकार बेटा! उन भगवान् के समस्त अगों का ध्यान करे। चरणों मे बजते हुए नूपुरो का शब्द सुने। चरणों से लेकर पुनः सिर पर्यन्त ध्यान करके फिर सिर से लेकर चरणों तक आगे उस प्रकार अनुलोम प्रतिलोम से जितनी देर भी ध्यान कर सके उतनी देर ध्यान करे।"

ध्रुवजी ने कहा—"प्रभो ! यह तो आपने बड़ा ही मनोहर ध्यान का प्रकार बताया किन्तु ऐसा ध्यान आठों प्रहर-दिन-रात्रि-तो हो नहीं सकता जब ध्यान से चित्त उच्चाट हो जायें तब क्या करूँ ?"

नारदजी शीघ्रता के साथ बोले—' जब जप करना चाहिये। ध्यान जप और पाठ ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। पाठ से जप, जप से ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यान में चित्त न लगे तो मन्त्र जाप करना चाहिये, जप में भी चित्त उचाट हो तो विष्णुसहस्रनाम अन्य ग्रन्थों का पाठ करना चाहिये।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज जप किस मन्त्र का करूँ ?"

नारदजी ने कहा—"अपने योग्य शास्त्रकारों ने असख्यों मन्त्र बताये हैं। जिसका जो इष्ट मन्त्र हो गुरु ने जिस मन्त्र का उपदेश किया हो उसी का जप करना चाहिये। उसी के जप से सिद्धि प्राप्त होती है, किन्तु मैं तो द्वादशाक्षर मन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ तुझे उसका जप अनुकूल पड़ेगा।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज ! द्वादशाक्षर मन्त्र कौन-सा है, उसका उपदेश मुझे दें।"

नारदजी बोले—"जो सर्वत्र बसते हैं, उन देवका नाम वासुदेव है। ६ भाग उनमें सदा समग्ररूप से विद्यमान् रहते हैं, इसलिये उनको भगवान् कहते हैं। इसलिये भगवान और वासुदेव में चतुर्थी लगाकर आदि में प्रणव का दो नमः जोडकर जो मन्त्र बनता है उसी को द्वादशाक्षर मन्त्र कहते हैं। इसमे १२ अक्षर होते हैं। एक प्रणव का दो नमः के, चार चतुर्थ्यन्त भगवच्छब्द के और ५ चतुर्थ्यन्त वासुदेव शब्द के इस प्रकार एक और दो तीन तीन और चार, सात, सात और पाँच इस प्रकार १२ अक्षर हुए।"

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज मैं तो बच्चा हूँ मेरा अभी न

कोई संस्कार हुआ, न मैंने अक्षर ही पढ़े। आपने तो बड़े चक्कर से बताया। मुझे शुद्ध मन्त्र बताइये।"

नारजी बोले –"ओं नमो भगवते वासुदेवाय" यही द्वादशाक्षर मन्त्र है। इसी का तुम निरन्तर जप करना। ध्यान का अधिक अभ्यास करना। ध्यान करते-करते ध्याता अत्यन्त शीघ्र ही उनके परमानन्द रूपी छवि के अमृत सागर में निमग्न हो मिल जाता है। जहाँ निमग्न हुआ कि फिर उसका आवागमन मिट जाता है उन्हीं हरि का हो जाता है। संसारी बन्धनों से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। ध्यान और जप इसी में समय को बिताओ। यह द्वादशाक्षर मन्त्र इतना गुप्त है कि सबके सम्मुख इसे प्रकट नहीं करना चाहिये। कंजूस के धन की भाँति इसे बड़े यत्न से रखना चाहिये। यह ऐसा महामन्त्र है कि कोई इसे बिना सोये सात दिन रात में निरन्तर जपता रहे तो उसकी ७ दिन में ही बुद्धि ऐसी निर्मल हो जाती है कि उसे आकाश में उड़ते हुए देवताओं के विमान, प्रत्यक्ष दिखायी देने लगते हैं।"

ध्रुवजी ने पूछा—"महाराज, द्वादशाक्षर मन्त्र का जप मात्र ही करें या कुछ और भी करना चाहिये ?"

नारदजी ने कहा —"और भगवान् की पूजा करनी चाहिये ?"

ध्रुवजी बोले—"महाराज, पूजा तो मैंने कभी की नहीं। पूजा की प्रकार भी कृपा करके बतावें। गुरु तो वे ही होते हैं जो सब की शिक्षा दें। सभी संशयों का छेदन कर साधन का मार्ग बतावें। मैं एक तो वैसे ही अज्ञानी हूँ, तिस पर अभी बालक हूँ। ५ वर्ष की अभी मेरी अवस्था है, मुझे अच्छे बुरे का विवेक भी नहीं, आप जो भी उपदेश देंगे, उसी का मैं यथावत् पालन करूँगा।"

नारदजी बोले—"बेटा ! पूजा, सेवा, अर्चा, ये सब एक ही बात है। भगवान् की बिना सेवा किये भक्त रह नहीं सकते। और की तो बात ही क्या स्वयं भगवान भक्त से आकर कहें, कि

तुम पूजा करना छोड़ दो, हम तुम्हें मुक्ति देते हैं, तो भक्त बिना सेवा की उस मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं। भजन, पूजन, परिचर्या यही तो भक्तों की निधि है। पूजा के अनेक भेद हैं। वैदिक, तांत्रिक तथा मिश्रित आदि अनेकों प्रकार से भगवान् की पूजा होती है। उसके बड़े-बड़े विधान हैं। उसमें सामग्रियों का विधियों का अत्यधिक विस्तार है। मैं उतने विस्तार में न जाकर अत्यन्त संक्षेप में तुझे सात्विकी पूजा का रहस्य समझाऊँगा। जिसमें बाह्य सामग्रियों की प्रधानता न होकर भाव की ही प्रधानता है। भगवान् भोगों के भूखे नहीं। भोगों की न उन्हें इच्छा है न कमी। सभी के एकमात्र स्वामी तो वे ही हैं। उनके यहाँ और सब वस्तु तो इतनी हैं, कि उनसे वे सदा तृप्त रहते हैं, उनकी उन्हें आवश्यकता नहीं। किन्तु प्रेम के वे स्वयं सागर और उद्गम होने पर भी सदा प्रेम के लिये भूखे बने रहते हैं। कोई उन्हें तनिक भी प्रेमपूर्वक पुकारता है तो वे रीझ जाते हैं और उसे अपनापन प्रदान कर देते हैं। इसलिये मेरी बतायी हुई पूजा पद्धति में प्रेम का ही प्राधान्य होगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ? इतना कहकर नारदजी ध्रुवजी को पूजा पद्धति बताने को उद्यत हुए।"

छप्पय

करतल पदतल, ओठ अधर अति अरुण मनोहर।
मन्द मन्द मुसकान सजल जलधर वपु प्रियतर॥
काञ्चन की कमनीय करधनी कटि में भ्राजे।
शंख चक्र अरु गदा पद्म करकमलनि राजे॥
यों बेटा! भगवान् को, ध्यान करोगे नेमतें।
तो निश्चय करुणायतन, प्रकट होयँगे प्रेमतें॥

ध्रुवजी को नारदजी द्वारा पूजा-पद्धति का उपदेश

[२२५]

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः ।
शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्चेत् तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥
लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत् ।
आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक् ॥
(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ५५-५६ श्लोक)

छप्पय

पूजा प्रभु की प्रेम सहित करियो मधुवन में ।
धरियो जो कछु मिले भावते हरि चरनन में ॥
तुलसीदल जल फूल, मूल फल जो मिलि जावें ।
भाववस्य भगवान् प्रेमतें सोई पावें ॥
गोवर्धन की शिला वा, वटिया शालिग्राम की ।
करियो सेवा नेमतें, कृपा होहि घनश्याम की ॥

सेवा के बिना संसार में न कोई सिद्धि प्राप्त कर सकता है न सेवा किये बिना कोई रह ही सकता है । अन्तर इतना ही है,

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् नारदजी ध्रुवजी को पूजा पद्धति का उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"देख, बेटा ! पवित्र जलों से वन के मूल फलों से, मालाओं से, सुन्दर अंकुरों से, फूलों से

कि क्षुद्र हृदय के पुरुष क्षुद्र की सेवा करते हैं। संसारी विषयों में आसक्त प्राणी विषयी तथा भौतिक धन के धनी पुरुषों की उपासना करते हैं, उन्हें प्रसन्न रखने के लिये विविध प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। जो स्वर्गीय सुखों की, देवलोक की अप्सराओं की अमृत तथा नन्दन के पुष्प की वांछा करते हैं, वे देवताओं की भक्ति करते हैं, किन्तु जो भुक्ति मुक्ति अनुरक्ति तथा भक्ति सब कुछ चाहते हैं, वे सर्वेश्वर की सेवा करते हैं। अन्य सब तो ऐसे हैं, कि जो प्रसन्न होने पर एक आध वस्तु दे सकते हैं, किन्तु श्रीहरि तो ऐसे हैं जिन्हें प्रसन्न कर लेने पर कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रह जाती, सब कुछ प्राप्त हो जाता है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब ध्रुवजी ने नारदजी से पूजा करने की विधि पूछी तो वे उन्हें पूजा का प्रकार बताने लगे।"

ध्रुव ने पूछा—"भगवन्! मैं तो बालक हूँ। मैंने कभी पूजा की नहीं, कभी-कभी माता को मैंने पूजा करते देखा है। उसके लिये वह तो बहुत बड़ी तैयारियाँ करती थी, बहुत-सी सामग्रियाँ जुटाती थी, पुरोहितजी आते थे घंटो पूजा कराते थे। वहाँ अरण्य में मैं इतनी सामग्रियाँ कहाँ से जुटाऊँगा?"

नारदजी बड़े स्नेह से बोले—"अरे, नहीं भैया! इतनी सामग्रियों की आवश्यकता नहीं है। पूजा तो अपनी शक्ति के

तथा हरि प्रिया तुलसी के द्वारा प्रभु की पूजा करे यदि भगवान् की द्रव्यमयी अर्चा विग्रह प्राप्त हो सके तो उसी से, नहीं तो पृथ्वी जल आदि भगवान् के जो पूजा के स्थान बताये हैं उन्हीं से समस्त सामग्रियों से हरि की पूजा करे। पूजक को चाहिये वह संयमपूर्वक मननशील होता हुआ शान्त चित्त से वाणी का संयम करके मौनी होकर पूजन करे और वन के फल-मूलों का स्वल्प आहार करके रहे।"

अनुसार करनी चाहिये। जो भी उपचार सरलता से उपलब्ध हो जायँ उन्हीं से पूजा हो सकती है। मैं पीछे बता ही चुका हूँ, भगवान् किसी वस्तु के भूखे नहीं, उन्हें सामग्रियों की इच्छा नहीं। भाव से एक चुल्लू जल भी कोई दे दे, एक पत्र तुलसी का भी चढ़ा दे उससे ही वे प्रसन्न हो जाते हैं।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज, मुझे ऐसी वस्तुएँ बता दीजिये जो सरलता से मुझे वहाँ मिल जायँ। उन्हीं से मैं द्रव्यमयी पूजा कर सकूँ।"

नारदजी बोले—"देखो, यमुना जल की तो कुछ कमी ही नहीं। एक तूमड़ी में यमुना जल भर लाये। वहाँ जंगली फूल बहुत होते हैं, वृक्षों से फूल तोड़ लाये। तुलसीजी का तो वहाँ वन ही है। सबसे अधिक भगवान् को तुलसी ही प्रिय है। वे मंदार, पारिजात, चम्पा, कमल आदि किन्हीं पुष्पों का इतना आदर नहीं करते, जितना कि तुलसीजी का करते हैं। तुलसीजी ने अनेकों जन्म तपस्या करके यह पद प्राप्त किया है। एक दल तुलसीजी से भगवान् अत्यन्त ही सन्तुष्ट होते हैं। हरी-हरी दूब के कोमल-कोमल अंकुर ले आये। केलों के छिलके के डोरा बनाकर पुष्पों की माला बना ली। जंगली फल वहाँ बहुत हैं, पके-पके बेर तोड़ लाये। कैथा, बेल, अमरूद वहाँ बहुत खड़े हैं। उनके कच्चे पक्के जैसे भी फल मिले तोड़ लाये। जंगली कंद मिल गये कमलों का नाल आदि जो भी मिलें सबको लाकर उन्हीं से भगवान् की पूजा करना।"

ध्रुवजी बोले—"भगवन्! पूजा मैं करूँ किसकी?"

नारदजी बोले—"देखो, बेटा! सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु जल, पृथ्वी, ब्राह्मण, गौ, अतिथि, प्रतिमा, तुलसी, अपना हृदय, इन सब में भगवद् बुद्धि से पूजा की जाती है। इन सबमें प्रतिमा पूजन श्रेष्ठ है।"

ध्रुवजी ने पूछा—"प्रतिमा कै प्रकार की होती है ?"

नारदजी ने बताया—"भगवत् प्रतिमाओं के बहुत भेद है, उनमें ८ प्रधान हैं। पाषाण की प्रतिमा, काष्ठ की प्रतिमा, सुवर्ण, चाँदि आदि धातुओं की प्रतिमा, चन्दन को घिसकर उससे बनायी प्रतिमा कागज पर या दावात पर लिखी हुई, मणि आदि स बनायी प्रतिमा अथवा अपने मन से बनायी हुई भावमयी प्रतिमा ये ही प्रधानतया प्रतिमाओं के भेद है। तुम्हें कहीं भगवान् सालिग्राम की बटिया मिल जाय या श्री गोवर्धन जी साक्षात् भगवान् का स्वरूप ही है, उनकी मिल लाय तो उसी की भक्ति भाव से पूजा करना। ये सब न मिलें तो पृथ्वी में ही भगवान् की मूर्ति बनाकर पूजा करना। अथवा श्री यमुनाजी के जल में ही पूजा कर लेना।"

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज! मेरी माँ पूजा कराती थीं, तो पुरोहितजी बहुत से मन्त्रों को बड़ी देर तक पढ़ते रहते थे। मैं तो एक भी मन्त्र नहीं जानता। फिर कैसे पूजा करूँगा ?"

नारदजी ने कहा—"बहुत मन्त्रों की आवश्यकता नहीं। एक ही मन्त्र बहुत है। द्वादशाक्षर मन्त्र से ही सम्पूर्ण पूजन हो सकता है।"

ध्रुवजी बोले—"किस प्रकार एक ही मंत्र से पूजन होगा ?"

नारदजी ने कहा—'देखो, पूजा करने वाले साधक को संयत-चित्त होकर, शान्ति के साथ, विचार पूर्वक मौनी होकर भगवान की पूजा करनी चाहिये। स्नानादि से निवृत्त होकर तिलक स्वरूप धारण करे यदि संध्या वन्दन का अधिकारी हो तो सन्ध्यावन्दन करके नहीं तो वैसे ही विष्णु स्मरण पूर्वक आचमन करके शिखा बाँधकर स्वस्थ चित्त से पूजन पर बैठे। जल का एक पात्र भर कर रख ले। पूजन की सामग्री को दायीं ओर रखकर श्री विग्रह की ओर मुख करके अंगन्यास करन्यास जानता हो तो करे, नहीं

वैसे ही अंगों का स्पर्श करके यह भावना करे, कि श्री हरि मेरे सम्पूर्ण अंगों में प्रवेश कर गये हैं। फिर मूल मन्त्र से ही पूजा करे। जैसे "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" आवाहयामि। (भगवान् का आवाहन करता हूँ) ओं नमो० आसनं समर्पयामि (आसन देता हूँ) ओं नमो० आचमनीयं समर्पयामि (भगवान् को) जल प्रदान करता हूँ) ओं नमो० स्नानीयं समर्पयामि (स्नान को जल देता हूँ) ओं नमो० वस्त्र समर्पयामि (भगवान को वस्त्र अर्पण करता हूँ) जो वस्तु न हो उसके स्थान में तुलसी या पुष्प अर्पण कर दे। जैसे वस्त्रस्थाने तुलसी दल समर्पयामि, यज्ञोपवीतस्थाने पुष्पाणि समर्पयामि। इत्यादि ओं० नमो यज्ञोपवीतं समर्पयामि। ओं नमो० गन्धं समर्पयामि, पुष्पाणि समर्पयामि, पुष्पमालां समर्पयामि धूपं आघ्रापयामि, दीप दर्शयामि, नैवेद्यं निवेदयामि, आचमनीयं प्रत्याचमनीय शुद्धाचमनीय समर्पयामि फलान्ते आचमनीयं समर्पयामि। मुखशुद्ध्यर्थं ताम्बूल पुंगीफलं अथवा तुलसी पत्राणि समर्पयामि। दक्षिणां समर्पयामि। निरांजन समर्पयामि। स्तोत्रं समर्पयामि। बस ऐसे मन्त्र बोलकर फिर यह वस्तु अर्पण करता हूँ ऐसे शुद्ध सात्विकी पूजा, आडम्बर से रहित यथालब्धोपचारों से श्रद्धा भक्ति पूर्वक करे।"

ध्रुवजी ने पूछा—"भगवन्! यदि षोडशोपचार पूजा न हो सके तब।"

नारदजी ने कहा—"तब पंचोपचार ही पूजा करे। स्नान गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य तथा आचमनीय देकर हाथ जोड़ ले, क्षमा याचना कर ले। बात यह है भैया! आज मनसा, वाचा तथा कर्मणा भक्ति-पूर्वक ही करनी चाहिये। जो पूजा दिखाने को की जाती है, वह पूजा नहीं दम्भ है। भगवान् तो सबके घट-घट में व्याप्त हैं, जो निष्कपट होकर उनकी जिस भाव से सेवा करते हैं, उन्हें वैसा ही फल वे प्रदान करते हैं।"

ध्रुवजी ने पूछा—"किस भावना से भगवान् की पूजा करनी चाहिये ?"

नारदजी ने कहा—"भगवान् तो कल्पतरु है, जिस भावना से भी उन्हें भजो उसी भावना को वे पूरी करते है। यदि धनकी इच्छा से उनका पूजन करो, तो वे जितना चाहो धन देंगे। यदि धर्म की इच्छा से करो तो धार्मिक बना देंगे। यदि काम की इच्छा से पूजो तो समस्त कामनाओं को प्रदान करेंगे। स्वर्गीय भोगों को देंगे। यदि मोक्ष की इच्छा से भजो तो वे संसारी आवागमन से छुड़ाकर मुक्त कर देंगे। भगवान् को प्रसन्न करके जिसने संसारी भोगों की याचना की वह तो मानों भगवान् की माया के द्वारा ठगा गया। कल्पवृक्ष के नीचे जाकर उसने बकरी का दूध माँगा तो वह देगा तो अवश्य, किन्तु माँगने वाला मूर्ख समझा जायगा, अतः उनसे विषयों की याचना करना बुद्धिमानी की बात नहीं। इसलिये यदि उपासक को इन्द्रिय भोगों की इच्छा न हो तो वह मोक्ष प्राप्ति के लिये अत्यन्त भक्तियोग के साथ अनन्य भाव से, निरन्तर निःकाम होकर भगवान् का भजन ही करे। उनसे किसी भी वस्तु की याचना न करे। उन्हें जो प्रिय होगा वे स्वतः ही देंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार नारदजी ने अपने बाल शिष्य को सभी प्रकार की शिक्षा दी। ध्रुवजी ने विनीत भाव से उनकी शिक्षा को सुना और उसे हृदय में धारण किया। अपने सद्गुरुदेव के चरणों में उन्होंने भूमि में लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उनकी चरण-धूलि मस्तक पर चढ़ायी। उनकी तीन प्रदक्षिणा की। फिर उनकी आज्ञा लेकर प्रेम के आँसू बहाते हुए बार-बार उनकी ओर कातर दृष्टि से निहारते हुए भगवान् के पुण्य धाम मधुवन की ओर चल दिये।"

छप्पय

द्वादश अक्षर सरिस श्रेष्ठ है मन्त्र न दूजो ।
याहीतें फल-मूल सहित हरिकूँ नित पूजो ॥
करि आवाहन प्रेम सहित आसन फिरि दैयो ।
पाद्य अर्घ्य आचमन स्नान जलतें करवैयो ॥
वस्त्र और उपवीत दे, गन्ध धूप दीपादि करि ।
तब नैवेद्य फलादि मुख, शुद्धि फेरि द्रव्यादि धरि ॥

ध्रुव को विदा करके नारदजी का उत्तानपाद के समीप आगमन

[२२६]

तपोवनं गते तस्मिन् प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः ।
अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम् ॥
राजन् किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता ।
किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ६३, ६४ श्लोक)

छप्पय

करिकें पूजा विविध भाँतितें विनती करियो ।
यों सब मनके मैल मेंटि चित में हरि धरियो ॥
जो नर पूजें भाव भक्ति तें बेटा ! उनकूँ ।
मनवाञ्छित फल देहिँ कल्पतरु सम हरि तिनकूँ ॥
धर्म-अर्थ अरु काम सुख, मोक्ष देहिँ आश्रितनिकूँ ।
किन्तु न चाहें भक्त कछु, केवल चाहें भक्तिकूँ ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं - "विदुरी ! जब ध्रुवजी तपोवन-मधुवन को—चले गये, तब महामुनि नारदजी झट से महाराज उत्तानपाद के अन्त.पुर म पहुँच गये । महाराज ने उनका यथोचित आदर सत्कार तथा पूजन किया । फिर सुखपूर्वक आसन पर बैठकर वे राजा से बोले— "राजन् ! आप कुम्हलाये हुए मुख से किस गहरी चिन्ता मे मग्न हैं, क्या सोच रहे हैं ? तुम्हारा काम अथवा अर्थ स संयुक्त धर्म इन त्रिवर्ग मे से कोई नष्ट तो नही हो रहा है ?"

पाप दो प्रकार से किया जाता है, एक स्वेच्छा से दूसरा परेच्छा से। प्रारब्धानुसार जिनकी पापों में स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वे पापों का प्रसन्नता पूर्वक अनुराग के सहित करते हैं। पहिले कुछ चित्त में खेद होती भी है पीछे तो उन्हें करने में एक प्रकार का आनन्द आता है, ऐसे लोगों को या तो पश्चात्ताप होता नहीं, होता भी है तो बहुत काल के अनन्तर, किन्तु जो पाप पर-प्रेरणा से दूसरों को प्रसन्न करने के लिये किये जाते हैं, उन्हें करने के पश्चात् ही पश्चात्ताप होता है। चोरी, परस्त्री गमन आदि पापों में जो स्वतः प्रवृत्त हैं, वे तो उसका अवसर खोजते रहते हैं और अवसर न मिलने पर दुःखी होते हैं, संताप करते हैं, किन्तु किसी विशेष कारणवश ये काम विवशतावश करने पड़ते हैं, तो चित्त में बड़ी ग्लानि होती है। ग्लानि होने से भी प्रायश्चित्त करने की प्रवृत्ति होती है। पाप करने के पश्चात् जो मन में एक प्रकार का ताप होता है—पछतावा होता है—उसे पश्चाताप कहते हैं। पाप करके उसका कृच्छ्रचन्द्रायण या और किसी उपाय से शोधन किया जाता है, उसे प्रायश्चित कहते हैं। इन बाहरी प्रायश्चितों से पाप का मूल तो प्रायः नष्ट होता नहीं, किन्तु पापों के फल भोगने में कमी हो जाती है।

महाराज उत्तानपाद बड़े बुद्धिमान् थे। यशस्वी और वृद्ध सेवी थे। सौन्दर्य प्रलोभन के वशीभूत होकर उन्होंने महारानी सुनीति को उनके अधिकार से च्युत कर दिया था, किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि वे सुनीति देवी और उनके पुत्र ध्रुव से घृणा करते थे। मन से वे सुनीति देवी का आदर करते थे। उनके गुणों के कारण वे उनसे डरते थे, उनके सामने होने में लज्जा का अनुभव करते थे, इसीलिये वे उनसे दृष्टि नहीं मिला सकते थे। सुनीति देवी पतिव्रता थीं, वे अपने पति को लज्जित करना नहीं

चाहती थीं, उनके सुख में वे बाधा पहुँचाना नहीं चाहती थीं, इसीलिये वे बिना बुलाये कभी महलों में नहीं जाती थीं।

कुमार ध्रुव भूल में चले गये, अपने फूल-से पुत्र को देखकर उनका हृदय उमड़ने लगा, किन्तु उनकी रूपगर्विता दूसरी रानी सुरुचि ने गोद में लेने से राजा को मनाकर दिया। ध्रुवजी क्रोध में भरकर बुरी तरह से रोते हुए राजा के महल से निकले। महाराज का हृदय भर गया। अब उन्हें अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। जब उन्होंने सुना मेरा छोटा-सा पुत्र मेरे अपमान से दुखी होकर वन को चला गया और लौटाने पर भी न लौटा। पीछे खोज करने पर दूर तक उसका कोई पता भी न मिला। तब तो राजा को निश्चय हो गया, मेरे पुत्र को किसी सिंह व्याघ्र ने खा लिया। ५ वर्ष का ही तो बालक था, कभी घर से बाहर नहीं हुआ था। मन्त्रियों को भेजकर मैंने उसे बुलाया भी, तो नहीं आया, तब मैंने सोचा—"स्वयं चलूँ, इसीलिये उसकी खोज करायी तो उसका फिर कहीं पता भी नहीं लगा। घोर अरण्य में किसी हिंसक जन्तु ने उसके प्राणों का अन्त कर दिया। हाय! यह सब हुआ मेरे ही कारण। पशु-पक्षी भी अपनी संतान से कितना स्नेह करते हैं। मैं पशु-पक्षियों से भी गया बीता हूँ। वह मुझे से माँगता नहीं था, कुछ लेने नहीं आया था। पिता की गोदी में चढ़ना चाहता था। जो बालक का जन्मसिद्ध अधिकार है। मुझ मन्दमति ने उसे अधिकार से ही वञ्चित नहीं किया, अपने पितृत्व पद से गिरा दिया। मैं लोगों को क्या मुख दिखाऊँगा. सभी मुझे पुत्रघाती कहेंगे। सुनते हैं सर्पिणी अपने पुत्रों को खा जाती है, किन्तु मुख से जो निकल जाता है उसे फिर नहीं खाती। मैं तो सर्पिणी से क्रूर निकला। माता सहित उसे घर से भी निकाल दिया, फिर भी उसका विनाश कर दिया। उसे सिंह व्याघ्रों का कवल बना दिया। इस प्रकार अनेकों चिन्ता करते हुए

महाराज महलों में उदास बैठे थे। न उन्होंने स्नान किया न देव-पूजन। फिर भोजन की बात ही क्या।

नारदजी तो सभी का ध्यान रखते हैं। जीवमात्र के सुहृद् हैं। सभी के अकारण बन्धु हैं। दुखियों का दुःख दूर करते रहना ही उनका व्रत है। ध्रुव को दुःखी देकर ब्रह्मलोक से दौड़े आये। उन्हें भजन पूजन का उपदेश करके मधुवन तपस्या करने भेजा। जब बालक पारमार्थिक दीक्षा प्राप्त करके, सद्गुरुदेव के चरणों में श्रद्धासहित प्रणाम करके चला गया, तब नारदजी को उसके पिता की चिन्ता हुई। जिसका इतना फूल-सा मुनुमुना सा छोटा बच्चा अकेला ही रूठकर वन चला गया हो उसके पिताकी क्या दशा होती होगी, इसका अनुभव दूसरा कौन कर सकता है। नारदजी तो सर्वज्ञ थे। वे समझ गये राजा दुःखी हैं। अब तो राजा से घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। शिष्य का पिता है उसकी भी चिन्ता करना अत्यावश्यक है, अतः कृपालु मुनि उसी क्षण योग बल से राजा के महलों में पहुँच गये। न द्वारपाल को पता चला न किसी सेवक को। अन्तःपुर में भीतर सहसा अपने सम्मुख देवर्षि भगवान् को देखकर राजा संभ्रम के सहित अपने सिंहासन से उठकर खड़े हो गये और चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। इस अवस्था में भगवान् नारद को पाकर राजा का हृदय भर आया। पुरोहित को बुलाकर उन्होंने विधिवत् पाद्य अर्घ्यादि द्वारा मुनि की पूजा की, उन्हें गो अर्पण की और विविध भाँति से स्तुति की। राजा की पूजा को शास्त्रीय विधि से स्वीकार करके हँसते हुए भगवान् नारद बोले—"राजन् आज आप अत्यन्त ही उदास दिखायी देते हो, किसी गहरी चिन्ता में निमग्न से प्रतीत होते हो। क्या बात है? तुम अपनी चिन्ता का कारण मुझे बताओ। अपने दुःख का समाचार सुनाओ।"

अत्यंत दुःख के स्वर में राजा बोले—"भगवन्! क्या बताऊँ,

यह गृहस्थी चिन्ताओं का घर और दुःख का सागर ही है। इसमें नित्य नयी चिन्ता नये दुःख लगे ही रहते हैं।"

नारदजी ने स्नेहपूर्वक कहा—"बात तो बताओ बिना कारण के तो कार्य होता नहीं। त्रिवर्ग का उत्पादन करना यही गृहस्थ का धर्म है। आपके धार्मिक कार्यों में तो कोई व्याघात नहीं हुआ? आपका अग्निहोत्र आदि तो भली-भाँति होता है। पुरोहित आपकी मंगल कामना के लिये देवपूजन और अग्निपरिचर्या तो विधिवत् करते हैं न? आपका दानाध्यक्ष सदा सत्पात्रों को दान देता है न? अर्थसंचय तो भली भाँति होता है? कोष में पर्याप्त धन तो है? किसी शत्रु का भय तो नहीं? प्रजा समय पर शुल्कादि देती है न? आपकी रानियाँ आपके वश में हैं न? वे सत्कुल में उत्पन्न अच्छे स्वभाव की तो हैं? सदा आपकी वशवर्तिनी तो रहती हैं?"

महाराज ने अत्यन्त ही दुःख के स्वर में कहा—"यह सब तो भगवन्! ठीक ही है, सब आपकी कृपा है। त्रिवर्गों का व्याघात मेरे दुःख का कारण नहीं है। मुझसे एक पाप बन गया है। उस पाप के ही कारण मैं जल रहा हूँ। अपने किये का फल भोग रहा हूँ।"

नारदजी ने कहा—"बात तो बताओ, क्या बात है?"

आँसू बहाते हुए राजा ने कहा—"क्या बताऊँ, महाराज! बताने योग्य बात हो तो बताऊँ, वह तो ऐसा क्रूर कर्म है कि कहने में भी लज्जा लगती है। मेरा एक बच्चा था, ५ वर्ष का। वैसे ही मैंने अपना नीचतावश उसे उसकी माता के सहित घर से निकाल दिया था। वही अपनी माँ के प्रेम को पाकर महलों से पृथक् रहकर निर्वासित जीवन बिता रहा था। बड़ा बुद्धिमान्, बड़ा सुशील, बड़ा होनहार वह बालक था। अब तक तो वह

अपनी माँ के समीप रहता भी था। आज वह नगर को छोड़कर भी चला गया।"

अनजान की भाँति नारदजी पूछने लगे—"कहाँ चला गया ?"

महाराज बोले—"अब महाराज, क्या पता कहाँ चला गया। हाय ! मेरे पाप से ही ऐसा अनर्थ हुआ। फूल की तरह सुकुमार मेरा बच्चा। कभी घर से बाहर निकला नहीं। पैदल चलने का उसे अभ्यास नहीं। चलते चलते थक गया होगा। धूप के कारण उसका मनोहर मुख मलिन हो गया होगा। भूख प्यास से दुःखी होगा वन में उसे कौन खाने को देता होगा। कौन उसकी बात पूछता होगा। निर्जन वन में थककर कहीं पेड़ के नीचे बैठ गया होगा, या चल रहा होगा। अरण्य मे विविध प्रकार के हिंसक जन्तु होते हैं, किसी सिंह व्याघ्र के सामने पड़ गया होगा, तो वह उसे खा गया होगा। वन में उस अनाथ बालक की रक्षा कौन करता होगा। बड़ा पापी हूँ, बड़ा नीच हूँ, जो अपने पुत्र की हत्या का कारण बन गया।"

दुःखी पुरुष से उसके दुःख के सम्बन्ध की बातें पूछने से उसे शान्ति होती है। अपना दुःख कहते-कहते चित्त हलका होता है। दुःख का आवेग कम होता है। इसीलिये दुःख में अपने स्नेही आते हैं और दुःख की बातें करके उसके हृदय को हलका करते हैं। इसीलिये बात चलाने को अनजान की तरह नारदजी खोद-खोदकर महाराज से सब बातें पूछने लगे। वे बोले—"बात क्या थी, क्यों चला गया वह ?"

महाराज बोले—"भगवन् ! क्या बताऊँ कोई बड़ी बात भी नहीं थी। बच्चा मेरी गोद में चढ़ना चाहता था। मैंने गोदी में उसे नहीं लिया ऊपर चढ़ने से रोक दिया।"

नारदजी आश्चर्य की मुद्रा दिखाते हुए बोले—"अपने सगे बच्चे को गोदी में चढ़ने से आपने रोक क्यों दिया ?"

राजा शीघ्रता से बोले—"मेरी नीचता, मेरी कामुकता ही इसका प्रधान कारण है। मैं अपनी स्त्री का क्रीड़ामृग बना हुआ हूँ। वह मुझे जैसे नचाती है, वैसे नाचता हूँ, जहाँ बिठाती है वहाँ बैठता हूँ, जो करने को कहती है, वही करता हूँ, नहीं तो प्रेम से गोद में आने वाले बच्चे को कौन पुरुष रोकेगा ? कौन अपने बच्चे का तिरस्कार करके उसके हृदय को चकनाचूर कर देगा ?" इतना कहकर महाराज बच्चों की भाँति फूट-फूटकर रोने लगे।

राजा को इस प्रकार दुःखी देखकर नारदजी हँसते हुए कहने लगे—"अरे राजन् ! आप इतने बुद्धिमान् होकर इस प्रकार सोच करते हैं, यह आपको उचित नहीं। कौन किसका मान करता है, कौन अपमान ? प्रारब्ध के वशीभूत होकर सभी व्यापार कर रहे हैं। सभी अपने पूर्वकृत् कर्मों का फल भोग रहे हैं। यह आपका भ्रम है कि मैं उसकी रक्षा करता था, वहाँ वन में कौन उसे खाने को देगा। भगवान् तो सर्वत्र हैं, सबको वे ही रक्षा करते हैं। जिसकी मृत्यु आ गयी है, घर में भाँति-भाँति के उपचार करने पर भी मर जाता है। जिसका काल नहीं आया है उसे चाहे आप घोर जंगल में ले जाकर सिंह के मुख में भी छोड़ दो तो भी बच जायगा।"

राजा बोले—"हाँ, महाराज ! यह तो ठीक ही है, किन्तु बच्चा अभी बहुत छोटा-सा है ५ ही वर्ष का तो है। अभी अबोध है।"

हँसते हुए नारदजी बोले—"अजी राजन् ! आप उस बालक के प्रभाव को क्या जानें। वह ऐसा वैसा सामान्य बालक नहीं है। वह ऐसा दुष्कर कार्य करेगा कि, उसका यश सम्पूर्ण विश्व में

व्याप्त हो जायगा। उसके चरित्र को सुनकर असंख्यों भक्त इस असार संसार के पार पहुँच जायँगे। देवता भी उसके यश को गायँगे, शत्रु भी उसे अपनायँगे।"

राजा ने उत्सुकता से पूछा—"भगवन्! आपने उसे देखा है क्या? आप उसका कुछ पता ठिकाना जानते हों तो मुझे बतावें मैं वहीं जाऊँगा और जैसे भी होगा वैसे ही उसे मनाकर यहाँ लाऊँगा!"

नारदजी बोले—"महाराज! उसे आप लौटा लाने का विचार तो दें छोड़। उसे अपना काम करने दें। कुछ काल के पश्चात् वह अपना कार्य पूरा करके स्वतः आपके समीप आ जायगा। वह ऐसा कठिन कार्य करेगा कि जिसे लोकपाल भी नहीं कर सकते। उसका यश सम्पूर्ण भूमडल पर फैल जायगा।" मैंने ही उसे मधुवन भेजा है, उपासना की पद्धति बतायी है, उसे भजन करने दो। तुम अपने मनसे उसके प्रति बुरे भाव निकाल दो। वह तुम्हारा नाम अजर-अमर बना देगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इतना सुनते ही राजा को परम हर्ष हुआ। वे इतने प्रमुदित हुए कि महाराज आगे कुछ कह भी न सके।"

छप्पय

शिक्षा दीक्षा पाइ गमन की आज्ञा लीन्हीं।
अति प्रसन्न ध्रुव भये दंडवत चरननि कीन्हीं॥
मुनि सिर पर कर धर्‌यो दई आज्ञा हिय हरषे।
दृढ़प्रतिज्ञ ह्वै चले सुमन नभतें बहु बरषे॥
करि प्रदक्षिणा प्रेमतें, बार बार विनती करी।
ध्रुव तप हित वन चलि दये, तनु पुलकित सुमिरत हरी॥

—o—

पुत्र ध्रुव की चिन्ता में निमग्न महाराज उत्तानपाद

[२२७]

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः ।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥*
(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ७० श्लो०)

छप्पय

इत सोचे उत्तानपाद नृप महलनिमाँही ।
क्यों गोदी में चढ़त पुत्रकूँ लीयो नाहीं ॥
हाय ! कुमति मन बसी फूल-सो लाल गँवायो ।
यों सोचत अति दुखित कमलमुख नृप कुम्हिलायो ॥
ध्रुवकूँ इत करिकें विदा, नारद मुनि नृप ढिँग गये ।
विधिवत् मुनि पूजा करी, अति हर्षित मन में भये ॥

पाँच भूत हैं उनके पाँच विषय हैं, पाँच ही तन्मात्राएँ । संसारी सभी विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन पाँचों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं । आप जितने भी संसारी विषय भोगेंगे चक्षु, कान, रस घ्राण और त्वचा इनसे ही भोगेंगे । सुन्दर-

---

* मैत्रेयमुनि कहते हैं— 'विदुरजी ! जगतपति महाराज उत्तानपाद देवर्षि नारदजी के मुख से यह बात सुनकर राजलक्ष्मी का अनादर करके दिनरात्रि अपने पुत्र ध्रुव की ही चिन्ता मे निमग्न रहने लगे ।"

सुन्दर वस्तुओं को देखकर प्रसन्न होना यह आँखों का धर्म है, रूप के अन्तर्गत सभी सौन्दर्य सुख आ जाते हैं। स्तुति, गायन तथा अन्य भी मधुर शब्दों द्वारा होने वाला तोष, शब्द सम्बन्धी कर्णेन्द्रिय का विषय है। यावन्मात्र खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन, कड़वे और कषाय पदार्थ हैं उनका स्वाद रसना से लेते हैं। जितने सुन्दर सुगन्धित पदार्थ हैं। जितने सुखद मुलायम गुलगुले त्वचा को प्रिय लगने वाले पदार्थ हैं उनका उपयोग हम स्पर्शेन्द्रिय से करते हैं। ये पाँचों ही विषय सुख नारी के शरीर में एकत्र रहते हैं। किसी पदार्थ में एक विषय, किसी में दो, किसी में तीन। कोई सुनने मे मधुर लगता है, किन्तु देखने में अच्छा नहीं। कोयल की वाणी प्यारी है, अन्य इन्द्रियों के लिये वह सामान्य। कुँदरू या करीर के फल पेंचू, देखने मे लाल-लाल बड़े ही सुन्दर मालूम पड़ते हैं; किन्तु उन्हें खाओ या सूंघो तो चित्त बिगड़ जायगा। ऊख का गन्ना देखने में या स्पर्श में उतना सुखद नहीं किन्तु छीलकर दाँतों तले दबाओ तो स्वर्ग चार अंगुल ही दूर रह जायगा। आलू हैं, परवर हैं, कच्चे सेव हैं, देखने में सूँघने में उतने भले नहीं लगते, स्पर्श भी कठोर है, किन्तु उनका साग बनाकर पराठों से खाओ तो फिर स्वर्ग यहीं पृथ्वी पर उतर आता है। आकड़ी बौंडी की रुई का स्पर्श बड़ा सुखद है। किन्तु उसकी गंध रूप, रस आदि अत्यन्त ही दुखद है। नारी का शब्द भी मधुर है, रूप भी चित्ताकर्षक है, रसना को भी तृप्तिकर है इसी प्रकार गन्ध और स्पर्श भी मोहक है। शास्त्रकारों ने दो ही आनन्द माने हैं, या तो विषयानन्द या ब्रह्मानन्द। विषयी लोगों के लिये सबसे सुखद चिन्तन है कामिनी का। यदि काम धर्मानुकूल है तब तो उसकी मर्यादा होती है, जहाँ धर्म को त्यागकर काम स्वच्छन्द हो गया वहाँ तो फिर पग-पग पतन है। शास्त्रकारों ने काम का सेवन मर्यादा में रहकर धर्मपूर्वक करने की

ही आज्ञा दी है। खूँटा पर बँधी गौ को जो देंगे वही खायेगी मर्यादा में रहेगी। चरने भी छोड़ेंगे तो भी ग्वाले के साथ। जहाँ उसने दूसरे के खेत की ओर लालचभरी दृष्टि डाली वहीं ग्वाला उसे बरज देता है, किन्तु जो गौ स्वच्छन्द हो गयी है, वह मर्यादा में कैसे रहेगी। साधारण घास से उसकी तृप्ति नहीं होती, वह तो नयी-नयी घास पर मुँह मारती है और सबकी हानि करती है। विषयानन्द मोहक तो अवश्य है, जीवों की उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किन्तु वह क्षणिक है, नाशवान् है, उसका परिणाम दुखद है। ब्रह्मानन्द शाश्वत है, नित्य है और परमानन्द का अनुभव कराने वाला है। जिन्हें किसी भी कारण से विषयों से विराग हो गया है, वे धन्य हैं, बड़भागी हैं, विषयी देवताओं के भी वन्दनीय पूजनीय और प्रातः स्मरणीय हैं।

मैत्रेयमुनि कहते हैं—"विदुरजी! यह निश्चय नहीं कहा जाता, कि मनुष्य को किस कारण से विषयों से विराग हो जाय। कभी-कभी जीवन भर घोर आपत्तियाँ आने पर भी विराग नहीं होता, कभी तनिक-सी ठेस लगने पर विषय बुरे लगने लगते हैं। पके हुए फोड़ों में सुई चुभाते ही पीव निकल जाता है और पीर चली जाती है। कच्चे फोड़े को बलपूर्वक फोड़े भी तो भरिया-फूटा फोड़ा-हो जाता है। रूपजन्य आसक्ति सदा नहीं रहती, क्योंकि रूप भी परिवर्तनशील है। आज जो सुन्दर है, वही कल कुरूप हो जाता है। सौन्दर्य नष्ट हो जाने पर आकर्षण-शक्ति भी नहीं रहती। किसी के हृदय को अत्यन्त ही अप्रिय घटना के कारण भी सांसारिक रूपों से विराग हो जाता है। ध्रुवजी के वन चले जाने से महाराज उत्तानपाद का मोह दूर हो गया। पश्चात्ताप रूपी मलनाशक पदार्थ ने उनके हृदय को निर्मल बना दिया। नारदजी के मुख से सब समाचार सुनकर महाराज ने अधीरता के साथ कहा—"दयालो! प्रभो! क्या मैं

जीवन में फिर अपने प्यारे दुलारे पुत्र का मुँह देख सकूँगा ? मैंने उसके साथ क्रूरता तो ऐसी की है, कि अपने काले मुँह को लेकर उसके सम्मुख जाने का तो मुझे अधिकार नहीं है। फिर भी पिता की आत्मा ही ठहरी। मुझे ऐसी ही ग्लानि हो रही है, कि आत्म हत्या कर लूँ, किसी को भी अपना कलुषित मुख न दिखाऊँ, किन्तु जीवन में एक बार बस एक ही बार मैं अपने बच्चे का मुख देखना चाहता हूँ। इसी से मरने की इच्छा होने पर भी मैं मरना नहीं चाहता।"

नारद जी ने स्नेह से कहा—"राजन् ! आप इतने बुद्धिमान होकर ये कैसी भूली-भूली बातें कर रहे हैं, आप मेरे वचनों पर विश्वास करें। आपका पुत्र आवेगा। अवश्य आवेगा और शीघ्र लौटकर आपके चरणों को पकड़ेगा। उसके मन में आपके प्रति कोई अन्यथा भाव नहीं। आप शीघ्र ही अपने प्यारे बच्चे को हृदय से लगावेंगे। अब वह ऐसा महापुरुष होकर लौटेगा कि देवता भी उसकी वन्दना करेंगे।"

राजा ने अधीरता से पूछा—"प्रभो ! तब तक मैं क्या करूँ ?"

नारदजी ने कहा—"तुम भी भगवान् का चिन्तन करो अथवा भगवान् के भक्तों का चिन्तन करो। भगवान् ने बार बार अपने श्री मुख से आज्ञा दी है, कि मेरा भक्त मुझसे भी श्रेष्ठ है। जो मेरी पूजा करता है और भक्तों से द्वेष रखता है उस आदमी की पूजा को मैं कभी स्वीकार नहीं करता। जिन भक्तों के हृदय में भगवान् सदा वास करते रहते हैं, उनका चिन्तन करने से तो भगवान् बिना बुलाये हृदय में चले आते हैं। तुम ध्रुव ही की चिन्ता करो। ध्रुव से बढ़कर संसार में ऐसा भक्त कौन होगा ?"

इतना कहकर नारदजी ने अपनी वीणा उठायी और चल

दिये। राजा ने श्रद्धा भक्ति सहित उनके पैर पकड़े। क्षण भर में वे अदृश्य हो गये।

नारदजी के चले जाने पर राजा को ध्रुव की माँ की याद आयी। उनका हृदय फटने लगा। वे उसी समय नगे पैरों अपने सिंहासन से उठे। बिना नौकर चाकर लिये बिना किसी से कहे वे सीधे महारानी सुनीति के निवास की ओर चले। सुरुचि का हृदय भी ग्लानि से भर गया। हाय, मैंने बच्चे को कैसी कैसी कठिन बातें कह दीं। इन सब अनर्थों की जड मैं ही हूँ। मेरे ही कारण राजा इतने दुःखी हैं। महारानी सुनीति निर्वासिता बनी हुई हैं। ध्रुव बालक होकर भी मेरे कारण बनों में ठोकर खा रहा है। वह भी जैसे बैठी थीं वैसे ही महाराज के पीछे पीछे चलीं।

महाराज का हृदय फट रहा था वे ग्लानि, लज्जा और सताप के कारण विह्वल हो रहे थे, उन्हें अपनी शरीर की सुधि नहीं थी। अन्तःपुर के दास दासी चकित थे। वे महाराज का अनुगमन कर रहे थे। सुनीति के द्वार पर वे ठहर गये। उन्होंने बूढी दासी से कहा महारानी को खबर कर दो मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ। दासिया ने दौडकर यह समाचार महारानी सुनीति को दिया। पुत्र शोक से व्याकुल बैठी हुई उन देवी ने जब यह समाचार सुना तो वे सहम गयीं उनका हृदय भर आया। इतने ही में वे क्या देखतीं हैं, कि आँखों से आँसू बहाते लडखडाते, पछतात, अस्त व्यस्त भाव से पागलों की तरह महाराज चले आ रहे हैं। महारानी ज्यों ही आदर करने को उठना चाहती थीं त्यों ही दौडकर महाराज उनके पैरों पर गिर पड़े। दोनों का ही हृदय भर रहा था दोनों के ही आँखों से अश्रुओं का प्रवाह चल चल रहा था। दोनों ही बेसुध थे, दोनों ही प्रेम के कारण लौकिक जगत् से ऊपर उठे थे। महारानी ने रोते रोते अपने पैरों

को छुड़ाते हुए उन्हें अपने सिर पर रखते हुए भर्राये कण्ठ से कहा—"महाराज ! आप मेरे ऊपर यह पाप क्यों चढ़ा रहे हैं। मुझे नरक भेजने का यह उपाय क्यों कर रहे हैं। जिस स्त्री का पति उसके सामने दीन हो पैरों पर पड़े उस स्त्री को धिक्कार है, वह अवश्य ही यमराज के दूतों द्वारा नरक की अग्नि में पकायी जायगी। प्रभो ! आप मेरे देवता हैं। आप यह अनुचित कार्य न करें।"

रोते रोते महाराज ने कहा—"देवि ! तुम मानवी नहीं स्वर्गीय ललना हो। भगवती ! मैंने बड़ा पाप किया है, मैंने तुम्हारे साथ ऐसा अन्याय किया है कि वह कभी भी क्षमा नहीं हो सकता। मुझे तुमसे क्षमा माँगने में भी लज्जा आ रही है। मैं तो तुम्हें मुँह दिखाने योग्य भी नहीं था, किन्तु तुम्हारे साधु स्वभाव को स्मरण करके मैंने तुम्हारी शरण में आने का दुस्साहस किया। किन शब्दों में मैं तुमसे क्षमा माँगू ?"

देवी सुनीति ने आँसू पोंछते हुए कहा—"महाराज ! आप मेरे ईश्वर हैं। भगवान् हैं, परमेश्वर हैं। आपकी प्रसन्नता में ही मुझे प्रसन्नता है। मैं तो जन्मजन्मों में आपकी दासी रही हूँ और आप जिस लोक में भी पधारेंगे वहीं आपकी किंकरी बनकर आपके पीछे रहूँगी। मेरे सर्वस्व आप हैं, सेवकों का अपना तो कुछ है ही नहीं। आप बार-बार ऐसी बात न कहें।"

राजा की हिचकियाँ बँध गयी थीं। रोते रोते वे बालकों की भाँति बोले—"मैंने तुम्हारे इकलौते पुत्र को घर से निकाल दिया उसे अनाथ बना दिया।"

रानी ने बड़े साहस के साथ कहा—"महाराज ! आप यह कैसी बात कह रहे हैं। पतिव्रता स्त्री के लिये पुत्र का कोई मूल्य नहीं। यदि उसका पति प्रसन्न है तो सहस्रों पुत्र उसे प्राप्त हो सकते हैं। यदि उसका पति असन्तुष्ट है, तो हजारों पुत्र भी उसके

लिये हेय हैं। हे मेरे जीवन सर्वस्व! आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे ध्रुव की कोई चिन्ता नहीं। आपकी प्रसन्नता होने पर सैकड़ों ध्रुव हो सकते हैं।"

आज चिरकाल से बिछुड़े पति-पत्नी का ऐसा हृदय को हिला देने वाला सम्मिलन देखकर सुरुचि का हृदय भी फूट पड़ा और उसने भी दौड़कर अपनी बड़ी सौत के चरण पकड़े। सुनीति देवी ने अपने चरणों में सुरुचि को देखकर बल पूर्वक उसे उठा कर अपनी छाती से चिपका लिया। उठे हुए भरे हुए दोनों हृदय परस्पर में मिल गये, उनमें जो मवाद भरा हुआ था वह दोनों की रगड़ से फूटकर बह निकला। दोनों छाती से छाती मिलाकर एक दूसरी के गले में बाहु पाशों द्वारा आबद्ध हो रही थीं। सुरुचि बुरी तरह रो रही थी सुनीति ने उसके आँसू पोंछे। खिसके हुए अचल को अपने हाथ से सम्हाला। खुली हुई वेणी को कसकर उसके बाल सम्हालने लगी। रोते रोते सुरुचि ने कहा—"जीजी! मैं पापिनी हूँ, हत्यारिनी हूँ, डाइन हूँ, किन्तु जैसी भी हूँ तुम्हारी दासी हूँ, सेविका हूँ, मेरे अपराधों को क्षमा कर देना।"

सुरुचि के आँसुओं को अपने अचल से पोंछते हुए सुनीति देवी बोलीं—"बहिन! तुम कैसी बातें कर रही हो, तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो, जो मेरे पति को सुख पहुँचा रही हो। उनकी प्रियतमा बना हुई हो। मैं तुम्हारे भाग्य की सराहना करती हूँ, कि तुम्हें पति परमेश्वर का सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। मेरे सुकृत कर्म थे मुझे थोड़े ही दिन यह देवदुर्लभ अवसर प्राप्त हो सका। मेरे देवता को जिस सुख में सुख मिले उसी में हमें सन्तोष है।"

रोते रोते सुरुचि बोली—"जीजी जी! यह पद तो आपका

थी, मैं तो आपकी दासी थी, मैंने अनधिकार चेष्टा की। आपको आपके पद से च्युत कर दिया। आप बड़ी हैं।"

बड़े स्नेह से सुनीति देवी बोलीं—ना बहिन! बड़ी होने से क्या हुआ! बड़ी वही जिसके गुणों से उसके पति प्रसन्न हो जायँ। हमारा तुम्हारा सबका एक ही कर्तव्य है, जैसे हो तैसे महाराज को सुखी रखना। तुम तो राजरानी हो, मेरे पति यदि किसी कूकरी को प्यार करते हैं तो वह भी हमारे लिये पूजनीय है, उसकी चरण धूलि को भी मैं सहर्ष सिर पर चढ़ाने को उद्यत हूँ।"

रोते-रोते सुरुचि ने कहा—"मेरे ही कारण आपका इकलौता लाड़ला अत्यन्त प्रेम से पाला हुआ पुत्र आज बनवासी बन गया। हाय! उस समय मेरी कैसी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। कैसे-कैसे कठोर वचन मैंने उससे कह दिये।"

देवी सुनीति उसके मुँह को पोंछकर बोलीं—"कोई ऐसी बात तो नहीं। जो तुमने बात कही थी, ठीक वही बात मैंने भी उससे कह दी। फिर राजा के सब पुत्र घर में थोड़े ही रहते हैं। मेरा एक पुत्र उत्तम तो यहाँ है। मेरे लिये जैसा ही ध्रुव वैसा ही उत्तम। ध्रुव भगवान् की सेवा करेगा। और उत्तम वृद्धावस्था में हमारी सुधि लेता रहेगा।"

ध्रुव का प्रसग आते ही महाराज बड़े जोरों से 'बेटा ध्रुव!' कहकर पछाड़ खाकर गिर पड़े। दौड़कर महारानी सुनीति ने उन्हें उठाया और सुरुचि से बोलीं—"बहिन! महाराज पृथ्वी पर ही पड़े हैं यह ठीक नहीं है इन्हें इस शैया पर लिटा दो। दोनों ने महाराज को बलपूर्वक उठाकर शैया पर लिटाया। महाराज के नेत्रों से झर-झर आँसू बह रहे थे। वे बार-बार ध्रुव को ही याद कर रहे थे।

तब तो सुनीति देवी ने कहा—"महाराज! आप अपने पुत्र

के लिये इतने चिन्तित क्यों हो रहे हैं। भगवान् तो सर्वत्र हैं, वे उसकी अवश्य रक्षा करेंगे। अभी दासी ने मुझे आकर नारद भगवान् की कही हुई सब बातें बतायी हैं। वे देवर्षि सर्वज्ञ हैं। भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों की बात जानते हैं। उनका कथन कभी असत्य नहीं हो सकता। उनका उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जा सकता। आपका पुत्र अवश्य आवेगा! शीघ्र ही आवेगा और सिद्ध होकर आवेगा। आप इसमें अणुमात्र भी संदेह न करें। नारदजी के वचनों पर तनिक भी अविश्वास न करें। बहुत शीघ्र ही आप अपने बच्चे को अपने पैरों में पड़ा हुआ देखेंगे। तब आप उसके सिर को सूँघकर जितना चाहें प्यार करें।"

इस प्रकार अनेक बातें कहकर सुनीति देवी ने राजा को धैर्य बँधाया। सुरुचि देवी ने कहा—"जीजी! चलो अपने स्थान को सम्हालो। आप महाराज की सेवा करें। मैं आपकी सेवा करूँगी। आप महाराज की जाया हैं मैं आपकी सेविका हूँ।"

महारानी सुनीति ने बड़ी सरलता से कहा—"चलो बहिन! मुझे कोई आग्रह थोड़े ही है। मेरे देवता जहाँ मुझे रखेंगे वहीं मैं रहूँगी। हम दोनों ही महाराज की दासी हैं, दोनों ही मिलकर महाराज का कैंकर्य करेंगी। चलो, यहाँ महाराज को कष्ट भी हो रहा है, उनके अनुरूप एक भी वस्तु यहाँ नहीं है।"

महाराज ने कहा—"मैं इसी मैले बिस्तरे पर अब लेटूँगा जब तक ध्रुव नहीं आ जाता। इस मैले तकिये में से ध्रुव के बालों की गन्ध आ रही है। वह इसी मैले बिस्तरे पर अपनी माँ के साथ सोता होगा। इस पर मुझे बड़ा सुख मिल रहा है। ध्रुव याद आ रहा है। उसके शरीर की गन्ध से मुझे आत्मतोष हो रहा है।" महाराज की आज्ञा से बिस्तरा भी चला। दोनों रानियाँ एक ही पालकी में संग बैठकर महलों में आयीं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! त्याग में कैसा जादू है।

यदि ध्रुव राज्य के लिये हठ करते तो राजा क्रोध करके उसे बंदी बना लेते, गृहकलह हो जाती। जब वे इन सबको तुच्छ समझकर—लात मारकर—चले गये, तब राजा की, विमाता की, सबकी बुद्धि बदल गयी। इससे यही परिणाम निकलता है, कि विषयों के संग्रह के आग्रह मे दुःख, कलह, संताप और विषाद है। त्याग में सुख, शांति, प्रेम, और एकत्व की भावना है। इस प्रकार राजा निरन्तर ध्रुव का ही चिंतन करते हुए उसके आने की प्रतीक्षा करने लगे। दोनों रानियाँ सौतियाडाह, ईर्ष्या छोड़कर सगी बहिन की भाँति सुखपूर्वक रहने लगीं।"

छप्पय

कहि सब सुत सम्वाद गये अन्तर्हित मुनिवर।
नृप हिय फाटक लग्यो गये ध्रुव की माता घर॥
परे पैर झट खींचि देवि चरननि लिपटानी।
सुरुचि स्वच्छ हिय कही सेविका हौं तुम रानी॥
त्याग बिना सुख होहि नहिं, त्याग प्रेम विकसित करत।
गृह तजि ध्रुव जब बन गये, तब तीनों हिल मिलि रहत॥

मधुवन में ध्रुवजी

[२२८]

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ७१ श्लो०)

छप्पय

इत ध्रुव आयसु पाइ गये पावन मधुवन में ।
अधिक चटपटी लगी कृष्ण दरशन की मनमें ॥
कालिन्दी के कूल पहुँचि अतिशय सुख पायो ।
असित सलिलमें न्हाय रवी दिन कछु नहिं खायो ॥
तरणि तनूजा तट बसहिं, हिय लीनी लौ श्यामतें ।
अब तक वह थल स्थात है 'ध्रुव टीले' के नमतें ॥

शब्द नित्य है, शब्द नाश नहीं होता, वह आकाश मंडल में बिखर जाता है, किसी यन्त्र विशेष से शब्द को बिखरने न दें, तो चाहे जहाँ से चाहे जहाँ की बातें सुन सकते हैं। इसी प्रकार भाव नित्य है, हम अपने मन मे जैसी भावना करते हैं,

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इधर ध्रुवजी मधुवन में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने बड़ी सावधानी से स्नान किया और उस रात्रि में बिना कुछ खाये ही रह गये। दूसरे दिन से भगवान् नारद ऋषि के उपदेश से वे एकाग्रचित्त होकर परम पुरुष श्रीमन्नारायण की परिचर्या करने लगे।"

ऊहापोह करते हैं, वैसा ही वहाँ का वायु मण्डल बन जाता है। हमारे विचार ही प्रभु की प्रार्थना हैं, हम निरन्तर जैसे विचार करते रहेंगे, वैसी ही भावना बनेगी। तदनुरूप ही फल प्राप्त होगा। तभी तो बार-बार कहा गया है। आचार विचार सदा शुद्ध रखो। बुरी बात मन से भी मत सोचो। तुम जैसी ही बातें सोचोगे, अपने आस पास का विचार मंडल भी वैसा ही बना लोगे। कार्य जितना ही उत्कृष्ट होगा, उसके भाव भी उतने ही स्थायी होंगे। बड़े-बड़े तीर्थों में महापुरुष रहते थे, नित्य ही सत् संग होता रहता था। वेदाध्ययन, शास्त्र विचार, सदाचार पर वाद विवाद भाँति-भाँति के यज्ञ याग होते रहते थे। उनकी शुद्ध भावना अब तक विद्यमान हैं। अब तक वहाँ जाने से चित्त शान्त होता है, मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसीलिये जिस प्रकार काल का और पात्र का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार देश का भी प्रभाव पड़ता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! भगवान् नारदजी से आज्ञा लेकर उनकी वन्दना और प्रदक्षिणा करके ध्रुव अपने पिता की राजधानी ब्रह्मावर्त से चल पड़े। वनों में होते हुए गंगाजी के किनारे किनारे वे कुछ दूर तक चले। सूकर क्षेत्र (सोरों) के समीप से उन्होंने भगवती कालिन्दी का किनारा पकड़ा। यमुना जी के किनारे किनारे वे अनेक वनों को लाँघते हुए कुछ काल में उस मधुवन में पहुँचे जहाँ नित्य ही नन्द नन्दन का निवास है। वहाँ के चर अचर सभी चिन्मय हैं। जहाँ की भूमि प्रभु के पाद पद्मों की पुण्य पराग से पावनतम हो गयी है। जहाँ पर सूर्यतनया अत्यन्त ही वक्र होकर बही है जहाँ तुलसी के वृक्षों की भरमार है जहाँ मर्कट आदि आरण्यवासी जीव भी स्वच्छन्द होकर कृष्ण कृष्ण ही रटते हैं। जहाँ की द्रुमिलतायें भी चिकनी और रसमयी हैं। जो प्रेमियों की एकमात्र शरण है, उस मधुवन में पहुँचकर

ध्रुवजी को अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। अरण्य में अपनी प्रियतमाओं से घिरे केकी अपनी बड़ी-बड़ी पङ्खों को फैलाये नृत्य कर रहे थे, इधर ध्रुव का मन रूपी मत्त मयूर भी उन्हीं की ताल में ताल और स्वर में स्वर मिलाकर नाच रहा था। ध्रुवजी चलते-चलते थक गये थे। अब तक उन्हें चलने की चिन्ता थी, अब तो वे गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये, उनका आवागमन समाप्त हुआ। अपने उस निश्चित स्थान पर पहुँच गये जहाँ स्थिर होकर रहना था।

मधुवन में पहुँचकर उन्होंने कृष्णप्रिया कालिन्दी के उस अघहारी सुन्दर स्वच्छ सलिल में अवगाहन किया, जो स्नानमात्र से प्राणियों के पापों को जला देता है। जो पाप भस्म करने में अपने पिता के सदृश है, जिसने अपने कान्त श्रीकृष्ण की कान्ति के वर्ण को भी धारण कर रखा है। उस पिघले नील मणि के द्रव के समान जल में स्नान करके ध्रुवजी का चित्त स्वस्थ हो गया। तीर्थ में पहुँचकर एक दिन उपवास करना चाहिये इसीलिये उस रात्रि में उन्होंने कुछ भी नहीं खाया। केवल यमुना जल पान करके ही वे उस रात्रि में रहे। यमुनाजी के किनारे एक ऊँचे से स्थान को देखकर जहाँ बाढ़ में भी जल न जा सके, जो स्थान भाँति-भाँति के वृक्षों तथा लता गुल्मों से आवृत था वहीं उन्होंने अपना आसन जमाया।

प्रातःकाल हुआ। प्रातःकाल में ही कलरव करके मधुवन के पशु-पक्षियों ने अपने नवागत श्रेष्ठ अतिथि का स्वागत सत्कार किया। वे पशु-पक्षी भी सभी सिद्ध ही थे, भाँति-भाँति के रूप रखकर वे उस पावन भूमि में वास कर रहे थे। भगवान् के पाने की इच्छा अनेकों जन्मों के सुकृतों से होती है। ऐसे सुकृतियों को देखकर सुकृति पुरुष परम प्रसन्न होते हैं, उनका मन मुकुर उनके दर्शनों से ही खिल उठता है। पक्षियों ने अपनी भाषा में ध्रुवजी

का जयघोष किया। ध्रुवजी भी मन्त्र मुग्ध की भाँति मधुवन की शोभा निरखते के निरखते ही रह गये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हम तबसे सुन रहे हैं, आप मधुवन की प्रशंसा करते करते अघाते ही नहीं। भूमि तो सभी एक सी है। सभी भूमि गोपाल की। सर्वान्तर्यामी सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं, फिर आप मधुवन के इतने गीत क्यों गा रहे हैं? और नारदजी ने भी ध्रुवजी को मधुवन ही क्यों भेजा? कहीं भी रहकर भगवद् आराधना हो सकती थी? कृपा करके हमारी इस शंका समाधान कीजिये।"

यह सुनते ही सूतजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"भगवन्! यह आपकी शंका तो है नहीं। आप जैसे सर्वज्ञ तो ऐसी शंका स्वप्न में भी नहीं कर सकते। आप साधारण लोगों के प्रतिनिधि होकर ऐसी शंका कर रहे हैं। यह ठीक है, सभी भूमि गोपाल की है, मनुष्य जहाँ चाहे वहीं भजन कर सकता है। यह भी सत्य है, कि सर्वान्तर्यामी प्रभु का सर्वत्र प्रभाव होता है। सगुण साकार भगवान् के चार रूप माने हैं। एक तो भगवान् के नाम, भगवान् के रूप, भगवान् की लीलाएँ और भगवान् के धाम। इन चारों में तत्वतः कोई भेद नहीं। चार में से किसी एक का भी निष्ठापूर्वक आश्रय ग्रहण करने से जीव संसार-सागर से पार हो सकता है। श्रीमथुरा, भगवान् का प्रधान धाम है, इसलिये नारदजी ने उन्हें भेजा कि वहाँ नाम स्मरण, रूपचिन्तन, लीलाकथन, श्रवण न भी हो तो धाम में वास तो होगा, धाम का वास भी अनन्त जन्मों के पुण्यों से प्राप्त होता है।

घर में अनेकों झंझट रहते हैं, अबके वह मर गया, वह लड़ पड़ा, वह अप्रसन्न हो गया, वह बीमार है, वे मिलने आये कल जा रहे हैं, परसों वे आ रहे हैं, इस प्रकार नित्य ही कुछ न कुछ लगा रहता है। इसलिये घर में रहकर निरन्तर भजन हो नहीं

सकता। वहाँ का वायुमण्डल चिन्तित बना रहता है, इसलिये ध्रुवजी को वन में भेजा कि घर से दूर रहने पर निश्चिन्त होकर भगवत् स्मरण चिन्तन करेंगे।

मथुरा भगवान् का धाम तो है ही, किन्तु अनादि काल से अब तक वहाँ असख्यों पुरुष विशुद्ध भावना लेकर जाते हैं। श्रद्धा भक्ति सहित तीर्थ भाव से पुण्यात्मा पुरुष निरन्तर जाते रहते हैं, उनकी भावना से भी वह पावन स्थल और भी पावन बन जाता है। इन सब शुभ भावनाओं वाले यात्रियों के भाव वहाँ के वायुमण्डल में साधक को स्वतः प्राप्त हो जाते है। यह मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि जहाँ जैसा आदमी रहा है, वहाँ उसके वैसे भाव वायुमण्डल में व्याप्त हो जाते हैं, जो भी वहाँ जाता है, उन पर उनका प्रभाव पड़ता है। आप किसी तपस्वी, सदाचारी, नियम व्रत परायण साधु की कुटी पर जायँ, वहाँ जाते ही चित्त स्वतः प्रसन्न हो जायगा। हृदय में एक प्रकार की अपूर्व शान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा। इसके विपरीत आप किसी मद्यपी व्यभिचारी जुआरी या वेश्या के यहाँ जायँ तो वहाँ के वायुमण्डल में वैसा ही वातें घूमते रहने से आपके मन पर भी उसका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ेगा। इस सम्बन्ध में मैं आपको एक छोटा सा दृष्टान्त सुनाता हूँ।"

किसी घोर वन में एक कुटी बनाकर दो डाकू रहते थे। वे लोगों का धन लूटते, हत्या करते, स्त्रियों को पकड़ते तथा सभी पाप करते थे। कालान्तर में वे लोग राजा के सेवकों द्वारा पकड़े गये और उन्हें शूली पर चढा दिया गया। कुटी कुछ काल तक वैसे ही खाली पडी रही।

कुछ काल के अनन्तर एक साधक किसी एकान्त स्थान की खोज करते हुए उसी अरण्य में आ पहुँचे। सुन्दर एकान्त स्थान, जल का सुपास और कन्दमूल फलों की बहुतायत देखकर साधक

ने वहाँ रहने का निश्चय किया। खँडहर पड़ी हुई कुटी के आस-पास सफाई की। कुटिया का कूड़ा करकट बाहर फेंका। पेड़ों की पत्तियाँ तथा घास बिछाकर आसन जमाया। आषाढ़ का महीना था। सहसा वर्षा आ गयी, साधक कुटिया के भीतर चले गये। इतने में ही एक यात्री अपनी नयी बहू को विदा कराके उधर से आ निकला। वर्षा के कारण वे दोनों भीग गये। दौड़कर उन्होंने साधु की शरण ली और वर्षा तक आश्रय चाहा। साधु ने दयावश उन्हें भीतर बैठने की अनुमति दे दी। साधु युवा थे, शरीर से हृष्ट पुष्ट थे। जब तक मनुष्य पूर्ण सिद्ध नहीं होता तब तक हृदय में कामवासना तो छिपी रहती है। अनुकूल अवसर पाने पर वह उभड़ आती है। पवित्र स्थानों में, गुरुजनों के समीप, देव मन्दिरों में वह शान्त रहती है। वहाँ के वायुमण्डल में तो हत्या, व्यभिचार, लूटपाट के भाव भर रहे थे। युवक साधक की भावना को भी बल मिला। उसने सोचा—"एकान्त स्थान है, यह आदमी भी निर्बल-सा है, इसकी स्त्री भी सुन्दरी है, वस्त्राभूषण से सुसज्जित है। क्यों न इस आदमी को मारकर इस स्त्री के आभूषणों को मैं छीन लूँ। यहाँ कौन देखने वाला है। जैसे मनुष्य विचारों को करता है, वैसे ही विचारों का ताँता लग जाता है और वैसे ही विचार आने से पूर्वकृत निश्चय की पुष्टि होती जाती है। साधु ने निश्चय कर लिया मैं इसे मार डालूँगा।

वर्षा समाप्त हुई, यात्री अपनी बहू को लेकर साधु से आज्ञा माँगकर चल दिया। थोड़ा आगे बढ़ा था, कि साधु ने पुकारा—"खबरदार, आगे बढ़े तो, वहीं खड़े हो जाओ।" यात्री के पैरों की मिट्टी खिसक गयी। वह समझ गया, साधु वेष में यह कोई डाकू है, आज अच्छे फँसे, इस अरण्य में कोई रक्षक भी नहीं। स्त्री थरथर काँप रही थी। क्या करते खड़े हो गये। साधु कुटी से निकला, उनके समीप पहुँचा, उसे दया आ गयी—"अरे, मैं

साधु होकर क्या कर रहा हूँ।" उन्हें भयभीत देखकर बोले—अच्छी बात है आप लोग जायँ डरें नहीं। यह कहकर साधु लौटकर कुटी में आ गया। वे यात्री अपनी गठरी मुटरी उठाकर चलने को उद्यत हुए। कुटी में पहुँचकर साधु को फिर उन्हीं विचारों की पुष्टि मिली। 'अरे, मैंने व्यर्थ उन्हें छोड़ दिया। इन्हें लूट ही लेना चाहिये।' फिर पुकारा—"आगे मत बढ़ो लौट आओ।" यात्री फिर सहम गया। साधु फिर निकला। फिर उसे दया आ गयी। ऐसे उसने ३-४ बार किया। तब तो यात्री ने साहस करके कहा—"आपको लूटना हो तो हमें लूट लीजिये, यह खेल क्यों कर रहे हैं?"

तब उस साधु ने कहा—"भैया, जब मैं इस कुटी में जाता हूँ, तब तो सोचता हूँ तुम्हें लूट लूँ, किन्तु जब बाहर आता हूँ, तो मेरा विचार बदल जाता है, इसका क्या कारण है?" यात्री बुद्धिमान् था, वह समझ गया। यह डाकू नहीं, इस पर वायुमण्डल का प्रभाव है। वह बोला—"स्वामिन्! आप जिस कुटी में बैठे हैं पहिले इसमें बड़े क्रूरकर्मा दो डाकू रहते थे। उनके डर से कोई भी यात्री इधर से नहीं निकलता था। जब से वे दोनों पकड़कर शूली पर चढ़ा दिये गये तब से यह पथ निरापद हो गया था। लोग आने जाने लगे। आपको देखकर मैं समझ रहा था, आप भी कोई साधु वेषधारी डाकू हैं, किन्तु आपकी बातों से प्रतीत होता है आप डाकू नहीं। कच्चे साधक हैं, आप पर कुटी के वायुमंडल का असर पड़ा है। यहाँ के वातावरण में वे ही लूटपाट, हत्या, व्यभिचार के भाव भरे हैं। आप इस कलुषित भावनावाली कुटी का परित्याग कर दें, दूसरे किसी साधु सन्त के पवित्र स्थान में जाकर भजन करें।"

साधु के मन में यह बात बैठ गयी, वह उस यात्री के साथ ही चल पड़ा। उसे प्रेमपूर्वक पहुँचाकर उससे विदा होकर वह

किसी दूसरे साधु के आश्रम पर चला गया और वहाँ उनकी आज्ञा से उन्हीं की देख रेख में रहकर, भजन साधन करने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! स्थान प्रभाव ऐसा घातक होता है, अतः ऐसे स्थान मे जहाँ बुरे लोग रहते हों, स्त्री बच्चो की चिन्ता करने वाले अजितेन्द्रिय स्त्री लम्पट पुरुष या व्यभिचारिणी स्त्रियाँ रहती हों, वहाँ साधक को कभी भूलकर भी न रहना चाहिये। जहाँ तुलसी, आँवले, पीपर आदि के पवित्र वृक्ष न हों, जहाँ सत्सग का अभाव हो, जहाँ आस पास पापकर्मा मनुष्य बसते हों, साधक का ऐसे स्थान पर एक रात्रि भी निवास न करना चाहिये। रहना उन स्थानो पर चाहिये, जहाँ चित्त स्वतः ही शान्त हो जाय, गगा यमुना आदि पावन सरिताओं के तटों पर, शान्त एकान्त पवित्र वनो में, पुण्य तीर्थों मे, देवमन्दिरों मे, ऐसे साधु सन्तों के आश्रमो मे जहाँ नित्य भगवत् कथा होती है, नित्य त्रैलोक्य पावन मधुरातिमधुर भगवन्नामों का निरन्तर कीर्तन होता हो, अग्निहोत्र हवन तथा वेदघोष होता हो, जहाँ निष्पाप छल कपट से रहित पुरुष वास करते हों। जहाँ तुलसीजी का वन हो, सालिग्राम भगवान् का नित्य पूजन होता हो, गौओं और ब्राह्मणों का निवास हो, ऐसे स्थानो मे रहने से भजन मे स्वतः प्रवृत्ति होती है। साधन म बल मिलता है और हृदय की कुत्सित भावनाएँ भी दबी रहती हैं। यही सब सोच समझकर सर्वज्ञ नारद मुनि न ध्रुवजी को मधुवन भेजा। गुरुदेव के बिना साधन के विघ्नों को कौन दूर कर सकता है, उनके अतिरिक्त उत्तम स्थान का श्रेष्ठ साधन का निर्देश कर ही कौन सकता है, इसीलिये भाग्यशाली ध्रुव को घर से निकलते ही भगवान् नारदजी के दर्शन हो गये। उनसे साधन भजन की समुचित शिक्षा दीक्षा पाकर वे मधुवन में गये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने बड़े सुन्दर ढंग से हमें स्थान की पावनता का महत्व बताया। अब आप हमसे ध्रुवजी का आगे का चरित्र कहें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग ! नारदजी की आज्ञा से ध्रुवजी मधुवन में जाकर, जिस प्रकार घोर तप करने लगे, उसे मैं आपको बताऊँगा। जिस प्रकार भगवान् मैत्रेय ने विदुरजी के पूछने पर जैसे ध्रुव चरित्र सुनाया था, उसी को मैं आपको सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

फल फूलनितें लदे नम्र पादप जहँ मनहर।
शुक पिक मत्त मयूर करें कोकिल कलरववर॥
स्वच्छ सलिलतें भरे सरोवर सुखकर जहँ तहँ।
तिनमें विकसित कमल भ्रमर-गन गूजें जिनमहँ॥
कालिन्दीकी कलित ध्वनि, सुनि सब भगि संशय गये।
ऐसे मधुवनमहँ निवसि, ध्रुवजी अति प्रमुदित भये॥

मधुवन में ध्रुवजी का घोर तप

[२२९]

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
ध्यायन् भगवतो रूप नाद्राक्षीत् किञ्चनापरम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ७७ श्लोक)

छप्पय

करहिं कठिन तप सतत चित्त प्रभु चरन लगायो ।
कछु दिन तीसर दिवस फेरि कछु छठवे खायो ॥
नौ दिन बारह दिवस अन्तमह भोजन त्याग्यो ।
वायु खाइके रहे ध्यान भगवद्महँ लाग्यो ॥
एक पैरतें ठूँठ सम, निश्चल ह्वैके थिर भये ।
सब थल निरखे श्यामकूँ, तन्मय हरिमें ह्वै गये ॥

सुवर्ण में जब मल मिल जाता है, तब उसे अग्नि में तपा के निर्मल बनाया जाता है। सुवर्ण में मक्खन में शहद में सबमें जन्म से ही मल लिपटा रहता है, उसे अग्नि-संस्कार करके ताप देकर विशुद्ध बनाया जाता है। मक्खन को तपाने से छाछ पृथक् हो जाती है, घृत पृथक्। छाछ निकलने से वह विशुद्ध आज्य घृत-

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! ध्रुवजी ने अपने मन को सब ओर से खींचकर हृदय में भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरण के आश्रय श्रीभगवान् के रूप का ध्यान करते हुए भगवान् के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु को वे नहीं देखते थे। अर्थात् उनकी दृष्टि भगवद्मय हो गयी।

बन जाता है। ताप के बिना शुद्धि नहीं। जीव के साथ अनादि कर्म वासनाओं का संयोग हो गया है, विशुद्ध से वह अशुद्ध सा बन गया है। मल, विक्षेप तथा आवरण से अन्तःकरण ऐसा ढक गया है कि उसे अपने सत्स्वरूप की विस्मृति हो गयी है। तप द्वारा जब मल पृथक् हो जाता है, तब शुद्ध स्वरूप में श्यामसुन्दर की झलक दिखायी देती है। वे मुस्कराते हुए इठलाते हुए हृदय के अज्ञान तिमिर को भगाते हुए प्रादुर्भूत होते हैं। पहिले भी थे, किन्तु धूलि से हृदय ढक जाने से उनका दर्शन नहीं होता था। धूलि पुछी दर्शन हुए, जीव का जीवत्व मिट गया, वह कृतार्थ हो गया, फिर वह संसारी न रहकर तदीय बन जाता है, उनका हो जाता है, उनमें ही घुल मिल जाता है, अभेद सम्बन्ध हो जाता है, जो अपना है, उनमें भेद होते हुए भी भेद नहीं है। यह शब्दों में व्यक्त करने की बात नहीं है, अनुभवगम्य विषय है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"हाँ, तो विदुरजी! मैं क्या बात कह रहा था भला?"

विदुरजी ने कहा—"महाराज, आप श्री ध्रुवजी का चरित्र सुना रहे थे, ध्रुवजी मधुवन में पहुँच गये, आप स्थान का प्रभाव बताकर ध्रुवजी की तपस्या का वर्णन करने को उद्यत हुए थे।"

मैत्रेयजी ने कहा—"विदुरजी! आप बड़े अच्छे श्रोता हैं, आप चित्त को इधर उधर नहीं जाने देते। विषय को गम्भीरता के साथ श्रवण करते हैं। हाँ, तो ध्रुवजी मधुवन में रहकर तप करने लगे।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज कैसा तप करने लगे?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! क्या बताऊँ कुछ पूछिये मत। ध्रुवजी की तपस्या तो अपूर्व थी। उन्होंने सर्वात्म-भाव से अपने को प्रभुपादपद्मों में समर्पित ही कर दिया था।

उनकी बाह्यवृत्ति नष्ट हो गयी थी, वे ध्यान में तदाकार हो गये थे।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! कुछ खाते-पीते भी थे?"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"उनके खाने-पीने की आप कुछ न पूछिये। पहिले महीने तो वे तीन तीन दिन के पश्चात् वन से कन्द मूल फल आदि लाकर भगवान् का भोग लगाकर प्रसाद पाते थे।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज तीन दिन उनके भगवान् भी भूखे रहते होंगे?"

हँसकर मैत्रेय मुनि बोले—"जब भक्त ही भूखा है, तो भगवान् क्यों न भूखे रहेंगे। भगवान् की तो प्रतिज्ञा है, जो मुझे जैसे भजता है, मैं भी उसे वैसे ही भजा करता हूँ। शास्त्रकारों का भी यही वचन है—"मनुष्य जो अन्न खाता है, उसके देवता भी वैसा ही अन्न खाते हैं। तीन दिन तक वे भी बिना खाये निरन्तर भगवान् का ध्यान करते रहते थे, तो भगवान् भी बिना खाये चुपचाप उसके हृदय में बैठे उसी की चिन्ता करते रहते थे, कि मेरे भक्त का बिना खाये कुछ अनिष्ट न होने पावे। भगवान् तो बड़े दयालु हैं। उन्हें नित्य नये कौतुक सूझते हैं। कहीं उपवास कराके प्रसन्न होते हैं, किसी को बलपूर्वक तपस्या छुड़ाकर भाँति-भाँति के ५६ पदार्थों को खिलाते हैं। भक्त के हृदय में बैठकर जो वे उससे कराते हैं उसे स्वयं भी करते हैं।"

विदुरजी ने कहा—"महाराज, तीसरे दिन भोजन करने से ध्रुवजी बहुत थक गये होंगे, पाँच वर्ष के बच्चे ही ठहरे। ५ वर्ष के बच्चे ७ बार खाते हैं।"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"अजी विदुरजी! सुनते चलो अभी लीला, तुम तो अभी से घबड़ा गये। पहिले महीने में तीसरे दिन खाते थे, दूसरे महीने ६-६ दिन के पश्चात् भगवान् का भोग

लगने लगा और तीसरे महीने ९-९ दिन के अन्तर चौथे महीने १२ वें दिन।"

विदुरजी ने कहा—"महाराज, यह तो आप बड़ी कठिन बात कह रहे हैं, १२ वें दिन बिना खाये फल फूल लेने कैसे जाते होंगे ?"

मैत्रेय मुनि हँसकर बोले—"अजी, विदुरजी ! फल फूल की बातें अब जाने दो। कैथे, बेर आदि के फल तो उन्होंने एक महीने ही तीसरे-तीसरे दिन खाये थे। दूसरे महीने तो जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे उसी के अपने आप सूखकर गिरे हुए पत्तों को छठे दिन खाते थे। तीसरे महीने ९ वें दिन केवल यमुनाजी का जल पीते थे, ८ दिन जल भी नहीं, चौथे महीने १२ वें दिन केवल वायु पीते थे।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज, वायु कैसे पीते थे ? वायु तो मनुष्य हर समय ही स्वासों के साथ पीता रहता, है तो क्या १२ दिन तक वे स्वाँस भी नहीं लेते थे ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"हाँ, वे स्वाँस भी नहीं लेते थे। प्राणों का उन्होंने निरोध कर लिया था। मन जब एकाग्र हो जाता है, तो स्वाँसों का चलना स्वतः बन्द हो जाता है। इसी प्रकार स्वाँस रुकने से मन भी स्वतः एकाग्र हो जाता है। समाधि में स्वाँस नहीं चलती, नख, बाल आदि बढ़ते हैं, मस्तक में उष्णता रहती है, शेष शरीर मृतवत् हो जाता है। जितने दिन का सकल्प करके समाधि लगाते हैं, उतने दिन के पश्चात् स्वतः खुल जाती है। फिर स्वाँसों की गति पूर्ववत् चलने लगती है, इसीलिये ध्रुवजी ने क्रम क्रम से अपनी स्थिति को बढ़ाया। पहिले महीने ३ दिन फिर ६ फिर ९ तब १२ दिन के पश्चात् उनकी समाधि खुलती। तब वे वायु को भरपेट पी लेते हैं। हम जो स्वाँस लेते हैं यह वायुपान नहीं है। स्वाँस प्रश्वास है। यह तो नाक से पेट में वायु जाती है,

फिर निकल आती है। जिसे वायुपान कहते हैं वह तो उसी मार्ग से पीते हैं जिससे अन्नपान भीतर जाता है। कभी-कभी उसी मार्ग से वायु भी निकलती है। जिसे उद्गार या डाकर कहते हैं। डाकर तो भीतर से आती है। उलटी डकार को ही वायुपान कहते हैं। जिस मार्ग से डकार आती है उसी मार्ग से बाहर की वायु को खींचकर अन्नपान की थैलियों को पूर्ण करके गुदा मार्ग को दृढ़ता से बन्द कर ले, अर्थात् मूलबन्ध बाँध ले जिससे अपान मार्ग से वायु निकल न जाय। फिर जालन्धर बध बाँधकर ठोढ़ी को हृदय से लगाकर गले की नाड़ियों को तान दे, जिससे आँख, कान, नाक, मुँह मार्ग से वायु न निकले। बस, फिर वह जठर में स्थित वायु आहार का काम करती है, सब नाड़ियों में नवीन प्राणों का सचार करती रहती है। उससे मल तो बनता नहीं। इससे योगी को शौचादि की भी आवश्यकता नहीं रहती। यदि वह बैठा है, तो बैठा ही रहेगा, खड़ा है तो खड़ा ही रहेगा, लेटा है तो लेटा ही रहेगा। इस प्रकार पाँच महीने तक ध्रुवजी ने ऐसा किया। अब पाँचवे महीने उन्होंने स्वाँसों का निरोध ही कर लिया। अब वे कभी समाधि खोलते ही नहीं थे।

वे एक पैर से निश्चल भाव से खड़े हुए थे। न हिलते थे न डोलते थे दूर से ऐसे प्रतीत होते थे, कि किसी वृक्ष का सूखा ठूँठ खड़ा है। जैसे कोई निर्जीव पाषाण की प्रतिमा एक पैर से खड़ी हो। उनके हृदय मे सम्पूर्ण चराचर विश्व के स्वामी भगवान् वासुदेव विराजमान थे। उनका चित्त उन्हीं के चरणों मे तल्लीन था। मन उन्हीं के मनमोहिनी मूर्ति के ध्यान में मग्न था। न उन्हें ससार का भान था, न अपने शरीर की ही सुधि थी। वे तो ब्रह्मानन्द रूपी अमृत के सागर में गोते लगा रहे थे। बस, वे भगवान् को देख रहे थे, भगवान् उन्हें निहार रहे थे। ससारी प्रपच उनके चित्त से विलीन हो गया था।

उनके ऐसे घोर तप के कारण तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। तीनों लोक थर थर काँपने लगे।

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"महाराज तपस्या कर रहे थे ध्रुवजी, प्राणों का निरोध उनका हो रहा था। त्रिलोकी के काँपने का क्या कारण हुआ? तीनों लोकों में हाहाकर क्यों मच गया?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! आप इस ससार में क्या देख रहे हैं?"

विदुरजी ने कहा—"भगवन्! इस ससार मे तो हम बहुत-सी वस्तुएँ देख रहे हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती। मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, वृक्ष, घर, खेती बाजार, विविध प्रकार की खाने, सूँघने, देखने, छूने तथा सुनने की वस्तुएँ संसार में हैं, नद, नदी, सरोवर, समुद्र, 'कूप, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि वायु आकाश असंख्यो वस्तुएँ हैं।"

मैत्रेय मुनि बोले—"नाम और रूप के भेद से वस्तुएँ भिन्न-भिन्न दीखती हैं। इनमें से नाम रूप को निकाल दो तो पाँच भूत ही रह जायगे। ये लता, वृक्ष, शरीर या पाषाण सब पार्थिव हैं, पृथ्वी से बने हैं, नाम रूप मिटे सब पृथ्वी में मिल गये। जल कहीं का भी हो नदी, कूप समुद्र का सब एक ही है। वायु में सुगन्ध दुर्गन्ध है ही नहीं। ससर्ग से हो जाती है। वायु एक है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र सभी में प्रकाश एक ही है। आकाश सर्वव्यापक है। यह सब पसारा पाँच भूतो का ही है। पाँच भूत तो जड है ये भी प्रकृति महत्त्व अहङ्कार आदि से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति भी निराधार नहीं रह सकती। वह भी परमात्मा के आधार पर ही स्थित है। सबके आधार श्रीहरि ही हैं। श्रीहरि के बिना किसी की भी सत्ता नहीं। उन हरि को जिन्होंने हृदय मे धारण कर लिया बस तो वे हरिमय बन गये। जब उनकी अन्तरात्मा

सर्वात्मा के साथ मिल गयी तब तो सबके प्राण रुकने से लगे। सबके हृदय में ध्रुवजी के तप का प्रभाव पड़ा। भगवान् वासुदेव ही इस चराचर विश्व को धारण किये हैं, वे ही महतो महीयान् हैं, भारी से भारी हैं। जब इतने भारी हैं। जब इतने भारी बोझ को ध्रुवजी ने हृदय में रख लिया, तब तो वे आवश्यकता से अधिक गुरु—भारी हो गये। पृथ्वी पर यद्यपि वे एक अंगूठे के ही बल खड़े थे, किन्तु उस अंगूठे के भार को भी वसुन्धरा सहन करने में समर्थ न हुई। ध्रुवजी जिधर ही अंगूठा रखते उसी ओर पृथ्वी नव जाती। जैसे बहुत मोटा आदमी छोटी नौका में जिस ओर भी बैठ जाय उधर ही वह झुक जाती है। जैसे तराजू के पलड़े में भी अधिक बोझा रख दो वही झुक जायगा। दूसरा ऊपर उठ जायगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ध्रुवजी की घोर तपस्या से तीनों लोकों में खलबली मच गयी। देवता और लोकपालों के भी दम घुटने लगे। वे समझ ही न सके यह नयी विपत्ति कहाँ से और कैसे सहसा आ गयी।"

छप्पय

रोके इन्द्रिय द्वार चित्त इत उत न चलायो।
विश्वम्भर हिय धारि ध्येय में ध्यान लगायो॥
रुकीं सबनिकी स्वाँस जीव सबई घबराये।
डगमग डोलें धरनि लोकपालहु अकुलाये॥
सोचें असमय में प्रलय, किहि कारन जग में भई।
हेतु कहा सहसा अबहिं, स्वाँस सबनिकी रुकि गई॥

—:—:—

ध्रुवजी के तप से संतप्त प्राणियों का प्रभु के पास जाना

[२३०]

तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया ।
लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशम्
सलोकपालाः शरणं प्रयुर्हरिम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ८० श्लोक)

छप्पय

दीनबन्धु के द्वार गये दौरे देवादिक ।
हाथ जोरि सब कहें प्रभो जग के प्रतिपालक ॥
भयो कहा जिह देव ! चराचर क्यों दुख पावै ।
सबकी स्वाँस प्रस्वाँस क्यों नहीं आवै जावै ॥
शरणागत-वत्सल विभो ! भवहारी सब भय हरहिं ।
बेगि छुड़ावहु विपतितें, बार बार विनती करहिं ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! ध्रुवजी अपने समस्त इन्द्रिय द्वारों को रोककर अनन्य बुद्धि से उन विश्वात्मा श्रीहरि का जब ध्यान करने लगते, तो इससे सम्पूर्ण जीवों की स्वाँस प्रश्वास रुकने लगती, इसीलिये सब जीव लोकपालों को साथ लिये हुए शरणागतवत्सल भगवान् वासुदेव की शरण में गये ।"

भगवान् अवतार कब लेते हैं, जब उनके भक्तों पर विपत्ति पड़ती है, भक्तों के दुखी होने से भगवान् दुखी होते हैं, क्योंकि भक्त तो उनकी आत्मा हैं। भगवान् और सब कुछ सह सकते हैं, किन्तु भक्तों के दुःख सहन करने में वे असमर्थ हैं। भक्तों के सन्ताप से उनका नवनीत के सदृश कोमलाति कोमल हृदय पिघल जाता है। उस समय उन्हें भी सन्ताप होता है। भगवान् के सन्तप्त होने पर विश्व सन्तप्त हो जाता है, क्योंकि वे विश्वमय हैं, विश्व उनसे भिन्न नहीं, चराचर की अन्तरात्मा में वे ही रम रहे हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब ध्रुवजी के स्वाँस-निरोध करने से संसार का साँस निरोध-सा होने लगा, तो सब जीवों में जो मुख्य-मुख्य शक्तिशाली जीव हैं, वे सब मिलकर लोकपालों के पास गये और अपनी विपत्ति की बात सुनायी। सब लोकपालों ने भी देखा तीनों लोक के प्राणी दुखी हैं, तब इन्द्रादिक लोकपाल मिलकर ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी तो स्वय कुछ करते धरते नहीं, उनके आधार तो श्रीहरि हैं, अतः नियमानुसार महादेवजी को साथ लिये, सभी देव महादेव लोकपाल मिलकर चराचर के स्वामी विष्णु भगवान् के समीप वैकुण्ठ में गये।

आज समस्त देवताओं लोकपालों और अन्य जीवों के इतने बड़े शिष्ट मडल को आते देखकर सर्वान्तर्यामी चराचरा के स्वामी श्रीहरि उनसे पूछने लगे—"ब्रह्मादिक देवताओ! लोकपालो और अन्य जीवो! आज तुम किस कारण मेरे पास सब मिलकर आये हो? तुम सब लोगों के मुखमडल कुम्हिलाये हुए क्यों हैं, मालूम होता है, तुम्हारे ऊपर कोई असामयिक विपत्ति सहसा आ गयी है।"

देवताओं ने कहा—"प्रभो! सम्पूर्ण लोकों में रहने वाले चराचर जीवों की श्वास प्रश्वास की गति रुक सी गयी है।"

भगवान् ने पूछा—"किस कारण से ऐसा है? इस श्वाँस निरोध के हेतु को तो बताओ?"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! इसका कारण हम सब अभी तक समझ ही नहीं सके।"

भगवान् बोले—"भाई! बिना कारण समझे हम कुछ उपाय कैसे कर सकते हैं?"

देवताओं ने कहा—"प्रभो! आप हमारी वचना न करें। आप सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी हैं। घट घटव्यापी हैं, आप से कौन सी बात छिपी है, आप तो विश्वमय हैं। शरणागतों की सदा रक्षा करते रहते हैं। हमें इस दुःख से छुडाइये और आप ही इस विपत्ति के कारण को बताइये।"

देवताओं की ऐसी कातर वाणी सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"देवताओ! मैं इसका कारण जानता हूँ, चिन्ता की कोई बात नहीं यह कोई तमोमयी विपत्ति नहीं है। डरो मत। इससे तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट न होगा।"

देवताओं ने पूछा—"बात क्या है, सहसा सबकी श्वाँसों-की गति रुद्ध क्यों हो गयी?"

भगवान् बोले—"देखो, महाराज उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव मधुवन में तपस्या कर रहा है। तपस्या करते-करते उसने अपने चित्त को मुझमें तल्लीन कर दिया है।"

देवताओं ने कहा—"चित्त को उसने आप में तल्लीन कर दिया। यह तो ठीक ही किया, प्राणियों की श्वाँस क्यों रुक-सी गयी?"

भगवान् बोले—"देखो, जब वह मुझमें तल्लीन ही हो गया है तो उसके प्राण के निरोध से मेरे प्राण निरोध होने लगे और

मैं हूँ विश्वरूप। जब मेरे प्राण निरोध होंगे तो विश्व के प्राणों का निरोध होना तो स्वाभाविक ही है अतः जब तक वह स्वाँस नहीं लेता तपस्या से निवृत्त नहीं होता तब तक यही दशा बनी रहेगी।"

शीघ्रता के साथ देवताओं ने कहा—"हे अशरणशरण! हे विभो! हे प्रणतवत्सल! आप शीघ्र से शीघ्र पधारकर उसे तप से निवृत्त कीजिये। उसे आज्ञा दीजिये, कि वह स्वाँस ले।"

भगवान् ने कहा—"हाँ मैं जाऊँगा, वह जो चाहता है वह उसे दूँगा और तप से निवृत्त करके उसे उसके घर भेजूँगा।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! शीघ्रता करें सबके प्राण घुटे जा रहे हैं, वह जो भी माँगे वह आप उसे दें। यदि वह हम आठों लोकपालों में से भी किसी का पद माँगे तो आप उसे दे दें।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अरे, वह लोकपाल नहीं तुम सबका दादा गुरू बनेगा। वह त्रैलोक्य से ऊँचे विष्णु पद को प्राप्त करेगा। तुम सब तो उसके नीचे रहोगे। ये सब गृह नक्षत्र तारा उसे ही अपना आधार बनाकर उसकी प्रदक्षिणा करते रहेंगे वह सामान्य पद का इच्छुक नहीं।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! आप तो वरदानियों में श्रेष्ठ हैं, वह जो माँगे वही आप उसे वरदान दें। अच्छी बात है तो हमें आज्ञा मिलनी चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, तुम सब लोग अपने अपने लोकों को प्रसन्नता पूर्वक जाओ, मैं भी अपना अवतार धारण करके उसके समीप जाता हूँ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"भगवन्! एक भक्त के लिये दर्शन देने को अवतार धारण क्यों किया? जिस रूप से भगवान् ने उसे दर्शन दिये उस चतुर्भुज ध्रुव नारायण अवतार की गणना २४ अवतारों में भी है?"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवान् के सभी अवतार भक्तों के ही निमित्त होते हैं। जिस कार्य से सम्पूर्ण विश्व का सम्बन्ध होता है, उस समय भगवान् विशिष्ट अवतार ही धारण करके उस कार्य को करते हैं। वैसे विष्णु तो सर्वव्यापक हैं ही। समुद्र मथन के समय भगवान् ने ४ अवतार धारण किये। एक अजित विष्णु अवतार, दूसरा कच्छप अवतार, तीसरा धन्वन्तरि अवतार, चौथा मोहिनी अवतार। एक ही भगवान् के ये सब अवतार हैं। क्योंकि समुद्र मन्थन से विश्व का कल्याण होना था। कच्छप अवतार से इस पृथ्वी की स्थिति ठीक रखनी थी। अजितावतार से मन्वन्तर का पालन करना था। धन्वन्तरि अवतार से ससार के रोगों की चिकित्सा करनी थी। और मोहिनी अवतार से असुरों को छलकर सुरों की वृद्धि करनी थी। देवताओं की नष्ट हुई श्री पुनः स्थापित करनी थी, इन चारों अवतारों के विश्व पालन में पृथक् पृथक् कार्य थे। इसी प्रकार इस 'ध्रुव नारायण' अवतार से भी तीनों लोकों की मर्यादा के निमित्त ध्रुव लोक की स्थिति व्यवस्थित करनी थी। ध्रुवजी को विष्णु पद देकर तीनों लोकों का कल्याण करना था। इसीलिये यह अवतार भी विश्व पालन के लिये ही था। जैसे नृसिंहावतार को प्रकट करने में प्रह्लाद जी निमित्त माने जाते हैं, ऐसे ही इस 'ध्रुवनारायण' अवतार के निमित्त श्रीध्रुवजी ही हैं। साधुओं का परित्राण दुष्टों का विनाश, धर्म की स्थापना इस अवतार का मुख्य हेतु नहीं है, इसे तो प्रभु सर्वान्तर्यामी रूप से भी कर सकते हैं। उनके अवतार का मुख्य हेतु तो है भक्तवत्सलता, भक्तों पर कृपा करने ही वे अवनि पर अवतरित होते हैं। भक्त उनके स्वरूप हैं, भक्त अपनी भावना का जब साकार स्वरूप देखना चाहते हैं तभी भगवान अवतार लेते हैं, इसीलिये अवतार भक्त की भावना का साकार सजीव व्यक्त रूप है। जिस प्रकार भक्त

जब भगवान् के दर्शनों को व्याकुल रहते है, वैसे ही भगवान् भी भक्तों के दर्शन करने को साकार स्वरूप से उत्सुक बने रहते हैं। अतः भगवान् के अवतार का हेतु एक यह भी है, कि वे भक्तों के दर्शन करने के निमित्त अपना स्वरूप बना लेते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब सब लोकपाल अपने लोकों को चले गये तो भगवान् भी अपने भक्त के दर्शनार्थ मधुवन की ओर चले।"

छप्पय

सुनि देवनि की बिनय कहे प्रभु मत घबराओ।
भय की नहिं कछु बात न चिन्ता मन में लाओ॥
मचल्यो मेरो बाल भक्त इक अबई जाऊँ।
करके प्यार दुलार विविध विधितें समझाऊँ॥
धाक बाण ते विद्ध है, करे तपस्या कठिनतर।
मुँह मांग्यो वर देहुँगो, सेवक कूँ सब सुलभ वर॥

ध्रुवजी को भगवान् के दर्शन

[२३१]

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम् ।
सहस्रशीर्षाऽपि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥*

(श्रीमा० ४ स्क० ९ अ० १ श्लोक)

छप्पय

देव गये निज धाम सजे घनश्याम हमारे ।
शङ्ख चक्र अरु गदा पद्म कर कमलनि धारे ॥
पीताम्बर फहरत जात विद्युत सम चमकें ।
मणिमय मनहर मुकुट अलक संग दम दम दमकें ॥
भक्त दरश कूँ ध्यम अति, उपमा किहि सग देहि कवि ।
गरुड़ पीठि चढ़ि जाहिँ ज्यों, अस्ताचल कूँ सहस रवि ॥

साधारण नियम यह है, पिता के दर्शनों को पुत्र जाता है। गुरु के दर्शनों को शिष्य जाता है और भगवान् के दर्शनों को

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! देवगण तो भगवान् के ऐसा कहने पर उन्हें प्रणाम करके स्वर्गलोक को चले गये, इधर गरुड़ पर चढ़कर सहस्रशीर्षा भगवान् भी अपने भक्त के दर्शनों के लिये मधुवन को चले गये ।"

भक्त जाता है, किन्तु जब पुत्र शिष्य अथवा भक्त कोई लोकोत्तर अपूर्व काम करते हैं, तो स्नेहवश वात्सल्य प्रेम के वशीभूत होकर पिता, गुरु तथा भगवान् स्वयं अपने आश्रितों के समीप जाते हैं, आगे जाकर उन पर कृपा की वृष्टि करते हैं। स्नेहपूर्वक हृदय से लगाते हैं तथा उनका उत्साह बढाते हैं। जो हमारे पूजनीय हैं, वन्दनीय तथा स्मरणीय हैं, वे जब स्वयं हमारे समीप वात्सल्य स्नेहवश आते हैं, तो हमारा हृदय भर आता है। उस समय हम किंकर्तव्यविमूढ बन जाते हैं, कैसे इनका स्वागत-सत्कार करें, कैसे इन पर अपना प्रेम प्रकट करें, हम सहसा सम्भ्रम में पड़ जाते हैं, हडबडा जाते हैं। उस समय कैसी स्थिति हो जाती है, उसका वर्णन करना लेखनी के बाहर की बात है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! देवताओं ने जब ध्रुव के तप की बात सुनी और भगवान् के द्वारा आश्वासन पाया, तो वे सब अपने लोकों को लौटकर चले गये। अब हमारे सहस्रशीर्षा अनादि अनन्त भगवान् अपने मचले हुए बालभक्त के दर्शनों के निमित्त मधुवन की ओर चले।

यमुनाजी का पावन पुलिन था। जनशून्य निर्जन स्थान, बीहड वन। अकेला बालक वृक्ष के नीचे बैठा था। चारों ओर पक्षिगण कलरव कर रहे थे। हरिण, शशक, सियार आदि जंगली जीव इधर से उधर जा रहे थे, मन्द मन्द पवन बह रहे थे, पादपों के पत्ते हिल रहे थे, निविड़ निकुञ्जों में भरे वायु देव सॉय सॉय कर रहे थे। हिंसक जन्तु शब्द कर रहे थे, बड़े बड़े विषधर सर्प इधर से उधर फण उठाये घूम रहे थे, किन्तु ध्रुवजी को इन सबका कुछ पता ही नहीं। वे तो अपने ध्यान में निमग्न थे।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! उन्हें इन सब घटनाओं से कभी भी बाह्यज्ञान नहीं होता था?"

शीघ्रता के साथ मैत्रेयजी ने कहा—"विदुरजी ! बाह्यज्ञान तो अज्ञान का चिह्न है, जिसका मन ज्ञान स्वरूप श्रीहरि में तल्लीन है, वह बाहरी वस्तुओं को देखेगा ही क्यों ? वह तो अपने स्वरूप में मस्त रहेगा। हमने ऐसा सुना है, कि ध्रुवजी का ध्यान भंग करने के निमित्त देवताओं ने यह समझकर, कि यह हमारे पद तो नहीं लेना चाहता, बड़े बड़े विघ्न किये। कोई सिंह बन गया किसी ने ध्रुवजी की माता सुनीति का रूप धारण कर लिया। वह बनावटी माता आकर रोने चिल्लाने लगी—"बेटा ध्रुव ! तू क्यों तप कर रहा है, अरे देख मैं कैसी दुखी हूँ। तेरे बाप ने मुझे निकाल दिया और तू भी मुझे छोड़कर चला आया। तेरे ऐसे तप को धिक्कार है। तू मेरी रक्षा कर बेटा ! इस तप को छोड़ दे माता की सेवा करना यही पुत्र का परम धर्म है। तू इस महान् धर्म को छोड़कर यह मुझे क्लेश देने वाला धर्म क्यों कर रहा है ?" इस प्रकार की बहुत सी बातें ध्रुवजी को सुना-सुनाकर वह मायामयी माता कहने लगी, किन्तु ध्रुवजी तो सब समझते थे, कि मेरी माता ऐसी मोह ममता भरी बातें कभी कह ही नहीं सकती। मेरी माता इस प्रकार दुःखों से व्याकुल हो ही नहीं सकती। यह तो कोई माया है, मुझे तप से च्युत करने को कोई भूतनी ऐसा वेष बनाकर आयी है, अतः उन बातों से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। जब ध्रुवजी पर किसी भी माया का प्रभाव नहीं पड़ा, तो देवता हारकर, झख मारकर अपने लोकों को चले गये। जब कुछ दिनों पश्चात् सबके प्राणों की गति रुकने लगी, तब तो इसका कारण न समझकर भगवान् के समीप गये। तभी भगवान् अपने भक्त के समीप मधुवन में आये।

भगवान् ने यमुनाजी के कोमल बालू में उस नन्हें से बालक को पैर के अंगूठे पर ठूँठ की भाँति निश्चल भाव से खड़े हुए देखा। एक लँगोटी के अतिरिक्त शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था।

छोटी-छोटी, काली-काली घुघराली अलकें पलकों और कंधों तक बिथुरकर वायु में हिल रहीं थीं। दोनों कमल के समान नेत्र बन्द थे। दोनों हाथ बँधे हुए उदर से सटे हुए थे, मानों गोंद से चिपका दिये हों। वे न हिलते थे न डुलते थे। मिट्टी की मूर्ति के समान स्तब्ध हुए खड़े थे। भगवान् बड़ी देर तक उस भोले बालक के प्यारे-प्यारे मुख की ओर निहारते रहे, किन्तु ध्रुवजी को तो बाह्यज्ञान ही नहीं था, वे तो अपने हृदय के कमलकोश पर विराजमान ज्योतिस्वरूप भगवान् के बिजली के समान प्रभावान् रूप के ध्यान में मग्न थे। योगाभ्यास के कारण एकाग्र हुई अपनी बुद्धि से उन परात्पर प्रभु का ही अनन्य चिन्तन कर रहे थे।

भगवान् ने सोचा—"कैसे मैं इसे अपना आगमन जताऊँ!" यह सोचकर अमोघ वीर्य भगवान् ने ध्रुव के हृदय में प्रकाशवान् अपने स्वरूप को अन्तर्हित कर दिया। जैसे जल के सूख जाने पर मछली तड़फती है वैसे ही हृदय से भगवान् के रूप के अन्तर्हित होते ही ध्रुवजी घबड़ा गये। सहसा वह अपूर्व छवि कहाँ विलीन हो गयी। हड़बड़ाकर उन्होंने आँखें खोल दीं। ज्यों आँखें खोल-कर देखते हैं त्यों ही वही मूरति सजीव साकार होकर प्रत्यक्ष सम्मुख दिखायी दी। ध्रुवजी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। वे प्रेम में इतने मग्न हो गये, कि उन्हें कर्तव्याकर्तव्यका विवेक नहीं रहा। दौड़कर चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। आँखें तरस ही रही थीं, वे चाहती थीं इस रूप माधुरी को पी जायँ, वे भगवान् के श्रीमुख में ऐसी गड़ गयी थीं, कि हटाने पर भी नहीं हटती थीं, अपनी ज्योति रूपी लुटिया में भर-भरकर उस छवि को घुसकी से स्वाद के साथ पी रही थीं। ओठ लालायित हो रहे थे कि इन लोल कपोलों का स्पर्श पावें तो प्रेम से चूम लें, जिह्वा लपलपा रही थी, कि इस अनन्त रस माधुरी को चाटती ही रहे। बाहुएँ उन्हें कसकर हृदय से चिपकने के लिये चञ्चल हो रही

थीं। क्या करें कुछ निर्णय न कर सके। वाणी चाहती थी, कि कुछ स्तुति करें, किन्तु ५ वर्ष का बालक अभी अक्षरारम्भ भी नहीं हुआ था। उन अनन्त ब्रह्माण्डनायक की स्तुति कैसे करते? एक भी श्लोक याद नहीं था। क्या कहकर कैसे स्तवन किया जाता है, उन्हें कुछ भी पता नहीं था। यदि कुछ याद भी था, तो भगवान् के सहसा इस दिव्य रूप के दर्शन पाकर वे सब कुछ भूल भाल गये। हक्के-बक्के से रह गये।

भगवान् अपने भक्त की विवशता को समझ गये। वे तो सर्वान्तर्यामी हैं। उनसे किसी के मन की बात छिपी तो रहती ही नहीं, अतः उन्होंने बड़े स्नेह से ध्रुवजी के कपोल को अपने ब्रह्ममय शङ्ख को लेकर स्पर्श कर दिया।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"प्रभो! भगवान् ने शङ्ख का स्पर्श कपोल से क्यों कराया?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! देखिये, छोटे बच्चों को प्यार करते हैं तो प्यार में सबसे पहिले उनके कपोल को ही पकड़ कर हिला देते हैं या उँगली से छू देते हैं। माता-पिता जब बच्चे के प्रति अपना स्नेह प्रकट करते हैं, तो उसके कपोलों को ही चूमते हैं, प्यार करने की यह एक प्राचीन परिपाटी है। भगवान् को भी उस छोटे से मुनुमुना से भोले भाले बच्चे को देखकर वात्सल्य स्नेह उमड पड़ा। वे भी उससे प्यार करने को उतावले हो गये। उसकी स्तुति करने की इच्छा भी पूरी करनी थी। उनका शंख क्या है, सम्पूर्ण वेदमय है। समस्त ज्ञान का सजीव साकार स्वरूप वह सर्वेश्वर का शुभ्र शंख है। उसके स्पर्श का सौभाग्य जिसको प्राप्त हो गया वह मानों वेदमय बन गया। सरस्वती उसकी चेरी बन गयी। फिर उसे वेदशास्त्रों का अनुसरण नहीं करना पड़ता उसकी वाणी स्वयं ही वेदशास्त्रों के अनुरूप ही बोलने लगती है। इसीलिये सर्वज्ञता प्राप्त न करने

के निमित्त भगवान् ने उस नन्हें-से बच्चे के कपोल से अपना दिव्य शंख छुआ दिया।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं विदुरजी! शंख के स्पर्श होते ही फिर क्या था, ध्रुवजी के भीतरी कपाट खुल गये, उनकी वाणी वेदमय हो गयी, वे भगवान् की स्तुति करने के लिये उद्यत हुए।"

छप्पय

माधव मधुवन लख्यो तहाँ थिर बालक ठाढ़ो।
देखि बाल वात्सल्य हिये में हरिके बाढ़ो॥
अन्तर्हित निजरूप हियेतें, ध्रुव के कीन्हों।
इत उत निरखे नेत्र खोलि हरि सम्मुख चीन्हों॥
परयो दण्डवत् भूमि में, तनिक न तनकी सुधि रही।
तनु पुलकित गद्गद गिरा, प्रेम समाधि दशा लही॥

ध्रुवजी द्वारा भगवत्स्तुति और श्रीहरि द्वारा उन्हें वर प्राप्ति

[२३२]

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरम्
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः ।
तं भक्तिभावोऽन्वगृणादसत्वरम्
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ९ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

प्रेम मगन ध्रुव भये सतत श्रीहरिहिं निहारे ।
स्तुति कैसे करूँ विकल है बाल विचारे ॥
जानी हरि हिय बात शङ्खतें बदन छुवायो ।
भये वेदमय वचन ज्ञान विज्ञान लखायो ॥
वेद शास्त्र सम्मत वचन, शङ्ख छुअत मनमहँ जगे ।
गद्गद वाणी मुदित मन, विनती ध्रुव करिबे लगे ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी ! जिसको ध्रुव पद प्राप्त होने वाला है, उन ध्रुवजी के कपोल से जब शङ्ख का स्पर्श हो गया, तब उन्हें दिव्य वाणी प्राप्त हो गई, उन्हें जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप ज्ञान का निर्णय हो गया । इसलिये उस समय वे सर्वत्र सुप्रसिद्ध पावन यशवाले उन प्रभु की भक्ति भाव से स्तुति करने लगे ।"

वह वाणी ही यथार्थ वाणी है जो विश्वम्भर की निरुदावली का वर्णन करती है। वे नेत्र ही वास्तविक नेत्र हैं, जो नन्दनन्दन अरविंद पराग के लोलुप होकर उसी के ऊपर मँडराते फिरते हैं। वे श्रवण ही सफल श्रवण कहलाने योग्य हैं जो श्रीमन्नारायण के सुमधुर जगन्मगल पावन नामों का उनके त्रैलोक्य पावन गुणों का सदा श्रद्धा सहित श्रवण करते रहते हैं। भगवान् ने वाणी दी और उससे भगवत्स्तुति न की, तो इससे श्रेष्ठ तो मूकपन ही है। वाणी की एकमात्र सफलता श्यामसुन्दर की स्तुति करने में ही है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर! ध्रुव को भगवद्दर्शनों से जो अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ, उसका वर्णन करना चर्मजिह्वा के परे की बात है। जैसे कोई जन्म का कँगला हो और सहसा अगणित द्रव्यराशि मिल जाय, जिस प्रकार वह अपने आनन्द को व्यक्त करने में-सहन करने में-समर्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार ध्रुवजी आत्मविस्मृत से हो गये। सहसा उनके मन में भगवान् की स्तुति करने की इच्छा हुई। इच्छा श्रीहरि ने ही उत्पन्न की, उन्हें ही उसे पूरी करने को शङ्ख का स्पर्श कराके वेद-शास्त्र सम्मत वाणी को भी प्रस्फुटित किया। नहीं तो पाँच वर्ष का बच्चा स्तुति करना क्या जाने। ध्रुवजी चाहते थे, शनैः-शनैः अपने हाथों से भगवान् के चरणारविन्दों को दबावें। लक्ष्मीजी जो निरन्तर उन अत्यन्त कोमल चरणों को दबाते-दबाते अघातीं नहीं, ऐसा इनमें क्या जादू है, यह अनुभव करने की जिज्ञासा उनके मनमें उठी। चरणों से चलकर श्रीहरि के पादपद्मों की धूलि को अपने सम्पूर्ण अङ्गों में मलें। कानों से उनकी सुमधुर वाणी सुनें, त्वचा से उनका सुखद स्पर्श करें। ये सब इच्छाएं प्रभुप्रेरणा से ही हृदय में जागृत् हुईं। जब भगवान् ने स्तुति करने की शक्ति प्रदान की, तो पहिले उन्होंने यही बात कही—"प्रभो! मैं आप

पुरुषोत्तम के पादपद्मों में प्रेमपूर्वक प्रणाम करता हूँ। आप ही मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर सब इन्द्रियों को उनके कैंकर्य के लिये प्रेरित करते हैं। सुषुप्ति अवस्था में पड़ी हुई वाणी को चैतन्यता प्रदान करते हैं। कर, चरण, कर्ण, त्वचा आदि को तत् तद् कार्यों को करने के लिये उत्साहित करते हैं ऐसे आपकी मैं स्वतः स्तुति भला कैसे कर सकता हूँ ?"

सूतजी कहते हैं—' मुनियो ! इस प्रकार ध्रुवजी ने भगवान् की वेद शास्त्र सम्मत बड़ा ही अद्भुत स्तुति की। उस दिव्य स्तुति का एक-एक शब्द स्मरणीय है। यह स्तुति क्या है सर्व शास्त्रों का सार है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग सूतजी ! उस सम्पूर्ण दिव्य स्तुति को व्याख्या सहित आप हमें सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन् ! यह स्तुति है तो ११ ही श्लोकों की, किन्तु इतनी विपद है, कि इस कथा प्रसङ्ग में उसका वर्णन करने से कथा का प्रवाह रुक जायगा, इसलिये उस स्तुति को मैं स्तुति प्रकरण में यथामति व्याख्या सहित कहूँगा। स्तुति करते हुए अन्त में ध्रुवजी ने कहा—"प्रभो ! आपकी स्तुति का सर्वश्रेष्ठ फल तो यही है, कि आपके पादपद्मों में अनुराग हो। फिर भी आप तो कल्पतरु हैं, आपकी शरण में जो जिस भावना से भी जाता है, उसकी आप उसी भावना को पूरी करते हैं। आप भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये सदा कातर बने रहते हैं। आपकी विकलता केवल भक्तों पर कृपा के ही लिये होती है। जैसे गौ अपने तुरन्त के जन्मे बछड़े को दूध भी पिलाती है और सब प्रकार से उसकी रक्षा भी करती है, इसी प्रकार आप भक्तों की समस्त इच्छाओं को भी पूरी करते हैं और उन्हें पतन से आवागमन से छुड़ाते हैं। प्रभो ! बहुत-से ऋषि मुनि आपकी निष्काम भाव से उपासना करते हैं, वे आपसे आपकी भक्ति के

अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते, किन्तु मैं तो निष्काम भक्त नहीं हूँ, दीनबन्धो ! मैं तो नीच क्षुद्र और सकाम भक्त हूँ। मैंने आर्त होकर दुःखी होकर आपके चरणों की शरण ली है। यद्यपि मेरा मनोरथ बहुत तुच्छ है, किन्तु आप तो अपनी शरण मे आये हुए प्राणियों के तुच्छ से तुच्छ हेय मनोरथों को भी पूरा करते हैं। आपके यहाँ कुछ अदेय नहीं है। किसी भी भावना से कोई आपकी शरण में आवे, वह निराश होकर नहीं लौटता। मैं क्या चाहता हूँ उसे आप सर्वान्तर्यामी होने से भली-भाँति जानते हैं, उसे आपसे कहूँ क्या ? कहने में भी मुझे लज्जा आती है।"

अपने भक्त को इस प्रकार दुखी देखकर दीनबन्धु दीनानाथ ध्रुवजी की प्रशसा करते हुए और उनकी ओर मद-मद मुस्कराते हुए प्रेमपूर्वक बोले—"बेटा ! ध्रुव भैया मैं तेरे मन की सब बात जानता हूँ। तू संकोच मत करे। अपने मन में ग्लानि के भाव मत लावे। यद्यपि तेरा मनोरथ कठिन है फिर भी मैं उसे पूरा करूँगा। तू जैसा पद चाहता है जिसे तेरे पिता, प्रपितामह किसी ने भी प्राप्त न किया हो। मैं उसे तुझको दूँगा। जिस तेजोमय ध्रुवलोक को आज तक कोई भी प्राप्त नहीं कर सका है। जिसमें समस्त ग्रह नक्षत्र तथा तारागण स्थित हैं, उसी का आश्रय लेकर समस्त ज्योतिश्चक्र घूमते हैं, जो कल्प की प्रलय में भी नाश नहीं होता। जैसे खलिहान के बीच में गड़े हुए खूँटे का आश्रय लेकर उसी के चारों ओर बैल घूमते हैं, उसी प्रकार जिस ध्रुवलोक का ही सहारा लेकर समस्त नक्षत्र, धर्म अग्नि कश्यप, शुक्र आदि ग्रह भूत बनवासी मुनिगण उसके चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं उसी दुर्लभ ध्रुव लोक को मैं तुझे दूँगा। तेरे नाम से ही यह सुप्रसिद्ध होगा। तू समस्त देवता ग्रह नक्षत्र और ताराओं से ऊपर स्थित रहेगा। उसका नाम विष्णु पद भी है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार प्रसन्न होकर भगवान् ने ध्रुव को परलोक पधारने पर विष्णु पद ध्रुवलोक की प्राप्ति का वरदान दिया। भगवान् की प्रसन्नता होने पर इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकों की समृद्धि प्राप्त हो जाती है। परलोक का वरदान देकर भगवान् इस लोक के सुख का वरदान देने लगे।"

भगवान् पुनः बोले—"देख, इस लोक में भी तू चक्रवर्ती राजा होगा। तेरे पिता तुझे राज्य देकर वन में चले जायँगे, तब इसके अनन्तर तू ३६ सहस्र वर्ष तक राज्य सुख भोगेगा।"

ध्रुवजी ने शीघ्रता से कहा—"इतने दिन तो बहुत हैं। वृद्धावस्था में तो दुःख ही दुःख है।"

भगवान् बोले—"नहीं, तेरी इन्द्रिय शक्ति का कभी ह्रास न होगा, तू सदा युवा ही बना रहेगा। तेरा भाई उत्तम आखेट के लिये अरण्य में जायगा तभी वह गन्धर्वों द्वारा मारा जायगा। उसकी माता सुरुचि उसे खोजने जायगी, वह भी वन की दावाग्नि में जलकर अपने कुकर्म का फल भोगेगी। तू बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले बहुत से यज्ञ करेगा। संसार मे तेरा सर्वत्र यश फैलेगा। तू बड़े-बड़े पराक्रम के कार्य करेगा। नाना प्रकार के संसारी भोगों को भोगकर मेरा स्मरण करता हुआ उस परम पद ध्रुवलोक में जाकर पूजित होगा, जिसकी वन्दना सभी प्राणी करते हैं जो सप्तर्षिलोक से भी ऊँचा है वहाँ पहुँचने पर फिर संसार में लौटना नहीं होता। वह अपुनरावृत्ति पद है।"

इतना कहकर भगवान् शीघ्रता से गरुड़ पर सम्हलकर बैठे। ध्रुवजी ने शीघ्रता से फल फूल और जल द्वारा उनकी पूजा की अपने भक्त की पूजा प्रेमपूर्वक स्वीकार करके प्रभु तात की बात में वहीं अन्तर्धान हो गये। ध्रुवजी देखते के देखते ही रह गये।

भगवान् के अन्तर्हित होने पर उन्होंने भूमि में लोटकर उस दिशा को प्रणाम किया जिस दिशा मे भगवान् अन्तर्धान हुए थे।

मैत्रेय मुनि कहते हैं "विदुरजी! ६ महीने में ५ वर्ष के बालक ध्रुव ने सर्वान्तर्यामी प्रभु को प्रसन्न करके उन्हें प्रकटकर लिया अपना अभीष्ट वरदान प्राप्त किया। त्रैलोक्य में श्रेष्ठ परम पद की प्राप्ति होने पर भी उन्हे प्रसन्नता न हुई। वे प्रसन्न नहीं हुए। अपने को अकृतार्थ की भाँति समझकर खिन्न मन स घर की ओर चल दिये। लौटते समय अपने सकल्प की पूर्ति होने पर भी उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई।"

यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य के सहित विदुरजी पूछने लगे—"महाराज! यह तो आप अत्यन्त ही आश्चर्य की बात कह रहे हैं। भगवान् के दर्शन होना कोई साधारण बात नहीं। बड़े-बड़े जितेन्द्रिय राजर्षि हजारों लाखों वर्ष में भी घोर तपस्या करके जिनका दर्शन नहीं पा सकते। उन प्रभु को एक ही जन्म में केवल ६ महीनों की ही तपस्या से जिन ध्रुवजी ने प्राप्त कर लिये और जो ध्रुवपद अत्यन्त ही दुर्लभ है उस पद का वरदान भी प्राप्त कर लिया। फिर भी ध्रुवजी ने अपने को अकृतार्थ क्यों समझा। उन्हें तो अत्यधिक प्रसन्नता होनी चाहिये थी, वे खिन्न मन से घर की ओर क्यों लौटे? इसका कारण कृपा करके बताइये।"

विदुरजी की ऐसी बात सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी आप एकाग्रचित्त होकर सुनिये। मैं इसका कारण बताता हूँ।" इतना कहकर मैत्रेय जी ध्रुवजी की खिन्नता का कारण बताने लगे।"

छप्पय

सुनि विनती हरि कहें करूँ मन वांछित तेरो।
पावे दुर्लभ श्रेष्ठ अन्त तू ध्रुव पद मेरो॥
करि छत्तीस हजार वर्ष पृथिवी पै शासन।
भोगो भोगनि किन्तु रहे मम चरणनिमहँ मन॥
यों वर दैकें बरद हरि, अन्तर्हित छिन में भये।
करिके पश्चात्ताप बहु, ध्रुव निज घरकूँ चलि दये॥

ध्रुवजी का खिन्नमन होकर घर लौटने का कारण

[२३३]

मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान्स्मरन् ।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान् ॥*

(श्रीमा० ४ स्क० ९ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

कहैं विदुर—गुरु ! विष्णु दरश करि भयो ताप कस ?
बोले मुनि—सुनि, ध्रुवहिं चित्तमहँ सोच भयो अस ॥
अरे ! मोक्षपति पाइ मोक्ष मैंने नहिं माँगी ।
परुष विमाता वचन यादि करि ईर्ष्या जागी ॥
हाय ! नृपति ढिँग जाइ मम, माँगी चावलकी भुसी ।
तुच्छ भोगहित भजे हरि, हिय कुबुद्धि कैसी घुसी ॥

चित्त में जब कोई कामना उत्पन्न हो जाती है, तो उसके नाश के दो ही उपाय हैं, या तो विचार द्वारा, विवेक द्वारा उसे चित्त से हटा दिया जाय या उसकी पूर्ति हो जाय। साधारण

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ध्रुवजी अपनी सौतेली माता के वाग्बाणों से ऐसे विद्ध हो गये थे, कि उन्हें उनका स्मरण बना ही रहा। इसीलिये मुक्ति के दाता श्रीहरि के प्रसन्न होने पर भी उनसे मुक्ति नहीं माँगी। इसी कारण उन्हें मानसिक सन्ताप हुआ।"

वासनाएँ तो विचार से, सत्सग से, वैराग्य से, विषयों से पृथक् रहने से हट जाता हैं या स्वप्न आदि में उनका क्षय हो जाता है, किन्तु जो प्रबल वासना हो जाती है, जो किसी प्रकार हटाये से भी नहीं हटतीं, तो वह भगवत् कृपा से ही हटेगी। ऐसी दशा में किसी अन्य का आश्रय न लेकर सर्वात्मभाव से भगवान् की ही शरण मे जाना चाहिये। भगवान् चाहें उसे भोग प्राप्त कराके हटा दें या अपनी कृपा दृष्टि से क्षय कर दें। प्रायः ऐसा ही देखा गया है, कि प्रबल वासनाओं की पूर्ति करके ही भगवान् अपने आश्रितों को सासारी माया मोह से मुक्ति प्रदान करते हैं। काशी, प्रयाग आदि तीर्थों में मरने मात्र से ही मुक्ति मिलती है, ऐसा शास्त्र पुराणों में अनेकों बार कहा गया है, किन्तु जो कोई कुछ वासना लेकर मरते हैं, तो उन्हें उस वासना की पूर्ति के लिये वहाँ मरने पर भी फिर जन्म लेना पड़ता है। उस वासना की पूर्ति हो जाने पर वे भगवान् के परमपद को प्राप्त होते हैं। पद्मपुराण में ऐसी कथा आती है, कि त्रिवेणी स्नान करते समय किसी अन्त्यज की किसी श्रेष्ठ वैश्य पत्नी पर दृष्टि पड़ी। उसकी परिचारिकाओं से उसने प्रस्ताव किया। हँसी में उस दासी ने कह दिया तू इसे पाना चाहता है तो त्रिवेणी में डूब मर। उसने ऐसा ही किया। उसी का चिन्तन करते हुए वह त्रिवेणी में डूबकर मर गया। अन्त में उसने उसे प्राप्त किया और उसके सहित वैकुण्ठ गया। वासना लेकर भी यदि जीव उसकी पूर्ति के लिये भगवान् की ही शरण में जाता है, तो उसकी वह वासना भी पूरी होती है और अन्त में मुक्ति मिल जाती है, किन्तु जो वासनाओं की पूर्ति के लिये ससारी साधनों का सहारा लेकर स्वतः ही उनकी पूर्ति के लिये प्रयत्न करता रहता है, तो उसे तो ८४ के चक्कर में घूमना ही पड़ता है। जन्म मरण के दुःख भोगने ही पड़ते हैं, विदुरजी के पूछने पर मैत्रेयमुनि कहने लगे—'विदुरजी! आपने जो

ध्रुवजी की खिन्नता का कारण पूछा उसे मैं बताता हूँ। ध्रुवजी जब घर से चलकर श्री नारदजी के उपदेश से मधुवन में तपस्या करने आये तो उनके हृदय से विमाता के वे वाग्बाण निकले नहीं थे। उनके हृदय में यह इच्छा बनी ही रही, कि मैं भगवत् कृपा प्राप्त करके अपनी विमाता को उसी उत्तम वाले सिंहासन पर बैठकर दिखा दूँगा, कि देख तेरे पेट में बिना जन्म लिये ही मैं इस सिंहासन पर बैठ गया, और अन्त में ऐसा श्रेष्ठ पद प्राप्त करूँगा, जिसे औरों की तो बात ही क्या मेरे पिता प्रपितामह ने भी प्राप्त नहीं किया है। भगवान् तो घट घट की जानने वाले हैं। ध्रुवजी की इच्छा जानकर उन्हें ये दोनों वरदान बिना माँगे ही दे दिये। सांसारिक इच्छित वस्तु के प्राप्त करने में ही उत्साह होता है, प्राप्त होने पर सामान्य-सी लगने लगती है और उससे कभी-कभी विराग भी हो जाता है। प्राप्त करने के अनन्तर पश्चात्ताप भी होता है, कि इस क्षुद्र वस्तु को प्राप्त करने के लिये हमने व्यर्थ ही इतना प्रबल परिश्रम किया। यही दशा ध्रुवजी की हुई। जब तक भगवान् के दर्शन नहीं हुए, तब तक तो सोचते थे—"भगवान् के दर्शन होने पर यह माँगूगा। ऐसा कहूँगा वैसे कहूँगा।" जब उनके दर्शन हुए, तो उनके तेज और महत्व को देखकर सहम गये। कुछ माँग ही न सके, किन्तु सर्वान्तर्यामी प्रभु तो सब जानते थे। उसकी इच्छा पूरी करके उसे मनोवाञ्छित वरदान देकर अन्तर्हित हो गये। ध्रुवजी को पीछे पश्चात्ताप हुआ। भगवद्दर्शनों का यह फल हुआ, कि उनके मन से विमाता की ईर्ष्या निकल गयी। पश्चात्ताप शुद्ध अन्तःकरण में ही होता है। उसने सोचा—"अरे, मैं तो ठग गया। देखो, साक्षात् मुक्ति के देने वाले भगवान् से मैंने यह क्या अनित्य वस्तु माँगी। राम-राम मैंने यह क्या किया। देवताओं ने मेरी बुद्धि विपरीत कर दी। उन्होंने मुझे मुक्ति से वञ्चित कर दिया। पृथ्वीलोक हो चाहे

ब्रह्मलोक, सब एक-से ही हैं, किसी में कम सांसारिक सुख है किसी में अधिक सभी तो पुनरावृत्ति शील हैं। मैंने भगवान् के चरणों की भक्ति इस संसार से मुक्ति क्यों नहीं माँग ली।" इन्हीं सब बातों से ध्रुवजी को उन वरदानों से कुछ प्रसन्नता नहीं हुई उन्होंने सांसारिक ऐश्वर्य को व्यर्थ समझा। उसकी प्राप्ति के लिये भगवद् आराधन करना अत्यन्त हेय काम समझा।"

इतना सुनकर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! ध्रुवजी इतना बड़ा पद पाकर भी प्रसन्न नहीं हुए यह बात क्या है?"

सूतजी बोले—"महाभाग! बात यह है, न कोई बड़ा न छोटा। ये सब अपेक्षाकृत हैं। हम मर्त्यलोक के प्राणियों के लिये स्वर्गीय सुख ही सर्वश्रेष्ठ है। स्वर्ग के देवता ध्रुव तथा महर्लोक के सुखों को श्रेष्ठ समझते हैं, वे लोग जन, तप के सुखों को, जन तप वाले सत्यलोक के सुखों को। इनमें न कोई श्रेष्ठ है न कनिष्ठ, लोगों का भ्रम है, श्रेष्ठ तो प्रभु के पादपद्म हैं। संसारी माया मोह का क्षय हो जाना ही मोक्ष है। ऐसा मोक्ष ही सर्वश्रेष्ठ पद है। जो इन संसारी कारणों से दुःखी होकर उन्हीं की प्राप्ति के लिये आराधना करते हैं, वे वैसे ही हैं जैसे कोई सिर पर बोझ ले जा रहा है। दूर तक ले जाते थक गया तो सिर से उठा-कर कन्धे पर रख लिया। सिर को इससे कुछ काल के लिये शान्ति अवश्य हुई, किन्तु बोझा तो कम नहीं हुआ। शरीर पर तो ज्यों-का-त्यों भार रहा। इस विषय में एक छोटा-सा दृष्टान्त सुनिये।

एक कोई गरीब ग्रामीण मनुष्य था, एक उसकी स्त्री थी एक लड़का। स्त्री कुछ कर्कशा स्वभाव की थी घर में जब धन नहीं होता, थोड़ी-सी बात पर भी लड़ाई हो जाती है और यदि धन सम्पत्ति भरी पूरी हो, तो बड़ी से बड़ी बात दब जाती है। इसलिये उस गरीब के घर में नित्य ही कलह होती रहती। एक

दिन कलह से ऊबकर वह घर से निकल पड़ा। उसका पितृभक्त पुत्र भी उसके साथ चला। समीप में ही किसी चामुण्डादेवी का मन्दिर था। देवी बलिदान आदि से शीघ्र ही प्रसन्न हो जाती थीं, ऐसी सर्वत्र ख्याति थी। वे बाप बेटे भी चामुण्डादेवी का मन्दिर में जाकर बिना अन्नजल ग्रहण किये घोर तप करने लगे। कुछ काल में उनके तप से प्रसन्न होकर चामुण्डादेवी प्रकट हुईं और उस गरीब से वरदान माँगने को कहा। उसने कहा—"देवि! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे यही वरदान दें कि मेरी स्त्री मुझसे बहुत लड़ती है, वह मर जाय।"

देवी ने कहा—"अच्छी बात है मर जायगी।"

अब बेटा से कहा—"तू वरदान माँग।"

उसने कहा—"देवि! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे वरदान दीजिये कि जब मेरी माँ मर जाय तो मैं उसके ऊपर हाथ रख दूँ तो वह जीवित हो जाय।"

देवी ने कहा—"अच्छी बात है ऐसा ही होगा।"

दोनों घर को लौटे। गरीब की बहू मर गयी। बेटा ने हाथ रख दिया, जीवित हो गयी, हिसाब बराबर। यह तो वही बात हुई—

छऊ गये ससुराल छऊ दिन छै में आये।
छऊ के आये छै मिहमान, छऊ कहूँ गये न आये॥

छऊ नाम का कोई कंजूस था। उसने सोचा—"चलो ससुराल में चलें, कुछ दिन का अन्न बचेगा। यह सोचकर चले गये। ससुराल वाले तो जानते ही थे, ये दिन काटने आये हैं, इसलिये बहुत आदर सत्कार न किया और न रहने का ही आग्रह किया। फिर भी छऊ सेठ छः दिन तो डट ही गये। छठे दिन घर आये। पर आते ही देखते हैं उनके ६ मिहमान आ गये हैं। क्या करें खिलाना ही पड़ा। किसी ने पूछा—"छऊ सेठ कई

दिन से दिखायी नहीं दिये, कहाँ चले गये थे ? ६, ७ दिन से तुम तो यहाँ थे ही नहीं।" शिर खुजलाते हुए छऊ सेठ बोले—"कुछ पूछिये नहीं—

छऊ गये ससुराल छऊ दिन छै में आये।
छऊ के आये छै मिहमान छऊ कहूँ गये न आये॥

वही दशा बाप बेटों की हुई। स्त्री तो घर मे ज्यों की त्योंही बनी रही। इतनी तपस्या और कर ली। चामुण्डादेवी से बहुत-सा धन माँगते, तो चैन की बंशी बजती। फिर भी तप तो व्यर्थ जाता नहीं। इस मरने जीने से स्त्री का स्वभाव बदल गया। अब वह कर्कशा नहीं रही।

सूतजी कहते हैं—"यही बात शौनकजी! ध्रुवजी ने सोचीं, कि भगवान् का ६ महीने में साक्षात्कार भी किया और फिर उनसे संसार की ही वस्तुएँ माँगीं, ये विचार ध्रुवजी के महत्ता-सूचक थे। सभी पुरुष अपने ही गज से नापते हैं। ध्रुवजी महान् थे। इसीलिये ध्रुव पद को भी तुच्छ समझते थे, नहीं तो वह पद तो त्रैलोक्य में सर्वोत्कृष्ट पद है। पृथ्वी का चक्रवर्ती पद प्राप्त करना भी साधारण पुण्य का फल नहीं है। फिर सबसे बड़ी बात है कि उन्हें भगवान् के दर्शन हो गये। भगवान् के दर्शनों के अनन्तर तो बन्धन रहता ही नहीं। जिनके मन में कामना रहते हुए भी भगवान् के दर्शन होते हैं, उनकी कामना पूर्ति के अनन्तर मुक्ति हो जाती है और जो निष्काम होते हैं, उनकी तत्काल मुक्ति हो जाती है। भगवान् के दर्शनों का फल ही मुक्ति है। देर सबेर की बात दूसरी है। ध्रुवजी के भाग्य को तो देखिये, छः महीने में भगवान् के दुर्लभ दर्शन हो गये!"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमें भी तब से इसी बात का आश्चर्य हो रहा है, कि ध्रुवजी को छः ही महीने में भगवान् के दर्शन कैसे हो गये। हमने बहुत-से ऋषि मुनियों को

हजारों वर्ष तपस्या करते देखा है, उन्हें हजारों वर्षों में स्वप्न में भी दर्शन नहीं होते। उलटे हमने उन्हें तनिक-सा कारण उपस्थित होने पर विषयों में फँसते देखा है। कण्डू नाम के ऋषि थे। हजारों वर्ष के अनन्तर एक स्वर्गीय अप्सरा के चक्कर में फँस गये और ऐसे फँसे, कि हजारों वर्षों के पश्चात् भी उन्हें यही पता चला कि यह सबेरे आयी है, चलो सायंकालीन सन्ध्या कर आवें। विश्वामित्रजी ने चारों दिशाओं में हजारों वर्ष तपस्या की, सो भी भगवान् के दर्शनों के लिये नहीं, राजर्षि से ब्रह्मर्षि बनने के लिये। उसमें भी कितने कितने विघ्न आये। कहीं क्रोध आ गया, कहीं मेनका अप्सरा आ गयी, कहीं कामदेव आ गया। ऐसे एक नहीं हजारों दृष्टान्त हैं, किन्तु ध्रुवजी के तप में ऐसी कौन-सी विशेषता थी, कि छः महीने में ही भगवान् को उनके लिये अवतार धारण करके प्रकट होना पड़ा। कृपा करके आप हमारी इस शङ्का का समाधान करें।"

शौनकजी के ऐसे गम्भीर प्रश्न को सुनकर सूतजी थोड़ी देर चुप होकर सोचने लगे फिर सोचकर शौनकजी के इस प्रश्न का उत्तर देने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हाय ! पाइके लाल कँचलै ताहि गँवायो।
हाय ! सुरनि मति भ्रष्ट करी ध्रुवपद अपनायो॥
छै महीना में मिले मोहि माधव मदहारी।
तऊ न माँगी मुक्ति गई मेरी मति मारी॥
मोंग्यो सोनो एक पल, ढिंग सुमेरु के जाइकें।
प्यासे गंगा तट गये, पीयो पय न अघाइकें॥

जन्मान्तरीय संस्कारों का फल

[२३४]

समाधिना नैकभवेन यत्पदम्
विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयो—
श्छायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० ९ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

एक करै तप सहस बरष परि सिद्धि न पावे।
एक दिना दस करे सिद्ध चटपट है जावे॥
एक राति दिन पढ़े यदि सैथा नहिं होवे।
एक सुनत ही यादि करे फिरि सुखतें सोवे॥
पाप, पुण्य दुष्कृत, सुकृत, होहिं उदित बहु जनमके।
सिद्धि असिद्धि अधीन नहिं, तत्क्षण कीन्हें करमके॥

जब तक हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त को न मानेंगे तब तक विष

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! पश्चाताप करते हुए ध्रुवजी कहते हैं—देखो कितने दुख की बात है, बड़े-बड़े सनकादि ऊर्ध्व रेता महर्षि तथा सिद्धगण जिस पद को समाधि द्वारा भगवत् चरणारविन्द की छाया अनेक जन्मों में प्राप्त कर सकते हैं, उसी को मैंने केवल छः महीने में ही प्राप्त कर लिया, मन में भेद बुद्धि होने के कारण उसके यथार्थ फल से वंचित ही होना पड़ा।"

मता की गुत्थियाँ सुलझती नहीं। हम देखते हैं एक बालक जन्म से ही सुन्दर है, दूसरा कुरूप है। एक जन्म से ही हिंसक और क्रूर है, दूसरा बाल्यकाल से ही भगवद्भक्त सुशील और धर्मात्मा है। एक जन्म से ही रोगी है दूसरा कुपथ्य करते रहने पर भी सदा स्वस्थ्य बना रहता है। एक जन्म से ही मोटा है, दूसरा घी पूरा खाते रहने पर भी दुबला ही बना रहता है। एक, जन्म से ही बुद्धिमान् और मेधावी है, दूसरा अनेक प्रयत्न करने पर भी वज्रमूर्ख ही बना रहता है। एक आदमी कुछ भी प्रयत्न नहीं करता मिट्टी छूता है सुवर्ण हो जाता है, दूसरा रात्रि दिन परिश्रम करता है, उसका पेट नहीं भरता। एक उच्चकुल में उत्पन्न है, फिर भी उसे कोई पूछता नहीं। दूसरा हेय कुल में उत्पन्न हुआ फिर भी राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित है। इन सब बातों की संगति पूर्वजन्म के संस्कारों और प्रारब्ध कर्मों से ही बैठती है।

शौनकजी के यह पूछने पर कि ध्रुव को ६ महीने में ही भगवद् दर्शन कैसे हो गये। इसका उत्तर देते हुए सूतजी कहते हैं—"ऋषियों! किसी बाह्य कारण को देखकर ही यह नहीं कहा जा सकता, कि इसी के कारण यह कार्य सिद्ध हुआ। दो पत्थर पड़े हैं। एक में ५० घन मारते हैं, तब फूटता है, दूसरा दो घन मारने से ही फूट जाता है। यद्यपि लोग कहते हैं, कि यह मेरे पुरुषार्थ से दो ही घनों से फूटा, किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो जो दो घनों से फूटा है, वह पहले घन लगाने से या और किसी प्रकार की चोट लगने से जर्जर हो गया था। इस समय दो घन की चोट उसके फूटने में निमित्त मानी गयी। वास्तव में तो वह पहिले से ही फूटा था, बस, दो घन की कसर थी लगते ही फूट गया। इसी प्रकार एक लड़का एक साल में ४-४ परीक्षाएँ उत्तीर्ण हो जाता है और उसे कुछ भी श्रम नहीं होता। दूसरा ४ साल में भी एक परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता। इसका यही कारण

है, कि पहिले ने पूर्वजन्म में पढ़ा था, अब उसे संकेत मिलते ही याद हो गया। दूसरे ने पढ़ा ही नहीं। उसके संस्कार ही ऐसे नहीं। इसीसे श्रम करने पर भी उसे याद नहीं होता।

दो तपस्वी साथ साथ तपस्या करते हैं, एक को हजारों वर्ष तपस्या करने पर भी भगवान् के दर्शन नहीं होते, दूसरों को कुछ ही दिनों में हो जाते हैं। जड़ भरतजी राज्य पाट छोड़कर वन में चले गये। घोर तपस्या में लगे रहे। उन्होंने प्रतीज्ञा कर ली थी, जिह्वा से भगवन्नामों के अतिरिक्त दूसरा शब्द कभी स्वप्न में भी उच्चारण न करूँगा। निरन्तर तैल धारावत् भगवन्नामों का ही कीर्तन करते थे, किन्तु अन्त में उन्हे मृग बनना पड़ा। इसके विपरीत अजामिल ब्राह्मण होकर जीव हिंसा करता था, अखाद्य वस्तु खाता था, अपेय वस्तु पीता था, लोगों को लूटता था, सबकी हत्या करता था, चोरी जारी सभी पाप करता था। वेश्या का पति था, वृषली के साथ शैया भोजन आदि का सहवासी था, किन्तु मरते समय पुत्र का नाम नारायण कहकर परमपद का अधिकारी हो गया। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है, कि पूर्वजन्मों के शुभाशुभ उदित होकर हमारे कार्यों में सहायता और विघ्न करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"शौनकजी ! आप इस विषय में आश्चर्य न करें, कि ध्रुवजी को ६ ही महीने मे भगवद् दर्शन क्यों हो गये और अन्य ऋषि महर्षियों को हजारों वर्ष तपस्या करते रहने पर भी स्वप्न मे भी दर्शन क्यों नहीं हुए। इस विषय में मैं आपको एक अत्यन्त ही सुन्दर पौराणिक आख्यान सुनाता हूँ। उसे आप ध्यानपूर्वक सुनेंगे तो आपकी शंका का स्वतः ही समाधान हो जायगा।"

उत्कल देश में समुद्र के तट पर परम पावन पुरुषोत्तम क्षेत्र है, जिसे नीलाचल या जगन्नाथ धाम भी कहते हैं। उसी परम

पावन पुण्य पुरी में एक भद्रतनु नामक ब्राह्मण रहता था। नाम तो उसका भद्रतनु था किन्तु शरीर से सदा अभद्र ही कार्य करता था। वह बड़ा विषयलम्पट था। उच्च कुल में उत्पन्न हुआ था, घर में यथेष्ट पैतृक सम्पत्ति भी थी, किन्तु उसने वेश्यागमन और बुरे कर्मों में सभी सम्पत्ति गँवा दी। वह सदा व्यभिचारिणी स्त्रियों के ही वश में रहता था। एक वेश्या में उसकी अत्यन्त ही अनुरक्ति हो गयी। वह भी इसे बहुत प्यार करती और यह भी उस पर सर्वस्व निछावर किये हुए था। नगर के सभी लोग उससे घृणा करते उसका अपमान करते, मुँह पर ही उसे भली बुरी कहते, किन्तु वह तो इतना निर्लज्ज बन गया था, कि किसी की भी बात नहीं सुनता था। कामातुर पुरुषों को लज्जा, शील, संकोच, भय आदि रहते ही नहीं। वे अपनी ही धुनि में मस्त रहते हैं उनका संसार ही पृथक् होता है। भद्रतनु भी निर्लज्ज होकर इन सब पापों को करता था।

एक बार आश्विन मास में उसके पिता के श्राद्ध की तिथि आयी। कैसा भी लोक निन्दित व्यभिचारी था, फिर भी लोक लाजवश उसने पिता का श्राद्ध किया। पिता के श्राद्ध से निवृत्त होते ही वह अपनी प्रियतमा वेश्या के समीप पहुँच गया। शास्त्रकारों का ऐसा कथन है, कि श्राद्ध के दिन श्राद्धकर्ता को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये। जो उस दिन ब्रह्मचर्य से न रहकर प्रसगादि करता है तो उसके पितर रेत पान करते हैं, किन्तु भद्रतनु को तो इन सब बातों की कोई चिन्ता ही नहीं थी। वह तो पाप पक में फँसा ही था। वेश्या ने उससे देर में आने का कारण पूछा। उसने अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए कहा—"प्रिये! क्या बताऊँ, इस लोक में रहकर कुछ न कुछ लोकाचार करना ही पड़ता है। आज मेरे पिता की श्राद्ध तिथि थी। मेरी इच्छा तो कुछ करने की नहीं थी, किन्तु ब्राह्मणकुल में जन्म लिया है करना

पड़ता है। इसीलिये दिखावे को आज मैंने श्राद्ध कर दिया। वैसे नियमानुसार तो आज मुझे ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये, किन्तु तुम्हारे प्रेम ने मुझे ऐसा पागल बना दिया है, कि उसके पीछे मैं किसी भी नियम धर्म की चिन्ता नहीं करता। मेरे लिये तो धर्म कर्म, यजन, पूजन, नियम व्रत एकमात्र तुम्हीं हो। तुम्हारे प्रेम पर मैं हजारों नियमों को न्योछावर कर सकता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"शौनकजी! भगवान् की लीला का पता नहीं लगता। वे किसके द्वारा जीवों को आलोक प्रदान करा दें। कभी-कभी घोर पापी के हृदय में बैठकर ऐसी प्रेरणा करा देते हैं, कि सुनने वालों का जीवन ही पलट जाता है। भद्रतनु की इस बात को सुनकर उस निन्दित वृत्ति से आजीविका करने वाली वेश्या के हृदय में बड़ा दुःख हुआ। वह उसे धिक्कार देते हुए बोली—"अरे, नीच! तुझ जैसे पुत्र को पैदा करके तेरे बाप ने सचमुच ही अपने वीर्य का दुरुपयोग किया। तुझे ९ महीने पेट में लादकर सचमुच तेरी माता ने बोझ ही सहा। पत्नी के ग्रहण करने का एकमात्र उद्देश्य होता है, सत्पुत्र की उत्पत्ति। सत्पुत्र की उत्पत्ति का एकमात्र उद्देश्य है, पिता को पुन्नामक नरक से बचाना मरने पर उसके श्राद्ध तर्पण आदि करना। तेरे पिता तुझसे कितनी आशाएँ परलोक में कर रहे होंगे। जब तू अपने स्वर्गीय सगे पिता का ही नहीं हुआ तो मेरा क्या होगा। मेरे जिस शरीर पर तू इतना लट्टू है। उसे ध्यान से देख इसमें क्या है। मेरे दाँत में उँगली लगाकर सूँग कितनी दुर्गन्धि आवेगी। मैं नाक सिनकती हूँ उसे हाथ पर लेकर चाट फिर देख उसमें क्या स्वाद है। मेरे मुँह में थूक और खकार भरी है। आँखों में मैल, कानों में मैल, शरीर के रोम-रोम में पसीना। पेट में मल और मूत्र भरा है। जङ्घाएँ सदा मूत्र से भीगी रहती है। ऊपर से इस चर्म को उधेड़ कर देखे तो इसमें एक से एक अशुद्ध वस्तु भरी है। ऐसी देह के

पीछे तू अपने पितरों को आज रेत पिलाकर उन्हें नरक में डालना चाहता ? तुझे धिक्कार है।"

सूतजी कहते हैं—"शौनकजी ! आज वेश्या के मुख से ऐसी बातें सुनकर भद्रतनु को चेत हुआ। उसका मोह दूर हुआ। वेश्या के वाग्बाण ने लक्ष्य को बेध दिया। भद्रतनु ने उठकर उसके पैर पकड़े और रोते-रोते बोला—"देवि ! वेश्या होकर तुम्हारी ऐसी धर्म में निष्ठा है, इस बात का मुझे पता नहीं था। मैं ब्राह्मण होकर भी इतना पतित हो गया हूँ। मुझे धिक्कार है। हाय ! मैं अपने पिता के मल का कीड़ा ही हुआ। हाय मैंने इन इन्द्रियों के वशीभूत होकर अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया। अब मेरा इन पाप से कैसे उद्धार हो।"

वेश्या ने जब यह समझा कि, मेरी बात का इस पर कुछ प्रभाव पड़ा, तो उसने कहा—"देखो, मैं तो कुछ जानती नहीं, तुम किसी सिद्ध महापुरुष की शरण में जाओ उनकी शरण में जाने से ही तुम्हारा कल्याण होगा।"

वेश्या की बात सुनकर भद्रतनु वहाँ से उस समय उठकर चल दिया। जगन्नाथपुरी मे एक मार्कण्डेय रुद्र है। वह बड़ा पावन तीर्थ है। भद्रतनु वहीं जाकर बैठ गया। उसने सुन रखा था, कि भगवान् मार्कंडेय चिरजीवी हैं। वे सूक्ष्म शरीर से सदा विद्यमान रहते हैं और आराधना करने पर प्रकट भी हो जाते हैं। मन पश्चात्ताप से पिघल रहा था। हृदय में जितना ही अधिक पश्चात्ताप होता है, उतनी ही अधिक करुणा उमडती है। करुणा करुणालय भगवान् मार्कंडेय उसकी ऐसी दशा देखकर द्रवीभूत हुए और प्रत्यक्ष होकर उसे दर्शन दिये।

मार्कंडेय मुनि ने कहा—"वत्स ! तू क्या चाहता है ?"

रोते रोते भद्रतनु ने कहा—"प्रभो ! मैं महान पापी हूँ, मेरे उद्धार का कोई उपाय बताइये। मुझ पापी पर भी प्रभु प्रसन्न हो

सकें ऐसा किसी सरल सुगम साधना का मेरे लिये उपदेश करें।"

यह सुनकर भगवान् मार्कंडेय बोले—"देखो बेटा! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, कि वे वाणी से उपदेश नहीं देते। निरन्तर नित्य नैमित्तिक शुभ कर्मों में वे अव्यग्र होकर लगे रहते हैं, उनका तो जीवन ही उपदेश है। वे स्वय आचरण करके आदर्श उपस्थित करते हैं। दूसरे ऐसे आचार्य होते हैं, कि स्वयं सत्कर्मों का आचरण भी करते हैं और समयानुसार सद् शिष्यों को सदुपदेश मंत्र दीक्षा आदि भी देते हैं। हमारा तो नित्य नैमित्तिक कर्म ही इतना लम्बा है, कि हमें वाणी से उपदेश देने का अवसर ही नहीं, अतः मैं स्वयं तो तुझे उपदेश दे नहीं सकता। हाँ मैं तुझे एक सदाचारी कर्मकांडी विशुद्ध आचार्य मुनि का पता बताता हूँ। यहाँ से पास के ही आरण्य में एक दान्त नामक मुनि रहते हैं। वे बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी विरक्त और सदाचारी हैं। तू उन्हीं की शरण में जा। वे ही तुझे उपदेश देंगे और उन्हीं के द्वारा तेरा उद्धार हो जायगा।"

इतना कहकर सहसा मार्कंडेय मुनि अन्तर्धान हो गये। भगवान् मार्कंडेय के आदेशानुसार भद्रतनु महामुनि दान्त के आश्रम में पहुँचते ही उनका चित्त शांत हो गया। सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से शोभित था। पीतवसनधारी, बाल-ब्रह्मचारी आश्रम में इधर से उधर घूम रहे थे। यज्ञ के सुगन्धित धूम्र से सम्पूर्ण वायुमण्डल सुवासित बना हुआ था। अनेक देवों की पृथक् पृथक् पीठें बनी हुई थी। चारों ओर वेदघोष हो रहा था। चिकने चिकने पत्तों वाले बड़े ही सुहावने वृक्ष इधर-उधर लगे हुए थे। कुटियों पर बेलें चढ़ी हुई थीं। आश्रम झाड़ा बुहारा लिपा पुता स्वच्छ पड़ा था। एक ओर बहुत सी मोटे-मोटे ऐन वाली सुन्दर गौएँ बँधी थीं। पास में ही उनके मुनमुने-से छोटे छोटे बच्चे फुदक रहे थे, कोई दूध पीने को मचल रहे थे, कोई परस्पर में

कुड्ड मारकर लड रहे थे, कोई दौड रहे थे, ब्रह्मचारी उन्हे पकड़ रहे थे। आश्रम को देखकर भद्रतनु का चित्त बडा प्रसन्न हुआ। सामने ही एक विशाल वट वृक्ष के नीचे सुन्दर स्वच्छ लिपे पुते एक चबूतरे पर, शिष्यो से घिरे हुए, भगवान् दान्त मुनि बैठे थे। भद्रतनु ने भूमि मे लोटकर उन्हे शाष्टाग प्रणाम किया।

दान्त मुनि ने जब भद्रतनु को बहुत दुखी देखा, ता दयावश उन्होंने पूछा—"वत्स! तुम इतने दुखी क्यो हो? अपने दुःख का कारण मुझे बताओ।"

कृपालु मुनि की बात सुनकर रोते-रोते भद्रतनु ने आदि से अन्त तक, बिना किसी छल कपट के अपना पूरा वृत्तान्त दान्त मुनि को सुना दिया। सब सुनकर मुनि समझ गये, इसे हार्दिक पश्चात्ताप है। सच्चा पश्चात्ताप हृदय मे हो जाय, तो फिर ऐसा कोई पाप नहीं है, जिसका नाश न हो सके, अतः मुनि ने उसे भगवान् के १०८ नामों का उपदेश दिया और आज्ञा दी—"तुम इन्हीं का जप अनुष्ठान करते रहो, सयम पूर्वक रहना, तपस्या करते रहना। भगवान् कभी न कभी कृपा करेंगे ही।"

गुरुदेव से उपदेश पाकर भद्रतनु जाकर एकान्त मे बडी श्रद्धाभक्ति से भगवान् के उन सुमधुर नामों का जप अनुष्ठान करने लगा। उसकी ऐसी भक्ति देखकर ५ दिन के पश्चात् ही स्वयं साक्षात् श्री पुरुषोत्तम भगवान् उसके सम्मुख प्रकट हुए और वरदान माँगने को कहा। भगवान् के दर्शनो से अत्यन्त ही आह्लादित होकर उसने कहा—"भगवन्! आपके दर्शन मुझे हो गये अब फिर माँगने को रहा ही क्या? यदि आप देना ही चाहते हैं, तो अपने चरणों की भक्ति दे दीजिये और मुझे आपके सदा दर्शन होते रहें, ऐसी कृपा कीजिये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, यह सब तो हम देंगे ही,

किन्तु हमारा तुम्हारा सम्बन्ध स्वामी सेवक का नहीं रहेगा। आज से हम तुम दोनों मित्र हुए। अपना कपड़ा तुम हमें दे दो, हमारा कपड़ा तुम ले लो। इस प्रकार पगड़ी पलट मैत्री हो जाय।"

अब भगवान् जिसे जो बनाना चाहे, उसमें आपत्ति कर ही कौन सकता है? भद्रतनु ने स्वीकार किया अब वह यथार्थ में भद्रतनु हो गया। उसकी मैत्री पुरुषोत्तम भगवान् से हो गयी। मैत्री होने पर भी वह अपने गुरु के बताये हुए नियमों का पालन करते हुए भगवान् की प्रीति के निमित्त उपवासादि से शरीर को सुखाता रहा। भगवान् उसके साथ नित्य समुद्र तट पर जाकर गेंद खेला करते थे।"

भगवान् तो सखा ही हो गये थे। सखा के मानी हैं जो एकान्त में रहस्य की सुख-दुख की सभी बातें पूछे। अपनी गुप्त से गुप्त बातें बतावे और सखा के सुख में सुखी और दुख में दुखी हो। भद्रतनु को दुर्बल देखकर भगवान् ने पूछा—"सखे! तुम इतने दुर्बल क्यों होते जाते हो।"

भद्रतनु ने कहा—"भगवन्! मैं आपकी प्रसन्नता के निमित्त अपने गुरुदेव के बताये उपवासादि व्रत को करता हूँ, इससे शरीर कुछ कृश होगा।"

भगवान् ने अत्यन्त ममत्व के साथ कहा—"भैया, मुझे तुम्हारा यह तप प्रिय नहीं है। तुम मेरी प्रसन्नता के लिये इन रूखे नियम उपवासों को छोड़ दो। जैसे मैं रहता हूँ, वैसे रहा करो, तब मुझे प्रसन्नता होगी। जब तुम्हें मेरी प्रसन्नता प्राप्त ही हो गयी तो फिर कायक्लेश से क्या लाभ?"

भद्रतनु ने कहा—"प्रभो! मेरे सभी कार्य आपकी ही प्रसन्नता के लिये हैं। जिसमें आप प्रसन्न हो, वही मैं करूँगा।"

उसकी ऐसी बातें सुनकर भगवान् प्रसन्न हुए और उसका अपना ही जैसा वेष बना दिया। सिर के बालों में सुगन्धित तेल

डालकर सम्हाल दिया। माथे पर मुकुट, कानों मे कुण्डल पहिना दिये। बाहुओं मे कंकण, बाजूबन्द, पहिना दिये। रेशमी, पीताम्बर, रेशमी धोती, करधनी, कडे आदि सभी वस्त्राभूषण आपने उसे धारण करा दिये। अपने साथ ५६ प्रकार के भोजन कराये। खाने को ताम्बूल दिया। अब तो भद्रतनु छबीले की ही भाँति छल चिकनियाँ बन गये। वे वस्त्राभूषणो से सजकर नगर मे फिरने लगे। सबने समझा, चरित्रभ्रष्ट तो यह था ही १०-५ दिन अच्छा रहा, फिर जैसा का तैसा बन गया। सभी उसे धिक्कारते, किन्तु जैसे पहिले वह वेश्या के प्रेम के पीछे किसी की कुछ नहीं सुनता था, उसी प्रकार आज वह प्रभु का पुनीत प्रेम प्राप्त करके निर्भय हो गया था, ससारी लोग बकते हैं तो बकते रहें। उसकी टेक थी "सब जग छूटे तू नहिं रूठे। राम न रूठने पावे।" संसारी लोग बुरा कहते हैं कहते रहे। कोई किसी की जीभ को तो पकड नहीं सकता, निन्दको को तो इधर की बातें उधर मिलाने मे बडा रस आता है। अपना चाहे कुछ स्वार्थ सिद्ध न होता हों, किन्तु दूसरों की निन्दा करने को मिले तो अपनी हानि करके भी भर पेट निन्दा करेगे। लोगो ने एक की १०। १० जाकर दान्त मुनि से भिडायी —"अजी महाराज! आप कितने ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, सदाचारी वीतराग महात्मा हैं। आपके सदाचार की ख्याति सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी आपने उस दुराचारी को अपना चेला बना लिया। बस आपके इसी एक कार्य से सर्वत्र आपकी अपकीर्ति हो रही है उसे तो बच्चा बच्चा जानता है, महा व्यभिचारी है। आपने जब उसे उपदेश दिया, तो हमे आशा थी कुछ सुधर जायगा। १०। १५ दिन एकान्त मे रहकर उसने कुछ जप तप किया भी, किन्तु फिर जैसा का तैसा ही। महाराज जी! आप बुरा न मानें मनुष्य का जैसा स्वभाव पड जाता है, वह छूटता नहीं। कुत्ते की पूँछ को आप चाहें जितने दिन सीधा

करके बाँध दें खुलने पर वह टेढ़ी की टेढ़ी ही रहेगी। रस्सी को आप भले ही जला दें उसकी ऐंठ न जायगी। वह तो अब फिर छैल चिकनिया रसिया बना इधर से उधर घूमता है। अबके उसने विचित्र वेष बनाया है। पता नहीं कहाँ से चोरी कर लाया है। बड़े सुन्दर-सुन्दर सुवर्ण के आभूषण पहिने हुए हैं। बहुमूल्य रेशमी धोती रेशमी पीताम्बर पहिने हैं। माथे पर मुकुट लगाया है। जाने कहाँ से ऐसा सुन्दर अंगराग ले आया है, कि उसे लगाते ही कामदेव के समान सुन्दर हो गया। जिधर से निकलता है, उधर ही सर्वत्र सुगन्ध भर जाती है। पान खाकर सैंन मटकाता हुआ इधर से उधर छम्म-छम्म करके घूमता है। महाराज! हम तो उसकी ओर देखते भी नहीं। अब आपका चेला बन गया है। आपकी अपकीर्ति न हो इसलिये उसे डाँटिये फटकारिये हमसे तो वह बोलता ही नहीं।"

लोगों के मुख से ऐसी बातें सुनकर वृद्ध दान्त मुनि को भी दुःख हुआ। वे सोचने लगे, ये जीव स्वभाव से विवश हैं। प्रकृति विवश होकर जीव को पाप-पुण्य में लगा देती है। उसके पश्चात्ताप को देखकर मुझे दया आ गयी थी, उपदेश दे दिया। वह उसे अपनी दुर्बलता से पालन न कर सका। एक बार उसे और समझाने की चेष्टा करूँगा। समझ जायगा, तब तो अच्छा ही है न समझेगा तो अपने किये का फल भोगेगा। मेरा जो कर्तव्य है, उसे तो मुझे करना ही चाहिये।" यह सोचकर उन्होंने भद्रतनु को समझाने का निश्चय कर लिया।

एक दिन दान्त मुनि भगवान के दर्शन करके लौट रहे थे, कि मार्ग में छम्म-छम्म करता हुआ और अपनी आभा से दशों दिशाओं को आलोकित और सुगन्धित बनाता भद्रतनु को उन्होंने देखा। अपने गुरुदेव को देखकर भद्रतनु ने भूमि में लोटकर साष्टांग प्रणाम की। एकान्त स्थान था। बड़े स्नेह

से दान्त मुनि ने कहा—"अरे भैया! भद्रतनु! तैंने तो भैया हमारी सर्वत्र बडी अपकीर्ति फैला रखी है। सब कहते हैं, कि आपका शिष्य बडा दुराचारी है। फिर पहिले की भाँति पाप कर्म में प्रवृत्त हो गया। तू यदि अपने कुकर्मों को नहीं छोड सकता था, तो हमारे पास आया ही क्यों? हमें तो सब जानकर भी तेरे पश्चात्ताप को देखकर दया आ गयी, इसीलिये तुम्हें शिष्य बना लिया। गुरु को शिष्य के पाप-पुण्यों का भागी बनना पडता है। तेरी अपकीर्ति के कारण हमारी भी अपकीर्ति हो रही है। तुझसे साधन भजन नहीं हो सकता था, तो हमारा अपयश क्यों कराया।"

भद्रतनु ने कहा—"प्रभो मैं तो आपकी आज्ञा का ही पालन कर रहा हूँ।"

कुछ रोष के स्वर मे दान्त मुनि बोले—"मैंने तुझे यह कब आज्ञा दी थी, कि पान से ओठों को रगकर छैल चिकनियाँ बन कर इधर से उधर छम्म-छम्म करता हुआ बन ठनकर घुमा कर, मैंने तो भगवान् की प्रसन्नता के लिये तुझसे तप करने को कहा था।"

भद्रतनु ने विनीत भाव से कहा—"हाँ, भगवन्! आपने जो आज्ञा की, मैंने उसका यथावत् पालन किया और आपकी कृपा से मेरे सब मनोरथ भी पूर्ण हो गये। मेरे ऊपर भगवान् ने कृपा की।"

आश्चर्य के साथ दान्त मुनि बोले—"तेरे क्या मनोरथ पूर्ण हो गये रे! किस प्रकार भगवान् ने तुझ पर कृपा की?"

गद्गद कण्ठ से भद्रतनु ने कहा—"प्रभो! आपके बताये स्तोत्र का मैं निरन्तर अनुष्ठान करता रहा। पाँचवें दिन स्वयं साक्षात् जगदीश मेरे सम्मुख प्रकट हुए, मेरे ऊपर अनुग्रह की मुझे अपनी भक्ति प्रदान की और अपना सखा कहकर स्वीकार

कर लिया। अब वे नित्य ही मेरे साथ कन्दुकक्रीड़ा करते हैं। उन्हीं की आज्ञा से मैंने यह वेष बनाया है। उन्होंने ही स्वयं अपने करकमलों से मुझे ये वस्त्राभूषण पहिनाये हैं। उनके दर्शन होने पर भी तप करता था, किन्तु उन्होंने मुझे रोक दिया, कि तेरा कायक्लेश मुझसे सहन नहीं होता, मैं तेरे ऊपर वैसे ही प्रसन्न हूँ। उन्हें मेरे तप से क्लेश न हो इसीलिये मैंने तप छोड़ दिया। यदि आपकी आज्ञा ही हो, तो मैं फिर से करने लगूँ ?"

दान्त मुनि उपासक थे, ज्ञानी थे, सदाचारी थे। दूसरा कोई होता, तो इन बातों पर कभी विश्वास न करता, इसे सफेद झूठ समझता, किन्तु उन्होंने अविश्वास नहीं किया। सोचा—"भगवान् की कृपा का कोई नियम तो है नहीं। वे किसी साधन नियम में तो बँधे नहीं। पता नहीं, कब किस कार्य से कैसे, कहाँ, रीझ जायँ। भर्राये हुए कण्ठ से उन्होंने कहा—"भैया! भद्रतनु! तुम ही धन्य हो। ५ दिन में ही कृपालु कृष्ण ने तुम पर कृपा की। स्वल्पकालीन उपासना से ही उत्तमश्लोक प्रभु तुम पर प्रसन्न हो गये। मुझे इस क्षेत्र में रहकर यम-नियम पूर्वक घोर तप करते सात हजार वर्ष हो गये। भगवान् जनार्दन ने अभी तक मेरे ऊपर कृपा नहीं की। मुझे अपनी अहैतुकी कृपा का अधिकारी नहीं बनाया। भैया, यदि तुम्हारा मुझ पर तनिक-भी स्नेह है तो भगवान् के दर्शन मुझे भी करा दो। मेरी भी उन सर्वेश्वर से सिफारिस कर दो। वे तो तुम्हारे सखा हैं मेरे तो स्वामी हैं। मैं कैसा भी हूँ फिर भी तुम्हारा गुरु हूँ, मुझे यही गुरुदक्षिणा दो। मेरे नेत्रों को सफल बना दो मेरे जीवन को धन्य कर दो। एक बार आँखें भरकर उस अनुपम छवि को निहार लूँ तो मेरे जप, तप, नियम, तीर्थ, व्रत, यज्ञ, याग सभी सफल हो जायँ। इतनी कृपा तुम मेरे ऊपर करो।"

गुरुदेव की ऐसी बात सुनकर भद्रतनु ने कहा—"प्रभो! मैं

अवश्य भगवान् से निवेदन करूँगा। मुझे विश्वास है वे मेरी बात टालेंगे नहीं। दान्त मुनि ने कृतज्ञता भरी दृष्टि से अपने शिष्य की ओर देखा। शिष्य ने गुरु चरणों में प्रणाम किया गुरुजी अपने आश्रम चले गये। भद्रतनु समुद्र तट पर चला गया।

दूसरे दिन भगवान् गेंद खेलने उसके समीप आये। बड़ी देर तक गेंद का खेल होता रहा, अन्त में भद्रतनु ने कहा—"प्रभो, कुछ निवेदन करना है ?"

भगवान् ने बड़े स्नेह से कहा—"अरे तुम हमारे सखा होकर ऐसी संकोच की बातें क्यों करते हो। जो तुम्हें कहना हो निर्भय होकर कहो।"

भद्रतनु ने कहा—"प्रभो ! आप मेरे गुरुदेव को दर्शन नहीं देते। यह क्या बात है ?"

भगवान् ने बड़े स्नेह से कहा—"भैया ! तुम इस सम्बन्ध में मुझे से कुछ मत कहो, वे अभी मेरे दर्शनों के अधिकारी नहीं है।"

भद्रतनु ने दीनता से कहा—"क्यों प्रभो ! मेरे ऊपर तो आपने ५ दिन में ही ऐसा अलौकिक अपूर्व अनुग्रह किया और वे तो ७ हजार वर्षों से घोर तप कर रहे हैं।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"भैया, तुम तो मेरी जन्मजन्मातरों से भक्ति कर रहे हो। कितने जन्मों से तुमने घोर तप किये हैं। यह तो तुम्हारा एक क्षुद्र-सा अशुभ संस्कार था, इससे तुम विषयासक्त हो गये। वह समाप्त हो गया, इसीलिये ५ दिनों में तुम्हें मेरा सख्य प्राप्त हुआ। तुम तो कई जन्मों से मेरे सखा हो। दान्त मुनि अच्छे हैं। इसी तरह मेरी कृपा की प्रतीक्षा करते रहेंगे तो कभी उन्हें भी दर्शन हो जायेंगे, इतनी शीघ्रता से इतने अल्प साधन से वे मेरा दर्शन कैसे प्राप्त कर

सकते हैं ? अभी वे मेरे दर्शन के अधिकारी नहीं हुए। उनके सम्बन्ध मे तुम मुझसे कुछ मत कहो।"

भगवान् की यह बात सुनकर अत्यन्त ही दीनिता के साथ भद्रतनु ने कहा—"प्रभो ! मैं इस योग्य तो हूँ नहीं, कि आपका सखा बन सकूँ। फिर भी शरणागत-वत्सलता के नाते आप मुझे अपना सखा, सुहृद् मित्र कहते हैं। तो महाराज, मित्रता का नाता तो निभाना चाहिये। मित्र यदि ऋणी हो जाय, तो मित्र को अपना धन देकर उसे उऋण करना चाहिये या नहीं ?"

भगवान् बोले—"अवश्य, मित्रकी तो प्राण देकर भी सहायता हो सके तो करनी चाहिये।"

इस पर भद्रतनु बोले—"तो प्रभो ! मैं भी ऋणी हूँ। मेरे ऊपर भी गुरुदक्षिणा रूपी ऋण चढ़ा है। गुरुदेव ने मुझसे कहा था, मुझे भगवान के दर्शन करा दो। मैंने उन्हें वचन दिया था, कि मैं अवश्य दर्शन कराऊँगा। मुझे विश्वास था कि आप मेरे आग्रह को कभी न टालेंगे, किन्तु आप तो ऐसी रूखी-रूखी बातें करने लगे। उनके अधिकार की बात तो वे जाने और आप जाने, किन्तु आप मुझे झूठा क्यों बनाते हैं, मेरे ऋण को चुकाइये। मेरी गुरुदक्षिणा यही है, कि उन्हें आपके दर्शन हों।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अच्छा भैया ! अब तुम मित्र ही ठहरे। तुम्हारी बात कैसे टाल सकता हूँ। कल उन्हें इसी समय यहाँ ले आना। उन्हें भी दर्शन हो जायँगे।"

यह सुनकर भद्रतनु को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह दौड़ा-दौड़ा गुरुदेव के समीप गया और अत्यन्त ही उल्लास के साथ बोला—"गुरुदेव ! कल भगवान् ने आपको बुलाया है।" बस, फिर क्या था दान्त मुनि की प्रसन्नता का तो वारापार नहीं रहा। वह रात्रि उन्होंने प्रभु का स्मरण करते-करते ही बिता दी। प्रभु के ध्यान में तल्लीन हो गये। दूसरे दिन नियत समय पर

अपने शिष्य के सहित समुद्र तट पर गये। थोड़ी ही देर में सहस्र सूर्यों के समान प्रकाश हुआ। शंख, चक्र, गदा पद्म, धारण किये हुए भगवान् गरुड़ पर चढ़े वहाँ प्रकट हुए। भगवान् के दर्शन करते ही दान्त मुनि तो प्रेम के आवेश मे विह्वल हो गये, वे दंड की तरह पृथ्वी में पड़ गये। सर्वाङ्गो से उन्होंने सर्वेश्वर के पादपद्मों में प्रणाम किया। फिर गद्गद कंठ से विविध स्तोत्रों द्वारा भगवान् की स्तुति की और कहा—"प्रभो! आज, मेरे जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान, नियम, सदाचार, व्रत, भगवत्, पूजन, पाठ, नामस्मरण आदि समस्त शुभ कर्म सफल हुए। आज मैं कृतार्थ हो गया। आपके दर्शनों से धन्य-धन्य हो गया। मनुष्य जीवन का यथार्थ फल मुझे प्राप्त हो गया।"

भगवान् ने दान्त मुनि के मस्तक पर अपना वरद अभय कर कमल रखते हुए कहा—"मुनिवर दान्त! मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ, तुम इसी प्रकार मेरी आराधना करते हुए आयु के शेष समय को समाप्त करो। अन्त में तुम मेरे धाम को प्राप्त होगे।" इस प्रकार दान्त मुनि को वरदान देकर तथा भद्रतनु का प्रेमपूर्वक आलिंगन करके भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये।

भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर दान्त मुनि अपने आश्रम में आकर भगवान् की उसी छवि का स्मरण करते हुए कालक्षेप करने लगे। भद्रतनु भी कुछ काल मे इस मनुष्यतनु को त्यागकर मुक्त हो गये।

सूतजी कहते हैं—"सो, मुनियो! आप न समझें कि ध्रुवजी को ६ महीने की तपस्या से ही भगवान् के दर्शन हो गये हो। जैसे भद्रतनु ने जन्म जन्मान्तरो में भगवान् की आराधना की थी, उसी प्रकार ध्रुवजी ने भी पिछले जन्मों में यमनियमों का पालन करते हुए घोर तप किया था, वे तो एक वासना के वशीभूत होकर क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हो गये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये ध्रुवजी पूर्व जन्म मे कौन थे और उन्होने कैसा तप किया था ? किस वासना के वशीभूत होकर इन्हें जन्म लेना पडा। कृपा करके इस वृत्तान्त को हमे आप सुनाइये। इन भद्रतनु के चरित्र सुनकर हमें ध्रुवजी के पूर्वजन्म के चरित्र को सुनने को बडा कुतूहल हो रहा है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज, ध्रुवजी पूर्वजन्म म बडे तपस्वी थे, मुनि-पुत्र थे, किन्तु सग दोष से उन्हे ब्राह्मण से क्षत्रिय होना पडा। सगति का बडा भारी प्रभाव पडता है। जिस प्रकार सत्सगति से मनुष्य तर जाता है, उसी प्रकार बुरी सगति से आदमी का पतन हो जाता है। इसलिये मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है, कि सदा विषयी लोगों के ससर्ग से बचा रहे। इन इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ही ओर होती है। बडे यत्न से बलपूर्वक उसे हटाकर भगवान् की ओर लगाना पडता है, यदि ऐसी दशा में विषयो का ससर्ग हो जाय, तो मन उसमे ही फँस जाता है। उपासना से एकाग्र हुआ मन जहाँ लगता है, वहाँ बडी आसक्ति के साथ लगता है। देखिये, कितने त्यागी तपस्वी भरतजी का मन उस हरिण के बच्चे मे लग गया। साधारण विषयी लोगों का मन चचल होने से कामिनियों में भी क्षण भर को ही लगता है, किन्तु तपस्या उपासना से जिनका चित्त एकाग्र हो जाता है, ऐसे लोग विषयों में भी फँसे तो उनका चित्त तदाकार हो जाता है। कडू मुनि के पास प्रम्लोचा नामक अप्सरा हजारो वर्ष रही, किन्तु उनका चित्त उसमें ऐसा तल्लीन हुआ कि उन्हे हजारों वर्ष लग के समान प्रतीत हुए, इसीलिये सग की बडी महिमा है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! पूर्व जन्म मे ध्रुवजी को किनका सङ्ग हुआ और कैसे वे ब्राह्मण से क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए। इस आप हमे भली भाँति समझाइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर सूतजी ध्रुवजी के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाने को उद्यत हुए।

छप्पय

पाँच दिना तप कर्‌यो भद्रतनु भये मित्र हरि।
तिन गुरु तप अति कर्‌यो भये हरि दर्श नहीं परि॥
ऐसे ही ध्रुव पूर्वजन्म महँ हरि आराधे।
जप, तप, संयम, नियम, कृच्छ्र, आदिक व्रत साधे॥
संग दोषतें विप्रतें, प्रकट राजकुल में भये।
मास षष्ठ में सुकृतवश, सफल मनोरथ ह्वै गये॥

संगति का प्रभाव

[२३५]

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि ।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः ॥*
(श्रीभा० ९ स्क० ६ अ० ५१ श्लो०)

छप्पय

मुक्ति चाह हिय होय संग विषयिनि को त्यागे ।
भोगनितें मन रोकि देखि कामनिकूँ भागे ॥
जैसे जल थल नीच निरखि उतकूँ ही ढरके ।
तैसे भोगनि देखि चित्त उतकूँ ही सरके ॥
मुक्ति बन्धकी साधु खल, संगति सच्ची युक्ति है ।
विषयनि के सँग बन्ध है, साधुनि के सँग मुक्ति है ॥

---

* भगवान् सौभरि ऋषि कहते हैं—"जो पुरुष मोक्ष की इच्छा रखने वाला हो, उसे दाम्पत्यधर्म वाले स्त्री पुरुषों में कभी आसक्ति न करनी चाहिये उनका संग सर्वथा छोड़ देना चाहिये तथा अपनी इन्द्रियों को कभी बाहिरी विषयों की ओर न जाने देना चाहिए । सदा एकान्त में रहकर उन अनन्त ईश्वर में ही अपने चित्त को लगा देना चाहिये यदि संग करना ही हो तो श्री भगवान् ही एक मात्र जिनके आराध्य हैं उन साधु पुरुषों का ही संग करना चाहिये ।"

एक बड़ी प्रसिद्ध कहानी है। एक बहेलिया किसी वृक्ष की नीड़ से दो शुक के बच्चों को पकड़ लाया। एक को तो यवनों ने ले लिया और दूसरा वेदज्ञ ब्राह्मणों की पाठशाला में पला। संयोग से दोनों फिर बहेलियों के यहाँ आ गये। बहेलिया उन्हें लेकर राजा के यहाँ बेचने गया। सुन्दर शुक शावकों को देखकर राजा को प्रसन्नता हुई। बहेलिया से उनके दाम पूछे। उसने पाठशाला में पले बच्चे का मूल्य एक लाख रुपये बताया और यवनों के यहाँ पले हुए का एक कौडी मूल्य बताया। राजा ने आश्चर्य से पूछा—"देखने में तो ये एक से ही सुन्दर स्वरूपवान् प्रतीत होते हैं फिर इनके मूल्य में अन्तर क्यों है?" बहेलिया ने कहा—"अन्नदाता! ये दोनों सगे भई हैं। इनके मूल्य में अतर क्यों है, इसे आप स्वय जान लेंगे।" राजा ने कहा—अच्छी बात है, हम जब जान लेंगे तब दोनों का दाम दे देंगे। बहेलिया चला गया, राजा नित्यकर्म से निवृत्त होकर भोजनादि करने के अनंतर अन्तःपुर में अपनी रानियों के साथ बैठे। विनोद के लिये उन्होंने दोनों शिशु शावकों को मँगाया। जो पाठशाला वाला बच्चा था, वह तो बड़े सुन्दर-सुन्दर श्लोक बोलने लगा। राजा का चित्त उसकी मीठी वाणी से श्लोक सुनकर बडा प्रसन्न हुआ। जब दूसरे से बोलने को कहा तो वह ऐसी बुरी-बुरी अश्लील गालियाँ बकने लगा कि रानियाँ कानों में उँगलियाँ देकर भागीं। युवती राजकुमारियाँ मारे लज्जा के महाराज के सामने से उठ गयीं। महाराज को आश्चर्य हुआ कि ये दोनों भाई भाई हैं, फिर भी इनमें इतनी विपरीतता क्यों हुई। उस पाठशाला वाले से ही पूछा "भैया, तुम दोनों सगे भाई हो फिर भी तुम दोनों में इतना अंतर क्यों पड़ गया?"

यह सुनकर वह सुग्गा बोला—"प्रभो! सुनिये, हम दोनों में इतना अन्तर क्यों पड़ा—

अह मुनीना वचनं शृणोमि शृणोति राजन् यवनस्य वाक्यं।
न चास्य दोषो न च मे गुणो वा संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति॥

महाराज! मैं तो मुनियों के संसर्ग में रहकर उनके मुख से सदा शास्त्र वाक्यों को सुनता रहता था और यह सदा यवनों के ससर्ग में रहकर गाली गलौज सुनता था। मैं जो बोल रहा हूँ इसमें न तो कोई विशेषता है और न विचारे इस मेरे भाई का कुछ दोष है। मनुष्य में गुण अवगुण संसर्ग से आते हैं। जैसी सगति होगी वैसे ही गुण मनुष्यों में आ जायेंगे। संगति का बडा प्रभाव होता है, इसीलिये मोक्ष की इच्छा रखने वालों को भूलकर भी विषयी लोगों से संसर्ग, उनसे घनिष्ठता नहीं करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे ध्रुवजी के पूर्व जन्म का वृत्तान्त पूछा था। उसे मैं आप सबके सम्मुख सुनाता हूँ आप सब उसे समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें। ध्रुवजी पूर्वजन्म में एक बड़े ही ज्ञानी ध्यानी तपस्वी सदाचारी मुनि के पुत्र थे। वे वन में रहकर घोर तप करते थे। एक बार उस देश का राजा आखेट के लिये उस अरण्य में आया। मुनि ने उनका अतिथि धर्म के अनुसार आतिथ्य किया। राजा के साथ उनका अत्यन्त ही सुन्दर सुकुमार राजकुमार भी था। मुनि पुत्र का उस इतने सुन्दर सजे बजे मनोहर राजकुमार को देख कर चित्त स्वयं ही उसकी ओर आकर्षित हुआ। राजकुमार सुशील था। उसे अपने धन श्रेष्ठ कुल का सौन्दर्य का अभिमान नहीं था। मुनि पुत्र ने संकोच के सहित उससे एक दो बातें कहीं। मुनियो! ये आखें और वाणी ऐसी हैं, कि मनुष्य में परस्पर में सम्बन्ध करा देती हैं। मनुष्य आँखों से किसी को न देखे, वाणी से किसी से न बोले, न किसी की वाणी सुने तो

किसी के भी संग न हो। ये आंखें इतनी बुरी हैं कि जहाँ फँस जाती हैं, वहाँ मन को स्वतः ले जाती हैं। जहाँ चार आँखें हुईं कि संकेत में ही मन के सब भाव कह देती हैं। रहे सहे संदेह को यह वाणी मिटा देती है। मीठी वाणी दो पृथक् प्राणियों को जुटा देती है और कड़वी वाणी दो जुटे हुए सटे हुए पुरुषों को पृथक् कर देती है। वाणी में ही विष है उसी में अमृत भरा है। शत्रुता और मित्रता ये आंखें और वाणी ही करा देती है। राजपुत्र से यह बात छिपी न रही, कि मुनि पुत्र का मेरे प्रति सहज अनुराग है, मुझे हृदय से प्यार करते हैं। उनसे बड़े स्नेह से कहा—"मुनिवर! जैसे हम आपके यहाँ आये हैं वैसे आप भी एक बार हमारे यहाँ पधारें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मित्रता को बढ़ाने वाली वस्तु ये ही हैं, आप हमारे यहाँ आइये। हम आपके यहाँ आवें। हम आपके घर खाते हैं आप हमारे घर खावें। हम अपनी भीतरी से भीतरी छिपी से छिपी सुख दुःख की बातें सुनाते हैं, आप हमें अपने हृदय की बात सुनावें। हमारी चीज तुम्हारी, तुम्हारी चीज हमारी। छोटे-छोटे बच्चे जब मित्रता जोड़ते हैं तो कनिष्ठिका उँगलियों को मिलाकर चूमते है और मन्त्र पढ़ते है "कूआ में चबैना यार माँगे सोई देना। कुआ में सुपारी मेरी तेरी बारह बरस की यारी।" सो इसी प्रकार उन दोनों में भी यारी हो गयी।

राजपुत्र अपने पिता के साथ चला गया। इधर मुनि पुत्र को उसी की मनमोहिनी सूरत सदा याद आती रही। कैसा सुन्दर सुकुमार था। कितने पुण्यों से राजा के घर में जन्म होता है। उसका एक एक अंग कितना सुडोल सुकुमार और चित्त को हरने वाला था। मैंने उसके गोरे-गोरे कमल की पंखुड़ियों के सदृश अत्यन्त गुलगुले हाथ को छुआ था, मानो उसमें सेमर की रुई भर रही-

हो। कितना कोमल स्पर्श था उस कुमार का। मेरे तनिक दबाने पर उसकी सब उँगलियाँ लाल हो गयीं थीं। उसकी वाणी कितनी मधुर था मानो कोकिल कूक रही हो। कैसे वस्त्राभूषण वह पहने हुए था। उसका हार कैसे दमदमा रहा था।

अब मुनि-पुत्र तो जप तप सब भूल गया। उस राजकुमार का ही चिन्ता करने लगा। कुछ काल के अनन्तर पिता से आज्ञा लेकर वह राजकुमार के घर गया। राजकुमार भी उसे प्यार करता था। मुक्त हृदय से उसने मुनिपुत्र का स्वागत सत्कार किया। उसने कोई भेद भाव नहीं रखा। मुनिपुत्र राजपुत्र के ससर्ग मे रहकर सम्पूर्ण सुखो को भोगते। बिना सकोच के उसके अन्त.पुर में जाते। कुछ काल के अनन्तर दोनों के पिता मर गये। राजपुत्र राजा हुआ। मुनिपुत्र मुनि हुए। फिर भी दोनो का सम्बन्ध बना रहा। राजा के ससर्ग से मुनि के मन में भी राजसी भोगों को भोगने की इच्छा बलवती हो उठी। वे ही मुनि मरकर महाराज उत्तानपाद के यहाँ ध्रुव रूप मे उत्पन्न हुए।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कोई बात बुरी तो थी नहीं। राजा और मुनियो का सत्सग हुआ ही करता है। हमारे यहाँ ही कितने राजा आते हैं हम भी राजा के घर जाते हैं, जो श्रद्धा से हमारा आतिथ्य करते हैं। भोजन की सामग्री देते है, उसे उनकी प्रसन्नता के ही निमित्त सही, स्वीकार करते ही हैं। फिर ध्रुवजी को राजपुत्र की सगति से ऐसा दुष्परिणाम क्यो हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज, यों सत्सग का दोष नहीं। ऐसे मनुष्य सत्सग न करे तो कहाँ रहे। बधन का कारण है आसक्ति। देखिये, इस विषय मे मैं आपको दृष्टान्त सुनाता हूँ।"

एक राजा थे, उनकी किसी सन्यासी से मैत्री हो गयी। सन्यासी भी राजा को बहुत प्यार करते। अब सन्यासी तो राजा

का चिन्तन किया करते और राजा संन्यासी का। दोनों एक साथ ही मरे। संन्यासी तो दूसरे जन्म में राजा हुए और राजा संन्यासी हुए। संन्यासी की अवनति हुई, राजा की उन्नति हुई। राजा जातिस्मर हुए, किन्तु सन्यासी को अपने पूर्वजन्म की कुछ भी स्मृति नहीं थी। एक बार घूमते हुए संन्यासी जी राजा के यहाँ पहुँचे। राजा ने संन्यासी का आदर सत्कार किया। विधिवत् पूजा करके उनसे उपदेश की जिज्ञासा की। संन्यासी जी ने कहा—"मैं एकान्त में उपदेश करूँगा।" दोनों एकान्त में गये तब संन्यासी बोले—"राजन्! आप मुझे जानते नहीं। पूर्व-जन्म में मैं राजा था, तुम संन्यासी थे। तुम्हारी मुझमें आसक्ति थी, मेरी आप में। इसी के परिणामस्वरूप तुम राजा हुए मैं संन्यासी हुआ। संन्यासी होकर भी तुम्हारा चित्त राजसी भोगों में आसक्त हो गया था। मरते समय तुम्हे राजसी भोगों की इच्छा हुई, इसीलिये आपको ये भोग प्राप्त हुए। मैं मरते समय संन्यास धर्म की स्वच्छन्दता का स्मरण कर रहा था, इसलिये मरकर मैं सन्यासी बना। अब हम इन विषयों की आसक्ति छोड़कर श्रीहरि में आसक्ति करें, जिससे इस संसार के आवागमन से सदा के लिये छूट जायँ। इतना सुनते ही राजा हँस पड़े और बोले—'महाराज, आपकी तो बन गयी, मेरी बिगड़ गयी। किन्तु 'बीती ताहि बिसार दो आगे की सुधि लेउ' अब मैं इस राज्य-पाट को छोड़कर संन्यासी हूँगा।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उनके साधारण संस्कार थे, कोई प्रबल आसक्ति नहीं थी, इसीलिये उन भोगों को भोगकर अन्त में फिर संन्यासी हुए और भगवद् आराधना करके परम पद के अधिकारी हुए। यह मैंने आपको संग दोष का कारण बताया अब आप जो और पूछना चाहें पूछें।'

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! हमें एक सन्देह है। जीवन

भर जो जप, तप पूजा पाठ करते हैं, उसका तो कुछ प्रभाव होता नहीं और मरते समय जो कुछ भी संस्कार हो जाते हैं, उसका इतना शीघ्र प्रभाव क्यों पड़ जाता है ? इसका कारण बताइये।"

यह सुनकर सूतजी कुछ गम्भीर हो गये और बोले—महाराज, यह कर्म वासना अनादि है, इस विषय में कोई निर्णय नहीं किया जा सकता, ये संस्कार किस जन्म के हैं, ये किस समय उदित होते हैं। शास्त्रकारों ने निर्णय यही किया है, कि "अन्ते या मतिः सा गतिः" अन्त में मनुष्य जैसे संस्कार लेकर मरेगा, वैसे ही उसकी गति होगी। बन्धन का कारण वासना ही है। मरते समय जैसी वासना उदय हो जाती है, दूसरे जन्म में वैसा ही जन्म मिलता है और उस वासना की पूर्ति होती है। भगवान् के भक्त ४ प्रकार के बताये हैं, आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन सबमें निष्काम भक्त को सर्वश्रेष्ठ बताया है। किसी इच्छा से भगवान् की भक्ति करना यह तो बनियापन है, कि मैं यह देता हूँ, इसके बदले में तुम मुझे यह दो। निष्काम भक्त तो भगवान् से कुछ भी नहीं चाहता। जो कुछ नहीं चाहता वही सब चाहता है, जो सब कुछ चाहता है, उसे उतना ही मिलता है। कर्म तो व्यर्थ जाता नहीं, किन्तु निस्पृह भाव से कर्म का महत्व और बढ़ जाता है। इस विषय को आगे मैं स्पष्ट करके समझाऊँगा। आप इसे समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

पूर्व जन्ममहँ रहे तपस्वी ध्रुवजी मुनिवर।
राजपुत्र सँग कर्यो विषय सुख लागे सुखकर॥
चिन्तनतें आसक्ति बढ़ी विषयनिमहँ उनकी।
इच्छा मनमें भई राजसी सुख भोगनकी॥
अन्त समय मनमहँ रहे, जैसी इच्छा जासुकी।
अपरजन्ममें भावना, पूरी होवे तासुकी॥

निष्काम भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है

[२३६]

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः ।
वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छयालब्धमनः समृद्धयः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ९ अ० ३६ श्लोक)

छप्पय

काम करे कुछ किन्तु न इच्छा फलकी होवे ।
सुखमें फूले नहीं दुःखमें दुखी न रोवे ॥
कृष्णार्पण करि करे शुभाशुभ सौंपे उनकूँ ।
करे कर्म कर्तव्य धरे हरिचरननि मनकूँ ॥
कर्‌यो करूँ जो करूँगो, सब कुछ प्रभु तुम ई करो ।
कर्ता भोक्ता हौं नहीं, कर्‌यो तुमनि तुम ई भरो ॥

कर्म का फल कर्ता की भावना के अनुसार होता है, न कि कर्म के अनुसार। एक काम को ही वैतनिक भृत्य करता है, तो

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! आप जैसे भगवद्भक्त पुरुष जो अपने आप ही प्राप्त हुई वस्तु में मन को सन्तुष्ट रखने वाले हैं तथा मुकुन्द भगवान् की चरणकमल के रज का सेवन करने वाले हैं, वे श्रीहरि से उनके दासत्व को छोड़कर और किसी भी वस्तु की याचना नहीं करते ।"

उसका कोई महत्व नहीं, जितने पैसा उनके श्रम के होते हैं दे देते हैं। द्रव्य पाकर वह चला जाता है, किन्तु उसी काम को हमारे कोई अत्यन्त प्रेमी-बिना वेतन की इच्छा से-प्रेमवश करते हैं, तो उनका वह कार्य हमें जीवन भर याद रहता है। हमारा वैतनिक भृत्य है, कहीं से बड़े श्रम से उखाड़कर एक वटवृक्ष लाया। लगा दिया, कोई बात नहीं, नौकर ही है उसने आज और कोई काम न किया यही सही। लगाकर अपना वेतन लेकर चला गया, किन्तु उसे ही हमारे कोई प्रेमी इतना श्रम करके लगाते हैं, तो हम जीवन भर उनके कृतज्ञ रहते हैं। जब भी उस वृक्ष को देखते हैं, उनकी याद आती है। मनसे कहते हैं—"वे आये थे, स्वयं बड़े श्रम से अपने हाथों से इसे लाये और लगा गये थे जब आते हैं तो कहते हैं—"देखिये, आपका वृक्ष कितना बड़ा हो गया।" इस कथन का साराश इतना ही है, कि फल की इच्छा रखकर किया हुआ कार्य इसी जन्म में सफल ही हो यह नियम नहीं। यदि सफल भी हुआ तो उससे इतना ही फल मिलेगा, जितने फल के उद्देश्य से वह आरम्भ किया गया था। यदि वही भगवत् प्रीत्यर्थ सांसारिक कामनाओं से रहित होकर किया जाय, तो उसे भगवान् ग्रहण करते हैं। भगवान अनन्त हैं, अतः वह कर्म भी अनन्तरूप हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ध्रुवजी से पूर्वजन्मों की तपस्या के प्रभाव से उन्हें ६ ही महीने में भगवान का साक्षात्कार हो गया। भगवान के दर्शनों के अनन्तर उन्हें पश्चात्ताप हुआ—"हाय! मैंने निष्काम भाव से भगवद् उपासना न की, नहीं तो मेरा आवागमन ही छूट जाता। अब ३६ हजार वर्ष पृथ्वी पर रहना पड़ेगा, कल्प पर्यन्त ध्रुवलोक में, ये सब भी मान बढ़ाने वाले हैं। मुनिराजो प्रभु से भी मैंने मान ही माँगा। मोक्ष मार्ग में मुक्ति नहीं माँगी।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! कर्म तो एक-सा ही है। बिना फल की इच्छा से तो संसार में कोई कर्म हो ही नहीं सकता। कर्मों में प्रवृत्ति फल को आगे रखकर ही होती है। किसान बीज बोता है, तो पहिले ही सोच लेता है, एक बीज के हजार बीज होंगे। न हों यह दूसरी बात है, किन्तु उसे यह विश्वास न हो कि मेरे बीज एक से बहुत न होंगे, तो वह कभी बीज बोये ही नहीं। भोजन बनाने में प्रवृत्ति भूख को मिटाने की इच्छा से होती है। वृक्ष लगाने में पहिले ही हम सोच लेते हैं, कि इस पर सुन्दर फल लगेंगे। ऐसा न हो–फल की इच्छा न हो–तो फिर लोग आम, जामुन कटहल, सतरा आदि के सुन्दर वृक्ष क्यों लगावें फिर तो आक धतूरा जो भी मिले उसी को लगा दें क्योंकि लगाना चाहिये। फल की तो हमें इच्छा ही नहीं। फिर तो संसार का कोई काम ही न हो, अतः हमारी सम्मति में निष्काम कर्म पहिले तो हो ही नहीं सकता, यदि हो भी तो वह निष्प्रयोजन निरर्थक है। प्रत्येक कार्य में उसके करने का कुछ कारण होता है। बिना कारण के तो वेद भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता फिर ध्रुवजी ने निष्काम कर्म की इतनी प्रशंसा क्यों की ?"

इस प्रश्न को सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले–"महाभाग ! आप सत्य कह रहे हैं। कर्म करने का कुछ न कुछ उद्देश्य होता है, कोई न कोई फल की इच्छा होती ही है, किंतु वह इच्छा, भगवान् में प्रीति हो, यही सर्वश्रेष्ठ इच्छा है। भगवत् प्रेम की इच्छा इच्छा नहीं कही जाती। फल की इच्छा से किये हुए सब कर्म बन्धन के हेतु हैं, किन्तु मेरे इस कर्म से सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न हों, इस फल की इच्छा से किया हुआ कर्म किसी प्रकार के बंधन में नहीं बाँधता। यही नहीं वह समस्त संसारी बन्धनों को काट-कर प्रभु के पादपद्मों तक पहुँचाता है। सांसारिक वस्तुओं भोगों

की इच्छा से किया हुआ कर्म सीमित होता है। उसका फल भी परिमित ही होता है, किन्तु कृष्णप्रीत्यर्थ किया हुआ कर्म अपरिमित हो जाता है, उसका महान फल होता है। इस विषय में मैं आपको एक छोटा सा दृष्टान्त सुनाता हूँ उसी से आपको विदित हो जायगा, कि निष्काम कर्म का कितना भारी महत्व है।

एक राजा थे, बड़े धर्मात्मा। एक बार उनके राज्य में अकाल पड़ा। प्रजा के लोग भूखों मरने लगे। राजा ने सोचा मैं कोई ऐसा कार्य आरम्भ कर दूँ जिससे लाखों मनुष्यों को जीविका का सहारा हो जाय। इससे प्रजा की भलाई भी होगी और आगे को भी राज्य का उपकार होगा। यह सोचकर उन्होंने अपने राज्य में एक बड़ी भारी नहर खुदवानी आरम्भ कर दी। लाखों आदमी उसमें काम करते, दिन भर परिश्रम करते, रात्रि में अपनी मजदूरी लेकर चले जाते।

उसी राज्य में एक धर्मात्मा घसियारा भी रहता था। वह घास खोदकर जो भी पैसे मिलते उसी में सन्तुष्ट रहकर भगवान् का भजन करता। वह जो भी कुछ करता भगवान की प्रीति के ही निमित्त करता। उसने जब सुना—"राजा इतना धर्म का कार्य कर रहे हैं, तो उसके मनमें भी आया राजा समर्थ हैं, वे ऐसा कार्य करके जनता रूपी जनार्दन की सेवा कर रहे हैं। मुझमें उतनी शक्ति नहीं है, किन्तु जितनी भी है उसी से मैं भी राजा के शुभ कार्य में योग दूं। इससे सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न होंगे।" यह सोचकर वह भी मजदूरों में जाकर काम करने लगा। दिन भर बड़े श्रम के साथ कार्य करता, किन्तु जब मजदूरी बँटने का समय आता, तो धीरे से चला जाता। वह सोचता था—अपने पेट भर को तो मुझे घास से ही मिल जाता है, फिर मैं पैसों को क्या करूँगा। मेरा कार्य पैसों के लिये नहीं है, श्रीकृष्ण की प्रीति के निमित्त है।

थोड़े दिनों में यह बात फैल गयी, कि एक मजदूर दिन भर कार्य तो करता है, किन्तु मजदूरी नहीं लेता। होते-होते बात राजा तक पहुँची। राजा बड़े धार्मिक थे इस बात से उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ। उस निष्काम कर्म करने वाले व्यक्ति के दर्शनों के लिये राजा की उत्सुकता बढ़ी। वे स्वयं उसके पास पहुँचे और पूछने लगे "भाई हमने सुना है, तुम श्रम तो सबसे अधिक करते हो। बिना कहे ही काम में लगे रहते हो, किन्तु श्रमिक द्रव्य नहीं लेते इसका क्या कारण है ?"

उस घसियारे ने हाथ जोड़कर अत्यन्त ही विनय के साथ कहा—"देव, आप कितनी धर्म-बुद्धि से जनता रूपी जनार्दन की सेवा कर रहे हैं। भगवान् ने आपको सामर्थ्य दी है जो बृहद्रूप में श्रीहरि की उपासना कर रहे हैं। मुझे भगवान् ने सीमित सामर्थ्य दी है, उसी के द्वारा मैं उनके ऊपर पत्र पुष्प चढ़ा रहा हूँ। राजा का दान प्रजा का स्नान। बराबर ही बताया है। आप जो भगवान् की उपासना कर रहे हैं, उसमें दो तन्दुल मैं भी डालकर उन सर्वान्तर्यामी के चरणों में श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर सकूँ। पैसे लेकर मैं अपनी पूजा को बेचना नहीं चाहता। उसे सीमित बनाने की मेरी इच्छा नहीं है खाने भर को मुझे घास से मिल जाता है; अतः प्रभो ! मैं जो यह श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहा हूँ, इसे करने दें। इसमें विक्षेप न डालें।"

राजा उसकी ऐसी निष्काम भावना देखकर गद्गद हो उठे और अपने को धन्य मानते हुए सोचने लगे—"इतना धर्मात्मा आदमी जब मेरे राज्य में है, तब मेरे राज्य में कभी अकाल नहीं पड़ सकता।" उस समय राजा ने कहा—"आज से आप मेरे राज्य के प्रधानमन्त्री हुए।"

उसने दीनता के साथ कहा—"धर्मावतार ! मैं न कुछ पढ़ा

न लिखा, आप मेरे सिर पर इतना गुरुतर भार क्यों लाद रहे है ? मैं तो घास खोदना जानता हूँ, राजकाज मैं क्या जानूँ ?"

महाराज ने गम्भीरता के साथ कहा—"पढ़े लिखे तो मेरे यहाँ बहुत हैं। पढ़े लिखों की कमी नहीं, मुझे तो पढ़ों की अपेक्षा गुणी चाहिये। शुद्ध भावना वालों की आवश्यकता है। आप जब निष्काम भाव से घास खोद सकते हैं, तो निष्काम भाव से राज्य प्रबन्ध भी कर सकते हैं। आपको मेरा यह आग्रह स्वीकार करना ही पडेगा।"

महाराज की बात सुनकर उसने अत्यन्त विनय के साथ कहा—"बहुत अच्छा महाराज ! जब आपकी आज्ञा है तो मुझे तो आपके राज्य में रहकर कुछ न कुछ मजदूरी करनी ही है। घास न खोदकर आपकी आज्ञा का पालन ही करूँगा।" यह कहकर उसने समस्त राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली।

उसे कुछ लोभ लालच तो था नहीं। राज्य में बहुत-से लोग ऐसे होते हैं, जो घूँस लेकर अकार्य कर्म करते हैं, प्रजा को पीड़ा पहुँचाते हैं। उसने सबसे पहले ऐसे ही लोगों पर शासन किया। जिनका कम वेतन था, उनका यथेष्ट वेतन बढ़ा दिया गया जिनका बड़ा परिवार था उनके परिवार के पालन का प्रबन्ध किया, किन्तु घूँस लेना महा अपराध घोषित कर दिया।

जिन लोगों को श्रम के बिना बहुत-सा द्रव्य लेने की बान पड़ जाती है, वे लोग निर्वाह मात्र से सन्तुष्ट होते नहीं, अतः सभी लोग उस नवीन प्रधान मन्त्री के द्वेषी हो गये। जो मंत्री अभी तक मनमानी करते रहते थे, बूढ़े थे, कुलीन थे उन्हें घसियारे के अधीन रहना पड़ता था। उनकी आय भी अब बन्द हो गयी, अतः वे सबके सब उसके विरुद्ध होकर राजा से उसकी भाँति-भाँति की निन्दा करने लगे।

राजा तो धर्मात्मा थे, उन्होंने किसी की बात पर ध्यान नहीं

दिया। इधर उस घसियारे मन्त्री को उसे जितना द्रव्य मिलता परमार्थ में व्यय करता। अनाथ, असहाय, बालक, विधवा तथा साधु सन्तों की सेवा करता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! परमार्थ मे कुछ ऐसी वृद्धि है, कि जो निष्काम भाव से परमार्थ करता है, न जाने भगवान् उसे कहाँ से देते हैं। उसका दान ऐसा अक्षय हो जाता है, कि आस-पास के लोग जो पैसे-पैसे को प्राण देते हैं, वे आश्चर्य करते हैं, कि इसे इतना द्रव्य कहाँ से मिल जाता है। उन्हे पता नहीं, कि जो अनन्त की उपासना करता है, उसकी सब वस्तुएँ अनन्त हो जाती हैं। वे कभी चुकती नहीं। सब लोग यही समझने लगे, कि यह राज्य के रुपये लेकर अपना घर भरता है और अपने पाप छिपाने को इतना धर्म पुण्य भी करता है। इसलिये सबने मिलकर एक षड्यन्त्र रचा। राजा को उसकी चोरी दिखाने को एक पुराने बूढ़े प्रधान मन्त्री को नियुक्त किया। २-४ मंत्री और भी उसकी बात का समर्थन करने महाराज के पास गये और बड़ी दृढता के साथ बोले—"महाराज, आप हमारी बात पर तो ध्यान देते नहीं। यह कहाँ से घसियारा ला कर आपने हमारे सिर पर बैठाल दिया है। न इसके कुल का पता न गोत्र का। ढोंग तो इसने ऐसा रच रखा है, कि कोई घूँस न ले प्रजा से द्रव्य न लूटे, किन्तु स्वयं राज्य कोष से द्रव्य निकालकर अपना घर भरता है और पाप छिपाने को दरिद्र, कंगाल, विधवा तथा साधु सन्तों को खिलाता है। राज-कोष पर पूरा अधिकार जमा लिया है। कोषाध्यक्ष को भी भीतर जाने नहीं देता। घन्टों कोषागार मे बैठा रहता है। वहाँ से मनमाना धन लेकर चला जाता है। उसका हाथ कौन पकड़े। महाराज, यदि इसका ही प्राधान्य रहा तो हम तो सेवा करने में असमर्थ हैं।"

सब लोगों की बार-बार ऐसी बातें सुनकर आज राजा को भी सन्देह हुआ। सम्भव है ऐसा होता हो गरीब आदमी था, सहसा इतना बड़ा अधिकार मिल गया मन विचलित हो गया होगा। इसलिये वे उन मन्त्रियों से बोले—"देखो, भाई! हम एस ना मानने के नहीं। हमें अपनी आँखों से दिखाओ तो माने।"

मन्त्रियों ने बड़े साहस से कहा—"हाँ, अन्नदाता! आज आप देखें। कोषागार में घन्टों बैठा रहता है और जब निकलता है तो बगल में एक पोटरी में द्रव्य भरकर निकल आता है। इधर से एक झूठे हो दिखाने को एक पोटली-सी ले जाता है। यहाँ से निकलता है तो उसे भरकर निकलता है। आज ही सायंकाल को आप देखें।"

महाराज बड़ी उत्सुकता से सायंकाल की प्रतीक्षा करने लगे। चलियारे मन्त्री समस्त राज-काज से निवृत्त हुए अपने यहाँ से एक छोटी-सी पोटली बगल में दबाकर वे प्रधान कोषाध्यक्ष के समीप पहुँचे। उनसे कोषागार की चाभियाँ लीं। नियमानुसार उन्होंने समस्त नौकर चाकर सेवकों को वहाँ से हटा दिया। भीतर से कोषागार का दरवाजा बन्द कर लिया। महाराज का हृदय धड़क रहा था। उनका अविश्वास बढ़ता जाता था। मंत्रियों का मुख मलिन दिखाता जाता था। उनका हृदय थोड़ा उदास रहा था, कि आज यह कंटक रूप पलियारा सदा के लिये विदा हो जायगा। कोषागार में एक खिड़की थी। कोषाध्यक्ष ने आज उसे इतनी चतुरी से खोल रखा था, कि बाहर से भीतर की सब बातें दिखाई दें, किन्तु भीतर वालों को पता न चले, कि खिड़की खुली है। महाराज को उस खिड़की पर बिठा दिया। अनिक खिड़की का वस्त्र उठाकर महाराज ने देखा कि, उस पलियारे मंत्री ने समस्त राजकोष वस्त्र उतारकर एक ओर रख दिये

हैं। वही अपनी फटी पुरानी मेली अंगरखा पहिन ली है। उस पुटली मे से अपनी पुरानी खुरपी निकालकर आगे रख ली है। घुटने टेककर सिर को भूमि मे लगाकर भगवान् की छवि के सम्मुख वह हाथ जोड़कर गद्गद् कंठ से स्तुति कर रहा है—"हे प्रभो! मैं वही घसियारा हूँ, जिसको सब लोग तिरस्कार और हेय दृष्टि से देखते थे। आज आपने मुझे इतने उच्च आसन पर बिठा दिया है। लाखों मनुष्य आकर हमारे सामने सिर झुकाते हैं। हे जगदाधार! इसे मैं अपनी स्तुति न समझ लूँ। इसे मैं अपने पुरुषार्थ के कृत्य समझकर अहङ्कारी न बन जाऊँ। मैं तो वही आपका सेवक हूँ। तब आपने मुझे घास खोदने की सेवा सौंपी थी उसे भी आपकी आज्ञा समझकर करता था, आज आपने मुझे इतने बड़े राज्य के प्रबंध का भार सौंप दिया है, इसे भी मैं उसी प्रकार आपकी सेवा ही समझकर करूँ। इसमें और उसमे मुझे कुछ भी भेद प्रतीत न हो। कभी मेरा मन इन राजकीय वस्तुओं को अपना न मान बैठे। यह इतना धन आपका है। मैं तो इसका रक्षक मात्र हूँ। ये जितने नौकर चाकर हैं, सब आपके हैं। मैं इनसे काम लेने वाला आपका नियुक्त किया हुआ नौकर हूँ। हे जगदाधार! हे सर्वान्तर्यामिन्! हे अशरणशरण! हे कृपा के सागर! मेरे मन मे कभी भी किसी कर्म को करते हुए फल की इच्छा उत्पन्न न हो। सब कामों को एक मात्र आपकी प्रीति के ही निमित्त करूँ। मैं आपका किंकर हूँ, दास हूँ, सेवक हूँ। आपका सदा मुझे स्मरण बना रहे।"

इस प्रकार वह भाँति भाँति से भगवान् की दीन होकर स्तुति कर रहा था। नेत्रों से निरन्तर प्रेम के अश्रु झरझर झरझर गिर रहे थे। उसकी विनती का महाराज के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनकी आँखें भी बरसने लगीं।

कुछ देर के पश्चात् मन्त्री ने अपनी अंगरखी उतार दी।

राजकीय वस्त्र पहिने खुरपी अगरखी फटी धोती एक वस्त्र में बाँधकर पुटली बनायी। दूसरे लोगों को पता नहीं था। महाराज ने क्या देखा। महाराज उठकर सीधे द्वार पर आये। सब मन्त्री सेवक भी बडी उत्सुकता से महाराज के पीछे चले। किवाड खोलकर घसियारे मन्त्री ज्यों ही बाहिर निकले त्यों, ही महाराज दौडकर उनके चरणों में पड गये और फूट-फूटकर रोने लगे। उन्होंने महाराज का बडे आदर के सहित उठाते हुए कहा—"महाराज! यह आप कैसा अन्याय कर रहे हैं। सेवकों के साथ ऐसा वर्ताव करना आपके अनुरूप नहीं है। हम तो आपके वेतन भोगी दास हैं। हमारे ऊपर तो कृपा करनी चाहिये।"

राजा ने रोते रोते कहा—"देव! मैंने बडा पाप किया, कि आपको इस तुच्छ काम में लगाया और उससे भी बडा पाप यह किया, कि इन दुष्टों के कहने से आपके ऊपर अविश्वास किया। आप तो मेरे गुरुदेव हैं। ऐसी निष्ठा मुझे भी प्राप्त हो सके ऐसा उपाय अब आप बतावें। यह मंत्रीपने का कार्य आपके अनुरूप नहीं है।"

घसियारे ने रसलता से कहा—"महाराज! मैं तो उनका सेवक हूँ, मुझे वे जिस कार्य मे भी नियुक्त कर देंगे, उसी को उनकी सेवा समझकर करूँगा। आप जो चाहें मुझसे करा लें।"

यह कहकर उन्होने मन्त्रीपने का कार्य छोड दिया और निरन्तर भगवच्चिन्तन मे ही मग्न रहने लगे।

सूतजी कहते है—"मुनियो! इसी का नाम है निष्काम कर्म जो करे प्रभुप्रीत्यर्थ भगवद् अर्पण बुद्धि मे कर्तव्य समझकर करे। उनके फलों में आसक्ति न रखे। ध्रुवजी को इसलिये दुःख हुआ, कि मैंने सकाम भाव से राज्य तथा श्रेष्ठ पद प्रतिष्ठा की इच्छा रखकर भगवान् की आराधना की। मुक्ति के दाता

प्रभु को प्रसन्न करके भी उनसे भोगो की ही याचना की। मेरा भाग्य उलटा हो गया था, असहिष्णु देवताओं ने मेरी बुद्धि विपरीत बना दी। मुझे ठग लिया। मैं अपनी विमाता तथा विमाता के पुत्र से द्वेष करके पिता के सिंहासन पर बैठना चाहता था। कैसी मेरी कुबुद्धि हो गयी, मैं ठगा गया, चक्रवर्ती को कठिनता से प्रसन्न करके भी उससे दो मुट्ठी चावल की भूसी की ही याचना की। गड्ढे से निकलकर फिर कुएँ में गिर पडा।"

इस प्रकार अनेक प्रकार की कल्पना करते राज्य तथा ध्रुव पद को भी तुच्छ समझते हुए वे अपने पिता की नगरी की ओर चल दिये।"

छप्पय

जा विधि राखें राम रहें ताही विधि सज्जन।
जो करवावें करें भले ही निन्दे दुर्जन॥
कृष्ण प्रीति ही काम कामना जगकी त्यागें।
प्रेम छाँड़िकें भक्त कृष्णतें कछु नहिँ मांगें॥
ध्रुवजी यह सब सोचकें, खिन्न मनहिँ मन अति भये।
तप करिकें अपवर्गपति, तें जग के सुख ई लये॥

ध्रुवजी का आगमन सुनकर माता-पिता को प्रसन्नता

[२३७]

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथाऽऽगतम् ।
राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम ॥
श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः ।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ९ अ० ३७, ३८ श्लोक)

छप्पय

पिता नगर ध्रुव चले भाग्यकूँ दुर्जय मानत ।
इत नृप वार्ता सुनी सिद्ध है सुत पुर आवत ॥
सुनत प्रेम में विकल भये निज भाग्य सराह्यो ।
मानों मरि मम पुत्र मृत्यु के मुखतें आयो ॥
सुनत सुखद सम्बाद कूँ, अति प्रसन्न भूपति भये ।
अन्न, वस्त्र, धन, धान्य, मणि, मुक्ता विप्रनिकूँ दये ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! ध्रुवजी के पिता ने जब सुना, कि मेरा पुत्र लौट आया है, तो उन्हें ऐसी प्रसन्नता हुई, मानों मरा हुआ पुत्र लौट आया हो । पहिले तो राजा ने विश्वास ही नहीं किया कि मुझ भाग्यहीन के सौभाग्य कहाँ, कि गये पुत्र का फिर से मुँह देख सकूँ, किन्तु फिर देवर्षि नारद के वचनों पर विश्वास करके उन्हें विश्वास हो गया और अत्यन्त हर्ष के वेग मे विह्वल होकर समाचार देने वाले को अति प्रसन्न होकर शुभ सम्वाद सुनाने के पारितोषिक रूप मे एक अत्यन्त मूल्यवान् हार दिया ।"

सुनते हैं, समुद्र मन्थन करने पर जो अमृत निकला था, वह तो स्वर्ग में रखा है। देवता उसकी बड़े यत्न से रक्षा करते हैं। एक बार गरुड़जी अपने पराक्रम से उसे देवताओं से छीनकर पृथ्वी पर लाये थे, किन्तु स्वार्थी इन्द्र तथा देवताओं ने गरुड़जी को इधर-उधर की पट्टी पढ़ाकर सर्पों को छलकर उस घड़े को फिर स्वर्ग को ही उठा ले गये। इसीलिये पृथ्वी पर अमृत के दर्शन दुर्लभ हैं। वह तो स्वर्ग का अमृत है, फिर भी इस पृथ्वी पर भी कुछ वस्तुओं में अमृत है। माघ, पौष के कड़ाके के जाड़े में अग्नि अमृत ही है। वैशाख, ज्येष्ठ की गरमी में बहुत ठंडा सुगंधित कोरे घड़े का जल अमृत ही है। सुनते हैं कामिनियों के अधरों में भी अमृत भरा रहता है इसे कामी ही जानें। बाल शिशु की भोली मुस्कान में से भी अमृत चूता-सा दिखायी देता है। घी और दुग्ध का भोजन भी अमृत है। हम समझते है गौ का गाढ़ा दूध हो अधौटा करके सेर भर में छटाक भर चॉवल चीनी डाल-कर खूब घोटकर मेवा, मिश्री, केसर, इलयाची, तनिक नाम को कपूर मिलाकर उसका जो कोई पदार्थ बनता है वह यदि खूब-भूख में भगवान् का भोग लगाकर ठंडा करके पाया जाय, तो इसके सम्मुख हम तो स्वर्ग वाले अमृत को भी तुच्छ समझते हैं। तभी तो नीतिकारों ने कहा है "अमृतं क्षीरभोजनम्" क्षीर का भोजन अमृत ही है।

ऊपर जितने अमृत बताये गये हैं, उन सबसे बढ़कर अमृत है अपने प्यारे के आगमन का सुखद समाचार श्रवण। जिसने हमारे हृदय मे घर कर लिया है। जो खाते पीते उठते-बैठते हमारी आँखों के सामने हँसता हुआ नाचता रहता है, जो किसी समय भी हमारा पिंड नहीं छोड़ता। स्वप्न में भी जो दीखता है, घुल-घुलकर बातें करता हैं। आँखें खुलते ही भाग जाता है, फिर उसकी रह जाती है मीठी-मीठी स्मृति। प्यारे की स्मृति मे कितना

सुख है, कितनी तन्मयता है, उसके सम्मुख स्वर्गीय सुख तुच्छ है। यदि मुझे कोई अपने प्यारे की निरन्तर स्मृति में ही मग्न रहने दे, तो मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता, इन्द्र पद नहीं चाहता। ब्रह्मलोक, शिवलोक भी नहीं माँगता। मुक्ति की भी मुझे इच्छा नहीं। मुझे मेरे प्यारे की चिन्ता करने दो, मुझे उसकी प्यारी प्यारी सूरत को बार-बार याद करने दो, उसी अपने प्यारे के सम्बन्ध मे यदि हमारे कान में शब्द सुनायी दें, कि वह आ रहा है, वह हमारी आँखो मे आँखें गडाकर हमारे शरीर से शरीर मिलाकर प्रेमालिङ्गन प्रदान करेगा, तो इस सम्वाद के ऊपर स्वर्गीय अमृत, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक सभी को वार देने को हम तैयार हैं। मेरे कान अपने प्यारे के आगमन के अतिरिक्त कोई शब्द न सुनें यही भू मडल का सर्वश्रेष्ठ अमृत है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान से वरदान पाकर अपनी सकामता की निंदा करते हुए भाग्य को कोसते हुए ध्रुवजी महाराज उत्तानपाद की राजधनी ब्रह्मावर्त (बिठूर) के लिये चल दिये। आज चराचर जीव उनके स्वागत सत्कार के लिये तत्पर है। वायु अनुकूल मन्द सुगन्धित और शीतल वह रही थी। पृथ्वी कोमल और सुखस्पर्श बन गयी थी। आकाश में बादल छाये हुए थे, जिससे सुकुमार ध्रुव को धूप न लगे। वे भगवान् का स्मरण करते हुए मन ही मन अपने गुरुमन्त्र का जाप करते हुए मन्द मन्द गति से नगर की ओर आ रहे थे।

इधर महाराज उत्तानपाद अब सब कुछ भूल गये थे। उन्होंने राज-काज मन्त्रियों को सौंप दिया था। वे उठते-बैठते जागते सोते सदा सर्वदा अपने सुत ध्रुव का ही चिन्तन करते रहते थे। वे बार सोचते थे, मैं अपने प्यारे पुत्र का मुख इस जीवन में फिर कभी देख सकूँगा क्या ?"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! माधुर्य मे ऐश्वर्य रहता

नहीं। वात्सल्य स्नेह में सदा शका की ही सम्भावना बनी रहती है। महाराज सोचते—"मेरा लाल अभी बालक है। ५ वर्ष की सा उसकी अवस्था है। वन मे कहाँ रहता होगा, क्या खाता होता, कौन उसकी रक्षा करता होगा।" फिर सोचते—"अरे, भगवान् स्वय उसकी रक्षा करेंगे। भगवान् तो सबकी रक्षा करते ही हैं। फिर भी मेरा मन मानता नहीं। उसी की चिन्ता मे फँसा रहता है। कब मैं अपने प्यारे पुत्र के भोले भाले मुख को चूमूँगा। कब उसके सिर को स्नेह से सूघूँगा। कब उसे अपनी जलती हुई छाती से चिपकाकर शीतल बनाऊँगा। कब मैं अपनी गोदी में बिठाकर उसके उलझे हुए बालों को सुलझाऊँगा। कब उसके मुखारविन्द पर श्रम के कारण निकले हुए छोटे-छोटे स्वेदबिन्दुओं को अपने उत्तरीय वस्त्र से पोछूँगा।"

इस प्रकार महाराज चिन्ता कर ही रहे थे, कि एक पुरुष न दौड़कर हाँपते हुए आकर रुकरुक कर कहा—"महाराज की जय जयकार हो! महाराज, कुमार ध्रुवजी वन से लौटकर नगर के उपवन के समीप तक आ गये हैं।" इतना सुनते ही मारे हर्ष के महाराज के रोम-रोम खिल उठे। प्रेम के कारण वे अधीर से हो गये। अपने हर्ष के वेग को वे सम्हालने में समर्थ नहीं हुए। फिर सोचा—"कहीं यह पुरुष मुझे प्रसन्न करने को झूठे ही तो यह बात नहीं कह रहा है। भला मेरा भाग्य कहाँ, कि मेरा निर्वासित प्यारा पुत्र फिर मुझ पापी के सम्मुख आवे, अतः बड़ी उत्सुकता के साथ उससे पूछने लगे—"भैया, सच-सच बताओ मेरी बचना मत करना। क्या यथार्थ में ध्रुव आ रहा है? तुमने किसी के मुख से यह बात सुना है, या उसे आते हुए स्वय अपनी आँखों से देखा है? यदि स्वय देखा है तो बताओ उसका मुख कैसा है? वह दुबला तो नहीं हो गया है, वह कुशल-पूर्वक तो है।"

दिया। वे इस सुखद समाचार को सुनकर सागर के समान गभीर बन गयीं।

महाराज ने वहीं बैठे बैठे बूढे मन्त्री से कहा—"शीघ्र से शीघ्र मेरा सुवर्ण रथ तैयार कराओ। मैं अपने पुत्र का मुख देखने के लिये नगर से बाहर जाऊँगा। स्वय सत्कार-पूर्वक उसे लाऊँगा। ब्राह्मणों से कहो वे वेदघोष करते हुए आगे आगे चलें। सेनानायक से कहो चतुरगिणी सेना सजाकर मेरे सुत के स्वागत समारोह में सम्मिलित हों।" बूढे मन्त्री ने अत्यन्त हर्ष के साथ कहा—"जैसी आज्ञा, मैं अभी जाता हूँ और सभी व्यवस्था करता हूँ।" इतना कहकर मन्त्री स्वय ही उठकर चले।

सुरुचि देवी ने शीघ्रता से कहा—"दासी, महामात्य से कहो—हमारे लिये भी पालकी शीघ्र तैयार कराके भेजें।" दासी ने दौडकर कहा—"महामात्य जी! मेरी स्वामिनी की आज्ञा है, कि उनकी पालकी अति शीघ्र आनी चाहिये।"

यह सुनकर खीजकर बूढे मन्त्री ने कहा—"हाँ, मुझे सब पता है, मैं बालक नहीं हूँ, इस राज दरबार में ही मेरे ये बाल सफेद हुए हैं। आयी है मुझे याद दिलाने।"

दासी ने तुनककर कहा—"मेरे ऊपर क्यों बिगड़ते हैं आप? मुझे तो जो आज्ञा हुई आपसे निवेदन कर दिया।"

मन्त्री जाते जाते कहते गये—"भाग जा, आयी बडी निवेदन करने वाली। जा कह देना पालकी आ रही है, तब तक वे अपना साज शृङ्गार तो करें।" इतना कहते कहते बूढे मन्त्री अन्त:पुर से बाहर हुए।

रात की बात में सभी तैयारियाँ हो गयीं। मानों सब पहिले से ही तैयार बैठे थे। कई शिबिकाएँ आ गयीं। सुरुचि देवी ने कहा—"जीजी! चलो, पहिले तुम पालकी में बैठो।" यह सुनकर सुनीति देवी उत्तम को गोद में लिये पालकी में जा बैठीं उसी

पालकी में दासी की भाँति सुरुचि देवी भी बैठ गयीं। कहाँ तो जब मन फटा हुआ था तो एक महल में भी नहीं रह सकती थीं। कहाँ मन मिलने पर एक छोटी-सी पालकी में तीनों बैठ गयीं। हृदय में स्थान होने पर इमली के पत्ते पर दो रह सकते हैं। मन फट जाने पर इतनी बड़ी शैया पर भी नहीं समाते। संसार प्रेम में स्थित है। प्रेम के बिना जगत् शून्य है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अपने पुत्र को लेने के लिये महाराज उत्तानपाद अपनी सेना, सेवक प्रजा तथा रानियों के सहित बड़े ठाट-बाट और समारोह के साथ नगर के बाहरी उपवन की ओर जाने लगे।"

छप्पय

भूपति आयसु दई साज स्वागतके साजें।
शंख दुन्दुभी पणव माङ्गलिक बाजे बाजें॥
वस्त्राभूषण पहिन कुमारी कन्या आये।
दधि अक्षत ले फूल-सील ध्रुवपै बरषायें॥
आगे आगे विप्रगन, करत वेदध्वनि चलि दये।
मन्त्री रानी सबनि लै, सुत स्वागत हित नृप गये॥

ध्रुवजी का माता-पिता के साथ प्रेम सम्मिलन

[२३८]

तं दृष्ट्वोपवनाभ्याशे आयान्तं तरसा रथात् ।
अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः ॥
परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन् ।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्शहताशेषाघबन्धनम् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ९ अ० ४२, ४३ श्लो०)

छप्पय

देख्यो उपवन निकट फूल सम सुतकूँ आवत ।
गावत गुन गोविन्द अमी रस-सो बरसावत ॥
उतरे रथतें झपटि तनयकूँ हिये लगायो ।
बार बार मुख चूमि गोद में लाल बिठायो ॥
पर्‌यो पैरपै पुत्र जब, पुलकित सब अँग ह्वै गये ।
जनु प्रेमासव पान करि, भूप भाव भावित भये ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! राजा ने जब उपवन के समीप ही आते हुए अपने पुत्र को देखा, तो वे अत्यन्त ही शीघ्रता के साथ रथ से उतर पड़े तथा नि श्वास छोड़ते हुए, दोनों हाथों की कोहनी भरकर अपने पुत्र का प्रेम में विह्वल होकर आलिङ्गन किया। जिनके लिये महाराज चिरकाल से अत्यधिक उत्कंठित थे, वे ध्रुवजी कैसे हैं ? जिनके समस्त पाप श्रीहरि के चरणस्पर्श से नष्ट हो गये हैं।"

इस कोलाहलपूर्ण दुराद जगत् मे सुख कहाँ ? सर्वत्र चिन्ता उद्विग्नता, आत्मग्लानि और आधि-व्याधियों की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो रही है। इस भीषण विभीषिकापूर्ण भवाङ्गण में यदि कुछ सुख है, तो सहधर्मिणी के सान्त्वनापूर्ण सुन्दर सुललित शब्द हैं, जिसे वे प्राप्त नहीं वह तो जीवित ही मृतक समान है, उससे भी बढकर यदि कोई संसार में सुखद पदार्थ है, तो वह है सुत के शरीर का सस्पर्श। सुत अपनी आत्मा ही है। स्वतनु की प्रतिकृति होने के कारण ही उसे तनय कहते हैं। आत्मा से उत्पन्न होने के कारण ही वह आत्मज कहाता है। संसार में बहुत-से मीठे पदार्थ हैं, किन्तु पुत्र के मुख चुम्बन में जो मिठास है, वह स्वर्ग के भी किसी पदार्थ में न होगी। पुत्र के अंगस्पर्श में जितना सुख है वह ब्रह्मलोक के सभी स्पर्शनीय पदार्थों में न होगा। पुत्र सुख की खानि है, जीवन का सहारा है। जिसे अपने अनुकूल पुत्र का स्पर्श प्राप्त है, उसे संसार मे प्राप्त करने योग्य पदार्थ और कोन शेष रहा ? जो उससे वञ्चित है, उसके पास संसार मे है ही क्या ? उसको तो लँगोटी लगाकर वन में चला जाना ही श्रेयस्कर है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! चिरकाल से महाराज उत्तानपाद जिसकी अहर्निशि चिन्ता करते रहते थे, उस अपने सुत का आगमन सुनकर वे उसे आगे से लेने अपने सभी बन्धु बान्धवों और प्रजा के लोगों को साथ लिये हुए रथ पर चढकर चले आगे-आगे विप्रगण वेदध्वनि करते जाते थे। उनके पीछे भाँति भाँति के मांगलिक वाद्य बज रहे थे। झण्डी पताका लिये हुए सहस्रों सेवक इधर-उधर चल रहे थे। अपने-अपने घोडो को नचाते और उनकी गति की कलाओं को दिखाते हुए असंख्य सैनिक महाराज को चारों ओर से घेरे हुए थे। महाराज के सिर पर श्वेतछत्र तन रहा था, दोनों ओर सेवक चँवर डुला रहे थे,

चन्दीगण विरुदावली गा रहे थे। उस समय महाराज ऐसे लगते थे मानों अपने दिव्य रथ पर विराजमान देवता और अप्सराओं से घिरे हुए इन्द्र अपने पुत्र जयन्त से मिलने जा रहे हों। प्रजा के सभी लोगों में अपूर्व उत्साह था। सभी ध्रुव के दर्शनों को उत्कण्ठित हो रहे थे। महाराज ने दूर से ही उपवन के समीप आते हुए अपने तनय को देखा, उसे देखते ही जैसे गौ अपने सद्यःजात शिशु के मिलने को रम्हाती हुई दौड पडती है, उसी प्रकार महाराज शीघ्रता से रथ से कूदकर पैदल ही अपने पुत्र की ओर दौड़े और अत्यन्त ही वेग से जाकर उसे उठाकर अपनी छाती से चिपटा लिया। जिस अग का स्पर्श अच्युत के अग से हुआ है, उस अपने आत्मज के अग को हृदय से लगाकर महाराज तृप्त नहीं होते थे। बड़ी देर तक उसे अपने हृदय से चिपकाये रहे। दोनों नेत्रों से श्रावण भादों की वर्षा के समान अश्रु झर झर झर रहे थे, वे ध्रुव के काले काले घुँघराले बालों को भिगो रहे थे। वे अश्रुकण अत्यन्त ही शीतल थे, अतः ध्रुवजी उनके स्पर्श से रोमाञ्चित हो उठे। ठण्डे-ठण्डे आँसुओं से बाल भीग जाने से उन्हें फुरहुरी आने लगीं। वे भी अपने पिता के ऐसे अपूर्व स्नेह को पाकर आत्मविस्मृत से हो गये।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन! आँसू तो गरम होते हैं और स्वाद में खारी होते हैं? आप महाराज के आँसुओं को शीतल क्यों बता रहे हैं?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! आँसू उष्ण भी होते हैं, शीतल भी होते हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है, कि क्रोध मे या दुःख में जो आँसू निकलते हैं, वे तो उष्ण हुआ करते हैं और जो प्रेम के आँसू होते हैं वे शीतल होते हैं। शोक मे क्रोध मे जो आँसू निकलते हैं, उनसे मुख मलिन हो जाता है, आकृति बिगड़ जाती है, किन्तु अत्यन्त स्नेह से भरे हुए हृदय से जो

प्रेमाश्रु निकलते हैं, उनसे मुख चमकने लगता है। उन्हें देखकर पत्थर का हृदय भी पसीज-सा जाता है। महाराज के आँसू प्रेम के निकल रहे थे, इससे वे सुखद थे, शीतल थे।"

यह सुनकर कुछ देर तक सोचकर विदुरजी बोले—"हाँ, महाराज! ठीक है, ऐसा ही होता है। अच्छा तो फिर क्या हुआ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! फिर क्या हुआ? पिता पुत्र का मिलन ही ऐसा है, कि न तो इसे वाणी ही नहीं व्यक्त कर सकती है, फिर लोह की निर्जीव लेखनी तो व्यक्त करेगी ही कैसे? चिरकाल से राजा जिस मनोरथ को कर रहे थे वह दुर्लभ मनोरथ आज महाराज का पूरा हुआ। प्रेम में ऐसे विह्वल हो गये, कि उन्होंने ध्रुवजी को प्रणाम करने का अवसर ही नहीं दिया। पहिले ही दौड़कर उन्हें हृदय से चिपटा लिया। फिर गोदी में बिठाकर बार-बार मुख चूमा, सिर सूँघा। अपने वस्त्र से उनके मुख को पोंछा। उनका प्रेम-वेग कुछ कम हुआ तो गोदी से धीरे से उठकर ध्रुवजी ने अपने पिता के पादपद्मों में साष्टांग प्रणाम किया। उनकी धूलि को अपने माथे पर लगाया। पिता ने अत्यंत स्नेह से उन्हें उठाकर छाती से लगाया और आयु, ऐश्वर्य, यश, उन्नति आदि की आशीषें दीं।

इस प्रकार पिताजी से मिलकर चिर उत्कंठित अपनी माताओं की पालकी के समीप ध्रुवजी गये। उत्तम को गोद में लिये हुए माता सुनीति पालकी में बैठी थीं, उनके पास ही उनसे सटी सुरुचि देवी लज्जा और प्रसन्नता के बीच में पड़ी हुई सिकुड़ी हुई पालकी के परदे से ध्रुवजी को देख रही थीं। ध्रुवजी ने आकर एक साथ ही दोनों माताओं के चरणों मे प्रणाम किया। ध्रुवजी की जननी सुनीति देवी तो प्रेम में ऐसी विह्वल हो गयी थीं, कि उन्हें तो अपने शरीर की सुधि ही नहीं थी। ध्रुवजी ने आकर

कब प्रणाम किया उन्हें कुछ पता नहीं, वे तो प्रेम की मूर्छा मे मूर्छित हुई मृतक के समान पालकी में पडी थीं। सुरुचि को सज्ञा थी उन्होंने ध्रुवजी को अपने चरणों में निष्कपट भाव से प्रणाम करते देखकर उन्हें स्नेह पूर्वक छाती से चिपका लिया और गोदी में बिठाकर सिर सूँघकर अनेकों आशीर्वाद दिये—"बेटा, तुम चिरकाल तक सुख भोगो, चिरञ्जीव हो।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"महाराज, ये वे ही सुरुचि देवी हैं, जिन्होंने ६ महीने पहिले अपने वाग्वाणों से ध्रुवजी को विद्ध किया था। आज इसे ऐसी सुबुद्धि किस कारण से आ गयी?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! जिस पर रामजी की कृपा हो जाती है, उस पर सभी कृपा करने लगते हैं। जिसने अपने मैत्री, करुणा, मुदिता आदि गुणों द्वारा भगवान् वासुदेव को प्रसन्न कर लिया, उसके आगे सभी का मस्तक स्वत. नत हो जाता है। जिसके हृदय में अखिलात्मा अच्चुत के प्रति आदर भाव हैं उसका सभी प्राणी आदर करने लगते हैं। जो सब प्राणियों के सम्मुख सद्भाव से नत होता है, उस नमन-शील व्यक्ति को सभी नमन करते हैं और समस्त सद्गुण उसके समीप इसी प्रकार ढुलककर आ जाते हैं, जैसे नीची भूमि में ऊपर का जल बहकर आ जाता है। जिन ध्रुवजी के तप से भगवान् ही प्रसन्न हो गये, तो सुरुचि का प्रसन्न हो जाना स्वभाविक ही है।"

इस प्रकार जब सुरुचि प्यार कर चुकी, तो कुमार उत्तम ने उठकर ज्यों ही ध्रुवजी के चरण पकडने चाहे, त्यों ही ध्रुवजी ने उसे बीच से ही पकड़कर छाती से चिपका लिया। दोनों भाई परस्पर में प्रेम के कारण एक हो रहे थे। दोनों के नेत्रों से प्रेम के अश्रु बह रहे थे। दोनों के शरीर पुलकित हो रहे थे, दोनों के

हृदय भरे हुए थे। वे परस्पर में सट जाने के कारण नेत्रों के द्वार से बह रहे थे। उस प्रेम मिलन को देखकर सुरुचि का हृदय रुदन-सा कर रहा था, कि हाय! पहिले मैंने इन दोनों में कितना भेद-भाव स्थापित कर रखा था।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"महाराज! आपने राजा का मिलन बताया, सुरुचि का प्यार जताया, उत्तम का स्नेह वर्णन किया, किन्तु जिनके एकमात्र आश्रय ध्रुव ही थे, उन माता सुनीति के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"कहूँ कैसे विदुरजी! उसे तो अपने शरीर की ही सुधि नही थीं। उन्हें तो पता नहीं। कब मेरे पुत्र ने आकर मेरे पैरों से प्रणाम किया। वे तो अब तक बेसुध ही बनी हुई थीं, अब जब सुरुचि ने उन्हें उठाकर बैठाया, बार-बार झकझोरा और उनके कान में कई बार कहा—"जीजी! ध्रुव आ गया है, तुम्हारे पैरों में प्रणाम कर रहा है।" तब कहीं माता को चेत हुआ। उन्होंने पैरों में पड़े अपने पुत्र को अत्यन्त ही स्नेह के साथ ललककर गोदी में बिठा लिया और हृदय से चिपका लिया। माता के जिस स्तनों का दूध पान करके ध्रुवजी इतने बड़े हुए थे, आज जब भगवान् के चरण स्पर्श से जिसका समस्त अंग पावन हो गया है, उनकी चरणरेणु को अंग में लगाने से जिनके जन्मजन्मातर के कल्मष कट गये हैं, उसी पवित्र देह का जब माता के स्तनों से पुनः स्पर्श हुआ, तो उन भाग्यशाली स्तनों का हृदय भर आया। वे भी फूट पड़े और उनमें से दुग्ध की दो धारें बहकर ध्रुवजी के शरीर का मानों अभिषेक कर रही हों। दुग्ध की दो धारायें तो ध्रुवजी के हृदय को सिंचन कर रही थीं और माता के दोनों नेत्रों से निकलती हुई दो अश्रु धारायें उनके शिर का अभिसिंचन कर रही थीं। उस समय उनकी ऐसी शोभा हो रही मानों केदारनाथ के

शिवलिंग पर ऊपर से गली हुई बरफ टपक रही हो और एक ओर भक्त-गण उन्हें दुग्धस्नान करा रहे हों। इस अलौकिक दृश्य को देखकर उत्तम से नहीं रहा गया। उसने जवनिका हटा दी। उमडती हुई प्रजा के समूह ने वह विमाता पुत्र का अलौकिक सम्मिलन देखा। देखकर सबके नेत्रों से अश्रु बहने लगे। सभी मिलकर माता पुत्र के ऊपर पुष्पों की वृष्टि करने लगे और बार बार कहने लगे—"माँ तुम धन्य हो! जननी! ध्रुव को उत्पन्न करके तुमने मातृ पद को सार्थक बना दिया। चिरकाल से आपका यह लाल खो गया था, यह अमूल्य हीरा हिरा गया था, आज वह सौभाग्यवश फिर आपके पास आ गया। खोया हुआ लाल पा गया, बिछुडा हुआ बछडा फिर माँ से मिल गया। यह तुम्हारा बेटा चिरकाल तक हम सबका पालन करे। यह चक्रवर्ती होकर राज सिंहासन पर बैठे। यह तुम्हारे समस्त दुःखों को दूर करने वाला हो, हम सबका त्राता और रक्षक हो। देवताओं से भी बढ़कर इसकी आयु हो।"

इस प्रकार समस्त प्रजा के आशीर्वाद को सुनकर माता को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। महाराज भी समीप आ गये। आज अपनी भार्या की गोद में ध्रुव को देखकर उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा।

उन्होंने रानियों से कहा—"अब विलम्ब करने का समय नहीं। सूर्य अस्त ही होना चाहते हैं, चलो चलें।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज की आज्ञा पाते ही सब लोग बड़े उत्साह और धूम धाम के साथ नगर में प्रवेश करने का उपक्रम करने लगे।"

छप्पय

भेंटि पिता तें तुरत मातु ढिंग ध्रुवजी आये।
दोऊ मातानि बैर कपट छल तजि लिपटाये॥
भईं सुनीती विकल सुरुचि सुठि आशिष दीन्हीं।
भेटे उत्तम ललकि मातु सुश्रूषा कीन्हीं॥
मातु प्रेम मूर्छा तजी, सुत कूँ हिये लगाइकें।
सिर सूंघ्यो चूम्यो वदन, कीन्हों प्रेम अघाइकें॥

ध्रुवजी का पिता के भवन में प्रवेश

[२३९]

ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः ।
सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्वापुष्पफलानि च ॥
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः ।
शृण्वंस्तद्गुणगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः ॥*

(श्रीमा० ४ स्क० ९ अ० ५८, ५९ श्लोक)

छप्पय

हथिनी पै इक संग चढ़े ध्रुव उत्तम भाई ।
धूम धाम तें चले विविध विधि पुरी सजाई ॥
गली, द्वार, गृह, चौक, राजपथ झरे झराये ।
केरा चन्दनवार बाँधि बहु भाँति सजाये ॥
दधि, अक्षत, फल, फूल, जल, पीरी सरसौं, खील सब ।
छिरकें कन्या, कुलवधू, ध्रुवजी जित जित जाहिँ जब ॥

जिनके प्रति अपनापन होता है, यदि वे कोई अपूर्व लोकोत्तर

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ध्रुवजी को मार्ग में जाते देखकर जहाँ तहाँ पुरवासिनी स्त्रियों ने उनके ऊपर पीली सरसों, अक्षत, दधि (नारियल का) जल, दूर्वा, पुष्प और फलों की वर्षा की तथा (बड़ी बूढ़ी स्त्रियों ने) उन्हें वात्सल्य भाव से अनेक प्रकार के शुभ आशीर्वाद दिये । स्त्रियों के मुख से मनोहर गीतों को सुनते हुए ध्रुवजी ने पिता के भवन में प्रवेश किया ।"

कार्य करके आते हैं, या चिरकाल में हमारे बीच में आने वाले होते हैं, तो हमारा हृदय मुक्त कपाट हो जाता है। उस समय उसके स्वागत सत्कार में हम सब कुछ करने को उत्सुक हो जाते हैं। अपने हृदय की श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने को हम हृदय से ता उससे मिलते ही हैं, बाह्य सजावट करने को भी विवश हो जाते हैं। तभी तो लोकप्रिय पुरुषों के स्वागत सत्कार में बिना प्रेरित किये ही सभी पुरुष स्वतः भाँति भाँति की तैयारियाँ करते हैं, घरों को सजाते हैं और उनके प्रति अपना स्नेह जताते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब ध्रुवजी अपने माता पिता, मन्त्री, पुरोहित, परिजन, पुरजन तथा समस्त प्रजा के लोगों से मिल भेंट लिये तब बूढ़े मन्त्री ने कहा—"कुमार को रथ में बिठाकर धूमधाम और बड़े स्वागत सत्कार के साथ नगर में ले चलो।"

इस पर प्रजा के लोगों की ओर से कहा गया—"कुमार को रथ पर नहीं हाथी पर बिठाकर नगर प्रवेश कराया जाय। जिससे सभी स्त्री, पुरुष, बाल, बच्चे कुमार के दर्शन कर सकें। कोई इनके देव-दुर्लभ दर्शनों से वंचित न रहने पावे।"

यह सुनकर महाराज का वात्सल्य स्नेह उभर आया और बोले—"ना भैया, बड़े हाथी पर न चढ़ाना, क्या पता वह बिगड़ उठे। मेरा बच्चा अभी सुकुमार है, यदि सबकी ऐसी ही सम्मति है, तो उस सीधी हथिनी पर मेरे लाल को चढ़ाया जाय, जो किसी से कुछ बोलती ही नहीं। जिसके पैरों के नीचे बालक भी खेलते रहते हैं।"

महाराज की आज्ञा का पालन किया गया। उस सीधी सादी हथिनी पर सुवर्ण के काम की झूल डाली गयी, सुवर्ण का सिंहासन उसके ऊपर कसा गया, उस पर ध्रुवजी अपने भाई

उत्तम के सहित बैठे। इधर उधर परिचारक खडे हुए। अब ध्रुव जी की सवारी नगर की ओर चली।

नगर निवासियो ने ज्यों ही ध्रुवजी का आगमन सुना था, त्यों ही वे उनके स्वागत का प्रबन्ध करने लग गये थे। नगर के गोपुर (प्रधान द्वार) को भाँति भाँति की झण्डी पताकाओं और सुवर्ण मालाओ से सजाया गया था। प्रधान पथ पर स्थान-स्थान पर बडे बडे फाटक लगाये गये थे। पथ के दोनो पार्श्वों में पत्ति बद्ध केलों के खम्भे गाडे गये थे। उनमे कोमल कोमल आम के पल्लवों के बन्दनवार लटकाये गये थे, बीच बीच मे उनमे सुगन्धित पुष्पो की मालायें सुन्दर दिखायी देने वाले फल भी लटका दिये थे। जैसे आम के दो गुच्छों के बीच मे एक पाटल, कमल, मालती, माधवी, यूथिका आदि के पुष्पो की तिरछी माला लटका दी और बीच में लाल करौंदा, लाल सेव, टैंटी के पके फल (पैंचू) अगूर के गुच्छे, नाशपाती, सन्तरे आदि फल भी कुछ लटकते हुए शोभा के लिये बाँध दिये थे। केले के खम्भे सफल थे। उनमें बडी बडी गहरें लटक रही थीं, जो वायु के वेग से हिल हिलकर परस्पर में मिल मिलकर ध्रुवजी का स्वागत करने की व्यग्रता का प्रदर्शन कर रही थी। मकराकृति बँधे हुए वे वन्दनवार राज पथ को अत्यन्त सुशोभित बनाये हुए थे।

पुरवासियों ने अपने अपने घरो को भी बडे उत्साह से साथ सजाया था। बडी बडी ऊँची ऊँची हवेलियों की छतों से नीचे तक लाल, पीले, हरे, कन्नेरी आदि विविध प्रकार के रङ्गीन रेशमी, सुवर्ण के कामदार वस्त्र लटकाये गये थे। प्रत्येक द्वार पर दो दो फल युक्त केले बाँधकर सुशोभित किया था। उनमें आम के पत्तों के वन्दनवार बाँधे थे, पुष्पमाला तथा मोतियों की मालरें लटकायी थीं। जल के भरे घडे रखे थे, जिनमे कलावा आम्र पल्लव लगे थे। स्वस्तिक के चिह्न जिन पर बनाये गये थे। उनके

ऊपर चौमुखा घृत दीपक जलाया गया था। बड़े-बड़े सतखानों वाले विमान, चैत्य सुवर्णमण्डित शिखरों की कान्ति वाले परकोटे, राजद्वार और महल सभी बड़ी विचित्रा के साथ सजाये गये थे। बड़ी-बड़ी सड़कें, छोटी-छोटी गलियाँ, चौराहे सभी झाड़ बुहार-कर अत्यन्त स्वच्छ बना दिये थे। उन पर सुगन्धित जल का छिड़काव किया था। स्थान-स्थान पर गन्धयुक्त पुष्प बखेर दिये थे। चन्दन का चूरा अगरु, कपूर और घृत मिलाकर स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े पात्रों में जलाये गये थे। जिनके धूम से आकाश धूमिल बन रहा था। बड़े-बड़े पात्रों में ये सुगन्धित द्रव्य रख दिये थे, कि धूआँ समाप्त होते ही कोई भी उसमें फिर से डाल दे, जिससे सुगन्धि कम न होने पावे। अटा अटारियों, छज्जे निवारियों पर लड़कियाँ कुलकामिनियाँ चढ़ी हुई थीं। उनके समीप ही ध्रुवजी के स्वागत के लिये धान के भुने लावा अक्षत, पुष्प, फल, बतासे आदि रखे थे। जिधर से भी ध्रुवजी की सवारी निकलती उधर ही जय घोषों से दिशाएँ गूंजने लगतीं। स्त्रियाँ अपने कङ्कणों और चूड़ियों की झनकार के सहित उनके सिर पर पीली सरसों, अक्षत, दही, नारियल का जल, दूर्वा, पुष्प, तथा कोमल-कोमल छोटे-छोटे फलों की वर्षा करने लगतीं। ध्रुवजी का सर्वत्र जयघोष हो रहा था; मानों ये सब भवन बोल रहे हों। बूढ़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ अनेक प्रकार से आशीर्वाद दे रही थीं, "हजारों, लाखों वर्ष की मेरे लाल की आयु हो, सदा सुखी रहे, धन-धान्य से भरा पूरा रहे। इसी प्रकार सदा हम सबको सुखी बनाता रहे। धर्म-पूर्वक प्रजा का प्रेम से पालन पोषण करे बहुत-से पुत्र पौत्र हों।" बूढ़ी-बूढ़ी ये स्त्रियाँ तो ऐसे आशीर्वाद दे रही थीं, जो कुमारी तथा युवती थीं वे मङ्गलगीत गा रही थीं, जिनमें ध्रुवजी के यश का वर्णन था, सुनीति के सौभाग्य की सराहना थी। इस प्रकार सभी के आशीर्वाद और

मङ्गल गीतों को सुनते हुए, सभी के द्वारा सत्कृत होते हुए ध्रुवजी ने अपने पिता के भवन में उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार सिंह का बच्चा अपने पिता की गुफा में प्रवेश करता है। महाराज उत्तानपाद का वह मणिमय भवन, भाँति-भाँति की बहुमूल्य वस्तुओं से बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ सुचतुर शिल्पियों और चित्रकारों द्वारा सजाया गया था। उसमें स्थान स्थान पर मोतियों की झालरें मणियों की लड़ियाँ लटक रही थीं। माता पिता ने भवन में पहुँचकर पुत्र को फिर से प्यार दुलार किया। दास-दासियों ने आकर ध्रुवजी को चारों ओर से घेर लिया। माता ने अपने पुत्र की मङ्गल कामना के लिये ध्रुवजी के ऊपर न्योछावर कर-करके दास दासियों को धन, वस्त्र, आभूषण दिये। बूढ़ी दासी अड़ गयी, कि मैं तो आज नौलखा हार लूँगी। तब माँ ने समझाया, तुम्हारा ही बच्चा है बड़ा हो जायगा तो इसके विवाह में नौलखा हार ही दूँगी। तुम घबड़ाती क्यों हो। यह बात दासी ने मान ली और आशीर्वाद देने लगी—"बेटा, जल्दी बड़ा हो जाय, घर में छम्म-छम्म करती हुई बहू आ जाय।"

इस प्रकार दास दासियों से सेवित और सत्कृत तथा माता-पिता से लालित-पालित होकर ध्रुवजी राजमहल में चैन की वंशी बजाने लगे। महाराज उत्तानपाद के महल में कुछ कमी तो थी ही नहीं। ध्रुवजी के रहने के भवन सदा सुनहरी काम के परदों से सजे रहते थे, उनके नीचे गुलगुले, मुलायम मखमली गलीचे बिछे रहते थे, उनके सेवक परिचारक वस्त्राभूषणों से सर्वदा सजे रहते थे। उनके भाँति-भाँति के सुवर्ण के पात्र स्वच्छ मँजे हुए रहते थे। उनकी शैयाएँ बहुमूल्य थीं। हाथी दाँत के जिनके पाये थे। रेशमी निवारों से बुने हुए थे। अत्यन्त गुलगुले गद्दे उन पर बिछे हुये थे, इतने मुलायम तकिये उन पर रखे हुये थे कि दबाते ही वे पिचक जाते। इन पर दूध के फेन के समान

स्वच्छ सफेद वस्त्र बिछे हुये थे, इधर-उधर सुखद चौकियों पर सुवर्ण मंडित आसन बिछे रहते थे। भवनों की भीतियों में मरकत मणि जड़ी हुई थीं। जिनसे बिना दीपक के ही वे जगमग जगमग करके जगमगाते रहते थे, उनमें कभी अन्धकार नहीं होता था। श्रोणीभार से जिनका कटिप्रदेश कुछ नम-सा गया है, ऐसी असख्यो सुन्दरी दासियाँ इधर से उधर छमछम करती हुई घूमती रहती थीं। भवनों के सम्मुख छोटे छोटे आनन्द विनोद करने के उद्यान थे, जिनमे पारिजात कल्पवृक्ष गन्धराज आदि के सुन्दर सुगन्धित पुष्पों वाले पादप लगे हुए थे। जिनमें पालतू पक्षी कलरव करते हुए इधर से उधर फुदक रहे थे। मधुलोलुप मत्त भ्रमर अपनी भ्रमरियों के सहित पुष्प पराग में सने हुए पुष्पों का मधुपान कर रहे थे। गन्धर्वगण अपने सुमधुर कण्ठ स जिनमें बैठे गान कर रहे थे, ऐसे उद्यानों से उनका भवन सदा सुवासित बना रहता था। जिनके मध्यप्रान्त में विचित्र विचित्र बावड़ियाँ थीं, जिनका वैदूर्य मणि की सुन्दर स्वच्छ सीढ़ियाँ थीं। उनमें लाल, नीले तथा श्वेत वर्ण के सहस्र-दलवाले कमल खिले हुए थे। जिनमें जलकुक्कुट, कारडव, हस, चक्रवाक आदि जलजन्तु जलक्रीड़ा कर-करके अपनी कामिनियों के सङ्ग कमनीय केलि करते हुए कल्लोल कर रहे थे।

इतना सब होने पर भी ध्रुवजी का चित्त सदा श्रीहरि के चरणों में ही लगा रहता था। माता उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करतीं। पिता उनके ऊपर सर्वस्व वारते थे। सुरुचि भी उन्हें उत्तम के सदृश ही समझाती। प्रजा के लोग ध्रुवजी के शील सदाचार और स्वभाव से इतने सन्तुष्ट थे, कि वे एक एक दिन गिन रहे थे, कि ये कब हमारे महाराज हों। कब हम इन्हें श्वेत छत्र के नीचे राजसिंहासन पर बैठे हुए दोनों ओर चँवर डुलते हुए देखें। सब राजमन्त्री ध्रुवजी का राजा के समान ही सत्कार

करते। दास-दासी सदा उनकी आज्ञा का अव्यग्र भाव से पालन करते। इस प्रकार समस्त राज सुखों का अनासक्त भाव से उपभोग करते हुए ध्रुवजी अपने पिता के भवन में सुखपूर्वक रहने लगे।

मैत्रेय मुनि कहते हैं - "विदुरजी! जिनके ऊपर भगवान् की कृपा हो गयी हो, उनके लिये संसार में दुर्लभ पदार्थ कौन-सा है? यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में ध्रुव चरित्र कहा। अब आप मुझसे जो और पूछना चाहें पूछें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर भगवान् मैत्रेय चुप हो गये।"

छप्पय

सबतें सत्कृत भये गये महलनि के भीतर।
लालित पालित भये जनक जननी तें ध्रुववर॥
सब सुख के समान सजे शाला में सुखकर।
दुग्धफेन सम श्वेत सुखद शैया शुभ मनहर॥
असन सरस अतिवर-वसन, शोभायुत मणिमय भवन।
विमल वाटिका कमलयुत, सर लखि होवै मुदित मन॥

—:—

ध्रुवजी का राज्याभिषेक और गार्हस्थ-जीवन

[२४०]

वीक्ष्योढवयसं तं च प्रकृतीनां च संमतम् ।
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥
प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः ।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ॥ *
(श्री भा० ४ स्क० ९, १० अ० ६६, १ श्लो०)

छप्पय

पाइ पिता को प्यार बिताई बाल अवस्था ।
तरुन भये पितु संग करें सब राज व्यवस्था ॥
सबकी सम्मति समुझि भूप सिंहासन दीन्हों ।
मन्त्री पुरजन प्रजा सबनि अभिनन्दन कीन्हों ॥
राज्य भार ध्रुवकूं दयो, नृप तप हित वनकूं गये ।
सुनत भूप ध्रुव अवान पै, होवें मङ्गल नित नये ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं— 'विदुरजी ! जब महाराज उत्तानपाद ने देखा कि ध्रुवजी तरुणावस्था को प्राप्त हो गये हैं और प्रजा भी उन पर अनुराग रखती है, तो अपने मन्त्रियों की सम्मति से, उनको समस्त पृथ्वी मण्डल के राज्य पर अभिषिक्त कर दिया । ध्रुवजी ने प्रजापति शिशुमार की भ्रमि नामक पुत्री से विवाह किया, जिसके गर्भ से उनके कल्प और वत्सर नाम के दो पुत्र हुए ।"

जिनके सुमधुर सुन्दर चरित्र सुनते-सुनते चित्त उनकी ओर स्वतः ही खिंच जाता है, उनकी छोटी से छोटी बात जानने की भी हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। महत् पुरुषों के चरित्र में यही तो आकर्षण है, जहाँ हम उनके चरित्रों को आरम्भ करते हैं, तो हृदय में उत्तरोत्तर जिज्ञासा उत्पन्न होती जाती है आगे क्या हुआ, अब क्या होगा। इससे आगे का चरित्र और सुनने को मिले। महत् पुरुषों के चरित्र बड़े पुण्य से सुनने को मिलते हैं। जो नरपशु हैं, उनकी बात तो छोड़ दीजिये, जो सहृदय हैं, जिनके हृदय में स्नेह के लिये उर्वरा भूमि है, जिसमें प्रेम के अंकुर के उगने की आशा है, उनका तो जहाँ महापुरुषों के चरित सुनने का बीज पड़ा नहीं, कि वह अतिशीघ्र अंकुरित हो उठता है।

जब ध्रुवजी को राज महलों में पहुँचाकर महामुनि मैत्रेय मौन हो गये, तो बड़ी ही उत्सुकता के सहित विदुरजी पूछने लगे—"भगवन्! ध्रुव चरित समाप्त हो गया क्या? यह ठीक है, कि चरित्र सुखान्त ही श्रेष्ठ होता है। सुख के सुअवसर पर चरित्र की समाप्ति करनी चाहिये, किन्तु अभी तो ध्रुव चरित्र से हमारी तृप्ति नहीं हुई। वे तपस्या करके भगवत् साक्षात्कार करके घर आ गये, यह बड़े आनन्द की बात है, किन्तु अभी तो वे ६ वर्ष के बालक ही हैं? कैसे वे बड़े हुए? बड़े होकर क्या किया? विवाह किया या कोरे बाबाजी ही बने रहे, उन्होंने किस प्रकार राज्य किया? यह सब बातें हमें सुनाइये।"

विदुरजी की ऐसी उत्सुकता देखकर भगवान् मैत्रेय बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"विदुरजी! तुम ही धन्य हो, जो भागवतों के चरित्र सुनने को इतने व्यग्र बने रहते हो। नहीं तो इन संसारी लोगों की प्रवृत्ति तो सदा विषयवार्ता और व्यर्थ के वाद विवाद में ही होती है। ध्रुवजी का प्रधान चरित्र तो उनकी अलौकिक

भगवद्भक्ति ही है, जिसका वर्णन मैंने आपके सम्मुख किया। अब मैं उनका उत्तर चरित्र गार्हस्थ जीवन का वृत्त बताता हूँ, उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

जिस प्रकार चन्द्रमा की कला नित्य बढ़ती है, जैसे पानी पाकर केला नित्य बढता है, जैसे वृक्ष का आश्रय पाकर बेल बढ़ती जाती है, जैसे मध्याह्नोत्तर प्राणियों की छाया बढ़ती है उसी प्रकार अपने माता-पिता के आश्रय में ध्रुवजी बढ़ने लगे। संसार के जितने सुख हो सकते हैं वे सब उन्हें पिता के भवन में सुलभ थे। माता सुनीति अत्यन्त स्नेह के साथ अपने लालकी सदा देख भाल करती, उसके मुख कमल को सदा जोहती रहती, कि इस पर किसी कारण से मलिनता न आने पावे। यह विकसित सरसिज के समान आनन कभी कुम्हिलाने न पाये। इस प्रकार माता पिता के प्रेम रूपी अमृतवारि द्वारा सिंचित ध्रुवजी बढ़ने लगे। अब उन्होंने बाल्यावस्था को पार करके किशोरावस्था में पदार्पण किया। वाणी कुछ मोटी-सी होने लगी, ओठ काले पडने लगे। लज्जा के भाव कुछ बढने लगे। अंगों के भीतर छिपा हुआ यौवन द्वारों से उचककर झाँकने लगा। आँखों के डोरों में एक नवीन मादकता की रेखा सी प्रतीत होने लगी। यौवन की उठान में अङ्ग पुष्ट होने लगे। देखते-देखते ध्रुवजी तरुण हो गये। अब तो वे अपने पिता के राजकाज में सहयोग देने लगे। पहिले जो समय उनका माता के प्यार दुलार में, घर पर खेलने खाने में कटता था, अब वह पिता के सानिध्य में काम काज की चिन्ता में कटने लगा। वे प्रसाद पाकर पिता के पादपद्मों में पहुँच जाते और सिंहासन के नीचे बैठकर उनके प्रत्येक कार्य में सहयोग देते, मन्त्रियों की बातें समझते, प्रजा के दुःखों को सुनते और पिताजी से पूछकर उनकी आज्ञा लेकर सबको निर्णय भी सुना देते। उनके

ऐसे शील स्वभाव को देखकर सभी सन्तुष्ट होते। वे सबसे मधुर भाषण करते। जो भी आता उससे हँसकर पहिले प्रश्न पूछते, सबकी कुशल पूछते। सबके मनोरथों को पूर्ण करते। अब तो मन्त्री, अमात्य, सेवक, पदाधिकारी, परिजन, पुरजन, प्रजागण सभी की इच्छा थी, कि किसी प्रकार ध्रुवजी राज्यसिंहासन को सुशोभित करें।

पिता ने जब ध्रुवजी का ऐसा प्रभाव देखा तो उन्हें मन ही मन बड़ा आनन्द हुआ। राजर्षि महाराज उत्तानपाद अपने पुत्र की इतनी लोकप्रियता को देखकर फूले नहीं समाते थे। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ की ध्रुव ने सबके ऊपर क्या जादू कर दिया है।

एक दिन उन्होंने अपने मन्त्री, पुरोहित, राज्याधिकारी तथा प्रजा के मुख्य-मुख्य पुरुषों को बुलाकर कहा—"आप सब देख ही रहे हैं, मेरा बड़ा बच्चा ध्रुव अब युवा हो गया है, राज काज में भी निपुण है। यदि आप सब की सम्मति हो, तो मैं इसे ही सिंहासन दे दूँ? इसे ही राजगद्दी पर अभिषिक्त कर दूँ।"

इतना सुनते ही सभी अत्यन्त हर्ष के साथ एक स्वर में बोल उठे—"महाराज! आपका यह विचार बहुत ही उत्तम है। आप ध्रुव को अवश्य ही सम्राट् पद पर शीघ्र से शीघ्र अभिषिक्त करें।"

यह सुनकर बात को दृढ करने को महाराज उत्तानपाद बोले—"महानुभावो! मैं अभी समर्थ हूँ, आप सबकी शक्ति भर रक्षा करता हूँ, आप मुझे गद्दी पर से उतारकर ध्रुव को क्यों बिठाना चाहते हैं?"

यह सुनकर बुद्धिमान वृद्ध मन्त्री ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! हम आपको गद्दी से उतार कहाँ रहे हैं। हम तो आपको फिर से राजगद्दी पर बिठाना चाहते हैं। जिससे प्रजा में

नूतन आनन्द की धारा बह निकले। सबको पारितोषिक मिले। जिस प्रकार आप नित्य नूतन-नूतन वस्त्र पहिनकर हमें सुखी करते हैं, उसी प्रकार अब हम आपको नूतन अवस्था में भी देखना चाहते हैं। पुत्र तो पिता की आत्मा ही है।"

इस उत्तर से महाराज को बड़ी प्रसन्नता हुई और बड़ी धूम धाम के साथ ध्रुवजी का राज्याभिषेक किया गया। सर्वत्र आनंद मनाये गये। ब्राह्मणों को विविध भाँति के दान दिये। सेवक और आश्रितों को पारितोषिक वितरण किये गये। इस प्रकार ध्रुवजी के राजसिंहासन पर बैठते ही सर्वत्र सुख शान्ति का साम्राज्य हो गया। देवताओं ने स्वर्ग से नन्दन वन के फूल बरसाये।

इस प्रकार महाराज उत्तानपाद अपने यशस्वी भगवद्भक्त त्रैलोक्य वन्दित पुत्र के कन्धों पर राज्यभार रखकर उसे भाँति-भाँति के आशीर्वाद देकर तपस्या करने वन में चले गये। वहाँ वे संसार के सभी भोगों से विरक्त होकर आत्मस्वरूप का चिन्तन करने लगे।

ध्रुवजी राजा हो गये। समस्त भूमण्डल के एकछत्र राजा हो गये। तब उनकी माँ ने कहा—"बेटा! तू तो दिन भर राज-काज में लगा रहता है, घर पर मैं अकेली रह जाती हूँ, मेरा मन भी नहीं लगता। मुझे एक ऐसी मलूक-सी बटुआ-सी बहू लादे जिसके साथ मैं घर में बैठकर मन बहलाती रहूँ, इस वृद्धा-वस्था में मेरी वह कुछ सेवा करे। तुझे तो प्रजा की सेवा से ही अवकाश नहीं। फिर तू राजसिंहासन पर अकेला बैठा अच्छा भी नहीं लगता। राजा-रानी दोनों सिंहासन पर बैठते हैं इसलिये कहीं से मुझे एक बहूरानी और ला दे।"

ध्रुवजी ने लजाते हुए हँसकर कहा—"माँ! तू बहू फहू के चक्कर में क्यों फँसती है। ऐसे ही वंशी बजने दे। तेरी सेवा को कहे तो हजार दासियाँ और रख दूँ।"

माता ने अत्यन्त स्नेह से कहा—"ना बेटा! तू तो अभी बच्चा है, कुछ समझता बूझता नहीं। माता की सबसे सुखद और सबसे प्रबल इच्छा यही होती है, कि वह अपने बेटे को बहू के साथ देखे। दासी तू चाहे हजार लगा दे, और लगी हैं दासियों की कुछ कमी थोड़े ही है, किन्तु बेटा! दासी दासी ही हैं, बहू-बहू ही है। बहू की बराबरी दासियाँ कैसे कर सकती हैं? बहू जब सास के पैर दबाती है तो वह सुख करोड़ों दासियाँ मिलकर भी नहीं दे सकतीं। बहू चाहे आकर लड़ाई ही क्यों न करे। नित्य काली हंडी ही क्यों न मारे, फिर भी वह प्यारी है।"

यह सुनकर ध्रुवजी हँस पड़े और बोले—"अच्छी बात है, कहीं साँठ गाँठ लगाऊँगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! उन्हीं दिनों शिशुमार नामक एक प्रजापति थे उनकी भ्रमि नाम की सर्वगुणसम्पन्ना एक कन्या थी। ध्रुवजी ने माताजी की आज्ञा लेकर उसी के साथ बड़ी धूम धाम से विवाह किया। जब ध्रुवजी ने भ्रमि के साथ आकर माता सुनीति और सुरुचि के चरणों में प्रणाम किया, तो उन्होंने अपने को कृतार्थ समझा।"

इस प्रकार ध्रुवजी विवाह करके सुख के साथ रहने लगे। कालान्तर मे उनके कल्प, वत्सर नाम के दो पुत्र हुए। अपनी बहू को पुत्रवती देखकर माता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने अपने जीवन को नाती का मुख देखकर कृतार्थ समझा। ध्रुवजी ने इला नाम की एक कन्या के साथ और भी विवाह किया, जिसके गर्भ से उत्कल नाम का पुत्र तथा एक कन्या का जन्म हुआ। मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ध्रुव समस्त भूमंडल के राजा थे, समस्त प्रजा उन्हें पिता के सामन मानती और पूजती थी। भ्रमिदेवी उनकी भगवत् बुद्धि से आराधना करती थी। माता, पुत्र और पुत्रवधू दोनों को अपनी दोनों आँखों की

पुतली समझती थी। घर में किसी वस्तु की कमी नहीं थी। अत ये बड़े आनन्द के साथ भगवत् स्मरण करते हुए कालक्षेप करने लगे।'

छप्पय

बोली इक दिन मातु—बहू अब बेटा आवै।
मेरे पूजे पैर तोइ भोजन करवावै॥
रुनुझुनु रुनुझुनु करत फिरै मन मोद बढ़ावै।
बहू सग लखि तोहि सफल जीवन है जावै॥
हँसे जानि ममता लखी, मुदित मातु मन अति भयो।
कन्या अमि शिशुमार की, सग ब्याह ध्रुव करि लयो॥

भ्रातृवध के कारण ध्रुवजी का यक्षों पर कोप

[२४१]

उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा ।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता ॥
ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्ष शुचार्पितः ।
जैत्रं स्यंदनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १० अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

पुत्र भये द्वै कल्प और वत्सर सुखदाई ।
दूसरि जाया इला पुत्र उत्कलकूँ जाई ॥
उत्तम मृगया हेतु गये अविवाहित वनमहँ ।
भयो यक्ष सँग युद्ध प्रान त्यागे तिन रनमहँ ॥
सुरुचि पुत्र ढूँढ़न गई, दावानल में जरि मरी ।
यक्षनिपै अतिकोप करि, तुरत चढ़ाई ध्रुव करी ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! सुरुचि के पुत्र उत्तम को तो अविवाहित अवस्था में ही जब वह हिमालय पर्वत पर मृगया के लिये गया था, तभी किसी बलवान् यक्ष ने मार डाला, उसकी माता भी उसके साथ ही चल बसी। ध्रुवजी ने जब अपने भाई उत्तम का यक्षों द्वारा मरण सुना तो क्रोध अमर्ष और शोक में भरकर, विजयी रथ पर चढ़कर उन्होंने यक्षों के रहने के स्थान अलकापुरी पर चढ़ाई कर दी।"

भगवान् और सब अपराधों को तो क्षमा कर देते हैं, किन्तु भक्तापराध को वे क्षमा नहीं करते। भक्तों के प्रति भगवान् का अत्यधिक अनुराग है। भगवान् को तभी क्रोध आता है, जब उनके भक्तों को कोई कष्ट देता है। भले बुरे काम तो संसार में होते ही रहते हैं। उनका नियमन तो होता ही रहता है, भगवान् उनकी ओर उतना ध्यान नहीं देते, किन्तु जहाँ कोई उनके भक्तों को दुःख देता है, वहाँ वे अपने को नहीं सम्हाल सकते। हिरण्यकशिपु देवताओं को बड़े-बड़े कष्ट देने लगा। देवता सब मिलकर क्षीरसागर गये। भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने पूछा—"क्या गोलमाल है?"

देवताओं ने दीनता के साथ कहा—"महाराज, हमें हिरण्यकशिपु बड़े-बड़े कष्ट दे रहा है।" भगवान् ने रुखाई के साथ कहा—"कष्ट दे रहा है, तो सहो। तुम भी कुछ घाटि थोड़े ही हो। तुम्हारा अवसर आता है, तो तुम भी तो उन्हें भाँति-भाँति के कष्ट देते हो। आपस में सुलझ लो।" देवताओं ने कहा—"महाराज! हम तो आपके भक्त हैं।" भगवान् हँसे और बोले—"जैसे तुम भक्त हो, वह तो सब मैं जानता हूँ। भक्तों के अपराध करने वालों का तो मैं नाश कर ही देता हूँ। तुम भी मेरे भक्त हो सो सही, किन्तु कुछ सट्ट-पट्ट भक्त हो, किन्तु मेरा असली भक्त प्रह्लाद तो अभी कई सौ वर्ष बाद पैदा होगा। जब उसको हिरण्यकशिपु कष्ट देगा, तब मैं उत्पन्न हूँगा। तब तक भैया, तुम प्रतीक्षा करो। भक्तापराध करने वाले को मैं बिना मारे छोड़ता नहीं। हाँ, यदि भक्त ही उनके लिये मुझसे प्रार्थना करें, तो मैं उन्हें भक्तों के कारण सद्गति भी दे देता हूँ।" इतना सुनकर देवता अपना-सा मुँह लेकर लौट गये और भक्तवर प्रह्लाद के जन्म की प्रतीक्षा करने लगे।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! मैंने ध्रुवजी के दो विवाह

और उनकी सन्तानों का वर्णन आपसे किया। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?"

यह सुनकर विदुरजी बोले—"प्रभो ! ध्रुवजी के विवाह की बात तो आपने बताई, किन्तु उत्तमजी का विवाह किसके साथ हुआ। उनके कै सन्तानें हुईं, यह बात आपने नहीं बताई।"

मैत्रेयजी कुछ रूखे स्वर में बोले—"विदुरजी ! उत्तम का विवाह कहाँ, वह तो अविवाहित मर गया। और उसकी माता ने भी उसी के पथ का अनुसरण किया।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"क्या बात हुई, महाराज ! उत्तम कैसे मर गये ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"बात क्या हुई विदुरजी ! यह जीव अपने किये का फल भोगता है। सुरुचि ने भक्तापराध किया था। ध्रुवजी को कुवाक्य कहे थे, उसका कुछ तो फल मिलना ही चाहिये। यद्यपि ध्रुवजी के मन में कोई ऐसी बात नहीं थी, वे अपनी सौतेली माता का अपनी सगी माता के समान आदर सत्कार करते थे। उत्तम को सगे सहोदर भाई की भाँति मानते थे। वे सब पुरानी बातों को भूल गये थे, वे भले ही भूल जायँ, किन्तु भगवान् तो भूलने वाले नहीं थे।"

एक दिन उत्तम अकेले ही मृगया के लिये हिमालय पर्वत पर चले गये। वे उन वनों और उपवनों में विहार करने लगे, जहाँ यक्षपति कुबेर के अनुचर रहते थे। गन्धमादन के उन शिखरों पर निर्भय होकर घूमने लगे जहाँ उपदेव अपनी स्त्रियों के साथ आनन्द विहार करते हैं। वहाँ पर उनका किसी यक्ष से वाद-विवाद हो गया। बातों ही बातों में रार होने लगी। गाली गलोज, फिर गुत्थम गुत्था तब अस्त्र शस्त्रों की भी नौबत आ गयी, यक्ष तो देवताओं की एक जाति विशेष हैं। उपदेव कहाते हैं, इनमें आकाश में उड़ने की, अन्तर्धान होने की स्वाभाविक

शक्ति होती है अतः उनसे बिचारे उत्तम कैसे जीत सकते थे। उसने इन्हें मार डाला।

जब कुछ दिनों तक उत्तम नहीं आया, तो ध्रुवजी को चिन्ता हुई। इधर उत्तम की माता के मन में न जाने क्या सन्देह हुआ, वह भी ध्रुवजी से बिना कहे एक दिन चुपके से अपने पुत्र को खोजने को निकली। घोर अरण्य में वह जा रही थी, वहाँ वन में दावाग्नि लगी, उसमें वह भी जलकर भस्म हो गयी। इस प्रकार माता पुत्र दोनों ने ही इहलौकिक लीला समाप्त कर दी।

ध्रुवजी अपने भाई उत्तम से बड़ा स्नेह करते थे, जब उन्होंने यक्षों द्वारा उत्तम की मृत्यु का समाचार सुना, तब तो उन्हें अत्यन्त ही क्रोध आया। वे यक्षों की इस अविनय को सहन न कर सके। वे सोचने लगे—"यक्षों का ऐसा साहस कि वे मेरे भाई को अकेले मार डालें। अच्छी बात है, उन्हें मैं उनकी अविनय का फल चखाऊँगा। उन्हें बताऊँगा, कि ध्रुवके भाई को मार देना साधारण बात नहीं है। आज वे अपने किये का फल पावेंगे। इतना सोचकर उन्होंने यक्षों की पुरी कुबेर की राजधानी पर चढ़ाई कर दी।

वे अपने विजयध्वज पर चढ़कर अकेले ही अलकापुरी की ओर चल दिये। उन्होंने न साथ में चतुरंगिनी सेना ली न कुछ विशेष युद्ध की सामग्री। उनको तो एकमात्र भगवान वासुदेव का भरोसा था, जिनकी कृपा से उन्हें समस्त सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उनके बाहुओं में अमित पराक्रम था, उन्हें भगवान के अतिरिक्त किसी अन्य बल की अपेक्षा नहीं थी। वे अपने बाहुबल के भरोसे कुबेर की अलकापुरी पर चढ़ गये और वहाँ जाकर उन्होंने बड़े जोर से युद्ध का शङ्ख बजाया।

उनके शङ्ख के ऐसे भीषण शब्द को सुनकर सभी के छक्के छूट गये। यक्षों की स्त्रियाँ भयभीत हो गयीं। बहुतों के गर्भ गिर

गये। बहुत सी घबराकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। ध्रुवजी के शङ्ख का शब्द दशों दिशाओं में गूँज उठा था। यक्षों ने अत्यन्त विस्मय और कुतूहल के साथ उस भयङ्कर शब्द को सुना। वह समझ गये कि कोई हमें युद्ध के लिये ललकार रहा है। वे लोग युद्धिमानी थे, अपने को सर्वश्रेष्ठ वीर समझते थे, अतः उस शब्द को सहन न कर सकने के कारण वे अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर समर की समस्त सामग्री से सुसज्जित होकर सबके सब ध्रुवजी से लडने के लिये नगर से निकल पड़े।

ध्रुवजी ने जब देखा, ये सबके सब समर सामग्री से सुसज्जित हैं और सभी प्रहार करने के लिये उद्यत हैं तब तो उन्होंने यक्षों को अवसर ही नहीं दिया। पहिले से ही उन्होंने अपने तीक्ष्ण बाणों से यक्षों पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अपने बाणों को चलाने की ऐसी हस्तलाघवता दिखाई, कि एक साथ ही उन्होंने अपने तूणीर से इतने बाण निकाले कि बात की बात में जितने यक्ष थे सभी के सिर में तीन-तीन बाण मारे। वह कभी भी मोघ न जाने वाले बाण यक्षों के माथे में लगकर ऐसे शोभित होने लगे मानो वे तीन सींग वाले साड हों।

यक्षों ने जब देखा, कि यह तो बड़ा बली प्रतीत होता है। इसने तो हमें अस्त्र-शस्त्र छोड़ने तक का भी अवसर नहीं दिया। उनके ऐसे अद्भुत कार्य को देखकर तथा उनकी हस्तलाघवता तथा बाण छोडने की चातुरी को देखकर समस्त यक्षगण शत्रु होने पर भी उनकी प्रशंसा करने लगे, कि ऐसा दुष्कर कर्म मनुष्य होकर भी कौन कर सकता है। फिर भी वे अपने को एक मर्त्य-लोक के मनुष्य से पराजित हुआ देखना नहीं चाहते थे। इसलिये अपने ऊपर जो ध्रुवजी ने तीन-तीन बाण छोड़े थे, उनका बदला चुकाने के लिये उन सब ने एक साथ ही ध्रुवजी के ऊपर छः छः बाण छोड़े।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अलकापुरी में ध्रुवजी के साथ यक्षों का बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया। दोनों ही पराजित होना अपना अपमान समझते थे। इसलिये युद्ध ने घोर रूप धारण कर लिया। दोनों में ही तुमुल युद्ध छिड़ गया।"

छप्पय

चढ़े वैत्ररथ चले यक्ष कुलकूँ सहारन।
देखी हिमगिरि पार पुरी अलका अति पावन॥
घू घू करिकै शङ्ख युद्धकूँ वेगि बजायो।
सुनि यक्षनि ने तुरत समर को साज सजायो॥
लड़िवे आये यक्ष मिलि, नहिं अवसर ध्रुव ने दयो।
मारे सबके सिरनि सर, बढ़ विस्मय सबकूँ भयो॥

ध्रुवजी का यक्षों के साथ घोर युद्ध

[२४२]

हतावशिष्टा इतरे रणाजिराद्
रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः ।
आयो विधृतकर्णावयवा विदुद्रुवु-
र्मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपा इव ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १० अ० २० श्लो०)

छप्पय

सबई मिलिकें यक्ष अकेले ध्रुव पै झपटे ।
चाप चक्र सम चले चहूँ दिशि चटचट चटके ॥
खड्ग, परिघ, तिरशूल, परश्वध, शक्ति, भुसुण्डी ।
चलें दना-दन समर माहिं विहरे रणचण्डी ॥
एक बार ध्रुव रथ ढक्यो, यक्षनि बाणनितें जबहिं ।
रवि नीहारहिं फारि ज्यों, प्रकटे रथ निकस्यो तबहिं ॥

जिस प्रकार खेल तमाशे मेले ठेले का अवसर आते ही बच्चे प्रसन्न होते हैं, जैसे विवाह का अवसर आते ही युवक युवती प्रसन्न होते हैं, जैसे कारावास से छूटते समय बन्दी अपने परि-

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! क्षत्रियों मे श्रेष्ठ श्री ध्रुवजी के बाणों से मारे जाने से जो यक्षगण बच गये थे, उनके समस्त अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये, अतः वे रणभूमि से उसी प्रकार भाग गये जैसे सिंह से युद्धक्रीड़ में परास्त होकर हाथियों के यूथप गजराज भाग जाते हैं।"

वार वालो से मिलकर प्रसन्न होते हैं, जैसे सहृदय गुणज्ञ पुरुषों में अपनी कविता सुनाने का अवसर आने पर सत्कवि प्रसन्न होते हैं। जैसे परदेश से पति के लौटने पर पतिव्रतायें प्रसन्न होती हैं, जैसे विविध प्रकार के व्यजनो के भोज का अवसर आने पर स्वादुप्रिय पुरुष प्रसन्न होते हैं। जिस प्रकार पैसा प्राप्ति का सयोग होने पर धनलोलुप प्रसन्न होते हैं, कामी जैसे अनुरूप इच्छित कामिनी को पाकर प्रसन्न होते हैं, जैसे भगवद्भक्तों को पाकर हरिदास मुदित होते हैं उसी प्रकार युद्ध का अवसर आने पर शूरवीर प्रसन्न होते हैं। शूरवीर पराक्रमी पुरुषों को अपने बराबर वाले योद्धा के साथ युद्ध करने में जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी उसे अन्य किसी भी कार्य से नहीं होती।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! यक्षों ने जब ध्रुवजी के बाण चढाने का हस्तलाघव देखा, तब तो वे सब हक्के-बक्के रह गये। ध्रुवजी कब तूणीर से बाण निकालते हैं, कब उसे धनुष पर चढाते हैं कब छोडते हैं इन बातों का किसी को पता ही नहीं चलता था। जैसे गो-मुख की गुफा से निरन्तर बडे वेग से गंगाजी का प्रवाह बहता ही रहता है उसी प्रकार ध्रुवजी तूणीर से असंख्य बाण बिना विलम्ब के तीव्र गति के साथ निकालते ही जाते थे। अब तो यक्षों को भी क्रोध आ गया। रक्त को देख कर रक्त उबलता है। खरबूजे को देखकर खरबूजा खिलता है। वीर को देखकर वीरता उमडती है उन सबने भी एक साथ मिल कर ध्रुवजी के ऊपर छः छः बाण छोड़े। वे एक दो तो थे नहीं अयुतों असरयों यक्ष थे, वे सब बदला लेने के लिये तुले हुए थे। इसलिये जिसके हाथ में जो ही अस्त्र लगा, वह उसी से ध्रुवजी के ऊपर प्रहार करने लगा। किसी ने परिघ का प्रहार किया तो किसी ने खड्ग लेकर ही धावा बोल दिया, कोई प्राश, तोमर, त्रिशूल, परश्वध, शक्ति, भुसुण्डी आदि शस्त्रों का प्रहार करने

लगे, कोई अपने चील के पङ्खों वाले चित्र विचित्र बाणों से ही ध्रुवजी को घायल करने लगे।

यद्यपि ध्रुवजी के शरीर में उन अस्त्र-शस्त्रों का स्पर्श भी नहीं होता था, किन्तु एक दो हों तो उन्हें काट दें, जब चारों ओर से अस्त्र शस्त्र और बाणों की वर्षा-सी होने लगी, तब तो बाणों के बाहुल्य से उनका सम्पूर्ण रथ उसी प्रकार ढक गया जैसे जाड़ों में हिमालय बरफ से ढक जाता है, अज्ञान से ज्ञान ढक जाता है, सिवार से पानी ढक जाता है, पाखण्ड से सद्धर्म ढक जाता है। ध्रुवजी का रथ अदृश्य हो गया। इस आश्चर्य को देखकर आकाश में स्थित सिद्ध देव तथा ऋषिगण हाहाकार करने लगे कि यह मनुवंश का मुकुटमणि आज अथाह सागर में डूबकर विलीन हो गया। उत्तानपाद कुल अंशुमान आज अस्ताचल में प्रस्थान कर गया।

यक्ष अपनी विजय समझकर किलकारियाँ मारने लगे, जय-घोष करने लगे, उछलने कूदने, नाचने गाने तथा आनन्द मनाने लगे। उसी क्षण क्या देखते हैं कि, जैसे बादलों को वायु द्वारा मेघों के छिन्न भिन्न हो जाने पर चन्द्रमा प्रकाशित होने लगता है, जैसे कुहरे को फाड़कर भगवान भुवनभास्कर उदित हो जाते हैं, उसी प्रकार उन सब अस्त्र शस्त्रों को तोड़ते-फोड़ते महाराज ध्रुव का रथ भी दिखायी देने लगा। रथ के दिखायी देते ही आकाश चारी सिद्ध गन्धर्वों ने महाराज ध्रुव का जयघोष किया। अब तो ध्रुवजी अत्यन्त कुपित हुए, उन्होंने बड़े जोर से अपने दिव्य धनुष को ज्या खींचकर भयंकर टङ्कार किया। इससे यक्षों की नानी मर गयी। उनका सभी उत्साह भङ्ग हो गया। किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये। उस समय ध्रुवजी ने उन्हें सम्हलने का अवसर ही नहीं दिया। इतनी शीघ्रता के साथ बाण-वर्षा की कि, उनके बाणों से यक्षों के कवच टूट गये, उनके शरीरों में बाण घुस

गये। रक्त से सने हुए इधर से उधर दौड़ते हुए वे सब ऐसे ही लगते थे मानों भयङ्कर भूकम्प में फूले हुए टेसू के वृक्ष डगमगा रहे हों, इधर-उधर हिल रहे हों।

अब क्या था, रणभूमि रक्तरञ्जित हो गयी। उसने भयङ्कर अगाध सरिता का रूप धारण कर लिया। यक्षों के शिर कट-कट कर इधर से उधर गिरने लगे, उनके कान कमनीय कुण्डलों से मण्डित थे, सिर पर मनोहर मुकुट शोभायमान था। वे कटे हुए सिर ऐसे ही लगते थे मानों विविध भाँति की मछलियाँ हों। यक्षों के शिरों से जो रक्त निकला था वही श्रावण भादों की नदी थी, उसमें ये मछलियों की भाँति सिर तैर रहे थे। अंगदों के सहित कटी हुई बाहुएँ ऐसी लगती थीं मानों सर्प बहे जाते हों। ताल वृक्ष के समान सुन्दर सुनहरी जङ्घायें कटकर बहती हुई ऐसी लगती थीं मानों असंख्यों मगर नदी में घूम रहे हों। चित्र-विचित्र हार सुवर्ण के सुन्दर वलय, रंग बिरंगे वस्त्र इधर-उधर छिटकते हुए बड़े ही भले मालूम पड़ते थे।

अब तो यक्षों में भगदड़ मच गयी, चलियोरे बचाइयोरे। ऐसे चिल्लाते हुए दशों दिशाओं में भागने लगे। किसी ने दीन होकर ध्रुवजी की शरण ली। उन भयभीत भागते हुए, डरे युद्ध छोड़कर पलायमान यक्षों पर ध्रुवजी ने धर्मानुसार प्रहार नहीं किया। यक्ष सबके सब भग गये। अकेले ध्रुवजी ही अपने दिव्य रथ पर चढ़े हुए रणभूमि में रह गये और मरे हुए यक्षों के असंख्यों शव। शेष सभी यक्ष भाग गये।

युद्ध समाप्त हुआ अब ध्रुवजी क्या करें। सम्मुख अपनी शोभा को आकाशमंडल में बिखेरती हुई झलमल-झलमल करती हुई अलकापुरी दिखायी दे रही थी। ध्रुवजी की इच्छा हुई, इस अनुपम नगरी की चलकर शोभा तो देखें। चिरकाल से इसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुन रहे थे। फिर सोचा—"अरे, भैया! अभी

मत चलो। ये यक्ष बड़े मायावी होते हैं, पता नहीं क्या माया रच दें। यह पराजय इनकी धूर्तता ही हो, कुछ नया षड्यन्त्र न रच रहे हों। कहीं फिर अकस्मात् हमला न कर दें।

ध्रुवजी इस प्रकार अकेले बैठे हुए अपने रथ पर ये सब बातें सोच ही रहे थे, कि सहसा उन्हें आकाश में बड़े जोर की गड़गड़ाहट तड़तड़ाहट सुनायी दी। वे समझ गये यक्षों ने माया रची है इसीलिये सम्हलकर उन्होंने अपने धनुष पर डोरी चढ़ा ली। ध्रुवजी क्या देखते हैं, समुद्र के तूफान के समान प्रचंड वेग वाली आँधी चलने लगी, फिर इतनी धूलि उड़ी कि दशों दिशाओं में घोर अंधकार हो गया। उस घोर अंधकार में कभी-कभी चपला चंचला विद्युत् चमक जाती। आकाश से अपवित्र वस्तुओं की वर्षा होने लगी। निरन्तर रक्त, मल, मूत्र, पीव, विष्ठा, कफ आदि आकाश से गिरने लगे। कभी कबन्ध कटकर ऊपर से गिरते, कभी ओलों की वर्षा होती। कभी आकाश में पर्वत दिखायी देता, जिससे टूट-टूट कर बड़े-बड़े पर्वत-शिखर ध्रुवजी के रथ पर गिरते। भाले, बरछी, तोमर, प्रास, खड्ग, छुरी आदि की वर्षा होती। कभी-कभी ऊपर से फन उठाये विषधर सर्प गिरते, जो ध्रुवजी के रथ पर चढ़कर उनकी ओर जीभ लपलपाते हुए दौड़ते। कभी मतवाले हाथियों का झुण्ड, कभी सिंहों का झुण्ड, कभी वृक, व्याघ्र रीछों का झुण्ड आता हुआ दिखाई देता। कभी उन्हें ऐसा दीखता मानो प्रलय हो रही है, प्रलयकालीन समुद्र उमड़ता हुआ उन्हीं की ओर चला आ रहा है। उसमें वे क्षण भर में डूबना ही चाहते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! यक्षों की ऐसी भयंकर आसुरी माया देखकर ध्रुवजी कुछ विचलित हुए, वे निर्णय न कर सके अब क्या करें। वह यह तो समझ गये, कि ये सब यथार्थ नहीं हैं, माया से निर्मित हैं, किन्तु इस माया का नाश

कैसे हो, यह उनकी बुद्धि में नहीं आया। तब ऊपर से ऋषि मुनि उन्हें संकेत में आशीर्वाद देते हुए बोले—"हे उत्तानपाद-नन्दन! जिन भगवान् के नामों के सहारे संसार की सभी माया नष्ट हो सकती है। जिनके सुमधुर नामों का श्रवण कीर्तन करने से मनुष्य अनायास में ही इस अगाध संसार-सागर को बात की बात में पार कर सकता है, वे सारङ्गपाणि भगवान् वासुदेव तुम्हारी रक्षा करें। वे अशरण-शरण तुम्हारे मन का भ्रम दूर करें। वे शरणागत भयभञ्जन भगवान् भक्तानुगण्य आपकी रक्षा करें।"

ध्रुवजी इन आशीर्वचनों को सुनकर समझ गये कि माया नारायणास्त्र से ही शान्त हो सकती है। भगवान् के नाम के सम्मुख माया ठहर ही कैसे सकती है, अतः यह सोचकर उन्होंने आचमन किया और अपने धनुष पर भगवान् का नाम स्मरण करते हुए श्रीनारायणास्त्र को चढ़ाया। उस दिव्य अमोघ बाण के चढ़ाते ही यक्षों की माया उसी प्रकार नष्ट हो गयी जैसे शरद् के आने पर नदियों के जल की मलिनता नष्ट हो जाती है अथवा सूर्य के उदय होते ही रात्रि की समाप्ति हो जाती है, अथवा पानी के पड़ते ही अग्नि बुझ जाती है, अथवा भर पेट भोजन कर लेने पर बुभुक्षा शान्त हो जाती है, अथवा ज्ञान के उदय होने पर जैसे अविद्यादि क्लेशों का नाश हो जाता है।

जब माया नष्ट हो गयी, तब तो ध्रुवजी ने दनादन बाणों का छोड़ना प्रारम्भ किया। वे बाण यक्षों के शरीर में सन्न-सन्न करते हुए उसी प्रकार घुसने लगे जैसे वृन्दावन की कुञ्जों में कल-रव करते हुए मयूर घुस जाते हैं। वे बाण बड़े नुकीले थे, उनके मुख पर सुवर्ण लगा था, चील की पंखों तथा राजहंसों के पक्षों से वे मण्डित थे। उन बाणों के प्रहारों को सहन करने में धनद कुबेर के अनुचर वे यक्ष समर्थ न हो सके। वे उसी प्रकार उन्हें

देखकर भागे जैसे सर्प गरुड को देखकर भागता है। वहिर्मुख कथा को देखकर जैसे भागता है। परनिन्दक पिशुन दम्भी जैसे भगवन्नाम कीर्तन को देखकर भागता है। अथवा कायर जैसे बाण वर्षा को देखकर भागता है। कुछ यक्ष साहस करके ध्रुवजी की ओर दौडे, तो ध्रुवजी ने उन्हे बाण मारकर उस लोक मे पहुँचा दिया जहाँ के राजा दडक यम हैं। उनका शरीर तो रक्त से लथपथ हुआ समरागण में पडा रह गया और प्राण परेरू सदा के लिये परलोक प्रयाण कर गये। ऐसे एक नहीं सहस्रों लाखों अयुतों यक्ष मारे गये।

इस प्रकार यक्षो को मारे जाते देखकर स्वर्गलोक से भी ऊपर के लोकों में निवास करने वाले ध्रुवजी के पितामह स्वायम्भुव मनु ने जब यक्षों का ऐसा विनाश देखा, तो उन्हें उन पर दया आ गयी। अरे, यह हमारे वश का बच्चा इन निरपराध यक्षों का व्यर्थ बध कर रहा है। यह सोचकर वे बडे दुखी हुए।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान् मनु को यक्षों पर दया आयी तो वे ध्रुवजी को इस क्रूर कर्म से निवारण करने का निश्चय करके वहाँ से चलने को उद्यत हुए।"

छप्पय

ध्रुव फिरि मारे बाण घुसे यक्षनिके तनमें।
घायल ह्वैकें गिरे भगे गिरि, वन उपवनमें॥
फिरि प्रकटाई विकट कपट माया शत्रनिनें।
ध्रुवकूँ नाम महात्म्य जतायो स्वस्थ मुनिननें॥
तुरत चढायो धनुषपै, ध्रुव नारायण अस्त्रकूँ।
यक्ष असख्यनि मरि गये, बचे भगे तजि शस्त्रकूँ॥

स्वायम्भुव मनु का पौत्र ध्रुव को यक्ष वध से रोकना

(२४३)

अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना ।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥
नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम् ।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ११ अ० ७, ८ श्लोक)

छप्पय

निरखि पौत्रको कृत्य दुखित मनु ढिँग ध्रुव आये ।
प्रेम भरे अति सरस वचन कहि कहि समुझाये ॥
बस, बेटा ! वध व्यर्थ न उपदेवनिको करि अब ।
वशवृद्धिके हेतु न यक्षनितें तू लरि अब ॥
सहनशीलता दया अरु, मैत्री समतातें हरी ।
होहिँ तुष्ट इन गुननितें, क्यों हिंसा इनकी करी ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! यक्ष वध से निवृत्त कराने के लिये स्वायम्भुव मनु अपने पौत्र ध्रुव से कहने लगे—"बेटा ! बस, बहुत हो गया । जिस क्रोध के वशीभूत होकर तुम इन पुण्यजन यक्षो का वध कर रहे हो उस नरक के द्वार रूप पापी क्रोध को दूर करो । तुमने जो निरपराध यक्षो के वधरूपी कार्य को आरम्भ किया है वह हमारे कुल के अनुरूप नही है । बुद्धिमान लोग तुम्हारे इस कार्य की प्रशंसा नही करेंगे । विद्वानों द्वारा यह कार्य निन्दनीय है ।

ससार में वे पुरुष धन्य हैं, जिन्हें प्रेमपूर्वक अत्यन्त स्नेह से अपने पुत्र पौत्र शिष्य और आश्रितों को डाँटने डपटने और कडी-कडी बातें कहकर समझाने का सुयोग प्राप्त होता है और वे उनसे भी अधिक धन्य हैं, जिन्हे अपने गुरुजनो की प्रेमभरी हितकर घुडकियाँ सुनने का अवसर प्राप्त होता है।

जो छोटे पुरुष अपने बडों की डाँट डपट सुनकर मन से क्रोध नहीं करत, सिर झुकाये लज्जित होकर उनकी डाँट डपट सुन लेते हैं और उनके क्रोध करके पूछने पर भी नम्रतापूर्वक हँसकर ही उत्तर देते हैं। जो उनकी आज्ञा को अपने प्रतिकूल होने पर भी शिरोधार्य कर लेते हैं, ऐसे पुरुष बिना किसी यज्ञयाग के स्वर्ग को जीत लेते हैं। गुरुजनों की डाँट डपट भर्त्सना भाग्यहीनो को कभी प्राप्त नहीं हो सकती। जो अकुलीन है, जिनका मातृवश या पितृवश किसी पाप से दूषित हो गया है, ऐसे असहनशील पुरुष गुरुजना की हितकर बातें सुनकर भी क्रोध करते हैं, उन्हें अपना शत्रु समझते हैं। उनके मुख पर ही कठोर वचन कहकर उनका तिरस्कार करते हैं। वे तो नरक से आये हुए प्राणी हैं, और फिर नरक को ही जाने के लिये बोरिया बिस्तरा बाँधे सामान इकट्ठा कर रहे हैं।

अहा! उस समय की शोभा कैसी दर्शनीय होती है, जब हमारे गुरुजन हमे अत्यन्त ममत्व के साथ हमारी अवहेलना करते हुए हमे डाँटते हैं, भली बुरी बातें कहते हैं और हम लज्जित हुए दोनों कधों का झुकाये उनकी दृष्टि स अपनी दृष्टि को बचाते हुए डबडबायी आँखों से उनकी हितकर किन्तु ऊपर से परुष कठोर सा दीखने वाली बातों को बिना ननु नच किये सुनत रहते हैं। वे जब क्रोध मे भरकर हमसे किसी बात का उत्तर चाहते हैं, तो सिर नीचा किये हुये अत्यन्त विवशता के स्वर में हँसते हुए उनकी बात का उत्तर देते हैं, यदि वे हमारे उत्तर स

असन्तुष्ट होकर उसमें अनेको दोष निकालते हैं, तो हम उनका खण्डन नहीं करते लज्जित होकर उन्हें भी सहते रहते हैं, जिन आँखों को ऐसे सुशील सदाचारी नम्र पुरुषों और उनके हितैषी गुरुजनों की डाँट फटकार युक्त सम्वाद देखने को मिलता है उन दर्शकों की आँखें सफल है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब स्वायम्भुव मनु ने ध्रुवजी के द्वारा असंख्यों यक्षों का निरपराध वध देखा तो वे अपने वंश की वृद्धि के लोभ से ध्रुवजी को रोकने महर्लोक से अनेको ऋषियों के साथ वहाँ आये।"

सूर्य की भाँति चमचमाते हुए विमान पर ऋषियों से घिरे आकाश से उतरते अपने पितामह को देखकर ध्रुवजी सम्भ्रम में पड गये। उन्होंने भूमि में लोटकर रथ से उतरकर उन्हें प्रणाम किया। बिना आशीर्वाद दिये ही शीघ्रता के साथ स्वायम्भुवमनु बोले—"बेटा ! बस, बस अब इस युद्ध को तुम समाप्त करो। यक्षों ने तुम्हारा क्या बिगाडा है क्यों इनका व्यर्थ वध कर रहे हो ? इनके मारने से तुम्हे क्या लाभ होगा ?"

हाथ जोडकर दोनो कन्धे झुकाकर धीरे से ध्रुवजी ने कहा—'महाराज ! ये निरपराध कैसे हैं इन्होंने तो मेरे भाई को मार डाला है।"

मनुजी डाँटते हुए कहा—"वाह ! यह अच्छी रही। भाई को इन सबने मारा है। किसी एक यक्ष ने मारा होगा। उस एक के पीछे तुम लाखों का सहार कर रहे हो यह कहाँ तक उचित है ? कौन बुद्धिमान पुरुष तुम्हारे इस निन्दनीय कार्य का समर्थन करेगा। कहते तो तुम यह हो यह काम मैंने अपने भाई के प्रेम के कारण किया है किन्तु यह सब अनर्थ तुमने क्रोध के वश में होकर किया है। क्रोध पाप का मूल है नरक का द्वार है, घोर अंधकार में ले जाने वाला है।

अत्यन्त नम्रता से ध्रुवजी बोले—"महाराज ! हाँ मुझे क्रोध तो अवश्य आ गया, किन्तु मेरा क्रोध अकारण नहीं था। उसका मुख्य कारण मेरे भाई की हत्या थी। उसे अकेले इन लोगों ने मार डाला अब मैं अपने भाई को कहाँ पाऊँगा।" इतना कहते-कहते ध्रुवजी की आँखों में अश्रु बहने लगे।

इस पर कुछ कोमल होकर मनुजी बोले—"अरे, ध्रुव हम तो समझते थे तुम बड़े हो गये तुम कुछ बुद्धिमान भी हो गये होगे, तुम तो बच्चे के बच्चे ही बने रहे। बेटा ! कौन किसे मारता है, अरे इस जड पाञ्चभौतिक शरीर के मोह से प्राणियों की हिंसा करना कहाँ तक उचित है। मेरे प्यारे बच्चे ! सोचो इस बात को अपने भाई के वध से सन्तप्त होकर पशुओं के समान जीवों की हत्या करना यह भगवद्भक्तों का मार्ग है ? भैया भक्त तो समदर्शी होते हैं वे तो मन से भी कभी किसी को कष्ट पहुँचाने का विचार नहीं करते। हमने तो सुना था तुम बड़े भगवद्भक्त हो, ५ वर्ष की अवस्था में ही तुमने अपने तप से उन परात्पर जनार्दन को सन्तुष्ट किया था जिनका सन्तुष्ट करना अत्यन्त ही कठिन है। उसका क्या यही फल है, कि निर्दयता पूर्वक जीवों का संहार करना ? तुमने देखो कैसा दुर्लभ पद प्राप्त कर लिया है, तुमने समत्व भाव से सर्वेश्वर का ध्यान किया है, तुम्हारी गणना भगवद्भक्त-श्रेष्ठ पुरुषों में है। सभी श्रेणी के पुरुष तुम्हारा सम्मान सत्कार करते हैं। तुम्हारे वचनों को लोग प्रमाण मानते हैं तुम्हारे निर्दिष्ट पथ का असंख्यों पुरुष अनुशरण करते हैं। ऐसे होने पर भी तुमने यह हमारे कमनीय कीर्तिवान कुल को कलङ्कित करने वाला कार्य कैसे कर डाला ?"

ध्रुवजी ने किञ्चित रोष के स्वर में कहा—"महाराज ! जो हमारा अपकार करता है, हमारे साथ शत्रुता रखता हो, उसके

साथ हम स्नेह का बर्ताव कैसे कर सकते हैं ?"

मनुजी ने कुछ घुड़ककर कहा—"फिर तुम वही मूर्खता की बातें करते हो। भैया, शत्रु मित्र कहीं बाहर नहीं हैं, अपनी अन्तरात्मा ही शत्रु है, वही मित्र है। संसार में अपने से छोटे बड़े, समान और साधारण चार ही प्रकार के लोग होते हैं। जो अपने से छोटे हों, अपने आश्रित हों, उन पर सदा दया दृष्टि रखनी चाहिये, उनके साथ सर्वदा कृपा करना चाहिये। जो अपने से बड़े हों, उनकी कड़ी से कड़ी बात को भी बिना विरोध के सहन कर लेना चाहिये। भूलकर भी उनके प्रति असहनशील न बने। जो अपने बराबर वाले हों उनसे मित्रता का स्नेह का बन्धत्व का व्यवहार करना चाहिये। जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं सामान्य पुरुष हैं, ऐसे समस्त प्राणियों के प्रति समता के भाव रखने चाहिये। इस प्रकार व्यवहार बर्ताव करने से सर्वान्तर्यामी श्रीहरि शीघ्र से शीघ्र सन्तुष्ट होते हैं। भगवान् जहाँ सन्तुष्ट हुए बस फिर क्या है मार ली बाजी। बेड़ापार हो गया। संसार सागर सहज में ही तरकर जीव ब्रह्मपद का अधिकारी हो जाता है।"

ध्रुवजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! आप जो कह रहे हैं वह तो सब सत्य ही है, फिर भी बन्धु वियोग से क्लेश होता ही है। आत्मा अजर अमर है, यह सत्य है फिर भी उसका आश्रय तो यह शरीर ही है। शरीर के नष्ट होने से संबन्ध भी नष्ट हो जाता है। सम्बधी का वियोग हो जाता है। संसार में सबंधी से सयोग होना सर्वश्रेष्ठ सुख है और उसका वियोग होना दुस्तर दुःख है। सम्बन्धी के शरीर को नष्ट करनेवाले के प्रति तथा उसके सबन्धी के प्रति स्वाभाविक ईर्ष्या होती ही है।"

इस पर मनुजी ने कहा—"ईर्ष्या करना कुछ अच्छी बात तो है नहीं। पहिले तुम इस शरीर को ही समझ लो, शरीर क्या

है। ये पंचभूत ही चेतन के संगम से देह रूप में व्यक्त हो गये। हैं। स्त्री पुरुषों ने अन्न आदि पार्थिव विकारों की वस्तुएँ खायीं। उनसे रज वीर्य बन गये। दोनों का संयोग हो जाने से एक बालक की उत्पत्ति हो गयी। बालक बढ़कर युवा हुआ। इसी प्रकार उसके भी बालक हो गये। यह चक्र अनादि काल से चल रहा है। इसीलिये राजन्! आप ध्यानपूर्वक सोचें ये शरीर क्या हैं? भगवान् की अचिन्त्य माया से सत्वादि गुणों मे न्यूनाधिक भाव होने पर इन समस्त शरीरों की उत्पत्ति स्थिति और नाश सदा होते रहते हैं। आप तो बुद्धिमान हैं श्रेष्ठ हैं शूरवीर हैं, सोचिये क्या यह दृश्य जगत् नित्य हैं। यह तो प्रकृति पुरुष के सयोग से एक प्रवाह चल रहा है। परमात्मा परमपुरुष तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में केवल निमित्त मात्र हैं। जैसे चुम्बक के आश्रय से लोहा घूमता है उसी प्रकार अखिलकोटि ब्रह्माण्ड नायक श्रीमन्नारायण के आश्रय से यह सम्पूर्ण कार्य कारण रूप संसार घूम रहा है। इस विषय में आप मोह न करें।

मैत्रेयमुनि कहते हैं—"विदुरजी! बड़े लोग छोटों को 'आप' या सम्मान सूचक शब्द या तो उनकी जब हँसी उड़ाते हैं, तब कहते हैं, या जब उन्हें डाँटना डपटना होता है, तब कहते हैं। आज स्वायंभुव मनु अपने पौत्र को 'राजन्' कहकर सम्बोधन कर रहे हैं मानों उन्हें डाँट रहे हैं, कि तुम कैसे राजा हो, जो तुम अपने क्रोध को भी नहीं रोक सकते हो जब श्री मनुजी ने संसार के सभी कार्यों को भगवान् के ही आश्रय से बताया तब तो ध्रुवजी ने पूछा—"भगावन् ही यह सब करते कराते हैं, तो किसी को सुखी बनाते हैं, किसी को दुखी। फिर उनमें साम्यभाव कहाँ रहा। इससे तो उनमें नैर्घृण्य दोष आ जाता है। फिर जब वे कर्ता हैं, तो दुःख-सुख आदि फलों के भोक्ता भी होंगे?"

इस पर बड़े स्नेह से मनुजी ने कहा—"ना, भैया! ऐसी

बात नहीं है। देखो, जब तीनों गुण सम होते हैं, तो उसे प्रकृति कहते हैं, उस समय संसार का कोई कार्य नहीं होता। जब काल क्रम से समय आने पर भगवत् प्रेरणा से गुणों में सम विषमता न्यूनाधिकता होती है तब भगवान् की प्रजनन शक्ति में विषमता हो जाता है। तत्तद् गुणों के अनुरूप सृष्टि होने लग जाती है। वास्तव में भगवान् तो कुछ करते धरते ही नहीं। शक्ति वैषम्यक के ही कारण वे ब्रह्मरूप रखकर इस सृष्टि का सृजन करते हैं। जब वे कर्ता नहीं तो भोक्ता और संहर्ता क्यों होने लगे, फिर भी तमप्रधान शक्ति से रुद्ररूप धारण करके समय आने पर चराचर विश्व का संहार भी करते हैं। अब उनकी शक्ति कितनी है, उसमें वैषम्य यों होता है, वे इस प्रपंच रचना, पालन, तथा संहार क्यों करते हैं, यह उनकी अचिन्त्य लीला है। इसके संबंध में कोई निश्चित रूप से 'इत्थम्भूत' नहीं कह सकता कि इसका कारण यही है।

इसपर ध्रुवजी ने कहा—"भगवन्! एक बार तो आप कहते हैं भगवान् ही सब करते हैं और फिर कहते हैं, उन्हें सृष्टि स्थित प्रलय से कोई सम्बन्ध नहीं। जब वे कर्मों के फलदाता हैं और सम दृष्टि वाले हैं तो सबको एक-सा फल दें। यदि ऐसा नहीं करते किसी को अपना समझकर सुख देते हैं, किसी को पराया समझकर दुःख देते हैं तो पक्षपाती हुए और पक्षपात ही बन्धन का कारण है, तब तो वे भी हमारी भाँति जीव कोटि में आ जाते हैं?"

यह सुनकर मनुजी हँस पड़े और बोले—"यही तो भैया भगवान् की सर्वज्ञता है। वे सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते। स्वयं तो वे उत्पत्ति से रहित अज हैं, किन्तु जगत् उत्पन्न करते हैं और उसमें आसक्त नहीं होते। सर्वथा पृथक् रहते हैं। स्वयं अनादि हैं, किन्तु सबके आदि कारण वे ही हैं। स्वयं

वे काल स्वरूप अव्यय और अनन्त हैं। किन्तु समय-समय पर जगत् का अन्त भी वे ही करत है। उनकी किसी से उत्पत्ति नहीं हुई, किन्तु जीवों से जीवों की उत्पत्ति वे ही करते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से एक जीव दूसरे जीवों के प्राणों के अन्त कर देते हैं। सबों को अपने कर्मानुसार फलों का भोग करा रहे हैं, उनका न कोई अपना है, न पराया। या तो सभी उनके अपने हैं या सभी पराये।"

मैं तुम्हें एक दृष्टान्त देता हूँ, वेग की वायु चलती है उसके साथ रजकण भी उडते हैं। वायु यह नहीं कहती मेरे साथ चलो यह नहीं कहती मत चलो। जहाँ तक जिसके उडने का संयोग समाप्त हुआ गिर जाता है। रज के कारण चलने से न वायु मे कोई विकार हुआ, गिरने से न उनकी कोई हानि हुई। यद्यपि सब उडते तो वायु के आश्रय से ही हैं, किन्तु वायु उनसे सदा निर्लेप ही है। इसी प्रकार जीव उन कालस्वरूप भगवान् का अनुगमन कर रहे हैं। उन्हीं की प्रेरणा से भोग-भोग रहे हैं, किन्तु अपने-अपने कर्मों के ही अनुसार दुःख भोगते हैं। भगवान् निर्लेप निर्विकार, निरंजन नित्यस्वरूप हैं। यद्यपि सर्वान्तर्यामी भगवान् ही कर्म बन्धनों के अधीन जीवों की आयु का परिणाम, वृद्धि, क्षय आदि का विधन करते हैं, किन्तु स्वय उनमे न वृद्धि है, न क्षय है, न कर्म है न बन्धन। लीला है, क्रीडा है, और क्या कहें जो है सो ही है। गूंगे का गुड है।"

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज, यह तो बडी गडबड सी बात है। शास्त्रकारों मे भी बडे मतभेद हैं। कोई भगवान् को कर्ता मानता है कोई कर्म को ही प्रधान बताता है। कोई कुछ कहता है कोई कुछ। इतने मतभेद होने पर हम किसे सत्य मानें, किसे झूठ समझें?"

महाराज मनु बोले—"देखो, बेटा! एक वस्तु है उस एक को

भिन्न-भिन्न देशीय लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। जल है कोई उसे वारि कहता है, कोई पय कहता है, कोई नीर कहता है, कोई जीवन कहता है, कोई नार कहता है, कोई सलिल कहता है, इतने नाम होने पर भी जल तो एक ही है। किसी भी नाम से कोई माँगे उसे जल ही दिया जायगा। मीमांसक लोग भगवान् को 'कर्म' के नाम से पुकारते हैं। भगवान् के बिना कर्म की क्या सत्ता उनके मत में कर्म ही भगवान् हैं। चार्वाक आदि नास्तिक कहते हैं ईश्वर फीश्वर कुछ नहीं। सब स्वभाव से ही वर्त रहे हैं। 'स्वभाव' ही मुख्य है। तो यों समझो वे ईश्वर को स्वभाव कहकर पुकारते हैं। वैशेषिक आदि कहते हैं नहीं काल ही प्रधान है। काल कोई दूसरा नहीं ईश्वर की ही उन्होंने 'काल' संज्ञा मान ली है। कोई कहते हैं दैव ही सुख-दुःख में कारण है। करने कराने वाला 'दैव' है। उनके मत में दैव ही ईश्वर है। कोई वात्स्यायन आदि कामशास्त्रों के आचार्य कहते हैं "काम" ही प्रधान है। काम से ही सृष्टि है, काम से ही सुख है। वे ईश्वर को काम कह कर पुकारते हैं। बात एक ही है।

इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये। ग्रामीण लोग बहुत पढ़े लिखे नहीं होते, साधारण काम काज योग्य बातें जानते हैं। एक बुढ्ढे ने अपना हाथी बेचा वह २० तक गिनती जानता था। उसने कहा मैं अपना हाथी तीन बीस पर बेचूँगा। लेने वाले ने ६०) दे दिये कहा लीजिये ये ६०) हैं बुढ्ढे ने कहा मुझे ६०) नहीं चाहिये मैं तो तीन बीसी लूँगा। इस प्रकार दोनों में वाद-विवाद हो रहा था। एक बुद्धिमान् पुरुष आया, उसने ६० रुपयों को तीन स्थानों में २०, २० करके रख दिया। बुढ्ढा प्रसन्न होकर रुपये लेकर सन्तुष्ट हो चला गया। सो भैया, चाहे ६०) कहो या तीन बीसी सीधी नाक पकड़ो या घुमाकर। राम कहो श्याम कहो, कृष्ण कहो, राम कहो बात एक ही है। यद्यपि ये मह-

चत्वादि अनेक शक्तियाँ उनके ही द्वारा उत्पन्न हुई हैं और वे स्वयं भी अपने आप ही उत्पन्न हुए हैं। अपने आप क्या उत्पन्न हुए हैं, वे तो उत्पत्ति विनाश से रहित ही हैं, फिर अवतारादि धारण करने से उनकी उत्पत्ति उपचार से मानी जाती है। फिर भी वे क्या करना चाहते हैं इसे कोई नहीं जान सकता। न कोई अनुमान ही लगा सकता है।

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज, मेरी भूल ही हुई। मैंने यही समझा कि इन कुबेर के सेवक यक्षों ने मेरे भाई को मार डाला है, अतः इनसे बदला चुकाना चाहिये।"

इस पर प्रसन्न होकर मनुजी बोले—"हाँ, भैया अब तुम्हारी बुद्धि शुद्ध हुई है। देखो, बेटा! कौन किसे मार सकता है सब दैववश अपने प्रारब्धानुसार जन्मते मरते हैं, तुम्हारे भाई का ऐसा ही प्रारब्ध था। भगवान तो गुण कर्मों से सदा पृथक् रहते हैं। पालन संहार आदि करते हुए भी वे अहंकार रहित होने के कारण उनसे सर्वथा परे हैं। उनकी शक्ति से ये सब कार्य होते रहते हैं।"

ध्रुवजी ने कहा—"तब, बाबाजी! मुझे क्या करना चाहिये?"

मनु महाराज हँस पड़े और बोले—"अरे भैया! करना क्या चाहिये। उन संसार के आश्रय मृत्यु तथा अमृत रूप उन श्रीहरि ही की सर्वात्मभाव से शरण में जाओ। उनकी ही शरण में जाने से, उन्हीं की कृपा से तुम परम शांति को प्राप्त कर सकोगे। वे ही समस्त ब्रह्मादिक देवताओं को उसी प्रकार नचा रहे हैं, जैसे लोग ऊँट तथा बैलों को नाक में नकेल डालकर जहाँ चाहे ले जाते हैं, जिधर चाहें उधर नचाते रहते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अपने पितामह के ऐसे सार गर्भित वचन सुन ध्रुवजी लज्जित हुए और उन्होंने अपना

अपराध स्वीकार किया। इससे स्वायंभुव मनु बड़े प्रसन्न हुए और थोड़ी देर ठहरकर प्यार के साथ और भी उन्हें शिक्षा देने लगे।"

छप्पय

अरे, जगत महँ कौन जिवावे को किन मारे।
जगहूँ वेई रचें अन्त महु वे सहारें॥
जीवनि कूँ उपजाय जीवते जीव जिवावें।
मारें जीवनि जीव बड़े छोटनि कूँ खावें॥
नहिँ यज्ञनि तब बन्धुवध, कीन्हों सब है दैव वश।
क्रोध वैरकूँ त्यागि अब, सब ईश्वर कृत समुझि अस॥

स्वायंभुव मनुजी की आज्ञा से ध्रुवजी की यक्षवध से निवृत्ति

[२४४]

हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम् ।
यज्ञघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः ॥
त प्रमादय वत्साशु सन्नत्या प्रश्रयोक्तिभिः ।
न यावन्महतां तेजः कुल नोऽभिभविष्यति ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ११ अ० ३३ ३४ श्लो०)

छप्पय

लोकपाल शिव सखा, धनद, यक्षनि क ईश्वर ।
क्षमायाचना करा देहिंगे तुमको शुभ वर ॥
जब तक करें न क्रोध पैर परि विनय सुनाओ ।
हाथ जोरि है नम्र शरन उनकी तुम जाओ ॥
विविध भाँति समुझाइ कें, मनु अन्तर्हित है गये ।
करिकें पश्चात्ताप बहु, अति विनीत ध्रुवजी भये ॥

जब किसी से कोई कार्य उसकी स्थिति के प्रतिकूल हो जाता है, तो हमें उसके कुल की–उसके वंशजों की–कीर्ति का कथन

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! स्वायंभुव मनु अपने पौत्र ध्रुवजी से कहते हैं—"देखो, बेटा ! तुमने शंकरजी के सखा भगवान् धनेश्वर का अपमान किया है । यही समझकर कि ये मेरे भाई उत्तम को

करके समझते हैं, उसके पूर्वकृत का स्मरण कराके उसे कार्य से हटाते हैं। उस उस कार्य के दोष दिखाकर उसके मन में घृणा उत्पन्न कराते हैं। परलोक का भय दिखाते हैं। साराश यह है कि उसे हर प्रकार से शक्ति भर कुमार्ग से हटाने का प्रयत्न करते हैं, यहा बडों का बडप्पन है। यही गुरुजनों का सहज स्नेह है, यही उनकी सम्बन्धीपने की ममता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! इस प्रकार अनेक युक्तियों से विश्व की अनित्यता विषयों की क्षण भगुरता और भगवान् की भगवत्ता को सिद्ध करते हुए स्वायभुव मनु ने अपने पौत्र ध्रुव को समझाया जब उन्हे विश्वास हो गया, कि मेरे कथन का ध्रुव पर प्रभाव पडा है और वे अपनी भूल मानने लगे, तब उनके पूर्व कृत कर्मों का स्मरण दिलाते हुए उनकी महत्ता बताने लगे।

मनुजी कहने लगे—"ध्रुव! तुम भूल गये क्या भैया! अरे देखो तुमने केवल पाँच वर्ष की ही अवस्था में किसी से न होने वाला दुष्कर तप किया था और हजारों लाखों वर्ष की तपस्या से भी सहज मे प्रसन्न न होने वाले भगवान् का तुमने केवल ६ महीने में ही साक्षात्कार किया था। वे बातें तुम्हें स्मरण नहीं रहा क्या? याद करो अपनी सोतेली माता के वाग्बाणों से विद्ध होकर तुम जिनकी शरण गये थे और उनकी प्रसन्नता होने पर सुदुर्लभ ध्रुव पद प्राप्त होने का तुमने वरदान प्राप्त किया था उन निर्गुण अद्वितीय अविनाशी भगवान् वासुदेव को फिर अपने अन्त करण में खोजो, वे कहीं चले थोडी गये हैं तुम्हारे

मारने वाले हैं क्रोध करके जो तुमने यक्षों को मारा है। यह ठीक नहीं किया। सो भैया! जब तक ये महापुरुष जो कुबेरजी हैं इनका तेज हमारे कुल का नाश न करे, तभी तक तुम अति शीघ्र नम्रता, मधुर भाषण और विनय के द्वारा भगवान् कुबेर को प्रसन्न कर लो।

हृदय में ही बस रहे हैं, इसलिये तो वे वासुदेव कहलाते हैं। उन्हीं में यह भेदभाव मय दृश्य प्रपंच सत्य की भाँति प्रतीत हो रहा है। क्रोध और रोष के कारण तुम्हारी बाह्य दृष्टि हो गयी है। इसलिये बेटा! अन्तर्दृष्टि करो अन्तर्दृष्टि होते ही उन अचिन्त्य महिमा वाले प्रत्यगात्मा अखिल आनन्द के निलय अशेष, गुणगण आश्रयभूत सर्वशक्तिसम्पन्न, सच्चिदानन्द भगवान् वासुदेव में तुम्हारी दृढ भक्ति हो जायेगी।

ध्रुवजी ने अत्यन्त ही विनीत भाव से कहा—"महाराज भगवद्भक्ति होती नहीं, सब कुछ समझकर मन उन भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में लगता नहीं। भगवान् में प्रेम हो इसकी कोई सरल सी युक्ति आप बतावें।"

मनु बोले—"बेटा! भगवान् में भक्ति क्यों नहीं होती क्योंकि यह मन तो मैं मेरा तू तेरा की धुना बुनी में लगा रहता है, जब तक यह अहंता ममता की अविद्या रूपी दृढ ग्रन्थि न खुले तब तक भगवत् स्मृति कैसे हो सकती है। हृदय की ग्रन्थि खुल जाय सम्पूर्ण संशयों का छेदन हो जाय शुभाशुभ कार्य क्षीण हो जायँ, तो प्रकाश दिखाई दे। ये सब कार्य उन परावर प्रभु के दर्शन मात्र से एक साथ हो जाते हैं। यह सब होते हैं उन्हीं की कृपा से। रोग तभी छूटेगा जब उसका भोग समाप्त होगा। फिर भी योग्य चिकित्सक के बताये हुये मार्ग से पथ्य पूर्वक रहकर औषधि सेवन करते रहना चाहिये। संयम से औषधि और उपचार करने से रोग शान्त हो जाता है उसी प्रकार और सब झंझट छोड़कर भागवती कथाओं का श्रवण करो निरन्तर उन्हीं का मनन करो परस्पर में उन्हीं के प्रचार प्रसार की बातें करो, भागवती कथायें ही एकमात्र संसार सागर से पार ले जाने वाली दृढ़ नौकायें हैं। निरन्तर भागवती कथाओं के श्रवण मनन से ये काम, क्रोध, द्वेष आदि स्वतः ही शान्त हो जायँगे, कल्याण मार्ग

में सबसे बड़ा विघ्न यही है। भागवती कथाओं को छोड़कर हम संसारी विषयी लोगों की कथायें कहने लगते हैं उन्हीं की निन्दा स्तुति आलोचना करने लगते हैं। यह जीव के पतन का सबसे बड़ा कारण है। अतः भगवत् गुणों का निरन्तर नियम से श्रवण करते रहना यही भगवान् में प्रेम होने का सरल सुगम सर्वोपयोगी मार्ग है।

ध्रुवजी ने हाथ जोड़कर कहा—"अब महाराज! जो हो गया सो हो गया। अब आप जो आज्ञा देंगे वही मैं करूँगा। अब इस अपराध का क्या प्रायश्चित्त करूँ?"

प्रसन्न होकर मनुजी ने कहा—"अच्छा, जो हो गया सो तो हो ही गया। अब एक काम करो। अति शीघ्र जाकर तुम भगवान् कुबेर के चरणों में पड़कर उनसे क्षमा याचना करो। तुम तो अभी बच्चे हो, समझते नहीं भैया वे बड़े पूजनीय देवता हैं, लोकपाल हैं सम्पूर्ण निधियों के भण्डारी हैं, भगवान् सदाशिव के वे प्रिय मित्र हैं। उत्तर दिशा के अधिपति हैं, उन्हें तुम साधारण देवता मत समझो। उनके तो दर्शन ही किसी भाग्यशाली को होते हैं। तुम तो अपने पूर्वजन्मों के सुकृतों से यहाँ तक आ गये, नहीं तो साधारण लोगों की तो यहाँ तक पहुँच ही नहीं। वे सर्वसमर्थ हैं, यदि वे क्रोध करें तो शाप देकर हमारे समस्त कुल का सत्यानाश कर सकते हैं। यह तुम्हारा सौभाग्य है, कि तुम्हारे इतने अपराध पर भी वे अभी तक कुपित नहीं हुए। जब तक वे कुपित नहीं होते, तभी तक तुम शीघ्र जाकर उन्हें विनय नम्रता, स्तुति पूजा से सन्तुष्ट करो वे प्रसन्न होकर तुम्हें मुँहमाँगा वरदान देंगे।"

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज, मैंने उनका अपराध तो बहुत किया है। एक यक्ष के अपराध के पीछे मैंने उनके असंख्यों अनु-

चरों का वध किया है, इससे मैं उनके सम्मुख मारे लज्जा के कैसे जाऊंगा ?"

मनुजी ने कहा—"भैया ! देखो जो जितना ही बड़ा होता है, वह उतना ही बड़ा सहनशील भी होता है। जो जितना क्षुद्र होता है, वह उतनी ही ओछी छोटी और रागद्वेष की बातों को स्मरण रखता है। कुबेरजी लोकपाल हैं, वे तुम्हारे अपराधों की ओर ध्यान न देंगे। हाथ जोड़ लेना यह सबसे श्रेष्ठ मुद्रा है। हाथ जोड़ लेने से शीघ्र ही देवता तथा श्रेष्ठ लोग प्रसन्न हो जाते हैं। तुम हाथ जोड़कर हृदय से पश्चात्ताप करते हुए नम्र होकर उनकी शरण में जाओगे, तो वे तुम्हारे अपराधों को भूल जायँगे, उलटे प्रसन्न होकर तुम्हारा मङ्गल करेंगे। तुम्हें आशीर्वाद देंगे।"

अपने पितामह की ऐसी बातें सुनकर ध्रुवजी को अपने कृत्य पर हृदय से पश्चात्ताप हुआ।

अब स्वायंभुव मनुजी ने कहा—"अच्छा, तो बेटा ! हम तो अब अपने लोक को जाते हैं। तुम्हारा कल्याण हो।" इतना सुनते ही ध्रुवजी ने शीघ्रता से समस्त ऋषि मुनियों के सहित अपने परम पूजनीय पितामह की प्रेमपूर्वक पूजा की। पाद्य अर्घ्य आचमनीय देकर यथोपलब्ध सामग्रियों से उनका सत्कार किया। इस प्रकार ध्रुवजी द्वारा पूजित और सत्कृत होकर स्वायभुव मनु महर्षियों के सहित अपने लोक को चले गये।

अपने पितामह के चले जाने के अनन्तर ध्रुवजी का समस्त क्रोध शान्त हो गया, अब तक वे अपनी प्रकृति में नहीं थे, भ्रातृ प्रेम के कारण जो उनके मन में क्रोध उत्पन्न हो गया था, उसके कारण उनकी हिंसा वृति जागृत हो उठी थी। अब जब श्रीमनुजी ने उन्हें विविध भाँति से तत्वज्ञान का उपदेश दिया तो उनकी हिंसावृति निवृत्त हो गयी। अब उन्हें अपने कृत्य पर हृदय से

पश्चात्ताप हुआ। वे सोचने लगे—"मेरे पितामह ठीक ही कहते थे, मैं चाहे समस्त यक्षों को मार डालूँ। फिर भी मेरा भाई उत्तम तो जीवित हो नहीं सकता। फिर जिनको मैं मार रहा हूँ, इन्होंने तो उसे मारा नहीं। इन्हें तो पता भी न होगा, उत्तम कौन है किसने कहाँ मारा उसे मारा। मैं इनकी हिंसा व्यर्थ ही कर रहा हूँ। अकारण ही इनसे द्वेष मान बैठा हूँ।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब हृदय शुद्ध हो गया और अपने किये पर वे पछताने लगे, तब तो वे वरदान के अधिकारी हो गये। वे इसी चिन्ता में मग्न थे, कि मैं क्या मुँह लेकर भगवान् धनेश के सम्मुख जाऊँ। वे मुझे देखकर क्या कहेंगे। यही सब सोचते हुए वे अपने कर्तव्य का निर्णय न कर सकें।"

छप्पय

गुरुजन आज्ञा करें ताहि जे सिर पै धारें।
छाड़े, तर्क कुतर्क करें झट बिना बिचारे॥
ते जगमहँ धन धान्य सुयश के होवे भागी।
अन्त परम पद पाहिँ बने प्रभु के अनरागी॥
ध्रुव सुनि श्रद्धा सहित सब, मनु आशा स्वीकृत करी।
यक्षनि प्रति हिंसा जगी, ज्ञान अग्निमहँ सो जरी॥

ध्रुवजी को धनद कुबेर का वरदान

[२४५]

स राजराजेन वराय चोदितो
ध्रुवो महाभागवतो महामतिः ।
हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० १२ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

ध्रुव कूँ समझ्यो शान्त धनद ढिँग उनके आये ।
बोले—'बेठा ! बीर काज करि काहि लजाये ॥
यक्ष न मारे तुमनि उननि नहिँ उत्तम मार्‌यो ।
कूर काल सब करै कालतें सब जग हार्‌यो ॥
मनु आज्ञा मानी तुमनि, अति प्रसन्न मम मन भयो ।
वर माँगो मन भावतो, विहँसि धनद ध्रुवतें कह्यो ॥

हृदय में जब तक हिंसा के भाव हैं, तब तक उससे सभी भयभीत होते रहते हैं। कृपा करने वाले पास भी नहीं आते।

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! राजराजेश्वर श्री कुबेर ने ध्रुवजी से वरदान माँगने को कहा, तब उन महामति महाभागवत श्री ध्रुवजी ने उनसे श्रीहरि का मुझे अविचल स्मरण बना रहे, यही वरदान माँगा। जिस भगवत् के स्मरण के प्रभाव से मनुष्य सहज में ही इस दुस्तर अज्ञान रूपी अन्धकार से पार हो जाता है।'

हिंसा तो द्वेष से होती है। जिनके हृदय में द्वेष है उस पर कौन कृपा कर सकता है। हृदय से हिंसा हटी नहीं कि फिर सब ओर से कृपा की दृष्टि होने लगती है, सभी उसके सानुकूल हो जाते हैं, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। बिराने भी अपने बन जाते हैं। उसके सभी अपराध भुला दिये जाते हैं, उसका सब ही सत्कार करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब ध्रुवजी को उपदेश देकर स्वायंभुव मनु चले गये, तब ध्रुवजी सोचने लगे, कैसे मैं कुबेरजी के समीप क्षमा याचना करने चलूँ। कुबेर जी तो सर्वज्ञ ही ठहरे। ध्रुवजी के मन का भाव अपने योग बल से समझ गये, कि अब ध्रुवजी का क्रोध निवृत्त हो गया है, उनकी वृत्ति शान्त हो गयी है और वे अपने कर्म पर पश्चात्ताप कर रहे हैं, तो वे अपने विमान पर चढ़कर ध्रुवजी के समीप चले। उस समय उनकी शोभा अपूर्व थी। जितने यक्ष, चारण, गन्धर्व, किन्नर, स्त्री, पुरुष आदि देव उपदेव हैं, वे सब उनकी उपासना और स्तुति कर रहे थे, उनके ऊपर श्वेत छत्र लगा था, दोनों ओर चमर डुल रहे थे। असंख्यों बहुमूल्य मणियों और मोतियों की मालायें वे धारण कर रहे थे। अपनी आत्मा से दशों दिशाओं को आलोकित करते हुए कुबेरजी सहसा ध्रुवजी के सम्मुख प्रकट हुए।"

आकाश में आते हुए धनद कुबेर के प्रकाशवान् विमान को देखकर ध्रुवजी की दृष्टि चकाचौंध हो गयी। सहसा संभ्रम के साथ। उठकर उन्होंने लोकपाल धनद को अभ्युत्थान दिया। दण्डवत प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए सिर नीचा करके वे उनके सम्मुख अपराधी की भाँति खड़े हो गये।

विजयी ध्रुवजी के इस शील स्वभाव और नम्रता को देखकर कुबेरजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और अत्यन्त स्नेह के स्वर में

कहने लगे—"हे क्षत्रियसिंह शावक ! मैं तुम्हारे शील स्वभाव से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। यह बड़े ही मङ्गल की बात है, कि तुमने अपने पितामह के आदेश से यक्षों के प्रति बढे हुए अपने वैर को हृदय से त्याग दिया। भैया, तुम निष्पाप हो, तुम्हारी बुद्धि सदा धर्म में लगी रहती है, तभी तो उनका सदुपदेश तुम्हारे हृदय में बैठ गया। नहीं तो मनुष्य जिससे भी वैर कर लेता है उसे फिर छोडता नहीं। हृदय में उत्पन्न हुए वैर-भाव को सर्वथा छोड देना यह दुष्कर कार्य है। वह दुष्कर कार्य आज तुमने किया अतः मैं तुम पर अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ।"

ध्रुवजी ने अत्यत ही विनीत भाव से दोनो हाथों की अजलि बाँधे हुए कहा—"प्रभो ! क्रोध के वशीभूत होकर मैंने आपके असंख्यों निरपराध अनुचरों को मार डाला। इससे मेरे पितामह मुझसे अत्यन्त असन्तुष्ट हुए और उन्होंने मुझे आज्ञा दी, कि मैं आपसे अपने अपराध के लिये विनम्र होकर क्षमा याचना करूँ। अतः भगवान् भूल में जो मेरे द्वारा आपका अपमान हुआ हो उसे आप क्षमा कर दें, आपके सेवकों को जो मैंने मारा है, इस अपराध को भी आप अपनी कृपालुतावश भूल जायँ।"

इतना सुनते ही हँसते हुए कुबेरजी ने कहा—"अरे भैया ध्रुव ! तुम तो स्वयं बुद्धिमान और ज्ञानी हो। कौन किसे मार सकता है, कौन किसे जिला सकता है। सबके मृत्यु का काल और सयोग पहिले से ही निश्चित हो जाता है, कि यह अमुक काल मे अमुक के द्वारा अमुक-अमुक स्थान मे मरेगा। जितने यक्ष मर गये हैं उनकी मृत्यु भी इसी समय यहाँ समर के बीच में आपके द्वारा होनी थी सो हो गयी। यही बात उत्तम के सम्बन्ध में भी समझ लो उत्तम की मृत्यु ऐसे ही बदी था। उसे कोई टाल नहीं सकता था। काल की गति दुर्निवार्य है उसका अतिक्रमण करने की सामर्थ्य किसमें है।"

यह सुनकर ध्रुवजी ने कहा—"हाँ महाराज! यह तो सब सत्य ही है। फिर भी इस कार्य द्वारा अपमान तो हुआ ही। मेरे द्वारा इस अविनय को आप क्षमा करें और मेरे ऊपर क्रोध न करें।"

इस पर प्रेम के साथ कुबेरजी कहने लगे—"वत्स! अहंता ममता के कारण बन्धन और दुःख आदि विपरीत अवस्थाओं की प्राप्ति होती है। यह मेरा है, तेरा नहीं। मेरे को तू कैसे ले सकता है आदि मिथ्या अभिनिवेश मनुष्य को अज्ञान के वश होता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं वैसे ही जाग्रत के भी मिथ्या हैं। ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह संसारी वस्तु के नष्ट हो जाने पर किसी से क्रोध क्यों करेगा। जब सत् एक ही है, तो फिर वह अपराध करेगा किसका जब अपराध ही नहीं तो क्षमा याचना किसकी करें और किससे करें? इसलिये भैया, तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम अपने नगर को आनन्द पूर्वक जाओ, चिन्ता को छोड़ दो पश्चात्ताप को तिलाञ्जलि दे दो। अब तुम इस असार संसार से सदा के लिये पार होने के लिये उस परात्पर प्रभु का निर्व्यलीक भाव से भजन करो। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है वे अपनी गुणमयी माया शक्ति से युक्त होकर भी वास्तव में सर्वथा गुणों से रहित हैं। संसारी कोई भी पदार्थ सेवनीय नहीं है। सदा सर्वदा एकमात्र सेवनीय तो उन सर्वेश्वर के अरुण कमल सदृश कोमल कमल चरण ही हैं उन्हीं की तुम सर्वात्मभाव से शरण में जाओ। उन्हीं का सर्वात्मभाव से भजन करो।"

ध्रुवजी अन्यमनस्क भाव से बोले—"महाराज! भजन ही तो नहीं होता। एकमात्र चिन्तनीय उन अच्युत के चरणारविन्दों में चित्त लगता ही नहीं।"

यह सुनकर हँसते हुए कुबेरजी ने कहा—"भैया हमने तो

ऐसा सुना है, कि तुमने ५ वर्ष की अल्पावस्था में ही भगवान् अधोक्षज का साक्षात्कार कर लिया था। हम तो समझते हैं तुम सर्वथा भगवान् कमल नाभि के चरणारविन्द के रस के लोलुप मत्त भ्रमर हो। तुम श्रेष्ठ भगवद्भक्त हो। यद्यपि हममे तो कुछ भक्ति भाव है नहीं, फिर भी हम तुमसे बड़े हैं। देवता हैं इसलिये तुम हमसे वरदान माँगो। तुम जो भी वर माँगोगे वही मैं तुम्हें दूँगा। तुम माँगने में किसी प्रकार का सकोच मत करो।'

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए ध्रुवजी ने अत्यन्त विनय के साथ कहा—"प्रभो! संसारी भोगों को तो आपसे माँगूँ क्या वह तो मेरे पास पर्याप्त है। जिनको सन्तोष नहीं उन्हें सम्पूर्ण सुख मिल जाने पर भी तुष्टि नहीं, अतः पृथ्वी या स्वर्गादि सुखों की तो मुझे कमी नहीं। इच्छा भी नहीं। आप यदि वरदान देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि प्रभु के पाद पद्मों में निरन्तर अहैतुकी भक्ति बनी रहे।"

यह सुनकर कुबेरजी हँस पड़े और बोले—"भैया! प्रभु के पाद पद्मों में तो स्वयं हमारी ही भक्ति नहीं है, फिर हम तुम्हें दे कैसे सकते हैं। फिर भी हम तुम्हें बड़े होने के कारण हृदय से आशीर्वाद देते हैं, कि तुम्हारी भगवान् में सर्वदा अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार कुबेरजी भक्ताग्र गण्य ध्रुवजी को भगवद्भक्ति का वरदान देकर वहीं अन्तर्धान हो गये। ध्रुवजी देखते के देखते रह गये। फिर उन्होंने उस उत्तर दिशा को प्रणाम किया और अपने दिव्य रथ पर चढ़कर अपने नगर को चले आये और वहाँ आकर नाना प्रकार के भोगों को भोगते हुए सुख पूर्वक राज काज करने लगे। उनका मन सदा भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में ही लगा रहता था ब्रह्मावर्त में रहते हुए वे बड़े-बड़े विशाल यज्ञों द्वारा, जिनमें द्रव्य

क्रिया और देवताओं के द्वारा ही कर्म होते थे, उनके द्वारा उन पुराण पुरुष का भजन पूजन करने लगे। उनकी सर्वात्मा श्री अच्युत में प्रबल भक्ति थी, वे सर्वत्र समस्त चराचर प्राणियों में अपने इष्ट को ही समझते थे और भगवद्बुद्धि से सबकी वन्दना करते थे। ऐसे शील सम्पन्न, सदाचारी, जो ब्राह्मणों के भक्त दीनों के वत्सल, धर्म मर्यादा की रक्षा करने वाले उन ध्रुवजी के प्रति समस्त भू मण्डल की प्रजा का पिता की भाँति अनुराग था। इस प्रकार अनेक प्रकार के धर्म पूर्वक ऐश्वर्य और सुखों का उपभोग करते हुए उन्होंने पुण्य का क्षय किया और तपस्या तथा बड़े बड़े यज्ञों द्वारा पाप का क्षय किया। इस प्रकार सब कर्मों को यथावत् करते हुए उन्होंने ३६ हजार वर्ष तक पृथ्वी का शासन किया।

छप्पय

हाथ जोरि ध्रुव कहे—कृपा करुणाकर कीजे।
हरि चरणनि अनुराग दया करि मोकूँ दीजे॥
शम्भु सखा सुनि कहें—सदा तुम भक्त भूपवर।
कृष्ण चरनमहँ भक्ति तुम्हारी बढ़े निरन्तर॥
यों कुबेर वरदान दै, तत्क्षन अन्तर्हित भये।
स्वप्न सरिस घटना भई, ध्रुव देखत ही रहि गये॥

[इससे आगे की कथा, बारहवें खण्ड में पढ़िये]

श्रीभागवत—दर्शन :—

भागवती कथा

(द्वादश खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:※:—

लेखक:—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर, झूसी (प्रयाग)

—:※:※:— संशोधित मूल्य २-०० रुपया

तृतीय संस्करण] चैत्र, सं० २०२४ वि० [मूल्य १) ६५

मुद्रक—संकीर्तन प्रेस, वंशीवट वृन्दावन ।

विषय—सूची

विषय द्वादश खण्ड पृष्ठाङ्क

सिंहावलोकन १ से १० तक

२४६—ध्रुवजी का तपस्या के निमित्त बदरिकाश्रम गमन १
२४७—ध्रुवजी ध्रुवलोक प्राप्ति ७
२४८—ध्रुवजी का माहात्म्य १५
२४९—ध्रुवजी के वंश का वर्णन २२
२५०—मृत्युपुत्री सुनीथा ३०
२५१—महाराज अङ्ग का पुत्र-प्राप्ति के लिये यज्ञ ४३
२५२—अङ्ग का क्रूरकर्मा पुत्र वेन ४९
२५३—वेन की क्रूरता के कारण अङ्ग का गृह त्याग ५५
२५४—राजा बनने पर वेन की निरकुशता ६१
२५५—मुनियो का जाकर वेन को समझाना ७२
२५६—वेन द्वारा मुनियो का अपमान और उसकी अपमृत्यु ८१
२५७—अराजकता निवारण के निमित्त ब्राह्मणो का उद्योग ८८
२५८—वेन-अङ्ग-मथन से भगवान् पृथु का प्रादुर्भाव ९४
२५९—महाराज पृथु का राज्याभिषेक १०१
२६०—महाराज पृथु की सूत मागधो द्वारा स्तुति १०९
२६१—महाराज पृथु का पृथ्वी पर कोप ११५
२६२—महाराज पृथु का पृथ्वी के साथ सम्वाद १२५
२६३—महाराज पृथु के प्रभाव से पृथिवी दोहन १३२
२६४—महाराज पृथु द्वारा पृथ्वी का सस्कार १३९
२६५—महाराज पृथु की यज्ञदीक्षा १५२

२६६—महाराज पृथु के अन्तिम यज्ञ मे इन्द्र द्वारा विघ्न १६५
२६७—पृथु-यज्ञ मे पुरन्दर द्वारा पुन विघ्न १६६
२६८—यज्ञ मे विघ्न करने वाले इन्द्र पर महाराज पृथु का क्रोध १७२
२६९—ब्रह्माजी के समझाने पर महाराज पृथु का क्रोध शान्त, यज्ञ की समाप्ति १७८
२७०—महाराज पृथु और इन्द्र मे प्रेम कराने को प्रभु प्राकट्य १८५
२७१—महाराज पृथु का प्रेमोद्रेक १९४
२७२—महाराज पृथु का प्रभु से विचित्र वरदान २०१
२७३—महाराज पृथु का पादसेवन सम्बन्धी वर २०९
२७४—यज्ञो के अन्त मे महाराज पृथु का पुर प्रवेश २१६
२७५—महाराज पृथु का महासत्र मे अभिभाषण २२४
२७६—प्रजा द्वारा महाराज पृथु के उपदेश का अभिनन्दन २४१
२७७—महाराज पृथु की सभा मे सनकादि सिद्धो का प्रादुर्भाव २४७

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँटकर पूरी कथा छप्पय छन्दो में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवतचरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते है। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्यौछावर ६)५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके है। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ८) है। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती हैं

सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

सिंहावलोकन

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥
(श्री भा० ११ स्क० २२ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

हैं नट नागर श्याम करें क्रीडा नित नूतन ।
मोर मुकुट सिर धारि बजावे बशी वन वन ॥
जो न मोह वश करें कृष्ण तिन तें करवावें ।
सबहिं नचावत राम कृष्ण नाचें नचवावें ॥
तुमरे संग इ नाचि कें, तुमरो ई गुन गाइ के ।
तुमरो कथा सुनाइ कें, सोवे सबहिं भुलाइ के ॥

यहाँ प्रतिष्ठानपुर (झूसी) मे इसी अनुष्ठान के निमित्त आये दो वर्ष ६ महीने २३ दिन आज हो गये । सकल्प कुछ और किया था हो गया कुछ और । विनायक बनाना चाहते थे, बन गया वानर । वैरागी बनाना चाहते थे, बन गये व्यापारी । छिप कर

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"जिन लोगों की वाणी, बुद्धि और आयु व्यर्थ है वे ऐसी बात कहा करते हैं कि यह वही दीप की लोये हैं, जो हमने कल देखी थी । यह वह नदी का जल है यह वही मनुष्य है । किन्तु वास्तव मे ये सब वे नही । ये तो बदलते रहते हैं ।"

रहना चाहते थे, छपाई के चक्कर मे फँस गये। ससार के सभी सम्बन्धो की ओर से आँखें मीच लेना चाहते थे, अब अधिकाधिक सम्बन्ध बढाने की चिन्ता बढ़ गई। भगवान् की कैसी माया है, लीलाधारी की कैसी लीला है। क्षण क्षण पल पल पर प्रत्येक वस्तु बदलती जाती है, किन्तु हम ऐसे मूढ हैं, कि उसकी ओर ध्यान नही देते। समझते हैं यह वही तो है। ससार के परिवर्तन ऐसी चतुरता से होते हैं, कि सहसा कोई उनका अनुभव नही कर सकता। सर्वथा बदलने पर ही प्रतीत होता है सो भी स्वार्थ वश। जाडा सहसा नही आ जाता, गर्मी के अनन्तर वर्षा होती है, कुछ ठडी प्रतीत होने लगती है, फिर गुलाबी जाडा पडता है तदनन्तर कडाके का। जाडे का सहसा अन्त भी नही होता, पहिले कुछ कम सर्दी होने लगती है। गरम वस्त्र सहन नही होते, फिर वसन्त ऋतु आती है, तब आग बरसने लगती है। मनुष्य जिस दिन जाडा पडता है उस दिन तो कहता है बडा जाडा है, किन्तु दूसरे दिन भूल जाता है। सर्दी मे गर्मी को भूल जाता है, गर्मी मे सर्दी को। याद भी कहाँ तक रखे एकसा ही चक्र है, कभी ऊपर कभी नीचे। सादृश्य मे भ्रम हो ही जाता है। नित्य ही हम त्रिवेणी स्नान करने जाते हैं, कहते है—"कल यही इसी जल मे नहाये थे। किन्तु कल का जल तो न जाने कहाँ चला गया, कहाँ बह गया हमे भ्रम सादृश्य से हो गया। कल के ही जल के समान बहुत सा जल आ गया। कल जिस देवदत्त को देखा था, आज भी उसे देखकर हम कहते है—यह देवदत्त हैं, किन्तु कल के देवदत्त मे और आज के देवदत्त मे आकाश पाताल का अन्तर पड गया। उसके प्रत्येक अणु परमाणु मे परिवर्तन हो गया। हमे परिवर्तन की प्रतीति तब होती है, जब उसके ओठो पर कालिमा छा जाती है, दाढी मूछो वाला बन जाता है, या काली दाढी मूछें सफेद हो जाती हैं।

सो उसे तो वह भी परिवर्तन नही दीखता। यह समझता है मै तो जैसा का तैसा ही हूँ। इसमे सत्याश है, किन्तु भ्रम पड़ा उसके मर्म को नही समझता, सादृश्य के कारण भ्रम में पड़ जाता है। ससार एक नाटक है। सभी छोटे बड़े जीव इस जगत नाट्यस्थली के पात्र हैं। सूत्रधार जिसे जैसा नाच नचायेगा उसे वैसा ही नाच विवश होकर नाचना ही पड़ेगा। इसमे अपनी इच्छा कुछ भी काम न करेगी। स्मरण करने की एक ही बात है। हम स्वय नही नाच रहे है, हमें कोई नचा रहा है। इन शब्दो को वाणी से तो प्रायः सभी कहते है, किन्तु अन्तःकरण से इसका अनुभव विरले ही करते है, जो कहते है, वे तर जाते है, इस खेल मे मिल जाते है, उन्हे बन्धन नही विषाद नही, दु.ख नही, चिन्ता नही। बन्शी वारे के साथ चैन की बन्शी बजाते है और तान दुपट्टा सो जाते है। इसलिए साधन यही है। "कृतंस्मर" किये हुए को स्मरण करो। प्रतिक्षण सिंहावलोकन करो। या तो अपनी कोई इच्छा हो ही नही या जो हो जाय, तो उसी की इच्छा मानी जाय।

जीव जब भगवान्‌के अनुकूल होता है; उनके संकल्पमें अपना संकल्प मिलाकर कार्य करता है, तब तो उसे सफलता प्राप्त होती है। इसके विपरीत जीव का संकल्प कुछ है, सर्वेश्वर का संकल्प इसके विपरीत है, तो जीव का संकल्प वृथा है-व्यर्थ है। वह सफल न होगा। क्योंकि एक के ही संकल्प से यह सम्पूर्ण सृष्टि-कार्य चल रहा है। वही सत्य संकल्प सबके अन्तःकरण मे प्रविष्ट होकर हृदय देश में विराज कर सबको नाच नचा रहा है। सबको चक्कर फेरी दिला रहा है। पुनः पुनः स्मरण करने से दृढ़ता आती है। हम दिन में रात्रि मे कितने मनोरथ कर

कितने वालू के किले बनाते हैं। वे बात की बात मे बिगड जाते हैं, क्षण भर मे ढह जाते हैं। हम मुँह ताकते ही रह जाते हैं। जो विश्व की रचना करके उसके अणु परमाणु मे प्रवेश कर गया है, जिसने बनाने का, पालन करने का और फिर बिगाडने का स्वय ही अपने नाम पट्टा लिखा लिया है, फिर हम उसके कार्यों मे हस्तक्षेप करते है, दुख करते हैं, कि हमारी इच्छा के विरुद्ध यह कार्य क्यो हो रहा है ? हम तो इसे जीवित देखना चाहते थे, यह क्यो मर गया ? तो यह अनधिकार चेष्टा है। जो हो रहा है उसे देखो। जिसका जो काम है वह करेगा ही, वह होकर ही रहेगा। तुम तो सूत्रधार की ओर दृष्टि रखो। किये का स्मरण करो। उससे शिक्षा ग्रहण करो। अपनी परवशता और प्रभु की स्वतन्त्रता का अनुभव करो। अपने कर्तृत्व को उसके कर्तृत्व मे मिला दो। अपना स्वर पृथक् अलापने से बेसुरा राग हो जायगा। अपनी ध्वनि उसकी वशी की ध्वनि में मिला दो। अपनी वशी को भी उसकी वशी मे एकीभूत कर दो। वशी वाला तो एक ही है।

हाँ,तो मैं क्या कह रहा था भला ? वही बात,यहाँ आये ढाई वर्ष से अधिक हो गया। सोचा यह था कि यह नेह आँखो से ही विशेष बढता है। किसी की ओर हम चर्म चक्षुओ से देखें ही नही, तो अन्त करण की आँखो से उसका यथार्थ रूप देखा जाता है। ये चर्म की आँखें बाहर के काले गोरे चर्म को तथा बनावटी चाकचिक्य को ही देख सकती हैं। इसी से लुभा जाती हैं, फँस जाती हैं। यदि इनको मीचकर भीतर ही भीतर अनुभव करें तो यथार्थता का बोध होता है। यथार्थता मे तो बन्धन है ही नही। इसलिये ऐसा नियम करने का निश्चय किया था कि किसी की ओर देखेंगे नही। कथा कर्तन में समय बितायेंगे। जो

समय मिलेगा उसमे अपने लेखन के व्यसन की पूर्ति करेंगे।

बहुत से ऐसे भाग्यशाली हैं, जिन्हे भगवान् मे, कथा कीर्तन मे बडा रस आता है, तन्मय हो जाते हैं। मेरा हृदय ऐसी कठिन धातु का बना है, कि मुझे कथा कीर्तन मे यथार्थ रस नही आता मान-प्रतिष्ठा के लिये या नियम की पूर्ति के लिये कथा सुनता हूँ, कीर्तन करता हूँ, किन्तु उसमे जैसा चाहिये वैसा रस नही आता है। मिथ्याचार, दम्भ दिखावट की मात्रा इनमे अधिक है। फिर भी एक प्रकार का व्यसन सा हो गया है, इच्छा से अनिच्छा से करना ही पडता है। इसी प्रकार मुझे लिखने का भी व्यसन है। कुछ लोग कहते हैं—'महाराज, आप बडा उपकार कर रहे हैं। साहित्य की बडी सेवा कर रहे हैं, कथा कीर्तन का बडा प्रचार कर रहे हैं।" इन बातो को सुनकर मुझे अभिमान न होता हो, सो बात नही। किन्तु जब मैं गभीरतापूर्वक सोचता हूँ, क्या मैं सेवा भाव से, परोपकार की प्रेरणा से, प्रचार दृष्टि से यह सब कर रहा हूँ, तो उत्तर मिलता है नही। यह सब कुछ नही, तुम अपनी वासना-पूर्ति के लिये ये सब व्यापार कर रहे हो।

आज से २०, २५ वर्ष पूर्व मैं साहित्यिक जीवन व्यतीत करता था, उस समय जितने साहित्य सेवियों से मेरा ससर्ग हुआ, जिनके नामो को मैं बडी श्रद्धा से सुनता और पढता था, उनके जीवन मे अत्यन्त व्यावहारिकता और वृथा विषयोमे तृष्णा देखकर मैंने अनुभव किया कि लेखन एक कला है। सभी सुन्दर लेखक सच्चरित्र और आदर्श जीवन व्यतीत करने ही वाले हो, यह आवश्यक नही। इसके पूर्व मेरी यही धारणा थी, कि जिनके लेखों को पढकर हम रो उठते हैं वे सब के सब आदर्श महापुरुष ही होगे। पहिले मेरी लेखक बनने की प्रबल इच्छा थी। कुछ ही दिनों मे लेखक बनने की मेरी इच्छा जाती रही।

साधु बनने की इच्छा हुई। प्रकाशकों के प्रति मेरे कैसे हो गये थे, उन्हें मैं अब कभी न बताऊँगा। क्योंकि उसे प्रकाशक मुझसे बहुत अप्रसन्न हो जायेंगे, फिर आज कल मैं भी एक प्रकार से प्रकाशक ही बन गया हूँ! अपने ही अपने पैरों में कुल्हाडी क्यों मारूँ।

मैंने कई बार ऐसे कडे कडे नियम किये कि लेखनी से न लिखूँगा, लेख न लिखूँगा, पुस्तकें न लिखूँगा। किन्तु रहा नहीं गया, इसलिये अबकी मैंने निश्चय किया था—कि लिखूँगा, अवश्य लिखूँगा—किन्तु भगवत् और भागवत चरित्र लिखूँगा। लिखने का जब व्यसन ही है, तो उसका उपयोग भक्त और भगवान् के पावन चरित्रों के लिखने में क्यों न किया जाय? इसीलिये "भागवती कथा" का लेखन आरम्भ हुआ। वास्तव में मुझे भगवान् और भगवत् भक्तों के सम्बन्ध में लिखने में लिखते समय आनन्द आता है। व्यवहार में तो मुझे रहना ही पडता है। अन्य व्यावहारिक बातें भी विवश होकर लिखनी पडती हैं, किन्तु उनमें उतना रस नहीं आता। दूसरों का मन रखने के लिये व्यवहार बनाये रखने के लिये ये सब लिखनी ही पडती हैं। मुझे कोई लेखनी दे दे और एकान्त में बैठने का समय दे दे। किसी से भी मिलने न दे, तो मैं निरन्तर लिखता ही रहूँगा। भगवत् चरित्र तो अनन्त है, उसका अन्त नहीं, अवसान नहीं, सीमा नहीं, समाप्ति नहीं। किन्तु संभव है ऐसे मैं रह भी न सकूँ। कुछ धूम धडाका भी होते रहना चाहिये। उत्सव धूम-धाम ये सब होते रहते है, तो मन बदल जाता है। कुछ कटु अनुभव होते हैं, कुछ स्नेही बन्धु मिलते हैं, ये सब तो चटनी हैं। भावोद्दीपक हैं।

हाँ, तो मैंने कार्तिक मास से भागवती कथा का लिखना आरम्भ किया। ६ महीने में ८-१० खड लिख भी गये। लेखक का लिखने मे उत्साह तभी बढता है, जब उस गुण को जानने वाले गुणी उसकी कृति की प्रशसा करें। अब इस कल के युग मे प्रशसा तो तभी होगी, जब पुस्तक प्रेस मे छपकर प्रकाशित हो और विद्वानो के सम्मुख जाय। इसलिये लेखक के साथ प्रकाशन की भी चिन्ता हुई। यह प्रशसा मेरे लिये दुखद थी, किंतु ससार मे सुख ही सुख तो नही मिल सकता। सुख मे दुख मिला ही रहता है। पाटल के पुष्प मे काँटे रहते ही हैं। कडवी औषधि के समान मैंने प्रकाशन के लिये प्रयत्न किया। कथा लम्बी है प्रकाशक कोई मिला नही। सबने कहा—सकीर्तन भवन से ही प्रकाशन हो।" वाद विवाद के पश्चात् मैंने कहा-' अच्छा हो।' बस, फिर क्या था होने लगा धूम धडाका। यह ला, वह ला, स्थान बना, उसे बुला, सराश यह कि पूरी गृहस्थी जुटने लगी। पास मे पैसा नही था। काम आरम्भ कर दिया, सभी काम ऐसे ही आरम्भ हुए और सब प्रभु के प्रताप से पूरे भी हुए। यही एक मात्र भरोसा था। जिस समय भागवती कथा का काय आरम्भ हुआ था, उस समय कागद की कतरन मिलनी दुर्लभ थी। बीच मे कितने कितने विघ्न आये। कितनी २ असुविधायें हुई। भगवान् ने व्यवहार की कैसी कैसी लीलायें दिखाई, ये सब बातें बडी लम्बी है, क्षुद्र हैं, व्यावहारिक हैं। कथा कीतन प्रेमी बन्धुओ को इनसे बचते ही रहना चाहिये। इसलिये इन सब बातो को मैं छोड देता हूँ। इतना ही कहना चाहता हूँ कि साल भर मे तो नही, डेढ साल मे हम पूरे १२ खण्ड निकाल सके। जिनकी ऐसी शङ्का थी, कि कहीं हमारे रुपये खटाई मे न पड जायँ उनकी शङ्का निर्मूल हुई। १२ खण्डो के जितने रुपये उन्होने

दिये थे उनकी प्रतियाँ उन पर पहुँच गई । मुझे इस बात का हर्ष है कि इस ग्रन्थ को साधारण से लेकर बडे बडे विद्वानो तक ने सराहा। मुझे तो अपने किये का पारिश्रमिक मिल गया। अब मेरी पाठको के चरणो मे यही प्रार्थना है, कि वे ऐसा आशीर्वाद द जिससे यह ग्रन्थ पूरा हो जाय।

मुझे ही इसके प्रकाशन का झझट करना पडता है, इससे मुझे बडी असुविधा है। यह नीरस और मेरी इच्छा के विरुद्ध कार्य भ ।वान् ने मुझे क्यो सौपा, इसे वे ही जान । अब तक तो बहुत ही असुविधायें रही। अब कुछ परिस्थिति अनुकूल आई है, अब हमे कागद प्रतिमास स्थाई मिल जायगा। प्रबन्ध का कार्य भी एक सज्जन ने अपने ऊपर ले लिया है। ५ हजार रुपये ऋण रूप मे उन्होने अगले खण्डो के लिये दिये है, इस प्रकार मेरी आधी से अधिक असुविधायें दूर हो गई । छपाई की उचित व्यवस्था होने पर प्रतिमास दो खण्ड निकाल सकें इसकी व्यवस्था कर रहे हैं। सम्भव है इस व्यवस्था मे हमे साल ६ महीने लग जायें।

स्थान स्थान पर इसकी कथायें होती हैं। नित्य ही बहुतो के पत्र आते हैं, आप समय से पुस्तक क्यों नही निकालते। क्या आपका हमारी उत्सुकता का अनुभव नही होता ? अब मैं कैसे कहूँ, कि मुझे अनुभव नही होता। लिखने वाले सज्जन यदि लेखक होते तो उन्हे पता चलता कि लेखक अपनी कृति को छपी देखनेके लिये कितना लालायित कितना उत्सुक रहता है। पाठको से अधिक प्रकाशन की उत्सुकता तो मुझे है। इस भागवती कथा के पीछे मेरा तो सब कुछ बदल गया। न जैसा पहिले भजन, पूजन, पाठ करता था वैसा भजन पूजन पाठ ही होता है। पहिले भगवन्नाम के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द मुख से निकलता ही

नही था। अब व्यवहार मे अत्यन्त तन्मय हो जाने के कारण बीच बीच मे बहुत से व्यावहारिक शब्द स्वत ही निकल जाते है, बुद्धि व्यवसायात्मिका हो गई है। फिर भी मेरी इच्छा है भागवती कथा का प्रकाशन बन्द न हो। प्रतिमास दो दो खण्ड प्रकाशित हो सकें। प्रभु को कराना क्या है उसे तो वे ही जानें। परोपकार की दृष्टि से नही, मुझे तो कथा कीतन को धूमधाम मे आनन्द आता है। सर्वत्र भगवन्नाम कीर्तन का प्रचार हो स्थान-स्थान पर अखण्ड कीर्तनो का आयोजन हो। सभी भाषाओ मे भागवती कथा की जाय। जहाँ जहाँ से भागवती कथा प्रकाशित हो वहाँ वहाँ अखण्ड कीर्तन भी हो। ५, ६ वर्ष पूर्व जब दक्षिण की यात्रा मे हम गये थे, गुंटूर मे श्री रामनाथ क्षेत्र में श्री सीताराम मन्दिर में अखण्ड कीर्तन आरम्भ हुआ था। वह अभी तक चल रहा है। अब वहाँ से तेलगु मे भागवती कथा का अनुवाद भी प्रकाशित होने लगा है। प्रथम खण्ड छपकर हमारे पास आ गया है। १।) मे वे किसी प्रकार भी नही छाप सके। बिना जिल्द की २) और सजिल्द की २।) दक्षिणा उन्होने रखी है। हमे आशा है कि इसी प्रकार गुजराती, मराठी, बङ्गला, तामिल अंग्रेजी आदि भाषाओ मे भी उसके अनुवाद निकलेंगे और साथ ही वहाँ अखण्ड कीर्तन का भी आयोजन होगा। करने कराने वाले वे ही प्रभु हैं, उनकी इच्छा के बिना पत्ता भी नही हिल सकता। अन्त मे मुझे पाठको से यही प्रार्थना करना है, कि यदि आपको भागवती कथा मे रस आता है, तो आप उसका आस्वादन अकेले न करें। मीठी वस्तु को बाँटकर खाना चाहिये। अपनी पुस्तक को दूसरो को पढने को दें। अपने आस-पास के रहने वालो को बुला कर मिल कर कथा सुनें। अपने इष्ट मित्रो को इसके स्थाई ग्राहक बनावें। जो समर्थ हो

वे अपने परिवार मे इस पुस्तक को अवश्य रखें। क्योंकि बच्चे कहानियों के लोभ से इन्हें पढेंगे, तो उनके धार्मिक भावो की अभिवृद्धि स्वतः ही होगी। भारत धर्मप्रधान देश है। इसमे धर्म सिखाया नही जाता। यहाँ के जलवायु के कणों मे ऐसे भाव भरे हैं कि उनसे स्वयं धार्मिक प्रवृत्ति होती है। केवल प्राचीन आख्यानों से उन्हें जागृत करना है, स्मरण दिलाना है।

अन्त में मेरी सभी भाई बहिनो के चरणों में प्रार्थना है कि मैं लोहे का कोल्हू ही बना रहूँ कि जिसमें से निकले तेल से दूसरे तो लाभ उठायें, वह सूखाही बना रहे। मेरे हृदय मे भी सरसता का सचार हो, मुझे भी भागवत और भगवद्भक्तो की कथाओ में अनुराग हो। मेरी भी नामगान में यथार्थ रुचि हो। मैं भ भगवान् के लिये रोऊँ। मेरी भी फूटी आँखें गीली हों। मेरे भी शुष्क हृदय में प्रेम की टीस उठे। मेरा भी मन माधव की र में सिहर उठे। बोल दे भक्त और भगवान् की जय।

छप्पय

हे हरि ! कब ये नयन रहें मद महँ मदमाते।
श्रवण श्रवण कब करें कथा रस महँ सरसाते॥
कब होवे हिय द्रवित रूप रस महँ डूब्यो नित।
निरखि अलौकिक छटा छक्यो कब रहे कठिन चित॥
कब हौं घायल सो बन्यो हाय हाय डकराउंगो।
कब सब तजि हिय हुलसि के, वृन्दावन कूँ जाउंगो॥

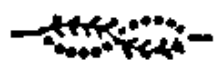

ध्रुवजी का तपस्या के निमित्त बदरिकाश्रम गमन

(२४६)

आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमद्धकोश-
मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः ।
भूमण्डलं जलधिमेखलामाकलय्य
कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम् ॥*

छप्पय

आये निज पुर करे यज्ञ बहु वैभव वारे ।
पुण्य भोगतें पाप यज्ञ तप त सब जारे ॥
सुत, दारा, धन, धान्य जानि नश्वर सब त्यागे ।
राज पुत्रकूँ सौंपि सतत तपमे ई लागे ॥
करे सुकृत सब सुख लहे, फिरि ध्रुव वनवासी भये ।
तजि सबरे गृह भोग सुख, बदरी वन कूँ चलि दये ॥

ससारी भोग यदि सुख बुद्धि से आसक्त होकर भोगे जायँ तो वे बन्धन के हेतु हैं उनसे ससार का आवागमन और

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर जी ! ध्रुवजी अपने शरीर स्त्री, पुत्र, मित्र, सेना, सम्पत्ति सम्पन्न कोश, अन्य पुर, रमणीय विहारभूमि तथा समुद्र ही है मेखला जिसकी ऐसी पृथिवी के राज्य आदि सभी को कालकवलित समझ कर या करने बदरीवन को चले गये ।"

दृढतर होता जाता है, किन्तु यदि वे ही पुण्य क्षय करने
निमित्त, अनासक्त भाव से भगवत् प्रीत्यर्थ धर्मपूर्वक भो
जाँय तो उनसे पुनरावर्तन नही होता। वे क्षेत्र मे बोने प
भी उसी प्रकार का अकुरित नही होते, जैसे भुने हुए दा
उर्वरा भूमि मे 'यत्नपूर्वक बोने पर भी' उत्पन्न नही हो
उनमे अकुर नही फूटते। वर्णाश्रम धर्म त्यागमय है, इसमे प
पग पर त्याग की महत्ता है। बाल्यकाल मे गृह को त्यागक
गुरुकुल मे निवास करो। वहाँ भोगो को त्यागो, सुख को त्या
मान अपमान को त्यागो, रात्रि दिन गुरु की सेवा करते हु
अपने मनोबल को त्यागते हुए महात्याग की तैयारी करने
लिये ज्ञानार्जन करो। फिर आकर दारग्रहण स्त्री का सग्र
करो। यह सग्रह भी भोग के लिये नही, त्याग के लिये। प
महायज्ञ नित्य प्रति करके सम्पूर्ण भूतो के निमित्त कुछ न कु
त्याग करो। देवता पितर तथा ऋषियो के ऋण से उऋण ह
यज्ञादिक करके देवऋण से श्राद्धतर्पण और पुत्रोत्पादन क
के पितृऋण से, और वेदाध्यन ज्ञानार्जन करके ऋषिऋण
उऋण होना पडता है। जब उऋण हो गये, पुत्र के भी पु
हो गया तो घर, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, सम्पत्ति, नगर, परिवा
सभी को त्याग कर वनवासी बन जाओ। ग्राम्य अन्न क
भी न खाओ। वन के फल मूलो पर ही निर्वाह करो
किन्तु वहाँ भी यज्ञादि कर्म तथा काया को शोधन करने वा
तप का तो अनुष्ठान करते ही रहो। अन्त मे उन सबको त्या
कर महात्याग की दीक्षा ले लो। परिव्राजक बन जाओ। अलि
सन्यास, वीर सन्यास दण्ड सन्यास, जो जिसके भी अधिकारी
उसी को ग्रहण करके इस लोक को ही नही आवागमन के चक्क
को ही त्याग दो। अर्थात् त्याग की भावना को भी त्याग क

निर्मुक्त वन जाओ।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—' विदुरजी ! ध्रुव ने ५ वर्ष की आयु मे ही अपने पूर्व जन्मोपार्जित तप के प्रभाव से श्रीहरि का साक्षात्कार किया था। भगवत् दर्शनो से उनके वेदमय शङ्ख के स्पर्शमात्र से ही उन्हे समस्त वेदशास्त्रो का ज्ञान हो गया था, फिर भी लौकिक रीति से उन्होने वैदिक सस्कार कराके विधिवत् वेदाध्ययन किया। भ्रमि और इला नाम की दो नारीरत्नो के साथ विवाह किया। उनमे पुत्र उत्पन्न किये। समस्त भूमण्डल का धर्मपूर्वक एकछत्र शासन किया। ३६ हजार वर्ष तक बिना बूढे हुए सासारिक भोगो को भोगते रहे। यज्ञादि करके ससार मे अपना यश बढाया, समस्त कर्मों को करके उन्हे कृष्णार्पण करते हुए वे उनके फलो मे आसक्त नही हुए। जब उन्होने ज्ञान दृष्टि से देखा, कि अब मेरा अन्त समय निकट आ गया है तो वे राज्य भोग आदि, से उपराम हो गये। यदि भोगो मे उनकी आसक्ति होती, तो उन्हे छोड ही नही सकते थे, विवश होकर यदि छोडना पडता तो उन्हे महान् कष्ट होता, किंतु वे तो सब कार्य अनासक्त होकर करते थे। अत उन्हे इन ससारी पदार्थों का मोह त्यागने मे तनिक भी कष्ट नही हुआ। उन्होने समस्त सासारिक सुख ऐश्वर्य और राज्य को उसी तरह त्याग दिया जैसे सप अपनी कंचुली को त्याग देता है। उन्होने विचारा— 'क्षत्रिय होकर मुझे घर पर खटिया पर पडे पडे इस शरीर को नही त्यागना चाहिये। क्षत्रिय की दो ही मृत्यु सर्वश्रेष्ठ बताई है, या तो धर्म युद्ध में लडते लडते सम्मुख शत्रु के द्वारा मारा जाय या बन मे जाकर योगाग्नि से इस शरीर को भस्म करदे।'

युद्ध मे तो उन्हे परास्त करनेवाला कोई भूमण्डल पर था ही नही, अत उन्होने उसी उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया,

जिसमें जाकर धर्मात्मा ब्रह्मर्षि राजर्षि फिर लौटते नही। जिस दिशा मे समस्त धर्मात्मा पुरुष अपने प्राण त्यागने के निमित्त अनादि काल से जाते रहते हैं।

अन्त समय समझकर उन्होने अपने पुत्र को भूमण्डल के चक्रवर्तिपद पर स्वय अभिषिक्त कराया और वे सबसे अनुमति लेकर विशालापुरी को जाने के लिए उद्यत हुए। "महाराज ध्रुव राज्य पाट छोड कर बदरीवन जा रहे है" यह बात बात की बात मे समस्त देशांतरो मे फैल गई। प्रजा के लोग जो उनके राज्य मे परमसुखी थे, जिनका ध्रुवजी अपने सगे पुत्रों की भाँति पालन करते थे वे उनके समीप आ आकर रोने लगे और कहने लगे–"प्रभो! आप हमारा त्याग न करें, इसी प्रकार सदा हमारा पालन करते रहे! अन्त.पुर की स्त्रियाँ भी रो रही थी, कि महाराज, हमे यहाँ न छोडें। बूढी माता ध्रुवजी के साथ चलने का आग्रह कर रही थी; किन्तु ध्रुवजी ने अपना चित्त सब की ओर से हटा लिया था। सबको सब प्रकार से समझा-बुझाकर समस्त प्रजा को रोती छोडकर वे अपने नगर से निकल पड़े इस सम्पूर्ण प्रपच को वे मन से मिथ्या और गन्धर्व-नगर के समान मिथ्या भासने वाला समझते हुए सब की ममता छोड़कर चल पडे। उन्होने भूमडल का समस्त राजपाट, सभी सासारिक सुखो को शरीर से ही नही मन से भी त्याग कर दिया था इन सब को त्याग कर मुमुक्षुओं की एकमात्र शरण्य, ऋषि मुनियो से सेवित श्री बदरीवन की पावन भूमि मे वे पहुँच गये जब विशालापुरी के निवासी ऋषि मुनि और सिद्धो ने सुना कि राजर्षि ध्रुव अपना राजपाट छोड़कर बदरिकाश्रम मे तप करने आये हैं, तो उन्होने बड़े प्रेम से ध्रुवजी का स्वागत सत्कार किया। उनकी कुशल पूछी कन्द मूल फल खाने को दिये और

भगवती अलकनदा के निकट एक शान्त एकान्त स्थान मे उनके लिये पर्णकुटी बना दी।

वहाँ पहुँच कर ध्रुवजी उसी प्रकार प्रसन्न हुए, जैसे कोई पिजडे का पक्षी बन्धन से छूट कर अरण्य मे जाकर प्रसन्न होता है, जैसे मछली अगाध जल मे पहुँच कर प्रमुदित होती है, जैसे कन्या सत्कुल मे पहुँच कर सुखी होती है। विशालापुरी की तपोमय भूमि मे उनका चित्त स्वत. ही शान्त हो गया था। उन्होने कलकलनिनादिनी समस्त अघसहारिणी, विष्णुपादाब्ज सभूता भगवती अलकनन्दा मे जाकर विधिवत् स्नान किया। फिर शुद्ध चित्त होकर कुश कास के बने आसन पर मृग चर्म और वल्कल-वस्त्र बिछा कर बैठे। तदनन्तर उन्होने प्राणो को जीतकर मन और इन्द्रियो का निरोध किया फिर अविच्छिन्न रूप से भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करते करते समाधि मे ऐसे तल्लीन हुए कि उन्हें ध्याता ध्येय तथा ध्यान का भान ही न रहा। वे आनन्द के अथाह सागर मे निमग्न हो गये।

उस भक्ति की भावमय समाधि मे सदा भावित रहने के कारण उनके दोनो कमल नेत्रोसे निरतर प्रेमाश्रु बहते रहते थे। ज्यो-ज्यो आँखो मे आँसू बहते थे, त्यो-त्यो हृदय द्रवीभूत होता था।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब तक आँखो से प्रेमाश्रु नही बहते तब तक हृदय पिलघता नही। करुणा उत्पन्न नही होती। जिनकी आँखे सूखी रहती हैं, उनका हृदय भी प्राय· शुष्क तथा रूखा ही बना रहता है। ऐसे लोग ज्ञानाभासी भले ही बन जायँ, भक्ति से तो वे सदा दूर ही बने रहते हैं। हृदय जब पिघलता है, तो वही आँसू बन कर बाहिर आता है। कुछ ढोगी आँसुओ के स्थान मे अभ्यासवश मीड माडकर पानी निकाल लेते हैं, वे तो दम्भी है, उनकी मुखाकृति से ही स्पष्ट हो

जाता है, यह सब ढोंग है। हृदय के निकले हुए अश्रुओं का भी पाषाण-हृदय पर भी प्रभाव पडता है। हृदय तो हृदय की भाषा को समझ जाता है। ध्रुवजी की आँखें सदा प्रेमाश्रु ही बहाती रहती थी। उनके सम्पूर्ण शरीर मे रोमाञ्च हो जाते। फुरहुरी आते ही शरीर के रोम उसी प्रकार खडे हो जाते जिस प्रकार कुपित हुई स्याही के शरीर में काँटे खड़े हो जाते हैं। अब वे प्रेम मे अपने आपको ऐसे भूल गये कि उन्हे इस बात का भी ध्यान नही रहा, कि मैं पहिले कभी राजा रहा था। मैं स्वायंभुव मनु का पौत्र तथा महाराज उत्तानपाद का पुत्र हूँ, मेरा नाम ध्रुव है। अब तो वे प्रेममय बन गये। भगवान् का ध्यान ही उनका सच्चा स्वरूप हो गया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार ध्रुवजी निरतर भगवान् के ध्यान मे मग्न रहने से देश काल अवस्था सभी से ऊपर उठ गये। वे भगवत् चिंतन मे तदाकार हो गये।

छप्पय

बदरीवन महँ जाय अलकनंदा में न्हाये।
ऋषि मुनि दीन्हे कन्द, मूल, फल तेई खाये॥
रहे तहा, ध्रुव करें साध्यहित नित प्रति साधन।
प्रेम भाव महँ मग्न निरन्तर हरि आराधन॥
परम प्रेम की सब दशा, स्वतः प्राप्त तिनकूँ भई।
द्रवित हृदय सागर बन्यो, आखें वर्षा बनि गईं॥

—※—

ध्रुवजी की ध्रुवलोक प्राप्ति

(२४७)

स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतरद् ध्रुवः।
विभ्राजयद्दशदिशो राकापतिमिवोदितम् ॥
परीत्याभ्यर्च्य विष्ण्वाग्र्यं पार्षदावभिवन्द्य च।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १२ अ० १९, २९ श्लो०)

छप्पय

इक दिन लख्यो विमान उतरतो नभते आवत।
चकाचौंध सी करत छटा चहुँ दिशि छिटकावत ॥
अरुण कमलदल नेत्र निहारे पार्षद हरि के।
करि प्रनाम ध्रुव उठे तुरत आये ढिग उनिके ॥
ध्रुव! जीत्यो हरिपद तुमनि, बोले नद सुनन्द तब।
भेज्यो दिव्य विमान हरि, चढ़ें करें नहिं देर अब ॥

जो भगवान् की शरण हो गया है, सब कार्य जो उन्ही की प्रीति के निमित्त करता है, सदा उन्ही का चिन्तन करता रहता

---

* महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी! एक दिन ध्रुवजी ने चन्द्रमा के समान दशो दिशाओ को आलोकित करता हुआ, एक श्रेष्ठ विमान आकाश से उतरता हुआ देखा (विष्णु पार्षदो के कहने पर) ध्रुवजी ने उस विमान श्रेष्ठ की बन्दना तथा प्रदक्षिणा करके भगवान् के नन्द सुनन्द दोनो पार्षदो को प्रणाम किया, और हिरण्मय स्वरूप धारण करके उस पर चढने को उद्यत हुए।"

है, ऐसे अनन्य भक्त की भगवान् को भी स्वयं बडी चिन्ता होती है। वैसे पापात्मा पुण्यात्मा पुरुष को धर्मराज यम के दूत लेने आते है। पुण्यात्मा को सौम्य भाव से सौम्य रूप से ले जाते हैं, पापात्मा को विकट रूप से गर्जन तर्जन करते हुए, डराते धमकाते दुख देते हुए ले जाते हैं। जो भगवान् के भक्त हैं, उन्हें वैकुण्ठ के विष्णु पार्षद ले जाते हैं, किन्तु जो अनन्य हैं, उनको लेने के लिये या तो भगवान् स्वय आते है या अपने प्रधान पार्षद नन्द सुनन्द को भेजते हैं। वे भगवान् के प्रतिनिधि बन कर ही आते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! विशालापुरी मे ध्रुवजी बडे आनन्द के साथ भगवत् ध्यान मे निमग्न रहते थे। एक दिन उन्होने ज्यो ही आँख खोलकर आकाश-मण्डल की ओर देखा त्यो ही सहस्र सूर्य चन्द्रमा के समान एक बडा ही देदीप्यमान प्रकाश उन्हे अपनी ओर आता हुआ दिखाई दिया। उसके अपूर्व आलोक से दशो दिशायें आलोकित हो रही थी। ध्रुवजी ने देखा यह तो दिव्य विमान है। दूरसे पहिले उन्हे कोई प्रकाशमान ग्रह सा दिखाई दिया, ज्यो ज्यो वह समीप उतरता आता था त्यो-त्यो उसकी वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई देती जाती थी। अब ध्रुवजी को उसमे दो दिव्य पुरुष दिखाई दिये। कुछ और उतर आने प्रतीत हुआ वे दोनो चतुर्भुज हैं। गदा का सहारा लिये हुए खड़े हैं। उनका सुन्दर सुहावना सुगन्धियुक्त श्याम शरीर है। चारो भुजाओ मे शख चक्र गदा और पद्म धारण किये हुए हैं। वे किशोरावस्थापन्न हैं। कमल के समान खिले हुए उनके बड़े बडे रसीले नेत्र हैं। उनके वस्त्राभूषणो की चमक दमक से सम्पूर्ण विमान आलोकमय बना हुआ है। उनके मस्तक प मुकुट, कानो मे कुण्डल, गले मे हार, बाहुओं मे अगद और बाजू

बन्द शोभित हो रहे है। उनके दिव्य आभूषणो के चाकचिक्य से उनकी ओर देखना असह्य हो गया है। ध्रुवजी समझ गये ये भगवान् बैकुण्ठनाथ के प्रधान पार्षद हैं, अत वे सभ्रम के साथ उनका स्वागत करने के लिये जैसे बैठे थे वैसे ही उठ खडे हुए। वे प्रेम मे ऐसे विह्वल हो गये, कि उनकी पूजा मे पहिले पाद्य दिया जाय या अर्घ्य उन्हे इसका भी ध्यान नही रहा। बस, ये भगवान के है, उनके प्रधान पार्षद हैं अत बार बार 'जय जय श्रीकृष्ण' कह कहकर उन्हे गद्गद कण्ठ से सिर झुका कर बार बार प्रणाम करने लगे।

नन्द सुनन्द दोनो पार्षदो ने देखा—ध्रुवजी का चित्त श्याम-सुन्दर के चरणारविंदो मे ही लगा हुआ है, उन्ही के जगन्मगल मनोहर नामो का वे निरन्तर उच्चारण कर रहे हैं। अत्यन्त विनीत होने के कारण जो हाथ जोडे सिर झुकाये दीन भाव से पार्षदो के सम्मुख खडे हैं। उनकी ऐसी नम्रता को देखकर भगवान् के पार्षद अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और बडी ही मधुर वाणी से ध्रुवजी की प्रशसा करते हुए उनसे कहने लगे—राजन्! हम निखिल जगत्नियन्ता भगवान् शार्ङ्गपाणि श्री हरि के दूत हैं।

ध्रुवजी ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"हे देवप्रवरो! आपके वेषभूषा और तेज प्रभाव से ही मैं समझ गया था, कि आप भगवान् के परम अन्तरङ्ग पार्षद हैं। आपने मेरे ऊपर किस कारण कृपा की, इसे यदि आप उचित समझे, तो मुझसे कहे।"

यह सुनकर मुस्कुराते हुए विष्णु पार्षदो ने कहा—महाभाग! हमे भगवान् ने इस विमान के सहित इसलिये भेजा है, कि हम आपको अत्यन्त सत्कार के सहित विष्णुपद ले आवें।"

ध्रुव ने आश्चर्य की मुद्रा प्रकट करते हुए कहा—"मेरे ऐसे

भाग्य कहाँ जो भगवान् ने मुझे इतना मान दिया है, मुझे इस प्रकार स्मरण किया है ?"

पार्षदो ने कहा—"महाराज ! ऐसी विनम्रता यह आपके अनुरूप ही है। आपने तो ५ वर्ष की अल्पावस्था मे अच्युत को प्रसन्न कर लिया था। जिस विष्णुपद को कोई भी नही जीत सकता उसे आपने ५ वर्ष की अवस्था होने पर केवल ६ महीने के तप से ही जीत लिया। राजन् ! वह विष्णुपद साधारण स्थान नही है। तीनो लोको को प्रकाश प्रदान करने वाले सूर्य चन्द्रमा भी जिनका आश्रय लेकर घूमते हैं। जितने ग्रह, नक्षत्र और तारागण हैं, वे भी सदा उसी की प्रदक्षिणा करते रहते हैं उस परम पद के आप अधीश्वर हो जायेंगे। आज से वह आपके नाम से विख्यात होगा। उसे अब सब लोग ध्रुवलोक या ध्रुवपद कहा करेंगे। उस तीनो लोक से वन्दित पूजित और सत्कृत लोक को तुम्हारे पिता पितामह भी प्राप्त नही कर सकते हैं, उसी पद का आज से आप अधिकार ग्रहण करें। इसी लिये स्वय भगवान् ने इस विमान को आपके लिये भेजा है और हमे आज्ञा दी है, कि हम आपको बडे सत्कार के सहित ले आवें। हे आयुष्मन् ! अब आप विलम्ब न करें, चटपट इस पर चढ जायँ और खटपट हम चल दें और झटपट उस पद पर पहुँच जायँ।"

इतना सुनते ही ध्रुवजी को बडी प्रसन्नता हुई। अब उन्हे महाप्रस्थान करना है इस पृथिवी मण्डल को सदा के लिये छोडना है, भगवान् के परम दिव्य विमान पर चढना है, अत. उन्होने शीघ्रता के साथ विष्णुपदी भगवती अलकनन्दा मे स्नान किया। फिर अपने नित्य कर्मों से निवृत्त होकर बदरीवनवासी ऋषि मुनियों के चरणो में जाकर प्रणाम किया और उनसे इस लोक

त्यागने की आज्ञा माँगी। ध्रुवजी की ऐसी बात सुनकर
पियो को हर्ष भी हुआ और ध्रुवजी से वियोग हो रहा है
लिये दु ख भी हुआ। उन्होंने ध्रुवजी को प्रसन्न मन होकर
को आशीर्वाद दिये। सब ऋषि मुनि ध्रुवजी के महाप्रस्थान
देखने के लिये बडे कौतूहल के सहित विमान को चारो ओर
घेर कर खडे हो गये। दिव्य विमान भूमि का स्पर्श नही
रता। अत. वह अधर ही आकाश मे खडा था। दोनो ओर
द और सुनन्द अपनी अपनी गदा के सहारे से खडे थे। ध्रुवजी
व उस पर चढने को उद्यत हुए।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! सभी लोग परलोक
ाण करते समय इस पाचभौतिक शरीर को त्यागकर दिव्य
म शरीर से जाते हैं, तो क्या ध्रुवजी ने भी अपना मानुषीय
रीर त्याग दिया था?"

इस पर हँसते हुए मैत्रेय मुनि कहने लगे—"विदुरजी!
होने भगवान् को अपने हृदय मे धारण कर लिया है उनका
यह शरीर चिन्मय बन जाता है। उसे छोडे, न छोडे, उनकी
छा के ऊपर निर्भर है। ध्रुवजी ने तो काल भी जीत लिया
नके भी सिर पर पैर देकर वे इसी शरीर से ध्रुवलोक को
।।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज, काल के सिर पर पैर कैसे
या?"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुरजी! जब काल ने देखा ध्रुवजी
इस लोक के भोग समाप्त हो गये हैं वे परलोक प्रस्थान करने
उपक्रम कर रहे हैं, तब तो काल शरीर रखकर मूर्तिमान
कर काँपता हुआ ध्रुवजी के समीप आया। उसे सिटपिटाये

हुए खड़े देखकर ध्रुव ने पूछा—"कहो भाई! कुछ कहना चाहते हो? क्या बात है?"

डरते डरते उसने कहा—"प्रभो! आप भगवद्भक्त हैं, सुना भगवान् के भक्त मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। वे सब का सम्मान करते हुए लोकमर्यादा को बनाये रखते हैं?"

ध्रुवजी ने हँस कर कहा—"भैया, सीधी तरह अपना अभिप्राय कहो। द्राविडी प्राणायाम क्यों कर रहे हो? तुम चाहते क्या हो?"

काल ने कहा—"महाराज! मैं सबका अन्त करने वाला काल हूँ। मेरा नाम मृत्यु है। पृथिवी के जो भी प्राणी परलोक जाते हैं, मुझे ग्रहण किये बिना कोई नहीं जाता। इसी लिये इस लोक का नाम मर्त्यलोक है। आपसे तो मैं कैसे कहूँ, मेरा साहस नहीं होता कि आप इस शरीर का त्याग करें, किन्तु लोकमर्यादा की रक्षा तो आपको करनी ही चाहिए। मेरा उपयोग आप करें, मुझे व्यर्थ न बनावें।"

यह सुनकर ध्रुवजी मुस्कराये और बोले—"अच्छी बात है भैया! तुम भी अच्छे अवसर पर आ गये। तुम्हारा भी मुझे सत्कार करना ही है। यहाँ विमान के पास बैठ जाओ, मैं अभी आता हूँ।"

मृत्यु बड़ा प्रसन्न हुआ कि भगवद्भक्त ने मेरा अपमान नहीं किया, वह इस आशा से बैठ गया कि ज्यों ही ये विमान पर आरूढ होंगे, मैं इनके शरीर में प्रवेश कर जाऊँगा, इनका यह पांच भौतिक शरीर मेरे अधीन होकर यहाँ निर्जीव पड़ा रह जायगा, ये दिव्य रूप से विमान पर चढ़कर चले जायँगे। इसी आशा से वह बैठा रहा।

इतने में ही ध्रुवजी सब ऋषिमुनियो को प्रणाम करके शीघ्रता से आये। विमान तो ऊँचा था। इसलिये झट से मृत्यु के सिर पर पैर रखकर फट से विमान मे चढ गये और चट से सर्र-सर्र करके उड़ गये। मृत्यु अपना सा मुँह बनाये देखता का देखता ही रह गया, कि ध्रुवजीने अच्छा मुझे सीढी बना लिया।

मैत्रेय मुनि कहते है—'विदुरजी ! भगवान् के भक्तो की ही ऐसी सामर्थ्य है, कि वे मृत्यु के सिर पर पैर रखकर चले जाते हैं, उसकी कुछ भी चिन्ता नही करते।"

इधर सुवर्ण के समान जाज्वल्यमान शरीर से विमान पर चढकर जब ध्रुवजी चलने लगे तब स्वर्गीय देवताओ ने उनके ऊपर नन्दनकानन के दिव्य पुष्पो की वृष्टि की। आकाश मे देवताओ द्वारा दुन्दुभि, मृदग, पणव आदि वाद्य बजाये गये। अप्सराये नृत्य करने लगी, गन्धर्व गाने लगे, सभी मिलकर ध्रुवजी का जयजयकार करने लगे।

जब ध्रुवजी विमान से स्वर्ग जा रहे थे, तो उन्हे अपनी माता का स्मरण हो आया और सोचने लगे—"जिस माता के सदुपदेश से मैंने भगवत् आराधना करके श्रीहरि का साक्षात्कार किया तथा दुर्लभ विष्णु पद प्राप्त किया, उस माता को मर्त्य-लोक में ही त्याग कर अकेले स्वर्ग जाना मेरा अनुचित है।" भगवान् के पार्षद तो सर्वज्ञ होते है, वे ध्रुवजी के मनोभाव को समझ गये और हँसते हुए बोले—"महाभाग ! आप चिन्ता न करे। जिसने आप जैसे नररत्न को उत्पन्न किया है वह मर्त्यलोक मे कैसे रह सकती है। यह देखिये ऊपर आपकी माता आपसे भी पहिले उसी लोक को दिव्य विमान से जा रही है।" इतना कहकर ऊपर जाते हुए सुनीति देवी के विमान को पार्षदो ने दिखाया। उसे देखकर ध्रुवजी को अत्यधिक प्रसन्नता हुई।

अब तो ध्रुवजी का विमान अत्यन्त वेग से ऊपर उड़ रहा था। वह सूर्य आदि ग्रहों को भी नीचे छोड़ता हुआ ऊपर जा रहा था, मार्ग में उपदेव देव, ऋषिमुनि ध्रुवजी का जयजयकार करते जिस लोक में होकर भी वे जाते वही उनका धूमधाम से स्वागत होता, मालायें पहिनाई जाती और स्वर्गीय दिव्य पुष्पों की उनके ऊपर वृष्टि होती।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी, इस प्रकार ध्रुवजी सबके द्वारा सर्वत्र सत्कृत हुए, त्रिलोकी को पार कर गये। फिर सप्त-ऋषियो के मण्डल से भी ऊपर श्रीहरि के परमधाम विष्णुपद में जाकर वहाँ के अधीश्वर बनकर सुखपूर्वक रहने लगे।"

छप्पय

आज्ञा सबतें लई चढ़ूँ ध्रुव जिही बिचारें।
आयो तबई काल प्रभो ! मोकूँ स्वीकारें॥
बोले ध्रुव—'तू बैठि मान राखूँ तेरोऊ।
भक्त करें सत्कार चाहिँ आवे ढिग कोऊ॥
मृत्यु मूर्न्धिपद दै चढे, हरि विमान चट चलि दयो।
अपनो सो मोहड़ो करयो, मृत्यु खिस्यानो रहि गयो॥

—❁—

ध्रुवजी का महत् माहात्म्य

(२४८)

नूनं सुनीतेः पतिदेवतायाः—

स्तपः प्रभावस्य सुतस्य तां गतिम् ।

दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो—

नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः ॥*

(श्रीभाग० ४ स्क० १२ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

ध्रुव जीत्यो हरि धाम जाइ नहिं पापी पावें ।
समदरसी शुभ शान्त शुद्ध जन ई जहँ जावें ॥
देव हु जिनके परम पुण्य को पार न पावे ।
गुरु हू गुरुता त्यागि शिष्य गुन गौरव गावें ॥
धन्य धन्य ध्रुव धन्य तव, जननी मातु सुनीति है ।
धन्य हृदय तुव जासु महँ, प्रभुपद पङ्कज प्रीति है ॥

जिन पर प्रभु प्रसन्न हो गये, उन्हे फिर ससार मे प्राप्य पदार्थ कौनसा रह गया । जिन्होने प्रभुप्रेम को प्राप्त नही किया उन्होने

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! ध्रुवजी के प्रभाव का गान करते हुए उनके गुरु नारदजी ने कहा है, कि निश्चय ही सुनीति देवी अपने पति को देवता मानने वाली थी । जिनके पुत्र ध्रुवजी को उनकी तपस्या के फल से वह गति प्राप्त हुई जिसे भागवत धर्मों के जानने वाले वेदवादी मुनि भी प्राप्त नही कर सकते, फिर इन नरपति राजाओ की तो बात ही क्या है ?"

प्राप्त ही क्या किया। वे पुरुष धन्य हैं, उन्ही की माता यथार्थ मे माता कहलाने योग्य है, उन्ही का जग मे जीवन सफल है, उन्ही के पुरुषार्थ को पुरुषार्थ कहा जा सकता है जिन्होंने अपने भक्तिभाव से भगवान् को प्रसन्न कर लिया है, उनका कृपा प्रसाद प्राप्त कर लिया है वे ही वन्दनीय, पूजनीय और प्रात. स्मरणीय हैं, उनकी पवित्रता से ही यह जग अपावन होने पर भी पावन बना हुआ है, उनके विमल चरित्रो से ही दु खमय ससार सुखमय बन गया है।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! ध्रुवजी के भाग्य को जितनी सराहना कीजिये, उतनी ही कम है, क्योकि उन्होने उस अक्षय विष्णुपद को प्राप्त किया जिसे वेदवादी मुनि भी अत्यन्त कठिनता के साथ अनेक जन्मो मे प्राप्त कर सकते हैं, फिर पुण्यहीन तपस्या और सत्कर्मों से रहित साधारण लोगो की तो बात ही क्या, वे शरीर से कौन कहे मन से भी उस लोक की कल्पना नही कर सकते। उस ध्रुवलोक को प्रकाश के लिये सूर्य चन्द्रादि ग्रहो की अपेक्षा नही वह स्वय ही अपने प्रकाश से प्रकाशित है। यही नही उसी के प्रकाश से त्रिलोकी मे प्रकाश फैला हुआ है। सूर्य चन्द्र उन्ही का आश्रय लेकर चक्कर काटते रहते हैं। उसमे कृष्णापण बुद्धि से निरन्तर शुभकर्म करने वाले पुरुष ही जा सकते हैं जो अन्य हिंसक, निर्दय, अशुचि, पापी प्राणियो के लिये दुर्विज्ञेय है, जिसमे समदर्शी, शात, शुद्ध, सरल अन्त.करण वाले, सर्वोपकारी, सभी के हित मे निरत रहने वाले ही रहते हैं, उस ध्रुवलोक की जितनी प्रशसा की जाय, उतनी ही न्यून है। उस लोक को सुनीतिनन्दन महाराज उत्तान-पाद के यशस्वी भगवत्परायण परम भागवत पुत्र ध्रुव ने ही प्रभु की प्रसन्नता से प्राप्त किया। वह लोक तीनो लोको का

मुकुटमणि है, निर्मल चूडामणि स्वरूप है। अन्न मीजते समय जौ गेहूँ की लाई मे जब बैलो की दाँय चलाते है, तो बीच मे एक खूँटा गाड देते हैं। उसी के आस-पास बैल घूमते रहते हैं। इसी प्रकार ध्रुवजी समग्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण के मेढी भूत हैं। उनके सहारे ही ये सब घूमा करते है। यह सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र ध्रुव के ही सहारे स्थित है। ध्रुवजी आज भी आकाश मे अपनी माँ सुनीति के सहित सबके उत्तर दिशा मे दिखाई देते हैं। ध्रुवतारे समीप ही उनकी माता सुनीति का भी तारा स्पष्ट दिखाई देता है, वे निरन्तर अपनी भगवद् भक्ति के प्रकाश से प्रकाशित होते रहते है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! हम पीछे ही बता आये हैं कि जो कोई परम महत्व का कार्य करता है, उसकी पूजनीय और सम्माननीय गुरुजन भी सम्मान करते हैं, उन्हे बडाई देते हैं। देखिये भक्त भगवान् के दर्शन को जाता है, किन्तु भगवान् स्वय मधुवन मे ध्रुवजी के दर्शनो के निमित्त आये। पुत्र पिता को आगे से लेने जाता है, किन्तु महाराज उत्तानपाद स्वय अपने सुत को स्नेहवश आगे से लेने गये। शिष्य गुरु के गौरव और गुणो का गान करता है, किन्तु प्रचेताओं के सत्र मे गुरुओ के भी गुरु स्वय भगवान् नारद ने अपने शिष्य ध्रुव के गुणो का गान किया था। हरिगाथा के साथ ही साथ हरिदास ध्रुव के भी महत्व का बखान किया था।

इसे सुनकर विदुरजी बोले—"भगवन्! देवर्षि नारद ने प्रचेताओ के यज्ञ मे किस प्रकार ध्रुव के गुणो का गान किया था, इस बात को विस्तार के सहित बताइये। इसे सुनने की मेरी बडी इच्छा है। ध्रुव के चरित को सुनते सुनते मेरी तृप्ति ही नही होती।"

यह सुनकर भगवान् मैत्रेय बोले—"विदुरजी ! प्रचेताओं ने अपनी राजधानी ब्रह्मावर्त मे प्रङ्गातट पर एक बड़ा भारी सत्र किया था। उस मे हरिगुणगान करने को स्वर्ग से गन्धर्व आये थे। उसी समय में भगवान् नारद जी ने भगवान् की महिमा गाते गाते प्रसङ्गवश अपनी वीणा जो बजाते हुए ध्रुव के सम्बन्ध मे यह गायन किया था। जिसे सुनकर सभी सभासद चकित तथा विस्मित हो गये थे। नारद जी ने अलाप भरकर यह गायन किया था—

(१)

सुनीती धन्य जगत के माही।
जिनके लाल भक्त चूडामणि कोऊ जिन सम नाही॥
क्रोधित सुत समझायो सब विधि सच्ची सीख सिखाई।
शिक्षा पाइ गये ध्रुव वनकूँ, अति मनमहँ हरषाई॥
जप व्रत साधे प्रभु आराधे, बन की मेवा खाई।
हरिपद पायो रोष गँवायो, लखि ध्रुव सुरुचि सिहाई॥

(२)

धन्य ध्रुव भक्तनि के सिर मौर।
सौतेली माँ वागवाण ने वेध्यो हियो कुठौर॥
क्रोधित ह्वै वनकूँ चलि दीन्हे छोड़ी पितु की पौर।
बालक ह्वै हरि हियमे धारे, तजी आश जग और॥
मधुवन गये मामि मेरी सिख, हरिजू आये दौर।
दुर्लभ पद पायो जिहि जगमहँ पाइ सकै नहिं और॥

नारद जी अपने शिष्य का गुन गाते हुए कहने लगे—देखो—"जगत की समस्तललनाओ मे परम पति परायणा श्री सुनीति देवी ही हैं, जिनकी कोख से ध्रुवजी जैसे परम भगवद्भक्त

नररत्न उत्पन्न हुए। ध्रुवजी ने अपनी अल्प कालीन तपस्या के प्रभाव से जो उत्तमोत्तम गति प्राप्त की उसे बडे बडे सदाचारी, व्रतधारी ब्रह्मचारी वेदपाठी भी पाने मे असमर्थ है, फिर निरन्तर विषय भोगो मे ही फँसे रहने वाले राजाओ की तो बात ही क्या। ध्रुवजी की अवस्था ५ ही वर्ष की थी, इस छोटी सी ही अवस्था मे सौतेली माता के वाग्बाणो से विद्ध होकर माधव को प्रसन्न करने मधुवन चले गये। मेरे उपदेश के अनुसार उत्तम उपासना की, जिसके द्वारा भक्तो के गुणगान से ही जीते जाने वाले उन अजेय अच्युत को अपने अधीन कर लिया। आश्चर्य की बात तो यह है, कि केवल ५ वर्ष की ही अवस्था मे और बहुत तपस्या भी न करके केवल ६ महिने मे भगवान् को प्रसन्न कर लिया और प्रसन्न करके वह पद पाया जिसे अन्य क्षत्रिय असख्यो वर्ष तपस्या करने पर भी सम्भव है प्राप्त न कर सके।" इस प्रकार ध्रुव का यशोगान करके नारद जी प्रचेताओ के सत्र से स्वेच्छापूर्वक चले गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! आपने मुझसे महाभागवत, साधु पुरुषो के अग्रणी परमयशस्वी ध्रुवजी का चरित्र पूछा था, उसे मैंने अत्यन्त सक्षेप मे आपके सम्मुख सुना दिया। अब आप और क्या पूछना चाहते है?"

विदुरजी ने कहा—'महाराज! इस ध्रुव चरित्र श्रवण का माहात्म्य और सुना दीजिये, जिससे श्रोताओ की इसके श्रवण मे रुचि हो, गान करने मे प्रीति हो, और माहात्म्य सुनकर हृदय मे उत्साह हो।"

इस पर शौनकजी बोले—"महाभाग विदुरजी! भक्तो के चरित्र के माहात्म्य का वर्णन करने की शेष शारदा की भी शक्ति नही, फिर मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ। ध्रुवजी का चरित्र धन

धान्य, पुत्र पौत्र यशकीर्ति को देने वाला तथा आयु को बढ़ाने वाला है। यह परम प्रशसनीय पापनाशक और पावन है, सुनने से स्वर्ग तथा ध्रुवलोक की प्राप्ति कराता है, प्रभुपादपद्मो में प्रीति बढाता है, यह चरित्र विद्यार्थियों की विद्या की, धनार्थियों के धन की, पुत्रार्थियो के पुत्रो की, मनस्वियो के मान की, तपस्वियो के तप की, यशस्वियो के यश की वृद्धि करने वाला है इसके श्रवण मात्र से सभी सिद्धियाँ मिलती हैं।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज इसे कब सुने ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"इसके सुनने का कोई नियम नही। जब भी अवसर हो तभी सुने। प्रात.काल सुने, सायंकाल सुने, रात्रि में सुने, दिन में सुने। ब्राह्मण और द्विजातियो के समूह मे सुने, सुनावे, गावे गवावे। दृष्टान्त दे उनके गुणो का कीर्तन करे।"

विदुर जी बोले—"महाराज, रोज सुनने का अवसर न मिले तो ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"तो क्या ? जब भी समय मिले तभी सुने। पूर्णिमा, अमावस्या, एकादशी, द्वादशी, श्रवण, नक्षत्र, क्षयतिथि, व्यतीपातयोग, संक्रान्ति आदि को सुने।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज, पूर्णिमा अमवस्या को अवकाश न मिले, किसी कार्यालय में काम करने जाना पड़ता है तो किस दिन सुने ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"तब अवकाश के दिन रविवार को सुने। रविवार सातो दिनो मे श्रेष्ठ है। सुनने की अपेक्षा जो लोगो को इकट्ठा करके निष्काम भाव से सुनाता है, उस पर तो भगवान् इतने प्रसन्न होते हैं, कि उसे अपना आपा दे देते हैं, उसके अनुचर बन जाते हैं। उसके सभी मनोरथ स्वतःसिद्ध हो जाते हैं।"

मैत्रेय मुनि अत्यन्त हर्ष के साथ कहने लगे—"विदुरजी ! तुम भी बडे भक्त हो, इसीलिये मैंने तुम्हे इस छोटे से मुनुमुना से बालक भक्त ध्रुव का चरित्र सुना दिया। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें, मङ्गल करें, तुम्हारे कारण मेरी भी वाणी पवित्र हो गई। लिखने वाले की लेखनी धन्य होगी और सुनने वालो के कान पवित्र होगे बोलिये, और आप क्या सुनना चाहते हैं।"

छप्पय

अति पवित्र यह चरित जाहि जे निशिदिन गावें।
ते निश्चय ई पुरुष प्रेम प्रभुपद को पावे॥
जे श्रद्धाते पढे सुनें पढि सबनि सुनावें।
पाइ परम पद पुण्य जगत महँ नहिं फिरि आवे॥
बाल सुलभ क्रीडा तजी, तप करि अक्षय पद लह्यो।
उन ध्रुवजी को विदुर! यह,विमल चरित तुमते कह्यो॥

—※—

ध्रुवजी के वंश का वर्णन

(२४९)

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत।
कस्यान्ववाये प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० १३ अ० २ श्लोक)

छप्पय

अति आनन्दित भयो विदुर वर बोले बानी।
भगवन्! ध्रुवकी कही, कलित कमनीय कहानी॥
कहो, प्रचेता कवन कहाँ शुभ सत्र रचायो।
कैसे नारद जाइ वहाँ ध्रुव को गुन गायो॥
सुनि अति पावन प्रश्नकूँ, हँसि बोले मैत्रेय मुनि।
भये प्रचेता वश ध्रुव, ताको बरनन विदुर! सुनि॥

जिस कुल मे एक भगवद्भक्त हो जाता है वह कुल का कुल परम पावन बन जाता है। जिस देश मे परम भागवत उत्पन्न हो जाता है, वह देश पवित्र तीर्थ हो जाता है। भक्त को उत्पन्न

---

* विदुरजी मैत्रेय मुनि से पूछते हैं—'भगवन्! पीछे आपने कहा था प्रचेताओ के यज्ञ मे नारदजी ने ध्रुव के यश का गान किया था। तो वे प्रचेता कौन थे, किन के पुत्र थे? किस वश मे उत्पन्न हुए थे? उन्होंने कहाँ यज्ञ किया था? इन सब बातो को कृपा करके आप वर्णन करें।"

करने वाली माता धन्य है, वह कुल धन्य है, वह वसुन्धरा प्रशसनीय है और वे पुरुष धन्य हैं जो भक्तो के कुल मे उत्पन्न होते है। श्रेष्ठत्व के कई कारण हैं। बहुत से विद्या से श्रेष्ठ होते हैं, बहुत से तप से, बहुत से शुभ कर्मो से, बहुत से ऐश्वर्य से, बहुत से धनजन आदि विभव से। किन्तु इन सब से उत्तम श्रेष्ठत्व उत्तम कुल का जन्म माना जाता है। धन आज है, कल नष्ट हो गया। ऐश्वर्य की भी यही दशा है तप और शुभ कर्म भी बुरे कार्य करने से नष्ट हो जाते है। यश भी अपयश के रूप मे परिणत हो जाता है, किंतु जिस कुल मे जन्म लिया है, उसका गौरव तो शरीर के अत होने तक बना रहता है। स्वय बुरे कर्म करने पर भी लोग कुल को नही भूलते इसलिए पूर्व युगो मे कुलीनता का बडा आदर किया जाता था। अकुलीन गुणी भी हो, तो लोग उसका उतना आदर नही करते थे जितना कुलीन गुणहीन का, क्योकि वाह्य गुण न रहने पर भी उसका जो कुलागतशील है, वह तो नष्ट नही होता। कलि-काल मे तो कुलीनता रहती ही नही। लोग यश, ऐश्वर्य और धन के ही कारण श्रेष्ठ माने और जाने जाते है।

ध्रुवजी के अत्यत पवित्र चरित्र को सुनकर नैमिषारण्य निवासी मुनिगण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे सब सूतजी की प्रशसा करते हुए बोले—"महाभाग। सूतजी! आपकी वाणी ही बडी मधुर है। कथा कहने की प्रक्रिया आपने अपने पिता से भली भाँति सीख ली है। आप कथा मे ऐसे सरसता के सम्पुट लगाते जाते हैं, कि चित्त ऊबता ही नही। अधिकाधिक उत्सु-कता बढती ही जाती है। महाभाग विदुरजी ने पुण्यश्लोक महामहिम श्री ध्रुवजी के चरित्र के अनन्तर मैत्रेय मुनि से कौन-सा प्रश्न किया, कृपा करके आप हमे उस आगे के प्रसङ्ग को

सुनाइये। उन दोनो परम भागवतो मे जो संवाद हुआ होगा, वह अत्यत ही परम पावन पापनाशक और भक्तिवर्धक होगा। कृपा करके आप यही कथा का विराम न कर दें आगे इस प्रसङ्ग को चालू ही रखें।"

इतना सुनते ही सूतजी बोले—"मुनियो ! मैं तो आप लोगो को पाकर कृतार्थ हो गया। भगवत् कथाके प्रति इतनी तन्मयता इतनी उत्सुकता तो हमने आज तक किसी मे देखी नही। हे पवित्र कीर्ति वाले मुनियो ! मैं आपको आगे की कथा सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त होकर श्रवण करें। महाभागो ! जब महामुनि मैत्रेयके मुखसे महामहिम्न ध्रुवजी का चरित्र विदुरजी ने सुना, तो उनके रोम-रोम खडे हो गये। तथा उनके हृदय मे भगवान् वासुदेव की भक्ति का उद्रेक हो आया। ऐसी प्रेम ही की नशा मे प्रसङ्गान्तर न होने पावे और कथा ज्यो की त्यो चालू रहे, यही सोच विचारकर उन्होने मैत्रेय मुनि से पूछा—"ब्रह्मन् ! आपने कहा था कि, प्रचेताओ के यज्ञ मे नारदजी ने ध्रुवजी के गुणो का गान किया था, तो कृपा करके यह बताइये कि ये प्रचेता कौन थे ? इनका जन्म किस वश मे हुआ था और इन्होने कहाँ पर यज्ञ किया था ?"

इतना सुनते ही मैत्रेय मुनि हँस पडे और बोले—"विदुर जी ! आप क्या कथा के बडे रसिक है। कैसा प्रश्न कर दिया। इस प्रश्न मे तो अनेक कथाओ का समावेश हो जाता है। ये प्रचेतागण ध्रुवजी के ही वश मे हुए थे।"

इतना सुनते ही विदुरजी बोले—"भगवन् ! मुझसे महा-भागवत् श्री ध्रुव के वश का वर्णन करें। उनके वश मे जो जो भी राजर्षि श्रेष्ठ पुरुष हुए हो, उनके उदार चरित्रो का आप बखान करें। ध्रुव के वश मे जो हुए होगे, वे साधारण लोग न

होगे। वे तो भगवान् के अशावतार कलावतार ही होगे। ऐसे पवित्र चरित्र पुरुषो का यश श्रवण से श्रवण पवित्र होते हैं।"

विदुरजी के प्रश्न को सुनकर मैत्रेयजी ध्रुव की कथा के ही प्रसग को चालू रखते हुए कहने लगे। महाभागवत विदुरजी! यह तो मैं पहिले ही आपको बता चुका हूँ कि मनु पुत्र महाराज उत्तानपाद के ध्रुव और उत्तम नामक दो सुत हुए, उत्तम तो बिना विवाह किये ही यक्षो के हाथ से मारे गये। इसलिए उनका वश तो चला नही। ध्रुवजी का वश आगे चला। उसी वश का वर्णन प्रचेताओ के यज्ञ मे श्री नारदजी ने किया था।

इस पर विदुरजी बोले—"महाराज! जिस वश का वर्णन देवर्षि भगवान् नारद ने किया हो, वह वश अवश्य ही श्लाघनीय होगा। क्योकि नारदजी कोई साधारण ऋषि तो हैं नही। वे तो भगवान के अशावतार ही है, वे निरन्तर वीणा बजाते हुए विश्व के निमित्त चौदह लोको मे घूमा करते है। उनसे बढकर ससारमे भागवत कौन होगा, जिन्होने पाचरात्र आदि शास्त्रों का निर्माण किया है, उनमे भगवान् की पूजा पद्धति-क्रिया योग का—निरूपण किया गया है। प्रचेताओ के बड़े भाग्य थे जो नारदजी ने आकर उनके यज्ञ मे उनके वश का वर्णन किया, ध्रुवजी के गुणो का गान किया। नारदजी ने ध्रुवजी के वश वर्णन के प्रसग मे जिन गुप्त भगवच्चरितो का वर्णन किया हो, उन सबको आप मुझे विस्तार के साथ सुनावें। आपके मुख से कथा सुनते सुनते मेरी तृप्ति नही हो रही है।"

विदुरजी के इस चातुरी के साथ किये हुए प्रश्न को सुनकर मैत्रेय मुनि कहने लगे—"व्यासनन्दन विदुरजी! यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि ध्रुवजी की इला और भ्रमि नाम की दो रानियाँ थी। इला के गर्भसे उत्कल नामक पुत्र हुआ और

भ्रमि के गर्भ से वत्सर नामक दो पुत्र हुए। नियमानुसार राज्य सिंहासन पर उत्कल का ही अधिकार था। इसीलिये ध्रुवजी उन्हे ही राज्यसिंहासन देकर वन को चले गये। पिता के सम्मुख तो उत्कल जी ने कुछ आपत्ति की नही, क्योकि पिता साक्षात् तीर्थस्वरूप देवता हैं, उनकी आज्ञा माननी ही चाहिये। किन्तु उनके जाने के पश्चात् उनकी राज्य करने की इच्छा नही हुई, अतः वे ऐसे अडवड कार्य करने लगे, कि सब प्रजा उनसे घृणा करने लगी।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज! परम भगत ध्रुव जी के साक्षात् और सुपुत्र उत्कल जी ऐसे लोक विरुद्ध कौन से कार्य करते थे, जिससे समस्त प्रजा उनके विरुद्ध हो गई। वे ऐसे क्रूर कर्मा क्यो हुए।?"

इस पर मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुरजी! शास्त्रकारो का सिद्धान्त है, कि पवित्र धर्मात्मा श्री लक्ष्मी-सम्पन्न परिवार में योगभ्रष्ट पुरुष आकर जन्म लेते हैं। जैसे ध्रुवजी भी योगभ्रष्ट थे, उनके पुण्य अधिकशेष थे, अतः वे पृथिवी का शासन भी करते रहे और अन्त मे ध्रुव लोक का भी शासन अब तक कर रहे हैं। किन्तु उनके पुत्र उत्कल तो पूर्व जन्म के कोई मोक्ष धर्मी पाप पुण्य से रहित कोई महायोगी थे। कोई सूक्ष्म सा पुण्य शेष रह गया था, उसी के फलस्वरूप आकर राजपुत्र हुए। किन्तु वे जाति स्मर थे। उन्हे पूर्व जन्म की सभी बातें याद थी। वे सोचने लगे—"यदि इस जन्म मे भी मैं राज्य-भोगो मे फँस जाऊँगा, तो मेरा आवागमन नही छूटने का। ससार में इसी प्रकार मरता और जन्म लेता रहूँगा। अतः कोई ऐसा उपाय करो, कि इस राज-काज से पिंड छूटे। प्रजा के लोग स्वय ही हमें राज गद्दी से हटा दें। हमें स्वयं राज्य छोड़ना

न पडे। यह सोचकर वे विपरीत आचरण करने लगे। वैसे उनमे कोई दोष नही था। जन्म से ही वे शान्तचित्त, असग, समदर्शी और सभी प्राणियो मे अपनी आत्मा को देखने वाले परम ज्ञानी और योगी थे। उनके पाप पुण्य रूपी सस्कार तो शेष रहे नही थे, किंचित् मात्र जो शेष थे, उन्हे राजपुत्र होकर वे भोग चुके थे, अब तो अखण्ड यागाग्नि से कर्मो के समस्त सस्कार भस्मीभूत हो जाने के कारण वे सम्पूर्ण भेदो से रहित, एकमात्र ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय, सर्वव्यापक, निर्वाणरूप ब्रह्म को ही अपना आत्मरूप मान कर आत्मा के सिवा कुछ भी नही देखते थे। अत वे राजा होकर ज्ञान की चरम स्थिति मे रहने लगे। मार्ग मे जिधर जा रहे है उधर ही चले जा रहे हैं। आगे वृक्ष है तो उससे हटते नही। कोई हिंसक जन्तु आ गया, तो उससे डरते नही। लोगो को सन्देह होने लगा, कि अवश्य ही यह अन्धा है, वैसे आँखें तो है इनमे प्रकाश नही। इसे दिखाई नही देता। किसी ने कुछ पूछा तो कुछ भी उत्तर नही, सब की बातें अनसुनी कर देते। लोग समझते कि इसे सुनाई भी नही देता। मन्त्री कुछ पूछते तो अ अ कर देते बोलते ही नही, उन्हे सन्देह होने लगा, यह गूगा तो नही हो गया। देख रहे है तो देख ही रहे हैं, लेटे है तो लेटे ही हैं, बैठे हैं तो पहरो बैठे ही रहते हैं। सबने समझा यह तो पागल हो गया, ऐसा जड राजा क्या राज्य कर सकता है। इसीलिये सब बूढे मन्त्रियो ने कहा —"देवता जी! आप अब अपने पागल पने मे मस्त रहिये। इस राजसिंहासन को छोड़िये। इस पर हम दूसरे राजकुमार को बिठायेंगे।" उन्हे तो यह अभीष्ट ही था। राज्य छोडकर वन को चले गये।

अब सब मन्त्रियो ने मिलकर ध्रुवजी की दूसरी पत्नी भ्रमि

के पुत्र वत्सर को राज्यसिंहासन पर बिठाया। वत्सर धर्मपूर्वक राज्य का पालन करने लगे। उनका विवाह स्वथि से हुआ। महारानी स्वथि अपने पति की परम प्रेयसी थी। उनके गर्भ से महाराज वत्सर ने ६ पुत्र उत्पन्न किये। जिनके नाम पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, अर्ज, वसु और जय थे। इन सब मे पुष्पार्ण बडे थे, अत. नियमानुसार वे ही राजा हुए। उन्होने भी ध्रुवजी की भाँति दो विवाह किये। एक रानी का नाम प्रभा था दूसरी का दोषा। प्रभा के गर्भ से दिन के तीनो कालो के अभिमानी तीन देवता हुए, प्रात. मध्यानन्दि और साय इन नामो से प्रसिद्ध हुए। दोषा के गर्भ से प्रदोष निशथ और व्युष्ट ये रात्रि के तीनो कालो के तीन अभिमानी देवता हुए। इनमे व्युष्ट राजा हुए।

व्युष्ट की पत्नी का नाम पुष्करिणी हुआ। जिससे सर्वतेजस् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। महाराज सर्वतेजसू की भार्या का नाम अकूति था। उसके गर्भ से चक्षुमनु उत्पन्न हुए। चक्षुमनु की धर्मपत्नी का नाम नड्वला था जिसके गर्भ से परम तेजस्वी वीर्यवान् १२ पुत्र हुए। जो पुरु, कुत्सत्रित, द्युम्न, सत्यवान्, मृत, वत, अग्निष्टोम, अतिरात्र, प्रद्युम्न, शिवि, और उल्मुक है। इन नामो से जगत मे विख्यात हुए। इन सब मे उल्मुक राजा हुए। ज्ञात होता है ये सब के सब धर्मात्मा देवत्व को प्राप्त हुए। इसीलिये सबसे छोटे को राज्यसिंहासन मिला।

महाराज उल्मुक को धर्मपत्नी का नाम पुष्करिणी था, जिसके गर्भ से अङ्ग, सुमनस्, स्यातु, क्रतु, अङ्गिरस् और गय ये ६ परम धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुए। ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ होने के कारण अङ्ग को राजगद्दी मिली। महाराज अङ्ग ने मृत्यु की

कन्या सुनीथा से विवाह किया। जिसके क्रूरकर्मा परम दुष्ट वेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिसने पृथिवी पर होने वाले सभी यज्ञयाग आदि धार्मिक वृत्त बन्द कर दिये।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! ध्रुवजी के वंश मे उत्पन्न हुए महाराज अङ्ग का हमे सम्पूर्ण वृत्त सुनावें। ऐसे विशुद्ध कुल मे उत्पन्न हुए महाराज अङ्ग के यहाँ वेन जैसा क्रूर-कर्मा कुमार कैसे उत्पन्न हुआ? महाराज के किस पाप का यह फल था। इन सब बातो को हमारी सुनने की इच्छा है, अत. सक्षेप न करें, सब बात विस्तार से बतावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! मैं महाराज अङ्ग का चरित्र सुना कर फिर वेन की क्रूरता का वृत्तांत बताऊँगा, आप सब समाहित चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

ध्रुव के वत्सर पुत्र भये पुष्पार्ण तासु सुत।
तिनके वेटा व्युष्ट, सर्वतेजस् सुत तपयुत॥
आकूती महँ पुत्र, चक्षु मनु तिनके सुखकर।
मनु के उल्मुक भये, तिन्हीं के अङ्ग पुत्रवर॥
मृत्यु सुता को अङ्ग ने, पाणिग्रहण विधिवत् कियो।
ताही तें अतिक्रूरतर, वेनपुत्र पैदा भयो॥

मृत्युपुत्री सुनीथा

(२५०)

सुनीथ ङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम् ।
यद्दौःशील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात्पुरात् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १३ आ० १८ श्लो०)

छप्पय

जो जो कारज करत सदा माता पितु दीखें ।
वे ई सबरे काज बालिका बालक सीखें ॥
सुता सुनीथा मृत्यु पिताकूँ सबकूँ मारत ।
निरखे नित प्रति दण्ड देत ताडत हुकारत ॥
तप सुशङ्ख वन महँ तपत, मृत्यु सुता तहँ जाइकें ।
तड तड ताडन नित करति, मारति तोत्र सिहाइकें ॥

बच्चो का स्वभाव अनुकरण शील होता है, बच्चे मातापिता को जो करते हुए देखते हैं, उसी को पहिले खेल खेल मे करते हैं, फिर वैसा करने की उनको बान पड जाती है । कुछ सस्कारी

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी मृत्युपुत्री) सुनीथा महाराज अग की पत्नी हुई, जिसने क्रूरकर्मा वेन नामक पुत्र को उत्पन्न किया । जिसकी दुष्टता से दुखित होकर राजर्षि महाराज अग अपने नगर को त्यागकर वन को चल गये ।"

बालक इसके अपवाद भी होते है, किन्तु प्राय ऐसा ही देखा गया है कि बच्चो के हृदय पर माता पिता के कार्यों का ही प्रभाव पडता है। इसीलिये तो हमारे यहाँ बात बात पर कुलीनता का ध्यान रखा जाता है। कुलीन पुरुषो से व्यवहार करो। विवाह सम्बन्ध करना हो तो दोनो कुल देखकर करो। जैसे कुल मे सम्बन्ध होगा सन्तान मे उसके थोडे बहुत सस्कार अवश्य ही आ जायँगे। इस विषय मे एक बहुत ही प्रसिद्ध आख्यायिका प्रसिद्ध है।

किन्ही महात्मा के यहाँ एक कुतिया रहती थी, भिक्षा से जो कुछ बच जाता महात्मा उसे डाल देते। महात्मा का उच्छिष्ट खाते खाते उसमे सुशीलता, सौम्यता तथा सरलता आ गई। किसी को देखकर भौंकती नही थी, कोई उपद्रव या कुतियापन का काय नही करती थी। महात्मा सिद्ध थे। उन्हे एक दिन दया आ गई। वे सोचने लगे—"देखो, कैसी सीदी सादी कुतिया है, किसी पाप से इसे यह योनि मिल गई है, नही तो इसमे कुतियापने की कोई भी बात नही। महात्माओ की लहर ही तो है। जिधर भी उमड पडे कृपावश। उन्होने गगा जल को मन्त्रो द्वारा अभिमन्त्रित करके उस पर छिडक दिया। देखते देखते वह अत्यन्त सुन्दरी कन्या बन गई। मुनि की कृपा से उसे अत्यधिक रूप लावण्य मिला था। जो भी उसे देखता, वही उसकी ओर देखता का देखता ही रह जाता। वही रहकर वह मुनि के आश्रम मे झाडू बुहारू देती। गौओ के गोबर से नित्य आश्रम को लीप देती।

किसी समय उस देश के राजा महात्मा के दशनो के लिये आया। उस अत्यन्त सुन्दरी कन्या को इधर से उधर अपनी प्रभा से आश्रम को प्रभावित करती हुई देखकर और झाडू

बुहारू मे व्यग्र निहार कर राजा ने पूछा—भगवन् ! यह कन्या-रत्न आपके यहाँ कहाँ से आ गया। यह तो महाराज जी राज-महल मे रहने योग्य है। आप बाबाजियो के यहाँ तो ऐसे रमणी-रत्न का दुरुपयोग ही है। इसके ये कमल की पखुडियो के समान कोमल कर पया झाडू बुहारू और लीपने योग्य हैं।"

महात्मा जी समझ गये, कि लडकी राजा के मन पर चढ गई है। हँसते हुए मुनि बोले—"राजन् ! क्यो आप अपने मन को चचल करते हैं। आपके अत पुर मे अनेक अच्छे अच्छे कुलीन राजाओ के कुलो की कुलवती कन्यायें हैं। आप इसका क्या करेंगे। इसके कुल गोत्र का भी तो पता नही।"

राजा ने बडी उत्सुकता और आग्रह के स्वर मे कहा—"महाराज जी ! रत्न का क्या कुल गोत्र। रत्न तो रत्न ही है। अशुद्ध स्थान पर खडे हुए रत्न को क्या कोई छोड सकता है। शूद्र की घर की गो का दुग्ध क्या अपवित्र होता है। कन्यारत्न तो विशुद्ध होता है। आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो इस ललना रत्न को मुझे प्रसाद रूप मे दे दें। इसे मैं अपने हृदय का हार बनाकर अपने समस्त रानियो मे इसे श्रेष्ठ बना दूँगा। इसे कोई भी कष्ट न होगा।

महात्मा हँसे और बोले—"ले जाइये राजन् ! अपने राम को क्या माया मोह। अपने तो सकल्प से नित्य ऐसे रत्न बनते बिगडते रहते हैं। हमारे लिये जैसा ही कुतिया का रूप ऐसा ही इसका रूप।' राजा को बडी प्रसन्नता हुई। उसे ले गये और उसके साथ विवाह कर लिया। अपनी सब रानियो मे उसे सर्व श्रेष्ठ बना दिया। अन्त पुर मे वह अकेली महाराज के साथ रहने लगी। कैसी भी रानी बन गई थी, फिर भी कुतिया के सस्कार कहाँ जाते, यह तो महात्मा की विशेष कृपा थी जो

उसका रूप पदल दिया। सस्कार तो प्राय शरीर के अन्त होने पर ही, भोग समाप्त हाने पर ही बदलते है। राजा जब सो जाते तो वह धारे से उठकर दीपक के सब तेल को चाट जाती। राजा नौकरो को डांटते। "ऐसा दीपक क्यों रखते हो, जो प्रात' तक नही जलता ?"

सेवको ने विनय के साथ कहा—"अन्नदाता ! हम जैसा सदा भरकर रखते थे वैसा ही रखते है, सम्भव है वायु के झोके से बढ जाता होगा।'

राजा ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"बढ कैसे जाता होगा। बढ जाता तो उसम तैल तो अवश्य रहता। उसमे एक बूँद भी तैल नही रहता।"

सेवको ने कहा—'प्रभो ! आप भले ही नित्य देख लिया करें। हमारा कुछ अपराध नही।"

यह सुनकर महाराज ने २-३ दिन देखा। सेवको की बात तो ठीक ही थी। एक दिन वे सोये नही किन्तु कपडे ओढकर ऐसे पड गए मानो गाढ निद्रा मे सो रहे हो। जब कुतिया रानी ने देखा राजा सो गये हैं, तो वह शनै शनै उठी और चपर चपर करके दीपक के सब तैल को चाट गई। अब तो राजा के आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। वे बराबर सोचते—"यह है कौन ? अरे, मेरे यहाँ खाने पीने की कुछ कमी नही, नित्य ५६ पदार्थ बनते हैं। फिर भी यह चोरी से छिपकर दीपक के तैल को चाटती है। अवश्य ही यह कोई राक्षसी है।" यही सब सोचते सोचते राजा को प्रात काल हो गया। वे शीघ्रता के साथ नित्य कर्मो से निवृत्त हुए और रथ जोतकर उस नई रानी को उसमे बिठाकर अकेले ही महात्मा के आश्रम को चले।

राजा वैसे बड़े कर्मकांडी थे महल के भीतर कभी कोई कुत्ता नहीं जा सकता। कुत्ते को बहुत अशुद्ध माना है। आज जब उनका रथ जा रहा था, तो एक गाँव के पास बहुत से कुत्ते हू हू करके रो रहे थे। अब तो इस कुतिया रानी से भी नहीं रहा गया। यह भी हहह हू···करके चिल्ला उठी। राजा बड़े डरे कि इस डायन से अच्छा मेरा पाला पड़ा। न जाने यह कौन है।

महात्मा के आश्रम पर पहुंचे। महात्माजी तो देखते ही समझ गये कुछ दाल में काला है। हँसते हुए बोले—"कहिये राजन् ! क्या हाल-चाल है ? आपकी नई रानी आपके अनुरूप व्यवहार करती हैं न ?"

राजा ने खीजकर कहा—"अजी, महाराज ! किस डाइन को आपने मेरे पल्ले बाँध दिया। अब उसकी लीला कुछ पूछिये मत। इस ग्रह से मेरा किसी भाँति पिंड छुड़ाइये।"

यह सुनते ही महात्माजी बड़े जोर से ठहका मार कर हँसते हुए बोले—"राजन् ! कन्यारत्न में क्या दोष है ? यह तो ललना-रत्न है।"

राजा व्याकुलता के साथ कहने लगे—"भगवन् ! ऐसा रत्न यहाँ आश्रम मे हो रहे। मेरे ऊपर तो कृपा हो। दया करके मुझे यह बताइये कि यह कोई भूतिनि है, कि पिसाचिनी है। या डाकिनी-साकिनी है ?"

महात्माजी तो हँस पड़े और बोले-"राजन् ! मैंने तो आपसे पहिले ही कहा था, विवाह कुल गोत्र देखकर करना चाहिये। यह नहीं है कि जहाँ चटक मटक देखी वहीं फिसल पड़े। न तो यह भूतिनी न पिचाचिनी न डाकिनी न साकिनी है। यह

जो है, उसे मै आपको अभी बताता हूँ।" इतना कह कर महात्माजी ने फिर मत्र पढकर उसके ऊपर जल छिडका। उसी समय वह कुतिया बनकर पूँछ हिलाने लगी। राजा को बडा आश्चर्य हुआ और वे महात्मा की सिद्धि की प्रशसा करते हुए उनकी चरणधूलि सिर पर चढाकर चले गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज ध्रुव के वश मे जो उल्मुक नाम के राजा हुए, उनके ६ पुत्र थे। उनमे सबसे बडे का नाम अग था। जो कि बडे होने के कारण राज्य सिहासन के अधिकारी हुए। उनका विवाह मृत्यु की कन्या सुनीथा के साथ हुआ। सुनीथा के पिता मृत्यु सबको मारने पीटने वाले थे, इसी लिये नाना के दोष से महाराजअग के पुत्र वेन बडे क्रोधी और क्रूर स्वभाव वाले हुए। सुनीथा की क्रूरता के कारण ऐसे क्रूरकर्मा सुत होने का उसे तपस्वी सुशख का शाप भी था।"

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! सुनीथा को सुशख का शाप कैसे हुआ? सुशख कौन थे? फिर सुनीथा का विवाह महाराज अग के साथ कैसे हुआ इन सब बातो को विस्तार से आप बतावें।"

यह सुन कर सूतजी बोले—"महाराज! यह तो बहुत बडा कथा प्रसग है। विस्तार के साथ वर्णन करने लग जाऊँ तो इसी मे बहुत समय व्यतीत हो जाय, अत मैं इस प्रसग को अत्यन्त ही सक्षेप मे आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। आप इसे सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें।" इतना कह कर सूतजी सुनीथा के चरित्र को सुनाने लगे।

सूतजी बोले—"मुनियो! सब प्राणियो को मारने ताडने वाले मृत्युदेव के एक सर्वगुणसम्पन्ना सुनीथा नाम की कन्या

उत्पन्न हुई। मृत्युदेव उस परम सुन्दरी कन्या को अत्यंत स्नेह, बड़े लाड़चाव के सहित पालन करने लगे। लड़की जब कुछ बडी हुई तो अपने बाप की गोद में बैटकर सब बातें देखने लगी। मृत्यु का काम ही है, किसी को मारना, किसी को ताड़ना किसी को दुख देना। सुनीथा ने समझा मारना पीटना ही अच्छा काम है, यदि ऐसा न होता तो मेरे पिता सबको क्यो मारते।

जब लडकी सयानी हुई, तो वन-उपवनों में विहार करने जाती। वहाँ नंदन कानन के समीप के एक उपवन मे सुशंख नाम का एक बड़ा तपस्वी गन्धर्व एकान्त मे रह कर घोर तप करता था। गन्धर्व वंसे ही बड़े सुन्दर होते हैं, जिसमे वह सुशंख तो अत्यधिक सुन्दर था। यह सुनीथा जाती और उसे अकारण पीटने लगती। वह विचारा बड़ा गम्भीर था, बड़े स्नेह से पूछता— 'बच्चो! मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है, तू मुझे क्यों पीटती है?" किन्तु इसकी तो पिता के कार्य को देखते देखते मारने पीटने की बानि पड़ गई थी। इसलिये कुछ भी न सुनती। पीटपाट कर चली जाती।

१०। ५ दिन तो सुशंख सहते रहे। एक दिन उसने डाट-कर कहा—"लड़की, तू यहाँ मत आया कर।"

उसने कड़क कर कहा—क्यों न आया करें, तेरे बाप का वन है, तू जानता नही मैं तीनों लोकों के स्वामी मृत्यु की पुत्री हूँ।"

सुशंख ने क्रोध मे भर कर कहा—"तू मृत्यु की नही, चाहे जिसकी लड़की हो। यदि तू कल से यहाँ आई तो फिर भला न होगा।"

सुनीथा ने मुँह मटकाकर सिर हिलाकर आँखे चढाकर गाल पिचकाकर कहा—"हम आवेंगे, आवेंगे अवश्य आवेंगे, जो हमारी इच्छा होगी करेंगे, तू रोकने वाला कौन होता है ? कर लेना जो तुझे करना हो।" इतना कहकर वह चली गई। अपने बाप से भी उसने जाकर कह दिया। मृत्यु ने सोचा—"लडकी है, ऐसे ही लडलडा पडी होगी, इसलिये वे कुछ भी न बोले।"

दूसरे दिन फिर गई। सुशङ्ख ध्यान मे बैठे थे। इसने उन्हे मारना आरम्भ कर दिया। तब तो उसे बडा क्रोध आया। उसने डाटकर कहा—"क्योरी छोरी ! तू न मानेंगी।"

सुनीथा ने आँखें नचाकर धृष्टता के साथ कहा—"हाँ नही मानेगी, कर ले हमारा क्या करता है।" इस पर उसे भी क्रोध आ गया। उसने क्रोध मे भर कर आचमन करके शाप दिया—"जा दुष्टे ! तू मुझ निरपराधी को मारती है, इसलिए तेरे गर्भ से एक ऐसा क्रूरकर्मा दुष्ट पुत्र उत्पन्न होगा, जो वेदमार्ग का दूषक, गौ ब्राह्मणो का निदक, यज्ञ सत्कर्मों से रहित और पापी होगा।"

इस शाप को सुनते ही सुनीथा की सब सिटिल्ली भूल गई। उसका मन उदास हो गया और खिन्न चित्त से अपने पिता के समीप गई। पिता से उसने आदि से अत तक सभी वृत्तान्त कह दिया। यह सुनकर पिता को बडा दु ख हुआ। उन्होने कहा—"बेटी ! उस शान्त, दान्त, परम तपस्वी, महान् तेजस्वी वनवासी समाधिस्थ महात्मा को तैने अकारण दुख क्यो दिया। उनका शाप अन्यथा नही हो सकता।"

यह सुनकर सुनीथा भी बड़ी उदास हुई। वह सयानी हो गई थी। मृत्यु को रात्रि दिन उसके विवाह को चिन्ता लगी

रहती थी। वे उसके विवाह के लिये सब स्थानो में घूमे, किन्तु ऐसी शापित लड़की के साथ देवता, गन्धर्व, किंपुरुष, गुह्यक किसी ने भी विवाह करने को स्वीकार नही किया। इससे मृत्यु को भी बडी ग्लानि हुई। सुनीथा भी अपने भाग्य को धिक्कार देती हुई, पिता को प्रणाम करके तपस्या करने वन में चली गई। वह अत्यंत खिन्न मन से तपस्या करने लगी। बिना खाये शरीर को सुखाने लगी। उसी समय वन मे क्रीड़ा करती हुई, उसकी रम्भा आदिक सखी सहेली वहाँ आ पहुँची। उन्होंने जब सुनीथा को इस प्रकार खिन्न मन से शरीर सुखाते हुए देखा तो बडे स्नेह से वे पूछने लगी—बहिन ! तुम इतनी दुखी क्यों हो ? अपने दुख का कारण हमें बताओ। हम तुम्हारी भायेली सहेली है, हम शक्ति-भर तुम्हारे दुख को दूर करने का प्रयत्न करेंगे।"

अत्यंत उदास मन से सुनीथा ने कहा—'जीजियो ! मेरा दुःख ऐसा है, कि उसे कोई मेट नही सकता। मैंने अपने पाप कर्मों से स्वतः ही दुख मोल ले लिया है। मैंने निरपराध सुशङ्ख मुनि को कष्ट दिया है। उनके बार-बार निषेध करने पर भी जब मैं न मानी तो उन्होने क्रुद्ध होकर मुझे शाप दे दिया है, कि तेरे गर्भ से अत्यंत क्रूरकर्मा दुष्ट वेदनिंदक प्राणियों का हिंसक पुत्र उत्पन्न हो। इसी दोष के कारण मुझ से कोई विवाह करने को स्वीकार नही करता। मेरे पिता बड़े बलवान् हैं, तीनों लोको के स्वामी हैं, फिर भी पुत्री के पिता होने के कारण, उन्हें सबके सम्मुख नवना पड़ता है। उस समय मुझे बड़ी ग्लानि हुई, जब वे मेरा हाथ पकड़ कर देवता, गन्धर्व, यक्ष, गुह्यक, किन्नर सभी के पास गये, कि यह मेरी कन्या बड़ी सुन्दरी सुशीला और सर्वगुण सम्पन्न है, आप इसके साथ विवाह करलें

किन्तु पिता की प्रार्थना पर भी सबने कह दिया, इसे मुनि का शाप है, इसके गर्भ से क्रूरकर्मा पुत्र होगा, इसलिये हम अपने कुल मे कलक लगाना नही चाहते। हम इससे विवाह नही कर सकते।" इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो गया है, अब मैं जीवित रहना नही चाहती। यही वन मे बिना कुछ खाये प्राण त्याग दूँगी।"

उसके ऐसे दुख: और आत्मग्लानिपूर्ण वचन सुन कर रम्भा बोली—"बहिन, तुम चिन्ता मत करो। जीव से अपराध तो हो ही जाता है। संसार मे कौन अपराध से बचा है? ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, रुद्र, सूर्य, चन्द्रमा तथा और भी ऋषि मुनियो तक से भूल हो गई है। अब देखो, बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लेउ। शाप किसे नही हुआ। ब्रह्माजी को पूज्यत्व का शाप हुआ। विष्णु भगवान् को दशावतार होने का शाप शिवजी को कपाली नग्न होने का शाप, इन्द्र को सहस्रनेत्र होने का शाप, सूर्य को कुष्ट होने का, चन्द्रमा को क्षयी होने का। कौन शाप से बचा है। तुम इतनी दुखी क्यो होती हो। मैं तुम्हारी सहयता करूँगी और ऐसे सुन्दर पति से तुम्हारा विवाह कराऊँगी, जिसको बराबर का पृथवी पर दूसरा कोई भी न होगा।"

यह सुनकर सुनीथा को बडी प्रसन्नता हुई। रम्भा ने उसे एक मोहिनी विद्या सिखा दी, कि जिस पुरुष की ओर भी वह आसक्ति सहित देख दे, वही उसके वस मे हो जाय। ऐसी विद्या सिखाकर अप्सराओ मे श्रेष्ठ रम्भा अपनी सखी सहेलियो के सहित नदन वन मे ले गई।

इधर महाराज अग पुत्रकी कामनासे नन्दन वन मैं घोर तप कर रहे थे। रम्भा ने दूर से ही दिखाया, और हँसकर बोली —'यदि तुम्हें यह पुरुष पसद हो तो इससे साँठ गाँठ लगाऊँ

तपस्वी अग कामदेव से भी अधिक सुन्दर थे। सुनीथा का मन उनमे फँस गया। अब उसने अपनी मोहिनी विद्या क जाल उस तपस्वी अग पर डाला। एकान्त मे बैठ कर वीणा के स्वर मे स्वर मिलाकर सुमधुर स्वर से गान करने लगी। इधर तो सुनीथा की कोमल उगलियो के आघात से निर्जीव वीणा के तार झकृत हो रहे थे, उधर तपस्वी अग के हृदय मे भी स्मरशर के लगने से उनकी भी हृदतत्री के तार झनझना उठे। वे ध्यान छोड कर इधर उधर देखने लगे। अवसर पाकर हँसती मुस्कराती मिथ्यावीणा दिखाती रम्भा ने जाकर कहा—"देव! क्या देख रहे हैं, आपके कान क्यो खडे है, आखो के पलक क्यो नही गिरते ?"

अग ने कहा—"इस वीणा की झकार के सुमधुर गान ने मेरा मन हर लिया है, मैं अपने आपे मे नही रहा हूँ।"

रम्भा ने कहा—"तो आप क्या चाहते हैं ? यह मेरी सखी बजाकर गा रही है। यही अपने सौन्दय की प्रभा से दशो दिशाओ को आलोकित कर रही है। क्या आप इस गायन को सुनना चाहते है ?"

तपस्वी अग बोले—"अहा, यह गायन तो मेरे कानो मे अमृत उडेल रहा है। यह गायन सुनने को मिले तो मै कृताथ हो जाऊँ।"

रम्भा ने कहा—"गाना ही मिले या और भी कुछ ?"

महामना अग बोले—"और क्या ?"

हँसते हुए रम्भा ने कहा—"यदि गाने वाली भी मिल जाय तब ?"

अत्यत प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"तब, क्या पूछना ? 'नेकी और पूछ पूछ कर' चुपडी और दो दो,

मीठा और भरि कठौता।" तब तो मानो मेरी तपस्या की सिद्धि ही मूर्तिमती बनकर मुझे मिल जाय।"

तपस्वी अग का ऐसा अनुराग देखकर रम्भा उन्हे सुनीथा के पास ले गई। उसने तो मोहिनी विद्या से महाराज अग को वश मे कर रखा था। अग अपने आपे को भूल गये। अप्सरा गन्धर्वों ने मिलकर अग और सुनीथा का गान्धर्व विवाह कर दिया। महाराज ने अपने जीवन को धन्य धन्य समझा। इस पर रम्भा ने कहा—"महाराज, मेरी सखी के साथ छल मत करना मुझे एक वचन दो।" ये पुरुष बडे स्वार्थी होते है। जब इनका कोई प्रयोजन होता है, तो स्त्रियो से ऐसी बाते बनाते हैं मानो कितना स्नेह करते हैं। जहाँ प्रयोजन सिद्ध हुआ, कि फिर बात भी नही करते मुँह से भी नही बोलते।

महाराज ने दीनता से कहा—"नही, ऐसी बात मेरे विषय मे तुम मत सोचो। तुम जो कहोगी वही मैं करूँगा।"

इस पर रम्भा ने कहा—"महाराज, आप यही वरदान दें, कि मेरी सखी चाहे जैसा अपराध करे, इससे चाहे जितनी त्रुटि हो आप इसका जीवन भर त्याग न करें।"

रम्भा की यह बात सुनकर महाराज अग ने प्रतिज्ञा की। तब तो वे उन सबसे विदा होकर अपनी नई बहूरानी को साथ लेकर अपने नगर मे आये और बडे आनन्द के सहित सुनीथा के साथ आनन्द विहार करने लगे। सुनीथा के सौन्दर्य पर महाराज ऐसे लट्टू हो गये कि उन्होने उस पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। कालान्तर मे इसी सुनीथा के गर्भ से क्रूरकर्मा वेन का जन्म हुआ। जिसने समस्त वैदिक धर्मकर्मो को बन्द कर दिया था। जो बडा क्रूर, हिंसक, दुष्ट और वेदमार्ग के विपरीत आचरण करने वाला हुआ।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हमने तो कथा प्रसंग मे सुना है महाराज अंग अत्रि के पुत्र थे और आप उन्हे ध्रुवजी के वश मे महाराज उल्मुक का पुत्र बता रहे हैं ?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज किसी कल्प में अंग श्री अत्रि के भी पुत्र हुए होंगे, किन्तु इस भागवती कथा के प्रसग में तो वे उल्मुक के ही पुत्र हैं।

इस पर शौनकजी ने कहा—"हाँ, यह तो कल्पभेद से कुछ अंतर हो ही जाते हैं। अब आप हमे यह सुनाइये कि धर्मात्मा महाराज अंग के क्रूरकर्मा वेन पुत्र कैसे पैदा हुआ ?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, मैं भगवान् के अवतार महाराज पृथु के पिता वेन का चरित्र सुनाकर भगवान् पृथु का चरित्र सुनाऊँगा।

छप्पय

बरजे बहुत सुशङ्ख सुनीथा सदा सतावे।
दयो शाप अति क्रूर पुत्र तू दुष्टा जावे॥
भई खिन्न मुनि शाप समुझि नहिं ब्याह भयो जब।
तप हित वन महँ गई, अंग सँग मेल भयो तब॥
रम्भा ने तिकड़म करी, अंग संग मन मिलि गयो।
भयो ब्याह रानी बनी, दुष्ट वेन ताकें भयो॥

महाराज अंग का पुत्रप्राप्ति के लिये यज्ञ

(२५१)

नरदेवेह भवतो नाघं तावन्मनाक् स्थितम् ।
अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक् त्वमप्रजः ॥
तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप ।
इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १३ अ० ३१, ३२ श्लो०)

छप्पय

अग कर्‌यो इक राजसूय सुर नहिं आये ।
कारण पूछ्यो भूप विप्र अघ पूर्व बताये ॥
तिनकी आज्ञा, मानि यज्ञ पुत्रेष्टि रचायो ।
यज्ञेश्वर त भूप पात्र पायस को पायो ॥
सूँघि सुनीथा कूँ दयो, खाइ गर्भ ताके रह्यो ।
गर्भवती रानी लखी, मन प्रसन्न सब को भयो ॥

जब तक शरीर मे पूर्वकृत पाप हैं, तब तक पुण्य कार्य सिद्ध नही होते । इसीलिये यज्ञादि शुभ कर्मों के पूर्व प्रायश्चित्त

---

*मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! जब आवाहन करने पर भी अग के यज्ञ मे देवता नही आये तब राजा ने सदस्यो से इसका कारण पूछा । सदस्य कहने लगे—"राजन ! आपसे इस जन्म मे तो कोई

कराने की विधि है। पहिले प्रायश्चित्तादि करके शरीर-शुद्धि मन-शुद्धि हो जाय तब यज्ञादि शुभ कर्मों की दीक्षा का पुरुष अधिकारी होता है। अनधिकार चेष्टा व्यर्थ होती है, अत. सब कार्यों मे पहिले पात्रता की परम आवश्कता है।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! महाराज अंग का मृत्युपुत्री सुनीथा के साथ विवाह हो गया। अब राजा ने सोचा—" मुझे स्वर्ग की कामना तथा यश ऐश्वर्य के निमित्त जैसे मेरे पूर्वज अश्वमेधादि यज्ञ करते आये है, उसी प्रकार मुझे भी यज्ञ करने चाहिये। क्योंकि राजाओ का ऐश्वय यज्ञो के द्वारा ही प्रकट होता है। लोग उसके यश का वर्णन करते हुए कहा करते हैं "ये हयमेध याग है, उन्होने ३ बडे बडे अश्वमेध यज्ञ किये हैं। जो पृथ्वी पर रह कर १०० अश्वमेध यज्ञ कर लेता है, वह स्वर्ग का राजा इन्द्र बन जाता है मैं भी एक विपुल द्रव्य लगा कर वृहद् अश्वमेध यज्ञ करूँ।"

राजा ने अपना अभिप्राय वेदज्ञ ब्राह्मणो को सुनाया। ब्राह्मण तो यह चाहते ही रहते हैं, किसी की धम मे वृद्धि हो, अधर्म मे क्षय हो, ब्राह्मणो को दक्षिणा मिले और १०। १२ दिन खूब माल घुटें। धूमधाम हो, चहल पहल हो, ब्राह्मणो ने एक स्वर से महाराज अंग के शुभ सकल्प का सब प्रकार से समर्थन किया।

अणुमात्र भी अपराध बना नही, किन्तु पूर्वजन्म का एक अपराध आपका अवश्य है, इसी से आप पुत्रहीन हैं। अतः पहिले आप सुंदर सतान प्राप्ति के लिये प्रयत्न करें। जब आप पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ करेंगे तो यज्ञ भुक् भगवान् अवश्य आपको पुत्र प्रदान करेंगे। महाराज, आपका कल्याण हो, आप ऐसा ही करें।

अब फिर क्या था, होने लगी यज्ञ की तैयारियाँ। सजने लगे सत्र के साज, जमने लगे अश्वमेध के ठाठ। बढ़ने लगी ब्राह्मणों और दर्शनार्थियों की भीड़। ब्राह्मणों ने विधिवत् पूजन करके घोड़ा छोड़ा। विशाल वेदियाँ बनाई गईं, समस्त यज्ञ संभार जुटाये गए। बड़े बड़े वेद की विधि जानने वाले विप्रवर बुलाये गये। सर्व लक्षण सम्पन्ना सहधर्मिणी सुनीथा के संग अंग महाराज ने यज्ञ-दीक्षा ली। वे हाथ में मृग का सींग लिए हुए मौन-व्रत धारण करके यज्ञ-कर्म में प्रवृत्त हुए।

उस युग में देवतागण यज्ञों में प्रत्यक्ष आ-आकर अपना अपना भाग ग्रहण करते थे। देवताओं के भाग-विभाजन के समय विधिवत् आवाहनादि करने पर भी स्वर्गीय देवता महाराज अंग के अश्वमेध यज्ञ में नहीं आये। इससे राजा को बड़ा दुख हुआ। उन्होंने सकेत द्वारा ब्राह्मणों से पूछा—"मुझे कुछ आवश्यक बात निवेदन करनी है। मैं मौन व्रत को त्याग दूँ ?"

ब्राह्मणों ने आज्ञा दी—'हाँ महाराज ! आप कह सकते है' तब महाराज अंग बोले—'हे सदस्यगण ! मैंने कितनी श्रद्धा सहित इस यज्ञ को आरम्भ किया है। कितनी पवित्र वस्तुएँ न्यायोचित प्राप्त द्रव्य द्वारा जुटाई है, कितने वेदविधि को जानने वाले विद्वान ब्राह्मण बुलाए हैं। फिर भी आवाहन करने पर भी देवतागण अपना भाग लेने क्यों नहीं आते ?

इस पर आश्चर्य के सहित ऋत्विजों ने कहा—"राजन् ! इसी बात का तो हमें भी आश्चर्य हो रहा है, कि देवतागण यज्ञ में क्यों नहीं आते। देवताओं के यज्ञ में न पधारने के तीन ही कारण हैं। या तो सामग्री अपवित्र, दोषयुक्त हो। अथवा यज-

मान के कार्य श्रद्धाहीन हो। या यज्ञ कराने वालो के यज्ञीय मत्र सामर्थ्यहीन, ब्रह्मचर्य व्रतो से रहित, अशुद्ध और शक्तिहीन हों। इन तीनो बातो मे से यहाँ एक भी नही है। आपकी सामग्री बडी पवित्र है, बडी शुद्ध है। द्रव्य आपका अधर्म से उपार्जित नही है। न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए उनसे षष्ठाश लिया गया है। हमारे मत्र अमोघ हैं, हमने ब्रह्मचर्य व्रत पालन पूर्वक इनका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया है। फिर भी देवता नही आते महान् आश्चर्य है ?"

इस पर राजा ने कहा—"तब, महाराज ! मेरा कोई पाप होगा। जिस पाप के कारण देवता नही आते।"

इस पर ऋत्विजो ने कहा—"राजन् ! हम आप मे भी अणु-मात्र पाप नही देखते। आप बाल्यकाल से ही बडे धर्मात्मा हैं, आपका वशगत सदाचार बडा विशुद्ध है, आप नियम व्रतो का पालन करने वाले है। प्रतीत होता है, पूर्वजन्म मे आपसे कोई बाल हत्या आदि पाप बन गया है इसी कारण आपकी स्त्री के अभी तक कोई सतान नही हुई। बिना पुत्र के गति नही। पुत्र-हीन पुरुष के कम निष्फल हैं। अत पहिले आप पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ करें। हमारा विश्वास है कि यज्ञभुक् भगवान् आपकी भक्ति से सन्तुष्ट होकर अवश्य ही आपको पुत्र प्रदान करेंगे। जब आपके पुत्र हो जाय, तब फिर आप यज्ञ करेंगे, तो उसमे सब देवता आ आकर भाग लेंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुर ! सदस्यो के मुख से यह बात सुनकर राजा न पुत्रेष्टि यज्ञ आरभ की। ज्यो ही उन्होने भग-वान् के निमित्त पुरोडास अर्पण किया त्यो ही अग्निकुण्ड से एक सुवर्णमय मनोहर माला पहिने, अपनी आभा से दशो

दिशाओ को आलोकित करते हुए विशुद्ध वस्त्रो से विभूषित हाथ मे सुन्दर सिद्ध पायस का पात्र लिये हुये दिव्य पुरुष प्रकट हुए। उनके प्रकट होते ही, सर्वत्र आनन्द छा गया। ऋत्विज्, सदस्य, ऋषि मुनि, तथा यजमान हाथो की अजलि बाँधे हुए उनका अभ्युत्थान करने के निमित्त सहसा उठ खडे हुए। ऋत्विजो ने अत्यन्त ही सभ्रम के साथ कहा—"राजन! आप बडी श्रद्धा के सहित इस खीर के पात्र को ग्रहण करे।"

ब्राह्मणो की अनुमति पाकर राजा ने अत्यन्त गौरव के सहित अजलि मे उस सिद्ध रायस-पात्र को ले लिया। दिव्य पुरुष तुरन्त अन्तर्धान हो गये।

तब ब्राह्मणो ने कहा—"आप इसे सूँघ कर अपनी पत्नी को प्रदान करे। आपकी महारानी इसे श्रद्धा सहित पायेगी, तो उनके अवश्य ही सन्तान होगी।"

ब्राह्मणो की ऐसी आज्ञा पाकर राजा ने उस खीर को सूँघा और सूँघकर अपनी रानी सुनीथा को दे दिया। सुनीथा ने भी उसे परमगुणयुक्त महान् समझ कर बडी श्रद्धा के सहित भक्षण किया। उसके भक्षण करते ही रानी के गर्भ रह गया। इससे समस्त प्रजा मे आनन्द छा गया।

अब तो सुनीथा को सुशङ्ख के शाप की बात याद आई। दिन रात्रि उस अपने पिता की ही बातें यद आती। वे सोचती—"मेरे पिता रात्रि दिन कैसा क्रूरता करते रहते हैं। सभी को सताते हैं, सभी को दड देते हैं, मारते है। उन्ही से मैंने भी बाल्यकाल मे यह बात सीख ली। तभी तो मैं निरपराध उन सुशङ्ख मुनि को मारती थी। उन्होने क्रुद्ध होकर मुझे शाप दिया था—'तेरे क्रूरकर्मा हिंसक और सब को पीडा

पहुँचाने वाला पाप रूप पुत्र उत्पन्न होगा। सम्भव है, मेरे गर्भ मे वही पापी आया। हाय ! पापीपुत्र पैदा करके पिता माता सदा दुखी बने रहते हैं। दिन रात सुनीथा मृत्यु के ही स्वभाव को सोचती रहती थी, अत. गर्भस्थ बालक पर उन सस्कारो का बडा प्रभाव पडा।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! गर्भवती स्त्री, निरन्तर जिन विचारो मे निमग्न रहती है उसकी सतान भी प्राय' उन्ही विचारो की होती है। इसलिये गर्भवती स्त्री को कभी व्यर्थ की बुरी-बुरी बाते विचारनी नही चाहिये। न कोई पाप कर्म ही करना चाहिये। निरन्तर भगवत्चिन्तन करे और भक्तो के चरित्र श्रद्धा से सुनती तथा पढती रहे। ऐसा करने से उसकी सन्तान श्रेष्ठ होगी।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! एक सुनीथा पहिले से ही शापित थी, दूसरे वह निरन्तर मृत्यु का स्मरण करती रहती। तीसरे राजा के शरीर मे जितना पाप था वह सब कारणो से वह गर्भस्थ बालक अत्यन्त ही निर्दयी-क्रूर और वेद, विरुद्ध आचरण करने वाला नास्तिक हुआ। जिसे क्रुद्ध होकर ब्राह्मणो ने मार डाला

छप्पय

गर्भवती बनि सदा सुनीथा जिही विचारे।
होवे पापी पुत्र क्रूरता मन महँ धारे॥
अङ्ग अङ्ग को पाप सिमिटि वीरज महँ आयो।
शाप सुनीथा फल्यो क्रूर कर्मा सुत जाया॥
गर्भकाल महँ मातु जो, सोच सदा जैसो करे।
पूर्ण गर्भ के होत ई, सुत पैदा तैसो करे॥

अंग का क्रूरकर्मा पुत्र वेन

(२५२)

सः बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः ।
अधर्मशोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः ॥
स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः ।
हन्त्यसाधुर्मृगान्दीनान्वेनोऽसावित्यरौज्जनः ॥*

(श्रीभाग० ४ स्क० १३ अ० ३९, ४० श्लो०)

छप्पय

भयो पापमति वेन सदा मदमातो भूमे ।
तीर कमन्टा लिये मृगनि मारत वन घूमे ॥
छोरनि बांधे दुष्ट ऐंचि कें जल मे डारे ।
मग महँ मूरख पकरि मार मुक्कनि की मारे ॥
शठता सुत की सुनि सबहिं, दुःख अङ्ग कूँ अति भयो ।
सोचें मनु के वश महँ, कुलकलक यह ह्वै गयो ॥

जन्मान्तरीय प्रबल सस्कार किसी प्रकार भी नही हटते । गरुडजी भगवान् के सखा है, सेवक हैं, भक्त हैं, वाहन हैं,

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं-"विदुरजी ! सुनीथा के गर्भ का बालक अधर्म के वंश में उत्पन्न होने वाले अपने नाना मृत्यु के ही शील स्वभाव वाल बालकपने से ही हुआ । नाना के सम्बन्ध से वह

फिर भी सर्पों के खाने का जो उनका स्वाभाविक संस्कार है वह नहीं छूटता। सर्पगण शिवजी के भूषण हैं। उनके अनुचर हैं, अमृतस्रव चन्द्रमा के समीप सदा रहते हैं। चन्द्रमा भगवान् भोलेनाथ के मस्तक के तिलक हैं, तो सर्प उनके मुकट हैं। इतना होने पर भी सर्पों का जो विष उगलने का स्वभाव है, वह नहीं छूटता। गौ को न कोई सिखाता है और न उसके दूध में मधुरिमा लाने का कोई यत्न करता है, उसका दुग्ध प्रकृति से ही मधुर है। जो बच्चे पूर्व संस्कारों से दुष्ट होते हैं, वे बिना सिखाये ही दुष्टता करने लगते हैं। पापों के प्रबल संस्कारों के कारण ज्यों ही वे बोलने चालने लगते हैं, त्यों ही दूसरों को दुख देने लगते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब पुत्रेष्टि यज्ञ से सुनीथा के गर्भ रह गया, तब १० वें महीने में उनके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह जन्म से ही क्रूरकर्मा था।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज! राजर्षि अंग के वीर्य से स्वयं साक्षात् यज्ञपुरुष की दी हुई खीर से उत्पन्न होने पर भी वह पुत्र क्रूरकर्मा, हिंसक तथा दुष्ट क्यों हुआ?"

यह सुनकर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! राजा के अङ्ग में जो कुछ पाप था, वह सब उनके वीर्य में आ गया, जब गर्भाधान संस्कार हुआ तो राजा निष्पाप हो गये। दूसरे उनकी रानी तो मृत्यु की पुत्री थी। मातृपक्ष का भी सन्तान पर बड़ा प्रभाव

अधार्मिक हुआ। कुछ बड़ा होने पर वह दुष्ट बालक हाथ में तीर कमान लिये वन में जाकर व्याध की भाँति भोले भाले हिरनों को मारता फिरता था। उसे देखते ही सभी प्रजा के लोग चिल्ला उठते थे वेन आ रहा है।

पडता है, अत सदा सत्कुलीन कन्या के ही साथ विवाह करना चाहिये। तीसरे सुनीथा को सुशङ्ख गन्धर्व मुनि का शाप भी था। इन सभी कारणो से अङ्ग का पुत्र वेन अत्यन्त ही दुष्ट हुआ। वेन कहते है पीडा को (वेनयति पीडयति इति वेन) जो सबको पीडा पहुँचावे वही वेन कहलाता है।

वह सियाना होते ही हिंसा मे प्रवृत्त हुआ। तीर कमान लिये जगलो मे घूमा करता। जिस जीव को भी देखता, उसे ही तडाक से मार देता। प्राणधारियो को मारते समय तडपते देखकर उसे बडी प्रसन्नता होती। कोई बालक जा रहा है उसे पास मे बुलाया। उसके कठ की गुठली को दबाने लगा। स्वाँस रुकने से बच्चे के प्राण छटपटाते, आँखें निकल आती, तो वह प्रसन्न होता और अत्यन्त जोर से दबाकर उसे मार डालता। किसी के मर्मस्थानो मे ऐसे घूँसे जमाता कि वह वही मर जाता, किसी के देखते ही ऐसा तक कर तीर मारता कि वह जहाँ का तहाँ टें कर जाता। किसी को गद की तरह ऊपर उछाल देता वह पत्थर पर गिर कर मर जाता। किसी को अलातचक्र की भाँति १०। २० बार घुमा कर दूर जल मे फेंक देता। वह डूब कर मर जाता। इस प्रकार उसे प्राणियो को मारने मे बडा सुख मिलता।

राजा ने जब देखा, मेरा पुत्र तो बडा दुष्ट है तब उन्होने उसे बुलाकर समझाया। 'देख, बेटा! किसी को मारते नही, सब मे समान रूप से श्रीहरि निवास करते है, सब उनके ही रूप हैं। जैसे अपने को पीडा होती है, वैसे ही दूसरो को भी होती है। धर्म का मूल तो दया है। जिसके हृदय मे दया है उसने स्वर्ग को जीत लिया है। बोल, कुछ आई समझ मे।' वेन ने कहा—"हाँ पिताजी समझ गया।"

महाराज अंग ने पूछा—'क्या समझा ?"

वेन बोला—'यही समझा कि जब से आपने बकना आरम्भ किया है तब से मैं इन चीटियों के बिल की ओर बड़े ध्यान से देख रहा हूँ। आपने बात आरम्भ करी तब से अब तक १७५८१ चीटी तो इसमें से निकली और घुसी कितनी इसे भूल गया।

यह सुनकर महाराज अङ्ग ने अपना माथा ठोका, कि यह दुष्ट किसी प्रकार न समझेगा। अब क्या करें, कैसे मेरे इस दुःख का अन्त हो। वे वेन के दुष्कर्मों को स्मरण करके अत्यन्त ही खिन्न रहने लगे।

एक दिन कोई महात्मा वहीं से भूले भटके चले आये महाराज अङ्ग ने उनका स्वागत सत्कार किया। महात्मा तो स्वभाव से ही दयालु होते हैं, पर पीड़ा को देख कर उनका नवनीत के समान हृदय द्रवित हो जाता है और अपने सदुपदेशों द्वारा उसके हटाने का शक्ति भर प्रयत्न करते हैं। महात्मा ने राजा से पूछा—"राजन् ! प्रतीत होता है, आपको कोई गहरी आत्मिक वेदना है। किसी अत्यन्त चिन्ता से आप दुखी हैं। अपने दुःख का कारण आप मुझे बतायें। राजा ने कहा—"भगवन् क्या बताऊँ, मेरे पूर्व जन्म के कोई ऐसे पाप उदय हुए हैं, कि मुझे सदा मानसिक क्लेश ही बना रहता है। मेरी चिन्ता का कारण मेरा पुत्र ही है। प्रभो ! मेरा यह क्रूरकर्मा कुपुत्र ऐसा दुष्ट है, कि सदा सब को पीड़ा पहुंचाता रहता है। ऐसे पुत्र से तो पुत्रहीन होना हजारों गुना श्रेष्ठ है। वे पुरुष धन्य हैं, जिनके पुत्र नहीं हैं। यदि मैं भी तो सुपुत्र हूँ। कुपुत्र के कारण होने वाला दुःख अनन्त पापों का फल है। जिन्होंने पूर्व जन्मों में प्रभु की प्रेमपूर्वक पूजा न की हो उन्हीं के यहाँ कुपुत्र का जन्म होता है। कुपुत्र के कारण अनर्थ ही अनर्थ होते हैं।

जिस कुल मे कुपुत्र उत्पन्न हुआ उस कुल की समस्त प्रतिष्ठा धूलि मे मिल जाती है। कितना भी यशस्वी कुल हो उसका यश नष्ट हो जाता है। कुपुत्र अधर्म करके स्वय ही पाप का भागी नही बनता, उसके पितर भी नरको की यातनायें सहते है। उसके कारण परिवार भर को अधर्म का भागी होना पडता है। फिर सबसे विरोध हो जाता है। नित्य ही लोग उलाहने ले लेकर आते हैं—"आज आपके लडके ने यह कर दिया, उसे मार डाला उसे जला दिया, उसे घायल कर दिया।" सभी आकर दोष देते हैं अपना विरोध प्रकट करते है।

सबसे बडी बात यह है, कि अहर्निश हृदय जलता रहता है, सदा मानसिक चिन्ता बनी रहती है। सदा सन्ताप की ज्वाला मे सतप्त रहना पडता है। इन सब कारणो से सभी सुख दुख रूप मे परिणत हो जाते हैं, समस्त आनन्द प्रमोद किरकिरा हो जाता है, भरा पूरा घर दुखमय प्रतीत होने लगता है। क्या करें कहाँ जायें।"

यह सुनकर सत हँस पडे और बोले—"राजन्! अपने घर मे कुपुत्र का जन्म बडे भाग्य से होता है। वे बडभागी पुरुष हैं, जिनके घर कुपुत्र हुआ हो।"

आश्चर्य के साथ राजा ने पूछा—"यह कैसे भगवन्! कुपुत्र का होना सौभाग्य का चिह्न कैसे?"

महात्मा बोले—"देखिये राजन्, सुपुत्र हुआ, तो वह अपने शील स्वभाव से, सेवा सत्कार से, सदाचार तथा श्रेष्ठ गुणो से पिता को वश मे कर लेता है। पिता सदा उसके सद्गुणो पर विमुग्ध बना रहता है, उसी के कल्याण की सोचता रहता है। उसे प्रसन्न करने को कभी घर से बाहर नही निकलता। दिन दिन उसके स्नेह बधन मे बँधता जाता है, मोह जाल मे

जकडता जाता है। उसे वैराग्य नही होता, घर द्वार, कुटुम्ब परिवार मे बढी हुई आसक्ति कम नही होती। उसका परलोक विगड जाता है, मरते समय पुत्र पौत्रो का ध्यान करते हुए ही मरता है। इसलिये मरकर उसी परिवार मे उसे फिर पुत्र बन कर उत्पन्न होना पडता है। इसके विपरीत कुपुत्र सदा दु ख देता है। मन से सदा वैराग्य बना रहता है। कुटुम्ब परिवार ससारी सभी सुख फीके पडते हैं। ऐसे समय भी जो घर को त्याग कर नही जाते,उनसे बढकर नीच पतित और कौन होगा? सो, राजन् कुपुत्र इसी लिये अच्छा है, कि वह ससार से वैराग्य उत्पन्न कराने का कारण होता है। इसलिये महाराज! आप मेरी बात मानिये, इस कुटुम्ब परिवार के मोह को छोडिये। सर्वात्मभाव से उन श्रीहरि के चरणो की शरण चाहिये आपका कल्याण होगा, आप सुखी होगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इतना कहकर महात्मा तो चले गये। महाराज अङ्ग सोचने लगे कि अब मैं क्या करूँ।

छप्पय

समझायो बहु भाँति किन्तु वह वेन न मान्यो।
नहिं समझेगो दुष्ट अङ्ग यह निश्चै जान्यो॥
सोचें कुल महँ कोढ भयो खल मति सुत पापी।
कैसे त्यागूँ जाहि जिही चिन्ता चित व्यापी॥
कहा करूँ कछु बस नही, अब तजि घर हरकूँ भजूँ।
तजै दुष्टता जिह नही, सो जाकूँ हौं ही तजूँ॥

वेन की क्रूरता के कारण अंग का गृहत्याग

(२५३)

एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहात्,
निशीथ उत्थाय महोदयोदयात् ।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभि-
र्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम् ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० १३ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

निबिड तिमिर-मय निशा नीद नृपकूँ नहिं आई ।
करिकें इत उत बात वेन की मात सुआई ॥
सबकूँ सोवत छोडि राजघर तें नृप निकसे ।
चन्द्रहीन लखि निशा असख्यो उडूगन विकसे ॥
जनमे जा घर मे नृपति बडे भये राजा भये ।
कचुल तजि अहि जाहि ज्यो, सुत दुखते त्यो भगि गये ॥

शरीर और शरीर से सम्बन्ध रखने वाली जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब के साथ इस जीवात्मा की एसी आसक्ति हो

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं— विदुरजी ! कुपुत्र वेन के दुःख से इस प्रकार उदासीन होकर महाराज अङ्ग एक दिन आधी रात्रि के समय अपने समस्त ऐश्वर्यशाली घर को छोड कर चले गये। उन्हें

जाती है, कि इन्हे स्वेच्छा से कभी भी छोडना नही चाहता। घर की ईंट ईंट मे मोह हो जाता है, बेकाम की भी वस्तुएँ पडी हो तो उन्हे भी दूसरो को नही देता। पेडो मे, पत्तो मे, छोटी-छोटी चीजो मे इतना अपनापन हो जाता है, कि मिट्टी का घडा भी फूट जाय, तो ऐसा लगता है मानो हमारा हृदय फूट गया। इन सब चीजो मे इतना ममत्व होने पर भी अत्यत ज्ञानपूर्वक वैराग्य होने पर अथवा अत्यत शोक होने पर मनुष्य इन सबको भी तृण की तरह त्याग कर तत्काल चला जाता है। जिनको इस ससार की अनित्यता, क्षणभगुरता को देखकर भी वैराग्य नही होता, जो अपमान पर अपमान तिरस्कार पर तिरस्कार सह कर भी मोहवश, निंदित कुत्सित जीवन बिताते हुए गृह मे ही आसक्त बने रहते हैं, वे तो नर पशु हैं। नही तो सभावित मनस्वी पुरुष तो अपयश तथा अपकीर्ति की अपेक्षा मरण को ही श्रेष्ठ समझते है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! वेन बडा बली था, वह अब प्राप्तवयस्क हो चुका था। महाराज का इकलौता ही पुत्र था, सभी उसकी क्रूरता से डरते थे। मत्रीगण भी उसके सम्मुख कुछ नही कह सकते थे। बडा दुस्साहस, दुष्ट, क्रोधी और असहनशील था। इसी-लिये सब उसके सम्मुख थर-थर कांपते थे। महाराज के बहुत समझाने पर भी जब वह न माना तब उन्होने निश्चय कर लिया कि अब इसको घर छोडकर मुझे यहाँ से चला जाना ही ठीक है। इसका दमन मैं कर नही सकता। समझाने से

उस दिन तिथि नहीं आई थी। वन की माता सुनीथा गाढ़ [illegible] ही थी तथा और किसी दूसरे न भी उन्हें जाते हुए नहीं देखा।"

यह मानेगा नही इसलिये 'आप मरे जग की प्रलय।' आँखो की ओट हो जाने पर कुछ भी करता रहे। यह सब शोक मोह तो मुँह देखे का है। जब दीखेगा ही नही, अपनी ओर से कुछ भी करता रहे।" यह सोचकर वे घर से निकल भागने की सोचने लगे।

एक दिन अँधेरी रात्रि थी। राजा को चिंता के कारण नींद नही आई। उनको यही सोच था, कि मेरे वश की बढी हुई कीर्ति इस वेन रूपी पाप ने सदा के लिये नष्ट कर दी। इसने हमारे कुल मे ऐसा कलक पैदा कर दिया, कि हमारा दिगन्त व्यापी महान् यश इसने धूलि मे मिला दिया। अब मैं ऐसे निंदित तथा नास्तिक पुत्र के अधीन न हूँगा।" महारानी सुनीथा, नियमानुसार पति की सेवा शुश्रुषा करके शैया पर सो गई। महाराज ने जब देखा कि रानी गाढ निद्रा मे निमग्न हो गई, सेवक भी सभी सो गये, तब वे धीरे से वेष बदल कर राजमहल से निकले। सयोग की बात किसी को मालूम नही होने पाया। वे नगर के बाहिर निकल कर समीप के ही किसी ऐसे गुप्त स्थान में छिप गये जहाँ किसी को भी सन्देह न हो।

प्रात काल हुआ। महारानी ने शैया को शून्य देखा। हे हक्कीबक्की सी रह गई। दास दासी बुलाये गये, सब स्थानो मे खोज खबर की। राजा यहाँ राजा वहाँ? किन्तु राजा अब यहाँ कहाँ? वे तो रात्रि मे ही नौ दो ग्यारह हो चुके थे। शीघ्र राज्य के बूढे मत्री बुलाये गये। प्रधान सेनापति आये। चारों ओर चर भेजे गये सवार दौडाये गये। मन्त्री स्वय सैकडो सेवको के साथ सदेहास्पद स्थानो मे गये, पुरोहित अपने शिष्य और सेवकों को लेकर दुखी होकर रोते-रोते राजा को खोजने लगे। वे सोचते थे—"जब तक महाराज अंग

राजा हैं, तभी तक दरबार मे हमारी कुछ पूछ है, कुछ दान दक्षिणा का डोलडाल है। जहाँ यह दुष्ट वेन राजा हुआ कि फिर तो सूखे शख बजेंगे। चना चबैना पर ही निर्वाह करना पडेगा। अत' वे बडी ममता से इधर उधर महाराज का अन्वेषण करने लगे। किन्तु सब मिलकर ढूँढने पर भी राजा को वे लोग उसी प्रकार न पा सके जैसे कुयोगी अपने अन्त करण मे स्थित परमात्मा को नहीं पा सकते। सर्वान्तर्यामी प्रभु कही तो दूर तो हैं नही, वे तो अत्यत समीप हृदय की कोठरी मे छिपे हुए हैं, लोग उन्हे ढूँढने काशी जाते हैं, प्रयाग जाते हैं, जगन्नाथ रामेश्वर, द्वारिका, बदरीनाथ न जाने कहा कहा भटकते फिरते हैं, किन्तु अपने भीतर खोज नही करते। इसी प्रकार राजा तो छिपे थे नगर के निकट ही, किन्तु नौकर चाकर, मन्त्री, पुरोहित उन्हें दूर-दूर ढूँढ रहे थे। किसी ने समीप मे खोज नही की।

जब राजा का कहीं भी पता न चला तो सेवको ने रोते-रोते महारानी सुनीथा के समीप तथा ऋषि मुनियो से निवेदन किया कि महाराज का कही भी पता नही चलता।

जहाँ कोई शासक न हो, राजा न हो वहाँ तो अराजकता फैल ही जाती है। राजा के चले जाने पर चारो ओर लूटमार होने लगी, चोर डाकुओ की बन आई, दिन दहाडे डाके पडने लगे। एक दूसरे की वस्तु लेने लगे। वेन इतना क्रूर था कि कोई भी मन्त्री उसको राजा बनाने के पक्ष मे नही था। किन्तु राजा के बिना शासन कैसे चले, किसकी आज्ञा मानी जाय ?

इस प्रकार देश में अराजकता देखकर सभी ऋषि मुनि एकत्र हुए। ऋषि मुनियो का एक विशेष आवश्यक अधिवेशन हुआ। विचार इस बात पर हुआ, कि महाराज अग

तो चले गये राजसिंहासन रिक्त होने से प्रजा मे अनेक उपद्रव हो जाते हैं, अतः अब क्या करना चाहिये।"

सब मन्त्रियो ने मिलकर कहा—"महर्षियो! आप चाहे जिसे राजा बना दें, किन्तु महाराज अग का यह पुत्र वेन तो सर्वथा राज्यसिंहासन के अयोग्य है।"

मुनियों ने कहा—"भाई! जब राजा का पुत्र विद्यमान है, तो उसके रहते हुए दूसरा राजा कैसे हो सकता है? मनु वश के सिंहासन पर तो उनके वश का ही बैठेगा। महाराजा उत्तानपाद, ध्रुव ये इतने धर्मात्मा और पुण्यश्लोक हुए हैं, कि इनके वश का मूलोच्छेद हो नही सकता। अत जैसा भी है, वेन को ही राजा बना देना चाहिये।"

समस्त प्रजा ने, मन्त्रियो ने इसका विरोध किया; किन्तु मुनियो ने उनकी बात नही मानी।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी, जब वेन इतना दुष्ट था, तब फिर मुनियो का उसे ही राजा बनाने का आग्रह क्यो था। किसी दूसर को राजा बना देते। जो दीप्तिमान् हो शोभायुक्त हो, वही राजा। किसी दूसरे को चुन लेत।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! ऐसा भी होता है। राजा या राजवश के किसी पुरुष के अभाव मे दूसरे को भी राजा बना देते हैं। किन्तु उस समय ऐसी ही मान्यता थी, कि वशविच्छेद नही होना चाहिये। राजा के राज्यवश का विच्छेद तो पाप से होता है। कलियुग मे शुद्ध क्षत्रियवश रहेगा ही नही जिस जाति का भी जो भी बलवान् होगा वही राजा हो जायगा। यह अधर्म का चिह्न है। जब तक धर्म रहता है, तब तक कुल मर्यादा, वशपरम्परा का पालन किया जाता है। वर्णाश्रम धर्म मे सभी बातो मे संस्कारो को प्रधानता मानी जाती है। क्षत्रिय

वीर्य से क्षत्राणी मे क्षत्रिय सस्कारो द्वारा जो पुत्र होगा, वही क्षत्रिय होगा। उसे अपनी क्षत्रियोचित वृत्ति से ही आजीविका चलानी चाहिये। इसमे कभी-कभी अपवाद भी हो जाता है, किन्तु वह नियम नही अपवाद है। मुनि तो धर्मात्मा थे। वर्णाश्रम की मर्यादा को स्थापित करने वाले थे। उन्होने सोचा—"कैसा भी हो,है तो कुलीन राजवशवा ही पुत्र। अभी बालकपन की कच्ची बुद्धि है, जब राजसिंहासन पर बैठेगा, उत्तरदायित्व कन्धो पर आवेगा तब सब समझ जायगा। यही सब सोच समझकर महारानी सुनीथा की सम्मति से मन्त्रियो के विरोध करने पर भी भृगु आदिक मुनीश्वरो ने वेन को ही भूमण्डल के राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया। क्योकि बिना राजा के सब लोग पशुओ के समान हो रहे थे। सम्पूर्ण ससार का कल्याण चाहने वाले मुनियो ने यही उचित समझा।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! विष की विष ही औषधि बताई है। प्रजा मे जो चोर डाकुओ का उपद्रव हो रहा था, वह वेन के राजा होते ही सब शान्त हो गया, क्योकि वेन बडे उग्र स्वभाव का था।

छप्पय

ढुँढवाये चहुँ ओर प्रभू को पतो न पायो।
तब ऋषि मुनि मिलि दुष्ट वेन कूँ नृपति बनायो॥
यद्यपि मत्री सचिव सबहिं सहमत नहिं जाते।
तऊ अङ्ग को तनय मुनिनि नृप कीन्हो ताते॥
एक गिलोय स्वभाव तें, कडवी फिरि नीमहिं चढी।
तस सिंहासन पाइके, वेन दुष्टता अति बढी॥

राजा बनने पर वेन की निरङ्कुशता

(२५४)

स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः ।
अवमेने महाभागान् स्तब्धः संभावितः स्वतः ॥
न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् ।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० १४ अ० ४, ६ श्लोक)

छप्पय

फिरै निरकुश भयो करे अपमान सबनि को ।
माने वेद न यज्ञ करे पूजन न सुरनि को ॥
ड्योडी दई पिटाय यज्ञ मख दान करो मति ।
मैं ई इन्द्र, कुबेर, वरुण, यम, रुद्र बृहस्पति ॥
मोइ छाँडि जे और कूँ, जप तप करिकें भजिङ्गे ।
समझो मेरे खड्ग तें, प्रान तुरत ते तजिङ्गे ॥

शरीर को ही सब कुछ समझकर, ईश्वर की सत्ता न मानना, किसी को नमन न करना, मैं मेरी मे ही फँसे रहना, इसी का

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! वेन राजसिंहासन पर बैठते ही आठो लोकपालो की विभूति को पाकर अत्यन्त ही उन्मत्त हो गया । वह अपने आपको ही श्रेष्ठ समझकर उद्धततापूर्वक महाभाग ऋषियो का भी तिरस्कार करने लगा । उसने अपने राज्य मे डके की चोट यह

नाम नास्तिकता है। इस नश्वर शरीर से पृथक् आत्मा है, उसी अचिंत्य शक्ति की सदा शरण ग्रहण करते रहना, हृदय, वाणी और शरीर से उन्हे निरन्तर नमो नम नमो नम करके नमन करते रहना, सब कुछ उन्ही का समझना इसी का नाम आस्तिकता है। आस्तिकता के विपरीत भाव को नास्तिकता कहते हैं मम मम' यही नास्तिकता है। 'न मम न मम'—'नमो नम नमो नम ' यही आस्तिकता है। ससार के विषय सुख जन्म पदार्थ प्रारब्ध कर्मानुसार नास्तिको को प्राप्त हो जाते है और आस्तिक भी ससारी वस्तुओ के अभाव मे दुखी देखे गये हैं, किन्तु मानसिक शान्ति विषयी नास्तिकों को कभी प्राप्त नही हो सकती। इसके विपरीत धनहीन आस्तिको पर ससारी सामग्रियाँ न रहने पर भी उन्हे मानसिक सन्तोष देखा गया है। अत सुख दुख का सम्बन्ध वस्तुओ से न होकर मन से है। तो भगवान् को प्रणाम करने मे ही है। जो ऐश्वर्य के मद मे भरकर ऐसा नही करते अत मे उनकी दुर्गति होती ही है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब वेन राजसिंहासन पर बैठा, तो सबसे पहिले तो उसने मन्त्रियो की खबर ली। बूढे प्रधान मन्त्री को बुलाया। पूछा—'तुम प्रात काल शीघ्र क्यो नही आते ?" मन्त्री ने कहा—'देव! मैं सध्या वन्दन, पूजा पाठ से निवृत्त होकर ही आता हूँ।"

वेन ने पूछा—'तुम किसकी पूजा करते हो ?"

प्रधान मन्त्री ने कहा—"प्रभो! परमात्मा की पूजा करता हूँ।"

घोषणा करा दी कि "मेरे राज्य मे कोई भी द्विजातीय कभी भी किसी प्रकार का न यज्ञ करें, न दान दें, न हवन आदि करें। इस प्रकार उसने सब धर्मों को बद करा दिया।

वेन ने गर्व के साथ पूछा—'परमात्मा कौन है ? कहाँ रहता है ?"

मन्त्री तो चक्कर मे पडे। इसे क्या उत्तर दें, फिर भी नम्रता के साथ बोले—"महाराज ! परमात्मा इस सम्पूर्ण चराचर जगत् के स्वामी है, वे सर्वत्र रहते है।"

गरज कर वेन ने कहा—"सब के स्वामी तो हम है, हम ही सब के ईश्वर हैं। हमसे बडा ईश्वर कौन है बताओ ?"

नम्रता के साथ बूढे मन्त्री ने कहा—"हाँ, आप तो सब के ईश्वर है ही किन्तु परमात्मा तो सभी के ईश्वर सबसे बडे है ?"

वेन ने कडक कर पूछा—"हमारा भी क्या कोई ईश्वर है ? हमसे भी कोई बडा है क्या ?"

बूढे मन्त्री ने सरलता के साथ कहा—"जब वह सबका ईश्वर है तो आपका भी है।"

वेन ने गरज कर कहा—"कोई है ?"

प्रहरी ने प्रणाम करके हाथ जोडकर कहा—'देव की क्या आज्ञा है।"

क्रोध मे भर कर वेन बोला—"इस बूढे को कारावास मे बन्द करो।"

अब पुरोहित जी की बारी आई। पुरोहित जी को बुलाया। वे अपनी सफेद दाढी पर हाथ फेरते हुए डरते डरते आये। ज्योही आसन पर बैठना चाहते थे त्योही डाँटकर वेन बोला —"सामने कठघरे मे खडे हो।"

बूढे ने मन मे सोचा—"इस नये राजा ने मेरी अच्छी पूजा की। कहाँ तो मैं सब से ऊँचे सिंहासन पर बैठता था, कहाँ ये मुझे अपराधियो के कठघरे मे खडा करता है। क्या करते खडे

हो गये। तब वेन ने पूछा—"तुम रोज इतना घी क्यो फूँका करते हो ?"

बूढे पुरोहित बोले—"महाराज, सदा से राजगृह मे हवन यज्ञ अग्निहोत्र होते रहते हैं, इसी लिए मैं घृतादि की आहुति देता हूँ।"

वेन बोला—"किसके लिये आहुति देते हो"

बूढे पुरोहित बोले—"महाराज, देवताओ के लिये आहुतियाँ देता हूँ।"

वेन अवहेलना के स्वर मे बोला—"कौन देवता ?"

पुरोहित ने कहा—'महाराज ! इन्द्र हैं, वरुण हैं, कुवेर हैं, यम है एकादश रुद्र है, अष्ट वसु हैं, ५९ मरुत हैं, १२ आदित्य हैं और भी सब देवता हैं। इन सबकी तुष्टि के लिये नित्य अग्नि होत्र आदि होने है।"

वेन ने गरज कर कहा—"मेरे पिता के सामने जो पोल चलती थी, वह अब नही चलेगी। वे तो बुद्धिहीन थे, बल वीर्य रहित थे, सब देवताओ के बाबा गुरु तो हम है। तुम्हें जो कुछ हलुआ मालपुआ, खीर जो हवन करनी हो हमारे मुख मे करो। और सब देवताओ की आहुतियाँ बन्द करो। बोलो स्वीकार है ?"

सटपटाते हुए पुरोहित जी ने कहा—"महाराज ! यह आप कैसी धर्म विरुद्ध बाते कर रहे है ?"

अपनी बात पर बल देते हुए वेन बोला—"हमारा यही धर्म है, हम ही देवता हैं, हम ही ईश्वर हैं, हम ही सब यज्ञो के भोक्ता है, हमे ही बलि दो, हमारा ही पूजन करो। जो ऐसा करेगा वह तो हमारे यहाँ रहेगा। जो ऐसा न करेगा उसे हम अपने सेवक यमराज के दरबार मे भेज देंगे। बोलो—यह

रहकर हमारे मुख मे हवन करोगे या तुम्हारी बदली करदें।"

डरकर रुक रुककर बूढे पुरोहित ने कहा—"महाराज, मुझसे तो यह कार्य होगा नही।"

वेन ने कहा—"वधिक! इस बूढे पुरोहित को इसके पुराने यजमान के समीप शूली द्वारा भिजवादो।"

यह सुनते ही बूढे पुरोहित को शूली पर चढ़ा दिया। अब तो सब के मुख फक्क पड गये। अब वेन जिससे भी पूछता वही मन्त्री कहता-'महाराज! आप ही ईश्वर है, आप ही परमात्मा हैं। हम सब आपका ही भजन करगे।" जो इस प्रकार कहता उसे तो अपने राज दरबार मे रहने देता, जो तनिक भी चीचपड करता, उसे ही यमराज के दरबार मे पधारने का प्रवेशपत्र प्रदान कर देता। इस प्रकार पहिले उसने अपने प्रधान प्रधान कर्मचारियों और पदाधिकारियो पर आतक जमाया।

जब वे सब अपने अनुकूल हो गये, तब वेन ने कहा—"हम दिग्विजय करने निकलगे। सम्पूर्ण सेना हमारे साथ चले।" तुरन्त उसकी आज्ञा का पालन किया गया। उसका सुवर्णमडित विजयध्वज रथ सजाया गया। अब तो वह निरकुश हाथी के समान मदोन्मत्त मृगेन्द्र की भाँति चारो ओर अपने धनुष की टङ्कार करता हुआ घूमने लगा।

कही ऋषियो को यज्ञ करते देखता तो उनके पास जाकर पूछता—'इन्द्राय स्वाहा, के माने क्या?"

ऋषि कहते—"स्वर्ग के जो देवता इन्द्र हैं उनके लिए अग्नि द्वारा हम यह हवनीय भाग पहुँचाते हैं। स्वाहा अग्नि की पत्नी है। इसलिए हम स्वाहा कह कर देवताओ को अग्नि द्वारा आहुति देते हैं।"

वेन कहता—"इन्द्र हम हैं, कुबेर हम है, वरुण हम हैं, यज्ञ-पुरुष हम हैं। अग्नि मे मत जलाओ, हमारे मुँह मे डालो। हमारी तोद को बढाओ। हमे ही माल खिलाओ। यज्ञीय पात्रो को तोड दो। इन तिल जौ चावलो को भून कर हलुआ बनाओ। वेदो को फेंक दो। सब एक हैं। सब के स्वामी हम हैं। हमारी आराधना करो। हमे पूजो।" ऋषि मुनि घबडा जाते और हाँ कह कर गोल मोल उत्तर दे देते।

किसी को दान करते देखता, तो कहता—"इन सण्डे मुसण्डे बेकार ब्राह्मणो को क्यो दान देते हो? जो देना हो हमे दो, कोष को बढाओ। कर मे वृद्धि करो, द्रव्य का व्यर्थ अपव्यय मत करो।"

किसी को जप करते देखता, तो पूछता—"क्या सटर सटर माला सटका रहे हो, किस मन्त्र का जप कर रहे हो?"

कोई कहता मैं एकाक्षर, द्व्यक्षर, चतुरक्षर, षडक्षर, अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर, अष्टादशाक्षर आदि मन्त्रो का जाप कर रहा हूँ। कोई गायत्री मन्त्र का बताता, कोई प्रणव बताता। सब को सुनकर वह कहता—"ये सब मन्त्र पुराने हो गये। इन्हे छोडो अब परिवर्तन, संशोधन का समय है। सब लोग द्वयक्षर—"वेन" इसी का जाप करो। जो इस मन्त्र का जप करेगा, उसे तत्काल सिद्धि मिलेगी। जो स्वर्गीय देवताओ का यज्ञ करेगा उन्हे खड्ग के माग से उन्ही के पास बलात्कार पहुँचा दिया जायगा। क्या कहते, लोग उसकी बात मान जाते। कोई आपत्ति करता उसका सिर तत्काल धड से पृथक् कर दिया जाता। इस प्रकार उसने सर्वत्र यज्ञ, दान, जप, तप, अग्निहोत्र आदि सभी वैदिक कर्मों को बन्द करा दिया। वह अपनी सेना के आगे आगे बड़ा भारी पर्वत के समान हाथी रखता। उस पर

बडा भारी नगाडा रखा रहता। उसमे सुवर्ण के दडे चोट से मार सर्वत्र घोषणा करता। "सावधान! सावधान! कोई मत करना, कोई दान मत करना। कोई यज्ञ अग्निहोत्र मत करना। कोई पूजा, पाठ, धर्म, कर्म मत करना। ईश्वर को कोई मत मानना। जो मानेगा उसका सिर धड से पृथक् कर दिया जायगा।"

इस प्रकार जब उसने समस्त पृथिवी मण्डल पर से यज्ञयाग बन्द करा दिये देवताओ के भाग बन्द हो गये, तब तो सर्वत्र अशाति छा गई। ऋषि मुनियो ने सगठन किया। चारो ओर इस आज्ञा के विरुद्ध सभाय होने लगी, विरोध की तैयारियाँ करने का उपक्रम होने लगा। समस्त ऋषि मुनियो ने मिलकर एक धर्मरक्षिणी सभा का विराट अधिवेशन किया। बडी देर तक विचार होता रहा। अध्यक्ष ने कहा—"देखो, भाई क्या करें वेन को राजा बनाकर भृगु आदि महर्षियो ने भूल की।"

इस पर एक मुनि बोले—"साधारण भूल नही की बहुत बडी भूल की। मैं तो वहाँ उपस्थित ही था। उसे राजा बनाने के सभी विरुद्ध थे। मन्त्री, पुरोहित अमात्य तथा बडे अधिकारियो ने इसका विरोध भी किया था, किन्तु इन मुनियो ने माना ही नही। उसे इतना विरोध होने पर भी राजा बना दिया। उसी का यह परिणाम है। आज वह ऐसे अत्याचार, पापाचार और कदाचार कर रहा है।"

इस पर एक बूढे से बहुत गभीर मुनि बोले—भाई देखो, बुद्धिमान, परोपकारी पुरुष अपनी बुद्धि से तो वही कार्य करते हैं, जिससे सभी लोगो का कल्याण हो। किन्तु पीछे उससे दूसरा अनर्थ हो जाय, तो यह दैवेच्छा। राजा के न रहने से सम्पूर्ण

देश मे अराजकता फैल जाती है। अराजक देश मे धर्म, कर्म, यज्ञ अनुष्ठान कुछ हो नही सकते। अत बुद्धिमान् पुरुष शक्ति भर प्रजा को राजा से शून्य नही होने देते। उस वेन को राजा इसीलिये बनाया था, कि प्रजा चोर डाकुओ की पीडा से बचे, किन्तु यह तो स्वय राजा होकर पाप करता है। जहां पाप होता है, वहां चोर डाकू अधम से स्वाथ साधने वाले बढ जाते हैं। इसलिये अब तो प्रजाओ का दोनो ओर से मरण है। इधर राजा कष्ट दे रहा है उधर चोर डाकू लूट मार कर रहे हैं। इनकी तो वही दशा हुई जो दो पत्नियो वाले पुरुष को होती है। एक तो उसका हाथ पकड कर अपनी ओर खीचती है, दूसरी अपनी ओर। वह विचारा दोनो के बीच मे पिसता है। चक्की के दो पाटो के बीच मे पडे अन्न की तरह, दोनो ओर से जलती लकडी के बीच मे बैठे जन्तु की तरह, प्रजा दुखित हो रही है। अब इस बात पर वाद विवाद करना तो छोडो कि इसे राजा क्यो बनाया था, अब तो सोचना यह है, कि किस प्रकार इसके अनाचारो से मुक्ति प्राप्त हो।"

इस पर एक मुनि बोले—"राजा कैसा भी हो, देवता बुद्धि से उसका पालन ही करना चाहिये।"

इस पर एक अत्यन्त तेजस्वी मुनि बोले—"आप कैसी बातें कर रहे हैं। धर्मशास्त्र का यह मत कभी नही है, कि अन्यायी राजा की सभी आज्ञाओ का बिना ननु नच किये पालन किया जाय। इस समय इसका पालन करना इसी प्रकार होगा जैसे शरीर के कपडो मे छिपे सर्प का दूध पिलाकर पालन किया जाय। अथवा विष मिले सुन्दर स्वादिष्ट लड्डुओ को पदार्थों के नष्ट होने के लोभ से खाया जाय। अथवा शरीर मे हुए जहरवाद वाले अग की लोभवश रक्षा की जाय। महानुभावो,

धर्मशास्त्र के वचनो का यथार्थ अभिप्राय समझना चाहिये। राजा वही माननीय और पूजनीय होता है जो धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता हो। यह मृत्यु की पुत्री सुनीथा का सुत स्वाभाव से ही दुष्ट है। हम सब न सोचा सिंहासनारूढ होते ही स्यात् सुधर जाय, किन्तु जन्म का स्वभाव दुरतिक्रम होता है। इसलिये इसके विरुद्ध कुछ कार्यवाही करना चाहिये।"

किन्ही वृद्ध मुनि ने कहा— 'अजी, सब लोग चल कर उसे समझा बुझा दो। बात को व्यर्थ ही बढाना बुद्धिमानी का काम नही है।"

इतना सुनते ही दूसरे एक चढती अवस्था के मुनि बोले— "आप तो महाराज सबको अपना सा ही समझते है। लात का देव बात से नही मानता। समझाने बुझाने का इस पर कुछ भी प्रभाव न पडेगा। हमारी तो सम्मति है इस पर चढाई कर देनी चाहिये।

इस पर ढलती अवस्था एक गभीर के से मुनि बोले— "मुनिवर! मुझे आप क्षमा करेंगे। अभी आपका नूतन रक्त है। इसीलिये आप ऐसी उत्तजना पूर्ण बात कह रहे हैं। किसी राज्य शासन को परिवर्तित करने के तीन ही उपाय हैं। या तो दूसरा बलवान् राजा चढाई करके उसे परास्त करके शासन परिवर्तित कर सकता है। या सामादि उपायो से, अथवा सगठन करके शासक को इतना विवश कर द कि वह शासन करने मे समर्थ ही न हो सके। बिना प्रजा के सहयोग के कोई शासक शासन नही कर सकता। तीसरा एक यह भी उपाय है, कि दैवी शक्ति का आश्रय लेकर उसे अपने प्रभाव से नष्ट कर दे। हम लोग क्षत्रिय नही जो अस्त्र शस्त्र लेकर चढाई करें। दूसरा ऐसा कोई राजा नही जिसे इसके विरुद्ध उभाड कर इसे नष्ट करा दें। प्रजा

में इतना साहस नही जो इसके विरुद्ध कार्य कर सके। अतः अब तीसरा ही उपाय है। आप इतने बड़े-बड़े ऋषि महर्षि, त्यागी, तपस्वी हैं। आप चाहे तो इसे अपनी दृष्टि मात्र से भस्म कर सकते है। अतः मेरी तो सम्मति है कि इस दुष्ट को शाप देकर भस्मसात् कर देना चाहिए।"

इस पर एक बहुत वृद्ध से मुनि बोले—"अरे, भैया! शापा-शापी क्यों करते हो, जो काम सीधे से शान्तिपूर्वक निकल जाय उसके लिये बहुत बखेड़ा बढाना बुद्धिमानी नही। शाप आदि देने से तप नष्ट होता है। मुनियों के लिये यह कार्य बड़ा निंदित है।"

इस पर वे ही गभीर तेजस्वी महात्मा बोले—"भगवन्! हम आपकी बात मानते हैं, शाप से तप नष्ट होता है। किन्तु अब आपके तप की कान सी वृद्धि हो रही है? आप स्वेच्छा से यज्ञ नही कर सकते। दान नही दे सकते, शुभ काय नही कर सकते। गृहस्थी धूमधाम से विवाह यज्ञोपवीत आदि शुभ सस्कार नही कर सकते। ब्राह्मण भोजन नही करा सकते, जप तप कुछ भी तो नही हो सकता। यदि ऐसी ही दशा रही तो हम सबका तप, तेज नष्ट हो जायगा, वर्णाश्रम धर्म का लोप हो जायगा। लोग स्वेच्छाचारी होकर नास्तिक और पाखडी हो जायेंगे। वैदिक धर्म कर्म लुप्त हो जायेंगे, अत. जहाँ सर्वस्व जाता हो, वहाँ बुद्धिमानो को आधा भी देकर उसकी रक्षा करनी चाहिये। थोड़ी अपनी हानि से बहुतों को लाभ होता हो, तो लोक के कल्याणार्थ परोपकारी पुरुषों को अपनी हानि भी सह लेनी चाहिये। इसलिये हमारी सम्मति तो यह है कि उस पर दया दिखाना व्यर्थ है। उस पर अपनी दैवी शक्ति का प्रयोग करना ही चाहिये?"

इस सब वादविवाद को सुनकर उस सभा के अध्यक्ष बोले—"मेरी सम्मति तो यह है कि पहिले हम लोगो मे से कुछ विशिष्ट व्यक्ति चलकर उसे सभी ऊँची-नीची बातें समझावें। उसके कुल परम्परागत सदाचार को बतावें। धर्म का मर्म बताकर धर्म से होने वाले लाभों का वर्णन करें। प्रजा की ओर से उस पर दबाव डालें। नम्र शब्दो मे किन्तु निर्भीक होकर उसे उसका कर्तव्य बतावें। यदि वह मान जाय तब तो बहुत ही उत्तम है। जो गुड़ देने से मर जाय, उसे विष क्यों दिया जाय। यदि वह न माने तब निश्चय ही अपनी दैवी शक्ति का प्रयोग किया जाय।"

अध्यक्ष वृद्ध मुनि की बात सुनकर सभी एक स्वर मे साधु-साधु कहने लगे।

सभी चिल्लाने लगे—"यह उपाय अत्युत्तम है, ऐसा ही किया जाय, अभी चला जाय।" सर्वसम्मति से ऐसा ही निश्चय हुआ।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! उन्हीं वृद्ध मुनि को आगे करके बहुत से ऋषि मुनि महाराज वेन को समझाने के लिये उसकी राजधानी की ओर चल दिये।"

छप्पय

जब नास्तिकता करत वेन घूमे भुवि माँही।
तब सब ऋषि मुनि विप्र देवगण अति घबराई॥
कह परस्पर—दुष्ट देहि अति सबनि यन्त्रणा।
धर्म कर्म कस होहि करहिं मिलि विप्र मन्त्रणा॥
सबकी सम्मति जिह भई, पहिले चलि समझाइंगे।
जो नहिं माने मन्द मति, तो फिरि ताहि बताइंगे॥

मुनियों का जाकर वेन को समझाना

(२५५)

नृपवये निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भोः ।
आयुः श्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्धनम् ॥
धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः ।
लोकान्विशोकान्वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम् । *

(श्रीभाग० ४ स्क० १४ अ० १४, १५ श्लो०)

छप्पय

यो निश्चय करि गये भूप ढिग मुनि उपकारी ।
बोले वचन विनीत, वेन सुनि विनय हमारी ॥
च्यौं करवाये बद यज्ञ, व्रत, दान, धर्म वर ।
च्यौं मेटी मर्यादा वेद की अतिशय सुखकर ॥
राजन् ! तुमरे राज्य महँ, होहिं यज्ञ जो विधि सहित ।
तो होवें सबई सुखी, प्रजा व्याधि पीडा रहित ॥

जिनका सभी श्रेणी के पुरुष स्वागत सत्कार करते हैं, जो सर्वत्र सभी स्थानो मे माने और पूजे जाते है, उन्हें यदि किसी

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! सब मुनियो ने राजा वेन से जाकर कहा—"हे नृपवय ! हम कुछ आपसे निवेदन करना चाहते हैं, उस पर कृपया आप ध्यान दें ! हमारा कथन आपकी आयु, श्री, बल और यश की वृद्धि के ही निमित्त होगा । जो निष्काम पुरुष

अभिमानी पुरुष से स्वय मिलने जाना पडता है, तो मरण के समान कष्ट होता है। अभिमानी तो अपनी ऐंठ मे उच्चासन पर डटा रहता है, ये सर्वत्र सत्कार पाने वाले पुरुष उसके सामने अत्यन्त सकोच के साथ जाते हैं, तब वह अपनी मूँछो पर और भी ताव देने लगता है। अपनी हेकडी को और भी जताता है। सम्माननीय पुरुषो को देखते ही उसका अभिमान अत्यधिक बढ जाता है तथा उसी के आवेश मे वह उनका अपमान करता है। उनसे अकडकर बाते करता है। भगवान् ऐसे पुरुषो का कभी स्वप्न मे भी मुख न दिखावें। किन्तु इस ससार मे कडवे मीठे सभी अनुभव प्रारब्धानुसार करने ही पडते हैं। सभावित पुरुषो को इससे दुखद, कडवा और लज्जाजनक दूसरा कोई भी प्रसग नही आता, फिर भी मनस्वी पुरुष समयानुसार इसे भी सहते हैं। परोपकार प्रवृत्ति वालो को पग पग पर ऐसे अपमानो को सहना पडता है, उन्हे यह तिरस्कार-जन्य विष का घूँट हँसते हँसते पान करना पडता है।

मैत्रेय मुनि कहते है—'विदुरजी! सर्वसम्मति से सभी सम्माननीय ऋषि मुनि एकत्र होकर वेन की राजसभा मे गये। उस समय वेन राजसिंहासन पर बैठा हुआ मन्त्रियो से पूछ रहा था, कोई यज्ञ तो नही करता? कोई इन बेकार ब्राह्मणो को दान तो नही देता? कोई हाहु हाहू करके वेदपाठ करके लोगो के कानो को कष्ट तो नही देता?"

मन्त्री हाथ जोडे हुए कह रहे थे—"देव! और सबने तो

मन, वाणी, शरीर तथा बुद्धि के द्वारा जो आचरण करते हैं, उनका वह धर्माचरण शोकरहित लोक तथा अनन्त मोक्ष पद को प्रदान करने वाला होता है।"

आपके प्रबल पराक्रम के सम्मुख सिर झुका दिया है, किन्तु कुछ ऋषि मुनि अभी .....

बीच मे ही बात काटकर बोला—'हाँ, मुझे पता है, ये जटा दाढी वाले बडे बदमाश होते हैं। इन सबकी दाढियाँ नुचवा दो। इन सबको रुण्ड मुण्ड करदो। इनके यज्ञपात्र छीन लो। सभी सामग्रियो को अग्नि मे जला दो। ऐसा विधान बना दो कि बिना पूछे कोई भी अग्नि मे घृत तथा अन्नादि न जलावे। सबके आहार को सख्या कर दो। इतना ही अन्न मिलेगा। जिससे कोई ब्राह्मण भोजन, श्राद्ध, उत्सव, अतिथि पूजन न कर सके। उतना अन्न दो जिससे सबका पेट ही न भरे। वस्त्रो पर भी प्रतिबन्ध लगा दो। घृत, शर्करा सब नाप तोल कर मिले। हत्या की जड ये बाबाजी और निठल्ले ब्राह्मण ही हैं। इन्ही ने किसी को ऊँचा बना रखा है, किसी को नीचा। ऐसी ऐसी ठग विद्या की पुस्तकें बना रखी हैं, कि पैदा होने से लेकर मरने तक इनके ही पेट को भरते रहो। इनके ही मास को बढाते रहो। बच्चा पैदा हुआ, ब्राह्मणो को दान दो, नादी-मुख श्राद्ध करो, यह करो, वह करो। फिर छठी करो, नामकरण सस्कार करो, बाल बनवाओ तो भी चूडाकर्म मे इनकी ही तोद मे डालो। आज कर्णछेदन है, कल अक्षरारम्भ है, फिर यज्ञोपवीत है, समावर्तन है, विवाह आया। घर भर मे खल-बली मच जाती है, ग्राम भर मे कुहराम मच जाता है, सभी उद्विग्न हो जाते हैं। वर्षों पहिले से सामग्री जुटाते हैं। यह ला वह ला। चलियो रे, लइयो रे, मेरे विवाह है, लगन हैं पोरी चिट्ठी है। अरे विवाह हुआ कि कोई आफत आई। सप्ताहों पहिले से धूमधाम नौबत तुरई से कोलाहल। जब देखो तब पुरोहित जी थाली मे अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, कलावा, सुपारी

और दक्षिणा लिये पूजन को तैयार है। तेल चढे तो पूजन, कङ्कण बँधे तो पूजन, छींक ले तो पूजन, करवट बदलो तो पूजन ये सब पैसा पैदा करने के उपाय है। ऐसा लोगो को बाँध रखा है कि पुरोहित के बिना कुछ न हो, घर मे बच्चे भूखा मर रहे हैं, अन्न के बिना चिल्ला रहे हैं, किन्तु पुरोहितजी को गरमागरम पूडियाँ चाहिये। साग नही है अचार नही है। मीठे के बिना ब्राह्मण सन्तुष्ट नही। जब तक हलुए मे से घृत न टपके तब तक पितरो की तृप्ति नही। कैसा पाखंड रच रखा है। खिला पिला कर दक्षिणा न दो, ता सब खिल या पिलाया व्यर्थ गया। कैसी कैसी युक्तियाँ लगा रखी हैं। भोले भाले लोगो के ठगनेको कैसे कैसे श्लोक गढ रखे हैं। इन ब्राह्मणो का पेट क्या है समुद्र की वाडवाग्नि है। कभी यह भरता ही नही। घर मे मुरदा मरा पडा है ब्राह्मण को भोजन कराओ। महापात्र जब तक श्राद्ध न करा दे शव को फूँक नही सकते। अब साल भर तक आज पहिले दिन का पिंड आज दशाहश्राद्ध आज तेरही आज मासिक, श्राद्ध वर्षी, शैयादान जाने क्या क्या पाखड रचे रखे हैं। कभी देवता के नाम से, कभी पितरो के नाम से, कभी यक्ष गधर्वों के नाम से सब का ठेका इन बामनो ने ही ले रखा है। इन के पेट मे पहुँच गया मानो सब को मिल गया। हम तो यही करेंगे। चिट्ठियाँ भेजने को नौकर न रखा करेंगे। सब चिट्ठियाँ इन मोटी मोटी तोद वाले ब्राह्मणो के पेट मे डाल दिया करेंगे। यदि जिनके नाम की चिट्ठी है इनके पेट मे डालने से पहुँच जायगी तब तो हमारे पैसे बचेंगे। न पहुँची तो इनके पेटो को फडवा दिया करेंगे।"

इस प्रकार को न जाने कितनी ऊटपटाग बातें बक रहा

था। उसी समय दुर्भाग्यवश ऋषि मुनि भी पहुँच गये। दूर से ही देखा बड़े बड़े जटाधारी, दाढी मूछ वाले, स्थूलकाय ऋषि, महर्षि, ब्राह्मण राजसभा की ही ओर चले आ रहे हैं। वे सब उँगलियों मे कुशाओं की पवित्रियाँ पहिने हुए थे। हाथों में कुशाओं का मूंठा ब्रह्मदण्ड लिये हुए थे। बड़े संकोच के सहित वे सिंहासन के समीप आये। देखते ही वेन का सम्पूर्ण शरीर क्रोध और द्वेष से जलने लगा। उसने सोचा—"ये ही धूर्त मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं। मेरे चरो ने आकर बताया है, ये ही मेरी आज्ञा के विरुद्ध संगठन करके सभा कर रहे थे। व्याख्यान दे रहे है। अच्छी बात है, आज इन सबको समझूँगा। मुनियों को देखते ही लाल पीली आखें करके और अकड के साथ सिंहासन पर बैठ गया। ऋषियों का न तो स्वागत सत्कार ही किया और न उनसे बैठने को ही कहा।

बेचारे ऋषि मुनि खड़े के खड़े ही रह गये। वेन के इस व्यवहार से जो चढ़ती अवस्था के ऋषिकुमार थे, उनका रक्त उबलने लगा। किन्तु वृद्ध पुरुष तो बड़े गम्भीर होते हैं, वे तो समय की गति देखते देखते गम्भीर हो जाते हैं, आवेश में आकर सहसा किसी कार्य को नही कर डालते, अतः इतना अनुचित व्यवहार होने पर भी वे सहसा उत्तेजित नही हुए। क्रोध तो पहिले से ही उन्हें वेन के ऊपर आ रहा था, इसकी इस अशिष्टता से वह और भी बढ़ गया, किन्तु उसे उन्होंने गूढ रखा। क्रोध को छिपा कर ऊपर से हँसते हुए वे मुनि बड़े ही विनीत वचनों से उससे बोले—"हे राजराजेश्वर! हम आप से कुछ निवेदन करने आये हैं।"

अकड़कर वक्र दृष्टि से देखता हुआ अवहेलना के स्वर में वेन बोला—"कहो, क्या कहना चाहते हो?"

वृद्ध मुनि बोले—"राजन् ! हम जो कहे उसे आप कृ करके ध्यान पूर्वक सुनें। हम आपके हित की ही बात कहेंगे हमारी बात मानने से आपकी आयु की, बल की, यश औ शौर्य की वृद्धि होगी।"

कडककर वेन बोला—"बहु। भूमिका की आवश्यकता नही अपना प्रयोजन कहो।"

वृद्ध मुनि निर्भीक होकर बोले—"देखिये, राजन् ! आपक जन्म पवित्र मनुवंश मे हुआ है, आपके ही पूर्वज उत्तानपा ध्रुव, उत्कल तथा आपके पिता महाराज अंग बडे ही धर्मात्म यशस्वी हुए हैं। ससार मे सभी असार है, एकम त्र धर्म ही सा वस्तु है। आपके पूर्वजो ने जिस धर्म का आचरण किया है, व धर्मलोप नही होना चाहिये। आपको अपने कुलागत सदाचा का सदा सर्वदा समाहित चित्त से पालन करना चाहिये महाराज ! मनुष्य मन, वाणी देह तथा बुद्धि द्वारा जो जिस ध का श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ निष्काम भाव से आचरण करते है व अनासक्त बुद्धि से किया हुआ निष्काम धर्म अक्षय लोकों म तथा मुक्ति को भी देने वाला होता है। जिस धर्म के द्वारा आ तक प्रजा का कल्याण हुआ है और आगे भी उसी के द्वारा होग वह धर्म आपके द्वारा नष्ट न हो। आप अपने पूर्वजो के प चिह्नो का अनुसरण करें। प्राचीन पुण्य पथ से स्खलित न हो जो पूर्वजो के पुनीत पथ से भ्रष्ट हो जाता है, वह अवश्य ह ऐश्वर्यहीन होकर दुखी होता है। अत. आप सनातन राजध का अनुसरण करें। उसकी अवहेलना न करें।"

वेन ने कहा—"सन तन राजधर्म नाम की कोई चिड़िया या कोई दो चार पैर वाला अन्य जन्तु ?"

धैर्य के साथ वृद्ध मुनि बोले—"राजन् ! सनातन राजधर्म न तो चिड़िया है न कोई इन चर्म चक्षुओं से दिखाई देने वाला दो चार पैर का जन्तु। वह तो एक सर्वव्यापक देव है। दुष्ट मंत्री दुष्ट राजकर्मचारी, अधम अधिकारियों तथा चोर डाकुओं से प्रजा की रक्षा करना न्यायानुकूल प्रजा से षष्ठांश कर लेकर उसके पुण्य कार्यों में सहयोग देना यही सनातन राजधर्म है। इस धर्म का पालन करने वाला राजा इस लोक तथा परलोक दोनों में सुख पाता है। जिस धर्म प्रधान राजा के राज्य में वर्णाश्रम धर्म का, युगों के विशिष्ट विशिष्ट धर्मों का तत्तद्युगों के अनुरूप तत्तद् यज्ञों द्वारा यज्ञपुरुष का यजन किया जाता है, उसी धार्मिक राजा पर भूतभावन भगवान् प्रसन्न होते हैं।"

वेन ने अवहेलना के स्वर में पूछा—"भूत-भावन भगवान् कौन है ? कहाँ रहता है ?"

मुनि बोले—"राजन् ! वे सर्वात्मा हैं सब स्थानों में सब प्राणियों के भीतर बाहर वे निवास करते हैं। वे सब के ईश हैं।"

वेन ने कड़ककर कहा—"क्या सम्पूर्ण जगत् का एक मात्र जगदीश्वर मैं नहीं हूँ ?"

वृद्ध मुनि ने कहा—"महाराज ! आप अवश्य जगदीश्वर हैं, किन्तु वे श्रीहरि तो जगदीश्वरों के भी ईश्वर हैं। यदि वे प्रसन्न हो जायँ तो संसार में यहाँ लौकिक तथा पारलौकिक कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।"

वेन बोला—"तुम लोगों को मेरी प्रसन्नता अप्रसन्नता का महत्व अभी मालूम नहीं है।"

मुनि बोले—"हाँ राजन्, हमे मालूम है। आप चाहे जो कर सकते हैं। किन्तु जिनके पादपद्मो मे इन्द्रादिक देवता अपने मणिमय किरीटो के द्वारा सदा प्रणाम करते हैं, अजलि बाँधे सभी लोकपाल सदा खडे रहते है, और अत्यत आदर के सहित अनेको भेंट समर्पण करते हैं, उन श्रीहरि के सम्मुख आप कुछ भी नही हैं। वे वेद-स्वरूप श्रीहरि द्रव्यमय तथा तपोमय हैं। सम्पूर्ण लोक और लोकपाल उन्ही के अश भूत है, वे यज्ञस्वरूप हैं, अपने अपने उत्कर्ष के निमित्त सभी उनकी नाना यज्ञो द्वारा उपासना करते है। उन भगवान् की न आपको बराबरी करनी चाहिये, न उनकी आज्ञा के विरुद्ध कोई आचरण करना चाहिये। आपके राज मे बडे बडे यज्ञ हो। सर्वत्र ब्राह्मणो का सम्मान हो। श्रीहरि के उद्देश से अनेक उत्सव हो। भगवान् के अगभूत सभी देवताओ का पूजन हो। चारो ओर दान, धर्म, पुण्य और पावन काय हो। सुन्दर सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थों द्वारा वेदपाठी ब्राह्मण सन्तुष्ट किये जायँ, ऐसा यदि आप करेंगे तो देवता आपको प्रसन्न होकर अनेक दुर्लभ वर देंगे यदि आप उनका तिरस्कार और अपमान करेंगे, तब फिर गोविन्दाय नमो नम हो जायगा। ये बडी लाल लाल आँखें फटी की फटी ही रह जायँगी।"

मैत्रय मुनि कहते है—"विदुरजी! मुनियो की ऊपर से नम्र दिखाई देने वाली किन्तु भीतर से दृढता और साहस से भरी बातें सुनकर वेन आग बबूला हो गया उसके रोम रोम

से क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगी । वह क्रोध करके ऋषियो की ओर थोडी देर तक देखता का देखता ही रह गया । कुछ बोला नही ।

छप्पय

हैं मनु को अति विमल वश ध्रुव जनमे जामे ।
भये भूप उत्तानपाद हरिपद रत तामे ॥
वर्णाश्रम शुभ धर्म करो पालन तुम ताकूँ ।
उज्जवल कुल की कीर्ति करो कलुषित च्यौ वाकूँ ॥

वेन कोप की अगिनि महँ, मुनिगण-वच घृत सम भये ।
बोल्यो करिकें कोप अति, ये आये मम गुरु नये ॥

वेन द्वारा मुनियों का अपमान और उसकी अपमृत्यु

(२५६)

बालिशा बत यूयं वा अधर्मे धर्ममानिनः ।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते ॥
अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम् ।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २४ अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

फिरि यो बोल्यो वेन बडे मूरख हो तुम सब ।
मैं ई सब को ईश मोइ पूजो तुम मिलि अब ॥
मोइ छोडि के और ईश कोई मति जानो ।
मूरखता कुं तजो, महेश्वर मोकूं मानो ॥
जो अब बक बक करी तो, लुगो जीभ निकारकें ।
जीवित चाम उतारिकें, भुस दुंगो भरवाइके ॥

अहंकारी को उपदेश देना, उपदेश की दुर्दशा करना है। जो जानते नही भोले भाले हैं, उन्हे समझाया जा सकता

*मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! मुनियो की बातें सुन कर वेन बोला—"तुम लोग बडे मूख हो रे ! तुम सब अधर्म को धर्म माने बैठे हो। तुम तो उसी कुलटा स्त्री की भाँति हो जो अपने भरण

है। जिनमे बुद्धि है विवेक है। किन्तु किसी बात में उन्हें सन्देह है, उनकी समझ नही आती, उन्हे और भी सरलता से युक्तियो द्वारा, शास्त्रीय प्रमाणो तथा बडे बडे सत महात्मा तथा महापुरुषो के जीवन सम्बन्धी उदाहरण देकर समझाया जा सकता है किन्तु जो वास्तव मे हैं तो मूख, परन्तु अपने को माने बठे हैं बडा पडित ऐसे अभिमानी ज्ञानलवदुर्विदग्ध पुरुषो को समझाने मे कोई समथ नही। अभिमान तथा अहकार के कारण वे सब को तुच्छ समझते हैं। जो उनकी हाँ मे हाँ मिलाता रहे, वह तो ठीक, जिसने उनके विरुद्ध तनिक भी चीचपड की वही उनका शत्रु। उसे नष्ट करने, सताने के लिये वे प्राणपन से प्रबल प्रयत्न करते हैं। अत ऐसे अधकचरे अभिमानी मूर्खों को तो कोई महाशक्तिशाली अपनी प्रबल शक्ति द्वारा ही अन्याय से रोक सकता है। दूसरे साधारण लोगो की शक्ति के तो वह बाहर हो जाता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—',विदुरजी! जब ऋषि मुनियो ने आकर अत्यन्त विनीत किन्तु दृढता के स्वर मे वेन को समझाया, उसे उसका कर्तव्य बताया, धर्म का निष्कटक सुखकर मार्ग उसे सुझाया, तब उसे बडा क्रोध आया। उसने दाँत पीसते हुए, टेढी भौं करके लाल लाल क्रोध भरे नेत्रो से उन्हें देखते हुए गरज कर बोला—तुम सब लोग बडे मूर्ख हो रे! जो मेरे सम्मुख आकर ऐसी धृष्टता करते हो? तुम लोगो का इतना साहस? ऐसी हेकडी? अब तुम्हारी पोल नही चलेगी

पोषण करने वाले पति को छोडकर जार पति की उपासना करती है। जो तुम्हारे जैसे मूर्ख पुरुष मुझ राजा रूप परमेश्वर का अनादर करते हैं, वे न इस लोक म सुखी होते हैं न परलोक म।"

मेरे पूर्वज तो सब के सब मूर्ख थे, जो तुम सब बेकारो को इस प्रकार सिर पर चढा रखा था। तुम्हे ही सर्वेसर्वा बना रखा था। तुमने भी उन्हे भली प्रकार काठ का उल्लू बना रखा था। जब कहो, तब वे पानी पीवें, जब मुहूत बताओ तब आगे पैर रखे। मेरे सामने तुम्हारी दाल नही गलेगी। अब वह अधेर न चलेगा। अब मारे कोडो के तुम्हारी चमडी उधेड ली जायगी। तुमने समझ क्या रखा है। तुम मुझे क्या समझते हो। ईश्वर तो मैं हूँ, तुम सब का स्वामी तो मैं ही हूँ मूर्खो! अरे, तुम तो उस व्यभिचारिणी जारिणी दुष्टा स्त्री के समान हो, जो अपने प्रत्यक्ष पति को छोडकर जार पति की सेवा करती है। पति का अपमान करने वाली वह कुलटा स्त्री गर्हित है, निंदित है। उसी प्रकार तुम भी निंदित हो। छि छि तुम लोगो को लज्जा नही आती। चले है हमे सिखाने के लिए। बकरे की सी दाढी हिलाकर २ तुम सब की दाढियो को नुचवाऊँगा। जीवित ही खाल खिचवाऊँगा आधा जमीन मे गडवा कर कुत्तो से नुचवाऊँगा, तुम्हारी खालो मे भूसा भरवा भरवाकर राजसभा के द्वार पर लटकवाऊँगा, जिससे फिर कोई ऐसा दुस्साहस न कर सके। अपने ईश्वर मुझ राजा का अपमान करके तुम्हें न इस लोक मे सुख मिल सकता है न परलोक मैं, क्या तुम लोग मुझे नरपति, जगदीश्वर, सब लोको का स्वामी नही मानते।"

वेन की ऐसी क्रोध—भरी बातें सुनकर ऋषि मुनि तो चुप हो गये। पीछे खडे हुए युवक ऋषि बडे कुपित हुए। आगे के बडे बूढे मुनियो ने हाथ के सकेत से उन्हे रोका। इस पर वेन फिर बोला—"तुम लोग बोलते क्यो नही? मेरी बात का उत्तर क्यो नही देते? क्या तुम लोग मुझे ईश्वर नही मानते?"

इस पर वृद्ध मुनिशाति के साथ बोले—"देव। यह हम कब कहते हैं आप ईश्वर नही। आप नरपति हैं, लोको के ईश्वर हैं, राजा है। फिर भी भगवान् यज्ञपति आप से भी श्रेष्ठ हैं। आपके भी पूजनीय हैं आप .....

बीच मे वेन घुडककर बोले—"कौन यज्ञपुरुष ? अरे, मूर्खो यज्ञपुरुष तो मैं ही हूँ। व्यभिचारिणी स्त्री की भाँति पाप मत करो। मुझे ही अपना पति मान कर जारूप उस यज्ञपुरुष को भूल जाओ। ईश्वर परमात्मा मैं ही हूँ, मेरे ही निमित्त यज्ञ करो, मेरे ही नाम का जप करो, मेरी ही पूजा करो, मुझे ही भट दो, मेर ही मुख मे आहुति दो। क्यो तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गई है। मुझ प्रत्यक्ष देव को छोडकर तुम कल्पित देव के पीछे क्यों पडे हो ?'

गभीर होकर वृद्ध मुनि बोले—तब, आप ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिदेवो को नही मानते हैं ?"

वेन बोला—'मानते क्यो नही, हम तो मानते हैं। तुम सब मूर्ख ही नही मानते। मैं सृजन करता हूँ इसलिये ब्रह्मा हूँ, समस्त प्रजा का पालन करता हूँ अत विष्णु हूँ, तुम जैसे दुष्टो का सदा सहार करता रहता हूँ अत रुद्र हूँ। तीनो देव मेरे शरीर मे वास करते है।"

सिर हिलाते हुए उपेक्षा के स्वर मे मुनि बोले—तब आप अन्य देवो को लोकपालो को भी न मानते होगे ?"

वेन बोला—' तुम लोगो के मस्तिष्क मे गोबर भर रहा है या कीचड भरी है ? अरे पूर्व दिशा का मैं पालन करता हूँ अत मैं इन्द्र हूँ, दक्षिण का पालन करता हूँ अत यमराज हूँ, उत्तर का पालन करता हूँ, अत कुबेर हूँ, पश्चिम का पालन करने से मैं ही वरुण कहाता हूँ, वायव्य दिशा का पालन करने

से वायु, ईशान के पालन करने से ईश, नैऋत्य का अधिपति होने से निर्ऋति तथा आग्नेय दिशा का स्वामी होने से अग्नि हूँ सूर्य चन्द्रमा, पृथिवी सब की शक्ति मुझमे है। इसीलिये राजा को सर्वदेवमय कहा है। राजा जो चाहे सो कर सकता है। जिसे चाहे दड दे सकता है। प्रसन्न होने पर रक को राव बना सकता है। अप्रसन्न होने पर कुबेर को भिखारी कर सकता है। ब्राह्मण देवताओ! तुम अपनी कुशल चाहते हो, तो मेरी बात मानो, इस मूर्खता और मत्सरता को छोड दो। प्राचीन प्रथाओ को तोड दो, आस्तिकता के प्रवाह को मेरी ओर मोड दो। मुझे ही सब कुछ मानोगे, तो तुम्हारा कल्याण है, नही तो तुम सब की हड्डी पसली पृथक पृथक करके कोल्हू मे पिलवा दूँगा। तुम्हे अपने नाना का अतिथि बना कर उनके पास भिजवा दूँगा। समझे कुछ? बोलो, क्या कहते हो?

युवक मुनि दाँत पीसने लगे। वृद्धो के ओठ फडकने लगे। सब की आँखो के डोरे लाल हो गये। वृद्ध मुनि फिर गरज कर बोले—तुम वेद को भी नही मानते

वेन बोला—मेरी वाणी ही वेद है। मेरी आज्ञा ही वेद वाक्य है। यदि तुम मुझे बलि न दोगे, मेरा पूजन न करोगे तब तुम इस पृथिवी पर नही रह सकते। अब बहुत हो गया। अधिक बकबक करने की आवश्यकता नही। एक बात का उत्तर दो। मुझे ईश्वर मानते हो या और किसी ईश्वर की आशा लगाये हो। यदि और की आशा है, तो मैं अभी तुम्हारी खबर लेता हूँ। देखें वह तुम्हारा कल्पित ईश्वर तुम्हारी रक्षा करता है या नही।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! वेन की यह बात असह्य

हो गई। सभी मुनि अपने को रोकने में असमर्थ हो गये। सभी ने एक स्वर से कहना आरंभ कर दिया—इस दुष्ट को मार डालो, इस विपरीत बुद्धि वाले मूर्ख को अब इस उच्चासन पर न रहने दो। इस भ्रष्टमंगल नीच को सिंहासन से नीचे पटक दो। यह महापापी स्वभाव से ही दुष्ट है पाप ही इसका परम इष्ट है। यह सनातन वैदिक धर्म से भ्रष्ट है। यह स्वपच और चाडालों से भी निकृष्ट है। वेद और ब्राह्मणों की निंदा करने वाला यह पापी अत्यत ही अशिष्ट है। तदि यह इसी प्रकार जीता रहा तो यह सम्पूर्ण संसार को भस्म कर डालेगा। सब को मार डालेगा। यह अब राजसिंहासन के योग्य नही। जिन श्रीहरि की कृपा से ही इतना एश्वर्य प्राप्त है उन्ही भगवान् की यह निंद करता है। इसका आज अंत कर देना चाहिये। इस प्रकार सब के क्रुद्ध होने पर वह घबड़ा गया। आगे के मुनियों ने पिछले उत्तेजित हुए मुनियों को रोक कर, वेन की ओर क्रोध भरी दृष्टि से देख कर एक बार 'हुँ' ऐसा शब्द किया। 'हुँ' शब्द के होते ही वेन सिंहासन से मर कर उसी प्रकार नीचे गिर पड़ा, जैसे केले का वृक्ष पहाड़ से कटकर गिर पड़ता है।

इस पर कुछ मुनि बोले—"जा बेटा, अपनी ननसाल में आनन्द से रह। अपने नाना मृत्यु के घर मे आतिथ्य ग्रहण कर, वह नानी की हाथ की पूडियां उडा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! वह दुष्ट मरा हुआ तो पहिले ही से था। वेद और ब्राह्मणो की निंदा करने के कारण वह हत प्राय तो था ही केवल ब्राह्मणो की हुंकार तो निमित्त मात्र थी।

इस प्रकार वेन को अपने शाप से ननसाल का रास्ता दिखा कर सभी ऋषि मुनि उसी दशा मे मृतक छोडकर अपने अपने आश्रमो को चले गये।

छप्पय

सुनत कुपित मुनि भये पुकारें मारो मारो।
राजासन तें खेंचि दुष्ट कूँ वेगि उतारो॥
पाइ परम ऐश्वर्य नीच अतिशय इतरावे।
करे वेद अपमान आज वाको फल पावे॥
यो कहि भरिकें क्रोध मे, सब मुनि मिलि हुँकृत करी।
तुरत वेन की देह तहँ, प्रानहीन ह्वैकें गिरी॥

अराजकता निवारण के निमित्त ब्राह्मणों का उद्योग

(२५७)

ब्राह्मणः समदृक्शान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ॥

(श्री भा० ४ स्क० १४ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

छाडि ताहि निरजीव गये निज निज आश्रम मुनि ।
मातु सुनीथा दुखित भई निज पुत्र मृत्यु सुनि ॥
राज्य माहि बहु भई अराजकता अति भारी ।
लूटपाट व्यभिचार कलह चोरी अरु जारी ॥
मुनिनि देश देख्यो दुखी, दया हिये उमड़ी प्रबल ।
होहि तहाँ तप कस जहाँ, निरबल कूँ ताडैं सबल ॥

देश के वातावरण का सभी सहृदय पुरुषो पर प्रभाव पड़ता है। प्रभाव तो जड चेतन सभी पर पडता, किन्तु जड उसे व्यक्त नही कर सकते, उसके प्रतिकार के लिये प्रयत्न नही कर सकते। सहृदय पुरुष देश की दुर्दशा देख कर दुखी होते है। उत्थान तथा उन्नति देख कर हर्षित होते हैं। जब तक हमे

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ब्राह्मण चाहे शात स्वभाव का कैसा भी तपस्वी क्यो न हो, यदि वह अपने सम्मुख दुखी हुए दीनो की सामर्थ्य रहने पर उपेक्षा करता है, तो उसका ब्रह्म तेज उसी प्रकार बह जाता है जैसे फूटे घड़े का पानी बह जाता है।"

र का भान है, सुख दुख का अनुभव है, तब तक प्रभु-प्रीत्यर्थ
ाकार और दयाकरनी चाहिये। यह कहदेना सब अपनेप्रारब्ध
ोग भोग रहे है, यह अकर्मण्यता का चिन्ह है। प्रारब्ध का
भोग रहे है, यह ठीक है। किन्तु तुमको किसी की
ध को मेटने की कामना से नही अपनी दयावृत्ति को
। के लिये, सबमे वे ही सर्वान्तर्यामी विराजमान है, इस
ण को दृढ करने के निमित्त प्रभु-प्रीत्यर्थ परोपकार करना
ये। जो ऐसा नहीं करते दीनो पर दया नही दर्शाते, अपने
। होते हुए अन्याय का, सामर्थ्य होने पर भी विरोध नही
, उसके प्रतीकार के लिये शक्ति भर प्रयत्न नही करते
जप, तप, नियम, व्रत, सयम सभी व्यथ है।

ात्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! जब सभी ऋषि अपनी
से वेन को निर्जीव करके उसे वही मरा का मरा छोड कर
ाये, तब सम्पूर्ण राजसभा मे सन्नाटा छागया। सभी हृदय
न्न थे, कि अच्छा हुआ यह कटक कट गया, किन्तु फिर
ष्टाचार के लिये शोक प्रदर्शित करने लगे। शीघ्रता के
यह समाचार सुनीथा देवी को अन्त पुर मे दिया गया।
ो की हुँकार के द्वारा अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार
ही माता दौडी आई। अपने दुरात्मा मृतक पुत्र को देखकर
छाती फटने लगी। सभी ने कहा—"अब जो हो गया सो
ा, अब इनका दाहसस्कार करना चाहिये।,'

ह सुनकर महारानी सुनीथा ने दृढता के स्वर मे कहा—
मेरे पुत्र का दाहसस्कार न होगा। जिन मुनियो ने कोप
मारा है, वे ही कभी कृपा करके इसे जिला भी सकते हैं।
र सकते है, वे ही प्यार भी कर सकते हैं। मेरे बच्चे की
ब मिलकर रक्षा करो। इसे मृतक मत मानो। समझो यह

सो रहा है। महारानी की आज्ञा का सभी ने पालन किया। बहुत बडे कडाह मे तेल भरकर उसमे अनेक औषधियाँ सुगन्धित द्रव्य डालकर वेन के शव को सुरक्षित रखा। सुनीथा उसकी बडे यत्न से जीवित की भाँति देख रेख और सेवा शुश्रूषा करने लगी।

इधर वेन के मरते ही चोर डाकुओ की बन आई। राज्य सिंहासन खाली हो जाने से चारो ओर अराजकता बढ गई। जिधर देखो उधर ही लूटपाट मच रही है, मारधाड हो रही है। राज्य के कर्मचारी मनमानी कर रहे हैं। सब से घूस लेने लगे हैं। रक्षक चोरो से मिलकर डाका डला रहे हैं। बलवान् निर्बलो के धन को स्त्रियो को बलात्कार हर कर ले जा रहे हैं। न किसी को किसी का भय है' न सकोच। सभी मनमानी कर रहे हैं। धर्म कर्म से हीन तो सब पहिले ही से थे। अब तक वे धर्म बुद्धि से पापो से निवृत्त नही थे। भय के कारण अवसर न मिलने से वे चोरी जारी से दूर थे। अब अवसर पाते ही वे वित्तापहरण, व्यभिचार आदि करने लगे, दूसरो के धन, पशु तथा स्त्रियो को हरने लगे।

एक समय सभी ऋषि मुनि भगवती सरस्वती के निर्मल जल मे स्नान करके अग्निहोत्र आदि से निवृत्त होकर परस्पर मे कृष्णकथा कर रहे थे। उस समय उन्हे अनेक अराजकता-सूचक उत्पात दिखाई दिये। इससे मुनियो के मन मे चिन्ता हुई कि कही राजा के बिना देश मे फिर अराजकता तो नही फैल गई। इतने मे ही वे क्या देखते हैं, बहुत से डाकू हाथी घोडो पर चढे हुए लोगो का धन लिये हुए भागे जा रहे हैं। उनके साथ मे अनेक स्त्रियाँ हैं जिन्हे वे बलात्कार पकड लाये हैं। वे रो रही हैं, चिल्ला रही हैं, सर्वत्र हाहाकार मचा है। इस करुण

क्रन्दन को सुनकर मुनि का हृदय करुणा के कारण द्रवीभूत हो उठा। उनमे से किसी ने आँसू बहाते हुए कहा—"अरे, यह तो बड़ा अनर्थ हुआ, हम लोगो को इसका कुछ उपाय करना चाहिये।"

इस पर एक बोले—"अजी अब हर समय उपाय ही करते रहोगे या कुछ जप, तप, पूजा, पाठ भी करोगे। यह तो ससार है, कोई मरता है, कोई जीता है, कोई दुखी है, कोई किसी को प्यार करता है, कोई सतान पैदा करता है, कोई वध कर देता है। सभी कर्मों के अधीन हैं। जीव ही जीवो का जीवन है। अतः इन झझटों को छोडो, राम राम करो। कोई राजा हो हमे क्या हमें राज्य तो करना नही, भजन करना है, सो चुपचाप बैठकर भजन करो। अब इन्ही सब झझटो मे फँस गये तब तो भजन पूजन हो चुका।"

इसके सुनने ही एक बडे सौम्य गम्भीर मुनि बोले—"आपने भजन का अर्थ क्या समझा है? भगवान् की आराधना भगवान् अग्नि मे ही बैठे हो दूसरे स्थान मे न हो सो बात तो है नही अखिलात्मा श्रीहरि तो सब मे समान रूप से व्याप्त हैं। कोमल दयावान हृदय मे उनका प्रादुर्भाव होता है। जैसे सूर्य सर्वत्र समान भाव से प्रकाश करते हैं। किन्तु काँच मे उनका प्रकाश स्पष्ट दिखाइ देता है। पाषाण में तम के आधिक्य से वे कम प्रकाशित होते हैं। अतः जो लोक के ताप से तप कर जीवो पर दया दर्शाता है, श्रीहरि उसके हृदय मे शीघ्र ही आ जाते हैं। दीन दुखियो पर दया करना यह उस अखिलात्मा अच्युत की परमाराधना है।

। अपने सम्मुख कोई कष्ट पा रहा हो, मर रहा हो और उसे निवारण की जिसमे शक्ति हो, शक्ति रहने पर भी जो उसकी

उपेक्षा कर देता है, उसका जप, तप, सयम, नियम, तीर्थव्रत, यज्ञ, अनुष्ठान, योग, समाधि, मौन, वेदाध्ययन, कथावार्ता तथा अन्य भी शुभ कर्म व्यर्थ हैं। इसलिये हम लोगों को मिलकर इस विषय मे उद्योग करना चाहिए। प्रजा को दस्युओ के चगुल से निकालना चहिये। यह अराजकता शान्त हो। इसके लिये पूर्णरीत्या प्रयत्न करना चाहिये। शीघ्र ही किसी को राजा बना देना चाहिये।"

इस पर एक दूसरे मुनि बोले—"आप राजा किसे बनावेंगे? वेन तो अपने पाप के कारण मारा ही गया। महाराज अग के वही एक पुत्र था। राजपुत्र के अभाव मे धर्मपूर्वक अन्य राजा कैसे बन सकता है? कलियुग हो तब तो चाहे जो राजा बन जाय। किन्तु वर्णाश्रम धर्म के पालन के लिये तो यह अत्यावश्यक है कि विशुद्ध राजवश का क्षत्रिय ही नरपति हो सके।"

इस पर उन सब के कुलपति ने कहा—"देखो, भाई! वेन अपने पाप से मारा गया। यस सत्य बात है, किन्तु महाराज स्वायभुव मनु का पुण्य साधारण नही है। वश तो पाप के कारण नष्ट होता है। जिस वश मे पाप बढ जाता है, उस कुल का नाश हो जाता है अथवा उसकी कुलागत विशुद्ध परम्परा नष्ट होकर सकरता आ जाती है। महाराज मनु के पुण्य का इतना प्रभाव अभी तक है, कि अग का वश नष्ट न होना चाहिये। राजर्षि अग की वशपरम्परा निर्मूल न होनी चाहिये। क्योकि इस वश में उत्तानपाद ध्रुव आदि बडे-बडे भगवत्परायण राजर्षि हो चुके हैं।"

भगवान् कुलपति की यह बात सुनकर सब ने एक स्वर से कहा—"हाँ, हाँ, अवश्य इस विषय मे उद्योग होना चाहिये। त्रिकालज्ञ मुनियो के तप मे, उनके अमोघ मत्री मे अतुलनीय

सामर्थ्य है, वे जो चाहे कर सकते हैं। जीवित को मृतक बना सकते हैं, मृतक को जीवित कर सकते है।"

तब सब मुनियो ने कहा—'तब राजधानी मे चलें और इस विषय मे जो उचित हो वह करें।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ऐसा निश्चय करके सभी ऋषि महर्षि अपने अपने डड कमण्डलु लिये राजधानी की ओर चलने लगे। ऋषियो के समूह को राजधानी की ओर जाते देखकर सबको विश्वास हो गया कि अब जगत् का कल्याण होगा। जिस विषय मे त्यागी, विरागी, तपस्वी उद्योग करते हैं, वह अवश्य ही सफल होता है।"

छप्पय

मुनि समदरसी शान्ति, शान्ति हित सब पुर आये।
देखि वेन को मृतक देह अति हिय हरषाये॥
वेन जाघ कूँ युक्ति सहित मुनि मथिवे लागे।
निकस्यो कारो पुरुष निरखि मुनि नहिँ अनुरागे॥
वेन देह कल्मष कट्यो, पृथक् देह ते ह्वै गयो।
मुनिनि निषीद कह्यो वचन, सो निषाद सज्ञक भयो॥

वेन अंगमन्थन से भगवान् पृथु का प्रादुर्भाव

(२५८)

अयं तु प्रथमो राज्ञां पुमान्प्रथयिता यशः ।
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः ॥*
(श्री भा० ४ स्क० १५ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

मथी भुजा फिरि युगल भये लक्ष्मी नारायन ।
पृथुल कीर्ति पृथु पुरुष, अर्चि कमला जगपावन ॥
तेज, वीर्य, बल प्रभा सुलक्षण लखि मुनि हरषे ।
गावें गुन गन्धर्व सुमन सुर नभतें बरषें ॥
दक्षिण करतें पृथु भये, बायें त लक्ष्मी भई ।
प्रभु प्रकटे सुनि प्रजा की, चिन्ता सबरी नसि गई ॥

मन्त्रो मे बडी शक्ति है, तप का बडा प्रभाव है। कलियुगी पुरुष इन बातो का कभी विश्वास कर ही नही सकते। पूर्व के युगो मे मन्त्र सजीव तथा अमोघ होते थे। महर्षि वैशम्पायन के कहने से उनके शिष्य याज्ञवल्क्य ने जो उनसे वेदमन्त्र पढे थे, वे

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! वेन के बाहुओ के मथने से जो दिव्य पुरुष उत्पन्न हुआ उसे देखकर ऋषि मुनि बोले—'यह समस्त राजाओ मे प्रथम पुरुष होगा जो अपने यश का विस्तार करेगा। यह परम यशस्वी राजा 'पृथु' के नाम से विख्यात होगा।"

सब उगल दिये। वे सब तेजस्वी मंत्र सजीव होकर घूमने लगे। तब गुरु की आज्ञा से तीतर बनकर उनके शिष्यो ने उन्हे ग्रहण किया। जिससे तैत्तरेयी शाखा प्रसिद्ध हुई। अब इन बातो पर कौन विश्वास करेगा? ऋषियो ने महाराज को एक पुत्र प्राप्ति के लिये यज्ञ कराया था। एक कोरे घडे मे मन्त्रो से अभिमन्त्रित करके जल रखा था, कि प्रात काल रानी को इस मन्त्रपूत जल को पिलायेंगे, इसे पीते ही उसके गर्भ रह जायगा। सयोग की बात राजा को रात्रि मे प्यास लगी। बिना जाने उस मन्त्रपूत सम्पूर्ण जल को राजा पी गये। अब क्या हो सकता था। मन्त्रो की शक्ति तो व्यर्थ जाने वाली नही थी। राजाको ही गर्भ धारण करना पडा और उन्ही की कुक्षि को फाड कर जगत् प्रसिद्ध महाराज मान्धाता हुए। विश्वामित्र जी ने अपने तप के प्रभाव से नये स्वर्ग की ही रचना करदी। साराश यही है, कि तपस्वी सदाचारी वेदज्ञ ऋषि मुनि सब कुछ कर सकते है। उनके लिये भगवत्कृपा से कोई बात असभव नही।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अराजकता को निवारण करने के निमित्त तथा मनुवश को अविच्छिन्न बनाये रखने के निमित्त वे सभी मुनि मिलकर महाराज अग की पत्नी—वेन की जननी—सुनीथा देवी के समीप गये। वहाँ जाकर मुनियो ने पूछा—'देवि! अब क्या किया जाय? आपका वश नष्ट नही होना चाहिये।"

हाथ जोड कर सुनीथा देवी ने विनीत भाव से कहा—"महर्षियो! आप मे सभी शक्तियाँ हैं, आप जो चाहें कर सकते हैं। इसी आशा से मैंने अपने पुत्र का मृतक शरीर सुरक्षित रख छोडा है।"

प्रसन्न होकर मुनियो ने कहा—"अच्छा अभी वेन का शरीर है, तब तो काम बन गया। उसी को मथकर हम पुत्र उत्पन्न करा देंगे। तुम उसे यहाँ लाओ।"

मुनियो की आज्ञा का पालन किया गया। वेनका मृत शरीर उनके सामने लाकर उपस्थित किया गया। उनमे से एक वृद्ध से अनुभवी मुनि बोले—"देखो! इस वेन के शरीर मे पाप भी है, मनुवंश का विशुद्ध रक्त भी है। ऐसा यत्न करो, कि पाप पाप अलग हो जाय, तब इस विशुद्ध हुए अग से विशुद्ध राजा उत्पन्न करना।"

यह सुनकर दूसरे मुनि बोले—"इसके शरीर मे तो ये सब दूध पानी की भाँति एक हो गये हैं, उन्हे पृथक् कैसे किया जा सकता है?"

इस पर वे ही मुनि बोले—"देखो, सुवर्ण मे कान्ति भी है, मल भी है। अग्नि से तपा कर उसे पिघला कर मैल पृथक् कर दिया जाता है, जब मलहीन सुवर्ण हो जाय, तब उसके कटक कुण्डल आदि जो चाहें बना सकते हैं। वे बड़े सुन्दर दिखाई देंगे प्रभावान् होगे। मल को पृथक् किये बिना वैसे ही बना लो, तो वे प्रभाहीन मैले और बुरे दिखाई देंगे। इस शरीर में जंघाओ के बीच का भाग बहुत अशुद्ध होता है। क्योकि मलद्वार से सटा रहने से वही मृत्यु का वास है। अतः पहिले इसी अंग को मथन करो। जैसे समुद्र मन्थन के समय सर्व प्रथम विष निकला था, उसके सब कल्मष निकल जाने पर ही अमृत की उत्पत्ति हुई थी, उसी प्रकार नाना के वंश की जो इसकी हिंसा-वृत्ति है वह निकलनी चाहिये।"

वृद्ध मुनियो की आज्ञा से एक विशेष प्रकार की मथनी रई बनाई गई। उससे पहिले उसकी जघा को मथा। उसमे से सर्व

प्रथम एक काले रग का पुरुष उत्पन्न हुआ। वह ठिगना था। बाल उसके कडे, खडे हुए तथा ताम्रवर्ण के, नाक चिपटी थी। हाथ और पैर अपेक्षाकृत छोटे थे, ठोढी बडी थी, आंखे गोल और लाल लाल थी। वह कुछ दीनता के स्वर मे ऋषियो से बोला—"महर्षियो! मैं क्या करूँ?"

ऋषियो ने सोचा—"यह समस्त प्रजा का राजा बनने योग्य तो है नही। अत वे बोले—निषीद, निषीद अर्थात् महाशयजी! आप बिराज जाइये।"

इस पर वह बोला—"महाराज, मैं बैठता तो हूँ, किन्तु मेरा नाम बताइये, काम बताइये, धाम बतइये और रहने का ठाम बताइये।"

इस पर एक मुनि हँसते हुए बोले—"देखिये, उत्पन्न होते ही हमने आपसे कहा—निषीद निषीद इसलिए आपकी सज्ञा निषाद होगी। आप महाराज वेन के अङ्ग से उत्पन्न हुए है, अत आप वन पर्वतो के राजा होगे उनके कल्मष भाग से उत्पन्न हुए हैं, अत कृष्णवर्ण के होगे। वन, पर्वत, नदियो के किनारे, अरण्य ये ही आपके निवास-स्थान होंगे। तीरकमान लेकर बिना वस्त्र पहिने स्वच्छन्द घूमिये, कही भी आपकी रोक टोक नही।"

निषादराज बोले—' महाराज, तीर कमान तो लिये घूमेगे, युद्ध किनसे करें यह भी तो बतादें?"

मुनियो ने कहा—"अजी, तुम दिन भर युद्ध करो सदा युद्ध करो। बनो मे अरण्यो मे जो भी सिंह व्याघ्र, पशु,-पक्षी मिल जाय उससे ही युद्ध ठान दो। बाहर न मिले। जल मे मछलियो से युद्ध करो। तुम्हारा श्रीकृष्ण का सा वर्ण है, अत वे ससार-सागर से लोगो को पार करते हैं तुम सागर और

नदियो से लोगो को पार किया करना। तुम्हारे लिये भक्षाभक्ष का भी कोई नियम नही। राम राम रटते जाओ और विहार करो। कभी साक्षात् परब्रह्म परमात्मा तुम्हारे वश के राजा से भी मैत्री करेंगे और वह उन्हे गगा पार पहुचावेगा।" इतना सुनते ही वह निषाद जगल की ओर चला गया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! उसी के वशज पृथवी पर कोल, भील, गोड, धीवर, कहार, मल्लाह, निषाषद, केवट आदि अनेक नामो से विख्यात हुए। जिनमें बहुत से अरण्यो मे ही बिना घर द्वार बनाये रहते हैं। बहुत से नगरो का आश्रय लेकर कृषि आदि कम करने लगे। बहुत से नौका आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं।"

अब जब वेन की देह विशुद्ध बन गई, तो जिन हाथो के अधिष्ठातृ देव इन्द्र हैं, उन दोनों बाहुओ को मुनिगण मथने लगे। मथते मथते दायी बाहु से एक परम तेजस्वी पुरुष और बायी से परम प्रभावती त्रैलोक्य-सुन्दरी एक नारी उत्पन्न हुई। लक्षणो के जानने वाले मुनियो ने उनके लक्षण देखकर आश्चर्य और सँभ्रम के स्वर मे कहा—अरे ये, तो स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। अवतार के समस्त चिन्ह इनके श्रीअङ्ग मे विराजमान हैं। इस अवतार मे इनकी अनपायिनी आद्या शक्ति भी साथ ही उत्पन्न हुई है, यह और भी आश्चर्य की बात है। जैसे प्रभा सदा सूर्य के साथ ही रहती है, और उसी प्रकार ये लक्ष्मी देवी भी इन पुराण पुरुष का कभी साथ नही छोड़ती।

किसी योनि मे भी भगवान् अवतीर्ण हो ये निरन्त उनका अनुगमन करती ही हैं। यह तो बडे आनन्द की बात हुई। अब तो हम सब लोगो के समस्त क्लेश दूर हो जायँगे। ससार से अधर्मका लोप हो जायगा, सर्वत्र धर्म की वृद्धि होगी। यज्ञयागो की धूम फिरचारो ओरमच जायगी। फिरभूमडलस्वाहा स्वाधा के सुन्दर शब्दो से भर जायगा। ये महायशस्वी आदि राजा पृथुलकीर्ति वाले पृथु के नाम से ससार मे विख्यात होंगे, और वे समस्त वस्त्राभूषणो से अलकृत भगवती लक्ष्मी के अंश से उत्पन्न होने वाली देवी अर्चि नाम से विख्यात होगी।"

मुनियो के ऐसा कहते ही आकाश से पुष्पो की वर्षा होने लगी। ब्राह्मणगण अत्यन्त उल्लास के साथ स्वर-सहित उच्चस्वर से वेद-मत्रो का पाठ करने लगे।। अप्सरायें नृत्य करने लगी। चारों ओर शख, तुरही, मृदग दुन्दुभी तथा और भी अनेक बाजे बजने लगे। स्वर्ग से बहुत से देवता, ऋषि, सिद्ध तथा और भी उपदेव आये। लोक-पितामह ब्रह्माजी भी इन्द्रादि लोकपालो से घिरे हुए वेन-कुमार पृथु के दर्शनो के लिए पधारे। आते ही उन्होने महारज पृथु के हाथ, पैरो की रेखायें देखी। उनमे कमल के दिव्य चिन्ह देखकर तथा श्रीहस्त मे चक्र का चिन्ह देखकर चिल्ला उठे, "अवश्य ही ये श्रीमन्नारायण हैं, क्योकि रेखा से बिना मिला हुआ चक्र का चिन्ह जिनके हाथ मे होता है वे श्रीहरि का अशावतार ही होता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी, लोकपितामह जगद्गुरु

भगवान् ब्रह्माजी के मुख से भी अपनी बात का समर्थन सुनकर सभी ऋषि मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनके राज्याभिषेक का उपक्रम करने लगे।

छप्पय

विप्रवृन्द करि वेदगान हियमहँ अति हुलसें।
धेनु दुग्ध की धार बहावें सरसिज विकसें॥
स्वर्ग लोकतें सिद्ध,पितर,सुर, मुनि मिलि आये।
भये चराचर सुखी चहूँ दिशि बजत बधाये॥
कमलासन विधि चरण कर, लखि लक्षण प्रमुदित भये।
प्रकटे प्रभु पृथु रूप महँ, सत्लोक यो कहि गये॥

महाराज पृथु का राज्याभिषेक

(२५६)

तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
आभिषेचनिकान्यस्मा आजह्रुः सर्वतो जनाः ॥
सरित्समुद्रा गिरयो नगा गावः खगा मृगाः ।
द्यौः क्षितिः सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम् ॥*
(श्रीभाग० ४ स्क० १५ अ० १२, श्लो०)

छप्पय

मिलिकें मुनि वेदज्ञ करन अभिषेक लगे तब ।
बाजें तुरही शख राजसी साज सजे सब ॥
आये नदी, पहाड, पेड, पक्षी, पशु, पयनिधि ।
असन,वसन,मणि,रत्न, भेंट लाये वर बहुविधि ॥
कनक सिंहासन धनद शुभ, दयो छत्र वर वरुन ने ।
वायु दये अति वर व्यजन, माला दीन्ही धरम ने ॥

धर्मात्मा के पास सब गुण स्वत' ही चले आते है। भाग्यशाली को याचना नही करनी पडती। सब सम्पत्ति स्वय ही उनके

---

*मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुर जी ! इसके पश्चात् वेदज्ञ ब्राह्मणो ने महाराज पृथु के राज्याभिषेक का आयोजन आरभ किया। सभी ओर से प्राणी उनके अभिषेक की सामग्रियाँ जुटाने लगे। नदी, समुद्र, पहाड,

समीप आपसे आप आजाती है। जिसने सत्य धर्म को छोड दिया उसके यहाँ रहने वाले भी सब गुण भाग जाते हैं। जिसने धर्म को पकड़े रखा,उसके गये हुए गुण भी लौट आते हैं। इस विषय मे एक कथा है। एक वडे धर्मात्मा राजा थे। उनके राज्य मे व्यापार की वडी कमी थी। प्रजा के हित के निमित्त उन्होने अपने नगर के निकट एक हाट लगवानी आरम्भ कर दी। उसमे यह नियम कर दिया, कि जिस व्यापारी की जो वस्तु न विकेगी, वह राज्य की ओर से क्रय कर ली जायगी। इस प्रलोभन से वहुत से व्यापारी आने लगे। एक वार एक आदमी लोह की एक मूर्ति लेकर वेचने आया। सव उससे उसका नाम दाम और गुण पूछने। वह वताता—"इस मूर्ति का नाम दरिद्रदेव है। इसके दाम एक लक्ष रुपये हैं। जो इसे लेगा, उसके घरकी धन सम्पत्ति सव नष्ट हो जायगी।" ऐसी अशुभ मूर्ति को कौन लेने लगा। सव देखते और लौट जाते। रात्रि हुई, हाट के बन्द होने का समय आया। राजकर्मचारी पूछने आये—'किसकी कौन कौन सी वस्तु नही विकी। पूछते पाछते वे उस व्यक्ति के समीप भी आये। उससे दाम पूछा। उसने वही उत्तर दिया। 'ये दरिद्रदेव हैं। एक लक्ष रुपया इनका मूल्य है। जहाँ ये रहेगे वहाँ लक्ष्मी सम्पत्ति नही रह सकती।' राजकर्मचारी घवड़ाये, राजा के समीप जाकर सव वृत्तान्त कहा।

महाराज ने पूछा—"क्या वह वेचने लाया था ?"

सेवको ने कहा—"हाँ देव ! वह वेचने ही लाया था ?"

'तव फिर उसकी नही विकी ?' महाराज ने पूछा।

पेड़, पक्षी, मृग, गौ, स्वर्गलोक के पृथ्वी लोक के जितने भी प्राणी थे सभी ने आ आकर उन्हें उपहार अर्पण किये।"

महाराज ऐसी वस्तु को कौन लेगा, जिसके लिये लाख रुपये व्यय भी हो और आते ही धन धान्य ऐश्वर्य का नाश कर दे। वस्तु तो लाभ के लिये ली जाती है।' सेवको ने दृढता के स्वर मे कहा।

महाराज ने कहा 'जब वह बेचने लाया था और नही बिकी तब तो तुम्हें लेनी ही चाहिये इसमे पूछने की कौन सी बात है।

सेवको ने सभ्रम के साथ कहा—"अन्नदाता! ऐसी वस्तु के लेने से लाभ क्या?"

महाराज ने दृढता के साथ कहा—लाभ क्या? धर्म का लाभ है, अपनी प्रतिज्ञा पूरी होगी, यही लाभ है। रुपये पैसे का लाभ को ही लाभ थोडे ही कहते है। अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करना यह भी बडा लाभ है। तुम बिना बिचारे उसे एक लाख रुपया दे दो, उस मूर्ति को ले लो।' सेवको ने राजा की आज्ञा का पालन किया, मूर्ति राजा के अन्त पुर में आ गई, बेचने वाला एक लाख रुपये लेकर चला गया।

महाराज अपने भवन मे सो रहे थे, आधी रात्रि के समय वे क्या देखते हैं, एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्री राजा के सिरहाने खडी है। अपने भवन मे आधी रात्रि के समय इतनी सुन्दरी सम्पूर्ण शृङ्गारो से युक्त एक अपरिचिता स्त्री को देखकर महाराज बडे सभ्रम के साथ शैया से उठ कर खडे हो गये और लजाते हुए बडी मधुरवाणी मे बोले—'देवि आप कौन हैं? यहाँ क्यो खडी हैं? मुझसे क्या चाहती हैं।'

स्त्री ने कहा—राजन्! मैं आपकी राजलक्ष्मी हूँ, आपके घर मे दरिद्र आ गया है, जहाँ दरिद्र है वहाँ मैं कैसे रह सकती हूँ, इसलिये मैं जा रही हूँ। राजा ने कहा—'अच्छी बात है, जैसी आपकी इच्छा इतना सुनते ही लक्ष्मी चली गई।

फिर कुछ काल मे एक पुरुष आया। राजा ने पूछा—आप कौन हैं ? उसने कहा--मैं यश हूँ। जहाँ लक्ष्मी नही वहाँ मैं भी नही रहता। मैं जा रहा हूँ।'

राजा ने कहा—'जैसी आपकी इच्छा।' वह भी चला गया। अब क्रमश ऐश्वर्य, कीर्ति, तुष्टि, सन्तोष, शौर्य, वीर्य सभी सद्गुणआये और चले गये। सब ने कहा—'महाराज ! जहाँ लक्ष्मी है वही सब गुण है। काचन मे सभी गुण निवास करते हैं। लक्ष्मीहीन पुरुष गुणहीन समझा जाता है। अत हम भी आपको छोड रहे है।"

सब के अन्त मे धर्म आया। महाराज ने पूछा—आप कौन है ?"

उन्होने कहा—'महाराज ! मै धर्म हूँ ?"

महाराज ने सम्हल कर पूछा—"आप क्या चाहते है ?"

कुछ रुक रुक कर अस्पष्ट वाणी मे धर्म ने कहा—महाराज सभी सद्गुण आपको छोड कर चले गये हैं, लक्ष्मी भी चली गई है, इसलिये मुझे भी आज्ञा मिलनी चाहिये।"

महाराज ने दृढता के स्वर मे कहा "नही, भगवन ! यह नही होनेका। लक्ष्मी चली जाय,इसका मुझे कुछभी सोच नही। सद्गुण रहे न रहे, उनकी मुझे चिन्ता नही, किन्तु आपको मैं नही छोड सकता। आपकी मैं प्राणपन से रक्षा करूँगा। आपके पीछे ही तो मैं दरिद्र को जानबूझकर मोल लाया हूँ। आपकी रक्षा के लिये ही तो यह सब किया है। आप किसी तरह नही जा सकते।" इतना कहते-कहते महाराज ने कस कर धम को पकड लिया।

महाराज की ऐसी धर्मनिष्ठा देखकर धर्म देव हँस पड़े और बोले—"राजन् ! जब आप मुझसे इतना स्नेह रखते हैं, तो

मैं आपको छोडकर कैसे जा सकता हूँ। जो मेरी रक्षा करता है, उसकी मैं भी सदा रक्षा करता हूँ। प्राय लोग धनहीन गुणहीन हो जाने पर तथा लोभवश धम को छोड देते है। आपने लक्ष्मी और सद्गुणो के चले जाने पर भी मुझे नही छोडा, तो मैं आपको किसी भी प्रकार नही छोड सकता।" जब धर्म रह गये, तो क्रमश सभी सद्गुण लौट आये। राजलक्ष्मी भी फिर से आ गई। एक धर्म की रक्षा करने से सभी गुणो की रक्षा हो जाती है और सब सपत्तियाँ धार्मिक नम्र पुरुष के समीप स्वतः ही चली आती है जैसे नीची पृथ्वी मे नदियाँ अपने आप बहने लगती है।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! वेन के अधम के कारण सब देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथिवी आदि भूत उस पर कुपित थे। शनै शनै सभीने उसका साथ छोड दिया। अधार्मिक का भय से कोई कुछ दिन साथ भले ही द, नही तो उसका साथ कौन दे सकता है। वह भगवान्‌की भी निन्दा करता था, इससे हतप्राय हो चुका था। इसीलिये तेज, ऐश्वर्य, प्रभाव उसके समीप से चले गये थे। अब भगवान् पृथु न पैदा होते ही धर्म का आश्रय लिया। धर्म को अपनाया। धर्म भगवान् का हृदय ही ठहरा। धर्म की स्थापना के लिये ही तो भगवान् अशावतार व्यूहावतार, विभवावतार, कलावतार, आवेशावतार, आदि अवतार धारण करते हैं। धर्म का स्वय पालन करना और प्रजा से पालन कराना यही तो भगवान् के अवतार का प्रधान हेतु है। धर्म को पकडते ही सभी ऐश्वर्य अपने आप आने लगे। वेन की नास्तिकता के कारण उनकी कोई वस्तु ग्रहणीय नही थी। अत राजा के योग्य जितनी सामग्रियाँ होती हैं, वह सभी उन्हे उपहार मे मिलने लगी। सभी ने अपनी अपनी शक्ति

के अनुसार पृथु महाराज को भेंट समर्पित करके उनकी शक्ति को बढ़ाया।

सर्वप्रथम कुबेर ने उनके बैठने के लिये राजोचित परम दिव्य सिंहासन दिया, जिस पर बैठकर राजकाज कर सकें। भगवान् पृथु का वेदज्ञ ब्राह्मणो ने बड़ी धूमधाम के साथ वेद मन्त्रो से अभिषेक किया। सातो समुद्रो के जल से उन्हे स्नान कराया गया, पूजन, हवन आदि जितने मागलिक कृत्य हैं, उन्हें कराकर विधिवत् उन्हे सबने मिलकर राजा बनाया। वस्त्रा-भूषणो से सुसज्जित होकर नाना अलकारो से अलकृत अपनी पत्नी अर्चि के सहित महाराज पृथु वरुण के दिये हुए मणिमय दिव्य सिंहासन पर सूर्य के समान प्रकाशित होने लगे। मानो अपनी पत्नी प्रभा के सहित आदित्यदेव अवनि पर उतर आये हो। प्रभा-सहित, अग्नि के समान व प्रकाशित हो रहे थे।

वरुण ने देखा, कुबेरजी ने मणिमय सिंहासन तो दे दिया किन्तु छत्र के बिना राजा की क्या शोभा। अत. एक दिव्य छत्र उन्हे अर्पण किया, जिसमे से गर्मियो मे शीतल छोटे-छोटे जल बिन्दु गिर रहे थे। वह चन्द्रमा के समान शुभ्रवर्ण का और प्रकाशवान् था। वायुदेव ने देखा, सिंहासन छत्र तो हो गये। अब छत्र के साथ चँवर भी चाहिये। इसलिये दो चँवर वायुदेव ने अर्पण किये। अब तो होड लग गई। सदाचार बन गया। जो भी देवता गन्धर्व, मनुष्य, नद नदी वहाँ आये, सभी को कोई न कोई दिव्य वस्तु महाराज पृथु को अर्पण करनी ही चाहिये। अत धर्म देव ने प्रसन्न होकर उन्हे एक कीर्तिमय माला दी कि इसके धारण करने से सर्वत्र कीर्ति होगी। धर्मात्मा की ही कीर्ति बढ़ती है। इन्द्र ने मनोहर मुकुट उनके सिर पर पहिना दिया, दण्डधर यम ने उन्हे अपना दण्ड दिया। ब्रह्माजी ने ब्रह्ममय

कवच—रक्षा के लिये—प्रदान किया। जिसे वेन ने धारण ही नही किया था। विष्णु भगवान् ने अपना सुदर्शन चक्र दिया। लक्ष्मीजी अर्चि देवी मे आकर अन्तर्हित हो गईं कि जैसे वह तुम्हारी जीवन सगिनी है मैं भी चचलता छोडकर निश्चल रूप से तुम्हारे समीप रहूँगी।

भगवान् रुद्र ने एक ऐसा खड्ग दिया जिसमे १० चन्द्रमा के चिह्न बने थे। पार्वतीजी ने साचा—मैं जगदम्बिका ठहरी, अत उन्होने १०० चन्द्रमा के चिह्न वाली ढाल दी। चन्द्रमा ने चढने को चमचमाती चाक चाकचिक्ययुक्त अमृतमय असख्यो अश्व प्रदान किये। त्वष्टा ने रमणीय रथ, अग्नि ने अत्यत सुदृढ सीगो वाला सुन्दर धनुष, सूय ने किरणरूपी बाण, पृथिवी ने इस प्रकार के खडाऊँ दिये कि जहा उन पर पैर रखा नही खट से अभीष्ट स्थान पर पहुँच गये। स्वर्ग ने कहा—महाराज, हम तो एक दिन देकर ही निवृत्त होना नही चाहते, नित्य ही आप पर अपने नदनकानन के दिव्य पुष्पो की वर्षा किया करगे। आकाश-गामी सिद्ध, चारण गुह्यक, भूत, प्रेत, गन्धर्व आदि ने उन्हे दिव्य सगीत प्रदान किया। जो नृत्य, गायन, वाद्य इस प्रकार से तीन अगो वाला है। अन्तर्धान हो जाने वाली विद्या भी खेचरो ने उन्हे दी। त्यागी ऋषियो के पास देने को क्या था, अत उन्होने अपने अमोघ आशीर्वाद ही दिये। समुद्र ने अपने गर्भ मे उत्पन्न हुए दिव्य शख को दिया। सातो समुद्रो, सरिताओ और शैलो ने मिलकर कहा—"महाराज! हम आपको अव्याहत मार्ग देते हैं, अब जब चाहे जहाँ चाहें बिना किसी विघ्न बाधा और श्रम के हमारे ऊपर होकर निकल जायँ।"

इस प्रकार सभी से सभी वस्तुएँ ग्रहण करके महाराज पृथु यथार्थ मे राजा हुए। अब तक जो राजा होते थे, वे अपनी ही

कान्ति से शोभित होने के कारण राजा हुआ करते थे। उनके चुनाव के कार्यों मे प्रजा का विशेष हस्तक्षेप नही होता था। राजा और मत्री मिलकर जो चाहें करें। किन्तु इन महाराज पृथु को तो सभी ने मिलकर राजा बनाया था। इनके राजा होने का हेतु शोभा बढाना ही नही था। समस्त लोको का रंजन करना। प्रजा के दुःखो को स्वय दुख सहकर दूर करना, प्रजा की आवश्यकताओ को देख कर उनकी पूर्ति के लिये प्रबल प्रयत्न करना। यही इनके राजा होने का मुख्य उद्देश था। इन्होंने प्रजा की सुविधा के लिये अनेक कार्य किये, बड़े बडे नगरो की स्थापना की, उनमे प्रबन्ध के लिये नगर समितियाँ स्थापित की। ऊबड़ खाबड़ भूमि को काट छाटकर सम किया। पर्वतो को उठा उठा कर उत्तराखड में रख दिया। इसी कारण से ये आदि राजा कहलाये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब महाराज पृथु का विधिवत् राज्याभिषेक हो गया, तो सूत मागधो ने उनकी स्तुति आरम्भ की।

छप्पय

लोकपाल सुरपाल सबनि मिलि सेवा कीन्ही।
जा पै जो वर वस्तु हती तानें सो दीन्हीं॥
स्वीकारे उपहार कोर्‌यौ सम्मान सबनि को।
प्रजापाल प्रभु भये बढ्यो उत्साह सुरनि को॥
सिंहासन आसीन पृथु, सुर नर ऋषि मुनि मन हरत।
उमड्यो आनँद दशो दिशि, हिय हरषत जय जय करत॥

महाराज पृथु की सूत मागधों द्वारा स्तुति

(२६०)

नालं वयं ते महिमानुवर्णने
यो देववर्योऽवतार मायया।
वेनांगजातस्य च पौरुषाणि ते
वाचस्पतीनामपि वभ्रमुर्धियः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १६ अ० २ श्लोक)

छप्पय

मिलि मागध अरु सूत लगे विरुदावलि गावन।
तवलज्जित ह्वै लगे तिन्हे हँसि पृथु समझावन॥
अरे, मृषा गुन गाय समय च्यौं व्यथा बिताओ।
कीर्तनीय हरि एक तिन्ही की कीरति गाओ॥
पौनी, सूत, कपास नहिं वस्त्र प्रशंसा होय जस।
कीर्ति योग्य कछु करयो नहिं, करहु प्रशंसा फेरि कस॥

एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है, 'अपनी स्तुति किसे अच्छी नही लगती। ज्ञानी तथा भक्तोंकी बात छोड दीजिये। उनके लिये तो

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज पृथु की स्तुति करते हुए सूत मागध आदि बन्दीजन कहते है— 'हे देवताओ मे श्रेष्ठ! हम आपकी महिमा वर्णन करने मे समर्थ नही हैं, क्योकि आप अपनी

स्तुति निंदा दोनों समान ही हैं। फिर भी प्रशंसा से सुख सभी को होता है। अंतर इतना ही है, मूर्ख अज्ञानी अहंकारी अपनी प्रशसा सुनकर फूल कर कुप्पा हो जाते हैं। भले आदमी अपनी प्रशंसा सुन कर लज्जित होते हैं और सिर नीचा कर लेते हैं। मनस्वी पुरुषों को अपनी प्रशसा अपने सम्मुख ही सुननी पडे, तो उन्हे यह बात बहुत अखरती है, किसी प्रकार प्रसंगान्तर करके वे उस बात को टालना चाहते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब सूत मागध महाराज पृथु की स्तुति करने को उद्यत हुए, तब उन्हे रोक कर महाराज पृथु उनसे कहने लगे--"भैया, तुम लोग बडी अच्छी स्तुति करने वाले प्रतीत होते हो, किन्तु जब तक भोजन की सामग्री न हो, भोजन बना भी न हो, तभी तक उसकी प्रशसा करने लग जायँ, तो मूर्खता ही कही जायगी। तुम कहो कि जो सुन्दर भोजन बनेगा हम उसी की प्रशंसा करते है, तो सभव है वह वैसे न बना तो प्रशंसा करने वाले की वाणी व्यर्थ हो जायगी।"

इस पर सूत मागध बोले—"विभो ! हमारा कार्य ही है स्तुति प्रशसा करना। मुनियो ने हमारी यही वृत्ति निर्धारित की है।"

महाराज पृथु बोले—"यह तुम्हारा कहना यथार्थ है, यदि तुम्हारा काम स्तुति करना ही है,तो तुम श्रीहरि की स्तुति करो, भगवान् की प्रशसा करो, वे ही स्तुति योग्य तथा प्रशसनीय हैं। पवित्र कीर्ति पुण्यश्लोक प्रभु के रहते हुए कौन प्रतिष्ठित पुरुष

माया से ही अवतरित हुए हैं। आप वेन के शरीर से स्वय उत्पन्न हुए हैं। ऐसे आपके पुरुषार्थ को वर्णन करते समय स्वयं बृहस्पति जी की भी बुद्धि चक्कर मे पड जाती है तब फिर हमारी तो बात ही क्या।"

साधारणजनो की प्रशसा करेगा। जो गुण जिसमे है ही नहीं उनको उनमे उनके सम्मुख ही बताना उनका अपमान करना है, उन्हें लज्जित करना है, उन्हे मूर्ख बनाना है। अब तुम कहो कि अभी नही है वे गुण तो न सही, आगे हो जायँगे, तो यह बात भी ठीक नही। वे गुण न हुए। फिर भविष्य के कार्यो को अनुमान करके प्रशसा करना और सुनना दोनो ही हास्यास्पद है। अत. भैया, तुम हमारी प्रशसा मत करो। अभी लोक मे हमारे गुण अप्रसिद्ध है, फिर बच्चो के समान हमारी कीर्ति का गान करने के निमित्त तुम इतने उतावले क्यो हो रहे हो ?"

महाराज की ऐसी बाते सुन कर सूत मागध मुनियो के मुख की ओर देखने लगे। मुनियो ने ही उन्हे स्तुति करने की आज्ञा दी थी। अब राजा निषेध कह रहे है। ऐसी दशा मे किनकी बात माने, किनकी न माने। इस असमञ्जस मे पडे हुए मागध आदि बन्दियो से वेदवादी मुनि बोले—"अरे, तुम लोग महाराज के बहकावे मे आ गये क्या ? तुम्हे हमारे वचनो पर विश्वास नही। हम जो कह देगे वही होगा। तीनो कालो की घटनायें हमे तो उसी प्रकार है, जैसे हाथ पर रखे हुए आँवले की सब चीजे दिखाई देती है। तुम लोग हमारी बाते मानो और जो जो गुण हमने इनमे बताये है उन सब का वर्णन करो। ये साधारण मनुष्य थोडे ही है, ये तो भगवान् के अशावतार है।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! जब मुनियो ने इस प्रकार उन सब गुणगायको का उत्साहित किया तो वे महाराज पृथु के गुणो का गान करने लगे।"

गायको ने कहा—"महाराज, हमारी क्या सामर्थ्य है, जो आपके गुणो का गान कर सकें। हमारे तो एक एक मुख ही है। चतुर्मुख ब्रह्माजी, ६ मुख वाले षडानन, हजार मुखवाले शेष

आपके गुणो का गान करने मे असमर्थ हैं, हम तो अपनी जिह्वा को पवित्र करने के निमित्त आपके कुछ स्तोत्रो का गान करते है। हममे इतनी बुद्धि कहाँ है, जो आपके भविष्य कर्मों का अभी मे गान कर सकें, किन्तु इन त्रिकालज्ञ महर्षियो ने हमे प्रेरित किया है, इन्होने ही आपके कुछ गुणो को बताया है, इन्ही की आज्ञा से हम कुछ कहते हैं।

इस पर सभा मे बैठे हुए सभासदो ने उन गायको को उत्साहित करते हुए कहा—"नही, नही आप महाराज पृथु के पावन चरित्रो का गान कीजिये। मुनियो ने जो आपको बताया है, समझाया है उन्ही का सुन्दर भाषा मे वर्णन करें।"

सभासदो का उत्साह पाकर गायक कहने लगे—ये अकेले ही आठो लोकपालो के तेज को अपने श्री अंग मे धारण करेंगे। ये सूर्य के समान आदान प्रदान कर्ता होगे। पृथ्वी के समान सदा सहनशील होंगे, किन्तु अग्नि के समान तेजस्वी भी होंगे। ये अपनी मनोहर मुसकान से सभी प्राणियो को प्रसन्न करते रहेंगे। ये बडे पराक्रमी, तेजस्वी, यशस्वी, वाग्मी तथा विद्वानो का आदर करने वाले होंगे। ये वायु के समान सबके भीतर बाहर व्याप्त होकर सबके मन की बातो को अपने चरो के द्वारा जान लगे। ये सम्पूर्ण भूमण्डल के चक्रवर्ती राजा होंगे। ये शोभा वाले ही राजा न होकर प्रजा का रजन करने वाले राजा होंगे। ये शरणागतवत्सल, सत्यपरायण, साहसी, सहनशील, ब्राह्मण-भक्त वेदमार्ग के पोषक, विद्वानो द्वारा सत्कृत, गुरुजनो के सेवक, गौरववान्, गान-विद्या मे निपुण होंगे। इनकी समता करने वाला ससार मे दूसरा कोई शासक न होगा। ये सैकडो अश्वमेध यज्ञ करेंगे। ब्रह्मपुत्र सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त करके परमधाम को पधारेंगे। ये अपने समान अद्वितीय होंगे।

इनकी बराबरी करनेवाला ससार मे कोई न होगा। ये दीनो के रक्षक होगे, प्रजाओ का पिता के सदृश पालन करगे। अधिक क्या कहे ये सर्वगुणसम्पन्न, सर्वप्रिय सब के सुखदाता भयभीतो के भयत्राता और निराश्रितो के आश्रयदाता होगे।

मैत्रेय मुनि कहते है—'विदुरजी! इस प्रकार और भी अनेक प्रकार की महाराज पृथु की स्तुति करके सूत मागधगण चुप हो गये।

उनकी स्तुति से सन्तुष्ट होकर महाराज न नियमानुसार स्त्र आभूषण और द्रव्य द्वारा उनका सत्कार किया और नकी स्तुति करने की शैली की प्रशशा भी की। इसके अनन्तर ाह्मणो न स्वस्तिवाचन पाठ करके महाराज को आशीर्वाद दिया दनन्तर राज्य के मत्रियो आकर नय महाराज का सम्मान किया और राजभक्ति की शपथ ली। फिर राजाके प्रधान प्रधान मचारी आये, उन्होने हाथो की अञ्जलि बाँधकर महाराज को ाविध भाँति की भेंटें अपण की। राजपुरोहित न [illegible] य-न्धी शिक्षा-दीक्षा दी। पुरवासियोने आकर अपनी [illegible] जलि र्मपित की। देशवासियोने नय महाराज क चरणा म अपनी क्ति प्रदर्शित की। चाडाल पर्यन्त सभी प्रजा के प्रतिनिधिया ने ाराज के सम्मुख अपनी अपनी श्रद्धा प्रकट की। महाराज पृथु सभी का यथोचित स्वागत सत्कार किया, सभी का दान, मान ार सम्मान से सत्कृत करके उनके उपहारा को स्वीकार किया मैत्रेयमुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार अभिषेक

सम्बन्धी सभी कार्य सम्पन्न हो जाने पर महाराज ने सभी को सम्मान सहित मधुर वाणी से सत्कार-पूर्वक विदा किया। सब के चले जाने पर महाराज अपने अन्त.पुर मे आये और सुख-पूर्वक रहने लगे।

छप्पय

सुनि सहमे सूतादि करयो सकेत मुनिनि जब।
तजिके सब सकोच करहिं गुनगान हपि तब॥
ये हुगेअति सहनशील शरणागतवत्सल।
परमतेज सम्मन्न एक सम समझें जल थल॥
एक छत्र शासक सबल, सेवा सब की करिङ्गे।
दुहिता करि धरनी दुह. कष्ट सबनि को हरिङ्गे॥

महाराज पृथु का पृथवी पर कोप

(२६१)

यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रै—
रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः ।
प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य
क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १७ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

प्रजापाल पृथु भये आइ बोले जन सब अस ।
पृथवी पै नहिं अन्न, करें निर्वाह नृपति कस ॥
नृप सोचे—सब बीज भूमि निज उदर छिपाये ।
ताही ते बिनु अन्न प्रजाजन अति घबराये ॥
भूख प्यास पीडित प्रजा, पृथु लखि चोट हिये लगी ।
तानि धनुष मारन चले, धेनु रूप धरि भू भगी ॥

जो सेवा करने मे समर्थ नही उसे स्वमी बनने का भी अधिकार नही । जो प्रजा के दु.खो को दूर करने के लिये निरतर प्रयत्न नही करता रहता उसे प्रजा-पालक नही कह सकते । जो

---

* मैत्रेय मुनि कहते है—"प्रिय विदुरजी ! जब महाराज पृथु को ब्राह्मणो ने राज्यासन पर यह कह कर अभिषिक्त कर दि कि आप जनता के प्रतिपालक हैं, तब जिनके शरीर अन्न के अभाव के कारण

आश्रितों पर आई हुई विपत्तियों के निवारण के लिये शक्ति भर उपाय नहीं करता वह भर्ता तथा भयत्राता कैसे कहा जा सकता है। प्रजा का कार्य है, न्यायपूर्वक राजा को आय का षष्ठांश दे और राजा का कार्य है प्रजा की दस्युओं से, चोर डाकुओं से, प्रबल शत्रुओं से दैहिक, दैविक विपत्तियों से रक्षा करे। जो राजा मनमानी करता है, प्रजा के मत की अवहेलना करता है वह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! वेन के अधर्माचरण के कारण पृथिवी श्रीहीन और सुख-समृद्धि से रहित हो गई थी। पृथिवी तो वसुन्धरा है, इसके गर्भ में अगणित रत्न भरे हैं, किन्तु धर्मात्मा राजा के होने पर ही रत्नों को प्रकट करती है, अधार्मिक राजा के होते ही सब छिपा लेती है। फल सदा भावना के अनुसार होता है। देखिये, हमने देखा था, एक व्यक्ति के पास एक खेत था। उसमें इतना अन्न पैदा होता था, कि एक वर्ष उस व्यक्ति का समस्त परिवार खाता था, विवाह, उत्सव, अतिथि-सत्कार सब उसी से होता था। जब वह मर गया उसका लड़का दुष्ट हुआ, तो उस खेत में उतना भी अन्न नहीं हुआ कि उसका एक महीने भी निर्वाह हो सके। पृथिवी वही, बीज वही, किन्तु धार्मिक भावना नहीं थी, इसलिये पृथिवी का उर्वरापन नष्ट हो गया। जैसे हम लोग अपने घर में चोर डाकुओं को आते हुए देखते हैं, तो अत्यंत मूल्यवान वस्तुओं को किसी गुप्त स्थान में छिपा देते हैं, इसी प्रकार क्रूरकर्मा दस्यु राजाओं के शासक हो जाने पर पृथिवी अपने समस्त बीजों को छिपा लेती है, कि

भूख प्यास से दुर्बल हो गये हैं, उन समस्त लोगों ने आकर महाराज से अपना दुख कहा।"

दुष्ट शासक इनका दुरुपयोग न कर सकें। वेन की दुष्टताके कारण पृथिवी का उर्वरापन नष्ट हो गया था। उसमे जो भी अन्न डालो वह पृथिवी का पृथिवी मे ही विलीन हो जाता था, उसमे से अकुर निकलते ही नही थे, इससे प्रजा म बडा असतोष फैल गया, सवत्र हाहाकार मच गया।

इसी दशा मे वेन को मारकर परोपकारी ब्राह्मणो न महाराज पृथु को राजा बना दिया और प्रजा से स्पष्ट कह दिया—"ये तुम्हारे पालक और रक्षक है, तुम्हे जो कष्ट हो, निभय होकर इनके सम्मुख निवेदन कर दिया करो।" त्यागी विरागी धर्मात्मा ब्राह्मणो की बात सुनकर प्रजा के लोगो को सन्तोष हुआ। अब वे सबके सब झुण्ड बना बना कर राजा के पास आने लगे। सब लोगो को दुबले पतले म्लान मुख, दु ख से दुखी अपनी ओर आते देखकर महाराज पृथु ने पूछा—'कहो, भैया, तुम लोगो को कौन सा कष्ट है ? तुम लोग इतने कृश क्यो हो गये हो ?'

प्रजा के लोगो ने कहा—'महाराज हमे अग्नि भुलसा रही है, हम सब उसी की भुलस से जले जा रहे है।

महाराज ने पूछा—"अग्नि भैया, कहाँ लग गई ? किस बन मे दावानल प्रज्वलित हो उठी, मुझे बताओ मै उसका उपाय करूँगा।"

प्रजा के लोगो ने कहा—"प्रभो ! अग्नि बाहर से नही लगी है, भीतर की जठराग्नि ही प्रचड होकर हमे दुख दे रही है। महाराज ! हमारी इस भूख से रक्षा कीजिये। जैसे वृक्ष की खोतर मे बैठा पक्षी वृक्ष मे आग लगने से भुलस जाता है उसी प्रकार हम सब भुलसे जा रहे हैं। पृथिवी पर अन नही। इसी-

लिए भूख प्यास के कारण मरे जा रहे है। आप हमारे जीविका देने वाली स्वामी—अधिपति चुने गये है, अत हमे कही से भी जीविका दीजिये, हमारे प्राणो की रक्षा कीजिये।"

महाराज बोले—"अच्छी बात है, भैया! मैं सोचूँगा। तुम सब अपने अपने स्थानो को जाओ।"

प्रजा के लोगो ने कहा—"नही, नही महाराज! सोचने से काम न चलेगा। जब तक आप सोच विचार करेंगे तब तक तो हमारे प्राण पखेरू सदा के लिये उड जायेंगे। आप तत्क्षण कोई कार्यवाही कीजिए, अति शीघ्र इस कुट्टिनी बुभुक्षा के निवारण का कोई अविलम्ब उपाय कीजिए। हे राजराजेश्वर! किसी भी उपाय से हमे खाने को अन्न दीजिए। आप अन्नदाता हैं, हमारे पेट की अग्नि को बुझाइये।"

प्रजा के लोगो के ऐसे करुणापूर्ण वचन सुनकर महाराज पृथु को बडा दुख हुआ। उन्होने सोचा—'मेरे राज्य मे प्रजा अन्न के बिना दुखी रहे तो मेरे राजापने का धिक्कार है। महाराज बडे यशस्वी थे। यशस्वी क्या थे भगवान् के अशावतार ही थे। उन्हे सबप्रथम यह बात सुनकर पृथिवी पर ही क्रोध आया। उन्होने सोचा—'पृथिवी की यह कैसी धृष्टता है, कि बोये हुए अन्न को भी पचा जाती है, उसमे से अकुर पैदा नही करती। यह तो वही दशा हुई कि गौ दिन भर तो घास भूसा खाती रह और दूध देते समय बिदुक जाय। आज मैं इस पृथिवी को ही ठीक करूँगा। इसी को ताडना दूँगा। इसे इसके कुकर्म का फल चखाऊँगा। यह सोच कर वे धनुष बाण लेकर पृथिवी को मारने लिए दौडे। पृथिवी ने भी जब देखा कि यह प्रतापशाली सर्वसमर्थ सम्राट मुझे मार डालना चाहता है, तो वह गौ का रूप रखकर प्राणो के भय से भयभीत होकर भागी।

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—'सूतजी, पृथिवी कैसे भागी ? पृथिवी तो जड है। उसे राजा मारने दौडे, कैसे मारने दौडे क्या फावडा लेकर खोदते थे ? फिर पृथिवी गौ का रूप रखकर भागी तो पृथिवी के लोग कहाँ रहे ? राजा किस के ऊपर भागे ?"

यह सुनकर सूतजी हँसते हुए बोले—"अच्छा महाराज ! आप भी अब कलयुगी लोगो के-से तर्क करने लगे। ठीक ही है अब तो घोर कलियुग ही आने वाला है, लोग इन बातो पर विश्वास थोडे ही करेंगे कि जड पृथिवी गौ का रूप रखकर भागी। महाभाग ! जड क्या पदार्थ है ?

शौनकजी बोले—"जड वही जिसमे कुछ जीवन सम्बन्धी कपनादि क्रिया करने की शक्ति न हो।"

सूतजी बोले—" जब यही बात है, तब तो सभी स्त्रियाँ जड है पुरुष भी जड है ये सब बाल बच्चे पैदा करने हैं ये भी जड हैं।

शौनकजी बोले—"जड-कैसे हैं, देखिये रजवीर्य के सयोग से एक बुदबुद बनता है, नित्यप्रति बढता है, पेट मे भी वह खाता है, हिलता है डोलता है। कडवे खट्टे मीठे का अनुभव करता है। स्वत पैदा होता है, बोलता है, रोता हैं, चलता फिरता है, देखता सुनाता है। ये सब क्रियाये जड मे तो नही होती।"

इस पर सूतजी बोले—"तब भगवन् ! आप पृथिवी को जड क्यो कहते हैं। जैसे माता के गर्भ मे वीर्य बढकर वृद्धि को प्राप्त होना है उसी प्रकार पृथिवी के गर्भ मे बीज अकुरित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। वह नित्य बढता है, पुष्प लगते हैं फल लगते हैं। वृक्षो को देखने की भी शक्ति है, ऐसा न ह तो लतायें डाली को ही ओर कैसे बढती हैं, उसेही कैसे पकडलेती हैं। वृक्षो मे शक्ति भी है, ऐसा न होता तो जल के पडते वे हरे भरे होकर लहलहाने क्यो लगते ? उष्णता के स्पर्श से कुम्हिला क्यो जाते

चार प्रकार के जीवो मे उद्भिज जीवो की गणना अनादि काल से होती आ रही है। इन समस्त जीवो की उत्पन्न करने वाली और आश्रय देनेवाली पृथिवी को आप जड कैसे बना रहे हैं ?"

शौनकजी बोले—"अच्छा, जड न सही चैतन्य ही सही फिर वह गौ का रूप रखकर कैसे भागी, इतनी लम्बी चौडी पृथिवी गौ कैसे बन गई।"

सूतजी बोले—"महाराज, लम्बा होना चौडा होना छोटा मोटा होना यह तो शरीर का धर्म है। शरीरी तो शरीर से पृथक ही होता है न। हम जो अपने को हम कहते हैं, तो क्या हम इस शरीर को थोडे ही कहते है। शरीर अभिमानी देवता को कहते है। योगियो को आपने देखा नही अनक रूप रख लेते है। अनेक शरीर बना लेते है। जैसे हम लोगो के रहने का स्थान गृह है। घर हमारा आश्रय है, उसमे रहने के कारण हम घर थोडे ही हो गये। चाहे जब उस घर को छोड कर दूसरे मे चले जायें। योगी लोग परकाय प्रवेश करते ही है। अभी कलियुग मे मैंने अपनी आखो एक प्रत्यक्ष घटना देखी।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी, कौन सी प्रत्यक्ष घटना आपने देखी उसे हमे भी सुनाइये।"

यह बनकर सूतजी बोले—"महाभाग ! मैं प्राय श्री बदरीनाथ की तात्रा को जाया करता हूँ। मेरे परमगुर इस धराधाम पर विराजमान होते हुए भी आजकल कलियुगी जीवा को प्रत्यक्ष दिखाई नही देते। किन्ही भाग्यशाली पुरुषो को ही भगवान् वेदव्यास के दर्शन होते हैं। मै बदरीवन मे भगवान् बदरीवन के दर्शनो को तो जाता ही हूँ, एक यह भी लोभ रहाता है, उस सम्याप्रास की पुण्य भूमि के भी दर्शन कर आता

है, जहाँ पर समस्त भागवती कथाओं का बीजारोपण और प्रादुर्भाव हुआ है।

हाँ तो मैं यात्रा के निमित्त जा रहा था। बहुत से यात्री भी "बद्रीविशाल लाल की जय" बोलते हुए जा रहे थे। कोई समृद्धशाली श्रेष्ठि भी अपने परिवार सहित यात्रा के निमित्त जा रहा था। उसका एक अत्यत ही सुन्दर, बडा ही रूपवान किशोरावस्थापन्न पुत्र था। उसके सभी अग बड़े ही सुडौल थे, सुवर्ण के समान उसका वर्ण था, बडा सुशील और धार्मिक वृत्ति का था। पिता उसे प्राणो से भी अधिक प्यार करते थे। मेरे लाल को पार्वतीय विकट पथ मे कष्ट न हो इस भय से श्रष्ठि ने उसके लिये सुन्दर नरवाहन का प्रबन्ध कर दिया था। बच्चा पिता के आग्रह से उसमे बैठ तो जाता था, किन्तु बदरीनाथ के पुण्य पर्वतो के प्राकृतिक दृश्यो को देखकर उसका हृदय नृत्य करने लगता। अवसर पाकर वह हाथ मे छडी लेकर पैदल ही चलता और इधर उधर देखता जाता। यह १५,१६ वर्ष की अवस्था बडी ही चचलतापूर्ण होती है। अग अग मे सिहरन होने लगती है, हृदय मे एक अजीब परिवर्तन सा प्रतीत होने लगता है। चित्त नई नई जानकारी के लिये उत्सुक रहता है। नये दृश्य देखने मे बडे आह्लाद होते हैं। बदरीनाथ के पर्वतो के शिखरो पर इधर उधर बहुत से सुगन्धित पुष्प खिलते रहते हैं। वहाँ की प्रत्येक घास मे एक प्रकार की मादक गध रहती है। बच्चा अपनी स्वाभाविक चचलता के कारण कभी कभी पथ से पृथक् होकर दृश्य देखने लगता। इस फूल को तोड, उस घास को उखाड, इस पत्थर को उठा, इसमे उसे बडा आनन्द आने लगा। एक स्थान मे वह एक नाले का सहारा लेकर ऊपर चढ गया। सेवक

भी साथ थे। ऊपर जाकर वह फूल योडने लगा सहसा एक बडे पत्थर के नीचे से एक कारियल विषधर सर्प निकला और उस बच्चे की उँगसी मे काटकर अत्यत शीघ्रता के साथ भाग गया। क्षण भर मे बच्चा मर गया। श्रेष्टि दम्पति की बुरी दशा थी। उन दोनो के करुण क्रदन को सुनकर पहाड के पत्थरो के हृदय भी पिघलने लगे। मुनियो! इस ससार मे पुत्रशोक से बढकर दूसरा कोई भी दु ख नही। आप सब तो स्त्री पुत्रो के सुख से वचित ही है, जब आपके पुत्र ही नही तो उसके वियोग दु ख का तो अनुभव होगा ही कैसे! किन्तु महाभाग। यही समझ कि पुत्र के वियोग मे मृत्यु से बढ कर दु ख होता है। जिनका कामदेव के समान सर्वगुणसम्पन्न प्राणो से भी प्रिय इकलौता पुत्र मर गया हो, वह भी घर पर नही, यात्रा मे, तो उन माता पिताओ के दु ख का तो कहना ही क्या? अब क्या किया जाय सर्प के काटे को हुए को जलाया तो जाता नही। कलकलनिनादिनी भगवती अलककन्दा के अत्यत शीतल जल मे उस श्रेष्टि सुत के शव को प्रवाहित कर दिया गया। श्रेष्ठि दम्पति रोते चिल्लाते बदरीनाथ की ओर बढे। आगे जा रहे थे, बच्चे का शव अलकनदा के प्रवाह मे पाषाणो से टकराता हुआ नीचे की ओर बह रहा था। मुनियो! उस बच्चे की मृत्यु को देखकर मेरे हृदय मे बडी करुणा उत्पन्न हुई। स्वभाविक ही उस सलोने बच्चे की मनमोहक मूर्ति की ओर मेरा आकर्षण हो गया था। मैं खडा खडा जल की चतेटो से डूबते उतराते बहते हुए उस शव का देखता रहा। सहसा मैं क्या देखता हूँ, नि अलकनदा के उस पार के गहन वन से एक नरककाल सा आता हुआ दिखाई दिया। उस दुबले पतले लम्बे वृद्ध को देउकर मुझे भय भी हुआ, आश्चर्य भी हुआ। मैंने देखा वह बडे वेग से अलक-

नन्दा के प्रबल तीक्ष्ण प्रवाह मे घुस गया और उस शव को पकड कर किनारे ले आया। अब मेरा सदेह बढा। मैने समझा यह कोई अघोरी है। या तो मुर्दो को खाता होगा या इनके द्वारा प्रयोग करता होगा। मैं खडा खडा देखता रहा। वह क्षीयकाय पुरुष उस शव को दोनो हाथो मे उठा कर एक बडे पाषाण खण्ड पर ले गया। पहिले तो उसने उस शव को उल्टा करके उसके पेट के पानी को निकाल दिया। फिर उसे पट्ट लिटा कर उस पर हाथ फेरा। हाथ फेरत ही वह मृतक शरीर तो जीवित हो गया और उस वृद्ध पुरुष का ककाल शरीर मृतक बनकर पृथिवी पर गिर पडा। उस जीवित पुरुष ने उस ककाल निर्जीव देह को दोनो हाथो से उठाकर बडे जोर से अलकनदा मे फेक दिया और वह स्वेच्छा से वन मे घुस गया। तब मै समझा ये कोई योगी हैं जो जीर्ण शरीर को त्याग कर देखने इस सुन्दर शरीर मे प्रवेश कर गये। सो मुनियो यहाँ वाली पृथिवी वास्तव मे पृथिवी नही, यह पृथिवी का शरीर है। पृथिवी की जो अधिष्ठात्री देवी है, वह किसी भी शरीर मे प्रवेश होकर कोई भी रूप रख कर क्रिया कर सकती है। पृथिवी का गौरूप से ब्रह्मा जी के यहाँ जाना, देव लोक मे जाना, अनेको स्थानो पर आता है और यह कपोल- कल्पना नही सत्य है। इसलिये आप इस विषय मे शका न करें। साधारण आदमियो को जो न दीखे वह है ही नही, यह सिद्धान्त मान्य नही। बहुत से रोग के कीडे साधारण लोगो को नही दीखते, तो क्या उनका अस्तित्व ही नही। कनेक नगरो को हमने नही देखा, तो क्या वे है ही नही। और की बात जाने दो, अपनी आखो को ही हम नही देख सकते, अपनी पीठ को भी नी देख सकते तो क्या ये हैं नही। कुछ बातें अनुमान से

सिद्ध होती हैं, कुछ आप्त वाक्यों से महापुरुषों के वचन ही उसके सत्य होने में प्रमाण हैं। पृथिवी देवी है, वह गौ का रूप रखकर समय समय पर देवताओं से ऋषियों से बातें करती है। इसमें शास्त्र ही प्रमाण हैं। महाराज पृथु कोई साधारण मनुष्य तो थे नहीं, वे तो भगवान् के साक्षात् अवतार थे, उनके साथ गौ रूपी पृथिवी का सम्वाद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आप ठीक कहते हैं। आर्ष प्रमाण आप्तवाक्य के अतिरिक्त कोई दूसरा मुख्य प्रमाण है ही नहीं। हम महर्षि शुनक के पुत्र हैं, हम भृगुवंशी हैं। ये बातें हमने देखी तो है नहीं परम्परा से सुनते आये हैं—इसे ही सत्य मानते हैं। इसलिये शास्त्रीय वाक्य ही मुख्य प्रमाण है, हाँ, तो पृथिवी और पृथु महाराज का वाक्य सवाद हुआ, इसे आप सुनाइये।"

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी बोले—"महाराज आप तो सब जानते हैं। लोगों के हित के लिये ऐसी बातें पूछते हैं। अच्छी बात है, अब जिस प्रकार भगवान् मैत्रेय ने विदुरजी को पृथिवी और पृथु का सवाद सुनाया था, उसे ही मैं आप को सुनाऊँगा, आप समाहित चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

धरै धनुष पै बान लगे पृथु भागी धरनी।
ज्यों गर लीये पाश व्याध लखि भागे हरिनी॥
त्रिपुर विनाशन हेतु मनहुँ सर शंभु सजायो।
धर्म धेनु वध हेतु मनहुँ पंचानन धायो॥
मुरि मुरि निरखति भयगहिल, जाने यमुना जहाँ जहँ।
गयान सर करें पृथु, पीछो लाको तहाँ तहँ॥

महाराज पृथु का पृथिवी के साथ संवाद

(२६२)

वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम् ।
भागं बर्हिषि या भुङ्क्ते न तनोति च नो वसु ॥*

(श्रीभाग० ४ स्क० १७ अ० २२, श्लो०)

छप्पय

बोली वसुधा विभो ! व्यर्थ क्यों मोकूँ मारो ।
अबला सदा अवध्य ताहि फिर क्यों सहारो ॥
बिना बात क्यों बान चलाओ बात बताओ ।
निरपराधिनी मोइ मारि के का तुम पाओ ॥
पृथु बोले—दुष्टे धरनि तोपै बान चलाउगो ।
सबकूँ सुखी बनाउँगो, यमपुर तोइ पठाउँगो ॥

ब्रह्मलोक तक के जितने जीव हैं, सबको अन्न-आहार पृथिवी से ही प्राप्त होता है । जो जिसका आहार है, वही उसका अन्न है । जो खाया जाय (अत्तीति अन्नम्) उसी का नाम अन्न है । गाय

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! कुपित हुए महाराज पृथु पृथिवी से कहते हैं—'हे वसुधे ! मैं तेरा वध अवश्य करूँगा, क्योंकि तू शासन को नहीं मानती है । तू यज्ञ मे देवताओ के साथ अपना भाग तो लेती है किन्तु उसके बदले मे हमे वसु—भोजन रूपी धन नही देती ।"

भैंस बैल आदि पशुओं का अन्न घास है। बन्दर आदि का अन्न फलमूल है। बगुला आदि का अन्न छोटे जन्तु मछली आदि हैं। दो पैर वाले प्राणियों का अन्न औषधि जव गेहूँ आदि हैं। मांसाहारियों का अन्न मांस है। देवताओं का अन्न अग्नि में दी हुई आहुतियाँ हैं, पितरों का अन्न श्राद्ध में दिये हुये पिंडादि हैं। महा, जन, तप और सत्यलोक के प्राणियों का अन्न ज्ञान, ब्रह्मचर्य, तपस्या और ध्यान आदि है। पृथिवी पर कर्म करके ही प्राणी इन लोकों को प्राप्त करते हैं। नरक और स्वर्ग के भोग भी यहीं से मिलते हैं। पृथिवी पर भारतवर्ष को छोड़कर और जितने वर्ष द्वीप हैं, नीचे के ७ लोक, ऊपर के ६ लोक, ये सभी भोग-भूमियाँ हैं, केवल मर्त्यलोक में यह भारतवर्ष ही कर्म-भूमि है। इसलिये भारतवर्ष को छोड़कर अन्य लोकों और द्वीपों में युगों की कल्पना नहीं। क्योंकि वे तो भोगस्थान हैं, जब तक का पुण्य है, पुण्यलोकों में सुख भोगो। जब तक का पाप है, अनेक प्रकार के नरकों में दुख भोगो। जब सब पुण्य पाप भोग लेने पर कुछ समान से शेष रह जायें तो इस कर्मभूमि में उत्पन्न होकर प्राणी कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इसीलिये अवतारों का विशेष प्रयोजन इस कर्मभूमि पर ही है, यहीं भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये भगवान् के भिन्न भिन्न अवतार होते हैं। यह पृथु अवतार पृथिवी की व्यवस्था करने, पृथिवी को दोहकर सबके नष्ट हुए भाग को फिर से प्राप्त कराने के लिये हुआ था।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी! जब गौ रूप धारिणी पृथिवी महाराज पृथु के भय से भागी, तो महाराज ने भी धनुष बाण लेकर उसका पीछा किया। वह दशों दिशाओं में दौड़ती फिरी, स्वर्ग, पृथिवी, अन्तरिक्ष नीचे तथा ऊपर के लोकों में कोई भी उसे शरण देने वाला दिखाई नहीं देता। वह जहाँ जहाँ

जाती, वही उसे साक्षात् यमराज अन्तक के समान पीछे लगे हुए महाराज पृथु दिखाई देते। जब वह थक गई, सब स्थानो से निराश हो गई, तो दुखित होकर मुडी और महाराज पृथु की शरण मे आई। उसने दीनता के स्वर मे महाराज से कहा—"प्रभो! आप तो सब प्राणियो के पालक है। हे शरणागतवत्सल! आप तो सभी को शरण देनेवाले है। हे धर्मज्ञ आप तो धर्म का पालन करने वाले हैं। फिर इतने कठोर मेरे प्रति क्यो हो गये है? मेरे प्रति अपने स्वभाव के प्रतिकूल आचरण क्यो कर रहे है? जब आप सबके पालक हैं, तो मेरी भी पालना कीजिये। जब आप भयभीतो के भयत्राता असहायो के शरणदाता है, तो मुझे भी अभयदान दीजिये। जब आप धर्म के मर्म को भली भाँति जानते हैं, तो सदा से अवध्या मानी जानेवाली अबला के ऊपर आप अपना अमोघ अस्त्र क्यो छोड रहे हैं? मैने तो आपका कोई अपराध किया नही?'

महाराज पृथु बोले—"अपराध तैने क्यो नही किया है, तू मेरी प्रजा को अन्न नही देती। मेरे साथ भी अशिष्ट व्यवहार करती है। मेरी प्रजा भूखो मर रही हैं।"

पृथिवी ने कहा—'अच्छा, मान लीजिये, मैंने अपराध भी किया हो तो अपराधिनी स्त्री को भी धर्मात्मा पुरुष नही मारते। स्त्रियो पर शस्त्र चलाना सर्वथा निषेध है।"

महाराज पृथु ने कडककर कहा—"नही, ऐसी बात नही है, तू मुझे धर्म सिखाती है। धर्म गति अत्यत सूक्ष्म है। किस काम के करने से धर्म होता है, किसके करने से अधर्म होता है, इन बातो को सब नही जानते। जो अधम पुरुष अपने मुँह अपनी ही प्रशसा करने वाला हो, जो सभी प्राणियो को दुःख देने वाला हो, जिसके कारण सभी को उद्वेग होता हो ऐसा

प्राणी चाहे स्त्री हो या पुरुष उसे मार देने पर राजा को दोष नहीं लगता, उलटा उसे महापुण्य ही प्राप्त होता है। सृष्टि के आदि मे ब्रह्माजी के बनाये हुए बीजो को तैने अपने गर्भ मे छिपा लिया है, इसलिये मे तुझे मारकर उन सब को निकलवा लूँगा।"

पृथिवी ने विनीत भाव से कहा—"महाराज, आप तो रोष मैं भर रहे हैं। आप स्वय ही सोचिये। मुझे यदि आप मार डालेंगे, तो अपनी इतनी प्रजा को आप रखेंगे कहाँ ? जीवो का आधार तो मैं ही पृथिवी हूँ, मुझे मार कर क्या सब को आश्रय-हीन बना देगे।"

गरज कर महारज पृथु ने कहा—"तू कैसी बाते कर रही है है, तुझे मेरी सामर्थ्य का बल, वीर्य, पराक्रम और योग, ऐश्वर्य का पता नही। मैं अपने योगबल से समस्त प्रजा को स्वय ही धारण करूँगा।

पृथिवी ने दीनता के स्वर मे कहा—"प्रभो ! मुझे आपकी शक्ति का पता है, आप सर्वेश्वर हैं, सर्वसमर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं, किन्तु मेरी मर्यादा भी तो आप ही ने स्थापित की है।

क्रोधपूर्वक महाराज पृथु ने कहा—"मैंने क्या यही मर्यादा स्थापित की है कि यज्ञ के भागो को तो तू गट्ट-गट्ट गटक जाय और अन्न देने के समय ऊसर बन जाय। आज मैं तिलतिल के बराबर तेरे टुकडे कर दूँगा। फिर से तुझे मेदिनी बना दूँगा

मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! भगवान् पृथु को क्रुद्ध देखकर पृथिवी ने बडे ही दीनता-भरे शब्दो मे उनकी स्तुति की पृथिवी की स्तुति सुन कर भी महाराज का क्रोध शान्त नही हुआ। उनके निश्चय मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हुआ तब तो पृथिवी अत्यत ही भयभीत हुई। उसने अपने मन को स्थिर किया। और अत्यत ही दीनता के साथ कहने लगी—राजन्,

छिपा लिया। आप लोग धर्मात्मा जब मेरी रक्षा करने मे उदासीन हो गये, तो उन अधर्मियों को अपने अन्न से पुष्ट करती तो यज्ञयाग सभी बन्द हो जाते। अतः यज्ञ रक्षार्थ ही मैंने अन्नो को छिपा रक्खा है। अब अधिक काल होने से वे मेरे पेट मे पच गये। अब किसी युक्ति से उन्हें आप निकाल लें। मेरा दोहन करलें।"

महाराज पृथु ने कहा—"तुम्हारा दोहन किस प्रकार होगा, उस युक्ति को भी तुम मुझे बता दो।"

पृथिवी बोली—"देखिये महाराज, मैंने गौ का रूप धारण कर लिया है। गौ को दुहने के लिए तीन वस्तुएँ चाहियें। एक तो दुहने वाला, एक दोहन का पात्र और एक गौ का बछड़ा। बछड़ा को देखकर गौ उसके प्रेम से दूध उतरती है। बछडे के बिना जो बलपूर्वक विविध कृत्रिम उपायों से गौ का दूध निकालते हैं, उससे अन्तःकरण में सद्गुणों का विकाश नही होता; कारण उसमे दुग्धपने का गुण नही होता। अतः राजन्! पहिले आप किसी श्रेष्ठ प्राणी को मेरा बछड़ा बनालें। मेरा नाम कामधेनु है, जैसा बछडा होगा, उसके अनुरूप ही मैं वैसा अन्न उसके लिए उत्पन्न कर दूँगी। बछड़े के अनुरूप ही मेरा दुग्ध परिवर्तित होता रहेगा।"

पृथुजी ने पूछा—"दोहने वाला, दोहन पात्र और बछड़े के अतिरिक्त और तो कुछ न करना होगा?"

पृथिवी ने कहा—"हाँ, एक काम और भी करना है, उसे आप ही कर सकते हैं। आप देख रहे हैं कि मैं ऊबड़ खाबड़ हूँ, सब स्थानों में मेरे ऊपर पहाड़ हैं, पानी बरसता है, तो बहकर नदियों में चला जाता है, मेरे ऊपर टिकता नही। सर्वत्र विषम बनी हुई हूँ। आप इन सब पहाड़ों टीलों को उखाड़कर एक स्थान मे रखिये। मुझे बराबर बनवाइये मेरे ऊपर खेतों की

शब्द (कविता संग्रह : 1980)
उस जगह का कवि हूँ (कविता संग्रह : 1981)
सरगम (कविता संग्रह : 1984)
50, गोरखपुर, शास्त्री विश्वविद्यालय, सागर—470003

मेड बनवाइये, खेती का प्रबन्ध कीजिये, ताकि क्यारियाँ बनने से जल ठहर सके। ऐसा होने से मैं यथेष्ट अन्न उत्पन्न करूँगी। इन ककड पत्थरो को मेरी मिट्टी से पृथक् करके मुझे कोमल मृत्तिका मयी बनवादे। गङ्गा यमुना के बीच मे अपने परम पुण्यप्रद प्रदेश मे तो मुझे समान करदे। कही भी पर्वत टीला न रहे। फिर आप देखें मैं कितना अन्न देती हूँ।"

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! पृथिवी की वह बात महाराज पृथु ने मान ली और वे पृथिवी को दुहने का उपक्रम करने लगे।

छप्पय

धरनी धरि के धीर, वीर ते बोली बानी।
मोइ न मारे नाथ! आप ज्ञानी विज्ञानी॥
गऊ तिहारी बनी सबनि ते दूध दुहाओ।
दुहनी दोग्धा लाइ वीरवर वत्स बनाओ॥
युक्ति सहित यदि दुहिगे, तो इच्छित फल देउँगी।
प्रकट सबहि औषधि करूँ, दुहिता बनि यश लेउँगी॥

राजा पृथु के प्रभाव से पृथिवी दोहन

(२६३)

इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः ।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ।
तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः ।
ततोऽन्ये च यथाकामं दुदुहुः पृथु भाविताम् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १८ अ० १२, १३ श्लोक)

छप्पय

सुनि वसुधा के वैन वेन-सुत दुहिवे लागे ।
मनुकूं कीयो वत्स, पात्रकर कीयो आगे ॥
सुर-गुरु दोही इन्द्र वत्स करि कनक पात्र महँ ।
अमृत रूप जो दुग्ध, ओज बल वीर्य गात्र महँ ॥
असुर दैत्य प्रह्लाद कूं, बछरा गौ के करि लये ।
लोह पात्र महँ सुरा अरु, आसव दुहि के भगि गये ॥

वस्तुएँ सब एक सी हैं, इनमे भेद नही, विषमता नही, दुख नही, सुख नही । योग के भेद से, कर्ता के भेद से, पात्र के भेद से

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार पृथिवी के द्वारा कहे हितकारी और प्रिय वचनों को मानकर महाराज पृथु ने अपने पूर्वज स्वयंभुवमनु को वत्स बनाकर अपने हस्त रूपी पुनीत पात्र में जितने प्रकार की औषधियाँ थी सभी को दुह लिया । इसीलिये पृथु के दुह लेने

वस्तुओ मे भेद भाव स्थापित कर लिया जाता है। योग का भेद इस प्रकार है, कि अगूर है, जौ हैं, गुण है, ये सब सुन्दर है सात्विक है, किन्तु इन्हे ही सडा कर युक्ति से सुरा बनाते हैं तो यह तामस और मादक अशुचि वस्तु बन जाती है। कर्ता के भेद से इस प्रकार होता है कोई धातु है शुद्ध सात्विक कर्ता उसकी भगवान् की मनोहर मूर्ति बनाता है, उसका पूजन करके परम-पद को प्राप्त करता है। दूसरा हिंसक कर्ता उसके अस्त्र शस्त्र बनाता है, खड्ग बाण आदि बना के निरपराध प्राणियो की हिंसा करता है नरक का अधिकारी बनता है। कर्ता जैसा योग करेगा वैसा ही वस्तु बन जायगी। सखिया है। कर्ता चाहे तो उसके प्रयोग से दूसरो के प्राण ले सकता है और उसी को शोध कर फूक कर औषधि बना कर मरते हुओ को जिला सकता है। पात्रभेद से भी वस्तुओ मे भेद हो जाता है। दूध, दही अमृत माने गये हैं। किन्तु इन्हे ही ताँबे के पात्र मे रख दो तो विष बन जाते है। वर्षा का जल है। नदी मे पडने से मिष्ठ और पेय होता है, वही समुद्र मे पडने से खारा और अपेय हो जाता है। वस्तुओ का अच्छी बुरी बनाने वाला कर्ता की भावना ही है। भाव ही भाव का कारण है।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! जब पृथिवी रूपी गौ सौम्य बन गई और उसने अपने आपको दुहने की सम्मति दी तो सबके स्वामी महाराज पृथु ने समस्त प्राणियो के कल्याण के निमित्त सभी का आहार पृथिवी से दुहा। जिसकी जैसी

के अनन्तर और जितने भी जीव थे सभी ने अपनी अपनी भावना के अनुसार पृथु के द्वारा वश म की हुई पृथिवी को दुह लिया। महाराज के समान जितने बुधजन सब स्थानो से सार को ग्रहण कर लेते हैं।"

प्रकृति थी, जिसे जो वस्तु रुचिकर थी, उसने वही वस्तु अपने पात्र अनुरूप बछरा बनाकर दुह ली।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज, गौ तो एक ही है फिर उसके दूध मे भेद भाव कैसे हो गये ?"

यह सुनकर मैत्रेयजी हँस पडे और बोले—"विदुरजी आप नित्य देखते हैं, फिर भी ऐसा प्रश्न करते है। एक ही स्त्री है उसे पति, पिता, पुत्र, भाई सब भिन्न भिन्न भावनाओ से देखते, हैं। बच्चा जिन मातृ स्तनो से स्नेहमय दुग्ध प्राप्त करते हैं, उन्ही से पति किसी भिन्न वस्तु का रसास्वादन करता है। एक ही पृथिवी है, उसमे आम बो दीजिये, मीठा फल लगेगा, नीम, आक, धतूरा बो दीजिये कडवे फल लगेंगे। जो जैसा होता है, वह अपनी भावना के अनुसार वैसा ही वायुमण्डल पैदा कर लेता है और वैसी ही वस्तुओ का सृजन करता है। कर्ता योग और पात्र भेद से ही वस्तुओ मे भेद होता है। गौ रूपी पृथिवी तो एक ही थी किन्तु जैसा दुहने वाला हुआ, जैसा उसका पात्र हुआ जैसे बछडे ने गौ को पुहनाया वैसा ही दूध उसके पात्र मे आ गया।

प्रसन्न होकर विदुरजी बोले—"महाराज ! समझ गया मैं। गुरुओ के बिना ऐसी बातो का रहस्य दूसरा कौन समझा सकता है। अब कृपा करके मुझे यह बताइये, कि किस किसने, किसे किसे बछरा बनाकर किस किस पात्र मे, कैसा कैसा दूध दुहा। यही सुनने की मेरी बडी इच्छा है।"

यह सुनकर भगवान् मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! सुनिये अब मैं आपको सब बातें बताता हूँ। मनुष्य ही इस पृथिवी को अपने बाहुबल से वश मे कर सकते हैं। अत महाराज पृथु ने गौ रूपी पृथिवी को अपने वश मे किया। मनुष्य का मुख

पात्र उनका हाथ ही है, अत महाराज पृथु ने अपने हाथ रूपी पात्र मे अपने पूर्वज मनु को बछरा बना कर औषधि रूप दूध दुहा। जो मनुष्य अपने पूर्वजो के पथ का अनुसरण करते हुए बाहुबल से पुरुषार्थ करते हैं उन्हे वसुधा रूपी गौ सभी सम्पत्ति देती है, उन्हे रोटी लँगोटी का कभी घाटा नही रहता। अत. पृथु महाराज ने गेहूँ जौ चावल आदि जितने अन्न है सब को दुहा मनुष्य के प्रतिनिधि पृथु महाराज जब उसे दुह चुके तो फिर देवताओ की बारी आई। देवताओ के गुरु बृहस्पति जी ने इन्द्र को बछरा बना कर सुवर्ण के पात्र मे वीर्य ओज और बल रूपी अमृत को दुहा। देवता जब तक गुरु के आश्रय मे रहकर इन्द्र की भुजाओ से पालित होंगे तब तक उनमे मनोबल, इन्द्रियबल और शारीरिक बल रहेगा। जब वे अपने पथ को त्याग देगे तो निर्बल हो जाँयगे।

दैत्य दानवो ने अपने पूर्वज प्रह्लाद को वत्स बनाकर लोहे के पात्र मे सुरा और आसव रूपी अन्न दुहा। असुरो का अमुख्य आहार आसव ही है।

गन्धर्व और अप्सराओ का मुख्य आहार है सगीत। नाचना, गाना और बजाना इन तीनो को मिला कर ही सगीत होता है। अत इन लोगो ने गन्धर्वों मे मुख्य विश्वावसु को बछरा बना कर कमल-रूप पात्र मे सगीत की मधुरता और सुन्दरता रूप दूध को दुह लिया। पितरो ने अपना बछरा अर्यमा नामक पितर को बनाया। उन्होने कच्चे मिट्टी के पात्र मे पितरो को दिया जाने वाला कव्यरूप श्राद्धान्न नामक दूध दुहा।

जितने सिद्ध थे विद्याधर थे, उन्होने अपने वग मे मुख्य जो भगवान् कपिल देव थे, उन्हे बछरा बनाकर आकाश रूपी पात्र म अष्टसिद्धियो तथा अन्तर्धानादि विद्याओ को दुहा।

मायावी असुरो ने मय नामक अपने प्रधान मायावी असुरो को बछरा बनाकर माया से विचित्र विचित्र रूप बनाना आदि विद्याओ को गोरूपी पृथिवी से दुहा।

जितने रुधिर पीने वाले यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, वेताल आदि हैं उन्होने रुद्र को बछरा बनाकर कपाल के पात्र मे रुधिर रूपी दूध दुह लिया। जितने विषैले जन्तु थे फन वाले सर्प, बिना फन वाले, बिच्छु, ततैया, नाग आदि उन्होने तक्षक नाग को बछडा बना कर बिल रूप पात्र मे विष रूप दूध को दुह लिया।

पशुओ ने सोचा भैया, हम किसे बछड़ा बनावे। तब उन्होने कहा—"अरे, औरो ने तो कल्पित झूठा ही बछडा बनाया है, हमारे तो साक्षात् कामधेनु के सुत नदीश्वर वृषभ ही उपस्थित हैं अत· उन्होने उनको ही बछडा बनाकर अरण्य रूप पात्र मे घास पत्ता रूप दूध को दुह लिया। हिंसक जन्तुओ ने सोचा—"हम लोगो का काम तो घास पत्तो से चलने का नही। इसलिये चार पैर वाले जानवर होने पर भी हम अपना पृथक् वर्ग बनायेगे। हम इस घास फूस रूपी अन्न को नही स्वीकार करेंगे। अत. उन सबने सिंह को बछडा बनाकर अपने शरीर को ही पात्र बनाकर कच्चा मास रूप दूध दुह लिया। पकाने का झंझट कौन करे। मारा और खाया।

पाख वाले पक्षियो ने गरुडजी को बछडा बनाकर चर अचर दो प्रकार का दूध दुहा। चर तो कीट पतङ्ग जीव जन्तु अचर फल मूल आदि यही पक्षियो का आहार है। वृक्षो ने वट के वृक्ष को वत्स बनाकर अपनी जड़ रूप पात्र मे रस रूप दूध दुह लिया। पर्वतो ने हिमालय को बछडा बनाकर अपने शिखर रूप पात्र मे भाँति-भाँति की धातुओ को दुह लिया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! अब हम आपको कहाँ तक गिनावें। यो समझ लीजिये कि जितने भी प्रकार के जन्तु हो सकते हैं, सभी अपने अपने प्रधान को बछड़ा बना कर अपने स्वभावानुकूल पात्र में अपनी प्रकृति के अनुरूप दूध दुह लिया जो जिसका आहार था, वह सभी पात्र और वत्स भेद से उन्हे मिल गया।

जब सब लोग दुह चुके, सभी को अपनी इच्छानुसार दूध मिल गया, तब गो-रूपी धेनु ने कहा—"और किसी को तो कुछ नही चाहिये ? इतने मे ही एक लालची मनुष्य बोल उठा-'और भी आप जो दे दे।" हँसकर धरणी ने कहा—"लालची को चाहे जितना मिल जाय, उसका कभी पेट न भरेगा। वह सदा भूखा ही बना रहेगा। सबकी तृप्ति मैं कर सकती हूँ, किन्तु लालची की तृप्ति करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है।"

इस प्रकार जब पृथिवी ने सभी को यथोचित आहार दे दिया, तो महाराज पृथु पृथिवी पर परम सन्तुष्ट हुए। उन्होने कहा—"वसुधे ! तैने मेरे यश का उसी प्रकार विस्तार किया, जिस प्रकार गुणवती कुलवती सुशीला धर्मपरायण कन्या श्वशुर गृह मे जाकर अपने मातृकुल की कीर्ति फैलाती है। इसलिये आज से तू मेरी पुत्री हुई।" बात को सुनकर पृथिवी अत्यत सन्तुष्ट हुई और तुरन्त अन्तर्धान हो गई।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! तभी से पृथु की पुत्री होने के कारण भूमि का पृथ्वी नाम पड़ा। यह मैंने

संक्षेप में आप से पृथ्वी दोहन की कमनीय कथा कही। अब बताइये आप क्या सुनना चाहते हैं ?"

छप्पय

विश्वावसु करि वत्स दुह्यो संगीत अप्सरनि।
कपिलवत्स नभ पात्र सिद्धि लीन्ही दुहि सिद्धनि॥
करे रुद्र वर वत्स भूत प्रेतादिक गणने।
लै कपाल ई पात्र दुह्यो रुधिरासवसवने॥
पात्र वत्स के भेद तें, दुग्ध सबनि अभिमत लयो।
तब पृथु ने पुत्री करी, पृथ्वी नाम तबहिं भयो॥

—※—

महाराज पृथु द्वारा पृथ्वी का संस्कार

(२६४)

चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट् ।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे सम विभुः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १८ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

ऊबड खावड भूमि परी कहुँ पर्वत भारी ।
ऊँची नीची कहूँ, कहूँ जगल कहुँ झारी ॥
लेके पृथु ने धनुष करी चौरस सब वसुधा ।
गिरि उत्तर दिशि चुने करी खेती की सुविधा ॥
भूमि समान करि नृपति, हु पुर पत्तन रचे तब ।
पहिले हते न नगर पुर, इत उत तरुतर बसे सब ॥

आवश्यकता आविष्कारकी जननी है और आवश्यकता उत्पन्न होना ही पतन है । जिसकी जितनी ही बढी हुई आवश्यकतायें हैं, वह उतना ही अशान्त है, उतना ही दुखी है, किन्तु शरीर के साथ आवश्यकताय लगी हुई है । शरीर प्राप्त भागो से ही

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! अपने धनुष के अग्रभाग से राजराट भगवान् पृथु न पृथिवी पर इधर उधर बिना नियम के पडे हुए पर्वतो को तोड फोड कर इस भूमडल को प्राय समतल बना दिया ।

तो बनता है। शरीर मिला है तो भोग भोगने ही पड़ेंगे। भोग भोगने को उपकरण साधन भोग सामग्री भी चाहिये इसलिये जीव प्रारब्धवश भोग सामग्रियों को जुटाता है और फिर उन्ही मे फँस जाता है। उन्हे सत्य मानकर उसमे ममता स्थापित करके अपने बन्धन को और दृढ करता है। काश्मीर की ओर एक रेशम का कीडा होता है। वह अपने मुख से रेशम निकालता जाता है और उसे अपने चारो ओर लपेटता जाता है। लपेटते-लपेटते वह भी उसके भीतर बन्द हो जाता है, निकल नहीं सकता। जब वह सब रेशम निकाल कर उसमे जकड़ जाता है, तो कीड़े पालने वाले उस गोल पिंडी सी को तोड लाते हैं, पानी मे उबालते है। कीड़ा मर जाता है, रेशम के सूत को वे लोग निकाल लेते है। इसी प्रकार यह जीव, यह मेरा घर, यह मेरा परिवार, ये मेरे पशु, यह मेरा धन, ऐसे मेरा मेरा करके ममत्व बढाता है, संसार बन्धन को दृढ करता है। ये मिट्टी के बने पदार्थ न मेरे, न तेरे, ये सब बनाने वाले के हैं। कोई बड़ी उद्योगशाला है, शाला के स्वामी ने सेवकों के ठहरने को बहुत से भवन बना रखे है। सेवक इनमे रहे हमारा काम करें। सेवक उनमे रहते हैं, परस्पर में झगड़ते हैं, यह मेरा आँगन है, यहाँ तुम कैसे रह सकते हो, लड़ाई झगड़ा करते हैं। जहाँ कार्य बंद हुआ, स्वामी सबको निकाल बाहर करता है, न मेरा रहा न तेरा। साराश यह है, कि वस्तुओं का जुटाना, बढाना, भोग सामग्रियो मे परिवर्तन करना यह उन्नति नही। यह तो विवशता है अवनति है। तमोगुण प्रधान लोग अधर्म को ही धर्म मानते हैं, अवनति को ही उन्नति के नाम से पुकारते हैं, पतन को ही उत्थान बताते हैं। इसी का नाम अविद्या है।

जब पृथ्वी दोहन की कथा सुन चुके तब विदुरजी ने पूछा

—"भगवन् ! यह पृथ्वी दोहन की बात हमारी समझ मे कुछ आई नही। पृथ्वी दोहन के मानी क्या ? इस पर हँसकर मैत्रेय मुनि बोले—'अजी, विदुरजी ! कैसी बात कर रहे हो, इस मे न समझ मे आने वाली बात कौन सी है। इस रूपक का सरल अर्थ यह है कि महाराज पृथु ने पृथिवी को इतनी सरल सीधी गौ की भाँति बना दिया, कि सभी को इससे अपना अपना आहार मिलने लगा। कोई आदमी बहुत सीधे सादे सरल होते है, तो कह देते है कि नही, ये तो भाई, गौ है। सीधे सरल उदार पुरुषो से ही सबकी वृत्ति चलती है, जो कृपण हैं, अनुदार हैं वे तो जो आया धरि गुल्लक मे ही करते रहते हैं। उन्हे दूसरो के आहार की चिंता नही। अपनी थाती बढे। महाराज पृथु तो उदारमना थे, अत उन्होने सबको आहार पहुँचाया। जैसे पिता पुत्री पैदा करके उसे पालता पोषता है। जब बडी हो जाती है, तो वस्त्राभूषणो से अलकृत करके यथाशक्ति द्रव्य के सहित उसे सत्पात्र को दान कर देता है। उसका यह कार्य पर उपकार के लिये है। दूसरे के घर को बसाने के लिये, दूसरे के वश की वृद्धि के लिये वह कन्या को पालता है। इसी प्रकार महाराज पृथु ने उसे अपने वश मे करके सबके लिये दुहा। सबकी आजीविका का प्रबध किया। इसीलिये पृथिवी उनकी पुत्री कहलाई। उनके नाम को बढाने वाली हुई।"

विदुरजी ने कहा—"हाँ, महाराजजी ! ठीक है, अब समझ मे बात आ गई। हाँ तो फिर महाराज पृथु ने अपनी पुत्री पृथिवी का कैसे पालन किया।"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! महाराज पृथु से पूर्व यह पृथिवी बडी ऊबड खाबड थी। कही एक सी समतल भूमि नही थी। कही पहाड है, कही ऊँचा है, कही नीचा है।

कही गड्ढा है कही खाई है, कही टीले है, कही घना वन है, कही चारो ओर गहन झाडियाँ लगी हैं। प्रतापवान महाराज पृथु ने अपना धनुष उठाया। धनुष पर बाण चढाकर पहाडो को तोड फोड डाला। सोचा, इस पृथिवी को सुन्दर समतल बना देना चाहिये। इसलिये जितने पहाड थे, सबको उठाकर उन्होने उत्तर दिशा मे रख दिया। शिवजी से कह दिया—महाराज! आप बहुत ऊबड खाबड वस्तुओ को चाहते हो। आप औघढदानी ही ठहरे। आक धतूरे को आप चबा जाते हो, इसलिये इस ऊबड खाबड भूमि मे आप ही निवास करो।" शिवजी ने कहा—"अच्छा भैया! जो किसी के काम की वस्तु न हो वह हमारे काम की। देवताओ ने अमृत निकाला तो हमे बुलाया भी नही, जहर हमारे मत्थे मढ दिया। अच्छी बात है, तुम एक द्वार बना दो। उसके नीचे सम भूमि। उसके ऊपर विषम भूमि रहे। जहाँ ऋषि, मुनि, जगली, कोल भील, शक, हूण ये ही सब लोग रहे?"

महाराज पृथु ने शिवजी के नाम से ही एक द्वार बना दिया जिसे "हरद्वार" कहते है। हरद्वार से ऊपर पहाड रहे। नीचे नीचे समतल भूमि वाला देश रहा। इस प्रकार सभी पहाडो को तोड फोड कर उन्होने भूमि को उपजाऊ बना दिया। जहाँ जहाँ उनका रथ गया, वहाँ वहाँ तो भूमि सम हो गई, किन्तु जहाँ भूल से कुछ छूट गया या जहाँ किसी मुख्य देवता का मदिर तीर्थ देखा उसे महाराज पृथु ने छोड दिया। इस प्रकार प्राय सम्पूर्ण पृथिवी को ही उन्होने एक सी कर दिया?"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज! प्राय क्यो लगाते हैं। कही कही उन्होने ऊबड खाबड पृथिवी को क्या छोड दिया?

महाराज पृथु तो सर्वज्ञ थे। उनसे भूल तो हो नही सकती। फिर सब भूमि को एक सी क्यो नही किया ?"

इस पर हँसकर मैत्रेयजी बोले—"अब, विदुरजी ! कुछ बानगी के लिये भी तो छोडना चाहिये,जिससे लोग अनुमान कर सकें कि पहिले ऐसी पृथिवी थी। दक्षिण मे ऐसी मिलती है। कुछ अपने स्थान को सभी मे ममत्व होता है। महाराज पृथु की राजधानी गगा यमुना के मध्य मे ब्रह्मावत प्रदेश मे थी, इसलिए इस भूमि को उन्होने इतनी सुन्दर समतल बना दी कि इस मे हरिद्वार के नीचे कही न पहाड, न टीला, न ऊबड, न खाबड। सुन्दर चौरस भूमि है। इतनी सुन्दर उपजाऊ, उर्वरा भूमि ससार मे कही भी नही है। फिर भी आपको पृथु महाराज के पूर्व की भूमि देखनी हो, तो जहाँ चर्मण्वती नदी (चबल) का थी यमुना जी से सगम हुआ है। (इटावे से आगे) वहाँ की भूमि को आप देखेंगे। वहाँ १०।१५ योजन तक वैसी ही ऊबड खाबड भूमि अब तक पडी है। उसमे ग्राम नही, नगर नही, खेती बारी नही। कही कही ग्रामीणो ने खोदखाद कर पहाडो की भाँति छोटे छोटे खेत बना लिये हैं। प्रतीत होता है पृथु महाराज का रथ वहाँ तक पहुँचा नही था। श्री बदरीनाथजी से कैलाश तक पहाडो के पश्चात् समतल भूमि तो बहुत है, किन्तु उसमे खेती बारी कुछ नही होती। पेड भी नही, मरु भूमि की भाँति पडा रहती है। ऐसे ही और भी स्थान है, उन्हे महाराज ने बानगी के लिए छोड दिया।

अब जब भूमि सम हो गई तब तो लोगो ने पत्थरो को इकटठा करके घर बनाने आरम्भ कर दिये। जहाँ पत्थर नही रहे वहाँ मिट्टी के ईटे बनाकर उन्हे अग्नि मे पकाकर उसी के घर बनाने लगे। जहाँ ये भी सुविधाएँ नही थी वहाँ मिट्टी मे

पानी मिलाकर उसी के कच्चे घर बनाने लगे, उन्हे पेड पत्तो से पाटने लगे । बहुत से घास फूस के छप्पर बनाकर उन्ही मे निर्वाह करने लगे। इस प्रकार खेट, खर्वट, ग्राम, पुर, नगर, किले कोल भीलो के आवास बनने लगे। कुछ लोग १०। २० गाँव के शासक बनकर अपनी रक्षा के लिए छोटे छोटे किले बनाने लगे। सेना रखने लगे । पर्वतो से सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा आदि धातुओ को निकालने लगे। बाजार बनने लगे क्रय विक्रय आरम्भ हुए। महाराज पृथु से पहिले पृथिवी पर पुर, ग्रामादिको की कल्पना नही थी। लोग जहाँ तहाँ पहाडोकी खोहो मे वृक्षो के नीचे निवास करते थे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी, यह आपने क्या कहा महाराज पृथु से पहिले सब असभ्य ही लोग पृथिवी पर बसते थे ? वे सब पिछडे हुए अवनत जगली ही आदमी थे ? यह जो सब उन्नति हुई है, सब महाराज पृथु के ही पश्चात् हुई है ?

यह सुनकर सूतजी हँस पडे और बोले—"महाराज ! आप पहिले सभ्य असभ्य की व्याख्या कर दे। उन्नति अवनति किसे कहते है यह बतादें तो मैं फिर आपकी बातो का उत्तर दूँ ?"

शौनकजी बोले—"सूतजी, यह तो मेरी सी बात है, सभ्य वही जो अच्छे सुन्दर बढिया बढिया कपडे पहिने, भाँति भाँति के स्वदिष्ट पदार्थों को नित्य अनक बार खाय। जिसके टहलने बैठन का समय हो। बहुतसी पुस्तको को पढे ससार भर के समाचारो को जाने सब विषयो की जानकारी रखे वही सभ्य है इसके जा विपरीत हो। कम कपडा पहिने, साधारण मकानो मे वृक्षो के नीचे निर्वाह करे, कम से कम वस्तुओ का सग्राह करे

वही असभ्य। इसी प्रकार नित्य नई वस्तुओं का आविष्कार होते रहना सभ्यता है और पुरानी चाल ढाल रहन सहन को अपनाना ही असभ्यता है।"

यह सुनकर सूतजी खिलखिला कर हँस पडे और बोले--"महाराजजी, मालूम होता है आप कलियुगी सभ्य लोगो का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। महाभाग! सभ्यता असभ्यता उन्नति अवनति का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओ से नही है मन से है। यही नही, आपने जिसे सभ्यता बताया है, वास्तव मे वही असभ्यता है, जिसे आपने उन्नति बताई है, वास्तव मे वही अवनति है। ज्यो ज्यो मनुष्-ो को स्वाभाविक सिद्धियाँ कम होती जाती है त्यो ही त्यो भौतिक वस्तुओ का आश्रय लेता जाता है, अपने को अधिकाधिक कर्त्ता मानता जाता है। जो जितना ही भौतिक वस्तुओ के आश्रित होगा वह उतना ही असभ्य समझा जायगा।"

शौनकजी ने पूछा-"वह कैसे ? इसे विस्तार से समझाइये।"

सूतजी बोले—'देखिये, प्राचीन काल मे आदि सतयुग मे सभी को स्वाभाविक सिद्धियाँ प्राप्त थी। भूख लगी, वृक्षो से फल तोड लिए, खा लिए, उस समय न कोई वस्तु अपनी थी, न पराई। न किसी को सरदी सताती थी, न गर्मी दुख देती थी। सब स्वच्छन्द होकर जहाँ चाहते विचरते, जहाँ चाहते सो जाते। सभी अपना ही था। जब शनै शनै. समय के प्रभाव से वह शक्ति नष्ट होने लगी, तो लोगो को अपने योगक्षेम की चिन्ता होने लगी। कुछ वृक्षो की परिधि बाँध ली उनमे अपनापन किया, पानी देने लगे, उसके फल बढाने का उद्योग करने लगे। फलो से काम न चला तो औषधियो की खोज करने लगे। जब समय पर कभी न मिली, तो उनके बीज रखने लगे। फिर

उन्हे खेतो मे बोने लगे कृषि करने लगे। यह उन्नति नही अवनति हुई।

पहिले कोई वस्त्र नही पहनते थे, आवश्यकता ही नही थी, सरदी गरमी सहने की स्वाभाविक शक्ति थी। वह शक्ति समय की गति से नष्ट होने लगी। लोग सरदी गरमी सहन करने मे समर्थ न हुए। वृक्षो के वल्कल उतार कर पहिनने लगे। उनसे भी काम न चला तो कपास का पेड देखकर उसके बीज बोने लगे। रुई निकाल कर उसके वस्त्र बनाने लगे। एक ऊपर का एक नीचे का सब दो वस्त्र पहिनते थे। धीरे धीरे इतन से भी काम न चला, फिर तो क्रमश भाँति २ के वस्त्र बनने लगे। ये भाँति २ के वस्त्रो का आविष्कार उन्नति नही अवनति है।

पहिले नदियो मे से जहाँ से चाहते थे लोग पानी पी लेते थे। कुछ लोग नदियो से दूर रहने लगे। बराबर वहाँ जाने मे आलस्य करने लगे। पास मे ही कुआ बनाने लगे। मिट्टी के घडे बनाकर उसे पकाने लगे, उसमे पानी रखने लगे, वे जब फूट जाते तब अन्य धातुओ के घडे बनाने लगे। इतने से भी कार्य न चला तो लोहे की नलिका लगाकर घर-घर मे जल-वाहक स्रोत लगाने लगे। एक स्थान पर जल-सग्रह करके यन्त्रो द्वारा घर घर पहुँचाने का प्रयत्न किया। यह उन्नति नही अवनति है।

पहिले लोग जब चाहते स्वर्ग चले जाते, फिर जब चाहते पृथिवी पर लौट आते। शनैः शनैः देवताओ ने ईर्ष्यावश मनुष्यो की यह शक्ति नष्ट करदी। तब लोग मर कर ही स्वर्ग जाने लगे। स्वर्ग जाना तो बन्द हो गया, किन्तु जहाँ चाहते वायुवेग से पैदल चले जाते। ऋषियो! और युगो की बात तो छोड़ दीजिये। मैंने कलियुग मे अभी अपनी आँखो देखा था। ससप्तक देश

[बुलदशहर के आस पास] से इन्द्रप्रस्थ लगभग ३०, ३५ कोश है। एक व्यापारी नित्य प्रति पैदल जाता था। अपनी वस्तुएँ बेचकर शाम को घर लौट आता था। जब लोग निर्बल हो गये, इतने दूर चलने मे असमर्थ हुए, तो घोडो पर, ऊँटो और हाथियो पर दौड कर जाने लगे। उन पर भी कष्ट प्रतीत हुआ तो रथ बनाये। विविध वाहन बनाये। फिर सजीव वाहनो से भी काम न चला तो निर्जीव वाष्प आदि की सहायता से बडे बडे वाहन बनाये गये। नित्य नूतन वाहनो का आविष्कार होना मनुष्य की उन्नति का द्योतक नही है, उसकी निर्बलता और पराधीनता का द्योतक है।

पहिले लोग सकल्प से समुद्रो को पार कर जाते थे। जब यह शक्ति नष्ट हो गई तो घडो की घरनी बाँधकर पार होने लगे, उससे भी काम न चला तो लकडी की नौकाये बनाने लगे। फिर लोहे के पोत बनाने लगे, वायु के अनुकूल होने से पाल के द्वारा चलने लगे। जब और भी जल्दी पडी तो वाष्प के यन्त्रो द्वारा दौडाये जाने लगे यह उन्नति नही अवनति है।

पहिले विवाह आदि की प्रथा नही थी। जो चाहे जिससे सन्तान उत्पन्न करा ले। जब आपस मे एक स्त्री पुरुष के पीछे लडाई झगडा होने लगा, तो लोगो ने नियम बना लिया, एक पुरुष की एक ही स्त्री हो, विवाह-प्रथा चालू हुई, फिर इसमे भी लोग ऊधम करने लगे। तब और कडे कडे नियम बने और भी विधान बने। फिर तो स्त्री पुरुषो मे भी झगडे आरभ हुए। स्त्रियाँ अपना अलग अस्तित्व जताने लगी। वे अर्धाङ्गिनी न होकर विवाह का सौदा करने लगी। ऐसा करो तो मैं तुम्हारी बहू, ऐसा न करो तो हमारी तुम्हारी कुट्टी। अब परित्याग विधान बनने लगे। स्त्री अपने पति का परित्याग

करके अन्य पतियों का वरण करने लगी। उससे भी न पटी तो तीसरे से सांठ गांठ जोड़ ली। उससे भी मनमुटाव हुआ तो न्यायालय में प्रार्थना-पत्र देकर किसी अन्य का द्वार खट खटाया। इस प्रकार अनेक पतियों की जूठन खाते फिरना, नित्य नये नये पतियों की चिन्ता करते रहना, यह उन्नति नहीं अवनति है। उत्थान नहीं पतन है। सभ्यता नहीं असभ्यता है।

पहिले वर्णाश्रम धर्म नहीं था, सब एक ही वर्ण के लोग थे। सभी हंस के सदृश निर्मल चित्त वाले थे। जब परस्पर में छोटा तू बड़ा, यह काम मेरा है, यह तू नहीं कर सकता, यह बात हुई तो वर्णों की कल्पना हुई। पहिले चार वर्ण बने, फिर उनके संयोग से संकरता होने पर अपवर्ण बने। फिर एक अन्तिम अन्त्यज वर्ण हुआ। ऐसे फिर अनेक वर्ण बने। सबकी वृत्ति निश्चित हुई। लोगों में झगड़ा हुआ। एक दूसरे पर आक्षेप करने लगे, इस प्रकार यह विषमता यहाँ तक फैली कि एक दूसरे को मारने पीटने दूसरे का धर्म नष्ट करने उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगे। यह कलह उन्नति नहीं अवनति है।

पहिले लोग स्वाभाविक शक्ति से जहाँ चाहे उड़ जाते थे। जब यह शक्ति नष्ट हुई, तो लोग देवताओं की आराधना से विमान प्राप्त करके उड़ने लगे। जब देवताओं को प्रसन्न करने में भी असमर्थ हुए, तो पारद आदि धातुओं को फूँककर उनसे विमान बनाने लगे। उसके फूँकने में भी असुविधा प्रतीत हुई तो वाष्प स्निग्धता आदि के संयोग से उड़न विमान बनाने लगे। इन विमानों का बाहुल्य उन्नति का चिह्न नहीं है घोर पतन का चिह्न है।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी, आप सबको पतन ही बता रहे हैं। आप यह नहीं सोचते कि इन आविष्कारों से

यात्रा कितनी सुगम हो गई है। कितना समय का बचाव हो गया है पहिले जो यात्रा वर्षों मे होती थी वह अब कुछ प्रहरों मे समाप्त हो जाती है। इसे आप अवनति क्यो कह रहे हैं ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज, समय तो निरवधि है, उसे तो न कोई कम कर सकता है न अधिक। देखना यह है कि इन उपायो से सद्वृत्तियो का विकास हुआ या सकोच। पहिले यात्राओ मे कितने अनुभव होते थे- कितनी शूरता वीरता आती थी, अपने प्रेमियो को रोज कितनी उत्कठा बढती थी। चिरकाल की प्रतीक्षा के पश्चात् मिलने से हृदय मे कितना आह्लादआनद होता था। अब वह कुछ नही। साधारण बाते हो गईं। लोगो के सद्गुणो का इन आविष्कारो से दिन दिन ह्रास हो रहा है। भगवान् का विश्वास कम होता जा रहा है, लो. शुष्क,हृदयहीन स्वार्थी, परपीड़क, इन्द्रिय-लोलुप होते जा रहे है।"

उस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यदि नगा रहना, बिना घर बार के घूमना, विवाह बन्धन न होना ये ही सब उन्नति के चिह्न है तब तो यह जगली सबसे अधिक उन्नत है।

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाभाग ! उन्नति का सम्बन्ध इन बाह्य वस्तुओ से नही है, यह मैं पहिले बता चुका हूँ ! घोर सत्व की और घोर तप की। घोर उन्नति की,और अवनति की, परमज्ञानी की, महामूर्ख की बाहर से देखने मे एक सी स्थिति होती है, किन्तु उसके अन्तस्थल मे बहुत भेद है कि एक ज्ञानी भी मूर्खों की भाँति रहता है जहाँ चाहे खाता पीता है और इच्छानुसार बर्ताव करता है, एक महामूर्ख भी ऐसा ही करता है दोनो की बाहर से एक सी दशा दीखने पर भी भीतर से भारी भेदभाव है। एक आत्मातृप्त है दूसरा अज्ञान से अशान्त है। कलियुगी लोग अवनति को ही उन्नति कहेगे। जब

तक हम जिस वस्तु को अच्छा न समझें तब तक उसमे प्रवृत्ति ही नही होगी। कलियुगी लोग विवाह बन्धन, धर्म कर्म, वर्णाश्रम व्यवस्था इन सब को ढोग कहेगे। ज्ञान से नही, अज्ञान से, कर्म से नही अधर्म से, सत्व गुण की पराकाष्ठा के कारण नही, तमो गुण के वशीभूत होकर ऐसा व्यवहार करेगे। उसे धर्म मान कर प्रचार करेंगे। वास्तव मे लोग जिसे उन्नति कहते हैं, वह हमारी निर्बलता का चिह्न है। आँखो मे शीशा चढाकर हम यह सिद्ध करना चाहते हैं, हम पढे लिखे है किन्तु यह पता नही कि आँखो पर शीशा चढाना दृष्टि की न्यूनता, ज्योति की क्षीणता ब्रह्मचर्य के अभाव का द्योतक है। हमारी शक्ति का ह्रास है।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, सूतजी! आपकी बात ठीक है, किन्तु यह बताइये। महाराज ध्रुव उत्तानपाद के भी तो महल थे, नगर थे, फिर आप यह कैसे कहते है, ग्राम नगर की प्रथा पृथु महाराज के ही राज्य से प्रचलित हुई।

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग! पहिले भी नगर किले आदि थे, किन्तु वे दिव्य होते थे, स्वर्गीय विमानो क सदृश विशिष्ट विशिष्ट व्यक्तिया के ही यहाँ होते थे। महाराज पृथु के राज्य से साधारण प्रजा के लोग भी घर, द्वार, उद्यान, भवन, नगर, ग्राम, बना कर रहन लगे। नियमानुसार नगर, समितियाँ बनी, स्वच्छता-रक्षा आदि के भा प्रबन्ध हुए। राजपथ सडके बनी नियमानुसार प्रान्त उपप्रान्त राजधानियाँ बनी। वतमान समय के जो विधान है उनका सूत्र-पात महाराज पृथु के ही समय स हुआ वह आदि सतयुग के पश्चात् का पहिला त्रेता युग था। लोगो का स्वाभाविक शक्ति नष्ट होने पर ये सब व्यवस्थायें आरभ हुई। अब जिस प्रकार महामुनि मैत्रेय ने भगवान् पृथु का आग का

चरित्र विदुरजी को सुनाया था, उसे मैं आप से कहूँगा। भगवान् के अशावतार पृथु के चरित्र को आप समाहित चित्त से श्रवण कर।"

छप्पय

रचे नगर अरु ग्राम भवन, गृह अटा अटारी।
वापी, कूप, तडाग राजपथ अति सुखकारी॥
नगरनि सीमा बनी पृथक सब प्रान्त बनाये।
मडलीक भूपाल सबनि के दुर्ग सुहाये॥
करी व्यवस्था सबहिं विधि, दु ख सबनि क मिट गय।
राज्य नियामक पति पृथु, आदि राज भू के भये॥

महाराज पृथु की यज्ञ दीक्षा

(२६५)

अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १९ अ० १ श्लो०)

छप्पय

वर्णाश्रम की मिटी व्यवस्था स्थापित कीन्ही।
ये सब करिके काज यज्ञशत दीक्षा लीन्ही॥
बहे सरस्वति जहाँ, पुण्यप्रद भूमि सुहावन।
गगा यमुना मध्य ब्रह्मऋषि सेवित पावन॥
मख पूजा त्रेता कही, अश्वमेध ताते करहिं।
कालक्षेप करि देहिं सिख, करहिं अनुकरण भवतरहिं॥

सभी युगो मे सर्वत्र, सब समय श्रीहरि ही पूजनीय वन्दनीय माने गये है, किन्तु देश, काल और पात्र भेद से पूजा के प्रकार मे कुछ अन्तर हो जाता है। कोई ऐसा देश है, जहाँ पूजा की बहुत सी सामग्रियाँ प्राप्त नही हो सकती, वहाँ यथा लब्धोपचारो द्वारा ही पूजा सम्पन्न की जा सकती है। पात्र के कारण भी

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! पृथिवी आदि की व्यवस्था करने के अनन्तर महाराज पृथु ने सौ अश्वमध यज्ञो के उस मनुक्षेत्र ब्रह्मावर्त म दीक्षा ली, जहाँ कि प्राची सरस्वती है।"

पूजा मे भेद हो जाता है। कोई निर्धन है, उसे अधिक सामग्री जुटाने की सामर्थ्य नही। वह यदि एक पत्र तुलसीदल, एक चुल्लू जल ही श्रीहरि को अर्पण करता है, तो सर्वान्तर्यामी प्रभु उसी से प्रसन्न हो जाते हैं। इसके विपरीत जो वैभवशाली है धन सम्पत्तिवाला है वह यदि वित्तशाठ्य के कारण कम धन व्यय करता है पूजा के पदार्थों को एकत्रित करने मे कुछ भी कजूसी करता है, ता उसकी वह पूजा भावहीन और दूषित समझी जाती है।

इसी प्रकार प्रत्येक युग की एक विशिष्ट पूजा पद्धति भी होती है। शतयुग मे ध्यान ही भगवत प्राप्ति का उनकी पूजा का प्रधान साधन माना जाता था। ध्यान के द्वारा हरि आराधना भगवत् स्मरण लोग करते थे। त्रेता युग मे यज्ञयाग ही हरि अर्चा के प्रधान साधन माने गये। द्वापर मे भगवान् यज्ञ पुरुष की परिचर्या पूजा, वैदिक तान्त्रिक मत्रो द्वारा उनकी आराधना की जाती थी। कलियुग मे केवल भगवन्नाम सकीर्तन ही सरल सुगम, सरस और सर्वोपयोगी सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस युग मे भगवन्नाम सकीर्तन के अतिरिक्त दूसरे साधन सरलता से सागोपाङ्ग होना अत्यत कठिन है। भगवन्नाम सकीर्तन मे कोई नियम नही मर्यादा नही सभी लोग, सभी समय, सर्वत्र विना भेदभाव के भगवन्नाम सकीर्तन द्वारा इस असार ससार को वात की वात मे तर सकते हैं। जो अपने युगो के अनुरूप साधन करते है उन्हे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब महाराज पृथु भूमि की सब व्यवस्था कर चुके, सर्वत्र, लोग, नगर, पुरग्राम वनाकर बसने लगे। ऊवड खावड भूमि सम हो जाने से उसमे खेत वनाकर लोग सरलता से कृषि करके अन्नादि उत्पन्न करके, तन्त्रयागादि धर्म कर्म

करने लगे, तब महाराज पृथु को बड़ा हर्ष हुआ। वे कृत कृत्य हो गये, उन्होने प्रजा की सभी असुविधाओ को दूर कर दिया भूमडल पर उनके समान कोई दूसरा राजा तो था ही नही जिसे जीतने या युद्ध करने की तैयारियाँ करते। सभी उनके अधीन थे। सात द्वीप नौखडो मे सर्वत्र उनकी आज्ञा मानी जाती थी। जब इन कामो से वे निवृत्त हो गये, तो यमुना के मध्य की अपनी परम पावन राजधानी मे उन्होने १०० अश्वमेध यज्ञो की एक साथ ही दीक्षा ली। गगा यमुना के मध्य की यज्ञीय भूमि सब से श्रेष्ठ समझी जाती है। समस्त ब्रह्मर्षि इसी अति पावन भूमि का सदा से आश्रय लेते रहे हैं, अतः इस देश को ब्रह्मर्षि देश भी कहते है। जहाँ प्राची सरस्वती गुप्त रूप से आकर गगा के सगम मे प्रयागराज मे मिली हैं, इसी गगा यमुना के सगम को त्रिवेणी सगम कहते हैं। ऐसा तो यज्ञ करने को उत्तम देश था, आदि त्रेता युग का सर्वश्रेष्ठ काल था, साक्षात् श्रीहरि के अशावतार महाराज पृथु उस यज्ञ के कर्तासत्पात्र यजमान थे। जहाँ देश, काल और पात्र तीनो ही श्रेष्ठ हो, वहाँ यज्ञ मे किसी प्रकार की त्रुटि रह ही नही सकती। अतः महाराज के यज्ञ बड़ी धूमधाम से होने लगे।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी !, महाराज पृथु तो भगवान् के अवतार ही थे। उन्हे किसी सासारिक वस्तु की कमी नहीं थी, स्वर्ग उनके लिये तुच्छ है, मुक्ति की उन्हे क्या इच्छा हो सकती है, वे तो स्वय ही मुक्त हैं, फिर उन्होने इतना आडम्बर क्यो किया। एक अश्वमेध यज्ञ मे ही कितनी सामग्रियाँ जुटानी पड़ती हैं। कितने बखेड़े करने पडते है, फिर आपके कथनानुसार महाराज ने तो १०० यज्ञो की एक साथ ही दीक्षा ली। इतना आयास क्यों किया। किस कामना से उनको इस

विधिबाहुल्य कार्य मे प्रवृत्ति हुई ?"

यह सुन कर सूतजी हँस पडे और फिर गभीर होकर बोले—"अच्छा महाराज ! आप ही बतावें वे यज्ञ न करते तो क्या करते ? उनकी आयु बहुत थी' चिरकाल तक उन्हे पृथिवी पर रहना था, अपना कालक्षेप कैसे करते। श्रेष्ठ पुरुष जो कार्य करते हैं, अन्य साधारण लोग उन्ही का अनुकरण किया करते हैं। बडे लोग जिस बात को प्रमाण मान लेत हैं अन्य लोग उन्ही का अनुवर्तन करते है। समय तो उन्हे बिताना ही था, वह समय यदि भगवत् चिन्तन मे, परमार्थ साधन मे बीते तो सर्वश्रेष्ठ है। आचार्य वही कहलाता है, जो शास्त्रो से आचरणीय उपदेश को चुनकर प्रकाशित करे और स्वय उनके अनुरूप आचरण भी करे। इसीलिये महाराज पृथु ने यज्ञो द्वारा उन अखिलात्मा श्रीहरि की उपासना करके अपने समय का सदुपयोग किया।

इस पर शौनकजी ने कहा—"यदि भगवान् की आराधना ही करनी थी, तो एकान्त मे जप तप करते, इतने आडम्बर की क्या आवश्यकता थी ?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! यह आप ठीक कहते है, जब तप से भी भगवान् की आराधना होती है और वह भी भगवान् पृथु ने की थी, किन्तु त्रेतायुग मे यज्ञयाग ही प्रधान साधन माने गये है। वह यज्ञबाहुल्य युग माना जाता है, अतः युगानुसार साधनो द्वारा जो अखिलेश की आराधना की जाती है वह श्रेष्ठ और अनुकरणीय मानी जाती है। रही बखेडे की बात, जिनके समीप सदा अष्ट सिद्धि, नव निधि हाथ बाँधे खडी रहती है, जो सामर्थ्यवान हैं, उन्हे बखेडा ही क्या ? उनके सकेत मात्र से सभी वस्तुएँ एकत्रित हो जाती हैं। रही यह बात कि इन महायज्ञो मे अश्व आदि की बलि दी जाती है, हिंसा

होती है। सो, शास्त्रीय विधिका तो पालन करना ही पडता है। सर्वथा हिंसा-रहित तो कोई कार्य ही नही। चलने मे हिंसा, बैठने मे हिंसा, झाड देने मे भोजन बनाने मे यहाँ तक साँस लेने तक मे हिंसा है। इस विषय मे शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र जो कहे वही विहित है, शास्त्र जिसकी निंदा करे वही निंदित कर्म है। अतः शास्त्र को प्रमाण मानकर उनके बताये उपायो द्वारा देश, काल और पात्र का बलाबल देखकर सदा सर्वदा हरिस्मरण मे ही समय को बिताना यही समय का सदुपयोग कहलाता है। इसी को शास्त्रीय कालक्षेप कहते है। महाराज पृथु इसीलिये निरन्तर एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा इस प्रकार यज्ञ करने लगे। १०० अश्वमेध करने का उनका संकल्प था। महाराज के यज्ञ कराने वाले बड़े बड़े वेद की विधि को जानने वाले अत्रि आदि महर्षि थे।

स्वय महाराज पृथु जिन यज्ञों को करने वाले हो, ब्रह्माजी के मानसपुत्र भगवान् अत्रि जिन यज्ञो के कराने वाले हों, सम्पूर्ण प्राणि जिन यज्ञो मे तन, मन धन से सहायता करने वाले हो, उन यज्ञो की पूर्णता के विषय मे तो किसी प्रकार का सदेह हो ही नही सकता। महाराज पृथु के यज्ञ अन्य साधारण राजाओं के यज्ञो के समान नही थे। वे यज्ञ अपने समय के असाधारण यज्ञ थे। इतने से ही आप समझें, कि उन यज्ञो मे स्वय साक्षात् श्रीहरि पधारे थे। जहाँ श्रीहरि ही पधार जायँ, वहाँ फिर पधारने को शेष रह ही कौन जाता है भगवान् अकेले ही गरुड़ पर चढ कर चले आये हो, यह बात नही। वे बडे ठाट बाट से पधारे थे। भगवान् के मुख्य पार्षद नन्द सुनन्द जिनके ऊपर छत्र चँवर कर रहे थे। गन्धर्व जिनके गुणो का गान कर रहे

थे। अप्सराये हाव भाव के सहित मनोहर नृत्य कर रही थी। ऋषि मुनि जिनकी विरुदावली का बखान कर रहे थे। आठो लोकपाल जिन्हे चारो ओर से घेरे हुए थे। सिद्ध विद्याधर दैत्य, दानव गुह्यक जिनके पीछे पीछे चल रहे थे। नारद, कपिल- दत्तात्रेय, सनक सनदन, सनातन और सनतकुमार आदि योगेश्वरगण जिनकी सेवा मे तत्पर थे। इस प्रकार बडी सजधज से सब के अन्तरात्मा, जगद्गुरु, समस्त यज्ञो के अधिपति अखिलात्मा भगवान् विष्णु उन यज्ञो मे पधारे थे।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! उन यज्ञो के ऐश्वर्य का अब मैं आप से वर्णन किस प्रकार करूँ? आप इसी से अनुमान लगालें, कि सभी वस्तुओ को उत्पन्न करने वाली भगवती वसुन्धरा जिनकी पुत्री बनकर साकार रूप से सेवा कर रही हो उस यज्ञ मे कमी किस वस्तु की रह सकती है। चर अचर सभी प्राणियो ने उन यज्ञोत्सवो मे यथाशक्ति सहयोग दिया। जितने नद, नदी, पर्वत, वृक्ष थे उनके अधिष्ठातृ देव मूर्तिमान होकर उन यज्ञो मे आये थे और अपने हाथो से, भृत्यो के समान यज्ञ मे आने वाले लोगो की सेवा शुश्रूषा करत थे। नदियाँ अपने आप दूध, दही, खीर, मट्ठा, मक्खन मलाई बहाकर लाती थी। जो जितना चाहो पीओ! वृक्षो ने मीठे मीठे मधुमय इतने फल गिराये कि मु ह मे रखते ही मिश्री की भाँति घुल जायँ, गुठली छिलके का काम नही। बिना बीज के पक्के अगूर की भाँति,खाते ही जाओ। तोडने की भी आवश्यकता नही, मु ह ऊपर करो, रस से मु ह भर जाय। गटकते चलो गटागट। समुद्र भी वहाँ शरीर रख कर आये थे, वे इतने रत्न मू गा मोती लाये थे, कि चारो ओर बिखरते फिरते थे, उन्हे कोई पूछने वाला नही। पर्वत अपनी खोहो मे भर भर कर भोक्ष्य, भाज्य, लेह्य चोष्य'

पेय सभी प्रकार के अन्न लाये थे। निरे मालपुआ ही उड़ाओ, या बालूसाइयों से ही पेट भर लो, या खीर का ही सपोटा लगाओ। लोकपाल इतने उपहार लाये कि रखने को स्थान ही नहीं रहा। सो विदुरजी! ९९ यज्ञ तो यों ही बड़ी धूमधाम से हुए। अब १०० वें यज्ञ का समाचार सुनिये।

छप्पय

होंहि यज्ञ अति विशद करें सुर गन सब सेवा।
देहिं वृक्ष बहुमूल्य फूल फल मधुमय मेवा॥
दूध, दही घृत, तक खीरि सरिता सब लावें।
रुचि प्रिय परम पदार्थ प्रेमते पंडित पावें॥
हलुआ पूरी जलेबी, माखन मिसिरी जो चहो।
खाओ पीयो पेटभरि, तानि दुपट्टा सो रहो॥

महाराज पृथु के अन्तिम यज्ञ में इन्द्रद्वारा विघ्न

(२६६)

चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम् ।
वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह निरोहितः ॥*॥

(श्री भा० ४ स्क० १९ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

यो नौ नब्बे यज्ञ भये अतिम जब आयो ।
इन्द्रासन मम लेहि अमरपति पेट पिरायो ॥
वेष बदलि के विघ्न करन मख अश्व चुरायो ।
चोरी करिके चल्यो अत्रिमुनि तुरत लखायो ॥
करनी सुरपति की लखो, विषय भोग दुख मूल है ।
जे विषयनि अनुकूल तें, मोक्ष मार्ग प्रतिकूल है ॥

ये मुझसे अतिशय, धनी, मानी, यशस्वी, तेजस्वी, सुखी समृद्धिशाली, समपन्न आदि सद्गुणो से क्यो है, ऐसी भावना का ही नाम सातिशय दोष है। अपने परिचितो सम्बन्धियो को

*मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! महाराज पृथु सौ अश्वमेध यज्ञो द्वारा यज्ञपति भगवान् श्रीहरि की आराधना कर रहे थे, तब अतिम सौवें यज्ञ मे इन्द्र गुप्त रूप रखकर आये और यज्ञ के घोडे को चुरा ले गये।"

अपने से बढते देख कर एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न होती है। क्यो होती है, यह इस सृष्टि रचयिता का दोष प्रतीत होता है, या उस सर्वान्तर्यामी की महत्ता। चीटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त आप जिसे भी देखे वह अपने को सर्वश्रेष्ठ समझता है यो शिष्टाचारके लिये भले ही कह दें अजी, हम किस योग्य हैं हम तो क्षुद्रातिक्षुद्र प्राणी है, किन्तु इस कथन मे भी महत्ता श्रेष्ठता छिपी है। जो कोई अपने को दासानुदास जीवमात्र की चरण रेणु कहते हैं, उनके सामने आप गालियाँ दें, उन्हे भला बुरा कहे कोई क्षुद्रातिक्षुद्र कार्य करने को कहे, तब पता चलेगा, वे कैसे दासानुदास है। जो अपने को सबका सेवक, प्राणिमात्र का किंकर कहते हैं उनके सामने किसी महात्मा की प्रशसा करो जो अपने को ब्रह्म बताते हो, तो वे चाहे प्रकट मे न कहे किन्तु मन मे ऐसे लोगो का आदर न करेंगे। इससे प्रतीत होता है उन्होने दासत्व मे ही सर्वश्रेष्ठत्व समझ रखा है। ईश्वर जीव का अश ही है। अविनाशी है, फिर वह अपने को छोटा समझे क्यो। जान मे अनजान मे वही भाव सबके हृदय मे जागरूक होता है। अज्ञानपूर्वक जो इसके लिये प्रयत्न करते है, वे ससार बन्धन से मुक्त होते हैं। जो दूसरो की बढती देखकर ईर्ष्या द्वेषवश उनके कार्यों मे विघ्न करते हैं उन्हे क्या कहे कुछ समझ मे नही आता।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस त्रैलोक्य मे इन्द्रपद सर्वश्रेष्ठ है। जो इन्द्रपद पर प्रतिष्ठित हो जाता है, वह सम्पूर्ण देवताओ लोकपालो उपदेवो ऋषि मुनि मनुष्य पशु पक्षी सभी का पूजनीय और स्वामी समझा जाता है। ऐसा इन्द्रपद भी स्थाई नही। आज जो इन्द्र है, कल वही चीटी बन जाता है। जो भी १०० अश्वमेध यज्ञ को विधि विधान सहित पूरा

करले वही इन्द्रपद का अधिकारी हो जाता है। इसीलिये इन्द्र का एक नाम शतक्रतु भी है। अर्थात १०० अश्वमेध यज्ञ करने वाला। इसीलिये इन्द्र जिसे यज्ञ तप करते देखता उसी से डर जाता है कि कही यह मेरे इन्द्रासन को न छीन ले। जिसे तनिक भी तेजस्वी तपस्वी और प्रभावशाली देखा उसे ही देखकर इन्द्र के पेट मे पानी हो जाता है। अरे, यह तो बहुत बढ रहा है। महाराज पृथु के भी जब ९९ अश्वमेध यज्ञ पूरे हो गये तब तो इन्द्र बहुत घबडाया। जहाँ अन्तिम यज्ञ पूरा हुआ नही कि मुझे अपने बोरिया बिस्तर बाँध कर भागना पडेगा। किसी प्रकार इनके इस यज्ञ मे विघ्न पड जाय जिससे पूरे १०० न हो सके मेरा इन्द्रासन किसी प्रकार बच जाय।

मैत्रेय मुनि कहते है--"विदुरजी! ये विचार इन्द्र की क्षुद्रता के द्योतक हैं, नही तो भगवान् के अशावतार पृथु को इन्द्रपद की क्या अपेक्षा। उनके सम्मुख सैकडो इन्द्र हाथ जोडे खडे रहते हैं। किन्तु जिसे जो चीज प्रिय होती है वह उसे ही सर्वस्व समझता है और अपनी ही भाँति अनुभव करता है कि दूसरो को भी यह उसी प्रकार प्रिय होगी। कोई कुत्ता सूखा हाड ले जा रहा था उधर से इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर चढ कर जा रहे थे। कुत्ता एक पहाड के ओठ मे छिप गया कि ऐसा न हो कि ये मुझसे मेरे इस प्रिय पदार्थ को छीन ले। एक सियार सडे मास को ले जा रहा था, उधर से सिंह को आते देखकर डर गया कि यह मुझसे इसे ले न ले। आप ही सोचिये अमृत को पीने वाले इन्द्र को सूखी हड्डी से क्या काम। अपने पुरुषार्थ से ही मार कर खानेवाले को दूसरो के लाये सडे मास से क्या प्रयोजन। किन्तु जीव तो अपनी भावना का दूसरो मे आरोप करता है। इन्द्र भी सोचने लगे, त्रैलोक्यवन्दित इन्द्रपद के निमित्त ही महाराज पृथु १००

अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं। किसी भी प्रकार से हो इनके इस अतिम यज्ञ को पूरा न होने देना चाहिये।

यह सोचकर उन्होने एक विचित्र वेप बनाया। विदुरजी! धूर्त लोग वेप के द्वारा लोगो को ठग लेते है। वेप तो सज्जनो का सा बनाते हैं, काम दुर्जनो के करते है। ऊपर से तो साधुओ का सा बाना बना लेते हैं, भीतर असाधुता भरी रहती है। ऊपर से तो अपने को धर्मात्मा प्रकट करते हैं, किन्तु मन मे अधर्म भरा रहता है। इसीको दभ ढोग, पाखड, छल, छद्म तथा बनावटी वेप कहते है। ऐसे धर्म का कवच पहिनने वाले अधार्मिक पुरुप ही पाप का प्रचार करते हैं! भीतर और बाहर यदि अधार्मिक अपना यथार्थ रूप रखकर अधर्म का प्रचार करें तो उनकी सुनेगा कौन, उसे मानेगा कौन? वे तो अधर्म का धर्म का बाना पहिना भोली भाली जनता को बहकाते है। लोग उनके प्रबल तर्कों से उनके महात्मापने के वेप से भूलावे मे आ जाते है और अधर्म को ही मानने लगते है। उसी पाखड रूप का इन्द्र ने आश्रय लिया।

उसने अपने सिर पर लम्बी लम्बी जटायें बनाईं। बड़ी बड़ी दाढ़ी, सिर पर बडा सा तिलक, गेरुए कपड़े, हाथ में माला। कर मे सुमिरनी, मन मे कतरनी रखकर वह महाराज पृथु को ठगने चला। उसने सोचा—अश्वमेध मे प्रधानता अश्व की होती है, अतः यज्ञ के घोड़े को किसी प्रकार यज्ञभूमि से हटा दिया जाय तो यज्ञ होगा ही नही। यही सब सोच कर ईर्ष्या के कारण यज्ञ मे विघ्न करने के निमित्त गुप्त रूप से इन्द्र यज्ञीय अश्व को चुरा ले गया।

तिरस्करणीय विद्या के प्रभाव से इन्द्र को कोई देख तो सकता नही था, किन्तु सर्वज्ञ भगवान अत्रि ने उसे घोड़ा चुराते

हुए देख लिया। उन्होंने देखा अधर्म मे धर्म का भ्रम उत्पन्न करने वाले इस पाखण्ड वेष का कवच पहिन कर इन्द्र अनुचित कार्य कर रहा है। ईर्ष्यावश अपनी पद-प्रतिष्ठा को भूल कर चोरी जैसे गर्हित कर्म को करते हुए भी इसे लज्जा नही आ रही है। इस लिये उन्हे देवेन्द्र पर क्रोध आया। महाराज पृथु तो यज्ञ की दीक्षा लिए बैठे थे, वे तो न उठ सकते थे, न क्रोध कर सकते थे। भगवान अत्रि के समीप ही महाराज पृथु का सब से बड़ा तेजस्वी पुत्र बैठा था, उससे ऋषि बोले—"बेटा ! देखो-देखो, यह कैसा अनर्थ हो रहा है। तुम्हारे पिता के यज्ञीय घोडे को इन्द्र चुराये लिए जा रहा है। तुम इससे शीघ्रता से घोडे को छीन लो।"

इतना सुनते ही राजकुमार धनुषबाण लेकर इन्द्र के पीछे दौड़ा। इन्द्र आकाश मार्ग से बडी शीघ्रता के साथ घोडे को भगाये लिए जा रहा था। राजकुमार ने दूर से ही कहा—"अरे नीच ! खडा हो ! तू कौन है ? मेरे पिता के घोडे को क्यो लिये जाता है ?"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! चोर के पैर कच्चे होते हैं। इन्द्र फट से प्रकट हो गया। राजकुमार ने देखा, यह तो जटा दाढी वाले, त्रिपुण्ड लगाये, रुद्राक्ष धारण किये कोई योगीश्वर हैं। धर्मात्मा पृथुपुत्र ने उन्हे प्रणाम किया। उन्होने समझा—"भगवान अत्रि ने तो मुझे बताया था, इन्द्र अश्व को लिये जाता है। ये तो कोई धर्मात्मा योगी है, इन पर बाण छोड

कर मैं पाप का भागी कैसे हूँगा, अतः वे लौटने लगे।

अत्रि मुनि नीचे से ही देख रहे थे। वहीं से चिल्लाकर बोले—"बेटा, तू इसके वेष के भुलावे मे मत आ! इस नीच ने यह कपट वेष बना रखा है। इसका यह यथार्थ वेष नही है। ठगविद्या के कारण साधू का वेष रूपी कवच इसने पहिन रखा है। यह दूसरो के उत्कर्ष को सहन न करने वाला सुराधम इन्द्र ही है। इस पर दया मत करना। आज इसका अत ही कर दे। यह सबके तप और यज्ञो मे सदा विघ्न करता है, आज इसे जीवित न जाने देना।"

अत्रि महर्षि की ऐसी बात सुनकर राजकुमार फिर लौटे। उन्होने फिर बाण छोडा, किन्तु धर्मात्मा के हृदय, वेष का भी सम्मान करता है। उन्होने सोचा "कैसा भी हो, वेष तो इसने महात्मा का ही बना रखा है, इसे मैं अपने बाण से मारूँगा नही। इतने मे ही इन्द्र उस घोडे को छोड कर तथा उस वेष का भी परित्याग करके वही अन्तर्धान हो गये। राजकुमार इन्द्र से अश्व जीतकर अपने पिता के यज्ञ मे आये। सभी ऋषि महर्षि राजकुमार के इस अद्भुत पराक्रम को देखकर चकित रह गये सभी ने उनके बल, वीर्य, पराक्रम तथा शौर्य की भूरि-भूरि प्रशसा की। फिर प्रसन्न होकर महर्षियो ने उसे अश्व को इन्द्र से जीत लाने के कारण "विजिताश्व" की उपाधि दी। उसी दिन से राजकुमार "विजिताश्व" के नाम से ही प्रसिद्ध हुए।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! अश्व के आ जाने पर यज्ञीय कार्य फिर बडे विधिविधान से होने लगा ! किन्तु इन्द्र को सन्तोष कहाँ ? वह तो इस बात पर तुला हुआ था कि जैसे हो तैसे इस अतिम यज्ञ को पूरा न होने दे। वह तो स्वार्थ मे अन्धा हो गया था, अत सोचने लगा—"अब क्या करूँ कैसे यह यज्ञ अधूरा ही रह जाय। इन्ही बातो पर विचार करते हुए वह दूसरा उपाय सोचने लगा।

छप्पय

चोर इन्द्र कूँ अनि दिखाओ पृथु कुमार कूँ।
वत्स ! वेगि जा पकरि पुरदर चोर जार कूँ ॥
सुनत राजसुत शीघ्र शक्र की ओर सिधार्‌यो।
साधु समझि के सहृद कुमर फिरि नहिं सर मार्‌यो ॥
अश्व विजय करि इन्द्रते, लायो सुख सबकूँ भयो।
ऋषि मुनि मिलि विजिताश्व वर, नाम कुँवर कूँ तब दयो ॥

पृथु यज्ञ में पुरंदर द्वारा पुनः विघ्न

(२६७)

उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः ।
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः ॥*

श्रीमद् भा० ४ अ० १९ अ० १९ श्लोक

छप्पय

इन्द्र हृदय महँ मची कुलबुली बिगरे मख कस ।
अबके चुपके जाइ अश्व लाऊँ सोच्यो अस ॥
अंधकार करि पकरि अश्वकूँ सुरपति भाग्यो ।
अत्रि कीन्ह संकेत कुमर फिर पीछे लाग्यो ॥
साधु वेष लखि फिर कुमर, हिचक्यो मुनि मारो कह्यो ।
छोड्यो शर विजिताश्व तब, अन्तर्हित शतक्रतु भयो ॥

स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य मान, प्रतिष्ठा, लज्जा, संकोच सभी का परित्याग कर देता है। अपना स्वार्थ जैसे भी सिद्ध हो अपने हित की किसी प्रकार भी रक्षा हो सके, उसके लिये वह सतत प्रयत्न करता है। कर्तव्य अकर्तव्य का भी ध्यान छोड देता है। स्वार्थ मे ऐसा अन्धा हो जाता है कि विचार विवेक सभी को तिलाञ्जलि दे देता है। ये संसारी अनित्य सुख सदा किसी के समीप नही रहे, ये नश्वर हैं, क्षणभंगुर हैं, परि-

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! अबके इन्द्र ने घोर अंधकार उत्पन्न किया। फिर यज्ञस्तम्भ के सम्मुख रखे वलयाकार चषाल में सुवर्ण की जंजीर से बंधे हुए यज्ञ के अश्व को पुनः हर ले गया।

वर्तनशील हैं, परिणाम मे दुखो को देने वाले हैं, फिर भी प्राणी इनकी प्राप्ति के लिए प्राणपन से प्रयत्न करता है। धर्माधर्म का ध्यान भी नही रखता। यह कैसी विडम्बना है भगवान् की कैसी दुरत्यय माया है। भगवान् ही जिसकी रक्षा करें वही इससे बच सकता है, वही विषयो के हठ को छोड़ सकता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं— 'विदुरजी ! जब पृथु-कुमार विजिताश्व अपने पिता के यज्ञीय अश्व को छुडा लाये तब तो इन्द्र बडे घबडाये। वे सोचने लगे—"अब तो महाराज पृथु के १०० यज्ञ पूरे हो जायँगे। कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे यह अतिम यज्ञ पूरा न हो।'

यह सोचकर इन्द्र ने फिर विचित्र वेष बनाया। अब के उसने कापालिक अघोरी का वेष बनाया। सपूर्ण अग मे चिता की भस्म लपेटी हुई है। जटाय बिखर रही हैं, नेत्र लाल लाल है। एक हाथ मे नरमुड का कपाल है दूसरे मे खटवाग है। गले मे माला पहिन कर साधु वेष बनाकर वे यज्ञभूमि मे आये। अब के उन्होने अपनी माया से सबत्र अधकार कर दिया।

यज्ञो मे एक खम्भा सा गडा रहता है, जिसे यूप कहते है। यज्ञीय पशु उसीमे बाधे जाते है। उसके सामने एक वलयाकार काष्ट रहता है जिसकी "चषाल" सज्ञा है। चषालयुक्त यज्ञस्तम्भ के सुवर्ण की जजीर मे महाराज पृथु के यज्ञ का वह घोडा बधा था जो दशा दिशाओ मे दिग्विजय करके लौटा था। यदि वह घोडा न रहे तो अश्वमेध यज्ञ ही न हो।

इन्द्र की माया से अधकार होने से किसी को कुछ दीखता तो था नही। उसी अधकार मे इन्द्र अन्तर्हित होकर उस घोडे को खोलकर आकाश मार्ग से फिर भागा। त्रिकालज्ञ अत्रि मुनि से क्या छिपा था, उन्होन अपनी दिव्य दृष्टि से इन्द्र को घोडा लेकर

आकाश मे भागते हुए देख लिया और शीघ्रतापूर्वक विजिताश्व से बोले—"बेटा, शीघ्रता करो, शीघ्रता करो । इन्द्र अपनी नीचता पर तुल गया है । वह यज्ञ मे बार बार विघ्न करता है। अब के तुम यज्ञीय अश्व को तो लाओ ही, इस ईर्ष्यालु इन्द्र का भी अन्त कर दो ।"

इतना सुनते ही विजिताश्व धनुष बाण लेकर अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा इन्द्र के पीछे दौडा, जब उसे कपाल खट वाग और जटा भस्म धारण किये देखा, तो धर्मभीरु राजपुत्र फिर हिचका । इस पर अत्रि मुनि ने चिल्लाकर कहा—"बेटा ! वेष के मोह मे मत पडो। यह तो पाखड वेष है । पाप का खण्ड अर्थात् चिह्न है ।" इतना सुनते ही विजिताश्व ने ज्यो ही फिर वाण छोडा, त्यो ही वे स्वराट इन्द्र अपना छद्मवेष छोडकर वही अन्तर्हित हो गये । घोडे को वही छोड दिया । राजकुमार को इन्द्र का वध अभीष्ट नही था, अत वह घोड को लेकर लौट आया ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! त्रैलोक्य पूजित देव होकर, इतने बडे सम्मननीय लोकपाल वदित अमराधिपति होकर भी देवराज ने ऐसा कुत्सित कार्य क्यो किया ? क्या उन्हे पता नही था, कि पृथु साक्षात् भगवान् के अशावतार है । यदि उन्हे पता नही था, तो उनके अभिषेक के समय दिव्य किरीट जाकर क्यो समर्पित किया ? और यदि पता था, तो क्या वे यह नही जानते थे, कि इन्ह इन्द्रासन से क्या प्रयोजन ?

इस पर सूतजी बोले—"अब महाराज ! क्या बताऊँ ? या ही समझिये, कि यह सब भगवान् की माया है । व जिस समय जिससे जो कुछ कराना चाहते है, उस समय उसकी वैसी ही बुद्धि बना देते है । क्या इन्द्र को पता नही था, श्रीकृष्ण साक्षात

परब्रह्म हैं, उनकी माता के दिव्य कुण्डलो को जब नरकासुर छीन ले गया था, तो भगवान से ही जाकर प्रर्थना की। वे ही भगवान् जब कल्पवृक्ष को उखाडकर चलने लगे, तो उन्हे मनुष्य समझ कर युद्ध करने लगा। जब भगवान् ने नन्दादिक गोपो से इन्द्र को कुपित कराने के निमित्त इन्द्रयाग बद कर दिया था, तब समस्त व्रजमडल को ही बहा देने के लिए देवराज ने प्रलयकारी मेघो को आज्ञा दे दी, कि समस्त व्रज को जलमग्न कर दो। इसे सिवाय भगवान् की माया के और क्या कह सकते हैं।"

इस पर शौनकजी कहा—"भगवान् की माया से तो सब होता ही है, यह तो ऐसा उत्तर है कि इसके आगे कुछ कहा ही नही जा सकता। फिर भी यह तो सोचने की बात है, कि जिसके पुत्र मे इतनी शक्ति है, कि देवराज इन्द्र के हाथ से बार-बार अश्व को छुडा ले, फिर भी उनके यज्ञ मे विघ्न पर विघ्न करना इसे तो हम धृष्टता ही कह सकते है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! स्वार्थ मे मनुष्य ऐसा अधा हो जाता है कि फिर उसे विवेक रहता ही नही। स्वार्थ के वशीभूत होने पर सभी सम्बन्ध, सभी उपकार, सभी ज्ञान सभी महत्ता, पुरुष भुला देता है। उस समय तो जैसे भी हो, हमारा स्वार्थ सिद्ध हो जाय—यही आग्रह हृदय मे समा जाता है और फिर निंदित से निंदित कार्य करने मे भी नही हिचकता।'

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो सत्य है कोई साधारण व्यक्ति हो, तो उसकी बात तो पृथक है। इन्द्र के आचरण का तो सभी पर प्रभाव पडता है, वे जैसा करेगे निंदित लोग उनके उन पापो का भी अनुकरण करेंगे, इससे अधर्म की वृद्धि होगी, तो यह तो उचित नही।

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! उचित तो नही है, उचित कौन बताता है। फिर भी धर्म तथा अधर्म हम दोनो ही श्रेष्ठ पुरुषो देवो से ही सीखते है। ऐसा न हो तो अधर्म कहाँ रहे, इसलिये पाखड धर्म वाले भी देवताओ का श्रेष्ठ पुरुषो का उदाहरण देकर पाखड का प्रचार करते हैं। इन्ही अधर्म की बातो से कलियुग मे अधर्म अपना आधिपत्य स्थापित करता है।

इन्द्र ने ईर्ष्यावश यज्ञ का विघ्न करने के लिये जो अनेको पाखण्ड वेष बनाये थे, वे सब वेष ज्ञान दुर्बल लोगो ने प्रमाण मान लिये। वे कहने लगे वेष बनाना ही परम धर्म है। बाह्य चिह्नो मे ही धम भरा है, इसलिये कोई कहने लगे—"दिगम्बर हो जाना ही परम धर्म है, ज्ञान हो न हो, लँगोटी खोल कर फेंक दो मुक्ति हो जायगी, यह मूर्खता नही तो क्या है। कोई कहने लगा तिलक माला मे ही धर्म है, कोई कहने लगे लाल कपडे रँग लिय कि मुक्त हो गये। ये सब वेष पर ही बल देते हैं। वेष बनाने को ही सब कुछ समझते हैं। लिंग को ही धर्म मे मुख्य कारण मानते हैं। अत. देखने मे सुन्दरता या बडी बडी तर्क की बात करने वाले पाखण्ड पूर्ण उन नग्न, लालवस्त्र आदि पहिन कर विविध वेष बनाने वाले केवल भ्रमवश यही धर्म है, ऐसा मानने लगते है। इन्ही सब पाखण्ड की बातो से मनुष्यो की बुद्धि मोहित हो जाती है। अत. इन्द्र के ये वेष अधर्म की वृद्धि मे कारण हुए। अधार्मिक तामसिक लोगो ने अधर्म को धर्म मान लिया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! इस बार-बार यज्ञ म विघ्न करने की बात महाराज पृथु के भी कानो मे पडी। इन्द्र की ऐसी करतूतो को देखकर महाराज पृथु को बड़ा दुःख हुआ। वे

सोचने लगे—अब हमे क्या करना चाहिये।" उन्हे इन्द्र के ऊपर बडा क्रोध आया।"

छप्पय

मख विध्वसन हेतु इन्द्र जो वेष बनाये।
ते पाखडिनि चिह्न ऊपरी परम सुहाये॥
जटाजूट बनि नग्न लाल अरु श्वेत पहिनि पट।
यही मोक्ष को मार्ग नित करहिं सतत हट॥
तम प्रधान विद्या रहित, मानें धर्म अधर्म कूँ।
लिङ्ग धर्म कारन नही, समझें नहिं जा मर्म कूँ॥

यज्ञ में विघ्न करने वाले इन्द्र पर महाराज पृथु का क्रोध

(२६८)

तमृत्विजः शक्रवधाभिसंधितम्,
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम् ।
निवारयामासुरहो महामते
न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात् ॥*
(श्री भा० ४ स्क० १९ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

समुझी शक्र कुचाल क्रोध नृप पृथु कूँ आयो ।
इन्द्र मारिबे हेतु धनुष अरु बाण उठायो ॥
ऋत्विज बोले-विभो ! विहित वध अवनहिं तुमकूँ ।
हम सब कछु करि सकें देहिं आयसु यदि हमकूँ ॥
मंत्र शक्ति तें शक्रकूँ, अबई यहा बुलाइंगे ।
स्वाहा करिकें अग्नि में, यमपुर ताहि पठाइंगे ॥

चंदन स्वभाव से शीतल है, किन्तु यदि उसे कोई अतिशय रगडे तो उससे भी अनल उत्पन्न हो जाता है। जल स्वभाव से ठंडा है, किन्तु पतीली मे भर के उसके

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी ! इन्द्र की करतूतों को देखकर महाराज पृथु का रूप ऐसा हो गया था, कि जिसकी ओर देखना भी

नीचे अग्नि जलाते रहो, तो वह खौलने लगता है, इसी प्रकार सज्जन सर्वत्र क्रोधहीन होते है, किन्तु जब कोई उन्हे अत्यन्त सताता है, नितान्त विवश कर देता है, तो उन्हे भी कभी कभी क्रोध आ जाता है और ऐसा क्रोध आता है, कि वे न करने योग्य कार्य को भी करने को उद्यत हो जाते है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब इन्द्र कई बार पाखड वेष बनाकर यज्ञ के अश्व को हर ले गया, तब तो महाराज पृथु को उस पर बडा क्रोध आया। वे सोचने लगे—' देखो, इस इन्द्र को हम यज्ञो मे कितने सत्कार पूर्वक बुलाते है कितनी श्रद्धा से इसका आवाहन करते है, भाग समर्पित करते है, फिर भी यह ईर्ष्या और कृतघ्नता पूर्वक हमारे यज्ञ मे विघ्न उपस्थित करता है, हमने इसका कौन सा अनिष्ट किया है, क्या बिगाडा है। अच्छी बात है। आज हम इसका सब इन्द्रपना भुला दगे। आज इसे यमपुर का द्वार दिखा दगे, आज इसे अमर से मरणधर्मा बना देंगे। आज इसे इन्द्र पद से सदा के लिय च्युत करके मृत्यु के मुख मे डाल दगे। ऐसा सोचकर महाराज ने इन्द्र के वध के निमित्त ज्यो ही धनुष बाण उठाया, त्यो ही यज्ञ कराने वाले ऋत्विजा ने उन्हें रोकते हुए कहा—'महाराज, यह आप क्या कर रहे हैं ? यज्ञ मे दीक्षा लिया हुआ यजमान किसी भी दशा मे किसी की हिंसा नही कर सकता। यज्ञानुष्ठान मे दीक्षित

कठिन था तथा जिनका पराक्रम असह्य था। ऐसे महाराज को इन्द्र के वध के लिये उद्यत देख कर ऋषियो ने उन्हे इस काय से रोका और कहन लगे—"ह परमबुद्धिमान् राजन् ! यज्ञानुष्ठान म दीक्षा लिये पुरुष को शास्त्र विहित यज्ञ पशु के अतिरिक्त किसी भी प्राणी का वध करना उचित नही है।

पुरुष के लिये क्रोध करना, हिंसा करना सर्वथा वर्जित है, वह अपने हाथ से अपने शरीर को खुजला भी नहीं सकता, इसीलिये यज्ञ दीक्षित पुरुष हाथ में हिरन का सींग रखता है कि खुजली होने पर उससे ही शरीर को खुजावे।"

इस पर महाराज पृथु ने पूछा—"ऋषियो! आप कहते हैं कि दीक्षित पुरुष किसी भी दशा में किसी की हिंसा नहीं कर सकता, यह बात मेरी समझ में आई नहीं। यदि यज्ञ में कोई बार-बार विघ्न करता हो, तो ऐसी दशा में क्या किया जाय, आवश्यक हिंसा तो करनी ही पड़ती है, ऐसा न हो तो फिर यज्ञीय पशु की बलि कैसे दी जाय। यह भी तो एक हिंसा ही है और यजमान के ही द्वारा की जाती है।"

यह सुनकर ऋत्विज बोले—"महाराज, जो शास्त्र—विहित विधि है, उस विधि के अतिरिक्त हिंसा करने का निषेध है। यज्ञीय बलि तो यज्ञ का एक अंग ही है। वह तो वेदविधि है इस प्रकार की वैदिकी विधि हिंसा होने पर भी हिंसा नहीं कहलाती। उसकी गणना तो आवश्यक विधि में की जाती है। इसलिये आप दीक्षित हैं, क्रोध न करें। हमे आप आज्ञा दें आप क्या करना चाहते हैं।"

महाराज पृथु ने कहा—"आप देख नहीं रहे हैं, तेजस्वी और त्रैलोक्य-वन्दित देव होने पर भी यह इन्द्र बार-बार हमारे यज्ञ में विघ्न उपस्थित कर रहा है, इसका कुछ भी तो प्रतीकार करना चाहिये।"

यह सुनकर ऋत्विज ने कहा—'महाराज! यह तो इन्द्र आपके दिगंत व्यापी सुयश के ही कारण मृतप्राय बन गया है, यह तो आपसे ईर्ष्या रखने के कारण तेजोहीन हो गया है। मक्खी के मारने के लिये ब्रह्मास्त्र नहीं छोड़ा जाता।

मृतक मे मारने मे शूर वीरा का वल व्यय नही होता। आप आज्ञा दे तो हम अभी इस ईर्ष्यालु इन्द्र को इसी यज्ञकुड मे स्वाहा कर दें।"

महाराज वोले--"यदि वह आपका अभिप्राय समझ कर आपके आवाहन करने पर भी यहाँ न आया तब आप क्या करेंगे

कडक कर ऋत्विजो ने कहा—"महाराज, यह आप कैसी बाते कर रहे है। इन्द्र की क्या शक्ति जो हमारे आवाहन करने पर न आवे। हमारे मन्त्रो की शक्ति अमोघ है, हमने ब्रह्मचर्य्य धारण पूर्वक उनकी विधिवत् उपासना की है। वे मूर्तिमान होकर शरीर मे रहते है। हमारे मत्रो मे वह प्रभाव है कि इन्द्र को आने के लिये विवश होना पडेगा, वह रस्सी मे बँधे पशु के समान बँधा हुआ चला आवेगा। कवल आपकी आज्ञा की ही देरी है। आप आज्ञा भर देदे हम बलात्कार इन्द्र को बुलावगे और आपके देखते उसे अग्नि मे भस्म करके सदा के लिये तपस्वी और यज्ञ करने वाला का कटक काट दग।"

महाराज पृथु तो इन्द्र के अनुचित कार्य से खीजे हुये ही थे, उन्होने कहा—"मुनियो! यदि ऐसी बात है, तो आप लोग अपने अमोघ मन्त्रो का प्रयोग कीजिये। मेरे यज्ञ मे विघ्न करने वाले इन्द्र का अन्त आप लोग अवश्य ही कर दें। ससार प्रत्यक्ष इस बात को देखे, कि पृथु के कार्य मे विघ्न करने वाला चाहे साक्षात् शचीपति देवेन्द्र ही क्यो न हो। वह भी जीवित नही रह सकता। आप इस विषय मे न बहुत विचार कर, न विलम्ब। शुभस्य शीघ्रम। अमरपति का आज अभी ही अन्त हो जाना चाहिये।"

महाराज पृथु की ऐसी सम्मति तथा अनुमति पाकर ब्राह्मणो

ने अपने अमोघ मन्त्रो का प्रयोग किया। क्रोध मे भर कर मारने की इच्छा से इन्द्र का ज्यो ही आवाहन किया, त्यो ही इन्द्र का इन्द्रासन डगमगाने लगा। इन्द्र की तो सब सिटिल्ली भूल गई। वह समझ ही न सका कि मेरा दिव्य सिंहासन क्यो डगमगा रहा है। उसने सुवर्णमडित सिंहासन को कस कर पकड लिया, इतने मे ही क्या देखता है कि सुधर्मा सभा से इन्द्र बलपूर्वक सिंहासन सहित नीचे गिर रहा है। वह बार बार चिल्लाने लगा—"मुझे कोई पकडो, मुझे बचाओ।" किन्तु अब पकडे कौन ? ईर्ष्यालु का पतन से कौन बचा सकता है, दूसरो की सम्पत्ति और परसुयश को देख कर जो जलता रहता है, उसकी अध पतन से रक्षा करने की सामर्थ्य किस म है। इन्द्र आकाश से कलामुडो खाता हुआ यज्ञकुड की ओर गिरने लगा। ऋत्विजो ने, यज्ञ मे एकत्रित हुए समस्त दर्शको ने देखा देवराज इन्द्र अवश हुए मत्रो के प्रभाव से नीचे की ओर खिचे चले आ रहे हैं। सभी के हर्ष का ठिकाना नही रहा। ब्राह्मणो की अमोघ मत्रशक्ति की सभी एक स्वर से प्रशसा करने लगे। अत्रि मुनि बोले—"देखो, हमारा हवनीय पदार्थ आकाश से नीचे गिर रहा है। जब तक यह पृथिवी मे न गिरने पावे तभी तक इसे अधर मे स्रुवा पर ले लो। अपने स्रुवा को सम्हाल लो अग्नि को और भी प्रज्वलित कर दो। जहाँ यह नीचे आ जाय स्रुवा पर रखकर अग्नि मे स्वाहा कर दो। आज इस इन्द्र को ही आहुति दे दी जाय।

यज्ञ मे बैठे हुए ऋत्विज सभापति सभासद और दर्शको म उत्सुकता, उत्साह तथा सभ्रम की एक लहर सी उठने लगी। सभी चकित हुए आँखो अद्भुत दृश्य को देखने लगे। कि आज इस पृथु के यज्ञ म यह अपूर्व बात हो रही है, कि

जिस इन्द्र को यज्ञो मे बड़े सम्मान से बुलाया जाता था आज उसी को अग्नि मे होमा जा रहा है। इतने मे ही इन्द्र नीचे आ गया। ऋत्विज ज्यो ही स्रुवा लेकर होम करना चाहते थे, त्यो ही बडी शीघ्रता से हस पर चढे हुए चतुर्मुख ब्रह्मा वहाँ आ उपस्थित हुए और बडा व्यग्रता के साथ उच्च स्वर मे ऋत्विजो को सम्बोधन करते हुए बोले—"अरे, अरे, तुम यह क्या अनर्थ कर रहे हो ? ब्राह्मणो सावधान सावधान ! ऐसा अन्याय मत करो। इस प्रकार मन्त्रो का दुरुपयोग करना उचित नही। ऐसा दुस्साहस भूल कर भी मत करना, मेरी बात सुनो।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! लोक पितामह ब्रह्माजी के ऐसे वचन सुनते ही सब के सब सहम गये। सब गुड़ गोबर हो गया। सब इन्द्र के वध से निवृत्त होकर ब्रह्माजी के स्वागत सत्कार मे लग गये।

छप्पय

क्रोधित ह्वै पृथु कहे, अवसि देवेन्द्र जराओ।
पढ़ें विप्रवर मन्त्र, अमर पति आओ आओ॥
गिरे स्वर्गते इन्द्र कलामुडी सी खावत।
देखे सबने शक्र खिचे पशु सम मख आवत॥
दौड़े आये पितामह, अरे. अरे, का करत हो।
यज्ञ रूप इन इन्द्र के, व्यर्थ प्रान क्यौ हरत हो॥

ब्रह्माजी के समझाने पर महाराज पृथु का क्रोध शान्त, यज्ञ की समाप्ति

(२६९)

मास्मिन्महाराज कृथाः स्म चिन्ताम्,
निशामयास्मद् वच आदृतात्मा।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुम्,
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम्।*

(श्रीभा० ४ स्क० १९ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

भैया, श्रद्धासहित जिन्हे मख माहिं बुलाओ।
काहे तिनकूँ विप्र ! अग्नि महँ आजु जराओ॥
राजन् छोड़ो वैर व्यर्थ मति बात बढ़ाओ।
अब हठ करि पाखंड जगत महँ मति फैलाओ॥
सो मख कर का करोगे, मोक्ष मार्ग के पथिक तुम।
इच्छा राखो इंद्र की, सब के हित की कहहिं हम॥

संसार मे यदि वृद्ध पुरुष न हों, तो न जाने क्रोध मे भरकर ये युवक लोग क्या क्या अनर्थ कर डालें। जब दो समान बल

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर जी ! कुपित हुए पृथु के समीप ब्रह्माजी आकर उन्हें समझाते हुए कहने लगे—"महाराज ! आप इस

वाले किसी बात पर अड जाते हैं, किसी विषय पर दोनो का ही समान रूप से आग्रह होता है, तो वहाँ सघर्ष हो हा जाता है। उस सघर्ष मे यदि वृद्ध बीच म नही पडते तब तो रक्तपात अवश्यम्भावी है यदि वृद्ध बीच मे पड गये, तो समझा बुझाकर किसी को प्यार से किसी को डाँट डपट कर शान्त कर देते है। उस झगडे को मिटा देते हैं। इसीलिए सभाओ मे वृद्धो का होना अत्यावश्यक है। वह सभा सभा ही नही कही जा सकती जहाँ वृद्ध न हो और वे वृद्ध वृद्ध ही नही माने जाते जो सबके हित की पक्षपातरहित बात न कहे।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! जब ब्राह्मण गण इन्द्रको अग्नि मे अपनी मन्त्रशक्ति से स्वाहा करने को उद्यत हो गये, तब उसी समय ब्रह्माजी ने बीच मे आकर उन्हे डाँटा। ब्रह्माजी की डाँट डपट सुनकर सभी यज्ञकर्ता चुप हो गये, क्योकि यज्ञ कराने वाले कोई ब्रह्माजी के पुत्र थे, कोई पौत्र, कोई प्रपौत्र। कैसा भी हो, बडो का शील सकोच करना ही पडता है। उस समय आदि त्रेता युग था। यदि आज का जैसा कलियुग होता, तो सम्भव है लोग उन पितामह की अवहेलना भी कर सकते थे। ब्रह्माजी वृद्धपने के स्वभाव से सबको डाँटते हुए बोले—क्यो भाई! तुम लोग यह क्या गडबड सडबड़ कर रहे हो? अरे, इन्द्र अग्नि मे हवन करने की वस्तु है? तुम लोगो की कैसी मति मारी गई है। राम! राम! भया, इन्द्र तो साक्षात् विष्णु स्वरूप है तुम

बात की चिंता न करें कि हमारा यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त न हुआ। हम जो कहें उसे आदर के साथ श्रवण करें। देखिये, जो पुरुष दैव के द्वारा विघ्न किये हुए कार्य को करने का दुराग्रह करता है उसका मन अत्यन्त क्रोध के कारण घोरतम मोह को प्राप्त होता है।

सब लोग यज्ञो मे इन्ही की आराधना करते हो, इन्ही को भक्ति पूर्वक वलि भाग देते हो। यज्ञ पुरुष जो भगवान् हैं, उनके अंश ही तो ये सब देवता गण हैं। इसलिये तुम लोगो को ऐसा अनर्थ नही करना चाहिये। अपनी मन्त्रशक्ति का ऐसे कार्यों मे दुरुपयोग करना उचित नही।

ऋत्विजो ने कहा—"महाराज हम क्या करें ? हम तो यजमान के अधीन है, यजमान की जैसी इच्छा होगी, उसी की पूर्ति हम करेंगे। आप इन्द्र को तो वरजते नही, हमे ही डाँट रहे हैं।'

ब्रह्माजी ने कहा—"इन्द्र तो है हठी, उसे क्या समझावें। तुम लोग इतने बडे बडे ज्ञानी ध्यानी होकर व्यर्थ मे बात को बढा रहे हो। उसी की बात बडी होने दो। जब वह आग्रह करता है, तो तुम उसके आग्रह को मान लो।"

ऋत्विजो ने कहा—"महाराज, हमारा तो कोई आग्रह है नही। हमे आप जैसी भी उचित अनुचित आज्ञा दगे, उसका सिर से पालन करेंगे।"

ब्रह्माजी ने कहा—"इस अतिम यज्ञ मे ही इन्द्र अपनी हठ पर तुल गया है, उसने कैसा पाखड फैलाया है, तुम समझते नही, इसका ससार के लिये कैसा घातक परिणाम होगा, सब इन्ही बातो का अनुकरण करेंगे। जगत् मे पाखड मार्ग की वृद्धि होगी। अब जो हुआ सो हुआ। तुम यज्ञ को बन्द करो।"

ऋत्विजा ने कहा—"महाराज, यज्ञ को बन्द करना तो हमारे अधिकार की बात है नही। राजा ने हमें यज्ञ के लिये वरण किया है, हमने प्रतिज्ञा की है, हम आपके यज्ञ को अपनी मन्त्रशक्ति स निर्विघ्न समाप्त करायेंगे। इसलिये जब तक यजमान धर्म मे स्थित है, कोई वेद-विरुद्ध आचरण नही करता, हम मे श्रद्धा रखता है, हमारी आज्ञाओ का पालन करता है, तब तक

हम कार्य से कभी भी पराङ्मुख नही हो सकते। हाँ, यजमान स्वय ही यज्ञ से निवृत्त हो जाय, यज्ञ करना न चाहे, तब दूसरी बात है। फिर हम दोषी नही कहला सकते। जब तक राजा दीक्षा लिये बैठा है और यज्ञ कराने मे समर्थ है, तब तक हम स्वेच्छा से यज्ञ बन्द नही कर सकते।"

यह सुनकर ब्रह्माजी महाराज पृथु को बडे नम्र शब्दो मे समझाने लगे। पितामह बोले—'राजन्! आप इन्द्र पर इतने कुपित क्यो हैं?"

कुछ रोष के स्वर मे महाराज पृथु बोले—'महाराज! आप देख नही रहे हैं, इन्द्र मेरे यज्ञ मे बार बार विघ्न कर रहा है। क्रोध की तो बात ही है।"

ब्रह्माजी ने हँसकर कहा—'आप यज्ञ करके कौन सा पद प्राप्त करना चाहते हैं?"

महाराज पृथु ने कहा—"महाराज, मुझे किसी भी पद की आकाक्षा नही। मैं तो यज्ञो द्वारा भगवान् की निष्काम भाव से उपासना कर रहा हूँ।"

बडे मधुर शब्दो मे ब्रह्माजी ने कहा—'जब आपको भगवान् की आराधना ही करनी है, तो आपका १०० यज्ञ करने का ही आग्रह क्यो है। जैसे ही १०० यज्ञ वैसे ही ९९ आप इस छोटी सी बात के पीछे क्रोध करके अपने तप तेज को नष्ट करना क्यो चाहते हैं।

इस पर महाराज पृथु ने प्रेम के रोष मे कहा—"महाराज, य बात आप इन्द्र को क्यो नही समझाते। उसका हमने क्या बिगाडा है, वह क्या हमारे यज्ञ म विघ्न करने पर तुला हुआ है।"

इस पर ब्रह्माजी बडे स्नेह से बोले—'अब भैया, तुम दोनो

ही अपने अपने हठ पर अडे रहोगे तो फिर गाडी आगे चलेगी ही नही। तुम लोगो की हठ के पीछे ससार का अनर्थ होगा। पाखण्ड मार्ग का प्रचार होगा, इसलिये भैया, दोनो आपस मे सुलह कर लो।"

महाराज पृथु बोले—"हमारी क्या लडाई। उन्होने ही पहिले से छेडखानी आरम्भ की है, वे हमारे यज्ञ मे विघ्न करना छोड दे हमारी सुलह ही है। वे अपने घर, हम अपने घर।"

ब्रह्माजी बोले—"भैया, ये सुलह की बातें नही। ये तो हठ वाली बातें है। देखो इन्द्र भी भगवान् के अशावतार हैं, तुम भी भगवान् के अशावतार हो। बात को बढाओ मत। आप ही छोटे बन जाओ। इन्द्र का आग्रह है, सौ यज्ञ पूरे न हों, तो न सही। आपको १०० से क्या लेना। आप तो मोक्ष धर्मावलम्बी है।

पृथु महाराज ने उपेक्षा के स्वर मे कहा—"महाराज! मुझे क्या? मेरे लिये जसे ही १०० वैसे ही हजार, वैसे ही १०, किन्तु मैं इसी दुविधा मे पडा हूँ, कि जो प्रतिज्ञा कर के भी उस काम का नही करता वह ससार मे झूठा कहलाता है, मैंने सौ यज्ञो की दीक्षा ली है। १०० पूरे न होंगे, तो लोग मेरी निंदा करगे। कहेंगे—'पृथु अपनी प्रतिज्ञा पालन नही करते।'

इस पर ब्रह्माजी बोले—"राजन्! आप इस बात से निश्चित रहे, इससे आपकी निन्दा नही, किन्तु बडाई ही होगी। ग्रहण करने वाले से सामर्थ्य होने पर त्याग करने वाला सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। मान पाने वाले की अपेक्षा मान देने वाले का महत्व अधिक है, दूसरो को नीचा दिखाने की अपेक्षा शक्ति रहने पर स्वय नत हो जाना प्रशसनीय कार्य है। अत. राजन्!

आपके ९९ यज्ञ से ही सैकडो यज्ञो के समान आपकी कीर्ति होगी। अप इस बात की चिन्ता छोड दें, कि मेरे १०० यज्ञ निर्विघ्न समाप्त नही हुए। देखिये, जिस कार्य मे दैव प्रतिकूल हो, उसके लिये अत्यधिक आग्रह करना क्रोध उत्पन्न करके सबसे लडना भिडना यह प्रशसनीय कार्य नही है। इससे तमोगुण बढ़ता है, लक्ष्य से च्युत होना पडता है और उत्थान के स्थान मे पतन होता है। अत ऐसे अवसर पर अपने बडे वृद्ध लोग जो कहे उसी को श्रद्धा सहित मान लेना चाहिये। हम जो आपको सम्मति दे रहे हैं, उसे बेमन से नही, आदर पूर्वक स्वीकार कीजिये, इसमे आप का तथा समस्त प्रजा का कल्याण है।

यह सुन कर पृथु बोले—"महाराज, मुझे तो आपकी आज्ञा सर्वथा स्वीकार है, किन्तु यह अतिम ही तो यज्ञ है ब्रह्माजी ने तनिक घुडक कर कहा—"देखो, फिर वही बात। भैया, ये देवता बडे हठी होते है। इन्द्र नही मानेगा, नही मानेगा, वह विघ्न अवश्य करेगा। शक्ति भर आपके १०० यज्ञो को पूरा न होने देगा इससे होगा क्या ? पाखड बढेगा धर्म का ह्रास होगा। इसलिये भैया, तुम्हारे यज्ञ बन्द करने से ये सब अनर्थ एक साथ रुक जायेंगे। इन्द्र तुम्हारे यज्ञसे द्रोह करता है, तुम्हारे घोडे को चुराता है, इससे पाखड वेष से भोली भाली जनता मोहित होती है। आप का अवतार तो धर्म की वृद्धि के लिये हुआ है। वेन के समय धर्म लुप्तप्राय हो गया था, उसने यज्ञ, दान, तप सभी बन्द कर दिये थे, आपने उन सब का फिर से प्रचार किया, धर्म की मर्यादा को फिर से बाँधा। फिर आप अधर्म को क्या बढने देते है, बन्द कर दीजिये इस यज्ञ को। इन्द्र का हो हठ रहे। ये विश्व के रचयिता भृगु आदि महर्षि धर्म की वृद्धि

करके प्रजा को बढा रहे हैं, इनके काम मे आप सहायता करें। इन सब ने धर्म वृद्धि के लिये ही वेन के मृतक शरीर से आपका प्राकट्य कराया है। इन्द्रनिर्मित इस प्रचण्ड पाखण्ड पापपथ का मूलोच्छेद कीजिये। आप हिचक क्यो रहे हैं ?"

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी ! लोक पितामह भगवान् ब्रह्मदेव की बात सुनकर महाराज पृथु ने उस पर विचार किया और फिर हाथ जोड कर बोले—"प्रभो ! जैसी आपकी आज्ञा।' अच्छी बात है मैं इस यज्ञ की पूर्ति के हठ को आपकी आज्ञा से छोडे देता हूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—भाई, ऐसे नही। हमारे कहने से बेमन से नही। इन्द्र के अपराधो को क्षमा कर दो। मन मे मैल मत रखो रचक मात्र भी इस बात का ध्यान न रखो, कि यह हमारे यज्ञ का विघ्न करता है। इसे दवेच्छा समझकर इन से प्रेम करलो।'

महाराज पृथु ने कहा—"नही भगवन् ! रागद्वेष की कौन सी बात है। इन्द्र भी आपके बच्चे हैं, मैं भी आपका बच्चा हूँ भाई भाइया मे ऐसा मतभेद हो ही जाता है। अब मेरे मन मे कोई बात नही।'

इतना कहकर महाराज ने ऋत्विजो से यज्ञ स्थगित करने की प्राथना की। अब यज्ञान्त अवभृत स्नान हो—इतना सुनते ही ऋत्विजो ने पूर्णाहुति की। भगवती विष्णुपदी गगाजी मे अव भृत स्नान हुआ। यज्ञ म आये हुए समस्त देवताओ न महाराज को अभीष्ट वरदान दिये। ब्राह्मणो ने मनमानी यथेष्ट दक्षिणा पाकर महाराज को भाति भाति के अमोघ आशीर्वाद दिये। महाराज न सभी का दान सम्मान स यथोचित आदर किया। दान चाहे कितना भी करें यदि वह श्रद्धा और सम्मानपूर्वक नही किया जाता, ता सब व्यथ है। लेने वाला को हार्दिक

प्रसन्नता नही होती, पूर्ण सतोष नही होता। इसके विपरीत चाहे दान कम ही दिया जाय, किन्तु मान सम्मान और श्रद्धा सहित उचित पात्र को दिया जाय, तो उसका अक्षय फल होता है। महाराज पृथु ने दान भी आवश्यकता से अधिक दिया और मान सम्मान स्वागत सत्कार भी सब का यथेष्ट किया। इससे सभी सन्तुष्ट होकर महाराज पृथु के प्रभाव की भूरि भूरि प्रशसा करते हुए अपने अपने स्थानो को चले गये।

छप्पय

विधि आज्ञा सिर धारि यज्ञ पृथु बन्द करायो।
गुरु गौरव कूँ मानि बात आगे न बढायो॥
जो जो मख महँ देव विप्र ऋषि मुनिवर आये।
सब को करि सत्कार, विविध विधि दान दिवाये॥
पाइ दान सम्मान बहु, विप्र तुष्ट अतिशय भये।
दे आशिष अति मुदित ह्वै, अपने अपने घर गये॥

—✕—

महाराज पृथु और इन्द्र में प्रेम कराने को प्रभु प्राकट्य

(२७०)

भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक् तमभाषत॥
एष तेऽकारषीद् भद्रं हयमेधशतस्य ह।
क्षमापयत आत्मानमनुष्य क्षन्तुमर्हसि॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २० अ० १०२ श्लो०)

छप्पय

पृथु यज्ञनि तें तुष्ट भये श्री मधुसूदन अति।
भये यज्ञ महँ प्रकट शक्र लै संग यज्ञपति॥
पृथु तें पूजित भये फेरि बोले मृदुवानी।
राजन्! सबहिं कुचाल शतक्रतु की हम जानी॥
हौं प्रसन्न तुम पै भयो, सिद्ध होहिं तव काज सब।
अतिलज्जित यह इन्द्र है, जाहि क्षमा करि देहु अब॥

समस्त कर्मों के करने का एकमात्र उद्देश है, प्रभु प्रीति। जो इस उद्देश को भूलकर कर्मों मे ही आसक्त हो जाते हैं उनके

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी लोकपितामह ब्रह्माजी के समझाने के अनन्तर महाराज पृथु के यज्ञो से सन्तुष्ट होकर यज्ञ भोक्ता भगवान्

द्वारा ससारी भोगो की इच्छा रखते हैं, वे उसी प्रकार हैं, जैसे कोई पथिक किसी राजा के समीप जा रहा हो। वहाँ न जाकर केवल पथ मे ही आसक्त हो जाय। अच्छी अच्छी चमकीली दीखने वाली वस्तुओ मे ही फँसकर लक्ष्यच्युत हो जाय। यज्ञादि कर्म साध्य नही, साधन हैं। इनको करके श्रीकृष्णार्पण कर दे। उनका फल स्वय न चाहे, जो ऐसा न करके उनको ही साध्य मानकर परनिन्दा, द्वेष, कलह शत्रुता आदि करते है, उन्हे अन्त मे पछताना पडता है। वे उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। हमारे जिस कर्म से भी प्रभु प्रसन्न हो जायँ, वही श्रेष्ठ है। प्रभु प्रसन्न हो गये, तो अधूरा काम भी पूरा है, यदि उनकी प्रसन्नता प्राप्त न हुई तो पूरा काम भी अधूरा माना गया है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ब्रह्माजी की आज्ञा मानकर जब महाराज पृथु ने १०० यज्ञो की पूर्ति का विचार छोड़ दिया और १०० यज्ञ को अधूरा ही छोड़कर अवभृत स्नान कर लिया तो उनकी इस निस्पृहता के कारण यज्ञपति भगवान वासुदेव उन पर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। अब अपने अवभृत महाराज को कृतार्थ करने और उनके यज्ञों का वास्तविक फल देने के निमित्त भगवान् विष्णु साक्षात् रूप से महाराज पृथु के सम्मुख प्रकट हुए। गरुड के ऊपर बैठे हुए भगवान् उसी प्रकार शोभित हो रहे थे मानो सुमेरु शिखर पर जल से भरे बिजली-युक्त बादल विराजमान हो। उनके साथ देवेन्द्र इन्द्र भी थे, गधर्व

विष्णु इन्द्र को साथ लिये हुए पृथु-यज्ञ मे प्रकट हुए और महाराज बोले—"राजन् ! आपके सौवें यज्ञ को इस इन्द्र ने भङ्ग किया है, इस समय यह अपने अपराध को आपसे क्षमा कराना चाहता है, इसलिये आपको इसे क्षमा कर देना चाहिये।

गा रहे थे, ऋषि-मुनि उनकी स्तुति कर रहे थे। सहसा श्रीहरि को प्रकट होते देखकर पृथ्वीपति महाराज पृथु हक्के बक्के से रह गये, वे किंकर्तव्यविमूढ से बने कुछ निर्णय न कर सके, कि मुझे क्या करना चाहिये कैसे पूजा करनी चाहिये। इतने मे ही भगवान् मुसकराते हुए महाराज पृथु से कहने लगे—राजन्! तुम उदास तो नही हो गये, तुम्हारे मन मे कुछ दु.ख तो नही हुआ, तुम इन्द्र के ऊपर कुपित तो नही हो?"

भगवान् के ऐसे अमृत में सराबोर अत्यन्त ही मधुर वचन सुनकर महाराज कुछ भी न कह सके। वे स्नेह के आवेग मे केवल प्रेमाश्रु ही बहाते रहे, हाथ जोड़े भगवान् के सम्मुख खड़े के खड़े ही रह गये।

तब भगवान् ने कहा—"इस इन्द्र को मैं पकड़ कर तुम्हारे सम्मुख लाया हूँ; इसने तुम्हारा अपराध किया है, तुम्हारे अन्तिम यज्ञ को भग किया है। अब यह अपने कुकृत्य के कारण लज्जित हो रहा है, आपसे क्षमा याचना कर रहा है। देखो, बड़े आदमियो का बड़प्पन इसी में है. कि वे छोटो के दोषो पर ध्यान नही देते। उनके सब अपराधो को क्षमाकर देते हैं। आप भी इसके प्रति अन्यथा भाव न रखें, इसे हृदय से क्षमा करदें।"

महाराज पृथु ने आंसू पोछकर रुद्ध कठ से भराई हुई वाणी से इतना ही कहा—"प्रभो! आप ये कैसी बाते कह रहे है।" बस, इसके आगे वे कुछ न कह सके उनका हृदय भर आया, वे भगवान् की भक्त-वत्सलता का स्मरण करके रो पड़े।

तब भगवान् बड़े ही स्नेह के साथ बोले—देखो, राजन् शरीर और शरीरी, देह और देही, आत्मा और अधिष्ठान ये भिन्न-भिन्न हैं। मूर्ख लोग इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं और "मैं" कहने से इस शरीर को ही मैं समझते हैं। वास्तव मे

दृश्यमान शरीर आत्मा तो है नही। आत्मा तो इससे सर्वथा पृथक् है। रागद्वेष आदि इस शरीर के ही कारण होते है, अतः साधु स्वभाव के पुरुष इस शरीर सबन्ध से अन्य किसी प्राणी से द्रोह नही करते। द्रोह करें भी तो किससे। सर्वत्र वही एक आत्मा तो नाना रूपो मे दिखाई दे रहा है।"

पृथु ने हाथ जोडे ही जोडे कहा—"प्रभो! यह सब आपकी दुरत्यय माया का ही खेल है।"

प्रसन्न होकर भगवान् बोले—"हाँ, यह सब दैवी माया का ही भ्रम है। जिन्होने चिरकाल तक गुरुजनो की श्रद्धा से सेवा नही की है, वे अज्ञानी पुरुष ही इस माया के चक्कर मे फँस जाते है। यदि तुम जैसे बुद्धिमान पुरुष भी माया मोहित हो जायँ, तब तो सुश्रूषा, आस्तिकता, धर्माचरण ये सब व्यर्थ ही हो जायँ। दु.ख का कारण है ममता। यह मेरा घर, यह मेरा धन, ये मेरे पुत्र पौत्र। इन्ही सबकी आसक्ति मे फँसकर अज्ञानी जीव किसी से राग करता है, किसी से द्वेष। किन्तु बुद्धिमान् पुरुष इस शरीर को अविद्या, वासना और पूर्व कर्मों से निर्मित समझकर सदा अनासक्त भाव से बर्ताव करते हैं।"

इस पर महाराज पृथु ने कहा—"महाराज, यह आत्मा आत्मा लोग कहते हैं आत्मा क्या वस्तु है?"

भगवान् इतना सुनते ही हँस पडे और बोले—"राजन्! आप से क्या छिपा है, आप सब जानते हैं। आप मुझ से भिन्न मेरे अश ही है। अश और अशी मे कोई भेद नही। फिर भी आप पूछते हैं तो कहता हूँ। आत्मा एक है शुद्ध है, स्वय ज्योति है, निर्गुण है, फिर भी गुणाश्रय है। सर्व-व्यापक है, आवरण-शून्य है, सबका साक्षी है, अनन्यात्मा है, सबसे परे है। वह, सबके भीतर है, बाहिर है, फिर भी भौतिक पदार्थों से निर्लेप

है जो इस तत्व को यथार्थ रूप से जान लेता है वह शरीर म रहता हुआ भी सर्वथा मुझ म ही स्थित रहता है। वह विकारा से उसी प्रकार लिप्त नही होता जिस प्रकार जल म रहने पर भी कमलपत्र जल स लिप्त नही होता।

महाराज पृथु बोले—भगवन्! पृथक् करके कैवल्यपद की प्राप्ति किस साधन द्वारा हो सकती है?"

भगवान् बोले—राजन्! इसका एकमात्र उपाय है निष्काम कर्मयोग। जो भी कुछ करो, मेरी प्रीति के निमित्त ही करो, जो करो वह मुझे अर्पण कर दो। बिना किसी प्रकार की कामना रखे जो श्रद्धापूर्वक नित्य ही अपने वर्णाश्रमधर्मोचित कार्यों को मेरी प्रसन्नता के निमित्त करता रहता है, उस कर्म से अत्यन्त शीघ्र ही उसका अन्त करण पवित्र हो जाता है। पवित्र अन्त करण म यह विवेक स्वय ही उत्पन्न हा जाता है कि म देह नही। ऐसा प्रत्यग्दर्शी शुद्ध चित्त वाला पुरुष नित्य मुझ म ही स्थिर रहता है। शान्ति तो मेरा स्वरूप ही है अत स्थिर शान्त पुरुष ही कवल पद का अधिकारी हो जाता है। जो पुरुष द्रव्य, ज्ञान, क्रिया और मन के साक्षीभूत मुझे उदासीन निर्विकार आत्मस्वरूप को भली प्रकार जान लेता है, वही शोभनावस्था अर्थात् कल्याण को प्राप्त करता है।

महाराज पृथु ने पूछा—'प्रभो! अनुकूल प्रतिकूल घटनाओ से जो क्रियायें होती है वे कैसे होती है उनसे सुख दुख की उपलब्धि क्यो होती है?"

भगवान् बोले—'राजन्! देखिये, इस शरीर म क्या क्या है पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश य पच महाभूत हैं, मन सहित ११ इन्द्रिया हे सब के अभिमानी देवता है और एक चेतना शक्ति है, इन सब से विशिष्ट परिच्छिन्न लिङ्ग शरीर म ही सात्विक

राजस तथा तामस इन तीनो गुणो की क्रियाये होती है। साक्षी आत्मा तो निर्विकार निष्क्रिय साक्षी मात्र है। जो इन बातो को भली भाँति समझ गया है, ऐसा मुझ मे ही दृढ प्रेम रखने वाला मेरा अनन्य भक्त कभी भी दुख सुख की प्राप्ति मे विकार भाव को प्राप्त नही होता। उसके लिये जैसा ही दुख वैसा ही सुख। वह समझता है, गुण गुणो मे वर्त रहे है। आत्मा तो इन प्राकृत गुणो से परे है। ससारी सुख दुख उसे सुखी दुखी नही कर सकते। वह तो नित्यतृप्त दुख सुख से रहित आनन्द स्वरूप है।

पृथु महाराज ने पूछा—"महाराज! ये तो ब्रह्मज्ञान की गूढ बातें हुई, मेरे लिये क्या कर्तव्य है, उसका उपदेश करें।"

भगवान् बोले—"देखो, ससार मे उत्तम, मध्यम, अधम मित्र, शत्रु और उदासीन तीन प्रकार के पुरुष होते है। उत्तम पुरुष सब से मैत्री का भाव रखते है, मध्यम पुरुष उनसे मैत्री करते हैं, जिनसे अपना कुछ सम्बन्ध हो, शेष सबसे उदासीन रहते है। अधम पुरुष वे हैं, जो सदा सर्वदा सभी से मैं मेरी तू तेरी का आश्रय लेकर द्वेष ही करते रहते है। मित्र वे कहलाते हैं, जो सदा अपना हित चाहते हैं। उदासीन वे होते है, जो न हित चाहते है न अहित जिन्हे हमसे कोई प्रयोजन ही नही। शत्रु वे होते हैं, जो सदा हमारा अहित चाहते हैं, बुद्धिमान पुरुष इन तीनो मे ही मन से समबुद्धि रखते है। इनमे पृथक्त्व बुद्धि करके रागद्वेष नही करते। सभी को भगवान् की माया के वशीभूत समझकर सब का मन से आदर करते हैं। तुम ऐसा ही वर्ताव करो। मन सहित इन्द्रियो को जीत कर मेरी सेवा समझ कर सब की सहायता करो, प्रजा की रक्षा करो। तुम्हारे जो मत्री

है उन्हे भी यही समझो कि भगवान् ने इन्हे मेरी सहायता के लिये भेजा है।

पृथु महाराज बोले—प्रभो ! अब आप मुझे इस प्रजापालन रूपी पचडे मे क्यो फँसाते हैं ? इस कार्य का भार किसी दूसरे को दीजिये। मैं तो कल्याणमार्ग का पथिक बनना चाहता हूँ। सर्वात्मभाव से आपकी ही आराधना मे तत्पर होना चाहता हूँ।"

भगवान् ने शीघ्रता के साथ कहा—"नही, नही, राजन् ! प्रजा का प्रेम के सहित पुत्रवत् पालन करना ही पृथ्वीपति के लिये कल्याण का प्रशस्तपथ है। प्रजा जो भी पुण्य करती है उसका षष्ठाश पुण्य पृथ्वीपाल को परलोक मे स्वत. ही प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार पाप का भी उसे छठा हिस्सा मिलता है। जो स्वधर्म का त्याग कर प्रमादवश अन्य काम करता है, वह पतित हो जाता है इसी लिये तुम वेदज्ञ ब्राह्मणों के बताये मार्ग से, उनकी सम्मति लेकर प्रजा का पालन करो। यही आपका प्रधान साधन है।"

महाराज पृथु बोले—"प्रभो ! आपकी आज्ञा का तो मुझे पालन करना ही है, किन्तु ग्रहस्थी मे आसक्त होने के कारण हम साधु सगति से वचित हो जायँगे। राज काज मे फँसे होने के कारण साधु महात्माओ के यहाँ भी सदा न पहुँच सकेंगे। जब तक सत्सगति नही मिलती, तब तक परमार्थ मार्ग मे उन्नति नहीं होती, आगे बढ नही सकते। इस राज करने मे यह एक बडा दोष है।"

इस पर भगवान् बोले—"राजन् ! आप घबडाते क्या हैं। अजी, जो निष्काम भाव से भगवत् सेवा समझकर सभी कामों को करता है, अपने वर्ण धर्म और आश्रम धर्मों का प्रभु प्रीत्यर्थ

पालन करता है। उसके समीप सिद्ध स्वत, सत्सग के निमित्त आते हैं। सिद्ध पुरुषो से किसी के मनोभाव तो छिप रहते नही। वे तो सदा अधिकारी को खोजते रहते हैं। साधक की अपेक्षा उन्हे योग्य अधिकारी को उपदेश देने की अधिक चटपटी लगी रहती है। आप के यहाँ घर बैठे स्वत सनकादि महासिद्ध आकर आपको अपने आप उपदेश दगे।"

भगवान् के ऐसे मधुर कृपा-पूर्णवचन सुनकर महाराज पृथु बडे प्रसन्न हुए। वे भगवान् के कृपा-भार को सह सकने मे समथ न होकर नत हो गये। तब भगवान् उनके ऐसे शील स्वभाव को देखकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—'राजन्! मै तुम्हारे शील, स्वभाव सदाचार और सरलता आदि गुणो से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। अब आप मुझसे जो भी कुछ चाहे अपना अभीष्ट वर माँग लें।"

मैत्रेय मुनि कहते है— विदुरजी! भगवान् के द्वारा वर याचना की आज्ञा श्रवण करके महाराज पृथु सहम गये। वे कुछ भी नही बोले, लज्जित भाव से पृथिवी की ओर देखते रहे और अपने नख के अग्रभाग से पृथिवी को कुरेदने लगे।

छप्पय

राजन् यह तनु नाशवान् क्षण भगुर गुणमय।
आत्मा निर्गुण शुद्ध सर्वगत साक्षी आश्रय॥
करहिं दान तप धम विविध विधि यज्ञ रचावें।
करिकें अरपें मोहि परम पद ते नर पावें॥
पृथु! पृथिवी पालन करो, मेरी सेवा जानिकें।
करहु प्रेम सब जननि तें, सब महँ मोकूँ मानिकें॥

महाराज पृथु का प्रेमोद्रेक

(२७१)

स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिम्
विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः ।
न किंचनोवाच स वाष्पविक्लवो
हृदोपगुह्यमुमधादवस्थितः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २० अ० २१ श्लो०)

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि चरन महँ शीश नवायो ।
परचो पैर पै शक्र उठायो हिये लगायो ॥
पुनि विधिवत अति प्रेम सहित प्रभु पूजा कीन्ही ।
अति प्रसन्न हरि भये प्रेम की आशिष दीन्ही ॥
हरि दरशन नहिं करि सकें, प्रेम अश्रु नयननि भरे ।
कठ रुद्ध निश्शब्द हरि, हिय तें आलिङ्गन करे ॥

भगवान् की कोई घोर तपस्या करके ही प्रसन्न करना चाहे तो असम्भव है। तपस्या से पुण्य बढता है और पुण्य से ससारी सुख। कोई चाहे कि हम यज्ञो के द्वारा ही श्री हरि को प्रसन्न

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् की कृपा को स्मरण करके आदिराज महाराज पृथु के नेत्रो मे जल भर आया। आंखो मे प्रेमाश्रु भर आने के कारण वे भगवान् के दर्शन करने मे भी समर्थ न

कर लेंगे, तो यह भी उसकी भूल है। अश्वमेधादि यज्ञो से स्वर्गादिलोको की प्राप्ति होती है और वे क्षयिष्णु नाशवान् तथा सातिशयादि दोषो से युक्त हैं। भगवान् को यदि कोई प्रसन्न कर सकता है, तो वही कर सकता है, जिसका सब मे समान भाव हो। जो अपकार करने वाले के प्रति भी द्वेष न रखता हो।

एक मठ मे बहुत से भगवद्भक्त साधक रहते थे। वे घर घर से भिक्षा माँग लाते थे और निरन्तर भगवान् के भजन कीर्तन मे सलग्न रहते। उनमे एक बहुत ही उच्च कोटि के थे। वे न किसी से राग करते थे न द्वेष। सब मे समान भाव से उन सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को देखते थे। खलो का तो यह स्वभाव ही होता है, कि अकारण साधु पुरुषो से द्वेष करना और उन्हे पीडा पहुँचाते रहना। एक दुष्ट प्रकृति का पुरुष था, उनसे वैसे ही द्वेष करता था। महात्मा को तो कुछ पता ही नही था। एक दिन वह अपने सगे भाई से लडाई कर रहा था। दोनो एक दूसरे पर क्रोध मे भर कर प्रहार कर रहे थे। ये महात्मा भी भिक्षा माँगते हुए उधर आ निकले। साधु पुरुषो का स्वभाव ही होता है, कि दो लडते हुए पुरुषो को समझा देना उन मे बीच बिचाव कर देना। महात्मा जी ने भी बीच मे आकर उन दोनो को समझाते हुए कहा—"अरे, भैया! लडते क्यो हो, देखो, लडाई झगडा ठीक नही। प्रेम पूर्वक रहो।" इतना कह कर वे दोनो के बीच मे पडकर उनको हटाने लगे।

हुए। कण्ठ रुद्ध हो जाने के कारण वे कुछ कह भी न कह सके। वह अपने हृदय से ही इन श्रीहरि का आलिंगन करते हुए दोनो हाथो की अञ्जलि बाँधे खडे के खडे ही रह गये।"

उस दुष्ट को आया क्रोध, कि यह साधु हमारे काम मे विघ्न करता है, हमे गुरु बनकर शिक्षा देता है। अत. भाई पर प्रहार करना छोडकर महात्मा के सिर पर जोर से एक लाठी मारी महात्मा का सिर फट गया और वे अचेत होकर गिर पडे। उन्हें शरीर की भी सुधि न रही।

जब मठ के दूसरे सतो ने सुना तो वे शीघ्रता से उनके समीप आये और उठाकर मठ मे ले गये। उनका उपचार किया घाव मे औषधि लगाई, पट्टी बांधी और चेतना लाने के लिये मुख मे रुई से गरम गरम दूध छोडने लगे। महात्मा को कुछ कुछ चेत हुआ। तब एक वृद्ध से सत ने यह देखने के लिये कि इन्हे चेत हुआ या नही उनसे पूछा—"महात्मन्। बताइए आप पहिचानते है, आपके मुख मे दूध कौन डाल रहा है?"

क्षीण स्वर म उन समदर्शी महात्मा ने उत्तर दिया—'थोड़ी देर पहिले जिसने मारा था, वही दूध पिला रहा है। वे ही मारते है ताडते है। शिक्षा देते है और वे ही रक्षा भी करते हैं।" अचेतावस्था मे भी समभाव की ऐसी हठ भावना देखकर भगवान् तुरत प्रकट हुए और उन्हे अपने दर्शनो से कृतकृत्य किया।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! भगवान् के यहाँ ऐश्वर्य की सामग्रियो की तो कुछ कमी ही नही। वे इन ऊपरी आडम्बरो से प्रसन्न नही होते, उनकी प्रसन्नता तो भाव के ऊपरी अवलम्बित है। यदि महाराज पृथु १०० अश्वमेधो का ही आग्रह करते रहते और इन्द्र उसमे निरन्तर विघ्न करता, तो दोनों ओर से सघर्ष होता, लडाई झगडा, क्रोध द्वेष, शापी मारा मारी तक की नौबत आ जाती। यज्ञ-भूमि रण-भूमि बन जाती, प्रेम के स्थाना म द्वेष का बीजारोपण होता। जब ब्रह्माजी की आज्ञा शिरोधार्य करके महाराज पृथु झुक गये, नत हो गये, तो

इससे लोक पितामह ब्रह्मा, जगत् पति भगवान् विष्णु उन पर प्रसन्न हुए और उन्हे अपने साक्षात् देव-दुर्लभ दर्शन दिये। भगवान् जो भी आज्ञा देगे, मेरे कल्याण की ही दगे। यज्ञो द्वारा मैं उन्ही का पूजन कर रहा हूँ। यही सब सोचकर महाराज पृथु ने श्रद्धा-सहित सर्वात्मा श्रीहरि के सम्मुख सिर झुका दिया उनके शुभ शासन को शिरोधार्य किया।

महाराज का ऐसा विनय देखकर भगवान् ने शक्र को सकेत किया, कि अपने अपराध के लिये वह महाराज से क्षमा याचना करें श्रीहरि का सकेत पाते ही अमर-पति इन्द्र उनके पैरो मे पड गए। अपने पैरो मे पड़े देवेन्द्र को देखकर महाराज पृथु का हृदय भर आया और अत्यत ही स्नेह से इन्द्र को बलपूर्वक उठाकर अपने हृदय से चिपका लिया। अश्रु विमोचन करते हुए देवेन्द्र बोले—"महाराज ! मैंने आपका बडा भारी अपराध किया है। अपने क्षुद्र स्वभाव से बड़ी कुलिटता की है कि, आप अपनी उदारता से मेरी उस कुटिलता को भूल जायँगे, मुझे क्षमा कर देगे ऐसी मैं आपसे आशा रखता हूँ।"

अत्यन्त ही स्नेह के स्वर मे इन्द्र के ऊपर हाथ फेरते हुए महाराज पृथु बोले—"देवेन्द्र ! आप ये कैसी बाते कह रहे है। मेरा लक्ष्य यज्ञो की पूर्ति तो था नही। १०० यज्ञ करके मुझे कोई पद प्राप्त तो करना नही था। मेरा तो एकमात्र उद्देश्य प्रभु प्राप्ति ही था। मेरे इन शुभ कर्मो से सर्वान्तर्यामी श्रीहरि प्रसन्न हो यही मेरा ध्येय था, सो बिना यज्ञो की पूर्ति के ही प्रभु प्रसन्न हो गय। यदि घर के कोन मे ही शहद मिल जाय तो फिर उसकी प्राप्त के लिये पर्वतो मे मारे मारे फिरने से क्या लाभ ? आपने तो मेरे ऊपर कृपा की, झझटो से बचा दिया। आप इस प्रकार आग्रह न करते, तो भगवान् इतनी सरलता से

प्रसन्न थोडे ही हो सकते थे। आप अपने मन मे तनिक भ
विचार न करें। न लज्जित ही हो, आपके प्रति मेरा कोई बु
विचार नही। कुछ यत्किंचित् विद्वेष पहिले रहा भी हो, तो व
सब श्रीहरि के दिव्य अनुशासन से धुल गया, स्वच्छ हो गया।
इतना कहकर महाराज ने देवेन्द्र को हृदय से क्षमा क
दिया।

अब महाराज को चेत हुआ "अरे, मैं तो ऐसा बेसुध हो
गया, कि भगवान् का पूजन भी नही किया। उसी समय तुरन्
पूजा की दिव्यातिदिव्य बहुमूल्य सामग्रियाँ मगाई गईं। उनके
द्वारा महाराज ने बडे विधि विधान से भगवान् का पूजन
किया। पूजन के अनतर उन्होने प्रभु के पाद-पद्मो को प्रेमपूर्व
पकड कर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। महाराज का हृदय भर आ
था, उनका अनुराग क्षण क्षण मे नूतन होता जाता था। भगव
के कमल-दल-सदृश करुण चरणो के स्पर्श से उनकी तृप्ति हो
ही नही थी। भगवान् का हृदय भी नवनीतक समान पिघल ग
था। जैसे अत्यन्त हेज वाली गौ अपन हाल के बच्चे के ज
स्नेह प्रदर्शित करती हुई उसे चाटती है उसी प्रकार साधु
के सुहृद कमल दल लोचन सर्वात्मा श्रीहरि अपनी दया से आ
प्रोत दृष्टि द्वारा महाराज को देखते के देखते ही रह गये। उनक
दया से आर्द्र हुई दृष्टि पृथु के आनन पर चिपक गई। वह
वे जाने को उद्यत थे, अन्तर्धान होने के लिये तत्पर थे किन्तु भ
के भक्तिबन्धन मे ऐसे कसकर बँध गये, कि उस बधनको तुडा
भाग सके। स्नेह की दृढरज्जु को सर्व समर्थ होने पर भी तुडा
मे वे असफल ही रहे। वे स्नेहपाश मे जकडे, गरुडजी के उ
कधे को पकडे खडे के खडे ही रह गये। यद्यपि देवता पृथ्वी
का स्पर्श नही करते, किन्तु प्रभु अपने आपे को भूल गये थे

उनके कोमल चरण कमल कठोर अवनि का स्पर्श कर रहे थे। भक्त और भगवान् दोनो की ही एक सी दशा थी, दोनो ही अपने आपे मे नही थे। महाराज पृथु के सरसीरुह सदृश विशाल विकसित नेत्र प्रेमाश्रुओ से ऐसे भर गये थे, कि वे भली भाँति भगवान् की झाकी भी न कर सकते थे। कठ ऐसा रुद्ध हो गया था, कि उससे एक शब्द प्रयत्न करने पर भी नही निकलता था। हृदय से उनका आलिगन कर रहे थे। अपने करार विन्दो से प्रभु के पादारविन्दो को प्रेमपूर्वक कसकर पकडे हुए थे। दोनो ही सज्ञाशून्य शरीर की सुधि भुलाये प्रेमासव मे छके से स्तब्ध खडे थे। भगवान् जा नही सकते थे, भक्त उन्हे छोड नही सकते थे। इस प्रकार वह दृश्य देखने ही योग्य था किसी परम भाग्यशाली के भाग्य मे ऐसा दृश्य देखने का सौभाग्य होता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! प्रेम मे आदान प्रदान की प्रथा प्राचीन है। आदान प्रदान से प्रेम वृद्धि को प्राप्त होता है। वह प्रेम का पोषक और अभिव्यक्ति कारक है। अत फिर भगवान् ने कहा—राजन्! मेरी प्रसन्नता व्यर्थ न जाय, अत तुम मुझ से कोई भी अपना अभीष्ट वर माँग लो। तुम मुझसे जो भी वस्तु माँगोगे वही मैं दूँगा। विदुरजी! भगवान् की ऐसी बात सुनकर महाराज पृथु कुछ भी नही बोले। वे भगवान् के श्रीमुख को एक टक भाव से निहारते के निहारते ही रह गये।

छप्पय

पृथु पकरे प्रभु पाद पद्म पावन अति मनहर ।
स्रवे सदा मधुमत्त होहिं पी भक्त भ्रमर वर ॥
पलकनि पौंछि पराग नयन पयतें पुनि धोये ।
नखद्युति के आलोक माहि प्रिय पुनि पुनि जोये ॥
प्रभु प्रभुपन कूं भूलिकें, पग पृथिवी परसत भये ।
भक्त और भगवान् ऊ, दोनो वेसुधि बनि गये ॥

महाराज पृथु का प्रभु से विचित्र वरदान

(२७२)

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचित्,
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो—
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २० अ० २४ श्लो०)

छप्पय

भक्त वछल भगवान् कहे नृपवर वर माँगो ।
मोइ कृतारथ करो निस्पृहा ऐसी त्यागो ॥
अश्रु पोंछि पृथु कहें प्रभो ! अब यह वर दीजे ।
होहिं सहस दश कान, प्रतिज्ञा पूरी कीजे ॥
घर बैठे सब ठौर तें, सुयश तुम्हार सुन्यो करूँ ।
सुनत श्रवन गुन थकित नहिं, होहिं हिये तव छवि धरूँ ।

जिस सुरा मे उत्कट और बुरी गध आती है, उसे पीने मे क्या सुख होता होगा' इसे सुरापी के अतिरिक्त दूसरे लोग जान नही सकते । जिसे देखने से उल्टी हो जाती है जिसका

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब भगवान् ने महाराज पृथु से बार बार वरदान माँगने को कहा, तब महाराज बोले—"हे स्वामिन् ! मैं आपसे ऐसी कोई भी सासारिक वस्तु नही चाहता, न

स्मरण आते ही जी मिचलाने लगता है, उस मास मे क्या स्वाद होगा, इसे मामाशी के सिवाय दूसरा जान नही सकता। जिन अगो से सदा दुर्गन्धि-युक्त मल मूत्र आदि अशुचि पदार्थ सदा स्रवित होते रहते हैं उनके सेवन स्पर्शादि से क्या सुख होता होगा ? इसका अनुभव ससारी कामियो के अतिरिक्त कौन कर सकता है। इसी प्रकार भगवान् की नित्य कथा सुनने से क्या सुख होता है, इसे भगवद् भक्तो के अतिरिक्त दूसरा समझ नही सकता। प्राय: लोग यह प्रश्न करते हैं, क्यो जी, वे ही हिरण्याक्ष हिरण्य कशिपु, वे ही सूकर नृसिंह, वे ही रावण विभीषण, वे ही राम लक्ष्मण। वे ही कस शिशुपाल, वे ही कृष्ण बलराम। एक बार सुन ली, दो बार सुन ली, दस बार सुन ली। अब उसे ही बारबार क्या सुनना,पिसेको क्या पीसना। तुम्हारी तृप्ति क्यो नही होती।" इसका सरल सा उत्तर यही कि जिसका जो आहार बन गया है, उसकी उससे कभी तृप्ति नही हुआ करती। उस उस वस्तु का व्यसन पड़ जाता है। भोजन से कभी किसी को तृप्ति हुई है ? प्रात: भली प्रकार ठूँस ठूँस कर पेट को भर लिया, शाम को फिर भूख लग आती है। अफीमची को एक दिन अफीम न मिले, व्याकुल हो जाता है, भँगेडी को भाँग के बिना, गजेड़ी को गाजे के बिना, शराबी को शराब के बिना सम्पूर्ण ससार सूना सा दिखाई देता है।

कोई ऐसा स्थान प्राप्त करना चाहता हूँ जहाँ महापुरुषो के मुख से निकला हुआ सुयश सुधारूपी मधुर मकरन्द पान करने को न मिले। यदि आप वर देना ही चाहते हैं, तो मुझे यही वर दीजिये, कि आपके गुण श्रवण के निमित्त मेरे दस हजार कान हो जायें, यही मेरा श्रेष्ठतम वर है।

अपनी इष्ट वस्तु से जिसे तृप्ति हो जाय, तो समझो वह उसका इष्ट ही नही। रुपया कमाने वालो की कभी रुपयो से तृप्ति हुई है। वे ही सोने चाँदी, तावे कागज के सिक्के है अपने पास दस रहे तो भी वैसे, सौ रहे तो भी वैसे, हजार लाखो कितने भी रहे, तृप्ति किसी को नही। हजारपति लखपति होना चाहता है, लखपति करोडपति वनने का उत्सुक है। कराडपति पद्मपति वनना चाहता है। इसी का नाम है व्यसन। विशेषरूप से निरन्तर खाते रहना और तृप्ति न होना यही व्यसन का तात्पर्य है। ससारी व्यसनो मे फँसे लोग तो सर्वत्र दिखाई देते है, किन्तु जिन्हे भगवन्नाम कीर्तन, भगवत् कथा श्रवण का व्यसन है, जो इनके विना एक क्षण भी नही रह सकते, ऐसे पुरुष ससार मे दुर्लभ है। जिन्हे ससारी कथा रुचिकर प्रतीत न होकर "भागवती कथ ओ मे ही सदा रमे रहें ऐसे पुरुष तो ससार मे दुर्लभ हैं। उनकी कोई आन्तरिक इच्छा रहती भी है, तो यही कि सर्वत्र भागवती कथाओ का प्रचार और प्रसार हो सर्वत्र हरिनाम-सकीर्तन की सुमधुर ध्वनि गूँजती रहे। कोई क्षण ऐसा न वीते जिसमे कृष्ण कथारूपी पुनीत पीयूष पान करने को प्राप्त न हो सके। वे सवसे इसी की याचना करते है, सव से इसी के सम्वन्ध मे वाते करते हैं, सभा से कथा कीर्तन के प्रसार का ही आग्रह करते हैं। ऐसे पुरुष नही, वे तो नर रूप-धारी हरि ही हैं।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! भक्त और भगवान् के मिलने मे एक अपूर्व सुख होता है। अब उस सुख की उपमा किससे दूँ, यो समझिये कि पहिले ही पहिले जैसा सुख आपको श्री विदुरानीजी से मिलने मे हुआ होगा, उससे लाखो करोड़ो गुना सुख भक्त को भगवान् से मिलने मे होता है।"

यह सुनकर विदुरजी हँस पडे और लजाते हुए बोले—'महाराज, आपने भी कैसी बेढगी उपमा दे डाली।"

यह सुनकर मुस्कराते हुए मैत्रेय मुनि बोले—"अब विदुर जी! मै क्या बताऊँ। समार मे और कोई इतनी सरस उपमा है ही नही। दो मन से मिल हुए हृदय जब सयोग-वश शरीर से मिलते है ता उस मिलन मे एक अपूर्व सुख का प्रादुर्भाव होता है। महाराज पृथु भगवान् को पाकर अपने आपे को भूल गये। भगवान् भी अपनी भगवत्ता को विसार कर पृथ्वी के पुरुषो के समान भूमि पर खडे हो गये। विदुर जी! आदान प्रदान से प्रेम चमक उठता है। जितना ही दोनो के बीच मे सकोच होगा, उतनी ही प्रेम की न्यूनता समझनी चाहिये। भगवान् ने महाराज से कहा—तुम मुझ से वरदान माँगो। महाराज पृथु चुप हो गये, इसका कुछ उत्तर ही न दिया। माँगना तो अभाव मे होता है, जो वस्तु हमारे पास नही हाती, उसकी हम दूसरो से याचना करते हैं। पृथ्वीपति पृथु के समीप किसी वस्तु का अभाव ही नही था, वे भगवान् स माँगें भी तो क्या माँगें। वे कुछ माँगना नही चाहते थे, भगवान् देने पर तुले हुए थे। अत वे बडे मधुर स्वर मे बोले—"राजन्! देखो, तुमने मेरी पूजा की, नाना उपहार मुझे अर्पण किये, तुम्हारी प्रीति के निमित्त मुझे किसी वस्तु की इच्छा न रहने पर भी वे सब उपहार मैंने स्वीकार कर लिये, अब तुम भी मेरी प्रसन्नता के निमित्त मुझ से कुछ वरदान माँग लो। जो भी तुम्हारी इच्छा हो, सकोच का काम नही। कोई भी इन्द्रलोक तथा परलोक सम्बन्धी वस्तु नही है जो मेरे पास न हो और जिसे मैं तुम्हारे माँगने पर दे न सकूँ। तुम्ह जो भी अभीष्ट हो उसे ही माँग लो, इससे मुझे देने म बडा सुख होगा। देना

लेना खाना खिलाना यही तो प्रेम प्रदर्शित करने के उपाय है।"

यह सुनकर महाराज पृथु सकोच के साथ बोले—"भगवन्! आप मुझ से वरदान माँगने को कह रहे है। यह मेरा सौभाग्य है, आप सभी वरदानियो मे श्रेष्ठ है। आपके लिये कुछ भी अदेय नही। आप अविनाशी, सत्यस्वरूप, अज, निर्गुण और अक्षर है। आप जिस पर अपनी करुणावश प्रसन्न हो जायँ और वह आप से इन नाशवान्, असत्य, क्षणभगुर सासारिक तुच्छ विषय भोगो को माँगे, तो उससे बढकर मूर्ख ससार मे और कौन होगा?"

भगवान् ने कहा—"नही! इस लोक के सुखो के लिये मै नही कहता, स्वर्गीय सुख माँगो, इन्द्रपद, ब्रह्मपद, शिवलोक, विष्णुलोक जिस लोक का भी आधिपत्य तुम चाहो माँगलो।"

इस पर पृथु बोले—"महाराज, यह तो सब एकही बात है। मिट्टी और सुवर्ण मे अन्तर क्या है? वह चमकीली मिट्टी है, मिट्टी मटमैली मिट्टी है। जैसा ही यह लोक वैसा ही स्वर्गलोक ब्रह्मलोक। यहाँ साधारण स्त्रियाँ है, वहाँ दिव्य अप्सरायें है। ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी नाशवान् है सभी क्षयिष्णु है।"

इस पर भगवान् ने कहा—"तब फिर मोक्ष माँगलो भैया, जिससे सदा को आना जाना बद हो जाय।"

महाराज पृथु बोले—"उस राड रु ड मु ड मोक्ष को लेकर मैं क्या करूँगा। जिसमे आपके गुण श्रवण करने का सुअवसर प्राप्त न हो।"

भगवान् बोले—"तो भैया, और जो भी तुम्हे अच्छा लगे वही माँगलो। कुछ कहो भी तो।"

महाराज पृथु ने कहा—"अच्छा, महाराज! मैं मागता हूँ, फिर देना पडेगा, फिर टाल मटूल मत कर देना।"

भगवान् बोले—"यह भी कोई बात हुई। मांगते तो हो नही। मांगो, तुम जो भी मांगोगे वही मैं दूँगा।"

महाराज पृथु ने कहा—"प्रभो! मैं आपसे यही वरदान मांगता हूँ, कि आपके सुयश श्रवण करने के लिये मेरे दश हजार कान हो जायँ।"

यह सुनकर भगवान् बडे जोरोसे हँस पडे और बोले-"इतनी सी बात के लिये ही तबसे इतना सकोच कर रहे थे। यह क्या बडी बात है। मेरे यहाँ कानो की तो कमी है ही नही। योग माया को आज्ञा दे दूँगा, आपके सिर मे कान ही कान लगादे। कानो मे कान, आँखो मे कान, नाक मे नथुनो मे कान, कनपुटी पै कान, कपोलो मे कान, गले मे कान, कधो पै कान, बाहुओ मे कान, हृदय मे कान, पेट मे कान, पीठ मे कान, अगलो मे कान, बगलो मे कान, कटि मे कान जघाओ मे कान, उरुओ मे कान, पैरो मे कान। तुम्हारे शरीर भर मे कान ही कान लगवा दूँगा।

यह सुनकर हँसते हुए महाराज पृथु बोले—"तो प्रभो आप मुझे कुरूप बनाना चाहते है। लोग देखते ही कर्ण गिरि कहने लगेगे।

भगवान् बोले—"भाई, तुमने ही तो दस हजार कानो का वरदान मांगा है।"

महाराज पृथु बोले—"नही, भगवन्! मेरा तात्पर्य यह है कि सुनने को कान तो दो ही रहे, किन्तु उन दो मे ही इतनी शक्ति हो, कि दस हजार कोश पर भी आपके गुणानुवादो का गायन हो रहा हो, तो मैं यहाँ बैठे ही बैठे सुनता रहूँ। कोई क्षण ऐसा न व्यतीत हो, जिसमे आपके गुणानुवाद श्रवण करने को न मिलें।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! आप मेरे लीला गुण श्रवण के लिये इतने उत्सुक क्यो हैं? स्वय ही आप पढ लिया करे।"

इस पर महाराज पृथु बोले—"महाराज, वस्तु तो एक ही है, वह पात्र भेद से अच्छी और बुरी हो जाती है। वर्षा का जल वही है, गङ्गाजी मे पडते ही पापो का नाश करने वाला गङ्गाजल हो जाता है, वही मोरी मे मल मूत्र के गड्ढे मे पडे तो अस्पृश्य हो जाता है, समुद्र मे पडते ही खारी हो जाता है। गाली एक ही है, उसी को कोई दूसरा दे तो क्रोध और रोष आता है, वही यदि ससुराल मे साली सरहजो के मुख से निकलती है तो हृदय मे सरसता का सचार करती है। भोजन उसी अन्न का बनता है उसी को रसोया बनाकर खिलावे तो दूसरा स्वाद है और यदि वही घर वाली के हाथ का बना हो और तिरछी चितवन के साथ परसा गया हो, तो वह अमृतोपम बन जाता है! सो, महाराज आपके गुण तो वे ही है किन्तु महत् पुरुषो के मुखारविन्द से निसृत होने के कारण उनका रस और भी बढ जाता है, वह और भी अत्यधिक आकर्षक और कर्ण प्रिय बन जाता है। आपके चरणकमल मकरन्द के कमनीय कणो से युक्त जो तापत्रय नाशक पाप हारा पवन है, वह तत्व मार्ग से भ्रष्ट भूले भटकते पतित प्राणियो की योग भ्रष्ट अवस्था को पुन उज्जीवित करने वाला है। वे पुन परमार्थ पथके पथिक बन जाते हैं, जहाँ से भूले हैं, वहाँ फिर आ जाते हैं, अत मुझे तो आपके सुयश श्रवण के अतिरिक्त अन्य किसी भी अनुपम वर की आवश्यकता नही। आप मुझे सर्वदा अपनी कथा श्रवण की शक्ति प्रद न कीजिए। देखिये, लक्ष्मीजी तो धन की अधिष्ठातृदेवी ही हैं, यदि धन मे ही सुख होता तो वे आपके सुयश श्रवण के लिये सदा उत्सुक क्यो बनी रहती। उन्हे सदा आप

की कथा सुनने की ही चटपटी लगी रहती है, क्योंकि आपकी कथामे रस ही ऐसा है, कि जिसने साधु-समाज के मध्य मे, कथा मडप मे बैठकर श्रद्धा सहित एकवार भी आपकी कमनीय कथा सुन ली, भूल से भी भागवती कथा उसके कानो मे पड गई, तो फिर ऐसा कौन सहृदय, गुणज्ञ, रसज्ञ पुरुष होगा, कि फिर उन्हे छोड दे। आप मुझसे कथा का महत्व क्यो पूछते हैं। इन माता लक्ष्मीजी से पूछो इसमे क्या स्वारस्य है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज पृथु की ऐसी बात सुनकर भगवान् बडे प्रसन्न हुए और इसी प्रसग को ससार मे प्रकट करने को महाराज से इसी सम्बन्धमें और भी प्रश्नोत्तर करने लगे।"

छप्पय

सुयश सुधा मकरद धरम कमलनि तें निस्सृत।
साधु सग करि पान होहि सबरो जग विस्मृत॥
कमला जाके पान हेतु पगली सी डोलें।
सज्जन पीवे सतत दूसरी बात न बोलें॥
साश्रु नयन गद्गद् गिरा, कहे परस्पर सतजन।
इहि विधि हरि गुन श्रवन करि, अनत जाहि नहिं मोर मन॥

महाराज पृथु का पाद-सेवन सम्बंधी वर

(२७३)

भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो,
व्युदस्तमाया गुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सताम्,
निमित्तमन्यद् भगवन्न विद्महे ॥*

(श्री भा०, ४ स्क०, २० अ० २९ श्लो०)

छप्पय

पद्मा प्रभु के पाद पद्म प्रतिपहर पलोटें ।
सन पुरुष ऊ सदा धूरि पग की महँ लोटें ॥
इच्छा मेरी जिही पलोटूँ तिनि पाइनि कूँ ।
करुणासागर ! कृष्ण ! कृतारथ करूँ करनिकूँ ॥
लक्ष्मी मोतें लडिङ्गी, प्रभु तिनि कूँ समुझाइल ।
जग माता कूँ घुडकि के, सुत कूँ हिये लगाइलें ॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन इस प्रकार भक्ति के ९ अंग बताये हैं ।

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज पृथु कहते हैं 'हे भगवन् ! आप मायिक गुणों के कार्यों से रहित हैं, इसीलिए साधु पुरुष आपका भजन करते हैं । क्योंकि प्रभो ! संसार में आपके

वैसे तो इनमे से किसी भी एक का निष्ठा पूर्वक सेवन करने से परमपद की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु इनमे श्रवण को प्रधान बताया गया है, जब तक भगवद्गुण-श्रवण मे अनुराग न होगा, तब तक भक्ति की उपलब्धि कठिन है, असभव है दुस्साध्य है। भगवद् गुणलीला श्रवण करते-करते कीर्तन और स्मरण स्वतः होने लगते हैं। जिस प्रकार श्रवणसे कीर्तन स्मरण की उपलब्धि होती है उसी प्रकार पाद-सेवन से आत्म समर्पण तक साधक पहुँचता है। पाद-सेवन का सौभाग्य सभी को प्राप्त नही हो सकता। जब तक पादपद्मो मे अनुराग न होगा, तब तक उनके सेवन मे सुख भी न होगा। ससार मे पैर तो प्राय. सभी पुरुषो के एक से हैं, किन्तु हमे उन्ही के पैर छूने मे पैरो की सेवा करने मे सुख का अनुभव होता है, जिनके प्रति हृदय मे भक्ति भाव हो। अत भक्त के लिये प्रधानतया दो ही साधन हैं भक्त और भगवान् के गुणो का श्रवण करे और उनके पादपद्मो की परिचर्य्या करे। इन दो साधनो से ही साध्यतत्व की उपलब्धि हो सकती है। पुरुष कृतार्थ हो सकता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब महाराज पृथु ने भगवान् से उनके गुण श्रवण करने के लिये दश सहस्र कानो की शक्ति माँगी तब भगवान् ने उनसे कहा—"राजन् ! इतना ही या कुछ और भी चाहते हो ?"

महाराज बोले—"हाँ, भगवन् ! इतना ही बहुत है, एक और इच्छा थी, किन्तु वह तो लडाई झगड़े की बात है। आपको भी सकोच मे पडना पडेगा।"

चरण कमलों के स्मरण करने के अतिरिक्त सज्जन पुरुषो का कोई और प्रयोजन हम समझते ही नहीं।"

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"नही, नही, नही। सकोच की कौन सी बात है। तुम माँग लो जो तुम्हे माँगना हो। मेरे समीप भक्तो के लिये कुछ भी अदेय नही है।"

इस पर पृथु महाराज बोले—"भगवन्! मैं देखता हूँ, ये लक्ष्मीजी अपनी सुडौल जघाओ पर रखकर आपके चरणारविन्दो को सदा अपने कोमल कर कमलो से पलोटती रहती हैं, इसलिये मुझे बडी उत्सुकता हो रही है, कि न जाने इन मृदुल मनोहर चरणो मे ऐसा कौन सा मादक आसव भरा हुआ है, कि जिनकी गध से ही जगत मे सबसे अधिक चचला आप पुराण पुरुष की ये प्रिय पत्नी सदा उन्ही मे लिपटी रहती हैं, कभी उन्हे छोड़ती ही नही।"

भगवान् हँस पडे और बोले—'तो क्या तुम्हारी भी इच्छा है, कि लक्ष्मीजी की भाँति तुम भी सदा मेरे परो पर लोटा करो।"

पृथु महाराज सरलता के साथ बोले—'महाराज! इच्छा क्या है उत्सुकता है, कि इस रस का मैं भी आस्वादन करके देख लूँ। किन्तु मुझे भय इन जगज्जननी लक्ष्मीजी से ही है। एक वस्तु को जहाँ दो चाहने वाले हो जाते हैं, वहाँ सौतिया डाह लड़ाई झगडा निश्चित ही है, इसीलिये हम दोनो मे परस्पर कलह छिड जानेका भय है,इसीलिये कुछ हिचकता हूँ।"

भगवान् बोले—"अरे भाई, इसमे लडाई झगडे का क्या काम है? तुम दो जने हो, मेरे पैर भी दो हैं, एक एक बाँटलो। लडाई झगडे का अवसर ही न रहेगा।"

पृथु महाराज बोले—"तो भी महाराज! लडाई रुकेगी नही, अवश्य ही होगी।"

भगवान् बोले—"क्यो, फिर लडाई का क्या काम भाई,

जब तक बटवारा नही होता तभी तक लडाई है। बटवारा हो गया, अलग-अलग हो गये, तो झगडा समाप्त हो गया।"

महाराज पृथु बोले—"नही, महाराज बटवारा कहाँ हुआ आपने मुझे दायाँ पैर सेवा के लिये दिया, लक्ष्मीजी बायें की सेवा करने लगी। मैं तो बच्चा ही ठहरा, मेरी इच्छा हुई, देखूँ बाय पैर की सेवा मे क्या स्वाद है, लक्ष्मीजी ने नही माना, तो फिर हम दोनो मे झगडा होगा ही।

भगवान् बोले—"भैया झगडा टटा ठीक नही। आपस में राजी-नामा कर लेना।"

इस पर पृथु अपनेपन के स्वर मे बोले—"महाराज, राजी-नामा तो असभव है, झगडा टटा अवश्य होगा, किन्तु उसकी मुझे चिंता नही। क्योकि मेरा पक्ष प्रबल है।"

भगवान् बोले—"क्यो भाई, तुम्हारा पक्ष प्रबल कैसे है? शीघ्रता के साथ पृथु बोले—"इसलिये महाराज, कि न्यायाधीश मेरे अनुकूल है, वह मेरे पक्ष मे ही निणय देगा। वह मेरे साथ पक्षपात करेगा। लक्ष्मीजी की ओर मेरी बराबरी ही क्या है। वे तो जगज्जननी जगदीश्वरी ही ठहरी। उनके समान धन सम्पत्ति ऐश्वर्यशाली ससार मे कौन है। वे सबसे बडी हैं, मैं सबसे छोटा हूँ। वे अपने बडप्पन के अभिमान मे मुझे डाटेंगी डुपटगी तो मैं आपकी शरण मे आजाऊँगा।"

भगवान् हँस पडे और कुछ विनोद के स्वर मे बोले—"तो तुम्हे यह कैसे निश्चय है कि मैं अपनी प्यारी घर वाली को छोडकर तुम्हारा पक्ष लूँगा।"

यह सुनकर महाराज पृथु दृढता के स्वर मे बोले—'महाराज, मैं क्या इसे तो सम्पूण ससार जानता है, कि आप अभिमानी धनिको की अपेक्षा निर्धन दीनो पर अधिक स्नेह करते

हैं। इसीलिये ससार मे आपके दीनानाथ, अशरण शरण, दीन-बन्धु अकिंचन प्रिय आदि नाम प्रसिद्ध हैं। अकिंचन दीन भक्तो के सम्मुख आप मानिनी लक्ष्मीजी का आदर नही करते। अत मुझे विश्वास है हम दोनो के झगडे मे आप मेरा ही पक्ष लेंगे। मुझे ही बालक समझकर जिता देंगे।'

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—'अरे यह तुमने वरदान क्या माँगा, हमारे घर मे कलह का बीज बो दिया। भैया, कोई और वस्तुएँ माँगो। पाद सेवन तो तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। उसके लिये माँगना क्या? अपनी वस्तु मागी थोडे ही जाती है।

पृथु बोले—'तब महाराज, अब माँगने को शेष रहा ही क्या? जब मैं आपका हूँ और सबके स्वामी आप हैं तो पिता की वस्तु तो पुत्र की होती ही है। कोई ससार मे ऐसी वस्तु नही जिसके स्वामी आप न हो। तब सभी वस्तुएँ मेरी ही हैं। यह जो आप वरदान माँगो वरदान माँगो बार-बार कह रहे है यह मैं आपकी जगत का मोहित करने वाली वाणी ही मानता हूँ। इसी के प्रलोभन मे फँसकर तो जीव वेद-वाणी रूपी रस्सी मे बँध कर नाना कर्मों को कर रहे है और कर्मों के कारण ही उन्हे आवागमन जन्म मरणके चक्रमे फँसना पडता है। बार बार पैदा होकर बार बार मृत्यु के मुख मे घुसना पडता है। कैसी आपकी जाल मे फँसा देने वाली माया है, जीव आत्मस्वरूप आपको भूल कर यह मेरा घर है यह मेरा कुटुम्ब है यह मेरी स्त्री है ये मेरे बच्चे है ये दूसरे के हैं मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नही इसी मैं मेरी तू मेरी मे फँसा हुआ है। अब महाराज! मैं क्या वरदान माँगूँ। अबोध पुत्र पिता से कुछ भी नही माँगता तो भी यह ला, वह ला, यह दे, वह दे, सदा इसी म लगा रहता है, सदा

उसके हित की ही चिन्ता करता रहता है। इसलिये मेरा जिसमे कल्याण हो, जिस वर से मेरा भला हो, उसे आप पिता के नाते स्वय ही सोच समझ कर दे दें।"

यह सुनते ही भगवान् खिल खिलाकर हँस पडे और बोले—"अरे भैया! हम तो समझते थे कि भक्त बावरे होते हैं। किन्तु तुमने तो न माँगने पर भी सब कुछ माँग लिया। अच्छी बात है। तुम्हारी मुझ मे सदा अनपायिनी अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहेगी। यह तो बडे ही सौभाग्य की बात है कि तुम्हारी मुझ मे निष्काम दृढ भक्ति है। कुछ भी न चाहने वाले भक्त विरले होते हैं, वे ही मेरी दुस्तर माया को जिसका पार करना ब्रह्मादिक देवताओ को भी दुर्लभ है उसे बात की बात मे पार कर जाते हैं। मैंने जो तुम्हें प्रजा पालन रूप धर्म सिखाया है, निष्काम भाव से स्वधर्म पालन रूप कर्तव्य बताया है उसे मेरी सेवा समझ कर करते रहना। तुम्हारा सर्वत्र कल्याण होगा। तुम सर्वदा सुखी होगे। जो मेरी आज्ञाओ का पालन करता है उसके सम्मुख सभी सिद्धियाँ हाथ जोडे खडी रहती हैं। उसका सर्वत्र मगल होता है। वह परम पद को सुगमता के साथ प्राप्त कर लेता है।

महामुनि मैत्रेय कहते है—"विदुरजी, इस प्रकार महाराज पृथु ने एक कम १०० यज्ञ करके यज्ञ मे स्नान किया। यज्ञ मे आये देवता, ऋषि, पितृगण, गन्धर्व, सिद्ध चारण, नाग, किन्नर अप्सरा, मनुष्य, पशु, पक्षी, सभी का यथोचित यथायोग्य स्वागत सत्कार किया। ये सब लोग महाराजसे पूजित तथा सत्कृत होकर अपने-अपने धामो को चले गये। भगवान् भी देखते ही देखते वही के वही अन्तर्धान हो गये। यज्ञ के उपाध्यायो सहित महाराज पृथु स्वप्न के अनन्तर खुले नेत्रो के समान भौचक्के से हुए देखते ही रह गये। उन्होने उस दिशा को प्रणाम किया जिधर

भगवान् अन्तर्धान हुए थे। फिर सब यज्ञीय कार्यों से निवृत्त होकर उन्होंने अपने नगर को प्रस्थान करने का विचार किया।

छप्पय

निज विषयनि कूँ छोडि भूमिपति वन कूँ भागे।
तिनकूँ तुमरे दास भला क्यौं तुमते मागे॥
जगदीश्वर तुम जनक तनय हम नाथ तिहारे।
तो फिरि जग के भोग आपुई भये हमारे॥
हौ वर मागूँ जिही प्रभु! तव पद पद्मनि प्रीति हो।
सत्संगति हरि कथा रुचि, जग भोगनि तें भीति हो॥

यज्ञों के अन्त में महाराज पृथु का पुर प्रवेश

(२७४)

शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम् ।
विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः ॥
पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः ।
पौराञ्जानपदांस्तांस्तान्प्रीतः प्रियवरप्रदः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २१ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

पृथु कूँ सब वर दये, भये अन्तर्हित श्रीपति ।
करि सबको सम्मान, चले पुर कूँ पृथिवी पति ॥
सुनत आगमन प्रजा, गई लेवे कूँ आगे ।
वीणा वेणु मृदंग वाद्य बहु बाजन लागे ॥
ध्वजा पताका तें सजे, नगर माहि आये नृपति ।
निज पति लखि चिर काल महँ, भये मुदित नर नारि अति ॥

वियोग जीवन मे एक नूतनता का प्रवेश करता है। नित्य मिलने से स्नेह बँटता रहता है, किन्तु वियोग मे वह जम ही

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! यज्ञो से निवृत्त होकर अभिमानशून्य शूरवीरो मे श्रेष्ठ महाराज पृथु ने ब्राह्मणो के वेद-ध्वनि शख दुन्दुभि के घोष तथा वन्दियो की स्तुतियो को सुनते-सुनते

जाता है और फिर सयोग की सभावना होते ही फिर उमड पडता है। तभी तो जिसकी जितनी ही अधिक उत्कठा से प्रतीक्षा की जाती है, उसके मिलने मे उतना ही अधिक आनन्द आता है। हमारा हृदय अधीर हो उठता है, इसीलिये हृदय के प्रेम को व्यक्त करने के लिये अपने मन से वाणी से तथा कर्मों से उसे स्वागत सत्कार करके व्यक्त करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! महाराज पृथु यज्ञ के समस्त कार्यो से निवृत्त हो गये। अब उन्होने अपने पुर मे प्रवेश करने का विचार किया। महाराज ने एक ही स्थान पर रहकर एक के पश्चात् एक इस प्रकार ९९ यज्ञ किये थे। यज्ञ मे दीक्षा लेने के कारण नियमित भू प्रदेश को परित्याग करके अन्यत्र नियमानुसार जा नही सकते थे। अत वे जब से नगर से आये थे तब से अब तक एक दिन भी अपनी राजधानी मे नही गये थे। अब यह प्रथम ही अवसर था। इस सवाद को सुनते ही नगर-निवासियो और देशवासियो मे आनन्द छागया। महाराज जहाँ जहाँ होकर जायेंगे, वहाँ वहाँ स्वागत सत्कार की तैयारियाँ होने लगी। आस पास की प्रजा एकत्र होकर मार्ग के दोनो ओर खडी हो गई। झाड बुहार कर पथ परिष्कृत किया गया, उसमे सुगन्धित जल का छिडकाव किया गया। स्थान स्थान पर फाटक बनाये गये, जिनमे मोटे-मोटे अक्षरो मे भगवान् वासुदेव के सुयश सम्बन्धी वाक्य लिखे थे। महाराज की जय और आशीर्वाद सूचक शब्द थे। उस सजे सजाये पथ से महाराज

अपने राजभवन मे प्रवेश किया। मार्ग मे सबने पुरवासियो और देशवासियो ने उनका पूजन सत्कार किया। महाराज ने भी प्रसन्नता पूर्वक उन्हें इच्छित वर दिये।"

की सवारी नगर की ओर चली। मार्ग में समस्त प्रजा के चारों वर्ण के नर नारी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार यथोचित महाराज का स्वागत सम्मान करते। उन्हें भाँति-भाँति के उपायन भेंट करते। महाराज भी उन्हें स्वीकार करते हुए सब यथोचित सम्मान अभिवादन आदि करते सबसे कुशल पूछते। इस प्रकार सबसे सत्कृत होते हुए महाराज अपनी राजधानी के निकट पहुँचे। पुरवासियों ने आज राजधानी को भली भाँति सजाया था मोतियों की लड़ियों से; सुरभियुक्त सुन्दर सुमनोंके गजराओं से; रङ्ग बिरङ्गे रेशमी सूती आदि वस्त्रों से, सुवर्ण के सुहावने तोरणों से सड़क सजाई गई थी। विस्तृत राजपथ, साधारणपथ, गलियाँ, वीथियाँ, सभी सुन्दर सुगंधित सलिल से स्वच्छ की गई थीं। उनमें स्थान-स्थान पर अगरु जलाया गया था। स्थान-स्थान पर स्वागत सम्बन्धी जल कलश, पुष्प, अक्षत, फल, जवांकुर, दीपक आदि मंगल द्रव्य रखे थे। कदलीस्तम्भ, आम्रपल्लव, तथा और भी फल वाले शुभ वृक्ष इधर उधर लगाये गये थे। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हुई कुमारी कन्यायें खील बताशे पुष्प-मालायें, दूर्वा तथा अंकुर आदि लिये खड़ी थीं। वेदज्ञब्राह्मण ब्रह्मघोष कर रहे थे, वंदीजन वंश की विरुदावली गा रहे थे, विविध भाँति के वीणा वेणु आदि वाद्य बज रहे थे। इस प्रकार बड़े ठाट बाट और स्वागत सत्कार के सहित महाराज ने अपने सजे सजाये मणिमय दिव्य राजभवन में प्रवेश किया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था, कि भवन की प्रत्येक दीवाल सजीव होकर अपने स्वामी का सत्कार कर रही है। निर्जीव भवन से दिखाई देने लगे। अतुलनीय सम्पत्तिशाली वह राजभवन और भी श्रीयुक्त हो गया, सर्वत्र उसमें एक प्रकार की अपूर्व आभा सी छा गई, एक विचित्र कान्ति सी

छिटकने लगी। अन्त पुर की दास दासियो और महारानिया ने महाराज के प्रति आदर प्रदर्शित किया, उनके चरणो म श्रद्धा-ञ्जलि समर्पित की।

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार आदि राजा महाराज पृथु बडे ही सुख से जिस प्रकार इन्द्र देवताओ तथा ऋषियो से घिरे हुए अमरावती मे निवास करते हैं उसी प्रकार मत्री, अमात्य, पुरोहित तथा वेदज्ञ ब्राह्मणो से घिरे हुए बड़े आनन्द के साथ अपनी राजधानी मे आनन्द विहार करते हुए सुख से रहने लगे।

इस बात को सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए विदुरजी आगे का प्रसग चालू रखने के लिये कहने लगे—"भगवन्! आपने आदि राजा भगवान् पृथु का बडा ही सुन्दर चरित्र सुनाया। उनके पराक्रम के सम्बन्ध मे कुछ कहना मानो सूर्य को दीपक दिखाना है। जिन्होने अपने बाहुबल से इस मेदिनी को पृथ्वी बना लिया, सभी को उसके अनुरूप दुह कर अन्न प्रदान किया, भविष्य के राजाओ के लिए शासन का पथ परिष्कृत किया, राज काज की एक मनोहर मर्यादा स्थापित की उनके यदि आप उचित समझें तो मुझे और भी पावन चरित सुनाइये, उनके सम्बन्ध मे और भी कुछ बताइये, उनके गुणो का और भी माधुर्य चखाइये, पृथु कीर्ति सुनाकर इन कर्ण कुहरो को सार्थक बनाइये। भगवन्! पृथु चरित्र सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नही हो रही है।

इस पर भगवान् मैत्रेय बोले— 'विदुरजी! क्यो न हो, आप तो सज्जन प्राणी हो! सज्जन पुरुषो को भागवती कथाओ के श्रवण म उसी प्रकार रस आता है, जिस प्रकार बच्चो को मीठे आम चूसने मे रस आता है। महाराज पृथु के चरित्र का

अन्त नही। वे स्वय अनन्तावतार हैं, अतः उनके चरित्र भी अनन्त हैं।

महाराज पृथु की राजधानी गगा यमुना के मध्य मे ब्रह्मर्षियो से सेवित इस ब्रह्मावर्त देश मे थी। वैसे तो वे समस्त सप्तदीपवती पृथिवी के एकमात्र शासक थे। अच्युत गोत्रीय वैष्णवो और ब्राह्मणों को छोड़ कर सभी पर उनका राज शासन चलता था। सभी के वे स्वामी थे। उनका शरीर सुन्दर सुडौल और शोभायुक्त था। वे देखने मे बड़े ही मनोहर लगते थे। शरीर उनका ऊँचा था। बाहुएँ मोटी गोली और जानु पर्यन्त लटकने वाली थी। गौरवर्ण, विशाल विकसित नेत्र; शुक के समान सुघड नासिका, उन्नत, भरे हुए सिह के समान कधे। मन्मथ के समान सुन्दर-सलोना शोभायुक्त मुखारविन्द, दाडिम के दोनो के सदृश स्वच्छ, मोतियों के समान चमकीली उनकी दन्तावली थी। ग्रीवा शख के समान सुन्दर और उतार चढाव की थी। केश बहुत लम्बे तो नही थे, किन्तु काले-काले घुंघराले, अत्यन्त स्निग्ध, कोमल और चमकीले थे। छाती विशाल थी, नाभि गम्भीर गगाजी के वर्षा कालीन आवर्तों के समान थी, उदर त्रिवली से युक्त, कटि प्रदेश स्थूल, मासल और भारी था। जघन सुडौल, सुवर्ण के समान देदीप्यमान और पैरों के पजे उन्नत तथा चढाव उतार के थे। उनके चरण-कमलो की उँगलियो के नखों की द्युति से पृथिवी चमकने लगती थी। ऐसे सौदर्य मे, सद्गुणो मे, धर्म कर्म मे अद्वितीय राजा को पाकर प्रजा अत्यन्त ही प्रसन्न रहती, वह अपने भाग्य की सराहना करती।

महाराज वेन के समय मे सर्वत्र नास्तिकता का बोल-बाला था। जो नास्तिको की तरह शुष्क तर्क करें, खडन मडन करके

नास्तिकता का प्रचार करें ऐसे ही नास्तिकतार्किको को तब पडित माना जाता था, उन्ही का राज सभा मे सम्मान होता था। विदुरजी! ससार मे कुछ अक्षर ज्ञान वाले वाक्पटु ऐसे गगा यमुनी लोग होते हैं, कि जिनका कोई धर्म कर्म निश्चित सिद्धात नही होता। गगा गये तो गगादास, यमुना गये तो यमुनादास। येन केन प्रकारेण अपना स्वार्थ साधना चाहिए। जिधर को लहर देखी उधरही बहने लगे। जिधर का पक्ष भारी देखा उधर ही गुन गाने लगे। ऐसे नास्तिका का अभी तक मूलोच्छेदन नही हुआ था। प्रजा मे अभी तक नास्तिकता के भाव कुछ कुछ भरे ही थे। इसीलिये महाराज ने एक बडा भारी सत्र कराया जिसमे यज्ञ याग कथा कीर्तन हो। देश देशके लोग आवे,सब अपने-अपने भावोको व्यक्त करे। देश देशान्तरो के सभी वर्णों के लोग बुलाये गये। ऋषि मुनियो को भी आमन्त्रित किया गया। इस प्रकार एक बड़ा भारी समाज एकत्रित हुआ। महाराज ने उस महासत्र की दीक्षा स्वय ली। यज्ञ हुए, ब्राह्मणो के उपदेश हुए। कथावार्ता आदि सभी प्रकार के धार्मिक समारोह हुए।

यज्ञ के अन्त मे महाराज पृथु ने स्वय उठकर एक बडा प्रभावशाली भाषण दिया। जिस समय वे भाषण देने के निमित्त मच के समीप आकर खडे हुए उस समय की उनकी शोभा दर्शनीय थी। वे सीधे खडे थे, मुख पर मन्द-मन्द मुस्कान छिटक रही थी, उनके नेत्रो के तारे बडे शात गम्भीर और चमकीले थे, सब की ओर स्नेह भरी दृष्टि से देख रहे थे। वे यज्ञ की दीक्षा मे थे, इसलिये एक अधो वस्त्र एक उत्तराय वस्त्र ये दो ही अति सूक्ष्म पीले रेशमी वस्त्र पहिने थे। दीक्षित होने के कारण आभूषणो को उतार दिया था। एक कृष्ण मृगचर्म ओढे थे, हाथ मे कुशा का बना हुआ मूठा (ब्रह्म दण्ड) लिये हुए थे। उस

समय उनमें क्षात्र और ब्राह्म दोनो ही तेज स्पष्ट झलक रहे थे। जिस समय वे भाषण करने खडे हुए, चारो ओर से पुष्पो की वृष्टि होने लगी। समुपस्थित सभी जनता शान्त हो गई। सर्वत्र निस्तब्धता छा गई। तब उन्होने अपना भाषण आरम्भ किया। उनका भाषण अत्यन्त मनोहर था, विषय वर्णनकी शैली चित्ताकर्षक थी, शब्दावली चित्र विचित्र पदो से सयुक्त थी। वाणी अत्यन्त गम्भीर, सुन्दर, सारयुक्त, अति मधुर और ओजस्विनी थी। उनका भाषण क्या था मानो अपने सम्पूर्ण अनुभव को मथकर उसका मक्खन निकाल कर जनता के सम्मुख रख दिया हो।"

शौनकजी ने कहा—सूतजी! आप जिस बात का वर्णन करते है, ऐसा करते है, कि श्रोता की उत्सुकता अत्यधिक बढा देते हैं। महाराज पृथु के भाषण की इतनी अधिक प्रशसा तो करदी, किन्तु अभी तक भाषण का एक शब्द भी नही सुनाया। कुछ सुनाइये भी तो क्या भाषण किया, कौन सी बात कही। महाराज पृथु का भाषण श्रवण करने की हमारी बडी उत्कण्ठा हो रही है।

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! वह भाषण तो है बडा। उसे यहाँ कथा-प्रसङ्ग मे सुनाऊँगा, तो कथा-प्रसङ्ग रुक जायगा।"

इस पर शौनकजी बोले—"अजी, सूतजी! आप प्रत्येक प्रसङ्ग पर ऐसी ही बात कह देते हैं। ऐसा क्या प्रसङ्ग रुकेगा। बहुत विस्तार न कीजिये, सक्षेप मे ही सुना दीजिये इस भाषण को सुनने की तो सूतजी! हमारी बडी इच्छा है। इसके लिये आप टाल-मटोल न करें। इसे आप अवश्य सुनावे।"

सूतजी सरलता के साथ बोले—"महाराज ! जैसी आज्ञा। मैं तो सुनाने को तैयार ही हूँ, किन्तु कैसा भी सक्षेप करूँ, विषय कुछ बढ तो जायगा ही। फिर भी मैं सार रूप से ही सुनाऊँगा। आप सब सावधानी के साथ समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

प्रविशे पुर पृथु करें, प्रजा सबको यो पालन।
ज्यो माता पितु करें, नेह तें सुत को लालन॥
महा सत्र इक रच्यो धर्म की वृद्धि करन कूँ।
फले नास्तिक भाव धराते तिन्हे हरन कूँ॥
देश देश त सभ्यगन, आये जुरयो समाज वर।
तिनके सम्मुख कहन कछु, उठे भूप ज्यो दिवाकर॥

महाराज पृथु का महासत्र में अभिभाषण

(२७५)

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ॥*

(श्रीभाग० ४ स्क० २१ अ०२१ श्लो०

छप्पय·

अति सुन्दर अति मधुर भ्रान्ति तें रहित वचन वर ।
बोले सबहिं सुनाइ धर्म सम्मत अति हितकर ॥
सुनो शास्त्र को सार सत-मुख सुनो सुनाऊँ ।
सेवा सोपी सबनि पुरुष कर्तव्य बताऊँ ॥
वेद विहित सब यज्ञ तप, दान धर्म मिलि करहु अब ।
पितर अतिथि गुरुदेव द्विज, पूजा सबकी करहु सब ॥

एक कहावत है, गाना रोना कौन नहो जानता ।" यह ठीक है, सभी कुछ न कुछ गुन गुनाते हुए गा लेते हैं, सभी आँसू

---

*महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी ! जब महाराज पृथु अपने महासत्र मे व्याख्यान देने खड़े हुए तो सबको सम्बोधन करके उन्होंने कहा—"हे सभ्यगण, हे दूर दूर से पधारे हुए महात्माओ ! आप सबका कल्याण हो। आप मेरी बात को श्रवण करें, क्यों कि धर्म के जिज्ञासुओ को साधु पुरुषो की सन्निधि म अपने मनोगत भावों को निवेदन कर देना चाहिये।"

वहाकर रो लेते हैं। किंतु जैसे चाहिये वैसे कलापूर्ण गाने रोने वाले पुरुष कम होते हैं। इसी प्रकार बोलकर या सकेत आदि से अपने भावो को दूसरो पर सभी व्यक्त करते है, किन्तु सभा मे भाषण देना, समाज मे सबके सम्मुख अपने भावो को कुशलता-पूर्वक समझाना, सबके हृदयो को अपने भाषण से प्रभावान्वित कर देना, यह किसी विरले का ही कार्य है। वक्तृत्व शक्ति भी एक कला है। वैसे तो यह शक्ति जन्म से ही किसी-किसी मे होती है, किन्तु अभ्यास से यह बढाई जा सकती है।

व्याख्यान देने वाले को सबसे पहिले तो दृढता की आवश्यकता है। जो दृढ नही बात-बात पर विचलित हो जाता है वह सम्माननीय वक्ता नही समझा जाता। जिस विषय पर बोलना हो, उसका पहिले विचार कर लें। पहिले उपस्थित सज्जनों को सम्बोधन करने के अनन्तर अपनी हीनता दिखाते हुए विषय की गम्भीरता का दिग्दर्शन करावे। फिर सक्षेप मे अपने विषय को जनता के सम्मुख उपस्थित करे। दूसरे लोगो का इस विषय मे क्या मत है, उसमे पहिले विपक्षियो की युक्तियो को बतावे कि कुछ लोग इस विषय मे ये ये दोष बताते है इस पर पहिले पूर्व-पक्ष की स्थापना करे। जब पूर्व पक्ष को दृढता के साथ बतादे, तब क्रम-क्रम से उन विपक्षियो के मत मे दोष दिखावे। बडे मधुर और सौम्य शब्दो मे उनकी युक्तियो का खण्डन करे, अपने पक्ष की पुष्टि मे शास्त्रो का आप्त पुरुषो का प्रमाण देता जाय। बीच-बीच मे सुन्दर दृष्टान्त उपाख्यान भी प्रसगानुसार कह दे। बहुत जोर से भी न बोले, बहुत धीरे-धीरे न बोले, बोलते समय इन बातो पर विशेष ध्यान रक्खे।

१—अपने विषय को छोडकर विषयान्तर न करे।

२—जनता भाषण स ऊबती दिखाई दे तो कोई चुटकुला मनोरजक उपाख्यान कह दे।

३—विषय को बहुत बढावे नही जिससे लोग ऊबने न लगें। बहुत सक्षेप भी न करे कि विषय भली भाँति लोगो की समझ मे ही न आवे।

४—भाषण करते समय मुह को न बनावे, आँखो को मिच-मिचाना भौंहो को चढाना, गालो को पिचका देना, सैन चलाना, मुह मटकाना ये भाषण के दोष हैं। इनसे जनता पर बुरा प्रभाव पडता है।

५—भाषण म किसी पर व्यक्तिगत नाम लेकर आक्षेप न करे। यदि कहना आवश्यक ही हो तो सौम्यता के साथ मधुर शब्दो मे शिष्टाचार की रक्षा करते हुए कहे।

६—व्याख्यान देते समय भय न करे, निर्भय होकर भाषण दे। यही अनुभव करे ये सब बच्चे बठे हैं, मैं इन्हे समझा रहा हूँ। किन्तु इस भाव की गध भाषण म व्यक्त न होने पावे।

७—व्याख्यान देते समय किसी एक व्यक्ति को अपना लक्ष्य बनाले जो अपने भाषण को अत्यन्त ध्यान स सुन रहा हो। इधर उधर दृष्टि घुमाकर बार बार उसे ही देखकर उसी की चेष्टाओ का अध्ययन करते हुए उसे ही समझावे।

८—जैसे रस का वर्णन करना हो वैसे ही भाव, वैसे ही सकेत प्रदर्शित करे।

९—कोई हँसी की बात हो तो पहिले से स्वय ही न हँसने लगे, जब सब जनता हस पडे तो पीछे से स्वय भी मुस्करा दे।

१०—करुणा के प्रसङ्ग पर हृदय म स्वय करुणा को उत्पन्न

करे, जिससे नेत्रादिका मे स्वय करुणा के भाव स्पष्ट दिखाई देने लगें।

इन बातो को ध्यान मे रखकर जो भाषण करता है वह सुवक्ता कहाता है जनता मे उसका आदर होता है और उसके द्वारा अनेका जीवो का उपकार होता है, किन्तु बनावट से दूर रहे जो कहे स्वय भी भरसक उसक पालन की चेष्टा करे। बनावटी बाता का स्थाई प्रभाव नही होता।

मैत्रेय मुनि कहते है—"विदुरजी! महाराज पृथु भाषण करने वालो मे सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। एक तो वे चक्रवर्ती राजा थे, धर्मात्मा थे, सुन्दर स्वरूपवान थे, प्रजा के हितैषी थे, भगवान् के अशावतार थे, अत उनके भाषण का जनता पर बडा प्रभाव पडता था।"

इस पर विदुरजी ने कहा—"भगवन्! उस महासत्र मे जो महाराज पृथु ने भाषण दिया उसे आप कृपा करके मुझे सुनाइए

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—'विदुरजी! सुनिये। मैं महाराज पृथु के भाषण का साराश सुनाता हूँ। महाराज पृथु खडे हुए। उन्होने ऋषि मुनियो को अभिवादन किया और फिर शनै शनै अपना भाषण आरभ किया। वे बोले—

"समुपस्थित साधु सन्तो और सभ्य महानुभावो। आप सब महानुभाव इतना कष्ट करके यहाँ पधारे है, यह आपने मेरे ऊपर बडी कृपा की। मुझे अपने दर्शनो से कृतार्थ किया। भगवान् आपका भला करें। मगलमय श्री हरि आप सब पर कृपा की दृष्टि कर। सभ्यगण! मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, उसे आप ध्यानपूर्वक श्रवण कर। मैं आप सब को शिक्षा देना नही चाहता। शिक्षा देने की मुझमे योग्यता भी नही, मेरा अधिकार भी नही। शिक्षा तो आपको ये ब्रह्मज्ञानी ऋषि मुनि

सन्त महात्मा ही दे सकते हैं। मैं तो अपने मनोगत भावो को आपके सम्मुख निवेदन भर कर देना चाहता हूँ, क्योकि साधु पुरुषो की सन्निधि मे जिज्ञासु पुरुषो के सम्मुख अपने मनोगत भावो को व्यक्त कर देने से श्रोता वक्ता दोनो का ही कल्याण होता है। यदि वक्ता के कथन मे कुछ त्रुटि देखगे तो साधु पुरुष उसका सशोधन कर देंगे उसे सुधार देंगे। यदि वह बात वक्ताओ के हित की हुई, तो पुष्टि कर देंगे।

मैं अपने मे इतनी योग्यता नही देखता, कि स्वत इतनी बडी वसुन्धरा का धर्मपूर्वक पालन कर सकूँ। किन्तु स्नेह वश या मेरे पूर्वजो के पुण्यवश, ऋषि मुनियो ने मिलकर मुझे राजा बना दिया है। जब उन त्रिकालज्ञ ऋषियो ने मुझे इस अधिकार-पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कर ही दिया है, तो मेरा उत्तरदायित्व बहुत बडा हो जाता है। इस पद पर बठने से मेरे प्रधान चार कर्तव्य हो जाते हैं। सबसे पहिला कर्तव्य तो मेरा यह हो जाता है, कि मैं उन दुष्टो को दड दू जो धर्म की मर्यादा का परित्याग करके अधर्म का आचरण करते हैं। जो भी नियमो के पालन मे शिथिलता करे, वह फिर चाहे अपना सगा पुत्र ही क्यो न हो, सबको समान रूप से दण्ड देना। यह राजा का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

दूसरा कर्तव्य राजा का यह है, कि प्रजा की सभी ईतिभीति से रक्षा करना। अपनी प्रजा के मार्ग मे जो भी कष्ट उपस्थित हो, उसे हटाना। कैसा भी दुख प्रजा मे हो उसे दूर करना।

तीसरा कर्तव्य राजा का यह है, कि सबकी आजीविका का प्रबन्ध करना। यदि किसी राजा क राज्य मे एक पुरुष भी भूखा या अधपेट सो जाता है, तो वह राजा का पाप है, शासन का

दोष है। राजा को चाहिये कि सबके भोजन का प्रबन्ध करे, सबकी आजीविका की चिन्ता रखे।

चौथा कर्तव्य यह है कि सबकी योग्यता देखकर सबको पृथक् पृथक् कार्यों में नियुक्त करके धर्म की मर्यादा को स्थिर बनाये रखे। यदि मैं इन चारों कर्तव्यों को धर्म बुद्धि से, प्रभु सेवा समझकर पालन कर सका, तो समझो मैंने प्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त कर ली। जिस पर प्रभु प्रसन्न हो गये, उसके लिये और कर्तव्य शेष ही क्या रहा। उसे उन पुण्यप्रद अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है, जिनका पुण्य कल्पान्त में भी नष्ट नहीं हो सकता। यदि मैं धर्मपूर्वक परलोक का ध्यान रखते हुए आप सबका पालन करूँगा, तो महर्षियों के कथित वे सब लोक मुझे स्वतः ही प्राप्त हो जायँगे।

राजा दो प्रकार के होते हैं,एक तो धर्मात्मा दूसरे अधर्मात्मा। धर्मात्माओं की गति तो मैंने आप से वर्णन कर ही दी। अब जो अधर्मात्मा हैं, प्रजा से राजकर के रूप में षष्ठांश तो ग्रहण करते हैं, किन्तु प्रजा का पालन धर्मपूर्वक नही करते, उनके रक्षाकार्यों में प्रमाद करते हैं, ऐसे राजा की प्रजा पापाचरण में प्रवृत्त हो जाती है, सर्वत्र पाप होने लगता है, यह पाप बुद्धि राजा की शिथिलता के ही कारण उसके विषयासक्त होने के कारण ही होती है, अतः उन सबके पाप का भागी राजा ही होता है, उसका परलोक नष्ट हो जाता है और इहलोक के ऐश्वर्य से भी वह भ्रष्ट हो जाता है।

महानुभावो! यह मैंने आपको धर्माचरण और अधर्माचरण करने वाले राजाओं की गति बताई। अब आप सब लोग मेरे ऊपर कृपा करें, मुझे पाप से बचावें। आप सब धर्माचरण करें, श्रद्धा भक्ति से प्रभु की आराधना करें, नास्तिक भावों को त्याग

दे, शुष्कतर्कों को स्थान न दें। मैं जैसा भी कुछ हूँ आपका ही चुना हुआ राजा हूँ, आपका ही बनाया हुआ शासक और स्वामी हूँ. आप लोग मेरे दोषो की ओर न देखते हुए मेरा परलोक सुधारने के निमित्त सदा सर्वदा भगवत्चिन्तन करते रहे। आप कह सकते है, कि हम यदि भगवत्चिन्तन करेंगे, तो अपने लिए करेंगे, इसमे आपके ऊपर क्या कृपा हुई। सो महानुभावो! इसमे आपका तो कल्याण होगा ही मेरा भी हित है। यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि प्रजा के पुण्य पाप मे राजा का भी भाग होता है। आप धर्माचरण करेंगे, तो उसमे से मुझे स्वतः ही मिल जायगा, आपकी कृपा से मेरा भी भला हो जायगा।

अब एक बात मैं आपको और बताना चाहता हूँ। कुछ लोग कहते हैं परलोक कुछ है ही नही। देह आत्मा है। देह जहाँ नष्ट हुई सब कुछ नष्ट हो गया। फिर उसका आवागमन नही होता। अतः जब तक जीवे खूब ऋण ले और घी पीवे। कौन जाने कब साम निकल गई। अतः भूख प्यास सह कर इस कायाको क्लेश न पहुँचावे। मर कर कोई कहने तो आता नही कि हमने क्या सुख या दुख पाया। कोई होता तो आता। करने वाला तो शरीर है, शरीर अग्नि मे जला दिया गया, सड़ा दिया गया अथवा नदी आदि मे फेंक दिया गया। अब आवे कौन? कुछ स्वार्थियो ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने को, मूर्ख लोगों को ठगने को, अपनी तोदो का बढ़ाने को, नित्यनूतन माल उडाने को कुछ कल्पित शास्त्रो की रचना करली है, यो श्राद्ध करो, ऐसे पिंड करो, रोज तर्पण करो। ये सब झूठी बाते हैं, परलोक परलोक कुछ नही। जो है सो यही लोक है।" ऐसी नास्तिकता पूर्ण अनेक बातें सुन्दर सुन्दर वाक्यो को बनाने वाले वाचाल बका करते हैं और भोले भाले लोगो को धर्म-भ्रष्ट करते हैं। परलोक

है, अवश्य है। इसे मैं ही नही कहता आपके सम्मुख जो ये इतने बडे बडे ऋषि, महर्षि, तेजस्वी, तपस्वी, पूजनीय मुनिगण विराजमान हैं, ये सभी मेरी बात का अनुमोदन करगे। आप इनके द्वारा अपनी शकाओ का निवारण कर।

कुछ लोग कहते हैं, गुणही गुणो मे वर्त रहे है, कमही सुख दुख देते हैं, जो जैसा कर्म करेगा वह वैसा फल पावेगा। यह तो ठीक ही है, कर्मों का फल तो होता ही है, किन्तु जड कर्म स्वय फल को देने मे समथ नहीं। एक कोई यज्ञपति है, जो कर्मों के शुभा-शुभ का फल देते है। ऐसा कुछ महर्षियो का मत है। ऐसा न होता तो फिर इस लोक मे परलाक मे जो तेजोमय स्थान दिखाई देते हैं, सब व्यथ हो जाते। शरीर ही को आत्मा मान ले तब तो परलोक का अस्तित्व ही मिट जायगा, किन्तु परलोक को तो त्रिकालज्ञ मुनियो ने स्वय साक्षात्कार किया है। आप देवता पितर और ऋषि गण! मेरी इन बातो का अनुमोदन कर। जनता को शिक्षा दें, उसे कुमाग से हटाकर सुमार्ग मे लगाव। ऐसा करने से परलोक मे कर्ता को जो फल होता है, वही अनुमोदनकर्ता, शिक्षक और प्रेरक को भी होता है।

अब आप लोग कह सकते हैं, कि य सब कार्य भगवत् प्रेरणा से ही होते हैं, इसमे क्या प्रमाण? भगवान् नामक कोई है इसी मे क्या प्रमाण? इस विषय मे ईश्वर को न मानने वाला का कहना है कि हम सत्य को ही प्रमाण मानते हैं। जो हम दीखे नही देख न सके उसे प्रमाण नही मानते। आप सोच क्या यह बात ठीक है। प्रत्यक्ष के मानी क्या? यही न कि जिन्हे आँखे साक्षात् देख, किसी अनुमान उपमान अथवा अन्य उपकरण साधन की अपेक्षा न हो। तो आप सोचें—'क्या आँख

प्रत्यक्ष देख सकती है। जब तक चक्षुगोलक न हो तब तक आँखो मे देखने की शक्ति नही। यह जो दो पलको के बीच मे काले तिलवाली सफेद शीशा के युक्त तिरछी-तिरछी भौहो वाली हमे दिखाई देती है, क्या ये आँखे है ? नही ये आँखे नही है, आखो के गोलक हैं। इन गोलको के ज्यो के त्यो बने रहने पर भी यदि चक्षु-शक्ति नष्ट हो जाय, इनमे प्रकाश प्रदान न करे, इनमे बैठकर न देखे, तब तक हम देख ही नही सकते। अत चक्षु भी किसी के द्वारा ही देखती है। तब फिर प्रत्यक्ष कहाँ रहा। प्रत्यक्ष सत्य ही हो यह भी बात नही। आकाश प्रत्यक्ष तो नीला दिखाई देता है, क्या वास्तव मे वह नीला है ? इन्द्र धनुष प्रत्यक्ष एक रगो वाला धनुष सा दीखता है, क्या वह ऐसा कोई धनुष आकाश मे रखा है ? गन्धर्व नगर प्रत्यक्ष दिखाई देता है क्या ऐसा नगर कोई आकाश मे बसा है ? इस लिये प्रत्यक्षादि की तब तक कोई सत्ता नही जब तक उसका अनुमोदन आदि पुरुष न करदें। मेरे हाथ मे यह क्या है ? आप कहेगे कुशाओ का मूठा ब्रह्मदण्ड है ? तो मैं पूछूँगा, इसमे क्या प्रमाण कि ये कुशा ही है ? आप कहेंगे हम प्रत्यक्ष देख रहे है, तो मैं पूछूँगा इन पर कहाँ लिखा है ये कुशा हैं। लिखा भी होता तो यह शब्द "कु" है यह 'शा" है इस मे क्या प्रमाण ? मैं जिसे ओढे हूँ, इसका नाम कृष्ण मृग चर्म है इसमे क्या प्रमाण ? आप मनुष्य है ये पशु हैं ये पक्षी हैं, ये वृक्ष है, इसमे क्या प्रमाण ? प्रमाण से ही वस्तु की सिद्धि होती है। इस प्रमाण के प्रमाणत्व मे क्या प्रमाण ? ये ब्राह्मण है, ये ऋषि हैं, मैं राजा हू, इस मे क्या प्रमाण ? महानुभावो ! आप मेरी बात पर विश्वास करें। ये सब धूर्तों की श्रुति मधुर वेदविरुद्ध व्यर्थ की बहकाने वाली बात है। सब से अधिक प्रमाण है शिष्ट लोगो का वचन।

सबने इस अक्षर का नाम "अ" रख दिया, अब हमे मानलेना चाहिये यह "अ" ही है। ये मनुष्य है, ये पशु हैं, ये पक्षी है ये सरीसृप हैं ये ब्राह्मण है, ये स्त्रियां है ये पुरुष हैं, ये इसके लडके हैं, ये इसके माता पिता है, ये गहूं है ये जौ है। इन सब म बडे लोगो के वचन ही प्रमाण है। इसी प्रकार ईश्वर है इसमे त्रिकालज्ञ ऋषि तथा हमारे धर्मात्मा पूर्वज ही प्रमाण है। यदि ईश्वर परलोक आदि न होते तो हमारे प्रथम पूर्वज भगवान् स्वायभुवमनु भगवान की आराधना क्यो करते। कैसे वे अपने पौत्र ध्रुव को परलोक से पधार कर शिक्षा देते। इतने बडे यशस्वी हमारे पूर्वज राजर्षि उत्तानपाद इतने समृद्धिशाली राज्य को तृण के समान त्याग कर वन मे क्यो जाते, क्यो भगवत् आराधना मे निमग्न होकर अपने समय को कद-मूल फल खाकर तपस्या करते हुए बिताते। क्यो मेरे जगत् विख्यात पूर्वज प्रातस्मरणीय महाराज ध्रुव घर छोड कर मधुवन जाते। कैसे ५ ही वर्ष की अवस्था मे भगवान् का साक्षात् कार करते। कैसे वे एक रथ से ही इतने बली उपदेवो-यक्षो को जीत लेते। हमारे पितामह राजर्षि अङ्ग इतना धर्माचरण क्यो करते ? किसलिये वे धर्म को ही सर्वस्व समझते। ये सब इतने बडे बडे तेजस्वी राजर्षि ब्रह्मर्षि देवर्षि क्या सब बुद्धिहीन थे। ये त्रिकालज्ञ थे। ईश्वर न होता तो ये इतने परलोक संबधी साधन क्यो करते। परलोक न होता तो ये यज्ञभाग आदि धार्मिक कृत्यो मे इतना श्रम क्यो करते। इन्द्रादि देव, ब्रह्मा, विष्णु आदि जगत् पूज्य ईश्वर क्यो भगवान् विष्णु की आराधना करते। देवो मे ही नही दैत्यो मे प्रह्लाद बलि आदि भगवत् भक्त उनकी निरन्तर आराधना मे क्यो लगे रहते। ये सब आस्तिक थे, धर्मात्मा थे, परमात्मा और परलोक को मानने

वाले थे, धार्मिक कृत्यो पर विश्वास करने वाले थे।

हाँ कुछ ऐसे भी मृत्यु की पुत्री के पुत्र आदि हुए हैं जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष आदि समस्त पुरुषार्थों के दाता श्रीहरि को नही जानते थे। वे अपने आपको ही सब कुछ समझते थे। अङ्ग सम्बन्ध से वे मेरे पिता थे, अत. ऐसे लोगो की मैं निन्दा तो क्या करूँ किन्तु इतना अवश्य कहूँगा, ऐसे धर्मविमूढ नास्तिक लोग अत्यन्त शोचनीय हैं।

आपही बताइये, जो भक्तो के ऊपर अनुग्रह करने को सदा व्यग्र बने रहते है, जिनके अरविन्द-सदृश कोमल कमनीय चरणो मे बढी हुई भक्ति तपस्वियो तथा भक्तो के अनेको जन्मो के सञ्चित मनोमल को क्षण भर मे तत्काल ही नष्ट कर देती है, जो भक्तो के एक मात्र आश्रय हैं, उन चरणो की शरण कौन बुद्धिमान पुरुष न लेगा।

उनके चरणो की महिमा को तो जाने दीजिये। जिन चरणो के अँगूठे के नख के स्पर्श होने के कारण श्री गगाजी त्रैलोक्य-पावनी कलि कल्पष-हारिणी बन गई हैं, जो अपनी शरण मे आये हुए जीवो के सभी दुरितो को दूरकर देती हैं, उन गङ्गाजी मे इतना प्रभाव कहाँ से आया, क्यो आया ? तो कहना पडेगा यह सब उन अमल कमल सरिस पाद-पद्मो का ही पुण्य प्रभाव है। जिन चरणो का आश्रय लेने से कर्म वासनाओ मे आबद्ध पुरुष अपने सम्पूर्ण मनोमल से मुक्त होकर निर्मल बन जाते हैं तथा असग होकर ज्ञानार्जन करते हुए विशेष बल प्राप्त करके इस कोलाहलपूर्ण दु खमय जगत् को पार कर जाते हैं, फिर इस ससार-चक्र मे नही फँसते उन चरणो का आश्रय कौन मुक्ति की इच्छा वाला प्राणी न लेगा।

इसलिये भाइयो ! प्रजा के सभ्य महानुभावो ! आप मेरी

बात माने। आप उन सर्वेश्वर हरि का नित्यप्रति विविध उपायो से भजन करें जिनके चरणकमल सम्पूर्ण कामनाओ को पूर्ण करने वाले हैं। उनकी यज्ञो के द्वारा पूजा करके स्तुति प्रार्थना के द्वारा आराधना करें। अपनी वर्णोचित वृत्ति द्वारा न्याय से उपार्जित धन से उनका भजन पूजन कर। जैसा जिसका अधिकार हो, जैसी जिसकी शक्ति हो उसी के अनुसार यथालब्धोपचारो से उन चारु चरित्र वाले चितचोर भगवान् वासुदेव की परिचर्या करें।

आप कह सकते है कि भगवान् तो गुणो से रहित है निर्गुण, निराकार, निर्लेप, निरीह और निरवलम्ब है, उनकी नानाद्रव्यो, गुणो, क्रियाओ और उक्तियो के द्वारा की हुई पूजा से लाभ क्या ? उनके निमित्त अर्थ, आशय, लिंग और इन्द्र वरुण आदि नामो से युक्त अनेक-गुण-सम्पन्न राजसूय, अश्वमेध वाजपेयादि यज्ञ करने से क्या लाभ होगा। इन सबसे उनका पूजन कैसे होगा, सो भैया। वे विशुद्ध विज्ञानघन प्रभु भावमय है, सबकी भावनाओ को जानते हैं, जो उन्हे जिस भावना से भजता है जो उनकी जिस भाँति से शुद्धचित्त होकर आराधना करता है, उसे वे वैसा ही उसी रूप मे फल देते हैं। इसे यो समझो। अग्नि एक है और सर्वव्यापक है, निराकार भी है, उसका न कोई आकार है न रूप। फिर भी वह जिस वस्तु मे जैसे ईंधन मे प्रवेश करती है, वैसा ही उसका रूप दिखाई देने लगता है। यदि टेढी लकडी मे लग जाती है, तो अग्नि टेढी दिखाई देती है। यदि स्थूल मे प्रवेश करती है तो स्थूल दीखती है, पतली लकडी मे पतली, मोटी मे मोटी, छोटी मे छोटी, धोती मे धोती-सी, लँगोटी मे लँगोटी-सी, दीखती है। उसी प्रकार वे सर्वव्यापक प्रभु ही प्रकृति, काल, अन्त करण और

समूह रूप इस देह मे चेतना को प्राप्त करके नाना रूपोमे दिखाई देते है। वे ही भावना के अनुसार यज्ञादि क्रियाओ के फल रूप से भिन्न भिन्न प्रकार से प्रतीत होते हैं। ऐसे प्रभु ही सबके पूजनीय है वन्दनीय है, आदरणीय हैं, यजनीय और भजनीय हैं। जो बन्धु उन जनबन्धु का वन्दन करते हैं, जो प्रजा जन उन परात्पर प्रभु का प्रेमपूर्वक पूजन करते हैं, जो भक्त जन उन भवमय भजन, भक्त भयहारी भजनीय भगवान् का भजन करते हैं, जो अमल पुरुष उन अनादि अज अच्युत का एकाग्रचित्त से अर्चन करते है, वे सब मेरे ऊपर बडी कृपा करते है, उनके द्वारा संसार का बडा उपकार हो रहा है, वे संसार मे भव्य भावो का स्रोत बहा रहे है, वे अपना परलोक तो बना ही रहे है, जनता को भी सुख पहुँचा रहे है। आप सब मेरे ऊपर ऐसी ही कृपा करें, मुझे यही भिक्षा द कि आप निरतर उन अखिल विश्व के त्राता संसार के सुखदाता उन अखिलेश का अव्यग्र भाव से आराधन करें।

मेरे पिता ने अपने को ही सब कुछ समझकर प्रधानतया दो कार्य किये। एक तो उन्होने सर्वत्र ईश्वराराधन बद कराया था दूसरा ब्राह्मणो का अपमान किया था। जिसके कारण उनकी मृत्यु हुई। आप इन दोनो कामो से सदा दूर रहे। जैसे आप ईश्वर को मानें उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणो का भी आराधन करे। वेदो को धारण करने वाले ब्रह्म को बताने वाले परलोक को लखाने वाले ये भूसुर ही हैं। ये ही हमारे इष्ट हैं, ये ही हमारे देवता है। तपस्या सहनशीलता और विद्या के द्वारा देदीप्यमान तथा अच्युत की ही अनन्य भाव से आराधन करने वाले विप्रो पर कोई अपना राजापने का, ऐश्वर्यपने का, तेज न दिखावे। ब्राह्मण हमारे कुलदेवता है। आप लोग सोचें-भगवान्

तो सबके पूजनीय तथा वन्दनीय है, ऐसा होने पर भी वे ब्राह्मणो की भक्तिपूर्वक वन्दना करते है, इसीलिये वे ब्रह्मण्य देव कहलाते है। जिनकी पूजा निरन्तर ब्रह्मा, रुद्र आदि बडी भाव भक्ति से करते हैं, वे श्रीहरि ब्राह्मण के पादचिह्न को भक्ति सहित अपने हृदय मे धारण करते हैं। वे बार बार कहते है, ब्राह्मणो के प्रसाद से मैं लक्ष्मीवान् तथा जगद्वन्द्य बना हुआ हूँ। मै उनकी पादधूलि को सिर पर चढाकर कृतार्थ होता हूँ। ऐसे भगवान् से भी पूजित ब्रह्मकुल का कभी स्वप्न म भी अपमान न करना चाहिये। भगवान् के दो मुख बताये हैं, एक तो अग्नि और दूसरा ब्राह्मण। फिर भी भगवान् अग्नि मे हवन करने से उतने प्रसन्न नही होते, जितने ब्राह्मणो के मुख मे हवन करन से प्रसन्न होते है। गरमागरम मोहन भोग जिनमे से घृत चू रहा हो ऐसे सयाव हलुए को जो ब्राह्मणो के वद से परमपावन हुए मुख मे हवन करता है, उसके तो भगवान् किंकर बन जाते है। उसने मानो भगवान् को इतने ही मूल्य म सदा क लिये मोल ले लिया। जितने चाव से भगवान् वदन्न ब्राह्मणो के मुख मे हवन किय हुए पदार्थों का ग्रहण करते है, उतने चाव से विधि विधान पूवक अग्नि मे हवन किये हुए यज्ञ भाग को स्वीकार नही करते।

आप कहेगे, कि यह तो आप पक्षपात कर रहे हैं, ब्राह्मणो मे ऐसी क्या विशेषता है, जो उनका हम ईश्वरबुद्धि से पूजा करे, जैसे ही हाथ पैर उनके, वैसे ही हमार। जसा ही हाड मास का शरीर उनका, वैसा ही हमारा। जैसा ही लाल रक्त उनका, वैसा ही हमारा। फिर हम उनका इतना आदर क्यो करें सो भैया, यह बात नही। देखो भैया, ब्राह्मण लोग शरीर से सब के समान होते हुए भी सबसे विलक्षण हैं। जो प्रत्येक धाम,

नित्य, शुद्ध सनातन वेद को श्रद्धा, तप, सदाचार, मौन, सयम और समाधि के सहित धारण करते है उनकी बराबरी ससार मे कौन कर सकता है।

आप कह सकते है, कि जो ब्राह्मण इन गुणो से हीन है, जो सयम सदाचार से रहित है उसकी हम पूजा क्यो करें ? वह तो जैसे काठका घोडा नाम मात्र का घोडा है उसी प्रकार नाम-मात्र का ब्राह्मण है। जो ब्रह्म को नही जानता वह ब्राह्मण नही। यह ठीक है, फिर भी आपको ऐसे निर्गुण ब्राह्मण का भी निरादर न करना चाहिये। ऐसा ब्राह्मण तो साहस हीन स्वय ही भय-भीत बना रहता है, किन्तु तुम्हारे द्वारा कुल परम्परा की मर्यादा के निमित्त ऐसे नाम मात्र के ब्राह्मण का भी अपमान ठीक नही। देखो, भगवान् का अवतार गौ और ब्राह्मण की रक्षा के ही निमित्त होता है। गौ ब्राह्मण भगवान् के अग ही हैं। अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नही। सारा सिद्धान्त यही है, कि आप भगवान् को माने। भगवान् की सिद्धि वेद शास्त्रो के ही द्वारा होती है, अत· वेद शास्त्रो के धारण करने वाले ब्राह्मणो को भी माने और सदा सर्वदा, यज्ञ-याग, जप, तप, पूजा, पाठ, कथा श्रवण भगवन्नाम सकीर्तन आदि शुभ साधन करते रहे।

महानुभावो ! अब अधिक कहने की आवश्यकता नही। अन्त मे मैं आप सबसे पल्ला पसार कर यही भीख माँगता हूँ, कि मेरी भगवान् के चरणारविन्दो मे अहैतुकी भक्ति बनी रहे, मैं ब्राह्मणो की चरण धूलि को सदा अपने सुवर्ण मडित मुकुट मे श्रद्धा सहित धारण किये रहूँ, जो निष्पाप पुरुष विप्र पद रज को भक्ति-सहित सेवन करते हैं गुरु सुश्रूषु सकल गुणो के धाम, कृतज्ञ और परम सुशील हो जात हैं, उन पर भगवान् शीघ्र प्रसन्न होते हैं। अतः मेरी गोविन्द मे, गौ वृन्द मे और

विप्र पादारविन्दा मे एक सी भक्ति बनी रहे। आप सब मिलकर मुझे हृदय से यही आशीर्वाद द कि मेरे प्रत्येक काय भगवत् सेवा के ही निमित्त हा। सर्वेश्वर भगवान मेरे ऊपर सदा प्रसन्न रहे। मुझे अपने चरणो की अव्यभिचारिणी भक्ति प्रदान कर।

मैंने जो कुछ कहा है, आपके हित की दृष्टि से कहा है, राजा होने के अभिमान से नही आपने जो सेवा मुझे समर्पित की है, उसी भाव से भावित होकर मैंने अपने कतव्य का पालन किया है। इसमें जो आपको कुछ सार प्रतीत हो उसे आप ग्रहण करें और कोई धमविरुद्ध बात हो तो उसका त्याग कर द। धम का यथाथ मर्म तो ये ब्राह्मण बतावगे इन्ही से आपको धम की जिज्ञासा करनी चाहिये। मैंने तो इन्ही के मुख से सुनी हुई बातें आपको इनके समक्ष सुनादी है। यदि मेरे कहने मे कुछ त्रुटि रह गई होगी तो ये गुरुजन उसका सशोधन कर दगे।

सबसे अन्त मे मेरी यही प्राथना है कि यदि भूल से प्रमाद-वश मैंने किसी पर अनुचित आक्षेप कर दिया हो, किसी के हृदय को चोट पहुँचाई हो, तो वे मुझे क्षमा करद। मेरा उद्देश्य किसी का खडन मडन न करके धम की स्थापना और आस्तिक भावो का प्रचार मात्र ही था। मगलमय भगवान् हमारा तुम्हारा सब का मगल कर, सबकी बुद्धि धम मे लगाव, सब के हृदय मे अपनी भक्ति का सचार करें। शाति शाति शाति शुभ भूयात्।

सूतजी कहते है— 'मुनियो! महाराज का भाषण समाप्त होते ही चारो ओर से 'साधु साधु जय जय नमोनम" का तुमुल घोष होने लगा। सर्वत्र आनद और उल्लास छा गया। महाराज के ऊपर देवताओ ने पुष्पो की वृष्टि की। दुन्दुभी आदि बाज

बजने लगे। सूत मागध आदि स्तुति करने लगे। महाराज ऋषि मुनियो और ब्राह्मणो को प्रणाम करके अपने आसन पर जा बैठे।

छप्पय

धन्य प्रजा के पुरुष करहिं जे पूजा प्रभु की।
ते अति आदरणीय करहिं जे अर्चा विभु की।
धर्ममूल हैं धेनु यज्ञ हित घृत जे देवे।
दूसर भूसुर कहे वेद जे विधिवत सेवें॥
विप्र कमल पद रेणु कूं, नित सिरत धारन करहुं।
कृष्णार्पण करि करहुं सब; कर्क व्यथा सब की हरहुं।

प्रजा द्वारा महाराज पृथु के उपदेश का अभिनन्दन

(२७८)

अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते,
त्वयैव नाथेन मुकुन्द नाथाः ।
य उत्तमश्लोकतमस्य विष्णो,
ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २१ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

सुने वेन सुत वैन नैन सबके भरि आये ।
सुनि अभिभाषण साधु साधु सबई चिल्लाये ॥
उठे वृद्ध से पुरुष एक प्रतिनिधि परजाके ।
धन्यवाद बहु दये मच के ढिंग महँ जाके ॥
पिता पुत्र द्वारा परम, प्राप्त पुण्य लोकनि करहिं ।
भई सत्य वेदोक्ति जिह, पृथु पितु के पापनि हरहिं ॥

वह प्राचीन शिष्टाचार है, कि जो अपने प्रति उपकार करे, उसके उस उपकार के बदले मे हम उसके आभारी हो, उसे

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महाराज पृथु का उपदेश श्रवण करके प्रजा के पुरुष कहने लगे—हे पवित्र कीर्ति वाले महाराज

धन्यवाद दें, उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करें,उसके छोटे से उपकार को बडे से बडा मानकर आदर करें और सदा उसके उपकार के लिये हृदय म आदर के भाव बनाये रख। जो उप कार कर्ता के प्रति मनसा वचसा तथा कमणा कृतज्ञता प्रकट नही करता, उसके आभार को नही मानता वह कृतघ्नी कहलाता है। वसुन्धरा का कहना है मैं इतने बडे हिमालय, सुमेरु आदि पवतो को सरलताके साथ धारण किये रहती हूँ। लाखो करोडो बडे बडे पवतो के धारण से मुझे उतना कष्ट नही होता, जितना एक कृतघ्न के धारण करने से होता है। कृतघ्नता एक महान् पाप है। इसीलिए हमारे यहाँ स्वल्प उपकार के प्रति भी सम्मान करने की आज्ञा है। जो हमे एक भी अच्छी बात बतादे, एक भी अक्षर पढा दे, उसका अपमान करने वाला करोडो वप तक नरको मे पचता रहता है। अन्त मे वह विष्टा का कीडा होता है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते है—'विदुरजी! जब महाराज पृथु अपना भाषण समाप्त कर चुके ता चारो ओर हप ध्वनि होने लगी! सब एक स्वर मे गगन भेदी वाणी म 'साधु साधु' 'धन्य धन्य' कहने लगे। सब पूरी शक्ति लगा कर महाराज पृथु की जय, नर रूप धारी श्रीहरि की जय, इस प्रकार जय घोष करने लगे। जब चारो ओर कोलाहल हो गया, सभी प्रेम के आवेग मे अपने आपे को भूल गये, तो सब के सकेत करने पर

आज हम आपको अपना स्वामी पाकर यथाथ म भगवान् की प्रजा बनगये। मुकुन्द ही हमारे नाथ हो गये। क्योकि आप हमारे सम्मुख उत्तम श्लोक भगवान् ब्रह्मण्यदेव की कथाओ को कहते हैं। हम भागवती कथा सुनाते हैं।

एक वृद्ध से अनुभवी पुरुष उठे। उन्होने उपस्थित ऋषि महर्षियो को प्रणाम किया, महाराज का आदर किया और सबकी ओर से अपने सम्राट के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने को उद्यत हुए। मुनियो की अनुमति पाकर मच के समीप पहुँचकर जिस प्रजा की भीड मे समुद्र के समान हर्ष की ऊर्मियाँ उठ रही हैं, उसे शान्त करते हुए तथा सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए, वे तेजस्वी वृद्ध पुरुष बोले—"ऋषि महर्षियो तथा प्रजा के समुपस्थित भाइयो! सब लोगो की ओर से मुझे आज्ञा हुई है, कि हमारे सम्राट ने जो हमे अनुपम उपदेश दिया है, उसके प्रति मैं सबकी ओर से कृतज्ञता प्रकट करूँ। महाराज के उपकार के प्रति हम शब्दो मे अपनी कृतज्ञता कैसे प्रकट कर सकते हैं। जो माता सतान को नाना कष्ट सहकर ९ महीने उदर मे धारण करती है, जो पिता पाल पोस कर स्वय कष्ट सहकर बच्चे को इतना बडा बनाते है, उन माता पिता के ऋण से कोई भी पुत्र कभी भी सेवा करके उऋण नही हो सकता। जीवन भर भृत्य के समान सेवा करने पर भी उनके उपकारो का बदला नही चुका सकता। माता पिता तो थोडे ही समय तक पालन करते है, किंतु ये हमारे पृथिवी पति पिता तो जीवन भर हमारी सभी सुविधाओ का ध्यान रखते है, हमे सदा भयसे बचाते हैं, हमारी आजीविका का प्रबन्ध करते है, तिस पर भी ऐसे अनुपम उपदेश देकर हमे परमार्थ पथकी ओर प्रेरित करते हैं। ऐसे पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमारी शक्ति के बाहर की बात है। आज हम अपने ऐसे स्वामी को पाकर साक्षात् परमेश्वर को ही प्रजापति रूप मे प्राप्त करके कृतकृत्य हो गये, हमारा जीवन सफल होगया, हम धन्य धन्य हो गये।

एक सुप्रसिद्ध वेद वाक्य है, जिसका भाव है "पिता पुत्र

द्वारा पुण्य लोको की प्राप्ति करता है।" आज यह श्रुति अक्षरशः सत्य होगई। महाराज वेन के क्रूर कर्मों को बताने की आवश्यकता नही उसे सभी जानते हैं, वे वेद विरुद्ध आचरण करने के कारण तथा भगवान् की निन्दा करने के कारण श्रीहीन होगये थे, इसी लिए ब्राह्मणो की शाप रूपी क्रोधाग्नि में भस्म हो गये। शास्त्र का सिद्धान्त है कि और चाहे किसी प्रकार की अपमृत्यु वाले पुरुष की सद्गति हो भी सकती है, किन्तु ब्रह्म शाप से दग्ध हुए प्राणियो की निष्कृति का कोई भी उपाय नही। भूतपूर्व महाराज ने इतने अन्याय किये थे, कि कोटि कल्पो तक नरक की अग्नि मे पचते रहने पर भी उनका उद्धार नही हो सकता था किन्तु आज इन श्रीहरि स्वरूप नरनाथ को पुत्र रूपमे पाकर वे भी विमुक्त बन गये। उनका भी नरक से उद्धार हो गया। सत्पुत्र वही है जो अपने पितरो के पापो का प्रायश्चित्त करके उन्हें नारकीय यातनाओ से बचा सके।

हम सुनते आये है, कि प्राचीन काल में हिरण्यकशिपु दैत्य ने भी ऐसे ही पापाचार किये थे, वह भी भगवान् से द्वेष रखता था, वह भी अखिलात्मा श्रीहरि की निन्दा करता था। वह भी श्रीमन्नारायण की नित्य निन्दा करके अपने पाप रूपी घट को भरता जाता था, किन्तु उसके पुत्र महाभागवत प्रह्लाद जी ऐसे हुए कि उन्होंने उसके समस्त पापों का परिमार्जन कर दिया, उसे नरक की अग्नि के ताप से बचा लिया, नरक रूपी सागर मे निमग्न होते हुए पिता को उबार लिया। सत्पुत्र का कार्य ही यह है।

हे हमारे हृदवेश्वर, हे हमारे हृदय सम्राट ! हम किन शब्दों मे आपकी स्तुति करें। क्या वस्तु समर्पित करके आपके प्रति भक्ति प्रदर्शित करें। हम पर आपके अनुरूप भेंट करने को कोई

वस्तु नही है। हम सब दो हस्तक और एक मस्तक नवाकर आपके प्रति सम्मान प्रदर्शित करते परम पिता परमात्मा के पाद पद्मो मे पुन पुन यही पुनीत प्रार्थना करते है, कि आप अनन्त-काल तक जीवित रह कर, इसी प्रकार हमे सदुपदेश देते रहे, इसी प्रकार हमारा प्रेमपूर्वक पालन करते रहे।

हे नरनाथ! हे पवित्र कीर्ति वाले यशस्वी सम्राट! हे हमारे जीवन सर्वस्व! आज हम पृथिवी पर रह कर भी वैकुण्ठ के सुख का अनुभव कर रहे हैं। हे ब्रह्मण्य देव! हम उस स्वर्ग को तुच्छ समझते है, जहाँ श्रीहरि के गुणगण निरन्तर श्रवण करने को न मिलें। इसके विपरीत हम उस नरक मे अनन्त काल तक रहने को तैयार हैं, जहाँ श्रीहरि के गुणानुवाद होते रहते हो। आज नरनाथ होकर, इतन ऐश्वर्य सम्पन्न होकर भी आप हमे उत्तम श्लोक श्रीपुरुषोत्तम की कमनीय कथा सुना रहे हैं उनकी अनुपम लीलाओ को व्यक्त कर रहे हैं। हे स्वामिन्! आज हम आप मुकुन्द को अपने स्वामी रूप मे पाकर यथाथ मे प्रजा कहलाने के अधिकारी बन गये, हम कृतार्थ हो गये, धन्य धन्य हो गये।

हम आपकी इस अहैतुकी कृपा को प्राप्त करके भौचक्के से रह गये, कि क्या हम सब इतनी कृपा के अधिकारी हो सकते हैं? फिर सोचते है, हम चाहे अधिकारी न भी हो, किंतु आश्रितों पर कृपा करना, भूले भटको को सुपथ दिखाना, यह तो आप जैसे परोपकार व्रती पुरुषो का सहज स्वभाव ही होता है, इसम आश्चर्य करन को कोई बात भी नही। अपना अयोग्य पुत्र भी प्यारा होता है, अपनापन जिसम हो जाता है, उसकी योग्यता की ओर ध्यान नही जाता। उसे तो निबाहना ही होता है, इसी प्रकार हम योग्य अयोग्य जैसे भी हैं, आपके हैं और आप उसी

नाते अयोग्य होने पर भी हमारा पुत्र के समान पालन कर रहे है, हमे देवताओ को भी दुर्लभ कृष्ण कथा सुनाकर कृतार्थ कर रहे हैं। अब तक हम दैव नामक प्रारब्ध के अधीन होकर अधो के समान घोर निविडान्धकार मे भटक रहे थे, आपने आज बलपूर्वक हाथ पकडकर हमे उस अज्ञानान्धकार से अपनी कृपा वश उबार लिया। हमे कुपथ से हटाकर सुपथ पर लाकर रख दिया। अधिक हम क्या कहे, कहने योग्य कोई बात भी नही, कहने की हम मे शक्ति भी नही। केवल क्षत्रिय रूप धारण किये सत्यमूर्ति ब्रह्मण्यदेव जगत्पति आप पुरुषोत्तम के पूजनीय पाद-पद्मो मे प्रणाम करते हुए इन टूटे फूटे शब्दो मे अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! उन वृद्ध पुरुष ने ज्यो ही अपना भाषण समाप्त किया, त्योही जय हो, जय हो। 'महा-राज की जय हो, पृथिवी पति पुरुषोत्तम की जय हो, प्रजा पालक पृथु भगवान् की जय हो, जय हो, जय हो, जय हो, ऐसे जय घोष चारो ओर से होने लगे। सभी ने उस वृद्ध पुरुष के कथन का अनुमोदन और समर्थन किया।

छप्पय

भये कृतारथ आजु हमनि अच्युत पति पाये।
प्रभो! धन्य सुनि भये अवहिं जो हरि गुन गाये॥
जुग जुग जीवें नाथ सदा अस सीख सिखावें।
सुनि श्रीमुख हरि सुयश हृदय हमरे हुलसावें॥
मति मलीन अति दीन हम, नही भेंट सम्मान है।
केवल श्रद्धा सहित प्रभु! पद पद्मनि परनाम है॥

—❀—

महाराज पृथु की सभा में सनकादि सिद्धों का प्रादुर्भाव

(२७७)

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम् ।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २२ अ० १ श्लो०)

छप्पय

सभा माहिं सनकादि तबहिं नभ मारग आये ।
प्रजा सहित पृथु उठे सबनि चरननि सिर नाये ॥
सिंहासन बैठाइ विविध विधि पूजा कीन्ही ।
राज, कोष, सम्पत्ति, देह अर्पन करि दीन्ही ॥
हाथ जोरि गद्गद गिरा, कहत वचन विह्वल भये ।
करे कृतारथ कृपानिधि ! सुर दुरलभ दरसन दये ॥

इस भूमडल मे बहुत से सिद्ध सूक्ष्म रूप से घूमा करते है, बहुत से विविध वेष बना कर अपने को छिपाये हुए स्थूल रूप से भी घूमते हैं। वे अधिकारी पुरुषो को उपदेश देते हैं। भक्तो को विपत्तियो से सहसा बचाते हैं। कभी कभी तो प्रत्यक्ष

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी ! इस प्रकार प्रजा के पुरुष परम पराक्रमी पुरुषोत्तम पृथु की स्तुति कर ही रहे थे कि उसी समय सूर्य के समान कान्ति वाले सनकादि चारो महर्षि राज-सभा म पधारे।

देखा गया है, कि नौका पानी से भर गई है, अब डूबी, अब डूबी हो रही है, किसी अव्यक्त हाथ ने ऐसे जोर का धक्का मारा कि वह पार लग गई और पृथिवी पर टिक गई। कुछ तो प्राचीन चिरजीवी सिद्ध पुराणो मे प्रसिद्ध ही है। जैसे सनक, सनन्दन सनतकुमार, सनातन, नारद, ऋभु,अगिरा, देवल, शुक, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण्य, आरुणि, रोमश,च्यवन, दत्तात्रेय, आसुरी पतञ्जलि, वेदशिरा, बोध्य, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कौशल्य, श्रुतदेव, ऋतध्वज आदि आदि। इनमे से बहुत से ऐसे हैं जिनके सामने अनेको ब्रह्मा बदल गये। ये ससार के कल्याणार्थ, दीन दुखियो के दुख दूर करने तथा अधिकारियो को उपदेश देने के लिए विचरते रहते हैं। इसलिये पहिले शम, दम, यम, नियम आदि सद्गुणो और पुण्य कार्यो द्वारा पात्र का सम्पादन करना चाहिये। पात्रता प्राप्त होने पर सिद्ध स्वय ही आकर तुम्हे उपदेश देगे। जितना साधक सद्गुरु की प्राप्ति के लिये व्यग्र रहता है उस से शत सहस्र अनन्त गुणा गुरु सत् शिष्य के लिये अधीर रहता है। पात्रता होने पर ही दोनो का सयोग होता है। अपात्र उपदेश ठहरता नही। फूटे घड़े मे पानी भर कर रख दो, वह जायगा, नष्ट हो जायगा।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज पृथु वैसे तो ईश्वर ही थे, फिर भी उन्होने नरपति का वेष बनाया था, अत. उन्होने दान, धर्म, जप, तप तथा यज्ञो द्वारा अपने अन्त करण को पवित्र किया, पात्रता का सम्पादन किया। जब पूर्ण पात्रता आ गई तब उन्हे भगवान् के दर्शन हुए। दर्शन होन पर भी भगवान् ने आज्ञा दी कि तुम्हे उपदेश देने सनकादि महर्षि स्वय तुम्हारे यहाँ पधारेंगे! वे तुम्हारे सशयो का छेदन करेंगे।

महाराज पृथु को तो सशय होने ही क्या थे, फिर भी लोक शिक्षा के निमित्त उन्हे योग्य अधिकारी समझकर सनकादि सिद्ध महर्षि उनके समीप आये।

सभा खचाखच भरी थी, सभी श्रेणी के पुरुषो का जमाव था। ऋषि मुनि विप्र और पूजनीय पुरुष सभी को सुशोभित कर रहे थे। महाराज पृथु अपना भाषण समाप्त कर चुके थे, प्रजा की ओर से आभार प्रदर्शित हो चुका था, सभा के पुरुष हर्ष ध्वनि कर रहे थे कि सभी को ऊपर से पीली पीली जटा फैलाये चार देवताओ के समान दिव्य पुरुष आकाश से उतरते हुए दिखाई दिये। उनके तेज से दशो दिशायें आलोकित हो रही थी। महाराज पृथु की ज्यो ही दृष्टि ऊपर की ओर गई त्यो ही उन्हे भगवान् की बात स्मरण हो आई कि भगवान् ने कहा था तुम्हे उपदेश करने सनकादि चारो सिद्ध आदि ऋषि आवेंगे। महाराज सभ्रम के सहित हाथ जोडे हुए उठकर खडे हो गये। महाराज के उठते ही समस्त प्रजा के पुरुष उठ खडे हुए। ऋषि मुनियो ने भी अपने आसन छोड दिये। बात की बात मे अपने प्रकाश से सभा-मडप को प्रकाशित करते हुए चारो सनकादि कुमार आकर महाराज के समीप खडे हो गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"ऋषियो! सभा मे जब कोई श्रेष्ठ सम्माननीय पुरुष पधारते हैं तो छोटे पुरुषो के प्राण उनकी ओर उत्क्रमण करने लगते हैं। जब अभ्युत्थान आदि के द्वारा उनका स्वागत सत्कार करते है तो प्राण पुन अपने स्थान पर हो जाते हैं। सनकादिको का सम्मान करते ही सबके प्राण यथा स्थान हुए। महाराज पृथु ने कधो को भुका कर हाथो की अञ्जलि बाँधकर अत्यन्त विनयावनत होकर उनका आदर किया। दिव्य सुवर्ण के सिहासनो पर जिन पर मखमली गुल गुले बहुमूल्य

तोसक तकिया लगे हुए थे उन पर सबको सत्कार पूर्वक बिठाया पाद्य अर्घ्य आचमनीय आदि से उनकी विधिवत् पूजा की। अपने सम्मुख सुख से सिंहासन पर विराजमान पूर्वजों के भी पूर्वज भगवान् रुद्रदेव के भी अग्रज उन कुमारों से शिष्टाचार युक्त वचन बोले।

महाराज ने अत्यत नम्रता के साथ दोनो हाथो की अञ्जलि बांधे हुए कहा—"हे मगलमूर्ते ! हे सम्पूर्ण लोको द्वारा नमस्कृत ऋषिश्रेष्ठो ! पता नही आज मेरा कौन सा पुण्य उदय हो उठा। कौन से सुकृत कर्मों का आज सहसा फल प्रकट हो गया जो आपका देवदुर्लभ दर्शन मुझ दीन हीन को अकस्मात् हो गया। इतना भारी पुण्य इस जन्म मे तो मुझ से हुआ नही, जिसके फल स्वरूप आपके दर्शन हो सकें।

इस पर सनत्कुमार बोले—"राजन् ! आप तो बड़े धर्मात्मा हैं, आपने अपने पुण्य-प्रभाव से परात्पर प्रभु परमेश्वर को प्रसन्न कर लिया है। स्वय उन्होंने आपके यज्ञ मे पधारकर आपको कृतार्थ किया है।"

इस पर महाराज पृथु बोले—"हाँ, भगवन् ! यह ठीक है भगवान् ने मुझे दर्शन दिये थे, किन्तु वह किसी पुण्य का फल नहीं था। कौन सा ऐसा पुण्य है जिसके वश मे भगवान् हो सक। भगवान् ने तो कृपावश मुझे दर्शन दिया था, उन्होंने तो दया करके मेरे इन नेत्रो का पवित्र किया था। ब्राह्मणो के आशीर्वाद से मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो सका था जिस पर ब्राह्मणों की कृपा हो, भगवान भूतनाथ का अनुग्रह हो और श्रीहरि दया करके जिस दर्शन दे दें, उनके लिये संसार मे दुर्लभ ही क्या है। प्रतीत होता है भगवद्दर्शन का ही यह फल है, कि आपके दुर्लभ दर्शन का मुझे आज सौभाग्य प्राप्त हुआ। भगवद्

दर्शन भगवत् कृपा का फल है) और साधु सतो का दशन भगवद् दर्शनो का फल है।

सनत्कुमारजी ने कहा—"अरे भैया! हमारा क्या दशन हम तो ऐसे घूमते ही फिरते है।"

इस पर महाराज बोले—'नही भगवन्! यह बात नही। आप अवश्य ही वायु की भाँति सम्पूर्ण लोको मे सदा स्वेच्छानुसार घूमते रहते हैं, सवसाधारण लोग समीप आने पर भी आपको जान नही सकते। जैसे इस दृश्य प्रपञ्च के कारण भूत महत्तत्वादि गुण सब साक्षी आत्मा को सब मे समान रूप से व्याप्त होने पर भी पहिचान नही सकते। वे धनहीन पुरुष भी धन्य हैं जिन्हे आपकी परिचर्या करने का, सुयोग प्राप्त हो जाता है। और कुछ घर मे न हो तो आपको तृण का आसन दे दे। आसन न हो, तो हाथ से बहार कर पृथिवी ही बता दे। जल दे। इतने से ही व कृत कृत्य हो जाते हैं। इतन से ही वे मनुष्य जीवन का फल प्राप्त कर लेते हैं। इसके विरुद्ध जिनके घर मे अटूट धन भरा है जो सर्व सम्पत्तियो से युक्त हैं। फिर भी जिन पर आपकी कृपा नही हुई, आपके पादपद्म की पुनीत पराग और पयके ससर्ग से पक न हुई तो वह घर तो शमशान के तुल्य, सर्प की वामी के तुल्य कबूतरो के खोतरो के तुल्य, तथा जुआरियो के आवास के तुल्य है।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"राजन्! बहुत शिष्टाचार हो गया अब कुछ काम की बातें करो।'

महाराज बोले—'नही भगवन्! मैं शिष्टाचार से नही कह रहा हूँ। आपकी प्रशसा कोई कर ही क्या सकता है? सहनशीलता धैर्य ज्ञान, वैराग्य आदि षट्सम्पत्ति जिन्हे मुमुक्षु पुरुष साधन करते करते चिरकाल के अनन्तर प्राप्त करते है, व

सद्गुण आप मे जन्म से ही स्वाभाविक हैं। आप तो ब्रह्माजी क आदि पुत्र हैं। माया मोह आपको स्पर्श भी नही कर सके है।"

यह सुनकर सनातन जी बोले—हाँ, ये सब बात तो हो गई। अब राजन्! कुशल क्षेम कहिये।

महाराज बोले—"भगवान्! इस कोलाहल-पूर्ण ससार मे कुशल कहाँ? कुशल तो आपके चरणो मे है। कर्मो के वशीभूत हुए हम नाना प्रकार के दु ख भोग रहे हैं। ऐसी अवस्था मे हमारी कुशल तो तभी हो सकती है जब आप अनुग्रह करें। रही आप से कुशल पूछन की बात सो भगवन्! आप सब तो कुशल स्वरूप ही हैं। आपको तो कभी स्वप्न मे भी अकुशल नही। अमृत के सागर से खारी पानी की बात क्या पूछना। आप तो साक्षात् भगवन् स्वरूप हैं। मैं तो यही पूछना चाहता हूँ कि हम जैसे इन्द्रिय परायणो का कल्याण कैसे हो? ससार मे फँसे हुए प्राणी किस सरल सुगम साधन के द्वारा श्रेय की प्राप्ति कर सकते है? हम जैसे अज्ञो के हित का कोई उपाय बतावें।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! महाराज पृथु के ऐसे प्रश्न को सुनकर उन चारो कुमारो मे से सनतकुमार कुछ हँसते हुए महाराज के प्रश्न का उत्तर देने को उद्यत हुए।

छप्पय

अब हे दीनदयाल! मोक्ष को मार्ग बताओ।
कस होवे कल्यान सरलता तें समझाओ॥
भटके भव मग माहिं प्रभो! अवलम्बन देवें।
भवजल डूबत नाव आप नाविक बनि खेवें॥
तीना तापनि ते तपित कब ते जग महँ भ्रमि रहे।
दुखित देखि दरशन दये, भई शाति तव पद गहे॥

कीर्तनीयो सदा हरि

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवतचरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६)५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है; उसकी न्योछावर ८) है। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती हैं सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

१– संकीर्तन भवन, वंशीवट, वृन्दावन (मथुरा)
२– संकीर्तन भवन, झूसी, (प्रयाग)
३– भागवत प्रेस, ८५२, मुट्ठीगंज, प्रयाग
४– संकीर्तन भवन, वसन्त गाँव, मोतीबाग नं० १ कैन्ट १० नई देहली
५– भागवती कथा प्रचार कार्यालय, १३ गोपाल घोस लैन मलकिया हावडा
६– सेठ सूरजरतन जी मेहता, ५।२ रामकृष्ण लैन, बाग बाजार, कलकत्ता–३
७– भागवती कथा प्रचारक संघ १६ ९९।८ देहली सराय रोहिल्ला नई देहली–५
८– सेठ जगत नारायण, भागवती कथा प्रचारक संघ, मठ छीनो (जि० बाँदा)
९– परमानंद पाडेय भागवती कथा प्रचार कार्यालय, मीठापुर, पटना
१०– श्री अशोक मुनिजी, संकीर्तन भवन, लालपुर (जि० कानपुर)

नोट–हमारे यहाँ की प्रकाशित पुस्तकों की सूची कवर के अन्तिम पृष्ठ पर देखें।

मुद्रक—राजाराम शुक्ल, संकीर्तन प्रेस, वंशीवट, वृन्दावन

No 1350 बजरंगबली SSB

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(त्रयोदश खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

चतुर्थ संस्करण १००० प्रति] ज्येष्ठ कृष्ण २०२९ जून १९७२ [मूल्य—१.६५ संशोधित मूल्य १.६५

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१. महाराज पृथु को सनत्कुमारजी का उपदेश	१
२. पृथु का शिष्टाचार और सनकादिकों की विदाई	१७
३. महाराज पृथु का वन गमन	२६
४. पृथ्वीपति पृथु का परलोक प्रयाण	३२
५. प्रचेता कौन थे ?	३९
६. प्रचेताओं पर श्री महादेवजी की कृपा	४५
७. रुद्रगीत का शिवजी से उपदेश पाकर प्रचेताओं का तप	५१
८. पुरञ्जनोपाख्यान का प्रारम्भ	५८
९. पुरञ्जन पुरञ्जनी का प्रेम प्रश्न	६५
१०. पुरञ्जन और पुरञ्जनी का गठबन्धन	७३
११. पुरञ्जन का पुरञ्जनी के साथ आनन्द विहार	८१
१२. पुरञ्जन का मृगया प्रेम	८८
१३. पुरञ्जन का मानिनी पत्नी को मनाना	९६
१४ पत्नी तथा परिवार में आसक्त हुआ पुरञ्जन	१०३
१५. पुरञ्जन को पुरी पर शत्रु की चढ़ाई	११०
१६. काल कन्या का चरित्र	११७
१७. पुरञ्जन की पुरी का विध्वस	१२५
१८. पुरञ्जन का स्त्री योनि मे जन्म	१३१
१९. पुरञ्जन को स्त्री योनि में हस द्वारा ज्ञान	१३८
२०. पुरञ्जन कौन ? हंस कौन ?	१४७
२१. पुरञ्जनोपाख्यान का अभिप्राय और उससे शिक्षा	१५६
२२. श्रीनारदजी का प्राचीनबर्हि को उपदेश	१६८
२३. प्राचीनबर्हि और नारदमुनि के सम्वाद की समाप्ति	१७७
२४. प्रचेताओं को भगवान् के दर्शन	१९२
२५. वार्ची कन्या की कथा	१९८
२६. प्रचेताओं का गृहस्थाश्रम में प्रवेश	२११
२७. दक्ष प्रजापति का पुनर्जन्म प्रचेताओं का गृहत्याग	२१७

महाराज पृथु को सनत्कुमारजी का उपदेश

४१४
धर्म

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणाम्
क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २२ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

बोले सनत्कुमार प्रश्न पृथु का सुनि करिकें ।
करहु हो ह निस्सङ्ग काज सब हरि हिय धरिकें ॥
शास्त्र बचन गुरु दया भक्ति भगवत् भक्तिन की ।
योग, ज्ञान, हरिकथा टेव नित हरि कीर्तन की ॥
ऐसे और अनेक हैं, हे उपाय, उत्तम अनघ ।
कहहिँ तिनहिँ जे प्रेम तें, होहि शुद्ध मन कटहिँ अघ ॥

ससार में वस्तुएँ सुलभ हैं, केवल सन्त सग और हरि कथा ये ही दुर्लभ हैं। जिन्हें सन्तों का सग प्राप्त है जिन्हें भगवत्

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं— 'विदुरजी ! जब महाराज पृथु ने कल्याण का मार्ग पूछा तब श्री सनत्कुमार कहने लगे—' राजन् ! विचारयुक्त सभी सुन्दर शास्त्रों मे मनुष्यों के कल्याण का बस एक ही कारण बताया है, वह यह कि आत्मा के अतिरिक्त जो ममत्व के पदार्थ हैं, उनमें अनासक्त भाव से रहकर अपने अन्तरात्मा निर्गुण ब्रह्म में सुदृढ़ अनुराग होना ।

कथा श्रवण में रस आता है, उन्हें अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं। कुछ कार्य तो ऐसे हैं, जिनमें एक को आनन्द होता है, दूसरे को नहीं। जैसे लोभी को द्रव्य अत्यन्त प्रिय होता है वह पैसा को प्राणों से अधिक प्यार करता है, किन्तु पैसा उससे प्यार नहीं करता, जैसे मांसाहारियों को मांस अत्यन्त प्रिय है, किन्तु जिनका मांस खाते हैं, उन्हें खाने वाला प्रिय नहीं। कुछ कार्यों में परस्पर में दोनों को ही आनन्द आता है, जैसे सत्पति को अपनी सती साध्वी धर्मपत्नी के मिलने में सुख होता है, वैसे ही सती को अपने पति से मिलने में आनन्द आता है। जैसे अत्यन्त प्रेमी दो मित्रों को परस्पर में मिलने से दोनों ओर से आनन्द का स्रोत बहने लगता है। उसी प्रकार सत्संग में भी है। योग्य अधिकारी को देखकर उपदेष्टा का मन मुकुर खिल उठता है और अपने सम्मुख सब संशय छेत्ता गुरु को देखकर योग्य अधिकारी शिष्य का हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। जितना ही रस मुमुक्षु को पूछने और सुनने में आता है, उससे बढ़कर सुख वक्ता को उनका उत्तर देने में आता है। दोनों ओर से सुख का स्रोत बहने लगता है। आनन्द के निर्झर बहने लगते हैं।

मैत्रेयमुनि कहते हैं –"विदुरजी! जब महाराज पृथु ने कुमारों से श्रेय सम्बन्धी पारमार्थिक प्रश्न पूछा तो उसका उत्तर चारों भाइयों में से सनत्कुमार देने लगे।"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! तुमने बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। आपको तो भला शंका होनी ही क्या थी। आपका यह प्रश्न अपने लिये नहीं है, लोक कल्याण के निमित्त है। सज्जन पुरुषों का यह स्वभाव होता है, कि वे ऐसे ही कार्य करते हैं जिनसे सबका भला हो। ऐसे ही प्रश्न पूछते हैं, जिसमें प्राणीमात्र का हित हो। आपने जो पूछा है उसका उत्तर मैं दूँगा।"

इस पर महाराज बोले—"भगवन्! मैंने आपको कष्ट दिया इसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।"

सनत्कुमारजी बड़े स्नेह से बोले—"अरे, भैया! कष्ट काहे का है यह तो तुमने हमारे ऊपर बड़ी कृपा की, जो ऐसा प्रश्न करके हमें भी भगवद् गुणानुवाद कथन का अवसर दिया। देखिये सत्सङ्ग में श्रोता को उतना रस नहीं आता जितना योग्य अधिकारी के सम्मुख कहने में वक्ता को रस आता है। साधु समागम तो श्रोता वक्ता दोनों को ही अभिमत है। क्योंकि उन दोनों से प्रश्नोत्तर शंका समाधान से सभी के संशयों का छेदन होता है, प्राणिमात्र का कल्याण होता है। आप तो बड़भागी हैं, जो आपको ऐसे प्रश्न करने की बुद्धि उत्पन्न हुई। बिना हृदय में अविचल भगवद्भक्ति हुए कोई ऐसा प्रश्न कर ही नहीं सकता। आप भगवान् के भक्त हैं भगवत् स्वरूप हैं, आप गोविन्द गुणानुवाद श्रवण के रस लम्पट भक्त मधुकर हैं। ऐसी भक्ति लाखों करोड़ों में से किसी भाग्यशाली को प्राप्त होती है। हृदय में ऐसी भक्ति के उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण वासना रूप जो मन के मल हैं वे पल भर में नष्ट हो जाते हैं। अन्तःकरण शीशा के समान स्वच्छ हो जाता है।"

महाराज पृथु बोले "अभी तक तो भक्ति है नहीं, आपकी अनुकम्पा हो जाय तो सम्भव है उत्पन्न भी हो जाय। हाँ, तो मनुष्यों के कल्याण का सर्वश्रेष्ठ सर्वसुगम मार्ग आप बतावें?"

सनत्कुमार बोले—"देखिये, दो पदार्थ हैं। आत्म और अनात्म। आत्मा सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी, मायिक गुणों से रहित सत् चित और आनन्द स्वरूप है। वह सबके हृदय में जीव रूप से वास करता है। इसी प्रकार सब अपने को 'अहं' मैं कहते हैं किन्तु जीवात्मा इस यथार्थ अहं से प्रेम न करके यह मेरा देह, वह मेरा गेह है यह मेरा कुटुम्ब है यह मेरा परिवार है। यह

मेरा धन है ये मेरे स्वजन हैं। इन क्षणभंगुर नाशवान् अनित्य पदार्थों में ममत्व किये बैठा है। इन्हें ही अपना मानकर नाना क्लेश सह रहा है। बड़े श्रम से लाखों रुपये लगाकर एक घर बनवाया भूकम्प में वह गिर गया, अब इसीलिये अत्यन्त दुखी है अरे मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया। मैं लुट गया। अरे, तेरा क्या नष्ट हुआ भैया, मिट्टी-मिट्टी में मिल गई। कितने लोगों ने भवन, किले दुर्ग बनाये कोई साथ लेकर गया हो तो बताओ। सब यहीं रह गये और ऊबड़ खाबड़ खेड़े बन गये। पुत्र मर जाता है, तो हाथ पैर पीटते हैं रोते चिल्लाते हैं, मैं मर गया। मेरा सब कुछ चला गया अरे, तू क्या मरा भैया, जीव अपने कर्मानुसार शरीर धारण करता है। कर्म समाप्त होते ही इस स्थूल शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। इसमें रोने-धोने वाली बात कौन-सी है। सो राजन्! इन, देह, गेह, धन, सम्पत्ति, स्वजन परिजन, पुरजन आदि अनात्म पदार्थों को आत्मा से भिन्न समझकर सबमें अनासक्त भाव से बर्ताव करना, तथा मेरे अन्तरात्मा निर्गुण में सुदृढ़ अनुराग करना। इसी को मैंने कल्याण का मार्ग समझा है इसी से जीव समस्त क्लेशों से रहित होकर अपने यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि कर सकता है। स्वयं आनन्द स्वरूप हो सकता है।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज पृथु ने प्रश्न किया—"प्रभो! यह तो आपने सार सिद्धान्त बता दिया। साध्य स्थिति का वर्णन कर दिया, किन्तु मैं तो यह जानना चाहता हूँ, कि यह इतनी उच्च स्थिति किन साधनों के द्वारा प्राप्त हो सकती है। कृपा करके मुझे संक्षेप में साधनों का निर्देश और कर दें।

यह सुनकर सनत्कुमार बोले—"राजन्! एक साध्य होने पर उसे प्राप्त करने के विविध साधन हैं। जैसे आपकी यह बर्हिष्मती नाम की पुरी है। इसमें कोई अङ्ग देश से आता है,

कोई बग देश से, कोई सुह्म देश से कोई पुण्ड्र देश से। कोई राजपथ से आता है, कोई साधारण पथ से कोई पगडण्डी से आता है, कोई खेतों से होकर। कोई पूर्व से आता है, कोई पश्चिम से। कोई रथ से आता है, कोई हाथी घोडा, ऊँट से, कोई पैदल आता है तो कोई नरयान से। इतनी सब भिन्नता होने पर भी अन्त में सब पहुँच जाते हैं, इसी बर्हिष्मती नगरी में। महाराज! मूर्ख लोग इन बातों पर झगडा करते हैं, मेरा मार्ग ठीक है तेरा ठीक नहीं। मेरा साधन उत्तम है तेरा हेय है। अजी, जिसे जो भी अनुकूल पड़े उसके लिये वही सर्वोत्तम है। गुरुजन जिसे जिस मार्ग का अधिकारी समझकर उपदेश करें, उसका उसी मार्ग से चलने में कल्याण है। किसी को दूध प्रिय है, किसी को दही अच्छा लगता है। शास्त्रों में परमार्थ के अनेकों साधन बताये हैं, इनमें से किसी एक का आश्रय लेकर मनुष्य ससार सागर से पार हो सकता है।"

महाराज पृथु ने पूछा—"भगवन्! कुछ साधनों का सकेत तो करें।"

सनत्कुमार बोले—"शास्त्रों में विश्वास रखकर गुरु सुश्रूषा करते हुए किसी भी साधन का आश्रय ले ले। जैसे शास्त्रों में जो भागवतों के धर्म बताये हैं, उनका विधिवत् पालन करने से, अध्यात्मतत्त्व क्या है, इसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है, ऐसी जिज्ञासा से, भगवान् की उपासना में चित्त दृढ न होता हो, तो भागवतों योगेश्वरों की उपासना ध्यान करने से, नित्य प्रति नियमपूर्वक श्रद्धा और सयम के सहित श्रीहरि की परम पावन कथा सुनने से भगवद् धर्मों में अनुराग होता है। कानों के द्वारा हृदय में पहुँचने पर भगवद् गुणानुवाद मनके सभी मलों को धो देते हैं। जो लोग ससारी भोग पदार्थों को ही सर्वस्व समझते

हैं, ऐसे विषयी लोगों का कभी भी संग न करने से। जो पदार्थ विषयी लोगों को सुखकर प्रतीत होते हैं, उनका अधिक संग्रह करने से। निरन्तर कथा कीर्तन में ही लगे रहने से, श्रीकृष्ण का लीलाओं का निरन्तर श्रवण चिन्तन करते रहने से, निष्काम भाव से यम नियमों का पालन करने से, कभी भी किसी की निन्दा न करने से, तितिक्षा का पालन करने से, किसी सांसारिक पदार्थों की चेष्टा न करने से। ये ही सब भगवत् प्राप्ति में अनेकों उपाय हैं। यथार्थ निरन्तर आत्मा में ही रमण करने से बारम्बार भगवद्गुणानुवादों के श्रवण करने से ही यह संसार तिरोहित हो जाता है, फिर प्राणी की आत्मा में स्थिति हो जाती है।"

इस पर महाराज पृथु ने पूछा—"प्रभो! ये संसारी पदार्थ तो हमें स्वयं अपनी ओर खींचते हैं। दूसरों की निन्दा स्तुति सुनने में कानों को बड़ा सुख मिलता है, उतना भगवान् की कथा सुनने में आनन्द नहीं आता। कथा सुनने से चित्त भागता है, उसमें रति नहीं होती। यह विषयों के प्रति अनुराग कैसे दूर हो।"

इस पर सनत्कुमार बोले—"राजन्! यह अभ्यास की कमी है, यदि निरन्तर भगवद् गुणानुवाद में ही चित्त को फँसाये रखें उसी में तन्मय रहने की चेष्टा करे तो शनैः-शनैः विषयों से आसक्ति हटकर आत्मा में अनुरक्ति हो जाती है। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक चर्मकार के घर बहू आई। उस बहू के पिता के घर में चमड़े का कार्य नहीं होता था। नौकरी चाकरी खेती बारी करते थे। बहू जब घर में आई, उसे दुर्गंधि मालूम पड़ी। सदा नाक बन्द किये रहती, किन्तु कब तक बन्द रखती। रहना तो उसे

इसी घर में था। इसी घर में उसको जीवन भर निर्वाह करना था। धीरे-धीरे उसे दुर्गंधि सहने का अभ्यास पड गया।

एक दिन उसने अपनी सास स कहा—"सासूजी! जाने क्या बात है, जब से मैं तुम्हारे घर मे आई हूँ। नित्य प्रति तुम्हारे घर की दुर्गन्धि कम होती जाती है।"

इस पर हँसकर सास ने कहा—"बेटी! अभी क्या है, कुछ दिनों में मेरे घर मे दुर्गन्धि रहेगी ही नहीं।"

राजन्! आप सोचें, दुर्गन्धि कहीं चली थोडी ही गई। निरन्तर उसी में रमण करने से उसी में अभ्यास होने से उसे अभ्यास हो गया। इसी तरस जब तक हमारे हृदय में विषयों का मोह भरा है, तब तक भगवद् कथा कीर्तन प्रिय नहीं लगते चित्त इनमें भागता है। यदि निरन्तर नियम से उन्हीं म चित्त को लगाये रहें, तो धीरे धीरे जैसे विषयियों को विषयों से आनन्द आता है उसी प्रकार मुमुक्षियों को मोक्ष धर्म में आनन्द आने लगेगा। निरन्तर के अभ्यास के ही साधन की परिपक्वता होती है।"

इस पर महाराज ने कहा—"भगवन्! ये जो अविद्या और कर्मवासनायें हैं, ये तो जीव के हाथ अनादि काल से लगी हुई हैं, इनसे छुटकारा कैसे हो?"

यह सुनकर सनत्कुमार बोले—"महाराज! यह अविद्या तो अन्तःकरण का आश्रय लेकर रहती है। गुरुभक्त पुरुष का जिस समय परब्रह्म में निश्चल प्रीत हो जाती है। उस समय जीव ये आश्रय रूप, पाँच प्रकार का अविद्या से युक्त अन्त.करण को ज्ञानाग्नि भस्म कर देती है।"

इस पर महाराज ने पूछा—"प्रभो! अविद्या भी अन्त.करण में रहती है और ज्ञान वैराग्य भी अन्तःकरण से उत्पन्न होते हैं, फिर वे अविद्या को कैसे भस्म कर सकते हैं।"

यह सुनकर सनत्कुमार हँस पड़े और बोले—"राजन्!

आप नित्य यज्ञों में देखते नहीं। दो लकड़ियों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न होती है, वह अग्नि उत्पन्न होकर अपनी उत्पत्ति के स्थान रूप उन लकड़ियों को भी भस्म कर देती है। इसी प्रकार कर्माश्रय के दग्ध हो जाने पर पुरुष सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। कर्म करते हुए भी वे कर्म आगे का भोग उत्पन्न नहीं करते। जैसे भुने हुए बीज को बोने पर फिर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता। जो पदार्थ शरीर के भीतर हैं जैसे मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा चित्त, मेरा अन्तःकरण आदि तथा जो शरीर के बाहर के पदार्थ हैं जैसे घट, पट, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि-आदि इन सबमें भेद-भाव जीवात्मा और परमात्मा के कारण ही है। ज्ञान होने पर ये भेदभाव मिट जाते हैं। जैसे स्वप्न में हमने देखा हम राजा हो गये हैं, छत्र चमर लग रहे हैं। सहस्रों दास-दासियों से घिरे हैं। जब तक स्वप्न रहता है, तब तक ये सब ठाट-बाट सत्य दिखाई देते हैं। इनमें सुख भी होता है, जहाँ स्वप्न समाप्त हुआ आँख खुल गई, वहाँ न राजा न छत्रचमर, वही शैया है, वही हम हैं, तब वे स्वप्न के सब पदार्थ असत्य प्रतीत होने लगते हैं"

महाराज पृथु ने पूछा—"यह नानात्व किस कारण से है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"राजन् ! यह सब इस मन ने ही कल्पना कर रखी है। अन्तःकरण रूप उपाधि के रहते हुए ही आत्मा को, इन्द्रियों के विषयों को तथा दोनों से सम्बन्ध अहङ्कार को पुरुष देख सकता है।"

इस पर महाराज पृथु ने कहा—"भगवन् ! यह कैसे ? यह बात तो मेरी समझ में न आई।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"महाराज ! आप यों समझें। जब तक जल है, तब तक अपने आपको और अपने प्रतिबिम्ब को पुरुष देख सकता है। जब प्रतिबिम्ब दिखाई देने वाली वस्तु न रहेगी, तो पुरुष केवल बिम्ब ही बिम्ब को देखेगा,

प्रतिबिम्ब विलीन हो जायगा। यह बिम्ब है, यह प्रतिबिम्ब है, यह पुरुष है, यह उसी की छाया है, ये भेद तो जल, शीशा, अथवा प्रकाश आदि के द्वारा हैं। पुरुष तो प्रतिबिम्ब छाया आदि से रहित है, ये तो उपाधि के द्वारा प्रतीत होती हैं।"

यह सुनकर महाराज पृथु बोले—"आत्मा तो नित्य है, शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है। अन्तःकरण के संसर्ग से इसमें मलिनता क्यों आ जाती ?"

यह सुनकर सनत्कुमारजी बोले—"महाराज! आत्मा में कुछ मलिनता नहीं आती। बुद्ध की विचार शक्ति नष्ट हो जाने से पूर्वा पर की स्मृति नष्ट हो जाती है। और स्मृति भ्रंश हो जाना ही विनाश है। अपने स्वरूप का ज्ञान न रहना इसी को विद्वानों ने आत्म विनाश बताया है।"

इस पर महाराज पृथु बोले—"महाराज! बात कुछ गोल-माल-सी हो रही। बुद्धि की विचार शक्ति किस कारण नष्ट होती है।"

सनत्कुमारजी बोले—"राजन्! इसे आप यों समझें। एक छोटा सा तालाब है उसके चारो ओर कुश काश आदि व्यर्थ के पौधे उत्पन्न हो गये हैं। वे अपनी जड़ों से शनैः-शनैः तालाब के सब जल को सोख लेते हैं। तालाब सूख जाता है। इसी प्रकार मन में पहले पहल विषयों की चिन्तना होती है। चिन्तन करते-करते उन विषयों में आसक्ति होने लगती है। जिसमें हमारी आसक्ति हो जाती है, उसे प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। उचित उपायों से प्राप्त नहीं कर पाते तो लालसावश अनुचित कार्य करते हैं। अनुचित कार्य करते-करते बुद्धि की जो सद्-असद् विवेचना वाली शक्ति है वह तिरोहित हो जाती है। जब स्मृति नष्ट हुई तो स्वरूप ज्ञान का नष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। राजन्! देखिये भगवान् के माया की कैसी प्रबलता है। धन,

पुत्र परिवार स्वरूप तो प्रिय नहीं। आत्मा के संसर्ग से ही उनमें प्रियता है। बहुतों का धन नित्य नष्ट होता है, हमें दुःख नहीं होता। बहुतों के पुत्र संसार में मरते हैं। जिनसे अपनेपन का सम्बन्ध नहीं हमें कुछ भी उनका मृत्यु पर कष्ट नहीं होता किन्तु जिनमें अपनापन है। मेरा धन, मेरा, पुत्र, मेरा घर, जिनमें मेरापन है उनकी प्राप्ति में सुख और विनाश में दुःख होता है। इससे प्रतीत होता है, कि प्रियता अप्रियता वस्तुओं में नहीं किन्तु आत्मा के सम्बन्ध से है। उसी आत्मा को इन विषयों में फँसकर भूल जाते हैं। लोभ में पड़कर अपनी हानि कर लेते हैं अपने यथार्थ स्वार्थ को छोड़ देते हैं इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी। इस पर महाराज एक दृष्टांत सुनिये।"

एक व्यक्ति को आपके समीप अपना दुःख कहने अपने एक प्रधान स्वार्थ की सिद्धि के लिये आना था। उनकी कन्या विवाह योग्य हो चली थी। उसे विश्वास था, कि जहाँ आपके पास पहुँचे नहीं, मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ नहीं। वह वृद्ध पैदल चलने में असमर्थ था, अतः उसने ५ रजत मुद्राओं पर एक बैलगाड़ी तै की। उसमें बैठकर कई दिनों में वह आपकी नगरी तक पहुँच गया। बैलगाड़ी वाला उसे उतार कर लौटने लगा। तब उसने पूछा—"इधर से तुम खाली ही गाड़ी ले जाओगे?"

गाड़ी वाले ने कहा—"जी हाँ, खाली तो ले जानी ही है।"

उस वृद्ध व्यक्ति ने पूछा—"अच्छा, अब कोई जाना चाहे, तो तुम कितने में ले जाओगे?"

उसने कहा—"जी, अब तो मुझे कोई जो भी दे दे, उसी में ले जा सकता हूँ। आधी मुद्रा दे तो भी ले जाऊँगा।"

उस व्यक्ति ने सोचा—"उधर से मैं ५ मुद्रा देकर आया, इधर से आधी में ही जाने को तैयार है १० गुना लाभ है। चलो लौट चलें। यह सोचकर वह कम किराये के लोभ में अपने

यथार्थ स्वार्थ को त्यागकर, फिर घर लौट गया। यदि आपके पास आ जाता तो उसका मनोरथ पूर्ण हो जाता, किंतु घर जाकर फिर चिन्ता में फँस गया, इतना द्रव्य भी व्यर्थ ही नष्ट हुआ इसी प्रकार राजन्! यह मनुष्य देह मुक्ति का द्वार है। यहाँ तक आने पर भी जो विषय भोगों में फँसकर मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं करता, परमार्थ साधन नहीं करता, वह अत्यन्त मूर्ख है। विषयों के प्रलोभन में वह ठगा गया। इन संसारी तुच्छ पदार्थों का, धन का, विषय भोगों का ही चिन्तन करते रहना, मनुष्य का सबसे बड़ा पतन है, वह उसके समस्त पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है। क्योंकि रुपये पैसे और विषय के ये भोग सब जड़ हैं, इन जड़ पदार्थों का निरन्तर चिन्तन करने से जीव जड़ता को ही प्राप्त होता है। वृक्ष पाषाण आदि की योनि में जन्म लेता है। मोक्ष की प्राप्ति धर्मपूर्वक अर्थ और काम के सेवन से होती है। जो धर्म से हीन होकर निरन्तर विषयों में ही फँसे रहते हैं। वे सदा घोर अज्ञानरूप अन्धकार में फँसे रहते हैं। धर्म, अर्थ, काम ये तो साधन हैं, धर्मादिक साध्य नहीं। साध्य तो मोक्ष ही है। क्योंकि मोक्ष के अतिरिक्त धर्म अर्थ और काम ये भी क्षयिष्णु हैं, ये भी कृतान्त के भय से संयुक्त हैं। देखिये सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। इस प्रकृति में जब विषमता उत्पन्न होती है, क्षोभ होता है तब महत्तत्व की उत्पत्ति होती है उससे अहंतत्व फिर मन भूत, तन्मात्रायें आदि उत्पन्न होती हैं। इन सबको प्रकृति का विकृति विकार कहते हैं। गुण क्षोभ के अनन्तर जो भी उत्पन्न हुए हैं वे सब क्षयिष्णु, नाशवान और अनित्य हैं, क्योंकि ये सब काल के अधीन हैं। काल भगवान् इनकी इच्छाओं को कुचलते रहते हैं।"

महाराज पृथु ने पूछा—"जो देह नहीं, मन नहीं, पञ्चभूत

नहीं, बुद्धि नहीं, इन्द्रिय नहीं तो फिर हैं क्या ? उन्हें हम कैसे समझें ?"

यह सुनकर सनत्कुमारजी हँस पड़े और बोले—"अब राजन् ! वह भगवान् कोई स्वादिष्ट स्थूल फल तो हैं नहीं, जो मैं तुम्हारे हाथ में पकड़ा दूँ। वे शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, बुद्धि तथा अहङ्कार से आवृत्त, स्थावर जंगम जितने जीव हैं, सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त हैं, वे स्वयं प्रकाश हैं, सर्वव्यापी हैं। जान में अनजान में सभी उनका अनुभव करते हैं। किसी ने आकर किवाड़ी खटखटायी। हमने पूछा—"कौन है ?" बाहर वाला कहता—"जी कोई नहीं मैं हूँ।"

किसी के पैरों की पैछर सुनाई दी। हमने चौंककर पूछा—"कौन जा रहा है।" जाने वाले ने कहा—"मैं हूँ।" आप सोच राजन् ! यह मैं कौन है। जो अपने को अहं करके अनुभव करता है। आप यही निश्चय करें कि वह अहं को अनुभव करने वाला ही मैं आता है। मैं उससे भिन्न नहीं। वह अहं ही ब्रह्म है।

ब्रह्म के अतिरिक्त यह दृश्य जगत् कुछ नहीं है। जैसे ठूँठ को देखकर मनुष्य को भ्रम होता है। सीपी को देखकर रजत का भ्रम होता है, मृग मारीचिका को देखकर जल का भ्रम होता है। टेढ़ी मेढ़ी रज्जु को देखकर सर्प का भ्रम होता है। उसी प्रकार अविवेक के कारण शुद्ध, बुद्ध, संग रहित परमात्मा में यह कार्य कारण रूप दृश्य प्रपञ्च मिथ्याभास रहा है।

इस पर पृथु महाराज ने पूछा—"प्रभो ! किस भावना से यह मिथ्या प्रपञ्च विलीन हो।"

सनत्कुमार बोले—"राजन ! उन अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त ज्ञान स्वरूप कर्म से रहित भगवान् ही मेरी शरण हैं। अन्य सबकी आशा छोड़कर सर्वात्मभाव से भगवान् का ही आश्रय

रखना उन्हें ही जीवन सर्वस्व समझना यही स्वरूप ज्ञान का और मिथ्या प्रपञ्च की निवृत्ति का उपाय है।"

पृथु महाराज बोले—"भगवन्! आपके कथनानुसार साधन तो बहुत हैं, हमें तो आप कोई सरल सर्वोपयोगी सरस साधन बताव।"

यह सुनकर सनत्कुमार जी ने कहा—"राजन! भगवान् तो सबके हृदय में बैठे हैं। सबको वे ही अपनी माया से घुमा रहे हैं। उनकी सत्ता के बिना किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं। वे दिखायी नहीं देते क्योंकि हृदय में एक बड़ी सी गाँठ पड़ गयी है। अँगूठे के पोर के बराबर तो वे हैं ही, गाँठ की ओट में हो जाने से उनके दर्शन नहीं होते।"

पृथु बोले—"हाँ, भगवन्! यही तो मेरा प्रश्न है, कि यह हृदय की ग्रन्थि कैसे कटे? कैसे संशयों का छेदन हो। कैसे इन कर्म वासनाओं का क्षय हो?"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! बहुत से योगी गण इस हृदय की ग्रन्थि को काटने के लिये अनेक कठिन कठिन उपाय करते हैं, कोई घोर तप करते हैं, कोई यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि वाले अष्टांग योग द्वारा अन्तर्मुख होकर हृदय ग्रन्थि का कीर्तन करना चाहते हैं। किन्तु जितना सुगमता से शरणागत प्रपन्न भक्त जन उन भक्तभयहारी श्रीमन्नारायण भगवान् वासुदेव के चरण कमल की कमनीय कान्ति के अनुराग के द्वारा यह हृदय ग्रन्थि कट सकती है, उतनी सरलता से अन्य किसी भी उपाय से नहीं कट सकती इसलिये राजन्! आप सौन्दर्य, माधुर्य, सर्व सद्गुणैक धाम भक्तभय भञ्जन भगवान् वासुदेव की सर्वात्मभाव से शरण में जाओ। उन अरुण चरण की शीतल छाया में जाकर ही आपको शाश्वती शान्ति मिलेगी, वहीं पहुँचकर आपके सर्व संशयों का मूलो-

नहीं, बुद्धि नहीं, इन्द्रिय नहीं तो फिर हैं क्या ? उन्हें हम कैसे समझें ?"

यह सुनकर सनत्कुमारजी हँस पड़े और बोले—"अब राजन् ! वह भगवान् कोई स्वादिष्ट स्थूल फल तो हैं नहीं, जो मैं तुम्हारे हाथ में पकड़ा दूँ। वे शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, बुद्धि तथा अहङ्कार से आवृत्त, स्थावर जंगम जितने जीव हैं, सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त हैं, वे स्वयं प्रकाश हैं, सर्वव्यापी हैं। जान में अनजान में सभी उनका अनुभव करते हैं। किसी ने आकर किवाड़ी खटखटायी। हमने पूछा—"कौन है ?" बाहर वाला कहता—"जी कोई नहीं मैं हूँ।"

किसी के पैरों की पैछर सुनाई दी। हमने चौंककर पूछा—"कौन जा रहा है।" जाने वाले ने कहा—"मैं हूँ।" आप सोच राजन् ! यह मैं कौन है। जो अपने को अहं करके अनुभव करता है। आप यही निश्चय करें कि वह अहं को अनुभव करने वाला ही मैं आता है। मैं उससे भिन्न नहीं। वह अहं ही ब्रह्म है।

ब्रह्म के अतिरिक्त यह दृश्य जगत् कुछ नहीं है। जैसे ठूँठ को देखकर मनुष्य को भ्रम होता है। सीपी को देखकर रजत का भ्रम होता है, मृग मारीचिका को देखकर जल का भ्रम होता है। टेढ़ी मेढ़ी रज्जु को देखकर सर्प का भ्रम होता है। उसी प्रकार अविवेक के कारण शुद्ध, बुद्ध, सग रहित परमात्मा में यह कार्य कारण रूप दृश्य प्रपञ्च मिथ्याभास रहा है।

इस पर पृथु महाराज ने पूछा—"प्रभो ! किस भावना से यह मिथ्या प्रपञ्च विलीन हो।"

सनत्कुमार बोले—"राजन ! उन अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त ज्ञान स्वरूप कर्म से रहित भगवान् ही मेरी शरण हैं। अन्य सबकी आशा छोड़कर सर्वात्मभाव से भगवान् का ही आश्रय

रखना उन्हें ही जीवन सर्वस्व समझना यही स्वरूप ज्ञान का और मिथ्या प्रपञ्च की निवृत्ति का उपाय है।"

पृथु महाराज बोले—"भगवन्! आपके कथनानुसार साधन तो बहुत हैं, हमें तो आप कोई सरल सर्वोपयोगी सरस साधन बताव।"

यह सुनकर सनत्कुमार जी ने कहा—"राजन! भगवान् तो सबके हृदय में बैठे हैं। सबको वे ही अपनी माया से घुमा रहे हैं। उनकी सत्ता के बिना किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं। वे दिखायी नहीं देते क्योंकि हृदय में एक बड़ी सी-गाँठ पड़ गयी है। अँगूठे के पोर के बराबर तो वे हैं ही, गाँठ की ओट में हो जाने से उनके दर्शन नहीं होते।"

पृथु बोले—"हाँ, भगवन्! यही तो मेरा प्रश्न है, कि यह हृदय की ग्रन्थि कैसे कटे? कैसे संशयों का छेदन हो। कैसे इन कर्म वासनाओं का क्षय हो?"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! बहुत से योगी गण इस हृदय की ग्रन्थि को काटने के लिये अनेक कठिन कठिन उपाय करते हैं, कोई घोर तप करते हैं, कोई यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि वाले अष्टांग योग द्वारा अन्तर्मुख होकर हृदय ग्रन्थि का कीर्तन करना चाहते हैं। किन्तु जितना सुगमता से शरणागत प्रपन्न भक्त जन उन भक्तभयहारी श्रीमन्नारायण भगवान् वासुदेव के चरण कमल की कमनीय कान्ति के अनुराग के द्वारा यह हृदय ग्रन्थि कट सकती है, उतनी सरलता से अन्य किसी भी उपाय से नहीं कट सकती इसलिये राजन्! आप सौन्दर्य, माधुर्य, सर्व सद्गुणैक धाम भक्तभय भञ्जन भगवान् वासुदेव की सर्वात्मभाव से शरण में जाओ। उन अरुण चरण की शीतल छाया में जाकर ही आपको शाश्वती शान्ति मिलेगी, वहीं पहुँचकर आपके सर्व संशयों का मूलो-

च्छेदन हो सकेगा। यह संसार एक बड़ा भारी समुद्र है। इसमें बड़े-बड़े भयंकर जल जन्तु हैं, किन्तु इसमें बड़े वीभत्स मत्स्य हैं। उनके चक्कर में जो फँसा वह फिर इस संसार से निकल नहीं सकता।

महाराज पृथु ने पूछा—"प्रभो! वे छः नक्र कौन से हैं?"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! आँख, कान, नाक, रसना, स्पर्शेन्द्रिय और मन ये छः ही ऐसे नक्र हैं, कि ये किसी को पार नहीं जाने देते। सभी को डुबा देते हैं, खा जाते हैं,। इन नक्रों से बच जाओ तो संसार सागर को पार कर जाओ।"

महाराज ने उत्सुकता से पूछा—"प्रभो! इन ६ महाग्राहों से कैसे बचें?"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! समुद्र में वही डूबता है, जो निराधार हो जाता है। देखिये कमल जल में ही रहता है, नहीं डूबता। तुम भगवान् के विशाल अरुण कमल रूपी चरण की सुदृढ़ तरणी बनाकर उनका आश्रय ले लो। बस फिर आपको भय नहीं, आप बात की बात में इस दुस्तर असार संसार को सुगमता के साथ पार कर जायँगे। आप इस भवसागर से सदा के लिये मुक्त हो जायँगे। राजन्! बिना अधिकारी बने साधन नहीं हो सकता। अतः निरन्तर विषयों से चित्त को हटाते रहो। बहिर्मुखी वृत्ति को सदा अन्तर्मुख करते रहो। जब तुम परम पद के अधिकारी हो जाओगे, तो तुम्हारे हृदय में स्वतः प्रकाश दिखाई देने लगेगा। कहीं बाहर से थोड़े ही आवेगा। शीशा है, उस पर धूलि जम गई है, धूलि के हटते ही उसमें अपना प्रतिबिंब स्पष्ट दीखने लगता है।"

महाराज पृथु ने पूछा—"प्रभो! हम यह कैसे जानें कि अब हम अधिकारी हो गये। यह हमें कौन बतावेगा, कि अब हम परम पद प्राप्त करने के यथार्थ पात्र बन गये।"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! दूसरा कौन बतावेगा अपनी अन्तरात्मा ही बतावेगी। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये। किसी गृहस्थी के घर में एक नई बहू आई। उसने पहिले कभी किसी के बच्चा पैदा होते नहीं देखा था। जब उसके प्रसूति का समय आया, तो उसने अपनी सास से कहा—"सासूजी! जब मेरे बच्चा हो, तो मुझे जगा देना, मैं पैदा होते ही मुन्ना का मुख देखना चाहती हूँ।"

हँसकर सासजी ने कहा—"बहू, घबड़ा मत। किसी दूसरे को जगाने की आवश्यकता न पड़ेगी। उस समय तू स्वयं ही सबको जगा देगी। स्वयं ही सबकी निद्रा भङ्ग कर देगी।" सो राजन्! जिन्हें परमार्थ पथ की पात्रता प्राप्त हो सकी है, उन्हें विषयों को छोड़ने के लिये किसी से पूछना न पड़ेगा। उस समय विषय स्वयं ही विषवत् प्रतीत होंगे। जिस घर में आग लग जाती है, तो उस घर के लोग, घर छोड़ने के लिये पंडित से मुहूर्त पूछने नहीं जाते, स्वय ही शीघ्रता के साथ छोड देते हैं। किसी को पानी में डुबा दीजिये। सांस न लेने दीजिये। तो वह निकलने के लिये आप से पूछेगा नहीं आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा न करेगा, वह तो तिलमिलाकर अपने आप ही निकल आवेगा। जिस समय से हाड़ मांस की वस्तुएँ घृणित दिखाई दें। जिस समय ये सुन्दर दिखाई देने वाले पदार्थ पंचभूतों के विकार प्रतीत होने लगें। जिस समय इन मल मूत्र के स्थानों में आसक्ति न हो। जिस समय स्त्री के, भेड़ बकरी तथा पशुओं के लटकते मांसों मे कोई भेद-भाव न प्रतीत हो, तब समझना चाहिये, हमे संसार से विराग हो गया। हम मोक्ष मार्ग के अधिकारी हो गये। सूर्य उदित होने पर उसे दीपक लेकर दिखाना नहीं पड़ता। वह तो अपने आलोक से ही अपना अस्तित्व प्रकट कर देता है। इसलिये राजन्! आपको तो कुछ कर्तव्य ही नहीं, आप तो जो कुछ पूछते हैं सब

लोकहित के लिये पूछते हैं। यह मैंने अत्यत सक्षेप में आपके प्रश्नों का उत्तर दे दिया, अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ब्रह्मपुत्र सनत्कुमारजी के मुख से तत्वज्ञान का ऐसा गूढ उपदेश सुनकर महाराज पृथु परम प्रसन्न हुए और उनकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए, शिष्टाचार प्रदर्शित करने लगे।

छप्पय

वासुदेव भगवान् भक्तिन्हें हावे वश जस।
योग याग विज्ञान आदि ते वश न हाहिं तस॥
ताते तजि सब अन्य एक श्रीहरि आराधे।
छाड़ि क्लेश कर काज सुगम सो साधन साधे॥
शेष न साधन तुमहिं कछु, सब तुम परहित करत हो।
ह्रास धर्म को हाहि जब, तब तब तुम तनु धरत हो॥

महाराज पृथु का शिष्टाचार तथा सनकादिकों की विदाई

[२७९]

यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवादे
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः ।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यम्
को नाम तत्प्रति करोति विनोदपात्रम् ॥ *

(श्री भा० ४ स्क० २२ अ०—४७ श्लो०)

छप्पय

नृप पृथु सनत्कुमार सुखामृत पान कर्‌यो जब ।
सब तनु पुलकित भयो कहें ह्वैकें प्रसन्न तब ॥
प्रभो ! सुधारस प्याइ कर्‌यो कृत कृत्य कृपानिधि ।
पूजा प्रत्युपकार करहुँ हे मुनिवर किहि विधि ॥
तन मन धन सब आपको, का तुमकूँ अरपन करूँ ।
तातैं श्रद्धा सहित तव, चरन कमलमहँ सिर धरूँ ॥

अत्यन्त क्षुधा तृषा से पीडित प्राणी को जो पुनीत पदार्थ पाने और पावन पेय पीने से प्रसन्नता होती है, उससे भी असंख्यों

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! सनकादिकों के उपदेश को सुनकर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए महाराज पृथु कहने लगे—

गुनी प्रसन्नता ज्ञान पिपासु को ज्ञानामृत पान करने से होती है। जो कृपालु गुरु कृपावश हमारी क्षुधा तृषा को शांत करते हैं, हमें ज्ञानामृत पान कराते हैं, उनके प्रति हृदय से रोम-रोम से कृतज्ञता फूट निकलती है। उन अनुपम उपकार करने वाले सद्गुरु के चरणों में हम कौन-सी वस्तु अर्पण करके अपने श्रद्धा को व्यक्त करें यह हृदय में ऊहापोह होने लगती है। यद्यपि कृपालु गुरु ने किसी आकांक्षा से नहीं, दयावश ही हम पर अपनी कृपा की वृष्टि की है, किन्तु तो भी रहा नहीं जाता, और कुछ नहीं तो वाणी मात्र से ही उनके प्रति हम अपना आभार प्रदर्शित करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! सनत्कुमार भगवान् के उपदेश को श्रवण करके महाराज पृथु का रोम-रोम खिल उठा। वे कुमारों की इस अहैतुकी कृपा भार से दब गये। वे उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहने लगे—"ब्रह्मन्! किन शब्दों में, क्या कहकर मैं आपके इस उपकार के प्रति आभार प्रदर्शन करूँ। वाणी में वह शक्ति नहीं, कि शब्दों द्वारा हृदय के यथार्थ भावों को व्यक्त कर सकें। हृदय की भाषा तो मूक बताई गई है और उसे सहृदय ही पढ़ सकते हैं। मेरे ऐसे कोई पुण्य तो थे नहीं, जो आपके देव दुर्लभ दर्शनों को प्राप्त कर सकता, किन्तु कृपा सागर भगवान यज्ञपति ने अपनी अहैतुकी कृपा वश मुझे दर्शन दिये थे उसी कृपा का मैं यह फल समझता हूँ,

---

भगवन्! आप वेद के पारगामी हैं। आपने आत्मतत्व का विचार करते हुए जो इस प्रकार भगवत्तत्व का निरूपण किया है, उसका बदला कोई क्या चुका सकता है। अतः आप अपने अनुरूप दीन दयालुता रूपी धर्म से ही सदा सन्तुष्ट हो। क्योंकि आप परम कृपालु हैं, अतः आपके प्रत्युपकार के लिये प्रयत्न करना भी हास्यास्पद है।"

कि उसमें कुछ कोर कसर रह गयी होगी, तो उसे ही पूर्ण करने आप निःसग होकर भी स्वतः मेरे यहाँ पधारे और मुझे अपने अनुपम दर्शनों से कृतकृत्य किया।"

यह प्राचीन परिपाटी है, कि ज्ञान दाता गुरु को उनके उपकार के प्रति प्रत्युपकार रूप से कुछ गुरु दक्षिणा दें। मैं भी बार बार सोच रहा हूँ, आपके चरणों मे क्या भेंट करूँ। यह मेरा शरीर है धन है सर्वस्व है, वह तो सब आपका ही दिया हुआ है। फिर भी जो कुछ मेरे पास धन जन, तन, मन, प्राण, परिवार, स्त्री, पुत्र, घर, द्वार, राजपाट, सेना, सिपाही, पृथ्वी, कोष, खजाना तथा सम्पूर्ण सामग्रियाँ हैं वे सब आपकी वस्तुएँ आपके ही चरणों में ही समर्पित करता हूँ।

यह सुनकर चारों कुमार हँस पडे उनमें से सनातनजी बोले—"राजन्! यह आपने अच्छी चीज दी। सम्पूर्ण भू मडल का राज्य ही दे दिया। हम लोग तो वस्त्र भी नहीं पहिनते। इस नंग धडङ्ग शरीर पर छत्र चँवर, मुकुट क्या शोभा देंगे। फिर हम लोग राज पाट करना क्या जाने?"

पृथु महाराज ने कहा—"नहीं भगवन्! यह बात नहीं। आप सब जानते हैं। जिन्हें परात्पर ब्रह्म का ज्ञान है, उनके लिए इस लोक की परलोक की कोई वस्तु अज्ञेय नहीं है। वे सब कर सकते हैं सब विद्यायें वेद से ही उत्पन्न हुई हैं, अतः वेद को जान लेने वाला ब्राह्मण कुशलतापूर्वक सेनापतित्व कर सकता है सम्पूर्ण वसुन्धरा का राज्य कर सकता है। उत्तम से उत्तम उपयोगी से उपयोगी दण्ड विधान बना सकता है। आप इस पृथ्वी की तो बात ही क्या है, ब्रह्माण्ड भर का शासन कर सकते हैं और करते ही हैं।"

इस पर सनत्कुमारजी बोले—"राजन्! अजी ऐसी बातें

क्यों कर रहे हैं। हम तो स्वयं ही माँगते खाते हैं। भिखारी ब्राह्मण हैं।"

हाथ जोड़कर महाराज पृथु बोले—"अजी, महाराज! आप किससे भीख माँगते हैं? संसार आप से ही भीख माँगता है। वेदविद् ब्राह्मण अपना ही भोजन करता है, अपने ही वस्त्र पहिनता है। यही नहीं अन्य सभी लोग उन्हीं की अनुग्रह से खाते पीते और पहिनते हैं।"

सनत्कुमार ने कहा—"राजन्! इतनी शिष्टता, शालीनता आपके अनुरूप ही है।"

महाराज पृथु बोले—"भगवन्! मैं शिष्टता से कह रहा हूँ। यथार्थ में मैं इस असमञ्जस में पड़ा हुआ हूँ, कि कौन-सी वस्तु समर्पित करके आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करूँ। किन्तु आपकी सुष्ठि के योग्य कोई वस्तु दिखाई ही नहीं देती। अतः आप अपनी भक्तवत्सलता से ही अपने आप सन्तुष्ट हों। आपने एक संसार सागर में डूबते हुए का उद्धार किया, ऐसे उपकार से जो एक प्रकार की आत्मतुष्टि होती है। उस तुष्टि द्वारा ही आप सन्तुष्ट हों।"

इस पर चारों कुमारों ने कहा—"राजन्! आपका कल्याण हो। आपने हमारा बड़ा स्वागत सत्कार किया। हम आपके सदाचार से, सौजन्य से, शिष्टता से बड़े ही सन्तुष्ट हुए। अच्छा अब हम जाते हैं।"

इतना सुनते ही महाराज ने शीघ्रता पूर्वक उनका पूजन किया। महाराज की पूजा को स्वीकार करके सबके देखते देखते चारों कुमार फर्र से आकाश मार्ग से जैसे आये थे, वैसे ही उड़ गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! सनकादिक मुनियों के चले जाने पर महाराज पृथु धर्मपूर्वक चारों वर्णों की प्रजा का

प्रेम से पालन करने लगे। यथार्थ में राजा नाम तो महाराज पृथु का ही सार्थक था। जो प्रजा रञ्जन करे वही राजा है जैसे जो जगत् को आह्लादित करे वही चन्द्रमा है। इस पर वे ही चन्द्र का काम करते थे। जैसे सूर्य उष्णकाल में जल को खींचकर वर्षा काल में प्रजा के हित के लिए वर्षा देते हैं, वैसे ही वे जनता से कर के रूप मे रुपये लेते थे और उन्हें प्रजा के हित में लगा देते थे। जैसे अग्नि में कोई सहसा स्पर्श नहीं कर सकता वैसे ही वे अपने प्रचण्ड तेज से अग्नि के समान थे। जैसे इन्द्र वर्षा करके सबको सुखी करते हैं, वैसे ही वे वाञ्छित वस्तुओं का वितरण करके समस्त प्रजा को प्रमुदित बनाते थे। जैसे समुद्र की थाह कोई नहीं जान सकता उसी प्रकार उनका गाभीर्य भी ऐसा अथाह था, कि उसकी थाह किसी को मिलनी अत्यन्त दुष्कर थी। सहनशीलता में वे वसुन्धरा के समान थे और कामना पूर्ति के कार्य में वे कल्पवृक्ष के सदृश थे। वे माता के समान दयालु थे, किन्तु जहाँ दुष्टों के दमन का कार्य आता, वहाँ दुर्दान्त यमराज के समान उग्र बन जाते। जैसे हिमालय की सभी जड़ी-बूटियों के सम्बन्ध में कोई जान नहीं सकता उसी प्रकार उनके पास कितना दिव्य रत्न है, कितनी आश्चर्यकारिणी अद्भुत वस्तुएँ हैं, इसे कोई जान नहीं सकता था। धन उन पर इतना था, कि उनके धन को देखकर धनद भी लजा जाते थे। बल, वीर्य ओज आदि में भगवान् भूतनाथ के समान वे थे। कुसुमायुध के समान सौन्दर्य मे, सिंह के समान धैर्य में, मनु के समान वात्सल्य में और पितामह ब्रह्मा के समान वे प्रभुत्व में थे।

विचार करने में देव गुरु बृहस्पति के समान आत्म तत्व में साक्षात् भगवान् विष्णु के समान थे। अधिक क्या कहें वे गो भक्ति ब्रह्मण्यता, भक्ति, लज्जा विनय, शील परोपकार में अपने ही समान थे। दिग्दिगान्त में उनका यश व्याप्त था। सम्पूर्ण

भुवन मण्डल में उनकी कमनीय कीर्ति फैली हुई थी वे अवधकुल मण्डल कौशिल्यानन्द वर्धन रघुकुल कीर्ति केतुभूत भगवान् श्रीराम के समान सर्वप्रिय और श्लाघनीय गुण वाले थे। महारानी अर्चि के द्वारा उनके विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष द्रविण और वृक नामक पाँच पुत्र हुए जो पिता के समान तेजस्वी थे, वे अकेले ही आठों लोकपालों के समान तेजस्वी और प्रजावान् थे। कुमारों के द्वारा ब्रह्मज्ञान का उपदेश पाकर वे कृतकृत्य हो गये उनके सभी संशयों का छेदन हो गया।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह कुछ गोल माल सी बात समझ में नहीं आती। महाराज! पृथु को भी आप अवतार बताते हैं, सनकादिक कुमारों की भी गणना अवतारों में है। महाराज पृथु के यज्ञ में भगवान् विष्णु ने भी उन्हें उपदेश दिया। महाराज पृथु जब भगवान् के अवतार ही थे, तो उन्हें संशय कैसे रहा। उनके हृदय में अज्ञान की ग्रन्थि कैसे रह गई जिसे कुमारों ने अपने ज्ञान रूप खड्ग से काटा।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! जैसा स्वाँग करना होता है, वैसा ही बाना बनाया जाता है। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये। एक राजा के यहाँ एक बहुरूपिया था, वह कभी भिखारी बन आता, कभी नाई, धोबी, यात्री आदि आदि। राजा ने एक दिन कहा—"भाई, ये सब तो वेष हमने देखे हैं, कोई विलक्षण त्याग का वेष दिखाओ।"

उसने कहा—"अन्नदाता! हम तो पेट पालने वाले हैं, त्यागी का वेष तो कठिन है।"

राजा ने हठ किया—"नहीं, भाई! दिखाना ही पड़ेगा। तब उसने कहा—"महाराज! मुझे ६ महीने की छुट्टी मिले।"

उसे छुट्टी मिल गई, बात पुरानी हो गई। राजा भूल भाल गया। उसके २४ महीने के पश्चात् राजा ने सुना पास की झाड़ी

में एक बड़े विरक्त महात्मा पधारे हैं। ऐंडी तक जटायें हैं मौन रहते हैं कोई कुछ भी दे तो लेते नहीं, किसी की ओर देखते नहीं। राजा धार्मिक थे, ऐसे अद्भुत महात्मा के दर्शनों की उनके मन में इच्छा हुई। रानियों के सहित गये। देखा, सम्पूर्ण शरीर में गाढ़ी-गाढ़ी राख लपेटे एक केला का कौपीन लगाये महात्मा बैठे हैं। दृष्टि नाक के अग्र भाग पर लगी है हजारों नर नारियों की भीड़ लगी है। राजा को त्यागी के चमत्कार से बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बड़ी श्रद्धा से गये प्रणाम करके बैठ गये। साधु, महात्मा, देवता, राजा के पास बिना भेंट लिये जाना नहीं चाहिये। अतः राजा ने सुवर्ण की बहुत सी-गिन्नियाँ थाल भर के मोती वस्त्र आभूषण महात्मा को भेंट किये। हाथ जोड कर पूछा—"महाराज! मेरे योग्य कोई सेवा बतावें।" महात्माजी ने संकेत किया—"तुम यहाँ से चले जाओ यही सेवा है।" राजा बैठे ही रहे और बोले—"इस सब कूड़े करकट को उठा ले जाओ।" राजा समझे नहीं फिर आग्रह किया। महात्मा जी ने सबको उठाकर फेंक दिया। फिर राजा की ओर पीठ करके अपने ध्यान में मग्न हो गये। उनकी ऐसी निष्पृहता देख कर महाराज को बडा आश्चर्य हुआ। वे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम करके उठकर चल दिये। राजा थोडी ही दूर पहुँचे होंगे कि महात्मा अपनी दाढी जटा फेंककर उनके सम्मुख प्रणाम करते हुए बोला—"महाराज की जय जयकार हो अब मुझे पारितोषिक मिलना चाहिये।"

महाराज ने ध्यान से देखा यह तो वही बहुरूपिया है, तब महाराज हँसते हुए बोले—"अरे, भैया! तैंने तो बडा ढोंग बनाया। उस समय इतना धन हमने दिया था, उसे क्यों फेंक दिया। अब थोड़े से धन को गिडगिडाता है।" उसने कहा—"महाराज! उस समय मैं धन ले लेता तो त्यागी का स्वांग पूरा

भुवन मण्डल में उनकी कमनीय कीर्ति फैली हुई थी वे अवधकुल मण्डल कौशिल्यानन्द वर्धन रघुकुल कीर्ति केतुभूत भगवान् श्रीराम के समान सर्वप्रिय और श्लाघनीय गुण वाले थे। महारानी अर्चि के द्वारा उनके विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष द्रतिण और वृक नामक पाँच पुत्र हुए जो पिता के समान तेजस्वी थे, वे अकेले ही आठों लोकपालों के समान तेजस्वी और प्रजावान् थे। कुमारों के द्वारा ब्रह्मज्ञान का उपदेश पाकर वे कृतकृत्य हो गये उनके सभी संशयों का छेदन हो गया।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह कुछ गोल माल से बात समझ में नहीं आती। महाराज! पृथु को भी आप अवतार बताते हैं, सनकादिक कुमारों की भी गणना अवतारों में है। महाराज पृथु के यज्ञ में भगवान् विष्णु ने भी उन्हें उपदेश दिया। महाराज पृथु जब भगवान् के अवतार ही थे, तो उन्हें संशय कैसे रहा। उनके हृदय में अज्ञान की ग्रन्थि कैसे रह गई जिसे कुमारों ने अपने ज्ञान रूप खड्ग से काटा।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! जैसा स्वाँग करना होता है, वैसा ही बाना बनाया जाता है। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये। एक राजा के यहाँ एक बहुरूपिया था, वह कभी भिखारी बन आता, कभी नाई, धोबी, यात्री आदि आदि। राजा ने एक दिन कहा—"भाई, ये सब तो वेष हमने देखे हैं, कोई विलक्षण त्याग का वेष दिखाओ।"

उसने कहा—"अन्नदाता! हम तो पेट पालने वाले हैं, त्यागी का वेष तो कठिन है।"

राजा ने हठ किया—"नहीं, भाई! दिखाना ही पड़ेगा। तब उसने कहा—"महाराज! मुझे ६ महीने की छुट्टी मिले।"

उसे छुट्टी मिल गई, बात पुरानी हो गई। राजा भूल भाल गया। उसके २४ महीने के पश्चात् राजा ने सुना पास की झाड़ी

में एक बड़े विरक्त महात्मा पधारे हैं। ऐंडी तक जटायें हैं मौन रहते हैं कोई कुछ भी दे तो लेते नहीं, किसी की ओर देखते नहीं। राजा धार्मिक थे, ऐसे अद्भुत महात्मा के दर्शनों की उनके मन में इच्छा हुई। रानियों के सहित गये। देखा सम्पूर्ण शरीर में गाढ़ी-गाढ़ी राख लपेटे एक केला का कौपीन लगाये महात्मा बैठे हैं। दृष्टि नाक के अग्र भाग पर लगी है हजारों नर नारियों की भीड़ लगी है। राजा को त्यागी के चमत्कार से बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बड़ी श्रद्धा से गये प्रणाम करके बैठ गये। साधु, महात्मा, देवता, राजा के पास बिना भेंट लिये जाना नहीं चाहिये। अतः राजा ने सुवर्ण की बहुत सी-गिन्नियाँ थाल भर के मोती वस्त्र आभूषण महात्मा को भेंट किये। हाथ जोड़ कर पूछा—"महाराज! मेरे योग्य कोई सेवा बतावें।" महात्माजी ने संकेत किया—"तुम यहाँ से चले जाओ यही सेवा है।" राजा बैठे ही रहे और बोले—"इस सब कूड़े करकट को उठा ले जाओ।" राजा समझे नहीं फिर आग्रह किया। महात्मा जी ने सबको उठाकर फेंक दिया। फिर राजा की ओर पीठ करके अपने ध्यान में मग्न हो गये। उनकी ऐसी निष्पृहता देख कर महाराज को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम करके उठकर चल दिये। राजा थोड़ी ही दूर पहुँचे होंगे कि महात्मा अपनी दाढ़ी जटा फेंककर उनके सम्मुख प्रणाम करते हुए बोला—"महाराज की जय जयकार हो अब मुझे पारितोषिक मिलना चाहिये।"

महाराज ने ध्यान से देखा यह तो वही बहुरूपिया है, तब महाराज हँसते हुए बोले—"अरे, भैया! तैंने तो बड़ा ढोंग बनाया। उस समय इतना धन हमने दिया था, उसे क्यों फेंक दिया। अब थोड़े से धन को गिड़गिड़ाता है।" उसने कहा—"महाराज! उस समय मैं धन ले लेता तो त्यागी का स्वांग पूरा

न उतरता। वह तो पाखण्डियों का स्वाँग हो जाता। उस
मैं त्यागी का स्वाँग कर रहा था, कोई राज्य भी देता तो तृ
समान समझता। अब आपका बहुरूपिया हूँ। एक पैस
पारितोषिक में मिल जाय तो बहुत है। बाने के अनुसार व्य
करना यही बाना बनाने की चातुरी है। महाराज बड़े प्रसन्
और उसे बहुत-सा द्रव्य दिया।

एक दिन महाराज ने उससे फिर कहा। देखो, भाई संस
सती और संत दो ही श्रेष्ठ माने गये हैं। संत का स्वाँग तो
दिखा दिया। सती का और दिखाओ।"

बहुरूपिये ने कहा—"महाराज, सती का स्वाँग सरल
उसे मैं दिखाने में असमर्थ हूँ।"

राजाओं की तो हठ ही ठहरी बार-बार कहा—"नहीं, दिखाना
पड़ेगा।" तब उसने कहा—"अच्छी बात है महाराज मेरे बाल
बच्चों की रक्षा करें यह कहकर चला गया। बात पुरानी हो
गई। कुछ काल के पश्चात् राजा को समाचार मिला, कोई एक
सती अपने पति की लाश लिये बैठी है उसकी इच्छा है मेरे
पति की सुन्दर चिता बनाई जाय और महाराज के सम्मुख मैं
सती होऊँ।"

राजा धर्मात्मा थे, उन्होंने आज्ञा दी। चिता बनाई गई। सती
ने सोलह शृङ्गार किये। चिता जलाई गई, सती ने उसकी प्रदक्षिणा
की और पति का शव गोद में लेकर दहकती हुई चिता में बैठ गई।
जब अग्नि उसके शरीर को जलाने लगी तब उसने जोर से कहा—
"महाराज, यही सती का सच्चा स्वाँग है।" तब तो महाराज बड़े
घबड़ाये और शीघ्रता से कहने लगे—"अरे, इस मुर्दे को छोड़कर
अग्नि से निकल आ। सेवकों से बोले—"अरे, शीघ्र जल लाकर
अग्नि को बुझाओ इस बहुरूपिये को बचाओ।"

इस पर उसने उत्तर दिया—"राजन्! यदि मैं इस पति बने

हुए मुर्दे को छोड़कर दहकती अग्नि से इसी वेष में भागता हूँ, तो पतिव्रता के बाने को लाछन लग जायगा। सती का स्वाँग पूरा न उतरेगा। जो सती अग्नि के दाह से पति के शव को छोड़कर भय से भागती है, वह सती नहीं असती है। इसलिये मैं अब भाग नहीं सकता। अग्नि चुताना भी धर्म के विरुद्ध है। अतः अब तो सती के स्वाँग को साङ्गोपाङ्ग पूरा ही उतरने दीजिये। वेष को लाछन न होने दें। बाने की पूर्ण रक्षा होने दें। यह कहते-कहते बहुरूपिया जल गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् जैसा वेष बनाते हैं, उसका यथावत् पालन करते हैं। पृथु शरीर में राजा का वेष बनाया था। उसी के अनुसार यज्ञ किये, सनकादिकों के सम्मुख अपने को अज्ञानी संशयग्रस्त बताकर आत्मत्व की जिज्ञासा की, ज्ञान प्राप्त किया, उनकी पूजा की, अपने को कृत कृत्य समझा। यह सब भगवान् की माया है, लीला है, क्रीडा है, और जो है सो।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! सनकादिकों के उपदेश से महाराज पृथु को संसार के सभी भोगों से विराग हो गया।"

छप्पय

विदुर! विष्णु नट कुशल विविध विधि वेष बनावें।
बनि ठनि जगमह स्वयं नचे अरु सबनि नचावें॥
जस जस बाने धरे आइ तस भाव दिखावे।
सुर, नर, मुनि, गन्धर्व खेल को पार न पावे॥
रंग मंच यह दृश्य जग, नाटक जगके काज है।
यह माया ठगिनी नटी, निर्विकार नटराज है॥

महाराज पृथु का वन गमन

[२८०]

दृष्ट्वात्मान प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान् ।
आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः प्रजापतिः ॥
आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव ।
प्रजासु विमनः स्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २३ अ० १, ३ श्लोक)

छप्पय

भूमि विषम सम करी नगर पुर ग्राम बसाये ।
जरा जानि जनराज तपोवन सब तजि धाये ॥
पृथिवी पुत्री विरह व्यथामहँ अश्रु विमोचति ।
तजी प्रजा सब दुखी विरहमहँ विलखति रोवति ॥
सबतें मुहकूँ मोरिके, निर्मोही भूपति भये ।
पत्नी लीन्हीं संग महँ, वानप्रस्थ बनि वन गये ॥

सनातन वैदिक वर्णाश्रम धर्म का लक्ष्य त्याग है। त्याग के बिना न शाश्वती शान्ति है न सुख। धन का संग्रह गृहस्थ में भोग के लिये नहीं किया जाता, अपितु त्याग के लिये किया जाता है, धर्म का आचरण काम के लिये नहीं, किन्तु महान् त्याग की

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी ! आत्मवान प्रजापति महाराज पृथु जब अन्नादि तथा निवासादि वर्ग की वृद्धि कर चुके तब एक दिन अपनी वृद्धावस्था को उन्होंने आती देखकर अपनी कन्या रूपी पुत्री

तैयारियाँ करने के लिये होता है। जितनी उत्सुकता से, जितने ही प्रसन्नता से संग्रह किया जाय उतनी ही प्रसन्नता से उसका त्याग किया जाय, तब वह संग्रह त्याग के लिये समझा जाता है। तब वह बन्धन मोक्ष का साधन है। यदि विषयासक्त होकर संग्रह किया जाय तो वह संसार में बाँधने वाला और आवागमन के चक्कर का दृढ करने वाला होता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज पृथु ने उत्पन्न होकर प्रजा की, व्यवस्था ठीक की। नगर पुर ग्रामों की कल्पनायें की। शिल्प, वाणिज्य व्यवसाय की व्यवस्था की। कृषि करने की सुविधायें की। नियम आदि बनाये। विवाह किया, पुत्र उत्पन्न किये, राज्य के सब सुख भोगे, नाना यज्ञ याग किये, विविध भाँति के दान धर्म किये। अतुलनीय यश का सम्पादन किया। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम का भली भाँति सम्पादन करके अब वे मोक्ष की तैयारियाँ करने लगे। त्याग धर्म की दीक्षा लेने को तत्पर हुए।

एक दिन उन्होंने अपने सबसे ज्येष्ठ, गुणों में श्रेष्ठ पुत्र विजिताश्व को बुलाकर कहा—'बेटा! मुझे जो लौकिक कार्य करने थे उन सबको तो मैं कर चुका। अब मेरी इच्छा है, कि मैं परलोक के लिये भी कुछ पूँजी कमाऊँ। अपने मोक्ष मार्ग को भी परिष्कृत करूँगा। अब तुम इस राज पाट को सम्हालो। धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो। सर्वान्तर्यामी प्रभु तुम्हारा कल्याण करेंगे।"

महाराज की आज्ञा को सुयोग्य राजकुमार ने सिर से स्वीकार

पृथ्वी को सौंप दिया। पिता पृथु के वियोग में पृथ्वी रो भी रही थी। सम्पूर्ण प्रजा विलख रही थी। उन सबको उसी दशा में छोड़कर अपनी स्त्री के सहित अकेले ही महाराज तपोवन चले गये।

किया। रोते रोते उसने पिता के पैर पकड़ लिये। बात सर्वत्र फैल गयी। प्रजा के सभी मुख्य मुख्य जन एकत्रित हुए। सभी ने रो रोकर महाराज से प्रार्थना की—"प्रभो! आप अभी हमारा त्याग न करें हमारा जैसे अब तक पिता की तरह पालन करते थे उसी प्रकार और भी करें। किन्तु वे तो सज्जनाग्रणी थे, सदाचार का पालन करने वाले महामना मनस्वी थे। उन्होंने राज्य पाट को मन से त्याग दिया था, अतः फिर उन्होंने राज-काज करना स्वीकार नहीं किया।

वे अपनी धर्मपत्नी अर्चिदेवी के साथ सर्वस्व त्यागकर वल्कल वस्त्र पहिन कर वन के लिए चलने लगे। विरह व्यथा से बिलखती हुई अपनी प्रजा को ज्यों-का-त्यों ही छोड़कर महाराज बिना किसी को साथ लिये हुए चल दिये।

महाराज पृथु बड़े पुरुषार्थी थे। उत्साही पुरुष जिस काम में लगता है उसी को बड़ी तत्परता से करता है। अब तक महाराज की समस्त शक्ति का व्यय प्रजा के पालन में होता था। अब वह प्रवाह पलटकर तपस्या में लग गया।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! महाराज पृथु तपोवन में जा कर कैसी तपस्या करते थे?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"देखिये, विदुरजी! वानप्रस्थ के माने है, जो भली प्रकार वन में स्थित रहे, ग्राम्य धर्मों का त्याग कर दे, सहधर्मिणी के साथ रहने पर भी सदा ब्रह्मचर्य व्रत में रहे। हल से जोते बोये ग्राम्य अन्न को न खाय, सभी विषयों का त्याग कर दे। कन्द, मूल, आदि का आहार करे। महाराज पृथु ने पहिले तो कुछ दिनों तक वन में उत्पन्न होने वाले, कन्द-मूल फलों का आहार किया। फिर उनको भी छोड़कर पेड़ से अपने आप गिरे पत्तों को ही खाकर रहे।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! सूखे पत्ते खाने का क्या तात्पर्य है?"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"देखिये, विदुरजी! जितने ये वृक्ष हैं, घास पत्ते है, सबमें जीव है, किन्तु जीवन निवाह जितनी भी कम हिंसा किये हुए व्यतीत हो उतना ही श्रेष्ठ है। जीव तो सबमें समान रूप से व्याप्त है, किन्तु उसका प्रकाश पात्र भेद में कम अधिक होता है। मनुष्यों की अपेक्षा बुद्धिजीवी पशुओं में कम, उनसे भी कम कीट पतङ्ग आदि उनसे भी कम वृक्षों में, उनसे भी कम वृक्षों की अन्न आदि जौ गेहूँ आदि ओषधियों में, उनसे भी कम पाषाण आदि में। वृक्ष से अपने आप गिरे सूखे पत्तों में कम से कम हिंसा है। फिर कुछ काल पत्ते भी छोड़कर महाराज पृथु जल पीकर ही रहने लगे। फिर अन्त में जल को छोड़कर वायु के ही आधार पर रहकर तपस्या करने लगे।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन! महाराज पृथु कैसी तपस्या करते थे?"

इस पर मैत्रेय मुनि कहने लगे—"विदुरजी! मौन रहना यह सबसे बड़ा तप है। महाराज पृथु ने सबसे पहिले वाणी पर संयम किया। ग्रीष्म काल में जब सूर्य भगवान् अपनी प्रचण्ड किरणों से सबको सन्तप्त करते थे, तब महाराज खुले स्थान में बैठकर अपने चारों ओर अग्नि जलाते ऊपर सूर्य नारायण तपते थे। जब वर्षा ऋतु आता तो खुले स्थान में बैठे रहते। मूसला धार पानी को अपने सिर पर सहन करते। जब शीतकाल आता तब, नदी के बरफ के समान ठण्डे जल में डूबे रहते थे वे न खाट पर सोते थे, न तख्त पर, बिना बिछाये मिट्टी के लिपे पुते चबूतरे पर ही तृण डालकर पड़े रहते।

इस प्रकार तपस्या के द्वारा शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए, मन, वाणी और इन्द्रियों के विषयों के संयम द्वारा

प्राणों को जीत कर मन के सहित ६ इन्द्रियाँ हैं उन पर विजय प्राप्त कर ली। उनका वासनारूप बन्धन कट गया।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! उन महाराज पृथु की पत्नी तो बड़ी सुकुमारी थीं। उन्होंने अपने पति के साथ ये कष्ट किस प्रकार सहन किये होंगे?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! विषयों में न सुख है न दुख। ये सब तो मन के धर्म हैं। मन जिसमें सुख मान लेता है, वही सुखद प्रतीत होता है, जिसमें दुःख मानता है, वह दुखद हो जाती है। यह सत्य है कि महारानी अर्चि इतनी सुकुमारी थीं, खाली पृथ्वी पर पैर रखने में भी उन्हें कष्ट होता था। मखमल की मुलायम जूतियों से गुलगुले गद्दों पर चलने से भी उनके चरण अत्यधिक अरुण वरण के बन जाते थे, किन्तु इन सब विषयों से अधिक प्रिय उन्हें अपने पति का प्रेम था। महाराज पृथु घोर तपस्या करते थे, अर्चिदेवी सदा उनकी सेवा में संलग्न रहती थीं। अपने हाथ से कुटी को झाड़तीं। अग्निहोत्र, पूजा आदि की सामग्रियों को जुटातीं गोबर से लीपतीं। महाराज जो भी आहार करते उसका प्रबन्ध करतीं और हाथ जोड़े उनकी सेवा में सदा तत्पर रहतीं।"

विदुरजी ने पूछा—"प्रभो यह सब तो सत्य है, किन्तु वे इतना कष्ट किस बल पर सहन कर लेती थीं। मनुष्य किसी आशा से किसी प्रबल प्रलोभन के वशीभूत होकर न करने योग्य काम को भी कर जाता है, प्राणों की बाजी लगा देता है, हँसते-हँसते प्राणों को त्याग देता है उन्हें वन में ऐसा कौन सा प्रलोभन था।

मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! पति का प्रेम प्राप्त करना, क्या कुछ कम प्रलोभन है। मेरे प्राणनाथ मुझपर प्रसन्न हों, मेरा सर्वस्व उन्हीं का है, उनकी सेवा करना मेरा परम कर्तव्य महान्

धर्म है। यही धर्म सम्बन्धी प्रलोभन था। नहीं तो उन्हें वहाँ वन में शरीर सम्बन्धी तो कष्ट ही कष्ट था। कभी दुख सहने का अवसर नहीं आया था, अपने हाथों से कभी काम किया ही नहीं था। एक तो कडवे कसेले फलों का आहार, दूसरे दिन भर परिश्रम करना, इससे वे बहुत दुर्बल हो गई थीं। दिन भर काम करते करते उनका मुख म्लान हो जाता था किन्तु जहाँ महाराज ने उनके सिर पर प्रेमपूर्वक हाथ फेरा, तहाँ प्रियतम के सम्मान पूर्वक कर स्पर्श को पाकर उनकी समस्त थकान मिट जाती थी। वे आनन्द में विभोर होकर दूने उत्साह से कार्य करने लगती थीं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार महाराज पृथु और महारानी अर्चि घोर तपस्या करते हुए वनवास करने लगे। वानप्रस्थ धर्म का पालन करने लगे।

छप्पय

बसिके वनमहँ भूप अखिल पतिकूँ आराधें।
योग ध्यान सहँ निरत नियम बत मुनिके साधे॥
अति सुकुमारी अर्चि करे सेवा सब तजि सुख।
पाणि परस पति पाइ भुलावें वनके सब दुख॥
कछु दिन खाये भूपफल, कछु दिन पय पत्ता परे।
वायु खाय कछु दिन रहे, यों इन्द्रिय गण वश करे॥

—:—

पृथ्वी पति पृथु का परलोक प्रयाण

[२८१]

देहं विपन्नाखिलचेतनादिकम्
पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः ।
आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती
चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥*

(श्रीमा० ४ स्क० २३ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

चैन तनय तप करें सम पतिप्राण लैकें ।
भगवत् चिन्तन करत प्रेम प्लावित हिय हैकें ॥
कर्यो वासना रूप बन्ध मन शुद्ध भयो जब ।
अन्त काल ढिंग जानि ब्रह्ममय भये भूप तब ॥
त्याग ज्ञान वैराग्यतें, हृदय भक्ति भावित भयो ।
तब अहि कैंचुल जीर्ण पट, सम भूपति तनुतजि दयो ॥

संसार मे सबसे बड़ा भय मृत्यु का है। मनुष्य इस मृत्यु रूप सर्प के ही भय से बचने के लिए भागता फिरता है, भाँति-

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं "विदुरजी ! महारानी अर्चिदेवी ने पृथ्वीपति अपने प्रियतम प्राणनाथ के देह को चेतना के सम्पूर्ण धर्मों से रहित अर्थात् मृतक देखा, तो पहिले तो उस सती ने कुछ विलाप किया। फिर पर्वत के ऊपर चिता चुनकर उसमे उस प्राण शून्य शरीर को रख दिया।

भाँति के उपाय करता है। रात्रि में मत निकलो, कोई मार डालेगा। जंगल में मत जाओ कोई हिंस्र जन्तु मार डालेगा। इस रोग की सब शक्ति लगाकर औषधि करो नहीं मर जायेंगे। जैसे बने तैसे धन इकट्ठा करो जिससे शरीर सुखी बना रहे। कोई हमारे धन को न ले जाय, क्योंकि हम भूखों मर जायेंगे। सारांश यह है, कि जो भी कुछ किया जाता है, सुखपूर्वक सदा जीवित रहने के लिये, मृत्यु से बचने के लिये किया जाता है। जिन्होंने जीते रहते हुए भी मरना सीख लिया है। अवश्यम्भावी मृत्यु पर जिन्होंने प्राणों के रहते ही विजय प्राप्त कर ली है, ऐसे लोग कभी मरते नहीं वे अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं। इस लोक में हम जैसी मन की स्थिति प्राप्त कर लेंगे, परलोक में हमें वही लोक प्राप्त होगा। मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। मृत्यु वास्तव में भयानक है किन्तु जो उसकी युक्ति जानते हैं उनके लिये वह सौम्य है, जैसे संखिया खाने की जो विधि नहीं जानता वैसे ही कच्चे संखिया को खाय तो वह मर जायगा, किन्तु उसे शोधकर युक्ति से खाने की विधि से खाय, तो शुद्ध हुआ संखिया अमृत का काम करता है। इसलिये मरने की विधि सीख लेना परमावश्यक है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज पृथु वन में रह कर सुखकर मृत्यु का अभ्यास करने लगे। स्वेच्छा मृत्यु की विधि के अभ्यास में तत्पर हुए।

शरीर का मोह बिना तप और तितिक्षा के छूटता नहीं। शरीर से ऐसी आसक्ति हो गई है, कि तनिक-सी असुविधा होते ही, प्राणी समझता है, मैं मरा मुझे बड़ा कष्ट है। शरीर से आत्मा पृथक् है और शरीर के दुःख-सुख के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं, इसकी उपलब्धि तितिक्षा और तप से ही होती है। इसलिये महाराज पृथु ने पहिले घोर तप किया। तप से

जब शरीर का मोह छूट गया। तब उन्होंने इस नश्वर शरीर को त्यागने का विचार किया।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! महाराज पृथु ने इस इतने प्यारे शरीर को किस प्रकार त्यागा?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! शरीर का क्या प्रिय। यह शरीर तो नश्वर है ही। आत्मज्ञान होने पर तो यह शरीर भारभूत हो जाता है। जिन्होंने मृत्यु की विधि समझ ली है, उन्हें प्राण त्यागने में उतना भी कष्ट नहीं होता, जितना सर्प को केंचुली त्यागने में होता है। जैसे मनुष्य स्वेच्छा से जीर्ण वस्त्रों को त्याग देता है वैसे ही ज्ञानी योगी इस शरीर को त्याग देता है। महाराज पृथु ने इस शरीर को ऐसे ही त्यागा। पहिले उन्होंने दृढ़ आसन मारकर गुदा के द्वार को एँड़ी से कसकर रोक लिया।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज! मल द्वार को ऐड़ी से रोकने का क्या कारण है?"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुरजी! प्राण के निकलने के ९ द्वार हैं मल द्वार और मूत्र द्वार ये दो नीचे के द्वार हैं। दो कानों के, दो आँखों के, दोनाकों के और एक मुख का ये ७ ऊपर के द्वार हैं। अधोमार्ग से प्राण निकलेंगे तो अधोगति होगी और ऊपर के द्वारों से प्राण निकलेंगे,तो ऊर्ध्व गति होगी। एक दशम द्वार भी है, वह खोपड़ी से बन्द रहता है उस द्वार को भेदकर प्राण निकले तो मनुष्य आवागमन से मुक्त हो जाता है। इसीलिये योगी प्राण त्यागते समय इस बात की बड़ी सावधानी रखते हैं, कि हमारे प्राण इन ९ द्वार से न निकलने पावें। चाहें पुण्य लोक हो या पाप लोक दोनों ही बन्धन के हेतु हैं। इसलिये ज्ञानी ब्रह्मलोक तक की भी इच्छा नहीं करते। प्राण त्यागते समय इन देह के द्वारों

को रोके रहते हैं। ऐड़ी से गुदा के द्वार और सीवन को कस देने से दोनों ही द्वार रुक जाते हैं। अब प्राण नीचे की ओर न चलकर ऊपर की ओर उठते हैं। मूलाधार से वायु को धीरे-धीरे उठाकर नाभि देश में लाते हैं। नाभि से उदर में, उदर से हृदय में, हृदय से वक्षःस्थल में वहाँ से कण्ठ में लाते हैं। कण्ठ से ऊपर दोनों भ्रुकुटियों के बीच में स्थित आज्ञाचक्र में बड़ी ही सावधानी से लाना होता है, क्योंकि वहीं से ऊपर के सात द्वारों के मार्ग हैं। तनिक-सी भी असावधानी हुई कि सुर से आँख, कान, नाक, मुँह किसी भी रास्ते से प्राण निकल सकते है। इस प्रकार निकलने से मनुष्य का आवागमन नहीं छूट सकता।

आज्ञाचक्र से प्राणों को सिर मे लाते हैं, वहाँ पर विपर्यय क्रम से लय योग के द्वारा क्रम से तत्व को दूसरे में लीन करते हैं। उस समय सांसारिक भोगों से सर्वदा उपरति हो जाती है। जब प्राण वायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है तो उसे पञ्चभूतों की वायु में लीन कर देते हैं। देह का जितना पार्थिव तत्व है उसे पृथ्वी में लीन कर देते हैं। चक्षु आदि में जो तेज तत्व है उसे तेज में मिलाते है। हृदय आदि में जो पिंडाकाश है उसे महाकाश में लीन करते हैं। शरीर में जो रुधिर आदि जल के द्रव अंश हैं उसे जल मे लीन कर देते हैं। इस प्रकार इस पाँच भौतिक शरीर में जो परिछिन्न भौतिक तत्व हैं उन्हें महातत्वों में लीन करके फिर जिस क्रम से एक से दूसरे तत्व उत्पन्न हुए थे, उसके विपरीत क्रम से उनको लीन करते हैं। जैसे पृथ्वी तत्व को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु मे और वायु को आकाश में लीन करना होता है। फिर मन को इन्द्रियों मे लीन किया, इन्द्रियों को उनके कारण रूप शब्दादि तन्मात्राओं मे लीन कर देते हैं, तन्मात्राओं को अहङ्कार के द्वारा ऊर्ध्वगति करके

तन्मात्राओं के अहङ्कार सहित महत्तत्व में ले जाकर लीन करना होता है।

विदुरजी ने पूछा—"महाराज ! महत्तत्व का कार्य क्या है ?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! मूल प्रकृति का पहिला विकार महत्तत्व ही है। सम्पूर्ण गुणों की अभिव्यक्ति महात्तत्व के ही द्वारा होती है। उस महात्तत्व को मायोपधिक जीव में लीन करते हैं। फिर ज्ञान वैराग्य के प्रभाव से स्वरूप में स्थित होकर अन्तकरण की उपाधि को त्याग देने से जीवन का जीवत्व छूट जाता हैं। इस प्रकार महाराज पृथु ने स्वेच्छा से अपने शरीर को त्याग दिया।"

आसन मारकर बैठे-बैठे ही उन्होंने शरीर का त्याग किया था। महारानी अर्चि को तो कुछ पता ही नहीं था, कि महाराज आज शरीर त्याग करेंगे। उन्होंने तो समझा महाराज ध्यान में मग्न हैं। जब उठने के समय पर भी वे न उठे, तब तो महारानी को सन्देह हुआ। वे शनैः शनैः महाराज के समीप गईं। उन्होंने महाराज के चरणों को देखा उनमें तनिक भी गर्मी नहीं थी। शरीर को देखा वह भी चेतना शून्य था। नाड़ी चल नहीं रही थी। महारानी समझ गईं कि मेरे प्राणनाथ ने प्राणों का परित्याग कर दिया है।

यहाँ अरण्य में और तो कोई था नहीं अकेली, ही बैठी हुई घड़ी देर तक विलाप करती रहीं। फिर अपने आप ही धैर्य धारण किया। पर्वत के शिखर पर महाराज के मृतक शरीर को ले गईं। इधर-उधर से उन्होंने सूखी सूखी बहुत सी लकड़ियाँ एकत्रित कीं। विदुरजी ! त्याग की कैसी महिमा है। जिन महारानी की सेवा में पहिले हजारों दासियाँ रहती थी आज वे ही अरण्य में अकेली लकड़ियाँ बीनती डोल रही हैं। चिता चुनकर उस पर उन्होंने अपने मृतक पति के शरीर को रखा। फिर नदी में जाकर

सती साध्वी अर्चि देवी ने विधिवत् स्नान किया पति को विधि के सहित अन्तिम जलाञ्जलि दी। पतिव्रता ने सती होने की शास्त्रीय विधि से शृङ्गार आदि किया। आकाश स्थित समस्त देवताओं को वन के देवी देवों को श्रद्धा सहित प्रणाम किया। चिता की तीन परिक्रमा की और वे अपने पति के सग चिता में बैठकर सती हो गईं। पति के साथ ही उनका शरीर भी जल गया।

देवाङ्गनाओं ने जब देखा कि वीरवर महाराज पृथु की प्यारी पत्नी अपने पति का अनुगमन कर रही है, तब तो वे उनके पातिव्रत की भूरि भूरि प्रशसा करने लगीं। देवताओं ने उनके ऊपर पुष्पों की वृष्टि की। वीणा आदि वाद्य बजने लगे। सुरललनायें कहने लगीं। देखो, ये लक्ष्मी के समान स्वामी की सेवा करके स्वर्गादि पुण्य लोकों को भी लाँघकर परमपद को प्राप्त हो रही हैं। मोक्ष के साधन भूत इस नर देह का यही तो एकमात्र फल है, कि जिस किसी प्रकार भी हो, भगवच्चरणों में अनुराग हो। ससार का आवागमन छूट जाय, इसके विपरीत जो विषयासक्त होकर बार-बार जन्मते मरते हैं अब उनके लिये हम क्या कहें, वे तो निश्चय ही आत्मघाती हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जो गति महाराज पृथु को प्राप्त हुई, वही गति उनकी प्राणप्रिया पत्नी को प्राप्त हुई, इस प्रकार मैंने आपको यह परम धन्य, स्वस्त्ययन स्वर्ग्य और कलिकाल के समस्त मलों को तथा अमङ्गल को निवारण करने वाला महाराज पृथु का पुण्य चरित्र अत्यन्त ही सक्षेप में सुनाया। यह चरित्र सभी वर्ण, सभी आश्रम, सभी श्रेणी के पुरुषों को सुख का दाता तथा भय का त्राता है। जो इसे श्रद्धा से सुनेंगे वे इस ससार सागर को बात की बात में पार कर जायँगे। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

छप्पय

अर्चि गई पति निकट देह निष्प्राण निहारी।
बिलखी पति शव निरखि दुखारी भई विचारी॥
ईंधन चुनि चुनि चिता सती ने स्वयम् बनाई।
विधिवत् कीन्हें कृत्य देह पति सङ्ग जराई॥
पृथु पत्नी सँग परमपद, विष्णु भक्ति ईं तें लह्यो।
यों समासतें पृथु चरित, विदुर! यथामति हौं कह्यो॥

प्रचेता कौन थे ?

[२८२]

प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन् ।
तुल्यनामवृताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २४ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

बोले मुनि मैत्रेय प्रचेता जनमें जस दश ।
कहूँ सुनो, पृथु तनय भये विजिताश्व पृथय यश ॥
हविर्धान सुत भये बर्हिषद् तिनके आत्मज ।
शत द्रुति सँग करि ब्याह, धरी आज्ञा सिरपद्मज ॥
शील, रूप, गुण, वय, विनत, एक सरिस सबके भये ।
तातें सब ई प्रचेता, एक नाम के है गये ॥

कथा प्रसग में विस्तार भले ही हो जाय किन्तु मूल धारा अविच्छिन्न बनी रहे जैसे वृक्ष की मूल एक ही है। उसमें से शाखा प्रशाखें फूटती हैं, किन्तु उन सबको बल तो मूल से ही मिलता है। मूल के छिन्न हो जाने पर न तो हरे पत्ते रहते हैं न शाखायें ही बढ़ती हैं। जितनी शाखायें हैं, उन सबका आधार

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! महाराज प्राचीनबर्हि के शत द्रुति में दश पुत्र हुए। वे सबके सब धर्मात्मा एक से गुण वाले थे, उन दशों का एक-सा ही नाम हुआ। दशों प्रचेता के नाम से विख्यात हुए।"

तो एक ही है, अतः सर्वप्रथम कर्तव्य है, कि मूल वस्तु की रक्षा की जाय।

विदुरजी ने पूछा—"गुरुदेव जब आपने पुण्यश्लोक ध्रुवजी का चरित्र सुनाया था, तो उसी प्रसंग में यह बात कही थी, कि ध्रुवजी के यश का गायन प्रचेताओं की सभा में नारदजी ने किया था। उस समय मैंने प्रश्न किया था, ये प्रचेता कौन हैं? आपने बताया था, कि प्रचेता ध्रुवजी के वंश में हुए, उसी वंश को कहते कहते प्रसंग वश महाराज पृथु का पावन चरित्र आपने सुना दिया। मेरा प्रश्न ज्यों का त्यों ही बना रहा। अब कृपा करके यह बतावें कि प्रचेता कौन थे।

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! ऊपर की सीढ़ी से उतरना हो, तो क्रमशः एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी इसी प्रकार उतरा जायगा। यदि क्रमशः न उतरे, धड़ाम से शीघ्रता से नीचे कूद पड़े तो हाथ पैर टूटने का डर है। मैंने आपको बताया था, महाराज ध्रुव के पुत्र वत्सर हुए, उनके पुष्पार्ण। पुष्पार्ण के व्युष्ट हुए। व्युष्ट के सर्वतेजस बड़े पराक्रमी पुत्र हुए। सर्वतेजस के ही त्वष्टा मनु हुए उनके पश्चात् उनके १२ पुत्रों में से उल्मुक राजा बने। उल्मुक के ६ पुत्रों में से सबसे बड़े अङ्ग हुए। अङ्ग के ही क्रूरकर्मा वेन हुए। वेन के मृतक शरीर को मथने पर पृथ्वी के पिता परम पराक्रमी भगवान् के अंशावतार पृथु हुए। महाराज पृथु के ५ पुत्रों में से सबसे बड़े विजिताश्व या अन्तर्धान हुए। उनके हविर्धान हुए हविर्धान के बर्हिषद् हुए जिनका नाम प्राचीनबर्हिष भी था। उन्हीं प्राचीनबर्हिष के दश प्रचेता हुए।'

विदुरजी ने कहा—"महाराज! यह तो आप बहुत शीघ्रता कर गये।"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"अरे, भाई! धीरे धीरे कहते

हैं, तब भी तुम कहते हो, कि हमारे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं दिया और शीघ्रता से कहते हैं, तो कहते हो शीघ्रता कर गये। अच्छी बात है सुनो। हम प्रचेताओं के जन्म की कथा कहते हैं।"

विदुरजी बोले—"महाराज! जो पुण्य श्लोक हों, जिनके चरित्र पावन हों, उनका ही विस्तार करें।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"अच्छा सुनिये। महाराज पृथु अपने बड़े पुत्र विजिताश्व को राजगद्दी देकर वन में चले गये। महाराज विजिताश्व के ४ और भी छोटे भाई थे। उन्होंने सोचा—'हम अकेले राजा बन जायँ और हमारे भाई राजा न बनें यह बात ठीक नहीं। अतः उन्होंने भ्रातृवत्सलता के कारण चारों दिशाओं का राज्य अपने चारों भाइयों को दिया। हर्यक्ष को पूर्व दिशा का राजा बना दिया। उनसे कह दिया—"भैया यहाँ से पूर्व दिशा में जितने देश हैं सब पर तुम्हारा अधिकार है।" उससे छोटा जो धूम्रकेश था, उसे दक्षिण दिशा का राजा बनाया तीसरे वृक नामक भाई को पश्चिम दिशा का अधिपत्य प्रदान किया और सबसे छोटे द्रविण को उत्तर दिशा का शासन सौंपा। इस प्रकार चारों दिशाओं की बागडोर अपने चारों भाइयों को देकर वे नाम मात्र के सम्राट बने रहे। महाराज विजिताश्व का एक नाम अन्तर्धान भी था।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"प्रभो! महाराज पृथु के ज्येष्ठ कुमार का विजिताश्व नाम तो हयमेध के अश्व को इन्द्र से जीतने के कारण पड़ा। यह अन्तर्धान नाम किस कारण से पड़ा?"

इसका उत्तर देते हुए मुनि मैत्रेय बोले—"विदुरजी! जब कुमार विजिताश्व ने इन्द्र से बलपूर्वक अश्व छीन लिया, तब इन्द्र उनके बल वीर्य से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए और उनसे कहा—"राजन्! आपके पराक्रम से मैं अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ, आप मुझसे कुछ वरदान माँग लें।"

कुमार ने कहा—"देवराज मेरे यहाँ धन सम्पत्ति की तो कुछ कमी है नहीं। अस्त्र-शस्त्रों का भी मुझे पूर्ण ज्ञान है। सभी दिव्यास्त्रों को जानता हूँ, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे अन्तर्धान होने की विद्या सिखा दीजिये।"

कुमार की ऐसी प्रार्थना करने पर इन्द्र ने प्रसन्न होकर उन्हें अन्तर्धान होने की विद्या सिखा दी। इसीलिये उनका नाम अन्तर्धान हुआ। महाराज विजिताश्व या अन्तर्धान के शिखण्डनी के गर्भ से तीन लोक प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम पावक, पवमान और शुचि थे।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! ये नाम तो अग्नि के हैं आहवनीय, गार्हपत्य और प्राजापत्य इन अग्नियों के ही ये नाम हैं। इनका कुछ अग्नियों से सम्बन्ध है क्या?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"हाँ विदुरजी! तीनों अग्नियों ने ही भगवान् वसिष्ठ के शाप से महाराज विजिताश्व की पत्नी शिखण्डिनी के गर्भ से जन्म लिया था। अन्त में योग मार्ग के द्वारा वे अग्नि रूप हो गये।"

हाँ, तो ये पावक, पवमान और शुचि तो योगमार्ग के अनुगामी बन गये। तब महाराज से अपनी दूसरी पत्नी नभस्वती के गर्भ से हविर्धानि नामक पुत्र उत्पन्न किया। महाराज विजिताश्व के पश्चात् वे ही भू मण्डल के सम्राट् बनाये गये। वे बड़े दयालु तथा धर्मात्मा थे। किसी का कष्ट वे देख नहीं सकते थे। एक दिन उन्होंने सोचा हमारी यह कैसे गर्हित वृत्ति है। प्रजा के लोग परिश्रम करते हैं हम उनसे व्यर्थ में ही छठा हिस्सा ले लेते हैं। किसी से स्वभाव वश कुछ भूल हो जाती है तो उसके ऊपर अपराध शुल्क लगा देते हैं, इस प्रकार हम अपने कोष को बढ़ाते हैं। यह निन्दनीय कार्य है अकारण प्रजा को कष्ट पहुँचाना है। फिर भी शास्त्रकारों ने राजा का यह धर्म बताया है, कि वह प्रजा

से शुल्क ले, उन्हें दण्ड दे। यदि हम इसे पूछते हैं तो धर्म से च्युत होते हैं यदि नहीं छोड़ते तो प्रजा को कष्ट होता है अतः कोई ऐसा उपाय निकाला जाय। जिससे हम धर्म से भी च्युत न हों प्रजा को भी कष्ट न हो। यह सोचकर उन्होंने एक दीर्घ-कालीन यज्ञ की दीक्षा ले ली। क्योंकि दीक्षित पुरुष तो यज्ञ सम्बन्धी कार्य छोड़कर दूसरा कार्य कर ही नहीं सकता। इस प्रकार वे दण्ड शुल्कादि कठोर कार्यों से एक व्याज से निवृत्त हो गये। वे यज्ञों के द्वारा पुराण पुरुष प्रभु का त्रिविध सामग्रियों द्वारा यजन करने लगे। उनके समस्त यज्ञ निष्काम थे, उनमें किसी प्रकार के फल की इच्छा नहीं थी। अतः वे उन यज्ञों को करते हुए आत्म साक्षात्कार करने लगे। इस प्रकार आत्मदर्शी होकर उन्होंने सुदृढ़ समाधि के द्वारा भगवान् वैकुण्ठनाथ के परम धाम को प्राप्त कर लिया।

उन महाराज हविर्धान की हविर्धानी नामक पत्नी थी। जिसके गर्भ से बर्हिषद, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत ये ६ पुत्र उत्पन्न हुए। उन सब में बर्हिषद ही श्रेष्ठ थे अतः वे ही, राजा हुए। महाराज बर्हिषद बड़े कर्मकाण्डी थे साथ ही योग में भी पारंगत थे, उन्हें यज्ञ करने का व्यसन ही हो गया था, यहाँ तक कि उन्होंने पूर्व दिशा की कुशाओं का अग्रभाग करके उन यज्ञ सम्बन्धी कुशाओं से सम्पूर्ण पृथ्वी को ढक दिया। आज यहाँ यज्ञ किया तो दूसरा उससे आगे किया, तीसरा उससे आगे इस प्रकार एक के पश्चात् एक स्थान से दूसरे स्थान में यज्ञ करते-करते उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को यज्ञ भूमि ही बना डाला। इसीलिये उनका नाम प्राचीनबर्हि पड़ गया। समुद्र की एक पुत्री थी, जिसका नाम शतद्रुति था, उसके विवाह के लिये समुद्र ने जाकर ब्रह्माजी से प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने राजा प्राचीनबर्हि को आज्ञा दी, कि तुम इस अत्यन्त सुन्दरी कन्या के साथ पाणिग्रहण कर

लो। इसे अपनी धर्मपत्नी बना लो। यह शतद्रुति इतनी सुन्दरी थी कि उसके सौन्दर्य से भाँवर पड़ते समय साक्षात् अग्निदेव भी मोहित हो गये थे। जब वह अपने पैरों के पायजेब और नूपुरों की मञ्जुल झंकार करती हुई राजहंसिनी की भाँति मद से मदमाती होकर यौवन की उमंग में इठलाती हुई चलती थी तो उसकी चाल को ही देखकर मनुष्यों की तो बात ही क्या ऋषि, मुनि, सिद्ध गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सुर, असुर, नाग तथा अन्य उपदेव भी अपने आपको भूल जाते थे।

सूतजी कहते हैं—"विदुरजी! उसी शतद्रुति के गर्भ से महाराज प्राचीनबर्हि के दश प्रचेता जो एक रूप, एक शील एक से गुण वाले होने के कारण दशों के दश प्रचेता कहलाये।"

छप्पय

सब सुन्दर सब सुघर सरिस सदगुनहिँ सबनि के।
भये प्रचेता नाम एक से सबके तिनके॥
पिता कहे तब एक सग सब ई मिलि आवें।
जाओ जावें सग संग सब ई मिलि खावें॥
एक प्राण दश देह में, संचारन सँग सँग करत।
मानों मन दश रूप धरि, करत काज जग महँ फिरत॥

प्रचेताओं पर महादेवजी की कृपा

[२८३]

प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसाऽऽदाय साधवः ।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्याहतचेतसः ॥
तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् ।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २४ अ० १९–२५ श्लोक)

छप्पय

पिता कह्यो हे पुत्र ! तपस्या हित सब जाओ ।
तप करि सञ्चय शक्ति करो फिरि प्रजा बढ़ाओ ॥
आयसु पितु सिर धारि चले सब मिलि जुलि भाई ।
मारग महँ मनहरन पर्‌यो संगीत सुनाई ॥
सुनि विस्मित सब ई भये, इत उत सब निरखन लगे ।
शिव सम्मुख गण सहित लखि, त्रिविध सबनिके मय भगे ॥

शुभ कार्य के लिये जो कमर कस के निकल पड़ते हैं, उनका सर्वत्र कल्याण ही कल्याण है । मनुष्य अपनी कमजोरी के कारण

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पिता के वाक्य से तपस्या में चित लगाकर साधु स्वभाव वाले दशो प्रचेता पश्चिम दिशा की ओर गये । मार्ग में तपाये हुए सुवर्ण राशि के समान नीलकण्ठ त्रिलोचन भगवान् शम्भु को अपने ऊपर अनुग्रह करने को उद्यत देखकर प्रचेताओं को बड़ा कुतूहल हुआ और शिवजी को श्रद्धा सहित प्रणाम किया ।"

ही भयभीत होता है। जहाँ वह भगवान् के सहारे मङ्गलानुष्ठान के निमित्त चल पडता है वहाँ कल्याण के निधान श्रीशिव उनके मार्ग को मंगलमय बना देते हैं। श्री शिवजी तो जगतगुरु ही ठहरे। जो तपस्या के संकल्प से चलता है उसे वे मन्त्र दीक्षा देकर कल्याण का मार्ग दिखाते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज प्राचीनबर्हि के दशों पुत्र बड़े ही धर्मात्मा तथा पितृभक्त थे। सबका एक-सा ही शील स्वभाव था। एक-सी ही उठन, बैठन, बोलन, चलन और चितवन थी। पिता जब कहते—"प्रचेताओ आओ" तो दश के दशों साथ आते। दशों साथ खाते पीते और नहाते धोते। पिता ने जब इन सबको योग्य देखा तो वे इनसे बोले—"बेटाओ! अब तुम सब योग्य हुए। मैं चाहता हूँ, तुम सब मिलकर प्रजा की वृद्धि करो। अपने ही समान योग्य पुत्र उत्पन्न करो। सृष्टि का विस्तार करो। यह सब तभी होगा, जब तुम सब मिलकर अखिल भुवनपति भगवान् विष्णु का ध्यान करोगे। विषय सुखों से मुँह मोड़कर तपस्या में चित्त लगाओगे। तुम सब समर्थ हो, धर्मात्मा हो, अतः सब मिलकर तपस्या करो तपस्या से श्रीहरि को प्रसन्न करो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम सब जाकर समुद्र के किनारे शुद्ध चित्त से भगवत आराधना करते हुए इन्द्रियों का संयम करो।"

अपने पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर प्रचेताओं ने कहा—"प्रभो! आप हमारे पिता हैं, पूज्य हैं। हमें आप जो भी आज्ञा देंगे, उसे हम श्रद्धा सहित शिरोधार्य करेंगे। अब हम सब तपस्या करने जाते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके दशों भाई तपस्या के लिये चल दिये। रास्ते में

उन्हें शिवजी के दर्शन हुए, जिन्होंने इन सबको रुद्रगीत का उपदेश दिया।"

इतना सुनते ही बड़े विस्मय के साथ विदुरजी पूछने लगे—"प्रभो! यह तो आप बड़ी आश्चर्य की-सी बातें सुना रहे हैं। प्रचेताओं का मार्ग में शिवजी के साथ कैसे समागम हो गया। इस पार्थिव शरीर में शिवजी के दर्शन तो निरन्तर ध्यान, योग तथा तपस्या के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण वाले मुनियों को चिरकाल में होता है, वह भी जब शिवजी की कृपा हो तब। फिर आप कहते हैं—शिवजी ने उन्हें सारयुक्त सरल सुगम साधन का उपदेश दिया। सो मैं इस प्रसग को विस्तार के सहित सुनना चाहता हूँ। भगवान् शकर आत्माराम हैं, उन्हें किसी की भलाई बुराई से प्रयोजन ही क्या? फिर भी वे लोक रक्षा के निमित्त घोर शक्ति के साथ सदा सर्वत्र विचरण करते रहते हैं।"

विदुरजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! भगवान् भूतनाथ का एक नाम शिव भी है, शिव कहते हैं कल्याण करने वाले को। जो साधक कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर होता है, उसकी मार्ग में ही शिवजी स्वय रक्षा करते हैं। शिवजी सन्ध्या के समय अपने गणों को साथ लिये हुए सर्वत्र घूमते हैं और यह देखते फिरते हैं, कि कौन क्या कर रहा है। ये प्रचेता अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके समुद्र के समीप तपस्या करने जा रहे थे, कि रास्ते मे चलते चलते समुद्र के समीप सभी ने सुन्दर स्वच्छ सलिल वाला एक सरोवर देखा। यह दूसरे समुद्र के समान, आकाश के समान विस्तृत था। उसका जल निर्मल दर्पण के समान साधु पुरुषों के हृदय के समान स्वच्छ और मल रहित था। उसमें मगर, मत्स्य, घड़ियाल, सर्प आदि बहुत से जल जन्तु उसी प्रकार सुखपूर्वक रहते थे, जिस प्रकार भाग्यशाली धर्मात्मा पुरुष के आश्रय में बहुत से पुरुष आनन्द के

साथ रहते हैं। उस सरोवर में भाँति-भाँति के कमल खिल रहे थे। बहुत से नील कमल थे। वे ऐसे लगते थे मानों आकाश टुकड़े टुकड़े होकर सरोवर के ऊपर बिखरा हुआ है। खिले हुए लाल कमल ऐसे दीखते थे मानों कमलादेवी सहस्रबाहु बनाकर अपने करों को ऊपर उठाये हुए हों। कुछ ऐसे उत्पल नामक कमल थे, जो रात्रि में उसी प्रकार खिलते थे जैसे सूर्यास्त होते ही अभिसारिका का मुख कमल खिल जाता है। कुछ अम्भोज नामक कमल थे, वे दिन में ही खिलते थे। कुछ कल्हार नामक कमल थे जो सायंकाल के ही समय खिलते थे, इन सबके अतिरिक्त इन्दीवर आदि और भी अनेकों प्रकार के कमल उस सरोवर की शोभा बढ़ा रहे थे। हंस, सारस, चक्रवाक, जलकुक्कुट, कारण्डव, आदि जलजन्तु कमलों के ऊपर बैठे चहक रहे थे। जिस प्रकार कामिनी के कमनीय कण्ठ की मधुर प्रेमयुक्त वाणी सुनकर कामी पुरुषों के हर्ष से रोमाञ्च हो जाते हैं, उसी प्रकार मधुपान करके मत्त हुए मधुकरों के मधुर गुञ्जार से सरोवर से घिरे हुए वृक्षों के लता रूप ऊँचे उठ रहे थे। उन वृक्षों की लतायें उसी प्रकार आलिंगन किये हुए थीं, जिस प्रकार प्रियतम को प्रियतमा परिवेष्टित कर लेती है। वायुदेव कभी तो कमलों की पंखुड़ियों को गुदगुदा आते कभी उनके कोमल मर्म स्थानों मे गुलगुली कर देते, जिससे वे सिहर उठते। कभी वृक्षों को कसकर पकड़ कर झकझोर देते। जिससे उनकी चोटी में लगे हुए पुष्प बिखर जाते। कभी उन्हें पकड़ने दौडते तो अपने शाखा रूपी हाथों को हिलाते हुए वे मना करते हुए से दिखाई देते। इस प्रकार पवनदेव उस सरोवर के वृक्षों और कमलों के साथ भाँति-भाँति की कमनीय काम क्रीड़ायें कर रहे थे।

उसी ओर जाते हुए उन प्रचेताओं को उस सरोवर के समीप ही सुन्दर ताल स्वर युक्त सरस संगीत सुनाई दिया। ताल के

सहित मृदंग पणव आदि बाजे बज रहे थे। उनकी लय में लय मिला हुआ अनेक दिव्य राग रागिनियों से युक्त अत्यन्त मनोहर गायन सुनाई दे रहा था। चित्त को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित करने वाले ऐसे दिव्य संगीत को सुनकर सभी सरल सुकुमार राजकुमार अत्यन्त ही विस्मृत हुए। वे आँखों को फाड़-फाड़ कर चारों ओर निहारने लगे कि यह संगीत कहाँ से सुनाई दे रहा है, किन्तु दूर तक दृष्टि दौड़ाने पर भी उन्हें कोई गाने बजाने वाला दिखाई नहीं देता था। वे आश्चर्य युक्त होकर संगीत रूपी सुधा का पान करते हुए स्तब्ध हुए खड़े ही थे, कि उन्हें सहसा जल से बाहर निकलते हुए नीलकण्ठ त्रिनयन भगवान् भूतनाथ दिखाई दिये। उनका वर्ण तपाये हुए सुवर्ण के समान था। अपनी कमनीय कान्ति से दशों दिशाओं को कान्ति युक्त बना रहे थे। वे भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये व्यग्र से दिखाई देते थे। यक्ष, गन्धर्व आदि उनके गुणों का गान करते हुए उनका अनुगमन कर रहे थे। ऐसे शिवजी को प्रसन्नता पूर्वक अपनी ओर आते देखकर राजकुमार बड़े विस्मित से हुए। कुतूहलवश उन्होंने सदाशिव के पादपद्मों मे प्रणाम किया, श्रद्धा-सहित उनकी चरण वन्दना की।

शिवजी ने जब देखा महाराज प्राचीनबर्हि के ये पुत्र धर्मज्ञ शील सम्पन्न तथा सदाचारी हैं और हमारे दर्शनों से ये अत्यन्त ही आह्लादित हो रहे हैं, तब तो शिवजी उन्हें और भी प्रसन्न करने के निमित्त मेघ गम्भीर वाणी में बोले।

शिवजी ने कहा—"पुत्रो! तुम्हारा कल्याण हो। मुझे सब पता है, तुम महाराज प्राचीनबर्हि के पुत्र हो। तुम सबका नाम प्रचेता है। तुम्हारा जो संकल्प है, तुम जो करना चाहते हो उसका मुझे पता है। तुम्हारे मनोगत भाव को जान कर ही

तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करने के लिये मैं तुम्हारे सम्मुख प्रकट हुआ हूँ।"

हाथ जोड़े हुए प्रचेताओं ने कहा—'प्रभो! हमने तो ऐसा कोई सुकृत किया नहीं है, जिससे हम आपके दर्शनों के अधिकारी हो सकते थे। आपने अपनी अहैतुकी कृपा से ही हमें अपने देव दुर्लभ दर्शन दिये।"

इस पर शिवजी ने कहा—"बच्चो! मेरे दर्शन किसी पुण्य कर्म से हो ही जायँ सो बात नहीं, किन्तु जो पुरुष सूक्ष्म और त्रिगुणमय प्रकृति तथा जीव नामक पुरुष से अतीत भगवान् वासुदेव की शरण में जाता है, उनकी उपासना करने का विचार करता है, ऐसा पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है। भगवान् में भक्ति होना, उनकी उपासना करने का विचार करता है। ऐसा पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है। भगवान् में भक्ति होना, उनकी उपासना करने का विचार करना यह बड़े भाग्यों से होता है। अब मैं तुम्हें रहस्य से रहस्य सारयुक्त साधन का उपदेश दूँगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार शिवजी की स्नेह भरी कृपायुक्त वाणी सुनकर प्रचेतागण परम प्रसन्न हुए और अपने को कृतार्थ हुआ समझने लगे। शिवजी की अपने ऊपर ऐसी कृपा देखकर वे बड़े ही प्रसन्न हुए और अपने जीवन को सफल समझने लगे।"

छप्पय—देखे सम्मुख शम्भु दौरि पकरे सब हर पग।
अति आनन्दित भये लख्यो निज मग॥
विनय सहित सब कहें कुमार। भये दरस करि।
दुष्कृत सबरे नसे नाथ निरखे नयनन भरि॥
नीलकण्ठ शंकर कहें, तुम सब सुकृत स्वरूप हो।
राजकुमर आपि रूप हो, भक्ति भवन के भूप हो॥

रुद्रगीत का शिवजी से उपदेश पाकर प्रचेताओं का तप

[२८४]

रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः ।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २५ अ० २ श्लो०)

छप्पय

रुद्रगीत हौं कहूँ जपो निश्चल ह्वै ताकूँ ।
होहि सिद्धि अति शीघ्र, जपोगे जो तुम जाकूँ ॥
प्रजा तिननि कूँ पूर्वकालमहँ जिह विधि दीन्हों ।
पाइ तिननि अति हरषि सृजन परजा को कीन्हों ॥
यों कहि योगादेश हर, रुद्रगीत सबकूँ दयो ।
पाइ शम्भु उपदेश अति, मन प्रसन्न सबको भयो ॥

संसार में सौ रुपये मिल जायँ तो क्या। लाख मिल जाय तो क्या। एक पत्नी हो तो क्या, लाख पत्नी हो तो क्या, तृप्ति किसी की नहीं होती। जिसके पास जितनी ही अधिक विषय भोग की सामग्रियाँ हैं, उसे उतनी ही अधिक तृष्णा है, उतनी

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! वे सब प्रचेतागण भगवान् रुद्र के बनाये हुए रुद्रगीत नामक स्तोत्र का जप करते हुए, दस हजार वर्ष तक जल में खड़े होकर तपस्या करते रहे।"

ही अधिक अशान्ति है। रूखे सूखे से पेट भर लीजिये, छप्पन व्यंजन खा लीजिये। परिणाम दोनों का एक है, गले के नीचे जाकर उतरा मल हो गया। क्षण भर जिह्वा का स्वाद है, सो स्वाद से तृप्ति हो जाती हो, सो भी नहीं। ज्यों ज्यों खाते हैं, त्यों-त्यों लालसा बढ़ती जाती है। अतः भाग्यवान वह नहीं जिसके पास चाँदी के १० ठीकरे अधिक हो। भाग्यशाली तो वह है, जो इन नश्वर वस्तुओं को छोड़कर अविनाशी, शाश्वत, श्रीहरि के चरणारविन्दों में प्रेम करें, अनुराग रखे। सहस्रों वर्ष जो तपस्या योग समाधि आदि साधन करते हैं, उन लोगों की श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में भक्ति होती है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब प्रचेताओं को शिवजी के दर्शन हो गये, तब शिवजी से उनसे कहा—"देखो बच्चो! जो लोग भगवान् वासुदेव की शरण में जाते हैं, वे मुझे अत्यन्त ही प्रिय हैं। क्योंकि समानशील वाले परस्पर में मिलकर बड़े प्रसन्न होते हैं। भँगेड़ी को भँगेड़ी मिल जाय, गँजेड़ी को गँजेड़ी मिल जाय तो दोनों मिलकर बड़े आनन्द से नशापत्ती करते हैं। मुझे भी भगवान् श्रीहरि अत्यन्त प्रिय हैं, अतः हरि भक्तों को देखकर मुझे बड़ा आह्लाद होता है।"

प्रचेताओं ने पूछा—"प्रभो! भगवान् के पद की प्राप्ति कब होती है।"

इस पर शिवजी बोले—"राजकुमारो! भगवान् कब और किस साधन द्वारा प्राप्त होते हैं, इसका कोई नियम नहीं। जब उनकी कृपा हो जाय, वे साधन साध्य नहीं हैं, कृपा साध्य हैं। फिर भी एक साधारण-सा क्रम है। जो मनुष्य १०० जन्म तक अपने वर्णाश्रम धर्म का विधिवत् अव्यग्र भाव से पालन करता, वह के पद को प्राप्त होता है। तदनन्तर वह चिर काल तक उपासना करता रहता है। तो मेरे अर्थात् रुद्र के पद को प्राप्त होता है, इसके

अनन्तर वह भगवत् भक्त भगवान् विष्णु के अनिर्वचनीय पद को प्राप्त होता है। मैं भी तो जब यह रुद्रपने का अधिकार समाप्त हो जाता है, तो उन्हीं भगवान् वासुदेव के पद को प्राप्त होता हूँ। अन्य देवता भी योग्यतानुसार उनके पद को प्राप्त हुआ करते हैं। वह उन विष्णु का परमपद है। ज्ञानीपुरुष ही उसको सदा देखते हैं। भगवान् और भगवान् के भक्तों में तो अन्तर नहीं। जैसे मुझे भगवान् वासुदेव प्रिय हैं, उसी प्रकार भगवान् के भक्त प्रिय हैं, तुम भी मुझे उतने ही प्यारे लगते हो। संसार में मेरे लिये भगवद्भक्तों से बढ़कर कोई प्रिय नहीं। इसलिये मैं तुम लोगों को एक अत्यन्त ही प्रिय वस्तु देता हूँ।"

प्रचेताओं ने कहा—"प्रभो! यह हमारा बड़ा सौभाग्य है कि आप ब्रह्मादिक देवों से भी वन्दित देवाधिदेव हमारे ऊपर प्रसन्न हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि आप हमें कृपा करके कौन-सी वस्तु देंगे। आप जो भी प्रदान करेंगे हमारे कल्याण के ही निमित्त करेंगे। अतः हमें उसका उपयोग करना भी बता दें।"

इस पर श्रीरुद्र भगवान् बोले—"देखो, बच्चो! भगवान् वासुदेव को प्रसन्न करने वाला मेरा एक स्तोत्र है। वह मुझे बहुत प्रिय है, इसीलिये उस स्तोत्र का नाम रुद्रगीत है। उसे "योगादेश" भी कहते हैं। अपने प्रेमी को अत्यन्त प्रिय वस्तु ही दी जाती है। इसीलिये मैं तुम्हें रुद्रगीत का उपदेश दूँगा। यह अत्यन्त मङ्गलमय परम पवित्र तथा कल्याणकारी स्तोत्र है। एकान्त में बैठकर इसका स्पष्ट उच्चारण करते हुए तुम सब बड़ी सावधानी से जप करना, अर्थात् प्रेमपूर्वक पाठ करना। तुम सबका कल्याण होगा।"

शिवजी के ऐसे प्रेम भरे वचन सुनकर सभी प्रचेता परम

प्रसन्न हुए और हाथ जोडे हुए बडी श्रद्धा के सहित
की दीक्षा लेने के निमित्त विनय के सहित शिवजी के समीप बैठ
गये। शिवजी उन्हें स्नेह भरित हृदय से श्रीरुद्रगीत का
देने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शिवजी ने परम रहस्य रूप
जिस रुद्रगीत का प्रचेताओं को उपदेश दिया, उसका वर्णन मैं
फिर कभी प्रसगानुसार करूँगा। यहाँ तो आप इतना ही समझ
लें कि उस स्तोत्र मे पहिले तो वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और
अनिरुद्ध इन भगवान् के चतुर्व्यूह के लिए प्रणाम है, फिर विश्व
रूप भगवान् की तत्तद् शक्ति को नमस्कार है। फिर भगवान् के
सगुण साकार रूप का वर्णन है। फिर भगवान् की महिमा की
स्तुति है, इस प्रकार ३५ श्लोकों मे यह स्तोत्रराज है। शिवजी
इसका नित्य जप करते हैं। इसीलिये प्रसन्न होकर उन्होने इसका
उपदेश प्रचेताओं को दिया और अन्त में कह दिया—

देखना, राजकुमारो! बडी सावधानी से, अत्यन्त विशुद्ध
भाव से, स्वधर्म का आचरण करते हुए, भगवान् वासुदेव के
चरणारविन्दों में चित्त लगाते हुए, इस स्तोत्र का जप करते रहना
तुम्हारा कल्याण होगा।

इस पर प्रचेताओं ने पूछा—"प्रभो! आपको यह 'योगादेश'
स्तोत्र कहाँ और कैसे प्राप्त हुआ?"

तब शिवजी ने कहा—"देखो, लोक पितामह ब्रह्माजी
१० प्रजापतियों को पहिले पहिल उत्पन्न किया और हम सबको
सुनाते हुए इस स्तोत्र का उपदेश दिया। प्रजापतियों ने इस स्तोत्र
के प्रभाव से ही सृष्टि वृद्धि की। यदि तुम लोग भी उन श्रीहरि
का स्तवन तथा ध्यान करते हुए, अपने अन्तःकरण मे स्थित
उन सर्वान्तर्यामी प्रभु का पूजन करोगे, तो तुम भी सृष्टि वृद्धि
में समर्थ हो सकोगे। जो भी इस स्तोत्र का पाठ करेंगे, उन्हें इ

शीघ्राति शीघ्र श्रेय की प्राप्ति होगी। वह ज्ञान प्राप्त करके इस संसार रूपी समुद्र को सरलता से प्राप्त कर सकता है। प्रातःकाल जो इस स्तोत्र को सुनता पढता है उसके समीप सभी सिद्धियाँ स्वयं ही समुपस्थित रहती हैं। उससे समस्त कर्म बन्धन छूट जाते हैं, उसके समस्त संशय नाश हो जाते हैं, वह परम पद का अधिकारी हो जाता है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार उपदेश देकर शिवजी तत्काल वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। प्रचेताओं को बडा आश्चर्य हुआ। उन सबने भूमि में लोटकर उसी दिशा को प्रणाम किया, जिसमे सदाशिव शंकर अन्तर्हित हुए थे।"

प्रचेताओं का मन प्रफुल्लित हो गया, अनायास ही शिवजी के दर्शन हुए, उन्होंने कृपा की और श्री योगादेश स्तोत्र की दीक्षा दी, इससे उन्हें बडा आनन्द हुआ। सबने उस स्तोत्र को बड़ी सावधानी से कण्ठ कर लिया। अब तपस्या करने के निमित्त समुद्र के समीप गये। वहाँ उन्होंने पिघले हुए नील काच के सदृश समुद्र को देखा। उसका न ओर था न छोर प्रशान्त गंभीर और विस्तृत उस जलनिधि को देखकर प्रचेताओं के हृदयों में हिलोरें उठने लगीं। अब उन्होंने वहीं समुद्र के जल मे खड़े होकर घोर तप करने का निश्चय किया। वे अपने पिता के भक्त थे, शिवजी की उन पर कृपा हो चुकी थी, प्रजा की वृद्धि की उनकी आन्तरिक इच्छा थी, अतः वे अव्यग्र भाव से घोर तपस्या मे प्रवृत्त हुए।

पहिले उन्होंने समुद्र के सलिल में स्नान किया। स्नान करके शुद्ध होकर विधिवत् आचमन किया और फिर शिवजी के बताये हुए उस स्तोत्र का पाठ करते हुए समुद्र के जल मे ही खडे रहे।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज, वे लोग कितने दिनों तक ऐसा घोर तप करते रहे?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! कुछ पूछिये नहीं उनका तप तो बड़ा ही दुष्कर था। इसी प्रकार रुद्रगीत का करते हुए वे १० हजार वर्ष जल में ही खड़े रहे।"

इस पर विदुरजी बोले—"भगवन् ! महाराज प्राचीनबर्हि ने तो पुत्रों को प्रजा वृद्धि के निमित्त तपस्या करने भेजा था, इतने दिनों तक न लौटने पर उन्हें चिन्ता क्यों नहीं हुई ?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि हँसे और बोले—"विदुरजी ! [illegible] होती है अज्ञान में। ज्ञानी पुरुष को न तो कभी किसी वस्तु की चिन्ता होती है और न वह किसी भी घटना को देखकर विस्मित होता है। वह समझता है कि माया में सब कुछ सम्भव हो सकता है। इसलिये न कोई चिन्ता करने का कारण है न विस्मय का। जब तक अज्ञान है, तभी तक यह मेरा, यह तेरा, यह ऐसे क्यों हुआ, वह वैसे क्यों हो गया इन बातों को मनुष्य सोचता है।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन् ! महाराज प्राचीनबर्हि तो कर्मकाण्डी थे। वे तो सदा स्वर्ग की कामना से निरन्तर यज्ञयाग ही में लगे रहते थे, उन्हें ऐसा दिव्य ज्ञान कैसे और किसके द्वारा हो गया ?"

मैत्रेय मुनि बोले—'विदुरजी ! संसार में साधु बड़े कृपालु होते हैं। वे कृपावश मुमुक्षुओं को स्वयं जाकर उपदेश देते, स्वयं उनके संशयों का छेदन करते और तत्वज्ञान का उपदेश देकर उन्हें संसार सागर से पार पहुँचा देते हैं। कृपा के सागर भगवान् नारदजी ने बड़ा सुन्दर आध्यात्मिक उपाख्यान सुनाकर महाराज प्राचीनबर्हि को आत्मतत्व का उपदेश दिया।"

यह सुनकर विदुरजी बड़ी उत्सुकता से बोले—"भगवन् ! उस अलौकिक आध्यात्मिक उपाख्यान को यदि आप अधिकारी समझते हों तो कृपा कर सुना दें।"

इस पर हँसते हुए मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! आपसे बढ़कर इस उपाख्यान को सुनने का अधिकारी और कौन हो सकता है। मैं उस दिव्य उपाख्यान को सुनाता हूँ। आप सावधानी के साथ समाहित चित्त से श्रवण कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहकर भगवान् मैत्रेय विदुरजी को प्रसिद्ध पुरञ्जनोपाख्यान सुनाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

करिकें हर उपदेश भये अन्तर्हित तब ई।
इत उत विस्मित लखें जगे सपने से सब ई॥
सबने शिव कूँ करी दण्डवत् मन ई मनमहँ।
रुद्रगीत कूँ जपत चले आगे सब वनमहँ॥
करत सहसदस बरष जप, जलमहँ सब ठाड़े रहे।
जप तप रूपी अनलमहँ, कल्मष सबके सब दहे॥

पुरञ्जनोपाख्यान का प्रारम्भ

[२८५]

प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वसक्तमानसम् ।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

विदुर ! निरखि प्राचीनबर्हि कूँ फँस्यो कर्म महँ ।
करन ज्ञान उपदेश गये नारद भूपति जहँ ॥
बोले – राजन् ! काम्य कर्म करि कहा विचार्यो ।
क्यों न ज्ञान वैराग्य खड्गतें मोह विदार्यो ॥
नृप बोले–मुनि ! मूढ़ हौं, मुक्ति मार्ग जानूँ न कछु ।
यज्ञ, याग, बलिदान, पशु, स्वर्ग छाँड़ि मानूँ न कछु ॥

उपदेश देने की प्रणाली सबको नहीं आती, यह भी एक भगवद्दत्तकला है। भोजन का उद्देश पेट भरना है, बुभुक्षा शान्त करना है, यह सोचकर कोई कहे कि सूखे सत्तू फाँककर पेट भर लो। सूखे सतुओं से भी पेट भर सकता है, किन्तु उनसे तृप्ति नहीं होगी, खाने में आनन्द न आवेगा, स्वारस्य का प्रादुर्भाव न होगा। बड़े कष्ट से वे कण्ठ के नीचे उतरेंगे। उसी आटे में घी

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! कर्मकाण्ड में आसक्तचित्त वाले महाराज प्राचीनबर्हि के चित्त को कर्मकांड में आसक्त देखकर कृपालु श्रीनारदजी ने उनको आत्मतत्त्व का उपदेश दिया।"

मिलाकर बढ़िया मोहनभोग बन जाय, गरमागरम भगवान् का भोग लगाकर गोल-गोल ग्रास कर मुँह में रखो। बिना प्रयास से सट्ट से लोक करते हुए पेट में उतर जायँ। खाते-खाते ही आँखों में ज्योति आने लगे, मुरझाई हुई इन्द्रियाँ अपने आप चैतन्य हो जायँ, तुष्टि-पुष्टि और क्षुधा निवृत्ति साथ ही हो। इसी प्रकार उपदेश शुष्क न हो। सरस हो, उपाख्यान सहित हो। कथा में इतनी रसवर्धिनी हो कि मन में अपने आप बैठ जाय। जहाँ दृष्टान्त दिया नहीं कि विषय अपने आप समझ में आ जाय। ऐसा उपदेश नारदजी के अतिरिक्त दूसरा कौन दे सकता है। नारदजी उपदेश दाताओं के आचार्य हैं। नारदजी ने ऐसा ही सुन्दर सरस सरल भावपूर्ण दृष्टान्त युक्त उपदेश महाराज प्राचीनबर्हि को दिया था।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! भगवान् भूतनाथ से उपदेश पाकर प्रचेतागण तो तपस्या करने समुद्र की ओर चले गये। इधर नारदजी ने सोचा—"इन प्रचेताओं के पिता महाराज प्राचीनबर्हि काम्य कर्मों में ही आसक्त बने हुए हैं। किसी प्रकार इनका भी उद्धार होना चाहिये।" यही सोचकर उन्होंने अपनी वीणा उठाई और राम कृष्ण गुन गाते, वीणा बजाते महाराज को उपदेश देने के निमित्त चले।"

विदुरजी! इन साधुओं का चित्त कितना कोमल होता है, ये दूसरों को दुखी देख नहीं सकते। योग्य अधिकारी पुरुष को भी जब विषयों में आसक्त देखते हैं, तो उनका नवनीत के समान हृदय द्रवित हो उठता है। वे चाहते हैं सभी इस त्रितापमय जगत् से सदा के लिये पार होकर शाश्वती शान्ति को प्राप्त कर सकें। कृपा वश उन पर नहीं रहा जाता। इसीलिये नारदजी स्वयं उपदेश करने महाराज प्राचीनबर्हि के समीप पहुँचे। नारदजी को आया हुआ देखकर महाराज अपने सिंहासन से उठकर शीघ्रता

के साथ खड़े हो गये। उन्होंने शास्त्रीय विधि से देवर्षि भगवान् नारद की पूजा की। महाराज की पूजा को स्वीकार करके मुनिवर राजा से कहने लगे—"राजन! आपने श्रेय किसे समझ रखा है। इन काम्यकर्मों के करने से कौन-सा कल्याण आपने समझा है? श्रेय तो वही है, जिसके द्वारा दुःख का अत्यन्ताभाव हो जाय, शाश्वत सुख की उपलब्धि हो जाय। अश्वमेधादियज्ञ यदि साङ्गोपाङ्ग विधिवत् समाप्त हो गये, तो उनसे स्वर्गादिलोकों की ही प्राप्ति हो सकती है। स्वर्गादिलोक क्षयिष्णु हैं, नाशवान् हैं, परिणाम में दुःख प्रद हैं। इन काम्यकर्मों के द्वारा परम श्रेय की प्राप्ति असंभव है, तो क्या आप इस आवागमन के चक्कर में सदा फँसे रहना ही चाहते हैं?"

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से महाराज प्रचीनबर्हि बोले—"प्रभो! मेरी बुद्धि आरम्भ से ही कर्ममार्ग में व्याप्त हो रही है। इन काम्यकर्मों के अतिरिक्त और भी कोई श्रेय का मार्ग है, इसे मैं अभी तक जानता ही नहीं।"

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन्! इस कर्म मार्ग से भी श्रेष्ठ एक मार्ग है। ज्ञान के बिना मुक्ति असंभव है। ज्ञानी ही इस भवसागर को तर सकता है। ज्ञान नौका से ही संसार समुद्र पार किया जा सकता है।"

महाराज प्राचीनबर्हि ने कहा—"प्रभो! गृहस्थाश्रम में रह यह मूढ़ प्राणी इस देह के पालन पोषण का स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, कुटुम्ब परिवार आदि इन्हीं सबको परम पुरुषार्थ माने बैठा है। इसी कारण बार-बार जन्मता है, बार-बार मरता है। यह आवागमन का मार्ग बन्द नहीं होता। संसार में ही निरन्तर भटकते रहने से परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः हे महाभाग! मुझे आप ज्ञान मार्ग का उपदेश दें, जिस निर्मल ज्ञान के द्वारा मैं कर्म बन्धन से सदा के लिये मुक्त हो सकूँ।"

महाराज के ऐसे विनीत वचन सुनकर नारदजी ने अपने योगबल से, उन पशुओं को आकाश में बुला दिये जिन्हें महाराज ने यज्ञों में बलि दिया था। उन सबको दिखाते हुए भगवान् नारद कहने लगे—"राजन्! यह देखिये, यह देखिये आकाश में ये कौन दिखाई दे रहे हैं।"

महाराज ने ऊपर देखते हुए कहा—"भगवन्! ये तो कोई घोड़े हैं, कोई बकरे है। ये तो सबके सब बड़े क्रोधित हो रहे हैं, बहुत से तो अपने लोहे के समान दृढ़ पैने सींगों से किसी को मारने के लिये उद्यत हैं। इनके क्रोध का कारण मुझे बताइये?"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी बोले—"राजन्! आप इन्हें नहीं जानते? ये तो सब आपके परिचित हैं। जिनका आपने अपने यज्ञ में निर्दयता पूर्वक बलिदान दिया था, ये सब वे ही यज्ञ पशु हैं।"

इस पर महाराज बोले—"तब प्रभो! ये इतने क्रोधित क्यों हैं?"

सरलता से नारदजी बोले—"महाराज! यदि आपको कोई मारे तो क्या आप क्रोध न करेंगे? आपने इनको मारा है, ये सब आपके ही ऊपर क्रोध किये स्वर्ग में बैठे हैं, जहाँ आप मरकर स्वर्ग गये, तहाँ ये सब अपना बदला लेंगे। अपने लोहमयतीक्ष्ण सींगों से आपके सम्पूर्ण शरीर को छेदेंगे। मरते समय इन्हें जो पीड़ा हुई थी वही आपको देंगे।"

इस पर घबड़ाते हुए महाराज ने कहा—"भगवन् अब जो हुआ सो तो हो गया। अब इस विपत्ति से उद्धार कैसे हो? क्या करने से यह भावी विपत्ति टल सकती है?"

यह सुनकर नारदजी गम्भीर हो गये और बोले—"राजन्! यह विपत्ति तभी टल सकती है, जब आप मेरी सीख शिरोधार्य

करें। मेरे बताये हुए मार्ग का अनुसरण करें। मेरे उपदेश को आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

घबड़ाये हुए दीनता के स्वर में महाराज बोले—"प्रभो! मैं अवश्य आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। आप मुझे इस कर्म बन्धन से छूटने का उपदेश करें। मुझे शिक्षा दें।"

इस पर नारदजी बोले—"राजन्! हम शिक्षा तो पीछे देंगे। पहिले आप एक बड़ी सुन्दर-सी कहानी सुनिये।"

इस पर शीघ्रता से महाराज बोले—"महाराज! किस्सा कहानी तो पीछे सुनाइयेगा। पहिले मुझे कर्म बन्धन से छूटने का उपदेश दें।"

धैर्य के साथ नारदजी ने कहा—"राजन्! घबड़ाते क्यों हैं, सुनिये। कहानी किस्से सब बुरे ही नहीं होते। कहानियों से कभी-कभी बड़ी शिक्षा मिलती है। कई चक्रवर्ती राजा कहानी सुनते-सुनते ही विरागी बन गये। शिक्षाप्रद कहानियों का जितना प्रभाव पड़ता है, उतना शुष्क उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता। मैं जो कहानी सुनाऊँगा उससे आपको अपने विषय समझने में बहुत सहायता मिलेगी।"

यह सुनकर राजा बोले—"अच्छी बात है, तब महाराज! सुनाइये कहानी ही।"

नारदजी ने कहानी आरम्भ की—"राजन्! पूर्व समय में पुरञ्जन नाम का एक समृद्धिशाली राजा था। वह बड़ा शूर वीर यशस्वी और पराक्रमी था। दशों दिशाओं में उसकी कीर्ति व्याप्त थी। वह बड़ा मनमौजी था, उसने एक-एक करके चौरासी लाख नगर देखे किन्तु उसे कोई नगर कोई वस्तु अच्छा नहीं लगा। इसलिये वह अपने मनोनुकूल पुर की खोज में पृथ्वी पर इधर से उधर भटकता फिरा। एक कहावत है "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ" वह राजा भी घर कूँच घर मञ्जिल चलते-चलते

किसी पुरी के पास पहुँचा। उस पुरी को देखते ही उसका मन मुकुर खिल उठा। अन्तःकरण की कलियाँ खिल गईं। अब तक उसने जितने पुर देखे थे उनमें विषय भोग भोगने की समस्त सामग्रियाँ पर्याप्त नहीं थीं।

अबके उन्होंने जो पुरी देखी थी, वह हिमालय के दक्षिण की ओर समस्त लक्षणों से लक्षित समस्त भोगों से सम्पन्न और समस्त शोभाओं से युक्त थी। नगरी विस्तृत थी। अटा अटारी छज्जे तिवारी, राज पथ चौराहे, गली कूँचों से शोभायमान थी। वहाँ के महलों में परम रमणीय ओखा, मोखा, झारी, झरोखा थे। उसमें नव दरवाजे थे। उसके चारों ओर सुदृढ प्राकार थी। उद्यान, उपवन और आरामों से वह सुशोभित थी, चारों ओर उसके गहरी खाई खुदी थी। वन्दनवार तोरण ध्वजा पताकाओं से वह सुसज्जित थी। कहीं सोने के शिखर वाले भवन थे तो कहीं चाँदी, पीतल तथा लोहे के शिखर चमचमा रहे थे। स्थान स्थान पर घूमने फिरने के बगीचे थे, बैठने उठने सभा समाज करने के खुले स्थल थे। जिनमें मनोरजन के लिये नाटक, खेलकूद आदि मनोरजक व्यापार होते रहते थे। नगर के परकोटे से सटा हुआ ही एक अनुपम उपवन था। जिनमें कल्पवृक्ष के समान सुन्दर सुहावने दिव्य वृक्ष थे। हरी हरी लहलहाती लतायें उनका कसकर आलिंगन किये हुए थी, जिनसे प्रतिक्षण वे रोमाञ्चित सी दिखाई देती थीं। उन पर बैठे हुए शुक, पिक, पारावत आदि पक्षी उसी प्रकार कलरव कर रहे थे, मानों राजा के विनोद के लिये सूत मागध बन्दी बन्दना तथा स्तुति गान कर रहे हों। इधर से उधर भ्रमर उसी प्रकार गुञ्जार करते फिरते थे मानों गन्धर्व अपने समूह के सहित वीणा बजाते हुए आकाश में घूम रहे हों। उपवन के मध्य भाग में निर्मल नीर वाला स्वच्छ सरोवर था, जिसमें हंस, चकवाक, जलकुक्कुट आदि जल जन्तु आनन्द

में मग्न होकर चहचहा रहे थे। सरोवर के समीपवर्ती शीतल प्रपातों के कण, पवन में उड उडकर वसन्तकालीन वायु से मिल कर पुनीत पादप पल्लवों की थपेडियों को इधर-उधर छितराये चारों ओर शीतलता का साम्राज्य स्थापित किये हुए थे। ऐसे सुन्दर नगर को देखकर पुरञ्जन का मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! उस पुरी की शोभा देख कर पुरञ्जन राजा का मन ललचा उठा। उसकी जीभ में पानी आ गया। आज तक जो लाखों पुरियाँ थीं, उन सबसे इस पुरी की छटा निराली थी। किन्तु वह पुरी खाली नहीं थी, उसमें कोई बाँके नयनों वाली विराजमान थी। अब उससे किसी प्रकार चार आँखें हों, इसी की चिन्ता उस सुकुमार राजकुमार को होने लगी।"

छप्पय

मुनि बोले—सुनु भूप! पुरञ्जन! नृप इक भारी।
पाऊँ पावन पुरी चल्यो मन माहिँ विचारी॥
चौरासी लख परी लखीं मन एक न आई।
हिमगिरिदक्षिन ओर लखी शुभ पुरी सुहाई॥
सजी बजी नव वधू सम, उपवन सर सौन्दर्ययुत।
निरखि नयन विकसित भये, भयो दरश करि चपलचित॥

पुरञ्जन का पुरञ्जनी से प्रेम प्रश्न

[२८६]

स्वदानन सुभ्रु सुतारलोचनम्
व्यालम्बिनीलालकवृन्दसंवृतम् ।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकम्
यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० २५ अ० ३१ श्लोक)

छप्पय

तामें निरखी एक नयन अभिरामा नारी ।
नूतन वय युत परम सुन्दरी अति सुकुमारी ॥
सरसिज सम वर नयन बदन सुन्दर मधुमय अति ।
अलकावलि अति कुटिल राजहंसिनि सम गुमगति ॥
नयन नासिका दन्त मुख, भृकुटि एक ते एक वर ।
हिय श्रोणी उभरे पृथुल, कटि भीनी चितवन सुघर ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पुरजनी को पाकर पुरजन उससे स्नेह भरित वाणी में कहने लगा—"हे शुचिस्मिते ! तुम्हारा मुखारविन्द पुनीत पुतलियों और भव्य भृकुटियों से युक्त नयनों से सुशोभित काली-काली है, घुँघराली अलकों से वह आवृत है, जो व्रीडावश मेरी ओर उठता नहीं है । हे प्रिये ! उस मृदुभाषी मनोहर मुखारविन्द को तनिक ऊँचा उठाकर मुझे आँखें भरकर दिखा तो दो । ऐसी लज्जा भी किस काम की ।"

जिन्हें विधाता के यहाँ से एकाकी रहने का शाप है उन त्यागी, विरागी भिखारी बाबाजियों की बात तो दीजिये छोड़, नहीं तो संसार में एकाकी रहने में सुख नहीं। भगवान् भी जोड़ा करने इस अवनि तल पर अवतरित होते हैं, तब एकाकी रमण नहीं करते। वे भी दूसरे की इच्छा करते हैं। द्वैत में ही लीला बन सकती है। दो में ही रमण हो सकता है। योगमाया के आश्रय बिना यह दृश्य प्रपञ्च नाटक खेला ही नहीं जा सकता। हृदय द्वैत चाहता है, खाली एकत्व उसका स्वभाव नहीं। दूसरे को सटा कर, हृदय से लगाकर, उसमें से द्वैत मिटाकर एकत्व करने की उसकी अभिलाषा रहती है। कीट पतंग से लेकर ब्रह्मलोक के ईश पर्यन्त सभी तो द्वैत के आर्षण में बँधे हैं। कोई भी तो रहना नहीं चाहता।

यौवन के उभार कैशोर के आरम्भ में हृदय किसी से मिलने को किसी को हृदय से चिपकाने को उन्मत्त हो उठता है। वह बन्धन में रहने से स्पष्ट इन्कार करने लगता है। तभी तो लड़के लड़कियों की १५ १६ वर्ष की अवस्था होते ही माता पिता अत्यन्त व्यग्र हो उठते हैं। वे जोड़ा मिलाने को व्याकुल हो जाते हैं, क्योंकि वे भी कभी १५ १६ वर्ष की अवस्था वाले रह चुके हैं, वे भी उस छटपटाहट का अनुभव कर चुके हैं, वे भी उस मिलन की मीठी मीठी गुदगुदी की लिहरन सह चुके हैं। अतः लड़का हुई तो सबस कहते फिरते हैं, बच्ची स्यानी हो गयी है, किसी तरह इसके पीले हाथ हो जायँ। लड़का हुआ तो कहते हैं, किसी तरह यह अपना घर सम्हाल ले इसकी गठबन्धन हो जाय, तो हम छुट्टी पावें। फिर यह जाने इसका काम जाने। माता पिता की इन बातों को सुनकर हृदय में कैसी गुदगुदी होने लगती है, बहुत छिपाने पर भी लज्जा भरे मुख से प्रसन्नता की किरणें कैसे फूट निकलती हैं, इसे पारखी ही समझ सकते हैं। दोनों हृदय किसी

मधुर मिलन की मादक स्मृति में मदमत्त बने उत्सुकता से उस वेला की प्रतीक्षा में व्यग्र बन रहते हैं। फिर उस प्रथम सम्मिलन में क्या सुख है, उस सुहाग की सुहावनी रात में क्या है, ये सब कहने लिखने की बात नहीं। अनुभव की बातें हैं। बच्चे इस समझाने से भी नहीं समझ सकते। समझने वालों के लिये संकेत ही यथेष्ट है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! राजा पुरञ्जन ने जब हिमालय के दक्षिण भाग में सुन्दर सजी हुई मनोहर पुरी को देखा तो वह सोचने लगा—"इसमें चहल-पहल तो हो रही है। अवश्य ही इसमें कोई रहता है। बिना पुरी के स्वामी की आज्ञा के मैं भीतर कैसे जाऊँ। इतने में उसने क्या देखा कि एक हाथ में क्रीडा कन्दुक लिये हुए उसे विनोद के निमित्त उछालती हुई यौवन के भार से बोझीली होने के कारण अलसाती हुई मन्द-मन्द गति से इधर की ओर ही आती हुई एक ललना आ रही है। उसे देखते ही पुरञ्जन हक्का बक्का-सा रह गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानों सौन्दर्य ही सुन्दरी का साकार रूप रखकर मुझे व्यथित बनाने के लिये आ रहा है। अथवा यह त्रैलोक्य सुन्दरी लक्ष्मी ही अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करती हुई इधर से आ रही है।"

पुरञ्जन ने देखा उस रमणी के पीछे दश सेवक हैं। उन दश सेवकों के साथ भी सैकड़ों सैकड़ों दासियाँ हैं। पाँच सिर वाला एक सर्प उसी की सर्वतोभाव से सुरक्षा कर रहा है। ऐसा अनुमान होता है, कि उसने अभी अभी किशोरावस्था को पार करके यौवनावस्था में पदार्पण किया है उसकी आकृति प्रकृति से प्रतीत होता है कि उसका हृदय किसी को खोज रहा है वह अपने अनुरूप किसी दूल्हा की खोज में उतावली-सी हो रही है। वह एकाकी तड़प रही है, उसे द्वित्व की अभिलाषा है किसी को अपने

भरे हुए हृदय को सँभाकर हल्की होना चाहती है। वह अपने दुःख के लिये किसी सुन्दर सहृदय साथी की कामना कर रही है।

पुरजन ने देखा वह ललना सौन्दर्य और सौकुमार्य की साक्षात प्रतिमा ही है। नासिका उसकी नुकीली है, दन्तावली स्वच्छ शुभ्र और चमचमाता हुआ मणि सी पान की पीक से अरुण होने के कारण वह दाड़िम के दाना की भाँति कुछ कुछ लालिमा लिये हुए है। लोल कपोल गल और गुदगुदे हैं। मुख मन्द-मन्द मुस्कान से युक्त है। कानों के कमनीय कुण्डल कपोलों की शोभा को बढ़ाते हुए हिल रहे हैं। उसका कटि प्रदेश अत्यन्त सुन्दर और भला है। अलसी के पुष्प के समान, नीलमणि के समान आभायुक्त श्यामवर्ण के ऊपर पीली-पीली साड़ी इस प्रकार से लिपट हो रही है मानों जल भरे मेघों में दामिनी दमक रही हो। कटि प्रदेश में सुवर्ण की करधनी हिलती तथा शब्द करती हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानों वह उस मनोरमा से मना कर रही है, कि तुम इतनी सुकुमारी होकर पैर को कष्ट मत दो। उसके दोनों चरणतल इतने सम थे, कि पृथ्वी पर रखने के अनन्तर छोटी चींटी का बच्चा भी उनके नीचे नहीं घुस सकता था। वे इतने सम और अरुण थे मानों किसी ने लाल मखमल का गुदगुदा गद्दा एक-सा बनाकर चिपका दिया हो। चलने के कारण चरणों में झनकार करते हुए नूपुर ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों वे पैर पकड़ कर पादतलों के साथ किये जाने वाले अत्याचार के लिये रुदन कर रहे हों। जंघा, उरु, कटि, नाभि, उदर सभी समान और यथायोग्य उसके श्रीअङ्ग की शोभा बढ़ा रहे थे। युवावस्था के उभार के कारण व्याञ्जस्तनी होने के कारण युगल उरोज सटे हुए और शोभायुक्त थे। पवन देव उनके दर्शनों के अत्यन्त लोलुप होने के कारण उनके ऊपर पड़े हुए अञ्चल को पुनः पुनः खिसका देते थे। वह पवन पर क्रुद्ध हुई लज्जित भाव

से बार-बार उन्हें कृपण के धन के समान छिपाने में अधीर-सी प्रतीत होती थी।

पुरञ्जन ने देखा वह ललना क्या है आखेट करने वाली किरातिनी के समान धनुष बाण धारण किये, हम जैसे कामिनी क्रीड़ा मृगों को घायल करती हुई घर के घेरे-घेरे में घूम रही है। उसने प्रेमोद्वेग के कारण चञ्चल हुए अपने भृकुटि धनुष से प्रणय कटाक्ष रूप बाणों द्वारा पुरञ्जन को बुरी तरह वेध दिया। उसे बाणों से विद्ध करके भी वह वहाँ से हटी नहीं, किन्तु लज्जा पूर्वक मन्द मन्द मुस्कान से उसके बाणों से हुए घावों पर नमक-छिड़कती हुई जहाँ की तहाँ नीचा सिर किये हुए खड़ी की खड़ी ही रह गई। तब तो कटाक्षबाणों की व्यथा से व्यथित हुआ पुरंजन उस सुर सुन्दरी ललाम ललिता से ललित वाणी में बोला—"हे कमलदल लोचने! तुम कौन हो।"

वह नारी रत्न यह सुनकर चुप हो गई कुछ बोली नहीं। पुरंजन ने सोचा मैंने भूल की। नातिकारों का कथन है अपना नाम नहीं लेना चाहिये। अतः फिर उसने शीघ्रता से पूछा—"अच्छी बात है अपना नाम मत बताओ, यह बताओ तुम किस बड़भागी के कुल की कीर्ति बढ़ाने वाली कुलवती कन्या हो?"

पुरञ्जन ने सोचा—"कन्या कभी भी अपने पिता का नाम नहीं बता सकती। इसीलिये बोला—"अच्छा जाने दो। मुझे नाम गोत्र से क्या लेना। मुझे तो तुम्हारी मधुर वाणी सुनने की उत्कण्ठा है, इसलिये यही बता दो, इस समय तुम कहाँ से आ रही हो। इस पुरी के पास वाले उपवन में तुम क्यों घूम रही हो? तुम्हारे इस प्रकार घूमने का क्या अभिप्राय है?"

इतने प्रश्न पूछने पर उस मानिनी ललना ने एक बार भी उत्तर पुरञ्जन को नहीं दिया। तब तो उसने बात का प्रवाह पलट दिया और बोला—'अच्छा, ये जो तुम्हारे पीछे ११ रूजे बजे

सड़क चल रहे हैं ये कौन हैं ? यह ५ फन वाला सर्प कौन है, ये आपके साथ सजी सजाई सुन्दरी सेवकों सहेलियों के समान स्त्रियाँ कौन हैं ? जब इस प्रकार पूछने पर भी उस सुन्दरी ने कुछ उत्तर नहीं दिया तब तो पुरजन को संदेह हुआ संभव है यह मुझसे घृणा करती हो। मुझसे बातें करने में अपना अपमान समझती हो। यह सोचकर उसने उसके मृदुल मुखारविन्द की ओर ममता भरी दृष्टि से देखा। उसने अनुभव किया यह मुझे प्यार करती है इसका हृदय भी मेरी तरह ही द्रवित हो रहा है। लज्जा के कारण यह उत्तर नहीं दे रही है। यदि मुझसे घृणा करती तो तत्क्षण यहाँ से चली जाती, किन्तु यह तो काठ की मूर्ति के समान निश्चल भाव से नीचा सिर किये हुए खड़ी है। यह मुझे अनुराग की दृष्टि से देख रही है, अतः उससे पूछने का साहस और भी बढ़ा। अब उसने पूछने का दूसरा ढङ्ग ही निकाला। लज्जा के कारण यह बोलती नहीं तो सिर हिलाकर 'हाँ' और 'ना' का संकेत तो कर ही सकती है। अतः मैं इससे अपने अनुमान के अनुसार पूछना आरम्भ करूँ। यह सोचकर उसने फिर से पूछना आरम्भ किया।

पुरजन बोला—"देवि ! तुम धर्मपत्नी साक्षात लज्जा देवी तो नहीं, संभव है धर्म कहीं चले गये हों और आप उन्हें यहाँ एकान्त में उसी प्रकार खोज रही हो, जैसे ऋषि मुनि एकान्त में रहकर भगवान की खोज करते हैं। तुम्हारी इस लज्जा से मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है, तुम साक्षात् लज्जा देवी ही हो।"

इस पर भी उस स्त्री ने न 'हाँ' का सिर हिलाया न 'ना' का, तब पुरजन कहने लगा - "अच्छा, तुम पार्वती देवी तो नहीं हो या सरस्वती होगी। अच्छा ठीक है नहीं नहीं तुम साक्षात् लक्ष्मी देवी हो। मालूम होता है भगवान् से प्रणय कलह हो जाने के कारण तुम उनसे अलग हो गई हो। किन्तु तुम्हारे हाथ का

कमल कहाँ चला गया। लक्ष्मीजी तो कमला होने के कारण सदा कमल हाथ में रखती हैं। एक सन्देह मुझे और भी हो रहा है। स्वर्ग की ललनायें पृथ्वी का स्पर्श नहीं करतीं। तुम्हारे अरुण वरण के कोमल चरण तो कठिन अवनि का स्पर्श कर रहे हैं, इससे तुम स्वर्गीय ललना प्रतीत नहीं होतीं। तुम इस मर्त्यलोक की ही सुन्दरी हो। अब मुझे मालूम हो गया। तुम किसी की पत्नी नहीं कुमारी कन्या हो, अभी तक तुम्हारा किसी के साथ गठबन्धन नहीं हुआ। अभी तक तुम्हें किसी ने स्पर्श नहीं किया। अभी तुम अमनिया कलिका हो यदि तुम्हारी मेरे ऊपर कृपा है, तो मुझे अपना सेवक स्वीकार कर लो। तुम्हारी आज्ञा का पालन करता हुआ मैं तुम्हारी सब प्रकार की सेवा करके अपने जीवन को सार्थक करूँगा। हे वरोरु! तुम्हारी सलज्ज मधुर मुस्कान युक्त भ्रूभंगी से प्रेरित यह प्रबल कामदेव निर्बल जानकर मुझे परम पीड़ित कर रहा है। तुम्हारे कटाक्ष विक्षेप से विकलेन्द्रिय हुआ मैं कर्त्तव्य विमूढ-सा बना हुआ हूँ, इसीलिये हे सुमुखि! तुम मुझ दीन पर दया करो। ऐसी कठोरता ठीक नहीं। आश्रितों के साथ इतनी निष्ठुरता उचित नहीं। शरणागतों के संग इतनी निर्दयता तुम जैसी मनोरमा कोमलाङ्गी के लिये उचित नहीं। तुम अपने चन्द्रमुख को झुकाये हुए क्यों हो? काली पुतलियों से युक्त विकसित सरसिज के समान नुकीले नयनों से शोभित काली-काली घुँघराली सटकारी चिकनी कुटिल अलकावली से युक्त इस मृदुभाषा मनोहर मुखारविन्द को तनिक उठाकर मदन की मार से मुरझाये हुए मुझको कुछ सान्त्वना दो। तनिक मेरी ओर कृपा की दृष्टि डालकर सुधा की वृष्टि करो मैं दीन हीन कब से कितने प्रश्न पूछ रहा हूँ, उनमें से किसी का उत्तर देकर मेरे कर्ण कुहरों में अमृत उड़ेल दो। अपनी मधुमयी वाणी से मेरे सूखे हृदय को सरस कर दो।"

सेवक चल रहे हैं ये कौन हैं ? यह ५ फन वाला सर्प कौन है, ये आपके साथ सजी सजाई सुन्दरी सैकड़ों सहेलियों के समान स्त्रियाँ कौन हैं ? जब इस प्रकार पूछने पर भी उस सुन्दरी ने कुछ उत्तर नहीं दिया तब तो पुरञ्जन को सन्देह हुआ सम्भव है यह मुझसे घृणा करती हो। मुझसे बातें करने में अपना अपमान समझती हो। यह सोचकर उसने उसके मृदुल मुखारविन्द की ओर ममता भरी दृष्टि से देखा। उसने अनुभव किया यह मुझे प्यार करती है इसका हृदय भी मेरा तरह ही द्रवित हो रहा है। लज्जा के कारण यह उत्तर नहीं दे रही है। यदि मुझसे घृणा करती तो तत्क्षण यहाँ से चली जाती, किन्तु यह तो काठ की मूर्ति के समान निश्चल भाव से नीचा सिर किये हुए खड़ी है। यह मुझे अनुराग की दृष्टि से देख रही है, अतः उससे पूछने का साहस और भी बढ़ा। अब उसने पूछने का दूसरा ढङ्ग ही निकाला। लज्जा के कारण यह बोलती नहीं तो सिर हिलाकर 'हाँ' और 'ना' का संकेत तो कर ही सकती है। अतः मैं इससे अपने अनुमान के अनुसार पूछना आरम्भ करूँ। यह सोचकर उसने फिर से पूछना आरम्भ किया।

पुरञ्जन बोला—"देवि ! तुम धर्मपत्नी साक्षात् लज्जा देवी तो नहीं, सम्भव है धर्म कहीं चले गये हों और आप उन्हें यहाँ एकान्त में उसी प्रकार खोज रही हो, जैसे ऋषि मुनि एकान्त में रहकर भगवान की खोज करते हैं। तुम्हारी इस लज्जा से मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है, तुम साक्षात् लज्जा देवी ही हो।'

इस पर भी उस स्त्री ने न 'हाँ' का सिर हिलाया न 'ना' का, तब पुरञ्जन कहने लगा "अच्छा, तुम पार्वती देवी तो नहीं हो या सरस्वती होगी। अच्छा ठीक है नहीं नहीं तुम साक्षात् लक्ष्मी देवी हो। मालूम होता है भगवान से प्रणय कलह हो जाने के कारण तुम उनसे अलग हो गई हो। किन्तु तुम्हारे हाथ का

कमल कहाँ चला गया। लक्ष्मीजी तो कमला होने के कारण सदा कमल हाथ में रखती हैं। एक सन्देह मुझे और भी हो रहा है। स्वर्ग की ललनायें पृथ्वी का स्पर्श नहीं करतीं। तुम्हारे अरुण वरण के कोमल चरण तो कठिन अवनि का स्पर्श कर रहे हैं, इससे तुम स्वर्गीय ललना प्रतीत नहीं होतीं। तुम इस मर्त्यलोक की ही सुन्दरी हो। अब मुझे मालूम हो गया। तुम किसी की पत्नी नहीं कुमारी कन्या हो, अभी तक तुम्हारा किसी के साथ गठबन्धन नहीं हुआ। अभी तक तुम्हें किसी ने स्पर्श नहीं किया। अभी तुम अमनिया कलिका हो यदि तुम्हारी मेरे ऊपर कृपा है, तो मुझे अपना सेवक स्वीकार कर लो। तुम्हारी आज्ञा का पालन करता हुआ मैं तुम्हारी सब प्रकार की सेवा करके अपने जीवन को सार्थक करूँगा। हे वरोरु! तुम्हारी सलज्ज मधुर मुस्कान युक्त भ्रूभंगी से प्रेरित यह प्रबल कामदेव निर्बल जानकर मुझे परम पीड़ित कर रहा है। तुम्हारे कटाक्ष विक्षेप से विकलेन्द्रिय हुआ मैं कर्त्तव्य विमूढ़-सा बना हुआ हूँ, इसीलिये हे सुमुखि! तुम मुझ दीन पर दया करो। ऐसी कठोरता ठीक नहीं। आश्रितों के साथ इतनी निष्ठुरता उचित नहीं। शरणागतों के संग इतनी निर्दयता तुम जैसी मनोरमा कोमलाङ्गी के लिये उचित नहीं। तुम अपने चन्द्रमुख को झुकाये हुए क्यों हो? काली पुतलियों से युक्त विकसित सरसिज के समान नुकीले नयनों से शोभित काली-काली घुँघराली सटकारी चिकनी कुटिल अलकावली से युक्त इस मृदुभाषी मनोहर मुखारविन्द को तनिक उठाकर मदन की मार से मुरझाये हुए मुझको कुछ सान्त्वना दो। तनिक मेरी ओर कृपा की दृष्टि डालकर सुधा की वृष्टि करो मैं दीन हीन कब से कितने प्रश्न पूछ रहा हूँ, उनमें से किसी का उत्तर देकर मेरे कर्ण कुहरों में अमृत उड़ेल दो। अपनी मधुमयी वाणी से मेरे सूखे हृदय को सरस कर दो।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब मदन की व्यथा से हीन हुए कामी पुरजन ने उस पुर की स्वामिनी सुन्दरी से इस प्रकार विनय युक्त वचन कहे, तब वह मधुर मधुर मुस्कराती हुई कुछ लज्जा और प्रसन्नता के साथ अपने काकिल कूजित कण्ठ से शनैः शनैः कहने लगी—वीर! आप इतनी देर से प्रश्न पूछ रहे हैं, मैं लज्जावश कुछ उत्तर न दे सकी। किन्तु तुम्हारे प्रेम ने मुझे विवश कर दिया, कि मैं तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दूँ। अब आप क्रमशः अपने सभी प्रश्नों का उत्तर सुनें। यह कहकर पुरंजनी पुरजन के प्रश्नों का उत्तर देने को प्रस्तुत हुई।"

छप्पय

प्रणय कटाक्ष सुबाण भ्रुकुटि कोदण्ड चढ़ायो।
मारि त्रिरातिनि सरिस पुरजन पट्ट गिरायो॥
लड़खड़ात घबरात विनययुत बोल्यो बानी।
को तुम का की लली बनी कस पुर की रानी॥
सकुचि त्यागि मुख कमल कूँ, मेरी ओर घुमाइकें।
अपनाओ अब तुरत तुम, सेवक मोहिं बनाइकें॥

पुरञ्जन और पुरञ्जनी का गठबन्धन

[२८७]

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः ।
तां प्रविश्य पुरीं राजन् मुमुदाते शत शमाः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २५ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

कहे पुरञ्जनि प्रभो! नाम अरु गोत्र न जानूँ ।
किन्तु तुम्हें हृदयेश प्रान धन सर्वस मानूँ ॥
आओ हिल मिल रहें नयो इक जगत् बनावें ।
आपस में ही लखें और सब विश्व भुलावें ॥
तन तन में मन-मन मिलहिँ, प्रान प्रान ते एक करि ।
हृदय सौंपि तव अङ्कमहँ, सोऊँ सुख ते शीश धरि ॥

जो अपने से स्नेह करता हो, हृदय से चाहता हो, उसके प्रश्नों का उत्तर देने में हृदय में एक प्रकार का अनिर्वचनीय सुख होता है। दो हृदय जब मिलकर गुह्य रहस्य की बातें करते हैं, तो सरसता वहाँ आकर अपना साम्राज्य जमा लेती है। प्रेम के आदान प्रदान में, प्रेम के प्रस्ताव में और प्रेम की स्वीकृति में उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुख होता है। प्रेम हृदय की वस्तु है, प्रेम

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! नारदजी राजा प्राचीनबर्हि से कह रहे हैं—"हे राजन्! इस प्रकार उन पुरजन और पुरजनी ने परस्पर ये बातें करके उस नगर में प्रवेश करके सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द भोगा।"

को भाषा में है, किन्तु पुरुष की यह अपूर्णता है, कि प्रेम मानवीय भाषा में व्यक्त करता है, शरीर संसर्ग द्वारा उस प्रकाशन करता है। यदि मनुष्य में इतनी त्रुटि न होती, तो देवताओं से भी बढ़कर होता। प्रेम का सम्बन्ध जहाँ शरीर व वाणी के अथवा इस हाड़ चाम का वस्तुओं के साथ हुआ व वह सांसारिक विषय के रूप में परिणत हो जाता है। हृदयस्थ वस्तु दिव्य है, भौतिक शरीर से सम्बन्धित वस्तु क्षणिक है, नाशवान् है, आवागमन को बढ़ाने वाली है।

नारदजी कहते हैं "राजन्! जब पुरजन राजा ने उस प्रम के कटाक्ष बाण से व्यथित होकर ऐसे दीनता के शब्द कहे अं बहुत से प्रश्न पूछे, तब ललना लजाती हुई, इठलाती हुई अत्य ही स्नेह से सनी वाणी में कहने लगी—"हे शूरवीर! तुम कैस बातें कह रहे हो? तुम्हें इस प्रकार के दीनता पूर्ण वचन शोभ नहीं देते।"

उस बाला की वीणा विनिन्दित वाणी सुनकर पुरजन व प्रसन्नता का वारापार नहीं रहा। वह बोला—"भामिनी! आ मैं कृतार्थ हुआ। तुम्हारी कोकिल की कूक को भी तिरस्कृत कर वाली वाणी सुनकर मेरी तृप्ति नहीं हो रही है। मुझे ऐसा प्रती हो रहा है, मानों कोई मेरे कर्ण कुहरों में अमृत उडेल रहा हो तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं देती थीं। क्या मुझ सेवक से कोई अपराध बन गया है क्या?"

वह पुरजनी बोला—'देव! आप ये कैसी अपनेपन से रहित बातें कर रहे हैं। मैं आपके प्रश्नों का क्या उत्तर दूँ? आपने मेरा नाम और गोत्र पूछा मुझे स्वयं इसका पता नहीं। मेरा क्या नाम है क्या गोत्र है। फिर आपने मेरे पिता के सम्बन्ध में पूछा मैंने कभी अपने पिता के दर्शन नहीं किये, मैं जानती ही नहीं किसने मुझे उत्पन्न किया। मुझे यहाँ की रानी किसने बना दिया।

इस सम्बन्ध में भी मैं कुछ नहीं जानती। केवल यही जानती हूँ कि मैं यहाँ रहती हूँ, जैसा भी भली बुरी हूँ आपके सम्मुख उपस्थित हूँ।"

पुरंजन ने शीघ्रता के साथ कहा—"जाने भी दो इन नाम गोत्रों में क्या रखा है। प्रेमिका का एक ही नाम है प्रेमा, उनकी एक ही जाति है प्रेम। हाँ, अपनी इस पुरी के सम्बन्ध में कुछ जानती हो, तो उसे बताओ, अपने इन सेवक और सेविकाओं का मुझसे परिचय कराओ।"

पुरंजनी बोली—'हे शत्रुतापन! इस पुरी का भी मुझे पता नहीं किसने बनाई। हाँ, ये जो आप ९ पुरुष देख रहे हैं ये मेरे सेवक हैं। एक मेरा प्रधान सेवक मन्त्री है, ये १० उपमन्त्री इनके अधीन हैं। ये जो झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ हैं, ये सभी मेरी दासियाँ हैं। ये असंख्य हैं इनकी गणना करना कठिन है। यह जो आप पाँच फन वाला सर्प देख रहे हैं, यह इस पुरी का रक्षक है। मेरे सो जाने पर भी यह सदा जागरूक रहता है, कभी सोता नहीं। सावधानी के साथ जागते हुए पहरा देता रहता है। यह तो मैंने अत्यन्त संक्षेप में अपने साथियों का परिचय दिया। अब मैं आपका भी कुछ परिचय पा सकूँ तो अपने को कृतार्थ समझूँ?"

आशा और विषाद के स्वर में पुरंजन ने कहा—"मेरा परिचय! मेरा क्या परिचय? मैं एक प्रेम का पगला पथिक हूँ, प्रेमा की खोज में द्वार द्वार भटकता फिरता हूँ। कोई सच्चा सुहृद मिल जाय, उसे अपना हृदय सौंपकर सदा सुख का आस्वादन करता रहूँ। यही मेरी अभिलाषा है। बहुत सुख के निमित्त बहुत सी पुरियों में मैंने विविध विषयों का उपभोग किया, किन्तु कहीं भी मेरी तृप्ति नहीं हुई। यदि तुम मुझे अपना लो तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।"

उस प्रमदा ने कहा—"प्रियतम ! अन्धकार में अकेली भटकती हुई मुझ अबला का यह सौभाग्य सूर्य उदय हुआ है, जो आप जैसे मनस्वी यशस्वी वीर पुरुष के देव दुर्लभ दर्शन प्राप्त हो सके। हे प्रिय दर्शन ! यदि आपको अतुल विषय भोगों के भोगने की इच्छा है, तो मैं आपका हृदय से स्वागत करती हूँ। आइये, इस घर को अपनाइये, इस अभागिनी को सनाथ बनाइये। मेरी सेवा स्वीकार कीजिये। मैं आपको यथेष्ट विषय भोगों को प्रस्तुत करूँगी। ये मेरे सेवक सेविकायें सदा सतर्क होकर श्रीमान् की सेवा में सब प्रकार से समुपस्थित रहेंगे। आप इस नवद्वार की पुरी में रहकर यथेष्ट विहार करें। सब सुखों का इच्छा पूर्वक उपभोग करें। आपका कल्याण हो, संकोच की कोई बात नहीं। यह पुरी आपकी, ये सब स्त्री पुरुष आपके और यह चरणदासी भी आपकी किंकरी है। आप सैकड़ों वर्षों तक इसमें रहिये। जीवनपर्यन्त मेरी सेवा स्वीकार करते हुए इस पर अपना आधिपत्य स्थापित कीजिये।"

उस कामातुरा की ऐसी मधुर स्नेह-भरी बातें सुनकर प्रसन्नतापूर्वक कुछ संकोच के स्वर में पुरंजन कहने लगे—"मैं कृतार्थ हुआ, किन्तु एक बात और पूछना चाहता हूँ, उसे पूछने में मुझे भय लगता है।"

कुछ तुनक कर उस सुचारुहासिनी ने कहा—"फिर वही शिष्टाचार की-सी बातें। अपनों के साथ ऐसा व्यवहार करना अन्याय है। आप निःसंकोच होकर मुझे आज्ञा दें। अपने मन की बात को छिपावें नहीं। प्रेम में दुराव नहीं, छल छिद्र नहीं, छिपाव नहीं।"

कुछ रुक रुक कर पुरंजन ने कहा—"पूछना यही था कि क्या तुम मुझे प्रेम कर·····

बीच में ही बात काटती हुई वह चपला बोली—"देखिये,

राजन्! ये बातें करने की नहीं। स्त्रियाँ कैसा भी गुणी पुरुष क्यों न हो, यदि उसमें ये बातें नहीं होती तो उसे मनसे त्याग देती हैं। उससे प्रेम नहीं करतीं। पहिली बात तो यह जिसे विषय भोगों के भोगने का ज्ञान न हो, दूसरी यह कि जो विहित भोगों का त्याग देता हो। तीसरी यह, जिसे लोक परलोक की चिन्ता न हो, चौथी यह कि जिसे कल क्या होगा इसका भी विचार न हो। ऐसे अविवेकी नर पशु से अच्छे स्वभाव वाली स्त्रियाँ प्रेम नहीं करतीं। देव! आप तो कामदेव से बढ़कर भी सुन्दर। विवेकी और विचारवान् हैं। भला, आपको छोड़कर मैं और किससे प्रेम कर सकती हूँ। देव आप मेरे ऊपर संदेह न करें। मुझे अपनावें, मेरा पाणिग्रहण करें। गृहस्थ धर्म का पालन करें और आनन्द पूर्वक खावें पीवें और मौज उड़ावें।"

पुरंजन ने बात को दृढ़ करने के निमित्त यों पूछ लिया—"फिर कुछ परलोक की भी चिन्ता तो करनी है। केवल गृहस्थी में ही फँसे रहना तो ठीक नहीं।"

उन चंचला चपला प्रमदा ने कहा—"परलोक, परलोक का साधन जैसा गृहस्थ में होता है, वैसा ये जटाधारी, भिखारी शुष्क हृदय वाले अकेले घूमने वाले वानप्रस्थी क्या जानें। ये देखिये, गृहस्थाश्रम से बढ़कर कोई इस लोक तथा परलोक का साधन करने वाले आश्रम नहीं। धर्म जितना गृहस्थ कर सकता है, उतना एकाकी पुरुष कैसे कर सकेगा। धर्म तो धर्मपत्नी के बिना होता ही नहीं। अब रही अर्थ की बात, सो अर्थोपार्जन गृहस्थ ही कर सकता है। दिन भर बाहर काम करे, रात्रि में आकर चूल्हे में सिर दे, तब तो अर्थ उपार्जन हो चुका। मोल की रोटी में रसोइये के हाथ के भोजन में वह स्वाद कहाँ जो घरवाली के हाथ के बने भोजन में आता है। घर का काम घरवाली सम्हाले, बाहर से पुरुष पैदा करके उसे सौंपे तब देखिये अर्थ के साथ

सुख और सरसता का भी संचय होता चलता है। अब रही काम सुख की बात, सो इसे तो समस्त संसार जानता है, कि समस्त कामसुखों को देने वाली नारी ही है, इसलिये उसे कामिनी कहते हैं। स्त्री के शरीर में सभी शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श इन सभी विषयों के सुख पूर्णरूप में विद्यमान हैं। फिर धर्मपत्नी के साथ का कामोपभोग सफल होता है। उसके फल स्वरूप सुन्दर सन्तानों की प्राप्ति होती है। संतानों के लालन-पालन करने में उनके निमित्त नाना दुःख सहन करने में जो सुख होता है, उसका अनुमान संतानहीन त्यागी विरागी बाबाजी क्या जानें। धर्मपत्नी के साथ ही यज्ञ याग तथा बड़े-बड़े अनुष्ठान किये जाते हैं, जिनके द्वारा इह लोक में कीर्ति और परलोक में स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। मोक्ष मार्ग के पथिक एकाकी विचरण करने वाले इन सब सुखों से सदा वंचित ही रहते हैं। गृहस्थाश्रम सबसे बढ़कर क्यों है? इसलिये कि इसी से देवताओं को हक मिलता है, गृहस्थ यज्ञ न करें तो विचारे देवता भूखों ही मर जायँ, पितरों को कव्य मिलता है। गृहस्थ श्राद्धतर्पण न करे तो पितरों का उद्धार कैसे हो। ऋषियों के ज्ञान का प्रसार गृहस्थियों द्वारा ही होता है और फिर ये मूंड़ मुड़ाये, जटा बढ़ाये हाथ में खप्पर लिये अकेले इधर से उधर स्त्रियों को बुराई करते हुए घूमते रहते हैं, यदि गृहस्थ न हों, तो इनका पेट कैसे भरे। अतिथि हैं, अभ्यागत हैं, पशु पक्षी हैं, सभी तो गृहस्थाश्रम का आश्रय लेते हैं। इसलिये देव! आप गृहस्थाश्रम में पदार्पण कीजिये, मुझे अपनी चिरसंगिनी सुख-दुख की साथिनी बनाइये, मेरे हृदय पर, शरीर पर शासन कीजिये।"

स्नेह के उफान से धड़कते हुए हृदय से पुरंजन बोला—"क्या मैं इस सौभाग्य के योग्य हूँ? क्या मैं तुम्हारे अनिन्द्य सौन्दर्य के उपभोग करने का पात्र हूँ? क्या विकसित चम्पा-कलिका के

सौरभ मधुर मधु के पान करने का मैं दुर्बल भ्रमर अधिकारी हो सकता हूँ ?"

स्नेह में सराबोर अपनी दृष्टि को पुरजन की दृष्टि में घोलती हुई वह ललना बोली—"आप जैसे विश्वविख्यात उदार चित्त, प्रिय दर्शन, शूरवीर, सौन्दर्य सागर, प्रिय पति को पाकर कौन सी स्त्री अपने सौभाग्य को न सराहेगी। कौन सा प्रेम का आदर करने वाली पत्नी अपना सर्वस्व आपके पाद पद्मों में अर्पित न कर देगी। हे महाबाहो! आप जैसे महामना मनस्वी अपनी मधुमत्त मन्द मन्द मुस्कान द्वारा जिस मनोरमा को एक बार देख ले, वह अपने धैर्य को कैसे रख सकती है। आपका अपना कोई प्रयोजन है ही नहीं, हम जैसी अनाथिनियों को सनाथ करने तथा उनके मानसिक संताप को दूर करने के निमित्त ही आप पृथ्वी पर पर्यटन करते रहते हैं। आपकी गोल गोल सुडौल सर्प के समान स्निग्ध सुकोमल भुजाओं के बीच में फँसकर किस भामिनी का चित्त अन्यत्र भटकेगा। देव! अब देर करने का काम नहीं। जल्दी अग्नि जलवाओ, जल्दी से गठबन्धन कराओ। बस जहाँ सात बार चाई माई फिरी की सदा के लिये सम्बन्ध स्थापित हो गया।"

नारदजी कहते हैं— 'राजन्! बस, अब क्या था। दो मन मिल गये। फिर तो लोकाचार गौण हो जाते हैं। दोनों ने शास्त्रीय विधि से विवाह कर लिया। दोनों दूल्हा दुल्हिन पति पत्नी बन गये। दो अङ्ग मिलकर एक हो गये। पुरजनी पुरजन की अर्धांगिनी हो गई। अब क्या था। दोनों सुखपूर्वक रहकर आनन्द विहार करने लगे।"

छप्पय

को अबला अस पाहि तुम्हहिँ नहिँ धीर गँवावै।
को तव हिय लगि नहीं मनोवांछित फल पावै॥
मधुर मन्द मुस्कानमयी चितवन हिय लागे।
मिटैं त्रिविध सन्ताप प्रबल रति पति भय भागे॥
आओ अब सब दुख दुरित, दोउनि के ई मिट गये।
फँसे प्रेम के फन्द यों, पति पत्नी दोनों भये॥

पुरञ्जन का पुरञ्जनी के साथ आनंद विहार

[२८८]

क्वचिच्च शोचतीं जायामनु शोचति दीनवत् ।
अनु हृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनु मोदते ॥
विप्रलब्धो महिष्यैव सर्वप्रकृतिवञ्चितः ।
नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीड़ामृगो यथा ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २५ अ० ६१ ६२ श्लोक)

छप्पय

फँस्यो प्रेम के फन्द अन्ध सम भयो पुरञ्जन ।
निरखि नारि सब करे भुलाये भव भय भञ्जन ॥
पीवे वह तो पान करे खावे तो खावै ।
रोवे वह तो रुदन करे गावे तो गावै ॥
नारी धन की धर्म की, बनी स्वामिनी गेह की ।
करे मूर्ख अनुकरण यों, जैसे छाया देह की ॥

---

* नारदजी कहते हैं— 'राजन् ! वह पुरजन अपनी पत्नी के ऐसा अधीन हो गया, कि जब वह किसी सोच मे पड जाती, तो वह भी दीन की भाँति शोकाकुल हो जाता । जब वह प्रमुदित होती तब यह भी आनन्द मनाने लगता । इस प्रकार वह पुरजन स्त्री के चंगुल में फँसकर अपने समीप स्त्रियो से ठगा गया । क्योंकि वह कामी था । इसीलिये इच्छा न रहने पर भी अज्ञानी के समान अपनी स्त्री का उसी प्रकार अनुकरण करने लगा, जैसे खेल के लिये पाला हुआ बानर आदि पशु अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करता है ।'

चोर चाहता नहीं, हमें कारावास में भेजा जाय, मछली मरने के लिये नहीं, भोजन के लोभ से काँटे में लगे मांस को निगलती है। पतंगे जान बूझकर नहीं लौ के लोभ से दीपक में जल मरते हैं। हिरन फँसने के लिये नहीं, राग के वश होकर फंदे में फँस जाता है, किन्तु यह मनुष्य प्राणी ऐसा मूर्ख है कि जानकर इस नारी रूपी सर्पिणी को अपने गले में बाँध लेता है। सर्पिणी के विष से आदमी एक ही दिन में मर जाता है, किन्तु नारी का विष तो जितना ही चढ़ता है उतना ही पागल बना देता है। मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। उठि रे बँदरा, बैठ रे बँदरा, हाँ! जमूड़ा, ससुराल कैसे जाओगे। तो यह दो पैर का बन्दर उस कारे मूँड वाली को प्रसन्न करने के लिये कन्धे पर लाठी रखकर मटक-मटक कर चलता है। वह कहती है, यहीं बैठा रह, वहीं बैठ जाता है। वह कहती है खा तो खाता है। कैसा विचित्र बन्धन है। नित्य देखता है कि इन छम्म-छम्म करने वालियों के फंदे में फँसकर किसी ने सुख नहीं पाया फिर भी कोई मानता नहीं। विवाह के लिये ऐसे प्यासे बैठे रहते हैं, जैसे वैसाख ज्येष्ठ के पथिक आशा भरी दृष्टि से प्याऊ पर दीन हुए प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं। इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी?"

नारदजी राजा प्राचीनबर्हि से कहते हैं—"राजन्! अब पुरंजन ने उस पुरजनी से विवाहकर लिया तो मानो उसने अपनी विवेक बुद्धि को भी बेंच दिया। उसने एक दिन आज्ञा दी—"देखो जी, अब तुम इस पुरी के स्वामी हुए। शिष्टाचर से बर्ताव करना नियम का कुछ ही पालन न करोगे तो और तुम्हारी प्रजा कैसे पालन करेगी?"

उसने दीनता के साथ कहा—"रानीजी! मैं तो मूढ़ हूँ मुझे बताओ, किस नियम से इस पुरी में रहना चाहिये। कब किस

द्वार से निकलना चाहिये। किस द्वार से निकलने पर किस नौकर को साथ लेकर जाया करूँ। यह सब मुझे समझा दो। एक बार संकेत कर देने पर फिर भूल न होगी।"

पुरजनी ने कहा—"देखो, यह तीक्ष्ण प्रभाव वाली इस पुरी के समीप ही नदी है, स्नान करने की इच्छा हो तो इन मेरी सुखी सहेलियों को संग लिये हुए यथेष्ट स्नान किया करो। गायक तुम्हारे गुणों का गायन किया करेंगे। नर्तकी नृत्य किया करेंगी। बन्दी विरुदावली बखान किया करेंगे। समझे कुछ ?"

पुरजन बोला—"हाँ, सब समझ गया, किन्तु तुम्हारे बिना तो मैं रह न सकूँगा।"

उसने घुडक कर कहा—"मैं कहीं जाती थोड़े ही हूँ। इस पुरी में ७ ऊपर के दरवाजे हैं। जिनमें ५ पूर्व की ओर एक दक्षिण की ओर तथा एक उत्तर की ओर। दो नीचे की ओर दरवाजे हैं। इस पुरी से पूर्व की ओर विभ्राजित नाम का देश है, जब कभी तुम्हें उस देश में जाना हो, तो द्युमान नामक अपने प्रिय सेवक के साथ खद्योत और आविर्मुखी नाम के जो दो दरवाजे हैं उन्हीं से जाया करना। भला ?"

पुरंजन बोला—"बहुत अच्छा, उधर एक सौरभ नाम का भी तो देश है, उसमें जाना हो तो किस रास्ते से जाऊँ ?"

पुरजनी बोली—"सौरभ देश को जाने के लिये जो उसके नीचे नलिनीनालिनी नामक दो द्वार हैं उनसे अवधूत सखा को संग लेकर जाया करना।"

पुरजन ने कहा—"ये जो पूर्व के चार द्वार तुमने बताये थे तो छोटे-छोटे द्वार हैं। वह जो मुख्य प्रधान एक द्वार है, सबसे बड़ा, उसमें से किस देश में जाया करूँ ?"

पुरजनी शीघ्रता के साथ बोली—"देखो, उस मुख्य द्वार के आगे बहूदन और आपण नामक दो प्रधान देश हैं। उनके ही द्वारा

तुम्हारी इस पुरी का पालन होता है। उनमें जब जाना हो तो बहूदन मे रसज्ञ सखा को लेकर और आपण देश में विपण नामक सेवक को लेकर जाया करें।"

पुरंजन ने पूछा—"ऊपर जो ये उत्तर दक्षिण के छोटे-छोटे द्वार हैं, इनसे किन देशों में किसे साथ लेकर जाया करूँ ?"

पुरंजनी बोली—"देखो, दक्षिण का जो पितृहू नाम का द्वार है, उधर दक्षिण पाञ्चाल देश है, उसमें जब तुम्हें जाना हो, तो इस श्रुतधर सखा को लेकर जाया करो। इसी प्रकार उत्तर के देवहू नाम के द्वार से उत्तर पाञ्चाल देश में जाना हो तो उसी श्रुतधर को साथ लेकर जायँ। किसी दूसरे के द्वारा उस द्वार से निकलने पर कार्य न चलेगा। समझे कुछ ? इन सातों के अतिरिक्त जो नीचे के दो द्वार हैं पश्चिम द्वार हैं, उनमे से एक का नाम आसुरी द्वार है दूसरे का नाम निर्ऋति है। जब आसुरी द्वार से ग्रामक नामक देश को जाना हो, तब दुर्मद को साथ लेकर जायँ। और जब निर्ऋति द्वार से वैशस नामक देश को जाना हो तब अपने सखा सेवक लुब्धक को लेकर जाया करें। अच्छा !"

पुरंजन ने पूछा—"ये जो दो अन्धे सेवक हैं इनका क्या उपयोग है ?"

पुरंजनी हँसकर बोली—"ये ही अन्धे तो तुम्हारे सब कामों में सहायक हैं, इनके नाम निर्णक और पेशस्कृत है। जो कुछ करना हो इन्हीं की सहायता से किया करो। जहाँ जाना हो इनके द्वारा हो जाया करो।" यह मैंने संक्षेप मे तुम्हे आने जाने के मार्ग नियम आदि बता दिये। इस पुरी मे सभी कार्यों की व्यवस्था है। तुम मेरे साथ रहकर यथेष्ट विषयों का उपभोग करो।"

नारदजी कहते हैं—"हे नरपति ! इस प्रकार पुरंजन अपनी नारी को सौम्य मानकर सब कार्यों को करने लगा। जब वह अपने प्रधान मन्त्री विपूचीन को साथ लिये हुए अन्तःपुर में

प्रवेश करता, तो कभी किसी कार्य को देखकर उसे हर्ष होता कभी मोह में व्याप्त हो जाता, इस प्रकार वह अनेकों कार्यों में लगा हुआ विषयों में आसक्त हो गया। उसकी स्त्री ने उसे ऐसा काठ का उल्लू बना लिया, कि वह जैसे नचाती वैसे नाचता। उस अरुण अधरवाली प्रमदा ने उसके कान में कोई ऐसा मोहक मन्त्र फूँक दिया, कि वह सब अपनेपन को भूल गया। पालतू हरिन की तरह उसी के संकेत पर चलता। वह जो कराती करता, जहाँ बिठाती बैठता। जहाँ सुलाती वहीं सोता। जब वह सुरापान करने को कहती, तब वह कह देता पहिले इसे तुम अपने अधरामृत से पावन बना दो, पहले तुम पी लो तो प्रसाद रूप में उसे मैं ग्रहण करूँगा। वह पीती और अपने मुँह में भरकर उसके मुँह में उडेलती। सुरा के साथ अधरों का भी स्पर्श होने से वह चेतनाशून्य हो जाता। जब वह कुछ खाने को कहती तो कह देता हे मेरे हृदय की रानी! पहिले तुम भोग लगा लो तब मैं प्रसाद पाऊँगा, मैं तो तुम्हारा उच्छिष्ट भोगी हूँ। जब वह कभी गाती, तो स्वयं भी तान के साथ गाने लगता। जब वह किसी बात पर रोती, तो उसके आँसू पोंछते हुए स्वयं भी सिसक-सिसक कर रोने लगता। जब वह बोलती तो स्वयं भी बोलता, जब वह हँसती तो स्वयं भी खिल-खिलाकर हँस पड़ता। कभी-कभी वह विनोद में दौडती तो जैसे पालतू कुत्ता अपने स्वामी के साथ दौडता है—उसी प्रकार यह भी उसके पीछे-पीछे दौडता। जब वह ठहर जाती तो यह भी ठहर जाता, वह बैठती तो यह भी बैठ जाता। वह लेटती तो स्वयं भी लेट जाता, वह उठती तो स्वयं भी उठकर उसके वस्त्रों को झाडकर उसकी सिकुडन ठीक करने लगता। कभी वह किसी गायन को सुनती तो स्वयं भी ध्यान लगाकर सुनने लगता। किसी वस्तु को देखती, तो स्वयं भी टकटकी लगाकर उसे देखने लगता। किसी ने कोई सुगन्धित

पुष्प लाकर दिया तो उसकी नाक के पास ले जाकर कहता हृदयेश्वरी ! इसे सूँघ लो, कैसा सुगन्धित पुष्प है।" वह कहती तुम्हीं सूँघो। कहता—"ना, यह कैसे हो सकता है। पहिले अपनी इष्ट देवी को अर्पण करके उसके निर्माल्य को ही मैं उपयोग में ला सकता हूँ। पहिले तुम इसे सूँघ लो तब तुम्हारी नाक में नाक लगाकर मैं भी सूँघूगा, कभी कोई सुखद स्पर्श आता तो उसके साथ ही उसको स्पर्श करता।"

पुरजनी कभी किसी बात पर शोकाकुल होती तो स्वय भी मुँह लटकाकर उसके समीप बैठकर दुःख की मुद्रा बनाता और बार-बार दीनता दिखाता हुआ उसके शोकयुक्त आनन को निहारता रहता। जब वह शोक त्यागकर प्रसन्न हो जाती तो स्वय भी खिल खिलाकर हँस पडता। जब यह कभी आनन्दातिरेक में हँसने लगती, उत्सव मानने लगती, तो आप भी थिरक थिरक कर नाचता, प्रसन्न होता, आनन्द विभोर होकर प्रेम में मग्न हो जाता।

नारदजी कहते हैं—"हे प्राचीनबर्हि राजन ! मैं आपको कहाँ तक बताऊँ, उस कार मूड वाली बिना दाढी मूँछ की नारी रूपी भीलिनी ने उसे अपने जाल में फँसकर ऐसा वश में कर लिया कि उसके बिना सकेत पाये कुछ भी करने मे वह समर्थ नहीं था। वह उसके सकेत पर ही सब कराता। अब न उस अपना ध्यान था न पराये का। उसका धर्म, कर्म पूजा पाठ बस वही पुरजनी थी। उसी की पूजा करता, उसी का ध्यान धरता, उसी का गुणगान करता। उसी का उच्छिष्ट प्रसाद पाता, उसी के चरणों में लोटा रहता। उसी के नाम का कीर्तन करता, उसी के गुणों का चरित्रों का श्रवण करता, सर्वदा उसी के सुन्दरस्वरूप का मनन करता रहता। अधिक क्या कहें वह उसी में तन्मय हो गया। उसी का रूप बन गया। मनुष्य जैसे विचार करता

है, वैसे ही वह बन जाता है। भाव ही भव का कारण है हमारे मानसिक विचार ही हमारे भाग्य निर्माण के कारण है। पुरजनी को सोचते-सोचते पुरजन उसी के भाव में भावित हो गया।"

छप्पय

तन की कोमल दिखे मीलिनी मोरी भारी।
किन्तु चित्त की कुटिल बनी ज्यों लट घुंघराली॥
रूप पाश लै हाथ पशुनि कूँ तुरत फँसावे।
निज वश करिके विविध भाँति क खेल खिलावे॥
पूँछ हिलावत फिरत ज्यों, स्वान स्वामि के सङ्ग में।
त्यों मदमातो फिरे नर, फँस्यो नारि के अङ्ग में॥

पुरञ्जन का मृगया प्रेम

[२८९]

चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः ।
विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २६ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

यद्यपि जाया सङ्ग त्यागिबो अति दुखकारी ।
तोऊ रथ चढि चल्यो पुरञ्जन बन धनुधारी ॥
मृगया लोभी भयो गयो वर बहु मृग मारे ।
सूकर, स्याही, सिंह, शशक, शावक सहारे ॥
मनमाने मारे मृगा, मृगया मतवारो भयो ।
भूख प्यास तें थकित है, लौटि नगर निज नृप गयो ॥

जो योगी हैं, जिन्होंने समत्व प्राप्त कर लिया है, जो साम्य के सिद्धान्त को सम्यक प्रकार से समझ गये हैं, उनकी बात तो छोड़ दीजिये। सर्व साधारण लोगों की वृत्ति एक सी नहीं करती। कभी हृदय में प्रेम के, दया के, मैत्री के भाव उठते हैं, तो कभी क्रूरता के, हिंसा के, दूसरों को दुःख देने के भावों का प्राबल्य हो

* नारदजी कहते हैं—"राजन्! वह पुरञ्जन अपनी प्रिय पुरञ्जनी जिसको क्षणभर भी छोड़ना कठिन था, उसे छोड़कर अत्यन्त घमण्ड के साथ हाथ में धनुष बाण लेकर बड़ी उत्सुकता से मृगया के निमित्त वन में गया।"

जाता है। इसी का नाम है मतिवैषम्य। जब चित्त में प्रेम का उफान उठता है, तो हृदय किसी के लिये छटपटाता है। प्रिय मिलन की आकांक्षा हृदय में सिहरन और गुदगुदी पैदा करने वाली होती है। इसके विपरीत जब हृदय में हिंसा जागृत होती है, तब मारने काटने में दूसरों को दुःख पहुँचाने मे कुछ भी कष्ट नहीं होता। यही नहीं उसी समय उसी क्रूरता में एक प्रकार का आनन्द आता है। स्वच्छ वस्त्र के समान निर्मल इस हृदय पर जैसा रङ्ग चढ़ जाता है, वैसा ही उसका रङ्ग हो जाता है। कोई हलका और कच्चा रङ्ग होता है, जो धोते ही साफ हो जाता है। कोई पक्का और स्थायी रङ्ग होता है, वह तो जो चढा सो चढ़ गया जीवन पर्यन्त नहीं छूटता। साधारणतया क्षण-क्षण मे रङ्गों में कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है वह हमे दिखाई नहीं देता है, दिखाई वह देता है, जो गहरा और अपेक्षा कृत साधारण परिवर्तन शील रङ्गों से स्थायी हो।"

महाराज प्राचीनवर्हि से नारदजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार पुरंजन अपनी पुरजनी के अधीन होकर उसका क्रीडामृग बन गया था। एक दिन उसके चित्त मे आई—चलो, वन मे चल कर मृगया करें, किन्तु वन को जाते हैं, तो अपनी चिरसंगिनी का साथ छोडना पडता है, यह तो कठिन है। फिर भी चित्त मे रह-रहकर मृगया की इच्छा उठने लगी। आज पुरंजनी से अधिक आकर्षण मृगया में दिखाई देने लगा। अतः उसने मृगया के निमित्त घोर वन में जाना निश्चय ही कर लिया। उसने सोचा—"मैं यदि रानी से पूछूँगा, तो सम्भव है वह मना कर दे। मेरा मनोरथ विफल हो जाय, अतः वह विना पूछे ही चल दिया।"

महाराज प्राचीनवर्हि ने पूछा—"भगवन्! क्या पुरजन पैदल ही अकेला मृगया के निमित्त गया।"

नारदजी ने कहा—"नहीं, राजन्! राजा होकर पैदल कैसे जायगा। बड़े सुन्दर दिव्य रथ पर चढ़कर वह चला था। उसके दिव्य रथ में बड़े प्रबल किसी से भी न रुकने वाले ५ घोड़े जुते हुए थे। उस रथ में दो दण्डिका, दो पहिये, एक धुरी, तीन बाँस, पाँच बन्धन, एक डोरी, एक बैठने का स्थान, दो जूए, पाँच शस्त्र, सात परदे लगे हुए थे। वह रथ सुवर्ण के आभूषणों से सुसज्जित था, पाँच प्रकार की टेढ़ी-मेढ़ी गतियों से वह चलने वाला था। उसी महान शीघ्रगामी रथ पर चढ़कर वह प्रञ्चप्रस्थ नामक वन की ओर चला। आपने पूछा था, क्या पुरंजन अकेला ही गया। हे राजन्! भूपति कहीं अकेले ही थोड़े जाते हैं। सेना साथ न भी ले जायँ, तो भी कुछ मुख्य-मुख्य मन्त्री सेनापति तो साथ जाते ही हैं। इसीलिये १० सैनिक और उन सबका ग्यारहवाँ परम प्रबल सेनापति उसके साथ था। स्वयं पुरंजन ने सुवर्णमय दिव्य कवच धारण कर रखा था। शत्रु विजयी महान धनुष और अक्षय तूणीर उसने अपने स्वयं साथ ले लिये थे। इस प्रकार वह बन ठनकर, सज-बजकर अपने साथियों सहित मद में चूर हुआ, आसुरी वृत्ति के आधीन होकर मृगया के निमित्त चला। हर्ष से धनुष की डोरी चढ़ाकर जय घोष करके उसने दिशाओं को गुञ्जारित कर दिया। आज वह निर्दय चित्त बनकर पशुओं के ऊपर तीखे-तीखे बाण छोड़ रहा था। आज वह हिंसक, क्रूर-कर्मा हत्यारे के समान हो रहा था।"

इस पर महाराज प्राचीनबर्हि ने पूछा—"भगवन्! मृगया करना तो राजाओं का धर्म है, हिंसक जन्तुओं का वध करना तो भूपति के लिये विहित है। फिर आप राजा पुरंजन को क्रूरकर्मा हत्यारे के समान क्यों बता रहे हैं।"

यह सुनकर नारदजी राजा की बात का समर्थन करते हुए कहने लगे—"राजन्! यह ठीक है। प्रचीन सभी बड़े-बड़े राजा

मृगया करते थे। राजाओं के लिये मृगया निषेध नहीं है, किन्तु उसके नियम बताये हैं। उन नियमों के भीतर रहकर ही राजाओं को मृगया करनी चाहिये। मृगया करना आवश्यक या विधान नहीं है। यह राजा के ६ व्यसनों में से एक व्यसन है। यदि मृगया करनी ही हो तो नियमानुसार करे।"

राजा ने पूछा "भगवन्! वे कौन कौन से नियम हैं?"

देवर्षि नारद बोले—"देखिये, राजन्! यदि पशु हिंसा करनी ही हो, तो श्राद्धादि के ही अवसर पर करें। एक ओर से जो भी पशु सामने आ जाय, उन्हें ही न मार दे। जो मेध्य पशु बताये गये हैं, उन्हीं को मारे। केवल शास्त्र प्रदर्शित श्राद्धादि के समय ही आवश्यकता होने पर मारे और उतने ही पशुओं को मारे जितनों से अपना कार्य चल सकता हो। वर्जनीय पशुओं को न मारे, असमर्थ में न मारे अधिक न मारे। इन सब नियमों का पालन करते हुए जो विद्वान् कर्म तत्व को समझ कर निष्कामभाव से कर्मों का आचरण करता है, वह उन कर्तव्य कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।"

महाराज प्राचीनबर्हि ने पूछा—"भगवन्! जब हिंसा सर्वथा पाप ही है, तो शास्त्रों ने ऐसे नियम क्यों बनाये?"

यह सुनकर हसते हुए नारदजी बोले—"राजन्! बात यह है। शास्त्रकार समझते हैं, कि स्वाभाविक प्रवृत्ति को एक साथ रोका नहीं जाता, उसे ऐसे नियमों में बाँधो कि मनुष्य कठिनता से करे। जैसे मनुष्य जहाँ से उत्पन्न होता है, उसे अपने जन्म स्थान की ओर अनुराग होना स्वाभाविक है। लोक में मास, मदिरा, मैथुन आदि की ओर प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। जो इनसे सर्वथा बचे हुए हैं, वे तो धन्य हैं, मोक्ष मार्ग के अधिकारी हैं, किन्तु जो इनसे सर्वथा बच नहीं सकते उनके लिये ये नियम हैं, कि ऋतुकाल में ही अपनी ही भार्या के समीप पुत्र कामना

से ही जाना चाहिये। इन नियमों का तात्पर्य इन कर्मों में प्रवृत्त करना नहीं है, किन्तु इनको निवृत्त में लगाना ही तात्पर्य है। शास्त्रकारों का उद्देश्य नियमन करके इनके त्याग से ही अभिप्राय है।"

प्राचीनवर्हि ने कहा—"हाँ, भगवन! ठीक है। अच्छा तो पुरंजन ने आगे क्या किया, उसे सुनाइये।"

नारदजी बोले "राजन्! पुरंजन के सिर पर मृगया का भूत सवार था, उसने सभी नियम तथा शास्त्रीय आज्ञाओं का त्याग कर दिया। सामने जो भी पशु आ जाता, उसे ही अपने तीक्ष्ण बाणों से मार डालता। इस प्रकार उसने सिंह, व्याघ्र चीते, भैंसे, हिरन, शशक सेकड़ों हजारों जंगली जीवों को मृत्यु के घाट पहुँचा दिया, अपने तीक्ष्ण बाणों द्वारा उनका अन्त कर दिया।"

वह प्रातःकाल से ही चला था। संग में कुछ भोजन सामग्री भी नहीं थी। दिन भर दौड़ते-दौड़ते मृगया करते-करते वह थक गया। भूख प्यास ने उसको तथा उसके दश साथियों को शिथिल कर दिया। सभी परिश्रम से थककर विश्राम करने लगे। पुरंजन ने देखा अब परिश्रम होना असम्भव है, अतः उसने अपने सेवकों को लौटने की आज्ञा दी। सेवक तो सब यह चाहते ही थे। आज्ञा पाते ही सब लौट पड़े। पुरंजन सभी को साथ लिये हुए अपनी पुरी में आ गया। आकर उसने तैल मर्दन कराया, विधिवत् स्नान किया। विविध भाँति तेल फुलेल लगाये। भर पेट भोजन किया। भोजन करने के अनन्तर कुछ विश्राम करके इन्द्रियों में चैतन्यता आई, अब उसे अपनी पुरंजनी की याद आई। राजन्! जब मनुष्य का पेट भर जाता है, तभी उसे अन्य विषयों की बातें सूझती हैं। भूखे प्यासे पुरुष को कितना ही इत्र सुँघाइये, कितने भी गुदगुदे गद्दे पर सुलाइये, कितने भी सुखद स्पर्श पदार्थ छुलाइये, कितनी भी सुन्दर से सुन्दर प्रमदायें

लाइये, उसका चित्त तो भूख प्यास में ही फसा रहेगा। जहाँ पेट में रोटी पडी नहीं कि भाँति-भाँति की इच्छायें उत्पन्न होती हैं। पुरंजन भी जल खा पीकर थकान मिटाकर स्वस्थ हुआ, तो अपनी प्रियतमा की खोज करने लगा। सबसे पहले वह उसी भवन में गया। जहाँ पुरंजनी विश्राम करती थी। वहाँ जाकर उसने देखा उसकी शैया सूनी पडी है। अब तो पुरंजन का माथा ठनका। बडे चाव से वह गन्ध, चन्दन, माला, वस्त्र, आभूषण आदि से सुसज्जित होकर अपनी प्रियतमा से मिलने आया था। उस समय भोजन आदि से तृप्त हुआ मिलन की अभिलाषा से उल्लसित होकर मदोन्मत्त वह काम के अधीन हुआ अपनी क्षीण कटिवाली, घर की उजियाली प्यारी पत्नी को न देखने के कारण व्याकुल हुआ। उदास और चिन्तित होकर उसने अन्तःपुर की सेविकाओं से पूछा—"क्यों री रमणियों! आज तुम्हारी स्वामिनी दिखाई नहीं देतीं हैं। वे कहाँ चली गईं? मुझे आने में कुछ देर हो गई। कहो, और सब तो कुशल है न?"

स्त्रियों ने कहा—"प्रभो! सब कुशल ही है। पुरंजन ने अधीर होकर कहा—"कुशल कहाँ है, आज मैं देखता हूँ, घर का सब समान अस्त व्यस्त पडा है, आज पहिली जैसी शोभा नहीं, सजावट नहीं। इन ईंट पत्थर के घरों में रखा ही क्या है, यदि घर में स्नेहमयी माता न हो अथवा पति परायणा प्रेम की साकार मूर्ति, सुखों की खानि प्रिया पत्नी न हो तो घर में और श्मशान में अन्तर ही क्या है। रथ की धुरी ही टूट जाय एक पहिया ही निकल जाय, तो वह किस काम का? अतः तुम अति शीघ्र अपनी स्वामिनी के मुझे दर्शन कराओ। जो दुःख समुद्र में डूबते हुए मुझे पग पग पर विवेक पूर्ण उपदेश देकर उबारती रहती थी, उस सर्व सकटों से छुडाने वाली मेरी प्राणप्रिया से मुझे मिला दो, मेरी मनोकामना पूर्ण कर दो। मैं अत्यन्त अधीर हो रहा हूँ।"

पुरंजन के ऐसे स्नेहयुक्त दीन वचन सुनकर सेविकाओं ने कहा—"प्रभो ! हम समझ नहीं सकते, आज क्या कारण है। स्वामिनी जी का चित्त न जाने कैसा हो गया है। आज उन्होंने अन्य दिनों की भाँति न तो स्नान ही किया, न उबटन ही लगाया चरणों में महावर भी नहीं लगवाया। आँखों में अंजन भी नहीं आंजा। यहाँ तक कि कोई भी शृङ्गार उन्होंने नहीं किया। न वस्त्राभूषणों से अपने श्रीअंग को विभूषित ही किया। शैया का भी आज उन्होंने परित्याग कर दिया है। बिना बिस्तरा की भूमि पर उदास होकर लोट रहीं हैं। कुछ पूछने पर उत्तर नहीं देतीं। बहुत पूछों तो तुनक उठती हैं। क्यों उनकी ऐसी दशा हो गई है, इसका कारण हम नहीं जानती।"

नारदजी कहते है—"राजन् ! कामी पुरुष सब कुछ सहन करते सकते हैं, किन्तु वे अपनी प्रियतमा के क्रोध को सहन करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। वे उसकी क्रोधमयी मूर्ति को देखकर डर जाते हैं। उस समय उनका चित्त प्रतिक्षण धक्-धक् करता रहता है। साम, दाम, दण्ड, भेद, अनुनय, विनय सभी उपायों से उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। यह कैसी काम की कुत्सित क्रीड़ा है। जो पुरुष बाहर बड़े-बड़े क्रोधित सिंहों को हाथ से पकड़ कर चीर सकता है, वही क्रोधित हुई पत्नी के सम्मुख पानी-पानी हो जाता है और उसके पाद प्रहार को बड़ी प्रसन्नता से अपना अहोभाग्य समझकर सहन करता है। और पालतू कुत्ते की तरह पूँछ हिलाकर पेट दिखाकर उसके अंगों को सहराकर मनाने की चेष्टा करता है। सो महाराज, पुरंजन भी अपनी प्रिया के कोप की बात सुनकर हक्का-बक्का सा हो गया और डरते-डरते उसी भवन की ओर चला जहाँ वह क्रोधित सर्पिणी खटपाटी लेकर बिना बिस्तरे के पड़ी लम्बी-लम्बी फुफकार छोड़ रही थी।"

छप्पय

न्हाय खाय विश्राम कर्‌यो दारा सुधि आई।
कामवाण ते व्यथित चल्यो नहिँ दई दिखाई॥
अन्तःपुर की नारि निरखि पूछे पछितावे।
स्वामिनि तुम्हरी कहाँ महल में नाहिँ दिखावे॥
रमणी बोलीं— भूपवर! आज स्वामिनी रिष भरी।
असन बसन भूषन तजे, खटपाटी लेके परी॥

पुरञ्जन का मानिनी पत्नी को मनाना

[२६०]

सा त्वं मुखं सुदति सुभ्रुवनुरागभार-
व्रीडाविलम्बविलसद्धसिताविलोकम् ।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः
स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २६ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

सुनत विकल अति भयो गयो महिषी जहँ सोवे ।
अस्त व्यस्त सी परी पुरंजन पग परि रोवे ॥
अपराधी हौं सदा उचित शिक्षा अब दीजे ।
देहु दास कूँ दण्ड क्षमा स्वामिनि अब कीजे ॥
तिलक हीन अति ग्लान मुख, मुरझायो अरविन्द जस ।
राग रहित सुन्दर अधर, फटत हृदय लखि दशा अस ॥

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन ! अपनी प्रणय कुपिता पत्नी को मनाता हुआ पुरंजन उससे कहने लगा—"हे सुन्दर भौंहों वाली ! हे मनोहर दाँतों वाली ! हे मनस्विनी ! देखो, मैं तुम्हारा अनुचर हूँ, अतः प्रणयभार और लज्जा से अवनत मधुर मुस्कानमयी चितवन से युक्त और नीली-नीली अलकावली से घिरे हुए, तथा उन्नत नासिका से सुशोभित अपने मनोहर मुखारविन्द के दर्शन मुझे करा दो । हे इष्ट देवि ! दीन को दर्शन दो ।"

मान स्नेह की खराद है। मान से नेह उज्वल हो जाता है। प्रणय कोप प्रेम में नूतनता का सचार करता है। चटनी मधुरता के स्वाद को बढ़ाती है। बीच में तीता चटपटा खाते रहने से मीठा अधिक खाया जाता है। बीच में अदरक, मिरच, चटनी का संपुट न लगे, तो मीठा खाते खाते चित्त ऊब जाता है। जिस प्रेम में प्रणय कोप नहीं जिसमें अनुनय, विनय कहा सुनी, रूठना मनाना नहीं वह शुष्क प्रेम है। वह मधुर भोजन नहीं पेट भरने के सूखे सत्तू हैं, जिन्हें फाँक कर पानी पी लो गड्ढे को भर लो। प्रेम तो प्रणय कोप से निखरता रहता है। जैसे जग लगे शख खटाई के मलने से, तेल के चुपडने से चमकने लगते हैं।

नारदजी कहते हैं—"राजन् अपनी पत्नी को कोप भवन में श्रवण करके पुरंजन के पैरों के तले की पृथ्वी खसक गई। वह किंकर्तव्यविमूढ बना उसी ओर दौडा। उसने देखा मेरी प्राणेश्वरी आज पृथ्वी पर अस्त व्यस्त भाव से पडी हैं। उसका मन्द-मन्द मुसकान वाला मधुर मुख मलिन हो रहा है, वह क्रुद्ध सर्पिनी के समान लम्बी लम्बी साँसें ले रही है। कुटिल अलकावली खुली इधर-उधर बिखर रही है। उसकी ऐसी दशा देखकर दुःख से अत्यन्त व्याकुल हुआ वह कामी दौड़कर उसके पैरों के पास पहुँचा। उसका हृदय धडक रहा था, चित्त चञ्चल हो रहा था, विवेक नष्ट-सा हो चला था, बहुत विचार करने पर भी वह निर्णय न कर सका कि उसकी प्रियतमा के प्रणय कोप का कारण कौन-सा है। किस कारण वह व्यथित बनी हुई है। कुछ भी हो उसे मनाना तो है ही। यही सोचकर पहिले उसने अपना मुकुट से युक्त सिर उसके चरणों में रखा। फिर कमल के भीतरी दल के समान उसके दोनों अरुण चरणों को अपनी गोद

में रखकर शनैः-शनैः सुदरांता हुआ वह बड़ी ही दीनता भरी वाणी में बोला।

पुरंजन अपनी प्रेयसी को मनाते हुए कहने लगा—"हे हृदयेश्वरि! मैं यह तो कभी कल्पना ही नहीं कर सकता कि मेरे बिना किसी अपराध के तुम इतनी दुखी होगी। अवश्य ही मैंने कोई घोर अपराध किया होगा, जिसके कारण तुम मुझ पर इतनी क्रुद्ध हो। सेवकों से अपराध बन ही जाता है। किन्तु स्वामी का यह कर्त्तव्य कभी नहीं है, कि सेवक के अपराधों को बिना जताये ही मन ही मन उस पर कुपित होता रहे। यह तो अपनेपन के विरुद्ध है। जो अपने आश्रित हैं, प्रति पालित हैं, उनके अपराधों को बताकर उन्हें उचित दंड देना यही स्वामियों का सदाचार है। तुम मेरे शरीर की, हृदय की, सर्वस्व की स्वामिनी हो। मैं तुम्हारा भृत्य, सेवक, दास, और अनुचर हूँ। मेरे अपराध को बताओ और जो भी उचित दंड समझती हो वह मुझे दो। स्वामी से दंड पाना यह तो सेवक के परम सौभाग्य की बात है। वे सेवक मन्द भागी हैं, जिनको स्वामी अपना मानकर दण्ड नहीं देते। सेवक के अपराध पर स्वामी का दंड देना यह तो परम अनुग्रह है। सेवक को उसे सहर्ष सहन करना चाहिये उसे अपने अभ्युदय का चिन्ह समझना चाहिये।"

इतना सुनते ही पुरंजनी और भी अधिक तुनक गई। उसने मारे क्रोध के अपने पैरों को पुरंजन की गोदी से खींचकर एक अँगड़ाई ली और वस्त्र से अपना मुख ढक दिया। इस पर उसे गोदी में उठाते हुए रोष से दुहरी सी हुई उसे मनाते हुए अधीरता के स्वर में पुरंजन कहने लगा—"देखो, देवि! यह बात अच्छी नहीं है। इन दोनों को तुम दोनों ओठों के बीच में निर्दयता से क्यों दबा रही हो। इनके दबने से इस घर में ही अन्धकार नहीं छाया हुआ है, किन्तु मेरा हृदय भी अन्धकारमय हो रहा

है। इन्हें तनिक खुलने दो, प्रकाश फैलने दो, इस मधुर मुस्कान-मयी चितवन से युक्त मनोहर मुखारविन्द को खिलने दो। इसे तुमने वस्त्र से ढक क्यों रखा है। इस छीने परदे को हटाओ, मुझे अपने मुखारविन्द के दर्शन कराओ। कमान के समान इन कुटिल भौंहों के निर्वज्ञों के ऊपर क्यों ताने हुए हो। इन्हें तनिक ढीलो छोड़ दो। इस शुक समान नुकीली नासिका को बार-बार फुला-फुलाकर तुम ये उष्ण साँस क्यों छोड रही हो। इसमें शीतलता का संचार होने दो। काली-काली घुँघराली लटकती लटों को तुमने अस्त-व्यस्त क्यों छोड़ रखा है। तनिक उठकर बैठ जाओ। इन्हें मैं समेटकर बाँध दूँ, इनमें मालती पारिजात के सुगन्धित दिव्य पुष्प खोस दूँ। मेरे साथ इतना अन्याय क्यों कर रही हो?"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर पुरंजन ने रूठी हुई अपनी पत्नी की ठोढी को ऊपर उठाया। किन्तु उसने बड़े वेग से पुरजन का हाथ झटक दिया। तब वह बोला—"देखो, यह तो हमारे ऊपर बड़ा अन्याय हो रहा है। यदि मुझसे कोई अपराध बन गया है, तब तो मैं अपने सिर को तुम्हारे चरणों में रखकर क्षमा माँग रहा हूँ और दण्ड पाने के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ। यदि किसी दूसरे ने तुम्हारा अपकार किया हो, तो उसका नाम भर मुझे बता दो। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। उसका सिर धड़ पर रह नहीं सकता। या जो भी तुम उचित दण्ड कहो वही उसे तुरन्त दिया जाय। हाँ एक बात है, किसी वेदज्ञ से, किसी अच्युत गोत्रीय साधु सन्त से यदि भूल में तुम्हारा कोई अपराध बन गया हो, तो उसे मैं शारीकि दण्ड नहीं दे सकता। उसे देश से पृथक कर दूँगा। देश निकाला दे दूँगा। तुम कुछ बताओ भी तो सही। इस त्रिलोकी

के बाहर भीतर जो भी कोई तुम्हारा अपराधी होगा वही यथेष्ट दण्ड पावेगा।"

इतना कहकर पुरंजन ने अपनी प्रियतमा भार्या को गोद में उठा लिया। उसके मुख से वस्त्र हटा दिया। उसने अपनी गरदन इतनी शिथिल कर दी, कि उसका मुख मृतक के समान पुरंजन के अङ्ग पर लुढ़क गया। जिस मुख पर सदा मन्द-मन्द मुसकान छिटकती रहती थी, जो सदा कमल के समान खिला रहता था, उसे आज ऐसी दशा में देखकर पुरंजन का रहा सहा धैर्य भी छूट गया। वह अत्यन्त दीनता के साथ कातर वाणी में कहने लगा—"देखो, तुम व्यर्थ मेरे मन को पीड़ा पहुँचा रही हो। आज तक मैंने तुम्हारा ऐसी दशा कभी भी नहीं देखी। तुम्हारे मुखारविन्द को मैंने कभी भी स्नेह शून्य, कान्तिहीन, हर्ष से रहित, मोह से म्लान मन्द-मन्द मुस्कान और तिलक से शून्य नहीं देखा था। तुम्हारे श्रीफल के समान पयोधरों को कभी मुरझाये कुंकुम के रहित शोकाश्रुओं से भीगे नहीं देखे थे। इन बिम्बाफल के समान बन्धूक पुष्प की कलिका के समान अश्वत्थ के नवीन पल्लव के समान, रक्त पाटल के दो दलों के समान अधरों को आज तक मैंने कुंकुम राग और पान की लाली से रहित कभी नहीं देखा था। आज यह अभूत पूर्व रूप मुझे क्यों दिखा रही हो। जो सदा सौम्य और सरस ही दिखाई देता था उस शारदीय चन्द्र के समान मुखारविन्द को राहुग्रसित शशि के सदृश क्रोध के कारण अत्यन्त भयानक क्यों बनाये हुए हो। प्रिये! सेवकों पर इतना अत्याचार उचित नहीं। अब हुआ सो हुआ।"

इतना सुनते ही पुरंजनी कुछ मुसकरा गई। नारदजी कहते हैं—'राजन्! इन स्त्री, पुरुषों का प्रणय कोप कागज से बने सर्प के समान व्यर्थ का ही होता है। उसमें कुछ सार नहीं, कोई

तत्त्व नहीं। देखने में तो रुई के ढेर के समान बड़ा भारी दीखता है। जहाँ तनिक सी चिनगारी लगी क्षण भर में सब स्वाहा। दूसरा कोई देखे तो डर जाय, न जाने कितना भीषण मामला है, किन्तु जहाँ बातों ही बातों में हँसी आ गई। कपूर के समान सभी रोष उड़ गया। फिर न रोष, न कोप, वही प्रेम की बतो दियाँ वे ही स्नेह में सनी बात, वे ही घुल घुलकर अनुराग की कहानियाँ। बच्चे खेल-खेल में बालू की भीत बनाते हैं उसे हाथ से चिकना करते हैं, दूर से देखने से प्रतीत होती है बड़ी दृढ़ होगी, किन्तु जहाँ तनिक सी ठेस लगी कि बालू की बालू। माता अपने बच्चे पर बड़ा कोप करती है, उसे डाँटती है, मारती है, किन्तु जहाँ कोई अच्छी वस्तु खाने को आई, झट गोद में बिठा लेती है। अपने अञ्चल से आँसू पोंछ देती है। उसके हाथ में मिठाई देती है। मुँह चूम लेती है और कहती है, देखना, अब उपद्रव मत करना। ले खाले। बस, झगड़ा टटा समाप्त। जिस समय क्रोध में भरकर छड़ी लेकर मार रही हो, उस समय दूसरे देखने वालों को यही प्रतीत होगा कि यह बच्चे को मार ही डालेगी। किन्तु क्षणभर में ही मामला बदल जाता है। दो बच्चे अपनी अपनी कनी उँगलियों को मिलाकर मित्रता जोड़ते हैं। एक पूछता है "कूआ में क्या ?" दूसरा कहता है 'पान सुपारी।' फिर वह कहता है 'मेरी तेरी बारह बरस की यारई।' फिर पूछता है कूआ में क्या ?' दूसरा कहता है 'चबेना' फिर वह कहता है 'यार मागे सोई देना' इतना कहकर दोनों उँगलियों को चूम लेते हैं। मित्रता हो गई। क्षण भर में ही लड़ने लगते हैं। गालियाँ देते हैं, ईंट पत्थर चलाते हैं और मित्रता तोड़ते हुए कहते हैं 'जीभ मराऊँ दाढ़ को तोड़ूँ, ऐसे यार तें कभी न बोलूँ यारई कुट्ट कुट्ट कुट्ट' बस कुट्ट हो गई। क्षण भर बाद फिर आपस में मिल जाते हैं। ऐसा ही प्रणय कोप इन स्त्री

पुरुषों का पति पत्नियों का होता है।

अपनी प्रिया को मुस्कराते देखकर पुरंजन के प्राणों में प्राण आये, वह प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगा—"ओहो! अब मैं समझा। मैं तुमसे बिना ही पूछे मृगया के निमित्त चला गया था। मेरे पीछे उस दुष्ट मन्मथ ने तुम्हें एकाकी समझकर पीड़ित किया होगा। उसकी व्यथा से व्यथित होकर तुम उदास हो गई होगी। अच्छी बात है, मेरे अपराध को क्षमा करो, अब आगे से ऐसी भूल कभी न करूँगा। अब तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ। उस दुष्ट पञ्चशर ने मुझे भी घायल कर दिया है। अब रोष को बिसार दो और स्नेहभरी दृष्टि से देखकर मुझे कृतार्थ कर दो।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कहने पर उस मानिनी ने ऐसे हाव भाव कटाक्षों से पुरंजन की ओर देखा कि वह पालतू कुत्ते की तरह उसके अधीन होकर उसके वश में हो गया और नाना प्रकार की चेष्टाओं से उसे आनन्दित करने लगा। वह भी अपने प्रेष्ठतम के साथ रमण करते हुए रात्रि और दिनों को क्षण के समान बिताने लगी।

छप्पय

अब ही समुझ्यो प्रिये! पञ्चशर अवसर पायो।
जानि अकेली तुम्हें दुष्ट ने अधिक सतायो॥
पति अनुनय अस सुनत मानिनी मृदु मुसकाई।
प्रणय कोप तत्काल प्रिया को गयो बिलाई॥
पति पत्नी के प्रेम कूँ, प्रणय कोप उज्ज्वल करत।
वह मुँह फेरे तुनुक के, यह पुनि पुनि पगमहँ परत॥

पत्नी तथा परिवार में आसक्त हुआ पुरंजन

[२९१]

शयान उन्नद्धमदो महामना
महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः ।
तामेव वीरो मनुते परं यत—
स्तमोऽभिभूतो न निज परं च यत् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २७ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

दृढ़ आलिङ्गन करत पुरंजन अति हर्षावत ।
तजि निज पर को ज्ञान राति दिन व्यर्थ गमावत ॥
बाहु पाश महँ कस्यो अज्ञ सो भयो विचारो ।
सूझत नहिँ कब दिवस भयो कब भयो अँध्यारो ॥
फँस्यो पुरंजन मोह महँ, सरबसु समुझी कामिनी ।
गई युवा लौटी न वय, जैसे बीती यामिनी ॥

प्रातःकाल हुआ, प्राची दिशि में भगवान् भुवन भास्कर हँसते हुए अँगडाते हुए निशा देवी की लाल रङ्ग की साडी में से

---

* नारदजी कहते हैं—राजन् ! वह महामना पुरंजन महापूल्यवान् शैया पर अपनी प्रिया की बाहु का तकिया लगाये पड़ा रहता । मद से मदोन्मत्त हुआ वह वीर इसी को परम पुरुषार्थ समझे बैठा था । उसे अज्ञान ने ऐसा अन्धा कर रखा था कि अपने और परब्रह्म के स्वरूप को भूल चुका था । उसे किसी का कुछ पता ही न था ।"

मुँह चमकाते हैं। लज्जा से सिकुड़ी और पति को प्रबुद्ध समझ कर निशा रानी लजाती सकुचाती भाग जाती हैं। अब भगवान् अंशुमाली खाने पीने का सामान बाँधकर यात्रा के लिये निकल पड़ते हैं। चलते-चलते थक जाते हैं। अस्ताचल में प्रतीक्षा में बैठी अपनी प्रिया निशा के रक्त रञ्जित अंचल में फिर छिप जाते हैं। प्रियतम को अपने वस्त्र में ढँककर फिर निशा रानी का ही आधिपत्य हो जाता है। उस समय सूर्य का अस्तित्व-सा ही नहीं दीखता। लोग प्रसन्न होते हैं, आज हम २० वर्ष के हुए, आज हमारी ५१ वीं वर्ष गाठ है। आज हम इतने बढ़ गये। उन मूर्खों को पता नहीं 'अरे' तुम बढ़ नहीं रहे हो, घट रहे हो। तुम्हारी आयु के इतने दिन घट गये। तुम्हारे मूलधन से इतने बहुमूल्य सिक्के निकल गये। अजी क्या करें, यह परीक्षा पास करनी है। जहाँ यह परीक्षा दी कि विवाह करना ही होगा। जब जाता हूँ, माता रोती है, पिता का भी बड़ा आग्रह है। हाँ तो इस साल विवाह होगा। अहा, बस अब जीवन सरसता के साथ बीतेगा। विवाह के होते ही आजीविका की चिन्ता। गृहस्थी इतना भारी गड्ढा है कि कभी भरता ही नहीं। कितना भी कूड़ा डाल दो, कितने भी रुपये आ जायँ, सदा अभाव बना रहता है। जितनी आय होती है, उससे अधिक खर्च बढ़ जाते हैं। पुत्र हुआ, पौत्र हुआ, विवाह है, गौना है, छोछक है, नेग है, जोग है, रात्रि-दिन यही चिन्ता यही सोच। कोई कहता है—लालाजी कुछ राम राम भी किया करो। रोकर कहता है—कैसे करूँ महाराज! तुम तो खाली बैठे हो, तुम्हें कुछ चिन्ता तो नहीं। भीख के रोट खाये। चद्दर से हाथ पोंछ लिये। 'आगे नाथ न पीछे पगहा।' यहाँ तो लड़का है, लड़की है, नाती हैं, पोते हैं, कुटुम्ब है, परिवार है, सभी का पालन करना है। हम न करें तो कैसे काम चलेगा।"

"लालाजी ! कल मर गये तो कौन काम करेगा।" इतना सुनते ही मारे क्रोध के सम्पूर्ण शरीर से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। मन ही मन कहता है, तू मरे तेरा बाप मरे, हम क्यों मरें" किन्तु ऊपर से कह देता है—"महाराज ! तब की तब देखी जायेगी। जब तक जीना है तब तक सीना है।"

इन्हीं विचारों में यह प्राणी प्रमत्त बना रहता है, इसे समय का पता नहीं रहता। आयु कितनी बीत गई, इसकी कोई चिन्ता नहीं। कब दिन हुआ कब रात्रि, इसका भी भान नहीं। बस अपनी ही धुनी धुनी में मस्त रहता है। इधर प्राणी तो प्रमत्त बना रहता है, काल भगवान् अप्रमत्त होकर अव्यग्र भाव से उसको टकटकी लगाये देखते रहते हैं। जहाँ अवसर आया कि गला धर दबाते हैं, टें कर जाता है, फिर न बेटे सहायता करते हैं न पोते। मुँह फाड़कर, आँख नटेर कर बाबूजी पट्ट के पट्ट ही पड़े रह जाते हैं।' दो दिन का जग में मेला, उड़ि जायगो हंस अकेला।'

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! जब मानिनी पुरंजनी को मनाने में कुशल पुरंजन ने अपनी चाटुकारिता और दीनता से मना लिया, तब तो दोनों हिल मिल गये। दूध चीनी की भाँति एक हो गये। एक ने दूसरे को अपना लिया, अपने में मिला लिया। रात्रि गई, दिन आया। शरीर से अलग होने पर भी मन तो दोनों का एक दूसरे में अटका ही रहता था। दिन के पश्चात् रात्रि, रात्रि के पश्चात् दिन ऐसे सप्ताह बीता। दो सप्ताह होने पर पक्ष। दो पक्ष का महीना। १२ महीने का वर्ष। इस प्रकार वर्ष पर वर्ष बीतते गये। न जाने उस प्रमदा के बाहु पास में रोज कौन इतना नित नूतन आकर्षण भर जाता था कि उसका उपधान लगते ही पुरातन आत्म विस्मृत हो जाता। उस मिलन आलिङ्गन से इतना उन्मत्त हो जाता कि उसे दिन रात्रि का पता ही न रहता। अब

पुत्र होने लगे। एक दो दस बीस सौ-दो-सौ नहीं, पूरे ११ सौ पुत्र हुए। और ११० कन्यायें। सब की सब शील सम्पन्न, उदार यशस्वी और पिता के सुयश को बढ़ाने वाली सन्तानें थीं। अब एक नया ससार चालू हुआ। एक से दो और दो से बहुत हो गये मनुष्य जिसमें सुख समझता है, उसे ही अपने आत्मीयों प्रिय जनों को प्रदान करता है। लड़के बड़े हो गये। उनका विवाह करना ही चाहिये। विवाह न होगा, तो वंश वृद्धि कैसे होगी। वशपरम्परा का उच्छेद हो जायगा। नाम कैसे चलेगा। पितरों का पिंडा कौन देगा? इसलिये चिन्ता करके परिश्रम करके पुत्रों का विवाह करना ही है। अब रात्रि दिन यही चिन्ता कोई सुन्दर सी लड़की मिले, अच्छा कुल हो लड़कों की चिन्ता कर ही रहे थे, लडकियाँ स्यानी हो गईं।

लड़कों की तो कोई बात नहीं। कहीं न कहीं से साँठ-गाँठ लग ही जायगी। सबसे भारी चिन्ता इन लड़कियों की है। कितनी बडी हो गयी है, कोई क्या कहेगा। घर में घुसते ही हृदय फटने लगता है। ये किसी तरह अपने घर राजी बाजी से चली जायँ। कैसे भी इनके पीले हाथ हो जायँ। यही रात्रि-दिन चिन्ता सताती रहती है। यदि कुछ ऐसी वैसी कच्ची-पक्की कोई घटना हो गई, तब तो मरना ही हो जायगा। संसार के सामने क्या मुँह दिखावेंगे। हे भगवान् लाज रखलो। लडकियों के लिये योग्य वर मिल जायँ। अपने-अपने घर चली जायँ, तो सुख की नींद सोवें। निश्चिन्त होकर कुछ यज्ञ याग करें। इस प्रकार की चिन्ताओं में पुरंजन मग्न रहने लगा।

इस पर महाराज प्राचीनबर्हि ने पूछा—"महाराज! यह जीव इतनी चिन्ता क्यों करता है? होता तो वही है जो भगवान् को करना होता है। प्रयत्न करने पर भी बहुत से कार्य नहीं होते, अनायास ही हो जाते हैं।"

नारदजी ने कहा—"राजन्! इसी का नाम तो अज्ञान है। यही तो माया है। मनुष्य अपने को कर्ता मान बैठा है, इसीलिये नाना क्लेशों को सहता रहता है। यदि यह दृढ धारणा हो जाय कि करने वाले दूसरे हैं, हम तो निमित्त मात्र हैं, तो फिर ये झगड़े ही न उठें। मनुष्य सदा उन्हीं सर्व समर्थ श्रीहरि पर अपना सब कुछ छोड़कर निश्चिन्त हो जाय। सब कार्यों में उन्हीं का प्रत्यक्ष हाथ दिखाई देने लगे।"

हाँ तो अब आप पुरजन की कथा सुनिये। पुरजन ने एक एक करके अपने सभी पुत्रों का विवाह कर दिया। लड़कियों के सदृश सुन्दर वर खोज खोजकर उनका उनके साथ विवाह कर दिया। वे सभी लड़कियाँ पौरजनी कहलायीं। उन्होंने अपनी ससुरालों में जाकर पिता की कीर्ति को बढ़ाया, सबके बहुत से लड़के हुए अब उन सबकी गणना कहाँ तक करें।

जितने ये ग्यारह सौ लड़के थे, सबके विवाह हुए झुण्ड की झुण्ड बहुएँ आईं। जब वे पैरों के नुपुर बजाकर छम्म छम्म करती हुई इधर से उधर महल में घूमतीं और पुरजन को देखते ही घूँघट मार लेतीं, तो पुरजन का मन ही मन बड़ी प्रसन्नता होती। उन प्रत्येक बहुओं के १००-१०० लड़के हुए। उन लड़कों के विवाह हुए, उनके भी लड़के हुए। राजन्! अब कहाँ तक गिनाव यही समझें कि उस पूरे देश भर में केवल राजा पुरजन का परिवार ही परिवार भरा हुआ था। हजारों लाखों पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र हो गये थे। इधर लड़कियों के भी बहुत सी सन्तानें हुईं।

अब तक एक चिन्ता थी, अब एक से अनेकों की चिन्ता हो गई। पहिले अपने सिर में दर्द होता था, तो पीड़ा होती थी, अब पुत्र पौत्र किसी के भी सिर में दर्द हो, ऐसा लगता मानों मेरे ही सिर में दर्द हो रहा है। जिसका जितना ही विस्तृत

ममत्व होता है, जितना ही अधिक लोगों से सम्बन्ध होता है, उसे उन सबके सुख-दुःख में उतना ही सुखी-दुखी होना पड़ता है। अब पुरंजन को रात्रि दिन पुत्र, पौत्र, गृह कोष, सेवक, दास दासी, देश, राज्य आदि की चिन्ता होने लगी। आज यह नहीं है, आज वह नहीं है, आज यह लाओ, कल वह लाओ। लड़की को उसकी ससुराल पहुँचाओ। उस लड़के की बहू को लिवा लाओ। उसके बच्चा हुआ है। उस लड़की के सिर में दर्द है, उसके पेट की दवा लाओ। बस, इन्हीं कामों की चिन्ता में उसका समय व्यतीत होने लगा। शनैः शनैः युवावस्था समाप्त होने लगी। मुँह दाँतों से हीन हो गया। सिर अपने आप हिल-हिल कर इन विषय भोगों में फँसने को बार-बार मना करने लगा। किन्तु पुरंजन किसकी सुनने वाला था? वह तो इन्हीं को सब कुछ समझे बैठा था।

अब उसने सोचा—"स्वर्ग में चलकर भी ये ही सब सुख प्राप्त हों, इसके लिये यज्ञ याग करने चाहिये। यहाँ दान करेंगे तो स्वर्ग में सुन्दर-सुन्दर अप्सरायें मिलेंगी। दिव्य भोग भोगने को मिलेंगे। अतः मरने पर भी ये ही सांसारिक सुख प्राप्त हों, इस इच्छा से उसने बड़े-बड़े यज्ञों की दीक्षा ली। राजसूय, अश्वमेध आदि बहुत व्यवसाय यज्ञों को वह बड़े ठाठ-बाट से करने लगा। उनमें अनेक पशुओं की हिंसा की जाती। असंख्यों भोले-भाले निर्दोष जीवों का बलिदान दिया जाता। उन पशु हिंसामय भयंकर यज्ञों द्वारा वह देवता, पितर और भूपतियों की आराधना करता था।"

नारदजी राजा प्राचीनबर्हि से कहते हैं—"राजन इस प्रकार वह पुरंजन परमार्थ साधन से भ्रष्ट होकर अपने कुटुम्ब, परिवार पुत्र पौत्रों में आसक्त हुआ, काल की दुरत्ययगति को भूल गया। उसे इस बात का स्मरण ही नहीं रहा कि एक दिन

मुझे मरना भी है। इसी प्रकार नाना चिन्ताओं में फँसे रहने के कारण उसकी युवावस्था व्यतीत हो गई अब वृद्धावस्था आकर प्राप्त हुई जो स्त्रियों को अत्यत ही अप्रिय है। इन्द्रियाँ तो शिथिल हो गइ किन्तु तृष्णा और भी अधिक बढ गई। भोगेच्छा का अन्त नहीं हुआ। कामवासना शान्त नहीं हुई। राजन्! वासनाओं से ही पुनर्जन होता है। वासना ही ससार को बनाती है। पुरजन इतने दिन विषयों को भोगते रहने पर भी अतृप्त बना रहा। रात्रि दिन वह अपनी प्रियतमा का ही ध्यान करता रहता था।"

छप्पय

ग्यारह सौ सुत भये शूरता बलमह भारी।
दस ऊपर सौ भई सुता अति ही सुकुमारी॥
पुत्रनिकें ह पुत्र भये चित चहुँ दिशि भटक्यो।
पुत्र, पौत्र, गृह, कोष दासनिमहँ अटक्यो॥
ममतामह मदमत्त है, अन्धकूप महँ धँसि गयो।
विषय भाग जग जाल के, फन्देमहँ खल फँसि गयो॥

पुरञ्जन की पुरी पर शत्रु की चढ़ाई

[२९२]

चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप।
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च पितासिताः।
परिवृत्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम् ॥*

(श्रीमा० ४ स्क० २७ अ० १३-१४ श्लोक)

छप्पय

जग परिवर्तनशील एक—सो रहे न कोई।
जनम मृत्यु सुख दुःख धूप छाया नित होई॥
आवें उन्नति संग सग अवनति कूँ लैकें।
यौवन कूँ लै जाय जरा भाँसो सो दैकें॥
चण्डवेग गन्धर्वपति, पुरी पुरंजन की चढ्यो।
वीर तान सौ साठ संग, विजय करन आगे बढ्यो॥

एक कहानी है। एक बड़ा बुद्धिमान राजा था। वह सबसे तीन प्रश्न करता। (१) संसार में सबसे अच्छा समय कौन है

* नारदजी राजा प्राचीनबर्हि से कहते हैं—"राजन्! चण्डवेग नाम का एक गन्धर्वों का राजा था। ३६० महा बलवान् गन्धर्व उसके अधीन थे। गन्धर्वों को उतनी ही गन्धर्वियाँ थीं। उनमें से आधी काली थीं आधी गोरी। उन सब ने राजा पुरंजन की सम्पूर्ण भोग सामग्रियों से युक्त पुरी को घेरकर लूटना आरम्भ कर दिया।"

(२) संसार में सबसे श्रेष्ठ कार्य कौन है। (३) संसार में सबसे अच्छा मनुष्य कौन है ? बहुत से पंडित आते इन प्रश्नों के भाँति-भाँति के उत्तर देते, किन्तु राजा को सन्तोष नहीं होता था। कोई कुछ उत्तर देता कोई कुछ, किन्तु राजा का मन नहीं भरता था।

एक दिन राजा ने सुना एक वन में बड़े विद्वान् महात्मा रहते हैं, वे मेरे प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे, अतः कुछ साथियों को संग लिये हुए वह उसी वन में अपने प्रश्नों के उत्तर पाने के निमित्त जा रहा था। वहाँ राजा का एक पुराना शत्रु राजा छिपा था। वह इसी घात में वहाँ रहता था कि कहीं राजा मिल जाय तो उसे मार डाले। राजा तो आगे बढ़ गये पीछे किसी अंग रक्षक ने उससे युद्ध किया। अंग रक्षक मर गया। वह शत्रु राजा घायल हो गया। राजा को इन बातों का पता नहीं था। वे सीधे साधु की कुटिया पर पहुँचे। उस समय महात्मा अपने पेड़ों की क्यारियों में पानी दे रहे थे, राजा को देखकर साधु ने उसका सत्कार किया। बैठने को आसन दिया। राजा बैठ गया, उसने साधु से वे ही तीन प्रश्न पूछे—संसार में सर्वश्रेष्ठ समय, सर्वश्रेष्ठ मनुष्य और सर्वश्रेष्ठ कार्य कौन-सा है ? राजा का प्रश्न सुनकर महात्मा कुछ भी नहीं बोले। इतने में ही घायल हुआ वह शत्रु राजा भी महात्मा की शरण में आया। महात्मा ने उसे दुखी देखकर शीघ्रता से उसे शरण दी। उसके घाव में पट्टी बाँधी, कुटी में राजा की सहायता से लिटा दिया। राजा को गरम दूध दिया कि धीरे धीरे उसके मुख में डालें। गरम दूध डालने से उसको चेतना हुई। राजा को इस प्रकार सेवा करते देखकर उस शत्रु राजा का हृदय पसीज गया। उसने अपना परिचय दिया और अपना अपराध स्वीकार करके राजा से सन्धि करली जब वह स्वस्थ हो गया, तब राजा ने महात्मा से कहा—

"भगवन् ! आपने मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया।"

महात्मा ने कहा—"भाई, मैंने तो तुम्हारे तीनों प्रश्नों का उत्तर दे दिया।"

राजा ने आश्चर्य से कहा—"भगवन् ! आपने तो एक भी शब्द नहीं कहा। उत्तर कैसे दे दिया ? मैं तो कुछ भी नहीं समझा।"

महात्मा ने कहा—"देखो, मैंने कहकर नहीं करके तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दिया। तुम्हारा सबसे पहला प्रश्न था कि संसार में सर्वश्रेष्ठ समय कौन सा है ? सो देखो, जो बीत गया वह तो बीत ही गया, वह तो लौटकर आने का नहीं, उसकी चिंता करना व्यर्थ है। आने वाला समय भविष्य के गर्भ में छिपा है, अतः उसका पता नहीं आवे न आवे, कैसा आवे।" जिसका अभी अस्तित्व नहीं उसकी भी चिन्ता व्यर्थ है। जो इस समय बीत रहा है वर्तमान है वही समय सबसे श्रेष्ठ है। इसीलिये इस क्षण जो बीत रहा है वही सर्वश्रेष्ठ समय है। बोलो यह बात ठीक है न ?" राजा ने कुछ सोचकर कहा—"हाँ, भगवन् ! यह तो ठीक है।" अब यह बताइये सर्वश्रेष्ठ मनुष्य कौन है ? इस पर महात्मा बोले—"राजन् ! संसार में एक से एक श्रेष्ठ मनुष्य पड़े हैं। जिसे आप श्रेष्ठ समझते हैं, वह दूसरों की दृष्टि में अत्यन्त ही कनिष्ठ है। आप जिसे क्षुद्र समझते हैं, बहुतों की दृष्टि में वही महान् है। अतः वर्तमान क्षण में जो हमारे सम्मुख हो वही श्रेष्ठ है। जब तुम आये थे, तो मेरे लिये तुम श्रेष्ठ थे। तुम्हारा स्वागत सत्कार किया, दूसरे क्षण वह बीमार आया। वह मेरे लिये श्रेष्ठ था। उसकी सेवा सुश्रूषा की। अतः जो भी सामने आ जाय, वही श्रेष्ठ है।"

यह सुनकर राजा हँस पड़ा और बोला—"हाँ, महाराज ! यह तो सत्य है। अच्छा, अब बताइये सर्वश्रेष्ठ कार्य कौन है ?"

इस पर महात्मा जी बोले—"राजन्! कार्य न कोई श्रेष्ठ, न कनिष्ठ, अपनी-अपनी भावना के अनुसार लोग श्रेष्ठ, कनिष्ठ बना लेते हैं। अतः वर्तमान क्षण मे अपने सम्मुख जो भी कार्य आ जाय वही श्रेष्ठ है। जब तुम नहीं आये थे, तो क्यारियो मे पानी देना ही मेरे लिये सर्वश्रेष्ठ कार्य था। जब तुम आ गये, तो तुम्हारा स्वागत सत्कार सर्वश्रेष्ठ कार्य हो गया। फिर यह रोगी का कार्य मेरे सम्मुख आ गया, अतः यह सर्वश्रेष्ठ कार्य हुआ। अतः जो भी कर्तव्य कर्म सामने आ जाय वही श्रेष्ठ है।"

यह सुनकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—"महाराज, आज मेरे प्रश्नो का यथार्थ उत्तर मिला है। आज मेरी समस्त शंकाओं का समाधान हुआ है।"

इस पर महात्मा जी गम्भीर होकर बोले—"राजन्! इस क्षण में परिवर्तनशील संसार में श्रेष्ठ ही क्या। सभी श्रेष्ठ हैं। सम्मुख जो भी आ जाय, उसी का जो स्वागत करता है, वही सुखी है। यौवन है तो उसका स्वागत, जरा है उसका भी स्वागत। जीवन का भी स्वागत, मृत्यु का भी स्वागत, शत्रु का भी स्वागत मित्र का भी स्वागत। जिसकी ऐसी बुद्धि हो जाती है, फिर उसे संसार में बन्धन नहीं। बन्धन तो विषमता मे है द्वन्द्व मे है। जिसने साम्यावस्था को प्राप्त कर लिया है, जो निर्द्वन्द्व हैं उसे अनुकूलता में हर्ष नहीं प्रतिकूलता मे विषाद नहीं।" महात्मा के उपदेश को सुनकर राजा महात्मा को प्रणाम करके अपने घर चला गया।"

नारदजी कहते हैं—"राजन! जब तक मनुष्य युवा रहता है, बलवान् बना रहता है, तब तक उसे अपने बल पौरुष का अभिमान रहता है, मेरा कोई क्या बिगाड सकता है? मेरा सामना कौन कर सकता है? मुझे पराजित करने की सामर्थ्य किसमे है। किन्तु जहाँ निर्बलता आई कि सभी उस पर आक्रमण

करने लगते हैं। बलहीन का सहायक कोई नहीं होता, दुर्बल का दैव भी घातक बन जाता है। यह संसार निर्बलों के लिये नहीं है। रुकने के लिये नहीं है। रुको मत ठहरने की आवश्यकता नहीं। जीना है तो बलवान् होकर जीओ, नहीं तो मरने को तैयार हो जाओ। आगे बढ़ो या मरो। इस परिवर्तनशील संसार में एक स्थान पर स्थिर कौन रह सकता है।"

अब पुरंजन के भी पतन का समय आ गया। एक चंडवेग नाम का गन्धर्वों का अधिपति था। उसके साथ सेना तो छोटी-सी ही थी। ३६० बड़े बलवान उसकी सेना में गन्धर्व थे और उतनी ही उनकी गन्धर्वियाँ थीं। उन गन्धर्वियों में आधी गोरी थीं और आधी काली। महाराज! लोग व्यर्थ में काले गोरे का भेद-भाव करके ये अपनी अज्ञता दिखाते हैं। इन शरीरों में क्या गोरा क्या काला। धातुएँ सब एक-सी ही हैं। वही रक्त, वही मांस, वे ही हड्डियाँ। ऊपर के चमड़े में उष्णता से कुछ कालिमा आ गई, शीतलता से कुछ गोरापन आ गया तो इससे क्या हुआ हृदय गोरा हो तो ठीक है। हृदय काला शरीर गोरा यह तो वैसे ही है, कि सुवर्ण के घड़े में मल मूत्र भरा हुआ हो।

हाँ, तो उन गन्धर्व और गन्धर्वियों ने पुरंजन की पुरी को चारों ओर से घेर लिया और हा हा हू हू करके लूट पाट मचाने लगी। गन्धर्वियाँ चुपके-चुपके आँख मुँदने पर माल चुरातीं। गन्धर्व सबके सामने जागते रहने पर लूट ले जाते। पुरंजन देखता हुआ भी कुछ न कहता। उसके सेवक भी कुछ करने में समर्थ न हुए। बिचारा पाँच फन वाला सर्प लड़ता रहा। वह उन गन्धर्व गन्धर्वियों से जूझता रहा। किन्तु वह अकेला ये सब ७२० कहाँ तक लड़ता। फिर बिचारा बूढ़ा भी हो चला था। चिरकाल से पुरंजन के पुर की रक्षा करते-करते शिथिल बन गया था। फिर भी सौ वर्ष तक तो उसने टक्कर ली। शत्रुओं

का सामना करता रहा, किंतु पुरंजन ने देखा अब सर्प बलहीन हो गया है। अपनी शक्ति भर सदा सचेष्ट बना रहता है, किन्तु सभी कार्यों की सीमा होती है, अकेला ७२० के साथ कहाँ तक जूझे। इससे उसे और भी अधिक चिन्ता हुई। अब उसने सोचा! मेरी पुरी की मेरे राष्ट्र की अब रक्षा होनी असंभव है। इन गन्धर्वों ने मुझे जर्जरित बना दिया है। शनैः-शनैः मेरा सब धन धान्य ये लूट ले गये हैं। यदि किसी दूसरे प्रबल शत्रु ने इसी अवसर पर आकर चढ़ाई कर दी, तो फिर मैं उसे हराने में समर्थ न हो सकूँगा। यह सर्प इन्हीं से हार मान रहा है। इनसे प्रबल शत्रु के सम्मुख तो यह ठहर भी न सकेगा।

अब एक और भी चिन्ता की बात हो गई। अभी तक तो उसके दूत इधर-उधर से कर लाकर इसे देते थे, वह भी पाञ्चाल देश की अपनी प्यारी पुरी में रहकर इन क्षुद्र विषय सुखों का आनन्द के साथ उपभोग करता था, किन्तु अब दूत भी शिथिल हो गये। स्वयं भी बूढ़ा हो चला था। अब तक तो स्त्री के प्रेम पाश में बँधा ऐसा उन्मत्त हो रहा था, कि उसे इस अवश्यम्भावी घटना का भान भी नहीं था। वह समझता ही नहीं था, कि ऐसी विपत्ति मेरे सिर पर आने वाली है। अब जब आ गई, तब वह बड़ा उद्विग्न हुआ।

नारदजी कहते हैं—"राजन! जहाँ एक बार चोट लग जाती है, फिर वह अटवटा कर दूसरी चोट लग जाती। घर में अन्न भरा पूरा हो, तब तो सदा अजीर्ण बना रहता है, जहाँ घर में अन्न नहीं रहा, वहाँ भूख भी भयंकर रूप रखकर आ जाती है। इसी प्रकार दुर्बल के ऊपर सभी प्रहार करते हैं। मरे को सभी मारते हैं, गिरे को सभी गिराते हैं। पुरंजन अब दुर्बल हो गया था, उसकी पुरी में लूट-पाट मच गई थी। सेवक सुस्त हो गये थे। पाँच फन वाला सर्प शक्तिहीन बन चुका था। इसी समय

भय नामक यवनों के राजा का एक बड़ा प्रबल सेनापति तथा उसका भाई एक औरत को संग लिये हुए दल बल सहित पुरञ्जन की पुरी की ओर आया। उसे क्षीण, तथा शक्तिहीन देकर प्रज्वार ने उस पुरी पर चढ़ाई कर दी। प्रज्वार के साथ जो एक काली-काली भयंकर आकृति वाली लुगाई थी, वह बड़ी बलवती थी। उसमें इतनी शक्ति थी, कि जिस नगर पुर पर वह चढ़ाई कर दे उसे बिना जीते वह छोड़ती ही नहीं थी। वह सर्वत्र अजेया थी। उसे जीतने की किसी मे सामर्थ्य नहीं थी।

बड़े आश्चर्य के साथ महाराज प्राचीनबर्हि ने कहा—"उस स्त्री मे इतनी सामर्थ्य किस कारण से हुई? किसके वरदान से वह ऐसी बलवती बन गई थी? उसके पिता का क्या नाम था? उसका विवाह किसके साथ हुआ। उस इतनी अजेया नारी का चरित्र आप उचित समझें तो मुझे सुनावें।"

यह सुनकर नारदजी बड़े जोरो से हँस पड़े और बोले-"राजन्! क्या बताऊँ। वह चण्डी तो मेरे साथ विवाह करना चाहती थी। जैसे तैसे करके मैंने उससे पिण्ड छुड़ाया था अच्छी बात है सुनिये, मैं उसका संक्षिप्त चरित्र आपको सुनाता हूँ।"

छप्पय

गन्धर्वी सँग साठ तीन सौ कारी गोरी।
करी चढ़ाई चण्डवेग सँग सेना थोरी॥
पाँच फननि को स्याँपु सबनि तें लड़िवे लाग्यो।
किन्तु कहाँ तक लड़ै बली सब साहस त्याग्यो॥
घबरायो अति पुरंजन, वशीभूत नारी भयो।
लूटी नगरी सबनि मिलि, अति उदास नृप है गयो॥

कालकन्या का चरित्र

[२९३]

कालस्य दुहिता काचित्त्रिलोकीं वरमिच्छती ।
पर्यटन्ती न बर्हिष्मन् प्रत्यनन्दत कश्चन ॥
कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम् ।
वव्रे बृहद्व्रतं मां तु जानती काममोहिता ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २७ अ० १९, २१ श्लोक)

छप्पय

भय भाई प्रज्वार काल कन्या सँग आयो ।
लखी पुरी अति छीन आइ अधिकार जमायो ॥
भूपति पूछे प्रभो ! काल कन्या को नारी ।
बोले—नारद नृपति, कुरूपा फिरे कुमारी ॥
पति चाहै जग महँ फिरै, कौन कुरूपाकूँ वरै ।
निरखि मोइ सकोच कछु, भौं चलाइ सैननि करै ॥

जो जग के सुखों को चाहते हैं, विकार उन्हीं के शरीर मे

---

* नारदजी कहते हैं—"हे बर्हिष्मन् ! राजन ! काल की एक कन्या थी, वह अपने अनुरूप पति खोजती-खोजती सम्पूर्ण त्रिलोकी मे घूम आई, किन्तु उस कुरूपा को किसी ने भी स्वीकार नही किया । एक बार मैं ब्रह्मलोक से पृथ्वी पर आ रहा था, मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानकर भी उस कामातुर कालकन्या ने पति के रूप मे वरण करने का प्रस्ताव किया ।"

अपना अधिकार जमाते हैं। जो जग की आशा छोड़कर जगत् पति के चरणों में लीन हो गये हैं, उनके मन मे विकारों के लिये स्थान ही कहाँ ? क्योंकि श्रीहरि तो शुद्ध बुद्ध तथा निर्विकार हैं। उनको हृदय मे धारण करने वाले के समीप विकार फटक ही कैसे सकते हैं। मन विकारों के वशीभूत हो जाने से विकारमय बन जाता है और ब्रह्म का चिन्तन करते-करते ब्रह्ममय हो जाता है। सुख-दुःख का, लाभ-हानि का सम्बन्ध शरीर से है। आत्मा तो इन सबसे रहित अविनाशी एकरस अखण्ड तथा अपराजित है। आत्माराम पुरुष को कोई पराजित नहीं कर सकता और विषयासक्त पुरुष को पतन से कोई बचा नहीं सकता, यही शास्त्रीय सिद्धान्त है।

नारदजी कहते है—"राजन ! अब पुरजन की उन्नति समाप्त हो गई। अब वह अवनति की ओर अग्रसर होने लगा। ३६० गन्धर्व और ३६० गन्धर्वियों को साथ लेकर चण्डदेव नित्य ही उसकी पुरी को लूटने लगा। फिर भी बूढा सर्प जैसे-तैसे उनसे अपनी रक्षा करता रहा। अब कालकन्या की चढ़ाई से वह सब ओर से घिर गया। आपने पूछा था कालकन्या कौन है, सो उसका भी मैं संक्षिप्त चरित्र आपको सुनाता हूँ, आप इसे ध्यान पूर्वक श्रवण करे। यह नहीं कि इस कान से सुना उस कान से निकाल दिया।"

देखिये काल नामक एक राजा थे। उनकी एक लड़की थी। बड़ी ही कुरूपा काली कलूटी उसके बाल कठोर थे। आँखें डरावनी थीं, ओठ मोटे-मोटे और काले थे। दाँत बड़े-बड़े और भयानक थे। शरीर का चर्म जंगली भैंस के समान था। नाक बडी और चिपटी थी, जो देखे वही डर जाय। ऐसी डाइन के साथ विवाह कौन करने लगा, इसलिये वह बहुत दिन तक कुमारी ही बनी रही। यहाँ तक कि उसके बाल भी सफेद हो गये, मुँह भी

पोपला हो गया, किन्तु व्याह करने का उसे बड़ा चाव था। अब तक सोचती थी मेरा बाप कहीं न कहीं साँठ गाँठ लगावेगा। जब वह सब ओर से हताश हो गयी, तब स्वयं वर ढूँढने को निकल पड़ी। राजन्! जो कुमारी स्वेच्छाचारिणी होकर स्वयं पति की खोज में मारी-मारी फिरती हैं, वे निर्लज्ज हो जाती हैं। जिसे भी देखती हैं, निशंक होकर प्रस्ताव कर बैठती हैं। उनमें नारी सुलभ शील संकोच रहता ही नहीं। वे तो स्वैरिणी के समान चारों ओर भटकती फिरती हैं। वह कालकन्या भी इधर उधर घूमती फिरती थी। बड़ी चटक मटक के साथ बन ठनकर काजर बेंदा लगाकर वह छम्म छम्म करती फिरती थी। महाराज! जिनमें सहज सौन्दर्य होता है। वे चाहे कुछ भी शृङ्गार न करें तो भी वह मनोहर लगते हैं, वे चाहे घास फूस कुछ भी शरीर पर रख लें उनके शरीर के संसर्ग से वे बुरी वस्तुएँ भी अच्छी लगती हैं, किन्तु जो नैसर्गिक कुरूप हैं वह कितना भी शृङ्गार करें उनके शरीर पर सुन्दर वस्त्राभूषण भी बुरे दिखाई देते हैं शृङ्गार के साज सामान भी उनके अंग में जाकर लजा जाते हैं। कालकन्या की भी यही दशा थी। वह जितनी ही बनती-ठनती थी, उतनी ही अधिक कुरूपा दिखायी देती थी एक बार घूमते फिरते मुझसे भी उसकी भेंट हो गई और उस निर्लज्जा ने मुझसे भी विवाह का प्रस्ताव कर डाला।"

यह सुनकर महाराज प्राचीनबर्हि को बड़ी हँसी आई। अपनी हँसी को रोककर वे बोले—"भगवन! आपसे उसकी कहाँ भेंट हो गई? फिर आपको तो संसार आगता है आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। आप विवाह बन्धन में कभी बँध ही नहीं सकते। आपसे उसने ऐसा बेतुका प्रस्ताव कैसे कर डाला?"

इस पर नारदजी जल्दी से बोल उठे- "राजन! बतावें। स्वार्थ में मनुष्य अन्धा हो जाता है। काम से

हुआ प्राणी विवेक को खो बैठता है। विषयासक्त पुरुष लज्जा को तिलाजलि दे देता है। यह काम की वासना इतनी प्रबल होती है, कि इसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक रहता ही नहीं। मुझे तो आप जानते ही हैं। मेरी किसी भी लोक में रोक टोक नहीं। चौदहों भुवनों में मेरी अव्याहत गति है। वह कालकन्या तो मृत्यु लोक की ही नारी थी। इसी लोक के प्राणियों से उसका सम्बन्ध हो सकता है। फिर जो विषयी हो, किन्तु विषयी भी उसकी इच्छा नहीं करते थे क्योंकि वह देखने में बड़ी डरावनी भयंकर और बुरी लगती थी।"

मैं एक दिन ब्रह्मलोक से आ रहा था। पृथ्वी पर ज्यों ही उतरा कि उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। मेरा रूप देखते ही वह दुष्टा काम मोहित हो गई और मेरे पास आकर अपनी चटक-मटक दिखाती हुई आँखें नचाकर शैन मटकाकर, मुँह बनाकर, दांतों को दिखा कर झूठी हँसी हँसती हुई बोली—"नारदजी! कहिये आप अच्छी तरह से हैं?"

मैं तो अचम्भे में पड़ गया। जान न पहिचान यह कैसे कुशल प्रश्न पूछ रही है। फिर भी मैंने कहा—"हाँ सब भगवान् की कृपा कहिये, आप अपना अभिप्राय बताइये।"

वह अपने पोपले मुँह को चलाती हुई बोली—"मैं आपसे प्रस्ताव करना चाहती हूँ, यदि आप उसे स्वीकार कर लें तो?"

मेरा माथा ठनका, कि यह डायन न जाने मुझसे क्या प्रस्ताव करने वाली है। उसकी चेष्टा से ही मुझे घृणा हो रही थी। फिर भी मैंने अपने भावों को छिपाते हुए कहा—"पहिले मैं आप का प्रस्ताव सुन तो लूँ तब निर्णय करूँगा कि आपका प्रस्ताव स्वीकार करने योग्य है अथवा नहीं। बिना सोचे समझे मैं हाँ ना कैसे कर सकता हूँ।"

वह आँख नचाकर बोली—"आपको मालूम होना चाहिये कि मैं कुमारी हूँ।"

मुझे उसकी इस बात पर हँसी आ गयी। बाल सफेद हो गये हैं, मुँह पोपला हो गया है। फिर भी अभी कुमारी कन्या बनी है।"

मैंने कहा—"अच्छा, तुम कुमारी ही सही। मैं क्या करूँ? तुम अपना अभिप्राय बताती हो, कि अपना जीवन चरित्र सुनाती हो।"

उसने कुछ रुक-रुककर कहा—"नहीं, यह मेरा अभिप्राय नहीं मनुष्य का जब पहिले परिचय हो जाता है, तभी उनके कुल गोत्र का पता लगता है, उस पर विश्वास होता है प्रेम बढता है। मेरा प्रस्ताव यह है कि मैं ब्रह्मचारिणी हूँ, आप ब्रह्मचारी हैं हमारा तुम्हारा दोनों का विवाह हो जाय। बोलो इसमें आपको कोई आपत्ति तो नहीं है?"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! उस दुष्टा की ऐसी बात सुनकर मुझे क्रोध भी आया और हँसी भी आयी। मैंने अपने भावों को दबाते हुए कहा—"देवि! तुम्हें नमस्कार है। मैं तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हूँ। विवाह न करने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली है। जीवन भर अविवाहित रहना ही मेरा महाव्रत है। अतः मुझ दीन पर दया दृष्टि रखो मुझे क्षमा कर दो। किसी और पति की खोज करो। मैं ऐसे चक्कर में फँसने वाला नहीं। मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ जो जान-बूझकर अपने गले में फाँसी लगा लूँ। इतना बडा ससार पडा है, किसी और से विवाह कर लो।"

उसने खिसियाकर कहा—"इतना बडा ससार पडा है। सभी तो मुझसे डरते हैं। सभी तो निर्वीर्य हैं। मैं समझती थी, तुममें कुछ साहस होगा, तुम मुझे स्वीकार करके अपनी गृहस्थी बसा लोगे। बिना घरवाली के घर बनता नहीं। इधर से उधर

मारे मारे फिरते रहते हो। घर का आकर्षक गृहिणी ही तो है। मैंने तुम्हारी भलाई सोची थी, किन्तु तुम मेरे प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर रहे हो। उलटा मेरा अपमान कर रहे हो। अत मैं तुम्हें शाप देता हूँ, कि तुम्हारा कहीं एक जगह पैर न टिकेगा। तुम सदा कुम्हार के चाक की भाँति चौदहू भुवनों में घूमते ही रहोगे।"

नारदजी ने हँसकर कहा—"मुझे तुम्हारा शाप स्वीकार है, किन्तु मैं तुम्हारे साथ गठबन्धन नहीं कर सकता। परन्तु मैं तुम्हारे योग्य एक पति बताय देता हूँ। एक यवनों के बड़े प्रचण्ड प्रतापी भय नामक राजा हैं। उनके पास जाओ, वे तुमसे सम्भव है विवाह लें।"

दुखी होकर बोली—"अजी, इन राजाओं से क्या आशा। कुछ दिन पहिले महाराज ययाति के पुत्र राजकुमार पुरु ने मुझे स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया था, पीछे उसने भी छोड़ दिया।"

तब नारदजी हँसकर बोले - "तब फिर तुम अपने को कुमारी क्यों बताती हो यों कहो मैं स्वैरिणी हूँ। बिना भोजन मिले की एकादशी व्रत करने वाली हूँ। जाओ जाओ यवनेश्वर के समीप जाने पर ही तुम्हारा मनोरथ पूरा हो जायगा।"

यह सुनकर वह यवनेश्वर भय के समीप गई और जाकर बोली—"देखो, मैं विवाह के लिये बड़ी उत्सुक हूँ। मैं अपने अनुरूप पति चाहती हूँ। ऐसे वैसे पुरुष से मैं विवाह नहीं कर सकती। आप यवनों के अधिपति हैं। आप मुझे स्वीकार कर लें। राजा के पास जो जिस सकल्प से आता है, वह उसका अवश्य पूरा होता है।"

यवनेश्वर ने कहा—"तुम कैसी धर्म विरुद्ध बातें कर रही हो?"

उस चपला ने अपनी चपलता प्रकट करते हुए कहा—

"देखिये, मैं धर्म विरुद्ध बातें नहीं कर रही हूँ। मुझे शास्त्रों का ज्ञान है। शास्त्रकारों ने कहा है, कि जो शास्त्र विहित दान नहीं देता, अथवा अधिकारी होकर जो श्रद्धा से दान दे उसे ग्रहण नहीं करते वे दोनों ही दोषी माने जाते हैं। देखिये, मैं आपको अपना सर्वस्व समर्पित करना चाहती हूँ। मैं आपकी जीवन भर की चिरसंगिनी धर्मपत्नी बनना चाहती हूँ, आप मुझे स्वीकार करें। मैंअत्यन्त दीना हूँ, दयालु पुरुष सदा दीनों पर दया करते हैं। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मुझे कृतार्थ करें। सब स्थानों से मैं निराश ही लौटी हूँ, किसी ने मुझे स्वीकार नहीं किया है। आपके द्वार से भी मैं निराश न लौटूँ। नारदजी ने मुझे आपका पता बताया है और आपकी शरणागत वत्सलता की बड़ी प्रशंसा की है।"

उस कुरूपा कालकन्या की ऐसी चिकनी चुपड़ी बातें सुनकर यवनराज हँसते हुए कहने लगे—"देवि! मैं तुम्हें जानता हूँ, योगदृष्टि से मुझे तुम्हारा सब समाचार विदित है। तुम काल की कन्या हो। विवाह तो उसी के साथ होता है जिसका पूर्वजन्म के साथ संस्कार बदा हो। मेरा तुम्हारा पति पत्नी का सम्बन्ध बदा नहीं है। अतः मैं तुम्हें पत्नी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता।"

कुछ रोष के साथ कालकन्या ने कहा—"मैं जहाँ भी जाती हूँ, वहीं मेरा ऐसा अपमान होता है, न जाने विधाता! मेरे भाग्य में क्या बदा है?"

सहानुभूति प्रकट करते हुए यवनदेव ने कहा—"देवि! क्रोध करने की कोई बात नहीं। सत्य बात तो यह है, कि तुम सबका अनिष्ट करने वाली हो इसीलिये तुम्हें कोई प्यार नहीं सकता।"

कालकन्या ने खीजकर कहा—"तब क्या मैं जन्म भर क्वारी ही बनी रहूँ।"

यवनराज ने कहा—"देखो, तुम्हें कोई स्वेच्छा से स्वीकार न करे तो यह जो कर्म जनित नामक लोक है, इसे ही तुम बलात्कार से गुप्त रूप से भोगो। यह लोक चाहे न चाहे तुम बिना चाहे ही इसके सिर पर सवार हो जाओ।"

कालकन्या ने कहा--"यह कर्म जनित लोक तो बलवान् है मैं अबला ठहरी। मैं इसके साथ बलात्कार कैसे कर सकती हूँ।"

यवनराज ने कहा—"देखो, इसका मैं उपाय बताता हूँ। मेरी बड़ी भारी सेना है। मेरा एक छोटा भाई है, उसका नाम है प्रज्वार। तुम उसे साथ लेकर मेरी सेना सहित लोक मे जाओ। तुम्हारे द्वारा सम्पूर्ण लोक का नाश हुआ करेगा। प्रज्वार मेरा भाई है तुम मेरी बहन हुई। तुम दोनों जाकर नगरों पर चढ़ाई करो इस लोक को भोगो। मैं भी तुम्हारे साथ छिपकर रहा करूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! यवनराज की बात कालकन्या ने स्वीकार की। अब प्रज्वार और कालकन्या दोनों ने पुरजन की पुरी पर धावा बोला और उस पर अपना अधिकार जमा लिया।"

छप्पय

व्याह करन सकेत समुझि बोल्यो मुनि चण्डी।
व्याह न हौं अब करूँ भागि ह्यौं ते मुस्टण्डी॥
भई कुपित अति शाप दयो फिर रहौ न तुम मुनि।
हौं बोल्यो भय बरो, गई ताको वैभव सुनि॥
भय भाई प्रज्वार सँग, फिरे लोकमहँ बहिन बनि।
पुरी परजन की गई, ताकी नृप अब कथा सुनि॥

———

पुरञ्जनकी पुरी का विध्वंस

(२६४)

यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया ।
पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

संग लियो प्रज्वार पुरंजन पुर में आई ।
भोगे पुर के भोग अराजकता फैलाई ॥
भयो पुरजन कृपण नहीं मारग शुभ सूझै ।
पांच फननि को स्याँप कहाँ तक इकलो जूझै ॥
प्रबल वीर प्रज्वार ने, आगि लगाई जरयो पुर ।
तोरि फोरि विध्वंस करि, करयो नाश नृप को नगर ॥

मनुष्य चाहे कि मैं अपने पुरुषार्थ से भावी को मेट दूँगा, तो यह असम्भव है। सभी प्राणी स्वकर्म सूत्र से बँधे हैं। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे सभी तो काल की प्रेरणा से कार्य कर रहे हैं। संसार चक्र के समान घूमता रहता है, उन्नति के पश्चात् अवनति, उत्थान के पश्चात् पतन यही क्रम लगा रहता है।

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन्! पुरजन पुरी को कालकन्या से व्याप्त और अपने घर को यवनो के हाथ मे गया देखकर तथा प्रज्वार के उपद्रवो से अत्यन्त पीडित वह पुरी की रक्षा करने वाला पांच फनो वाला सर्प भी अत्यन्त दुःखी हुआ।"

आज जिस रुपये को एक आदमी अपना कहता है कल वही दूसरे का कहलाने लगता है। आज जिस घर को सेठजी मेरा मेरा कहते हैं कल उसके फाटक से सिपाही उन्हें घुसने नहीं देते। संसार में मेरा क्या है। सब तेरा ही तेरा है।

नारदजी कहते हैं—"राजन! पुरजन की बड़ी सुन्दर पुरी थी। उसे पाकर वह प्रसन्नता से फूला नहीं समाता था। अपनी प्रिया के संग आनन्द विहार करते हुए उसे संसार का कुछ पता ही नहीं चलता था। पहिले तो गन्धर्व और गन्धर्वियों ने उस पुर में लूट पाट की, अब यवनराज भय के भाई प्रज्वार ने कालकन्या को साथ लेकर इस पुर पर अधिकार जमा लिया। कालकन्या बड़ी भयंकर और डरावनी थी। पुरजन की इच्छा नहीं थी, उसे अपनाये या प्यार करें। किन्तु वह डॉइन तो बलात्कार उससे चिपट गई। उसने इच्छा न रहने पर भी पुरजन को अपने अधीन कर लिया। उसी समय प्रज्वार ने उस भरी पूरी सुन्दर नगरी में आग लगा दी। बेचारा पुरजन जलने लगा। प्रज्वार के सैनिक भी जिसे जिस रास्ते से अवसर मिला उसी रास्ते से पुरजन के पुर में घुस गये। अब चारों ओर तोड़ फोड़ लूट-पाट अग्निदाह हाहाकार मचने लगा। पुरजन को कालकन्या ने कसकर पकड़ रखा था, वह तो उसके हाथ का ऐसा खिलौना बन गया, कि कुछ कर ही नहीं सकता था। कोई लूट करो या कोई नष्ट करो वह मन ही मन जलता रहता। अब तक वह अपने को पुरी का स्वामी समझता था, किन्तु उसके सामने ही सैनिक उसका विध्वंस कर रहे हैं वह कुछ कर नहीं सकता। ममता ज्यों की त्यों बनी है। अतः उसका अन्तःकरण रह रह कर रुदन करने लगा।

अब तो पाशा ही पलट गया। कालकन्या के बलात्कार करने से सभी उसके विरुद्ध हो गये। पुत्र, पौत्र, भृत्य, मन्त्री अब

उसकी आज्ञा नहीं मानते थे। पुरंजन की सुन्दर सजी हुई पुरी निरन्तर गन्धर्व और यवनों के आक्रमण से श्री-हीन हो गई। इससे राजा अत्यन्त दीन, बुद्धिहीन, ऐश्वर्यहीन, विषय वासना-ग्रस्त बन गया। स्त्री का भी अब पहिले जैसा स्नेह नहीं रहा, उसके भी व्यवहार में रूखापन आ गया। जितने उसके सखा सेवक तथा मन्त्री थे, सभी शत्रुओं के अधीन हो गये। इन सब विपत्तियों से छूटने का बहुत सोचने पर भी उसे कोई उपाय दिखाई नहीं दिया।

अब उसने सोचा—"इस कालकन्या ने तो मुझे क्रीडा मृग बना ही रखा है, पुरी मेरी किसी काम की रही नहीं। मेरी स्त्री यद्यपि मुझसे बहुत प्यार करती है, किन्तु इस कुरूपा कुलटा कालकन्या ने तो मुझे बलपूर्वक मेरी इच्छा न होने पर भी कस कर अपने बाहु पाशों में बाँध रखा है। अतः अब इस सारहीन श्रीहीन निस्सार पुरी को त्याग देना चाहिये।"

यवनराज भय और प्रज्वार तो यह चाहते ही थे, किसी प्रकार यह यहाँ से भागे, अतः उन्होंने अब नित्य ही अग्निदाह लूट-पाट आरम्भ कर दी। इससे समस्त पुरवासी, सेवक, स्वजन कुटुम्बी तथा रानी पुरंजनी भी दुखी हुई। लड़ने वाला, रक्षा करने वाला वह पाँच फन वाला सर्प ही था। वह अकेला इतने शत्रुओं से एक साथ कब तक युद्ध करता। वह भी थक गया और अब उसकी भी शक्ति क्षीण होने लगी थी। वह भी बूढ़ा हो चला था। चारों ओर तो संताप सब ओर तो अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित शत्रु सैनिक, बीच में बिचारा अकेला सर्प उसी प्रकार जलने लगा जैसे सूखे वृक्ष के कोटर में बैठा पक्षी उसमें आग लगने से जलने लगता है। अब उस सर्प ने भी वहाँ से भागना ही उचित समझा। वह भागकर किसी दूसरी पुरी में जाने को उद्यत हुआ।

स्वयं पुरंजन तो विषय भोग करना जानता था। रक्षा का समस्त भार तो उस सर्प के ही ऊपर था। उस सर्प को भी जाते देखकर पुरंजन अत्यन्त भयभीत होने लगा। अब उसे चारों ओर निराशा ही निराशा दिखाई देने लगी। सर्वत्र अधकार ही अन्धकार प्रतीत होने लगा। वह रोने धोने लगा, चिल्लाने बिलबिलाने लगा। अपने पुर, पुत्र, पौत्र, पुत्रबधू पुत्री, जामाता, सेवक, स्वजन, घर, द्वार, कुटुम्ब, परिवार तथा अन्यान्य अपने कहलाने वाले पदार्थों के लिये चिन्ता करने लगा। अब उसे सब चीजें अपने हाथ से जाती हुई भी दिखाई देने लगीं, किन्तु उनमें ममता ज्यों की त्यों बनी हुई थी। सबसे अधिक चिन्ता उसे अपनी प्यारी पुरंजनी की थी। अब वह बार-बार सोचने लगा—देखो, मुझे तो उस पुरी को छोडना ही होगा, किन्तु मेरे पीछे इस मेरी प्यारी पत्नी की क्या दशा होगी ? अब तक तो यह निश्चिन्त थी। मेरे न रहने पर इसे नाना चिन्तायें आकर घेर लेंगी। अभी बच्चे छोटे हैं उनका लालन पालन कैसे करेगी, कुछ कन्यायें अभी विवाह के योग्य हैं, उनके लिये वर ढूँढ़ने कहाँ जायगी, आज कपडे नहीं, लत्ते नहीं, छाते नहीं, जूते नहीं, किससे मँगायेगी। कहाँ से द्रव्य लावेगी, कौन इसकी देख रेख करेगा। आज तक कभी मुझे छोडकर कहीं गई नहीं, ससार का व्यवहार जानती नहीं। छल, कपट, धूर्तता यहाँ संसार मे फैला है, इसे यह अनभिज्ञ है। मुझसे कितना प्यार करती थी, सदा डरती रहती थी। मेरे बिना भोजन किये भोजन नहीं करती थी। मुझे जब तक स्नान न करा ले स्वय स्नान नहीं करती थी। यद्यपि अब वह पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्र वाली बन गई किन्तु मेरे सामने सदा भयभीत ही बनी रहती थी। मैं तनिक झिड़क देता था, तो थर-थर काँपने लगती थी। वह माता के समान प्यार से भोजन कराती, मन्त्री के समान सदा शुभ सम्पति देती रहती, मित्र के समान सदा

हित में रत रहती। कामधेनु के समान सदा सभी भोग की सामग्रियों से मुझे सतुष्ट करती रहती। जब कभी मैं किसी कार्यवश परदेश चला जाता, तो विरह व्यथा में व्यथित हुई अत्यन्त दुर्बल बन जाती, प्रत्येक कार्य में वह मेरा मुँह जोहती रहती। अब वह मेरे बिना गृहस्थी की गाड़ी को कैसे चलावेगी, कैसे इस बोझ से भरी बडी गाड़ी को आगे बढ़ावेगी। कैसे पुत्र पौत्र और प्रपौत्रों का पालन-पोषण करेगी। मुझे सबसे अधिक चिन्ता इसी की है। मुझे धन की उतनी चिन्ता नहीं, स्वजनों का उतना अनुराग नहीं, और पदार्थों में उतना मोह नहीं। समस्त सामग्रियों में उतना आकर्षण नहीं। मुझे जो चिन्ता है, वह इसी अबला की है। अपनी सहचरी धर्मपत्नी और चिरसंगिनी की विरह व्यथा से ही मैं अत्यन्त व्यथित हूँ।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार दीन मलीन हुआ पुरंजन अपनी प्यारी पत्नी की ही प्रति पल चिन्ता करने लगा, उसी के शोक में संतप्त हो उसी के ध्यान में मग्न रहने लगा। वह मूर्ख यह भूल गया था कि मुझे अपने लिये भी कुछ शोक करना चाहिये। वास्तव मे अत्यन्त सोचयीय तो वही था, जिसने नर तनु पाकर भी परलोक की चिन्ता नहीं की, प्रभु पादपद्मों में प्यार नहीं किया।"

जब प्रज्वार ने पुरी को जला दिया तो यवनो के स्वामी भय देव वहाँ आ गये। उन्होंने पुरजन को कसकर बाँध लिया और उसे लेकर अपनी राजधानी में चले। पुरजन को विवशतापूर्वक जाते देखकर उसके स्वामिभक्त सेवक भी उदास मन होकर उसके पीछे-पीछे चले। यवनों ने जिस पाँच फन वाले घायल हुए सर्प को रोक रखा था, वह भी सर्र से पुरी से निकल भागा, उसके निकले ही पुरी छिन्न भिन्न हो गई। मिट्टी मिट्टी में मिल गई, कार्य कारण में विलीन हो गया। पुरजन की सहायता करने

वाला कोई भी न निकला। जिन्हें अपना कहता था, उन सबने साथ नहीं दिया। एक उसका अज्ञात नाम मित्र था, उसका स्मरण करता, तो वह उसकी इस संकट से रक्षा कर भी सकता था किन्तु उसे तो वह सर्वथा भूल ही गया था। अतः यवनों द्वारा बलपूर्वक ले जाया गया। परलोक में जाकर जिन पशुओं को उसने काटा था, वे उसे काटने लगे। अब राजा पुरंजन की पुरी तो छिन्न-भिन्न हो गई, किन्तु वह अपनी प्यारी पत्नी को न भुला सका, उसी का निरन्तर ध्यान करता रहा।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! अन्त में मनुष्य जिसका ध्यान करते हुए मरता है, वह दूसरे जन्म में उसी को प्राप्त होता है। पुरजन अपने स्त्री का ही ध्यान करते-करते मरा था, अतः वह दूसरे जन्म में स्त्री ही हुआ।"

इस पर राजा बोले—"महाराज! पुरंजन स्त्री कैसे हुआ? स्त्री बनकर उसने क्या-क्या कार्य किया। इसे सुनने की मेरी बड़ी इच्छा है, कृपया पुरंजन की स्त्री जन्म के उपाख्यान को और सुनावें।"

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन्! यह कथा बड़ी ही रोचक और शिक्षाप्रद है। उसे मैं सुनाता हूँ, आप ध्यानपूर्वक सुनें।" यह कहकर नारदजी आगे की कथा कहने को उद्यत हुए।"

छप्पय

यवनराज भय आइ पुरजन बाध्यो तबई।
पकरि चले लै भृत्य भये सँग परवश सबई॥
जात पुरंजन लख्यो सर्र करि स्याँप सिधार्‌यो।
सब सैनिक उद्दंड पुरंजन पुरकूँ जार्‌यो॥
यह वियोग दुरसह प्रिये, नहीं जात मोपै सह्यो।
नारी की चिन्ता करत, अन्त नारि भूपति भयो॥

पुरञ्जन का स्त्री-योनि में जन्म

[२९५]

तामेव मनसा गृह्णन्बभूव प्रमदोत्तमा ।
अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥*

(श्रीमा० ४ स्क० २८ अ० २८ श्लोक)

छप्पय

नारीमहँ चित फँस्यो भयो नृप नरतें नारी ।
नृप विदर्भ के महल, भई कन्या सुकुमारी ॥
भई सयानी पिता स्वयंबर साज सजाये ।
रूप ख्याति सुनि देश देश के नरपति आये ॥
पाण्ड्य देश के छत्रपति, मलयध्वज कन्या वरी ।
पति पायो प्रमुदित भई, पटरानी नृप ने करी ॥

मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है। 'अन्ते या मतिः सा गतिः' यह लोकोक्ति सत्य ही है। अन्त में जिसकी चिन्ता करते-करते मरेंगे, दूसरे जन्म में वही प्राप्त होगा। गृह, द्वार, कुटुम्ब-परिवार, धन, स्त्री जिसमें भी अधिक ममता होगी, अन्य जन्म में किसी न किसी रूप में वे ही मिलेंगे। चित्र-यन्त्र के सामने कितनी ही आकृतियाँ आती हैं सभी अंकित नहीं हो

* नारदजी कहते हैं—"राजन् ! राजा पुरजन उसी अपनी स्त्री का अन्त में चिन्तन करते हुए मरने से राजसिंह विदर्भ के घर में बड़ी सुन्दर कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ।"

जाती। अंकित वही होती है, जो बटन दबाते समय उसके सम्मुख होती हैं। इसी प्रकार मरते समय जिसकी चिन्ता रहेगी, वही होना पड़ेगा। मरकर पुण्यात्मा स्वर्ग के सुखों को भोगने जाते हैं, पापात्मा नरकों की यातना भोगने जाते हैं। पुण्य समाप्त होने पर कुछ पुण्य शेष रहने पर उन्हें फिर पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है, इसी प्रकार पापों का फल भोग लेने पर नरक से भी कुछ पाप शेष रहने पर जीव पृथ्वी पर भेज दिया जाता है। जिनके पाप पुण्य प्रायः समान होते हैं, वे नरक स्वर्ग न जाकर फिर मनुष्य योनि में उसी समय जन्म धारण कर लेते हैं। जब तक भगवान में ध्यान नहीं लगता, यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक यह आवागमन का क्रम चौरासी का चक्कर लगा ही रहता है।

नारदजी कहते हैं "राजन्! पुरंजन ने पछिताते हुए अत्यन्त दुःख के साथ प्राणों का परित्याग किया। उसने यज्ञादिक कर्म किये थे, अतः स्वर्ग में गया। वहाँ भी वे यज्ञीय पशु अपना बदला लेने बैठे थे, उन्होंने उससे अपना बदला लिया। यातना शरीर को कष्ट पहुँचाया। उन सब भोगों को भोगने के अनन्तर स्त्री की चिन्ता करते-करते मरा था। अतः स्त्री योनि में जन्म लेना पड़ा। रानी का ही ध्यान रहा। अतः राजा विदर्भ की राज महिषी के गर्भ से राजकुमारी के रूप में प्रकट हुआ। अब पूर्वजन्म की सब बातें भूल गया अब तो अपने को लड़की ही समझने लगा। पहिले कहता था 'मैं जाता हूँ आता हूँ' अब कहने लगा—'मैं जाती हूँ, आती हूँ, खाती हूँ, पीती हूँ।" पुराना राजमद भूल गया, स्वयं ही साज शृङ्गार करने लगा। शनैः शनैः शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान यह सुकुमारी राजकुमारी बढ़ने लगी। अब तो उसकी चाल में चञ्चलता आ गई। दृष्टि में तीखापन, अङ्ग-अङ्ग में सिहरन, शरीर से यौवन मद फूट-

फूटकर निकलने लगा। आँखों से झाँककर युवावस्था कुछ रहस्य-मय संकेत करने लगी। माता-पिता को चिन्ता हुई, देश-देश के राजकुमारों के समीप सम्वाद भेजा कि हमारी लड़की का स्वयंवर है, जो बल पराक्रम में सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होगा, उसी के साथ मैं अपनी कन्या का विवाह कर दूँगा। मेरी कन्या का शुल्क वीर्य ही है। पराक्रम के द्वारा ही जीती जा सकती है, मेरी त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या का पति भुवन विख्यात शूरवीर ही हो सकता है।"

कन्या के रूप, शील, यौवन और सद्गुणों की ख्याति सुन-कर उसे पाने के लोभ से देश-देश के हजारों राजकुमार उसी प्रकार आये, जिस प्रकार दीपक की लोय को देखकर पतिंगे दौड़े आते हैं। अपना-अपना बल पराक्रम दिखाने को उन सबमें संघर्ष हुआ, युद्ध हुआ। सभी को पांड्य देश के राजा ने जीत लिया, वे सबसे श्रेष्ठ शूरवीर सिद्ध हुए। अतः उन्हीं के साथ विदर्भ-नन्दिनी का विवाह हुआ। अब तो वह कजीली कटीली आँखों में काजल लगाकर घूँघट की ओट से पांड्य नरेश पर चोट करने लगी। दोनों बड़े प्रेम से एक दूसरे को प्यार करने लगे। क्षण भर का वियोग भी एक दूसरे को असह्य हो जाता, दोनों एक दूसरे को पाकर संसार को भूल गये। समय पाकर उस विदर्भ कुमारी के गर्भ से एक कन्या रत्न का जन्म हुआ। उसकी काली-काली आँखें बड़ी ही मनमोहक थीं, अतः उसका नाम रखा गया 'असितेक्ष'। उस कन्या के जन्म के अनन्तर क्रमशः उसके ७ पुत्र और हुए। बड़े शूरवीर, प्रतापी और पर पुञ्जय थे। वे सातों द्रविण देश के राजा हुए। उन सातों के इतने पुत्र हुए कि उनकी गणना करना असम्भव है। यों समझिये कि उनके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों से ही पृथ्वी भर गई और मन्वन्तर पर्यन्त उनके ही वंशज इस सप्तद्वीपवती पृथ्वी को भोगते रहे।

महाराज मलयध्वज की जो सबसे बड़ी प्रथम पुत्री थी उसका विवाह भगवान् अगस्त्य ऋषि के साथ हुआ। वह राज कुमारी से ऋषिपत्नी हो गई। उसके गर्भ से एक सर्व लक्षण सम्पन्न दृढ़च्युत नामक पुत्र हुआ। उस दृढ़च्युत का पुत्र इध्म वाह हुआ। इस प्रकार उसके पुत्र और पुत्री का वंश आगे पृथ्वी पर विख्यात हुआ।

महाराज मलयध्वज बड़े धर्मात्मा थे। जब उन्होंने देखा कि वृद्धावस्था घात लगाये बैठी है और धीरे-धीरे मेरे शरीर पर अधिकार जमाकर मुझे विषयभोग तथा राजसुखों से हटाना चाहती है, तो उन्होंने सोचा—"विवश होकर क्यों छोड़े। एक दिन जब इन सब राज, कोष, गृह, संसारी सुखों को त्यागना ही है तो स्वेच्छा से इनका त्याग क्यों न कर दें। हटाने के लिये विवश करने के पूर्व ही स्वेच्छा से हम क्यों न हट जायँ।" यही सब सोच समझकर महाराज मलयध्वज ने अपना समस्त राज्य यथाधिकार सातों पुत्रों को बाँट दिया। राज्यभार पुत्रों के कंधों पर रखकर वे आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के चरणार विन्दों की आराधना करने के निमित्त नगर को छोड़कर वन के लिये चल दिये।

अपने पति को वन की ओर जाते देखकर विदर्भ-नन्दिनी भी उनके प्रेम पाश में बँधी हुई उनके पीछे-पीछे हो लीं। पांड्य नरेश महाराज मलयध्वज ने जब देखा कि मेरी धर्मपत्नी, जैसे चन्द्रिका चन्द्रमा का अनुसरण करती है, उसी प्रकार यह मेरा अनुसरण कर रही है, उसने घर, पुत्र, परिवार, समस्त विषय भोगों को तिलांजलि दे दी है तो उन्होंने उसके मार्ग में रोड़े नहीं अटकाये, उसे साथ चलने से रोका नहीं। वे दोनों राजा-रानी परम पवित्र तपोभूमि कुलाचल पर्वत के निकट जहाँ ताम्रपर्णी, अवरोदा और चन्द्रमसा नाम की तीन नदियाँ थीं, वहीं अपनी

एक पर्णकुटी बनाकर तपस्या में निरत रहने लगे। वे नित्य ही तीनों नदियों के पापहारी जल में स्नान करके अपने भीतर और बाहर के मलों को धोने लगे।

वन में रहकर वे कन्द, मूल, फल, फूल, दूब, पत्ते आदि खाकर अपने शरीर का निर्वाह करने लगे। दोनों मुनियों के समान रहते, कठोर तप करते, किसी की हिंसा नहीं करते थे। मौन रहते थे नित्य ही भगवान् की आराधना में अपने समय को बिताते हुए कालक्षेप करने लगे। इस प्रकार तपस्या करते-करते, सुख, दुःख, हानि, लाभ, प्रिय, अप्रिय, क्षुधा, पिपासा आदि द्वन्द्वों को उन्होंने जीत लिया। वे निर्द्वन्द हो गये। जब निर्द्वन्द और समदर्शी भाव स्थिर हो गये तब तपस्या, ज्ञान, यम, नियम, आसन प्राणायाम ध्यान-धरणा और समाधि आदि योगाङ्गों के द्वारा समस्त वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली। वासनाओं पर विजय प्राप्त होने से इन्द्रिय प्राण और मन अपने आप ही बस में हो गये। अब फिर क्या था। चित्त जब तक विषय वासनओं में फँसा रहता है तभी तक मलिन होकर इधर-उधर ससार में भटकता रहता है। जहाँ वह वासनारहित हुआ वहाँ ब्रह्म में तन्मय हो जाता है। ब्रह्म में लीन होने पर जगत् का अभाव हो जाता है। इस प्रकार सौ वर्ष पर्यन्त महाराज बिना हिले डुले स्थाणु ठूँठ की भाँति निश्चल समाधि में मग्न रहे। वे भगवान् वासुदेव के ध्यान में इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें भगवान् के सिवाय अन्य किसी भी वस्तु का भान ही न रहा।

जिस प्रकार दीपावली के दिन सब ओर से प्रकाश ही प्रकाश आता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार महाराज मलयध्वज के अन्तःकरण में दशों दिशाओं से ज्ञान का प्रकाश आने लगा। उस महान प्रकाश में वे गुरुओं के भी गुरु भगवान् वासुदेव

के ही दर्शन करने लगे, उन्हीं की अमर वाणी उन्हें सुनाई देने लगी, उनका ही दिव्य उपदेश उनके अन्तःकरण में प्रस्फुटित होने लगा। वे इस दृश्यजगत् को स्वप्नप्रयत्न के समान समझ कर अपने को सम्पूर्ण उपाधियों से रहित मानकर आत्मा को परब्रह्म में तथा परब्रह्म को आत्मा में मनाने लगे। उनका भेद-भाव नष्ट हो गया। अब उन्होंने उस वृत्ति को भी त्याग कर दिया, जिसके द्वारा अभेद चिन्तन करते थे। सारांश यह कि द्वैत-अद्वैत दोनों से पृथक होकर वे सर्वथा शान्त हो गये। आनन्द सागर में मग्न हो गये। उनका भेद, अभेद, भेदाभेद भाव सर्वथा विलुप्त हो गया।

महाराज की तो ऐसी उच्चावस्था थी, किन्तु पतिपरायणा विदर्भनन्दिनी अपने सम्पूर्ण शारीरिक सुखों को त्याग कर निरन्तर अपने पति रूप परमात्मा की परिचर्या में ही लगी रहती थी। उसने घर से चलते ही राजसी दिव्य वस्त्राभूषणों का त्याग कर दिया था। व्रत के क्लेशों को सहती हुई वह मुनि पत्नियों के समान रहने लगी। उसके शरीर पर वल्कल वस्त्र शोभित हो रहे थे। तैलादि स्निग्ध पदार्थ न लगाने से सम्पूर्ण अंग रूखे-रूखे काले और कठोर बन गये थे। निरन्तर व्रत उपवासों को करते-करते उनका सुकुमार शरीर कृश हो गया था, सिर के सम्पूर्ण बाल कंघी आदि न करने से चिपटकर जटा के रूप में बन गये थे। वह तपस्विनी अव्यग्र भाव से बड़ी तत्परता के साथ पति की सेवा में सदा संलग्न रहती थी।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार पूर्वजन्म का पुरंजन इस जन्म में स्त्री होकर पति की परिचर्या के प्रभाव से शुद्ध हो गया। वह ज्ञान का अधिकारी बन गया। अब जिस प्रकार उसे ज्ञान प्राप्ति हुई उसे मैं आपसे कहूँगा। अब कथा का सार

सिद्धान्त आवेगा। अतः चित्त को इधर-उधर चलायमान न होने दें।"

छप्पय

सात पुत्र इक सुता जनी सब भये सयाने।
भये सबनि के ब्याह भोग भोगे मनमनाने॥
मलयध्वज दै सुतनि राज गमने वन माहीं।
वैदरभी सँग चली देह सँग ज्यों परछाहीं॥
विषय भोग त्यागे नृपति, तप करि नित तनकूँ कसहिं।
कन्द मूल फल फूल तृन, करि अहार वनमहँ बसहिं॥

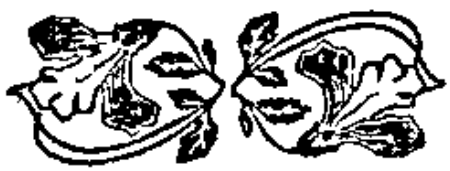

पुरञ्जन को स्त्रीयोनि में हंस द्वारा ज्ञान

(२९६)

तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान् ।
सान्त्वयन्वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २८ अ० ५१ श्लोक)

छप्पय

पति सेवा महँ निरत रहे वैदर्भी नितई ।
एक दिना निर्जीव देह पतिकी उत चितई ॥
स्वामि शोकमहँ विलखि, काठि चुनि चिता बनाई ।
मृतक देह धरि सती होनकूँ आगि लगाई ॥
पुरुष पुरातन को तबहिँ, दरशन रानी कूँ भयो ।
रोवति निरखी नारि तिन, दिव्य ज्ञान ताकूँ दयो ॥

भगवान् सर्व व्यापक हैं । वे घट-घट में व्याप्त हैं । जहाँ भी चित्त एकाग्र हो जाय, जिसमें भी भगवत् बुद्धि हो जाय, वहीं श्रीहरि प्रकट हो जाते हैं । अग्नि सर्व व्यापक है, जहाँ भी दो लकड़ियों का सावधानी से श्रमपूर्वक मन्थन किया जाय, वहीं अग्नि उत्पन्न हो जाती है और समस्त उपाधियों को भस्म करके

* नारदजी कहते हैं—"राजन् ! जब विदर्भनन्दिनी अपने पति के साथ सती होने का विचार कर रही थी, तो उसी समय उसके पूर्वजन्म का कोई पुराना मित्र आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहाँ आया और उस रोती हुई वैदर्भी को मीठी वाणी से समझाते हुए कहने लगा ।"

फिर अपने सत् स्वरूप में विलीन हो जाती है। आवश्यकता है एकाग्रता की तन्मयता की। जहाँ चित्त शुद्ध में तल्लीन हुआ तो उसकी चञ्चलता मलिनता मिटकर ब्रह्मरूप हो जाती है। इसीलिये शास्त्रों का सिद्धान्त है, मन ही मनुष्य के बन्धमोक्ष का कारण है, विषयासक्त मन बन्धन को बढाता है, शुद्ध हुआ मन सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कराता है।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज मलयध्वज योगाभ्यास करते-करते ब्रह्म में लीन हो गये, तब उनका मृतक शरीर वहाँ का वहीं स्थिर रहा। रानी समझ रही थी, मेरे पति समाधि मग्न हैं। वह उस रहस्य को न समझ सकी। सदा की भाँति उनकी सेवा करती रही।

एक दिन रानी ने देखा, महाराज के शरीर में पहिले जैसी उष्णता नहीं है। समाधि में तल्लीन होने पर भी उनके मुखमण्डल पर कान्ति छिटकती रहती थी पैरों में और मस्तक में उष्णता प्रतीत होती थी। केश और नख भी बढ़ते थे। किन्तु महारानी ने देखा अब पति के मुख मंडल पर तेज नहीं, म्लानता छायी हुई है। पैरों को देखा तो उनमें उष्णता नहीं वे शीतल हैं। सिर पर हाथ रखा तो वहाँ भी जीवन के कोई चिह्न नहीं। रानी को अब निश्चय हो गया कि मेरे प्राणपति सदा के लिये इस असार संसार को त्याग गये। यह उनका प्राणहीन मृतक शरीर है। अब क्या हो सकता है, रानी का धैर्य छूट गया, वह बिलख-बिलख कर रोने लगी। यूथ से भटकी मृगी की भाँति वह उदास मन से विलाप करने लगा। अपने नयनों के नीर से वक्षःस्थल को भिगोती हुई वह अपने करुण क्रंदन से दिशाओं को गुँजाने लगी। वह महाराज के मृतक शरीर को हिलाती हुई बार-बार पछताती हुई कहने लगी—"महाराज! आपने तो कहा था, मैं तेरा सदा भरण-पोषण करूँगा। फिर आप मुझ दीना को यहाँ

वन में त्यागकर अकेले ही स्वर्ग क्यों सिधार गये ? आप इस भूमि का आलिङ्गन करके बैठे हैं, मुझे स्पर्श क्यों नहीं करते ? आप मेरे पति हैं और इस भूमि के भी पति हैं। मुझसे कोई अपराध बन गया हो, जिसके कारण आप मेरी रक्षा नहीं करते, तो अपनी इस पत्नी पृथ्वी का तो पालन करें। देखिये, इस पर दस्युओं ने आतंक जमा रखा है। राजन् ! अब आप उठें। मुझ को सनाथ बनावें।"

इस प्रकार वैदर्भी भाँति भाँति से विलाप करती रही। पति के बिना उसे चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगा। वह बार-बार अपने पति के पाद पद्मों में पड़ जाती, रोती बिलखती हुई पछाड़ खाती, फिर उठकर इधर-उधर देखती रही। अंत में निराश होकर उसने धैर्य धारण किया। अपने आपको समझाया। वन में इधर उधर से सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी की और उनसे चिता बनाकर उसपर अपने पति के मृतक शरीर को रखा। फिर आग लगाकर चिता की परिक्रमा करके ज्योंही उसने अपने शरीर को भी पति के साथ जलाने का विचार किया, त्योंही उसे दूर से एक मधुर वाणी सुनाई दी। देवि ! ऐसा दुस्साहस मत करो। तनिक ठहरो, मेरी बात सुन लो तब तुम्हें जो कुछ करना हो वह करना।"

वैदर्भी ने इधर- उधर आश्चर्य के साथ देखा कि इतने स्नेह से इतनी ममता के साथ मुझे कौन मना कर रहा है। उसी समय उसे सामने से एक तेज पुंज वृद्ध ब्राह्मण पुरातन पुरुष आते हुए दिखायी दिये। उनका मुख मंडल दिव्य प्रकाश से व्याप्त था, वे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे, द्रुतगति से इसी ओर आ रहे थे। उन्हें आते हुए देखकर रानी सहम गई। उनके तेज के सम्मुख उसे कुछ कहने का साहस नहीं हुआ और न उनकी आज्ञा को उल्लङ्घन करने की शक्ति ही उसमें रही। वह केवल हाथ जोड़े

हुए निर्निमेष दृष्टि से उन महात्मा को देखती की देखती ही रह गई।

महात्मा ने अपनी अत्यन्त सुमधुर गम्भीर वाणी में उसे समझाते हुए कहना आरम्भ किया।

ब्राह्मण बोले—"तुम कौन हो ?"

हाथ जोड़कर रानी ने कहा—"देव ! अबला इन राजर्षि की चिरसंगिनी धर्मपत्नी हूँ।"

ब्राह्मण ने फिर पूछा—"तुम किसकी पुत्री हो ?"

दीनता के स्वर में रानी ने कहा—"हे विप्रवर ! राजसिंह विदर्भराज की प्यारी पुत्री हूँ।"

ब्राह्मण ने कहा—"यह पुरुष जो तुम्हारे सम्मुख सोया हुआ है वह कौन है ? तुम इस प्रकार दुखी क्यों हो रही हो ? किसके लिये ऐसा विलाप कर रही हो ?"

रानी ने कहा—"ये मेरे प्राणनाथ जीवनाधार पाण्ड्य देश के स्वामी मुझ अभागिनी अबला के पति हैं। ये अपना राज्य पाट छोड़कर यहाँ वन में तपस्या करने आये थे। यहाँ मुझे छलकर ये अकेले परलोक पधार गये, मैं भी इन्हीं के पथ का अनुसरण करूँगी। इन्हीं के पद चिन्हों को खोजती हुई परलोक में इनके साथ निवास करूँगी।"

यह सुनकर हँसते हुए उन ब्राह्मण ने कहा—"क्या तुम मुझे जानती हो ?"

हाथ जोड़कर रानी ने कहा—"नहीं, भगवन् ! मैंने तो इसके पूर्व आपके कभी दर्शन किये नहीं थे।"

अपनी हँसी को रोकते हुए ब्राह्मण देव ने कहा—"अरे, तुम मुझे भूल गई ? मैं तुम्हारा मित्र हूँ।"

यह सुनकर कुपित होकर रानी बोली—"देखिये, महाराज ! आप वाणी को सम्हाल कर बोलिये। पतिव्रताओं का अपने पति

को छोड़कर दूसरा कोई भी मित्र नहीं होता, मित्र की तो बात ही क्या वे पर पुरुष की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखतीं।"

यह सुनकर ब्राह्मण हँसे और बोले—"अरे, तुम तो मित्र! अपने को सर्वथा भूल ही गये। पहिले तो तुम मेरे सदा संग रहते थे। मेरे ही साथ सर्वथा विचरण किया करते थे। अब अपने को स्त्री मानकर 'मैं नहीं जानती' ऐसे कहने लगे हो?"

चौंककर रानी ने कहा—"महाराज! मुझे तो कुछ स्मरण आता नहीं।"

ब्राह्मण ने कहा—"देखो, मेरा नाम अविज्ञात है, हम तुम दोनों ही साथ रहने वाले मानसरोवर के हंस थे। एक बार तुम्हारी इच्छा हुई कि मैं पृथ्वी के भोगों को भोगूँ। देखें उनमें कैसा सुख है। मैंने तुमसे बहुत मना भी किया, किन्तु तुम माने ही नहीं। चले गये और इस चक्कर में फँसकर हंस से कौआ बन गये। निर्मल से समल हो गये।"

रानी ने कहा—"अभी तक तो महाराज! मुझे ध्यान आया नहीं।"

ब्राह्मण गम्भीरता के साथ बोले—"अरे, भाई! ध्यान कैसे आवे, तुम तो कारे मूंड़ वाली के चक्कर में फँस गये थे। बात यह थी कि हम तुम दोनों बड़े ही स्वच्छ, निर्मल और देदीप्यमान थे। मानसरोवर के निर्मल जल में शुद्ध स्वभाव से विचरण करते और किलोलें किया करते। किसी कारण से तुम्हारे सिर पर भूत सवार हो गया। तब हम सहस्रों वर्ष बिना किसी निवास स्थान निर्द्वन्द्व आश्रयहीन होकर स्वच्छन्द विचरते थे। तुम आश्रय की खोज में मुझसे मुख मोड़कर नाता तोड़कर पृथ्वी पर विचरने लगे और नाना नगरों को देखते भालते एक नवद्वार वाली सुन्दर पुरी में पहुँच गये। वह नगर किसी स्त्री का रचा

हुआ था। तुम्हारा मन लुभा गया। तुम उस महरारू के फन्दे में फँस गये।"

रानी ने पूछा—"महाराज ! कैसा नगर ?"

ब्राह्मण हँस पड़े और बोले—"अब सब भूल गये तुम देवता-जी ! उस नगर में ५ बगीचे, ९ द्वार, एक द्वार रक्षक, तीन पर कोटे, ६ इच्छित वस्तुओं के देने वाले वैश्य, ५ बाजार और ५ उपादान कारण थे। उसकी एक परम शक्तिमती स्वामिनी थी, उसका नाम बुद्धिदेवी था। ऐसे नगर में जब तुम घुस गये, तो तुम अपने आपको भूल गये। तुम उस नगरी की स्वामिनी पर मुग्ध हो गये, उसके साथ आनन्द विहार करने लगे। उसी की निरन्तर संगति से तुम इस दशा को प्राप्त हो गये। पुरञ्जनी के पति होकर आज तुम एक राजा को अपना पति मान रहे हो ? पुरुष से स्त्री अनुभव कर रहे हो।"

यह सुनकर अब तो रानी की आँखें खुलीं। उसने सावधान होकर कहा—"तो भगवान्, मैं वैदर्भी नहीं हूँ ?"

ब्राह्मण बोले—"महाभाग ! न तो आप निदर्भराज की प्यारी पुत्री ही हैं, और न जो यह सामने मृतक देह पड़ी है, वह मलय-ध्वज तुम्हारा पति ही है।"

रानी ने कहा—"यदि स्त्री नहीं तो पुरुष हूँगा। इसकी पत्नी न सही, जिस पुरंजनी का आप नाम बता रहे हैं, उसका पति हूँगा।"

ब्राह्मण बोले—"न तुम रानी न राजा, न मलयध्वज की पत्नी न पुरजनी के पति। न तुम स्त्री न पुरुष न नपुसक। तुम स्वच्छ निर्मल ममता से रहित हंस हो।"

अब तो उसको चेत हुआ। उसने पूछा—"महाराज ! आप कौन हैं ?"

ब्राह्मण वेषधारी हंस ने कहा—"मैं भी हंस हूँ, तुम भी हंस

हो। हम तुम सगे भाई-भाई हैं। भाई-भाई क्या एक ही हैं। हम तुम में कोई भेदभाव नहीं, कोई अन्तर नहीं कोई द्वैत नहीं। जो तुम हो, वह मैं हूँ, जो मैं हूँ, वह तुम हो। तुम मुझसे अन्य नहीं, मैं तुम से पृथक् नहीं। समझे कुछ ?"

उसने कहा—"क्या समझे महाराज! आप तो बड़ी गोल-मोल-सी बातें कर रहे हो। हम आप दो होकर एक कैसे हैं, यह बात मेरी समझ में आती नहीं।"

ब्राह्मण गम्भीरता के साथ कहने लगे—"हे मित्र! जो तुम हो वह मैं हूँ। जो मैं हूँ, वह तुम हो। इस बात का पुनः-पुनः निश्चय करो, हंसो हंसो हंसो हंसो बार-बार रटो। हंसो हंसो रटते-रटते सोऽहं हो जायगा। तब तुम्हें बोध हो जायगा। वह मैं ही हूँ। वह मुझसे भिन्न नहीं है। भेद तो उपाधि कृत है बुद्धिमान पुरुष उपाधि को नहीं देखते। किसी काल में भी वे हम में और तुम में भेदभाव का अनुभव नहीं करते।"

उसने पूछा—"यह जो प्रत्यक्ष दो दिखाई दे रहे हैं, उसे एक कैसे समझें ?"

ब्राह्मण बोले—"यह तो सीधी-सी बात है। देखो, पुरुष जब दर्पण लेकर उसमें अपना मुख देखता है, तो कैसा सुन्दर स्वच्छ और बड़ा दिखाई देता है। उसी समय पास में बैठे पुरुष की आँखों की पुतलियों में अपना रूप देखता है, उसमें छोटा-सा रूप देखता है। दर्पण और आँख की पुतली में दीखने वाला प्रतिबिम्ब एक ही का बिम्ब है। दर्पण वाला पुरुष और पुतली वाला पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न दीखने पर एक ही के प्रतिबिम्ब हैं। उनमें तत्वतः कोई भेद नहीं। जिस प्रकार दर्पण और पुतली के पुरुष में अन्तर है उसी प्रकार हम दोनों में भी अन्तर समझना चाहिये।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार उस पुरातन पुरुष

हंस ने अपने बिछुड़े हुए हंस को जब अपना सच्चा स्वरूप स्मरण कराया तो वह स्वस्थ हुआ। उसे आत्मज्ञान की उपलब्धि हुई। वह स्त्रीपन को भूल गया। अपने पति के वियोग दुःख को भूल कर वह आनन्द में निमग्न हो गया।"

नारदजी की इस कथा को सुनकर महाराज प्राचीनवर्हि ने पूछा—"फिर महाराज! क्या हुआ?"

नारदजी ने कहा—"भाई, होना था सो हो गया। अब क्या हुआ। नमक, क्षारसमुद्र, की थाह लेने गया था, उसी में घुलकर एक हो गया। जमा हुआ पानी पिघल कर मिलकर फिर पानी का पानी हो गया। जब तक बहू दूर थी, दुलहा दूर था, तब तक इसे बुला, उसे बुला। बाजे लाओ, पालकी लाओ। वे बड़े बूढ़े हैं, वे बरात में न चलेंगे तो कैसे विवाह होगा। पचासों झंझट हैं। जहाँ ७ बार अग्नि के चारों ओर गाँठ बाँध कर दोनों फिरे कि सब समाप्त हो गया। दूल्हा दुलहिन मिल गये। एक दूसरे ने परस्पर में हाथ पकड़ लिया। अब बरात कहाँ जाओ, पण्डितजी अपनी पोथी पत्रा बाँधकर चले जायँ। खेल समाप्त हो गया। अपना अपने से मिल गया। यह गूढ़ कहानी है राजन्!"

महाराज प्राचीनवर्हि ने पूछा—"यह भगवन्! कोरी कल्पना ही है या इस कहानी का कुछ तात्पर्य भी है?"

नारदजी ने कहा—"राजन! यह साधारण राजा रानी की कहानी नहीं है। इसमें आत्मज्ञान का गूढ़ तात्पर्य छिपा हुआ है। यह मैंने कहानी के मिससे परोक्ष रूप से गूढ़ से गूढ़ अद्वय ज्ञान सुनाया है।"

महाराज प्राचीनवर्हि ने कहा—"महाराज! यह आपने घुमा फिरा कर ऐसी बातें क्यों कहीं। यह द्रविण प्राणायाम क्यों की?

यह सरसता का सम्पुट क्यों लगाया ? यह स्त्री पुरुषों की शृङ्गार रस का कल्पना क्यों की ?"

हँसते हुए नारदजी बोले—"देखिये, राजन् ! देवता परोक्ष प्रिय बताये गये हैं। रसका आस्वादन जितना गूढ भावों से बिना गगरी वाणी के व्यक्त किये होता है, उतना सीधा सीधी वाणी में कहने से नहीं होता। हावभाव कटाक्षों में संकेतों द्वारा रस की वृद्धि होती है। प्रेम के अक्षर तो निरर्थक होते हैं, अक्षरों का अर्थ नहीं लगाया जाता। भावों को समझने वाले समझ लेते हैं। प्रेम भाषा से व्यक्त नहीं होता, उसकी अभिव्यक्ति भाव से होती है।"

राजा ने कहा—"भगवन् ! मैं तो मूढमति हूँ, आपके इस गूढ ज्ञान के छिपे अभिप्राय को यथार्थ रूप से समझने मे मेरी बुद्धि तो काम देती नहीं। हाँ, बड़े भारी ज्ञान वैराग्य सम्पन्न विवेकी पुरुष सम्भव है, समझ सकें। हम जैसे कर्म विमोहित पुरुषों को इसका स्वय अर्थ लगा लेना अत्यन्त ही कठिन है। कृपा करके इसका स्पष्ट अर्थ समझाइये। पुरञ्जन कौन, पुरञ्जनी कौन ? नव द्वार की पुरी कौन, हस कौन, इन सबको स्पष्ट शब्दों म बता दें।"

यह सुनकर नारदजी बोले—"अच्छी बात है, सुनिये राजन् ! इसका मैं तात्पर्य आपको समझाता हूँ, ध्यान से सुनें।"

छप्पय

अरे सखा हौं मित्र तिहारो हस पुरातन।
विषय भोग महँ फँस्यो भुलाओ रूप सनातन॥
नहीं पुरजन मित्र ! न रानी राजा हो तुम।
मानस के हैं हस एक ही दोनों तुम हम॥
परवारी जा बुद्धि ने, ठग्यो ज्ञान सब नसि गयो।
सुनत सखा की सीख शुभ, आत्मज्ञान ताकूँ भयो॥

पुरञ्जन कौन ? हंस कौन ?

[२९७]

पुरुष पुरंजन विद्याद्यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम् ।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम् ॥
योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः ।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २९ अ० २, ३ श्लो०)

छप्पय

राजा पूछें–प्रभो ! ज्ञान अति गूढ़ सुनायो ।
कौन पुरञ्जन, हंस, कौन पर समझ न आयो ॥
मुनि बोले—यह जीव पुरजन धी है नारी ।
सखा कर्ण हैं सबहिँ वृत्ति सब सखी विचारी ॥
देह पुरी हरि हंस है, प्राण पंच फन स्याँप है ।
नौ दरवाजे छिद्र नौ, जीव सङ्ग मन जात है ॥

यह मनुष्य का सहज स्वभाव है, कि छिपी बात को जानने को उसकी अत्यधिक उत्कंठा होती है। परदे के भीतर क्या है,

* नारदजी कहते हैं—"राजन् ! यह जीव ही पुरजन है। यही एक दो तीन चार अथवा बहुत पैर वाले या बिना पैर वाले पुर शरीर रूप पुर को तैयार करता है। जिसे मैंने पुरजन का अज्ञात सखा बताया है। वह ईश्वर है, जिसे पुरुष किसी प्रकार के नाम गुण अथवा कर्मों से जान नहीं सकता।"

इस विषय में जिज्ञासा बढ़ जाती है। वैसे कोई दिन भर बातें करता रहे, ध्यान नहीं जायगा। किन्तु किसी से कान में कोई बात कहो, तो न सुनने पर भी हम मन से ही अटकल पच्चू लगाकर उस बात को जानना चाहते हैं। कितनी स्त्रियाँ मुँह खोल घूमती हैं, उधर ध्यान ही नहीं जाता। किन्तु लम्बे घूँघट वाले बहू के मुख देखने को प्रायः सभी उत्कंठित हो उठते हैं। खुला हुआ मणि मुक्ता पड़ा हो, उधर ध्यान न जायगा, किन्तु सात सात पिटारियों के भीतर चाहे पत्थर का टुकड़ा ही रखा हो, उसे देखने को चित्त चञ्चल हो उठेगा। कैसे भी महात्मा हैं, जहाँ तहाँ घूमते हैं, कोई उनकी ओर ध्यान ही नहीं देता। किन्तु कोई साधारण ही क्यों न हो, सबसे नहीं मिलता, ६ महीने साल भर में दर्शन देता है, उसे देखने को लोगों की भीड़ लग जाती है। क्योंकि लोग रहस्य प्रिय है। छिपी बात को जानने की उत्कंठा स्वाभाविक होती है।

नारदजी कहते हैं—'बर्हिष्मन् राजन्! यह कहानी मैंने रहस्यमयी सुनाई है। आप सब इसका तात्पर्य श्रवण करें। (पुरंजनयतीति पुरजन) जो इस पुर देह को बनावे वही पुरजन है। इसीलिये यह जीव ही पुरजन है। बुद्धि द्वारा सब रचना होती है। अतः यह बुद्धि ही पुरजनी रानी है। देह ही पुरजन की पुरी है। कोई देह एक पैर वाली होता है, जैसे वृक्ष। कोई दो पैर वाली देह होती है, जैसे मनुष्य देह, कोई तीन पैर वाली होती है, जैसे कई कीड़े तीन पैर के होते हैं। कोई चार पैर की देह होती है, जैसे पशु, कोई बहुत पैर वाली देह, होती है जैसे गिजाई भैंसा चींटा मकरी आदि। कोई बिना पैर की देह होती है जैसे सर्प आदि। इन सब पुरियों में जीव सोता रहता है। इसलिये ये सब उसके रहने के स्थान हैं।

पुरातन पुरुष अज्ञात नामक जो ब्राह्मण मित्र बताये हैं, वे

साक्षात् श्रीहरि हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के सबसे श्रेष्ठ सुहृद् श्रीहरि ही हैं। उन्हें सुहृद् समझ लेने पर जीव को शाश्वती शान्ति की उपलब्धि हो जाती है। उनको अपने पुरुषार्थ से किसी नाम, गुण या कर्मों द्वारा कोई प्राप्त करना चाहे, तो नहीं प्राप्त कर सकता। वे कृपा साध्य हैं। जिसके ऊपर भी कृपा करें। उनकी कृपा की प्रतीक्षा करना ही जीव का एकमात्र साधन है।

जीव जब इन प्राकृत गुणों को पूर्णतया ग्रहण करना चाहता है, तब वह नाना योनियों में भटकता फिरता है। शास्त्रों में ८४ लाख प्रकार की योनियाँ बताई हैं। ये सब योनियाँ जीव की पुरियाँ हैं। इन सब शरीरों की अपेक्षा यह पुरुष शरीर सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इसी शरीर से स्वर्ग जा सकते हैं, नरक मे जाकर दुःख उठा सकते हैं और मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। और सब योनियाँ भोग योनियाँ हैं, यह मनुष्य शरीर ही यज्ञादिक कर्म करने मे श्रेष्ठ माना गया है। इस नौ द्वार वाली पुरी में ही जीवरूप पुरंजन सभी विषय सुखों को यथेष्ट रूप से भोग सकता है।

राजा ने पूछा—"महाराज ! ९ द्वार कौन से हैं ?"

नारदजी बोले—"राजन् ! दो आँख के छिद्र, दो नाक के, दो कानों के और एक मुख का ये तो ऊपर के ७ छिद्र हुए, मल और मूत्र के दो नीचे के छिद्र इस प्रकार यह ९ द्वारों की एक पुरी है। जिसमें दो हाथ दो पैर हों वही मनुष्य शरीर है।"

इस देह की रानी पुरंजनी बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा ही इस शरीर में इन्द्रियादिकों में और मेरे पन का भान होता है। उसी के आश्रय से पुरुष इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता है। पुरंजनी के पीछे १० मित्र बताये थे। १० इन्द्रियाँ ही इस बुद्धि के मित्र हैं। इन देश में जो ज्ञान की सम्मति देती हैं, केवल ज्ञान करा

देती हैं, वे तो ज्ञानेन्द्रियाँ कहलती हैं; जो बुद्धि के बताये हुए काम को करती हैं, वे कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं।

राजा ने पूछा—"भगवन! इन्द्रियाँ तो सब एक-सी हैं इनमें भेद किस प्रकार है?"

नारदजी बोले—"राजन! आप यों समझें? जैसे आँख, कान, नाक, रसना और त्वचा ये तो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हाथ, पैर, जीभ, शिश्न और गुदा ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। जैसे वाटिका में कोई सुन्दर फूल खिल रहा है। आँखें उसे देखकर बुद्धि को ज्ञान करा देंगी यह सुन्दर फूल है। आँखों का इतना ही काम है, देखकर बता देना। उसे तोड़कर आँखें ला नहीं सकती। बुद्धि मन से कहेगी। मन हाथों से कहेगा तब हाथ उसे तोड़कर लावेंगे। नाक बता देगी इसमें ऐसी सुगन्ध है दुर्गन्ध है, इत्यादि। यदि उसमें बुरी गन्ध है तो नाक में यह सामर्थ्य नहीं उसे फेंक दे या तोड़ दे। इस मन से कहेगा, मन बुद्धि से सम्मति लेगा। बुद्धि निर्णय कर देगी, हाँ ठीक, इसे फेंक दो या शैया पर रख दो तो हाथ वैसा ही करेगा। कहीं सामने से अच्छी सुगन्ध आ रही है नाक यह बता देगी कि वहाँ बड़ी अच्छी गन्ध है, चलना चाहिये। परन्तु वहाँ स्वयं चली जाय, इतनी उसमें सामर्थ्य नहीं, नाक बुद्धि से कहेगा, बुद्धि निर्णय करके मन को आज्ञा देगी मन पैरों से कहेगा तब पैर चलकर वहाँ पहुँचा देंगे। मल मूत्र की इच्छा हुई, स्पर्शेन्द्रिय ने सूचना दे दी मल मूत्र त्यागने की इच्छा है। स्वयं स्पर्शेन्द्रिय में सामर्थ्य नहीं मल मूत्र का त्याग कर दे। मन ने सूचना दी, बुद्धि ने आज्ञा दी। तब मन ने पैरों से कहा, आँखों से कहा, हाथों से कहा। पैर चले, हाथों ने लोटा पकड़ा, आँखों ने मार्ग बताया, तब उन शिश्न-गुदा ने मल मूत्र का त्याग किया। कोई भोज्य सामग्री है, आँखें कहती हैं बड़ी सुन्दर वस्तु है खा लो, किन्तु वे बता ही सकती हैं, उठाकर मुँह में नहीं दे

सकती। नाक कहती है सचमुच बड़ी सुगन्धि है किन्तु बकती रहो जब तक बुद्धि मन के द्वारा हाथों को आज्ञा नहीं देती सब व्यर्थ है। बुद्धि ने आज्ञा दी अच्छी बात है पहुँचाओ प्रधान द्वार से उदररूप कोठों में। अब क्या था हाथों ने शीघ्रता से उठाकर मुख रूप अग्निकुण्ड में स्वाहा कर दिया। अब मन वहाँ जिह्वा पर बैठी रसना देवी से पूछता है—कहो कैसी वस्तु है, खट्टी है मिट्ठी है चरपरी है स्वादिष्ट है, बिना स्वाद की है। तब रसना बता देती है, हाँ मीठी है सुन्दर है खाने मे योग्य है। इतना कहकर वह चुप हो जाती है। उसमे इतनी सामर्थ्य नहीं कि उसे पेट तक पहुँचा दे। यह जिह्वा का काम है उसे निगल दे या उगल दे। रसना बता देगी यह खाने योग्य है, यह नहीं खाने योग्य है, यह स्वादिष्ट है यह बेस्वाद है। मन बुद्धि से पूछेगा इसे कोठे मे जमा कर दें या फिकवा दें?" बुद्धि जैसी भी आज्ञा देगी मन वैसे ही जिह्वा से करावेगा। थूकने को कहेगा जिह्वा थूक देगी, निगलने को कहेगा निगल जायगी। सारांश यह हुआ कि जो इन्द्रियाँ शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध का ज्ञान कराती हैं वे ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और जो केवल कर्मों को कराती हैं कर्मेन्द्रियाँ हैं।

दस इन्द्रियाँ हैं, उनकी असंख्यों वृत्तियाँ हैं। पीछे जो पुरंजनी की सैकड़ो सखियाँ बताई थीं वे वृत्तियाँ ही उनकी सखियाँ हैं। एक पाँच फन वाला सर्प नगर की रक्षा करने वाला बताया था। वह पंचप्राण ही पाँच फन वाला सर्प है। जब तक शरीर में प्राण हैं तभी तक यह सुरक्षित है। जहाँ प्राणों ने प्रयाण किया, तहाँ जय जय सीताराम हो गई। पीछे दश सखाओं का बृहद्-बल नामक नायक बताया था, सो यह ही दशो इन्द्रियों का स्वामी है। मन के बिना इन्द्रियाँ स्वयं कुछ करने में समर्थ नहीं। आँखों में जब तक मन की वृत्ति न हो तब तक उनमें देखने की सामर्थ्य नहीं है। कोई मनुष्य है, उसके सामने से एक बारात निकल

गई। पीछे से एक मनुष्य आया। उसने पूछा—"क्यों जी! यहाँ से बारात गई है?" वह उत्तर देता है—"जी मुझे तो पता नहीं गई या नहीं।" आगन्तुक पुरुष पूछता है—"क्या आप सो रहे थे?" वह उत्तर देता है—"जी, नहीं सो तो नहीं रहा था। मेरी आँखें भी खुली थीं, किन्तु मन दूसरी ओर था। मैंने उधर ध्यान ही नहीं दिया। कानों में मन की वृत्ति न आवें तो शब्द होते रहने पर भी सुनाई नहीं देता। इसीलिये मन को सब इन्द्रियों का नायक स्वामी बताया है। यह बड़ा बली है, बड़ा वेगवान है। पवन से भी लाखों गुना तेज चलने वाला है। इसीलिये इसका नाम बृहद्बल कहा गया है।

इस देश का नाम पाचांल क्यों है। ये जो शब्द, स्पर्श, गन्ध, रूप और रस पाँच विषय हैं इन्हीं का इसमें प्राधान्य है। इसीलिये पांचाल अर्थात् पाँच विषय वाला देश है। ९ छिद्र ये ही नौ जीव के आने जाने के द्वार हैं। इन्हीं के द्वारा विषयों को भोगता है। पीछे इन ९ द्वारों के नाम बताये थे। पीछे बताया था कि पुरंजन जब विभ्राजित देश को जाता है तब अपने द्युमान नामक मित्र को साथ लेकर जाता है। उन दोनों द्वारों का नाम खद्योत और आविर्मुखी बताया था। इन दोनों भगोलकों के ही नाम हैं। जब जीवों को देखना होता है तो इन्हीं दो द्वारों से देखता है।

नासिका के जो दो छिद्र हैं इन द्वारों का नाम नलिनी और नालिनी बताया था। घ्राणेन्द्रिय ही अवधूत नामक मित्र है और नाना भाँति की गन्ध ही सौरभ नामक देश है। जब जीव को सूँघना होता है तो घ्राणेन्द्रिय की सहायता से नासिका से ही सब कुछ सूँघता है।

इस पुर का एक मुख्य द्वार प्रधान फाटक बताया था। यह मुख ही इस पुरी का मुख्य द्वार है। इसमे वाक और रसना दो

इन्द्रिय रहती हैं, इन्हें ही क्रमशः विपण और रसविद् नाम से बताया गया है। जब कुछ बोलना होता है तो वाणी से बोलता है, जब किसी रस का आस्वादन करना होता है, तो रसना के द्वारा करता है। आपण और बहूदन जो देश बताये हैं सो नाना प्रकार की बातें करना वाणी का जितना व्यवहार है वह आपण कहलाता है, और नाना प्रकार के अन्नपानों का उपभोग करना वही बहूदन देश के नाम से कहा गया है।

देवहू और पितृहू नाम के जो दो द्वार ऊपर और बताये थे, वे दायें और बायें कानों के गोलक हैं। दक्षिण पाञ्चाल और उत्तर पाञ्चाल जो दो देश बताये थे, वे निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग ये ही देश हैं। इन द्वारों से श्रुतधर नामक सखा के साथ जाने का उल्लेख किया गया था, सो श्रवणेन्द्रिय ही श्रुतधर नामक मित्र है। पितृयान और देवयान ये ही दो मार्ग हैं।

पीछे बताया था कि नीचे के दो पश्चिम द्वारों में से एक का नाम आसुरी द्वार है, उसमे से पुरञ्जन दुर्मद मित्र के साथ अनामक नामक देश को जाता है। सो शिश्न द्वार ही आसुरी द्वार है। स्त्री प्रसङ्ग ही ग्रामक नामक देश है। उपस्थेन्द्रिय ही दुर्मद मित्र हैं, उसके द्वारा विषय रूप सुख का अनुभव करता है। दूसरे नीचे के पश्चिम द्वार का नाम निर्ऋति बताया था, उससे वैशस नामक देश के लुब्धक नामक मित्र के साथ जाना बताया था। सो गुदा ही निर्ऋति नामक द्वार है। नरक ही वैशस नामक देश है, पायु इन्द्रिय ही लुब्धक नामक मित्र हैं। मल त्याग ही इसका विषय है। पीछे दो-दो अन्धे पुरुष बताये थे। ये हाथ पैर ही अन्धे पुरुष हैं। इन्हीं हाथों के सहारे लेने-देने का व्यवहार तथा पैरों के द्वारा आने-जाने का व्यवहार करता है।

पीछे पुरञ्जनी के रहने का एक अन्तःपुर रनिवास बताया था। यह अन्तःकरण ही अन्तःपुर है। इसी में बुद्धिरूपी रानी

निवास करती है। उस रानी का निजी मन्त्री जिसका नाम विपूची बताया था, वह यह मन ही है। यह मन जैसा राजस, तामस तथा सात्त्विक वृत्ति वाला होता है, जीव उसी प्रकार के हर्ष, शोक, मोहादिक भावों से भावित हो जाता है।

यह बुद्धि ही पुरञ्जन रूप जीव की पुरञ्जना रूपी प्राणों से भी प्यारी महिषी है, पट्टरानी है। इसी के अधीन होकर जीव अपने आपको भूल जाता है। यह बुद्धिरूपी रानी जिस जिस प्रकार से विकार को प्राप्त होती है, जिस प्रकार इन्द्रिय और मन को आज्ञा देती है, यह गुणों में लिप्त हुआ पुरञ्जन रूप जीव भी वैसा ही बन जाता है। सत्वमयी जब बुद्धि होती है, जीव सतोगुणी सा हो जाता है। बुद्धि में जब रजोगुण आ जाता है तब जीव भी रजोगुणी सा दिखाई देता है। बुद्धि पर जब तमोगुण छा जाता है, जीव की वृत्ति भी तमोगुणी जैसी हो जाती है। यद्यपि जीव वृत्तियों का साक्षी मात्र है, वह वास्तव में सुख-दुख आदिक द्वन्द्वों से निर्लिप्त है, फिर भी वृत्तियों का अनुसरण करने से उन्हें अपनी ही वृत्ति मानने लगता है। यही जीव का जीवत्व है। यही उसका अज्ञान है। यही जीव में और शिव में भेद है। जब उसका सनातन सखा पुरातन पुरुष मानसरोवर का हंस आकर उसे उपदेश देता है, तब उसे अपने सच्चे स्वरूप का बोध होता है। राजन! यही इस पुरञ्जन और पुरञ्जनी का तात्पर्य है। पुरुष की देह ही पुरञ्जन का पुरी है।

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"भगवन् आपने तो बड़ी विचित्रता के साथ यह अद्भुत कहानी सुनाई इसका तो बड़ा गूढ़ तात्पर्य निकला। किन्तु आपने अभी पूरी बात तो सुनाई ही नहीं। पुरञ्जन रथ में बैठ कर मृगया को गया था, उसकी पुरञ्जनी रूठ गई थी, इसका क्या अभिप्राय हमें और समझा दीजिये।"

यह सुनकर नारदजी बोले—"राजन ! यह भी बड़ी विचित्र बात है। इसका भी अद्भुत अर्थ है। उसे भी मैं आपको सुनाता हूँ, आप समाहित चित्त होकर श्रवण करें। चित्त को तनिक भी चञ्चल न होने दें। जहाँ चित्त भटका वहीं कहानी का तात्पर्य सटका।"

महाराज प्राचीनबर्हि ने कहा—"नहीं महाराज ! मैं एकाग्र चित्त होकर श्रवण कर रहा हूँ। आप स्वस्थ होकर सुनावें।

इस बात से प्रसन्न होकर नारदजी कहने लगे—"अच्छा, तो राजन् सुनिये।"

छप्पय

नाक कान अरु आँखि तथा मुख शिश्न गुदा ये।
नौ दरवाजे बने जीवहित पुरुष बनाये॥
शब्द, रूप, रस, गन्ध, परस पाञ्चाल कहावत।
भोगे विषयनि जीव नित्य निज रूप भुलावत॥
रुदन करै जब जीव जिह, हंस रूप हरि आइकै।
करुणा करि निज ज्ञान दै, करें शुद्ध समुझाइकै॥

पुरञ्जनोपाख्यान का अभिप्राय और उससे शिक्षा

[२९८]

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः ।
भगवद् गुणानुकथन श्रवणव्यग्रचेतसः ॥
तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २९ अ० ३९-४० श्लोक)

छप्पय

स्वप्न देह रथ बन्यो कही मृग तृष्णा मृगया ।
काल कह्यो गन्धर्व जरा है ताकी तनया ॥
मृत्यु यवन पति सरिस अंत महँ पुर संहारत ।
शीतज्वर अरु उष्ण, यही प्रज्वार कहावत ॥
भ्रमत जीव प्रारब्ध वश, करिहैं कृपा गुरुदेव जब ।
कृष्ण कथा गुन श्रवन महँ, बढ़ै चित्त अनुराग तब ॥

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन् ! जहाँ पर उदार हृदय परोपकारी भक्तजन् भगवान् के गुणों को कथन करने और श्रवण करने में सदा व्यग्र बने रहते हैं, उस मंडली में सबके साथ बैठकर उस स्थान में

यह जीव प्रारब्ध वश नाना योनियों में घूमता घूमता मनुष्य योनि को प्राप्त होता है। इस मोक्ष द्वार रूप देह को पाकर भी जो अनित्य, क्षणभगुर विषय भोगों में ही फँसे रहते हैं, वे मानो दैव द्वारा ठगे गये। वे जीती हुई बाजी को भी हार गये हैं। राजा के द्वार तक आकर भी लौट गये। हीरा के बदले में चमकता हुआ काँच लेकर लौट गये। जीव का सच्चा स्वार्थ है, भगवत् भक्ति में भगवान् के चरणों में अनुराग करने में। विषयों में फँस कर जीव अपने प्रधान कर्तव्य को भूल जाता है और इधर-उधर की फँसने वाली बातों में अनुराग करने लगता है। यही उसका अज्ञान है। यदि गुरुरूप हरि कृपा करके इसकी दीन दशा देख-कर दया करें और इसे इसके यथार्थ रूप का बोध करा दें तो यह जीव से शिव हो जाता है, दुखी से सुखी बन जाता है, बद्ध से मुक्त हो जाता है।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! आपने पुरजन की मृगया का तात्पर्य पूछा था, सो सुनिये। जीव जब सो जाता है, तो एक स्वप्न शरीर धारण करके इधर-उधर भटकता फिरता है। ये ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ही पाँच घोड़े हैं। एक वर्ष के पश्चात् दूसरा वर्ष यह जो समय का प्रवाह है यही इस रथ की गति है। उस रथ के पुण्य और पाप ये ही दो पहिये हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण ही उसकी ध्वजा हैं। पञ्चप्राण ही उसके बन्धन हैं। मन उसकी बागडोर है, बुद्धि सारथि है, हृदय बैठने का स्थान

महापुरुषों के मुख रूप स्रोत से मधुसूदन भगवान् के चरित्र रूप अमृत से भरी हुई अनेकों नदियाँ बहती रहती हैं। हे नरपति! उस भक्त मंडली में सबके साथ बैठकर अपने कान रूप पात्रों में भर-भर अतृप्त होकर उस अमृत का निरन्तर छक-छककर पान करते रहते हैं, उन्हें भूख, प्यास भय, शोक, मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते।"

है, सुख दुःख आदि जितने द्वन्द्व हैं वही उस रथ का जूआ है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये ही उसके मारने के अस्त्र-शस्त्र हैं। रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र और ओज ये जो सप्त धातु हैं वे ही उसके परदे हैं। ५ कर्मेन्द्रियाँ उसके बाहर होने वाली गति हैं। उस स्वप्न शरीर रूप रथ पर चढ़कर यह पुरजन रूप जीव मृगतृष्णा रूप मिथ्या विषयों में आखेट करने जाता है। इन विषयों का अन्यायपूर्वक ग्रहण करना ही जीव हिंसा के पशुवध के समान है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! आपने बताया था कि गन्धर्व पति चण्डवेग ने उस पुर पर चढ़ाई की, वह चण्डवेग कौन है? काल-कन्या का क्या तात्पर्य है?"

इस पर नारदजी बोले—"राजन्! क्षण, मुहूर्त, लव, काष्ठ, घड़ी, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास वाला सम्वत्सर ही चण्डवेग नामक गन्धर्व है। ३६० जो उसके अधीन गन्धर्व बताये थे, वे ३६० दिन हैं। ३६० जो गन्धर्वी कही थीं वे ३६० रात्रियाँ हैं। उनमें आधी काली आधी गोरी बताई थीं। सो कृष्ण पक्ष की रात्रियाँ काली गन्धर्वी हैं और शुक्लपक्ष की रात्रियाँ गोरी गन्धर्वी। ये दिन रात्रि ही घूम-घूमकर जीव की आयु को हरते रहते हैं। यह जो वृद्धावस्था है, वही कालकन्या है। आप ही सोचिये, स्वेच्छा से वृद्धावस्था को कौन स्वीकार करता है, इसीलिये इसे कुमारी बताया है। महाराज ययाति के पुत्र पुरु ने पिता के गौरव से इस वृद्धावस्था को स्वेच्छा से ग्रहण किया था। भगवत् भक्ति के प्रभाव से मेरे सम्मुख तो कभी वृद्धावस्था फटकने भी नहीं पाती।

राजा ने पूछा—"भगवन्! यह बात तो सत्य है कि जरावस्था को स्वेच्छा से कोई स्वीकार नहीं करता, किन्तु वह यवनराज

कौन है जिसने कालकन्या को अपनी बहिन बना लिया और उसका भाई प्रज्वार कौन है ?"

इस पर नारदजी बोले—"राजन ! मृत्यु ही यवनराज है। शीतज्वर और उष्णज्वर यही प्रज्वार है। शारीरिक और मानसिक क्लेश ही यवनराज के आज्ञाकारी बलवान सैनिक हैं। ज्वर की सहायता से यह सभी प्राणियों को निगल जाता है। तीनों गुणों में फँस जाने के कारण नाना प्रकार के दुःखों को यह जीव सहता रहता है ?"

राजा ने पूछा—"महाराज ! यह जीव गुणों के चक्कर में फँस क्यों जाता है ?"

शीघ्रता से नारदजी बोले—"अज्ञान वश, और क्या कहा जाय ? वास्तव में यह तो निर्गुण है, अज्ञान से आच्छादित होकर, प्राण, इन्द्रिय और मन आदि के धर्मों को अपने में आरोप करके, "मैं ऐसा हूँ मैं वैसा हूँ, यह वस्तु मेरी है, यह तेरी नहीं है"। इस प्रकार के झूठे अभिमान में भरकर अपने आप इन क्षुद्र विषयों में बँध जाता है और फिर इन विषय भोगों की प्राप्ति की इच्छा से भले बुरे नाना प्रकार के कर्मों को करता रहता है। जब कर्मों का अपने को कर्ता मानेगा, तो उनके फलों को भी भोगना पड़ेगा, इसीलिये इस शरीर में भाँति-भाँति के आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों से क्लेश पाता हुआ आयु पर्यन्त इन्हीं में फँसा रहता है।"

राजा ने पूछा—"प्रभो ! जब यह जीव इन सुख दुःखों से रहित है तो फिर सुख-दुःखों का अनुभव क्यों करता है, क्यों व्यर्थ में अपने को कर्ता मानकर क्लेश सहता रहता है ?"

अन्यमनस्कभाव से नारदजी ने कहा—"राजन ! क्या बतावें यही तो माया का चक्कर है। अपने परम गुरु आत्मस्वरूप श्रीहरि को भुलाकर यह जीव स्वयं प्रकाश होता हुआ भी

गुणों में लिप्त हो जाता है। सब बात मानने से ही तो होती है। "मानो तो देव नहीं पत्थर है" पत्नी माने कि यह मेरा पति है, तब तो उसके दुःख में दुखी और सुख में सुखी होगी। उसे पति न मानकर अपनी स्वार्थ सिद्धि का एक यन्त्र मानती है तो उसे न उसके सुख में सुख न दुख में दुःख। जब तक स्वार्थ निकलता है, तब तक स्वार्थ है, साथ सिद्ध हुआ, तुम अपने रास्ते जाओ, हम अपने रास्ते जाते हैं। बन्धन तो मानने से ही होता है। जब जीव अपने को गुणों का अभिमानी मानने लगा है तो विवश होकर सात्त्विक, राजस और तामस कर्मों को करता है। उन कर्मों के ही अनुसार देवता, पशु, पक्षी, तिर्यक, वृक्ष, मनुष्य आदि योनियों में बार-बार जन्म लेता है बार-बार मरता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन ! भिन्न-भिन्न योनियों में किस कारण से जाता है।"

नारदजी बोले—"कारण वही पुण्य पाप। पुण्य बहुत कम करता है तो प्रकाशमय स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है। पाप बाहुल्य कर्म करने से नरक आदि की भयंकर यातनायें सहनी पड़ती है। पुण्य पाप मिश्रित होने से मनुष्य आदि योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इसी प्रकार यह चक्र चलता है।

राजन् ! यह जीव कर्म वश उसी प्रकार भटकता रहता है जैसे कुत्ता एक घर से दूसरे घर के द्वार पर घूमता रहता है। कहीं प्रारब्धानुसार उसे रोटी का टुकड़ा मिल जाता है, कहीं से निराश होकर लौटना पड़ता है। कहीं कोई घरवाली कुपित हुई तो फेंककर ऐसा डण्डा मारती है कि हड्डी पसली टूट जाती है, घाव हो जाता है, बहुत दिनों तक उसकी पीड़ा भोगता रहता है। इसी प्रकार जीव इन ८४ लाख योनियों में भटक रहा है। कहीं क्षण भर को विषय सुख जिह्वा का सुख मिल जाता है, कहीं निरन्तर क्लेश ही सहने पड़ते हैं। कभी पुरुष योनि में चला

जाता है, कभी स्त्री योनि में, कभी नपुंसक बन जाता है। स्वयं जीव न तो स्त्री न पुरुष और न नपुंसक, किन्तु जिस योनि में में चला जाता है, उनमें अपने को वैसा ही अनुभव करने लगता है।"

महाराज प्राचीनबर्हि ने पूछा—"भगवन्! यदि उपाय किया जाय तो इन दुःखों से छुटकारा भी तो मिल सकता है। पुण्य ही पुण्य करे पाप न करे, तब दुःख क्यों होगा?"

नारदजी यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"राजन्! जब तक आपका इन आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक आपके सिर पर कर्मबन्धनों की गठरी लदी हुई है, इन तीन प्रकार के दुःखों से सर्वथा छुटकारा हो ही नहीं सकता। थोड़ी देर के लिये मान लीजिये आपने पुण्य ही कर्म किये तो पुण्य भी तो बन्धन के कारण हैं। बन्धन चाहे लोहे का हो या सुवर्ण का हो है तो बन्धन ही। आपके सिर पर बोझ लदा है। सिर में दर्द होने लगा कंधे पर रख लिया। इससे सिर की पीड़ा थोड़ी देर को शान्त अवश्य हो जायगी, किन्तु बोझ तो शरीर पर लदा ही रहेगा। न सिर पर रहा कंधे पर रहा। बात तो एक ही है।

देखिये, कोई आदमी घोड़े पर चढ़ा हुआ जा रहा है। घोड़े पर १० सेर की एक गठरी भी लदी है। उस आदमी ने सोचा—"घोड़े को कष्ट होगा, अतः उस गठरी को घोड़े की पीठ से उठाकर अपने सिर पर लाद लिया। तो क्या घोड़े का भार कुछ कम हो गया? हाँ, जहाँ गठरी रखी थी उस स्थान को कुछ कुछ आराम अवश्य मिला किन्तु पीठ को और भी अधिक कष्ट हुआ। जब तक घोड़े से वह उतरता नहीं तब तक कहीं भी गठरी को रखे, बोझ घोड़े पर ही रहेगा। इसी प्रकार जब तक कर्म बन्धनों में फँसा है तब तक दुःख को हटाने को कैसा भी प्रतीकार करो, उस प्रतीकार को करने से रूप कर्म में ही

कष्ट होगा। कर्मों से कर्मों का बन्धन नहीं छूट सकता। बिना निष्काम हुए जीव का उद्धार नहीं। संसृति का नाश नहीं। कोई आदमी स्वप्न देख रहा है, स्वप्न में उसने देखा—मेरा एक सुन्दर भवन है, उसमें सुन्दर शैया बिछी है। मुझे ज्वर आ गया है, बड़ी पीड़ा है। वैद्य ने आकर दवा दी, शैया पर नींद आ गई, नींद में स्वप्न देखा कोई मुझे मार रहा है। उससे पीड़ा हो रही है। उस पीड़ा से बचने का उपाय यह नहीं है कि वह स्वप्न खुल जाय। स्वप्नावस्था में जो स्वप्न देख रहे हैं, उसका प्रतीकार तभी होगा, जब स्वप्न में देखे जाने वाला स्वप्न नष्ट हो जाय और और फिर पहिला स्वप्न भी नष्ट हो जाय। जब आखें खुल जायँगी तब बोध होगा—अरे, न तो मुझे ज्वर आया था, न ज्वर में सोया था और न उस स्वप्नावस्था के स्वप्न में मुझे किसी ने मारा था। इसी प्रकार आप चाहें कि कर्मजन्य दुःखों का प्रतीकार कर्मों से ही कर लें तो असम्भव है। पाप को भी छोड़ना होगा, पुण्य को भी छोड़ना होगा और जिस वृत्ति से ग्रहण तथा त्याग किया जाता है उसे भी छोड़ना होगा। क्योंकि पुण्य पाप दोनों ही कर्म अविद्या जन्य हैं।

महाराज प्राचीनबर्हि ने कहा—"भगवन्! आप कहते हैं जीव निर्गुण है और इन समस्त अनात्म पदार्थों को आप मायिक तथा मिथ्या बताते हैं। तो ये मिथ्या-त्रिकाल में भी न होने वाले-पदार्थ जीव शरीर में कैसे चिपट जाते हैं। इनका जब अस्तित्व है ही नहीं तो ये दुःख सुख कैसे देते हैं?"

नारदजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! एक ही बात को अब बार-बार क्या बतावें। आप सोचिये, हम लिङ्ग शरीर से स्वप्न देखते हैं। हमारे पेट में कोई छुरा भोंक रहा है। उस समय स्वप्न में हमें कष्ट भी बड़ा होता है। कभी-कभी तो जागने पर आँखों में आँसू भी प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। किन्तु स्वप्न की

छुरी सत्य नहीं, मारने वाले का अस्तित्व नहीं। फिर भी जीव का कष्ट तो होता ही है। मिथ्या ही सही, अनुभव तो होता ही है। इसी प्रकार ये अन्तःकरणादि अनात्म पदार्थ वास्तव में मिथ्या हैं, फिर भी जीव का उनमें अभिमान है। इसीलिये इसका आवागमन निवृत्त नहीं होता। 'पुनरपि जनन पुनरपि मरण' होता ही रहता है।'

अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ महाराज ने पूछा—"प्रभो! जब कर्मों के द्वारा आवागमन का नाश नहीं होता, दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती तो फिर इस दुःख से छुटकारा कैसे हो, शाश्वती शान्ति की उपलब्धि कैसे हो? जिस कर्म के द्वारा जन्म मरण रूप संसार चक्र प्राप्त होता है उस अज्ञान के नाश का कोई उपाय भी तो होगा?"

नारदजी ने दृढता के साथ कहा—हाँ, है क्यों नहीं, अवश्य है। गुरुओं के भी गुरु भगवान् वासुदेव की अहैतुकी भक्ति द्वारा ही इस अज्ञान का नाश हो सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं।"

राजा ने कहा—"भगवन! हमने तो सुना है, बिना ज्ञान के मुक्ति होती ही नहीं। आप कहते हैं, भक्ति के अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं। यह तो विरोध सा प्रतीत होता है।"

नारदजी ने कहा—"अजी, राजन्! वैराग्य और ज्ञान के लिये प्रयत्न नहीं करना पडता। पिता अपनी लडकी को बुलाने को कहता है, तो लडकी के दोनों अबोध बच्चे बिना बुलाये आप से आप उसके साथ आ जाते हैं। उनके लिये पृथक् प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। निमन्त्रण और बुलावे की अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार भगवान् वासुदेव में एकाग्रता पूर्वक दृढ धारणा के साथ बढी हुई भक्ति ज्ञान और वैराग्य को फट से पैदा कर देती है। ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के बच्चे हैं। बच्चे भी बड़े नहीं दुधमुहे हैं,

वे तो भक्ति का आश्रय छोड़कर कहीं जा ही नहीं सकते।"

राजा ने कहा—"महाराज! फिर मुक्ति?"

नारदजी ने कहा—"अजी पृथ्वीनाथ! मुक्ति तो भक्ति की टहलनी दासी है। वह तो भक्ति के पीछे-पीछे घूमती रहती है। जहाँ भक्ति भवानी जाती हैं, वहाँ मुक्ति उनके पीछे काजर बेंदी सिंदूर की डिब्बी लिये पीछे-पीछे घूमती है।"

अत्यन्त हर्ष के साथ राजा ने पूछा—"भगवन्! आपने भक्ति की तो बड़ी भारी महिमा बताई, किन्तु यह भक्ति प्राप्त कैसे हो भक्ति किसके आश्रय में रहती है, हम उस आश्रय को ही पकड़ लें जिससे भक्ति अपने आप अपने आश्रय को देखकर चली आवे।"

नारदजी प्रसन्नता पूर्वक कहने लगे—"राजन्! भक्ति का आश्रय है अच्युत कथा। जहाँ भागवती कथायें निरन्तर होती रहती हैं, वहाँ भक्ति बिना बुलाये ही चली जावी है। अपने आश्रय को कौन छोड़ सकता है? इसलिये जो भक्तिभाव से नियम पूर्वक नित्य भगवान् की कथाओं का श्रवण करते रहते हैं, उनके हृदय में भक्ति अपने आप आकर आसन जमा लेती है। भागवती कथाओं के आश्रय में निवास करने वाली भक्ति के लिये भागवती कथा के वक्ता और श्रोताओं से बढ़कर कोई प्यारा नहीं है।"

राजा ने पूछा—"तो भगवन्! भागवती कथा का सेवन कैसे करें। कहीं चुपचाप जाकर अपने आप पढ़ लिया करें?"

नारदजी ने कहा—"हाँ, कुछ न करने से तो पढ़ना भी अच्छा ही है, किन्तु राजन्! अहा! जहाँ उदार हृदय साधु स्वभाव के सदाचारी भगवद्भक्त मिलकर एक साथ बैठे हों, सभी के रोमाञ्च हो रहे हों, सभी के नेत्रों से झरझर-झरझर प्रेमाश्रु बह रहे हों, उनमें से कोई एक अत्यन्त प्रेम में विभोर होकर कथा कह

रहे हों, दूसरे बहुत से भक्त प्रेम में छके एकाग्र भाव से सुन रहे हों, कहने सुनने वाले कथा में उसी प्रकार व्यग्र हो रहे हों जैसे बेटी के विवाह में बाप व्यग्र बना रहता है। ऐसे भगवद् भक्तों के बीच में कथा रूपी अमृत की चारों ओर से भागीरथी बहने लगती हैं, कहीं सरस्वती का स्रोत फूट पड़ता है, कहीं यमुना जी का अमृतोपम पय हिलोरें लेने लगता है। जिधर देखो उधर ही अमृत का प्रवाह बह रहा है। उस कथा रूपी त्रिवेणी में जाकर उस अनन्त अमृत राशि में से अपने कान रूपी पान-पात्रों में भर भरकर जो भर पेट उस कथामृत का पान करते हैं, पान करते-करते जो अघाते नहीं, निरन्तर पीते पीते जिनकी तृप्ति नहीं होती, वे ही धन्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, उन्हीं का जन्म सफल है, वे ही भागवती भक्ति की कृपा के अधिकारी हैं। उस अमृत के पान करने से उन्हें भूख-प्यास की बाधा नहीं होती। शोक, मोह, भय आदि की बाधा नहीं होती। वे उस अनुपम अमृत का सेवन करने से अजर-अमर बन जाते हैं, जीव से शिव स्वरूप हो जाते हैं।"

राजा ने अत्यन्त हर्ष प्रकट करते हुए कहा—"जब भगवान् का कथारूप अमृत इतना अनुपम है तब जीव इससे अनुराग क्यों नहीं करता? प्रेमपूर्वक इसका छककर पान क्यों नहीं करता?"

नारदजी बोले—"राजन्! सिवाय इसके कि यह जीवों का दुर्भाग्य है और कह ही क्या सकते हैं। जन्म जन्मान्तरों से प्राप्त हुए क्षुधा पिपासा विषय भोगों की इच्छा रूप विघ्नों के अधीन होकर ये जीव भगवान् की कथा रूपी अमृत से भरी त्रिवेणी में अवगाहन नहीं करते। कथामृत सिन्धु का आश्रय ग्रहण नहीं करते। उन परम दर्शनीय प्रभु का दर्शन नहीं करते।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! इन वैदिक और लौकिक कर्मों में फँसे रहने पर क्या भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते ।"

नारदजी ने कहा—"अजी राजन् ! जब तक बुद्धि इन वैतानिक वेदवाद रूप में फँसी है, तब तक चाहे ब्रह्माजी हों या शंकर जी हों, स्वायम्भुव मनु, दक्षादि प्रजापति, सनकादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी, मारीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ मैं तथा और भी वेदवादी मुनिगण नाना प्रकार की व्याख्याओं के करने में कुशल शास्त्रपटु होने पर तथा तपज्ञान और समाधि में सावधान रहने पर भी उन सर्वद्रष्टा श्रीहरि को देखते हुए भी नहीं देख सकते । बड़े-बड़े वेदविज्ञ ऋषिगण, नाना प्रकार के कर्म काण्डों में फँसे रहने पर, उन प्रभु के सच्चे स्वरूप को नहीं जान सकते जो एक होने पर भी इन्द्रादि रूपों में भिन्न-भिन्न से प्रतीत होते हैं ।"

राजा बोले—"भगवन् ! फिर कैसे गाड़ी आगे बढ़े ?"

नारदजी ने खीजकर कहा—"राजन ! मैं बार-बार तो आप को बता चुका । जिस समय वे प्रभु किसी भाग्यशाली जीव पर कृपा करते हैं उस समय वे उसके अंतःकरण में स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं । उनकी बाँकी झाँकी होने लगती है । जहाँ उनकी एक बार तिरछी चितवन दृष्टि पथ में पड़ गयी तहाँ बस समझ लो बेड़ा पार हो गया, जीव कृतकृत्य हो गया । तब यह जीव लौकिक और वैदिक कर्मों में आसक्त हुई अपनी बुद्धि को छोड़ देता है । वह आनन्द सागर में निमग्न हो जाता है । स्वर्गीय सुख देने वाले कर्मों के प्रति उसका अनुराग नहीं रहता । इसलिये राजन् ! तुम इन सकाम कर्मों में असक्त मत हो । भगवान् की भक्ति में ही चित्त को लगाओ ।" इतना कहकर नारद जी चुप हो गये ।

छप्पय

साधु संग महँ बैठि कृष्ण गुन सुनै सुनावें।
सरस विमल हरि चरित सुनत जे नाहिं अघावें॥
पान पात्र करि कान निरन्तर भरि-भरि पीवें।
श्री मधुसूदन मधुर सुधारस पीकें जीवें॥
कथा भवन महँ भक्त मिलि, पीवें भागवती कथा।
शोक मोह भय भूख की, होहि न तिनि तनिकहु व्यथा॥

श्री नारदजी का प्राचीनबर्हि को उपदेश

[२९९]

क्षुद्रश्चरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं पदङ्घ्रिगणमामसु लुब्धकर्णम् ।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तम्
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम् ॥*
(श्री भा० ४ स्क० २९ अ० ५३ श्लो०)

छप्पय

कर्म परक हैं वेद मलिनमति पुरुष बतावें ।
भक्ति ज्ञान कछु नाहिँ व्यर्थ सबकूँ बहकावें ॥
राजन् ! जब तक भक्तियोग महँ चित न लगाओ ।
तब तक नहिँ करि कर्म शान्ति सुख कबहूँ पाओ ॥
सबके आश्रय सबगत, जो शोभा के धाम हैं ।
आत्म रूप सबके सुहृद, अविनाशी घनश्याम हैं ॥

वेद के वाक्यों का समन्वय करने वाले मीमांसकादि कुछ

---

* देवर्षि नारदजी कहते हैं—राजन् ! एक हरिण है । जो थोड़ा भोजन करता है, अपनी बहू के समागम में आसक्त हुआ पुष्प वाटिका में विचरण करता है । भ्रमरों के सुमधुर गायन में जिसके श्रवण आसक्त हैं । मृगाओं को खाकर अपने प्राणों की तृप्ति करने वाले, आगे जाते हुए भेड़िये को जो नहीं देखता जिसके पीछे बाण लिये व्याधा वेधने को उद्यत है । इस मृग को महाराज खोजिये ।"

जैमिनी प्रभृति आचार्यों का मत है कि वेद कर्म परक हैं। जब तक जीते रहो शुभ कर्म करते रहो। वेद के मन्त्रों से भावनानुसार यज्ञ यागादि करने से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। स्वर्ग सुख भोगकर फिर पृथ्वी पर सत्कुल में जन्म होता है। फिर यज्ञ करो, फिर स्वर्ग को प्राप्त करो, यही वेद को अभीष्ट है, यही सुख है, यही चर्म लक्ष्य है। वेद में जो ज्ञान परक वाक्य हैं, वे तो स्तुतिपरक हैं। अतः वेद में बताये यज्ञादि कर्मों के ही द्वारा चरम सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। भक्ति उपासना ज्ञान आदि कुछ भी नहीं है। अन्य महर्षियों का मत है, वेद विहित कर्मों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। वेद विहित यज्ञादि कर्म मोक्ष में परम्परागत कारण है। अर्थात् कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि, शुद्ध अन्तःकरण में मोक्ष की इच्छा होना, उससे ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान से मुक्ति। दूसरे आचार्य कहते हैं। सब कर्मों को केवल कृष्णार्पण बुद्धि से करो। जो करो उसका फल श्रीकृष्ण के चरणों में सौंप दो। समस्त कर्मों का यही एक लक्ष्य हो कि मेरे इस कर्म से श्रीकृष्ण प्रसन्न हों। अर्थात् भगवत् परिचर्या के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्म ही न हो। कृष्ण कथा सुनकर कालक्षेप करो। श्रीहरि के प्रपन्न हो जाओ, उनको एकमात्र आश्रय समझकर उन्हीं के चरणों की शरण ग्रहण कर लो। इससे श्री कृष्ण प्रेम की उपलब्धि हो जायगी। तुम उन्हीं के हो जाओगे तदीय बन जाओगे। तुम्हारा समस्त भार सभार वे स्वय सम्हाल लेंगे। तुम्हें स्वय कुछ न करना होगा। तुम अपना अन्तःकरण उन्हें अर्पण भर कर दो। शेष वे सब कर लेंगे। सक्षेप में ये ही ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग कहलाते हैं।

जब नारदजी ने वैदिक यज्ञ यागादिक कर्मों की कड़ी आलोचना की, तब राजा प्राचीनवर्हि जो मीमासकों की भाँति कर्मों को ही सब कुछ समझे बैठे थे, बोले—"भगवन्! वेद तो कर्म

परक ही हैं। समस्त वेदों में कर्मकाण्ड का ही विस्तार है। उसमें जहाँ देखो वहीं कर्म की प्रशंसा है, यज्ञ यागादिकों का ही विस्तार से वर्णन है। फिर आप कर्ममार्ग को सर्वश्रेष्ठ क्यों नहीं मानते? क्यों आप कर्मकांड की ऐसी कड़ी आलोचना कर रहे हैं?"

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन! कर्म करते-करते जिनकी बुद्धि कर्मों में ही आसक्त हो गई है, ऐसे मन्द बुद्धि पुरुष ही वेद को कर्म परक बताते हैं। वे वेद के यथार्थ मर्म को नहीं समझ सकते। जिसका वेद ने अनेकों युक्तियों के विस्तार के अनन्तर वर्णन किया है, उस तात्पर्य को समझने की उनमें सामर्थ्य नहीं है। जैसे मान लो, किसी को अरुन्धती का तारा दिखाना हो तो पहिले आकाश को दिखावेंगे, फिर आकाश के समस्त तारों को देखने को कहेंगे। उन सब ताराओं में के सप्तर्षियों के तारों को पृथक् करें। उन सातों में से भी अगले चारों को दिखावेंगे। उन चारों में से भी वशिष्ठ के तारे को दिखाकर कहेंगे, इसके समीप जो छोटा-सा तारा है वही अरुन्धती का तारा है। इतने बड़े विस्तार का तात्पर्य केवल अरुन्धती तारे के लिए ही है और सबको दिखाना मुख्य प्रयोजन नहीं। इस प्रकार राजन! वेद का मुख्य तात्पर्य अपने स्वरूप भूत आत्मलोक को दिखाने में है, जहाँ स्वयं साक्षात् श्रीजनार्दन भगवान् विराजमान हैं।"

राजा प्राचीनबर्हि ने कहा—"भगवन्! यह तो आप कुछ विचित्र बात ही कह रहे हैं। त्रयी विद्या तो सर्वत्र कर्म का ही प्रतिपादन करती है।"

इस पर देवर्षि नारदजी ने प्रभावशाली शब्दों में कहना आरम्भ किया—'राजन्! निरन्तर यज्ञ करते-करते पूर्व की ओर अग्रभाग की हुई कुशाओं से पृथिवी को ढकते-ढकते आप बुद्धि विमूढ़ बन गये हैं। आप अभी तक यह भी नहीं जान सके हैं कि कर्म किसे कहते हैं। विद्या का यथार्थ अभिप्राय क्या है?"

राजा ने विनीत भाव से कहा—"तब भगवन्! आप ही मुझ मन्दमति को समझावें, कर्म का रहस्य बतावें। विद्या का ज्ञान करावें।"

नारदजी बोले—"राजन्! यथार्थ में वही कर्म कर्म है जिसके करने से कर्मपति श्रीहरि सन्तुष्ट हों। जिस कर्म के करने से कंस निसूदन प्रसन्न नहीं होते, वह कर्म नहीं कुकर्म है। वास्तविकी विद्या वही है जिसके द्वारा श्रीहरि के पादपद्मों में चित्त लगे। श्रीहरि ही सम्पूर्ण देह धारियों के आत्मा नियामक और स्वतन्त्र कारण हैं। अतः उन कल्याण के निधान सबके साक्षी श्रीमन्नारायण के पुनीत पादपद्म ही प्राणियों के एकमात्र आश्रय हैं। आप नित्य ही अनुभव करते हैं, हम सदा दूसरों से डरा करते हैं, अपने आप से कोई नहीं डरता, क्योंकि अपना आप सभी को प्यारे से भी प्यारा है। आत्मा से बढकर संसार में कोई प्यारी वस्तु नहीं। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, गृह, कुटुम्ब में वास्तव में प्रियता नहीं, आत्मा के सम्बन्ध से ही प्रियता है। हमारे शत्रु का घर जल जाय, तो हमें कुछ दुःख नहीं होता, उलटे सुख होता है। उसी घर में हमारा अपनापन हो जाय तो उसकी तनिक दीवाल गिरने पर भी हमें कष्ट होगा। हमारा एक घोड़ा है, जब तक उसमें अपनापन है, तनिक भी बीमार होते ही हमें उसकी चिन्ता लगी रहती है। जहाँ हमने उसे दूसरे के हाथों बेंच दिया, हमारा उसमें से अपमान निकल गया, फिर चाहे वह मर जाय हमें कोई विशेष हर्ष शोक नहीं। जिस आत्मा के सम्बन्ध से सबमें प्रियता है, वह प्रियतम आत्मा श्रीहरि ही हैं। समझे कुछ? जिसे उस आत्मा का ज्ञान हो गया, वह आत्मज्ञानी पुरुष ही गुरु है, वह गुरु श्रीहरि ही हैं। आत्मवित् आत्मस्वरूप ही हो जाता है। इस प्रकार राजन्! मैंने तुम्हें यह गूढ़ ज्ञान बता दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?"

आश्चर्य चकित होकर राजा ने कहा—"भगवन्! अब क्या सुनना चाहता हूँ, मेरी बुद्धि मे ही नहीं आता। आप तो बड़ी विचित्र बातें बता रहे हैं। जिससे मेरा कल्याण हो, ऐसी कोई सुन्दर-सी बात बताइये।"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी बोले—"राजन्! आप एक मृग को निहारिये, देखिये यह कैसा विचित्र मृग है। घास तो तनिक-तनिक चरता हैं, किन्तु उछलता कूदता बहुत है। अपनी बड़े-बड़े नेत्र वाली सुन्दरी मृगी के समागम सुख मे आसक्त हो कर पुष्प वाटिका के फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध में मस्त होकर इधर-उधर फिर रहा है पुष्पो पर गुञ्जार करते हुए अपने पङ्खों की गुञ्जार से गीत गाते हुए इन भ्रमरो के गायन से तन्मय-सा हो रहा है, इसके आगे से इसे खाने वाला भेड़िया चला आ रहा है। पीछे से धनुष पर बाण संधाने क्रूरकर्मा नित्य ही हिंसा में निरत रहने वाला व्याधा इसे मारने को दौड़ा आ रहा है। फिर भी जो भयभीत होकर अपने आश्रय को खोज न करने वाले इस मदोन्मत्त आसक्त हरिण को तो आप निहारिये।"

राजा ने अपने चारों ओर देखकर कहा—"कहीं तो नहीं भगवन्! मुझे तो न मृग दीखता है न भेडिया न व्याधा। यह कैसी स्वप्न की-सी बातें कर रहे हैं?"

यह सुनकर नारदजी हँस पड़े और राजा की ओर उँगली से संकेत करते हुए बोले—"राजन् यह जो सिंहासन पर दो पैर का जन्तु बैठा है वही मृग है।"

राजा ने आश्चर्य से पूछा—"प्रभो! मुझे मृग क्यों बता रहे हैं?"

नारदजी बोले—"सुनिये! उस मृग की सब उपमा अपने में घटाइये। देखिये पुष्पों में मन को मोहित करने वाला मधु होता है, उसी प्रकार स्त्रियों के अधरों में तथा अन्य अङ्गों में भी मनुष्य

को मदोन्मत्त कर देने वाला मधु होता है। बोलो, होता है कि नहीं ?"

लज्जित होकर राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! बड़ा मदकारी मधु होता है। उसके पान करने की इच्छा ही सब विवेक को नष्ट कर देती है, फिर पान कर लेने पर कैसी तृष्णा बढ़ जाती है, यह कहने की बात नहीं अनुभव की बात है।"

नारदजी बोले—"देखो जैसे हरिण वाटिका में मधु लोभी होकर भ्रमण करता है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहकर पुरुष जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय के सुखों को खोजता रहता है। उनकी प्राप्ति के लिये सकाम कर्म यज्ञ अनुष्ठान तथा अन्य भाँति-भाँति के उपाय करता है।"

राजा ने पूछा—"यह तो सत्य है, किन्तु भ्रमरों का मधुर गान क्या वस्तु है ?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! इन स्त्रियों का कण्ठ स्वभाव से ही मधुर होता है, क्योंकि पुरुष जहाँ १५-१६ वर्ष का हुआ कि उसके गले की गुठली बढ़ जाती है, उसकी वाणी भारी और कर्कश हो जाती है। १२-१३ वर्ष की अवस्था तक यह नहीं बढ़ती, स्त्रियों के कभी भी नहीं बढ़ती। इसीलिए स्त्रियों और बच्चों की बोली बहुत प्यारी और चित्त को स्वतः ही अपनी ओर खींचने वाली होती है। छोटे-छोटे बच्चों के, सुन्दरी-सुन्दरी स्त्रियों के कलरव को सुनकर चित्त उनमें हठात् फँस जाता है। यही भ्रमरों का मनमोहक गान है।"

राजा ने कहा—"हाँ, भगवन्! हैं तो आप बाल ब्रह्मचारी किन्तु मर्मस्पर्शी बातें बता रहे हैं। हाँ, तो आपने कहा—"एक भेड़िया सामने से आ रहा है, वह भेड़िया क्या है ?"

नारदजी ने कहा—"देखिये राजन्! भेड़िया मृग के समीप ही छिपा बैठा रहता है, अवसर आते ही धर दबोचता है। उसी

प्रकार यह दिन-रात्रि ही जिसका अङ्ग है ऐसा कालरूप यह भेड़िया प्रत्यक्ष सामने ही सबको खाता हुआ दिखाई देता है। फिर भी यह मृग रूप गृहस्थ सुख में फँसा हुआ पुरुष उसे कुछ भी नहीं समझता। विषयों में आसक्त होकर उसकी अवहेलना करता है। जहाँ अवसर आया कि कालरूप भेड़िया अपना कवल बना लेता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! धनुष बाण लिये व्याधा कौन है?"

नारदजी बोले—"महाराज! मृत्यु ही व्याधा है। मृत्यु से कौन बच सकता है। इस प्रकार जिसका हृदय विदीर्ण हो गया है, जो कुछ ही काल में मरना ही चाहता है, ऐसे मृग रूप अपने आपको देखो। अपने कल्याण का उपाय सोचो।"

राजा ने घबड़ा कर कहा—"तब प्रभो! मैं क्या करूँ? किस कार्य के करने से इन दुःखों से सदा के लिये छुटकार मिल सकता है?"

नारदजी ने कहा—"देखिये,राजन्! इन आँख, कान, नाक, मुख आदि इन्द्रियों के द्वार ब्रह्माजी ने बाहर की ही ओर बनाये हैं, अतः ये इन्द्रियाँ बाहर की ही वस्तुओं को देखती हैं। भीतर अंतरात्मा को नहीं देखतीं। जैसे गोलक इनके बाहर की ओर हैं, वैसे ही भीतर की ओर भी हैं। बाहरी दृष्टि को रोकने से भीतर की ओर देखने की शक्ति प्राप्त होती है। जो धीर वीर पुरुष मर्त्य धर्म को त्यागकर अमरत्व को प्राप्त करना चाहता है, वही बाहर के इन्द्रिय द्वारों को बन्द करके भीतर दृष्टि ले जाता है। इसलिये बाहर बिखरी हुई वृत्तियों को आप भीतर ले जायें, फिर चित्त को एकाग्र करके उसमें इन्हें स्थापित करें।"

राजा ने चिन्ता का भाव प्रकट करते हुए कहा—"महाराज! यह कैसे हो सकता है। घर है, द्वार है, स्त्रियाँ हैं, बच्चे हैं इन सबकी भी तो चिन्ता करनी पड़ती है।"

नारदजी ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"अजी, राजन ! कौन किसकी स्त्री, कौन किसके बच्चे। ये सब तो गृहस्थाश्रम के प्रपञ्च हैं। विषय मे आसक्त हुए पुरुषों ने स्वयं ही बन्धन बना रखे हैं। वह अपने को ही कर्ता-भर्ता विधाता मान बैठा है। श्रीहरि ही जीवों की जीवों द्वारा उत्पत्ति कराते हैं। वे ही सबकी रक्षा करते हैं, अन्त मे वे ही निमित्त बनाकर सबका संहार करते हैं। जीव तो झूठे ही अभिमान करता है, मैं इतने लोगों का पालन-पोषण करता हूँ। मेरे आश्रय मे इतने लोग पलते हैं। इस मिथ्याभिमान को छोडना चाहिये और जिसमे विषय का ही बाहुल्य है ऐसे गृहस्थाश्रम का परित्याग करके परिव्राजक हो जाना चाहिये। सभी संसारी विषयों का न्यास करके संन्यास धर्म का पालन करना चाहिये। विषयी लोगों से कभी बात भी न करनी चाहिये विषय उतने बन्धन मे नहीं फँसा सकते जितने कि विषयी लोग फँसाते हैं, अतः विषयी लोगों का सङ्ग दूर से ही त्याग देना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"भगवन् अब तो हमें बहुत से कार्य हैं, उनमें मन लगा रहता है। जब इन गृहस्थ के कार्यों को त्याग देंगे, तो मन कैसे लगेगा। चित्त को फँसाये रखने को कोई कार्य भी तो चाहिये। बेकार बैठे बैठे मन भी तो न लगेगा ?"

नारदजी ने कहा—"राजन् ! यही तो मूर्खता है। जो करने योग्य यथार्थ कार्य है, उसे तो जीव करता नहीं, व्यर्थ के कार्यों मे फँसा रहता है। स्मरणीय चिन्तनीय श्रवणीय वन्दनीय एक मात्र श्रीहरि ही हैं। उन्हीं के नाम का कीर्तन करो, उन्हीं की कथाओं का श्रवण करो, उन्हीं की पूजा अर्चा करो, उनका ही ध्यान करो। सर्वदा उन्हीं मे चित्त को फँसाये रखो तुम संसार दुःखों से निश्चय ही उपरत हो जाओगे।"

इस पर राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो ! यह तो बड़ा

अद्भुत आत्मज्ञान का उपदेश आपने मुझे दिया। मेरे उपाध्याय तो मुझे सर्वदा कर्मकाण्ड में ही फँसे रहने का उपदेश देते रहते थे। निश्चय वे इस गूढ ज्ञान से अनभिज्ञ रहे होंगे। तभी तो उन्होंने मुझे इस सम्बन्ध में आज तक कुछ बताया नहीं। आज मैं भी कृतार्थ हुआ। मेरा अज्ञान रूप मोह दूर हुआ। अब मुझे एक शका और है, उसका समाधान करके मेरे सभी संशयों का मूलोच्छेदन कर दीजिये।"

मैत्रेयमुनि कहते हैं—विदुरजी! इतना कहकर राजा प्राचीन बर्हि कुछ ठहरकर सोचकर नारदजी से एक दूसरी शका करने लगे।"

छप्पय

राजन्! इन्द्रियजन्य विषयतें चित्त हटाओ।
मनकूँ करि एकाग्र कृष्ण चरननि महँ लाओ॥
काल भेड़िया खाय मृत्यु पीछे तें मारे।
कित्तर्व्य विमूढ़ बन्यो नर नाहिं विचारे॥
नित चर्चा जहँ विषय की, कामिनी बसी चित्त महँ।
तजि ताकूँ श्रीहरि भजो, मन न रहे एह चित्तमहँ॥

प्राचीनबर्हि और नारद मुनि के सम्वाद की समाप्ति

(३००)

एतन्मुकुन्दयशसा भुवन पुनानम्,
देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यम्
नास्मिन् भवे भ्रमित मुक्तसमस्तबन्धः ॥❀

(श्रीभा० ४ स्क० २९ अ० ८४ श्लोक)

छप्पय

मन ही कारन बन्ध मोक्ष को समुझो भूपति ।
असत् वस्तु सत् समुझि फँस्यो करि कर्म जीव अति ॥
कर्मनि कूँ करि मुक्ति जगततें नहिँ नृप पाओ ।
तन मन हरिपद सौंपि भजन महँ चित्त लगाओ ॥
सिरजें पालें जगतकूँ, काल पाइ मुनि लय करहिँ ।
शरणागत वत्सल सकल, भव-भयकूँ ते हरि हरहिँ ॥

❀ मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! जो पुरुष देवर्षि नारद जी के मुख से निकले हुए, भगवान् मुकुन्द के यश से त्रिलोकी को पवित्र करने वाले इस आत्मज्ञान का कीर्तन करता है, वह पुरुष परमपद को प्राप्त हो जाता है । वह सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से मुक्त होकर इस संसार चक्र मे फिर नही भटकता अर्थात् उसका आवागमन समाप्त हो जाता है ।"

यह कर्म चक्र अनादि है। कोई कहे कि हमें यह दुःख या सुख क्यों हुआ, तो हम कह देते हैं, पूर्वकृत पाप और पुण्यों का फल है। वह कहता है—"हमने जब से स्मृति सम्हाली है, तब से ऐसा पाप या पुण्य कभी नहीं किया" तो हम कह देते हैं–"किसी अन्य जन्म में किया होगा। वह कहता है—"अच्छा सृष्टि के आदि में जब प्रलय के पश्चात् जो शरीर हमें मिला वह क्यों मिला, क्यों कि प्रलय में तो हमने कोई काम किया नहीं।" इस पर हम कहते हैं—"यह ठीक है, प्रलय में तुमने कोई कर्म नहीं किया, किन्तु प्रलय के पूर्व जो सर्ग था, उसके कर्म आपके साथ चिपटे रहे, जब सृष्टि का समय हुआ तो उसी के अनुसार योनि मिल गई। जैसे पृथ्वी में गरमियों में बीज चुपचाप पड़ा रहता है। जहाँ वर्षा आई कि उसमें से अंकुर उत्पन्न हो जाता है, फलने फूलने लगता है।" इस पर वह कहता है—"पहिले पहल कैसे योनि मिली आरम्भ में।" तो इसका उत्तर यही है कि, पहिले पहिल कोई आरम्भ ही नहीं। यह कर्म चक्र तो अनादि है। ऐसे ही चल रहा है। कोई कह ही नहीं सकता कब से आरम्भ हुआ। अनादि कर्म वासना जीव के साथ लिपटी है। नित्य-प्रति यह बढ़ती ही जाती है, जैसे मूलधन से नित्य नित्य व्याज बढ़ती है। मूलधन का नाश हो जाय, तो व्याज अपने आप बन्द हो जायगी। इसी प्रकार ज्ञान होने पर भगवत् कृपा से सैंचित कर्मों का नाश हो जाय, तो प्रारब्ध और क्रियमाण स्वयं ही नष्ट हो जायँगे।

जब नारदजी ने कर्म बन्धनों का नाश कर्मों के द्वारा नहीं होता यह बात कही और यह भी बताया कि कर्म बन्धनों में बँधा जीव अज्ञानवश अपने को कर्ता मानकर ही नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है, तो इस पर महाराज प्राचीनबर्हि ने शंका की—"प्रभो! अब मुझे एक शंका है, मनुष्य जिस शरीर के द्वारा

जो कर्म करता है वह कर्म भी और वह शरीर भी यहीं नष्ट हो जाता है। फिर परलोक में जीव सुख दुःखों का फल पुण्य पाप कैसे भोगता है। मान लीजिये, किसी ने ब्रह्म हत्या की जिसकी उसने हत्या की उस आदमी का शरीर तो यहीं पच भूतों में मिल कर नष्ट हो गया। जिसने हत्या की वह हत्या करने वाला शरीर यहीं रह गया। कर्ता और कर्म दोनों ही यहीं समाप्त हो गये। अब परलोक में उसका फल कौन भोगता है ?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! फल भोगने के लिये एक भोग शरीर प्राणियों को पृथक प्राप्त होता है। उससे ही वह सुख दुःखों का अनुभव करता है। उसी से पुण्य पाप भोगता है।"

इस पर राजा ने कहा—"तब तो भगवन्! यह सरासर अन्याय है। जिस स्थूल शरीर ने ब्राह्मण की हत्या की वह तो यहीं रह गया और दूसरे शरीर को उसके बदले कष्ट सहना पड़ा। यज्ञदत्त ने अपराध किया उसका दंड देवदत्त को सहन करना पड़ा। यह बात तो हमारी बुद्धि में बैठती नहीं।"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी कहने लगे—"राजन्! आप ध्यान पूर्वक विचार करें—क्या यह स्थूल शरीर स्वतः किसी को मार सकता है। यदि स्थूल शरीर मार सके, तो मृतक शरीर के सब अंग ज्यों के त्यों बने रहते हैं, वह अपने शत्रु पर प्रहार क्यों नहीं करता ?"

इस पर राजा ने कहा—"महाराज! मृतक शरीर में मारने की शक्ति नहीं होती। उसमें से जो जीवात्मा निकल जाता है। बिना जीवात्मा के प्राण से हीन देह कुछ भी करने में समर्थ नहीं।"

प्रसन्न होकर नारदजी बोले—"हाँ, तो देखिये फिर मारने वाला तो शरीर से भिन्न ही कोई हुआ। शरीर तो नहीं मारता। जब मारने वाला दूसरा है, तो उसे ही दंड मिलना चाहिये। किसी ने लाठी से किसी का सिर फोड़ दिया। तो लाठी को तो

सजा नहीं होती, सजा तो लाठी मारने वाले की ही होती है। उसी प्रकार स्थूल शरीर का जो अभिमानी है, वही परलोक में अव्यवहित रूप से उसके फल को भोगता है। जीव के बिना देह कुछ भी करने में समर्थ नहीं। देह तो वस्त्र के समान है। किसी वर का किसी कन्या के साथ विवाह होता है। दोनों नये नये रङ्ग बिरंगे वस्त्र पहिने रहते हैं। विवाह के अनन्तर यदि यह आग्रह किया जाय कि जिन वस्त्रों को पहिनकर विवाह हुआ था, वे ही जब शरीर पर हों तो हम गृहस्थ सुख भोगने को पति पत्नी हैं अन्यथा न हों। तब तो गृहस्थी चले ही नहीं। विवाह चाहे जैसे वस्त्रों से हो, गृहस्थ सुख भोगने को जिस समय वे जैसे चाहें वस्त्र पहिन लें, वे पति पत्नी ही रहेंगे। वस्त्रों से उनके फल भोग में कोई अन्तर न पड़ेगा। इसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव किसी भी शरीर को धारण कर ले फल तो उसे वे ही सब भोगने पड़ेंगे जिन्हें किसी भी योनि में कर आया हो। देह भेद से कर्मों के भोग में अन्तर न पड़ता है, न यह दोष ही आ सकता है कि देवदत्त के किये कर्मों को यज्ञदत्त कैसे भोगे। देवदत्त ने जिन वस्त्रों से भोजन बनाया है, यह आवश्यक नहीं कि उन्हीं को पहिनकर वह भोजन भी करे।"

राजा ने कुछ सोचकर पूछा—"तो भगवन्! फिर जीव क्या वस्तु है?"

इस पर नारद जी ने कहा—"अब राजन्! क्या बतावें, यह तो एक बड़ी गूढ़ सी बात है। आप काम चलाने को यों समझ लो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रायें और एक मन, इन सोलह तत्त्वों के रूप में निर्मित हुआ पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश इन पाँच भूतों से निर्मित तीन गुणों वाला लिङ्ग शरीर जब चेतना से युक्त हो जाता है तो उसी के जीव संज्ञा हो जाती है। स्थूल शरीर उसका आवरण मात्र है। जैसे

चिट्ठी को लिफाफे में रख देते हैं। लिफाफे के नष्ट हो जाने पर भी पत्र के भाव में कोई फेर-फार नहीं होता। पत्र निकल जाने पर लिफाफा व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यह जो भी कुछ होता है, मन के ही द्वारा होता है। मन इन्द्रियों को आज्ञा न दे तो कोई कर्म न होगा। मन ही कर्म करता है मन ही फलों को भोगता है। जीव अभिमान वश उसमें अहंता स्थापित कर लेता है, इसीलिये कर्ता न होने पर भी वह मन के संसर्ग से सुखी-दुखी होता है।'

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! यह तो मैं मानता हूँ कि कर्म मन की ही प्रेरणा से शरीर से होते हैं। शरीर को छोड देने पर मन उन्हीं कर्मों के सस्कारों को दूसरे शरीर से भोगने पर पहले शरीर के समान ही सुखी दुखी कैसे होता है?"

नारदजी ने कहा—"यह तो बडी मोटी बात है। आप स्वप्न मे सोते हैं। उस समय आपका स्थूल शरीर तो शैया पर पडा रहता है, स्वप्न शरीर से आप दुःख-सुख भोगते हैं कि नहीं? उनके भोगते समय प्रत्यक्ष की भाँति दुखी-सुखी होते हैं। जैसे सस्कार रूप से स्वप्न शरीर से भोगता है, वैसे ही दिव्य शरीर से या यातना शरीर से सुख का अनुभव करता है। शरीर तो कहता नहीं—यह मैं हूँ, ये मेरे स्त्री, बच्चे तथा सबन्धी हैं, मन इनका अनुभव करता है वही पाप पुण्यों को ग्रहण करता है। अपने को कर्ता मान बैठता है, तो उसे ही भोगना होगा। जो कान छिदावेगी वही गुड खायगी। यह तो हो नहीं सकता, गुड़ खाइ लाली, कान छिदावे दादी। जन्म मरण मन से ही है। मन जिस शरीर में जायगा। उसी मे कर्मों का फल भोगेगा।"

राजा ने कहा—"भगवन्! पूर्व जन्म होता है इस बात में क्या प्रमाण? कोई देखने तो गया नहीं। जन्म लेते ही पूर्वजन्म

सजा नहीं होती, सजा तो लाठी मारने वाले की ही होती है। उसी प्रकार स्थूल शरीर का जो अभिमानी है, वही परलोक में अव्यवहित रूप से उसके फल को भोगता है। जीव के बिना देह कुछ भी करने में समर्थ नहीं। देह तो वस्त्र के समान है। किसी वर का किसी कन्या के साथ विवाह होता है। दोनों नये-नये रङ्ग बिरंगे वस्त्र पहिने रहते हैं। विवाह के अनन्तर यदि यह आग्रह किया जाय कि जिन वस्त्रों को पहिनकर विवाह हुआ था, वे ही जब शरीर पर हों तो हम गृहस्थ सुख भोगने को पति पत्नी हैं अन्यथा न हों। तब तो गृहस्थी चले ही नहीं। विवाह चाहे जैसे वस्त्रों से हो, गृहस्थ सुख भोगने को जिस समय वे जैसे चाहें वस्त्र पहिन लें, वे पति पत्नी ही रहेंगे। वस्त्रों से उनके फल भोग में कोई अन्तर न पड़ेगा। इसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव किसी भी शरीर को धारण कर ले फल तो उसे वे ही सब भोगने पड़ेंगे जिन्हें किसी भी योनि में कर आया हो। देह भेद से कर्मों के भोग में अन्तर न पड़ता है, न यह दोष ही आ सकता है कि देवदत्त के किये कर्मों को यज्ञदत्त कैसे भोगे। देवदत्त ने जिन वस्त्रों से भोजन बनाया है, यह आवश्यक नहीं कि उन्हीं को पहिनकर वह भोजन भी करे।"

राजा ने कुछ सोचकर पूछा—"तो भगवन्! फिर जीव क्या वस्तु है?"

इस पर नारद जी ने कहा—"अब राजन्! क्या बतावें, यह तो एक बड़ी गूढ़ सी बात है। आप काम चलाने को यों समझ लो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रायें और एक मन, इन सोलह तत्वों के रूप में निर्मित हुआ पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश इन पाँच भूतों से निर्मित तीन गुणों वाला लिङ्ग शरीर जब चेतना से युक्त हो जाता है तो उसी के जीव संज्ञा हो जाती है। स्थूल शरीर उसका आवरण मात्र है। जैसे

चिट्ठी को लिफाफे में रख देते हैं। लिफाफे के नष्ट हो जाने पर भी पत्र के भाव में कोई फेर फार नहीं होता। पत्र निकल जाने पर लिफाफा व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यह जो भी कुछ होता है, मन के ही द्वारा होता है। मन इन्द्रियों को आज्ञा न दे तो कोई कर्म न होगा। मन ही कर्म करता है मन ही फलों को भोगता है। जीव अभिमान वश उसमें अहंता स्थापित कर लेता है, इसीलिये कर्ता न होने पर भी वह मन के ससर्ग से सुखी-दुखी होता है।"

राजा ने कहा—"हाँ भगवन! यह तो मैं मानता हूँ कि कर्म मन की ही प्रेरणा से शरीर से होते हैं। शरीर को छोड देने पर मन उन्हीं कर्मों के सस्कारों को दूसरे शरीर से भोगने पर पहले शरीर के समान ही सुखी दुखी कैसे होता है?"

नारदजी ने कहा—"यह तो बडी मोटी बात है। आप स्वप्न म सोते हैं। उस समय आपका स्थूल शरीर तो शैया पर पडा रहता है, स्वप्न शरीर से आप दु ख सुख भोगते हैं कि नहीं? उनके भोगते समय प्रत्यक्ष की भाँति दुखी-सुखी होते हैं। जैसे सस्कार रूप से स्वप्न शरीर से भोगता है, वैसे ही दिव्य शरीर से या यातना शरीर से सुख का अनुभव करता है। शरीर तो कहता नहीं-यह मैं हूँ, ये मेरे स्त्री, बच्चे तथा सबन्धी हैं, मन इनका अनुभव करता है वही पाप पुण्यों को ग्रहण करता है। अपने को कर्ता मान बैठता है, तो उसे ही भोगना होगा। जो कान छिदावेगी वही गुड खायगी। यह तो हो नहीं सकता, गुड खाइ लाली, कान छिदावे दादी। जन्म मरण मन से ही है। मन जिस शरीर में जायगा। उसी में कर्मों का फल भोगेगा।"

राजा ने कहा—"भगवन्! पूर्व जन्म होता है इस बात में क्या प्रमाण? कोई देखने तो गया नहीं। जन्म लेते ही पूर्वजन्म

की सब बातें भूल जाती हैं। तब हम कैसे समझें ये संस्कार पूर्व जन्म के हैं ?"

नारदजी बोले—"राजन् ! देखिये, जो बात इन चर्म चक्षुओं से सिद्ध नहीं होती, उसका अनुमान लगाया जाता है। जैसे हम अपनी पीठ को नहीं देख सकते, दूसरों की पीठ देखते हैं तो अनुमान लगाते हैं, सबके पीठ है, तो हमारे भी होगी। हम माता के गर्भ से उत्पन्न हुए यह बात हमने अपनी स्मृति में देखी नहीं, किन्तु बच्चों को पैदा होते देखते हैं, तो अनुमान लगाते हैं कि कभी हम भी पैदा हुए होंगे। अनुमान के अतिरिक्त आप्त पुरुष, श्रेष्ठ पुरुषों के वाक्य भी प्रमाण माने जाते हैं, जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो। हमारे माता-पिता आदि ने हमें प्रत्यक्ष उत्पन्न होते देखा है। वे बताते हैं तुम अमुक दिन पैदा हुए थे। उसे हम मान लेते हैं। इसी प्रकार पूर्व जन्म के विषय में अनुमान और आप्त प्रमाण हैं।"

देखिये, हमें इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष तो दीखती नहीं उनके गोलक दीखते हैं। यह जो चक्षु इन्द्रिय है वह तो दृष्टिगोचर होती नहीं, जिसे हम चक्षु कहते हैं वह चक्षु गोलक है। यह चक्षु किसी की प्रेरणा से किसे कहने से देखती है। उस प्रेरक को मनीषियों ने मन कहा है। आँखों की चेष्टा से चित्त का मन का अनुमान होता है। इसी प्रकार चित्त की भिन्न २ वृत्तियों से पूर्व जन्म का अनुमान होता है जैसे स्वप्न में हम बहुत-सी ऐसी बातें देखते हैं जिनका अनुभव इस शरीर में नहीं हुआ। बिना अनुभव हुए स्वप्न में कोई बात आ नहीं सकती। इससे अनुमान लगाते हैं कि किसी पूर्व शरीर से मन ने इसका अनुभव किया होगा।

राजा ने कहा—"भगवन् ! स्वप्न में तो हम यही बात देखते हैं, जिसका जाग्रत में अनुभव किया हो।"

शीघ्रता से नारदजी बोले—"ऐसी बात नहीं महाराज! कभी-कभी विलक्षण स्वप्न दीखते हैं। कभी २ ऐसा भी होता है, जो वस्तु पहिले नहीं देखी थी स्वप्न में दीखती हैं, फिर जाग्रत में कभी वह मिलती है तो ज्यों-त्यों दिखाई देती है। इससे अनुमान होता है पूर्व जन्म में हमने इसे देखा होगा। इसके अतिरिक्त बहुत को जाति स्मरण होती है। पूर्व जन्म की सब सच्ची सच्ची बातें बताते हैं। ज्योतिष विद्या से भी पूर्व जन्म की बहुत-सी बातें ज्यों की त्यों सच्ची निकलती हैं। एक बात और भी है, मनुष्य के स्वभाव, व्यवहार चाल चलन को देखकर भी उसके पूर्व का अनुमान हो जाता है कि यह पूर्वजन्म में पुण्यात्मा था या पापात्मा। जो लोग नरक से और स्वर्ग से लौटकर आते हैं उन्हें लक्षणों से ही पहिचाना जा सकता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वह कौन-सी पहिचान है, किन लक्षणों से यह जाना जाता है कि यह स्वर्ग से लौटा पुण्यात्मा पुरुष है, यह नरक से लौटा हुआ पापात्मा पुरुष है?"

नारदजी ने कहा—"देखिये, स्वर्ग से लौटे हुए पुरुषों के शरीर में ४ चिन्ह शेष रह जाते हैं। एक तो स्वर्गीय पुण्यात्मा जीवों की स्वाभाविक रुचि दान में रहती है। जो भी अपने पास हो विद्वानों को गरीबों को आश्रितों को अभ्यागतों को दान देते रहे। दान देने में उन्हें आन्तरिक सुख होता है। दूसरा चिन्ह यह है कि उनकी वाणी स्वाभाविक मधुर होती है। वे रोते हुए को हँसा देते हैं, उनका मुख मण्डल सदा प्रसन्न रहता है। मन्द हास्य उनके मुख पर सदा छिटकता रहता है। जो उनसे बातें करता है, उसकी तबियत नहीं भरती, चित्त चाहता है इनसे और भी बातें करें। क्रोध में भी वे जो बातें कहते हैं वे भी बड़ी प्यारी लगती हैं। क्रोध तो वे प्रायः करते ही नहीं। तीसरी बात यह है कि देवताओं के पूजन भगवत् परिचर्या में उनको बड़ा आनन्द

आता है। और स्वर्ग से लौटे हुए पुरुषों का चौथा चिन्ह यह है कि वे श्रेष्ठ ज्ञानी ब्राह्मणों को सदा अपने व्यवहार और आचरण से सन्तुष्ट रखते हैं। ये चार बातें जिनमें हो उन्हें निःसंदेह समझ लो कि ये स्वर्ग से लौटे हुए जीव हैं।

राजा ने पूछा—'भगवन्! नरक से लौटे हुए पापी पुरुषों की क्या पहिचान है?"

नारदजी बोले—"राजन्! नारकीय जीव छिपते नहीं। उनके तो क्रोध भरे विकृत रूप को ही देखकर मनुष्य सहज में अनुमान कर सकता है। फिर भी पहिचान के लिये नरक से लौटे हुए जीवों के शरीर में ६ चिन्ह शेष रह जाते हैं। एक तो यह कि वे अत्यन्त क्रोधी होते हैं। सहज स्वभाव से बातें करने पर भी ऐसा लगता है मानो लड़ रहे हों। उनकी आँखें सदा चढ़ी रहती हैं। देखने वाले दूर से ही डर जाते हैं। दूसरे उनकी वाणी विष बुझे बाणों के समान होती है। जिससे बोलेंगे व्यङ्ग वचन ही बोलेंगे, कटु भाषण करना ही उनका स्वभाव होता है। तीसरा चिन्ह यह है कि वे मन के बड़े दरिद्र होते हैं, किसी को कुछ देने में उनका हृदय फटने लगता है। इतने कृपण होते हैं कि न स्वयं खाते हैं न किसी को खाने देते हैं। चौथी बात यह कि अपने बन्धु-बान्धवों और परिवार वालों से सदा द्वेष करते रहते हैं। पाँचवाँ चिन्ह यह है कि उन्हें नीचों का, क्षुद्र पुरुषों का संग प्रिय होता है। स्वयं ओछी तबियत के होते हैं और संग भी ओछे पुरुषों का करते हैं। छठी बात यह है कि वे साधु महात्मा ज्ञानी पुरुषों की तो सेवा सुश्रूषा करते नहीं, जो कुलहीन पाखण्ड ढोंगी होते हैं, उन्हीं की सेवा करते हैं। जिनमें ये सब बातें हों, समझो ये सीधे नरक से निकलकर किसी पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से मनुष्य शरीर में आ गये हैं और फिर भी नरक की तैयारी करते हुए बिस्तर बाँधे बैठे हैं।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! नरक में तो वह पापों का फल भोग ही आया, फिर उसका स्वभाव ऐसा क्यों होता है?"

नारदजी बोले—"अजी राजन्! भोग लेने पर भी संस्कार तो कुछ न कुछ शेष रह ही जाते हैं। तमाखू पीकर उसका धुआँ निकाल देने पर भी मुँह में दुर्गन्ध बनी ही रहती है। प्याज को खा लेने पर भी बुरी डकार आती ही है। शराब के पी लेने पर भी मुख से उसकी भभक निकलती ही है। मदिरा के कलश को धो लेने पर भी उसकी अशुद्धता शेष रह ही जाती है। इसी प्रकार कपूर की डिबिया में कपूर निकाल लेने पर उसमें सुगन्ध रह ही जाती है। केवड़ा की बाल सूख जाने पर भी उसकी गन्ध रहती ही है। मन में जो संस्कार जम जाते हैं वे अतिशीघ्र एक दो जन्म में नष्ट नहीं होते। पूर्वजन्मों में इन्द्रियों से अनुभव होने वाले सभी पदार्थ पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिये समयानुसार अन्तःकरण के सम्मुख आते-जाते रहते हैं। क्योंकि जितने भी मनुष्य हैं उन सबका मन अनेक जन्मों के नाना संस्कारों से अनुभावित होता है।"

राजा ने पूछा—"तब तो भगवन्! इस जीव को कभी भगवत् दर्शन हो ही नहीं सकते, क्योंकि मन के संस्कार कभी मिटने के नहीं। ये चक्र के समान आते जाते रहेंगे। संस्कार दृढ़ होते जायँगे। तब तो जीव सदा ८४ के चक्कर में ही फँसा रहेगा। फिर मुक्ति का तो कोई ढङ्ग नहीं।"

बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हुए देवर्षि नारदजी बोले—"हाँ, राजन्! अब आप बात पर पहुँचे। वास्तव में बात यही है कि जब तक अनादि काल से बना हुआ यह बुद्धि मन इन्द्रिय और शब्द, रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श विषय रूप गुणों का संघात लिङ्गदेह विद्यमान है जब तक अन्तःकरण का नाश नहीं होता, तब तक मनुष्य में 'मैं मेरा तू तेरा' यह भावना ही रहती है।

अहंकार की जब तक निवृत्ति न हो तब तक भगवत् दर्शन सम्भव नहीं।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन्! जब मनुष्य गाढ़ निद्रा में सोता है तब तो उसे शरीर का जगत् का भान नहीं रहता। अहंकार की निवृत्ति हो जाती है उस समय तो फिर भगवत् दर्शन हो जाने चाहिये।"

नारदजी बोले—"हाँ, राजन्! आप ठीक कहते हैं। उस समय संस्कार का भान नहीं रहता, सुख स्वरूप भगवान् का कुछ अनुभव होता है। मनुष्य कितना भी दुखी हो, गाढ़ निद्रा में यदि वह सो जाय तो सब दुःखों को भूल जाता है। एक अपूर्व सुख का अनुभव करता है, किन्तु अहंकार को लेकर वह लीन होता है। सूक्ष्म रूप से अहंकार तो वहाँ बना ही रहता है। यदि अहंकार न होता तो उठकर यह कैसे कहता—"अहा! आज तो बड़ी गहरी नींद आई। बड़े आनन्द से खूब सोया। मुझे कुछ भान ही न रहा।" गहरी नींद का आना, सुख का अनुभव, इतना सोया, ये बातें अहंकार के बिना निद्रा में कौन अनुभव करता? इससे सिद्ध हुआ सुषुप्ति अवस्था में भी अहंकार सूक्ष्म रूप से बना ही हुआ था।"

राजा ने कहा—"अच्छा महाराज! कोई पेड़ पर से गिर कर मूर्छित हो जाता है। शल्य शास्त्र के चिकित्सक एक औषधि सुँघाकर मूर्छित कर लेते हैं। उस अवस्था में, अत्यन्त शोक की अवस्था में, घोर ज्वर में, मृत्यु के समय भी शरीर और जगत् भूल जाता है।"

बीच में ही नारदजी बोले—"वही बात यहाँ समझिये। भूल भले हो जाय, सूक्ष्म रूप से अभिमान तो वहाँ भी वर्तमान रहता ही है।"

राजा ने पूछा—"महाराज!, तब जो निरन्तर भगवान् का

ध्यान करते रहते हैं ऐसे भगवान् की सन्निधि मे रहने वाले सत्यनिष्ठ भगवत् भक्तों के अन्त'करण में तो जगत् का भान न होता होगा ? उनके अन्तःकरण से तो यह दृश्य प्रपञ्च सदा के लिये भाग जाता होगा, जैसे आप हैं। यह सुनकर नारदजी हँस पडे और बोले—"अब राजन् ! आप तो खोद खोद कर अन्तः करण के सतह तक की बात पूछते हैं। महाराज ! सत्य बात तो यह है कि जब तक यह शरीर है तब तक जगत् का अत्यन्ता भाव होता ही नहीं। यह जगत् पिंड छोडता नहीं। हाँ, एक बात है, भक्तों के अन्त.करण पर समीप रहते हुए उसका कुछ प्रभाव नहीं पडता। जैसे राहु कहीं चला थोडे ही जाता है। चन्द्रमा के सर्वदा समीप रहता है, किन्तु उन पर अपना कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता। कभी कभी पूर्णिमा के दिन ग्रहण के समय उसकी कुछ कला को प्रतीति होती है, फिर छिप जाता है। उसी प्रकार भक्तों के अन्तःकरण में जगत् का तादात्म्य से भान होता है। कभी कभी भूल में भगवत् विस्मृत होने पर जगत् अपना रङ्ग दिखा देता है। मैं भी एक बार एक छोकरी के चक्कर मे फँस गया था। भगवान् को भूल गया था किन्तु भगवान् ने मुझे बाल-बाल बचा लिया। कुछ समय में ही वह मद उतर गया।"

महाराज प्राचीनबर्हि ने कहा—"भगवन् ! एक शङ्का मुझे रह गई। आपने १० इन्द्रिय पञ्च तन्मात्रा और एक अन्त.करण इस प्रकार १६ गुणा के सघात को कई बार लिङ्ग देह कहा है। इस पर मेरी शका यह है कि बाल्यावस्था मे तथा गर्भावस्था में तो इन्द्रियाँ अपना काम करती नहीं इन्द्रियों का काम है विषयों का उपभोग। बाल्यकाल मे लड्डू पास रखा है हाथ उसे उठा नहीं सकते। रसना उसकी स्वाद नहीं ले सकती तो क्या उन दोनों अवस्थाओं में लिङ्ग देह नहीं रहता ?"

नारदजी ने कहा—"रहता क्यों नहीं ! इन्द्रियों के पूर्णतया

जिज्ञासुओं को उपदेश देने ही आते हैं, नहीं तो ऊपर के दिव्य लोकों मे ही विचरते रहते हैं।"

नारदजी से ऐसा दिव्य उपदेश पाकर महाराज प्राचीनबर्हि अपने पुत्र प्रचेताओं को प्रजा सर्ग तथा प्रजा पालन मे नियुक्त करके बाबाजी बनकर भगवान् कपिलदेव के आश्रम पर जाकर वहाँ सम्पूर्ण विषयों की आसक्ति छोडकर श्रीहरि के पादपद्मों का एकाग्रचित्त होकर ध्यान करते हुए कालयापन करते रहे। अन्त मे वे परम पद के अधिकारी हुए।

विदुरजी ने कहा—"भगवन्! यह तो आपने परोक्ष रूप से बहुत ही ऊँचा आत्मज्ञान मुझे बताया। इसे सुनकर तो मैं कृतार्थ हो गया।"

उल्लास के साथ मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! आप तो ज्ञानी हैं, भगवत् भक्त मे, जो भी इस भगवान् नारद के मुख से निसृत ज्ञानामृत पान करेगा, वही इस जन्म मरण के कारण रूप लिङ्ग देह के अभिमान से मुक्त होकर परमपद का अधिकारी बन जायगा। यह भगवान् मुकुन्द के यश से पूरित सुखद सवाद तीनों लोकों को पावन करने वाला है, जो इसे श्रद्धा से सुनता है, कहता है, उसे फिर संसार के चक्र में नहीं भटकना पडता।"

विदुर ने पूछा—"भगवन्! आपको यह दिव्य आत्मज्ञान किससे प्राप्त हुआ।"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"मैंने अपने गुरु भगवान् बृहस्पति से तथा आनन्द कन्द नन्दनन्दन जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्र के मुख से सुना था। जो पुरुष मेरे तुम्हारे सम्वाद को सुनेंगे उन्हें फिर यह शका शेष न रहेगी कि मनुष्य परलोक मे अपने कृत कर्मों का फल किस प्रकार भोगता है। उसकी समस्त शकाओं का समाधान हो जायगा। वह देहाभिमान से मुक्त हो जायगा।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन् आपने उन प्रचेताओं के पिता

का तो वृत्तान्त सुनाया, किन्तु आपने उन प्रचेताओं का वृत्तान्त अधूरा ही छोड दिया। भगवान शकर से रुद्रगीत का उपदेश पाकर उन्होंने कैसी तपस्या की। उनकी मुक्ति में तो कोई सदेह ही नहीं। क्योंकि साक्षात् मुक्ति के स्वामी शकरजी ने उन्हे उपदेश दिया था। फिर भी मुक्ति के पूर्व उन्होंने क्या क्या किया, इन सब बातो को सुनने की मेरी बड़ी इच्छा है।"

यह सुनकर हँसते हुए मैत्रेय जी बोले—"विदुर जी आप तो बात को भूलते ही नहीं, कथा का प्रवाह बनाये ही रहना चाहते हैं। तनिक सुस्ता लीजिये नेकसा विश्राम कर लीजिये, तब सब सुनाऊँगा। यह कहकर मैत्रेय जी आचमन करने लगे।"

छप्पय

श्रीनारद मुनि कथित ज्ञानकूँ जे नर धारें।
ते न जनम पुनि लेहिँ जाल जग के कूँ जारें॥
कह्यो पुरजन गृही बुद्धि सग फँस्यो देह महँ।
मैं मेरी मूहँ बँध्यो पुत्र धन धाम गेह महँ॥
हरि हियमहँ जे धारिकें, पीवें प्रभु पय प्रेमतें।
पावें ते नर परम पद, कहें सुने जे नेमतें॥

प्रचेताओं को भगवान् के दर्शन

[३०१]

दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः ।
तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन् रुचा ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ३० अ० ४ श्लोक)

छप्पय

विदुर कहे—हे गुरो ! पुरंजन कथा सुनाई ।
किन्तु प्रचेता बात बीच महँ विमो भुलाई ॥
रुद्रगीत उपदेश पाइ तिनि का का कीन्हों ।
कैसे तिनि ढिँग आइ जगत्पति दर्शन दीन्हों ॥
मुनि बोले—सुनु विदुर अब, कहूँ प्रचेतनि की कथा ।
रुद्रगीत जपि तप करयो, हरि दर्शन पाये जथा ॥

एक बार जिसकी जिह्वा ने मिश्री का स्वाद चख लिया, उसे यदि प्रसङ्ग वश प्रारब्धवश गुड़ या सीरा खाना पड़े, तो समयानुसार उसे खायेगा और उसमें क्षणिक सुख का भी अनुभव करेगा, किन्तु जहाँ अवसर निकल गया और मिश्री मिलने का

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार प्रचेताओं को जप तप करते-करते १० हजार वर्ष हो गये, तब सनातन पुराण पुरुष अपनी शक्तिमयी कान्ति से उनके संताप को शान्त करते हुए उन सबके सम्मुख प्रकट हुए ।"

प्रसङ्ग उपस्थित हो गया, तब फिर वह उस सौरा-लौटा-में आसक्ति न रखेगा। उसे खाने की फिर इच्छा न करेगा। कभी-कभी भगवत्दर्शन हो जाने पर भी संसारी विषयों में फँसना पड़ता है। इसे दैवेच्छा या प्रारब्ध का भोग समझना चाहिये। किन्तु जहाँ भोग समाप्त हुआ कि फिर उनसे तत्क्षण विराग हो जाता है और पुनः भगवत्दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा जागृत हो जाती है। भूले हुए ज्ञान को स्मरण करने में देर नहीं होती। एक बार महत्पुरुषों की कृपा प्राप्त होने पर उसका फल अमोघ होता है। प्रसगानुसार कुछ काल भले ही वह अपना फल न दिखावे किन्तु समय आने पर वह अपना फल दिखाते हैं। कल्याणमय कार्य करने वाला कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब मैत्रेय मुनि ने विदुरजी को प्राचीनबर्हि और नारदजी के प्रसङ्ग में पुरंजनोपाख्यान सुनाया, तब उसे सुनकर विदुरजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस गूढ़ आत्मज्ञान के उपदेश की समाप्ति हो गई तब भागवती कथाओं में अत्यन्त लोलुप विदुरजी ने प्रसङ्ग को चालू रखने के निमित्त प्रचेताओं के आगिम चरित्र का प्रश्न कर दिया, तब प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् मैत्रेय विदुरजी के प्रश्न का उत्तर देते हुए, प्रचेताओं के छूटे हुए शेष चरित्र को सुनाने लगे।"

मैत्रेय मुनि बोले—'विदुरजी! यह बात तो मैं पीछे बता ही चुका हूँ कि अपने पिता महाराज प्राचीनबर्हि की आज्ञा से दशों प्रचेता सिन्धु समुद्र के सगम पर तपस्या करने को जा रहे थे। रास्ते में उन्हें शिवजी के दर्शन हुए। शिवजी ने उन्हें रुद्रगीत का उपदेश दिया। भगवान् भूतनाथ से दिव्य रुद्रगीत का उपदेश पाकर सभी भाई समुद्र के जल में खड़े होकर दश हजार वर्षों तक घोर तपस्या करते रहे। शिवजी की आज्ञा से एकाग्र चित्त होकर

वे निरन्तर योगादेश स्तोत्र का श्रद्धा सहित जप पाठ करते हुए भगवान् की प्रतीक्षा करते रहे।"

इस पर जब उन्हें तपस्या करते-करते दश हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तो भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि ने उनके ऊपर कृपा की। उन्हें अपने दर्शन देकर कृतार्थ किया।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! प्रचेताओं को भगवान् ने किस रूप से दर्शन दिये। द्विभुज में चतुर्भुज रूप में या अन्य किसी रूप में?"

मैत्रेय मुनि यह सुनकर बोले—"विदुरजी! प्रभु विष्णु के अनेक रूप हैं। प्रचेताओं को उन्होंने अष्टभुज रूप से दर्शन दिये। प्रचेता ध्यान में मग्न थे, इतने में ही उन्हे सर्र-सर्र कुछ सामदेव की-सी ध्वनि सुनाई दी। इतने में ही उन्हें आकाश मार्ग से आते हुए श्रीगरुड़जी दिखाई दिये। उन्हीं के पङ्खों से वेदध्वनि निकल रही थी। गरुड़जी का विशाल शरीर सुमेरु के शिखर के समान प्रतीत होता था, उस पर भगवान् श्यामसुन्दर घनश्याम बिजली से चमचमाते नव जलधर के समान प्रतीत हो रहे थे। शरीर पर पीताम्बर फहरा रहा, कण्ठ में दिव्य कौस्तुभ-मणि चमचमा रही थी। कानों के मकराकृत कुण्डल कपोलों की आभा को छिटकाते हुए हिल रहे थे। मस्तक पर मणिमय मुकुट झिलमिल झिलमिल करता हुआ, दशों दिशाओं के अन्धकार का नाश कर रहा था। नख से शिख तक देदीप्यमान दिव्य आभूषण अपनी शोभा से शोभा को भी तिरस्कृत कर रहे थे। उनकी आठों भुजाओं मे शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष, बाण, खड्ग और ढाल ये आठ आयुध परम शोभा को प्राप्त हो रहे थे। आयुधों से सुसज्जित श्रीहरि की शोभा ऐसी ही प्रतीत होती थी मानो सुमेरु शिखर पर कर्णिकार का वृक्ष फूल रहा हो। गले में वनमाला हिल-हिलकर लक्ष्मी के समान अपनी चचंलता

दिखा रही थी और अपने सौभाग्य पर गर्व करती हुई इठला रही थी। हरि के वक्षस्थल का स्पर्श पाकर उसके रोम-रोम खिल रहे थे। वे लक्ष्मीजी के सौभाग्य के साथ स्पर्धा कर रही थीं। गरुड़जी के आगे-आगे गन्धर्व गानकर रहे थे, अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। इस प्रकार तपस्या करते हुए प्रचेताओं के सम्मुख प्रकट होकर श्रीहरि उनके समस्त शोक सतापों को दूर करते हुए उनसे मेघ गम्भीर वाणी में कहने लगे।"

भगवान् ने कहा—"हे प्राचीनबर्हि के पुत्रो! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हारे शील स्वभाव से, तुम्हारी भक्ति से, तुम्हारी तपस्या से परम सन्तुष्ट हूँ। तुम मुझसे जो भी चाहो वरदान माँग लो। तुम सबकी अवस्था शील स्वभाव संकोच सदाचार व्यवहार और तप एक-सा ही है। तुम सबमे परस्पर मे बड़ा प्रेम है। तुम सब एक ही उपासना रूप कर्म में तत्पर हो। तुम्हारा व्यवहार तो अनुकरणीय है।"

भगवान् की ऐसी मधुर प्रेम से सनी वाणी सुनकर प्रचेताओं की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान् के सम्मुख कुछ भी कहने को समर्थ न हुए। दशों के नेत्रों से एक साथ प्रेम के अश्रु झर-झर करते हुए झरने लगे। उन्हें समान रूप से प्रेम मे विह्वल देखकर भगवान् स्वयं उन्हे वरदान देते हुए बोले—"जो पुरुष सायं प्रातः तुम भाइयों का स्मरण करेगा उसे सब प्राणियों में सुहृदयता और अपने भाइयों में परम प्रेम प्राप्त होगा यह तो मेरा पहिला वर है।

अब मैं तुम्हें एक वरदान और देता हूँ। तुम सबने भगवान् शंकर की आज्ञा शिरोधार्य करके जिस रुद्रगीत का जप पाठ करते हुए तपस्या की है, उससे जो भी कोई सायंकाल और प्रातःकाल एकाग्रचित्त होकर मेरी स्तुति करेगा उसे मैं मनोवांछित फल दूँगा।

तीसरा मेरा यह वरदान है कि तुम सबके सब बड़े पितृभक्त हो। पिता की आज्ञा मानकर तुम सब बिना ननु नच किये तपस्या करने के निमित्त चले आये। जो लोग गुरुजनों की आज्ञा मानकर कार्य करते हैं, उनकी आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती है। अतः संसार में तुम्हारी बड़ी कीर्ति होगी।

चौथा ऐसा वरदान मैं तुम्हें और देता हूँ यह यह कि तुम्हारे एक ऐसा शक्तिशाली, यशस्वी, तेजस्वी, तपस्वी तथा मनस्वी पुत्र होगा जो अपने गुणों में अपने ही समान होगा। उसे लोग दूसरा प्रजापति ब्रह्मा ही कहेंगे, ब्रह्माजी से वह गुणों में किसी प्रकार भी कम न होगा।

इस पर मन ही मन प्रसन्न होकर प्रचेता बोले—"महाराज! सूत न कपास अभी से वस्त्र बनने की बात। अभी तो हमारा विवाह ही नहीं हुआ। हमारे अनुरूप कोई बहूरानी ही नहीं मिली, फिर बच्चा कैसे होगा?"

भगवान् हँसे और बोले—"अरे, बच्चो मेरे भक्तों के लिए कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है। मैंने तुम लोगों के लिये इतनी सुन्दर बहू पहिले से ही ठीक-ठाक कर ली है कि तुम उसे देखते ही प्रसन्न हो जाओगे। वह वृक्षों की कन्या है, इसलिये वार्क्षी उसका नाम है।"

प्रचेताओं ने कहा—"महाराज! वृक्षों के तो कन्या हमने कभी नहीं सुनी। वृक्षों की कन्या से हम मनुष्य होकर कैसे विवाह करें। किसी राजा की कन्या बताइये।"

भगवान् हँसे और बोले—"भैया देखो! पिता कई प्रकार के होते हैं। जो जन्म देता है वह भी पिता है, जो भय से रक्षा करता है वह भी पिता है, जो पालन-पोषण करके बढ़ाता है वह भी पिता है, जो अज्ञानान्धकार मेट कर ज्ञानलोक प्रदान करता है वह भी पिता है। इस प्रकार कोई पालनकर्ता के नाम से

प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं, कोई जन्मदाता के नाम से। वास्तव में वह लड़की तो एक ऋषि की है, किन्तु उसका प्रतिपालन वृक्षों ने किया है, इसीलिये उसका नाम वार्क्षी पड़ा है। वह तुम्हारे सर्वथा अनुरूप है।"

प्रचेताओं ने पूछा—"प्रभो वह किन ऋषि की कन्या है? किससे उत्पन्न हुई है? वृक्षों ने उसका पालन क्यों किया है? उसके माता-पिता ने उसका परित्याग क्यों कर दिया है? कृपा करके इन सब बातों को हमें बताइये। वैसे तो आपकी सभी आज्ञायें हमें शिरोधार्य हैं, फिर भी जिसके संग जीवन भर रहना है, उसके कुल गोत्र का परिचय प्राप्त करना आवश्यक होता है।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"राजपुत्रों! मैं तुम्हें तुम्हारी भावी बहू का वृत्तान्त सुनाता हूँ, तुम कान खोलकर सावधानी के साथ श्रवण करो।"

मैत्रेय मुनि कहते—"विदुरजी! इतना कहकर भगवान् विष्णु प्रचेताओं को उस वार्क्षी कन्या की कथा सुनाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

तपते भये प्रसन्न प्रचेतनि ढिंग हरि आये।
दुरलभ दरशन दये दये वर चार सुहाये॥
सुमिरें तुमकूँ रुद्र गीत जपि मोकूँ ध्यावें।
मातृ प्रेम नित बढ़ै मनोवांछित फल पावें॥
होहि जगतमहँ कीर्ति अति, पुत्र प्रजापति होहि सम।
वार्क्षी कन्या सह सब, करो ब्याह मिलि बन्धु तुम॥

वार्ती कन्या की कथा

[३०२]

कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना ।
तां चापविद्धां जगृहुर्मुरुहा नृपनन्दनाः ॥

(श्री भा० ४ स्क० ३० अ० १३ श्लो०)

छप्पय

करडु भये इक परम तपस्वी मुनि विज्ञानी ।
तपमहँ नितई निरत योगरत ज्ञानी ध्यानी ॥
घोर तपस्या करत निरखि सुरपति घबरायो ।
प्रम्लोचा सुरबधू भेजि तप विघ्न करायो ॥
सोलह ह सिंगार करि, सजि बजि मुनि ढिग आइकें ।
यौवन तें इतराइकें, मुनि मन लियो चुराइकें ॥

शास्त्रकारों का कथन है स्त्रियों के चरित को, पुरुष के भाग्य को कोई जान नहीं सकता । यह भाग्य मनुष्य को कहाँ ले जायगा, प्रारब्ध कर्म कहाँ ले जाकर पटक देंगे, इसका ठीक-ठीक निर्णय कोई कर नहीं सकता । कितने विधान बनाकर कितनी ऊहापोह

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् विष्णु प्रचेताओं को बताने लगे कि महर्षि करडु की प्रम्लोचा अप्सरा से उत्पन्न एक कमल नयनी कन्या थी । उसे छोड़कर जब वह अप्सरा जाने लगी तो उसे वृक्षों ने ग्रहण कर लिया ।"

करके हम किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं। उत्साह और पुरुषार्थ के सहारे हम अनन्त-जलराशि वाले समुद्र को कुछ भी न समझ कर बाहुओं द्वारा ही उसे पार करने का विचार करते हैं, कूद पड़ते हैं। सम्मुख किनारा भी दिखाई देने लगता है किन्तु बीच में ही अकस्मात् दैवगति से एक ऐसी लहर आती है। कोई ऐसा बवण्डर उठता है कि हम बीच में ही डूब जाते हैं। हमारे सब मनोरथ विफल हो जाते हैं। सब विधान बने के बने ही रह जाते हैं। हम अथाह समुद्र में डूब जाते हैं। यदि साथ में कृष्णरूप कैवर्त का अवलम्ब हो तो वह डूबते हुए को भी करावलम्ब देकर उबार सकता है। थके होने पर भी पार पहुँचा सकता है। गिरे हुए को भी उठा सकता है। अतः कर्म करते समय कृष्ण स्मरण को न विसारना चाहिये। उनका स्मरण करते-करते संसार रूप समर में युद्ध करते रहना चाहिये।

प्रचेताओं के पूछने पर भगवान् विष्णु उनसे कहने लगे—"राजपुत्रो! एक बड़े तेजस्वी तपस्वी कण्डु नामक महर्षि थे। वे एकान्त में रहकर घोर तपस्या करने लगे। वे न कुछ खाते थे, न पीते थे। केवल वायु का आहार करके हजारों वर्ष समाधि-स्थ रहकर निरन्तर घोर तप करते रहते थे। कभी-कभी वे समाधि खोलते, फल-फूल का आहार करते, फिर समाधि में निमग्न हो जाते। इस प्रकार चिरकाल तक उग्र तप करते-करते सिद्धियाँ उनके अधीन हो गईं। उनका चित्त एकाग्र हो गया।

देवताओं के स्वामी इन्द्र का तो यह स्वभाव ही है जिसे तपस्या में निरत देखता है, उसी से भय होने लगता है। वह सोचता है, ऐसा न हो कहीं कि यह हमारे इन्द्रासन को तपस्या के प्रभाव से छीन ले। इसलिये जैसे होता है तैसे उसके तप में विघ्न करने की सदा चेष्टा करता रहता है। महर्षि कण्डु की तप-स्या से भी शतक्रतु भयभीत हुआ। उसने सोचा - "ये महामुनि

इतना तप अवश्य ही इन्द्रासन पाने के लिये कर रहे हैं। मैं किसी उपाय से इनके तप में विघ्न करा दूँ।"

भगवान् ने कहा—"कुमारो! तपस्या में सबसे बड़ा विघ्न है काम। काम से ही क्रोध तथा लोभ होता है जिसने कामनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है, वही सच्चा तपस्वी है। जिनके मन में कुछ कचाई रह जाती है, वे लोग बीच में ही फिसल जाते हैं।"

देवेन्द्र इन्द्र ने अपनी समस्त श्रेष्ठ और सुन्दरी अप्सराओं को बुलाया और उनसे पूछा—"तुममें से कौन महर्षि कण्डु के मन को मोहित कर सकती है।"

यह सुनकर उर्वशी तिलोत्तमा प्रभृति अप्सराओं ने हाथ जोड़कर कहा—"देव! हम इन तपस्वी ऋषियों से बहुत डरती हैं। ये क्रोध में भरकर ऐसा घोर शाप दे देते हैं कि हम किसी भी काम की नहीं रहतीं। महर्षि कण्डु तो महान तपस्वी हैं उनके मन को विचलित करना अत्यंत ही कठिन है।"

बड़ी-बड़ी अप्सराओं के मुख से ऐसी बात सुनकर इन्द्र सूखी हँसी हँसकर बोले—"बस, तुम लोगों को इसी रूप पर गर्व है।"

देवेन्द्र की ऐसी व्यङ्ग वाणी सुनकर उनमें से प्रम्लोचा नाम की अत्यंत ही रूप गर्विता अप्सरा बोली—"देव! आप मुझे आज्ञा दें, मैं मुनि के मन को मोहकर उनको तपस्या से हटा दूँगी।"

प्रम्लोचा की ऐसी बात सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए नाकपति इन्द्र बोले—"देवि! मैं तुम्हारे अनिन्द्य सौंदर्य का लोहा मानता हूँ। तुम अवश्य ही मुनि को अपने हाव भाव कटाक्षों द्वारा मोहित कर सकोगी। कामिनी! तुम्हारा कल्याण हो, तुम ऋषि के पास जाकर मेरा प्रिय कार्य करो। उनको तपस्या से उपराम कर दो। मेरे हृदय के कसकते हुए कंटक को निकाल दो।"

यह सुनकर अप्सराओं में श्रेष्ठ प्रम्लोचा ने अमरपति के पाद पद्मों में शिर से प्रणाम किया और सबका आशीर्वाद लेकर सजधज कर मुनि के आश्रम की ओर चली।

परम शान्त एकान्त स्थान में भगवती सुरसरि के समीप अपने मनोहर आश्रम में मुनि समाधि मग्न थे। मलयाचल की शीतल मन्द सुगन्ध को लिये हुए शनैः-शनैः पवनदेव बह रहे थे। वसन्त अपनी सजधज के सहित उस पुण्य प्रान्त में क्रीड़ा कर रहे थे। लता और वृक्ष पुष्प और फलों के भार से नत हो रहे थे। पर्वतों के शिखरों से श्वेत सर्प के समान टेढ़े मेढ़े झरने झर-झर शब्द करते हुए बह रहे थे। वन की शोभा सजीव होकर नृत्य कर रही थी। वृक्षों पर बैठे विहग वृन्द कल-कल शब्द कर रहे थे। भगवान् भुवन भास्कर भयभीत के सदृश उदयाचल के अञ्चल से सिर निकाल कर भागने का उपक्रम कर रहे थे। उसी मनोहर समय में अपनी करधनी कङ्कण तथा नूपुरों की झनकार से दशों दिशाओं को झंकृत करती हुई प्रम्लोचा वहाँ पहुँची। उसने लाल चोली के ऊपर अत्यन्त ही क्षीण पीताम्बर ओढ़ रखा था। जिसमें से छन छन कर उसके अङ्ग प्रत्यङ्गों का उमड़ता हुआ यौवन प्रत्यक्ष दिखाई देता था। मद से मदमाती इठलाती नाना प्रकार की भावभङ्गी दिखाती इधर से उधर झम्म-झम्म करती हुई घूमने लगी। कभी इस लता से फूल तोड़ती कभी उस वृक्ष से फल तोड़ती कभी किसी के पत्ते को मसल देती। इस प्रकार वह व्यर्थ के व्यापारों को करती हुई अपनी स्वाभाविक चञ्चलता का प्रदर्शन करने लगी।

उसी समय मुनि की आँखें खुलीं। सामने उन्होंने शोभा की साकार मूर्ति उस अप्सरा को फुदकते हुए, यौवन के मद से उन्मत्त होकर क्रीड़ा करते हुए देखा। उसने देखकर भी मुनि को नहीं देखा। कनखियों से बीच-बीच में देख लेती कि मेरे

रूप का जादू मुनि पर पड़ा कि नहीं। मुनि ने अपने मन को समाहित किया। चित्त को चञ्चल होने से रोका। किन्तु मन ने अराजकता मचा दी। मदोन्मत्त हस्ति के समान बन्धन तोड़कर वह आपे से बाहर हो गया मुनि बार-बार उसे निहारते फिर आँखों को बन्द कर लेते। आँखें बन्द करने पर भी उसकी चञ्चलता भरी भाव मूर्ति उन्हें प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। कानों में सुमधुर नूपुरों की छम्म-छम्म सुनाई देने लगी। अब मुनि से न रहा गया। उन्होंने उस प्रमदा को पुकारा, किन्तु उसने सुनकर भी अनुसनी कर दी। मुनि की उत्सुकता बढ़ाने के लिये उसने अपनी निस्पृहता प्रदर्शित की।

जब मुनि ने कई बार पुकारा तो अँगड़ाई लेती हुई मदमाती अलसाती हुई शनैः-शनैः मुनि के पास आई, भूमि में सिर टेक कर अपने कटाक्ष बाणों को मुनि के ऊपर छोड़कर श्रेणी के भार से कुछ नत होकर वह हाथ जोड़े हुए खड़ी हो गई। उसकी ऐसी विनय को देखकर मुनि का हृदय पानी बनकर बहने लगा। बड़े स्नेह से उन्होंने कहा—"तुम खड़ी क्यों हो, बैठ जाओ, खड़े-खड़े तुम्हें कष्ट होता होगा।"

यह सुनकर भी वह बैठती नहीं, पैर के नख से पृथ्वी को कुरेदती हुई सिर झुकाकर मुनि के सम्मुख खड़ी की खड़ी ही रह गई।

मुनि ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ कहा— "तुम कौन हो? यहाँ क्यों आई हो? तुम्हारे आने का प्रयोजन क्या है?"

लजाते हुए स्त्रीसुलभ सुकुमारता दिखाते हुए वीणा की सी झंकार करते हुए, अपने लाल-लाल पतले ओठों को हिलाते हुए अपनी शुभ्र स्वच्छ दन्तावली की आभा से मोती बिखेरते हुए उसने कोकिल कण्ठ से रुक-रुककर कहना आरम्भ किया—"मैं अनिराश्रिता हूँ, आश्रय की खोज में आपके चरणों में उपस्थित

हुई हूँ। भगवान् की सेवा करने की मन में लालसा है किन्तु अपने सौभाग्य के सम्बन्ध में संदेह है कि भगवान् इस अनाश्रिता अबला की सेवा स्वीकार करेंगे भी या नहीं।"

अपने मन की बात उस मनोरमा के मुख से सुनकर मुनि के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, वे स्नेह भरित वाणी में बोले—"देवि! यह आश्रम तुम्हारा है। मैं भी तुम्हारा हूँ, तुम इस आश्रम को अपना ही समझकर आनन्द से निर्भय होकर रहो और अपने सहवास सुख से मुझे सुखी करो। तुम्हारे रहने से मुझे अत्यधिक आनन्द होगा।"

भगवान् कहते हैं—"राजपुत्रो! मुनि की ऐसी बात सुनकर वह देवाङ्गना मुनि की सेवा सुश्रूषा करती हुई उनके आश्रम में रहने लगी। उसने अपनी सेवा से मुनि को ऐसा वश में कर लिया कि अब वे सब जप तप ध्यान भजन भूल गये। कब दिन होता है कब रात्रि, इसका उन्हें कुछ भी पता नहीं था। शरीर सम्बन्धी शौचादि क्रियाये स्वाभाविक रूप से हो जाती थीं। उनमें न मुनि का संकल्प था न ध्यान। वे निरन्तर प्रम्लोचा के ध्यान में ही निमग्न रहने लगे, उसके अङ्ग-सङ्ग से उनकी समस्त चेतना लुप्त हो गई। वे उस पण्य स्त्री के फन्द में भली भाँति फँस गये।

जब इसप्रकार विषय सुख भोगते-भोगते सैकड़ों वर्ष हो गये, तब एक दिन हाथ जोड़कर डरते-डरते उस अप्सरा ने कहा—"प्रभो मैं देवेन्द्र की दासी हूँ, अब मुझे स्वर्ग जाने की आज्ञा दें। जैसे नींद में ही कोई उत्तर देता है, उसी प्रकार मुनि ने कहा—"अभी कुछ काल और रहो" प्रम्लोचा ने कुछ नहीं कहा। वह फिर मुनि को विषय सुख देती हुई वहाँ रहने लगी। कुछ काल के अनन्तर उसने फिर मुनि से आज्ञा माँगी। मुनि ने

फिर भी अनुमति नहीं दी। इस प्रकार उसने कई बार पूछा और मुनि बार-बार उससे रहने का ही आग्रह करते रहे।

एक दिन भगवान् कण्डु ने देखा—"भगवान् मरीचिमाली अपनी लाल-लाल किरणों से अम्बर को रक्तरक्षित बनाते हुए सन्ध्या देवी के अरुण अञ्चल में छिपने का उपक्रम कर रहे हैं। भाग्यवश मुनि को उस समय चैतन्यता प्राप्त हुई। उनका काम मद उतर गया, वे कुछ प्रकृतिस्थ हुए। प्रम्लोचा के कण्ठ में पड़ी अपनी भुजा को हटाकर उन्होंने कमण्डलु को उठाया। खड़ाऊँ पहिनकर उन्होंने कहा—"अरे, अतिकाल हो गया। सायंकालीन सन्ध्या का समय बीतता जा रहा है। आज मुझे सन्ध्या करने में देर हो गई।"

यह सुनकर वह अप्सरा मुस्कराई और अपनी हँसी रोकती हुई कहने लगी—"आज संध्या की याद कैसे आ गई?"

मुनि ने गम्भीरता के साथ कहा—"सन्ध्या तो हम ब्राह्मणों का नित्य का कर्तव्य है, इसकी क्या याद आनी थी।"

अप्सरा ने कहा—"महाराज! इतने दिनों से तो कभी सन्ध्या की नहीं।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए मुनि बोले—"इतने दिन क्या? तुम आज प्रातःकाल ही आई थीं। अब सायंकाल हो गया।"

यह सुनकर प्रम्लोचा हँस पड़ी, मुनि को कुछ बुरा लगा वे बोले—"तू हँसती क्यों है, अपनी हँसी का ठीक-ठीक कारण बता।"

मुनि को इसप्रकार गम्भीर देखकर अप्सरा की तो सिटिल्ली भूल गई। उसने डरते-डरते कहा—"भगवन्! आपको तो बहुत समय बीत गया।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए मुनि ने पूछा—"कितना समय बीत गया।"

अप्सरा ने गणना करके बताया—"इतने हजार इतने सौ इतने वर्ष ?"

इतना सुनते ही मुनि का चेहरा दमदमाने लगा। वे क्रोध करके बोले—"दुष्टे ! ठगिनी ! मैं समझ गया। तू इन्द्र की भेजी हुई अप्सरा है। तैने मेरा सर्वस्व नाश कर दिया। मेरे तपरूप धन का अपहरण कर लिया।"

इतना सुनते ही अप्सरा का मुख फक्क पड़ गया। आँखों से आँसू निकल पड़े। केले के पत्ते के समान वह मारे भय के थर-थर काँपने लगी। उसे इस प्रकार भयभीत देखकर अपने आपको समझाते हुए मुनि बोले—"हे वाराङ्गना ! तू भय को छोड़ दे। मैं तुझे शाप देकर भस्म न करूँगा। सज्जनों ने सप्तपदी मैत्री बताई है जिसके साथ सात पैर चल लें या जिससे संभाषण कर लें धर्मात्मा पुरुष उसे अपना मित्र मान लेते हैं। तू तो मेरे साथ हजारों वर्ष रही है। अतः मैं तेरा अनिष्ट न करूँगा। फिर तेरा अपराध ही क्या ? मेरी ही नीचता है, यदि मैं अपने मन को वश में रख सकता, तो तू मेरा क्या बिगाड़ सकती थी। भूल तो मेरी ही है, जो मैंने तेरे हाव भाव कटाक्षों में फँसकर अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया। हाय ! मैं कैसा विवेकहीन बन गया ये हजारों वर्ष मुझे एक क्षण के समान प्रतीत हुए। आते हुए दिन रात्रि मुझे प्रतीत ही न हुए। तेरे सौन्दर्यमद में ऐसा मदोन्मत्त हुआ कि काल का कुछ पता ही न चला। अब तू यहाँ से भाग जा नहीं मैं तुझे अभी भस्म कर दूँगा।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन् ! इतने बड़े ज्ञानी ध्यानी मुनि का ऐसा विवेक कैसे नष्ट हो गया जो हजारों वर्षों को एक दिन समझने लगे। ऐसे तन्मय तो हम गृहस्थी भी नहीं होते। विषय भोगों में रहते हुए भी धर्म अर्थ सम्बन्धी कार्य करते रहते हैं।"

इस पर मैत्रेयमुनि बोले—"विदुरजी! देखिये यह चित्त सदा एकाग्रता में तन्मय होता है। अनेकों विषय में फँसे रहने से किसी एक विषय में पूरा तन्मय होता नहीं। तभी तो विषयात्मिका बुद्धि समाधि में नहीं लगती। मन को एकाग्र होने का अभ्यास हो जाय, तो फिर जिस विषय में भी लग जायगा उसी में तन्मय हो जायगा। गृहस्थ को नाना चिन्तायें लगी रहती हैं। घर-द्वार, स्त्री परिवार, बाल बच्चे, आय, व्यय, योग क्षेम सभी में चित्त फँसा रहता है। आज घर में अमुक वस्तु नहीं, बच्चे को ज्वर आ गया है, लड़की विवाह योग्य हो गई है। घरवाली पर वस्त्र नहीं। शत्रु ने न्यायालय में यह अभियोग चलाया है, आज इतने अतिथि आये हैं, घर का बैल बूढ़ा हो गया है। घोड़ी की पीठ पर घाव हो गया है। घर की दिवाल गिर गई है। इन सब चिन्ताओं से चित्त भटकता रहता है। विषयवासना के समय क्षण भर को तन्मय होता है, निवृत्त होते ही चिन्ता सागर में निमग्न हो जाता है। इसीलिये गृहस्थी इतने बेसुध नहीं बनते। ऋषि तो धारणा ध्यान के द्वारा समाधि का अनुभव कर चुके थे। प्रारब्धवश दूसरे जन्मों के संस्कारवश चित्त विषय वासना में फँस गया। भगवान् में तन्मय न होकर वैषयिक सुखों में तन्मय हो गया। चित्त तो एक ही है, चाहे इसे भगवान् में लगालो या इससे विषय कमालो। इसलिये उनका चित्त इतना अधिक तन्मय हो गया दिन रात्रि किसी का भी पता न चला। गृहस्थी का चित्त चञ्चल होने से कभी वह विषयों से विरक्त होना चाहता भी है, तो आसक्ति वश हो नहीं सकता। किन्तु मुनि को जहाँ विवेक हुआ, जहाँ विषयों से चित्त हटकर पूर्व सुख का अनुभव करने लगा, वहाँ उन्हें वे विषय सुख विषवत् प्रतीत होने लगे। फिर एक क्षण भी उस अप्सरा को वे अपने सम्मुख न देख सके।"

भगवान् कहते हैं—"प्रचेताओ ! वह प्रम्लोचा अप्सरा थर-थर काँपती हुई, भय के कारण पसीना से लथ पथ हुई मुनि को प्रणाम करके स्वर्ग के लिये चली। इतने दिनों तक मुनि का ससर्ग हुआ, जाते समय उससे पसीना आदि के ससर्ग से एक कन्या उत्पन्न हो गई, जिसे वह एक वृक्षों के झुण्ड मे डालकर स्वर्ग चली गई। एक तो वह वैसे ही स्वर्ग की दिव्य अप्सरा थी, दूसरे सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, तीसरे तपः पूत ऋषि के इतने दिनों तक ससर्ग मे रहा था। उससे जो कन्या उत्पन्न हुई, वह परम सुन्दरी हुई। उसके समान सुन्दरी ससार मे कोई भी स्त्री न थी। उस कमल के समान नयन वाली कन्या को वृक्षों मे अनाथ पडी देखकर, वृक्षों को बडी दया आई। वृक्षों के राजा चन्द्रमा ने देखा कन्या बडी सुन्दरी है, बिना माँ बाप की निराश्रिता पडी है, भूख के कारण रुदन कर रही है। उन्हे उस पर दया आ गई। उन्होंने अपनी अमृत स्राविनी तर्जनी उँगली उस बच्ची के मुख में दे दी। बच्चो का जैसा स्वभाव होता है उस उँगली को चिचोरने लगी। उस दिव्य अमृत का पान करने से उसकी तुष्टि हो गई। इस इस प्रकार वह वृक्षों द्वारा प्रतिपालित होकर चन्द्रमा के दिये हुए अमृत का पान करके बड़ा हुई है। अब वह १६ वर्ष की परम सुन्दरी युवती हो गई है। राजकुमारो ! तुम्हारे पिता ने तुम्हें प्रजा बढाने के लिये ही तपस्या करने की आज्ञा दी है, अतः तुम सब उससे विवाह कर लो और उसके द्वारा प्रजा की वृद्धि करो। उससे जो पुत्र होगा, वह भाँति भाँति की असख्य सृष्टि पैदा करेगा।"

प्रचेताओ ने कहा—"भगवन् ! हम तो १० हैं,लडकी अकेली है। हमम कौन भाई उसके साथ विवाह करे।"

भगवान् ने कहा—"देखो, भाई ! तुम सब एक ही धर्म मे तत्पर रहने वाले हो। तुम सबका शील, स्वभाव, सदाचार रहन

सहन सब एक सा है। शरीर से पृथक्-पृथक् होने पर भी मन से तुम सब एक ही हो अतः वह तुम्हारे अनुरूप ही स्वभाव वाली परम सुन्दरी तुम सब भाइयों की समानभाव से ही पत्नी होगी। पूर्वजन्मों के संस्कार ऐसे हैं। उसे भी पता है कि मैं प्रचेताओं का ही पत्नी हूँगी, अतः उसका चित्त भी सदा तुम लोगों में ही लगा रहता है। इसलिये तुम इसमें कुछ विचार न करो। मेरी आज्ञा शिरोधार्य करो। तुम दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त पृथ्वी पर रहकर दिव्य सुखों को भोगोगे और मेरे वरदान से तुम्हारा तेज बल वीर्य कभी क्षीण न होगा।"

प्रचेताओं ने विनीत भाव से पूछा—"तो क्या भगवन्! हम इन संसारी विषयों में ही फँसे रहेंगे, हमें क्या आपके चरण कमलों की अनपायिनी भक्ति कभी प्राप्त न होगी?"

भगवान् बोले—"नहीं, ऐसी बात नहीं है। जिसे एक बार मेरे दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो गया, उसका कभी भी पतन नहीं होता। अन्त में तुम्हें मेरी अहैतुकी अव्यभिचारिणी अनपायिनी भक्ति की प्राप्ति होगी उसके द्वारा तुम सबके अन्तः-करण की सम्पूर्ण वासनायें क्षीण हो जायँगी। वासनाओं के क्षीण हो जाने पर फिर तुम्हें ये वैषयिक सुख तुच्छ और दुखप्रद प्रतीत होने लगेंगे, तब तुम सब मेरे परम धाम को प्राप्त हो जाओगे।"

प्रचेताओं ने कहा—"प्रभो! गृहस्थाश्रम में रहकर तो आप की भक्ति प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है। कर्मों में आसक्त हो जाने से आपके चरणों में भक्ति होती नहीं।

भगवान ने कहा—"भैया! यह बात तुम ठीक कहते हो, किन्तु गृहस्थ में रहकर भी जो भी कर्म करे उन्हें मुझे अर्पण करता जाय। सब कर्मों को मेरी ही प्रसन्नता के निमित्त करे और अपने अधिकांश समय को मेरी कथा वार्ता, मेरे नाम गुण कीर्तन

में ही बितावे, तो उसे गृहस्थाश्रम बन्धन नहीं होता। घर में रह कर भी वह परम पद का अधिकारी बन जाता है।"

प्रचेताओं ने कहा—"महाराज! नित्य ही आपकी कथा में चित्त कैसे लगेगा? चित्त तो सदा नई-नई बात सुनने को नई-नई जानकारी प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। आपकी कथायें तो कुछ दिन तक सुनते-सुनते पुरानी पड़ जायेंगी। पुरानी बातों में तो उतना आनन्द आता नहीं।"

भगवान् ने कहा—"कुमारो! देखो, जिस वस्तु में मनुष्य की अत्यन्त आसक्ति हो जाती है, उसे वह वस्तु नित्य नूतन ही दिखाई देती है। जो रूप हमें प्यारा लगता है, वह क्षण-क्षण में नया-नया सा प्रतीत होता है। मेरी पत्नी लक्ष्मीजी मुझे इतना प्यार क्यों करती हैं? इसीलिये कि वे मुझे जब भी देखती हैं, तभी उन्हें नया-ही-नया दिखायी देता हूँ। इसी प्रकार मेरे भक्त जो मुझे भगवान् कहकर स्मरण पूजन करते हैं, उन्हें मैं नित्य नूतन-सा प्रतीत होता हूँ, वे मेरे दर्शन करते-करते कभी अघाते नहीं। मेरी लीलाओं का श्रवण करते-करते कभी तृप्त नहीं होते। मेरी कथाओं को वे जब भी सुनते हैं, तभी उनमें एक विलक्षणता एक अपूर्व नूतनता उन्हे अनुभव होने लगती है। मुझे ब्रह्मवादी "ब्रह्म" कहते हैं। वे मुझे प्राप्त करके शोक, मोह, हर्ष आदि सभी से रहित होकर परमानन्द स्वरूप हो जाते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार भगवान् से वरदान पाकर उनका आशीर्वाद और अनुशासन पाकर प्रचेताओं ने अपने को कृतार्थ समझा। वे भगवान् की भक्त वत्सलता का स्मरण करके मन-ही-मन अत्यन्त हर्षित हुए। फिर प्रेम में विभोर होकर रुँधे हुए कंठ से गद्गद् वाणी में भगवान् वासुदेव की स्तुति करने लगे।"

छप्पय

रही सहस्रों बरष संग ऋषि समय न जान्यो।
चेत भयो तब दिवस एक ई मुनिवर मान्यो॥
जब जान्यो वृत्तान्त क्रोध करि रौंड़ भगाई।
परम सुन्दरी छौंड़ि बालिका स्वरग सिधाई॥
वृक्षनि पाती मारिपा, वाछीं ताईतें भई।
करो ब्याह मिलि बन्धु सब, अब तो स्यानी है गई॥

——

प्रचेताओं का गृहस्थाश्रम में प्रवेश

[३०३]

ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे ।
यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ३० अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

भगवत् आज्ञा पाइ चले सब वृक्ष जराये ।
वृक्ष जरत लखि तुरत तहाँ चतुरानन आये ॥
समुझाये बहु भाँति अरे क्यों वृक्ष जराओ ।
लेहु मारिषा 'बहू' ब्याहि अपने घर जाओ ॥
विधि आज्ञा मानी सबनि, वाकीं कन्या ब्याहि कें ।
गृही धर्म महँ रत भये, निज पितु पुर महँ आइ कें ॥

भगवान् की कृपा की दृष्टि प्राणीमात्र पर सर्वदा होती रहती है, किन्तु अज्ञ जीव उसका अनुभव नहीं करते । अपवित्र अन्तः-करण वाले उसका मर्म नहीं समझ सकते । प्रभु के सभी विधानों में उनकी अनुकम्पा निहित है । जीव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ यही

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! प्रचेताओं ने ब्रह्माजी के आदेश से उन वृक्षों की कन्या 'मारिषा' से विवाह कर लिया । जिसके गर्भ से शिवजी का अपमान करने के कारण ब्रह्मपुत्र दक्ष फिर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुए ।"

है, कि भगवान् जो करें उसी में सन्तुष्ट रहे। उनकी हाँ में ह मिलाता रहे। उनके विधान को विघ्न न समझे। निवृत्ति प्रवृत्ति सभी में सम रहकर उनकी आज्ञा का पालन करे, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करे, यही भक्तों का लक्षण है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान् ने प्रचेताओं को बिना माँगे सभी इच्छित वरदान दे दिये तब कृतज्ञता के कारण उन सबका हृदय भर आया। भगवान् फिर भी उनसे कहने लगे—"तुम्हें और भी जो अभीष्ट हो वह वर मुझसे माँग लो।"

यह सुनकर प्रचेता अत्यन्त विनय के साथ भगवान् की स्तुति करते-करते अन्त में कहने लगे—"हे जगदाधार! हे सर्वलोकैक नाथ! हे अच्युत! हे जगत्पते! जब मोक्ष के दाता सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के समान आपको ही हमने अकस्मात् प्राप्त कर लिया, तब फिर हमारा मन मधुप अन्यत्र कहाँ जाय। और किस वस्तु की इच्छा करे। फिर भी हम एक वरदान आपसे और माँगना चहते हैं।"

भगवान् ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"हाँ-हाँ, माँगो-माँगो। तुम जो भी माँगोगे वही मैं दूँगा।"

प्रचेताओं ने कहा—"भगवन्! हम यही वरदान माँगते हैं, कि पूर्व कर्मों के अनुसार प्रारब्ध भोग के लिये हमें चाहे जिस-जिस योनि में जन्म लेना पड़े उस-उस योनि में हमें भगवत् भक्तों का सत्संग सदा प्राप्त होता रहे।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे यह क्या तुम लोगों ने माँगा। सम्राट् की प्रसन्नता प्राप्त करके भी एक मुट्ठी धान ही माँगे! अरे भैया! हम तो मोक्षपति हैं। तुम लोग हमसे मोक्ष माँग लेते जिससे सदा के लिये जन्म-मरण के चक्कर

से ही छूटजाते। यदि जन्म माँगना ही था तो देवयोनि मागते जिससे स्वर्गीय सुखों का आनन्द भोगते।"

प्रचेताओं ने कहा—"भगवन्! भूलोक हो चाहे देवलोक, रुद्रलोक हो चाहे विष्णुलोक, सब एक ही तुला के चट्टे बट्टे हैं। फिरकर वे ही माया के भोग हैं। उनको अब आपसे क्या माँगे उनका अनुभव तो हमने सहस्रों वर्ष यहाँ कर ही लिया। रही मोक्ष की बात। सो उस राँड़ मोक्ष से भी हमें क्या प्रयोजन, जिसमें आपकी सुमधुर कथा, जिसमे आपका त्रैलोक्य पावन नाम संकीर्तन का रस न बरसता हो। आप तो कह रहे हैं भोग मोक्ष की बात, हम तो कहते हैं, जन्म जन्मान्तरों की बात छोड़ दीजिये भगवत् भक्तों की एक क्षण की संगति के सम्मुख हम स्वर्ग मोक्ष सभी को तुच्छ समझते हैं। भगवतभक्तों की संगति से श्रेष्ठ संसार में सारातिसार पदार्थ हम अन्य किसी भी वस्तु को मानने के लिये तैयार नहीं है।

भगवान् ने कहा—"सत्संगति की तुम बड़ी प्रशंसा कर रहे हो। सत्संगति में ऐसी कौन-सी बात है, जिसके लिये तुम इतने लालायित हो रहे हो?"

प्रचेताओं ने कहा—"अब महाराज! एक बात हो तो हम बतावें भी, आपके भक्तों की संगति से जो लाभ होता है, उसे शेषजी अपने सहस्र फणों से भी कथन नहीं कर सकते। जहाँ आपकी मधुरातिमधुर कथाओं की चर्चा होती है, वहाँ जगत् के सभी मीठे पदार्थ फीके से दिखाई देने लगते हैं। आपकी कथा सुनने से प्राणिमात्र मे प्रेम उत्पन्न हो जाता है, किसी से न राग रहता है न द्वेष। जहाँ अभय की प्राप्ति होती है। जहाँ आपके गुणों का त्यागी विरागियो द्वारा पुनः-पुनः गायन हुआ करता है, जिसके लोभ से सब कुछ त्यागकर साधु संन्यासी पैदल ही बड़े-बड़े तीर्थों में घूमते रहते हैं, उस सत्संगति से बढ़कर और

श्रेष्ठ वस्तु कौन होगी ? औरों की बात छोड़ दीजिये, हमें आपके परम भक्त श्री शिवजी का क्षण भर ही समागम हुआ था, उसी का यह फल है, कि हम सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी जगदाधार आपको प्रत्यक्ष इन चर्म चक्षुओं के द्वारा देख रहे हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मादिक देव जिनके पल भर दर्शन के लिये लालायित रहते हैं, उनसे हम निर्भय होकर बातें कर रहे हैं। जो सत्संगति हमें इतनी अल्प वस्तुओं को दिलाती है, उससे बढ़कर हम और किसी को कैसे मान सकते हैं ?"

यह सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"अच्छी बात है, तुम्हें सदा भगवान् के भक्तों का संग मिलता रहेगा। इतना कहते हुए भगवान् तत्क्षण वहीं अन्तर्धान हो गये। उनकी परम माधुर्यमयी मूर्ति के दर्शनों से उनके नेत्र तृप्त नहीं हुए थे, वे अतृप्त पिपासित से बने वहीं के वहीं खड़े के खड़े रह गये। जब अप्रतिहत प्रभाव वाले प्रभु अपने धाम को पधार गये, तब प्रचेता सावधानी के सहित समुद्र के जल से बाहर निकलकर बाहर आये।

बाहर आकर उन्होंने देखा, सम्पूर्ण पृथ्वी ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से ढकी हुई है। जिधर देखो उधर ही वृक्ष ही वृक्ष दिखायी देते हैं, न जीव न जन्तु, सघन वृक्षों के कारण जाना भी कठिन हो गया है। झाड झङ्कार लता गुल्म वीरुध वनस्पति इन्होंने ही भूमि को आच्छादित कर रखा है। यह देखकर प्रचेताओं को कुछ क्रोध हुआ। इस इतने वृक्षों से ढकी पृथ्वी पर हम कैसे सृष्टि करें, कैसे अपनी भावी प्यारी पत्नी को खोजें। इस विचार के आते ही उनके मुख से अग्नि निकलने लगी। जिससे समस्त वृक्ष जलने लगे। चारों दिशाओं में चटर पटर होने लगी। अग्निदेव वृक्षों को जला-जलाकर अपनी लपटों से आकाश को स्पर्श करने लगे। पवन उस प्रचण्ड अनल को उत्तेजित, कर रहे थे।

सम्पूर्ण वृक्ष जल रहे थे। लोक पितामह ब्रह्माजी ने जब देखा कि ये लोग तो वृक्षों के विनाश पर ही उतारू हैं। तब तो वे शीघ्रता पूर्वक अपने हंस को दौड़ाते हुए प्रचेताओं के पास आये और हाँपते हुए बोले—"अरे, राजकुमारो! तुम यह क्या कर रहे हो। इतने दिन तपस्या करने पर भी तुम क्रोध को न जीत सके। भैया! तुम तो प्रजा के पालक हो, घालक क्यों बनते हो। पृथ्वी पर वृक्ष न रहेंगे, तो वर्षा कैसे होगी। लकड़ी न रहेगी, तो भोजन किससे बनाओगे। पशु पक्षी क्या खायेंगे। मेरी बात मानो अब इस व्यापार को बन्द करो।"

प्रचेताओं ने पितामह के पादपद्मों में प्रणाम करते हुए कहा—"प्रभो! हमें वृक्षों से कुछ अदावत थोड़े ही है, किन्तु इन सबने हमारी पत्नी को कहीं छिपा रखा है। हमें हमारी पत्नी मिल जाय, तो फिर हम इन्हें नहीं जलायेंगे।"

इतना सुनते ही जो जलने से बच रहे थे, उन वृक्षों ने उस सुकुमारी मारिषा को लाकर प्रचेताओं को दे दिया। उसके अनुपम रूप लावण्य और शील को देखकर प्रचेता परम सन्तुष्ट हुए। तब ब्रह्माजी ने कहा—"अब देर करने की आवश्यकता नहीं। तुम सब इसके साथ विवाह कर लो।"

प्रचेता भी यही चाहते थे, पुरोहिती का काम करने ब्रह्माजी आ ही गये थे। अतः वहीं अग्नि की साक्षी देकर विवाह का कार्य सम्पन्न हुआ, ब्रह्मजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया। लोक पितामह का आशीर्वाद पाकर तथा अपनी नव विवाहिता वधू को साथ लेकर वे दसों भाई अपने पिता के पुर में आये! बहू के संग अपने बेटों को वन से लौटा देखकर महाराज प्राचीनबर्हि परम प्रसन्न हुए फिर उन्हें राज काज सौंपकर स्वयं सर्वेश्वर की आराधना के निमित्त तपोवन को चले गये।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार प्रचेता गण

भगवत् कृपा प्राप्त करके तथा वृत्तों की पुत्री मारिषा के संग विवाह करके सुख पूर्वक गार्हस्थ्य धर्म का पालन करते रहे। भगवान् के उन्हें दर्शन हो चुके थे, भगवत् आज्ञा पाकर ही वे प्रवृत्ति मार्ग में प्रविष्ट हुए थे, अतः उनकी भोगों में उतनी आसक्ति नहीं थी। वे जो भी कार्य करते, उसे श्रीहरि को समर्पित करते। जितने कार्य करते, उनके अन्त में यह संकल्प कर देते कि मेरे इस कार्य से सर्वान्तर्यामी श्रीहरि प्रसन्न हों। इस कारण उनके वे कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते थे। उनसे क्रियमाण कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती थी। भगवद् ध्यान से तथा भगवान के दर्शनों से उनके सम्पूर्ण सञ्चित कर्म जल भुन गये थे। अब तो वे केवल प्रारब्ध कर्मों को ही क्षीण करते हुए उनका अंत होने की प्रतीक्षा करते हुए कथा कीर्तन आदि से कालक्षेप करने लगे।"

छप्पय

बेटा वहू निहारि नृपति नयननि जल छाये।
परे पैर पै पुत्र प्रेम ते पकरि उठाये॥
हृदय लाइ करि प्यार राज आसन बैठाये।
राज काज सब सौंपि तपोवन भूप सिधाये॥
करहिं कर्म प्रभु प्रीति हित, नित चित राखै श्याम महँ।
बन्ध वासना तै कहीं, मोक्ष कर्म निष्काम महँ॥

दक्ष प्रजापति का पुनर्जन्म और प्रचेताओं का गृहत्याग

[३०४]

चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते ।
यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ३० अ० ४६ श्लोक)

छप्पय

भोगे जग के भोग योग अब सब बिसरायो ।
इत वाहीं ने परम यशस्वी सुत इक जायो ॥
शम्भु अवज्ञाकरी मखसुत तब तनु त्याग्यो ।
भये मारिषा पुत्र शाप नन्दीश्वर लाग्यो ॥
चाक्षुष मन्वन्तर विषे, सृष्टि वृद्धि कारज कियो ।
प्रजासृजन महँ दक्ष अति, नाम 'दक्ष' तातें भयो ॥

वृक्ष लगाने का प्रयोजन यही है, कि उसके फलों से उसकी छाया से लोगों को सुख मिले। वापी कूप तड़ाग बनवाने का फल यही है, कि पिपासित लोगों की पिपासा शान्त हो। धर्मार्थ

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! मारिषा के गर्भ से वे ही दक्ष प्रचेताओं के पुत्र हुए, जिन्होंने कालक्रम से नष्ट हुई प्रजा को चाक्षुष मन्वन्तर के आने पर भगवान् की प्रेरणा से पुनः नवीन रूप में उत्पन्न किया।"

औषधालय, विद्यालय, बनवाने का फल यही है कि औषधि से, विद्या से लोगों के दुःख दूर हों। विवाह करने का दारग्रहण करने का एकमात्र प्रयोजन यही है, कि सत्पुत्र की प्राप्ति हो। पुत्र प्राप्ति का एकमात्र प्रयोजन है, वंश विच्छेद न हो, पितरों को पिंड जल मिलता रहे। उनके निमित्त श्राद्ध तर्पण होते रहें। यदि इन कार्यों के करने से यह प्रयोजन सिद्ध न हुआ, तो इन सबको व्यर्थ ही व्यसन मात्र समझना चाहिये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार दसों भाई प्रचेता धर्मपूर्वक विवाह करके संसारी सुखों को भोगते हुए राज-काज करने लगे। कालान्तर में उनके एक सर्वगुण सम्पन्न पुत्र हुआ। वह संसार में प्रजापति दक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"

यह सुनकर विदुरजी बोले—"महाराज! दक्ष प्रजापति तो ब्रह्माजी के पुत्र थे। अब आप कह रहे हैं, ये प्रचेताओं के पुत्र हैं यह कैसे संगति बैठेगी? क्या ये दूसरे दक्ष प्रजापति हैं या वे ही?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ये वे ही दक्ष प्रजा-पति हैं। जैसे वशिष्ठजी ने राजर्षि निमि के शाप से अपना ब्रह्म-पुत्र का शरीर त्यागकर उर्वशी दर्शन से जो मित्रावरुण का वीर्य स्खलित हुआ था और जो कुम्भ में रख दिया था उससे फिर उत्पन्न हुए थे, इसी प्रकार जब दक्ष प्रजापति ने सतीपति भगवान् शङ्कर का अपमान किया, भरी सभा में उनकी अवज्ञा की, तब नन्दीश्वर ने उन्हें शाप दिया था 'तुम्हें ज्ञान की प्राप्ति न हो। तुम जन्म-मरण के चक्कर में घूमते ही रहो।' इसी कारण दक्ष ने उस ब्रह्मपुत्र के तनु को त्यागकर इस मन्वन्तर में मारिषा के गर्भ से जन्म ग्रहण किया। पूर्व सर्ग की सृष्टि लुप्त हो गई थी, उसे इस चाक्षुष मन्वन्तर में इन प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने फिर से उत्पन्न किया। अनेकों प्रकार की इन्होंने सृष्टि की रचना

की। ब्रह्माजी के सृष्टिवर्धन कार्य में उन्होंने अत्यधिक सहयोग दिया। पूर्व जन्म के संस्कार तो बने ही रहते हैं। ये पहिले भी प्रजा सृजन के कार्य में अत्यन्त दक्ष थे। अब के भी वैसे ही दक्ष हुए इसीलिये ब्रह्माजी ने इस मन्वन्तर में भी इन्हें प्रजापति के पद पर अभिषिक्त किया और इस कल्प में भी ये दक्ष नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इन्होंने भी प्रजापति पद को स्वीकार करके फिर अन्य जो मारीचादि प्राचीन प्रजापति हैं, उन सबको प्रजावृद्धि के कार्य में नियुक्त किया। इस प्रकार चाक्षुष मन्वन्तर भर ये प्रजा सृजन के कार्य में प्रजापतियों के सभापति होकर कार्य करते रहे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब सहस्रों वर्षों तक संसार के सुखों को भोगते-भोगते प्रचेताओं को पुनः विवेक हुआ, तो उन्हें इन विषय भोग से वैराग्य उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगे—अरे! हम लोग तो भगवान् की माया में ऐसे फँस गये, कि अपने यथार्थ रूप को ही भूल गये। इन संसारी भोगों में ही तन्मय हो गये। अब फिर क्या था, वैराग्य उत्पन्न होते ही उन्हें राज्यपाट, सेना, कोष, स्त्री, पुत्र सभी असत् प्रतीत होने लगे उन्होंने अपने पुत्र दक्ष को बुलाकर कहा—"बेटा! देखो तुम अपनी माता की भली-भाँति देख रेख रखना। श्रद्धा भक्ति से उनकी सेवा करना, समस्त प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हुए प्रजापतिपद के कार्य को भली-भाँति निभाना। हम लोग तो अब भगवत् आराधना के निमित्त तपोवन जा रहे हैं।"

अपने पिताओं की ऐसी आज्ञा सुनकर प्रजापति दक्ष ने उन्हें सिर से प्रणाम किया। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर के रुद्ध कण्ठ और साश्रु नयनों से उन्हें विदा किया और स्वयं अपनी माता की सेवा करते हुए हुए, धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे।

इधर प्रचेता अपने नगर से निकल कर पश्चिम दिशा की ओर चल दिये। वे चलते-चलते पश्चिम समुद्र के तट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक अत्यन्त ही सुन्दर आश्रम देखा। पूँछ ताँछ करने से ज्ञात हुआ कि यह एक सिद्धाश्रम है। पूर्वकाल में यहाँ पर एक परम तेजस्वी तपस्वी जाजलि नाम के मुनि निवास करते थे। उन्होंने इसी स्थान पर सिद्धि प्राप्त की थी। जहाँ पर रहकर कोई सन्त सिद्ध होते हैं, वह भूमि भी सिद्ध भूमि बन जाती है। उसके कण-कण में वहाँ के वायु मण्डल में तपस्या की एक आभा फैल जाती है। इसीलिये साधक तीर्थ स्थानों में साधु महात्माओं के निवास स्थानों मे जाकर साधना करते हैं, जिससे उनकी साधना में सहायता मिल सके। इसीलिये प्रचेता उस जाजलि मुनि के आश्रम मे रहकर तपस्या करने लगे।

उस आश्रम में रहकर उन्होंने फिर से योग का अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। पहिले प्राणायाम के द्वारा उन्होंने प्राणों को स्थिर किया। बिखरी हुई चित्त की वृत्तियों का निरोध करके मन को स्थिर किया। संकल्प विकल्प का त्याग करके वाणी का संयम किया अर्थात् मौन व्रत धारण किया। समस्त इन्द्रियों को जीतकर दृष्टि को एक लक्ष्य पर स्थिर करके दृढ़ आसन बाँध कर शरीर को स्थिर शांत करके उन्होंने अपने अन्तःकरण को विशुद्ध ब्रह्म मे लीन कर दिया। इसी प्रकार वे मन को दृढ़ता के साथ रोककर भगवान् के ध्यान मे निमग्न हो गये।

भगवद् ध्यान मे सत्सङ्ग अत्यन्त सहायक है। ध्यान धारणा करते हुए, सत्सङ्ग प्राप्त हो जाय तो उससे सभी प्रकार के संशयों का नाश हो जाता है। सत्संग ऐसी खटाई है, जिससे लगा हुआ धातु के ऊपर मल दूर हो जाता है और पात्र चमचमाने लगता है। प्रचेताओं ने तो भगवान् से सत्संगति का वरदान माँगा ही था और भगवान् ने उन्हें दिया भी था। इसलिये

वे अब सत्संगति की इच्छा करने लगे। किसी प्रकार महत्संग प्राप्त हो। भगवद्भक्त विवेक-ब्रह्मज्ञानी-सन्त के दर्शन हों, तो सब शंकाओं का समाधान हो जाय, अपने कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त हो। इस प्रकार प्रचेता सोच ही रहे थे, कि इतने में ही उन्होंने क्या देखा कि सामने से रामकृष्ण गुण गाते, वीणा बजाते देव दानव सभी के समान रूप से वन्दनीय देवर्षि नारदजी आ रहे हैं। नारदजी के दर्शनों से प्रचेताओं के रोम खिल उठे। जिस प्रकार अत्यन्त बुभुक्षित पुरुष को ५६ व्यञ्जनों से सजा सजाया थाल स्वतः ही प्राप्त हो जाय। सबने सभ्रम के साथ उठकर देवर्षि का स्वागत सत्कार किया। पैर धोकर अर्घ्य देकर फल फूलों से उनका सम्मान किया और दसों भाई हाथ जोड़कर नम्रता के साथ नारदजी को चारों ओर से घेरकर बैठ गये।

नारदजी ने प्रचेताओं से कुशल प्रश्न पूछा और फिर अत्यन्त ही प्रेम के साथ कहने लगे—"राजकुमारो! तुम सब भाई बड़े साधु स्वभाव के हो। तुम सबके शील स्वभाव एक से हैं। तुम सब भगवत्भक्त हो। यह तुमने बहुत ही उत्तम कार्य किया, कि अपने योग्य पुत्र को राजपाट सौंपकर भगवान् की आराधना के निमित्त इस सिद्धाश्रम पर आ गये। अब तुम्हें जो कुछ मुझसे पूछना हो पूछो।"

यह सुनकर अत्यन्त ही मधुर वाणी में प्रचेताओं ने कहा—"भगवन्! हम सब भाई हृदय से आपका स्वागत करते हैं। यह बड़े सौभाग्य की बात है जो हमें आज अकस्मात् आपके दर्शन हुए। आपको किसी से कुछ प्रयोजन तो है नहीं। आप तो केवल प्राणियों के उपकार के निमित्त ही दयावश अभय प्रदान करने के निमित्त सूर्य के समान सभी लोकों में विचरा करते हैं। आप हमें कुछ तत्त्वज्ञान का उपदेश दें।"

नारदजी ने सरलता के साथ कहा—"अरे भैया! हम, तुम

लोगों को क्या उपदेश दें। तुम्हें तो भगवान् शंकर से स्वयं साक्षात् श्रीहरि से ज्ञानोपदेश प्राप्त हो चुका है। उन्हीं के मुख से सुनी हुई बातें तो कहेंगे।"

प्रचेताओं ने कहा—"प्रभो! यह सत्य है, कि हमारे ऊपर भगवान् भूतनाथ ने कृपा की थी और अखिल भुवनपति श्री हरि ने भी हमें दर्शन और उपदेश देकर कृतार्थ किया था, किन्तु यह गृहस्थाश्रम में आसक्त हो जाने के कारण वह सभी ज्ञान हमें विस्मृत प्रायः हो गया है। कृपया उसे ही आप फिरसे नूतन बना दें हमारी वैराग्यरूप खड्ग की धार कुण्ठित सी हो गई है। उसी पर शान चढाकर उसे तीक्ष्ण बना दें। हमारे मन रूप पात्र पर अज्ञान रूप काई जम गई है। अपनी शिक्षा रूप खटाई लगाकर उसे चमका दें हम देखे हुए मार्ग को भूल गये हैं, उसे पुनः संकेत द्वारा समझा दें।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! प्रचेताओं की ऐसी बात सुनकर कृपा के सागर नारदजी ने उन्हें समस्त उपदेश का सारातिसार ज्ञान प्रदान करने लगे। नारदजी ने उन्हें ऐसा सरल सुगम मार्ग बताया जो प्रत्येक साधक को बार-बार सुनना और पढ़ना चाहिये। जिसको श्रद्धापूर्वक सुनने और आचरण करने से मनुष्य इस अपार संसार रूप समुद्र को बात की बात में पार कर जाता है।"

छप्पय

सौंपि पुत्र कूं राज प्रचेता तप हित वन कूं।
गये सिन्धु के तीर समाहित कीन्हों मनकूं॥
रोकि, प्रानि, मन, वचन, दृष्टि थिर करी योगतें।
तन तप करि इष्ट करयो हटायो चित्त भोगतें॥
सत्संगति पाछा भई, नारदजी दरशन दियो।
पुरय प्रचेतनि के जगे, मुनि कृतार्थ सबकूं कियो॥

[श्री जडभरतजी]

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(चतुर्दश खण्ड)

★

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २ ० रुपया

चतुर्थ संस्करण १००० प्रति] आषाढ कृष्ण २०२९ जुलाई १९७२ [मूल्य—१.६५

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१. कर्मों का भोग	१
२. प्रचेताओं को नारदजी का सदुपदेश	११
३. विदुर मैत्रेय सम्वाद की समाप्ति	२१
४. महाराज प्रियव्रत के चरित्र का उपोद्घात	२७
५. श्रीब्रह्माजी का प्रियव्रत के समीप आगमन	३४
६. श्रीब्रह्माजी की आज्ञा से गृहस्थाश्रम प्रवेश	४१
७. प्रियव्रत का प्रभाव	५०
८. प्रियव्रत का गृहत्याग	५८
९. प्रियव्रत का पुत्र आग्नीध्र और पूर्वचित्ति अप्सरा	६५
१०. आग्नीध्र और पूर्वचित्ति का विवाह	७५
११. महाराज नाभि का चरित्र	८०
१२. भगवान् ऋषभदेवजी का चरित्र	८९
१३. श्री ऋषभदेवजी का अपने पुत्रों को उपदेश	९६
१४. भगवान् ऋषभदेव की अवधूत वृत्ति	१०४
१५. भगवान् ऋषभदेव की अजगरी वृत्ति	१११
१६. श्री ऋषभदेवजी द्वारा सिद्धियों का परित्याग	११८
१७. श्री ऋषभदेवजी का देहत्याग	१२४
१८. भरत चरित्र का आरम्भ	१३२
१९ भरतजी का पुलहाश्रम में जाकर तप करना	१४०
२०. भरतजी और मृगशावक	१४६
२१. मृगशावक के प्रति मोह	१५६
२२. भरतजी को मृगबालक का वियोगजन्य दुख	१६३
२३. भरतजी का मृग के मोह में मरकर मृग शरीर में जन्म	१७०
२४. भरतजी के मृगशरीर का अन्त	१७६
२५. भरतजी का विप्रवंश में जन्म	१८२
२६. भरत से जड़भरत	१९०
२७. खेतों के रखवाले जड़भरतजी	१९७
२८. बलिपशु बने जड़भरतजी	२०३
२९. भद्रकाली की बलि से बचे अवधूत जड़भरत	२०९
३०. राजा रहूगण की जड़भरतजी से भेंट	२१५

कर्मों का भोग

[भूमिका]

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

चिन्तन या अनुकूल करे प्रतिकूल भलें नर ।
होइ दोष गुण युक्त भाव मन माहिँ करें घर ॥
जाको देखे दोष करें निन्दा जो जाकी ।
आवें तामें वही दशा हावे सो ताकी ॥
भव को कारन भाव है, करि चिन्तन भव महँ परो ।
चाहें चिन्तो राग तैं, दोष बुद्धि चाहें करो ॥

जो दूसरों को खाई खोदता है उसके लिए कूप तैयार हो जाता है । जो दूसरों की बुराई करता है उसमें वह बुराई स्वतः ही आ जाती है । जो दूसरों को बुरा कहता है वह स्वयं भी बुरा बन

---

* स्वयं साक्षात् भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! प्रकृति और पुरुष से निर्मित इस विश्व को एकात्मक देखते हुए बुद्धिमान पुरुष को न तो दूसरों के स्वभाव की तथा कर्मों की प्रशंसा ही करनी

जाता है। बुराई से बुराई उत्पन्न होती है भलाई से भलाई। चिन्तन चाहे राग बुद्धि से करो या द्वेष बुद्धि से चिन्तनीय वस्तु मे आसक्ति हो ही जाती है। रुक्मिणी जी राग से श्रीकृष्ण का चिन्तन करती थीं कस द्वेष से। दोनो को ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति हुई। जिस वस्तु मे आसक्ति अनुरक्ति न होगी उससे हम द्वेष क्यो करेंगे? जिसे हम चाहते हैं, जो हमें किसी भी कारण से प्राप्त नहीं होती तो हम ईर्ष्यावश उससे द्वेष करते हैं, बुराई करके ही उसके प्रति अपनी अनुरक्ति व्यक्त करते हैं। राग से जिसका उपभोग नहीं कर सकते द्वेषवश उसी की बुराई करते हैं। अगूरों के प्रति आसक्ति है न मिलने पर उन्हे खट्टे बताते हैं। इस खटाई के कथन मे भी राग है। द्वेष में राग छिपा है।

बहुत दिनों की बात है। एक बार मैं श्री वृन्दावन धाम में गया। तब मेरी "चैतन्य चरितावली" पुस्तक प्रकाशित ही हुई थी। लोगों ने उस पुस्तक का बडा आदर किया। उसी के कारण बहुत से कृपालु सन्त भगवत भक्त वैष्णव मेरे ऊपर अत्यधिक स्नेह करने लगे। उन दिनो श्री वृन्दावन में गुजरात के एक बड़े अच्छे सरल भगवद्भक्त वैष्णव निवास करते थे। वे गुजराती के भी लेखक थे। और चैतन्य सम्प्रदायान्तर्गत किसी शाखा के शिष्य थे। मैं उनके दर्शनो को गया। वे रुग्ण थे। एक वङ्गालिनीमाई उनकी सेवा सुश्रूषा मे जुटी थीं। वृन्दावन में सेवा करने को भजनाश्रम की वङ्गालिनि माइयाँ अति

चाहिये और न निन्दा ही। जो दूसरो के स्वभाव तथा कर्मों की निन्दा या प्रशंसा करता है वह शीघ्र ही परमार्थ पथ से च्युत हो जाता है, क्योंकि उसने अमत्य मे सत्य का आरोप कर लिया है। निन्दा और स्तुति दूसरों की होती है।"

स्वल्प वेतन पर मिल जाती हैं। पुरुष सातजन्मों में भी स्त्री की भाँति सेवापरायण नहीं हो सकता। सेवा करना भारतीय ललनाओं का सहज स्वभाव है। उन्हें सेवा सिखानी नहीं पडती वे माता के उदर से ही सीखी सिखाई आती हैं। हाँ, तो वह बङ्गालिनी माई बडी तत्परता से उन वैष्णव महात्मा की सेवा कर रही थी। बातों ही बातों मे उन वैष्णव ने मुझे बताया—"पहिले मैं स्त्रियों की बडी निन्दा किया करता था, कभी किसी से किसी प्रकार सम्पर्क नहीं रखता था। अब बीमार होकर यहाँ पडा हूँ, कोई पूछने वाला नहीं, यह माई आती है सेवा कर चली जाती है। *शाजी शिक्षा दे रही हैं जिनकी तुम बुराई करते थे वे ही तुम्हारी रक्षा करेंगी।*"

किसी साधना द्वारा नहीं, बाल्यकाल से ही मेरी गृहधर्मों मे प्रवृत्ति नहीं गृहस्थी के झंझटो से दूर रहकर कीर्तिलाभ करें। परापकार करें कुछ भगवत् चिन्तन हो यही इच्छा हो रही है। बिना वैराग्य के निस्तार नहीं, ये भाव वश परम्परा से भारतीय होने के नाते हमें बिना सिखाये ही प्राप्त हैं। जीवन मे एक बार वैराग्य का उफान आया। धन का, रूप का, अधिकार आदि का अभिमान उतना दुखद नहीं होता, जितना त्याग वैराग्य का अभिमान दुखद होता है। अपने जीवन मे बहुत से लँगोटीवदों को मैंने देखा है, मैं स्वय भी रह चुका हूँ। उस त्याग के अभिमान में दूसरों को तुच्छ समझना बड़े लोगों का गुरुजनों का अपमान करना जिनका यह पाप न बना हो, उनका त्याग यथार्थ है। नहीं तो त्यागाभिमानी का पहला कार्य यह होता है, अपने से श्रेष्ठ प्रतिष्ठित प्रसिद्ध पुरुषों के छिद्रान्वेषण करना और उनकी तथाकथित बुराइयों का प्रचार करके अपने त्याग वैराग्य को श्रेष्ठ सिद्ध करना।

जिन दिनों लँगोटी लगाकर त्याग का मिथ्याभिमान धारण

करके मैं गंगा किनारे पैदल घूमता था। तब किसी साधु को सुन्दर-सी पक्की कुटी में रहते देखता उसी पर टूट पड़ता, "तुममें और गृहस्थों में क्या अन्तर है।" किसी साधु के यहाँ औषधियों को रखे देखता तो कहता—"ये साधु अनाप शनाप खा जाते हैं, फिर दवा दारू ढूँढते हैं।" उन दिनों नया रक्त था, अग्नि तीव्र थी मन्दाग्नि अजीर्ण से परिचय नहीं था। साधु को बीमार देखते ही उससे घृणा करने लगते। किसी पर अधिक वस्तुओं का संग्रह देखते, उसकी हँसी उड़ाते। किसी के पास स्त्रियों को बैठे देखते उन्हें चरित्रहीन बताते। बिना देखे केवल मिथ्या सन्देह पर ही उन पर बुरे-बुरे लांछन लगाते। एक बड़े प्रतिष्ठित महात्मा के यहाँ कुछ महिलाएँ रहती थीं। उनके भाव कैसे थे उनको मैंने देखा नहीं। केवल दूसरों से सुनकर सबके सामने मैंने उनको बुरा भला कहा। एक बड़े प्रतिष्ठित महात्मा नौका पर रहते थे। वे प्रायः बीमार रहते थे। बीमारी के कारण आवश्यक सामान भी रखते थे। उनकी मैंने तथा मेरे एक साथी ने ऐसी हँसी उड़ाई, ऐसी-ऐसी बातें उनसे कहीं, कि वे ही ज्ञानी महात्मा थे जो हँसकर टाल गये। हँसी-हँसी में उन सबके उत्तर देते रहे, आज हम दोनों में से एक तो गृहस्थी बन गये। दूसरा मैं हूँ। जो न साधु ही रहा न गृहस्थ ही बना। उभय-भ्रष्ट होकर पुस्तकें बेच रहा हूँ, जिन बातों की आलोचना करता था वे सभी बातें मुझमें आ गईं। बँगले में रहता हूँ। (पुआल का ही सही) गद्दा बिछाता हूँ, मशकहरी (मसहरी) लगाता हूँ, पटरम बने विविध पदार्थ (भगवान् को दिखाकर) खाता हूँ। सभी से मिलता जुलता हूँ। नाराश कि जिन बातों को बुरी बताया था उन्हें ही विवश होकर परिस्थिति के अनुसार मैं करने लगा।

मनुष्य में यह स्वाभाविक दोष है, कि दूसरा जिन कामों को

करे उनमें उसे दोष ही दोष दिखाई देते हैं। फिर उन्हीं को स्वयं करने लगे, तो विविध युक्तियों द्वारा उन्हीं का समर्थन करने लगता है, बहुत से लडके मेरे पास आते थे, कीर्तन की बुराई करते थे, मेरे साथ कीर्तन करने मे संकोच करते थे। फिर वे ही नेता बनकर कीर्तन कराने लगे। तो रात्रि-रात्रि भर जागकर कीर्तन करते देखे गये। उसमें उनका अपनत्व हो गया। संवत् १९८८ के राष्ट्रीय आन्दोलन में तथा मेरे साथी इस अँग्रेजी सरकार की ऐसी-ऐसी बुराई करते थे। उनकी प्रत्येक बात की ऐसी कटु अलोचना करते थे। अब जब हमारे वे ही साथी शासनारूढ़ होकर उन पदों पर पहुँच गये तो उनसे भी बड़ी बुराई कर रहे हैं। और बड़े गर्व से उनका समर्थन कर रहे हैं। बात यह है। कि उस बुराई में अपनी वासना पूर्ति की भावना छिपी रहती है। जब उस वासना पूर्ति का अवसर आ जाता है, तो वही प्रतिकूल अलोचना अनुकूलता का रूप धारण कर लेती है। पहिले मैं लेखक प्रकाशक और प्रेस वालो की बड़ी खरी आलोचना करता था। आज मैं स्वयं प्रकाशन के चक्कर में फँस गया हूँ। अब किसी प्रेस वालो को देखता हूँ, तो बड़े प्रेम से मिलता हूँ उससे दूर का नाता निकाल कर सम्बन्ध स्थापित करता हूँ। औरों से अधिक उसका स्वागत सत्कार करता हूँ। भागवती कथा का जिसके द्वारा प्रचार प्रसार हो उसके प्रति स्नेह प्रकट करता हूँ। 'सर्वःस्वार्थ समीहते।'

कुछ लोग कहते हैं—"अजी, महाराज! आपका क्या स्वार्थ। आप तो सब परोपकार के लिए कर रहे हैं। आपकी दुकानदारी नहीं है आपको क्या लाभ होता है? उलटे हानि ही उठानी पडती है।" यह सब बातें मुँह देखे की हैं। चाहें आर्थिक लाभ न भी होता हो, किन्तु मनुष्य आर्थिक लाभ के ही लिये तो सब कुछ करता नहीं। आर्थिक लाभ तो अधम लाभ

चताया है। नाम के लिये, यश तथा प्रतिष्ठा के लिये लोग धन को पानी की भाँति बहाते हैं। फाँसी के तख्ते पर हँसते-हँसते चढ़ जाते हैं। पहिले नाम के पीछे रायसाहब रायबहादुर लग जाने के लिये लोग लाखों रुपये व्यय करते थे। दुकान में लाभ ही होता हो, सो बात नहीं हानि भी होती है। लोग अपने नाम के विज्ञापन के लिये अपनी वासना पूर्ति के लिये क्या-क्या नहीं करते। वास्तव में सर्वत्र भागवती कथा का भगवन्नाम कीर्तन का प्रचार हो, वह भी मेरे ही प्रयत्नों द्वारा यह मेरे मन उत्कट वासना है। इसी वासना के वशीभूत होकर ये सब व्यापार कर रहा हूँ। इतनी सब खट-पट में पड़ा हुआ हूँ। हे भगवान्! कैसे चक्कर में तुमने फँसा दिया मुझे? सब अपने किये कर्मों का फल है। जैसा बीज बोओगे वैसा फल चाखोगे।

पहिले विचार ऐसा ही था कि ५० ६० भागों में यह पुस्तक पूरी हो जायगी। किन्तु जब लिखने बैठा तो ऐसा लगा कि इतने में पूरी न हो सकेगी। आज मैंने ७०१ वाँ अध्याय लिखा है उसमें नवम स्कन्ध के ११ वें अध्याय के १८ वें श्लोक की कथा लिखी है। अनुमानतः प्रत्येक खण्ड में २० अध्याय होते हैं नववाँ स्कन्ध पूरा होते मेरा अनुमान है ५० खण्ड हो जायँगे, नवम स्कन्ध तक तो भागवत की भूमिका ही है (दशमस्य विशुद्धयर्थं नवानामिह लक्षणम्) मुख्य भागवती कथा तो दशम स्कन्ध से आरम्भ होती है। दशम में कम से कम ५० खण्ड तक तो रख ही लीजिये। ११ वें १२ वें में ८ से क्या कम होंगे। इस प्रकार १०८ खण्ड का अनुमान लगाया है। यह भी बहुत संक्षेप में जब लिखा जाय तब है। एक-एक श्लोक को ध्यान से देखने पर ऐसा लगता है, कि इसके ऊपर तो ग्रन्थ भी लिखा जाय तो भी थोड़ा है। मुझे लिखने में बड़ा आनन्द आता है। यदि देश काल का बन्धन न हो बाहरी और कोई झंझट न हो तो मैं निर-

न्तर लिखता ही रहूँ। भागवती कथा तो अनन्त है, उसका आदि नहीं, अन्त नहीं, अवसान नहीं, समाप्ति नहीं। हम काल के जाल में फँसे प्राणी अपने स्वार्थवश उसे संक्षिप्त करते हैं। गंगाजी की लहरों को प्रातः से सायंकाल तक गिनने के अनन्तर हम कहते हैं आज १०८ लहरें आयीं कहाँ से, वे जो अनादि काल से आ रही हैं, अनन्तकाल तक आती रहेंगी। हमने काल की सीमा करके एक दिन बीच से गणना करके मिथ्या संख्या का आरोप कर लिया है।

इन कथाओं में मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं। बगीचा से फूल लेकर माली एक हार बना देता है, उसमें डोरा ही उसका है, नहीं तो माला का एक फूल भी ऐसा नहीं जो वाटिका का न हो। डोरा भी उसका अपना बनाया नहीं। वह भी दूसरों द्वारा निर्मित है। माली तो माला में निमित्त मात्र है। इस प्रकार भागवती कथा की सभी कथायें व्यासजी के समस्त शास्त्रों से सार रूप में ली गई हैं। सूतजी की कृपा से शौनकादि मुनियों के अनुग्रह से ये सुनी गई हैं। मेरा इसमें मिथ्याभिमान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसलिये प्रत्येक खण्ड के प्रथम पृष्ठ पर यह श्लोक लिखा रहता है—

व्यास शास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'॥

व्यास शास्त्र रूप उपवन से फलों को चुन चुनकर प्रभुदत्त ने यह भागवती कथा रूप माला बनाई है। इसीलिये यह तो नित्य वस्तु है। इसका जितना भी विस्तार किया जाय उतना ही कम है।

कुछ लोग कहते हैं—"महाराज! १०८ खण्ड तो बहुत हैं। कौन इन्हें खरीदेगा। बड़े दाम हैं। अमीरों की भगवान् की कथाओं में रुचि नहीं। गरीब इतनी बड़ी पुस्तक को खरीद नहीं

सकते। फिर कब तक यह प्रकाशित होगी ? प्रतिमास एक प्रकाशित हुई तो ९ वर्ष लगेंगे। इतना धैर्य कहाँ ? इतना रुपया छपाई को कहाँ से आवेगा आदि-आदि।"

इन सब बातों का एक ही उत्तर है। भगवान् को जो कार्य करना होता है, वह असम्भव दिखाई देने पर भी सम्भव हो जाता है। जो नहीं करना होता तो सब साधन सुलभ होने पर भी वह पूरा नहीं होने पाता। मनुष्य का अधिकार कर्म करने में है। फल देना न देना भगवान के ऊपर है। जिनके पास धन है वे सभी तो कथा कीर्तन में व्यय नहीं कर सकते। वे करना भी चाहें तो नहीं कर सकते। उनका ऐसा भाग्य ही नहीं। इनका जैसा द्रव्य होगा वैसे ही काम में लगेगा। यों हिसाब जोड़ें, तब तो एक दिन भी जीना नहीं हो सकता। एक टीन महीने में घी का खर्च है। ५० वर्ष भी जिये लगभग दस हजार रुपये का हुआ। "हाय! दस हजार कहाँ से आवेंगे। घी ही खाना बन्द कर दो!" ऐसा सोचकर कोई घी खाना बन्द नहीं करते। जीवन के आवश्यक कार्यों को पैसा बचाये जाते हैं। गरीब भी यदि किसी अपराध पर पकड़ा जाय तो उसे छुपाने को जैसे-तैसे कहीं से भी १००)। २००) इकट्ठे करेंगे ही। आवयश्कता अपने आप प्रबन्ध कर लेती है। ३० दिन मे १।) बचाना साधारण लोगों के लिये कठिन नहीं आज कल तो सब कामों में चन्दा का प्रचार हो गया है। एक १।) नहीं दे सकता, २० आदमी एक-एक आना इकट्ठा करके मँगा सकते है। सुन सकते हैं सुना सकते हैं। जिनको भागवती कथा से प्रेम होगा वे तो प्रबन्ध कर ही लेंगे। जिनको प्रेम न होगा। उन्हें यदि बिना मूल्य भी दे दें तो उनके यहाँ रद्दी में पड़ी ही रहेगी। छपाने का तो मेरा काम है नहीं। अपनी शक्ति भर प्रयत्न करूँगा, न सफल हुआ भगवान की इच्छा, लोगों के पहले ही विचार थे, पता नहीं १२ खंड निकलेंगे या नहीं। हमारे रुपये

खटाई में तो न पड जायेंगे। यह मैं पाठकों को विश्वास दिलाता हूँ कि १४) १५) हमारी दृष्टि मे कोई महत्व की कोई वस्तु नहीं। उन्हे मारने को हम कोई ढोंग नहीं रच सकते। हमारी इच्छा इसके प्रचार की है, यदि हम विवश ही हो गये न छापने को तब की बात दूसरी है। सो भी किसी के दाम मारने का हमारा विचार नहीं। न बिकने पर दाम लौटाने का हमारा दृढ निश्चय है। यदि ऐसा हुआ भी कि न तो हम आगे के खण्ड निकाल ही सके, न दाम ही लौटा सके तो भी पाठक सतोष करें। उन्हे घाटा नहीं हम पहिले कह चुके हैं—

गङ्गाजी को न्हाइबो, विप्रनि तैं व्योहार।
डूबि जाइ तो पार है, पार जाय तो पार॥

यह चौदहवाँ खण्ड आप पर पहुँच ही गया। पन्द्रहवाँ छप ही रहा है। इसी प्रकार पहुँचते रहेंगे। परिस्थिति अनुकूल होते ही महीने में दो खण्ड निकालने का विचार है। साथ ही पिछले खण्ड समाप्त होते हैं। उन्हें भी छापना पड़ता है जब तक भागवती कथा के पाठक इसमे पूर्ण सहयोग न देंगे तब तक इतना बडा कार्य चलाना कठिन है। अतः सभी उद्योग करें सभी इसके अधिक से अधिक ग्राहक बढावें, प्रचार करें दूसरी दूसरी भाषाओं मे भी भगवती कथा निकलनी आरम्भ हो गई है। तेलगु में निकलने लगी, अब गुजराती मे निकलने वाली है। अपना प्रेस न होने में बडी कठिनता पडती है। अब पाँचवें खण्ड की एक भी प्रति यहाँ कार्यालय मे नहीं है। छठा भी समाप्त है। देखिये भगवान् क्या करते है। पाठकों को यदि यह कथा रुचिकर है तो सभी भगवान् से प्रार्थना करें कि ये सब खड पूरे होकर प्रकाशित हो जायँ, साथ ही मेरे लिये भी प्रार्थना करना न भूले कि मेरी प्रभु पाद पद्मों में भक्ति हो, भगवान् के सुमधुर नामों मे और उनकी लोक पावन कथाओं मे अनुरक्ति हो और

'प्रचार और प्रसार की शक्ति हो। जैसे भागवती कथा अनन्त है, वैसी ही मेरी कथा भी अनंत है, किन्तु गङ्गाजल के सम्मुख मोरी का जल रखकर पाठकों की रुचि क्यों बिगाड़ूँ अतः अब मेरी 'कुकथा न सुनकर भागवती सुकथा श्रवण कीजिये।"

छप्पय

को जग ऐसो पुरुष दोष जामें नहिँ होवै।
क्यों परनिन्दा करै व्यर्थ गुन अपने खोवै॥
ताइ गुननि तैं काम देखि गुन तजि कें अवगुन।
जो सोचे जो कहे होहि तैसोई तब मन॥
तातैं तजि के दोष गुन, कृष्ण चरणमहँ सौंपि चित।
करि हरि कीर्तन नियम तैं, भागवती सुन कथा नित॥

गङ्गाजी के बीच नौका मे
सकीर्तन भवन भूसी
फाल्गुन-शु० ९।२००४

पाठकों का कृपाभिलाषी
प्रभुदत्त

प्रचेताओं को नारदजी का सदुपदेश

(३०५)

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥❀

(श्रीभा० ४ स्क० ३१ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

सबई पूछें प्रभो ! सार उपदेश सुनाओ ।
मन की काई सीख लटाई लाइ मिटाओ ॥
नारद बोले—सुनो, सफल वह जन्म कम मन ।
जातें सुमिरन होहि कृष्ण को धन्य वही तन ॥
वेद पढ़्यो तप करि कहा ? काल बितायो योग करि ।
प्रेम बिना सब व्यर्थ है, जो नहिं कीन्ही भक्ति हरि ॥

जो कर्म हमें अधिकाधिक चिन्ताओं में जकड़कर संसार के बन्धन में फँसाता है, वह कर्म नहीं कुकर्म है। सफल कर्म वही है जो हमें साधन की सोपानों से चढ़ाकर शान्ति के शिखर तक

❀ मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब प्रचेताओं ने प्रश्न किया तब नारदजी उसका उत्तर देते हुए कहने लगे—"प्रचेताओ ! इस लोक मे मनुष्यो का वही जन्म, वे ही कर्म, वही आयु, वही मन और वे ही वचन सार्थक हैं, जिनके द्वारा सर्वात्मा ईश्वर श्रीहरि का सेवन किया जाता हो।"

पहुँचाता है। जो मौन हमारे मुख को मोड़कर मोहन की ओर ले जाता है, वही वास्तविक मौन है। नहीं तो वाणी बन्द करके मौनी बाबा बन के पेट भरने की एक ठग विद्या है। व्रत वही सफल है जो हमें बनवारी के पादपद्मों तक पहुँचा दे। जिस व्रत से ऐसा नहीं होता वह तो एक कमाने खाने का साधन है वर्णाश्रम धर्मों का समाहित चित्त से पालन इसलिये किया जाता है कि उनके करने से प्रभु के पादपद्मों में दृढ़ अनुराग हो। जिन कर्मों से ऐसा नहीं होता वे तो केवल श्रम मात्र ही हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर! जब प्रचेताओं ने देवर्षि नारदजी से परमार्थ सम्बन्धी ऐसा पुनीत प्रश्न किया, तब पुण्य कीर्ति प्रभु के पादपद्मों में अपने मन को स्थिर करके भगवान् नारदजी उन राजाओं से कहने लगे—"बेटाओ! मैंने तुम्हारे पिता प्राचीनबर्हि को भी आत्म ज्ञान का उपदेश दिया था, उसी का सार मैं तुम्हें सुनाता हूँ तुम लोग समाहित चित्त से श्रवण करो। जिन कर्मों के द्वारा सर्वान्तर्यामी श्री हरि प्रसन्न हो जायँ वास्तव में वे ही तो कर्म हैं शेष कर्म व्यर्थ हैं, संसार बन्धन को कसने वाले हैं, चौरासी के चक्कर को जकड़ने वाले हैं पुरुष को पकड़ने वाले हैं। जिस जन्म से फिर जन्म धारण करना पड़े, वह जन्म न होकर जञ्जाल है। वही जन्म सार्थक है जिसे लेकर फिर जन्म न लेना पड़े। आयु वही सार्थक है, जिसकी प्रत्येक स्वाँस श्री हरि के काम में आवे। नहीं तो वह आयु निरर्थक है, समय का दुरुपयोग है। उसी मन को मन कहा जा सकता है। जो मन मोहन की माधुरी मूरति में फँसा रहे। जो मन विषयों का मनन करता रहता है। वह तो बहेलिया है। उसका काम तो निरन्तर हिंसा करके पाप की गठरी को गुरु बनाना है। वचन वे ही सार्थक हैं, जिनके द्वारा श्रीहरि के सुमधुर नामों का निरन्तर उच्चारण होता रहे। भगवान् के

नाम और गुणों को छोड़कर दूसरी बात बोले ही नहीं।

प्रचेताओं ने पूछा—"भगवन्! जितने समस्त श्रेय हैं उन सब की अवधि क्या है! किसके लिये ये सब किये जाते हैं?"

नारदजी ने कहा—"देखो बच्चो! आत्मप्रद श्रीहरि ही सम्पूर्ण प्राणियों के प्रिय से भी प्रिय आत्मा हैं। श्री हरि की उपलब्धि ही वास्तव में समस्त श्रेयों की अवधि है वे ही आत्मा हैं उनका ज्ञान ही आत्मज्ञान कहलाता है। उनका दर्शन ही आत्मदर्शन है। अन्तःकरण द्वारा उनका आलिंगन करना ही आत्मरति अथवा आत्म क्रीडा है। जिन कर्मों के द्वारा उनकी प्राप्ति हो, वे कर्म तो सार्थक हैं, शेष सभी निरर्थक कर्म कहे गये हैं।

वेदों में शौक्र, सावित्र और याज्ञिक तीन श्रेष्ठ जन्म बताये गये हैं। शुद्धकुल में उच्चवंश में जन्म लेना यह शौक्र जन्म कहलाता है। उच्चकुल में जन्म लेकर भी शास्त्रीय संस्कार न हुए तो वह व्रात्य संस्कारहीन द्विज कहा गया है जन्म के पश्चात् पाँचवें छठे आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार होकर जो गायत्री मंत्र का उपदेश होता है, वह दूसरा सावित्र जन्म कहलाता है। इसके अनन्तर वेदाध्ययन करके विवाह के अनन्तर जो बड़े-बड़े यज्ञों की दीक्षा ली जाती है वह याज्ञिक जन्म कहलाता है। ये तीनों जन्म भी विधिविधान पूर्वक श्रेष्ठ भी हों और इनके करने पर भी यदि हृदय में भगवद् भक्ति उत्पन्न नहीं होती, तो इनका कोई विशेष महत्व नहीं। चाहे आप जितने वेदोक्त शुभ कर्म कीजिये, चाहे आपकी मन्वन्तर अथवा कल्प की भी दीर्घ आयु क्यों न हो, चाहे आप चारों वेदों के वक्ता ही क्यों न हों, चाहे आप तपस्या करते करते शरीर ही को क्यों न सुखा डालें, चाहे आप संसार में सर्वश्रेष्ठ प्रभाव शाली वक्ता ही क्या न बन जायें, चाहे आपकी स्मरण शक्ति कितनी भी तीव्र क्यों न हो, आप एक

साथ सैकड़ों सहस्रों बातों को स्मरण करके क्यों न बता दें, चाहे आप कितने भी भारी बलवान क्यों न हो, चाहे आपकी इन्द्रियों में कितना भी अधिक तेज और ओज क्यों न हो, चाहे आप योग शास्त्र के कितने भी "प्रखर वक्ता क्यों न हो" चाहे आप सख्या शास्त्र और न्याय शास्त्र के कितने भी धुरधर विद्वान् क्यों न हों, चाहे आप समस्त शास्त्रों में कितन भी पारगत क्यों न हों, चाहे आप कितनी भी लौकिक, वैदिक विद्याओं के विशारद क्यों न हो, यदि इन सबसे सर्वान्तरयामी प्रभु के पादपद्मों में प्रीति न हो, भगवान् की भक्ति न हो तो सब व्यर्थ हैं, निरर्थक हैं, बन्धन के कारण हैं। सम्पूर्ण प्राणियों में जब तक दया के भाव न होंगे जब तक हृदय से हम सबसे प्रेम करना न सीखेंगे तब तक सभी साधन अधूरे हैं।

प्रचेताओं ने पूछा—"प्रभो! सबसे प्रेम कैसे करें? बहुत से हमसे स्वाभाविक ही द्वेष रखते हैं। बहुतों को हम जानते नहीं। बहुतों से बातें नहीं कर सकते। अपने मनोगत भावों को उन्हें समझा नहीं सकते। फिर सबसे एक साथ प्रेम करना तो कठिन प्रतीत होता है।"

यह सुनकर नारदजी बोले—"बच्चो सबके समीप जाने की आवश्यकता नहीं है। देखो, तुम्हारे शरीर में कितने अंग हैं हाथ, पैर, मुँह, आँख, कान, नाक, उँगली और भी बहुत से अंग हैं। तुम्हें इन सब अंगों को पृथक् पृथक् आहार देने की आवश्यकता नहीं है। आँखों में तेज लाने को अलग गरमा गरम हलुआ भरो। पैरों में शक्ति लाने को उन्हें अलग दूध पिलाओ तथा को पृथक् पूड़ियाँ खिलाओ, आप केवल मुँह के द्वारा आहार को पेट में पहुँचा दो, सभी अंगों की तृप्ति हो जायगी। वृक्ष में कितनी शाखायें तथा उप शाखायें हैं।

कितने पत्ते फल फूल आदि हैं। उन सबको पृथक् पृथक् पानी पिलाने की आवश्यकता नहीं। आप जड में पानी डाल दीजिये। पत्ते पत्ते की तृप्ति हो जायगी। इसी प्रकार तुम प्रभु से प्रेम करो। भगवान् को अपना सर्वस्व समझो। सबके रोम-रोम में वे ही तो रम रहे हैं। सबके हृदय देश में विराजकर वे ही तो प्रेरणा कर रहे हैं, सबसे वे ही तो कार्य करा रहे हैं तुम उनसे सम्बन्ध जोड लो फिर सभी तुम्हारे सगे सम्बन्धी हो जायँगे। वर विवाह करने जाता है तो सबसे पृथक् पृथक् सम्बन्ध नहीं जोडता। लडकी के सग विवाह कर लेता है। विवाह करते ही उससे सम्बन्ध रखने वाले जितने भी स्त्री पुरुष हैं, सभी सम्बन्धी बन जाते हैं। कोई ससुर हो जाता है, कोई शाला, कोई शाली, कोई सरहज। इसी तरह भगवान् से प्रेम होने पर प्राणिमात्र प्रेम करने लगते हैं। भक्त का कोई शत्रु नहीं। वह सबको अपना सुहृद् समझता है, क्योंकि उसके स्वामी श्रीहरि सभी भूतों के स्वाभाविक सुहृद हैं।"

प्रचेताओं ने पूछा—"भगवन्! तब इस चराचर जगत् से प्रेम करें या भगवान् से प्रेम करें? यह जगत् ही कार्य है, भगवान् उसके कारण हैं। जगत् वृक्ष है, भगवान् उसके बीज हैं। हैं तो ये परस्पर में भिन्न भिन्न? इनमें श्रेष्ठ कौन है? इनमें भेदभ-भाव से उपासना करें या अभेद भाव से?"

यह सुनकर नारदजी हँस पडे और बोले—"भैया! तुम लोग तो सब जानते हो, तुम्हें तो स्वय साक्षात् श्रीहरि शकरजी ने भली भाँति समझा दिया है। देखो, सूर्य को वारि-तस्कर कहा है, वे ग्रीष्मकाल में सम्पूर्ण प्राणियों के देहों से वापी, कूप तगाडो से तथा समुद्र मे से जल खींचकर अपने मे लीन कर लेते हैं। जहाँ वर्षा काल आया उसी जल को उगल देते हैं। इसी प्रकार यह चराचर विश्व प्रलयकाल में विराट

भगवान् के अङ्ग में लीन हो जाता है। जब सृष्टि का समय होता है, उन्हीं से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती रहती है। यह प्रवाह अनादि काल से चल रहा है। अनन्त काल तक चलता रहेगा। मिट्टी के घडे हैं, सकोरे हैं, करवे हैं, नाना भाँति के बर्तन हैं। मिट्टी से बने हैं, अन्त मे मिट्टी में ही मिल जायँगे। समय आने पर फिर बन जायँगे। इसी प्रकार यह गुण प्रवाह उत्पन्न होता रहता है उन्हीं मे लीन होता रहता है।"

प्रचेताओं ने कहा—"हाँ, महाराज! यह तो ठीक ही है किन्तु जल तो भिन्न है, सूर्य भिन्न है, जल और सूर्य एक तो नहीं हो सकते?"

नारदजी ने कहा—"राजपुत्रो! यहाँ भिन्न अभिन्न से प्रयोजन नहीं। यहाँ तो प्रवाह की नित्यता में दृष्टात था। जगत् और हरि में वास्तविक कोई भेद नहीं है यह दृश्य जगत् उन श्री हरि का स्थूल रूप ही है। जैसे सूर्य और उनकी प्रभा। प्रभा को आप सूर्य से पृथक् कर सकते हैं? दुग्ध और धवलता सुवर्ण और कान्ति जिस प्रकार इनमें यह परस्पर मे अभिन्नता है उसी प्रकार जगत् और श्रीहरि मे अभिन्नता है अपने शरीर में ही समझ लो। जाग्रत अवस्था मे इन्द्रियाँ कार्य करने लगती हैं। सुषुप्ति अवस्था में लीन हो जाती हैं, निश्चेष्ट सी बन जाती हैं। उसी प्रकार सृष्टि काल में यह जगत् श्रीहरि के शरीर से प्रकट हो जाता है। प्रलयकाल में उन्हीं के श्री अङ्ग में विलीन होकर निश्चेष्ट-सा बन जाता है।"

प्रचेताओं ने कहा—'भगवन! एक शका इसमें और शेष रह जाती है। जैसे, जितने प्रकार के द्रव्य हैं जितनी क्रियायें हैं और यह ऐसी है वैसी नहीं है इस प्रकार का जो यह ज्ञानात्मक भेद भ्रम है, तब फिर यह तो ईश्वर में ही सिद्ध हुआ। जब ईश्वर में यह भेद भ्रम है तो वह ज्ञान स्वरूप कैसे हुआ?"

नारदजी ने गम्भीरता से कहा—"अच्छा देखो, आकाश में तुम्हे क्या-क्या दिखाई देता है ?"

प्रचेताओं ने कहा—"महाराज ! आकाश में हमें सूर्य, चन्द्रमा ग्रह, नक्षत्र तारे ये सब दिखायी देते हैं।"

नारदजी ने कहा—"इसका अभिप्राय यह हुआ कि तुम्हें प्रकाश आकाश में दिखाई देता है। प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ दीखता है ?"

प्रचेताओं ने कहा—"और कभी-कभी बादल भी दिखायी देते हैं।"

नारदजी ने कहा—"बादलों के अतिरिक्त श्रावण भादों की अमावस्या की अँधेरी रात्रि में क्या दीखता है ?"

प्रचेताओं ने कहा—"उस समय तो महाराज ! सिवाय अंधकार के और कुछ भी दिखाई नहीं देता।"

नारदजी ने शीघ्रता से कहा—"हाँ, ठीक है। अन्धकार तो दीखता है भाई। तुम्हारा कहना यही है सिवाय अंधकार के और कुछ नहीं दीखता। अर्थात् अन्धकार दीखता है। दीखता तो है, अन्धकार ही सही। अब आकाश में प्रकाश, बादल, अंधकार ये उत्पन्न होते हैं, अन्त में उसी मे लीन हो जाते हैं, किन्तु आकाश सदा निर्लिप्त बना रहता है कोई यह नहीं कह सकता कि प्रकाश अन्धकार या बादलमय आकाश है। इसी प्रकार भगवान से रज, तम आदि गुण उत्पन्न होते रहते हैं, लीन रहते हैं यह गुण प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, किन्तु श्रीहरि त्रिगुणातीत और निर्गुण ही बने रहते हैं। माया के गुण उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते। वे ही कालरूप से इस जगत् के निमित्त कारण प्रकृति या प्रधान रूप से वे ही उपादान कारण और पुरुष रूप से वे ही सम्पूर्ण चराचर जगत् के नियन्ता हैं। वे ही सबमें समान रूप से व्याप्त होने के कारण सबके आत्म स्वरूप हैं। वे ही ब्रह्मादिक

देवों के इन्द्रादिक लोकपालों के अधीश्वर हैं। वे ही अपनी चैतन्य शक्ति से सत्वादि गुणों को प्रवाह रूप से चला रहे हैं तथा इस दृश्यमान प्रपञ्च से सदा पृथक् भी बने रहते हैं उन्हीं आत्म-स्वरूप श्रीहरि का तुम अभेद भाव से भजन करो उनके अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं, उनके अतिरिक्त कोई चैतन्य नहीं, उन्हें छोड़कर और किसी में आनन्द नहीं। वे ही सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीहरि ही एकमात्र सबके भजनीय है। तुम सर्वात्मभाव से उन्हीं की शरण में जाओ। उन्हीं की प्रसन्नता को सम्पादन करो।"

प्रचेताओं ने पूछा—"भगवन्! भगवान् की प्रसन्नता कैसे प्राप्त हो, इसके उपाय बताइये। भगवत प्राप्ति, शरणागति के साधन समझाइये।"

नारदजी ने कहा—"राजाओ! भगवान् की प्रसन्नता तो उन्हीं की कृपा के ऊपर अवलम्बित है, फिर भी मनुष्य उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते हुए इन साधनों में चित्त लगाये रहे तो उन्हें भगवान् की प्रसन्नता अवश्य प्राप्त हो सकती है सम्पूर्ण प्राणियों में समान रूप से अपने इष्ट की भावना करते हुए दया पूर्वक बर्ताव करे। प्रारब्धवश जो भी प्राप्त हो जाय, उसे ही भगवान् का प्रसाद समझकर पावे, उसमें सन्तुष्ट रहे। अपनी इन्द्रियों को सर्वथा विषयों से रोकता रहे। सभी प्रकार की वासनाओं से सर्वथा दूर रहे। ऐसा करने से मन की मलिनता मिट जाती है, चित्त की चचलता विलीन हो जाती है। अहङ्कार नष्ट हो जाता है बुद्धि विशुद्ध बन जाती है। इस प्रकार अन्तःकरण के निर्मल हो जाने से भीतर की कोठरी के स्वच्छ हो जाने से, उसमें आकर श्रीहरि विराज जाते हैं। और उस निर्मल हुए सत्य-पुरुष के अन्तःकरण से कभी हटते नहीं। वहाँ निश्चल भाव से वे डटे

रहते हैं। उस विशुद्ध हृदय मन्दिर में विराजमान श्रीहरि की विधिवत् सभी उपचारों से पूजा अर्चा करनी चाहिये।"

प्रचेताओं ने पूछा—"महाराज! पूजा अर्चा के निमित्त सामग्री न मिले या यथेष्ट सामग्री का अभाव हो तो पूजा कैसे करें?"

इस पर नारद मुनि बोले—"देखो, भैया! भगवान् बाहरी पूजा से उतने सन्तुष्ट नहीं होते, जितनी प्रेम से की हुई भावमयी पूजा से सन्तुष्ट होते हैं। भगवान् के यहाँ कुछ धन वैभव की पूजा सामग्रियों की तो कमी है ही नहीं। वे तो सदा प्रेम के भूखे बने रहते हैं। जो अपने धनमद या उच्चकुल के अभिमान में निष्किंचन सज्जनों का तिरस्कार करते हैं और बड़ी-बड़ी मूल्यवान् सामग्रियों से भगवान् के श्री विग्रह की अर्चा करते हैं, भगवान् उन मदोन्मत्त अभिमानियों की पूजा को कभी स्वीकार नहीं करते। जो शुद्ध भावना से उनके श्रीचरणों को भावमय पुष्प चढ़ा देते हैं, एक पत्ता तुलसीदल चढ़ा देते हैं। चुल्लू भर जल प्रदान कर देते हैं, तो भगवान् उनकी इसी भावमयी अल्प पूजा से अत्यधिक सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे श्रीहरि लक्ष्मीपति होते हुए भी निष्किञ्चन प्रिय हैं, वे षडैश्वर्य सम्पन्न होने पर भी दीनों पर दया करते हैं, कंगालों पर कृपा रखते हैं, और निराश्रितों को आश्रय प्रदान करते हैं। ऐसे अकारण कृपालु सबके सुहृद् दीनों के बन्धु उन श्रीहरि का कौन कृतज्ञ पुरुष परित्याग करेगा? हे प्रचेताओं! तुम सर्वात्मभाव से उन्हीं श्रीहरि की शरण में जाओ। यही तुम्हारे लिये मेरा सारातिसार उपदेश है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार दशों प्रचेताओं को उपदेश देकर उनके द्वारा सत्कृत होकर हरिगुण गाते हुए नारदजी ब्रह्मलोक को चले गये।"

छप्पय

है जग हरि को रूप उन्हीं तें पैदा होवे।
उनमें ई थिर रहे अन्त महँ उन महँ सोवे॥
सद महँ सत है ध्यात रूप चैतन्य कहावै।
सुख स्वरूप भगवान् जीव आनँद तहँ पावै॥
शरणागत वत्सल अमल, स्वतः तृप्त परिपूर्ण प्रभु।
भक्तवछल अशरण शरण, अज अविनाशी अलख विभु॥

विदुर मैत्रेय सम्वाद की समाप्ति

[३०६]

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम् ।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ३१ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

बिना शरन हरि गये शान्ति सुख जीव न पावे ।
चौरासी महँ भ्रमै विविध योनिनि महँ जावे ॥
तातैं सब कछु त्यागि शरण श्रीहरि की जाओ ।
करिकैं उनको ध्यान परमपद तब तुम पाओ ॥
बोले मुनि मैत्रेय सुनि, ज्ञान प्रचेतनि कूँ भयो ।
विदुर ! सुखद सम्वाद यह, सार मूल तुमतें कह्यो ॥

संसार में जन्म देने वाले पिताओं की कमी नहीं। जिसमें कुछ भी योग्यता न हो, वह भी पिता बन बैठता है। परोपकारी पुरुष यद्यपि थोड़े ही होते हैं, किन्तु वे भी खोजने से मिल जाते हैं। भूखों को अन्न देकर तृप्त करने वाले, प्यासों की पिपासा को

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार जिनकी समस्त शंकायें निवृत्त हो गई हैं ऐसे विदुरजी महामुनी मैत्रेयजी को प्रणाम करके और उनसे आज्ञा लेकर अपने बन्धु बान्धवों को देखने के निमित्त हस्तिनापुर को चले गये।"

पौसला चलाकर, वापी, कूप, तडाग आदि बनवाकर जल दान करने वाले भी मिलते हैं। अपने द्रव्य से अध्यापक रख कर विद्यार्थियों को विद्या दान करने वाले पुण्यात्मा भी पृथ्वी पर सर्वत्र पाये जाते हैं। असमर्थ, आतुर रोगियों की चिकित्सा कराके उन्हे बिना मूल्य औषधि देकर उनके दुःख को दूर करने वाले या कम करने वाले दयावान् भी सुगमता से दिखाई दे जाते हैं, किन्तु ज्ञानोपदेश देकर हृदय में उठे हुए समस्त सशयों का मूलोच्छेदन करने वाले सद्गुरुओं का मिलना अत्यन्त ही दुर्लभ है।

अहा! वह कैसा सुखद समय होता होगा, जब ज्ञान की पिपासा से पिपासित जिज्ञासु शिष्य सद्गुरु की खोज में इधर-उधर भटकता हुआ घूम रहा हो। सर्वत्र उसे निराशा ही निराशा दिखाई देती हो। बड़ी-बड़ी उपदेश की सजी दुकानों के समीप आशा से जाता हो और वहाँ ऊँची दुकानों पर फीका पकवान देखकर, निराश होकर लौट आता हो, उस समय की उसकी मनोवृत्ति, का अध्ययन जिसने किया हो, वह समझ सकेगा, उसके हृदय में कैसे उथल-पुथल होती रहती है सहसा सद्गुरु मिल गये। उनके दर्शनों से ही चित्त हरा हो गया, अपने को अपने ने पहिचान लिया। अन्तःकरण को विश्वास हो गया, यहाँ से निराश न लौटना पड़ेगा। यहाँ पर मेरी बुभुक्षा शान्त हो सकेगी। यहाँ ज्ञान पिपासा के लिये सुखद सुधा की प्राप्ति हो सकेगी। प्रणाम करके अपनी शंकाओं को निवेदन किया। वहाँ से जो उपदेश मिला वह हृदय के साँचे में ज्यों-का-त्यों ठीक बैठ गया। चित्त शान्त हो गया समस्त शकाओं का समाधान हो गया। हृदय की उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ गईं। समस्त सचित कर्मों का क्षय हो गया, क्रियमाण कर्मों से आसक्ति हट गई। उस समय जो आनन्द होता होगा, उसका वर्णन करना मानवीय शक्ति के परे की बात है। यह कहने की बात नहीं

अनुभवगम्य है। जिस पर सद्गुरु की कभी कृपा हुई हो, वही उसका अनुभव कर सकता है। जिन्हें कभी सद्गुरु के पादपद्मों में बैठने का सौभाग्य ही प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे निगुरे उस आनन्द के विषय में क्या समझ सकते हैं?

मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुर! यह मैंने तुमसे जैसी मेरी कुछ बुद्धि थी, जैसा मैंने अपने गुरु के मुखारविन्द से श्रवण किया था वैसा मैंने तुम से नारद और प्रचेताओं का सुखद सम्वाद कहा, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो? यहाँ तक मैंने तुमसे मनु के पुत्र उत्तानपाद के वंश का वर्णन किया। यह मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि महाराज स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र हुए। उनमें से उत्तानपाद के वंश का परम भक्त ध्रुवजी से लेकर प्रचेताओं तक का वर्णन मैंने क्रम से तुम्हारे सामने कर दिया। अब तुम जो कुछ कहो, वह मैं तुम्हें सुनाऊँ।"

यह सुनकर हाथ जोड़कर नेत्रों से प्रेमश्रु बहाते हुए विदुरजी गद्गद कण्ठ से बोले—"गुरुदेव! अब मुझे कुछ भी पूछने को शेष नहीं रहा। अब मेरे सभी संशयों का नाश हो गया। भगवान् के वचनामृत से मेरी सभी शंकाओं का समाधान हो गया। मेरी ज्ञान पिपासा शान्त हो गई।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार मैंने विदुर मैत्रेय सम्वाद के रूप में यह दिव्य कथा तुम्हें सुनाई। इसमें मनु वंश के राजाओं के चरित्रों के साथ-ही-साथ भगवान् के अवतारों का, उनकी त्रैलोक्य पावनी लीलाओं का दिव्य-दिव्य उपदेशों का समावेश है। यह उत्तानपाद का वंश सुनाकर अब मैं उनके भाई प्रियव्रत और उनके वंश का चरित्र तुम्हारे सम्मुख सुनाऊँगा।"

यह सुनकर प्रेम में अधीर होकर अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट

करते हुए महाराज परीक्षित् कहने लगे—"प्रभो! आपने यह विदुर मैत्रेय सम्वाद तो बड़ा ही सुन्दर सुनाया। उसे सुनकर तो मेरे रोम-रोम खिल उठे। मेरे पितामहों के भी पूजनीय पितृव्य विदुरजी यथार्थ में भगवत् कृपा के पात्र थे, जिनके लिये ये इस मानवीय तन को त्यागते समय स्वयं साक्षात् भगवान् ने मैत्रेय मुनि को उपदेश देने का आदेश कर दिया था। वैसे ही उनके भगवत् कृपा पात्र साक्षात् भगवत् स्वरूप उनके पूजनीय गुरुदेव भगवान् मैत्रेय थे। मुझे कृपा करके बताइये फिर इन दोनों में क्या-क्या बातें हुईं। मैत्रेय मुनि से शिक्षा पाकर भक्ताग्रगण्य श्रीविदुरजी कहाँ चले गये?"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! मैत्रेय मुनि के उपदेश को पाकर कृतकृत्य हुए विदुरजी ने अपने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम किया। उनके प्रति आभार प्रदर्शन किया उनकी विधिवत् पूजा करके बोले—"हे महायोगिन्! आप करुणा की साक्षात् सजीव मूर्ति हैं। अज्ञानान्धकार में भटकते हुए मुझ दीन को आपने हाथ पकड़कर उस पार पहुँचा दिया, जहाँ कि अकिञ्चनों के निधि महापुरुषों के प्राप्यस्थान भगवान् वासुदेव विराजते हैं, जहाँ मायिक प्रपञ्च का लेश नहीं। आप की अहैतुकी कृपा से मैं कृतार्थ हो गया। अब मुझे आज्ञा मिलनी चाहिये। सुना है अब पांडव राजा हो गये हैं। धर्मराज युधिष्ठिर को देखने के लिये मेरा चित्त बहुत व्याकुल हो रहा है।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि ने कहा—"वत्स! तुम्हारा कल्याण हो। तुम बड़े भगवत् भक्त हो मेरे मित्र भगवान् वेदव्यास के पुत्र हो। भगवान् वासुदेव के परम कृपापात्र हो। अब तुम हस्तिनापुर अवश्य जाओ। पांडव भी तुम्हारे दर्शनों को परम लालायित हो रहे हैं, धृतराष्ट्र भी सदा तुम्हारी ही चिन्ता करते रहते हैं। मङ्गलमय श्रीहरि तुम्हारा भला करें। तुम इस दिव्य

ज्ञान को स्मरण रखना। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों मे सदा चित्त को लगाये रहना।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपने गुरुदेव की ऐसी आज्ञा और आशिष पाकर विदुरजी उनके चरणों में पुनः-पुनः प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा करके हस्तिनापुर को चले गये। हस्तिनापुर में पहुँचकर जैसा उनका स्वागत सत्कार हुआ जैसे वे अपने ज्येष्ठ भाई धृतराष्ट्र और गान्धारी को लेकर वन में गये, जैसे उन्होंने प्रभास मे जाकर अपने इस नश्वर शरीर का त्याग किया, ये सब कथायें तो मैं तुम्हे पीछे सुना ही चुका हूँ। जो इस विदुर मैत्रेय मुनि के पावन सम्वाद को श्रद्धा सहित श्रवण करेंगे उन्हें दीर्घायु, धन, यश, कल्याण, सद्गति और ऐश्वर्य की प्राप्ति तो होगी ही अन्त में भगवान् के पादपद्मों की भक्ति भी प्राप्त हो जायगी। अब आप बतलाइये मैं आपके सम्मुख कौन-सी कथा कहूँ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् शुकदेवजी के मुख से बात सुनकर महाराज परीक्षित् कथा के प्रसङ्ग को विच्छिन्न न होने देने के विचार से स्वायम्भुवमनु के दूसरे पुत्र ध्रुव के पिता उत्तानपाद के भाई प्रियव्रत के वंश के सुनने की इच्छा प्रकट करने लगे। महामुनि शुकदेवजी ने जिस प्रकार राजर्षि प्रियव्रत के वश का वर्णन किया है उसे मैं आप सबको आगे सुनाऊगा। आप सब दत्तचित्त होकर उन राजर्षि के परम पावन चरित्रों का श्रवण करें।"

सूतजी की ऐसी बात सुनकर जैसे गाढ़ निद्रा से सोता हुआ पुरुष चारों ओर देखता है उसी प्रकार देखते हुए महामुनि शौनकजी बोले सूतजी! आप कैसी अद्भुत कथा कहते हैं? हम तो इस बात को भूल ही गये थे कि महाराज परीक्षित् को श्रीशुकदेवजी कथा सुना रहे हैं। बार-बार मैत्रेय मुनि कहते हैं,

यह सुनते-सुनते हमें विदुर और मैत्रेय दो ही याद रहे। हम समझ रहे थे, विदुर मैत्रेय सम्वाद को स्वयं आप ही सुना रहे हैं। हमारे नेत्रों में तो भगवती भागीरथी के किनारे कनखल में बैठे हुए मैत्रेय और विदुरजी अभी तक प्रत्यक्ष नाच रहे हैं। हाँ, तो विदुरजी हस्तिनापुर चले गये, मैत्रेय मुनि, भगवान् के ध्यान में तन्मय हो गये। यहाँ विदुर मैत्रेय सम्वाद समाप्त हुआ। अब महाराज परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी से क्या प्रश्न किया। इस कथा को आप और सुनावें।"

यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी बोले—"मुनियो! महाराज परीक्षित् ने जो कुछ आगे पूछा और मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने जो कुछ उत्तर दिया उसे अब मैं आप सब को सुनाऊँगा। आप सब मेरे ऊपर कृपा करें कि मैं आपको भली प्रकार सुना सकूँ।"

छप्पय

शुक मुनि बोले—"भूप! विशद सम्वाद सुनायौ।
मुनि मैत्रेय महान् विदुरजी के प्रति गायौ॥
जो नर जाकूँ पढ़हिँ प्रेमतें सुनहिँ सुनावें।
ते निश्चय परमेश परम पावन पद पावें॥
स्वायम्भुव-सुत ध्रुव पिता, भूप भये उत्तानपद।
वरन्यो तिनको वंश अब, सुनो प्रियव्रत को विशद॥

—०—

महाराज प्रियव्रत के चरित्र का उपोद्घात

[३०७]

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने ।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १ अ० १ श्लोक)

छप्पय

कहें परीक्षित्—प्रभो ! परमज्ञानी नृप प्रियव्रत ।
कर्मबन्ध कस फँसे गृही बनि परम भागवत ॥
चरन शरन हरि लई जिनहि ते फँसे मोह कस ।
घरमहँ भक्ति न होहि भई शंका मो मन अस ॥
हँसि बोले शुक—भूपवर ! सत्य बात तुमने कही ।
कहूँ कथा सुनु कृष्ण की, जस नृप हरिपद रत लही ॥

अनादि काल से दो मार्ग चले आये हैं, एक प्रवृत्ति मार्ग दूसरा निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग का आचरण करने वाला पुरुष चाहे स्वर्गादि लोकों को भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु वह संसार के आवागमन से सदा के लिये मुक्त नहीं हो सकता। उसकी पार्थिव विषयों में या दिव्य विषयों में कुछ न-कुछ आसक्ति बनी

---

* श्री शुकदेवजी से महाराज परीक्षित पूछते हैं—"हे मुनिवर ! परम भागवत महाराज प्रियव्रत आत्माराम होने पर भी गृहस्थी में क्यों रमे रहे ? क्योंकि गृहस्थाश्रम में तो मनुष्य अपने स्वरूप को भूलकर कर्म बन्धन में बँध जाता है ।"

ही रहती है, उसी आसक्ति के कारण पुण्य क्षीण होने पर उसे पुनः जन्म धारण करना पड़ता है। जिन्होंने निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन ले रखा है, उनका शरीर जब तक है, तब तक वे प्रारब्ध कर्मों को अनासक्त भाव से भोगते हैं। प्रारब्ध क्षीण हो जाने पर उन्हें परमपद की प्राप्ति हो जाती है। वे सत् स्वरूप हो जाते हैं। जो प्रवृत्ति मार्ग को निवृत्ति मार्ग का साधन समझकर वासनाओं को क्षय करने के लिये अन्तःकरण को निर्मल बनाने के निमित्त स्वीकार करते हैं, उनकी सांसरिक वासनायें जहाँ शान्त हुईं वहीं वे सब कुछ छोड़कर श्रीहरि की आराधना में तत्पर हो जाते हैं। ऐसे लोगों को प्रवृत्ति मार्ग बन्धन न होकर निवृत्ति मार्ग का सहायक हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज स्वायंभुव मनु के पुत्र पुण्य श्लोक महाराज प्रियव्रत बड़े ही धार्मिक भगवद्भक्त तथा अपनी आत्मा में ही रमण करने वाले थे। उन्होंने चिरकाल तक गृहस्थ धर्म का बड़ी कुशलता के साथ पालन किया।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! इन परस्पर में विरुद्ध बातों को सुनकर मेरे मन में बड़ी शंका उत्पन्न हो रही है। पहिले तो आप महाराज प्रियव्रत को परम भागवत भगवद्भक्त और आत्माराम बता रहे हैं, फिर कहते हैं—"उन्होंने कुशलता पूर्वक गृहस्थाश्रम का चिरकाल तक पालन किया। भगवन्! मन तो एक ही है। मनुष्य एक ही विषय में पूर्णता से कुशलता कर सकता है। जो सांसारिक विषय वासनाओं और व्यवहारों में कुशल होगा, वह पूर्णरीत्या परमार्थ साधन नहीं कर सकता और जिसका चित्त परमार्थ चिन्तन में लगा हुआ है उससे ये सांसारिक प्रपञ्च न हो सकेंगे। एक साथ दो कार्य कैसे कुशलता के साथ हो सकते हैं। महाराज प्रियव्रत आत्माराम होकर भी गृहस्थाश्रम में कैसे प्रवृत्त हुए? क्योंकि जो असंग हैं, उन्हें गृहस्थीपने का अभि-

मान हो नहीं सकता और इसके बिना गृहस्थ चलता नहीं।"

श्री शुकदेवजी ने पूछा—"क्यों, गृहस्थाश्रम में भी तो साधन हो सकता है। वहाँ भी प्रयत्न करने पर सिद्धि नहीं हो सकती? भाई, कहीं भी रहो, पृथ्वी, जल, प्रकाश, वायु और आकाश ये तो रहेंगे ही। आस-पास चींटी, कीड़े मकोड़े ये जीव भी रहेंगे। गृहस्थाश्रम में ऐसी कौन-सी बात है जो सिद्धि प्राप्त न हो?"

राजा ने कहा—"हाँ, भगवन्! यह सत्य है, जहाँ भी रहेंगे पञ्चभूत वहीं बने रहेंगे, किन्तु स्त्री, पुत्र, घर, धन, धान्य वाहन, भूमि आदि में ऐसी आसक्ति हो जाती है कि फिर चित्त उन्हीं की चिन्ता में फँस जाता है। जहाँ चित्त इसमें आसक्त हो गया, फिर वह पुण्य कीर्ति श्रीहरि के चरणों की शीतल छाया में जाने की इच्छा ही नहीं करता। शांति सुख को अनुभव करने का उसे अवकाश नहीं। इसी प्रकार जिन्होंने भगवद्भक्ति के रस का आस्वादन कर लिया है, फिर उनका कुटुम्बादि नीरस और दुर्गन्धियुक्त खड़े जल में प्रवृत्ति नहीं होती।"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! आप ठीक कह रहे हैं। वास्तविक बात यही है, कि जिनका चित्त श्रीहरि की रूप माधुरी में आसक्त हो गया है, उनकी स्त्री पुत्रों में की आसक्ति सर्वथा छूट जाती है। किन्तु राजन्! किसी ने एक बार कोई पुण्य पथ देख लिया है, यदि वह फिर जाते-जाते किसी कुमार्ग में भटक जाता है, तो तुरन्त सावधान हो जाता है कि यह मेरा गन्तव्य मार्ग नहीं है। जहाँ उसे चेत हुआ, तहाँ वह उस मार्ग का परित्याग करके राजपथ पर पुनः चलने लगता है। इसी प्रकार जिनका चित्त कमलाकान्त श्रीहरि के चरण कमल के मकरन्द में आसक्त हो जाता है, वे किसी विघ्न के ''''' हो जाने पर भी प्रायः भगवान् वासुदेव का भवभयहारी रूप पथ का परित्याग नहीं कर सकते। भगवद् भक्ति

जन्म के सुकृतों का फल तो है नहीं। अनेक जन्मों में परम पुण्य कर्म करते-करते जब समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं, तो उन निष्पाप पुरुषों के हृदय में प्रभु कृपा से भक्ति का बीज अंकुरित होता है। वह सहसा नहीं होती। वह तो जन्म से ही होती है। बीच में कोई विघ्न भी पड़ जाय, तो कुछ ही काल में वह विघ्न शान्त हो जाता है।

राजकुमार प्रियव्रत जन्म से ही महान भगवद्भक्त थे। उनकी श्रीहरि के पादपद्मों में स्वाभाविका अनुरक्ति थी। सौभाग्य से उन्हें भक्ति मार्ग के परमाचार्य भगवान् नारद जैसे सद्गुरु प्राप्त हो गये थे। उनके पादपद्मों की परिचर्या के प्रभाव से सुगमता पूर्वक परमार्थतत्व का बोध हो गया था। नारदजी के चरणों में उनका दृढ़ अनुराग था। दोनों ही गुरु शिष्य परस्पर में आत्मचिन्तन करते रहते थे। सत्संग की सरिता प्रवाहित होती रहती थी।

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"क्यों महाराज! घर पर ही यह ब्रह्म सत्र चलता रहता था। उनके इसप्रकार निरन्तर आत्म-चिन्तन में निमग्न रहने से उनके पिता ने तो कुछ बुरा नहीं माना?"

यह सुनकर शुकदेवजी मन-ही-मन मुस्कराये और बोले "राजन्! पिता की यह हार्दिक इच्छा होती है, कि मेरे पुत्र मेरे ही समान विवाह करके कुल की वंश परम्परा को अविछिन्न रखे। इसीलिये जब कोई पिता अपने पुत्र को बाबाजियों के संग बहुत बैठते देखता है, तो उसे चिन्ता होने लगती है, कि ऐसा न हो कि यह कहीं बाबाजी बन जाय। वैसे किसी अच्छे त्यागी महात्मा को देखते ही बूढ़े कहने लगते हैं—"इनके माता पिता को धन्य है जिन्होंने ऐसा भगवद्भक्त पुत्र पैदा किया। जिसने अपनी भक्ति से २१ पीढ़ियों को तार दिया!" किन्तु उनसे कोई कहे कि "फिर तुम धन्य क्यों नहीं हो जाते? अपने बेटे को बाबाजी

बनाकर २१ पीढियों को क्यों नहीं तार लेते ?" तो इतना सुनते ही उनके पेटों मे पानी हो जाता है और चाहते हैं, हमारा लडका इन बाबाजियों से दूर ही रहे तो अच्छा। कहीं इनसे इनकी छूत न लग जाय। इसी का नाम मोह है। हाँ, तो राजन्! जब स्वायम्भुव मनु ने देखा मेरा पुत्र अब युवा हो गया है, पृथ्वी पालन के लिये शास्त्रकारों ने राजा मे जितने सद्गुण बताये हैं, वे सब सद्गुण पूर्णतया इसमें विद्यमान हैं, तब उन्होंने एक दिन कहा—"बेटा, देखो! अब तुम बच्चे नहीं हो युवक हो गये। हित अहित सब समझते हो। अब तुम भैया, धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो। गृहस्थी के भार को सम्हालो, मेरे कन्धों के बोझ को हल्का करो। मेरे कार्यों में हाथ बटाओ। मैं सदा थोडे ही बैठा रहूँगा। आगे पीछे तुम्हे ही यह सब कार्य सम्हालना होगा।"

पिता की ऐसी मायामोह पूर्ण बातें सुनकर प्रियव्रत को अच्छा नहीं लगा, क्योंकि उन्होंने तो अपनी समस्त इन्द्रियों के क्रिया कलाप को भगवान वासुदेव के चरणारविन्दों मे समर्पित कर रखा था। समाधि योग के द्वारा वे तो परमार्थ पथ के अनुसरण की तैयारियाँ कर रहे थे।

उन्होंने अपने मन में सोचा—"यदि मैं राज काज में लग गया, तब तो मेरा आत्मस्वरूप असत् प्रपञ्च से आच्छादित हो जायगा। फिर मुझे अपने सत् स्वरूप की विस्मृति हो जायगी।" यही सब सोच समझकर उन्होंने अपने पिता की आज्ञा का परिपालन नहीं किया। यद्यपि सत् पुत्र के लिये पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन न करना एक अत्यन्त ही अनिवार्य कार्य है, किन्तु वे करते ही क्या, विवश थे ऐसा करने के लिये।

मेरे इतने योग्य पुत्र ने मेरी आज्ञा की अवहेलना की, इस बात से महाराज स्वायभुव मनु को अत्यन्त दुःख हुआ। वे

सोचने लगे—अब मेरा वंश आगे कैसे बढ़ेगा। सृष्टि का क्रम कैसे चलेगा। यह बाबाजी बन जायगा। तो ब्रह्माजी की बनायी इस सृष्टि की वृद्धि कैसे होगी। इधर तो महाराज मनु को ऐसी चिन्ता हो रही थी, उधर स्वयं लोक पितामह ब्रह्माजी चिन्तित थे, कि हमारे मानसिक पुत्रों में से चारों सनकादि और नारद ये बाबाजी बन गये। अकेले ये ही बनकर रह जाते, तब कोई बात भी नहीं थी, किन्तु मनुष्य का यह सहज स्वभाव होता है, कि जैसा स्वयं होता है, वैसा ही दूसरों को बनाना चाहता है। जो वस्तु अपने को प्रिय है, उसको दूसरों को भी आस्वादन कराना चाहता है। यह नारद घूम घूमकर लोगों को निवृत्ति मार्ग की ही शिक्षा देता रहता है। यदि सभी निवृत्ति मार्ग के पथिक बन जायँ तो इस 'त्रिगुणमय जगत् की वृद्धि किस प्रकार होगी' यही सब सोचकर उन्होंने अपने पौत्र प्रियव्रत को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने का निश्चय किया। इधर नारदजी उन्हें एकान्त में ले जाकर निवृत्ति मार्ग की पट्टी पढ़ा रहे थे। इस संसार के सभी पदार्थों को असार बता रहे थे। संसार से हटकर प्रभु के पाद पद्म किस प्रकार पकड़े जाते हैं, इस बात का मर्म समझा रहे थे।

अहा! जब एकान्त में दोनों गुरु शिष्य परमार्थ की गहनता से उलझी हुई गुत्थियों को सुलझा रहे हों, उस समय दोनों का चित्त किस प्रकार तन्मय हो जाता है। दोनों ही इस दृश्य जगत् को भूल जाते हैं, एक अनिर्वचनीय आनन्द का प्रादुर्भाव वहाँ हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इधर तो राजकुमार प्रियव्रत और नारदजी परमार्थ चिन्तन में निमग्न थे, इधर ब्रह्माजी उन्हें गृहस्थी बनाने के निमित्त उपदेश देने की इच्छा से उनके समीप जाने को अपने हंस को ठाक-ठाक कर रहे थे। उनके मारीचादि मानस पुत्रों ने कहा—"भगवन्! हम भी आपके साथ चलेंगे।

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है आप लोग भी सब चलो। सब लोग मिल जुलकर उसे समझावेंगे तो उस पर अधिक प्रभाव पड़ेगा।" यह सुनकर मरीचादि मुनि तथा मूर्तिमान वेद भी ब्रह्माजी के साथ हो लिये।"

छप्पय

परम भागवत भये प्रियव्रत ज्ञानी ध्यानी।
गुरु नारद की सीख प्रेम तें तिनने मानी॥
लखि विरक्त सुत पिता राज को काज बतायो।
किन्तु कुमरके नहीं गृहस्थाश्रम मन भायो॥
इत मनु चिन्ता महँ परे, उत चतुरानन चित चढ़ी।
यदि विरक्त प्रियव्रत बनै, तो होवे गड़बड़ बड़ी॥

श्री ब्रह्माजी का प्रियव्रत के समीप आगमन

[३०८]

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
मानुयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम् ।
वयं भवस्ते तत एष महर्षि-
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

चढ़े हंसपै सङ्ग मरीचादिक मुनि धावे ।
सत्य लोकतें उतरि तपादिक लोकनि आवे ॥
विधिकूं लखि सब अमर सुमन तिनपै बरसावें ।
स्वागत के हित सिद्ध साध्य ऋषि मुनि मिलि आवें ॥
गावत गुन गन्धर्वगन, सुयश संग ऋषि मुनि सुनत ।
लखि विधि नारद कुमर मनु, उठे सबहिं संभ्रम सहित ॥

महा पुरुषों का पधारना एक प्रकार का महोत्सव माना जाता है। जो प्रतिष्ठा वय में, प्रभाव में, तप में, कीर्ति में, पदप्रतिष्ठा

---

* ब्रह्माजी राजकुमार प्रियव्रत को समझाते हुए कहते हैं—"देखो बेटा तुम इस बात को निश्चय समझो, कि मैं जो कुछ तुमसे कहूँगा सत्य ही सत्य कहूँगा, तुम्हें अप्रेय भगवान् श्रीहरि की आज्ञा

में श्रेष्ठ हैं उनके आगमन से एक प्रकार का आनन्द होता है। उनके दर्शनों की चित्त में स्वाभाविक उत्कण्ठा होती है, उनके स्वागत सत्कार में एक प्रकार का अभिनव उल्लास उत्पन्न होता है तथा उनके आगमन में यथाशक्ति तथा सामर्थ्य श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने की लालसा बलवती हो उठती है। कुछ स्वागत सत्कार अनिच्छापूर्वक विश्व बनाकर बल पूर्वक भी कराया जाता है। उसमें कुछ आनन्द नहीं आता। वह तो एक प्रकार अन्याय है, जो निर्बल होने के कारण विवश होकर करना पड़ता है। स्वागत तो वही है जिसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठें।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लोकपितामह ब्रह्माजी जब राजकुमार प्रियव्रत को समझाने अपने सत्यलोक से भूमि पर नीचे की ओर उतरने लगे तो उनके चारों ओर मरीचि आदि मुनिवर घिर कर चलने। चारों वेद मूर्तिमान होकर उनका अनुसरण करने लगे। नीचे सब लोकों में यह बात फैल गयी आज लोक पितामह की सवारी इस मार्ग से जायगी, इस सम्वाद को सुनते ही सभी लोकों में निश्चित मार्ग के दोनों ओर उन लोकों के देवगण पितामह के स्वागत के लिये समुपस्थित हो गये। सभी के हाथों में दिव्य पत्र, पुष्प, फल तथा अन्य सत्कार की विविध सामग्रियाँ थीं, सभी पितामह के सुस्वागत के लिये लालायित थे। जिस लोक से वे निकलते वहाँ के पुरुष उनकी विविध भाँति से पूजा करते दिव्य पुष्पों की वर्षा करके अपना हर्ष प्रकट करते। भगवान् चतुरानन के आगे आगे

को अवहेलना न करनी चाहिये। क्योंकि उन्हीं की आज्ञा का महादेवजी, तुम्हारे पिता मनुजी नारदजी ये सब महर्षि तथा हम सभी विवश होकर पालन करते हैं।"

झुण्ड के झुण्ड सिद्ध साध्य, गन्धर्व चारण तथा मुनि गण इनके सुयश का गान कर रहे थे। अप्सरायें नृत्य करती जाती थीं, उपदेव विविध भाँति के वाद्यों को बजाते जाते थे। शङ्ख के समान श्वेत हंस पर विराजमान ब्रह्माजी ऋषि-मुनि तथा गन्धर्वादिकों से घिरे ऐसे ही प्रतीत होते थे। मानों ग्रहों से घिरे शरद कालीन चन्द्रमा आकाश में अपनी ज्योत्स्ना को छिटकाते हुए हँस रहे हों।

महाराज स्वायम्भुव मनु चिन्ता में बैठे थे उनके समीप ही राजकुमार प्रियव्रत दत्तचित्त होकर नारदजी के परमार्थिक उपदेशों को श्रवण कर रहे थे। सहसा सभी ने देखा गन्धमादन पर्वत की कन्दरायें अपने आप आलोकित हो उठीं। उल्कापात के समय जिस प्रकार सहसा प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार का प्रकाश गगन मण्डल में दिखाई दिया। सभी आश्चर्य चकित होकर उस दृश्य को देखने लगे। कुछ क्षणों में ही सबको भगवान् चतुरानन के वाहन हंस के हिलते हुए पंख दिखायी दिये हंस को देखते ही सभी समझ गये, कि भगवान् लोकपितामह ब्रह्मदेव पधार रहे हैं। स्वायम्भुव मनु तथा नारदजी अपने पिता को उतरते हुए देखकर सहसा सम्भ्रम के साथ खड़े हो गये। कुमार प्रियव्रत भी सत्कार के निमित्त सबके साथ खड़े हुए। सभी ने समीप आते हुए ब्रह्माजी के पादपद्मों में प्रणाम किया। उनके साथ आये हुए ऋषियों ने भी परस्पर में कुशल प्रश्न किया। प्रणाम नमस्कार के अनन्तर नारदजी ने विविध सामग्रियों से लोकपितामह ब्रह्म की विधिवत पूजा की। फिर उनकी विविध वैदिक स्तोत्रों से स्तुति पूजा की, उनके अवतार की उत्कृष्टता का वर्णन करके पुनः उनके चरण कमलों में प्रणाम किया, नारदजी और स्वायम्भुवमनु की पूजा को स्वीकार करके ब्रह्माजी प्रसन्न हुए फिर हँसते हुए कुमार प्रियव्रत की ओर दया दृष्टि निहारते हुए कहने लगे—"बेटा! क्या कर रहे थे तुम?"

हाथ जोड़े हुए लज्जा से सिर झुकाकर सकुचाते हुए कुमार प्रियव्रत बोले—"भगवन्! मैं गुरुदेव नारदजी का उपदेश श्रवण कर रहा था।"

हँसकर ब्रह्माजी ने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा—"अच्छा, नारदजी की तो तुमने बहुत बातें सुनी कुछ हमारी भी बात सुनेगे?"

लजाते हुए कुमार बोले—"भगवन्! आप कैसी बात कर रहे हैं। आप जो भी आज्ञा देंगे, उसे मैं सिर से श्रद्धापूर्वक स्वीकार करूँगा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"मेरी बातें कुछ नारदजी की बातों से प्रतिकूल-सी तुम्हें दिखायी देंगी। तुम यह तो न समझोगे कि ये ब्रह्माजी हमें उलटी पट्टी पढ़ाकर फँसाना चाहते हैं, हमें बहकाकर दूसरे मार्ग को ले जाना चाहते हैं।"

सिर नीचा किये हुए ही राजकुमार ने कहा—"नहीं, भगवन्! यह कैसे हो सकता है। आप तो जो भी कुछ कहेंगे मेरे कल्याण के ही निमित्त कहेंगे। आपका दिया हुआ उपदेश मङ्गलकारी ही होगा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो भैया मैं तुमसे अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहता! मैं तो तुम्हें वही उपदेश दूँगा जिसे भगवान् ने मुझसे कहा है। मैं तो केवल उन भगवान् के सन्देश का वाहक मात्र हूँ, जिनकी आज्ञा से शिवजी, मनु, इन्द्र समस्त प्रजापति तथा हम सभी लोग विवश होकर कार्य कर रहे हैं।"

प्रियव्रतजी ने कहा—"हाँ भगवन्! यही बात तो भगवान् नारदजी बता रहे थे, कि उन सर्वान्तर्यामी प्रभु की प्राप्ति ही जीव का चरम साध्य है। उन्हें प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया, यही बात तो मैं तुमसे कहने आया हूँ, कि तुम अपने संकल्प को भगवान् के संकल्प में मिला दो।

पड़ेगा, वह बैठावेगा बैठना पड़ेगा। जैसे नेत्रवाला पुरुष अन्धे आदमी को पकड़कर जिधर ले जाना चाहता है, ले जाता है, उसी प्रकार हमारे गुण और कर्मों के अनुसार श्रीहरि ने हमें जिस-जिस योनि में नियुक्त कर दिया है, उन-उन योनियों को स्वीकार करके हम ईश्वर द्वारा नियत किये हुए सुख-दुःखों को भोगते हैं। सब कुछ उन्हीं की इच्छा से हो रहा है। इसलिये मनुष्य का प्रधान कर्तव्य यही है, कि जिन्होंने भगवत् कृपा का साक्षात्कार किया है, उनके अनुग्रह की उपलब्धि की है, उनकी बात मानकर उनकी शिक्षा के अनुसार कार्य करने चाहिये।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्माजी की ऐसी बातें सुनकर राजकुमार प्रियव्रत कुछ समय के लिये गहरी चिन्ता-सी में फँस गये। वे किसी गहन विषय को सोचने लगे।"

छप्पय

स्वागत श्रद्धा सहित सबनि करि पद सिर नाये।
बिधिवत पूजा करी दिव्य आसन बैठाये॥
प्रेम सहित मुसकाय कहैं ब्रह्मा—सुनु प्रियव्रत।
देहुँ सार उपदेश होहि जातें जग को हित॥
जीव बँधे गुण कर्म तें, करें कर्म हैकें अवश।
जनम मरण भय शोक दुख, सुख पावें प्रारब्ध वश॥

श्रीब्रह्माजी की आज्ञा से श्रीप्रियव्रत का गृहस्थाश्रम-प्रवेश

[३०९]

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्
यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नुकरोत्यवद्यम् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

विषय भोग कछु नाहिँ बन्ध को कारन मन है ।
इन्द्रिय मन आधीन यन्त्र के सम यह तन है ॥
जाको मन आधीन ताहि बन काज कहा है ।
इन्द्रिय वश जे भये तिनहि बन हानि महा है ॥
प्रभुपद पकज कर्णिका, किलो ताहि दृढ़ मानिकें
भोगो सुख अरि काम हनि, प्रभु प्रसाद जिय जानिकें ॥

---

* श्री ब्रह्माजी राजकुमार प्रियव्रत को समझाते हुए कहते हैं—'देख, बेटा ! जिस पुरुष ने इन्द्रियों को नहीं जीता है, वह यदि वन में भी चला जाय तो वहाँ भी उसे भय होता है। क्योंकि उसके ६ शत्रु सदा साथ रहते हैं। इसके विपरीत जो पुरुष जितेन्द्रिय है, बुद्धिमान है अपनी आत्मा में ही रमण करने वाला है वह यदि घर में ही रहे, तो उसका गृहस्थाश्रम क्या बिगाड़ सकता है ?'

प्रारब्ध शेष रहता है, तब तक उसे भोगने के लिये देह को धारण किये रहता है, किन्तु उसमें निजत्व का अभिमान नहीं करता और न अन्य देह की प्राप्ति करने वाले संस्कारों को ही अपने में स्वीकार करता है।"

यह सुनकर राजकुमार प्रियव्रत ने कहा—"तब भगवन्! सबसे श्रेष्ठ तो यही है, इन सब झंझटों को छोड़कर शान्त चित्त से एकान्त में जाकर सर्वेश्वर श्रीहरि का भजन करना चाहिये। इस गृहस्थ रूप जल में न फँसना चाहिये। इसमें नाना प्रकार के क्लेश हैं, विविध भाँति के बन्धन हैं।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"अरे भैया! वन में कुछ जादू तो रखा ही नहीं, कि जाते ही चित्त शान्त हो गया। कभी-कभी तो देखा गया है, एकान्त में काम वासनायें अत्यन्त प्रबल हो जाती हैं। मेरे प्यारे बच्चे! किसी स्थान में कुछ नहीं रखा है। यदि अपना मन अपने वश में हैं, इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त कर ली है तो फिर चाहे वन में रहो या घर में दोनों ही स्थान एक-से हैं दोनों में ही आनन्द हैं। यदि मन चञ्चल है इन्द्रियाँ अपने अधीन नहीं तब आप लाख वन में चले जाओ वहाँ भी फँस जाओगे। क्योंकि विघ्न करने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये ६ शत्रु तो सदा पुरुषों के साथ ही साथ रहते हैं। कहीं भी चले जाओ ये पिंड नहीं छोड़ते। जहाँ इन काम क्रोधादिकों पर विजय प्राप्त कर ली, फिर क्या है कहीं रहो आनन्द ही आनन्द है।"

कुमार प्रियव्रत ने कहा—"महाराज! यह बात तो आपकी ठीक ही है, कि जब तक मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं होता, काम क्रोधादि शत्रुओं को नहीं जीत लेता, तब तक उसका एकान्त वास जप, तप, पूजा, पाठ वेदाध्यन सब व्यर्थ है, किन्तु फिर भी इन शत्रुओं को जीतने का सुगम उपाय यही है, कि जिस गृहस्थाश्रम

में चारों ओर से काम क्रोधादि के ही साधन भरे हैं, उसे छोड़कर एकान्त में साधन द्वारा इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके जीवनमुक्ति के सुख का आस्वादन करे। ये शत्रु भी तो घर में रहकर नहीं जीते जाते। इन्हें जीतने के लिये भी तो घर का छोड़ना अत्यावश्यक है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ भैया! यह बात ठीक है, गृहस्थाश्रम को छोड़कर ही षडरिपुओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है, किन्तु भैया! यह मैदान की लड़ाई है। यह अत्यन्त साहस का का काम है। लड़ाई दो प्रकार होती है एक मैदान की लड़ाई एक किले की लड़ाई। यदि शत्रु निर्बल हो अपने सबल हों तो शत्रु के सामने मैदान में भी लड़ाई कर सकते हैं, किन्तु सबल होने पर भी मैदान की लड़ाई में सन्देह बना ही रहता है किन्तु किले की लड़ाई में सदा सुरक्षा रहती है। किले के भीतर लड़ने से यदि अपना शत्रु सबल भी हो तो भी कोई सन्देह नहीं रहता, शत्रु नीचे है। चारों ओर से खुला है। अपने किले भीतर हैं सुरक्षित हैं ऊपर से बाण छोड़ते हैं नीचे शत्रुओं के सैनिकों का सरलता से संहार कर सकते हैं। वे पहिले तो नीचे से उतने ऊँचे बाण छोड़ ही नहीं सकते छोड़ते भी हैं तो किले के भीतर छिपे रहने से वे अपने लोगों के लगते नहीं। ऐसे युद्ध में पराजय की संभावना ही नहीं रहती। यदि किले बन्दी दृढ़ हो और जीवनयापन की सामग्रियाँ यथेष्ट सम्रहीत हो तो इसी प्रकार गृहस्थ में रहकर साधन करना किले की लड़ाई है गृहस्थ में रहकर काम पर विजय करने का साधन करते रहे, कभी भूल से फिसल भी गये तो धर्म पत्नी में काम तृप्ति करना उतना पाप नहीं। यदि त्यागी अपने को न रोक सका विचलित हो गया, तब तो उसका सर्वनाश ही है, महान् पतन ही है। फिर उसका सम्हालना अत्यन्त कठिन है। उसे रौरवादि अनेकों नरकों की यातना भोगनी ही

पड़ेगी। उसी प्रकार क्रोध आया, अपने बाल बच्चों पर उसका आवेग उतार लिया। लोभ, मद, मत्सर इन सबका संयम गृहस्थ में ही रहकर भली भाँति हो सकता है। यह सरल सुगम मार्ग है। मन की वासनायें शान्त हो जायँ, चित्त चञ्चलता को छोड़ दे। जब समझे मन अब बहुत उछल कूद नहीं करता, तब चाहे घर को छोड़कर एकान्त में भजन करे। यह मैया राजपथ है। आँख मींचकर चले जाओ कोई भय नहीं, कोई चिन्ता नहीं।"

प्रियव्रत कुमार ने आत्मग्लानि के स्वर में कहा—"भगवन्! मेरा चित्त तो बड़ा ही चञ्चल है। आप मुझे गृहस्थी में फँसने को कहते हैं। आप गुरु के भी गुरु और पूजनीय पिता के भी पूज्य हैं। आपकी आज्ञा टाल तो नहीं सकता, किन्तु गृहस्थ में फँसकर मैं अपने विवेक को और भी खोदूँगा। उन्हीं विषय सुखों में फँस जाऊँगा।"

ब्रह्माजी ने अत्यन्त स्नेह के स्वर में कहा—"अरे, भैया! तुम कैसी बातें कर रहे हो। तुम कामादि शत्रुओं के अधीन कैसे हो सकते हो, तुमने तो परमाराध्य प्रभु के पादपद्म रूप कर्णिका को कमनीय किला मानकर उसी का आश्रय लेकर काम क्रोधादि शत्रुओं को पहले से ही जीत लिया है। इसलिये तुम्हारे लिये क्या बन्ध मोक्ष? तुम तो भगवान् के कृपा पात्र हो। सृष्टि बढ़ाने के लिये तुम्हारा धराधाम पर जन्म हुआ है। तुम निःसंग भाव से अनासक्त होकर संसारी भोगों को भोगो। विवाह करो, बच्चे पैदा करो सृष्टि बढ़ाओ। यह नारद तो है बाबाजी! राड़ के पाइँ सुहागिनी लागो, है जा भैंना मो-सी।" एक विधवा स्त्री के पैर किसी सधवा स्त्री ने पकड़े। विधवा ने आशीर्वाद दिया—"अच्छा बहिन तू मेरी जैसी हो जा।" यही दशा इन नारदजी की है। सबको मूँड़कर बाबाजी बनाना चाहते हैं। भैया, इस रूखे बाबा-

जीवन में क्या रखा है। ब्याह हो जाय, बाल बच्चे हो जायँ, फिर तुम्हारी ऐसी ही इच्छा हो तो एकान्त में जाकर माला खट-खटाना अभी से यह बात ठीक नहीं। फिर हम तुम्हारे बाप के बाप हैं। हमारी आज्ञा नहीं मानोगे ?"

यह सुनकर राजकुमार प्रियव्रत मन ही मन हँसे। अब वे क्या कहते। बाबाजी सम्पूर्ण ब्रह्मांड के स्वामी हैं, पूजनीय पितामह हैं। उनकी आज्ञा उल्लङ्घन नहीं की जा सकती। उनको उत्तर देना भी धृष्टता है। अतः महाभागवत प्रियव्रत ने अपने को छोटा समझकर और यह सोचकर, कि बड़ों की आज्ञा तो माननी ही चाहिये, इसलिये लज्जा से नम्रता पूर्वक ग्रीवा को झुकाकर अत्यन्त ही संकोच के साथ धीरे से कहा—"अच्छा महाराज ! जैसी आपकी आज्ञा ?" इतना सुनते ही ब्रह्माजी का रोम-रोम खिल उठा। स्वायंभुव मनु की प्रसन्नता का तो कहना ही क्या उन्होंने सोचा—"चलो, यह अच्छा हुआ। न साँप मरा न लाठी टूटी" काम बन गया। मुझे कहना भी न पड़ा लड़का ब्रह्माजी के समझाने से ही ठौर ठिकाने पर आ गया।" यह सोचकर शीघ्रता से उन्होंने लोक पितामह की विधिवत पूजा की। मनु की पूजा को स्वीकार करते हुए ब्रह्माजी ने हँसकर नारदजी से पूछा—"कहो, भक्तराज ! आप अप्रसन्न तो नहीं हुए कि हमारे चेले को उलटी पट्टी पढ़ाकर ब्रह्माजी ने बहका दिया।"

नारदजी ने हँसते-हँसते कहा—"अब महाराज ! क्या बतायें बड़े लोगों की बड़ी बातें होती हैं। हम छोटे लोग ऐसा करते तो सभी कहते 'देखो' इन्होंने अन्याय किया दूसरे के चेले को बहका दिया, किन्तु महाराज बड़ों से कौन कहे। अच्छी बात है हमारा चेला न सही भाई ही सही।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले—"अरे, नहीं भैया ! चेला तो तुम्हारा ही है और आगे भी तुम्हारा ही रहेगा। इसके

द्वारा हमें सृष्टि का बहुत कार्य कराना है। इसी के द्वारा द्वीप, समुद्र देश आदि की रचना होने वाली है। साधारण पुरुषों का यह कार्य नहीं। ऐसे त्यागी विरागी ही महान् कार्य कर सकते हैं। जब ये सब काम हो जायँगे, तो यह तुम्हारे ही पथ का अनुसरण करेगा।',

नारदजी ने हँसकर कहा—"नहीं, भगवन्! ऐसी कोई बात नहीं। आपको तो निवृत्ति प्रवृत्ति दोनों का ही ध्यान रखना है।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार कुमार प्रियव्रत को उपदेश देकर ब्रह्माजी मन और वाणी के जो विषय नहीं है ऐसे अवाङ्ग मनस, गोचर, व्यवहार शून्य, अपने आश्रय, निर्गुण, निराकार, विशुद्ध ब्रह्म का चिन्तन करते हुए अपने सर्व श्रेष्ठ धाम ब्रह्मलोक को चले गये।"

ब्रह्माजी के चले जाने पर हँसते हुए नारदजी ने स्वायंभुव-मनु से कहा—"राजन्! हमारा बार खाली नहीं जाना चाहिये। पुत्र नहीं तो पिता ही सही। अब आपकी वृद्धावस्था है। प्रियव्रत सर्वसमर्थ है, वह राज्य पाट सभी को सम्हालने की योग्यता रखता है, आप अपना समस्त भार इसे सौंपकर एकान्त में जाकर श्रीहरि की अराधना में निमग्न हो जायँ। अब इस सम्पूर्ण भू-मंडल की रक्षा का भार सौंप दें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए मनुजी ने कहा—"नारदजी! यह आपने बात कही है, एक लाख रुपके की। मेरा समय है तपोवन में जाने का। हाँ, यह सब राजकाज सम्हाले, मैं अभी आप से दीक्षा लेकर जाता हूँ।" इतना कहकर महाराज ने तुरन्त मन्त्री पुरोहित और प्रजा के लोगों को बुलाकर प्रियव्रत को राजसिंहासन पर बैठाकर स्वयं अत्यन्त विष के सदृश विषयों के भोग से उपरत होकर तपोवन को चले गये।"

यद्यपि महाराज प्रियव्रत को ये विषय सुख प्रिय नहीं थे।

क्योंकि उनके अन्तःकरण की समस्त विषयवासनायें आदि पुरुष श्रीमन्नारायण के युगल चरण कमल रूप मकरन्द के अनवरत पान करने में क्षीण हो चुकी थीं। सम्पूर्ण संसार के जन्म मरण रूप बन्धन को काटने में अत्यन्त समर्थ उन आदि पुरुष अखिलेश के अथक ध्यान के कारण उनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया था। फिर भी गुरुओं की आज्ञा शिरोधार्य [illegible] समस्त पृथ्वी का धर्म पूर्वक शासन करने लगे।

कुछ काल के अनन्तर उन्होंने विश्वकर्मा नामक [illegible] की परम सुशीला सुन्दरी पुत्री के साथ विधिवत् [illegible] किया। इतनी सुन्दर सर्वगुण सम्पन्ना वधू को [illegible] प्रियव्रत पुरानी बातों को प्रायः भूल से ही गये। [illegible] में इतने मग्न हुए कि उन्हें यह भी पता नहीं रहा, दिन [illegible] है, कब रात्रि आती है। वे गृहस्थाश्रम में [illegible]

छप्पय

आयसु विधि की मानि प्रियव्रत [illegible]।
सोचे मनु अब सहज काम [illegible]॥
यों सब विधि समुझाइ मन [illegible]।
इत प्रियव्रत ने राजाकाज [illegible]॥
ब्याह करयो रानी सिरी [illegible]
परम सुशीला सुन्दरी, [illegible]

महाराज प्रियव्रत का प्रभाव

[३१०]

नैवंविधः पुरुपकार उरुक्रमस्य
पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितपड्गुणानाम् ।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत
यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

भये पुत्र दस विश्वविदित धार्मिक ज्ञानी अति ।
तिनमें त्यागी तीनि सत द्वीपनि के भूपति ॥
उत्तम तामस पुत्र दूसरा रानी जाये ।
तीसर रैवत भये सबनि पुनि मनुपद पाये ॥
तनया इक उर्जस्वती, शुक्र संग ब्याही गई ।
तासु गर्भतें गरविनी, सुता देवयानी भई ॥

---

* महामुनि शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन लोगों ने प्रभु पादपद्मों की पराग के प्रभाव से शरीर के ६ धर्मों—क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु को जीत लिया है उन भगवद्भक्तों का इस प्रकार का पुरुषार्थ कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कारण कि भगवान् के नाम में ही ऐसा प्रभाव है, कि उसके एक बार उच्चारण करने से ही मनुष्य तत्काल संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर चाहे वह जाति का चाण्डाल ही क्यों न हो।"

विषयों में आसक्त हुए ज्ञानी और अज्ञानी दोनों एक से ही दिखायी देते हैं। किन्तु ज्ञानी का विवेक लुप्त नहीं होता, वह सांसारिक कार्यों में फँसा रहने पर भी उनसे निर्लिप्त बना रहता है। दूसरे लोग समझते हैं, कि यह अपने विवेक को खोकर विषयों को ही सब कुछ समझता है, यह भी जैसे अन्य विषयी लोग स्त्रियों के क्रीडा मृग बने रहते हैं वैसे ही बना हुआ है, किन्तु उनके विवेक का पता तब चलता है जब वे अत्यन्त प्रिय समझे जाने वाले पदार्थों को तृण के समान त्यागकर चले जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्माजी की आज्ञा शिरोधार्य करके महाराज प्रियव्रत ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। उनकी प्राणप्रिया महारानी बर्हिष्मती बड़ी सावधानी के साथ तन मन से पति की सेवा करने लगीं। उन्होंने अपनी सेवा और विनय के द्वारा महाराज को ऐसा वश में कर लिया, कि महाराज उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करने लगे। जब वे नारी सुलभ संकोचमयी मधुर मुस्कान के द्वारा उनकी ओर देखतीं जब वे लज्जा से अवनत मुखारविन्द से अनुराग के सहित कनखियों से उन्हें निहारतीं, तब महाराज उनके ऊपर अपना सर्वस्व निछावर कर देते। जब वे मीठा मीठा विनोद करते हुए बीच-बीच में हँस पड़तीं तो ऐसा प्रतीत होता था मानो शरदकालीन चन्द्रमा से मोती झड़ रहे हों, महाराज उनके अट्टहास से अपने आपे को भूल जाते। इस प्रकार अपनी प्राणप्रिया बर्हिष्मती के साथ नित्यप्रति बढ़ने वाले आमोद-प्रमोद तथा क्रीडाओं के कारण वे अपने को अमराधिप इन्द्रसे बढ़कर सुख का अनुभव करने लगे। अपनी धर्मपत्नी में उनके ऐसे अनुराग को देखकर अविवेकी लोग समझते थे, कि उनका वह नारदजी वाला ज्ञान ध्यान तो अब प्रस्थान कर गया। अब तो ये विषयासक्त स्त्रीलम्पट अज्ञानी पुरुषों के समान

हो गये, किन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं थी, उनकी पूर्व निष्ठा में कोई भी अन्तर नहीं पड़ा।

महारानी बर्हिष्मती के गर्भ से महाराज के १० पुत्र और एक कन्या का जन्म हुआ। वे दशों पुत्र दश अग्नियों के नाम से संसार में विख्यात हुए। उन दशों के नाम क्रमशः आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र और कवि थे। कन्या का नाम ऊर्ज्वस्वती था।

इन १० में से ७ तो पृथ्वी के सातों द्वीपों के राजा हुए। शेष तीन कवि, महावीर सवन इन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार नहीं किया। वे अविवाहित रहकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही बने रहे। इन लोगों ने प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण करके महर्षियों द्वारा प्रशंसित निवृत्ति मार्ग का ही आश्रय ग्रहण किया जिसमें कि भव से भयभीत प्राणियों के आश्रय स्वरूप का सम्पूर्ण जीवों के सच्चे सुहृद् भगवान् वासुदेव के चरणारविन्द का सर्वदा चिन्तन किया जाता है। जिस आश्रम में अखण्ड एवं उत्कृष्ट भक्ति योग के द्वारा विशुद्ध हुए अन्तःकरण में उन्हीं प्रत्यगात्म्य स्वरूप अखिलेश का चिन्तन करते-करते अविशेष रूप से तादात्म्य प्राप्त किया जाता है, उसी परमहंस आश्रम में दीक्षित हो गये। वे संसारसागर को पार कर गये। इसी शरीर से उन्होंने परमपद की प्राप्ति कर ली। शेष ७ कुमार पिता की आज्ञा में रहकर पृथ्वी के पालन में योगदान देने लगे। अपनी प्यारी पुत्री ऊर्ज्वस्वतीका विवाह उन्होंने असुरों के पुरोहित भगवान् शुक्राचार्य के साथ कर दिया। जिससे देवयानी नामक कन्या हुई जिसका पाणिग्रहण राजर्षि ययाति ने किया।

महाराज प्रियव्रत की एक दूसरी रानी थी, जिनके गर्भ से उत्तम, तामस और रैवत नामक तीन प्रभावशाली पुत्र हुए। वे तीनों-के-तीनों मन्वन्तरों के अधिपति मनु हुए। तीनों के नाम से पृथक्-पृथक् मन्वन्तर प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने अपने-अपने मन्द-

न्तर पर्यन्त तीनों लोकों का शासन किया। महाराज ने अपने बाहुबल से अरबों वर्ष इस समस्त वसुन्धरा का पुत्र के समान पालन किया।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज प्रियव्रत के समान तेजस्वी प्रतापी आज तक न कोई राजा हुआ है, न होने की सम्भावना ही है। वे दूसरे प्रजापति ब्रह्मा के समान शक्तिशाली थे। जो पराक्रमी होते हैं, उन्हें कुछ-न कुछ विचित्र ही सनक सूझती है। एक दिन महाराज ने सोचा—"ये मरीचमाली भगवान् सूर्य सदा सुमेरु की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। जिधर ये जाते हैं, उधर तो प्रकाश फैल जाता है, जिधर छाया हो जाती है उधर अन्धकार हो जाता है। इससे आधे भू भाग पर दिन होता है, आधे पर रात्रि। मैं पुरुषार्थ से ऐसा कर दूँ, कि कहीं भी कभी रात्रि न हो। सदा दिन ही होता रहे। यह सोचकर उन्होंने सूर्य के ही समान ज्योतिर्मय एक दिव्य रथ बनाया उस रथ पर चढकर वे आकाश में सूर्य के विरुद्ध सुमेरु की प्रदक्षिणा करने लगे। अब कहीं रात्रि ही नहीं होती थी। सभी प्राणी बडे दुखी हुए। रात्रि में प्राणि सोकर अपना श्रम मिटा लेते थे, अब तो कभी रात्रि ही नहीं होती थी। महाराज का रथ ऐसा दिव्य था, कि उसके पहिये पृथ्वी पर थे और आकाश में सूर्य समान चमकता था। महाराज ने इस प्रकार अपने रथ से पृथ्वी की ७ प्रदक्षिणा की। तभी बीच में आकर ब्रह्माजी ने उन्हें रोक दिया, कि यह तुम क्या गडबड सडबड़ कर रहे हो। अपने प्रभाव को इस प्रकार नहीं दिखना चाहिये। दिन रात्रि दोनों होने दो। ब्रह्माजी की बात महाराज ने मान ली। किन्तु सात बार प्रदक्षिणा करने से जो रथ की ७ लीक [illegible] ही पृथ्वी पर ७ समुद्र हो गये।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी!

हमें कुछ गप्पाष्टक-सी ही प्रतीत होती है। रथ के पहियों से सात समुद्र बन गये। न तो हमें, सात समुद्र ही दिखायी देते हैं, न यह बात ही बुद्धि में बैठती है। यह तो चण्डूखाने की गप्प-सी प्रतीत होती है। जैसे मद पीकर मदमाते पुरुष गप्प हाँका करते हैं, कि हमारे बाबा ऐसे थे, जिनकी हजार मन रुई की पगड़ी बनती थी। उनमें लाख मन धान बोया जाता था, करोड़ मन अन्न होता था। अरबों आदमी खाते थे। उनकी नाक से खरबों हाथी निकले थे। ये तो ऐसी ही बातें बिना सिर पैर की प्रतीत होती हैं"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! ऋषि होकर भी आप ऐसी बातें पूछते हैं। ऐसी शंकायें तो नास्तिक लोग करते हैं, जिन्हें भगवान् की अपरिमेय शक्ति पर विश्वास नहीं। ये इतने नदी नद, सागर, पर्वत आदि बने हैं, किसी के द्वारा ही तो बने होंगे।"

शौनकजी ने कहा—"ये तो स्वतः प्रकृति के द्वारा अपने आप बन जाते हैं।"

सूतजी बोले—"भगवन्! अपने आप कोई चीज नहीं बनती। प्रकृति तो स्वयं जड़ है। जब तक उसमें चैतन्य का समावेश न होगा अपने आप कोई वस्तु कैसे बन सकती है। इसके लिये कुछ निमित्त चाहिये। उपादान चाहिये। सबके निमित्त और उपादान श्रीहरि ही हैं, वे स्वयं ही निमित्त बनाकर जिससे जो चाहें कार्य करा सकते हैं। जिनके द्वारा इन समुद्रों की रचना हुई है, वे ही प्रियव्रत हैं। इन बातों का आध्यात्मिक अर्थ भी है यहाँ कथा प्रसङ्ग में उसका विस्तार करना नहीं चाहता।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छी बात है, इन सब बातों पर फिर समयानुसार शङ्का समाधान होगा, अब तो आप उस कथा प्रसङ्ग को ही पूरा करें। ७ समुद्र सात द्वीप कौन-कौन हुए और राजा

प्रियव्रत ने अपने किस पुत्र को किस द्विप का राजा बनाया यह बात बताइये ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"हाँ, भगवन् ! इन सब विषयों का विशद विवेचन भूगोलक प्रसग में होगा अब तो मैं आपको अपने गुरुदेव के बताये हुए द्वीप और समुद्रों का ही नाम बताता हूँ।"

महाराज परीक्षित् के पूछने पर भगवान् शुक कहने लगे—"राजन् ! सात समुद्रों के बीच-बीच में जो पृथ्वी रह गयी वे ही सप्तद्वीप कहलाये। उनके नाम जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलि द्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप हैं।"

राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! क्या ये सभी द्वीप समान ही लम्बे चौडे हैं, या कुछ न्यूनाधिक ?"

शुकदेवजी ने कहा—"नहीं, महाराज ! ये सब समान नहीं हैं। ये एक दूसरे से दुगने दुगने फासले पर हैं। ऐसे जम्बूद्वीप से प्लक्षद्वीप दुगुना है प्लक्ष से शाल्मलि दुगुना है। ऐसे ही आप समझ ? जिस द्वीप में हम बैठे हैं, उसका नाम जम्बूद्वीप है। इन सबके चारो ओर एक एक समुद्र घिरा है। इसलिये दूसरे स सर्वथा पृथक हैं। योगियो को छोडकर दूसरा कोई भी मनुष्य एक द्वीप से दूसरे द्वीप मे नहीं जा सकता। इसलिये नास्तिक लोग कहते हैं कि ये द्वीप हैं ही नहीं। कोरी चण्डू खाने की गप्पे हैं। किसी ने बैठे बैठे उपन्यास की भाँति इन सबको गढ दिया है। उनके लिये अब हम क्या कहे।'

राजा ने पूछा—"भगवन् ! सातों समुद्रो के क्या नाम हैं और वे किस किस द्वीप के चारों ओर घिरे हैं"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन् ! इन सातों समुद्रों का नाम क्षार समुद्र, इक्षुरस समुद्र, सुरा समुद्र, घृत समुद्र, क्षीर दधिमड समुद्र और शुद्ध जल समुद हैं। ये क्रमशः स

के चारों ओर हैं। जैसे जम्बूद्वीप के चारों ओर खारा समुद्र है, प्लक्ष के चारों ओर ईख रस समुद्र, शाल्मलि के चारों ओर सुरा समुद्र, ऐसे ही सबको समझना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"महाराज! यह बात समझ में आई नहीं। दूध, घी, दही, सुरा, ईख का समुद्र कैसा? इनमें क्या घी-ही घी या दूध-ही-दूध भरा रहता है?"

यह सुनकर शुकदेवजी ने कहा—"नहीं, राजन्! रहता तो इनमें जल ही है, किन्तु उस जल में उन-उन वस्तुओं के तत्त्व अधिक होते हैं। जैसे तुम्हारे जम्बूद्वीप के चारों ओर लवण समुद्र है तो क्या इसमें नमक-ही-नमक थोड़े ही भरा रहता है? पानी में नमक का अंश अधिक है। इस द्वीप के होने वाले प्राणियों के आहार में लवण के पदार्थों का बाहुल्य होता है। चाहे आप प्रत्यक्ष नमक न खायें, फिर भी साग, फल, अन्न आदि यहाँ के पदार्थों में अन्य द्वीपों की अपेक्षा लवण का अंश अधिक रहता है। इसी प्रकार जिन द्वीपों के चारों ओर दूध, दही, घी, सुरा आदि के समुद्र होते हैं, उनमें रहता तो पानी ही है, किन्तु क्षीर सागर के जल में दूध का ही स्वाद होता है, दूध-सा ही जल होता है घृत सागर में घी के समान गुणकारी स्वादिष्ट जल होता है। जैसे क्षार समुद्र को पीते ही मुँह नमकीन हो जाता है, वैसे ही इन द्वीपों के जल को पीने से मुख का स्वाद वैसा ही हो जाता है। ये समुद्र अपने द्वीप के ही समान नाम वाले हैं। जैसे राजाओं के किले के चारों ओर बड़ी गहरी खाई होती है, जिसमें जल भरा रहता है, कोई शत्रु किसी ओर से किले में न घुस सके, इसी प्रकार ये समुद्र द्वीपरूपी किलों की खाइयाँ हैं। महाराज प्रियव्रत ने अपने सातों पुत्रों को इन सातों द्वीपों का राजा बना दिया जैसे जम्बूद्वीप में आग्नीध्र को, प्लक्ष-द्वीप में इध्मजिह्व को, शाल्मलिद्वीप में यज्ञबाहु को, कुशद्वीप में

हिरण्यरेता को, क्रौञ्चद्वीप मे घृतपृष्ठ को, शाकद्वीप में मेधातिथि को और पुष्कर द्वीप में वीतिहोत्र को राजा बना दिया।"

महाराज परीक्षित् कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार महाराज प्रियव्रत ने जब सातद्वीप, सात समुद्रों की रचना करके उन सब का अपने सातों पुत्रों को बँटवारा कर दिया, उनके कन्धों पर राज्यभार सौंप दिया, तब फिर उन्हें वैराग्य हुआ और अब वे फिर नारदजी के उपदेश का स्मरण करने लगे।"

छप्पय

नृप सोचें शुचि सूर्य प्रदक्षिण मेरु करे नित।
होवे उतकूँ निशा दिवस होवे तबई इत॥
करूँ दिवसकूँ राति न होवे तम जग माहीं।
ज्योतिर्मय रथ चढ़े सूर्य के पाछे जाहीं॥
सात प्रदक्षिण तें भये, सात द्वीप अरु उदधि सब।
समुझाये विधि आइ जब, छोड्यो नृप संकल्प तब॥

महाराज प्रियव्रत का गृहत्याग

[३११]

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् ।
यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन् सप्त वारिधीन् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १ अ० ३९ श्लोक)

छप्पय

कौन करि सके कर्म प्रियव्रत सम नृप जगमहँ ।
कीन्हे सात समुद्र चलत रथ नभ के मगमहँ ॥
सौंपि सुतनिकूँ राज मोह ममता सब त्यागी ।
समुझे विष सम विषय बने नृपतें वैरागी ॥
सप्त द्वीप की वसुमती, तृन सम त्यागी पलक महँ ।
को तिनके सम है सकै, तजि ईश्वर या जगत महँ ॥

कितने भी बली हों, शूर हों, पराक्रमी हों, यशस्वी, तपस्वी, तेजस्वी हों, इस भूमि के संसारी भोगों का त्याग सभी को करना पड़ता है। कोई चाहे हम सदा इस पृथ्वी का भोग करते रहें, तो यह असंभव है, कभी न होने वाला मनोरथ है। जब एक दिन विवश होकर त्याग करना ही है, तो बुद्धिमान पुरुष उसे स्वयं ही त्याग देते हैं। इसलिये वर्णाश्रम धर्म में प्रचीन प्रथा थी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज प्रियव्रत ने जो कर्म किये उन्हें ईश्वर के अतिरिक्त और कर ही कौन सकता है ? देखिये जिन्होंने अपने रथ के पहिये की नेमि से सात समुद्र बना दिये ।"

कि जब पुत्र के भी पुत्र हो जाता तब बड़े बड़े सम्राट सब कुछ छोड़कर बनवासी बन जाते, वानप्रस्थ धर्म में दीक्षित हो जाते। वे ग्राम्य अन्न का अशन त्यागकर वन के कन्द मूल फलों पर ही निर्वाह करते। राजसी वसनों को त्यागकर चीर वल्कल पहनकर तपस्या में निरत हो जाते।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज! प्रियव्रत ने जब अपनी वृद्धावस्था को आगे से मुँह बाये आते हुए देखा, तब तो उनका चित्त संसारी विषयभोगों से हट गया। पुत्रों को राजा बना दिया और अब वे अपने हृदय को टटोलने लगे। उन्हें वे दिन स्मरण हो आये, जब गुरुदेव नारदजी के चरणों के समीप बैठकर वे परमार्थ चर्चा करते हुए ब्रह्मानन्द सुख का निरन्तर अनुभव करते थे। कैसे वे प्यारे दिन थे।। यह दृश्य प्रपञ्च आँखों के सामने रहने पर भी नहीं दीखता। न कोई चिन्ता न शोक, सर्वेश्वर के ध्यान में निमग्न होकर समाधि सुख में निमग्न बने रहते थे। जब से उस स्थिति को छोड़कर गृहस्थ बने तब से अब तक एक दिन भी उस सुख का अनुभव नहीं हुआ। ऐसी सुख शान्ति क्षण भर को भी नहीं मिली। उन दिनों की स्मृति आते ही उनका हृदय हिल गया। वे पश्चात्ताप करते हुए मन ही मन विचार करने लगे—"अरे, यह तो बड़ा बुरा हुआ। मैं विषयों के द्वारा ठगा गया। मेरी सद् असद् अवलोकन की शक्ति नष्ट हो गई। अन्धे पुरुष के समान मैं अविद्या जनित विषम विषय रूप अन्धकूप में अपने आप कूद पड़ा। अपनी स्वतन्त्रता की बुद्धि को खोकर पराधीन हो गया। सर्व समर्थ पुरुष होने पर भी वनिता का क्रीड़ा मृग बन गया। ऐसे मुग्ध मद मति गूढ़ ज्ञान से रहित मूढ़ को पुनः-पुनः धिक्कार है। मैं इस गृहस्थ रूप अन्धकूप में अधिक दिनों तक न पड़ा रहूँगा। अब शक्तिहीन बनकर संसार

खाता रहूँगा।" इतना सोचकर उन्होंने अपने पुत्र को बुलाया और अपना मनोगत संकल्प कह सुनाया। सुनकर सभी अधीर हो गये। राजमहिषी बर्हिष्मती ने जब सुना कि मेरे पतिदेव तो अब राजपाट छोड़कर वनवासी विरागी बनना चाहते हैं, तो वह भी छाया के समान उनके पीछे-पीछे हो ली। महाराज अपने पुत्रों और प्रजाजनों को रोते छोड़कर अपने समस्त भूमण्डल के राज्य को मृतक देहवत त्यागकर, हृदय में तीव्र वैराग्य धारण करके भगवान् की मधुरातिमधुर सुललित लीलाओं का चिन्तन करते हुए, अपने गुरुदेव देवर्षि नारद के बताये हुए मार्ग का पुनः अनुसरण करने लगे। प्रातः का भूला सायंकाल तक घर लौट आवे तो उसे भूला नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम का इतना अन्तराय उपस्थित होने पर भी उनके त्याग में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। वे अपने विवेक वैराग्य के द्वारा इस अथाह संसार सागर को बात की बात में तर गये।

भगवान् शुकदेव महाराज! परीक्षित से कहते हैं—"राजन्! उन सत्यव्रत महाराज प्रियव्रत के गुणों का बखान कर ही कौन सकता है। जिन्होंने अपने पुरुषार्थ से पृथ्वी के पुण्य प्रद द्वीपों का विभाग कर दिया। रथ के चक्र से समुद्रों को बना दिया। सूर्य के समान नभ में उदित होकर सूर्य को भी अपना प्रभाव जना दिया। नद, नदी, गिरि, पर्वत, वन, उपवन सभी की सीमा नियत कर दी। इतना वैभव होने पर भी अन्त में जिन्होंने पृथ्वी स्वर्ग आदि के समस्त सुखों को निरय के समान निस्सार और दुखद समझा। उनकी समानता ईश्वर के अतिरिक्त किसी सांसारिक पुरुष के साथ की ही नहीं जा सकती। उनका प्रभाव अब तक व्याप्त है, वे प्रजापतियों के भी पूज्य और मनुओं के भी माननीय थे, देवता भी जिनका आदर करते थे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा:—"भगवन्! आपने मनु

पुत्र महाराज प्रियव्रत का संक्षिप्त चरित्र तो सुनाया। अब मैं उनके पुत्रों का वंश और सुनाना चाहता हूँ।"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! प्लक्ष, शाल्मलि कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीपों के जो महाराज प्रियव्रत के पुत्र राजा हुए उन्हें तो एक प्रकार से स्वर्ग के इन्द्र के समान ही समझना चाहिये, क्योंकि जम्बू द्वीप को छोड़ शेष ६ द्वीप भी स्वर्ग कहे गये हैं इनमें मनुष्य केवल पृथ्वी के दिव्य भोग भोगने के लिये ही आते हैं। कर्म तथा पारमार्थिक साधन के लिये तो यह जम्बूद्वीप ही है। जम्बूद्वीप भी पूरा नहीं। इसमें भी ९ खण्ड हैं। ८ खंड तो स्वर्ग के समान हैं, केवल भरत खंड ही कर्म भूमि है। इसी भरत खण्ड में मनुष्य शुभ अशुभ कर्म करके स्वर्ग अथवा नरक जा सकता है तथा ज्ञानानन्तर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः विशेष विचार कर महाराज प्रियव्रत के ज्येष्ठ प्रिय पुत्र जम्बू द्वीपाधिप महाराज आग्नीध्र का वंश का ही कहूँगा। कि शेष आठ द्वीपों के राजाओं का।" महामुनि व्यासजी ने स्कन्ध के अन्त में कहा कि आप सब प्रकार महाराज प्रियव्रत के प्रथम पुत्र महाराज आग्नीध्र का ही चरित्र सुनिये। उन्होंने ही पृथ्वी और स्वर्ग के पुत्र हुए।"

इस पर [illegible] कहने लगे—"[illegible] प्रियव्रत [illegible] जम्बूद्वीप के [illegible] का [illegible] अतः [illegible] तो [illegible] [illegible] को [illegible]

इस पर महाराज ! परीक्षित ने पूछा—"भगवन् ! आजकल तो राजा लोग चाहे जितने विवाह यों ही कर लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के १६१०८ रानियाँ थीं। उनकी बात छोड़ दीजिये क्योंकि वे तो जगत के पति ईश्वर ही हैं। और भी जितने राजा हैं, विवाह के लिये तप करते तो हमने किसी को देखा नहीं, इसके विपरीत कन्या पक्ष के लोगों को तो हमने अपनी कन्या के लिये योग्य वर खोजने के निमित्त व्यग्र होते बहुत देखा है। प्राचीन काल में यही सुना जाता है, अमुक ऋषि ने विवाह के लिये इतना तप किया। अमुक राजा वहू के लिये इतने वर्ष आराधना करते रहे। कर्दम जैसे महामुनि विवाह के लिये ही हजारों वर्ष तपस्या करते रहे। प्रचेताओं के तप का भी उद्देश्य प्रजा वृद्धि पत्नि-प्राप्ति ही था। अब आप कह रहे हैं, प्रियव्रत पुत्र महाराज आग्नीध्र ने भी सत्पुत्र की प्राप्ति के लिये पितृलोक की कामना से प्रजापतियों के पति भगवान् कमल योनि की आराधना की। यह क्या बात है ?"

यह सुनकर शुकदेवजी हँस पड़े और बोले—"राजन् ! पुत्र वही कहलाता है, जो भगवत् भक्त हो, दानी तथा शूर-वीर हो। यों कुत्ता बिल्ली की भाँति हर नौवें महीने चूहे के बच्चे के समान दुबले पतले मनुष्य की आकृति के बच्चे पैदा हो गये, वे वास्तव में पुत्र नहीं। जहाँ से मूत्र निकलता है वहीं से पुत्र भी। यदि वह धार्मिक है, धर्माचरण से अपने पितरों का पुन्नामक नरक से उद्धार करता है, तब तो वह पुत्र है, नहीं तो मल मूत्र के कीड़े के समान है। योग्य पत्नी से ही योग्य पुत्र की उत्पत्ति हो सकती है। इसीलिये आर्य धर्म में विवाह के पूर्व कन्या के कुल, गोत्र, शील स्वभाव के ऊपर विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। कुलीन कन्या के साथ विवाह करने से ही सुयोग्य सन्तान होगी। इसीलिये प्राचीन काल में जो मिल

जाय उसी से विवाह नहीं कर लेते थे। दूसरी बात यह है, कि सृष्टि के आदि में स्त्रियों की बहुत कमी थी मर्त्यलोक में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की उत्पत्ति अधिक होती थी। दिव्यलोकों में अपने आप उत्पन्न होने वाली परम सुन्दरी अप्सरायें होती थीं। वे देवताओं को छोड़कर मर्त्यलोक के मनुष्यों के साथ सम्बन्ध रखने में अपना अपमान समझती थीं। इसीलिये कुलीन पुरुष या तो इस धराधाम पर उच्च कुल में उत्पन्न दोष रहित परम सुन्दरी कन्या को चाहते थे या स्वर्गादि ऊपर के लोकों में निवास करने वाली स्वर्ग की रमणियों को। स्वर्गीय रमणियों की प्राप्ति बिना घोर तपस्या के हो नहीं सकती। इसीलिये वे तपस्या करते थे। अपनी प्रिय इष्ट वस्तु की जितना ही अधिक प्रतीक्षा की जायगी, उसकी प्राप्ति में उतनी ही अधिक प्रसन्नता होगी, अतः प्रतीक्षा की वृद्धि हो इसी हेतु प्रेम भाव को बढ़ाने के निमित्त करते हैं।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"तब भगवन्! उन्होंने ब्रह्माजी का ही आराधन क्यों किया? देवाधिदेव भगवान् विष्णु की आराधन करते।"

यह सुनकर शुकदेवजी बोले—"राजन्! ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब उन्हीं हरि के रूप हैं। देवता भी उनके ही रूप हैं। जैसे जल कहीं भी बरसे हिर फिर कर समुद्र में ही जायगा। इसी प्रकार किसी देव को नमस्कार करो, पहुँचेगा वह श्रीमन्नारायण के ही निकट। फिर भी पृथक्-पृथक् कामनाओं के लिये पृथक्-पृथक् देवताओं की आराधना की जाती है। जैसे तेज की इच्छा वालों को सूर्य की उपासना करनी चाहिये, धन की इच्छा वालों को वसुओं की, स्वर्ग की कामना वालों को देवों की, राज्य की कामना वालों को विश्वदेवों की, प्रतिष्ठा की इच्छा वालों को पृथ्वी, रूप की इच्छा वालों को गन्धर्वों की उपासना करनी

चाहिये। इसी प्रकार प्रजा की कामना करने वालों को प्रजापति ब्रह्मा का आराधन करना चाहिये। इसीलिये महाराज आग्नीध्र ने सुर सुन्दरियों के क्रीड़ा स्थान मन्दराचल पर्वत की कन्दरा में जाकर, पूजा की विविध सामग्रियों को जुटाकर एकाग्रचित्त तथा तपोनिष्ठ होकर लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा की आराधना करने लगे।

उनकी घोर तपस्या से ब्रह्माजी का सिंहासन हिल गया, अतः वे महाराज अग्नीध्र की मनोभिलाषा को पूर्ण करने की बात सोचने लगे। उनकी सभा में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी पूर्वचित्ति नामक अप्सरा ताल स्वर के सहित गान कर रही थी। उसके अनिन्द्य सौन्दर्य को निहार कर भगवान् कमलासन अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे महाराज आग्नीध्र के अनुरूप अनुभव करने लगे।

छप्पय

राजपाटकूँ त्यागि चले राजा वन माहीं।
रानी वर्हिष्मती चली छाया की नाईं॥
सुत आग्नीध्र महान् भये भूपति जम्बूपति।
पाले पुत्र समान प्रजाकूँ नित प्रति नरपति॥
सुत हित सुर सुन्दरि सदन, मन्दरगिरि की गुहा महँ।
तप करि पूजे प्रजापति, राजत्यागि नृप रहहिँ तह॥

प्रियव्रत का पुत्र आग्नीध्र और पूर्वचित्त अप्सरा

[३१२]

का त्वं चिकिर्षसि च किं मुनिवर्य शैले
मायासि कापि भगवत्परदेवतायाः ।
त्वज्ये विभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किं वा मृगान् मृगयसे विपिने प्रमत्तान् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० २ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

विधि नृप मन की बात जानि वर वधू पठाई ।
पूर्वचित्ति आदेश पाइ भूपति ढिँग आई ॥
क्रीड़ा कीड़ा सहित मधुर चितवन मुसकावत ।
यौवन के मद भरी रूप रस सा बरसावत ॥
भूप निहारी अप्सरा, खोयो मन मोहित भये ।
रूपासवकूँ पान करि, मदमाते से है गये ॥

* श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज आग्नीध्र के निकट पूर्वचित्त आई तो वे पूछने लगे—हे मुनीश्वरी तुम कौन हो ? इस शैल पर तुम्हारी क्या करने की इच्छा है ? क्या तुम पर पुरुष भगवान की कोई माया तो नहीं हो ? हे सुहृद ! तुमने बिना प्रत्यञ्चा के ये दो धनुष क्यों धारण कर रखे हैं ? क्या तुम इस अरण्य में प्रमत्त मृगों को मृगया के निमित्त खोजती फिरती हो ! '

रूप का आकर्षण मनुष्य की स्वाभविक चेतना को नष्ट कर देता है। कितना भी ज्ञानी ध्यानी विवेकी पुरुष क्यों न हो, जहाँ उसे रूप की गन्ध आ गई, जहाँ उसने सौन्दर्य की मादक सुधा का पान किया, वहीं वह मतवाला बन जाता है। चराचर विश्व में उसे अपनी प्रिय वस्तु का ही ध्यान होता है। भगवान् न करें कि किसी की किसी पर अत्यधिक आसक्ति हो, यदि प्रारब्धवश किसी पर आसक्ति हो ही जाय, तो वह उसे प्राप्त हो जानी चाहिये। न प्राप्त होने पर प्राणों की बाजी लगानी पड़ती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज प्रियव्रत तो अच्युत के भक्त थे और उनके पुत्र अप्सरा के भक्त हो गये। जब वे मन्दराचल की गुफा में सन्तान की कामना से कमलासन की आराधना में निमग्न थे, तभी उन्हें वहाँ वसन्त की शोभा दिखाई दी। सम्पूर्ण पर्वत सजा बजा हँसता-सा उन्हें प्रतीत हुआ। उनके आश्रम के समीप सघन वृक्षों की अनियमित ऊँची-ऊँची अनेकों पंक्तियाँ दिखाई देती थीं। उन फूले फले वृक्षों से सुवर्ण के समान कान्ति वाली लतायें लिपटी हुई थीं मानो वे स्नेह भरित हृदय से अपने प्रियतम का गाढ़ालिङ्गन कर रही हों। उन लताओं के ऊपर शुक, सारिका, पारावत, मयूर आदि कलरव करते हुए चहक रहे थे। वे अपनी प्रियाओं के साथ किलोल कर रहे थे, एक दूसरे के शरीर में चोंचें मारकर प्रेमकलह में अपने आपे को भूले हुए थे। समीप के सरोवर में भाँति भाँति के कमल खिल रहे थे। उनमें बैठे हुए हंस, सारस, जलकुक्कुट, कारण्डव आदि जलचर पक्षी मधुर वाणियों से बोल रहे थे। इसके कारण सरोवर ऐसे प्रतीत होते थे कि वे अपने कमलरूपी मुख को उठाकर शुभ्र दाँतों को दिखाकर, ठहाका मारकर हँस रहे हों। वनश्री सजीव होकर उस पर्वत प्रान्त में इठला रही थी, प्रकृति स्तब्ध और शान्त-सी प्रतीत होती थी। ऐसे ही सुखद समय में

यौवन मद से मदमाती, कटि के भार से इठलाती वह पूर्वचित्ति अप्सरा आश्रम के निकटवर्ती उपवन में इधर से उधर विचरने लगी। वह अपनी सुललित गति से, पादविन्यास से, विलास से, कंकण, किंकिणी और नूपुरों की सुमधुर ध्वनि से छम्म छम्म करती हुई राजकुमार आग्नीध्र के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगी।

विजन वन में मधुर-मधुर नूपुर ध्वनि के श्रवण से राजकुमार का समाहित चित्त चञ्चल हो उठा। समाधियोग द्वारा मूँदे हुए अपने कमलनयनों को कुछ कुछ खोलकर उन्होंने उस फुदकती हुई हरिनी के समान देव वधूटी को सम्मुख देखा। वह भ्रमरी के समान उड़ती-सी एक फूल से दूसरे फूल के समीप जाती और उसका रसपान करके उसका परित्याग कर देती। देव, दानव और मनुष्यों के मन और नयनों को आह्लादित कर देने वाली उसकी गति थी, वह बाल सुलभ चञ्चलता से चञ्चल सी हुई क्रीड़ा कर रही थी, उसकी चितवन में लज्जा और विनय का सम्मिश्रण था, उसकी मृदु मधुर स्वरलहरी वीणा की सुमधुर ध्वनि को भी विनिन्मित करने वाली थी, उसकी अङ्ग प्रत्यङ्गों की बनावट सुगठित और सुन्दर थी सभी अङ्ग कोमल चढ़ाव उतार के तथा जैसे होने चाहिये वैसे ही मनोहर थे, वह काम की क्रीड़ा स्थली के समान कामना प्रिय पुरुषों को अपनी ओर हठात् आकर्षित करने वाली थी।

वह मर्त्यलोक की मानवी नहीं थी, वह ब्रह्मलोक की अमृत-पान करने वाली सुर ललना सुवर्ण की लड़ी के समान, पवित्र और पुण्यात्माओं के ही उपभोग की वस्तु थी। वह अपने आपही हँस जाती, हँसने से उसकी अमृतमयी मादक गन्ध दशों दिशाओं में फैल जाती, उस मद की सुन्दर सुरभि से आकर्षित होकर भ्रमरगण कमल के भ्रम से उसके मुख-कमल को चारों ओर से

घेर लेते। उन भ्रमरों को अपने कर कमलों से हटाती क्रीड़ा का भान दिखाती, पादपद्मों को शीघ्रता के साथ उठाती, वक्षःस्थल के भार को हिलाती, सर्पिणी के समान लम्बी लटकती हुई वेणी को हिलाती, कटि में बँधी क्षुद्र घण्टिकाओं वाली कर्धनी को खन-खनाती इधर से उधर नर्तकी के समान नाच रही थी।

अब तो कुमार सब ध्यान धारणा भूल गये। जो चित्त प्रजा-पति के ध्यान में एकाग्र था वह भावी प्रजावती सती के ध्यान में निमग्न हो गया। वे उसके रूपामृत को पान करके पागलों के समान संज्ञाशून्य बन गये गये। जड़ पुरुषों के समान चेतना को खो कर बिना सिर पैर की बातें करने लगे। उस सुर सुन्दरी को लक्ष्य करके वे बोले—"हे तपस्विनी! तुम कौन हो? यहाँ तुम किस प्रयोजन से आई हो? ओहो! मालूम पड़ता है, तुम परात-पर प्रभु की माया हो, तुमने ही इस चराचर विश्व को अपने वश में करके मोहित कर रखा है। इसीलिए तो मैं तुम्हारे दर्शन मात्र से ही मोहित हो गया। तुम्हें देखकर अपने आपे को भूल गया। देवि! तुम तपस्वी या तपस्विनी, मैं तो समझता हूँ, तुम कोई मृगया प्रेमी प्रबल पराक्रमी शूरवीर हो।

उसने कहा—"आप मुझे जीवों का वध करने वाला वधिक क्यों बता रहे हैं जी?"

व्यग्रता के साथ आमीध्र बोले—"हे शूरवीर! आप क्षमा करें, मैंने आपका अपमान करने के निमित्त ये शब्द नहीं कहे। आपकी जो ये कुटील भृकुटियाँ हैं, वे मुझे बिना प्रत्यञ्चा के धनुष के समान प्रतीत हुईं। कमल दल के समान काली बरौनी वाले ही जिनमें पङ्ख हैं ऐसे तीखे दृष्टि वाले विशाल नयन ही मुझे दो बाण से लगे। मुझे ऐसा लगा इस भवाटवी में मृग रूप जो विषयासक्त पुरुष हैं, उन्हें ही मारने के लिये तुम आये हो? ओ हो! मैं भूल गया! यह तो तपोवन है, यहाँ मृगयाप्रिय

वधिकों का क्या काम ? मालूम होता है, तुम कोई तपस्वी हो ?"

यह सुनकर राजा परीक्षित् ने कहा—"भगवन् ! पूर्वचित्ति तो स्त्री थी। महाराज आग्नीध्र उन्हें पुरुष रूप में क्यों सम्बोधित करते हैं ?"

इतना सुनते ही शुकदेवजी हँस पड़े और बोले—"राजन् ! जब मनुष्य पगला हो जाता है, विवेकहीन बन जाता है, तो उसे सूझता ही नहीं, कि यह स्त्री है या पुरुष। पागलपन का एक बहक है। कभी आपने भाँग पीयी हो तो अनुभव हो भी सकता है। किसे भाँग पीने का अभ्यास नहीं, वह यदि गहरा चकाचक भाँग पीले, तो उसे यह पृथ्वी घूमती-सी दिखाई देती है। हँसेगा तो हँसता ही रहेगा। रोवेगा तो रोता ही रहेगा। जिसकी ओर देखेगा देखता ही रहेगा। स्त्री को पुरुष कहेगा, पुरुष को स्त्री। अभी यह कह रहा है, फिर चित्त दूसरी ओर चला गया, तो उसी को बकने लगा। उसी प्रकार महाराज अब तक मृगया प्रिय बहेलिया बता रहे थे अब कहने लगे—मालूम होता है, आप तो कोई कुलपति, वेदपाठी ऋषि हैं देखिये आपके चारों ओर जो ये काले-काले जीव गुञ्जार कर रहे हैं, ये आपके शिष्य है, वेदपाठ कर रहे हैं। यद्यपि मैं इनके गान का अर्थ नहीं समझ सकता हूँ, फिर भी भगवन् ! ऐसा प्रतीत होता है कि ये अव्यक्त रहस्यमय सामवेद का स्वर सहित गान कर रहे हैं। उस गान के द्वारा ही ऋषि प्रणीत अपनी-अपनी शाखाओं के सेवन से ईश्वर की आराधना-सी कर रहे हैं।"

कुछ काल सोचकर कहने लगे—"मालूम होता है आपके तैत्तरेपि भी शाखावाले शिष्य पैरों मे पड़ पाठ कर रहे हैं। तीतर के समान छम्म छम्म ध्वनि तो उनकी सुन पडती है,किन्तु उनका रूप दिखाई नहीं देता। निश्चय ही आप तपस्वी तेजस्वी ऋषि हैं किन्तु मुझे ऐसा लगता है, यह जो आपके नितम्बों पर कदम्ब

किञ्जल्क, के समान पीली परम कान्तिमयी आभा है, इससे आप का तप तेज तो प्रकट होता है, किन्तु वल्कल वस्त्रों के न रहने से आप नग्न से प्रतीत होते हैं। आपकी कटि से यह रुनझुन शब्द किसका हो रहा है।

यह सुनकर पूर्वचित्ति ने कहा—"राजन्! मैं न ऋषि हूँ न तपस्वी मैं तो साधारण जीव हूँ।"

चौंककर महाराज आमीध बोले—"अरे आप कैसे जन्तु हैं। पशुओं के तो सिर में सींग होते हैं आपके वक्षस्थल में शृङ्ग है। इनमें लाल-लाल कीचड़ लगी है। इस कीचड़ से मेरा सम्पूर्ण आश्रम सुगन्धित हो उठा है। मेरा चित्त इस गन्ध से चञ्चल हो उठा है। आपके अत्यन्त मनोहर मधुर कमल मुख से अद्भुत हाव-भाव और कटाक्षों के कारण मैं विह्वल और विकल-सा बना हुआ हूँ। इन अनुपम अवयवों के अवलोकन से अपने आपसे बाहर हो गया हूँ। आपके अधर सुधारस पान के लिये अधीर-सा बन रहा हूँ।"

इस पर वह अप्सरा बोली—"राजन्! मुझे आप देवलोक की एक वाराङ्गना समझें। मैं न पुरुष हूँ, न ऋषि मुनि न मैं कोई पूँछ सींग वाली जानवरी ही हूँ।"

राजा चौंककर बोले- "ओ अब समझा। तुम मानवी नहीं देवी हो, तुम भौतिक पदार्थों का भोजन न करके दिव्यामृत का पान करने वाली वाराङ्गना हो। तुम भगवान विष्णु की कमनीय कला हो। आपके कानों में मन मोहक मकराकृत हिलते हुए कुण्डल इस बात की साक्षी दे रहे हैं, कि वे पार्थिव जन्तु नहीं, अमर लोक के हैं, क्योंकि उनके कभी पलक नहीं गिरते।

यह सुनकर वह पूर्वचित्ति अप्सरा हँस पड़ी और हँसते-हँसते बोली—"महाराज! यह आप क्या काव्य-सा कर रहे हैं? कैसी बेतुकी उपमायें दे रहे हैं?

शुभ्रदन्तावली और चमकती हुई आँखों को देखकर राजा आग्नीध्र कहने लगे—"अहा! तुम्हारा मुख क्या है सुन्दर स्वच्छ सलिल वाला सकल शोभा युक्त सरोवर है, उसमें भयभीत बने ये कटीले रसीले ये जो दो चञ्चल नेत्र हैं वे क्रीडा करती हुई मछलियों के समान हैं। जिस प्रकार चारो ओर बैठी हुई हंसों की पंक्तियाँ सरोवर की शोभा को बढाती हैं, उसी प्रकार से तुम्हारी दन्तावली तुम्हारे मुख की शोभा को सतगुनी कर रही है। ये जो तुम्हारी काली काली घुँघराली अलकावली है वह कमल के ऊपर बैठी भ्रमरावली के समान शोभायमान हो रही है। वायु तुम्हारे साथ ऐसा अशिष्ट व्यवहार कर रहा है फिर भी तुम कुपित नहीं होतीं उसे दण्ड नहीं देती। इस धूर्त का साहस तो देखो, इसने तुम्हारे जटा-जूट को खोलकर बिखेर दिया है। रेशम के समान काले कोमल कचों को वह हिला रहा है। बार बार तुम्हारे क्षीण कटि वस्त्र को हटा रहा है तुम देखकर भी इसकी उपेक्षा क्यों कर रही हो।"

उस अप्सरा ने हँसकर कहा—"राजन्! मुझे ब्रह्माजी ने भेजा है। मैं उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके इस तपोवन में तुम्हारे साथ रहने के लिये आई हूँ।"

राजा इतना सुनते ही फिर बहक गये। फिर अण्ड-बण्ड कहने लगे—"अच्छा आप तपस्या करने आये हैं? तब तो आप भी कोई बडे भारी तपोधन हैं। पहिले भी आपने घोर तप किया होगा, तभी तो ऐसा त्रैलोक्य मोहक अनवद्य सौन्दर्य प्राप्त किया है, जिस तपस्या से आपके ऐसे अनुपम रूप की उपलब्धि हुई है, उस तप की दीक्षा मुझे भी दे दो। मैं भी वैसा ही तप करके तुम्हारे जैसे रूप को प्राप्त करूँगा। मित्रवर मुझ एकाकी दीन-हीन साधन विहीन के साथ रहकर मेरे साहस को बढाओ, मुझे अपना मन्त्र दीक्षित् शिष्य बनाओ। हम तुम दोनों मिलकर ही

तपस्या करेंगे और चैन की वंशी बजावेंगे। जब हम तुम एक मन एक प्राण होकर उन प्रजापतियों के पति लोकनाथ कमलासन की उपासना करेंगे, तो ये अवश्य ही हमें इष्ट वस्तु की प्राप्ति करावेंगे, हमें मनोवांछित फल देंगे।"

इस पर अप्सरा बोली—"राजन्! आप प्रकृतिस्थ हूजिये। मोह का परित्याग कीजिये। आपकी आराधना सफल हो गई है, लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा आप पर सन्तुष्ट हो गये हैं, उन्होंने स्वयं ही मुझे यहाँ आपकी दासी बनकर रहने को भेजा है।"

राजा इतना सुनते ही खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"स्वागतम्! स्वागतम्! अच्छा, भगवान् चतुरानन ने मेरे ऊपर इतनी कृपा की। तुम्हें मेरे साथ रहने को भेजा है, तब तो हे मेरे जीवन सर्वस्वी, मैं तुम्हें किसी भी दशा में अब नहीं छोड़ सकता। तुम मेरे साथ समय बिताओ, विरह-व्यथा व्यथित इस विरही के तन की तपन बुझाओ, मेरा पाणिग्रहण करके मुझे अपनाओ, अब और अधिक न रुलाओ। मुझे अपने चरणों का किंकर बनाओ। मेरे ये चञ्चल नेत्र तुम्हारे अनूप रूप के दर्शन से तृप्त नहीं होते, तुम्हारे तन में लगी दृष्टि अब अन्यत्र कहीं जाने से स्पष्ट निषेध कर रही है, वह तुम्हारे विषमवपु में एकीभूत-सी हो गई है। चित्त ने अब और सभी का चिन्तन करना छोड़ दिया है, वह तुम्हारे ही अंगों में फँस-सा गया है। हे सुन्दरी! सबसे सुन्दर तो मुझे तुम्हारे ये शृङ्ग लगते हैं, इनमें लगी कीचड़ की गन्ध से मेरा निर्बल मन मोटे से खा रहा है। हे शृङ्गी! मैंने अपने आपको तुम्हारे चरणों में सौंप दिया है, तुम चाहे अपनाओ या ठुकराओ। यहाँ रखो चाहे कहीं अन्यत्र ले चलो। मैं तो सर्वथा तुम्हारे अधीन हूँ, तुम्हारी पदधूलि का इच्छुक हूँ मैं तुम्हारी दासियों का दास हूँ, तुम अपनी दासियों को भी साथ ले चलो।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार अनेक प्रकार की अनुनय विनय करके राजा ने उस पूर्वचित्ति अप्सरा को अपने प्रेम पाश में कसकर बाँध लिया। उसे प्रसन्न करने को कामियों की भाँति अत्यधिक दीनता प्रकट करते हुए आकाश पाताल के कुलावे एक करने लगे।"

परीक्षित् जी ने कुछ आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए कहा—"भगवन्! ऐसा भी क्या मोह? राजा तो सर्वथा सिड़ी पागल के समान अपने आपको भूल गये। ऐसी अण्ड-बण्ड-सण्ड बातें करने लगे। इसमें हमे तो कुछ अत्युक्ति-सी प्रतीत हुई।"

इस पर हँसते हुए भगवान् शुक बोले—"राजन्! जिनके पैरों में बिवाई नहीं फटती वे पराई पीर का अनुभव कर ही नहीं सकते। जिनके हृदय पर कामिनी के कटाक्षरूप बाण, भृकुटि रूप चाप पर चढ़ाकर उसे ही लक्ष्य बनाकर छोड़े गये हों और उस बाण से व्यथित होकर जो सज्ञा शून्य बन गये हों, उस आतुरावस्था मे जो व्यथित हृदय प्रलाप करता है, उसका मर्म सब नहीं समझ सकते। यह अनुभव गम्य विषय है, भगवान् न करें किसी के ऊपर ऐसी विपत्ति पड़े। प्रतीत होता है, आप कभी इस चक्कर में फँसे नहीं। तभी अनजानो की भाँति ऐसी भोली-भाली बातें कर रहे हैं।"

लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए उत्तरातनय बोले—"नहीं भगवन्! यह मेरा अभिप्राय नहीं, कि मनुष्य मोहवश बहकते नहीं। फिर भी इतने बड़े तेजस्वी तपस्वी राजा की ऐसी संज्ञा शून्यता कुछ अनुपयुक्त-सी प्रतीत होती है।"

यह सुनकर हँसकर शुकदेवजी बोले—"महाराज! सच्ची बात तो यह है, राजा ने कोई एक बात कही होगी। कवियों ने उसमें नमक मिरच मिलाकर उसे चटपटी बना दिया। इन का यही धन्धा है। इनकी दृष्टि ही दूसरी है।"

विषय को दूसरी दृष्टि से देखता है। यह बैठे ठाले बात बनाने वाले कवि उसमें सौन्दर्य की खोज करते हैं, रस का अन्वेषण करते हैं, उपमायें खोजते हैं। काव्य के माने ही यह हैं, जो रसात्मक हो, उसके सभी वर्ण सरस हों। नवों रसों का सञ्चार हो। कवियों से सभी ने हार मानी है। जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि। ये सब कवियों की सुखद कल्पना है, भाव जगत ही अनुपम हैं। राजन्! सारांश इतना ही हुआ कि महाराज आग्नीध्र उस पूर्वाचित्ति अप्सरा पर विमुग्ध हो गये।"

महाराज ने पूछा—"हाँ, तो महाराज! फिर क्या हुआ?"

इस पर शुकदेवजी बोले—"इस बात को अगले अध्याय में बताऊँगा। इति श्रीभागवती कथा मद्धे आग्नीध्र विवाह प्रस्ताव नामक अध्याय समाप्त श्रीहरये नमः श्री राधे - श्री राधे बिना वह नर आधे।"

छप्पय

राजा बोले—सखे! परस्पर महँ अपनावें।
दोनों हिय को मार हार पहिने पहिनावें॥
मिलि जुलि खेलें खेल प्रान को दाव लगावें।
द्वै मन एक मिलाय अततें अङ्ग सटावें॥
अब अपनाओ अधम कूँ, अनुचर अपनो मानि कें।
प्रेम सुधा रस प्याय कें, ब्याओ जड़मति जानि कें॥

आग्नीध्र और पूर्वचित्तिका विवाह तथा पुत्रों की प्राप्ति

(३१३)

न त्वां त्यजामि दयित द्विजदेवदत्तम्
यस्मिन्मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम् ।
मा चारुभृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रत ते
चित्त यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० २ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

कहि कहि मीठे बैन बढ़ाई प्रेम लगाई ।
विधि की भेजी बधू भूप विधिवत अपनाई ॥
नृपति भामिनी संग विषयसुख भोगें निशिदिन ।
रहि न सकें पल एक अप्सरा पूर्वचित्ति बिन ॥
भये यशस्वी पुत्र नौ, भूप परम प्रमुदित भये ।
ता प्रमदा के सङ्ग महँ, सहस बरस दिन सम गये ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन ! पूर्वचित्ति अप्सरा पर विमुग्ध हुए महाराज आग्नीध्र उससे कहने लगे—'हे चारु भृगो वाली ! ब्रह्माजी के द्वारा भेजी हुई अत्यन्त प्रियतमा दयिता को मैं अब छोड़ नहीं सकता, क्योंकि तुम में फँसे हुए मेरे नेत्र और चित्त कहीं अन्यत्र जाने में असमर्थ हैं । अतः अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ अपने इस अनुचर को ले चलो और ये तुम्हारी सुन्दरी सखियाँ भी साथ ही चलें ।"

जिन्होंने दत्तचित्त होकर अखिलेश की आराधना की है। अपनी इच्छा पूर्ति के लिये जिन्होंने क्षुद्र मरण शील मनुष्यों का आश्रय ग्रहण न करके अमरेश्वर की शरण गही है उनकी ऐसी कौन-सी इच्छा हो सकती है, जो पूरी न हो। समस्त विभव के स्वामी को प्रसन्न करके फिर दुर्लभ अप्राप्य वस्तु रह ही कौन-सी जाती है। कौन-सा ऐसा मनोरथ है जो मनोरथ के उद्गम स्थान में पहुँच कर भी पूरा न हो। जीव को भरोसा नहीं, विश्वास नहीं। यह अपने ही क्षुद्र हृदय से क्षुद्र जीवों के सम्मुख क्षुद्र-क्षुद्र मनोरथों को रखता है और विफल होता है। निष्काम हो या सकाम एक कामना हो या अनेक कामनायें, सभी की पूर्ति का एकमात्र आश्रय है प्रभु के पुनीत पादपद्म जिन्होंने उनका अवलम्बन लिया उनकी सभी इच्छायें एक साथ पूरी हो गईं। इच्छायें ही पूरी नहीं हुईं। जहाँ से इच्छायें उठती हैं, वह भी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज आग्नीध्र ने इस प्रकार उस पूर्वचित्ति के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया तो वह ललना मुकुटमणि देवाङ्गना उन राजर्षि के शील स्वभाव विद्या बुद्धि, वय, वपु, श्रीकान्ती, उदारता, भावुकता आदि गुणों से परम सन्तुष्ट होकर उनकी पत्नी बन गई। उनके साथ सहधर्मिणी बनकर ब्रह्मलोक के सुखों को भूल गई और उन जम्बू द्वीपाधिपति के साथ सहस्रों वर्षों तक स्वर्गीय सुखों को भोगती रही।"

इस पर राजा ने पूछा—"प्रभो इतने बड़े कुलीन धर्मात्मा महाराज आग्नीध्र ने अप्सरा के साथ विवाह क्यों किया। उन्होंने किसी कुमारी कन्या का पाणिग्रहण क्यों नहीं किया? सभी स्वर्गीय पुरुषों की उपभोग्य देवाङ्गना को उन्होंने अपनी धर्मपत्नी क्यों बनाया?"

इस पर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! यह वस्तु पवित्र है, यह अपवित्र है, इसमें शास्त्र ही प्रमाण है। यह बात है, कि द्विजों की परोपभोग्या ललना समान्यतया धर्मपत्नी नहीं बन सकती। किन्तु यह नियम भूलोक की ललना के लिये ही लागू है। सुर-सुन्दरी तो सर्वदा पवित्र मानी गयी हैं। देखिये, वैसे तो एक मुँह से लगाई वस्तु दूसरे के लिये त्याज्य है किन्तु शङ्ख को सभी बजाते हैं। वह हड्डी का होता है। पवित्र माना गया है। सुवर्ण की मुद्रा चाहे चांडाल के पास हो या द्विज के, पवित्र ही मानी जाती हैं। बछड़े के जूठे किये दूध को सभी पीते हैं। मधुमक्खी के मुँह से उगले शहद को अमृत के समान सभी खाते हैं, देवताओं की पूजा के काम में लाते हैं। भौंराओं के द्वारा उच्छिष्ट किये हुए फूलों को देवताओं पर चढ़ाते हैं। महाराज पुरूरवा ने उर्वशी के संग विवाह किया जिससे चन्द्रवंश बढ़ा। स्वर्गीय देवलोक की अप्सरायें तो सुवर्ण और शङ्ख के समान पवित्र होती हैं फिर पूर्वाचित्त तो सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मलोक की रमणी थी। पितामह ब्रह्माजी की आज्ञा से उनकी भेजी हुई ही आई थी, अतः उसके साथ पाणिग्रहण करना सर्वथा शास्त्रीय विधि से विहित ही था। यदि मर्त्यलोक की परभोग्या ललनासे द्विजाति विवाह करें तो उसकी सन्तानों द्वारा दिया हुआ पिंड और जल पितरों को प्राप्त नहीं होता। वह धार्मिक संतान न होकर वैषयिक सन्तान मानी जाती है।"

यह सुनकर राजा ने पूछा—"हाँ, तो भगवन्! महाराज आग्नीध्र के पूर्वचित्ति से कितनी संतानें हुईं?" इस पर शुकदेव जी कहने लगे—"महाराज! जब पूर्वचित्ति के साथ आनन्द विहार करते हुए कई वर्ष व्यतीत हो गये तब उसके गर्भ से क्रमशः बड़े पराक्रमी शूरवीर दृढ़ प्रतिज्ञ और परम यशस्वी ९ पुत्र उत्पन्न

हुए उनके नाम नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, भद्राश्व और केतुमाल थे।"

प्रतीत होता है तब ज्येष्ठ को ही सम्पूर्ण राज्य दे देने की प्रथा प्रचलित नहीं हुई थी, इसीलिये राजा आग्नीध्र ने इस जम्बूद्वीप के ९ भाग कर दिये और उन ९ खण्डों में अपने नवों पुत्रों को राजा बना दिया। इसलिये जम्बूद्वीप के नौ खण्ड हो गये। ये सभी खण्ड आग्नीध्र के ९ पुत्रों के ही नाम से विख्यात हुए। जैसे नाभि खण्ड, किंपुरुष खण्ड, हरिवर्ष खण्ड, इलावृत खण्ड, रम्यमक खण्ड, हिरण्यमय खण्ड, भद्राश्व खण्ड, और केतुमाल खण्ड जिस खण्ड में हम बैठे हैं वह अजनाभि वर्ष या खण्ड है। जब नाभि के पौत्र भरत हुए तब से उसका नाम भरत खण्ड या भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार उस अप्सरा ने क्रमशः ९ पुत्रों को पैदा करके एक दिन अकस्मात् ब्रह्मलोक को चली गयी। वह तो ब्रह्माजी की आज्ञा से आग्नीध्र की वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाने के निमित्त आई थी। उसके शरीर से न कभी धराधाम की सुन्दरियों के समान पसीना ही निकलता था न किसी प्रकार की दुर्गंधि ही आती थी, पृथ्वी पर रहकर भी वह अन्नादिक नहीं खाती थी, केवल घृत का पान करती थी। उसके जो पुत्र हुए वे सब उसी के अमृत पान करने के कारण मातृसंबंध से ही सुदृढ़ शरीर वाले तथा बली थे। उन्हें बड़े होने में देर नहीं लगी। वे पिता के दिये हुए अपने-अपने भूखण्डों में सुखपूर्वक राज्य भोगने लगे।

इधर जब पूर्वचित्ति राजा को छोड़कर ब्रह्मलोक चली गई, तो राजा उसके विरह में बड़े अधीर हुए, वे अभी तक भोगों से अतृप्त ही बने हुए थे। पूर्वचित्ति के सौन्दर्य में उनका चित्त ऐसा फँस गया, कि उसके बिना उन्हें सम्पूर्ण संसार सूना-सूना-सा ही प्रतीत होता था। उनके सभी वैदिक कर्म सकाम होते। वे

रात्रि दिन उस अप्सरा का ही चिन्तन करते रहते थे। मरने पर भी वे उसे भूले नहीं। उसी का चिन्तन करते-करते उन्होंने अपने इस पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग किया। अन्त में वे अप्सरा की भावना करते-करते ही मरे थे, अतः उन्हें उसी अप्सरा के दिव्यलोक की प्राप्ति हुई। वे सकाम कर्म करने वाले लोकों में गये।

पिता के परलोक गमन के अनन्तर सभी भाई बड़े स्नेह से रहते हुए धर्मपूर्वक जम्बूद्वीप की प्रजा का पालन करने लगे।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित ने कहा—"प्रभो! मैं महाराज आग्नीध के पुत्रों का भी वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। कृपा करके उस राजर्षि के वंश का वर्णन मेरे सामने करें।"

राजा की जिज्ञासा को देखकर श्रीशुकदेवजी कहने लगे—"राजन्! महाराज आग्नीध्र के सभी पुत्र बड़े तेजस्वी हुए। उन सबमें ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ महाराज नाभि हुए। इनका चरित्र बड़ा ही सुन्दर है। इन्हीं के यहाँ स्वयं साक्षात् भगवान् नररूप में अवतरित हुए। जिनके यश सौरभ से यह जगत् अभी तक व्याप्त है। अब मैं सबसे पहिले महाराज नाभि के चरित्र को सुनाता हूँ। आप इसे अत्यन्त समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

नाभि और किंपुरुष इलावृत रम्यक कुरु-सुत।
केतुमाल भद्राश्व हिरण्मय भये धर्मयुत॥
वर्षाधिप हरिवर्ष भये नौ परम यशस्वी।
नौ खण्डनि के भूप मनस्वी अति तेजस्वी॥
पूर्वचित्ति तब छोंड़ि सुत, तुरत गई निज लोकमहँ।
राजा अति व्याकुल भये, ग्वा प्रमदा के ...

—:—

महाराज नाभि का चरित्र

[३१४]

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः ।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥*

(श्रीमा० ५ स्क० ४ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

काम्य कर्म करि नृपति पुण्य परलोक पधारे ।
नौऊ वर्षाधीश भये अति प्रजहिँ पियारे ॥
मेरु सुता नौ हती विवाही तिनके संग महँ ।
मेरुदेवि पति नाभि पाइ प्रमुदित अति मन महँ ॥
पुत्र हेतु मख नाभिने, रच्यो विष्णु दरशन दये ।
सहसा प्रभु दरसन भये, सब सम्भ्रम महँ परि गये ॥

शास्त्रकारों ने काम की बड़ी निन्दा की है, किन्तु शास्त्रविहित काम, धर्म का अविरोधी काम शास्त्र सम्मत है। व्यासजी बार-बार हाथ उठाकर चिल्लाकर कहते हैं—"अरे भैया, तुम मेरी बात सुनते क्यों नहीं। मैं तुमसे कामोपभोग के लिये मना नहीं करता, मैं यह भी नहीं कहता कि तुम पैसा पास में न रखकर बाबाजी बन जाओ। तुम काम अर्थ उपार्जन करो किन्तु धर्मपूर्वक।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् महाराज नाभि के समान ब्राह्मण भक्त कौन हो सकता है। जिनके द्वारा मङ्गल द्रव्यों से पूजित हुए ब्राह्मणों ने उन्हें यज्ञ में साक्षात् यज्ञेश श्रीविष्णु के दर्शन करा दिये।"

धर्म से प्राप्त अर्थ और काम स्वर्ग के हेतु हैं, धर्म से रहित ये दोनों नरक ले जाने वाले हैं। स्त्री कामना हो, तो विवाह करो, धर्मपूर्वक उसे अपनी पत्नी सहधर्मिणी बनाओ। पुत्र की कामना हो तो वेद विधि से भगवान् की उपासना करो, उनसे पुत्र के लिये प्रार्थना करो। तुम्हें अर्थ का अभाव है, उसके बिना गृहस्थी का काम नहीं चलता तो सम्पूर्ण धनों के अधीश्वर श्रीहरि से माँगो। उनकी शरण में जाने वालों के लिये कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं। उनके लिये सभी सुलभ हो जाते हैं।

महामुनि शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! परलोक में महाराज आग्नीध्र ने पुनः अपनी प्यारी पत्नी पूर्वचित्ति को ही प्राप्त किया। जिस लोक में अपने-अपने सुकृतों के कारण पितृगण प्रमुगण होकर निवास करते हैं उसी को महाराज आग्नीध्र ने जीत लिया। पिता के परलोक पधारने के अनन्तर नौओं भाई राजा तो गये। किन्तु रानी के बिना सबका आधा सिंहासन सूना था। पुरुष अकेला पुरुष नहीं है। स्त्री को मिलाकर वह पूरा पुरुष कहलाता है। इसीलिये पुरुष शब्द सभी के लिये व्यवहृत होता है। पत्नी को भी इसलिये शास्त्रकार "अर्धाङ्गिनी" कहते हैं। ब्रह्माजी ने भी सृष्टि के आदि में अपने एक ही शरीर के दो भाग कर दिये। बायें भाग से स्त्री और दायें से पुरुष बने। इसलिये स्त्री को देवता और राजा सदा वामाङ्ग में बिठाये रहते हैं।

महाराज आग्नीध्र के नौओं राजकुमारों ने सोचा जैसे हम एक पिता के पुत्र हैं, वैसे ही किसी एक ही पिता की ९ कन्यायें हों तो हम सब भाई छोटी बड़ी के अनुसार क्रम से बँटवारा करलें। खोजने से उन्हें मालूम हुआ कि प्रजापति मेरु के यहाँ ९ कन्यायें हैं और सभी विवाह के योग्य हैं। बस फिर क्या था वानिक बन गया। सब भाइयों ने यथाविधि सबके साथ विवाह कर लिये। सबसे बड़े नाभि ने मेरुदेवी के साथ विवाह किया।

दूसरे कुमार किंपुरुष ने प्रतिरूपा का पाणिग्रहण किया। तीसरे कुमार हरिवर्ष ने उग्रदंष्ट्री को अपनाया। चौथे कुमार इलावृत ने लता को वरण किया। पाँचवें रम्यक की रम्या रानी रानी बनी। छठे हिरण्यमय ने श्यामा को सहधर्मिणी बनाया। सातवें कुरु ने नारी को अग्नि साक्षी करके पत्नी बनाया। आठवें भद्राश्व ने भद्रा के साथ भाँवर फेरी, और नवमें केतुमाल ने देववाति से, सबसे विधिवत् विवाह हो गये।"

राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! नौओं यशस्वी भूपतियों का चरित्र मुझे सुनाइये।"

यह सुनकर भगवान् शुक बोले—"हे भरतर्षभ! यदि मैं सबका विस्तार के साथ चरित्र सुनाने लगूँ तो इसी में सब कथा पूरी हो जायगी। समय सात दिन का ही है अतः मैं इन सबका अत्यन्त ही संक्षेप में चरित्र सुनाऊँगा। पहिले महाराज नाभि का ही चरित्र सुनिये।

पिता के परलोक प्रयाण के अनन्तर महाराज नाभि जम्बू-द्वीप के नाभि वर्ष (भारतवर्ष) का धर्मपूर्वक शासन करने लगे। वे अपनी प्रजा को पुत्रवत् पालते थे। प्रजा का भी उनके प्रति अत्यधिक अनुराग था, उन्हें संसारी सभी भोग प्राप्त थे, किन्तु उन्हें एक ही दुख था, जिसके कारण वे सदा चिन्तित रहते थे। उनके कोई पुत्र नहीं था, जो उनके पीछे प्रजा का पालन करते हुए, पितरों को पिण्ड तथा पय प्रदान कर सके। सभी इच्छायें श्रीहरि के आराधना से पूरी हो सकती हैं, यही सोचकर उन्होंने यज्ञपति भगवान् विष्णु की वैदिक यज्ञों द्वारा आराधना की। कोई यह समझे कि भगवान् यज्ञों के भूखे हों या यज्ञों के द्वारा उन्हें कोई विवश करके जो चाहे सो कराले, सो बात नहीं है। संसार में सबसे प्यारा धन होता है। उस धन को जो श्रद्धा सहित सत्कार्य में लगाता है, तो उसके विशुद्ध भक्ति से प्रभावित होकर

भगवान् उसके ऊपर अनुग्रह करते हैं। वे यज्ञ वश्य नहीं हैं भक्तिवश्य हैं। वे द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विक, दक्षिणा और विधिरूप सप्त अङ्ग वाले श्रद्धाहीन बड़े-बड़े यज्ञों से प्राप्त नहीं हो सकते। यदि भक्तिभाव से श्रद्धापूर्वक कोई उन्हें एक चुल्लू जल ही अर्पण करदें तो उसके सम्मुख प्रगट हो जाते हैं। इसीलिये भगवान् को भक्तवत्सल कहते हैं। महाराज नाभि परम भक्ति भाव से यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ मे लगे हुए वे निरन्तर यज्ञपति का ही चिन्तन करते रहते थे। उसी महायज्ञ में "प्रवर्ग्य" नामक कर्म के अनुष्ठान के समय भक्तवत्सल भगवान् साकार रूप से प्रगट हो गये। उस समय उनकी अति सुन्दर मनोहर मूर्ति मन और नयनों को अत्यन्त ही आह्लाद प्रदान करने वाली थी। उनके सभी अङ्ग सुन्दर सुकोमल सुडौल और सुहावने थे। चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म ये प्रियतम आयुध शोभायमान थे। वक्षस्थल में मन मोहक श्रीवत्स का लांछन शोभा दे रहा था, गले में वन माला, हार और कौस्तुभ मणि चमक रही थी। माथे पर मुकुट, कानों मे कुंडल कटि मे कर्धनी और कटि सूत्र, करों में केयूर और चरणों मे नूपुर रुनझुन करके बज रहे थे।

अपने यज्ञ मे सहसा यज्ञपति को प्रगट हुआ देखकर सभी ऋत्विक, होता, उद्गाता, सभ्य, सदस्य, यजमानी तथा यजमान उसी प्रकार परम प्रमुदित हुए जैसे पिपासित पुरुष पानी को देखकर बुभुक्षित भोजन को देखकर, शीतार्त अग्नि को देखकर, कामी कामिनी को देखकर, कृपण धन देखकर, यात्री यान मे स्थान देखकर, सम्वाददाता तीव्रगति विचित्र घटना को देखकर, बन्दी मिलाई के पत्र को देखकर, परीक्षा दिया हुआ छात्र उत्तीर्ण की श्रेणी में अपना नाम देखकर, अपुत्री किसी भी पुत्र उत्पन्न हुआ देखकर, तथा निर्धन पुरुष द्रव्य

देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। यजमान ने श्रद्धा से सिर झुकाकर सर्वेश्वर की सभी सामग्रियों से विधिवत् पूजा की।

पूजा के अनन्तर समस्त ऋत्विकगण नाना स्तोत्रों द्वारा परम पुरुष प्रभु की स्तुति करने लगे—"ऋत्विकों जी ने कहा—"प्रभो! आप तो परम पूजनीय हैं। हम आपके अनुगत भक्त हैं। हमें आपके अनुरूप श्रद्धा भक्ति सहित आपकी पूजा करनी चाहिये। किन्तु आप जितने श्रेष्ठ हैं उतनी श्रेष्ठ सामग्रियाँ हम कहाँ से लावें? पूजा का वैसा विधि विधान कैसे बनावें अतः हम तो केवल श्रद्धा सहित आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम मात्र ही किये लेते हैं।"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"क्यों ब्राह्मणो! दूर से डंडौत करके ही भागना चाहते हो, कुछ धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुङ्गीफल दक्षिणा यह भी तो होनी चाहिये।"

ऋत्विजों ने कहा—"हे पूज्यतम! अब इन प्राकृतिक पदार्थों से आपको पूजें भी तो यह भी हास्यास्पद ही बात होगी, क्योंकि आप तो प्रकृति से परे हैं। अच्छा पूजा न करके आपके मंगलमय दिव्य गुणों का गान ही करें, सोभी नहीं कर सकते।"

भगवान् ने कहा—"सो क्यों, अरे भैया! जीभ तुम्हारे घर की है गुण गान करने में क्या लगता है?"

ऋत्विजों ने कहा—"महाराज! लगता तो कुछ नहीं किन्तु न होगा, क्योंकि आप तो प्राकृत से रहित प्रकृति पुरुष से परे परमेश्वर हैं और हमारी बुद्धि फँसी हुई है प्राकृति जन्य गुणों के कार्य रूप प्रपञ्च में सनी बुद्धि मायिक पदार्थ का ही वर्णन करेगी। प्रपञ्च से ही सर्वथा माया से रहित आप मायापति का हमारी प्राकृतिक लौकिकी बुद्धि आपके गुणगान में समर्थ कैसे हो सकती है? प्राकृत रूप रहित आप परमेश्वर के सत स्वरूप तथा दिव्य नाम रूपों का निरूपण कैसे कर सकती है?"

भगवान् ने कहा—"मेरे भक्त वत्सलता के गुण जगत् में विख्यात हैं, उन्हीं का वर्णन कर सकते हो ?"

ऋषियों ने कहा—"भगवन् ! यह ठीक है, आपके कुछ कर्म विदित हैं, किन्तु आपके इतने ही गुण हों सो बात नहीं, समुद्र की एक बिन्दु भी समुद्र के समान ही गुणवाली है किन्तु वह बिन्दु समुद्र के एक देश में विद्यमान है। इस प्रकार हम जो भी कुछ आपके गुणों का वर्णन करेंगे वह सिन्धु की बिन्दु के समान एक देशीय ही होगा। इतनी असमर्थता होने पर भी आप भक्तों के ऊपर कृपा करके उनकी टूटी फूटी वाणी में की हुई स्तुति से ही प्रसन्न हो जाते हैं। समुद्र के समान सभी रत्नराशि के स्वामी होने पर भी आप श्रद्धा से दिये हुए एक चुल्लू जल से, एक पत्र तुलसी दल से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ब्राह्मणो ! आप सब तो वेदज्ञ हैं, वैदिक विधि विधान के ज्ञाता हैं। नाना प्रकार की सामग्रियों से शास्त्रीय पद्धति से मेरा यजन कर रहे हैं ? आप सबकी पूजा तो महान् है।"

ऋत्विजों ने कहा—"भगवन् आपके लिये क्या महान् है। आप तो स्वयं परमानन्द स्वरूप हैं। सभी पुरुषार्थों के दाता अभिन्न भाव से आप ही हैं। आपको तो स्पृहा ही नहीं। किन्तु हम प्राकृत पुरुषों के हृदयों में तो नाना वासनायें भरी हुई हैं। इसीलिये हम सकाम भाव से आपकी पूजा करते हैं, इच्छा पूर्ति के लिये आराधना करते हैं। आप भी ऐसे दया के सागर हैं, कि हमारे क्षुद्रता, कामना आदि दोषों की ओर दृष्टि न डालकर दया-वश दौड़े चले आते हैं। मोक्ष दाता होने पर भी तुच्छ [illegible] पदार्थों को देने के लिये आप हमारे सम्मुख प्रगट हुए [illegible] हम क्या कहें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, मुझसे अपनी इच्छानुसार वरदान माँगो।"

ऋत्विजों ने कहा—"हे प्रभो जब आप समस्त पुरुषार्थों के स्वामी स्वयं ही हमारे सम्मुख प्रकट हो गये, आपके दर्शन प्राप्त हो गये तब फिर और कुछ माँगने को शेष ही नहीं रह जाता फिर भी ..."

भगवान् बोले—"फिर भी क्या ? स्पष्ट कहो।"

ऋत्विज बोले—"क्या कहें भगवन् ! हमारी हार्दिक इच्छा तो यही है, कि कहीं ठोकर खाकर गिर पड़ें, वर्षा में कीचड़ में फिसल जायँ, भूख से व्याकुल हो जायँ, प्यास से बेसुध हो जायँ, आलस्य में भरकर जमुहाई लेने लगें तथा भाँति-भाँति के संकटों में फँसकर दुखी हो जायँ तो भी सकल मल विनाशक भक्तवत्सल अशरण शरण दीनबन्धु आपके सुमधुर नामों का उच्चारण करते रहें। हमारी जिह्वा से आपका मङ्गलमय नाम न हटने पावे। हम प्राकृत पुरुषों की तो बात ही क्या है, राग द्वेषादि मलों से रहित आपके ही समान गुण वाले आत्माराम मुनि भी आपके गुणों का गान करते रहते हैं। आपके रूप का चिन्तन करते रहते हैं और आपके नामों का उच्चारण करते रहते हैं। इस इच्छा की पूर्ति हो जाय, तब तो फिर कोई और इच्छा ही शेष न रहे।"

भगवान् मुस्कराये और बोले—"आप लोग संकोच न करें, अपना यथार्थ अभिप्राय जतावें, अपने मनोगत भाव बतावें।"

ऋत्विकगण बोले—"क्या बतावें, महाराज ! हमें तो बड़ी लज्जा लगती है। इतने बड़े महान् से एक क्षुद्र वस्तु की याचना कैसे करें सम्राट को प्रसन्न किया, उसने कृपा करके वरदान माँगने को कहा, तो उससे यही माँगा कि हमें बड़ी भूख लगी है आपके खाने के आज के आटे में जितनी भूसी निकली हो उसे हमें दे

दें।" तो ऐसे माँगने वाले को बुद्धिमान कौन बतावेगा ? फिर भी अर्थी तो दोष को देखता नहीं। ये राजर्षि नाभि पुत्र हीन हैं। यद्यपि आप स्वर्ग अपवर्ग आदि समस्त कामनाओं को देने में समर्थ हैं तो भी ये महाराज आपसे आपके ही समान एक पुत्र चाहते हैं। पुत्र की इच्छा रखकर ही ये आपका सकाम पूजन कर रहे हैं। पुत्र भी ये साधारण नहीं चाहते आप जैसा ही हो।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"तब तुम इतनी घुमा फिराकर बातें क्यों कर रहे थे। इसमें संकोच की कौन सी बात है, मैं तो सब कुछ देने में समर्थ ही हूँ।"

ऋत्विजों ने कहा—"हाँ, भगवन्! आप सर्व समर्थ तो हैं ही, फिर भी यह लज्जा का तो विषय है ही विषय रूपी विषय वेग से जिसका स्वभाव दूषित हो गया है ऐसे सकाम मन्द बुद्धि पुरुष तुच्छ सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होकर आपका यजन करें और आपको उनकी इच्छा पूर्ति के लिये आना पड़े। इस प्रकार क्षुद्र कामना के लिये आपका आवाहन करना आपका घोर अपमान करना है। हमने ऐसी इच्छा से पूजन करके जो आपका अनादर किया। इसे आप अपनी कृपावश क्षमा कर दें और इन राजर्षि की इच्छा को पूरी कर दें।"

भगवान् ने कहा—"ब्राह्मणो! तुम बड़े चतुर हो इधर-उधर की मीठी-मीठी बातें बनाकर मुझसे ऐसा वरदान माँग लिया, कि मुझे भी चक्कर में फँसना पड़े। मेरे समान १०-२० होते तो उनमें से एक को राजर्षि नाभि का पुत्र बना देता, किन्तु मैं तो अपने अनुरूप आप ही हूँ, मेरे समान दूसरा तो कोई है ही नहीं। मैं ही स्वयं आकर इन राजर्षि का पुत्र बनूँगा। अब आप ब्राह्मणों ने जो कह दिया वह पत्थर की लकीर के समान अमिट हो गया। वह मिथ्या तो हो ही नहीं सकता।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् के श्रीमुख से

ऐसे वचन सुनकर ऋत्विक सदस्य यजमान और यजमानी सभी के मुख कमल खिल गये। महारानी मेरुदेवी की प्रसन्नता का तो कुछ ठिकाना ही नहीं था। उसके गर्भ से स्वयं साक्षात् श्रीहरि उत्पन्न होंगे इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात और क्या होगी। सभी बड़ी उत्सुकता से एक टक भाव से भगवान् की ओर निहार रहे थे, कि सहसा सबके देखते ही-देखते भगवान् वहीं अन्तर्ध्यान हो गये। सभी ने भूमि में सिर टेककर उस स्थल को प्रणाम किया। तदनन्तर बड़ी धूमधाम के साथ यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। ब्राह्मणों को भोजन कराया गया, सभी को यथेष्ट दक्षिणा दी गई। ब्राह्मण गण राजा के सत्कार से सन्तुष्ट होकर उन्हें भाँति-भाँति के आशीर्वाद देते हुए अपने-अपने घरों को चले गये। इधर महारानी मेरुदेवि ने शुभ मुहूर्त में अपने पति राजर्षि नाभि के सकाश से गर्भ धारण किया। महारानी का वह गर्भ शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान नित्य प्रति बढ़ने लगा।"

छप्पय

विनती करिके विप्र यज्ञ उद्देश बतायो।
प्रभु समान सुत होय भूप को भाव जतायो॥
हरि हँसि बोले—अरे विप्र क्यों जाल फँसाओ।
स्वामी सेवक करो पिता कूँ पुत्र बनाओ॥
अच्छा, हौं सुत बनूँगो, निज सम कहूँ खोजत फिरूँ।
मोकूँ बाँधे भक्त ये, मुक्त मयनि कूँ हौं करूँ॥

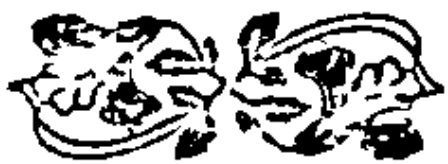

[illegible]

[illegible]

[illegible]

ही पुत्र बनकर अपने भक्त से तोतली वाणी में पिताजी-पिताजी कहकर पुकारे तो उस सुख की संसार में किससे समानता की जा सकती है ? ऐसे पुरुष संसार के माननीय पूजनीय अभिनन्दनीय और प्रातस्मरणीय समझे जाते हैं। वही सौभाग्य महाराज नाभि को प्राप्त हुआ। भगवान् ऋषभदेव के पिता होने से वे जगत् के वन्दनीय बन गये।

श्री शुकदेवजी कहते हैं "राजन् ! भगवान् के अंतर्हित होने के अनन्तर महाराज नाभि यज्ञ से निवृत्त होकर अपनी रानी मेरु देवी के साथ सुखपूर्वक सर्वसुखों को भोगते हुए आनन्दपूर्वक महलों में रहने लगे। कालान्तर में महारानी ने एक पुत्र रत्न को उत्पन्न किया। पिता ने पुत्र के जाति संस्कार आदि सभी वैदिक कर्म बड़े उत्साह के साथ किये। लक्षणों के ज्ञाता पुरुषों ने उनके श्री अंगों में वज्रअंकुश आदि बाह्य चिन्हों को देखकर तथा समता, उपशम, विवेक वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों को देखकर उन्हें साक्षात् भगवान् का अवतार जाना। उनके सुन्दर सुघड शरीर को देखकर भव्याकृति महतीकृति अनपायनी श्री, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, वीर्य और शूरवीरता आदि महान् गुणों को देखकर पिता ने उनका नाम ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ रखा ! जिन्होंने अपनी इच्छा से ही मनुष्य शरीर धारण किया है ऐसे पुराण पुरुष पुरुषोत्तम को पृथ्वीपति नाभि अपना निजी पुत्र समझने लगे। वे उनके यथार्थ रूप को भूल गये। उन्हीं के माया विलास से भ्रान्तचित्त होकर वे जगत् के पालन कर्ता का प्रेम से पालन करने लगे। जगत् के पिता का पुत्रवत् लालन करने लगे। मेरा बेटा, मेरा पुत्र, मेरा राजा इस प्रकार मीठी वाणी से बार-बार कहकर उनके कमल के समान खिले मुख चूमने लगे। उन्होंने अनुभव किया जितना ही प्यार मैं अपने पुत्र को करता हूँ, उतना ही प्यार मेरे पुत्र से सभी प्रजा के जन

करते हैं। सबके सब उन्हें अपने पुत्रों तथा प्राणों से भी बढ़कर मानते हैं। राजा ने देखा राव से लेकर रंक तक, सचिव से लेकर सिपाही तक, वेदज्ञ ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त सभी उन्हें नयनों के तारों के समान जानते-मानते और अनुराग करते हैं, तो उन्होंने ब्राह्मण और पुरोहित को बुलाकर "ऋषभदेव को राज्य सिंहासन पर बिठा दिया। उन्हें राज पाट सौंपकर महाराज नाभि अपनी पत्नी मेरुदेवी के सहित तपोवन को चले गये। उत्तर दिशा में हिमालय के अनेकों शिखरों को पार करते हुए वे गन्धमादन पर्वत पर स्थित भगवान् नरनारायण के निवासस्थान बदरिकाश्रम में जाकर रहने लगे। वहाँ वे यम नियमों का पालन करते हुए भगवान् वासुदेव की आराधना में तत्पर होकर उन्हीं के रूप का चिन्तन करने लगे। कालक्रम से समय आने पर वे उन्हीं के स्वरूप में लीन हो गये।

अपने कन्धों पर राज्य भार देखकर भगवान् ऋषभ लोक विधि अनुकरण करके मनुष्य की-सी चेष्टायें करने लगे उन्होंने कुछ काल गुरुकुल में निवास करके वेद वेदाङ्गों का अध्ययन किया। गुरु शुश्रूषा करके गुरुशिष्य के सम्बन्ध की महत्ता का आदर्श उपस्थित किया। गुरुकुल के काल को विधिपूर्वक बिताकर गुरु को अन्तिम दक्षिणा देकर उन्होंने व्रतान्त स्नान किया। स्नातक होकर फिर उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। देवराज इन्द्र ने उनके प्रभाव को जानकर उनके सम्मुख लज्जित होकर अपनी कन्या का विवाह उनके साथ कर दिया।

इस पर महाराज परीक्षित् बोले—"भगवान्! ऋषभदेवजी ने तो पार्थिव नरपतियों का वेष धारण किया था और इन्द्र तो समस्त देवताओं के तीनों लोकों के राजा हैं, फिर उन्होंने ? कन्या का विवाह श्रीऋषभदेवजी के साथ क्यों कि" की कन्या मर्त्यलोक में क्यों विवाही गई ?"

यह सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"महाराज ! भगवान् ऋषभ तो समस्त लोकों के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के अधिपति हैं उनके लिये जैसा ही भूलोक वैसा ही स्वर्गलोक, किन्तु इन्द्र तो अपने अमरपति के अभिमान में सदा मदोन्मत्त बने रहते हैं। जिस प्रकार वे ऋषियों को तपस्वियों को यहाँ तक कि स्वयं साक्षात् श्रीहरि को मूर्खतावश अपना प्रभाव दिखाने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही भूल उन्होंने भगवान् ऋषभ के साथ की और मुँह की खाई।"

इतना सुनते ही उत्सुकता प्रकट करते हुए राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! इन्द्र ने भगवान् ऋषभ को अपना प्रभाव कैसे दिखाया, कैसे उन्हें पराजित् होना पड़ा। इस वृत्तान्त को सुनने की मेरी बड़ी इच्छा है, कृपा करके इसे विस्तार के साथ सुनाइये।"

राजा के ऐसे पूछने पर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् ! ऋषभदेवजी ने राजा होने पर प्रजा के सभी कार्यों की देखदेख करनी आरम्भ कर दी। उन्होंने सर्वत्र सुरक्षा का उचित प्रबन्ध कर दिया। उनकी राज्य व्यवस्था, शासन प्रणाली श्लाघनीय ही थी, अनुकरणीय तथा अभिनन्दनीय थी। प्रजा उन्हें पिता से भी अधिक प्यार करती। सभी उन्हें भगवान् की तरह मानते और पूजते थे। उनके आदर सत्कार को देखकर, प्रजा द्वारा इस प्रकार पूजित देखकर इन्द्र को बड़ी ईर्ष्या हुई। महाराज ! जो लोग सदा सम्मान और प्रतिष्ठा के ही लिये उत्सुक बने रहते हैं वे दूसरों की बढ़ती नहीं देख सकते। किसी की यश प्रतिष्ठा देखकर उन्हें अत्यधिक मानसिक संताप होता है। वे अपने से अधिक किसी को बढ़ने ही देना नहीं चाहते। इसीलिये इन्द्र ने सोचा—"मैं तो तीनों लोकों का राजा हूँ, सभी को जीवन दान देता हूँ, वर्षा करके सभी का भरण-पोषण करता हूँ, फिर भी लोग मेरा इतना आदर नहीं करते, मुझमें इतनी श्रद्धा नहीं

रखते। यह मर्त्यलोक के भूभाग का राजा इतना लोकप्रिय क्यों है, प्रजाजन इसे परमेश्वर करके क्यों पूजते हैं, अच्छी बात है, देखें इनके प्रभाव को। मैं इसके राज्य में वर्षा ही न करूँगा, फिर यह अपनी प्रजा का किस प्रकार पालन कर सकता है। राष्ट्र में दुर्भिक्ष शासक के पाप से पड़ता है। जब देश में दुर्भिक्ष पड़ेगा, तब समस्त जनता अप्रसन्न होकर राजा को बुरा भला कहेंगी। इसकी प्रतिष्ठा धूलि में मिल जायगी।" ऐसा सोचकर इन्द्र न उनके राज्य में एक वर्ष तक जल नहीं बरसाया।

श्रीऋषभदेव समझ गये कि इन्द्र को अत्यधिक अभिमान हो गया है। उसे इस बात का घमण्ड है, कि मैं वर्षा न करूँगा, तो प्रजा का पालन ही न होगा। अच्छी बात है, यह अमर पति मेरे प्रभाव को देखे। यह सोचकर उन्होंने अपने योगबल से जल भरे बादलों की सृष्टि की और इतना जल बरसाया कि समस्त भूमि शस्य श्यामला बन गई। यह देखकर इन्द्र का मद उतरा, उसका अभिमान चूर चूर हो गया। वह भगवान् ऋषभदेव के प्रभाव को समझ गया और उसने सबसे सुन्दरी अपनी जयन्ती नाम की पुत्री का विवाह भगवान् ऋषभदेव के साथ कर दिया। श्रीऋषभदेवजी ने उसे अपने अनुरूप समझ वैदिक विधि के साथ उसका पाणिग्रहण किया धर्मपूर्वक गृहस्थाश्रम के नियमों लोक मर्यादा के निमित्त पालन करने लगे। समय पाकर महा रानी के जयन्ती के गर्भ से परम यशस्वी पिता के ही अनुरूप १०० पुत्र उत्पन्न हुए

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन! ऋषभदेव के वे १०० पुत्र किन किन देशों के राजा हुए?"

इस पर श्रीशुक बोले—"कुरु वंशावतंस राजन्! महाराज ऋषभदेव के वीर्य से जो जयन्ती में १० पुत्र हुए वे सब जायन्तेय कहलाये। इन सबमें श्रेष्ठ थे भरतजी! वे

प्रतापी हुए कि उन्हीं के नाम से यह अजनाभि खण्ड "भारत-वर्ष कहलाया जो अभी तक उसी नाम से प्रसिद्ध है। भरतजी से जो छोटे ९ थे उनके नाम कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक, विदर्भ और कीकट थे। ये सब भारतवर्ष के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् देशों के राजा हुए। इनके देश इन्हीं के नामों से विख्यात हुए।"

इस प्रकार भरतजी और ९ ये दश हुए। शेष ९० बचे। जिनमें ९ भाइयों ने विवाह नहीं किया, वे ऊर्ध्वरेता बनकर मुनि व्रत धारण करके परिव्राजक बन गये। इसीलिये वे नव योगेश्वर कहलाये। उनका सम्वाद आगे प्रसङ्गानुसार नारदजी और वसुदेव सम्वाद के अवसर पर वर्णन किया जायगा। अब शेष बचे ८१।

इन्होंने क्षत्रिय धर्म को हिंसा प्रधान समझकर उसका परित्याग कर दिया। वे सबके सब वेदज्ञ, कर्म कांडी, सदाचारी, मातृ-पितृ भक्त, विनीत, शान्त तथा महान् थे। वे सदा यज्ञयाग पूजापाठ तथा देवार्चन में ही लगे रहते थे। निरन्तर पुण्य कर्मों का ही अनुष्ठान करते रहने के कारण कर्मणा ब्राह्मण बन गये। उन्होंने किसी देश का राज्य स्वीकार नहीं किया। राजन्! इस प्रकार मैंने तुमसे अत्यन्त संक्षेप में भगवान् ऋषभदेव के १०० पुत्रों का वृत्तान्त सुना दिया, अब आप और आगे क्या पूछना चाहते हैं।"

उत्सुकता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"दीनबन्धो! आपने भगवान् ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरतजी की बड़ा प्रशंसा की है और वास्तव में वे प्रशंसनीय हैं भी जिनकी कीर्ति के कारण इस वर्ष (भूखंड) का नाम ही बदल गया। जिनकी कीर्ति अभी तक अक्षुण्ण बनी हुई है। मैं उन राजर्षि के चरित्र को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे भरत चरित्र सुनाइये।"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन् यथार्थ में भरतजी का चरित्र अलौकिक है, वह सम्पूर्ण सिद्धियों और मोक्ष को भी देने वाला है।" भरत चरित सावधानी के साथ सुनने पर फिर मोह रहता ही नहीं। इतना कहकर श्रीशुकदेव महाराज को भरतजी का चरित्र सुनाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

करिकें गुरुकुल वास राज को काज सम्हारयो।
लई जयन्ती व्याहि ससुर को मद सहारयो॥
भये पुत्र सौ भरत ज्येष्ठ तिन में नौ ज्ञानी।
भूप भये नौ रचीं जाइ निज-निज रजधानी॥
इक्यासी हिंसा रहित, विप्रवृत्ति महँ रत रहें।
जप तप पूजा पाठ मख, तरि समल सुख दुख सहें॥

श्रीऋषभदेवजी का अपने पुत्रों को उपदेश

[३१६]

नाय देहो देहाभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वम्
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० ५ अ० १ श्लो०

छप्पय

करें ऋषभ शुभ कर्म हरपि लौकिक वैदिक सब ।
पुत्र भये जब युवक दई सत शिक्षा नृप तब ॥
इक दिन घूमत फिरत तृतीय सुत पुरमहँ आये ।
ब्रह्मावर्त निहारि पितहिँ सब बन्धु बुलाये ॥
सम्बोधन करि सबनिकूँ, प्रेम सहित सबतें कहहिँ ।
सुख हरि सुमिरन में सतत, विषय भोग नर दुख सहहिँ ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ऋषभदेवजी ने अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा था—"पुत्रो, इस मर्त्यलोक में मानव देह पाकर मनुष्यों के लिए यह उचित नहीं है, कि दुखमय विषय भोगों में फँसा रहे, क्योंकि वैषयिक सुख तो विष्ठा खाने वाले शूकर, कूकरादिकों को सौसुलभता से प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये हे पुत्रों ! मनुष्यों को तप का ही आचरण करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण की शुद्धि हो और अनन्त सुख स्वरूप श्रीहरि की प्राप्ति हो सके।"

नीतिकारों का कथन है, वैसे भगवन् और भगवदीय पुरुष समदर्शी और समभाव होते हैं, फिर जो श्रेष्ठ हैं, जिनमें अधिक अपनापन हो गया उनके प्रति गुणाधिक्य के कारण अथवा वात्सल्य के कारण पक्षपात होता ही है। बात यह है, कि जो अपने हैं उन्हें हम सर्वथा शुद्ध सदाचारी देखना चाहते हैं, हमारी हार्दिक कामना होती है कि ये सदा संसार में शाश्वती शान्ति का अनुभव करें। खाने पीने का लाड़ प्यार तो सामान्य है, सबसे बड़ा प्यार हो यही है, कि हम अपने आश्रितों को मृत्यु के मुख से बचावें, उन्हें विषयों में न फँसने दें। वे कभी भी परमार्थ से च्युत न हों इस बात का प्रयत्न करें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रों को उत्कृष्ट पारमार्थिक उपदेश दिया। उन्होंने अपने पुत्रों के सम्मुख जो गूढ़ातिगूढ मर्म प्रदर्शित किया, उसे जो भी पुरुष श्रद्धाभक्ति सहित श्रवण कर ले उसका संसार बंधन अवश्य छिन्न-भिन्न हो जायगा।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"गुरुदेव! जब ऋषभदेव स्वयं भगवान् के अवतार ही थे, तो उन्हें गृहस्थाश्रम में फँसने की क्या आवश्यकता थी। यह मेरे पुत्र है, यह मेरे अन्य हैं, ऐसा भेद-भाव उन्होंने क्यों किया? फिर इन सकाम कर्मों का आचरण अज्ञान के बिना हो नहीं सकता, उन्हें किस लोक की प्राप्ति की इच्छा थी जो इतने बड़े यज्ञ यागों में निमग्न रहकर कर्मकाण्ड के चक्कर में फँसे रहते थे?"

इस पर हँसते हुए शुकदेवजी बोले—"राजन्! आपका कहना यथार्थ है, उन्हें कर्म करने की स्वयं को भी आवश्यकता नहीं। वे तो स्वभाव से नित्य ही अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनन्दानुभव स्वरूप सर्वस्वतन्त्र साक्षात् ईश्वर फिर भी उन्हें अज्ञानियों के उद्धार का भी तो ध्यान

पेट में से ही तो सब सीख कहीं नहीं लेता। अपने बड़ों को, श्रेष्ठ पुरुषों को जो भी कुछ करते देखते हैं, उसी का आचरण साधारण लोग किया करते हैं। लोग धर्म से रहित होकर विषयों में फँस जायँ, तो सदा चौरासी के चक्कर मे टक्कर मारते फिरें। काम भोग करना हो, तो धर्मपूर्वक करें, इसीलिये प्राचीन ऋषियों ने निवृत्ति मार्ग को प्रवृत्त किया है। जिनके करने से चित्त शनैः शनैः कर्मों से हटकर नैष्कर्म्य की ओर जाय। इसीलिये कालक्रम से नष्ट हुए उस प्रवृत्ति मार्ग के पुनरुज्जीवित करने के निमित्त सबमें समभाव रख कर, शान्त सुहृद् और कारुणिक रहकर, अपने सभी आश्रितों को गृहस्थाश्रम की शिक्षा दी और स्वयं भी धर्मपूर्वक गृहस्थ सुख का उपभोग करते हुए, उसमें आसक्त से प्रतीत होने पर अनासक्त बने रहे। राजन्! यह बात है, कि संसार में दो ही आनन्द हैं एक तो ब्रह्मानन्द दूसरा विषयानन्द। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति तो त्याग वैराग्य द्वारा किसी विरले को ही होती है, किन्तु विषयों का भोग यदि धर्म को परित्याग करके न किया जाय, नित्य ही धन की प्राप्ति में, शरीर की आरोग्यता में, पुत्र पौत्रों के साथ बैठकर किल्लोल करने में, सहधर्मिणी के धार्मिक कृत्य करने मे उसके साथ मीठी-मीठी बातें करने में, परोपकार को कार्य करके यश और कीर्ति लाभ करने में जो आनन्द मिलता है, उसमे शरीर के रोम-रोम विकसित हो जाते हैं, चित्त प्रसन्न हो जाता है। उस सुख का ये जटाजूट वाले रंगीन कपड़े धारण किये बाबाजी भला कैसे अनुभव कर सकते हैं? और अज्ञानियों के लिये ये सब सुख सब कुछ हैं। इसलिये उन्होंने गृहस्थ धर्म को स्वयं स्वीकार किया।

उन्होंने ईश्वर होने पर भी मर्यादा पूर्वक राज्यशासन किया। उनके राज्य में सभी सुखी थे, किसी को किसी वस्तु की कमी नहीं थी। प्रजाजन यह तो चाहते थे हमारा नित्य ही

अपने स्वामी के प्रति अत्यधिक अनुराग बढ़ता रहे, इसके अतिरिक्त वे अन्य किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं करते थे। लोक मर्यादा रक्षण के निमित्त स्वयं सर्वज्ञ होते हुए भी वेद के गूढ़ रहस्य रूप सम्पूर्ण धर्मों को जानते हुए भी सभी कार्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों से पूछ-पूछ कर ही किया करते थे। साम, दाम, दण्ड, भेद आदि नीतियों का प्रयोग कहाँ किस अवसर पर कैसे करना चाहिये। इसके लिये वे पहिले मन्त्रियों से सम्मति ले लेते थे।

स्वयं वे सभी देवताओं के अधिपति सबके ईश्वर थे, फिर भी लोक संग्रह के निमित्त देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य, देश, काल, वायु, श्रद्धा, ऋत्विक तथा सदस्य आदि से समृद्धि को प्राप्त होने वाले यज्ञ यागों को बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ शास्त्रोक्त विधि से सम्पन्न करते थे और उनके द्वारा पुराण पुरुष यज्ञेश का आराधन किया करते थे।

एक बार की बात है, कि वे पर्यटन करते हुए अपने वर्ष के समस्त देशों को देखते हुए गङ्गा यमुना के मध्य के उस परम पावन पुण्य प्रदेश में पहुँचे जो पृथ्वी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, नित्य ही ब्रह्मर्षियों के निवास के कारण जिसे ब्रह्मर्षि देश भी कहते हैं जिस देश के अधिपति उनके तृतीय पुत्र ब्रह्मावर्त थे और उन्हीं के नाम से यह देश ब्रह्मावर्त कहलाने लगा था वहाँ पहुँचे।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने क्या देखा, कि बड़े बड़े ब्रह्मर्षियों का समूह वहाँ विराजमान है, उनके सभी सुशील विनीत पुत्र भी वहाँ बैठे हैं। इस अवसर को भगवान् ऋषभ ने बहुत ही उत्तम समझा, इसलिये अपने पुत्रों को लक्ष्य करके उनके उपदेश के व्याज से सभी को उपदेश देने लगे।

जब वे समाहित चित्त से बैठ गये और अपने

विधिवत् सत्कृत हो चुके तब सभी पुत्रों को सम्बोधित करते हुए कहने लगे—'पुत्रो ! तुम सब लोग यहाँ इन इतने बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों के बीच क्यों बैठे हो ?"

उनमें से हाथ जोड़कर विनीत भाव से भरतजी ने कहा—"पिताजी ! हम इन ब्रह्मर्षियों से यही जिज्ञासा कर रहे हैं, कि हम सबको ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कैसे हो ? कृपा करके आप भी हमें इस सम्बन्ध में कुछ उपदेश करें।"

ऋषभदेवजी ने कहा—"मैं इन महर्षियों के सम्मुख कह ही क्या सकता हूँ, किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि मनुष्य देह पाकर इन सांसारिक तुच्छ विषय भोगों में ही फँसे रहना उचित नहीं है। देखो, संसार में ५ ही प्रकार के सुख हैं, देखने का सुख, सुनने का सुख, सूँघने का सुख, जिह्वा का सुख और स्पर्शेन्द्रिय का समागम का सुख। यदि इन सुखों को पाना ही पुरुषार्थ है, तब तो शूकर कूकर काक आदि विष्ठा खाने वाले भी सुखी हैं। क्योंकि जो सुख तुम्हें लड्डू, पेड़ा, रबड़ी खाने में आता है, वही सुख उन्हें विष्ठा खाने में आता है। जिस विषय सुख का अनुभव पुरुष स्त्री के द्वारा, स्त्री पुरुष के द्वारा प्राप्त करती हैं वही कूकर को कूकरी के साथ शूकर को शूकरी के साथ और काक को काकी के साथ मिलता है। इससे सिद्ध होता है, विषयों के सेवन से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती। उसकी प्राप्ति तो विशुद्ध अन्तःकरण वालों को ही होती है और अन्तःकरण शुद्ध होता है तपस्या से। इसलिये निरन्तर तपस्या में ही लगे रहना चाहिये। शुद्ध अन्तःकरण वाला तपस्वी ही मोक्ष का अधिकारी होता है।"

इस पर ऋषभदेवजी के एक पुत्र ने पूछा—"पिताजी ! मोक्ष प्राप्ति का क्या साधन है ? किस काम के करने से मोक्ष प्राप्त हो ?"

बड़ी दृढ़ता के साथ ऋषभदेवजी कहा—"देखो, भैया ! मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय है, महापुरुषों की श्रद्धा सहित सेवा करना। भगवद् भक्तों के धन श्रीहरि हैं। जैसे कंजूस अपने धन को अत्यन्त सुरक्षित छिपाकर रखता है, वैसे ही भगवद् भक्त महापुरुष भगवान् को अपने हृदय में छिपाये रहते हैं। कैसा भी हृदयहीन पुरुष क्यों न हो, सेवा से वह भी वश में हो जाता है। फिर महापुरुष तो बड़े कृतज्ञ, गुणग्राही और परोपकारी होते हैं, जो भाव पूर्वक श्रद्धा से, निष्कपट होकर, छल छिद्र से रहित होकर उनकी सेवा करता है, तो वे उस सेवक को अपने हृदय धन सर्वस्व श्रीहरि को दे डालते हैं, अपना-सा बना लेते हैं। पारस तो लोहे को सोना ही बनाता है, किन्तु भगवद् भक्त महापुरुष अपने सेवक को पारस ही बना लेते हैं अतः संत संग ही मोक्ष का मार्ग है।"

दूसरे ने पूछा—"पिताजी ! साधुओं के लक्षण क्या हैं, किन चिन्हों से हम समझें कि ये साधु हैं। वैसे तो बहुत से असाधु पुरुष साधुओं का-सा वेष बनाये रहते है। उनका संग करने से तो मोक्ष नहीं मिल सकता।"

इस पर ऋषभदेवजी ने कहा—"देखो, भैया ! बाहरी लक्षणों से साधु नहीं पहिचाने जाते। साधुओं की पहिचान अत्यन्त कठिन है। साधु तो साधु की कृपा से जाने जाते हैं जिसे कृपा करके वे जना दें जिसके सामने भी अपना रूप प्रकट कर दें। फिर भी साधुओं के कुछ लक्षण बताता हूँ साधु पुरुष समान चित्त वाले होते हैं, उनका स्वभाव सर्वथा शान्त होता है, वे कभी किसी पर मन से क्रोध नहीं करते, सभी को स्वभाव के वशीभूत समझकर क्षमा करते रहते हैं। वे कभी सदाचार से च्युत नहीं होते, सदा श्रेष्ठ पथ का अनुसरण करते रहते हैं। वे सबके सच्चे सुहृद, अकारण बन्धु, परोपकारी तथा सदाचार

सम्पन्न होते हैं। भगवान् ही उनके सर्वस्व होते हैं। उन्हीं के प्रेम में निरन्तर तन्मय बने रहते हैं। लोगों के समान वे पेटू नहीं होते, रसना को वे सदा जीते रहते हैं। स्त्री, पुत्र, धन, विषय भोग सम्बन्धी सामग्रियों से सम्पन्न घरों में इनकी आसक्ति नहीं होती, वे केवल निर्वाह के निमित्त तथा परोपकार के लिये ही लौकिक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे पुरुष ही महापुरुष हैं। उन्हें ही साधु कहा गया है, उनके संग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह सुनकर किसी दूसरे ने पूछा—"पिताजी ! संसार में सब से अधिक फँसाने वाली वस्तु कौन-सी है ?"

इस पर ऋषभदेवजी ने कहा—"सबसे अधिक संसार में जकड़ने वाली वस्तु है चरित्र हीन पुरुषों का संग। जो स्त्री चरित्र भ्रष्ट होती है, वह दूसरी स्त्रियों को भी चरित्रहीन बना देती है, इसी प्रकार चरित्रहीन पुरुषों का संग करने से दूसरे उसके साथी भी चरित्रहीन हो जाते हैं। जैसी संगति करोगे वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। जो खाओगे वैसे ही उद्गार निकलेंगे। सफेद वस्त्र को जिस रङ्ग के पानी में डालोगे वैसे ही रङ्ग उस पर चढ़ जायगा। इसीलिये मोक्ष मार्ग के पथिकों को सदा स्त्रीलम्पट विषयी पुरुषों के संग से दूर ही रहना चाहिये।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अनेक युक्तियों, दृष्टान्तों और कथाओं के द्वारा अपने पुत्रों को भाँति-भाँति के उपदेश दिये। उन्हें पहिले संसार की असारता बताई, फिर मनुष्य शरीर का महत्व बताया, जीव का परम पुरुषार्थ समझाया। कौन प्राणी किससे श्रेष्ठ है यह तारतम्य बताकर ब्राह्मणों को सर्व [illegible] ष्ठ सिद्ध [illegible] अपने पुत्रों को आदेश दिया, कि वे स[illegible] प्राण ब्राह्मणों की सम्मति ले[illegible]

उन्होंने कहा—"मेरे पुत्रो! तुम इस चराचर विश्व को श्रीहरि का ही स्वरूप समझकर प्राणी मात्र में मेरी भाँति पूज्य बुद्धि रखकर सभी की श्रद्धा पूर्वक सर्वदा सेवा करते रहो। प्राणीमात्र की पूजा करना ही मेरी सबसे बड़ी पूजा है। मनसा वाचा कर्मणा सर्व भाव से उन भक्तवत्सल भगवान् को ही सबमें समान भाव से व्याप्त समझकर प्रणाम करो नमस्कार करो, तभी तुम इस महामोह से छूट सकोगे।" इस प्रकार अपने उन सदाचारी योग्य पुत्रों को भली भाँति शिक्षा देकर सबके सन्देहों को दूर किया।"

छप्पय

विषय भोगि के कबहुँ कोउ नर सुख नहिं पावे।
ज्यों नर जीवन रत्न काँच दे व्यर्थ गमावे॥
सुख स्वरूप सर्वेश सतत हिय मोंहिं विराजें।
कस्तूरी मृग यथा विषय वन खोजे भाजे॥
विषयी नर हैं विष सरिस, मोक्ष मूल हैं सन्त जन।
चढ़े रंग जस होहि सङ्ग, स्वेत वसन सम कह्यो मन॥

भगवान् ऋषभदेव की अवधूत वृत्ति

[३१७]

अहो नु वंशो यशसावदातः
प्रैयव्रतो यत्र पुमान् पुराणः ।
कृतावतारः पुरुषः स आद्यः
चचार धर्मं यदकर्महेतुम् ॥*
(श्री भा० ५ स्क० ६ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

ऋषभ चरित अति गूढ़ मूढ़ नर मर्म न जानें।
निरखि नग्न उन्मत्त सिड़ी पागल सब मानें॥
प्रगट्यो पारमहंस्य धर्म करि शिक्षा दीन्हीं।
कर्‌यो दिगम्बर वेष वेद विधि पूरी कीन्हीं॥
बालक सम भोले बने, पृथ्वी पै विचरत फिरहिं।
मारें पीटें दुष्ट जन, सुख दुख महँ इक सम रहहिं॥

सुख हो दुख हो, मान हो अपमान हो, सत्कार हो तिरस्कार हो, जब तक शरीर का भान है, तब तक इनका भान होता ही है। द्वन्द्वों में जब तक साम्यबुद्धि नहीं होती, तब तक कैवल्य पद की

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज प्रियव्रत का विशुद्ध यशस्वी वंश धन्य है जिसमें सबके आदि पुराण पुरुष श्रीभगवान्‌ने यह ऋषभावतार लेकर परमहंस धर्म का आचरण किया जो कि मोक्ष मार्ग का द्वार है।"

प्राप्ति असम्भव है, अशक्य है। ज्ञान दृष्टि से देखा जाय तो मल और चन्दन में अन्तर ही क्या है? मल भी व्यक्ति का विकार है और चन्दन भी। सुगन्ध दुर्गन्ध की कल्पना हमने स्वतः करली है। यों ज्ञान दृष्टि से तो हम कह देते हैं, अजा सबमें वे ही श्रीहरि रम रहे हैं जगत् उन्हीं का रूप है, किन्तु हमारे गले में जब प्रमदा की सुखदर्शिनी बाहु पड़ती है तब तो मारे प्रसन्नता के हमारा रोम रोम खिल पड़ता है, शरीर के समस्त रोयें खड़े हो जाते हैं। किन्तु यदि कोई गुलगुले साँप को गले में डाल दे तो हम मारे भय के थर-थर काँपने लगेंगे। हमारा समस्त ज्ञान ध्यान न जाने कहाँ भाग जायगा, हम उसे गले से फेंक कर भागेंगे। वास्तव में देखा जाय तो प्रमदा की बाहु में और सर्प में कोई भेद नहीं। दोनों ही पञ्चभूतों के बने हैं, दोनों में चेतन्य सत्ता व्याप्त है। दोनों ही सच्चिदानन्द के स्वरूप हैं, किन्तु जब तक निर्भय पद की पूर्णरीत्या प्राप्ति नहीं हुई है, जब तक शरीर के रहते हुए ही जीवन्मुक्तावस्था में स्थिति नहीं हुई है, तब तक भेदभाव रहेगा ही और भेदभाव ही बन्धन है। वही हमें संसारी विविध लोकों में घुमाता रहता है। यह भेदभाव बिना परमहंस वृत्ति धारण किये मिट नहीं सकता। यही अन्तिम स्थिति है यही परागति है यही पराकाष्ठा है।

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को शिक्षा देने के अनन्तर क्या किया? उन्होंने किस आश्रम का पालन किया?"

इस पर श्रीशुकदेवजी कहने लगे—"राजन्! भगवान ऋषभदेव इस अनर्थ परम्परागत जगत् को मिथ्या समझकर अपने सबसे बड़े पुत्र भरत को चक्रवर्ति पद पर प्रतिष्ठित [illegible] शेष सभी भाइयों को अनेक अधीन राजा बनाकर [illegible] गये। उन्होंने घर पर रहकर ही आवहनीयादि

को अपने आप में ही स्थापित कर लिया वे निरग्नि हो गये। ज्ञान होने से उन्होंने अग्निहोत्र का भी त्याग कर दिया। यह कहना भी प्रसंगत है, कि ज्ञान होने पर उन्होंने ऐसा किया उन्हें तो कभी अज्ञान ने स्पर्श ही नहीं किया वे तो सदा सर्वदा ज्ञान स्वरूप ही थे, किन्तु लौकिक दृष्टि से प्राणियों को शिक्षा देने के निमित्त पारमहंस्य धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये उन्होंने महामुनियों द्वारा अनुमोदित और पूजित भक्ति ज्ञान और वैराग्य रूप चरम आश्रम की महत्ता दिखाने के निमित्त उन्मत्तों का-सा वेष धारण कर लिया। उनके भीतर ज्ञान की ज्योति जल रही थी तो भी ऊपर से अज्ञानियों के समान आचरण कर लिये। उन्होंने सभी बाहर के कपड़े उतार कर फेंक दिये, पागल और पिशाचों की भाँति केश खोले नङ्ग धड़ंगे इधर से उधर बिना किसी लक्ष्य के घूमने लगे।

अपने देश ब्रह्मावर्त से निकल कर उनका मुख जिधर ही उठ गया उधर ही चल दिये। बुद्धि का भण्डार होने पर भी वे बुद्धि-हीन मूर्खों के समान हो गये। दिव्य दृष्टि रहने पर भी अन्धों के समान वे वृक्षों से टकराने लगे। दिव्य वाणी रहने पर भी बार-बार बुलाने पर नहीं बोलते। लोग समझते यह गूँगा है। पीछे से लोग बुलाते, ढोल बजाते हों हा हा हू हू करते किन्तु ये फिर कर पीछे भी नहीं देखते थे। इसीलिये लोग समझते यह बहरा भी है। बाल खुले हैं, शरीर धूलि से धूसरित है, अङ्गों में तिनकें चिपटे हैं, वे हाथ हिलाये दौड़े जा रहे हैं। पिशाच और उन्मत्त के समान वेष देखकर कुत्ते भोंक रहे हैं लड़के तालियाँ बजा रहे हैं, किन्तु ये चुपचाप मौनव्रत धारण किये अपनी धुनि में मस्त हुए सिंह के समान चले जा रहे हैं। कभी किसी पुर में ही पहुँच गये, कभी किसी ग्राम में ही रम गये। किसी सोने चाँदी राँगा सीसा गेरू कोयला आदि की खानों में ही जाकर खदान वाले

लोगों में ही हिलमिल गये। कभी किसानों के खेतों में ही पड़ गये, कभी काछी माली और चारियों की वाड़ियों में से ही खरबूजे खाने लगे, कभी पर्वतों के समीप के ग्रामों में ही घूमने लगें, कभी सेनाओं की छावनियों में चले गये। वहाँ सैनिक लोग छेड़-छाड़ करने लगे, इन्हें पकड़कर विविध प्रश्न पूछने लगे। कोई गुप्तचर समझने लगे कोई सिद्ध पुरुष बताने लगे। इन्हें न हर्ष, न शोक। पकड़ लिया तो बैठे हैं छोड़ दिया तो चल दिये। कभी गाँव के बाहर गौशालाओं के बछड़े के बीच ही जाकर सो गये। बछड़ों से बातें करने लगे। कभी अहीर ग्वालों के घरों में जाकर मक्खन खाने लगे मट्ठा पीने लगे, महेरी सपोटने लगे। मोटी-मोटी रोटियों को उड़ाने लगे। कभी झुण्ड के झुण्ड जाते हुए यात्रियों के संग चल दिये तो महीनों उनके साथ ही चले जा रहे हैं, फिर लौटे तो लौट दिये। उत्तर की ओर जा रहे हैं दक्षिण को मुड़ पड़े तो उधर ही चल दिये। कभी पहाड़ों की चोटियों पर ही चढ़ गये, किसी पाषाण खण्ड के ऊपर पड़ गये। कभी बड़े-बड़े गहन वनों में विचरण करने लगे कभी-कभी ज्ञानी महात्माओं के आश्रमों पर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होने लगे।

अज्ञानी मूर्खों को तो दूसरों को छेड़ने में ही आनन्द आता है। विशेषकर वे महात्माओं को अधिक सताते हैं। जैसे विषयी पुरुष जिसे देखते हैं उसे ही विषयी समझते हैं और अकारण परीक्षा लेने के लिये भाँति-भाँति की क्रूरतायें करते हैं वैसे ही दुष्ट लोग कुतूहलवश महात्माओं पर प्रहार करते हैं, उनके गर्मस्थानों को वेधते हैं, गाली देते हैं अपमान करते हैं, कि देखें वह महात्मा है या ढोंगी। वास्तव में तो उन्हें दूसरों को दुख देने में आनन्द आता है, इसलिये वे ऐसा करते हैं।

जिधर से बाल बखेरे दिगम्बर ऋषभदेवजी निकलते उधर ही दुष्ट लोग उन्हें देखकर हँसते। कोई कहते बड़ा

कोई कहता महात्मा है, दूसरा उसका विरोध करते। यदि लंगोटी फेंकने से ही कोई महात्मा हो जाता हो, तो हम भी नंगे हो जायँ। कोई कहता—"अरे भैया! ये तो समदर्शी हैं। दूसरा दुष्ट कहता—"अभी डंडे पड़ें तो सब समदर्शीपना भूल जाय।" कुछ लोग इस पर परीक्षा लेने तुल जाते। कोई उन्हें धुड़ककर गाली देकर कहता—"अरे ओ नंगे बाबा ठहर। धूर्त कहीं का पाखण्ड बना रखा है। तुझे नंगे घूमने में लज्जा भी नहीं आती। कोई इतने में ही दौड़कर दो डण्डा जमा देता। दुष्टों की यातना से वे चुप बैठ जाते। इस पर कोई उनके शरीर पर लघुशंका कर देता, कोई दीर्घशंका कर देता। कोई थूक देता, कोई ईंट पत्थर उठाकर मार देता, जिससे उनके अंगों से रक्त प्रवाहित होने लगता। कोई लू लू है लू लू है, कहकर धूलि ही उनके ऊपर फेंक देता। कोई दुष्ट टाँट उठाकर अपान वायु ही जोर से उनके ऊपर छोड़ देता और फिर हँसते-हँसते लोट-पोट जाता। कोई बुरी-बुरी गालियाँ ही बकता। इतना सब होने पर भी भगवान् ऋषभदेव कुछ भी नहीं बोलते। उनकी शरीर में न तो आसक्ति ही थी न निजपने का अभिमान ही था। कोई मार देता तो सह लेते, बैठाता तो बैठ जाते। भगा देता तो चले जाते। इस प्रकार निरुद्देश्य होकर द्वन्द्वों को सहन करते हुए घूमने लगे।

शरीर में धूलि लगी रहने पर भी, बाल रूखे और चिपटे होने पर भी, शरीर वस्त्र आभूषणों से रहित होने पर भी वे बड़े सुन्दर लगते थे। धूलि में लिपटी रहने पर भी मणि, मणि ही है। उनका जन्म कुलीनवंश में हुआ था। वे देखने में बड़े ही रूपवान् थे। उनके सभी अंग सुन्दर सुकुमार सुडौल और लावण्ययुक्त थे, हाथों की गद्दियाँ पैरों के तलवे ओष्ठ आँखों के भीतरी पलक अरुण वरण के थे। बाहु और वक्षःस्थल विशाल थे कन्धे उभरे हुए और सिंह के समान थे, कण्ठ सुडौल और शङ्ख के समान

उतार चढाव का था. नासिका सुन्दर तुतली शुक के समान मनोहर थी। उनका मुख कमल के समान मन्द मुस्कानयुक्त लावण्यमय और आकर्षक था। जिस पुर ग्राम अथवा नगर में होकर निकल जाते उधर ही सबके मन को चुराते हुए कामबाण से वनिताओं को घायल करते हुए मन्द सुगन्धित पवन के समान सबके चित्तों को प्रसन्न करके चल जाते। कपोलों को झुककर झूमकर चूमने वाली उनकी काली कुटिल भ्रमरावली के समान अलकावली कहीं-कहीं चिपट कर लटें बन गई थीं। उन जटाओं के महान् भार को धारण करते हुए वे स्वच्छन्द हरिण के समान, मदोन्मत्त गज के समान घूमते थे। लोग उन पर ढेले, कङ्कड पत्थर फेंकते, मारते पीटते, किन्तु वे किसी की ओर ध्यान ही नहीं देते थे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—'भगवन्! इतने बड़े महापुरुष ईश्वरावतार ज्ञानी परमहंस को मूर्ख लोग इतना कष्ट क्यों देते थे। वे तो शरीर से नंगे थे वाणी से बोलते नहीं थे, किसी का कुछ अपकार नहीं करते थे, फिर उन्हें पीडित करने से उन्हें क्या लाभ था? इस पर हंसते हुए श्रीशुक बोले—'राजन्! दुष्ट पुरुष कुछ लाभ के लिये ही थोड़े करते हैं। साधु पुरुष को कष्ट देना यह दुष्टों का स्वभाव होता है। हाथी अपने रास्ते से चला जाता है कुत्ते उसे देखते ही भौंकने लगते हैं, सिंह स्वच्छन्द होकर वन में जाता है, मक्खियों का कुछ भी अपकार नहीं करता फिर भी वे उसे काट लेती हैं। इसी प्रकार दुष्ट पुरुष साधु पु को देखते ही द्वेष करने लगते हैं, उन्हें कष्ट पहुँचाने प्रकार से चेष्टा करते हैं।

श्रीशुक कहते हैं—"इस प्रकार राजन्! हुए भगवान् ऋषभ जीवन्मुक्त का आनन्द

पथ के लिये पथिकों को अपने आचरणों द्वारा परमहंस धर्म की शिक्षा देने लगे।"

छप्पय

कोई फेंके ढेल सेल तें कोई मारे।
त्यागि देहि मल मूत्र धूरि सल कोई डारे॥
कोई गारी देहि दुष्ट ढोंगी जिह आयो।
ठग विद्या के हेतु धूर्त ने वेष बनायो॥
स्वारथ हित पागल बन्यो, सब समुझे स्यानो खरो।
सब मिलि जा अवधूत की, लाठी तें पूजा करो॥

भगवान् ऋषभदेव की अजगरी वृत्ति

(३१८)

को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छेन्
मनोरथेनाप्यमवस्य योगी ।
यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः : ॥*
(श्रीभा ५ स्क० ६ अ० १५ श्लोक)

छप्पय

मारें पीटें मूर्ख होहि क्षत विक्षत तनु सब ।
तातें त्याग्यो गमन रहें अजगर सम नृप सब ॥
पानी पशु सम पियें लेटिकें भिक्षा पावें ।
त्यागि देहिँ मलमूत्र अंग विष्ठा लपटावें ॥
करें घृणित व्यापार अब, फटकें नहिँ खल पास तव ।
जन्म कृतारथ करनकूँ, आई तिनि ढिँग सिद्धि सब ॥

संकल्प के बिना शरीर की कोई भी क्रिया नहीं होती । इसी लिये निःसंकल्प ज्ञानी महापुरुषों के मन में कोई संकल्प नहीं

---

* श्रीसुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं – "राजन् ! इन अजन्मा भगवान् ऋषभदेव की पदवी को दूसरा कोई ऐसा योगी पुरुष मन से भी किस प्रकार प्राप्त कर सकता है, कि जिन सिद्धियों को असत् समझकर उन्होंने त्याग कर दिया था, उन्हीं की प्राप्ति के लिए जो निरन्तर प्रयत्नशील बना रहता था ।"

उठता वे न कहीं संकल्प से आते हैं न स्वयं खाते-पीते हैं। श्वास प्रश्वास की गति स्वभावानुसार होती रहती है। जो जितना ही सकल्पहीन नैष्कर्म्य होगा वह उतना ही बड़ा ज्ञानी होगा। ज्ञान की ६ भूमिकायें बताई गई हैं। जीवन्मुक्तावस्था तो चतुर्थ भूमिका में ही प्राप्त हो जाती है। जीवनमुक्त होकर भी पुरुष सब व्यवहार कर सकता है, गृहस्थ सुख भोग सकता है। राज्य प्रबन्ध कर सकता है, सन्तानोत्पत्ति कर सकता है। इन सब कार्यों को करते हुए भी वह निर्लिप्त बना रहता है। विषय उनके लिये बन्धन नहीं होते। वह सब कुछ करते हुए भी अकर्ता बना रहता है। जनकादिक इसी भूमिका में स्थित रहकर सब कर्म करते हुए भी निर्द्वंद्व बने रहते थे। चौथी भूमिका के अनन्तर जो तीन भूमिकायें उनमें केवल तितिक्षा का अभ्यास बढ़ाना होता है, क्योंकि अन्त समय तनिक भी शरीर में आसक्ति रह गई, तो कोई न कोई शरीर अवश्य धारण करना होगा। अन्त में शरीर का भान ही न रहे, विष्ठा में, मिठाई में, स्त्री में, पुरुष में, सर्प में, माला में, सुवर्ण में, मिट्टी में तत्वतः ज्ञान से ही नहीं दृष्टि से और व्यवहार से भी कोई भेद न रहे। यह स्थिति बहुत ऊँची है। कुछ ढोंगी पुरुष ऐसी स्थिति की आड़ में अपने को ज्ञानी बताकर लोगों को ठगते हैं और अपनी विषयवासना की इसी मिस से पूर्ति करते हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने चतुर्थ भूमिका में स्थित रहकर गृहस्थ धर्म का पालन किया। पञ्चम भूमिका में स्थित रहकर दिगम्बर वेष से अवधूत बनकर अवनि पर विचरण किया। अब उन्होंने पञ्चम भूमिका को भी त्यागकर छठी भूमिका में प्रवेश किया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दुष्ट लोग ऋषभदेवजी को बहुत सताने लगे, फिर भी उनके मनमें कोई क्षोभ नहीं हुआ, तब उन्होंने घूमने फिरने में और दुष्टों द्वारा ताड़ना आदि सहने

में अपनी योग साधना में विघ्न समझा। अब वे तितिक्षा की मात्रा को और बढाने लगे। अवधूत वृत्ति के अनन्तर वे अजगर वृत्ति में रहने लगे।

राजा ने पूछा—"भगवन्! अजगर वृत्ति क्या होती है? उनमें क्या करना पडता है?"

इस पर श्रीशुक बोले—"महाराज! करना क्या पडता है, दैवाधीन रहना है, अपने को सर्वथा प्रारब्ध पर छोड देना होता है। योग क्षेम के लिये कोई उद्योग नहीं, किसी प्रकार का पुरुषार्थ नहीं, कहीं जाना नहीं, कहीं आना नहीं। यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट रहकर प्रारब्ध के अन्त की प्रतीक्षा करनी पडती है। भगवान् ऋषभदेव अब अपने मनुष्यपनेके अभिमानको भूल गये। वे पशुओं की भाँति पानी पीने लगे। किसी ने दे दिया लेटे ही लेटे खा गये। न दिया भूखे ही पडे रहे जैसे पशु लेटकर बैठकर खडे होकर जहाँ भी होता है वहीं मल मूत्र त्याग देते हैं, वैसे ही वे भी बच्चों की तरह जहाँ चाहते हग देते। अपनी ही विष्ठा से अपने सम्पूर्ण अङ्गों को लथेड लेते। विष्ठा में ही बैठे रहते उसी पर लेट जाते। उनके इस घृणित व्यापार को देखकर कोई भी उनके पास नहीं फटकते। जो उनके महत्व को समझते वे ही दर्शनों को आते। दुष्ट लोग तो भ्रष्ट समझकर उनके पास भी खडे नहीं होते। इससे वे बडे आनन्द के साथ ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करने लगे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—'भगवन्! इतने ज्ञानी ध्यानी ईश्वर होकर भी ऋषभदेव ऐसा घृणित वीभत्स आचरण क्यों करते थे? इससे साधकों पर बुरा प्रभाव पडेगा। इसे ही ज्ञान की चरम सीमा समझकर भ्रष्टाचार करने लगेंगे। यह हम मानते हैं, वे समदर्शी थे फिर भी लोकसंग्रह के लिये उन्हें ऐसा सदाचारहीन आचरण करना चाहिये?"

इस पर श्रीशुकदेवजी बोले—"महाराज! आपका कहना सत्य है। साधारण लोग बाह्य बातों को ही देखकर उसके अनुसार आचरण करने लगते हैं। किन्तु सत्यता कहीं छिपती नहीं ढोंग चिरकाल तक छिपता नहीं। चन्दन में और मल में मन से नहीं व्यवहार से भी कोई भेद न करना कठिन कार्य है, सब इसका आचरण नहीं कर सकते।"

नैमिषारण्य के बीच में ऋषियों के मध्य में बैठे हुए शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"सूतजी! भगवान् ऋषभदेव जब अपनी ही विष्ठा को अङ्ग में लगा लेते होंगे, तब कोई भी उनके पास न जाता होगा?"

इस पर सूतजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! साधारण लोग तो उनसे घृणा करते ही थे, किन्तु ज्ञानी तो उनके मर्म को समझते थे, वे उनकी ऐसी दशा में भी बड़ा आदर करते थे।"

शौनकजी कहा—"सूतजी! ऐसा तो पशु भी करते हैं, पागल भी ऐसा करते हैं। छोटे बच्चे भी जहाँ होता है वहीं शौच फिर देते हैं, उनमें और इनमें क्या अन्तर रहा?"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! आप सब जानते हैं। ये लोग तो अज्ञानवश ऐसा करते हैं। ज्ञानी, ज्ञान की पराकाष्ठा होने पर शरीर के मोह को नष्ट करने के निमित्त, समत्व में चित्त को सर्वथा स्थिर रखने के निमित्त ऐसा करते हैं। कुछ ढोंग प्रतिष्ठा के निमित्त भी ऐसा करने लगते हैं, किन्तु अन्त में उनकी कलई खुल जाती है। इस विषय में मैं आपको एक बड़ी मनोरञ्जक घटना सुनाता हूँ।

विश्वनाथ पुरी वाराणसी में एक परम विरक्त अवधूत रहते थे। उनकी सैकड़ों वर्ष की आयु थी बिना वस्त्र के वे इधर से उधर घूमा करते थे। वाराणसी के विद्वान् उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। उनकी स्थिति इतनी ऊँची थी, कि वे स्वयं खाते भी

नहीं थे जो कोई उनके मुँह में डाल देता उसे ही निगल जाते चाहे कोई चार दिन तक मत खिलाओ चाहे दिन भर मनो खिलाते रहो। यहाँ तक कि एक बार एक आदमी ने परीक्षा के निमित्त १५-१६ सेर गोबर खिला दिया और वे उसे बिना आपत्ति किये खा गये।

उनकी ऐसी प्रतिष्ठा देखकर एक ढोंगी साधु को भी इच्छा हुई कि मेरी भी इसी प्रकार ख्याति हो। अतः उसने भी लँगोटी उतार कर फेंक दी। वह भी दिगम्बर बनकर शीतोष्ण सहन करने लगा। तपस्या में आकर्षण तो होता ही है, उनके समीप भी लोग आने लगे। साधारण लोग उसकी प्रतिष्ठा करने लगे। इस पर वह भी सर्वथा अपने को परमहंस अवधूत समझने लगा। जहाँ चाहता वहीं मल मूत्र कर देता, चाहे जिसकी गोद में बैठकर खाने लगता। लोग महात्मा समझकर अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खिलाते। ज्येष्ठ मेवा, मिठाई खाकर वह साँड की भाँति मोटा हो गया और जहाँ चाहे वहीं भूमि को अपवित्र करने लगा। कहीं बाहर से एक रानी वाराणसी में आई। वह बड़ी विदुषी और ज्ञान सम्पन्ना थी। किसी ने जाकर उससे इन अवधूतजी की प्रशंसा की। वह बड़ी श्रद्धा के साथ उनके दर्शनों को गई। आस-पास मूर्ख यात्रियों का जमघट लगा था। परमहंस बाबा भैंसे की भाँति वहाँ पड़े पड़े खा पी रहे थे। रानी भी प्रणाम कर चुपचाप बैठ गई। अब तो परमहंस बाबा की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उठकर कौतूहल वश रानी की गोद में जा बैठे। उसके बहुमूल्य वस्त्रों से जो इत्र आदि की सुगन्धि आ रही थी उसी से परमहंसजी मस्त हो गये। रानी बड़े सत्कार से अपने हाथों से उन्हें पेड़े खिलाने लगी। खाते-खाते ही परमहंसजी ने उनके वस्त्रों पर हग दिया। पशु के बराबर चौथ के चौथ मल की दुर्गन्धि से रानी का चित्त बिगड़ गया। उसे इसकी

वृत्ति पर कुछ सन्देह होने लगा। उसने क्या काम किया कि पेड़े खिलाते-खिलाते एक पेड़े में उसी का बहुत-सा मल लपेट कर ज्योंही उसके मुँह में देना चाहा, त्योंही उसने मुँह फेर लिया। इस पर रानी समझ गई, कि यह ढोंगी परमहंस है। उसने बड़े रोष के स्वर में कहा—"परमहंस बाबा! तुम्हें इतना तो ध्यान है नहीं कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह रानी है यह गरीबनी है। यहाँ मलमूत्र त्यागना चाहिये वहाँ न त्यागना चाहिये किन्तु यह तुम्हें भान कैसे हो गया है, कि यह पेड़ा है यह विष्ठा है, इसे खाना चाहिये, इसे देखकर मुँह मोड़ लेना चाहिये। कृपा करके लोगों को ठगना छोड़ दो, पेट के लिये ऐसा पाप मत करो। वस्त्र पहिन लो। सरलता से साधन करो।"

भगवान् की दया थी या तितिक्षा का फल था, उस पर इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ा और उसी समय उसने वस्त्र धारण कर लिये और सरलता से भगवत्भक्ति में लग गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अजगर की भाँति जीवन को बिताना और विष्ठा में भी किसी प्रकार का भेदभाव न करना यह अत्यन्त ऊँची स्थिति है। इसीलिये तो ऋषभदेवजी की स्थिति को सुनकर महाराज परीक्षित् चकित हो गये और बार-बार मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से उन्हीं के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगे।"

श्री शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज परीक्षित् ने आगे क्या प्रश्न पूछा, कृपा करके उसे हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! मल मूत्र में लिपटे रहने की बात सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन! विष्ठा में अंग सने रहने से क्या उन्हें दुर्गन्ध नहीं आती थी? मल की दुर्गन्ध तो बहुत दूर तक जाती है।"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! उनका शरीर तो चिन्मय

और दिव्य बन गया था, उसमें दुर्गन्ध कहाँ रह सकती है। यही नहीं उनके मल में मलयागिरि चन्दन से भी सहस्रों गुणी सुगन्ध उठती थी, जिसके सौरभ से ४० कोस तक वायु सुगन्धित हो जाती थी।"

इस प्रकार राजन्! मोक्षपति भगवान् ऋषभदेव नाना प्रकार की योगचर्याओं का आचरण करने लगे। वे सर्वोपरि अति उत्कृष्ट आनन्द में नित्य ही निमग्न रहने लगे। वे सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा में अभिन्नभाव से भगवान् वासुदेव के रूप में स्थिति हो जाने के कारण सम्पूर्ण पुरुषार्थों से परिपूर्ण हो गये थे। उन्हें न किसी वस्तु की आकांक्षा थी न अभिलाषा। उन्हें न स्वतः आई वस्तु से हर्ष होता था, न स्वतः गई हुई वस्तु से शोक। द्वन्द्वातीत होकर सुख-दुख में समान भाव से रहते हुए ब्रह्मानन्द के रूप में रस का आस्वादन करते रहे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"महाराज! इस प्रकार श्री ऋषभदेवजी ने इस शरीर में ही त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त कर लिया।"

छप्पय

खलजन निन्दे चाहिँ करें पण्डित बहु बन्दन।
मलते लिथिरयो अंग चढ़ावें चाहे चन्दन॥
ज्ञानी माला सर्प एक सम करिके जानें।
होवें जड़ चैतन्य नारि नर भेद न मानें॥
जो जग देखे ब्रह्ममय, उनको ज्ञानी नाम है।
तिनके पावन चरन महँ, श्रद्धा सहित प्रनाम है॥

—०—

ऋषभदेवजी द्वारा स्वतः आई ऋद्धियों का परित्याग

[३१६]

को सदासावधानी से रहना चाहिये। अपने मन पर कभी भी विश्वास न करना चाहिये। योग में आरूढ़ हुए योगी का भी अधः पतन हो जाता है। संग से, आसक्ति से योगी भी कभी-कभी विषयों में फँसे हुए देखे गये हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने इस बात पर स्थान-स्थान पर अत्यधिक बल दिया है, कि विषयों का जहाँ तनिक भी संसर्ग हो वहाँ से परमार्थ पथ के पथिक को तुरन्त हट जाना चाहिये। नहीं तो उसकी गन्ध से ही उसकी साधना में विघ्न पड़ जायगा। विषय और इन्द्रियों के संसर्ग होने से कामना बलवती हो ही जाती है। यद्यपि ज्ञानी और भक्तों की अपनी कामना कोई रहती ही नहीं, तो अपनी समस्त कामनायें सर्वेश्वर की कामना में मिला देते हैं फिर भी लोकसंग्रह के निमित्त उन्हें भूलकर भी विषयों में आदर बुद्धि प्रदर्शित न करनी चाहिये। शरीर का भाव ही न रहे तब तो दूसरी बात है किन्तु जब तक शरीर की सुधि है, भोजन पान की आवश्यकता प्रतीत होती है तब तक विषयों से बचे रहना उन्हें किसी भी दशा में न अपनाना, यही महापुरुषों का लक्षण है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् ऋषभदेव जी जीवन्मुक्ति का सुख ले रहे थे ज्ञान की छठी भूमिका में रह कर संसार की असारता का अनुभव कर रहे थे उसी समय समस्त सिद्धियाँ मूर्तिमान बनकर उनके समीप आईं जिनके सहारे से वे संकल्प मात्र से अदृश्य हो सकते थे, जल पर स्थल की भाँति चल सकते थे, आकाश में उड़ सकते थे परकाय में प्रवेश कर सकते थे, अधिक कहाँ तक कहें इच्छा होने पर नवीन सृष्टि तक कर सकते थे।"

सभी सिद्धियों ने आकर कहा—"देव! हम दासियों को कुछ सेवा समर्पित कीजिये हमें अपनी कैंकर्य का अवसर प्रदान कीजिये, हमें अपनाइये।"

उनकी बात सुनकर ऋषभदेवजी मुस्करा गये। उन्होंने सिद्धियों की बात स्वीकार नहीं की अपनाना तो दूर रहा उन्हें उसी समय ठुकरा दिया और वहाँ से चले जाने की आज्ञा दी।

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा—"भगवन्! मुझे ऐसा लगता है भगवान् ऋषभदेव ने सिद्धियों का तिरस्कार करके उचित कार्य नहीं किया। उनके लिये प्रिय अप्रिय, सुख दुख, हानि लाभ, जीवन मरण, यश अपयश, शत्रु मित्र, स्वाद, अस्वाद, शोक अनुग्रह, स्तुति निन्दा सभी समान है। जब वे भूमि पर रहते थे, वायु का तिरस्कार नहीं करते थे सूर्य के प्रकाश से कार्य चलाते थे, पृथ्वी पर बहते हुए पानी को पीते थे अन्न को भी परेच्छा से ही खाते थे, मल-मूत्र का भी त्याग करते थे आकाश के नीचे रहते थे। तो फिर उन्होंने सिद्धियों का तिरस्कार क्यों किया?"

इस पर शुकदेवजी ने कहा—"महाराज! साधुओं को सिद्धि से क्या लेना? वह तो नट बाजीगरों का काम है सिद्धि दिखा कर दूसरों को प्रभावित करना। धन यश की वृद्धि करना। साधुओं के धन तो श्रीहरि हैं।"

राजा परीक्षित् ने कहा—"नहीं महाराज! धन यश की बात नहीं, सिद्धियाँ भी पड़ी रहती। कभी इच्छा आई आकाश में उड़ कर चले गये। दीन दुखियों का उपकार कर दिया। इसमें क्या हानि है?"

इस पर श्रीशुकदेवजी बोले—"महाराज! हानि तो कुछ नहीं है, किन्तु मनमानी करने से मन शनैः शनैः पुनः विषयों की ओर ले जाता है। परोप करते-करते मन में अहङ्कार का उदय हो सकता है। योगारूढ होने पर भी पतन की सम्भावना हो सकती है।"

राजा बोले—"भगवन्! यह शङ्का साधारण लोगों के संबंध

में तो की जा सकती है, किन्तु जिन्होंने ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा कर्म रूप बीजों को भून दिया है ऐसे आत्माराम महात्माओं का सिद्धियाँ क्या बिगाड़ सकती हैं। उन पर सिद्धियों का क्या प्रभाव पड़ सकता है। एक बात यह भी है कि सिद्धियों के लिये प्रयत्न किया जाय तो कुछ सम्भावना का भी अवसर है। अपने आप ही स्वतः आई हुई सिद्धियों का अपमान करना मुझे तो उचित जँचता नहीं।"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"महाराज! ऋषभदेव तो सिद्धों के भी सिद्ध हैं, उनका सिद्धियाँ क्या बना बिगाड़ सकती हैं किन्तु वे अपने आचरणों द्वारा हमें यह उपदेश देते हैं, कि इस बहेलिया मन का कभी भी विश्वास न करना चाहिये। यह समझकर कि अब तो मैं सिद्ध हो गया, विषय भोग मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं, भूलकर भी विषयों में प्रवेश न करे। बड़े ज्ञानी ध्यानी यति योगी इस चित्त का विश्वास करके अपने लक्ष्य से च्युत हो गये। देखिये शिवजी ने भगवान् से प्रार्थना की, कि—"प्रभो! मुझे अपना वह मोहिनी रूप दिखाइये, जिसके द्वारा आपने दैत्यों को ठगा था।" यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"भोलेनाथ! तुम क्यों चक्कर में पड़े हो, जान-बूझकर क्यों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारते हो, क्यों बर्रों के छत्ते में हाथ देते हो, क्यों बिना बात मस्त हाथी के सामने जाते हो, क्यों सिंह की दाढ़ उखाड़ना चाहते हो। अपना राम राम रटो, इन व्यर्थ की बातों के लिये कुतूहल करना ठीक नहीं। वह तो मैंने दैत्यों को ठगने को रूप बनाया था, उसके दर्शनों से तो काम की वृद्धि होती है, चित्त चञ्चल होता है। क्यों बैठे ठाले उपद्रव मोल लेते हो?"

यह सुनकर योगेश्वरों के भी ईश्वर त्रिनेत्र मदन दहन करने वाले शूलपाणि पिनाकी दृढ़ता के स्वर में बोले—"नहीं भगवन्! बहुत से अवतारों के मैंने दर्शन किये। कच्छ, मच्छ, वाराह

नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि सबको देखकर नेत्र सफल किये। इस अवतार के भी दर्शन करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने मुस्कुराकर कहा—"भोले बाबा! अवतार से नेत्र सफल होंगे कि नहीं इसका तो मुझे पता नहीं किन्तु चार नेत्र होते ही चित्त चञ्चल हो उठेगा। अपनेपन को भूल जाओगे फिर गोविन्दाय नमो नमः हो जायगी पार्वतीजी को बड़ा दुःख होगा।"

शिवजी बोले—"अजी महाराज! काम को तो मैंने पहिले ही भस्म कर डाला। मेरे ऊपर उसका जादू नहीं चल सकता। यहाँ वे धान नहीं जिन्हें चिड़िया चुग जायँ।"

शिवजी का आग्रह देखकर भगवान् ने मोहिनी रूप का दर्शन करा दिया और शिवजी की जो दशा हुई वह यहाँ कही नहीं जा सकती। सो राजन्! सिद्धियों के चक्कर में सिद्ध को न पड़ना चाहिये। भगवद् भक्त की सिद्धियाँ सदा किंकरी बनी ही रहती हैं, किन्तु उन्हें स्वीकार करे उन्हें प्रकाश में न लावे। शक्कर जब तक दबी ढकी रहती है, तभी तक सुरक्षित रहती है। जहाँ प्रकाश में आई, खुली रख दी की झुन्ड-झुन्ड चींटियाँ चींटे आकर उसे घेर-घेरकर खाने लगते हैं। सिद्ध ने जहाँ तनिक सिद्धि दिखायी कि ये संसारी कामी पुरुष फिर उनके पास आने लगते हैं, मुझे बेटा दो, धन दो, मलूक-सी बहू दो, रोग से छुड़ाओ मुकदमा जिताओ, सट्टा बताओ, किसी से माल टाल दिलाओ और न जाने क्या क्या माँगते हैं। इससे योग में कुछ-न-कुछ विघ्न पड़ता है। पहिले कीच से कपड़े को गन्दा करे। फिर जल से धोवे, इसकी अपेक्षा तो यही उत्तम है कीच से दूर ही रहे। यह चित्त बड़ा दुष्ट है। इसका कभी विश्वास न करना चाहिये। जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपनी चिकनी चुपड़ी बातों से पहिले तो पति पर बड़ा प्रेम प्रदर्शित करती है, फिर जार पति को

चुपके से घुसाकर उसकी हत्या करा देती है। वैसे ही मन काम को तथा उसके मित्र लोभ क्रोध को अवसर देकर मनुष्य के तप, तेज, प्रभाव और सदाचार को नष्ट करके उसे भ्रष्ट बना देता है।

यह मन ही काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह, तथा भय आदि का मूल कारण है। मन की इससे स्वाभाविक मित्रता है, ऐसे दुष्ट मन पर बुद्धिमान कैसे विश्वास कर सकते हैं। कैसे इस चञ्चल घोड़े की लगाम ढीली कर सकते हैं। इसीलिये राजन भगवान् ऋषभदेव ने सिद्धियों को स्वीकार नहीं किया। उनका तिरस्कार कर दिया। देखिये किसी चीज को ग्रहण करने से जो सुख मिलता है, उससे शतगुना सुख उसके त्याग में मिलता है, इसीलिये योगिजन संग्रह का आग्रह नहीं करते वे सदा त्याग में ही तत्पर रहते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव इसी देह से जीवनमुक्ति का परमोत्कृष्ट सुख भोगते हुए बालकवत् क्रीडा करने लगे, अजगर की भाँति निश्चेष्ट होकर कालयापन करने लगे।"

छप्पय

मन मतंग उद्दण्ड दुष्टता करे सदाई।
संयम अंकुश सदा रखे अपने कर माहीं॥
हरे फिरे प्रियधान ऊख मीठी लखि लखि कै।
दौरावे निज सुँड़ि होहि प्रमुदित अति भखिके॥
गज अरोहा युक्ति तैं, पैनो अंकुश धारिके।
प्रबल प्रलोभन ते विरत, करे चित्त गज मारिके॥

—•—

श्री ऋषभदेवजी का देहत्याग

[३२०]

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक—
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० ६ अ० १९ श्लोक)

छप्पय

मलिन वसन के सरस लखें ज्ञानी जा तनकूँ ।
सुख दुख महँ सम रहें रसहि संयत निज मनकूँ ॥
ऋषभ त्यागि अभिमान लिंग अरु थूल देह को ।
त्यागो निजपन सर्व पुत्र धन धाम गेह को ॥
योग वासना तें बची, तनिक अह आभास मति ।
ताही तें घूमत फिरत, चलत स्वास प्रस्वासगति ॥

शरीर अभिमान से उत्पन्न होता है, अहंभाव से स्थित रहता है। सभी कर्म संकल्प से होते हैं। शरीर से अहंभाव न

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सभी तृष्णाओं से निवृत्त हो चुके हैं। जिन्होंने करुणावश विषय भोगों का निरन्तर सेवन करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से सोये हुए लोगों को निर्भय आत्मलोक का उपदेश किया है उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।"

हो, तो कोई सकल्प भी न उठे। सकल्प न उठे तो कोई क्रिया भी न हो। क्रिया न हो तो इस शरीर की स्थिति भी न रहे। इससे यही सिद्ध होता है, कि शरीर धारण के लिये अहङ्कार आवश्यक है। ज्ञानी पुरुषों को ससारी पुरुषों की भाँति अहकृतभाव नहीं होता, फिर भी उनमे भी शरीर धारण के निमित्त सूक्ष्म अहङ्कार तो बना ही रहता है, जिसमे उनकी शरीर सम्बन्धी क्रियायें स्वभावानुसार बिना सकल्प के होती रहती हैं। जब वह सूक्ष्म अहङ्कार भी विलीन हो जाता है, तब यह पाञ्चभौतिक शरीर अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। क्योंकि शरीर रक्षा के लिये अहङ्कार आवश्यक समझा गया है। अहकार शून्य व्यक्ति तो सर्वगत सूक्ष्म गुणों से रहित और सर्वव्यापक है, उसका व्यष्टि अभिमान समष्टि रूप मे परिणित हो जाता है। स्थूल, सूक्ष्म भूत अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं वह मुक्त हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् ऋषभदेव ऐसे-ऐसे आचरण करने लगे, जिन्हे देखकर सभी लोग उन्हें मूढमति तथा अज्ञानी अनुभव करते थे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—'प्रभो! इतने ज्ञानी और अवतारी होकर भी ऋषभदेवजी—नंगे रहना मलमूत्र में सने रहना ऐसे—लोक विरुद्ध कार्यों को क्यों करते थे?"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! भगवान् ऋषभदेव जी परम ऐश्वर्य सम्पन्न समस्त सिद्धियों के स्वामी इन्द्रादि लोकपालों के भूषण थे। फिर भी अपने ऐश्वर्य को छिपाये रखने के लिये अवधूत वेष बनाये जड पुरुषों के समान आचरण करते थे। देखिये, महाराज! जिनके पास जो सबसे मूल्यवान् वस्तु होती है, उसे प्रायः वे छिपाये ही रखते हैं। किसी विशेष अवसर पर अपने अत्यन्त निकट सम्बन्धी के सम्मुख ही उसे प्रकाशित

करते हैं। बताइये कोई अपने धन को सबके सम्मुख प्रकट करता है ? कितने भी धनी से पूछिये, यही कह देगा—जैसे तैसे काम चलता है। धनी अपने धन को जैसे छिपाये रखता है वैसे ही ज्ञानी अपने ऐश्वर्य, बल, सामर्थ्य, प्रभाव, ज्ञान और विज्ञान को छिपाये रखता है। सभ्य नर नारी जैसे अपने गुह्य अङ्गों को छिपाये रखते हैं। जो अपने ऐश्वर्य का धन का प्रभाव और प्रतिष्ठा का स्वतः प्रदर्शन करता फिरता है वह तो व्यापारी है। उनका प्रदर्शन उन वस्तुओं की वृद्धि की भावना से है। बिना प्रदर्शन के अनुमान से लोग उसकी निधि को समझ जायँ यह दूसरी बात है। इसीलिए ऋषभदेवजी ने न तो सिद्धियों को स्वीकार करके उनका किसी प्रकार उपयोग किया और न अपने ईश्वरीय प्रभाव को ही प्रकट होने दिया। ज्ञानी तो अपनी योग दृष्टि से जानते ही थे, ये ईश्वर हैं। उन्हें मिथ्याभिमान तो कभी होने ही वाला नहीं था। शरीरादि का जो व्यवहारिक अभिमान था, उसे भी उन्होंने त्याग दिया। अब तो वे योगमाया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही इस शरीर को धारण किये रहे। वास्तव में वे लिङ्ग देह के अभिमान से मुक्त होकर अपनी अन्तरात्मा में अभेद रूप से स्थित परमात्मा को अपने साथ तादात्म्य भाव से अनुभव करते थे।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! जब शरीर में अभिमान ही शेष नहीं तब वह टिक ही कितने दिन सकता है ?"

श्रीशुक बोले—"राजन्! यही तो मैं कह रहा हूँ, उनका शरीर अब अधिक दिन टिकने वाला नहीं था। बिना सकल्प के प्रारब्ध वश शरीर इधर से उधर फिरता रहता था। इस पर दक्षिण देश के कोङ्क-वेङ्क कुटक और कर्णाटक आदि देशों में वे बाल बिखेरे वस्त्रविहीन दिगम्बर वेष में विचरते रहे।

एक बार वे उन्मत्त की तरह शरीर की सुधि-बुधि भूले हुए

ब्रह्मानन्द में निमग्न हुए कुटकाचल के उपवनों में विचरण कर रहे थे। शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था, सम्पूर्ण अङ्ग में धूलि लगी हुई थी आँखें चढ़ी हुई थीं, बाल बिखरे हुए थे इस प्रकार मदोन्मत्त के समान मुख में पत्थर धारण किये फिर रहे थे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! श्री ऋषभदेवजी ने मुख में पत्थर क्यों रख लिया था? इसका क्या तात्पर्य है?"

यह सुनकर शुकदेवजी कुछ देर सोचते रहे और फिर बोले—"राजन्! अवधूतों की परिचर्या जानी नहीं जाती। वे किस अभिप्राय से कौन सा कार्य करते हैं। एक तो मुख में पत्थर रखने का अभिप्राय यह भी हो सकता है, कि इस शरीर के अङ्गों में और पत्थर में कोई भेद नहीं। जैसे ही दाँत वैसे ही पत्थर। इसलिये समत्व दिखाने को उन्होंने मुख में पत्थर को धारण किया। अथवा जो लोग इस मानव शरीर को पाकर भी केवल खाने पीने की ही चिन्ता में फँसे रहते हैं, वे मानो पत्थर खाते हैं अथवा मूर्ख पुरुष जो मुझे पागल समझकर पत्थर मारते हैं, उन्हें मैं बुरा भला नहीं कहता। पत्थरों को भी उसी प्रकार खा लेता हूँ जैसे भोजन देने वाले के भोजन को खा लेता हूँ। अथवा जो हृदयहीन, रूखे पत्थर के समान अन्तःकरण वाले हैं उन्हें काल मुख में डाल लेता है, किन्तु वे मुख में जाकर भी जैसे के तैसे निकल आते हैं। जन्म-मरण को देखते हुए भी पसीजते नहीं उनके मन में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। अथवा ऋषभदेवजी परमहंसों को उपदेश दे रहे हैं, कि वे ज्ञानी होकर भी बालकवत् क्रीडा करें। जैसे छोटे बच्चों को रुपया पैसा मिट्टी फल मिठाई जो भी मिलता है, उसे मुख में रख लेता है उसी प्रकार ज्ञानी को प्रारब्धवश जो भी मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिये। मीठे फीके का भेदभाव नहीं करना चाहिये। इस

प्रकार महाराज ! मुख में पत्थर धारण करने के और भी अनेकों अभिप्राय हो सकते हैं।

अब भगवान् ऋषभदेव की इच्छा इस पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग करने की हुई। जब वे कुटकाचल के उपवनों में विचरण कर रहे, तो एक दिन सहसा वायु वेग के कारण हिलने और परस्पर में संघर्ष होने से बाँसों में से अग्नि उत्पन्न हो गई, जिसे दावानल कहते हैं। उस अग्नि से उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण वन को जलाना आरम्भ कर दिया। श्री ऋषभदेवजी भी वहीं विराजमान थे। उन्हें शरीर का मोह होता उसमें आसक्ति होती तो उसे बचाने का प्रयत्न भी करते उनकी तो पञ्चभूतों के बने सभी पदार्थों में अभेद बुद्धि थी अतः वे चुपचाप बैठे रहे। अग्नि ने उनके इस पाँचभौतिक शरीर को जला दिया। उनका शरीर भस्म हो गया।

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन् ! इतने महापुरुष योगी तथा साक्षात् भगवान् के अवतार ऋषभदेवजी के शरीर को जलाने का अग्निदेव को साहस कैसे हुआ ? जब अग्नि भगवान् भक्त प्रह्लादजी के शरीर को भी जलाने में समर्थ न हुए तब ये तो साक्षात् ईश्वर ही थे। इस विषय में मुझे बड़ा सन्देह है।"

इस पर शुकदेवजी बोले—"राजन् ! आप सत्य कहते हैं, श्री ऋषभदेवजी की इच्छा न होती तो अग्नि की सामर्थ्य नहीं थी उनके शरीर को जला दें। किन्तु वे तो अब शरीर को छोड़ना ही चाहते थे। उनके संकल्प से ही अग्निदेव ने उनकी आज्ञा का पालन किया। उन्होंने योगियों को देह त्याग करने की विधि सिखाने के लिये ही इस प्रकार से शरीर को छोड़ना उचित समझा। अतः उनका शरीर उनके संकल्प से नष्ट हुआ।

इस प्रकार महाराज ! मैंने आपसे सम्पूर्ण वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण और गौओं के परम गुरु भगवान् ऋषभदेवजी का परम

पावन पुण्यप्रद विशुद्ध चरित्र आपके सम्मुख कहा। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! कुछ लोग भगवान ऋषभदेव को "अर्हत्" कहते हैं यह क्या बात है ? ऐसे लोग तो वेदों को नहीं मानते, भगवान यज्ञ पुरुष की निन्दा करते हैं, यह क्या बात है ?"

इस पर शुकदेवजी ने कहा—"राजन् ! कुछ लोग किसी महापुरुष के नाम से कोई पन्थ बना लेते हैं। वे लोग महापुरुष के आन्तरिक भावों को ज्ञान विज्ञान को तो समझ नहीं सकते, उसके बाह्य वेष और आचरणों का ही अनुकरण करते हैं। काशी में एक महात्मा थे कभी-कभी वे एक लम्बी टोपी लगा लेते थे। उनके पीछे जो उनके नाम से पन्थ चला उसमें यही प्रधान चिन्ह हो गया, कि जो ऐसी टोपी लगावे वही उस पन्थ का अवलम्बी माना जायगा। कोई महात्मा नाक से तिलक लगाते थे, अब उनके नाम से जो सम्प्रदाय बना उसमें वैसा तिलक अवश्य होना चाहिये। और कुछ हो न हो। एक महात्मा कुछ चीर पैर में बाँधे रहते थे, पीछे से उनके अनुयायियों के मत में चीर बाँधना आवश्यक हो गया। इस प्रकार महाराज ! पुरुषों की इन्द्रियाँ बाहर की ओर होने से बाहरी वस्तुओं को ही शीघ्र धारण करती हैं। अन्तरात्मा की ओर कोई धीर वीर पुरुष ही देखते हैं। हमने ऐसा सुना है, कि जब भगवान् ऋषभदेव कोङ्क वेङ्क और कुटकादि देशों में भ्रमण कर रहे थे तब उनकी उपर बड़ी महिमा हुई। कलियुग में जब इस वृत्तान्त को वहीं का होने वाला एक 'अर्हत' नाम का राजा सुनेगा, वह ऐसा ही आचरण स्वयं करेगा एक नवीन मत का प्रचार करेगा। उसके पीछे जो होंगे वे इन बातों का यथार्थ भाव न समझकर विचित्र-विचित्र अर्थ लगाकर अर्थ का अनर्थ करेंगे। वे देवमाया से

मोहित होकर शास्त्र विहित शौच और आचरण को छोड़कर अधर्म के प्रभाव से बुद्धिहीन होकर ऊट पटांग बातें करेंगे। स्नान नहीं करेंगे। हिंसा न हो इसलिये दातौन न करेंगे। दाँतों पर मल धारण किये रहेंगे। मुख से दुर्गन्ध आवेगी। केशों का लुञ्चन करेंगे। ईश्वर का तिरस्कार करेंगे वे अहिंसा का मन माने ढङ्ग से अर्थ करके वेदों की, ब्राह्मणों की सतत निन्दा करते रहेंगे। अन्ध परम्परा के वशीभूत होकर अवैदिक आचरणों को भी उनकी भाँति आचरण करने वाले साधु पुरुषों का दोष नहीं, दोष तो उन स्वार्थियों का है जो इनके नाम से अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये भोले लोगों को बहकाते हैं। महाराज! इसमें किसी का दोष नहीं। यह तो युगधर्म है, भगवान् की इच्छा से ही यह सब होता है, उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। वे ही युग-युग मे लोगों की चित्त वृत्तियों को इस प्रकार को बना देते हैं, कि लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति उस युग के कार्यों के अनुकूल हो जाती है। धर्म अधर्म दोनों ही भगवान् की इच्छा मे समय-समय पर बढ़ते घटते रहते हैं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह ऋषभ चरित्र अत्यन्त ही मङ्गलमय शिक्षाप्रद पावन और मनोरम है, जो पुरुष इसे श्रद्धा पूर्वक सुनते सुनाते हैं उन दोनों की ही भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों मे भक्ति हो जाती है। भक्ति ही जीव का साध्य है यही परम पुरुषार्थ है इसी की प्राप्ति मे शान्ति है सुख है। इसलिये भक्ति रूप सरिता मे पण्डितजन अपने विविध पाप जनित सन्ताप से सन्तप्त अन्तःकरण को निरन्तर स्नान करते रहते हैं। उस स्नान का फल यह होता है, कि उन्हे परम शीतलता प्राप्त होती है जिसके कारण धर्म, अर्थ, काम की बात तो कौन कहे वे उस मोक्ष का भी तिरस्कार करते हैं, जिसमें भगवत सेवा कथा परिचर्या का अभाव हो। भगवती

भक्ति भगीरथी में स्नान करने से उनके सकल पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं।"

छप्पय

कोङ्क वेङ्क अरु कुटक फिरत कर्नाटक ज्ञानी।
कुटकाचल के निकट गये मुनिवर निर्मानी॥
पवन वेणु संघर्ष लगी दावानल वन महँ।
बैठे हैं निश्चिन्त नहीं शङ्का कछु मन महँ॥
तनु अनित्यता प्रकट हित, उपलखंड मुख महँ धर्यो।
भये लीन निज रूप मह, दावानल महँ तनु जर्यो॥

भरत चरित का आरम्भ

[३२१]

यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १४ अ० ४३ श्लोक)

छप्पय

ऋषभ तनय अति श्रेष्ठ ज्येष्ठ सबई पुत्रनि महँ ।
भरत नाम विख्यात भये तीनिहु भुवननि महँ ॥
न्याय धर्म तें, करें सदा पृथ्वी को पालन ।
औरस सुत सम समुझि करे सबई को लालन ।
विश्वरूप तनयासुघर, पञ्चजनी सँग व्याह करि ।
यज्ञ याग शुभ कर्म तें, आराधें नृप सदा हरि ॥

मोक्ष का महत्व वही जानते हैं, जिनकी मोक्ष हो गयी हो। जिनकी मोक्ष हो जाती है, वे लौटकर कहने नहीं आते, कि मोक्ष में यह सुख है, किन्तु कीर्ति में कितना सुख है, इसका अनुभव करने वाले बहुत लोग हैं। हमारी कीर्ति बनी रहे,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन भरतजी ने पुण्यकीर्ति श्रीहरि की प्राप्ति के लिये तरुण अवस्था में ही अत्यन्त उत्सुकता के साथ स्त्री पुत्र मित्र तथा राज्य आदि को विष्ठा के समान त्याग कर दिया उनकी बराबरी कौन कर सकता है, क्योंकि इन सबका त्यागना अत्यन्त कठिन है।"

हमारा नाम स्थाई रहे, इसकी लालसा सभी को रहती है। प्रायः देखा गया है, सार्वजनिक स्थानों में धर्मशालाओं में; मार्ग के पाषाणों पर कोयले या खरिया से अपना नाम लिख देते हैं, कुछ लोग स्मृति चिन्ह बनाकर पाषाण पटल पर नाम अङ्कित कर देते हैं, कुछ अपने नाम से पाठशाला, गोशाला, पुस्तकालय, धर्मशाला भवन आदि बनाकर अपनी कीर्ति को स्थाई रखना चाहते हैं, किन्तु वे भूल जाते हैं, जब यह इतना यत्न से बनाया हुआ शरीर नष्ट हो गया उसका नाम न रहा, तो यह पाषाण पर अङ्कित नाम कितने दिन रहेगा। फिर भी कीर्ति के लिये सभी सतत प्रयत्न शील बने रहते हैं। कुछ लोग तो अपनी कीर्ति को स्थाई रखने को शक्ति भर प्रबल प्रयत्न करते हैं, फिर भी उनकी कीर्ति नहीं रहती, कुछ अधिक प्रयत्न न करने पर भी न चाहने पर भी नाम से अजर अमर बने रहते हैं। यह भाग्य की बात है। भागीरथजी अपने पितरों को तारने के लिये गङ्गाजी लाये थे। उन्हें लाने का प्रयत्न तो अंशुमान् और दिलीप ने भी किया तपस्या करते-करते मर गये, किन्तु यश मिला भगीरथ को आज भी भागीरथी गङ्गा सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। जिन लोगों ने मिलकर इस सागर को खोदा है, उन सगर के ६० हजार पुत्रों में से एक का भी नाम कोई नहीं जानता, किन्तु सगर के नाम से सागर तो सृष्टि के अन्त तक प्रसिद्धि प्राप्त करता ही रहेगा। इसी प्रकार भरतजी भी इतने पुण्यश्लोक, यशस्वी और कीर्तिमान् हुए कि उनके नाम से यह खण्ड भरतखण्ड के नाम से अब तक प्रसिद्ध है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! हम आपको पहिले ही बता चुके हैं, कि श्रीऋषभदेवजी के १०० पुत्रों में से भरतजी सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। जब वे युवावास्थापन्न हुए तब ऋषभदेवजी ने उन्हें युवराज पद पर अधिष्ठित किया। वे पिता के साथ

राज-काज में सहयोग देने लगे। ऋषभदेवजी ने उनका विवाह श्रीविश्वरूपजी की कन्या पञ्चजनी के साथ कर दिया। पञ्चजनी को पाकर भरतजी परम सन्तुष्ट हुए। पिता ऋषभ ने जब देखा मेरा पुत्र सर्वगुण सम्पन्न है प्रजा का पालन बड़ी कुशलता के साथ कर सकता है तो राज्य का समस्त भार उनके ऊपर छोड़कर अपने छोटे पुत्रों को उनके अधीन करके भार्या को पुत्रों को सौंपकर वे अवधूत वृत्ति धारण करके घर से निकल पड़े।

पिता के गृह त्याग के अनन्तर भरतजी इस समस्त अज खण्ड के राजा हुए। वे धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते रहे। अनेकों वैदिक अनुष्ठान तथा यज्ञ याग करते रहे। महारानी पञ्चजनी के गर्भ से भरतजी के सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु नाम के पाँच पुत्र हुए। जैसे हाथ की पाँच उँगलियाँ मिल-जुलकर सब कार्य करती हैं जैसे पञ्चभूत मिलकर इस दृश्य प्रपञ्च को रचते हैं जैसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ समस्त तन्मात्राओं को व्यक्त करती हैं जैसे पञ्चप्राण मिलकर देह को चलाते हैं उसी प्रकार ये पाँचों भाई मिलकर भरतजी के समस्त राज्य भार को सुचारुरीति से वहन करने लगे।

महाराज भरत समस्त शास्त्रों के मर्म को जानने वाले थे। वे राजाओं के कर्तव्यों के पूर्ण ज्ञाता थे अपनी समस्त प्रजा का पालन वे औरस सुत के समान करते थे। उनके समस्त कर्म प्रभु प्रीत्यर्थ निष्काम होते थे। वे धर्म कार्यों में कभी भी विघ्न शाठ्य नहीं करते थे। वे सदा यज्ञ यागों में लगे रहकर प्रभु की आराधना करते रहते थे।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! जब भरतजी को किसी कर्म के फल की इच्छा ही नहीं थी तब फिर वे इतने आडम्बर पूर्ण यज्ञों के लिये व्यर्थ प्रयास क्यों करते थे? उन्हें यज्ञों के द्वारा स्वर्ग तो लेना नहीं था?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—'महाराज! आपका कहना सत्य है भरतजी की कामना स्वर्गादि लोकों को जीतने की नहीं थी, फिर भी उस युग में यज्ञपति भगवान वासुदेव की वर्णाश्रम धर्म के द्वारा यागों से ही पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! यज्ञ कितने प्रकार के होते हैं?"

इस पर श्रीशुक ने उत्तर दिया—"राजन्! यज्ञों के अनेक भेद हैं। फिर भी सबका समावेश ६ यज्ञों में हो जाता है। एक तो जो नित्य का अग्निहोत्र है नित्य अग्नि की उपासना है वह प्रथम और प्रधान यज्ञ है। दूसरा यज्ञ पितरों के निमित्त प्रत्येक अमावस्या को होता है। पितरों को अमावस्या अत्यन्त प्रिय है अतः पितरों के उद्देश्य से अमावस्या को जो यज्ञ किया जाता उसे दर्शयज्ञ कहते हैं, इसके करने से अक्षय फल होता है। उस दिन अधिक न हो तो पितरों के निमित्त कुछ अन्नदान ही कर देना चाहिये। प्रत्येक मास की पूर्णिमा को जो यज्ञ किया जाता है उसे पौर्णमास यज्ञ कहते हैं। चौथा यज्ञ चातुर्मास्य कहलाता है। वर्षात के चार महीने एक स्थान पर रहकर जो विशेष नियम संयम के सहित व्रत उपवास आदि किये जाते हैं वे सब चातुर्मास्य यज्ञ के अङ्ग हैं। वर्णाश्रमी के लिये चातुर्मास्य यज्ञ आवश्यक है। ये चार तो समय समय पर सदा करने ही चाहिये। इनके अतिरिक्त जो बड़े बड़े यज्ञ होते हैं उनमें एक पशु यज्ञ दूसरा सोमयज्ञ कहलाता है। वे 'यज्ञ' और क्रतु भेद से दो प्रकार के हैं। जिन यज्ञों में पशु बाँधने का खम्भा होता है वे तो सामान्यतया "यज्ञ" कहलाते हैं जिसमें यह नहीं होता वे क्रतु कहलाते हैं। उनमें भी प्रकृति और विकृति रूप से दो भेद हैं। जिनमें यज्ञ के सम्पूर्ण अङ्गों का विधान हो ऐसे साङ्गोपाङ्ग यज्ञों की संज्ञा प्रकृति है। जिनमें न्यूनाधिक्य रूप से अङ्गों का विधान हो वे विकृत कहलाते हैं। यजमान यज्ञों को होता

(ऋग्वेदीय) अध्वर्यु (यजुर्वेदीय) उद्गाता (सामवेद गान करने वाला) और ब्रह्मा (अथर्ववेदीय) इन चार ऋत्विजों की सहायता से श्रद्धापूर्वक सम्पन्न कर सकता है सदस्य यज्ञ में उपस्थित रहकर उसका अवलोकन करते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न यज्ञों का अङ्ग और क्रियाओं के सहित अनुष्ठान किया जाता है। जो यज्ञ जिस देवता के नाम से किया जाता है उस देवता का उस यज्ञ में प्राधान्य होता है शेष सब देवताओं का समान्य रूप में पूजन होता है। जो यज्ञ जिस कामना से किया जाता है वह उसी के फल को उत्पन्न करता है और मृत्यु के अनन्तर यज्ञकर्ता अपनी भावना के अनुसार उन-उन लोकों में जाकर उनके फलों का उपभोग करता है।

राजा ने पूछा—"भगवन्! कैसे भी करें यज्ञों का फल तो स्वर्ग होगा ही। हम स्वेच्छा से अग्नि का स्पर्श करें या अनिच्छा से शरीर को तो जला ही देगी। फिर निष्काम कर्म का अर्थ ही क्या हुआ? कर्म तो सभी सकाम ही होते हैं, बिना कामना से तो कर्मों में प्रवृत्ति ही होनी असंभव है।"

श्रीशुक बोले—"महाराज आपका कहना यथार्थ है। सामान्य नियम यही है कि कर्मों में प्रवृत्ति कामना से ही होती है। अग्नि इच्छा अनिच्छा से स्पर्श करने पर जला ही देती है किन्तु अकरकरा आदि कई ऐसी ओषधियाँ हैं जिन्हें युक्तिपूर्वक हाथ में लगा लेने से अग्नि रख देने पर भी हाथ नहीं जलता इसी प्रकार सब कर्म करते हुए यदि वे एकमात्र प्रभुप्रिति के उद्देश्य से ही किये जायँ तो वे निष्काम कर्म बन्धन के हेतु नहीं होते।"

राजा ने कहा—"महाराज! यह बात तो मेरी बुद्धि में बैठती नहीं। अब जैसे यजमान यज्ञ कर रहा है। अध्वर्यु ने हाथ में हवि लेकर मन्त्र पढ़ा 'इन्द्राय स्वाहा' यह हवि इन्द्र के लिये है। अब इन्द्र इस हवि को ग्रहण करके भावनानुसार फल

देगा ही। यज्ञ भाग प्राप्त करके इन्द्रदेव यजमान को स्वर्ग देंगे ही। स्वर्ग में स्वर्गीय सुख अप्सराओं के साथ विमानों में विहार आदि मिलेंगे ही। इन्द्र का हवि खाकर स्वर्ग देना कर्तव्य ही हो जाता है। नहीं तो यज्ञ करना व्यर्थ ही है, फिर निष्काम कहाँ रहा ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! सब कार्यों में भावनानुसार ही फल प्राप्त होता है। जैसी जिसकी भावना होती है वैसा उसे फल प्राप्त होता है। आप कितने भी बड़े-बड़े यज्ञ करें दान दें धर्म करें यदि आपका भाव शुद्ध नहीं है तो सब व्यर्थ हैं। माता का, बहिन का, पुत्रों की स्त्री का शरीर एक-सा है। सबके अङ्ग एक से हैं किन्तु भावना के अनुसार एक से आलिङ्गन करने पर भी फल में अन्तर पड़ जाता है। माता का आलिङ्गन दूसरे भाव से करते हैं बहिन तथा पुत्री का दूसरी भावना से और स्त्री का अन्य ही भावना से। क्रिया एक ही है किन्तु भावना की विभिन्नता से फल में अंतर हो जाता है। इसी प्रकार भरतजी यज्ञ करते तो थे उन्हीं वेद मन्त्रों से उसी प्रकार की वैदिक क्रियाओं से, किन्तु अपना भाव पृथक् रखते थे जैसे आचार्य ने मन्त्र पढ़ा। इन्द्राय स्वाहा, सूर्याय स्वाहा। इस पर भरतजी भावना करते इन्द्र 'कौन है जिसमें सम्पूर्ण स्वर्गीय सम्पत्ति के उपभोग और रक्षा की शक्ति हो, जो ऐश्वर्य सम्पन्न हो।' तब वे सोचते थे इन्द्र में यह शक्ति कहाँ से आई। उनमें तो ऐश्वर्य का एक अंश है। ऐश्वर्य के स्रोत तो परमदेव, परब्रह्म, यज्ञ पुरुष भगवान वासुदेव ही हैं। अतः इन्द्र स्वरूप जो भगवान् हैं उनके लिये यह हवि देता हूँ। इस भावना से वज्र हाथ में लिये हुए पुरन्दर के पास में हवि पहुँचने पर भी उसके श्रीहरि ही हो गये। जैसे हम किसी पत्र पर पता लिखते समय लिख देते हैं उनके द्वारा यह पत्र अमुक के पास पहुँचे। ऐसा लिखने से पहिले पत्र

पहुँचता तो उसी पास है जिनके द्वारा भेजा गया हो, किन्तु वह उस पत्र को पाकर भी अपना नहीं समझता अपने पास नहीं रखता। उसी को जाकर उस पत्र को दे देता है, जिसके निमित्त से वह भेजा गया है। इसी प्रकार भगवद् भावना को हृदय में रखकर चाहें जिस देवता का नाम लेकर हवि दी जाय, पहुँचेगी भगवान के ही पास। ऐसे ही अन्य देवताओं के लिये समझ लें "सूर्याय स्वाहा" तो सूर्य का कार्य है प्रकाश देना। सूर्य को प्रकाश कहाँ से मिलता है? भगवान से। इसलिये सूर्य को विराट भगवान् का नेत्र बताया है। जहाँ सूर्य का ध्यान करके हवि देने को मन्त्र पढ़ा वहीं ध्यान कर लिया कि भगवान् के नेत्र रूप जो सूर्य हैं उन्हें ही यह आहुति मिले। ऐसी भावना से किये हुए कर्म अकैतव कर्म कहाते हैं। कैतव कर्म उन्हें कहते हैं जो थोड़ा देकर बहुत फल की आशा से किये जाते हैं। जैसे 'हे देव! मैंने यह फल आपको अर्पण किया है, इससे मेरी सभी कामनायें जन्मान्तरों में पूरी होती रहें। सांसारिक फलों की इच्छा से इसी प्रकार के किये कर्म सकाम कहलाते हैं। इन कर्मों से तो संसार बन्धन और दृढ़ होता है। निष्काम कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। शुद्ध हुए अन्तःकरण में पीतवसनधारी, बनवारी बिहारी, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारी मुरारी श्रीवत्स चिन्ह के मध्य में कौस्तुभ मणि को चमचमाते हुए, हृदय के अन्धकार को मिटाकर प्रकाशित हो जाते हैं। जहाँ सर्वव्यापक पुराण पुरुष प्रभु हृदय में आविर्भूत हुए, फिर कहने की कोई बात ही नहीं रह जाती। दिन-दिन उनके चरणारविन्दों में भक्ति बढ़ने लगती है। बढ़ी हुई भक्ति समस्त अशुभों को, कर्म बन्धनों को काटकर जीव को भगवान् के समीप पहुँचा देती है। तदीय बना देती है सो, राजन्! इसी भावना से भरतजी यज्ञ याग किया करते थे।"

इस प्रकार भरतजी निष्काम कर्म करते हुए १० हजार वर्ष

तक पृथ्वी का पालन करते रहे अब उन्होंने समझ लिया, कि राज्य को भोगने का मेरा प्रारब्ध कर्म समाप्त हो गया। उन्हें राजभोगों में आसक्ति तो थी ही नहीं। यह सोचकर कि प्रारब्ध कर्मों का तो भोग के द्वारा ही क्षय होगा, वे राज का भोग करते रहे। जब यह प्रारब्ध भोग से क्षय हो गया, तो उन्होंने गृहत्याग कर वन में जाकर तपस्या करने का विचार किया।

छप्पय

अग्निहोत्र नित करें दर्श अरु पूर्णमास मख।
चातुर्मास्य अनेक करे सम समुझि दुःख सुख॥
सोमयज्ञ पशुयज्ञ प्रकृति अरु विकृति भेद तें।
करे क्रिया के सहित भाव अरु विधी वेदतें॥
सब अमरनि कूँ अंश लखि, अंशी हरिकूँ जानिकें।
देहिं यज्ञ को भाग नृप, प्रभु स्वरूप सब मानिकें॥

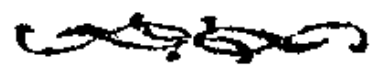

भरतजी का पुलहाश्रम में जाकर तप करना

[३२२]

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषदिङ्गिरामिमः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० ७ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

भरत भूमिपति दुरति दूरि सब करें यत्न करि ।
भोगनि तें करि पुण्य नाश आराधें श्रीहरि ॥
राज भोग को अन्त निरखि नृप वनहि सिधाये ।
पावन हरिहर क्षेत्र, पुलह आश्रम महँ आये ॥
मिलें गण्डकी गंग जहँ, तहँ आराधे ईश कूँ ।
तुलसीदल जल फूलफल, तें पूजें जगदीश कूँ ॥

जीव का एकमात्र प्रधान कर्तव्य है कृष्ण कैंकर्य। कृष्ण कैंकर्य के अतिरिक्त जो भी पुरुष करता है वह अपने हाथों

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भरतजी हरिहर क्षेत्र में जाकर भगवान् सूर्यनारायण कि इस मन्त्र के द्वारा उपासना करने लगे भगवान् सविता देवता का तेज कर्मफलदायक तेज रज से—प्रकृति से—परे है इस जगत् को उन्होंने मन से ही उत्पन्न किया है। वे ही इस जगत् मे प्रविष्ट होकर सुखेच्छु जीवों की रक्षा करते हैं। हम उसी बुद्धि प्रवर्तक तेज को प्राप्त हों।

अपना बन्धन तैयार करता है। सिद्धात तो यह है स्वाँस-स्वाँस पर कृष्ण कहो। कृष्ण नाम के अतिरिक्त वाणी से दूसरा शब्द न बोलो। कृष्ण नैवेद्य के अतिरिक्त अमृत को भी मत खाओ। कृष्ण कथा को छोडकर कुछ भी श्रवण न करो। भगवत् प्रतिमायें तथा भागवतों को छोडकर किसी को भी मत देखो। कृष्ण निर्माल्य के अतिरिक्त न किसी को सूँघो न अङ्ग में स्पर्श करो। साराश जो कुछ करो, जो खाओ, जो पिओ, जो यज्ञादि शुभ कर्म करो, जो सुवर्ण, गौ, अन्न, वस्त्र, धन, धान्य दान करो कृष्ण प्रीत्यर्थ ही करो। प्रारब्धवश ससार में रहकर विवशता से ससारी भोग भोगने पड़े तो दीन होकर उन्हीं से प्रार्थना करो प्रभो! मुझे इन कर्मों से छुडाओ मुझे दास जान के अपनाओ। दीन हीन को अपने पादपद्मों को किंकर बनाओ। ये ससारी भोग जितनी भी शीघ्रता से जितनी भी मात्रा में छूट सकें, निरन्तर उन्हें छोडने का प्रयत्न करते रहो, इसी में जीवों का कल्याण है वही मुक्ति का सरल सुगम मार्ग है, यही प्रभु प्राप्ति का पुनीत पन्थ है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ज्ञान दृष्टि से जब भरत जी ने विचार किया, कि मेरा राज्य सुख का प्रारब्ध समाप्त हो चुका है। अब तो मुझे दिव्य राज्य के लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने अपने पाँचों पुत्रों को बुलाया। धर्म का मर्म समझाया, अपने वन जाने का विचार बताया। इस प्रकार पुत्रों को सभी प्रकार समझाकर सभी बात बताकर वे समस्त राजपाट को तृणसम त्यागकर, आज्ञाकारी सुशील सुन्दर सुकुमार मृदुभाषी विनयशील पुत्रों का मन से मोह त्याग कर पत्नी को पुत्रों को सौंपकर घर से निकल पडे।

महाराज भरत उत्तर दिशा को न जाकर पूर्व दिशा की ओर चले। जहाँ पर भगवती गण्डकी सरिता श्रेष्ठ सुरसरि भगवती

भागीरथी से मिली हैं, उस स्थान में पहुँच कर उनका मन स्वतः ही खिंचने लगा। चक्र नदी में उन्होंने भगवान् शालिग्राम की अनेकों प्रकार के चिन्हों युक्त बटियों को देखा। शालिग्राम शिलाओं के अनेक भेद हैं। बहुत-सी शिलायें चक्रकार होती हैं जिनके दोनों ओर नाभि के समान चिन्ह होते हैं। कोई-कोई ठोस होते हैं. कोई अवतार चिन्हों से चिन्हित होते हैं कोई-कोई गोल-गोल हो जाते हैं जो हिरण्यगर्भ कहलाते हैं। ये सब गंडकी नदी में ऊपर से बह- बहकर आते हैं। भरतजी ने देखा वहां एक ऋषी का टूटा फूटा आश्रम था। पूछने से पता चला, यहाँ कभी ब्रह्मपुत्र भगवान पुलह ने तप किया था, इसीलिये यह अब तक पुलहाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। भरतजी का चित्त उस पुनीत हरिहर क्षेत्र में रम गया। वे पुलहाश्रम के उपवन के समीप एक एकान्त स्थान देखकर वहीं रहने लगे। उन्होंने एक पर्ण कुटी बना ली। भगवान् शालिग्राम की सुन्दर-सुन्दर बटियाओं को लाकर उन्होंने पूजा, पीठ पर उनकी स्थापना की और बड़ी श्रद्धा भक्ति से उनकी सेवा करने लगे। यद्यपि वे अब तक सम्राट थे। अन्तःपुर में सहस्रों दास दासियों से घिरे रहते थे अपने हाथ से काम करने का उन्हें अभ्यास नहीं था, किन्तु भगवत् सेवा के लिये वे स्वयं ही सभी संभारों को जुटाते थे। वन में जाकर वे वहाँ से सुन्दर-सुन्दर पुष्प हरी-हरी तुलसी, कोमल-कोमल दूर्वा भगवान् की पूजा के लिये लाते थे। नैवेद्य के लिये वृक्षों से पके फल लाते थे, कन्दमूल खोदकर लाते थे। अपने हाथ से गण्डकी से जल ले आते, सारांश यह है कि स्वयं ही वे सब काम करते थे।

प्रातःकाल उठते ही वे विष्णुस्मरण करते, पुनः शौच स्नानादि कर्मों से निवृत्त होकर सन्ध्यावन्दन करते। तदनन्तर वे भगवत् परिचर्या में लग जाते षोडशोपचार से पूजा करते

कन्दमूल, फल, फूल, जल तथा तुलसी पत्र आदि समर्पित करके निरन्तर उन्हीं के ध्यान में लग्न रहते थे। इस प्रकार प्रेमपूर्वक पूजा करते रहने से उनका अन्तःकरण सम्पूर्ण अभिलाषाओं से निवृत्ति हो जाने से शान्त बन गया। जिस समय वे प्रेम में भरकर भगवान् की सेवा पूजा करते उस समय आनन्द से उनका हृदय परिप्लावित हो जाता, उन्हें प्रेम समाधि लग जाती। वे नित्य ही नियम पूर्वक अव्यग्र भाव से श्रद्धासहित भगवत् पूजन करते थे। नित्य नूतन बढ़ते हुए अनुराग के कारण उनके हृदय का कठोरपन नष्ट हो गया। अन्तःकरण मोम से भी अधिक द्रवित और नवनीत से भी अधिक कोमल हो गया। प्रभु प्रेम में जिनका हृदय अत्यन्त द्रवीभूत होने लगता है वे भावुक भक्त लौकिक व्यवहार के अयोग्य से बन जाते हैं। जहाँ भगवान् की चर्चा छिड़ी वहीं हृदय से आनन्द का स्रोत उमड़ने लगता है, सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो जाता है, नेत्रों से झर-झर अश्रु बहने लगते हैं। ऐसी दशा बड़े भाग्य से—अनेक जन्मों के पुण्य कर्मों से—प्राप्त होती है। भरतजी की ऐसी ही दशा हो गयी थी। कभी-कभी तो वे प्रेम में निमग्न होकर ऐसे बेसुधि हो जाते थे, किन्तु उन्हें संसार का भान ही न रहता। कण्ठ गद्गद् हो जाता। नेत्रों में नीर भर जाने से उनकी दृष्टि रुक जाती, सम्मुख खड़े पुरुष को भी वे नहीं देख सकते थे।

कुछ काल के पश्चात् तो उनकी स्थिति और भी ऊँची हो गई। वे पूजा करते-करते अपने आपे को भूल जाते थे। अर्घ्य दे रहे हैं तो पड़ियों अर्घा को ही हाथ में लिये बैठे हैं पुष्प चढ़ाने के पश्चात् फिर से पाद्य अर्घ्य आचमन दे रहे हैं। ध्यान में ऐसे निमग्न हो जाते, कि पूजा के क्रम को ही भूल जाते।"

इस पर राजा परीक्षित ने पूछा—"प्रभो! बहुत-सी बातों को

स्मृति हीन जड़ पुरुष भी भूल जाते हैं, तो क्या वे भी महात्मा हैं ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"नहीं, महाराज ! वे तो तमगुण के आधिक्य से स्मरण नहीं रख सकते। घोर तमोगुण की और घोर सत्वगुण की स्थिति दूर से देखने पर प्रायः एक-सी ही जान पड़ती हैं। तमोगुणी भी आलस्य में निश्चेष्ट पड़ा रहता है और सत्वगुणी भी निष्क्रिय हो जाता है, किन्तु एक स्थिति अज्ञान-जन्य है दूसरी ज्ञान-जन्य। जड़मति पुरुष बुद्धि की न्यूनता से-तम के प्रभाव से बातों को भूल जाते हैं, किन्तु भरत जैसे भगवद्भक्त तो अपने परम प्रेमास्पद श्रीश्यामसुन्दर के अरुण चरण कमल के निरन्तर ध्यान से प्राप्त भक्तियोग के द्वारा परमानन्द से लबालब भरे हुए हृदय रूप गम्भीर सरोवर में बुद्धि के निमग्न हो जाने से बाह्य क्रियाओं की बात को कौन कहे, अपने आप तक को भूल जाते हैं, वे आनन्द का अनुभव करते-करते तद्रूप हो जाते हैं। इसलिये भरतजी बाह्य पूजा को भूलकर पूज्य के पादपद्म के ध्यान रूप अर्चन में ही तल्लीन हो जाते थे।

वे वन में रहकर मुनिव्रत का पालन करते थे। राजसीय वस्त्रों का उन्होंने परित्याग कर दिया था, वे वल्कल वस्त्र पहिनते काले हिरन का मृग चर्म ओढ़ते। वन में अपने आप गिरे फलों को लेकर भगवान् का भोग लगाकर उसी नैवेद्य को पाते। उनके काले काले घुँघराले बाल तैल आदि के न लगाने से परस्पर में चिकट गये थे जिससे वह लटा रूप में परिणित हो गये थे। उनके तेजस्वी मुख मंडल पर वे लटायें वक्र होकर लटकती तो ऐसा प्रतीत होता था मानों चन्द्रमा के ऊपर अमृत पान करने को काले सर्प चढ़ रहे हों। सूर्य मण्डल के उदय होते ही वे सूर्य सम्बन्धिनी ऋचाओं को पढ़कर हिरण्यमय पुरुषोत्तम भगवान

सूर्यनारायण के सम्मुख खड़े होकर उनकी प्रार्थना करते उनकी शरण में जाते उनके गुणों का गान करते, उनकी महत्ता बताते। इस प्रकार तेज स्वरूप नारायण का ध्यान करते-करते उन्हें वन-वास करते हुए बहुत दिवस व्यतीत हो गये।

छप्पय

पूजा तें अनुराग हृदयमहँ बढ़्यो प्रबल अति।
प्रियतम के पद पद्म माँहिं उरझी उनकी मति॥
पूर्यो पय आनन्द हृदय सर बुद्धि बुयाई।
भये प्रेम महँ मग्न बाह्य पूजा बिसराई॥
कुटिल अलक लट बनि गये, जटा जूट को मुकुट सिर।
भक्तराज बनि आजहीं, कियो कृष्ण महँ चित्त थिर॥

भरतजी और मृगशावक

(३२३)

नित्यं ददाति कामस्यछिद्रं तमनु येऽरयः ।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥*

(श्री भा० ५ स्क० ६ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

ऐसें पूजा करत बिताये नृप बहु वत्सर ।
करें नियम व्रत नित्य रहें पूजा महँ तत्पर ॥
इक दिन मज्जन हेतु भरत सरिता तट आये ।
पढ़े वेद के मन्त्र गडकी जल महँ न्हाये ॥
सन्ध्या करि नृप जप करहिँ, कूल छटा मन भाविनी ।
सुनी सिंह ध्वनि मृगी इक, पार निहारी गर्भिनी ॥

इस मन मे अनेक जन्मों के संस्कार भरे पडे हैं, उनका सम्बन्ध काल के साथ है । किस काल मे कौन से सम्बन्ध जागृत

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित से कहते हैं—"राजन् ! योगियों को इस दुष्ट मन पर कभी विश्वास न करना चाहिये । जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पहिले तो पति पर प्रेम प्रकट करके अपना विश्वास उत्पन्न करा लेती है, पीछे जार पुरुषो को अवकाश देकर उसे नष्ट करा देती है, वैसे ही जो योगी मन पर विश्वास कर लेते हैं, उनका मन काम और उनके अनुयायी लोभ मोहादि शत्रुओं को अवकाश देकर उसे साधन से च्युत कर देते हैं ।"

हो उठें कुछ निश्चय नहीं। जो लोग महलों को त्याग गये, वे अंत में एक झोपडी के लिये लड पडे। जिनके घर में पतिव्रता, सुशीला, सत्कुलप्रसूता पतिपरायणा पत्नी है उसे त्यागकर पुश्चली वेश्या के फंदे में फँस जाते हैं, इसे दैव की विडम्बना के अतिरिक्त क्या कह सकते हैं? जीव इस प्रारब्ध से अवश हो जाता है। जो मन कल तक जिस वस्तु को हेय समझता था, वही आज संस्कारों के अधीन होकर उसमें प्रियत्व की, निजत्व की भावना कर बैठता है। इसीलिये यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि हमारा मन वश में हो गया, अब हमें साधना की आवश्यकता नहीं। सिद्धान्त यही है कि जीवन पर्यन्त मन का विश्वास न करे, सदा इस पर अंकुश लिये चढ़ा रहे। जहाँ इसकी रस्सी ढीली की नहीं वहीं यह उछल कूद मचाने लगता है। अनित्य में नित्य की, अप्रिय में प्रिय की, परत्व में निजत्व की भावना करने लगता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज भरत वानप्रस्थाश्रम में रहकर यम नियमों का पालन करते हुए, भगवत् परिचर्या में निमग्न रहने लगे उनकी बहुत उच्चावस्था हो गयी, उन्हें जगत् की प्रायः विस्मृति सी हो गयी।"

एक दिन की बात है, कि महाराज भरत हाथ में जलपात्र लिये कक्ष में कुशासन, मृगचर्म, वल्कल दबाये गण्डकी में प्रातः स्नान करने गये। अरुणोदय की वेला थी। वृक्षों पर बैठे पक्षी चहचहा रहे थे। भगवान भुवनभास्कर अपने लूले सारथी को आगे भेजकर अपने आगमन की घोषणा करा रहे थे। गण्डकी का जल मन्थर गति से गङ्गाजी की ओर प्रवाहित हो रहा था। उसी शान्त वेला में राजर्षि भरत सरिता कूल पर पहुँचे। गंडकी के पश्चिम तट पर आसन वल्कल रखकर उन्होंने स्नान सम्बन्धी मन्त्र पढ़े, फिर संकल्प करके उन्होंने मृत्तिका लगायी और विधि-

वत् स्नान किया। स्नान करके उन्होंने प्रातःकालीन सन्ध्या का अर्घ्य दिया। इतने में ही अम्बर के पट को उठाकर भगवान् मरीचिमाली जगत् के प्राणियों को झाँकने लगे। भरतजी ने उपस्थान द्वारा सूर्य का सत्कार किया, पुनः वे जल में खड़े होकर तीन मुहूर्त तक एकाक्षर प्रणव मन्त्र का शान्त चित्त से जप करते रहे। वे नेत्र बन्द करके नदी में खड़े भगवान् के ध्यान में तल्लीन हो रहते थे। ब्रह्म के वाचक प्रणव का जप करते हुए वे उसके अर्थ का अव्यग्र भाव से भावना कर रहे थे। उसी समय उनकी आँखें खुल गयीं। आँखें खुलते ही वे क्या देखते हैं, कि एक मोटी ताजी हरिणी एकाकी खड़ी अपनी चञ्चल दृष्टि से इधर-उधर भयभीत हुई निहार रही है। शङ्कित चित्त से कुछ काल वह स्वभाव भीरु मृगी कान लगाकर कुछ सुनती रही और फिर शनैः-शनैः सरिता के समीप आकर सुस्वादु सलिल का पान करने लगी। प्रतीत होता था, वह चिरकाल से प्यासी थी, किसी अघटित घटना के कारण वह अपने यूथ से भ्रष्ट हो गयी थी। गंडकी के मधुर जल को उसने पेट भर के पीया। इतना अधिक जल पीने से उसकी दोनों कोखें फूल गयीं वह आवश्यकता से अधिक मोटी प्रतीत होती थी। उसके बढ़े हुए पेट से प्रतीत होता था वह गर्भिणी है और शीघ्र ही प्रसव करने वाली है। उस बड़े-बड़े चञ्चल नेत्रों वाली गर्भिणी हरिणी को राजर्षि भरत देखते-देखते ही रह गये। मुख से तो एकाक्षर मन्त्र का उच्चारण हो रहा था और दृष्टि उस मृगी की ओर लगी थी। एक बार पानी पीकर वह इधर-उधर देखकर फिर पानी पीने लगी। सहसा दशों दिशाओं को गुञ्जाती हुई सिंह की भयानक दहाड़ उसे सुनायी दी। मृगवाला एक तो स्वभाव से ही भीरु होती है दूसरे वह एकाकी थी, अकस्मात् सिंह के शब्द को सुनकर वह चौंक पड़ी। घबड़ा गयी, किंकर्तव्यविमूढ़ा-सी बन गयी। उसे ऐसा प्रतीत

हुआ, मानों सिंह मेरे सिर पर ही आ गया है। आत्मरक्षा का और कोई भी उपाय न देखकर उसने अपना सम्पूर्ण बल लगा कर एक छलाँग मारी। उसने सोचा होगा मैं छलाँग मारकर गण्डकी के पार पहुँच जाऊँ तो सिंह के भय से बच जाऊँगी। सिंह उस पार तक मेरा पीछा न करेगा जब प्राणी के प्राणों पर आ बनती है, तो वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर निःशेष बल को व्यय करके जीवन की रक्षा पर उतारू हो जाता है। हरिणी सम्पूर्ण बल के साथ उछली तो अवश्य, किन्तु उछलने से उसके गर्भ का शिशु अपने स्थान से हट गया। स्थान से हटते ही योनि द्वार से निकलकर बीच में ही नदी के प्रवाह में पतित हो गया। हरिणी ने अपना सम्पूर्ण बल लगाया था अतः गर्भपात होने से वह मूर्छित हो गयी और उसी मूर्छितावस्था में पर्वत की एक गुफा के पाषाण खंड पर धडाम से गिर पड़ी और गिरते ही मर गयी।

राजर्षि भरत यह सब चरित अपनी आँखों से देख रहे थे। मरी हुई हरिनी को तो उन्होंने देखा नहीं, नदी के तीक्ष्ण प्रवाह में बहते हुए उस मृगशावक को उन्होंने देखा। देखते ही उनके हृदय में दया आ गयी। शीघ्रता से बिना सोच विचार किये ही वे आगे बढ़ गये और बहते हुए बच्चे को लपककर पकड़ लिया भोला भाला मृग शिशु अपने रक्षक उन राजर्षि की ओर दया भरी दृष्टि से अपलक होकर निहारने लगा। उस अनाथ बच्चे की भयभीत कातर दृष्टि को देखकर भरतजी का हृदय दया से भर गया। उन्होंने अपने वल्कल से बच्चे का अङ्ग पोंछा और वे उसकी माता की खोज में चले। सामने ही उन्होंने मृतकावस्था में पड़ी हुई हरिनी को देखा। अब तो राजर्षि बड़ी चिन्ता में पड़े। भगवान् ने मुझे इस बालक को दीन हीनावस्था में सौंपा है। अब इसे किसके हाथों सौंपूँ। यहाँ अकेला इसे छोड़

तो सिंह व्याघ्र खा जायँगे उनमे किसी तरह बच गया तो कोई व्याधा पकड़ ले जायगा और काटकर बेच देगा। कैसे करें, इसकी रक्षा का एक ही उपाय है, इसे आश्रम पर ले चलें। बड़ा हो जायगा, तब इसे छोड़ देंगे। इस अरण्य में मैं ही इसका शरण्य हूँ। इसका पालन-पोषण मुझे आत्मीय स्वजन की भाँति करना चाहिये। बच्चे तो स्वभाव से ही प्यारे होते हैं, तिस पर भी वह दुःखी था, विपत्ति में फंसा था, सद्यःजात मृगशावक था, भरतजी उसे बड़े स्नेह से सम्हालकर अपने आश्रम पर ले गये। जाकर उन्होंने जलपात्र रख दिया। वल्कलों को फेंक दिया। गोदी से बच्चे को उतारा। धूप में बिठाकर उसके शरीर को गरम किया। हाथों से धीरे-धीरे खुजलाया और पास में ही खड़ी कोमल-कोमल दूब के कुछ पत्ते लाकर उसके मुख में देने लगे। उस मृगी तनय ने जीभ से उन तृणों को चाटा और उगल दिया। भरतजी ने अपनी उटज के एक कोने में सूखी घास पर बिठा दिया। सायंकाल पानी पिलाया तो उसने पी लिया।

दूसरे दिन फिर भरतजी ने घास खिलाई उसने खा ली। अब तो वह घास खाने लगा। दो चार दिन में इधर-उधर घूमकर अपने नन्हें-नन्हें दाँतों से घास को स्वयं काट-काटकर चबाने लगा। अब तो भरतजी को बड़ा आनन्द हुआ। यहाँ शान्त एकान्त अरण्य में एक भोला भाला साथी मिल गया खेलने को सजीव सुन्दर खिलौना मिल गया। वे उसे गोद में लेकर खेलने लगे।

मन तो एक ही है उसे चाहे भगवान् की चिन्ता में लगा लो या मनोरंजन के लिये आत्मीय व्यक्तियों की भरण-पोषण की चिन्ता में फँसा लो। पहिले तो भरतजी को उठते ही भजन पूजन, भगवत् स्मरण, जप, समाधि की चिन्ता होती थी, अब उठते ही उस मृगशावक की सुविधा की ओर चित्त जाता। यह दुबला

क्यों हो रहा है। यह सुस्त क्यों है, इसके प्रति इतना प्रेम प्रदर्शित करना चाहिये कि यह अपनी माता का स्मरण ही न करे। यह प्राणी किसी के प्रेम के सहारे जीता है। इस अनाथ बालक को जन्म से ही किसी का प्रेम प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये मैं इसे प्रेम में डुबा दूँगा। इस अरण्य में भी भगवान् ने मेरा एक साथी भेजा है। इसके लिये मैं अपने हृदय के द्वार को मुक्त कर दूं। यह सोचकर वे उसके मुँह को चूमते, उसके बदन को शनैः-शनैः खुजलाते, उसके अङ्गों पर हाथ फेरते। हरी दूब लाकर स्वयं खिलाते। अब उसके छोटे छोटे सींग निकल आये थे इसलिये उनसे वह भरतजी के शरीर में टुड्डु मारता उनकी गोदी में अपना मुख रख देता। विनयी पुत्र की भाँति उनके पीछे-पीछे चलता। प्राणी को जिससे भी प्रेम प्राप्त होता है उसी के हाथों बिक जाता है। इसी प्रकार भरतजी उस हरिन के बच्चे के मोह में फँस कर भगवत् भजन को तो गौण समझने लगे हरिन का लालन-पालन ही उनका मुख्य कर्त्तव्य हो गया। अब तक १०० माला जपते थे, कुछ दिन में ५० फिर १० फिर ५ फिर माला झोली सब छूट गयी। यम, नियम सब भूल गये। हाय मेरा बच्चा हाय मेरा मुनुआ यही करते करते उनका समय बीतने लगा।

यह सुनकर शौनकजी कहने लगे—"सूतजी! हरिन के बच्चे के पीछे भरतजी ने सब यम नियमों को क्यों छोड़ दिया, आश्रम में पशु पक्षी भी तो रहते ही होंगे, वैसे ही हिरन का बच्चा पला रहता। इसके लिये भजन पूजन छोड़ने की क्या आवश्यकता थी?"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"भगवन्! जीवों की एक सी स्थिति नहीं रहती, या तो वह उन्नति की ओर अग्रसर होता है या गिरता है तो फिर पतन की ओर ही बढ़ता जाता है। नियमों का कड़ाई के साथ पालन किया जाय तब तो उन्नति होती है।

जहाँ नियमों में तनिक भी ढिलाई की फिर नियम सधते नहीं। मन को तो कुछ बहाना चाहिये, संसार के प्रवाह में बहने का तो इसका जन्म-जन्मान्तरों का स्वभाव है उसे सिखाने की आवश्यकता नहीं। भगवान् की ओर इसे बलपूर्वक यत्न से कठिनता के साथ लगाना पड़ता है। जैसे नीची पृथ्वी में जल अपने आप बहने लगता है। ऊँची भूमि में प्रयत्नपूर्वक युक्तियों से चढ़ाया जाता है। जहाँ तनिक भी नियम में ढिलाई हुई कि फिर नीचे की ओर ही बहने लगेगा। जो अपने वस्त्रों की स्वच्छता पर सदा ध्यान रखता है, मैले न होने देने के लिये निरन्तर सचेष्ट बना रहता है, वह तो वस्त्रों को स्वच्छ बनाये रखता है। किन्तु जहाँ तनिक भी मैले हुये और उनकी उपेक्षा की तो फिर रही सही स्वच्छता को भी खो बैठता है। सोचता है—मैले तो हो ही गये अब क्या है, अवसर पड़ने पर धो लेंगे। इस विचार से वह कूड़े कर्कट में भी जहाँ तहाँ बैठ जाता है। एक बार नियम छोड़ा कि फिर आदमी गिरता ही जाता है इस विषय में आपको एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।

किसी एक व्यक्ति ने किसी संन्यासी को मांस खाते हुए देखा। उसने अत्यन्त आश्चर्य के सहित पूछा—"अरे, साधु बाबा! तुम संन्यासी होकर मांस खाते हो?"

उसने अत्यन्त ही उपेक्षा के स्वर में कहा—"हाँ, भाई! खाते तो हैं, किन्तु मांस का स्वाद तो शराब के साथ है। बिना सुरा के मांस में उतना आनन्द नहीं आता।"

उस व्यक्ति ने अवाक् होकर पूछा—"तो क्या देवता जी! आप सुरापान भी करते हैं?"

उस साधु ने विवशता के साथ कहा—"वैसे तो मैं सुरापान नहीं करता। अकेले आनन्द भी नहीं आता। हाँ वेश्याओं के

पास जाता हूँ तो वहाँ सबके साथ मिलकर पीने में बड़ा सुख प्रतीत होता है।"

उस व्यक्ति ने माथा ठोकते हुए कहा—"निर्लज्जता की भी सीमा होती है बाबाजी महाराज! कोई कुकर्म आप से छूटा भी है या नहीं! किन्तु मुझे आश्चर्य इस बात पर हो रहा है, कि वेश्यायें तो बिना पैसे के बात भी नहीं करतीं, आपके पास उन्हें देने को पैसा कहाँ से आता है?"

साधु ने दीर्घ निःश्वास लेते हुए कहा—"भैया! न मैं नौकरी करता हूँ न व्यापार। खेती मेरे होती नहीं। पैसा की आवश्यकता होती ही है इसलिये चोरी करता हूँ, जुआ खेलता हूँ, उससे जो द्रव्य मिलता है उसी से अपने व्यसनों को पूरा करता हूँ।"

उस व्यक्ति ने घृणा के भाव से कहा—"छिः-छिः, राम राम! साधु का वेष बनाकर चोरी करते हो। इतना पाप कमाते हो?"

विवशता के स्वर में साधु ने कहा—"भैया! जिसने एक बार अपना सदाचार खो दिया, फिर वह नीचे गिरता ही जाता है। जो नष्ट हो गया है, उसकी और क्या गति हो सकती है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नियम जब तक दृढ़ता से पालन होते रहते हैं, तभी तक उनकी रक्षा होती है, जहाँ शिथिलता आयी, कि समाप्त हो गये। एक वैष्णव थे, माता पिता के संस्कारों से उन्हें मांस से बड़ी घृणा थी। उनका एक साथी मांसाहारी था। वह मांस की बहुत प्रशंसा किया करता था। ये उसे बहुत डाँटते थे। कई दिन उसने छिपकर साग में मांस रस मिलाकर उसे भूल में खिला दिया। अब तो उसकी जिह्वा को उसका स्वाद लग गया। एक दिन बिना मांस रस का साग दिया, उतना स्वादिष्ट न होने से वैष्णव ने प्रश्न किया—"क्यों भैया! आज शाक में वैसा स्वाद नहीं है।" उसने हँसते हँसते कहा—"अब तक मैं मांस मिलाकर बनाता था।" यह सुनकर मोहवश

उसने कहा—"अब तो भ्रष्ट हो ही गये। जैसा ही एक बार खाया वैसा ही अनेक बार, आज से हम भी खाया करेंगे।" इस प्रकार वह भी मांसाहारी बन गया। सो, मुनियो! नियमों में व्रतों में ढिलाई करने से उनकी रक्षा नहीं हो सकती। भरतजी ने उस हरिन के बच्चे के मोह में फँसकर अपने सब नियम व्रत त्याग दिये। अब तो वे नित्यप्रति उसके खाने पीने की चिन्ता करने लगे। दूर से हरी-हरी कोमल-कोमल घास लाते, उसे अपने साथ ले जाते बैठकर चुगाते रहते। वह न खाता तो प्रेम से पकड़ कर कोमल-कोमल घास उसके मुख में देते। गण्डकी में ले जाकर उसे मल-मलकर नहलाते। वल्कल वस्त्र से उसके अङ्गों को पोंछते। फिर अपने साथ-साथ लेकर कुटी पर आते। बड़े-बड़े वृक्षों की मोटी-मोटी शाखायें काट-काटकर उन्होंने उन्हें गड़कर बाड़ बनाई। उसे घास फूस से छाया। इस प्रकार पत्थर रखकर रक्षा कर दी, कि कोई सिंह व्याघ्र आकर मेरे बच्चे को कष्ट न दे। इतना सब प्रबन्ध करने पर भी रात्रि में कई बार उठ-उठकर देखते। जब उसे सकुशल बैठे हुए जुगार करते पाते, आनन्द में विभोर हो जाते, उसे पुचकार कर कहते—"अरे तू अभी तक सोया नहीं क्या? सो जा बच्चे? सो जा।" यह कहकर उसे सुला देते। दिन भर उससे प्यार करते। उसके मुँह को बार-बार चूमते, पुचकारते। इन सब कामों से उन्हें अवकाश ही नहीं रहता था, कि भगवान् की सेवा करें। अब उनके लिये सेवनीय पूजनीय स्मरणीय चिन्तनीय वह मृगशावक ही हो गया।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अधिक क्या कहें, राजर्षि भरत को उस मृगशावक में औरस पुत्र से भी बढ़कर अपनेपन का अभिमान हो गया। अब वे उसे ही अपना सर्वस्व समझने लगे।"

छप्पय

हरिमहँ जो मन लग्यो हरिनमहँ फँस्यो भाग्यवश ।
करे हरिन जस काज करें भूपति हू तस तस ॥
चाटें चूमें प्यार करें तनकूँ खुजिलावें ।
पुचकारें तृन लाइ स्वयं निज करनि खवावें ॥
चलत फिरत सोवत उठत, छाया सम राखें निकट ।
तजि सरवस मृग मोह महँ, फँसे मोह महिमा विकट ॥

भरतजी का मृगशावक के प्रति मोह

(३२४)

कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः ।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद् बुधः ॥ ॐ

(श्री भा० ५ स्क० ६ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

सुनि दहाड़ हरि मृगी भई भय तें अति चिन्तित ।
मारी एक छलाँग नदी कूँ पार होन हित ॥
भरे पेट श्रम भयो नदी महँ गर्भ गिरायो ।
पार जाइ गिरि मरी भरत मृग शिशु अपनायो ॥
करुणावश सँग ले गये, सुत समान पालन करयो ।
मोह माँहिं तन्मय भये, हाथ हवन करतहिं जरयो ॥

प्रारब्ध पुरुष को कहाँ-कहाँ भटकाता है, इसका कुछ निश्चय नहीं हो सकता । कौन इस बात पर विश्वास कर सकता है, कि त्रैलोक्य विजयी अर्जुन को केवल लाठियों के बल से जंगली आभीरों ने जीत लिया । श्रीकृष्ण की उपभोग्य रानियों के साथ दस्युओं ने बलात्कार किया, उन्हें बलपूर्वक उठा ले गये, किन्तु हुआ ऐसा ही । अर्जुन और कृष्णपत्नियों के प्रारब्ध ने अपना

ॐ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो मन काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह और भय आदि शत्रुओं का तथा कर्म बन्धन का मूल कारण है, उस पर कौन बुद्धिमान पुरुष विश्वास कर सकता है ?"

चमत्कार दिखाया। उनके मन में जो यत्किंचित अपने आप पर अभिमान हुआ होगा काल ने उस मान का मर्दन कर दिया। भाग्य ने असम्भव घटना को सम्भव कर दिया। दैव ने अनहोनी बात को प्रत्यक्ष करके दर्शा दिया। इसीलिये तो दैव को दुर्निवार कहा है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज भरत एकान्त में निश्चिन्त होकर भजन कर रहे थे। दैव वहाँ विघ्न रूप से मृगशावक का शरीर धारण करके उनके योग में अन्तराय बन कर उपस्थित हो गया। वे सब ज्ञान ध्यान छोड़कर मृग के मोह में फँस गये।"

राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! भरतजी ने कोई बुरा काम तो किया नहीं। उन्होंने तो दयावश निःस्वार्थ भाव से पानी में बहते हुए असहाय मृगाशावक की रक्षा की। प्रत्येक सहृदय व्यक्ति का कर्तव्य है, कि किसी भी जीव को विपत्ति में फँसा देखे तो उसकी यथाशक्ति सहायता करे, प्राणों की बाजी लगा-कर भी उसे बचावे। फिर आप इसे बार-बार मोह क्यों कहते हैं। क्या वे अपने सामने उस बच्चे को बहने देते। यदि महा-राज! निर्दयता का ही नाम वैराग्य है तो ऐसे वैराग्य को दूर से दण्डौत है।"

इस पर अत्यन्त गम्भीर होकर श्रीशुक बोले—"महाराज! आप मेरे अभिप्राय को समझे नहीं। दया में और कृपा में तनिक अन्तर होता है। प्रेम में और मोह में भेद है। दया तो प्राणी मात्र पर समान रूप से की जाती है। जिसे भी दुखी देखा उसके ही दुख दूर करने की भावना मन में हो गयी, इसका नाम दया है। जिनसे अपना कोई सम्बन्ध है जिनमें अपनापन है उनके दुख में जो दुखी होता है उनके लिये जो कुछ करते हैं कृपा के वशीभूत होकर करते हैं। दया समष्टि

रूप में की जाती है कृपा व्यष्टि रूप से। अर्जुन ने युद्ध के समय जो बातें कही थीं वे सिद्धान्तः सत्य थीं, किन्तु कृपावश परिवार के पुरुषों के प्रति ममता के कारण कहीं थी अतः वह मोह जनित थीं। भगवान् ने उनके मोह को दूर किया प्रत्येक बालक को देखकर प्रेम होना स्वाभाविक है, किन्तु उसमें अपनापन स्थापित कर लेना और फिर उस अपनेपन के कारण एक में ही अपने प्रेम को सीमित कर देना वही मोह है। बन्धन का कारण आसक्ति है। वाटिका में नाना भाँति के पुष्प खिले हैं, उन्हें देखकर चित्त प्रसन्न होता है, स्वाभाविक है। किन्तु उनमें आसक्त होकर उनमें से एक को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना एक को अपनाना उसी में निजत्व स्थापित कर लेना यह मोह है।

राजर्षि भरत ने मृग के बच्चे को जल से निकाला यह तो उचित ही किया। कुछ दिन पाला पोसा यह भी अच्छा ही किया किन्तु उसमें अपनेपन का अभिमान करके निरन्तर उसी के सम्बन्ध में सोचते रहना यह प्रत्यक्ष मोह था, तपस्या में विघ्न था राजर्षि का पतन था उनको उसे छोड़ देना चाहिये था।

राजा ने पूछा—"भगवन्! बाहर छोड़ आते और फिर आ जाता तो?"

श्रीशुक ने गम्भीर होकर कहा—महाराज! यह बात नहीं है। जीव वहीं आता है, जहाँ कुछ आसक्ति देखता है बच्चा उसी की गोदी में दौड़ता है जहाँ उसे आदर मिलने की सम्भावना रहती है, आ जाता, पड़ा रहता और भी तो हरिन के बच्चे आते होंगे। राजर्षि उनकी ओर देखकर अपने भजन पूजन में लग जाते थे। किन्तु इस बच्चे को तो वे अपने सगे पुत्रों से भी अधिक प्यार करने लगे।

कभी-कभी उनका विवेक उन्हें धिक्कारता और कहता

तुम भजन करने आये थे और इस हिरन के बच्चे में फँस गये। इस पर हृदय मे प्रारब्धवश उत्पन्न हुआ मोह नाना प्रकार की युक्तियों द्वारा इसका खण्डन करता। राजर्षि सोचते—"देखो इस बच्चे का प्रारब्ध कैसे खोटा था। जब यह गर्भ में था तभी इसकी माता का अपने झुण्ड से, पति से, सुहृद तथा बंधु बान्धवों से विछोह हो गया। एकाकी इसकी माँ इसे उदर में रखे घूमती रही। भाग्यवश इसका जन्म भी हुआ तो सिंह के भय से नदी के गर्भ मे हुआ। मेरी तनिक सी दृष्टि न जाती तो इसका उसी समय अन्त ही हो जाता। जन्मते ही इसकी माँ मर गयी, अनाथ और असहाय हो गया। भगवान् ने मुझे धरोहर रूप मे इसे दे दिया। यद्यपि यह भोला भोला पशु है तो भी मेरी शरण में आया है। शरणागत की रक्षा तो प्राण देकर भी की जाती है। मैं तो मनुष्य हूँ। एक कबूतर की स्त्री को एक व्याधा ने बाँध लिया था। रात्रि में वह व्याधा उसी पेड़ के नीचे आकर टिका जिस पर अपनी पत्नी के वियोग मे दुख से दुखी कबूतर बैठा था। जाड़े का दिन था वर्षा हो रही थी व्याधा को बड़ी ठंड लग रही थी। कबूतर ने सोचा—"यद्यपि इसने मेरी स्त्री को बाँध लिया है और यह नित्य ही जीवों की हिंसा करता है फिर यह मेरे आश्रय में आया है अतिथि बनाकर भगवान ने भेजा है। मुझे इसकी रक्षा करनी चाहिये, यह सोचकर वह सूखी-सूखी लकड़ियाँ लाया चोंच मे कहीं से आग ले आया अब अग्नि जल गयी तो स्वय उसकी भूख शान्त करने को अग्नि में गिर पड़ा कि मुझे भूनकर यह खा ले। जब एक पक्षी ने अपने आश्रय मे आये व्याधा की प्राण देकर रक्षा की तो मैं तो मनुष्य हूँ, इस हरिन के बच्चे की उपेक्षा कैसे कर सकता हूँ। शास्त्रकारों का कथन है, कि शरणागत की रक्षा के लिये पुरुषों को अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थों का भी परित्याग कर देना चाहिये। भजन

पूजन तो फिर भी हो सकता है यह बच्चा मर गया तो फिर कैसे जी सकता है। इस प्रकार की अनेकों युक्तियों द्वारा मन को समझाकर भरतजी अत्यन्त मनोयोग के साथ उनका लालन-पालन-पोषण तथा तोषण करने लगे। भरतजी की उस बच्चे में इतनी अधिक आसक्ति बढ़ गई, कि उसे छिन भर भी अपने नेत्रों से पृथक् नहीं कर सकते थे। उसके स्नेह पाश में बँधकर वे उसके अधीन हो गये। जहाँ भी बैठते उसे पास में बिठाते, लेटते तो अपनी बगल में ही लिटाते, घूमने जाते तो उसे साथ लेकर ही जाते, भोजन करते तो उसे सामने बिठालते। एक ग्रास स्वयं खाते दूसरा उसे खिलाते जाते। स्नान करने जाते तो उसे साथ ले जाते, पहिले उसे नहला लेते तब स्वयं नहाते। कभी कुशा, समाधि, पत्र, पुष्प, फल, फूल, मूल तथा कन्द आदि लेने जाते तो उसे भी संग ही ले जाते। वे सोचते—"ऐसा न हो पीछे कोई सिंह व्याघ्र आकर मेरे छौने को खा जाय। यदि इसका कुछ भी अनिष्ट हो गया तो मेरा जीवन ही व्यर्थ है। मार्ग में जाते-जाते कई बार उसे पुचकारते, प्यार करते उसके शरीर में गुलगुली करते, फिर कहते—"अरे राजकुमार! तू बड़ा सुकुमार है इतनी दूर चलने से तू अवश्य ही थक गया होगा, आ बेटा! तुझे कन्धे पर चढ़ालूँ। यह कहकर उसे कन्धे पर चढ़ा लेते और बहुत दूर तक चढ़ाये-ही-चढ़ाये चले जाते। कभी-कभी उसे कसकर अपनी छाती से चिपटा लेते, कभी उसके मुख को अपनी गोद में रखकर बार-बार उसके मुख को फाड़ते और फिर पोली उँगलियों से पकड़कर उसे दबाते। इस प्रकार उसके खेलते हुए आश्रम में लौट आते।

यद्यपि अब उनका भजन ध्यान तो सब छूट ही गया था। फिर भी स्वभावानुसार कुछ देर माला लेकर बैठते, किन्तु चिन्ता सदा उस मृगशावक की ही बनी रहती। बार-बार निहारकर

देखते, बैठा है कि कहीं चला गया। यदि दिखाई न देता, तो झोली माला रखकर बीच में ही उठकर देखते, कहीं भाग तो नहीं गया। जब उसे दूर बैठा देखते तो पास जाकर कहते—"बेटा! अच्छे हो, भगवान तुम्हारा मङ्गल करें। तुम मेरी दृष्टि से दूर हटकर क्यों बैठते हो? चलो मेरे सामने बैठो। यह कह उसे लिवा लाते बैठाकर उसके शरीर को खुजवाते और फिर भाँति भाँति से उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करते।

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज! मोह इतना बलवान है, कि जिसके प्रति भी हो जाय उसी को चित्त सर्वस्व समझने लगता है। इसीलिये साधुओं को किसी भी स्त्री, पुरुष, बालक, पशु, पक्षी में आसक्ति मानकर निजत्व भाव न करना चाहिये। राजन्! हमने बहुत से त्यागी विरागी साधुओं को देखा है, पहिले तो उन्होंने किसी अबला को दयावश आश्रय दिया, पीछे उसी के चक्कर में फँस गये। समीप मे रहने से और अपने अनुकूल आचरण करने से अनुराग हो ही जाता है। चित्त तो किसी को प्यार करने को छटपटाता ही रहता है। भगवान् तो दीखते ही नहीं, दीखते भी हैं तो बडी कठिनता से किसी को दिखाई देते हैं इसीलिये समीप रहने वाले के प्रति अनुराग आसक्ति और मोह हो जाता है। इसीलिये साधु के समीप जो भी आवे उसके प्रति मोह न करे। उसके अनुकूल आचरणों मे आसक्ति न करे, बार-बार स्मरण करता रहे, कि जब हम अपने शरीर के सगे सम्बन्धियों को छोड आये, तो किसी अन्य में आसक्ति क्या करनी। यदि इस बात को भूल गया, तो न घर का रहेगा न घाट का, न साधु ही रहेगा न गृहस्थी। न या बाजू न वा बाजू, न बाबाजी न बाबूजी। आया नष्ट होकर नष्ट हो जायगा। भरतजी उस हरिन के बच्चे के मोह में फँसकर योगमार्ग से च्युत हो गये, वे आवागमन की चूक से निकलते-निकलते फिर से फँस गये।"

द्रुपद

औरस आत्मज तनुज धार्मिन त्यागे निज सुत ।
जो सबई सुकुमार सुघड सुन्दर सुशीलयुत ॥
तृन सम त्याग्यो राज सुन्दरी महिषी त्यागीं ।
रूपवती गुणवती मृतक सम ते सब लागीं ॥
ठगे भाग्य ने भरतजी, चढ़ि ऊचे नीचे गिरे ।
मूर्तिमान दुर्भाग्य मृग, के चक्कर महँ नृप परे ॥

भरतजी को मृग बालक का वियोगजन्य दुख

[३२५]

राजन् मनीषितं सम्यक् तव स्वावद्यमार्जनम् ।
सिद्ध्यासिद्ध्योः समं कुर्याद्दैवं हि फलसाधनम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३६ अ० ३८ श्लोक)

छप्पय

मृग शावक इक दिवस दूरि चरिबेकूँ धायो ।
सब दिन बीत्यो नहीं लौटि आश्रम महँ आयो ॥
विकल भये अति भरत रुदन करि इतउत धावें ।
लै लै वाको नामु करुन स्वर ताहि बुलावें ॥
हाय अभागो हौं लुट्यो, आजु कहाँ मम सुत गयो ।
को करि क्रीड़ा देहि सुख, जग वा बिनु सूनो भयो ॥

मनुष्य की जिसके ऊपर आसक्ति हो जाती है उसके लिये सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। ऐसे कई उदाहरण प्रत्यक्ष देखने में आये हैं कि साधारण स्त्री के पीछे बड़े-बड़े सम्राट् ने स्वेच्छा से राज सिंहासन का त्यागकर दिया है। बड़े-बड़े महात्मा

---

* राजन् ! आपने अच्छा ही विचार किया है। अपना अमङ्गल सभी दूर करना चाहते हैं। पुरुष को चाहिये कि सिद्धि असिद्धि में समभाव रखकर अपने कर्तव्य का पालन करता रहे। क्योंकि सभी कर्मों का फल देने वाला दैव ही है।

अपनी यह प्रतिष्ठा खोकर किसी पर आसक्त होकर भ्रष्ट हो गये हैं। मन जिसमें रम जाता है उससे प्यारा उसे संसार में कोई दिखाई ही नहीं देता है। उसे देखे बिना कल नहीं पड़ती, उसकी सङ्गति के बिना संसार शून्य-सा दिखाई देता है, ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं कि जिसके प्रति जिसकी अत्यन्त आसक्ति होती है उसके साथ वे प्राणों का भी मोहवश अन्त कर देते हैं। मन में उसकी मूर्ति बस जाती है उसकी चेष्टा में सुख होता है। उसके प्रत्येक कार्य हृदय को प्रिय लगते हैं उसकी स्मृति में मीठी-मीठी मादकता रहती है। उसकी सभी बातें मिश्री से भी अधिक मीठी लगती हैं।

शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् जब भरतजी का चित्त हरिन बालक में अत्यन्त ही आसक्त हो गया तब एक दिन दैव-वश वह हरिन न जाने कहाँ चला गया। भरतजी ने आसन से उठकर कुटी के चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, किन्तु हरिन के बच्चे का पता ही नहीं। उनका मुख फक्क पड़ गया। दौड़कर इधर गये उधर गये, यहाँ खोजा वहाँ खोजा, हरिन राजकुमार का पता ही न लगा। शङ्कित चित्त से भरतजी गण्डकी के तट पर गये। वहाँ भी अपने बच्चे को उन्होंने न देखा। पल-पल पर उनकी अधीरता बढ़ रही थी। बच्चे को बिना देखे वे व्यग्र हो रहे थे। चित्त चञ्चल हो रहा था, शरीर की सुधि बुधि भूले हुए थे। प्रेम में अनिष्ट की शङ्का पग-पग पर होती है। अब तो मन में अनेक तर्क वितर्क करने लगे। करुणावश हरिण बालक के विरह में व्याकुल हुए वे बड़ी विचित्र-विचित्र बातें सोचने लगे। कृपण जैसे धन नष्ट होने पर दुःखी होता है, धनी जैसे अपने सर्व गुण सम्पन्न इकलौते पुत्र के मर जाने पर अधीर होता है, दूध पाने वाला बालक जैसे माता के बिछुड़ने पर व्याकुल होता है, मछली जैसे जल से पृथक् होने से बिलबिलाती है, सर्प जैसे

मणि के वैसे छटपटाता है, प्रिया जैसे प्रियतम के बिना दुखी होती है वैसे ही राजर्षि उस मृग बालक के बिना दुःखी हो गये।"

वे सोचते—"अवश्य ही मुझसे कोई अपराध बन गया है, तभी तो वह वह मुझे छोड़कर चला गया है। कौन-सी बात हो गई। (प्रातः से दोपहर तक की बात सोचकर) ओहो! आज मैं उसके लिये घास नहीं लाया था पानी पिलाने में भी आज देर हो गई। मेरा ही दोष है, वह तो भोला भाला शिशु है, विचारा दीन दुखी है, उसकी माँ मर गई है। उसने सबसे मुख मोड़कर मेरा आश्रय लिया है, उसने मेरे ऊपर विश्वास किया था। मैं ऐसा व्याधा निकला कि विश्वास उत्पन्न कराके उसे कष्ट दिया उसके साथ विश्वासघात किया। यह कार्य मुझ नीच के अनुरूप ही हुआ, किन्तु वह तो सत्पुरुषों के समान साधु स्वभाव का भोला भाला बालक है, वह तो अवश्य ही मुझे क्षमा कर देगा। वह मेरे अपराधों की ओर ध्यान न देकर लौट आवेगा। (फिर अपने आप ही चौंककर कहने लगे) लौट आवेगा, लौट आवेगा। क्या सचमुच लौट आवेगा? क्या मैं अपनी इन्हीं आँखों से अपने हरिण राजकुमार को आश्रम के निकट कोमल-कोमल हरी हरी दूब चरते हुए देखूँगा? क्या वह पुनः अपने छोटे-छोटे सींगों से मेरे शरीर में हुड्डू मारकर मेरी खुजली को मिटावेगा। उसके सींगों का कैसा सुखद, मृदु और शीतल स्पर्श था। वह कितने प्यार से मेरे शरीर से लिपट-सा जाता था।"

स्नेही हृदय शङ्का से भरा रहता है, अतः भरतजी फिर सोचने लगे—"मुझसे चाहे अपराध हो भी जाय, किन्तु उसका ऐसा सुन्दर शील स्वभाव है, कि वह कभी मुझे स्वेच्छा से छोड़ नहीं सकता। यद्यपि वह पशु योनि में था। किन्तु सब कुछ समझता था। अभी उसका मनोहर बाल चापल्य गया नहीं था।

हरिन स्वभाव से ही चञ्चल होते हैं, तिस पर वह तो अभी बच्चा ही था। कभी-कभी वह बाल सुलभ चञ्चलतावश बहुत उछलता कूदता, तब मैं उसे डाँट देता। मेरी डाँट को सुनकर विनयी सुशील ऋषिकुमार के समान वह उदास होकर मेरे सम्मुख भयभीत की भाँति कान नीचे करके चुपचाप खड़ा हो जाता, तब मैं उसका मुख चूम लेता और प्यार से कहता—बेटा! देख, बहुत उपद्रव नहीं किया करते हैं। आओ फल खाले तब वह मेरी गोदी में बैठकर प्रेमपूर्वक फल खाने लगता। वह मुझे कभी स्वयं छोड़कर जाता ही नहीं था। अवश्य ही उसे किसी व्याघ्र ने खा लिया। हाय! मेरे बच्चे को खाते समय सिंह को दया न आई। जब उसे पञ्जों में दबाकर मारा होगा, तो वह कितना छटपटाया होगा।" (इतना सोचते-सोचते भरतजी रोने लगे)।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! आशा बड़ी बलवती होती है, मनुष्य आशा के सहारे ही जीता है भरतजी को पुनः आशा ने आ घेरा। वे सोचने लगे—"संभव है किसी ने उसे न मारा हो, किसी हरिणी के झुण्ड के साथ दूर तक चला गया हो। सायंकाल होते-होते फिर लौटकर आ जाय। (आने का विचार उठते ही उनका हृदय भर आया वे फिर सोचने लगे) अहा! वह कैसा शुभ मुहूर्त होगा जब मेरा बिछुड़ा बालक फिर से आकर मुझसे मिलेगा। फिर यहाँ आकर अपनी बाल क्रीडायें दिखाकर मेरे मन को प्रमुदित करेगा। उसकी सभी बातें कितनी प्यारी प्रेम भरी होती थीं। मैं कभी कभी उसे ठगने के लिये कुटज के भीतर नेत्र बन्द करके ध्यान का ढोंग करता। यद्यपि मन में मेरे वह समा रहता था, किन्तु ऊपर से समाधि का स्वाँग रचता। वह पीछे से चुपके-चुपके आकर मेरे शरीर में हुड़ मारता और अपने बड़े बड़े विशाल प्रेमप्लावित नेत्रों से बार बार मेरे मुख की ओर निहा-

रता। जब मैं हँस पड़ता तो वह मेरे वल्कल में अपना मुँह छिपा लेता। मेरी गोदी में गिर पड़ता। कभी-कभी पशु होने के कारण हवन की सामग्री को भूल से सूँघ लेता या हरी कुशों को चबा जाता तो मैं उसे घुड़कता—"क्यों रे, तुझे इतना भी ज्ञान नहीं, हवनीय पदार्थ है, तैने इसे उच्छिष्ट क्यों कर दिया। कुशों को अपवित्र क्यों बना दिया। तब तो वह अपराधी की भाँति डरकर मुझसे सटकर मुख नीचा किये लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए उदास हो जाता। कितना सुशील था, वह हरिण युवराज। कितनी उसकी मेरे ऊपर ममता थी। कितना वह मुझे चाहता था, यदि कहीं वह मेरी बात सुन रहा हो, तो शीघ्र आकर मुझ दुखिया को सुखी बनावे।"

हाय! दोपहर ढल चुका। भगवान् भुवन भास्कर, द्रुतगति से अस्तांचल की ओर दौड़े चले जा रहे हैं, प्राची दिशि उनके स्वागत सत्कार को उत्सुक हुई अपनी अरुण वरुण साड़ी-सी पहिने खड़ी है, क्या अब भी मेरा बालक न आवेगा? क्या सायं-काल समझकर भी वह अपने आश्रम को न लौटेगा। अरे, अब मैं उसे कहाँ ढूढ़ूँ। सर्वत्र तो खोज आया। चलो दूर तक और देख आऊँ। यह सोचकर वे फिर से उस मृग छौने को खोजने के लिये निकल पड़े। आगे चलकर क्या देखते हैं, कि पृथ्वी पर उस हरिन के खुरों के चिन्ह उभड़े हुए हैं। उन्हें देखकर राजर्षि विकल होकर बैठ जाते हैं, सोचने लगते हैं—"यह धरती ही धन्य है, जो उस प्यारे दुलारे पुत्र के पैरों के चिन्हों को धारण करती हुई अपने को भाग्यवती सिद्ध कर रही है। शास्त्र-कारों ने कहा है, जिस भूमि पर कृष्ण मृग विचरण करते हैं वह भूमि यज्ञीय भूमि कहलाती है, परम पवित्र तपोभूमि मानी जाती है, कीकटादि देशों में कृष्ण मृग नहीं होते।

आज इन मृग चरण चिन्हों को धारण करके यह वसुन्धरा

भाग्यवती बन गई। यह पृथ्वी कितनी परोपकारिणी है। जिनके घर में चोरी हो जाती है, वे चोरों के पद चिन्हों का अनुसरण करते हुए खोज लगाते हैं। आज मेरा भी सर्वस्व लुट गया। मैं भी कंगाल बन गया मेरी निधि को भी काल रूप चोर ने मुझसे छीन लिया, यह पृथ्वी दया करके उसका खोज बता रही है, मेरा धन इधर से ही गया है इसका पता बता रही है।

अंशुमाली भगवान् दिनकर दिन भर श्रम करने के कारण प्रिया के अरुण अंचल से मुख ढाँककर सो गये। अंबर को एकांत समझकर निशारानी अपने प्राणेश की प्रतीक्षा में आ उपस्थित हुई, इतने में हा हँसते हुए चतुर्दशी के चन्द्र उदित हुए। उन्हें देखते ही भरतजी प्रसन्न हो उठे। उनके अंग में मृग का चिन्ह देखकर वे प्रसन्नता के कारण फूले नहीं समाये, बड़े उल्लास के स्वर में कहने लगे—"चन्द्रदेव! तुम धन्य हो, तुम बड़े परोपकारी हो। तुम्हें सभी ने सुखद शीतल शान्तिकर बताया है। तुमने मेरे बच्चे को छिपा लिया है। यह तुमने अच्छा ही किया, बेचारा मातृहीन था, वन में अकेला ही भटक रहा होगा, तुमने दयावश इसे अपना लिया। साधुओं का ऐसा ही स्वभाव होता है, देखो मेरे मृगशावक को तो तुमने भटका हुआ समझकर परोपकारवश अपनी गोद में रख लिया और पुत्र स्नेह से विकल मुझ भाग्यहीन दुःख दावानल से जलते हुए अशान्ति चित्त मन्द मति को अपनी शीतल, शान्त, स्नेहमयी तथा वदन सलिल रूप अमृतमयी कमनीय किरणों द्वारा सुधा से सिंचित करके सुखी और शान्त बना रहे हो।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"प्रभो! क्या मनुष्य मोह में ऐसा बेसुध बन सकता है? साधारण लोगों की बात छोड़ दीजिये। वे तो अविवेक के कारण मोह ममता में ही फँसे रहते

हैं किन्तु इतने विवेकी, ज्ञानी, ध्यानी तेजस्वी तपस्वी भरतजी एक हरिन के बच्चे के पीछे ऐसे अधीर क्यों हो गये ?"

इस पर दुखित चित्त से श्रीशुक बोले—"महाराज ! इस विषय में और क्या कहा जाय। यही कहना पड़ता है कि उनका कोई घोर अन्तराय प्रारब्ध कर्म ही मूर्तिमान् मृग बनकर वन में उनकी तपस्या में विघ्न करने के लिये आ उपस्थित हुआ। नहीं तो परम धार्मिक सुशील सदाचारी अपने सगे पुत्रों को जो मोक्ष मार्ग में विघ्न समझकर तृण के समान त्यागकर चले आये हों, उनका एक अन्य जाति के पशु में ऐसा मोह हो ही कैसे सकता है ? यह सब दैव की विडम्बना है। प्रारब्ध का चक्र है। भाग्य का खेल है। ललाट की दुर्निवार रेखा का फल है। पूर्व जन्म के कर्मों का परिपक्व परिणाम है। महाराज ! उस मृग के मोह के पीछे भरतजी समस्त ज्ञान ध्यान सेवा सयम यम नियम आदि को भूल गये। अब उनकी एक रट थी, हाय मेरा मृगशावक ! हाय मेरा हरिण राजकुमार ! ऐसा सोचते-सोचते वे विकल हो गये मूर्छित होकर गिर पड़े।"

छप्पय

कैसे तजिके गये कररयो काहू ने टोना।
अति सूधो अति सरल सुघर वो मेरो छौना॥
करिके क्रीडा मधुर मोइ मृग बाल रिझावत।
चकित चित्तते आइ अङ्ग मेरे लिपटावत॥
हाय ! कबहुँ पुनि आइकें, दूब यहाँ वो चरेगो।
का फिरि वैसे बालवत, मम सुत क्रीडा करेगो॥

भरतजी का मृग के मोह में मरकर मृग-शरीर में जन्म

(३२६)

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥*
(श्री भा० ५ स्क० १२ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

इहि विधि व्याकुल भरत फिरें बन मारे मारे ।
मिल्यो न मृग बहु खोजि बिचारे भये दुखारे ॥
इतने ही महँ अन्तकाल नृप को नियरायो ।
भूप मृत्यु के समय हरिन फिर आश्रम आयो ॥
दशा देखि शिशु तहमि के, सुत समान रोवत सतत ।
मृग पटके सिर दुखित चित, भरत ध्यान वाको करत ॥

---

* भरतजी रहूगण से कहते हैं—"देखिये राजन् ! मैं पहिले भरत नामक राजा था, दृष्टसुख मानारिक श्रुतसुख अर्थात् पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों के सुख से मुक्त होकर भगवान् की आराधना कर रहा था। किन्तु फिर भी मृग का सङ्ग करने से दूसरे जन्म में मुझे मृग होना पड़ा। मेरे सभी मनोरथ नष्ट हो गये। मैं परमार्थ से भ्रष्ट हो गया।

इस जग में यह मोह जाल न होता, तो जीवों का कभी पुनरागमन पुनर्जन्म न होता। मोहवश ही प्राणियों को पुनः पुनः जन्म धारण करना पड़ता है। मोहवश ही जीव को ८४ के चक्कर में विवश होकर घूमना पड़ता है। मोह एक ऐसा मीठा दुख सुख से बना हुआ बन्धन है, कि उसे तोड़ते भी नहीं बनता और स्वेच्छा से बाँधा भी नहीं जाता। हमें कोई विवश करता है, कि इस बन्धन में बँधो। हम मन्त्रमुग्ध की भाँति बिना परिणाम का विचार किये उसमें बँध जाते हैं और पीछे पछताते हैं। इस का नाम माया है और मोह के क्षय का ही नाम मोक्ष है। यह बन्धन और मोक्ष का सार सिद्धान्त है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भरतजी का वह हरिन युवा हो गया था। किसी हरिनी के फन्दे में फँस कर अपने पालक पिता को भूलकर उसके मोह में मदोन्मत्त होकर उसके पीछे २ चला गया था। संसार में प्रेम कहाँ है सर्वत्र स्वार्थ भरा पड़ा है। जब तक पति के पास पैसा है यौवन है, तब तक प्यारा है, जहाँ पैसा समाप्त हुआ युवावस्था बीती कौन किसका पति कौन पत्नी, पिता जब तक पालता पोसता है तब तक प्यारा है। जहाँ उसने झटपट की काम करने को कहा, वह शत्रु सा दिखाई देता है। युवा पुत्र वृद्ध पिता का परित्याग करके घर से निकल जाता है। किसी की मृत्यु पर जो हम रोते हैं। तो उसके प्रेम के लिये नहीं रोते, अपने स्वार्थ में व्याघात होने से रुदन करते हैं। अब मुझे कौन कमाकर खिलावेगा, अब मेरी कौन रक्षा करेगा।" जिस पिता ने रक्त पानी बहाकर नाना प्रकार के दुःख उठाकर पुत्र को पाला है, वह वृद्ध पिता को किसी असाध्य रोग में ग्रस्त देखकर उनकी मृत्यु चाहता है। अनाथालय में प्रविष्ट करा आता है और कभी-कभी तो मरवाने तक का प्रयत्न करता है। फिर भी मोहवश पिता पुत्र का ही स्मरण करता है। मरते

समय तक उसी के सुख का सोचता है, अपना सर्वस्व धन उसी को अर्पण करता है। यही महाराज ! मोह की महिमा है। भरत-जी ने जिन हरिन को पुत्र से भी बढ़कर पाला था, वही एक अपरिचिता के साथ काम के वशीभूत होकर चला गया। दो चार दिन उसने उनका स्मरण भी न किया। जिस यूथ की वह मृगी थी, उस झुण्ड के यूथपति ने जब एक नये हरिन को अपनी एक हरिनी के साथ देखा, तो उसे ईर्ष्या हुई क्रोध आया उसने इसे युद्ध के लिये ललकारा। धन मान तथा स्त्री के लिये यह जीव परस्पर में लड़ता रहता है। दूसरों से द्वेष करता है अपने परलोक को नष्ट करता है। उस बड़े लम्बे-लम्बे सींग वाले हरिन ने इस छोटे सींग वाले युवा हरिन की बड़ी दुर्दशा की इसके पेट में सींग भोंक दिया। इसका शरीर क्षत विक्षत हो गया, दुःख में अपने पुराने सम्बन्धी याद आते हैं। हरिन को पुनः राजर्षि भरत की याद आई। वह घायल होकर अपने आश्रम की ओर लौटा।

लौटकर हरिन ने जो देखा, उसे बड़ी ग्लानि हुई। भरतजी बिना शुद्ध स्नान पीये विकल बने पड़े हैं। मृत्यु के भाई ज्वर ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया है। वे बेसुधि हुए अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों को गिन रहे हैं। पूर्व स्वभावानुसार हरिन सगे सम्बन्धी स्वजन की भाँति औरस पुत्र की भाँति उनके सिर-हाने उदास होकर बैठ गया। पशु होने पर भी यह समझ रहा था, कि अब मेरे पालक पिता का जाने समय आ गया है।

इधर भरतजी महात्मा अपने सुत के समान मृग शावक को अपने सिरहाने उदास मन से बैठा देखकर करुणावश रोने लगे। उनका कण्ठ मोह के कारण रुद्ध हो रहा था, उन्हें गन्धर्वों के विमान की वह घटना स्मरण हो आई। जब इनकी माता इसे जन्म दे ही इनको छोड़ कर मर गई थीं। वन मृगी मृगाङ्क मुख पर

कैसी करुणा छटक रही थी, वह अपने पुत्र के लिये कितनी दुखित होकर मरी थी। इस हरिन को मैंने पुत्र की भाँति पाला। अच्छा हुआ अन्त समय में यह मेरे पास आ गया। यह उस मृगी माता की धरोहर थी। वह न्याय रूप में मुझे दे गई थी। मृगी माता का यह सुत कितना भाग्यशाली निकला इसने अरण्य में भी कितना सुख दिया।" इस प्रकार राजन्! उस मृगी और उसके इस तनय का ध्यान करते-करते ही राजर्षि भरत उसी की चिन्ता करते-करते मृग भाव के चित्त के सहित इस असार संसार से चल बसे। वे अत्यन्त प्रबल वेगशाली कराल काल के गाल में चले गये। उनका पाञ्चभौतिक शरीर मृतक बन गया। अन्त में मृग का ही ध्यान करते हुए उसी मृगी के गर्भ में मृगशावक बनकर प्रविष्ट हुए। कुछ समय में वह मृग भी मरा और वह भी उसी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। पहिले भरतजी मृग रूप में उत्पन्न हुए फिर उनका वह साथी हिरन भी उसी माता के गर्भ से पुनः उत्पन्न हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"महाभाग, सूतजी! हम एक बड़ी शङ्का रह गई। भरतजी ने सैकड़ों सहस्रों वर्ष भगवान् की आराधना की वह सब तो व्यर्थ हो गई और वर्ष दो वर्ष मृग का सङ्ग करने से उन्हें मृग की योनि लेनी पड़ी यह क्या बात है?"

यह सुनकर गम्भीरता के साथ सूतजी बोले—"भगवन्! जीव का विषयों में स्वाभाविक प्रवृत्ति है। विषयों में आसक्त होना यह जीव का सहज स्वभाव है। भगवान् की ओर तो उसे बड़ी कठिनता से, बड़ी साधना से अनेक युक्तियों से हठपूर्वक लगाना होता है। देखिये आपको स्वयं ही अनुभव होगा। भगवान् की छवि का नित्य दर्शन करते हैं नित्य उनकी मूर्ति का ध्यान धरते हैं फिर भी प्रयत्न करने पर उनकी भावमयी मूर्ति हृदय

पर अंकित नहीं होती कभी स्वप्न में भी उस स्वरूप का ध्यान नहीं होता। इसके विपरीत कोई स्त्री सुन्दर सुडौल पुरुष को अथवा पुरुष किसी लावण्यमयी सुन्दरी को भूल में भी एक बार देख लेते हैं। देखना तो दूर रहा चित्र में भी दर्शन कर लेते हैं तो वह मन में बस जाती है। प्रयत्न करने पर भी चित्त से नहीं हटती। जागृत की कौन कहे स्वप्न में भी वही याद आती है और कभी-कभी तो चित्त चञ्चल होने से स्वप्न दोष तक हो जाता है। इन विषयों में चित्त लगाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। स्वतः मन उधर खिंच जाता है। गुरुकुल में नित्य नियम से हठपूर्वक कितने वर्षों तक सन्ध्या कराई जाती है। उसका अभ्यास नहीं पड़ता और धूम्र पान आदि की लत छः महीने में ही ऐसी लत पड जाती है कि अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटती।

रुग्ण शरीर को निरोग करने वाले गुणकारी कड़वे काढ़े को कितनी कठिनता से पीते हैं किन्तु अत्यन्त बुरी बुद्धि को भ्रष्ट कर देने वाली सुरा को सुरापी पुरुष कितने प्रेम और उल्लास के साथ पीते हैं। कृष्ण कथा सुनते ही आलस्य आने लगता है शरीर में अँगड़ाई आती है नींद आने लगती है, किन्तु किसी की निन्दा का प्रकरण हो तो उसे कितने चाव से सुनते हैं पता नहीं उस समय नींद कहाँ भाग जाती है चित्त तन्मय हो जाता है। इच्छा होती है इसे इस प्रकार अनादिकाल तक सुनते रहें। अधरात्रि हो जाय पूर्णरात्रि समाप्त हो जाय किन्तु निन्दा सुनने से चित्त नहीं भरता। उसमें कुछ लेना देना नहीं, पल्ले कुछ नहीं पड़ता किन्तु मन का स्वभाव है लोकवार्ता में फँसे रहना। इस जीव ने अनेक योनियों में भ्रमण किया है सभी योनियों में माता, पिता, भाई सखी सुहृद रहे हैं उनमें से किसी के प्रतिराग किया है किसी के प्रति द्वेष सस्कार सहज

में तो मिट नहीं जाते। उन्हीं के वशीभूत होकर जीव का प्रारब्धवश जिससे संग हो जाता है उससे भी राग द्वेष करने लगता है। अपने प्रतिकूल आचरण करने वालों से प्रायः द्वेष होता है अनुकूल व्यवहार करने वालों से राग। इस राग द्वेष के कारण ही जीव बार-बार मरता और जीता है। महाराज! राजर्षि भरत को भी संस्कारवश हरिन होना पड़ा।

रही भगवान् के भजन के व्यर्थ होने की बात सो भगवान् का भजन तो कभी व्यर्थ जाता ही नहीं कल्याण के निमित्त किया हुआ कार्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। यद्यपि भरत को मृग शरीर प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त तो अवश्य हुआ था, किंतु अब भी उन्हें अपने पूर्वजन्म की स्मृति बनी ही रही मृग होकर भी वे जातिस्मर हुए। अब उन्हें याद आई—"अरे! मैं तो पहले चक्रवर्ती राजा था? सब राजपाट, धन, धान्य स्त्री परिवार का परित्याग करके यहाँ आया था। भाग्यवश एक हिरन के बच्चे से मेरा संयोग हो गया। उसी के कारण मुझे यह मृगयोनि भोगनी पड़ रही है। अरे मैं तो भाग्य द्वारा ठगा गया, मुझे मृग रूप बहेलिये ने फँसा लिया मेरी आगे की गति रोक दी।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार वे बहुत विलाप करते हुए जिस किसी प्रकार अपने जीवन को यापन करने लगे। महाराज! भगवत् कृपा से मृग शरीर में उन्हें पूरा पूरा बोध रहा।"

छप्पय

दुस्सह काल कराल प्रबल बलशाली आयो।
देह त्यागि के भरत फेरि पशु को तन पायो॥
जाको चिन्तन करत जीव त्यागे जा तनकूँ।
अपर जन्म महँ योनि मिले सोई जीवनिकूँ॥
योगभ्रष्ट भूपति भये, मृगासक्त मन ह्वै गयो।
तातें मृग की योनि महँ, भरत जन्म फिरते भयो॥

भरतजी के मृग शरीर का अन्त

(३२७)

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नम इत्युदारम्
हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥*

(श्रीमा० ५ स्क० १४ अ० ४५ श्लोक)

छप्पय

व्यर्थ होहि नहिं भजन तनिक हू भूले नाहीं ।
पूर्व जन्म का वृत्त भरत मृग तनके माहीं ॥
करि बहु पश्चात्ताप मातु हरिनि हू त्यागी ।
कालिंजर गिरि त्यागि भये फिरते वैरागी ॥
सग करहिं नहिं भूलि अब, नहिं सजीव तृनकूं चरहिं ।
सूखे पत्ता खाइकें, ऋषि मुनि सम तप व्रत करहिं ॥

विस्मृति दुःख को पश्चाताप को कम कर देती है, यदि संसार के सभी दुःख सभी अपमान हमें सदा स्मरण बने रहें

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भरतजी ने मृग के शरीर को छोड़ते हुए भी बड़े प्रेम से स्पष्ट स्वर में ये वचन कहे थे—"यह योगगम्य साख्य शास्त्र के सिद्धान्त स्वरूप प्रकृति के भी स्वामी श्रीमन्नारायण हरि को नमस्कार है ।"

किन्तु भगवान् ने विस्मृति बनाकर हमारे बहुत से दुःखों का अन्त कर दिया है। जीव जिस योनि में भी जाता है, उसी में पुराने जमाने की सब बातें भूलकर सुखानुभव करने लगता है। किसी राजा को अपने मृत्यु के पूर्व ही यह विदित हो गया था कि अग्रिम जन्म में मैं शूकर योनियों में जन्म लूँगा। इसलिये उसने अपने पुत्र को बुलाकर कहा—"देख, बेटा! प्रारब्धवश अब के मुझे अमुक स्थान में शूकर होना पड़ेगा। मेरे सिर पर एक सफेद बड़ा सा चिन्ह रहेगा, तू देखते ही मुझे मार डालना, जिससे इस घृणित योनि में रहकर विष्ठादि न खानी पड़े।' आज्ञाकारी पुत्र ने कहा—"अच्छी, बात है, पिताजी! मैं ऐसा ही करूँगा।" कालान्तर में राजा मरे और शूकर हो गये। उनके पुत्र को या तो स्मरण नहीं रहा या गणना करने में देर हो गई। इतने काल में वह शूकर बड़ा हो गया, किसी शूकरी से उसका सम्बन्ध हो गया, बच्चे भी हो गये। एक दिन उसी राजा के पुत्र ने संयोगवश उस शूकर को शूकरी के बाल बच्चों सहित खेतों में बड़े प्रेम से विष्ठा खाते हुए देखा। उसे अपने पिता की बात स्मरण हो आई। उसने तुरत तरकस से बाण निकाला। ज्यों ही उसे लक्ष्य करके बाण छोड़ना चाहा, त्यों ही उसने बड़े कातर स्वर में कहा—'राजन्! अब आप मुझे न मारें, अब तो मैं अपनी शूकरी और इन बाल बच्चों के साथ परम सुखी हूँ अब मुझे अपना यह आहार परमप्रिय लगता है। अब मेरी इस योनि में आसक्ति हो गई है, अब तो मैं विष्ठा में सुख का अनुभव करने लगा हूँ।" यही दशा सभी प्राणियों की है जो जिस योनि में चला जाता है, वह उसी योनि में अपने को सुखी समझता है, उस शरीर को छोड़ना नहीं चाहता। कोई बड़े ध्यानी ज्ञानी किसी अन्तराय के कारण किसी हीन योनि को प्राप्त कर लेते हैं और भगवद् आराधना के प्रभाव से उन्हें पूर्वजन्म का स्मरण बना

रहता है, तो वे उस अधम योनि का अन्त होने की बड़ी उत्कंठा से प्रतीक्षा करते हैं। कई ऐसे पशु योनि में जीव देखे गये हैं। एक कुत्ते को प्रत्यक्ष देखा था, उसके सामने भगवद् नैवेद्य को छोड़कर कुछ भी रक्खे नहीं खाता था। एकादशी के दिन कैसा भी अन्न रक्खो वह सूँघता नहीं था। कौन उसे बता देता था, आज एकादशी है। इससे प्रकट होता है, वह पूर्वजन्म में कोई संस्कारी वैष्णव रहा होगा, किसी प्रारब्ध कर्मवश उसे कूकर योनि में आना पड़ा। किन्तु उपासना के प्रभाव से उसे पूर्वजन्म की सब बातें स्मरण थीं, इसीलिये उसने न कभी जीवन भर किसी कूकरी का स्पर्श किया न वैष्णवों को छोड़कर कहीं गया और न भगवद् नैवेद्य के अतिरिक्त कभी कोई पदार्थ खाया। अन्त में उसकी मृत्यु भी अत्यन्त उत्तम हुई।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भरतजी अब मृग हो तो गये। उसकी मृगी माता कालिञ्जर पर्वत पर रहती थी। जन्म होते ही भरतजी समझ गये कि मेरे योग में अंतराय का फल है। मृग शावक के सङ्ग से मुझे फिर जन्म लेना पड़ा। अब जीवन में कभी किसी का सङ्ग न करूँगा। किसी के प्रति आसक्ति न बढ़ाऊँगा, किसी में ममता स्थापित न करूँगा, इस मृगी माता से भी मुझे कोई प्रयोजन नहीं। यह सोचकर वे दूसरे ही दिन रात्रि में अपनी माता को छोड़कर भाग निकले। हरिन का बच्चा पैदा होते ही भागने लगता है। भगवान् की कैसी विचित्र महिमा है, भगवान् माता के उदर में ही उसे भागने की शक्ति दे देते हैं। भरतजी भाग कर फिर वहीं गण्डकी के किनारे हरिहर क्षेत्र के शालिग्रामतीर्थ में आ गये जहाँ पुलस्त्य और पुलह ऋषि के पावन आश्रम थे।

भरतजी को इस मृग शरीर में अपनी तपस्या और भगवद् आराधना में विघ्न की स्मृति से परम ग्लानि हुई। वे बार-बार पश्चात्ताप करते हुए सोचने लगे—"देखो, प्रारब्ध ने मुझे कहाँ

ले जाकर पटक दिया। मेरा दुर्दैव मृग का रूप रखकर मेरे सम्मुख आ गया, उसने मुझे ठग लिया, परमार्थ से च्युत कर दिया, मेरी साधना को भ्रष्ट बना दिया। जिस चित्त को सदा मैं भगवद् गुण श्रवण कीर्तन और मनन निदिध्यासन तथा भगवद् ध्यान में लगाये रहता था, एक पल को भी व्यर्थ नहीं जाने देता था, क्षण-क्षण का सदुपयोग करता था। वही चित्त प्रारब्धवश एक मृगशावक के मोह में फँस गया, मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया। मैं अपने लक्ष्य को भूल गया, उत्थान के स्थान में पतन हो गया। अस्तु अब सोचने से क्या होता है अब तो निरन्तर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, कि इस भूल की पुनरावृत्ति न हो, फिर किसी के मोह में न फस जाऊँ। ये आँख ही धोखा देती हैं। जहाँ ये दो से चार हुई नहीं कि नई सृष्टि रच देती हैं। अब मैं किसी से आँखें न मिलाऊँगा, किसी के पास न जाऊँगा, न किसी को अपने पास बुलाऊँगा, न किसी के यहाँ जाकर खाऊँगा, न किसी को खिलाऊँगा, न किसी को अपनी सुख दुःख की एकान्त में रहस्य-मयी बातें सुनाऊँगा, न किसी की सांसारिक बातें सुनूँगा। एकान्त में रहूँगा अपने राम को रिझाऊँगा और हरि स्मरण करते हुए चैन की बंशी बजाऊँगा।" यह सोचकर मृगयोनि में प्राप्त भरतजी चुपचाप एक गुफा में रहने लगे। वे हिंसा के भय से हरी घास को भी नहीं खाते थे। पेड़ों से अपने आप गिरे सूखे पत्तों को खाकर वे जीवन धारण कर रहे थे। कभी किसी मृग के झुण्ड में नहीं जाते थे। चुपके से अकेले जाकर गण्डकी का जल पी आते, कुछ सूखे पत्ते खा लेते और शान्त चित्त से भगवान का ध्यान करते रहते। उन्हें मृग शरीर से मोह नहीं था, यही नहीं उसे तो वे भार समझते थे, किन्तु करते भी क्या? प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही क्षय हो सकता है। भोग के अतिरिक्त प्रारब्ध क्षय का दूसरा कोई उपाय ही नहीं। अतः मृग शरीर के प्रारब्ध क्षय

की प्रतीक्षा करते हुए वे समय बिताने लगे।

कुछ काल में मृगयोनि का प्रारब्ध नाश हो गया। जितने दिन उस विन्न रूप मृग का सङ्ग हुआ था, जितने दिन उसका लालन, पालन-पोषण किया था। जितने दिन उसे चूमचाट कर मोह बढ़ाया था, उतने दिन मृगत्व प्राप्त करके उनके संस्कार समाप्त हुए। उनका जन्मान्तरीय प्रगाढ़ मोह तो था नहीं। नैमित्तिक प्रारब्ध था वह अल्पकाल में ही समाप्त हो गया।

भरतजी को भगवान् की आराधना के प्रभाव से यह भान हो गया कि अब मेरे इस मृग शरीर का अन्त होने वाला है। राजन्! भगवान् की उपासना कैसे भी की जाय, वह कभी व्यर्थ होती ही नहीं। कल्याणकृत दुर्गति को प्राप्त होते ही नहीं। नहीं तो मृग शरीर से भगवद् स्मरण चिन्तन होना, पूर्वजन्म का स्मरण बना रहना असंभव ही है।

भरतजी अपना अन्तिम समय समझकर गण्डकी के समीप चले गये। आधा शरीर तो उनका गण्डकी के जल में था और आधा जल के बाहर। मृत्यु के समय कोई तीर्थ स्थान जलाशय मिल जाय और आधे शरीर को जल में डुबाकर वहाँ प्राण त्याग करे, तो इससे उत्तम मृत्यु दूसरी कौन-सी होती है। बड़े भाग्य से जन्म जन्मान्तरों की साधना से ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है। नहीं तो लोगों की घर में खटिये पर मृत्यु होती है। शास्त्राकारों का कथन है जिसकी घर में खाट पर मृत्यु होती है, उसे उतने दिनों तक संसार बन्धन में रहना पड़ता है, जितने कि घर में खाट में बन्धन (गोठ) हैं। इसका सारांश इतना ही समझना चाहिये कि मृत्यु के समय घर की सब वस्तुएँ याद आती हैं। परिवार के सभी लोगों के प्रति ममत्व होता है। इसलिये मृत्यु एकान्त में तीर्थ में हो जहाँ शान्ति रहे भगवत् स्मरण बना रहे मृग शरीर में भी भरतजी को इतना ज्ञान रहा कि उन्होंने अपनी

गुफा में शरीर त्याग नहीं किया। शरीर त्यागने के लिये वे भगवती गण्डकी के पावन तीर्थ में पहुँच गये।

प्रारब्ध का क्षय होते ही, उनका जीवात्मा शरीर से पृथक हो गया जीवन धारण करने वाली प्राण वायु संस्कारों के सहित इस पञ्चभौतिक शरीर को त्यागकर सूक्ष्म शरीर के सहित चली गयी। मरते समय मृग शरीर में भी भरतजी ने स्पष्ट शब्द में भगवान् के नामों का उच्चारण किया था। उन्होंने कहा था यज्ञ पुरुष भगवान् के लिये नमस्कार है। धर्म के स्वामी धरणीधर को प्रणाम है। समस्त प्राणियों के पापों को हरने वाले हरि को नमस्कार है। साख्यशास्त्र के सिद्धान्त को प्रवर्तन करने वाले प्रभु को प्रणाम है। योगगम्य अखिलेश का मैं अनन्यभाव से अभिवादन करता हूँ। इस प्रकार उन अखिलान्तर्यामी अच्युत का स्मरण करते-करते ही उन्होंने मृग शरीर का परित्याग किया।

छप्पय

यों भोगे प्रारब्ध कर्म मृग देह पाइके।
तज्यो हरिन तनु तीर्थ गण्डकी नीर न्हाइके॥
नारायण हरि कृष्ण यज्ञ पति नाम उचारे।
अन्त समय लै नाम पाप उप पातक जारे।
पछिताये मृग मोह कार, करहुँ न फिर ऐसो कर्यो।
यह भव जलनिधि अन्तमहँ, गोखुर सम सुखतें तर्यो॥

भरतजी का विप्र वंश में जन्म

[३२८]

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर,
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति ।
अथो अहं जनसङ्गादसंगो—
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १२ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

मृग तें ब्राह्मण वंश माहिँ प्रकटे मुनि ज्ञानी ।
चरम देह है जिही भरत निश्चय करि जानी ॥
पिता पढावें वेद मन्त्र देवें जपिवे कूँ ।
अखड सखड कछु बकें जतावें जड़ अपने कूँ ॥
हती बहिन इक जुडेली, दूसरि मा के नौ तनय ।
कर्म काड में फँसे ते, भरत लखें जग ब्रह्ममय ॥

हम किसी ग्रन्थ को आधा पढ़कर छोड दें, दस बीस वर्ष उसे न पढ़ें भूल जायँ । सामान्यतया हमारे लिये वह सम्पूर्ण ग्रन्थ

---

* जड भरत बता रहे हैं—"राजन् ! मुझे मृग शरीर मे भगवान् कृष्ण की आराधना के प्रभाव से पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही । इसीलिये इस ब्राह्मण शरीर मे मैं जनसग से असग रहकर सदा शङ्कित मन से अपने को छिपाये हुए घूमता हूँ ।"

विस्मृत-सा हो जायगा, किन्तु यदि फिर से उसे पढ़ना आरम्भ करें तो जहाँ तक पहिले पढ़ा था, वह तो बहुत शीघ्र याद हो जायगा, बिना पढ़ा भाग देर में स्मरण होगा। इसका कारण यही है कि यद्यपि हमें पहिला पढ़ा हुआ विस्मृत हो चुका है फिर भी उसकी धुँधली स्मृति हमारे हृदयपटल पर अंकित है। जब हम पहिले से पढ़ते हैं, तो उसमें श्रम नहीं होता। पढ़ते-पढ़ते याद हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वजन्म की, की हुई साधना दूसरे जन्म में फिर से नहीं करनी पड़ती। जैसे विद्यार्थी आधा पाठ पढ़ के सो गया है, तो प्रातःकाल उसे फिर से नहीं पढ़ना पड़ता, जहाँ से छोड़ा है, वहीं से आरम्भ करता है। योग करते-करते यदि बीच में विघ्न बाधाओं के कारण योग खंडित हो जाय, योगभ्रष्ट हो जाय, तो ऐसे योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र धर्मात्मा धनी पुरुषों के घर उत्पन्न होते हैं, जिन्हें शरीर निर्वाह के लिये कोई प्रयत्न न करना पड़े। साधन की सभी सामग्रियाँ बिना श्रम के सुलभता से प्राप्त हो सकें, जिससे वे अपनी अधूरी साधना पूरी कर सकें। अथवा उसका जन्म शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग, सन्तोष, तितिक्षा, विनय, विद्या, ह्री, श्री, दया, मैत्री, करुणा, मुदिता आदि गुणों से सम्पन्न योगियों के कुल में होता है, जिसके कारण उन्हें साधना के संस्कार वंश परम्परा से जन्म लेते ही प्राप्त हो सकते हैं। सारांश यही है कि योग में अन्तराय उपस्थित होने से पिछला योग का किया हुआ श्रम व्यर्थ नहीं होता। दूसरे जन्म में जहाँ से छोड़ते हैं वहीं से आरम्भ करते हैं।

श्री शुकदेवजी महाराज परीक्षित से कहते हैं—"राजन्! भरतजी ने गंडकी नदी में अपना आधा शरीर डुबाकर भगवान् के सुमधुर नामों का उच्चारण करते हुए मृग शरीर को त्याग दिया। यद्यपि अन्त में भगवान् का नाम लेकर उन्होंने तन का

त्याग किया था, उनकी मुक्ति हो जानी चाहिये थी, किन्तु मनुष्य शरीर की उत्कृष्टता दिखाने के लिये और अपनी रही सही साधना को तितिक्षा के द्वारा पूर्ण करने के लिये उन्हें एक शरीर और धारण करना पड़ा। वे एक आंगिरस गोत्र में परम कुलीन धार्मिक सद्गुण सम्पन्न ब्राह्मण के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुए।"

जिन ब्राह्मण के घर में राजर्षि भरत ने जन्म ग्रहण किया था उनका वंश बड़ा ही धार्मिक प्रसिद्ध पूजनीय और सम्माननीय था। उन ब्राह्मण श्रेष्ठ के दो भार्यायें थीं। सबसे बड़ी भार्या में उन्हीं के समस्त शील, सदाचार, विश्व विनय आदि गुणों से सम्पन्न ९ पुत्र उनके हुए। छोटी भार्या जो बड़ी सुशीला पति परायण विनयवती थी, उसके एक साथ दो बच्चे हुए। उन दो में एक कन्या थी एक पुत्र। जो पुत्र था वे ही राजर्षि भरत मृग शरीर त्यागकर उत्पन्न हुए।

ब्राह्मण ने अपनी पहिली पत्नी से उत्पन्न पुत्रों के विधिवत् जात कर्म आदि सभी संस्कार कराये, उपनयन कराके उन्हें स्वयं ही वेदों को पढ़ाया। वे सभी ब्राह्मी श्री से युक्त कर्मकांड के ज्ञाता त्रयीविद्या में निष्णात हुए। वे यज्ञ स्वयं करते थे, दूसरों से भी कराते थे, वेद पढ़ते, पढ़ाते थे। दान देते थे लेते भी थे और निर्वाह के लिये कृषि भी कराया करते थे।

भरतजी अवस्था में भी सबसे छोटे थे और छोटी पत्नी के इकलौते पुत्र थे। प्रायः माता-पिता का सबसे छोटी संतान से औरों की अपेक्षा अधिक स्नेह होता है, तिससे भी छोटा कम बुद्धि का हो, तो उनका ममत्व और भी बढ़ जाता है। माता-पिता की हार्दिक इच्छा रहती है हमारे सभी पुत्र सुखी रहें, कोई भी दुःख न पावें। जो सयाने होते हैं, बुद्धिमान और कार्य कुशल होते हैं, उनकी माता-पिता को उतनी चिन्ता नहीं रहती।

वे समझते हैं, यह तो अपने बुद्धि बल से कहीं न नहीं से कमा खायगा। बुद्धिहीन तथा असमर्थ सन्तानों की माता पिता को बड़ी चिन्ता रहती है। उन ब्राह्मण देवता के घर में किसी बात की कमी नहीं थी। यथेष्ट धन धान्य था। बहुत से गौ, बैल थे, निर्वाह के लिये पर्याप्त खेती होती थी, सभी पुत्र विद्वान् सुशील गुणी और मातृ पितृ भक्त थे, सभी के विवाह हो चुके थे। केवल भरतजी ही अबोध थे। ब्राह्मण को यही एक चिन्ता थी। वे चाहते थे—"किसी प्रकार मेरा यह पुत्र भी पढ लिख कर विद्वान् हो जाय तो मैं निश्चिन्त होकर मर सकूँ, नहीं तो मुझे इसकी चिन्ता लगी ही रहेगी। उनकी भरतजी के प्रति बड़ी ममता थी।"

भरतजी सब समझते थे। उन्होंने सोचा—"एक बार हरिन में ममत्व किया तब तो हरिन बनना पड़ा। यदि बाप मे ममत्व हुआ तो निश्चय अगले जन्म में बाप बनना पड़ेगा। इसलिये जन्म से ही माता पिता से उदासीन रहने लगे। उनकी माता उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती, बार बार पुचकारती, मुख चूमती। पिता अपना सम्पूर्ण स्नेह छोटे होने के कारण उन्हीं पर उडेलते, किन्तु उन्हें माता पिता का वह स्नेह विष के समान प्रतीत होता। वे कभी हँसकर नहीं बोलते। सदा गुम्म सुम्म बने रहते। इससे माता पिता को और भी सन्देह हुआ कि यह पागल तो नहीं है।"

जब इनकी अवस्था ५-६ वर्ष की हुई, तब पिता ने इनका विधिवत् बड़ी धूमधाम स यज्ञोपवीत सस्कार कराया। उपनयन सस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन सस्कार होता है। ब्राह्मणों का मुख्य कर्म है श्रावणी उत्सव। वेदाध्ययन प्रायः उसी दिन से आरम्भ करते हैं। इसके पूर्व वसन्त और ग्रीष्म चैत्र वैशाख ज्येष्ठ और आषाढ चार महीनों में वेदाध्ययन की तैयारियाँ

कराते हैं। इन चार महीनों में प्रणव सप्तव्याहृति शिरोमन्त्र के सहित त्रिपदा गायत्री की सस्वर शिक्षा देते हैं। पद, घन, क्रम जटा स्वर आदि के सहित वेदमाता गायत्री को इस प्रकार याद करा देते हैं कि श्रावणी के दिन उसका शुद्ध शुद्ध उच्चारण करके श्रावणी कर्म मे सबके साथ सम्मिलित हो सके। फिर उसी दिन से वेदारम्भ कराते हैं।

भरतजी के पिता ने पहिले तो आचार की शिक्षा दी। क्यों कि आचार से ही धर्म की वृद्धि होती है। आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। आचार बताकर अब वे गायत्री मन्त्र को कठस्थ कराने लगे। भरतजी को अपने समीप बिठा लेते और बडे प्रेम से कहते—"बेटा! देखो, जैसे मैं उच्चारण करूँ वैसे तुम करना।" दो चार बार तो भरतजी सुनकर भी अनसुनी कर देते। जब पिता बार बार कहते तब सिर हिला देते।

पिता कहते—"अच्छा, कहो ओम्!"

तब आप कहते—"रोम्!"

इस पर पिता माथा ठोकते और कहते—"अरे यह ब्राह्मण कुल में कहाँ से मूर्ख पैदा हो गया। इसको एक अक्षर भी नहीं आता। किन्तु फिर भी वे छोडने वाले नहीं थे, पिता की आत्मा ही ठहरी। कहते—"बेटा! देखो ध्यान से सुनो, कहो ओम।"

अबके आप कह देते—"वीम्।"

पिता फिर अप्रसन्न होकर दो चपत जमाते और कहते—"कैसा मूर्ख है, इससे प्रणव का उच्चारण भी नहीं किया जाता। यह आगे क्या पढेगा। पिता को पता नहीं था इनकी पेट में दाढी है यह सब पढे पढाये हैं। इन्हें कर्म काण्ड और उपासना की अब आवश्यकता नहीं, ये तो जीवन्मुक्त हैं ज्ञान की चौथी भूमिका को पार करके पाँचवीं में स्थित हैं, जहाँ जगत् का भान ही नहीं होता। किन्तु कर्मकाण्डी पिता इसे कैसे समझते? पुत्र

के मोहवश वे भाँति-भाँति से भरतजी को ताडना करते। किन्तु भरतजी तो काली कमली की भाँति बने हुए थे उन पर दूसरा रङ्ग चढ़ ही नहीं सकता था। वे तो जान बूझकर अट सट बोलते थे। बुद्धि के सागर होने पर भी बुद्धिहीनों के से आचरण करते थे। शास्त्रों के बहुश्रुत होने पर भी अपने को बहरों के समान प्रकट करते थे, ज्ञान के भडार होने पर भी अपने को गूँगे पागल प्रदर्शित करते थे। वे तो संसार से सभी प्रकार से अनासक्त होकर रहना चाहते थे। वे सोचते थे ससार को जहाँ बुद्धि का चमत्कार दिखाया जहाँ कुछ सिद्धि प्रकट की वहीं फिर से बँध जायेंगे। संसार तो चमत्कार को नमस्कार करने वाला है। वाचालों के पीछे चलने वाला है। हमें संसार को तो रिझाना नहीं। जिसे रिझाना है वह घट-घट में व्याप्त है सबके मनोगत भावों को जानता है उसके सम्मुख प्रदर्शन की आवश्यता नहीं। अतः वे अपने को सिड़ी पागल बावरा-सा जनाने लगे। पिता ने शक्ति भर पूर्ण प्रयत्न किया, उन्हें शौच वेदाध्ययन व्रत, नियम, ब्रह्मचर्य गुरु सुश्रूषा, अग्नि परिचर्या आदि सभी कर्मों की शिक्षा देनी चाहीं। किन्तु वे तो चिकने घडे बने हुए थे। उनके ऊपर पिता के उपदेश रूप जल की एक बिन्दु भी नहीं ठहरी। पिता का मनोरथ पूर्ण न हुआ, वे अपने सबसे छोटे पुत्र को अपनी बुद्धि से शिक्षित न बना सके। कनिष्ठ पुत्र की चिन्ता करते-करते पिता परलोक प्रयाण कर गये। भगवत् सेवा रूप जो मुख्य कर्म था उसे तो वे वैदिक ब्राह्मण भूले हुए थे, घर में यह नहीं है वह नहीं है यह लाना है वह जुटाना है पुत्र कैसे पढ़े, इसका निर्वाह कैसे होगा ऐसे मूर्ख को अपनी कन्या कौन देगा? इन्हीं की सब चिन्ता को करते-करते भाँति-भाँति के दुर्लभ मनोरथों का संकल्प करते-करते वे इस लोक से चल बसे। अपने पुत्र को पढ़ा न सके, काल ने उनके साथ कुछ

भी दया नहीं की। पुत्र के योग्य बनाने का उस निर्दयी ने अवसर ही नहीं दिया।

भरतजी के ब्राह्मण पिता मर गये। उनकी माँ ने अपनी बड़ी सौति से कहा—"जीजी! तुम्हारे तो ९ पुत्र हैं तुम बड़ी भी हो मेरे यह एक मूर्ख पुत्र है एक यह कन्या है। किसी योग्य वर को देखकर इस कन्या के पीले हाथ कर देना यह पागल पुत्र अपने भाग्य से जिस किसी प्रकार पेट भर ही लेगा। जैसे तुम्हारे ९ हैं वैसे इसे भी दशवाँ समझना। मैं तो अपने प्राणनाथ के साथ सती होऊँगी। तुम प्रसन्नता से मुझे अनुमति दे दो। इन बच्चों को मेरे सामने अपनी गोदी में ले लो।

अपनी छोटी सौति के ऐसे वचन सुनकर बड़ी विप्र पत्नी रोने लगी। उसने कहा—"बहिन! तुम ही भाग्यवती हो जो परलोक में भी पति के साथ जाओगी। अच्छी बात है तुम चलो मैं भी तुम्हारे साथ पीछे-पीछे आकर पति लोक में तुम दोनों के दर्शन करूँगी। तुम इन बच्चों की ओर से निश्चिन्त रहो। जैसे तुम्हारे बच्चे वैसे मेरे बच्चे। एक ही बाप से तो ये सब हैं। अपनी शक्ति भर मैं इन्हे कोई कष्ट न दूँगी।"

इतना सुनकर ब्राह्मण की छोटी भार्या अपने पति के साथ सती हो गई। अब तो भरतजी स्वतंत्र हो गये। माता-पिता दोनों ही चल बसे। अब "न आगे नाथ न पीछे पगहा" निर्द्वन्द्व होकर इधर से उधर पागलों की भाँति विचरण करने लगे। उनके हृदय में तो ज्ञान की ज्योति जल रही थी। जिन भगवान का श्रवण, स्मरण, नाम गुण कीर्तन समस्त विघ्नों को दूर करने वाला है। उन श्रीहरि के युगल अरुण चरण कमलों को हृदय में धारण करके निरन्तर उन्हीं के ध्यान मे निमग्न बने रहते थे। मूर्ख अज्ञानी संसारी विषयासक्त लोग कहते—"यह तो मूर्ख है, पागल है—तो आप उनके सम्मुख वैसे ही उत्तम पागल अन्धे,

बहरे और गूँगे के समान आचरण करने लगते। साक्षात् ऐसा प्रकट करते कि इनके पागल होने में किसी को तनिक भी सन्देह न रह जाता था, किन्तु ये तो ज्ञानियों के भी गुरु और योगियों के भी योगेश्वर थे।

छप्पय

पिता करे नित सोच भयो मम सुत लघु जड़मति।
मन्त्र होहिँ नहिँ यादि करूँ श्रम हौं अति नितप्रति॥
कम होवै निर्वाह कवन करि काज खाइगो।
को जाके संग विप्र सुता अपनी विवाहिगो॥
करत मनोरथ विप्र अस, काल पास महँ फँसि गये।
सती पिता सँग माँ भई, नाहिं रोये जह हँसि गये॥

भरत से जड़ भरत

[३२९]

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिंग--
निगूढ़नित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १२ अ० १ श्लोक)

छप्पय

भये भरत निश्चिन्त फिरें मनमाने इत उत ।
विस्मय सोच न करे रहें नित ई प्रसन्न चित ॥
भीतर ज्ञान गँभीर भेद जग कूँ न बतावें ।
पागल जडमति बुद्धिहीन सम सबहिँ जतावें ॥
जो ले जावे पकरि कें, चले जाहिँ सब कुछ करें ।
बासो कूसो जो मिले, उदर ताहिँ भखि के भरें ॥

ससारी पुरुष तो रात्रि दिन जडता का कार्य करते हैं, तिस पर भी बुद्धिमान् बताते हैं और ज्ञानियों को जड भरतजी

---

* जड भरतजी के अवधूत वेष को नमस्कार करते हुए राजा रहूगण कहते हैं—"जिन्होने किसी कारण से ही शरीर धारण कर रखा है जो निज स्वरूप को अनुभव करने शरीर को तुच्छ समझकर उसकी चिन्ता नही करते, जो अवधूत जड ब्राह्मण के वेष मे अपने नित्यानु-

मूर्ख पागल सिड़ी कह कर उनकी हँसी उड़ाते हैं। आप सोचिये यह पृथ्वी अनादि काल से चली आई है सदा इसी प्रकार प्रवाह रूप से चली जायगी। बड़े-बड़े प्रतापी राजा इसको अपनी-अपनी कहकर इसी मे विलीन हो गये। पृथु, प्रियव्रत उत्तानपाद, मनु, नहुष, गय. मान्धाता, सगर, रावण, राम, न जाने कितने शूर वीरो ने इसे अपनी बताया, किन्तु यह किसी की हुई? उसी पृथ्वी मे अपनापन करके दुखी होना यह जडता नहीं है? मिट्टी से मिट्टी को खाकर प्रसन्न होना यह मूर्खता नहीं है? चर्म से चर्म का संघर्ष करके आनन्द का अनुभव करना क्या पागल पन नहीं है? लाल, काली सफेद, और पीली मिट्टी में सोना चाँदी, ताँबा, लोहा मिट्टी का भेदभाव स्थापित करके रात्रि-दिन उसी की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते रहना यह सिडीपन नहीं तो क्या है? किन्तु माया मोह में फँसे प्राणी इस ओर तो ध्यान देते नहीं। उसी को बुद्धिमान् समझते हैं, जो सोना चाँदी के चार ठीकरें इधर-उधर से झूठ बोलकर एकत्र कर ले। जो इन व्यर्थ के व्यापारो से उदासीन हो जाता है, वह इन मूर्खों की दृष्टि मे जड है अज्ञ है, सिड़ी है, पागल है, निकम्मा है, व्यर्थ है। मूर्खता की भी कुछ सीमा है, पागलपन का भी कहीं अन्त है। अपनी जड़ता को बुद्धिमानी समझना और जो पुरुष ब्रह्म तक पहुँचे हैं इस क्षणभगुर संसार की भावना सदा के लिये त्याग चुके हैं उन्हें अज्ञ लोग जडमति बताते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! द्विज भरत के पिता परलोक वासी हो गये। वे अपने लघु पुत्र को पढ़ा न सके। अपने मनोरथ को अपूर्ण ही छोडकर इस लोक से विदा हो गये। भरतजी

भव भव स्वरूप को छिपाये हुए हैं, उन अवधूत जड भरतजी के पाद-पद्मो मे प्रणाम है, पुनः-पुनः प्रणाम है।"

ने सोचा—"चलो, झंझट दूर हुआ। नित्य की मारपीट कहा-सुनी से बचे।" उनके नौ बड़े भाई जो केवल कर्मकाण्ड रूप अपर विद्या को ही सब कुछ समझते थे, जिनका पराविद्या-ब्रह्मज्ञान में प्रवेश भी नहीं था, उन्होंने समझा यह तो मूर्ख है, यह पढ़ लिख नहीं सकता। अतः उन्होंने इन्हें पढ़ाने लिखाने का आग्रह नहीं किया। पिता तो पिता ही ठहरे, पुत्र कैसा भी मूर्ख हो, तो भी वे चाहते हैं कुछ पढ़ लिख जाय, किन्तु भाइयों को इतनी चिन्ता कहाँ हो सकती है। नहीं पढ़ता है तो न पढ़े, विद्या कुछ जड़ी बूटी तो है ही नहीं, जो घोट कर इन्हें पिला दें। परिश्रम करेगा, सुख पावेगा, नहीं इधर-उधर से मारा-मारा फिरेगा। यह सोच कर वे इनसे उदासीन हो गये। वे इनका आदर नहीं करते थे।

अन्य साधारण अज्ञ नर-पशु इन्हे पागल, मूर्ख गूँगा बहरा सिड़ी, जड़ न जाने क्या-क्या कहते। ये उनकी बात सुनकर हँस जाते और अपने को पागल ही प्रकट करते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ये संसार सब स्वार्थी है। कोई भी पुरुष बिना स्वार्थ के बात नहीं करता। जिनसे अपना स्वार्थ होगा, उनसे नाता न होने पर भी नाता निकाल लेंगे। आप हमारे मित्र के साले के साढ़ू की भाभी की ननद के देवर के ममिया ससुर हैं। बताइये यह कोई नाता हुआ? किन्तु स्वार्थ सबसे बड़ा नाता है। भगवन्! ये मनुष्य संसारी स्वार्थ को ही सब कुछ समझते हैं अपना स्वार्थ साधने को बड़ी-बड़ी युक्तियाँ लगाते हैं। एक कहानी है कि एक आदमी अपनी गाडी में कहीं जा रहे थे। गाड़ी का पहिया टूट गया। एक गाँव मे एक बेर के वृक्ष के नीचे गाड़ी खड़ी कर दी। लोगों से पूछा यह किनका पेड़ है। किसी ने बता दिया इसके सामने जो पक्का-सा घर है उन्हीं का यह पेड़ है। वे महाशय अपने को बहुत बुद्धिमान् लगाते थे अतः बड़े ठाट-बाट से उनके घर गये। संयोग की बात घर का बड़ा बूढ़ा

जो मालिक था वह बाहर गया था। जाते ही इन्होंने बच्चों से पूछा—"पंडितजी कहाँ गये हैं ?" लड़कों ने कहा—"जी वे तो बाहर गये हैं, आप कौन हैं ?"

इन्होंने कहा—"भैया, उनका हमारा घनिष्ट सम्बन्ध है। गाँव की बात थी, नगर की होती तो पूछताछ भी करते। बच्चों ने भीतर माता से कहा—बाहर हमारे सम्बन्धी आये हैं। अब क्या था मँजने लगी कढ़ाई छुन-छुन करके गरमागरम टकोरेदार पूड़ियाँ उतरने लगीं। भैंस के दूध में चावल डाल दिये, खीर बनी, सम्बन्धीजी ने पेट भर पूड़ियाँ उड़ाईं। डटे रहे दो चार दिन तक, उड़ाते रहे पूड़ी हलुआ। दो चार दिन में पंडितजी लौटे। देखा खीर घुट रही है। पूछा—"किसके लिये ये सब तैयारियाँ हो रही हैं ?" लड़कों ने बताया कोई हमारे सम्बन्धी आये हैं। पंडितजी सोच में पड़ गये कौन सम्बन्धी आ गये। शीघ्रता से उठकर बेर के पेड़ के नीचे गये। सम्बन्धी महाशय ने उठकर सत्कार किया। बातों ही बातों में बड़े संकोच से पंडितजी ने पूछा—"क्षमा कीजियेगा, मुझे स्मरण नहीं आ रहा है, हमारा आपका क्या सम्बन्ध है ?"

उन महाशय ने गम्भीरता के साथ कहा—"जी, हमारा आपका बादरायण सम्बन्ध है।"

पंडितजी बड़े चक्कर में पड़े, यह सम्बन्ध तो कभी सुना नहीं था। सोचकर बोले—"जी, मैं समझा नहीं बादरायण सम्बन्ध क्या होता है ?"

वे सम्बन्धी महाशय बोले—"देखिये, मेरी गाड़ी के पहिये बेर के वृक्ष के बने हैं और आपके घर में बेर का वृक्ष है, तो हमारा आपका बादरायण सम्बन्ध हुआ या नहीं ?" पंडितजी ने माथा ठोका और बोले बादरायण सम्बन्ध चाहे हो न हो, किन्तु खीर पूड़ी सम्बन्ध तो अवश्य ही है।" सो, महाराज ! जिनसे

अपना कुछ स्वार्थ निकलता है, मनुष्य उनका तो बड़ा आदर सत्कार करते हैं चाहे उनसे किसी प्रकार का भी कभी सम्बन्ध न रहा हो, किन्तु जिनसे किसी स्वार्थ की आशा नहीं होती, वह चाहे अपना सहोदर भाई ही क्यों न हो मनुष्य उनकी भी उपेक्षा कर देते हैं उसकी भी बात नहीं पूछते। ये भाव होते तो स्त्री पुरुष सभी में एक से हैं, किन्तु पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इसकी मात्रा अधिक होती है। घर की स्वामिनी होने के कारण इनमें अपनापन अधिक होता है। अपने पति को पतली-पतली अच्छी सिकी चुपड़ी हुई गरमागरम रोटियाँ चुपके से दे देंगी। ससुर, जेठ, देवर को ठंडी मोटी तथा ऐसी वैसी ही भूल मे सरका देंगी। पूछने पर कह देंगी—"हाय! मैंने देखी नहीं और ले लो इसे छोड़ दो।" विशेषकर देवरों पर तो इनका बड़ा ही रोष होता है। वे पुरुष भाग्यशाली हैं, जिनको स्नेहमयी भौजाई मिली हैं। नहीं तो भाभियो का सब रोष देवरों पर ही उतरता है। बासी कूसी बची खुची रोटियाँ देवरों के ही सिर मढ़ देती हैं, यदि वह बेकाम हुआ तो। कमाऊ देवर हुआ, तब उसका आदर पति से भी अधिक करती हैं।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! जड़ भरतजी की नौ भाभियाँ थीं। उनमे से कोई भी उन्हे फूटी आँखों देखना नहीं चाहती। सबसे पीछे उन्हे भोजन दिया जाता। वह भी कभी भूसी की रोटी बनाकर दे देतीं, कभी मूँग उडद की दाल से जो चुन्नी बच जाती है, उसी की रोटी बनाकर देतीं। कभी बासी रोटी ही थमा दी। कभी भात बनाने की बटलोही में जो नीचे जले हुए चावल जम जाते हैं, उन्हें ही खुरचने से खुरचकर दे दिया। कभी घुने हुए चना उड़द ही भूनकर दे दिये। सारांश कि घर में जिस वस्तु को कोई नहीं खा सकता था, वही वस्तु भरतजी को मिलती। इन्हें कुछ स्वाद से तो प्रयोजन ही नहीं जो भी कुछ रूखा

अपने आप किसी ने दे दिया तो वहीं बैठकर खा भी लिया। न नहाना न धोना न हँसना न रोना। निर्द्वन्द होकर मस्त पड़े रहते, साँड़ की भाँति इधर से उधर हर्ष शोक से रहित होकर स्वच्छन्द घूमते थे, क्योंकि उन्हें स्वतः सिद्ध विशुद्ध ज्ञानानन्दरूप आत्मज्ञान प्राप्त हो गया था। इसीलिये उन्हें देहाभिमान की स्फूर्ति ही नहीं होती थी। यद्यपि उनकी कटि में मलिन वस्त्र बँधा रहता था, सम्पूर्ण शरीर पर मैल जमा रहता था तिस पर भी धूलि में लेटे रहने से अङ्ग धूलि धूसरित बने रहते थे, तो भी उनका ब्रह्मतेज स्पष्ट झलकता रहा। उनके गले में एक बहुत पुराना मैला कुचैला यज्ञोपवीत पड़ा रहता, उसे न उन्होंने कभी उतारा न धोया। उसे ही देखकर लोग समझ जाते यह कोई नीच ब्राह्मण है या किसी अन्य द्विज वर्ण का पागल पुरुष है। गाँव वाले तो सब जानते ही थे। सभी उन्हें जड़-जड़ कहने लगे अतः अब वे भरत से जड़ भरत हो गये।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! नित्य ही ब्रह्मानन्द में निमग्न योगी पृथ्वी पर अनेक रूप रखकर विचरते रहते हैं, अतः भूलकर भी किसी को जड मूर्ख समझकर अपमानित न करना चाहिये। सभी को भगवत् रूप मानकर आदर की दृष्टि से देखना चाहिये। यही शास्त्रों का सार सिद्धान्त है।"

छप्पय

बोझ ढुवावै कोइ ढोइ ताके घर डारें।
फरवावै जो काष्ठ ताहि हँसिके वे फारें॥
भाभी जड़मति जानि स्वाद युत अन्न न देवें।
जर्यो भुनो जो दोइ ताहि अमृत करि सेवें॥
हृष्ट पुष्ट तनु साँड सम, धूप शीत सब कछु सहहिं।
रहें सदा निर्द्वन्द्व बनि, ससारी सिरीं कहहिं॥

—०—

खेतों के रखवाले जड़ भरतजी

[३३०]

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि—
योऽर्थान् समीहेत निकामकामः ।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो—
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० ५ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

भाइनि देख्यो काम काज सबई करवावें ।
तो फिर हम बैठाइ व्यर्थ क्यों जाइ खवावें ॥
ऐसो चाकर कहाँ मिले जो काम करे नित ।
किन्तु न माँगे दाम न जावे कबहूँ उत इत ॥
ऐसो मन महँ सोचिकें, दयो फावड़ो हाथ में ।
क्यारी रचना करन हित, खेत चले ले हाथ में ॥

कैसा भी हो भाई-भाई ही है। हम अपने भाई का कितना भी अपमान करें कितना भी तिरस्कार करें, कितना भी उसे भला बुरा

---

* ऋषभदेवजी अपने भरतादि पुत्रों से कहते है—"ये सांसारिक मनुष्य अपने वास्तविक श्रेय को न समझकर नाँति-भाँति की कामनाओं से नष्ट दृष्टि होकर लेश मात्र विषय सुख के निमित्त परस्पर मे वैर भाव स्थापित करते हैं। किन्तु वे जडमति पुरुष स्वय यह विचार नही करते कि इस कार्य के करने से हमे नरकादि अनन्त दुःखो को भोगना पड़ेगा।

कहें उसे हम उचित ही समझते हैं, किन्तु जब कोई दूसरा हमारे भाई से कुछ कहता है, तो हमें चोट पहुँचती है। भाई के हित की दृष्टि से नहीं अपने सम्बन्ध की दृष्टि से। इसमें हमारा अपमान है। हमसे उसका संबन्ध है, अपनी गौरव की रक्षा के लिये हम उसे सहन नहीं कर सकते। कौरव पांडव परस्पर में शत्रुओं की तरह लड़ते थे किन्तु जब स्थल दुर्योधन का यक्षों ने अपमान किया, तो इसे धर्मराज सहन न कर सके। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"जब हम परस्पर में लड़ते हैं, तो कौरव १०० भाई हैं, हम ५ भाई है, किन्तु जब कोई तीसरा लड़ने आवेगा तो हम १०५ भाई मिलकर उसका सामना करेंगे, तब हम १०५ भाई होंगे। यही है सम्बन्ध का ममत्व।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! संसार में भले बुरे सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। कुछ दयालु पुरुष मिलकर जड़ भरत जी के बड़े भाइयों के समीप गये और जाकर कहने लगे—"भले मानुषो! तुम ९ भाई हो, तुम्हारे यहाँ भगवान् की कृपा से भोजन वस्त्र की कमी नहीं है। अरे! घर में कुत्ता होता है उसे भी टुकड़ा डाल देते हैं। तुम ९ भाइयों के बीच में एक पागल भाई है, तुम लोग उसे भोजन नहीं दे सकते?"

उस पर उनमें जो सबसे बड़ा था, उसने विनय के साथ कहने वाले ब्राह्मण से कहा—"पंडितजी! आप कैसी बातें कर रहे हैं। आपकी कृपा से हमारे यहाँ किसी बात की कमी थोड़े ही है, वह तो अपना सगा भाई ही है और १० आदमी आकर खायँ तो भी कुछ घाटा नहीं। हम उसे भोजन को मना तो करते नहीं। न उसे कहीं काम करने को कहते हैं वह अपनी इच्छा से ही इधर उधर घूमता है।"

वे वृद्ध ब्राह्मण बड़प्पन के स्वर में बोले—"देखो भैया! अपनी प्रतिष्ठा अपने हाथ है। तुम भले ही मेरी बात को बुरा

मान जाओ, किन्तु मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि तुम्हारा भाई पेट के लिये घर-घर मजदूरी करता फिरे। उसे काम ही करना है, तो तुम्हारे घर में काम की कुछ कमी थोड़े ही है। घर का ही काम करे। तुम उसे किसी काम पर लगा दो। भैया! तुम्हारे पिता से मेरा बड़ा स्नेह था इसी नाते से मैंने तुमसे कह दिया। तुम कुछ और मत समझना।"

इस पर बड़ी विनय के साथ जड़ भरतजी के भाई ने कहा—"पंडितजी! आप हमें क्यों लज्जित कर रहे हैं। आपको तो हम अपने पिता के तुल्य मानते हैं। अब आप उसे कभी किसी अन्य का काम करते देखें तब हमें चाहे जो दण्ड दें। अब हम उसे घर के ही काम में लगावेंगे।" यह सुनकर वे ब्राह्मण चले गये। दूसरे दिन सब भाइयों ने सम्मति की—"जब यह दूसरों का काम करता ही है, तो क्यों न अपने ही काम में लगावें। पंडिताई पुरोहिताई तो इससे होने की नहीं। इसे खेत के काम में लगा दो।"

ऐसी सम्मति करके दूसरे दिन भरतजी से कहा—"अरे ओ जड़! तू इधर-उधर काम क्यों करता फिरता है? घर का ही काम क्यों नहीं करता? चल खेत पर काम किया कर।"

इनको क्या आपत्ति थी, फावड़ा कन्धे पर रख भाइयों के साथ खेत पर चल दिये। भाइयों ने दो चार क्यारी बनाकर कहा—"सायंकाल तक सब खेत को ठीक कर देना।" इन्होंने सिर हिलाकर कहा—"हाँ।" यह सुनकर भाई घर लौट गये।

अब इन्होंने सोचा—"आज यदि बुद्धिमानी से काम किया तो ये सदा मुझे तङ्ग करते रहेंगे। इसलिये इन्होंने गड्ढा खोदना आरम्भ कर दिया। खेतों में एक ओर तो खोदते-खोदते खाई बना दी, दूसरी ओर मिट्टी का पहाड़-सा लगा दिया। दिन भर

परिश्रम करते-करते सम्पूर्ण शरीर पसीने से लथपथ हो गया। सायंकाल को भाई आये। उन्होंने जब इनका यह कृत्य देखा तो चकित रह गये। बड़ा भाई बहुत क्रुद्ध हुआ। कुछ अंट संट बकने लगा। उस पर बीच के भाई ने समझाते हुए कहा—"भैया जी! आप क्यों व्यर्थ में क्रोध कर रहे हैं। अजी, उसमें बुद्धि ही होती तो पिताजी के इतने पढ़ाने पर एक अक्षर भी न पढ़ता! आपने भी उसे कैसा काम सौंप दिया। क्यारी बनाने में भी तो बुद्धि व्यय करनी होती है। आप इसे कोई दूसरा काम बताइये।"

यह सुनकर बड़े भाई ने कहा—"अच्छी बात है, खेत पर एक मन्च गाड़ दो। यही यह दिन रात्रि रहकर खेत खाने वाले पशु पक्षियों को भगाता रहे। इसमें तो बुद्धि की आवश्यकता नहीं।"

इस पर उस दूसरे भाई ने कहा—"हाँ, यह ठीक है। यहाँ मञ्च पर बैठा हुआ 'हो-हो' करता रहेगा पशु पक्षियों को भगाता रहेगा।" सब भाइयों की सम्मति होने से ऐसा ही किया गया। खेत के बीच में बड़ा-सा ऊँचा मञ्च गाड़ दिया गया उसे घास फूस से छा दिया गया। भरतजी को उस पर बिठा दिया और कह दिया—"सदा सावधान रहना, खेत को चिड़िया न चुगने पावें।"

इस काम से भरतजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। सोचने लगे, "चलो अच्छा हुआ झंझट कटा। न ऊधो का लेना न माधो का देना। यहाँ एकान्त में रहकर भगवत् भजन करेंगे और चैन की बंशी बजावेंगे।"

अब तो ये रात्रि दिन खेत पर ही वीरासन लगाये बैठे रहते। पशु पक्षियों को तो क्या भगाना था, वहाँ बैठकर भगवान् के पादपद्मों का प्रेमपूर्वक ध्यान करते। मन को भगवान् के रूप

माधुर्य में तन्मय कर देते। किसी समय इनके भाई बासी कूसी बची खुची रोटियाँ, दाल, भात, साग भेज देते। उन्हें ही प्रेम-पूर्वक भर पेट खाकर तालाब से पानी पी आते। कभी रोटी न आती तो खेत से बाल उखाड़कर उन्हे ही मींजकर चबा जाते। उन्हें न चिन्ता थी, न दुःख। पेट भर के खाते और तान दुपट्टा सोते। जाड़ों मे धूप मे भैंसे की तरह पड़े रहते गरमियों मे पेड़ के नीचे लेट लगाते। बर्षात् मे मैदान मे पड़े रहते। बाल बढकर चिपट गये थे। लटायें बन गई थीं। दाढ़ी निकल आई थी। शरीर का चर्म जङ्गली भैसे के समान काला और कठोर हो गया था। चलते समय वे हाथी के बच्चे की भाँति झूम-झूमकर चलते। जब दूर से देखते भाई आ रहे हैं तब हो-हो चिल्लाने लगते। जब वे चले जाते तो फिर ध्यान मे मग्न हो जाते। उन्हे न सिंह का डर था न व्याघ्र का भय। भय को भी भयभीत करने वाले थे। वे इस ससार मे जीवित अवस्था में ब्रह्मानन्द सुख का आनन्द लूट रहे थे। शीत उष्ण-मान अपमान, यश अपयश, सुख दुःख सभी मे उनकी चित्त वृत्ति सम रहती थी। वे अनुकूल प्रतिकूल दोनो ही दशा मे प्रसन्न रहते। सब लोग उन्हे पागल समझते थे, किन्तु वे यथार्थ स्वार्थ सम्पादन मे सदा सावधान बने रहते। उन्हे कोई अपने पथ से च्युत नहीं कर सकता था।

उनके भाई उनकी इस उच्चावस्था को समझ नहीं सकते थे। कैसे समझे उन्होंने तो कर्मकाण्ड को ही सब कुछ समझ रखा था। वे तो अपने को कुलीन विद्वान् सर्वश्रेष्ठ समझे बैठे थे। उनके लिये तो स्वर्ग सुख ही सब कुछ था। मोक्ष मार्ग से वे सर्वथा अनभिज्ञ ही थे। ऐसे अनधिकारियो को भरतजी ने उपदेश देना भी व्यर्थ ही समझा क्योंकि ऊसर मे बीज बोने से वह जमता नहीं। यदि उर्वरा जोती गोड़ी भूमि में समय पर

विधिवत् बीज बोया जाय तो वह अंकुरित होकर फूलेगा फलेगा। भरतजी को जीवन में एक ही अधिकारी मिला। उसी के सामने उन्होंने अपना ज्ञान भंडार खोल दिया। उसी को उपदेश देने से भरतजी अजर अमर हो गये। उसी ज्ञान से असख्यों भूले भटके प्राणी इस असार संसार को पार कर गये और आगे भी करते रहेंगे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! इस प्रकार अब श्री जड़-भरतजी खेतों के रखवारे बन गये।"

छप्पय

लयो फावड़े हाथ खेतकूँ लागे खोदन।
गड्ढा भारी खन्यो लगे सब भाई रोकन॥
कहें परस्पर बुद्धिहीन क्यारी न बनावे।
देहु मञ्च बैठाइ बैठिके खेत रखावे॥
जैसे भाई कहहिँ वे, तैसो ई कारज करत।
नये बने अब खेत के, रखवारे श्रीजड भरत॥

—o—

बलि पशु बने जड़ भरतजी

[३३१]

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः ।
नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥*
(श्रीभा० ५ स्क० १४ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

पुत्र हीन नृप-शूद्र मनौता मन में मानी ।
मानुष की बलि दहुँ पुत्र यदि देहि भवानी ॥
भया पुत्र इक परम पकरि बलिहित सब लाये ।
निशा माहि भगि गयो दास अतिही घबराये ॥
बलि पशुकूँ खोजत फिरें, साचें मूरख गया कहँ ।
आये खोजत खेत पै, बैठे द्विजवर भरत जहँ ॥

यों सिद्धान्ततः ससार को निस्सार समझ लेना यह तो दूसरी बात है किन्तु विपत्ति मे फँसने पर भी उसे विपत्ति न समझना, प्राणों पर आ बनने पर भी निर्विकार बने रहना, मृत्यु की तनिक भी चिन्ता न करना यही ज्ञानी का यथार्थ लक्षण है। वाचिक ज्ञान तो बहुतों को होता है, किन्तु अवसर पर काम न आवे, वह हृदय को स्पर्श न करे तो केवल व्यसन मात्र ही है। मन से यह

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महात्मा राजर्षि भरत के पथ का कोई नरपति उसी प्रकार मन म भी अनुसरण नही कर सकता, जिस प्रकार मक्खी गरुडजी की बराबरी नही कर सकती।"

दृश्य प्रपञ्च हट जाय, अनुकूल प्रतिकूल वेदनाओं का हृदय पर कुछ भी प्रभाव न पड़े। समस्त व्यापारों में सदा सर्वदा श्रीहरि की इच्छा ही अवलोकन करना यही सच्चे स्थितप्रज्ञ का लक्षण है। श्रीजड़ भरत ने अपने जीवन में इस स्थिति को प्रत्यक्ष करके दिखा दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भरतजी अब खेत के रखवाले बनकर भजन ध्यान में मग्न रहने लगे। उनके नगर के समीप ही एक शूद्र राजा था। उस समय जङ्गली जाति के बहुत से राजा होते थे, उनमें से अधिकांश रजोगुणी, तमोगुणी स्वभाव के होने से काली के उपासक होते थे, जो मांस मदिरा से भद्रकाली की पूजा किया करते थे। बकरा, भैंसा आदि तो काली के सम्मुख बलि देते ही थे, कभी-कभी मनुष्य की भी बलि देते थे। पूर्व के देशों में जहाँ अब भी काली देवी की पूजा का प्रचार है बलिदान की प्रथा प्रचलित है।"

उस शूद्र राजा के कोई सन्तान नहीं थी। उसने भद्रकाली के सम्मुख यह मनौती मानी कि, हे देवी! यदि मेरे पुत्र हो जाय तो मैं तुम्हें नरबलि दूँगा।

संयोग की बात, काली की कृपा से कुछ काल के अनन्तर राजा के पुत्र उत्पन्न हो गया। अब तो राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। भद्रकाली की बड़े समारोह से पूजा की तैयारियाँ होने लगीं। पूजा के उपयोग के सभी सामान जुटाये जाने लगे। सेवकों को आज्ञा हुई कि वे किसी सर्व लक्षण सम्पन्न पुरुष को बलिदान के लिये ले आवें। सेवक सर्वत्र घूमे किन्तु स्वेच्छा से सिर कटाने को कौन आता है, उन्हें कोई पुरुष पशु बलिदान के लिये न मिला। अन्त में अरण्य से एक पथिक को फुसलाकर पकड़ लाये। उस पुरुष ने आकर जब देखा कि ये लोग मुझे बलि देने को लाये हैं, तब तो वह अत्यन्त घबड़ाया। किन्तु उसने

कोई आपत्ति न की। सेवक उसे एक रस्सी से बाँधकर मन्दिर के समीप ही सो गये। जब सभी पहरे वाले सो गये तो वह पुरुष चुपके से उठा। शनैः शनैः उसने अपने सभी बन्धनों को खोल दिया और पीछे के किवाड़ खोलकर भाग गया।

आधी रात्रि में नींद खुलने पर सेवकों ने जब देखा कि बलिदान वाला पुरुष भाग गया है, तब तो वे अत्यन्त घबड़ाये। वे परस्पर में कहने लगे—"देखो कल ही तो बलिदान का दिवस है, यदि राजा को यह बात मालूम पड़ गई, तो वह निश्चय ही हम में से ही किसी को बलिदान चढ़ा देगा। इसलिये जब तक राजा को मालूम न पड़े तब तक एक अन्य किसी पुरुष को यहाँ लाकर बिठा दो। इससे राजा का भी काम चल जायगा और हम लोगों के भी प्राण सकट में न पड़ेंगे।" यह सोचकर वे लोग किसी पुरुष की खोज में निकले।

सयोग की बात उन सेवकों को खेत पर वीरासन से बैठे द्विजों में सर्वश्रेष्ठ महामुनि परम ज्ञानी जड़ भरतजी दिखाई दिये। उनमें से कोई इन्हें जानता भी न था। उसने कहा—"अरे! यह जड़ बड़ा मोटा ताजा है। इससे जो भी कोई कुछ कहता है, वही कर देता है, यदि इससे हम साथ चलने को कहें, तो यह अवश्य साथ चल देगा। यह स्थूलकाय हृष्ट-पुष्ट भी है, राजा इसे देखकर बड़ा प्रसन्न होगा। भद्रकाली भी ऐसे मोटे मनुष्य की बलि से परम सन्तुष्ट होगी। यह कुछ आपत्ति भी न करेगा। पगला ही ठहरा इसे ही पकड़ ले चलो।"

अर्थी दोष को नहीं देखा करते।

राजसेवकों ने भरतजी के समीप जाकर कहा—"अरे, ओ पगले! तू हमारे साथ अभी चल, हम तुझे लड्डू खिलावेंगे।" इन्हें लड्डू पेड़ाओं का तो लोभ था नहीं, उन्होंने चलने को कहा ये चल पड़े। सेवकों ने इन्हें चारों ओर से कसकर रस्सियों से

बाँध दिया कि अपने यह भागने न पावे। इन्होंने रस्सियों से बँधने पर भी कोई आपत्ति नहीं की। रात्रि में ही इन्हें लाकर मन्दिर में बिठा दिया।

प्रातःकाल हुआ। राजा अपने पुरोहित को साथ लेकर आया। उसने आते ही बलिदान के पुरुष को देखा। देखते ही उसने कहा—"अरे कल तो यह बड़ा दुबला पतला था, रात्रि भर में ही यह इतना मोटा कैसे हो गया?"

सेवकों ने कहा—"महाराज! रात्रि भर इसने माल उड़ाये हैं, फिर देवीजी की कृपा तो है, उनकी महिमा कौन जान सकता है? देखिये, यह कैसा प्रसन्न हो रहा है।" राजा ने फिर विशेष पूछताछ नहीं की उसे तो बलि देने से प्रयोजन था। कोई बलि-पशु क्यों न हो।

यह जङ्गली दस्युओं लुटेरों का राजा था। अपने गणों के सहित लूटपाट करके जङ्गल में किला बनाकर रहता था। दस्युओं के भी काल में धर्म कर्म प्रचलित था। वे भी अपने साथ पुरोहितों को रखते थे और अपने इष्टदेव की धूमधाम से विधि विधान पूर्वक नाममी पूजा किया करते थे। दस्युराज के यहाँ बलिदान की तैयारियाँ होने लगी। भरतजी तो बलि पशु बनाये गये थे। बलिदान के पूर्व बलिपशु में देवता का आवाहन किया जाता है, विधिपूर्वक उसकी पहिले पूजा होती है, तब बलिदान चढ़ाया जाता है।

दस्युराज के सेवकों ने भरतजी को सबसे पहिले विधिपूर्वक स्नान कराया। इन्होंने सम्भव है छठी के दिन ही स्नान किया हो, या पिता ने कभी बलपूर्वक स्नान कराया हो, नहीं तो इन्हें स्नान से क्या काम? आज उबटन लगाकर सुगन्धित द्रव्यों से इनका स्नान हुआ। स्नान कराके इन्हें कोरे वस्त्र पहिनाये गये। सम्पूर्ण शरीर में सुगन्धित चन्दन लेपा गया, नाना प्रकार के

आभूषण पहिनाये गये, सुगन्धित पुष्पों की मालायें धारण कराई गईं तब अनेक प्रकार के व्यञ्जन इनके सामने भोजन के लिये रखे गये। ये दो दिन के भूखे थे। आँख मूँदकर सपट्टा खाना आरम्भ किया। खट्टे मिट्ठे का तो इन्हें विचार ही नहीं। जो आ जाय। लड्डू आ गया तो समूचे लड्डू को निगल गये। दही बडा आ गया तो उसे ही उडा गये। इस प्रकार बड़े आनन्द से पेट भर के भोजन किया।

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज! इन महान् ऋषि ज्ञानी की निर्द्वन्द्वता तो देखिये। मृत्यु सम्मुख खडी है। सब समझ रहे हैं, कि ये दस्यु मुझे काली के सामने बलि देंगे। अभी तीक्ष्ण खड्ग से मेरे सिर को धड से पृथक् कर देंगे, किन्तु इसकी तनिक भी चिन्ता न करते हुए बडे आनन्द से भोजन पा रहे हैं। न मरने से भय न प्राणों का मोह। जो हो रहा है उसी में मग्न हैं उनके लिये अनुकूल प्रतिकूल मे कोई भेद ही नहीं।"

जब भरतजी ने पेट भर खा लिया। बडे जोर से डकारे ली पेट पर हाथ फेरा। फिर सेवक साथ मे धूप, माला, फल, फूल, खील, ईख, पत्ते, कण्ठसूत्र, जव के अकुर विविध प्रकार के नैवेद्य आदि पूजा की सामग्रियों के सहित बडी धूमधाम से गाजे-बाजे के सहित बलिदान के स्थान पर चण्डी के सम्मुख ले चले। ये हँसते हुए आगे आगे मत्त गयन्द की भाँति चले जा रहे थे। सभी डाकू आश्चर्य कर रहे थे कि पहिले कभी नरबलि दी जाती थी तो बलिदान का पुरुष रोता हुआ दुखित मन से जाता था, यह तो विचित्र बलिपशु है, जो अपने आप ही हँसता हुआ जा रहा है। किन्तु उन्हें पता नहीं था यह पशु नहीं पशुपति है, नर नहीं नरर्षभ है। काली भी इनके चरणों की धूलि को पाकर अपने को धन्य मानती है।

जड़ भरतजी बलिपशु बनाकर प्रदर्शन के सहित मन्दिर मे

ले जाये गये। वहाँ पहिले तो दस्युओं के पुरोहित ने अनेक मन्त्रों से भद्रकाली की पूजा की। फिर उस चमचमाते हुए खड्ग को निकाला जिससे बलिपशु का सिर धड़ से पृथक् करके उसके उष्ण रक्त से देवी को सन्तुष्ट किया जायगा। उस खड्ग को सम्मुख रखकर उसकी पूजा की और देवी के मन्त्रों से उसे विधिवत् अभिमन्त्रित किया।

जड़ भरतजी यह सब लीला अपनी आँखों से चुपचाप बैठे देख रहे थे, उनके मन में न हर्ष था न विषाद। उन्हें न मरने का भय था न जीने की चिन्ता। वे तो सभी में समभाव किये बैठे थे। वे तो ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके सर्वत्र श्री हरि को ही देखते थे। शरीर में अहंभाव हो तब तो उसकी रक्षा का प्रयत्न भी किया जाय, वे तो अहता ममता को घोटकर पी चुके थे। इसलिये न उन्हें खड्ग से भय हुआ, न पुरोहित के कार्यों से उद्वेग। वे इन कार्यों को खेल समझ रहे थे।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! ऐसे समभाव में स्थित योगी की बलि तामसी देवी कैसे सहन कर सकती हैं। देवी का भी आसन डोल गया। वह भी घबड़ा गई। उसे भी उन दस्युओं पर क्रोध आ गया। तामसी प्रक्रिया में यही तो एक बात है। लग गई तो ठीक है न लगी तो उलटी करने वाले के सिर पड़ती है।"

छप्पय—तिनि बाँधे अवधूत भरत समदर्शी ज्ञानी।
भये न विचलित तनिक मृत्यु सम्मुख हू जानी॥
न्हाइ पहिनि नव वस्त्र उड़ाई अधिक मिठाई।
खाइ भये निश्चिन्त फेर बलि वारी आई॥
दस्यु पुरोहित पूजि असि, द्विजवर के सम्मुख धरी।
नहीं सोच विस्मय नहीं, ज्ञानी लखि काली डरी॥

—०—

भद्रकाली की बलि से बचे अवधूत जड़भरत

[२३२]

हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः ।
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते *॥

(श्रीभा० १० स्क० ७ अ० ३१ श्लोकांश)

छप्पय

निरखि घोर अन्याय भई देवी विकराली ।
मूर्ति फोरि पट प्रकट भई सहसा चट काली ॥
तडतड़ाइ करि कोध ओठ जिह्वा तें चाटे ।
खड्ग लिये कर फिरें दस्यु सिर धड़ते काटे ॥
उष्ण रक्त मद पान करि, अट्टहास ते नभ भर्यो ।
कन्दुक सम सिर फेंकि के, योगिन सँग कौतुक कर्यो ॥

यद्यपि तमोगुण की शक्तियाँ प्रबल होती हैं, फिर भी सत्व-गुण के सम्मुख उनका कुछ भी वश नहीं चलता। थोड़े पापी को बड़ा पापी दबा देता है, निर्बल सतोगुणी के सम्मुख सबल तमोगुणी जीत जाता है, किन्तु जिनमें तम आदि का लेश भी नहीं जो नित्य ही सत्व में स्थित रहते हैं, उनके सामने प्रबल से प्रबल शक्ति पराजित हो जाती है। स्वयं किसी को दंड नहीं

---

* शुकदेव कहते—'राजन्! हिंसा करने वाला दुष्ट पापी अपने पाप से स्वयं ही मारा गया। यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है कि साधु पुरुष अपनी समता के कारण सभी प्रकार के दुःखों से स्वतः ही छूट जाते हैं।"

देते। अपने ऊपर धूलि फेंकने वाले पर सूर्य कुपित नहीं होते किन्तु स्वभाव वश वह धूलि फेंकने वाले के ही सिर पर पड़ती है। इसी प्रकार साधुओं को जो कष्ट पहुँचाते हैं, उन्हें स्वय कष्ट उठाने पडते हैं जो स्वय समभाव मे स्थित हैं, उन्हें क्लेश हो ही कैसे सकता है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ज्यों ही उन डाकुओं के पुरोहित ने देवी के मन्त्रों से अभिमन्त्रित खड्ग को उठाकर जड़ भरतजी की बलि देनी चाही, त्यों ही देवी ब्राह्मण के तेज को न सह सकने के कारण काँप उठी। ब्रह्मतेज के अपमान के कारण देवी के सम्पूर्ण शरीर में असह्य दाह होने लगी। देवी अपने स्थान पर स्थित न रह सकी। लोगों के देखते-देखते गड-गड़ान तडतडान की ध्वनि होने लगी। सहसा भद्रकाली मूर्ति को फोड़कर विकराल रूप से प्रकट हो गयी। उसका मुख-मण्डल अति भयानक हो रहा था। अत्यन्त असहनशीलता और क्रोध के कारण उसकी भृकुटियाँ चढी हुई थीं। जीभ लपलप कर रही थी, बार-बार जीभ से ओठों को चाटती और हुङ्कार शब्द से दशों दिशाओं को गुञ्जायमान कर रही थी। वह दाँतों को पीसती हुई ऐसी प्रतीत होती थी, मानों सम्पूर्ण सृष्टि का सहार ही कर डालेगी। दस्युओं को भयभीत देखकर उसने बड़े वेग से अट्टहास किया। पर्वत की कन्दरा के समान उसके मुख में हल की फार के समान कराल दाढ़ें चमक रही थीं लाल-लाल चञ्चल नेत्रों से मानों रक्त की वर्षा कर रही हो। सहसा भद्रकाली ने उछलकर सम्मुख रखी हुई अभिमन्त्रित खड्ग को अपने हाथ में उठा लिया और पैतरा बदलते हुए उन डाकुओं के सिर को उसी प्रकार धड़ से काटने लगी जिस प्रकार इन्द्र अपने वज्र से पर्वतों के शिखरों को काटते हैं।

देवी भद्रकाली की सगिनी डाकिनी साकिनी जोगिनी आदि

उत्पन्न होकर देवी के संग दस्युओं के धड़ों से बहने वाले उष्ण रक्त का पान करने लगीं। उस गरमागरम रक्त को पीकर सभी पगली-सी होकर केश बखेर कर नाचने कूदने हँसने तथा गाने लगीं। अब तो देवी को एक नया खेल सूझा। जिसके सिर को धड़ से काटती उसे गेंद की तरह ऊपर फेंक देती। दूसरी देवी उसे बीच में ही थाम लेती। उससे छीनकर तीसरी उछालती इस प्रकार सभी मिलकर हँसती हुई कन्दुक क्रीड़ा करने लगीं।

भरतजी बैठे बैठे हँस रहे थे, उन्हें न अपनी मृत्यु से कोई असन्तोष था, न दस्यु के शिरश्छेदन से सन्तोष। वे इसे भी भगवान् की एक क्रीड़ा ही समझकर मन-ही-मन मुस्करा रहे थे।

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा—"भगवन्! ऐसा क्यों हुआ? कैसा भी सही दस्युराजा तो भद्रकाली का भक्त ही था, देवी को उन ब्रह्मर्षि कुमार का वध अभीष्ट नहीं था, तो उन्हें पृथक् कर देतीं। एक के अपराध पर सबकी हत्या क्यों कर दी।"

यह सुनकर शुकदेवजी बोले—"राजन्! मन्त्र प्रयोग से दूसरों का प्राणान्त करना इसे अभिचार कहते हैं। अभिचार सदा अपवित्र और असावधान पुरुषों पर चलता है। जो पवित्र हैं, भगवद्भक्त हैं उन पर जादू टोना अभिचार मारण, मोहन उच्चाटन आदि नहीं चलते। जैसे धनुष से छूटा बाण व्यर्थ नहीं जाता, वैसे ही अभिचार का मन्त्र प्रयोग व्यर्थ नहीं होता जिसके उद्देश्य से अभिचार किया गया है, उन पर निरर्थक हुआ तो उलटा करने वाले पर पड़ता है। काशिराज के पुत्र ने भगवान द्वारकाधीश पर कृत्या का प्रयोग किया था, इससे उलटकर कृत्या ने उसे ही उसके नगर को सेना वाहन सहित नष्ट कर दिया। महर्षि दुर्वासा ने परम भगवद् भक्त अम्बरीष के ऊपर कृत्या का प्रयोग किया था, जिसके कारण उन्हें एक वर्ष तक मारे-मारे

सभी लोकों में सुदर्शन चक्र के भय से घूमना पड़ा। देखिये, ब्राह्मण को सर्वत्र अवध्य बताया है, घोर आपत्तिकाल में साधारण ब्राह्मण को भी न मारे फिर जो निर्वैर है, स्वयं साक्षात् ब्रह्म भाव को प्राप्त हो चुके हैं, सम्पूर्ण प्राणियों के सुहृद् हैं ऐसे ब्रह्मर्षि का भूल से भी वध करना महापाप है। इन लुटेरे और दस्युओं का स्वभाव रज और तम से आच्छादित हो गया था। लूटपाट से एकत्र किये धन के बढ़ जाने से ये मदोन्मत्त हो गये थे। तभी तो भगवान् के अंशभूत इन ब्राह्मण के गले में यज्ञोपवीत देखकर भी दुष्टों ने कुछ भी विचार नहीं किया। इनकी बलि देने को उद्यत हो गये। इसे देवी क्षमा कैसे कर सकती थी। इनके पाप का घड़ा भर गया। पाप का धन कुछ काल ही फलता फूलता-सा दिखाई देता है, अन्त में जड़ मूल से सम्पूर्ण कुल का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है। अब तक तो देवी इन्हें क्षमा करती रही, किन्तु जब इन्होंने ज्ञान स्वरूप ब्राह्मण के साथ अन्याय किया, तो देवी ने सबको स्वाहा कर दिया। वैसे भरत ने न शाप दिया न बलि देने से निषेध ही किया, वे तो बड़े हर्ष से बलि होने को उद्यत थे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा—"प्रभो! यह तो बड़े आश्चर्य की बात। देखिये जब तक इस शरीर में प्राण हैं, तब तक शरीर का कुछ-न-कुछ मोह तो होता है। कैसा भी ज्ञानी हो प्राण रक्षा तो वह भी करता ही है। भरतजी बाह्यक्रिया शून्य तो थे ही नहीं। खाते पीते थे, सबकी बातें समझते थे, व्यवहार सम्बन्धी कार्य भी किसी प्रकार करते ही थे। फिर उन्होंने वध के समय कुछ भी आपत्ति नहीं की। कुछ तो कहते और न सही अपना परिचय ही दे देते।"

यह सुनकर श्रीशुक दृढ़ता के स्वर में बोले—"राजन्! आप

इन विषय मे सन्देह न करें। देखिये, अज्ञानी पुरुषों के हृदय में ही इस अनित्य क्षण भंगुर देहादि मे आत्मभाव की दृढ़ ग्रन्थि पड जाती है, ज्ञानी पुरुष उस हृदय की ग्रन्थि को ज्ञानरूप खड्ग से काट देते हैं। वे ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं, उनकी रक्षा भगवान् वासुदेव सदा अपने सुदर्शन चक्र से किया करते हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुष स्वय न किसी से वैर करते हैं न किसी का अनिष्ट चाहते हैं। उनके लिए सिर कटने का अवसर उपस्थित होने पर, किसी प्रकार की व्याकुलता, चिन्ता प्रकट न करना, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अजी, उनके मन मे तो भेदभाव रहता ही नहीं प्राण रहे तो तेसे, जायँ तो तस।"

यह सुनकर राजा ने पूछा—"हाँ तो भगवन्! फिर क्या हुआ?"

श्रीशुक बोले—"फिर क्या जो होना था, सो हो गया। सबका सिर काटकर भद्रकाली अपनी सङ्गिनी योगिनियों के सहित अन्तर्धान हो गई। भरतजी उठकर वहाँ से चले गये। अब वे अपने गाँव मे न गये। उन्होंने सोचा—"कौन खेत रखाये अब तो वे अलक्षित भाव से परमहंस वृत्ति मे अपने ज्ञान को छिपाये इधर से उधर स्वेच्छापूर्वक घूमने लगे। उन्होंने कोई वेष नहीं बनाया था। किसी वर्ण आश्रम का चिन्ह धारण नहीं किया था। बाल बढ रहे हैं, तो बढ़े ही सही। कटि में मैला कुचैला एक कपडा बाँधे रहते थे। एक बहुत पुराना जीर्ण शीर्ण जनेऊ भी उनके गले मे पडा रहता था। इतने बड़े शरीर के बोझ को जब ढो रहे हैं, तो जनेऊ से क्या द्वेष? पडा है तो पडा रहे। इस प्रकार परमहंस वृत्ति मे वे निर्द्वन्द्व होकर विचरण करने लगे।"

छप्पय

दुखी होहिं कस सदा रहें जे हरि पदसेवी।
काटि सबनि को शीश भई अन्तर्हित देवी॥
उदासीन है चले महामुनि अतिशय ज्ञानी।
हर्ष विषाद न हृदय दैव की इच्छा जानी॥
जग में जो जस करेगो, सो तैसो ई भरेगो।
डूबेगो हरि विमुख है, प्रभुपद तें भव तरेगो॥

राजा रहूगण की जड़ भरतजी से भेंट

[३३३]

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥*
(श्रीभा० १० स्क० ५१ अ० ५४ श्लोक)

छप्पय

इक दिन आये भरत फिरत तट इक्षुमतीके ।
लखे चौधरी तहाँ सिन्धु सौवीरपतीके ॥
कपिलदेव ढिंग जायँ रहूगण भूप विचारे ।
शिविका धीवर नहीं खोजि सेवक सब हारे ॥
मोटे ताजे जड़भरत, कूँ लखि सब प्रमुदित भये ।
पकरि पालकी में दये, सब कहार सँग लगि गये ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए राजर्षि मुचुकुन्द कहते हैं—"हे अच्युत ! इस संसार चक्र मे नाना योनियो मे घूमते-घूमते जब मनुष्य के जन्म-मरण रूप संसार के अन्त होने का समय सन्निकट आता है, तब उसे सत पुरुषो का सत्संग प्राप्त होता है । अर्थात् सभी को सत्संग प्राप्त नही हो सकता । जिसे सत्सङ्ग प्राप्त हो चुका है, उस पुरुष का उस समय कार्य कारण के नियन्ता सत्पुरुषों के आश्रय रूप आप में उसकी मति होती है । अर्थात् आपके चरणों में प्रीति उत्पन्न होती है ।"

पात्रता के बिना संसार में कुछ नहीं। पात्रता प्राप्त होती है, भगवत् कृपानुभव से। भगवान् की कृपा दृष्टि तो निरन्तर जीव मात्र के ऊपर होती ही रहती है, फिर भी सब उसका अनुभव नहीं कर सकते। वर्षा तो सभी स्थानों में समान रूप से होती है, किन्तु उर्वरा भूमि वर्षा का जल पाते ही हरी भरी हो जाती है, ऊसर भूमि ज्यों-की-त्यों ऊसर ही बनी रहती है। साधुओं के सिद्ध पुरुषों के जान में अनजान में दर्शन सभी को होते हैं, *किन्तु जो अधिकारी हैं, वे तो उनके दर्शनों से लाभ उठाते हैं,* उनकी कृपा के अधिकारी बन जाते हैं जो अधिकारी नहीं हैं—अनधिकारी हैं—वे कोरे के कोरे ही रह जाते हैं। अधिकारी को साधु सङ्ग इच्छा से अनिच्छा से कैसे भी हो जाय। उसका कल्याण हो ही जायगा। स्वयं संत महात्मा और सिद्धों की कृपा को प्राप्त करने मे समर्थ कौन हो सकता है? कृपा करके वे ही अनुग्रह कर दें, तब भले ही कुछ हो सके। उनके हृदय में किसी कारण से करुणा उत्पन्न हो जाय, तो जीव का कल्याण-ही-कल्याण है। सिद्ध लोग प्रायः अपने को संसारी लोगों पर प्रकट करते नहीं, वे सदा अपने को छिपाये उन्मत्त पागलों की भाँति घूमा करते हैं। कभी किसी पर कृपा करते हैं, तो विचित्र प्रकार से करते हैं। उससे लड़ पड़ते हैं, उससे मार खाते हैं, कभी-कभी व्यङ्ग वचन बोलकर उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं, जब इनकी ओर आकर्षण हो जाता है, तो उसे परमार्थ पथ का रहस्य बताकर जन्म-मरण से छुड़ा देते हैं। ऐसे सिद्ध इस धराधाम पर सदा से रहे हैं, सदा रहेंगे। इनके बिना पृथ्वी टिक नहीं सकती। १०-१०, २०-२० कोस पर एक सती एक सिद्ध गुप्त रूप से रहते ही हैं नहीं तो संसार को प्रलय ही हो जाय। उन्हीं का धर्म तो इस जगत् को धारण किये हुए हैं। वे ही तो जगत् की स्थिति को चला रहे हैं। ये सिद्ध भगवान् के अंश किसी

कारण से विग्रह धारण किये हुए जीवन्मुक्त चरम शरीर वाले होते हैं। किसी को ये अपने को जनाते नहीं, यही नहीं जान बूझकर अपने को छिपाते हैं। जब वे स्वय ही छिपाना चाहेंगे, तब फिर भला इन विषय के कीडे संसारी मनुष्यों की क्या सामर्थ्य है जो उन्हें समझ सकें। भाग्य से किसी बिरले के सम्मुख ये अपना ज्ञान विज्ञान निर्भय होकर प्रकट करते हैं। जड भरतजी को आज तक सभी ने पागल सिडी ही समझा। वे अपने को प्रकट ही ऐसा करते थे, किन्तु भाग्यवश सिन्धु सौवीर देश के राजा रहूगण ने उनका यथार्थ रूप समझा। अधिकारी समझ कर भरतजी ने उस पर कृपा की। उसे जो ज्ञान दिया, वह परमार्थ का सार है उससे बढकर अद्वैत का उत्कृष्ट ज्ञान हो ही नहीं सकता। भरतजी ने राजा से कहने योग्य सभी बातें सार रूप में कह दी।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भरतजी बलि के बकरा बन चुके थे, भद्रकाली ने डरकर उन्हें बलि न होने दिया। देवी द्वारा दस्युओं का वध हो जाने पर ये हाथ हिलाते हुए वहाँ से चल दिये और जङ्गली साँड की भाँति इधर से उधर घूमने लगे। घूमते घामते देववशात् ये इक्षुमती नदी के तीर के प्रदेश में पहुच गये। सयोग की बात उसी समय सिन्धु सौवीर देश के राजा रहूगण वहाँ पालकी पर चढकर आ पहुँचे। राजा बडे धर्मात्मा थे परमार्थतत्व के जिज्ञासु थे, इस असार ससार में कौन सी वस्तु सार है इसे पूछने वे ज्ञानावतार भगवान् कपिल के आश्रम की ओर जा रहे थे। उस काल में प्रायः राजागण या तो रथों पर जाते थे या शिविका पर। शिविका की सवारी सुखकर और श्रेष्ठ समझी जाती थी। राज्य में कुछ कुछ दूर पर किन्हीं किन्हीं परिवार वाले लोगों को राज्य की ओर से आजीविका बँधी रहती थी। वे उस आजी-

विका का सदा उपभोग करते। जब कभी राजा की, राजपुत्र की या राज्य के प्रधान कर्मचारी की सवारी उधर से निकलती थी, तो उनका कर्तव्य होता था वे अपनी सीमा तक उन्हें पहुँचा दें। नौकर दो प्रकार के होते हैं। एक तो वेतनभोगी एक विष्टि भोगी (बेगारी) वेतन भोगी नौकरों को तो मासिक या प्रतिदिन के हिसाब से मजदूरी दी जाती है और जो विष्टिभोगी हैं उन्हें वंश परम्परा से राज्य से वृत्ति मिलती है उन्हें तत्काल कुछ भी नहीं दिया जाता। ऐसे ही विष्टिभोगी कहार राजा की पालकी को लिये जा रहे थे।

इक्षुमती नदी के तट पर पिछले विष्टिभोगी कहारों की सीमा समाप्त हो गयी थी। कहारों के कुलपति (चौधरी) ने पिछले कहारों को छोड़ दिया इधर-उधर से नये कहार लाकर पालकी में लगा दिये। फिर भी एक कहार की कमी पड़ी। राजा के नौकर उद्दण्ड तो होते ही हैं। गजन्! आपको स्वयं ही अनुभव होगा। वे अपने स्वामी के बल भरोसे प्रजा के लोगों को तृण समान समझते हैं। उन्हें बड़ा अहङ्कार होता है जिससे जो चाहें करालें। उस कहारों के कुलपति ने सोचा—"अब गाँव में कहार को खोजने कौन जाय, जो भी सामने पड़ जाय उसे ही पालकी में लगा देना चाहिये। यह सोचकर यह इधर-उधर घूम रहा था, कि उसकी दृष्टि भरतजी पर पड़ी। शरीर से काले तो थे ही, सदा नग्न रहने के कारण शरीर का चर्म जङ्गली भैंसे के समान मोटा हो ही गया था। वस्त्र मैले कुचैले थे। शरीर हृष्ट पुष्ट था। मस्त हुए इधर से उधर घूम रहे थे उसने सोचा—"यह कोई शूद्र है। अच्छी बात है इसे ही पालकी में लगा दो यह सोचकर उसने कड़क कर अधिकार के स्वर में कहा—"अरे तू कहाँ जा रहा है? चल महाराज की

पालकी ढो। तुझे महाराज को अगले पड़ाव तक पहुँचाना होगा।"

इन्हें क्या आपत्ति होनी थी बिना ननु नच किये उसके साथ चल दिये और भी ५-७ कहार पालकी में लगे थे। सबसे आगे इन्हें भी लगा दिया हाथ में एक डण्डा थमा दिया और कहा—"चल।" और सब कहारों के साथ मे वे राजा की पालकी ढोने लगे।"

राजा की पालकी ढोने वाले और तो सब कहार ही थे। वहाँ आस पास कहारों की ही बस्ती थी। कुलपति (चौधरी) ने उन्हे भी कहार ही समझा। उनके गले में जो मैला कुचैला एक जनेऊ पड़ा था उसकी ओर उसने ध्यान ही न दिया। और कहार तो राजा के भय से सावधानी के साथ बड़े ढङ्ग से चलते थे, किन्तु इन महात्मा को तो किसी का भय था ही नहीं कभी पालकी उठाई भी नहीं थी नवसिखिया कहार बनाये गये थे। फिर धर्म का मर्म भी जानते ही थे। अतः पहिले ४ हाथ पृथ्वी को देख लेते तब आगे बढ़ते कोई जीव जन्तु दिखाई देता उछल कर उसे बचाते। इससे पालकी डगमग हो जाती राजा का शरीर मोटा था। कूदने से उनकी लम्बी तोंद हिल जाती और उसमे का पानी बजने लगता। राजा तो सदा से सुख सम्मान के आदी थे। ऐसी धृष्टता करने का साहस साथ मे आज तक किसी ने नहीं किया था। यह उनके लिये एक अभूत पूर्व व्यवहार था। फिर भी राजा धर्मात्मा थे, बुद्धिमान थे अतः शान्ति के साथ बोले—"अरे भैया! तुम लोग कैसे चलते हो। सम्हल कर चलो हिलाओ डुलाओ मत।"

राजा के मुख से ऐसी बात सुनकर कहार डर गये। वे समझने लगे हमने कुछ भी त्रुटि की तो अभी डंडे पड़ेगे। इस लिये बड़ी सावधानी से मिलकर एक साथ पैर उठाकर चलने

लगे किन्तु उनका तो कुछ अपराध था नहीं। पालकी तो इन नये बांक ढोने वाले नवसिखिया बलपूर्वक धीवर बनाये हुए भरतजी के कारण हिलती थी। कहारों के कुलपति ने तो सोचा था—यह युवा है, गठीले अंग वाला है, हृष्ट पुष्ट है, गधे से भी अधिक बोझ ढो सकेगा बैल से भी अधिक वेग से चलेगा। किन्तु ये तो ठहरे अवधूत ही। कभी कुदक के चले कभी उछल के चले कभी खड़े हो जायँ कभी इस कंधे से उस कंधे से बदलें। एक के पीछे सभी को खड़ा होना पड़ा। राजा को बड़ा कष्ट होने लगा। उन्हें क्रोध भी आया। फिर भी क्रोध को दबाकर वे बोले "अरे! तुम लोग कैसे हो रे? क्या तुम लोगों ने कभी पालकी नहीं उठाई। ऊंची नीची क्यों कर देते हो तुम लोग कुछ नशा पत्ता तो करके नहीं आये हो?"

राजा की दुबारा यह बात सुनकर आगे एक बूढ़ा-सा बुद्धिमान् कहार लगा था। उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"प्रभो! हम तो आपका प्रजा हैं। पालकी ढोना हमारा पैतृक कार्य है हमारे हृदय में महाराज के प्रति बड़ी श्रद्धा है। हम बड़ी सावधानी से शिविका को ले चल रहे हैं, किन्तु अभी यह एक नया कहार न जाने कहाँ से आया है, यह जहाँ इच्छा होती है, ठहर जाता है। इस एक के ठहरने से हम सबको भी ठहरना पड़ता है। हम शीघ्र चलना चाहते हैं यह चलता ही नहीं। यद्यपि अभी तनिक देर से ही इसने पालकी उठाई है फिर भी अभी से हांपने लगा है। महाराज! इसके साथ में चलना हमारे लिये असम्भव है।"

राजा बुद्धिमान थे। समझ गये कि और सब तो ठीक है यह एक ही इन सब में निकम्मा है। यह इतना मोटा ताजा होकर बहाना बताता है, कि अड़ बड़ व्यवहार करे तो मुझे हटा दें, जिससे मैं इस बेगार से बच जाऊँ। अच्छी बात है, मैं

भी तो राजा हूँ मेरे सम्मुख किसी का बहाना नहीं चल सकता है। मुझे कोई छलना चाहे तो उसकी धृष्टता है। बड़े आदमियों को जिद होती ही है। राजा का सम्पूर्ण ध्यान उस नये कहार की ही ओर लग गया। वे उसकी गति विधि का अध्ययन करने लगे। अब उन्हे निश्चय हो गया, कि यथार्थ में इसी एक की धूर्तता से पालकी टेढ़ी सूधी हो रही है और सब तो सीधे हैं यही उपद्रवी धूर्त है। संसर्ग दोष से एक व्यक्ति के पीछे सभी को अपमानित होना पड़ता है। समूह में एक दोष करता है, उसका कलङ्क पूरे समूह के मत्थे मढ़ा जाता है।

अब तो राजा को उस नये कहार से स्वाभाविक ही चिढ़-सी हो गई उन्होंने अपने शिविका के सामने का गवाक्ष-झरोखा खोल लिया और उस मोटे ताजे नये युवक कहार धीवर को देखने लगे। उन्हे उसकी करतूत पर क्रोध भी आ गया था।

इस पर राजा परीक्षित ने पूछा--"भगवन्! मोक्ष मार्ग में स्थित इतने विवेकी ज्ञान पिपासु राजा को क्रोध क्यों आ गया?

इस पर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन्! कैसे भी ज्ञानी, ध्यानी, विवेकी तथा मुमुक्षु क्यों न हो, रहूगण थे तो राजा ही, उनकी आज्ञा किसी के द्वारा आज तक टाली नहीं गई थी। राजा की आज्ञा का उल्लङ्घन हो जाना उसकी बिना शस्त्र की मृत्यु बताई गई है। महाराज! आपको तो अनुभव ही होगा, ये राजागण अपार सम्पत्ति होने के कारण सुख और सम्मान के आदी हो जाते हैं। अपने चित्त के तनिक विरुद्ध होते ही इनकी भृकुटियाँ चढ़ जाती हैं। आप ही सोचे-शमीक मुनि ने आपका क्या बिगाड़ा था, अपने एकान्त आश्रम में चुपचाप समाधि मे मग्न थे। आपसे कभी कुछ माँगने नहीं गये थे। मान लीजिये उन्होंने आपको देखकर झूठी ही समाधि लगाई थी, तो आपका क्या बिगड़ गया। वे अपनी झूठी सच्ची जैसे भी समाधि लगा

रहे थे, अपने लिये आपका सम्मान न किया, आप लौट आते। उनके गले में मरा सर्प डालने की—उनकी परीक्षा लेने की—क्या आवश्यता थी। किन्तु राजन्! इसमें आपका दोष नहीं। जैसा मनुष्य को जीवन भर अभ्यास पड़ जाता है, जैसा व्यवहार उसके समीपवर्ती करते हैं ऐसे ही व्यवहार की आशा वह सबसे रखता है। जब केवल सम्मान न करने पर आपने शमीक मुनि को इतना दण्ड दे दिया तो महाराज रहूगण को भरत जी के कारण शारीरिक कष्ट भी हुआ था। कई बार बरजने पर भी भरतजी अपने व्यवहार को न छोड़ सके। वे उसी प्रकार हरिन की सी उछल कूद करते रहे, तब राजा को क्रोध आना स्वाभाविक ही है। इसमें उनका रत्ती भर दोष नहीं, विवेकी थे, परमार्थ पथ के पथिक थे, तभी इतना अपमान सहन भी कर सके, नहीं तो कोई दूसरा राजा होता, तो डन्डों से मरम्मत करता। हड्डी पँसली सभी तुड़वा देता। बैठे-बैठे राजा को कुछ कहने सुनने की इच्छा हुई। अतः भरतजी पर व्यङ्ग बाण छोड़ते हुए, कुछ क्रोध के आवेग में सूखी हँसी हँसते हुए, उन्हें मूर्ख बनाने के लिये कहने लगे—"अजी कहार महाशय! आप बड़े सुकुमार हैं, देखिये आपके ऊपर कितना बोझ लाद दिया है। सो भी आप अकेले ही ढो रहे हैं इससे आप बहुत थक गये हैं। आपकी तो खस की टट्टियों में बिठाकर धूप दीप से पूजा करनी चाहिये। देखिये न आपका सुन्दर शरीर कितना कृश है, सभी हड्डी पँसली दिखायी देती है। नस नाड़ियाँ चमक रही हैं। आप बूढ़ भी बहुत हैं, बल भी आपमें नहीं है। आपके इन साथियों ने आपके साथ घोर अन्याय किया है, ये पालकी में हाथ भी नहीं लगाते। अकेले आपको ही पूरी पालकी ढोनी पड़ रही है। इसीलिये तो आप इतनी उछल-कूद कर रहे हैं। राजाने भरतजी को लज्जित करने को ये सब उलटी पलटी बातें

कही थी। किन्तु वे तो लज्जा को घोटकर पी गये थे। मान अपमान, डर, भय, क्रोध आदि तो उनके पास होकर भी नहीं निकले थे। उन्होंने राजा की बातों पर ध्यान ही न दिया। राजा मानों आकाश से व्यङ्ग की बातें कर रहा हो। इन इतने व्यङ्ग वचनों का उन पर रत्ती भर भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे उसी प्रकार ठहर-ठहर कर उछल कूद करते मस्ती के साथ गजराज की भाँति झूम-झूमकर निर्भय होकर चल रहे थे। क्योंकि उन्हें इस पञ्चभूतों के सघात रूप शरीर में मैं मेरेपन का मिथ्या अध्यास नहीं था।

अब तक तो राजा विवेक के कारण अपने बैठे हुए क्रोध को जैसे तैसे रोके हुए थे। अब उनसे न रहा गया। गरजकर मेघ गम्भीर वाणी में कड़कड़ाते हुए बोले—"क्यों बे निर्लज्ज! तू क्या बहरा है? क्या जान बूझकर अपनी मृत्यु बुलाना चाहता है। जब चूतड़ों पर डंडे पड़ेंगे तब सब मस्ती भूल जायगी। नीच कहीं का? तुझे भय भी नहीं कि तू किसकी आज्ञा की अवहेलना कर रहा है। मैं राजा हूँ सबका स्वामी हूँ, अभी तेरी हड्डी पसली ठीक करा दूँगा। अभी तुझे तेरी अविनय का फल चखा दूँगा। तू बड़ा उन्मत्त हो रहा है, मानों मैं अरण्य में रोदन कर रहा हूँ। अभी तुझे तेरे किये का दंड देता हूँ। मार के सामने भूत भागता है। जब पीठ पर तड़ातड़ कोड़े पड़ेंगे, तेरी बुद्धि ठीक-ठिकाने आ जायगी। तब तू सब चौकड़ी भरना भूल जायगा।"

राजा अपने को सभी का स्वामी समझते थे। उनका विश्वास था राजा के मुख से जो भी सम्बद्ध असम्बद्ध वचन निकले, उस का सभी को बिना ननु नच किये पालन करना चाहिये। राजा का वचन ही वेद वाक्य है। वे उन परमहंस की वृत्ति को बिना जाने ही उनका मोहवश तिरस्कार कर रहे थे। उन्हें भगवान् के भक्तों की पूरी पहचान नहीं थी, वे स्थितप्रज्ञ पुरुषों को उनके लक्षणों से

जान नहीं सकते थे। फिर भी अपने को बडा ज्ञानी ध्यानी बुद्धिमान माने बैठे थे। जिसके पास चार पैसे होते हैं वह सभी विषयों में अपने को पण्डित समझता है। इसलिये राजा ने ऐसी बात उन योगेश्वर से कही थी, किन्तु उनके मन मे इन बातो से कुछ भी विक्षेप नहीं हुआ। क्योंकि वे सर्वत्र श्रीहरि को ही व्याप्त समझते थे। फिर भी उन्हे कुछ लहर आ गई। उन्होंने सोचा होगा—"विवाह के समय स्त्री का एक हाथ पकडते हैं, जिससे जीवन भर उसे निभाना पडता है। मैंने तो इसे कन्धे पर चढाया है। शरीर पर धारण किया है अब यह गिर गया, तो सत्सग का महत्व ही मिट जायगा, यह इस असार ससार सागर से सदा के लिये पार होना चाहता है। स्वेच्छा से या परेच्छा से जब मैंने इसे अपना लिया-सिर पर चढा लिया और इतने पर भी यह डूब गया, तो परमहस वृत्ति वालो को यह बडे कलङ्क की बात होगी। अतः अपने अपमान का मार्जन करने के निमित्त नहीं क्रोध के वशीभूत होकर भी नहीं, केवल कृपावश, सरलता के साथ मन्द-मन्द मुस्कराते हुए राजा के वचनों का उत्तर देने को वे उद्यत हुए।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इसी का नाम है, साधु स्वभाव से अधिकारी की परीक्षा। देखिये, दस्युओं ने उन्हें बाँध लिया खडग से मारने तक को उद्यत हो गये, वहाँ पर जड भरत जी ने एक शब्द भी नहा कहा, क्योंकि वे जानते थे ये सब अनाधिकारी हैं। इनके सामने कुछ ज्ञान की बात कहेंगे, तो वह उसी प्रकार व्यर्थ हो जायँगी जैसे ऊपर से बोया बीज व्यर्थ हो जाता है। किन्तु राजा रहूगण का परमार्थ तत्व का अधिकारी समझ कर, केवल उसकी अट सट अनाप सनाप व्यर्थ की बातों से ही द्रवीभूत होकर उसे उपदेश देने को तत्पर हुए।"

छप्पय

पद तल दबे न जीव दौरि इत तें उत आवें।
डगमग शिविका होहि भूप बैठे हिलि जावें॥
व्यापो तन महँ कोप कहें मैं मारूँ तोकूँ।
मैं हूँ सबको ईश मूर्ख मानें नहिं मोकूँ॥
स्वामी के अपमान को, तोकूँ मजा चखाउँगो।
डन्डन तें पिटवाऊँगो, जीवित खाल खिचाउँगो॥

आगे की कथा अगले खण्ड में पढ़िये।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डों मे)—६५ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२–श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६ ५०

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डों मे)— एक खण्ड का मू० ११ ००

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर साजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३ ४५

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २ ५०

७–कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २ ५०

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९–गोपालन शिक्षा—गौओ का पालन कैसे करें मू० २ ५०

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पांच खण्डो मे)— प्रथम खण्ड का मू० १ ६०

११–नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ० ६०

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ० ६५

१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१४–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ० ३१

१५–मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, मू० ० ३१

१६–भारतीय सस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७–राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ० ४०

१८–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१९–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों म) मू० ० २५

२०–भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४.०० द्वितीय खड मू० २ ५०

२१–सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दों सहित मू० ० ७५

२२–प्रयाग माहात्म्य— मू० २ ० २५–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० १.२ २६–श्री हनुमत्-शतक— मू० ० ५०

२४–सार छप्पय गीता— मू० ३ ०० २७–महावीर हनुमान्— मू० २ ५०

पता—सकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(पञ्चदश खण्ड)

★

व्यासशाखोपवनत सुमनासि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २ ० रुपया

चतुर्थ संस्करण १००० प्रति] भाद्रपद कृष्ण २०२९ अगस्त १९७२ [मूल्य—१ ६५

मुद्रक वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१. निज दोष कथन	१
२. राजा रहूगण के व्यंग वचनों का भरतजी द्वारा उत्तर	१२
३. जड़ भरतजी से रहूगण के परिचय प्रश्न	१९
४. राजा रहूगण की शंकायें और भरतजी द्वारा समाधान	२६
५. जड़ भरतजी द्वारा व्यवहार और परमार्थ विवेचन	३५
६. बन्ध मोक्ष में मन ही कारण है	४८
७. संग का प्रभाव	५८
८. भवाटवी में भटकता बटोही	६६
९. भवाटवी का भावार्थ	७४
१०. रहूगण और जड़ भरत सम्वाद की समाप्ति	८०
११. राजर्षि गय का चरित्र	८७
१२. प्रियव्रत वंश का शेषांश	९४
१३. नरक क्या है	१०३
१४. किन-किन पापों से कौन-कौन नरक प्राप्त होते हैं ?	१०९
१५. नारकीय गतियों का वर्णन	१२१
१६. महापाप और महानारकीय यातनायें	१२९
१७. नरकों से कैसे बच सकें ?	१४४
१८. पापों का प्रायश्चित्त क्या ?	१५०
१९. प्रभुप्रेम ही सब पापों का नाश करने में समर्थ है	१५६
२०. नाम संकीर्तन ही पाप नाश के निमित्त पर्याप्त है	१६४
२१. अजामिल का वेश्या को आत्मसमर्पण	१७२
२२. पूर्वजन्म के संस्कार ही सम्बन्ध में कारण हैं	१७९
२३. अजामिल के पूर्वजन्म का वृत्तान्त	२००
२४. अजामिल की नारायण पुत्र में आसक्ति	२०६
२५. पुत्र के मिस से नारायण नाम का कीर्तन	२१८

निज-दोष-कथन

(भूमिका)

यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति ।
अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं तथासतः ॥
यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः ।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भिक्षामिताशनः ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० १५ अ० २९, ३० श्लोक)

छप्पय

बेड़ी होवे लोह रजत वा शुद्ध कनक की ।
बन्धन होहि समान दशा यह पाप पुन्य की ॥
चाहे जप तप करो वासना भोग न छूटे ।
भरे पेट ही वृत्ति चले जग बन्धन टूटे ॥
वृत्ति कपोती धारिकें, त्यागि परिग्रह सकल जब ।
यथा लाभ सन्तुष्ट है, रहे परम पद लहे तब ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! धर्मराज के पूछने पर नारद जी कह रहे हैं—"धर्मराज ! देखो, जिस प्रकार वाणिज्य कृषि आदि कार्य मोक्ष के साधक न होकर अनर्थ रूप संसार की ही वृद्धि करते हैं। उसी प्रकार असत् पुरुषों के इष्ट पूर्तादि कर्म बन्धन के ही हेतु होते हैं। जिसे चित्त विजय की इच्छा हो, वह परिग्रह और सब सङ्गों का परित्याग करके एकांत प्रदेश में एकाकी ही निवास करे, भिक्षा वृत्ति से प्राप्त अन्न का स्वल्प आहार करे।"

सुवर्ण से यदि आप भूसा तोलें, तो वह मना न करेगा, तुल तो जायेगा ही, किन्तु यह उसका दुरुपयोग है। उसका सदुपयोग तो आभूषण बनाकर अङ्गों में धारण करने में ही है। मणि मुक्ता नीलम आदि बहुमूल्य रत्नों को शौचालय के छिद्र में जड़ दिये जायँ, तो वे मना न करेंगे, वहाँ भी चमकेंगे ही, किन्तु यह उनका दुरुपयोग है। उनकी शोभा तो मुकुट कुण्डल आदि आभूषणों में ही है। इसी प्रकार मौन, व्रत, श्रुत, तप, अध्ययन व्याख्या, एकांतवास, स्वधर्म पालन, मन्त्र जप तथा समाधि ये सब मोक्ष के साधन हैं। इनका उपयोग मोक्ष धर्मावलम्बी जितेन्द्रिय करे, तो वही इनके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। हमारे जैसे अजितेन्द्रिय उनका आश्रय लेते हैं, तो केवल इनसे आजीविका चल सकती है। "ब्रह्मचारीजी २० वर्ष से मौन हैं, नित्य जप करते हैं, पाठ करते हैं आदि-आदि। इनकी कुछ सहायता कर दो, इनके उपयोग की वस्तुएँ इनके आश्रम पर पहुँचा दो।" यही आजीविका है। सुवर्ण का उपयोग भूसा तोलने में है। जब तक मन से विषय वासना नहीं हटती तब तक शुभ कर्म भी बन्धन के ही कारण हैं। वह बन्धन चाहे मूँज की रस्सी का हो या रेशम की डोरी का। बेड़ी चाहे लोहे की हो या सुवर्ण की, समान ही बन्धन कारक हैं।

एक सम्माननीय बन्धु ने सूचित किया। सर्वप्रथम "भागवती कथा" पाते ही आप का प्राक्कथन पढ़ते हैं। उसमें हमें अत्यधिक आनन्द आता है, किन्तु एक बात खलती है। आप बार-बार अपने दोष दिखाते हैं। ऐसी-ऐसी बात लिखते हैं, कि पाठकों को आप पर अश्रद्धा हो जाय। यद्यपि हमारी अश्रद्धा तो होने की नहीं, किन्तु जो नहीं जानते हैं उन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? कृपा करके अपनी बुराई लिखना बन्द कीजिए। यदि आप

वास्तव में ऐसा अनुभव करते हैं, तो इन्हे लिखकर प्रकाशित करने की क्या आवश्यकता ?"

मेरे सम्माननीय बन्धु ने स्वय अपनी ओर से यह नहीं लिखा है। उनका कथन है, में बहुत भक्तों की ओर से लिख रहा हूँ। बहुतों का प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ, यह बात लिखी है। श्रद्धा की बात तो ऐसी है, कि जिनकी जिन पर श्रद्धा हैं, वे चाहें नगे नाचें, अनुचित कार्य करें उसे भी वे "उनकी लीला है, वे सर्व समर्थ है" कह कर टाल देंगे। जिनकी श्रद्धा ही नहीं है, उनके सामने साक्षात् भगवान भी उतर आवें उनकी भी आलोचना करेंगे। उन्हें भी भला बुरा कहेंगे। रही दोष दिखाने की बात सो, मैं जैसा अपने मे अनुभव करता हूँ वैसा लिखता हूँ। वैसे में कोई बुरा काम तो करता ही नहीं। कथा, कीर्तन लेखन, गगा स्नान, तीर्थ सेवन, यथाशक्ति जनता जनार्दन की सेवा ये सब अच्छे कार्य हैं, इनसे दूसरो का भला ही होता है, किन्तु जीवन का लक्ष्य इतना ही तो नहीं है। अच्छा बुरा दोनो ही बन्धन है। धर्म, अधर्म, सत्य असत्य इन दोनो से ही ऊपर उठकर निर्द्वन्द स्थिति प्राप्त करना ही तो मुख्य उद्देश्य है। एकमात्र भगवत् कैंकर्य हो, अन्य बातें, अन्य भावनायें, अन्य उद्देश्य मन में भी न आवें। जितेन्द्रियो के लिये जो साधन भवबन्धन काटने वाले हैं। वे ही अजितेन्द्रियो के लिये ससार चक्र को और सुदृढ करने वाले हैं। अपने जीवन का जो वास्तविक उद्देश्य अनन्य शरणागति—अच्छे बुरे का भेदभाव ही मिटा देना—वह होता हुआ नहीं दीखता यही मनस्ताप है, यही आत्मग्लानि का कारण है। इसी को बार बार स्मरण करके विचारते हैं। यथार्थ मार्ग से च्युत तो नहीं हो रहे है। अपरिग्रह व्रत को त्यागकर परिग्रह की ओर तो मन की प्रवृत्ति नहीं हो रही है। इसी का रोना है।

"अच्छा, तो फिर उसका ढिंढोरा क्यो पीटना ? उसे प्रकाशित

करने से क्या लाभ ? दूसरों के लिये दुर्बल उदाहरण उपस्थित करना है, कि जब इतने संयम नियम से रहने वालों की यह दुर्दशा है, तो हम लोगों से कोई अनुचित कार्य हो जाता है तो कोई दोष की बात नहीं, यह तो स्वार्थ का अर्थ है, स्वार्थी लोग तो सबमें अपने अनुकूल अर्थ निकाल लेते हैं। वे यह अर्थ क्यों नहीं निकालते, कि इन्द्रियनिग्रह अत्यन्त कठिन है हमें दृढ़ता से–तत्परता से–इन्द्रियों आदि पर विजय प्राप्त करके जिस पापी काम ने हमारे ज्ञान-विज्ञान का नाश कर दिया है, उस पर विजय प्राप्त करके कटिबद्ध हो जाना चाहिये।"

यदि ऐसी बात होती, तो भगवान् के अवतार सर्वज्ञ वेद व्यास सभी राजर्षि ब्रह्मर्षियों की दुर्बलताओं को क्यों बताते। क्यों अपनी उत्पत्ति को स्पष्ट शब्दों में कहते। अरणी द्वारा अप्सरा दर्शन से शुक्रपात द्वारा श्रीशुक उत्पत्ति को क्यों बताते। दोष दर्शन ही तो दोषों के परिमार्जन का साधन है उद्देश्य को सदा याद रखो, किये हुए का स्मरण करो। "कृतं-स्मर, कृतंस्मर" यही वेदों का डिंडिम है। लिखना इसलिये पड़ता है, कि इसमें बहुतों को उत्तर देने में सुगमता होती है। कुछ लोगों की छिद्रान्वेषण की, परदोष दर्शन की, परपवाद, पर निन्दा करने की जन्म जाति प्रवृत्ति होती है। जैसे अफीमची को बिना अफीम खाये चैन नहीं पड़ता वैसे ही ऐसे लोगों को बिना निन्दा किये चैन नहीं होता। जैसे कितना भी सुन्दर शरीर हो उसमें जहाँ भी तनिक व्रण होगा, पीब होगा, मक्खी सूँघ कर वहीं जाकर बैठेगी। इसी प्रकार इन छिद्रान्वेषी महानुभावों की दृष्टि इतनी पैनी होती है, कि छिद्र न होने पर भी इन्हें छिद्र दीखेगा। यदि राई के बराबर हुआ तो भी इन्हें पहाड़-सा प्रतीत होगा। उनसे वाद-विवाद करो, तो उन्हें और भी प्रोत्साहन मिलेगा। अतः इनके सम्मुख स्वीकृत ही एक

उपाय है। समझाने से ये समय तो व्यर्थ नष्ट करेंगे ही किन्तु इन्हें चतुर्मुख ब्रह्मा भी आकर समझाना चाहें तो नहीं समझा सकते अकारण, बिना सम्बन्ध के ये लोग सम्बन्ध स्थापित करते हैं। बिना अग्नि के जलते रहते हैं। जिसमें दृढ़ निश्चय है, ब्रह्मचारी जी व्यापारी बन गये हैं। उन्हें कैसे समझावें व्यापार तो है ही, बन तो गये ही हैं। अब इसमें लाभ हो या हानि इससे उन्हें क्या प्रयोजन ? उन्हें तो कोई बात मिलनी चाहिये। मुझे लोग ब्रह्मचारी कहते हैं मेरा नाम ही पड गया है, किन्तु उसके स्थान में मिथ्याचारी होता तो सोलहों आने उपयुक्त बैठता। क्योंकि भगवान् ने मिथ्याचारी की व्याख्या यह की है—

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आदते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।

'जो कर्मेन्द्रियों का तो बाहर से संयम रखता है, किन्तु मन से सदा विषयों का चिन्तन करता रहता है, उस विमूढात्मा को मिथ्याचारी बताया गया है।' मेरे मे यह सर्वथा उतरता है। जहाँ स्वभाव जन्म से हठ ही है,वहाँ विवाद व्यर्थ है। अपने जीवन में ऐसे कई उदाहरण मेरे सम्मुख आये हैं। अलीगढ में एक संकीर्तन का बडा भारी महोत्सव हुआ। उसकी सेवा का भार मुझ पर भी था। मेरे समीप ही एक एम० ए० पास अध्यापक ठहरे थे वे प्रसिद्ध उपदेशक हैं। एक आर्यसमाजी सज्जन आकर उनसे वाद विवाद करने लगे मेरा उनसे घर का सम्बन्ध था। मैं तो उनकी प्रकृति से परिचित था। उपदेशक महाशय ने उन्हें अपना पक्ष बहुत समझाया किन्तु वे तो चिकने घड़े थे। उन पर बूँद क्यो रुकने लगी। उपदेशक सरल थे। रोने लगे, मै पहुँच गया। मैंने कहा—"हाँ मुझसे कहिये, उन्होंने अपनी तर्क कही। हममे जो दोष थे उन्हें बताया उनका परिणाम बताया। मैंने कहा—"हाँ, ऐसा हो तो सकता है वे समझ गये मेरी बात।

बोले—"अब आप टालमटोल कर रहे हैं। शास्त्रार्थ का यह नियम नहीं। हमारी तर्कों का उत्तर दो। मैंने कहा अजी, आपको कौन उत्तर दे सकता है।" बस वे चलते बने।

ऐसा ही एक प्रसङ्ग अभी और आया। हम लोग बंगाल के बहरामपुर के एक उत्सव से लौट रहे थे। कलकत्ते में हमारे परिचितों ने तुरन्त ही प्रयाग के लिये दो द्वितीय श्रेणी के शयन स्थान रेल में अतिरिक्त करा दिये। जिस डिब्बे में हमारी सीट थी संयोग की बात उसी में हमारे एक परिचित बन्धु बङ्गाली वकील की भी सीट थी। सम्पूर्ण डिब्बे में चार ही सीटें थीं, दो नीचे दो ऊपर। हम जब पहुँचे तब हमारे वे बङ्गाली बन्धु एक अंग्रेज दम्पति से लड़ रहे थे। बात यह थी हमारे पहुँचने में देरी हुई, उन अंग्रेज पति-पत्नी ने हमारी दोनों सीटों पर अधिकार स्थापित कर लिया। हमारा उस पर नाम लिखा था। बङ्गाली वकील ने उसे पढ़ लिया और अधिकारियों से कह सुन कर उन्हें निकलवाया। वे अपना समान उठा ही रहे थे, कि हम पहुँच गये। यात्रा में हम लोग दस पाँच आदमी सदा रहते हैं। एक या दो द्वितीय श्रेणी की टिकटें लेकर सामान सब उसमें रख लेते हैं शेष सब इधर उधर जहाँ चाहें बैठें। हमारे साथ एक सम्माननीय बन्धु थे। या यों कहिये हम सब उनके साथ थे। उनका नाम तो यहाँ लूँगा नहीं, किन्तु उनका इतना ही परिचय पर्याप्त है, कि वे एक विशिष्ट सम्प्रदाय के आचार्य हैं। बड़े सरल, बड़े मिलनसार तथा पढ़े-लिखे हैं। व्याख्यान देने में बड़े पटु हैं। यदि स्वच्छ धुले कपड़े वाले नागरिक उनके सामने कोई जिज्ञासा करें, तो वे बड़ी तत्परता से समझाते हैं। भरी सभा में उनका उत्साह द्विगुणित हो जाता है यदि उन्हें कोई सभापति बना दे, तब देखो उनके पैंतरे। वे ही वे दिखाई देंगे। संकेत में हम उन्हें आचार्य जी कहेंगे।

हाँ तो हमने दौड़कर डिब्बे में अपना सामान भरना आरम्भ किया। ऊपर की सीट से सूट-बूट पहने एक गोरा सा सुन्दर-सा पंजाबी छरहरा युवक उतरा, उसने आते ही पचासों बातें कहनी आरम्भ कर दीं। इतना समान भर दिया है, मालगाड़ी बना रखी है, दूसरे डिब्बे में ले जाओ और न जाने क्या-क्या कहा परन्तु उनकी बात पर ध्यान कौन देता है। सामान सब भर दिया गया। नीचे की सीट पर आचार्य जी ने बिस्तर लगाया, उनके ऊपर की पर मेरा लगा। दूसरी नीचे की सीट पर बङ्गाली वकील और ऊपर की पर वे ही पंजाबी युवक वकील, हम चार ही आदमी थे। गाड़ी चल दी। अब यह पंजाबी युवक ऊपर से उतरा और आचार्यजी के चरणों के समीप जा बैठा। सुन्दर गोरा शरीर, शुभ्र स्वच्छ धुले कपड़े, पढ़ा लिखा आदमी, उसे जिज्ञासु समझकर हमारे आचार्य जी के रोम रोम खिल उठे। रेल में इन्हें ऐसा कोई बात करने को मिल जाय, तो फिर पूछना ही क्या। उसने आकर आचार्यजी से पूछा—"आप कौन हैं ?"

आचार्यजी ने कहा—"भाई हम तो साधु हैं।"

उसने छूटते ही पूछा—"आपका विवाह हुआ या नहीं ?"

आचार्य जी यह प्रश्न सुनने को उद्यत नहीं थे। यह उनका एक प्रकार से अपमान था। किन्तु वे दो दङ्गलों के खेले हुए थे उन्होंने समझा यह अंग्रेजी पढ़ा लिखा है। इसे इतनी योग्यता नहीं कि साधु से ऐसा प्रश्न करना चाहिये। अतः बड़ी सरलता से उत्तर दिया—"नहीं भाई ! हमारा विवाह तो नहीं हुआ।"

उसने पूछा—"क्यों नहीं हुआ ?"

ऊपर से जब मैंने ये प्रश्नोत्तर सुने, तो मेरे कान खड़े हुए। मैं भी कान नीचे करके सुनने लगा। आचार्य जी इस समाप्त करके दूसरा प्रसङ्ग चलाना चाहते थे, अतः

को बोले—"अरे, भाई! हम लोगों का विवाह कौन करता है, वैसे ही दिन काट रहे हैं।"

उसने कहा—"नहीं, आप को विवाह करना चाहिये।" आचार्य जी ने बल देकर कहा—"कैसे करें, भाई?"

उसने कहा—"कैसे क्या करो, कोई कुमारी नहीं मिले, तो किसी विधवा के ही साथ कर लो।"

आचार्यजी यह सुनने को तैयार नहीं थे। अब वे समझ गये कि यह कोई लफङ्गा है, जिज्ञासु नहीं। उनकी आँखें लाल हो गईं, फिर भी उन्होंने अपने को सम्हाला। ऊपर मेरी बुरी दशा थी। हँसते-हँसते पेट फटा जाता था। यह तो अच्छी बात थी, गाड़ी चल रही थी इससे मेरे हँसने का शब्द सुनाई नहीं देता था। यदि मैं नीचे होता, तो निश्चय ही सब क्रोध मेरे ऊपर उतरता और वे समझते इसी के कहने से यह ऐसे प्रश्न पूछ रहा है। उससे कैसे लड़ते। इसलिये चद्दर ओढ़कर लेटते हुए बोले—"विधवा भी मिले तब न?"

उसने कहा—"न मिले विधवा तो लँगड़ी से कर लो, किसी अन्धी से ही कर लो।"

अब मुझसे ऊपर न रहा गया, हँसते-हँसते नीचे उतर आया। बंगाली बाबू ने भी मेरी हँसी में योग दिया। मैंने कहा—"हाँ, आचार्यजी! अवश्य कर लो।" अब क्या था टूट पड़े ऊपर। उस पंजाबी ने देखा बात बहुत बढ़ गई, तो उसने मुझसे बातें आरम्भ की मैं तो उसकी गति विधि पहिले ही पहिचान गया था। अतः मैंने कहा—"भाई, मैं तो साधु फाधु हूँ नहीं, मैं तो लेखक हूँ, लिखने से मुझे अवकाश ही नहीं कि मैं विवाह करूँ, मुझे महाकवि वाचस्पति मिश्र की कथा स्मरण थी, कि उनकी पत्नी नित्य दूध पिला जाती थी, एक दिन रात्रि भर खड़ी रही, कवि को दूध पीने की याद ही नहीं, अपनी लेखन कला में भूल

गये थे। प्रातः उसे खड़ी देखा, पूछा—"तू कौन है?" उसने बताया मैं आपकी पत्नी हूँ।" कवि तो दूसरे लोक में [illegible] है इतने दिन साथ रहने पर भी स्त्री से उनका परिचय नहीं हुआ, कवि उसकी भक्ति पर प्रसन्न हुए पूछा—"[illegible] क्या चाहती हो।"

उसने कहा—"मैं एक वंश का नाम [illegible] वंशधर चाहती हूँ।"

बाल, बालक देखें तो डर जायँ। कटरा में एक परिचित के घर गया, उनकी गौ मेरी सूरत को देखकर ऐसी डरी, कि उसने दूध देना ही बन्द कर दिया। बच्चों को बुलाओ तो वे रोने लगते हैं। अँधेरे में कोई देखे तो भूत का भ्रम हो जाय। इसलिये शरीर को देखने की उत्सुकता को छोड़कर वे भागवती कथा को देखें। भगवत दर्शन में भक्तों के भगवान के सभी के दर्शन हैं। मनुष्य दोषों की खान है, दोषों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, न होना ही आश्चर्य है। इसमें वही धन्य है, वही माननीय है, जिसे भक्त और भगवान् के चरित्रों में अनुराग हो, कथा कीर्तन में प्रेम हो मैंने ये दोनों आजीविका के साधन बना रखे हैं। नाम के सहारे उदर भर रहा हूँ। मनुष्य स्वभाव है अपने दुःख को प्रेमियों के सम्मुख कहने से हृदय हलका हो जाता है, दुख बँट जाता है इसी के लिए प्रसंगानुसार भागवती कथा के साथ-साथ, आत्म कथा भी कहता जाता हूँ उसका अपना रोना भी रो लेता हूँ। सब पाठक कृपा करेंगे सब आशीर्वाद देंगे तो सम्भव है अपने निर्दिष्ट पथ की ओर अग्रसर हो सकूँ, व्यापार को भगवत सेवा ही अनुभव कर सकूँ, ऐसा हो जाय तब तो त्याग, ग्रहण अच्छे, बुरे का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर तो यह हो जाय—यत् यत कर्म करोमि तत् तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम्।

अब यह प्रश्न उठता है कि नाम जप करने पर भी दोष क्यों रह जाते हैं ? तब तो नाम जप भगवन्नाम संकीर्तन व्यर्थ ही है।" नाम जप तो कभी व्यर्थ होता ही नहीं, कहना चाहिये नाम जप से निज दोष दर्शन शक्ति आती है। वैसे तो एक नाम संसार बन्धन काटने में समर्थ है, किन्तु वैसा नाम हम ले नहीं सकते। हम तो भाव, कुभाव, अनख, आलस, अनिच्छा पूर्वक, स्वार्थ-वश, सांकेत्य या हेला वश लेते हैं। वह व्यर्थ नहीं जाता।

देखिए अजामिल कितना बड़ा पापी था। पुत्र के नाम के मिस से उसने नारायण नाम का कीर्तन किया, उसका फल यह हुआ उसे अपने दोषों का दर्शन हुआ। वह रोकर चिल्ला उठा।

क्वचाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्न निरपत्रपः।
क्वच नारायणेत्येतद् भगवन्नाम मङ्गलम्॥
सोऽहं तथा पतिष्यामि यतचित्तेन्द्रिया निलः।
यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्ज ये॥

अजामिल कर रहा है "अहो! कहाँ तो मैं धूर्त, निर्लज्ज पापी और ब्रह्म तेज को नष्ट करने वाला नीच! और कहाँ परम मङ्गलमय भगवान् का "नारायण" नाम! मैं ठगा गया। कोई बात नहीं अब मैं अपने मन, इन्द्रिय और प्राणों को वशीभूत करके ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे पुनः अपने को अन्धतम नरक मे न गिरा सकूँ। इस प्रकार अनुताप के प्रभाव से ही अजामिल को परमपद की प्राप्ति हुई। इस खण्ड से भगवन्नाम माहात्म्य सूचक अजामिल के पुण्य चरित्र को पाठक पढ़ेंगे ही। यह प्रसङ्ग कई खण्डों में जायगा। यदि निज दोष दर्शन के साथ हार्दिक अनुताप हो, तब तो उचित भी है और यदि यह केवल मात्र विज्ञापन ही है, लोगों पर अपनी सत्यता-स्पष्ट वादिता-की धाक जमाने के लिए है यह भी दम्भ है, असत्य है व्यापार है, प्रतिष्ठा प्राप्त करने का एक उपाय है। इसलिए पाठक आशीर्वाद दें कि हृदय मे अनुताप हो, दोषों के प्रति हार्दिक घृणा हो और चित्त श्यामसुन्दर की प्राप्ति के लिए तड़पता रहे। यही जीवन का लक्ष्य है, यही काष्ठा है, यही परागति है।

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)
अषाढ़ कृ० १०, सं० २००५

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

राजा रहूगण के व्यंग वचनों का भरतजी द्वारा उत्तर

[३३४]

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत् ।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यम्,
तथापि राजन् करवाम किं ते ॥*
(श्री भा० ५ स्क० १० अ० १२ श्लो०)

छप्पय

हँसि के बोले—भरत कौन मोटो को पतरो ।
को है स्वामी भूप कौन है सेवक तुम्हरो ॥
राजा है तू आज काल्ह भिक्षुक बनि जावे ।
इतने पैऊ मोइ नृपति उन्मत्त बतावे ॥
इच्छा, भय, तृष्णा, जरा, निद्रा तन्द्रा जागनो ।
आत्म रूप मोमें नहीं, पतरो अरु मोटोपनो ॥

---

* श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! जब रहूगण ने बार-बार अपने को राजा कहा, तब जडभरत जी कहने लगे—"राजन् ! यह प्रजा है मैं राजा हूँ ऐसी भेदबुद्धि के लिये व्यवहार के अन्यथा तत्त्वतः कहीं भी तनिक अवकाश दिखाई नहीं देता । नहीं तो महाराज कौन स्वामी और कौन सेवक, फिर भी तुम्हें स्वामित्व का अभिमान है ही, तो कहिये मैं तुम्हारी कौन सी सेवा करूँ ?"

शरीर रहते क्रोध सबको थोड़ा बहुत आ ही जाता है, अतर इतना ही है, कि पशु बुद्धि वाले मूर्ख क्रोध के वशीभूत होकर अपने आप को भूल जाते हैं, विवेकी पुरुष क्षण भर में ही सम्हल जाते हैं। पलभर मे ही उन्हे अपनी भूल मालूम पड जाती है, वे बात को बना लेते हैं, आगे बढने नहीं देते। प्रसङ्ग को बदल देते हैं। उनके मन में बदले की भावना नहीं आती, अपनी भूल स्वीकार करने मे भी उन्हे सकोच नहीं हाता। यही महत् पुरुषो की महत्ता का चिन्ह है।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! महाराज रहूगण को भरतजी के अड सड व्यवहार के कारण क्रोध आ गया। राजापन के अभिमान ने उनके विवेक को दबा दिया। वे बहुत सी अनाप शनाप बातें बक गये। कोई ज्ञान का अनाधिकारी कह जाता, तो भरतजी बुरा भी न मानते। सब सह लेते, मार भी देता तो भी न बोलते, किन्तु यह तो ज्ञान का अधिकारी है, सयोगवश इससे भेंट हो गई है। क्यो न इसके सशयों का छेदन कर दूँ, क्यों न इसके भ्रम का नाश कर दूँ। राजा के प्रारब्ध-वश ऐसी प्रेरणा उन निःसङ्ग गूढ ज्ञान वाले छिपे महायोगी के हृदय मे स्वतः ही हो गई। अतः राजा के ऐसे क्रोध भरे वचनों को सुनकर उन्होंने पालकी का डडा अपनी थामने की लकडी पर रख दिया, मुडकर राजा की ओर खडे हो गये और बिना क्रोध किये हँसते हुए निर्भीक होकर मेघ गम्भीर वाणी से राजा को सम्बोधित करते हुए कहने लगे—"देखिये राजन्! आपने बातें कहीं। पहिले तो आपने मुझे बोझ ढोने के कारण थका बताया, दूसरे कहा तू मोटा नहीं है, तीसरे कहा तू जीते ही अपनी मृत्यु बुलाना चाहता है, चौथे कि तू सेवक होकर मुझ स्वामी का अपमान करता है मेरी आज्ञा नहीं मानता। पाँचवे आपने कहा—"तू प्रमादी है, पागल है, मैं तेरी चिकित्सा करूँगा,

यमराज के समान दण्ड दूँगा। ये पाँच बातें आपने व्यंग से मुझे लक्ष्य करके कही हैं। अब आप इन पाँचों का उत्तर सुनिये।"

सिन्धु सौवीरदेश के इतने प्रभावशाली राजा के सम्मुख कहार को उत्तर देते देखकर सभी कहार डर गये। वे सोचने लगे—"इस मूर्ख ने तो सब गुड़ गोबर ही कर दिया। इस आलसी के पीछे आज हम सब पर डंडे पड़ेंगे। सभी कहार इसी की अविनय के कारण दण्ड के भागी होंगे। आगे जो एक बूढ़ा-सा बुद्धिमान् कहार लगा था, वह भरतजी को बार-बार टोंच रहा था और धीरे-धीरे कह रहा था—"अरे, चुप रह मूर्ख, राजा की बातों का उत्तर नहीं देते, बड़े लोग जो भी कहे उसे चुपचाप सह लेना चाहिये। किन्तु भरतजी की दृष्टि में तो कोई न बड़ा था, न छोटा, वे तो सबमें समभाव स्थापित कर चुके थे। पालकी को खड़ा देखकर पीछे के भृत्य दौड़े आये, आगे के सवार लौट पड़े कहारों के कुलपति (दरोगा) ने आते ही कहार को राजा के सम्मुख उत्तर देते हुए देखकर बिना कुछ पूँछे डण्डा उठाया। राजा ने उन सबको रोककर कुतूहल वश कहा—"हाँ भैया कह, क्या कहता है तू ?"

भरतजी निर्भय होकर बोले—"सुनिये राजन्! आपने जो भी कुछ कहा है, सब व्यंग से कहा है, किन्तु मैं उसे व्यंग नहीं मानता सत्य ही मानता हूँ। आपने कहा—"तू बहुत थक गया होगा, बड़ी दूर से बोझ ढोकर लाया है।" सो राजन् मैं न तो बोझ ढोकर लाया हूँ न मैं थका ही हूँ। थकना आदि ये तो शरीर के धर्म हैं। मैं शरीर तो हूँ नहीं मैं तो आत्मा हूँ, आत्मा में न थकान है न ग्लानि वह तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और दुःखों से सर्वथा पृथक् है।

अब रही यह बात कि तू मोटा नहीं है। तो मैं कहता हूँ हे नरनाथ! मैं दुबला भी नहीं, मोटा भी नहीं, भूखा भी नहीं,

प्यासा भी नहीं थका भी नहीं, सोता भी नहीं जागता भी नहीं। क्योंकि मोटापन, पतलापन आधि व्याधि का होना, क्षुधा, तृषा, भय, कलह, इच्छा जरा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान, सुख, दुःख, चिन्ता उद्वेग आदि इन सब वृत्तियों का सम्बन्ध शरीर से है मुझ आत्मा से इन बातों का क्या सम्बन्ध ? सो राजन् ! आप मोटा कहिये, दुबला कहिये, पतला कहिये, इस शरीर को कहते रहें, मुझे इन बातों से क्या प्रयोजन ? जो देहाभिमान के साथ उत्पन्न होते हैं और इस अनित्य शरीर को ही आत्मा समझते हैं, वे इन भावों का अपने में भले ही आरोप करलें मुझसे तो इनका लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं।

अब रही तुम्हारे भय की बात, कि तू जीता ही मरना चाहता है सो, ऐ पालकी वाले राजन ! मुझे आप कोई एक ऐसा विकारी पदार्थ बता दें जिसका आदि तो हो और अंत न हुआ हो। जो उत्पन्न हुआ है उसका विनाश अवश्यम्भावी है। जो जनमा है वह मरेगा। जन्म और मृत्यु ये दोनों बातें नियमित रूप से सभी संसारी पदार्थों में प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। यदि मेरा—आत्मा का—जन्म हुआ होता तो मृत्यु भी अवश्य होता, किन्तु महिला-पाल मैं तो जीवन मरण दोनों से रहित हूँ।

अच्छा अब आप मुझ पर दोष लगाते हैं, तू सेवक होकर मुझ स्वामी की आज्ञा का पालन नहीं करता। तो मैं पूछता हूँ, आप अप्रसन्न न हों आपको स्वामी बनाया किसने। आपके माथे पर लिखा है कि आप स्वामी हैं, राजा हैं, चक्रवर्ती हैं ? स्वामी सेवक का भाव तो द्वैत में होता है। अद्वैत आत्मा में तो वह भाव है ही नहीं। अब रही शरीर की बात, सो यह क्षण क्षण बदलता है, इसके सम्बन्ध भी नित्य एक से नहीं रहते, वे भी बदला करते हैं। आप राजा ही होते तो सबके लिये राजा होते, नित्य राजा ही बने रहते, सो बात देखने में आती नहीं। तुम्हारी

पत्नी तुम्हें पति कहती है। पुत्र पिता कहता है, साला बहनोई कहता है, भाभी देवर कहती है, माँ बेटा कहती है, बहिन भाई कहती है, तुम्हारा द्वेषी राजा शत्रु कहता है प्रेमी पुरुष मित्र कहते हैं तथा गुरु शिष्य कहते हैं। फिर आप राजा कहाँ रहे? कल कोई शत्रु चढ़ाई कर दे तो आप डर से भागकर जंगलों में भटकते फिरें। प्रजा के लोग सब मिलकर मुझे गद्दी पर बिठा दें। फिर मैं तुम्हें बेगार में पकड़ कर अपनी पालकी में लगा दूँ, फिर कौन सेवक रहा, कौन स्वामी रहा बताओ? अरे, जो स्वामी सेवक भाव क्षण-क्षण में बदलता रहता है, उस परिवर्तन-शील, क्षणिक, असत्य, अनित्य, सम्बन्ध का मैं आत्म स्वरूप शुद्ध बुद्ध पुरुष अपने में आरोप करके कैसे आज्ञा दे सकता हूँ और कैसे पालन करने को बाध्य हो सकता हूँ। महाराज! यह स्वामी सेवक का भाव केवल व्यवहार के लिये ही है, परमार्थ में इसका तनिक भी उपयोग नहीं है। यदि स्वामी सेवक का भाव निश्चित ही शाश्वत हो, तब तो आज्ञा देना, आज्ञा पालन करना सम्भव भी हो सकता है। इन मरणशील नाशवान जीवों में स्वामी सेवक-राजा-प्रजा, स्तुत्य और स्तुतिकर्ता का भाव कल्पित है अनित्य है असत्य है। परमार्थ दृष्टि से विचार करें, तो कौन किसका स्वामी कौन किसका सेवक। इतने पर भी यदि तुम्हें अभिमान है, इस अनित्य क्षणभंगुर नाशवान शरीर में ही तुम आत्मबुद्धि रखकर आग्रह करते रहो, कि नहीं-नहीं मैं राजा हूँ, मेरी आज्ञा का तुम्हें पालन करना ही होगा। तो हमें कोई हठ भी नहीं। बताइये क्या करूँ? आज्ञा दीजिये कौन-सी आपकी सेवा करूँ।

अन्त में आपने एक बात और कही—"तू उन्मत्त है पागल है जड़ है। डंडे मार-मारकर तेरा पागलपन सब ठीक कर दूँगा।"

श्रीशुक कहते हैं—"हे अभिमन्यु नन्दन राजन्! इतना कहते-कहते भरतीजी फूट पड़े। अब वे अपने को अधिक छिपा

न सके। उपदेश की झोंक में वे आत्मगोपन कर ही न सके। निर्भय होकर गरजते हुए बोले—"राजन् मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ मैं अपनी स्थिति में प्राप्त स्थितप्रज्ञ हूँ। आप मुझे ऐसा नहीं मानते, पागल जड ही समझते हैं तो समझते रहें, मैं आग्रह नहीं करता कि आप मुझे बुद्धिमान समझें। किन्तु यदि आपकी दृष्टि से मैं पागल ही हूँ, तो पूर्ण पागल को कोई डडो से कैसे ठीक कर सकता है। यदि मारकर ही पागलपन मिटा दिया जाता तो संसार मे अब तक कोई पागल रहने ही न पाता, क्योंकि मारना तो सभी जानते हैं। डडा कौन नही मार सकता। सो राजन्! यदि आप मुझे आत्मा-राम महात्मा मानते हैं, तब तो छोटा-मोटा राजा प्रजा, का सम्बन्ध आपको भूल जाना होगा। यदि ऐसा न समझकर आप मुझे सिर्फ पागल ही मानते हैं, तो पागल तो अपनी इच्छानुसार ही बर्ताव करेगा। उस पर तो आपके व्यग वचनों का, दण्ड के भय का, कठोर वाक्यों का कुछ प्रभाव होने का नहीं।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"हे पाण्डु-नन्दन नरेन्द्रमण्डलीमण्डन राजन्! इतना कहकर महात्मा जड-भरत चुप हो गये। उन्होंने समझ लिया पालकी ढोने का भी मेरा कोई प्रारब्ध उदय हुआ है, उसका क्षय तो भोगने से ही होगा। इसलिए राजा के प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर देकर और उसके उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये ही उन्होंने पालकी को फिर से कधे पर रख लिया और कहारों से कहा—"चलो भैया, चलो।" ऐसा कहकर वे पालकी को ले जाने लगे।"

राजा रहूगण के तो गूढज्ञान युक्त इन उत्तरों को सुनकर छक्के छूट गये। उसका राजापने का अभिमान चूर-चूर हो गया। उसके हृदय का मोह रूप अधकार मिट गया। जड भरत के ज्ञानरूप आलोक में उसे अपने स्वरूप का बोध हुआ। राजा

घबड़ा गये। कोई ऐसा वैसा देहाभिमानी राजा होता तो कहार को इस धृष्टता के लिये दण्ड देता, किन्तु वे तो अपनी उत्तम श्रद्धा के कारण तत्व जिज्ञासा के पूरे-पूरे अधिकारी बन चुके थे। उन्हें ऐसा भान होने लगा मानों साक्षात् ईश्वर ही कहार का रूप रखकर मेरे मोह को मिटाने के लिये इस अरण्य में आ गये हों। महाराज उनके एक-एक शब्द से अत्यन्त प्रभावित हुए। अनेकों बार उन्होंने ज्ञानियों का सत्सङ्ग किया था, अनेक योग शास्त्र के ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन किया था, किन्तु जितनी सार युक्त गम्भीर बातें इन्होंने कहीं, उतनी आज तक उन्हें कहीं भी नहीं मिली थीं। राजा का हृदय पानी-पानी हो गया, वे सहसा अपना कर्तव्य निश्चित न कर सके। हड़बड़ाहट में वे कहारों को यह आज्ञा भी न दे सके, कि मेरी पालकी को रोको। उन्होंने सहसा चलती हुई पालकी में से ही छलाङ्ग मारी और वे कूदकर उन मुनिश्रेष्ठ के पाद पद्मों में पड़ गये। उन्होंने अपने अश्रुओं से उनके धूलि भरे पैरों को धो दिया। पलकों से उनकी पांशु पोंछी तथा स्नेह भरित हृदय से अचेत हुए चिरकाल तक पड़े के-पड़े ही रह गये।

छप्पय

आतम ज्ञान मह मग्न मोह नहिं भेद लखावै।
तू मोकूँ हे नृपति! मत्त उन्मत्त बतावै॥
ज्ञानी मिरी उभय भाँति तव वश नहिं आऊँ।
देह मोह नहिं नेक कर्म प्रारब्ध बिताऊँ॥
अस कहि शिविका कन्ध धरि, चले भूप तम भगि गयो।
शिविका तें कूदयो तुरत, जड़ पैरनि मह परि गयो॥

—०—

जड़भरतजी से रहूगण के परिचय प्रश्न

[३३५]

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानाम्
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १० अ० १६ श्लोक)

छप्पय

पूछे है अघीन— कौन तुम, रहहु कहाँ प्रभु ।
कस अस वेष बनाइ गुप्त बन बन बिचरो बिभु ॥
योगेश्वर वा सिद्ध स्वयं नर बनि हरि आये ।
करि करुना करुनेश ! सुधा सम बचन सुनाये ॥
या असार संसार में, सार वस्तु जानन निमित ।
कपिलाश्रम कूँ जातु हौ, ब्रह्म भूत गुरु मिले इत ॥

साधु पुरुष पहले तो किसी को अपनाते नहीं अपना यथार्थ रूप बताते नहीं, यदि भाग्यवश किसी को अपना लेते हैं, अपने

---

* श्रीशुक कहते हैं— 'राजन् ! जड़भरतजी से राजा रहूगण पूछने लगे—"ब्रह्मन् ! आप कौन हैं ? आप द्विजों जैसा यज्ञोपवीत तो पहिने हुए हैं, किन्तु अपने को छिपाये हुए हैं । क्या आप कोई किन्हीं नित्य अवधूतों में से हैं ? आप किसके पुत्र हैं ? आपका जन्म स्थान कहाँ है ? यहाँ पर कहाँ से आये हैं ? या आप हमारे कल्याण के लिये सत्त्व मूर्ति धारण किये हुए स्वयं भगवान् कपिल ही तो नहीं हैं ?"

सत्स्वरूप को प्रगट कर देते हैं, तब उसे पार ही पहुँचा देते हैं। आत्मगोपन अज्ञजनों से होता है। जो विज्ञ हैं, अधिकारी हैं, वे तो आत्मस्वरूप ही हैं, उनसे क्या संकोच। हम दूसरों के सम्मुख नग्न होने में लजाते हैं, किन्तु अपने आप से भी या अपने अभिन्न हृदय से भी कभी किसी ने आज तक संकोच किया है? यदि किया है, तो वह आत्मीय नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज रहूगण भरतजी के वचनों से अत्यत प्रभावित होकर उनके चरणारविंदों में गिर पड़े, तब भरतजी को उस पर दया आ गयी। वे बिना कुछ आपत्ति किये खड़े रहे, न तो उन्होंने राजा को अपने पैरों से पृथक किया और न पालकी छोड़कर भाग ही गये। आज उन्होंने अपने पागलपन को भी छोड़ दिया। आज तो वे अपने यथार्थ रूप में प्रकट हो गये।

राजा रहूगण का जब प्रेम वेग कुछ कम हुआ, तो उन्होंने उठकर फिर से भरतजी की चरण-वन्दना की। दौड़कर पालकी से गद्दी तकिये उठा लाये। लाल मखमल की मुलायम गद्दी को एक वृक्ष के सहारे बिछाकर हरी मखमल के खोल वाले जिन पर सुवर्ण की जरी का काम हुआ था, तीन बड़े-बड़े तकिये अगल-बगल और पीछे उस गद्दी में लगा दिये। हाथ जोड़कर उन्होंने भरतजी से विराजने की विनय की। राजा की प्रार्थना को स्वीकार करके आज अवधूत शिरोमणि भरतजी अपनी कृत्रिम जड़ता को छोड़कर हँसते हुए गद्दी पर बैठ गये। एक मुलायम मसनद को उन्होंने अपनी गोद में रख लिया। उस पर हाथ टेक कर कहने लगे—"हाँ, तो राजन्! कहिये, कौन स्वामी है, कौन सेवक है।"

अत्यन्त लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए राजा ने दीनता

के स्वर में कहा—"भगवन्! यह मन्दमति ही दास है। आप ब्रह्मभूत आचार्य ही स्वामी हैं।"

यह सुनते ही भरतजी हँस पडे और बोले—"राजन्! फिर भूल कर रहे हो?"

राजा रहूगण बात को टालते हुए कहने लगे—"अच्छा, भगवन्! ये बातें तो पीछे होगी, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप हैं कौन? इस यज्ञोपवीत से तो जान पडते हैं आप कोई द्विज हैं, किन्तु आप सर्वथा अपन को छिपाये हुए हैं। मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।"

इस पर भरतजी बोले—"राजन्! आप कहने से तुम्हारा अभिप्राय किससे है? दो वस्तुएँ हैं, एक तो देह एक देही। देह तो पचभूतों का बना हुआ है, जेसा देह आपका वेसा मेरा, रही देही आत्मा की बात सो वह तो एक नित्य विभु सर्वगत, सर्व-व्यापक है। उसका परिचय क्या दू। अत. आपका यह प्रश्न सगत नहीं।"

राजा रहूगण बोले—"अच्छा, महाराज! जाने दें जाति पाँति से मुझे क्या लेना, यह तो बता दें आप नित्य सिद्धों में से तो कोई नहीं हैं। दत्तात्रेय, आसुरी पतञ्जलि इनमे से तो कोई नहीं हैं? यदि नहीं तो यहाँ किस ऋषि के घर आपने जन्म लिया है?"

जड भरतजी बोले—"महाराज! फिर वही प्रश्न। शरीर तो पचभूत से उत्पन्न होता है, अन्त में उन्हीं मे विलीन हो जाता है। आत्मा किसी से कभी उत्पन्न न हुआ है न होगा। जब वह उत्पन्न ही नहीं हुआ तो उसके जनक का नाम कैसे बताऊँ।"

राजा बोले—"अब महाराज! मैं आपसे तर्क तो कर नहीं सकता। अच्छा, यही बता दीजिये आप यहाँ कहाँ से पधारे हैं। कहाँ रहते थे, आपका जन्म किस स्थान में हुआ?"

भरतजी बोले—"राजन्! इस भौतिक बुद्धि को छोड़ो, कुछ परमार्थ चर्चा करो। आत्मा न कहीं से आता है न जाता है। आना जाना तो वहाँ होता है जहाँ त्याग ग्रहण की संभावना हो। हम प्रयाग से काशी आये। अर्थात् हम काशी में नहीं थे, प्रयाग में थे अब प्रयाग को छोड़कर काशी पहुँच गये। आत्मा तो सर्व-व्यापक है। उसमें आना जाना किसी एक स्थान में उत्पन्न होना संभव नहीं।"

राजा रहूगण अवाक् होकर कहने लगे—"प्रभो! आपकी इन गूढ़ बातों से तो मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आप पुरुष नहीं पुरुषोत्तम हैं। आपके आने का कोई सांसारिक प्रयोजन नहीं। केवल मेरे ऊपर कृपा करने ही आप इस गुप्तरूप से प्रकट हुए हैं। आप भगवान् के ज्ञानावतार स्वयं साक्षात् कपिल, भग-वान् ही हैं। प्रभो! मुझ दीन हीन के अपराधों की ओर ध्यान न देकर मुझे क्षमा कर दें। मुझ दुष्ट ने आपका बड़ा भारी अपमान कर दिया, इससे मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है, मेरा हृदय धड़क रहा है।"

हँसते हुए भरतजी बोले—"अरे बस, बोल गई कुकड़ूँ कूँ। तुम तो तबसे बहुत बड़बड़ा रहे थे, मैं राजा हूँ यह कर दूँगा, वह कर दूँगा।" अब तनिक-सी बात पर ही डरकर थर-थर काँपने लगे।

राजा ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं भगवन्! डरने की बात नहीं। मनुष्यों की तो बात ही क्या, मैं इन्द्र के वज्र से नहीं डरता, शिव के त्रिशूल से नहीं डरता। यम के पाश से नहीं डरता, कहाँ तक कहूँ भगवान् के पावकास्त्र, सूर्यास्त्र, चन्द्रास्त्र, वायव्यास्त्र तथा कुबेरास्त्र किसी से भी डरने वाला नहीं, हाँ मैं ब्राह्मणों के अपमान से अधिक डरता हूँ। मेरे द्वारा आपका एक

बार नहीं, बार बार अपमान हुआ है, इसीलिये मैं बार-बार दीनता के साथ पूछ रहा हूँ कि आप ब्राह्मण ही हैं न ?"

इस पर भरतजी बोले—"राजन् ! हम तो जो हैं सोई हैं, तुम अपनी बात बताओ।"

यह सुनकर रहूगण बोले—"भगवन् ! आपके योगयुक्त वाक्यों की समझने की तो मुझमें क्षमता है नहीं। आप अत्यन्त गूढ वाणी मे बोलते हैं। महाराज ! मैं अपनी क्या बात बताऊँ ? आपसे कोई बात छिपी थोड़े ही है, आप सबके भीतर बाहर की बातें जानने वाले हैं।"

फिर भी मैं अपना परिचय आपको देता हूँ। मैं सिधु सौवीर देश का राजा हूँ। मैंने सुना है कि आत्मतत्त्व के ज्ञाता योगेश्वरों के भी परम गुरु, साक्षात् श्रीहरि अपने अंश रूप से अवतरित हुए हैं, लोक मे वे 'कपिल' इस नाम से विख्यात हैं। मैं उनके समीप जा रहा था, यह पूछने के लिये कि इस संसार मे एकमात्र शरण्य कौन है ? किनकी शरण मे जाने से सभी शोक सन्ताप समाप्त हो सकेंगे।" इसी इच्छा से उनके आश्रम मे जाते हुए बीच में आपके दर्शन हो गये मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, कि साक्षात् भगवत् स्वरूप श्री योगेश्वर कपिल आप ही हैं।"

भरतजी हँस पड़े और बोले—"राजन् ! तुम्हें बार-बार ऐसा भ्रम क्यों हो रहा है ?"

राजा रहूगण ने कहा—"महाराज ! आप योगियों की गति जानी नहीं जा सकती। जैसे योगेश्वरों के भी ईश्वर आपके भगवान् श्याम सुन्दर लीलाधारी हैं, वैसे ही आप सब हैं। आप लोक निरीक्षणार्थ अपने वेष को छिपाये जहाँ इच्छा होती है घूमते फिरते हैं। हम जैसे माया मोह में आबद्ध प्राणियों को भुलावे में डालते रहते हैं। किसी भाग्यशाली पर कृपा भी कर देते हैं, नहीं तो अधिकांश तो आपके स्वरूप को बिना जाने

अपराध के ही भागी बनते हैं, क्योंकि गृहस्थ में आसक्त रहने वाला विवेकहीन पुरुष आप योगेश्वरों की गतिविधि को कैसे जान सकता है। देखिये, मुझसे ही कितना भारी अपराध बन गया। आप पूजार्ह को मैंने अपनी पालकी में कहार बनाकर लगाया आपसे बोझा ढुवाया आपके ऊपर सवार हुआ और बहुत-सी खरी खोटी बातें भी कहीं। सो हे भगवन्! मेरे इन सभी अपराधों को आप अपने दयालु स्वभाव के कारण क्षमा कर दें। मैं बहुत ही लज्जित हूँ।"

जड़ भरतजी ने स्नेह के स्वर में कहा—"राजन्! क्षमा और अपराध जहाँ द्वैधी भाव है वहाँ हुआ करता है। अपने आत्मीयों से क्या अपराध और क्या क्षमा? भूल से यदि दाँतों से जीभ कट जाय तो क्या कोई दाँतों को तोड़ फेंकता है? या भूल से उँगली आँख में कुच जाय तो क्या कोई हाथ को काट देता है। ये सब तो शिष्टाचार की बातें हैं। इन्हें तो समाप्त करो अब जो यथार्थ बातें हों, उन्हें कीजिये। परमार्थिक प्रश्नों को पूछिये अपनी शंकाओं को मेरे सम्मुख प्रकट कीजिये।"

जब स्वयं ही भरतजी ने कृपा करके राजा को आज्ञा दी और उन्हें कुछ पूछने का अवसर दिया, तो वे बड़े प्रसन्न हुए और अपनी शंकाओं को पूछने के लिये उद्यत हुए?

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! महाराज रहूगण ने भरतजी के बचनों में बड़ी ही सुन्दर शंकायें उठाईं। उन्हें आप ध्यान पूर्वक सुनेंगे और समझेंगे तो आपको विदित हो जायगा, कि राजा रहूगण कितने भारी जिज्ञासु और सूक्ष्मबुद्धि के विचारवान नृपति थे। अब पहिले मैं आप से राजा के द्वारा की हुई शंकाओं का वर्णन करके तब भरतजी द्वारा उनका जिस प्रकार समाधान हुआ है, उसका विस्तार से वर्णन करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह रहूगण और भरत का

सम्वाद समस्त ज्ञान का उसी प्रकार सार है, जैसे दुग्ध का सार घृत। आपकी आज्ञा हो तो इसका वर्णन करूँ, नहीं तो मेरी तो इच्छा है इसका वर्णन फिर कभी प्रसङ्गानुसार ज्ञान प्रकरण में करूँगा, आगे कथा भाग को चालू रखूँ।"

इस पर अत्यन्त उत्सुकता प्रकट करते हुए शौनकजी ने कहा—"सूतजी यही बात तो आपकी हमे अप्रिय लगती है। महाभाग! आप प्रसङ्ग को अधूरा छोड़ देंगे, तो हमारी जिज्ञासा बनी ही रहेगी। राजा ने क्या-क्या प्रश्न किया भरतजी ने उनके क्या क्या उत्तर दिये? गूढ होने पर भी, है तो कथा का ही भाग। फिर आप तो गूढ़ ज्ञान को भी इतनी सरलता के साथ दृष्टान्त दे दे कर समझाते हुए बताते हैं, कि चित्त ऊबता ही नहीं। आप शुष्कज्ञान रूप सत्तुओ में उपाख्यान सरसता तथा भक्ति प्रसङ्ग रूपी चीनी, घृत और दुग्ध मिलाकर उसे हृद्य परमपेय और सुस्वादु बना देते हैं। सूतजी! देखिये, यह हम आपकी बात नहीं मान सकते। इस प्रसङ्ग को आप पूरा-पूरा दृष्टान्तों के सहित भली-भाँति समझा-समझा कर बतावें, कृपणता न करें।"

सूतजी ने उल्लास के साथ कहा—"महाराज! मुझे क्या है, आप सुनने को उद्यत हैं तो मैं सुनाता हूँ, सावधान होकर आप सब श्रवण करें।"

छप्पय

करुनासार कपिल आपु हो मेरे स्वामी।
हो अनादि अखिलेश अलख अज अन्तर्यामी॥
जड़ को वेष बनाय फिरो सब जग अवलोकत।
निज ऐश्वर्य छिपाय अवनिपै निरभय विचरत॥
आत्माराम सुबोधमय, योगेश्वर निष्काम हो।
निरगुन माया ते परे, षट संपति के धाम हो

—०—

राजा रहूगण की शंकायें और भरतजी द्वारा समाधान

[३३६]

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
मर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये ॥
यथासतोदानयनाद्यभागवत्,
समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १० अ० २१ श्लो०)

छप्पय

कह्यो मोइ श्रम नाहिँ बात नाहिँ बैठी मनमहँ ।
भार ढोइ पथ चलो होहि श्रम सबके तनमहँ ॥
स्वामी सेवक भाव आप व्यवहार बतावें ।
घड़ा मृत्तिका एक होहि पानी कम लावें ॥
सुख दुख होवे पुरुष कूँ, देह करन मन, बंधेतें ।
जल चावल है पात्र महँ, रँधे अग्नि के लगेतें ॥

---

* राजा रहूगण जड़ भरत जी से शङ्का करते हुए कहते हैं—"मैंने काम करने से श्रम होते स्वयं देखा है, अतः अनुमान करता हूँ आपको भी भार ढोने और मार्ग चलने से अवश्य ही श्रम हुआ होगा। रही स्वामी सेवक भाव की असत्यता तथा व्यवहार मात्र की बात सो उसे भी मैं मूल में सत्य ही मानता हूँ। यद्यपि घड़ा सत्य नहीं है, मिट्टी ही है फिर भी पानी तो घड़े से ही लाया जाता है। यदि उसे भी मूलतः असत् ही मान लें, तो असत् घट से जल दिलाना आदि कार्य कैसे सम्भव हो सकते हैं।"

जब हम आचार्य को अपने अनुकूल देखते हैं, तब हम धृष्ट हो जाते हैं और उन्हीं की बातों का खण्डन करने लग जाते हैं। यहाँ खण्डन से तात्पर्य उनके प्रति अनादर प्रदर्शन करना नहीं है, किन्तु विषय को शकाहीन बनाना है, उदा[illegible] अल्प बुद्धि से आचार्य की व्याख्या में दोष दिखाने लगा करते हैं और वह [illegible] का ठीक है तो आचार्य [illegible] द्वारा [illegible] शकाओं का उत्तर देते हुए अपने कथन को [illegible] शिष्य की शका को निर्मूल कर देंगे। [illegible] के सहित होने वाले परस्पर के [illegible] निर्णय होता है। यही सब सोच[illegible] कथन मे ही दोष दिखाना आरम्भ [illegible]

यह सुनकर भरतजी हँसे और बोले—"पहिले तो राजन्! आप बताइये, प्रत्यक्ष आप किसे कहते हैं? प्रत्यक्ष आपने क्या देखा?"

राजा ने कहा—"महाराज, प्रत्यक्ष की क्या व्याख्या करूँ आँखों से जो सम्मुख दिखाई देता है, वही प्रत्यक्ष है। हमने अपनी आँखों से देखा, पालकी आपके कंधे पर थी, आप उसे ढो रहे थे। मैंने ही नहीं इन सब लोगों ने देखा।"

भरतजी बोले—"हाँ, तो इस पर विचार करो आपने किसके ऊपर किसको देखा। इसे आप ढोने वाला कह रहे हैं उसके पृथ्वी पर दो पैर थे। पैरों के ऊपर गुल्फ, टखने थे। टखने के ऊपर पिंडुलियाँ थीं। पिंडुलियों के ऊपर घुटने थे। घुटनों के ऊपर जाँघें थीं। जाँघों के ऊपर कटि प्रवेश चूतड़ थे, उनके ऊपर पेट था। पेट के ऊपर वक्षःस्थल, वक्षःस्थल के ऊपर कंधा। कंधे के ऊपर पालकी का बाँस। उस बाँस में एक बड़ा-सा काट कूट-कर कीलों से बनाकर काष्ठ लटका था। उस काष्ठ के ऊपर एक मांस का बना पिंड बैठा था। वह अपने को बार-बार अकड़-अकड़ कर कह रहा था—"मैं सिन्धु सौवीर देश का राजा हूँ।" अब सोचिये ढोने वाला कौन है? यदि जो जिसके ऊपर हो वही बोझ माना जाय, तो सभी पर बोझ है। तुम्हारे शरीर पर बोझ नहीं है क्या? पैरों पर कटि का, उदर का कटि पर है। सिर का कंधे पर है। यदि चलने से ही थकावट होती हो, तो तुम भी तो चल रहे थे, पालकी भी चल रही थी। सबको समान रूप से श्रम होना चाहिये।"

राजा ने कहा—"महाराज, पालकी तो जड़ है, हम आप चैतन्य हैं, मैं बैठा था, आप पैदल चल रहे थे। इसमें तो बहुत भेद है।"

धैर्य के साथ जड़ भरतजी ने कहा—"उस भेद को ही तो

समझने की आवश्यकता है। क्या भेद है, केवल नाम और आकृति का ही तो कल्पित भेद है। आप जिसे पालकी कहते हैं, पहिले उसे ही समझ लो। पर्वत के ऊपर एक वृक्ष था। काटकर उसे चीर लिया। अब उसे वृक्ष न कहकर सब लोग तख्ते कहने लगे। दो चार लकड़ी के तख्ते काट कूटकर बाँस, कील लगाकर एक गोल-सी वस्तु बना ली, अब न उसे लोग पेड कहते हैं न तख्ते, अब उसका नाम शिविका-पालकी पड गया। तत्वतः उसमें पदार्थ तो सब वे ही हैं केवल नाम और आकृति में कुछ अन्तर हो गया। वे काष्ठ भी एक के ऊपर एक रखे हैं। उनको भी श्रम होना चाहिये। अब रही जड़ चैतन्य की बात। तो मैं पूछता हूँ, आपके शरीर में या संसार के सभी शरीरों मे और उस शिविका के पदार्थों में क्या अन्तर है। काष्ठ की बनी शिविका भी पंचभूतों का विकार है और सभी शरीर भी पंचभूतात्मक ही हैं। जब सबमें एक मे ही पदार्थ हैं, तब यह कहना 'यह मोटा है, यह पतला, यह बलवान् है, यह निर्बल। यह जड है यह चैतन्य, यह वाह्य है यह वाहक, यह राजा है यह सेवक।' केवल व्यवहारमात्र ही तो है। आत्मा तो इन सबसे निर्लेप है। वह दो है नहीं। वह एक अखंड अद्वैत है। तब यह कहना कि हम प्रत्यक्ष आपको ढोते हुए देख रहे हैं, थक गये होंगे, बली हैं यह अज्ञान से ही कथन हो सकता है। व्यवहार मे इसकी सत्ता भले ही हो, परमार्थ में तो ये बातें निरर्थक, व्यर्थ ही कही जायँगी।"

राजा रहूगण ने कहा—"भगवन्! यह आप बात तो बडी सुन्दर कर रहे हैं, किन्तु यह बात मेरी बुद्धि मे ठीक-ठीक बैठी नहीं। इसे स्पष्ट करके सुनाइये।"

इस पर जड़भरतजी हँसते हुए बोले—"अच्छा राजन्! इस पर हम आपको एक दृष्टांत सुनाते हैं, सुनिये। एक ऋषि थे, बड़े

धर्मात्मा थे उनके एक पुत्र था, वे अपने पुत्र को बहुत योग्य ज्ञानी बनाना चाहते थे, किन्तु लाड़ प्यार के कारण प्रायः पुत्र पिता से पढ़ नहीं सकता। यही सब सोचकर ऋषि उन्हें अपने बड़े भाई के समीप ले गये। उनसे प्रार्थना की—"आप इसे सर्वथा योग्य बना दें। इसकी ब्रह्मज्ञान में-वेदान्त शास्त्र में-पूर्ण निष्ठा करा दें।" अपने भतीजे को शिष्य रूप में पाकर ऋषि बड़े प्रसन्न हुए और अपने छोटे भाई से कहा—"तुम भैया! निश्चिन्त रहो, मैं पूर्ण ज्ञानी बना दूँगा।" इस पर भाई की चिन्ता दूर हुई। अब ऋषि उन्हें इस जगत् की अनित्यता वेदान्त वाक्यों से समझाने लगे। चिरकाल तक वेद वेदान्त पढ़ाते रहे। कुछ काल में समावर्तन संस्कार का समय आया, स्नातक होकर विवाह करके वे उनके शिष्य अथवा भतीजे अपने घर चले गये। काम काज में फँस गये। इधर आचार्य ने सोचा—"देखें चलकर उसे पूर्ण ज्ञान हुआ या नहीं।" प्राचीन ऋषियों की आयु हजारों लाखों वर्षों की होती थी। हजारों वर्ष बीत गये थे। आचार्य कुछ वृद्ध भी हो गये थे, बाल पक गये थे। शिष्य महोदय भी तपस्या करते-करते युवा हो गये थे।"

आचार्य अपने शिष्य के नगर में गये। राजन्! यह तो आप जानते ही हैं, राजधानियों के बड़े-बड़े नगरों के चारों ओर परकोटे होते हैं। उनमें चारों ओर प्रधान द्वार होते हैं लोग उन्हीं से जाते आते हैं। आचार्य ऋषि नगर के प्रधान द्वार से जाना चाहते थे कि प्रहरियों ने उन्हें रोक दिया। उन्होंने पूछा—"भाई क्यों नहीं जाने देते हो।"

प्रहरियों ने डाँटकर कहा—"महाराज की जब तक सवारी न निकल जायगी, तब तक बाहर का कोई भी आदमी भीतर नहीं जा सकता।" यह सुनकर आचार्य मुनि द्वार के एक ओर बैठ गये। और भी बहुत से लोग आ आकर वहाँ बैठने लगे।

देवयोग से उनके भतीजे शिष्य अरण्य से कुशा और समिधाओं का गट्ठर लिये हुए आये। उन्हें भी प्रहरियों ने रोक लिया। वे भी अपने गट्ठर को एक ओर रखकर राजा की सवारी निकलने की प्रतीक्षा में बैठे रहे। आचार्य तो पहिचान गये यह मेरा चेला है, किन्तु चेलाजी न पहिचान सके। बहुत परिश्रम से धूप में लकड़ियाँ लाये थे। लाते लाते थक गये थे, बैठकर पसीना सुखा रहे थे। इतने में ही शनः शनैः खिसकते खिसकते आचार्य इनके पास पहुँच गये। इतने में ही बड़ी धूम से गाजे बाजे के साथ राजा की सवारी भी आ पहुँची।"

जैसे बूढ़े लोगों का स्वभाव होता है, बड़ी सरलता से पूछा—"क्यों जी यह क्या प्रपञ्च है।"

उन मुनि ने सरलता से कहा—"आज एक विशेष पर्व है। यह राजा की सवारी है।"

आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"भैया, मुझे बता दो राजा कौन है?"

आश्चर्य के साथ शिष्य मुनि ने कहा—"अरे, तुम इस देश के राजा को भी नहीं जानते?"

आचार्य ने कहा—"कैसे जानूं भैया! तुम जनाओ तो जानूं। इन इतने लोगों में राजा कौन है। मुझे पता ही नहीं लगता।"

युवक मुनि बूढ़े के इस अज्ञान पर हँस पड़े और बोले—"अरे बाबाजी! इतना भी आप नहीं जान सकते। ये जो सब हाथों में अस्त्र शस्त्र लिये पैदल चल रहे हैं, ये तो सब अन्य प्रजा के जन हैं और ऊँचे से हाथी पर जो वस्त्राभूषणों से सुसज्जित पुरुष छत्रचँवर धारण किये बैठा है वह राजा है।"

सरलता से आचार्य ने पूछा—"हाथी कौन? राजा कौन?"

इस प्रश्न से युवक मुनि खीज उठे, थके तो थे ही अतः व्यग

के साथ बोले—"मालूम होता है, आप किसी पहाड़ की कन्दरा से अभी निकल कर आये हैं। आप यह भी नहीं जानते हाथी कौन-सा है। अरे, जिस डील डौल वाले पशु पर बैठे हैं वह तो हाथी है और जो उस पर सवार मनुष्य है वह राजा है!"

आचार्य ने उसी सरलता से पूछा - "पशु कौन-सा है मनुष्य कौन-सा है?"

अब तो युवक मुनि का धैर्य छूट गया। वे कोप दृष्टि से बूढ़े मुनि को देखते हुए सोचने लगे—"यह पागल तो नहीं है। इसे पशु और मनुष्य के भेद का भी ज्ञान नहीं। फिर भी सम्हल कर बोले—"बाबाजी! क्यों कान खाते हो, कब से बक-बक लगा रखी है। भाँग तो नहीं पी रखी है। अरे, तुम्हें इतनी बुद्धि नहीं कि पशु कौन है, मनुष्य कौन है। जिस पर चढ़े हैं वह पशु है, जो चढ़ा है वह मनुष्य है। नीचे वाला पशु है, ऊपर वाला मनुष्य है।"

बूढ़े ने फिर सरलता से पूछा—"ऊपर क्या, नीचे क्या? ऊपर कौन? नीचे कौन?"

अब तो युवक का क्रोध सीमा को अतिक्रमण कर गया। उछल कर छाती पर सवार हो गया। भूरी-भूरी दाढ़ी को पकड़कर बोला—"तब से व्यर्थ के प्रश्न पूछ-पूछकर कान खा डाले हैं। अब समझे, तुम नीचे हो मैं ऊपर हूँ।"

उसी सरलता में बूढ़े मुनि बोले—"तुम कौन? मैं कौन?"

अब तो युवक का माथा ठनका। ये तो कोई ज्ञानी ऋषि हैं, जिन्हें द्वैत की गन्ध भी नहीं।" शीघ्रता से उनके ऊपर से उतर पड़े और चरणों में गिरकर कहने लगे—"भगवन्! प्रतीत होता है आप मेरे आचार्य भगवान् ऋभु हैं। क्योंकि उनके अतिरिक्त ऐसा अद्वैत ज्ञान किसी और को हो नहीं सकता।"

हँसकर महामुनि ने कहा—"हाँ बेटा! मैं तेरा आचार्य ही हूँ।

तेरी परीक्षा लेने आया था, कि ज्ञान मे तेरी पूर्ण निष्ठा हुई या नहीं। अभी भेया कचाई है, देखो, वाह्यवाहक तू मैं, मेरा तेरा ये सब व्यवहार की वातें हैं। और मिथ्या हैं। ज्ञानी को स्वप्न में भी इनकी सत्यता पर आस्था न करनी चाहिये। इन्द्रियो से हम जिनका अनुभव करते हैं, मन से जिन जिन का अनुभव करते हैं, वे सब माया जनित असत्य हैं। आत्मा के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा असग नित्य, शाश्वत और अपरिवतन शील है।"

इतना उपदेश देकर भगवान् ऋभु अपने शिष्य निदाघ द्वारा पूजित और सत्कृत होकर फिर अपने आश्रम पर चले गये। सो, राजन्! उत्तमता और अधमता ऊँचा होना, नीचा होना यह आत्मा म सम्भव नहीं। ये सब चित्त के कल्पित विकार हैं। जब तक यह चित्त सतोगुण रजोगुण और तमोगुण से व्याप्त रहता है। तब तक इन सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियो को सेवक बनाकर उनके द्वारा कार्य कराता रहता है मन मे भी कार्य करने की प्रेरणा पूर्व जन्मों की वासनाओं के अनुसार हाती हैं, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पाँच भूत १० ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ एक यह स्वय मन। इस प्रकार इन १६ कलाओं से युक्त होकर गुणों से प्रेरित विषय विकार वाला मन ही भिन्न भिन्न नामो से भिन्न भिन्न योनियो की असत् कल्पना करके उनमे उत्तमता और अधमता का आरोप करता है। अशुद्ध मन ही ससार में फँसता हैं, वही विशुद्ध हो जाने पर ब्रह्म तक पहुचाता है। यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कराता है इसलिये राजन! इस मन को विशुद्ध बनाकर आप विचार करें, न वाह्य हैं न वाहक, न श्रम न आयास, जो है सोई गोलमाल है।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! परमहस शिरोमणि जडभरत की ऐसी गूढ तत्वज्ञान की बातें सुनकर

रहूगण कुछ काल तक विचार करते रहे, फिर आगे का प्रसङ्ग चालू रखने के लिये, वे भरतजी के कथन की दूसरी बातों पर शंका करने लगे। अब स्वामी सेवक भाव कैसे असत्य है, इसे समझने के लिये आगे की बात पूछने को उद्यत हुए।"

छप्पय

कहें भरत सुनु भूप ! भूत निर्मित जग जानो।
भेद भाव कछु नाहिँ ज्ञान तें निश्चय मानो॥
शिविका ऊ है काष्ठ काटि कें ताहि बनावें।
रूपान्तर ह्वै जाय फेरि नहिँ पेड़ बतावें॥
यह विभिन्नता जगत महँ, नाम रूप के भेद तें।
नहीं सत्य तो बात यह, सभी एक हैं तत्व तें॥

जड़ भरतजी द्वारा व्यवहार और परमार्थ विवेचन

[३३७]

अकोविदः कोविदवादवादान्,
वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः ।
न सूरयो हि व्यवहारमेनम्,
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥*

(श्री भा० ५ स्क० ११ अ० १ श्लो०)

छप्पय

स्वामी सेवक भाव कल्पना जिह सब मन की ।
आत्मा तो अद्वैत उपाधी ये हैं तन की ॥
राजा होवै रङ्क रङ्क राजा बनि जावै ।
कल शिविका जो चढ्यो आज सो ताहि उठावै ॥
जग को यह व्यवहार है, ज्ञानी जन मिथ्या कहें ।
मूरख समुझै सत्य सब, ताते नित नित दुख सहें ॥

शिष्टाचार तभी तक रहता है, जब तक घनिष्टता नहीं रहती । घनिष्टता में शिष्टाचार शिथिल पड़ जाता है । जिन

---

* राजा रहूगण से जड भरतजी कहते हैं—"राजन् ! हो तो तुम मूर्ख, किन्तु बातें करते हो ब्रह्म ज्ञानियों की सी । इसमें ज्ञानियों के समाज में आदरणीय श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते ! क्योंकि पंडित लोग तत्त्व विचार करते समय इस व्यवहार का कभी भी समर्थन नहीं करते ।"

छोटों के प्रति अपनापन हो जाता है। इन्हें डाँटने डपटने में बड़ा सुख मिलता है। ममत्व के बिना कौन कैसे किसे प्रेमपूर्वक घुड़क सकता है। बिना अपनापन हुए कौन किसकी स्नेह भरी हँसी उड़ा सकता है। यह संसार सम्बन्ध पर ही अवलम्बित है। सांसारिक सम्बन्ध हो या पारमार्थिक दोनों ही में पक्षपात होता है। पक्षपात के बिना सम्बन्ध नहीं। योग्य शिष्य पर गुरु का पक्षपात होता ही है। बड़ों को जिनके प्रति जितना ही अधिक पक्षपात होगा, उसे वे उतना ही अधिक डाटेंगे डपटेंगे। योग्य बनाने की चेष्टा करेंगे, उसकी हँसी उड़ायेंगे और व्यंग से कहेंगे—"वाहजी, आप तो बड़े बुद्धिमान हैं। बात तो बड़ी लम्बी चौड़ी बना रहे हैं किन्तु उनमें तत्व तनिक भी नहीं।" इन स्नेह के वचनों में कितना ममत्व भरा पड़ा है, इसे अभिमानी निगुरा मनुष्य कभी समझ ही नहीं सकता।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जड़ भरतजी के कथन में और भी शंका करते हुए महाराज रहूगण कहने लगे—"भगवन्! आपने एक बात यह कही थी कि भूख, प्यास, तृष्णा, भय, शोक, श्रम ये सब आत्मा में नहीं हैं। ये तो मन के धर्म हैं, आत्मा का विषयों के सुख दुख से कोई सम्बन्ध नहीं। यह बात मेरी समझ में आई नहीं। हम यह मानते हैं आत्मा का देह, इन्द्रियों तथा मन से कोई सम्पर्क न हो, तब तो उसे सुख दुख न भी होगा, किन्तु जब जीवात्मा का शरीर से सम्बन्ध है, तो प्रत्यक्ष चाहे विषयों से उसका संसर्ग न हो किन्तु परम्परया तो सुख दुख होता ही होगा। जैसे एक चूल्हे पर बटलोई रखी है, बटलोई में पानी भरा है, पानी में धान पड़े हैं। चूल्हे के नीचे आग जल रही है। यद्यपि अग्नि का धानों से कोई प्रत्यक्ष सम्बंध नहीं। फिर भी अग्नि से बटलोई गरम हुई। बटलोई की गरमी से पानी गरम हुआ। पानी की गरमी से चावलों के ऊपर का,

छिलका गरम हुआ उसके गरम होने से भीतर की चावल की मिगा भी गरम होकर उबल जाती है, चावल से भात बन जाता है इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा अन्तःकरण की सन्निधि से जीवात्मा पुरुष को भी सुख दुख का अनुभव होता ही होगा। एक तो मेरी यह शंका है। दूसरी यह है कि आपने कहा राजा प्रजा का सम्बन्ध मिथ्या है, कल्पित है इसका कोई पारमार्थिक प्रयोजन नहीं। सो यह बात भी मेरी समझ मे नहीं आती। राजा न हो, तो संसार का काम कैसे चले। यद्यपि राजा का भी शरीर पञ्चभूतों का बना हुआ है, उसके शरीर में भी सभी पुरुषों के समान हाथ, पैर, आँख, कान आदि अंग है, फिर भी राजा उनसे विशिष्ट है। सब एक से ही मान लिये जायँ, तो कोई किसी की आज्ञा ही न मानेगा। आप कहेंगे मिट्टी और घडा मे कोई अन्तर नहीं, घड़ा भी मिट्टी का ही बना है और मिट्टी भी मिट्टी ही है। दोनों में एक ही पदार्थ हैं। यद्यपि यह सत्य है, कि घडे में सर्वत्र मिट्टी ही मिट्टी है। मिट्टी से बना है, मिट्टी मे स्थिति है, अन्त मे मिट्टी में ही मिल जायगा, फिर भी साधारण मिट्टी में तो जल आ नहीं सकता। जल तो घड़े मे ही आवेगा। इसी प्रकार शासन तो राजा ही करेगा। अतः राजा में और साधारण लोगो मे बहुत अन्तर है। प्रजा द्वारा सेवा के लिये नियुक्त किया हुआ ही सही, किन्तु वह है शासक और पालक ही। अतः उन्मत्त और पागल को दण्ड देना उसका धर्म है, कर्तव्य है, प्रभु की सेवा है उसमे वह दोषी नहीं। यह नियम आपके सम्बन्ध में नहीं है, आप तो विश्वबन्धु मानापमान से रहित स्वयं ब्रह्म स्वरूप हैं। मेरी तो बात ही क्या आपका अपमान तो शूलपाणि शंकर भी करें तो उनका कल्याण नहीं। कृपा मेरी इन शंकाओं का समाधान करें।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन! जब महाराज रहूगण की

बातें जड़ भरतजी ने सुनी, तो हँसते हुए वे निरभिमान मुनि राजा को मीठी घुड़की देते हुए कहने लगे—"राजन ! तुम हो निरे घोंघावसन्त, किन्तु दूर हाँक रहे हो बड़ी लम्बी चौड़ी। हो तो अज्ञ किन्तु बातें कर रहे हो विज्ञों जैसी। महाराज गुड़ और गोबर एक नहीं किया जाता, परमार्थ और व्यवहार दोनों पृथक्-पृथक् हैं, परमार्थ में व्यवहार की सत्ता नहीं रहती। घट-लोई में पड़े चावल उबलते हैं संग से, किन्तु आत्मा तो असंग है, उसमें देहादि के साथ संग होता ही नहीं। जैसे आकाश सर्व-व्यापक अपरिछिन्न सर्वगत है, किन्तु घट आदि के द्वारा वह परिछिन्न-सा लगता है। लोग व्यवहार में भी कहते हैं घड़े का आकाश, घड़े के भीतर का आकाश, शरीर का आकाश, कानों के छिद्रों का आकाश, मुख का आकाश आदि-आदि। ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो क्या ये भेद आकाश में हैं, इन भेदों के कारण क्या आकाश में कुछ विकार हो गया ? उसकी सर्व व्यापकता नष्ट हो गई ? घड़ा फूटा नहीं कि घड़े का आकाश सर्वगत आकाश में मिल गया। मिल गया कहना भी मिथ्या है। पृथक् ही नहीं हुआ था, वह तो घड़े की उपाधि से पृथक-सा दिखाई देता था, उपाधि के नष्ट होने से उसकी संज्ञा भी नष्ट हो गई। इसलिये आपका यह कहना कि देह संसर्ग से, मन की सन्निधि से आत्मा को भी दुःख-सुख, श्रम, ग्लानि, भूख, प्यास, निद्रा, तन्द्रा का अनुभव होता है, यह ठीक नहीं। भूख प्यास क्या है ? आत्मा सुख-दुख भोक्ता नहीं, इस विषय में आपको मैं उन्हीं महर्षि ऋभु और निदाघ का एक अत्यन्त ही मनोरञ्जक उपाख्यान सुनाता हूँ, उसे आप ध्यान पूर्वक सुनें।"

भगवान् ऋभु ब्रह्माजी के पुत्र थे और निदाघ उनके भाई पुलस्त्य के पुत्र थे। पुलस्त्यजी ने निदाघ को ऋभुजी के पास पढ़ने भेजा। पढ़-लिखकर समावर्तन कराकर वे अपने घर चले

गये और देविका नदी के किनारे वीरनगर नामक पुर मे जाकर गृहस्थ धर्म का पालन करते हुये रहने लगे। महामुनि निदाघ ने अपने अनुरूप एक सुन्दरी भार्या का पाणिग्रहण किया और उसके साथ अग्निहोत्र आदि पञ्चयज्ञों को नित्य करते हुए सुख-पूर्वक काल यापन करने लगे। इस प्रकार हजारों वर्ष हो गये।

शिष्य समर्थ हो जाने से गुरु को भले ही भूल जाय, किन्तु गुरु तो शिष्य को नहीं भूल सकते। एक दिन उन दयालु आचार्य ने सोचा—"चलकर देखना चाहिये, निदाघ को ज्ञान हुआ या नहीं।" यह सोचकर वे वीरनगर की ओर चल दिये।

गृहस्थी का धर्म है, कि जब घर मे रसोई तैयार हो जाय, बलिवैश्वदेव करके अन्न को भगवान् के लिये निवेदित करके, कुछ देर द्वार पर अतिथि की प्रतिक्षा मे बैठा रहे, कोई अतिथि आ जाय, तो पहिले उसे भोजन कराके तब स्वय भगवान् का प्रसाद सन्त महात्माओं का बचा हुआ नैवेद्य पावे।

निदाघ मुनि भी बलिवैश्वदेव करके द्वार पर किसी अतिथि की प्रतीक्षा मे बैठे थे, इतने मे ही आचार्य ऋभु वहाँ आ गये। बहुत दिन की बात हो गई थी, ऋभु मुनि भी अपने को छिपाकर वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाकर आये थे अतः उन्हे पहिचान न सके थे। आज इतने तेजस्वी तपस्वी अतिथि को पाकर निदाघ मुनि परम सन्तुष्ट हुए। जैसा अतिथि का सत्कार करना चाहिये वैसा सत्कार करके श्रद्धा से उनके पैरों को धोकर हाथ जोडकर निदाघ मुनि ने कहा—"प्रभो! मेरे घर मे जो कुछ रूखा सूखा अन्न है उसे ग्रहण करें।"

नाक भौं सिकोड वृद्ध ब्राह्मण बोले—"विप्रवर! रूखे सूखे अन्न में तो मेरी रुचि है नहीं। क्या है तुम्हारे घर में?"

हाथ जोडकर निदाघ मुनि बोले—"भगवन्! मेरे घर मे

दाल बनी है। रोटी है, महेरी है। सत्तू भी रखे हैं नीवार के चावल भी हैं। आपको जो प्रिय हो वही खावें।"

यह सुनकर वृद्ध ब्राह्मण बोले—"द्विजवर! तुम देखते नहीं, मैं बूढ़ा हूँ, मुख में एक दाँत भी नहीं। फिर इन रूखी सूखी वस्तुओं से मेरी तृप्ति नहीं होने की। यदि कुछ बढ़िया माल खिलाओ तो खायँ, नहीं तो किसी दूसरे घर का द्वार खट-खटावें।"

धर्म के रहस्य को जानने वाले निदाघ मुनि भोजन के समय ऐसे योग्य अतिथि को अपने द्वार से भूखा कैसे लौटा सकते थे, अतः बड़ी विनय के साथ बोले—"हे विप्रवंशावतंस! हे द्विजोत्तम! आप यह कैसी बात कर रहे हैं आप आज्ञा दें वही तत्क्षण तैयार हो सकता है।"

वृद्ध अधिकार के स्वर में बोले—"अब हम तुम्हें क्या बतावें। जो भी तुम्हे लुचलुचे, स्निग्ध हृद्य मधुर सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ प्रतीत हों, उन्हें शीघ्रता से बनाओ।"

इतना सुनते ही निदाघ अपनी धर्मपत्नी के पास पहुँचे और बोले—"देवि! आज ही तुम्हारी परीक्षा है। कहीं अरण्य से कोई बहुत बड़े तेजस्वी तपस्वी महात्मा आये हैं। प्रतीत होता है अरण्य के कड़वे, कसेले, कच्चे नीरस फलों को खाते-खाते उनका चित्त ऊब गया है, वे उत्तम सुन्दर स्वादिष्ट मनोहर पदार्थ खाना चाहते हैं। इसलिये तुम जो भी उत्तम से उत्तम पदार्थ बना सकती हो, बनाओ! देखो, इतने योग्य अतिथि हमारे घर से निराश होकर मध्याह्न के समय लौट गये, तो आज तक के हमारे समस्त तप तेज नष्ट करके चले जायँगे।"

निदाघ मुनि की स्त्री धर्मचारिणी और पतिपरायणा थी। दूसरी कोई फूहरिया कर्कशा होती तो कह देती—"भाड़ में गये मुनि और चूल्हे में गया उनका स्वाद। मेरे घर जैसा भोजन बना

है वैसी उनकी हजार बार इच्छा हो तो खायँ, नहीं अपना रास्ता पकड़ें। साधु होकर दूसरे के घर मे ऐसा प्रस्ताव करते उन्हे लाज नहीं आती ? मेरे घर में कुछ नहीं। नीवार का भात है सूखी रोटी है। खायँ तो खिला दो नहीं वे नौ दो ग्यारह हों।" किन्तु सती साध्वी पतिपरायणा मुनि पत्नी ऐसी ओछी बातें कैसे कह सकती थीं। उन्होंने बड़े विनय से कहा—"मेरा अहोभाग्य ! आप इतना करें मेरे समीप के घर मे जो मेरी सखी उतथ्य मुनि की पत्नी है उससे तनिक कह आवें, वह अभी केले लेकर मेरे पास आ जाय।"

मुनि ने शीघ्रता से अपनी पत्नी का सन्देश उतथ्य मुनि की पत्नी से कह दिया। वह अपनी सहेली का सन्देश सुनते ही केले लेकर शीघ्रता से आ गई। इसे देखते ही निदाघ पत्नी खिल उठी और बड़े उल्लास से बोली—"बहिन ! आज मेरे घर मे बड़ा उत्कृष्ट श्राद्ध है, मेरे काम मे हाथ बटाओ। शीघ्रता से इन केलों को उबालने रख दो और बटलोई मे दूध डालकर खीर बनाओ बड़ी सुन्दर।"

इतना सुनते ही सहेली ने शीघ्रता के साथ हाथ पैर धोकर रसोई मे प्रवेश किया उसने चूल्हों मे झट से आग जलाई, जब तक निदाघ पत्नी दो कढाई मलकर ले आई। खीर को बरोसी पर चढाया। एक चूल्हे पर केले उबाले दूसरे पर सुन्दर सुन्दर पतले-पतले मालपुए छुन्न छुन्न करके सिकने लगे घी की सुगन्ध से सम्पूर्ण घर भर गया। इतने मे ही केले उबल गये, उनको मथकर उसका कुछ हलुआ बनाया कुछ की पकौड़ी बनाई कुछ पूड़ियों में मिला दिया जिसमे पूड़ियाँ अत्यन्त मृदु हो पोपले मुख से भी खाई जा सकें। केला के हलुए के अतिरिक्त कुछ आटे का भी हलुआ बनाया। बात की बात मे खीर, पूड़ी, मालपूए, पूड़ियाँ दो प्रकार के हलुआ। सुन्दर रसीले कई साग,

पकौड़ी, अचार, रायते, तैयार हो गये। अपने पति से शीघ्रता से पत्नी ने कहा—"सुनते हो! अतिथि को ले आओ भगवान् का प्रसाद तैयार है। शालग्राम भगवान् का सिंहासन भी उठाते लाना सबमें तुलसी दल छोड़ दो, बड़ी देरी हो गई।"

पत्नी की यह बात सुनते ही निदाघ मुनि भगवान् का सिंहासन लाये। सब में तुलसी दल छोड़ा और वृद्ध ब्राह्मण के समीप हाथ जोड़कर कहने लगे—"ब्रह्मन्! पधारिये प्रसाद तैयार है। वृद्ध ब्राह्मण ने आश्चर्य के साथ कहा—"इतनी शीघ्रता से कैसे फिर से प्रसाद बन गया? अच्छा चलो चलें।" यह कहकर वे उठ पड़े। निदाघ मुनि ने उनके चरण धोये सुन्दर आसन पर बिठाकर पूजा की और बड़े से थाल में सब सजाकर उनके सम्मुख रखा।"

ब्राह्मण बहुत वृद्ध थे। अतः निदाघ पत्नी ने उनसे पर्दा क्या किया, वह पंखा लेकर मुनि के समीप बैठ गईं और सब वस्तुओं को बार-बार पूछने लगीं। अतिथि को चाहिए कि जिसके घर भोजन करने जाय, उसके यहाँ जो पदार्थ बने हों, उन पदार्थों की और उनको बनाने वाली की खूब प्रशंसा करे। अपनी बनाई वस्तु की प्रशंसा सुनकर स्त्रियाँ बड़ी प्रसन्न होती हैं। अतः वे वृद्ध ब्राह्मण बार-बार कहने लगे—"वाह! पदार्थ कैसे सुन्दर बने हैं। इतनी शीघ्रता में इतने बन गये, मानो मन्त्र से बना लिये हों। इतनी मुलाइम पूड़ियाँ तो हमने नहीं देखीं। इनमें तो दांतों की आवश्यकता ही नहीं।"

मन-ही-मन प्रसन्न होती हुई निदाघ पत्नी कहने लगीं—"बाबाजी! इनमें तनिक उबाल कर पीसकर केला मिला देने से और घी का मोंमन डाल देने से ये मृदु भी हो जाती हैं और खस्ता भी। मैंने सोचा आप बूढ़े हैं।"

वृद्ध बोले—"हाँ बेटी! तू बड़ी सुतेमन है।" केले के हलुए

को खाते हुए मुनि बोले—"हलुआ तो बडा ही स्वादिष्ट है, किस वस्तु से बना है ?"

निदाघ पत्नी बोली—"बाबाजी ! यह केला का हलुआ है। पपीता का इससे भी सुन्दर बनता है। आज शीघ्रता में कुछ बना न सके। कल आप और विराजें तो सब वस्तुएँ सुभीते से सुन्दर बनाकर खिलाऊँ।"

हँसते हुए वृद्ध ब्राह्मण बोले—"अरी, बेटी ! हम तो रमते राम हैं, आज यहाँ कल वहा। ये ही तेंने बडे सुन्दर पदार्थ बनाये।" फिर समीप में बैठे निदाघ मुनि से कहने लगे—'निदाघ भैया, तुम बडे भाग्यशाली हो, जो तुम्हें इतनी सुशीला सुन्दरी सब कार्यों मे दक्षा सती साध्वी सर्वगुण सम्पन्ना बहू मिली। मन के अनुकूल पत्नी बडे पुण्या से प्राप्त होती है।"

निदाघ मुनि मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे, वे बार-बार सोच रहे थे— 'आज मेरा विवाह करना सफल हो गया। इसी गृहस्थी में नित्य पाप-ही पाप हैं। चूल्हे में, चक्की मे, खेती व्यापार तथा द्रव्योपार्जन में पाप ही-पाप है। यही एक गृहस्थ में सबसे बडा पुण्य है, कि इसमे अतिथि की सेवा हो सकती है।"

जिस घर में अतिथि पूजन नहीं, वह कूकर, सूकर के रहने का खोह है, जिस पत्नी ने अपने शील स्वभाव सदाचार तथा सद्गुणों से सम्माननीय अतिथि को सन्तुष्ट कर दिया, भूखे की आत्मा को मिष्ट भोजन और मीठे वचनों से तृप्त कर दिया, वही वास्तव में पत्नी गृहणी कहलाने योग्य है। जो अतिथि अभ्यागत को देखकर जल जाय, जो महापुरुषों की सेवा को इल्लत समझे वह तो चाण्डाली है, ऐसी पत्नी के साथ स्वार्थी कामी पुरुषों को छोडकर कौन धर्मात्मा सद्गृहस्थ एक रात्रि भी रहने का विचार करेगा। अहा ! मैं धन्य हुआ, कि मेरी पत्नी के द्वारा आज एक अत्यन्त योग्य अतिथि परम सन्तुष्ट

यह सब सोचकर निदाघ मुनि बड़ी विनय के साथ कहने लगे—"भगवान्! यह सब आप गुरुजनों के आशीर्वाद का ही फल है।"

महामुनि ऋभु ने यथेष्ट खीर सपोटी, खूब पूड़ियाँ उड़ाईं। कई बार हलुए के पात्र को खाली किया। जब पेट भर के भोजन कर लिया और बार-बार आग्रह करने पर भी जब वे सिंह गर्जन की भाँति मना करते रहे, तब निदाघ ने परसना बन्द किया। उठकर हाथ पैर धुलाये। मुख शुद्धि के लिये लँवग, इलायची, हरीत आदि दीं। जब ब्राह्मण भर पेट भोजन कर चुके, तब उन्हें उनके लेटने के लिये एक सुन्दर-सी शैया सजाई गई। मुनिवर उस पर सुखपूर्वक लेट गये। निदाघ उनके शनैः-शनैः पैर दबाने लगे।

प्राचीन परिपाटी थी, भोजन के समय अतिथि कोई भी आ जाय, उसका बिना परिचय पूछे सत्कार करते थे जब वह भोजन आदि से निवृत्त हो जाता, तब उससे प्रेमपूर्वक उसका परिचय पूछते। निदाघ मुनि ने बड़े शिष्टाचार के सहित पैर दबाते हुए पूछा—"ब्रह्मन्? आपने भली-भाँति पेट भर के भोजन तो किया? इन सुस्वादु पदार्थों से आपकी तृप्ति तो हुई न? इन पदार्थों से आपका अन्तःकरण प्रसन्न हुआ न? आप इस समय कहाँ से आ रहे हैं? कहाँ जायेंगे? आप कहाँ के रहने वाले हैं?"

यह सुनकर महर्षि ऋभु बोले—"देखिये, मुनिवर! भूखे आदमी की क्या कार तुष्टि होती है। मैं तो भूख प्यास से सर्वथा निवृत्त हूँ। जब मुझे भूख प्यास है ही नहीं तो मैं कुछ खाता भी नहीं, तब आपका प्रश्न व्यर्थ है। यह सुनकर निदाघ मुनि ने सोचा—"देखो ये ब्राह्मण कितनी तो खीर सपोट गये अब कहते हैं, कि मैंने खाया ही नहीं। मैं भूख प्यास से रहित हूँ।"

अपने भाव को छिपाते हुए मुनि बोले—"जब आपको भूख प्यास थी ही नहीं, तो इतना अन्न कैसे खा गये, इतना जल कैसे पी गये ?"

यह सुनकर वृद्ध शीघ्रता से उठकर बैठ गये और बोले—"देखिये मुनिवर ! इन पार्थिव धातुओं में जब उष्मा बढ जाती है, तो शरीर में क्षुधा उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जल तत्व के क्षीण होने से तृषा-प्यास लगने लगती है। ये सब प्राण के धर्म हैं। मुझमें इनका लेश भी नहीं। जिसे क्षुधा तृषा लगती है, वही खाता पीता है, उसी को खाने से तृप्ति होती है। मन जब स्वस्थ हो जाता है तब तुष्टि का अनुभव होता है। इसलिये ब्रह्मन् ! जिसका चित्त हो, जिसकी तुष्टि हुई हो, उससे पूछिए। मुझे न हर्ष था, न शोक, न मैं अस्वस्थ था, न अब स्वस्थ हुआ। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ। नित्य तुष्ट हूँ, मुझे तुष्टि के लिये किन्हीं बाह्य पदार्थों की अपेक्षा नहीं।"

अब आपने पूछा—"कहाँ रहते हो ? कहाँ से आये हो ? कहाँ जाओगे ? सो इनका भी उत्तर सुनो। यदि मैं कहीं न होता तो एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान पर जाता। आत्मा तो आकाश की भाँति सर्वव्यापक है। उससे आना जाना बनता ही नहीं। तुम बार बार कह रहे हो मैंने यह किया, आप कहाँ से आये यदि हम या अन्य पृथक होते तो बताते। मैं तू वह सब एक ही हैं। आत्मा में तो द्वैत का लेश भी नहीं। आपने पूछा इन मीठे पदार्थों से आप प्रसन्न हुए होंगे ? सो मीठे क्या ? कडवे क्या ? पदार्थ सभी पंचभूतों से बने हैं, पार्थिव हैं, पृथ्वी के विकार हैं। आज जिसे आप मीठा कहते हैं, कल वही कडवा हो जाता है। आज जो कडवा है, कल किसी कारण से मीठा हो जाता है। मुझे तो इनमें अणु मात्र भी भेद नहीं दिखाई देता। गेहूँ, जौ, चावल, मूँग, उडद, घी, तेल, दूध, दही, चीनी, गुड,

फल, फूल, साग सभी तो पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, अन्त में फिर पृथ्वी रूप हो जाते हैं। देह भी पार्थिव पदार्थों से बना है, इसकी रक्षा के लिये पार्थिव वस्तुएँ इसमें मुख द्वारा डालते रहते हैं। जैसे मिट्टी के बने घर को दूसरी मिट्टी से लीपते पोतते रहते हैं। घर भी मिट्टी का बना है। जिससे पोतते हैं वह भी मिट्टी है, केवल नाम रूप का अन्तर है। घर काली मिट्टी का है। पोतते हैं सफेद मिट्टी से। उसे काली मिट्टी कहते हैं। इसे चूना कहते हैं। नाम रूप निकाल देने से केवल मिट्टी ही तो है। जिसके मन में अच्छे बुरे अनुकूल-प्रतिकूल का भेद भाव है, उसे बार-बार जन्मना मरना पड़ता है जिसका मन सबसे सम हो गया है, वह आत्मरूप शुद्ध, बुद्ध मुक्त हो गया है। ब्रह्मन्! आप अपने चित्त को समता में स्थिर कीजिये। इस दृश्य प्रपंच को माया मात्र समझकर सत्चित् आनन्दस्वरूप ब्रह्म में ही स्थित रहिये।"

इतना सुनते ही निदाघ वृद्ध मुनि के पैरों पर पड़ गये और बोले—"ब्रह्मन्! अवश्य ही आप मेरे आचार्य भगवान ऋभु हैं। उनके अतिरिक्त मेरे ऊपर इतनी अहैतुकी कृपा और कौन कर सकता है?"

हँसकर ऋभु मुनि ने कहा—वत्स! तुम्हारा अनुमान सत्य है तुम्हारे स्नेह के वशीभूत होकर मैं तुम्हें उपदेश देने ही आया था तुम इस मिथ्या प्रपंच में सत्बुद्धि कभी मत करना। इतना कह कर महर्षि ऋभु निदाघजी को आशीर्वाद देकर चले गये।

जड़ भरतजी राजा रहूगण से कह रहे हैं—"राजन! यही परमार्थ का गूढ़ उपदेश है। अब रही राजा प्रजा की बात, सो यह तो व्यवहार में संकेत के लिये मान लिया गया है। आत्मा में कोई भेद भाव नहीं। जो अनित्य सम्बन्ध है वह नाशवान है क्षण भंगुर है। उसका नित्य आत्मा के साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं। ज्ञानी लोग इस भेद भाव को नहीं मानते। न इन

संसारी सम्बन्धों मे आसक्ति करके किसी का मान अपमान करते हैं। अजी, अपने से कोई पृथक हो, तो उसका सत्कार तिरस्कार करें भी। आत्मा तो भेद भाव से रहित है। राजन! यह सब मन ने भेद भाव की कल्पना कर रखी है। पहिले आप इस मन को वश में कीजिये। संसारी व्यवहारों से मन को हटाइये। अपने यथार्थ स्वरूप मे मन को लगाइये, तब यह जो दृश्य प्रपच है स्वयं ही विलीन हो जायगा।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन् इतना कहकर महामुनि जड़ भरत चुप हो गये। अब राजा इस मन के सम्बन्ध मे सोचने लगे।

छप्पय

मूरख जड़मति पुरुष देहकूँ आत्मा मानें।
क्षुधा तृषातें दुखित पुरुष होवे जिह जानें॥
आत्मा तो निस्सग सर्व व्यापक अज अच्युत।
सदा रहै निर्लेप ब्रह्म है जाहि ब्रह्मवित॥
जब तक गुणमय रहे मन, चौरासी चक्कर भमै।
विषयनितें मुख मोरि जब, निरगुन होवै तब थमै॥

—:o:—

बन्ध मोक्ष में मन ही कारण है

[३३८]

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्,
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ॥
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धम्,
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥*

(श्रीमा० ५ स्क० ११ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

आँख, कान, त्वक, नाक, जीभ ज्ञानेन्द्रिय जानो ।
हाथ, पैर गुद्शिश्न, वाक कर्मेन्द्रिय मानो ॥
अहंकार के सहित वृत्ति सब मन की भाई ।
पञ्च कर्म तन्मात्र देह आधार कहाई ॥
अगणित मन की वृत्ति हैं, तिनतें जग बन्धन भन्यो ।
मोह नाश जब ह्वै गयो, तब सब जग हरि ही बन्यो ॥

---

* जड़ भरतजी राजा रहूगण से कहते हैं—"राजन् ! विषयासक्त मन व्यसनों में डालने वाला, फँसाने वाला तथा विषय हीन हुआ मन कल्याणप्रद मोक्ष को देने वाला होता है । जैसे घी की भीगी बत्ती को खाने वाला दीप धूम सहित अग्नि शिखा को धारण करता है । जहाँ

सब खेल मन का ही है। मन के हारे हार है मन के जीते जीत, यह लोकोक्ति सत्य है। जब तक मन इन संसारी विषयों में भ्रमवश सुख मानकर भटकता रहेगा, तब तक उसे परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। जहाँ यह मन विषयों से विरक्त हुआ, तहाँ इसकी जड़ता नष्ट हुई। फिर यह अकाश स्वरूप ब्रह्म में तन्मय हो जायगा। मेरा तेरा अच्छा बुरा, ऊँचा-नीचा, दुख-सुख आदि द्वन्द्वों की कल्पना इस मन ने ही तो कर रखी है। जहाँ मन से यह मिथ्या कल्पना निकली नहीं कि फिर कुछ नहीं है। अँधेरे में तम के कारण मन में भय वश एक भ्रम होता है कि सामने भूत खड़ा है। मन में भूत का भाव आते ही उसके काल्पनिक लम्बे हाथ, मुड़े हुए पैर, बड़ा-बड़ी आँखें, तीक्ष्ण दाँत सब दिखाई देने लगते हैं। बहुत से चिल्ला उठते हैं, 'अरे भूत खड़ा है।' यह सुनते ही कोई बुद्धिमान प्रकाश लेकर दौड़े आते हैं, पूछते हैं—कहाँ है भूत? तब वह कहता है—"अभी-अभी आया था, आपको देखकर भग गया। यथार्थ में ज्ञान दृष्टि से सोचा जाय तो न तो भूत बाहर से आया था न कहीं अन्यत्र चला गया। मन से ही उत्पन्न हुआ था, मन में ही विलीन हो गया। मन ही कल्पनामयी सृष्टि रचता है। स्वयं ही उसमें सुखी दुखी होता है। उसी के द्वारा शुद्ध बुद्ध जीवात्मा भी जन्मता मरता-सा दिखाई देता है। यदि मन विषयाभिमुख न हो, तो जीव को न कोई बन्धन है न साधन, वह तो नित्य मुक्त है ही।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब जड़ भरतजी ने तत्वज्ञान का उपदेश देते हुए राजा रहूगण को यह बताया, कि

यों समाप्त हुआ, कि वह व्यष्टि अग्नि अपने समष्टि अग्नि तत्व में लीन हो जाता है। इसी प्रकार गुण और कर्मों में अनुबद्ध हुआ मन सत्व की वृत्तियों से युक्त हुआ संसार का सृजन करता है और गुण कर्म हीन होने पर अपने कारण महान् तत्व में विलीन हो जाता है।"

यह सब मानसिक ही सृष्टि है, मन ही तीनों गुणों से युक्त होकर इन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के द्वारा शुभाशुभ कर्म कराता है। तब राजा ने पूछा—"भगवन्! मन कैसे इस प्रपंच की रचना करता है? इसकी वृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं? इसका आधार क्या है? इन सब बातों को मुझे स्पष्ट समझावें।"

यह सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"राजन्! जब तक तुम स्वर्गीय सुखों को ही सब कुछ समझते रहोगे, कर्मकाण्ड में ही फँसे रहकर सकाम कर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति का प्रयत्न करते रहोगे, तब तक आपको रागादि दोषों से रहित विशुद्ध तत्व ज्ञान की अभिव्यक्ति होना अत्यन्त ही कठिन है। जब तक ये अमृत-पान, विमानों में अप्सराओं के साथ विहार, नन्दनकानन में गन्धर्वों का गान, देवाङ्गनाओं का नृत्य, अम्लान पुष्पों की दिव्यगन्ध आदि स्वर्गीय भोगों में अनित्यता प्रतीत न होगी, इन्हें स्वप्न सुख के समान मिथ्या और त्याज्य न माना जायगा, तब तक उस पुरुष को ब्रह्मज्ञान कराने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। महाराज! जब तक यह चित्त त्रिगुणमय है, तब तक वह अपने अधीन हुई इन इन्द्रियों से अच्छे बुरे कार्यों को कराता ही रहेगा। ११ इन्द्रियाँ और पंचभूतों से युक्त होकर तथा शरीर की उपाधि को धारण करके मन जीव को एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमाता रहता है।"

यह मन ऐसे ही है, जैसे बीज में जनन शक्ति। बीज को भून डालिये, तो उसकी सृजन करने की शक्ति महा शक्ति में लीन हो जायगी, फिर उसमें आप लाख पानी दें, खाद दें, उससे अंकुर न होगा। इसी प्रकार जब तक देहाभिमानी जीव से संयुक्त हुआ यह मायामय अन्तरात्मा विषयासक्त रहता है, तभी तक जागने और सोने पर स्थूल सूक्ष्म व्यवहारों को करता रहता है। संसार चक्र को बढ़ाता रहता है, उत्तम, मध्यम अधम योनियों में

जीव को भ्रमाता रहता है। जहाँ इसकी विषय वासनायें भुनी नहीं, कि फिर वह शान्तिमय मोक्ष पद की प्राप्ति करा देता है, फिर इसमें ससार सृजन की शक्ति रह नहीं जाती।

राजा ने पूछा - "भगवन्! यह कैसे हो सकता है। एक ही मन दो विपरीत काम कैसे कर सकता है? आम के पेड से तो आम ही उत्पन्न होंगे। जब मन का स्वभाव ही विषयों में आसक्त होना है, तो फिर मोक्ष मार्ग की ओर कैसे बढ़ सकता है!"

इस पर जड भरतजी बोले—"राजन! यह मन तो जड है चैतन्य की सत्ता को लेकर देहाभिमानी जीव को सुख दुःख भुगाता है। सात्विक, राजस और तामस इन तीनों गुणों और इनके शुभाशुभ कर्मों में आसक्त हुआ मन ससार में फँसाने वाली बहुत-सी वृत्तियों को उत्पन्न करके वशवृद्धि करता रहता है। जहाँ इन गुणों से अलग हुआ, कि फिर अपने कारण महत्तत्त्व में विलीन हो जाता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! यह तो आप गोल मटोल बातें कह गये। मेरी समझ में तो यह बात आई नहीं।"

हँसकर जड भरतजी बोले—"महाराज! यह गूढ ज्ञान तो है ही। गुड का पूआ तो है नहीं, जो उठाया गप्प से खा गये, जब तक ध्यान पूर्वक समाहित चित्त से आप समझने का प्रयत्न न करेंगे, तब तक इसे समझ ही नहीं सकते। अच्छा मैं पूछता हूँ, अग्नि तो शुद्ध निर्मल है इसमें धुँआ कहाँ से आ गया?

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! अग्नि में तो धूम नहीं है, किन्तु काष्ठादि के ससर्ग स उसमें धूम होता है।"

इस पर जड भरतजी बोले—"अच्छा इसे यों समझिये जैसे एक दीपक है, उसमें एक बत्ती है, घृत है, अग्नि है। जब तक बत्ती मे घृत या तेल कोई भी स्निग्ध पदार्थ बना रहेगा, उससे अग्नि की लोय निकलेगी वह धूमयुक्त ही निकलेगी। आप

नहीं दीपक जलता है, तो भीत काली हो जाती है, बहुत से काजल निकाल लेते हैं। जहाँ घृत बत्ती समाप्त हुई कि अग्नि अपने सत्स्वरूप महाग्नि में मिल जाती है। फिर उसमें धूम्र रहता ही नहीं। गुण और कर्म ये ही घृत और बत्ती हैं, जब तक ये रहेंगे, संसार रूप कालिख उत्पन्न होती ही रहेगी। ये जहाँ समाप्त हुए कि फिर जीव तो शुद्ध बना बनाया है ही मन अपने कारण में विलीन हो जायगा। सब प्रपञ्च समाप्त हो जायगा।"

राजा ने पूछा—"प्रभो! मन की कितनी वृत्तियाँ हैं और उनके आधार भूत कितने विषय हैं?"

इस पर जड़ भरतजी ने कहा—"महाराज! आप मन की वृत्तियों के विषय में कुछ न पूछें जैसे गोमुख में जहाँ से गंगाजी पहिले पहिल दीखती हैं, एक ही छिद्र है, किन्तु उस छिद्र से निरन्तर जलराशि निकलती ही रहती है और आगे चलके गंगाजी की अनेकों शाखायें हो जाती हैं उसी प्रकार कान, आँख, रसना, नाक और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये इनके पाँच विषय हैं। इसी प्रकार हाथ, पैर, गुदा, शिश्न और वाणी ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और लेना, देना, गमन करना, मल त्याग, कामोपभोग और भाषण ये इनके विषय हैं। और मैं मेरा यह अभिमान। बस, मूल में तो मनकी ग्यारह वृत्तियाँ ही हैं। ये ही आगे सैकड़ों, हजारों, करोड़ों अरबों खरबों और असंख्यों हो जाती हैं। इन्द्रियों की आधार भूता है, तन्मात्रायें और अहंकार का आधार है देह। कोई-कोई आचार्य मन को पृथक् वृत्ति मान कर अहंकार को बारवाँ विषय मानते हैं। वास्तव में तो जब वह मनन करता है, तो मन कहाता है। जब अहंभाव करता है अहंकार कहलाता है, एक आदमी कंजूस अधिकारी का नौकर है, उसी से चपरासी का काम लेता, उसी से भोजन बनवाता है। तो जब भोजन बनाने लगता है उसी की

रसोइया संज्ञा हो जाती है। चपरस्स पहिन लेता है सिपाही हो जाता है।

यह सुनकर राजा रहूगण बोले—"भगवन्! आपने तो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक अहंकार ग्यारह ही मन की वृत्तियाँ बताई थीं। फिर ये सैकडों सहस्रों असंख्यों किस कारण से हो जाती हैं?"

इस पर जड भरतजी ने कहा—"देखिये, महाराज! घृत शक्कर आटा तीन ही पदार्थ हैं। इनकी कितनी मिठाइयाँ बन जाती हैं, कितने पृथक् पृथक् नाम हो जाते हैं। इस प्रकार ये ग्यारह वृत्तियाँ द्रव्यों के द्वारा, स्वभाव के द्वारा, आशय, कर्म तथा काल के द्वारा परिणाम को प्राप्त होकर बढ़ती ही जाती हैं।"

राजा ने पूछा—"महाराज! ये सब वृत्तियाँ स्वतः कैसे हो जाती हैं?"

जड भरत जी अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"राजन! परस्पर मिलकर या स्वतः इन सबकी कोई सत्ता नहीं। महाराज! क्षेत्रज्ञ आत्मा की सत्ता से ही इनकी सत्ता है।"

इस पर बहुत सोचकर राजा ने पूछा—"प्रभो! मुझे एक बडी शका है? जब इस ससार का-संसारी पदार्थों का अस्तित्व-ही नहीं तो जीवों के मन में यह आ कैसे जाता है?"

यह सुनकर जड़भरतजी खिल-खिलाकर हँस पडे और बोले—"महाराज! अब इसका क्या उत्तर दें, आप यों समझें कि घर में सब वस्तुएँ रखी हैं अधेरे मे हम जाते हैं, कुछ नहीं दीखता केवल अन्धकार दीखता है। प्रकाश ले जाते हैं, तो सब का पृथक् पृथक् सत्ता दिखायी देने लगती है. प्रकाश में तो वे वस्तुएँ भरी नहीं थी, न प्रकाश से उन वस्तुओं का कोई अणु-मात्र भी सम्बन्ध है, प्रकाश के द्वारा उन वस्तुओं की केवल अभिव्यक्ति हुई है। प्रकाश हट जाने पर फिर वे दिखाई नहीं

देतीं। इसी प्रकार संसार बन्धन के हेतुभूत कर्मों को करने वाले जीव को माया रचित मन की जो ये प्रवाह रूप से सदा रहने वाली वृत्तियाँ हैं वे जाग्रत अवस्था में, स्वप्नावस्था में प्रकट हो जाती हैं, सुषुप्ति अवस्था में तिरोहित हो जाती हैं शुद्ध साक्षी आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है, वह केवल दृष्टिमात्र है। उसकी सत्ता से ही यह सब गोल माल हो रहा है।"

रहूगण ने कहा—"महाराज! संसार में इतना अन्याय पाप हो रहा है, भगवान् फिर इसे रोकते क्यों नहीं? वे शुद्ध सच्चिदानन्द आनन्दघन परब्रह्म देखते हुए भी इन सब की उपेक्षा क्यों करते हैं।"

हँसकर जड़भरत बोले—"राजन् तुम इसमें यथार्थ बुद्धि करते ही क्यों हो? अजी, यह सब तो क्रीड़ा है, लीला है, माया है। दो लड़कों ने गीली मिट्टी के हाथी, घोड़े, ऊँट बछेरे न जाने क्या-क्या बना लिये। पिता बैठा हुआ देख रहा है। एक ने किसी के खिलौने बिगाड़ दिये। वह लड़ता है—तैने मेरा हाथी बिगाड़ दिया? तैने मेरा ऊँट क्यों ले लिया?" पिता बैठा हँस रहा। है वह समझता है न हाथी है न ऊँट, मिथ्या कथन है। एकमात्र मिट्टी ही सत्य है जो हाथी घोड़ा ऊँट के बिगड़ने पर भी बनी रहती है।"

इसी प्रकार राजन्! इस दृश्य प्रपंच में क्षेत्रज्ञ आत्मारूप से जगत् के आदि कारण, स्वयंप्रकाश अजन्मा, ब्रह्मादि देवों के भी नियन्ता भगवान् वासुदेव ही सर्वत्र ओत-प्रोत हो रहे हैं। उनके बिना किसी की सत्ता नहीं, स्थिति नहीं, अभिव्यक्ति नहीं। जिस प्रकार वायु सभी प्राणियों के बाहर भीतर समान रूप से व्याप्त है उसी प्रकार वे प्रकृति आदि से अतीत सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव इस जगत् में भीतर बाहर व्याप्त हैं। यह जगत्

हरिमय ही है, उन्हीं की लीला का विलास मात्र है। इसे राजन्! आप भगवान् से पृथक् न समझें।

राजा ने कहा—"भगवन्! इस विपरीत वस्तुओं वाले जगत् में हम एक ही भगवान् को कैसे देखें? इसमें तो सिंह भी है, गौ भी है, विष्ठा भी है मिठाई भी है। शत्रु भी हैं मित्र भी हैं।"

जड भरतजी ने कहा—"महाराज! बस, यही तो अज्ञान है। आप ऊपर से देखते हैं। इन वस्तुओं के भीतर प्रवेश करके देखिये। तब आपको एकत्व का ज्ञान होगा। मिठाई में क्या है, घृत है। गेहूँ का आटा है चीनी है। उसे आपने मुख के द्वारा पेट मे पहुँचा दिया। रूपान्तर होने से वही विष्ठा बन गई। खेत में जाकर उसे त्याग आये। उसी खेत मे गेहूँ का पेड़ हुआ, ऊख हुई, घास हुई गौ ने खाई फिर घृत बन गया। ऊख से शक्कर बन गई, गेहूँ से आटा बन गया। फिर मिठाई हो गई। हमने भ्रम वश पदार्थों में व्यर्थ प्रियता-अप्रियता मानकर आसक्ति कर रखी है। यह अज्ञान तब तक दूर न होगा, जब तक ज्ञान का उदय न होगा। सबका सग त्यागकर, मिथ्या प्रपञ्च भूत माया का तिरस्कार करके, काम क्रोधादि छः शत्रुओं को जीतकर मनुष्य जब विवेक की शरण में न जायगा, इस आत्मा की उपाधि रूप मन को जब तक ससार दुःख का क्षेत्र नहीं समझेगा, तब तक राजन्! यह जीव यो ही संसार रूप भवाटवी में भटकता रहेगा। जीव में तो कोई दोष है नहीं। विषयासक्त चित्त के ससर्ग से अपने को भ्रमवश सुखी-दुखी मान बैठा है। इसीलिये शोक, मोह, राग-द्वेष, लोभ रोग आदि में बँधकर इस संसार में ममता बढ़ाता रहता है। इसलिये राजन्! सौ बात की एक बात यह है, कि हत्या की जड़ यह कपटी विषयासक्त मन ही है। तुम इसे

कर लो, तो सब ठीक हो जायगा। यदि यह बस में न हुआ, तो फिर जो है सो तो है ही।"

राजा ने पूछा—"महाराज! कैसे वश में हो, यह मन ही तो वश में नहीं होता। उपाधियों का घर तो यही भूत है। इसका सिर कटे तब काम चले। मुझे कहीं यह मिल जाय तो इस खड्ग से तुरन्त ही इसका सिर धड़ से पृथक् कर दूँ।"

यह सुनकर जड़भरतजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! मन कहीं बाहर थोड़े ही है। आपके भीतर ही बैठा सब व्यापार करा रहा है। इस बाहरी खड्ग से उसका सिर कट नहीं सकता। आप उस बलवान् को सहज में नहीं पकड़ सकते। यह बड़ा बली है, वायु से भी अधिक वेगशाली है। चंचलता में इसकी उपमा किसी से दी ही नहीं जा सकती। जैसे राम रावण का युद्ध राम रावण के ही समान है, जैसे समुद्र, समुद्र के ही समान विस्तृत और गम्भीर है, ऐसे ही यह मन, मन के ही समान चञ्चल है। इसे पकड़ने का एक ही उपाय है, तुम उसे करो तो मैं बताऊँ?"

राजा रहूगण बोले—"हाँ भगवन! मैं अवश्य करूँगा, आप मुझे इस संसार के बीज रूप पापी मन को वश में करने का उपाय अवश्य बतादें।"

जड़ भरतजी बोले—"महाराज! इसे वश में करने का यही एक उपाय है, श्रद्धा सहित सद्गुरु की शरण में जाओ। श्रीहरि के चरणारविन्द मकरन्द का मत्त भ्रमर बनकर निरन्तर पान करते रहो, श्रीगुरु रूप हरि की पादपद्म रूप परिचर्या के अतिरिक्त इस मन को वश में करने का दूसरा कोई सरल सुगम सर्व सम्मत उपाय है ही नहीं। भगवान् के युगल चरणों की स्मृति सभी अशुभों को नाश करने में समर्थ है। जहाँ मन रूप भ्रमर इन कमल रूप चरणों के मकरन्द का लोभी बना, तहाँ यह अपनी

सभी तिडी भूल जायगा। इसकी चञ्चलता नष्ट हो जायगी, इसके अति शीघ्र उडने वाले पख कट जायगें। कमल तन्तु की डोरी से यह ऐसा बँध जायगा, कि फिर फडफडावेगा भी नहीं, इसलिये राजन्! तुम ऐसा ही काम करो, इस शत्रु को पहिले मार डालो। तब किसी अन्य शत्रु पर चढाई करने की बात सोचना। फिर सोचने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि सबसे प्रबल शत्रु तो यही है, इसके मरने पर फिर कोई शत्रु रह ही नहीं जायगा।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर भगवान् जड भरतजी चुप हो गये। वे राजा के मुख की ओर देखते रहे, कि मेरी बात का इसके ऊपर कैसा प्रभाव पडा है।"

छप्पय

यह मन कपटी भूत जीव कूँ नाच नचावै।
देवलोक लै जाय कबहुँ पृथिवी पै आवै॥
भेद भाव करवाइ बाँधि कैं जग में राखै।
जो असत्य है वस्तु ताहि सत कहि नित भाखै॥
गुरु हरि पद सेवा खडग, तातें मन रिपु कूँ हनों।
तब सब दुख तें छूटिकें, निरवैरी जग में बनों॥

—०—

संग का प्रभाव

(३३९)

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै—
विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १२ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

तप करि चाहै मोक्ष कालकूँ वो नर खोवै ।
केवल करिकें करम धरम सत् ज्ञान न होवै ॥
षट सम्पत्ति विवेक ज्ञान सोपान कहावें ।
विषयनितें वैराग्य ज्ञान तें मुक्ति बतावें ॥
होहि वमन वा रंग को, रँग्यो होहि जा रंग तें ।
विषय सङ्ग ते बन्ध है, मोक्ष होहि सत्सङ्ग तें ॥

---

* जड़ भरतजी राजा रहूगण से कहते हैं—"हे राजन् ! यह जो मैंने ज्ञान बताया है वह कोई चाहे कि केवल तप से प्राप्त कर सके तो नहीं कर सकता । यज्ञों से, दानों से गृहस्थ धर्मों के पालन से, वेदाध्ययन से, जल, अग्नि अथवा सूर्य आदि की उपासना से भी तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि महापुरुषों की चरणरज को श्रद्धासहित सिर पर धारण न करे ।"

जो अकारण कृपा करते हैं, जिनका ससार में कोई शत्रु नहीं, जिन्हें समारी प्रतिकूलता व्यथित नहीं कर सकतीं, उन सर्वभूतों के सुहृद् सतों के प्रति हम उनके उपकारों के लिये किन शब्दों मे कृतज्ञता प्रकट कर सकें। ससार में धन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र सभी को प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु सन्त सङ्ग प्राप्त होना अत्यन्त ही दुर्लभ है। सन्त सङ्ग सबको प्राप्त नहीं होता—बडे भाग्य से पूर्वजन्मों के अनन्त पुण्यों से महात्मा मिलते हैं, उनके चरणों मे रहने का सुअवसर प्राप्त होता है। जिसे सत्सङ्ग प्राप्त हो गया, उसका समार बन्धन कट जाता है। ऐसे सन्त यदि अनायास महान् उपकार कर दें, अहेतुकी कृपा प्रदर्शित कर दें तो प्रत्युपकार मे इसके अतिरिक्त कि उनके चरणारविन्दों मे प्रणाम कर लें और क्या हो सकता है। हाथ जोड लेना यह देवता को प्रसन्न करने की सबसे श्रेष्ठ मुद्रा है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब जड भरतजी की महाराज रहूगण ने इतनी गूढ ज्ञान की बातें सुनी, तब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनका हृदय कृतज्ञता से भर उठा, उनके महान् उपकार के प्रति प्रत्युपकार करने की भावना हृदय मे उठी, प्रत्युपकार में कौन-सी वस्तु उनके श्री चरणों में समर्पित करें। धन, धान्य, वस्त्र आभूषण, हाथी, घोडा आदि वाहन यहाँ तक कि मैं अपना सम्पूर्ण राज्य भी इनके चरणों मे समर्पित कर दूँ तो तुच्छ है। फिर इनके लिये पृथ्वी के राज्य की बात तो पृथक् है, तीनों लोकों का राज्य, ब्रह्मलोक तक का राज्य—तृण के समान है। अतः कुछ भी योग्य वस्तु न देखकर महाराज उनके चरणों में श्रद्धा सहित प्रणाम ही करने लगे। राजा बोले—'जो ईश्वर रूप हैं, जड वेष बनाकर घूमते हैं, उन परमहस शिरोमणि द्विजवर्य के पादपद्मों मे श्रद्धासहित मैं प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो ? मुझ देहाभिमानी असाध्य रोगी के

लिये आपके वचन अमृत के समान हैं। जिस प्रकार अत्यन्त भूखा मनुष्य भोजन पाकर, अत्यन्त तृषित सुस्वादु शीतल जल पाकर, धूप में थका पथिक शीतल छाया पाकर, असाध्य रोगी मधुर सुस्वादु गुणकारी ओषधि पाकर, सर्प का डसा गारुणी मंत्र पाकर सुखी और प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार मैं आपके उपदेशामृत से कृतार्थ हो गया। भगवन्! अब आप मुझे यह बताइये कि यह मन कैसे वश में किया जाय? यह बुद्धि भगवान् वासुदेव में किन साधनों द्वारा प्रवृत्त हो। क्या करने से यह संसार बन्धन कटे। कृपा करके इसका उपदेश मुझे और दीजिये। मुझे कुछ इस बात में भी शंका रह गई कि शरीर रहते हुए श्रम आदि का बोध न होना, यह कैसे सम्भव है।"

इतना सुनते ही भरतजी को कुछ रोष-सा आ गया। वे गरज कर बोले—"अरे राजन्! तुम बड़े मूर्ख हो। भाई तुम सोचो, तुम में क्या विशेषता है। इसके अतिरिक्त कि तुम्हारा अभिमान बढ़ा हुआ है कि मैं सिन्धु सौवीर देश का राजा हूँ, राजापने का कोई काम करते, तो हम समझते भी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जड़ भरतजी जब राजा को इस प्रकार डाँट रहे थे, तब पीछे सम्मुख वही बूढ़ा-सा बुद्धिमान कहार बैठा था, जो भरतजी के साथ पालकी में लगा था। उसने आँखों में ही संकेत के द्वारा भरतजी से कहा—"कुछ हमारी भी इनसे कह दो। भरतजी को क्या था, वे डाँटने लगे—"छिः छिः बड़े दुःख की बात है। कहते हो अपने को ऐश्वर्य शाली, नरपति, भूपति, प्रजापालक और काम करते हो क्रूरों के जैसे। इन बिचारे कहारों को बेगार में पकड़ लिया है। तोंद फुलाकर पालकी में बैठ गये हैं, हम राजा हैं, हम राजा हैं। क्यों राजा हो जी? राजा हो पत्थर। हम तो तब राजा जानते जब इन्हें दस-दस बीस-बीस गाँव दे देते। जैसा अपना दुख-सुख

समझते हो, वैसा इनका भी समझते। दिन भर इनसे पालकी ढुलाते हो, पूछते भी नहीं तुमने कुछ खाया है या नहीं। बेगार कराके वैसे ही छोड़ देते हो। तुम्हें राजा कहने में लज्जा भी नहीं आती? निर्दयी कहीं के। भया, सभी पदार्थ पृथ्वी से बने हैं पार्थिव हैं। नाम रूप निकाल दो सब एक ही हैं। केवल व्यवहार में ही तो भेद है, परमार्थ में भेद के लिये अवकाश ही नहीं। विचार किया जाय तो यह पृथ्वी भी मिथ्या ही है। यह सम्पूर्ण जगत् भगवान की माया द्वारा ही निर्मित है। माया में ही कृश, स्थूल, छोटा, बड़ा, असत्, अचेतन आदि की कल्पना है। द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नाम वाले भगवान् के ही ये सब व्यापार हैं।"

जो इस माया के ईश हैं, उन भगवान् वासुदेव को विशुद्ध विज्ञान स्वरूप, अद्वितीय, बाह्यान्तर भेद से रहित, व्यापक और अन्तर्मुख समझो। वे ही अत्यन्त शान्त हैं, वे ही काष्ठा हैं, वे ही परागति हैं, वे ही परमार्थ सत्य हैं। उनका ज्ञान हो जाने पर ये द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल, कर्म सभी विलीन हो जाते हैं। यह जगत् ही नहीं रहता। भेदभाव का भूत भाग जाता है।"

राजा रहूगण ने पूछा—'प्रभो! यह ज्ञान हो किस साधन से?"

जड भरतजी ने कहा—"भैया, यह लौकिक साधनों से केवल यज्ञ, जप, अनुष्ठान गर्भाधानोत्पादन, श्राद्ध तर्पण मात्र से यह ज्ञान नहीं होने का, जब तक महापुरुषों के चरण की धूलि का आश्रय न लिया जाय?"

राजा ने पूछा—"महाराज! महापुरुषों की चरण की धूलि का आश्रय कैसे लें? उनकी चरण धूलि को मस्तक पर लगालें?'

हँसते हुए भरतजी बोले—"केवल मस्तक में लगाने से काम नहीं चलेगा। राजन्! उनकी पदधूलि में सर्वाङ्ग से लेटना

होगा। उस धूलि में स्नान करना होगा। मनसा वाचा कर्मणा उसे अपनाना होगा। उनके समीप निवास करना होगा।"

राजा ने पूछा—"महाराज! महात्माओं के समीप रहने से क्या होगा?"

भरतजी शीघ्रता से बोले—"होगा क्या? संस्कार बनेंगे। देखिये, सन्त जहाँ भी रहते हैं, वहाँ नित्य नियम से भगवत् कथा हुआ करती है। सन्तों के आश्रमों में इधर-उधर की विषय वार्तायें लड़ाई-झगड़े की कहानियाँ, ग्राम्य कथायें होती ही नहीं। वहाँ या तो भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन होता है या भागवती कथायें होती हैं। जब उनके आश्रम में—उनके चरणों की सन्निधि में—रहेंगे, तो नित्य ही वे सुमधुर कथायें सुनने को मिलेंगी। नित्य नियम से कथा सुनते-सुनते बुद्धि शुद्ध होकर मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्त होगी। यदि साधुओं का संग न करोगे, विषयियों के साथ रहोगे, तो उनके परमाणु अपने शरीर में प्रवेश करेंगे। विषयों में आसक्ति होगी, संसार बन्धन और दृढ़ होगा। संसारी लोगों से किया हुआ मोह संसार बन्धन और दृढ़ता के साथ जकड़ देता है। देखिये, मैं पहिले भरत नाम का चक्रवर्ती राजा था। राजन्! तुम्हारे नाम से तो किसी देश का नाम भी नहीं बदला। मेरे नाम से तो यह अजनाभवर्ष भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हो गया।"

यह सुनकर राजा रहूगण को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे आश्चर्य चकित होकर जड़ भरतजी की ओर देखते हुए विस्मय और विनय के साथ बोले—"अच्छा, भगवन्! आप ही पूर्व-जन्म में राजर्षि जड़ भरत थे। धन्यभाग, हम तो नित्य ही भारतवर्ष-भारतवर्ष रटते हैं! आपकी कथायें तो महाराज! हम इतिहास पुराणों में सदा सुनते रहते थे। आपकी तो सुनते हैं भगवान् में बड़ी सुदृढ़ भक्ति थी। आपकी इस संसार बन्धन से

मुक्ति क्यों नहीं हुई ? आपको यह द्विज शरीर पुनः क्यों धारण करना पडा ।"

जड भरतजी बोले—"राजन् ! मैं एक चक्कर में फँस गया था, किसी पूर्वजन्म का अन्तराय उपस्थित हो गया । मेरा दुर्भाग्य एक हरिण का रूप रखकर मेरे आश्रम मे आ गया । उसमे अत्यन्त आसक्ति हो गई । मन तो एक ही है, अब तक जो भगवान् के ध्यान में लगा था, वह मृग के बच्चे में लग गया । जो आसक्ति कृष्ण चरणारविन्दो मे थी, वह मृग शावक मे हो गई । मैं परमार्थ से च्युत हो गया । मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट होकर दूसरे जन्म मे-मृग का ही निरन्तर ध्यान करते रहने से-मुझे मृग योनि में जन्म लेना पडा ।"

राजा को और भी आश्चर्य हुआ । वे बोले—"भगवन् ! आप एक से एक आश्चर्य की बात कह रहे हैं । हमे तो कल रात्रि का देखा स्वप्न भी याद नहीं रहता, आप तीन जन्म की बातें बता रहे हैं । आपको अपने पूर्वजन्मों की स्मृति अब तक बनी कैसे रही ?"

जडभरतजी बोले—"महाराज ! भगवान का भजन कभी व्यर्थ नहीं जाता । भगवान् के भजन का ही यह फल हुआ कि मृग योनि में भी मुझे अपने पूर्वजन्म की सब बातें याद रहीं । इसीलिये भगवत् स्मरण करते हुए मैंने मृग शरीर को त्यागकर फिर इस ब्रह्मवंश में जन्म लिया । राजन् ! यह मेरा चरम देह है । अब मेरा पुनर्जन्म न होगा । फिर भी मैं अब तक जनससर्ग से शंकित चित्त हुआ, असग भाव से अपने को छिपाये हुये घूमता हूँ । मैं सबके साथ रहता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं रहता । मेरे साथ कोई कितने दिन भी रहा हो, वह जाता है चला जाय, मेरी इच्छा हुई तब सबको छोडकर मैं चला जाता हूँ । लौकिक काम करते देखकर मूढ लोग मुझे पागल कहते हैं जड़

बताते हैं, उनकी ओर मैं ध्यान नहीं देता। इन सब कार्यों को मैं भगवान् की क्रीड़ा समझता हूँ। मैं किसी को उपदेश भी नहीं देता, कोई अधिकारी ही नहीं। परमार्थ में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं साधुओं के पास भी ये संसारी लोग जायँगे, तो उनसे पुत्र माँगेंगे, धन माँगेंगे। कोई अपने को बहुत बुद्धिमान् समझने वाले अन्य लोगों से कहेंगे—संसार के लोग तो भेड़िया धसान हैं, जिसका नाम हो गया उसे ही देते हैं। इन साधुओं के पास व्यर्थ का माल आता है। हम इसीलिये जाते हैं, कोई कम्बल ही मिल जाय, कपड़ा ही मिल जाय, और नहीं तो मिठाई फल ही मिल जाते हैं। उन मूर्खों की दृष्टि में धन, कपड़ा, लत्ता, फल, मिठाई का ही मूल्य है। ऐसे विषयासक्त पुरुषों को मैं कभी कोई उपदेश नहीं देता। जिस भावना से आये हैं, यदि वह मेरे पास है, तो ले जायँ। अधिक तो परमार्थ तत्व के अधिकारी नहीं। तुम्हें मैंने परमार्थ का अधिकारी मोक्षाकांक्षी समझकर ये बातें बता दीं।"

राजा ने कहा—"भगवन्! बड़ी कृपा की मेरे ऊपर अब मुझे सम्पूर्ण उपदेश का सार बता दीजिये। अब मुझे स्पष्ट आज्ञा दीजिये मैं कौन साधन करूँ।"

इतना सुनते ही कृपालु अवधूत जड़ भरत बोले—"महाराज! इस संसार रूप सागर को यह मनुष्य पक्षी रूप पार क्यों नहीं कर सकता। इसीलिये कि कर्म ने मोह रूप बन्धन इसके पैर में बाँध रखा है। जिस पक्षी के पैर में रस्सी बाँध देते हैं, वह अपनी परिधि के बाहर जा ही नहीं सकता। वहीं पंखों को फड़फड़ाता हुआ बंधा रहता है। महाराज! पहले तीक्ष्ण खड्ग से इस मोह रूप बन्धन को काटिये।"

राजा ने पूछा—"प्रभो! खड्ग कहाँ से मिले?"

यह सुनकर भरतजी बोले—"अरे, साधु समागम से जो ज्ञान वैराग्य प्राप्त होता है, उसी को खड्ग बनाकर इस मोह बन्ध

का मूलोच्छेद कर दो। तब अपने यथार्थ कर्तव्य का पालन करो।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! मनुष्य का यथार्थ कर्तव्य क्या है? वह कालक्षेप कैसे करे?"

इस पर जड भरतजी दृढ़ता के साथ बोले—"राजन्! मैं तो मनुष्य का एकमात्र यही सर्वश्रेष्ठ और प्रधान कर्तव्य समझता हूँ, कि वह सभी कार्यों से मुख मोडकर श्रीहरि की लीलाओं के कथन और चिन्तन से निरंतर भगवान् का ही स्मरण करता रहे। एकमात्र हरिस्मृति ही मनुष्य को समस्त आपत्ति विपत्तियों से छुडाकर सुखी बनाने में समर्थ है। जीवमात्र का इसी में कल्याण है, कि वह भगवान् वासुदेव को कभी भी मन से न भुलावे। उन्हीं का ध्यान, उन्हीं के नाम का कीर्तन, उन्हीं के यश का गान, उन्हीं की कमनीय कथाओं का श्रवण करता रहे। इसी में मनुष्य जन्म का साफल्य है। इसी से वह परमपद का अधिकारी हो सकता है और इन्हीं साधनों द्वारा वह संसार मार्ग को पार करके भगवान् को प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा सरल सुगम मार्ग है ही नहीं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर अवधूत भरतजी चुप हो गये। राजा बिना कुछ बोले कौतूहल तथा आश्चर्य चकित दृष्टि से उनकी ओर देखते ही रह गये।"

छप्पय

संतनि के ढिँग नित्य कथा होवें भगवत की।
कृष्ण कथा तें मिटें मलिनता नित नित चित की॥
परनिन्दा अपवाद साधुजन करहिँ न कबहूँ।
त्रिभुवन पावें विभव भजन छाँड़े नहिँ तबहूँ॥
चाहे भव जलनिधि तरन, गहे संत चरननि शरन।
जग बन्धन के हेतु हैं, अधर सुधा योषित नयन॥

—०—

भवाटवी में भटकता बटोही

(३४०)

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥ ❀

(श्रीभा० ५ स्क० १३ अ० १ श्लोक)

छप्पय

वनिक रूप यह जीव चल्यो सुखधन अरजन हित ।
प्रवृति मार्ग महँ फँस्यो लोभ अति बढ़्यो तासुचित ॥
इत उत भटकत फिरै राजपथ कबहुँ न पावै ।
सिंह व्याघ्र तें डरे गहन बन क्लेश उठावै ॥
वर्षा खुजली बवंडर, भूख प्यास मच्छर प्रबल ।
देहिँ क्लेश नहिँ तहँ मिले, सुन्दर भोजन मधुर जल ॥

❀ जड़भरतजी राजा रहूगण से कहते हैं "राजन ! एक जीव नामक पथिक है, जिसे माया ने दुर्गम प्रवृत्ति पथ में प्रेरित कर दिया है, वह पथ सत्त्व, रज और तमरूप नाना प्रकार के कर्मों का विभाग करने वाला है अर्थात उसमें बहुत-सी पगडंडियाँ फूटी हैं। वह पथिक जीव रूप बटोही बनिया धन में अत्यन्त आसक्त हुआ इस संसार रूप गहन वन में भटक रहा है, उसे वहाँ शान्ति नहीं—सुख नहीं फिर भी फँस गया है, कैसे निकले ?"

संसारी मनुष्य भी कहीं की यात्रा करते हैं, तो वहाँ के विषय में सब समझ लेते हैं। अन्य लोगों से परिचय प्राप्त कर लेते हैं, मानचित्र देखते हैं, यात्रा वृत्तान्त पढ लेते हैं, किन्तु यह माया मोहित जीव इस जगत् पथ में इस प्रकार आँख मूँदकर अन्धे के समान चल रहा है, कि इसे अपने गन्तव्य स्थान का पता ही नहीं। यह जानता ही नहीं, मुझे जाना कहाँ है, मैं विशुद्ध मार्ग से चल रहा हूँ, या भूलकर व्यर्थ भटक रहा हूँ। बिना सोचे चलता ही जाता है और अविवेक के कारण नाना क्लेशों को उठाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महामुनि जड भरत ने राजा रहूगण को चुप देखा, तब वे हँसकर कहने लगे—"राजन्! चुप कैसे हो गये कुछ और पूछो। अच्छी बात है, तुम नहीं पूछते तो एक कहानी तुम्हे कहो तो बिना पूछे ही और सुना दें।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मेरा अहोभाग्य सुनाइये, आप की कहानी भी ऐसी वैसी विषयी राजा-रानियों की न होगी आपकी कहानी में भी गूढ रहस्य भरा होगा। उस कहानी को आप अवश्य सुनावें।"

यह सुनकर जड भरतजी बोले—"राजन्! एक बड़ी अच्छी कहानी है, आप ध्यान से सुनियेगा। चित्त तनिक-भी इधर-उधर गया, तो कहानी का सब आनन्द चला जायगा, हाँ तो सुनिये—"एक बनिया था। बनिया बडा लोभी था। राजन्! ये व्यापारी बनिये बड़े लोभी होते हैं। कहावत है बनिये चाम दे देंगे, छदाम न देंगे। बात तो शहद से भी मीठी करेंगे, किन्तु देंगे नहीं गुड का डली भी। हाँ तो, वह बनियाँ धन कमाने अपने साथियों के सहित चला। चलाचल, चलाचल धर कूँच, धर मंजिल वह बहुत दूर निकल गया। एक रास्ता उसने पकड़ लिया।

उस रास्ते में बहुत-सी पगडंडियाँ जाती थीं। एक की बालू कुछ चमकीली थी। लोभी तो था ही, उसके साथी भी सब ऐसे ही थे, वे सब उधर ही चल पड़े। भूलता भटकता वह एक बहुत बड़े वन में प्रविष्ट हो गया। वहाँ उसने देखा—छः चोर हाथ में लट्ठ लिये पथिकों को लूटने को खड़े हैं, एक स्त्री उनकी नायिका है। वे दस्यु लुटेरे बड़े निर्दयी और विषय लम्पट हैं, किसी भी पथिक का शील संकोच नहीं करते। जिसे देख लेते हैं, उसी का सर्वस्व लूटकर उसे गड्ढे में गिरा देते हैं। वे चोर चुपके से इस बनिये के पीछे लग गये। उन्होंने सहसा एक साथ इसे लूटना उचित नहीं समझा। शनैः-शनैः इसका सर्वस्व अपहरण करने का उन्होंने मन में संकल्प कर लिया। आगे उसने देखा—मोटे ताजे भेड़िया भी उसके साथ हो लिये। वे भी उसके मांस के इच्छुक बन गये, कि जहाँ यह सोवे इसे चट कर जाँय। इसे कच्चा ही खा जायँ। कुछ गीदड़ भी इसी आशा से उसके साथ हो लिये। सबसे घिरा वह चिंतित लोभी बनिया आशा के वशीभूत होकर बढ़ा। आगे वन बड़ा गहन था, न वह बनिया आगे ही भली भाँति बढ़ सकता था, न पीछे ही लौट सकता था। बड़ी-बड़ी घास चारों ओर खड़ी थी। सघन लताओं तथा गुल्मों के कारण वह दुर्गम बना हुआ था। इधर-उधर बहुत से डाँस मच्छर बैठे थे जो बार-बार उड़-उड़कर उसके सम्पूर्ण शरीर में चिपटकर उसका रक्तपान कर रहे थे। कभी-कभी दूर से उसे भ्रम होता, आगे कोई नगर है, वहाँ पहुँचने पर मेरे सभी क्लेशों का अन्त हो जायगा, किन्तु वह वास्तविक नगर नहीं था, गन्धर्व नगर मिथ्या ही भ्रम उत्पन्न कर देता था। कभी-कभी आग जलती हुई-सी दिखाई देती थी, वह कभी चमचमा उठती कभी क्षीण पड़ जाती। वह सत्य अग्नि नहीं थी। अग्निवाला वेताल (उल्मुकग्रह) ही भ्रम से अग्नि

समान प्रतीत होता था।

राजन्! वह बनिया चलते चलते थक गया, अब वह सोचने लगा, कहीं विश्राम करने को स्थान मिले, पीने को जल मिले, पाने को प्रसाद मिले और साथ ही नकद नारायण भी मिले, जिनके लिये भटक रहे हैं। इतने मे ही क्या देखता है, एक बडा बवन्डर सामने से दिखाई दिया। बालू का बवन्डर होने से वह चमचमा रहा था उसी ओर बढा तो आँखों मे धूलि भर गई अब तो राग रञ्जित नेत्र होने स अन्धा हो गया, उस बवन्डर के चक्कर मे ही फँस गया। राजन्! तुमने कभी भभूडा देखा है?

राजा रहूगण बोले—"हाँ, भगवन! ज्येष्ठ वैशाख की ठीक दुपहरी में एक धूलि का बवन्डर उठता है, उसमें जो आदमी पड जाता है वह जैसे बवन्डर नाचता है, उसी प्रकार नाचने लगता है।"

हसकर जडभरतजी बोले—"हाँ, हाँ राजन्? ठीक कहा, ठीक कहा। वह लोभी बनिया भी उस बवन्डर के चक्कर में पडकर नाचने लगा। वह उस बवन्डर में भी आगे बढा जा रहा था, किन्तु चित्त मे उद्वेग था। कहीं झींगुरों की झाँय झाँय सुनाई देती, कहीं उल्लुओं का कर्णकटु शब्द। उन उल्लुओं की भयावनी बोलियों से वह भय के कारण व्यथित हो जाता, जब उसे भूख बहुत सताती तो, किसी कडवे फल वाले काँटेदार वृक्ष का सहारा ले लेता। कभी प्यास से व्याकुल होकर चमकती हुई मृगतृष्णा को ही जल समझकर उसकी ओर भागता।"

मृगतृष्णा से प्यास न बुझते देख सूखी नदियों की शरण मे आ जाता। भूख लगने से इधर-उधर समीप मे ही दृष्टि दौडाता कहीं कहीं वन में बाँसों के सघर्ष से दावानल लग जाती, उसी की ओर आगे बढता। कभी वन जन्तु उस पर झपटते, कभी भूत प्रेत उसे डपटते, कभी कीचड में पैर रपटते, किन्तु पानी

का पता न लगता। कभी कोई चोर किसी गठरी को ही लेकर चम्पत हो जाता। उससे उसे बड़ा दुःख होता कभी किसी गन्धर्वपुर में क्षण भर को टिक जाता, तो सुखी हो जाता।

चलते-चलते जङ्गलों में पर्वत आ जाते उन पर चढ़ने का प्रयत्न करता। आधा तिहाई चढ़ भी जाता किन्तु काँटे कङ्कड़ पत्थर लगने से पैर छलनी हो जाते। इससे वह अत्यन्त दुखी होता। उसके साथ और भी थे वे भी विचारे दुखी थे। इसे जब भूख सताती, तो यह उनसे लड़ता, अपना क्रोध उनपर उतारता।

कभी-कभी ऐसे अजगर मिलते, जिनके काटने से आदमी मरता तो है नहीं अचेत मुर्छित-सा हो जाता है। जब ऐसे अजगर काट लेते, तो यह वन में मुर्छित हुआ पड़ा रहता, बहुत देर के पश्चात् उसकी मूर्छा भंग होती। कभी ऐसे सर्पादि जन्तु आँख में काट लेते कि अन्धा होकर कुएँ में गिर पड़ता। कभी-कभी उसे चलते-चलते पेड़ों पर लटकता हुआ मधुमक्खी का छत्ता दिखाई दे जाता। रस के लोभ से वह उसमें हाथ डाल देता, उसका उपभोग करना चाहता, तो मक्खियाँ चारों ओर से लिपट कर उसे काटने लगतीं। वह मैया री! बप्पा रे! कहकर इधर-उधर भागता। कभी शीत, उष्ण वायु तथा वर्षा से दुखी होकर इधर-उधर भागता। कभी आपस में ही लेन-देन के सम्बन्ध में लड़ाई-झगड़ा करने लगता। कभी-कभी अपनी आवश्यक वस्तुओं के लुट जाने से वह दूसरों की वस्तुओं पर मन चलाता, उनसे याचना करता। जब वे न देते तो उनसे वैर बाँध लेता, अपमान से दुखी होकर पश्चात्ताप करता। फिर भी साथी तो साथी ही हैं, उन्हें छोड़कर जाय कहाँ, अवसर आने पर उन्हीं से प्यार करने, सम्बन्ध जोड़ने को विवश हो जाता। उसके साथियों में बहुत से मर जाते, बहुत से मूले भटके इधर-उधर से आकर

मिल जाते। इस प्रकार वह मरों को छोड़ता हुआ, नवीनों को बटोरता हुआ अपने समूह के साथ खिचड़ता हुआ जा रहा था। कभी किसी पेड़ की फली हुई सुन्दर शाखा को देख कर भुजा फैलाकर उसी से लटक जाता चिपट जाता। शाखाओं पर बैठे हुए नन्हें नन्हें पक्षियों के कलरव को सुनकर मन्त्रमुग्ध की भाँति अपने आपे को भूल जाता। कभी सिंहों की दहाड़ सुनकर भयभीत हो जाता तो कभी कक गिद्ध बकुला आदि के रूप पर मुग्ध होकर उन्हें पालने पोसने लगता। जब उनके बुरे स्वभाव से मन ऊब जाता, तो उन्हें छोड़कर हंसों का साथ करने लगता, किन्तु हंसों की पवित्रता स्वच्छता से घबड़ाकर वानरों से प्रीति करने लगता। उनकी चंचलता में अपनी चंचलता मिलाकर परस्पर में कलोल करने लगता। कभी वृक्षों से लिपट जाता, कभी पर्वत कन्दराओं में गिर जाता। उनमें रहने वाले गज जब उसे मारने दौड़ते तो किसी लता के सहारे बाहर निकलने का प्रयत्न करता। कभी बीच का बीच में ही लटकता रहता। यदि भाग्यवश गज सिंहों से बचकर गिरि गुफा से निकल आता तो आकर फिर अपने साथियों से मिल जाता। बेचारा बनिया चिरकाल से चल रहा है, किन्तु उसके पथ का ओर छोर नहीं। मार्ग का अन्त नहीं, अध्वा की समाप्ति नहीं। राजन्! बस कहानी समाप्त।"

राजा रहूगण ने आश्चर्य से कहा—"अजी महाराज! यह क्या कहाना? न इसका ओर न छोर, न सिर, न पैर। एक बनिया था, अपने समूह के साथ एक बीहड़ वन में भटकता रहा। इतनी सी बात के ऊपर आपने कितनी बड़ी भूमिका बाँध दी। यह तो भगवन्! कुछ कहानी हुई नहीं, अधूरी ही रह गई।"

हँसकर जड़ भरतजी बोले—"महाराज! यह तो

आध्यात्मिक कहानी है, कुछ प्रेम परिणय की कहानी तो है नहीं, जिसमें रसीली रङ्गीली, रसभरी मनोरञ्जक, चटपटी बातें हों।"

राजा रहूगण ने कहा—"अजी भगवन्! रसीली, रङ्गीली, चटपटी बात न भी हों, तो भी कथा का कुछ रूप भी तो होना चाहिये। तात्पर्य निकलता चाहिये। वह बनिया कौन है? बीहड़ वन कौन है? कुछ तो बताइये।"

जड़ भरतजी शीघ्रता के साथ बोले—"राजन्! वह बनिया तुम्हीं हो।"

आश्चर्य के साथ राजा बोले—"भगवन! आप कैसी बातें कर रहे हैं। मुझे बनिया बता रहे हैं महाराज! मैं तो शुद्ध वंश का क्षत्रिय राजा हूँ।"

जड़ भरतजी ने उदासीनता के स्वर में कहा—"अजी राजन्! फिर वही पागलपने की बात। एक पंडितजी थे। एक यजमान के यहाँ वर्ष भर उन्होंने रामायण की कथा बाँची। वर्ष पूरा होने पर कथा समाप्त हुई, धूमधाम से पूजन हुआ। यथेष्ट चढ़ावा चढ़ा। चढ़ावे के समान को बाँधकर पंडितजी जाने लगे। गाँव के बाहर निकल गये। पीछे से यजमान दौड़ा आया—"पंडितजी! एक बात सुनिये।"

पंडितजी खड़े हो गये, पूछा—"क्या है सेठजी?"

यजमान ने कहा—"महाराज! मुझे एक संदेह रह गया। आप बहुत बार राक्षस-राक्षस कथा में करते थे। सो राक्षस रावण था या राम?"

पंडितजी ने अपना माथा ठोका और कहने लगे—"भैया! न राम राक्षस था न रावण राक्षस। राक्षस मैं हूँ, जो तुम जैसे बुद्धिमान् को मैंने साल भर व्यर्थ कथा सुनाई या तुम राक्षस हो, जो वर्ष भर में तुम्हारी बुद्धि में यह भी बात न समाई की कौन

राक्षस था ?" सो राजन् ! तुम अब भी न समझे कि आत्मा न ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र। वह तो नित्य शुद्ध बुद्ध उपाधि से रहित है। ये तो देह की व्यावहारिक मिथ्या उपाधि है।"

राजा रहूगण ने कहा—"भगवन्! आपने यह कहानी अत्यन्त ही गूढ भाषा में कही है। कृपा करके मुझे इसका खोलकर भावार्थ समझा दीजिये कि वणिक् कौन हैं, गहन वन क्या है, धन क्या है, मार्ग में उसे जो नाना क्लेश हुए वे क्या हैं ? आपके विज्ञानमय वचनों को तीक्ष्ण बुद्धि वाले सूक्ष्मदर्शी कवि ही समझ सकते हैं। मुझ जैसा माया मोह में बद्ध संसारी जीव इतनी रहस्य की बातों को स्वतः समझने में समर्थ किस प्रकार हो सकता है। अतः आप इसका आधिभौतिक अर्थ बतावें।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! महाराज रहूगण के इस प्रकार श्रद्धापूर्वक प्रश्न करने पर हँसते हुए अवधूत शिरोमणि भरतजी इस भवाटवी की कहानी का तात्पर्य बताने को उद्यत हुए।"

छप्पय

उठ्यो भमूरो तहाँ फँस्यो चक्कर महँ ताके।
भरी घूरि तें आँखि नचै सकेतहिं वाके॥
करे कर्णकटु शब्द उलूकहु झींगुर वन में।
यक्षनितें संतप्त डरै बनिया अति मन में॥
छत्ता मधु मक्खीनि के, निरखि शहद भक्षन निमित।
कर डारत काटे सबहिं, पथिक होहि अति ही दुखित॥

—०—

भवाटवी का भावार्थ

[३४१]

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितम्
ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १३ अ० २० श्लोक)

छप्पय

दुरगम पथ यह जगत जीव बनिया सुख घनकूँ ।
निज परिवार समूह संग ले निकस्यो वनकूँ ॥
बनी बवंडर नारि राग-रज नेत्रनि डारें ।
मृग तृष्णा है विषय भोग दुरजन अहि मारें ॥
परनारी है शहद की, मक्खी मन जब ई गयो ।
तबई ताको सुख सुयस, नस्यो मृतक सम नर भयो ॥

रात्रि में जब खा पीकर बच्चे अपनी माताओं के समीप

---

* श्री जड भरतजी राजा रहूगण से कहते हैं—"राजन् ! तुम भी इस भवाटवी मे वणिक् बटोही बने भटक रहे हो। अतः अब तुम प्राणियों को दड देने का कार्य छोड दो। प्राणीमात्र के प्रति मैत्री के भाव स्थापित करो, विषयों से उपराम होकर उस ज्ञान रूप खड्ग को हाथ लेकर जो हरि सेवा से तीक्ष्ण किया गया है, अति दुरूह मार्ग को पार कर जाओ।"

सोते हैं, तो परस्पर मे पहेलियाँ पूछते हैं। मातायें भी उनके इस कार्य मे सहायता करती हैं। वह इस प्रकार होती हैं, एक बच्चा पूछता है—

बारा था सबके मन भाया। बढा हुआ कछु काम न आया।
मैं ले दीया उसका नाम। अर्थ करो या छोडो गाम॥

अर्थात् एक ऐसी वस्तु है कि जब वह बारा (बालक) होता है तो सबके मन को प्रसन्न करता है, जब वह बढ जाता है तो किसी के काम नहीं आता। मैंने उसका नाम भी ले लिया है। या तो इसका अर्थ करो, या गाँव को छोडकर भाग जाओ।

"वह वस्तु रहती कहाँ है ? पूछने वाला कहता है, सबके घर मे। लडके बहुत-सी वस्तुओं का नाम लेते हैं, वह कह देता है नहीं। जब किसी पर उत्तर नहीं आता तो पूछने वाला बालक कहता है—"कहो हारे झख मारे।" न उत्तर आया तो हार तो गये ही। बच्चो को कहना पडता है, तब वह बता देता है "दिया दीपक" है। तब सब कहते हैं अरे, हाँ ठीक तो है। फिर वह पूछता है—"अच्छा बताओ।"

काठ, धातु जीवन नहीं, वाकें हाड न मास।
काम करे तरवार को, फिर पानी मे वास॥

अथात् एक ऐसी वस्तु है, वह काठ की भी बनी नहीं है, धातु की भी नहीं, जीती भी नहीं, उसके शरीर में हाड मास भी नहीं, किन्तु नित्य ही हजारों का सिर काटती है, और सिर काट कर पानी में ही उसका निवास रहता है। बताओ क्या है ?"

लड़के पूछते हैं—"अत्तो पत्तो बताओ" तो पूछने वाले कहते हैं—"उसके यहाँ प्रायः वह रहती है, जिसके गधे रहते हैं। लडके बहुत सोचते हैं, सम्पूर्ण बुद्धि को लगाते हैं, किन्तु सूझता ही नहीं। तब वे भी अपनी हार मानते हैं। तब बताने वाला

देता है "कुम्हारों के चाक का डोरा है। समझे। देखो, बिना हाड़ मांस के वह नित्य सैकड़ों सहस्रों बर्तनों के सिर को काटता है या नहीं। लड़के कहते हैं—"हाँ भाई, हाँ भाई ठीक है।"

इस प्रकार की बुझौअल पहेलियों से बुद्धि तीक्ष्ण होती है, ज्ञान की वृद्धि होती है, विचार शक्ति बढ़ती है, कुतूहल होता है। इसलिये देवताओं को परोक्ष-प्रिय कहा गया है। घूँघट में छिपा मुख चाहे चेचक के चिन्हों से खुतरा काला कलूटा ही क्यों न हो उसके प्रति कुतूहल सबका होना स्वाभाविक ही है। इसीलिये राजा को कुतूहल में डालने को जड़ भरतजी ने भवाटवी की पहेली कही और पूछा—"राजन्! कुछ समझे?"

हाथ जोड़कर राजा रहूगण ने कहा—"भगवन्! मैं तो आपकी रहस्यमयी पहेली का अभिप्राय समझा नहीं। आपने तो सभी का वर्णन अलंकारिक रहस्यमयी गूढ़ भाषा में किया है।"

हँसकर भरत जी ने कहा—"कहो तो हम बतावें?"

विनय के साथ राजा ने कहा—"सद्गुरु के अतिरिक्त गूढ़ ज्ञान का रहस्य और कौन बता सकता है? आचार्य के बिना दिव्य रहस्य का उद्घाटन और कौन कर सकता है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के अतिरिक्त उलझी हुई गुत्थियों को कौन सुलझा सकता है। प्रभो! इस रहस्यमयी कहानी का आप ही तात्पर्य समझावें।"

यह सुनकर जड़ भरतजी बोले—"राजन्! शुभाशुभ कर्मों के द्वारा देह पाया हुआ यह जीव ही वणिक् है। प्रारब्ध की प्रेरणा से भगवान् की माया के वशीभूत होकर इस दुर्गम पथ वाले संसार रूप घोर अरण्य में यह सुख रूप धन की प्राप्ति के लिये भटकता है। परिवार, इष्ट, मित्र, सगे सम्बन्धी ही वणिक् समूह के समान इसके संगी साथी हैं। यद्यपि यह जीव रूप व्यापारी लाभ की इच्छा से व्यापार रूप कर्मों को करता है, किंतु

सर्वत्र इसे हानि ही उठानी पड़ती है, लाभ नहीं होता। ससारी विषयों में सुख कहाँ, शान्ति कहाँ, विजय कहाँ? वहाँ तो चिन्ता दुःख, हाहाकार और पराजय ही है। यदि मधु-लोलुप भ्रमर भक्तजनों के पथ का अनुसरण करे तो दिव्य गधयुत स्वच्छ निर्मल सरोवर के समीप पहुँच जाय, जहाँ कमलों की सूँघने को सुगध मिले, खाने को कमलनाल और कमलफल मिले पीने को स्वच्छ सुन्दर अमृतोपम जल मिले, सो तो यह करता नहीं। उलटा डास, मच्छर तथा झींगुरों के मार्ग का अनुसरण करता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन ये छः ही डाकू हैं। जिस प्रकार बनिये के कष्ट से उपार्जित धन को डाकू लोग निर्दयता-पूर्वक लूट ले जाते हैं, वैसे ही ये मन और इन्द्रियाँ माया मोहित जाव के परमार्थ सर्वस्व का अपहरण कर लेते हैं। जैसे खेत को प्रति वर्ष जोता बोया और निराया जाता है, फिर भी वर्षारम्भ होते ही उसमें फिर से तृण वीरुधगुल्म उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही यह गृहस्थाश्रम रूप कर्म भूमि है। इसमें कभी कर्मों का अन्त ही नहीं होता, क्योंकि इन कर्मों के बीज अनादि हैं, पानी पडते ही पुनः पनप जाते हैं।

इस गृह रूप वन में डास मच्छर रूप खल पुरुष रहकर इस भवाटवी के पथिक को कष्ट पहुँचाते रहते हैं। विषय भोगों को सत्य समझना यही गन्धर्व नगर है, इनसे सुख की इच्छा रखना यही मृगतृष्णा है। यह चमकता हुआ लाल-लाल लपटों वाला अगिया बेताल रूप सुवर्ण ही है, जिसके चाकचिक्य से मोहित होकर जीव लालचवश अनेक पाप करता है, इसे पाने के लिये सतत प्रत्यत्न करता रहता है।

यह कारे मूड वाली मृगनयनी ही बवन्डर के समान है। इसके चक्कर में पडकर मनुष्य जीव उसी के संकेत पर नाचता रहता है। उसमें जो राग है, आसक्ति है—वही उस बवन्डर की

धूलि है। उसके नेत्रों में भर जाने से जीव अन्धा हो जाता है। उसे दिशायें दिखाई नहीं देतीं, साधु पुरुषों की मर्यादा खो बैठता है। शील संकोच लज्जा को तिलाञ्जलि दे देता है। भोज्य, पान मैथुन आदि संसारी सुखों में आसक्त हुआ वह तृप्त न होकर लालचवश मृगतृष्णा रूप मिथ्या विषयों की ओर दौड़ लगाता है, कभी अग्नि के विष्टा रूप सुवर्ण को पाने के लिये कवड्डी मारता है। कभी यह नहीं है वह नहीं है इस तृष्णा से इधर-उधर दौड़ता रहता है। असत् पुरुष ही बिना जल की नदी के समान हैं, गृहयुद्ध साथियों के साथ युद्ध है। चित्त में उठी शोकाग्नि ही दावानल के समान है। दुष्ट राजा और राज्याधिकारी ही राक्षस के समान सर्वस्व को अपहरण करने वाले हैं।

बड़े-बड़े मनोरथ, विभवशाली यज्ञ यात्रों की वांछा ही पर्वत आरोहण के समान हैं। उनमें नाना विघ्न बाधायें ही कङ्कड़ पत्थर रोड़े और काँटों के समान है। निद्रा ही अजगर है। निद्रा में पड़ा मनुष्य अचेतन हो जाता है। अन्धकार में डूब जाता है। विवेक शक्ति का अचेतन हो जाता है, परस्त्री या परधन ही मधु मक्खियों का छत्ता है। जहाँ उसमें हाथ डाला नहीं कि चारों ओर से शरीर में चिपटकर काटने लगती हैं। असह्य वेदना उठानी पड़ती है। लौकिक वैदिक कर्म ही जन्म-मरण रूप बीजों को फिर से उत्पन्न करने वाले तृण के समान हैं। शीत, वायु, वर्षा ये ही आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्लेश हैं। राजन्! संसार ही गहन वन है, बड़ा दुर्गम है, बड़ा दुरूह है, इसमें माया की प्रेरणा से जो जीव समूह पहुँच जाता है, उसका निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। महाराज! आप भी इस चक्कर में फँस गये हो। आप भी इन सभी संसारी बनियों के साथ में बनिये बन गये हैं। संसार में परमार्थ कहाँ, केवल आत्मानन्द में प्रवेश करने के अतिरिक्त

सब वणिक वृत्ति ही तो है। तू मेरा भरण कर मैं तेरी सेवा करूँ। तू मुझे प्यार कर, मैं तुझे प्यार करूँ। मैं देवता को एक फल चढाऊँ, देवता मुझे इससे अनेक जन्मो मे अनन्त फल दें। इस फलाशा मे ही मनुष्य फल दाता सर्वेश्वर जगत्पति विश्वम्भर को भूल जाता है, अपने का ही सब कुछ समझने लगता है। माया से मोहित होकर शोक, मोह भय के कारण विवाद, रुदन, हर्ष आदि मे फँस जाता है। कभी रोता है, कभी गाता है, कभी इधर-से उधर जाता है। इस भवाटवी का अन्त नहीं। भगवद्भक्त तो इसे भगवच्चरणारविन्दों के प्रभाव से पार कर जाते हैं, शेष सभी इसमें इधर-स-उधर भटकते हुए नाना क्लेशों को उठाते हैं। राजन्! यह बात नहीं कि पृथ्वी पर ही यह बात है, ब्रह्मलोक पर्यन्त आवागमन का चक्कर है। अतः राजन्! आप मेरी उँगली पकडिये और आप इस भवाटवी को पार कीजिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे उत्तरानन्दवर्धन महाराज? इस प्रकार जड भरतजी राजा राहूगण को उपदेश देकर चुप हो गये।"

छप्पय

माया मोहित जीव जाहि जहँ तहँ दुख पावे।
लखि समीप धन धाम विविध विधि ताहि सतावे॥
पुत्र मित्र परिवार सगे सम्बन्धी आवे।
स्वारथ हित दरशाय नेह सम्बन्ध लगावे॥
जब तक जग महँ मोह है, तब तक तृष्णा बढैगी।
भेड जहाँ पै जायगी, राजन्! तहँ तहँ मुडैगी॥

—०—

रहूगण और जड़ भरत संवाद की समाप्ति

[३४२]

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः ।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा—
श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १२ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

तजि जगको जञ्जाल जगतपति महँ मन लाओ ।
मैं हूँ सबतें बड़ो नीच तू जाहि भुलाओ ॥
यह मिथ्या संसार सत्य हैं जाके स्वामी ।
वे हैं शाश्वत सत्य सर्वगत अन्तरयामी ॥
मन विषयनितें मोड़िकें, जगतें नातो तोड़िकें ।
हरि चरननि चित जोड़िकें, राम भजो सब छोड़िकें ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब जड भरतजी उपदेश दे चुके, तब राजा रहूगण उनकी स्तुति करने लगे—"भगवन् ! आप जैसे ऐश्वर्य-मदोन्मत्त राजाओ का कल्याण हो । ब्रह्मज्ञानी किस रूप मे रहता है, इसे कोई जान नही सकता । अतः बूढ़ों को नमस्कार है, बालकों को नमस्कार है । युवाओं को नमस्कार है ब्रह्मचारी से लेकर गृहस्थी वानप्रस्थी, संन्यासी सभी को नमस्कार है ।"

सतो का वचन है कि इस जग मे आकर सबसे दौड के अभिमान छोड के, बडे स्नेह से गहककर मिलना चाहिए। न जाने नारायण किस रूप म आ जायँ। नारायण सब रूप बना लेते हैं। उनके लिये निर्गुण से सगुण होने म कोई कष्ट नहीं होता और न उनक यहाँ ऊँच नाच का भेद भाव है। वे शूकर भी बन जाते हैं ब्राह्मण का भी रूप रख लेते हैं राजा बनकर जगत् का शासन भी करते हैं और बौने वामन बनकर भीख भी माँगते हैं। दाता की प्रशसा करके उसे भी प्रसन्न करते हैं। वे बच्चे बन कर रोते भी हैं और गुरु बनकर उपदेश भी देते हैं। वे चोरो के अपराध पर स्वय भी बँध जाते हैं और शरण मे आये हुए बद्ध जीवों का ससार बन्धन छुडाते भी हैं। साराश उनका कोई एक रूप नहीं, वे सर्वगत हैं, सर्वमय हैं, सभी उन्हीं के रूप हैं। एक बडा सुन्दर सर्व प्रसिद्ध कहानी है :—

एक सन्त भोजन बना रहे थे। बनाकर ज्यो ही रोटियो के चुपडने को उद्यत हुए त्यो ही एक बडा सा बलवान् श्वान् आया और सब रोटियों को मुख में लेकर भागा। उन महात्मा की निष्ठा ता देखिये। भूल मे भी वे उस अपकारी कुत्ते के पीछे डण्डा लेकर नहीं दौडे। उन्हे रञ्चकमात्र भी भान नहीं हुआ कि मेरा अपकारी यह श्वान् मेरे सर्वान्तर्यामी स्वामी से पृथक है। उनकी तो नस नस मे यह भाव जमा हुआ था कि वे ही हरि करते कराते हैं, वे ही स्वय खाते हैं। एक हाथ बटलोई दूसरे मे घृत का पात्र लेकर दौड़े बडी विनय से आँखो से आँसू बहाते हुए दीनता के स्वर में कहते जाते थे—"नाथ! मेरे स्वामी! रूखी कैसे पाओगे। तनिक चुपडने दो, इस दाल को भी स्वीकार करो। हे मेरे सर्वस्व! मेरी अधूरी सेवा को ही क्यो अपनाते हो। यह भी तो आपके निमित्त बनाई है। क्या इस दाल में मेरा अहभाव हो गया था? क्या इसमें नमक के साथ अहकार मिश्रित हो गया था। यदि ऐसी

भूल हो गई हो, तो प्रभो ! आप सर्वसमर्थ हैं, उस अहंकार को भी पी जाओ। देखिये, आपके लिये कोई नई बात नहीं। पूतना के स्तनों में लगे जहर को भी तो आप उसके पय के साथ प्राणों के साथ पी गये थे। नाथ ! सेवक के श्रम को सफल करो।"

फिर क्या था, भावग्राही भगवान् उस श्वान के रूप को छोड़कर चतुर्भुज के रूप में प्रकट हो गये। भगवान् उनके इस भाव से अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। भक्त कहते हैं–भगवान् प्रकट हो जाते हैं। ज्ञानी कहते हैं–प्रकट होने के लिए कहीं सप्तम आकाश से उतर कर थोड़े ही आते हैं। वे सर्वगत हैं, अणु-परमाणु में समान रूप से व्याप्त हैं। अब वे कहीं से आकर प्रकट होते हैं अवतरित होते हैं या उनके बिना किसी का अस्तित्व ही नहीं। वे ही वे हैं सर्वत्र, इस विवाद में तो हमें पड़ना नहीं। हमारा तो अभिप्राय इतना ही है कि सेवक इस संसार भर में एक ही है वह हूँ मैं। मेरे सिवाय कोई सेवक नहीं दास नहीं। मुझे छोड़कर संसार में सभी मेरे स्वामी के स्वरूप हैं। यह भावना जिसकी दृढ़ हो गई, उसके द्वारा कभी किसी का भूल में भ्रम में अपमान न होगा इस भाव के उदय होते ही वह छोटे-बड़े, कुत्ता, चांडाल, गौ गधा तथा सभी को अपने इष्ट का स्वरूप समझकर मन से वचन से तथा शरीर से भी प्रणाम करता रहेगा। इसके विपरीत जब तक अहंभाव है, दूसरों से अपनी पालकी उठवावेगा, उन्हें डाँटेगा डपटेगा, बुरा भला कहेगा। यही अज्ञानी में भेद है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! राजा रहूगण को श्री भरतजी ने ब्रह्मज्ञान का अधिकारी समझकर गूढ़ ज्ञान का उच्चातिउच्च उपदेश दिया। उस उपदेश को श्रवण करके कृतज्ञता के कारण जिसका हृदय भर गया है, ऐसा राजा रहूगण भगवान् जड़ भरतजी के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करने लगे। उन्होंने कहा—"भगवन् ! मैं तो समझता हूँ, इन सब योनियों में मनुष्य

योनि ही श्रेष्ठ है, सब लोकों में यह भूलोक ही श्रेष्ठ है और सब मनुष्यों में मुझ जैसा ही व्यक्ति श्रेष्ठ है।"

यह सुनकर हँसते हुए जड भरतजी कहने लगे—"राजन्! आप इतने पुण्य से प्राप्त देवयोनियों को छोड़कर मनुष्ययोनि की ही प्रशसा क्यों कर रहे हो? जहाँ सर्वदा दिव्यसुख प्राप्त हैं, पान करने को अमृत मिलता है, विहार करने को बहुमूल्य विमान मिलते हैं, रमण करने को मनोरमा रम्भा रमणियाँ मिलती हैं, उन स्वर्गादि लोकों को छोडकर इस दुःखपूर्ण मृत्यु धर्म वाले मर्त्यलोक की प्रशसा क्यों कर रहे हो? अच्छा, और बातों को जाने दो, आप अपनी इतनी प्रशसा क्यों कर रहे हो?"

इस पर दृढता के स्वर मे राजा ने कहा—"भगवन्! मैं उस देवयोनि की निन्दा करता हूँ, जिसमे भोगों के अतिरिक्त सत्सङ्ग का सुअवसर प्राप्त न हो। स्वर्गादि लोकों में तो प्रायः पुण्यात्मा ही पुरुष जाते हैं। वहाँ तो वे दिव्य भोगों मे ही तन्मय हो जाते हैं, उन्हे सत्सग की इच्छा ही नहीं होती, वहाँ आप जैसे सन्त जाते भी नहीं। जिस योनि मे आप जैसे सरल सर्वगत सन्तों का सत्सङ्ग प्राप्त न हो, वह देवयोनि भी हेय है, और इसी प्रकार जिस लोक मे आप जैसे अवधूतों का दर्शन न मिले, वह ब्रह्मलोक भी त्याज्य ही है।"

मैंने अपने को श्रेष्ठ और भाग्यवान् इसलिये कहा, कि मैं अपने पुरुषार्थ से अपने साधनों द्वारा कभी आप जैसे सन्तों को प्राप्त नहीं कर सकता। हम तनिक से भूखण्ड के नाममात्र के मिथ्या स्वामी बन जाते हैं, तभी हमें इतना अधिक अभिमान हो जाता है, कि हम अपने सम्मुख किसी को समझते ही नहीं। जहाँ सोने चाँदी की चार ठीकरी हुई नहीं कि बुद्धि भ्रष्ट हो गई। फिर अपने सम्मुख सभी को तृण समझते हैं। सब को

अपमान करते हैं, सभी को तुच्छ समझकर उनकी ओर देखने में भी अपना अपमान समझते हैं। ऐसी ऐश्वर्य रूपी मदिरा के मद में उन्मत्त हुए मुझ पामर पर भी आपने कृपा की, मेरे अपराधों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, तो मुझसे बढ़कर भाग्यशाली इस संसार में और कौन होगा ? जिनके ऊपर संत प्रसन्न हो जायँ, सन्त जिन्हें अपना लें, किसी भी कारण उन पर ढुलक जायँ, तो वे ही पुरुष सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही इस असार संसार से सदा के लिये पार हो जायँगे। नहीं तो कितने भी अश्वमेध क्यों न कर लो, कितने भी पशुओं की आहुति क्यों न दे दो, पुण्य से चाहे ब्रह्मलोक को क्यों न जीत लो, ८४ का चक्कर छूटने का नहीं। जन्म-मरण का भय लगा ही रहेगा।

जड़ भरतजी ने शिष्टता के साथ कहा—"अरे भैया ! तुम तो पहिले से ही जिज्ञासु थे, भगवद्भक्त थे। ऐसा न होता तो तुम इतना धन-ऐश्वर्य छोड़कर तत्वज्ञान की जिज्ञासा में भगवान कपिल के चरणों में क्यों जाते ? राजन् ! युवावस्था में आदमी अंधा हो जाता है, नस-नस में काम व्याप्त हो जाता है। किसी संस्कारी भाग्यवान् की बात तो दूसरी है, नहीं तो युवावस्था पुरुष को इतना उद्दंड बना देती है कि वह सब विवेक खो बैठता है। युवक होने पर यदि उस पर धन-सम्पत्ति हुई और विवेक न रहा, तब फिर कुछ न पूछिये। गिलोय और नीमचढ़ी। ऐसे पुरुष तो संसार-बन्धन को नित्य-नित्य दृढ़ करते जाते हैं। प्रभुता में मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। तुम अपने को इतना सम्हाले रहे, यह भगवत उपासना का ही फल है। यह संसार-जाल बड़ी दृढ़ता के साथ बुना गया है। तुम इस जाल में फँस गये हो। साधारण अस्त्र से यह जाल न कटेगा। भोथरे खड्ग से कटना असम्भव है। अतः मैंने जो तुम्हें ज्ञान-रूप खड्ग दिया है, उस पर भगवत्भक्ति-रूप सान चढ़ा लो। उसे अति तीक्ष्ण बना लो

और फिर इस जगजाल के बन्धनों को—गुणमयी रस्सियों को काट डालो। इस सागर से पार हो जाओ। अच्छी बात है, अब हम जाते हैं।"

इतना सुनते ही महाराज रहूगण ने दौड़कर अपनी शिविका से गङ्गाजल की झारी निकाली। समीप के वृक्षों से स्वयं ही पुष्प तोड़ लिये, फल ले लिये। बड़ी श्रद्धा से उनके चरण प्रक्षालन किये, यथालब्धोपचारों से स्नेहभरित हृदय से उनकी पूजा की और अश्रु बहाते हुए हाथ जोड़कर कहने लगे—"प्रभो! मैं आपकी क्या स्तुति करूँ? आपका एक रूप तो है ही नहीं। कभी आप बालक रूप में विचरण करते हैं। कभी युवक का वेष बनाकर अकड़कर चलते हैं, कभी लाठी लेकर वृद्ध का अनुकरण करने लगते हैं। कभी दाढ़ी जटा बनाकर चद्दर ओढ़कर मृगचर्म और दण्ड कमण्डलु लेकर ब्रह्मचारी बन जाते हैं। कभी विवाह करके अग्निहोत्र करने लगते हैं, पुत्रों को पैदा करते हैं, धर्म का आचरण करते हैं। कभी आप गृह त्यागकर वनों में रहकर वानप्रस्थ धर्म का पालन करते हुए, कन्द-मूल फलों पर ही निर्वाह करते हैं। पञ्चाग्नि तापते हैं। शीतोष्ण सहन करते हैं, अग्निहोत्र करते हैं, तपस्या में निरत रहते हैं। कभी उसे भी त्यागकर अवधूत वेष बना लेते हैं। दण्ड मुण्डी बनकर घूमते हैं, परमहंस वृत्ति को दर्शाते हैं। न जाने किन किन रूपों में आप घूमते हैं। आपकी गति विधि को स्वयं कोई जान नहीं सकता। कृपा करके आप ही जिसे जनाना चाहें, वही जान सकता है। भगवन! मेरी एक याचना है मुझ जैसे अज्ञानी, राज्यमद में मदोन्मत्त बने मोहियों के प्रति आपकी कृपा बनी रहे। उनसे आपका जो भी कुछ अपराध बन जाय, उसे आप अपने कृपालु स्वभाव के कारण क्षमा करते रहें।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन! इस

प्रकार वे परम प्रभावशाली ब्रह्मर्षि भगवान् जड़ भरत सिन्धु सौवीर देश के राजा रहूगण को अत्यन्त ही करुणावश आत्म-तत्त्व का सारातिसार उपदेश देकर तथा राजा के द्वारा सत्कृत और पूजित होकर परिपूर्ण समुद्र के समान अपने मन की इन्द्रिय रूप तरंगों को शान्त करके इस पृथ्वी पर स्वच्छन्द होकर विचरण करने लगे। राजा रहूगण भी कृतार्थ होकर अपने देश को लौट गये। उन्होंने जड़भरतजी के उपदेश को श्रद्धा सहित हृदय में धारण किया। उसी सत्संग के प्रभाव से उन्होंने अविद्या वश जो इस देह में ही आत्मबुद्धि का आरोप कर रखा था उसे आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान के द्वारा नाश कर दिया और वे ब्रह्म-भूत हो गये। कालान्तर में जड़भरतजी भी इस द्विज चरम शरीर को त्यागकर अपने सत्स्वरूप में लीन हो गये। राजन्! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में श्री भरतजी का पुण्यमय चरित्र आपको सुनाया अब और बताइये, मैं आगे आपको क्या सुनाऊँ?"

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव के मुख से राजा परीक्षित् भरत-चरित सुनकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और फिर वे आगे के प्रसंग को चालू रखने के निमित्त भरतजी के वंश का प्रश्न करने की बात सोचने लगे।"

छप्पय

सुन्यो ज्ञान अति गूढ़ कृतारथ भये रहूगन।
मन प्रसन्न ह्वै गयो भयो पुलकित सबहीं तन॥
विधिवत पूजा करी, अरघ अञ्जलि ते दीन्हो।
तप स्वेच्छा ते गमन भरत मुनिवर ने कीन्हो॥
श्रद्धा संयुत सहित जे, भरत-चरित कूँ सुनिहैं।
ते फिरि या भव-सिन्धु महँ, भूलि कबहुँ नहिं परिहैं॥

—:—

राजर्षि गय का चरित्र

[३४३]

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभि-
र्यज्ञाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता ।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सताम्
सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १५ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

भये भरत सुत सुमति देवताजित् सुत तिनके ।
तिनके देव प्रद्युम्न भये परमेष्ठी जिनके ॥
पुत्र प्रतीह महान् भये ज्ञानी तेजस्वी ।
अष्टम पीढ़ी मोंहँ भूप गय भये यशस्वी ॥
करमकाण्ड में कुशल अति, सर्वमान्य सब शास्त्रवित ।
गय समान को होहि नृप—धर्म-ज्ञान-नय-विनय-युत ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे परीक्षित ! शुभ कर्मों में महाराज गय की समानता करने वाला कौन राजा हो सकता है । क्योंकि राजा गय भगवान् के अंशावतार थे, इसीलिये तो उन्हें छोड़कर ऐसा यज्ञों का विधिवत् अनुष्ठान करने वाला, बहुत धर्मों को जाननेवाला, धर्म का रक्षक, श्रीमान् सज्जनों की सभा के सभापति तथा सत्पुरुषों का सच्चा सेवक और कौन हो सकता है ।"

सत्कुल में उत्पन्न होने से ही मनुष्य कुलीन कहा जाता है। प्राचीनकाल में कुलीनता पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। कुलीन निर्गुण भी क्यों न हो, वह भी वन्दनीय माना जाता था और अकुलीन चाहे गुणी क्यों न हो, फिर भी कुलागत आचार के अनुसार उसके गुण की तो प्रसंशा थी, किन्तु वह कुलीन गुणी के समान आदरणीय नहीं समझा जाता था। यद्यपि सत्कुल में भी क्रूर और दुष्ट लोग उत्पन्न हो जाते हैं, फिर भी सामान्यतया कुलागत कुछ-न-कुछ गुण तो आते ही है। इसीलिये राजा का पुत्र ही राजा बनाया जाता था, मंत्री का पुत्र मंत्री ही होगा, वैद्य का पुत्र वैद्यक ही करेगा। कलिकाल में यह प्रथा पापों की वृद्धि के कारण नहीं रही। नहीं तो धर्मात्मा पुरुषों की वंशावली सुनने का भी अनन्त माहात्म्य बताया गया है।

राजा परीक्षत् ने विनय के साथ पूछा—"हाँ, तो भगवन् आप भगवान् स्वायंभुव मनु के वंश का वर्णन कर रहे थे। आपने मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद ये दो पुत्र बताये। उत्तानपाद के वंश का ध्रुव से लेकर दूसरे दक्ष तक के वंश का वर्णन आपने किया। फिर महाराज प्रियव्रत के आग्नीध्र आदि सात पुत्र बताये, जो सातों द्वीपों के राजा हुए। महाराज आग्नीध्र के नाभि, किंपुरुष हरिवर्ष आदि नौ पुत्र हुए, जो नौ खण्डों के राजा हुए। महाराज नाभि के यहाँ स्वयं साक्षात् भगवान् ऋषभदेव का अवतार आपने वर्णन किया। श्रीऋषभदेवजी के भरत आदि सौ पुत्र हुए। सबमें श्रीभरतजी श्रेष्ठ थे। भरतजी के प्रसंग में आपने उनके तीन जन्मों की कथा सुना दी। भरतजी हरिण बने, हरिण से जड़ भरत बने। जड़ भरतजी का और राजा रहूगण का आध्यात्मिक सुन्दर संवाद भी इसी प्रसंग में आपने वर्णन किया। अब मैं भरतजी से आगे मनुपुत्र महाराज प्रियव्रत के वंश का वर्णन सुनना चाहता हूँ। भरतजी से आगे उनके वंश में और

कौन-कौन प्रतापशाली राजा हुए। राजा तो बहुत हुए होंगे, उन सबसे तो हमें प्रयोजन ही क्या, इनमें जो भगवद्भक्त हुए हों उनका चरित्र हमें सुनाइये।"

इतना सुनते ही श्रीशुक बड़े प्रसन्न हुए और राजा की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"राजन्! आप यथार्थ में सच्चे श्रोता हैं। श्रोता में यही विशेषता होनी चाहिये कि वह कथा के प्रवाह में बह न जाय, कथा के उद्गम को विस्मरण न होने दे। कथा में कितनी ही शाखा प्रशाखायें फूट जायँ, किन्तु मूल को न जाने दे। आपको सब कथा प्रसङ्ग याद है। अच्छी बात है, मैं भरतजी के आगे के वंश का वर्णन करता हूँ। वैसे तो मनुवंश अनन्त है, देवताओं के सहस्रों वर्षों में भी वह पूर्णरूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु मैं आपके सम्मुख अत्यन्त संक्षेप में उसका निर्देश मात्र कर दूँगा। इनमें जो विशेष ज्ञानी, कर्मकाण्डी या भगवद्भक्त हुए होंगे, उनके ही सम्बन्ध में कुछ साधारण-सा विस्तार करूँगा, नहीं तो नाम निर्देश ही करता चलूँगा। अच्छा तो सावधानी के साथ श्रवण कीजिये।"

श्रीभरतजी के सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु ये पाँच पुत्र हुए। इस बात को तो मैं पहिले ही भरत-चरित्र के प्रसङ्ग में बता चुका हूँ इन पाँचों में सुमति श्रेष्ठ थे। वे भी ऋषभदेवजी की भाँति अवधूत दिगम्बर हुए। कलियुग में जो जैनसम्प्रदाय का प्रचार होगा, उसमें राजर्षि सुमति को ही जिन या अर्हत मानकर पूजेंगे। उन सुमति जिनके देवाजित नामक पुत्र हुए। देवाजित के देवद्युम्न, उनके परमेष्ठी परमेष्ठीके प्रतीह पुत्र हुए। जो बड़े ही धर्मात्मा और आत्मविद्या विशारद थे। वे स्वयं ज्ञानी तो थे ही, ज्ञान के उपदेष्टा तथा आचार्य भी थे। उन्होंने अनेकों पुरुषों को आत्मविद्या का उपदेश किया और स्वयं

शुद्धचित्त होकर साक्षात् श्रीमन्नारायण भगवान् का साक्षात्कार भी किया।

उन धर्मात्मा प्रतीह के सुवर्चला नामक पत्नी में प्रतिहर्ता, प्रस्तोता और उद्गाता नामक पुत्र हुए, जो कर्मकाण्ड में निष्णात थे, यज्ञादि कार्यों में अत्यन्त निपुण समझे जाते थे। उनमें जो सबसे श्रेष्ठ प्रतिहर्ता थे, उनका विवाह स्तुति नाम की राजपुत्री से हुआ। उसके गर्भ से अज और भूमा दो पुत्र हुए। प्रतीत होता है, बड़े राजकुमार अज ऊर्ध्व रेता ब्रह्मचारी बन गये, अतः भूमा का वंश आगे चला।

महाराज भूमा की पत्नी का नाम ऋषिकुल्या था, जिसके गर्भ से उद्गीथ नामक पुत्र हुआ। उद्गीथ के देवकुल्या नामक पत्नी में प्रस्ताव हुए। प्रस्ताव के विभु, विभु के पृथुषेण, उनके नक्त, नक्त के ही द्रुति नाम्नी पत्नी में उदारकीर्ति परमयशस्वी राजर्षि प्रवर महाराज गय हुए। जिनकी कीर्ति संसार में अब तक फैली हुई है। ये बड़े ही कर्मकाण्डी, दानी उदार और महामना थे। ये अपने समस्त धन को यज्ञ-याग आदि शुभ कार्यों में लगाकर उसका सदा सदुपयोग करते रहते थे। वे अपनी प्रजा का औरस पुत्रों के समान पोषण, लालन, पालन, पीषण और मनोरंजन करते रहते थे। वे निरंतर यज्ञ-यागों में ही लगे रहते थे, किन्तु स्वयं उन यज्ञों से कोई सांसारिक कामना नहीं रखते थे। जो कुछ किया, उसे उसी क्षण कृष्णार्पण कर दिया। "मेरे इन यज्ञादि कार्यों से सर्वान्तरयामी श्रीकृष्ण प्रसन्न हों।" इस प्रकार निष्काम कर्म करते-करते उनका अन्तःकरण विशुद्ध निर्मल आदर्श के समान स्वच्छ बन गया। वे सदा सत्पुरुष, साधु, महात्मा, ज्ञानी तथा भगवद्भक्तों की अव्यग्र भाव से चरण-सेवा करते रहते थे। जो साधु-सन्तों की श्रद्धा से सेवा करते हैं, उनकी सेवा से संतुष्ट होकर साधु पुरुष उन्हें सर्वश्रेष्ठ अपने पास जो वस्तु है, उसे दे

दे देते हैं। साधु पुरुषों के समीप सर्वश्रेष्ठ निधि क्या है—"भगवान् के त्रैलोक्यपावन सुमधुर मनोहर नाम।" राजर्षि गय भी संतों द्वारा भगवन्नाम को प्राप्त करके उनका कीर्तन करते, भगवान् का ध्यान करते, जिससे उनका चित्त विशुद्ध बन गया अब उन्हें देहादि अनात्म पदार्थों मे आत्मबुद्धि नहीं होती थी। उनका अहंभाव हट गया और वे आत्मा का यथार्थ रूप समझकर उसे ब्रह्मस्वरूप से अनुभव करने लगे। इतने ज्ञानी, ध्यानी विरक्त होते हुए भी वे कर्त्तव्य के वशीभूत होकर ससारी भोगों मे तनिक भी स्पृहा न करते हुए राज-काज बडी सावधानी से करते थे।

राजर्षि गय ने एक नहीं, असंख्यों यज्ञ किये। सत्ययुग, त्रेता आदि युगों मे यज्ञ के समय देवतागण स्वयं साक्षात् अपने स्वरूपों से आते थे और यजमान के दिये हुए हविर्भाग को दिव्य शरीर से पंक्ति में बैठकर पाते थे, ऐसा सुनते हैं। एक बार महाराज गय ने बड़ा भारी सोमयाग किया। उस यज्ञ मे सोम नामक एक लता का रस पान किया जाता है। यह लता कलियुग में तो लुप्तप्राय हो जाती है, अन्य युगों मे यह होती है इसे बेचने वाले ब्राह्मण अधम माने जाते हैं। इस लता में यह विशेषता होती है कि अमावस्या को इसमें एक भी पत्ता नहीं रहता। प्रतिपदा को एक पत्ता निकलता है, द्वितीय को दो तथा तृतीय को तीन। इसी प्रकार एक नित्य बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को १५ पत्ते हो हो जाते हैं। फिर एक एक गिरता जाता है। अमावस्या को सब गिर जाते हैं। सोम विक्रेता विप्र इसे मन्त्रों द्वारा तोड़कर बेचते हैं। इसे विधिवत् कूटा जाता है, उसमें से एक रस निकलता है, जो मीठा तथा मादक होता है। उसे अधिक पीने से आदमी सुरापायी के समान उन्मत्त बन जाता है। महाराज गय के यज्ञ मे बहुत-सा सोमरस निकाला गया था। उसे चसक पान पात्रों में भरकर विधिवत् मन्त्रों द्वारा देवताओं का आवाहन करके उन्हें

पिलाया गया था। सुनते हैं, उस यज्ञ में देवराज इन्द्र ने प्रसन्नता के कारण इतना सोम पान कर लिया कि वे उन्मत्त हो गये।

उनके यज्ञों में यज्ञपति भगवान वासुदेव स्वयं प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर राजर्षि के दिये हुए हविर्भाग को ग्रहण करते थे। भगवान् तो नित्य ही तृप्त हैं, फिर भी उपचार से यज्ञों में वे तृप्त हो जायँ, वे संतुष्ट हो जायँ, तो उनके सन्तुष्ट होने पर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग, तिर्यक, जलचर, थलचर, नभचर, तृण, वृक्ष, लता, गुल्म सभी की तृप्ति हो जाती है, सभी सन्तुष्ट हो जाते हैं।

राजर्षि गय तो भगवान के कलावतार ही थे। जो दक्ष की कन्यायें हैं, धर्म की प्यारी पत्नियाँ हैं और समस्त लोकों की मातायें हैं, उन श्रद्धा, मैत्री, दया, श्री आदि ने गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि अति पवित्र सरिताओं के सहित स्वयं जिनका राज्याभिषेक किया था, उन राजर्षि भरत की महत्ता का वर्णन ही कौन कर सकता है। पृथ्वी उनके राज्य में समस्त इच्छित वस्तुओं को स्वतः देती थी। इन्द्र समय-समय पर वर्षा करते थे। वायु समयानुसार शीत, उष्ण, मन्द, तीव्र तथा सुगन्धित बनकर बहती था। प्रजा के लोग उनका पिता के समान देवता के समान इष्टदेव के समान सम्मान करते थे। यद्यपि वे सभी कर्म बिना फल की इच्छा से निष्काम भाव से करते थे, फिर भी उनकी समस्त कामनायें पूर्ण होती थीं। वे जो भी मन से इच्छा करते, तत्काल पूरी होती। उनके शस्त्र अमोघ थे। उनके बाण विश्वविजयी थे। वे जिस रण में भी गये, विजय करके ही लौटे उनका पृथ्वी पर कोई शत्रु था ही नहीं सभी मित्र थे। सभी राजा उनके अधीन थे, सभी अपने रत्नजटित मुकुटों से उनके चरणों की वन्दना करते थे, प्रजा के लोग प्रेम से उन्हें अपनी आय का षष्ठांश लाकर देते थे, तथा उनके राज्य में जो वेदपाठी ब्राह्मण-

गण धर्म कर्म करते थे, उनका पुण्य परलोक में जाकर देते थे। इस प्रकार महाराज गय के धर्म से यह समस्त वसुन्धरा समृद्धि शालिनी बन गई। उन धर्मात्मा राजा की सौभाग्यवती धर्म पत्नी का नाम गयन्ती था। वह पति के अनुकूल आचरण करने वाली पतिपरायण तथा महाराज के पद चिन्हों का अनुसरण करने वाली परम धार्मिक थी। ऐसी पत्नी को पाकर महाराज परम सन्तुष्ट थे और वे धर्म पूर्वक उसे साथ लेकर यज्ञादि कर्म करते थे।'

छप्पय

स्वयं पधारें इन्द्र यज्ञ महँ देवन साथा।
अब तक जगमहँ विदित राजऋषि गय की गाथा॥
इतनो पीयो सोम भये उन्मत्त देवपति।
स्वय यज्ञपति प्रकटि पाँइ हवि हैं प्रसन्न अति॥
जिन वश कीन्हें विश्वपति, तिन गय समता को करें।
निरत रहें सत्सग महँ, सन्त चरण रज सिर धरें॥

प्रैयव्रत वंश का शेषांश

[३४४]

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः ।
अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १५ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

रानी गय की भई गयन्ती पति की प्यरी ।
भये चित्ररथ आदि तीनि सुत आज्ञाकारी ॥
तिनके सुत सम्राट् पुत्र उनके मरीच जित ।
बिन्दुमान तिन पुत्र मधू मधु के बीरव्रत ॥
अन्तिम भूप भये विरज, परम यशस्वी अति सदय ।
देववंश में विष्णु जिमि, भये जगत महँ कीर्तिमय ॥

पौराणिक कथा की यह प्राचीन परिपाटी है कि जिस विषय का भी वर्णन करेंगे, यथाशक्ति पूर्ण करेंगे, क्योंकि वे प्रभु पूर्ण हैं। यथाशक्ति इसलिये कहा कि किसी भी वस्तु का यथार्थ पूर्ण वर्णन न तो आज तक हुआ, न होगा। यदि पूर्ण वर्णन हो जाता,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज प्रियव्रत के वंश में अंतिम राजा विरज हुए। उन्होंने अपनी सत्कीर्ति से अपने प्रियव्रत वंश की शोभा इसी प्रकार बढ़ाई, जिस प्रकार भगवान् विष्णु देवताओं की शोभा बढ़ाते हैं।"

तो फिर उसमें कुछ शेष रहता ही नहीं। जैसे हमारे पात्र में जितना दूध है सबको पी लें तो पात्र खाली हो जायगा, कुछ भी अवशिष्ट न रहेगा, किन्तु ब्रह्म के सम्बन्ध में तो कहा गया है, कि पूर्ण में से पूर्ण निकाल लिया जाय तो पूर्ण ही शेष रह जायगा। वह कभी अपूर्ण निश्शेष होगा ही नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! मैंने तुम्हें राजर्षि गय का चरित्र सुनाया था। अब महाराज गय से आगे धर्मात्मा मनुपुत्र प्रियव्रत के वंश का श्रवण कीजिये। महाराज गय की धर्मपत्नी गयन्ती से चित्ररथ, सुगति और अवरोधन ये तीन पुत्र हुए। चित्ररथ की पत्नी ऊर्णा से महाराज सम्राट का जन्म हुआ और सम्राट् ने अपनी उत्कला नामी पत्नी में मरीचि नामक सुत को उत्पन्न किया। महाराज मरीचि की बिन्दुमती भार्या से बिन्दुमान् नामक तेजस्वी पुत्र हुआ। बिन्दुमान के सरघा नाम वाली स्त्री से मधु नामक राजर्षि हुए। मधु के सुमना नाम वाली धर्मपत्नी से वीरव्रत सुत हुआ और वीरव्रत की भोजा नामी भार्या ने दो पुत्ररत्नों को प्रसव किया, जो जगत् में मन्थु प्रमन्थु नाम से विख्यात हुए मन्थु ने सत्या नाम वाली भार्या का पाणिग्रहण करके उससे धर्म-पूर्वक भौवन नामक चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न किया। भौवन के दूषणा से त्वष्टा और त्वष्टा की विरोचना नाम्नी भार्या से विरज नामक परमयशस्वी तेजस्वी भगवत्भक्त पुत्र उत्पन्न हुआ। उन विरज के विषूची नामवाली पत्नी से शतजित् आदि सौ पुत्र और एक कन्या हुई। वैसे तो विरज के पश्चात् इस वंश में और भी बहुत से राजा हुए, किन्तु विरज अपने ढंग के अद्वितीय ही थे। राजर्षि विरज इस वंश के अन्तिम परम धार्मिक, श्रेष्ठ कीर्तिवाले प्रसिद्ध सम्राट् माने जाते हैं। राजन्! यह मैंने संक्षेप में राजर्षि मनुपुत्र प्रियव्रत के वंश का [illegible] अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?'

भगवान् शुक के ऐसे सुखकर वचन सुनकर महाराज परीक्षित् बोले—"प्रभो! मेरी इच्छा है कि मैं मनुवंश का पूर्ण विस्तार के साथ सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनूँ। आपने पीछे बताया था कि यह समग्र पृथ्वी पहिले एक ही थी, महाराज प्रियव्रत ने अपने तेजोमय विमान पर चढ़कर पृथ्वी की सात परिक्रमायें की थीं। उन्हीं से सात समुद्र और सात द्वीप हुए। मैं उन द्वीपों का समग्र वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ और उन द्वीपों में महाराज प्रियव्रत के वंशज कौन-कौन राज्य करते हैं, उनका भी सब वृत्तान्त जानना चाहता हूँ। कृपा करके इन सब विषयों को विस्तार के साथ मुझे बतावें।"

नैमिषारण्य में श्रीसूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् के ऐसा पूछने पर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक सात समुद्र, सात द्वीप, नौ खण्ड, भूलोक के स्थानों का भुवर्लोक, स्वर्गलोक के नक्षत्र, तारा, सूर्य चन्द्र आदि ग्रहों को तथा नीचे के अतल वितल आदि सातों लोकों का वृत्तान्त बताया। मुनियो! इस कथा प्रसंग में मैं उन सबका यहाँ वर्णन न करूँगा। इनका विस्तार से वर्णन यदि सम्भव हुआ, तो भूगोल तथा खगोल के प्रकरण में करूँगा। आप आज्ञा दें, मैं इसके आगे के कथा प्रसंग का वर्णन करूँ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमारा इस नीरस विषय में कोई विशेष आग्रह नहीं है। आपकी जैसी इच्छा। कथा की संगति मिलाने के लिये इस विषय का संक्षेप में वर्णन तो कर ही दें।"

इस पर सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! सुनिये। हाँ, तो मैंने बताया था कि मनु पुत्र महाराज प्रियव्रत के अग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतहोत्र और कवि ये दस पुत्र हुए। इनमें कवि, महावीर,

सनन ये तीन ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी रहे, इन्होंने गृहस्थाश्रम को स्वीकार ही न किया। बिना द्वेत के सृष्टि नहीं। बिना बाँस के वंशी नहीं। इसी प्रकार बिना बहू के वंश वृद्धि नहीं। अतः इन तीन का तो न वंश चला, न ये किसी देश के राजा हुए। इन्होंने तो अखण्ड राज्य को प्राप्त किया, जिसका कभी नाश ही नहीं होता। अब शेष रहे सात। ये सातों क्रमशः सातों द्वीपों के राजा हुए। जैसे जम्बूद्वीप के राजा आग्नीध्र हुए। प्लक्षद्वीप के इध्मजिह्व, शाल्मलि के यज्ञबाहु, कुशद्वीप के हिरण्यरेता, क्रौञ्चदेश के घृतपृष्ठ, शाकद्वीप के मेधातिथि और पुष्करद्वीप के राजा वीतहोत्र हुए। महाराज आग्नीध्र के वंश का वर्णन तो कर ही दिया है। अब उनके शेष छः भाइयों के वंश का वर्णन सुनिये। एक बात स्मरण रखें। मनुष्यों की पहुँच केवल भारत वर्ष में ही है। भारतवर्ष को छोड़ शेष छः द्वीप और आठ खण्डों में योगी को छोड़कर कोई भी मनुष्य भौतिक साधनों से नहीं जा सकता। ये भौम स्वर्ग माने गये हैं। इनमें भी वैसे लोग उपासना करते हैं, साधारणतया वर्णाश्रम की समान्य कल्पना है, किन्तु इन द्वीपों के मनुष्य तो स्वर्ग शेष सुखों को भोगने ही आते हैं। इनकी हजारों वर्षों की आयु होती है। ये देवताओं की भाँति विषय सुख भोगते हैं। इन द्वीपों में आजीविका की चिन्ता नहीं। नदियाँ, वृक्ष ही सब जीवनपयोगी सामग्रियों को स्वतः प्रदान करते हैं। यहाँ वृद्धावस्था नहीं होती। बहुत सन्तानें नहीं होतीं। स्त्रियाँ जीवन में एक बार गर्भ धारण करती हैं। साराश कि इन द्वीपों में स्वर्गीय सभी सुख हैं। वहाँ युगों की भी कल्पना नहीं। त्रेतायुग के समान सर्वदा काल रहता है। प्लक्षद्वीप के अधिपति महाराज इध्मजिह्व के सात पुत्र हुए, जिनके नाम शिव, यवश, सुभश, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय हैं। महाराज इध्मजिह्व ने अपने द्वीप के सात विभाग अपने इन सातों

नाम से कर दिये। ये सात खण्ड इनके ही नाम से विख्यात हैं। शाल्मलिद्वीप के अधिपति मनुपुत्र महाराज यज्ञबाहु हुए। उनके भी सात ही पुत्र हुए जिनके नाम सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन, अविज्ञात हैं। इनके पिता ने भी इन्हीं नामों से अपने द्वीप के सात खण्ड करके इनके ही नामों से वे वर्ष विख्यात करा दिये। कुशद्वीप के अधिपति मनुपुत्र हिरण्यरेता हुए। उनके भी वसु, वसुदान, दृढ़रुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेव-नामक सात ही पुत्र हुए। उन्होंने भी अपने खण्ड के सात विभाग करके सातों पुत्रों के नामों से सात वर्ष प्रसिद्ध कर दिये।

क्रौञ्चद्वीप के अधिपति मनुपुत्र घृतपृष्ठ हुए। संयोग की बात, उनके भी आम, मधरुह, मेरुपृष्ठ सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण और वनस्पति नाम वाले ये सात पुत्र हुए, जिन्होंने पिता की आज्ञा से अपने द्वीप के सात विभाग करके अपने नामों से वर्ष स्थापित किये। शाकद्वीप के अधिपति मनुपुत्र मेधातिथि हुए। उनके भी पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप और विश्वाधार ये वर्षाधिपति सात पुत्र हुए, जिनके नाम से शाकद्वीप में सात वर्ष विख्यात हैं। सबसे अंतिम पुष्करद्वीप के स्वामी मनुपुत्र वीतहोत्र हुए। उनके रमणक और धातकि नामक दो पुत्र हुए, उन दोनों के नाम से उस द्वीप में दो वर्ष हैं। अब तक उन द्वीपों में वे ही राजा राज्य करते हैं, या उनके पुत्र पौत्र हैं। मुनियो! इसका मुझे पता नहीं। जहाँ तक मेरा ध्यान है वे ही राजा होंगे।

अच्छा, यह तो मैं पीछे बता ही आया हूँ कि इस जम्बूद्वीप के अधिपति महाराज आग्नीध्र के नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व, और केतुमाल ये नौ पुत्र हुए। उनमें से नाभि ही इस नाभिवर्ष (जो अन्त में भरतजी के

प्रभाव से भरतखण्ड या भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ) के राजा हुए। उन नाभि के वंश का चरित्र मैंने कह ही दिया। जम्बूद्वीप में नौ खण्ड हैं। यह द्वीप सबसे मध्य मे है। इसी द्वीप के चारो ओर खारा समुद्र है। फिर उसके चारों ओर गोलाकार प्लक्षद्वीप है। उस प्लक्ष के चारो ओर ऊख के रस का समुद्र है। इसी प्रकार एक समुद्र और इससे घिरा एक द्वीप ऐसे सात समुद्र हैं सात द्वीप हैं। ये सब इन चर्म चक्षुओं से दीखते नहीं।

हाँ तो यह जम्बूद्वीप सबसे मध्य मे है। शेष छः द्वीप क्रमशः छः समुद्रों से घिरे एक के पश्चात् एक इस क्रम से हैं। इस जम्बूद्वीप में भी सबसे मध्य मे इलावृत खंड है। उसी इलावृत खण्ड में दिव्य सुवर्ण का बना सुमेरु पर्वत है, जो पृथ्वी के नीचे भी है और स्वर्ग तथा ध्रुवलोक तक चला गया है। इसी सुमेरु के आठों शिखरों पर आठो लोकपालों की पुरियाँ हैं। जैसे कमल के फूल में एक तो बीच में कर्णिका होती है, उसके चारों ओर पखुडियाँ लगी रहती हैं, वैसे ही इलावृत खण्ड मध्य मे है शेष आठ खण्ड इसके आठों ओर अगल बगल मे हैं। भारतवर्ष को छोडकर आठ खण्ड भू स्वर्ग हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इन चर्म-चक्षुओं से तो हमें ये शेष आठ खण्ड और सोने का सुमेरु पर्वत दीखता नहीं, फिर हम कैसे समझें ऐसे कोई खण्ड या द्वीप हैं। न हमें खारे समुद्र को छोडकर कोई दही, मठा, ईख घृत और मधु आदि के समुद्र ही दिखाई देते हैं। मान लो, यह दूर ही सही, तो ये आठ खंड तो जम्बूद्वीप से सटे हैं। इनमें तो प्रवेश होना चाहिये। सो, भारतवर्ष से तो इन द्वीपों मे जाने का कोई मार्ग ही नहीं। फिर आप कहते हैं भारतवर्ष ही दीखता है, और द्वीप दिखाई नहीं देते, तो समुद्र पार गोर वर्ण अदस्युओं के देश हैं, च

आदि देश हैं, ये तो भारतवर्ष से पृथक् हैं। इनकी किन वर्षों में गणना की जायगी ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग ! इन सब बातों का मैं विस्तारपूर्वक वर्णन भूगोल और खगोल के सम्बन्ध में करूँगा। यहाँ इतना ही बताये देता हूँ, कि जो आजकल द्वीप, उपद्वीप दिखाई देते हैं, जहाँ भी मनुष्य पहुँच सकता है, ये भारतवर्ष के अन्तर्गत हैं। हमें जो यह खारे-सा जल का समुद्र दीखता है यह समुद्र नहीं है सागर है। महासमुद्र तो बहुत दूर है। सगर के साठ हजार पुत्रों ने इस भारतवर्ष को अपने घोड़े की खोज में चारों ओर से खोद डाला। इसलिये इसका सम्बन्ध अन्य आठ वर्षों की भूमि से सर्वथा विच्छेद हो गया। अब भारतवर्ष के चारों ओर सागर हो गया। इसीलिये आठ-दस बड़े-बड़े द्वीप के समान टापू बन गये, जिनमें समुद्र से जीविका करने वाले निषाद-आभीर वर्णाश्रमेतर पुरुष रहने लगे। उन द्वीपों में अधिक शीत होने के कारण वहाँ के लोगों के चर्म गौर वर्ण के हो गये। कुछ के पीत वर्ण के। वास्तव में ये सब भारतवर्ष के ही द्वीप, उपद्वीप, टापू आदि हैं। क्योंकि इनमें वर्णाश्रमी लोग रहते नहीं, इसीलिये कुमारी कन्या से लेकर हिमालय के प्रदेश को ही भारतवर्ष कहने की प्रणाली पड़ गई। अर्थात् वर्णाश्रमधर्मी भारतवर्ष। कलियुग में ये दस्यु ही राजा बन जायँगे। ये ही अपनी भौतिक बुद्धि से भौतिक आविष्कार करके अपने को सभी विषयों के पंडित समझेंगे। इन अनार्यों की बुद्धि इतनी संकुचित होगी, कि ये महाभारत युद्ध से आगे के इतिहास की कुछ कल्पना ही न कर सकेंगे। ये भारतवर्ष को ही संसार कहकर इसी के इतिहास, भूगोल को कृत्रिम रूप से बतावेंगे। महाराज ! यह युगधर्म है। इसमें किसी का दोष नहीं है। अब आगे मैं इस पर फिर कभी प्रसंगानुसार प्रकाश डालूँगा। यही महाराज ! इनके सत्य और

कल्पना की बात, सो यह संसार ही कल्पित है। बहुत से अद्वैत वेदान्त के आचार्य इस दृश्य जगत् को त्रिकाल में हुआ नहीं मानते। उनके मत में यह संसार न कभी हुआ, न है, न होगा। बन्ध्या पुत्र के समान, सीप में रजत के समान, टेढ़ी रस्सी में सर्प के समान अज्ञान से इसकी मिथ्या प्रतीति हो रही है। भगवन्! जब यह पूर्ण संसार ही कल्पित है माया का खेल है तो इसी प्रकार ये द्वीप खण्ड वर्ष आदि कल्पित ही हैं। यदि ये नद, नदी, पहाड़, सागर, नगर सत्य हैं, तो द्वीप, खण्ड, समुद्र आदि भी सत्य हैं। यह जीव अपने कर्मों से नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ सुख दुख उठता है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है। कभी स्वर्ग में जाकर सुख भोगता है, कभी नरकों में जाकर नाना यातनाओं का अनुभव करता है। नरक स्वर्ग से निकल कर फिर पृथ्वी पर जन्म लेता है। फिर प्रारब्ध कर्मानुसार नाना योनियों में भटकता फिरता है। इसी का नाम संसार चक्र है। भूः भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्य ये ऊपर के लोक हैं। अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात नीचे के लोक हैं। इन चौदह भुवनों का ही एक ब्रह्माण्ड होता है। ऐसे असंख्यों ब्रह्माण्ड इस विश्व में व्याप्त हैं। पृथ्वी पर आठ खण्ड और छः द्वीप भू स्वर्ग हैं। नीचे के सात भूविवर स्वर्ग अर्थात् पाताल स्वर्ग कहाते हैं। इन नीचे के लोकों में स्वर्ग से भी अधिक सुख है। भूलोक के ऊपर के तो सब दिव्य स्वर्ग हैं ही। इनके अतिरिक्त पृथ्वी के नीचे बहुत से नरक हैं, जिनमें पापी पुरुष पचाये जाते हैं।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! नरक क्या होते हैं। ये लोक वास्तव में कुछ हैं या वैसे ही डराने को कल्पना कर ली है। यदि ये हैं तो बताइये कहाँ हैं?"

इस बात को सुनकर सूतजी हँसे और बोले—

यही बात महाराज परीक्षत् ने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से पूछी थी। उसी प्रसंग का मैं अब आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर इस धर्म के मर्म को जानने वाले परम आवश्यक विषय को श्रवण करें।"

छप्पय

राजन् सात समुद्र सात है द्वीप अवनि पै।
प्रियव्रत सुत ई करें राज इन सब द्वीपनि पै॥
भौम स्वर्ग दिवि स्वरग स्वरग पाताल कहावें।
तिनि में करिकें पुण्य धर्म प्रेमी जन जावें॥
पुण्यनि को फल स्वरग है, शास्त्र, वेद, ऋषि मुनि कहें।
पाप करें तें नरक में, नर नाना बिधि दुख सहें॥

नरक क्या है

[३४५]

न चेदिहैवापचिति यथांहसः
कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः ।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति
ये कीर्तिता मे भवतस्तिरश्चयातनाः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

पाप करें तें हृदय माहिँ अति तम भरि जावै ।
अन्तःकरन मलीन होहि नर बहु दुख पावै ॥
सूक्ष्म देह जब जाइ यातना देह पाइकें ।
नरकनि में फिरि पचे भूमि ते जीव जाइकें ॥
सहै यातना नित नई, किन्तु दुःख में मरे नहि ।
अनुभव वैसे ई करै, जैसे नर तनु कष्ट सहि ॥

सुख दो प्रकार के होते हैं, एक दृष्ट सुख एक श्रुत सुख। दृष्ट सुख तो उसे कहते हैं, जिन्हें हम अपनी इन्द्रियों से इसी लोक में अनुभव करते हैं। जैसे अत्यन्त गुदगुदे गद्दों पर बैठने

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जो मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा किये हुए दुष्ट कर्मों का इसी जन्म मे प्रायश्चित नही कर लेता, उसे मृत्यु के पश्चात् मैंने जिन भयकर यातना पूर्ण नरकों का वर्णन किया है, उनमें उसे अवश्य-अवश्य जाना पड़ेगा।"

से स्पर्शेन्द्रिय को सुख होता है। अत्यन्त सुन्दर से सुन्दर वस्तु देखने से नेत्र को सुख होता है, स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ खाने से जिह्वा लपलप करने लगती है, ओठ चाटने लगती है, बड़ा रस आता है। ताल स्वर सहित सुन्दर गायन हो रहा हो, तो चाहे समझ में कुछ भी न आवे मन प्रसन्न होता है। इसी प्रकार सब इन्द्रियों के विषय के विषय में समझना चाहिये। इन्द्रियों के अनुभूत सुख का नाम है दृष्ट सुख। श्रुत सुख उसे कहते हैं जो हमने अनुभव तो किया नहीं केवल सुना मात्र है। जैसे जो वायु-यान पर चढ़कर घूमा है, वह जब आकर कहता—"भैया, वायु-यान पर चढ़ने में तो बड़ा ही आनन्द आता है। सर्र-सर्र वायु-यान ऊपर उठता है, पेट का पानी भी नहीं हिलता। ऊपर से घरघरुआ पाती की भाँति छोटे-छोटे दीखते हैं, वृक्ष झाड़ियों के समान दिखाई देते हैं। सड़कें लकीर-सी दीखती हैं। टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई नदी लम्बी सर्पिणी के सदृश प्रतीत होती है। ऊपर धूलि न धक्कड़ आनन्द से दृश्य देखते हुए उड़ते चलो।" इस वर्णन से जो सुख होता और उसमें जो स्पृहा होती है वही श्रुत सुख है। स्वर्ग किसने देखा है। स्वर्ग देखकर कलियुग में कौन लौटा है? किन्तु शास्त्र ही, आप्त वचन ही उसके अस्तित्व में प्रमाण है। वहाँ विमान है, अप्सरायें हैं, गन्धर्व हैं, कल्पवृक्ष है, कामधेनु है, नन्दन वन है, अमृत है, और न जाने क्या है, उन्हीं के लोभ से, उन्हें ही पीने की इच्छा से—हम सत्कर्म करते हैं उन्हें पाते हैं।

जैसे दृष्ट और श्रुत भेद से सुख दो प्रकार हैं, वैसे ही दुःख भी दो प्रकार के हैं। दृष्ट दुःख तो शरीर में नाना रोग हो गये, सिर दर्द हो गया, कीड़े घुस गये, आधा सिर दुखने लगा, गुमड़ी हो गई- पक गई। नेत्रों में दर्द हो गया, फुल्ली हो गई, सड़ गई, कीड़े पड़ गये। दाँत खोखले हो गये, मसूड़े फूल गये, दुर्गन्धि आने लगी, उदर-विकार, वीर्य-विकार, अंगों का

सड जाना क्षत हो जाना आदि, कुष्ट से अगों का गिर जाना आदि शरीर में असंख्यों रोग होते हैं जो दुःख देते हैं वे सब व्याधि कहलाते हैं। मन से जो दुःख होता है उसे आधि कहते हैं। अपकीर्ति हो गई। युवा पुत्र मर गया। अभी लडकी का विवाह किया अभी विधवा हो गई। अभियोग में पराजय हो हो गई, किसी ने कटु शब्द कहकर अपमान कर दिया, किसी ने विश्वासघात ही कर दिया। इन सब दुःखों को दृष्ट दुःख कहते हैं। नरक में जिन नाना यातनाओं का शास्त्रों में वर्णन मिलता है उन्हें श्रुत दुःख कहते हैं। जीव जैसा इस लोक में कर्म करता है परलोक में वैसा ही उसका दुःख भोगता है। कर्मानुसार जीवों को नाना योनियों में जाना पडता है।

राजा परीक्षित् ने महामुनि शुकदेवजी से पूछा—"प्रभो! आपने बताया पुण्य के कारण जीव स्वर्ग में जाकर सुख भोगते हैं और पाप से नरक जाते हैं। यह क्या बात है? हमने तो बहुत से पुण्यात्माओं को दुःख भोगते देखा है, बहुत से पापी पाप करते हुए भी आनन्द से विषयों का उपभोग करते हुए देखे गये हैं। यह क्या बात है? इन उच्चता नीचता, छोटेपन बड़ेपन की विभिन्नता का क्या कारण है?"

इसपर श्रीशुक बोले—"राजन्! यह तो कर्म की गति है। पूर्वजन्म का कोई पाप उदय हो जाता है तो पुण्यात्मा पुरुषों को भी दुःख भोगने पडते हैं। पूर्वजन्म का कोई पुण्य उदय हो जाता है, तो पाप करते हुए भी पूर्वपुण्य के प्रभाव से सुखोपभोग की सामग्रियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तो भी पुण्यात्मा दुःख भोगते हुए भी उसे धैर्य से सहते हैं। उन्हें उतना क्लेश नहीं होता, वे समझते हैं, हमारे प्रारब्ध के भोग क्षय हो रहे हैं अच्छा ही है। इसके विपरीत पापात्मा विषयों का [illegible] करते हुए अशान्त दुखी बने रहते हैं कि हाय! ये [illegible]

भोग नष्ट हो जायँ, ये चले न जायँ।" महाराज! सत्त्व-रज और तम के अधीन होकर मनुष्य जैसे कर्म करता है, उनकी छाप अन्तःकरण में लग जाती है, उसी से नाना योनियों में इस पृथ्वी पर जन्म लेता है। मरकर कर्मों के अनुसार स्वर्ग नरक में सुखोपभोग यातनाओं का अनुभव करता है।"

राजा परीक्षित ने पूछा—"भगवन्! स्वर्ग की बातें तो मैंने बहुत सुनीं, किन्तु मैं यह पूछना चाहता हूँ, नरक क्या हैं, ये कोई लोक विशेष हैं, या जो हम सूकर, कूकर योनियों में प्राणियों को नाना क्लेश सहते देखते हैं ये ही नारकीय भोग है?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"महाराज! जैसा पृथ्वी पर भौम स्वर्ग है, वैसे ही यहाँ भी भौम नरक है, किन्तु नरक नाक के पाताल के नीचे एक अन्धकारमय देश है। पापियों को वहाँ यमराज की आज्ञा से ले जाया जाता है और उनके पापों के अनुसार दण्ड दिया जाता है।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन् पाप तो इस शरीर से होता है, शरीर मृत्यु के अनन्तर यहाँ रह जाता है। जिसके साथ पाप कर्म करते हैं, वे सब यहाँ रह जाते हैं, फिर नरक में दुःख किसे दिया जाता है? आप कहेंगे, कि दूसरे शरीर से यातनायें दी जाती हैं, तो अन्याय है। करे कोई देह, फल भोगे दूसरी देह। यह तो उचित नहीं। जैसे किसी ने परस्त्री गमन किया, उससे परिणाम स्वरूप पाप की सन्तानें हुई मरने पर उस पुरुष का शरीर भी यहीं रह गया। उस स्त्री का शरीर भी यहीं रह गया, उस पाप के परिणाम स्वरूप जो पापजनित सन्तानें हुई वे भी यहीं रह गईं। अब नरक में कौन दुःख भोगता है?"

इस पर श्रीशुक बोले—"महाराज! आपको स्मरण होगा, इस प्रश्न का उत्तर हम नारद और प्राचीनबर्हि के सम्वाद में

पहिले ही दे चुके हैं। फिर भी सुन लो। पाप पुण्य ये दोनों मन की वृत्ति हैं। जब तक मन की इन कर्मों में प्रवृति न होगी तब तक शरीर न पाप कर सकता है न पुण्य। एक आदमी के पैर में खड़ाऊँ हैं। वह उन्हें पहिनकर पूजा-मन्दिर चला गया। तो बुद्धिमान् लोग उस जाने वाले को ही बुरा भला कहेंगे। डंडा लेकर खड़ाऊँओं को तो कोई भी नहीं मारता, कि तुम भीतर चले आये। खड़ाऊँ बेचारे स्वतः जाने में समर्थ थोड़े ही हैं। पहिनने वाला जहाँ ले जाय, वहीं वे बिना विरोध किये चले जायँगे उनके फल का भोक्ता वही होगा, जो उन्हें पहिने है। इसी प्रकार शरीर तो साधनमात्र है, भोक्ता तो मन है माया मोहित जीव मन के व्यापारों को अपने में आरोपित कर लेता है, वह अपने को कर्ता मान लेता है। इसीलिये शुद्ध बुद्ध मुक्त होने पर भी भावानुसार मन के कारण उसे सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। ब्रह्महत्या, परस्त्री गमन में मन की प्रवृत्ति ही न हो तो शरीर संसर्ग ही न हो। संसर्ग होने पर भी मन के भाव दूषित न हों तो पाप ही न हो। जिस गुण के अधीन होकर मन जैसे कर्म करता है, वैसे ही संस्कार उसके हो जाते हैं और फिर वैसे ही क्लेशों को वह सहता है। दृष्टान्त लीजिये। स्वप्न में कोई हमारा सिर काटता है, कितना कष्ट होता है, वहाँ न तलवार है न काटने वाला है न सिर है, फिर भी जब तक निद्रा नहीं खुलती क्लेश का अनुभव मन करता ही है। इसी प्रकार कर्ता का सूक्ष्म शरीर जब यातनामय देह को प्राप्त करके दुःखों को सहता है, तो पूर्ववासनाओं की स्मृति से प्रकार दुःखों का अनुभव होता है, जैसे हम स्थूल होते थे।

राजा ने पूछा—"भगवन्! इतनी वेदनायें सहन वह मरता क्यों नहीं ?"

शीघ्रता से श्रीशुक बोले—"अजी, राजन्! मरे क्या? मरता तो यह स्थूल शरीर है। सूक्ष्म का क्या मरना। आप रोज ही देखते हो स्वप्न में सिर कट जाता है तो भी स्वप्न द्रष्टा अनुभव करता है देखता है मेरा सिर धड़ से पृथक् हो गया। सिर धड़ से पृथक् होना ही जीव की मृत्यु है, तो उसे अनुभव कौन करता है? मेरा सिर कटा। इसी प्रकार यातना शरीर को चाहे कितने क्लेश दिये जाँय चाहे उनकी बोटी-बोटी काट दी जाय, वह मरेगा नहीं, उन दुःखों का अनुभवमात्र ही करेगा। ये तो सब संस्कारमय देह संस्कारमय यातनाएँ होती हैं। सो राजन्! निषिद्ध कर्मों के कर्ताओं को उनकी श्रद्धा की असमानता के कारण उन्हीं के समान फल मिलने स्वाभाविक ही हैं। जो जैसा करेगा, परलोक में वैसा ही सुख-दुःख उसे उठाना पड़ेगा।"

राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा—"भगवन्! इससे तो मेरे रोंगटे खड़े हो गये। कृपया बताइये किन-किन पापों से किन-किन नरकों में जाते हैं उन्हें किन कर्मों के करने से कौन-कौन सी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं?"

राजा का प्रश्न सुनकर शुकदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है राजन्! सुनिये, मैं संक्षेप में आपको सब बताता हूँ।"

छप्पय

इन्द्रिय मन आधीन करे जो जिह करवावे।
मन लैजावे स्वरग नरक में जिही पठावे॥
मन तें भोगे भोग जिही देखे सपने कूँ।
माया-मोहित जीव कहे कर्ता अपने कूँ॥
यह मन चञ्चल चपल अति, नहि काऊ को मीत है।
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत है॥

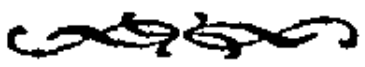

किन-किन पापों से कौन-कौन नरक प्राप्त होते हैं ?

[३४६]

तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना ।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघव यथा
भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

रौरव, कुम्भीपाक, महारौरव, सूकरमुख ।
कृमिभोजन, सन्दश, शाल्मली, नरक देहिँ दुख ॥
तप्तभूमि, पूयोद, प्रानरोधन, वटरोधन ।
पर्यावर्तन, शूलप्रोत, वैतरणी, विशसन ॥
कोई कहें अनेक हैं, अष्टाविंशति कछु कहें ।
इन नरकनि महँ जाइकें, पापीजन बहु दुख सहें ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इसलिये मनुष्य को चाहिये कि मृत्यु होने से पूर्व ही जब तक यह स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर क्षीण न हो तभी तक अपने किये पापों से छूटने का उपाय कर ले । जैसे रोगों का निदान जानने वाला वैद्य दोषों की न्यूनाधिकता देखकर उनकी यथोचित चिकित्सा करता है ।"

पाप करने से नरकों की प्राप्ति अवश्य होगी, पुण्य और पापों का फल इसी लोक में भोगना होगा मरकर परलोक में भी, अतः पहिले तो पाप बनने ही न चाहिये, भूल से, असावधानी से पाप बन भी जाय तो उनका शरीर रहते ही प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। इसीलिये पापों का स्वरूप जान लेना आवश्यक है कि कौन पाप कैसा है और उसके करने से किस नरक में जाने पर कौन-कौन सी यातनायें सहनी पड़ती हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! नरक दक्षिण दिशा में हैं, सातों पातालों के नीचे जहाँ फिर जल ही जल है, उसके ऊपर और पृथ्वी के नीचे हैं। स्वर्ग की भाँति ये भी एक सूक्ष्म भावमय देश विशेष हैं। वे स्थूल दृष्टि वाले प्राणियों को इन चर्म चक्षुओं से नहीं दीखते। जैसे स्वप्न के पदार्थ भावमय सूक्ष्म होते हैं और जीव मन के द्वारा उनसे सुख-दुःख का अनुभव करता है, वैसे ही नरक के सब दुःखदायी पदार्थ हैं। नारकीय जीव ही यातना शरीर से उनका अनुभव करते हैं। वहाँ सूर्यपुत्र पितृराज यम एक रूप से अपने भृत्यों के साथ सुख सहित निवास करते हैं और पापियों के दुःख देने की सब व्यवस्था करते हैं। उसी दिशा में अग्निष्वात्ता आदि नित्यपितृ सभी योनियाँ पितरों को उनके वंश वालों के दिये हुए श्राद्धान्न को उनके अनुरूप बनाकर पहुँचा देते हैं। पापों की कोई संख्या नहीं, वे असंख्य हैं। जितने प्रकार के जीव हैं, उतने ही पाप हैं उतने ही नरक भी हैं फिर भी सामान्यतया मुख्य इक्कीस नरक हैं। कोई सात और बढ़ाकर अट्ठाईस बताते हैं। अब उनके नाम सुनिये। पहिला तामिस्र नरक है। जो सदा तम से व्याप्त रहता है। वहाँ खाने को टंडे मिलते हैं। दिन भर चूतड़ों पर तड़ातड़ डंडे पड़ते रहते हैं। भूख प्यास निरन्तर दुःख देती रहती है। खाने को कुछ मिलता नहीं।

सूक्ष्म देह होने से मृत्यु भी नहीं होती। मार खाओ और भूख प्यास से कुलबुलाओ, यही वहाँ का व्यापार है।

दूसरा अधतामिस्र नरक है। तामिस्र नरक मे तो यातना सहते सहते रोते रहते हैं, किन्तु अधतामिस्र मे तो इतना कष्ट यम के दूत देते हैं, कि बेसुध हो जाते हैं। चेतनाशून्य हो जाता है। जहाँ चेतना हुई फिर मार पडी, फिर बेसुध हो गये।

तीसरा रौरव नरक कहाता है। रुरु नाम का एक सर्प से भी क्रूर जानवर होता है वह वहाँ काटता है। इसी से वह रौरव कहलाता है। अच्छा राजन्! मैं पहिले आपको सबके नाम गिना दूँ तब दुःख आदि का वर्णन करूँगा। तामिस्र, अधतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजनसदृश, तप्तभूमि, वज्रकटक, शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि और अयपान ये तो इक्कीस हुए, इनके अतिरिक्त क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, वटरोधन पर्यावर्तन और सूचीमुख सात हैं। इस प्रकार मुख्य अट्ठाईस नरक हैं। वैसे तो असख्यो हैं। जो जैसा पाप करता है, उस वैसे ही नरकों मे जाना पडता है।

महाराज! सबसे बडा पाप है, हिंसा। प्राणीमात्र जीवित रहना चाहता है, स्वेच्छा से बिना मौत किसी की मरने की इच्छा नहीं होती। जो जीवन की इच्छा वाले जीवों को अपने पेट को पालने के लिये या द्वेष अहकारवश मार डालता है, उसे नाना नरकों मे भिन्न भिन्न यातनायें सहना पडती हैं। जीव-हिंसा से बढकर कोई पाप नही। जैसे अपने को कष्ट होता है, वैसे ही सभी को कष्ट होता है, अतः शक्ति भर किसी जीव की हिंसा न करनी चाहिये।"

इस पर राजा ने पूछा—"महाराज! जीव हिंसा जब इतना

बड़ा पाप है, तो मनुष्य का जीवन कैसे चले ? जीवों से ही जीवों की जीविका चलती है। तीतर कितने कीड़ों को रोज खा जाता है। मेढ़क पतंगों को ही खाकर जीता है। छिपकली रात्रि-दिन जीवों की ही घात में रहती है। जल में रहने वाले बड़े जीव छोटे जीवों को ही खाकर जीते हैं। सिंह, व्याघ्र मांस को छोड़कर कुछ खाते नहीं। ये सब हिंसा से कैसे बच सकते हैं ?"

श्रीशुक ने कहा—"महाराज ! पशुओं में और मनुष्यों में यही तो अन्तर है, वे अपने सहज स्वभाव को स्वयं बदल नहीं सकते। मनुष्य चाहे तो बदल सकता है। इसी से मनुष्य को 'साधक' कहा है।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"साधक कहा है तो क्या प्राण दे दे। यदि हिंसा न करे तो एक दिन भी नहीं जी सकता। अन्न के प्रत्येक दाने में जीव है। शाक-भाजी, फल सभी में जीव है, सभी बढ़ना चाहते हैं, सभी जीवित रहना चाहते हैं। एक ककड़ी बढ़ रही है हम उसे तोड़कर खा जाते हैं, यह हिंसा नहीं हुई ? जब यह हिंसा है, तो कोई कबूतर, बकरा, मुर्गा को खा लेते हैं। एक ही बात है, फिर आप जीव-हिंसा की इतनी निंदा क्यों करते हैं ? दो पैर वालों के चार पैर वाले सब भक्ष्य ही हैं। पादचारियों के अपद भक्ष्य हैं। बड़ों के छोटे भक्ष्य हैं। एक जीव दूसरे जीवों को खाकर जी रहे हैं। ऐसी दशा में हिंसा से कौन बच सकता है ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन् आपका कथन सत्य है, संसार में सभी में जीव है, जिसमें जीव नहीं उसका अस्तित्व नहीं। फिर भी जीवों में तारतम्य है, जिसमें चैतन्य का जितना ही अधिक प्रकाश प्रतीत होता है वह जीव उतना ही अधिक श्रेष्ठ है। जैसे महाराज, कंकड़ पत्थरों में भी जीव है कुआ खोदने पर मिट्टी में दबे कंकड़ निकलते हैं आप ध्यान से अध्य-

चयन करें तो प्रतीत होगा, वे बढ रहे हैं। वृद्धि, क्षय, जीवन में ही होती है। किन्तु इन कङ्कड पत्थरों मे चेतन्य तत्त्व अत्यन्त कम है। अतः घर, सडक बिना बनाये ही काम चल जाय तो व्यर्थ मे कङ्कड पत्थरों को न तोडे फोडे। तोडने-फोडने आवश्यक ही हों तो जितने से काम चल जाय, उतने ही तोडे फोड़े कङ्कड पत्थरों की अपेक्षा घास मे चेतन्य का प्रकाश अधिक प्रतीत होता है। घास घटती बढती है, पानी पाकर हरी होती है। धूप से मुरझा जाती है, अतः कङ्कड पत्थर की अपेक्षा घास काटने में अधिक हिंसा है। घास से अधिक चेतन्य वृक्ष और लताओं में प्रतीत होता है। वृक्ष तथा लतायें फूल, फल देते हैं। ये आँखों से देखकर चढते हैं। सुख-दुःख का अनुभव करते हैं शीतोष्ण का स्पर्श समझते हैं, अतः घास की अपेक्षा इन्हे काटने में अधिक हिंसा है। लता वृक्षो से अधिक चैतन्य मछली-अडो मे कीड़े-मकोडे और पक्षियों मे है, अतः इनमें तो जीवन प्रत्यक्ष दीखता है, किसी मुरगे का सिर काटिये कितना तडफडावेगा, किसी बकरे को काटिये, मरते समय कैसा छटपटाता है, अतः राजन्! इन मूक पशुओं को अवेध हत्या करना केवल स्वार्थ के लिये, पेट भरने के लिये इनके प्राणों का घात करना घोर पाप है। इनसे अधिक चैतन्य बुद्धिजीवी पशुओं मे जैसे हाथी, घोडा, बन्दर, गौ, भैंस आदि में है। इनसे अधिक मनुष्यों मे, मनुष्यो से अधिक ब्राह्मणो मे और ब्राह्मणों मे भी वे सर्वश्रेष्ठ हैं जो ज्ञानी हों विद्वान् हों शास्त्रो मे पारगत हों। अतः सबसे बडा महापाप ब्रह्महत्या है ब्रह्महत्या से बढकर कोई पाप नहीं।"

राजा ने पूछा—"महाराज, अनजान मे भी नित्य कीडे-मकोडे, चींटी, मक्खी, मच्छर मर जाते हैं, इनके मरने का तो पाप न लगता होगा?"

श्रीशुक बोले—"लगता क्यों नहीं राजन्! पाप तो चाहे जान

के किया जाय, या अनजान में, फल तो सभी का भोगना पड़ेगा। किन्तु अनजान में भूल में अनिच्छा से जो पाप हो जाता है उसका कम अपराध होता है ऐसे पाप शुष्क पाप कहलाते हैं। इनका प्रायश्चित् यही है कि गृहस्थी को नित्य अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ऋषियज्ञ तथा बलिवैश्वदेवयज्ञ करना चाहिये। इनके करने से इन अज्ञात पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है। जो पञ्च यज्ञ बिना किये ही भोजन कर लेते हैं। अतिथि के आने पर भी उसे नहीं पूछता, वह अन्न नहीं खाता, कीड़े खाता है। महाराज! प्रत्यक्ष देखा गया है। एक गृहस्थी के यहाँ एक साधु ठहरे हुए थे। गृहस्थी कहीं बाहर गया था। इतने में ही एक दूसरे बड़े सिद्ध सन्त आ गये। पहिले ठहरे सन्त बहुत सुन्दर खीर बना रहे थे। इन नये सन्त को देखते ही वे जल भुन गये। सोचा "इसे भी भाग देना पड़ेगा। खीर आज इतनी सुन्दर बनी है कि किसी को तनिक भी न दी जाय।" अतः उन्होंने किवाड़ा बन्द कर लिया। गृहस्थ की धर्म-पत्नी ने आकर प्रार्थना करी—"महाराज, एक और नये सन्त आये हैं। उनके लिये भी प्रसाद बन जाय।" यह सुनकर, वे सन्त आग बबूला हो गये। उस स्त्री को झिड़क कर बोले—"यहाँ कुछ रसोई नहीं बन सकती।" विचारी स्त्री चली गई। आने वाले सन्त को बड़ी शीघ्रता थी, अतः उन्हें दूध पिलाकर बिदा कर दिया।

नये सन्त के चले जाने पर उन खीर-प्रेमी सन्त ने थाल में ज्यों ही खीर उड़ेली तो वे क्या देखते हैं, चावल एक भी नहीं, सब सफेद कीड़े कुलबुला रहे हैं थाली में इधर-उधर रेंग रहे हैं। अब सन्त को बोध हुआ। वे दौड़े-दौड़े उन सिद्ध सन्त के समीप गये, उनसे अपने अपराध की क्षमा माँगी।"

सिद्ध सन्त ने कहा—"भाई तुमने मेरा तो कुछ अपराध किया नहीं। भगवान् का अपराध किया है, उन्हें बिना निवेदित

किये बिना बाँटे खाया है, अतः अमुक स्थान में इतने दिन साधुओं का उच्छिष्ट पात्रों, उनके जूठे बर्तन मलो, तब इस दोष

से छूटोगे। सो राजन्! कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि जो पञ्चमहायज्ञ बिना किये भोजन करता है वह कीड़े के समान भोजन करता है।

यहाँ चाहे उसे कीड़े न भी दीखें, किन्तु इस पाप से जब वह "कृमि-भोजन" नामक नरक में जाता है, तो पहिले तो उसे कीड़े भरे कुण्ड में डाल देते हैं, वहाँ उसे चारों ओर से कीड़े काटते रहते हैं, कीड़ों को ही रात्रि दिन वह खाता है। वह नरक एक लाख योजन लम्बा चौड़ा है। चारों ओर कीड़े ही कीड़े इस कुण्ड से उस कुण्ड में, उस कुण्ड से इसमें ऐसे ही उसे कीड़े खाते रहते हैं वह स्वयं कीड़ों को खाता है। जो पुरुष इनसे बचना चाहे उसका कर्तव्य है कि बालक, वृद्ध, अतिथि, गौ आदि को बिना दिये कभी न खाय। बिना भूतों का भाग निकाले एकाकी कभी न खाय।"

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा--"प्रभो! बहुत से ऐसे देश हैं, जहाँ मांस भक्षण न करे तो आजीविका ही न चले। कभी-कभी विपत्ति में पड़ने पर मांस खाकर ही जीवन निर्वाह किया जाता है। ऐसी दशा में क्या करें?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"महाराज! विपत्ति की बात तो दूसरी रही। यदि प्राण धारण करने की अत्यन्त ही इच्छा हो और मांस भक्षण किये बिना प्राण धारण न हो तो कोई उपाय नहीं। जिन देशों में मांस भक्षण के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही न हो—समुद्र के तट के बहुत देश टापू ऐसे हैं, उनकी भी बात पृथक् है। वहाँ उतना दोष नहीं लगता। किन्तु जहाँ अन्न, दूध, फल खाकर निर्वाह हो सकता है, वहाँ व्यर्थ में मांस खाने के लिये जीव हिंसा करना अक्षम्य पाप है। बहुत से दुष्ट कबूतर, बटेर, चिड़िया चिरौटा, आदि जीवों को पकड़ लाते हैं और जीते ही उन्हें अग्नि में भून लेते हैं। वे मरकर 'कुम्भीपाक' नामक नरक में जाते हैं। वहाँ बड़े-बड़े तेल के गरम कुण्ड होते हैं, उनमें डाल कर यमदूत उन्हें भूनते हैं। जो वेदद्रोही मातृ-पितृ तथा ब्राह्मण द्रोही पुरुष अनेक पाप करते हैं तथा पशुओं को काटकर

राँधते हैं, वे जितने सहस्र वर्षों तक कालसूत्र नामक नरक मे पचते रहते हैं, जितने कि उस पशु के शरीर में रोयें होते हैं। उस नरक में दश हजार योजन की ताँबे की भूमि होती है। वह अग्नि से तप कर लाल बनी रहती है। उस पापी पुरुष को उस अग्नि के समान लाल हुई भूमि पर दौडाते हैं। वह कभी बैठता है, कभी लेटता है, कभी खडा हो जाता है। इस प्रकार चिरकाल तक क्लेश सहता रहता है।

जो पाखण्डी पुरुष केवल पाखण्ड के लिये, जिह्वास्वाद के लिये यज्ञो का बहाना करके देवी-देवता के नाम से पशुओं की बलि देते हैं और उनके मास को स्वाद से खाकर अपने मास को मोटा करते हैं, वे मरकर विशसन नामक नरक में जाते हैं। वहाँ उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग बार बार काटे जाते हैं, फिर जुड जाते हैं, इस प्रकार उन्हे निरन्तर पीडा दी जाती है।

जो दुष्ट पुरुष तामस भैरव, यक्ष राक्षसो के निमित्त नरमेध आदि पाखण्ड यज्ञ करके पशु की या नर पशु की बलि देते हैं, और उनके मास को खाते हैं, वे पुरुष हों या स्त्रियाँ, मरकर घोर नरकों में जाकर वे भी उसी प्रकार काटे जाते हैं। जिन्हें काटा है, वे उन्हें ही काट काटकर उनका रक्त पान करते हैं, मास खाते हैं। व्याधो के समान काटते समय वे बडे हर्षित होते हैं।

जो राजकर्मचारी निरपराध को लोभ वश दण्ड देते हैं, ब्राह्मणों को अपराध पर भी शारीरिक दण्ड, फाँसी आदि देते हैं, वे मर कर सूकर मुख नामक नरक में जाते हैं, वहाँ यम के दूत उन्हें कोल्हू मे डालकर पेरते हैं। जैसे गन्ने पेरे जाते हैं, वैसे ही उनके अङ्ग जब पिचकर कुचलते हैं, तो वे हा हा करके चिल्लाते हैं।

जो पुरुष पहिले तो पशुओं को विश्वास दिलाकर पाल लेते

हैं, फिर उन्हें काटकर खा जाते हैं, काँटे में या सलाक में छेदकर भूनते हैं, तो मरकर उनको भी उसी प्रकार भूना जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"महाराज! अधिक क्या कहें, शक्ति भर किसी भी जीव की हिंसा न करनी चाहिये। यहाँ तक कि खटमल, जुएँ, सर्प, बिच्छू इनको भी न मारना चाहिये।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"भगवन्! यह तो आप अब सीमा का उल्लघन कर रहे हैं। दुष्टों को दण्ड देना धर्म है, पुण्य है। जो प्रत्यक्ष हमारे शरीर का रक्तपान कर रहा है, हमें क्लेश पहुँचा रहा है, उसे न मारना कहाँ का पुण्य है? तब तो हम लोग युद्ध मे शत्रुओं को मारते हैं, उन्हे मारना भी पाप है?"

इस पर गम्भीर होकर श्रीशुक बोले—"नही, राजन्! युद्ध में सम्मुख शस्त्र लेकर लडने वाले शत्रु को मार देना पाप नहीं। वह तो क्षत्रियों का धर्म है पुण्य कार्य है। आततायी को मारना भी धर्म है। गाँव में, घरा में आग लगा देने वाले, विष देने वाले, अन्याय पूर्वक हाथ मे शस्त्र लेकर बध के लिये उद्यत हुए पुरुष, धन अपहरण करने वाले, किसी के खेत को या स्त्री को बलपूर्वक छीन लेने वाले ये छः आततायी कहाते हैं। इन्हें मार डालने मे कोई पाप नहीं, पुण्य ही है। किन्तु राजन्! खटमल जुओं ने क्या बिगाडा है? वे तो जीना चाहते हैं, रक्त पान करना उनकी वृत्ति है, स्वभाव है। उन्हे अधिक से अधिक इतना ही करे, किन्हीं उपायों से अपने शरीर से पृथक् कर दे।

राजा ने कहा—"भगवन्! तब तो मनुष्य कहाँ तक हिंसा से बचे। घाव में कीडे पड जाते हैं, उन्हें औषधियों से न मारे तो सम्पूर्ण शरीर सड जाय। पेट मे बहुत से छोटे-छोटे असख्यों कृमि पड जाते हैं, जो मल के साथ निकलते हैं, उन्हे औषधि से न मारे तो जीवन ही न रहे। हिंसा के बिना तो रह ही नहीं सकते।"

इस पर श्रीशुक बोले—"महाराज, यह बात नहीं, जो विवशता है, उसके लिये क्या किया जाय। शक्ति भर व्यर्थ हिंसा न करनी चाहिये, जितना बच सके हिंसा से बचो। देखिये, बहुत से साधु सत शरीर से मच्छरों को नहीं हटाते, जुओं को बाहर नहीं

फेंकते। घाव के कीड़े गिर जाते हैं तो उन्हें उठाकर फिर घाव में रख लेते हैं। बहुत कच्चे फलों में अधिक हिंसा होने के भय से पेड़ से गिरे फलों को ही खाकर रहते हैं। बहुत से हरे पत्तों में अधिक हिंसा समझकर सूखे पत्ते खाकर ही जीवन धारण करते हैं। इतना ही है शक्ति भर हिंसा से बचे। जो जिसको कष्ट देगा, नरक में उसे उसका फल भोगना पड़ेगा। इस प्रकार हिंसकों के और भी अनेकों नरक हैं, उनका वर्णन मैं कहाँ तक करूँ। अब आप दूसरे नरकों का वर्णन सुनिये।"

छप्पय

मारे जीवनि सदा मांस ते तनकूँ पोसे।
क्रोध मोह वश भये रक्त प्राणिनि की सोषे॥
चाहें जीवो जीव तिनहि हट करि जो मारे।
ते पापी तनु त्यागि तुरत ई नरक सिधारे॥
औरनि की दुरगति करी, कोटि गुनी तिनकी भई।
कुटे पिटे भूखों मरे, सहें यातना नित नई॥

नारकीय गतियों का वर्णन

[३४७]

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ।।*

(श्रीभा० ११ स्क० ५ अ० ११ श्लोक)

छप्पय

हिंसा, परतिय गमन, मास मदिरा को सेवन।
महापाप ये कहे फँस्यो इनमें जिनको मन ।।
ते नर पापी महा दुःख जग माहिँ उठावें।
छटपटाइ कें मरें फेरि नरकनि महँ जावें ।।
नाना दुख सहि अन्त महँ, सूकर कूकर योनि धरि।
चौरासी के चक्र महँ, भ्रमैं विविध विधि कर्म करि ।।

कर्म कोई न बुरे हैं न अच्छे, उनमे आसक्ति ही सुख-दुःख

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! लोक मे स्त्री-प्रसग, मासभक्षण तथा सुरापान मे लोगो की स्वाभाविक प्रवृत्ति है । शास्त्रो मे इनके लिये कोई आज्ञा नही है । ये जो विवाह करके निज स्त्री मे, बलि-प्रधान यज्ञो मे, सौत्रामणि आदि मखो मे जो मैथुन, मास और सुरा का विधान है, उनका तात्पर्य भी ग्रहण मे न होकर इनसे निवृत्त कराना ही शास्त्रकारो का वास्तविक अभिप्राय है ।"

में कारण है। जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति संसारी विषयों में ही होती है। उस प्रवृत्ति को संयम में रखना यही धर्म है। उसे असंयत छोड़ देना मनमानी करना यही अधर्म है। जो जिसका उत्पत्ति-स्थान है, उसमें उसकी स्वाभाविक आसक्ति होती है। जैसे हमारा जन्म माथुर मण्डल में है, तो उस भूमि में हमारा सहज स्नेह होगा। इसीलिये स्त्री पुरुषों की व्यवसाय में, मैथुन में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इसे सिखाने पढ़ाने की आवश्यकता नहीं। यह शरीर मांस के सारभूत रज-वीर्य से बना है, अतः लोगों की अन्नसार स्वादु पदार्थों में स्वतः प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार मनुष्य कुछ देर को संसार को भूलकर कुछ आत्म-विस्मृति चाहता है। योग करके समाधि लगाना जग को भुला देना तो कठिन है, इसीलिये मनुष्य किसी-न-किसी मादक द्रव्य का किसी-न-किसी रूप में सेवन करना चाहते हैं। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों को आप्त वचनों, शास्त्र वाक्यों द्वारा संयम में लाना, इसी का नाम धर्म है। इन पर कोई रोक थाम न लगाकर इन्द्रियों को स्वच्छन्द विषयों में छोड़ देना, मनमाने ढङ्ग से विषयों में प्रवृत्त हो जाना, यही अधर्म है। पहिले जब सत्ययुग में सबकी स्वाभाविक रुचि धर्म में थी, तब न कोई नियम था न विवाह-बन्धन। न नरक थे न रोग, न यम थे न मृत्यु। जब पाप ही नहीं, तो मृत्यु भी नहीं। मृत्यु नहीं तो नरक भी नहीं, दुःख भी नहीं। यमराज की क्या आवश्यकता। लोग स्वर्ग में चले जाते, फिर लौट आते। देवताओं मनुष्यों में कोई भेद ही नहीं था।

भाईचारे का व्यवहार था, तुम हमारे यहाँ आओ हम तुम्हारे यहाँ जायँ। शनैः-शनैः मनुष्यों में पाप की वृद्धि हुई, तो उन्हें दण्ड देने के लिये ब्रह्मा ने यम नामक एक नए लोकपाल बनाये। यमराज ने कहा—"महाराज! मैं कहाँ-कहाँ पापियों के पीछे

घूमता फिरूँगा। मेरे समीप पापियों को लाने को कोई दूत दीजिये।" तब एक ब्राह्मण तपस्या कर रहा था। ब्रह्माजी ने उसे उलटी सीधी पट्टी पढ़ा लिखा कर, वरदान आदि का लोभ देकर धर्मराज (यमराज) का मन्त्री बना दिया। उसका नाम मृत्यु था। मृत्यु ने कहा—'यह तो बड़े अपयश की बात है, आप प्राणियों को मारने का काम मुझे क्या देते हैं? सब मुझे बुरा भला कहेंगे, गालियाँ देंगे। तब ब्रह्माजी ने रोगों की उत्पत्ति की और कहा—'अच्छी बात है, इन रोगों के द्वारा ही तुम प्राणियों को पकड़कर लाना। इन्हें निमित्त कारण बना लोगे तो फिर तुम्हें कोई न कोसेंगे।" जब पापियों और पुण्यात्माओं को मृत्यु यमराज के समीप ले जाने लगे, तो पुण्यात्माओं को तो सीधे स्वर्ग में भेज देते, पापात्माओं के लिये नरकों की रचना हुई। जितने पाप उतने नरक। यह संक्षिप्त में नरकों की रचना की कहानी है। इस आध्यात्मिक आख्यायिका का गूढ़ रहस्य ज्ञानी ही समझ सकते हैं।"

धर्म अधर्म में शास्त्र ही प्रमाण है। कौन कार्य कर्तव्य है कौन अकर्तव्य है, तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता। यदि परपीडन-दूसरों को क्लेश देना ही पाप हो तो परस्त्री गमन में तो वह नहीं, किन्तु यह महापाप है। जो धर्म की मर्यादा को भेदन करते हैं वही पापी हैं।

स्वाभाविक वृत्ति को संयम में रखने का ही नाम धर्म है। वृत्तियों के पीछे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न रखकर मनमानी करना इन्द्रियों के अधीन होकर स्वेच्छाचार करना अधर्म है। स्त्री पुरुषों का अपने उत्पत्ति स्थानों में—मैथुन में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। धर्म उसे कहता है यदि तुम इस को रोक सको, इससे निवृत्त हो सको तो सर्वश्रेष्ठ, यदि न हो सको तो शास्त्रीय विधि से धर्मपूर्वक विवाह कर

काल में अपनी भार्या में ही सन्तान की इच्छा से गमन करो। यह धर्म है। इसके अतिरिक्त परस्त्रीगमन अधर्म है। इसी प्रकार सबकी धर्म मर्यादा बाँधता है जो इस धर्म की मर्यादा को नहीं मानते उन्हें असिपत्रवन नामक नरक में जाकर नाना प्रकार के क्लेश सहन करने पड़ते हैं।"

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज! जो द्विजाति के लोग मोहवश सुरापान करते हैं, उनके मुख में, नरक में गरम करके लोहा चुआया जाता है। राजन्! संसार में तीन ही सबसे बड़े पाप हैं, झूठ बोलना, अहंकार के वशीभूत होकर दूसरों को कष्ट पहुँचाना हिंसा करना और परस्त्री गमन। महाराज, वैसे तो अपनी धर्म पत्नी के अतिरिक्त किसी की ओर भी कुदृष्टि से देखना महापाप है किन्तु गुरुस्त्री गमन तो ऐसा पाप है कि जिसका इस लोक में प्रायश्चित्त ही नहीं। महाराज! कन्या के साथ, विधवा के साथ परस्त्री के साथ गमन करने वाला पुरुष चाण्डाल के समान है। उसका मुख देखने से भी पाप लगता है। जो पुरुष अगम्या स्त्री के समीप गमन करता है अथवा जो स्त्री अगम्य पुरुष से व्यभिचार करती है, ऐसे स्त्री पुरुषों को यम के दूत नरक में ले जाकर अनेक प्रकार के कष्ट देते हैं। वहाँ बहुत सी लोहे की स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ बनी रहती हैं, वे अग्नि से तपा कर लाल की हुई होती हैं। व्यभिचारी पुरुष को नग्न करके तपाई हुई लोहे की स्त्री से और व्यभिचारिणी स्त्री को तप्त लोह, पुरुष से बार-बार आलिङ्गन कराया जाता है।

जो स्त्री-पुरुष बिना विचारे जहाँ-तहाँ सभी के साथ स्वच्छन्द होकर अपनी कामवासना की पूर्ति करते हैं, वे वज्रकंटक शाल्मली आदि नरकों में ले जाकर बड़े-बड़े काँटों में नग्न करके घसीटे जाते हैं। उनके मर्म स्थानों में गरम सुइयाँ, काँटे भोंके जाते हैं। महाराज! जो उच्चवर्ण के सदाचारी नीच व्यभिचारिणी पतिता कुलटा

स्त्रियों के साथ पाप पूर्ण व्यभिचार करते हैं, पशुओं की तरह बिना विचार के दुराचरण करते हैं, उन्हें मरने पर यम के दूत

पीब के कुण्डों में, विष्ठा के तालाबों में, मूत्र और कफ भरे कुण्डों में डाल देते हैं। जहाँ वे मूत्र विष्ठा पीब को पीते-पीते बिलबिलाते तड़फड़ाते रहते हैं। राजन्! अपने गोत्र की कन्या अपना

बहिन के समान होती है, ऐसी कन्याओं या स्त्रियों से जो समागम करते हैं, उन पापियों को यमदूत लालाभक्ष नामक नरक में ले जाकर वीर्य से भरे कुण्डों में डाल देते हैं और उनके मुँह में वीर्य भर देते हैं। उसे ही खाने पीने को देते हैं। राजन्! अधिक कहाँ तक वर्णन करें, जो लोग इन नरकों से बचना चाहें, उन्हें भूलकर भी परस्त्री की ओर कुदृष्टि से न देखना चाहिये और जो स्त्रियाँ अपना कल्याण चाहें इन नरकों की यातनाओं से पृथक् रहने की इच्छा करें, तो उन्हें अपने पति को छोड़कर सभी बड़े पुरुषों को सगे पिता के समान बराबर वालों को सगे भाई के समान और छोटे बच्चों को अपने और पुत्रों के समान समझना चाहिये।

इसी प्रकार राजन्! दूसरे की वस्तु को बिना पूछे उठा लेना, चोरी करना—यह भी सबसे बड़ा पाप है। जो पुरुष दूसरों का धन, स्त्री अथवा अन्य प्रिय वस्तुओं को उनसे छीन लेता है चुरा लेता है, उसे तामिस्र नरक में जाकर असह्य यातनायें सहनी पड़ती हैं। वहाँ उसके चूतड़ों पर निरन्तर सड़ासड़ कोड़े पड़ते रहते हैं। जो चोरी करता है, दूसरों का धन लूटता या घरों में आग लगाता है, लोगों को विष दे देता है या डाँके डालता है, वह वज्रदन्ष्ट्र नामक नरक में जाकर पैनी-पैनी दाँढ़ वाले कुत्तों से निरन्तर कटवाया जाता है। वह चिल्लाता है, रोता है, किन्तु निरन्तर उसे ये वेदनायें सहनी पड़ती है।

जो पुरुष किसी स्त्री या पुरुष को धोखा देकर उसका उपभोग करता है, उसे अन्धतामिस्र नरक में डाला जाता है। जो अहङ्कार के वशीभूत होकर मोहवश अपने कुटुम्ब के पालन के निमित्त अनेक प्रकार के पापों को करता है, वह महारौरव नरक में रुरु नामक सर्प से भी क्रूर जन्तुओं द्वारा कटाया जाता है। जो किसी को कुछ न देकर कुछ भी परमार्थ न करके केवल

अपने शरीर को ही मोटा ताजा बनाने म लगा रहता है अपनी देह को ही सब कुछ समझता है, वह महारौरव नरक म पडता

है। वहाँ, रुरु नामक बहुत स साप उसका बाटा बाटा काटकर खात है। फिर शरीर जुड जाता है फिर काटत है। यह व्यापार सहस्रा वर्षा तक चिर होता है। [illegible] धम

की मर्यादा का पालन नहीं करते, पाप करते हैं, अवैध उपायों से प्रजा से द्रव्य लेते हैं, वे मरकर वैतरणी नदी में डूब जाते हैं। उस नदी में मूत्र, विष्ठा, पीव, रक्त, केश, नख, अस्थि, मेद, मांस, वसा, कफ वीर्य आदि घृणित पदार्थ बहते रहते हैं। उन्हें ही वह खाता है। उसमें बड़े-बड़े मकर, घड़ियाल रहते हैं। वह जीते ही उसके मांस को नोचकर खाते रहते हैं। इस प्रकार राजन्! नरक में असंख्यों यातनायें हैं। इनका आगे और वर्णन करूँगा।

छप्पय

परधन, परसंतान परस्त्री जे ले जावें।
ते नर रौरव नरक परें अति दुःख उठावें॥
चोरी जारी करें मूत्र विष्ठा ते खावें।
होहि वेदना अधिक नारकी फिरि पछितावें॥
विविध भाँति की यातना, परवश है पापी सहें।
करे पाप ज्यों दुष्ट अस, पुनि पुनि यम किंकर कहें॥

महापाप और महानारकीय यातनायें

[३४८]

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

विप्र हनन मदपान कनक की चोरी करिबो ।
कामातुर है पूज्य अगना शय्या चढ़िबो ॥
इन पापनि में रहें सङ्ग सोवें और खावें ।
ये पाचहुँ है महापातकी मनुज कहावें ॥
ये सब मरिके नरक मह, महायन्त्रणा नित सहें ।
चिल्लावे रोवे, गिरे, हा मैया बप्पा कहें ॥

आप मानें न मानें पाप का फल भोगना ही पडेगा। इन्द्रियों को तृप्त करने को जितने ही उपाय करेंगे, वासनायें उतनी ही बढ़ेगीं। बढी हुई वासनायें ही यन्त्रणा की सृष्टि करते हैं।

---

* महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजी से पूछते हैं—"भगवन ! मनुष्य प्रत्यक्ष पापो का दण्ड आदि फल देखता है, शास्त्रो मे नरकादि यातनाओ को सुनता है और यह जानता भी है कि इनके द्वारा मेरा अहित होगा किन्तु फिर भी विवश होकर बारम्बार उन्हीं पापो को करता है। तब फिर इन पापो का प्रायश्चित कैसे हो।"

वासनाओं के अधीन होकर जो जितना सुख चाहेगा,उसे उतना ही दुःख मिलेगा। वासना एक ऐसी प्रज्वलित अग्नि है, कि इसमें विषय रूप हवि या घृत जितना ही अधिक डालोगे उतना ही इसका वेग बढ़ेगा।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! जो द्विज होकर कूकर-शूकर गर्दभ मुर्गे आदि विष्ठाभोगी अशुचि जीवों को पालता है, नित्य हिंसा में निरत रहता है, उसे नरक में यमदूत तीक्ष्ण बाणों से सदा वेधते रहते हैं। जो पुरुष राजद्वार में किसी की झूठी साक्षी दे आते हैं, उन्हें अब चिमत् नरक में ले जाकर सैकड़ों योजन ऊँचे पर्वत से नीचे गिराया जाता है। जो बड़े अभिमानी हैं, घमंडी हैं, अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, उन्हें क्षार कर्दम नरक में ले जाकर अत्यन्त खारे पानी की कीच में डाल दिया जाता है, निरन्तर नमक पिलाया जाता है और उसके कटे अङ्ग पर नमक बुरका जाता है, नमक में बार-बार डुबाया और निकाला जाता है। जो पुरुष अत्यन्त क्रोध करके दूसरों को उद्वेग पहुँचाते हैं उन्हें दन्दशूक नामक नरक में डाल देते हैं। वहाँ पाँच-पाँच सात-सात मुखों वाले सर्प उसे निरन्तर काटते रहते हैं। राजन्! जो पुरुष किसी पर विश्वास नहीं करता, अकारण सब पर व्यर्थ में सन्देह ही करता रहता है, ऐसे धन लोभी, अविश्वासी, धन को ही सर्वस्व समझने वाले पापी पुरुष मर कर सूचीमुख नामक नरक में जाते हैं। वहाँ यमराज के दूत उन्हें उसी प्रकार सूचियों से सीते हैं, जैसे सूचक सुई से वस्त्रों को सीता है।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजी से कहा—"सूतजी! इन नरकों की कथा सुनते-सुनते तो हमारे रोंगटे खड़े हो रहे हैं। महाभाग! अब इनका वर्णन समाप्त कीजिये। पाप तो असंख्यों हैं। आप हमें बड़े-बड़े जो महापाप हों, उन्हें सुनाइये। फिर जिनसे बचने की हम सर्वदा चेष्टा करें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! मैंने कह तो दिया पापों की कोई सख्या नहीं। फिर भी पाँच महापाप कहलाते हैं।

१–ब्रह्महत्या, २–द्विज होकर मदिरा पान करना, ३–सुवर्ण रत्नों की चोरी करना, ४–गुरु की स्त्री के साथ गमन करना, ५ व

इन चारों महापापियों का निरन्तर साथ करने वाला ये सभी महापापी कहलाते हैं। साक्षात् ब्राह्मण की हत्या करना, प्रत्यक्ष मदिरा का पान, सुवर्ण को ही चुरा लेना, अपने गुरुदेव आचार्य की भार्या के साथ गमन, ये तो महापाप हैं ही, किन्तु इतने ही नहीं। इन्हीं के समान इन्हीं कष्ट के समकक्ष बहुत से पाप हैं, उनमें से कुछ मैं बताता हूँ। आप लोग इन्हें ध्यानपूर्वक श्रवण करें।

ब्राह्मण वेदज्ञ सदाचारी ज्ञानी विज्ञानी अथवा कैसा भी हो उसकी हत्या करना महापाप है। एक पंक्ति में भोजन के लिये बैठे हुए लोगों में से कुछ को तो अच्छी-अच्छी वस्तुएँ देता है, कुछ को खराब देता है, कुछ को देता ही नहीं। ऐसा पंक्ति भेदी ब्रह्म हत्यारे के समान पापी है। केवल पेट भरने को ही रसोई बनाने वाला, ब्राह्मणों में दोष लगाने वाला, उनकी निन्दा करने वाला, नीचों को भृत्य बनाकर नीच आदेश ब्राह्मणों के द्वारा भेजने वाला, वेदों को लिखकर या उनके फलों को बेचने वाला ये सब ब्रह्म हत्यारे के समान पातकी हैं। पहिले तो किसी आशावान् ब्राह्मण को बुलाकर कह दिया--"ब्राह्मणदेव ! आप विश्वास रखें मैं आपको इस कार्य के करने के लिये इतना धन दूँगा, आप अमुक दिन मेरे घर आ जाना।" उस दिन जब वह जाय तो समर्थ होने पर भी उसे धन न दे, उलटा उसका अपमान करे तो वह भी ब्रह्मघाती है।

जो ब्राह्मण किसी तीर्थ में स्नान करने जा रहा हो, किसी देवता का पूजन करने जा रहा हो, उसमें जो नीचता से विघ्न डाले, उन्हें स्वार्थ वश रोक ले उसे ब्रह्महत्या के समान पाप लगता है। सदा दूसरों की निन्दा करने वाला, अपने आप ही अपनी निरन्तर बड़ाई करने वाला, सदा सर्वदा असत्य भाषण करने वाला ये सब ब्रह्मघाती के समान पातकी माने गये हैं।

कोई आदमी अधर्म कर रहा हो, उसका जो अनुमोदन करता है, जो दूसरों को सदा उद्वेग पहुँचाता रहता है, जो दूसरों के

निरन्तर दोष ही ढूँढ ढूँढ कर उन्हें लोगों से कहता रहता है, जो दम्भाचार पाखंड मार्ग में निरत है, जो तीर्थों में या ग्रामों में

निरंतर ही दान माँगता रहता है, जब भी जैसा भी दान मिल जाता है, उसे ही ग्रहण कर लेता है, जो नित्य ही जीवों की हिंसा करता रहता है—प्राणियों का वध करना ही जिसका व्यापार है, ये सब-के-सब ब्रह्महत्यारे के समान पापी हैं, इन्हें दूर से ही दंडवत् कर दे। भरसक ऐसे लोगों का संसर्ग न करे।

अब सुरापान की बात सुनिये। मदिरा ऐसी भ्रष्ट वस्तु है कि यह सब विवेक को नष्ट कर देती है। इससे अशुद्ध वस्तु संसार में कोई न होगी। जैसे स्त्री पुरुषों के शरीर में विष्ठा, मूत्र कफ, कान, नाक, का मल, हड्डी, रक्त, मांस, मज्जा, थूक, खकार, लार, रज, वीर्य, नख, केश, एक-से-एक घृणित अशुद्ध वस्तु हैं, वैसे ही जो सड़ी गली वस्तुएँ हैं, उन्हीं से सुरा बनायी जाती है पीते ही मनुष्य को उन्मत्त बना देती है। मदिरा पीने से काम वासना बहुत बढ़ जाती है। लज्जा चली जाती है। जो स्त्री पुरुष स्वाभाविक लज्जा के कारण पाप में प्रवृत्त नहीं होते उन्हें दुष्ट लोग मदिरा पान कराके अपने वश में कर लेते हैं। मदिरा पान करने से रक्त में उष्णता आ जाती है, रज वीर्य की बाहर निकलने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने लगती है। उसके मद में पुरुष कामवासना के साधनों को खोजता है। जो भी सामने आ जाता है, उसी से निर्लज्ज होकर पापाचरण का प्रस्ताव करता है। वेश्याएँ निरन्तर सुरापान से ही पाप में प्रवृत्त रहती हैं। उनके यहाँ जो आता है, सभी को सुरापायी बनाती हैं। सुरापी वेश्यागामी न हो, यह आश्चर्य की बात है सुरापान करने का फल ही होता है वेश्यागमन, जूआ का व्यसन और दूसरों को धोखा देकर धन अपहरण करना। मदिरा के उन्माद में आदमी न करने योग्य कामों को कर जाता है, उसमें ऐसी धुनि बँध जाती है कि आदमी व्यस्त हो जाता है। उससे कभी तृप्ति होती ही नहीं। जहाँ मद उतरा कि फिर इच्छा होती है। न मिलने पर

पुरुष अनेकों पापों मे प्रवृत्त होता है, सब कुकर्म करके भी वह सुरापान करने की इच्छा रखता है। ऐसी अशुद्ध वस्तु को भी पीकर अभागे लोग इस जीवन को भी दु खमय बनाते हैं और मरकर नरक में भी नाना यातनाओं को सहते हुए असख्यों क्लेश उठाते हैं।

महाराज पहले सामान्यतया तथा वृक्षादि से निकालकर ओषधियों के सार से सुरा निकालकर लोग पीते थे। एक बार असुरों ने अपने गुरु शुक्राचार्य को उनके प्रिय शिष्य—बृहस्पति के पुत्र कच को मारकर जलाकर उसके देह की राख सुरा में मिलाकर उन्हें पिला दी। पीने पर उन्हे ज्ञात हुआ अरे, इससे तो मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। यह तो कोई अत्यन्त घृणित अशुद्ध वस्तु है। उसी समय उन्होंने ससार में यह मर्यादा बना दी कि आज से जो द्विज—ब्राह्मण सुरापान करेगा, उसे ब्रह्महत्या के समान पाप लगेगा। राजन्! वैसे तो मदिरापान सभी के लिये निषेध है, किन्तु ब्राह्मण को तो उसे स्पर्श भी न करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह सबसे बडा पातकी है। प्रत्यक्ष सुरापान के समान ही और जो पाप हैं, उन्हें भी मैं आपके सम्मुख कहता हू, आप इन्हे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

वेश्याओं के घर भोजन करना, वेश्याओं का ससर्ग ये सुरापान के ही समान हैं, अतः भूलकर भी वेश्याओं की सगति न करनी चाहिये। जो पतित हैं, पापवृत्ति करने वाले हैं, चोर, जुआरी, सुरापी, जीवहिसक हैं, उनके घर उनके साथ भोजन करना यह भी सुरापन के सदृश पाप है। आरम्भ की हुई उपासना को मोहवश छोड देना, मूर्तियों को पुजाकर उनसे आजीविका चलाने वालों के घर का भोजन, जो स्त्री सुरापान करती हो, उससे ससर्ग करना, नीचों के बुलाने पर उनके यहाँ

भोजन करना, आदि-आदि पाप सुरापान के समान ही माने गये हैं।"

चोरी तो तृण की भी बुरी है, पाप है, फिर भी वस्तु की महत्ता की-महत्ता से, चोरी की महत्ता बढ़ जाती है। व्यापार करना तो वैश्यवृत्ति है, किन्तु सुवर्णकार की इतनी निन्दा शास्त्रकारों ने क्यों की है, इसीलिये कि सुवर्णकार बिना सुवर्ण की चोरी किये मानता नहीं। सुवर्ण की चोरी करता है तो महापापी है, इसीलिये उसका संसर्ग वर्जित है।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यदि वह चोरी न करे, तब तो संसर्ग में कोई दोष नहीं?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज! तब तो दोष वाली कोई बात नहीं, किन्तु महाराज, ऐसा होता नहीं। करोड़ों में कोई ऐसा होगा। फिर स्वयं न करे दूसरे सुवर्ण चोरी करने वालों से उसका रोटी-बेटी का, भोजन व्यवहार का संसर्ग तो रहेगा ही महाराज, जैसे व्यापारी बिना तिकड़म लगाये, बिना झूठ सच बोले कोई विरला ही रहता है, ऐसे ही कोई विरला ही सुवर्णकार चोरी से बचता है। इस विषय में एक मनोरञ्जक उपाख्यान सुनिये।"

एक राजा थे, उन्हें सुवर्ण की वस्तुएँ, पात्र, आभूषण बनवाने का बड़ा व्यसन था। बहुत से सुवर्णकारों को उन्होंने दूर-दूर से बुलाकर अपने यहाँ बसाया था। एक दिन उन्होंने सबको बुलाया और हँसते हुए पूछा—"क्यों भाई, तुम सत्य-सत्य बताना रुपये के कै आने सुवर्ण की चोरी तुम करते हो?" किसी ने कहा—"महाराज! हम नहीं करते। किसी ने रुपये में एक आने, किसी ने दो आने, चार आने, आठ आने, बारह आने बताये। एक ने कहा—"महाराज! मैं तो रुपये में पीने सोलह आने चोरी करता हूँ।"

राजा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे बड़े विस्मय के साथ बोले—"आँखों के सामने तुम चुरा लोगे ?"

उसने हँसकर कहा—"तब फिर महाराज ! कला ही क्या रही। आँखों के पीछे छिपकर घर फोड़कर तो डरपोक चोर चुराते हैं। हमारी चोरी-चोरी थोड़े ही है, यह कला है।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, तुम्हारी परीक्षा है। पाँच सेर सुवर्ण की यहाँ मूर्ति बनाओ, हमारे सामने बैठकर। तब देखेंगे तुम रुपये में पाँच सोलह आने कैसे चुराते हो ?"

सुवर्णकार ने कहा—"बहुत अच्छा महाराज ! जैसी आज्ञा। मैं दरबार के सामने ही बनाऊँगा।" महाराज को उसके साहस पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने एक सबसे विश्वासपात्र बूढ़े मन्त्री को बिठाया। चार पुराने विश्वासपात्र सिपाही वहाँ बठा दिये। राजा ने आज्ञा दे दी—"जब यह आवे, तब इसकी नगा झोरी ले लो। सदा इसके हाथ की ओर देखते रहो। जाय तब रत्ती-रत्ती हमारे सामने देखो। इसकी सब वस्तुओं को हमें दिखाकर पेटी में बन्द करो। चाभी हमारे पास रहेगी।"

बूढ़े मन्त्री ने राजा की आज्ञा बड़ी तत्परता से पालन की। सभी को बड़ा कुतूहल था इसलिये सभी हृदय से उसकी देख रेख रखने लगे। वह दिन में काम करता, सायकाल को राजा स्वय आते, उसकी अपने सामने नगझोरी लेते, सुवर्ण को तुलवाते, बद करते, चाभी अपने पास रखते। सुवर्णकार चला जाता। दिन भर तो वह यहाँ काम में लगा रहता, रात्रि में ठीक वैसी ही एक पीतल की मूर्ति उतने ही नाप की अपने घर पर बनाता।

कुछ काल में दोनों मूर्तियाँ बनकर तैयार हो गईं। राजा बड़े प्रसन्न थे, मेरे यहाँ इसकी धूर्तता न चलेगी। जब मूर्ति तैयार हो गई, तो उसके ऊपर सुहागा सिंदूर लपेटकर बोला—"दस सेर

खट्टा दही मुझे आज चाहिये जिसमें यह मूर्ति डूब सके। इससे निखर जायगा, चमक आ जायगी, फिर कल तैयार हो जायगी।" मंत्री ने दही मंगाया, सुवर्णकार ने स्वयं चाखा सबको चखाया और बोला—"यह तो खट्टा है नहीं, मुझे इससे खट्टा चाहिये।" दैवयोग की बात कि एक अहीरिनी एक बहुत बड़े पात्र में दस—"बारह सेर दही लेकर आ गई। वह अहीरनी और कोई नहीं थी उस सुवर्णकार की भोली-भाली लड़की ही थी। उस दही के पात्र में जो सुवर्णकार ने अपने घर में पीतल की मूर्ति बनाई थी, जिस पर सुवर्ण का अत्यन्त सुन्दर पानी किया था, वह पड़ी थी। उसने आते ही लजाते हुए भोले स्वभाव से कहा—"दही लो दही, किन्तु तनिक खट्टा है।" राजसेवक तो विनोदप्रिय होते ही हैं। बोले—"खट्टे का यहाँ क्या काम, यहाँ तो मीठी वस्तु की आवश्यकता है।" यह बात मंत्री जी के कानों में पड़ी। उन्होंने अहीरनी को बुलाया। सुवर्णकार से कहा—"इसका दही देखो, सुवर्णकार ने चाखा। बड़ा प्रसन्न हुआ। बोला—"बस, बस, बस, यही दही काम का है, आप लोग चाखें।" पहरेवालों ने चखकर मुँह बनाया, नाक भौं सकोड़ी और कहा—"चूक खट्टा है।" लड़की चुपचाप भोली भाली बनी खड़ी रही। सुनार ने अपनी सोने की मूर्ति उसमें डाल दी। सुहाग सिंदूर, राख, मिट्टी न जाने क्या-क्या उसमें मूर्ति के संग डाल दी कि दही का रंग ही बदल गया। लाल-लाल बुरा हो गया। बड़ी देर तक मूर्ति को मलता रहा। लड़की चुपचाप खड़ी रही। फिर अपने ही आप सुवर्णकार मंत्री से बोला—"महाराज! इसे दाम दे दें यह चली जाय।"

उस लड़की ने विनय के साथ कहा—"मेरा पात्र भी मिल जाना चाहिये। मेरी माँ मुझे मारेगी। चिकना पात्र है।"

थोड़ी देर और मलकर सुवर्णकार ने वह सोने का पानी की

हुई चमचमाती पीतल की मूर्ति तो निकाल ली और सुवर्ण की उसी पात्र में छोड़ दी और उस लडकी से बोला—"ले जा, इस दही को वहाँ मोरी में फेंक दे।"

उसने विनय के साथ कहा—"मोरी मे क्यों फेक दूँ, आज्ञा हो तो मैं अपनी भैंस के लिये ले जाऊँ।"

मंत्रीजी ने शीघ्रता से कहा—"हाँ, हाँ ले जा ले जा, जा भाग जा। यह अपने दाम ले।" लेकर और उस दही के मटके को लेकर बनावटी अहीरनी चली गई। सब लोग मूर्ति की बडी प्रशंसा करने लगे। देखो दही में डालते ही कैसी चमचमाने लगी। सुवर्णकार ने उसे भली-भाँति मला। वस्त्र से कई बार पोंछा और बोला—"महाराज! को बुलाइये, मूर्ति तैयार है।"

महाराज बड़े उल्लास के साथ आये। मूर्ति को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और हँसकर बोले—"कहो सुवर्णकारजी! कितना चुराया इसमें से?"

बड़ी नम्रता और सरलता से, सुवर्णकार ने कहा—"देव की जय हो, अपराध क्षमा हो। रुपये मे से पौने सोलह आने ही चुराये हैं, अधिक नहीं।"

यह सुनते ही महाराज तो आश्चर्यमग्न हो गये वे मंत्री की ओर देखने लगे। मंत्री, प्रहरी सभी विस्मयाविष्ट थे। सुवर्णकार ने कहा—"देव, अन्य सुवर्णकारों को बुलाकर परीक्षा करा ली जाय।"

राजा ने बड़े-बड़े सुवर्णकारों को बुलाया, मूर्ति की परीक्षा कराई। सभी ने कहा—"महाराज! ऊपर जो यह पानी चमक रहा है, यह तो सोने का है, शेष सब मूर्ति शुद्ध पीतल की बनी है।"

राजा बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"अच्छा भैया, तुम्हारी चोरी सचमुच कला है।"

सो मुनियो! चोरी चाहे प्रत्यक्ष की जाय या कला से की जाय है चोरी ही। घर फोड़ने में भी कला होती है। सबके सामने से द्रव्य-आभूषणों को ले जाना बड़े साहस का काम है, किन्तु यह है नरक का द्वार। प्रत्यक्ष सुवर्ण-चोरी के अतिरिक्त बहुत से सुवर्ण-चोरी के ही सदृश पाप हैं, उनको भी सुनिये।

कन्द, मूल, फलों की चोरी, कस्तूरी की, वस्त्रों की, रत्नों की चोरी ये सब सुवर्ण की चोरी के समान बताई है। ताँबा, लोहा, काँसा, घृत, शहद, सुगन्धित पदार्थ, चन्दन, रस आदि इन्हें चुराना भी सुवर्णस्तेय सदृश ही पातक कहे गये हैं। द्विज होकर श्राद्ध-तर्पण-त्याग, साधु-संन्यासियों की निन्दा करना, भोजन पदार्थ, अन्न, रुद्राक्ष, इन सब को चुराना भी सुवर्ण की चोरी के समान ही महापातक माने गये हैं।

साक्षात् गुरु स्त्री गमन तो महापातक है ही। इसके अतिरिक्त अन्न देने वाला, भय से छुड़ाने वाला, व्रत आदि की दीक्षा देने वाला, जनक (पिता) उपाध्याय इनकी भी गुरुसंज्ञा है। इनकी भार्याओं की ओर कुदृष्टि करना सबसे बड़ा पाप है। बहिन, बेटी, पुत्रवधू, गोत्र की स्त्री, कन्या, विधवा, रजस्वला, भौजाई, मित्र-पत्नी, अपने ऊपर विश्वास करने वाली, हीन जाति की, मद्य पीने वाली, किसी भी परपुरुष की स्त्री, इन सबके साथ संसर्ग करना गुरु-पत्नी गमन के समान ही घोर नरकों में ले जाने वाले हैं।

इन चारों का जो संग करते हैं, इनसे संसर्ग करते हैं वे भी पातकी हैं। अतः ऐसे धर्महीन आचारहीन पापी पुरुषों से शक्ति-भर सदा बचे रहना चाहिये। संसर्ग से गुण दोष अवश्य आ जाते हैं। इसमें शंका के लिये कोई स्थान ही नहीं। एक बार की

नहीं, लाख बार की, करोड बार की यह अनुभूति है। गुणों की अपेक्षा दुर्गुणों का प्रभाव शीघ्र पडता है।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! ऐसे तो मनुष्य किसी संसर्ग से बच ही नहीं सकता।"

सूतजी बोले—"भगवन्! यो तो ससार मे अच्छे बुरे सदा से रहे हैं, सदा रहेंगे। संसर्ग दोष विशेषकर एक साथ खाने में, एक शय्या पर सोने मे, एक वाहन पर सटकर एक साथ बैठने में, विवाह सम्बन्ध करने से ही लगता है। भरसक महापातकियों से ऐसा सम्बन्ध जान बूझकर न करे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग! सूतजी! इन पापियों को नरक में वे ही कष्ट सहने पडते हैं, जिन्हे आप पीछे कह आए हैं, या और भी कोई कष्ट होते हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज! मैं बार बार तो कहता हूँ। नरकों के कष्टो की, वहाँ की यातनाओं की कोई संख्या नहीं। अनेक प्रकार की यातनायें नरक मे दी जाती हैं। जैसे—मल-मूत्र के कुण्ड में पडकर उन्हे ही खाना पीना, उसी में पड़े रहना, तपाई हुई शिलाओं पर सोना, सेमर के काँटों मे घसीटना रक्त के कूप मे डुबाया जाना, रक्त को निरन्तर पिलाते रहना, अपने ही मांस को काट काट कर खिलाना, अग्नि की प्रचण्ड लपटों में डाल देना, अग्नि के नीचे उलटा लटका देना, नीचे बिठाकर ऊपर से पत्थरों की निरन्तर वर्षा करते रहना, कीडो को ही भोजन कराना, खारे पानी में सुलाना, नमक ही खाने को देना, नमक ही पिलाना, देह को काट काट कर उस पर नमक छिडकना, आरे से शरीर को चीर चीर कर टुकडे करना, फिर जोड देना, सम्पूर्ण शरीर पर विष्ठा का लेप करते रहना विष्ठा ही खाने को देना, वीर्य के भरे कुण्ड में डाल देना, वीर्य को ही पिलाना नस-नस में ही सुइयों को भोंकना, पाशों से बाँध लेना

धूएँ के नीचे बिठाकर धूम्रपान कराना, पित्त, वमन, श्लेष्मा, कफ, लार इनको खिलाना, बड़े-बड़े वृक्षों से पर्वतों से नीचे गिराना पानी में डुबाकर ऊपर से पत्थर रख देना, काँटों पर सुलाना साँप बिच्छू विषवाली- चीटियाँ, शहद की मक्खियों से सम्पूर्ण शरीर को कटवाते रहना, सिंह, व्याघ्र, भैंसा, रीछ आदि से मरवाना, फड़वाना, अत्यन्त दुर्गन्धि कीच में सुलाये रहना, अत्यन्त कड़वी-कड़वी वस्तुओं को बिना इच्छा के मुँह फाड़-फाड़कर पिलाते रहना गरम-गरम लोहे की छड़ों को मुँह में, गुप्त स्थानों में भोंकना, गरम-गरम तेल को पिलाना, पिलाकर गरम बालू पर सुलाना, अत्यन्त ठंडी में रात्रि भर बरफ के पानी से छींटे देते रहना, अत्यन्त गरमी में अत्यन्त उष्ण जल से स्नान कराते रहना, शनैः-शनैः दाँतों को तोड़ना, जीभ के टुकड़े-टुकड़े करना, गरम की हुई स्त्री पुरुषों की मूर्तियों से बलपूर्वक आलिङ्गन कराना, दो गरम लोहे की शिलाओं के बीच में दबाना, आदि-आदि अनेकों कष्ट हैं। भगवन्! कहाँ तक गिनावें। यहाँ इस लोक में हम उन कष्टों का अनुमान भी नहीं कर सकते। मरकर जब पापी उन नरकों में जाते हैं तब वे ही अनुभव करते हैं। राजा परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने अत्यन्त ही संक्षेप में असंख्यों नरकों और उनकी अगणित यातनाओं में से कुछ का दिग्दर्शन कराया है। इन्हीं से बुद्धिमान पुरुष औरों का भी अनुमान लगा सकते हैं।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन! पुराणों में इन नरकों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। अब नरकों का ही वर्णन करता हूँ, तो यह "भागवती कथा" न होकर नारकीय-कथा हो जायगी। प्रसंगानुसार मैंने तुम्हें पापियों और नरकों का दिग्दर्शन करा दिया, नहीं तो नारकी जीवों की बातें करना भी पाप है। पाप से नरक होता है पुण्य

से स्वर्ग होता है, जो पाप करके उसका प्रायश्चित्त नहीं करते उन्हें अवश्य-अवश्य नरकों में जाना पड़ता है, कोई रोक नहीं सकता। अतः भूल से पाप भी बन जाय, तो उसका उसी समय प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। यह मैंने नरकों की बातें बताईं, अब आप क्या सुनना चाहते हैं ?"

छप्पय

पापिनि को ससर्ग पापमय तुरत बनावै।
सतन को सत्सग कृष्ण चरननि पहुँचावै॥
डरे पाप तें सदा प्रेम तें प्रभु आराधें।
जप, तप, तीरथ, बरत करें यम नियमनि साधे॥
सदा सत्य बोलें बचन, ब्रह्मचर्य ते रहें नित।
जाइँ नहीं ते नरक नर, परतिय पै न चलाइँ चित॥

नरकों से कैसे बच सकें ?

[३४९]

अधुनेह महाभाग ! यथैव नरकान्नरः ।
नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

सुनी नरक की बात कँप्यो हिय दशा भुलानी ।
करें प्रतिक्षण पाप विवश है प्रभु जिय जानी ॥
ज्ञानी अति ही अल्प अधिक अज्ञानी जग महँ ।
प्रति पल हिंसा होय, उठत बैठत घर मग महँ ॥
होयँ पाप तो का करें, कैसे पापनि तें बचें ।
जीव भ्रमे प्रारब्ध वश, करम नचावैं तस नचें ॥

भविष्य की चिन्ता जो नहीं करता, वह या तो जड़ है या जीवन मुक्त है, नहीं तो सबके चित्त में यह प्रश्न उठता है आगे क्या होगा। साधु महात्मा को, दैवज्ञ ज्योतिषी को देख कर सभी हाथ दिखाने लगते हैं, हमारे भाग्य में क्या है।

* नरकों के वर्णन सुनकर महाराज परीक्षित् श्रीशुक से कहते हैं—"हे महाभाग नरकों के वर्णन तो मैंने सुने, अब आप वह उपाय मुझे बतायें, जिससे इन नाना प्रकार की उग्र यातनाओं से पूर्ण नरकों में पुरुष को न जाना पड़े।"

प्राणियों में स्वाभाविक प्रवृत्ति है, पुण्य चाहे न करें, किन्तु पुण्य का परिणाम जो सुख है उसे सब प्राप्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार पाप तो चाहे करते रहें, किन्तु पाप के परिणाम दुःख को वे भोगना नहीं चाहते। इसीलिये सभी सुख पाने का और दुख से बचने का उपाय करते रहते हैं। जो लोग परलोक को नहीं मानते, वे इस लोक में दुःखों की सम्भावना होने पर उनसे बचने के लिये सब कुछ करते हैं। किसी प्रतिष्ठित पुरुष से कोई प्रामाणिक व्यक्ति कह दे, कि पुलिस आप पर अमुक सदेह पर एक अभियोग चलाना चाहती है, तो धन देकर अनुनय विनय से तथा अन्य सभी उपायों को काम में लाकर वह ऐसा प्रयत्न करता है कि अभियोग चलने ही न पावे, यदि चल ही जाय, तो उसमें हमें कोई दण्ड न हो, हम उससे बच जायँ। इस लोक में तो आप चाहे अपराध करके बच भी जायँ, किन्तु आप परलोक को मानें या न मानें, उस लोक में कोई भी अपराध करके बिना उसका प्रायश्चित्त किये दड से बच नहीं सकता। 'हम परलोक को नहीं मानते।' ऐसा कहने से ही तो काम न चलेगा। क्योंकि हमें आकाश दिखाई नहीं देता इसलिये हम आकाश को नहीं मानते। इतने से ही आकाश का अस्तित्व तो विलीन नहीं हो जायगा। आप मानें न मानें आकाश को छोडकर कहीं जा नहीं सकते। रहेंगे आकाश की ही छत्रछाया में। आप मुख से परलोक को न मानिये अपने को भुलावा भले ही दे लें, किन्तु यमराज तो तुम्हारी भूल भुलैयाओं में आने वाले नहीं वे तो पापों का फल अवश्य देंगे, चूतडों पर डडे पडेंगे। अवश्य पडेंगे बिना सदेह पडेंगे। यमराज तुम्हारी एक भी न सुनेंगे, कि हम परलोक को नहीं मानते थे, अतः हम पापों के फलों से मुक्त कर दिये जायँ। कटकाकीर्ण पृथ्वी है। तुम आँख मींच लो, उन काँटों को मत

देखो। वहाँ से नंगे पैरों निकलोगे तो पैर में काँटे अवश्य छिदेंगे। इसी लिये पाप करके जो उसका प्रायश्चित नहीं करता, उसे पापों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा।

पापों का वृत्त सुनकर राजा परीक्षित का हृदय धक् धक् करने लगा। वे बड़े घबड़ा गये, नरकों की यातनायें सुनकर उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो गये। अत्यन्त उदास होकर वे भगवान् शुक से कहने लगे—"प्रभो! अब तक तो आपने बड़ी सुन्दर-सुन्दर कथायें सुनाई थीं। पहिले आपने निवृत्ति प्रवृत्ति मार्ग का बड़ा ही अनूठा भावपूर्ण वर्णन किया था। निवृत्ति मार्ग में कैसे सद्यः मुक्ति हो जाती है, कैसे क्रम मुक्ति के द्वारा ब्रह्मलोक पहुँचने पर वहाँ भगवान् ब्रह्मा के साथ साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है, इन दोनों का आपने बड़ी विद्वता से वर्णन किया। इसी प्रकार प्रकृति सम्बन्ध में बँधे हुए पुरुषों को यज्ञ यागादिक सकाम कर्म करने से किस प्रकार गुणमय स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है, फिर पुण्य के क्षीण होने पर किस प्रकार संसार में पुनः-पुनः आना पड़ता है और मरकर फिर जन्म लेना पड़ता है—चौरासी के चक्र में घूमना पड़ता है—ऐसे प्रवृत्ति मार्ग का भी आपने वर्णन किया। महाराज स्वायम्भुव मनु के वंश का भी बड़ी विद्वता के साथ विशद वर्णन किया, बड़ी-बड़ी रसीली रँगीली, रस भरी, शिक्षा-प्रद; सदाचारपूर्ण उन्नति की ओर लेजाने वाली, भगवद् भक्ति से संपुटित बहुत-सी कहानियाँ सुनाईं, सुन्दर-सुन्दर उपाख्यान राजर्षियों के चरित्र सुनाये। द्वीप, वर्ष, ग्रह, नक्षत्र, ऊपर नीचे के लोक सभी का संक्षेप से आपने वर्णन किया। ये सब कथायें तो मुझे बड़ी अच्छी लगीं। किन्तु भगवन्! नरकों का वर्णन करके तो आपने सब गुड़ गोबर एक कर दिया। बड़ा गड़बड़ घोटाला हो गया। मेरा चित्त तो बड़ा

व्याकुल हो गया। संसार में रहकर कौन सर्वदा पापों से बच सकता है। पानी में डुब्बी मारने पर किसका अङ्ग बिना भीगे रहेगा। काजर की कोठरी में कैसा भी चतुर पुरुष जाय, कैसे वह कालिख लगने से बच सकता है ? सो हे प्रभो ! पाप हमसे प्रतिक्षण होते ही रहते हैं। ज्ञानियों और भगवत् भक्तों को छोड़ कर मुझे किसी एक को तो दिखाइये, जो पापों से बच सका हो। यदि कोई नहीं बच सका, तो क्या सभी को नरक जाना ही पड़ेगा। नारकीय यातनाओं से बचने का कोई उपाय नहीं है क्या ? यदि हो तो कृपा करके पहिले उसे ही मुझे बताइये, तब आगे की कथा कहिये। इन नरकों की बातें सुनकर तो मेरा चित्त बड़ा क्षुब्ध हो रहा है।

यह सुनकर अत्यन्त ही गम्भीरता के साथ श्रीशुक बोले—राजन् ! किया हुआ कर्म तो कभी निष्फल होता ही नहीं। केवल भगवान् के निमित्त किया हुआ कर्म भगवद्भक्ति को ही उत्पन्न करता है, प्रभु पादपद्मों में प्रीति की ही वृद्धि करता है और संसार के निमित्त किया हुआ संसार का सृजन करता है, जगत् के बन्धन को और कसकर बाँधता है। आवागमन के चक्कर को दृढ़ करता है। पाप करके जो इसी जन्म में उनका प्रायश्चित नहीं कर लेता, उसे मरकर नरक की यातनायें अवश्य भोगनी पड़ती हैं। अतः जैसा छोटा बड़ा, जान में, अनजान में पाप बन गया हो। उसका उसी के अनुरूप शास्त्रीय विधि से, प्रायश्चित अवश्य कर लेना चाहिये। प्रायश्चित्त कर लेने से पाप उसी प्रकार कट जाते हैं जैसे कुल्हाड़ी से बड़े-बड़े पेड़ कट कर गिर पड़ते हैं।

इसलिये मन से, वचन से, कर्म से जैसा भी पाप बन गया हो उसके अनुरूप वैसा ही प्रायश्चित्त मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। प्रायश्चित्त करने से फिर उसका भोग करने नरक नहीं जाना पड़ता। जैसे किसी ने किसी से एक सहस्र रुपये ऋण

लिये ब्याज आदि से बहुत बढ़ गये। यदि वह नहीं देता तो महाजन राजद्वार में जाकर उस पर अभियोग चलाता है। वहाँ उस पर दण्ड होता है, घर का सामान बेच दिया जाता है, नाना क्लेश उठाने पड़ते हैं। यदि अभियोग आरम्भ के पूर्व १० भले आदमियों की सम्मति से महाराज की अनुनय विनय करके कुछ कम देकर भी तै कर लेता है, तो दौड़ धूप, चिन्ता आदि से भी बच जाता है, दण्ड आदि भी नहीं होता। इसी प्रकार जो यहाँ जैसे-तैसे प्रायश्चित्त करके विवाद को शान्त कर देता है, उसे यम के दरबार में अभियुक्त बनकर नहीं जाना पड़ता।"

राजा ने पूछा—"महाराज, यह कैसे पता चले, यह बड़ा पाप है, यह छोटा पाप है। इसका बड़ा प्रायश्चित्त करना चाहिये, इसका छोटा। क्योंकि करने वाला तो सभी पापों को छोटा ही समझता है।"

श्रीशुक बोले—"करने वाले की समझ से महाराज, काम थोड़े ही चलेगा। हमारे शरीर में रोग हो जाय, और हम उपेक्षा के साथ कह दें—"अजी कुछ नहीं है तनिक-सी सरदी है श्लेष्म बढ़ गया है।" ऐसा कहने से रोग कम तो हो न जायगा। वह तो बढ़ते-बढ़ते राजयक्ष्मा तक पहुँचेगा। इसलिये रोग होते ही वैद्य को दिखाना चाहिये। वह उसकी गुरुता लघुता की परीक्षा करके औषधि का निर्णय करेगा कि इसके लिये काढ़ा ठीक होगा या कोई अवलेह, भस्म या रसायन, वटिका या चूर्ण। वह जो बतावे उस औषधि का श्रद्धा सहित पथ्यपूर्वक सेवन करने से रोग जायगा। इसी प्रकार पाप हो जाने पर स्मृति शास्त्र के ज्ञाता पंडितों के पास जाय। बिना छिपाये अपने पाप को स्पष्ट बता दे। उसमें छल कपट न करे। पाप को सुनकर राजा भी दण्ड देगा। वह भी प्रायश्चित्त ही है और शास्त्रों में जो व्रत उपवासादि के विधान बताये हैं, उन प्रायश्चित्तों द्वारा भी पापों से

छुटकारा हो जाता है। जब तक हाथ में पाश और डण्डा लिये यमराज का परवाना लेकर उनके दूत न आ जायँ, उसके पूर्व ही पाप का प्रायश्चित्त कर ले। यदि वे आकर पकड ले गये, तब तो फिर नियमानुसार अभियोग ही चलेगा। सुलह आदि की फिर आशा न रहेगा। यमराज ने कोई तिथि निश्चित नहीं कर दी है, न जाने कब उनके दूत पकडने आ धमकें। वे दुष्ट ऐसे निर्दयी होते हैं कि तनिक भी शील सकोच नहा करते। अनुनय विनय, रोने चिल्लाने, हाथ जोडने, पैर पडने, गिडगिडाने का उन पर कोई प्रभाव नहीं पडता। अत' राजन्! पाप हो जाय, तो उसका तुरन्त ही प्रायश्चित्त कर ले।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव के मुख से पापों के प्रायश्चित्त की बातें सुनकर महाराज परीक्षित् कुछ सोचने लगे। प्रतीत होता है, वे कुछ पाप और उनके मूल कारणों पर प्रश्न करने को गम्भीरता से विचार कर रहे हैं।"

छप्पय

जैसे सज्जी आदि वस्त्र के मलकूँ धोवें।
तैसे प्रायश्चित्त सबिधिकृत पापनि खावें॥
स्वच्छ वस्त्र फटि जाय तऊ चित मोद बढ़ावै।
मलिन बसन है जीर्ण मलिनता सँग ले जावै॥
प्रायश्चित्त किये बिना, यमपुर जे नर जायँगे।
ते निश्चय ई नरक परि, बिबिध भाँति दुख पायँगे॥

—o—

पापों का प्रायश्चित्त क्या ?

[३५०]

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ११ श्लोक)

छप्पय

तनतें मनतें करे पाप जितने बचननितें ।
करिकें प्रायश्चित पृथक् होवैं नर तिनतें ॥
श्रद्धा संयम युक्त करैं तप, ब्रह्मचर्य शम ।
सत्य, दान, तप, शौच, योगयुत करैं नियम यम ॥
ते निश्चय ही पाप तैं, छिन महँ नर तरि जात हैं ।
ज्यों दावानल के लगत, वेणु गुल्म जरि जात हैं ॥

पाप के शोधन का नाम प्रायश्चित है। जैसे वस्त्र है, यदि वह निर्धूलि स्थान में रखा रहे तो मलिन न होगा, किन्तु धूलि का संसर्ग होते ही शनैः-शनैः मलिन हो जायगा। किन्तु कीच में डुबो दें तो तत्क्षण महान् मलिन हो जायगा। इसी प्रकार

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कर्मों के द्वारा कर्मों का आत्यन्तिक नाश नहीं हो सकता। क्योंकि करने वाला अधिकारी अज्ञानी ही है। इसलिये यथार्थ प्रायश्चित तो विचार—भगवत् स्वरूप का ज्ञान—ही है।"

चित्त को सांसारिक वासनाओं से दूर रखें तो यह विशुद्ध बना रहेगा। किन्तु ऐसा न करें और ससार के व्यवहार में लगाये रखें और श्रुति स्मृति विहित सन्ध्या तर्पण अग्निहोत्र, उपवास जप, पच महायज्ञ आदि न करें तो कुछ काल मे तम के ढक जाने से प्रकाशहीन मलिन हो जायगा। यदि इनको करते हुए भी ब्रह्महत्या, सुरापान, परस्त्री गमन आदि महापातक कर डालें तो मन तत्क्षण मलिन होगा। ऐसे महापापों के स्मृतियों मे अनेकों प्रायश्चित्त बताये हैं। कुछ पापो का तो शरीर का अन्त कर देना ही प्रायश्चित्त कहा गया है।

श्री शुकदेवजी के वचन सुनकर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! आप प्रायश्चित्त पर अधिक बल दे रहे हैं, अतः मैं सुनना चाहता हूँ, किन पापो का कोन-सा प्रायश्चित्त करना चाहिये।"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! १०-२० पाप हों, तो मैं उनका प्रायश्चित्त भी बताऊँ, पाप तो असख्यो हैं, असख्यो ही उनके प्रायश्चित्त हैं। मैं पहिले ही बता चुका हूँ, धर्मशास्त्रों में स्मृतिकारों ने बहुत से पापो के प्रायश्चित्त बताये हैं। जैसे बहुत से छोटे मोटे पाप पचगव्य (गौ का गोबर, गोमूत्र, गोघृत, गोदुग्ध और गोदधि कुशा से मिलाकर) पीने से ही दूर हो जाते हैं। बहुत से एक रात्रि, दो रात्रि, ३-५-७ रात्रि के उपवास से दूर हो जाते हैं। भोजन कर रहे हैं, अपवित्र हो गये, तो तुरन्त उस ग्रास को पृथिवी पर रखकर स्नान कर लो शुद्ध हो गये। यदि अशुचि अवस्था में उसे खा लिया तो एक दिन उपवास से शुद्धि होती है। खाते-खाते वमन हो जाय तो गायत्री जप से शुद्धि होती है। जो अज्ञान से अभक्ष्य आधे कृच्छ्रव्रत से शुद्ध होता है। ज्ञान से यह सब करें तो दो चान्द्रायण व्रत करने से शुद्धि होती है।

जिससे किसी प्रकार भी मातृगमन, गुरुपत्नीगमन, भगिनी-गमन, दुहितागमन अथवा पुत्रवधूगमन हो जाय, उसके लिये अग्निप्रवेश के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने और कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया है। इसी प्रकार अनेक पापों के प्रायश्चित्तों का कथन किया गया है। पापी पुरुष पापों के बताये हुए उन-उन प्रायश्चित्तों के बिना पापी ही बने रहते हैं, उन्हें मरने पर यमराज अपने दूतों से नाना नरकों में दण्ड दिलाते हैं। अतः जिन्हें नरकों से बचने की इच्छा हो वे शास्त्रों में बताये हुए पापों के प्रायश्चित्तों को अवश्य करें।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन्! प्रायश्चित्त करने से पापों का नाश कैसे होता है?"

इस पर श्रीशुक बोले—"अरे, राजन्! यह तो मोटी-सी बात है। खेती में बहुत से व्यर्थ के तृण कँटीले पौधे उग जाते हैं खुरपी से काट देने पर जैसे वे नहीं रहते, वैसे ही प्रायश्चित्त करने पर पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे कुल्हाड़ी से पेड़ कट जाता है, वैसे प्रायश्चित्त से पाप रूपी वृक्ष कट जाता है।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन्! यह तो मैं समझ गया। मेरा अभिप्राय पूछने का यह है कि मनुष्य पाप कैसे करता है। वासनाओं के वशीभूत होकर। नहीं तो सब जानते हैं कि पाप प्रकट हो गया, राजा को मालूम हो गया तो दण्ड देगा, परलोक पर आस्था रखने वाले यह भी जानते हैं नरक में भी इसका फल भोगना पड़ेगा। यह सब जानते हुए भी पापों में प्रवृत्त होते हैं। जैसे किसी ने वासना के वशीभूत होकर परस्त्रीगमन किया, ब्रह्महत्या की, या धन रत्न की चोरी की। यदि प्रायश्चित्त करने से उसकी वह वासना मिट जाय, तब तो प्रायश्चित्त उचित है, यदि वासना न मिटी, आज प्रायश्चित्त कर लिया, कल फिर उसी पाप में प्रवृत्त हुए, तो यह तो गज-स्नान के समान

हुआ। अभी हाथी को मल-मलकर नदी मे न्हिलाया धुलाया। नदी से निकलते ही सूँड से उठाकर बहुत-सी धूलि अपने अङ्गो पर भी डाल ली, तो उससे क्या लाभ ? प्रायश्चित्त रूपी कुल्हाडी ने पाप रूप वृक्ष को तो काट दिया, किन्तु वासना रूप जड़ तो ज्यों की त्यों बनी ही रही। जड़ रहेगी तो वृक्ष फिर हो जायगा तो कृपा करके मुझे यह बतलाये कि प्रायश्चित्त से मूल वासना का भी नाश हो जाता है या तत्क्षण किये हुए उसी एक पाप का नाश होता है ?"

यह सुनकर हँसते हुए महामुनि शुक बोले—"राजन ! तुम बुद्धिमान् हो, बात की सतह तक पहुँच जाते हो। महाराज ! कृच्छ्र चान्द्रायणादि प्रायश्चितों से पाप कर्मों का आत्यन्तिक नाश नहीं होता। आप यों समझिये किसी के शरीर मे श्लेष्मा (कफ) की वृद्धि हो गई है, इससे कभी उसकी नाक बन्द हो जाती है, कभी काक बढ़ जाता है, कभी गले मे दर्द होता है, कभी दाँतो मे दर्द होता है, कभी मन्दाग्नि हो जाती है, कभी ज्वर आता है। रोगी को जिस उपद्रव से कष्ट होता है, वैद्य उसी की क्षणिक चिकित्सा करता है, काक बढ़ गया, उसे काट देता है। कफ की गाँठें पड़ गईं तो उन्हे काट देता है। अग्नि मन्द हो गई तो पाचक उद्दीपक औषधि दे देता है। ज्वर आ गया तो उसी को रोकने की दवा दे देता है। इन उपायों से उपद्रव शान्त हो जाते हैं। कुछ काल के लिये शान्ति भी हो जाती है, किन्तु उपद्रवों की जड तो गई नहीं। जब तक श्लेष्मा की शान्ति के उपाय न किये जायँगे। लगकर मल दोष को न मिटाया जायगा, तब तक उपद्रव होते ही रहेगे। इसी प्रकार राजन् ! प्रायश्चित्त यथार्थ रोगों की दवा नहीं, वह तो रोगी के उपद्रवों की तात्कालिक औषधि है। जैसे किसी ने काम वश परस्त्री गमन का पाप किया। उसके प्रायश्चित्त रूप मे उसने चान्द्रायण

किया। इससे वह जो एक बार परदाराभिगमन का पाप था, वह छूट गया। इस पाप के लिये उसे यमराज के यहाँ नरक में दण्ड न भोगना पड़ेगा। किन्तु उस प्रायश्चित्त से उसकी काम-वासना का समूल नाश नहीं हो सकता। फिर कामाभितप्त होकर वह पाप कर सकता है, कर सकता क्या है, करता ही है। क्योंकि भूमि में जड़ बनी रहेगी तो पानी पाते ही उसमें से अंकुर अवश्य उत्पन्न होगा ही।"

यह सुनकर परीक्षित् जी ने कहा—"महाराज! तब तो यह कुछ नहीं हुआ। कोई ऐसा उपाय बताइये कि पापों में प्रवृत्ति ही न हो। वासना की जड़ ही कट जाय।"

इस पर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन्! यही तो मैं कहने जा रहा था। इसके पूर्व ही आपने यह प्रश्न कर दिया। देखिये महाराज! रोग होने पर उसकी चिकित्सा करना और रोग होने के पूर्व असावधान बने रहना यह उत्तम पक्ष नहीं है उत्तम पक्ष तो यह है कि सदा ऐसा प्रयत्न करे, इतने संयम नियम से रहे कि रोग होने ही न पावे। यदि कदाचित् हो ही जाय, तो इतनी लगन के साथ पथ्यपूर्वक चिकित्सा करे कि रोग जड़ मूल से चला जाय। यदि तनिक भी रोग का अंश शेष रह गया तो वह फिर महा रोगों को उत्पन्न कर सकता है, इसी प्रकार महाराज! पाप होय ही नहीं, यह सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। हो जाँय तो उस पाप का तत्क्षण प्रायश्चित्त करे और आगे के लिये सचेष्ट रहे।"

अच्छा, आप सोचें—"पाप होता कैसे है? अज्ञान से अनित्य में नित्य बुद्धि करने से, अप्रिय में प्रिय भावना करने से, अशुचि में शुचि की कल्पना करने से। स्त्री पुरुष के और पुरुष स्त्री के रूप में आसक्त होकर जो पाप कर्म कर डालते हैं, उसका एकमात्र कारण अज्ञान है। वे अज्ञानी आज पाप का प्रायश्चित्त

करेंगे, कल फिर उसी पाप को करेंगे, क्योंकि उनका मन तो विषय में फँसा है। इसलिये महाराज ! सबसे प्रायश्चित्त तो ज्ञान है। मन इन विषयों से हटकर मनमोहन की माधुरी में मस्त हो जाय। चित्त इन अज्ञानकृत शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शजन्य सुखों में फँसा है, इनसे हटकर जब ज्ञानरूप भगवान स्वरूप में तल्लीन हो जाय, तो फिर उससे कभी पाप बन ही नहीं सकते। जैसे सदा सर्वदा पथ्य से रहने वाले पुरुष पर प्रायः रोगों का आक्रमण नहीं होता उसी प्रकार नियमानुसार आचरण करने वाला पुरुष भगवद् तत्व को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। अतः भगवद् स्वरूप का ज्ञान भगवान की अहैतुकी भक्ति, उनके नाम, रूप, लीला, धाम इन सबमें अथवा इनमें से किसी एक में रति होना यही सबसे श्रेष्ठ यथार्थ प्रायश्चित्त है।"

समाप्त

प्रभु प्रेम ही सब पापों को नाश करने में समर्थ हैं

[३५१]

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

पथ परमार्थ महान् मार्ग बहुतेरे जावें ।
भक्ति मार्ग कूँ श्रेष्ठ किन्तु सब सन्त बतावें ॥
उभय भक्त जब मिलें मधुर हरि नाम उचारें ।
नवें परस्पर विनय सहित पदरज सिर धारें ॥
ऐसे शील स्वभाव युत, संत गहैं जा गैल कूँ ।
ध्यौं न फेरि चलि पथिक सब, धोवें मनके मैल कूँ ॥

सार परमार्थ तत्त्व एक ही है । उसे पाने के मार्ग अनेक हैं । गन्तव्य स्थान एक ही है, चाहे पूर्व से जाओ, पश्चिम से जाओ, सवारी से जाओ, पैदल जाओ, देर सवेर पहुँचोगे वहीं । किन्तु बुद्धिमानी इसी में है, कि ककरीले पथरीले कंटकाकीर्ण निरुदक-

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं —"हे राजेन्द्र ! जो नरनारायणपराङ्मुख है भगवत् भक्ति से रहित है, उसके किये हुए प्रायश्चित्त उसे उसी प्रकार शुद्ध नहीं कर सकते जिस प्रकार मद्य के घड़े को सरितायें शुद्ध नहीं कर सकती ।"

मार्ग को छोड़कर सरल सुगम राजपथ से गन्तव्य स्थान को जाया जाय। अपने बड़े लोग महाजन लोग जिस मार्ग से गये हैं और उन्होंने जिस मार्ग की प्रशंसा की है, वही सर्वश्रेष्ठ सर्वोपरि मार्ग है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कुछ पाप मन से होते हैं, कुछ मन वचन से और कुछ मन वचन और कर्म तीनों से होते हैं। मानसिक पापों का सबसे बड़ा प्रायश्चित है पश्चात्ताप। मन में कोई पाप उठा और क्षणभर में ही सम्हल कर सोचने लगे—"अरे, यह पाप मेरे मन में कैसे आ गया। राम-राम, अब ऐसा कभी न करूँगा।" इस प्रकार अनेक युक्तियों से मन को धिक्कार देना पाप करने के पश्चात् जो ताप होता है पश्चात्ताप में यह भावना दृढ़ रहती है, कि ऐसा पाप मैं कभी न करूँगा। जो मन के सहित वाणी द्वारा भी पाप हो जाता है, उसके लिये पश्चात्ताप के सहित जप भी करे। वाचिक पापों के लिये मौन धारण करना वैदिक तांत्रिक तथा नाम मन्त्रों का जप करना, यह सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। जो पाप मनसा वाचा कर्मणा तीनों प्रकार से हो गया है, उसके लिये मन से पश्चात्ताप करे, वाणी से भगवन्नाम कीर्तन करे और देह से भगवत सेवा करे, नियम व्रत से रहे। इस प्रकार भगवान् का आश्रय ग्रहण करने से, भगवद्भक्ति करने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है। जो मनुष्य नियम से संयमपूर्वक नहीं रहता, उसके सब साधन व्यर्थ हैं।"

इस पर राजा परीक्षित ने पूछा—"नियमपूर्वक कैसे रहे? मुख्य मुख्य नियम संयम मुझे बताइये।"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! नियम तो अनेक हैं, किन्तु फिर भी प्रधान ये नियम बताये गये हैं। इन नियमों का पालन करने से चित्त शनैः-शनैः संसार की ओर से हटकर भगवान के पादपद्मों में लग जाता है।"

राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! वे नियम कौन से हैं।"

श्रीशुक बोले—"राजन् ! वे नियम ये हैं—तप, ब्रह्मचर्य, सम, दम, दान, सत्य, शौच और यम नियम। अब अत्यन्त ही संक्षेप में इनकी व्याख्या सुनिये।"

"महाराज ! तप कहते हैं शरीर तपाने क्लेश देने को। यह शरीर स्वभाव से सुख चाहता है। सुन्दर विषय वासना युक्त कामोद्दीपक संगीत सुनने से, अपनी स्तुति प्रशंसा सुनने से, मनोहर चित्ताकर्षक, रमणीय रूप देखने से, स्वादिष्ट हृद्य मधुर कुटकुरे, भुरुभुरे, लुचलुचे, रसीले मृदुल सुस्वादु पदार्थों का रसना से स्वाद लेने से, अच्छी सुगन्धित वस्तुओं के सूँघने से, मुलायम सुन्दर, सुखद, कोमल सुकुमार शरीरों तथा गद्दा तकिया के स्पर्श तथा सेवनादि से चित्त स्वतः प्रसन्न होता है। इनका त्याग कर देना शरीर निर्वाह के ही निमित्त ही वस्तुओं का सेवन करना यही तप कहलाता है। कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत भी तप के अन्तर्गत हैं। यथार्थ परम तप तो काम-वासनाओं का, भोगों का मन से त्याग देना ही है।

ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं—"मन से, वचन से तथा कर्म से सर्वदा वीर्य की रक्षा करते रहना। अष्ट प्रकार के मैथुनों से सदा सर्वदा बचे रहना। गृहस्थी केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये स्वदारा में ऋतुकाल में अभिगमन करता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहलाता है।

मन को शमन करना, उसे विषयों की ओर न भटकने देना, अन्तःकरण को भगवान् में ही लगाये रहना यह शम कहाता है और इन्द्रियों के दमन को दम कहा गया है। जो इन्द्रिय जिस विषय की ओर दौड़े उसे बलात् उनकी ओर से हटाये रहना जिससे उनमें आसक्ति न बढ़ने पावे।

दान कहते हैं किसी अपनी वस्तु को योग्य पात्र को सविधि

समर्पित करके उसमें से अपनापन हटाना। अन्नदान, गौदान, जलदान, फलदान, द्रव्यदान, पृथ्वीदान, कन्यादान, आदि-आदि अनेकों प्रकार के दान हैं। किन्तु इन दानों को निर्मत्सर होकर देने वाला ही परम पुण्य का अधिकारी बन सकता है। जो भूतों से तो द्रोह करता है और ऊपर से दान करता है तो उसका सभी दान व्यर्थ है। इसलिये भूतद्रोह का त्याग करना यह परम दान कहा गया है।

सत्य कहते हैं यथार्थ कथन को। जो वृत्त जैसा हुआ है, अतःकरण से हमने जैसा देखा सुना या अनुभव किया है, उसे बिना लगाव लपेट के निष्पक्ष होकर व्यक्त कर देना, यही सत्य है। जिसके मन में भेदभाव है, एक को अपना समझता है दूसरे को पराया समझता है, वह कभी भी सत्य का आचरण नहीं कर सकता। अतः प्राणीमात्र में समभाव रखना यह यथार्थ सत्य है।

शौच कहते हैं भीतर बाहर की शुद्धि को। बहुत से लोग बाहर से तो बड़ी शुद्धता रखते हैं और भीतर भँगार भर रही है, वह यथार्थ शौच नहीं। यह तो वैसे ही हुआ जैसे सुरा से भरे घड़े को ऊपर से गंगाजल से धो देना। जिस पुरुष का मन बुरे कर्मों में फँसा है वह भीतरी शौच को कैसे रख सकता है. अतः शौच का यथार्थ स्वरूप है कर्मों में आसक्ति न रखना। जो अनासक्त है वही पवित्र है, जो कर्मों में फँसा है वह मलिन है अशुचि है। इस प्रकार राजन! बहुत से यम हैं बहुत से नियम हैं। उन सबका कहाँ तक मैं आप से वर्णन करूँ?"

राजा ने पूछा—"भगवन्! यम कै प्रकार के हैं और नियम कै प्रकार के हैं?"

यह सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"महाराज! योग शास्त्र में तो अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणि

नियम बताये हैं। ये तो हैं ही, किन्तु भक्तिशास्त्र में इनसे भी कुछ अधिक कहा गया है। वहाँ यम नियमों को बारह-बारह बताया है। जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, (चोरी न कराना), असंगता, ह्रीं (लज्जा), असञ्चय (शरीर निर्वाह की आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना), आस्तिकता (ईश्वर, गुरु और वेद-वाक्यों पर श्रद्धा रखना) ब्रह्मचर्य, मौन (वाणी का संयम रखना भगवन्नाम भगवद्गुण कीर्तन को छोड़कर व्यावहारिक बातें न करना), स्थिरता (चंचलता का परित्याग), क्षमा (अपने अपकारी के प्रति भी क्रोध न करना) तथा अभय (किसी से अन्याय-पूर्वक न डरना) ये बारह तो यम बताये हैं। इसी प्रकार बारह नियम भी हैं।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! उन बारह नियमों को, विस्तार व्याख्या सहित और बतावें?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! इनका विस्तार करने लगूँ तो पूरा समय इन्हीं में लग जायगा, अतः यहाँ तो मैं नाम निर्देशमात्र किये देता हूँ। व्याख्या फिर कभी देखी जायगी। हाँ, तो बारह नियम ये हैं—शौच (भीतर बाहर की पवित्रता) जप (इष्ट मन्त्र का पुनः-पुनः सविधि उच्चारण) तप (शरीर को विषय भोगों से पृथक् रखना) होम (हवनीय द्रव्यों को मन्त्र सहित सविधि अग्नि में हवन करना) श्रद्धा (गुरु वचनों में विश्वास) अतिथि सेवा (कहीं से कोई आश्रय की इच्छा से आ जाय, उसका यथाशक्ति अन्न, जल, निवास-स्थान, मधुर वाणी आदि से सत्कार करना) भगवत् पूजन (वैदिक तान्त्रिक अथवा मिश्रित विधि से षोडशोपचार अथवा यथालब्धो पचारों से भगवत् विग्रहों की पूजा करना)। तीर्थ भ्रमण (पुण्य प्रद तीर्थों की समय-समय पर यात्रा करना) परार्थेहा (सदा परोपकार के लिये चेष्टा करते रहना, जैसे दुखियों को औषधि की

व्यवस्था करना, भूखों के लिये इधर-उधर से कहकर अन्नक्षेत्र की व्यवस्था करना। निर्धन विद्यार्थियों के लिये विद्या का प्रबन्ध करना। लोगों को कथा कीर्तन शुभ कार्यों के प्रचार या प्रसार के द्वारा भगवान् की ओर लगाना आदि परोपकार के कार्यों को भगवत् सेवा बुद्धि से करते रहना ही परार्थेहा कहलाती है।) सन्तोष (भगवत् इच्छा से जो भी प्रारब्धानुसार प्राप्त हो जाय उसी से सन्तुष्ट रहना, दूसरों की वस्तुओं पर चित्त न चलाना) गुरु सेवा (मन से वचनों से तथा कर्मों से गुरुओं के अनुकूल आचरण करना। उनकी सदा सेवा सुश्रषा करते रहना। (ये ही बारह नियम हैं। इन यम नियमों का जो सावधानी के साथ अव्यग्र भाव से पालन करते रहेंगे उनसे पाप होने के ही नहीं।

किन्हीं किन्हीं आचार्यों का मत है, कि तुम इन सबको कहाँ तक याद करते रहोगे। पेड में कितने पत्ते हैं किस डाली को कितना पानी चाहिये तुम्हें इन बातों को विचारने की आवश्यकता नहीं। जड में पानी देते चलो सभी शाखा प्रशाखायें अपने आप हरी हो जायेंगी। जिसके हृदय में भगवान् वासुदेव की भक्ति है उसके समीप सभी सद्गुण स्वतः ही बिना बुलाये शीघ्रता के साथ अपने आप चले आते हैं। अतः इन यम नियमों की चिन्ता छोडो। चित्त को चित्तचोर की रूप माधुरी में लगा दो। जिह्वा को निरन्तर उनके त्रैलोक्य पावन नामों के गान में लगा दो। तुम्हारे जितने पीछे के पाप हैं, सभी जल भुनकर भस्म हो जायँगे और फिर आगे होंगे भी नहीं। इसीलिये महाराज सभी पापों को नाश करने की एकमात्र अचूक औषधि है भगवद्भक्ति। कैसा भी बडे से बडा पापी क्यों न हो यदि वह अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके सभी व्यापारों को भगवत् कार्य में लगाकर भगवद्भक्तों का संग करता है, तो उसके

जिस प्रकार उसके पापों की शुद्धि होती है, वैसा व्रत उपवास, तप आदि प्रायश्चित्तों से कभी हो ही नहीं सकता। संसार समुद्र को पार करने के साधनों में से-यह भक्तिमार्ग सर्वश्रेष्ठ सर्व सुलभ, निर्भय तथा कल्याण प्रद मार्ग है। राजन्! यह ऐसा लम्बा चौड़ा छायादार, जल फल फूलों से युक्त राजपथ है, कि अन्धा भी लाठी टेकते-टेकते दौड़ता हुआ चला जाय तो न वह गिरेगा, न पथ च्युत ही होगा। जिसने भक्तिमार्ग का आश्रय ले लिया है, उसके समीप पाप फटक भी नहीं सकते।

राजा ने कहा—"भगवन्! भक्ति के तो शास्त्रकारों ने बहुत से भेद बताये है। इनमें से किस भक्ति का आश्रय ग्रहण करने से पापों के नाशपूर्वक परमपद की प्राप्ति हो सकती है?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! यह सत्य है भक्ति के बहुत भेद हैं, किन्तु मैं एक सबसे सुगम, सबसे सरल, सभी के लिये समान रूप से उपयोगी। एक भक्तिमार्ग को बताता हूँ, जिससे सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, केवल उसी का श्रद्धापूर्वक सेवन करने से पुरुष परमपद को प्राप्त कर सकता है, वह है भगवन्नाम संकीर्तनमयीभक्ति। भगवान् के नाम संकीर्तन में ऐसी सामर्थ्य है कि कैसा भी पापी क्यों न हो, वह नाम नरेश का आश्रय ग्रहण करता है, तो सभी प्रकार की आधि-व्याधियों से छूटकर प्रभु प्रेम का अधिकारी बन जाता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! इसे मुझे स्पष्ट समझाइये।"

इस पर श्री शुक बोले—"अच्छी बात है, मैं इस विषय को आपके लिये उदाहरण सहित समझाऊँगा। आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

भक्ति मार्ग अति सुगम सरल सब के उपयोगी ।
बिप्र होहि वा शूद्र परम ज्ञानी वा भोगी ।।
है निष्कटक मार्ग कष्ट कछु जामें नाहीं ।
पग-पग पै फल फूल, मिलें सब नहि मग मांहीं ।।
सबरे साथी सरल सुठि, सरस मिले जा पथ चलत ।
प्रेम रुदन कबहूँ करत, हरि गुन सुनि कबहूँ हँसत ।।

अजामिल का उपाख्यान

नाम संकीर्तन ही पाप नाश के निमित्त पर्याप्त है

(३५२)

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसाम्
सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० ३ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

भक्ति भेद बहु भने अधम ऊँचे अरु मध्यम ।
सङ्कीर्तन हरिनाम कह्यो सबई तें उत्तम ॥
नाम ग्रहण तें भक्ति मुक्ति निचश्य नर पावें ।
कैसे ऊ हों पाप नाम तें तुरत नसावें ॥
मरन कालमहँ अजामिल, यमदूतनि लखि डरि गयो ।
नारायण सुत हित कह्यो, नाम लेत भव नसि गयो ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन् ! मनुष्यों के पापों को जड़ मूल सहित नाश करने के लिये भगवान् के गुण सम्बन्धी (दीनदयाल, पतित पावन) कर्म सम्बन्धी (दामोदर, मुरारी, मधुसूदन) आदि नामों का संकीर्तन ही पर्याप्त है । देखिये ! महापापी अजामिल ने मरते समय पुत्र के लिये "नारायण" ऐसा करुणा के स्वरूप मे शब्द उच्चारण किया था इसी से वह मुक्त हो गया ।"

पूर्व पुण्य पाप कभी-कभी व्यर्थ नहीं जाते, अतः शास्त्रीय सिद्धान्त है, कि पुण्यकर्म करते हुए भी हमे सुख न मिले तो समझना चाहिये, इसका फल हमे अगले जन्म में मिलेगा, इसके विपरीत पाप कर्म करते हुए वृद्ध-सी दिखाई दे तो समझ ले यह वृद्धि पाप का फल नहीं है, कोई पूर्व पुण्य उदय हुआ है, इन पापो का फल तो हमे अवश्य ही भोगना पडेगा। पुण्य पाप प्रायः सग दोष से होते हैं। जैसा संग होगा, वैसे सस्कार बनेंगे जैसे संस्कार जम जायँगे वैसे ही कार्य करने लग जायँगे, अतः सदा सर्वदा साधु पुरुषो का संग करना चहिये। कामिनियो का तथा कामियो का कभी भूलकर भी संग न करना चाहिये।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! जो लोग जानकर सावधानता पूर्वक भक्ति से भगवान् का नाम लेते हैं, उनके कल्याण के विषय मे तो सदेह करने की कोई बात ही नहीं, जो भूलकर किसी बहाने से मूर्छावस्था मे भयभीत होकर भगवान् के नाम को कैसे भी मरते समय ले लेते हैं, उन्हीं की मुक्ति हो जाती है। इस विषय में आपको मैं एक बडा ही प्राचीन मनोहर, शिक्षाप्रद इतिहास सुनाता हूँ। उसे आप एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें।"

प्राचीन काल में परम पावन कान्यकुब्ज (कन्नौज) देश में एक परम धार्मिक वेदाङ्ग के ज्ञाता कुलीन विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उनकी परम साध्वी पतिपरायणा एक पत्नी थी। कालान्तर मे उनके एक अति सुन्दर रूपवान् पुत्र हुआ। वह इतना सुन्दर था, कि जो भी उसे देखता वही मन्त्रमुग्ध की भाँति उसे देखता रहता। शनैः शनैः शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान वह पुत्र बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों उसके अङ्गों का विकास होता त्यों ही त्यों उसके सद्गुणों का भी विकास होता जाता था। जब ल की अवस्था ५-६ वर्ष की हुई, तो पिता ने उसका

ही यज्ञोपवीत संस्कार किया, मन्त्रोपदेश दिया और उसे विधि-पूर्वक वेद पढ़ाने लगे। उसके शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान थी, जब वह अपनी काली-काली घुँघराली लटों को बिखेरकर वन में कुश समिधा लेने जाता, तो मार्ग में जो भी उसे देखता वही प्रसन्न हो जाता। पिता ने उसका नाम रखा था अजामिल।

कुछ ही काल में वह ब्राह्मण पुत्र वेदों को पढ़कर विद्वान हो गया। वह शास्त्रों में पारङ्गत था। बड़ा सुशील, बड़ा सदाचारी तथा बड़ों का आदर करने वाला था, नित्य नियम से सभी व्रतों का पालन करता था, इन्द्रियों को वश में रखता था, सदा सत्य भाषण करता था, स्वभाव उसका अत्यन्त ही मृदुल था। नित्य ही गुरु, अग्नि अतिथि तथा माता-पिता की सेवा करता। नियम से रहता पवित्र आचरण करता, कभी अपने सद्गुणी जाति, कुल, वय तथा सौन्दर्य पर मिथ्याभिमान नहीं करता, जीवमात्र पर दया के भाव प्रदर्शित करता, सबके पहिले ही हँसकर मीठे वचन बोलता, दूसरों के गुणों में कभी भूलकर भी दोष दृष्टि नहीं करता, अधिक क्या कहें, वह सभी सद्गुणों का आधार था। सभी सद्गुणों ने उसी के देह का आश्रय ले रखा था।

अपने पिता माता का वह इकलौता ही पुत्र था। इसलिये माता-पिता ने अपना सम्पूर्ण प्रेम उसी पर उड़ेल रखा था। वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते, अपने शरीर से भी अधिक उसकी चिन्ता रखते तथा पलक जैसे आँखों के तारों की रक्षा करती हैं, वैसे वे उसकी रक्षा करते। जब वह युवावस्थापन्न हुआ, तो माता-पिता को, उसके विवाह की चिन्ता हुई। पिता बड़े प्रसिद्ध थे, उनका कुल अत्यन्त उच्च समझा जाता था, धन की उनके यहाँ कुछ कमी नहीं थी। राज दरबार में भी उनका सम्मान था, अजामिल उनका अकेला ही पुत्र था, इसलिये जैसी

कि सभी माता-पिताओं की इच्छा होती है, मेरे पुत्र को सुन्दर-से-सुन्दर वहू मिले, वैसी ही इच्छा उन ब्राह्मण की थी। इसी लिये उन्होंने बहुत द्रव्य व्यय करके एक सर्वगुण सम्पन्ना सुलक्षण कन्या की खोज कराई। भाग्यवश उन्हें एक कुलीन ब्राह्मण की ऐसी कन्या मिल गई। वह अजामिल से भी अधिक सुन्दरी सुशीला और गुणवती थी। पिता ने बड़ी प्रसन्नता से अपने इकलौते पुत्र का बड़ी धूमधाम के साथ विवाह कर लिया। बहू घर में आ गई। पुत्र और वधू को साथ देखकर माता-पिता की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। अब तो अजामिल अग्निहोत्री हो गया, नित्य निमय से गृहस्थ धर्म के अनुसार, अग्निहोत्र बलि-वैश्वदेव करता और माता-पिता की प्रेमपूर्वक परिचर्या किया करता। अजामिल की धर्मपत्नी भी अपने पति में भगवत् बुद्धि रखकर उसकी सेवा सुश्रूषा करती। इसी प्रकार उस परिवार का समय बड़े आनन्द से व्यतीत हो रहा था।

एक दिन की बात है, कि अजामिल अपने पिता की आज्ञा लेकर नित्य नियमानुसार वन में फल, फूल कुशा तथा समिधा लेने गया। समिधा तोडने के लिये वह एक गहन बन के भीतर चला गया। वहाँ एक छोटी-सी नदी कलकल करती हुई वह रही थी। वहाँ के सभी वृक्ष पुष्पित तथा पल्लवित थे। हरी दूब ऐसी प्रतीत होती थी, मानों किसी ने हरा मखमल का गलीचा बिछा दिया हो। प्रकृति स्तब्ध थी वृक्षों पर बैठे विहंग वृन्द कलरव कर रहे थे। पुष्पों से लदी पृथ्वी सजी सजाई नववधू के समान दिखाई देती थी। अजामिल ने बहुत से फल फूल तोड़े। सामने ही उसे एक झुरमुठ मे से कुछ हँसने खेलने की-सी ध्वनि सुनाई दी। राजन्! यह कर्णेन्द्रिय ऐसी पैनी होती है कि भगवत् चर्चा तो सामने होती रहे, तो भी सुनाई न दे, किन्तु जब कोई हँसी मखौल की, शृङ्गार रस की बातें हों तो फट

पहुँच जाती है। अजामिल के मन में भी कुतूहल हुआ कि यहाँ अरण्य में कौन इतने सुख से स्वच्छन्दता पूर्वक हँस खेल रहा है। अपने कुतूहल को मिटाने को ज्यों ही वह आगे बढ़ा त्यों ही उसे एक अत्यन्त ही सुन्दर चन्द्रमुखी, परम रूप लावण्य युक्त एक रमणी दिखायी दी। वह एक नीले रङ्ग की रेशमी साड़ी पहिने हुए थी, लाल कंचुकी के ऊपर सुवर्ण का हार पड़ा था। एक पुरुष के गले में अपनी बाहुओं को डाले वह हँस रही थी। पुरुष देखने से कोई धनी प्रतीत होता था, किन्तु उसकी आकृति से मालूम पड़ता था वह किसी नीच जाति का है। दोनों की चेष्टाओं से प्रतीत होता था, दोनों ही मदिरा के मद में उन्मत्त बने थे। मदिरा पान के कारण दोनों की आँखें चढ़ी हुई थीं। वेश्याओं को एक तो वैसे ही लज्जा कम होती है, तिस पर भी मदिरा के नशे में तो वह और भी अधिक उन्मत्त और निर्लज्ज बन जाती हैं। वे दोनों ही सजे बजे थे, दोनों के बहुमूल्य वस्त्रों में सुगंधित इत्र आदि लगे थे। दोनों की ही भुजाएँ अंगरागों में अनुलिप्त थीं, दोनों ही भुजाओं द्वारा परस्पर में प्रेमालिङ्गन कर रहे थे। उस वेश्या को देखते ही अजामिल का मन उसमें फँस गया। उसके हृदय में उसकी मनमोहिनी मूर्ति समा गई।

उसने अपने को बहुत सम्हाला। वह बार-बार अपने को धिक्कारता। 'अरे, मैं यह क्या कर रहा हूँ, मेरा मन कैसा हो गया है, कहाँ मैं कुलीन वेदपाठी ब्राह्मण, कहाँ यह सर्वभोग्या पण्य स्त्री वेश्या। कहाँ मेरा शील सदाचार, कहाँ इसका व्यभिचारमय जीवन है। मैं यह क्या सोच रहा हूँ।' इस प्रकार वे भाँति-भाँति से मन को समझाकर धैर्य धारण करते। जब तक वे नीचे की ओर देखते, तब तक तो ये विचार उठते, जहाँ उसकी ओर दृष्टि गई कि, सब भूल जाते और यही सोचते, यह मुझे कैसे मिले।

अजामिल ने सोचा मैं यहाँ से हट जाऊँ, किन्तु प्रयत्न करने पर भी उनके पैर वहाँ से उठते नहीं थे। एक सघन कुञ्ज की

ओट से वे उन दोनों की काम क्रीड़ाओं को देखते रहे। सायंकाल होने को आया। वे दोनों तो मदिरा के नशे में हँस रहे थे, गा रहे थे, काम क्रीड़ा कर रहे थे, किन्तु अजामिल के

द्वंद युद्ध हो रहा था। वे अपने सम्पूर्ण धैर्य को बटोर कर इस पाप से निवृत्त होना चाहते थे, किन्तु वे अपने को अवश पाते। अत्यन्त प्रयत्न करते पर भी उन्होंने उस ओर से अपने चित्त को रोकने में असमर्थ पाया। अब तो वे काम रूप ग्रह से ग्रस्त होकर स्मृति शून्य की भाँति बनकर उसी के रूप सौंदर्य के चिंतन में तन्मय हो गये। महाराज! इस दुष्ट मन का पता नहीं कहाँ ले जाकर पटक दे। अजामिल तो गृहस्थ ही था। हमने बड़े-बड़े साधुओं को देखा है, संग दोष से वे बात-की बात मे भ्रष्ट हो गये हैं।

राजा ने पूछा—"हाँ तो भगवन्! फिर क्या हुआ?" अत्यन्त विषाद के स्वर में श्रीशुक बोले—"महाराज! होना क्या, था जो होना था वही हुआ। अजामिल अपने धर्म से विमुख हो गया। अब उसने निश्चय कर लिया जैसे हो तैसे इसे अपने वश में करना है।"

सायंकाल होते ही वे दोनों नगर की ओर चले। पता नहीं उन दोनों ने अजामिल को देखा या नहीं। देखा भी होगा तो ध्यान न दिया होगा क्योंकि कामियों का संसार दूसरा ही होता है, वे इन संसारी लोगों को देखते हुए भी नहीं देखते। अजामिल दृष्टि बचाकर उनके पीछे-पीछे चला। जिस घर में वह वेश्या घुसी उसे उसने देख लिया और अपने घर में चला गया। आज उसका चित्त खिन्न था। उसने न माता-पिता को प्रणाम किया, न धर्मपत्नी से मीठी-मीठी बातें ही कीं। किसी से बिना बोले बिना भोजन किये, वह पड़ रहा। माता-पिता ने बहुत कहा अनेक प्रश्न पूछे, किन्तु उसने यही कहकर टाल दिया—"आज मेरा चित्त ठीक नहीं है। मुझसे बोलो मत मुझे चुपचाप सोने दो।" माता-पिता का हृदय कैसे मानता यथाशक्ति उपचार किये, किन्तु उसने सभी को डाट फटकार दिया।

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज ! जिसके सिर पर काम भूत सवार हो जाता है, उसे सम्पूर्ण संसार सूना-सूना दिखाई देता है, चित्त चचल हो जाता है जिसके निमित्त यह सब हुआ है, उसी की मूरति नेत्रों मे नाचती रहती है, हृदय पटल पर उसी की मूर्ति अकित हो जाती है। अजामिल के हृदय में भी उस वेश्या की मूर्ति गड़ गई। मन उसे छोडकर दूसरी चिन्ता ही नहीं करता था। इस प्रकार वह रात्रि भर जागकर करवट बदलता रहा और आहें भरता रहा।"

छप्पय

कान्य कुब्ज शुभ देश अजामिल रहे विप्र इक।
मित भाषी अनसूय तपस्वी परम धारमिक॥
पितु आज्ञा तें गयो, लैन समिधा इक बनमहँ।
तहँ लखि वेश्या सुघर काम सर लाग्यो मनमहँ॥
वा वेश्या को रूप लखि, बिना दाम ई वह बिक्यो।
रोप्यो चचल चित्त कूँ, राजन् ! परि खल नहिं रुक्यो॥

अजामिल का वेश्या को आत्मसमर्पण

[३५३]

विप्रां स्वभार्यामप्रौढ़ां कुले महति लम्भिताम् ।
विससर्जाचिरात्पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः ॥
यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम् ।
चभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १ अ० ६५-६६ श्लोक)

छप्पय

पत्नी माता पिता तजे वेश्या अपनाई ।
जाति पाँति निज लाज तजी कुल शील बड़ाई ॥
कैसे हूँ धन मिलै घातमहँ घूमे इत उत ।
अपने घर कूँ छाड़ि रहै वेश्या के घर नित ॥
वेश्या संग व्यभिचार तें, बहु बालक वाके भये ।
हिन्सा चोरी करत ई, बहुत दिवस क्षण सम गये ॥

साधारण बाण जहाँ लगता है, वहीं घाव करता है, कुछ काल में घाव अच्छा हो जाता है, यदि विष बुझा हुआ बाण

---

* श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! उस वेश्या के कटाक्ष बाणों से विद्ध हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसे उस पापी अजामिल ने अपनी सत्कुलोत्पन्ना विवाहिता तरुणी भार्या को कुछ ही काल मे त्याग दिया अब तो यह मन्दमति न्याय से अथवा अन्याय से, जहाँ से भी मिले वहीं से द्रव्य एकत्रित करके लाता और बढे हुए कुटुम्बवाली वेश्या के कुटुम्ब का पालन करता ।"

हो, तो कुछ काल में शरीर का अन्त कर देता है, किन्तु यह काम बाण तो मनुष्य को 'मर जीवा' बना देता है। यह बाण कान या चक्षु द्वारा हृदय मे लगता है, किन्तु व्यथित कर देता है सम्पूर्ण शरीर को, इससे न तो मनुष्य मरता ही है, न जीता ही। अधमरा बना बिलबिलाता रहता है, तड़पता रहता है। कामासक्त पुरुष पात्रापात्र का विचार नहीं करता, काम अन्धा बना देता है, विवेक भ्रष्ट कर देता है, कर्तव्य से च्युत कर देता है। मनुष्य अपने धर्म कर्म शील, संकोच मर्यादा शास्त्रज्ञान सदाचार सभी खो देता है। भगवान् ही जिन पर कृपा करें वही इस माया मोह से बच सकता है, या नहीं तो इस पेटू पापात्मा काम के चक्कर में फँसकर सभी नरकादि यातनाओं को भोगते रहते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! प्रातःकाल हुआ अजामिल उठा। घर से अपनी स्त्री का एक अमूल्य चन्द्रहार चोरी कर ले गया और उस वेश्या को जाकर दिया। इसी प्रकार ले जाकर उस वेश्या को दे आता। वह वेश्या जिस सुन्दर मनोरम ग्राम्य विषय से प्रसन्न होती, सन्तुष्ट होती अजामिल उसे ही किसी-न किसी प्रकार से लाकर उसे देता। घर मे धन की तो कुछ कमी थी नहीं, माता-पिता का वह इकलौता पुत्र था, कोई हाथ पकडने वाला भी नहीं था। इस प्रकार उसने अपने पिता के सम्पूर्ण धन को शनैः शनैः उस वेश्या के घर पहुँचा दिया।"

अजामिल रूपवान था, कुलीन था, सुशील था, सदाचारी था, कामी नहीं युवा था, रूप लावण्य युक्त था, प्रारब्ध की बात उस वेश्या का भी चित्त उसमे फँस गया। वह जो शूद्र था, जिससे उसका पहिले सम्बन्ध था, वह देखने मे भी कुरूप था कजूस था, कामी था। अपनी काम वासना की तृप्ति के लिये, आज यहाँ कल वहाँ, इस प्रकार द्वार-द्वार भटकता

किन्तु अजामिल को तो प्रारब्ध ने चक्कर में फँसा लिया, वह तो उसके रूप पर आसक्त था, अपने अनुरूप सर्वगुण सम्पन्न

ऐसी पाकर वेश्या भी प्रसन्न हुई। अब उसने सोचा—"जब तक मेरी युवावस्था है, रूप यौवन है, तब तक तो यह मुझे स्नेह करेगा, संभव है यदि वृद्धावस्था में यह मुझे छोड़ दे। इसलिये

कोई ऐसी युक्ति करनी चाहिये, कि यह मेरे चक्कर में सदा फँसा रहे। ऐसे प्रेमी का पाकर मैं इस घृणित वेश्या वृत्ति को क्यों करूँ ?" यह सोचकर वह एक दिन अत्यत ही स्नेह प्रदर्शित करती हुई बोली–"देखो, सुनत हो, तुम मुझे प्यार करते हो, यह मेरा बडा सौभाग्य है, किन्तु एक बात मैं आपको स्पष्ट बताये देती हूँ। मैं वेश्या हूँ, कुलीन ब्राह्मण वश में मेरा जन्म हुआ था, प्रारब्ध वश मेरे माता पिता मर गये, वेश्या ने मेरा पालन पोषण किया। जब मैंने युवावस्था में प्रवेश किया, तब पहिले ही पहिल मेरा उस धनी शूद्र से सम्बन्ध हुआ। उसके अनन्तर भगवान् ने तुम्हें भेज दिया। दो को छोडकर मैंने आज तक किसी तीसरे का मुँह भी नहीं देखा। मैं चाहती हूँ, जीवन भर मैं आपकी चिर सगिनी बनी रहूँ। किन्तु एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती। एक हृदय दो को समान रूप से प्यार नहीं कर सकता इसलिये या तो आप अपनी पुरानी स्त्री के साथ रहो या मुझे सदा के लिये अपना लो। दुरङ्गी बात ठीक नहीं एक ओर हो जाओ। जैसा आप प्रकट करते हैं यदि यथार्थ में आप मुझसे प्रेम करते हैं तो आप मेरे साथ ही रहें, घर से सम्बन्ध सर्वथा छोड दें।

अजामिल तो उस वेश्या के चक्कर में फँस चुका था, उसे उसके बिना चैन ही नहीं पडता था। उसे माता पिता तथा पत्नी का कुछ मोह तो रहा ही नहीं था। घर में वह धन के लिये जाता था। घर का सम्पूर्ण धन प्रायः समाप्त ही हो चुका था, पत्नी के समस्त वस्त्राभूषण चुरा चुराकर वह उस वेश्या को दे चुका था। माता पिता भी उसके इस व्यवहार से दुखी रहते। पतिव्रता पत्नी भी कभी कभी पैर पकडकर उसे समझाने की चेष्टा करती किन्तु उसके मन में तो वह मदिरेक्षणा बस गई थी, उसे ये बातें अच्छी नहीं लगती। अतः उसने माता पिता को, युवावस्थापन्न

सत्कुलोत्पन्ना सुशीला, सुन्दरी, सर्वलक्षणा, सर्वगुण सम्पन्ना, सती साध्वी, विवाहिता धर्मपत्नी को छोड़ दिया और अब वह सदा उस वेश्या के साथ ही रहने लगा। वेश्या भी इसे हृदय से प्यार करने लगी और पत्नी की भाँति इसके अनुकूल करने लगी।

वेश्या ने अपनी वेश्या वृत्ति तो छोड़ ही दी थी। मदिरा पान का व्यवसन उसे लग ही चुका था, मदिरा पान करने वाले को मांस अवश्य ही चाहिये, फिर साज शृङ्गार, वस्त्राभूषणों, तेल, फुलेल, कामोद्दीपक अंगराग सभी के लिये तो धन चाहिये। पूरी गृहस्थी का खर्च था। उस वेश्या के एक दो नहीं नौ पुत्र हो चुके थे। कामना कुछ नहीं। इतना लम्बा चौड़ा गृहस्थी का खर्च कहाँ से पूरा हो। यदि आय न हो और व्यय ही होता चले यो समुद्र भी रीते हो सकते हैं। पिता का जो धन था, वह शनैः-शनैः समाप्त हो चुका। पुत्र को मांस मदिरा अवश्य चाहिये। अब उसे कुछ करने की चिन्ता हुई। क्या करता पाश हाथ में लेकर जंगलों में जाता। हरिनों को मार लाता। तीर कमान से बहुत से पशुओं की हत्या कर लाता। मांस तो इस प्रकार आ जाता, मदिरा आदि ऊपर के खर्च के लिये चोरी कर लाता, डाका डालता, जुआ खेलता। जूए में कभी बहुत सा धन मिल जाता, कभी सब को हार जाता, तो फिर कहीं से लूट पाट करके लाता। सारांश कि अब वह पूरा चोर, जुवारी, डाकू, हिंसक तथा निर्दयी बन गया। परिस्थित में पड़कर सभी शील, सदाचार ज्ञान ध्यान को भूल गया। अब तो उसे एक ही धुनि थी, कैसे मेरा काम चले कैसे मेरे कुटुम्ब का पालन-पोषण हो। अब तो उसे उस बहुत कुटुम्ब वाली वेश्या के भरण पोषण की चिन्ता थी। अब उसके लिये कर्तव्याकर्तव्य का, भले बुरे का

कुछ भी विचार नहीं रह गया। या जिस उपाय से धन आ जाय उसे ही करने लगता।

किसी धनिक को जाते देखता, तो वहाँ उससे आगे बनावटी सोना डाल देता। जब वह उठा लेता तो उससे कहता—"आधा भाग इसमें हमारा भी है, नहीं अभी राजकर्मचारियों को पकड़वा दूँगा। वह डर जाता। सौ रुपये मे बात ते होती, उससे पचास रुपया लेकर चल देता। वह बनावटी सुवर्ण दो रुपये का भी नहीं होता। इस प्रकार अनेक प्रकार से लोगों को ठगता। एकान्त में किसी को देखता तो उसे लूट लेता किसी की हत्या कर देता। घोर जगल मे उसने ऐसी गुप्त गुफायें बना रखी थीं, कि वहाँ धनिकों के लडकों को ले जाकर बन्द कर देता, फिर किसी से मिल जुलकर दस-पन्द्रह हजार रूपये मे मामला ते होता, उनसे रूपये लेकर छोड देता। कभी किसी स्त्री को फुसिलाकर ले जाता, उसके गहने उतार लेता, उसे मारकर नदी मे फेंक देता। कभी दस-पद्रह लुटेरों के सग जाकर डाका मार लाता। सशस्त्र होकर किसी धनिक के घर जाकर उनकी स्त्रियों के हाथ पैरों को काटता, उँगलियों को जला-जला कर उन से गडा हुआ द्रव्य पूछता, इस प्रकार अनेक यातनायें देकर उनका सर्वस्व हरण करके साथियों को लेकर लौट आता। उस धन को सबको बाँट देता। अधिक कहाँ तक कहें धन प्राप्ति के लिये वह जो भी करना पडता उसे ही करता। इस प्रकार पाप करते करते वह बूढा हो गया।

यह सब सुनकर खिन्न चित्त होकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह बात कुछ हमारी समझ में आई नहीं, कि इतना सदाचारी, इतना शील सम्पन्न वह मातृ पितृ भक्त अजामिल सहसा एक ही बार उस वेश्या को देखकर इतना आसक्त क्यों हो गया। अजी, ऐसा होता है, कि नित्य साथ रहने से शनैः-

शनैः प्रेम बढ़ जाता है, एक दूसरे के प्रति प्रेम हो जाता है। उस वेश्या को उसने पहिले कभी देखा नहीं, जान नहीं, पहिचान नहीं, बोल नहीं, चाल नहीं, संग नहीं, संपर्क नहीं, एक बार देखते ही इतना मोह हो जाना यह तो हमें जादू-सा मालूम पड़ता है। इसके पहिले उसने और भी तो बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियों को देखा होगा, उन पर इसका मन क्यों नहीं गया, इसी में ऐसी क्या विशेषता थी, कि देखते ही अपनेपन को भूल गया ?"

यह सुनकर अत्यन्त ही खिन्न मन से सूतजी कहने लगे—"भगवन् ! अब मैं क्या बताऊँ, यही कहना कि ये पूर्व जन्म के कोई संस्कार हैं। बहुत से स्त्री पुरुष जीवन भर हमारे साथ रहते हैं, एक से एक सुन्दर एक से एक रूप लावण्य युक्त उनकी ओर कभी मन जाता ही नहीं। पूरा परिचय भी नहीं होता, इसके विपरीत किसी को देखते ही चित्त उसकी ओर खिंच जाता है, पल भर में उससे आत्मीयता हो जाती है। इससे मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि ये सब पूर्व जन्म के संस्कार हैं। पहिले जन्मों में जिनसे सम्बन्ध रहा है, प्रारब्धवश जब वे सन्मुख आ जाते हैं तो ऐसा लगता है, ये हमारे न जाने कितने दिनों के परिचित हैं। बातें होते ही घनिष्टता बढ़ जाती है और अत्मीयता स्थापित हो जाती है। इस विषय में आपको मैं एक अत्यन्त ही रोचक, शिक्षाप्रद कहानी सुनाता हूँ, उसे आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

कहाँ वेद को पाठ कहाँ चोरी जूआ नित।
कहाँ धरम अनुराग पाप में फस्यो कहाँ चित॥
कहाँ कुलवती सती कहाँ वेश्या पणनारी।
किन्तु अजामिल बुद्धि भाग्य ने तुरत बिगारी॥
बत पालन आचार सद्, वेश्या सँग तैं नसि गयो।
व्याधिनि वेश्या बनि गई, द्विज फन्दा महँ फँसि गयो॥

पूर्वजन्म के संस्कार ही सम्बन्ध में कारण हैं

[३५४]

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्त व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत ।
यथायोनि यथाबीज स्वभावेन बलीयसा ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १ अ० ५४ श्लो०)

छप्पय

पूर्वजन्म को पाप शाप मनमहँ रह जावे ।
अपर जन्म महँ आइ पाप फल निज दरशावे ॥
काऊ को धन हर्‌यो सर्‌यो बनिकें सो लेगो ।
है के परवश पिता बन्यो वाकूँ वो देगो ॥
बिधवा बनि पर पुरुष कूँ, पाप दृष्टि तें लखें जे ।
ब्याह होत ही मरे पति, पुनि पुनि बिधवा बनें ते ॥

जन्मान्तरीय सस्कार के बिना सहसा घनिष्ट सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। घर मे, ग्राम मे, पुर मे, नगर मे, देश में, ससार मे कितने जीव हैं, कितने पुरुष हैं, हमार लिये न होने के बराबर हैं। हमारे घर में कितने नौकर आते हैं वर्षों काम करके चले जाते हैं। रात्रि दिन साथ रहते हैं। जहाँ गये, फिर हम उनका

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! प्रारब्ध रूप निमित्त को पाकर प्रबल वासना रूप स्वभाव द्वारा योनि और बीज के अनुरूप (स्थूल) और अव्यक्त (सूक्ष्म) शरीर उत्पन्न होते हैं।"

नाम ही नहीं भूल जाते हैं सूरत भी भूल जाते हैं किन्तु कोई नौकर ऐसा आता है कि रात्रि-दिन अपने घर की तरह काम में जुटा रहता है, घर भर का उस पर मोह हो जाता है सब उसे अपने परिवार का ही पुरुष समझते हैं। एक माता के पेट से दो भाई हुए है, सहोदर हैं। किंतु एक दूसरे का गला काटने को सर्वथा तत्पर रहते हैं। इसके विपरीत कोई दूसरे वर्ण का है, दूसरे देश का है, दूसरी भाषा बोलने वाला है वह सर्वस्व हमें समर्पण कर देता है, सगे सम्बन्धियों से बढ़कर प्यार करता है, हमारे प्रत्येक कार्य में सहायक होता है। एक ऐसा पुरुष है जो सुन्दर से सुन्दर लड़कियों से प्रस्ताव होने पर भी विवाह नहीं करता है और किसी काली कलूटी कुरूपा से हठ पूर्वक विवाह कर लेता है, इन सब बातों को देखकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि मनुष्य पूर्वजन्मों के सम्बन्धों से, पाप शापों से विवश हो जाता है। नहीं तो सोचिये, अपना अपयश कौन चाहता है। किसकी इच्छा है, कि हमारी अपकीर्ति हो लोग हमें बुरा भला कहें, किन्तु इतनी बड़ी कीर्ति को मनुष्य तनिक-सी बात पर खो देता है। हमने बहुत से साधुओं को देखा है, उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, बड़ा मान सम्मान था, लोग परमात्मा की भाँति उनकी पूजा करते थे, अन्त में किसी के चक्कर में ऐसे फँसे की सब प्रतिष्ठा धूलि में मिल गई सब मान सम्मान पानी में बह गया और वणिकवृत्ति करने लगे। इच्छा न रहने पर भी वे फँस गये। प्रारब्ध ने—अदृष्ट ने बलपूर्वक उन्हें ऊपर से पकड़कर नीचे पटक दिया। भगवान् की शरण में जाने के अतिरिक्त और इसके लिये कोई अन्य उपाय नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह जीवपूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण अवश होकर काम करने लगता है। ये संस्कार ही प्राणियों से कर्म कराते हैं और उन्हें चौरासी के चक्कर में

घुमाते हैं। जो मनुष्य जैसी वासना लेकर मरता है, दूसरे जन्म में वह वैसा ही शरीर धारण करता है। शाप और अनुग्रह भी प्रारब्धवश ही प्राप्त होते हैं। कोई पूर्वजन्म का खोटा संस्कार होता है, तो समर्थ पुरुष शाप दे देते हैं, कोई अच्छा संस्कार उदय हुआ तो संत पुरुष के हृदय मे अनुग्रह करने की प्रेरणा हो जाती है। जीव वासना की पूर्ति के लिये ही पुनः पुनः जन्म धारण करता है और सुख दुःख भोगता है। इस विषय मे एक अत्यन्त ही रोचक कहानी सुनिये।"

जिस मथुरापुरी मे भगवान् आनन्द कन्द भगवान देवकी नन्दन स्वयं साक्षात् अपने स्वरूप से अवतरित हुए, जहाँ नित्य ही श्री हरि की सन्निधि रहती है, जिस पुरी का लीलाधारी प्रभु कभी परित्याग नहीं करते उसी पावन पुरी मे एक साधु रहते थे। साधु बडे ही सज्जन वैराग्यवान् तथा सदाचारी थे। योगाभ्यास से उन्हें प्रेम था, एकान्त मे रहकर यम नियमों का पालन करते हुए दूध, फल मक्खन आदि योग साधना में उपयोगी नियमित आहार को वे करते थे। कुछ उनके भक्त थे, जो उनकी द्रव्यादि से सहायता करते थे।

वैसे तो साधु के मन मे कोई सांसारिक वासना नही थी, किन्तु फिर भी एक परमार्थिक वासना थी। मुनियो! साधु चाहे त्यागी, सदाचारी, वैराग्यवान भी क्यो न हों किन्तु फिर भी दो वासनायें प्रायः रह ही जाती हैं। एक तो भंडारा करने की वासना और एक आश्रम बनाने की वासना। बस, इन दो वासनाओं मे ही बँधकर साधु अपने यथार्थ लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है, उसे फिर जन्म लेना पडता है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इसमे अपना क्या स्वार्थ है, यह तो परोपकार है, दस आदमियों के मुँह में पड़े तो यह कौन सा बुरा काम है। साधु के गृहस्थी नहीं

बच्चे नहीं, जिनके लिये घर बनावें। मान लो आश्रम बना ही लिया, तो जो आवेगा वही रहेगा। किसी-न-किसी का भला ही होगा। इसे आप बुरा क्यों कहते हैं ?"

सूतजी इस पर शीघ्रता के साथ बोले—"महाराज! मैं बुरा नहीं कहता। अच्छा ही सही, किन्तु है तो पुण्य का काम ही पाप से नरक मिलता है, पुण्य से स्वर्ग मिलता है। भंडारे और आश्रम के बनाने में छिपी हुई कीर्ति की इच्छा तो रहती ही है। पृथ्वी पर जिसकी जितने दिन कीर्ति रहेगी, उतने दिन उसे स्वर्ग में अवश्य रहना पड़ेगा। जैसे किसी का नाम है मदन मोहन उसने एक मदन मोहन दातव्य औषधालय बनवा दिया। मदन मोहन तालाब खुदवा दिया। मदन मोहन विद्यालय बनवा दिया, तो जब तक ये वस्तुएँ रहेंगी तब तक उन्हें स्वर्ग में सुख भोगने पड़ेंगे। इसी प्रकार किसी सच्चिदानन्द नाम के स्वामी ने सच्चिदानन्द आश्रम बना दिया, तो वे मुक्ति से तो वञ्चित हो गये। मुक्ति मार्ग वालों के लिये जैसा ही स्वर्ग वैसा ही नरक, पथभ्रष्ट तो हो ही गये।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अजी, सूतजी! यह तो आपने बड़ी गड़बड़-सड़बड़ कर दी। देखिये, व्यास वाल्मीकि हैं, इनका नाम तो अजर अमर है। फिर तो इनकी मुक्ति नहीं हो सकती ?,,

यह सुनकर सूतजी बड़े जोरों से हँस पड़े और बोले—"महाराज! आप चाहें गड़बड़ समझें चाहें सड़बड़। जो सत्य बात है वह तो मुझे इस आसन पर बैठकर कहनी ही पड़ेगी। हाँ, ये व्यास, वाल्मीकि आदि महर्षि तब तक मुक्त नहीं हो सकते जब तक कि इस कल्प की सृष्टि समाप्त न हो जाय। देखिये व्यासजी तो अभी हैं ही, उन्हें तो अगले मन्वन्तर में सप्तर्षि बनना होगा। हमने ऐसा सुना है, वाल्मीकिजी कलियुग में एक

ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए हैं और उन्होंने मानस रामायण की रचना की है। मुक्त हो जाते तो जन्म कैसे लेते ?"

यह सुनकर चिंता के स्वर में शौनकजी बोले—"तब तो सूत जी ! हम जो यह यज्ञ याग कथा कीर्तन कर रहे हैं इनका फल भी स्वर्ग ही है क्या ?"

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"महाभाग ! आप चिन्ता न करें आप तो मुक्त ही हैं। भगवद् प्रीत्यर्थ किया हुआ कार्य बन्धन का कारण नहीं होता। बन्धन उनको होता है, जो मुक्ति के इच्छुक है। भक्त तो मुक्ति को ठुकरा देते हैं। जैसे बालक जब मचल जाता है, तो माता पिता उसे खिलौना देकर शांत कर देते हैं। भगवन् ! वैसे ही यह मुक्ति है। भक्त इस चक्कर में नहीं आते, वे खिलौने को ठुकरा देते हैं, माता के हृदय से चिपटकर उसका मधुर मधुर दूध पीना चाहते हैं। भगवत् सेवा के बिना मुक्ति को ग्रहण नहीं करते। ये व्यास, वाल्मीकादि हुए, आप जैसे परोपकारी सन्त हुए। ये तो नित्य मुक्त ही हैं। राड मुक्ति में और रखा ही क्या है। गुम्म सुम्म हो जाना इसी का नाम मुक्ति हो तो पाषण सब मुक्ति हैं। आप अहर्निशि भगवान् की मधुरातिमधुर कथायें सुन रहे हैं, नित्य भगवान् का भोग लगाकर प्रसाद पा रहे हैं, किसी को मारकर मुक्ति प्राप्त होती होगी, आप तो जीते जी मुक्ति का आनन्द लूट रहे हैं। हाँ, तो उन मथुरा के महात्मा को साधुओं का एक भण्डारा करने की प्रबल वासना थी। इसी निमित्त उन्होंने शनैः शनैः अपने आहार में से बचाकर कुछ द्रव्य एकत्रित किया। धनी लोग उनका सम्मान करते थे, अतः कुछ काल में उन पर बहुत द्रव्य हो गया।

मुनिवर ! जिन दिनों की मैं बात बता रहा हूँ, उन दिनों द्रव्य का ही मूल्य था। अन्नादि वस्तुओं का कोई मूल्य नहीं

था, एक रुपया देने पर चाहे जितना अन्न ले लो, चाहे जितना घृत। उन दिनों एक निष्क—सुवर्ण की मुहर—बहुत अधिक मानी जाती थी, ऐसी सुवर्ण की मुहरें उन्होंने १५० इकट्ठी कर लीं। सोचा—"इतने से लाखों साधुओं का भण्डारा हो जायगा। उन्हीं दिनों तीर्थराज प्रयाग में अर्धकुम्भी का पर्व था। साधु ने सोचा—"प्रयागराज चलें। वहाँ त्रिवेणी स्नान भी मकर भर करेंगे और भण्डारा भी हो जायगा, किन्तु इतने द्रव्य को ले कैसे जायँ। यही उन्हें चिन्ता थी। महाभाग! यह धन आते ही भाँति-भाँति की उपाधि खड़ी करता है, इसलिये श्रेष्ठ पक्ष तो यह है, कि साधु को धन का संग्रह करना ही न चाहिए यदि प्रारब्धवश ऐसा न कर सके, ग्रहण करना ही पड़े तो आते ही उसे तुरन्त खर्च कर देना चाहिये। पास में रहेगा तो अनेक संकल्प विकल्प उठेंगे। इसे दें या उसे दें यह काम करें या वह काम करें। दश चापलूस पीछे लग जायगे, जिसे न दो उससे शत्रुता मोल लो। यह धन आते ही पहिले तो सब पर अविश्वास उत्पन्न होता है जहाँ चार पैसे इकट्ठे हुए नहीं कि सभी पर संदेह होने लगता है, लोग ताड़ जाते हैं इस पर अवश्य कुछ खुटका है जिन दिनों की यह घटना है, उन दिनों मार्ग चलना साधारण कार्य नहीं था, यातायात की वर्तमान समय की भाँति सुविधायें नहीं थीं। यात्री या तो घोड़ागाड़ी बैल गाड़ियों पर यात्रा करते थे या पैदल। मार्ग में बड़े-बड़े बीहड़ वन पड़ते थे। स्थान-स्थान पर लुटने का भय होता था। धनिक लोग अस्त्र शस्त्रों के साथ बड़े प्रपञ्च के साथ यात्रा करते थे। साधु को वे सब सुविधायें कैसे प्राप्त हो सकती थीं। किसी यात्री के समूह के साथ चलना वे चाहते नहीं थे। कोई ताड़ गया तो गोविन्दाय नमोनमः कर देगा। इसलिये उन्होंने एक युक्ति सोची। एक बड़ी-सी खोखली गुप्ती बनाई। उसमें १५० मोहरों को भर दिया। ऊपर

से पेचदार ऐसी मूँठ बनाई कि किसी को प्रतीत ही न हो यह पृथक् है, देखने वाले समझें मुडी हुई लाठी है। अब क्या था प्रबन्ध हो गया। एक लँगोटी लगाई एक हाथ मे यह गुप्त डण्ड दूसरे मे कमण्डलु। जयजय सीताराम, प्रयागराज के लिये महात्मा जी चल पडे। चलते चलते नगर ग्रामो को पार करते, नद नदियो को नाँघते, भिक्षा माँगते खाते, साधु बाबा यमुनाजी को छोडकर गङ्गाजी के किनारे आये और किनारे-किनारे प्रयागराज की ओर बढने लगे।

जहाँ काली नदी श्रीगङ्गाजी से आकर मिलती हैं उस कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर के समीप वे पहुँचे वहाँ एक धनी वैश्य रहता था वैसे तो वह बडा कृपण था किन्तु उसके कोई सन्तान नहीं थी। इसी लोभ से कि किसी साधु सन्त के आशीर्वाद से मेरे पुत्र हो जाय, वह आये हुए साधुओ की यथाशक्ति सेवा किया करता था। उन्हें भोजन करा देता, वस्त्र दे देता। जब उसने इन इतने विरक्त तेजस्वी महात्मा को देखा, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और इन्हें बडे सत्कार से घर ले गया। विधिवत् पूजा करके प्रेमपूर्वक प्रसाद पवाया। लेटने को सुन्दर तख्त बिछा दिया उस पर मुलायम गद्दा बिछा दिया। महात्माजी लेट गये, तो वह प्रेमपूर्वक पैर दबाने लगा।

महात्मा दिन भर के थके थे, भूखे प्यासे थे। पेट भर के सुदर स्वादिष्ट भोजन मिला, सोने को गुदगुदा गद्दा। पडते ही वे सो गये, उन्हे पता ही न रहा बनिया कब तक पैर दबाता रहा।

बनिया ने जब देखा, महात्मा तो सो गये हैं, तो वह उठकर घर के भीतर जाने लगा। सहसा उसकी दृष्टि महात्मा के समीप ही रखे हुए उस वसु पूर्ण डन्डे पर पडी। डडे की सुन्दरता से उसके मन में कुतूहल हुआ कैसा सुन्दर डडा है, कुछ बुरी भावना से नहीं वैसे ही देखने के लिये उसने डडे को ठडा कर लिया।

उठाया तो वह बड़ा भारी मालूम हुआ। उसे सन्देह हुआ काठ का डंडा तो इतना भारी होता नहीं। यह किस वस्तु से बना है। कुतूहल वश उस पर वह हाथ फेरने लगा, उसकी मूठ को देखने लगा। ध्यान से देखने से उसे ऐसा लगा यह तो पेच है। बल लगाकर परीक्षार्थ उस मूठ को घुमाया। पेंच तो था ही खुल गया खोलकर जो देखा तो उसमें कुछ खनखनाहट हुई। कृपण तो वह था ही, बनिया का संदेह बढ़ा। उसे लिये हुए भीतर चला गया। खोलकर मुहरें निकाली निकालकर गिनी पूरमपट्ट १५० निकलीं अब तो बनिये के मुँह में पानी भर आया। बनैनी को बुलाकर पूछा—"सुनती है, साधु तो बड़ा करामाती निकला, इसके डंडे में तो सोना पैदा होता है।"

स्त्री ने देखकर कहा—"रहने भी दो, किसी की वस्तु पर क्यों चित्त चलाते हो, जैसी है वैसी ही इन्हें भरकर उसके पास रख आओ।"

बनिया ने कहा—"रख आवें तो साधु क्या करेगा, इसके न घर न द्वार, न स्त्री न बच्चे, ऐसे ढोते-ढोते मर जायगा, किसी न किसी के हाथ ही लगेंगे। हमारे यहाँ रहेंगे तो अच्छा है, किसी काम में लगेंगे। व्यापार में लगेंगे, बढ़ेंगे, कुछ धर्म पुण्य होगा।"

स्त्री ने व्यङ्ग के स्वर में कहा—"व्यापार ऐसे अधर्म अन्याय से होता है, पाप के पैसे से क्या पुण्य ? पुण्य करो तो धर्म पूर्वक करो, न्याय से पैदा करके करो।"

बनिया ने कहा—"स्त्री में जितनी बुद्धि होगी, उतनी ही बात करेगी। तुझे व्यापार का क्या पता। तू तो यही जानती है, नोंन नहीं है, तेल नहीं है। लँहगा फट गया है, ओढ़नी पुरानी हो गई है। पैसा तो अन्याय से पैदा होता है, आज जिनका इतना नाम है, जो धर्मात्मा करके प्रसिद्ध हैं, पता है, ये किस प्रकार

गरीबों का रक्त शोषण करके पैसा पैदा करते हैं। न्याय से धर्म पूर्वक तो पेट भले ही भर ले। सो पेट भी भरना कठिन है, पैसा जमा तो अन्याय से होगा, पाप से ही पैसा आता है। खुसाला जो भी करे वही न्याय है, वही धर्म है।"

स्त्री ने व्यङ्ग से कहा—"अन्याय अधर्म से पैसा पैदा नहीं होता है लालाजी! अन्याय से पाप से, चोरी से, पैसा जुड जाय, तो जो चोर, झूठे, नीच पुरुष हैं सभी लखपती करोडपती हो जायँ। पैसा इकट्ठा होता है, प्रारब्ध से, प्रारब्ध में न हो तो कितना अन्याय करो-कितना भी झूठ बोलो-पैसा न आवेगा।"

बनिया ने कहा—'यही तो मैं कहता हूँ, मेरा प्रारब्ध था, तभी तो साधु मेरे घर आ गया। नहीं कितने लोग नगर में हैं। उसने तो कितने यत्न से कितना छिपाकर रखा था प्रारब्धहीन पुरुष की दृष्टि थोडे ही जा सकती थी। मेरे प्रारब्ध में था तभी मेरी दृष्टि गई, इसे खोलने की बुद्धि हुई। किसी गृहस्थ का होता, तो मैं हाथ भी न लगाता उसके बाल बच्चे कोसते। किन्तु साधु का रुपया लेकर तो उसका उपकार ही करना है, उसे झंझटों से मुक्त करना है। यदि यह साधु होगा, तो प्रसन्न ही होगा, यदि साधु वेष में कोई ठग हुआ, तब तो कोई बात नहीं, यह भी कहीं से ठगकर ही लाया होगा!"

स्त्री बिचारी क्या उत्तर देती। अपने पति की इच्छा समझकर उसके मन में भी लोभ आ गया। सब अशर्फियाँ निकाल लीं और उतने ही तोल के उसमें गोल गोल मिट्टी के खपडे भर दिये। गुप्ती को उसी प्रकार बन्द कर साधु के समीप रख दिये। दोनों अकस्मात् इतना धन पाकर बड़े प्रसन्न हुए।

प्रातःकाल हुआ, साधु जगे। उन्होंने वेश्य के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"लालाजी! आपके घर में हमने

बड़ा सुख पाया। यात्रा का कुछ भी कष्ट प्रतीत नहीं हुआ। अब हम जायेंगे। संक्रान्ति का पर्व समीप है, दिन रात्रि चलेंगे तब पहुँच जावेंगे। मैं मकर की संक्रान्ति को प्रयागराज अवश्य पहुँच जाना चाहता हूँ।"

बनिया ने बनावटी विनय दिखाते हुए कहा—"महाराज! आप कैसी बातें कह रहे हैं। यह आपका घर है, लौटते समय अवश्य मुझे दर्शन दें। इस समय तो आप शीघ्रता में हैं, माघ स्नान करके जब आवें, जब १०-२० दिन रहकर हमें अपने सत्संग का लाभ अवश्य दें।"

साधु ने कहा—"हाँ लालाजी! लौटते समय मैं अवश्य आऊँगा। आप दोनों बड़े धर्मात्मा हैं।" इतने में ही स्त्री ने कहा—"महाराज! और तो आपकी दया से हमारे यहाँ सब सुख है, किन्तु इस इतनी सम्पति को पीछे भोगने वाला कोई नहीं है।"

साधु समझ गये, उनके पास धनर्थी पुत्रार्थी आते ही रहते थे। बड़े स्नेह से बोले—"मङ्गलमय श्रीहरि सब मङ्गल ही करें। सेठानीजी! तुम कोई चिन्ता मत करो।" इस प्रकार दोनों को समझा बुझाकर साधुजी वहाँ से प्रयागराज की ओर चल दिये और दिन रात्रि चलकर संक्रान्ति से दो दिन पूर्व प्रयागराज पहुँच गये।

तीर्थराज प्रयाग में माघ की संक्रान्ति का प्रति वर्ष महान् पर्व होता है, फिर कुम्भ अर्धकुम्भी के समय तो पूछना ही क्या देश देशान्तरों के साधु महात्मा एकत्रित होते हैं। सर्वत्र साधु-सन्तों के अखाड़े-ही-अखाड़े दिखाई देते हैं। साधु बाबा की इच्छा थी, संक्रान्ति के दिन सबका निमन्त्रण करें। इसी संकल्प से वे एक प्रतिष्ठित महन्त के यहाँ उतरे और उतरते ही उन्होंने अपना मनोगत भाव कह सुनाया। स्थानधारी महन्त तो माधवजी

से यह मनाते ही रहते हैं, कोई भडारा करने वाला जिजमान आ जाय। फिर क्या था महन्त जी ने बात-की बात में सब अखाड़ों में निमन्त्रण भिजवा दिया। तई मँजने लगी दूध का और सूजी का प्रबन्ध होने लगा। महन्तजी के प्रधान भंडारी ने कहा—"बाबाजी पर कुछ दीखता तो है नहीं। कुछ पहिले द्रव्य तो मागना चाहिये।" महन्तजी का उधर ध्यान ही नहीं था भडारी के कहने पर उन्होंने कह दिया—"अच्छी बात है कुछ माँग लो।"

भंडारी ने साधु से कहा—"महाराज जी! सूजी आनी है। शकर, घृत,आटा सभी आना है, रुपये पैसे का क्या डौलडाल है। किसी सेठ के नाम की आप पर हुण्डी है, या कोई पीछे रूपये लेकर आ रहा है।"

साधु ने दृढता के स्वर में कहा—"आपको इसकी क्या चिंता कहीं से आवें, रुपये आपको प्रातःकाल मिल जायेंगे।"

देखने में वे बडे सज्जन तेजस्वी प्रतीत होते थे, उनकी दृढता पूर्ण बात को सुनकर महन्तजी ने बात टालते हुए कहा—'नहीं, नहीं, बाबाजी ऐसी अविश्वास वाली बात नहीं। यहाँ भी भगवान के भडार में कुछ कमी नहीं है। रुपये आते रहे।" बात यहीं समाप्त हो गई।

रात्रि हो गई, सब सो गये। साधु को रहने के लिये महन्त जी ने एक अच्छी-सी कुटी दे दी थी। भंडारे की बात न होती तो कहीं बाहर धूनी आदि बना देते। किन्तु जो इतना बडा भडारा कर रहा है, उसका तो विशेष सत्कार करना ही चाहिये। सबके सो जाने पर साधु ने अपनी गुप्ती खोली। पास में ही एक दीपक जल रहा था। उसके प्रकाश में साधु ने जो कुछ देखा उस पर उसे सहसा विश्वास न हुआ। उसने घबडाकर अपनी आँखें मलीं कि मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। किन्तु

साधु बाबा सो तो रहे ही नहीं थे, जाग रहे थे। जो वे देख रहे थे, सत्य ही था। गुप्ती की सुवर्ण मुद्रायें तो कान्यकुब्ज देश के श्रेष्ठी के यहाँ रह गई थीं। वे तो खपड़े के ठीकरे थे। साधु को अत्यन्त ही मानसिक दुःख हुआ। उसकी समझ में बात आ गई। मेरे साथ विश्वासघात किया गया अब क्या करें। आधी-रात्रि का समय था। सीधा कुटी से निकलकर संगम की ओर चला।

भगवती भागीरथी अपनी बहिन कालिन्दी से मिलने के लिये द्रुतगति से दौड़ी जा रही थी। सूर्यतनया यमभगिनी अपनी मन्थर गति से गङ्गा की प्रतीक्षा-सी कर रही थी। चंचल बालिका के समान गङ्गाजी यमुना की नीली साड़ी में अपने अंगों को समेट कर घुस जाती और फिर प्रकट होकर हँस पड़ती दोनों बहिनें गले से गला लगाकर मिल जातीं। यह मिलन संगम पर प्रतिपल होता है, अनादिकाल से यह संगम हो रहा है, कब तक होता रहेगा, यह तो चार मुँह वाले बूढ़े बाबा की पोथी में लिखा हो किसी ने उसे बाँचा हो तो वह जाने। अपने राम को तो इसका मुनियो! पता है नहीं।

साधु बाबा लज्जा संकोच, आत्मग्लानि से अत्यन्त ही दुखी थे। उसी दुःख के आवेग में वे गङ्गा यमुना की तीक्ष्ण धाराओं के संगम में कूद गये। पता नहीं उनके शरीर का क्या हुआ उन्होंने आत्महत्या कर ली। यही कुशल की बात थी, कि कहीं अन्यत्र नहीं की, नहीं तो प्रेत बनना पड़ता।

साधु की कथा तो समाप्त हुई अब सेठजी की कथा सुनिये। उन स्वर्ण मुद्राओं को लेकर सेठ ने एक बड़ा व्यापार किया। प्रारब्ध की बात तो देखिये, कभी-कभी अन्याय का धन भी बहुत फलता फूलता है। उस धन से जो व्यापार किया, उसमें दिन दूना रात्रि चौगुना लाभ होने लगा। लालाजी की बड़े-बड़े

नगरों में कोठियाँ बन गईं हुण्डियाँ चलने लगीं। यही नहीं उनकी पत्नी की सूनी कोख भी भर गई, कुछ काल के अनन्तर उनकी पत्नी ने एक पुत्र रत्न को भी प्रसव किया।

सेठ के पुत्र क्या हुआ, साक्षात् कामदेव का अवतार ही था। उसके अङ्ग प्रत्यग से सौंदर्य फूटफूटकर निकल रहा था। विशाल मस्तक पर काले घुँघराले बाल थे, बड़े बड़े विशाल नेत्र। जो भी एक बार उस बच्चे को देख लेता वही मन्त्रमुग्ध की भाँति उसे देखता का देखता ही रह जाता। वृद्धावस्था में इतने अनूप रूप युक्त पुत्र को पाकर वैश्य दम्पत्ति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। जैसे अत्यन्त कृपण अपने धन की रक्षा करता है, उसी प्रकार माता-पिता उस पुत्र का पालन-पोषण करने लगे। जिस दिन से पुत्र का जन्म हुआ, उसी दिन से उनका विभव और भी बढ़ गया। वैसे वैश्य कृपण था, किन्तु पुत्र के निमित्त वह जितना ही व्यय करता, उतनी ही उसे प्रसन्नता होती। बच्चे को तनिक भी सर्दी हुई या रात्रि में छींक आ गई, तब से बड़े चिकित्सक बुलाये जाते और धन पानी की भाँति बहाया जाता। जिस प्रकार बड़े-से-बड़े राजकुमार का पालन पोषण होता है, उसी प्रकार उस वणिक पुत्र का पालन पोषण होने लगा। शनः-शनैः बच्चा बड़ा हुआ।

पढ़ाने को पंडित रखे गये, उसकी तीक्ष्ण बुद्धि का क्या कहना। एक बार जो सुन लेता उसे ही याद कर लेता। धर्म में उसकी ऐसी अभिरुचि थी, कि सदा पंडितों और साधु-सन्तों की भीड़ लगी रहती। दूर दूर के विद्वान उसकी प्रशंसा सुनकर आते। सबका बड़ी सत्कार करता, जो कोई जिस वस्तु की याचना करता उसे वही देता। वह कभी याचकों को विमुख न जाने देता। उसे धर्म कार्यों में साधु, ब्राह्मणों को भोजन कराने में आन्तरिक सुख होता। दूर-दूर से लोग उस धर्मात्मा वणिक

पुत्र के दर्शनों के लिये आते इस प्रकार उसकी अवस्था सोलह वर्ष की हो गई। माता पिता की हार्दिक इच्छा थी, अब अपने पुत्र को बहू के संग देखें, किन्तु वह विवाह करना ही नहीं चाहता था। इससे माता-पिता को बड़ा क्लेश होता।

इतना सर्वगुणसम्पन्न पुत्र बिना विवाह के रह जाय। यह तो कुछ भी नहीं हुआ। अब माता-पिता साधु-महात्मा और ब्राह्मणों की सेवा करने लगे, इस लोभ से कि वे हमारे बच्चे को समझा-बुझाकर विवाह के लिये सहमत कर लें।

माता-पिता के बहुत आग्रह से साधु ब्राह्मण भी समझाने लगे—"भैया, देखो! हम साधु सेवा को मना नहीं करते। भगवान् ने तुम्हें धन दिया है, यथेष्ट दान पुण्य करो, धर्म में लगाओ यही तो धन का सच्चा सदुपयोग है किन्तु भैया धर्मपत्नी के बिना धर्म होता नहीं। बिना पत्नी के यज्ञादि सब निष्फल हैं। अतिथि सेवा अकेला पुरुष--बिना पत्नी वाला मनुष्य--कर ही नहीं सकता। अतिथियों का जैसा सत्कार घर वाली कर सकती है, वैसा यह दाढ़ी मूँछ वाला पुरुष कैसे कर सकता है। अतः विवाह कर लो। दोनों मिलकर धर्म कार्य करो।

साधु महात्मा और ब्राह्मणों के अत्यन्त आग्रह से उस श्रेष्ठि कुमार ने दारा ग्रहण करना स्वीकार कर लिया। अब क्या था, माता-पिता के हर्ष का तो ठिकाना ही नहीं रहा। सर्वलक्षण सम्पन्न कन्या की खोज होने लगी। जैसे ये कोट्याधीश थे, वैसे ही किसी माथुर मंडल के नगर सेठ की भाग्यवती, गुणवती, रूपवती कन्या के साथ उसका बड़े समारोह के साथ विवाह हो गया। माता पिता इस जुगल जोड़ी को देखकर फूले अंग नहीं समाते थे। जो भी देखता वही कहता यह तो रति कामदेव की जोड़ी है और वास्तव में वे दोनों इतने सुन्दर थे ही।

१८ वर्ष की अवस्था में मार्गशीर्ष महीने में उस श्रेष्ठिकुमार

का विवाह हुआ। उस वर्ष प्रयाग का पूर्ण कुम्भ था। बहुत से साधु महात्माओं के अखाड़े हाथी घोडा तथा ऊँटो को लिये हुए प्रयाग की ओर जा रहे थे। उस वणिक पुत्र ने बडे स्नेह से अपने पिता से कहा—"पिताजी! हमारी भी इच्छा है, तीर्थराज प्रयाग में हम भी जाकर कुम्भ स्नान कर आते। एक महीने वहाँ रहकर कल्पवास करें।

यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हुए सेठ ने कहा—"भैया! बड़ी अच्छी बात है, तेरे पीछे हम भी त्रिवेणी स्नान और कल्पवास कर लेंगे। वैसे तो हम बहुत दिनों से मनसूबे बाँधते रहे, कभी इस गृहस्थी के जाल से निकास ही नहीं हुआ। अच्छी बात है, सब लोग बड़ी धूम धाम से चलेंगे। प्रतिष्ठानपुर में अपनी कोठी भी है। मुनीम रहते ही हैं सब प्रबध हो जायगा।

अब क्या था। होने लगीं तेयारियाँ, लदने लगा नौकाओं पर सामान। बडी-बडी नौकायें तैयार की गईं। बहुत-सा धन, रत्न, अन्न, वस्त्र लादा गया। धर्मात्मा वणिककुमार तीर्थराज की यात्रा करेंगे। यह सुनकर सहस्रो लोग इधर-उधर से आ गये। सबके साथ नौकायें बडी सावधानी के साथ चलने लगीं। यद्यपि उस कुमार का विवाह हो गया था, किन्तु उसने अभी तक घूँघट उठाकर अपनी पत्नी का मुँह भी नहीं देखा था। अवसर ही कहाँ था, विवाह के कुछ ही दिनों पश्चात् तो प्रयाग राज की तैयारियाँ हो गईं। वह अपनी नौका मे अकेला ही रहता, किसी को आने नहीं देता था। माता-पिता ने मोहवश सब नौकाओं के बीच में उसकी नौका रखी। बडे-बडे कुशल मल्लाह तेराक उसकी रक्षा में नियुक्त थे, कि नौका तनिक भी डगमग न हो। इस प्रकार बडी सावधानी से सबके सब सक्राति के कुछ पूर्व प्रयाग राज मे पहुँच गये। वहाँ पहुँच कर गङ्गा यमुना की मध्य की रजत चूर्णमयी वालुका में उस धनिक श्रेष्ठी के डेरे पडे। चारों

और हल्ला हो गया एक बड़ा धर्मात्मा श्रेष्ठी पुत्र इस वर्ष कल्पवास करने आया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मात्मा पुरुष का यश कपूर की सुगन्धि के समान सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। आप सोचिये, धन को कौन छाती पर लाद ले जाता है। आज तक यह धन किसका हुआ है, झूठे ही लोग इसमें अपना ममत्व स्थापित करते हैं। भाग्यवश जिसे धन प्राप्त हुआ है, उसने उस धन से धर्म नहीं कमाया, कीर्ति नहीं फैलाई तो उसका धन व्यर्थ है। केवल वह उसका पहरेदार मात्र ही है। जब तक जीता रहेगा, बिना खाये खाये उसकी रक्षा करेगा, मरने पर सर्प होकर उसके ऊपर बैठा रहेगा। जिसने धन पाकर धर्म किया, यश कमाया, कीर्ति फैलाई उसी ने धन का यथार्थ उपभोग किया। जिसकी कीर्ति शेष है, वह मरकर भी जीवित ही है, जिसकी अपकीर्ति फैल गई, वह जीता हुआ भी मृतक के समान है। सो महाराज! उस वणिककुमार का दो चार दिन में ही दूर-दूर तक नाम हो गया। चारों दिशाओं से उसके समीप याचक आने लगे। वह भी वित्तशाठ्य न करके सभी को मुक्तहस्त से देता। जिसने जो माँगा वही दिया। जितना ही वह दान करता उतना ही उसकी सम्पत्ति बढ़ती। इससे माता-पिता को भी प्रसन्नता होती। संक्रान्ति के चार दिन पूर्व उसने अपने पिता से कहा—"पिताजी! हमारी इच्छा होती है, कि मेले में जितने साधु, महात्मा, ब्राह्मण, आये हैं, सबको हम एक दिन भोजन करावें। आपकी क्या आज्ञा है?"

सेठ को स्वयं तो उतना धर्म कार्यों में अनुराग नहीं था, किन्तु पुत्र को जिस कार्य से प्रसन्नता हो उस कार्य में उसे कोई कोई आपत्ति नहीं होती थी, यही नहीं उसे आन्तरिक सुख भी होता था। उसने बड़े उल्लास के साथ कहा—"हाँ बेटा! बड़ी

अच्छी बात है। तीर्थराज में बार-बार आना थोड़े ही होता है। जितना भी धर्म कर्म दान पुण्य बन सके, उतना ही अच्छा है। सब प्रबन्ध हो जायगा। तेरी जितनी इच्छा हो उतना दान पुण्य कर। जितना साधु सन्तों को भोजन कराना चाहे उतनों को करा।"

अब क्या था। बनने लगे लड्डू घुटने लगा हलुआ, छनने लगे मालपुआ, उतरने लगीं गरमा गरम खस्ता, पूड़ी, कचौड़ियाँ, चढ़ने लगे खीर के हंडे। दस-दस कोस तक भँडारे का हल्ला हो गया। साधु सन्तों को विधिवत् भोजन कराया गया। एक एक सुवर्ण मुद्रा उन्हें दक्षिणा रूप में दी गई। जो दक्षिणा ले और जो चाहें सो लें। किसी की कमी नहीं थी, जो चाहो आओ खाओ जितना चाहो बाँधकर लेते जाओ। खुला भण्डारा था सैकड़ों पंक्तियाँ लगी हैं, लक्षों पुरुष भोजन कर रहे हैं। प्रातः काल से जो लग्गा लगा रात्रि के बारह बजे तक कोई संख्या नहीं कितने लोगों ने भोजन किया, सुवर्ण मुद्रायें बाँटी गईं। रात्रि पर्यन्त उस बच्चे ने जल की एक बूँद भी जिह्वा पर नहीं रखा स्वयं परोस-परोस कर सबको खिलाता रहा। महात्माओं का सत्कार करता रहा। महात्माजी भी उसे देखते, उसके शील स्वभाव और उदारता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते। इतना अनवद्य सौंदर्य इतनी अटूट धन सम्पत्ति तिस पर इतनी उदारता, इतनी सहन शीलता, इतनी धर्मनिष्ठा, इतनी सरलता साधारण जीव में नहीं हो सकती। कोई अवतारी पुरुष है अथवा य गभ्रष्ट महात्मा हैं। पवित्र शुद्धाचरण धनिकों के घर योगभ्रष्ट महात्मा ही तो जन्म लेते हैं।

वणिक कुमार के मुख पर ही उसकी सब प्रशंसा करते। अपनी प्रशंसा सुनकर वह लज्जित हो जाता सिर नीचा कर लेता,

कुछ भी उत्तर न देता हाथ जोड़े हुए और भी अधिक सिकुड़ जाता।

जब खा पी चुके अर्ध रात्रि हो गई तब माता-पिता ने आग्रह किया—"बेटा तू भी कुछ खा ले। देख, तुझे तो व्रत उपवास का अभ्यास है, यह दूसरे घर की लड़की आई है, कैसी फूल के समान सुकुमार है इसे ऐसा अवसर काहे को आया होगा। देख कैसा इसका मुख कुम्हिला गया है, तेरे बिना इसने भी अभी तक पानी नहीं पिया है। अब तो सब खा पी चुके। बड़ा अच्छा हो गया।"

यह सुनकर उस श्रेष्ठिकुमार ने सिर पकड़ते हुए कहा—"मेरे सिर में बड़े जोर की पीड़ा हो रही है। मुझे कुछ खाने-पीने की इच्छा नहीं।"

इतना सुनते ही माता-पिता का हृदय धड़कने लगा बात को टालते हुए पिता बोला—"हम तुझे बार-बार मना करते थे, इतना परिश्रम मत कर, इतना परिश्रम मत कर। तू माना ही नहीं। दिन भर तितली की तरह नाचता तो रहा है। सरदी लग गई है, कुछ खाया पीया भी नहीं। भोजन कर ले, अग्नि से सेक ले, तैल मर्दन करा ले सब ठीक हो जायगा।"

इस पर बच्चे ने कहा—"नहीं, मेरा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो रहा है, मैं कुछ न खाऊँगा, न पीऊँगा, मुझे चुपचाप पड़ा रहने दो। मुझसे कोई बोलो चालो नहीं।" इतना कहकर वह बालक समीप के ही तख्त पर लेट गया।

अब क्या था, मेले भर में हा हा कार मच गया। वैद्य पर वैद्य आने लगे। चिकित्सकों का जमघट होने लगा बड़े-बड़े तन्त्र, मन्त्र जानने वाले आने लगे। कोई कहता सेठजी आप चिन्ता न करें हम अभी अच्छा करते हैं। कोई झाड़-फूँक बताते, कोई

[illegible]

[illegible]

[illegible] सेठ सेठानी के घर [illegible] के [illegible] करने लगे। [illegible] ने [illegible] को [illegible] लिया और दोनों हाथों से अपनी छाती को पीटती हुई कहने लगी—"हाय! [illegible]! मैंने तो अभी तुम्हें स्पर्श करने की आस लगा रखी थी। मेरे पास कुछ देना भी नहीं है। मुझे अभागिन में कहाँ खोजे जा रहे हो।"

अपने पिता-माता और पत्नी के ऐसे करुण क्रन्दन को सुनकर कुमार ने करुणा भरे भाव से [illegible] कहा—"रोना धोना बन्द करो और यहाँ से सौ [illegible] लाकर [illegible] दो। केवल तुम तीन ही रहो।"

बन्धे की ऐसी बात सुनकर [illegible] आज्ञा का [illegible] किया गया। सब लोग वहाँ से चले गये। [illegible] हो रहा था। वह धर्मात्मा [illegible] कुमार [illegible] आसन पर बैठ गया और अत्यन्त गम्भीर स्वर में बोला "तुम लोग मुझे जानते हो, मैं कौन हूँ? बोलो।"

दोनों सेठ और सेठानी एक स्वर में बोल पड़े—"हाय! मेरे लाल! हाय हमारे जीवन सर्वस्व! तू ऐसी बात क्यों कह रहा है, तू हम अन्धों की एकमात्र लाठी है, तू हमारा [illegible] है, तू हमारे जीवन का सहारा है।"

दृढ़ता के स्वर में उस कुमार ने कहा—"देखो, रोने धोने का काम नहीं। बात को समझो। कौन किसका पुत्र, कौन किसका पिता। सभी संस्कारों के अधीन होकर अपना बदला लेने अपना ऋण चुकाने के लिये सम्बन्धी के रूप में उत्पन्न होते हैं। तुम स्मरण करो, मैं वही साधु हूँ, जिसकी १५० सुवर्ण मुद्रायें तुमने चुराई थीं। यद्यपि मुझे जन्म लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु भण्डारा करने की मेरी वासना प्रबल थी, तुमने उसे पूरी नहीं होने दिया। इसलिये तुम्हारे घर पुत्र होकर मैंने उस वासना को पूर्ण किया। तुमने १५० मुद्रायें ली थीं। उसके बदले में मैंने हजारों गुना तुम्हारा व्यय करा दिया। तुम्हें जो इतना दान पुण्य का, साधु समागम, तथा तीर्थ व्रत का संयोग प्राप्त हुआ है, यह साधु सेवा का फल है और तुम्हें अब जो पुत्र वियोग का महान क्लेश हो रहा है, यह तुम्हारी चोरी का फल है। मनुष्य जैसा करता है वैसा भरता है। (फिर अपनी स्त्री की ओर संकेत करके कहने लगा) यह पूर्वजन्म में मथुरा में एक कुम्भकार की लड़की थी यह मेरे रूप पर आसक्त थी। मुझ साधु में इसकी यह काम भाव से चाह थी। यद्यपि मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं हुआ। किन्तु इसका भाव दूषित था। सदा यह मेरे रूप का ही चिन्तन करती रहती। साधु के रूप में चिन्तन का तो यह फल हुआ, कि यह इतने श्रीमान् के घर में उत्पन्न होकर इतने धन वैभव में अत्यन्त सुख से पाली पोसी गई और इतना अधिक सौंदर्य प्राप्त किया। किन्तु कामवासना से चिन्ता करने से इसे इस जन्म में वैधव्य का दुःख उठाना पड़ेगा। यदि इसने इस जन्म में अपने धर्म की रक्षा करते हुए अपने जीवन को शुद्धता से बिता दिया, तो इसकी सद्गति हो जायगी। यदि इस जन्म में यह पाप कर्मों में प्रवृत्त हो गई, धर्म भ्रष्ट हो गई तो नरक में यातनायें

सहनी पड़ेंगी। अनेकों जन्मों तक वैधव्य जन्य दुःख उठाना पड़ेगा। मेरा न पहिले जन्म मे इससे शरीर सम्बन्ध था न इस जन्म में रहा। मरते समय मेरे रूप का ही स्मरण रहा, इसीलिये इसे फिर मेरा क्षणिक सग हुआ। जैसा तुम लोगों ने किया वैसा उसका फल भोग लो। मैं तो अब जाता हूँ। इतना कहते कहते उसने नेत्र बन्द कर लिये। उसी समय उसका ब्रह्माड फट गया और उसका प्राण शरीर से पृथक् हो गया।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! पूर्वजन्मों के सस्कार सम्बन्ध स्थापित करा देते हैं। नहीं तो अजामिल ने एक से एक सुन्दरी स्त्रियों को देखा था उनके ऊपर उसका मन नहीं गया। इसे देखते ही वह अपनेपन को भूल गया। इसमें कारण है इस स्त्री से उसका पूर्वजन्म में सम्बन्ध था।'

यह सुनकर बड़ी उत्सुकता के साथ शौनकजी ने पूछा—'महाभाग! इस स्त्री के साथ अजामिल का पूर्वजन्म मे क्या सम्बन्ध था। पूर्वजन्म म यह स्त्री कौन थी। अजामिल कौन था और किस कारण इनका सम्बन्ध हुआ इन सब बातों को सुनाकर हमारे कुतूहल का शान्त कीजिये।"

शौनकजी की ऐसी बात सुनकर सूतजी गम्भीरता के साथ बोले—"मुनियो! मैं अजामिल के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ, उसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कोई सब दिन सग रहे परिचय नहिं होवै।
निरखि काहूकूं कोउ तुरत अपनोपन खोवै॥
होहिं सहोदर बन्धु परस्पर प्रेम न तिनमें।
मित्र जाति के होहिं होइ मैत्री छिन भरमें॥
पूर्वजन्म अपकारकार, इह तन होवे शत्रुता।
कर्यो जासु उपकार कछु, तातें होवे मित्रता॥

अजामिल के पूर्वजन्म का वृत्तान्त

[३५५]

एष प्रकृतिसंगेन पुरुषस्य विपर्ययः ।
आसीत् स एव नचिरादीशसङ्गात् विलीयते ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १ अ० ५५ श्लोक)

छप्पय

पूर्वजन्म में रह्यो अजामिल परम तपस्वी ।
सदाचार सम्पन्न सत्यप्रिय परम यशस्वी ॥
शिशिर माँहिं अति शीत लग्यो मुरछा सी आई ।
तहाँ वैद्य ने अपर विप्रकूँ युक्ति बताई ॥
यौवन की यदि उष्णता, युवती तन तें तन लगे ।
जब होवै जिहि शीतपन, तुरत तपस्वी तब जगे ॥

पतन का कारण है अहङ्कार । जब मनुष्य अपने को सब से श्रेष्ठ तथा दूसरों को तुच्छ समझने लगता है, अकारण दूसरों का अपमान करने लगता है, तभी उसका पतन होता है । सर्वश्रेष्ठ तो श्रीहरि ही हैं उन्हें बुलाकर जो उनके आसन पर स्वयं बैठना चाहता है उस अविवेकी का अधःपतन अनिवार्य ही

---

* श्रीशुक कहते हैं—"प्रकृति के संसर्ग होने से जो पुरुष की विपरीत भावना हो जाती है । यह भगवान् के भजन से भगवान् और उनके नाम में आसक्ति होने से अतिशीघ्र विलीन भी हो जाती है ।"

है। इसीलिये शास्त्रकारों ने इस बात को घुमा फिरा कर अनेकों प्रकार से कहा है, कि हरि ही इस जगत् में सर्व व्याप्त हो रहे हैं, अत. किसी प्राणी का अपमान करना श्रीहरि का ही अपमान करना है, अपने आप को ही नाचा दिखाना है, अपने पैरों में स्वय कुल्हाडो मारना है, क्योंकि जो आत्मा हमारे में हैं वही सर्वत्र है। पृथकता इस पापी अहङ्कार ने कर रखी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझ से अजामिल के पूर्वजन्म का वृत्त पूछा था, उसे आप सब एकाग्रचित्त से श्रवण करें। पूर्वकाल में उत्तराखण्ड में एक तपस्वी रहते थे। वे पर्वत पर रहकर घोर तपस्या किया करते थे। अरण्य से कच्चे पक्के जैसे फल मूल मिल जाते, स्वय जाकर उन्हे लाते। उन्हीं का आहार करते। कभी दो दो दिन उपवास करते और तीसर दिन भोजन करते। कभी चार चार दिन का उपवास करते और पाँचवें दिन भोजन करते। कभी महीने भर चान्द्रायण व्रत करते, कभी जवचान्द्रायण, कभी पिपीलिका चन्द्रायण, कभी समचान्द्रायण और कभी कृच्छ्र अति कृच्छ्र व्रत करते। इस प्रकार तपस्या करते हुए वे अपना काल यापन करने लगे। उनकी युवावस्था था, शरीर से सुन्दर सुडौल थे,। तपस्या की आभा उनके मुख मण्डल पर प्रत्यक्ष दिखायी देती थी। जाड़े के दिनों में पर्वतों पर हिम के कारण नदियों का जल अत्यन्त ही शीतल हो जाता है। बहुत सी नदियों का जल तो जमकर हिम ही हो जाता है। वे तपस्वी मुनि पौष माघ के जाडे मे तितिक्षा बढाने के निमित्त नदी के ठडे जल में बैठे रहते। इससे उनकी बडी प्रशसा हो गई, सब उन्हें आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। उन्हे भी अपनी तपस्या का अभिमान हो गया। मुनियो! दूसरे प्रशसा करें, दूसरे लोग बडा कहें यहाँ तक तो ठीक है किन्तु स्वय भी जब उस प्रशसा को अपने में अनुभव करने लगे। अभिमान में

भरकर अपने को सब कुछ समझने लगे, बड़े लोगों का अपमान करने लगे यही पतन के चिन्ह हैं। महाराज ! इस तितिक्षा की तो ऐसी दशा है आज शरीर तितिक्षा को सहन करता है, कल यही वृद्ध हो गया असमर्थ हो गया, रोगी हो गया, तो फिर सहनशीलता नष्ट हो जाती है। वे तपस्वी अब कुछ शिथिल से होने लगे। इतनी घोर तपस्या का प्रभाव इस पञ्चभूतों से निर्मित देह पर पड़ना स्वाभाविक ही है। अब उनको शीत सहन करने में कष्ट होने लगा। किन्तु प्रशंसा के लिये मनुष्य हठ भी करता है, उन तपस्वी ने अपनी चर्या बदली नहीं।"

एक दिन अत्यन्त ठंडी थी। नदी का नीर अत्यंत ही शीतल था। तपस्वी को सरदी लग गई वह अचेत हो गया और मृतक के समान नदी तट पर जाड़े से ठिठुरा हुआ पड़ा था।

इतने में ही एक मुनि अपनी युवती षोडशवर्षीय कन्या के सहित जल लेने आये। उन्होंने जब तपस्वी को इस अचेतावस्था में देखा तो उन्हें दया आ गई। वहाँ अग्नि थी नहीं, वे कुछ निर्णय न कर सके क्या करें। इसी समय एक दूसरे मुनि भी आ गये, जो चिकित्सा आदि भी जानते थे। उन्होंने तपस्वी को देखकर कहा, इन्हें अत्यन्त शीत व्याप्त हो गया है। शीघ्र ही उपचार न होगा तो इनका शरीरान्त हो जायगा। प्राणियों के शरीर में उष्णता होती है, उसी से वे जीते हैं। युवावस्था में मनुष्यों के शरीर में ऊष्मा अधिक बढ़ जाती है, इसीलिये युवावस्था का रक्त अत्यधिक उष्ण होता है। पुरुषों की अपेक्षा युवावस्था में स्त्रियों के शरीर में ऊष्मा अधिक होती है। इनके जीवित करने के दो ही उपाय हैं, या तो इन्हें तुरन्त बन्द घर में रखकर रुई से सम्पूर्ण शरीर सेका जाय या रुई आदि वस्त्रों में लपेटकर किसी युवती की शरीर की गरमी पहुँचायी जाय।

उन मुनि ने अपनी पुत्री से कहा—"बेटी ! तुम इन्हें अपने वस्त्रों में छिपा लो ऊपर हम ये वस्त्र डाल देंगे, गरमी आ जायगी तपस्वी को चेतना आ जायगी।"

परोपकार की दृष्टि से उस बच्ची ने ऐसा ही किया। शरीर की गरमी से तपस्वी को चैतन्यता प्राप्त हुई। चैतन्यता प्राप्त होते ही और अपने समीप एक युवती स्त्री को देखकर तपस्वी को बड़ा क्रोध आया। उसने बिना कुछ पूछ ताछ किये तपस्या के अभिमान में भरकर उस युवती को शाप दिया—"दुष्टे ! तैंने मुझ तपस्वी से अंगस्पर्श करके मेरे धर्म को भ्रष्ट कर दिया है, अतः जा तू दूसरे जन्म में वेश्या हो जा।"

इस पर उस मुनिकन्या को भी क्रोध आ गया। क्रोध की बात ही थी। उसने भी रोष में आकर कहा—"तुम्हें अपनी तपस्या का अभिमान है, उस अभिमान में भरकर ही, तुम मुझ निरपराधिनी का इसीलिये अपमान कर रहे हो, कि मैं स्त्री हूँ। जाओ अगले जन्म में तुम तपस्वी होने पर भी स्त्री के लिये व्याकुल रहोगे और मुझ वेश्या के रूप लावण्य पर ही मुग्ध हो कर तुम अपने सब धर्म कर्म को खो दोगे।"

मुनियो ! इस प्रकार क्रोध में भर दोनों में ही शापाशापी हो गई। कालान्तर में दोनों के ही शरीर का अन्त हुआ। वह तपस्वी तो अजामिल ब्राह्मण हुआ और वह मुनिकन्या ही अत्यन्त रूप लावण्यवती यह वेश्या हुई, जिसके पीछे अजामिल ने अपनी सती साध्वी कुलटी पत्नी का तथा पिता-माता का परित्याग कर दिया। इस वेश्या को देखते ही पूर्व संस्कारों के वशीभूत होकर भवितव्यता के प्रभाव से अजामिल उसके ऊपर लट्टू हो गया और उसे अपनाकर ही उसने विश्राम लिया। यह मैंने आपसे अजामिल के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाया। अब बताइये और क्या कहूँ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अजामिल को तो उसके अभिमान का फल मिलना उचित ही था, किन्तु उस मुनि कन्या का क्या अपराध था उसने तो अपने पिता का आज्ञा से दयावश ऐसा किया था। उसे वेश्या होने का शाप व्यर्थ ही मिला।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! व्यर्थ तो कोई काम होता ही नहीं यह दूसरी बात है कि हम उसकी सार्थकता समझ न सकें। उस मुनिकन्या का उन तपस्वी के प्रति स्वाभाविक अनुराग था। और अंग संग से आसक्ति का हो जाना, मन में विकार उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः स्त्रियों को भूल कर भी परपुरुष का स्पर्श आलिंगन न करना चाहिये।"

प्रारब्धवश शाप के प्रभाव से अजामिल की ऐसी दशा हो गई, कि उस वेश्या के पीछे वह अपना सब धर्म कर्म भूल गया। जाति का तो वह ब्राह्मण था, किन्तु कर्म राक्षसों के से करने लगा। चोरी, जारी हिंसा कोई भी काम उससे नहीं छूटा। नौ लड़के हो गये थे, जो बड़े-बड़े हो गये थे। अबके फिर उस स्त्री ने गर्भ धारण किया। यह गर्भ क्या था, उसके उद्धार का प्रारब्ध पुत्र बनकर गर्भ में आया था। प्रतीत होता है उसके शाप की अवधि समाप्त होने वाली थी। भगवान की आराधना सदाचार का पालन, और तपस्या का फल व्यर्थ तो जाता नहीं कभी-न-कभी इनके फल का भी समय आता है। पता नहीं, कब किसके कौन से पुण्य का उदय हो जाय। कब किसके ऊपर श्रीहरि दुल जायँ, कब किसका किस कार्य से उद्धार हो जाय, इसे काल स्वरूप कृष्ण के अतिरिक्त कोई यथार्थ रूप से जान नहीं सकता। जब संसार चक्र में घूमते-घूमते मनुष्य के कर्म बन्धनों के छिन्न-भिन्न होने का समय आ जाता है, तो उसे साधु का संग प्राप्त होता है। उसे स्वयं साधुओं को खोजना नहीं

पड़ता। स्वयं ही साधु कृपा करके उसे दर्शन देते हैं जहाँ साधु के दर्शन हुए, उनके मन में इसके उद्धार की इच्छा उत्पन्न हुई उनके मन में इसके लिये स्थान हुआ ही नहीं कि बेड़ा पार है, फिर यह संसार बन्धन में रहता ही नहीं। जीव इस माया के जाल से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। सुनियो! अजामिल के भी उद्धार का अवसर आ गया। उसे भी सुनिये।"

छप्पय

मुनि तनया कूँ दया तपस्वी पै अति आई।
अगनि लयो लगाय उष्णता तन पहुँचाई॥
चेतनता जब भई क्रोध तपसी कूँ आयो।
बनि वेश्या तू नारि धर्म ते मोइ डिगायो॥
मुनि कन्या हू ने दयो, शाप अधम तू बनेगो।
धर्म कर्म सब छोड़कें, सो वेश्या संग फिरेगो॥

अजामिल की नारायण पुत्र में आसक्ति

[३५६]

तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः ।
बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

शाप भये सब सत्य अजामिल दुष्ट भयो अति ।
निरदय डाकू क्रूर करे पथिकनि की दुरगति ॥
भ्रमत भाग्यवश सन्त एक दिन घर पै आये ।
कीयो अति सतकार आपने पाप सुनाये ॥
सन्त हृदय करुणा उठी, बोले—करिवे काम तू ।
धरियो अब के पुत्र को, नारायण शुभ नाम तू ॥

वाणी का बड़ा महत्व है शुभ वाणी से ही स्नेह बढ़ता है, अशुभ क्रूर वचनों से ही वैरभाव हो जाता है। नाम के साथ ही उसका भाव रहता है, वाणी के संग ही उसका अभिप्राय चलता है। तभी तो वाणी के निग्रह पर शास्त्रकारों ने अत्यधिक बल दिया

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उस बूढ़े अजामिल के दस पुत्र थे, उनमें जो सबसे छोटा था उसका नाम नारायण था। पिता का अत्यन्त ही प्यारा था। दोनों का अत्यधिक अनुराग था।"

हैं। किसी ने हमें माता की, बहिन की, बेटी की गाली दी। वहाँ हमारी न माता है, न बहिन है, न बेटी है। जैसे और शब्द हैं वैसे ही गाली हैं किन्तु देने वाले का हम अभिप्राय शब्दों द्वारा समझते हैं। उसने हमें अपमानित करने को, हमें नीचा दिखाने को गाली दी है। हम उससे लड जाते हैं। स्वय मर जाते हैं। या उसे मार डालते हैं। कोई ऐसी बात तो थी नहीं, उसने हमारे साथ कोई शारीरिक अन्याय तो किया नहीं। आकाश मे शब्द हुआ विलीन हो गया, किन्तु उस अशुभ शब्द का हमारे अन्त.करण पर अशुभ प्रभाव पडा। अनजान मे भी किसी को गाली द देते हैं तो वह,लड पडता। इसी प्रकार शुभ शब्दो के उच्चारण का भी बडा प्रभाव होता है। तुम जान में अनजान मे कैसे भी शुभ शब्दो का उच्चारण करो तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र होगा, तुम सबके प्रिय बन जाओगे। इसीलिये शास्त्रकार बार बार कहते हैं वाणी से भूलकर भी कभी अशुभ शब्द उच्चारण न करो। जो बोलो शुभ बोलो, भगवान के नामो का ही उच्चारण करो क्योंकि वे ही सबसे शुभ नाम हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उस वेश्या के सग रहते-रहते अजामिल बूढा हो गया। नौ लडके हो गये फिर भी वह वेश्या गर्भवती हुई अजामिल का नित्य का यही काम था, भोजन करके मध्यान्होत्तर घोर वन में चला जाता, वहाँ जाकर पशु-पक्षियो को मारता, पथिको को लूटता और रात्रि में घर आता, मास खाता, शराब पीता और स्त्री बच्चा के सहित आनन्द-विहार करता। इसी बीच में एक ऐसी घटना घट गई कि उसके जीवन मे एक नई लहर आ गई।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह कौन सी घटना घटी। कृपा करके उसे भी हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! सुनिये, एक दिन

अजामिल अपने नित्य नियम के अनुसार जङ्गल में गया था। उसी समय उस नगर में साधुओं की एक मंडली आ गई। महाराज ! आप जानते ही हैं जैसे जुआड़ी जहाँ जाते हैं, वहाँ जाते ही जुआड़ियों की खोज करते हैं, वैसे ही सन्त जिस ग्राम में, जिस नगर में पहुँचते हैं, वहाँ जाते ही लोगों से पूछते हैं—"इस ग्राम में कोई साधुसेवी भक्त है। जिसके यहाँ भली प्रकार छने घुटे।"

उस संत मंडली में से किसी एक सन्त ने किसी सफेद कपड़े वाले आदमी से पूछा—"क्योंजी, इस नगर में कोई साधुसेवी धर्मात्मा भक्त है, जिसके यहाँ भगवान् का प्रसाद बन सके।"

उन विचारे सरल चित्त संत को क्या पता था, कि इन बड़े-बड़े नगरों में अधिकांश सफेद वस्त्रों वाले लोगों के मन मलिन होते हैं, वे साधु सन्त का नाम सुनते ही जल-भुनकर भस्म हो जाते हैं। साधु को क्लेश देने में ही उन्हें आनंद आता है। साधु के प्रश्न को सुनकर वह मलिन मति पुरुष मन-ही-मन कुढ़ गया, वहाँ समीप ही अजामिल का घर था। सामने बड़ा चबूतरा था उस पर पीपर, पाकर के कई घने-घने वृक्ष थे उस दुष्ट ने अपने भाव को छिपाते हुए बड़ी गम्भीरता के साथ कहा—"साधु महाराज ! इस नगर में तो यह अजामिल नाम का ब्राह्मण बड़ा भक्त है, इसके यहाँ आप जाइये वहाँ आपका यथेष्ट सत्कार होगा, बड़े माल मिलेंगे खाने को।"

साधु तो सरल होते ही हैं अजामिल के द्वार पर पहुँच गये। साधुओं का कोलाहल सुनकर अजामिल के ८–९ बच्चे एक साथ घर से निकल आये। उन सुन्दर-सुन्दर बच्चों को देखकर एक संत ने पूछा—"अजामिल भक्त का यही घर है ?" बड़े लड़के ने सिर हिला दिया। साधुओं ने झोली डंडे रख दिये। आसन खुलने लगे। महन्तजी का छाता गड़ गया, उसके नीचे उनका ऊँचा

आसन बिछ गया। भगवान् की पूजा सेवा की व्यवस्था होने लगी।

लड़कों के लिये खेल हो गया, उन्होंने दौड़कर अपनी माँ से कहा—"अम्मा! अम्मा! हमारे चबूतरे पर बड़े-बड़े जटाधारी लटाधारी लम्बे-लम्बे तिलकों वाले बहुत से साधु आये हैं। वे बाबूजी का नाम लेकर पूछ रहे हैं अजामिल 'भक्त' का घर यही है। वेश्या समझ गई किसी दुष्ट ने साधुओं के साथ हँसी की है। नहीं हमारे ऐसे भाग्य कहाँ हमारे द्वार पर सन्त आवें। अब क्या करूँ। उसने आँखों में आँसू भरकर अपने बच्चों से पुचकारते हुए कहा—"देखो, बेटा! तुम सब जाओ, सब महात्माओं के पैर छूओ और हाथ जोड़कर कहना—"महाराज! आप बैठें। बाबूजी बाहर गये हैं। वे आवेंगे तो आपका सत्कार करेंगे।"

लड़कों ने आज तक किसी के पैर छूए हों तो जानें। माँ ने तुरन्त वहीं लड़कों को पैर छूना सिखाया। लड़के देखने में बड़े सुकुमार सुन्दर लगते थे। क्योंकि उनके माता-पिता दोनों ही सुन्दर थे। बड़ा लड़का अपने सभी भाइयों को लेकर साधुओं के पास गया। वह बुद्धिमान् था, जैसे पैर छूता उसी का अनुकरण और भी उसके भाई करते। साधुओं का स्वभाव है, उन्हें चाहे कोई और कुछ न दे केवल उनके पैर छू ले तो वे प्रसन्न हो जाते हैं। छोटे-छोटे सुन्दर सुकुमार झुण्ड के-झुण्ड लड़कों को पैर छूते देखकर गद्गद हो गये, आपस में कहने लगे—"भैया, बड़े सुशील लड़के हैं। भक्तों के लड़के ऐसे ही होते हैं। सबने बच्चों को महन्तजी के पास भेज दिया। बच्चों ने उनके पैर छूकर जैसा उनकी माता ने उन्हें सिखाया पढ़ाया था वैसा ही कह दिया—"बाबूजी बाहर गये हैं, वे लौटकर आवेंगे तो आपका सत्कार करेंगे।"

पुचकार कर महन्तजी ने कहा—"अच्छी बात है बेटा! कोई बात नहीं। अपनी माँ से कह देना हम यहाँ बड़े आनन्द में हैं कोई चिन्ता की बात नहीं।" बच्चे यह सुनकर चले गये।

आज अजामिल के द्वार पर साधुओं की भीड़ देखकर जो भी उधर से निकलता, वहीं अवाक् रह जाता। यह आज नई बात कैसे हो रही है। किन्तु कोई मारे संकोच के कुछ कहता नहीं। इतनी ही देर में अजामिल भी लौट आया। अपने यहाँ साधु मण्डली को देखकर वह तो हक्का-बक्का-सा रह गया। उसने वस्त्र से मरे पशु पक्षियों को छिपाया। शीघ्रता से घर में घुस गया। जाते ही उसने भयभीत की भाँति पूछा—"आज यह अपने चबूतरे पर क्या लीला हो रही है?"

स्त्री ने हड़बड़ाहट के साथ कहा—"मेरी भी समझ में कुछ नहीं आया। आपके नाम के साथ भगत लगाकर ये पूछते हुए महात्मा आये हैं। मालूम होता है, किसी दुष्ट ने इन्हें बहका दिया है। आप शीघ्रता से जायँ, साधुओं के साथ कपट करना ठीक नहीं, उनको भ्रम में रखने से अपना अनिष्ट ही अनिष्ट है। आप उन्हें अपनी यथार्थ स्थिति बता दें और उनसे क्षमा याचना करें।"

अजामिल ने शीघ्रता से हाथ पैर धोये। कपड़े बदले वह हाथ जोड़े हुए बाहर आये। दो चार लड़के भी कुतूहल वश उसके साथ हो लिए। जाते ही उसने महन्तजी के पैर छुए। बच्चों के साथ उस बूढ़े को देखकर महन्तजी खिल उठे और बड़े प्रेम से बोले—"आओ, आओ, भगतजी! तुम्हारा ही नाम अजामिल भक्त है।"

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही लज्जा के साथ अजामिल ने कहा—"भगवन्! काहे का भगत हूँ मैं तो अत्यन्त नीच पापी दुष्ट हूँ किसी ने आप को बहका दिया है।"

महन्तजी ने कहा—"भैया, भक्तों का यह स्वभाव ही होता है, वे अपने को सबसे नीच ही बताते हैं। तुम्हारी तो हमने बडी प्रशंसा सुनी है।"

अत्यन्त ही लज्जा के साथ अजामिल ने कहा—"प्रभो, वह बात नहीं, मैं तो यथार्थ मे पापी हूँ। मेरा जन्म तो ब्राह्मण वश में अवश्य हुआ था, किन्तु मैं ब्राह्मणपने के कम से सर्वथा हीन हूँ। मैं वेश्या का पति हूँ, हिंसक हूँ, डाका डालकर, लोगों को मारकर लूट पाट करके अपनी आजीविका चलाता हूँ। औरों से छिपा भी सकता हूँ, महात्माओं से क्या छिपाना। छिपाना चाहूँ भी तो वे त्रिकालज्ञ होते हैं, समझते हैं।"

अब महात्मा सब रहस्य समझ गये, किसी ने हँसी की है। उन्होंने सोचा - "श्रीमन्नारायण प्रभु की जैसी इच्छा।" उनकी इच्छा के बिना कोई कार्य होता नहीं, इसमे भी उनकी कुछ-न-कुछ लीला है, भगवान् का सिंहासन लग चुका है, पूजा की सब तैयारियाँ हो गयीं हैं, अब रात्रि मे जाना भी कहाँ—

"सबे भूमि गोपाल की जामें अटक कहाँ।
जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा॥"

महात्मा बोले—"अच्छा भैया! अब तक भक्त नहीं था, तो अब भगवान् की कृपा से हो जायगा।"

महात्मा के मुख से ऐसे वचन सुनकर उसे बडा हर्ष हुआ। उसने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"प्रभो! आज्ञा हो तो, भगवान् की प्रसादी के लिये कुछ फल मूल सीधा सामान ले आऊँ।" महात्मा कुछ देर सोचकर बोले—"अच्छा भैया! जैसी तेरी श्रद्धा।" अजामिल को तो मानों निधि मिल गई। उसके अन्न को आज सन्त स्वीकार करेंगे। आज उसका अन्न भगवान् के काम आवेगा। इस विचार के आते ही उसके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो उठे। वह दौडकर घर मे

और अपनी स्त्री से बोला—"लो, आज हमारे भी भाग्य खुल गये। संत पतितों की सेवा भी स्वीकार करेंगे।"

इधर अजामिल के चले जाने पर कुछ संन्तों ने महात्माजी से कहा—"भगवन्! आपने ऐसे नीच वेश्यापति हिंसक दुराचारी का अन्न ग्रहण करना क्यों स्वीकार कर लिया? शास्त्रों में तो ऐसे पुरुषों का अन्न अत्यन्त ही दूषित और त्याज्य बताया है।"

इस पर गंभीरता के साथ वे वृद्ध आचार्य बोले—"देखो, भाई! शास्त्रों का सामान्य वचन तो ऐसा ही है। वृषलीपति, शूद्र का, हिंसक का, पापी का, व्याज खाने वाले का, वेश्या का, वैद्य का, पातकी उप पातकी आदि पुरुषों का अन्न न खाना चाहिए। विशेष वचन ऐसे भी मिलते हैं कि अत्यन्त श्रद्धा से फल मूल, कच्चा सीधा सामान जो भी लाकर दे, उसकी श्रद्धा की विशेषता से उसे ग्रहण कर लेने में कोई दोष नहीं। किन्हीं किन्हीं आचार्यों का मत है, कोई कुलीन ब्राह्मण है और अश्रद्धा से अन्न देता है, दूसरा व्याज खाने वाला हिंसक है वह अत्यन्त श्रद्धा से लाकर देता है, तो दोनों का अन्न बराबर माना जाता है, उसकी कुलीनता और वर्ण की श्रेष्ठता से शुद्ध तो है, किन्तु अश्रद्धा से देने के कारण हेय है, उसके विपरीत दूसरे की हिंसा और व्याज के कारण त्याज्य तो है, किन्तु श्रद्धा की विशेषता से ग्रहणीय है, किन्तु दूसरे आचार्य कहते हैं—"नहीं, अश्रद्धा से दिये हुए श्रोत्रिय ब्राह्मण का अन्न अधम है, और अत्यन्त श्रद्धा से दिया हुआ उस अधर्मी का अन्न उत्तम है। उत्तमता और अधमता में श्रद्धा ही प्रधान कारण है। फिर भैया, सूखा अन्न है, शुद्धता से बनेगा, भगवान् का भोग लगेगा प्रभु के अर्पण होते ही वह तो अमृतोपम नैवेद्य बन जाता है, उसके सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके घर पर प्रभु ने भेजा है, उसका

आतिथ्य ग्रहण न करना पाप है, अपराध है, उसके साथ अन्याय है, उसे मानसिक क्लेश पहुँचाना है, उसकी श्रद्धा पर कुठाराघात करना है।"

महन्तजी इस प्रकार बात कर ही रहे थे, कि इतने मे ही बहुत-सा सूखा सामान लेकर अजामिल आ पहुँचा। आटा, दाल घृत, शाक, भाजी, कन्द मूल फलों का उसने ढेर लगा दिया। साधुओं ने बडी शुद्धता से भगवान् की रसोई तैयार की। अजामिल चुपचाप बैठा रहा।

आज साधुओं की सगति से उसे भी अपने पूर्व जीवन की स्मृति हो आयी। हाय! एक दिन मैं भी इतनी शुद्धता से रहता था। कहाँ से कहाँ पहुँच गया। उसने अत्यन्त दीनता से उन महात्मा से कहा—"भगवन्! मेरे भी उद्धार का कोई उपाय है? देखिये मुझसे भजन तो होगा नहीं। इस स्त्री को मैं छोड नहीं सकता। इसके साथ मुझे जीवन बिताना है, ये नौ बच्चे हैं मेरे ही वीर्य से उत्पन्न हुए हैं। इनका पालन पोषण भी मुझे जैसे बनेगा तैसे करना होगा। कोई ऐसा उपाय बतावें जिसे मैं कर सकूँ।"

महात्मा ने सोचा—"यह तो बडी टेढी समस्या है। वेश्या को छोडना नहीं चाहता, बच्चों का पालन करना चाहता है। भजन करने को मना करता है। क्या उपाय बतावें। शरणागत का तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सोच समझ कर वे बोले—"अच्छा, कै बच्चे हैं तुम्हारे?"

उसने कहा—"महाराज! नौ बच्चे हैं।"

महात्मा ने कहा—"बस, समाप्ति है, कि और कुछ डौल डाल है?"

लजाते हुए अजामिल ने कहा—"हाँ, महाराज! और भी अब आज कल में ही होने वाला है।"

महात्मा सोचकर बोले—"तुम्हारे इन बच्चों का नाम क्या है ?"

अजामिल ने कहा—"महाराज ! नाम क्या है, पण्डित तो हमारी छाया भी छूना नहीं चाहते। इन बच्चों की माता ने ही इनके नाम रख लिये हैं। इस बड़े का नाम खिच्चू है। दूसरे का घिम्सू है, तीसरे का बिज्जू है। चौथे का रज्जू है, पाँचवें का सटकू है, छटे का लटकू है, सातवें का कड़ेरू है, आठवें का घुरई है, नौवें का बचऊ है।"

यह सुनकर महात्मा हँस पड़े और बोले—"अच्छे नाम रखे हैं तुम्हारी बहू ने। अब एक काम करना। अबके जो बच्चा हो, उसका नाम "नारायण" रख देना। देखो फिर क्या होता है, भगवान् को अपने नाम की लाज होगी तो कुछ-न-कुछ करेंगे ही।"

यह सुनते ही अजामिल बड़ा प्रसन्न हुआ। दौड़ा-दौड़ा घर में गया, अपनी स्त्री से बोला—"सुनती है, अबके जो तेरे बच्चा हो उसका नाम नारायण रखना। ऐसी संत भगवान् की आज्ञा है नारायण, नारायण कैसा मनोहर नाम है। भूल मत जाना अबके घुरहू फुरहू करके मत पुकारने लगना। पैदा होते ही नारायण नारायण कहकर बुलाना।"

स्त्री ने कहा—"अच्छी बात है, अब तक तो कोई नाम देने वाला था ही नहीं। हमारे मन में जो आया पुकारने लगे। अब संत भगवान् ने पैदा होने से पहिले नाम रख दिया है। अब के मैं ऐसा ही करूँगी।" दोनों को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। साधुओं की रसोई तैयार हुई, भगवान् का भोग लगा आरती का घण्टा बजते ही बच्चों के सहित अजामिल आरती में सम्मिलित हुआ। अजामिल की स्त्री भी सम्पूर्ण अङ्गों को वस्त्रों से ढककर

दूर खड़ी हो गई। दूर से भूमि में सिर टेक कर उसने सतों को प्रणाम किया। उस पर महात्मा की दयामयी दृष्टि पड़ गई।

भगवान् का भोग लगाने पर महात्माजी ने कहा—"अजामिल! भैया, तुम कुछ भगवान् का प्रसाद बच्चों के लिये ले जाओ।"

हाथ जोड़कर अजामिल ने कहा—"भगवन्! आप सब प्रसाद पा लें जो उच्छिष्ट बचेगा, उसके तो हम सब अधिकारी हैं ही।"

महात्माजी ने कहा—"अच्छी बात है भैया, होने दो हरी हर सतों की पंक्ति बैठी।"

अब क्या था अपने अपने पात्र लेकर महात्मा बैठ गये और होने लगा—

श्रीहरि नारायण गोविन्दे भजो रामा कृष्णा गोविन्दे।
पुरी अयोध्या सरयूतीर जहाँ विराजे श्री रघुवीर
श्रीहरि नारायण गोविन्दे, भजरामा कृष्णा गोविन्दे।
गोविन्द गोविन्द गाओगे, प्रेम पदारथ पाओगे
श्रीहरि नारायण गोविन्दे, भज रामा कृष्णा गोविन्दे।

सब पत्तलों पर सब प्रसाद पहुँच गया। तब जय जय कार बोले। चार धाम की जय, सातों पुरियों की जय, आदि अन्नदाता की जय, ऐसे बहुत जय जय होने पर हरि हर हुआ। सबने प्रसाद पाया। अजामिल यह सब देखता रहा। भगवान के सुमधुर नामों का कीर्तन सुनता रहा।

जब सब महात्मा प्रसाद पा चुके तो उसने सबसे प्रार्थना की कि कोई सत अपनी पत्तल न उठावें। उसकी दीनता को देखकर सतों के हृदय में दया आ गई। किसी ने पत्तल नहीं उठाई। सबके उठ जाने पर उसने सब पत्तलों को उठाया

परोसने वाले और रसोई बनाने वाले संतों ने अपने योग्य प्रसाद रखकर शेष सभी उसे दे दिया। आज भगवान् का प्रसाद लेकर वह भीतर गया। घर भर ने आज पेट भर के भगवान् का प्रसाद पाया। ऐसे पदार्थ इन भाग्यहीन विषयी गृहस्थों के भाग्य में कहाँ हैं। ये पाप का पैसा पैदा करते हैं। बनाते समय बुरी-बुरी भावनायें करते हैं। बिना भगवान् का भोग लगाये बिना बलिवैश्वदेव किये रोटियाँ सिकती जाती हैं, चूल्हे चौका में बैठे ही खाते जाते हैं। उन्हीं जूठे हाथों से बर्तनों को छूते जाते हैं। वे भोजन क्या करते हैं, मानों मूर्तिमान् पापों को ही खाते हैं। मंजरी सहित हरी-हरी तुलसी के दलों से युक्त भगवान् का नैवेद्य पाकर सभी की अन्तरात्मा तृप्त हुई। बच्चों ने तो इतना खाया कि उनसे उठा नहीं गया। वहाँ के वहीं सो गये।

प्रातःकाल हुआ। संतों ने डंड कमण्डलु उठाये चलने की तैयारियाँ कर दीं। अजामिल उन्हें पहूँचाने दूर तक गया। जब संतों ने बहुत आग्रह किया, तो वह उन्हें प्रणाम करके लौट आया आज उसे ऐसा लगा मानों उसके कोई आत्मीय बिछुड़ गये हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह संसार बन्धन तभी तक है जब तक साधुओं के चरणों में प्रीति उत्पन्न नहीं होती। जहाँ सन्तों से प्रीति अनुराग हुआ कि यह संसार विलीन हो जाता है। इस क्षण भर के सङ्ग से ही पापी अजामिल का उद्धार हो गया।

कुछ ही काल में अजामिल की वेश्या भार्या ने दसवें पुत्र का प्रसव किया। पैदा होते ही अजामिल ने उसका नाम नारायण रख दिया। एक तो बुढ़ापे में जो सन्तान होती है, उसमें स्वाभाविक ही अधिक मोह होता है, दूसरे यह नियम है,

कि सबसे छोटी सन्तान पर माता-पिता का अत्यधिक अनुराग होता है। इस बच्चे की प्रतीक्षा भी बहुत रही। सन्तों ने ही इसका जन्म से पहिले नाम संस्कार कर दिया, अतः अजामिल का सम्पूर्ण प्रेम इस बच्चे में ही केन्द्रीभूत हो गया। जैसा प्रेम पहिले इस वेश्या में हुआ था वैसा ही इस नारायण पुत्र में हो गया। खाते पीते उठते-बैठते वह उस नारायण को ही साथ रखने लगा।

छप्पय

मनमहँ निश्चय कर्‌यो अवसि जिह काम करुङ्गो।
अबके हावे पुत्र नरायन नाग धरुङ्गो॥
कुछ दिन महँ सुत भयो हर्ष चितमहँ अति छायो।
नारायण धरिनाम नेह अति अधिक बढ़ायो॥
सबरो प्रेम बटोरिकें, नारायण महँ धार दयो।
भूल्यो सब जग के विषय, सुतमहँ तन्मय ह्वै गयो॥

पुत्र के मिस से नारायण नामका कीर्तन

[३५७]

स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि ।
निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम् ॥
भुञ्जानः प्रपिबन् खादन् बालकस्नेहयन्त्रितः ।
भोजयन् पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० २५, २६श्लोक)

छप्पय

लै नारायण नाम प्रेम तें मुखकूँ चूमें ।
गोदी में बैठाय, नारायण कहि कहि घूमें ॥
अपने पीछे खाय नरायन प्रथम खवावे ।
पीवे जो कछु पेय नरायन सग पिवावे ॥
नारायण कूँ सग लै, यों खावत पीवत चलत ।
नारायण भूलै नहीं, जागत हू सोवत उठत ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अजामिल का हृदय मधुर तुतली वाणी बोलने वाले बालक के प्रेम मे ऐसा आबद्ध हो गया, कि उसकी लीलाओं को देख-देखकर निरन्तर प्रमुदित हुआ करता था। खाते पीते भोजन करते वह उस बालक के स्नेह मे ऐसा यन्त्रित हो गया, कि खाते समय उसे भी खिलाता, पीते समय उसे भी पिलाता। इस प्रकार मोहासक्त होने से वह अपनी सन्निकट आई हुई मृत्यु भी भूल गया।"

यह मन स्थिर नहीं होता, किसी एक वस्तु में टिकता नहीं भटकता रहता है। जैसे बच्चा सम्मुख रखी चमकीली वस्तु को ले दौडता है, उस पाकर फिर दूसरी की इच्छा करता है। यह मन भी गिरगिट की भाँति रङ्ग बदलता है। बाल्यकाल में इसे माता से प्रेम होता है माँ की गोद को छोडकर कहीं जाता नहीं, वहीं सुख का अनुभव करता है, तनिक बडा हुआ तो सखा साथियों में खेल खिलोनों में प्रेम हो जाता है, दिन भर खेलने में ही उसे सुख मिलता है, खेल के पीछे भोजन विश्राम भी भूल जाता है। उससे भी कुछ बडा हुआ तो पुस्तकों में प्रेम हो जाता है, दीपक जलाकर रात्रि रात्रि भर पढता रहता है, घर वाले मना करते हैं, "इतना मत पढा कर भैया स्वास्थ बिगड जायगा।" किन्तु वह किसी की सुनता ही नहीं। किशोरावस्था बीतने पर जहाँ युवावस्था ने पदार्पण किया कि आँखों में मद भर गया, अब तो कारे मूड वाली का जमूडा बन गया। वह जैसे नचाती है नाचता है। उठ रे जमूडे, बैठ रे जमूडे, सो रे जमूडे, जो-जो वह कहती है, वही करता है, उसे आँखों से ओझल करने में कष्ट होता है। जहाँ बाल बच्चे हुए कि सब माया मोह उन्हीं में एकत्रित हो जाता है। शनैः शनैः वृद्धावस्था पदार्पण करने लगती है। काले मुख पर सफेदी आने लगती है। नार हिलने लगती है, कि अब बहुत विषयों का सेवन कर लिया अब तो छोडो दाँत एक एक करके नमस्कार करते हुए विदा होते जाते हैं। मुँह पोपला हो जाता है, आँखों की ज्योति घट जाती है, सभी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है, किन्तु एक तृष्णा ही इस वृद्धावस्था में तरुणी हो जाती है अपेक्षाकृत अन्य लोगों के बूढों में अधिक तृष्णा होती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अब उस बूढे अजामिल का सम्पूर्ण स्नेह उस नारायण पुत्र में आकर घनीभूत हो गया।

छोटा-सा बड़ा सुन्दर लड़का था। विशाल मस्तक पर लटकती हुई लटूरियों को हिलाता हुआ, जब वह किलकारियाँ भरता हुआ पिता की गोद में दौड़ता, तो अजामिल के रोम-रोम खिल जाते। उसे कसकर छाती से चिपटा लेता। बार-बार मुख चूमता और लोरियाँ देते हुए कहता—मेरा बेटा, नारायण-नारायण नारायण। मेरा मुनुआ नारायण नारायण नारायण नारायण जब भोजन करने बैठता, तब कहता—"आओ बेटा, नारायण मम्मा कर लो। एक ग्रास उसे खिलाता एक अपने खाता। पानी पीना होता तो कहता—"आओ बेटा नारायण! पप्पा पी लो। जब उसको उँगली पकड़कर चलाना सिखाता तब कहता—'नारायण बेटा, पाँ-पाँ पैयाँ, गुरकी डालियाँ, नारायण की लेउँ बलैया।' जब सुलाता तो गोदी लेकर उसके बदन को थपथपाते हुए कहता—"मेरे नारायण को आजा री नींदरिया, काहि कटे तेरी मूड़रियाँ।" उठता तो पुकारता—नारायण नारायण बेटा, जाग गये और गोदी में आओ। अपनी स्त्री से कहता—"ओ सुनती नहीं है, नारायण का मुख धो दे, कुछ खाने को कलेवा दे दे।" इस प्रकार राजन्! उठते-बैठते सोते-जागते उसका निरन्तर नारायण नाम का कीर्तन होने लगा।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप ये कैसी बातें कर रहे हैं? वह नारायण नाम का कहाँ कीर्तन करता था, वह तो अपने पुत्र नारायण का नाम लेता था। उसे आप नाम कीर्तन क्यों कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"महाभाग! कैसे भी सही, न सही भगवान् के उद्देश्य से, नाम लेता ही था। भगवान् का भी नाम तो नारायण है। एक स्थान पर दो आदमी रघुनन्दन नाम के हैं। कोई दूर से रघुनन्दन पुकारता है, तो चाहे जिस रघुनन्दन को बुलावे

दोनों के ही कान खड़े हो जायँगे। दोनो ही मुडकर पुकारने वाले की ओर देखने लगेंगे।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! यह तो भ्रम से होता है। भगवान तो सर्वान्तर्यामी हैं, उन्हे तो भ्रम हो नहीं सकता। वे तो जानते थे इसका नारायण कहने से अभिप्राय मुझसे नहीं अपने पुत्र से है।"

सूतजी बोले—"भगवन्! भगवान् के सर्वान्तर्यामीपने में मैं भी सन्देह नहीं करता। मैं तो यहाँ नाम का माहात्म्य बता रहा हूँ। भगवान् के नाम में ऐसी शक्ति है कि उसे जान में अनजान मे बहाने से, किसी के कहने से, अपने उद्देश्य से, दूसरे के उद्देश्य से, दुलार से, कैसे भी लें वह कल्याण ही करेगा। शास्त्रकारों का वचन है, भगवान के नाम मे भगवान् से भी अधिक शक्ति है। नाम स्वयं चैतन्यघन है, वह जड नहीं। अग्नि की चिनगारी को इस संकल्प से छप्पर में डालो कि इससे यह जल जाय तो भी छप्पर जल ही जायगा। यदि बिना संकल्प के कोई बच्चा ही भूल मे भी जलती लडकी को ही उसमें फेंक देगा, तो भी छप्पर जल जायगा। भगवान् का नाम अन्य नामों की भाँति निरर्थक कभी नहीं हो सकता। वह अमोघ है, अपना प्रभाव दिखावेगा ही। मिश्री की डली है उसे दिन में खाइये तो भी मीठी, रात्रि में खाइये तो भी मीठी, उजाले में खाइये तो भी मीठी, अँधेरे मे खाइये तो भी मीठी।"

इस पर शौनकजी बोले—"नहीं, सूतजी! यह बात नहीं। जिनकी पित्त के रोग से रसना दूषित हो गयी है, वे चाहे मिश्री को उजाले में खायँ या अँधेरे में उन्हे मीठी लगती ही नहीं।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवन्! यह आप कैसी बात कह रहे हैं। मिश्री का मिठास तो जाता नहीं, रोग के कारण जिह्वा स्वाद चला जाता है, वहाँ भी मिश्री खाना व्यर्थ नहीं

होता। आयुर्वेद के पित्त शमन की एकमात्र औषधि मिश्री ही है। एक डली खाते रहें, मीठी न लगे भी औषधि रूप में सेवन करने से रोग भी चला जायगा और फिर मिश्री के मिठास का भी अनुभव होने लगेगा। उसका सेवन व्यर्थ न जायगा, इसी प्रकार पूर्व जन्म के पापों के कारण जिनका भगवन्नाम में अनुराग नहीं होता, अच्छा नहीं लगता। उन्हें बलपूर्वक नाम संकीर्तन में नियुक्त करना चाहिये। अनिच्छा से नाम संकीर्तन करते-करते उसके पाप कटेंगे। पाप कटने से अन्तःकरण शुद्ध होगा। शुद्ध अन्तःकरण होने से भगवान् के नामों में अनुराग बढ़ेगा। आप नाम को नामी से भिन्न न समझें। जो शक्ति नामी में है वही नाम में है। यही नहीं नामी से बढ़कर शक्ति नाम में है। एक राजा है चारों ओर उसका बड़ा नाम है, लोग उसके नाम से थर-थर कापते हैं। नदी पर जाकर जो भी कह देता है मैं उस राजा का सेवक हूँ राजकर्मचारी हूँ, उसे डरकर मल्लाह पार उतार देते हैं। पैसा भी नहीं माँगते। एक दिन राजा स्वयं वेष बदलकर जाता है। मल्लाहों से कहता है—"हमें पार उतार दो।" मल्लाह कहते हैं—"पैसा दोगे तो उतारेंगे नहीं अपना रास्ता पकड़ो राजा बहुत अनुनय विनय करता है किन्तु लोगों के हृदय में दया कहाँ। कोई राज कर्मचारी धीरे से किसी के कान में राजा का नाम बता देता है। नाम सुनते ही सब दौड़ते हैं, कोई पैर पड़ता है, कोई नौका लाता है, कोई बिस्तर बिछाता है। अब सोचिये! नामी राजा सम्मुख खड़ा था। उसकी बात किसी ने सुनी नहीं। जहाँ नाम सुना वहीं उसका महत्व बढ़ गया। नामी को नाम ही प्रकाशित करता है।"

इस पर शौनकजी बोले—"हाँ, तो सूतजी! फिर क्या क्या हुआ?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, तो मुनिवर! मेरे गुरुदेव महाराज परीक्षित् को कथा सुनाते हुए कहने लगे—"राजन्! इस प्रकार उस बूढ़े और बुढ़िया वेश्या दोनों का उस नारायण नामक बच्चे में चित्त फँस गया। अजामिल तो उस बच्चे के मोह में तन्मय ही हो गया। इस प्रकार के लालन पालन और प्रेम व्यवहार में लगे हुए उस अज्ञानी ने अपना मृत्युकाल उपस्थित होने पर भी उससे मन को नहीं हटाया। वह सबको भूल गया, किन्तु नारायण का नाम उसकी जिह्वा पर बना ही रहा।"

काल की गति तो दुर्निवार है। मृत्यु का पता नहीं कब आकर छाती पर सवार हो जाय। अजामिल का नारायण अभी चार वर्ष का भी नहीं हुआ था, कि अजामिल की मृत्यु का समय आ उपस्थित हुआ। जीवन भर पाप किये थे, न जाने कितनी हिंसायें की थीं, माता पिता, निरपराध सती साध्वी कुलीन वंशप्रसूता पत्नी का पापमति होकर परित्याग किया था। इन सब पापों के कारण हाथ में कारे कारे भुसुंड पाश और गदा लिये हुए यम-दूत अजामिल को बाँधने के लिये आ गये। उनके लाल-लाल कड़े, ऊँचे उठे भयानक बाल, काला काला डरावना मुख था, उसमें बड़ी-बड़ी तीक्ष्ण दाढ़ें थीं। श्यामवर्ण के मोटे ओंठ थे। पर्वत की कंदरा के समान भयंकर मुख था। [illegible] चमकीली आँखें थीं। वे इतने बड़े बड़े थे, कि [illegible] फिरते पर्वत शिखर से दिखाई देते थे। [illegible] उनका सूक्ष्म शरीर था, आकाश में [illegible] करते हुए दिखाई दे रहे थे। [illegible] चाटते हुए वे वक्र दृष्टि से [illegible] पास में अजामिल के [illegible] लगे, त्यों ही [illegible]

लेकर अजामिल ने अति दीन भाव से उसे पुकारा—"नारायण! नारायण! आओ आओ।"

राजन्! आप जानते हैं, भगवान् वासुदेव के बहुत से शंख चक्र, गदा और पद्मधारी पार्षद सदा ब्रह्मांड में घूमते रहते हैं।

कि भगवत् भक्तों को वैष्णवों को कोई कष्ट न दे। उन्होंने जब सहसा सुना कि हमारे स्वामी के नाम का मरते समय कीर्तन करने वाले को यमदूत सता रहे हैं, तो उनसे नहीं रहा गया। वे उन यमदूतों पर ऐसे ही झपटे जैसे चील मॉस के टुकडे पर झपटती है, अथवा बाज पक्षी लवा पर झपटता है। जाते ही उन्होंने यम दूतों को तान के ऐसी गदायें मारी कि वे तिडी होकर चारों कोने चित्त होकर लेट गये। सास तो चलती रही, बाकी सब दुर्गति उन बेचारों की हो गयी।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आप कुछ ससारी अज्ञानी लोगों की सी पक्षपातपूर्ण बातें कर रहे हैं। नाम का माहात्म्य आप कहते हैं—हम स्वीकार करते हैं। मरते समय नाम लेने से उसका कल्याण हो जाता है ठीक है, किन्तु यह क्या बुला रहा है अपने बच्चे को, बीच में विष्णु पार्षद आ धमके। सर्वज्ञ विष्णु के पार्षदों को इतनी भी बुद्धि नहीं कि यह हमारे स्वामी के नाम का कीर्तन नहीं कर रहा है, अपने प्यारे दुलारे मुनमुना स नारायण नामक पुत्र को बुला रहा है, जिसके मोह में इसका चित्त आसक्त है।"

इस पर सूतजी बहुत गम्भीर होकर बोले—"भगवन्! आप इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें, तब आपको इसका रहस्य मालूम पडे। देखिये, एक कुत्ता है। कहीं से भूखा प्यासा किसी समर्थ श्रीमान् के द्वार पर आ गया। दयावश स्वामी के सेवकों ने कुछ खाने को दे दिया। पेटभर भोजन पाकर कुत्ता वहीं पडा रहा। दूसरा दिन हुआ, कुछ जूठा बचा उसको डाल दिया। नौकरों ने दो चार बार मार पीटकर उसे भगाया भी, नहीं गया पडा ही रहा। किसी ने दयावश कह दिया—"अजी तुम्हारा क्या लेता है, जूठा कूठा टुकडा बच जाया करे डाल दिया करो, क्यों मारते हो पडा रहने दो।" कुत्ता पडा

रहा। गृह स्वामी जब कभी निकलता उसे देखता, कुत्ता पूँछ हिला देता स्वामी चला जाता। उसने न इसे पाला था, न इस ओर उसका ध्यान ही था। कभी दृष्टि पड़ती तो नौकरों से कह देता—"भैया, इस कुत्ते को भी खाने को दे दिया करो।" इस प्रकार उस द्वार पर उसका पेट भरने लगा।

एक दिन वह कुत्ता दूसरे मुहल्ले में चला गया। वहाँ किसी के दूध के वर्तन में उसने मुँह डाल दिया। वह इसे बहुत पीट रहा था। संयोग की बात उधर से उस श्रीमान् के दो सिपाही जा रहे थे। उन्होंने जब देखा कि यह आदमी हमारे कुत्ते को पीट रहा है, तो वे उससे लड़ने को उद्यत हुए। उस आदमी ने कहा—"तुम कहीं के बड़े कुत्ते वाले बन गये हो। इसने हमारा कितना अपराध किया है ? दूध को अपवित्र बना दिया।" समर्थ श्रीमान् के सिपाही थे, उन्होंने आव गिना न ताव, दो चार मुक्के घूँसे जमा दिये। लोगों ने दौड़कर श्रीमान् से कहा—"आपके सिपाहियों से लड़ाई हो रही है। उस समर्थ श्रीमान् ने पूछा—"बात क्या थी।"

लोगों ने बताया—"उसने आपके कुत्ते को बहुत मारा था, इसी पर बात बढ़ गई।"

श्रीमान् ने कहा—"मेरा तो भैया कोई कुत्ता नहीं, मैंने तो कभी कुत्ता पाला ही नहीं।"

इस पर दूसरे सेवक ने कहा—"श्रीमान् ! वह जो कुत्ता द्वार पर आपके आश्रय में पड़ा रहता था, उसी की ये बातें कह रहे हैं।"

यह सुनकर श्रीमान् गम्भीर हो गये। यद्यपि कुत्ता उनका था नहीं, किन्तु कैसे भी सही उनके नाम के साथ उसका सम्बन्ध जुट गया। अनिच्छा से ही सही सब उसे श्रीमान् का कुत्ता कहने लगे। अब जब उसके सेवकों ने उसे अपना बताकर

लडाई झगडा कर दिया, तब तो उसे उनका पक्ष लेना ही पडेगा। कुत्ते की कोई बात नहीं, कुत्ते को लोग अपराध करने पर मारते ही हैं, लडाई झगडे की भी कोई बात नहीं। नौकर चाकर आपस में लडते ही हैं, किन्तु यहाँ तो नाम का प्रश्न है। लोग कहेंगे 'अजी, इतने बडे आदमी का कुत्ता मारा गया और वे कुछ बोले नहीं।" हमारे नाम का महत्व घट जायगा। बदनामी भी होगी, अपयश भी होगा। इसलिये उसने अपने नौकरों का पक्ष लिया और डाँट कर कहा—"हमारे कुत्ते को मारने वाला कौन होता है, उसे पकड लाओ, जेल में भिजवा दो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनिवर, सोचिये, कुत्ता को श्रीमान् ने पाला नहीं, कभी अपना कहा नहीं, वह दूसरों का अपराध करता था, उसके लिये दण्ड देना उपयुक्त ही था, किन्तु समर्थ के नाम से सम्बन्ध हो जाने से उसके अपराध की ओर तो किसी का ध्यान गया नहीं, सब मारने वाले को बुरा भला कहने लगे—"यह तो बडी मूर्खता की बात है, इतने बडे आदमी के कुत्ते को मारना! मान लो दूध में मुँह डाल ही दिया तो क्या हुआ? कुत्ता ही ठहरा, उसे इतनी बुद्धि नहीं, विचार नहीं। इसके लिये इस प्रकार बुरी तरह से उसे मारना उचित नहीं था। सिपाहियों ने ठीक ही किया, उसे उसके किये का तुरन्त फल चखा दिया। अब कोई भी मुहल्ले वाला उस कुत्ते को मारने का साहस न करेगा।" इस प्रकार शौनकजी! बडों के नाम का सहारा लेने से बिना स्वीकार किये भी आदमी बहुत से दुःखों से छूट जाता है। विष्णुपार्षद समर्थ थे सब जानते थे, किन्तु उन्होंने सोचा—"हमारे स्वामी का मरते समय नाम लेने वाले की यदि दुर्गति हुई, तो नाम का महत्व ही चला जायगा। कैसे भी सही किसी भी भावना से क्यों न लिया हो उसने चार अक्षरों वाला दिव्य चिन्मय आनन्दमय रसविग्रह "नारायण" यह नाम तो

लिया। हम जानते हैं वह पापी है इसने पाप किये हैं, किन्तु मरते समय इस नाम के लेने वाले के सम्मुख पाप कैसे रह सकते हैं। एक आदमी है। उसने बहुत-सा कूड़ाकरकट बटोर कर घर में भर लिया है। उसमें विश्राम करने को भी स्थान नहीं। अच्छी वस्तु रखने को भी रिक्त स्थान नहीं। मकान सुन्दर है पक्का है, किन्तु घास फूस व्यर्थ की टूटी-फूटी लकड़ियों से भर रहा है। बहुत-सी आवश्यक बहुमूल्य वस्तुएँ बाहर पड़ी हैं। उधर उसका ध्यान नहीं है। एक दिन तम्बाखू पीने को उसने आग जलाई। संयोग से आग उस घास फूस में लग गई। सब व्यर्थ की वस्तुएँ जल कर भस्म हो गईं। दूसरे लोग प्रसन्न हुए। दयावश गृह को झाड़ बहार दिया, पानी से धो दिया। बहुमूल्य वस्तुएँ बाहर से भीतर रख दीं। अब दरिद्र का घर न रह कर श्रीमान् का भवन बन गया। उसने जान बूझ कर घास फूस में आग नहीं लगाई। न आग घास फूस भस्म करने के लिये बनाई थी। उसने तो धूम्रपान करने के निमित्त जलाई थी। आग का स्वभाव है, जहाँ लगेगी कूड़े को भस्म करेगी। इसी प्रकार अजामिल ने पाप किये यह सत्य है भगवान् का नाम भी उसने पुत्र के निमित्त लिया, यह भी सत्य है, किन्तु नाम का माहात्म्य, नारायण शब्द का भाव कहाँ जायगा ? पापों का नाश तो होगा ही।"

इस पर शौनकजी बोले—"महाभाग, आपने जो यह समर्थ श्रीमान् और कुत्ते का दृष्टान्त दिया यह तो प्राकृतिक पुरुष की पक्षपातपूर्ण बातें हैं। भगवान तो सर्व समर्थ, सर्वज्ञ, सर्ववित् न्याय और सत्य से युक्त निराकार, निर्गुण, निर्लेप हैं। वे ऐसा असत्य पक्षपात क्यों करने लगे। वे अपने मिथ्या नाम लेने वाले के प्रति ममत्व क्यों दिखाने लगे।"

यह सुनकर सूतजी हँसते हुए बोले—"भगवन् ! गुड़

गोबर एक में न मिलाइये। मैं यहाँ निर्गुण निराकार ब्रह्म की बातें नहीं बता रहा हूँ। यहाँ तो सगुण साकार वैकुण्ठाधिपति चतुर्भुज लक्ष्मीपति श्रीमन्नारायण की अनुकम्पा का, दयालुता का वर्णन कर रहा हूँ। उन भक्तवत्सल भगवान् का अपने शरणागत भृत्यों के प्रति पक्षपात होता ही है। इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। उन्हें अपने नाम लेनेवाले के प्रति ममता होती ही है, फिर चाहे वह नाम कैसे- भी किसी भाव से भी लिया जाय। हमारे सगुण साकार लक्ष्मीपति शेषशायी कमलाकान्त हैं। उनमें पक्ष-पात का दोष आ ही नहीं सकता। क्योंकि जो भी उनके नाम रूप लीला और धाम का आश्रय लेगा, उसका वे उद्धार करेंगे ही, वे न करना भी चाहें, तो रह नहीं सकते, रुक नहीं सकते। यह उनका विरद है, बाना है, भेष है।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने ठीक कहा। कौन जीव मन से उन अनन्त गुण धाम प्रकृति से परे रहने वाले प्रभु का ध्यान कीर्तन कर सकता है। सभी बेमन से ही करते हैं, हम लोग मुख से तो "श्रीमन्नारायण नारायण नारा-यण कहते-रहते हैं। चित्त इधर-उधर घूमता रहता है। यदि बिना मन के करने का कुछ भी प्रभाव न हो, तब तो जप, तप, कीर्तन कथा, सभी व्यर्थ हैं, क्योंकि पहिले पहिल मन किसी का लगता ही नहीं। सुनते-सुनते करते-करते जब प्रभु कृपा करते हैं, तो मन लगने लगता है। भगवान् स्वयं अनुग्रह न करें, तो जीव की स्वयं क्या सामर्थ है, कि उनके नाम, गुण, लीला धाम तथा रूप का चिन्तन कर सके? हम लोग भी तो बेमन ही से राम-राम कहते हैं, किन्तु जिसका नाम है उसे अपने नाम की लाज है, बेमन से कहने वाले पर भी कृपा करते हैं। यदि पुत्र के बहाने नारायण नाम लेने पर अजामिल पर कृपा की, [illegible] ने यमदूतों से रक्षा की, सो ठीक ही किया। [illegible]

चाहिये था। कृपा न करते, उसे दुःख से न छुड़ाते तो यही अनुचित कहा जा सकता था। हाँ, तो अब आगे क्या हुआ। इस आख्यान को पूरा सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! मैं सब समझ रहा था, कि आपको तो भगवन्नाम के माहात्म्य में उसके प्रभाव के विषय में कोई शङ्का होने की ही नहीं। आप सर्व साधारण लोगों के निमित्त ये प्रश्न पूछ रहे हैं। अच्छी बात है, अब आगे आप अजामिल का अनुपम आख्यान श्रवण कीजिये।"

छप्पय

नारायणमहँ चित्त फँस्यो नारायण नित दिन।
सेवे प्रान समान रहे छिन हू नहिं वा बिन॥
वेश्यापति यों फँस्यो मोह महँ मृत्यु बिसारी।
परि निरबार कराल काल की आई बारी॥
मृत्यु समय यम किंकरनि, पकर्‌यो पापी अजामिल।
नारायण मुख तें कह्यो, खेलत सुत कूँ लखि विकल॥

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये।

श्रीभागवत-दर्शन

भागवती कथा

(षोडश खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनोसि विचिन्वता
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी, (प्रयाग)

—:*:— संशोधित मूल्य २ ० रुपया

[तृतीय संस्करण] चैत्र, सं० २०२१ वि० [मू० १.२५ न० पै०

॥ श्रीहरिः ॥

[ब्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य पाठके योग्य अनुपम महाकाव्य]

श्रीभागवतचरित

(तृतीय संस्करण)

(रचयिता—श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं के नित्य पाठके अनुपम ग्रंथ हैं। हिन्दी भाषामें रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठके लिये थी किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ ब्रजभाषा की छप्पय छन्दोंमें लिखा गया है। बीच-बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रमसे सात भागोंमें विभक्त हैं, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओंको सरल, सरस तथा प्राजल छंदोंमें गायागया है। सैकड़ों नरनारी इसका नित्यनियमसे पाठ करते हैं,बहुतसे कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं। और इसका पंडित इसीके आधारसे भागवत सप्ताह बाँचते है। अब इसका तीसरा ५ हजारका संस्करण अभी छपाया है। लगभग सवा नौ सौ पृष्ठकी पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागद पर छपी है। सैकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़े की टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उसपर रङ्गीन कवर पृष्ठ है। बाजारमें ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक-परलोक को सुधार लें। न्योछावर केवल ५.२५ न०पै० डाकव्यय पृथक।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

विषय-सूची

० सं०	विषय	पृष्ठांक
	भागवती कथा की वर्ष गाँठ (भूमिका)	५
८—	यमदूतों का और विष्णु-पार्षदों का सम्वाद	१५
९—	भगवन्नाम ही समस्त पापों का पूर्ण प्रायश्चित्त है	२५
०—	हरिनाम से ही पापोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है	३४
१—	हँसी विनोद में भी भगवन्नाम श्रेयस्कर है ...	४०
२—	हरि उच्चारण मात्र से ही पापों को हरते हैं ...	५२
३—	नामोच्चारण का फल अमोघ है ...	६५
४—	अजामिल को पश्चात्ताप ...	७९
५—	अजामिल को भगवत् पार्षद् पद की प्राप्ति ..	८५
६—	रिक्तहस्त यमदूतों का यमराज से निवेदन ...	९४
७—	यमराज द्वारा अपने दूतो के प्रश्नो का उत्तर ...	१०३
८—	यमदूत किनके पास जायँ किनके पास न जायँ ...	११२
९—	भगवन्नाम माहात्म्य	११९
०—	प्रेचताओ के पुत्र दक्ष का प्रजावृद्धि के लिये तप ...	१३४
१—	प्रजापति दक्ष को भगवद् दर्शन ...	१४२
२—	मैथुन धर्म से दक्ष के हर्यश्व नामक पुत्रों की उत्पत्ति	१५१
३—	नारदजी के हर्यश्वो से दश गूढ़ प्रश्न ...	१५९
४—	हर्यश्वों का नारद जी के कूट वचनो पर विमर्श ...	१६९
५—	पुत्रवियोग से दुःखित दक्ष द्वारा पुत्रो की उत्पत्ति	१७६
६—	शवलाश्वों को भी शिष्य बनाने पर दक्ष का नारदजी ... ... का शाप	१८२
७—	दक्ष की साठ कन्यायें ...	१९४
८—	दक्ष की कन्याओ के वंश का वर्णन ..	२००
९—	तार्क्ष्य गरुड़ और अरुण	२०६

३८०—चन्द्रमा को दक्षका शाप २२
३८१—कश्यप पत्नियों के वंश का वर्णन ... २२
३८२—देवेन्द्र द्वारा देवगुरु बृहस्पति का अपमान ... २३

चित्र-सूची

१—यमराज का यमदूतों से वार्ता १६
३—प्रजापति दक्ष को भगवान् के दर्शन १४
४—नारदजी का हर्यश्वों से दशगूढ़ प्रश्न १६
५—नारद जी प्रजापति दक्ष की सभा मे १

भागवती कथा की वर्षगाँठ

(भूमिका)

सूत सूत महाभाग वद नो वदतांवर ।
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः ॥६

(श्रीभा० १ स्क० ४ अ० २ श्लो०)

छप्पय

अजर अमर हरिकथा जनम अरु नाश न जामै ।
तबही जानो जनम जबहिँ जाकूँ नर पामै ॥
जा दिन होवै प्रकट पुण्य तैं कथा पुरानी ।
हृदय पटल पै जनम भयो नूतन पुनि मानी ॥
गंगाजल, पय, सिता मिलि, लस्सी बनि प्रकटे यथा ।
त्यों गुरुपूनो कूँ मधुर, प्रकटी 'भागवती कथा' ॥

विक्रमी सम्वत् २००२ की गुरुपूर्णिमा से यहाँ प्रतिष्ठानपुर में मैंने अष्टादश पुराण सत्र की दीक्षा ग्रहण की थी। तब 'भागवती कथा' ने मेरे मनमें प्रवेश किया। जन्माष्टमी के दिन उसका एक छप्पय लिखकर आरम्भ किया और फिर कार्तिक शुक्ला अष्टमी से नियमानुसार एक अध्याय लिखना आरम्भ

---

* शौनकजी सूतजी से उत्सुकता के साथ कह रहे हैं—"सूतजी ! सूतजी !! हे महाभाग ! आप सब वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं। अतः महानुभाव ! आप हम उस परम पुण्यमयी भागवती कथा को सुनावें, जिसे भगवान् शुकदेव ने महाराज परीक्षित् को सुनाया था।"

किया। कार्तिक से आषाढ़ तक आश्रम की परिधि के गर्भ में रही। सम्वत् २००३ को गुरुपूर्णिमा मध्यान्होत्तर इसका खण्ड सबके सम्मुख आया, अतः इसकी वार्षिक जन्म तिथि हम लोग गुरुपूर्णिमा के ही दिन मानते हैं। इसकी द्वितीय वर्षगाँठ गत गुरुपूर्णिमा को पूज्यपाद श्रीहरि बाबा जी की सन्निधि में हम सब ने उत्साह के साथ मनाई।

नियमानुसार अब तक इसके २४ खण्ड प्रकाशित हो जाने चाहिये थे, किन्तु कागद की कठिनाई से, प्रेस की पिच-पिच से, तथा अन्यान्य कई कारणों से इसके अब तक १६ ही खण्ड प्रकाशित हुए। अपनी चेष्टा तो ऐसी है, महीने में एक नहीं दो खण्ड प्रकाशित हों, किन्तु अपनी इच्छा से सभी काम होते तो सभी लखपती होते, कोई भी रोगी न होता, किसी को भी दुःख न होता। जीव का अधिकार कर्म करने मे है, फल की कुञ्जी तो किसी कारे वर्ण वाले व्यक्ति ने अपने कमनीय करों में ले रखी है। वे जिससे जब जो चाहते हैं कराते हैं। उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं, वश नहीं, अधिकार नहीं। सब नाक मे नकेल पड़े पशु के समान उनके संकेत पर नाच रहे हैं।

हाँ, तो अब दो वर्ष का सिंहावलोकन करें। क्षण-क्षण में परिवर्तनशील इस ससार में तो इन दो वर्षों मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए ही हैं, मेरी कुटी मे ही महान् परिवर्तन हो गया है। ऋषियों का मत है, जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। जैसा अपना मन है वैसा ही जगत् का मन है। व्यष्टि के यथार्थ ज्ञान से समष्टि का भी ज्ञान होता है। अपनी उन्नति से जगत् की उन्नति होती है, अपनी मुक्ति से विश्वब्रह्माण्ड की मुक्ति होती है। अतः बाहर न देखकर भीतर ही देखो। दूसरों की अवनति-उन्नति की ओर न देखकर अपने भीतर ही

टटोलो। दूसरों मे परिवर्तन देखकर न हँसो, अपने आप मे ही देखो। तीन वर्ष पूर्व जिस कुटी मे नाममात्र की कोई एकाध वृक्ष होगा, आज इसमें सैकडो हरे भरे वृक्ष लहलहा रहे हैं। बहुत-सी ललित-लतायें झुक कर झूम कर भूमि को चूम रही हैं, बहुत से पुष्प खिल खिलाकर हँस रहे हैं। बहुत से फल हिल-हिल कर श्रावण का-सा झूला झूल रहे हैं। जितने वृक्ष हैं, सबका अपना पृथक् पृथक् इतिहास है। पाठकों से उन सब का पृथक्-पृथक् परिचय कराऊँ, तो एक पृथक् पुस्तक बन जायगी। 'भागवती कथा' मे कमी हो जायगी। अतः विस्तार न करूँगा, किन्तु कुछ तो सुनाऊँगा ही। क्यों सुनाओगे जी ? पेड-पत्तियों की बातों मे व्यर्थ समय क्यों बिताते हो, भगवान् की चर्चा क्यों नहीं करते ?"

भगवान् की ही तो चर्चा कर रहा हूँ। भोर में कोई चतुर चितेरा आकर मेरे इन पोधो के साथ खिलवाड कर जाता है, उसे मैंने कभी देखा नहीं, उसके खेल को देखा है, उसकी अद्भुत रचना का दिग्दर्शन किया है। जो जिस वस्तु से प्यार करता है, उसकी चर्चा मे भी उसे सुख मिलता है। अतः चितेरे की चित्रकला के सम्बन्ध की चर्चा उसे भली लगेगी। फिर लेखक का भी इनमे ममत्व तो है ही, उसका भी तो इन फूल-पत्तियो और लताओं से मनोरजन होता है। अतः आज वार्षिक पर्व पर इनकी चर्चा अनुपयुक्त न होगी।

जिस स्थान पर यह भागवती कथा लिखी जा रही है। पुराणो मे इसका नाम यज्ञतीर्थ मिलता है। पहिले लेखक हंसतीर्थ मे रहता था, अब यज्ञतीर्थ मे। जिस कुटी में यह लिखी जा रही है वह बहुत ऊँचे पर है, एक टीला-सा है। भगवती भागीरथी के तटपर ही नहीं कगार पर है। आजकल वर्षा में तीन

ओरसे गंगाजी से घिरकर यह एक टापू-सा बन जाता है। नीचे एक मधु (महुए) का सुन्दर हरा भरा वृक्ष है मिट्टी का चबूतरा बना है। वर्षात में गंगाजी के बढने पर इसकी जडें जल डूब जाती हैं। इसे भूलोक कहिये। इससे ऊँचे स्थान पर तीन ईंटोंकी पक्की परिधि है। पश्चिमकी ओर गंगाजी के सम्मुख पत्थर की जाफरी बनाकर घेर दिया गया है। बीच में पक्की कुटी भी है गंगाजी की ओर एक सुन्दर सहन है जिसमें बडे-बडे चार द्वार हैं। दो दक्षिण ओर दो उत्तर की ओर तथा एक पूर्व की ओर है परिधि के चारो ओर खुला स्थान है उसमें वृक्ष, पौधे तथा लतायें लगी हैं। दक्षिण ओर केवल ४-५ हाथ चौडा स्थान है पश्चिम ओर १५, १६ हाथ, उत्तर की ओर १०-१२ हाथ पूर्व की ओर ५-६ हाथ होगा। पश्चिम ओर वृत्ताकर गोल है पश्चिम में तो गंगाजी की धारा ही हिलोरें मार रही हैं। दक्षिण की ओर एक बडा नाला है, जिसमें वर्षा के दिनों दूर तक गंगाजी भर जाती हैं। उत्तर को गंगाजी से प्रतिष्ठानपुर (झूसी) नगर में जाने की सडक है। इसके बाद अब वृक्षों की कथा सुनिये। किसी ने कहा—अमुक के यहाँ मालती (चमेली) की बडी सुन्दर लता है, उसमें से तीन वर्ष पूर्व कुछ डालें तोड लाये थे, तीन स्थानों में लगा दीं। दक्षिण की ओर वही लता ऊपर चढ गई है। गत वर्ष स्वतन्त्रता दिवस के उपलक्ष्य में एक नन्हे से पारिजात-हारशृङ्गार के वृक्षको मैंने यह सोचकर दक्षिण की ओर लगाया था कि देखें हमारी स्वतन्त्रता हरी-भरी रहेगी या कुम्हिला जायगी। आज वह वृक्ष बडा हो गया है, अनेकों उसमें से शाखा फूट निकली है। बडे-बडे पत्तों वाला वह वृक्ष आशा से भी अधिक बढ़ गया है, एक वर्ष में ही ४ शाखायें तथा लगभग एक शत उप शाखायें हो गई हैं। उसका विस्तार भी बढ गया है।

मेरे गृह के सम्मुख ही वह स्वतंत्रता पादप लहरा रहा है। उससे आगे माधवी की लता मेरे दरवाजे मे बन्दनवार-सी बँधी लहरा रही है, नन्हे से पौधे से तीन वर्ष में ही यह लता कितनी फैल गई। पश्चिम की ओर दो बड़ी-बडी क्यारियों मे तुलसी का वन है। एक राधा वन दूसरा कृष्ण वन, एक लगावें तो कहीं झगड़ा न हो जाय, इसलिये सबके हमने जोड़े-जोड़े लगाये हैं। उसके बीच में खम्भे लगाकर यूथिका (जूही) की लतायें चढ़ाई हैं। यह यूथिका वितान बड़ा ही सघन और मनोरम है, उसमे विष्णु कान्ता की लता स्वतः ही चढ़ गई है। यूथिका और विष्णु कान्ता की शाखायें परस्पर मे फँस गई हैं। यूथिका की सुन्दर स्वच्छ सुगन्धि युक्त छोटी-छोटी कलियाँ सब विष्णु कान्ता की बड़ी-बडी नीली और अम्बरी रंग की कलियो मे मिलकर खिलकर हिलने लगती हैं, तो ऐसी लगती हैं मानो गंगा यमुना की सखियाँ श्वेत और नीली साड़ी पहिनकर क्रीड़ा कर रही हों। इस ओर दोनो तुलसी क्यारियो मे स्वर्ण मल्लिका (पीली चमेली) के सामने वृक्ष हैं, ये बडी दूर मिलावली से आये हैं। बाईं ओर गंधराज का वृक्ष है तो उसके सामने दाईं ओर केवड़ा है। बेला के वृक्ष तो असंख्य है। वे जब सब फूलते हैं तो ऐसे लगते हैं मानो नभ में तार खिल रहे हों। किनार-किनारे पंक्तिबद्ध अमृत फल अमरूद के वृक्ष हैं। वे संख्या मे सब १३ हैं, गत वर्ष कइयो पर फल भी आ गये थे। अब के तो सभी सम्भवतया फल जायँगे। फूल आ गये हैं। माधवी की लतायें आशा से अधिक बढ़ गई हैं। कुटी के चारों कोनों पर चारों चढ़ गई हैं। पाँचवी नीम की ओर है। उत्तर ओर दो प्राचीन नीम के वृक्ष हैं। उन पर गुरुच-गिलोय चढ़ गई है। पारसाल विधारा की भी एक बेल लगाई थी, अब उसमे से अनेको शाखा-प्रशाखायें निकल

कर नीम को ओर मुँह बाये रस्सी के सहारे चढ़ रही हैं। गत वर्ष जो दो चंपा के वृक्ष लगे थे, वे सूख गये। छोटे थे, अब केवड़ा लगाया गया है। (यूथिका) के तीन विस्तृत वितान हैं। पूर्व की ओर की दिवाल पर तो यूथिका की कई बेलें चढ़ रही हैं। सब का सरस इतिहास है। सबका इतिहास बता नहीं सकता सब के नाम लिखे देता हूँ, नहीं मुझसे अप्रसन्न हो जायँगे हमारा नाम छापेमे क्यों नहीं छपाया। पहिले लताओं के ही नाम बताता हूँ मल्लिका, माधवी, विधारा, विष्णुकान्ता, द्राक्षा, गुरुच और लौकी, तुरई, निनुआ, रमास की तो क्षणिक हैं वर्षा के दिनों मे लगती हैं। गर्मियों मे सूख जाती हैं। वैसे तो सभी क्षणिक हैं। पुष्पों वाले वृक्षों के नामो मे से वृक्ष यूथिका, बेला, पाटल (गुलाब) रजनीगन्धा, इन्द्रजौ, गन्धराज, निवार, कुंद, केवड़ा, बकुल, स्वर्णमालती, कर्णिकार ये ही विशेष उल्लेखनीय हैं। फल वाले वृक्षों मे अमरूद, अनार, आम, पपीता, फालसे, सीताफल ये ही है। सो, इनके दो-दो तीन-तीन वृक्ष होंगे। बाहर के अहाते मे अमरूद, नीबू, बेल आदि के वृक्ष लगाये हैं और दो कमल कुंड भी, जिनमे नीले-बेजनी कमल खिलते रहते है। पहिले पढ़ा करते थे—

तुलसीकानन यत्र यत्र पद्मवनानि च।
पुराणपठन यत्र तत्र सन्निहितो हरिः॥

जहाँ तुलसी का कानन हो, पद्मो का वन हो, नित्य पुराण पाठ होता हो वहाँ श्रीहरि निवास करते हैं। यह भी पढ़ा था मद्-भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद' जहाँ मेरे भक्त मिलकर नाम गुणगान करते हैं वहाँ मैं खड़ा नहीं रहता बैठ जाता हूँ। यही सोचकर अपनी कुटिया मे तुलसी के दो कानन लगाये, दो मलक

कुंड बन गये। नित्य ही नियम से सदा पुराण मडप मे पुराणों का पाठ और प्रवचन होता है। उदयास्त सदा अखण्ड कीर्तन होता रहता है, फिर भी श्रीहरि दीखते नहीं। अब यह तो कैसे कहें शास्त्रों के वचन मिथ्या हैं-श्रीहरि आते होंगे रहते होंगे, किन्तु वे चतुर्भुज रूप, मुरलीधर रूप मे दिखाई नहीं देते, सन्त रूप में तो रहते ही हैं, दर्शन देते है। किन्तु उनमे निष्ठा नहीं। जिन वृक्ष और लताओं का मैंने अत्यत प्रेमपूर्वक पाठको को परिचय कराया है आजकल मेरे वे ही सखा हैं, सुहृद् है, मित्र, हैं, साथी हैं। उन्हीं के साथ रहता हूँ, उन्हीं के साथ खेलता हूँ, उन्हे ही पुचकारता हूँ, उन्हीं से बाते करता हूँ, उन्हे ही देखकर प्रसन्न होता हूँ। ये सब नित्य बढते हैं, नित्य उन्नति करते है, नित्य फलते फूलते हैं, किन्तु मैं वहाँ का वहीं हूँ। इनमे कितनी सहनशीलता है। कोई काटो, कोई मारो, जो जल दे जाता है उसी का पी लेते हैं। न मिलने पर माँगते नहीं, कुवाच्य कहने पर उलटकर उत्तर नहीं देते। धूप, गर्मी, वर्षा सभी को सिर से सहन करते हैं। जो चाहो फल फूल तोड ले जाओ, किसी को मना नहीं करते, देने को उत्सुक नहीं होते, कोई न तोडे पृथ्वी पर फेंक देते हैं। निरन्तर सुगन्धि फैलाते रहते हैं। दुर्गन्धयुक्त भी वस्तु इनके जडो मे डाल दो, तो उनसे भी सुगधि ही ग्रहण करते हैं। कितने गुण हैं मेरे इन मूक सखाओं मे, किन्तु मुझमे ये सब नहीं हैं। मैं अवगुणों से भरा हूँ, फिर भी ये मुझे अपनाये हुए हैं। यही आशा लगाये बैठा हूँ कि जिसने इन्हे बनाया है, उनमे जब इतनी अपनाने की क्षमता है, तो इनके रचयिता तो पापियों को भी अपना लेते होंगे। तीन वर्षों मे क्या से क्या हो गया, किन्तु मुझे पूर्ण प्रभु-प्रेम प्राप्त न हो सका। वही काली कलम और

चही कागदी का काम "कागद लिखे सो कागदी के व्योहारी जीव" मैं कागदी व्यवहारी दोनों ही हूँ। कब अपनाओगे नाथ! कब इस व्योहार से पृथक् करोगे हरे? कब सर्वात्मभाव से अपने चरणों की शरण दोगे अशरणशरण? कुटिल पर कब कृपा करोगे कृपासिन्धो! कब अपने प्रेम का प्याला पिलाओगे प्रेमास्पद?

'भागवती कथा' की वर्षगाँठ के उपलक्ष में समस्त कथा के पाठकों के प्रति मैं आभार प्रदर्शन करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ, इन कथाओं के प्रचार और प्रसार में वे भी प्रयत्न करके पुण्य के भागी हों।

एक बात और, मैं 'भागवती कथा' के साथ जो रत्नों में काँच के टुकड़े मिला देता हूँ, भगवान् और भक्तों की कथा के साथ अपनी राम कहानी भी जो कह देता हूँ, अपनी बात को बक कर जो १०।१५ पृष्ठ कागद व्यय कर देता हूँ यह है तो अनुचित ही, किन्तु इससे पाठक ऊबते तो नहीं? यह तो नहीं सोचते 'गंगाजी की गैल में ये मदार के गीत क्यों गाये जा रहे हैं?' क्यों एक ही बात बार-बार दुहराई जा रही है? क्यों भक्त और भगवान् के सम्बन्ध की बातें छोड़कर अपनी कहानी कही जा रही है? इसे न कहकर एक अध्याय 'भागवती कथा' कभी और कह दी जाय, तो वह शीघ्र समाप्त हो। मैं भी कभी कभी अनुभव करता हूँ और कई खण्डों में लिखता भी नहीं। आज मैं इसका निर्णय पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। अगले दोनों खण्डों में मैं प्राक्कथन न लिखूँगा। 'भागवती कथा' के जितने पाठक हैं सभी मेरे निमित्त दो पैसे का व्यय करें। इसे पढ़कर सभी मुझे सूचित करें, प्राक्कथन लिखना सदा के लिये बन्द कर दूँ या कभी-कभी मन में आ जाय तो लिख दिया करूँ। क्योंकि इस कथन में अपने रोने के अतिरिक्त परमार्थ चर्चा कम

रहती है। यह निर्णय पाठको के ही उपर है। सभी की सम्मति मानकर ही उसके अनुसार निर्णय होगा। समस्त पाठको को इस विषय पर सम्मति देनी ही चाहिये। परन्तु इसका अर्थ यदि अपनी प्रशंसा सुनना हो तो भी पाठक उदारता पूर्वक वैसा अर्थ न लगावे। 'भागवती कथा' की प्रशंसा को यदि मैं अपनी प्रशंसा समझता हूँ तो पाप करता हूँ। प्राक्कथन के सम्बन्ध में मुझे वास्तव में दुविधा है। निज कवित्त तो सभी को नीका लगता है, मननशील पाठक ही इसके बलाबल को समझकर निर्णय दे। समस्त पाठकों से ही उत्तर की आशा रखता हूँ। अब के बहुत ग्राहक नहीं रहे। इसका भी कारण कुछ समझ में नहीं आया। भागवती कथायें तो अमर कथाये हैं, इनसे स्वार्थ परमार्थ दोनो ही सधते है, इहलोक परलोक दोनों ही बनते हैं, मनोरञ्जन धर्मोपार्जन साथ ही होते हैं। इस सुलभ अमृत का भी जो पान नहीं करना चाहे तो उनके सम्बन्ध मे अब हम क्या कहें! भक्तभावन भगवान् के पादपद्मों में प्रार्थना है, कि वे अपने गुण श्रवण मे सभी को अनुराग प्रदान करें।

झूसी सङ्कीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(प्रयाग)
श्रावण कृष्ण चतुर्दशी २००५

पाठको की कृपा का इच्छुक.

प्रभुदत्त

द्वितीय संस्करण की भूमिका

सब अनित्य है,सब नाशवान् है,सब क्षणिक है, सब अस्थाई है, जो दीखता है, वह नष्ट हो जाता है, बदल जाता है,परिवर्तित हो जाता है, सब परिणामी है। आजसे पाँच वर्ष पूर्व जिन वृक्षों का उल्लेख किया था, उनमे से कुछ की मृत्यु हो गई, कोई अपनी युवावस्था को पार करके मरणासन्न हैं। मृत्यु रूपी सरिता के कगारे पर बैठे हुए हैं, न जाने कब कगारा खसक जाय धँस जाय और कब टूट कर गिर पड़ें। इन सब अनित्य पदार्थों में श्यामसुन्दर ही नित्य हैं, वे ही सत्य और शाश्वत हैं, वे ही अपरिवर्तनशील हैं, वे वृद्ध भी नहीं होते, युवक भी नहीं होते नित्य किशोर ही बने रहते हैं, उनकी जोरी भी ऐसी ही है। वे भी कभी बूढ़ी नहीं होतीं, उनकी उदरवृद्धि भी नहीं होती, सदा कृशोदरी और और नित्यकिशोरी बनी रहती हैं। जो आम इतना बढ़कर सूख सकता है, जो गंधराज इतना सींचा जाने पर भी नहीं पनपा उनकी व्यर्थ कथा क्या कहूँ। क्या उसमें संशोधन करूँ। अब तो पाठक ऐसा आशीर्वाद दे कि नित्यकिशोर की मनोहर मूर्ति सदा हृदय कमल मे बसी रहे नयनों के सम्मुख नृत्य करती रहे। यह जीवन सफेद कागदों को स्याह करने में ही लगा रहा। तो इसका दुरुपयोग ही है, जो भूल हो गई वह होती ही न रहे। इतना ही पर्याप्त है।

अ० वै० कृ० ८ २०१० वि०
त्रिवेणी जी

प्रभुदत्त

यमदूतों का और विष्णु-पार्षदों का सम्वाद

(३५८)

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः ।
ब्रूतधर्मस्य नस्तत्त्वं यच्च धर्मस्य लक्षणम् ॥
वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयंभूरिति शुश्रुम ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ३८, ४० श्लो०)

छप्पय

सुनि नारायण नाम विष्णु पार्षद तहँ आये ।
यमदूतनिकूँ पकरि गदातें मारि गिराये ॥
डरिक पूछें दूत—कौन तुम हम भगाओ ।
मोल भाव बिनु किये तड़ातड़ मार लगाओ ॥
धर्मराज के दूत हम, पापीकूँ लैजात हैं ।
करयो न हम अपराध कछु, काहे आपु खिस्यात हैं ॥

जब दो राजाओं के कर्मचारी मिलते हैं, तो जो बड़े राजा के बली और प्रभावशाली कर्मचारी होते हैं, वे छोटे मंडलीक राजा

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विष्णुदूतों ने यमदूतों से पूछा- तुम लोग यदि यथार्थ में धर्मराज के निर्देश के अनुसार कार्य- करने वाले हो, तो तुम बताओ धर्म किसे कहते हैं? धर्म का तत्व क्या है?" इस पर यमदूत बोले—"अजी, वेद में जो कर्तव्य बताया है वही

के कर्मचारियों को उसी प्रकार डाँटते डपटते हैं, जिस प्रकार स्वामी अपने सेवकों को डाँटता डपटता है। वास्तव में सेवक वही है, जो असमर्थ हो और स्वामी वही है जो समर्थ हो। जो प्रभावशाली नहीं उसे अपने प्रभावशाली पुरुषों के सम्मुख नवना ही पड़ता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब भगवान् के चार पार्षदों ने आकर उन तीन यम के दूतों को बिना मोल भाव किये मनमानी मरम्मत की, तब वे तेजहीन से हुए उलटे मुँह गिर पड़े। अब तक वे अपने को सबसे अधिक बलवान् समझकर पापियों के सामने बहुत अकड़ा करते थे, बहुत गर्जन-तर्जन कर के उसे डराते धमकाते थे, आज सब गर्जन-तर्जन भूल गये। बड़ी दीनता से गिड़गिड़ाकर बोले—"आप महानुभाव इतने तेजस्वी कान्तिवान् कौन हैं? आज तक तो हमने यह देखा नहीं कि किसी ने धर्मराज की आज्ञा टाली हो। आज हम यह नई बात देख रहे हैं। आप लोग निर्भीक होकर धर्मराज की आज्ञा की अवहेलना कर रहे हैं। आप किसके दूत हैं? आपके स्वामी का नाम क्या है। क्या आपके स्वामी यम धर्मराज से भी बढ़कर हैं? आप इस समय कहाँ से पधारे हैं? हम इस पापी को ले जा रहे थे, आपका कुछ बिगाड़ नहीं रहे थे, आपने हमारी अकारण क्यों मरम्मत की? आप कोई देवता हैं या यक्ष, गंधर्व किंपुरुष, सिद्ध, चारण हैं? देखने में तो आप लोग सबके सब बड़े सुन्दर लगते हैं। आप सबके बड़े-बड़े

धर्म है, जिसका वेद में निषेध किया गया है वह अधर्म है। हमने ऐसा सुना है कि वेद नारायण का स्वरूप है और नारायण स्वयंभू हैं, वे किसी अन्य से उत्पन्न नहीं हुए।"

विशाल नेत्र खिले हुए कमल के समान सरस और कमनीय हैं। सबके शरीर पर सुन्दर सुवर्ण वर्ण का चमकीला पीताम्बर फहरा रहा है, माथे पर मनोहर मुकुट, कानों में कनक के कुंडल और गले में कमनीय कमलकुसुमों की मनमोहक मालायें हैं। सभी युवावस्थापन्न हैं, सभी के अजानुपर्यन्त लम्बे-लम्बे चार-चार हाथ हैं। सभी शंख, चक्र, गदा, पद्म, तथा धनुष-बाण, खड्ग और तरकस धारण किये हुए हैं। आप तो इस अंधकार पूर्ण गृह को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। आपके पधारने से तो दशों दिशायें देदीप्यमान हो उठी हैं। आप हमें अपना परिचय दीजिये और किस अधिकार से किस कारण से आप धर्मराज के कार्य में हस्तक्षेप कर रहे हैं? कृपा करके हमारे इन सभी प्रश्नों का उत्तर दीजिये।"

यमदूतों के इतने प्रश्नों को एक साथ सुनकर भगवान के प्रिय पार्षद ठहाकामार कर हँस पड़े और बोले—"हम तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर तो पीछे देंगे। पहिले यह बताओ, तुम इस आदमी को लेजाने वाले होते कौन हो?"

उन्होंने आश्चर्य के साथ कहा—"अजी, हम तो रात्रि-दिन यही काम करते हैं। हमारा काम ही यह है कि हम पापियों को धर्मराज की आज्ञा से उनके समीप ले जायँ?"

इसपर विष्णु पार्षदों ने पूछा—"क्या तुम्हारे स्वामी [illegible] जिसे बुला लेते हैं, या किसी नियम से किसी [illegible] किसी को बुलाते हैं?"

यमदूतों ने कहा—"हमारे स्वामी [illegible] जिसका जब मरने का समय होता है, उसे बुलाते हैं, [illegible] को दण्ड देने के लिये हमारे द्वारा मँगाते हैं। वे [illegible] विचलित नहीं होते, इसीलिये उनका नाम [illegible] हैं। हम [illegible]

के आज्ञाकारी दूत हैं। उनकी आज्ञा हुई, हम इसे लेने आये। हमने तो कोई अपराध किया नहीं, आपने बिना बात हमारा कचूमर निकाल दिया, हमें अधमरा बना दिया।"

यह सुनकर अधिकार के स्वर में विष्णुपार्षदों ने पूछा—"अच्छा! तुम धर्मराज के नौकर हो, तो बताओ, धर्म किसे कहते हैं?"

प्रतीत होता है, ये दूत अभी नये ही परीक्षा देकर अपने पदपर प्रतिष्ठित हुए थे। इसीलिये परीक्षा का प्रश्न सुनते ही वे शीघ्रतासे अपनी योग्यता दिखाने को बोल उठे—"वेद में जो विहित कर्म बताये गये हैं, उसे धर्म कहते हैं, इसके विपरीत जो अविहित कर्म हैं, जिनका निषेध किया गया है, उसे अधर्म कहते हैं।"

विष्णुपार्षदों ने पूछा—"वेद क्या है?"

यमदूतों ने कहा—"भगवान् श्रीमन्नारायण के निःश्वास से जो स्वयं प्रकट हुआ है। वही वेद है। वह भगवान् से भिन्न नहीं, उनका स्वरूप है। जो स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं, वही वेद है। ये समस्त प्राणी भगवान् में ही अवस्थित हैं या सबके अन्तःकरण में वे ही हरि जीव रूप से विराज रहे हैं।"

पार्षदों ने पूछा—'फिर प्राणियों में यह इतनी विभिन्नता किस कारण से है?"

यमदूतों ने कहा—'देखिये, महानुभाव! भगवान् के स्वरूप में स्थित हुए इन सत्व, रज और तमोमय प्राणियों को प्रभु अपने वेद रूप ज्ञान से उनके गुण, कर्म तथा नाम रूपादि के अनुसार जैसा जिसका कर्म है उसी के अनुरूप यथायोग्य विभाग कर दिया करते हैं। इसमें भगवान् का न कोई पक्षपात है न किसी के प्रति अन्याय है।"

इस पर विष्णुदूतों ने कहा—"अच्छा यह बताओ कि यह ज्ञान कैसे होगा, कि इस जीव ने शुभ कर्म किया है, इसने अशुभ कर्म किया है। इसे दण्ड देना चाहिये, इसे पारितोषिक मिलना चाहिये, इसे स्वर्ग भेजना चाहिये, इसे नरक पठाना चाहिये ?"

इस पर यमदूतों ने उत्तर दिया—'महाराज, इसके तो बहुत से साक्षी हैं। भगवान् ने जीवों के शुभाशुभ देखने के लिए इतने गुप्तचरों को नियुक्त कर रखा है कि उनसे छिपाकर कोई पाप कर ही नहीं सकता।"

पार्षदों ने पूछा—"ये दूत कौन कौन हैं, उनके नाम निर्देश तो कीजिये।"

यम के दूतों ने कहा—"सर्वप्रथम तो सभी प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मों के साक्षी भगवान् सूर्यनारायण हैं। इसीलिये कोई भी शुभ काम करते हैं तो उसके पीछे सूर्य को अर्घ्य देते हैं और यह प्रार्थना करते हैं—हे विवस्वान्! हे ब्रह्मन्! हे प्रकाशवान, हे विष्णु तेज से युक्त देव! हे जगत सविता! हे परम पवित्र! हे प्राणियों के समस्त कर्मों के साक्षी देव! आपको नमस्कार है। आप हमारे शुभकर्म के साक्षी हैं।" जब प्राणी मरता है तो सूर्य जाकर साक्षी देते है कि इसने यह कार्य किया था। अग्निदेव भी सब कर्मों के साक्षी हैं। अग्नि भीतर जठराग्नि रूप में बाहर प्रत्यक्ष अग्नि रूप में अवस्थित है। अग्नि से छिपाकर कोई कुछ कर ही नहीं सकता। आकाश भी भगवान् के गुप्तचर हैं जो प्राणी पाप पुण्य करेगा आकाश के भीतर ही करेगा। आकाश के बाहर तो कोई कुछ कर ही नहीं सकता। वायु भी कर्मों का स्मरण रखते हैं। वायु के बिना कोई प्राणी जीवित ही नहीं रह सकता। सब इन्द्रियों के अभि-

मानो देवता भी कर्मों के साक्षी हैं। चन्द्रमा, सन्ध्या, रात्रि, दिन, दशो दिशायें, जल, पृथ्वी, काल, तथा धर्म ये सबके सब जीवो के समस्त शुभाशुभ कर्मों के साक्षी होते हैं। धर्मराज इन सबसे पूछ लेते हैं। जिसे दण्ड योग्य समझते हैं, उसे हमारे द्वारा बुलवा कर दण्ड देते हैं, जिन्हें स्वर्ग योग्य समझते हैं,उन्हें सौम्य रूप से सत्कारपूर्वक स्वर्ग पठा देते हैं। प्राणी अपने अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग नरक मे सुख दुख भोगते हैं।"

विष्णु-पार्षदो ने पूछा—"तो क्या तुम्हारे स्वामी सभी को दट दते है, कोइ कर्म न कर तो ?"

यमदूतों ने कहा—"महाराज यह कैसे हो सकता है। जिसने शरीर धारण किया है, वह तो कोई भी प्राणी क्यो न हो, विना कुछ न कुछ किये रह ही नहीं सकता। क्योंकि शरीर तो विना तीनों गुणो में आवद्ध हुए प्राप्त ही नहीं हो सकता। जो सत्व रज और तम इन गुणों मे बँधा है उससे शुभ अशुभ कर्म अवश्य होंगे ही। जिससे इस लोक में जैसा शुभ अशुभ, धर्म अधर्म, पाप पुण्य बनता है उसे परलोक में वैसा ही सुख दुःख भोगना पडता है।"

विष्णु पार्षदों ने कहा—"तब भाई! यह बताओ यह कैसे पता चले कि यह पापी है, इसने पूर्व जन्म में पाप किया है, इसे आगे के जन्म में पापियोनि भोगनी पड़ेगी। भूत और भविष्य तो अदृश्य है।"

यह सुनकर यमदूत बोले—"हाँ महाराज! यह तो ठीक है भूत और भविष्य के कर्म अदृश्य हैं, किन्तु वर्तमान के तो प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। देखिये, हमे यहाँ तीन प्रकार के ही लोग दिखाई देते हैं। उत्तम, मध्यम, अधम। सुखी, दुखी, साधारण। पुण्यात्मा, पापात्मा, मध्यम श्रेणी के। सात्विक, राजस, तामस।

जिसे हम सुखी देखते हैं, पुण्य कर्म करते देखते हैं, अनुमान लगा लेते हैं, इसने पिछले जन्मों मे शुभ कर्म किये होंगे, इसी लिये इस जन्म म इसका ऐसी बुद्धि हुई कि अब शुभ कर्मों मे प्रवृत्त है। अब शुभकर्म करेगा तो आगे भी इसे शुभ लोका की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार अधम के विषय मे भी इसी न्याय से अनुमान लगाया जा सकता है। इससे तीन जन्मों का तो प्रत्यक्ष ही वर्तमान कर्मों का देखकर ज्ञान हो जाता है।

विष्णुपार्षदो ने कहा—'अनुमान सदा सत्य ही हो, यह बात तो नहीं। कभी कभी अनुमान मिथ्या भी हो जाता है। यमराज अनुमान के ही सहारे दण्ड देते है या और भी कोई उनके समीप पाप पुण्य जानने का साधन है?"

इस पर यमदूतो ने कहा—"नहीं, महाराज! यह बात नहीं। भगवान् यम केवल अनुमान के ही आधार पर दण्ड नहीं देते। वे तो सबके अन्त करणों मे सदा विराजमान रहकर सबके कर्मों को प्रत्यक्ष देखते रहते हैं। वे अजन्मा भगवान् धर्मराज मन से ही सब प्राणियो के पूर्व तथा अपूर्व रूपका विचार कर लेते हैं। यमराज से तो कोई बात छिपी नहीं है, वे तो जीवो क वर्तमान, भूत तथा भविष्य की सब बातें जानते है, किन्तु जीव को वर्तमान शरीर के अतिरिक्त अगले पिछले शरीरो का ज्ञान नहीं है।

विष्णुपार्षदो ने पूछा—"जीव को अगले पिछले शरीरो का ज्ञान क्यों नहीं रहता? वह स्वय भोगे हुए शरीरों को तथा उनके कर्मों को कैसे भूल जाता है?"

इस पर यमदूतो ने कहा—"हे निष्पाप! इस विषय का आप यों समझ। जैसे कोई आदमी सो जाता है, स्वप्न में बहुत

से शुभ अशुभ कर्मों करता है। उस समय स्वप्न में जिस स्वप्न शरीर से कार्य करता है, उसी शरीर को सत्य समझता है, इस स्थूल शरीर के अभिमान को सर्वथा भूल ही जाता है। जागने पर उसे उस स्वप्न शरीर का और स्वप्न के देखे पदार्थों के मिथ्यात्व का बोध होता है, उसी प्रकार पूर्व जन्मों की स्मृति नष्ट हो जाने से जीव को वर्तमान शरीर के अतिरिक्त अन्य पहले पिछले शरीरों के विषय में कुछ भी स्मरण नहीं रहता।"

विष्णुपार्षदों ने पूछा—'फिर यह जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता किस प्रकार है?'

इस पर यमदूत बोले—'देखिये भगवन्! ५ कर्मेन्द्रियाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच उनके विषय ये १५ हुए, १६ वाँ मन और सत्रहवाँ स्वयं जीव। इनसे मिलकर तद् तद् विषयों का उपभोग करता है। इस प्रकार तीन गुणों के साथ यह १६ कलाओं वाला लिङ्ग शरीर यहीं एक देह से निकलकर दूसरी देहों में प्रवेश करता है। बार बार शरीर छोड़ता है, फिर नया शरीर धारण करता है। देह में अभिमान करके काम क्रोधादि के वशीभूत होता है। यह अज्ञानी जीव इच्छा न रहने पर भी लिङ्ग शरीर द्वारा कर्मों में प्रारब्ध कर्मानुसार प्रवृत्त कराया जाता है।

विष्णुपार्षदों ने कहा—'यह तो भैया! अच्छा रहा। स्वयं ही कर्म करता है, स्वयं ही उनमें बँधता है।"

हँसकर यमदूतों ने कहा—"हाँ महाराज! यही तो जीवों का अज्ञान है। देखिये, रेशम का कीड़ा अपने मुँह से ही सूत निकालता है उसे अपने आप ही अपने चारों ओर लपेटता रहता है, इससे स्वयं ही उन सूत्रों में बँध जाता है। निकलने का रास्ता ही नहीं रहता। रेशम बनाने वाले उसे तोड़ लाते हैं। गरम पानी में पकाते हैं। कीड़ा मर जाता है रेशम को निकाल

लेते हैं। ऐसे ही यह जीव अपने आप अशुभ कर्म करके बार बार जन्मता और मरता रहता है। संसार चक्र को स्वयं बनाता है। महाराज! यह जीव प्रारब्ध कर्मानुसार प्रकृति के वश भूत होकर अवश हुआ कर्मों को करता रहता है।"

विष्णु पार्षदों ने कहा—"तब फिर इसका क्या दोष, इसे तुम क्यों ले जाते हो?"

यमदूतों ने शीघ्रता से कहा—"महाराज इसने तो बड़े बड़े पाप किये हैं। पहिले तो यह अच्छा था, कुलीन ब्राह्मण था। एक वेश्या के चक्कर में फँसकर इसने अपना सब शील सदाचार खो दिया। बड़े-बड़े घोर पाप किये। अनेकों हत्यायें की, धन लूटा, और भी जितने पाप हो सकते हैं, किये। अब हम इसे अपने स्वामी की आज्ञा से नरक में ले जायँगे। जहाँ इसे इसके पापों के लिये भाँति भाँति की यातनायें दी जायँगी, जहाँ दंड देकर पापी उन पापों से मुक्त किये जाते हैं।

आप इसे जानते नहीं, इसीलिये इस पर इतनी दया दिखा रहे हैं। इसका जीवन पापपूर्ण रहा है। यह बहुत दिन तक वेश्या के साथ भोजन, पान संगम करता रहा है। उसके संसर्ग से उसके पापों को खा खाकर पचाता रहा है। इतने पाप करके भी इसने उनका शास्त्रविधि से यहाँ कोई प्रायश्चित्त भी नहीं किया। जब यहाँ पाप करके भी इसने प्रायश्चित्त नहीं किया, तो अब हम इसे यमसदन को ले जायँगे, जहाँ दण्डपाणि भगवान् यमराज निवास करते हैं। वहाँ दण्ड भोगने पर जब इसके पापों का प्रायश्चित्त हो जायगा तब नरक से निकाल दिया जायगा।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! तब यमदूतों के द्वारा अपने प्रश्नों का ऐसा उत्तर पाकर भागवान् के प्रिय पार्षद

अत्यंत प्रसन्न हुए और उन्हें समझाते हुए बोले—"देखो, भैया! तुम कह तो ठीक रहे हो, किन्तु एक बड़ी भूल कर रहे हो। हम मानते हैं इसने पाप किये हैं, किन्तु पापों का प्रायश्चित्त हो जाने पर तो पापों का फल भोगना नहीं पड़ता। इसने तो पाप करके उनका प्रायश्चित्त कर लिया है।"

यमदूतों ने कहा—"नहीं, महाराज! इसने प्रायश्चित्त कुछ नहीं किया। न चान्द्रायण किया न कृच्छ्र, न पराक व्रत किया न कोई और व्रत उपवास ही। फिर आप कैसे कहते हैं, इसने पापों का प्रायश्चित्त कर लिया।"

विष्णुदूतों ने गम्भीरता के स्वर में कहा—"यही तो तुम लोगों की भूल है। इसे ही तो तुम समझते नहीं। इसीलिये तो तुम्हारी मरम्मत हुई।"

यमदूतों ने कहा—"हाँ, तो महाराज! इसे हमें समझाइये।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! यमदूतों की ऐसी जिज्ञासा पर विष्णु-पार्षद उन्हें भगवन्नाम का महत्व समझाने के लिये उद्यत हुए।"

छप्पय

विष्णु पार्षद् कहैं—धर्म को मर्म बताओ।
दंड जोग जिह नाहिं जाइ क्यों व्यर्थ सताओ॥
बोले जमके दूत—धर्म जो वेद बखान्यो।
है अधर्म विपरीत वेद हरि रूपहि मान्यो।
हिमक पापी सुरापी, कूँ यमपुर लै जायँगे।
नरक अग्नि में डारिकें, जाकूँ विमल बनायँगे॥

भगवन्नाम ही समस्त पापों का पूर्ण प्रायश्चित्त है

(३५६)

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि—
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै—
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० २ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

हरिपार्षद पुनि कहें—"दूत ! तुम कछु नहिँ जानौ ।
व्यर्थ बजाओ गाल बिरु अपनेकूँ मानौ ॥
'नारायण' यह कह्यो अन्तमहँ मुखतें जानें ।
तौ हम ताकूँ फेरि परम पावन नर मानें ॥
चोर, जार, हिंसक, कुटिल, पापी चाहें होय अति ।
नाम उचारन तें तुरत, होहि सिद्ध पावै सुगति ॥

हीरा भी पाषाण है और साधारण पाषाण भी पाषाण है। मूर्खों की दृष्टि में दोनों में कोई विशेष भेद नहीं। वे समझते

❀ विष्णुपार्षद यमदूतों से कह रहे हैं—"दूतो ! देखो, ब्रह्मवादी ऋषियों ने जो पापों के प्रायश्चित्त स्मृतियों में बताये हैं, उनसे पापी पुरुष वैसा शुद्ध नहीं होता जैसा कि भगवान् के नाम रूप पदोंके उच्चारण

हैं यह अधिक चमकीला पत्थर है, यह कम चमकीला है, पत्थर पत्थर दोनों एक से हैं। किन्तु उनका महत्व तो जौहरी ही जानता है। इसी प्रकार साधारण लोग समझते हैं, जैसे और नाम हैं, वैसा ही भगवन्नाम है, असुरों में तो कोई भेद नहीं, किन्तु जो भगवान् के अत्यंत प्रिय हैं, समीपवर्ती हैं, उनके पार्षद हैं, वे नाम के महत्व को जानते हैं कि वास्तव में नाम क्या है, भगवन्नाम में कितनी शक्ति है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन! यमदूतों के मुख से धर्म की बातें सुनकर और उस अजामिल को नरक ले जाने की इच्छा प्रकट करने पर विष्णुपार्षद हँसे और हँसकर बोले—"अरे! तुम लोग बड़े अज्ञ हो। कहते तो हो तुम अपने को धर्मराज का सेवक, किन्तु हमें प्रतीत होता है कि तुम किसी अधर्मी के सेवक हो। तुम्हारा स्वामी धर्मात्मा होता तो ऐसी आज्ञा भूलकर भी न देता। बड़े दुःख की बात है कि जो धर्मात्मा कहलाते हैं, जिनकी प्रसिद्धि 'धर्मराज' इस नाम से है, उनकी सभा में अधर्म का प्रवेश हो जाय, वे न दण्ड देने योग्य निष्पापों को भी अकारण दण्ड देने लगें, तो प्रजा फिर किस की शरण में जाय? प्रजा के जन तो उन्हें ही अपना माता,पिता, स्वामी सर्वस्व तथा समदर्शी मानते हैं वे भी अन्याय पर उतारू हो जायँ, तब तो हो चुकी धर्म की रक्षा। वे अन्याय का आचरण करेंगे, तो उनकी देखा देखी और साधारण लोग भी अधर्म का आचरण करने लगेंगे। बड़ों को जो कार्य करते देखते हैं, सर्व साधारण लोग उसी का अनुकरण करने लगते हैं।

से शुद्ध होता है। क्योंकि उत्तमश्लोक भगवान् के नाम उनके गुणों का ज्ञान कराने वाले होते हैं।

जिस बात को बड़े लोग सुन्दर समझकर स्वीकार कर लेते है, इतर जन उसे ही प्रमाण मान लेते हैं। यह तो सर्वथा अन्याय, विश्वासघात हुआ।

यमदूतों ने कहा—"कहा महराज! विश्वासघात कैसे हुआ?"

विष्णु पार्षद बोले—"भाई! विश्वासघात तो हुआ ही, जो जिसकी शरण आया है, जो जिस पर विश्वास करके उसके अधीन हो गया है, उसी के गले पर छूरी चलाना विश्वासघात नहीं तो क्या है? बहेलिया जाल डाल कर बीना बजा कर हिरनों को फँसा लेते हैं, पीछे उन्हें मार डालते हैं। हम किसी पुरुष पर विश्वास करते हैं, उसकी गोद में सिर रखकर सो जाते हैं, यदि वह ही अन्याय करके हमारा सिर काट दे तो यह विश्वासघात नहीं हुआ? भाई, साधु स्वाभाव के पुरुष तो अपनी शरण में आये हुए अपकारी का भी अनिष्ट नहीं करते। जिसने अपने ऊपर विश्वास किया है, उसके साथ न्याय ही करते हैं। जो जड़मति है, व्याधा हैं, पशुबुद्धि है वे ही ऐसा विपरीत व्यवहार करते हैं। यहाँ तक कि हिंसक पशु भी शरणागत के साथ विश्वासघात नहीं करते। एक कहानी सुनो।

एक पथिक घोर बीहड़ वन से होकर कहीं जा रहा रहा था। रास्ते में उसे एक सिंह मिला। सिंह के भय से वह भागा। सिंह ने भी उसका-मांस के लोभ से-पीछा किया। पथिक शीघ्रता से एक पेड़ पर चढ़ गया। उस पेड़ पर एक रीछ रहता था। पथिक ने रीछ से कहा—"देखो, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ, तुम्हारे घर आया हूँ, मेरी रक्षा करना। रीछ ने कहा—"अच्छी बात है, तुम किसी प्रकार का भय मत करना। यहाँ निर्भय होकर रहो। मेरी देख रेख में रहने से सिंह तुम्हारा कुछ भी अपकार न कर

सकूंगा।' रीछ की ये बातें सुनकर पथिक को विश्वास हो गया। वह निश्चन्त होकर रीछ के समीप बैठ गया।

सिंह ने रीछ से कहा—"देखो भैया! हम तुम दोनों ही वन के रहने वाले हैं, भाई-भाई हैं। यह आदमी ग्राम का रहने वाला है, हमसे भिन्न जाति का है, हमारा आहार है। मुझे भूख लगी है, तुम इसे नीचे गिरा दो। मेरी भूख शान्त हो जायगी तुम्हारा बड़ा उपकार होगा।"

रीछ ने कहा—'हे वनके राजा! तुम भले ही अन्याय करो। मैं अन्याय नहीं कर सकता। शरण में आये हुए का परित्याग नहीं हो सकता। जिसने मुझपर विश्वास करके आत्मसमर्पण कर दिया है, उसके साथ मैं विश्वासघात नहीं कर सकता। मैं इस अपने शरण में आये हुए की प्राणपन से रक्षा करूँगा।"

रीछ की ऐसी न्याययुक्त बातें सुनकर भूखा सिंह वहीं बैठा रहा कि कभी तो यह उतरेगा। इसी बीच में रीछ सो गया। अब तो शनैःशनैः सिंह ने उस पथिक से कहना आरम्भ किया। "अरे, तुम किसके चक्कर में फँस गये हो। यह तो मुझसे भी अधिक हिंसक जीव है। जब तक मैं बैठा हूँ, तब तक यह चुप है जहाँ मैं गया, कि यह तुम्हें खा जायगा। अतः इस सोते हुए को तुम नीचे ढकेल दो। इसे खाकर मैं चला जाऊँगा तुम से नहीं बोलूँगा।'

सिंह की ऐसी बातें सुन कर उस मूर्ख अज्ञ कृतघ्न पुरुष ने रीछ के साथ विश्वासघात किया, उस सोते हुए को ऊपर से नीचे ढकेल दिया। रीछ का तो सदा अभ्यास ही रहता है वृक्षों पर सोने का। गिरते ही वह सम्भल गया, नीचे आने के पहिले ही शीघ्रता में उसने एक दूसरी डाली पकड़ ली, वह नीचे न गिर सका। अब तो सिंहने फूट डालने का उपक्रम किया। वह

रीछ से बोला—'देखली, तुमने इस आदमी की भलमनसाहत। तुमने इसके साथ कितना उपकार किया, इसने तुम्हारे साथ फिर भी विश्वासघात किया। अब यह अपने किये पाप का दण्ड भोगे। तुम इसे नीचे फेंक दो।"

इस पर रीछ ने कहा—'हे पशुराज! आप मुझ से ऐसे अन्याय की आशा न रक्खें। इसने धर्म को छोड़ दिया, मूर्खता की, तो क्या मैं भी मूर्खता कर सकता हूँ? जिसने मित्रभाव से मुझपर विश्वास करके मुझे आत्मसमर्पण कर दिया है उसके साथ मैं कभी अन्याय न करूंगा। उसका अनिष्ट न होने दूँगा।" दूतो! रीछ की ऐसी युक्तियुक्त बात सुनकर सिंह लौट गया और वह मनुष्य जीवित सकुशल घर पहुँच गया। सो भैया, इस निष्पाप को यदि धर्मराज मँगाते हैं, तो वे अधर्म करते हैं, जीवों के साथ विश्वासघात करते हैं।

दूतों ने कहा—"महाराज, आप इसे निष्पाप क्यों बता रहे हैं यह तो महापातकी है। पाप करके उनका शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त भी कर लेता, तब हम इसे शुद्ध हुआ समझ कर न ले जाते। इसने पाप करके प्रायश्चित्त भी नहीं किया। तब तो इसे ले जाना हमारी बुद्धि में अन्याय नहीं है।"

विष्णुपार्षदों ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"यही तो हम कह रहे हैं, तुम समझते नहीं। यह पापी रहा होगा, इसे हम मानते हैं, किन्तु अब तो यह पापी नहीं रहा। इसने अपने समस्त पापों का प्रायश्चित्त कर लिया।"

दूतों ने आश्चर्य के साथ पूछा—'क्या प्रायश्चित्त किया इसने महाराज?"

विष्णुपार्षदों ने कहा—"देखो, भैया! इसने शुद्ध स्पष्ट तथा पूरा चार अक्षरों वाला—"नारायण" ऐसा भगवान् का

परम पावन सुमधुर नाम मरते समय-अंतिम स्वास पर-ले लिया अब इनके लिये और कौन सा प्रायश्चित्त शेष रह गया ?

इस पर अवाक् होकर दूत विष्णुपार्षदों की ओर देखते के देखते ही रह गये और विस्मय के स्वर मे बोले—"भगवन्नाम के उच्चारण से किन-किन पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ?"

इस पर मेघ गम्भीर वाणी मे विष्णुपार्षद बोले—"देखो, भैया ! जिसने मरते समय एक बार भी अवश होकर भगवान् के परम पावन नाम का उच्चारण कर लिया, वह समस्त चोरी के पापों से छूट गया, सुरापान का महापाप उसके समीप से भाग गया, मातृ पितृ तथा गौ आदिकी जो हत्यायें की हों वे भी नामका ध्वनि सुनते ही इसके देह का आश्रय छोड़ गईं। उसने गुरु-स्त्री गमन जैसा महापापका भी प्रायश्चित्त कर डाला। अधिक क्या कहें, उसने समस्त पापों का अन्त मे नाम लेते ही प्रायश्चित्त कर लिया। वह पापा से विशुद्ध बन गया।

यमदूतों ने कहा—"महाराज ! यह कैसे हो सकता है। नाम का महत्व हम मानते हैं, किन्तु उसे ज्ञानपूर्वक-संकल्पपूर्वक-नामापराधों को बचा कर लिया जाय तब फल देने वाला होगा। ऐसे अवश होकर नाम ले लिया तो उससे क्या लाभ ? शव के ले जाने वाले भी तो राम-नाम सत्य है चिल्लाते जाते हैं।

यह सुन के विष्णुपार्षद उन भयानक आकृति वाले नरक के दूतों को धुड़क कर बोले—'तुम लोग बड़े चांडाल हो रे ! नाम के महत्व को कम करते हो, नाम को भी बन्धन में बाँधना चाहते हो ? यह तो नाम का महत्त्व नहीं हुआ, नामापराध का महत्व हुआ। नाम में कभी अपराध होता है ? वह तो सदा विशुद्ध है, उसके लिये कोई विधि नहीं, निषेध नहीं, नियम नहीं, पात्रापात्र विचार नहीं। मरते समय कैसे भी मुख से निकल जाय,

वह सब पापों को उसी प्रकार नाश कर देगा, जैसे एक अग्नि की चिनगारी लाखों करोड़ों मन रुई के ढ़ेर को बात की बात में जलाकर नाश कर देती है। विधिपूर्वक नाम लिया जाय, पवित्रता के साथ लिया जाय,नामापराधों को बचाकर लिया जाय, पवित्र द्विजाति के द्वारा लिया जाय, यह बुद्धि तो उत्तम है ही, सोने मे सुगन्धि है, किन्तु जिससे इतनी पवित्रता नहीं बन सकती, वह भगवान् का नाम ले ही नहीं, यह कैसे हो सकता है। फिर साधारण जीवों की निष्कृति का उपाय क्या रहा ? फिर नाम सर्व सुगम सर्वोपयोगी साधन कहाँ रहा ? फिर तो यह भी विधि-विधानके अधीन हो गया। जैसे यज्ञयागादि अविधिपूर्वक किये जायँ, तो निरर्थक है, यही नहीं विधिहीन यज्ञ का कर्ता शीघ्र ही-परमार्थपथ से विनष्ट हो जाता है। यह बात भगवन्नाम कीर्तन मे नहीं है। इसे तो भाव से, कुभाव से सावधानी से, आलस्य से, ज्ञान से, अज्ञान से, कैसे भी लिया जाय, ज्ञानी, अज्ञानी, पंडित, मूर्ख, ब्राह्मण, चांडाल, शुचि, अशुचि, धर्मात्मा, परमात्मा कोई भी क्यों न ले, ब्रह्मावर्त ऋषि सेवित देश मे, कीकट मगधादि निषिद्ध देशों मे कहीं भी क्यों न लिया जाय, निरर्थक-व्यर्थ कभी होने का ही नहीं। यह शास्त्रों का निर्णय है, पुराण इसका प्रचार डंडे की चोट के साथ कर रहे हैं। किसी भी पुराण को उठाकर देखिये, उसमें भगवन्नाम कीर्तन के विषय में ये ही उदार विचार मिलेंगे। उसमें संकुचितता, सकीर्णता सांप्रदायिकता की गन्ध भी नहीं। भगवान् के नाम मे नियम

नहीं, देश. काल, पात्र किसी की अपेक्षा नहीं। केवल जिह्वा से नाम उच्चारण हो जाना चाहिये। फिर नाम सब कुछ कर लेगा रोगी को वैद्य के वचनों पर विश्वास करना चाहिये। यदि वह गोली की सब दवाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करके तब उसे खाना चाहे—इस गोलीमें कौन-कौन सी दवायें हैं। ये कहाँ मिलती हैं, इनमें क्या गुण है. उनके सत्त कैसे निकाले जाते हैं. उन्हें हम देखकर तब गोली खायेंगे, ऐसे विचार रखने वालों के रोग कभी नहीं जायेंगे। अरे, तुम तो आँख बंद करके गलेके नीचे गोली को निगल जाओ। पेटमें पहुँच कर वह अपना गुण स्वयं दिखावेगी। तुम्हें उसके लिये प्रयास न करना होगा। तुम्हारा कर्तव्य तो इतना ही है, सदा वैद्यकी बताई गोली को गलेके नीचे उतार लो। शेष कार्य गोली स्वयं कर लेगी। भगवान के नाम में अनन्त शक्ति है। मरते समय किसी भाग्यशाली के मुख मे राम का नाम आजाय, तो उसके सभी पाप उसी क्षण विलीन हो जाते हैं, इसने ऐसाही तो किया। मरते समय विशुद्ध—"नारायण" यह शब्द आर्त होकर रोकर चिल्लाकर पुकारा। फिर यह पापी कहाँ रहा ? फिर तुम इसे पकड़ने का साहस क्यों कर रहे हो ? इसीलिये हमने तुम्हारी बिना मोल भाव पूछे मरम्मत की। यदि फिर हाथ लगाया, तो मारे डंडों के कचूमर निकाल देंगे, सब यमदूतपना भूल जाओगे। समझे बच्चू जी !

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"भगवान् के पार्षदों के मुख से अन्त

समय भगवन्नाम के उच्चारण का ऐसा माहात्म्य सुनकर यमदूत अवाक् रह गये। वे डर से काँपते हुए विष्णुपार्षदों की ओर देखते के देखते ही रह गये।"

छप्पय

प्रायश्चित्त मनु आदि पापके विविध बतावे।
तिनत छूटें पाप किन्तु जड़तें नहिं जावें॥
रहै वासना बनी फेरि हू पाप करिङ्गे।
पुनि पुनि करिके पाप नरकमहँ मनुज परिङ्गे॥
प्रायश्चित्त सब पापको, पुरुषोत्तम को नाम है।
तुम उच्चारन भर करो, फेरि नामको काम है॥

हरिनाम से ही पापों की आत्यंतिक निवृत्ति होती है।

(३६०)

नैकान्तिक तद्धि कृतेऽपि निष्कृते,
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे—
र्गुणानुवादः खलु सत्वभावनः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० २ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

लेवें जाको नाम यादि गुण ताके आवें।
पुण्य कीर्ति भगवान् नाम गुण ज्ञान करावें॥
हरि गुन मनमहँ धँसे फेरि कस पाप रहिङ्गे।
बहुतक होवें हिरन सिंहकूँ देखि भगिङ्गे॥
इत उत भटके जीव ज्यों, करे व्यर्थ के काम तू।
सब प्रपञ्चकूँ छाँड़ि के, कस न लेइ हरि नाम तू॥

मनुष्य पाप क्यों करता है? वासना के वशीभूत होकर, मन में विषयों की वासना रहना ही बीज है, पाप उसके फल

*विष्णुपार्षद यमदूतों से कह रहे हैं—"देखो, भैया! जिस पाप के प्रायश्चित्त करने के अनन्तर भी मन असत्पथ की ओर दौड़े वह मन की आत्यंतिक शुद्धि करने वाला पूर्ण प्रायश्चित्त नहीं है।

हैं। कोई विषका वृक्ष है। उसपर फल लग गये। यह सोचकर कि इन फलों को कोई खायगा तो मर जायगा, क्षेत्र के स्वामी ने उन फलों को किसी शस्त्र से तुड़वाकर जला दिये। फल वृक्ष नष्ट हो गये, किन्तु उनका उद्गम नष्ट नहीं हुआ। जहाँ दूसरे वर्ष वर्षा हुई, फूल आये, वृक्ष पर फिर फल लग जायँगे। जब तक वृक्ष जड़ से न काट दिया जायगा, तब तक प्रतिवर्ष फलों को नष्ट करते रहो, फल लगते ही रहेंगे। इसी प्रकार पापों के प्रायश्चित्त की बात है। आप लाख प्रायश्चित्त करो प्रायश्चित्त से उस पाप का फल नरक में न भोगना पड़ेगा, किन्तु वासना तो बनी ही रहेगी। वासना जायगी भगवान् के गुणानुवादों का आश्रय ग्रहण करने से, भगवान् की कथा और उनके सुमधुर नामों का प्रेमपूर्वक कीर्तन करने से।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् विष्णु के पार्षदोंके मुखसे "नारायण" नामका इतना माहात्म्य सुनकर यमदूत कुछ निर्णय न कर सके। उन्हें कुछ उत्तर न सूझा। वे विनीत भावसे भगवान् के पार्षदों से पूछने लगे—"तब, महाराज ! हमारे लिये क्या आज्ञा होती है ?"

डाँटकर विष्णुपार्षद बोले—"आज्ञा क्या होती है, इस महात्मा को मत ले जाओ। जब इसने अपने समस्त पापों का प्रायश्चित्त कर ही लिया, मरते समय इसके मुख से भगवन्नाम निकल ही गया, तब यह पापी कहाँ रहा ?"

हाथ जोड़कर यम के दूतों ने पूछा—"महाराज ! आप

इसलिये जिसे पाप कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति करने की इच्छा हो उसे भगवान् के गुणों का अनुवाद ही करना चाहिये, क्योंकि वह निश्चय ही चित्त की शुद्धि करने वाला है।"

लोगों की आज्ञा तो शिरोधार्य है ही, किन्तु तो भी हमे एक शंका रह गई है। आज्ञा हो तो पूछें ?"

विष्णुपार्षदों ने कहा—"अच्छी बात है, पूछो ! भगवान के ही सम्बन्ध मे पूछना। इधर-उधर की विषय-वार्ता मत करना।"

यमदूतों ने कहा—"नहीं, महाराज ! विषय-वार्ता की तो कोई बात नहीं, पूछना यही था कि हम, भगवन्नाम के माहात्म्य के विषय में जो आप कहते हैं माने लेते हैं, किन्तु इसने भगवान् का नाम तो लिया नहीं। न भगवान् को पुकारा फिर प्रायश्चित्त कैसे हो गया ? पहिले भगवान् के रूप का ध्यान करता। चित्त को विषयों से हटाता तब शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी नारायण को पुकारता तब तो ठीक भी था। पुकारा, पुत्र को, किन्तु आप कहते हैं, भगवन्नाम कीर्तन किया। यह बात हमारी समझ मे नहीं आई।"

विष्णुदूतों ने कहा—"अरे, तुम लोग बड़े जड़ बुद्धि वाले हो। भैया, विधि विधानपूर्वक किया जाता तो और भी उत्तम था, किन्तु भगवान् का नाम तो अमोघ है। इसके मुख से मरते समय नाम निकल गया, इसी बात पर तुम ध्यान क्यों नहीं देते। मरते समय मुख से नाम निकलना कोई सहज काम नहीं है। गुड़ को ऑख मूँद के खाओ, अंधेरे मे खाओ, उजाले मे खाओ, घर में खाओ, बाहर खाओ, नहाकर खाओ, बिना नहाये खाओ मीठा ही लगेगा। इसी प्रकार भगवान् के नाम को मन से लो, बेमन से लो, संकेत से लो, हँसी में लो, गाने के अलाप की पूरा करने में लो, अवहेलना के साथ लो, वह पापों के नाश करने मे सभी प्रकार से समर्थ है। इसलिये तुम इसमें शंका मत करो नाम जैसा भी लिया गया भगवान् का नाम ही है।"

यह सुनकर—शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! संकेत में नाम कैसे लिया जाता है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! संकेतमें इसी प्रकार, कि सीताराम, प्रसाद पा लो। अपने राम तो प्रसाद पा चुके। या भगवान् का नाम लेकर सम्पत करना। जैसे चोर डाकू थे। जब वे किसी के पास धन देखते, तो एक चिल्लाता—नारायण-नारायण अर्थात् इसके पास नकद नारायण है। दूसरा कहता—"वासुदेव वासुदेव" अर्थात् बाँस की लाठी लाकर इसका पीछा करो, तीसरा कहता 'दामोदर दामोदर।' अर्थात् इसकी कमर में रस्सी बाँध लो। चौथा कहता—'हरि हरि" अर्थात् हरलो हरलो, लूट लो लूट लो।

एक संकेत यह भी होता है, कि मन से तो भगवान् की स्मृति बनाये रखना, किन्तु बाहर नाम मुँह से न निकलने देना। इस विषय में आप एक दृष्टान्त सुनिये। एक बुड्ढी थी, उसके कई लड़के थे। वैसे बुढ़िया अच्छी थी, किन्तु उसमें एक यही खोट था, कि वह भगवान् का कभी नाम नहीं लेती थी। यही नहीं जिस नाम में भगवान् का नाम हो उसे भी नहीं लेती थी। जैसे किसी का नाम हरिप्रसाद है, तो उससे कहती "पिस्सू" किसी का नाम भगवानदास है तो उससे कहती 'दस्सू' किसी का नाम कृष्ण चन्द्र है, तो चन्दू कहती। इसपर उनके पुत्रों को बड़ा दुःख होता, वे सोचते—बुढ़िया मरकर अवश्य नरक में जायगी, भूलकर भी भगवान् का नाम नहीं लेती। एक बार किसी प्रकार इसके मुख से भगवान का नाम निकल जाय यह नरक से बच जाय। यही सब सोचकर वे उसे भुलावे देते हुए जङ्गल को ले गये। हरिन को दिखाकर बोले—'अम्मा ! यह कौन सा पशु है ?" वे सोचते थे कि हरिन कहेगी, तो हरि का नाम तो

आ ही जायगा। किन्तु बुढिया तो सावधान थी। बोली—"बेटा! यह कुदकू जानवर है। कूदकर चलने से ही ये कुदकू कहलाते हैं।"

लड़कों ने सोचा—"बुढिया बडी घाघ है! आगे चलकर खेत जोतनेवाला हर पडा था। शीघ्रता से एक लडके ने पूछा—"अम्मा यह क्या है?"

बुढिया बोली—"बेटा! यह धरती पेटफाटा है। धरती का पेट फाडने से इसका ऐसा नाम पडा है।"

लडकों ने सोचा—"यह बुढिया ऐसे चक्कर में आने की नहीं है। एक काम करे—अकस्मात् कुएँ में ढकेल दें। आदमी सहसा जब गिर पडता है, तो उसके मुख से स्वतः निकल पडता है 'हा राम'। यही सब सोचकर उसे लिये हुए जा रहे थे। रास्ते में एक बिना जलका कुआँ मिला, उसमे एक लडके ने उसे सहसा ढकेल दिया। गिरते ही वह कुएँ में चली गई और वह जोर से कहती है "वाह वाह! वाह वाह।" भगवान् उसकी ऐसी निष्ठा पर ही रीझ गए और उसी समय चतुर्भुज रूप से प्रकट होकर उसे दर्शन दिया।"

एक और भी ऐसा ही कथा है। एक राजा बडे अच्छे थे। किन्तु कभी भगवान् का नाम नहीं लेते थे, इससे उनकी पतिव्रता रानी बड़ी दुखी रहती थी। उसने भाँति-भाति के उपाय किये, किन्तु राजा के मुख से कभी भगवान् का नाम नहीं निकला। एक दिन रात्रि में राजा सो रहे थे, सहसा उनके मुख से निकला "राम"। रानी सुनते ही बडी प्रसन्न हुई। प्रातःकाल उसने बड़ा उत्सव किया। राजा ने पूछा—"आज किस बात का उत्सव है?" रानी ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कहा—'रात्रि में आपके मुख से "राम" निकल गया।" आश्चर्य से राजा ने पूछा—'क्या

मेरे मुँह से निकल गया 'राम'! बस, राम कहते ही उनके प्राण भी शरीर से निकल गये। यह भी एक प्रकार की नाम निष्ठा ही है, किन्तु नाम माहात्म्य में ऐसा निष्ठा उत्तम नहीं बतायी गयी है। नाम की वही उत्तम निष्ठा है कि मुख से जैसे बने तैसे भगवान् के सुमधुर नामों का उच्चारण होता रहे। कुछ संकेत भी करे तो भगवान् के नाम को लेकर करे। किसी को बुलावे भी भगवान् का नाम लेकर ही बुलावे।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! परिहास में भगवान का नाम कैसे लिया जाता है, इसे भी हमें समझाइए।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! यह तो बड़ा मनोहर विषय है, इसे मैं आपको सुन्दर दृष्टान्त देकर समझाऊँगा। आप ध्यान से श्रवण करें।"

छप्पय

कैसे हू हरिनाम लेत फल निश्चय देवै।
चाहें मनते लेइ, भले बेमन के लेवै॥
हरि को लैके नाम मार्ग में आवै जावै।
कृष्ण कृष्ण संकेत करे सब वस्तु मँगावै॥
मोदक घी बूरो सन्यो, दिन में खाओ राति में।
सब थल मीठो लगैगो, घर खाओ या पाँति में॥

हँसी विनोद में भी भगवन्नाम श्रेयस्कर है

(३६१)

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेववा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

भक्त न करें विनोद विषय सम्बन्ध जोरिकें ।
रहें उदासी सदा जगत सम्बन्ध तोरिकें ॥
लै लै हरि के नाम प्रेमतें हँसे हँसावें ।
राम भक्त करि हँसी कृष्णकूँ चोर बतावें ॥
कृष्ण भक्त हँसि राम कूँ, वानर भालूपति कहत ।
बनि वैरागी राम तो, वन वन में रोवत फिरत ॥

संसार मे वे पुरुष धन्य हैं, जो हँसी मे भगवान् का नाम लेते है। मनुष्य जो वस्तु खायगा, उसी की डकार आवेगी। ये विषयी पुरुष रात दिन विषयों में लगे रहते हैं। इसीलिए

---

* भगवान् के पार्षद यमदूतों से कह रहे हैं—"देखो भाई ! भक्त पुरुष इस बात को जानते हैं, कि भगवान् का नाम चाहे संकेत से लिया गया हो, हँसी विनोद में लिया गया हो, गानके आलाप को पूर्ण करने के लिये लिया गया हो अथवा अवहेलना से भी क्यों न लिया गया हो मनुष्य के समस्त पापों को नष्ट करने वाला ही होता है।"

हँसी विनोदमे भी वही घृणित बातें करेंगे। माता, बहिन, बेटीका सम्बन्ध लगाकर गाली देंगे। आँख, कान, मुख, हृदय आदि को लक्ष्य करके घृणित संकेत करेंगे, उनके सम्बन्ध मे न कहने योग्य बाते कहेंगे, उन्हे इसी मे सुख मिलत है। ऐसे बुरे बुर विनोद करके वे वायुमडल को दूषित करते रहते हैं। इसके विपरीत साधु सन्तों का विनोद भी भगवान् के सम्बन्ध से ही होता है। हँसी विनोद मे भी वे भगवान् के नाम और गुणों का ही कीर्तन किया करते हैं। क्योंकि उनके तो रोम-रोम मे राम ही रम रहे हैं।

शौनकजी ने पूछा—"हाँ तो सूतजी! बताइये न? परिहास म—ँसी विनोद मे—भगवान् का नाम कैसे लिया जाता है?"

इसपर सूत जी बोले—"महाराज! आपने, समझ है, देखा हो बहुत से सत ऐसे होते हैं कि उनसे राधेश्याम कहो तो बड चिढेंगे और मारने दौडेंगे। उन्हें देखते ही लडके चिल्लाने लगते हैं—'राधेश्याम राधेश्याम' वे उन्हें डाँटते हैं डपटते हैं मारने दौडते हैं और कहते हैं—"सीताराम कहो सीताराम" लडके और उल्लास के साथ उन्हें छेडते हुए कहते हैं—"बाबाजी राधे-श्याम" वे कहते हैं—'नहीं बेटा सीताराम"। तब वे और कहेंगे—"बाबाजी, तुम राधेश्याम राधेश्याम ही कहा करो।

वास्तव मे उनका प्रयोजन राधेश्याम से चिढने मे नहीं है। वे तो किसी न किसी प्रकार भगवान् का नाम लिवाना चाहते हैं। इसी बहाने बच्चों से भगवान् का नाम लिवाते हैं। साधु संत परस्पर मे भी ऐसे ही विनोद करते है। इस विषय मे मुनियो! मैं आप को एक बहुत ही विनोदपूर्ण प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ, उसे आप सब दत्तचित्त हो कर श्रवण करे।

दो वैष्णव थे, उनमें एक रामभक्त थे, दूसरे कृष्णभक्त थे। दोनों ही भगवान् के अनन्य उपासक थे, दोनों को ही भगवान् का साक्षात्कार होता था। मार्ग में एक मन के दो आदमी साथ हों, तो हँसते खेलते बातचीत करते रास्ता बड़ी सुगमता से कट जाता है। दोनों ही परस्पर में एक दूसरे से प्यार करते थे। दोनों ने साथ २ यात्रा का विचार किया।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! बहुत से लोग ऐसे उलमुहें होते हैं कि सदा गुम्म सुम्म बने रहते हैं। कोई उनके मुँह को देखते भी डर जाय। न किसी से हँसना न बोलना, सिंहकी तरह गुर्राते रहना। साँप की भाँति फुफकार छोड़ते रहना। ऐसे शुष्क प्रकृति के पुरुष के समीप कोई भी स्वेच्छा से नहीं जाता। उनसे कोई काम हो तो दूसरी बात है। इसके विरुद्ध कुछ ऐसे सरस प्रकृति के पुरुष होते हैं जिनका मुख-मंडल सदा फूल की भाँति खिला ही रहता है। जब बोलेंगे तब मुस्कराकर बोलेंगे। बात बात पर खिल खिला कर हँस पड़ेंगे, ऐसे सरस विनोद का पूर्ण साहित्यिक भद्र भाषा में वार्तालाप करेंगे, कि सुनने वालों का चित्त भरे ही नहीं। सदा इच्छा बनी ही रहे इनके मुख से कुछ और सुनें। बच्चे भी जिनसे बातें करने में प्रसन्न हो जायँ-उन्हें अपनी बराबरी का समझें, युवा भी जिनसे निःसंकोच होकर अपने घर और घरवाली की बातें कह दें। वृद्ध भी जिन्हें अपने बीच में पाकर प्रतिष्ठा का अनुभव करें उसकी बात में छिछोरपन न पावें। ऐसे ही पुरुष सर्वप्रिय होते हैं। ऐसे पुरुषों के समीप कभी विषाद फटकता भी नहीं। वे सदा मग्न रहते हैं। संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। यदि ऐसी प्रकृति के भगवद्भक्त हुए तब तो कहना ही क्या है। ये दोनों वैष्णव ऐसे ही थे। बात बात में विनोद करते हुए सुखपूर्वक

अपना समय बिताते थे। दोनो परस्पर में हँसी विनोद करते। रामभक्त उठते ही कहते—"जय-जय सीताराम।" वे कहते "जय श्री कृष्ण जय गोपालजी की"। वह कहते अरे यार! तुमने तडके ही तडके किस चोर का नाम ले लिया।" कृष्णभक्त कहते—"बन्दर को तो स्वप्न मे भी देख ले तो वह पूरा दिन अनिष्ट माना जाता है सो तुमने तो उठते ही वानरों के स्वामी वानरनाथ का नाम ले लिया।" इसी प्रकार आपस मे हँसी विनोद होता रहता।

दोनों वृन्दावन मे रहते थे। रामभक्त ने कहा—"अरे भाई, यहाँ जङ्गलों में कहाँ रहते हो। न कोई अच्छा वृक्ष न भूमही। वृक्ष देखो तो करील, बबूर, छौंकरा हींस आदि सब कांटेदार ही मिलेंगे। पृथ्वी सर्वत्र कँकरीली पथरीली। एक बार हमारे अवध-कुल-मंडन महाराजाधिराज की राजधानी श्री अयोध्यापुरी के दर्शन करो। वहाँ के दर्शन करते ही तुम इन बोहड वन को भूल जाओगे। अहा! वहाँ की कैसी चिकनी मिट्टी है पतितपावनी भगवती सरयू का कैसा निमल नीर है। वहाँ के लोग कितने सभ्य हैं। राज राजेश्वर की राजधानी ही ठहरी। ग्वारियों के गौ चराने के गोकुल या खिरक तो हैं ही नहीं। यहाँ न महल न प्रासाद। सिरकी की झोपडी हैं आज इस वन से उस वन में चले गये, इस जङ्गल से उस जङ्गल में भाग गये। उठाऊ चूल्हे की भाँति। जहाँ जमाया वहीं सेंकी, भाई आगे चल पड़े।"

इसपर कृष्णभक्त बोले—तुम्हारे राजराजेश्वर के पास तो वह जाय जिसे कुछ माँगना जाँचना हो, न्याय आदि कराना हो। मुझे तो अपने गोपालजी से काम है, किन्तु अयोध्याजी

देखने की मेरी भी इच्छा है क्योंकि वहाँ हमारे गोपालजी की ससुराल है, तो हमारी ननसाल ही हुई।"

चिढ़कर राम भक्त ने कहा—"हट कहीं के, आये ननसाल-वाले। उस ग्वारिये का राजाओं के यहाँ विवाह करना तो पृथक् रहा कोई राजमहल में घुसने भी न देगा।"

इस पर हँस कर कृष्णभक्त ने कहा—"अरे, तुम शास्त्रीय बात को भी झूठ बताते हो। वैसे भैया हम तो जानते नहीं हैं, हमारे गोपालजी का राधारानी को छोड़कर और किसी राज कन्या से सम्बन्ध है। परन्तु एक दिन हमने भागवत में यह बात सुनी थी कि श्यामसुन्दर ने द्वारिकाधीश का वेष बनाकर कोशलराज की कन्या से विवाह किया था। तुम झूठ मानो तो पंडित से पूछ लो।"

रामभक्त बोले—"अच्छा, भैया! चलो जैसी तुम्हारी भावना हो।"

दोनों हँसते खेलते चल दिये। आगे चलकर नगर के बाहर चौकी पर जहाँ सब वस्तुओं पर नगर-समिति की ओर से यातायात शुल्क लिया जाता है, वहाँ एक बड़ा सा तराजू लटक रहा था। रामभक्त बोले—"हमारे सीतारामजी महाराज भारी हैं।" कृष्णभक्त बोले—"चलो, हटो! कहीं के भारी। तुम्हारे महाराज को रात्रि दिन राज-पाट की चिन्ता, वे कैसे भारी हो सकते हैं। भारी हैं हमारे गोपालजी, जिन्हें न कोई चिन्ता न सोच। आनन्द से गौएँ चराते हैं दूध पीते हैं, डंड पेलते, कुश्ती लड़ते हैं और मस्त होकर पड़े रहते हैं। "चिन्ता समाना न शरीरशोषणम्" इसपर रामभक्त बोले—"जाने भी दो यार, क्यों बातें बनाते हो, चोर भी कहीं भारी भरकम

होते हैं। चोरी के माल से भी कभी कोई मोटा हुआ है। मोटे होते हैं राजाधिराज जो पुरुषार्थ करके खाते हैं।" इसपर कृष्णभक्त ने आवेश में आकर कहा—"हमारे ब्रज-मण्डल में ही तुम हमारे गोपालजी को दुर्बल बनाते हो आओ तुलालो यह कहकर कूदकर कृष्ण भक्त जय गोपालजी की कहकर तराजू के एक पलडे में बैठ गये। इतने में ही रामभक्तजी भी जय श्रीसीताराम कहकर दूसरे पलडे में बैठ गये। देखते देखते कृष्णभक्त का पलडा ऊपर उठ गया। रामभक्त का पलडा इतना भारी हुआ कि वह पृथ्वी से भी नहीं उठा। राम भक्त ने यह देखकर तालियाँ बजानी आरम्भ कर दी। बस, देख लिया माखन—चोर का बल। बड़े बडबडा रहे थे हमारे ग्वारिया ऐसे हैं वैसे हैं। हम पहिले ही कह रहे थे, राजा राजा ही है, ग्वारिया ग्वारिया ही है। कहाँ वन-वन घूमकर गौएँ चराने वाले, कहाँ छत्र चँवर सहित सुवर्ण सिंहासन पर बैठ कर राज्य करने वाले, आकाश पाताल का अन्तर है।"

इस बात से कृष्णभक्त का तो मुख फक पड गया, बड़े उदास हो गये। मुँह लटकाकर एक ओर जाकर खडे हो गये। इतने में ही काली कमली ओढे लाठी हाथ में लिये उन्हें श्याम सुन्दर दिखाई दिये और आते ही उन्होंने कहा—"क्यों भाई क्यों उदास खड़े हो?"

प्रेम के कोप में भगवान् को डाँटते हुए भक्त ने कहा—"चलो हटो, हमसे बातें मत करो। तुमने तो आज मेरी लुटिया ही डुबो दी। ऐसे हलके बन गये, जब तृणावर्त पकडकर ले गया था, तब तो पत्थर की भाँति भारी हो गये थे। इतने बड़े गोवर्धन को उँगली पर रख लिया था अब फूल से भी अधिक सुकुमार बन गये!"

गोपालजी ने अत्यन्त प्यार से कहा—"देखो भाई पहिले हमारी बात सुनलो। ये तो सीता और राम दो-दो दुल्हा और दुलहिन। मैं अकेला बालक, बताओ दो की बराबरी एक कैसे कर सकता है। तुम समझ लो। मुझे भी तुम दुलहिन के साथ बुलाते तब मेरा ठाठ देखते। मिथिला की दुबली पतली अत्यन्त सुकुमारी जो कि पैदल चलने में लड़खड़ाती हैं। वे दूध दही खानेवाली दही से माखन बिलोकर निकालनेवाली अहीरिनि की बराबरी मे भारी हो ही नहीं सकतीं। भूल तुम्हारी है या मेरी ?

यह सुनते ही कृष्णभक्त दौड़कर "जय जय राधेश्याम" कहते हुए फिर पलड़े में जा बैठे और ललकार कर रामभक्त से बोले—"अबके आजाओ तब जानूँ ?"

हँसकर रामभक्त बोले—"भैया, रूँगट मत करो, किसी ने सिखा पढ़ा दिया तुम्हें है, बाजी तो एक ही बार लगती है। पारे की जात एक ही बार तराजू पर चढ़ती है। जय पराजय का निर्णय तो एक बार में ही होता है। अब तो जो हो गया सो हो गया, अब तुम्हारी दाल नहीं गलने की। ऐसे कहकर राम भक्त आगे बढ़े। उनके पीछे-पीछे अपना टाट कमंडलु उठाकर कृष्ण भक्त भी चल पड़े।

नगर को पार करके दोनों हरी-हरी दूबवाले यमुना पुलिन में पहुँचे। मरकत मणि के समान नील वर्ण की दूर्वा तरणि तनूजा के तट पर दूर तक उनके नील वर्ण का जल की द्युति के साथ अत्यन्त ही दीप्तमती प्रतीत होती थी। उस इतनी सुन्दर दूर्वा को देखकर रामभक्त बोले—'अहा ! कैसी सुन्दर हरी हरी घास है। इसमें तो हमारे राजाधिराज श्रीचक्रवर्ती कौशल

किशोर के अश्व चरेंगे। चक्रवर्ती के घोड़े इस हरी हरी दूब को खाकर बड़े ही प्रसन्न होंगे।"

इस पर बिगड़कर कृष्णभक्त ने कहा—"चलो हटो भी आये कहीं के घोड़ा चरानेवाले। घोड़े ने यहाँ पैर भी रखा तो हमारे गोपालजी की गौएँ उनके पेट में अपने पैने पैने सींगें घुसेड़ देंगी। दूसरे की घास को चराने की बात मनमें भी मत सोचना।"

रामभक्त ने ताव में आकर कहा—'देखो जी जबान सम्भाल कर बातें करना, दूसरे की किसकी घास है? हमारे चक्रवर्ती महाराज इस सम्पूर्ण भूमंडल के स्वामी है। सम्पूर्ण नद, नदी, शैल काननपूर्ण वसुन्धरा उनके वे अधीश्वर हैं। समस्त संसार में उनका आधिपत्य है। सबके वे प्रभु हैं। ऐसे ग्वाले न जाने कितने उनके राज्य में रहते हैं! वे इस वन के ही नहीं तीनों लोकों के ईश हैं। चाहें जहाँ घोड़े चरवावें उन्हें रोकने का साहस कौन कर सकता है।"

कृष्णभक्त बोले—"देखो बहुत बढ़कर बातें मत करो, रार मत बढ़ाओ, तुम्हारे राजा भले ही तीनों लोक के अधीश्वर हों, किन्तु हमारी मथुरा तो तीन लोक से न्यारी है, यहाँ किसी के घोड़े आये तो उनके पेट में फोड़े हो जायँगे, घोड़े भी आगे न बढ़ सकेंगे। उलटे कोड़े लगेंगे। इधर से उधर दौड़े-दौड़े फिरेंगे।"

अब क्या था रामभक्त जी को क्रोध आगया और बोले—"तुम हमारे घोड़ों में कोड़े लगानेवाले कौन होते हो? यहाँ तो अवधकुल-भूषण दशरथ-नन्दन चक्रवर्ती कौशल्यानन्द-वर्धन के भारी-भारी मोटे-ताजे बड़े डील डौल के घोड़े चरेंगे घोड़े। उनके सामने गौएँ ऐसे ही भग जायेंगी, जैसे वायु के आने से बादल भाग जाते हैं। भेड़ियों के आने से बकरियाँ भाग जाती हैं।"

इस पर कृष्णभक्त आपे से बाहर होगये, और बोले—"देखिये आप अपनी जिह्वा पर ताला लगाइये। इसमें घोड़े फटक भी नहीं सकते। खानेकी बात पृथक् रही घोड़े इस घास की ओर देख भी नहीं सकते।"

अब तो राम भक्त बिगड़ गये और बोले—"देखो, तुम चाहें ऐं करो चाहें चे करो। घोड़े चरेंगे घोड़े।"

कृष्णभक्त—"घोड़े नहीं चरेंगे, नहीं चरेंगे।"

रामभक्त—"चरेंगे, चरेंगे, अवश्य चरेंगे, एक बार नहीं हजार बार चरेंगे तुम्हें जो करना हो करो।"

अब क्या था कृष्णभक्त ने उठा कर रामभक्त को पटक दिया। रामभक्त कुछ तगड़े थे। उन्होंने ऐसा दाँव पेच घुमाया कि कृष्णभक्त नीचे और रामभक्त ऊपर। उन्हें घोटूँ से रगड़ते हुए बोले—"अब बताओ, घोड़े चरेंगे या गौएँ चरेंगी?"

अब नीचे पड़े-पड़े कृष्णभक्त की सिटिल्ली भूल गयी, हारे को हरि नाम अब और कोई उपाय न देख कर नीचे से ही उन्होंने चिल्लाना आरंभ किया। "गोपाल जी! चलियो, चलियो. देखो सब घास पर अधिकार हुआ जाता है। घोड़े घास को न चरने पावें।"

अपने स्वामी को पुकारते देखकर रामभक्त भी पुकारने लगे—"चलिये! अवधकुलमंडन महाराजाधिराज श्रीरघुकुल तिलक सम्राट, सब घास पर गोपाल जी का अधिकार हुआ जाता है। जल्दी आकर दखल जमाओ।"

इतने में ही क्या देखते हैं, कि गौओं का एक बड़ा भारी झुण्ड चला आ रहा है। बड़ी मोटी-मोटी सुन्दर गौएँ अपने भारी ऐन के बोझ से इठलाती, बछों को साथ लिये मंथर गति

से आ रही हैं। उन के पीछे मुकुटमुकट धारी, वनवारी, मुरली-धारी गोपवेशधारी गोपालजी लाठी लिये चले आ रहे हैं। दो वैष्णवों को लडते देखकर वे खड़े हो गये और सरल स्वभाव से बोले—"क्यों भाई, तुम लोग क्यों लड रहे हो ?"

कृष्णभक्त के तो हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। सम्मुख अपने हिमायती को देखकर वह तो बाघ की भाँति गर्जने लगा। रामभक्त सिटपिटा गये। शीघ्रता से उन्हें छोड़ कर अपराधी की भाँति खड़े हो गये।

भगवान् ने पूछा—"अरे, तुम लोग वैष्णव हो कर लड़ाई-झगडा क्यों कर रहे हो ?"

ताव मे आकर कृष्णभक्त बोले—"लड़ाई-झगड़े की बात ही है महाराज ! ये कहते हैं घास को घोडे चरेंगे, घोड़े चरेंगे। घोड़े कैसे चरेंगे ? घास तो है गौओं की, यहाँ घोड़े आवेंगे तो उन की केशी की सी दशा होगी।"

यह सुनकर भगवान् मुस्कराये और बोले—"अरे, भैया ! लडाई झगड़े का क्या काम है। गौओं की तो घास ही है। वे चर रही हैं। लडो मत भगवान् का नाम लो।"

इतनी बात चीत में गौएँ आगे बढ़ गयीं। उन्हें घेरने के लिये गोपाल जी आगे दौड़े गये और एक कदमखंडी मे अदृश्य हो गये।

इतने मे ही वैष्णवों ने क्या देखा चार बड़े-बडे सफेद घोड़े अत्यन्त वेग के साथ दौड़े चले आ रहे हैं। आगे के घोड़े पर किरीट मुकुट धारण किये, धनुष बाण लिये अवध—कुल—तिलक कोशल्या— यशवर्धन रघुकुल चूडामणि श्री राघव विराजमान हैं। पिछले तीन घोड़ों पर लक्ष्मणजी, भरतजी, और शत्रुघ्नजी अंग रक्षक की

भाँति दौड़े चले आ रहे हैं। आते ही महाराजाधिराज चक्रवर्ती श्रीअवधेश ने पूछा—"अरे, भाई क्या बात है ?"

रामभक्त तो रोष में ही थे मुंह फेर लिया और ताव में आकर बोले—"बात है पत्थर। अब क्या बात है। बात तो जो होनी थी, सो हो गयी। घास पर तो गोपालजी का अधिकार हो गया। अब तो गौएँ ही चरेंगी। जागा सो पाया, सोया सो गया, जो पिछड़ गया, वह रह गया।

श्री राघव ने अत्यन्त स्नेह के स्वर में कहा—"भाई ! बात तो सुनो। बात सुनकर क्रोध करना। देखो, गोपालजी तो सदा वनों में ही घूमते रहते हैं। सुनते ही दौड़े आये। तुमने मुझे सम्राट के नाम से पुकारा। इसलिये पहिले यह बात मंत्री के पास गयी, फिर ७ ड्योढ़ियों में होकर अन्तःपुर मे खबर गयी, वहाँ से घोड़े तैयार करने की आज्ञा भेजी गयी, जब तैयार हुए, तब राजसी वस्त्र पहिनकर हम आये। अब तक गोपालजी ने अधिकार जमा लिया। अब लड़ने की आवश्यकता नहीं। आधे में गौएँ चरेंगी आधे में घोड़े चर लेंगे।"

अब दोनों आगे बढ़े। चलते चलते अयोध्या जी के इस पार पहुँचे। नौका से उस पार जाना था। दोनो नौका में बैठकर उस पार पहुँचे। उस पार कुछ कीचड़ थी। पानी घुटनों तक था। लोग नौका से उतर उतरकर उस पार जल में हिलकर जाने लगे। रामभक्त भी उस पार पहुँच गये। केवल कृष्ण-भक्त नौका में बैठे रह गये। पार पर खड़े होकर रामभक्त हँसने लगे और कहने लगे—"बस, इतने ही बल पर ऐंठते थे घुटनों तक जल मे भी नहीं हिला जाता। कृष्णभक्त बैठे बैठे कह रहे थे, हम १) देंगे २) हमें कोई कंधे पर बिठाकर उस पार पहुँचा दो।" रामभक्त ने कहा—'यहाँ महाराज—

धिराज की राजधानी है, बलवानों का काम है, उतर के आओ।"

कृष्ण-भक्त बोले—"भैया, क्या बतावें अब आकर फँस गये हैं। मैं घुटने जल से नहीं डरता। यमुनाजी होतीं तो मैं बरसात मे उस पार हो जाता, किन्तु मैंने सुना है, सरजू जी का जल जहाँ शरीर से स्पर्श हुआ कि सीधा साकत लोक चला जाता है। मुझे साकेत जाना नहीं मुझे तो गोलोक जाना है, इसलिए मैं सरयू जल का स्पर्श नहीं कर सकता।"

यह सुनकर रामभक्त उनके पैरो पड गये। भैया, तुम ही धन्य हो जा तुम्हारी ऐसी निष्ठा है। ऐसी हमारी भी निष्ठा हो जाय। इसी प्रकार श्रीरामजी और श्रीकृष्ण जी को लेकर उन दोनों मे सदा हास परिहास होते रहते थ।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जा परिहास में भी भगवान् का नाम लेते हैं, उनका कल्याण होता है। भगवान् उनके ऊपर कृपा करते हैं। उन्हें अपनाते हैं जो भजन की पद की पूर्ति में रामा हो, कृष्णा हो लगा देते हैं जो अवहेलना से भी कहत हैं, राम राम कहने से क्या होता है? इतनी देर से कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण की रट लगा रक्खी है। ऐसे कहने वालों का भी उद्धार हो जाता है।"

छप्पय

राग अलापन हेत राम कौ नाम उचारे।
चाहें कहि कहि राम भक्तकूँ ताने मारे॥
राम कहत लड़िजाइँ राम कहि प्रेम जताये।
ते नर कबहूँ भूल नरक की गैल न जाये॥
बिन इच्छाऊ रूई पै, चिनगारी पावक परै।
जरै रूई तो अवसि हीं, नाम नाश अघ तस करै॥

हरि उच्चारण मात्र सेही पापों को हरते हैं

(३६२)

पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० २ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

गिरत परत मग चलत रपटि कीचड़महँ जावै।
अङ्ग भङ्ग ह्वै जाय जीव हिंसक हू सतावै॥
काटे कोई-आइ-देहमहँ पीड़ा होवै।
ज्वर को होवै वेग चेतनाकूँ नर खोवै॥
कैसे हूँ नर विवश है, हरि उच्चारन करिङ्गे।
नाम प्रतिष्ठा के निमित, अघ तिन के हरि हरिङ्गे॥

जिसका अस्तित्व है वह अपना नाम चाहता है, जो नाम न चाहे उसका अस्तित्व नहीं। ज्ञानी की दृष्टि में नाम रूप

---

* विष्णुपार्षद यमदूतों से कह रहे हैं—"देखो, भैया! जो पुरुष ऊँचे से गिरते समय, फिसलते समय, अङ्ग भङ्ग हो जाने के समय, किसी सर्पादि ने काट लिया हो उसकी पीड़ा के समय, ज्वर आदि के सताप के समय तथा पीटे जाते समय, विवश होकर भी 'हरि' नाम का उच्चारण करता है वह फिर यातना के योग्य नहीं रह जाता उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं!"

मिथ्या है, इसलिये वह कुछ चाहता ही नहीं। मोक्ष को भी ज्ञानी नहीं चाहता। बन्ध हो तो वह मोक्ष चाहे। ज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु है ही नहीं। किन्तु भक्त की दृष्टि मे दो ही वस्तु सत् हैं। भगवान् का नाम और रूप। मुख से भगवान् का नाम उच्चारण होता है, हृदय मे उनकी अनुपम सौंदर्य माधुर्य युक्त मनमोहना रूप माधुरी छाई रहे और ये मन इन्द्रियाँ उनके नाम रूप चिन्तन म निमग्न रहें इसके अतिरिक्त भक्त न मोक्ष चाहता है न वैकुण्ठ। उसे पुनर्जन्म से भी भय नहीं। जन्म मृत्यु से भी डर नहीं। हमारा लाख बार जन्म हो, देवयोनि, मनुष्य योनि में हो, पशु, पक्षी, कीट, पतग, सूकर,कूकर, किसी भी योनि मे चाहे क्यों न हो। कृष्ण नाम रसपान करने को मिले। बस यही पर्याप्त है। मन ही वश मे हो जाय, तो फिर साधनों की ही क्या आवश्यकता रहती है तब तो सब खेल ही समाप्त हो जाता है। भगवान् की ओर तो मन जाता ही नहीं, विषयों की ओर ही दौडता है। वे मन से ही सही नाम का उच्चारण हो जाय। स्वेच्छा से न हो परेच्छा से ही हो जाय, ज्ञान स न हो अज्ञान से ही हो जाय। अंधेर मे सर्प पडा है, अज्ञान से भी उसपर पैर पड जाय तो काट ही लेगा। क्योंकि उसका स्वभाव है, इसी प्रकार हरि नाम का स्वभाव है पापो को हरना। तो फिर कैसे भी उसका सेवन क्यों न करो, वह अपने स्वभाव को छोड नहीं सकता क्योंकि स्वभाव को दुस्त्यज बताया है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यमदूतो को डाँटते हुए भगवान् नारायण के प्रिय पार्षद कहने लगे—अरे, तुम लोग इस नारायण परायण महात्मा को बाधकर नरक में ले जाना चाहते हो? छीः छीः बडे दुःख की बात है। जब धर्म-

राज के शासन मे भी ऐसा अधर्म होने लगेगा, तब तो ससार से धर्म का लोप ही हो जायगा।"

इस पर यमदूतो ने कहा—"अच्छी बात है महाराज मान लीजिये इसने कैसे भी सही पुत्र के ही मिस से सही भगवान् के नाम का उच्चारण किया। इसे हम मानते हैं। किन्तु इसने तो स्वच्छ चित्त से सावधान होकर नाम नहीं लिया। विवश होकर यातना के कष्ट से अचेतनावस्था में लिया। महाराज! नियम ऐसा है, कि अचेतनावस्था मे जो हस्ताक्षर करता है, या अपनी चल- अचल सम्पत्ति को किसी को देता है, तो वह दान नियम विरुद्ध समझा जाता है। इसलिये इसका लिया हुआ नाम भी नियम विरुद्ध माना जाय।"

विष्णुपार्षदों ने कहा—"भैया, यह बात लौकिक सम्पत्ति के सम्बन्ध मे सत्य हो भी सकती है, किन्तु नाम के सम्बन्ध में यह बात सत्य नहीं। नाम के विषय में तो यह है कि किसी भी भाँति मुख से नाम निकल जाय। अपने वश में होकर नाम का याद कोई भाग्यवान् ही करते हैं, नहीं तो जहाँ तक वश चलता है, मनुष्य विषय सम्बन्धी सामग्रियों को एकत्रित करने में ही प्रयत्न करता है। अवश होकर भी जिसके मुख से भगवान् का नाम निकल जाय, उसे बडा भाग्यशाली समझना चाहिये। पूरा नाम उच्चारण न भी हो अधूरा ही हो जाय, शुद्ध उच्चारण न हो अशुद्ध ही हो जाय, उसी मे कल्याण है।"

एक यवन शौच किया कर रहा था। इतने मे ही जगली सूकर भगवान् उसे डराने के लिये उस पर कृपा करने दौडे आये। यदि वामन अवतार मे होते तो नहा धो लेते तब आते। सूकर भगवान् को तो शुचि अशुचि का कुछ विचार ही नहीं।

पीछे से एक हुड्डमारी। वह डर कर विवश होकर आर्तस्वर में पुकारने लगा 'हराम हराम हराम हराम' यम दूतों ने क्या समझा यह हा राम ! हा राम ! कह रहा है, झट वहाँ से भाग गये और उसे भगवान् के पार्षद अपने लोक को ले गये। यह प्रभाव नाम का है।"

यह सुन कर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग ! अंत समय में नाम भी तो उसी को स्मरण होता है जिसने पहिले से ज्ञान पूर्वक याद किया हो। अजामिल "नारायण नारायण" नित्य सर्वदा रटता तो रहता था, किन्तु पुत्र के नाम से रटता था। इसीलिये अंत इसे नारायण नाम याद आ गया। औरों को तो मरते समय नाम स्मरण नहीं हो सकता।"

इस पर सूत जी बोले—"हाँ भगवन् ! यह तो है ही मरते समय तो अभ्यास वाली वस्तु ही स्मरण आवेगी। इसीलिये तो संत स्पष्ट उपदेश नहीं देते। रुचि के अनुसार ही साधक को लगाते हैं। एक कवि थे, वे अपनी स्त्री मे अत्यन्त ही अनुरक्त थे। बिना स्त्री के देखे उन्हें कल ही नहीं पडती थी। वे उसे क्षण भर भी न देखें तो व्याकुल हो जायँ। अपने सत्संगी साले की प्रेरणा से एक सन्त के यहाँ जाने लगे। जायँ और तनिक देर बैठे और चले आवे। सहसा संत की उनपर कृपा दृष्टि हो गयी, उनकी ओर चित्त चला गया पूछा—भैया, तुम तनिक देर भी नहीं बैठते कुछ सत्संग तो किया करो।"

उसने कहा—"महाराज ! बहू के देव दुर्लभ दर्शन ही मेरा सब से बडा सत्संग है, मैं अपने इन सम्बन्धी के संकोच से यहाँ चला आता हूँ, किन्तु मुझे यहाँ चैन नहीं पड़ता। हृदय व्याकुल हो जाता है। मैं उसे एक क्षण भी छोड़ना नहीं चाहता।"

इस पर संत ने हँसकर पूछा—"उसके बाल कैसे हैं?

वे तो कवि ही ठहरे, लगे बालों का वर्णन करने—"अजी महाराज क्या बताऊं बाल ऐसे हैं, जैसे काले रेशम के घुँघराले लच्छे, बड़े प्यारे, बड़े सटकारे, बड़े मुलायम, बड़े चिकने, बड़े मनोहर, बड़े सुखद स्पर्शी" इस प्रकार बहुत वर्णन कर गये।

संत ने कहा—"अच्छी बात है कल इस पर एक सुन्दर सी कविता लिख लाना अब जाओ।"

कवि महाशय चले। बालों के ध्यान में तन्मय हो गये। एक पेड़ के नीचे बैठकर कविता करने लगे। दूसरे दिन आकर संत को दिखाया। संत को स्त्री के मल रूप बालों से क्या प्रेम? किन्तु उसे सीधे रास्ते पर लाना चाहते थे। बोले—"वाह वाह! तुम तो भैया बड़ी सुन्दर कविता करते हो, क्या कहना। तनिक पढ़कर तो सुनाओ भैया।"

सूतजी कहते हैं—"महाराज! वैसे अपनी प्रशंसा सभी को अच्छी लगती है, किन्तु कवि तो योग्य व्यक्ति के द्वारा अपनी कविता की प्रशंसा सुनकर आनन्द विभोर हो जाता है। इसी न्याय से वे कवि बड़े प्रसन्न हुये। अब तो वे संत नित्य ही उन्हें उनकी स्त्री के किसी अङ्ग प्रत्यग के ऊपर कविता करने को कहते और वे आश्रम में ही बैठ कर उसके उस अङ्ग का ध्यान करते हुए कविता करते। अब उन्हे जाने की शीघ्रता नहीं होती थी, यही चिन्ता रहती थी, कैसे सुन्दर से सुन्दर कविता बने। एक दिन सन्त ने कहा—"तुम २ दिन तक भली प्रकार ध्यान करके उसके नखशिख का सुन्दर से सुन्दर वर्णन लिखो" कवि ने संत की आज्ञा शिरोधार्य की। दो दिन तक वह स्त्री के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का ध्यान करता रहा।

जब वह ध्यान मे मग्न रहता, तब सत उसकी देह को हिलाते हुए कहते—"अरे, तुम घर नहीं जाते कितनी देर हो गयी है।" वह कहता—"भगवन्! आप मुझे ध्यान करने दे बडा आनन्द आता है। ध्यान मे उसके रूपका चितन करने से जितना सुख होता है, उतना उसे प्रत्यक्ष देखने मे आनन्द नहीं आता। अब मुझे ध्यान करने दो' संत ने जब देखा इसका स्त्री के अंगो मे चित्त एकाग्र हो गया है, तब कहा—"अरे! क्या हाड मॉसका ध्यान कर रहे हो। भगवान् के उस दिव्य रूप का ध्यान करो जिसके आगे ये रूप तुच्छ है, क्षण भंगुर है, अनित्य है।" सत के इस उपदेश का उन पर प्रभाव पडा और वह एक महान् पारमार्थिक कवि और उच्च महात्मा हो गये।

सो भगवन्! बिना जाने ध्यान करने से जब ध्यान का अभ्यास हो गया, तो अनजान मे नाम स्मरण करते रहने से भी नाम का अभ्यास हो जायगा। यह तो रूप के विषय में दृष्टान्त हुआ। इसी प्रकार नाम के विषय मे आपकी आज्ञा हो तो एक दृष्टान्त सुनाऊँ?

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप अवश्य सुनाइये, दृष्टान्तों से विषय बडी सरलता से समझा जाता है। स्पष्ट हो जाता है। बुद्धि अपने आप ग्रहण कर लेती है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! विदर्भ देश मे एक बड़ी ही रूपवती वेश्या थी। उसके रूप की सर्वत्र ख्याति थी। कितने धनिको को उसने निर्धन बनाया कितने चरित्रवानों को उसने चरित्र भ्रष्ट किया, कितने युवकों के बलवीर्य का उसने नाश कर दिया। गरीब तो उसके दर्शन भी नहीं कर पाते थे। वह राजवेश्या थी।

एक दिन वह अपनी सजी सजाई अटारी पर बैठी थी। नीचे सडक पर उसने देखा, एक व्याधा बहुत से तोताओं को लिये हुए जा रहा है। उन छोटे छोटे सुग्गो में एक सुग्गा बडा था। वह दूब की भाँति हरा था। उसकी चोंच कुदरू के फल की भाँति लाल थी। गले मे लाल और नीले रङ्ग की स्वाभाविक कण्ठी थी। वह मनुष्य की वाणी स्पष्ट बोलता था।

वेश्या को उस सुग्गे को देखकर बडा आश्चर्य हुआ उसने उस व्याधे को ऊपर बुलाया और उससे उस तोते को लेने के लिये मोल-भाव करने लगी। मुनियो! प्राणी कैसा भी क्रूर हो, निन्दित हो, हिंसक हो, सभी किसी न किसी से प्यार करना चाहते हैं। सभी के भीतर प्रेम करने की एक स्वाभाविक स्पृहा होती है। छोटे-छोटे बच्चे भी आपस में मित्रता जोडते हैं, किन्तु थोडी देर में फिर कुट्टी कर देते हैं। क्योंकि मित्रता इस मत्र से की जाती है "कूआ में चबैना यार मागे वही दैना।" किसी बच्चे की माँ ने सुन्दर मिठाई दी। उसके मित्र ने माँगी। उसकी जिह्वा लपलपा रही थी, वह मिठाई को देना नहीं चाहता। उसने मित्रता के विरुद्ध आचरण किया। यार के माँगने पर भी वस्तु नहीं दी, तो वह कुट्टी कर देता है—"जीभ मरोडूँ, दाढ को तोडूँ, ऐसे यार से कभी न बोलूँ। यारई कुट्ट, कुट्ट, कुट्ट।" बस, मित्रता छूट गयी। बडे लोग समझते हैं यह तो बच्चों का खेल है, किन्तु हम भी तो नित्य इस प्रकार अपने स्वार्थों पर आघात होने से अपने मित्रों से कुट्टी कर देते हैं। बाल्यकाल से मित्रता करते-करते—अनेकों से यारई जोरते—और कुट्टी करते मनुष्य अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है, कि ससार में सभी स्वारथ के मीत

हैं।" फिर भी मित्रता किये बिना मानता नहीं। स्त्री पहिले एक से मित्रता करती है, राजद्वार में जाकर बही मे लिखवाकर एक से विवाह करती है, उससे पटरी नहीं बैठती, उसे परित्याग करके दूसरे से जोडा जोडकर बही मे नाम चढ़वाती है। उसे भी निर्धन देखकर विपत्ति में फँसा समझकर छोडकर तीसरे से सट्टपट्ट जोडती है, उससे खट्टपट्ट हुई तो भट्टपट्ट चौथे का पल्ला पकडती है। फिर भी आँख के अंधे उससे मित्रता जोडते हैं प्यार का ढोंग रचते हैं, यह नहीं समझते कि जब यह पिछलों की नहीं हुई तो हमारी क्या होगी। यही दशा पुरुषों की है। स्त्री के ऊपर लट्टू होगा तो उसे हृदयेश्वरी अन्तःकरण की सम्राज्ञी, प्राणप्रिये न जाने क्या-क्या कहेगा। जहाँ किसी दूसरे से मन मिला कि दूध की मक्खी की भाँति उसे निकाल कर फेंक दिया। ये ही बनावटी झूठे प्रेम की बातें उससे बकने लगा। जो स्वार्थी है, कामी है, विषयासक्त है, वह कभी किसी का मित्र हो ही नहीं सकता, उसकी मित्रता तो काम से है स्वार्थ से है। यही सब अनुभव करते-करते युवावस्था बीत जाने पर मनुष्य किसी से प्रेम नहीं करता। वास्तव में कोई प्रेम करने योग्य है ही नहीं, जो क्षणभंगुर विषयों से प्रेम करता है उसकी मित्रता के दिन चल सकती है, उसके साथ किया हुआ प्यार के दिन स्थाई रह सकता है। प्रेम करने योग्य या तो वृक्ष हैं, जो न बोलते हैं, न गाली गलौज करते हैं और न तुम्हारे किसी काम का विरोध करते हैं। उनमें सडी-गली गंदी खाद डाल दो, तो वे फल फूल देंगे। [illegible] तुम्हारे भोजन को पका देंगे। जलाकर भस्म कर दो [illegible] खाद बनेंगे। सारांश उनमें स्वार्थ की भावना नहीं [illegible] की भावना है, इसीलिये तो साधु [illegible]

आश्रमों में नाना भाँति के पत्र, पुष्प और फलों वाले अनेकों वृक्ष होते हैं। या प्रेम करने योग्य हैं, सरल पशु पक्षी जो खिलाने वालों के पीछे ही पीछे घूमते रहते हैं। इसीलिये साधुसन्तों के यहाँ पालतू पशु रहते हैं गृहस्थी भी भाँति-भाँति के पशु पक्षियों का पालते हैं। बहुत से तो अपने कुत्तों से इतना प्यार करते हैं, कि पुत्र की भाँति साथ सुलाते है, साथ खिलाते हैं विविध वस्तुओं से न्हिलाते हैं और साथ ही सवारी पर बराबर बिठाते हैं। या प्रेम करने योग्य निस्वार्थ सन्त हैं, जिन्हें कोई संसारी स्वार्थ नहीं, जिनके सभी काम परमार्थ ही के निमित्त होते है, परोपकार से प्रेरित होकर हो काज करते हैं।

यह वेश्या नित्य बड़े से बड़े धनिक युवकों को देखती। सुन्दर से सुन्दर सुकुमार राजकुमारों से उसका काम पड़ता। वे उसे धन देते, वस्त्र देत, रत्न जटित सुवर्ण के आभूषण देते भोग देते, शैया और पारधान देते साथ ही हृदय देने का भी अभिनय करते, किन्तु वह सब समझती था, जब मैं किसी को हृदय नहीं दे चुकी हूँ, तो मुझे कौन हृदय समर्पित करेगा। ये सब तो काम का क्रीड़ायें हैं स्वार्थ की बातें हैं। वह हँस जाती, फिर भी किसी से प्यार करना चाहती थी, खुल कर बिना बनावट की बातें करना चाहती थी। आत्मीय पुरुष की भाँति उससे हँसना खेलना लड़ना, चिढ़ाना और खेल करना चाहती थी। उसने उस सुन्दर सुग्गे को मुँह माँगा दाम देकर उस व्याधे से ले लिया। सुवर्ण के पिंजड़े में रख लिया। प्रतीत होता था, वह किसी भक्त का तोता था। किसी कारण से उड़ आया होगा, इसका ऐसा सुन्दर स्वरूप और सुरीली स्पष्ट मधुर वाणी सुनकर व्याधे ने इसे पकड़ लिया। आज इस सुग्गे का इतना अधिक मूल्य पाकर फूला नहीं समाया, उसको

प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। आनन्द के कारण उसके पैर पृथ्वी पर नहीं पडते थे। वह अत्यन्त आह्लादित होता हुआ अपने घर चला गया।

इधर वेश्या ने उसे अपने हाथो से दूध पिलाया, फल रखे, चने के दाने रखे। दूध पीकर तोते ने अपने स्वाभावानुसार पढना आरम्भ किया—

चित्र कूट के घाट पै, भई संतनि की भीर।
तुलसिदास चदन घिसैं, तिलक देत रघुवीर॥

पढो तो मिट्ठू सीताराम सीताराम। वेश्या बडी प्रसन्न हुई। बोली—'हाँ मिट्ठू कहो सीताराम'। वह कहने लगा—'बाईजी, राम राम वेश्या को बडी प्रसन्नता हुई। उसके घर जो भी युवक आता उसे देखकर सुग्गा कहता—'राम राम जी राम राम, सब उसकी स्पष्ट वाणी सुनकर चकित रह जाते और हँसी मे कहते—'राम राम मिट्ठू जी! राम राम' प्रातः उठते ही वेश्या को देखते ही तोता कहता 'बाईजी राम राम।' वह मचलकर प्यार के साथ दुलार के स्वर मे कहती—'राम राम भैया! राम राम।' तेरी हजारी उम्र हो, राम राम। तू सदा रटता रहे राम राम। तेरा मुँह घी शक्कर से भरे राम राम। तू सदा मीठी वाणी से बोलता रहे राम राम।"

कभी-कभी सुग्गा सो जाता तो वेश्या जाकर कहती—"सो गये क्या सुग्गा राजा। राम राम नहीं कहते, राम, राम। कहो राम राम।"

सूतजी कहते हैं—"भगवन्! उस वेश्या की इच्छा राम भजन की नहीं थी। उसे ज्ञान भी नहीं था, कि मैं उन राम के

नाम को ले रही हूँ, जो समस्त पापों को पलभर में मेंट सकते हैं। अपने को निंदित पाप कर्म में निरत वेश्या मानती थी। सुग्गे के प्रसङ्ग से अनिच्छा पूर्वक अज्ञान में केवल विनोदार्थ वह राम-राम रटती रहती थी। वह तो अज्ञान होकर कहती थी, क्योंकि तमोगुण के करण मूढ़ा बनी हुई थी, किन्तु चैतन्य धन नाम ता प्रमाद नहीं कर सकता था। उसे अपना फल अवश्य ही प्रकट करना था। शनैः शनैः नाम के प्रभाव से इसका अन्तःकरण शुद्ध होने लगा। उसके पाप कटने लगे। जब मनुष्य के पाप कटने लगते हैं, तभी संत समागम सत्पुरुषों के सत्सङ्ग का सुअवसर प्राप्त होता है।

सहसा एक दिन उसे बड़े जोरों का ज्वर आ गया। कई दिन अचेत रही। ज्वर में बेसुधि बनी अन्ड-बन्ड बकती रही। उसका शरीर पीला पड़ गया, सब सौन्दर्य नष्ट हो गया। मुख से दुर्गन्ध आने लगी। सब अङ्ग प्रत्यङ्ग शिथिल पड़ गये, बिना खाये आँखे पथरा गईं। मुख मलिन हो गया, जो कामी उसके शरीर को स्पर्श करके अपना सवस्व निछावर करते थे, उन्हें अब इसे देखने मे घृणा होती। कोई पास भी न फटकता। धन लोलुप २-४ नौकर इस प्रतीक्षा में रह गये कि किसी प्रकार यह शीघ्र से शीघ्र मरे, तो हम धन सम्पत्ति लेकर चम्पत हों। उसकी अचेतनावस्था में बहुत-सी धन सम्पत्ति तो समीप वालों ने उड़ा ही दी।

अब उसका अन्त समय आ गया। त्रिदोष ने उसे घेर लिया। सूतजी कहते है—"मुनियो! मृत्यु के समय मनुष्य को अपने सब पाप याद आते हैं। जिस धन सम्पत्ति को झूठ-सच बोलकर बड़ी ममता से अत्यन्त लोभ से इकट्ठी की

थी, उसे छोडते समय अत्यन्त दुःख होता है। पापों की स्मृति से हृदय थरथर काँपने लगता है। भय के कारण रोंगटे खडे हो जाते हैं, उस भयभीत दशा में ही यमदूतों की काली-काली डरावनी भयङ्कर विकराल मूर्तियाँ दिखायी देने लगती हैं। उन्हें देखते ही पापियों का मल-मूत्र निकल पडता है। उस वेश्या को भी अपने पाप याद आये, पाप तो उसने प्रत्यक्ष जान बूझकर किये थे, किन्तु भगवन्नाम उच्चारण रूपी महान् पुण्य तो उसने हँसी-हँसी में विनोद के लिये मन प्रसन्न करने के निमित्त तोते को पढाने के निमित्त से किया था। उसका तो उसे ध्यान ही नहीं था, कि यह भी मेरे द्वारा एक महान् कार्य हो रहा है। उसे भले ही स्मरण न हो, किन्तु नामी के ही समान चैतन्य सर्वसमर्थ नाम का प्रभाव तो व्यर्थ जाने का नहीं। इतने में ही कोई वैष्णव सन्त उधर से आ निकले। वेश्या को बुरी प्रकार से बिलबिलाते तडपते देखकर उन्हें दया आ गई। वे कई बार उधर से निकलते थे और उन्होंने उस वेश्या को सुग्गे को रामनाम पढाते उसके साथ रामराम कहते देखा भी था। आज उसकी ऐसी दुर्गति को देखकर दयालु सन्त का हृदय भर आया। वे दौडकर वेश्या की अटारी पर चढ गये और उसे सान्त्वना देते हुए बोले—"देवि! तुम सुग्गे को क्या पढाती थीं। इतना कहकर उन्होंने सुग्गे को [illegible] सामने कर दिया। सुग्गे को देखते ही वेश्या ने कहा—"राम राम राम राम" इतना कहना था कि सुग्गा भी राम राम कहने लगा। तत्काल वेश्या के भी प्राण निकल गये। [illegible] हो गये। [illegible] राम नाम के प्रभाव से तर गये। [illegible] के पार्षद [illegible] विमान पर बिठाकर वैकुण्ठ [illegible] ले गये।

सूतजी कहते हैं—[illegible]

से भी भगवान् का नाम लिया जाय, तो वह कल्याणकारी ही है। ऐसा विष्णुपार्षदों ने यमदूतों से कहा था। यह प्रसङ्ग बड़ा रोचक है। आगे भी मैं इस विषय में सुनाऊँगा।

छप्पय

निज शुककूँ करि प्यार नित्य गनिका पुचकारे।
मन विनोद के निमित राम को नाम उचारे॥
स्वयं कहे हरि नाम और सग ते कहवावे।
शुक मुख ते अति मधुर नाम सुनि हिय हर्षावे॥
मरन समय अघ सुमिरिकें, वेश्या अति व्याकुल भई।
सत चितायो अत हरि, नाम कह्यो हरि पुर गई॥

नामोच्चारण का फल अमोघ है

(३६३)

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥
यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया ।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० २ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

हरि कीर्तन वा श्रवन करें श्रद्धा निनु प्रानी ।
निश्चय तेऊ तरें वेद सन्तनकी बानी ॥
राम विमुख लखि सन्त जीवपै यदि ढुरि जावें ।
निनु इच्छा ऊ लेहिँ नाम तोऊ तरि जावें ॥
कृष्ण नाम भव रोग की, है अव्यर्थ औषध सुगम ।
चाहे जस सेवन करो, निश्चय देगी पद परम ॥

भूल से भी बीज उर्वरा भूमि मे पड़ जायगा तो जम ही जावेगा। भूल से भी कोई विष खा लेगा तो मर ही जावेगा। भूल से भी पैर में काँटा गड़ जाय, तो पीड़ा देगा ही। भूल से

* विष्णु पार्षद यमदूतों से कह रहे हैं—"देखो, भैया ! अज्ञान से किया गया हो अथवा ज्ञान से उत्तम श्लोक भगवान् के नाम का कीर्तन पुरुष के पापों को उसी प्रकार भस्म कर डालता है, जैसे अग्नि ईंधन

भी बच्चा अग्नि को छूले तो जल ही जायगा। क्योंकि जो जिसका गुण है, उसका प्रभाव उसपर पड़ेगा ही। इसी प्रकार भूलकर भी जिसकी जिह्वा से अन्त समय भगवान् के नाम का उच्चारण हो जायगा, वह परम पद का अधिकारी बन ही जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब विष्णुपार्षदों ने यमदूतों को गुण जाने बिना स्वेच्छा से भूल में स्वभावानुसार पूर्व अभ्यासानुसार अन्त समय मे नामोच्चारण होने से सद्-गति की बात कही, तो इसपर यमदूतों ने कहा—"महाराज! हमने यह मान लिया, कि नाम मे अत्यन्त प्रभाव है, हम यह भी मानते हैं, नाम कैसे भी ज्ञान से अज्ञान से लिया जाय गुणकारी होगा ही, किन्तु अजामिल नाम का इतना भारी माहात्म्य तो जानता नहीं था। वह तो अपने पापो को ही स्मरण कर रहा था। अन्त में मनुष्य की जैसी भावना होती है, वैसा ही फल मिलता है। इसकी भावना तो अब तक यही बनी है, कि मैं घोर पापी हूँ। फिर आप इसे हमे क्यो नहीं ले जाने देते।"

इसपर विष्णुपार्षदों ने कहा—"भाई! देखो, भावना की बात यहाँ हम नही कर रहे हैं। यहाँ तो हम नारायण नाम का माहात्म्य बता रहे हैं। मुख से कैसे भी नाम का उच्चारण हो जाय, एक ही भगवान् के नाम में ऐसी शक्ति है, कि वह बड़े से बड़े पापो का तत्क्षण नाश कर देता है। भगवान् के नाम में, कितनी शक्ति है, उसके उच्चारण का क्या फल है, इसे शेष जी भी

को भस्म कर देती है। जिस प्रकार बलवती औषध को उसका गुण बिना जाने भी स्वेच्छा से सेवन कर लेने पर लाभ करती है उसी प्रकार हरिनाम महामन्त्र उच्चारण करने पर अपना फल देगा ही।

अपने श्रीमुख से उच्चारण करने मे समर्थ नहीं।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह फल स्वेच्छा-परेच्छा, भाव-कुभाव कैसे भी नाम लेने से होता है, या आर्त होकर प्रेम से नाम पुकारने मे होता है?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! मैं पीछे बार-बार तो इस बात का उत्तर दे आया हूँ। प्रेम-पूर्वक श्रद्धा से आर्त होकर मानोच्चारण किया जाय, तो उसके फल के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या? अजी, परेच्छा से बलपूर्वक हठपूर्वक कैसे भी नामोच्चारण हो जाय, वही कल्याणकारी है। उच्चारण न भी हो, केवल सुन ही लिया जाय, सो भी स्वेच्छा से नहीं, कोई हठपूर्वक सुना दे, उसका ही इतना फल है, कि ब्रह्मादिक देवता भी उनके फल को नहीं बता सकते। इस विषय मे एक बड़ी प्राचीन रोचक कहानी है, उसे आप ध्यानपूर्वक सुनें। उसके सुनने से आपको नाम श्रवण का महत्व मालूम पड़ जायगा।"

किसी एक नगर मे दो भाई रहते थे। छोटा भाई धर्मात्मा था, साधुसेवी था महात्मो मे श्रद्धा रखता था। दूसरा जो उससे बड़ा भाई था, वह भगवान् नाम से भगवत् कथाओं से विमुख रहता था। महात्माओं का द्वेषी था। जहाँ भी कथापुराण हो, भगवान् नाम कीर्तन हो वहाँ कभी नहीं जाता था। घर मे कथाकीर्तन की बात सुनी कि वह कानों में रूई लगाकर कोठरी मे छिप जाता कि मेरे कानो में ये व्यर्थ की बातें न पड़ जायें उसके इस आचरण से उसका छोटा भाई मन ही मन अत्यन्त दुखी रहता कि मेरे भाई के कौन से पाप उदय हुए हैं जो वह भगवान् से इतना विमुख है। वह मन ही मन भगवान् से उसके

कल्याण के निमित्त प्रार्थना करता। मुनियो! जिसके कल्याण के लिये भक्त इच्छा करता है, उसका कल्याण अवश्य हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि भक्त के हृदय में सदा भगवान् विराजते हैं, उनकी समस्त इच्छाओं की वे स्वयं पूर्ति करते हैं इसलिये कि वे वॉछा-कल्पतरु हैं।

संयोग की बात एक दिन कोई एक बड़े अच्छे सन्त उस नगर में आ गये। सन्त शरीर से भी हृष्ट पुष्ट थे, हृदय भी उनका पवित्र था और परमार्थ पथ में भी वे निष्णात थे। और भी १०।२० सन्त उनके साथ थे, गाजे-बाजे के साथ भगवान् के नामों का कीर्तन करते, नगर भर में उनकी प्रशंसा फैल गई। वह साधु सेवी भाई भी सन्तो की सेवा में पहुँचा। सबकी चरण वन्दना करके वह महन्तजी के गद्दी के समीप बैठ गया। उन कृपालु सन्त ने इधर-उधर की शिष्टाचार की बातें पूछकर उनके सङ्कोच को छुड़ाने के अनन्तर उनके मन की बात पूछी।

भक्त ने कहा—"भगवन्! आप तो अंतर्यामी हैं। सब कुछ जानते हैं, मेरी इच्छा है सन्तो की चरण धूलि मेरे घर में पड़े, और मेरे भाई का भी किसी प्रकार उद्धार हो।"

सन्त ने कहा—"तुम अपने भाई को यहाँ ले आना।"

उसने निराशा के स्वर में कहा—"भगवन्! वे आते ही तो: मैं अब तक क्यों ठहरता। वे तो सन्तों के नाम से कोसों दूर भागते हैं। घर में भी आप पधारेंगे, तो वे सबसे एकान्त की ऊपरी कोठरी में जाकर छिप जायेंगे, जहाँ शब्द भी सुनायी न पड़े।"

यह सुनकर सन्त कुछ विचलित से हुए। वे सोचने लगे। रोगी यदि सम्मुख आवे औषधि खावे तो उसके रोग का निदान

हो, औषधि की व्यवस्था हो, रोग दूर हो, किन्तु जो वैद्य से तथा औषधि से दूर भागता है, उस से सम्पर्क भी रखना नहीं चाहता, ऐसे रोगी के रोग के लिए क्या किया जाय। कुछ देर वे ऐसी ही बातें सोचते रहे। अन्त में उन्हें एक युक्ति सूझी और उस भक्त से बोले—"तुम जाओ, कल तुम्हारे यहाँ सब संतों का महाप्रसाद बनेगा, दोपहर के समय बुलाने आ जाना।"

यह सुनकर भक्त को बड़ी प्रसन्नता हुई। कल संत मेरे घर को अपनी पदधूलि से पावन बनावेंगे। मेरा जीवन सफल हो जायगा। इन्हीं विचारों में उसे रात्रि भर नींद भी नहीं आयी। भोर में उठ कर उसने सब व्यवस्था की, दूध लाया और सब सामान एकत्रित किया। बड़ी शुद्धता-पवित्रता से भगवान् का प्रसाद बनाया गया। दोपहर के समय जब सब सामान तैयार हो गया, तो वह संतों को बुलाने स्वयं गया। सभी संत लम्बे-लम्बे तिलक छापे लगाये बाजे गाजे के साथ हरि नाम संकीर्तन करते हुए चले।

भक्त के भाई को पता चल गया था, कि आज ये बेकार में गृहस्थियों के ऊपर भार बने सड़े-मुसड़े साधु मेरे घरके सामान का अपव्यय करने आवेंगे फिर भी उसने अपने भाई से कुछ कहा नहीं। सोचा—"अपने को क्या? जहाँ आँख मींच ली समझ लिया अपने लिए कोई है ही नहीं। अपने तो इन व्यर्थ की बातों से दूर ही रहेंगे।" यही सोच कर वह उदासीन रहा। दूर से जब उसने बाजों का शब्द सुना, तभी कानों में रुई डाल कर कोठरी बन्द करके तान दुपट्टा सो गया।

संत बड़ी धूम धाम से पधारे। उन्होंने आकर पहिले भगवान् का भोग लगाया। भोग के सुन्दर पद गाये। नाग

किया, पातर परसी जाने लगी। सब संत नारायण नाम का कीर्तन करने लगे। बहुत से आस-पास के दर्शनार्थी नर-नारी भी एकत्रित हो गये थे। प्रसाद परस जाने पर 'हरी हर हुई' सब ने पेट भर कर भगवान् का प्रसाद बड़े प्रेम से पाया। भक्त बार-बार आग्रह कर करके परोसने लगे। संत सिंह की भाँति दहाड़-दहाड़ कर भगवान् का नाम ले लेकर मना करने लगे। "महाराज तनिक खीर और लेलो" तब दोनो हाथों को पत्तल पर रोप कर सिर हिलाते हुए कहते—"सीताराम सीताराम, सीताराम, सीताराम।" इस प्रकार बड़े प्रेम से पंक्ति हुई। भक्त ने सब के हाथ प्रक्षालन कराये, पाद प्रक्षालन किये, मुख शुद्धि के लिये लवँग, इलायची, सौंफ, पुंगी फल आदि पदार्थ दिये। सब संत जैसे आये थे, वैसे ही गाजे बाजे के साथ लौट गये। किन्तु वे उस मंडली के महन्त संत नहीं गये। उन्होंने भक्त से पूछा, 'तुम्हारा वह भगवत् विमुख साधु द्रोही भाई कहाँ है ?'

भक्त ने कहा—"महाराज वह तो ऊपर छिपा हुआ सो रहा है।"

यह सुनकर कृपालु संत ऊपर जाकर छिप गये। उसके भाई ने जब देखा, ये साधु हा हा हू हू मचा कर पेट पूजा करके चले गये, तब वह अपनी कोठरी के बाहर निकला। वह ज्यों ही निकला, सन्त ने कस कर उसका हाथ पकड़ लिया। अब क्या था, संत ने जिसका कस कर हाथ पकड़ लिया, उसका उद्धार हो गया। साधु को देखते ही वह उसी प्रकार चमका, जैसे चमकना बैल छाते को देख कर चमकता है। बड़ी-बड़ी जटाओं और लम्बे लम्बे तिलकों को देखकर वह आग बबूला हो गया। अपना सम्पूर्ण बल लगाकर हाथ छुड़ाते हुए उसने कहा—"छोड़ दो, छोड़ दो, पाखंडी कहीं के, भाग जाओ ? मेरे सामने से। खबरदार मेरे शरीर को फिर छुआ तो। अभी मेरा हाथ छोड़ दो।"

किन्तु सन्त जिसे पकड़ लेते हैं। उसे छोड़ना जानते ही नहीं उन्होंने दृढ़ता के स्वर में कहा—"एक बार भगवान् का नाम ले लो।"

इतना सुनते ही वह कानों की रुई को और भी अधिक ठूँसने लगा, अब तो साधु बाबा ने अपना रूप दिखाया। मल्ल-विद्या में महन्तजी बड़े निपुण थे, अवध के अखाड़ों के खेले हुये थे। उन्होंने दाँव चलाकर ज्यों ही एक झपट्टा मारा, कि बच्चू जी चारों कोना चित्त हो गये। अब तो सन्त उनकी छाती पर चढ़ गये। कानों की रुई निकालकर जोर से कहा—"राम!"

इतना कहकर कह दिया—"देखो, कोई भी तुम्हें इसके बदले में कुछ माँगने को कहें, तो तुम कह देना, जो इसके बदले योग्य वस्तु हो, वही दे दो। मैं तो इसका मूल्य जानता नहीं।"

इतना कहा और सन्त झट से चल दिये। उसने ये सब बातें सुनी तो सही। किन्तु सुनकर भी अनसुनी कर दी, उनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। वह चाहे ध्यान न दे, किन्तु सन्तों के मुख से जो अमोघ भगवन्नाम उसके कानों द्वारा हृदय में गया है वह तो व्यर्थ होने का नहीं। वह तो अपना फल दिखावेगा ही।

सन्त के चले जाने पर कुछ दिनों के पश्चात् उसकी मृत्यु का समय आया। अपने सब पाप उसे याद आये। यमदूत आकर गर्जन-तर्जन करने लगे, डराने-धमकाने लगे। निर्दयता पूर्वक उसे पकड़कर यम पाँस में बाँधकर यमराज के समीप ले गये। जब यमदूतों ने उसे यमराज के आगे उपस्थित किया, तो उन्होंने उस पापी की ओर देखकर एक दूत से कहा—"तनिक मुनीम चित्रगुप्तजी को बुलाना।" दूत दौड़कर मुनीमजी के

गया। अपने स्वामी का आह्वान सुनकर हड़बड़ाते हुए कमर लचकाते, बहियों को बगल में दबाते, कानों में लेखनी लगाये चित्रगुप्तजी आकर उपस्थित हुए। प्रणाम करके हाथ जोड़कर यमराज के सम्मुख खड़े हो गये। यमराज ने देखते ही कहा—"मुनीम जी! इसका खाता खोलकर मुझे बताइये, इसने कौन कौन सा पाप पुण्य किया है।"

इतना सुनना था, कि मुनीमजी वहीं बहियों को पटक कर शीघ्र-शीघ्र पन्ने पलटने लगे। वह पुरुष तो उन कायस्थ देवता की मनोहर मूरत को ही देखकर डर गया था। इतने में ही उन्होंने अपनी लोहे की लेखनी भी हाथ में ले ली। लोहे की तलवार तो कुछ ही लोगों के सिरों को काटने में समर्थ होती है, किन्तु मुनीमजी की लेखनी की बात मत पूछिये। जिस के नाम पर चल गई फिर तो बस, गोविन्दाय नमोनमः ही हो जाता है। पन्ना पलटते-पलटते एक स्थान पर चित्रगुप्त जी रुक गये, और बोले—'धर्मावतार इसका पुण्य वाला खाना तो सफाचट है। जीवन भर इसने पेट पाला है, पाप कमाया है। साधु द्रोह किया है, नास्तिक से बढ़कर और कौन पापी हो सकता है। इसे नरकों के भयङ्कर कुण्डों में फिकवा दो। वहाँ वह अपने किये पापों का असंख्यों वर्षों तक भोग करता रहेगा।"

यमराज ने यह सुनकर कहा—"अच्छी बात है, भेज दो उसे नरकों में, किन्तु देख लो, कोई पुण्य भी किया हो तो उसे नीचे टीप लो। बात यह है, जो बहुत पुण्यात्मा होते हैं, और उनसे कोई एक आध पाप बन जाता है, तो हम लोग पहिले उसके पाप को ही भुगा देते हैं, जिससे फिर वह निष्पाप होकर चिरकाल तक पुण्य ही भोगता रहे। इसी प्रकार जिसके पाप तो बहुत होते हैं, कोई छोटा मोटा पुण्य भी भूल से बन जाता है, तो पहिले उसके उस

पुण्य का फल भुगाकर नरक में भेजते हैं, जिससे सुख के पश्चात् दुख भोगने में उसे और भी अधिक कष्ट का अनुभव हो।"

यह सुनकर चित्रगुप्त जी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि को और भी सूक्ष्म करके, नहीं को ध्यानपूर्वक देखते हुए कहा—"हाँ, हाँ! धर्मावतार एक सन्त की कृपा से अनिच्छापूर्वक इससे एक महान् पुण्य भी बन गया है, इसके कानों में एक बार सन्त के मुख से भगवन्नाम पड गया है। उसके लिये आप जो उचित समझें सुख की व्यवस्था कर दें।"

यह सुनकर यमराज जी के तो कान खडे हुए। वे बड़े प्रेम से उस पापी पुरुष से बोले—"भैया! तुमने एक बार भगवन्नाम का अनिच्छा से श्रवण किया, इसके निमित्त तुम जो भी चाहो माँग लो।"

कहावत है बडों की बातें विपत्ति में ही स्मरण आती हैं, तभी उनका महत्व भी मालूम पडता है। उस पापी को सन्त की बात याद आ गई। उसने नम्रता के साथ कहा—"धर्मावतार! मैं तो मूर्ख हूँ कुछ जानता बूझता नहीं। मैंने तो स्वेच्छा से भगवन्नाम श्रवण किया भी नहीं। कृपालु सन्त ने बलपूर्वक मेरी छाती पर चढ़कर नाम सुना दिया है। अब इसका जो भी फल होता हो, वह आप दे दीजिये।"

यह सुनकर यमराज उसे फुसलाते हुये अत्यन्त प्रेमके स्वर में बोले—"न भैया! इच्छा से सुनो या अनिच्छा से भगवन्नाम श्रवण का फल तो होता ही है। पुण्य तो हुआ ही, उसके बदलेमें तुम जो भी माँगना चाहो माँग लो। सङ्कोच की तो इसमें कोई बात ही नहीं।"

एक साथ यमराज के व्यवहार में ऐसा परिवर्तन देखकर

उस पुरुष को बडा आश्चर्य हुआ, साहस हुआ, आशा भी हुई। विश्वास भी बढने लगा कि मैं अवश्य ही इस विपत्ति से छूट जाऊँगा। उसने साहस के साथ कहा—"महाराज! मुझसे आप क्या पूछते हैं? धर्माधर्म का निर्णय करने वाले तो आप ही हैं। किस पाप का किस पुण्य का क्या फल होगा इसका न्याय आपके अतिरिक्त कौन कर सकता है।

यदि अनिच्छा से भगवन्नाम श्रवण करने का कुछ फल होता हो, तो मुझे मिलना चाहिये।"

यह सुनकर धर्मराज जी कुछ सकपका गये पास में बैठे अपने मन्त्री चित्रगुप्तजी से बोले—"कहो, मन्त्रीजी इसका क्या फल है?"

मन्त्रीजी ने दोनो हाथ हिलाते हुए कहा—"धर्मावतार! इसका फल बताना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। यह मेरा काम भी नहीं है महाराज मैं तो केवल पाप पुण्यों का लेखा भर रख सकता हूँ। इसके द्वारा यह पाप हुआ, वह पुण्य हुआ इतना बता देना ही मेरा काम है। इन पाप पुण्यों के लिये कौन कौन से सुख दुखः दिये जायँ, इसका निर्णय आप ही कर सकते हैं।"

यह सुनकर विवशता के स्वर में यमराज जी ने कहा—"भैया! सच्ची बात तो यह है, कि इसका फल मैं भी नहीं जानता। सम्भव है स्वर्गाधिप इन्द्र जानते होंगे क्योंकि वे सब देवताओं के राजा हैं। चलो, वहीं चलके इसका निर्णय करावे। जब तक मैं लौटकर न आऊँ तब तक ये अर्यम्णा पितर मेरे स्थान पर काम करेंगे। स्थानापन्न यमराज रहेंगे।"

अब क्या था बात की बात में विमान सज गया। उस पापी को प्रेमपूर्वक प्रतिष्ठा के साथ समीप बिठाकर यमराज स्वर्ग-

लोक गये। देवराज की बड़ी भारी सभा लग रही थी। बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, देवता, यक्ष, किन्नर गुह्य, तीर्थ, नद, नदी, वृक्षों आदि के अधिष्ठातृ देव बैठे थे। यमराज को आया हुआ देखकर सबने उनका स्वागत किया। बैठने को आसन दिये। देवराज के बराबर वे दोनों सुन्दर आसन पर बैठ गये। पूजा सत्कार कुशल प्रश्न हो जाने के अनन्तर यमराज ने स्वयं ही कहना आरम्भ किया—"ये जो मेरी बगल में पुण्यात्मा महानुभाव विराजमान हैं, इन्हीं को लेकर मेरे सम्मुख एक धर्म संकट उपस्थित हो गया है। उसी का निर्णय कराने आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। यहाँ हम देवों के आचार्य भगवान् बृहस्पतिजी भी विराजमान हैं और भी बड़े-बड़े ऋषि महर्षि देवता आदि विराजमान हैं। आप सब मिलकर निर्णय करें, कि सन्त के मुख से एक बार भगवन्नाम-श्रवण करने के उपलक्ष में इन्हें कौन सा पद देना चाहिये। किस लोक में भेजना चाहिये।"

यमराज के प्रश्न को सुनते ही चारों ओर काना फूँसी होने लगी। कोई कुछ कहता कोई कुछ। इसपर गम्भीर होकर देव गुरु बृहस्पतिजी बोले—"भैया! सच्ची बात तो यह है, हम लोग इसका निर्णय नहीं कर सकते। हमें स्वयं पता नहीं इस महान् पुण्य के प्रति फल स्वरूप इन्हें क्या दिया जाय। ये जो माँगे वही दे दो।"

इसपर यमराज ने कहा—"महाराज! यदि ये कुछ माँग ही लेते, तब तो झगड़े वाली कोई बात ही नहीं थी। ये महानुभाव तो कहते हैं, इसका जो भी उचित प्रतिफल हो वह मुझे मिलना चाहिये।"

इसपर देवराज इन्द्र ने कहा—"तब भैया! इसका निर्णय तो

उस पुरुष को बड़ा आश्चर्य हुआ, साहस हुआ, आशा भी हुई। विश्वास भी बढ़ने लगा कि मैं अवश्य ही इस विपत्ति से छूट जाऊँगा। उसने साहस के साथ कहा—"महाराज! मुझसे आप क्या पूछते हैं? धर्माधर्म का निर्णय करने वाले तो आप ही हैं। किस पाप का किस पुण्य का क्या फल होगा इसका न्याय आपके अतिरिक्त कौन कर सकता है।

यदि अनिच्छा से भगवन्नाम श्रवण करने का कुछ फल होता हो, तो मुझे मिलना चाहिये।"

यह सुनकर धर्मराज जी कुछ सकपका गये पास में बैठे अपने मन्त्री चित्रगुप्तजी से बोले—"कहो, मन्त्रीजी इसका क्या फल है?"

मन्त्रीजी ने दोनों हाथ हिलाते हुए कहा—"धर्मावतार! इसका फल बताना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। यह मेरा काम भी नहीं है महाराज मैं तो केवल पाप पुण्यों का लेखा भर रख सकता हूँ। इसके द्वारा यह पाप हुआ, वह पुण्य हुआ इतना बता देना ही मेरा काम है। इन पाप पुण्यों के लिये कौन कौन से सुख दुखः दिये जायँ, इसका निर्णय आप ही कर सकते हैं।"

यह सुनकर विवशता के स्वर में यमराज जी ने कहा—"भैया! सच्ची बात तो यह है, कि इसका फल मैं भी नहीं जानता। सम्भव है स्वर्गाधिप इन्द्र जानते होंगे क्योंकि वे सब देवताओं के राजा हैं। चलो, वहीं चलके इसका निर्णय करावें। जब तक मैं लौटकर न आऊँ तब तक ये अर्यम्णा पितर मेरे स्थान पर काम करेंगे। स्थानापन्न यमराज रहेंगे।"

अब क्या था बात की बात में विमान सज गया। उस पापी को प्रेमपूर्वक प्रतिष्ठा के साथ समीप बिठाकर यमराज स्वर्ग-

लोक गये। देवराज की बड़ी भारी सभा लग रही थी। बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, देवता, यक्ष, किन्नर, गुह्य, तीर्थ, नद, नदी, वृक्षों आदि के अधिष्ठातृ देव बैठे थे। यमराज को आया हुआ देखकर सबने उनका स्वागत किया। बैठने को आसन दिये। देवराज के बराबर वे दोनों सुन्दर आसन पर बैठ गये। पूजा सत्कार कुशल प्रश्न हो जाने के अनन्तर यमराज ने स्वयं ही कहना आरम्भ किया—"ये जो मेरी बगल में पुण्यात्मा महानुभाव विराजमान है, इन्हीं को लेकर मेरे सम्मुख एक धर्म संकट उपस्थित हो गया है। उसी का निर्णय कराने आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। यहाँ हम देवों के आचार्य भगवान् बृहस्पतिजी भी विराजमान हैं और भी बड़े-बड़े ऋषि महर्षि देवता आदि विराजमान हैं। आप सब मिलकर निर्णय करें, कि सन्त के मुख से एक बार भगवन्नाम-श्रवण करने के उपलक्ष में इन्हें कौन सा पद देना चाहिये। किस लोक में भेजना चाहिये।"

यमराज के प्रश्न को सुनते ही चारों ओर काना फूँसी होने लगी। कोई कुछ कहता कोई कुछ। इसपर गम्भीर होकर देव गुरु बृहस्पतिजी बोले—"भैया! सच्ची बात तो यह है, हम लोग इसका निर्णय नहीं कर सकते। हमें स्वयं पता नहीं इस महान् पुण्य के प्रति फल स्वरूप इन्हें क्या दिया जाय। ये जो माँगे वही दे दो।"

इसपर यमराज ने कहा—"महाराज! यदि ये कुछ माँग ही लेते, तब तो झगड़े वाली कोई बात ही नहीं थी। ये महानुभाव तो कहते हैं, इसका जो भी उचित प्रतिफल हो वह मुझे मिलना चाहिये।"

इसपर देवराज इन्द्र ने कहा—"तब भैया! इसका निर्णय तो

लोक पितामह ब्रह्माजी ही कर सकते हैं। वे ही धर्म प्रवर्तक हैं, वेद गर्भ हैं, धर्माधर्म का यथार्थ निर्णय करने में वे ही समर्थ हैं। चलो, हम सब लोग भी इसका निर्णय सुनने के लिए चलें।"

बस, फिर क्या पूछना, विमानों की पंक्तियाँ यमराज के विमान के पीछे चलीं। ब्रह्मलोक में पहुँचकर सब लोगों ने लोकपितामह की सभा में प्रवेश किया। सब ने प्रजापति के पाद-पद्मों में प्रणाम किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर यमराज जी ने अपना अभिप्राय आद्यन्त कह सुनाया। एक बार सन्त कृपा से अनिच्छापूर्वक इन्होंने भगवन्नाम सुना है, स्वयं कुछ माँगते नहीं कहते हैं, इसका जो यथार्थ प्रतिफल हो वह न्यायतः मिलना चाहिये।"

सब सुनकर ब्रह्माजी गम्भीरता के साथ बोले—"भैया! देखो सच्ची बात तो यह है, मैं हूँ प्रवृत्ति मार्ग का पक्षपाती। सृष्टि रचना धर्म अधर्म का निर्णय करना यह मेरा काम है। भगवन्नाम के वर्णन तो सभी धर्मों से परे हैं। भगवान् के नाम महत्व भला मैं क्या जान सकता हूँ। हाँ, शिवजी निरन्तर राम राम रटते हैं। जब उन्होंने इसका कुछ महत्व समझा होगा, तो ये राम-राम रटते हैं। चलो, हम भी चलते हैं, उन्हीं से चल कर पूछा जाय।"

सब मिलकर कैलाश पर्वत पर पहुँचे। शिवजी ने सब सुना और बोले—देखो, भाई! नाम का यथार्थ महात्म्य उस उच्चारण के यथार्थ फल के सिवाय नामी श्रीहरि के और कौन जान सकता है। अतः हम सब मिलकर वैकुण्ठलोक भगवान लक्ष्मीनारायण की सेवा में चलें। वे ही इसका निर्णय करेंगे।"

अब वह समुद्रकी लहरों के समान बढती हुई विमानों की भीड वैकुण्ठलोक की ओर चली। भगवान के सम्मुख भी यह अभियोग उपस्थित किया गया. इस पर भगवान कुछ न बोले। उस पुरुष को बुलाकर अपनी गोद मे बिठाते हुए बोले—"देवताओ! तुम अपने अपने लोकों को सुखपूर्वक लौट जाओ।"

इस पर हाथ जोडकर यमराज ने पूछा—'महाराज! जिस कार्य के लिये आये हैं उसका कुछ निर्णय हो जाना चाहिये। इसे हम किस लोक में ले जायँ।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले— भैया! निर्णय हो तो गया। अब कहाँ इसे ले जाओगे। मेरे धाम मे तो जो आ गया, फिर वह लौटकर जाता ही नहीं, अपने नाम लेने और सुनने वाले को मैं भी कुछ देने मे समर्थ नहीं। केवल उसे अपना लेता हूँ, अपनी गोदी मे बिठा लेता हूँ।"

यह सुनते ही सभी देव एक स्वर से कहने लगे—"भक्तवत्सल भगवान् की जय। भगवान और उनके प्यारे भक्तों की जय।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवन्नाम श्रवण की ऐसी महिमा सुनकर सभी देवता प्रसन्न होते हुए अपने अपने लोको को लौट आये।"

विष्णुपार्षद यमदूतो से कह रहे हैं—"दूतो! जब अनिच्छापूर्वक भगवन्नाम श्रवण करने का इतना माहात्म्य है, तो इस अजामिल ने तो आर्तस्वर में स्पष्ट 'नारायण" नाम का कीर्तन किया है। इसे तुम छोड दो, इसे मत ले जाओ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार जब भगवान् के प्रिय पार्षदो ने विशुद्ध भागवत धर्म का निर्णय किया। नारायण

नाम की महिमा बतायी, तो यम के दूतों ने डरकर उस अजामिल को पाश से छोड दिया। उसे प्रणाम किया और अपना-सा मुँह लेकर जैसे आये थे वैसे ही रिक्तहस्त यमलोक को लौट गये।

इधर यमदूतों के पाश से मुक्त हो जाने पर अजामिल को चेतना हुई। सम्मुख उसने दिव्यरूप धारी भगवान् के प्रिय पार्षदों के दर्शन किये। उनके दर्शनों से निर्भय और सावधान होकर अजामिल मारे प्रेम के फूला नहीं समाता था। उसने बडी श्रद्धाभक्ति के सहित उठकर भगवान् के पार्षदों को प्रणाम किया और कृतज्ञता प्रकट करते हुए ज्यों ही उसने कुछ कहने का विचार किया, त्योंही वे सबके सब पार्षद उसी प्रकार अन्तर्धान हो गये, जैसे स्वप्न की सब वस्तुएँ निद्रा खुल जाने पर विलीन हो जाती है। विष्णु पार्षदों को सम्मुख न देखकर अजामिल को बडा दुःख हुआ। वह अपने पापों को स्मरण करके अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगा। राजन्! यथार्थ पश्चात्ताप से बढ़कर दूसरा कोई भी प्रायश्चित्त नहीं। अजामिल ने कैसा हृदयस्पर्शी पश्चात्ताप किया इसे मैं आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

सन्त अनुग्रह करी विमुखकूँ नाम सुनायो।
मरयो अधम जब दूत तुरत यम पुर पहुँचायो॥
नाम श्रवण को पुण्य सुन्यो सब सुर घबराये।
ब्रह्मलोक शिव लोक फेरि सब हरिपुर आये॥
सुनि सब हरिने अकमहँ, प्रेम सहितवाकूँ लयो।
भवबन्धनते मुक्त है, प्रभु पार्षद वह बनि गयो॥

अजामिल का पश्चात्ताप

(३६४)

अजामिलोऽप्यथाकर्ण्य दूतानां यमकृष्णयोः ।
धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैविद्यं च गुणाश्रयम् ॥
भक्तिमान्भगवत्याशु माहात्म्यश्रवणाद्धरेः ।
अनुतापो महानासीत्स्मरतोऽशुभमात्मनः ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० २ अ० २४, २५ श्लो०)

छप्पय

सुनिकें यमके दूत नाम महिमा हुलसाये ।
पास मुक्त सो करयो दौरि सयमनी आये ॥
इत मुनि शुभ सम्वाद नाम की महिमा जानी ।
निज पापनिकूँ सुमिरि अजामिल मन अति ग्लानी ॥
करि पापनिकूँ यादि जो, पछितावे दुख अति करे ।
तिनके अघ सन्ताप प्रभु, जानि हृदय भल-सन हरें ॥

देहधारी ऐसा कोई भी प्राणी नहीं, जिससे कभी पाप न हुआ हो। पाप हो जाना आश्चर्य की बात नहीं है। पाप न होना ही आश्चर्य है। साधारण जीवों को देह की प्राप्ति पुण्य

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अजामिलने भी जब विष्णु-दूतों के मुख से निर्गुण भागवत धर्म तथा यमदूतों के मुख से वेदत्रयी द्वारा कथित गुणाश्रयधर्म सुना, इसी प्रसङ्ग में भगवन्नाम माहात्म्य

पाप दोनों ही से होती है। पुण्यों में प्रवृत्ति तो कम जीवों की होती है, अधिकांश जीवों की प्रवृत्ति पापों में ही होती है। पाप हो जाने पर मन में पीछे यह ध्यान आ जाय कि हाय मुझसे यह पाप हुआ, यह बुरा हुआ। पाप हो जाने के पश्चात् जो आन्तरिक ताप होता है उसे पश्चात्ताप कहते हैं। पाप चाहे शुष्क (अनजान में किया हुआ) हो या आर्द्र (जान में किया हुआ) दोनों ही तीव्र ताप से जल जाते हैं। अतः पापों का सर्वोत्कृष्ट प्रायश्चित्त है पश्चात्ताप। जिसे पाप हो जाने के अनन्तर हार्दिक पश्चात्ताप हो गया मानों उसके सब पाप भस्म हो गये, जल गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अचेतनावस्था में पड़ा पड़ा अजामिल विष्णुदूत और यमदूतों के सम्वादको श्रवण कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता है, भगवान की अनुग्रह ही पार्षदों का रूप रखकर उसे यमदूतों की पाश से छुड़ाने को तथा उसे सदुपदेश देने को प्रादुर्भूत हुई थी। अनजान मे लिये हुये भगवन्नाम का ऐसा माहात्म्य है, इस बात को सुनकर अजामिल के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह बड़ी सावधानी से विष्णु-पार्षदों के मुख से निकले हुए नारायण नाम के माहात्म्य को सुनता रहा। जब भगवद्दूतों की आज्ञा से यम के दूत उसे पाश से विमुक्त करके यमलोक चले गये, तब अजामिल कृतज्ञता के भार से अवनत हुआ। पार्षदों के पादपद्मों मे प्रणत होने को ज्यों ही प्रस्तुत हुआ त्यों ही प्रभुपार्षद भी अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान हो जाने के अनन्तर अजामिल को अपने पूर्वकृत पापों

श्रवण करके उसकी श्रीहरि में भक्ति उत्पन्न हुई। अपने पूर्वकृत पापों को स्मरण करके उसे बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ।"

पर महान् अनुताप हुआ। वह अत्यन्त पश्चात्ताप प्रकट करता हुआ अपने आपको धिक्कारने लगा—"हाय! मैं बडा नीच हूँ, मैं वेदपाठी ब्राह्मण होकर भी अपनी इन्द्रियोंको वश मे नहीं कर सका। मेरे लिये यह कितनी लज्जा की बात है। मेरे वेदाध्ययन, यम, नियम व्रत, अग्नि सुश्रूषा, गुरु सेवा आदि सभी शुभ कर्म व्यर्थ ही हुए, अपने मन को न रोक सका। कहाँ मैं कुलीन ब्राह्मण और कहाँ यह व्यभिचारणी वेश्या?

मेरे पत्नी नहीं थी, सो भी बात नहीं। सुन्दरी पतिप्राणा सतीसाध्वी, युवती, कुलवती धर्मपत्नी मेरे घर मे थी, फिर भी मैंने दासी के गर्भ से पुत्रों को पैदा करके अपने ब्राह्मणपन को खो दिया। मैं सत्पुरुषों के सम्मुख कैसे मुख दिखा सकता हूँ। मुझ नीच, निन्दित, कुल-कलंक पापात्मा, द्विजाधम को बार बार धिक्कार है। देखो, मेरी कैसी बुद्धि मारी गयी। अमृत के घड़े को छोडकर मैंने विष के घड़े को अपनाया। रत्नो की माला छोडकर चमकीले कांचकी माला पर मन डिगाया। सुस्वादु परम भगवत् प्रसाद को छोड़कर दुर्गन्धित सड़े कुत्ते के मांस पर चित्त चलाया। अल्पवयस्का पतिव्रता पत्नी का परित्याग करके सुरापी कुलटा वेश्या का सहवास किया।

पृथ्वीने रो रो कर कहा है—"मै सब के भार को सह सकती हूँ। सबको अपने ऊपर धारण कर सकती हूँ, किन्तु कृतघ्नको धारण करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। मुझसे बड़ा कृतघ्नी इस संसार में और कौन होगा। जिन माता पिता का एकमात्र मैं ही आश्रय था जिन्होंने अपने सम्पूर्ण प्रेम से मेरा पालन पोषण किया। मेरे मल मूत्रको धोया, स्वयं गीले में सोये, मुझे सूखे मे सुलाया। वे मुझसे आशा करते थे, कि वृद्धावस्था में मैं उनकी सेवा करूँगा, किन्तु मैं ऐसा नीच निकला

कि उनके समस्त धनका भी अपहरण किया और निर्धन बनाकर उनका परित्याग भी कर दिया। मेरे पापों की गणना नहीं, उनकी कोई सीमा नहीं। घोर नरकों के अतिरिक्त मेरी कोई अन्य गति नहीं। धर्मघाती पापी पुरुषों को विविध प्रकार की भयंकर यम यातनायें सहनी ही पडती हैं, किन्तु अभी अभी जो मैंने एक अद्भुत अभूतपूर्व दिव्य दृश्य देखा था। वह मेरे मन का भ्रम है, या स्वप्न है। मैं सोया तो नहीं था, जाग्रत में ही ये सब बातें हुई हैं। किन्तु जिन्होंने मुझे भयंकर बन्धन से छुडाया वे सौम्य मूर्ति चतुर्भुज पुरुष कहाँ चले गये? जिन्होंने मुझे कस कर पाश में बाँध लिया था, वे कौन थे। वे तो बड़े भयंकर थे, बलवान् थे। मुझे कितना कष्ट दे रहे थे। सहसा ये जो अति सुन्दर चार सिद्ध गण यहाँ आ गये, उनका दर्शन कैसा अपूर्व था। ऐसे दिव्य दर्शन मुझ जैसे पापी को तो हो नहीं सकते। प्रतीत होता है, मेरे पूर्वजन्मों के किन्हीं महान् पुण्यों का फल उदय हो गया है, जिससे मरणकाल मे इनके मुझे दर्शन हो सके। नहीं तो इस जन्म में तो मैंने पाप ही पाप कमाया है, अपने ब्राह्मणत्व को गँवाया है, व्यभिचार मे मन लगाया है पर धन पर चित्त चलाया है, निरपराध प्राणियों को सताया है। यदि मेरे पूर्व जन्म के महान् पुण्य उदय न हुए होते तो मरण समय मेरी जिह्वासे भगवन्नाम निकल ही नहीं सकता। कार्य को देखकर ही कारण का अनुमान लगाया जाता है। अवश होकर भी जब मेरे मुख से अन्तमें भगवन्नाम निकल गया तो अवश्य ही मेरा अब कल्याण हो जायगा। अब मुझे नरक में जाकर यम यातनायें सहन न करनी पड़ेंगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तुम यह शंका मत करना, कि अजामिल अज्ञानी था। पहिले उसने सब वेद शास्त्रों को

बढ़ा था। उसे इस बात का भी पता था कि नारायण हरि का नाम है। वह यह भी जानता था, कि नारायण नाम मृत्यु के समय में जिसके मुख से निकल जाता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। किन्तु उस समय वह वेश्या के मोह मे ऐसा आसक्त हो गया था, कि उसका यह सभी ज्ञान भूल गया था। अन्त में उसका सम्पूर्ण मोह सबसे छोटे पुत्र नारायण मे चला गया। भगवान् तो कृपा के सागर हैं, उन्होंने सोचा—"कोई मेरी पाषाण की मूर्ति मे प्रेम करता है, कोई काष्ठ, धातु, चित्रमयी मनोमयी मणि-मयी मूर्ति मे अपना मन फँसाता है। इसकी आसक्ति हाड-मांस की बनी मेरी बाल गोपाल रूप नारायणी मूर्ति मे है। इस मिस से निरन्तर मेरे नाम का कीतन करता रहता है। अतः नारायण नाम ने उसके समस्त अशुभों को नाश कर दिया, उसे पावन बना दिया।"

जब विष्णुपार्षदो ने यमदूतों के सम्मुख इसे भगवन्ना-मोच्चारण का माहात्म्य सुनाया तब तो इसकी पूर्व स्मृति जाग्रत हो उठी। तब यह सोचने लगा—"देखो कितने आश्चर्य की बात है, कहाँ मैं महा कपटी, पापी, निर्लज्ज तथा ब्रह्मतेज को नष्ट करने वाला नीच द्विजाधम और कहाँ परम पावन, जगन्मङ्गल, सर्व अशुभघ्न श्री भगवान् नारायण नाम ?" इसमे भगवत् कृपा के अतिरिक्त दूसरा कोई कारण ही नहीं है। मैं अपने पुरुषार्थ से अन्त समय अचेतनावस्था में भगवान् के मङ्गलमय नामों का उच्चारण कभी कर ही नहीं सकता था। अच्छी बात है जब भगवान् ने मेरे ऊपर कृपा ही की है, तब अब आगे से ऐसा प्रमाद कभी भूलकर भी न करूँगा। अब मैं भगवत् कृपा से अपने को पाप पङ्क से पृथक् करूँगा। इस निरयगर्त से अपने आपको निकालूँगा। और श्रेयमार्ग के लिये प्रयत्नशील रहूँगा।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भाँति भाँति से अपने आपको धिक्कारता हुआ वह अजामिल अपने पापों के लिये हृदय से पश्चात्ताप करने लगा।"

छप्पय

बार बार धिक्कार अजामिल देवै मनकूँ।
हाय ! पापमहँ फँस्यो भुलायो ब्राह्मनपनकूँ॥
तजे पिता अरु मातु दु ख जिन सहि सुख दीन्हों।
तजी सती निज नारि मोह वेश्याते कीन्हों॥
करे पाप अति भयानक, करूँ न ऐसे काम अब।
बिगरी मेरी बात तो, किन्तु बनाई नाम सब॥

अजामिल को भगवत् पार्षदपद की प्राप्ति

(३६५)

हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु ।
सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्तिनाम् ॥
म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् ।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० २ अ० ४३, ४९ श्लो०)

छप्पय

यों करि पश्चात्ताप मोह ममता सब त्यागी ।
वेश्या अरु सुत त्यागि राग तजि भये विरागी ॥
हरिद्वारमहँ जाइ योगको आश्रय लीन्हों ।
विषयनितें मुँह मोरि युक्तितें मनवश कीन्हों ॥
दृश्यवर्गतें पृथक् करि, आत्मा ज्ञान स्वरूपमहँ ।
फेरि अजामिल भक्तियुत, भये पारषद रूपमहँ ॥

जीव तभी तक कर्म बन्धनो मे बँधकर इस संसार रूप चौहडवन मे भटकता रहता है, जब तक उसे पूर्वकृत पापो का पश्चात्ताप नहीं होता। जब उसे अपने किये कुकृत्यों के लिये

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! हरिद्वार मे, पुन विष्णु पार्षदों का मरण समय दर्शन पाकर अजामिलने उस तीर्थ में गङ्गा तट पर अपना यह मानुषी रूप त्याग कर तत्काल भगवान् के पार्षदों

पश्चात्ताप हो जाता है, तो उसकी जगत् संसृति नष्ट हो जाती है। वह भगवान् का कृपा प्रसाद प्राप्त कर उनका प्रिय पार्षद बन जाता है। ससार में इन अनित्य नाम रूपों में फँसकर जीव विषयों का पार्षद बना हुआ है, जब इन अनित्य पदार्थों का मोह छोडकर भगवान्के नित्य नाम रूप मे फँस जायगा, उनसे अनुराग करने लगेगा, तो वह प्रभु पार्षद हो जायगा। अपने क्षुद्रपने को त्यागकर वह महान् बन जायगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अजामिल को अब अपने पापों पर अत्यधिक दुःख हुआ। बडी देर तक वह अपने कुकृत्यों का स्मरण करके रोता रहा। मानों उसकी हृदय की कलुषता पानी बनकर नेत्रों द्वारा बाहर निकल रही हो, बह रही हो। अधीर होकर वह करुण-क्रन्दन करता हुआ विलाप करने लगा। अन्त मे उसने धैर्य धारण करके यह निश्चय किया —"अस्तु अब जो होना था, सो हो गया। अब आगे से मैं अपने मन, इन्द्रिय और प्राणों को वश मे करके, ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे मुझे फिर अन्धतम नरकों मे न गिरना पडे। अब मैं अविधी कामना और कर्मादि से उत्पन्न हुए इस कर्म बन्धन को त्यागकर सब प्राणियों से सौहार्द्र स्थापित करके, सबका मित्र, दयालु, शान्त और संयतेन्द्रिय होकर, उस स्त्री रूप भगवान् की माया को दूर से ही डंडौत कर दूँगा। जिसने अब तक मुझे बन्दर बनाकर नचाया है, कलन्दर बनाकर घुमाया

का सा रूप धारण कर लिया। देखिये राजन्! मरते समय केवल पुत्र के उपचार से भगवान् का नाम लेकर अजामिल ने परमधाम को प्राप्त कर लिया, फिर जो श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम कीर्तन करेंगे, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या?"

है और जमूड़ा बनाकर मनमाना कार्य कराया है। अब मैं असद्बुद्धि के जो ये मैं मेरा तू तेरा आदि व्यवहार व्यापार हैं, उन्हें त्यागकर अपनी शुद्ध बुद्धि को भगवान्के नाम कीर्तन में उनके गुणश्रवण में ही निरन्तर लगाये रहूँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! क्षण भरके सत्सग का प्रभाव तो देखिये। अब अजामिल के हृदय में ससार से तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने आज अपना नया जन्म समझा और वास्तव में उसका नया जन्म ही हुआ था। प्रथम उत्तम जन्म तो उसका तब हुआ, जब ब्राह्मणी माता के गर्भ से उत्पन्न होकर ब्राह्मण के घर द्विजों के अनुरूप सस्कारों में पला पोसा था दूसरा अधम पाप जन्म तब हुआ जब उसने वेश्या के ससर्ग से भाँति भाँति के पाप किये, अवैध पुत्र उत्पन्न किये और आज तीसरा शुभाशुभ से भी अपूर्व अतिम जन्म उसका विष्णु पार्षदों के मुख से भगवन्नाम माहात्म्य सुनकर हुआ। यह जन्म अतिम जन्म है। अब इसे फिर कभी ससार मे कर्मवश जन्मना मरना न पड़ेगा।

सावधान होते ही उसने अपना डड कमडल उठाया। वेश्या ने पूछा—"कहाँ चले?"

अजामिलने कहा—'नारायण नारायण।"
उसने कहा—'अजी अभी बहुत दुर्बलता है। जगल को फिर जाइयेगा। अभी तो कई दिन को घर मे सामान है।

अजामिल ने फिर यही कहा—"नारायण नारायण।"

वेश्या ने देखा आज तीर कमान भी नहीं लिया, इनकी चेष्टा भी आज विचित्र है, प्रतीत होता है ज्वर की गरमी चढ़ गई है

है। इसी के उन्माद में बक रहे हैं। इसलिये उसने पूछा—"आप का चित्त ठीक है न ? ज्वर तो नहीं है ?"

अजामिल का कामज्वर तो अब सदा के लिये उतर गया था, उसका विकृत मस्तिष्क अब तो सुधर गया था। उसने "नारायण नारायण" के अतिरिक्त दूसरा कोई उत्तर ही न दिया। वह कान्यकुब्ज देश से गंगा जी का तीर पकड़ कर उस उत्तर दिशा की ओर चल दिया, जिसमें बड़े बड़े चक्रवर्ती अपना राज्यपाट छोड़कर फिर न लौटने के संकल्प से जाया करते हैं। पैदल ही गंगा किनारे किनारे वह पांचाल देश संसप्तक देश आदि में होता हुआ उस स्थान पर पहुँचा जहाँ से भगवती भागीरथी ने अपने पिता हिमालय की गोद से उतर कर पृथ्वी पर पदार्पण किया है। जिसे गंगाद्वार, हरिद्वार, अथवा कुशावर्त क्षेत्र कहते हैं। वहाँ आकर उसने हरि की पौढ़ियों पर स्नान किया। स्नान करते ही उसका अन्तःकरण निर्मल हो गया। एक शान्त एकान्त स्थान मे गंगा किनारे उसने अपनी एक घास फूस की झोपड़ी बनाई और उसमे आसन लगाकर उसने योगाभ्यास करना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकृति में विकृति हो जाने पर ही इन इन्द्रिय, मन, विषय तथा भूतों में आमूल परिवर्तन हो जाता है। यहीं सब पदार्थों को योग द्वारा परब्रह्म मे लीन करा दिया जाय, तो पुरुष माया से रहित, विशुद्ध आनन्दघन, चैतन्य स्वरूप हो जाता है। अजामिल ने उसी प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया। भगवन्नाम का सहारा लेकर नाम संकीर्तन करते हुए, उसने इस पांचभौतिक शरीर का अब विधिपूर्वक अन्त कर देना चाहा।

सर्व प्रथम उसने यम नियमों का अभ्यास करते हुए आसन को दृढ़ किया. फिर प्राणायाम के अभ्यास मे बिखरी हुई चित्त

की वृत्ति को अन्तर्मुख किया। अपनी समस्त इन्द्रियों को उनके उपभोग तत् तद् विषयों से हटाकर उन्हें मन में लीन कर दिया। फिर मन को बुद्धि में लीन कर दिया। फिर अध्यात्म योग के द्वारा आत्मा को शरीरादि दृश्यवर्ग से पृथक् करके उसे ज्ञानमय भगवत्स्वरूप परब्रह्म में लीन कर दिया। इस प्रकार जब उसकी बुद्धि भगवत् स्वरूप मे स्थिर हो गई, तब उसने देखा एक बडा ही दिव्य विमान सर्र-सर्र करके नीचे उतर रहा है। उसमे ४ तेजस्वी महापुरुष विराजमान् हैं। सभी चतुर्भुज हैं। सब के हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं। सभी घुँटनों तक लटकने वाली वनमाला धारण किये हुए हैं। सभी के शरीरो पर पीताम्बर दमक रहा है। उन्हें देखते ही अजामिल समझ गया ये वे ही मेरे गुरुदेव है, जिन्होंने मुझे मृत्यु पाश से छुडाया था। ये मेरे इष्टदेव के प्रिय पार्षद हैं, भगवत्स्वरूप हैं, परम परोपकारी हैं, मुझे पुनः कृतार्थ करने के निमित्त पधारे हैं। ऐसा विचार कर वह शीघ्रता से उठा और भूमि में लोटकर अत्यन्त ही श्रद्धा भक्ति के साथ भगवान् के नामो को लेकर उन्हे साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वह प्रेमाश्रु विमोचन करता हुआ, गद् गद कण्ठ से बार बार कहता था—"नमो नरायण नमो नरायण।"

भगवान् के पार्षदों ने मेघ गम्भीरवाणी मे अत्यन्त स्नेह के साथ कहा—"महाभाग! अब आप वैकुण्ठलोक को पधारिये। जहाँ माया प्रपञ्च की लेश मात्र भी गंध नहीं है।"

इतना सुनते ही अजामिल शीघ्रता से उठा। कुटिया छोड़ कर वह गंगाजी के तट पर आ गया। कमर भर जल मे खड़े होकर उस परम पावन कुशावर्त क्षेत्र मे उसने अपना यह पञ्चभौतिक नश्वर शरीर तत्काल त्याग दिया। तत्क्षण उसका

चतुर्भुज रूप हो गया। जैसे वे विष्णुपार्षद थे, सर्वथा वैसा ही उसका रूप हो गया। उसने विष्णु पार्षदत्व प्राप्त कर लिया। विष्णुपार्षद बनकर वह अजामिल उन पार्षदों के साथ दिव्य सुवर्ण मण्डित विमान पर चढ़कर आकाश मार्ग से उस नित्य वैकुण्ठधाम को चला गया जहाँ श्री लक्ष्मीजी के सहित श्री नारायण सदा विराजमान रहते हैं। भगवन्नाम के प्रभाव से वह भगवान् का परम प्रिय पार्षद बनकर निरन्तर उस लोक में रहने लगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इससे बढ़कर हम भगवन्नाम का और अधिक माहात्म्य क्या कहें? देखिये, जो विशुद्ध ब्राह्मण होकर सुरा पीकर हिंसक बन गया। जिसने अपना कुलागत धर्म छोड़ दिया। वेश्या का पति बनकर जिसने अपने समस्त धर्म कर्मों की तिलाञ्जलि दे दी। अपने निन्दित पापमय कर्मों के कारण जो व्रतहीन और भयङ्कर नरकों में गिराया जाने वाला था, वही द्विजाधम-भगवान् 'नारायण' का नाम लेने से तत्क्षण संसार चक्र से मुक्त हो गया। भगवान् का प्रिय पार्षद बन गया। अब आप ही बताइये इससे बढ़कर सरल, सुगम, सर्वोपयोगी सुन्दर सर्व सुविधाओं से मुक्त सन्मार्ग दूसरा कौन हो सकता है? मुमुक्षु पुरुषों के कर्म बन्धनों को काटने वाला श्रीहरि के नाम संकीर्तन से बढ़कर और कोई भी सरल साधन नहीं है। विशेषकर कलिकाल में तो इसके अतिरिक्त कोई गति ही नहीं है। यह ऐसा साधन है कि चित्त यदि इसमें लग जाय तो फिर वह संसारी कर्मों में आसक्त नहीं होता। फिर उससे पाप बनते नहीं। अतः समस्त पापों का भगवन्नाम सङ्कीर्तन को छोड़ कर दूसरा कोई सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है ही नहीं। यह सभी भव-रोगों की एक मात्र अचूक कभी भी व्यर्थ न होने वाली सर्व

सुगम अमूल्य औषधि है। दूसरे शरीर शोषण सम्बन्धी प्रायश्चित्तों को तो करने पर भी चित्त रजोगुण तमोगुण से ग्रस्त बना ही रहता है, किन्तु इस प्रायश्चित्त के करने से तो प्राणी गुणातीत हो जाता है। अतः राजन्! भगवान् का नाम कीर्तन ही सर्व पापों से सर्व नरकों से, समस्त यातनाओं से बचा सकता है। यह मैंने नाम माहात्म्य के प्रसङ्ग में अत्यन्त ही सक्षेप मे अजामिल का पुण्यमय आख्यान आपको सुनाया। जो इस समस्त आख्यान को श्रद्धा भक्तिपूर्वक सुनेंगे, पढेंगे, उन्हे भी कभी नरकों को न देखना पडेगा। उन लोगों की भी शनैः शनैः! भगवन्नाम कीर्तन में रुचि बढेगी। वे भी अपनी जिह्वा से सर्व पाप प्रशमन नारायण मन्त्र का उच्चारण करेंगे। पहिले चाहे उसके द्वारा कितने भी घोर से घोर पाप हो गये हों, किन्तु जो हरिनाम का आश्रय ग्रहण कर लेता है, वह वैकुण्ठलोक में जाता है और वहाँ विष्णुपार्षदों के द्वारा महामहिमान्वित होता है।

महाराज! भगवन्नाम के समग्र माहात्म्य को कथन करने में कौन समर्थ हो सकता है, आप कैमुत्त्यन्यायेन इसी से अनुमान करले, कि इतना पापी ब्राह्मण केवल मरते समय विकल हो कर पुत्र के मिस से भगवन्नाम लेकर तर गया। तो जो श्रद्धा भक्तिपूर्वक नाम से कीर्तन करेंगे उनकी मुक्ति मे क्या सदेह हो सकता है। इस आख्यान से यह न समझना चाहिये, कि हम स्वेच्छा से पाप करते रहे, भगवन्नाम से सब नष्ट हो ही जायँगे। यह बात नहीं, पापों का पश्चात्ताप होने पर तो फिर शरीर से पाप हो ही नहीं सकते। पिछले पाप उसके भस्म हो जायँगे और अब जो वह नाम संकीर्तन करेगा, उससे उसका चित्त शनैः शनैः शुद्ध होगा, जिससे उसे भगवन्नाम कीर्तन में प्रेम आवेगा। प्रेम उत्पन्न होगा वह प्रेम ही उसे प्रभु के लोक तक पहुँचा देगा। राजन्! यह

मैंने अजामिल की वैकुण्ठलोक की प्राप्ति तक का वर्णन किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इसपर महाराज परीक्षित्ने कहा—"भगवन्! यह तो आपने अत्यन्त ही अद्भुत उपाख्यान सुनाया। नरकों का वर्णन सुनते-सुनते मेरे रोंगटे खड़े हो गये थे, मेरा हृदय धड़क रहा था, बड़ा भारी भय उत्पन्न हो गया था, वह सब भय मेरा भगवन्नाम के माहात्म्यको सुनकर दूर हो गया। अब मुझे विश्वास हो गया कि मनुष्य चाहे तो नरको से सुगमता के साथ बच सकता है क्योंकि इसमे किसी बाह्य उपकरण की अपेक्षा नहीं, मूल्यवान सामग्री के जुटाने का झँझट नहीं। भगवान् के नाम सरल हैं, सुगम हैं, सभी जानते हैं। फिर नाम एक हो सो भी नहीं, उनके अनन्त नाम हैं। कोई गुणों के अनुसार है, कोई कर्मों के अनुसार। जिह्वा अपने घर की है। कहीं से लानी नहीं, फिर भगवन्नाम का नर उच्चारण न करे, उसकी भूल है। जैसे कोई रोगी महाव्याधि से पीड़ित है, उसके पास अमृतोपम अव्यर्थ ओषधि रखी है, किन्तु उसे वह पीता नहीं, उसको जिह्वा से स्पर्श नहीं करता तो उसका रोग कैसेदूर होगा, वह उसी प्रकार यातनाओं को सहता रहेगा। अब महाराज! मैं यह सुनना चाहता हूँ कि उन यम के दूतो का क्या हुआ? विष्णुपार्षदों ने उनकी कुटाई तो अच्छी प्रकार से की थी। धर्मराज की आज्ञा का तो आज तक कभी उल्लंघन हुआ नहीं। काल को तो दुर्निवार बताया है। जब वे दूत खाली हाथ यमराज के पास पहुँचे तब यमराज ने उसे क्या कहा? राजा की आज्ञा का भंग हो जाना उसका अशस्त्रवध बताया गया है। अपनी आज्ञा का पालन न हुआ देख कर धर्मराज को बुरा लगना स्वाभाविक ही है। उन दूतों से उन्होंने कड़ककर पूछा होगा, तब दूतों ने क्या कहा? अपने को

निर्दोष कैसे बताया ? भगवन् ! इसके अतिरिक्त मुझे एक शक और है, यमराज सर्वज्ञ होकर भी यह न समझ सके कि इसकी मृत्यु का समय अभी नहीं है, यह तो वैकुण्ठलोक का अधिकारी है। यह ज्ञान की न्यूनता क्या इतने बडे लोकपाल के लिये संभव हो सकती है ?"

यह सुनकर श्री शुकदेवजी हँस पडे और बोले—"राजन् ! आपके प्रश्न बड़े उत्तम हैं धर्म संगत हैं, मैं इनका उत्तर उपाख्यानों सहित दूँगा। आप इस विषयको एकाग्रचित होकर श्रवण कीजियेगा भला ! चित्त को इधर उधर न जाने दीजियेगा। अच्छा ! समझे न ?"

छप्पय

आयो दिव्य विमान निहारे पार्षद् तेई।
पहिचानें तत्काल नाम दाता गुरु येई॥
पचभूतकी देह त्यागि पार्षद् वपु धारयो।
तब फिर चढयो विमान दिव्य वैकुण्ठ सिधारयो॥
अधम अजामिल हू तरयो, नारायण कहि पुत्र हित।
ते फिर क्यों नहिँ नर तरें, लेहिँ नाम जे शुद्ध चित॥

नीयमानं तवादेशादस्माभिर्यातनागृहान् ।
व्यमोचयन्पातकिनं छित्त्वा पाशान्बलाद्वयम् ॥
तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम् ।
नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्यापयुर्द्रुतम् ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ३ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

सयमनी पति निकट गये यमदूत खिस्याने ।
बिना भावने मार पड़ी सब अग पिराने ॥
हाथ जोरि सब कहैं प्रभो ! तुमई जग स्वामी ।
या तुमतेऊ अपर ईश बड़ अन्तरयामी ॥
लावत हैं हम नरकमहँ, जा पापीकूँ पकरिकें ।
चारि पुरुष आये तहाँ, छुड़वायो अति झिरकिकें ॥

जो कूप मंडूक होते हैं वे कूए के सबसे बड़े मेढक को ही सबसे बड़ा जन्तु समझते हैं। कूए से कभी समुद्र में जाने का

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यमदूतों ने जाकर धर्मराज से निवेदन किया—"महाराज ! हम लोग आपकी आज्ञा से एक पातकी को नरकों की ओर लिये जा रहे थे, कि इतने ही में ही चार दिव्य पुरुषों ने हमारे पाशों को तोड़कर उसे मुक्त कर दिया। सो, हम जानना

उन्हें सुयोग ही प्राप्त नहीं होता। वहाँ यदि वेतिमि, तिमिङ्गिल, तिमिङ्गिलगिल आदि बड़े जीवों को देखें तो उनकी आखें खुल जायँ। किन्तु वे तो वहीं मच्छर आदि छोटे जीवों को खाते हुए अपने बल पौरुष को दिखाते हुए अपने को अप्रतिहत पौरुष वाला समझते रहते हैं। जब कोई बड़ा जीव आकर उन की मरम्मत करता है तब उन्हें ज्ञान होता है, संसार में हमसे बड़े भी जीव हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! आप ने जो यह पूछा कि यमराज तो सर्वज्ञ हैं, क्या वे जानते नहीं थ, कि इस अजामिल की ऐसी दशा होनी है। यदि उन्हें पता था कि यह जीव वैकुण्ठ का अधिकारी है तो उन्होंने पिटवाने के लिये अपने दूतों को क्यों भेजा? यदि उन्हें पता नहीं था तब वे सर्वज्ञ नहीं हुए? सो पहिले मैं आपको इसी प्रश्न का उत्तर देता हूँ। बात यह है कि ज्ञान की भी-सर्वज्ञता की भी-सीमा होता है। मूर्ख से पढ़ा लिखा सर्वज्ञ है, उससे सिद्ध सर्वज्ञ है उससे भी देवता और लोकपाल इनसे भी ब्रह्माजी सर्वज्ञ हैं। उन सर्वज्ञ ब्रह्मा ने भी राजकुमार प्रियव्रत को उपदेश देते हुए स्पष्ट कहा था, कि उन सर्वान्तर्यामी प्रभु की चेष्टाओं को मैं भगवान् रुद्र तथा इन्द्रादि देवता कोई भी पूर्णरूप से समझने में समर्थ नहीं। सभी प्राणियों के पाप पुण्य के विषय में यमराज सर्वज्ञ हैं। सबके पाप पुण्य का स-प्रमाण उनके यहाँ लेखा रहता है। उसी के अनुसार वे प्राणियों को सुख, दुःख, स्वर्ग, नरक देते हैं। किन्तु भगवान् की

चाहते हैं, वे लोग कौन थे यदि आप उचित समझें तो इस रहस्य को बतावें, उस पापी ने "नारायण" इतना ही कहा था। तभी आकर "मत डरो" ऐसा कहते हुए तत्काल वहाँ आकर उपस्थित हो गये।"

कभी किसी कारण से उसी क्षण विशेष कृपा हो जाय इसे लोकपाल भी नहीं जान सकते।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् की कृपा तो वैसे सभी पर समान रूप से होती ही है, किन्तु विशेष कृपा तो विशिष्ट पुण्यात्माओं पर ही होती होगी। पापी तो अपने पापों के कारण भगवान् की कृपा के अधिकारी ही नहीं।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! यह ठीक है भगवान् धर्म मूर्ति हैं, धर्मात्मा उन्हें प्रिय होते हैं। किन्तु उनकी कृपा के अधिकारी धर्मात्मा ही होते हैं, सो नियम नहीं। जिन्हें वे अपने करके वरण करले। इस जन्म में जो पापी दीखता है, सम्भव है वह पूर्वजन्म में परम पुण्यात्मा रहा हो। भगवान् गुणों से ही प्रसन्न होते हैं ऐसा नियम नहीं। यदि शुद्ध आचरण से, पवित्राचार से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं, तो धर्मव्याध तो नित्य मांस बेंचता था। गीध तो अत्यन्त अपवित्र, अत्यन्त निन्दनीय मांसभोजी पक्षी था—"धर्मशास्त्रों में यहाँ तक लिखा है कि जिस घर की छत पर गृद्ध बैठ जाय, उस घर का पुनः संस्कार कराना चाहिये। यदि भगवान् की कृपा के पात्र विद्वान् ही होते हों तो भालू बन्दर कौन सी पाठशाला मे पढ़े थे, गजेन्द्र ने कौन परीक्षा दी थी? इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि भगवान् की कृपा किसी गुण से किसी नियम से बँधी नहीं। किस क्षण किस पर कैसे कृपा हो जाय, इसे विचारे यमदूत तो जान ही क्या सकते हैं उनके स्वामी यमराज भी नहीं जानते। अजामिल का इतिहास तो मुनियो! बहुत प्राचीन है, मैं आपको अभी इसी कलियुग का अत्यन्त ही अर्वाचीन एक सत्य इतिहास सुनाता हूँ, उससे आप समझ जायँगे, कि भगवान् कैसे किस पर अकस्मात् कृपा करते हैं।"

पंचनद देश के अन्तर्गत गुलेर नाम का एक छोटा-सा राज्य है। वहाँ पर एक बड़े धार्मिक परम भागवत राजा थे। उनके समीप में एक नौकर था। उसकी धर्म में तो ऐसी विशेष रुचि नहीं थी किन्तु वह स्वामिभक्त था, उसे राजा की आज्ञा पालन करने में अपराधियों को पकड़कर लाने में, राजा की आज्ञा से दंड देने में बड़ा आनन्द आता था। स्वभाव का भी वह उग्र था, राजा का उसके प्रति सहज अनुराग था। वह राजा के कृपापात्र सेवकों में माना जाता था। कुछ काल में उसकी मृत्यु हो गई।

एक दिन राजा ने क्या देखा कि वही नौकर एक छाया की मूर्ति की भाँति राजा के सम्मुख खड़ा है पहिले तो राजा को बड़ा सन्देह हुआ पीछे साहस करके उन्होंने उसका नाम लेकर पुकारा। उसने राजा को प्रणाम करके उत्तर दिया। राजा ने पूछा—"भाई, तुम तो मर गये थे तुम यहाँ कैसे आ गये।"

उसने कहा—"महाराज! अवश्य ही मेरी मृत्यु हो गयी थी। मर कर मैं यमराज का दूत बनाया गया हूँ। अब मैं जिनका समय पूरा हो जाता है, उन पापियों को पकड़कर यमराज के समीप ले जाता हूँ। मेरे साथ और भी दो हैं। मैं आपके स्नेह वश दर्शन करने चला आया।"

राजा को बड़ा कुतूहल हुआ और बोले—"यहाँ तुम किसे पकड़ने आये हो?"

उसने कहा—"महाराज! अमुक जो ठाकुर है, वह बड़ा क्रूर द्वेषी है, उसे ही हम पकड़कर ले जायेंगे। वह ठाकुर राजा के समीप ही रहता था। कल राजा ने उसे स्वस्थ देखा था। अतः उन्हें उसकी बात पर कुछ विश्वास नहीं हुआ और बोले—"अच्छी बात है, जब तुम उसे लेकर जाने लगो, तब भी मुझसे अवश्य मिलते जाना।"

उसने विनीत भाव से कहा—"बहुत अच्छी बात है, जैसी महाराज की आज्ञा।" इतना कहकर वह वहीं अन्तर्धान हो गया।

कुछ समय के पश्चात् वह फिर आया। राजा ने पूछा—"तुम लोग क्या, उसे लिये जा रहे हो ?"

उस दूत ने कहा—"महाराज ! वह हमारे हाथ नहीं लगा।"

राजाने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्यों क्या बात हुई ! उसे तुम क्यों नहीं पकड़ सके ?"

दूतने कहा—"महाराज ! आज ही वह अपनी घोड़ी पर चढ़कर खेत को जा रहा था। जिस क्षण उसकी मृत्यु का काल आया वह दौड़ती हुई घोड़ी से पृथ्वी पर गिर पड़ा। गिरते ही उसके प्राण निकल गये। संयोग की बात जहाँ वह गिरा उस पृथ्वी के एक बिलस्थि नीचे भगवान् शालग्राम की दिव्य मूर्ति थी जिसकी शालग्राम शिला के ऊपर मृत्यु हुई हो, उसका स्पर्श हम कैसे कर सकते हैं, अतः उसे विष्णु दूत ले गये हम लौटे जा रहे है।"

यह सुनकर राजा को और भी कुतूहल हुआ। वे उसी क्षण अपने मन्त्रियों को साथ लेकर उस स्थान पर गये। बात सच थी, वह घोड़ी पर चढ़कर गया था और वहाँ मरा पड़ा था। राजा ने उसी क्षण उस भूमि को खुदवाया। उसमें थोड़ी दूर पर ही एक सुन्दर शालग्राम की मनोहर मूर्ति निकली। राजाने उसे बड़ी श्रद्धा से स्थापित कर दिया। गुलेर राजभवन में अद्यावधि वह मूर्ति विराजमान है। यह कहानी नहीं प्रत्यक्ष घटना है। सो मुनियो ! किस समय किसका कैसा संयोग जुट जाय इसे श्रीहरि ही जान सकते हैं। अजामिल पर भगवान् क्यों रीझ

गये, क्यों मृत्यु के समय उसके मुख से भगवान् का नाम निकल गया इसे भगवत् कृपा के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—'हाँ, सूतजी ! आप सत्य कह रहे हैं। भगवत् कृपाके सम्बन्ध में कुछ निश्चित् कहा नहीं जा सकता। इसे भगवान् के अतिरिक्त कोई जान नहीं सकता। अब आप आगे का वृत्तान्त सुनाइये।" इसपर सूतजी बोले—"महाभाग ! सुनिये, जिस प्रकार मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से राजा परीक्षित् ने आगे का वृत्तान्त पूछा था। उसे ही मैं आपसे कहता हू।

राजा परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी से पूछा—"भगवन् ! जिन देवश्रेष्ठ धर्मराज के आधीन यह सम्पूर्ण ससार है, जब उनकी आज्ञा का इस प्रकार उल्लघन हुआ तथा उनके दूतो को विष्णुपार्षदों ने बुरी तरह खदेडा तो इसपर उन्होंने अपने दूतो से क्या कहा ? उन्होंने विष्णुदूतों पर भगवान् के न्यायालय में मानहानिका या शाति भगका अभियोग तो नहीं चलाया ? भगवन् ! मुझे इस घटना से बडा आश्चर्य हो रहा है। यमराज का आज्ञा का उल्लघन हो, ऐसी बात तो पहिले कभी सुनने मे आयी नहीं। आप ही महाराज ! मेरी इस शका का सरलता के साथ समाधान करने में समर्थ हैं क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् शुक कहने लगे—"राजन् ! सुनिये। जब यमदूत विष्णुपार्षदों द्वारा बुरी भाँति खदेडे और पीटे गये, तो वे सब ओठ लटकाये बुरा मुँह बनाये उदास मन से यमराज से पूछने लगे—"प्रभो ! हम यह जानना चाहते हैं, कि प्राणियों के पुण्य पाप तथा मिश्रित सभी प्रकार के कर्मों का फल देनेवाले शासक निश्चित रूप से कितने हैं ?"

यमराज अपने दूतों के मुख से अकस्मात् ऐसा प्रश्न सुनकर चक्कर में पड गये। ये लोग आज विचित्र प्रश्न पूछ रहे हैं। ऐसा प्रश्न तो इन्होंने अब से पूर्व कभी पूछा नहीं था।"

यमराज ने आश्चर्य की मुद्रा में पूछा—"क्यों, क्या बात है? तुम्हारे इस प्रश्न का अभिप्राय क्या है?"

यमदूतों ने नम्रता के साथ कहा—"महाराज! अभिप्राय इतना ही है, कि जब एक स्वामी होता है, तभी न्याय ठीक होता है। यदि बहुत से स्वामी हुए, तो एक ने किसी को दंड देने को पकडा दूसरे ने दया करके छोड दिया, तब तो बहुत से लोग अपराध करके भी दन्ड से बच जायँगे बहुत से बिना अपराध के ही पकडे जायँगे, अपराध में फँस जायँगे। फिर किसको सुख दुःख प्राप्त कराने चाहिये, किसको न कराने चाहिए निर्णय कौन करेगा?"

यमराज ने कहा—"भाई, पाप पुण्य करनेवाले प्राणी बहुत हैं, एक से न्याय न हो सके तो बहुत से न्यायाधीश नियुक्त हो जाते हैं, इसलिये वह नियम नहीं है कि शासक अने न हों एक ही हो। एक से अधिक भी शासक हो सकते हैं?"

यमदूतों ने कहा—"महाराज! शासक अधिक भले ही हों किन्तु वे सब मनमानी तो नहीं कर सकते। उन सब को भी प्रधान शासक के अधीन रहना पडता है। अतः वे शासन में स्वतन्त्र नहीं माने जाते। जैसे माण्डलिक राजा तो बहुत होते हैं, किन्तु उन सबका सम्राट् तो एक ही होता है। हम तक यही समझते थे कि ससार में जितने भी छोटे मोटे हैं उन सब शासकों के प्रधान शासक चराचर जीवों के शुभा शुभ का निर्णय करनेवाले दन्डधर स्वामी आप ही हैं।"

हँसकर धर्मराज ने कहा—"अब तक तो यह समझते थे, अब क्या समझते हो ?"

यमदूत बोले—"महाराज ! अब तो हमें कुछ सन्देह-सा होने लगा। तभी तो आज ऐसा प्रश्न किया। आज से पूर्व तो हमने कभी यह सन्देह किया ही नहीं था। आज एक ऐसी ही घटना घटित हो गयी।"

यमराज ने पूछा—"वह क्या ? ऐसी कौन-सी घटना घटित हुई ?"

यमदूत बोले—"महाराज ! क्या बतावें ? आज हम एक पापी को आपकी आज्ञानुसार बाँधकर नरक ला रहे थे, इतने में चार अद्भुत दिव्य पुरुषों ने अत्यन्त शीघ्र आकर उसे बलपूर्वक हमसे छुड़ा लिया और ऐसी मार दी, कि प्रभो ! छठी तक का दूध याद आ गया। यदि ऐसी मार एक-आध बार और भी पड़ गयी, तो हमारा तो चूर्ण हो जायगा। अतः महाराज ! यह लें अपना पाश और स्वीकार करें हमारा त्यागपत्र, ऐसी नौकरी हमसे न होगी।"

यमराज ने कहा—"भाई ! बात तो बताओ। यों बिना बात के तुमसे छुड़ाने का साहस कौन कर सकता है ? उसने मरते समय कुछ कहा था क्या ?"

यमदूतों ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"अजी, महाराज ! वह कहता क्या पत्थर ! उसे स्वयं चेतना नहीं थी, अपने पापों को स्मरण करके वह स्वयं अत्यन्त भयभीत संज्ञाशून्य बना हुआ था। केवल नारायण नारायण ऐसा पुकार रहा था" बस, इतने में चारों जैसे चील्हे मास के टुकड़ों पर टूटती हैं, वैसे वे एक साथ टूट पड़े और उच्चस्वर से बोले—"डरो मत, डरो मत। निर्भय हो जाओ।" महाराज ! हम तो हक्के-बक्के से रह गये।

देखिये हमारी हड्डी पसली सब चूर कर दी है। सो नाथ! हमें बतावे वे अद्भुत पुरुष कौन थे, किसके दूत थे, 'नारायण' शब्द सुनते ही वे कहाँ से आ गये? और उन्होंने उस पापी को हमसे बलपूर्वक क्यों छुड़ा लिया?"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना सुनते ही [illegible] की आँखों में प्रेम के अश्रु आ गये। नारायण नाम के श्रवण मात्र से ही उनका अङ्ग अङ्ग पुलकित हो उठा। वे [illegible] कमलों का ध्यान करते हुए, प्रेम के अश्रुओं को पोंछते हुए, दू[illegible] के प्रश्नों का उत्तर देने के निमित्त प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

शंख चक्र वनमाल गदाभृत सेवक किनके।
काके हैं वे दूत कौन स्वामी हैं तिनके॥
सबके शासक आप जीव प्राननि के हर्ता।
शासनसब को करें, शुभाशुभ निर्णय कर्ता॥
इतने पै ऊ आप की, आज्ञा उल्लघन भई।
बिना बात के बीच में, हमरी दुर्गति है गई॥

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च,
श्रोत प्रोतं पटवद् यत्र विश्वम् ।
यदशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा,
नस्योतवद्यस्य वशे च लोकः ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० ३ अ० १० श्लो०)

छप्पय

'नारायण' है मन्त्र जन्त्र वा जादू टौना ।
काहू नर ने मृत्यु समय जिह नाम कह्यो ना ॥
सुनि नारायन नाम भयो तन पुलकित यम को ।
प्रेम मग्न ह्वै कर्यो ध्यान भगवत् चरननि को ॥
जलद सरिस अति विमलवर, जो हरि नित्य नवीन हैं ।
शिव विरञ्चि इन्द्रादि हम, तिनके नित्य अधीन हैं ॥

अपने प्रियतम के गुणगान का किसी प्रकार भी अवसर प्राप्त हो जाय, प्रेमी उसी से प्रसन्न हो जाता है और प्रेमास्पद के सम्बन्ध मे अपने उद्गारों को उगलने लगता है। ससार मे

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने दूतो के प्रश्नों को सुनकरके यमराज कहने लगे—"दूतो ! मेरे अतिरिक्त इस स्थावर जगमजगत् के एक और भी अधीश्वर हैं, जिनमे यह विश्व उसी प्रकार ओत प्रोत

जितनी भी सुनने में प्यारी वार्तायें हैं, उन सबसे प्रिय प्रेमास्पद की कथा हैं। संसार मे जितनी भी गाने योग्य वस्तु हैं उन सबमें सुखद सुन्दर और अन्तःकरण को तन्मय बना देनेवाली अपने इष्टदेव की प्रेमास्पद की गौरव युक्त गुणगाथायें हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मालूम पड़ता है, यमराज के दूत नये ही नये थे। और प्रतीत होता है वे भगवत्तत्व से अनभिज्ञ भी थे। आज उनके मुख से नारायण की महिमा सम्बन्धी बातें सुनकर यमराज अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। भगवान् का सुमधुर त्रैलोक्यपावन नारायण नाम सुनकर उनका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो उठा। प्रेम के आवेग मे वे विकल से होगये। फिर कुछ देर मे प्रेम का वेग शान्त होने पर वे दूतो से कहने लगे—"अरे, दूतो! तुम मुझे ही सब कुछ समझते थे क्या? यह ऐसा समझना तुम्हारा भ्रम है। मै इस चराचर जगत् का स्वामी नहीं हूँ। इस जगत् की सृष्टि लोकपितामह ब्रह्माजी करते हैं, अतः सृजन के स्वामी वे ही हैं। समस्त चराचर विश्व का पालन श्रीविष्णु भगवान् करते हैं, अतः वे पालन के पति हैं। अन्त मे सबका संहार त्रिनेत्र रुद्र करते हैं, अतः वे संहार के ईश हैं। ये तीनों भी जिनके अंशोंसे उत्पन्न हुए हैं, वे अंशी ही श्री नारायण हैं। वे ही उसके स्वामी हैं, सबके गति हैं। वे ही गुरुओं के गुरु हैं, वे ही सब शासकों के सम्राट् हैं। उन्हीं का आदेश पालन करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य गणों

है, जिस प्रकार वस्त्र में ताने बाने का सूत ओत-प्रोत है, जिनके अंशों से ही जगत् के जीवों के जन्म, उनकी स्थिति और विनाश होते रहते हैं। यह सम्पूर्ण लोक उनके इसी प्रकार अधीन है जैसे नैल नाथ के अधीन होता है।"

के पति हैं। वे विश्व में उसी प्रकार ओत प्रोत है जैसे घट में मिट्टी, कुंडल में सुवर्ण, वस्त्र में सूत तथा शक्कर के खिलौनों में शक्कर ओतप्रोत है। वे सर्वेश्वर ही सम्पूर्ण प्राणियों को घुमा रहे हैं।"

दूतों ने पूछा—महाराज! वे कैसे घुमा रहे हैं?

शीघ्रता के साथ यमराज ने कहा—वे कैसे घुमा रहे हैं, यह भी कोई प्रश्न है। कलंदर बंदर को कैसे नचाता है। हाथीवान् हाथी को कैसे घुमाता है। ऊँट वाला ऊँट की नाक में नकेल डाल कर जैसे जहाँ चाहता है ले जाता है। किसान बैलों को नाथ कर जैसे मनमाने ढंग से चलाता है। उसी प्रकार वर्णाश्रम रूप नामों से वेद रूप रस्सी में बाँधकर नारायण रूप स्वामी जीवों को जैसे चाहता है वैसे ही घुमाता है। सभी प्राणी विवश होकर उसी के संकेत पर नाच रहे हैं। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई तिलभर भी इधर उधर नहीं चल सकता।

दूतों ने आश्चर्य से पूछा—"तो क्या आप उन्हीं की आज्ञा से जीवों को पकड़ पकड़कर मँगाते रहते हैं। आप भी स्वतन्त्र नहीं हैं?"

यमराज ने बातपर बल देते हुए कहा—"अरे, मैं क्या भैया! जितने ये इन्द्र, वरुण, कुबेर, निर्ऋति, अग्नि, शिव, वायु, चन्द्र, सूर्य, ब्रह्मा, द्वादशआदित्य, विश्वेदेव, वसुगण, मरुद्गण, साध्यगण, सिद्धगण, तथा रुद्रदेव के गण हैं, इनके अतिरिक्त तमोगुण से रहित भृगु आदि महर्षि प्रजापति वैवस्वत आदि मनु तथा सत्य प्रधान देवता गण कोई भी उनकी लीला का कुछ भी मर्म नहीं जानता, वे ही सब के स्वामी हैं।"

दूतों ने पूछा—"प्रभो! वे कहाँ रहते हैं और उनके दर्शन कैसे हो सकते हैं?"

यमराज हँसकर बोले—"अरे, भैया! उनका कोई एक स्थान थोड़े ही है, वे तो सर्वव्यापक हैं सर्वज्ञ हैं। वे प्राणि-मात्र के अन्तःकरण में साक्षी रूप से स्थित हैं। जीव उन्हें इन्द्रिय, मन, प्राण, हृदय, अथवा वाणी आदि किसी के द्वारा भी जानने में समर्थ नहीं हो सकते।"

दूतों ने पूछा—"भगवन्! जब सब प्राणी उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशवान् हैं, तो जीव उन्हें क्यों नहीं देख सकता?"

यमराज बोले—"अरे, भैया! यह तो मोटी बात है। अति दूर या अति समीप की वस्तु दिखाई नहीं देती। प्रयाग से हम वाराणसी में क्या हो रहा है, इसे सूर्य और चक्षु के रहते हुए भी नहीं देख सकते। जिन नेत्रों से सब को देखते हैं उन्हीं में लगे काजल को नेत्र नहीं देख सकते। और तो जाने दो, जिस चक्षु इन्द्रिय द्वारा सब को प्रत्यक्ष देखते हैं, उस अपने प्रकाशक चक्षु इन्द्रिय से रूपवान् पदार्थ नहीं देख सकते हैं। उसी प्रकार सब के अन्तःकरण में स्थित रहने पर भी वे मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं देते।

दूतों ने कहा—"तो भगवन्! वे एक हैं या अनेक? हमारे सम्मुख तो वे परम मनोहर अत्यन्त रूपवान् सर्वगुण सम्पन्न तथा सुन्दर स्वभाव वाले ४ महापुरुष प्रकट हुए थे। वे सब नारायण थे या उनमें से कोई एक थे अथवा उन चारों से विलक्षण कोई अन्य नारायण हैं?"

हँस कर यमराज ने कहा—"अरे, पगलो! वे तो श्री मन्नारायण के पार्षद थे। वे लोग भी भगवान् के ही समान चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म को धारण करने वाले, वनमाला पहिननेवाले, पीताम्बर ओढ़ने वाले तथा दिव्य विमानों में विहार करने वाले होते हैं।"

दूतों ने पूछा—"महाराज, जब हम वहाँ गये थे, तब तो वे लोग वहाँ थे नहीं। ज्योंही हम उस पापी को बाँधकर ले चलना चाहते थे, त्योंही "नारायण" इन चार शब्दों को सुनते ही वे सहसा आ कहाँ से गये?

यमराज ने हँस कर कहा—"भैया! उनका आना जाना क्या, वे तो सदा सर्वदा इसी प्रकार संसार में घूमते ही रहते हैं, चक्कर लगाते रहते हैं?"

यमदूतों ने पूछा—"प्रभो! इस प्रकार विश्व में भ्रमण करने का उनका कारण क्या है?"

यमराज बोले—'देखो भैया! वे इस बात को देखते रहते हैं कि विष्णु भक्त को कोई सता तो नहीं रहा है, वैष्णव को कोई क्लेश तो नहीं दे रहा है। वे देववन्दित दुर्दर्श स्वरूप परम अद्भुत विष्णुदूत भगवद्भक्त मनुष्यों को उनके पर पक्षियों से, मुझसे, अग्नि आदि मारक वस्तुओं से सर्वत्र सुरक्षित रखते हैं।

दूतों ने पूछा—"उन भगवान् को हम इन्द्रिय आदि के द्वारा देख नहीं सकते तो फिर उनके गुणकर्म को आज तक किसी ने किसी अन्य साधन से जाना भी है?"

इस पर यमराज बोले—"उनके विषय में निश्चित रूप से कोई कुछ भी कहने में समर्थ नहीं। ऋषि, देवता, सिद्धगण ये सब सत्व प्रधान ज्ञानी पुरुष भी उनके विषय में "ऐसा ही है" इस बात को दृढ़ता के साथ नहीं कह सकते, तो फिर तमोगुण प्रधान असुर, राक्षस, दैत्य, दानव, गुह्यक चारण, विद्याधर तथा मनुष्य आदि तो कह ही क्या सकेंगे।"

यमदूतों ने कहा—"तब तो प्रभो! आज तक संसार में कोई उस परम गुह्य परम दुरूह दुर्बोध भागवत धर्म कह

ज्ञाता ही न हुआ होगा ?' किसी ने उसे जब जाना ही नहीं, तो उसके विषय में क्या कहे और कैसे प्रयत्न करे ?

यमराज जी ने दृढ़ता के साथ कहा—क्यों जाना क्यों नहीं ? पूर्ण रूप से न सही, तो भी इस धर्म के ज्ञाता कुछ लोग हैं १२ के नाम तो मैं ही जानता हूं, जो इस धर्म के जानने वाले परम भागवत पवित्र वैष्णव है ।

यमदूतो ने पूछा—"महाराज ! यदि हम इसके सुनने के अधिकारी हों और कोई परम गोपनीय बात न हो तो हम सुनना चाहते है, वे १२ भागवत धर्म के ज्ञाता कौन कौन हैं ? उनके नाम हमें बता दे ?"

यमराज बोले—देखो, लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा, वीणा धारी देवर्षि नारद राम नाम के अनन्य उपासक श्री शिवजी ऊर्धरेता माया प्रपंच से सर्वदा विमुक्त सनत् कुमार, ज्ञानावतार भगवान् कपिल आदिराज भगवान् स्वयंभूमनु, भक्ताग्रगण्य असुर वंशावतंस श्री प्रह्लादजी जीवन मुक्त राजर्षि जनक, बालब्रह्मचारी गंगापुत्र भरतवंश के केतु श्री भीष्म पितामह, और अवधूत शिरोमणि परमहंसावतंस श्री-शुकदेव जी ये इस धर्म के ज्ञाता हैं, और १२वाँ मुझे भी समझ लो ।"

यमदूतो ने पूछा—"तो प्रभो ! आप भी वैष्णव हैं ?"

यमराज ने कहा—"कैसे कहूँ भैया ! मैं वैष्णव हूँ, किन्तु श्री विष्णु भगवान् मेरे उपास्यदेव हैं, अतः मुझे भी लोग वैष्णव कहते हैं ।"

दूतों ने कहा—"प्रभो ! वैष्णव तो कभी किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते । आप तो रात्रि दिन जीवों को मरवाते ही रहते हैं

फिर यदि आप वैष्णव हैं, तो आपकी मुक्ति क्यों नहीं हुई? आप इस मार काट मे क्यों फँसे हुए हैं?'

इस पर गभीर होकर यमराज बोले—'देखो, भैया! वैष्णव अपने लिए कुछ नहीं करता। वह जो करता है, भगवत् सेवा समझ कर करता है। भगवान उसे जिस कार्य मे भी नियुक्त करदे, उसे ही उनकी सेवा समझ कर श्रद्धा से करता रहता है। रही मुक्ति की बात, सो वैष्णव तो बँधा ही नहीं। मुक्ति तो वह चाहे, जो बँधा हुआ हो। यह विश्वब्रह्माड उन्हीं श्रीमन्नारायण का लीला विलास है भगवान अपने भक्त को जहाँ रखना चाहे भक्त वहीं प्रसन्नता से रहता है। उनकी आज्ञा का पालन करना ही अपना परम धर्म समझता है।

यमदूतो ने कहा—"महाराज! हमे भी कुछ भागवतधर्म का यत्किंचित मर्म समझा दे।"

इस पर यमराज ने कहा—"भैया! इस लोक मे भगवान् के नामोच्चारण आदि के सहित किया हुआ भक्ति योग ही मनुष्यों का सबसे प्रधान धर्म माना गया है। तुम्हे अधिक बताने की आवश्यकता नहीं, तुमने अपनी आखोंसे आज प्रत्यक्ष ही देख लिया कि कितना पापी अजामिल नामोच्चारण के कारण मृत्यु पास से विमुक्त हो कर परम पावन और पूजनीय बन गया। इसलिये समस्त पापों को समूल नाश करने के निमित्त भगवान् के गुण कर्म सम्बन्धी नामो का कीर्तन करना ही पर्याप्त साधन है। इससे बढकर न कोई धर्म है, न पापो का सर्वोत्कृष्ट अमोघ दूसरा कोई इसके अतिरिक्त प्रायश्चित्त है। इसलिये जिसे भगवत् धर्म में दीक्षित होना हो, उसे सब प्रयत्नो से भगवान् का नाम कीर्तन करना चाहिए। नाम कीर्तन मे जो विघ्न करे, वह कितना भी प्यारा क्यो न हो, उसे ही परित्याग कर देना चाहिए। जिस

स्थान में भगवन्नाम संकीर्तन मे बाधा हो वह स्थान कितना भी सुविधापूर्ण क्यों न हो उसे छोड़ देना चाहिये। जो नाम संकीर्तन मे सहायक न हो उन सम्बन्धियों से कोई सम्बन्ध न रखना चाहिए। नाम ही कर्तव्य हो नाम ही जीवन का आधार हो, कृष्ण कीर्तन ही अपना प्रधान आहार हो, नाम संकीर्तन ही अपना सर्वस्व हो। भगवान् को छोड़ कर अन्य शब्दो का उच्चारण करना ही उचित नहीं। यही भागवत धर्म है। भगवान् के नामो का कीर्तन करना उनकी सरस मधुमय कथाओ का नित्य नियम से श्रवण करना। उन्हीं को अपना सब सौंप देना यही परम धर्म है। यही प्राणिमात्रका प्रधान कर्तव्य है।

इस पर यमदूतों ने कहा—"महाराज! जब भगवन्नाम का इतना भारी माहात्म्य है, तो इतने बड़े बड़े ऋषि महर्षि नाम संकीतन को इतना अधिक आदर न देकर बड़े बड़े यज्ञ यागो मे क्यों फँसे रहे? क्यो उन्होंने अनेक पापों के अनेक कठिन कठिन प्रायश्चित्त बताये हैं?"

यमराज ने उदासीनता के साथ कहा—"अब भैया! बड़ो की बड़ी बाते हैं। इस विषय में हम कह ही क्या सकते हैं। इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं, उन प्रायश्चित्त विधान करने वाले महाजनो की बुद्धि भगवान् की दुरूह माया से मोहित हो गयी होगी। या यह भी सम्भव हो सकता है कि भगवन्नाम संकीर्तन के इतने बड़े माहात्म्य से अपरिचित रहे हों। इसीलिये तो उन्होंने स्वर्गादि नाशवान् फलों की बड़ाई करने वाले आपातरमणीय पुष्पस्थानीय वेद वाक्यों में चित्त फँस जाने के कारण ही भगवन्नाम संकीर्तन को छोड़कर बड़े-बड़े यज्ञ याज्ञादि क्लेश से होने वाले कर्मों में फंसे रहे। इसलिये भैया! मैं तो कहता हूँ भगवन्नाम संकीर्तन को छोड़कर भगवान् की प्राप्ति

का इतना सरल सुगम दूसरा कोई साधन नहीं।
वैसे तो भगवन्नाम संकीर्तन का सभी युगों में समान माहात्म्य है, किन्तु कलियुग में तो ऐसा कोई सर्वोपयोगी साधन और है ही नहीं। इसलिये जो भगवान् के नाम का कीर्तन करता है, वह मेरे शासन से बाहर का पुरुष है। वह मेरे स्वामी का सम्बन्धी है। उसके पास तुम लोग कभी भूलकर भी मत जाना।

यमदूत ने डर कर कहा—"महाराज यह तो बड़ी गड़बड़-सड़बड़ की बात है। हमें आप एक सूची लिखा दीजिये किन किनके पास जायँ किन किनके पास न जाँय। किन किन को पकड़ कर लावें, किन किन को दूर से ही प्रणाम कर के चले आवें।" क्योंकि बिना ऐसी सूची रहे नित्य हमारी कुटाई होगी, फिर तो हम पिटने के ही हो गये।

छप्पय

गुह्य भागवत धर्म देवता सिद्ध न जानें।
फिर नर दानव दैत्य ताहि कैसे पहिचानें॥
अज शिव नारद कपिल जनक मनु बलि शुक ज्ञानी।
भीष्महु सनत् कुमार, धर्म प्रह्लाद अमानी॥
जानि भागवत धर्म कूँ, परम भागवत ये भये।
अन्य भक्त हू भक्ति तें, नाम लिये हरिपुर गये॥

के कोने-कोने को खोज आइये आपको कहीं भी अन्धकार न मिलेगा। मनुष्य के शरीर में पाप तभी तक रहते हैं, जब तक उसमें भगवन्नाम की गूँज भली प्रकार बैठती नहीं। जहाँ भगवन्नाम कानों द्वारा हृदय में पहुँचा, या जिह्वा द्वारा उसका उच्चारण हुआ नहीं, कि पाप तुरन्त वहाँ से भगने लगते है। नारायण नाम के निरन्तर कीर्तन के सम्मुख पाप टिके रहे, यह महान् आश्चर्य की बात है। नाम का आश्रय जिन्होंने भली भाँति ले लिया है, पहिले तो उनके द्वारा पाप होते ही नहीं, यदि कभी भूल से हो भी जाँय तो वे तत्काल नामोच्चारण से नष्ट हो जाते है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब यमराज ने अपने भृत्यों से नारायण नाम का माहात्म्य बताया तब दूतों ने पूछा—"प्रभो! जब भगवान् के नाम का ऐसा माहात्म्य है तो लोग भगवान् का नाम लेते क्यों नहीं? वे दुःख क्यों उठाते हैं?

इसपर अत्यन्त ही दुःख के साथ यमराज ने कहा—"भैया! अब इस विषय मे क्या कहूँ? इतना ही कह सकता हूँ, यह जीवों का दुर्भाग्य है। नहीं तो भगवान् के कितने सरल नाम हैं—राम, कृष्ण, हरि, गोविन्द, मधुसूदन, मुरारी, माधव, मोहन, रघुनन्दन, यदुनन्दन श्यामसुन्दर एक से एक सुन्दर एक से एक मनोहर नाम है। जिह्वा अपने घर की है, कहीं से उधार लानी नहीं पड़ती। नाम लेने मे कोई देश, जातिका, वर्णका, शुचिका, अशुचिका, कालका, पात्रका किसी भी प्रकार का नियम नहीं। सदा, सर्वदा, सर्वत्र, सब कोई सभी अवस्थाओं में भगवन्नाम का उच्चारण कर सकता है। इतने पर भी लोग भगवान् का नाम नहीं लेते। नरक की अग्नि मे पचते रहते हैं। जो अनन्त भगवान् के नामों को लेते हैं, वे

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयम्,
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि,
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० ३ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

दूत कहें अब नाथ ! नियम हमकूँ बतलावें।
जाइँ न किनके पास, पकरि किनकूँ हम लावें॥
धर्मराज तब कहें, नाम हरि जे न उचारें।
चितमें कबहूँ चरन कमल हरिके नहिँ धारें॥
नहीं नवें सिर कृष्णकूँ, हरिचर्यातें जे विमुख।
लाओ तिनकूँ पकरिकें, आइ उठावें नरक दुख॥

अधकार वहीं रहेगा जहाँ प्रकाश नहीं पहुँचता। कितनी भी अँधेरी रात्रि हो, कितना भी भीतर भवन हो, जहाँ विद्युत का प्रकाश पहुँचा कि जगमगाने लगा। हाथ में दीपक लेकर घर

❀ यमराज अपने दूतों से कहते हैं—"जिनकी जिह्वा भगवन्नाम और गुणों का कीर्तन नहीं करती, जिनका चित्त चित्तचोर चैतन्य के चरणारविन्दों का चिन्तन नहीं करता। जिनका सिर एक बार भी श्री कृष्ण के लिये नहीं नवता। भगवत् परिचर्या से विमुख असत् पुरुषों को तुम पकड़कर यहाँ मेरे समीप लाना।"

के कोने-कोने को खोज आइये आपको कहीं भी अन्धकार न मिलेगा। मनुष्य के शरीर मे पाप तभी तक रहते हैं, जब तक उसमे भगवन्नाम की गूँज भली प्रकार बैठती नहीं। जहाँ भगवन्नाम कानों द्वारा हृदय मे पहुँचा, या जिह्वा द्वारा उसका उच्चारण हुआ नहीं, कि पाप तुरन्त वहाँ से भगने लगते है। नारायण नाम के निरन्तर कीर्तन के सम्मुख पाप टिके रहे, यह महान् आश्चर्य की बात है। नाम का आश्रय जिन्होने भली भाँति ले लिया है, पहिले तो उनके द्वारा पाप होते ही नहीं, यदि कभी भूल से हो भी जाँय तो वे तत्काल नामोच्चारण से नष्ट हो जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब यमराज ने अपने भृत्यों से नारायण नाम का माहात्म्य बताया तब दूतो ने पूछा—"प्रभो! जब भगवान् के नाम का ऐसा माहात्म्य है तो लोग भगवान् का नाम लेते क्यों नहीं? वे दुःख क्यो उठाते हैं?

इसपर अत्यन्त ही दुःख के साथ यमराज ने कहा—"भैया! अब इस विषय मे क्या कहू? इतना ही कह सकता हूँ, यह जीवों का दुर्भाग्य है। नहीं तो भगवान् के कितने सरल नाम हैं—राम, कृष्ण, हरि, गोविन्द, मधुसूदन, मुरारी, माधव, मोहन, रघुनन्दन, यदुनन्दन श्यामसुन्दर एक से एक सुन्दर एक से एक मनोहर नाम हैं। जिह्वा अपने घर की है, कहीं से उधार लानी नहीं पडती। नाम लेने मे कोई देश, जातिका, वर्णका, शुचिका, अशुचिका, कालका, पात्रका किसी भी प्रकार का नियम नहीं। सदा, सर्वदा, सर्वत्र, सब कोई सभी अवस्थाओं मे भगवन्नाम का उच्चारण कर सकता है। इतने पर भी लोग भगवान् का नाम नहीं लेते। नरक की अग्नि मे पचते रहते हैं। जो अनन्त भगवान् के नामो को लेते हैं, वे

मेरे दन्ड के पात्र नहीं हैं। जो भगवान् के शरणागत समदर्शी साधुजन हैं, उन साधुओं के पवित्र चरित्रों का स्वर्ग में देवता भी गान करते हैं। उनकी कथाओं को स्वर्ग के अमराधिप बड़ी श्रद्धा के साथ श्रवण करते हैं। ऐसे भक्तों को सदा श्रीहरि अपनी गदा से रक्षा करते रहते हैं। उन्हें कभी कोई कष्ट न हो, इसके लिये भगवान् के पार्षद सदा गुप्तरूप से आकाश मंडल में विचरते रहते हैं। अतः ऐसे भगवत् भक्तों के पास कभी भूलकर भी तुम लोग मत जाना। वहाँ जाने से तुम्हें इसी प्रकार मार खानी पड़ेगी।"

यह सुनते ही यमराज के दूत घबड़ा गये और बोले—"महाराज! अब हम कान पकड़ते हैं। आपने अभी बताया कि मैं सब का स्वामी नहीं हूँ। हमें स्पष्ट बता दें आप किन-किन के स्वामी हैं?"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दूत उजड्ड तो होते ही हैं। उन मूर्खों को इतना भी ज्ञान नहीं था, कि भरी सभा में जहाँ सहस्रों अपराधी दंड पाने के लिये बैठे हैं, इधर-उधर बहुत से और भी पारचारक भृत्य उपस्थित हैं, ऐसे समय में ऐसा प्रश्न करना, इतने बड़े लोकपाल का अपमान करना है। किन्तु अब यमराज क्या करते, उन मूर्खों ने बिना सोचे समझे यह प्रश्न कर दिया। दूत अपने-अपने हाथों में पापियों को पकड़ने के पाश लिए हुए थे। उन्हें हाथ के संकेत से यमराज ने और समीप बुलाकर उनके कान में शनैः शनैः कहना आरम्भ किया—'देखो, भैया! मैं वैसे सब का स्वामी हूँ, किन्तु भगवद्भक्त वैष्णवों का स्वामी मैं नहीं हूँ। उनका तो मैं दास हूँ दास।"

यह सुनते ही यमदूत तो चौंक पड़े। उन्होंने कहा—"महाराज! हमें आप एक सूची बनाकर दे दीजिये जिसमें इस बात की तालिका रहे, कि इन लोगों को लाना इनको नहीं लाना।"

इस बात को सुनकर यमराज गंभीर हो गये और उनसे बोले—"अच्छी बात है, तुम लोग अपनी-अपनी दैनन्दिनी और

मसिपूर्ण लेखनी निकालो और मैं जो बताता चलूँ उनको नम चार लिखते चलो।"

इतना सुनते ही सभी ने अपने-अपने खीसाओं से दैनन्दि निकाल ली और लेखनी लेकर बैठ गये। उन सबको सावधान तत्पर और लिखने को उत्सुक देखकर धर्मराज बोले—'देखो मैं तुम्हें विस्तार से क्या लिखाऊँ, संक्षेप मे संकेत मात्र करके देता हूँ, उसी के अनुसार अनुमान लगा लेना।

देखो, १—जो भगवद् भक्त हों, २—भगवान् के नाम गुण का कीर्तन करते हों, ३—उनके अनुपम रूप का चिन्तन करते हों, ४—भगवत् शरणागत समदर्शी साधु स्वभाव के हों, ऐसे भगवत् परायण पुरुषों के पास तुम लोग कभी भूलकर भी मत जाना। समझे कुछ ?

लेखनी से शीघ्रता के साथ पूरे वाक्य लिखकर उनमे से एक बोला—"हाँ, प्रभो ! न लाने वाले को तो हम समझ गये किन्तु फिर भी भूल हो सकती है। यह और लिखा दीजिये, किन किन को लावें ?"

इसपर यमराज बोले—"अच्छी बात, है लिखो—इन इन लोगों को अपनी पाश मे बाँधकर बलपूर्वक मेरे पास लाना। १—जिन परम कोमल अरुण चरण कमलों की मधुमय माधुरी का सर्वसङ्ग परित्याग प्रभु प्रेमी परमहंसगन भ्रमर के समान मत्त होकर निरन्तर पान करते रहते हैं। उस माधुरी से जो विमुख पुरुष हैं उन्हें पकडकर यहाँ अवश्य लाना। इनके अतिरिक्त, २—जो नरक द्वार रूप घरों मे मोह ममता बढ़ाकर निरन्तर असक्त बने रहते हों, ३—जिनकी जिह्वा से कभी भगवान् के सुमधुर नामों का उनके त्रैलोक्य पावन गुणों का कभी गान न होता हो, ४—जिनका चित्त चित्तचोर के चारु चरणों का चिन्तन न करता हो। ५—जिनका शिर एक बार भी भगवान् की अचल

जो भक्तापराध बन गया है, उसे आप अपने दयालु स्वभावके कारण क्षमा कर दें। हे दीनबन्धो! हम तो आप के भृत्य हैं, आप की सेवा में सदा करबद्ध हुए उपस्थित रहते हैं। आप अपने अज्ञानी अनुचरों के अपराधों की ओर ध्यान न दें। आपके पादपद्मों मे हमारा पुनः पुनः प्रणाम हो।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अब आप समझ गये होंगे। भगवन्नाम का कितना बड़ा महात्म्य है। संसार में नाम संकीर्तन से बढ़ कर कोई भी सुन्दर सुगम सरल साधन नहीं।'

छप्पय

नाम गान सम जगत माँहिँ साधन नहिं दूजो।
करो यज्ञ व्रत दान भले प्रेतनि कूँ पूजो॥
नाम उचारत तुरत मलिनता मनकी जावे।
माया मोह नसाय प्रेम प्रभु को हिय आवे॥
नाम कीरतन जे करें, जाउ न तिनके ढिँग कबहुँ।
पहिले पापी रहे वे, आवें मम गृह नहिँ तबहुँ॥

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः ।
यथा सुजातया भक्त्याशुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ३ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

कृष्ण कीर्तन गुण गौरव जे गान करहि नर ।
वे कबहूँ नहिं भूलि निहारें नीरस मम घर ॥
सब पापनिको एक प्राइचित मुनिन बखानों ।
होयँ नाम के रसिक उन्हें मेरो गुरु मानों ॥
यम आज्ञा दूतनि सुनी, शिरोधार्य सबने करी ।
हरि कीर्तन करिके चले, सब मिलि बोलो जयहरी ॥

जिस विषय को हम जानते नहीं उसमें प्रतीति नहीं होती, जिसमें प्रतीति नहीं, उसमें प्रीति भी नहीं। इसीलिये आदि भक्ति है श्रवण। भगवान् के नाम के माहात्म्य के श्रवण से नाम में भक्ति होती है। किसी किसी भाग्यशाली की सहज स्वाभा-

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिस प्रकार श्रीहरि के उदार चरित्रों के श्रवण तथा कीर्तन करनेवाले पुरुषों का अन्तःकरण सहसा उत्पन्न हुई भगवद्भक्ति से शुद्ध होता है उस प्रकार कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत आदि उपायों से कभी शुद्ध नहीं हो सकता।"

विकी भक्ति भी होती है, वे तो जन्मजन्मान्तर के भक्त हैं। नहीं तो प्राय सुनकर ही नाम गुण कीर्तन मे अनुराग होता है।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! जब जीव का माया के गुणों मे गौरव बुद्धि हो जाती है, अनित्य जब नित्य और असत् का सत् समझने लगता है, तभी पाप बनते हैं। जहाँ श्रीकृष्ण चरणारविन्दो के रसका चसका एक बार रसना का लग गया, तहाँ ये पापोत्पादक मायिक गुण तुच्छाति तुच्छ प्रतीति होने लगते हैं। नाम प्रेमी भगवत् भक्त के समीप फिर पाप फटकने ही नहीं पाते, पिछले पाप नाम के प्रभाव से भस्म हो जाते हैं। जिनका भगवन्नाम मे प्रेम नहीं है, ऐसे विषय लालुप पुरुष अपने दोषों का मार्जन करने के निमित्त प्रायश्चित्त सम्बन्धी कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत रूप कर्मों में ही प्रवृत्त होते हैं। उस समय तो उस पाप का नाश हो जाता है, किन्तु वासना बनी रहने से उसके द्वारा फिर पाप होते हैं, फिर दोषों की उत्पत्ति होती है। अत ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि मरते समय मुख से भगवन्नाम निकल जाय।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब मृत्यु के समय ही मुख से भगवन्नाम निकलना अभीष्ट है तो अभी से कठ को कष्ट क्यो द ? झाँझ मजीरा बजा बजाकर कासे को क्यों घिसें, क्यों ढोल करताल के चक्कर मे फँसे ? मरते समय एक बार राम का नाम लेकर मर जायँगे, बेडा पार हो जायगा, ससार सागर से तर जायँगे।"

इस पर सूतजी ने कहा—'महाराज, यह तो ठीक है, किन्तु मृत्यु का कोई समय तो निश्चित नहीं कि उसी समय मरना है। यह जो प्रतिक्षण श्वाँस निकलती है, इसका कुछ पता नहीं कि

फिर [illegible]। इसलिये प्रत्येक [illegible] पर मरने के [illegible] बना हुआ है। इसे एक [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] लौट आना। [illegible] के साथ [illegible] [illegible] [illegible] आवश्यकता नहीं है। [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] आवश्यक है। अतः प्रत्येक [illegible] पर मरने के लिए [illegible] रहकर [illegible] पर [illegible] रखना चाहिए।

[illegible] मरते समय नाम लेने की बात तो जब पहले से ही अभ्यास न रहा, तब मरते समय नाम कैसे आवेगा? लड़की जब विवाहित होकर अपनी ससुराल में बहू बनकर आती है, तो पहुँचते ही १०।२० स्त्रियाँ मिलकर यह देखने आती हैं, कि बहू भोजन कैसा बनाती है। उसका भोजन अच्छा होता है, तो सास ननद देवरानी, जिठानी सब कहती हैं। बहू क्या है, लक्ष्मी है। कैसा सुन्दर भोजन बनाती है। इतना सुन्दर भोजन उसने ससुराल आते ही तो सीखा नहीं लिया। अपने घर में जब वह बच्ची थी, तभी से उसकी माँ उसे सिखाती थी। दाल में ऐसे छौंक दिया जाता है। कढ़ी ऐसे बनती है। रायते में ऐसे धुँवार दिया जाता है। पकौड़ी इस प्रकार बनाई जाती है। बाल्यकाल से सीखते-सीखते जब वह विवाह के पश्चात् अपने घर जाती है, तो उस दिन सुन्दर भोजन बनने पर उसका सब श्रम सफल समझा जाता है।

'एक विद्यार्थी है, वह यह सोच ले कि प्रश्न पत्र तो मुझे परीक्षा के दिवस ही लिखने पड़ेंगे, उसी दिन लिखकर उत्तीर्ण हो जाऊँगा। अभी से रात्रि दिन परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है, तो ऐसा सोचने वाला छात्र कभी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। परीक्षा के बहुत दिन पहले

उसे अभ्यास करना होगा, तभी वह परीक्षा के दिन शुद्ध-शुद्ध परीक्षा प्रश्नों का उत्तर लिख सकेगा। अभ्यास न किया होगा, तो वह उस दिन कुछ भी नहीं लिख सकता। इसी प्रकार जिसने पहले से भगवन्नामों का नियमपूर्वक लगन के साथ उच्चारण न किया हो, उसके मुख से अन्त में भगवान् का नाम निकल ही नहीं सकता।"

इसपर शौनकजी ने कहा—"अजामिल ने कब अभ्यास किया था ?"

सूतजी ने यह सुनकर अत्यन्त ही विनीत भाव से कहा—"महाभाग आप ऐसा न कहें। देखिये, वह नया लड़का जबसे पैदा हुआ। सन्तों के आदेश से जबसे उसका नाम "नारायण" रखा गया, तब से वह निरन्तर नारायण-नारायण इसी नाम का कीर्तन करता रहता था। मेरे नारायण, आओ नारायण, खाओ नारायण, जाओ नारायण, सोओ नारायण, उठो नारायण, बैठो नारायण, लेटो नारायण। कहाँ तक गिनाऊँ महाराज ! वह तो रात्रि दिन नारायण नाम की रट लगाये हुए था। इसीलिये अन्त समय में उसके मुख से 'नारायण" नाम निकला।"

इसपर शौनकजी ने कहा—"उसने नारायण भगवान् का नाम तो लिया नहीं, अपने पुत्र नारायण को पुकारा था ?"

इसपर कुछ रोष के स्वर में बोले—"महाभाग ! ५० बार तो मैं इसका उत्तर दे चुका हूँ। मान लो पुत्र ही को पुकारा। तो क्या वह यह नहीं जानता था कि नारायण भगवान विष्णु का भी नाम है। वह मूर्ख तो था नहीं वेदज्ञ ब्राह्मण था। ज्ञानी, ध्यानी तपस्वी था। उसने जब साधुओं को भगवत् पूजन करते देखा तो उसे भी भगवत् प्रवृत्ति की आकांक्षा हुई। मुनिवर ! कैसा भी

मनुष्य क्यों न हो सबके मन में एक छिपी वासना होती है, आत्मसमर्पण की। किसी अव्यक्त शक्ति की शरण में जाने की कोई आस्तिक भाव से, कोई नास्तिक भावसे भगवान् को पुकारते हैं। मनुष्य बिना भगवान् के विषय में सोचे रह ही नहीं सकता। किसी के हृदय में यह इच्छा तीव्र होती है, किसी के हृदय में साधारण होती है और किसी के हृदय मे अत्यंत मंद होती है। अजामिल के मन मे भी भगवत् प्रवृत्ति की वासना छिपी हुई थी, अव्यक्त थी साधुओ को देखकर वह व्यक्त हो गई। वह साधुओं की शरण गया। महाराज ! जो पापी अपने को हृदय से पापी समझता है, उसका उद्धार तो हो जाता है, किन्तु जो पाप करने पर भी अपने को धर्मात्मा समझता है, अपने पाप को छिपाने के लिये यह कह देता है—अजी कितने भी पाप कर लो, जहाँ एक बार नाम लिया सब पाप नष्ट हो जॉयगे। ऐसे महापापियों का उद्धार अत्यंत कठिन है। अजामिल अपने को पापी समझता था साधुओ की पवित्र रहनी देखकर और अपने चोरी, जारी, डकैती, जूआ, हत्या आदि कर्मों को देखकर उसे भान हो गया कि मैं भगवान् का भजन करने का अधिकारी नहीं हूँ, मुझे कोई दूसरा उपाय बताया जाय, यही उसने संतो से प्रार्थना की। सन्तों ने बताया तो उसे भजन ही, किन्तु घुमा फिराकर उसकी पात्रता देखकर बताया। इसीलिये अंत समय मे उसके मुखमे भगवन्नाम निकल गया। यह मैं पीछे कई बार इसी प्रसंग में बता चुका हूँ. कि नाम के साथ उसका अर्थ रहता ही है। दूधके साथ उसकी धवलता, अग्नि के साथ जैसे दाहकता लगी हुई है वैसे ही गौ शब्द के साथ गौ का सम्पूर्ण भाव जुटा हुआ है। इसी प्रकार नारायण नाम मे नारायण के सब गुण, सब अर्थ साथ ही थे। इसीलिये नाम का फल हुआ।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप अपनी बा को सिद्ध करने के लिये अर्थ का अनर्थ कर देते हैं मानते हैं शब्द के साथ उसका अर्थ रहता ही है। उसने 'नारायण' शब्द कहा तो नारायण का अर्थ हुआ, दो हाथ दो हँस मुख सुन्दर सा प्यारा-प्यारा उस वेश्या का बच्चा, मिल का दशवाँ पुत्र। यह तो मायिक पदार्थ था। उसके उस मायातात श्रीमन्नारायण की प्राप्ति कैसे हुई ? नाम की महिमा हम मानते हैं।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! इस विषय को गम्भीरता से सोचिये। उस वेश्या के ९ पुत्रों के नाम तो आप खिच्चू, विच्चू, रज्जू, धुरई आदि सुन ही लिये थे, यदि सब पुत्रों के एक से ही होते तो सत उससे नारायण नाम रखने को कहते ही क्यों। जब उसने साधन पूछा और सत ने होने वाले पुत्र का नारायण नाम रखने का आदेश दिया, तभी शब्द से यह भान हो गया कि नारायण नाम भगवान् का है उसी मिस से भगवान् का नाम उच्चारण होगा। इस बात भी तो जानते ही थे। अजामिल भी संभवतया जानता होगा, कि नारायण भगवान् का नाम है। क्योंकि संसारी अपने पुत्र पुत्री का नाम राम, कृष्ण, नृसिंह, हरि, दुर्गा, कमला, भवानी आदि रखते हैं तो मूल में तो भगवान् की भावना रहती है। इसलिये नारायण शब्द का अर्थ नारायण पुत्र नहीं है। नारायण शब्द का अर्थ नारायण ही है। इसलिये इतना पापी होने पर भी उसकी नाम लेने से सद्गति गई।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"महाभाग ! अजामिल की मुक्ति हो गई होगी, किन्तु आप की इस कथा से संसार

अनर्थ होने की संभावना है, इससे पापों को प्रोत्साहन मिलेगा।"

आश्चर्य के साथ सूतजी ने पूछा—"भगवन्! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं? मैं तो नाम का माहात्म्य सुनाकर, भगवन्नाम का महत्व सिद्ध करके, उसका घर घर प्रचार और प्रसार करना चाहता हूँ और आप कह रहे हैं कि इससे पापों को प्रोत्साहन मिलेगा। यह कैसे?"

शौनकजी ने कहा—"यह इसलिये कि लोग समझेंगे कि जब नाम का इतना महात्म्य है, तो फिर हम भर पेट पाप क्यों न करें। दिन भर पाप करेंगे, रात्रि में एक दो बार नाम ले लेंगे। आप ही कहते हैं नाम में वह शक्ति है कि उतने पाप मनुष्य करना भी चाहे तो नहीं कर सकता। एक तो लोगों की स्वभाव से ही पापों में प्रवृत्ति है, फिर आप की ये कथायें उन्हें प्रमाण के लिये मिल जायँगी। तब तो वे सब खुलकर खेलेंगे, पहिले से भी अधिक पाप करेंगे, तो यह नाम का प्रचार हुआ या पाप का प्रसार?

यह सुनकर सूतजी बहुत गम्भीर हो गये और बोले—"मुनिवर! आपका कहना यथार्थ है। पापी लोग अपने पापों को छिपाने और अपने को बड़ा सिद्ध करके के लिये महापुरुषों के वचनों को प्रमाण के लिये खोजते रहते हैं। जहाँ उन्होंने अपने अनुकूल कुछ वाक्यों को देखा, कि झट उनकी पूर्वापर की संगति मिलाये बिना उपस्थित कर देते हैं। ऐसे पापियों के लिये शास्त्र का उपदेश नहीं होता। अत्यन्त ज्ञानियों के लिये अत्यन्त पापी, मूढ पुरुषों के लिये शास्त्रीय साधन नहीं होते। ज्ञानी तो साधनों से परे ही हैं। उन्हें साधनों की अपेक्षा ही नहीं। जो अत्यन्त मूढतम हैं,

अस्त्र मात्र समझते हैं, जो नाम का आश्रय लेकर शास्त्र विहित धर्म कर्मों का आलस्य वश परित्याग कर देते हैं, वे तो नारकीय जीव हैं। वे तो नाम क आश्रय से अपने पापों की पुष्टि चाहते हैं, इससे उनके पाप और भी पुष्ट होते है। जो भगवान् के नामों को लेकर चौराहों पर बैठकर भीख माँगते हैं, वे ऐसा ही करते हैं जैसे चिन्तामणि रत्न को कोई शौचालय मे लगा दे। शौचालय में लगा देने से उसका उपयोग तो होगा ही, किन्तु यह उसका यथार्थ उपयोग नहीं है, भगवान् का नाम व्यर्थ तो जाने का नहीं। पात्र भेद से देर मे, सवेर मे, फल तो वह अवश्य देगा ही किन्तु योग पात्र में उत्तम स उत्तम फल देगा। सूर्यनारायण उदय होने पर अन्धकार तो सभी का नाश करेंगे, किन्तु जो अधिक खुला स्थान होगा, वहाँ अधिक प्रकाश दिखाई देगा, जो अधिक घिरा हुआ बन्द स्थान होगा वहाँ कम प्रकाश दृष्टि गोचर होगा। पापी भी नाम लेले तो धीरे-धीरे उसके भी पाप क्षय होंगे और क्षय होते-होते कभी उसे पापो से ग्लानि होगी, वह अपने किये कर्मों पर कभी न कभी दुखी होगा, पछतावेगा। जहाँ हृदय मे सच्चा पश्चात्ताप हुआ नहीं कि फिर पापों मे प्रवृत्ति होगी ही नहीं। जब तक पापा मे प्रवृत्ति है तब तक समझना चाहिये इसे नाम से अधिक पाप प्यारे हैं। भगवान् से अधिक विषयों मे इसकी प्रीति है। ऐसे आदमी को और भी अधिक से अधिक नाम लेना चाहिये। शास्त्रों मे यह तो कभी भी, कहीं भी नहीं कहा कि खुलकर पाप करो और नाम लो। बारबार यही कहा गया है, कि तुमसे भूलमे पाप बन भी गये हैं, तो अब उनके लिये हृदय से पश्चात्ताप करो, अनन्यभाव से भगवान् का भजन करो। भगवान् और उनके नामों मे सम्यक् व्यवस्थिति करो, तुम्हारे सब पाप नष्ट हो जायँगे। आगे पाप करना भी

चाहो तो प्रवृत्ति न होगी। अजामिल का ही देख लीजिये, बच्चे के बहाने ही नारायण नारायण कहते-कहते उसका अन्तःकरण पवित्र हो गया। फिर नाम माहात्म्य सुनकर वह सर्वसङ्ग विनिर्मुक्त महात्मा बन गया। अतः नाम व्यर्थ कभी भी न जायगा। इस इतने बड़े उपाख्यान के कहने से मेरा यह अभिप्राय कभी भी नहीं है कि तुम दिन भर पाप करो और एक बार नाम ले लो। मेरा अभिप्राय इतना ही है कि जीव जन्म से ही पाप पुण्य साथ लेकर उत्पन्न हुआ है। पापों में प्रवृत्ति उसकी स्वाभाविक है। पापों में प्रवृत्ति न होती तो जन्म ही क्यों लेता। हम रोज भगवान् के सामने कहते हैं, मैं पापी हूँ, पापकर्मा हूँ, पापात्मा हूँ, पाप से ही उत्पन्न हुआ। आप सर्वपापों को हरने वाले हरि हैं अतः मेरे पापों को भी नाश कर दीजिये। जिनका पापों को हरने वाला ऐसा अतिमधुर दयामय नाम है, क्या वे कुछ भी सहायता न करेंगे? इस कथानक से मेरा तात्पर्य इतना ही है कि भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं। उनकी शरण में जाने पर पिछले पाप नष्ट हो जाते हैं। आगे पापों में प्रवृत्ति नहीं होती। देखिये, यह अजामिल मातृपितृ भक्त था। पूर्वजन्म के संस्कारों के वशीभूत होकर कुसंस्कारों के उदय होने से वह वेश्या के चक्कर में फँस गया। तो भी भगवान् का नाम नारायण है, इतना तो उसे ज्ञात ही था ज्यों ही उसने नारायण पुकारा एक पग भगवान् की ओर बढ़ाया। भक्त को असहाय, निर्बल समझकर, ९९ पग स्वयंबढ़कर अपनी भक्तवत्सलता के कारण, नाम की महिमा स्थापित करने के निमित्त भगवान् ने दौड़कर उसे अपना लिया। भगवान् ने कृपा कर दी। उसे अपना लिया। इसीलिये राजन्! सभी पुराण इस बात पर बल देते हैं कि नाम संकीर्तन में कोई नियम बन्धन नहीं। सभी जाति वर्ण के लोग सब काल में सब स्थानों

का प्रचार न करके नामापराधो का प्रचार कर रहे हैं। इन नामापराधों की गणना मे इतना ही तात्पर्य है कि भरसक स्वधर्म पालन करते हुए शुद्ध चित्त होकर दुर्गुणों का परित्याग करके ही नाम सङ्कीर्तन करना चाहिये।"

इस पर शौनकजी बोले—'महाभाग हमारी शका का समाधान हो गया।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—'महाभाग! आपको क्या शङ्का होनी थी, आपने तो लोकहित के लिये शङ्कायें उठाई थी। भगवन्नाम माहात्म्य क सम्बन्ध मे मेरे गुरुदेव ने राजा परीक्षित से यह अजामिल का पावन आख्यान कहा था। इस आख्यान की प्राचीनता और परम्परा सुनने के अभिप्राय स राजा परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी से पूछा—"भगवन्! यह इतिहास आपने सुना कहाँ से, किसा प्रामाणिक व्यक्ति के मुख से सुना या एसे ही किसी चलते फिरते विनोदी कथकड से?'

इस पर श्रीशुक ने कहा—"राजन्! मैंने ऐसे वैसे अहरे गहरे पचकल्यानी से यह इतिहास नही सुना है। जो सब ऋषियों से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, जो दक्षिण दिशा के स्वामी हैं, जिन्होंने इतने भारी खारी समुद्र के अथाह जल को एक चुल्लू मे ही पान कर लिया था। उन भगवान् अगस्त्य क मुख से मैंने यह पुण्यप्रद इतिहास सुना था।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! देश का भी बडा प्रभाव पड़ता है, कहीं कीकर आदि देशों मे तो आपने नहीं सुना?"

इस पर कडककर शुकदेवजी बोले—"नहीं, राजन्! मैंने तो पुण्यातिपुण्य मलयाचल पर्वत पर सुना था।"

इस पर राजा ने फिर कहा—"भगवन्! कैसे भी योग्य महापुरुष हों। कैसा भी पवित्र देश क्यों न हो। यदि समय उचित न हो, तो उस बात का कोई महत्व नहीं रहता। हँसी में न जाने हम कितनी असत्य बातें कह जाते हैं। यदि ऐसी ही हँसी विनोद के समय यह चरित्र आप को प्रसन्न करने के लिये भगवान् अगस्त्य ने कह दिया हो, तो इसका कोई मूल्य नहीं रह जाता।"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"नहीं राजन्! ऐसी बात नहीं है। भगवान् अगस्त्यने परम पवित्र मलयाचल पर्वत पर गम्भीर होकर उस समय यह इतिहास कहा था, जब कि वे भगवान् की पूजा कर रहे थे। भगवान् शालग्राम को हाथ मे लेकर—मानों शपथपूर्वक—यह सब कहा था। इसमे अविश्वास के लिये स्थान ही नहीं।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन्! इस नाम महात्म्यवर्धक इतिहास को सुनकर मुझे बड़ी आन्तरिक शाँति हुई। अब मुझे भी विश्वास होने लगा है कि घोर ब्रह्म शाप से मेरा भी उद्धार हो जायगा। भगवन्! पहिले आपने सृष्टि का क्रम अत्यन्त संक्षेप में ही वर्णन किया था। अब मैं उसी को विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। यदि मैं उसके श्रवण का अधिकारी होऊँ, तो कृपा करके मुझसे उसे कहिये।"

यह सुनकर श्री शुकदेवजी बड़े प्रसन्न हुए। राजाके प्रश्न का अभिनन्दन किया, उनकी प्रशंसा की और हँसते हुये मेघ गम्भीर

वाणी से कहने लगे —"राजन्! मैं आपके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। आप मेरी ओर ही चित्तवृत्ति को लगाकर आगे के पुण्य प्रसंग को श्रवण कीजिये।

छप्पय

कहैं परीक्षित प्रभो! सुनाई सरस कहानी।
कथा अजामिल सुनी नाम महिमाहू जानी॥
ताप शाप संताप नाम ध्वनि सुनि भगि जावैं।
सब मिलि ऐसे भगे लौटिके फिर नहिं आवैं॥
सुनी नाम महिमा प्रभो! प्रकृत कथा चालू करो।
सृष्टि प्रसंग सुनाइकैं, मेरे सब संशय हरो॥

प्रचेताओंके पुत्र दक्ष का प्रजा लिये तप

(३७०)

तमबृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः ।
विन्ध्यपादानुपव्रज्य सोऽचरद् दुष्करं तपः

(श्रीभा० ६ स्क० ४ अ० २०

छप्पय

बोले शुक—सुनु नृपति ! दक्ष प्राचेतस प्रकटे ।
करी सृष्टि तिन विविधि देव नर कर्मनि लिपटे ॥
तऊ सृष्टि नहिं बढ़ी दक्ष अतिशय घबराये ।
विन्ध्याचल के निकट तपस्या हित तब आये ॥
अघमर्षण इक विमल वर, तीर्थ ताहि तट जाइकें ।
कीन्हों तप अति उग्र तहँ, कन्दमूल फल खाइके ॥

भगवान् ने जिस व्यक्ति को जिस कार्यके लिये भेजा है, उसी कार्य में अत्यंत ही आसक्ति होगी । जिसको नियुक्ति प्रचार के लिये हुई है, वह अनेक युक्तियों से, विविध नाना प्रकार की क्रियाओं से अधर्म को ही धर्म कर उसका प्रचार जनता में करेगा । यदि इस

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने जब प्रजासर्ग की वृद्धि न देखी, तब वे विन्ध्याचल जाकर दुष्कर तप करने लगे ।"

की जीवों की कर्मों में आसक्ति नहीं, तब तो यह सृष्टि का ढर्रा आगे चले ही नहीं, किन्तु यह सृष्टि तो अनादि काल से ऐसी ही है और अनंत काल तक ऐसी ही रहेगी, क्योंकि भगवान् इससे खेलते हैं। प्राणिमात्र उनके खिलौने हैं। शुभाशुभ कर्मों की आसक्ति द्वारा ही यह संसार चक्र चल रहा है।

श्री सूतजी कहते है—"मुनियो! राजा परीक्षित् ने भगवान् श्री शुकसे आदि राजा महाराज स्वायंभुव मनुके वंश का विस्तार पूछा था। इस पर मेरे गुरुदेव ने उन्हें मनु पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद के वंश का उस वंश में होनेवाले मुख्य मुख्य प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजाओं का वर्णन किया। प्रियव्रत के वंश का वर्णन करते करते उनके वंश के प्रसिद्ध धार्मिक राजा विरज तक के वंश के पुरुषों के चरित्र सुनाये। महाराज उत्तानपाद के पुत्र परम भागवत ध्रुवजी हुए। वे महान् भगवद्भक्त थे। वे अब तक ध्रुव लोक में निवास करके महाराज उत्तानपाद के यश को बढ़ा रहे हैं। उनके पुण्य यश का वर्णन प्रचेताओं के यज्ञ में नारदजी ने किया था। इसपर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! ये प्रचेता कौन थे?" इस प्रश्न को सुनकर ध्रुवजी से लेकर प्रचेता तक के उत्तानपाद वंश का वर्णन भगवान् शुक ने किया। अंत में बताया कि उन दस प्रचेताओं को सिन्धु समुद्र के संगमपर तपस्या करते समय भगवान् के दर्शन हुए। भगवान् ने उन्हें आज्ञा दी कि तुम लोग कंडु मुनि के गर्भ से प्रम्लोचा नामक अप्सरा में जो कन्या उत्पन्न हुई है, जिसका पालन वृक्षों ने किया है, इसीलिए वह वार्क्षी के नाम से प्रसिद्ध है, उसके साथ पाणिग्रहण कर लो। भगवान् की आज्ञा से उन्होंने उस कन्या से विवाह कर लिया। उसी से प्रचेताओं में वे ही ब्रह्मा के पुत्र प्रजापति दक्ष—शिवजी के शाप से—आकर

फिर उत्पन्न हुए, जिन्होंने इतनी सृष्टि बढ़ायी की इस मन्वन्तर मे सम्पूर्ण संसार को फिर से जीवों द्वारा भर दिया। इतना कह कर यह कथा प्रसंग छोड़ दिया था। अब राजा परीक्षित् फिर वहीं से प्रश्न उठाते हैं। उन्होंने श्रीशुकसे कहा—"भगवन्! आपने बताया था, कि चाक्षुस् मन्वन्तर में जो ब्रह्मा के पुत्र दक्ष थे, उन्होंने इस स्वायम्भुव मन्वन्तर मे देवता, असुर, मनुष्य, सर्प, मृग, पशु, पक्षी आदि की सृष्टि की। सो, प्रभो! मैं इस सृष्टि क्रम को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ। आपने पहले तो अत्यन्त ही संक्षेप मे संकेत मात्र ही कर दिया था। अब इस विषय को विस्तार से वर्णन करें।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान शुकने कहा—"राजन्! तुम बार बार सृष्टि का ही प्रश्न क्यों पूछते हो? इस नीरस प्रसङ्ग मे आपको क्या आनन्द आता है?"

यह सुनकर राजा परीक्षित् बोले—"भगवन्! नीरस हो चाहे सरस! सोते जागते उठते बैठते आठों पहर यह सृष्टि तो हमारे हृदय पर नृत्य करती ही रहती है। यह सृष्टि चक्र ही तो हमे घुमाता रहता है। इसका मूल कारण मालूम हो जाय तो, इस चक्कर से छूट भी जाँय। फिर भगवन्! सुन्दर चित्ताकर्षक बच्चों को देखकर उनकी माता के विषय मे जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। यह चित्र विचित्र रंग की चित्त को हठात् अपनी ओर खींचनेवाली सृष्टि स्वतः अपने आप ही तो उत्पन्न हो नहीं गयी। भगवान् की शक्ति से ही तो यह उत्पन्न होती है और बढ़ती है। उस शक्ति का परिचय हो जाने से शक्तिमान् का भी पता लग जायगा। सर्व शक्तिमान् तो श्रीहरि ही हैं। अतः मेरा प्रश्न इन कंकड पत्थर, हाड़ मांस के देहवाले प्राणियों के सम्बन्ध को लेकर नहीं है मैं तो सृष्टि प्रश्न

सुष्टिमान् के ज्ञान के निमित्त पूछता रहता हूँ।"

राजा की ऐसी बात सुनकर भगवान् शुक हँस पडे और बोले—"राजन्! मैं सब समझता हूँ आप कृष्ण कथाश्रय सम्बन्धी प्रश्न को छोडकर अन्य इधर उधर के विषय सम्बन्धी प्रश्न कर ही नहीं सकते। अच्छी बात है, सुनिये, मैं स्वायम्भुव मन्वन्तर की सृष्टि का सक्षेप मे आपका वृत बताता हू। महाराज! विस्तार से इस इतनी बडी सृष्टि का वर्णन तो ब्रह्माजी की समस्त आयु मे भी नहीं हो सकता। हाँ तो महाराज प्राचीनबर्हि—जिन्हें नारद जी ने पुरजन पुरजनी का उपाख्यान सुनाकर ज्ञान प्रदान किया था—उनके १० प्रचेता पुत्र हुए, पिता की आज्ञा से वे दशो समुद्र के जलमे घुसकर तपस्या करने लगे। उनके तप से भगवान् ने प्रसन्न होकर वार्क्षी कन्या से विवाह करने को कहा। वे ज्यो ही समुद्र जल से निकलकर आये, तो देखा सम्पूर्ण पृथ्वी पर झाड झकार खड़े हैं। वृक्षो की सृष्टि के अतिरिक्त और कोई सृष्टि दिखायी ही नहीं देती तब तो उन्हे कुछ क्रोध-सा आ गया। अपने तपसे अग्नि उत्पन्न करके वे समस्त वृक्षों को जलाने लगे। बहुत से वृक्ष जल गये। पृथ्वी वृक्षो के जल जाने से बसने के योग्य सुन्दर हो गयी, किन्तु प्रचेता सम्पूर्ण वृक्षो का नाश करने पर ही उतारू थे। उनकी ऐसी हठ देखकर बूढे बाबा ब्रह्माजी अपने सफेद हस पर बैठकर, सफेद पगड़ी बाँधकर, सफेद पुष्पो की माला पहिनकर, सफेद कमल घुमाते हुए, दौड़कर प्रचेताओं के पास आये और बोले—"अरे, राजकुमारो! तुम लोग यह क्या उपद्रव मचा रहे हो? छिः छिः! ऐसा क्रोध क्या? भैया! तुमतो प्रजापति हो, सृष्टि के भर्ता हो। भर्ता उसे कहते हैं जो भरण पोषण करे। पति उसे कहते हैं, जो सकटो से रक्षा करे पालन करे।

जैसे माता पिता बालकों के पति हैं। बच्चों की कैसी रेख देख रखते हैं। माता बेटी तो रहती है कथा में, किन्तु उसकी दृष्टि रहती है बच्चे की ओर। उसकी गतिविधि पर ध्यान उसका जमा रहता है। जब तक सुख-पूर्वक खेलता रहता है, तब तक माँ कुछ नहीं बोलती। जहाँ उसने साँप, बिच्छू, शस्त्र, अग्नि आदि का स्पर्श किया नहीं, कि दौड़कर पहुँच जाती है, उसकी रक्षा करती है, गोदी में उठाकर दूध पिलाती है। इसी प्रकार स्त्री का रक्षक पति है। घर से बाहर कहीं भी जाय, किन्तु उसका चित्त फँसा रहेगा घरवाली में ही। उसका भरण पोषण अन्न वस्त्र, चूड़ी बिछियाँ सभी की चिन्ता पति को करनी पड़ती है। राजन्! ये बाबाजी कहने को बनते तो सबके बाप के बाप हैं। चाहे साधु छोटा ही हो। जहाँ उसने घर छोड़कर भिक्षा पर निर्वाह करना आरंभ कर दिया तो हम उसे बाबा कहेंगे। हमारे बाबा कहेंगे, बाप के बाप भी बाबा कहेंगे। ऐसे इस जगत् के बाबाओं के भी पति हैं गृहस्थी। जहाँ दिन चढ़ा नहीं तहाँ गृहस्थी ही याद आते हैं। उसके यहाँ जाने से भिक्षा मिलेगी। यह बड़ा साधु सेवी है। इन साधु भिक्षुकों का भरणपोषण पालन गृहस्थियोंके द्वारा ही होता है अतः गृहस्थीको सब आश्रमों का भर्ता पालनकर्ता कहा है। जो अज्ञानी है उनके पति ज्ञानी हैं। छोटे छोटे बच्चोंको पकड़कर ज्ञानी गुरु के समीप कर आते हैं। वे गुरु जैसा नाच नचावें, कभी तड़ातड़ कोड़े जमाते हैं, कभी बेत मारते हैं, कभी आँख निकाल कर धमकाते हैं, कभी किसी काम के लिये कहते हैं, इसे कर लेना, कभी किसी काम को निषेध कर देते हैं। ऐसा कभी मत करना भला!" बच्चों को मानना पड़ता है। इसी प्रकार बेटाओ! सब प्रजा का पति राजा है, राजा को सबकी रक्षा करनी चाहिये। ये वृक्ष भी तुम्हारी प्रजा हैं, पालनीय और रक्षा

होते ही ये सृष्टि वृद्धि मे तत्पर हो गये। उन्होने पहिले मन से ही देव, असुर मनुष्य आदि की सृष्टि बढ़ायी। किन्तु मन के मोदको से कुछ काल के लिये मानसिक प्रसन्नता भले ही हो जाय, भूख तो नहीं मिट सकती। इसी प्रकार जलचर, थलचर तथा नभचर आदि अनेको जीवो की मानसिक सृष्टि करने पर भी प्रजा की वृद्धि न हुई।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपनी इच्छानुसार प्रजा सर्ग को बढते देखकर दक्ष प्रजापति ने निश्चय किया। मैं तपस्या द्वारा शक्ति प्राप्त करके इस सृष्टि की वृद्धि करूँगा।" ऐसा निश्चय करके वे विन्ध्याचल पर्वत की तलेटी मे जाकर परम पवित्र अघमर्षण नामक तीर्थ मे जाकर घोर तप करने लगे। वे वहाँ बड़े नियम सयम से रहते। कुछ दिन फल फूल खाकर उन्होने निर्वाह किया। फिर कुछ दिन जल पीकर रहे, कुछ दिन वायु पीकर ही तप किया। वे तपस्या मे निरत रहकर कमल नयन भगवान् वासुदेव की इस गुह्यनामक स्तोत्र से स्तुति किया करते थे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस गुह्य नामक स्तोत्र कोन सा है, उसका वर्णन आप हमसे व्याख्या सहित कीजिये।"

इस पर सूतजी ने उत्तर दिया—"महाभाग! मैं इन सब स्तोत्रो का वर्णन पृथक् ही एक साथ करना चाहता हूँ, इस समय तो आप आगे की कथा को ही सुनिये।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है, जैसी आपकी इच्छा, किन्तु संक्षेप मे कुछ सार बात तो सुना ही दीजियेगा। हाँ तो फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"तनिक ठहरिये, जो हुआ होगा, सब सुनाऊँगा। इस गुह्यस्तोत्र की याद आते ही मुझे भगवान् के रूप का स्मरण हो आया। तनिक देर ध्यान करके तब कथा कहूँगा।"

छप्पय

करें प्रजापति कठिन तपस्या तीर्थ वास करि।
प्रजा सृष्टिके हेतु नाम लें राम कृष्ण हरि॥
इस गुह्य को पाठ करें तप नियमनि साधे।
गुण अभिव्यजक नाम लेइ श्रीहरि आराधें॥
धर्म अर्थ अरु मोक्ष वा, होइ वासना कामकी।
सब इच्छा पूरन करें, शरन गहें जे रामकी॥

प्रजापति दक्ष को भगवद्दर्शन

(३७१)

इति स्तुतः संस्तुवतः स तस्मिन्नघमर्षणे ।
आविरासीत्कुरुश्रेष्ठ भगवान् भक्तवत्सलः ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ५ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

दक्ष भावकूँ समुझि भावग्राही मनवारी ।
प्रकट तुरत तहँ भये विष्णु पीताम्बर धारी ॥
मुकुट कटक कर अंगुलीय कङ्कण नूपुर पग ।
त्रिभुवन मोहन रूप निरखि मोहित होवे जग ॥
परे लकुट सम भूमिमहँ, दक्ष निरखि घनश्यामकूँ ।
बार बार निरखें मुदित, श्रीहरि शोभा धामकूँ ॥

श्री भगवान् कल्पद्रुम के समान हैं, उन्हे जो जिस भाव से भजते हैं, उन्हे वे वैसा ही फल देते हैं। जो उन्हे अर्थार्थी होकर भजते हैं, उन्हे अर्थ प्रदान करते हैं, जो धर्म की वृद्धि की भावना से भजते हैं, उनकी धर्मवृद्धि करते हैं। जो कामना की पूर्ति के लिये उनकी आराधना करते हैं, उन्हे काम सुख देते हैं और जो

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार हंसगुह्य स्तोत्र से स्तुति किये जाने पर उस अघमर्षण तीर्थ में दक्ष के सम्मुख भक्तवत्सल भगवान् प्रकट हुए।"

मोक्ष की इच्छा से उनकी आराधना करते हैं उन्हें मोक्ष प्रदान करते हैं। उन सर्वेश्वर के यहाँ किसी वस्तु का कमी नहीं है। वे कामार्थी पर क्रोध भी नहीं करते, क्योंकि उसने कामना पूर्ति के लिये भी किसी सांसारिक शक्ति का आश्रय न लेकर प्रभु का ही आश्रय लिया है, इसलिए सकाम भक्त के सम्मुख भी वे प्रकट होते हैं और उसे अभीष्ट वरदान देते हैं। फिर जो सब कर्मों को कृष्णाज्ञा समझकर करते हैं उन निष्काम भक्तों की तो इच्छा में भगवद् इच्छा ही है, उनकी पूर्ति करना तो भगवान् का कार्य ही हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने अघमर्षण तीर्थ जाकर भगवान् की प्रजा वृद्धि के निमित्त उपासना आरम्भ की। वे नियमपूर्वक रहकर इस गुह्यस्तोत्र का निरन्तर जप पाठ करने लगे। वे भगवान् से प्रार्थना करते—"हे प्रभो, आपकी महिमा अपार है। आपको नमस्कार है। जो कुछ हुआ है, हो रहा है, होगा, वह सब ब्रह्म है, ऐसे सर्वव्यापक आपको प्रणाम है। जो प्रकृति नाम रूपसे रहित है। फिर भी अपने चरण कमलों का भजन करनेवाले पुरुषों पर कृपा करके जिन्होंने अपने दिव्य जन्म और कर्मों द्वारा दिव्य नाम रूपों का धारण किया है, वे परात्पर प्रभु पामर पर प्रसन्न हों। जो अन्तर्यामी अनन्त प्राकृतिक ज्ञान मार्गों द्वारा मनुष्य के भावानुसार भिन्न भिन्न देवता, इष्ट और अर्चा विग्रह के रूप में प्रतीत होते हैं वे प्रभु मेरी कामना पूर्ण करें।"

इस प्रकार दक्ष की स्तुति से प्रसन्न होकर गरुडध्वज भगवान् अष्टभुज रूप से प्रजापति दक्ष के सन्मुख प्रकट हुए। उस समय उनकी शोभा निराली थी, वे अपने चारु चरण को

श्यामवर्ण का था। उस पर आकाश मे विद्युत् के समान पीताम्बर उसी प्रकार फहरा रहा था। जिस प्रकार नील वसनधारी नायक अपनी पीत वसनधारिणी नायिका के सहित शोभा देता है। पूर्ण चन्द्रमा के समान उनका मनोहर मुख खिला हुआ था। नेत्र शीतल उत्फुल्ल कमल के समान प्रसन्न, मधुमय अनुराग पराग से युक्त थे। वे विशाल मुकुट, किरीट, झिलमिलाते हुए मकराकृत, कुंडल, काञ्ची, अंगुलीय, कंकण, नूपुर और अङ्गदादि आभूषणों से विभूषित थे। उनकी शोभा अवर्णनीय है। अस्त्र और आयुधों को धारण किये नारद, नन्द, सुनन्द आदि अपने प्रिय पार्षदों से घिरे हुए वे उसी प्रकार शोभा दे रहे थे, मानो सिद्धाचारण गन्धर्वों से घिरे हुए अप्राकृतिक अद्वितीय सम्राट हों।

सहसा अपने सम्मुख भगवान् के ऐसे त्रिभुवन मोहन रूप का प्रादुर्भाव देखकर प्रजापति दक्ष हक्के-बक्के से रह गये, वे किंकर्तव्य विमूढ बने, बिना पूजा के उपहार लिये हाथ जोड़े हुए भगवान् की ओर देखते के देखते ही रह गये। सहसा भगवान् को सम्मुख देखकर उन्हें अपने नेत्रों पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने आंखें मलीं, और फिर भी उसी त्रिभुवन कमनीय अनुपम रूप माधुर्यपूर्ण मूर्ति को देखा, तो वे सहम गये, और प्रेम भार से भरित हृदय से मानसिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए दंड के समान पृथ्वी पर लेट गये। राजन्! उस समय की दक्ष की अवस्था का वर्णन मैं किन शब्दों में करूँ। वह अवर्णनीय विषय है, वाणी की वहाँ पहुँच नहीं। भाषा विचारी गूंगी हो जाती है। भाव उन बातों को व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। जिस प्रकार गंधमादन पर्वत पर भगवती अलकनन्दा में एक साथ ही अनेकों कल-कल करते हुए पहाड़ी झरने इधर-उधर से आकर उनमें गिर जाते हैं, उनके गिरने और मिलने से जैसे उनका

गरुड़ के कन्धे पर रखे हुए थे। जानुपर्यन्त लम्बी सर्प के शरीर के समान चिकनी आठ भुजाओं मे शंख, चक्र, ढाल, तलवार,

धनुष, बाण, गदा और पाश ये आठ अस्त्र धारण किये हुए थे। उनका सम्पूर्ण सुन्दर शोभायुक्त शरीर सजल जलधर के समान

श्यामवर्ण का था। उस पर आकाश मे विद्युत् के समान पीतावर उसी प्रकार फहरा रहा था। जिस प्रकार नील वसनधारी नायक अपनी पीत वसनधारिणी नायिका के सहित शोभा देता है। पूर्ण चन्द्रमा के समान उनका मनोहर मुख खिला हुआ था। नेत्र शीतल उत्फुल्ल कमल के समान प्रसन्न, मधुमय अनुराग पराग से युक्त थे। वे विशाल मुकुट, किराट, झिलमिलाते हुए मकराकृत, कुंडल, काञ्ची, अगुलाय, ककण, नूपुर और अङ्गदादि आभूषणा से विभूषित थे। उनका शोभा अवर्णनीय है। अस्त्र और आयुधा को धारण किये नारद, नन्द, सुनन्द आदि अपने प्रिय पार्षदो से घिरे हुए वे उसी प्रकार शोभा दे रह थे, मानों सिद्धाचारण गन्धर्वा से घिरे हुए अप्राकृतिक अद्वितीय सम्राट हा।

सहसा अपने सम्मुख भगवान् के ऐसे त्रिभुवन मोहन रूप का प्रादुर्भाव देखकर प्रजापति दक्ष हक्के बक्के से रह गये, वे किंकर्तव्य विमूढ बने, बिना पूजा के उपहार लिये हाथ जोडे हुए भगवान् की ओर देखते के देखते हा रह गय। सहसा भगवान् को सम्मुख देखकर उन्ह अपने नेत्रा पर विश्वास नहीं हुआ। उन्हाने आख मलीं, और फिर भी उसी त्रिभुवन कमनीय अनुपम रूप माधुर्यपूर्ण मूर्ति को देखा, तो वे सहम गये, और प्रेम भार से भरित हृदय से मानसिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए दड के समान पृथ्वी पर लेट गये। राजन्! उस समय की दक्ष की अवस्था का वर्णन में किन शब्दो म करूँ। वह अवर्णनीय विषय है, वाणी का वहाँ पहुँच नहा। भाषा विचारी गूँगी हो जाता है। भाव उन बातों को व्यक्त करने म अपने को असमर्थ पाते हैं। जिस प्रकार गधमादन पर्वत पर भगवती अलकनन्दा म एक साथ ही अनेकों कल कल करते हुए पहाडी झरने इधर उधर से आकर उनम गिर जाते हैं, उनके गिरने और मिलने से जैसे उनका

प्रवाह और वेग-पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार परमानन्द के वेग से मन और इन्द्रियों की गति रूँध जाने से वे स्तुति की इच्छा रखते हुए भी स्तुति न कर सके, वाणी गद्गद् होगयी प्रयत्न करने पर भी प्रेमातिरेक के कारण वे कुछ कह न सके।

भगवान् ने देखा, मेरा भक्त कुछ कहना चाहता है, किन्तु प्रेम में ऐसा विह्वल हो रहा है, कि कुछ कहने मे समर्थ नहीं हो रहा है, तब बात चलाने के निमित्त उन्होंने ही उसके संकोच को दूर करते हुए मेघ गंभीर वाणी मे कहना आरंभ कर दिया।

भगवान् बोले—"प्रजापते! दक्ष! तुम अब निश्चिन्त हो जाओ। तुम कृतकार्य हो। जिस कामना के निमित्त तुम तप कर रहे थे, तुम्हारी वह कामना पूर्ण होगयी। तुम्हें अब संसिद्धि प्राप्त हो चुकी। मेरे में दृढ़ अनुराग हो जाना यही समस्त साधनों का एक मात्र सर्वोत्तम फल है। तुम्हारा तप सर्व-श्रेष्ठ तप है।"

यह सुन कर बड़े कष्ट से प्रजापति दक्ष बोले—"भगवन्! मेरा तप काहे का है। मैं तो व्यापारी वणिक हूँ। कामी हूँ मन में कामना रखकर सकाम आराधना कर रहा हूँ।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"नहीं भैया! तुम्हारा तप अपने निमित्त थोड़े ही है, तुम इस तप से अपने शरीर की, अपने इन्द्रिय सुखों की अभिवृद्धि तो चाहते ही नहीं। तुम तो इस विश्व की वृद्धि करना चाहते हो। इसीलिये मैं तुमसे अत्यंत प्रसन्न हूँ। परोपकार की इच्छा होना यह स्वार्थ नहीं परमार्थ है।"

प्रजापति दक्ष ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—"महाराज! मैं अपनी वासनाओं को भीतरी इच्छाओं को प्रजाओं की वृद्धि हो इस भावना को दबा नहीं सका हूँ।"

भगवान् यह सुनकर हस पड़े, और बोले—"राजन्!" यह मेरी इच्छा ही थी। मैं चाहता था, कि सब प्राणियों की अभिवृद्धि हो। मेरी इच्छा से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति के हेतु भूत, ब्रह्मा, रुद्र, मनु, प्रजापति और इन्द्र आदि उत्पन्न होते हैं। ये सब मेरी विभूतियाँ हैं मुझसे ये भिन्न नहीं पृथक-सत्तावान् नहीं। मेरे ही अस्तित्व से इनका प्रादुर्भाव संभव है। इस सब विश्व को तुम मेरा रूप समझो। दक्ष प्रजापति ने कहा—"महाराज! किस प्रकार आपके रूप का चिन्तन स्मरण करें।"

भगवान् ने कहा—"मेरे अनेक रूप है, अनेक भाव हैं। अनेक आकृतियाँ हैं। तप को तुम मेरा हृदय जानो। विश्व मेरा शरीर है। आकृति कर्म है। यज्ञों को तुम मेरे शरीर का अग मानों। धर्म मेरा मन है। ये समस्तदेवता वृन्द मेरे प्राण स्थानीय हैं। इस समस्त दृश्यवान् सृष्टि के आदि मे आरम्भ में चिन्मात्र अव्यक्त और सर्व ओर से ससुप्त के समान एक मात्र मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त भीतर बाहर दृष्टा दृश्य कुछ भी नहीं था। मेरे साथ लोकपितामह अज सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई।"

प्रजापति दक्ष ने पूछा—"प्रभो! आप से स्वयभू भगवान चतुरानन की उत्पत्ति किस प्रकार हुई?"

भगवान् ने कहा—"राजन्! जिस काल मे मुझ अनन्त गुणोवाले अच्युत अनन्त मे माया के योग से गुणमय ब्रह्माण्ड शरीर प्रकट हुआ उसी समय इस ब्रह्माण्ड रूप कमल से अयोनिज कमलासन कमलनाभ भगवान् ब्रह्मदेव का प्रादुर्भाव हुआ। जब वे देव श्रेष्ठ मेरे वीर्य से उत्पन्न होकर अभिवृद्धि को प्राप्त हुए,

तो वे मेरी इच्छा के वशीभूत होकर सृष्टि कार्य करने के लिये उद्यत हुए। उनके मनमें प्रजा सृजन की बलवती इच्छा तो जागृति हुई। किन्तु उन्होंने अपने को इस कार्य मे असमर्थ सा पाया।"

इस पर दक्ष प्रजापति ने पूछा—"हाँ! तो भगवन् फिर क्या हुआ। आपने उनकी इच्छा की पूर्ति किस प्रकार की?"

भगवान ने कहा—"जब चतुरानन ब्रह्मा किंकर्तव्यविमूढ हो गये तो मैंने अव्यक्त वाणी मे उनके प्रति दो शब्द कहे उनमें पहला तो "त" शब्द था, दूसरा 'प' शब्द था। वे मेरे अभिप्राय को समझ गये, और तप करने लग गये। जब दिव्य सहस्र वर्षों तक वे घोर तपस्या करते रहे तब उनमे सृष्टि रचने की स्वतः ही सामर्थ्य आ गयी। सर्व प्रथम उन्होंने मनसे तुम ९ प्रजापतियो को उत्पन्न किया। तब सृष्टि की वृद्धि होने लगी।"

इस मन्वन्तर मे अब प्राचीन सृष्टि-सी हो गयी है, उसकी तुम मेरी प्रेरणा से पुनः अवृद्धि करना चाहते तो, तुम मेरा बात मानो।

हाथ जोड़कर दक्ष ने कहा—"भगवन्! जैसी आपकी आज्ञा हो। मुझे कर्तव्य कर्म का आदेश मिलना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"तुम जो मानसिक सृष्टि कर रहे हो इससे कभी सृष्टि की वृद्धि न होगी। मानसिक सृष्टि वाले वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण के होते हैं। वे सृष्टि झंझट मे क्यों पड़ने लगे। तुम मैथुनी सृष्टि उत्पन्न करो। स्त्री का पुरुष में पुरुष का स्त्री मे जब स्वाभाविक आकर्षण हो जायगा, तो यह सृष्टि

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् इस प्रकार दक्ष प्रजापति को उपदेश देकर भगवान् तुरन्त वहीं के वहीं अंतर्धान हो गये। दक्ष देखते के देखते ही रह गये।

छप्पय

बोले हरि, तुम प्रजा हेतु क्यों कष्ट उठाओ।
मन ते बढे न सृष्टि मैथुनी सृष्टि बनाओ॥
पञ्चजन्य की सुता असिक्नी बहू ब्याहिके।
सतति करि रति धर्म बढाओ उभय जाइकें॥
बिनु आकर्षण सृष्टि नहिं, कबहुँ बढे हिय महँ धरो।
तातें चटपट जायकें, वर विवाह बेटा करो॥

मैथुन धर्म से दक्ष के हर्यश्व नामक पुत्रों की उत्पत्ति

[३७२]

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः ।
हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद् विभुः ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० ५ अ० १ श्लो०)

छप्पय

व्याह दक्ष ने कर्यो विष्णु आज्ञा सिर धारी ।
अति प्रसन्न मन भयो बहू लखि अति सुकुमारी ॥
सुधी प्रजापति दक्ष तपस्वी दृढ व्रतधारी ।
दश सहस्र सुत जने पिता के आज्ञाकारी ॥
सब समान गुण रूप रंग, शील एक सी वय नई ।
तातें सबकी एकई, हर्यश्व हि संज्ञा भई ॥

भगवान् की माया कैसी प्रबल है, ज्ञानी अज्ञानी, पंडित मूर्ख छोटे बडे, पशु पक्षी, देव, तिर्यक मनुष्य सभी उनकी माया के वशीभूत होकर कार्य कर रहे हैं। उनकी माया के बिना सृष्टि नहीं, सम्बन्ध नहीं, संसार नहीं, दुःख नहीं, क्लेश नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, बन्धन नहीं, मोक्ष नहीं। यह नहीं, वह नहीं,

---

❀ श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! तब विष्णु-माया से उपबृंहित उन विभु प्रजापति दक्ष ने उस पञ्चजन प्रजापति की पुत्री असिक्नी में हर्यश्व संज्ञा वाले दस हजार पुत्र उत्पन्न किये।

मैं नहीं, तू नहीं, कहाँ तक कहें कुछ नहीं है। वे ही वे हैं। इस ठगिनी माया ने बीच में पड़कर यह बवंडर पैदा कर दिया है। बच्चे पैदा करो, सृष्टि करो, ब्याह करो, त्याग करो, ग्रहण करो सब इसी में सम्भव है। यह ऐसी गुणमयी नई बहू है, कि जबसे इसका इस विश्व रूपी ससुराल में पदार्पण हुआ है तबसे नित्य नई साड़ियाँ बदलती रहती है। न कभी बूढ़ी होती है, न बीमार न इसके शरीर में कभी झूर्रियाँ पड़ती हैं न वृद्धा अवस्था जन्य कुरूपता ही इसके पास फटकती है। सदा बनी-ठनी सजी-बजी नित्य नूतन नित्य नये आकर्षण के सहित पदार्पण करती हैं। यह ऐसी विचित्र है कि हम ऐसे अज्ञानियों की तो बात ही क्या है बड़े-बड़े अद्वैत वेदान्त के ज्ञानी सद् असद् का विवेचन करनेवाले इसके घूँघट को उठाकर उसके यथार्थ रूप को जानना चाहते है, वे भी किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचते। उनसे पूछे क्यों जी, यह बनी ठनी नवेली नववधू 'सत' है तो वे सिर हिला देते हैं। फिर पूछते हैं, क्यों जी यह ठगिनी यदि 'सत्' नहीं है तो असत् होगी किसी ने धातु को रंग कर कलई कर रंग बिरंगी साड़ी पहिनाकर मूर्खों को भ्रम में डालने के लिये झूठी "असत्" ही बना दी होगी। तब भी वे सिर हाथ दोनों को हिलाकर गम्भीर मुद्रा बनाकर आँखें फाड़कर कहते हैं—"ना भैया! यह असत् नहीं है।" तब तो हम चक्कर में पड़ जाते हैं। पूछते हैं—'न सत् न असत् तो कुछ मिली जुली होगी, कुछ दाल चावल ऐसी खिचड़ी होगी। तब वे हँसकर कहते है—'न भैया! यह खिचड़ी भी नहीं क्या कहे कैसे कहें इसका निर्वचन हो ही नहीं सकता "अनिर्वचनीया है। प्रतीत होता है इसके बाप ने दो नाम रख दिया होगा एक माया एक अनिर्वचनीया। नहीं तो अनिर्वचनीया का तो कोई

अर्थ है ही नहीं। "है" शब्द का तो अर्थ है। सो उसे ज्ञानी ही जाने। अपने अज्ञानी लोग तो इस देवी का डर से डडोत करके इसके पति के पादपद्मों में प्रणाम करते हैं। इसके सम्बन्ध में कुछ पूछते ही नहीं। क्या स्त्री की चर्चा करना इतने बडे पूज्य के सम्मुख। वह जैसे हो बनी रहे कोई जब अपना स्वभाव छोडता नहीं तो हम इसके स्वभाव की जाति कुलगोत्र की चर्चा क्यों करें। साधु को भिक्षा के अतिरिक्त और इस अनिर्वचनीय से क्या काम? उस माया का ही आश्रय लेकर माया पति इस सृष्टि की रचना करते हैं ऐसी बात हम सदा से सुनते आ रहे हैं। उसी माया के वशीभूत होकर भगवान की इच्छा से समस्त प्रजापति सृष्टि रचना में आग्रह और उत्सुकता के सहित प्रवृत्ति होती है। ये पुरुष, प्रकृति के बिना पंगु हैं, एक पग आगे नहीं बढ सकते। अतः प्रकृत रूप नारी का सृष्टि ब्रह्मा सर्व प्रथम पुरुष के साथ ही करते हैं। जहाँ १ और १ मिले वहाँ ११ हुए। इसीलिए विवाह के समय वेद की आज्ञा है कि स्त्री को आदेश दिया जाता है कि तू एक है और तेरा पति एक है दोनों मिल जाना और पति को ग्यारहवाँ बना देना। जब तक एक अद्वितीय बने रहते हैं तब तक गुम्म सुम्म सन्न बने पडे रहते हैं। जहाँ दो हुए तहाँ गोविन्दाय नमो नमः होने लगा। इसीका नाम है जगत् प्रवाह।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्' प्रजापति दक्ष को जब भगवान् ने विवाह करने की आज्ञा दी, तब उन्होंने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया। प्रजापति पञ्चजन्य की परम सुशीला गुणवती, रूपवती, लज्जावती, दुहिता के साथ उन्होंने विधि विधान के साथ विवाह कर लिया। विवाह के अनन्तर वे अपनी पत्नी को पाकर परम प्रसन्न हुए। वे साधारण विषयी पुरुष तो

थे ही नहीं। परम यशस्वी तपस्वी और विष्णु शक्ति से परिवृंहित परम ऐश्वर्यशाली थे। उन्होंने मैथुन के साथ मंत्र-तंत्र और यंत्रों के प्रभाव से सर्वप्रथम दश हजार पुत्रों को उत्पन्न किया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह बात कुछ हमारी समझ में नहीं आती। १-२ होते २-४ भी होते तो भी विश्वास किया जा सकता था। एक साथ एक पत्नी से दश हजार लड़के पैदा हो गये, यह तो कुछ विचार बुद्धि दोनों के ही परे की बात है। यों आप श्रद्धा करने के लिये कहें तो कर भी सकते हैं। किन्तु महाभाग! यह बात मनमें बैठती नहीं।"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन्! देखिये। वे लोग साधारण मनुष्य तो थे नहीं। जो मन से ही असंख्यों भाँति की सृष्टि रच सकते हैं। उनके लिये मंत्रों के बल से १० हजार पुत्रों का उत्पन्न होना कोई बड़ी बात नहीं। धृतराष्ट्र के गान्धारी से १०० पुत्र उत्पन्न हुये। एक तूमासी में १०० बीज से उत्पन्न हुये उन्हें पृथक् पृथक् घृत के घड़ों में रख दिया गया। उसमें वे बढ़ते रहे, जब बच्चे पैदा हो गये तो उन्हें विधि विधान पूर्वक निकाला गया। कलियुग में भी वैज्ञानिक उपायों से रजवीर्य को लेकर मातृगर्भ से पृथक संतति उत्पन्न करने की चेष्टा लोग करेंगे। प्राणशक्ति का संचार तो उनमें सम्भव है किन्तु वे इन कृत्रिम उपायों से मनुष्यों को पैदा नहीं कर सकते। उन दिनों के लोग सामर्थ्यवान् सत्य संकल्प होते थे, वे अपने अमोघ वीर्य को जितने भी भागों में विभक्त कर देते उतनी ही संतानें हो जाती थीं। इसी संकल्प द्वारा सृष्टि के लिये उतावले प्रजापति दक्ष ने शुद्ध मन से रति की इच्छा के ही बिना वीर्य संसर्ग से १० हजार पुत्र उत्पन्न किए।

रजवीर्य का तो ससर्ग मात्र था, वास्तव मे तो वे शुद्ध चित्त से उत्पन्न किये, मानसिक पुत्र ही थे। उनमे माया का लेश भी नही था, विशुद्ध अन्त.करण से वे पवित्र थे। उनम छल, कपट, रति कामना कुछ भी नहीं थी। जेसे अत्यन्त छोटा दूध पीने वाला शिशु होता है, वैसे वे भोले-भाले थे। पिता के तप के प्रभाव से वे उत्पन्न होते ही कुछ समय मे युवक हो गये। वे बडे नम्र, सुशील और सरल स्वभाव के थे। उन्होंने हाथ जोड कर बाल सुलभ भोलेपन से पिता जी से पूछा—"पिता जी ! हम क्या करें ?"

पिता ने प्यार से कहा—'देखो, बेटा ! सामने तुम देख रहे हो, यह क्या है ?"

उन्होने कहा—"हमे तो पिता जी ! पता नहीं क्या है ?"

प्रजापति दक्ष ने अत्यन्त ममता के स्वर मे प्यार से इनके मुँह चूमते हुए कहा—"अरे, तुम बडे भोले लड़के हो रे ! भैया, यह सृष्टि है। भगवान् की आज्ञा है कि इसे बढाना चाहिये। देखो, भैया जेसे मैंने एक ने तुम दशसहस्र को उत्पन्न किया है, वैसे ही तुममे से प्रत्येक दशसहस्र को उत्पन्न करने मे समर्थ हो सकता है। तब कितने मनुष्य हो जायँगे। यह वन शैल, कानन पूर्ण पृथ्वी मनुष्यों से भर जायगी।"

लडकों ने कहा—'महाराज ! इतने लोग बढ जायँगे, तो क्या होगा फिर ?"

दक्ष ने प्यार के साथ कहा—"अरे, होगा क्या भैया ! सब उत्पन्न होकर नद नदी, वन पर्वतो के समीप घर बना बना कर

रहेंगे। भगवान् के निमित्त यज्ञ याग करेंगे, बड़े बड़े उत्सव हुआ करेंगे। कथा कीर्तन का बड़ा आनन्द रहेगा। सब मिल कर प्रेमपूर्वक एक दूसरे से बातें करेंगे हृदय से हृदय मिला कर स्नेह प्रकट करेंगे। भगवान् के गुणानुवादों को गायन करेंगे। भगवत् चर्चा होगा। इससे तुम्हें भी बड़ा पुण्य होगा।"

उन हर्यश्व नामक पुत्रों ने पूछा—"तब पिताजी! यह शक्ति हमें कैसे प्राप्त हो कि इतने बच्चे पैदा कर सकें?"

दक्ष प्रजापति ने प्रेम से कहा—"देखो, कोई भी मनुष्य अपनी शक्ति से कुछ नहीं कर सकता भैया! सब को शक्ति देने वाले श्री हरि ही हैं। तुम सब मिलकर उन्हीं की शरण में जाओ। उन्हीं को घोर तपस्या से प्रसन्न करो। मैंने घोर तप करके भगवान् को प्रसन्न किया था। उनकी आज्ञा पाकर ही मैंने विवाह किया और तुम सब को उत्पन्न किया। अब तुम सब भी उनकी ही सृष्टि कामना से आराधना करना।

हर्यश्वों ने पूछा—"पिताजी! कहाँ जाकर हम तप करें?"

प्रजापति दक्ष ने कहा—'तुम यहाँ से पश्चिम दिशा की ओर चले जाओ। चलते-चलते जहाँ भी शान्त एकान्त, स्वच्छ पवित्र तीर्थ स्थान देखो, वहीं रहकर भगवान् की प्रजा वृद्धि के संकल्प से आराधना करना।"

हर्यश्वों ने अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की। सब ने क्रमशः उनके चरण छुए। प्रदक्षिणा की और सबके सब पश्चिम दिशा की ओर चल दिये।

वन उपवन नदी पर्वतों को लाँघते हुए वे आगे बढ रहे थे। इस चित्र विचित्र सृष्टि को वे बडे कुतूहल से देखते हुए जा रहे थे। चलते-चलते वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पुण्यतोया भगवती सिन्धु नदी समुद्र मे जा मिली है। उस कच्छ देश मे परम पवित्र नारायण सरोवर नाम का एक परम पुण्यप्रद तीर्थ है। वह तीर्थ देवता, सिद्ध चारण, ऋषि मुनि तथा अन्य पुण्यजनों द्वारा सेवित है। वहाँ की शोभा निहार कर सभी भाई परम प्रसन्न हुए। उन्होंने जाते ही तीर्थ मे स्नान किया। स्नान करते ही उन सबका शरीर फूल के समान हलका हो गया, चित्त अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। मार्ग का सभी श्रम मिट गया। अन्त-करण का समस्त मायिक मल धुल गया। शुद्ध चित्त तो वे थे ही, जो भी कुछ पिता के ससर्ग और सङ्कल्प से मनमे कुछ प्रवृत्ति मार्ग की यत्किञ्चित् वासना उत्पन्न हो गई थी, वह तीर्थ स्नान करते ही मिट गइ। उनकी बुद्धि पारमहंस्य धर्म में लग गई। उन्हे सृष्टि आदि की वृद्धि के चक्कर मे पडना रुचिकर प्रतीत नहा होने लगा। फिर भी पिता की आज्ञा है, कि सृष्टि वृद्धि के ही निमित्त तप करना। इसी विचार से वे उसी सङ्कल्प से अनिच्छापूर्वक पिता की आज्ञा समझकर तप करने के निमित्त प्रवृत्त हुए। जो मोक्ष धर्म का अधिकारी हो चुका है, वह इन क्षुद्र ससारी विषयों मे फँसकर प्रवृत्ति मार्ग मे अग्रसर हो, यह बात मोक्ष धर्मावलम्बी नारदजी को बुरी लगी वे इन बच्चो के कल्याण की बात सोचने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कृपालु पुरुषों का यह स्वभाव होता है कि बिना कहे भी वे अधिकारी पर कृपा करते हैं बिना कृपा किये उनसे रहा ही नहीं जाता। इसीलिये नारदजी के मन

में ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई। अब आगे जो अत्यंत सुखद मनोरंजक सम्वाद होगा उसे दत्तचित्त होकर आप सब श्रवण करें।

छप्पय

पिता कह्यो हर्यश्व! करो तप वश बढ़ाओ।
पुत्र पौत्र करि अधिक जगत् महँ कीर्ति कमाओ॥
पितु आयसु सिर धारि चले तपकूँ सब भैया।
नारायण सर बसे मिले मुनि बीन बजैया॥
श्रद्धा संयम के सहित, जाय तीर्थ जे न्हात हैं।
होत हृदय तिनिको विमल, फिरि सत्गुरु मिलि जात हैं॥

नारदजी के हर्यश्वों से दशगूढ़ प्रश्न

(३७३)

प्रजा विवृद्धये यतान् देवर्षिस्तान् ददर्शह ।
उवाच चाय हर्यश्वाः कथ स्रक्ष्यथ वै प्रजाः ।
अदृष्टान्त भुवो यूय बालिशा बत पालकाः॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० ५ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

आये नारद तहाँ दक्ष पुत्रनितें बोले ।
सृष्टि करो कस बिना भूमि सबरी पै डोले ॥
एक पुरुष को राष्ट्र मार्ग बिनु बिल तुम देख्यो ।
उभय वाहिनी नदी, नारि कुलटा पति पेख्यो ॥
घर पच्चीस पदार्थ को, बहुरगी इक हसकूँ ।
बिनु जाने छुर चक्र तुम, वृद्धि करो कस वशकूँ ॥

ससार में जो जैसी प्रकृति का होता है, वह वैसी प्रकृति के पुरुषो से प्रेम करता है। सभी चाहते हैं, ससार मे सभी लोग हमारे जैसे विचार के हो। हमारे मत की अभिवृद्धि हो।

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार प्रजा की वृद्धि के लिये तत्पर हुए उन दक्ष पुत्रो को नारदजी ने देखा। नारदजी ने उनके समीप जाकर कहा—"अरे हर्यश्वो! बड़े दुख की बात है, तुम प्रजापालक होने पर भी बड़े मूर्ख हो। अरे, जब तक तुम इस पृथ्वी का अत नहीं देख लेते तब तक प्रजा की सृष्टि किस प्रकार कर सकते हो?"

त्यागी चाहता है, सभी त्यागी हों। रागी चाहते हैं, सभी
हो। बच्चा चलते चलते गिर पडे, रपट पडे, कीचड़ में
जाय तो दयालु पुरुष उसे गिरने से उठाते हैं, विपत्ति से ब
हैं और अच्छे मार्ग पर लगाते हैं। वे किसी स्वार्थ के वश
होकर नहीं, किसी पारितोषक की इच्छा से नहीं। उनका स्व
होता है, कि वे भूले भटको को सीधा सच्चा मार्ग दिखावे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! ब्रह्मलोक में वि
वाले महामुनि नारद ने जब देखा कि वे दक्ष के दस सहस्र
सबके सब विशुद्ध अन्तःकरण वाले है, इनमें यत् किञ्चित म
का अंश आगया था, वह नारायण सरोवर में स्नान करने से
गया। ऐसे शुद्ध चित्तवाले बालक पिता की आज्ञा के वशीभूत
कर संसार बन्धन में फँसे यह उचित नहीं। इतने भोले भाले ब
कहाँ किचि पिचि में फँसगे। कभी यह नहीं कभी वह
आज बहू मुँह फुलाय बैठी है, कल भृत्य ने ही अपराध
दिया उसी पर क्रोध आगया। कभी बच्चा ही नहीं होता।
भी तो बीमार पड गया। औषधि लाओ, यन्त्र, मन्त्र, जादू,
कराओ। दिन रात्रि हाय हाय में फँसे रहना। गृहस्थ में
का तात्पर्य ही यह है चिन्ताओं की गठरी को स्वेच्छा से
पर रख लेना। ये बच्चे भूले भटके हैं। इन्हें मार्ग पर ला
चाहिये।" अब क्या था नारदजी के मनमें जहाँ यह
आई नहीं, कि बेडा पार हुआ नहीं। नारदजी को कुछ
तो सजाना ही नहीं था। बिस्तरा पेटी तो लेनी ही नहीं
उठाई वीणा और उतर पडे। क्षणभर में नारायण सरोव
समीप पहुँच गये।

नारदजी ने सोचा—"इनसे सीधे-सीधे यह कहें कि
घर गृहस्थी के झंझट में प्रजावृद्धि के चक्कर में मत

तो ये मानेंगे नहीं। क्योंकि ये तो पिता की आज्ञा में बँधे हैं, उसे पालन करना अपना परम धर्म समझते हैं। इनसे कुछ तिकड़म भिड़ानी चाहिये। इन्हें ऐसी युक्ति से समझना चाहिये कि स्वयं ही ये विचार करके इस झंझट से मुक्त हो जायँ, मुझे सीधे सीधे कहना ही न पड़े। यह सोच कर वे उनके और निकट पहुँचे। ये सब तो स्नान करके नारायण सरोवर के जल में खड़े हुए मंत्र जप रहे थे। सबके नेत्र बन्द थे, अतः उन्होंने अपने समीप आते हुए नारदजी को नहीं देखा। नारद जी ने अपनी स्वर ब्रह्म विभूषिता वीणा पर तान छोड़ते हुए कहा—दक्ष के प्यारे पुत्रो! हर्यश्वों! जय जय श्री सीताराम। नमो नारायणाय।"

इतना सुनते ही सब के सब शीघ्रता से आचमन करके दौड़े और सब ने नारदजी के पैर छूने आरम्भ किये अब एक दो हों तो शीघ्रता से छूलें, पूरी दश हजार सैनिकों की सेना थी। प्रेम में ऐसे बेसुधि हो गये कि वह उसे ढकेलता, वह उसके आगे पैर छूना चाहता था। नारदजी अपनी वीणा को सम्हालते हुए कहते थे—"अरे, भैया शनैः शनैः प्रणाम करो, एक दूसरे को ढकेलो मत।" इस प्रकार जब सब पैर छू चुके तब नारदजी उनके दिये हुए तृण के आसन पर सुख से बैठ गये और बड़े प्रेम से कुशल प्रश्न पूछने लगे।

कुशल प्रश्न के अनन्तर नारदजी ने कहा—"पुत्रों, तुम सब तो भैया, बड़े सुकुमार हो। तुम सब की आकृति प्रकृति, शील स्वभाव, सदाचार, रहन सहन, बोली वाणी सब एक सी है। तुम अपने पिता के घर को छोड़कर यहाँ जंगल में क्यों आये हो? क्यों इस बीहड़ वन में भटक रहे हो?"

उन सबोंमें से एकने कहा—"भगवन्! हम अपने पूज्य पिता की आज्ञा से इस सृष्टि की वृद्धि करना चाहते हैं। जब सृष्टि

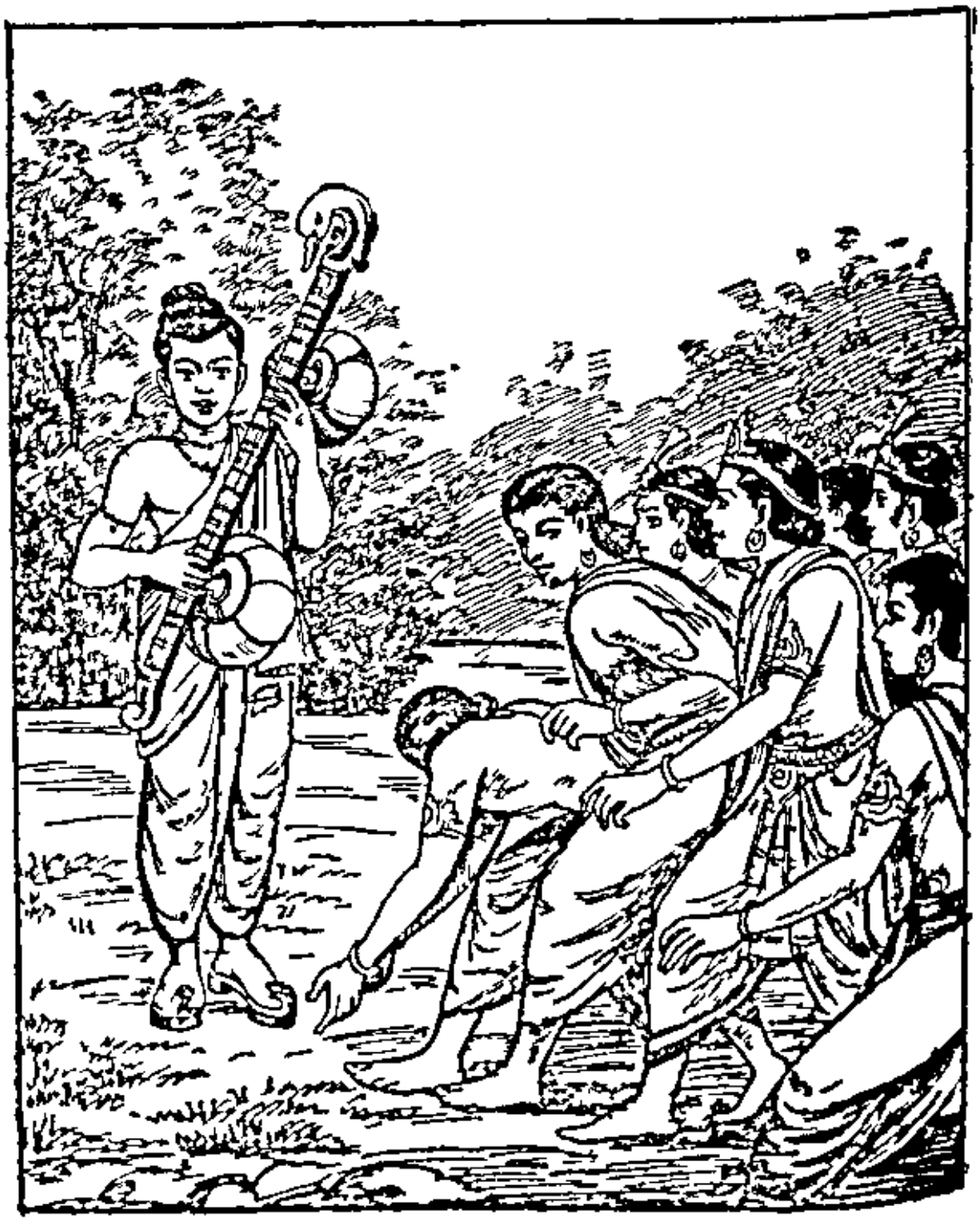

की वृद्धि हो जायगी तो इस पृथ्वी की प्रजा का प्रजापति बनकर प्रेम पूर्वक पालन करेंगे।"

नारदजी ने हँसकर कहा—"प्रजा का पालन बुद्धि से होता है या बातें बनाने से ही काम चल जाता है ?"

उन्होंने कहा—"नहीं, महाराज ! प्रजा पालन के लिये तो बड़ी बुद्धि की आवश्यकता है।"

इस पर हँसकर नारदजी ने कहा—"तब फिर तुम पृथ्वी की प्रजा का पालन कैसे कर सकते हो। कहते तो तुम अपने को प्रजापति हो, किन्तु हो सब के सब पूर घोंघा वसन्त। तुम्हें इतनी भी बुद्धि नहीं कि जब तक इस सम्पूर्ण पृथ्वी का तुम अन्त न देख लो, तब तक इस पर रहने वाली प्रजा का पालन कैसे करोगे। प्रथम पूर्ण पृथ्वी का अन्त देख डालो।"

यह सुनकर हर्यश्व तो विचार में पड़ गये। बेचारे सरल चित्त तो थे ही। बोले—"हाँ, महाराज ! इस पृथ्वी का अन्त तो हमने नहीं देखा।"

नारदजी ने रोष के स्वर में कहा—"तो क्या देखे हैं, तुमने पत्थर ! अरे, जब तक तुम जान न लो पृथ्वी क्या है, कैसे बनी इससे पार कौन वस्तु है, एक पाद में यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड है, इससे परे विशुद्ध त्रिपाद विभूति है। बिना जाने सृष्टि को में तत्पर हो गये इससे लाभ क्या ? अच्छी बात है हम तुम्हारी बुद्धि की परीक्षा लेने के लिये तुम से १० प्रश्न करते हैं। उनके विचार कर उत्तर दे दोगे, तो हम समझ लेंगे तुम सृष्टि करने में समर्थ हो सकते हो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यह परीक्षा देना सबसे अधिक कार्य है। पग पग पर सन्देह ही बना रहता है। जिसने कभी परीक्षा दी हो वही इसका अनुभव भली भाँति कर सकता है। भगवान् सब विपत्ति डाले, किन्तु परीक्षा के

चक्कर मे न फँसावें। परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाला तो फँस जाता है। अनुत्तीर्ण होने वाला न घर का रहता है न घाट का उसे निरंतर विचार मे ही निमग्न रहना पड़ता है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब नारदजी ने उन्हें परीक्षा की सूचना दे दी, तब तो वे हाथ जोड़कर परीक्षा देने को सन्नद्ध हुए। और बोले—"हाँ ब्रह्मन्! आप हमसे जो पूछना चाहें पूछें।"

यह सुनकर नारदजी गंभीर होकर पूछने लगे—अच्छा देखो, दश प्रश्नों मे से हमारा प्रथम प्रश्न तो यह है, कि तुम लोगों ने इस भूमि का अंत देखा है?

उन सबने हाथ जोड़कर कहा—"नहीं, भगवन्! हमने तो इस भूमि का अंत देखा नहीं।"

इस पर नारदजी बोले—"तब तुम कैसे सृष्टि कर सकते हो इस बात को स्वयं अपनी बुद्धि से विचारो। अब हमारे द्वितीय प्रश्न का उत्तर दो। तुम लोग जानते ही हो, कि मेरी चौदह भुवनों मे अव्याहत गति है। एक बार मैं घूमता फिरता एक बड़े भारी देश मे पहुँचा। उस इतने बड़े राष्ट्र मे एक ही पुरुष था उसे चाहें राजा कहलो या प्रजा, मन्त्री कहलो या पुरोहित। वह पुरुष नपुंसक जो चाहो सो कहलो। तुम लोग उस राष्ट्राधि एकाकी अद्वितीय पुरुष को जानते हो?"

हर्यश्वों ने कहा—"नहीं, भगवन्! हमें तो ऐसे राष्ट्र का ह पता नहीं, फिर उस पुरुष को कैसे जान सकते हैं।"

नारदजी ने रोष में कहा—"तब बस इतनी ही बुद्धि के बल पर प्रजा की वृद्धि करने का साहस कर रहे हो। उस पुरु को जाने बिना तो सब कार्य व्यर्थ है। अब हमारे तीसरे प्रश्न

का उत्तर दो। एक बार हम एक बिल में घुस गये। उसमें और भी बहुत से जीव घुसे हुए थे। हम घुस तो गये, किन्तु निरंतर चक्कर काटते रहने पर उसमें से निकलने का किसी का मार्ग ही नहीं मिलता। जो घुस जाता है, उसी में घूमता रहता है। घुसने का मार्ग तो बिल में है, किन्तु निकलना अत्यन्त कठिन है। क्या ऐसे बिल को तुमने देखा है ?"

हर्यश्वों ने कहा—"नहीं, प्रभो ! हमने तो उस बिल को देखा नहीं।"

नारदजीने प्यार से कहा—"अरे, बच्चो ! बिना उस बिल का मर्म जाने तुम सृष्टि करो भी तो व्यर्थ है। उसका कोई महत्व नहीं। अब हमारे चौथे प्रश्न का उत्तर दो। हमने एक ऐसी स्त्री देखी जो क्षण क्षण में रूप बदलती रहती है। कभी नीली साड़ी पहिन लेती है, तो क्षण भरमें रक्त चूँनरी ओढ़ लेती है, कभी शुभ्र स्वच्छ बगुले के पंख के समान श्वेत चद्दर ओढ़-लेती है। कभी बालों की लम्बी वेणी बना लेती है, कभी उन्हें घुँघराले बनाकर इधर-उधर बिखेर लेती है। कभी पीछे के बालों को कटवाकर नूतनता का प्रचार करती है। कभी घूँघट मार लेती है। कभी चन्द्रमा से मुख को खोल देती है। कभी सिरनंगा करके इठलाती हुई निर्लज्ज होकर स्वच्छन्द घूमती है। कभी काजर, बेंदी सुरमा लगाती है, कभी पूरी वेश्या बन जाती है, कभी कुलवती का सा अभिनय करने लगती है। कभी हँसती है, कभी नाचती है, कभी गाती है, कभी खाती है, कभी पान करती है। क्षण-क्षण में पल-पल में निमिष-निमिष में रूप बदलती रहती है। उस बहुरूपिणी ललना को तुमने कभी देखा है ?"

हर्यश्वों ने कहा—"महाराज, हमारे सामने तो वह कभी आई नहीं।"

नारदजीने झिड़क कर कहा—"तुम पगले हो, अरे बच्चो! वह ठगिनी तो किसी की भी लाज नहीं करती। सबके सामने नाचती है, तुम उसे देखकर भी नहीं देखते यही तो मूर्खता है। अब हमारा पाँचवा प्रश्न सुनो। हमने एक ऐसे पुरुष को देखा जो अपने को बड़ा कुलीन सदाचारी मानता है, किन्तु उसकी स्त्री उसके सामने ही व्यभिचार वृत्ति करती है, वह उसे देखता है, देखकर भी कुछ नहीं कहता।"

हर्यश्वों ने कहा—"महाराज! हमने तो ऐसे निर्लज्ज पुरुष को कभी देखा नहीं।"

नारदजी ने कहा—"तब तुमने कुछ नहीं देखा। अच्छा हमारे छटे प्रश्न का भी उत्तर दे सकते हो तो दो। हमने एक ऐसी नदी देखी जो उत्तर की ओर भी बह रही है और दक्षिण की ओर भी। तुमने उसे कभी देखा है।"

हर्यश्वों ने आश्चर्य चकित होकर कहा—"भगवन् आप कैसे प्रश्न कर रहे हैं। सब नदियों को उत्तर से दक्षिण की ओर बहते हुये तो हमने देखा है किन्तु दोनों ओर बहने वाली उभय वाहिनी नदी को तो हमने अभी तक नहीं देखा।"

नारदजी ने कहा—"तभी तो मैं कहता हूँ, तुम अभी बच्चे हो, बुद्धि के कच्चे हो, हृदय के सच्चे हो। मेरे प्यारे बच्चो! मेरे इन प्रश्नों पर मनन करो, विचार करो। अब मेरा सातवाँ प्रश्न भी सुनलो। हमने एक ऐसा सुन्दर चित्र विचित्र रंगवाला २५ तत्त्वों का बना एक घर देखा है, कि उसमें प्रवेश करते ही प्राणी अपने यथार्थ तत्त्वको भूल जाता है। तुमने भी उसे देखा है। बताओ वह क्या है?"

हर्यश्वो ने सोचकर कहा—"महाराज ! देखा होगा। अब तो हमे उसका स्मरण आ नहीं रहा है।"

नारदजी ने कहा—"यही तो अज्ञान है तभी तो मैं कहता हूँ, इस अल्प बुद्धि के सहारे तुम सृष्टि कैसे कर सकते हो ? अब मेरे आठवें प्रश्न का उत्तर दो। तुमने समीप ही उडने वाले ऐसे हस को देखा है, जिसके पङ्ख चित्र विचित्र हो अनेको रङ्गो से वह रङ्गा हुआ हो ?"

हर्यश्वो ने कहा—"कृपानाथ ! हमने सफेद हसो को तो बहुत देखा है, किन्तु चित्र विचित्र पङ्खो वाले हस को तो आज तक देखा नही।"

नारदजी ने कहा—"अरे भेया, देखकर भी न देखना यही तो मूर्खता है, इसी का नाम तो अज्ञान है। अज्ञानी पुरुषो के सिर पैर सींग थोडे ही होते हैं। न उनके पूँछ होती है न चार पैर ही। अच्छा, अब नौवे प्रश्न का उत्तर दो।

एक ऐसा चक्र है, जो अपने आप घूमता ही रहता है। वह वज्र तथा छूरे से बना हुआ है। बड़ा तीक्ष्ण है कभी भी नहीं रुकता।"

हर्यश्वो ने कहा—"दयासागर ! हम लोगो ने तो उस चक्र का साक्षात्कार किया नही।"

नारदजी ने कहा—"अरे, तुम तो भेया सट्ट पट्ट से ही दिखाई देते हो। अच्छा, तुम अपने सर्वज्ञ पिता की वास्तविक आज्ञा को समझने मे समर्थ हो कि नही ?"

हर्यश्वों ने कहा—"महाराज ! हमारे पिता सर्वज्ञ हैं, कि नहीं हैं इसका तो हमे पता नहीं और हम यह भी पता नहीं कि जो आज्ञा दी है वह वास्तविक है या अवास्तविक। उन्होंने

हर्यश्वोंका नारदजीके कूटवचनों पर विमर्श

(३७४)

तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया ।
वाचः कूटं तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० ५ अ० १० श्लो०)

छप्पय

नारद के सुनि कूट प्रश्न मिलि ध्यान लगायो ।
लिंग देह ई भूमि अत कन जाको पायो ॥
नित्य मुक्त हरि लखे बिना फल कमनिको नहि ।
ब्रह्मरूपनिल प्रविशि लौटि फिर आयो को कहि ॥
बुद्धि स्वैरिणी नारि है, पति अज्ञानी जीव है ।
उभयवाहिनी नदी जिह, माया जिहि पति शीव है ॥

सद्गुरु प्रत्यक्ष उपदेश कम किया करते हैं । क्योंकि योग्य बुद्धिमान अधिकारी शिष्य के लिये सकेत ही यथेष्ठ होता है । एक कथा है—देव, असुर, तथा मनुष्य तीनों मिलकर लोक पितामह ब्रह्माजी क समीप गये और बोले—हमें सर्वोत्तम उपदेश दीजिये । ब्रह्माजी ने यह सुनकर तीन बार द, द, द, ऐसा कह दिया ।

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् नारदजी के इन कूट वचनों का श्रवण करके उन दक्ष पुत्र हर्यश्व ने अपनी स्वभाव की विवेक शील बुद्धि द्वारा स्वय ही इन सब प्रश्नों का उत्तर सोचने लगे । विचार करने लगे यह क्या बातें हैं ।"

जो जैसे अधिकारी था उसने उसका वैसा ही अर्थ लगा लि
देवता प्रायः अजितेन्द्रिय होते हैं, अतः उन्होंने समझा ब्रह्
हमसे कह रहे हैं 'हम' का आश्रय लो। असुर प्रायः दया
होते हैं, उन्होंने अर्थ लगाया—कमलासन हमसे दया करने
कहते हैं। मनुष्य प्रायः फल के हेतु से काम करने वाले कृ
होते हैं, अतः उन्होंने 'द' का अर्थ समझा कि हंसवाहन भगव
चतुरानन हमें दान का उपदेश कर रहे हैं। इस प्रकार अप
बुद्धि से विमर्श करके जो जैसा अधिकारी होता है उसका वै
ही अर्थ निकालता है। अनधिकारी को उपदेश करना व्यर्थ
वह उसे कभी भी ग्रहण नहीं कर सकता।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नारदजी के गूढ़ अभि
प्राय से युक्त कूट वचनों को सुनकर हर्यश्वगण अपने आप ह
अपनी स्वाभाविक विचारशीला बुद्धि से पुनः पुनः उनका अर्थ
सोचने लगे। वे अब प्रजा की वृद्धि के निमित्त तप करना
तो भूल गये, देवर्षि ने जो आकर बीच में अन्तःकरण में १०
गुत्थियाँ डाल दीं उन्हीं के सुलझाने में वे लोग लग गये।"

उन्होंने सोचा—नारदजी ने कहा है—तुम पृथ्वी का अन्त
बिना देखे किस प्रकार प्रजा उत्पन्न करोगे। तो यह इस पृथ्वी
से उनका अभिप्राय क्या है? अन्त देखना क्या है और प्रजा
की उत्पत्ति क्या? सोचते-सोचते उनके शुद्ध अन्तःकरण में इन
तीनों बातों का अर्थ प्रस्फुटित होने लगा। यह षोडश कलाओं
से युक्त जीव नाम लिंग, शरीर ही भूमि है, यही नित्य शुद्ध
मुक्त आत्मा का अनादि बन्धन है। जब तक इसका अन्त न
देख लें इसका परिणाम न समझ लें कि कर्म करने से ८४ का
चक्कर तैयार हो रहा है, तब तक असत् कर्मों के करने से जो

कार्य मोक्ष मार्ग मे उपयोगी नहीं है उनके आचरण से लाभ ही क्या ? अतः पहले हमे जीव और ब्रह्म का विवेचन करके इन कर्मों का यथार्थ स्वरूप समझ लेना चाहिय। यही वीणापति भगवान् नारद के प्रथम गूढ प्रश्न का भावार्थ है।

अब दूसरी बात देवर्षि ने यह कही थी कि एक ऐसा राष्ट्र है जिसमे एक ही पुरुष है।' राष्ट्र तो यह नाना रूपो मे दिखाई देने वाला जगत् है, इसमे जो हमे यह विभिन्नता दिखाई दे रही है यह हमारा भ्रम है। वास्तव मे तो सर्वत्र वही एक ईश्वर तत्त्व ही व्याप्त है वही—"एकमेवाद्वितीयम्" है। ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं। इस जगत् रूपी राष्ट्र मे ब्रह्म पुरुष एक ही है। जब तक उसका ज्ञान नही होता, तब तक अज्ञानी बन कर असत् कार्यो को करते रहना व्यर्थ है। अतः सर्वप्रथम उन जाग्रत स्वप्नादि सम्पूर्ण अवस्थाओ के साक्षी अपने ही आश्रय से रहने वाले, स्वय प्रकाश, प्रकृति आदि से अतीत नित्य मुक्त उन परब्रह्म प्रभु को ही जानना चाहिये। उसके प्रथम ही कार्यों मे प्रवृत्ति होने से कुछ भी लाभ नहीं।

तीसरी बात नारदजी ने यह कही थी, कि 'एक ऐसा बिल है जिसम से निकलने का मार्ग ही नहा। तो वह बिल यथार्थ म क्या है। सोचते-सोचते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे। अरे, ब्रह्मवित् पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है, फिर वह ब्रह्म रूप बिल मे जाकर लौटता नहीं, उसकी पुनरावृत्ति समाप्त हो जाती है। उस ब्रह्मरूप बिल का बिना पता लगाये कार्य करना अनुचित है।

चौथी बात नारद जी ने पूछी थी, तुम एक बहुरूप धारण करने वाली स्त्री को जानते हो, तो वह स्त्री यह बुद्धि ही है। यही

जो जैसे अधिकारी था उसने उसका वैसा ही अर्थ लगा लिया। देवता प्रायः अजितेन्द्रिय होते हैं, अतः उन्होंने समझा ब्रह्माजी हमसे कह रहे हैं 'हम' का आश्रय लो। असुर प्रायः दयाहीन होते हैं, उन्होंने अर्थ लगाया—कमलासन हमसे दया करने को कहते हैं। मनुष्य प्रायः फल के हेतु से काम करने वाले कृपण होते हैं, अतः उन्होंने 'द' का अर्थ समझा कि हंसवाहन भगवान् चतुरानन हमें दान का उपदेश कर रहे हैं। इस प्रकार अपनी बुद्धि से विमर्श करके जो जैसा अधिकारी होता है उसका वैसा ही अर्थ निकालता है। अनधिकारी को उपदेश करना व्यर्थ है, वह उसे कभी भी ग्रहण नहीं कर सकता।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नारदजी के गूढ़ अभिप्राय से युक्त कूट वचनों को सुनकर हर्यश्वगण अपने आप ही अपनी स्वाभाविक विचारशीला बुद्धि से पुनः पुनः उनका अर्थ सोचने लगे। वे अब प्रजा की वृद्धि के निमित्त तप करना तो भूल गये, देवर्षि ने जो आकर बीच में अन्तःकरण में १० गुत्थियाँ डाल दी उन्हीं के सुलझाने में वे लोग लग गये।"

उन्होंने सोचा—नारदजी ने कहा है—तुम पृथ्वी का अन्त बिना देखे किस प्रकार प्रजा उत्पन्न करोगे। तो यह इस पृथ्वी से उनका अभिप्राय क्या है? अन्त देखना क्या है और प्रजा की उत्पत्ति क्या? सोचते-सोचते उनके शुद्ध अन्तःकरण में इन तीनों बातों का अर्थ प्रस्फुटित होने लगा। यह षोडश कलाओं से युक्त जीव नाम लिंग, शरीर ही भूमि है, यही नित्य शुद्ध मुक्त आत्मा का अनादि बन्धन है। जब तक इसका अन्त न देख ले इसका परिणाम न समझ ले कि कर्म करने से ८४ का चक्कर तैयार हो रहा है, तब तक असत् कर्मों के करने से जो

कार्य मोक्ष मार्ग मे उपयोगी नहीं हैं उनके आचरण से लाभ ही क्या ? अतः पहले हमे जीव और ब्रह्म का विवेचन करके इन कर्मों का यथार्थ स्वरूप समझ लेना चाहिय। यही वीणापति भगवान् नारद के प्रथम गूढ प्रश्न का भावार्थ है।

अब दूसरी बात देवर्षि ने यह कही थी कि एक ऐसा राष्ट्र है जिसमे एक ही पुरुष है।' राष्ट्र तो यह नाना रूपो मे दिखाई देने वाला जगत् है, इसमे जो हमे यह विभिन्नता दिखाई दे रही है यह हमारा भ्रम है। वास्तव मे तो सर्वत्र वही एक ईश्वर तत्त्व ही व्याप्त है वही—"एकमेवाद्वितीयम्" है। ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं। इस जगत् रूपी राष्ट्र मे ब्रह्म पुरुष एक ही है। जब तक उसका ज्ञान नही होता, तब तक अज्ञानी बन कर असत् कार्यो को करते रहना व्यर्थ है। अतः सर्वप्रथम उन जाग्रत स्वप्नादि सम्पूर्ण अवस्थाओ के साक्षी अपनेही आश्रय से रहने वाले, स्वय प्रकाश, प्रकृति आदि से अतीत नित्य मुक्त उन परब्रह्म प्रभु को ही जानना चाहिये। उसके प्रथम ही कार्यों मे प्रवृत्ति होने से कुछ भी लाभ नहीं।

तीसरी बात नारदजी ने यह कही थी, कि 'एक ऐसा बिल है जिसमे से निकलने का मार्ग ही नहा। तो वह बिल यथार्थ मे क्या है। सोचते-सोचते वे इस निष्कर्ष पर पहुँच। अरे, ब्रह्म वित् पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है, फिर वह ब्रह्म रूप बिल मे जाकर लौटता नहीं, उसकी पुनरावृत्ति समाप्त हो जाती है। उस ब्रह्मरूप बिल का बिना पता लगाये कार्य करना अनुचित है।

चौथी बात नारद जी ने पूछी थी, तुम एक बहुरूप धारण करने वाली स्त्री को जानते हो, तो वह स्त्री यह बुद्धि ही है। यही

नाना प्रकार के रूप रखकर जीवन को भ्रम में डाल देती है। यह कृष्ण वर्ण, श्वेतवर्ण और रक्तवर्ण की चुनरी ओढ़ने वाली गुणमयी बुद्धि ही जीव को एक योनिसे दूसरी योनिमे घुमाती फिरती है। अज्ञान रूपी घूँघट मे यह अपनी "अप्रसूक्ष्म" मुख छिपाये रहती है। सूक्ष्मदर्शी पुरुष जब तक इसके मुख का घूँघट उठा कर देख न ले इससे पूर्ण परिचय प्राप्त न हो जाय, तब तक प्रजा की वृद्धिरूप असत् कार्यों मे प्रवृत्त होना पशुता है।

नारदजी का पाँचवाँ प्रश्न था "व्यभिचारिणी स्त्री के पति से तुम्हारा परिचय है।" तो यह व्यभिचारिणी स्त्री यह गुणमयी बुद्धि ही है। इसका पति जो मायामोहित जीव है, वह इसके ससर्ग से—सङ्गदोष से पतित हो गया है। अपने स्वरूप को भूल गया है। अपनी पद प्रतिष्ठा खो बैठा है। ऐश्वर्य से भ्रष्ट होकर वह उसका आज्ञाकारी किङ्कर बन गया है, वह जैसा कहती है वैसा करता है। वह सुखी होती है, तो अपने को भी यह सुखी अनुभव करता है। वह दुखित होती है, तो यह भी अपने को दुखी समझता है। जब तक इस स्वैरिणी के पति मायामोहित जीव को यथार्थ रूप से न जान ले, तब तक पुरुष का इस ससार मे विवेक शून्य होकर मिथ्या कर्म कलापों में फँसे रहने से लाभ ही क्या ? उसे इन असत् कार्यों के करने से असत् लोकों की प्राप्ति होगी।"

देवर्षि भगवान् ब्रह्म का छटा प्रश्न था "तुम लोग दोनों ओर बहने वाली नदी को जानते हो ?" तो यह माया ही उभय वाहिनी नदी है। इस मोहिनी माया से ही जगत् की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है, इसी के द्वारा सहार की भी कल्पना की जाती है। शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श जन्य इहलौकिक सुख तथा विमान, अप्सराय, सुधा तथा कल्पवृक्ष आदि आदि

पारलौकिक सुख ये दोनों ही इस मायारूपी सरिता के प्रवाह हैं। यह निरन्तर विना विश्राम के वेग से वहती रहती हैं। इस नदी का जिसे यथार्थ परिचय प्राप्त नहीं हुआ और इसे विना जाने उन्मत्त हाथी की भांति इसमे घुस कर क्रीड़ा करता है, उसे यह नदी अपने प्रवल वेग से तीक्ष्ण धारा मे वहा ले जाती है। ऐसे प्रमत्त पुरुष के कार्यों से क्या लाभ ?

नारद जी का, सातवाँ प्रश्न था—"तुम लोगों ने २५ पदार्थ के वने विचित्र घरको देखा है ?"

तो ये ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ ५ भूत, पंचतन्मात्राये तथा मन बुद्धि अहंकार प्रकृति और पुरुष ये ही २५ तत्व हैं। इन २५ तत्वों का अद्भुत आश्रय अन्तर्यामी पुरुष है। कार्य कारण संघात के अधिष्ठाता उस पुरुष सत् स्वरूप को विना जाने व्यापार मे प्रवृत्ति होने का ही नाम असत् व्यापार है। उस असत् व्यापार के करने से कोई लाभ नहीं, कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता।

आठवाँ प्रश्न नारदजीने यह किया था कि "तुम चित्र विचित्र पंखो वाले किसी हंस को जानते हो ?" तो हम समझते हैं यह शास्त्र ही चित्र विचित्र हंस है। इसी के द्वारा प्रवृत्ति मार्ग का ज्ञान होता है, इसीके द्वारा निवृत्ति मार्ग का। इसीसे वन्धन जाना जाता है। इसी से मोक्ष का विवेक होता है। इस ईश्वर प्रतिपादित शास्त्र का परित्याग करके जो भाव से कर्मों मे प्रवृत्तहोता है, वह सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता, न उसे सुख ही मिलता है और न परागति ही। शास्त्र ही तो यह वताता है, यह जड है, यह चैतन्य है। यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है। यह श्रेय है, यह प्रेय है, यह निषिद्ध है,यह विधेय है। विना इन सवके ज्ञानके वहिर्मुख कर्मों के करने से लाभ क्या ? इसीलिये

भगवान् की आज्ञा है कि कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है।

नारदजी का नवाँ प्रश्न यह था कि "तुम लोगों ने छुरे और वज्र के बने हुये स्वयं ही घूमने वाले चक्र को देखा है?" सो, यह निरंतर बिना विश्राम के घूमने वाला काल चक्र ही तीक्ष्ण छुरप्रचक्र है। यही सम्पूर्ण जगत् को घुमा रहा है, इसीने सबको आकर्षित कर रखा है। यह अति स्वतन्त्र परम दुर्निवार कभी व्यर्थ न होने वाला तीखी धारो वाला चक्र है। इसकी गति विधि को जाने बिना कर्मों मे प्रवृत्त होना मानों दुःख को स्वयं सर्वस्व देकर मोल लेना है।

दशवाँ देवर्षि का प्रश्न था "तुम सर्वज्ञ पिता की वास्तविक आज्ञा को बिना जाने बूझे उसके अनुरूप सृष्टि कैसे कर सकते हो? सो यह शास्त्र ही वास्तव मे सच्चा पिता है। इसमे प्रवृत्ति वाक्य भी हैं, किन्तु वह इसकी वास्तविक आज्ञा नहीं है। निवृत्ति परक वाक्य ही शास्त्र क मुख्य और उद्देश्य वाक्य है। उन निवृत्ति मार्ग के वाक्य को बिना जाने बूझे गुणो मे आस्था रखने वाला पुरुष किस प्रकार निवृत्ति मार्ग मे प्रवृत्त हो सकता है?"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार सोचकर वे सब हाथ जोड़कर नारदजी के समीप गये और बोले—"गुरूजी! हमे निवृत्ति मार्ग की दीक्षा दे दीजिये। यथार्थ पिता तो आप ही हैं, जो आपने शास्त्र का मर्म समझाया।"

नारदजी तो आये ही थे इसी काम के लिये उन्होने सोचा—"यह तो बड़ी अच्छी बात हो गई। एक साथ दश हजार शिष्य मिल गये। सब को लंगोटी पहिना उन्हे भी बाबाजी बना

दिया। उन्होंने श्रद्धा भक्ति सहित अपने गुरुदेव की प्रदक्षिणा की और उनकी आज्ञा लेकर वे उस मोक्ष मार्ग की ओर चल पड़े, जिसमें जाकर फिर कोई लौटता नहीं।

नारदजी ने जब देखा मेरा काम पूरा हो गया, तो वे भी वीणा के तारों को झनकारते हुए वहाँ से चले गये।

छप्पय

आश्रव पुरुष पचीस तत्व के क्षेत्र गेह भल।
हरि प्रतिपादक शास्त्र एस है अति ई निर्मल॥
काल चक्र अति तीक्ष्ण शास्त्रई पिता सरिस है।
निवृति मार्ग ई मुख्य कही ताको आयसु है॥
यों मन तें सब सोचिके, नारद के चेला भये।
मोक्ष धर्म की राह गहि, बानाजी सब बनि गये॥

पुत्र वियोग से दुःखित दक्ष द्वारा पुनः पुत्रों की उत्पत्ति

(३७५)

नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम् ।
अन्वतप्यत कः शोचन्सुप्रजस्त्वं शुचां पदम् ॥
स भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः ।
पुत्रानजनयद्दक्षः शबलाश्वान्सहस्रशः ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० ५ अ० २३-२४ श्लो०)

छप्पय

नारायण सर माहिं भई नारद त भेटा ।
सुनी दक्ष जिह बात बने नाबाजी बेटा ॥
भयो हृदय अति दुःख बहुत मन महँ पछितायो ।
जैसे तैसे धर्यो धीर जब बिधि समझायो ॥
पाचजनी ने फिर सहस, जने पुत्र शबलाश्व वर ।
पितु आयसु तें गये वे, तप हित नारायण सुसर ॥

आशा का भग होना ही महान् दुःख है । अपनी आशा बेलि को पल्लवित पुष्पित तथा फलित हुआ देखना ही सब से बड़ा सुख

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब प्रजापति दक्ष ने अपने शील सम्पन्न पुत्रों को नारदजी के उपदेश से कर्तव्यच्युत हुआ सुना, तो वे बहुत शोकाकुल हुए । कभी सत्सतान भी शोक का कारण हो जाती है । फिर ब्रह्माजी की सान्त्वना देने से उन्होंने अपनी पाञ्जनी पत्नी में शबलाश्व नामक सहस्र पुत्र और उत्पन्न किये ।"

शीघ्रता के साथ मुनि ने कहा—"राजन्! उनकी मृत्यु नहीं हुई, उन्होंने तो अमृतत्व प्राप्त कर लिया है। मृत्यु के सिर पर भी पैर रख दिया है। वे सबके सब मोक्ष धर्मावलम्बी बन गये हैं। सब के सब चुटिया कटाय लँगोटी लगाय बाबाजी बन गये हैं, बाबाजी। नारदजी ने उन सबको मूड़ लिया है। उनमें से एक भी सृष्टिवृद्धि के काम का नहीं रहा। राजन्! अब आप उनके लौटने की आशा छोड़िये।"

यह सुनकर दुखित मन से दक्षजी ने कहा—"महाराज! क्या आपने किसी के मुख से यह बात सुनी है या उन्हें आपने कहीं देखा है। नारदजी ने मेरे साथ यह घोर अन्याय किया। उन्होंने किस जन्म के वैर का मुझसे बदला लिया है। मैंने तो उनका कुछ बिगाड़ा नहीं है।"

प्रजापति दक्ष की ऐसी बात सुनकर वे वृद्धि मुनि बोले—"राजन्! आप इतने ज्ञानी ध्यानी बुद्धिमान होकर ये कैसी भूली भूली सी बातें कर रहे हैं। नारदजी ने तो उनके साथ बड़ा उपकार किया। आपका भी उन्होंने बड़ा उपकार किया जो आपके कुल को तार दिया। महाराज! आप इस विषय में चिन्ता न करें न संदेह। हमने स्वयं नारायण सर पर उन्हें नारदजी से दीक्षा लेते हुये देखा था। हमारे सम्मुख उन्होंने अपने अमूल्य वस्त्रों को फेंक कर लँगोटियाँ लगाई थीं। हमारे सम्मुख वे नमोनारायणाय-नमोनारायणाय कहते हुये, नारदजी की परिक्रमा करते हुये गये थे। इतना कहकर और दक्ष प्रजापति को भाँति-भाँति से समझा बुझाकर उनके द्वारा सत्कृत होकर मुनिगण इच्छापूर्वक आगे को चले गये, किन्तु दक्ष के मन में किसी भी प्रकार से शान्ति नहीं होती थी। वे सदा उदास बने रहते थे। अब वे सृष्टि

क्रमुख से हो गये। यह देख कर ब्रह्मलोक से लोक-पितामह ब्रह्माजी अपने हंस पर चढ़कर दक्ष को समझाने के निमित्त उनके समीप आये।

लोक पितामह को अपनी ओर आकाश मार्ग से उतरते देख कर दक्ष सहसा संभ्रम के साथ उठकर खड़े हो गये। ब्रह्माजी के उतरने पर दक्षने उनकी विधिवत् पूजा की, और अपने भाग्य को सराहा।

दक्ष की पूजा को स्वीकार करके भगवान कमल-योनि बोले—"राजन्! आप इतने उदास क्यों है? किसलिये आप इतना मानसिक दुःख उठा रहे हैं? अपने दुःख का कारण मुझे बताओ।"

यह सुनकर दक्ष ने कहा—"प्रभो! मेरे सर्वगुण-सम्पन्न दश हजार पुत्र थे। उन सब का इन तूमड़िया, नारदने बावाजी बना दिया। एक भी नामलेवा पानी देवा नहीं छोड़ा। भगवन्! मुझे इस बात से बड़ा दुःख हो रहा है। हाय! भगवन्! वे कैसे हान-हार यशस्वी तेजस्वी बालक थे।

ब्रह्माजी ने कहा—"राजन्! जो होनाथा सोहोगया, तुम इसके लिये इतनी चिन्ता क्यों करते हो। नारद विचार का क्या दोष? उन सबका प्रारब्ध ही ऐसा था। उनके भाग्य में ही बावाजी होना बदा था, अब कोई बात नहीं अब के फिर तुम पुत्रों को उत्पन्न करो।"

प्रजापति दक्षने उदास मन से कहा—"भगवन्! अब क्या पैदा करूँ? पहिले जैसे पुत्र अब थोड़े ही उत्पन्न हो सकते हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"नहीं, तुम चिन्ता मत करो पहिले जैसे ही पुत्र उत्पन्न हो जायँगे। फिर तुम एक बार प्रयत्न करो।"

पितामह के बहुत समझाने बुझाने पर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके प्रजापति दक्षने अपनी पाञ्चजनी नामक पत्नी से फिर सहस्र पुत्रों को उत्पन्न किया। अब के उन सबका नाम रखा शबलाश्व। वे सब बडे ही सरल, सदाचारी और सद्गुण सम्पन्न थे। उन्होंने हाथ जोडकर अपने पिता से पूछा—"प्रभो! हम क्या करें।'

यह सुनकर अत्यन्त स्नेह के साथ दक्षने कहा—"पुत्रो! तुम सब प्रजावृद्धि के निमित्त जाकर तपस्या करो और तपस्या से श्रीहरि को प्रसन्न करके सृष्टि वृद्धि में सहयोग दो।"

यह सुन करके पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके वे सबके सब शबलाश्व नामक दक्ष-सुत उसी पश्चिम दिशा की ओर चल दिये, जिस दिशा की ओर उनके पूर्वज हर्यश्व भाई गये थे। ये सब भी चलते चलते उसी नारायण सर के समीप पहुँचे जिस पर उनके अग्रेजों ने सिद्धि प्राप्ति की थी।

उस परम पावन तीर्थ में उन सब शबलाश्वों ने सविधि स्नान किया। स्नान करते ही उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। जो कुछ यत्किंचित मल था, वह तीर्थ के प्रभाव से धुल गया। उन सबका हृदय परम निर्मल बन गया। वे बडी सावधानी से प्रणव सहित इस मन्त्र को जपने लगे। जिसका आशय यह था"उन ओंकार स्वरूप परम पुरुष परमात्मा नारायण को नमस्कार है, उन विशुद्ध सत्त्वगुण के आश्रय परम हंस स्वरूप परमेश्वर का हम ध्यान करते हैं। इस प्रकार वे परब्रह्म का जप करते हुए घोर तपस्या करने लगे।। कुछ काल तो फल फूलों पर निर्वाह किया। कुछ काल केवल जल पीकर ही रहे और कुछ काल वायु के ही आधार पर रह कर उन्होंने भोजन-पानी सभी का परित्याग कर दिया।

इस प्रकार उन्हें घोर तप में प्रवृत्त देखकर नारद जी ने सोचा—"चलो, देखें, इनकी भी नाड़ी टटोलें। ये भी किसी प्रकार मुड़ जायँ, तो आनन्द आ जाय। ग्यारह हजार शिष्य हो जायँ, तो कुलपति बन जायँ।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लाभ से लोभ बढ़ता है। एक बार दाढ़ गड़क जाने पर बार बार उस वस्तु को पाने की अभिलाषा होती है। इसीलिये नारद जी उन्हें मूड़ने के लिये पुनः उन शबलाश्वों के समीप गये।"

छप्पय

करत तहाँ स्नान भये हिय पावन सबके।
जप सब तप मिलि करें विचारे नारद अबके॥
ये बालक हू सौम्य मोक्ष पद के अधिकारी।
देखूँ चलि के तहाँ ध्यान तें इनकी नारी॥
पर उपकारक व्रतनिरत, चले देवऋषि तुरत तहँ।
करें कठिन नियमादि व्रत, पहुचे मुनि शबलाश्व जह॥

शबलाश्वों को भी शिष्य बनाने पर दक्ष का नारदजी को शाप

(३७६)

इति तानपि राजेन्द्र प्रतिसर्गधियो मुनिः ।
उपेत्य नारदः प्राह वाचः कुटानि पूर्ववत् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ५ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

प्रश्न पुराने करे दक्षसुत सहस फँसाये ।
फिरि दश वे ही कूट वचन कहि कहि समुझाये ॥
ज्येष्ठ बन्धु जिहि गैल गये तुम सबहू पाओ ।
श्रेष्ठ मार्ग महँ जाय नित्य सुख तुम सब पाओ ॥
सृष्टि वृद्धि विपरीत या, पट्टी तुरत पढ़ाइके ।
नारद मुनि चम्पत भये, बीना मधुर बजाइके ॥

जिनका स्वभाव परोपकार करने का होता है, उन्हें चाहे कितना भी कष्ट हो, वे परोपकार किये बिना रह नहीं सकते । सत्त्व स्वभाव को दुस्त्यज बताया है । रावण से जब बार-बार सीता लौटा देनेका आग्रह किया गया, तो उसने गर्ज कर दृढ़ता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! उन शबलाश्वों को भी सृष्टि वृद्धि की इच्छा से तप करते हुए देखकर उनके सम्मुख पहिले की भाँति नारदजी ने आकर उनसे भी वे ही कूटवचन कहते हुए ये बातें कहीं ।"

के स्वर में कहा—'चाहे मेरे सिर के सहस्रों टुकड़े क्यों न हो जायँ, मैं सीता को नहीं लौटाऊँगा। राम के सम्मुख कभी भी नतमस्तक न हूँगा। मैं क्या करूँ, मैं भी विवश हूँ। यह मेरा सहज दोष है, क्योंकि स्वभाव को दुरतिक्रम बताया है।

एक बड़ी प्रसिद्ध कथा है। कोई जन्म का चोर था। अंत में चोरी करते करते वृद्धावस्था में उसे पश्चात्ताप हुआ। किसी जमात के महन्त जी से उसने दीक्षा लेली और साधुओं की जमात में रहने लगा। रात्रि में जब साधु सो जायँ, तो किसी का चिमटा उठाकर उधर रख दे। किसी का पूजा पार्षद कहीं छिपा दे। किसी के तुम्बा को उठाकर दूसरे के सिर के समीप रख दे। सब के तुम्बे बदल दे। प्रातःकाल साधु उठकर एक दूसरे से लड़े। तूने हमारा तुम्बा क्या चुराया। वह क्रोध करके कहता—'मैंने कब चुराया?" यों नित्य युद्ध हो। एक दिन किसी बुद्धिमान् साधु ने झूठी नींद में जागकर उसका सब कृत्य देखा। पकड़ा गया। महन्तजी के सम्मुख उपस्थित किया गया। महन्तजी ने उसे डाँटते हुए कहा— क्यों रे, तूने अभी तक आचरण ठीक नहीं किया मूर्ख कहीं का। साधु होकर भी अभी चोरी नहीं छोड़ता।" वह लज्जित होकर बोला—'महाराज! चोरी मैंने छोड़ दी तो क्या अब तूमाफेरी भी न करूँ? इसके बिना तो महाराज! मुझसे रहा नहीं जाता। अपने स्वभाव से विवश हूँ।' यही दशा नारदजी की है। जहाँ भी किसी को मोक्षधर्म का अधिकारी देखते हैं उसके पीछे वैसे ही पड़ जाते हैं, जैसे काशी में रेशमी साड़ी क्रय करने वालों के पीछे दलाल लग जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वे शबलाश्व नेत्र बन्द किये हुए परब्रह्म मन्त्र का जप करते हुए घोर तपस्या कर रहे थे।

इतने में ही वीणा की तानों पर राग अलापते हुए, रामकृष्ण गुनगाते हुए, भूरी-भूरी जटाओं को हिलाते हुए, खड़ाऊँ चटखाते हुए नारदजी उनके समीप पहुँच गये और उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये बोले—'शबलाश्वो! जय-जय सीताराम! नमो नारायणाय! नमो नारायणाय!'

वीणापाणि भगवान् नारद को निहार कर वे सबके सब तुरन्त जलसे निकले और अपनी भीगी जटाओं से नारदजी के चरणों को गीलाकर दिया। सब के सिर पर हाथ रख कहते हुए, दूसरे हाथ में वीणा को हिलाते हुए नारदजी ने उन सब की कुशल पूछी।"

शबलाश्वों ने भी देवर्षि की विधिवत् पूजा की और कहा—"प्रभो! बड़ी कृपा की जो आपने हम अबोध बालकों को स्वयं ही दर्शन दिया।"

नारदजी ने गम्भीरता के साथ कहा—"हाँ, बच्चो! मैंने सोचा—"तुम सब मार्गभ्रष्ट हो रहे हो, तुम्हें चलकर सन्मार्ग दिखा दूँ।"

शबलाश्वों ने कहा—"नहीं भगवन्! हम लोग पथच्युत तो नहीं हुए। पिता ने हम जो आज्ञा दी है उसी को बड़ी सावधानी के सहित पालन कर रहे हैं। प्रजा वृद्धि के निमित्त घोर तप कर रहे हैं।"

नारदजी ने खेद के स्वर में कहा—'अरे, बेटाओ! यही तो तुम्हारी भूल है। यथार्थ पिता तो मेरे प्यारे बच्चो! शास्त्र है। शास्त्र की जो वास्तविक आज्ञा है वही समीचीन पथ है। उसपर से जाने से कल्याण हो सकता है। और सब तो कटकाकीर्ण मार्ग हैं। उनमें क्षेम नहीं, प्रेम नहीं सुख नहीं, शाश्वत शान्ति नहीं और इससे संसार-चक्र की निवृत्ति भी नहीं।

जन्म मरण रूप चौरासी के चक्कर में घूमते रहना है।"

शबलाश्वों ने कहा—"तब महाराज! हमें उस सन्मार्ग को दिखाइये। उपदेश दीजिये, हम सब क्या करें? किस मार्ग का अनुसरण करें?"

नारदजी ने कहा—"अच्छा, हम तुम लोगों से यह पूछते हैं, कि अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ जिस मार्ग से गये हैं, वह मार्ग समीचीन होगा या नहीं?"

शबलाश्वों ने कहा—"अवश्य ही भगवन्! बड़े लोगों का निर्धारित पथ परम पुण्यप्रद ही होगा।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए नारदजी बोले—"हे भातृवत्सलो! तुम सब बड़े धर्मात्मा शुद्ध अन्तःकरण वाले हो। देखो, तुम्हें जो मैं बताता हूँ, उसे ही तुम करो। तुम अपने बड़े भाइयों के मार्ग का ही अनुसरण करो। वही निष्कंटक श्रेयस्कर कल्याणप्रद, सर्वोत्तम, वास्तविक मार्ग है। उस मार्ग पर चलने से न श्रम होगा, न ग्लानि, अपने गन्तव्य स्थान में सरलता के साथ पहुँच जाओगे। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों का मार्ग श्रेष्ठ ही होता है। तुम्हारे सभी ज्येष्ठ भ्राता श्रेष्ठ और विचारवान् थे। जो भाई अपने भाइयों के श्रेष्ठ मार्ग का अनुकरण करता है, वह पुण्यप्रद पुरुष परलोक के मरुद्गणों के साथ आनन्द करता है। तुम्हारे भाइयों का मार्ग तो पुनरावृत्ति से रहित मार्ग है।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर नारदजी अपनी वीणा उठाकर चलते बने। इधर शबलाश्व नारदजी से १० कूट वचन रूप गुत्थियों को सुलझाने में प्रवृत्ति हुए। उन्हें भी इन संसारी विषयों से-सृष्टि वृद्धि कार्य-से वैराग्य हो गया और वे भी अपने भाइयों के उसी मार्ग का अनुसरण करने लगे

जिसका उपदेश उन्हें पूर्व में नारदजी ने दिया था। ये भी सबके सब बाबाजी बन गये। अब वे प्रजा की वृद्धि के निमित्त तप न करके उस समीचीन और परमेश्वर की प्राप्ति के अनुकूल मार्ग में चलने लगे जिसकी प्राप्ति अन्तर्मुखी वृत्ति से ही सम्भव हो सकती है। उस मार्ग मे गये सो गये। वह तो ऐसा बिल है जिस मे जाने से फिर कोई निकल कर इस संसार में फिर नहीं आ सकता।

इधर प्रजापति दक्ष ने भी किसी के मुख से सुन लिया कि हमारे इन पुत्रों को भी नारदजी ने फुसलाकर बाबाजी बना दिया। तब तो उनके शोक का ठिकाना नहीं रहा। वे सोचने लगे—"भगवान जाने यह नारद हमारे पीछे क्यों पड़ा है। सृष्टि को आगे बढ़ने ही नहीं देता। मेरे बेटों को बार-बार बाबाजी बना देता है। पहिले तो मैंने पितामह पद्मयोनि के कहने से उसे क्षमा कर दिया था, अबके वह निर्लज्ज कभी मुझे दीख जाय, तो उसे अपने किये का फल चखाऊँ। उसे ऐसा दंड दूँ, कि वह भी क्या समझे कि दूसरे के बेटों को बाबाजी बनाने का फल कैसा कटु होता है।"

इधर दक्ष प्रजापति तो ये बातें सोच रहे थे, किन्तु नारदजी दूसरा ही विधान बना रहे थे। वे सोच रहे थे, जिसका एक पुत्र चला जाता है, उस पिता को भी संसार से वैराग्य हो जाता है। दक्ष के तो ११ हजार पुत्र विरागी बन गये। अवश्य ही उसे संसार से विराग हो गया होगा। यदि वह भी मुक्ति मार्ग का अधिकारी हो गया हो तो उसे भी मूड़ ले। ११००१ चेले हो जाये।" यही सब सोच विचारकर वीणा बजाते राम-कृष्ण गुण गाते, नारदजी दक्ष प्रजापति की सभा में पहुँचे। दक्ष ने दूर से ही नारद जी को देखा। देखकर आगबबूला हो गये। कहाँ का पाद्य,

कैसा अर्घ्य, स्वागत, सत्कार, शिष्टाचार सभी को भूल गये।

क्रोध के कारण काँपते हुए, लाल लाल आँखें निकालकर नारदजी के ऊपर टूट ही पड़े। रोष के कारण उनके वचन स्पष्ट नहीं निक-

लते थे। उनके अधरपुट कँप-कँपा रहे थे। दाँतों से ओठ को काटते हुए बोले—"क्यों वे तूमड़िये ! तू बड़ा दुष्ट है। अरे ! हम तो समझते थे, तू साधु है। भगवत्भक्त है, किन्तु तू तो ढोंगी, पाखण्डी, धूर्त, ठग, विश्वासघाती निकला।"

नारदजी सरलता के साथ कहा—"राजन् ! मैंने आपका कौन-सा अनिष्ट किया है ?"

दक्ष ने अत्यन्त रोष के स्वर में हँसी उड़ाते हुए कहा—"अहा हा ! बड़े भोले बन गये हो ? तुम्हें ऐसा प्रश्न करने में लज्जा भी नहीं आती। इससे बढ़कर और क्या तू अनिष्ट करेगा। हमारे घर में आग दे देना और हमारे सिर को काट लेना यही शेष है, सो इसे भी करले। पूछता है अनिष्ट क्या किया। तू तो है जन्म का वैरागी। वन्ध्या क्या जाने प्रसव की पीड़ा। तुझे क्या पता पिता का पुत्र के प्रति कितना प्रेम होता है। पुत्र पिता का हृदय है, बाहरी प्राण है। दस पुत्रों में से कोई एक भी माँगे तो न दिया जायगा। बीस उँगलियों में से कोई एक भी छोटी सी उँगली माँगे तो कौन देने को उद्यत होगा। तैंने तो एक नहीं, दो नहीं, दस नहीं, बीस नहीं, सौ नहीं, हजार नहीं, मेरे पूरे ११ हजार पुत्रों को लँगोटिया, भिखारी, बाबाजी बना दिया, फिर भले मनुष्योंकी भाँति पूछता है—मैंने आपका क्या बिगाड़ा। तैंने मेरा सर्वस्व बिगाड़ दिया। मेरे मनोरथ रूप महल को छिन्न-भिन्न करके नष्ट कर दिया।"

नारदजी ने धैर्य के साथ कहा—"महाराज ! आप क्रोध न करें। देखिये, परमहंस आश्रम सबसे श्रेष्ठ है गृहस्थाश्रम से भी लाखों गुना श्रेष्ठ है। उसी परमहंस्य धर्म का मैंने आपके पुत्रों को उपदेश दिया है। इसमें मैंने कोई बुरा काम किया, यह तो मेरी बुद्धि में बैठता नहीं।"

अत्यन्त क्रोध के स्वर मे दक्ष ने कहा—"बैठे कहाँ से तेरी बुद्धि होती तो बैठता। बुद्धि के स्थान मे तो तेरे मस्तिष्क मे गोबर भरा है। अरे, सोच तो सही, तू बड़ा विरक्त बना घूमता है! जब तक मनुष्य के सिर पर ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण ये तीन ऋण लदे हुए हैं, तब तक वह परमहंस्य धर्म का कभी अधिकारी बन ही नहीं सकता। प्रथम ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके वेदाध्ययन और गुरु सुश्रूषा के द्वारा ऋषि ऋण से मुक्त हुआ जाता है। फिर योग्य भार्या का पाणिग्रहण करके अग्निहोत्र पंच महायज्ञ तथा और भी बड़े-यज्ञ करके देव-ऋण से मुक्ति मिलती है। अपनी धर्म पत्नी से योग्य पुत्र उत्पन्न करके पितृ ऋण से उऋण हुआ जाता है। जिसके पुत्र नहीं उसको स्वर्ग प्राप्त हो ही नहीं सकता। यह शरीर हमारे पिता पितामह तथा सभी ऊपर के पितरों की धरोहर है। न्याय है कि जब तक हम अग्रिम वंश बढ़ाने के लिये अपने स्थान पर पुत्र को उत्पन्न करके स्थान की पूर्ति नहीं कर लेते, तब तक हमे कोई भी अधिकार नहीं, फिर ज्ञान वैराग्य की बातें बनावे। मेरे पुत्रोने अभी संसारी सुख देखा नहीं, कर्म के विषय मे उन्होने कुछ विचार किया नहीं उन्हे तुमने लंगोटी पहिनादी, भिखारी बना दिया। न इधर के रहे, न उधर के हुए। उभय भ्रष्ट बन गये। न इह-लोक का सुख भोगा, और न परलोक मे होने वाले श्रेय को ही प्राप्त कर सके।"

नारदजी ने कहा—"राजन्! आपके बच्चे बड़े सरल थे। उनका अन्तःकरण अत्यन्त ही निर्मल था, वे सर्वथा सन्यास मार्ग के अधिकारी थे। मैं अनधिकारी को कभी भूलकर भी त्याग पथ दीक्षा नहीं दे सकता। इसका आप विश्वास करें।"

यह सुनकर झिड़कते हुए दक्ष ने कहा—"चुपर ह! बक बक:

कर रहा है व्यर्थ मे। तुझे क्या पता, कोन किस मार्ग का अधिकारी है। तू तो बालको को बहकाना जानता है। उनकी बुद्धि बिगाडना तैंने सीखा है। लोक मे प्रसिद्धि तो ऐसी है तू बडा दयालु हैं, किन्तु मैं कहता हूँ तुझसे निर्दयी ससार मे स्यात् हो कोई और हो। लोग कहते हैं तू भगवान् का पार्षद है, में कहता हू तुझ से निर्लज्ज को भगवान् अपना पार्षद बनाये हुए हैं यह उनके लिय भी अत्यत अपयश की बात है। तू उनके यश को कलकित करने वाला कपटी क्रूर कापुरुष है। तुझे तो स्वय ही भगवान् का पार्षदत्व छोड देना चाहिय था, किन्तु शाल सकोच तो तेर समीप होकर भी नही निकला। तू निर्लज्जता पूर्वक उनके पार्षदा में बना हुआ है। लाग कहते हैं, नारद भक्त हैं भक्त। भक्त एस थाडे ही हाते हैं। भक्त तो सदा परोपकार के लिय व्यग्र बने रहते हैं। वे सदा सर्वदा सम्पूर्ण प्राणिया पर कृपा करने के लिय प्रतिक्षण लालायित रहते है। क्रियाशील बने रहते हैं। तू तो सोहार्द्र का नाशक और अकारण वेर करने वाला है?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! मैंने किससे वेर किया?"

क्रोध म दक्ष ने कहा—'और वेर कैसा होता है? मैंन कभी किसी समय भूल म भी तेरा अपकार किया है क्या? फिर तैंने मुझसे किस वर का बदला लिया? क्यों मेर अबोध बच्चा को फुसलाकर बहकाकर बाबाजी बना दिया।"

नारदजी ने कहा— महाराज! आप क्रोध को छोडकर गभारतापूवक विचार कर। देखिय, जीव मात्र का चरम लक्ष्य शाश्वती शान्ति है, इस जन्म मरण रूप चक्र से छूट कर कभी नाश न हाने वाले नित्य सुख को चाहते हैं। वह तब तक

प्राप्त नहीं हो सकता जब तक संसारी स्नेह बन्धन का मूलोच्छेद न हो। संसार बन्धन, बिना त्याग वैराग्य के कट नहीं सकता। अतः वैरागी बनाकर मैंने तो उनके साथ महान् उपकार ही किया है।"

दक्ष ने अत्यन्त ही गम्भीर होकर रोष के स्वर में कहा—तू बातें करता है बड़ी बड़ी, किन्तु उनको समझने की तुझमें बुद्धि नहीं। देख केवल लँगोटी लगाने से—अवधूत वेष मात्र धारण करने से—न तो स्नेह बन्धन का ही उच्छेद होता है और न शाश्वती शान्ति की ही प्राप्ति होती है। क्योंकि बिना ज्ञानोदय हुए, केवल तेरे बहकाने से ही उन्हें वैराग्य नहीं हो सकता है। जब वैराग्य ही नहीं तो उपशम कैसे होगा। उपशम के बिना स्नेह बन्धन का उच्छेद होना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं।'

नारदजी ने कहा—'संसार की वासना मनमें न उठे, यही तो वैराग्य है। विषयों को ग्रहण न करके उनका उपभोग न करना यही तो त्याग कहलाता है, इसके तो वे सब अधिकारी थे ही।"

दक्ष ने क्रोध के स्वर में कहा—"अरे, तूमडिया! तेरी बुद्धि तो हो गई है भ्रष्ट। देख, मनुष्य जब तक विषयों का अनुभव नहीं करता, तब तक उनकी कटुता को नहीं जान सकता। इसलिये उनकी दुःख रूपता का स्वयं अनुभव करने पर उसे जैसा वैराग्य होता है, वैसा दूसरों से सुनकर अनुभव नहीं हो सकता। क्योंकि स्वयं अनुभव करने से उनका सब रहस्य समझा जाता है। तू तो है जन्म का वैरागी। तैंने कभी स्त्री सुख का अनुभव नहीं किया। तू क्या जाने, तेरा कौन विश्वास कर सकता है। हमारे यहाँ नगरों में बिना स्त्री वाले को कोई ठहरने नहीं देता। जो बिना विवाह किये साधु बन जाते हैं, उनका प्रायः पतन होता है, वे प्रलोभन आने पर फिसल

जाते हैं। हम लोग मर्यादा का पालन करने वाले गृहस्थ हैं। तू ने पहिले हमारा बडा अपकार किया था। हमारे दस हजार पुत्रों को तैंने पहिले बाबाजी बना दिया था। हम मन मसोस कर बैठ गये। सोचा—साधु से कौन छेड़खानी करे। किन्तु तू तो अब हमारे विनाश पर ही उतारू हो गया है। अतः आज मैं तुझे बिना शाप दिये न मानूँगा। मैं तुझे यह शाप देता हूँ कि तेरे ठहरने का कोई निश्चित स्थान न होगा, तैंने मेरा घर द्वार बिगाड़ दिया है, इसलिये तेरा कहीं घर द्वार न रहेगा। चक्र की तरह सदा तू चौदह भुवनों में घूमता ही रहेगा। तेरे एक स्थान पर पैर न टिकेंगे। तू घनचक्कर बना चक्कर काटता फिरेगा।"

यह सुनकर नारदजी हँस पड़े और बोले—"अच्छी बात है, आपका शाप मुझे सिरसे स्वीकार है। एक स्थान पर हमें क्या लेना। एक आश्रम में रहने से मोह भी हो जाता है। साधु को तो घूमना शाप नहीं वरदान है। यह कहकर नारदजी हँस पड़े।

यह सुनकर आश्चर्य के साथ राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! नारदजी तो सर्वसमर्थ हैं, भगवद्भक्त हैं, भगवान् के अवतार ही हैं। उन्होंने कोई अपराध तो किया नहीं था। दक्ष पुत्रों का कल्याण ही किया था। उन निरपराध साधु समाज में सम्मानित महापुरुष को दक्ष ने न कहने योग्य बातें कहीं, न करने योग्य व्यवहार किया। इतनी कड़ी कड़ी बातें सुनकर भी नारदजी हँसते ही क्यों रहे। ऐसा कठिन शाप सुनकर भी उन्होंने उलटकर उस अभिमानी दक्ष को शाप क्यों नहीं दे दिया?"

यह सुनकर शुकदेवजी बोले—"राजन्! त्यागी में और

रागी मे यही तो अन्तर है। विषयियो मे और वैरागियों में यही तो विशेषता है। संसार मे साधु वही कहलाता है, जो समर्थ होकर भी दूसरे के अपराध को सहन कर लेता है।" एक बात उसने कही, उसके बदले मे उलटकर दो बातें हमने कह दी। उसने थप्पड़ मारा, हमने डंडा जमा दिया। उसने ढेला फेंका, हमने उस पर पत्थर गिरा दिया, यह तो संसारी लोगों की नीति है। सहनशीलता जिसमे है, वह अपकारी का भी अपकार न करके उलटा उसका उपकार करता है, वही सच्चा भगवत् भक्त है। भगवान के भक्त वृक्षों से भी अधिक सहनशील और अपने को तृण मे भी अधिक नीचा मानते हैं, इसीलिये समर्थ होने पर भी नारदजी ने प्रजापति दक्ष को शाप नहीं दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! क्रोधित दक्ष के शापको शिरोधार्य करके बिना दुखित हुए, प्रसन्नचित्त से वीणा बजाते हरिगुण गाते हुए नारदजी वहाँ से चले गये और इच्छानुसार अन्य लोकों मे विचरण करने लगे। यह मैंने प्रजापति दक्ष के हर्यश्व और शबलाश्व पुत्रों के वैराग्य की कथा सुनाई अब आगे आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

छप्पय

सुनिकें सब शबलाश्व भये भिक्षुक गृहत्यागी।
दक्ष सुन्यो सब वृत्त हृदय कोपानल जागी॥
आग बबूला भयो क्रोध व्यापो नस नस महँ।
तुरत दयो तिनशाप रह्यो नहि मननिज वशमह॥
कहें दक्ष—तू जगत महँ, कबहुँ न कुटी बनाइके।
थिर न रहे घूम्यो करे, तूमड़ी तान बजाइकें॥

दक्ष की साठ कन्यायें

(३७७)

ततः प्राचेतसोऽसिक्न्यामनुनीतः स्वयम्भुवा ।
षष्टिं सञ्जनयामास दुहितॄः पितृवत्सलाः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ६ अ० १ श्लो०)

छप्पय

विधि आज्ञा तें साठि दक्ष कन्या उपजाई ।
तरह कश्यप लईं चन्द्र सत्ताइस ब्याईं ॥
भूत अंगिरा कृशाश्व दईं द्वै द्वै सुकुमारी ।
शेष तार्क्ष्यसग चारि विवाहीं पुत्री प्यारी ॥
पुत्र पौत्र सबके बहुत, भये जगत सब भरि गयो ।
बहु सतति लखि दक्ष को, हृदय सरोरुह खिलि गयो ॥

पुत्र और पुत्री में कोई अंतर नहीं । दोनों ही हृदय से उत्पन्न होते हैं अपना आत्मा ही हैं । अंतर इतना ही है कि पुत्री पर घर में जाकर वंश वृद्धि करता है और पुत्र अपने ही घर में रह कर वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखता है । जिनके पुत्र नहीं होते अथवा होकर योगी बन जाते हैं, या मर जाते हैं, तो वे पुत्रियों से ही अपने को पुत्रवान् समझते हैं । जिनके पुत्री भी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं— 'राजन् ! इसके अनन्तर ब्रह्माजी के समझाने बुझाने पर दक्ष प्रजापति ने अपनी पत्नी असिक्नी में ६० कन्याएं उत्पन्न कीं । वे सभी सब पिता को प्यारी थीं ।"

नहीं होती वे अन्य के पुत्र को गोद ले लेते हैं। इस प्रकार वंश को लुप्त नहीं होने देते। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में मोह ममता संतति वृद्धि की कामना अधिक होती है। पुरुष तो प्रायः नीरस प्रकृति के होते हैं, उनमें सरसता का संचार तो वामेक्षणाओं द्वारा ही होता है। संतति के प्रति अत्यधिक अनुराग मातृ हृदय में ही होता है। राक्षसियों में कामवासना अधिक होने से उनमें संतान के प्रति अनुराग न्यून होता है, वे कामवासना के वशीभूत होकर संतान का परित्याग तथा उसकी हत्या भी कर देती हैं, किन्तु साधारण मातृ हृदय बच्चे के लिये सब कुछ कर सकती है। इसीलिये सृष्टि कार्य में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक हाथ है। ये ही प्रकृति को प्रतिनिधित्व करती हुई इस प्राकृत जगत् को बढ़ा रही हैं, चला रही हैं, नचा रही हैं, हँसा रही हैं और फँसा रही हैं। ये महामाया हैं, जगज्जननी हैं, लोकमाता हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपने ११ हजार पुत्रों के वानाजी वन जाने पर दक्ष को बड़ा क्रोध आया, उस क्रोध में ही उन्होंने नारदजी को शाप दे दिया। नारद जी ने सोचा—राजा के पास आये थे, खाली हाथ नहीं लौटे, राजा ने कुछ न कुछ तो दिया ही, शाप ही सही, साधु को श्रद्धा से जो भी कोई कुछ दे वही उसे स्वीकार है। इस प्रकार सोचकर शाप को शिरोधार्य करके वे तो वहाँ से चले गये। दक्ष अपने माथे को पकड़ शोक सागर में निमग्न हुए, उदास मन से बैठे ही रहे। उनकी दृष्टि में सम्पूर्ण संसार सूना ही सूना दिखाई देता था। इतने में ही हंस पर चढ़कर ब्रह्माजी उनके समीप आ पहुँचे। ब्रह्माजी को आया हुआ देखकर प्रजापति दक्ष ने उनका आदर सत्कार किया, विधिवत् पूजा करके साष्टाङ्ग प्रणाम की।

दक्ष की पूजा स्वीकार करके ब्रह्माजी ने पूछा—"दक्ष, भैया! तुम इतने अधिक उदास क्यों हो?"

दक्ष ने खिन्न मन से कहा—क्या बताऊँ महाराज! उदासी की बात ही है। यह तूमड़िया नारद न जाने क्यों मेरे पीछे पड़ा है। पता नहीं किस जन्म के वैर का बदला यह ले रहा है। पहिले मेरे १० हजार हर्यश्व नामक पुत्रों को उलटी पट्टी पढ़ा कर बाबाजी बना दिया, जब फिर मैंने हजार शबलाश्व सुत उत्पन्न किये, तो उन्हें भी उन्हीं का रास्ता दिखा दिया। बताइये, मैं सृष्टि कैसे बढ़ाऊँ? मेरी तो प्रार्थना है मेरा त्यागपत्र आप स्वीकार करलें, किसी और योग्य पुरुष को प्रजापति बना दें। मैं सृष्टि बढ़ाने में असमर्थ हूँ। मेरी धर्मपत्नी तो बड़ी अच्छी है किन्तु अच्छी क्या करे, यह तूमड़िया तो मेरे पीछे पड़ गया है।

यह सुनकर दक्ष को प्रेमपूर्वक समझाते हुए ब्रह्माजी कहने लगे—"देखो, बेटा! श्रेय कार्यों में सदा से बहुत विघ्न होते आये हैं। मैं ही जब कमल से उत्पन्न हुआ था, तो मधु और कैटभ असुर आकर मुझे डराने धमकाने लगे, मेरे कार्य में विघ्न करने लगे। तब मैं भगवान् की शरण गया। भगवान् ने कृपा करके उन्हें मार डाला। विघ्न टल गया, मैं सृष्टिकार्य में पुनः प्रवृत्त हो गया। इसलिये भैया, विघ्न आ जाने पर घबड़ाना नहीं चाहिये, धैर्य धारण करना चाहिये।"

दुःख प्रकट करते हुए दक्ष ने कहा—"महाराज! धैर्य की भी सीमा होती है कहाँ तक धैर्य धारण करे। बार-बार अपने कार्य में विघ्न होने से उत्साह भङ्ग हो जाता है फिर चित्त उस कार्य को करना ही नहीं चाहता, उससे वैराग्य हो जाना स्वाभाविक ही है।"

इस परलोक पितामह ब्रह्माजीने कहा—"देखो, बेटा ! संसार तीन तरह के लोग होते हैं एक तो ऐसे होते है, कि कार्यारम्भ पूर्व ही सोचने लगते हैं इसमे अमुक विघ्न हो सकते है ने अड़चने पड़ सकती है, ऐसे बातो को सोचते २ ही रह जाते हैं, विघ्नों के भय से कार्य को आरंभ नही करते है। वे अधम हैं। एक ऐसे पुरुष भी होते हैं जो कार्य का आरंभ तो बडे उत्साह के साथ करते हैं, किन्तु विघ्न पडते ही धैर्य को खो बैठते हैं, बीच मे ही कार्य को छोड़ देते हैं, वे मध्यम कहलाते हैं। किन्तु उत्तम पुरुष तो चाहे कितने भी विघ्न क्यो न आवें, आरंभ किये हुए कार्य को पुर्ण करके ही विश्राम लेते हैं। वे निराश होना जानते ही नहीं। तुम भैया, उत्तम पुरुषों मे से ही हो। जूआ मत डालो। साहस को मत खोओ, निराश मत होओ। पुनः सृष्टि वृद्धि के निमित्तप्रयत्न करो। अनके पुत्रो कोउत्पन्न मत करो, अबके लड़कियो की सृष्टि करो, ये बाबाजी लड़को को तो बहका लेते हैं किन्तु लड़कियो के पास नहीं फटकते। खुटका लगा रहता है। कहीं उलटे न बहक जॉय। उन्हें फसाने के चकर मे स्वयं न फँस जायँ। उन लड़कियों के पास नारद आवेगा ही नहीं। जहाँ किसी ने इनके साथ गॅठबन्धन किया दोनो मनोनुकूल जोड़ी पाकर पति पत्नी बन गये, फिर नारद नहीं नारद का बाप मैं स्वयं भी उनसे बाबाजी बनने को कहूँ तो नही बन सकते। सो, भैया ! यही उपाय ठीक है। छोड़ो इन लड़को के झंझट को। ये लडके तो विवाह होने के पूर्व निर्मोही होते हैं। स्वतंत्र सिह शावक की तरह उछलते-कूदते हैं। दशों दिशाओ मे चाहे जिधर भाग जायँ। किन्तु जहाँ वह-रूपी जंजीर पैरों पड़ी, तहाँ सिहसे गीदड बन जाते हैं। सब चौकड़ियाँ भूल जाते हैं। अपने को परवश मान कर म्याऊँ बन

जाते हैं। और उस जंजीर को खनकाते हुए उसके मधुर शब्द से मोहित होकर उसीके संकेत पर नाचते रहते हैं। इसलिये भैया, संसार बन्धन को बढ़ाना हो तो बेड़ी तैयार करो बेड़ी। समझे मेरे प्यारे बच्चे! इतनी सुन्दरी कन्यायें उत्पन्न करो कि लोग आकर तुम्हारी स्वयं अनुनय विनय करें।

दक्ष अब क्या करते! गुरुओं की आज्ञा का पालन तो सिर-झुका कर बिना विचारे करना ही पड़ता है। अतः अबके उन्होंने अपनी पत्नी अशिक्नी में ६० कन्याओं को उत्पन्न किया। उन सबके नेत्र कमल के समान थे। सुवर्ण के समान उनके शरीर की कांति थी। उनके अंगों से दिव्य गंध निकलती रहती थी। वे कन्याओं में रत्नरूपा थीं। उनके अनवद्य सौंदर्य को जो भी एक बार निहारता वही अपने मन को खो बैठता। विवाह के योग्य हो जाने पर दक्ष ने सुयोग्य वरों के साथ प्रसन्नता पूर्वक उनका विवाह किया। उन दिनों विवाह करने वाले लोग कम थे। इस लिये सृष्टि वृद्धि के लिये एक-एक पुरुष बहुत-बहुत विवाह करता था। इस लिये दक्षने उन साठ में से २७ तो चन्द्रमा को दे दीं। १० धर्म देव को १३ कन्याओं का विवाह भगवान् कश्यप के साथ कर दिया। दो भूत नामक ऋषि को, दो अङ्गिरा को, दो कृशाश्व मुनि को। कितनी हुईं? २७ और १३ हुईं ४० और १० धर्म को, इस प्रकार ५० हो गईं। भूत, अंगिरा और कृशाश्व इन तीनोंको दो दो, तो ६ हुईं ५० और ६ हुईं ५६। अब शेष रहीं चार। सो, वे चार तर्क्ष्य मुनि को दे दीं। इसप्रकार दक्षने अपनी ६० कन्याओं का विवाह कर दिया। अबके दक्ष का बाण लक्ष्य पर लगा। उन्हें सफलता हुई। इन ६० कन्याओं का इतना वंश बढ़ा कि उस मन्वन्तर की समस्त प्रजा इन कन्याओं की

संतति से ही भरगई। इनके पुत्र पौत्र और प्रपौत्रो ने ही इस सम्पूर्ण त्रैलोक्य को पूर्ण कर दिया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इन साठ कन्याओ का इतना वंश बढ़ा कि सब का वर्ण करने लगूँ, तो कल्पान्त मे भी पूर्ण न हो सकेगा। अतः मैं अब अत्यन्त ही संक्षेप मे सकेत रूप मे इन साठो के वंशो का वर्णन करूँगा। तुम ध्यान पूर्वक इन्हें श्रवण करना। उच मत जाना कि इसके पुत्र वे हुए, उसके वे हुए। इससे हमे क्या लाभ? नही, इनके नाम कीर्तन का भी बड़ा महात्म्य होता है।

छप्पय

भानु, मुहुर्ता, कुकुप्, जामि, वसु, लम्बा, साध्या।
मरुत्वती, सकल्प, धर्म की ये सब भार्या॥
स्वधा सती ये नारि अगिरा मुनि की प्यारी।
विनता, कद्रू और पतगी यामिनि नारी॥
तार्क्ष्य नहू ये चारि हैं, विपणा, अर्चा गुणवती।
पत्नी कहीं कृशाश्व की, सबई सुन्दरि सब सती॥

दक्ष की कन्याओं के वंश का वर्णन

(३७८)

नामधेयान्यमूषां त्वं सापत्यानां च मे शृणु ।
यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ६ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

अब कश्यप की नारि त्रयोदश की सुतति सुनि ।
अदिती, दिति, दनु, इला अरिष्टा, सुरसा अरुमुनि ॥
काष्ठा, सरमा, सुरभि, कहीतिमि, क्रोधवशापुनि ।
ताम्रा पत्नी पाइ भये अति आनन्दित मुनि ॥
लोकमात ये जगत की, सब इनकी सन्तान हैं ।
देवासुर पशु पंछि नर, लघु बड़, क्षुद्र महान हैं ॥

ऋषि वंश श्रवण करने की प्रथा सनातन है, हमारे यहाँ एक श्रावणी का पर्व होता है, उसमें ऋषिवंश का कीर्तन करना, ऋषियों के वंश श्रवण करने का ही माहात्म्य होता है। ये वंश श्रवण हमें विभिन्नता के स्तर से उठाकर एकता की ओर ले जाते हैं। संकुचित परिधि से पृथक् करके विशाल वंश में स्थित

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उन दक्ष कन्याओं के तथा उनकी सन्तानों के नामों को तुम सुनो श्रवण करो। जिनकी सन्तानों की सन्तानों से ये तीनों लोक भर गये हैं।

देते हैं। जीवों ने अपने को परिधि की अनेक पंक्तियों में विभक्त करके संकुचित बना रखा है। हम ब्राह्मण हैं, शेष सब हमसे नीचे हैं। हम द्विज हैं, द्विजेतर अधम हैं। हम मनुष्य हैं मनुष्यों से भिन्न सभी मोक्ष के अनधिकारी हैं। हम बुद्धि जीवी पुरुष हैं, बुद्धिहीन सभी हमारी आजीविका के साधन हैं। इत्यादि भेद भावों से जो जीव को भक्षण करने उसे नीचा दिखाने के लिये सर्वदा उद्यत रहता है। ऋषि वंशों का कीर्तन इस क्षुद्रता को मिटाता है, वह हमें बताता है, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिंह, व्याघ्र, सर्प, देवता, असुर सभी एक ही कश्यप मुनि की संतान हैं। हम सबके पूर्व पिता एक ही थे, माताओं की विभिन्नता से ये जातियाँ हो गईं पृथक् पृथक् वर्ग बन गये। इसीलिये ऋषियों के वंश के नित्य श्रवण का परम माहात्म्य बताया है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अब मैं प्रजापति दक्ष की ६० कन्याओं के वंश का वर्णन करता हूँ। देखिये दक्ष ने अपने ६० कन्याओं में से १० धर्म को दीं। उनके नाम ये हैं—भानु, लम्बा, ककुप्, जामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसुमुहूर्ता और सङ्कल्पा। अब इनकी जो सन्तान हुईं उनके भी नाम सुन लीजिये।

धर्मकी प्रथम पत्नी भानुका पुत्र देवऋषभ था और उसका पुत्र इन्द्रसेन। दूसरी लम्बा का पुत्र विद्योत हुआ और उसके स्तनयित्नु। तीसरी ककुभ का पुत्र सङ्कट हुआ और सङ्कट का पुत्र कीकट हुआ। कीकट के असंख्यों पुत्र हुए, वे सब दुर्गों के अभिमानी देवता हुए चौथी पत्नी जामि के स्वर्ग नामक पुत्र हुआ और स्वर्ग का पुत्र हुआ नन्दि। पाँचवीं विश्वा के विश्वदेव नामक देव हुए। विश्वदेवों का वंश आगे चला ही नहीं। वे सबके सब निःसन्तान हैं। छठी साध्या से साध्यगण नामक देव हुए उनके अर्थ

सिद्ध नामक पुत्र हुआ। सातवीं मरुत्वती से मरुत्वान् और जयन्त नामक ये दो पुत्र उत्पन्न हुए ये जयन्त ही उपेन्द्र कहलाये ये भगवान् विष्णु के अंशावतार हैं। आठवीं मुहूर्ता से मुहूर्तों के अभिमानी देवता हुए, जो प्राणियों को उनके कर्मानुसार अपने-अपने समय पर यथायोग्य फल देते हैं। धर्म की नवीं पत्नी सङ्कल्पा से सङ्कल्प नाम का पुत्र हुआ। इस सङ्कल्प का ही पुत्र कामदेव है जो सब प्राणियों के शरीर में अशरीरी रहकर पीड़ा देता है। कामकी उत्पत्ति सङ्कल्पसे ही होती है। अध्यवसाय इसका सहकारी है। यह बड़ा बली और दुर्जय है। दसवीं पत्नी वसु के द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु और विभावसु नाम वाले अष्टवसु उत्पन्न हुए। राजन्! ये धर्म के १० पत्नियों में जो संतानें हुईं वे सबके सब देवों के गण हैं। सबके शरीर दिव्य हैं। ये मृत्युलोक के स्थूल आँखों से दिखाई देने वाले स्थूल प्राणी नहीं हैं। इनके अस्तित्व में शास्त्र ही प्रमाण है और ये योगियों को दिव्य दृष्टि से दिखाई भी देते हैं।

अष्ट वसुओं में से जो प्रथम द्रोण नाम वसु थे उनका विवाह अभिमति (इच्छा) नामक पत्नी से हुआ। जिससे हर्ष, शोक, भय आदि पुत्रों का जन्म हुआ। ये ही द्रोणवसु द्वापर में आकर व्रज में गोपराज नन्द के रूप में प्रकट हुए जिनके आत्मज बनकर आनन्दकन्द वृन्दावन चन्द्र नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रकट हुए। दूसरे प्राण नामक वसु की उर्जस्वती नाम की भार्या में सह, आयु और पुरोजव नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए तीसरे ध्रुव नामक वसु की धरणी नाम्नी पत्नी में असंख्यों देवता उत्पन्न हुए। चौथे अर्क नामक वसुकी वासना नामकी पत्नी में तप आदि अनेकों पुत्र हुए। पाँचवें अग्नि नामक वसुधारा पत्नी में द्रविणकादि कई पुत्र हुए। देवताओं के सेनापति

षडानन स्कन्द भी अग्नि के ही पुत्र हैं जो कि कृत्तिकाओं के पुत्र मानने से कार्तिकेय कहे जाते हैं। इनका वर्णन प्रसङ्गानुसार होगा। इन्हीं स्कन्द से विशाख आदि पुत्र उत्पन्न हुए। छठे दोषनामक वसु से उनकी शर्वरी नामकी भार्या मे शिशुमार चक्र उत्पन्न हुए, जो भगवान् के अंशावतार हैं सातवे वसु जिनका नाम भी वसुही है उनकी अङ्गिरसी नाम की भार्या, में देवताओं के बढ़ई शिल्पकारो के अधिपति विश्वकर्माजी का जन्म हुआ। इन्हीं के पुत्र चाक्षुस मनु हुए और मनु के विश्वे देवा और साध्यगण इन देवताओं की उत्पत्ति हुई। आठवे वसु विभावसु की ऊषा नाम्नी पत्नी से व्युष्ट, रोचिष और आतप ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। उनमे से आतप के पाँचो प्रहरों के पाँच अभिमानी देवता हुए। उन प्रहरों के विभाग से जीव कर्मों में तत्पर बने रहते हैं। यह तो धर्म की पत्नियों का वंश हुआ अब दक्ष की अन्य कन्याओं के वंश को श्रवण कीजिये।

प्रजापति दक्षकी एक कन्या सरूपा थी वह भूतको विवाही गई उससे करोड़ों रुद्रों की उत्पत्ति हुई। जिन रुद्रों में एकादश रुद्र प्रधान माने जाते हैं उनके रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, बहुरूप और महान् ये नाम हैं। भूतकी दूसरी पत्नी में भयङ्कर भूत, प्रेत विनायकादि का जन्म हुआ जो रुद्र पार्षद कहे जाते हैं।

दक्ष की दो कन्यायें सती और स्वधा अंगिरा नाम महर्षि को विवाही गईं। उनमे से स्वधा ने तो पितृगणों को उत्पन्न किया और दूसरी सती ने अथर्वाङ्गिरस नामक वेद को उत्पन्न किया। इसी प्रकार दो कन्याये दक्ष प्रजापति ने कृशाश्व नामक ऋषि को दी। जिनमें से प्रथम पत्नी अर्चि ने धूम्रकेश नामक पुत्र को उत्पन्न किया और दूसरी धिषणा नामक पत्नी ने वेदशिरा देवल,

वयुन और मनु नामक मुनियों को उत्पन्न किया। इन चार पुत्रियों से ऋषि वंश की उत्पत्ति हुई।

दक्ष प्रजापति ने विनता, कद्रू, पतङ्गी और यामिनी इन चार कन्याओं का विवाह तार्क्ष्य मुनि के साथ किया। मुनि ने सोचा कि देवता, ऋषि, भूत-प्रेत, पिशाच, पितर तथा मनुष्य आदि को तो सभी उत्पन्न करते हैं। हम तो पशु पक्षियों की सृष्टि करेंगे। इसलिये विनता ने तो पक्षियों के राजा गरुड़को जो भगवान् के वाहन हुए तथा सूर्य के सारथी अरुण को उत्पन्न किया। कद्रू ने नागों को उत्पन्न किया। पतङ्गी ने समस्त पक्षियों को उत्पन्न किया तथा यामिनी ने शलभ पतंगे आदि जीव जन्तुओं को पैदा किया।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये विनता, कद्रू, पतङ्गी तथा यामिनी जो दक्ष प्रजापति की कन्या और तार्क्ष्य मुनि की पत्नियाँ बताई हैं ये मनुष्यों जैसी थीं या कद्रू सर्पिणी थी, पतङ्गी पक्षी के आकार की थी। यदि मनुष्य की सी थी तो इनसे पशु पक्षियों की उत्पत्ति कैसे हुई?

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! अब आप भी ऐसा प्रश्न करते हैं। भगवन्! ये तो सब लोग मातायें हैं। इनमें सर्वसामर्थ्य होती है, ये जैसा चाहे रूप बना सकती हैं दक्ष प्रजापति की कन्या थीं इसलिये आकार तो इनका मानवीय स्त्रियों जैसा था, किन्तु ऋषि का जब जैसा सङ्कल्प हुआ वैसा ही रूप रखकर वैसी ही गर्भ को धारण कर लिया। इनके लिये कोई बात कठिन नहीं।

इस पर शौनकजी ने कहा—"हाँ, ठीक है सूतजी! अच्छा, हम अब यह पूछना चाहते हैं, कि आपने कहा, कि हम विनता के पुत्र गरुड़ को साक्षात् भगवान श्रीमन्नारायण ने अपना

वाहन बनाया, सो भगवान् ने उन्हें अपना वाहन क्यों बनाया ? भगवान् को और कोई वाहन ही नहीं मिला ? इन गरुडजी में क्या ऐसी विशेषता थी कैसा इनका तेज पराक्रम था इन सब बातों को हमें विस्तार से बताइये। भगवान् के वाहन गरुड-जी का पावन चरित्र सुनाइये।

यह सुनकर सूतजी गम्भीर होकर बोले—"भगवन्! इस समय तो मैं दक्ष की कन्याओं के वंश का वर्णन कर रहा हूँ। जिस प्रकार भगवान् विष्णु के चरित्र अनन्त हैं। उसी प्रकार उनके वाहन गरुडजी के चरित्र भी अनन्त हैं। यदि मैं यहाँ विस्तार से गरुडजी का चरित्र सुनाता हूँ तो तब तो यह प्रसङ्ग ही रुक जायगा। नया गरुड़पुराण बन जायगा। अतः मैं यहाँ इस विषय का विस्तार न करके अत्यन्त ही संक्षेप में श्री गरुड जी के सम्बन्ध में बताता हूँ आप ध्यानपूर्वक इस पुण्य प्रसङ्ग को श्रवण करें।"

छप्पय

देव ऋषभ सुत 'भानु' जन्यौ 'लम्बा' विद्योतहिं।
'ककुभ' वंशमहँ भये देव जो दुर्गनिमहँ रहि॥
देव 'मुहूर्त' जने मुहूर्तनि के अभिमानी।
मरुत्तवती के पौत्र जयन्त उपेन्द्र सुज्ञानी॥
'संकल्पा' संकल्प सुत, जाके सुत ये काम हैं।
अष्ट वसु 'वसु' ने जने, द्रोणादिक जिन नाम हैं॥

तार्क्ष्य गरुड़ और अरुण

(३७६)

सुपर्णासूत गरुडं साक्षाद्यज्ञेशवाहनम् ।
सूर्यसूतमनूरुं च कद्रूर्नागाननेकशः ॥ ❀

(श्रीभा० ६ स्क० ६ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

'साध्या' के सुत साध्य 'विश्व' के विश्वेदेवा ।
भूत 'सरूपा' नारि रुद्रभण जने कुदेवा ॥
दूसरि पत्नी पुत्र भूत प्रेतादि विनायक ।
स्वधा, अङ्गिरा नारि पितृगण जने प्रभावक ॥
'सती' सुमाता वेदसी, 'धिषणा' अर्चि कृशाश्व की ।
नारि पतङ्गी यामिनी, विनता कद्रू, तार्क्ष्य की ॥

जगत् की उत्पत्ति, विनाश को जब हम श्रीहरि की नित्य की क्रीड़ा मान लेते हैं, तो फिर किसी भी विषय में शङ्का नहीं रह जाती । "ऐसा क्यों हुआ ? ऐसा होना संभव नहीं ।" ये प्रश्न तभी उठते हैं जब हम असत् का सत् की तथा अनित्य में नित्य

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! तार्क्ष्य मुनि की पत्नी सुन्दर पङ्खवाली विनता ने साक्षात् यज्ञ के ईश श्रीविष्णु भगवान् के वाहन श्री गरुड़जी को और सूर्यदेव के सारथी अरुणजी को उत्पन्न किया था कद्रू ने अनेकों नागों को उत्पन्न किया ।"

की भावना कर लेते हैं। जब इस दृश्य प्रपंच को प्रभु का विनोद, उनकी स्वाभाविक क्रीड़ा मान लेते हैं तो कह देते हैं, वह उनकी माया है और माया मे कुछ भी असम्भव नहीं, सब सम्भव ही सम्भव है। शंका तथा चिन्ता हम स्वयं मोल ले लेते है। अपने आप मान अपमान, भला बुरा, त्याज्य ग्राह्य आदि द्वन्दो की कल्पना करके दुखी सुखी होते हैं। तुम सर्वत्र अपने श्याम-सुन्दर का स्वरूप ही क्यों नहीं देखते। यह क्यों नही धारणा कर लेते कि वे गरूड़ध्वज ही अपने विनोद के लिये कहीं हार-जाते हैं कहीं दूसरो को हरा देते हैं। कहीं कछुआ बन जाते है, कहीं पशुपक्षी हो जात है, वे ही सब मे रम रहे है, वे ही क्रीड़ा कर रहे हैं, उन्हीं का सब विनोद है उन्हीं की माया का पसारा है।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसे हमारे मनुष्यो के दिलो मे नित्य नई सृष्टि होती रहती है, वैसे ही ब्रह्माजी के प्रत्येक दिन नई सृष्टि होती है। किसी सृष्टि मे कुछ थोड़ा बहुत हेर फेर हो जाता है। इसे कल्प सृष्टि कहते हैं। कश्यपजी की किसी कल्प मे १७ पत्नी बताई, किसी मे विनता, कद्रू, पतङ्गी और यामिनी ये ४ तार्क्ष्य मुनि की पत्नी बताकर शेष कश्यप की बताई हैं। कहीं-कहीं तार्क्ष्य कश्यप का ही पर्याय प्रतीत होता है। कल्प भेद से ही यह कुछ भेद सा प्रतीत होता है। आपने मुझसे यह प्रश्न किया था, कि गरुड़जी भगवान् के वाहन कैसे अब मैं सक्षेप मे गरुड़जी की उत्पत्ति बताकर उनका अग्रिम चरित्र कहूँगा। विनता और कद्रू ये दोनो बहिन थीं और एक ही पति के साथ इनका विवाह हुआ था। बहिन-बहिन में तो प्रेम होता भी है किन्तु जहाँ वे सौत हुईं वहीं खटपटी हो जाती है। भगवान् ने यह सोतिया डाह ऐसा बुरा बनाया है, कि इस डाह के वशीभूत होकर स्त्रियाँ न करने योग्य काम को कर बैठती हैं।

एक दिन विनता और कद्रू पर उनके पति प्रसन्न हुए और उन्होंने इन दोनों से वरदान माँगने को कहा। इसपर कद्रू ने वर माँगा —"मेरे एक सहस्र सुन्दर तेजस्वी नाग पुत्र हो।" तथा विनता ने परम पराक्रमी दो पुत्रों की याचना की। दोनों को पति की प्रसन्नता से वरदान मिल गया। नियमानुसार कद्रू ने हजार अंडे और विनता ने दो बड़े-बड़े अंडे उत्पन्न किये। दासियों ने इन अंडों को पृथक्-पृथक् गरम पात्रों में रख दिये।

मुनियों! ऐसा नियम है, बालक जितने दिन गर्भ में अधिक रहता है, उतना ही वह बली होता है। बहुत से बच्चे ७ महीने में ही पैदा हो जाते हैं, वे बहुत ही दुर्बल होते हैं। पाँच सौ वर्ष के पश्चात् कद्रू के सब अंडे अपने आप फुट गये और उनमें से बड़े-बड़े बली, विषधर सर्प निकले। जो स्वभाव के बड़े क्रूर थे। प्रजा को पीड़ा पहुँचाने वाले थे। कद्रू के तो हजार पुत्र इधर-से उधर किलोल करने लगे। किन्तु विनता के अंडे अभी तक ज्यों के त्यों रखे थे। विनता के मन में सौतिया डाह हुआ—"हाय! इसके तो हजार बच्चे इधर से उधर घूमकर इसे सुख पहुँचा रहे हैं। अपनी माँ को ये कितना प्यार करते हैं कभी गोद में बैठते हैं कभी कन्धों पर लटकते हैं, कभी सिर पर चढ़ते हैं। मेरे दो ही तो पुत्र होने वाले हैं वे भी अभी हुए नहीं। जितने दिनों की देरी से होंगे, उतने ही वे छोटे समझे जायँगे। मेरी सौत के बच्चे बड़े होंगे। इस सौतिया डाह के कारण उसने एक अंडे को फोड़ दिया। फोड़ते ही उसमें एक परम तेजस्वी बालक उत्पन्न हुआ। उसके नाभि से ऊपर के सब अङ्ग तो पके थे। किन्तु नाभि से नीचे के पैर आदि बनेही नहीं थे। अधूरा बालक था। उस तेजस्वी बालक को अपनी माता की इस अधीरता और ईर्ष्या पर बड़ा क्रोध आया। उसने क्रोध में भरकर माता

को शाप दिया—माँ तूने मोह वश, ईर्ष्या के कारण मुझे पगु बना दिया अतः जिससे तू बढ़ना चाहती है, उसी की तुझे ५०० वर्षों तक दासी बनकर रहना होगा। यदि इस मेरे भाई के अंडे को तैंने बीच में न फोड दिया और धैर्य के साथ इसके जन्म की प्रतीक्षा करती रही, तो ५०० वर्ष के पश्चात् यह उत्पन्न होकर तुझे दासीपने से मुक्त कर देगा।" इतना कहकर वह आकाश मे उड़ गया। वहाँ सूर्य भगवान् की उसने आराधना की और त्रैलोक्य की परिक्रमा करने का वर माँगा। पगु पुरुष परिक्रमा कैसे करे। इसीलिये सूर्य भगवान् ने उसे अपने रथ का सारथी बना लिया। उन्हीं का नाम अरुण हुआ। मुनियों! प्रारब्ध की कैसी विचित्र महिमा है। सूर्य मंडल कितना बडा है। भगवान् भुवन भास्कर का रथ कितना विस्तृत और दिव्य है, जिनमे सप्त छन्द ही घोडे हैं। उस इतने दिव्य अनुपम रथ का सारथी पगु है। वह सूर्य की ओर पीठ नहीं करता। अतः हाथ मे घोड़ो की बाग लिये हुये घोडो की ओर पीठ करके उन्हें हाँकता है। इस प्रकार रथ पर बैठे-बैठे ही वह पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता रहता है। सूर्योदय के पूर्व नित्य ही पहिले अरुणोदय होता है। अरुण के दर्शन होने के अनन्तर सूर्य के दर्शन होते हैं। यह तो मैंने गरुड के बडे भाई अरुण की सक्षिप्त कथा सुनाई अब आप भगवान् गरुड़ की भी कमनीय कहानी सुनिये।

मुनियो! समर्थ पुरुषों का शाप और अनुग्रह कभी व्यर्थ नहीं जाता। बिचारी विनता को उसके तेजस्वी पुत्र अरुण ने शाप दे दिया था। उसे तो पूरा होना ही था। एक दिन दैव योग से विनता और कद्रू बैठी हुई थीं कि आकाश से—समुद्र मन्थन के समय निकला हुआ—दिव्य उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा जा रहा

था। दुग्ध के फैन के समान वह अप्राकृत अश्व द्वितीय पूर्णचन्द्र के समान प्रतीत होता था। उसे देखकर कद्रू ने विनता से पूछा—"बहिन! उच्चैःश्रवा का रङ्ग कैसा है?"

हँसी-हँसी मे विनता ने कहा—"अरे, यह भी कोई पूछने की बात है। उच्चैःश्रवा तो सफेद है।

कद्रू ने पूछा—"अच्छा, इसकी पूँछ के बाल कैसे हैं?

विनता ने कहा—"जैसा यह स्वय शुभ्रवर्ण का है वैसी ही इसकी स्वच्छ शुभ्र पुच्छ है। सफेद रेशम के समान नीचे तक लटकती हुई कैसी इसकी मन मोहक पूँछ है।"

कद्रू ने कहा—"अरे, तू भी बहिन ऐसी ही रही, सट्ट पट्ट। अरी, इसकी पूँछ तो सम्पूर्ण काली है काली समझी! इसपर विनता को रोष आ गया। वह बोली—"तू कैसी भूली-भूली बाते कर रही है। तैंने भाँग तो नहीं पी रखी है या तेरी आँखों मे कमला रोग के स्थान मे कालिमा रोग तो नहीं हो गया है, जो तुझे सफेद वस्तु काली दिखाई देती है। या तेरा मन काला हो गया होगा।" इतना कहकर विनता ठठाका मारकर हँसने लगी।

विनता को हँसते देखकर कद्रू को क्रोध आ गया। अपनी असत्य बात पर अडते हुए वह बोली मैं एक बार नहीं हजार बार कहूँगी, उच्चैःश्रवा की पूँछ काली है काली है, फिर काला है। घर मे कहूँगी, बाहर कहूँगी, आकाश मे कहूँगी, पाताल म कहूँगी, डके की चोट के साथ कहूँगी।"

विनता को भी ताव आ गया। वह बोली—"तू बडी पगली है री। व्यर्थ की झूठी बात पर अड़ रही है। ये हमारी तेरी होड़ है, यदि उच्चैःश्रवा के बाल काले न हुए तो?

कद्रू ने बात पर बल देते हुए कहा—"तो क्या ! यदि काले न हुए तो मैं जीवन भर तेरी दासी बनकर रहूँगी । तेरी सेवा करूँगी, जो कहेगी वह करूँगी । यदि काले ही हुए तो तुझे मेरी जीवन भर दासी बनकर रहना पड़ेगा । बोल स्वीकार है ?"

विनता ने दृढता के साथ कहा—'पक्की रही यही बात । पीछे मुकर मत जाना । हँसी वाली बात नहीं है । ऐसा करना पड़ेगा ।"

बातों ही बातो मे हँसी-हँसी मे बात बढ गई होड लग गई, अब कद्रु का चिन्ता हुई । वास्तव मे ता उच्चै.श्रवा के सभी अङ्ग अत्यन्त शुभ्र वर्ण के थ, उसकी पूँछ के बाल भी सफेद थे । कद्रु ने सोचा कोई तिकडम भिडानी चाहिये । उसने अपने पुत्र-नागो से कहा—"देखो, बेटा ! आज मेरी विनता से होड लगी है । तुम सब कालेबाल के समान सर्प बनकर उच्चै.श्रवा की पूँछ मे लिपट जाओ । जिससे उसकी पूँछ काली हो जाय । इस प्रकार मेरी विजय हो सकती है ।" यह सुनकर उनमे से आधे सर्प माताकी अन्याय पूर्ण बात से सहमत नही हुए । इस पर कद्रू ने क्रुद्ध होकर उन्हे शाप दिया जाओ, तुम जनमेजय के यज्ञ मे भस्म हो जाओ ।" शेष डर गय और जाकर उच्चै.श्रवा की पूँछ मे लिपट गये ।

दोनो बहिन समुद्रपार करके उच्चै.श्रवा को देखने चलीं । वहाँ जाकर उन्होने आकाश में स्थित चन्द्रमा का चादनी के समान उज्वल और चमकते हुए उच्चै.श्रवा को देखा । वह पाञ्चजन्य शख के समान खिले हुए कुन्द के समान, दुग्ध के फेन के समान, हसो के परा क समान, नवयौवना निरागा नारी के उज्वल दन्तो के समान, कलई से पुते स्वच्छ भवन के समान, परिश्रम से धोकर चावल का माड़ देकर धोये हुए शुभ्र वस्त्र के समान, बालक के मधुर हास्य के समान, आकाश म

उडती हुई बकुल के पक्ति के समान, तथा फूले हुए कास के पुष्पों के समान श्वेत रङ्ग का था। किन्तु उसकी पूँछ नागों के लिपट जाने से काली दिखाई देती थी। यह देखकर विनता को दु ख हुआ। उसे विवश होकर कद्रू की दासी बनना पडा। मुनियो! ईर्ष्या द्वेष वश मनुष्य अनुचित कार्य करके भी गर्व का अनुभव करता है, कद्रू ने विनता को क्षमा नहीं किया उसे अपनी दासी बना ही लिया और उससे मनमानी सेवा कराने लगी। इस प्रकार विनता को कद्रू की सेवा करते करते ५०० वर्ष व्यतीत हो गये।

अब तो गरुडजी के उत्पन्न होने का भी अवसर आगया। वे अडे को फोडकर स्वय निकल आये। वे महान् तेजस्वी, परम पराक्रमी और बडे ही डील डोल वाले जन्तु थे, सुवर्ण के समान उनकी पख थीं। वे दूसरे अग्नि के समान दमक रहे थे। उत्पन्न होते ही वे आकाश की ओर उडे। उन्हें आकाश में उडते देखकर देवताओ का तो सब सिटिल्ली भूल गई, वे डर के कारण थर थर काँपने लगे। इन्द्र की दशा शोचनीय थी। शीघ्रता के साथ वे अग्नि से बोले—"अग्नि देव, यह आपसे भी अधिक तेजस्वी कौन जीव है। ये हमारी ओर दौडे आ रहे हैं। ये स्वर्ग का विनाश करेंगे क्या?"

तीनों लोक के स्वामी देवराज इन्द्र की ऐसी बात सुनकर अग्निदेव हँस पडे और बोले—"देवेन्द्र! आप डरें नहीं। वास्तव मे ये मुझसे भी अधिक तेजस्वी हैं, किन्तु ये देवताओं के पक्षपाती हैं, ये तो असुरों राक्षसों तथा नाग आदि क्रूर कर्म करने वाला के विनाशक हैं। सभी देवता चलकर इनकी स्तुति करें।' इतना सुनते ही हाथों म कल्पवृक्ष क पुष्प लिये हुए सब देवता गरुडजा की स्तुति करने आय और भाति भाँति क स्तोत्र पाठ

से उनकी प्रशंसा करने लगे। अन्तमें कहा—"हे प्रभो! हम आजसे आपको समस्त पक्षियों का इन्द्र बनाते हैं। आप अपने इस उग्र रूप को संवरण कर लीजिये। इस भयंकर शरीर को सिकोड़ कर लघु करलें और सदा हम पर कृपा करें। गरुड़जी ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करली और वे छोटे बनकर अपनी माता की गोद में खेलने लगे।

ये कद्रू की दासी विनता के पुत्र थे। माँ दासी तो बेटा भी दास हुआ। इसलिये कद्रू के बेटे नाग गरुड़जी को आज्ञा दे हमें वहाँ पीठ पर चढ़ाकर ले चलो। हमारा यह काम करो वह काम करो। गरुड़जी अपनी माता के गौरव से यह सब कर तो देते थे, किन्तु उन्हें बड़ा क्रोध आता था। उनके मनमें आता, मेरी माँ कह दे तो इन सब दुष्टों को बीन-बीन कर चट कर जाऊँ। किन्तु क्या करते माता की आज्ञा में बँधे थे।

एक दिन उन्होंने अपनी माता से पूछा—"अम्मा! ये नाग हमसे दासता के काम क्यों कराते हैं? तू नागों की माता कद्रू को चढ़ाकर इधर उधर क्यों लेजाती है।"

इस पर विनता ने आँखों में आँसू भरकर आदि से अंत तक सब कथा सुना दी और कहा—"बेटा, मेरे साथ इस प्रकार छल किया गया है, अब क्या हो सकता है। हमें तो जीवन भर इनकी दासता करनी पड़ेगी। हाँ, तू समर्थ है, चाहे तो मुझे दासता से छुड़ा सकता है।"

यह सुन कर गरुड़जी कद्रू और नागों से जाकर कहा—"तुम सब मिल कर मुझसे जो चाहो सो कार्य करा लो। मैं तुम्हारा कौनसा दुर्लभ से दुर्लभ कार्य करदूँ, जिससे तुम मुझे और मेरी माता को दासता से मुक्त करदो।"

नागों ने कहा—"यदि आप हमें स्वर्ग से अमृत लादें, तब

आप माँ बेटा दोनों ही हमारी दासता से मुक्त हो जायँ।"

गरुड़जी ने अपना रूप बढ़ाया और वे प्रचंड अग्नि के समान प्रज्वलित होकर आकाश मार्ग से स्वर्ग की ओर उड़े। उनके ऐसे भयंकर रूप को देखकर सभी जीव डर गये। पहिले उन्होंने सोचा इतनी दूर जा रहे हैं कुछ जलपान तो कर लें। यह सोचकर उन्होंने माता से पूछा—"माँ! कुछ जलपान कलेवा को वस्तु बतादें।" माँ बोली—"बेटा! तू दूसरे हिमालय पहाड़ के समान तो बड़ा है साधारण वस्तुओं से तेरा पेट भरने का नहीं। इस द्वीप में दस्यु, अधर्मी, क्रूरकर्मी, लुटेरे बहुत से आभीर निषाद रहते हैं इन्हें ही तू खाकर अपना पेट भर। किन्तु ब्राह्मण को मत खा जाना। जो तेरे गले में दाह करे अग्नि के समान जले उसे उगल देना। यह सुनकर गरुड़ ने आभीरों को चबैने की भाँति चबाना आरम्भ किया। उस झपट्टे में उनका पुरोहित भी गरुड़ जी के मुख में चला गया। कंठ को जलता देखकर उन्होंने स्त्री बच्चों और स्त्री के परिवार वालों के सहित उस ब्राह्मण को उगल दिया। किन्तु इतना भोजन तो उन्हें चूर्ण के समान प्रतीत हुआ। इससे उनकी क्षुधा और बढ़ गई। खा पी कर उड़े। बीच में सुमेरु पर उनके पिता मिले। कुशल प्रश्न हुई। गरुड़जी ने कहा—"मर्त्यलोक में और सब तो ठीक है, किंतु वहाँ मेरा पेट नहीं भरता। अब भी मुझे बड़ी भूख लग रही है। कोई आहार मुझे बताइये। पिताने कुछ आहार बताया उसे खा पीकर वे स्वर्ग में पहुँचे।

देवता अमृत की बड़ी सावधानी से रक्षा कर रहे थे। अमृत का कलश एक अत्यन्त सुरक्षित स्थान पर रखा था। उसके ऊपर तीक्ष्ण धारवाला चक्र सदा घूम रहा था, इससे कोई उसे छू नहीं सकता था। गरुड़ जी ने अपना छोटा रूप बना लिया और

उसमें घुस गये। भीतर उसमे दो विषैले सर्प उसकी रक्षा कर रहे थे। उनको गरुड़जी ने इस प्रकार मसल दिया कि वे पके आम की तरह पिच्च हो गये। सर्पों को मारकर, उस चक्र को तोडकर, अमृत के कलश को उठाकर, गरुडजी यह गये वह गये। सब देवता उनके मुखकी ओर ताकते के ताकते ही रह गये। देवताओं के समस्त अस्त्र शस्त्र धरे के धरे ही रह गये। इन्द्र का सब बल व्यर्थ हुआ। गरुड के सम्मुख किसी की कुछ भी न चली। सब हक्के बक्के से होकर गरुड़जी को देखने लगे। उनके बल पराक्रम को देखकर सभी भयभीत और चकित हो रहे थे।

गरुडजी अमृत के कलश को लिये हुए निर्भीक होकर आकाश मे उडे जा रहे थे। उनके मन में भी यह बात नहीं आई कि इसमे से थोडा सा अमृत पीकर मैं भी अजर अमर हो जाऊँ। कितनी निर्लोभता है, कितना सयम और साहस है। भगवान् इनकी इस निस्पृहता से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए और मार्ग मे इन्हें दर्शन देकर कहने लगे—"गरुड! भैया तुमने तो ऐसा साहस किया कि दूसरा कोई कर नहीं सकता। अकेले स्वर्ग में जाकर सब देवताओं के देखते देखते बलपूर्वक अमृत को उठा लाये और उससे भी अधिक साहस तथा धैर्य का काम तुमने यह किया कि इस ऐसे अनुपम अमूल्य पदार्थ अमृत के पान करने का प्रलोभन तुम्हारे मन में भी नहीं आया। इसलिये मैं तुम्हारी इस निस्पृहता से सतुष्ट होकर तुम्हें कुछ वरदान देना चाहता हूँ तुम जो चाहो वही मुझसे वरदान माँग लो।"

यह सुनकर गरुडजी ने विनय के साथ निर्भय होकर कहा—"देव! यदि आप मुझे वरदान ही देना चाहते हैं, तो यह वरदान दे कि मैं सदा आपसे ऊँचा रहूँ। आपकी ध्वजा में मेरा

रास रहे। आप गरुडध्वज कहलाव और मैं बिना अमृतपानकिये ही अजर अमर तथा अपराजित हो जाऊँ।"

अविनाशी भगवान नारायण ने कहा—"तथास्तु, गरुडजी! ऐसा ही होगा। आज से आप मेरी ध्वजा में रहेंगे और सदा अजर अमर बने रहेंगे।"

यह सुनकर गरुडजी ने निडर होकर कहा—"हे मधुसूदन मैं आपको भी कुछ वरदान देना चाहता हूँ। आप भी मुझसे इच्छानुसार माग ल।"

यह सुनकर हँसते हुए श्री हरि बोले—"हे पक्षिराज! यदि आप मुझे वरदान ही देना चाहते हैं तो आप मेरे वाहन बन जायें। आपक पीठ पर चढ कर मैं उग करूँ।"

गरुडजी ने कहा—"अच्छी बात है, भेड तो जहाँ जायगी मुडेगी ही। अब तक मैं इन दुष्ट नागों को ढोता था। अब आप शख चक्रधारी चतुर्भुज बनवारी को ढोया करूँगा।" इतना कहकर गरुडजी भगवान् को प्रणाम करके ज्यों ही चलने को उद्यत हुये त्यों ही भगवान वहीं अन्तर्धान हो गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने पूछा था की गरुडजी भगवान् के वाहन कैसे हुए सो यह वृत्तान्त मैंने आपसे कहा अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने तो गरुडजी की बडी ही अद्भुत कथा सुनाई। महाभाग! गरुडजी के इस बल पराक्रम को सुनकर तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। इन्द्र भी जिनके सम्मुख थर थर काँपते थे वे साधारण पुरुष तो हो नहीं सकते। गरुडजी मे इतना बल कैसे आया? किसके वरदान से य इतने बली हुए। इस बातको आप हमे और बताइ।'

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग ! जो दूसरों की दुर्बलता पर हँसता है उसे एक दिन स्वयं भी लज्जित होना पड़ता है। मुनियो ! संसार का नियम है जो जैसा करेगा वैसा भरेगा।"

बात यह थी कि एक बार कश्यप मुनि एक यज्ञ कर रहे थे। देवता, ऋषि, असुर, पशु, पक्षी सभी उनके पुत्र हैं। पिता के यज्ञ में सभी सहयोग देने आये थे। कश्यपजी के कुछ पुत्र बालखिल्य ऋषि भी हैं। वे अँगूठे के पोर के समान आकार वाले होते हैं। पेड़ों पर उलटे लटककर तपस्या करते हैं। पिता के यज्ञ की बात सुनकर वे भी आये। कश्यपजी ने स्नेहवश देवताओं के इन्द्र को तथा इन ऋषियों को समिधालाने के लिये भेजा। इन्द्र तो लंबे तड़ंगे थे, बड़ा भारी काष्ठ उठा लाये। ये बिचारे एक तो वैसे ही अँगूठे के पोर के बराबर थे। चींटे के समान हजारों मिल कर एक ढाक की छोटी सी लकड़ी को ला रहे थे। रास्ते में एक गौ के खुर के समान पानी का गड्ढा मिला। उसी में सब डुबकियाँ लगाने लगे, लकड़ी एक ओर बह रही है, ये मेढक के बच्चे की भांति इधर उधर तैर रहे हैं। यह देखकर इन्द्र को बड़ी हँसी आई। देखो, ये भी जीव हैं। गौ के खुर के बराबर गढ़े में डूब रहे हैं।

बालखिल्य शरीर में देखने से ही छोटे थे। तपस्या में तो इन्द्र से भी अत्यधिक बढ़ चढ़कर थे। अतः उन्हें इन्द्र की इस अविनय पर क्रोध आगया उन्होंने कहा—"अच्छा बच्चूजी ! देख लेना हम कैसे हैं। तुझे इन्द्र पन से न हटाया तो हमारा नाम बालखिल्य नहीं।" इतना कहकर वे एक दूसरे इन्द्र के लिये यज्ञ करने लगे।

अब तो इन्द्र की सब चौकड़ियाँ भूल गईं। दौड़े दौड़े पिता के पास पहुँचे। सब वृत्तान्त कहा, कश्यपजी वालखिल्यों के पास गये और उन्हें समझा बुझाकर कहने लगे—"अरे, भैया! क्यों झगड़ा ठंटा बढ़ाते हैं। इन्द्र को बना रहने दो इसे इन्द्रासन से उतारने मे तुम्हें क्या मिल जायगा।"

भैया, ब्रह्माजी ने इसी इन्द्र को त्रिलोकी का स्वामी बनाया है, अब तुम दूसरा इन्द्र बना रहे हो। ऐसा अन्याय मत करो। ब्रह्माजी की मर्यादा को तुम लोग ही न मानोगे तो और कौन मानेगा?

वालखिल्यों ने कहा—"तब महाराज! हमने इतना यज्ञयाग किया है क्या सब व्यर्थ ही हो जायगा।"

शीघ्रता के साथ कश्यपजी ने कहा—"नहीं, नहीं यह बात नहीं भैया! मैं कब कहता हूँ तुम्हारा यज्ञ अन्यथा हो जाय या तुम्हारा सङ्कल्प व्यर्थ हो। आप के यज्ञ के फल स्वरूप इन्द्र अवश्य उत्पन्न होगा, किन्तु वह देवताओं का इन्द्र देवेन्द्र न होकर पक्षियों का इन्द्र खगेन्द्र होगा। वह बल, पराक्रम, तेज और कीर्ति मे इन्द्र से भी बढ़ चढ़कर होगा। इन्द्र को भी उसके सामने लज्जित होना पड़ेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन वालखिल्यों के ही यज्ञ के कारण गरुड़जी इतने बली हुए, जिससे इन्द्र को भी उनके सम्मुख पराजित होना पड़ा।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! फिर क्या हुआ? गरुड़जी अपनी माता विनता को दासत्व से मुक्ति कर सके कि नहीं। नागों ने अमृत पान किया या नहीं।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! यह तो बड़ी

लम्बी चौड़ी कहानी है इसे मैं कहाँ तक आपसे कहूँगा। मेरा अभिप्राय तो आपके उसी प्रश्न के उत्तर से था, कि गरुड़जी भगवान् के वाहन कैसे हुए। उसका उत्तर मैं दे ही चुका अब संक्षेप मे यो समझ लीजिये, कि इन्द्र और गरुड़ की परस्पर मे मैत्री हो गई। इस प्रकार की सन्धि हुई, कि गरुडजी अमृत को लेजाकर नागों के सामने रख देंगे। नाग कहेंगे जाओ तुम माँ बेटा हमारी दासता से मुक्त हो गये। तब इन्द्र जाकर उस अमृत को उठा लावेंगे।"

ऐसा ही हुआ। गरुड़जी ने नागों से कहा—"लो, भैया! अमृत ले लो। अमृत पाकर वे फूले नहीं समाये उन्होंने कहा—"अच्छा, भैया अमृत ले आये हम स्नानादि से निवृत्त होकर पवित्र होकर इस पावन पेय का पान करेंगे।"

गरुड़जी ने कहा—"हाँ, तुम सब स्नान करो हम इसे कुशों पर रखे देते हैं। हम दासता से मुक्त हो गये न?"

नागों ने कहा—"हाँ, भैया! हो गये हो गये।" इतना कहकर वे शीघ्रता से नहाने चले गये। इतने मे ही देवराज इन्द्र आये। एक झपट्टे मे अमृत भोड़ को उठा यह गये वह गये। नाग देखते के देखते ही रह गये। सच है जो दूसरों को ठगता है, वह भी एक दिन इसी तरह ठगा जाता है। इस प्रकार मुनियो! विनतानन्दन श्री गरुडजी ने अपने बल पराक्रम तथा निर्लोभिता के कारण भगवान् वासुदेव को प्रसन्न किया, इन्द्र से मैत्री की, सौत के बन्धन से अपनी माता को छुड़ाया

और दुष्ट नागों को बुरी तरह से छकाया। तार्क्ष्यकुमार गरुड जी ने अपने यश से सम्पूर्ण संसार को भर दिया। भगवान् उनकी पीठ पर चढ़कर जब असुरों का संहार करते हैं, तो गरुड़जी अपने पङ्खों से ही लाखों असुरोंको यमपुर पहुँचा देते हैं। जब ये उड़ते हैं, तो इनके पङ्खों से सामवेद की ऋचायें अपने आप निकलती रहती हैं। उसीका प्रतीक गरुड़घंट है। जो पूजा में घंटे को बजाते हैं उससे बिना मंत्रकी पूजा भी सफल मानी जाती है। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप मे आपसे भगवान् के वाहन गरुड़जी का और भगवान् सूर्य के सारथी अरुणजी का वृत्तान्त कहा। अब आप लोग और क्या सुनना चाहते है ?"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! गरुड़जी का चरित्र आपने बड़ा ही अद्भुत सुनाया। अब आप हमें दक्ष प्रजापति की अन्य कन्याओं के वंश को भी सुनाइये। आपने कहा था—"२७ कन्यायें दक्ष ने चन्द्रमाको दीं। सो, उन २७ मे कितनी सन्तानें हुईं ?"

सूतजी ने हँसकर कहा—"महाराज ! चन्द्रमा तो शापवश निःसन्तान हो गये। उनके उन २७ पत्नियों से एक भी सन्तान नहीं हुई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग ! चन्द्रमा को किनका शाप हुआ। क्यों उनकी पत्नियों मे सन्तानें नहीं हुईं। इस वृत्तान्त को आप हमें सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! सुनिये, अब मैं

आपको चन्द्रमा के शाप की कथा सुनाता हूँ, आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

विनता कद्रू बहिन सौतिया डाह भयो मन।
उच्चैःश्रवा निमित्त दासता को कीन्हों प्रन॥
कद्रू लँगटि करी पूँछ सुत अहि लिपटाये।
दासी विनता बनी गरुड़ जनि दुःख भुलाये॥
अरुण भये आधे गरुड़, अमृत लाइ अहि पुनि हने।
बरते हरि ध्वज महँ रहैं, इहि वर दे वाहन बने॥

चन्द्रमा को दक्ष का शाप

(३८०)

कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत।
दक्षशापात्सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः॥
पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षये दिताः।❀

(श्रीभा० ६ स्क० ६ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

सत्ताइस नक्षत्र चन्द्र पत्नी सुकुमारी।
औरनि तें नहिं नेह रोहिणी अतिशय प्यारी॥
पितु समीप सब गईं दुःख की कथा सुनाई।
दयो दक्ष सुनि शाप होय क्षय सोम सदाई॥
बात शाप की सोमने, सुनी बहुत चिन्तित भये।
अपराधी बनि ससुरके, विनयसहित पुनि ढिँग गये॥

रूप का मद, अधिकार का मद, यौवन का मद, और ऐश्वर्य का मद ये चार मद ऐसे होते हैं, कि मनुष्य को पागल बना देते हैं। कैसा भी विवेकी हो, ज्ञानी हो, बुद्धिमान हो इन मदों में फँस अपने आपे को भूल जाता है जिन्होंने एकमात्र भगवत् चरणों

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे भरतवंशावतंश राजन्! कृत्तिका से लेकर जितने २७ नक्षत्र हैं, ये सब चन्द्रमा की पत्नी हैं, दक्ष प्रजापति के शाप से चन्द्रमा को राजयक्ष्मा रोगहोगया था, इससे इनमें से किसी के सन्तान नहीं हुई। फिर चन्द्रमा ने दक्ष को प्रसन्न किया तो उन्हें क्षीण हुई कलाओं को पूर्ण हो जाने का वरदान प्राप्त हुआ।"

की शरण ले रखी है। जो भगवान् के कृपापात्र हैं, वे ही इन मदों से बच सकते हैं। नहीं तो ये मद प्राणियों को पगला बना देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि कृत्तिका से भरणी तक (पहिले अश्विनी से नक्षत्रों की गणना न होकर कृत्तिका से ही होती थी और अंत में अश्विनी भरणी जोड़कर २७ किये जाते थे। जो ये कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिशाखा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती, अश्विनी और भरणी २७ नक्षत्र हैं, दक्ष की प्यारी पुत्रियाँ हैं। दक्ष ने इन सबका विवाह चन्द्रमा के साथ किया था।"

चन्द्रमा अत्रि के पुत्र हैं। ये जन्म से ही अत्यन्त सुन्दर थे। घोर तपस्या करके इन्होंने वनस्पति, लता गुल्मों का स्वामित्व तथा ब्राह्मणों का ईश्वरत्व प्राप्त किया। राजसूय यज्ञ करके इन्होंने सभा के तेज को फीका बना दिया। एक तो ये युवा थे, संसार में अत्यधिक सुन्दर थे, तपस्या के प्रभाव से तेजस्वी थे। ब्रह्माजी के अनुग्रह से इन्हें ऐश्वर्य भी प्राप्त हो चुका था, इसीलिये ये आपे से बाहर होकर अनाचार करने लगे। ये यहाँ तक बढ़ गये, कि इन्होंने गुरुपत्नी तारा को भी बलात्कार अपने घर में रख लिया। उस तारा के पीछे तो देवता और असुरों का बड़ा घोर युद्ध हुआ पीछे ब्रह्माजी ने बीच में पड़ पड़ाकर इस मामले का जैसे तैसे तय करा दिया। प्रजापति दक्ष ने चन्द्रमा को सर्वसमर्थ, सुन्दर और

योग्य देखकर अपनी २७ कन्याओं का उनके सङ्ग विवाह कर दिया। नियमानुसार चन्द्रमा का कर्तव्य था, सभी के साथ समानता का व्यवहार करते, सभी को एक सा प्यार करते, किन्तु ऐसा न करके उन्होंने अपना समस्त प्रेम रोहिणीके ही ऊपर उड़ेल दिया। रोहिणी को छोड़कर वे अन्य किसी के घर जाते ही न थे और न किसी से बोलते चालते ही थे इस बातसे शेष छब्बीस पत्नियाँ मनही मन चन्द्रमा के व्यवहार से बहुत अधिक असन्तुष्ट हुईं। उन्होंने कई बार चन्द्रमा से प्रार्थना भी की, कि नाथ! हमारा भी तो कुछ अधिकार है किन्तु चन्द्रमा ने उनकी एक भी बात न सुनी। जब वे सब ओर से निराश हो चुकीं, तो उन्होंने जाकर अपने पिता प्रजापति दक्ष से आद्यन्त सब बातें सुनाईं। दक्ष ने भी चन्द्रमा को बहुत समझाया, किन्तु वे माने ही नहीं। अन्त में दक्ष प्रजापति ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया, कि तुम मेरी पुत्रियों मे भेदभाव रखते हो, अतः जाओ तुम्हें क्षयी राजयक्ष्मा—रोग हो जाय।

दक्ष प्रजापति का शाप अन्यथा तो होने का ही नहीं, अब तो चन्द्रमा को क्षयी रोग हो गया उनकी कलायें प्रतिदिन क्षीण होने लगीं। वे नित्य घटने लगे। अब तो वे घबड़ाये। राजयक्ष्मा रोग जिसे भी हो जाता है, उसके जीवन की आशा बहुत ही कम रह जाती है। चन्द्रमा ने जब देखा कि मेरा तो अब विनाश ही हो जायगा, तो उन्होंने दक्ष प्रजापति की पुनः प्रार्थना की, भगवान् शिवकी आराधना की। अन्त में उन्होंने शिवजी के प्रसाद से और दक्ष के अनुग्रह से कृष्णपक्ष मे क्षीण हुई कलाओं को शुक्लपक्ष मे पूर्ण हो जाने का वरदान प्राप्त किया। जो क्षयी का रोगी है, उसके सन्तान तो कैसे हो सकती हैं। अतः

कलाओं के प्राप्त हो जाने पर भी उनके सन्तानें नहीं हुईं वे सत्ताइस की सत्ताइसों ही बिना सन्तान के ही रहीं। इसीलिये चन्द्रमा के इन पत्नियों में से किसी के सन्तानें नहीं हुईं।

इसपर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप तो कहते हो कि, चन्द्रवंश चला ही नहीं किन्तु क्षत्रियों में तो सूर्यवंश चन्द्रवंश ये दो विख्यात वंश हैं इसी चन्द्रवंश में बुध, इला, पुरुरवा आदि बड़े-बड़े राजर्षि उत्पन्न हुए हैं। ये कैसे उत्पन्न हुए।"

इसपर सूतजी ने कहा—"महाभाग! मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं, कि चन्द्रमा का वंश चला ही नहीं। मैं तो प्रजापति दक्ष की ६० कन्याओं के वंश का वर्णन कर रहा हूँ। उन ६० में से २७ चन्द्रमा की पत्नियाँ हुईं। इन २७ को कोई सन्तानें नहीं हुईं। वैसे बुध तो चन्द्रमा के पुत्र हैं ही किन्तु वे ऐसे ही सट्ट-पट्ट हैं। उनकी कथा आगे चन्द्रवंश के वर्णन में कहूँगा।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"हाँ, महाभाग ठीक है। आप दक्ष की ६० कन्याओं के वंश का वर्णन कर रहे थे। उनमें से १० धर्म की पत्नियों का भूत, अंगिरा और कृशाश्व की २-२ पत्नियों का अर्थात् ६ का ४ तार्क्ष्य की पत्नियों का तथा २७ चन्द्रमा की पत्नियों का वृत्तान्त आपने सुनाया। इस प्रकार ४७ के सम्बन्ध में तो आपने बता दिया अब जो १३ भगवान् कश्यप की पत्नियाँ शेष रहीं, उनका भी वृत्तान्त हमें सुनाइये।'

इसपर सूतजी ने कहा—'महाभाग! ये १३ लोक की माताएं कहलाती हैं, इनसे ही इतनी सृष्टि बढ़ी कि इससे सम्पूर्ण चराचर विश्व भर गया। अब मैं उन्हीं के वंश का वर्णन करूँगा, उसे आप दत्त चित्त होकर श्रवण कर।"

छप्पय

चन्द्र विनय बहु करी प्रजापति किरपा कीन्हीं।
कृष्ण पक्ष ई कला होयँ क्षय आज्ञा दीन्ही॥
शुक्ल पक्ष महँ पूर्ण होयँ ऐसो वर दीन्हों।
अति अनुनय करि दक्ष तुष्ट शशि ने कर लीन्हों॥
दक्ष सुता दस सत्तरह, सतति विनु सब रहि गई।
पक्षपात पति ने कर्‌यो, दुखित सबहिं जाते भई॥

कश्यप पत्नियों के वंश का वर्णन

(३८१)

शृणु नामानि लोकानां मातॄणां शङ्कराणि च ।
अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत् ॥
अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला ।
मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० ६ अ० २४-२५ श्लो०)

छप्पय

काष्ठा के सुत अश्व सुरभि के गौ पशुगन हैं ।
तिमि के जलचर जीव दनू के सब दानव हैं ॥
शरमाके व्याघ्रादि गाज ताम्रा की सन्तति ।
सुरललना मुनि जनीं दैत्य दितिके हिंसक अति ॥
क्रोधवशाके सर्पगन, करें क्रोध जो नित्य हैं ।
सुरसा के राक्षस भये, अदिती के आदित्य हैं ॥

हम सबके पूर्व पुरुष एक हैं, मनुष्य यदि नीचे की ओर न देखे ऊपर की ही ओर ध्यान दे, शाखाओं को महत्त्व न देकर

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, उन लोककी माता कश्यप की पत्नियों के मङ्गलमय नामों को श्रवण कीजिये । उनके नाम ये हैं—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि ।"

मूल पर ही दृष्टि रखे तो किसी से घृणा ही न हो। जिसके मन मे किसी के प्रति घृणा नहीं। वही समदर्शी है और समदर्शी ही सदा सुखी है प्राचीन प्रथा ऐसी थी, कि सभी अपने-अपने पूर्वजो की कीर्ति नामावली सुना करते थे। सूत, मागध, वन्दी तथा गायक लोग वंशों का, पूर्व पुरुषों की कीर्ति का गायन करते थे। अपने पूर्वजों की बाते सुनकर हमे उत्साह बढ़ता है, अपने वंश वालो के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। यदि हम सब समझ ले कि पशु पक्षी, सर्प, व्याघ्र, दैत्य, दानव, देवता, तथा मनुष्य आदि हम सब एक ही पिता कश्यप की सन्तान हैं, भाई भाई हैं, तो फिर लड़ाई झगड़ा, राग द्वेष बहुत कम हो। हम अन्य समझकर ही लड़ते हैं घृणा करते हैं। अपनों से तो प्यार किया जाता है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मैंने प्रजापति दक्ष की ४७ कन्याओ के सम्बन्ध में बता दिया। अब दक्ष के शेष १३ कन्याओं के वंश को श्रवण कीजिये जो कि भगवान् कश्यप की पत्नियाँ थीं। जिनके नाम अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्ठा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि हैं। पहिले मे "सूची कटाह" न्याय से दिति अदिति को छोड़कर शेष ११ के वंश का संक्षेप में वर्णन करूँगा। एक लोहार के पास एक आदमी लोहा लेकर गया, कि हमे एक बड़ी भारी कढ़ाही बना दो। ज्यो ही वह अपने शस्त्रों को ठीक ठाक करके कढ़ाही बनाने को उद्यत हुआ, त्यो ही दूसरा आदमी पहुँचा कि हमे एक सुई बना दो। नियमानुसार तो जो पहिले पहुँचा है, उसी का काम करना चाहिये, किन्तु कढ़ाही के बनाने मे बहुत विस्तार करना है, सुई तो तनिक देर मे बन जायगी,

छोटा काम है, अतः उसने पहिले कढ़ाही न बनाकर सूची ही बना दी इसी का नाम सूची कटाह न्याय है, पहिले संक्षिप्त में होने वाले कार्य को करके तब विस्तार के कार्य में हाथ लगाना।

हाँ, तो राजन्! अब आप कश्यप की पत्नियों की संतति को श्रद्धा से सावधानी के सहित श्रवण कीजिए। कश्यप की तिमि नामक पत्नी ने समस्त जल मे रहने वाले जीवों को जन्म दिया। अब तक भी जल मे तिमि नामक एक बहुत बड़ी मछली होती है, एक प्रकार का छोटा मोटा एक टापू के समान ही होती है। उसको भी निगलने वाली तिमिङ्गिल होती है। सरमा नामक एक पत्नी ने सिंह व्याघ्रादिकों को उत्पन्न किया। सुरभि ने भैंस गाय आदि दो खुर वाले पशुओं को पैदा किया। ताम्रा ने बाज और गीधों की उत्पत्ति की। मुनि नामक कश्यप पत्नी ने स्वर्गीय अप्सराओं को जन्म दिया। क्रोधवशा ने दन्दशूक आदि बड़े बड़े विषधर सर्पों को उत्पन्न किया। इला ने समस्त वृक्षों की सृष्टि की। जितने ये रक्तमांश भोगी क्रूरकर्मा राक्षस हैं ये सब सुरसा की सन्तानें हैं। अरिष्टा ने गाने वाले सुन्दर गन्धर्वों को उत्पन्न किया। तथा काष्ठा के घोड़े गधे, खच्चर आदि एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए। दनुके ६१ दानव उत्पन्न हुए। पहिले पहिले ६१ दानव हुए थे। उन्हीं से फिर असंख्यों दानव हुए। इन ६१ में जो सबसे प्रसिद्ध पराक्रमी और बलशाली हुए उनमे से कुछ के नाम ये हैं। द्विमूर्धा, शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शङ्कशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, पुलोम, वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूम्रकेश, विरूपाक्ष विप्रचित्ति, दुर्जय आदि-आदि। इनमे नमुचि दैत्य ने स्वर्भानु दानव की सुप्रभा नामक पुत्री से विवाह किया। वृषपर्वा जो

दानवों का राजा था उसकी पुत्री शर्मिष्ठा से भरत वंशी नहुष-नन्दन महाराज ययाति ने विवाह किया। राजन्! इसकी बड़ी अद्भुत कथा है, इसका मैं आगे, सूर्य वंश चंद्र वंश के प्रसंग में वर्णन करूँगा। वैश्वानर की उपदानवी, हयशिरा पुलोमा और कालका ये चार परम सुन्दरी कन्यायें थीं। उनमें से उपदानवी का हिरण्याक्ष के साथ, हयशिरा का क्रतु के साथ, तथा पुलोमा और कालकेय का विवाह कश्यप जी के साथ हुआ' जिनसे पौलोम और कालकेय नामक साठ हजार दानव हुए, जो धनुर्धर अर्जुन के हाथ से मारे गये। विप्रचित्ति दानवने सिंहका नामक पत्नी से एक सौ पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें राहु सब से बड़ा था, जिसका सिर अमृतपान के समय काट लिया गया, इस सुन्दर रोचक कथा को समुद्र मन्थन के प्रसंग में कहेंगे। बड़ा राहु कहलाता था, शेष सबको केतु संज्ञा है ये सभी ग्रह हो गये।

अब आप परम पावन देव माता अदिति के पुण्यवर्धक चरित्र को श्रवण करें। इन्हीं भाग्यवती अदिति के गर्भ से सर्वव्यापक स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायणने वामनावतार लिया था। अदिति के गर्भ से १२ आदित्य उत्पन्न हुए। जो बारह महीनों में एक एक सूर्य मंडल में रह कर तपते हैं। उनके नाम विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र और उरुक्रम है। भगवान् विवस्वान् के वीर्य से उनकी पत्नी संज्ञा में श्राद्धदेव मनु यमराज और यामी नामक एक कन्या ये तीन सन्तानें हुईं। उसी ने घोड़ी का रूप रखकर अश्वनीकुमारों को उत्पन्न किया, यह बड़ी लम्बी और अत्यन्त ही रोचक कथा है, इसका प्रसंगानुसार वर्णन किया

जायगा। विवस्वान् की दूसरी पत्नी छाया ने भी सावर्णिमनु शनैश्चर और तपती कन्या इन तीन सन्तानों को उत्पन्न किया। तपती का विवाह संवरण के साथ हुआ। विवस्वान् के पश्चात् दूसरे आदित्य अर्यमा हैं, इनका विवाह मातृका नाम की स्त्री के साथ हुआ। जिनसे चर्षणी नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। चर्षणी—कृत और अकृत के ज्ञानवाली—ऐसी मनुष्य जातिकी उत्पत्ति इन्हीं से हुई। जिनमें ब्राह्मणादि की कल्पना हुई। पूषा निस्सन्तान और पोंपले मुखवाले हुए। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में जैसे इनकी बत्तीसी झाड़ी गई थी, इसका वर्णन तो हम दक्षयज्ञ के प्रसङ्गमें पूर्व ही कर आये हैं। श्राद्धादि में इन पूषादेव को पिसा हुआ सत्तू आदि अन्न दिया जाता है, इसीलिये ये पिष्टभुक् कहलाते हैं। तीसरे आदित्य हैं त्वष्टा इन्होंने दैत्यवंश में विवाह कर लिया। दैत्यों की सबसे छोटी बहिन रचना इनकी धर्मपत्नी थी। राजन्! आप जानते ही हैं। देवताओं में और दैत्यों में स्वाभाविक वैर भाव है। इतना सब होते हुए भी इनमें परस्पर में वैवाहिक सम्बन्ध तो होता ही था। इन्द्र की पत्नी शची भी पुलोमा दैत्य की पुत्री हैं, इसीलिये वे पौलोमी कहलाती हैं।

भगवान त्वष्टा ने अपनी पत्नी रचना में दो पुत्र उत्पन्न किये। जिनमें सन्निवेश बड़े थे और विश्वरूप छोटे थे। ये ही विश्वरूप आगे चलके देवताओं के पुरोहित हुए।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! देवताओं के पुरोहित तो परमज्ञानी, नीतिविशारद बृहस्पति हमने सुने हैं। अब आप कहते हैं कि उन्होंने विश्वरूप को भी अपना पुरोहित बनाया। यह क्या बात है? देवताओं ने दो पुरोहित क्यों बनाये?"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी कहने लगे—"राजन्! यह सत्य है, देवताओं के पुरोहित भगवान् बृहस्पति ही हैं, किन्तु जब इन्द्र ने उनका अपमान किया, तो वे देवताओं को छोड़कर चले गये। बिना पुरोहित के काम कैसे चले, तब देवताओं ने बृहस्पति जी के स्थान पर इन विश्वरूप को देवगुरु बनाया था।"

इस पर राजा ने पूछा—"महाराज,पुरोहित गुरु तो देवताओं की सदा दैत्यों से रक्षा करते रहते थे। दैत्य छिद्र पाकर चढ़ाई न करदें, इसीलिये मन्त्र देने के आचार्य रहते थे। विश्वरूप जी की माता तो स्वयं दैत्यवंश की थीं, वे मातृवंश के कारण असुरों का कुछ पक्ष अवश्य लेते होंगे। ऐसे सन्देहास्पद व्यक्ति को देवताओं ने पुरोहित क्यों बनाया?"

इस पर हँसते हुए श्रीशुकदेवजी बोले—"महाराज! स्वार्थ बड़ी बुरी वस्तु है। स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य सब कुछ कर सकता है। स्वार्थ के कारण इन्द्र ने कितने भारी भारी अपराध किये! महाराज! यह बड़ी लम्बी चौड़ी कथा है। इन्द्र ने अपने गुरु का अपमान किया, इससे उन्हें कितनी भारी भारी विपत्तियों का सामना करना पड़ा, इसे सभी जानते हैं। इसके पीछे उसे ब्रह्महत्या तक करनी पड़ी।"

इस पर उत्सुकता प्रकट करते हुए महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! मुझे इस परम पवित्र आख्यान को पूर्ण रूप से सुनाइये। इसे सुनने के लिये मेरे मनमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—"अच्छी बात है राजन्! मैं आपको इस पवित्र चरित्र को सुनाता हूँ, आप सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

इला जने सब वृक्ष जगत् के जे सुख दायक।
जने पुत्र गन्धर्व अरिष्टा सुन्दर गायक॥
जो बाहर आदित्य बड़े तिनि विवस्वान् रवि।
है अर्यमा द्वितीय भये तिनतें मानुस कवि॥
दक्ष यज्ञ में पिष्टभुक्, दन्तहीन पूषा भये।
विश्व रूप त्वष्टा तनय, सुरगुरु कछु दिन बनि गये॥

देवेन्द्र द्वारा देवगुरु बृहस्पति का आगमन

[३८२]

वचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम् ।
नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम् ॥
ततोनिर्गत्य सहसा कविराङ्गिरसः प्रभुः ।
आययौ स्वगृहं तूष्णीं विद्वांञ्छ्रीमदविक्रियाम् ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० ८-९ श्लो०)

छप्पय

हम सबतें हैं ऊँच भयो अभिमान देवपति ।
च्यौं देवें सम्मान बृहस्पतिकूँ हम नितप्रति ॥
ऐसो निश्चय करयो सभामहँ जब गुरु आये ।
नहिँ आसन तें उठे वचन नहिँ मधुर सुनाये ॥
समुझि गये गुरु इन्द्रकूँ, अहङ्कार अतिशय भयो ।
तुरत लौटि आये भवन, भलो बुरो नहिँ कछु कह्यो ॥

कलह की जड़ है अहङ्कार। जब मनुष्य समझता है मैं सबसे बड़ा हूँ, मैं सबसे उत्तम हूँ, मैं ही पूजनीय सम्माननीय हूँ, मेरे अतिरिक्त सब तुच्छ हैं, हेय हैं, गर्ह्य हैं, निन्दनीय हैं

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन्हें देवता असुर सभी नमस्कार करते हैं, जो समस्त मुनियों में श्रेष्ठ हैं वाणी के पति हैं ऐसे अपने गुरु भगवान् बृहस्पति को सभा में आये हुए देखकर भी इन्द्र

तभी वह दूसरों का तिरस्कार करता है, गुरुजनों का अपमान करता है। जीवों का अपमान करना सर्वान्तर्यामी घट घट व्यापी प्रभु का ही अपमान करना है। जो दूसरों का अपमान करता है उसे स्वयं भी अपमानित होना पड़ता है। अतः भूल कर भी कभी किसी प्राणी को छोटा हेय समझ कर उसका अपमान न करना चाहिये। सम्पूर्ण चराचर भूतों में उसी अपने इष्ट देव के दर्शन करने चाहिये।

जब राजा परीक्षित ने यह प्रश्न किया कि बृहस्पति जी ने अपने प्रिय शिष्य देवताओं का परित्याग किस अपराध के कारण किया तो इसका उत्तर देते हुए श्री शुकदेवजी कहने लगे—"राजन्! यह ऐश्वर का मद बहुत बुरी वस्तु है। जिसके पास ऐश्वर्य बढ़ जाता है और साथ ही अविवेक भी उसके हृदय में अड्डा जमा लेता है, तो मनुष्य के भीतर और बाहर दोनों ओर की आँखें फूट जाती हैं, वह मदान्ध हो जाता है। राजन्! धन और ऐश्वर्य के मद में पुरुष अपने सम्मुख सभी को तुच्छ समझने लगता है। वह अपने विवेक को खो बैठता है, क्या करना चाहिये क्या न करना चाहिये इसका भी उसे ध्यान नहीं रहता। कुबेर के पुत्र नलकूबर मणिग्रीव ने ऐश्वर के मद में ही मत्त हो कर तो देवर्षि नारद का अपमान किया था। ऐश्वर्य के मद में अंधे हुए पुरुषों की आँखों को खोलने के लिये दरिद्रता ही एक प्रकार

अपने आसन से टस से मस भी नहीं हुआ, उसने देखकर भी गुरु को नहीं देखा। सर्वसमर्थ बृहस्पतिजी उसी समय सहसा इन्द्र सभा से बाहर आगये। वे समझ गये यह ऐश्वर्यमद का दोष है, इसीलिये वे बिना कुछ बोले चाल अपने घर आगये।"

का अंजन है दरिद्रता आजाने से जहाँ ऐश्वर्यमद उतरा कि बुद्धि ठिकाने आजाती है।

एक दिन इन्द्र ने अपना वैभव देखा। दिव्य सुधर्मा सभा में दिव्य मणिमय सिंहासन पर त्रैलोक्य में सर्व सुन्दरी शची देवी के साथ वे बैठे हुए हैं। अनुपम रूप लावण्यवती स्वर्गीय ललना-दिव्य अप्सरायें हाव भाव कटाक्षों के साथ सम्मुख नृत्य कर रहे हैं। गन्धर्व तान, मूर्छा और लय के साथ दिव्य गायन गा रहे हैं। हाथों में अनेक प्रकार की सेवा सामग्रियों को लिये हुए सहस्रों सुराङ्गनायें सावधानी के सहित सेवा में समुपस्थित हैं। बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि खड़े होकर देवराज की स्तुति कर रहे हैं। देवता हाथ जोड़े हुए, आज्ञा की प्रतिक्षा में खड़े हैं सिद्ध, चारण, गन्धर्व, उरग, राक्षस, गुह्यक, भूत, प्रेत, पिशाच, नद, नदी, वन, समुद्र, पर्वत सभी मूर्तिमान् होकर शतक्रतु उपासना कर रहे हैं। इस इतने स्वर्गीय वैभव और ऐश्वर्य को देखकर इन्द्र को अभिमान हो गया। वे सोचने लगे तीनों लोकों में मुझसे बढ़कर कौन है। मनुष्यों की बात तो पृथक् रही समस्त देव, उपदेव मेरी पूजा प्रतिष्ठा करते हैं, सब मेरे सम्मुख हाथ जोड़े हुए खड़े रहते है। बड़े-बड़े ऋषि मुनि खड़े रहते हैं। मैं सिंहासन पर बैठा रहता हूँ वे खड़े होकर मेरी स्तुति करते रहते हैं। मैं इतना ऐश्वर्यशाली होकर भी बृहस्पति के सम्मुख क्यों नमूँ। क्यों उन्हें देखकर आसन से उठूँ। ये भी तो एक साधारण ब्राह्मण ही हैं। जब सब ऋषि मुनि मेरी स्तुति करते हैं, तो इन्हें भी करनी चाहिये। मैं नित्य प्रति इन्हें आते देखकर हड़बड़ा कर क्यों उठ पड़ता हूँ। क्यों इनके सम्मानार्थ इनका इतना आदर करता हूँ।

इस प्रकार के अभिमान में तल्लीन हुए, इन्द्र अभिमान में

अंधे हो गये उन्हे अहंकार ने घेर लिया उसी समय सभा मे आचार्य बृहस्पति जी पधारे। नित्य तो देवेन्द्र उनका बडा स्वागत सत्कार करते। देखते ही अपने सिहासन से खडे हो जाते प्रत्युत्थान देते, बडे मधुर वचनो मे उनसे कुशल प्रश्न करते, अपने से उच्चासन पर उन्हे बिठाते, जब वे सुखपूर्वक बैठ जाते तब उनकी आज्ञा पाकर वे भी अपने सिहासन पर बैठते। किन्तु आज तो वे ऐश्वर्य के मद मे उन्मत्त होगये थे। देवेन्द्रपने के उन्माद मे बेसुधि बने हुए थे, इसीलिये सम्मुख आये हुए गुरु को देखकर वे अपने आसन से न तनिक भी हिले न डुले। सूखे वृक्ष के ठूँठ की भाति अकड़ कर ज्यो के त्यो सिहासन पर डटे रहे। उन्होने आचार्य की ओर ध्यान ही नही दिया। अब तक तो उनके प्रति गौरव बुद्धि थी, देखते ही उठ खडे होते किन्तु अब तो उनकी दृष्टि मे वे साधारण ब्राह्मण रह गये थे। आधे आसन पर इन्द्राणी बैठी हुई थी, उसके कन्धे पर इन्द्र का एक हाथ रखा था। मरुत, वसु, रुद्र, आदित्य, ऋभु, विश्वदेव, साध्यगण तथा अश्विनी कुमार उनकी सेवा मे समुपस्थित थे। सिद्ध, चारण, गधर्व,ब्रह्मवादी मुनिगण, विद्याधर, अप्सरा,किन्नर, पक्षी,नाग तथा अन्य भी उपदेव उनकी स्तुति कर रहे थे, उनकी त्रैलोक्य व्याप्त कमनीया कीर्ति का बखान हो रहा था। उनके ऊपर सहस्रो कमानो वाला, अत्यत उज्जवल, चन्द्र मण्डल के समान शुभ्र सुन्दर श्वेत छत्र सुशोभित था। दायें बायें अत्यत सुन्दरी अप्सरायें हाथ मे चामर व्यजन आदि महाराजोचित चिन्हो को लिये खड़ी थीं, दोनो ओर चँवर ढुल रहे थे। इन्द्र ने गुरु बृहस्पति को देख कर भी नहीं देखा, वे सम्मुख नाचती हुई उर्वशी अप्सरा की ओर अनुराग सहित देखते रहे।

आज अपने शिष्य का अभूतपूर्व व्यवहार देख कर

देवगुरु को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कुछ देर खड़े होकर देवेन्द्र के मुख की ओर देखते रहे। वे तो त्रिकालज्ञ थे, समझ गये। उच्चाजी को ऐश्वर्य का मद हो गया। शरीर मे अभिमान का भूत सवार होगया है। यह देख कर वे आगे सभा मे नहीं बढ़े,उलटे ही पैरों लौट आये। श्री सूतजी कहते है—"मुनियो! पुरुषों की चित्त की वृत्तियाँ सदा बदलती रहती है। कभी सत्व गुण बढ़ जाता है, कभी रजो गुण का प्राबल्य होता है, कभी तमोगुण आकर हृदय पर छा जाता है। जैसा गुण जिस समय उदय हाता है, वैसी ही बुद्धि बन जाती है। सत्वगुण उदय होता है, तो चित्त मे शांति होती है, दान देने, धर्म करने आदि की प्रबल इच्छा होती है। रजो गुण की वृद्धि होने पर अभिमान बढ़ता है, कर्म करने मे अत्यधिक रुचि होती है और जब तमोगुण बढ़ जाता है तो निद्रा आलस्य, प्रमाद का प्राबल्य हो जाता है, महापुरुषों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ ज्ञान ढक जाता है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! किन लक्षणों से यह बात जानी जाय, कि अमुक गुण की वृद्धि हो गई है?"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन्! जब हृदय मे जिस गुण की अधिकता हो जाती है, उस समय बुद्धि वैसी ही बन जाती है। उस समय विवेक रहता ही नहीं। जिस समय सब ओर से, सब इन्द्रिय द्वारों से ज्ञानात्मक प्रकाश उत्पन्न हो जाय, चित्त अत्यन्त प्रसन्न सात्विक हो जाय, सबके प्रति मित्रता, अद्रोह के भाव उठें समझना चाहिये अब सत्वगुण का हृदय मे प्राबल्य होगया। जिस समय सांसारिक कार्यों मे अत्यधिक प्रवृत्ति, लोभ, विषय भोगों की लालसा, चित्त मे उद्वेग दूसरों के प्रति डाह आदि भाव उत्पन्न हो तो समझना चाहिये रजोगुण ने हमें धर

दबाया। जिस समय विवेकहीनता, कार्य करने की अनिच्छा, असावधानता मोह तथा उद्यम रहित होकर पड़े रहने की इच्छा उत्पन्न हो तो समझना चाहिये हम महापापी तमोगुण के अधीन हो गये। ये गुण सदा एक से नहीं रहते। घटते बढ़ते रहते हैं। कभी सत्व का उदय हो जाता है, कभी रजोगुण सत्व को दबाकर बढ़ जाता है, फिर कभी तमोगुण सब से ऊँचा उठ जाता है। उस समय इन्द्र तमोगुण में भरे हुए थे। जब देव गुरु लौट गये, तब इन्द्र को चेत हुआ। उनके मन में सत्वोगुण उत्पन्न हुआ। उन्होंने सोचा—"अरे! यह मैंने क्या किया? आज तो मैंने अपने परम पूजनीय गुरु का अपमान किया। मुझे और मेरे इन इतने बड़े ऐश्वर्य को धिक्कार है।" इस प्रकार वे अनेकों बार अपने को धिक्कारते रहे।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इन्द्र को तो अभिमान हो ही गया था। देवगुरु उसे इस दशा में देखकर लौट क्यों आये। कैसा भी सही इन्द्र था, तो उनका शिष्य ही। उस समय अपमान को सहकर भी उन्हें समझाते। उनके समझाने पर इन्द्र को अपना दोष प्रतीत हो जाता, वे गुरुदेव से क्षमा याचना कर लेते। आगे बवंडर न बढ़ता। ऐसा न करके बृहस्पतिजी लौट क्यों गये। उन्होंने अपने अपमान का इतना ध्यान क्यों किया?"

इसपर सूतजी बोले—"भगवन्! आप सत्य कहते हैं देवगुरु बृहस्पति के लिये तो मानापमान की कोई बात ही नहीं थी। अपना बच्चा अपराध भी करता है, तो बड़े लोग उसे क्षमा कर देते हैं। माता के पेट में बच्चा लात मारता है, तो माँ उसपर क्रुद्ध नहीं होती, अज्ञानी समझकर उसके अपराधों की ओर ध्यान नहीं देती, किन्तु महाराज! यह ऐश्वर्य का मद ऐसा प्रबल होता है, कि जिसके हृदय में अहंकार व्याप्त हो जाता है, वह फिर विवेक को

खो बैठता है। बड़े-बड़े लोगों का यों ही अपमान कर बैठता है। जब तक उसका ऐश्वर्य मद उतरे नहीं तब तक उसे उपदेश देना व्यर्थ है। उपदेश का उसके मन पर कोई प्रभाव ही न पड़ेगा, उलटा और भी अपराध करेगा। जहाँ वह मद उतरा कि उसे अपना दोष अपने आप ही भासने लगेगा। जहाँ पश्चात्ताप हृदय में हुआ नहीं कि पाप का प्रायश्चित होना आरम्भ हो जाता है। इस विषय में एक दृष्टांत सुनिये।

एक सुरापी मनुष्य था। नित्य मदिरा पान करता था। एक दिन उसने आवश्यकता से अधिक मात्रा में सुरा का सेवन कर लिया अब तो वह मदिरा के मद में मदान्ध हो गया। उसी समय उस नगर का नगरपाल रथ में चढ़कर नगर निरीक्षण के निमित्त जा रहा था। उस मदोन्मत्त ने उसे डाँटकर कहा—"ओ, नगरपाल! तू कहाँ घूम रहा है। रथ को खड़ाकर हम इसमें बैठेंगे। और तेरी मरम्मत करेंगे।"

नगरपाल को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने अपने नगर रक्षक सेवकों से कहा—"इस दुष्ट को बाँधकर कारावास में ले जाओ। कल इसकी अविनय के लिये इसके कोड़े लगेंगे।" नौकरों ने उसे बाँधकर कारावास की कोठरी में बन्द कर दिया। रात्रि भर में मद उतर गया। जब नगरपाल ने प्रातः उसे बुलाया, तब उसने बड़ी दीनता के साथ कहा—"अन्नदाता! मुझे क्यों बाँध रक्खा है? मुझे छोड़ दिया जाय।"

यह सुनकर क्रोध में भरकर नगरपाल ने कहा—अरे, निर्लज्ज! कल तो तू कह रहा था, मैं तुम्हारी मरम्मत करूँगा। कर अब मरम्मत।

उसने अत्यन्त ही विनय और दीनता के साथ कहा—दीन-बन्धो! मैंने तो यह बात कही नहीं थी। यदि कही होगी, तो

मदिरा के मद में कही होगी, वह तो उतर गया, मेरे शरीर से निकल कर भाग गया। कल कहने वाला आज नहीं रहा। मैं तो अब आप से बार-बार क्षमा याचना करता हूँ।"

सो, सूतजी! बृहस्पतिजी ने सोचा—'अब इसके अन्तःकरण में ऐश्वर्यजनित मद ने डेरा डाल रखा है। अब यह मेरे उपदेशों को सुनेगा नहीं। इस समय इसे समझाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। इस समय तो इसी में कल्याण है, कि इसके सम्मुख न जाना चाहिये। इससे दूर ही हट जाना श्रेयस्कर है। इसी लिये वे चले गये। उनके जाते ही इन्द्र का मद उतर गया। उन्हें अपनी भूल मालूम पड़ी। वे अत्यन्त दुखी होकर भरी सभा में ही पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे—हाय! मुझ मन्द-मति ने यह कैसा घोर पाप किया मुझसे आज यह कैसा भारी अपराध बन गया। मैंने ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त होकर त्रैलोक्य पूजित, सुरासुर सभी से वन्दित अपने परम पूजनीय गुरु का भरी सभा में अनादर किया। यह सब हुआ इन्द्रत्व के विभव के कारण ऐश्वर्य के अभिमान में। जिस ऐश्वर्य के कारण मोह ग्रस्त हो जाने से परम सत्व सम्पन्न देवताओं के अधिपति होने पर भी मुझे ऐसा मिथ्याभिमान हो गया आसुरी भाव आगया, उस राजलक्ष्मी को बार-बार धिक्कार है।"

सभाओं में प्रायः अधिकांश लोग चापलूस ही होते हैं, जो राजा की व्यर्थ की प्रशंसा कर करके उसे भ्रम में डाले रहते हैं, उसके अनुचित कार्यों का भी शास्त्र वचनों से, भाँति-भाँति के तर्कों द्वारा समर्थन किया करते हैं। राजा को येन केन प्रकारेण प्रसन्न रखना ही उनका ध्येय होता है। ऐसे ही कोई एक चापलूस विद्वान् बोले—"अजी महाराज! आपसे क्या अपराध बना। आपने तो उचित ही किया। देखिये, शास्त्र का वचन है कि

"सार्वभौम सिंहासन पर बैठा हुआ सम्राट् किसी के भी आने पर न उठे। ऐसे बार-बार सबके लिये उठता रहेगा, तो उसका प्रभाव नष्ट हो जायगा। जब वह सिंहासन पर बैठा है, तो आठों लोकपालों का प्रतिनिधित्व कर रहा है। आप नहीं उठे तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई। उठते थे यही अब तक अनुचित होता था।"

उनकी ऐसी बात सुनकर इन्द्र ने उन्हें घुड़कते हुए कहा—"नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह उत्तम धर्म नहीं कहा जा सकता। ऐसे भी वाक्य मिलते हैं, किन्तु गुरुदेव तो सब मनुष्यों से उत्तम हैं, वे तो साक्षात् भगवत् स्वरूप हैं। उनके लिये तो सर्वथा अभ्युत्थान देना चाहिये। उन्हें प्रणाम न करना ही अपराध है। शिष्य किसी भी दशा मे हो, कितना भी बड़ा हो गया हो शिष्य ही है।

उन चापलूस महोदय ने अपनी बात को पुष्ट करते हुए और इन्द्र को प्रसन्न करने के निमित्त फिर कहा—"हाँ, महाराज! आप जो कह रहे हैं, सब सत्य है, किन्तु सिंहासनस्थ राजा, राजा ही है। उस समय वह सबका पूजनीय है, सभी को उसका सम्मान करना चाहिये जो उसके राज्य में बसते हैं। आप त्रैलोक्य के स्वामी है। तीनों लोकों में जो भी बसते हैं वे सब आ की प्रजा हैं, प्रजा को राजा का सम्मान करना ही चाहिये।"

यह सुनकर देवेन्द्र अत्यधिक क्रुद्ध हुए और बोले—"तुम पक्षपातपूर्ण अधर्म की बातें कर रहे हो ब्राह्मण जगत् के गुरु हैं। गुरुदेव के ही शासन में सब रहते हैं। वे न किसी के शासन मे हैं, न वे किसी की प्रजा ही हैं। तुम जैसे पण्डित मूर्ख कुमार्ग का उपदेश देने वाले हो। मनुष्य तुम्हारे जैसे चापलूसों के

उपदेश के अनुसार व्यवहार करे, तो उसे अवश्य ही नरकों की भयंकर यातनायें सहनी पड़ेगी सहस्रों वर्षों तक कुंभी पाक रौरव आदि नरकों की अग्नियों मे उसे पचना पड़ेगा। तुम जैसे मूर्खों के वचनों पर विश्वास करके जो इस संसार सागर को पार करने का विचार करते हैं उनका विचार उसी प्रकार का है जैसे कोई पत्थर की नौका पर चढ़कर नदी पार करना चाहे। मैं तुम लोगों की चिकनी चुपड़ी बातों मे नहीं आऊँगा। आज-तक मैंने अपने गुरुदेव का कभी अपमान नहीं किया था, सदा उनके अनुकूल आचरण करके उनकी सभी आज्ञाओं को तत्परता और सावधानी के साथ पालन करता रहा। आज मुझसे घोर अपराध बन गया। अब मैं अधिक अपने को भ्रम मे नहीं रख सकता। अब मैं शठता को छोड़कर अपने उन गुरुदेव के समीप जाऊँगा, अपने सिर को उनके चरणों मे रखकर उन्हें अनुनय विनय करके मनाऊँगा, उनसे अपने अपराधों को क्षमा करा-ऊँगा, उन्हे अपना सब वृत्त सत्य-सत्य बताऊँगा।"

सूतजी कहते है—"मुनियों! इतना कहकर इन्द्र सहसा अपने सिंहासन से उठ खड़े हुए और नगे पैरो ही बृहस्पतिजी के घर दौडे। किन्तु बृहस्पतिजी अब घर कहाँ? बृहस्पतिजी की यहाँ वहाँ सर्वत्र खोज कराई, किन्तु अब क्या होना था बाण तो धनुष से छूट गया। वह तो लक्ष्य को भेद कर ही छूटेगा। इन्द्र को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, वे दुखी मन से आगे के लिये सोचने लगे।"

छप्पय

तुरत इन्द्र कूँ चेत भयो मन कूँ धिक्कारें।
कैसो कीयो काम दुरित अति होहि विचारें॥
हाय! बुद्धि मम नसी अनादर गुरु को कीन्हों॥
सम्मुख आये देव नहीं उठि आसन दीन्हों।
श्री चरननि महँ शीश धरि, रोउङ्गो पछिताउँगो।
बार बार बहु विनय करि, गुरु कूँ जाइ मनाउँगो॥

इससे आगे की कथा १७ वें खण्ड में पढ़िये

श्री भागवत-दर्शन—

भागवती कथा

(सप्तदश खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनत सुमनासि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

तीय सस्करण १०००] भाद्रपद, सवत् २०१९ वि० [मूल्य-१।)

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

शोक-शान्ति

(श्रीब्रह्मचारीजी का एक मनोरञ्जक और तत्वज्ञान-पूर्ण पत्र)

[पञ्चम संस्करण छपकर तैयार है]

इस पुस्तक के पीछे एक करुण इतिहास है। आन्ध्र के गुन्टूर प्रान्त का परम भावुक युवक श्रीब्रह्मचारीजी का परम भक्त था, अपने पिता का इकलौता अत्यन्त ही प्यारा दुलारा पुत्र था। वह त्रिवेणी सङ्गम पर अकस्मात् स्नान करते समय डूबकर मर गया। उसके संस्मरणों को श्रीब्रह्मचारीजी ने बडी ही करुण भाषा में लिखा है पढते पढते आँखें स्वत बहने लगती हैं। फिर एक साल के पश्चात् उसके पिता को बडा ही तत्वज्ञान पूर्ण ५०। ६० पृष्ठों का पत्र लिखा था। उस लिखे पत्र की हिन्दी तैलगू और अँगरेजी में बहुत सी प्रतिलिपियाँ हुई, उसे पढकर बहुत से सतप्त प्राणियों ने शान्ति लाभ की। इसमें मृत्यु क्या है, इसको बडे ही सुन्दर ढँग से मनोरञ्जक कथाएँ कहकर वर्णन किया गया है, लेखक ने अपने निजी जीवन के दृष्टान्त देकर पुस्तक को अत्यन्त उपादेय बना दिया है। अक्षर अक्षरमें विचारक लेखककी अनुभूति भरी हुई है। उसे हृदय खोलकर रख दिया है। प्रत्येक घरमें इस पुस्तक का रहना आवश्यक है। ६४ पृष्ठ की सुन्दर पुस्तक का मूल्य ।-) ।

पता—सङ्कीर्तन-भवन, झूसी (प्रयाग)

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
३८३	—गुरुत्यक्त देवों की असुरों द्वारा पराजय	५
३८४	—ब्रह्माजी का पराजित देवों को उपदेश	११
३८५	—गुरु द्रोही का कल्याण गुरु कृपा के बिना नहीं	१९
३८६	—विश्वरूप को पुरोहित बनाने की सम्मति	२६
३८७	—पौरोहित्य कार्य में विश्वरूप की अनिच्छा	३३
३८८	—देवताओं के पुरोहित विश्वरूपजी	४१
३८९	—विश्वरूप की देवेन्द्र द्वारा हत्या	४७
३९०	—इन्द्र को ब्रह्महत्या	५३
३९१	—इन्द्र की हत्या बँटवारा	६३
३९२	—त्वष्टा द्वारा वृत्रासुर की उत्पत्ति	७७
३९३	—वृत्र की विजय और देवताओं की पराजय	८४
३९४	—पराजित देवों की भगवत् स्तुति	८९
३९५	—वृत्र से डरे सुरों को श्रीहरि की सम्मति	९८
३९६	—शिर कटाकर भी दधीचि मुनि का विद्यादान देना	१०५
३९७	—नामापराधी की प्रबल नामप्रपत्ति ही गति है	११३
३९८	—दधीचि मुनि की हड्डियों में देवताओंके दिव्यास्त्र	११९
३९९	—दधीचि मुनि की देवताओं की देहयाचना	१३१
४००	—परोपकारी को कुछ भी अदेय नहीं	१३८
४०१	—पर दु ख से दुखी होना ही जीवन है	१४५
४०२	—दधीचि मुनि का उत्तर	१५३
४०३	—दधीचि मुनि का शरीर त्याग	१५९

४०४—इन्द्र के वज्र का निर्माण और पुन देवासुर संग्राम १६६
४०५—भागते हुए असुरों को देखकर वृत्र के वीरोचित उद्गार १७४
४०६—वृत्रासुर और इन्द्र की मुठभेड़ १८०
४०७—रण में वृत्रासुर को भगवद्दर्शन १८६
४०८—वृत्र स्तुति १९८
४०९—हे हरि ! मेरा मन किस प्रकार आपकी झाँकी झाँकी करे २०४
४१०—मेरी साध २११
४११—पराजित देवेन्द्र को वृत्र का उपदेश २१८
४१२—इन्द्र द्वारा वृत्र के वचनों का अभिनन्दन २२९
४१३—वृत्र के उदर में देवेन्द्र २३५

— ०.—

गुरुत्यक्त देवों की असुरों द्वारा पराजय

(३८३)

तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्वे आश्रित्यौशनसं मतम् ।
देवान्प्रत्युद्यमं चक्रुर्मदा आततायिनः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

गुरु गृह गमने इन्द्र बृहस्पति तहाँ न पाये ।
अन्तर्हित गुरु भये देव अतिशय घबराये ॥
सुर गुरु त्यागे असुर प्रीत हियमहँ अति छाई ।
स्वर्ग विजय के हेतु, सुरनि पै करी चढाई ॥
शुक्राचार्य सहाय तें, गुरुप्रिय सुररिपु बढि गये ।
गुरुद्रोही सुर संघ पै, अस्त्र शस्त्र लै चढि गये ॥

संसारमें कोई भी घटना ऐसी नहीं है, जो सुखकर न हो। सभी घटनाओं से किसी न किसी को किसी प्रकारका सुख अवश्य मिलता है। क्योंकि सुखके बिना कोई जीवित नहीं रह सकता। किसी पुरुष का इकलौता पुत्र मर गया है, वह

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब असुरों ने यह बात सुनी कि बृहस्पतिजी ने देवताओं को त्याग दिया है, तो उन मदोन्मत्त और आततायी असुरों ने शुक्राचार्य की सम्मति से देवताओं के ऊपर लड़ाई के निमित्त चढ़ाई कर दी।"

दिन भर उदास बना रहता है, हँसता बोलता नहीं, आँसू बहाता रहता है। कोई उससे इस स्थिति को छोड़ने को कहे, तो उसे बुरा लगता है दु ख होता है, वह बार बार कहता है, मुझे इसी प्रकार पड़ा रहने दो मुझे चुपचाप पड़े रहने में बड़ी शान्ति मिलती है। रो लेने से मेरा चित्त हलका हो जाता है। अर्थात् उस समय उसे उसी अवस्था में रहने से आनन्द मिलता है। एक आदमी अपने शत्रु को पराजित करता है। तो उसकी पराजय मे उसे सुख होता है। पराजित पुरुष को दु ख होता है किन्तु उस दु ख में भी उसे आशा के कारण सुख होता है, कि सम्भव है, फिर हम इसे पराजित कर सकें। पराजय में भी सुख है और जय मे भी सुख है, केवल पात्र का भेद है कोई वस्तु किसी ने सुखकर मानली है, किसीने दु खकर ज्ञानी के लिय दोनों समान हैं, उसके लिये सुख दु ख दोना बराबर हैं। अभिमान से हमने सुख दुख की कल्पना करली है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इन्द्र को अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने अपने को धिक्कारा इसी बीच म भगवान् बृहस्पति अपने घर से निकलकर योगबल से अन्तर्धान हो गये। इन्द्र ने स्वय बहुत ढूँढा देवताओं से ढुँढवाया, किन्तु जब स्वय गुरु ही प्रकट न होना चाहें, तो शिष्य अपने पुरुषार्थ से उन्हें कभी भी खोज नहीं सकता। उन्हें ढूँढ लेना साधारण काम नहीं है। अब इन्द्र को एक चिन्ता हुई। अब तक तो हम गुरुदेव की छत्रछाया मे रहने से शत्रुओं से अपने को सुरक्षित समझते थे। अब हमारे सिरों से गुरुदेव ने अपना वरदहस्त खींच लिया, अब हम गुरुकृपा से हीन हो गय। जो कृपा से रहित हैं। वह शत्रुओं के प्रहार से कभी बच ही नहीं सकता। अत अब हमें अपनी रक्षा का उपाय सोचना चाहिये।

इस प्रकार देवताओं से परामर्श करते हुए इन्द्र अत्यन्त चिन्तित दिखाई देते थे। अनेक उपाय सोचने पर भी वे अपनी बुद्धि मे कुछ निश्चय न कर सके, क्योंकि उनका चित्त अत्यन्त अशान्त हो रहा था।

असुरों के गुप्तचर तो सदा देवताओं के छिद्रों को देखते ही रहते थे। वे बडी सावधानीसे इस बात की खोज करते रहते थे, कि देवताओं मे किधर से निर्बलता है, कैसे हम इन पर प्रहार करके विजय प्राप्त कर सकते हैं। चरों ने जब जाकर दैत्यों की सभा मे ये सब बातें विस्तार के साथ कहीं और बताया, कि देवताओं ने बृहस्पतिजी का घोर अपमान किया है। गुरु के पधारने पर इन्द्र अपने सिंहासन पर बैठे ही रहे, उन्होंने उठकर अभ्युत्थान तो पृथक् रहा वाणीमात्र से भी उनका सत्कार नहीं किया। असुर तो ऐसे व्यवहार के करने की बात तो पृथक् रही मनसे भी गुरु के प्रति ऐसा व्यवहार करने की कल्पना नहीं कर सकते। तब तो असुरों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा वे दौडे दौडे अपने गुरु श्री शुक्राचार्य की शरण में गये और दूर से ही दण्डवत करके उनके चारों ओर बैठ गये।

शुक्राचार्यजी ने उन सबको प्रसन्नता और उत्सुकता के सहित अपने चारों ओर बैठा देखकर उनसे पूछा—"क्यों भाई, तुम लोग आज इतने उत्सुक क्यों हो? तुम लोग मुझसे क्या कहना चाहते हो? सकोच करने का काम नहीं, तुम्हे जो कहना हो निर्भय होकर कहो।

अपने गुरुदेव को अनुकूल देखकर असुरों ने कहना आरम्भ किया—"गुरुदेव! हमने सुना है देवताओं के गुरु बृहस्पतिजी ने देवताओं का परित्याग कर दिया।'

आज्ञा दीजिये, हम स्वर्ग पर चढाई करे अपने निर्बल शत्रुओं को हराकर स्वर्ग पर अपना अधिकार जमालें।"

यह सुनकर शुक्राचार्य ने कहा—"देखो, भैया! राजनीति मे शत्रु का दुर्बलता राजा के लिये एक अत्यन्त ही प्रसन्नता की बात होती है। पडौसी राजा को अपने समीपवर्ती शत्रु के छिद्रों को सदा देखते रहना चाहिये, जहाँ छिद्र दीखे तत्काल उसी क आधार पर चढाई करके शत्रु को परास्त कर देना चाहिये। तुम लोगो का विचार अति उत्तम है, तुम लोग शीघ्र ही देवताओं पर चढाई कर दो। अब देवताओं मे कुछ सत्व नहीं रहा, अब वे तुम्हारा सामना करने का साहस नहीं कर सकते। अब यदि तुम चढाई कर दोगे, तो तुम्हारी विजय निश्चय ही है, इसमे सन्देह करने की कोई बात ही नहीं।

अपने गुरुदेव की आज्ञा पाकर असुरों ने रणदुदुभी बजाई। समर का बाजा सुनकर सभी असुर अस्त्र शस्त्रों स सुसज्जित हो कर आनन्द म उछलते कूदते, किलकारियाँ मारते हुए एकत्रित हो गये सेनापति ने सेना को एक व्यवस्था में किया। बस, फिर क्या था, असुर तो आततायी होत ही हैं, वे तो युद्ध क लिय उधार खाय बैठे रहते हैं। उन मदोन्मत्तोंके लिय युद्ध से बढकर तो दूसरी वस्तु ही नहीं। अपने अपने वाहनों पर चढ चढ़कर वे स्वर्ग की ओर चल दिये।

स्वर्ग मे पहुँच कर असुरों ने अमरावती को घेर लिया। इन्द्र भी अपना सेना को लेकर असुरो का सामना करने आये, किन्तु उनके मनमे उत्साह नहीं था। गुरु कृत अपिमानके कारण वे दुखित चिंतित तथा उत्साहहीन हो रहे थे। विजय का मन्त्र है उत्साह हीन पुरुष की कभी भी विजय नहीं हो सकता

असुरों ने अत्यन्त ही उत्साह में भरकर देवताओं के ऊपर तीखे तीखे बाणों की वर्षा की। असुरों के बाणों से देवताओं के ललाट मुख, ग्रीवा, बाहु, उदर, जघा आदि समस्त अग प्रत्यङ्ग छिन्न भिन्न हो गये। वे असुरों के प्रहारों को न सह सकने के कारण युद्ध से भाग खडे हुए। भागते हुए देवताओं का असुरों ने पीछा नहीं किया। उन्होंने सोचा—"जो कायरों की भाँति पीठ दिखाकर युद्ध से भाग खड़े हुए हैं, ऐसे भयभीतों का पीछा करना दुर्बलता है। कायरता है। अत असुरों ने देवताओं को भागने दिया। वे विजय का डका बजाकर अमरावती में घुस गये और इन्द्रासन पर अधिकार जमा लिया। जिस स्वर्ग पर कल तक देवताओं का राज्य था, आज उसी पर असुरों का राज्य हो गया। जिस ऐश्वर्य का कल तक इन्द्र उपभोग करता था उसी का आज असुर करने लगे। अप्सरायें अब उनके सामने नाचने लगीं। गन्धर्व गण उनके गुण का गान करने लगे। यह लक्ष्मी तो चचला है, चपला है, आज इसके समीप है, क्षणभर में दूसरे के गले में जयमाला पहिना देती है। इसे जो अपनी समझते हैं वे ठगे जाते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवता स्वर्ग छोडकर भाग गये और अब स्वर्ग का ऐश्वर्य असुरों के अधीन हो गया।

छप्पय

निरुत्साह ह्वै देव समर मह सम्मुख आये।
किंतु न कछु बल चल्यो तनिक लरिकें घबराये॥
मद तें ह्वै उन्मत्त असुर देवनि कूँ डाटें।
हाथ, पैर, सिर अङ्ग कठिन बाननि तें काटें॥
जब असुरनि की मारतें अति व्याकुल सुरगन भये।
भागे रनकूँ छाडि सुर, कमलासन के ढिंग गये॥

— ❀ —

ब्रह्माजी का पराजित देवों को उपदेश

(३८४)

अहो बत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत् ।
ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत ॥
तस्यायमनयस्यासीत्परेभ्यो वः पराभवः ।
प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानां च यत्सुराः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

सुनिकें सबरी बात कहें विधि भलो न कीन्हों ।
मूरखता अति करी नहीं गुरु आदर दीन्हों ॥
जाई तें तुम बली अबल असुरनि तें हारे ।
है घरबार विहीन फिरो सब मारे मारे ॥
सुखी कृपा गुरुतें दुखी, जिहि पर गुरु प्रतिकूल हैं ।
होहिं अमङ्गल तासु बस, जाव गुरु अनुकूल हैं ॥

अपनेसे कोई जानमें अनजान में अपराध बन जाय तो तत्क्षण बड़ोंके समीप जाकर ज्यों का त्यों उसे निवेदन कर देना चाहिये । पढ लेना पृथक् बात है और अनुभूति दूसरी वस्तु है । वृद्ध

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं, जब पराजित देवता ब्रह्माजी के समीप गये तो उनसे ब्रह्माजी कहने लगे—'देवगण ! अरे, भैया ! यह तो बड़े दुःखकी बात है । ऐश्वर्यके मद में अंधे होकर जो तुमने उन ब्रह्मनिष्ठ

पुरुष सभी विषयों का अनुभव रखते हैं। किस समय कैसा कार्य करने से कैसा परिणाम होगा, इसका अनुभव वृद्धों को होता है इसीलिये कहा गया है कि वह सभा सभा ही नहीं है, जिसमें वृद्ध न हों। केवल बालपक जाने मात्र से ही कोई वृद्ध नहीं होता। अवस्था के परिपक्व होने के साथ ही जिनकी बुद्धि भी परिपक्व हो गई हो। ऐसे पुरुष जो उपाय बतायगे उससे सदा कल्याण ही होगा। अत सभी को विशेष कर युवकों को वृद्धसेवी होना चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवता ऐश्वर्यहीन हो गये तो उन्हें एक सद्बुद्धि सूझी। वे समझते थे हमारे अभिमान के ही कारण हमारा पराभव हुआ है। अब लोक पितामह ब्रह्मा जी को छोड़कर और कोई हमारा आश्रय नहीं। भले हैं, बुरे हैं, पापी हैं, अपराधी हैं, उन्हीं के हैं। उनकी सेवा मे पहुँचकर सब निवेदन कर देना चाहिये। यह सोचकर वे अत्यन्त ही लज्जित होकर इन्द्र को आगे करके ब्रह्माजी के समीप पहुँचे। लोकपितामह को प्रणाम करके वे सिर झुकाये अत्यन्त उदास मनसे उनके समीप खड़े हो गये। देवताओं को उदास देखकर ब्रह्माजी बड़े स्नेह के साथ बोले—"देवताओ! तुम लोग इतने उदास क्यों हो, तुम सबके मुख म्लान क्यों हो रहे हैं?" ब्रह्माजी की बात सुनकर अत्यत लज्जा के साथ देवेन्द्र ने कहा—"प्रभो! क्या बात बतावें हमसे एक बड़ा भारी अपराध हो गया। ऐश्वर्य के मद में

ब्राह्मण बृहस्पतिजी का अभिनन्दन नहीं किया, यह तो बहुत ही बुरा काम किया। यही कारण है; कि तुम इतने समृद्धिशाली होकर भी अपने शत्रु हीन शत्रुओं से पराजित हो गये। जैसा तुमने किया वैसा उसका फल पाया, यह उसी अन्याय का परिणाम है।"

भरकर हमने गुरु की अवज्ञा की, उनका सम्मान नहीं किया हमारी अविनय से असन्तुष्ट होकर गुरुदेव हमे परित्याग करके चले गये। उनके जाते ही असुरों ने हम पर चढ़ाई की और हमें परास्त कर दिया स्वर्ग पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया।

सब बात सुनकर ब्रह्माजीने दु:खके साथ कहा—"देवताओ! तुम तो सत्वावतार कहे जाते हो। तुम्हारा स्वभाव तो सत्वगुणी होता है। यह तुमने रज और तम मे भरकर कैसा पाप कर डाला। छि छि. बड़े दु ख की बात है। तुम लोग ऐश्वर्य के मद में अंधे हो गये थे, तो आपस में कटते मरते। तुम लोग तो सीमा का उल्लघन कर गये। जितेन्द्रिय ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ सर्वशास्त्र पारगत ब्राह्मण का जो साधारण ब्राह्मण भी नहीं तुम सबके गुरु हैं साक्षात् भगवत् स्वरूप हैं उनका तुम लोगों ने अपमान किया। यह तो बड़े दु ख की बात है।

इन्द्र ने लज्जा के साथ कहा—"अब, महाराज! हो गया सो होगया। अब हमारा जो कर्तव्य हो, वह बतावें हमे योग्य सम्मति दें। कोई प्रायश्चित्त बतावें उसे हम करें।"

ब्रह्माजी ने रोष के स्वर में कहा—"प्रायश्चित्त तो साधारण पाप तथा महापापों का होता है, इस पाप का क्या प्रायश्चित्त। भगवान् सब पापों को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु गुरु सन्तद्रोही को कभी क्षमा नहीं कर सकते। समस्त समृद्धियाँ गुरु कृपा से ही प्राप्त होती हैं और गुरुदेव की अकृपा होने से ही समस्त ऐश्वर्य इहलोक तथा परलोक का सुख नष्ट हो जाता है। और पुरुष उभय भ्रष्ट बनकर नष्ट हो जाता है। अरे, तुम दूर कहाँ जाते हो। प्रत्यक्ष ही देख लो। तुम सब समर्थ थे, बली थे, ऐश्वर्यशाली थे, सतोगुणी देवता थे, गुरु का अपमान करते ही

तुम्हारा समस्त सद्गुण नष्ट हो गया। समृद्धिशाली होने पर भी आज कान्तिहीन श्रीहीन होकर इधर उधर बिना घर द्वार के पराजित हुए मारे मारे फिर रहे हो इसके विपरीत असुरों को देखो हिंसक हैं, सदा क्रूरकर्मों में ही रत रहते हैं। रजोगुण तमोगुण की ही इनमें प्रधानता है। भगवान् के द्वारा पराजित होकर पाताल में निवास करते हैं। उन पर युद्धोचित अधिक सामिग्री भी नहीं शक्तिहीन होने पर भी उन्होंने केवल अपने गुरु शुक्राचार्य की कृपा से तुम सबको मार भगाया। अब आनन्द से स्वर्ग का सुख भोग रहे हैं। वे सबके सब शुक्राचार्य के अधीन हैं उनके शासन में रहते हैं। सब प्रकार वे उनकी सेवा करते हैं। यह सब तुम्हारे अन्याय का फल है, गुरुदेव के अपमान करने का परिणाम है।

इन्द्र ने कहा—"महाराज! वे सब तो बड़े क्रूर हैं, स्वर्ग पर ऐसे क्रूर पुरुषों का आधिपत्य न होना चाहिये।

ब्रह्माजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"हमने माना वे सब क्रूर हैं। सभी जानते हैं, वे दुष्ट प्रकृति के हैं, किन्तु एक बढ़ा हुआ सद्गुण सभी छोटे दुर्गुण को दबा लेता है। गुरुभक्ति गुरु सुश्रूषा ऐसा महान् गुण है, कि उसके सम्मुख उनके सब दुर्गुण दब गये हैं। अब वे इन्द्रासन के अधिकारी बन गये हैं। यद्यपि वे पहिले तुम्हारे द्वारा परास्त होकर अवनत हो गये थे, किन्तु आज वे शुक्राचार्य की भक्ति पूर्वक आराधना करके उन्नत हो गये हैं। तुम कहते हो, वे स्वर्ग के अधिकारी नहीं, मैं तो कहता हूँ, यदि उनकी ऐसी ही बुद्धि बनी रही, तो यह बात असम्भव नहीं कि वे मेरे लोक पर भी आकर अधिकार न जमा लें। मुझे भी कहीं ब्रह्मासन से न हटा दें।"

देवताओं ने दुखित होकर कहा—"प्रभो! हम अपने अपराध को तो स्वीकार कर ही रहे हैं। अब ऐसा उपाय बताइये, कि हमारा मंगल हो हमारे शत्रुओं का अमंगल हो हमारा गया हुआ राज्य मिल जाय।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"अरे भैया, इन्द्र! तू कैसी बातें कर रहा है। देख जो गौ गुरु और भगवान् के भक्त हैं, उनका कभी अमंगल हो ही नहीं सकता। जिन पर गुरुदेव की कृपा है, उनके लिये स्वर्गीय सुख तुच्छ हैं। स्वर्ग की बात तो पृथक् रही, वे मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं। भगवान् यदि अप्रसन्न हो जायँ, तो पुरुष श्री गुरुदेव के चरणों में जाकर अपने दुःख को रख सकता है, गुरु की कृपा से पुनः प्रभु प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि गुरु ही अप्रसन्न हो जायँ, तो फिर किसकी शरण में जायँ। गुरुद्रोही से तो भगवान् भी डरते हैं। गुरु चाहें अपने अपराधों को क्षमा कर भी दें। भगवान् अपने अपराध करने वाले की ओर ध्यान भी नहीं देते। किन्तु गुरु के अपराधी को वे हठपूर्वक दण्ड देते हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् अपने अपराध से बढ़कर गुरु के अपराध को क्यों समझते हैं।

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! कृतघ्नता, सबसे बड़ा अपराध है, जिस गुरु ने हमें संसार से तारने वाला अमोघ मन्त्र दिया है, जिन्होंने हमारे यमरोग के विनाश का बीड़ा उठा लिया है। उनके साथ द्रोह करके जीव किस गतिको प्राप्त होगा। भगवान् का तो जीव पग पग पर अपमान करता है। भगवान् समझते हैं बच्चा है। वे कभी २ तो अपने अपराध करने वाले पर अनायास ही प्रसन्न हो जाते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक चोर था। रात्रि में कहीं चोरी करने गया, घूमता फिरता एक शिव मन्दिर में गया। सयोग की बात कि उस दिन प्रदोष था। शिवजी पर बहुत से फूल बतासे, लड्डू तथा फल आदि चढे हुए थे। बहुत से दीपक जल रहे थे। पूजा आदि करके सब भक्त चले गये थे। सून सान स्थान था। चोर ने पहिले तो जाकर मेवा तथा फलों पर हाथ मारा, लड्डुओं को उड़ाया और फिर चारों ओर देखने लगा। चोरी के लिये और तो कोई वस्तु उसे दिखाई दी नहीं। भगवान् के पिडी की ऊपर लोहे की साकेल मे एक बडा भारी घटा लटक रहा था। चोर ने सोचा—"यदि यह घण्टा किसी प्रकार मिल जाय, तो यही १० २० रुपये में बिक सकता है।"

घण्टा ऊँचा था, वहाँ तक हाथ पहुँचता नहीं था। शिवजी की पिडी बडी और विशाल थी। उसने सोचा—"इस पिडी पर चढ़कर इसे उतार लें।"

यह सोचकर वह दोनों पैर शिवलिंग पर रखकर खड़ा हो गया और उस घंटे को उतारने लगा। कितना भारी अपराध उसने शिवजी का किया। किन्तु भगवान् आशुतोष तो औघड़-दानी ही ठहरे, पता नहीं किस काम से किस पर वे कब दुर जायँ। उस चोर के कार्य से वे अप्रसन्न होने के स्थान में प्रसन्न हो गये और उससे वरदान माँगने के लिये कहा।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"महाराज! चोर ने कौन सा कार्य किया था। शिवजी उसकी किस सेवा से प्रसन्न हुए। उसने उल्टा उनके श्री अग पर पैर रखकर घोर अपराध किया था।"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान् जीवों के अपने प्रति किये हुये अपराधों की ओर ध्यान ही नहीं देते। यदि वे इन अपराधों पर ही अप्रसन्न हुआ करते, तो समस्त नास्तिकों की जिह्वा काट काट कर उन्हें गूँगा बना देते। भगवान् के प्रति जीव कितना भारी अपराध कर रहा है, जिन भगवान् ने इतना सुन्दर शरीर दिया, उनका चिन्तन न करके अहर्निशि विषयों का चिन्तन करता रहता है। उस चोर ने फल, बतासे, लड्डू छाँटने के लिए शिवजी के ऊपर के बेल पत्र हटाये थे। एक तो यह सेवा हो गई। दूसरे वह अपने सम्पूर्ण शरीर का बोझ रखकर शिवजी पर चढ गया। शिवजीने सोचा—"देखो, यह कैसा भक्त है, वह लखपती सेठ आया था, एक पैसा चढा गया। वह मोटी माई कितने धन की स्वामिनी है, किन्तु एक घिसी हुई पाई और सड़ी हुई सुपारी आज प्रदोष के दिन मेरे ऊपर चढाकर पुत्र, पौत्र, धन, वैभव न जाने क्या क्या माँग गई थी। इस विचारे ने अपना सम्पूर्ण शरीर मेरे ऊपर चढा दिया और माँगा क्या ? मेरी प्रसादी अल्पमूल्य का घन्टा। इससे बढकर त्यागी भक्त कौन होगा ? ऐसा सोचकर शिवजी ने उसे अपना गण बना लिया। वह पशुपति का प्रिय पार्षद बन गया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यह तो शिवजी का अपने अपराध करने वालों के प्रति कृपा है, अब गुरुद्रोही को वे कैसे दंड देते हैं, इस विषय में भी मैं आपको एक बडी ही रोचक कथा सुनाऊँगा उसे आप सावधान होकर श्रवण कर।

छप्पय

निज अपराधी जानि करैं हरि क्षमा जीव कूँ।
कहु पौरुष तें जीव तुष्ट कब करे शीव कूँ॥
कृपा सिंधु भगवान् कौन पै कब ढुरि जावें।
कब कापै कार कृपा अनुग्रह रस बरसावें॥
दुष्ट दैत्य भगवान् कूँ, परुस बचन नितइ कहें।
गनें न तिनके दोष कूँ, अज्ञ जानि सब कछु सहें॥

गुरुद्रोहीका कल्याण गुरुकृपाके बिना नहीं

(३८५)

मघवन् द्विषतः पश्य प्रक्षीणान् गुर्वतिक्रमात् ।
सम्प्रत्युपचितान्भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः ॥१

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

सबको ई निस्तार करें हरि क्षमा सबनिकूँ।
किंतु न पशुपति करें क्षमा खल गुरु द्रोहिनिकूँ ॥
हरि रूठें तो चरन शरन गुरुकी नर आवें।
गुरु रूठें तो कहहु जीव किहि के ढिंग जावें
जे तन मन धन आदि तें, गुरुसेवा नित ई करें।
प्रभु पद पावें प्रेम तें, भवसागर छिनमहँ तरें ॥

संसार में एक से एक उपकार करने वाले हैं। बहुत से पुरुष अपने गुरुतर स्वार्थों का परित्याग करके दूसरों का उपकार करते हैं। रक्त और पसीना एक करके पैदा किये हुए धन का दुखियों

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पराजित असुरों को समझाते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे मघवन् ! तुम अपने असुर शत्रुओं को ही देखो। पहिले वे लोग गुरु का निरादर करने से क्षीण हो गये थे, इस समय फिर से भक्तिपूर्वक अपने गुरु शुक्राचार्य की आराधना करके उन्नति को प्राप्त हो गये हैं।"

को देकर भूखों को अन्न देकर, रोगियों को अमूल्य औषधि पिपासितों को पानी देकर, शीतार्तों को वस्त्र और ईंधन देकर उपकार करने वाले सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, किन्तु इन सबसे बड़े उपकारी वे हैं जो इस संसार में अभय करदें। अज्ञानान्धकार में पतित प्राणियों को पुण्यालोक प्रदान करें। जो गु अर्थात् अज्ञान को 'रु' अर्थात् नाश करने वाले हैं अज्ञान नाशक गुरु के उपकार का मनुष्य किसी भी प्रकार से प्रत्युपकार नहीं कर सकता। ऐसे परमोपकारी गुरु के प्रति भी जो द्रोह करते हैं, उन्हें रौरव नरकों की यातनायें सहनी पड़ती हैं, उनके ऊपर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ता है, वे एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी इसी प्रकार विपत्तियों को सहते सहते ही संसार चक्र में घूमते रहते हैं। उनका उद्धार भगवान् भी नहीं कर सकते। गुरु ही जब कृपा करें तभी उनका उद्धार हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपके सम्मुख मैं गुरुद्रोही की बात कह रहा था। गुरु तो क्षमा की मूर्ति होते हैं, वे शिष्यों के अपराधों की ओर ध्यान नहीं देते, किन्तु भगवान् सब कुछ सह सकते हैं, अपनी आज्ञा का अनादर करने वाले को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु गुरुद्रोही को वे क्षमा नहीं करते इस विषय में मैं आप लोगों के सम्मुख एक अत्यन्त प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ।

परम पावन अवधपुरी में एक अत्यन्त अभिमानी शूद्र रहता था। जिस पुरी में जन्म लेना अनन्त जन्मों का पुण्य समझा जाता है, उस पुरी में जन्म लेने पर भी वह उसका महत्व नहीं समझता था। कुछ समय के पश्चात् कालक्रम से किसी विपत्ति के कारण वह अवध छोड़कर अवन्तिका पुरी चला गया। संयोग की बात कि वहाँ उसे एक बड़े ज्ञानी ध्यानी शिव भक्त महात्मा मिल गए। उनकी श्रीसीताराम चरणों में अनन्य

भक्ति थी। यह शूद्र जाकर उन ब्राह्मण की सेवा करने लगा। भगवद् भक्त तो कृपा के सागर होते ही हैं, उस शूद्र को दीन हीन मति मलीन समझकर ब्राह्मण उसके उद्धार का उपाय सोचने लगे। एक दिन उन्होंने बड़े स्नेह से कहा—"भैया! शिव रामदास! तू कुछ भजन पूजन करता है?"

उसने कहा—"महाराज! मैं तो कुछ भजन पूजन जानता ही नहीं।"

तब उन कृपालु द्विज ने कहा—"देख भैया! तू इस शिव-जी के पचाक्षरी महामन्त्र का जप किया कर। इसके जप करने से तेरी भगवान् श्री रामचन्द्र के चरणारविन्दों में अविचल भक्ति हो जायगी।"

ऊपर से तो वह शूद्र बड़ा सरल स्वभाव का प्रतीत होता था, किन्तु उसके भीतर तो भेंगार भरी थी। वह अपने को बड़ा ज्ञानी ध्यानी पण्डित बना बैठा था। वह साधु ब्राह्मणों से द्वेष करता था, मन ही मन भागवतों को देखकर कुढ़ता था। ब्राह्मण देवता उसके ऐसे व्यवहार से सदा दुखी रहते थे, उस पुत्र की भाँति पुचकार कर दुलार से समझाते—"बेटा, इस प्रकार साधु सन्तों की अवज्ञा नहीं करते। संसार में साधु ही तो सबके सच्चे सुहृद सखा तथा आत्मीय हैं। साधुओं के चरण सेवन से सदा कल्याण ही कल्याण है। तुम साधुओं का वन्दना किया करो, ब्राह्मणों की भक्ति करो।" इस प्रकार वे गुरु-देव अपने श्रद्धालु शिष्य को सब प्रकार से समझाते थे, किन्तु उसकी बुद्धि में कोई बात बैठती ही नहीं थी वह अपने स्वभाव से विवश था। फिर भी गुरु की आज्ञा से अभिमानपूर्वक ही सही शिव मन्त्र का जप किया करता था।

एक दिन वह शिव मन्दिर मे बैठा हुआ जप कर रहा था। कि इतने मे ही उसके गुरुदेव मन्त्र दाता वे विप्रवर पधारे। उस शूद्रने देख भी लिया कि गुरुदेव पधारे हैं। उसे इतना भी ज्ञान था, कि उठकर मुझे गुरुदेव को प्रणाम करना चाहिये, किन्तु अभिमान के वशीभूत होकर उसने न गुरुदेव को अभ्युत्थान ही दिया और न उठकर प्रणाम ही की। गुरु तो सरल स्वभाव के साधे सादे थे। उन्होंने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंन जाना भी नहीं कि इसने प्रणाम किया या नहीं। जानते तो भी क्रोध न करते क्षमा ही कर देते। वे भले ही क्षमा करदें, किन्तु शिवजी तो गुरु द्रोही को कभी क्षमा करते ही नहीं। इसलिए शिवने उस शूद्रको शाप दे दिया। मन्दिर मे से स्पष्ट मेघ गभीर स्वर में यह आकाश वाणी हुई—"अरे दुष्ट! तैंने इतने सरल सच्चे, और सर्वसमर्थ गुरु का अपमान किया है, अत तू सैकड़ों योनियों मे जन्मता मरता रह। तुझे नारकीय यातनायें सहनी पड़ें।"

ऐसी आकाशवाणी को सुनकर शूद्र को भी क्लेश हुआ और उन ब्रह्मज्ञानी विप्र को भी क्लेश हुआ। उन्होंने विविध स्तोत्रों द्वारा शिव जी की स्तुति की और अपने शिष्य के अपराध को क्षमा कराना चाहा। गुरु ही जिस पर प्रसन्न हैं, वह अपराधी होने पर भी निरपराधी है। अत शिव जी ने वरदान दे दिया, कि सैकड़ों जन्म धारण तो करने पड़ेंगे, किन्तु जन्म मे मृत्यु मे इसे कोई कष्ट न होगा। सहज में ही जन्म ले लिया करेगा और बिना कष्ट के ही शरीर को जीर्ण वस्त्र के समान त्याग भी कर दिया करेगा, इसके अतिरिक्त इसे पूर्व जन्मों का सदा ज्ञान भी बना रहेगा।" इस वरदान के अनुसार उसने बिना कष्ट के सैकड़ों जन्म ग्रहण किये।

अन्त में अवध पुरी में एक विप्रवेश में जन्म ग्रहण किया। पूर्व जन्मों के कारण जन्म से ही उसकी श्री रामचरणों में भक्ति थी, तथा रामकथा में अनुराग था। गुरु की कृपासे और शिव जी के वरदान से उसे सभी जन्मों का ज्ञान था और सर्वत्र उसकी अव्याहत गति थी। उसके पिताने उसे लौकिक वैदिक विद्यायें पढाना चाहा, किन्तु उसे तो गुरु प्रसाद प्राप्त हो चुकाथा; उसका तो रामचरित में दृढ अनुराग हो चुका था इसलिय उसे ये सब बातें अच्छी नहीं लगती थीं। कालान्तर में उसके माता पिता परलोकप्रवासी बन गये, अब क्या था वह स्वच्छन्द होकर इधर से उधर घूमता रहा। ऋषियों के आश्रम पर जाता, उनसे उपदेश देने की प्रार्थना करता, ऋषि मुनि उसे ब्रह्मज्ञान का, योग का साख्य का उपदेश करते किन्तु उसके मन में तो रामचरित श्रवण करने की चटपटी लगी हुई थी। अत उसका कहीं सन्तोष नहीं होता था।

एक बार घूमते फिरते लोमश ऋषि के आश्रम पर वह पहुँचा। ऐसा प्रसिद्ध है, कि लोमश ऋषि का आयु का ठिकाना नहीं। महाप्रलय में भी उनके शरीर का नाश नहीं होता। उन के सामने हजारों लाखो ब्रह्मा बदल चुके हैं। ब्रह्माजी के शरीरान्त के पश्चात् भद्र कराना चाहिए। अब नित्य नित्य भद्र क्या कराते रहें, अत महाकल्प में जब ब्रह्मा बदलते हैं, तो ये अपना एक लोम गिरा देते हैं, इसीलिये इनका नाम लोमश ऋषि है। ये बड़े ज्ञानी हैं, यह अवधवासी-विप्र-उन्हा की शरण में गया। जाते ही इसने राम चरित के सुनने की इच्छा प्रकट की। मुनिने सगुण को साधन बताकर निर्गुण का निरूपण करना आरम्भ किया। यह तो था सगुण साकार अवतार रूप का उपासक। अतः बार बार यह मुनि के वचनों में शंका करने लगा। बार बार

सगुण रूप वर्णन की प्रार्थना करने लगा। मुनि को इसकी अशिष्टता पर क्रोध आगया। अब तो इसे गुरु के सर्वज्ञ और ज्ञानी होने पर भी शका होने लगी। तब तो लोमश मुनिने क्रोध में भरकर शाप दिया—"तू बडा कुतर्की अविश्वासी है अत जा चाण्डाल पक्षी हो जा।"

ऋषि वचन अमोघ था, वह व्यर्थ होने वाला नहीं था, ब्राह्मण तुरन्त कौआ बनकर उडने लगा। उसे इस शाप से न हर्ष था विषाद। गुरुजी की कृपा से ज्ञान तो कभी लुप्त होने वाला था ही नहीं। गति भी अव्याहत थी, रामचरित में अनुराग भी था सोचा—जैसे सहस्रों योनियों को भोगा, एक काकयोनि भी सही।" उसकी इस सहन शीलता का महामुनि लोमश पर बडा प्रभाव पडा। उसे बुलाकर रामचरित्र का उपदेश दिया कि जहाँ तुम रहोगे एक योजन तक माया न व्यापेगी। कल्पान्त में भी तुम्हारा नाश न होगा, अजर अमर रहोगे और इच्छानुसार रूप भी रख सकोगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे ही रामचरित्र के प्रधान वक्ता श्री काकभुशुण्डिजी हुए। काक भुशुण्डि को अपना कौए का शरीर अत्यत प्रिय है। वे चाहें तो अन्य शरीर भी रख सकते हैं, किन्तु जिस शरीर से राम जी के चरित्र सुने हैं, वह शरीर उन्हें अत्यत प्रिय है। इसीलिये वे अपने आश्रम में रह कर श्री राम चरित की कथा कहते रहते हैं तथा पक्षियों को सुनाते हैं। पक्षियों के राजा गरुडजी ने भी इन्हीं के समीप जाकर समस्त रामचरित्र सुना था।

यद्यपि ये काक भुशुण्डि जी गुरु के अपराधी थे, शिवजी द्वारा शापित थे, फिर भी गुरु कृपा से ये ऋषिकल्प माने जाते हैं। इनका ज्ञान अमोघ है, ये भगवान के बाल रूप के उपासक

हैं और जब जब भगवान, अवतार लेते हैं, तबतब ये वहाँ जाकर उनके साथ क्रीडा करते हैं। इसीलिये गुरुद्रोह का यदि कोई उपाय है, तो गुरुकृपा ही है। यही बात ब्रह्माजी ने देवताओं से कही थी, कि देवताओं! तुम लोगों ने बहुत बुरा कार्य किया, जो अपने गुरुदेव बृहस्पति जी का अपमान किया। अब तुम्हें इसी प्रकार दु ख उठाने पड़ेंगे।"

इस पर दीनता के साथ इन्द्र ने कहा—"प्रभो! जो हो गया सो तो हो ही गया। अब हमें वह उपाय बताइये, जिससे हम इस विपत्तिसागर से पार हो सकें। आप के अतिरिक्त हमारी कहीं गति नहीं। हम आपकी शरण मे आये हैं, जैसे समझें वैसे हमारा उद्धार करें। इस दोष का जिस प्रकार मार्जन हो सकता हो उस उपाय को हमें बतावें।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से कहते हैं—"राजन्! जब इन्द्रादि देवो ने लोक पितामह ब्रह्माजी की बहुत भाँति से अनुनय विनय की, तब वे ध्यानपूर्वक देवताओं के हित की बात सोचने लगे।

छप्पय

गुरु प्रसाद तें कौन वस्तु है दुर्लभ जगमहँ।
गुरु-प्रसाद पाथेय चलो ले निभय मगमहँ॥
गुरु चाहें तो रुष्ट देव कूँ तुरत मनावें॥
गुरु चाहें तो तुरत क्रूर कूँ साधु बनावें॥
गुरु चरननिकी शरन महँ, होहि न भव भय की व्यथा।
है प्रसिद्ध ससार में, काक भुशुण्डी की कथा॥

विश्वरूप को पुरोहित बनाने की सम्मति

(३८६)

तद् विश्वरूप भजताशु विप्रम्,
तपस्विन त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम् ।
सभाजितोऽर्थान् स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म ॥१

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

बोले ब्रह्मा विश्वरूप ढिँग सुर सब जाओ ।
करिकें अनुनय विनय उन्हें गुरुदेव बनाओ ॥
विधि सम्मति सिर धारि चले सब आयसु पाई ।
त्वष्टा सुत ढिँग जाइ बिपति की बात बताई ॥
सब सुनि बोले त्वाष्ट्र मुनि, कैसे अब नाहीं करूँ ।
उपरोहित निन्दित करम, तिहि करि कस अघ सिर धरूँ ॥

ससार मे स्वार्थ से बढकर निन्दित और प्रिय कार्य कोई नहीं । अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये अर्थी किसी भी दोष को

---

१ समागत देवताओं से ब्रह्माजी कहते हैं—"देवगण ! गुरु के बिना विपत्ति से निस्तार नहीं, अत तुम सब शीघ्र ही त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के पास जाकर उन्हें अपना गुरु बना लो । वह ब्राह्मण आत्मज्ञानी और तपस्वी है । यदि तुम लोग उसके उचित अनुचित कार्यों को सह सकोगे तो वह तुम्हारे द्वारा सत्कृत होकर तुम्हारे समस्त मनोरथों को पूर्ण कर सकेगा ।"

नहीं देखता। स्वार्थ के लिये गदहे को बाप बना लेते हैं। स्वार्थ के लिये मनुष्य नीच से नीच कार्य करने को उद्यत हो जाते हैं। जिससे अपना स्वार्थ सधता है, उससे मनुष्य कितना प्रेम प्रदर्शित करते हैं। उसके लिए प्राणअर्पण करने का अभिनय करते हैं। जहाँ स्वार्थ सिद्ध हुआ वहाँ तुम अपने घर, हम अपने घर यही नहीं स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर जिसके द्वारा स्वार्थ सिद्ध हुआ है, उसे हम बड़ी से बड़ी हानि भी पहुँचा सकते, उसका प्राणांत भी कर सकते हैं। ऐसे स्वार्थी संसार में जो प्रेमकी खोज करते हैं, वे अज्ञ हैं, भूले हैं। संसार में न प्रेम है न आत्मीयता। सर्वत्र स्वार्थका बोलबाला है। जिससे अपना स्वार्थ है, वह चाहें कितना भी दूर का क्यों न हो, उससे कहेंगे—"अजी, आप तो अपने घर के ही हैं, आत्मीय स्वजन हैं। कितना भी नीच प्रकृतिका क्यों न हो उसे आशुतोष बतावेंगे। कितना भी बुरा क्यों न हो उसे दूध का धुला सिद्ध करेंगे। जिनसे अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, वे चाहें कितने भी अच्छे हों उनकी ओर देखेंगे भी नहीं। संसार की प्रीति स्वार्थमय है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पराजित हो जाने पर अपने गये हुए राज्य को लौटाने के निमित्त—अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये—देवताब्रह्माजी की शरण गये। ब्रह्माजी ने उन्हें बहुत डाँटा डपटा और कहा—"तुम लोगों ने अक्षम्य अपराध किया।

देवताओं ने कहा—"महाराज, अब जो हुआ सो तो हो गया, अब क्या करें वह उपाय बताइये।

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, बिना मन्त्रदाता पुरोहित गुरु के किसी की कार्य सिद्धि होती नहीं। इस समय तुम गुरु-

हीन हो गये हो, अत तुम्हारी विजय कठिन है। यदि तुम अपनी विजय चाहते हो, तो तुम अपने गुरु को प्रसन्न करो।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! यदि हमें गुरुदेव के दर्शन होते, तो हम अनुनय विनय करके हाथ पैर जोड़ कर उन्हें मना लेते किन्तु वे तो हो गये हैं अदृश्य। हम लोगों ने उनका ऐसा अपमान किया है, कि शीघ्र ही उनके प्रकट होने का भी सभावना दिखाई नहीं देती। अत हमें आप कोई दूसरा उपाय बताइये जिसके द्वारा हम अपने गये हुए राज्य को फिर से प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, जब तक तुम्हारे गुरु प्रसन्न होकर लौटते नहीं, तब तक तुम किसी दूसरे योग्य तपस्वी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को अपना गुरु बनालो जो तुम्हें विधि पूर्वक यज्ञ याग आदि धर्म कार्य कराके राज्य प्राप्त करा सके।"

देवताओं ने जिज्ञासा और उत्कंठा के साथ कहा—"भगवन्! आप ही किसी योग्य व्यक्ति का नाम बतादें, जिससे हम उन्हें अपना स्थानापन्न गुरु बनालें।"

यह सुनकर और कुछ देर सोचकर ब्रह्माजी बोले—'देखो, तुम सब लोग कश्यप की सन्तान हो। उन्हीं कश्यप के पुत्र त्वष्टा ऋषि हैं। उन त्वष्टा के एक तेजस्वी, तपस्वी, ब्रह्मज्ञानी पुत्र हैं। उनका नाम विश्वरूप है। इस योग्य हैं, कि तुम्हारे गुरुपने का कार्य भली प्रकार कर सकते हैं। वैसे हैं तो तुम लोगों के वे भतीजे ही, किन्तु ज्ञान वृद्ध होने के कारण वे तुम्हारे पूजनीय हो सकते हैं। उन्हीं के पास जाओ यदि वे इस

बात को स्वीकार करलें। तो समझो तुम्हारा बेडापार ही है। वे तुम्हारे गये हुए राज्य को तुम्हे दिला सकते हैं। किन्तु उनमे एक कुछ गड़बड सी बात है।"

देवताओं ने चौंक कर पूछा—"महाराज, वह क्या बात है, उसे भी हमे बता दीजिये, कि पीछे कुछ गडबड न हो।"

ब्रह्माजी ने गम्भीरता के साथ कहा—"वह बात यह है, कि उनकी माता त्वष्टा मुनि की पत्नी असुर वश की है। मातृस्नेह से सभव है, वे भीतर ही भीतर तुम्हारे शत्रु असुरों का भी पक्ष लें। सो, तुम इस प्रसङ्ग को टालते रहना बात को बढने न देना। उनके असुरों के पक्षपात पूर्ण कर्मों को भर सक सहते रहना।"

यह सुनकर इन्द्र ने सोचा—"कोई बात नहीं। असुरवश का माता होने से क्या हुआ। मेरी इन्द्राणी शची देवी भी तो असुर वश की ही है। पुलोमा असुरकी पुत्री होनेसे ही पौलोमी उसका नाम है। लडकी जब विवाह के पश्चात् ससुराल मे आजाती है तो उसका पिता का गोत्र बदल जाता है वह पति के गोत्र की हो जाती है। इस समय तो हमारा स्वार्थ है—अपना काम निकालना है। यदि विश्वरूप ने कुछ किया तो पीछे देखा जायगा।" यही सब सोच समझकर वे ब्रह्माजी से कहने लगे—"अच्छी बात है महाराज, आपकी आज्ञा हमे शिरोधार्य है। हम त्वष्टा तनय श्री विश्वरूप के समीप जाते हैं उनसे सभी प्रकार से विनय

करेंगे, यदि उन्होंने स्वीकार कर लिया, तो तब तक विश्वरूप को अपना गुरु बना लेंगे।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर देवराज इन्द्र ने समस्त देवताओं के सहित लोक पितामह ब्रह्मा जी की चरण वन्दना की उनकी प्रदक्षिणा की और वे विश्वरूप के आश्रम की ओर चल पडे। ब्रह्माजी के आश्वासन से उनकी चिंता दूर हो गई थी, हृदय मे विजय की आशा हो गई थी, वे सब के सब प्रसन्न चित्त हुए, त्वष्टा पुत्र परम तेजस्वी विश्वरूप के आश्रम मे पहुँचे।

आश्रम ब्राह्मी श्री से दैदीप्यमान् हो रहा था। अग्निहोत्र-शाला मे दूसरे अग्नि के ही समान बैठे विश्वरूप मुनि पूजा-पाठ कर रहे थे। सहसा अपने आश्रम में देवताओं को आते देख कर वह उठ कर खड़े हो गये। ज्यों ही वे इन्द्रादि देवों के पैर छूने के लिए आगे बढे, त्योंही शीघ्रता से देवराज इन्द्र ने उन्हें कस कर अपने हृदय से लगा लिया। उन्हे तो अपना स्वार्थ साधना था, अत आज उनके प्रति अत्यधिक स्नेह प्रदर्शित किया। अन्य देवताओं ने भी विश्वरूपजी का आलिंगन किया। विश्वरूपजी ने शीघ्रता के साथ सभी को बैठने के लिये यथोचित आसन दिये। जब सब सुखपूर्वक अपने अपने आसनों पर बैठ गये, तब सब को विश्वरूपजी ने पाद्य अर्घ्य आचमनीय तथा फल फूलों के द्वारा पूजा की। विश्वरूपजी की पूजा को स्वीकार करके देवताओं ने उनकी कुशल पूछी और अपने आप ही कहने

लगे—"महानुभाव विश्वरूपजी ! हम आपके आश्रम पर अतिथि होकर पधारे हैं।

विश्वरूपजी ने हाथ जोड कर कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"परम पूजनीय देवताओं ! मेरे लिए यह बडे सौभाग्य की बात है, बड़े बडे यज्ञो मे जब आपको अत्यन्त ही श्रद्धा से विधि विधान के साथ बुलाया जाता है, तब आप आते हैं, मेरे आश्रम में आप स्वतः ही पधारे हैं, इससे बढ कर मेरे लिये आनन्द की और कौन सी बात होगी। आपने मेरे ऊपर बडा अनुग्रह किया।

शीघ्रता के साथ देवराज ने कहा—"अनुग्रह फनुग्रह की बात नहीं भैया ! हम तो एक प्रयोजन से अपने एक अत्यन्त कार्य से तुम्हारे समीप आये हैं, यदि तुम उसे करने का वचन दो तो हम कहें। एक तो हम तुम्हारे वैसे ही माननीय हैं, फिर आज अतिथि बन कर आये हैं। हमारा काम तुम्हे करना ही होगा, हम इन कदमूल, फल, धूप, द्वीप नैवेद्य तथा पाद्य अर्घ्य से आज सन्तुष्ट होने वाले नहीं हैं। आज तो तुम्हे हमारी समयोचित कामनापूर्ण करनी होगी।"

विनय के साथ विश्वरूपजी ने कहा—"भगवन् ! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं। आप सब मेरे चाचा हैं। पिता हैं। पिता के समान ही पूजनीय हैं। आप मुझे आज्ञा दें। मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ ?"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब देवताओं ने विश्व-

रूपजी को अत्यन्त विनययुत और अपने अनुकूल देखा, तो सब की ओर से बड़े ढङ्ग से इन्द्र उनके सम्मुख अपने प्रस्ताव को रखने के लिए प्रस्तुत हुए।

छप्पय

देखो, पौरोहित्य कर्म अतिहि निन्दित है।
वेद वेद सर्वत्र देवगण। बात विदित है॥
उपरोहित को अन्न पाप ई विज्ञ बतावें।
अति प्रसन्न ह्वै कुमति ताहि हर्षित ह्वै खावें॥
निष्किञ्चन की वृत्ति तो, कन कन कूँ संग्रह करे।
पूजि पितर सुर अतिथि ऋषि उदर शेष तें मुनि भरें॥

पौरोहित्य कार्य में विश्वरूप की अनिच्छा

(३८७)

अकिञ्चनाना हि धन शिलोञ्छनम्,
तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः ।
कथ विगर्ह्य नु करोम्यधीश्वराः,
पौरोधस हृष्यति येन दुर्मतिः ॥
(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

कहैं देव—'प्रिय विश्वरूप ! तुम पुत्र हमारे ।
आये है के दुखित वत्स ! हम पास तुम्हारे ॥
अनुचित उचित बिसारि पुरोहित पद स्वीकारो ।
विपति उदधि महँ मग्न पकरि कैं हमें उबारो ॥
करो न मन सकोच कछु, छोटे कस गुरु पद गहे ।
ज्ञान वृद्धि कूँ वेद विद्, वन्दनीय सब कोउ कहें ॥

कभी कभी गुरुजनो के सकोचसे हमे अप्रिय कार्य भी विवश होकर करना पडता है । बडे लोगों के समीप छोटों को ही जाना

---

*देवताओं के पुरोहित बनने के प्रस्ताव पर विश्वरूप कहने लगे—'देवताओ ! जो निष्किञ्चन द्विज है, उनका शिल और उञ्छ वृत्ति से इकट्ठा किया अन्न ही परम धन है । उसी अन्न के द्वारा मैं गृहस्थोचित सत्कर्मों का निर्वाह करता हूँ । फिर मैं उस अति निन्दनीय पुरोहित कर्म को कैसे कर सकता हूँ । जिसे प्राप्त करके केवल दुर्बुद्धि पुरुष ही प्रसन्न होते है ।

चाहिये। जब इसके विपरीत बडे लोग छोटों के यहाँ स्वय जायँ, तो समझ लेना चाहिए कुछ दाल में काला है, ये हमसे कोई ऐसा कार्य कराना चाहते हैं, जिसे हम स्वेच्छासे करना न चाहते हों। जा कर यदि वे अपना अधिकार जताकर हम से आग्रह करते हैं, तब तो मना करने को स्थान ही नहीं रह जाता। तब तो हमे हाथ जोड कर उनके सम्मुख सिर झुकाना ही पड़ता है। "आपकी जैसी आज्ञा" इसके अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं जासकता।

श्री शुक देवजी कहते हैं—"राजन्! विश्वरूप के आश्रम पर पहुँच कर उनके द्वारा सत्कृत होकर समस्त देवताओं की ओर से देवेन्द्र उनसे कहने लगे—"भैया, विश्वरूप! देखो, पुत्रों का प्रधान धर्म है, कि अपने पिता पितृव्यों की समुचित सेवा सुश्रूषा करना पुत्र फिर चाहे स्वय पुत्रवान् हो जाय, किन्तु उसे अपने पूज्य पिता पितृव्यों को लघुभाव से सेवा करनी ही चाहिए। फिर जो ब्रह्मचारी है—जिसका विवाह नहीं हुआ है, उसका तो कार्य ही है सेवा करना। देखो, हम आज कल बड़े सकट मे हैं, फिर हम अतिथि होकर तुम्हारे समीप आये हैं। शास्त्रकारों का ऐसा कथन है, कि मन्त्रदाता आचार्य स्वय साक्षात् वेद की मूर्ति माने गये हैं। जिसने वेद का उपदेश देकर हमारे अज्ञानान्धकार को नाश किया है, वह तो स्वय साक्षात् ज्ञान का अवतार ही है। नर रूपमे हरि ही है। ब्रह्माजी का कार्य है सृष्टि करना। पिता सन्तान की सृष्टि करता है, अत पुत्री और पुत्रोंके लिये पिता स्वय साक्षात् स्वयभूस्वरूप है। पिता का ब्रह्मा के समान सम्मान सत्कार करना चाहिए अपने जो श्रेष्ठ भ्राता हैं, वे मरुत्पति इन्द्र की मूर्ति माने गये हैं। जैसे पृथ्वी अपने से उत्पन्न समस्त चर और अचर जीवों का विना स्वार्थ के, बिना विज्ञापन के, बिना दम्भ और दिखावट के स्वय कष्ट सहकर

पालन करती है, उसी प्रकार माता भी सन्तानों का पालन करती है। पृथ्वी पर आप मल मूत्र का त्याग करो, उसमे खोद-खोद कर कुएँ बना लो, गड्ढे कर दो, उसे जोत दो, वह बुरा न मानेगी, तुम्हारा हित ही करती रहेगी, इसी प्रकार माता भी सन्तानों के सुख मे सदा तत्पर रहती है। अतः माता भू देवी की साक्षात् मूर्ति मानी गई हैं।

ससार मे वे लोग अभागे हैं, जिनके बहिन नहीं। बहिन अपने भाइयों से कितना प्यार करती है, भाई को भोजन कराते समय बहिन के रोम रोम खिल जाते हैं, उसका हृदय भर आता है। अत. बहिन को मूर्तिमती दया कहा गया है। दया का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो, स्नेहमयी भगिनी में करें। ससार में उनसे बडा हत भाग्य कोई न होगा, जिसके हाथ में श्रावणी के दिन किसी बहिन ने राखी न बाँधी हो, भैयाद्वैज के दिन जिसके माथे पर बहिन ने द्वैज का टीका न काढा हो। क्योंकि ससार में दया ही एक हृदय को पिघलाने वाली वस्तु है और वह दया बहिन में ही दृष्टि गोचर होती है। बहुत सी बहिन अपने ऐश्वर्य के मद में दरिद्र भाई को भूल जाती हैं, वे बहिन तो हैं, किन्तु ग्रह गृहीता हैं। उन्हें ऐश्वर्य मद रूपी ग्रह ने पकड रखा है।

अभ्यागत को अग्नि की मूर्ति और अतिथि को स्वय साक्षात् धर्म की मूर्ति कहा गया है। अभ्यागत तो वे कहलाते हैं जो प्रायः माँगने को आते ही रहते हैं। अतिथि उसे कहते हैं जिसके आने की कोई निश्चित तिथि न हो। वे चाहें परिचित हों या अपरिचित हों। अतिथि का जिसने तिरस्कार कर दिया, मानों उसने धर्म का तिरस्कार कर दिया। अतिथि का जिसने श्रद्धा सहित पूजन कर लिया, उसने मानों सर्व श्रेष्ठ धर्म का सपादन कर लिया। सम्पूर्ण जीवों में एक ही आत्मा विराजमान है। अत. धार्मिक

पुरुषों का यह प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है, कि अर्थी होकर कोई भी अतिथि अपने समीप आवे उसकी यथा शक्ति इच्छा पूर्ण करनी चाहिये।"

विश्वरूपजी ने कहा—"भगवन्! आप समस्त देवताओं के स्वामी हैं, मेरे पूजनीय हैं आप मुझे आज्ञा दें, मैं आप का कौन सा प्रिय कार्य करूँ।"

इस पर देवेन्द्र ने कहा—"प्रियवर! देखो, तुम्हारे रहते हुए, हम इस प्रकार शत्रुओं के द्वारा तिरस्कृत होकर घर द्वार से हीन हुए मारे मारे फिरें यह बड़ी लज्जा की बात है। तुम्हारे ये तप, तेज, वेदाध्ययन आदि शुभ कार्य फिर किस काम आवेंगे। तुम ब्रह्मनिष्ठब्राह्मण हो, अतः हमारे गुरु बन जाओ। हम तुम्हें अपना उपाध्याय बनाना चाहते हैं, जिससे हम तुम्हारे तेज के प्रभाव से अपने असुर शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर विश्वरूप जी ने बड़ी ही नम्रता के साथ कहा—"देवताओं! आप यह कैसी उलटी गङ्गा बहा रहे हैं। गुरु तो आप सब मेरे हैं। मैं आप का गुरु कैसे बन सकता हूँ। मैं तो आप सब का बालक हूँ। जब मैं आचार्य के सिंहासन पर बैठा करूँगा, तो आप सब मुझे प्रणाम करेंगे। यह बात तो अनुचित हो जायगी।

इस पर देवताओं ने कहा—"नहीं, भैया! यह बात नहीं है। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने से छोटों की भी चरण वन्दना करने से निन्दा नहीं होती। कार्य सिद्धि की गुरुता से सभी काम करने पड़ते हैं। फिर ब्राह्मणों में तो बड़ापन वेद ज्ञान के कारण होता है, जो अधिक ज्ञानी है, वही अधिक बड़ा है। केवल अवस्था का बड़प्पन ब्राह्मणों में कारण नहीं माना

आता। देखिये इस विषय में हम आप को एक वैदिक गाथा सुनाते हैं। एक बड़े विद्वान् युवक मुनि थे। वे सभी शास्त्रों में पारगत थे। उनके पास पढ़ने को उनके पिता, पितामह, पितृव्य तथा और भी बहुत से वृद्ध मुनि आते थे। वे उन सब को वत्स कहकर सम्बोधन करते थे, इस पर उन्होंने शंका की कि तुम अपने पिता पितामहों से वत्स क्यों कहते हो? इसका ऋषियों द्वारा ही समाधान किया गया, कि ज्ञानी सबसे बड़ा है, उसके समीप जो पढ़ने आते हैं, वे चाहें कितने भी बड़े क्यों न हों, छोटे ही हैं, जो ज्ञान वृद्ध है वही यथार्थ में वृद्ध है। अतः तुम हमारा उपाध्याय बनना स्वीकार करलो। हमारा इस घोर संकट से अपने तपोबल द्वारा उद्धार करो।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवताओं की ऐसी प्रार्थना सुनकर विश्वरूपजी मन ही मन प्रसन्न तो हुए, किन्तु स्थूणा-निखनन न्याय के अनुसार इसकी पुष्टि कराने के निमित्त तथा देवताओं की उत्सुकता बढ़ाने के निमित्त वे कहने लगे—"देखिये, पौरोहित्य कर्म, महानीच कर्म है। इसमें पुरोहित को यजमान के सब पाप लेने पड़ते हैं। दान देते समय पढ़ा जाता है इस जन्म में तथा अन्य जन्मों में जो पाप किये हैं, वे इस दान से शान्त हो जायें।" वह पाप कहाँ जाते हैं, पुरोहित—'दान ग्रहीता—के पास चले जाते हैं। कई ऐसे दृष्टान्त हैं, एक पुरोहित ने अपने यजमान के हित के निमित्त उसके पुत्र को ही रानी की गोद से लेकर हवन किया था। राजा का तो उससे भला हुआ, किन्तु नरक में वज्रतुण्ड नामक जीव उन्हें अपने तीखी तीखी विशाल चोंचों से काटते हुए राजाने उन्हें देखा। सो देवताओं आप इतने बड़े होकर मुझसे इस नीच कर्म को करने के निमित्त क्यों कहते हैं।

देवताओं ने कहा—"भाई, सभी ब्राह्मण ऐसे सोच लें तो पुरोहिती कर्म कौन करे ? फिर ब्राह्मणोंकी आजीविका कैसे चले। ब्राह्मणों को दान लेकर आजीविका चलाना यही तो ब्रह्माजी ने वृत्ति बनाई है। दान के बिना ब्राह्मणों पर धन कहाँ से आवे और धन न हो तो गृहस्थी का कार्य कैसे चले ?"

यह सुनकर विश्वरूप कहने लगे—"देवताओ ! आप इतने धर्मात्मा सतोगुणी होकर भी ऐसी बातें कर रहे हो ? अजी, निष्किञ्चन ब्राह्मणों को पवित्र और मुख्य आजीविका तो कापोती वृत्ति बताई है। कबूतर की भाँति खेत में बचे हुए दानों को बीन लाना, या जहाँ अन्न बिकता हो वहाँ से फैले हुए कणों को एक एक करके उठा लाना यही प्रधान वृत्ति है। उसी पवित्र अन्न से देवता, ऋषि, पितर तथा अतिथियों का सत्कार करके गृहस्थोचित कार्यों को करे। जो लोभी हैं, दुर्मति हैं अच्छा सुस्वाद चिकना मधुर भोजन करने के लालची हैं, वे पुरोहिताई को ढूँढते फिरते हैं। उन्हें १० घर की पुरोहिताई और मिल जाती है, तो बड़े प्रसन्न होते हैं, फूले नहीं समाते। वे बड़े गर्व से कहते हैं अमुक श्रीमान् हमारे यजमान हैं, हम अमुक श्रेष्ठि वर के पुरोहित हैं। सो देवताओं ! आप मुझसे ऐसा प्रस्ताव न करें। मुझे अपना बालक समझ कर क्षमा करें। यह मैंने शास्त्रीय सिद्धात बताया है, इससे आप क्रुद्ध न हों और न यही सोचें, कि मैं आपकी आज्ञाका उल्लघनकर रहा हूँ। छोटा होना महाराज, बड़ा अपराध है। छोटोंको सदा बड़ोंके सामने दबना पड़ता है। बड़े लोग जो भी

उचित अनुचित आज्ञा दें छोटों को सिर झुकाकर उसे स्वीकार ही करना पड़ता है। आगे आप जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही मैं करूँगा।"

इससे देवताओं को आशा हुई। वे समझ गये विश्वरूप ने मन से इस परम प्रतिष्ठा के पद को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया है। केवल शिष्टाचार के निमित्त मना कर रहे हैं। अतः वे उनसे बोले—भाई, तुम तो अपने घर के ही हो, उचित हो अनुचित हो तुम्हें ही करना है। शत्रुओं के फंदे से तुम्हीं हमें छुड़ाने में समर्थ हो।"

इस पर गम्भीरता पूर्वक विश्वरूप ने कहा—"परम पूजनीय देवताओ! यही तो मेरे सम्मुख धर्म सङ्कट उपस्थित है, उधर तो पुरोहिताई निषिद्ध कर्म है, इधर आप जैसे लोकेश्वर गण स्वयं मेरे आश्रम पर पधार कर मुझे आज्ञा देने आये हैं। आपके प्रस्ताव को स्वीकार न करना—"आपकी आज्ञा न मानना—यह भी तो घोर अपराध है। मैं तो आपका पुत्र हूँ, शिष्य हूँ। शिष्यों का सबसे बड़ा स्वार्थ तो यही कहा जाता है, कि गुरुजनों की आज्ञा में उचित अनुचित का विचार न करके उसे बिना विचारे अविलम्ब स्वीकार कर लेना। अच्छी बात है आपकी आज्ञा मुझे स्वीकार है, मैं आपकी यथाशक्ति सेवा करूँगा। मैं आप सबके उपाध्याय का कार्य करूँगा।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! देवताओं से इस प्रकार

कह कर वे महातपस्वी विश्वरूप जी पुरोहित पद के लिये उनके वरण करने पर, बड़े उद्योग के साथ देवताओं की पुरोहिताई करने लगे।

छप्पय

विनय सहित पुनि विश्वरूप बोले मृदुबानी।
आप देवगण परम पूज्य ज्ञानी विज्ञानी॥
लोकेश्वर हैं आप पुत्रकूँ देहि बड़ाई।
गुरु आज्ञा महँ होहिं, शिष्य की सदा भलाई॥
होवें अब निश्चिन्त हों, पुरोहिताई करुंगो।
तुम सबकी आज्ञा बिहँसि, प्रेम सहित सिर धरुंगो॥

—:※:—

देवताओं के पुरोहित विश्वरूप जी ।

(३८८)

तेभ्य एव प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः ।
पौरोहित्य वृतश्चक्रे परमेण समाधिना ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

सुनिकें सबई देव हृदय महँ अतिशय हरषें ।
बजें दुंदुभी आदि कुसुम नभतें बहु बरसें ॥
विश्वरूप को वरण करयो गुरु पद बैठाये ।
धर्म कर्म, व्रत नियम सुरनि सब विप्र सिखाये ॥
विश्वरूप गुरु पाइके, देवनि की चिन्ता गई ।
अवसि मिलें पुनि स्वर्गसुख, यह प्रतीति सबकूँ भई ॥

पुरोहित का कार्य है, यजमान के हित मे सदा अग्रसर रहना। जिन कार्योंके करने से यजमान की श्रीवृद्धि हो, यशका विस्तार हो शत्रु से विजय और इह लोक तथा परलोक में सुख की प्राप्ति हो, उन कार्यों को सदा तत्परता के साथ अव्यग्र भाव से करते रहना

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन ! विश्वरूप ने इस प्रकार देवताओं से पुरोहित बनने की प्रतिज्ञा की । इस पर देवताओं ने उन्हें वरण करके पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित किया । वे महातपस्वी विश्वरूप जी भी परम समाधि के द्वारा देवताओं की पुरोहिताई करने लगे ।

चाहिए। राजा की उन्नति अवनति अधिकांश पुरोहित के ही ऊपर निर्भर है। पुरोहित जैसा मत्र देगा, राजा उसी के अनुसार कार्य करेगा। शुभ मन्त्र हुआ तो शुभ परिणाम होगा अशुभ मन्त्र हुआ तो अशुभ परिणाम होगा। अत पुरोहित का योग्य होना राजा और प्रजा दोनों के लिये श्रेयस्कर है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं के—स्थानापन्न पुरोहित विश्वरूप जी बन गये तब देवताओं को बडा हर्ष हुआ। मदराचल के एक गुप्त स्थान मे बैठकर देवताओं ने सम्मति की अब आगे क्या करना चाहिए।

शतक्रतु देवेन्द्र नेअपने नये गुरु विश्वरूप को प्रणाम करके पूछा—"गुरुदेव! अब आप हमे हमारा कर्तव्य बताइये। अब आगे का कर्तव्य समझाइये, हमारी असुरों से विजय कराइये, हमारी गई हुई राजलक्ष्मी को शत्रुओं से दिलाइये। हमे कोई ऐसा जप, तप, मत्र, अनुष्ठान बताइये जिसे करके हम अपने गये हुए ऐश्वर्य को पुन प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर विश्वरूपजी ने गभीरता के साथ कहा—"देवेन्द्र आप किसी बात की चिन्ता न करें। मैं आप को आप का गया हुआ राज तथा ऐश्वर्य पुन अवश्य दिलाऊँगा असुरों के पास आसुरी बल है, वे आसुरी विद्या के सहारे तुम्हे जीत लेते हैं मैं तुम्हें वैष्णवी विद्या दूँगा। वैष्णवी विद्या के सम्मुख आसुरी विद्या कुछ कर नहीं सकती है। मैं तुम्हें एक ऐसा कवच पहिना दूँगा, कि जिसे पहिन लेने से आप के ऊपर शत्रुओं का कोई भी अस्त्र शस्त्र प्रहार न कर सके।"

देवराज इन्द्र ने कहा—"महाराज," वह कवच किस वस्तु का बना हुआ है। मेरे पास भी अनेकों प्रकार की धातुओं के

कवच हैं, किन्तु मंत्रों द्वारा छोड़े हुए अमोघ बाणों से बड़े बड़े कवच व्यर्थ हो जाते हैं। आप मुझे कैसा कवच देंगे।"

इस पर विश्वरूप ने कहा—"हे अमराधिप! मैं आप को धातुओं का बना कवच न दूँगा, मैं आप को मंत्रमय 'नारायण कवच' दूँगा। जिसे धारण कर लेने पर आप को समस्त प्राणी नमस्कार करेंगे। आप कभी भी किसी से पराजित न हो सकेंगे। उस कवच को धारण करके आप असुरों से युद्ध करेंगे, तो अवश्य ही अपनी गई हुई राजलक्ष्मी को शत्रुओं के हाथों से सुखपूर्वक लौटा लेंगे।"

इस पर अत्यंत ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए नाकपति देवेन्द्र ने कहा—"महाराज, अब आप का ही हमें सहारा है, जैसे भी उचित समझें हमारा उद्धार करें, हमें पुन स्वर्ग के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करा दें।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इन्द्र की ऐसी प्रार्थना करने पर विश्वरूप जी ने उन्हें विधि विधान पूर्वक साङ्गोपाङ्ग नारायण कवच का उपदेश दिया। इसको प्राप्त करके देवताओं ने असुरों पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि असुरों की रक्षा असुराचार्य शुक्र कर रहे थे, वे अपने विद्या बल से असुरों को परास्त होने देना नहीं चाहते थे, किन्तु वैष्णवी विद्याके सम्मुख आसुरी विद्या अधिक काल तक कैसे ठहर सकती है। 'नारायण कवच' को धारण करके जब देवेन्द्र ने युद्ध किया, तो सभी असुर अपने अपने अस्त्र शस्त्रों को रण में ही छोड़कर भाग खड़े हुए। वे अपने आप ही स्वर्ग के सिंहासन को छोड़ गये। देवराज इन्द्र की विजय हुई। उन्हें पुन स्वर्गीय राज्यलक्ष्मी ने वरण किया। विश्वरूप की कृपा से प्राप्त नारायण कवच द्वारा उन्होंने

असुरों को परास्त कर दिया। उदार बुद्धि विश्वरूप ने अपने यजमान इन्द्र की भलाई के लिये दैत्यों के संहार निमित्त यह अत्यन्त गुप्त विद्या उन्हें दी थी।

यह सुनकर महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन्! यह तो बड़ी चमत्कार पूर्ण बात है। जिस वैष्णवी विद्या से इन्द्र ने शुक्राचार्य के द्वारा रक्षित असुरों की बड़ी भारी चतुरङ्गिणी सेना को बात की बात में लीला द्वारा खेल खेल में ही जीत लिया। वह विद्या तो अमोघ होगी। आपने उस विद्याका नाम 'नारायण कवच' बताया है। वह नारायण कवच क्या है? उसे कैसे धारण करते हैं, कब धारण किया जाता है। उसके धारण करने की विधि क्या है। कृपा करके मेरी इन सभी बातों का उत्तर दीजिए मेरे मन में बड़ा कुतूहल हो रहा है?"

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित् ने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से इस प्रकार पूछा, तो व्यासनन्दन परमहंस चूडामणि श्रीशुक ने उन्हें नारायण कवच विधि सहित बताया। उसे सुनकर महाराज परीक्षित् बड़े सन्तुष्ट हुए। यह नारायण कवच बड़ा ही शक्तिशाली और अमोघ बताया गया है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग! सूतजी! उस 'नारायण कवच' का उपदेश हमें भी दीजिये। उसके धारण की विधि हमें भी बताइये। हम भी अपने शत्रुओं को उसे धारण करके पराजित कर सकें।"

इस पर हँसते हुए सूतजी ने पूछा—"आप तो समदर्शी हैं, अजात शत्रु हैं। आप तो अपनी ओर से किसी से शत्रुता करते ही नहीं, फिर आप किन शत्रुओं को परास्त करना चाहते हैं?"

इस पर गम्भीरता के साथ शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह ठीक है, कि हमारे बाहर कोई शत्रु नहीं है, किन्तु भीतर तो ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मत्सर रूपी ६ शत्रु सदा भरे ही रहते हैं। ये सब महापराक्रमी असह्यवेग वाले काम की सताने हैं। इन्होंने हमारे अन्त करण को क्षुभित सा बना रखा है, हम सब नारायण कवच को धारण करके इन्हीं शत्रुओं का सहार करना चाहते हैं। बताइये नारायण कवच पहिन कर ये शत्रु जीते जा सकते हैं?"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! जिसने भगवत् कथा कीर्तन का आश्रय ग्रहण कर रखा है, जो हृदय से सदा सर्वदा उसी में लगे रहना चाहते हैं। उनके सम्मुख काम क्रोधादिक शत्रु फटकने ही नहीं पाते। इस नारायण कवचमें भी नारायण श्रीविष्णुके नामके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यही नाम तो सार है अत उसी मे सब कुछ है। यह कवच अङ्गन्यास करन्यास आदि अनेकों विधि विधान के सहित किया जाता है, इस भागवती कथा के प्रसङ्ग में मैं इस विधि अनुष्ठान का वर्णन करना नहीं चाहता। अत इसका विस्तारके सहित वर्णन प्रसगानुसार किसी प्रसग मे किया जायगा। इस समय तो मैं आप को विश्वरूप जी की कथा सुना रहाहूँ। फिर जैसी आपकी आज्ञा हो। कहें तो नारायण कवच की ही विधि आदि सुनाऊँ?"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"नहीं, सूतजी, हमारा कोई

आग्रह नहीं। पहिले आप कथा ही सुनावें। पीछे—जब मन्त्र अनुष्ठान का प्रसग आवे तभी इसे सुनाना।"

शौनकजी की ऐसी बात सुनकर सूतजी अब आगे, जिस प्रकार विश्वरूप जी ने देवताओं के साथ छल कपट किया है, उस कथा को सुनाने के लिये सोचने लगे।

छप्पय

विश्वरूप गुरु बने नाकपति निर्भय कीन्हो।
रक्षा के हित दिव्य कवच नारायण दीन्हों॥
नारायण को कवच धारि जे रन महँ जावे।
होहिं पराजय नहीं विजय शत्रुनि पै पावें॥
पाई विद्या वैष्णवी, अति प्रसन्न सुरपति भये।
करी चढ़ाई सुरनि ने, असुर पराजित करि दये॥

विश्वरूप की देवेन्द्र द्वारा हत्या

(३८९)

स एव हि ददौ भाग परोक्षमसुरान्प्रति ।
यजमानोऽविहद्भाग मातृस्नेहवशानुगः ॥
तद्देवहेलन तस्य धर्मालीक सुरेश्वरः ।
आलक्ष्यतरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्रुषा ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

त्वष्टा सुत गुरु पाइ भये स्वर्गेश इन्द्र पुनि ।
करवावें नित यज्ञ पुरोहित विश्वरूप मुनि ॥
उच्चस्वरतें बोलि सुरनि को आहुति देवें ।
चुपके तें कछु यज्ञ भाग दे असुरनि सेवें ॥
मातृ पक्ष अनुराग लखि, देवनि संशय ह्वै गयो ।
उपरोहित अविनय निरखि, क्षोभ इन्द्र मन अति भयो ॥

स्वार्थ के वशीभूत होकर जो श्रद्धा, जो प्रेम, जो सम्बन्ध आदि किये जाते हैं, वे उस स्वार्थ के पूरा होने पर या स्वार्थ मे आघात होने पर नष्ट हो जाते हैं। हम किसी से-इसलिये

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब विश्वरूप देवताओं के पुरोहित हो गये, तो ऊंचे स्वर से प्रत्यक्ष तो देवताओं को भाग देते थे और मातृवश के स्नेह से धीरे से गुप्त रूप से यज्ञ में दैत्यों को भी

मैत्री करते हैं, कि वह धनी है। समय समय पर हमारी धन के द्वारा सहायता करता रहेगा, दैवयोग से उसका सब धन नष्ट हो जाय, वह निर्धन बन जाय, तो हमारी मैत्री का भी अन्त हो जायगा। अथवा हम उससे जो आशा रखते थे वह आशा पूर्ण न हो। वह कृपणता के वश हमे द्रव्य न दे तो भी मैत्री न रहेगी, क्योंकि उससे जो मैत्री की थी वह उसके शरीर से नहीं की थी। उसके धन से की थी। जहाँ धन न मिला वहाँ मैत्री भी समाप्त। स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य घनिष्ट से घनिष्ट सम्बन्धियों को माता, पिता, गुरु पत्नी, पुत्र, मित्र तथा गुरुओं को भी मार डालते हैं। अपने स्वार्थ मे व्याघात होने पर मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन! त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप देवताओं के धर्माचार्य पुरोहित बन गये। नारायण कवच के प्रभाव से उन्होंने देवताओं की गई हुई राज्य लक्ष्मी को पुन असुरों से लौटाकर इन्द्र को दिला दी, इससे उनकी देवताओं मे बडी प्रतिष्ठा हुई। समस्त देवता उनका अत्यधिक सम्मान करने लगे। वे स्वर्ग में परम गौरव के पद पर प्रतिष्ठित हो गये। राजन! जब अपना कोई सम्बन्धी किसी अधिकारके पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है, तो हम लोग उससे उचित अनुचित सभी प्रकार की आशायें रखते हैं और उसे भी लज्जावश शील सकोचवश हमारी बातें मानने को बाध्य होना पड़ता है।

भी हविर्भाग दे देते थे। इन्द्र ने जब इस प्रकार पुरोहित के द्वारा देवताओं की अवज्ञा और धर्म का उल्लङ्घन होते देखा, तो अत्यन्त भयभीत होकर रोष में भरकर शीघ्रता से उनके तीनों सिर काट डाले।

असुरों ने जब देखा कि हमारी लडकी का लडका ही देवताओं के यहाँ सर्वे सर्वा है। उसी के अधीन समस्त देवता हैं, तो उन्होंने तिकडम भिडानी आरम्भ की। उन्होंने त्वष्टा मुनि के यहाँ से विश्वरूप की माता को बडे आदर सत्कार से बुलाया अब के वे बडा भारी आदर सत्कार करने लगे। राजन्! जिस सम्बन्धी से हमें कुछ आशा होती है, उसका तो हम देवता की भाँति पूजन करते हैं, जिससे कुछ स्वार्थ सिद्धि की आशा नहीं होती, उसे देखते ही नाक भौं सकोड लेते हैं और मन ही मन सोचते हैं—"यह दिन काटने के लिए रोटी खाने के लिए आगया है। कब यहाँ से जाय, एक दो दिन रह भी जाता है तो हम कह भी देते हैं, भाई अपना काम देखना चाहिए। ऐसे बेकार बैठने से क्या लाभ?"

असुरों ने विश्वरूप की माँ का अत्यन्त स्वागत सत्कार करके कहा—"बेटी! देख' यह बडी प्रसन्नता की बात है, कि तेरा पुत्र देवताओं का पुरोहित बन गया है, किन्तु उसके द्वारा हमारा अनिष्ट होता है। तू उससे किसी प्रकार कह देना, हमारा भी कुछ ध्यान रखा करे। ननसाल का भी तो उसे कुछ हित करना चाहिये।"

इस बात को सुनकर और पैतृक स्नेह के वशीभूत होकर विश्वरूप का माता ने स्वीकार कर लिया कि अब के वह कभी आवेगा तो मैं उससे अवश्य आग्रह पूर्वक इस बात को कहूँगी। असुरों का मनोरथ सिद्ध हो गया। कुछ समय के पश्चात् उसे त्वष्टा मुनि क यहाँ वे सब पहुँचा आये।

एक दिन विश्वरूप देवगुरु के परम वैभव के सहित दिव्य विमान में बैठकर अपने पिता माता के दर्शनों के लिए आये। अपने पुत्र का ऐसा ऐश्वर्य और प्रभाव देखकर माता पिता को

परम प्रसन्नता हुई। पैरों मे पड़े हुए अपने पुत्र को उन्होंने उठाकर छाती से लगाया और सिर सूँघकर अनेकों आशीर्वाद दिये। कुशल क्षेम के अनन्तर माता उन्हें जलपान कराने भीतर ले गई। जलपान कराते २ माता ने पूछा—"बेटा! तू वहाँ क्या किया करता है?"

विश्वरूपजी ने कहा—'अम्मा! मैं वहाँ यज्ञ कराता हूँ, उसमें देवताओं को हविर्भाग दिलाया करता हूँ, जिसको पाकर वे पुष्ट होते हैं।

माता ने पूछा—"तू असुरों को कुछ भाग नहीं देता?"

विश्वरूपजी ने चौंककर कहा—"नहीं माँ! असुरों को मैं कैसे दे सकता हूँ। असुर तो देवताओं के शत्रु हैं।"

माताने अत्यन्त स्नेहसे कहा—"भैया! देवताओं के शत्रु भले ही हों तेरे तो शत्रु नहीं हैं। तेरे तो मातृ वंश के ननसाल क है। देवता तेरे पिता के पक्ष के हैं, असुर मातृ पक्ष के हैं तुझे दोनों का ही ध्यान रखना चाहिये। सभी लोग अपने सम्बन्धियों से आशा लगाये रहते हैं कि बड़े पद पर प्रतिष्ठित होने पर हमारा कुछ कल्याण करेगा।"

मुँह के ग्रास को मुँह में ही लिए हुए विश्वरूप जीने कहा—"अम्मा! यह सब तो सत्य है किन्तु मुझे तो वहाँ सबके सामने भाग देना पड़ता है। यदि उन्हें पता चल जाय कि मैं उनके शत्रुओं को भी भाग देता हूँ। तो वे सब विरुद्ध हो जायँ। अभी मेरा पद स्थाई भी नहीं है। अभी तो मैं स्थानापन्न देवगुरु बनाया गया हूँ।"

माता ने कहा—"सब के सामने देने की क्या आवश्यकता है भैया! एक काम करना उच्चस्वर से तो देवताओं को जैसे देता

है दियाकर। बीच बीच में जब इन्द्र का मन इधर उधर होजाय, तो चुपके असुरों का भाग भी हौले से सरका दिया।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भला बुरा सिखाने वाली—अच्छा बुरा सस्कार डालने वाली मातायें ही होती हैं। पुत्र को वे जैसा सिखा देंगी वैसा ही वह करेगा। माता के स्नेह वश विश्वरूपजी ने यह बात स्वीकार करला। माता पिता को प्रणाम करके वे स्वर्ग को चले गय।

अब वे यज्ञ भाग देने में धूर्तता करने लगे जब यज्ञ कराते तो देवताओं को तो बड़े उच्च स्वर से विधि विधान से सत्कार पूर्वक हविर्भाग देते। सब को दिखाकर प्रत्यक्ष नाम लेकर कहते—"इन्द्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, कुबेराय स्वाहा" इत्यादि इत्यादि जहाँ देवताओं की आँखें बचीं कि झट से चुपके से कुछ हविभाग असुरोंको भी सरका देते और हौलेसे कह देते 'प्रह्लादाय स्वाहा, बलये स्वाहा नमुचये स्वाहा" १०।२० दिन तो ऐसे चला। किन्तु पाप पुण्य सदा थोड़े ही छिपा रह सकता है। देवता समझ गये, कि हमारे ये नय पुरोहितजी तो पक्षपाती हैं, प्रतीत होता है, ये हमारे शत्रुओं से मिल गये हैं। कुछ चुपके-चुपके भेट दक्षिणा उनसे भी उड़ाते हैं। अब क्या किया जाय, देवताओं मे भीतर ही भीतर बडा असन्तोष फैल गया। सभी नये पुरोहित के विरुद्ध हो गये। इन्द्र ने सोचा—यदि इसका ऐसा ही बर्ताव बना रहा, तब तो यह दैत्यों का बल बढा कर हमारा नाश ही करा देगा। अब तो इन्द्र बड़े भयभीत हुए। यह तो पहिनने के वस्त्रो मे छिपा हुआ सर्प ही निकला उसने तो देवगुरु की प्राचीन मर्यादा का सर्वथा उल्लघन कर दिया।

विश्वरूप वैसे तो तपस्वी थे, किन्तु उनमे कुछ दोष था। उनके तीन मुख थे। मुनि के पुत्र होने से उनका एक मुख तो

मानवीय था, उससे वे अन्न आदि मनुष्यों के भोज्य पदार्थों को खाते थे, देवताओंके गुरु होनेसे उनका एक मुखदेवों का जैसा था, उससे वे यज्ञ मे दिये हुए सोम—अमृत का पान करते थे। असुरों के घेरते होनेके कारण एक मुख उनका असुरों जैसा था। उससे वे सुरापान भी करते थे। इसका कारण वे देवगुरु होने के सर्वथा अयोग्य थे। यदि वे ऐसी धूर्तता न करते, तो देवता जैसे तैसे उन्हें निभा भी ले जाते, किन्तु वे तो घर मे ही कपट करने लगे। शत्रुओं के बल को बढाने का ही उद्योग करने लगे। इसे देवराज इन्द्र कैसे सह सकते थे। अत एक दिन जब वे बैठे ध्यान कर रहे थे, तो पीछे से चुपके से इन्द्र ने आकर और क्रोध में भरकर उनके तीनों सिर काट डाले विश्वरूप के तीनों सिर धड से अलग हो गये। उन तीनों सिरों से तीन पक्षी उत्पन्न हुए। सुरापीय मुख से कलविङ्क (धोविन) पक्षी, सोमपाथ से कपिञ्जल (खजन) पक्षी और अन्नाद सिर से तित्तिर (तीतर) पक्षी हो गय।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार स्वार्थवश इन्द्र ने अपने धर्माचार्य पुरोहित की हत्या कर दी और विश्वरूप ने भी अपने कपट व्यवहार का तत्काल यथोचित फल पा लिया।"

छप्पय

निरखि स्वार्थ महँ विघ्न इन्द्र ने खड्ग निकार्‌यो।
त्वष्टा सुत सिर तीन काटि उपरोहित मार्‌यो॥
सोमपाथ सिर भयो कपञ्जल, सुरापीय सिर॥
भयो पाछ कलविङ्क तीसरो नर सिर तित्तिर॥
द्विज हत्या सुरपति निकट, आई, अञ्जलि महँ लई।
हत्यारे देवेन्द्र हैं, यह प्रसिद्धि जग महँ भई॥

इन्द्र को ब्रह्महत्या

(३९०)

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः ।
सवत्सरान्ते तदघ भूताना स विशुद्धये ॥
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ।*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

बनि हत्यारे फिरें वर्ष भरि सुरपति जहँ तहँ ।
बाँटी हत्या इन्द्र धरा नग नारि वारि महँ ॥
गड्ढा पुनि भरि जायँ लह्यो वर धरा प्रेम तें ।
कटि कें पनपें वृक्ष इन्द्र वर दयो नेम तें ॥
व्यय करिके हू नित बढे, बदले महँ वर जल लह्यो ।
रति सुख शक्ति सदा बनी, रहे कामिनिनि वर दयो ॥

पाप चाहे धनी करे निर्धन करे, समर्थ करे असमर्थ करे बली करे निर्बल करे उसका फल तो सभी को भोगना पडेगा। अन्तर इतना ही है। असमर्थ असहाय पुरुष को अपना दु ख

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विश्वरूप के मरने से जो ब्रह्महत्या इन्द्र को लगी थी, उसे ईश्वर होने पर भी उन्होंने अञ्जलि में ग्रहण किया। एक वर्ष के अन्त में प्राणियों में अपनी शुद्धि प्रकट करने के निमित्त उसे पृथिवी, जल, वृक्ष और स्त्रियों में इस प्रकार चार स्थानों में बाँट दिया।

अकेले में अपने आप ही सहना पड़ता है। छूटने तो समर्थ भी नहीं पाते शुभाशुभ कर्मों का भोग तो उन्हें भी करना ही पड़ता है, किन्तु वे अपने दुःख को बाँट कर भोगते हैं। उनके दुःख में उनके आश्रित लोग भी दुःखी होते हैं और बहुत कुछ दुःख तो सहानुभूति से ही चले जाते हैं। इसीलिये सम्बन्धी लोग रोगी के प्रति समवेदना प्रकट करने जाते हैं। स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु कुटुम्बी सेवा और सहानुभूति के द्वारा दुःख को, पाप को, बँटा लेते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इन्द्र ने अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर विश्वरूप को मार तो डाला था, किन्तु उन्हें ब्रह्महत्या तो लगी है। असावधान बैठे हुए वेदज्ञ ब्राह्मण को उन्होंने पीछे से आकर चुपके से मार डाला इसलिये ब्रह्म हत्या उनके समीप आई, कि मैं तुम्हारे ऊपर लगूँगी। इन्द्र ने उसे स्वीकार कर लिया। उन्होंने—"अञ्जलि बाँधकर विनय के साथ कहा—"हाँ देवि! मैंने स्वार्थवश ब्राह्मण की हत्या की है, मैं ऐसा करने के लिये विवश था, ऐसा न करता तो सब देवता पुनः श्रीहीन होकर स्वर्ग से भ्रष्ट हो जाते। मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करता, कि मैंने ब्रह्महत्या नहीं की है। मैंने ब्रह्महत्या की है और तुम मेरे शरीर में चिपट जाओ।" इतना सुनते ही ब्रह्महत्या इन्द्रके समर्थ होने पर भी उनके शरीर में चिपट गई।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो ऐसा सुना है, जिसे अहंकार न हो, तथा जिसकी बुद्धि उस कर्म में लिप्त न होती हो, तो वह चाहे जितनी भी हत्यायें करे, वह उनके पापों से बँधता नहीं। इन्द्र तो ज्ञानी थे, बड़े बड़े ऋषि मुनियों के सत्संगी थे, तीनों लोकों के ईश थे फिर उन्होंने

स्वेच्छा से ब्रह्महत्या को ग्रहण क्यों किया ? कह देते मैं मारने वाला हूँ ही नहीं। गुण गुणों में प्रवृत्त हो रहे हैं। विश्वरूप के मरने का समय आगया, मर गया। खड्ग के द्वारा उसकी मृत्यु बदी था इसलिये खड्ग से मृत्यु हो गई।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाभाग ! केवल बातें बना देने से ही तो कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। ज्ञान की बातें रट लेने से इधर उधर का पोथी पढ़ लेने से, जो जो ज्ञान मानी—मिथ्या ज्ञानी बन जाते हैं, उनकी अन्त में दुर्दशा ही होती है। महाभाग ! ज्ञानी की दृष्टि में तो जय पराजय सुख-दुःख, जीवन मृत्यु, अपना पराया आदि द्वन्द्वाली वस्तुएँ हैं ही नहीं वह तो निर्द्वन्द्व हो जाता है। जब देवेन्द्र ने अपने उद्योग से कर्म करके स्वर्ग ऐश्वर्य को पुन प्राप्त करके स्वीकार किया तो ब्रह्महत्या रूपा कर्म को करके भी उसके फल को स्वीकार करना ही चाहिये। ऐसा नहीं कि अच्छा किया, वह तो मैंने किया और बुरा किया तो प्रकृतिवश गुणों में गुणों के द्वारा स्वत होगया मैं इसका फल क्यों भोगूँ। यह तो वही बात हुई, मीठा मीठा गप गप, कड़वा कड़वा थू थू।" इस विषय में आप एक सुन्दर दृष्टान्त सुन लीजिये, उससे आप इस विषय को भली भाँति समझ जायँगे।

पचनद देश में एक ज्ञानमानी पुरुष था। उसने इधर उधर से कुछ भाषा की किताबें पढ़कर अद्वैत का कुछ बातें याद कर रखा थीं। इसीसे वह अपने को जीवन्मुक्त प्रसिद्ध करता था। वह घर गृहस्थ के सभी कामों को करता, जो काम अच्छा हो जाता, उसे तो सोचता यह मेरे पुरुषार्थ से हुआ है और जो कोई बुरा काम हो जाता, तो कह देता—"मैं कर्ता भोगता नहीं

हूँ। मैं तो कर्मों से सदा पृथक् रहता हूँ, शुद्ध बुद्ध हूँ। मुझसे और कर्मों के फलों से क्या सम्बन्ध ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अज्ञ पुरुष को तो समझाया भी जा सकता है अपठित पुरुष को तो पढ़ाया भी जा सकता है, किन्तु जो वास्तव मे है तो अज्ञ, किन्तु अपने को लगाते बड़ा भारी ज्ञानी, हैं तो वास्तव मे मूर्ख-किन्तु इधर उधर की कुछ बातें सुन सुनाकर अपने को बड़ा भारी ज्ञानी मान बैठे हैं—ऐसे ज्ञानलव दुर्विदग्ध अधकचरे पुरुषों का पठित मूर्खों को—समझाने मे ब्रह्माजी भी समर्थ नहीं होते। भगवान् ही कृपा करे तो उनका उद्धार भले ही हो। क्योंकि वे तो स्वय ही स्वयभू बनते हैं। सोते हुए को जगाया जा सकता है, किन्तु जागा हुआ ही जो सोने का बहाना बनाये हुए है ऐसे को कोई कैसे जगावे। ऐसा ही वह ज्ञानमानी पुरुष था।

उसने एक बड़ा सुन्दर बगीचा लगाया था। उस बगीचे मे उसकी अत्यन्त ही आसक्ति थी, उसे भाँति-भाँति से सजाता था। दूर दूर से भाँति भाँति के पेड़ मँगवाकर उसमे लगवाता था। सायकाल को १०।५ लोगों को लेकर उसमे बैठकर वह ज्ञान चर्चा किया करता था। अपने को आचार्य मानकर वह ब्रह्म सत्य और जगन्मिथ्या की, तेरा रटन की बातें किया करता था। मुनियो! आप जानते ही हैं ये स्वार्थी लोग गिरगिट के भाई बन्धु होते हैं। जिनके द्वारा इनका स्वार्थ सधता है उसके अनुरूप ही ये रङ्ग बदल लेते हैं। किसी समर्थ प्रभावशाली व्यक्ति को देखते हैं, कि इसे उपदेश देने का व्यसन है और इसके द्वारा कुछ माल टाल मिलने की सम्भावना है, तो वहाँ ये देवता बड़े भारी जिज्ञासु बन जायँगे। सबसे पहले उपदेश सुनने पहुँचेंगे तर्क वितर्क करेंगे। किसी को कीर्तन करते देखेंगे तो वहाँ जाकर बड़े

भगत बन जायँगे। कीर्तन करते २ लोट पोट हो जायँगे। भाव समाधि का ढोंग रच लेंगे। साराश यह कि जिस रूप से भी स्वार्थ सिद्ध होता देखेंगे वैसा ही रूप धारण करलेंगे। उन ज्ञानमानी महाशय के पास १०।५ चापलूस आ आ कर उनकी बड़ाई किया करते थे—"आप तो जनक के सामन विदेह हैं। आपको क्या करना शेष है। आप सब तो लोकसग्रह के निमित्त कर ही नहीं रहे हैं।" इन बातोंको सुन २ कर वह और भी फूलकर कुप्पा हो जाता और अपने को बडा भारी ज्ञानी समझता है।

एक दिन की बात है, कि वह अपने बगीचे मे टहल रहा था। इतने मे ही एक बूढी गौ आई और उसके अभी दूर से नय मँगाय हुय बहुमूल्य पौधो को खाने लगी। उन पौधों को उसने बहुत व्यय करके बडे श्रम से मगाया था, दृष्टि पडते ही वह गौ को हटाने को दौडा। सामने एक डण्डा पडा था, उसने क्रोध मे भर कर डण्डा उठा लिया और २—४ गौ मे कस कर मार दिये। गौ दुबली थी डण्डे लगते ही वहाँ की वहीं मर गई। अब तो हत्या अपना भयकर रूप बनाकर उसके ऊपर झपटी।

हत्या को अपनी ओर आते देख कर उस ज्ञानमानी ने पूछा—"तू कौन है, क्यों मेरे शरीर से चिपटना चाहती है?"

हत्या ने कहा—"मैं हत्या हू, तैने अभी गौ का वध किया है, इसलिये तेरे ऊपर सवार होऊँगी।"

उसने कहा—"मैंने तो गौ को नहीं मारा, गौ को तो इस डण्डे ने मारा है इसके ऊपर लग जा।"

हत्या यह सुनकर डडे के पास गई। तब डण्डे ने विनीत भाव से कहा—"मैं तो जड हूँ मैं बिना हाथ के कुछ कर नहीं सकता। मुझसे तो हाथ ने कराया, अत हाथ पर लग जा।" यह सुनकर हत्या हाथ के पास गई। हाथ ने कहा—"मैं तो कुछ करता नहीं।

हाथ के अधिष्ठातृ देव इन्द्र हैं। उनकी प्रेरणा से हाथ आदान प्रदान आदि क्रियाओं को करते हैं अत उनको जाकर लग।" तब हत्या इन्द्र के पास गई। इन्द्र ने सब सुनकर कहा—"हम तो जो भी कुछ करते हैं, ब्रह्मा जी की आज्ञा से करते हैं तू ब्रह्मा जी के पास जा।" हत्या विचारी ब्रह्मा जी के पास पहुँची। सब सुनकर ब्रह्मा जी ने कहा—"हम स्वतन्त्र थोड़े ही हैं। जनार्दन भगवान हमें जैसी प्रेरणा करते हैं वैसा ही करते हैं। तू उनके शरीर में लग जा।"

हत्या इतनी दूर चलते चलते थक गई थी, किन्तु उसका तो काम ही यह है, हत्या करने वाले के शरीर में जाकर चिपट जाना। अत वह जैसे तैसे सुस्ता सुस्ता कर भगवान् जनार्दन के समीप पहुँची और बोली—"भगवन्! मैं आपके शरीर में लगूँगी।"

भगवान् ने कहा—"तू मेरे शरीर में क्यों लगना चाहती है?"

हत्या ने कहा—"महाराज! वह जो गौ मार डाली है, किसी के शरीर में तो मुझे लगना ही है।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"वाह! यह अच्छा रहा मारे कोई तू लगे किसी के शरीर में। उस ज्ञान मानी ने गौ को मारा है, उसी के शरीर में लग जा।"

हत्या ने कहा—"भगवन्! वह तो कहता है, मैं कर्ता भोक्ता हूँ ही नहीं। फिर!

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अच्छा, वह यह कहता है, चलो मेरे साथ।"

अब क्या था। आगे आगे वृद्ध ब्राह्मणका रूप बनाये भगवान् चल रहे थे, उनके पीछे पीछे नीले वस्त्रों से अपने भयकर

मुख और रूखे बालों को छिपाये हुए हत्या चल रही थी। दोनों उस बगीचे में पहुँचे। वे ज्ञानमानी महाशय इधर उधर टहल रहे थे। लाठी टेकते टेकते, खाँसते-खाँसते वृद्ध ब्राह्मण वहाँ पहुँचे। देखते ही कहने लगे—"अहा हा हा! कैसा सुन्दर बगीचा है। इसके लगाने वाले धन्य हैं? कितनी बुद्धिमानी से लगाया है, कैसे सुन्दर सुन्दर वृक्ष संसार भर से लाकर यहाँ इकट्ठे कर दिये हैं। उस पुरुष के पुण्य पुरुषार्थ की जितनी भी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। अपनी प्रशंसा मिश्री से भी अधिक मीठी, खीर से भी अधिक स्वादिष्ट और गुलाब जामुन से भी अधिक हृद्य लगती है। वह ज्ञानमानी सुनते ही उन ब्राह्मण के समीप आ गया। वह समझ गया, कि ये वृक्षों के पारखी हैं। अपनी कलाकी कोई कला कोविद मुक्तकंठ से प्रशंसा करे, तो कलाकार को अत्यधिक हार्दिक प्रसन्नता होती है। अतः वह प्रशंसा सुनते ही प्रणाम करके नम्रता के साथ सम्मुख खड़ा हो गया। अपने लाठी को दृढ़ता से जमाकर और मोतिया बिन्दु को जाली से ज्यादा सफेद आँखों को उठाकर बोले—"लालाजी आप ही इस बगीचे के स्वामी हैं क्या?"

बनावटी नम्रता के साथ कहा—"अजी, भगवन्! काहे के स्वामी हैं, मैं तो आपका सेवक हूँ।"

ब्राह्मण का पोपला मुख खिल गया। बड़े स्नेह से बोले—"अच्छा, साधु साधु। बड़ा सुन्दर बगीचा लगाया है। तुमने स्वयं ही इसे अपनी बुद्धि से लगाया है या किसी योग्य अनुभवी माली से पूछ कर लगवाया है? वृक्ष ऐसे ढङ्ग से यथा स्थान लगे हैं, कि इस प्रकार साधारण बुद्धि का मनुष्य नहीं लगा सकता।"

अब तो ज्ञानमाना जी को अपनी चातुरी दिखाने का अवसर मिल गया। वह दृढता के स्वर में बोले—'अजी महाराज! ये माली फाली क्या जाने। मैंने स्वय दिनरात्रि परिश्रम करके इसे लगाया है।"

ब्राह्मण प्रसन्नता प्रकट करते हुये बोले—"हाँ, तभी तो आप बड बुद्धिमान मालूम पड़ते हैं। य सतर कहाँ से मँगाये?"

इस पर वे ज्ञानमानी बोले—"महाराज! इन सतरो म बडा श्रम करना पडता है। चकोतरे की जड म कलम लगाई जाती है। यदि ऊपर का डाली सूख गई, जड से कल्ला फोड दिया, तो सतरा न होकर चकोतरा हो जायगा। यदि गरमियों मे मिट्टी हटाकर इन के जड मे धूप न दी गई, तो अच्छी तरह फलेंगे नहीं। पानी न दिया तो बहुत छोटे छोटे खट्टे फल लगेंगे। इन मे एक प्रकार का जाला लग जाता है, उसे न हटाया तो फल ही न लगगे। इन में बड़ा श्रम करना पडता है। नागपुर से इन का पौध मगाई है।"

ब्राह्मण बोले—"अजी, तुम तो बड़े बुद्धिमान हो। बागवानी का विद्या मे आप पारगत मालूम पडते हैं। य लीचा कहाँ से मँगाई?"

ज्ञानमानी ने कहा—"महाराज! मैंने बडे श्रम से ये पहाड के नीचे द्रोणपुर से मगाई है। य बहुत बडा होता है, बडी मीठी होती हैं, इनमे जल हर समय चाहिये। जल के बिना य फल नहीं देतीं। आगे चलकर ब्राह्मण ने पूछा—"ये आम देशी हैं या कलमी?"

ज्ञानमानी ने कहा—"महाराज! ये मैंने काशी से मगाकर लगाये हैं। इनमें बड़ा श्रम मैंने किया है। कटि के बराबर भूमि को खोदकर उसके ककर पत्थर निकालकर, पुरानी खाद मिला-

कर तब ये लगाये जाते हैं, नीचे बालू भी डालते हैं कि तर रहे, पानी शीघ्र सोख न जाय। पानी का घडा भर कर उसमें छेद करके रख देते हैं, कि शनै शनै पानी जड तक पहुँचता रहे, सदा ठडक बनी रहे। ऐसे मैंने बहुत लगाये हैं।"

ब्राह्मण आगे बढने लगे। वे महाशय अब अपने आप ही आवेश मे आकर कहने लगे—"ये लाल गुलाब मैंने पूर्व से मँगा कर लगाये हैं, यह पीला गुलाब मैंने लगाया है, यह काला गुलाब मिलता ही नहीं, मैंने बड़े श्रम से मँगाया है। यह जुही मैंने लगाई है, यह बेला की लतर दूर से मँगाई है, यह चमेली मैंने लगाई है।" इतने मे ही चलते चलते वृद्ध ब्राह्मण उस स्थान में पहुँचे, जहाँ गौ मरी पडी थी। ब्राह्मण ने अपने वृद्धपने की सरलता के स्वर में पूछा—"इस गौ को किसने मार दिया है?"

यह सुनकर वे ज्ञानमानी महाशय बोले—"हैं हैं महाराज! गौ को तो उसके प्रारब्ध ने मार दिया है "गुणा गुणेषु वर्तन्ते

यह सुनकर ब्राह्मण बडे उच्चस्वर से हँसने लगे और बोले—"पौधे तैंने लगाये, गुलाब तैंने मँगाये, आम तैंने लगाये और गौ मैंने मारी। आम के फल मीठे मीठे तू उडावे और गौ की हत्या को मेरे पास पठावे।" इतना कह कर भगवान् हत्या से बोले—'हत्या! तू लग जा इसके शरीर मे।"

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की आज्ञा पाते ही हत्या उसके शरीर मे चिपट गई।" सो, ऋषियो! जो शुभ कर्म का कर्ता भोक्ता है, उसे किये हुए अशुभ कर्मों का भी फल भोगना ही पड़ेगा। इसीलिये इन्द्र एक वर्ष तक ब्रह्महत्या को धारण किये रहे।"

इस पर शौनजी ने पूछा—"सूतजी ! फिर क्या हुआ। देवेन्द्र की ब्रह्महत्या फिर कैसे छूटी ?"

यह सुनकर सूतजी बोले —" महाभाग ! जिस प्रकार इन्द्र ब्रह्महत्या से निवृत्त हुए उस कथा को मैं आप को सुनाऊँगा। आप सब दत्त चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

ऊसर पृथिवी होय ब्रह्महत्या के लक्षन।
यज्ञादिक शुभ कर्म नष्ट होवें तह तत्क्षन॥
गोंद तरुनि महँ होय करें जे वाकूँ भक्षन।
राग सहित तिहि खायँ पापमय होवे तनमन॥
दीखें मैले फेंन जे, जल प्रवाह महँ जाइकें।
द्विज हत्या लखि पियो जल, बुदबुद फेंन बचाइकें॥

इन्द्र की ब्रह्महत्या का बटवारा

(३६१)

भूमिस्तुरीय जग्राह खातपूरवरेण वै ।
तुर्य छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः ॥
शश्वत्कामवरेणा हस्तुरीय जगृहुः स्त्रियः ।
द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीय जगृहुर्मलम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ८,९ श्लो०)

छप्पय

चौथे दीन्हो भाग इन्द्रने नारिनिकूँ जब ।
मास मास महँ प्रकट होहि अस्पर्श होहिँ तब ॥
रजो धर्म महँ नित नारिकूँ नर जो जोहैं ।
धर्म कर्म ते हीन पापमय सलजन सो हैं ॥
भूलि समागम अज्ञ नर, रजस्वला तें करिहैं ।
हत्यारे सम पातकी, अवसि नरक महँ परिहैं ॥

ससार में सब पर सब वस्तुएँ नहीं होती । हमारे अनुकूल जो वस्तुएँ हैं, वे दूसरों पर हैं, जो हमारे अनुकूल नहीं हैं, वह

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इन्द्र के कहने पर ब्रह्महत्या का एक चौथाई भाग पृथिवी ने ग्रहण किया । देवेन्द्र ने उसे वर दिया कि तुम्हारे गड्ढे अपने आप भर जायँगे । एक चौथाई भाग वृक्षों ने यह वर पाकर ग्रहण किया, कि कट जाने पर भी फिर उनकी शाखायें

हम पर हैं। इसीलिए संसार में आदान प्रदान की प्रथा है। इस आदान प्रदान को ही व्यवहार या व्यापार कहते हैं। आत्मानन्द में प्रवेश करने के अतिरिक्त जितने भी कार्य हैं सभी में कुछ न कुछ वणिक् वृत्ति है, सभी व्यापार है। हमारे घर में अन्न तो बहुत है, किन्तु चाना नमक, तेल तथा कपड़े नहीं हैं। अतः हम अन्न को बेचकर उसके बदले में ये वस्तुयें लेते हैं। यद्यपि दूध बड़ी प्यारी वस्तु है, किन्तु हमें लत पड़ गई है धूम्रपान की अतः दूध को बेचकर उसके बदले में तमाल पत्र ले आते हैं। संसार में कुछ परोपकारी पुरुष भी होते हैं, जो अपने शरीर पर कष्ट सहकर दूसरों के दुःखों को दूर करके उन्हें सुखी बनाते हैं। दूसरों की विपत्तियों को स्वयं ले लेते हैं। जो स्वेच्छा से परेच्छा से किसीको कुछ देता है, उसे उसका फल तो अवश्य ही मिलेगा। दिया हुआ व्यर्थ तो जायगा ही नहीं उसका फल तो मिलेगा ही। यह भी है तो व्यापार ही, किन्तु यह उच्चतम व्यापार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने तो मुझ से पूछा था, कि देवराज इन्द्र की ब्रह्महत्या कैसे छूटी, इसी प्रसंग को मैं आपको सुनाता हूँ। ब्रह्महत्या को लिये हुए अमराधिप इन्द्र तीनों लोकों में इधर उधर घूमे। वे चाहते थे, किसी प्रकार मेरा इस ब्रह्महत्या से पिंड छूट जाय, किन्तु किये हुये पाप का फल तो भोगना ही पड़ेगा। इन्द्र सालभर तक मारे मारे फिरे। एक बार ऋषियों के समाज में देवेन्द्र ने दीन होकर प्रार्थना की, और हाथ जोड़कर

पनप जायगी। निरंतर संभोग करने की शक्ति बनी रहे, इस वरदान को पाकर एक चौथाई भाग ब्रह्महत्या को स्त्रियोंने ग्रहण किया। जिस द्रव्य में मिला दिया जाय वह बढ़ जाय या कूपादि से व्यय होने पर भी बढ़ता रहे यह वरदान पाकर एक चतुर्थांश भाग जलने ग्रहण किया।

वे मुनियों से बोले—"मुनियों! आप लोग कोई ऐसा उपाय बतावें जिससे मेरा ब्रह्महत्या छूट जाय।"

इस पर ऋषियों ने कहा—"हे देवेन्द्र! जिस प्रकार बड़ों का यश अजर अमर होता है, वैसे ही उनका अपयश भी सदा बना रहता है। उनसे कोई बुरा काम भी भूल मे बन जाता है, तो वह भी सदा क लिये स्थाई हो जाता है। अत आपकी यह ब्रह्महत्या तो अब स्थाई रहेगी। हाँ, एक उपाय है, यदि कोई स्वेच्छा से आपकी हत्या को लेले तो आपके शरीर से तो वह पृथक् हो जायगी, किन्तु उसके शरीर मे सदा स्थाई हो जायगी।"

इस पर दुखित होकर इन्द्र ने कहा—"स्वेच्छा से तो मेरी ब्रह्म-हत्या को कौन ग्रहण कर सकता है? ससार मे जान बूझकर सदा के लिये दुःख कौन अपने सिर पर लाद सकता है?

इस पर मुनियों ने कहा—"महाराज! आप ऐसी बात न कहें। ससार मे बहुत से ऐसे परोपकारी सत्पुरुष पड़े हैं, जो दूसरों के सुख के लिए अपने बड़े से बड़े स्वार्थों का भी परित्याग कर देते हैं। आप जाकर तीनों लोकों मे खोजिए।"

मुनियों की बात सुनकर देवेन्द्र तीनो लोकों में घूमते रहे। सबसे उन्होंने हत्या लेने को कहा। किन्तु जान बूझकर सदा के लिए ब्रह्महत्या को कौन ग्रहण करता। इन्द्र हताश होकर लौट आये। उन्होंने आकर ऋषियों से कहा—"ऋषियो! आपने भी मुझे व्यर्थ घुमाया। आप ही सोचें ससार में जान बूझकर ब्रह्म हत्या जैसे पाप को कौन ग्रहण करेगा।"

इस पर मुनियों ने कहा—"हे स्वर्गाधिप अमरेश! परोपकारियों के लिय कोई बात अशक्य नहीं कुछ भी असभव नहीं। आपका पाप बहुत बडा है। एक की सामर्थ नहीं जो इसे ग्रहण

कर सके। हम चार अत्यत ही परोपकारी व्यक्तियों का नाम बताते हैं। आप अपने पाप के चार भाग करके इन चारों में बाँट दें।"

यह सुनकर देवराज बोले—"हाँ भगवन्! बतावें उन चार परोपकारियों का नाम।

इस पर एक वृद्ध से बहुत अनुभवी ज्ञानी मुनि बोले—"हे अमराधिप! यह ठीक है ससार में अधिकाश लोग स्वार्थी ही हैं फिर भी कुछ परोपकारी प्राणी भी हैं। जैसे पृथिवी को ही देखिये। पृथिवी से बढकर परोपकारी ससार में कौन है। सभी प्राणियों को पृथिवी उत्पन्न करती है। सभी जीवों को पृथिवी ही धारण करती है, सभी के खाने को पृथिवी ही अन्न उत्पन्न करती है। इस पर मलमूत्र त्याग दो, कुछ नहीं बोलती। चाहें जहाँ खोद दो, जोत दो बुरा न मानेगी। उलटे अन्न पानी ही निकालेगी पृथिवी से बढकर परोपकारी कौन है? तुम अपनी ब्रह्महत्या का चौथाई भाग पृथिवी को दो। वह लोक कल्याण के निमित्त उसे स्वीकार कर लेगी।"

पृथिवी समीप ही खडी थी। इन्द्र ने पूछा—"क्यों भूदेवि तुम मेरी ब्रह्महत्या का चतुर्थांश ग्रहण करोगी?

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए पृथिवी ने कहा—"यदि आप तीनों लोकों के स्वामी निष्पाप हो जायँ तो लोक का हित होगा। मैं आपकी ब्रह्महत्या को सहर्ष अपने ऊपर धारण करूँगी"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह कहकर पृथिवी ने ब्रह्महत्या का चतुर्थांश अपने ऊपर ले लिया। पहिले सर्वत्र पृथिवी उर्वरा होती थी कहीं भी ऊसर (बिना उपजाऊ भूमि) नहीं थी। उसी दिन से जहाँ तहाँ पृथिवी ऊसर हो गई। पृथिवी का

ऊसर होना यह ब्रह्महत्या का चिन्ह है, अत. ऊसर भूमि मे यज्ञ-याग आदि पुण्य कार्य कभी न करने चाहिये। इन्द्र पृथिवी की इस परोपकार वृत्ति से परम सन्तुष्ट हुए। इन्होंने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया—"कि तुम्हारे जहाँ कहीं, गढ्ढे आदि हो जायँगे, वे कालान्तर में स्वय ही भर जाया करेंगे।

अब एक भाग तो पृथिवी ने ग्रहण कर लिया अब तीन भाग और शेष रहे। इस पर इन्द्र ने मुनियों से कहा—"मुनियो यद्यपि ब्रह्महत्या का एक भाग तो चला गया, किन्तु फिर भी ३ भाग तो अभी शेष ही हैं, इन्हें किनको दूँ ?"

इस पर वे ही वृद्ध मुनि बोले—"देवराज ! पृथिवी की ही भाँति ये वृक्ष भी बडे परोपकारी हैं। ये कितने सुन्दर सुन्दर फलों को उत्पन्न करते हैं। स्वय एक भी फल नहीं खाते, सब दूसरों को बाँट देते हैं। बुरी बुरी खाद से पेट भरके, कैसे कैसे सुन्दर पुष्पों को पैदा करते हैं। इनकी छाल भी काम मे आती है गुदा, जड़, फल, फूल, पत्ते सभी तो प्राणियों के उपभोग मे ही आने वाले हैं। सूखने पर ईंधन बनकर प्राणियों का भोजन परिपक्व करते हैं। घरों के बनाने में काम आते हैं, अनेक उपयोगी अस्त्र शस्त्र बर्तन आदि बनते हैं। जलकर कोयले होते हैं वे भी काम मे आते हैं, कोयलों की राख होती है उससे भी बहुत से अनेक काम निकलते हैं। खाद बनती है, पत्तियों को पशु खाते हैं, जिनसे दूध बनता है जो प्राणियों का जीवन है। मरने पर इनके ईंधन से ही वर्णाश्रमी फूँके जाते हैं। कहाँ तक बताएँ कि वृक्ष की एक एक डाली एक एक पत्ता सदा परोपकार में ही काम आती है। वृक्षों से बढ़कर परोपकारी और कौन होगा। एक भाग इन्हें दे दो।"

इन्द्र ने वृक्षों के अधिष्ठातृ देवों से कहा—"क्यों भाई तुम

लोग क्या कहते हो ? मेरी ब्रह्महत्या को स्वीकार करोगे ?

वृक्षों ने कहा—"भगवन् ! हम तो जड हैं। आपतो तीनों लोकों के स्वामी हैं आपकी विशुद्धि से तीनों लोक विशुद्धि हो जायँगे। अत हमें आपकी तथा ऋषियों की आज्ञा सहर्ष स्वीकार है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृक्षों के ऐसा कहने पर इन्द्र ने अपनी हत्या का एक भाग वृक्षों को दे दिया। पहले वृक्षों में निशाम गोंद नहीं होता था। उसी दिन से वृक्षों मे गोंद होने लगा यह गोंद ही ब्रह्महत्या का वृक्षों में चिन्ह है अत बुद्धिमान् पुरुषों को भूलकर भी गोंद न खाना चाहिये। औषधि आदिके समय विवशता ही हो यह दूसरी बात है।"

जब वृक्षोंने ब्रह्महत्या का चतुर्थांश ग्रहण कर लिया तो देवेन्द्र ने अत्यत ही प्रसन्न होकर वरदान दिया कि तुम्हारी डाल कट जाने पर भी फिर पनप जाया करेगी। कोई काट भी देगा तो जड में से फिर तुम पैदा हो जाया करोगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जैसे मनुष्य का हाथ पैर कोई भी अग काट दो तो वह फिर निकलता नहीं यही दशा वृक्षों की थी, जिस डाली को काट लेते थे वह फिर नहीं निकलती थी जब से देवराज इन्द्र ने वरदान दिया तब से कटी हुई डाले फिर से निकलने लगीं।

आधी ब्रह्महत्या तो बँट गयी, आधी के लिये देवेन्द्र पुनः चिन्तित हुआ। उन्होंने मुनियों से पूछा—"भगवन् ! इस आधी के लिये स्थान और बताइये। दो कोई परोपकारी सेवा-वृत्त वाले और बतायें। इस पर वे ही वृद्ध मुनि बोले—" देवेन्द्र ! जल से बढ़कर ससार में परोपकारी कौन हो सकता है जल को जीवों का जीवन कहा गया है। प्राणी अन्न के बिना तो

कुछ काल जीवित भी रह सकते हैं किन्तु जल के बिना जीवन दुर्लभ है। सब को पवित्र करने वाला जल ही है। जल में स्नान करने से मनुष्य पवित्र होता है। जल पर ही सृष्टि स्थित है। यह पृथिवी नौका की भाँति जल पर ही तैर रहा है। जो पृथिवी सब को धारण करने के कारण धरा कहलाती है उस पृथवी को भी धारण करने वाले जलनारायण हैं अत एक चौथाई भाग आप जलको दे सकते हैं।

इन्द्रने समाप ही उपस्थित जल के अधिष्ठातृ देव से पूछा—"क्यों जी तुम मेरी ब्रह्महत्या का चतुर्थांश ग्रहणकर सकते हो ?"

इस पर जलने कहा—"महाराज ! मैं तो अत्यन्त ही पवित्र माना जाता हूँ किन्तु परोपकारके निमित्त मैं आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करता हूँ।"

जलकी स्वीकृति पाकर देवेन्द्र ने एक चौथाई ब्रह्महत्या जलको देदी। जलमें जो ये फैन बुद्बुद् बहते हैं अधिकतर वर्षात में बहुत आते हैं यह ब्रह्महत्या का ही स्वरूप है। अत जल पीते समय फैन और बुल बुलों को बचाकर ही पानी पीना चाहिए।

जलपर प्रसन्न होकर शचीपति शतक्रतुने उसे वरदान दिया कि तुम्हारी वृद्धि हो जाय। वृद्धि इस प्रकार जैसे पावभर दूध है तीन पाव पानी मिला, दूध सेर भर हो गया। जिस वस्तु में भी जल मिला दिया जाय वही बढ जाय। अथवा कुएँ आदि से जितना ही जल निकाला जाय, उतना ही बढ जाया करे।"

अब एक चौथाई भाग ब्रह्महत्या का और रहा, इन्द्रने पूछा—"भगवन् ! इस एक चौथाई को तो किसी परोपकारी पुरुष को बताइये, जो निरन्तर सेवा में ही सलग्न रहता हो, सेवा करना ही जिसके जीवन का चरम लक्ष्य हो ?

देवेन्द्रकी बात सुनकर वे अनुभवी वृद्ध मुनि बोले—"हे शचीपति! पुरुष तो स्वार्थी प्राणी है। ससार मे स्त्रियों से बढकर परोपकारी कोई भी न मिलेगा। यह सम्पूर्ण सृष्टि स्त्रियों के ही कारण है। स्त्री न हो तो ससार की वृद्धि न हो। इसीलिये स्त्री को लोकमाता कहा गया है। अत्यन्त स्वार्थी और रूखा मनुष्य भी स्त्रियों को इतना चाहता है, वह इसीलिये कि वे सम्पूर्ण सुखों की देने वाली है। ससार में जितने भी इन्द्रियसुख हैं वे कामिनी के कमनीय श्रीअग मे सन्निहित हैं। स्त्रियों का जीवन आदि से अन्त तक परोपकारमय ही है। पैदा होते ही वे परोपकार मे प्रवृत्ति हो जाती है। जहाँ तनिक सयानी हुई कि माता के काम मे हाथ बँटाने लगती है। माँ भोजन बनाते समय लडकी से ही कहती है—'बेटी, चिमटा ला, करछुल को उठा ला, साक अमनिया कर दे, मसाला पीस ले इत्यादि इत्यादि। जहाँ और बडी हुई कि भोजन भी बनाने लगती है। उसके जितने छोटी बहिन भाई होते हैं, सबको लडकी ही खिलाती है, गोद मे लेकर घुमाती है। घर भरके लोग लडकी पर ही आज्ञा चलाते हैं। बूढे लोग आकर कहते हैं—"बेटी अपनी माँ से यह कह, वह कह। पानी ला, हाथ धुला। बिचारी चुपचाप सबका काम करती है। इस प्रकार बालकपनमें वह अपने घरभरकी सेवा करती रहती है। बडी होने पर वह जन्म के घर को सदा के लिये छोड़ जाती है। एक अपरिचित पुरुष के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ती है। घर घर में जाकर भी सेवा के द्वारा घर के सभी लोगों को वश मे करती है। सास है, ससुर है, देवर जेठ सभी का काम करती है। अपना सब सुख और शरीर अर्पण करके पति को प्रसन्नता प्राप्त कराती है। गर्भ धारण करती है। ९ महीने बच्चे को पेट में लिये घूमती है। उसके पीछे नमक

नहीं खाती, मिरच नहीं खाती, शरीर पीला पड जाता है जो मिचलाता सा रहता है। फिर प्रसव की अत्ययत असह्य पीडा को सहकर बच्चे को उत्पन्न करती है। उसके मुख को देखकर सब पीडाओं को भूल जाती है। प्राणों की भाँति उसका पालन करती है। रात्रि दिन उसी की चिन्ता मे लगी रहती है। उसके मल मूत्र को साफ करती है। बच्चा जब चाहता है मल मूत्र करके उसके कपडो को अपवित्र कर देता है, वह न झुँझलाती है न इस अपराध पर बच्चे को मारती है। उसे साथ मे लेकर सोती है। सोते समय उसने मूत्र कर दिया तो गीले मे स्वय सो जाती है उसे सूखे मे सुलाती है। एक के पश्चात् दूसरा दूसरे के पश्चात् तीसरा बच्चा। इस प्रकार बच्चे बढते जाते हैं सभी का समान भाव से बिना मन मैला किये पालन करती है। बडे हो जाने पर घरका द्रव्य व्यय करके उनका विवाह करके प्रसन्न होती है। भोजन-वस्त्र सभी का प्रबन्ध करती है। उसे रात्रि दिन दुसरों की ही चिन्ता रहती है। नारी का जीवन ही दूसरों के सुख के लिये है। स्त्री कभी बेकार न बैठेगी। वह कुछ न कुछ दूसरों के सुख के लिये काम करती ही रहेगी। कपड़ा सीना, चरखा कातना, बेल बूटे बनाना आदि छोटे से लेकर बडे से बडे कार्यों को करने में उसे आनन्द आता है। कार्य करने का उसका सहज स्वभाव है। कथा मे भी बैठेंगी, तो वहाँ भी भगवान् के लिये फूलबत्ती बनाना, हार गूँथना, भगवान् के नैवेद्य की वस्तुओं को स्वच्छ करना आदि कामो को हाथों से करती रहेंगी। कानों से भगवान की कथायें सुनती रहेंगी। स्त्रीने जीवन में एकही मत्र सीखा है परोपकार। यह ससार स्त्रियों द्वारा ही सुचारु रीति से चल रहा है। नहीं तो यह मनुष्य नामक जन्तु तो बडा क्रूर अत्यन्त ही शुष्क प्रकृति

का नीरस प्राणी है। इसमें सरसता का सचार परोपकारिणी नारी ही करती है। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा सेवा भाव, लज्जा, सौन्दर्य सुकुमारता, कोमलता, लावण्य, आकर्षण, मधुरता सरसता आदि सद्गुण अत्यधिक होते हैं। उनसे लक्ष्मी देवी रूठ जाती है। जिस घरमें स्त्रियों का आदर न होगा, उस घरमें चिरकाल तक लक्ष्मी का निवास हो ही नहीं सकता। अपनी जाति का सभीको पक्षपात होता है। लक्ष्मी देवी नारी हैं, इसीलिए नारियों के प्रति उनका अधिक पक्षपात है। हे अमरेश! आपने देखा होगा, बड़े बड़े सम्पन्न घरों में स्त्रियों का कितना आदर होता है। पुरुष बिना स्त्रियों के पूछे कुछ करते नहीं। धनिकों के घरों में प्राय समस्त ताली कुंजी घर वाली पर ही रहती है। तभी वहाँ लक्ष्मी टिकती हैं। जो दरिद्र बात बात पर स्त्रियों को डाटते डपटते हैं मारते पीटते हैं। उनका आदर नहीं करते पैसे पैसे का हिसाब लेते हैं, उन्हें कभी पेट भर अन्न नहीं मिल सकता। पुरुष घरसे बाहर का रुपय कमाने का स्वामी है। स्त्री घर की स्वामिनी है। इसलिय उसे गृहिणी कहा है। वह अपने घरको गौके गोबर से लीप कर लक्ष्मीजी को बुलाती रहती है, क्योंकि गौके गोबर में लक्ष्मीजी का निवास है। लक्ष्मीजी सदा बनी ठनी रहती हैं, उन्हें मैला कुचेलापन प्रिय नहीं। पुराण पुरुष पुरुषोत्तम की प्रियतमा ठहरीं इसलिय वे स्वच्छता का बड़ा आदर करती हैं। जो स्त्री अपने अगो को वस्त्रों को घर को, स्वच्छ रखती है और पुरुषों द्वारा सत्कृत होकर सदा हँसती रहती है उससे लक्ष्मी जी भयला जोड़ लेती हैं। उसकी भायला सहेली बनके उसके समीप रहती हैं। स्त्रियों का अपमान करना मानों साक्षात् नारायण की महारानी लक्ष्मीजी का अपमान करना है। ससार

में स्त्रियों से बढकर परोपकारी कोई भी प्राणी नहीं अत तुम अपनी ब्रह्महत्या का चौथाई पाप इन्हे दे दो।"

अमरेश! शचीपति तो स्त्रियों की ऐसी महिमा सुनकर डरगये और डरते २ स्त्रियों से पूछने लगे—"क्या आप लोग मेरी इस ब्रह्महत्या को स्वीकार करेंगी।"

स्त्रियों ने कहा—"देवेन्द्र! हमारा तो जीवन ही दूसरे के लिये है। यदि आप त्रिलोकीनाथ का भी हमारे द्वारा कोई उपकार हो जाय, तो हमें ब्रह्महत्या स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं।"

यह सुनकर इन्द्र ने अपनी ब्रह्महत्या का चतुर्थांश स्त्रियों को दे दिया। स्त्रियों को जो प्रत्येक महीने मासिक धर्म होता है, यह उसी ब्रह्महत्या का चिह्न है। अत उस समय रजस्वला स्त्री को न स्नान करना चाहिय, न घरकी किसी सामग्री का स्पर्श करना चाहिय, न किसी के सामने ही होना चाहिये। पुरुषों का भी धर्म है, कि रजस्वला स्त्री के सपर्क से सदा बचा रहे। जो उनसे सपर्क रखते हैं उन लोगों को भी ब्रह्महत्या के ससर्गी का सा पाप लगता है।

स्त्रियो के इस त्याग को देखकर इन्द्र ने उन्हे वरदान दिया की तुममें निरन्तर सम्भोग करने की शक्ति बनी रहेगी। उसके लिए कोई समय निर्दिष्ट न रहेगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जैसे पशुओं मे गर्भाधान के समय ही ऋतु आने पर एक बार काम वासना उत्पन्न होता है। गर्भिणी हो जाने पर पशु माताओं मे फिर काम वासना नहीं उठती। इससे पहिले स्त्रियों मे भी यही बात था। साल मे एक बार ही इच्छा होती थी। जब से देवराज इन्द्र ने वरदान

दिया तब से इनमें निरन्तर कामवासना रहने लगी। जब चाहें पति समागम कर सकती हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्त्रियों के लिए यह वरदान हुआ या शाप हुआ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! अब आपको क्या बताऊँ।

इस प्रश्न को आप न पूछें तो ही अच्छा है। यहाँ ऋषियों की मंडली में कैसे समझाऊँ इस विषय को। कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो स्पष्ट समझाई जा सकती हैं। कुछ संकेत द्वारा समझाई जाती हैं, महाराज! कथा कहने वाले की वृत्ति बड़ी बुरी है। इसमें भला बुरा योग्य अयोग्य सब कुछ समझाना पड़ता है। देवराज इन्द्र ने स्त्रियों को प्रसन्न करने के निमित्त उनके मनोनुकूल ही वरदान दिया। इस विषय में मैं आप को एक अत्यन्त ही प्राचीन पौराणिक दृष्टान्त सुनाये देता हूँ। आप सब बुद्धिमान् हैं, बुद्धिमानों को संकेत ही पर्याप्त होता है। उसी के द्वारा अनुमान करलें।

प्राचीन काल में एक राजा थे। उनके १०० पुत्र हुए। एक बार वे बाहर गये। इन्द्र के शापसे वे स्त्री बन गये। एक पुरुष के साथ उनका विवाह हो गया। अब राजा से रानी बन गये। स्त्री शरीर से भी इनके १०० लड़के हुए। इन्द्र इनके समीप आये और आकर बोले—"देखो, तुम्हारे १०० ही लड़के रहेंगे। मैं तुम्हें वरदान देकर फिर पुरुष बना सकता हूँ। तुम बताओ ये जो राजा रूप में जो तुम्हारे १०० पुत्र हैं उन्हें छोड़ दूँ या रानी बनकर जो तुमने १०० पुत्र पैदा किये हैं उन्हें छोड़ दूँ। जिन्हें कहो वे बच जायँगे शेष मर जायँगे। और यह भी

बताओ तुम पुरुष होना चाहते या स्त्री ही बने रहना चाहते हो।"

इसपर उस रानी बने हुये राजा ने कहा—"देवेन्द्र! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मेरे उन्हीं पुत्रों को चिरजीवी बना दीजिये जो मैंने स्त्री शरीर से उत्पन्न किये हैं।"

इस पर आश्चर्य के साथ इन्द्रदेव ने पूछा—"ऐसा वरदान तुम क्यों माँगते हो।

इस पर वह रानी बनी राजा बोले—"महाराज! पिता की अपेक्षा माता का पुत्रों में अधिक स्नेह होता है। पुत्रों का जितना मोह माता को होता है उतना पिता को नहीं होता। इसीलिये मैं मातृ रूपमें उत्पन्न किये हुए पुत्रों को पहिले पुत्रों की अपेक्षा अधिक प्यार करती हूँ।"

इस पर फिर इन्द्र ने पूछा—"अच्छा तुम पुरुष होना चाहते हो या स्त्री ही बने रहना प्रिय है।"

अत्यन्त लजाते हुये उसने कहा—"अब देवेन्द्र सबके सामने मेरी हँसी क्यों कराते हैं। ऐसे ही गोल माल बात को रहने दो। मैं जहाँ हूँ वहीं ठीक हूँ।"

आश्चर्य के साथ इन्द्र ने पूछा—"अरे, तुम चूड़ी पहिन कर नाक छिदा कर पुरुष की अपेक्षा स्त्री बने रहना क्यों चाहते हो? स्त्री शरीर में ऐसा क्या सुख है?"

अत्यन्त लजाते हुये उसने नख से पृथिवी को कुरेदते हुये धीरे से कहा—"अब आप बिना स्पष्ट कराये मानोगे थोडे ही। बात यह है कि पति पत्नी दोनों में पति की अपेक्षा पत्नी को रति सुख में अत्यधिक आनन्दानुभव होता है। अत अब मैं दाढी मूछ लगाकर पुरुष बनना नहीं चाहती।" सो, मुनियों, गोविन्दाय

नमो नम' तुम्हारा रामजी भला करे, अब आप दूसरा प्रश्न कीजिये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! जब विश्व रूप को मार दिया, तो उनके पिता महामुनि त्वष्टा को तो बड़ा क्रोध हुआ होगा। उन्होंने देवताओं से बदला लेने का कुछ प्रयत्न नहीं किया। बात आगे बढ़ी कि यों ही गोल माल होकर समाप्त हो गई?"

इसपर सूतजी बोले—"महाराज! जो असमर्थ पुरुष होते हैं, वे ही मनमसोस कर चुपचाप बैठ जाते हैं। समर्थ पुरुष तो बिना बदला लिये छोड़ते नहीं। कोई कोई ब्रह्मज्ञानी इसके अपवाद भी होते हैं। किन्तु साधारणतया समर्थ पुरुष इस प्रकार के घोर अपमान को सहन नहीं कर सकते। विश्वरूपजी के वध के कारण तो बड़ा भारी काण्ड हुआ। देवताओं और असुरों मे बहुत काल पर्यन्त बड़ा घोर ऐतिहासिक महायुद्ध हुआ। उसका संक्षिप्त वर्णन मैं आपको सुनाऊँगा। आप इसे सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

नारि वृक्ष जल भूमि पाइ वरदान सिहाये।
इन्द्र भये निष्पाप मुदित ह्वै स्वर्ग सिधाये॥
द्विज हत्या तो गई शत्रुता सिर पै आई।
विश्वरूप पितु कुपित भये सुन इन्द्र ढिठाई॥
त्वष्टा मन निश्चय करयो, इन्द्र नीचता हरुङ्गो।
जो मारे जा इन्द्रकूँ, अस नर पैदा करुङ्गो॥

त्वष्टा द्वारा वृत्रासुर की उत्पत्ति

(३६०)

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे ।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरञ्जहि विद्विषम् ॥
अथान्वाहार्य पचनादुत्थितो घोरदर्शनः ।
कृतान्त इव लोकाना युगान्तसमये यथा ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ११ १२ श्लो०)

छप्पय

ऐसो मन महँ सोचि हवन मुनिवर ने कीन्हों ।
'इन्द्र शत्रु बढिजाउ, मन्त्र पढि कें हवि दीन्हों ॥
मंत्र शक्ति अति अमित तुरत इक उपज्यो प्रानी ।
महा भयंकर वृत्र बली अतिशय अभिमानी ॥
लाल मूँछ दाढी अरुन, बरन नयन प्रलयाग्नि सम ।
अञ्जन परवत के सरिस, सुररिपु तेजस्वी परम ॥

ससार में कष्ट ही कष्ट है, पग पग पर कष्ट हैं । बाल्य-काल से वृद्धावस्था तक कष्ट ही कष्ट हैं, सुख भी हैं, किन्तु वे

---

* शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् महामुनि त्वष्टा ने 'जब अपने पुत्रविश्वरूप के मारे जाने का समाचार, सुना तब इन्द्र शत्रु को उत्पन्न करने के निमित्त 'हे इन्द्र शत्रो ! तुम वृद्धि को प्राप्त हो कर शीघ्र ही अपने शत्रु का संहार करो, इस संकल्प से अग्निमें हवन किया । हवन

क्षणिक रसना उपस्थ आदि के सुख अत्यन्त ही आसक्ति बढ़ाने वाले, गृह जाल मे फँसने वाले, स्वर्गनरक पहुँचाने वाले हैं, किन्तु उनका सुख स्थाई नहीं। उपभोग कर लेने पर ये फीके पड जाते हैं और अधिक बढजाते हैं वासना को वृद्धि करते हैं परिणाम में सुखद न हो कर दुखदही प्रतीत होते हैं। जिस सामग्री को हम सुख देने वाली समझते हैं, अन्त मे वही दुख का कारण बन जाती है। वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, स्वय कर्म करने की शक्ति नहीं रहती, बल घट जाता है, तृष्णा बढ जाती है। विषयों के भोगने की शक्ति रहती नहीं, किन्तु उनमें आसक्ति बनी ही रहती है अत वृद्धावस्था को अधिक कष्टकारिणी बताया। वृद्धावस्था से भी कष्ट प्रद है, परिवार वाला गृहस्थी होने पर धनहीन होकर जीवन यापन करना निर्धन को कितना कष्ट होता है। पग पग पर उसे कितने कितने अपमान तिरस्कार, दु ख आदि सहने पडते हैं, इसे बिना निर्धन हुए कोई अनुभव कर ही नहीं सकते। इन सब कष्टो से बढ़कर है पुत्र शोक। जिसका इकलौता पुत्र हो, योग्य हो होनहार हो, उसे कोई अन्याय से मार दे, तो पिता कितना भी ज्ञानी ध्यानी क्यों न हो मारने वाले के प्रति उसे महान् द्वेष होता है और शक्ति भर बदला लेने का अपने पुत्रहन्ता से बदला लेने का प्रयत्न करता है, क्यों कि पुत्र तो अपना ही आत्मा है। आत्मघाती का वध करना पाप नहीं, वह तो कर्तव्य है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महामुनि स्वष्टा

करते ही उसी क्षण अन्धाहार्य पवन नामक अग्नि से एक घोर दर्शन विकराल काल के समान प्रलय काल में लोकों का संहार करने वाले काल के समान विकराल पुरुष उत्पन्न हुआ।

ने इन्द्र द्वारा अपने पुत्र विश्वरूप के मारे जाने का वृत्त सुना तो पुत्र शोक के कारण वे अतयत हा व्याकुल हो गय, उनके रोम-रोम में क्रोध व्याप्त हो गया। मुनिवर क्रोध में भरकर सोचने लगे—"यह इन्द्र कितना नीच है, पहिले तो मेरे पुत्र को फुसला कर ले गय, उसे गुरु बनाया, आचार्य के सिंहासन पर बिठाया, उपाध्याय का आदरणीय कार्य कराया, नारायण कवच की दीक्षा ली, असुरा पर विजय प्राप्त की और अन्त मे उसे असावधाना वस्था में मार डाला। यह तो विश्वासघात है, प्रत्यक्ष अन्याय है, आततायीपने का कार्य है। आततायी सदा ही वधार्हण माना गया है, अत मैं इस दुष्ट को इसका प्रतिफल चखाऊँगा, इसे भी विश्वरूप के समीप पटाऊँगा, मृत्यु के साथ इसका भी साक्षात्कार कराऊँगा। इसे अपने बल पौरुष का बड़ा अभिमान है, यह समझता है, मुझे कोई जीत नहीं सकता। मैं एक ऐसा बली पुत्र उत्पन्न करूँगा, जो इस इन्द्र के दाँत खट्टे करदे, इसकी सब चौकडी भुलादे और इसे बिना प्रवेशपत्र के तत्क्षण यम सदन पठादे। इस प्रकार क्रोध करके मुनिवर ने अपना हवन करने का स्रुवा उठाया। उन्होंने एक प्रकार की विशेष अग्नि उत्पन्न की जैसे गार्हपत्य, प्रजापत्य और दक्षिणाग्नि तीन अग्नियाँ होती हैं, उन्होंने इस कार्य के लिये एक "अन्वाहार्य पचन" नामक विशिष्ट अग्नि को उत्पन्न करके उसमे हवन किया। उन्होंने इन्द्र के मारने वाले प्रबल भयकर शत्रु के उत्पन्न करने के सकल्प से मन्त्र पढ कर विधि पूर्वक हवि दी।

मन्त्रों का प्रभाव अमोघ होता है, उपासना के प्रभाव से मुनियों के सकल्प, वचन और कार्य अव्यर्थ होते हैं। विधिविधान पूर्वक वे जो कुछ भी करना चाहते हैं वह तत्क्षण हो जाता है। मुनिवर त्वष्टा के आहुति देते ही उस अन्वाहार्य पचन अग्नि से

एक अत्यंत भयंकर विशालकाय पुरुष उत्पन्न हुआ। वह देखने में बड़ा ही भयंकर था, उसके सम्पूर्ण शरीर का वर्ण काले रंग का था। वह सन्ध्याकालीन मेघमाला के समान अंजन के पर्वत पर मानों सूर्य की किरणें पड़ कर चमक रही हों, इस प्रकार तेज से चमचमा रहा था। उसके बाल खड़े, ऊपर उठे, तपाये तांबे के समान लाल लाल और भयंकर थे। दाढ़ी मूछें बड़ी बड़ी लम्बी कई कोसों तक फैली हुई थी। वह उसके ओठों पर ऐसी ही लगती थीं मानों अंजन के दो पर्वत शिखरों पर खड़े काले वृक्षों पर अमरबेल फैल रहा हो। उसकी भुजायें लम्बी-लम्बी और स्वर्ग को छूने वाले साखू के लम्बे लम्बे वृक्षों के समान थे। उसके दोनों नेत्र मध्याह्न काल के सूर्य के समान उग्र और अरुण वर्ण के थे। वे उसी प्रकार चमक रहे थे मानों उदयाचल में दो बाल सूर्य चमक रहे हों। उसकी नासिका पर्वत कंदराके समान भयंकर थी। उसकी दाढ़े तीक्ष्ण भयानक और कुदाल के समान लम्बी तथा डरावनी थी। मुख अंधकूप के समान भयंकर और चौड़ा था, उसमें लाललाल जिह्वा उसी प्रकार लपलपा रही थी मानों कोई लाल वर्ण का भयंकर चंचल अजगर अंधेरे कूए को व्याप्त करके बाहर फनको घुमा रहा हो। गिरिगुहा के समान गंभीर मुख से वह मानो सम्पूर्ण आकाश को पी जाना चाहता है तथा आकाश में उदित नक्षत्रों को अपनी भयंकर लपलपाती जिह्वा से चाट जाना चाहता है। जीभ से ओठों को चाटते समय जो उसकी विकराल विशाल

दाढ़ें खुलती और बन्द होती थी, उससे ऐसा प्रतीत होता था, मानों यह तीनों लोकों को निगल जाने का उपक्रम कर रहा है। उसके बढ़ने की कोई सीमा नहीं थी, क्षण क्षण में वह बढ़ता था। चौड़ाई में बारह सौ कोस हो गया। बढ़ते बढ़ते वह आकाश में दो हजार कोस तक लम्बा बढ़ गया। उसेपुरुष कहना, जीव जन्तु बताना पाप है। वह तो सर्वलोक संहारक प्रलय-कालिक विकराल काल के समान दुर्धर्ष भयकर और अप्रतिम था। वह ऐसा लगता था मानों सुमेरु पर किसी ने कालिख पोत दी हो। वह बार बार अपने भयकर त्रिशूल को घुमाकर जब जमुहाई लेता था, तब उसके विकराल भयकर रूपको देखकर सब लोग अत्यत भयभीत हो जाते और दशों दिशाओं में प्राणो के मोह से भागने लगते। वह महातमोगुणी महापापी, परम दारुण दैत्य इतना बढा कि उसने अपने भयकर शरीर से तीनों लोकों को आवृत कर लिया ढक लिया, इसलिए यह "वृत" इस नाम से विख्यात हुआ।

उत्पन्न होते ही उसने अपने पिता त्वष्टा से पूछा—पिता जी! मुझे आपने क्यों उत्पन्न किया है, मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ?"

यह सुनकर क्रोध में भरकर महामुनि त्वष्टा ने कहा—"पुत्र! सुराधिप अधम इन्द्र ने तेरे भाई को अन्याय से मार डाला है, अत. तू जाकर उस इन्द्र को मार कर अपने भाई के बदला ले। स्वर्ग को इन्द्र से हीन करदे।"

अपने पिता की आज्ञा पाकर वह भयकर दैत्य वहाँ से चला। उसके साथ सभी असुर हो गये। असुरों ने उसे अपना अग्रणी मान लिया। असुरों के आचार्य शुक्र ने उसका स्वस्त्ययन किया, उसकी विजय के लिये स्तोत्रों का पाठ किया और उसे विजय का वरदान दिया। इस प्रकार असुरों द्वारा सम्मानित और पूजित होकर परमपराक्रमी वृत्रासुर घोर गर्जना करता हुआ, अपने पैरों के प्रहार से पृथवी को कँपाता हुआ ऐसा चला मानों अपने त्रिशूल पर पृथ्वी और आकाश को उठाकर नृत्य कर रहा हो। उसके पैरों मे बँधे नूपुर छम्म छम्म बज रहे थे, मानो किसी चलते फिरते पहाड मे सगीत हो रहा हो। आगे आगे वह देवताओं का कटक महापराक्रमी असुर चल रहा था और पीछे पीछे सभी दैत्य दानव उसका जयजयकार करते हुए चल रहे थे।

देवताओं ने जब यह बात सुनी, तब तो उनकी सिटिल्ली भूल गई। वे तो उसके विकराल रूप को ही देखकर भयभीत हो गय, किन्तु करते क्या? युद्ध के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। उससे भागकर कोई कहाँ जा सकता था। उसने तीनों लोकों को त्रिविक्रम वामन भगवान् के समान आवृत कर रखा था। देवता घबडा तो गये किन्तु युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई गति न देखकर वे भी सब मिलकर सघ के सहित उस पर आक्रमण करने के निमित्त उद्यत हो गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विश्वरूप के बध के अनतर फिर वृत्रासुर और सुरों का युद्ध आरम्भ हुआ।

छप्पय

छिन छिन महँ वह बढ़े लोक तीनों ढकि लीन्हें।
देवमारतैं बिकल असुर सब निर्भय कीन्हें॥
पूछे पितुतैं वृत्र तात ! हौं करूँ कहा अब।
मोकूँ कछु न अशक्य, काजहौं प्रभो करूँ सब॥
त्वष्टा मुनि सुनि इन्द्र को, कह्यो वृत्त सब वृत्र तैं।
इन्द्र मारि देवनि करो, रहित चमर अरु छत्र तैं॥

वृत्र की विजय और देवताओं की पराजय

त निजघ्नुरभिद्रुत्य स गणा विबुधर्षभाः
स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत्तानि कृत्स्नशः ।
ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः ।
प्रत्यूचमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥*

(श्रीभा० ६, स्क० ९, अ० १९, २० श्लो०

छप्पय

वृत्रासुर सुनि पिता वचन सब असुर बुलाये ।
शुक्र पुरोहित आइ विजय के कृत्य कराये ॥
मदमाते सब असुर चले रणशस्त्र घुमावें ॥
गर्जन तर्जन करत वृत्र बल समुझि सिहावें ।
आवत देख्यो असुर दल, सब शस्त्रनि लै भिर गये ।
वृत्र पराक्रम निरखि कें, विस्मित सब सुर गन भये ॥

जहाँ एक ओर धर्म हो और दूसरी ओर दम्भ मिश्रित हो, तो धर्म की ही विजय होती है। किन्तु जहाँ एक बलवान् अधर्म हो और दूसरी ओर निर्बल धर्म हो, तो

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब वृत्र देवताओं से युद्ध गया। तब सम्पूर्ण देवगण उस पर मिलकर एक साथ आक्रमण हुए अपने दिव्य अस्त्र शस्त्रों से उसपर प्रहार करने लगे। किन्तु

बलवान् अधम की ही विजय होती है। घोर तमोगुण में और निर्बल सतोगुण में घोर तम ही जीत जाता है। देवता जब तक श्रीहरि को सर्वस्व समझ कर धर्म करते रहते हैं, तब तक तो वे स्वर्ग सुख के अधिकारी माने जाते हैं, जहाँ वे अपने को कर्ता धर्ता मानकर मनमाना करने लगते हैं, दम्भ छल कपट का आश्रय लेकर ऐश्वर्य सुखोपभोग करने को व्यग्र हो जाते हैं, वहाँ असुर उन्हें जीत लेते हैं। क्योंकि असुर देवताओं से शारीरिक बल में छल, कपट, दम्भ माया और अस्त्र शस्त्र विद्या में बढ चढ कर होते हैं। असुरों से देवताओं में इतनी ही विशेषता है, कि देवता अपना सर्वस्व, रक्षक श्रीहरि को ही समझते हैं और असुर अपने पुरुषार्थ द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करना चाहते हैं। पुरुषार्थ से भी इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, किन्तु वह सशय ग्रस्त और अस्थाई मानी जाती है। हरिस्मृति तो सर्व विपदाओं को विमोचण करने वाली होती है, इसमें सदेह नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब युद्ध के लिये वृत्रासुर को देवताओं ने उद्यत देखा, तो वे शूल, पट्टिश, तोमर, खड्ग, भुसुडी धनुष बाण आदि आयुध लेकर वृत्र और उसके अनुयायियों के ऊपर दौडे। समस्त देवताओं ने मिलकर वृत्र को घेर लिया। वे उस पर अपने तीखे तीखे अमोघ अस्त्रों को चलाने लगे किन्तु वे सब के सब व्यर्थ हो जाते। बाण उसके शरीर में लगकर उसी प्रकार टूट जाते थे, जैसे पाषाण खण्ड में मारने पर खड्ग टूट जाता है। बडे बड़े दिव्य अस्त्र उसके

---

[1] उन सब को निगल जाता था। इस बात को देखकर सभी देवता बड़े चकित हुए। वे तेजोहीन और उदास होकर एकाग्रचित्त से अन्त करण में स्थित आदि पुरुष श्रीहरि की स्तुति करने लगे।

शरीर मे घुसने की तो कौन कहे, तनिक सा घाव भी नहीं
सकते थे। जिस प्रकार पत्थर का पर्वत घनघोर वर्षा को
है, जिस प्रकार सुदृढ लम्बी लम्बी जडों वाला वृक्ष आँधी
वेग को सहता है, जैसे क्षमावान् पुरुष दुष्टों के कटु वचनों
सहता है, जैसे हाथी मच्छरों के डकों को सहता है, उसी प्रक
वह देवताओं के अस्त्र शस्त्रों को सहने लगा। जब बडे बडे अ
से उसकी त्वचा मे तनिक सी खुरसट भी न लगी, तब तो देव
बडे घबड़ाये। वह बिना विरोध किये सुमेरु के समान खडा ख
हँस रहा था। देवता चारों ओर से एक साथ ही उस
ऊपर आक्रमण करके दिव्य अस्त्र शस्त्रों का प्रहार कर रहे
अब तो उसे एक हँसी सूझी और खिल खिलाकर हँस
हुआ बोला—"अरे, देवताओं! मैंने तो तुम लोगों की ब
प्रशसा सुनी था, कि तुम यों बली हो त्यों बली हो, किन्तु तु
बली फली कुछ भी नहीं। रणविद्या में सर्वथा कोरे ही हो
मैं समझता था, तुम मुझे सग्राम में सन्तुष्ट कर सकोगे, कि
सन्तुष्ट करने की बात तो पृथक् रही, तुम मेरी त्वचा तनि
भी नहीं काट सके। मेरे शरीर से एक बिन्दु रक्त भी न
निकाल सके।"

यह सुनकर लज्जित हुए देवता कहने लगे—"हे असुरराज
हमारे तो सभी अस्त्र शस्त्र तुम्हारे शरीर में कुण्ठित हो र
हैं। प्रतीत होता है तुम्हारा शरीर वज्र का बना हुआ है। उन
प्रयत्न करने पर भी अस्त्र आपके अङ्ग में नहीं गड़ते अ
हम युद्ध कैसे करें।"

यह सुनकर हँसता हुआ वह असुर बोला—"देवताओ
मेरा सम्पूर्ण शरीर तो बहुत कठोर है, उसमें तुम्हारे सब अ
शस्त्र व्यर्थ हो जायगे। तुम लोग एक काम करो, मेरी जिह

सब से कोमल है, तुम सब मिलकर उसी पर अपने समस्त अस्त्र शस्त्रों का प्रहार करो।"

यह सुनकर देवताओं को बड़ी प्रसन्नता हुई। यह तो अद्भुत शत्रु है, जो अपनी पराजय की बात स्वयं बताता है। उसकी बात को मानकर इन्द्र, वरुण, कुबेर यम आदि मुख्य मुख्य देवता गण अपने अपने अस्त्रों को सम्हाल कर खड़े हो गये। उसने अपनी जिह्वा मुख से बाहर की। वह जिह्वा क्या थी, रक्त वर्ण में रङ्गी हुई गंगोत्री से गंगासागर पर्यन्त गंगाजी की धारा के समान थी। उसका मुख फटा था, मानों कैलाश की कंदरा से गेरू में रङ्गी गंगाजी की धारा चमक रही हो। सभी देवताओं ने उसकी जीभ पर एक साथ ही प्रहार किये। उस पट्ठे ने क्या काम किया सभी अस्त्र शस्त्रों को मुख में बंद करके निगल गया। निःशस्त्र हुए देवता देखते के देखते ही रह गये। अस्त्र हीन होने पर वे सब रण को छोड़कर उसी प्रकार भागे जैसे गाँव में आग लग जाने पर सब अपने अपने घरों को छोड़कर भाग जाते हैं।

वृत्रासुर तो धर्म के मर्म को जानने वाला था। वह तो धर्म विरुद्ध कभी कूट युद्ध करता ही नहीं था। अतः असुर ने भयभीत हुए रण से भागने वाले देवताओं का न तो पीछा ही किया और न उन पर प्रहार ही किया। देवता अपने अपने प्राणों की रक्षा करते हुए वहाँ से मुट्ठी बाँध कर भागे। वृत्र की इस विजय को देखकर असुरों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे शंख, दुन्दुभी, पणव, तुरही आदि विजय के बाजे बजाने लगे। आनन्द मनाने लगे हँसने और किलकारियाँ मारने लगे।

वृत्र के ऐसे बल पराक्रम को देखकर असुर गण परम

सन्तुष्ट हुए, उन सबने मिलकर वृत्रासुर को असुरों का बना दिया। सभी उसकी छत्र छाया में रह कर स्वर्गीय सु का उपभोग करने लगे। इधर देवता भी अपनी कहीं न देखकर तेजोहीन तथा उदास होकर निश्चय पूर्वक मन्नारायण की उपासना करने लगे।

छप्पय

बोल्यो उनतें वृत्र देव ! तुम सब अज्ञानी।
अरे, तुमनि मम देह वज्रकी बनी न जानी॥
अति कोमल मम जीभ ताहि पै शस्त्र चलाओ।
एक साथ मिलि मोहि युद्ध की कला दिखाओ॥
सुर सुनि सब मिलि जीभ पै, अस्त्र शस्त्र मारन लगे।
निगले सब के अस्त्र जब, है निशस्त्र डरि सुर भगे॥

पराजित देवों की भगवत् स्तुति

(३९४)

तमेव देव वयमात्मदैवतम्,
पर प्रधान पुरुष विश्वमन्यम् ।
व्रजाम सर्वे शरण शरण्यम्,
स्वाना स नो धास्यति शा महात्मा ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

भागत देखे दव असुर जय पाइ सिहाये ।
नहीं शरण लखि अन्य विष्णुढिग सुर सब धाये ॥
हाथ जोरि सब विनय करें हरि हमें बचाओ ।
बहुत अवज्ञा सही जगत पति अब अपनाओ ॥
गुरु अपमान स्वरूप महँ, वृत्र विपति सिर पै परी ।
गो द्विजदेवनि की तुमनि, युग युग महँ रक्षा करी ॥

जीव तभी दुख पाता है, जब अहंकार वश अपने स्वामी को भूल जाता है। जहाँ भगवान् को स्मरण किया तहाँ उसकी

---

* पराजित हुए देवतागण भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—जो प्रभु सब के आत्मा हैं परम देव हैं, प्रधान और प्रकृति तथा विश्वरूप हैं और इन सब से अन्य भी हैं। उन्हीं शरणागतवत्सल श्रीहरि की हम सब शरण में हैं। वे ही महात्मा हम सब अपने आश्रितों का अवश्य ही कल्याण करें।

आधि व्याधि सभी नष्ट हो जाती है, वह स्वस्थ होकर तान दुपट्टा सोता है। तब काल भी उससे डर जाता है, मृत्यु भी उसके निकट फटकने नहीं पाती। भगवान जीवों के दोषों की ओर ध्यान नहीं देते, वे तो शरण में आये हुये सभी जीवों की रक्षा करते हैं, यदि भगवान् जीवों के अपराधों की ही ओर ध्यान दें, तब तो, इसकी निष्कृति का कोई उपाय ही नहीं। कभी यह ससार चक्र से बाहर ही नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान् को कारण रहित कृपालु शरणागत वत्सल अशरणशरण, दयालु, क्षमावान और भक्त भयहारी आदि आदि नामों से पुकारते हैं। देवताओं का देवत्व इसी म है, कि वे कभी कभी ऐश्वर्य के मदमे भगवान् को भूल तो अवश्य जाते हैं, किन्तु विपत्ति पडते ही, अन्य किसी का आश्रय ग्रहण न करके भगवान् की ही शरण जाते हैं। भगवान् की तो प्रतिज्ञा ही है, कि जो एकबार हृदय से प्रसन्न होकर कह दे कि 'मैं तुम्हारा हूँ' तो उसे सर्व भूतों से अभयदान दे देते हैं, फिर कोई कितना भी बली से बली पुरुष क्यों न हो, भगवान् शरणापन्न पुरुष का कुछ भी बिगाड नहीं सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर से पराजित होकर देवता गण सर्वान्तर्यामी प्रभु की शरण मे गये। पश्चिम समुद्र के तट पर देवता खडे होकर भगवान की आर्त स्वर से स्तुति करने लगे। उन्हें भगवान का कोई रूप तो दिखाई देता ही नहीं था, वैसे ही अन्त करण मे स्थित सर्वव्यापक आदि पुरुष श्रीमन्नरायण की एकाग्रचित्त से उपासना करने लगे।

सर्व प्रथम अत्यन्त विनीत भाव से इन्द्र ने गद्गद् कठ से स्तुति की—"हे प्रभो! आप पाँचों भूत, तीनों लोक और ब्रह्मा

दिक देवों के भी परम पूजनीय हैं। समस्त जीव विवश होकर आप को पूजोपहार समर्पण करते हैं। आप भय को भी भय देने वाले हैं, काल भी आप के सम्मुख काँपता रहता है, ऐसे सर्व समर्पण, सर्वेश्वर, आप हम असहाय दीन हीनों को रक्षा करें, हमारे दुखों को दूर करें, हमे विपत्ति के सागर से बचावें।"

जब इन्द्र स्तुति कर चुके तब उत्तर दिशा के लोकपाल कुबेर जी बोले—"हे परमात्मन्! यह ससार वास्तव मे अपार सागर है। जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा इसे पार नहीं कर सकता। आपके पाद पद्मरूप नौका का आश्रय लेकर जो पार जाने का प्रयत्न करता है, वह तो सुख पूर्वक पार हो जाता है, किन्तु जो मन्दमति आप के जल मे कभी भी न डूबने वाले सर्वसमर्थ अरुण चरणकमलों का आश्रय न लेकर किसी अन्य उपाय से इस दुस्तर जलनिधि को पार करना चाहता है, उसका प्रयत्न ऐसा हो जैसे कोई कुत्ते की पूँछ पकड़ कर सातों समुद्रों के पार जाना चाहता हो। इस भीषण अगाध दुस्तर ससार सागर मे प्राणियों के एक मात्र रक्षक उन्हे सभी प्रकार की विपत्तियों से बचाने वाले सर्वसमर्थ आपही हैं। आप रागद्वेष से शून्य, प्रशान्त, उपाधिकृत भेदों से रहित, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त पूर्णकाम, अहङ्कार शून्य तथा आत्मलाभ से सर्वदा सन्तुष्ट रहने वाले सर्वान्तर्यामी हैं। अतः हम सब देवता आपकी शरण मे हैं।

धनद कुबेर की स्तुति करने के अनन्तर पश्चिम दिशा के अधीश जलों के स्वामी वरुण जी हाथ जोड कर गद्गद् कठसे प्रभुकी स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—"प्रभो! देखिये, राजर्षि सत्यव्रत समुद्र के तट पर आप का आश्रय ग्रहण करके निश्चिन्त बैठे थे। उन पर घोर विपत्ति आने वाली थी। तीनों

लोकों के नाश का समय आ गया था। प्रलयकालीन समुद्र उमड़ने वाला था, उस समय आप ने मछली का रूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया। आपके विशाल शृङ्ग में पृथिवी रूप नौका को बाँधकर वे राजर्षि मनु अनायास ही इस दुस्तर विपत्ति सागर के पार हो गये। सो हे मत्स्यरूप जनार्दन! हम भी वृत्र के दुरन्त भय से त्रस्त हैं, उस असुर रूप अगाध दुःख सागर से हमारी आप अवश्य अवश्य रक्षा करें। हमें अपने चरणों की छाया में रखकर अभय प्रदान करें।

इस प्रकार जब वरुण जी स्तुति कर चुके तब दक्षिण दिशा के स्वामी यमराज भी अपने पाश को फेंक कर, दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर, गद्गद् कंठ से सावधानी के साथ स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—प्रभो! जिन पर आप की कृपा है, वे अकेले होने पर भी किसी से पराजित नहीं होते। देखिये, सृष्टि के आदि में जब तक लोकों की भी कल्पना नहीं थी, इस दृश्य जगत् का नाश भी नहीं होता था, दूसरा कोई जीव दृष्टि गोचर नहीं होता था। उस समय प्रचण्ड पवन के थपेड़ों से उठा हुई उत्ताल तरङ्गों की गर्जना के कारण, अत्यन्त भयानक प्रलय कालीन जल में भगवान की नाभिकमल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा जी अकेले ही आश्चर्य के सहित आँखें फाड़ फाड़ कर चारों दिशाओं को देख रहे थे। उसी समय मधुकर व दैत्यों ने उत्पन्न होकर उन्हें डराया धमकाया। आप उस समय शेष शैया पर सुख से शयन कर रहे थे। अपने आश्रित ब्रह्मा जी को भयभीत देखकर आप ने योगनिद्रा का परित्याग किया। युद्ध करके उन दैत्यों को मार कर ब्रह्मा जी के सङ्कट को दूर किया। हे शरणागत वत्सल! हे भक्त भयभञ्जनकारी! प्रभो! हम सब भी वृत्रासुर के कारण अत्यन्त ही भयभीत हो गये हैं।

हम सब निरावलम्बन की भाँति विपत्ति सागर मे डूबते उतराते हुए आप के चरणों के समीप पहुँच गये हैं। अब तो हमारी रक्षा करो। हमें इस विपत्ति सागर से पार पहुँचा दो। वृत्र के भय से हमें निर्भय बना दो।"

जब चारों लोकपाल स्तुति कर चुके तब मनु आदि प्रजापतियों ने दीनता के साथ उन सर्वसमर्थ प्रभु की स्तुति आरम्भ की प्रजापतियों ने कहा—"हे जगत्पति, हे विश्वम्भर! आप चराचर विश्व के कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता हैं। आप ही इस जगत् के एक मात्र आश्रय हैं। आपने ही अपनी माया से हमारी रचना की है। आप की ही प्रेरणा से आपकी ही कृपा प्रसाद पाकर आप की अनुग्रह से ही हम संसार की रचना करते हैं और आपकी दुर्ज्ञेय माया के चक्कर में पड जाने के कारण हम आप को भुलाकर अपने को ही स्वतन्त्र ईश्वर मान बैठते हैं। इसी अभिमान के कारण हम आप के यथार्थ रूप से अनभिज्ञ बने रहते हैं। आप सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर सभी प्रेरणाओं को स्वयं करते हैं। आप सर्वसमर्थ के स्वरूप को भली भाँति न जानकर भी हम आपकी शरण में आये हैं हमें विपत्ति से बचाइये देवताओं की रक्षा करके तीनों लोकों को सुखी कीजिए। आसुरी भावों का नाश करके सतोगुण की वृद्धि कीजिये। अपने आश्रित सुरों को अभय प्रदान कीजिये।"

प्रजापतियों की स्तुति के अनन्तर मरुद्गण भगवान् की स्तुति करने लगे। जिन्होंने विनीत भाव से कहा—"हे धर्मावतार! हे ब्रह्मण्यदेव! आप के लिए न कोई स्वपक्ष है न पर पक्ष, आपका न कोई शत्रु है न मित्र। आप तो पक्षपात से रहित, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी और सर्वेश्वर हैं

आप निर्विकार होते हुये भी जब हम देवताओं को दुखी देखते हैं, तब देव द्विज तथा गौओं की रक्षा के निमित्त भाँति भाँति के अवतार लेकर इन्हे विपत्तियों से बचाते हैं। कभी आप देवताओं में उपेन्द्र आदि रूप धारण कर लेते हैं, कभी ऋषियों में कपिल, परशुराम आदि रूप रखकर संसार को विपत्तियों से बचाते हैं। कभी कच्छ, मच्छ, वाराह नृसिंह आदि पशुओं का रूप रख कर अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। कभी राम, कृष्ण, बुद्ध कल्कि आदि मनुष्यों का सा रूप रखकर भाँति भाँति की अद्भुत क्रीडायें किया करते हैं। यद्यपि आप को कोई कर्तव्य नहीं, फिर भी साधुओं का परित्राण करने के निमित्त तथा दुष्टों का विनाश करने के निमित्त धर्म संस्थापनार्थ युग युग में उत्पन्न होकर देवताओं को निर्भय करते हैं। आज हम असुर वृत्र के भय से भयभीत हो गये हैं। हम अनाश्रितों को अपने चरणों का आश्रय देकर निर्भय बनाइये हमारी रक्षा कीजिये।"

इसके अनन्तर अग्निदेव ने कहा—"हे प्रभो! आप सबके आत्मा और परम देव हैं। देवताओं के एक मात्र आश्रय आपही हैं। आप इस विश्व से सर्वथा पृथक् होने पर भी प्रकृति और पुरुष रूप से इस विश्व के आदि कारण हैं। यह सम्पूर्ण विश्व आपकी लीला विलास है, आप इस प्रपञ्च से परे होने पर भी विश्व में सर्वत्र समान रूप से ओत प्रोत हैं। ऐसे आप शरणागतवत्सल श्रीहरि की हम शरण हैं। हे अशरण शरण! आप हम भक्तों की रक्षा करें, हमारा कल्याण करें, हमें भय से छुड़ावें, हम दास जान के अपनावें। हमें अपने अचिन्त्य रूप के दर्शन करावें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! इस प्रकार सभी देवों

ने उन परम देव अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली आत्म स्वरूप श्रीहरि की विविधस्तोत्रों द्वारा भाँति भाँति से स्तुति की। उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी, वनमाली, श्रीहरि तुरन्त वहाँ प्रकट हो गये। उस समय भगवान् का मुखारविन्द शरद्कालीन पूर्णचन्द्र के समान खिला हुआ था। उस पर मन्द मन्द मुस्कान छिटक रही थी। टटक खिले हुए शारदीय कमलों के समान उनके नेत्र युगल प्रफुल्लित हो रहे थे। नन्द सुनन्दादि सोलह पार्षद उन्हें घेरे खड़े थे। प्रभु के सभी पार्षद भी चतुर्भुजी थे। उनके भी चारो श्रीहस्तों में शङ्ख, चक्र गदा और पद्म सुशोभित थे। वे सब भी घुटनो तक लटकने वाली वनमालायें पहिने हुये थे। सभी के श्रीअङ्गो मे पीताम्बर फहरा रहा था, सभी मणिमय कीट पहिने तथा कानों मे कमनीय कुण्डलों को धारण किये भगवान् के चारों ओर खड़े थे। उनके वस्त्राभूषण आयुध आदि सब तो श्रीहरि के समान ही थे, इतना अन्तर था, कि भगवान् के श्रीअङ्गो मे श्रीवत्स लाञ्छन और कौस्तुभमणि शोभा दे रहा था और वे सब इन दोनो से रहित थे।

देवतागण भगवान् के एसे अनवद्य सौन्दर्ययुक्त परम शोभामय अत्यन्त मनोहर रूप का दर्शन करके, उनके दर्शनानन्द के कारण प्रेममे विभोर हुए, अत्यन्त विह्वलता के सहित पृथिवी में दण्ड के समान लोटकर भक्तिभाव से साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे। बडी देर तक वे प्रेममे पगले आत्मविस्मृत बने हुए पडे रहे।

कुछ कालके अनन्तर अपने को सम्हाल कर उठकर खडे हो गए और अत्यन्त विनीत वचनो से गरुड के ऊपर चढ़े अपने सम्मुख खड़े उन अच्युत अखिलेश की स्तुति करने लगे। देव-

ताओं ने देखा पद्य में हृद्गत सम्पूर्ण भावव्यक्त नहीं हो सके अत. वे गद्य मे ही स्तुति करने लगे। उन्होंने हाथ जोड कर कहा—"हे भगवन्! हे परम पुरुष! हे महानुभाव! हे परम मङ्गल मय! हे परम कल्याणरूप! हे परम कारुणिक! हे एक मात्र जगदाधार! हे लोकैकनाथ! हे सर्वेश्वर हे लक्ष्मीपते! आपके पुनित पादपद्मों मे पुन पुन प्रणाम है। हम आपकी शरण मे आये हैं।"

श्रीसूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! आर्त और अर्थार्थी देवताओं ने अपने कार्य की सिद्धि के लिये भगवान् की बड़ी लम्बी चौडी स्तुति की। उसको में समयानुसार स्तुति प्रकरण में कहूँगा। सम्पूर्ण स्तुति कर लेने के अनन्तर उन्होंने अपना यथार्थ अभिप्राय प्रकट किया। अन्त में देवताओं ने कहा—"हे सर्वेश्वर! हे श्रीकृष्ण! जिस वृत्रासुर ने हमारे अस्त्रों को ही नहीं निगल लिया है अपितु हमारे तेज का अपहरण करके हमें तेजोहीन भी बना दिया है, उस त्रिलोकी का नाश करने वाले उस दुष्ट का सहार करें। हे शुद्ध स्वरूप! हे हृदयाकाश विहारी, हे सर्व जीवों के साक्षी रूप, विमल कीर्ति वाले विश्वनाथ! हे साधु जन सेवित! हे सच्चिदानन्दस्वरूप स्वामिन्! ससार रूप वीहड वन में भटकते इस जीव रूप पथिक को शरण में आजाने पर उत्तम गति देने वाले हे शरणागत वत्सल हमारी इस असुर से रक्षा कीजिये। आपके पुनीत पादपद्मों मे हमारा पुन पुन प्रणाम है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् देवताओं की स्तुति से भगवान् प्रसन्न हुए और उन्हे निर्भय करते हुए वरदान और उपदेश देने को उद्यत हुए।

छप्पय

विपति उदधि महँ मग्न भए हरि आइ उबारो।
अन्य शरण नहिं नाथ गहो अब हाथ हमारो॥
सुनि देवन की विनय तुरत तहँ प्रकटे श्री हरि।
अति प्रसन्न सब भए देव दुर्लभ दर्शन करि॥
देखि दुखी देवन दया करी विष्णु बोले बचन।
शुभ सम्मति सबकूँ दऊँ, ताहि सुनो एकाग्रमन॥

वृत्र से डरे सुरों को श्रीहरि की सम

(३९५)

मघवन् यात भद्र वो द-यञ्चमृषिसत्तमम् ।
विद्याव्रततपःसार गात्र याचत मा चिरम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ५१ श्लो०

छप्पय

मुनि दधीचि के निकट देव सब मिलिके जाओ ।
निज विपत्तिके वृत्त जाइ मुनिवरहिँ सुनाओ ॥
विद्या व्रत तें पूत तपस्या के प्रभाव तें ।
उनकी हड्डी विमल सरल सच्चे स्वभाव तें ॥
बने वज्र मुनि अस्थि तें, वृत्रासुर मरि जायगो ।
सबरो दुख कटि जायगो, गयो राज्य फिरि आइगो ॥

प्राय लोग कहा करते हैं, भगवान् सर्व समर्थ थे, ता रावण, वालि, कस आदि को मारने को इतना प्रपच क्या रचा । झट से मार देते । लोगों को कितना कष्ट होता है सीता जी वर्ष भर राक्षस के घर रहीं । नन्द यशोदा को वर्षा कारागार

---

*देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर प्रकट हुए श्रीहरि इन्द्र से कहने लगे—"मघवन् ! तुम शीघ्र ही ऋषियों में श्रेष्ठ दधीचि मुनि के समीप जाओ । वहाँ जाकर उनसे विद्या, व्रत और तप के प्रभाव से अत्यंत दृढ़ हुए उनके शरीर को माँगलो । जाओ तुम्हारा कल्याण हो ।

ी यातनायें सहनी पड़ीं। कृष्ण भक्त पाडव विपत्तियों को झेलते ुए वन वन भटकते रहे। सर्व समर्थ भगवान् के लिये ये बातें अनुरूप नहीं। दुष्टों को उत्पन्न ही न होने दें। यदि उत्पन्न हो ही जायें, तो पैदा होते समय ही उन्हें मार डालें जिससे साधु ुरुषों को कष्ट न दे सकें। इतनी सामर्थ्य होने पर भी जो भग वान दुष्टों की इतनी उपेक्षा कर देते हैं उन्हें इतना बढा चढा देते हैं इससे हमें उनके सर्व शक्तिमान होने मे सदेह होता है। रावण हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष ये लोग १०० हजार वर्षों तक नहीं। युगों तक जीवित रहे। भगवान् ने क्यों उन्हें पैदा होते मार नहीं डाला क्यों उनकी उपेक्षा की ?

इसका बड़ा सरल सा उत्तर है। कोई धनी है बैठा ठाला है, अटूट सम्पति है, काम धधा कुछ है नही, स्वभाव का विनोदी है। अपनी धर्मपत्नी क साथ शतरज ही खेलता रहता है। पत्नी किसी दूसरे की नहीं उसी की अर्धाङ्गिनी है। शतरज की गोट उसके नीचे का वस्त्र सब उसी ने मँगाया है। उसमे जो हाथी घोडा, ऊँट मत्री सिपाही भिन्न भिन्न रगों से रगी लकडी के होते हैं वे भी अपने ही हैं, किन्तु जब खेलने बैठता है, तो एक एक गोट के लिए अपनी वहू से [illegible] गम्भीर होकर लडता है। यह दाव मेरा है, देखो मैं इस [illegible] कदापि न लेने दूँगा, तुम रूँगटा मत करो। मेरे [illegible] को [illegible]। कैसा गम्भीरता से लडता है, एक एक गोट के लिए प्राण दे देता है। स्त्री भी भौं चढाकर गम्भीर होकर [illegible] है और कहती है—'मेरी गोट को लेने वाले [illegible] हो ?' वह सब सहता है, यहाँ तक कि [illegible] तो उसके लिए भी उद्यत रहता है, क्योंकि वह [illegible] है, मनो-विनोद है। जहाँ खेल समाप्त हुआ [illegible] गोटों को [illegible]

देते हैं। दूसरे दिन फिर वस्त्र बिछाकर वैसा ही खेल है। वे ही गोटें वे ही चालें वेही खेलने वाले, किन्तु नूतनता दिखाई देती है। नित्य जय पराजय के लिए व्य बनी रहती है। नित्य ही भाँति भाँति की चालें चली जाती इसी तरह यह विश्व प्रपच उन नटनागर की क्रीड़ा है, मनुष्य, तिर्यक् आदि उनकी गोटें हैं। अपनी दैवी माया आश्रय लेकर खेल खेल रहें हैं। उनकी न कभी जय है, पराजय वे तो इन दोनों से परे शुद्ध, बुद्ध मुक्त तथा नि तृप्त हैं, फिर भी मनोविनोद के लिए नित्य नई नई किया करते हैं और अपने भक्तों के महत्व को प्रकट उनकी कीर्ति को दशों दिशाओं में फैलाया करते हैं यह स्वभाव है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं ने करुण स्वर से एकाग्र चित्त होकर भगवान् की स्तुति की अपने सुमधुर स्तोत्रों को सुनकर स्तुति प्रिय श्रीहरि प्रसन्न हुये और देवताओं को अभयदान देते हुये बोले—"ह देवताओं! तुम लोग उदास कैसे हो रहे हो? क्यों तुम ल मेरी स्तुति कर रहे हो? तुमने तो बड़ी अद्भुत ज्ञानमय स्तुति का ऐसे ज्ञान के द्वारा तो मनुष्यों को आत्मा के प्रभाव स्मृति और मेरी भक्ति प्राप्त होती है। जिसे प्राप्त करके की सभी कामनायें नष्ट हो जाती हैं।

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम लोग तो आर्त भक्त निष्काम भक्त नहीं। हम तो स्वार्थ से भक्ति कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"हे विबुधगण! अरे अपनी स्तुति जब तुमने मुझे प्रसन्न ही कर लिया, तो फिर तुम लोगों के लि

संसार में कोई भी दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु अप्राप्य नहीं है, फिर भी मेरा अन्याय ऐकान्तिक तत्त्ववेत्ता भक्त मुझसे मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम देखते हैं, कभी कभी आपके भक्त जिस वस्तु को चाहते हैं आप उन्हें उस वस्तु को नहीं देते। नारदजी एक राजकुमारी के रूप पर आसक्त हो कर उसे चाहते थे। उसके लिये व्यग्र बने हुए थे। जैसे हो वैसे वह प्यारी प्यारी राजकुमारी मिल जाय। यही उन्हें एक-मात्र धुनि थी। वे आपके अनन्य भक्त हैं। आपके अतिरिक्त उनकी कोई गति नहीं, कोई अवलम्ब नहीं, आश्रय नहीं। आपसे उन्होंने सुन्दर रूप माँगा। सो, सुन्दर रूप देना तो पृथक् रहा आपने उनका बन्दर का मुँह बना दिया। उनकी बानराकृति को देखकर वह दुलहिन राजकुमारी बिदुक गई और उसने नारद जी की ओर देखा तक नहीं। आपने अपने अनन्य भक्त नारद जी की इतनी छोटी सी इच्छा भी पूर्ण नहीं की?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और हँसते २ बोले—"देवताओ! देखो जो अपरिपक्व बुद्धि के पुरुष विषयों को ही सार समझकर उनकी याचना करते हैं, उन्हे अपने वास्तविक कल्याण का बोध नहीं होता। ऐसे पुरुषों को विषयों को दे देना तो बन्दर के हाथ में छुरी देने के समान है, जो चचलता के कारण अपनी नाक काट सकता है। बालक को सर्प के समीप बिठाने के समान है, जो उसे चमकीला समझ कर खेल मे पकड ले और अपने प्राणों को गँवा सकता है। ऐसे विषय लोलुप दासों को जो स्वामी भी उनके अभीष्ट वैषायिक पदार्थ देते हैं, वे उससे भी अधिक मूर्ख हैं। देखिये! जो धूम्र पान के दोषों को जानता है वह अपने पुत्रों को धूम्र पान

करने को क्यों देगा ? जो मुक्ति मार्ग को समझता है, वह आश्रितों को प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश क्यों देने लगा। एक है। उसकी चिकित्सा कोई कृपालु वैद्य बड़ी तत्परता से है। उसे खाँसी बहुत है, वह बार बार वैद्य से खट्टा-मट्ठा तो क्या वैद्य उसे दे सकता है ? किसी भी कुपथ्य का वस्तु वह मन चलावे तो क्या योग्य हितैषी वैद्य उसके सेवन की सम्मति दे सकता है ? इसी प्रकार मैं अपने कृपापात्र को माँगने पर भी अनित्य, क्षणभंगुर नाशवान् दुःख परिण विषय सुखों को नहीं देता।"

देवताओं ने कहा—"प्रभो ! यह सब तो सत्य है, इस समय हम सब तो बड़ी विपत्ति में पड़े हुए हैं। वृत्रासु हम सब को तो घरबार से हीन दुखी और निराश्रय बना है। हे सर्वेश्वर ! जब तक वह जीता रहेगा, तब तक हम प्रकार दुखी होकर भटकते रहेंगे। यह दुष्ट दैत्य जिस उपाय मर सके, उस उपाय को बताइये, हमें इस विपत्ति से छुड़ाइ आपही कृपा करके इस दुष्ट को मार कर हमारे क्लेशों का करदें, आपके अतिरिक्त कोई उस इतने डील डौल वाले को मारने में समर्थ नहीं।"

यह सुनकर भगवान् गंभीर होकर बोले—"भैया ! वृत्रा बड़ा तेजस्वी तपस्वी धर्मात्मा और मेरा भक्त है। वह मेरे नहीं मारा जा सकता। मैं प्रत्यक्ष तो उसे मारूँगा नहीं। तुम्हें उसके मारने का उपाय बता दूँगा।"

देवराजइन्द्र ने उत्सुकतापूर्वक कहा—"अच्छा भगव उपाय ही बता दीजिये। आप सीधे से तो मारेंगे नहीं। हमें अधिक इधर उधर भटका कर उसका अंत करना चाहते अच्छी बात है आज्ञा कीजिये हम क्या करें ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, तुम सब लोग मिल कर हर्षि दधीचि मुनि के समीप जाओ। उन्होंने चिरकाल तक ोर तप किया है, भाँति भाँति के नियम और व्रतों का पालन कया है वे ब्रह्मविद्या के ज्ञाता हैं। उनकी एक एक हड्डी परम ावन बन गई है। तुमलोग जाकर उनसे उनका शरीर माँग ो। उनकी पवित्र अस्थियों से एक वज्र बनाओ। उस वज्र से ो वृत्र मर सकता है। इसके अतिरिक्त उसके मरने का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है।"

यह सुनकर उदास मन से देवता कहने लगे—"भगवन्! यदि वृत्त को मारना आपको अभीष्ट नहीं, तो स्पष्ट मना करदें। इसे घुमा फिरा कर बातें क्यों कर रहे हैं। "न नौ मन काजर होगा, न राधा नाचेगी। न दधीचि मुनि अपनी हड्डी देंगे न वज्र बनेगा और न वृत्रासुर मारा जायगा। भगवन्! अपने आप स्वेच्छा से अपने जीवित शरीर की हड्डी कौन दे सकता है। हड्डी की बात तो पृथक् रही, यह तो आत्मा के अधिष्ठान शरीर को टिकाये रखने की मुख्य वस्तु है। अजी, कोई शरीर से सम्बन्ध रखने वाले धन में से उसका छोटे से छोटा भाग माँगे तो भी मनुष्य देने में आना कानी करेगा। फिर हड्डी देना तो दूर की बात है।"

यह सुनकर भगवान् हँसते हुए बोले—"अरे, देवताओं! तुम सब को अपने समान ही स्वार्थी समझते हो? अरे, परोपकार के लिये तो पुरुष सर्वस्व निछावर कर देते हैं। राजाशिवि ने एक कपोत की रक्षा के लिये अपने शरीर का मांस काट काट कर दे दिया था। दैत्यराज बलि ने मुझे पहिचान कर शुक्राचार्य के मना करने पर भी अपना सर्वस्व दान कर दिया था। परोपकारी पुरुषों के लिये कोई वस्तु अदेय नहीं,

उनके लिये कुछ भी कठिन नहीं। तुम अपने मन मे शका न करो, उन मुनिवर की शरण मे जाओ। वे तुम्हारे मनोरथ अवश्य ही पूर्ण करेंगे। देखो, उन्होंने अपना शिर कटाकर अश्विनी कुमारों को ब्रह्म विद्या का उपदेश किया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग, सूतजी दधीचि मुनि ने अपना सिर क्यों कटाया? उन्होंने अश्विन कुमारों को बिना सिर के उपदेश कैसे किया, फिर उनका कटा हुआ सिर कैसे जुड गया। यदि यह बात हमारे सुनने योग्य हो, तो कृपाकर के इसे हमे अवश्य सुनावें। परोपकार पुरुषों के चरित्र सुनने से पुण्य की वृद्धि होती है, हृदय मे सद् गुणों का विकास होता है और जीवन मे नूतन स्फूर्ति का सचार होता है।

शौनकजी के ऐसे प्रश्न करने पर सूतजी बोले—महा भाग! जिस प्रकार अपना सिर कटा कर महामहिम महर्षिवर्य श्री दधीचि ने अश्विनी कुमारों को ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया उस परम पवित्र पुण्यप्रद उपाख्यान को मैं आप सब को सुनाता हूँ, उसे आप अव्यग्र भाव से श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

हरि की सुनिकें बात देव हैकें विस्मय युत।
चिन्ता भय तें विकल भये निरखें सब इत उत॥
कहें—"प्रभो! हम दुखित असंभव कहो न बानी।
देहि न जीवित अस्थि होहि चाहे नर ज्ञानी॥
को जगमहँ अस करि सके, प्रान दान दुष्कर करम।
दमरी दनों दयानिधि! दुखदायी होवे परम॥

शिर कटाकर भी दधीचि मुनिका विद्यादान देना

(३९६)

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्या ब्रह्मनिष्फलम् ।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरता व्यधात् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ५२ श्लो०

छप्पय

हरि हँसि बोले देव ! सबनि अपु सम मति जानों ।
पर उपकारी पुरुष देहिँ सरबसु सचु मानों ॥
शिवि बलि अरु हरिचन्द कर्म दुष्कर जग कीन्हों ।
पर कारज के हेतु मोह तन को तजि दीन्हों ॥
सिर कटाइ उपदेश शुभ, ज्ञान अश्वशिर कूँ कर्यो ।
का अदेय जिनकूँ सदा, हृदय ज्ञान धनतें भर्यो ॥

जिस विषय का जिन्हें सच्चा व्यसन हो जाता है उस विषय के लिये वे प्राणों की भी बाजी लगा देते हैं धन लोलुप पुरुष

---

*भगवान देवताओं को सम्मति देते हुए कह रहे हैं—'देवताओ ! देखो उन दधीचि मुनि को अश्वशिर नामक विशुद्ध ब्रह्मविद्या का ज्ञान है। उस विद्या को उन्होंने अश्विनीकुमारों को पढ़ाया था। जिसके प्रभाव से उन दोनों अश्विनीकुमारों को अमरता प्राप्त हो गई है।—

धन के लिये, कामुक पुरुष मनोच्छिता कामिनी के लिये, माना भिलाषी मान के लिये अपने सिर को हथेली पर रख कर उसके लिये प्रबल प्रयत्न करते हैं। नाना भाँति के दु खों को सहन करते हैं इससे इन्हें कष्ट नहीं होता उलटे उस प्रयत्न मे उन्हे एक मानसिक सन्तोष सा होता है। इसी प्रकार परोपकारी पुरुषों को पर पीडा के निवारण में एक प्रकार की आन्तरिक शाति होती है। परोपकार किये बिना रह नहीं सकते। दूसरों के दु खों को देखकर चुप बैठे रहना उनके लिए असभव हो जाता है। अपना किसी चेष्टा से दूसरों का भला हो जाय इसके लिये वे कुछ उठा नहीं रखते। अपने शरीर को देखकर भी दूसरों की भलाई हो तो वे शरीर का तनिक भी मोह नहीं करते हँसते हँसते सिर कटाने के लिये तैयार हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दध्यङ् अथर्वा मुनि के पुत्र भगवान् दधीचि परोपकारियों म सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे, वे परम तपस्वी महान् व्रतधारी परमपरोपकारी ब्रह्मज्ञानी महापुरुष थे। उस समय उनके समान ब्रह्मविद्या को जानने वाले मुनि बहुत ही थोडे थे। जितने ही वे ब्रह्मविद्या में विशारद थे उतने ही कर्मकाण्ड में भी निष्णात थे। प्रवर्ग्य नामक एक यज्ञ कर्म विशेष क तो वे सर्व श्रेष्ठ ज्ञाता समझे जाते थे।

एक बार दोनों भाई अश्विनी कुमार इनके परम पावन ब्राह्मी श्री से सम्पन्न आश्रम मे आये। उस फल फूलों के भार से नमित बड़े बड़े वृक्षों वाले पवित्र आश्रम मे तेजस्वी मुनि तीनों हवनीय अग्नियों क सहित चतुर्थ अग्नि के समान तन से जाज्वल्यमान दिखाई देते थे। आश्विनी कुमारों ने उन महा तेजस्वी मुनि की श्रद्धा सहित चरण वन्दना का मुनि ने प्रसन्न होकर उनका स्वागत करते हुए कुशल पूछी और कहा—"देव

ताओं के सम्माननीय वैद्यो! आज तुम लोगों ने पधारकर मेरे आश्रम को और मुझे कृतार्थ किया, कहो मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ?"

इस पर हाथ जोड़े हुए अश्विनी कुमारों ने कहा—"भगवन्! हम आज तपोमूर्ति आपका दर्शन करके कृतार्थ हो गये, सेवा तो हमें आपकी करनी चाहिये, किन्तु हम सेवा कर ही क्या सकते हैं। हम रोगों को अच्छा कर सकते हैं चूर्ण वाटिका, अवलेह, क्वाथ, रस पर्पटी आदि सुन्दर से सुन्दर दे सकते हैं। सो, आपको उनकी अपेक्षा नहीं। तपस्या और तेज के प्रभाव से रोग आपके पास फटक नहीं सकते, अत हम स्वय भी आपकी कुछ सेवा नहीं कर सकते। फिर भी आपने हमसे कुछ वरदान माँगने को कहा है तो हम आपसे यही याचना करते हैं कि हमें आप ब्रह्मविद्या का उपदेश दें।"

मुनि तो प्रसन्न ही थे अत बड़े स्नेह से बिना कुछ सोचे समझे कहने लगे—"अच्छी बात है इस समय तो मैं एक अनुष्ठान विशेष मे सलग्न हूँ, अब तो आप लोग पधारें कुछ काल के पश्चात् जब आप आवेंगे तब मैं आप दोनों को ब्रह्म विद्या का उपदेश अवश्य दूँगा।" यह सुनकर दोनों भाई अश्विनी कुमार प्रसन्नता के सहित लौट गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! ऐश्वर्यशाली पुरुष जब किसी अपने आश्रित व्यक्ति को अपने से बढ़ता हुआ देखते हैं तो उनके मन मे एक प्रकार का डाह होता है। इन्द्र ने जब यह बात सुनी कि महामुनि दधीचि अश्विनी कुमारों को ब्रह्म विद्या का उपदेश करेंगे, तब तो उनके मनमें बड़ा अमर्ष उत्पन्न हुआ वे तुरत तपोधन दधीचि के समीप पहुँचे। अपने आश्रम में देवेन्द्र

को देखकर मुनिवर बड़े प्रसन्न हुए उनकी विधिवत पूजा की, कुशल पूछी। तदनन्तर इन्द्र ने कहा—"भगवन्! हमने सुना है, आप अश्विनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाले हैं।"

सरलता के साथ मुनि ने कहा—"हाँ, भैया! वे दोनों आये तो थे मेरे पास, किन्तु उस समय मैं एक विशेष अनुष्ठान में संलग्न था, अतः मैंने उनसे फिर आने के लिये कह दिया है।"

इन्द्र ने गम्भीर होकर कहा—"भगवन्! आप उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश न करें।

आश्चर्य के साथ मुनि ने कहा—"क्यों बात क्या है?"

देवेन्द्र ने कहा—"बात यही है महाराज कि वे लोग वैद्य हैं, वैद्य विद्या बड़ी अधम है। वैद्य का दर्शन अशुभ माना जाता है, वैद्य का अन्न पापमय होता है। वैद्य को श्राद्ध आदि में बुलाना अत्यन्त निषेध है। जो वैद्य हैं वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी ही नहीं।"

इस पर मुनि ने कहा—"देवराज! आपने भी तो आयुर्वेद शास्त्र का चिरकाल तक अध्ययन किया है दूसरों को भी आपने पढ़ाया है फिर आप आयुर्वेद शास्त्र की इतनी निन्दा क्यों करते हैं?"

इस पर शीघ्रताके साथ इन्द्र ने कहा—"भगवन्! मैं आयुर्वेद शास्त्र की निन्दा नहीं करता। अवश्य मैंने आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन किया है। मुझे इस विद्या का लोग आचार्य भी मानते हैं मैंने मुनियों द्वारा इसका प्रचार भी कराया है, पढ़न पढ़ाने में दोष नहीं है। दोष तो है इसके द्वारा आजीविका करने में। इन अश्विनी कुमारों की तो यही आजीविका है। ये चिकित्सा से ही अपना कार्य चलाते हैं। वैद्य को द्रव्य वही देगा, जो रोगी होगा जिसके प्राण कंठगत होंगे। रोग सदा पापों से होता है, स्वेच्छा

से कोई द्रव्य देना नहीं चाहता वैद्य को विवश होकर द्रव्य देना पड़ता है। अत वह पापमय द्रव्य निन्दनीय है। इसीलिये वैद्यों का अन्न पूय शोणित के समान अपवित्र और निन्दनीय बताया है।"

महामुनि दधीचि ने कहा—"भाई, चाहे जो कुछ हो, उन्होंने सच्चे हृदय से आकर मुझसे जिज्ञासा की मैंने उन्हें वचन दे दिया है। अब तो मैं वचनबद्ध हो चुका उनके आने पर मैं उन्हे ब्रह्म विद्या का उपदेश अवश्य दूँगा।"

इस पर क्रुद्ध होकर इन्द्र बोले—"देखिये ब्रह्मन! मैं सीधे स धे आप से कहता हूँ आप उन्हें भूलकर भी ब्रह्म विद्या का उपदेश न दें, यदि आप मेरी बात न मानकर मेरा तिरस्कार कर के उन्हें ब्रह्म विद्या सिखाई तो मैं आपका सिर काट लूँगा।"

इस पर महामुनि दधीचि हँस पड़े और बोले—"अरे, इन्द्र तुम कोरे ही रहे। सिर काट लोगे तो मेरा क्या बिगाड़ोगे। मैं कोइ सिर तो हूँ नहीं, जो कटने पर बेकार हो जाऊँगा। तुम लाख सिर काटो मेरा इसमें क्या बनता बिगड़ता है?"

इन्द्रकी बुद्धि मे यह बात नहीं बैठी। उन्होंने मुनि को धमकी देते हुए कहा—"देखिए, महाराज! मैं सत्य कहता हूँ, यदि आपने मेरी बात न मानी, तो मैं बिना सोचे आपका सिर काट लूँगा।" इतना कहकर इन्द्र रोष में भर कर वहाँ से चले गये।

कालान्तर मे दोनों भाई अश्विनीकुमार मुनिवर दधीचि की सेवा में पुन उपस्थित हुए और प्रणाम करके बोले—"प्रभो! आपने हमे वचन दिया था, कि हम तुम्हें ब्रह्म विद्या का उपदेश करेंगे, आशा है, आप का अनुष्ठान भी समाप्त हो गया

होगा। कृपा करके अब आप हमे पराविद्या का उपदेश देकर अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करें।"

इस पर महामुनि दधीचि ने कहा--"भाई मैंने तुम लोगों से प्रतिज्ञा तो अवश्य की थी, किन्तु तुम्हारे पीछे एक दिन इन्द्र आया था, उसने तुम्हें ब्रह्मविद्या न देने के लिए मुझसे बहुत आग्रह किया, उसने तो यहाँ तक कह दिया, कि यदि आप मेरा बात न मानेंगे, तो मैं आपका सिर काट लूँगा। अब भैया! जैसा तुम उचित समझो।"

इस बात को सुनकर अश्विनीकुमारों ने उदास मन से कहा—"प्रभो! हम तो बडी आशा लगाकर आपके चरणों में उपस्थित हुये थे, आपने हमसे प्रतिज्ञा भी की थी, आप हमारी आशा पर पानी न फेरें, हमे निराश न करें अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर दें। सत्पुरुष जो कह देते हैं, उसे प्राण देकर भी पूरा करते हैं।"

मुनि ने सरलता के साथ कहा—"नहीं, भैया! ऐसी तो कोई बात नहीं। मैंने तुम्हें इन्द्र का समाचार सुनाया। यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो मैं तुम्हें उपदेश दूँगा। इन्द्र यदि शिर काटे तो काट ले। मैं शरीर का परित्याग कर दूँगा। मुझे कुछ शरीर से मोह तो है ही नहीं।"

इस पर शीघ्रता के साथ अश्विनी कुमारों ने कहा—"नहीं भगवन्! हम आपके शरीर का नाश न होने देंगे। इन्द्र तो काटना ही जानता है, हम काटना जोडना दोनों ही जानते हैं। शल्य शालाक विद्या मे हम अत्यन्त निपुण हैं। हम एक काम करेंगे, घोड़े का सिर काटकर आपके धड मे लगा देंगे। आप उस अश्वके सिर से हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। इन्द्र आकर उसी सिर को काटेगा, जिससे आप ने उपदेश दिया है।

जब आपका अश्वमाला सिर कट जाय, तो आपके पूर्व के सिर हम पुन धड मे लगा कर सी देंगे। उसकी औषधियों द्वारा चिकित्सा कर लेंगे। मृत्यु की बात भगवन्! पृथक् है, किन्तु जो ९९ आकाल मृत्यु हैं, उनसे हम प्रत्येक प्राणी को बचा सकते हैं। शस्त्र से सिर काटना अकाल मृत्यु ही है, उसकी चिकित्सा हम भली भाँति जानते हैं।"

अश्विनी कुमारों की ऐसी बात सुनकर महामुनि दधीचि परम प्रसन्न हुए। उन्होंने विधिवत दोनों भाइयों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। आत्मा परमात्मा का गूढ रहस्य समझाया। अश्व के मुख से उपदेश की जाने क कारण ब्रह्मविद्या का नाम अश्वशिरा भी पड गया। वेदों मे भी इसका उल्लेख है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सत्यवादी ऋषि ने मिथ्या भाषण के भय से अपना सिर भी काटना स्वीकार कर लिया। इन्द्र तो हठी ही ठहरे वे अपनी प्रतिज्ञानुसार उपदेश के अन्त मे मुनि का सिर काट कर चले गये। मुनि के दोनों वैद्य शिष्यों ने उनका सिर पुन मुनि के सिर मे जोड दिया, मुनि पुनः ज्यों के त्यों हो गय। वह अश्वशिरा विद्या अभी तक प्रसिद्ध है। मुनियों! आपने जो मुझसे अश्विनी कुमारों को सिर कटा कर कैसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, यह प्रश्न किया था। इसका मैंने सक्षेप से उत्तर दिया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—'महाभाग! हमें अब वही पिछली कथा सुनावें। हाँ, तो पराजित देवों को जब श्रीमन्नारायण ने हड्डी मागने के लिये दधीचि मुनि के समीप जाने को कहा, तो उन्होंने क्या किया?"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो! अब मैं

आपको आगे की कथा सुनाता हूँ उसे आप श्रद्धासहित श्रवण कीजिये।

छप्पय

विष्णु कहें सुरराज काज ऋषिवर ई साधें।
तनय अथर्वा नित्य नियम तें हरि आराधें॥
नाहीं सुरपति करी विविधि विधि धमकी दी हीं।
यमजनि तें जो कही प्रतिज्ञा पूरी कीन्हीं॥
कही ब्रह्मविद्या सकल, हयसिर तें मुनि ऋषभ जो।
अश्वशिरा के नाम तें, है प्रसिद्ध अवतलक जो॥

युष्मभ्य याचितोऽश्विभ्या धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति ।
ततस्तेरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः ॥
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेज उपबृंहितः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ९ अ० ५४ श्लो०)

छप्पय

मिलि सब जाओ करो वन्दना ऋषि चरननि की ।
मांगो है के दीन अस्थि अति पावन मुनि की ॥
अबसि देइँगे कबहुँ मनें मुनिवर न करिहैं ।
तुम सब के हित विहँसि नेह तें देह तजिहैं ॥
उनकी तपमय अस्थि तें, सुघर वज्र बनि जायगो ।
वाई तें जा वृत्त को, सिर धड़ तें कटि जायगो ॥

श्रीमन्नारायण का नाम एक ऐसी अद्भुत रसायन है, कि उसका प्रयोग जहाँ भी किया जाय, जैसे भी किया जाय, वह

---

*देवताओं से भगवान् विष्णु कह रहे हैं—"देवताओं ! देखो धर्मज्ञमहामुनि दधीचि ऋषिसे यदि उनके शिष्य अश्विनी कुमार अथवा तुम लोग यदि उनके अङ्गों को मांगोगे तो वे अवश्य दे देंगे उनकी हड्डियों से विश्वकर्मा एक श्रेष्ठ अस्त्र तैयार कर देंगे, उससे इन्द्र मेरे तेज से वृद्धि को प्राप्त होकर वृत्रासुर के सिर को काट डालेगें ।

कभी व्यर्थ होनी ही नहीं। इन्द्र के वज्र को अमोघ बताया है, किन्तु कभी कभी वह भी व्यर्थ हो जाता है, श्री भगवान् को अपराजित बताया गया, किन्तु कभी कभी वे युद्ध छोडकर भागते देखे गये हैं। किन्तु भगवन्नाम क व्यर्थ नहीं होता। यह दूसरी बात है, कि पात्र भेद से देर स भले ही हो जाय।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् ने द ताओं से महामुनि दधीचि की अस्थि माँगने का प्रस्ताव कि तब वे बडे चिन्तित हुए। उन्हे इस बात की शका भी हुई तपस्वी मुनि का दुबली पतली हड्डियों मे इतना दृढता कहाँ आगई, कि सुमेरु के समान लम्बे चौडे इस वृत्रासुर की झपट झेल सके। इसी शकाके वशीभूत होकर इन्द्र पूछने लगे—"प्रभ उन महामुनि दधीचि की अस्थियों में क्या विशेषता है?"

यह सुनकर श्रीभगवान् हँस पडे और बोले—"अच्छ पहिले वह बताओ, कि जब तुम्हारे गुरुदेव बृहस्पतिजी तुम्ह परित्याग करके चले गये और असुरों ने तुम्हे स्वर्ग से निक बाहर किया, तो तुमने उन पर फिर से विजय प्राप्त करली?"

इन्द्र ने कहा—"महाराज! हमने लोकपितामह ब्रह्माजी आज्ञा से विश्वरूपजी को अपना गुरु बनाया, उन्होंने नारायण कवच का उपदेश दिया, उस कवच के प्रभाव से हमने दुर्मद आततायी असुरों को पराजित करके स्वर्ग निकाल बाहर किया।"

इसपर भगवान् बोले—"हाँ, यही बात है। तुम नाराय कवच के प्रभाव से ही जय लाभ कर सके थे, किन्तु जिस द्वारा तुम्हें यह अमोघ अस्त्र प्राप्त हुआ, उसी का तुमने अन्या

। वध कर दिया। यह तुमने नामापराध किया। ब्रह्महत्या का ो प्रायश्चित है, तुम चार स्थानों में ब्रह्महत्या को बाँट ही चुके, गगे भी ब्रह्महत्या हो जायगी, तो उससे भी अश्वमेधादि करके ूट जाओगे, किन्तु नामापराधका प्रायश्चित्त तो यही है कि प्रबल ाम का वेग ही तुम्हे इस विपत्ति से बचा सकता है। तुमने रम ज्ञानी नामाश्रयी विश्वरूप का वध किया है। यदि विश्व-रूप से भी बढकर उसके गुरु चाहे तो तुम्हे वृत्र के भय से बचा सकते हैं। क्योंकि सबल पाप निर्बल उपायों से नष्ट नहीं होता।"

इसपर इन्द्र ने पूछा—"भगवन्! विश्वरूप के गुरु कौन हैं? उन्हे यह नारायण कवच कहाँ से प्राप्त हुआ था, उन्हीं की चल कर अनुनय विनय करे?"

भगवान् ने कहा—"विश्वरूप के गुरु हैं, उसके पिता त्वष्टा यदि त्वष्टा भी चाहें, तो तुम्हें इस विपत्ति से नहीं छुडा सकते। नामापराधी की नामाश्रयी को छोडकर मैं भी रक्षा नहीं कर सकता।"

इस पर अत्यन्त उदास होकर इन्द्र ने कहा—"प्रभो त्वष्टा क्यों हमारी बात सुनने लगे। उनके ही पुत्र का तो हमने बध किया है। उन्होंने ही तो पुत्रशोक से पीडित होकर मुझे मारने के लिये वृत्रासुर को उत्पन्न किया है। वे तो मुझे मरवाना ही चाहते हैं।"

भगवान् हँसते हुये बोले—"देवेन्द्र! तुम्हे कोई मार नहीं सकता, क्योंकि तुमने नारायण कवच को जान लिया है। ऋषि ने भी रोष मे भरकर कर्मकाण्ड का आश्रय लिया। कर्मकाण्ड तो विधि के अधीन है, जहाँ विधि मे तनिक भी वैगुण्य हुआ, वहाँ सब करा कराया व्यर्थ हो जाता है। राक्षस यज्ञों में सदा छिद्र

देखते रहते हैं, विधिहीन यज्ञ का कर्त्ता शीघ्र ही नष्ट हो है। एक भी शब्द स्वर से, वर्ण, मात्रासे मिथ्या पर उस सकल्प की पूर्ति नहीं कर सकता, जिसके निमित्त यज्ञानुष्ठान आरम्भ किया गया है। यही नहीं वह वाक्य बनकर यजमान का ही नाश करता है। महामुनि त्वष्ट इस सकल्प से अग्नि मे हवन किया था कि "इन्द्रका शत्रु को मारने वाला वृद्ध को प्राप्त हो, उत्पन्न हो।" उच्चार एक स्वर की भूल हो गई "इन्द्रशत्रो" उकार मे उन्हीं उदात्त उच्चारण करना चाहिये था। तब अर्थ होता है कि इन्द्र मारने वाला शत्रु उत्पन्न हो। किन्तु भूल से इन्द्र के इकार उदात्त उच्चारण कर गये, इस स्वर दोष से उसका अर्थ हुआ रूप जो शत्रु उसकी वृद्धि को उत्पन्न हो। अर्थात इन्द्र जिसे दे। इस प्रकार कर्मकाण्ड की विधि हीनता के कारण वह मार ता सकता नहीं। किन्तु तुमने नामापराध किया है। जि नामापराध हो जाय उसे अधिक से अधिक सकीर्तन क चाहिये। जितना नाम जप पहिले करता था उससे कहीं अ धारा प्रवाह से अविश्रान्त प्रयोग करना चाहिये। विश्वरूप बलवान उसके गुरु त्वष्टा हैं, वे तुम्हें इस नामापराध से मुक्त सकते हैं। इस असुर भाव सम्पन्न वृत्र को भगा सकते हैं, कि उनका भी तुमने अपराध किया है, वे भी तुमसे असन्तुष्ट अत तुम सब उनके भी गुरु की शरण मे जाओ। विश्वरूप बाबा गुरु तुम्हें अवश्य ही इस विपत्ति से बचा सकेंगे।"

इन्द्र ने पूछा—"भगवन्! त्वष्टा मुनि क गुरु कौन हैं? उ किनक द्वारा यह नारायण कवच प्राप्त हुआ था।"

भगवान् बोले—"त्वष्टा मुनिके गुरु वे ही महा मुनि दधी हैं। दधीचि से ही यह विद्या विश्वरूप के पिता त्वष्टा को मि

र त्वष्टाने यह अमोघ नारायणीय विद्या विश्वरूप को प्रदान । अत वे चाहें तो इस वृत्र को ही नहीं इससे असुर भाव पन्न लाखों करोंडों असख्यों दैत्यों को मार सकते हैं।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"भगवन्! वे तो शात प्रकृति के तप- ी ठहरे, वे लडाई झगडे के चक्कर म कब पडने लगे। वे हमारे ाथ युद्ध करने काहे को आवेंगे ?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् ने कहा—"अरे, भैया! तभी ी में कहता हूँ, तुम सब उनसे जाकर उनकी हड्डियों को माँग ी। उस बूढ़े का पुरानी हड्डियों में बडा सार भरा है। नारायण म उनकी हड्डी हड्डी म व्याप्त हो गया है, इससे वे हड्डियाँ परम वन तेज और कान्तियुक्त बन गई हैं। उससे जो वज्र बनेगा, ह तुम्हारे सदा काम म आवेगा। उससे तुम पर्वतों को चूर्ण कर कोगे, असुरों का सहार कर सकोगे, युद्ध म विजय प्राप्त कर कोगे।"

इस पर इन्द्र ने शकित चित्त से कहा—"यदि भगवन्! मारे माँगने पर भी उन्होंने अपनी हड्डियों का देना स्वीकार न या तो ?"

शीघ्रता के साथ भगवान् बोले—"अरे, तुम बडे शकित त्त वाले हो! हम कहते तो हैं, वे अवश्य परोपकार के लिये पने शरीर को दगे। उनकी पवित्र नामपूत अस्थियों से जो श्वकर्मा वज्र बनावेंगे उसमें मैं भी अपना वैष्णव तेज स्थापित र दूँगा। उन हड्डियों से केवल तुम्हारा वज्र ही न बनेगा, न्तु तुम्हारे खोये हुए—लुप्त हुए सभी अस्त्र शस्त्र उनकी हड्डियों । फिरसे निकल आवगे। विविध अस्त्र शस्त्र बन जायँगे।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"सूतजी! वताओं के अस्त्र शस्त्र लुप्त कैसे हो गये थे ? वे महामुनि

दधीचि की हड्डियों में कैसे आगये ? इस बात को सुनकर हृदय में बड़ा कौतूहल हो रहा है, यदि उचित समझें, हमारी इस शंका का समाधान कर दें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! यह एक बड़ी सुन्दर, बड़ी ही मनोहर, शिक्षाप्रद कथा है, उसे मैं आपके कहता हूँ। इसके श्रवण से आपकी शंका का समाधान जायगा और बहुत सी सुन्दर शिक्षायें भी मिलेंगी।

छप्पय

विश्वरूप ने तुम्हें कवच नारायन दीन्हों।
पितु त्वष्टा तें विश्वरूप द्विजवरने लीन्हों॥
मुनि दधीचि ने दयो तपस्वी त्वष्टा कूँ पुनि।
अस्थिनि महँ बिँधि गयो भये अतिई पावन मुनि॥
परोपकारी कूँ कहो, कौन कठिन जग काज है।
पर कारज के हेतु तो, तुच्छ देह, धन राज है॥

—— o ——

दधीचि मुनिकी हड्डियोंमें देवताओंके दिव्यास्त्र

(३९८)

तस्मिन्विनिहते यूय तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः ।
भूयः प्राप्स्यथ भद्र वो न हिंसन्ति च मत्परान् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ५५ श्लो०)

छप्पय

मुनि दधीचि ढिँग गये देव असुरनिकूँ जय करि ।
मुनितें बोले अमर महामुनि ! देवनि भय हरि ॥
इन अस्त्रनि तें हमनि असुर रिपु सब सहारे ।
अब ये सबई दिव्य अस्त्र हैं व्यर्थ हमारे ॥
नष्ट असुर करि देइँगे, प्रभु इनकी रक्षा करहु ।
रहें सुरक्षित यहाँ पै, इनकूँ निज आश्रम धरहु ॥

दूसरों की धरोहर अपने समीपमें रखना, बैठे ठाले की विपत्ति सिर पर ले लेना है। यदि कोई विश्वास करके हमारे

---

* श्री भगवान् देवताओं को आश्वासन देते हुए वृत्रासुर के वध का उपाय बताकर कहते हैं—"देवताओ ! वृत्रासुर के मारे जाने पर तुम अपने सब खोये हुए, लुप्त हुए अस्त्र शस्त्रों को फिर से प्राप्त कर सकोगे। जो मेरे प्रपन्न हैं, भक्त हैं, उनकी कोई हिंसा कर ही नहीं सकता। अब तुम्हारा कल्याण हो, तुम दधीचि मुनि के समीप जाओ।

पास रख गया तो, रात्रि दिन उसकी चिन्ता बनी रहती है। यदि वह नष्ट हो गई मन मे लोभ आ गया, तो मरकर नरक में जाना पडता है और बिना दिये मर गये तो उस व्यक्ति के सम्बन्धी बनकर दूसरे जन्म मे ऋण चुकाना पडता है। इस प्रकार किसी वस्तु को अपने समीप रखना बडी विपत्ति का कार्य है।

एक कहानी है एक नगर मे दो सत रहते थे। एक तो गृहस्थी थे धर्माचार्य और बडे प्रतिष्ठित सदाचारी करके प्रसिद्ध थे। लोक मे उनकी बडी ख्याति थी। बडे बडे धनिक उनके शिष्य थे। दूसरे सत बडे विरक्त थे। सब लोग उन्हें पागल समझते थे। वे कूडे करकट मे जाकर बैठते नगे रहते और हाथ मे सुरा की बोतल लिये रहते। सब लोग तो उन्हे पागल समझते थे किन्तु ये धर्माचार्य उनमे आदर बुद्धि रखते थे। उन्हे यह विश्वास था, कि ये कोई अद्वितीय महापुरुष हैं। इन्होने अपनी चर्या ही ऐसी बना रखी है।

उसी नगर मे एक बहुत धनिक महाजन था। उसकी धर्म पत्नी का देहान्त हो गया था। उसके एक अद्वितीय रूपलावण्य युक्ता षोडश वर्षीया पुत्री थी। महाजन का उसके प्रति अत्यत ही स्नेह था। वह इतनी सुन्दरी थी की उसके समान रूपवती उस प्रात मे कोई कन्या नहीं थी। एक बार महाजन को कहीं बाहर जाने का काम पडा उन दिनों यातायात की सुविधाये आज के समान नहीं थी। महाजन को अकेले ही जाना था। अब उसे चिन्ता हुई, कि मैं इस कन्या को किसक पास छोड़ जाऊँ। उसे किसी का विश्वास ही नहीं होता था सोचते सोचते उसे ध्यान आया ये धर्माचार्य बड़े सदाचारी और प्रसिद्ध पुरुष हैं, इनक पास अपनी लडकी को मैं छोड़ जाऊँगा तो मुझे कुछ चिन्ता

न रहेगी।" यह सोचकर वह उन धर्माचार्य के समीप गया और अपने मनोगत भावों को कह सुनाया। धर्माचार्य कुछ काल तक सोचते रहे और अन्त में उन्होंने महाजन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया महाजन अपनी लड़की को उनके घर में छोड़कर चला गया। नियम ऐसा होता है कि जब तक विषय इन्द्रियों के सम्मुख नहीं होते तब तक हम विवेक द्वारा उनमें दोष देखकर चित्त को उनकी ओर से हटा लेते हैं। किन्तु अत्यंत आकर्षक विषय इन्द्रियों के सम्मुख हुए कि फिर मन वश में रहता नहीं मतवाले हाथी की भाँति दृढ़ लौह शृङ्खला को भी तोड़कर स्वच्छन्द हो जाता है। इसीलिये त्यागियों के लिये कहा गया कि वे विषयों से भरसक दूर रहें। उस अत्यंत सुन्दरी युवती लड़की को देखकर धर्माचार्य का चित्त चंचल हो उठा एक ओर तो धर्म संकट। एक पिता हमारे विश्वास पर बिना संदेह के अपनी लड़की को यहाँ छोड़ गया है उस पर कुदृष्टि करना पाप है। दूसरी ओर मन स्वतः ही उसकी ओर खिँचने लगा। धर्माचार्य बड़े धर्म संकट में पड़े जो लड़की पास में है उसे कहीं पृथक् भी नहीं कर सकते और धर्म से भी विचलित नहीं हो सकते। उनके मनमें द्वन्द्व युद्ध होने लगा। जब सब लोग सो गये तो वे चुपके से अकेले ही उठकर उन पागल महात्मा के समीप पहुँचे। वे एक घूरे पर बैठे थे चिथड़े लपेटे थे। हाथ में सुरा की बोतल थी। इन्हें देखते ही वे हँस पड़े और बोले—"ओहो! आप इतने बड़े धर्माचार्य होकर मेरे समीप रात्रि में अकेले कैसे आये?"

धर्माचार्य उन्हें प्रणाम करके बैठ गये और कहने लगे—"भगवन्! मैं समझता हूँ आप उच्चकोटि के संत हैं फिर आप

ऐसे निषिद्ध आचरण क्यों करते हैं। सुरापान करना तो पाप है।"

यह सुनकर वे फक्कड़ संत खिल खिलाकर हँस पड़े और बोले—"हम इसलिये ऐसा निषिद्ध आचरण करते हैं कि कोई अपनी सुन्दरी रूपवती युवती कन्या को हमारे यहाँ विश्वास पर न छोड़ जाय देखिये महाशय मेरी इस बोतल में सुरा नहीं है शुद्ध गङ्गा जल है। मैं तो वैसे ही इसे साथ लिये रहता हूँ। संसारी लोग बड़े स्वार्थी होते हैं। हमारे यम, नियम, व्रत, धर्म, सदाचार का ये अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। साधु पुरुषों को सदा सचेष्ट रहना चाहिये।"

यह सुनकर धर्माचार्य ने यह निश्चय किया कि दूसरों की वस्तु को न्यास रूप में धरोहर की भाँति रखना निरापद नहीं है जानबूझ कर विपत्ति मोल लेना है।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे यह बात पूछी थी कि दधीचि मुनि की हड्डियों में देवताओं के अस्त्र शस्त्रों की शक्ति कहाँ से आ गई सो, मैं आपके सम्मुख इस इतिहास को कहता हूँ।

एक बार बड़ा भारी देवासुर संग्राम हुआ उसमें पराजित हो कर असुर भाग गये देवताओं की विजय हुई इसपर देवताओं को हर्ष हुआ। अब उन्हें एक चिन्ता हुई, वे सोचने लगे—"जिन दिव्य अस्त्र शस्त्रों के प्रभाव से हमने अपने शत्रु दैत्य, दानव, असुर तथा राक्षस आदि को जीता है वे अस्त्र यदि सुरक्षित न रहे तो हमें पुनः हारना पड़ेगा। स्वर्ग में हम रखते हैं तो उनका पता लगाकर दैत्य दानव उन्हें चुरा ले जायँगे नष्ट कर देंगे, या उन्हीं से हमें पराजित कर देंगे। अतः इनको कहीं सुरक्षित रख देना चाहिये। ऐसे पुरुष के पास रखें जो धर्मात्मा हो,

सत्यवादी हो, तपस्वी और तेजस्वी हो, जिससे इनकी रक्षा मे किसी प्रकार का सदेह न रह जाय ।"

बहुत से ऋषियों की बात सोचते सोचते देवताओं को सत्यवादी महामुनि दधीचि का नाम स्मरण हो आया, ये मुनि बडे धर्मात्मा हैं कभी भूल मे स्वप्न मे भी असत्य नहीं बोलते। सदा तप स्वाध्याय में निरत रहते हैं। शत्रु मित्र को एक समान समझते हैं। परम परोपकारी और दीनदुखियोंका दु ख दूर करनेवाले हैं। यदि इनकी सरक्षता मे ये अस्त्र शस्त्र रहे तब तो अवश्य ही सुरक्षित रह सकते हैं यह सोचकर विजय के उल्लास से प्रसन्न हुए सभी देवता अपने अपने अस्त्रों को लेकर दधीचि मुनिके आश्रम पर पहुँचे।

कलकल निनादिनी भगवती गङ्गा के तट पर महर्षि का शान्त एकान्त निरापद आश्रम था, उसमे बहुत से सुन्दर सुन्दर पुष्प और फलों वाले वृक्ष थे। मुनि के तपस्या के प्रभाव से सभी वृक्षों के पत्ते चिकने और सुदर थे। वन के जीव जन्तु बिना वैर भाव और भय के मुनि के आश्रम में विचरण कर रहे थे। सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से युक्त था। मुनि की तपस्या के प्रभाव से दैत्य दानव राक्षस तथा असुर आदि किसी शत्रु का वहाँ भय नहीं था। सम्पूर्ण आश्रम लिपा पुता स्वच्छ और निर्मल था। उसमें स्थान स्थान पर देवताओं की पीठें बनी हुई थीं अग्नि शाला में पूजित अग्नि प्रदीप्त थी। उन प्रज्वलित वैदिक अग्नियों के बीच में दधीचि मुनि भी अपने तप तेज के कारण अग्नि के समान ही प्रतीत होते थे। मुनि के कार्यों मे उनकी भार्या सदा अव्यग्र भाव से सहयोग दिया करती थी। उस पतिप्राणा, पतिव्रता यशस्विनी मुनि पत्नी का नाम गभस्तिनी था। उसका जन्म श्रेष्ठ वश में हुआ था। महाराजा की पुत्री थी इनकी एक

लोपामुद्रा भगवान् अगस्त की पत्नी थी उसी प्रकार ये थीं बड़ी सती साध्वी और सदाचारिणी थी। अपने पति को साक्षात परमेश्वर मानकर पूजता और उनका प्रत्येक आज्ञा का बिना विरोध किये हृदय से प्रसन्नता पूर्वक पालन किया करती थी। उस पतिव्रता के तेज से सभी प्राणी परिचित थे।

देवताओं ने आश्रम पर पहुँच कर दधीचि मुनिके दर्शन किये। अपने आश्रम पर एक साथ ही रुद्र, आदित्य, अश्विनी कुमार, यम, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, वायु अग्नि आदि देवों को देखकर मुनि सहसा अपने आसन से उठ कर खड़े हो गये और उन्होंने देवताओं का सत्कार किया। सभी को पृथक पृथक आसन दिये। पाद्य अर्घ्य आचमनीय जल और कन्द मूल फल भेंट करके सभी की विधिवत पूजा की। दोनों से कुशल प्रश्न हो जाने के अनन्तर मुनि ने देवताओं से विनीत भाव से पूछा—"देवताओं! आज आप सबने मुझे दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। आपके पधारने से मेरा आश्रम पावन बन गया। आप सबने किस कारण कष्ट किया। क्या आप मुझे कोई सेवा समर्पित करके कृतार्थ करना चाहते हैं? क्या इस नश्वर शरीर से किसी का कुछ उपकार हो जाय, तो इससे बढ़कर कोई भी इस देह का उपयोग है? यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो उसे आप निःसंकोच होकर कहें।

मुनि की ऐसी मीठी बानी सुनकर देवताओं ने कहा—'मुनिवर! यह प्रसन्नता की बात है, कि आप हम पर सन्तुष्ट हैं एक तो हम विजय के कारण ही अत्यन्त प्रमुदित थे, फिर आज आप के दुर्लभ दर्शन पाकर तो हमारे हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, हमारे रोम रोम खिल उठे। ब्रह्मन्! हमने अपने शत्रु असुरों को अपने

दिव्य अस्त्र शस्त्रों के प्रभाव से हरा दिया है अब हम निष्कंटक हो गये हैं। किन्तु अब हमें सबसे बड़ी चिन्ता इन अस्त्र शस्त्रों की रक्षा के लिये है। यदि ये सुरक्षित न रह सके तो असुर फिर आकर हमें पराजित कर देंगे।"

मुनि दधीचि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"बड़ी अच्छी बात है, आप सबने विजय लाभ किया। यह बड़ा मंगल प्रद सुखद समाचार है। आप अपने अस्त्रों को स्वर्ग में गुप्त स्थान में रखकर उनकी सावधानी से रक्षा करें।"

देवताओं ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वर्ग में इन सब दिव्य अस्त्र शस्त्रों की रक्षा हो ही नहीं सकती। हमारे शत्रु असुर बड़े मायावी हैं। जहाँ उन्हें पता लगा नहीं कि वे चुरा लेंगे, नष्ट तथा तेजोहीन कर देंगे।"

दधीचि मुनि ने गंभीर होकर कहा—'तब तुम लोग मुझसे क्या चाहते हो?"

देवताओं ने हाथ जोड़कर कहा—"भगवन्! हम यह चाहते हैं, ये अस्त्र शस्त्र आपके आश्रम में रहें तो सुरक्षित रह सकते हैं। आपसे सब डरते हैं। आपकी तपस्या के प्रभाव से दैत्य, दानव, यक्ष, राक्षस, असुर भी यहाँ फटकने नहीं पाते। अतः कृपा करके हमारे अस्त्रों को आप धरोहर के रूप में रखकर हमारे दुःख को दूर करें हमें निर्भय करदें।"

देवताओं की ऐसी विनय सुनकर परोपकारी दयालु मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, छोड़ जाओ अपने सभी दिव्य अस्त्र शस्त्रों को। उनकी रक्षा मैं करूँगा।"

अब तक मुनि पत्नी गभस्तिनी चुपचाप खड़ी देवता और मुनि की बातें सुन रही थीं। अब उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने दीनभाव से कहा—"स्वामिन्! आप यह बैठे ठाले बिना बात

अपने सिर पर विपत्ति का बोझा क्यों लाद रहे हैं। भगवन्! आपका न कोई शत्रु है न कोई मित्र। आपको जय विजय समान है। असुर भी आपका सम्मान करते हैं, देवता भी, फिर आप अकारण असुरों से वैर क्यों ठानते हैं।"

मुनि ने कहा—"मैं असुरों से वैर कहाँ कर रहा हूँ। देवताओं के दुःख में उनकी दयावश सहायता कर रहा हूँ। असुरों से वैर करना मेरा उद्देश्य नहीं है।"

मुनि पत्नी ने कहा—"ब्रह्मन्! अपने शत्रु को जो सहायता देता है बुद्धिमान् उसे भी शत्रु के समान समझते हैं। आप देवताओं को सहायता दे रहे हैं इससे असुर आपसे द्वेष मानेंगे वैरभाव बढ़ेगा आपकी समता नष्ट हो जायगी। जिन्हें संसार के व्यवहार करने हैं, उनकी बात तो है दूसरी, किन्तु जिन्होंने श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा परमार्थ तत्व का निर्णय कर लिया है, जो यथार्थ तत्व में सदा स्थित हैं, जिन्हें संसारी कार्यों में कोई आसक्ति नहीं उन्हें ऐसे चक्कर में पड़ना उचित नहीं बिना बात दूसरों के निमित्त संकट सिर पर लाद लेना यह तो मुझे रुचिकर प्रतीत होता नहीं।"

हँसते हुए मुनि ने कहा—"प्रिये! इसमें अपनी हानि ही क्या है। हमें कुछ लेने तो हैं नहीं। न हम इनका कुछ उपयोग करेंगे। रखे रहेंगे, देवता जब आकर माँगेंगे दे देंगे।"

गर्भस्तिनी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"महाराज! रखे रहने से ही तो काम न चलेगा। आपको इनकी रक्षा करनी पड़ेगी। अस्त्रों को रखते हैं। असुर आपसे द्वेष करने लगेंगे। मान लो किसी कारण से चोरी ही चले गये, तो इतने दिन की श्रमपूर्वक की हुई रक्षा सब व्यर्थ चली जायगी,

देवता आपसे द्वेष करने लगेंगे अत मेरी सम्मति मे प्रभो, दूसरों की वस्तुओं मे ममत्व करना उचित नहीं। आप देवताओं को असुरों के विरुद्ध सहायता दे रहे हैं।"

मुनिने कहा—"अच्छा, सहायता ही सही। दीन दुखियों की की सहायता करना कोई बुरी बात तो है नहीं। अपने से किसी का कुछ उपकार हो जाय, तो अतिउत्तम है।"

शीघ्रता के साथ मुनिपत्नी ने कहा—"भगवन्! मैं सहायता देने को मना नहीं कर रही हूँ। परोपकार तो सज्जनों का भूषण ही है। किन्तु इस प्रकार की धरोहर रखना यह परोपकार नहीं है। अपने पास धन हो और कोई दीन दुखी आ जाय, तो उसे तत्क्षण विदा कर देना चाहिये। धन न हो तो साधु पुरुषों को मन, वाणी और शरीर से ही दूसरों की सहायता करनी चाहिये। इस प्रकार धरोहर रखने की वस्तु की सदा विद्वानों ने निन्दा की है। इन्हीं देवराज इन्द्र ने धरोहर रखकर एक तपस्वी को भ्रष्ट कर दिया था।"

मुनि ने पूछा—"इन्द्रने तपस्वी को भ्रष्ट कैसे किया? इस कथा को मुझे सुनाओ।"

गभस्तिनी ने कहा—"ब्रह्मन्! एक अरण्य में एक परम तपस्वी मुनि रहते थे। वे कभी हिंसा नहीं करते थे, घोर तपस्या मे सदा निरत रहते थे। उनकी ऐसी उग्र तपस्या को देखकर इन देवराज इन्द्र को बडा भय हुआ, कि कहीं यह तपस्या के द्वारा मेरा इन्द्रासन न छीन ले। अत इन्होंने उसके तप में विघ्न डालने का निश्चय किया। एक दिन ये एक योद्धा का वेश बना कर उन तपस्वी के आश्रम पर गये। तपस्वी ने इनको अतिथि समझकर सत्कार किया, इन्होंने विनीत भावसे कहा—"ब्रह्मन्!

मुझे एक स्थान मे बिना खड्ग के जाना है। जब तक मैं लौटकर न आऊँ तब तक आप इस खड्ग की रक्षा करते रहें।"

भोले भाले तपस्वी मुनि इनकी चिकनी चुपड़ी बातों मे आ गये। उन्होंने खड्ग रख लिया। ये वहाँ से चले गये। अब तो मुनि को चिन्ता रहने लगी, कहीं खड्ग खो न जाय। दूसरे का धरोहर है, अत. वे कदमूल, फल लेने जब वन मे जाते, तो उस खड्ग को भी साथ साथ ही रक्षा के निमित्त ले जाते थे।"

मुनिपत्नी गभस्तिनी कहती है—"ब्रह्मन् हाथ मे लेखनी हो तो अकारण ही कुछ लिखने की इच्छा होती है। वैद्य सम्मुख हो, तो बिना रोग के ही नाड़ी दिखाने को चित्त चाहता है, इसी प्रकार हाथ मे अस्त्र शस्त्र लाठी डंडा हो तो, पेड़ पत्ता/ कुत्ता बिल्ली पर ही चला देते हैं। निरन्तर खड्ग साथ रहने से मुनि के मन मे हिंसा जाग्रत हुई, पहले तो वे आत्मरक्षा के निमित्त उसका उपयोग करने लगे, फिर मांस के लोभ से जीवों को मारने लगे। इन्द्र तो यह चाहते ही थे, तपस्वी से वे हिंसक बन गये। उस खड्ग की रक्षा के कारण ही उनका तप नष्ट हो गया। अत प्राणनाथ! मेरी सम्मति नहीं है, कि आप इन अस्त्रों को यहाँ रखें।

पतिव्रता गभस्तिनी की ऐसी स्पष्ट बातें सुनकर देवताओं का तो हृदय धड़कने लगा वे लज्जित से हो गये, गभस्तिनी से वे अत्यधिक डरने लगे। उनका मुख फक पड़ गया। देवताओं को दु खी देखकर मुनि को दया आ गई। वे अपनी प्यारी पत्नी से बोले—"कल्याणि! देख, मैंने इन बिचारे देवताओं को दुखी देखकर यहाँ अस्त्र शस्त्र रखने का वचन दे दिया है, अब यदि न रखूँगा तो मैं झूठा बनूँगा मुझे चिन्ता बनी रहेगी,

चित्त में नाना सकल्प विकल्प उठते रहेंगे। साधु पुरुष जिसे जो वचन देते हैं उसका पालन प्राण देकर भी करते हैं। अत. तू मुझे अब इस काम से रोके मत।"

पतिव्रता स्त्री अपने पति की इच्छा के प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकती है। उसने सोचा कोइ भी मनुष्य आने वाली विपत्ति को पुरुषार्थ से टालने मे समर्थ नहीं। दैव की गति दुर्निवार है। यही सब सोच समझकर उसने फिर विरोध नहीं किया। देवता अपने अपने दिव्य अस्त्र शस्त्रों को रखकर प्रसन्न होते हुये स्वर्ग को चले गये। इधर मुनिवर उन अस्त्रों की बडी सावधानी से रक्षा करने लगे। असुर भी घात मे रहने लगे कि किसी प्रकार मुनि से लेकर इन अस्त्र शस्त्रों को नष्ट कर दें। किन्तु मुनि की तपस्या, तेज के कारण उनका साहस नहीं होता था। इस प्रकार अस्त्रों को रखे रखे देवताओं के वर्षों से हजार वर्ष हो गये। देवता फिर अस्त्र लेने आये ही नहीं।

अब बहुत दिन हो गये तो मुनि ने अपनी पत्नी से कहा—"कल्याणी! तुम्हारी बात ठीक निकली। आजकल दैत्य मुझसे द्वेष करने लगे हैं। वे सर्वदा अस्त्रों की घात मे रहते हैं, इन्हें चुरा लें। देवता यहाँ से अस्त्रों को ले जाना नहीं चाहते। अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ?"

पतिव्रता ने हाथ जोडकर दीनता से कहा—"प्रभो! मैंने तो यही निवेदन किया था। मैं क्या बताऊँ आप सर्वज्ञ हैं सर्व-समर्थ हैं, जैसा उचित समझें वैसा करें।"

अपनी पत्नी की ऐसी बात सुनकर धर्म के मर्म को जानने वाले मन्त्रद्रष्टा सर्व समर्थ मुनि ने उन दिव्य अस्त्रों को मन्त्रों द्वारा जल में धोया। उनकी जितनी भी दैविक शक्ति थी,

उसे खींचकर मुनि ने जल में स्थापित किया और उस जल को वे पी गये। अब उस सर्वास्त्रमय परम पवित्र तेजयुक्त जल को पीकर मुनि पचा गये। वह तेज उनकी अस्थियों में व्याप्त हो गया। तेज निकल जाने से वे धातु के अस्त्र शस्त्र शक्तिहीन होकर कालान्तर में नष्ट होगये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी कारण दधीचि मुनि की अस्थियों में सभी अस्त्र शस्त्र विद्यमान थे। तभी भगवान् ने देवताओं को मुनि के अस्थि से वज्र तथा दूसरे अस्त्र शस्त्र बनाने की आज्ञा दी भगवान् की आज्ञा पाकर जिस प्रकार देवता उनसे उनकी अस्थि माँगने गये, उस प्रसङ्ग को मैं आगे आपसे कहूँगा।"

छप्पय

स्वीकारी सुर विनय अस्त्र मुनि ने धरि ली हैं।
गमस्तिनीतें डरे देव मुनि निभय की हैं॥
सुर लैवे नहिं गये न्यास रक्षाके भय तें।
पीये मुनि सब धोय पचाये अपने तप तें॥
ते अस्थिनि महँ बिधि गये, वज्र सरिस सबरी भई।
शुद्ध हतीं तप तें प्रथम, परम शुद्ध अब ह्वै गई॥

— ❀ —

दधीचि मुनि से देवताओं की देहयाचना।

(३९६)

अपि वृन्दारकायूयन जानीथ शरीरिणाम्।
सस्थाया यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः॥
जिजीविषूणा जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः।
क उत्सहेतत दातु भिक्षमाणाय विष्णवे॥
(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ३,४, श्लो०)

छप्पय

ताही तें हरि कही अस्थि मुनि की ले आओ।
फिरितें अपने अस्त्र शस्त्र अरु वज्र बनाओ॥
हरि आयसु स्वीकारि चले सुरमुनि ढिँग तबई।
पढ़ी पढाई बात सुनाई देवनि सबई॥
सुनि दधीचि बोले विहसि, कठिन फन्द तनु नेह को।
माँगे चाहें विष्णुई, देवै दुर्लभ देह को॥

सरलता से—बिना आशा निराशा की प्रतीक्षा की जो वस्तु प्राप्त हो जाती है उसकी प्राप्ति में उतना सुख नहीं प्राप्त होता

देवताओं ने जब दधीचि मुनि से उनकी अस्थियों को मांगा तो कहने लगे—"अरे देवताओ! क्या तुम लोग इस बात को नहीं जानते कि शरीरधारियों के लिये देह त्याग करने में अचेत कर देने वाला दुःसह दुख होता है। संसार में जो जीवित रहना चाहता है, ऐसे

जो वस्तु जितनी ही प्रतीक्षा के पश्चात् प्राप्त होती है, उत
आनन्द वर्धक मानी जाती है। खिलवाड़ में बच्चे को बुल
वह आता नहीं, हम बार बार उसे बुलाते हैं, वह हँसता है,
हिलाता है, छूकर भाग जाता है। कभी अवसर पाते ही हम
पकड़ लेते हैं, गोद में बिठाकर मुँह चूमकर प्यार करते हैं, वह
खिलखिला पड़ता है, अपने को भी प्रसन्नता होती है। वहो
बच्चा बार बार गोद में आने से मना कर रहा था, तो उस
अभिप्राय यह नहीं था, कि मैं गोद में न आऊँ। गोद में
को वह भी स्वयं उत्सुक था, किन्तु बार बार मना करने
इच्छा को बलवती बना रहा था, उसकी वृद्धि कर रहा था।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! पराजित दुखित दे
ताओं की विनती सुनकर भगवान् प्रकट हुए थे और उन्हें
सम्मति देकर कि तुम महामुनि दधीचि की अस्थि माँग लाओ
उसी से इन्द्र का वज्र और तुम सब के अस्त्र शस्त्र बनेंगे।" दे
ताओं के देखते देखते वहीं अन्तर्धान हो गये।

भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर सभी देवता मिल जुलकर
महामुनि दधीचि के आश्रम पर पहुँचे। उस समय महामुनि
दधीचि अपने सभी नित्य कर्मों से निवृत्त बैठे थे। शरद् ऋतु
की समाप्ति का समय था। जिस पुण्यतोया सरिता के समाप
मुनि का आश्रम था, वहाँ से इस वर्ष धारा बहुत दूर चली गई
थी। मुनिपत्नी पतिव्रता गर्भवतिनी सब कर्मों से निवृत्त होकर
कुछ छोटे ब्रह्मचारियों और गौओं को साथ लेकर मध्या
न्होत्तर गंगा के समीप चला जातीं। वहाँ गौओं को बछड़ों को

पुरुषों को वह अत्यन्त ही प्रिय होती है। उसे देने का साहस कौन कर
सकता है फिर चाहे साक्षात् विष्णु भगवान ही आकर क्यों न माँगे।

न्हिलातीं। बर्तनों को मलतीं वस्त्रों को धोतीं, जल भरतीं और लेकर तब वह सायकालीन सन्ध्या तक लौटकर आश्रम मे आता। देवता उस पतिव्रता के प्रभाव और स्वभाव से परिचित थे। वे यह भी जानते थे, कि सती गर्भस्तिनी अपने पति की प्राणों की रक्षा के निमित्त सब कुछ कर सकती है। अपने प्राणों की भी आहुति दे सकती है। हमें शाप देकर भस्म कर सकती है। इसीलिये वे उस सती से बहुत डरते थे। रसोई के बर्तनों गौओं और ब्रह्मचारियों को लेकर ज्योंही मुनि पत्नी सरिताकी ओर चली त्यों ही देवताओं ने अत्यत प्रसन्नता प्रकट करते हुये, कपट की हँसी हँसत हुये मुनि के समीप जाकर उन्हें दण्डवत् की।

आज चिरकाल के अनन्तर देवताओं को अपने आश्रम पर देखकर मुनिश्रेष्ठ दधीचि अत्यन्त ही प्रसन्न हुये और उनकी विधिवत् पूजा करके कुशल पूछने लगे। मुनि बोले—"देवताओं तुम लोग मुझे भूल गये ? कहो, सब कुशल मङ्गल है न ?"

हाथ जोडे हुये दीनता प्रकट करते हुये देवताओं ने विनीत भाव से कहना आरभ किया कुशल कहाँ है भगवन्! कुशल होती, तो हम आपके दर्शन करने नहीं आते ? महाराज जबसे आप के आश्रम से हम गए, तब से एक न एक झंझट लगा ही रहता है। ये असुर हमें सुख पूर्वक रहने नहीं देत। सदा वैर भाव स्थापित करके विग्रह बनाये रखते हैं। आज कल हम बड़े दुखी हैं। वैसे तो बहुत दिनों से दर्शन करने की इच्छा हो रही थी, किन्तु आज तो हम अपना दुःख सुनाने ही श्रीचरणों में उपस्थित हुए हैं।"

दधीचि मुनि ने कहा—"अरे, देवगण! तुम लोगों को क्या कष्ट है ? अपनी विपत्ति का कारण मुझे बताओ।"

उदास होकर इन्द्र बोले—"क्या बतावें भगवन्! कल तो हम घर द्वार से हीन असुरों द्वारा पराजित हुए मा मारे फिर रहे हैं। हमारे पास दिव्य अस्त्र शस्त्र भी नहीं। उन सब को आपके समीप रख गये थे। अब जब पराजित हु तब उनकी याद आई।"

कुछ लज्जित होकर मुनिवर बोले—"देवताओं! देख तुम्हारे वर्षों से सहस्र वर्षों तक मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करत रहा। तुम लोग लौटे ही नहीं थे। अत्यधिक समय पाक ससारी सभी वस्तुएँ शक्तिहीन होने लगती हैं। मैंने देखा कि काल तक कुछ भी उनका उपयोग प्रयोग न होने के कारण सब शक्तिहीन हुये जा रहे हैं, तो मैंने उनकी सम्पूर्ण शक्ति जल मे आकर्षित कर लिया और उस सर्वास्त्रमय अभिमन्त्रि पावन जल को मैं पी गया। मेरी समस्त हड्डियों मे उन स अस्त्र शस्त्रों का तेज व्याप्त हो गया। अत देवताओ! मैं लज्जित हूँ कि तुम्हारी धरोहर की रक्षा न कर सका। मेरी इच्छा न्याम अपहरण की नहीं थी। अब आप लोग जैसा कहे।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"नहीं भगवन्! हम तो कुछ नहीं कहते। हम सब तो समझ ही रहे थे, कि इतने दिनों में अस्त्र शस्त्र सभी शक्तिहीन हो गये होंगे, तभी तो हम इतनी विपत्ति पड़ने पर भी आपके समीप न आकर शेषशायी भगवान् श्रीमन्नारायण की शरण गये और उनके चरणों में अपना दुःख निवेदन किया। हमारा दुःख सुनकर उन्होंने एक विचित्र आज्ञा दी, जिसे हमें आपके सम्मुख वैसे कहने में भी बड़ी भारी लज्जा लगती है। अत्यन्त सकोच होता है।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए अपनापन दिखाते हुये मुनिवर बोले—'अरे, देवताओ सकोच की कौन सी बात

है। भगवान् ने क्या आज्ञा दी मुझे बताओ। अपने आत्मीयों से लज्जा थोड़े ही की जाती है।?"

इस पर इन्द्र ने कहा—"महाराज! है तो अत्यन्त दोष की ही बात किन्तु अर्थी तो दोषों को देखता नहीं। उसका लक्ष्य तो होता है अपने स्वार्थ की सिद्धि करना। इसीलिये इच्छा न रहने पर भी हमे कहना ही पडता है। भगवान् ने कहा है—ससार मे इस समय दधीचि मुनि की भाँति ज्ञान, विज्ञान मे पारगत, तेजस्वी, तपस्वी, यशस्वी, परोपकारी, सर्वहितकारी, त्यागी, विरागी दूसरा मुनि कोई है ही नहीं। वे सभी मुनियों के मुकुट मणि हैं। साधु समाज के चूडामणि हैं, उन्होंने इतनी घोर तपस्या की है कि उनकी समस्त अस्थियाँ तपोमय बन गई हैं। तप से पूत होने के साथ ही साथ उनमे समस्त अस्त्र शस्त्र का तेज भी व्याप्त हो गया है, यदि उन अस्थियों से विश्वकर्मा एक वज्र बनादें तो उससे तो वृत्रासुर का सहार हो सकता है, इसके अतिरिक्त वृत्रके वधका—विपत्तियों से छूटने का—दूसरा कोई उपाय है ही नहीं।"

यह सुनकर मुनिवर दधीचि हँसते हुए बोले—"अरे, शरीर मे से अस्थियाँ ही निकल जाँयगी तो फिर शरीर टिक ही कैसे सकता है। अस्थियों से ही तो यह ढाँचा बना है। हड्डी दे देने का अर्थ तो यह होता है, प्राणों का दान दे देना, शरीर का त्याग कर देना।"

देवताओं ने शकित चित्त से कहा—"इसे तो भगवन् आप ही समझ सकते हैं।

खिलखिलाकर हँसते हुए मुनि ने कहा—"अरे, इसमें समझने का कौन सी बात है भैया! इसे तो बच्चा भी समझ सकता है कि हड्डियों के देने का अर्थ शरीर दे देना-मृत्यु को

स्वेच्छा से आलिङ्गन करना। शरीर कुछ घास फूस तो है न, जो बिना विचारे उठाकर दे दिया जाय। जो संसार में जीवित रहना चाहता है, वह शरीर देने की बात तो पृथक् रही अपनी एक उँगली को भी स्वेच्छा से कटवाना न चाहेगा।"

इन्द्र ने कहा—"हाँ महाराज! यह तो हम सब समझते हैं, हमें तो भगवान् ने जो आज्ञा दी थी, उसे ही आपके सम्मुख दुहरा दिया। हमने अपनी ओर से एक शब्द भी कुछ नहीं कहा ऐसी भगवान की आज्ञा है, अब आप जैसा उचित समझें।"

व्यंग की हँसी हँसते हुए दधीचि ऋषि बोले—"अरे भैया, ब्रह्माजी की आज्ञा हो या विष्णु जी की अपना शरीर कौन दे सकता है? देह तो चाहे सूकर कूकर की क्यों न हो। वृद्धावस्था से जर्जरित तथा रोगों से ग्रस्त ही क्यों न हो, कोई भी जीवित रहने की इच्छा वाला पुरुष स्वेच्छा से अचेतन करने वाली—शरीर से प्राणों को पृथक् बना देने वाली मृत्यु को स्वीकार नहीं कर सकता।"

मुनि की ऐसी युक्ति वाली बातें सुनकर देवताओं का मुख तो फक पड गया। वे समझ ही न सके, कि महामुनि हँसी कर रहे हैं। स्वार्थी का हृदय बहुत ही शंकित होता है। याचक का अन्तःकरण सदा डावा डोल होता है। जिस समय वह माँगने को चलता है, उसी समय वह मृत्यु को आलिंगन कर लेता है। प्राणहीन शव होकर मानापमान की कुछ भी चिन्ता न करके तब किसी के सम्मुख हाथ फैलाना पड़ता है याचक मृतक से भी अधिक घृणास्पद, तृण से भी अधिक हलका और वेदनिंदक से भी अधिक

नीच तथा क्रोध से भी अधिक अनादरणीय माना जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"मुनियो! जब अपना स्वार्थ सिद्ध करना होता है और अपने में पुरुषार्थ तथा शक्ति नहीं होती, तो स्वार्थी पुरुष धर्म का आश्रय लेते हैं। उपदेशक बनकर परोपकार की शिक्षा देते हैं। इसी न्याय से देवगण दधीचि मुनि को परोपकार का महत्त्व बताते हुए धर्म की बातें कहने लगे।

छप्पय

स्वेच्छा तें नहिं जीव देह अपनी कूँ त्यागे।
पापी, रोगी, मूढ, देह सब कूँ प्रिय लागे॥
सह दुसह दुख किंतु मृत्यु तोऊ भयकारी।
च्यौं तुम माँगो देव! देह की अस्थि हमारी॥
बोले सुर स्वारथ सहित साधु सदा परहित निरत।
दुखित देव सब आप प्रभु, दुखियनि दुख मेंटत सतत॥

———

परोपकारी को कुछ भी अदेय नहीं

(४००)

किंतु तद्दुस्त्यज ब्रह्मन्पुंसा भूतानुकम्पिनाम् ।
भवद्विधाना महता पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ५ श्लो०

छप्पय

जिनको मत है सतत दया जीवनि पै करिबो ।
उनकूँ एक समान जगत् महँ जीवो मरिबो ॥
परकारज हित हपि साधु प्राननि कूँ देवें ।
दाता देहिँ अनित्य नित्य बदले महँ लेवें ॥
कहें सतजन जगत् महँ, एक त्याग ई श्रेय है ।
पर उपकारी के लिये, नहिँ कछु वस्तु अदेय है ॥

छोटा "स्व" स्वार्थ है बड़ा "स्व" परमार्थ है। स्वार्थ और परमार्थ में इतना ही अन्तर है। जो स्वार्थ शरीर तक ही सीमित है—"मेरा शरीर सुखी रहे मैं दुर्बल न होऊँ, इस वस्तु को मैं ही खा लूँ, मेरे शरीर की ही रक्षा रहे" यह सब क्षुद्रातिक्षु

---

*देवतागण महामुनि दधीचि से कह रहे हैं—'ब्रह्मन् जिनके शुभ कर्मों की पुण्यश्लोक पुरुष भी प्रशंसा करते हैं तथा जो सम्पूर्ण प्राणियों पर सदा अनुकम्पा किया करते हैं, ऐसे आप जैसे महापुरुष किस वस्तु का त्याग नहीं कर सकते हैं। परोपकारियों के लिये कौन सी वस्तु अदेय है?

स्वार्थ की भावना है अब इस ओर "स्व" को बढाया जाय मेरी स्त्री सुखी रहे, मेरे बच्चे सुखी रहें, मेरे परिवार वालों को कष्ट न हो" यह अपेक्षाकृत देह स्वार्थ से श्रेष्ठ है। मेरा नगर सुखी रहे, मेरे बन्धु बान्धव परिवार के प्रवासी नगर निवासी परिचित प्रसन्न हों, यह उससे बडा है। मेरे प्रान्तवासी देशवासी ही प्रसन्न रहें और चाहें मेरे जीते यह उससे भी बड़ा "स्व" है। सब प्राणी सुखी रहें, सब नीरोग रहें, सभी का कल्याण हो, कोई दुखी न हो। यह सब सबसे बडा, सबसे ऊँचा स्वार्थ है इसी का नाम परमार्थ भी है। ऐसे भाव रखने वाला ही मोक्ष का अधिकारी है। सर्व भूतों के हित मे निरत रहनेवाले परोपकारी पुरुषों के समीप अपनी कहलाने वाली तो कोई वस्तु ही नहीं। उनका तन, मन, धन सर्वस्व दूसरों के उपकार के लिये है। ऐसे परोपकारी पुरुषों की कभी भी मृत्यु नहीं होती वे सदा अमर बने रहते हैं। जिसकी कीर्ति जीवित है। वह मरकर भी जीवित है। जिसकी कीर्ति चारों ओर फैली है वह जीता हुआ भी मृतक सदृश है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब हँसी हँसी मे महामुनि दधीचि ने प्राणों के दान को दुस्त्यज बताया तब तो देवता उन्हें परोपकार का महत्व बताते हुए कहने लगे—"ब्रह्मन्! जैसी बात आप कह रहे हैं वैसी ससारी लोगो को शोभा देती है। यह सत्य है, अपनी अपनी देह सभी को प्यारी होती है। प्राणों की रक्षा करनी चाहिये, किन्तु आप जैसे परोपकारी महापुरुष इसके अपवाद हैं। आपके मुख से ये बातें शोभा नहीं देती। परोपकारी पुरुषों के लिए तो ससार में कुछ अदेय वस्तु है ही नहीं। धर्म की देवताओं की रक्षा करना तो

महापुण्य कार्य है परोपकारी पुरुष तो पशु पक्षियों के लिये प्राण दे देते हैं देखिये महाराज शिवि ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने प्राणों को दे दिया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूत जी से पूछा—"सूत जी! महाराज शिवि ने कपोत के लिये कैसे प्राण दे दिये इस कथा को हमे सुनाइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न करने पर सूतजी कहने लगे—"भगवन्! आपने सुना ही होगा। प्राचीन काल मे परम यशस्वी उशीनर बडे ही धर्मात्मा और प्रजा के परम प्रीति भाजन भूपति हो चुके हैं। पुण्य श्लोक महाराज शिवि उन्हीं के पुत्र थे। पिता के पश्चात् वे राज्य के उत्तराधिकारी हुए और पिता के सदृश ही धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे वे इतने धर्मात्मा परोपकारी भूपति थे, कि पर पीडा को सहन नहीं कर सकते थे। उनकी शरण मे कैसा भी कोई आ जाता उसी की रक्षा करते। उनकी शरणागतवत्सलता का प्रशसा तीनों लोकों में छा गई। इन्द्र को बडा डाह हुआ, कि पृथिवी मे रहने वाले एक मर्त्यधर्मा राजा की कीर्ति मुझसे भी बढ गई है। उसकी शुभ्र कीर्ति से यह त्रिभुवन भर गया है। किन्तु करते क्या जितना पुण्यकार्य परोपकार इस मनुष्य शरीर से हो सकता है, उतना देव शरीर से तो होना सभव ही नहीं। परोपकार के कारण महाराज शिवि की कीर्ति दिग्दिगन्तों मे छा गई।

एक दिन की बात है, कि महाराज अपनी राजसभा मे बैठे थे। इतने में ही एक भयभीत कपोत बडे वेग से उडता हुआ आकर महाराज शिवि की गोद मे छिप गया। सहसा एक दुखित पक्षी को स्वत ही अपनी गोद में बैठा देखकर राजा के हृदय में बड़ी करुणा आ गई। प्यारसे उन्होंने उसके सिरपर हाथ फेरा उसे

निर्भय करने की चेष्टा करने लगे उसी समय राजपुरोहित ने कहा—"महाराज ! यह कबूतर आपके शरण में आया है, आप शरणागत वत्सल हैं, इसकी रक्षा तो आप करेंगे ही, किन्तु इस प्रकार सहसा कबूतर का गिरना भावी अनिष्ट का सूचक है, अत आप इस अनिष्ट की शान्ति के लिये कुछ दान धर्म करावें।" इतने में ही राजा के पास एक बाज आकर बैठ गया। बाज को देखकर काँपते हुए कबूतर ने कहा—"प्रभो ! यह बाज मुझे मार डालेगा, अत मैं आप की शरण हूँ आप मेरी रक्षा करें।

एक कबूतर के मुख से इतना स्पष्ट मनुष्य वाणी सुनकर महाराज शिवि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बोले—"हे पक्षी ! तुम पक्षी होकर ऐसी स्पष्ट मधुर मनुष्य वाणी कैसे बोल रहे हो ?"

यह सुनकर कबूतर ने कहा—"राजन ! वास्तव मे मैं पक्षी नहीं। मैं इच्छानुरूप रूप बनाने वाला एक जितेन्द्रिय वेदज्ञ ब्रह्मचारी हूँ। मैंने वेदों का विधिवत अध्ययन किया है। मैं धर्म के मर्म को जानने वाला वेद पाठी विशुद्ध ब्राह्मण हूँ। इस बाज के भय से भयभीत हुआ, मैं आप की शरण मे आया हूँ। सुना है, आप बडे शरणागत वत्सल हैं, मेरी इस बाज से रक्षा कीजिये। यदि मेरी आपने रक्षा न की, तो आपको पाप लगेगा।"

कबूतर की ऐसी बात सुनकर बाज बोला—"महाराज ! आप धर्मात्मा हैं, ससार मे सब से बडा पाप है किसी की जीविका का अपहरण कर लेना। ब्रह्मा जी ने मेरी यही जीविका बनादी है। मैं बहुत भूखा हूँ। जैसे तैसे तो मुझे यह कपोत मिला है, मैं इसे मार कर अपनी बुभुक्षा शान्त करना ही चाहता था कि आपने इसे अपनी गोद मे छिपा लिया। आप इसे न देंगे, तो आपको भूखे प्राणी की जीविका अपहरण करने का पाप लगेगा।"

बाज की ऐसी गूढ ज्ञान युक्त बात सुन कर महाराज शिवि धर्म सकट मे पड गय। उन्होंने बडी विनय के साथ बाज स कहा—"हे पक्षी! देखो, तुम मेरी बात सुनो। तुम्हें तो पेट भरने से काम है, मैं तुम्हारा जिसके मास से कहो पेट भर दूँगा। तुम कहो तो जीवन भर में तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध कर दूँगा, किन्तु इस कबूतर को मुमसे मत माँगो। इसे में दे दूँगा, तो ससार में सर्वत्र मरा अपयश फैल जायगा, सभी कहेंगे, यह राजा झूठा है। यह शरण में आये प्राणियों की रक्षा नहीं कर सकता। तुम मेरे ऊपर कृपा करके ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे तुम्हारा काम भी हो जाय, मेरी अपकीर्ति भी न हो। जितना कहो उतना मैं मास मँगा दूँ।"

बाज ने दृढता के साथ कहा "देखिये महाराज! न तो मुझे और किसी का मास चाहिये। न कबूतर के मांस से अधिक ही मास चाहिये। मैं जब अपने पुरुषार्थ से पैदा करता हूँ, दूसरों क सम्मुख दीन होकर याचना क्यों करूँ।"

राजा ने सरलता के साथ कहा—"हे खग! तुम दीन कहाँ हो रहे हो, दीनता तो मैं दिखा रहा हूँ। तुम याचना नहीं कर रहे हो, मैं ही उलटा तुमसे भीख माँग रहा हूँ, तुम कबूतर क मास से अधिक नहीं लेना चाहते, तो इसी क बराबर जिस का चाहो मास मुझ से तोल कर ले लो। ऐसा काम करो भैया, कि मेरी कीर्ति नष्ट न होने पावे। लोग मेरी निंदा न करें।"

राजा की ऐसी बात सुनकर बाज गभीर हो गया और बोला —"महाराज! यदि आप इस कबूतर का बराबर मुझे किसी का मास देना ही चाहते हैं, तो स्वय ही अपने हाथसे काटकर अपना जाँघ का मास इस कपोत का बराबर दे दें। इससे आपकी कीर्ति भी बढ़ेगी। नाम भी होगा और मेरा भी काम बन जायगा।"

बाज की ऐसी बात सुनकर महाराज शिवि अत्यत प्रसन्न हुए। उन्होंने एक तराजू लेकर एक ओर तो कबूतर को रखा और दूसरी ओर अपना जाँघ से स्वय मास काट काटकर तराजू के पलड़े में रखने लगे। महाराज ने देखा कबूतरका पलड़ा उठना ही नहीं कितना भी वे मास काट काटकर रखते हैं किन्तु उस कपोत के बराबर नहीं होता। जब उन्होंने देखा कबूतर का पलडा भारी है, तो वे स्वय तराजू के पलड़े पर बैठ गये। महाराज की ऐसी परोकार मे निष्ठा देखकर सभी धन्य धन्य करने लगे। स्वर्ग से देवताओंने दुन्दुभी बजाई नन्दन वन के दिव्य पुष्पों का उनके ऊपर वृष्टि की इतने मे ही बाज अन्तर्धान हो गया।

राजा शिवि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बाज और कबूतर दोनों को मानवी भाषा बोलते देखकर ही चकित हो गये थे, इस घटना से तो वे और भी आश्चर्य में भर गये। उन्होंने बडे स्नेह के साथ कबूतर से पूछा—"हे पक्षि श्रेष्ठ! मैं यह जानना चाहता हूँ, कि आप कौन हैं? आप दोनों साधारण पक्षी तो हैं नहीं। यह बात आप दोनो के सम्वाद से ही स्पष्ट हो जाती है।"

यह सुनकर कबूतर बोला—"महाराज! आपका अनुमान असत्य नहीं है। मैं साक्षात् धूमकेतु देवताओं को हवि पहुँचाने वाला अग्नि हूँ। बाज रूप धारण करने वाले ये स्वर्गाधिप देवेन्द्र शतक्रतु हैं। हम दोनों आपकी परोपकार निष्ठा और शरणागत वत्सलता की परीक्षा करने निमित्त ही कबूतर और बाज का रूप रखकर आये थे। राजन्! आपने अपने प्राणों को भी देकर शरण में आये हुए कबूतर की रक्षा की, अत मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ, कि ससार मे आपकी सदा अक्षुण्णकीर्ति बनी रहेगी। आप दानियों मे सर्वश्रेष्ठ समझे जायँगे और जिस जगह

से आपने अपना मांस काटा है वह ज्यों की त्यों होकर सुवर्ण की बन जायगी, इस प्रकार आपकी दिगन्त व्यापी कीर्ति का सदा के लिये चिन्ह शेष रह जायगा।"

श्रीसूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो इतना कहकर अग्निदेव भी वहीं अन्तर्धान हो गये। सो, दधीचि मुनि की शरण में आये हुए देवता भी उन्हीं शिवि का उदाहरण देकर मुनि से अस्थि देने के लिये आग्रह करने लगे।

छप्पय

इंद्र बने वर बाज कबूतर अनल बनाये।
दोनों झगड़त परम यशस्वी शिव ढिग आये॥
अति ई दुखी कपोत कहे प्रभु रक्षा कीजे।
बाज भूख तें दुखित कहे भोजन मम दीजे॥
शरणागत की देह दे, पीड़ा भूपति ने हरी।
मांस दयो निज देह को, रक्षा शिवि वाकी करी॥

पर दुख से दुखी होना ही जीवन है

(४०१)

ननु स्वार्थपरो लोको न वेद परसंकटम् ।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥

(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ६ श्लो०)

छप्पय

सब स्वारथ के मीत न देखे परहित कोई ।
होवे मेरो लाभ हानि भल औरनि होई ॥
पर उपकारी सदा दुख औरनि को लेवें ।
दुखियन केहित विहसि प्रान तन धन कूँ देवें ॥
यह कारज मैंने कियो, नहीं करें अभिमान वे ।
उनको सहज स्वभाव यह, दोष न देवें ध्यान वे ॥

हम सब से अधिक स्नेह शरीर से करते हैं। शरीर की रक्षा और सुख के लिये ही हमारे सब व्यापार हैं। घर बनाते हैं, तो इसीलिये कि वर्षा जाड़े तथा गरमी से शरीर की रक्षा हो सके, शरीर सुखी रहे, उसे कष्ट न हो। सवारी, वाहन आदि इसी

*देवतागण दधीचि मुनि से कह रहे हैं— 'ब्रह्मन्! यह संसार तो स्वार्थी है यह दूसरों के संकट को नहीं पहिचानता कि अपनी प्रिय वस्तु देने में कितना कष्ट होगा। और यदि दूसरे के कष्ट को लोग पहिचानते, तो माँगने वाला दूसरों से माँगता ही क्यों? और समर्थ होने पर माँगने वाले से कोई निषेध ही क्यों करता?"

लिये रखते हैं, कि शरीर को श्रम न हो। विवाह इसीलिये हैं, कि शारीरिक सुख प्राप्त हो, मन मे अशान्ति न हो, जा सुविधानुसार बीते। सुयोग्य सुत इसीलिये चाहते हैं, कि वृद्धावस्था मे हमे सुख पहुँचावे। पाप करके शरीर को पा करना अन्याय है अधम पुरुष ऐसा ही करते हैं। वे अपने श को पुष्ट करने के लिय हजारों लाखों प्राणियोंकी हिसा करत मछलियों को मारकर खा जाते हैं, बहुत पशु पक्षियों को खा जा हैं, गरीबोंका रक्तशोषण करके धन एकत्र करते हैं। कुछ ला धर्म से धन उपाजन करके भरसक पर पीड़ा से बचकर शु आजीविका द्वारा धन पैदा करके अपना तथा अपने परिवार वाल का पालन करते हैं। वे धर्मात्मा पुरुष हैं, वे सच्चे पुरुष हैं। किन्तु जो परउपकार के लिय अपने शरीर को भी अर्पण कर देते हैं, व मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ऊँचे हैं देवताओं से भी बढ़ च कर हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! दधीचि मुनि के समीप जाकर देवता परोपकार की भाँति भाँति से अनेकों आख्यान और इति हास सुनाकर प्रशसा करने लगे। देवताओं ने कहा—"ब्रह्मन्! ससार में सब से बुरा कार्य है, याचना। सब से बुरा व्यक्ति है याचक। याचक से सभी घृणा करते हैं। जैसे हमसे कोई हमारा प्यारी वस्तु माँगे, तो हमें माँगने वाला बुरा लगता है, इसी प्रकार सर्वसाधारण लोगों को याचक उद्वेग पैदा करने वाला होता है। याचक सब की ओर आशा भरी दृष्टि से देखता है, किन्तु उस सामने रहते हुये भी लोग नहीं देखते। वह दीन वाणी से बार बार बोलता है, किन्तु कान रहते हुय भी लोग सुनते नहीं क्योंकि याचक अपने स्वार्थ के लिये माँगता है। वह दूसरों क सङ्कट को समझता नहीं, कि पैसा कितने परिश्रम से पैदा किया

जाता है। और फिर कैसे भी पैसा पास में आ जाय उससे कितना ममत्व हो जाता है। प्राणों से भी प्यारा लगता है। उसी इतनी प्यारी वस्तु को वही माग सकता है, जो घोर स्वार्थी है, जिसे दूसरे के दु ख का अनुभव न हो। उस याचक से भी अधिक स्वार्थी वह पुरुष है, जो सामर्थ्य रहते हुये भी मागने वाले को मना कर दे। याचक को निराश लौटाना सामर्थ्य रहते हुये भी उसकी याचना को विफल बना देना यह घोर पाप है। ब्रह्मन! इस नश्वर शरीर का होना ही क्या है। एक दिन तो इसका अत होगा ही। यदि वह उपकार मे लग जाय, तो इससे श्रेष्ठ इसका क्या सदुपयोग होगा। देखिये, सभी की देह का कुछ न कुछ उपयोग है। वृक्ष जीवन भर फल देकर परोपकार करते रहते हैं। स्वय गर्दी खाद खाकर मधुरफल दिया करते हैं। मरने पर उनकी सूखा लकडी से भाँति २ की वस्तुएँ बनती हैं, भोजन बनाने में काम मे आती हैं। गाय भैंस घास खाकर मीठा माठा अमृतोपम दुग्ध देती हैं। मरने पर उनकी अस्थियाँ, चर्म, सींग, मास सभी काम में आते हैं। हरिन की खाल की मृगछालायें बनाई जाती है, सिंह की खाल के बाघम्बर बनते हैं, जिनका राजर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि तक उपयोग करते हैं। भेड, बकरी की ऊन से वस्त्र बनते हैं। मरने पर उनकी खाल की विविध वस्तुएँ बनती है, लोगो के कामों मे आती हैं। पाना भरने के पात्र बनते हैं। सभी की देह का कुछ न कुछ उपयोग है, किन्तु यह एक मनुष्य ही ऐसा जन्तु है, कि मरने पर इसकी देह का कोई उपयोग नहीं। यदि मरा हुआ पड़ा रह जाय, तो कीडे पड जायँ, दुर्गन्धि आ जाय, वायु मडल को दूषित करदे। जला दें, तो राख होजाय, पृथ्वी मे गाड़ दें तो मिट्टी हो जाय। जगल में फेंक दें तो सियार, कुत्ता, चील्ह, कौए आदि खाते तो हैं, किन्तु

जो स्वार्थी है लोभी है, केवल पेट को ही जीवन भर पालता है उसके मांस को बुद्धिमान् गीदड़ भी नहीं खाते। एक गीदड़ अपने बच्चे को उपदेश दे रही थी—"देख बेटा! वहाँ अत्यन्त ही स्वार्थी, कृपण पेट पोषक व्यक्ति का शव पड़ा है, उसका मांस तुम कभी भूल कर भी मत खाना।"

ब्रह्मन्! इस नश्वर शरीर से यदि किसी का भला हो जाय तो इस अधम शरीर की सच्ची सार्थकता ही हो जाय। देखिये महाराज बलि ने अपने प्राण देकर भी याचक की याचना को पूर्ण किया। महाराज मोरध्वज से याचक वेष बनाये साक्षात् भगवान् ने अपने सिंह के लिए उनके पुत्र का मांस माँगा था और यह आग्रह किया था कि राजा रानी स्वयं आरा लेकर चीरें, सो राजाने ऐसा ही किया।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजा मोरध्वज ने अपने पुत्र को क्यों किस प्रकार अतिथि को दिया, इस आख्यान को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"ब्रह्मन्! यह इतिहास तो बहुत बड़ा है। मैं संक्षेप में आपको सुनाता हूँ आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

एक बार नर ने श्रीनारायण से पूछा—"प्रभो! पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ परोपकारी शरणागतवत्सल आतिथ्य सत्कार करने वाला कौन पुरुष है?"

इस पर श्रीनारायण ने कहा—"भैया! इस समय मोरध्वज के समान शरणागतवत्सल और परोपकारी दूसरा व्यक्ति मुझे दिखाई नहीं देता।"

इस पर नर ने कहा—"भगवन्! मैं उन राजर्षि मोरध्वज का महत्व जानना चाहता हूँ।"

अपने भाई की ऐसी बात सुनकर श्रीनारायण ने अपने भाई नर को तो सिंह बनाया और स्वय साधु का वेष बनाकर राजा मोरध्वज के महलों में पहुँचे। राजा ने महात्मा का हृदय से स्वागत सत्कार किया, उनकी विधिवत् पूजा की और भोजनों के लिये प्रार्थना की।

इस पर साधु वेषधारी भगवान् बोले—"राजन् मैं कई दिनों का भूखा हूँ, भूख के कारण मैं अत्यन्त ही दुखी हूँ, किन्तु जब तक यह मेरा सिंह कुछ न खा लेगा तब तक मैं भी कुछ नहीं खा सकता।"

राजा ने विनय के साथ कहा—"ब्रह्मन् आप आज्ञा करें, आपका सिंह क्या खायगा। वह जो भी खायगा उसी का मैं तत्क्षण प्रबन्ध करूँगा। आप अपने मन में किसी प्रकार की शका न करें।"

इस पर साधु वेषधारी श्रीनारायण बोले—"राजन! यह सिंह नर मास भोजी है। यदि कोई शुद्ध राजवश! का पुरुष मिले, तो उसे यह खायगा, पर इसका नियम है आधे पुरुष को खाता है।

राजा ने दृढता के साथ कहा—"भगवन! आपका सिंह मुझे खाय मैं स्वय इसके लिये उपस्थित हूँ।"

साधु ने गभीर होकर कहा—"राजन्! आप मूर्धाभिषिक्त हैं प्रजा पालक हैं। आप को मेरा सिंह न खायगा। हाँ यदि आप का राजपुत्र श्रद्धा सहित प्रसन्नता पूर्वक अपना शरीर अर्पण कर दे और आप राजा रानी दोनों ओर से उसके शरीर के दो टुकडे कर दें तो वह दाहिने टुकडे को खाकर सन्तुष्ट होगा, जब यह सन्तुष्ट हो जायगा तब मैं भोजन करूँगा। अन्यथा मैं भी भूखा ही रह जाऊँगा।

राजा अत्यन्त विनीत भाव से उल्लास के साथ कहा "ब्रह्मन्! मेरे द्वार से आज तक कभी याचक विफल होकर नहीं गया है। मेरे राजकुमार का यह परम सौभाग्य कि उसका शरीर साधु सेवा मे काम आवे। मैं अभी उसे बु कर पूछता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा ने तुरत राजकुमार बुलाया। वह तो यह सुनकर फूला नहीं समाया। उसने कहा "पिता जी यह तो मेरा बडा सौभाग्य है, जो मेरा शरीर प पकार के कार्य में लगे। आप मेरे शरीर से अवश्य ही सिंह सन्तुष्ट कर दीजिय।"

कुमार की यह बात सुनकर एक ओर राजा खडे हो ग दूसरी ओर उनकी रानी। दोनों आरा लेकर अपने पुत्र शरीर को चीरने लगे। चीरते चीरते जब आरा आँख के सम आया तो बच्चे की बाईं आँख से आँसू निकल पडे। तब सा बिगड गये और बोले—"अब कुमार के अग को मरा सिं न खायगा क्योंकि कुमार रोकर अश्रद्धा से अपना शरीर रहा है।"

इसपर अधीर होकर राजा ने कहा—"नहीं भगवन्! कुमार की बाईं आँख से इस लिये आँसू निकल पडे कि बायाँ अग कहता है हम ऐसे अभागी है कि हमारा परोपकार में कुछ भी भाग न रहा। सिंह तो कुमार के दायें अग को ही खायेगा। अत दायाँ अग प्रसन्न हो रहा है। बायाँ अग अपने इस दुर्भाग्य पर रुदन कर रहा है।'

इस बात को सुनकर साधु सन्तुष्ट हुए। दायें अग को चीर कर सिंह के आगे डाला गया। सिंह उसे खा गया अब साधु ने कहा—"रानी स्वय रसोई बनावे तो मैं खाऊँ।" यह सुनकर

रानी बिना दुखित हुए गई उसने बडी श्रद्धा से रसोई बनाई। रसोई बनाकर साधु को परसी। अब साधु पुनः अड गये। बोले—"तुम अपने बच्चे को बुलाओ, तो मैं उसके साथ भोजन करूँगा।"

राजा ने अधीर होकर कहा—"प्रभो बच्चा अब कहाँ है। उसे तो आपके सामने हमने चीर कर सिंह को खिला दिया।"

साधु हठी ठहरे बोले—"नहीं, उसे प्रेमपूर्वक बुलाओ।"

राजा क्या करते वे उसे पुकारने लगे। इतने मे ही भीतर से हँसता हुआ कुमार निकल आया राजा रानी दोनो प्रसन्न हुए। भगवान् ने अपने यथार्थ रूप मे उन दोनो को दर्शन दिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवताओं ने परोपकार के अनेकों इतिहास सुनाये। सक्तु मुनि का दृष्टान्त दिया जिन्होने अपने घर भर के सत्तुओ को खिलाकर स्वय भूखों रहकर आगन्तुक अतिथि का सत्कार किया। महाराज रन्तिदेव का चरित्र सुनाया जो ४९ दिनोंके पश्चात् प्राप्त हुआ खीरि आदि को अतिथियों को देकर भी स्वय बिना जल पिये ही सन्तुष्ट हुए और कहा था—"मैं अपने लिये स्वर्ग मोक्ष सुख कुछ भी नहीं चाहता। मेरे द्वारा दीन दुखियों का उपकार हो मेरा शरीर परोपकार में लगे, यही मेरी अभिलाषा है। सो ब्रह्मन! आपकी हड्डियों से देवताओ का भला होगा ऐसा भगवान् ने कहा है। यदि आप उचित समझे तो हमे आपनी अस्थियों को दे दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवताओं की बात सुनकर महर्षि दधीचि हँसे और उन्हें उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

हाड़ मास के बने देह में ममता सबकूँ।
चाहें सब हों दुखी सदा सुख होवे हमकूँ॥
परउपकारी त्यागि देहिँ सरबसु कै ममता।
देहिँ देह को दान रखें सबई महँ समता॥
मोरध्वजने सही सब, साधु सिंह हित सुत व्यथा।
है अब तक जगमहँ विदित, शिवि दधीचि बलिकी कथा॥

दधीचि मुनि का उत्तर

(४०२)

धर्म वः श्रोतुकामेन यूय मे प्रत्युदाहृताः ।
एप वः प्रियमात्मान त्यजन्त सत्यजाम्यहम् ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ७ श्लो०)

छप्पय

हँसि दधीचि मुनि कहें धर्म को मम जतायो ।
ताहीं तें अस व्यग देवगन वचन सुनायो ॥
विषयनि तें नहिं मोह नहीं है ममता तनकी ।
लगी रहे नित वृत्ति ब्रह्ममहँ मेरे मनकी ॥
इक दिन छूटे अवसि इ, नाशवान् यह है अनित ।
च्यौं न तजूँ फिरि स्वत ई' तन तुम्हरे हितके निमित ॥

जब बच्चे आकर हमसे कोई सच्ची बात भी कहते हैं, तो हम उनके बुद्धि कौशलको देखने के निमित्त सत्य बातमे भी तर्क करते हैं, कुछ प्रसग चले कुछ इस सम्बन्ध की प्यारी प्यारी बातें हो। स्नेहियों के साथ घुल मिलकर बातें करने मे बडा सुख होता

❀ महामुनि दधीचि देवताओं से कह रहे हैं—"देवताओ ! आप लोगों के प्रति यह बात मैंने धर्म सुनने की इच्छा से कह दी थी यह मेरा शरीर एक न एक दिन तो अवश्य छूटेगा अत इसे परोपकार के निमित्त आज ही छोड़ देता हूँ ।

है। रस का सचार दो रसिकों के शारीरिक या मानसिक से या हृदय तथा शरीर के स्पर्श से अथवा तद् सम्बन्धी वार्ताओं से होता है। रसिक लोग इनके लिये सदा लाल रहते हैं। वे इनके लिये एकान्त अवसर ढूँढते रहते हैं। ह भाव और भजन के लिये एकान्त परम आवश्यक है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं महामुनि दधीचि से उनकी अस्थियों को माँगा, तो ऊपरी म आश्चर्य प्रकट करते हुए मुनि ने कहा—"अरे! तुम लोग कै भूली भूली सी बातें करते हो। कहीं जीवित शरीर भी स्वेच से दिया जाता है।" इस पर देवताओं ने धर्म के मर्म को, परो कार के महत्व को त्याग की महानता को बताते हुये बहुत धार्मिक पुरुषों का दृष्टात दिया, जिन्होंने धर्मकी बलिवेदीपर अप सर्वस्व को यहाँ तक कि प्राणों को भी हँसते २ उत्सर्ग कर दिय था। इन बातों को सुनकर दधीचि मुनि हँस पडे और अत्यत ही प्रसन्नता प्रकट करत हुए बोले—"देवताओं! तुम कुछ और मत समझना।

इन्द्र ने व्यग्रता के साथ कहा—"भगवन्! और कुछ समझने की तो बात ही है। हम कितनी आशायें लेकर स्वय साक्षात श्रीमन्नारायण की आज्ञा से आपकी सेवा मे उपस्थित हुए थे। हमें आशा थी, आप हमारे मनोरथ को विफल न बनावेंगे, सो आप ने आते ही कह दिया, कि चाहे विष्णु भग वान ही क्यों न माँगे कोई अपने जीवित शरीर को नहीं दे सकता। इसी से हम बडे निराश हो गये हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए दधीचि मुनि बोले—"अरे, भैया! यह बात तो मैंने वैसे ही हँसी में तुमसे कह दी थी। इसी बहाने तुम्हारे मुख से मैंने धर्मकी मधुर मधुर बातें सुन ली। मुझे

इस नाशवान अनित्य शरीर का मोह थोड़े ही है। मोह उस वस्तु से करना तो उचित है, जो नित्य हो शाश्वत हो। यह देह अनित्य है, क्षण भंगुर है, नाशवान है, एक न एक दिन अवश्य ही नाश हो जायगी। जब इसे अपने आप नाश होना ही है तो इसे परोपकार में क्यों न लगा दें। यदि इसी अनित्य देह से नित्य वस्तु की प्राप्ति हो जाय, तो ऐसे लाभप्रद व्यापार को कौन नहीं करना चाहेगा ?"

इस पर देवताओं ने कहा—"भगवन्! ये प्राणी तो अपने अपने स्वार्थ में निमग्न हैं। परमार्थ आप जैसे किसी महापुरुष को ही सूझता है। हम तो स्वार्थी हैं। अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए ऐसी बातें कह रहे हैं।"

इस पर दधीचि मुनि ने कहा—"भैया! तुम लोग, स्वार्थ से कहो अथवा परमार्थ से। देखो तुम वृक्षों के ही जीवन पर ध्यान दो। सदा सरदी, गरमी और वर्षा में खड़े रहते हैं। गरमी से श्रान्त पथिकों को शीतल छाया देते हैं, उन्हें जो काट लेता है उसके भी उपयोग में आते हैं। फूलने पर सुगन्ध देते हैं फलने पर फल देते हैं। स्वयं न खाकर दूसरों को खिलाते हैं, वे निरंतर पुरुषार्थ ही करते रहते हैं। जब स्थावर होकर वे इतना परोपकार करते हैं, तो जो जङ्गम हैं, सब प्राणियों से श्रेष्ठ मनुष्य हैं, यदि वे परोपकार न करें, केवल अपने पेट पालने और शरीर को मोटा बनाने में ही लगे रहें—तो वे स्थावरों से भी अधिक शोचनीय हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि व्यापार तो पशु पक्षी मनुष्य सभी में समान रूप से होते हैं। मनुष्यों में यही एक विशेषता है, वह इस अनित्य शरीर से जीवों पर दया करते हुए धर्म और यश का उपार्जन कर सकता है। जिसने यह सब नहीं किया। अपनी कीर्ति को चिरस्थाई

नहीं बनाया वह तो पशुओं के समान है। सब प्राणियों अधिक निन्दनीय और सोचनीय है। मनुष्य में धर्म ही पशु विशेष है। धर्महीन पुरुष पुच्छ विषाणहीन पशु ही है।

इस पर देवताओं ने पूछा—"भगवन्! धर्म का मुख्य लक्ष क्या है?"

यह सुनकर दधीचि मुनि बोले—"धर्म के मुनियों ने अन लक्षण बताये हैं। किसी ने श्रुति, स्मृति, सदाचार और अप आत्मा को जो प्रिय हो इस प्रकार धर्म के लक्षण बताये हैं किसी ने अविरोधी भाव को धर्म बताया है। अहिंसा, सत्य अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तप, दान और तितिक्ष इस प्रकार धर्म के लक्षण बताये हैं। किन्तु मेरे मत में तो पुण्य कीर्तिशाली पुरुषों द्वारा सेवित परम धर्म यही है, कि दूसरों क दुःख में दुःखी होना और दूसरों के सुख में सुखी होना।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! जब परमार्थ का इतना महत्व है, तो फिर लोग स्वार्थ में इतने सलग्न क्यों रहते हैं?"

अत्यन्त खेदके स्वर में मुनि ने कहा—"स्वार्थ में कहाँ सलग्न रहते हैं। इन विषयी पुरुषों ने तो स्वार्थ का असली तात्पर्य समझा ही नहीं। देवताओं! यह अत्यन्त दुःख की बात है, बहुत ही कष्ट का विषय है, कि जिन वस्तुओं से कुछ भी स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, उन विषयों में मनुष्य कितना भारी ममत्व रखता है। पहिले धन को ही ले लीजिये। धन आज तक किसी का हुआ है? आज जिस रुपये को आप अपना कह रहे हैं, कल वही दूसरे के पास चला गया, तो वह उसे अपना कहता है, इस प्रकार कितने लोग धन को मेरा मेरा कह कर मर गये, किन्तु धन किसी के साथ नहीं गया। वह किसी का भी नहीं हुआ। फिर धन में सुख हो सो भी बात नहीं।

एक बहुत बडा धनिक पुरुष था। उसके पास अरबों खरबों सुवर्ण मुद्रायें थीं। मोती, हीरा, जवाहिरात, अनगिनतिन थीं। एक दिन वह अपने कोषागार में घुसा। वह ऐसा बना था कि भीतर से भी बद हो जाता था और बाहर से भी। जिस समय वह अकेला उसमें घुसा तो उसकी ताली ले जाना भूल गया। घुमकर किवाड लगाते ही वह बद हो गया। अब तो उसके निकलने का कोई उपाय नहीं। उसी मे सड़कर वह मर गया। जब बहुत दिन तक खोज करने पर भी उसका पता न चला, तो राज कर्मचारियों ने आकर उसके कोष के तालो को तोडा। उसी धनागार में वह मरा पडा था। पास मे ही एक पत्र लिखा पडा था। उसमें उसने लिखा था—"लोग कहते हैं धन ही सब से श्रेष्ठ है। मैं कहता हूँ, धन वही श्रेष्ठ है, जिसका उपयोग धर्म में परोपकार में होता हो। जो धन परोपकार में व्यय नहीं होता, धर्म कार्य मे जो नही लगता वह तो भार स्वरूप है। मेरे समीप असख्या सुवर्ण मुद्राये पडी हैं, बहुमूल्य से बहुमूल्य मणि मुक्तायें सम्मुख हैं, किन्तु ये मुझे बचा नहीं सकते। मैं भूखा मर रहा हूँ।" सो देवताओ! जो पुरुष इन दूसरों के ही भोग्य तथा क्षणभगुर जन धन और शरीरादि से दूसरो का उपकार नहीं करता, वह जीता हुआ मृतक तुल्य है।"

इस पर देवताओं ने कहा—"तब भगवन्! हम अब क्या आशा रखें?"

इस पर भगवन् दधीचि ने कहा—"अरे, भाई! आशा की क्या बात है। तुम लोग अपने मन की शका को छोड दो। यदि तुम सबका उपकार मेरी हड्डियों से ही होता हो तो मैं अपने अहोभाग्य समझूँगा। हँसते २ इन हड्डियों को देने के लिए उद्यत हो जाऊँगा।"

देवता तो मुनि की पत्नी गर्भस्तिनी के भय से भयभीत हो रहे थे, वे सोच रहे थे यदि वह पतिप्राणा सती कहीं आगई, तो सब गुड गोबर हो जायगा, पहिले तो वह अपने पति से ही मना करेगी। यदि पति न माने तो वह अपने सतीत्व के तेज से हम सब को क्रोध भरी दृष्टि से देखकर ही भस्म कर देगी। अतः जब तक वह सरिता तट से लौटकर नहीं आती तभी तक हमें अस्थियों को लेकर उसका ही वज्र बना कर चपत हो जाना चाहिए। मुनि से प्रार्थना करनी चाहिए कि 'शुभस्य शीघ्रम्' जैसे हो तैसे शीघ्र यह कार्य हो जाय।" यही सब सोचकर वे बोले "तब ब्रह्मन्! देर करने की क्या बात है। आप आज्ञा दीजि विश्वकर्मा अपना कार्य आरंभ करें।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह सुनकर महामुनि दधीचि देवताओं के निमित्त प्राण देने को उद्यत हुए। अब मरते समय उन्होंने जो कहा और जैसे इस शरीर का हँसते २ त्याग कर दिया। इस वृत्तान्त को मैं आगे सुनाऊँगा तुम इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

छप्पय

अहो कष्ट अति घोर करे नर तन महँ ममता।
नहि साधे परलोक करे धन माहिँ कृपनता॥
परम धर्म है जिही दुखी पर दुख महँ होनों।
दया धर्म तें हीन व्यथ जीवन को खोनों॥
क्षण भगुर नित नासयुत, व्यर्थ मोह धन गेह महँ।
क्यों न बितावे समय कूँ, परकारज कूँ, हरनि महँ॥

— ० —

दधीचि मुनि का शरीर त्याग

(४०३)

एव कृत व्यवसितो दध्यङ्डाथर्वणस्तनम् ।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मान सन्नयञ्जहौ ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १० अ० ११ श्लो०)

छप्पय

सुनि मुनि को उपदेश देवता अति ई हरषें ।
बजें दुदुभी गगन पुष्प सुर तरु के बरषें ॥
मुनि पुनि इच्छा करी तीर्थ मैंने नहि कीन्हें ।
तुरत तीर्थ तहँ सुरनि बुलाये सब मुनि चीन्हें ॥
न्हाय धोय निश्चिन्त है, सर्व तीर्थ करि भक्ति तें ।
बैठे तनु त्यागन, निमित, तप सयम की शक्ति तें ॥

अहा ! उन परोपकारी सन्तो के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जो परोपकार के निमित्त दुष्कर कार्य कर डालते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो इस देह के साथ किसी का सम्बन्ध ही क्या है। सोना चाँदी पता नहीं किस खानि में कहाँ पैदा हुए, किसने उनको निकाला कहाँ उनको शुद्ध किया गया किसने उनकी मुद्रा भाँति भाँति के आभूषण बनाये। वे प्रथम किनके पास आय

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन अथर्व वेदी दधीचि मुनि ने मन में ऐसा निश्चय करके अपने चित्त को परब्रह्म भगवान् में तल्लीन कर अपनी देह को त्याग दिया।"

घूमते फिरते कभी प्रवाह मे हमारे समीप भी आ गये। हमारा देह से भी उनका ससर्ग हो गया। अब तक जिन वस्तुओं को दूसरे लोग मेरी मेरी कहते थे, अब हम उन्हे अपनी कहने लगे। देह सम्बन्ध से उनमे हमारा ममत्व हो गया। इसी प्रकार माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र, परिवार प्रिय मित्र तथा सगे सम्बन्धियों के सम्बन्ध मे हैं। ये सब हमे देह ससर्ग से प्यारे हैं। हमें सुख देते हैं इसीलिये इनमे प्रियत्व स्थापित कर रखा है। जब शरीर से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं को देने मे भी हमे हिचकिचाहट होती है तो फिर शरीर देने की तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु जो परोपकार के लिये हँसते हँसते शरीर का त्याग देते हैं, उनसे बढकर ससार मे दूसरा कौन होगा वे भगवान् के अशावतार हैं, त्याग की मूर्ति हैं, परोपकार की सजीव प्रतिमा हैं और हैं वे नित्य और शाश्वत यशस्वरूप। अत ऐसे परोपकारी सर्वस्व त्यागी महापुरुषो के पादपद्मो में कोटिश' प्रणाम है।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन् जब दधीचि मुनि ने कृपण पुरुषों की बहुत निन्दा की और परोपकार को ही मनुष्य का परमधर्म बताकर स्वय शरीर देने को उद्यतहुए तब तो देवताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। अब मुनि ने सोचा मेरे मन मे कोई वासना शेष तो नहीं है। सोचते सोचते उनके मन मे एक शुभ वासना उत्पन्न हुई और देवताओं ने उसे तुरत पूरा किया।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् दधीचि के मन मे कौन सी शुभ वासना उत्पन्न हुई और देवताओं ने उसकी किस प्रकार पूर्ति की इस कथा को, आप हमें सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—मुनियों जब दधीचि मुनि शरीर त्यागने के लिए उद्यत हुए तो उन्होंने देवताओं से कहा—"देवताओं! मैं जब से उत्पन्न हुआ हूँ तबसे निरन्तर धर्म कर्म और तपस्या में ही निरत रहा हूँ। कभी गङ्गा तट पर कभी सरस्वती तट पर और कभी गोमती तट पर मैं आश्रम बनाकर तप करता रहा हूँ, आज तक मैंने तीर्थयात्रा नहीं की। साधु को तीर्थ यात्रा अवश्य करनी चाहिये। यदि तुम लोग कहो तो मैं शीघ्र जाकर सब तीर्थों की यात्रा कर आऊँ।"

देवताओं का माथा ठनका! मुनि यदि तीर्थ यात्रा को गये तो न जाने कब तक लौट कर आवें फिर क्या पता तीर्थों में अनेकों प्रकार के लोगों से भेंट होती है। सभी के भिन्न भिन्न मत होते हैं किसी ने मुनि को भडका दिया कि मनुष्य यदि जीता रहे तो सैकड़ों कल्याण प्रद घटनाओं को अनुभव कर सकता है, आप इन स्वारथी देवताओं के कहने मे आकर शरीर का परित्याग क्यों करते हैं, तब तो सब गुड़ गोबर हो जायगा हम सदा के लिए स्वर्ग से भ्रष्ट हो जॉयगे। देवलोक मे असुरों का आधिपत्य हो जायगा, 'इन्द्रासन पर वृत्रासुर बैठ जायगा अब तो मुनि अनुकूल हैं शरीर देने को उद्यत हैं। बुद्धिमान पुरुषों को अवसर से न चूकना चाहिये। यही सब सोच समझकर देवताओं की ओर से इन्द्र बोले—"ब्रह्मन् आप जैसे सत तो स्वय साक्षात् तीर्थ रूप ही हैं, आप को तीर्थों की क्या अपेक्षा साधु सत तो तीर्थों को पावन बनाने के निमित्त तीर्थों में जाते हैं। सतों के ससर्ग में मलिन हुए तीर्थ पावन बन जाते हैं अत आपके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है।"

मुनि ने कहा—"नहीं कर्त्तव्य तो हमें कुछ भी शेष नहीं जिसका क्षण भर भी चित्त भगवान् के चरणारविन्दों म लग

गया उसने मानों समस्त तीर्थों मे स्नान कर लिया फिर एक वासना बनी ही हुई है शुभ वासना है, इसकी पूर्ति कर लेनी चाहिये।

इस पर देवताओं ने कहा—"अच्छी बात है तो भगव अब आप वहाँ जाँयगे। अपकी आज्ञा हो तो हम यहीं सम तीर्थों को बुलाये देते हैं।"

यह सुनकर कुछ देर सोच कर मुनि बोले—"अच्छी बा है यहीं सबको बुलालो। मेरा घूमने फिरने का परिश्रम बच जायगा।"

यह सुनकर देवताओं को बडी प्रसन्नता हुई उनके लिय यह क्या बडी बात थी। तीर्थ तो सब उनके अधीन ही थे। सभी तीर्थों का देवताओं ने यहीं नैमिषारण्य मे आह्वान किया देव ताओं के आह्वान से सभी तीर्थ तुरत वहाँ दिव्य रूप रखकर पहुँच गये। मुनि जिस तीर्थ का भी नाम लेते वही मूर्तिमान होकर प्रकट होते मुनि उसमे स्नान करते। सब तीर्थों को बुलाव बुलाते अब मुनि ने तीर्थराज प्रयाग को बुलाया तो प्रयाग उप स्थित नहीं हुए। इस पर मुनि ने देवताओं से पूछा—"देवताओं प्रयागराज क्यों नहीं आये?"

इस पर घबडाये हुये हाथ जोड़कर देवता बोले—"भगवन! आप श्रेष्ठ हैं तपस्वी हैं। भगवत् स्वरूप हैं। आपही मर्यादा का पालन न करेंगे तो ससार मे और कौन करेगा? प्रयागराज समस्त तीर्थों के राजा हैं इसीलिये वे प्रयागराज कहलाते हैं, वे साधारण तीर्थों के भाँति बुलाने से नहीं आ सकते वे सब ज्येष्ठ श्रेष्ठ और सम्माननीय हैं।"

इस पर मुनि बोले तब मैं प्रयाग स्नान कैसे करूँ?

यह सुन कर देवताओं ने शीघ्रता के साथ कहा—"ब्रह्मन!

पाप एक प्रयाग कहते हैं उत्तरा खड में लाखों प्रयाग हैं। जहाँ भी दो पवित्र नदियों का सगम हो जाय वही प्रयाग कहलाता है। उत्तराखड के समस्त-प्रयागों मे पच प्रयाग सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके नाम देव विष्णुप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग और देवप्रयाग हैं आप इन पाँचो मे स्नान करले। सभी प्रयागों में स्नान करने का फल मिल जायगा।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है बुलाओ इन पाँचों को ही। मुनि के इतना कहते ही ये पाँचो प्रयाग दौड़े आये। मुनि ने उनमे विधिवत स्नान किया और देवताओं से बोले—"देवताओ तुम सब मिलकर मुझे वरदान दो कि ये मेरे बुलाये हुए तीर्थ आज से यहीं एक रूप से निवास करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मुनि के ऐसा कहने पर देवताओं ने हर्ष के साथ कहा—'तथास्तु, तभी से इस परम पावन पुण्यतम नैमिषारण्य क्षेत्र मे सब तीर्थ आकर रहने लगे। महा मुनि दधीचि ने अल्पतीर्थ पुरुषों के ऊपर कृपा करके समस्त तीर्थों को एक स्थान में ही बुला लिया। इसीलिये जो लोग नैमिषारण्य की परिक्रमा कर लेते हैं उन्हें समस्त तीर्थों की परिक्रमा करने का फल प्राप्त हो जाता है।"

मुनि तो निश्चिन्त होकर तीर्थों मे स्नान कर रहे थे, किन्तु देवताओं को खुटका लगा हुआ था, कि कहीं मुनि पत्नी गर्भवती न आ जायँ, अत बोले—"ब्रह्मन्! वज्र बनाने का यही शुभ मुहूर्त है, आप शीघ्रता करें।

दधीचि मुनि ने कहा—"अच्छी बात है! देखो, मैं समाधि में बैठता हूँ, जब मैं समाधिस्त हो जाऊँ तब तुम मेरे शरीर से हड्डियों को निकाल कर इन्द्र के लिये वज्र और अपने

अपने लिये अन्य अस्त्र शस्त्र बना लेना।" इतना कहकर वे समाधि में मग्न हो गये।

इन्द्र ने विश्वकर्मा से कहा—"हे शिल्पियों में श्रेष्ठ! सर्वोत्तम

ाय मुनि की हड्डियों से मेरे लिये अमिततेज वाले वज्र को बना ीजिये।"

इस पर विश्वकर्मा ने कहा—"देवराज! यह ब्राह्मण का ारीर है! इनकी अस्थियाँ तो सम्पूर्ण अस्त्रों के तेज से युक्त किन्तु मैं ब्राह्मण के रक्त मास से आर्द्र शरीर का स्पर्श न करूँगा। यदि सूखी अस्थियाँ हों तो उनका तो मैं अस्त्र शस्त्र बना सकता हूँ। वैसे शरीर को काटूँगा छाटूँगा नहीं।" तब त देवराज ने गौओं को बुलाया और उनसे बोले—"गौओ! हम तुम्हारे मुख को वज्रका बनाये देते हैं। तुम मुनि को चा चाटकर उनकी अस्थियों को सूखी कर दो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवताओं के काम के लिये उनके आदेश से गौओं ने ऐसा ही किया। अपने मुख से चाट-कर मुनि की हड्डियों को ही छोड दिया। इसीलिए गौ का सर्वाङ्ग शुद्ध माना जाता है। यहाँ तक कि गोबर में साक्षात् भगवान् नारायण की पत्नी लक्ष्मी देवी का वास है, किन्तु उनका मुख पवित्र नहीं माना जाता। इस प्रकार परोपकार के लिये उन अमित तेजस्वी मुनिने जीते जी अपने प्राण दे दिये। हँसते हँसते शरीर का त्याग कर दिया। सच है परोपकारियों के लिये कोई भी कार्य दुष्कर नहीं।

छप्पय

परब्रह्म महँ चित्त लीन कीन्हों मुनि अपनो।
यह सब दृश्य प्रपंच लख्यो सबरो जस सपनो॥
मनकूँ करि एकाग्र तत्वमय दृष्टि करी तब।
संयत कीन्हें प्रान करी बस महँ इन्द्रिय सब॥
सुरनि बुलाई सुरभि सब, चाटि मांस बिनु तनु कियो।
यों पर कारज के निमित, मुनि ने निज तनु तजि दियो॥

इन्द्र के वज्र का निर्माण और पुनः देव संग्राम

(४०४)

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।
मुनेः शुक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः ॥
वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।
स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १० अ० १३,१४ श्लो०

छप्पय

सूखी हड्डी रही तेज युत अतिशय मन हर ।
रच्यो वज्र शुभ दिव्य विश्वकर्मा अति सुन्दर ॥
हरिको प्रविश्यो तेज सुरनि सँग मुदित भये अति ।
ऐरावत पै चढे सुशोभित होयँ स्वर्गपति ॥

पर उपकारी कूँ नहीं, तनिकहु तन महँ राग है ।
धनि दधीचि मुनि धन्य तप, धनि धनि उनको त्याग है ॥

जिस जीवन मे द्वन्द नहीं, युद्ध नहीं वह जीवन नहीं। ज्ञानी पुरुष द्वन्दों से रहित हैं, किन्तु वह तो जीवन से रहित जीवन मुक्त हो चुका है। पाषाणों मे भी द्वन्द नहीं। कहते तो

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् विश्वकर्मा ने मुनि की अस्थियों से वज्र बनाया उस को लेकर वे ऐरावत नाग पर चढ़ त्रिलोकी को आनन्दित करते हुए अत्यन्त ही शोभा को प्राप्त हुए।

लोग पाषाणों को भी निर्जीव ही हैं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो पाषाणों मे भी जीवन है ह्रास है। वे भी घटते हैं बढते हैं, एक से नहीं रहते। एक से रहें कैसे। मन एक सा रहे तो प्राणी भी एक से रहें। मन तो क्षण क्षण पर बदलता रहता है। इस समय सात्विक है, क्षण भर में राजस् हो गया दूसरे क्षण तामस भाव उठने लगे। अभी किसी को प्यार कर रहें हैं। कुछ काल मे उससे घृणा हो गई। जो हमसे पहिले घृणा करता था, उसी से अब प्यार करने लगे। मनुष्य के हृदय मे सत् और असत् दोनों वृत्तियों का द्वन्द युद्ध सदा होता रहता है। कभी सद्वृत्तियाँ असद्वृत्तियोंको दबा लेती हैं, कभी असद्वृत्तियों पर सत्वृत्तियाँ विजय प्राप्त कर लेती हैं। इसी का नाम देवासुर सग्राम है। देवता और असुर जब तक अपने अपने पदों पर प्रतिष्ठित हैं, तब तक परस्पर मे कभी प्रेम न करेगे। देवताओं मे जब अभिमान बढ जाता है, अपने को ही सब कुछ समझने लगते हैं बडो का अपमान करते हैं, तो वे भी असुरों के समान राजसी तामसी बन जाते हैं, किन्तु उतने नहीं बन पाते जितने कि असुर हैं। असुर तो जन्म से ही—स्वभाव से ही—राजसी तामसी हैं। अत देवताओ से क्रूरता मे श्रेष्ठ ही रहते हैं। बलवान् रज और तम पर निर्बल रजोगुणी तमोगुणी विजय प्राप्त नहीं कर सकते, अत असुरा से सुर हार जाते हैं। असुर स्वर्ग पर अधिकार जमाते हैं। ऐश्वर्य भ्रष्ट हो जाने पर देवताओं को चेत होता है, वे श्रीहरि की शरण जाते

उस समय वे भगवान् के तेज से सम्पन्न थे, इसीलिये उनका बल बढा हुआ था। सभी देवता उन्हें चारों ओर से घेरे खडे थे। मुनिजन उनकी स्तुति कर रहे थे।

हैं। सर्व समर्थ होने पर भी भगवान उनके दुःख को स्वयं नहीं करते। त्यागी, विरागी, निर्लोभ, वैष्णवके समीप उन्हें भे देते हैं। परोपकारी विष्णुभक्त प्राण देकर अपना मांस चटाव दुखियों का दुख दूर करते हैं औरों के सुख के लिए स्वयं दुः सहन करते हैं। त्यागी महापुरुषों की सहायता से फिर सत्व व उदय होता है। फिर तमोगुण को दबाकर उस पर सत्व विज प्राप्त करता है, देवता अपने खोये हुए राज्य को पुन प्राप्त करते हैं। यह देवासुर संग्राम सदा से होता रहा है सदा होता रहेगा। स्वर्ग के स्वामी इन्द्र का पद स्थिर नहीं चचल है, क्योंकि यह कर्मद्वारा प्राप्त है। १०० अश्वमेध करनेवाला अथवा उसी कोटि का अन्य पुण्य करने वाला ही इन्द्र पद का अधिकारी होगा। पुण्य पाप दोनों ही कर्मों द्वारा प्राप्त स्थान नाशवान् होते हैं। अविनाशी पद तो सद् असद् के ज्ञान से भगवद्भक्ति से प्राप्त होता है। इसीलिये इन्द्र सदा संशय ग्रस्त रहते हैं। जहाँ किसी को १०० अश्वमेध करते या घोर तप अनुष्ठान करते देखते हैं, वहाँ अनेक रूपों में आकर विघ्न डालते हैं। क्योंकि कर्म द्वारा प्राप्त सुख सातिशय दोष से रहित हो नहीं सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब भगवान् दधीचि ने स्वेच्छा से बिना आह किये अपने शरीर को देवताओं के हित के लिये त्याग दिया, तो आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई। प्राण त्यागते समय उन्होंने कहा था—मैं इस अनित्य वस्तु को त्याग कर इसके बदले में नित्य वस्तु प्राप्त कर रहा हूँ। क्षण भंगुर देह को छोड़कर अविनाशी पद प्राप्त कर रहा हूँ। मैं मर नहीं रहा हूँ अमर हो रहा हूँ। जिस जीवन में शरीर का मोह है, वह जीवन मरण के तुल्य है। जो मरण परोपकार के निमित्त है, वह जीवन

से भी बढकर महान् जीवन है। ऐसा कहकर उन्होंने परमयोग मे स्थित होकर अपने प्राणों का स्वेच्छा से परित्याग कर दिया। उन्हें फिर इस शरीर का कुछ भी भान नहीं रहा।

जब केवल तपस्या से पवित्र हुई मुनि की तेजोमय शुष्क हड्डियाँ ही रह गईं, तब विश्वकर्मा शिल्पी ने तत्क्षण योग मे स्थित होकर उनसे इन्द्र के अमोघ वज्र का निर्माण किया तथा और भी देवताओं के बहुत से अस्त्र शस्त्र बनाये। अब क्या था, अब तो इन्द्र का ठाठ जम गया। वृत्रासुर के मारने का शस्त्र मिल गया। शुभ अनुकूल साधन प्राप्त तभी होते हैं, जब भगवान् का तेज—उनकी अहैतुकी—कृपा—सहसा प्राप्त हो जाय। आज इन्द्र भगवान् के तेज से सम्पन्न हो गये। अहङ्कार के कारण जो उनका बल क्षीण हो गया था, वह परोपकारी मुनि की अस्थियों के ससर्ग से तथा भगवत्कृपा से पुन आ गया अब वे सबल बन गये। सभी देवता उन्हें चारों ओर से घेरकर खडे हो गये। चार दाँत वाले कैलास शिखर के समान स्वच्छ और विशाल ऐरावत की पीठ पर बैठे हुए इन्द्र इसी प्रकार दिखाई दिये मानो कैलाश में छिपे दैत्यों के सहार के निमित्त उसके विशाल शिखर पर स्वय साक्षात् भगवान् श्रीमन्नारायण विराजमान हों। बडे-बड़े ऋषिमुनि सामवेद की सुमधुर छन्दों द्वारा उनकी स्तुति कर रहे थे। इस पर देवताओं को हर्षित करते हुए इन्द्र अमोघवज्र को हाथ मे लेकर असुरों से युद्ध करने चले।

उस समय क्रोध के कारण उनका मुखमण्डल अग्नि के समान प्रतीत होता था। वे प्रलय काल में क्रोधित हुए रुद्र के समान वज्र रूप त्रिशूल को लिये हुए उसी प्रकार असुरों के झुण्ड पर झपटे जैसे भगवान त्रिपुरारी त्रिपुरासुर के तीनों पुरों को नष्ट करने के निमित्त दिव्य रथ पर चढकर दौड़े थे। इन्द्र अपने

प्रबल पराक्रमी शत्रु वृत्र का संहार करना चाहते थे। अब क्या था दोनों ओर से तुमुलयुद्ध की तत्परता के साथ तैयारियाँ होने लगीं। उधर असुरों को साथ लिये हुए मदराचल पर्वतके समान वृत्रासुर खड़ा था। इधर देवताओं से घिरे हुए देवराज इन्द्र वज्र को हिला रहे थे, क्रोध से ओठों को काट रहे थे। दोनों ही यह देवासुर संग्राम प्रथम चतुर्युगी के त्रेता युग के मध्य में नर्मदा नदी के तटपर हुआ था।

असुरों ने देखा जिन देवताओं को हमने पहिले पराजित कर दिया था, वे ही आज फिर इन्द्र को अग्रणी बनाकर हमसे युद्ध करने के लिए उद्यत हैं। इन्द्र का मुखमंडल कमल के समान खिला हुआ है। एकादश रुद्र अपनी भयंकर आँखों को नचाते हुए असुरोंकी ओर निहार रहे हैं। आठों वसु अपने अपने अस्त्रों को घुमाते हुए युद्ध कला दिखा रहे हैं। बारह आदित्य अपने तेज के द्वारा रणाङ्गन को तेजोमय बनाए हुए हैं। दोनों अश्विनी कुमार ओषधियों को लिये हुए स्वयं युद्ध करने के लिये उत्साह पूर्वक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हुए खड़े हैं। पितृगण एक ओर अपना दल बनाये मारने को उद्यत हैं ४९ अग्नियाँ अपनी तीक्ष्ण ज्वालाओं से युक्त धूएँ की ध्वजा से शोभित समीप ही असुरों को भस्म करने को समुपस्थित हैं। मरुद्गण, ऋभुनामक यज्ञ के विघ्नों का दूर करने वाले देवता तथा साध्य गण और विश्वेदेवादिक गण इन्द्र को घेरे हुये असुरों के दाँत खट्टे करने के लिये उत्साह प्रदर्शित कर रहे हैं। यह देखकर असुरों को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने इसे अपना घोर अपमान समझा।

वृत्रासुर ने जब सम्मुख ऐरावत पर चढ़े हुए हाथ में वज्र लिये इन्द्र को देखा, तब तो मारे क्रोध के उसकी आँखें लाल लाल हो गईं। वह भी अपने अस्त्र शस्त्रों को लिये हुए बड़े

उत्साह से देवताओं के सम्मुख युद्ध करने के लिए आया। वह सब असुरों का नायक था। उसको चारो ओर से घेर कर रण दुर्मद प्रबल पराक्रमी समर विजयी बड़े बडे शूर वीर असुर खडे थे। जिनमें नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, अम्बर, हयग्रीव, शकुशिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति आदि प्रधान प्रधान थे। असुरों का पक्ष लेने के लिए दैत्य दानव, यक्ष राक्षस तथा और भी क्रूरकर्मा उपदेव उपस्थित थे। जो माली, सुमाली आदि राक्षस अजेय समझे जाते थे, वे भी सुवर्ण के अलङ्कारों से विभूषित होकर बड़े बडे अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हुए सेनाके अग्रभाग मे खडे थे। ये सब के सब साक्षात् दडपाणि यमराज के सदृश दिखाई पडते थे, सब मे अमित पराक्रम था सभी सग्रामके लिये समुत्सुक थे, सभी अत्यन्त मदोन्मत्त होकर उत्साह मे भरे हुए युद्ध के लिए उत्सुक थे।

जब दोनों ओर की सेनायें सुसज्जित हो गईं, तब तो समर का बाजा बजने लगा। दोनों ओर से प्रहार होने लगे। सर्वत्र हाहाकार मच गया मारो काटो, जाने मत देना। देख तू मेरे सामने से बचकर नहीं जा सकता? मेरे बाणों को सहन कर। अच्छा मैं खड़ा हूँ, तुम प्रहार करो। इस प्रकार के उत्साह वर्धक शब्द सुनाई देने लगे खड्ग खड़कने लगे। दोनों ओर से गदायें घुमाई जाने लगीं। परिघ फेंके जाने लगे। जिस प्रकार श्रावण भादों में आकाश से जल की वृष्टि होती है उसी प्रकार बाणों की वृष्टि होने लगी। युद्ध इतना तुमुल हो गया कि यह निर्णय करना कठिन था, कि ये अस्त्र शस्त्र देवताओं की ओर के हैं या असुरों की ओरके। प्रास, मुद्गर, तोमर आदि अस्त्र शस्त्र चलाये और फेंके जाने लगे। त्रिशूलोंसे सैनिकों के हृदय वेधे जाने लगे। फरसा और खड्ग से एक दूसरे के सिर धड़ से काटने लगे।

शतघ्नियों की गड़गड़ान तडतडान के कारण दशो दिशायें भर गईं। दैत्योंकी सेना ने देवताओं को उसी प्रकार ढक लिया जैसे कमल की बेल सरोवर के जल को ढक लेती है, अथवा मेघ-माला आकाश के ताराओं को ढक लेती है, अथवा गौओं के खुरों की उडी हुई धूलि उस दिशा के वृक्षों को ढक लेती है।

देवता तो सावधान थे। अबकी वे अभिमान के वशीभूत होकर अपने बल से नहीं लड रहे थे, उन्हें दैवबल प्राप्त था। श्रीहरि की आज्ञा से उन्हीं का तेज पाकर वे युद्ध कर रहे थे। दधीचि मुनि का तप, तेज, त्याग, प्रभाव और बल उन्हें अस्त्रों के द्वारा प्राप्त था। अत वे असुरों के इतने प्रबल प्रहार से न तो भय भीत ही हुए और न अपने अपने स्थानों से तिल भर पीछे ही हटे। वे असुरों की बाणवर्षा को उसी प्रकार अडिग होकर सहते रहे जैसे हिमालय के बडे बडे शिखर घनघोर वर्षा को बिना किसी प्रयास के सहते रहते हैं। असुरों के बाण देवताओं को स्पर्श तक नहीं करते थे, वे देवताओं के अङ्ग में जाकर उसी प्रकार व्यर्थ हो जाते, जैसे कृतघ्नी के साथ किया हुआ उपकार अथवा कृपण के सम्मुख की हुई याचना, अथवा जितेन्द्रिय के सम्मुख किये हुए कामोद्दीपक हाव भाव व्यर्थ हो जाते हैं। असुरों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगादी, समस्त अमोघ समझे जाने वाले अपने अस्त्र शस्त्रों का उन्होंने प्रयोग कर दिया। किन्तु देवताओं का बाल भी बाँका नहीं हुआ।

अब तो असुरों को सदेह होने लगा। फिर भी वे निराश नहीं हुए। अस्त्र शस्त्र के समाप्त होने पर वे पर्वतों के शिखरों को बड़े बड़े वृक्षों को उखाड उखाड़ कर देवताओं के ऊपर फेंकने लगे, किन्तु उन सब को देवता गण अपने तीक्ष्ण बाणों से उसी

प्रकार काट कर गिरा देते थे, जिस प्रकार बाज आकाश में उड़ते हुए पक्षी को घायल करके नीचे गिरा देता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार जब देवताओं की समस्त सेना को असुरों ने अपने अस्त्र शस्त्रों से अक्षत देखा तथा पर्वत और वृक्षों के प्रहारों को भी व्यर्थ हुआ समझा तब तो असुरगण बड़े घबडाये। अब उनका उत्साह ढीला पड़ गया। देवसेना को अनाहत और सकुशल देखकर और स्वय देवताओं के अस्त्र शस्त्रों से क्षत विक्षिप्त होकर असुर गण रण छोडकर भाग खडे हुये। सुर सेना में सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। असुरों का इस कायरता को देखकर वृत्रासुर दुखी हुआ किन्तु वह अपने स्थान से विचलित नहीं हुआ। सुमेरु पर्वत की शिखर के समान जहाँ का तहाँ ही खड़ा रहा।

छप्पय

सब सुर शस्त्र सम्हारि समर महँ सजि बजि धाये।
उत तें असुरहुँ अस्त्र शस्त्र लेके चढि आये॥
गदा, परिघ, शर शूल लगे बहु अस्त्र चलन तहँ।
रण के बाजे बजें बीर बर लड़ें समरमहँ॥
देवासुर सग्राम अति, भयो भूमि पर भयंकर।
सुर सेना विजयी भई, भगे असुर तजिकें समर॥

भागते हुये असुरों को देखकर वृत्र के वीरोचित उद्गार

(४०५)

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः
प्रतिक्रिया यस्य न चेह कल्पा ।
लोके यशश्चाथ ततो यदि हृद्यमुम्,
को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

असुरनि भागत देखि वृत्र बोल्यो वर बानी ।
अरे, असुरगन समर त्यागि का मन मह ठानी ॥
जाओगे भगि कहाँ मृत्यु तो सङ्गइ आवे ।
बिना काल के मृत्यु कहू हू ढिँग नहिँ आवे ॥
जो जग महँ पैदा भयो, सो निश्चय ई मरेगो ।
तो फिर मरि के वीर वर, क्यों न अमर यश करेगो ॥

जो मनस्वी हैं, भगवद् भक्त हैं, बली तथा सामर्थवान हैं, वे कहीं रहें किसी योनि में क्यों न हों उनकी महत्ता न जायगी ।

---

* वृत्रासुर भागते हुए असुर से कह रहा है—"अरे असुरो !, देखो जो भी प्राणी उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, दैव ने उसे निवारण करने का कोई भी उपाय नहीं रचा । जब यही बात है तब उस

उदार चेता महापुरुष जिस क्षेत्र मे भी कार्य करेंगे, वहीं यश प्राप्त करेंगे। हृदय की क्षुद्रता मन की दुर्बलता चाहे जिस पुरुष मे हो, वही ससार मे अपयश प्राप्त करता है। देवेन्द्र त्रैलोक्य के स्वामी हैं, यज्ञों मे वेदज्ञ ब्राह्मण उनका बड़े सत्कार से आवाहन करते हैं और सभी देवताओं से पूर्व वे पूजे जाते हैं, किन्तु जब वे भी अपने पद की रक्षा के निमित्त क्षुद्रता के कार्य करते हैं तो कोई भी उन्हें भला नहीं कहता है उनकी निन्दा ही होती है, इसी प्रकार असुर योनि होने पर भी जो भगवद् भक्त हैं वे पूजनीय वन्दनीय और स्मरणीय माने जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन ! असुरों ने सम्पूर्ण बल लगाकर सुरो को पराजित करना चाहा किन्तु असुरों के वे प्रहार उसी प्रकार व्यर्थ हुए जैसे खड्ग का प्रहार दृढ पाषाण शिला पर व्यर्थ होता है। अथवा जल मे आग्नेय अस्त्र व्यर्थ होते हैं अथवा मदोन्मत्त हाथी मे मारे हुए अकुश व्यर्थ होते हैं अथवा नीच पुरुषों द्वारा दी हुई गाली कहे हुए कुवाक्य महा पुरुषों के सम्मुख व्यर्थ होते हैं। आज तो देवता असुरों से बढ चढ कर थे। आज तो उन्हें भगवद् अनुग्रह प्राप्त था। दधीचि मुनि की तपोमय अस्थियों से बने अस्त्र शस्त्रो के सम्मुख असुरों के साधारण अस्त्र शस्त्र व्यर्थ बन गये। दूसरा कोई उपाय न देखकर अपने सेनापति और स्वामी वृत्र को वहीं रण मे खडा छोडकर असुर समर छोडकर भाग खड़े हुए।

अपने असुर अनुयायियों को युद्ध से भयभीत होकर भागते देखकर अत्यत ही ओजस्वी भाषा में गभीर स्वर से सबको

मृत्यु से इस लोकमें यश तथा परलोक में भी सद्गति प्राप्त हो तो ऐसी सुन्दर मृत्यु को कौन सहर्ष स्वीकार न करेगा ?

सम्बोधित करते हुए वृत्रासुर बोला। उसने ललकार कर कहा—अरे, ओ विप्रचित्ते! राम राम छि छि इतने शूरवीर होकर तुम गीदड़ों की तरह भाग रहे हो? भैया नमुचि! अरे तुम तो सबसे श्रेष्ठ समझे जाते थे। असुर वंश में तुम्हारी शूरवीरता की तो बड़ी ख्याति थी। अजी, पुलोमन्! तुम इन्द्र के श्वसुर होकर युद्ध से कायरों की तरह भागे जा रहे हो। हे मय! तुम तो असुरों के विश्वकर्मा हो। तुम तो समस्त माया के अधिपति हो, अपनी करामात दिखाओ। इन देवताओं पर कुछ माया चलाओ। हे शम्बर! हे अनर्वन्! तुम इतने बड़े शूरवीर पराक्रमी होकर युद्ध से पीठ देकर डर से भागे जा रहे हो, यह तुम्हारे यश के अनुरूप नहीं।"

तुम कह सकते हो—"प्राण सबको प्यारे हैं। जीवित रहने की इच्छा वाले प्राणी के लिये मृत्यु से बढ़कर कोई दुःख नहीं। सो, ठीक है किन्तु तुम बताओ इस संसार में अमर कौन है। जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा। ब्रह्माजी भी चाहें कि पैदा होने वाले की मृत्यु न हो तो वे भी इसे रोक नहीं सकते। इन १४ भुवनों के रचयिता ब्रह्माजी भी अपनी आयु के १०० वर्ष पूरे करके बदल जाते हैं। जब मृत्यु निश्चित ही है, अवश्यम्भावी है, किसी प्रकार उसका प्रतीकार है ही नहीं, तब फिर उससे डरने से लाभ क्या? तब तो ऐसा अवसर खोजते रहना चाहिए कि एक पन्थ दो काज हो जायँ। ऐसी मृत्यु की बाँछा रखनी चाहिए कि जिससे इस लोक में सुयश और परलोक में सद्गति प्राप्त हो। शूरवीर के लिये, युद्ध में बढ़कर सम्मुख लड़कर मरने के अतिरिक्त दूसरी कोई श्रेष्ठ मृत्यु है ही नहीं। नीच पुरुष ही घर में रहकर खाट पर पड़े पड़े सड़कर मरते हैं। संसार में दो ही मृत्युएँ श्रेष्ठ बताई गई हैं। या तो योग

के द्वारा ब्रह्म चिन्तन करते हुए दशमद्वार से शरीर त्याग किया जाय अथवा सम्मुख समर में सेना का अग्रणी बनकर वक्ष स्थल मे शत्रु प्रहार से प्राणों का उत्क्रमण हो। रोग शैया पर पड़े पड़े खों खों करते हुए घर वालों को दुःख देते हुए मल मूत्र से लिपटे हुए परिवार वालों से घिरकर कष्ट से मरना यह सबसे निकृष्ट मृत्यु है। इसलिए हे असुरो! तुम इन निर्बल देवताओं से डरो मत। मेरे रहते हुए ये तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट न कर सकेंगे। आओ, लौट आओ साहस को मतखोओ समर में शस्त्रों की प्रधानता नहीं होती। साहस ही प्रधान समझा जाता है। जैसे अनेकों बार तुमने देवताओं को परास्त किया है, वैसे ही अब के भी करो। प्राणों के मोह से कायरों की भाँति रण छोड़कर भागना उचित नहीं।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—'राजन्! वृत्रासुर ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति और बुद्धि लगाकर असुरों को समझाना चाहा किन्तु उनकी वक्तृता का उन सब पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे सब तो देवताओं के दिव्यास्त्रों से इतने अधिक पीड़ित हो गये थे, कि प्राण बचाकर दशो दिशाओं में भागने लगे।

काल ही जय, पराजय, बली अबली होने में प्रधान कारण है। आज का काल देवताओं के अनुकूल था, असुरों के प्रतिकूल था, इसीलिये असुर पराजित होकर भाग खड़े हुए। भागती हुई असुर सेना को देवतागण खदेड़ने लगे। इन्द्र अपने वज्र से भयभीत हुए असुरों का संहार करने लगे। वे रण से भागने वाले दैत्यों के पीछे प्रहार करने लगे।

इन्द्रके इस अधर्माचरण को देखकर दैत्याधिपति वृत्र अत्यन्त ही क्रुद्ध हुआ। वह दाँतों को पीसता हुआ, क्रोध से लाल लाल आँखें करके मेघ गभीर वाणी से इन्द्र को डाँटता डपटता हुआ

बोला—"अरे निर्लज्ज इन्द्र तुझे इन भागते हुए वीरों पर प्रहार करने में लज्जा भी नहीं आती। प्रतीत होता है जैसे माता के पेट से विष्ठा निकलता है, उसी प्रकार तू माता के उदर का मल है शुक्र का क्रीडा है। अरे जो स्वयं ही डर कर अस्त्र शस्त्र छोड़कर रण से भाग रहा है, उस मरे हुए को क्या मारना वह तो तभी मर गया जब उसने प्राणों के मोह से भाग कर प्राण बचाने की चेष्टा की। ऐसे युद्ध से पराङ्मुख हुए शत्रु सैनिकों को मारना कभी भी प्रशसनीय और वर्गप्रद नहीं कहा जा सकता। तुम कह सकते हो, शूरवीरों को युद्ध अत्यन्त प्रिय होता है इसलिये जब भी शत्रु से युद्ध का अवसर आ जाय, तभी उससे लड़ना चाहिए। उसे निर्बल बना देना चाहिए। सो, यह भी तुम्हारी बात ठीक नहीं। धर्मात्मा पुरुषों ने युद्ध के बहुत से नियम बताये हैं उनमें सोये हुओं पर, प्रमत्तों पर उन्मत्तों पर, स्त्रियों पर, युद्ध से अनभिज्ञों पर, भागते हुओं पर, शरण में आये हुओं पर और वाहन शस्त्र से रहित सैनिकों पर प्रहार करना पाप बताया गया है। तुझ में यदि कुछ साहस है, तो मुझ से आकर लड़। यदि तू मरना चाहता है, विषय भोगों से उपराम हो गया है, तो क्षण भर मेरे सामने ठहर। अधर्म युद्ध करके अपकीर्ति क्यों व्यर्थ में ले रहा है। क्यों नरक के मार्ग को प्रशस्त कर रहा है। मेरा सामना होते ही तू सब अस्त्र शस्त्रों को भूल जायगा।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—'राजन्! उस महाबली प्रबल पराक्रमी पर्वत के समान डील डौल वाले असुर ने देवराज को अनेकों भाँति से डाँटा डपटा और हिमालय के शिखर के समान अपने लंबे तगड़े शरीर से देवताओं को भयभीत करता हुआ उनकी ओर भूखे बाघ के समान दौड़ा। वह

प्रलय कालीन मेघ के समान भयकर गर्जना कर रहा था। मदोन्मत्त सिंह के समान उसकी भयकर दहाड को सुनकर देवताओं के छक्के छूट गये। उसकी दहाड से भयभीत होकर बहुत से देवता सज्ञाशून्य होकर भूमि पर गिर पडे। अब रोष में भर कर रणरग दुर्मद वृत्रासुर हाथ मे त्रिशूल लेकर इन्द्र की ओर दौडा। इन्द्र भी अपने ऐरावत पर सम्हल कर बैठ गय और वज्र को घुमाते हुए वृत्र की ओर बढे।

छप्पय

असुरनि कूँ यों वृत्र धर्मयुत वचन सुनाये।
किन्तु समर तें भगे एक हू नहि मन भाये॥
असुर प्राण लै भगे देवता तिन्हें खदेरें।
लड़ें भिड़े नहिं तऊ जाइ सुर पुनि पुनि घेरें॥
वृत्रासुर अन्याय लखि, करे इन्द्र तें कटु वचन।
अरे अधरमी धर्म तजि, करे काहि यह कपट रन॥

वृत्रासुर और इन्द्र की मुठभेड़

(४०६)

दिष्ट्या भवान्मे समवस्थितो रिपु—
र्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च।
दिष्ट्यानृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
मच्छूलनिर्भिन्नदृषद्धृदाचिरात् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ११ अ० १४ श्लो०

छप्पय

है पुरुषारथ तेज ओज बल तोमें सुरपति।
तो करि मोतें युद्ध करूँ तेरी अब दुर्गति॥
मेरे सम्मुख आउ समर को मजा चखाऊँ।
अबई तोकूँ मारि मृत्यु के सदन पठाऊँ॥
यों कहि के गर्जन करी, सुनि रव सबरे सुर डरे।
वज्राहत के सरिस है, देव अवनि पे गिर परे॥

धर्मात्मा पुरुष से सभी डरते हैं। प्राण सकट आने पर भी धर्मात्मा सत्य को धर्म को नहीं छोडते। यही उनमें विशेषता

---

*सम्मुख आये हुए देवराज इन्द्र से वृत्रासुर कह रहा है—"अहा, बड़े सौभाग्य की बात है जो आज आप मेरे सम्मुख उपस्थित हो हुए हो तू मेरे भाई को मारने वाला ब्रह्महत्यारा और गुरु द्रोही है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आज मैं तुझे अपने शत्रु का पाषाण

इसीलिये वे मर कर भी अमर ही बने रहते हैं। जो प्राणों के धन के विषय भोगों के लोभ से सत्य को खो देते हैं, उन्हें चाहे ये वस्तुएँ मिल जायँ, ऊपरी विजय प्राप्त करके वे जीवित रह गये किन्तु उनकी यह विजय पराजय के सदृश है, यह जीवन मरण के तुल्य है। धर्म मय जीवन ही जीवन है। प्रभु के पाद-पद्मों में प्रेम होना ही सच्चा धन है। भगवान् के दर्शन हो जायँ, यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। चित्त श्रीहरि के चरणारविन्दों में लग जाय यही उनके लिए महान् प्रसन्नता की बात है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब वृत्रासुर ने इन्द्र को इस प्रकार ओजस्वी वाणी में ललकारा तो इन्द्र सम्हल कर वृत्रासुर की ओर बढ़े। अब तो वृत्र के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। वह पंख वाले पहाड़ के समान हाथ में त्रिशूल लेकर आगे बढ़ा। जिस प्रकार क्रोधित हुआ साँड आँखें मीच कर प्रहार करता है, उसी प्रकार नेत्र बंद करके वह सुर सेना में घुस पड़ा। किसी को हाथों से ही पकड़ कर मसल देता, किसी को पैरों के नीचे ही दबाकर कुचल देता, किसी को, कोहनी से ही रगड़ देता। किसी को पकड़कर निगल जाता, किसी को घुमाकर फल की भाँति दूर फेंक देता। किसी को त्रिशूल से वेध कर आकाश में नचाता। उस वीर के ऐसे कर्म को देखकर देव सेना घबड़ा गई, देवता उसी प्रकार दशों दिशाओं में भागने लगे जैसे भेड़िये को देखकर भेड़ भागती हैं अथवा सिंह को देखकर मृगों के झुण्ड इधर उधर भागने लगते हैं।

इन्द्र ने देखा कि यह असुर तो प्रलयानल के समान मेरी

सहश हृदय का अपने त्रिशूल से विदीर्ण करके भ्रातृऋण से उऋण हो जाऊँगा। हे महानीच! अब तू अधिक जीवित नहीं रह सकेगा।

सेना का सहार कर रहा है, यदि यह इसी प्रकार युद्ध करता रहा, तब तो मेरी सेना में एक भी सैनिक शेष न रहेगा। अत उस असुर को मारने के लिये ऐरावत पर बैठे ही बैठे इन्द्र ने एक अत्यन्त बलवती कभी व्यर्थ न होने वाली प्रचड गदा दूर स ही फेंकी। इन्द्र समझते थे, इस अमोघ गदा के लगते ही वृत्रासुर मर जायगा, किन्तु उस दुर्मद असुर ने उस गदा को बायें हाथ से खेल खेल मे उसी प्रकार पकड लिया जैसे बच्चे 'गेहूँ जौ क फूँस को पकड लेते हैं।

वृत्रासुर के हाथ मे तो त्रिशूल के अतिरिक्त कोई दूसरा अस्त्र शस्त्र था ही नहीं। अब इन्द्र की एक अमोघ गदा उसके हाथ मे अपने आप ही सरलता से आ गई, अत उसने उसी गदा को तान कर बडे वेग से इन्द्र के ऐरावत हाथी के मस्तक पर सम्पूर्ण बल से मारा। गदा के लगते ही ऐरावत का मस्तक फट गया और वह रक्त उगलता हुआ वहाँ से इन्द्र को लेकर कुछ पीछे हट गया। वृत्रासुर की ऐसी वीरता देखकर सभी उसकी प्रशसा करने लगे। इन्द्र का उत्साह भग हो गया, किंकर्तव्य विमूढ से बन गये।

इन्द्र का ऐरावत बुरी तरह से घायल हो गया था, इन्द्र देवेन्द्र भी वृत्र के प्रबल पराक्रम से व्यथित होकर व्याकुल हो गये थे। वृत्रासुर चाहता तो ऐसे अवसर पर इन्द्र पर प्रहार कर के उसे नीचे गिरा सकता था। किन्तु वह धर्मात्मा और भगवत् भक्त था। उस शूर वीर महामना ने ऐसा विरुद्ध कार्य नहीं किया। असावधान इन्द्र पर उसने पुन प्रहार नहीं किया। इन्द्र ने जब देखा कि मेरा वाहन वृत्र की गदा से अत्यन्त व्यथित होकर तिलमिला रहा है, उसे असह्य पीडा हो रही है, तो इन्द्र ने अपने अमृत स्रावी हस्त से उसके घाव पर हाथ फेरा।

अमृत के स्पर्श से ऐरावत का घाव तुरत भर गया और वह स्वस्थ हो गया। वाहन के नीरोग और स्वास्थ हो जाने पर इन्द्र भी सम्हल गये, उन्होंने भगवान् के वरदान का स्मरण किया। वे तुरत वीरोचित कर्तव्य को स्मरण करके पुन रणभूमि मे आकर वृत्रासुर के समुख युद्ध करने के लिये उपस्थित हुए और ललकार कर बोले—"अरे, ओ! अधम असुर तू मेरे वाहन पर प्रहार क्यों करता है, मुझसे युद्ध कर, आज मैं तुझे मार कर अपने गए हुए स्वर्ग के राज्य को पुन प्राप्त करूँगा।

इन्द्रकी ऐसा वीरता पूर्ण बातें सुनकर वृत्रासुर दशों दिशाओं को अपने अट्टहास से गुँजाता हुआ खिल खिलाकर हँस पडा और अत्यत क्रोध मे भर कर इन्द्र की नीचता और विश्वरूप वधका स्मरण करके, क्रोधसे लाल लाल आँखे निकाल कर इन्द्र से व्यग पूर्ण बचनो मे कहने लगा।

वृत्र ने इन्द्र का परिहास किया और बोला—"धन्यवाद' धन्यवाद! आप युद्ध करने आये हैं। बड़े सौभाग्य की बात है, कि आज आप को भी शूर वीरता सूझी है। अरे, नीच तू धर्मात्माओं से युद्ध करने योग्य है ही नहीं। तुझे यदि कुछ भी लज्जा होती तो तू किसी को अपना काला मुख दिखाता ही नहीं, तू सज्जनों के सम्मुख खड़े होने योग्य ही नहीं।

इस पर इन्द्र ने कहा—"मैंने तो भाई तेरा कुछ अपराध किया नहीं। असुर मेरे ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या करते हैं। तू असुर है, अत उनका पक्ष लेकर व्यर्थ मुझसे युद्ध कर रहा है।

यह सुनकर वृत्रासुर ने कहा—"अरे, अधम! शरीर को कष्ट देने वाला ही शत्रु नहीं होता। जो शरीर से सम्बन्ध रखने वाले माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री पुत्र आदि से द्वेष करता है, या धन, घर, भूमि आदि का अपहरण करता है, वह भी शत्रु ही

है। तैंने मेरे बड़े भाई विश्वरूप का वध किया है। अत तू

भ्रातृहा मेरा शत्रु है। तू महापापी है तैंने ब्राह्मण का वध किया

है। ब्राह्मण भी साधारण नहीं, जिसे तैंने गुरु मानकर पूजा था जिसे पुरोहित के सिंहासन पर बिठाया था उसे तूने युद्ध में नहीं छल से मारा है। तू ब्रह्म हत्यारा है। तेरे ऊपर दया करके पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियों ने तेरी ब्रह्महत्या बाँट ली। फिर भी मेरे भाईका मारने वाला तो है ही। आज मैं तेरे पाषाणके समान कठोर हृदय को अपने तीक्ष्ण त्रिशूल से भेदकर तेरा अंत कर दूँगा। तेरे पापों का तुझे फल चखा दूँगा। जिस प्रकार यज्ञ में स्वर्ग की कामना वाले याज्ञिक बलि पशु का सिर धडसे काटते हैं। तैंने भी तो ऐसा किया था। मेरे आत्मज्ञानी निर्दोष धर्मज्ञ यज्ञ दीक्षित भाई का तैंने कपट से वध किया था।

यह सुनकर लज्जित हुए इन्द्र ने कहा—"मैं तीनों लोकों का स्वामी सर्वसमर्थ इन्द्र हूँ जिसके द्वारा लोक का अपकार हो ऐसे आततायी का मैं चाहे जैसे वध कर सकता हूँ।"

इस पर क्रुद्ध होकर वृत्रासुर ने कहा—"अब तू इन्द्र कहाँ रहा? अब तो तू अपने पाप से अधम बन चुका। अब तो तुझे ह्री, श्री, दया और कीर्ति आदि छोड चुकी हैं तू अपने कुकर्मों के कारण श्रीहीन और लोक निन्दित हो चुका है। धर्मात्माओं की बात तो पृथक् है, क्रूरकर्म, मांसभोजी, यक्ष, राक्षस भी तेरे इस अत्यन्त गर्हा कर्म की किसी ने भी प्रशंसा नहीं की। तेरे पाप का घड़ा भर गया है, अब तेरी दुर्गति होगी तुझे मारकर मैं फेंक दूँगा, तो तेरी कोई क्रिया भी न करेगा। तुझे गिद्ध, चील्ह, सियार खायेंगे। तुझे यह घमंड हो कि ये अग्नि, वरुण, कुबेर मेरे साथ हैं, ये मुझे बचालेंगे। सो, इन सबको अपने त्रिशूल से काट काटकर भूतपति भगवान् रुद्र की बलि चढ़ाऊँगा। पशु की भाँति इन्हें समर यज्ञ में मारकर यमसदन पठाऊँगा।"

वृत्रासुर की ऐसी बातें सुनकर इन्द्र ने गरजकर बड़े उत्साह के साथ उसे डाँटते हुए कहना आरम्भ किया—"अरे, नीच असुर! तू इतनी बढ़ बढ़ कर बातें क्यों कर रहा है। मैं अपने बल पर नहीं खड़ा हूँ। मुझे भगवान् का बल प्राप्त है। उन्हीं की आज्ञा से मैं तुझसे लड़ने आया हूँ। यह मेरे हाथ में महर्षि दधीचि की तप और तेजवाली अस्थियों का वज्र है इसमें भगवान् की शक्ति ने प्रत्यक्ष प्रवेश किया है, तू इससे किसी प्रकार बच नहीं सकता। मैं इस वज्र से तेरे दर्प युक्त दैत्यों के दल का दलन करके तेरे मस्तक को धड़ से अलग कर दूँगा तू यहीं कुत्ते का मौत मर जायगा। क्षण भर तू जितना चाहे बड़ बड़ाले।"

भगवान् की स्मृति होने से परम भगवद् भक्त वृत्रासुर की आँखों में प्रेमाश्रु छलकने लगे। उसका हृदय भर आया कंठ गद् गद् हो गया। वाणी रुद्ध हो गई। आँसू पोंछकर उसने कहा—"देवेन्द्र! देखो, मेरे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं, यदि मैं समर में तुम देवताओं को जीत सका तब तो स्वर्ग के राज्य को निष्कंटक भोगूँगा और यदि तुमने मुझे परास्त कर दिया, मुझे युद्ध भूमि में अपने वज्र से मार डाला, तो मैं कर्मबन्धन से छूटकर मोक्ष पद का अधिकारी होऊँगा। मेरे इस इतने विशालकाय शरीर को मांस भोजी जीव भक्षण करेंगे। डाकिनी साकिनी राक्षस, भूत प्रेत मेरे रक्त का पान करेंगे। सम्पूर्ण भूतों को इस शरीर की बलि अर्पण करके धीर पुरुषों के पद को प्राप्त हो जाऊँगा।"

हँसते हुए देवेन्द्र ने कहा—"अब तेरी बुद्धि ठीक ठिकाने आई, यथार्थ में तू मुमुर्षु है, अब तू मरने ही वाला है। मरने से पहिले जैसे बात के प्रकोप में आदमी बड़ बड़ाता है उसी

प्रकार पहिले तू बड़बड़ा रहा था।"

यह सुनकर वृत्रासुर ने कहा—"देवराज! यदि तुम्हारे वज्र में भगवान् प्रवेश कर गये हैं, तो तुम उस वज्र को मेरे ऊपर छोड़ते क्यों नहीं। भगवत् शक्ति के सम्मुख मैं सिर झुकाये खड़ा हूँ। अपने अद्भुत अमोघ अस्त्र को अब तुम मेरे ऊपर छोड़ दो। तुम तनिक भी इस बात में संदेह न करो, कि जैसे तुम्हारी गदा पहिले असफल हुई थी, उस प्रकार यह वज्र भी असफल हो जायगा। अरे, भैया! यह वज्र तो महामुनि दधीचि की पावन अस्थियों से बना है, इसमें मेरे स्वामी भगवान् का तेज व्याप्त है, यह उसी प्रकार असफल न होगा, जैसे उदार पुरुषों के सम्मुख की हुई याचना कभी असफल नहीं होती। तुम्हें भगवान विष्णु ने लड़ने भेजा है। फिर तुम अपनी विजय में संदेह क्यों करते हो? तुम्हारी विजय तो अवश्य म्भावी है, क्योंकि जिधर श्रीहरि हैं उधर ही विजयलक्ष्मी और समस्त सद्गुण चले जाते हैं। जब तुम भगवान् की आज्ञा से उनके बताये हुए उपाय से दधीचि मुनि की अस्थि के बने वज्र से मुझे मारने आये हो तो मेरी मृत्यु अवश्य होगी, किन्तु मैं मरकर भी अमर हो जाऊँगा। गुरु भगवान् संकर्षण के बताये हुए मार्ग द्वारा मैं उन्हीं श्रीहरि के पादपद्मों का ध्यान करता हुआ संसारी विषयों की ममता को त्यागकर योगियों की गति को प्राप्त हो जाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाभाग वृत्र भगवत्

स्मृति हो जाने से अपने असुर भाव को भूल गये और भगवान का अनन्य भाव से ध्यान करने लगे।

छप्पय

असुर पराक्रम निरखि इन्द्र ने गदा चलाई।
तुरत वृत्र ने छीनि इन्द्र गज माँहि घुमाई॥
ऐरावत सिर लगी फट्यो मुँह अति घबरायो।
तिलमिलाय के हट्यो बहुत सो रुधिर बहायो॥
व्याकुल सुरपति कूँ लख्यो, पुनि प्रहार कीयो नहीं।
सम्हरि समर सम्मुख भयो, वृत्र बात कछु की कहीं॥

रण में वृत्रासुर को भगवद्दर्शन

(४०७)

अह हरे तव पादैकमूल—
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्तरेतासुपतेर्गुणास्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥
(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

वृत्र कहें रे इन्द्र ब्रह्म हत्यारे पापी ।
अब ई मारूँ तोइ असुर कुल के संतापी ॥
अथवा मैं ई दिव्य अस्त्र तें यदि मर जाऊँ ।
तो हरि सुमिरन करत मोक्ष पदवी कूँ पाऊँ ॥
भक्त शिरोमणि असुरवर, ध्यान मग्न यों कहि भये ।
श्री हरि ने तब वृत्र कूँ, समर मोंहँ दर्शन दये ॥

प्रिय की स्मृति में कितना सुख है, इसे प्रेमी के अतिरिक्त कोई दूसरा जान नहीं सकता । अपने प्रिय का जहाँ स्मरण हुआ,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! युद्ध में जब वृत्रासुर को भगवान् के दर्शन हुए तब वे भगवान् की स्तुति करते हुये कहने लगे—"हे हरे ! मैं मरकर भी आपके चरणारविन्दों के आश्रय में रहने वाले दासों का भी अनुदास होऊँ । मेरा मन आप प्राण नाथ का

तहाँ चित्त तन्मय हो जाता है। यह दृश्य प्रपच भूल जाता है
प्यारे का नाम सुनने से, उसके सम्बन्ध की चरचा चलने
उसके समीपवर्ती वस्तु के दर्शन से, उसके अनुरूप अन्य किसी
वस्तु के साम्य से प्यारे की छवि नैनों मे छा जाती है। फिर मन
अपने आपे मे रहता नहीं। बाह्य सभी व्यापार विस्मृत हो जाते
हैं, ससारी सभी कार्य छूट जाते हैं। अपने पराये का भेद मि
जाता है। बस वे ही वे दिखाई देते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर को इन्द्र के
स्मरण करने पर अपने प्रियतम प्राणनाथ प्रभु की स्मृति हो
आई। अब उसका यह भाव विलीन हो गया कि इन्द्र मेरा
शत्रु है, मैं रणाङ्गन में उसका वध करने के निमित्त खड़ा हूँ।
अब तो वह सोचने लगा—"अहा! मुझसे बढ कर भाग्शाली!
आज कौन होगा जो मैं अपने प्रभु के तेज से इस पाञ्च भौतिक
शरीर को त्याग कर सदाके लिये कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा।
वह बार बार इन्द्र से आग्रह करने लगा और कहने लगा—"हे
शतक्रतु तुम भय मत करो सदेह को स्थान मत दो, मेरे ऊपर
वज्र का प्रहार करो मैं तो भगवान् का भक्त हूँ, जीत तुम्हारी
ही होगी, विजय वधूटी तुम्हारे ही कठ मे जयमाल पहिनावेगी,
विजय श्री तुम्हारा ही वरण करेगी।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ इन्द्र ने कहा—"हे असुरवर्य!
तुम कैसी बातें कह रहे हो। यदि तुम भगवान के सच्चे भक्त हो
तो तुम्हारी पराजय क्यों होगी? भगवद् भक्त तो कभी पराजित
नहीं होते, उनकी तो सदा विजय ही होती है?"

ही चिन्तन करे, मेरी वाणी आप के ही गुणों का गान करे और मेरे
कान आप के ही चरित्र सम्बन्धी कथाओं को करे।

इस पर उच्च स्वर से वृत्रासुर कहने लगे—"अरे भैया! यह बात सत्य है कि विष्णु भक्तों की कभी पराजय नहीं होती। मेरा भी पराजय कहाँ हो रही है। मैं तो शाश्वती विजय प्राप्त कर रहा हूँ। सदा के लिए कर्म बन्धनों से मुक्त हो रहा हूँ। जो उन मेरे स्वामी सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीहरि से अनन्य प्रेम करते हैं, जो उन्हें छोड़कर और किसी का आश्रय ग्रहण नहीं करते जो उनके निजजन कहलाते हैं, उन्हें मेरे सर्वसमर्थ नाथ इन तुच्छ ससारी भोगों को नहीं देते। न उन्हें पृथिवी के भोगों में ही फँसाते हैं न पाताल तथा स्वर्गों के सुखोंमे आसक्त करते हैं, उन्हें तो वे मोक्ष रूप सच्चे सुख को प्राप्ति करा देते हैं, जिसमे यह कर्म बन्धन रूप ससार का आवागमन सदा के लिये छूट जाय।"

इन्द्रने पूछा—असुर श्रेष्ठ भगवान्! अपने भक्तों को ससारी सुख भोग ऐश्वर्य क्या नहीं देते?"

इस पर वृत्रासुर कहने लगे—"हे सुरपति! इन शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श सम्बन्धी अनित्य सुखों में रखा ही क्या है? जहाँ अपने समीप भोगों की विपुलता हुई कि द्वेष बढ़ जाता है। तुम अपनी ही ओर देखो। यदि तुम इन्द्र न होते स्वर्गीय सुखों मे तुम्हारी अत्यधिक लालसा न होती, तो तुम तपस्वी, यज्ञ कर्ताओं से द्वेष क्यों करते। कोई कितना भी तप करे कोई कितने भी यज्ञ करे, तुम्हारी क्या हानि? किन्तु तुमतो समझते हो १०० अश्वमेध करके घोर तप करके यह मेरे इन्द्रासन को छीन लेगा। इसीलिये जिसे भी तुम इन शुभ कर्मों मे प्रवृत्त हुआ देखते हो, तो तुम्हारे पेट में पानी हो जाता है। येन केन प्रकारेण तुम उसके तप को भङ्ग करना चाहते हो। किसी के १०० अश्वमेध पूरे नहीं होने देते। महाराज पृथु तो

भगवान् के अवतार थे, उन्हें तुम्हारे इन्द्र पद से क्या प्रयोजन किन्तु तुम्हें शंका बनी ही रही। अनेक युक्तियों से विघ्न पाखण्ड बनाकर उनके १०० यज्ञ पूरे होने ही नहीं दिये। जिन ऐश्वर्य को पाकर प्राणियों से द्वेष हो भगवान् अपने भक्तों को ऐसे ऐश्वर्य कभी नहीं देते।"

इसपर इन्द्र ने कुछ लज्जित होकर पूछा—"असुरर्षभ! धन सम्पत्ति और ऐश्वर्य में यही एक दोष है या और भी कोई?"

यह सुनकर वृत्रासुर बोला—"हे सहस्राक्ष! जो धन सम्पत्ति हमें विषयों की ओर ले जाकर प्रभु से हटाती है, उसमें क्या नहीं अनेक दोष हैं। कहना चाहिए दोष ही दोष उसमें भरे हैं। धन सम्पत्ति से सदा चित्त में उद्वेग बना रहता है। धनी सदा उद्विग्न रहते हैं। उन्हें मानसिक शांति नहीं रहती। आज अमुक वस्तु नहीं है, उसके बिना वह कार्य रुका है, आज अमुक वस्तु बिगड़ रही है, आज यह नष्ट हो रहा है, उनकी रक्षा कैसे हो, धन की अधिकाधिक वृद्धि कैसे हो, किस प्रकार सब का धन बटूर कर मेरे ही पास आ जाय। किस प्रकार मैं सबसे बड़ा ऐश्वर्यशाली धनी बन जाऊँ, ये ही चिन्तायें सदा सताती रहती हैं। इन्हीं चिन्ताओंसे चित्त चंचल बना रहता है। जिसके पास चार पैसे जुट गये उसे सदा खुटका लगा रहता है। किसी विरक्त साधु के पास कोई ५००) रख गया। अब रात्रिभर साधु को चिन्ता बनी रही इनका क्या करें, किस परोपकार के कार्य में लगावें।"

प्रातः उसने अपने गुरु से कहा। गुरु ने आज्ञा दी इन्हें गंगाजी में फेंक दो। साधु ने ऐसा ही किया। गङ्गाजी में फेंकते ही उसके सब सङ्कल्प निवृत्त हो गये। सो, हे देवेन्द्र! मानसिक पीड़ा और उद्वेग का कारण ये सांसारिक सम्पत्तियाँ ही हैं।

इन्द्र ने कहा—"हे असुर कुल भूषण ! तुम बडे ज्ञानी मालूम होते हो। भोगों में और भी जो दोष हो उन्हें मुझे बताओ।"

इस पर वृत्रासुर बोले—हे अमराधिप ! भोगो की प्राप्ति में एक सबसे बडा दोष यह है, कि भोग सामिग्रियों की प्रचुरता में अभिमान बहुत बढ जाता है। ज्ञान ढक जाता है, अज्ञान आकर अन्त करण मे अड्डा जमा लेते हैं। धन के मद मे उन्मत्त हुआ ऐश्वर्यशाली पुरुष समझता है मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं धनी हूँ। मेरे समान कौन है, मैंने अमुक शत्रु को मारा, उसे ललकारा, इसे पछाड़ा, इतने बड़े बड़े यज्ञ किये, इतने भारी भारी दान दिये। मैं इतनों का पालन करता हूँ, इतने व्यक्ति मेरे आश्रय मे रहकर आजीविका प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार वह अनेक मिथ्याभिमान करके भगवान् से दूर हटता जाता है।"

इन्द्र ने कहा—"महाभाग ! अभिमान से पतन कैसे होते हैं ?"

वृत्र ने कहा—"अजी, यह तो सीधी सी बात है। अभिमान होता है अज्ञान से। जहाँ अभिमान हुआ कि कलह का सूत्रपात हो जाता है। दो अभिमानी जुट जायँगे वहीं गाली गलोज, मार पीट, लड़ाई झगड़े आरभ हो जायँगे। एक दूसरे की निन्दा करेंगे परस्पर लड़ेंगे प्रहार करेंगे कटुवचन कहेंगे। कलह नरक भार्या है, वह नरक के मार्ग को प्रशस्त बनाती है। अत जिन्हें नरक में भय हो वे अभिमान और कलह से सदा दूर ही रहें।"

यह सुनकर देवेन्द्र ने कहा—"इतने ही या और भी कुछ दोष हैं इन ससारिक सम्पत्तियों में।"

इसपर वृत्रासुर ने कहा—"अब मैं कहाँ तक तुम्हें गिनाऊँ। देखो, जितने भी बुरे व्यसन होते हैं, इस धन के ही कारण होते

हैं। धनी लोग ही धन के मद में भरकर बड़े बड़े पाप करते जुआ खेलते हैं, व्यभिचार करते हैं, सुरापान के व्यसनी बन जाते हैं, मादक वस्तुओं का सेवन करने लगते हैं। धन के लिये निरन्तर मानसिक श्रम करते रहते हैं, उसी की रात्रि दिन चिंता करते रहते हैं सो हे देवेन्द्र! इस इतने अनर्थ के मूल इन्द्र पदका तुम उपभोग करो। मैं तो सम्मुख समर में लड़कर वीर गति पाऊँगा। मैं तो अपने श्यामसुंदर श्रीहरि को रिझाऊँगा। उन्हीं के चरण शरण जाऊँगा। वे ही मेरे रक्षक हैं, वे ही प्रतिपालक हैं। वे ही मेरे माता, पिता, सुहृद्, सम्बन्धी, बन्धु, बान्धव, स्वामी और सर्वस्व हैं। मैं उन्हीं का कुछ काल ध्यान करूँगा। अभी तुम मुझसे युद्ध मत करना जब तक मैं अपने प्राण नाथ श्रीहरि का ध्यान करूँ, तब तक तुम मुझपर प्रहार मत करना। मेरे ध्यान में विघ्न मत डालना। तू इस बात में भी संदेह मत करना कि भगवत् भक्त का युद्ध के निमित्त किया हुआ प्रयास व्यर्थ क्यों हो गया, उसको विजय न होकर पराजय क्यों हुई। बात यह है कि हमारे स्वामी अपने भक्तों की सदा बड़ी तत्परता से देख रेख रखते हैं। वे उन्हें कभी परमार्थ से पतित नहीं होने देते। जिसमें उनका हित होता है, उसे वे हठ पूर्वक करते हैं। रोगी यदि शुभचिन्तक वैद्य से कोई स्वादिष्ट वस्तु माँगता है और वैद्य उससे उसका अहित समझता है, तो लाख बार मांगने पर भी उसे नहीं देता। इसी प्रकार हमारे हरि जब देखते हैं, भक्त विषयों में फसकर मुझे भूल जायगा, तो उसके धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी प्रयास का सर्वदा नाश कर देते हैं। यह उनकी अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपा ही है। ऐसी कृपा उन्हीं अकिञ्चन भक्तों को प्राप्त हो सकती है, जो एकमात्र उन्हीं को अपना सर्वस्व समझकर अनन्य भावसे उन्हीं के चरणों की निरन्तर उपासना में

लगे रहते हैं। जिन्हों ने अपने समस्त कर्म उन्हीं के निमित्त अर्पण कर दिये हैं। ऐसे ही बडभागी भगवान् के इस अनुग्रह के अधिकारी होते हैं। अन्य पुरुषों के लिये यह अनुग्रह अत्यन्त ही दुर्लभ है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवताओं और असुरों की सुसज्जित दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा हुआ वृत्रासुर भगवान के ध्यान में तन्मय हो गया। भगवान ने जब देखा मेरा भक्त मुझे स्मरण कर रहा है, तो वे तुरन्त गरुड पर सवार होकर वृत्रासुर के सम्मुख उपस्थित हुए। आकाश मडल मे अपने स्वामी श्रीहरि के दर्शन करके वृत्रासुर के रोम रोम खिल उठे। वह गद्गद् कठ से भगवान का स्तुती करने लगा। उस समय उसके दोनों नेत्रों से श्रावण भादों की वर्षा के समान झर झर अश्रु बिन्दु झर रहे थे। कठ गद्गद हो रहा था। सम्पूर्ण शरीर के रोम खड़े हुए थे। हाथ जोड़े हुए वह कह रहा था—हे हरे! मैं मरने से डरता नहीं। चाहे असख्यों बार मरता और जन्मता रहूँ, किन्तु मेरी एक ही साध है, एक ही आन्तरिक अभिलाषा है, कि मरकर भी मैं आपके उन दासों के दासों का दास बनूं जिनका आपको छोडकर अन्य कोई गति नहीं। जिन्हें आपके अरुण चरणों का ही एकमात्र आश्रय है। जो आपके कैंकर्य मे सदा लगे रहते हैं। ऐसे भक्तों के सेवकों का भी सेवक बनने मे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

हे मेरे जीवन सर्वस्व! हे मेरे प्राणों के स्वामी! हे मेरे जीवनाधार! मेरा मन मधुप सदा आपके मधुमय गुणगणों का ही स्मरण चिंतन करता रहे। मेरी यह वाणी सदा आपके ही त्रैलोक्यमोहक गुणों के गान में ही सलग्न रहे। मेरे शरीर से आपके ही सेवा सम्बन्धी कार्य हों। स्नान करूँ तो इस भावना

स कि इस शरीर से भगवत् सेवा करनी है। पैरों से, चलूँ

इसीलिये कि आपकी अर्चा की सामग्री लानी है, हाथों से जो भी

आदान प्रदान करना हो आपकी सेवा के सम्बन्ध से ही किया जाय। रसोई अपने खाने के निमित्त न बनाकर आपके भोग के लिये ही बनाऊँ, सुन्दर से सुन्दर सामग्रियों को शरीर पुष्ट करने के निमित्त नहीं आपकी सेवा के निमित्त जुटाऊँ। हाथ से आपके पार्षदों को मलूँ आपके मन्दिर में झाड़ू दूँ। आपके लिये पत्र, पुष्प, फल तथा पूजा की अन्य सामग्री जुटाऊँ। आपको आसन, पाद्य,अर्घ्य, आचमनीय देकर सुन्दर नीर से न्हिलाऊँ। चदन अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य आदि चढाऊँ। भोग लगाऊँ, प्रसाद पाऊँ, शयन कराऊँ। साराश शरीर से जो भी कार्य करूँ, आपके ही निमित्त करूँ आपको विस्मरण करके एक क्षण भी न रहूँ। आपके कैंकर्य में ही जीवन को बिताऊँ। हे मेरे जीवनाधार! ऐसा ही जीवन मुझे दो। ऐसी ही भक्ति मुझे चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर इस प्रकार भगवान् की विनय करते करते तन्मय हो गया। उसके ओठ हिल रहे थे, गद्गद् कठ से वह और भी कुछ कह रहा था। उसे भी आप सचेष्ट होकर सुनिये।"

छप्पय

करि हरि दरसन वृत्र विनयतें बोल्यो बानी।
दीहें दरसन देव जानि सेवक अज्ञानी॥
तव दासनि को दास दयानिधि पुनि पुनि होऊँ।
चिन्तन चित नित करे गुणनि को तव हित रोऊँ॥
करें कार्य कैंकर्य कर, गुन गावे बानी सतत।
जो कछु होवे देह तें, सो तुम्हरी सेवा निमित॥

वृत्र स्तुति

(४०८)

न नाकपृष्ठ न च पारमेष्ठ्यम्
न सार्वभौम न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भव वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

नहीं चाह है स्वर्ग ब्रह्म पद हू नहिं चाहूँ ।
भूमि रसातल राज न चाहूँ ऋषि बनि जाऊँ ॥
नहीं सिद्धि सब पाइ सिद्ध बनि जगत लुभाऊँ ।
वाञ्छा चित मह नहीं मुक्ति की पदवी पाऊँ ॥
है मेरे मन लालसा, चरन कमल चित महँ धरूँ ।
सेवक बनि के सदाई, नित सेवा तुम्हरी करूँ ॥

ससार के जितने सुख हैं वे सब प्रियतम के प्रेम के ऊपर उनके कृपा कटाक्ष के ऊपर वारे जा सकते हैं, हमें प्यारे का प्रेम

---

*वृत्रासुर भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे प्रभो! मैं तो केवल आप को चाहता हू। आप को छोड़कर मुझे स्वर्ग, ब्रह्मपद सार्वभौम साम्राज्य, (रसातल का अधिपत्य) योगसिद्धि अथवा मोक्ष आदि किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है।

प्राप्त हो इसके अतिरिक्त हमे और कुछ न चाहिए। शरीर के सुख दुख भाग्य के अनुसार आते हैं जाते हैं वे अनित्य हैं, विस्मरणशील हैं। स्मरणीय तो स्नेही का अनुपम स्नेह है। इष्ट की कृपा भरी दृष्टि हमारे ऊपर पड जाय, तो यह जीवन सफल हो जाय, सभी शुष्कता धुलकर स्निग्धताका जीवन मे सचार हो जाय।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अनन्य भगवद्भक्त वृत्र अपने इष्ट श्रीहरि की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे सर्वसौभाग्यनिधे! सभी श्रेय, सभी कल्याण, सभी सौभाग्य के आप जनक हैं। आपसे ही समस्त सौभाग्यो का प्राकट्य हुआ है। इस ससार मे प्राणी इन्द्रियों के अधीन है। शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श ये ही ससार में कान, आँख, जिह्वा, नाक और त्वचा इन पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं। इन इन्द्रियों को ये विषय नहीं मिलते या कम मात्रा में मिलते हैं तभी ससारी जीव अपने को दुखी समझते हैं। इन्द्रियों के अनुकूल विषय मिलने पर क्षण भर को प्राणी अपने को सुखी समझने लगते हैं। किन्तु इन्द्रियों की विषय लालसा ऐसी अक्षय है, कि कितने भी विषय का उपभोग करो इनकी तृप्ति ही नहीं होती। कितनी भी विषय सामग्रियाँ क्यों न मिल जायँ, कितनी भी ससारी भोगों की प्रचुरता क्यों न हो, कोई सन्तुष्ट दिखाई नहीं देता। फिर भी तारतम्य से लोग मिथ्या सुखी माने बैठे हैं। जिसे भर पेट अन्न नहीं मिलता, उससे वह सुखी है, जिसे रूखा सूखा अन्न भर पेट मिल जाता है, उससे वह सुखी है, जिसे सुन्दर स्वादिष्ट दूध घृत के भोजन के साथ स्त्री बच्चे, फूल माला, वस्त्र आभूषण कुछ मात्रा में मिलते हैं। उससे वह धनिक सुखी समझे जाते हैं जिनपर हजार रुपये हों, हजारपति से लखपति,

लखपति से करोडपति और करोडपति से पद्मपति श्रेष्ठ मा जाता है। इससे माडलीक राजा और उससे भी श्रेष्ठ समस्त भूमि का चक्रवर्ती सम्राट् समझा जाता है। यदि कोई मुझे का कि हम तुम्हें समस्त भूमडल का एक छत्र सम्राट् बनाय दते हैं, तुम भगवान् को छोड दो, तो हे सर्वेश्वर! ऐसे सम्राट पद की ओर मैं सिर उठाकर भी न देखूँगा। मुझे तो हे मेरे जीवनधन! आप ही चाहिए। आपकी कृपा का ही मैं इच्छुक हूँ।

यदि कोई कहे पाताल मे बडे बड़े सुख हैं वहाँ मणियों का प्रकाश जगमगाता रहता है, वहाँ की समृद्धि स्वर्ग के सदृश है, वहाँ भोगों की प्रचुरता है, वहाँ जरा मृत्यु का भी भय नहीं, दिव्य ऐश्वर्य का सर्वदा उपभोग करते रहते हैं। उस पाताललोक का समस्त ऐश्वर्य हम तुम्हे दिये देते हैं, (उसका सर्वाधिकारी शासक बनाये देते हैं) तुम भगवान् को भूल जाओ उनकी स्तुति मत करो, तो मैं ऐसे पाताल के आधिपत्य पर लात मार दूँगा, उसे बायें पैर से ठुकरा दूँगा। हे मेरे एक मात्र शरण्य! मैं तुम्हें छोडकर ऐश्वर्य नहीं चाहता सुख नहीं चाहता, भोगों की वाञ्छा नहीं, मुझे तो तुम चाहिय। हे जगदाधार! तुम्हारे बिना मैं सात भूविवरों का स्वामित्व लेकर क्या करूँगा।

कोई कहे तुम्हें हम स्वर्ग के सिहासन पर सदा के लिय अभिषिक्त किये देते हैं। अस्थाई इन्द्र पद को स्थाई बनाकर तुम्हें स्वर्ग का सम्राट बनाये देते हैं। तुम तीनों लोकों के ऐश्वर्य का यथेष्ट भोगो, किन्तु वासुदेव से सम्बन्ध मत रखो। आनन्दकन्द नन्दनन्दन के चरणारविन्दों का चिन्तन मत करो, तो हे आनन्द कनिलय! हे सुखार्णव! मैं उस इन्द्र पद की ओर आँख उठाकर भी न देखूँगा। मैं उस स्वर्ग के आधिपत्य को रौरव नरक के समान हलाहल विषके समान, विषधर सप के समान, (प्रज्वलित

अग्नि के समान, मारक अस्त्र के समान) असाध्यरोग के समान, तीक्ष्ण शूला के समान तथा ब्रह्महत्या के समान अग्राह्य और अस्पर्श समझूँगा। मुझे तो हे मेरी जीर्ण शीर्ण जीवन नौका के एक मात्र कुशल केवट! तुम्हारा ही आश्रय है। तुमही मेरी डगमगाती तरणी को उस पार लगाने वाले हो। तुम्हारे चरणों को छोड कर मैं और कोई सुख नहीं चाहता किसी समृद्धि की आकाक्षा नहीं।

कोई कहे तुम ब्रह्मपद लेलो। इन १४ भुवनो के स्वामी बन जाओ, समस्त चराचर जीवों के स्वामी हंसवाहन ब्रह्मा हो जाओ, किन्तु भगवान् को भूल जाओ। तो हे मेरे प्रभो! मैं उस ब्रह्मपद को अभिशाप समझूँगा। अपने पापों का मूर्तिमान् स्वरूप मान कर उसकी अवहेलना कर दूँगा। दीनबन्धो! मुझे ब्रह्मपद से क्या लेना है, स्वामीपनमें रखा ही क्या है, और अभिमान को बिना बात मोल लेना है। मैं तो सेवक ही अच्छा हूँ, तुम्हारे चरणों की सेवा मिले इस से बढ कर मैं ब्रह्म पद को नहीं मानता। असख्यों ब्रह्मा आपकी भाँति भाँति से स्तुति करते हैं। आपके अरुण चरणों में अपने असख्यों मणि मुक्ताओं से युक्त किरीट वाले मस्तकों को रगडते हैं, मुझे तो चरणों की रज चाहिये। वही मेरे लिये जीवनमूरि है।

कोई कहे तुम आठों सिद्धि नवों निद्धियों को लेलो। ससार मे सबसे श्रेष्ठ सिद्ध बन जाओ। सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करने की भी सामर्थ्य धारण कर लो, किन्तु कृष्ण तथा कृष्ण कीर्तन को छोड़ दो तो हे भक्त वत्सल! मैं उस सिद्धि को दूर से ही दडवत् कर दूँगा। सिद्धि लेकर मुझे क्या करना है, मुझे तो समस्त सिद्धियों के स्वामी आप की चाह है।

आप कहेंगे अच्छा तू न स्वर्ग चाहता है, न सार्वभौम साम्राज्य, न रसातल का आधिपत्य चाहता है न ब्रह्म पद, तो क्या मोक्ष चाहता है। मेरे पास सब से बड़ी वस्तु है मोक्ष। मोक्ष हो गई, संसार बन्धन से छूट गये। "हां, प्रभो! मैं उस राज मोक्ष को भी लेकर क्या करूँगा, जिस में आप की सेवा का सुअवसर प्राप्त न हो। मेरे जन्म हो, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। चिन्ता इसी बात की है, कि आप के चरणों की विस्मृति न हो। हृदय में आपकी मनमोहनी (छटा सदा बसी रहे मनमें आपकी मनमोहनी) मूरति गढ जाय, मुख से निरन्तर आपके जगन्मङ्गल सुमधुर नामों का गान होता रहे। कर सदा आपके कैंकर्य सम्बन्धी कार्यों में ही लगे रहें, रसना सदा आपके प्रसादी नैवेद्य की ही लोलुप बनी रहे। उदर आपके प्रसाद भोग से ही भरे। मस्तक पर सदा आप का निर्माल्य आपकी प्रसादी मालायें ही शोभा दें। घ्राण सदा आपके चरणों में चढी तुलसी की गंध को ही सूँघती रहे। हे विश्वम्भर! ऐसा ही वरदान आप मुझे दें। आप मुझे अपनी शरण में लेलें। मैं आपके तेजोमय वज्र से मर कर इस आसुरी शरीर को त्याग कर सदा के लिये आपकी सेवा में आना चाहता हूँ आप मुझे अपनावें। मैं विरही बनकर सदा आपके लिये रोता रहूँ मेरे जीवन में विरह हो, आप की यादमें तड़पूँ रोऊँ, पागल हो जाऊँ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाभाग वृत्रासुर इस प्रकार भगवान् की स्तुति करते २ रोने लगे। वे आत्म विस्मृत से हो गये।

छप्पय

हरितें हेतु हटाइ विषय जग माँहिँ फँसावें।
हरि बिनु जगके भोग मोइ तनिकहु नहिं भावें॥
मूरति मन महँ मधुर मचलि माधव की जावे।
रसना निसि दिन सुखद गीत गोविँद के गावे॥
दया सिंधु द्वारे खड़ो, दरस दास कूँ दीजियो।
कलपूँ कबतें कृपानिधि, कृष्ण कृपा अब कीजियो॥

हे हरि ! मेरा मन किस प्रकार आपकी बाँकी झाँकी करे ?

(४०९)

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

कैसे चाहूँ तुम्हें जगत उपमा कहँ पाऊँ।
तोऊ हियकी विरह चाह सर्वेश सुनाऊँ ॥
खग शावक बिनु पंख मातु कूँ जैसे चाहें।
भूखे बछरा मातु दूध हित ज्यों डकराहें ॥
भये प्रवासी प्राण पति, नित्य निहारे नारि ज्यों।
जीवनधन ! उत्सुक बचो, झाँकी चाहें नाथ त्यों ॥

जिस हृदय में मिलन की चाह नहीं, उत्सुकता नहीं, प्रतीक्षा नहीं, सिहरन नहीं, तड़पन नहीं, अभिलाषा नहीं, आकाँक्षा नहीं,

---

*इन्द्राक्षुर भगवान् की स्तुति कर रहे हैं—"हे अरविन्दाक्ष ! जैसे बिना पंख के पक्षियों के बच्चे अपनी माता की प्रतीक्षा करते हैं। जैसे दूध ही पीने वाले भूखे बछड़े अपनी माँ के स्तन पान करने को

सयोग की समुत्सुकता नहीं, प्रियतम को गले लगाने की साध नहीं, नयनों से नयन मिलाकर दरश पिपासा को शात करने की कामना नहीं। ऐसा जीवन भी क्या जीवन कहा जा सकता है। वृक्ष किसकी आशा मे खडे रहते हैं, किसके स्वागत के लिये शाखा रूपी हाथों को फैलाये प्रतीक्षा करते रहते हैं। उत्तर मिलेगा ऋतुराज वसन्त की प्रतीक्षा मे। भ्रमर अत्यन्त ही तडके भोर में क्यों पखों को फैलाये इधर से उधर फुदकते रहते हैं। वे अरविन्दैकबन्धु भगवान् भुवन भास्कर की प्रतीक्षा मे तडफते रहते हैं। कब दिनकर उदित होकर दिन करें, कब कमल खिलें कब हम उनकी माधुरी का पान करें। यह चकवाकी अत्यत विह्वल हुई क्यों अश्रु बहाती रहती है, नीची नारि किये किसकी प्रतीक्षा मे यह खडी खडी बिलबिला रही है, क्यों यह भोर में ऐसी समुत्सुका बनी हुई है। यह दिवस की प्रतीक्षा कर रही है, कब निशा का अन्त हो, कब अपने प्रियतम से हृदय मिलाकर अग से अग सटाकर चोंच से चोच जोडकर और उनके पखों मे अपने पखों को भिडाकर, अपने को उनमें एक कर दूँ कब उनसे लिपट जाऊँ, इसी प्रतीक्षा मे पल पल को युग युग के समान बिताती हुई नदी के उस पार से प्रियतम की मन भावनी बोली सुनने को उत्सुक सी हो रही है।

यह पपीहा क्यों पिउ पिउ की रटन लगा रहा है, यह किसे बुला रहा है, यह किसक गुन गा रहा है, पानी में रह कर भी

प्रतीक्षा करते हैं। तथा जैसे विरह व्यथिता पतिपरायणा प्रियतमा परदेश गये अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में प्रतिपल अधीर बनी रहती है उसी प्रकार हे कमलदललोचन ! मेरा भी मन आपकी उसी उत्सुकता से झाँकी करना चाहता है।

यह प्यासा क्यों बना हुआ है। हाय! इस संसार की रचना ब्रह्माजी ने कैसी विचित्र की है। कितने अगणित पुरुष चौराहे से आते जाते हैं। एक से एक सुन्दर, एक से एक लावण्ययुक्त, एक से एक सजे बजे, श्री शोभा सम्पन्न किन्तु पतिव्रता उनकी ओर फूटी आँखों से भी नहीं देखती उसके लिये उनका अस्तित्व ही नहीं। जब म्लान मुख मलिन वसनधारी अपने पति परमेश्वर को देखती है, तो उसके हर्ष का ठिकाना नहीं, प्रसन्नता की सीमा नहीं। वह प्रेम में बेसुधि हो जाती है। हृदय में गुदगुदी होने लगती है। कितना पानी भरा है, परम पवित्र-आधि व्याधि तथा संसारी कर्म वासनाओं को मिटा देने वाला निर्मल गङ्गाजल का जल भरा है, किन्तु इस पपीहे को तो एक ही रट है, वह तो स्वाति की बूँद के लिये ही समुत्सुक है, उसी की प्रतीक्षा में आकाश की ओर टकटकी लगाये खड़ा है, या तो उसी बूँद को पावेगा या मर जायगा। जीवन में कैसी उत्सुकता है, कैसी लालसा है। जब पशु पक्षियों में ऐसी उत्कंठा है तो जिस मनुष्य में अपने प्यारे के लिये आकाँक्षा नहीं, मिलने के निमित्त विकलता तड़फन नहीं वह तो पशु पक्षी, कीट पतंग और वृक्षों से भी गया बीता है। उसे तो मनुष्य कहना पाप है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! प्रेम में विह्वल हुआ वृत्र भगवान् से विरही जैसी चाह माँगता है। अपने प्यारे के लिये पल पल भारी हो, चित्त की वृत्ति उसी में लगी हो ऐसे जीवन की याचना करता है। वह गद्गद् कंठ से कहने लगा—"हे मेरे सर्वस्व! मैं तुम्हारा स्मरण समुत्सुकता के साथ करूँ। जैसे मातृ पक्षी अंडा देकर उन्हें सेती है कालान्तर में अंडे फोड़ कर छोटे छोटे बच्चे निकल आते हैं, वे सब भाँति असहाय होते हैं। स्वयं चल फिर नहीं सकते स्वयं जीवन सम्बन्धी आवश्यक

माओं की पूर्ति नहीं कर सकते हैं। माता ने जहाँ बिठा दिया बैठ गये, जहाँ लिटा दिया लेट गये, चोंच में चोंच भिड़ाकर जो खिला दिया खा लिया, न जल न साहस, हो भी कैसे वे तो अभी सर्वथा मांस के पिंड ही बने हुये हैं। इन्हें छोड़कर माँ दाना लेने के लिये चली जाती है, माँ को आने में कुछ देर हुई, तो जिस प्रकार वे पक्षहीन बच्चे तड़फड़ाते रहते हैं, बड़ी उत्कंठा, बड़ी उत्सुकता से जिस प्रकार अपनी जननी का स्मरण करते हैं, हे अरविन्दाक्ष ! उसी प्रकार मैं भी आपका चिंतन स्मरण करूँ। मैं भी तुम्हारे बिना व्याकुल हो जाऊँ। मैं भी तुम्हारे चिरकालीन वियोग को न सह सकूँ।

अथवा जैसे हाल की ब्याई गौ है, उसका एक छोटा सा सुन्दर मुनमुना सा बछरा है। वह घास नहीं खाता, भूसा नहीं खाता, अन्न अन्नादिक भी नहीं खा सकता। केवल अपनी माँ के दूध के ही आधार पर रहता है। स्वामी ने उसे माँ से दूर खूँटे में कस कर बाँध दिया है। अब उसे भूख लगी है। वह माँ से लिपटना चाहता है, वह अपने मुँह की हुड्ड से मातृस्तनों के मधुर दूध को पान करके अपनी बुभुक्षा को शांत करना चाहता है। बार बार इधर से उधर कुदकता है, रस्सी को तोड़ता है, खूँटे के चक्कर लगाता है, शरीर को हिलाता है, भाँति २ की चेष्टायें करता है, उस समय अपनी माता से मिलने की जैसी उसकी उत्कण्ठा होती है, हे मेरे प्राणेश ! वैसी ही उत्सुकता मुझे आप से मिलने की हो। मैं उसी प्रकार आप के चरणों का चिंतन करता हुआ आपके लिये व्याकुल बना रहूँ।

अथवा कोई पतिप्राणा पति पत्नी है, उसका पति परदेश चला गया है। प्रियतमा से कह गया है—"प्रिये ! मैं अमुक दिन आ जाऊँगा।" अब उसके सब मङ्गल नष्ट हो गये हैं, वह मल

मलकर स्नान नहीं करती, सोलह शृङ्गार करके शरीर को सजाती नहीं, मेला उत्सवों में जाती नहीं, मधुर स्वर से वीणा लेकर गाती नहीं, सखी सहेलियों के सहित सर में क्रीड़ा करती हुई नहाती नहीं। न वेणी बाँधती है, न केशपाशों में पुष्प लगाती है, यह सब काम तो पति की प्रसन्नता के लिये—उन्हें सुख पहुँचाने के लिये—करती थी। आज उसके प्रियतम तो प्रवासी बन गये हैं। अब उसे उतना अवकाश कहाँ, कि इन कार्यों को करे। अब तो उसे बैठते, चलते फिरते, खाते पीते एक ही धुन है, कब मेरे प्राणाधार आवेंगे, कब मेरे तन की तपन बुझावेंगे, कब वे मुझे स्नेह भरित हृदय से उठाकर गले लगावेंगे। कब वह घड़ी आवेगी, कब वह मुहूर्त होगा, जब उनकी चरण धूलि को मस्तक पर लगाऊँगी, कब उनकी झाँकी करके नेत्रों से नेह का नीर बहाऊँगी, कब उन्हें हृदय से लगाकर वियोग जन्य दुःख मिटाऊँगी।

अब वह किसी से बातें भी करती है, तो उन्हीं के सम्बन्ध की। सोचती है, तो उन्हीं की घटनाओं को। शंका करती है, तो उन्हीं को लेकर। प्रथम तो उसे प्रियतम के वियोग में नींद आती ही नहीं, दीर्घ उच्छ्वास छोड़ती हुई पति की शैया का आलिंगन किये तड़फड़ाती रहती है। कदाचित नींद आ भी जाय तो स्वप्न में उन्हीं को देखती है। उन्हीं को रो रो कर अपनी विरह व्यथा सुनाती है, जब निशावसानमें नींद खुलने लगती है और उसे भान होने लगता है, कि यह यथार्थ मिलन नहीं स्वप्न था। तब भी वह आँखें बंद किये हुये पड़ी रहती है कि फिर नींद आ जाय, एक बार पुनः स्वप्न में ही सही अपने हृदयधन के दर्शन हो जाँय, किन्तु फिर नींद कहाँ। वह तो उचट गई, उत्सुकता बढ़ाकर भाग गई, प्रियकी धधकती, हुई विरहाग्नि को उद्दीप्त करके खिसक गई।

पतिव्रता फिर रोती है। बार बार ऊँगलियों की पोटो पर दिन गिनती है। एक एक करके वही दिन आ गया, जिस दिन उसके हृदय सर्वस्व आने को कह गये थे।

आज उसकी उत्सुकता का ठिकाना नहीं। आज चिरकाल के पश्चात् उसने अपनी शृङ्गारदानी को झाड पौंछ कर यथा स्थान पर रखा है। घर को झाड़ बुहार कर स्वच्छ बनाया है। सिंदूर की डिब्बी ठीक की, सुरमादानी की धूलि झाडी है। पानों को उलट पलट कर गले हुओं को काटा है। कधा तेल फुलेल इत्र पान भोजन सभी की चिन्ता की है। आज उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं। उत्सुकता सीमा का उल्लघन कर गई है। क्षण क्षण में घर के द्वार तक जाती है। कोठे पर चढती है दूर तक दृष्टि दौड़ाती है, फिर घर में आ जाती है। तनिक खड़खड़ाहट हुई कि हृदय बाँसों उछलने लगता है दौडकर किवाड़ खोलती है। अरे यह तो कुत्ता है कुत्ते ने द्वार खटखटाया है। पेड़ पर कौआ बैठे हैं अहा वे अवश्य आते होंगे। कौआ राजा उड जा यदि मेरे जीवन सर्वस्व आते हों तो। वह इक टक भाव से खड़ी रहती है। फिर सोचती है दूर से भूखे आवेंगे लाओ थोड़ा साक अमनिया कर लूँ। आटा मल लूँ आते ही रसोई बनाऊँगी। यह सोचकर भीतर जाती है" यह सब करने लगती है। फिर सोचती है--"यदि न आये तो इस विचार के उठते ही उसके हृदय में एक धक्का सा लगता है, मानसिक वेदना होने लगती है, फिर पत्तों की खड़खड़ाहट हुई। हृदय में आशा का सञ्चार हुआ बाहर दौडी गई देखा कोई सखी है। उसी से पूछती है—"आज मेरे प्राणाधार आने वाले थे वे अभी तक न जाने क्यों नहीं आये। तू शकुन देखना जानती है क्या? शकुनौटी डाल, कि वे कब आवेंगे, आज आवेंगे या नहीं। मुझसे कोई

अपराध तो नहीं बन गया।" इस प्रकार कहते २ रोने लगती है। उसे क्षण-क्षण पल-पल एक एक निमेष भारी हो जाता है। वह व्याकुल हुई, जिस प्रकार पति दर्शन की लालसा से तन्मय हो जाती है। हे मेरे प्रियतम, उसी भाँति मैं तुम्हारे लिये व्याकुल होऊँ। तुम्हारी स्मृति में अधीर बना रहूँ। जिस प्रकार विरह व्यथित वह पतिप्राणा कामिनी अपने प्रवासी प्रियतम की बाट जोहती रहती है, उसी प्रकार मेरा मन भी आपकी बाँकी झाँकी के लिये व्याकुल बना रहे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! वृत्रासुर इस प्रकार विष्णु से विरह की वाञ्छा करता हुआ फूट फूटकर वहीं रणाङ्गन में रुदन करने लगा।"

छप्पय

प्रिय आवन के दिवस प्रिया ज्यों व्याकुल होवे।
आशा तें है मुदित निराशा तें पुनि रोवे॥
पुनि पुनि देखे द्वार अटा चढ़ि पीव निहारे।
कबहुँ निहारे शकुन कबहुँ कछु वस्तु सम्हारे॥
छिन छिन पल पल निमिषमहँ, ज्यों प्रियतम सुमिरन करे।
त्यों हरि तुम्हरे नेहमें, नीरस हिय मेरा भरे॥

मेरी-साध

(४१०)

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यम्,
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्मायया त्मात्मजदारगेहे—
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० २७ श्लो०

छप्पय

धन जन वैभव स्वर्ग ब्रह्मपद मुक्ति न चाहूँ ।
भ्रमत जगत महँ जन्म ग्रहण करि यदि पुनि आऊ ॥
तो मेरी है साध नाथ ! तुम पूरी कीजौ ।
विषयनि को नहि संग होय हरि यह वर दीजौ ॥
सुत कलत्र धन धाम महँ, जिनको मन आसक्त अति ।
कबहू मोकूँ भूलि प्रभु, तिनको देयो सक्त मति ॥

विषय भोगों की वस्तुएँ आज हैं कल नहीं हैं। इन में सुख नहीं शांति नहीं। इस शरीर का ढाँचा ऐसा बना है कि जिस

---

*भगवान् की स्तुति करते हुए वृत्रासुर कह रहे हैं—"हे नाथ ! प्रारब्ध वश यदि संसार चक्र में मुझे घूमना पड़े, तो मुझे जन्म जन्मों में आप उत्तम श्लोक प्रभु में प्रीति करने वाले भगवद् भक्तों से ही मेरी प्रीति हुआ करे, किन्तु जो पुत्र, कलत्र और गृह आदि में आपकी

स्थित मे रहता है वैसे ही रहने का इसे अभ्यास हो जाता है। एक राजा ने एक व्यक्ति को धूप में कंकड़ों पर गहरी नींद में सोते हुए देखा। उसने अपने मंत्री से पूछा—"इस व्यक्ति को ऐसी गरमी में कंकड़ों पर ऐसी गहरी नींद कैसे आई? हमें तो गुदगुदे गद्दों पर प्रयत्न करने पर ऐसी नींद नहीं आती।" मंत्री ने सरलता से कहा—"प्रभो! यह तो अभ्यास और स्थिति के ऊपर निर्भर है। यदि इसे भी सुख में रखा जाय और शरीर को सुख में रहने का अभ्यास हो जाय, तो इसे भी फिर यहाँ नींद न आवेगी।" राजा ने कहा—"इसे हमें प्रत्यक्ष करके दिखाओ।"

राजा की आज्ञा पालन की गई। उस व्यक्ति को बड़े सम्मान से राजधानी में ले जाया गया। कोई छोटा मोटा काम उसे सौंप दिया गया और जितना सुख बड़े लोगों को दिया जाता है उतना दिया जाने लगा। अब तो वह सुख का आदी हो गया। गुदगुदे गद्दों पर सोता, सुंदर स्वादिष्ट मधुर भोजन करता, सुख कर सवारियों पर घूमता। एक दिन मंत्री ने उसकी रजाई की रुई में जान बूझकर २४ बिनौले छुड़वा दिये। गद्दे में भी २४ छोड़ दिये। जब वह रात्रि में लेटा तो बिनौले शरीर में चुभने लगे। उसे राजा के समीप ही लिटाया संकोच वश बोला तो नहीं, किन्तु रात्रि भर जागकर करवट बदलता रहा।" प्रातः मंत्री ने बड़े सम्मान से पूछा—"आपकी आँखें लाल क्यों हैं? मुख भी म्लान हो रहा है क्या कारण है?"

उसने दुखित होकर कहा—"क्या बताऊँ मंत्रीजी! आज

मोहनी माया से मोहित होकर, अत्यन्त आसक्त चित्त वाले बने हुए हैं, ऐसे संसारी मनुष्यों में मेरी प्रीति न हो।

नया रजाई आई गद्दा भी नया था, न जाने उसमें क्या वस्तु थी जो रात्रि भर मेरे अङ्गों में चुभती रही। क्षण भर को भी नींद नहीं आई।"

तब मन्त्री ने राजा से कहा—"देखिये, अन्नदाता! कहाँ तो इसे ककड़ों पर धूप में गहरी नींद आ जाती थी कहाँ तो २४ बिनौलों के कारण ही इसे नींद नहीं आई। महाराज! वह प्राणी सुविधाओं और परिस्थितियों का दास है। जैसी स्थिति में रहना होता है वैसा ही अभ्यास हो जाता है।

यह तो सुख की बात रही। हमने ऐसे लोगों को प्रत्यक्ष देखा है, जो पहिले सुन्दर से सुन्दर मिठाई को देखकर नाक भौं सिकोड़ते थे। मीठे को देखकर चिढ जाते थे, वे ही जब उनका अभाव हो गया, तो एक गुड डली के लिये तरसने लगे। पहिले संगमरमर के फरसों पर नंगे पैरों चलने से जिन्हें सर्दी हो जाती थी, उन्हें माघ पूस के जाड़ों में नंगे पैर ओस से भीगी गङ्गाजी की ठंढावालू में पड़े रहने में भी कुछ नहीं होता। इससे यही सिद्ध हुआ कि इन विषय भोगों में कोई विशेष सुख नहीं। सुख का सम्बन्ध तो मन से है। मन सुखी तो सब सुखी मन दुखी तो सब दुखी। मन को भली भाँति मालिन्य मेटने के लिये मनुष्यों ने साधु संग को सर्वश्रेष्ठ साधन बताया है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! वृत्रासुर ने आँसू पोंछे और फिर स्तुति करने लगा। उसने कहा—"हे प्रभो! अब आप से मैं क्या माँगूँ? आप तो वरदानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप वाँछाकल्पतरु हैं, आपके सम्मुख होते ही सभी इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं। नाथ! मैं मुक्ति नहीं चाहता, मैं यह भी प्रार्थना नहीं करता कि मेरा कर्म बन्धन क्षय हो जाय, मेरा आवागमन सदा के लिये मिट जाय। प्रारब्ध का भोग भले ही मुझे एक

जन्म मे नहीं लाखों जन्मों मे भोगना पड़े। मुझे पृथिवी म, रसा तल मे स्वर्ग मे चाहें जहाँ भी—जिस योनि मे भी—रहना पड वहाँ रहूँ, किन्तु एक भीख मुझे हे भवभयहारी! इसी समय दे दो। एक मेरी इच्छा को तुरन्त पूरी कर दो। मैं जहाँ भी रहूँ आपके भक्तों के सग ही रहूँ। अहा! आपके जो भक्त निरतर आपके त्रैलोक्य पावन नामों का अव्यग्र भाव से स्मरण करते रहते हैं। सर्वदा पवित्र कीर्ति वाले आपके गुणों का गान करते रहते हैं। जो आपको हा सर्वस्व समझते हैं। जिनका आहार विहार सब आपके ही उद्देश्य से होता है, उन हरि भक्तों क पाद पद्मों मे मेरा अनुराग हो। उन्हीं की उच्छिष्ट प्रसादी को मैं पाऊँ, उन्हीं के चरणारविन्दों को हृदय पर धारण करके दबाऊँ, उन्हीं के पादपद्मों मे अपने सिर को नवाऊँ। उन्हीं की विरुदा वली को गाऊँ। उन्हे ही अपने व्यवहार से रिझाऊँ। सारांश यह कि उन्हे ही अपना सर्वस्व समझूँ। उन्हे छोडकर अन्य किसी से मैत्री न करूँ?

प्रभो! विषयियों से मेरा सम्पर्क न हो, जिनका असत् अनित्य पदार्थों मे आसक्ति है। जो कंकड पत्थर ईंट चूना मे ही अपनापन किये बैठे हैं, उन्हे हा शरार की भाँति प्यार करते हैं, एक एक अगुल पृथ्वी के लिय झूठ बोलते हैं, पाप करते हैं, असत्य व्यवहार करते हैं, उन मूढों से मेरी मैत्री न हो।

जो आपका विश्वविमोहनी माया से मोहित होकर मैं मेरी तू तेरी मे फँस कर नित्य ही लोगों से राग द्वेष करते हैं अपने को ज्येष्ठ श्रेष्ठ सम्मानित प्रतिष्ठित समझकर दूसरों का अप मान करते हैं, अन्य प्राणियों से घृणा करते हैं। जो प्राणियों में पृथक्त्व स्थापित करके दूसरों का तिरस्कार करते हैं उन्हें

हेय समझकर बुरी दृष्टि से देखते हैं, ऐसे अहंकारी पुरुषों से मेरा संसार में सम्बन्ध न हो।

जो अपने पुत्रों से तो प्यार करते हैं और शेष लोगों को बहिष्कृत समझते हैं। अपने पुत्रों के लिये तो सब कुछ करने को तत्पर रहते हैं, किन्तु कोई दीन दुखिया भूखा प्यासा आ जाता है, उसे दुतकार देते हैं, उसे एक रोटी का टुकड़ा भी नहीं देते। हे सर्वान्तर्यामी प्रभो! ऐसे भिन्न दृष्टि वाले असत्पुरुषों में मेरी आसक्ति न हो। हे नाथ! मुझे तो सर्वदा साधुओं का ही सत्संग प्राप्त हो। जो इस हाड़ माँस के शरीर में अत्यन्त ही अनुरक्त हैं। जो इस थूक, खकार, कफ से भरेहुए मुख को देखकर मोहित हो जाते हैं। माँसके लाल लाल दिखाने वाले अधरों के थूक मे ही जो अमृत का अनुभव करते हैं। जिनकी मलमूत्र के स्थानों मे अत्यंत आसक्ति है, जो हाड़, मास, मेदा, मज्जा, रक्त, नख, बाल, विष्ठा, मूत्र, पुरीष, कफ, पित्त, दुर्गन्धियुक्त वायु से भरे शरीर संयोग को ही सर्वश्रेष्ठ सुख समझते हैं। जिनकी अशुचि पदार्थों मे शुचि बुद्धि है, जो अनित्य को नित्य माने बैठे हैं। जो कामिनी को ही कल्पलता मानकर उसके क्रीड़ा मृग बने हुए हैं, उसी के संकेत पर सदा नाचते रहते हैं। जिन्हें धर्म, कर्म, पाप पुण्य का कुछ भी ध्यान नहीं जो माता, पिता, आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनों की सेवा से रहित हैं। भाँति भाँति के विषय सम्बन्धी पदार्थों से प्रियतमा को ही प्रसन्न करने मे लगे रहते हैं, जिन्हें प्रभुपूजा से प्रेम नहीं, तीर्थ, व्रत उपवास आदि का कोई नियम नहीं, जिनके कर्ण कुहरों मे कभी कृष्ण कथा पड़ी नहीं। जो सदा कोकिलबैनी कामिनियों के ही कल कंठ को सदा श्रवण करने को उत्सुक बने रहते हैं। जिनकी जिह्वा से कभी

भूल में भगवान् के त्रैलोक्य पावन सुमधुर नाम नहीं निकलते, ऐसे स्त्रीजित, कामलपट, विषयी पुरुषों से हे कामारि! हमारा भूल कर भी प्रेम न हो। हम उन्हें अपना हितैषी सम्बन्धी न समझें। जिस जिस योनि में जहाँ जायँ हमें साधु सग मिले। हम सेवक हों तो साधुओं के हों, पशु हो तो ऐसे हों जो साधु सेवा में काम आते हो, वृक्ष हों तो ऐसे हो जिनका ईंधन जिनकी दन्त धावन आदि का साधुओं की सेवा में उपयोग होता हो। यदि हम मनुष्य हों, तो ऐसे हों, जिनसे साधु प्यार करते हों, जिन्हें भगवत् भक्त अपना कृपापात्र मानते हों। यदि हम सूकर कूकर हों, तो ऐसे हों, जो साधुओं के समीप रहते हों, यदि हमे पक्षी बनना पड़े, तो हम उन्हीं वृक्षों पर निवास करें जो साधुओं के आश्रम में लगे हों, जिन पर बैठ कर कृष्ण कथा कृष्ण नामकीर्तन श्रवणका सुयोग प्राप्त हो सकता हो। हे नाथ! ऐसा वरदान हमें दीजिये। यही आप के पाद पद्मों में हे नृसिंह! मेरी पुन पुन प्रार्थना है। हे हरे त्राहि माम। हे राघव! रक्ष मा। काम क्रोधादि शत्रुओं से रक्षा करो!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार वृत्रासुर भगवान् की स्तुति करते २ बेसुधि बन गया। उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही। उसने निश्चय कर लिया मुझे दधीचि की अस्थियोंसे बने वज्र से मरना ही है। इसीलिये वह निश्चिन्त हो गया।

छप्पय

सदा साधु को सग होहि मन अनत न जावे।
कान कृष्ण की कथा सुनें रसना हरि गावे॥
साधुनि मं ई रहूँ सीथ परसादी पाऊँ।
पादोदक सिर धारि प्रेम तें चरन दबाऊँ॥
प्रभु पूजा महँ निरत जे, कथा कीरतन करहिं नित।
तिन हरि भक्तनि के चरन, महँ मेरो अति रमे चित॥

पराजित देवेन्द्र को वृत्र का उपदेश

(४११)

युयुत्सता कुत्रचिदाततायिनाम्,
जयस्तदैकत्र न वै परात्मनाम्।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरम्,
सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

इस्तुति करिके वृत्र उठ्यो सुरपति पै धायो।
गर्जन तर्जन करी फेंकि तिरशूल चलायो॥
इन्द्र न विचलित भये बाहु निज रिपुकी काटी।
मार्‌यो अरि ने परिघ इन्द्र की ठोडी फाटी॥
वज्र हाथ तें गिरि पर्‌यो, सुरपति लज्जित ह्वै रहे।
नहीं उठायो अस्त्र जब, वृत्र वचन तब प्रिय कहे॥

प्राणी न बली है न निर्बल। काल ही उसे कभी बलवान बना देता है, कभी निर्बल कर देता है। ऐसा न होता तो बल

---

* लज्जित हुए इन्द्र को उपदेश देते हुए वृत्रासुर कह रहे हैं—"हे इन्द्र! जो आदि पुरुष प्रभु सर्वज्ञ हैं, सनातन हैं और इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा लय करने में समर्थ हैं, उन श्रीहरी को छोड़कर अन्य देहाभिमानी युद्धोत्सुक आततायियों को सदा जय ही प्राप्त नहीं होती। कभी जीत जाते हैं कभी हार जाते हैं।

वान् पुरुषों की सदा विजय ही हुआ करती। निर्बल सदा हारा ही करते। संसार में अर्जुन से बड़ा बली कौन था, जिसे ग्रामीण भीलों ने लाठियों से परास्त कर दिया। उग्रसेन ने कभी कल्पना भी न की होगी, कि अब मैं फिर राजा बन जाऊँगा। जिसे अपने अत्यंत बलवान और सगे पुत्र ने ही बन्दी बना लिया है, उसका छुटकारा तभी हो सकता है, जब कंस से भी कोई बली आकर इसे मारे। जो कंस को मार सकेगा, वह स्वयं ही राज्य सिंहासन पर बैठेगा, इसीलिये उग्रसेन राज्य की आशा खो चुके थे, किन्तु समय के प्रभाव से वे ही फिर समस्त यादवों के सम्राट बने। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है, कि बल पौरुष सदा काम नहीं देता। कभी कभी बली भी हार जाते हैं और कभी निर्बल भी जीत जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार वृत्रासुर ने बड़े प्रेम से भगवान् की स्तुति की। उसने निश्चय कर लिया, कि युद्ध में विजय की अपेक्षा हँसते हँसते शत्रु के हाथ से मर जाना ही श्रेष्ठ है। संसार में कोई भी काम तभी तक दुर्लभ होता है जब तक मनुष्य मृत्यु से डरता है। जिसने हथेली पर सिर रख लिया वह निर्भय हो जाता है। फिर वह जो चाहे करने में समर्थ हो जाता है।

अब वृत्रासुर को मरने से तो भय था ही नहीं। उसने अपना बड़ा भारी अग्नि के समान जाज्वल्यमान तीक्ष्ण त्रिशूल उठाया और उसे घुमाता हुआ इन्द्र की ओर उसी प्रकार झपटा जैसे लवा पक्षी की ओर बाज झपटता है। जैसे सिंह हाथी पर प्रहार करता है। इन्द्र सम्हले हुए थे, वे उस असुर के प्रहार से उसी प्रकार विचलित नहीं हुए, जिस प्रकार सूकर भगवान् हिरण्याक्ष दैत्य की गदा से विचलित नहीं हुए थे। मधुकैटभ के प्रहार से

विष्णु भगवान् जैसे निर्भय खडे रहे थे, उसी प्रकार इन्द्र अपने स्थान से तनिक भी हिले डुले नहीं। अब तो वृत्रासुर क्रोध में भर गया था, उसने पूरी शक्ति लगाकर कई बार घुमाकर अपने त्रिशूल को इन्द्र पर फेंका और प्रलय कालीन मेघ के समान गर्ज कर बोला—"ले, पापी! तू अब ब्रह्महत्या और गुरुहत्या के पाप का फल चख। तू अब मारा गया, इस त्रिशूल से तू अब बच नहीं सकता।

उस इतने भयकर तीक्ष्ण और उलका के समान घूमते हुए दुर्दर्शनीय त्रिशूल को वेग के साथ अपनी ही ओर आते देखकर देवेन्द्र न तो घबराये न व्यथित ही हुए। हाथ में वज्र लिये निश्चल भाव से जहाँ के तहाँ डटे रहे। उन्होंने वृत्र और त्रिशूल दोनो को ही लक्ष्य करके अपना वज्र चलाया। उस वज्र से वह अमोघ त्रिशूल तो टुकडे टुकडे होकर भूमि पर गिर ही पडा, साथ ही जिस हाथ से वृत्रासुर ने उस त्रिशूल को छोडा था, उसे भी उस अव्यर्थ अस्त्र ने जड मूल से काट डाला। उस भयकर असुर की कई योजन लम्बी भुजा भूमि पर पडी उसी प्रकार दिखाई दे रही थी मानो शेषनाग पृथिवी का भार छोडकर भूमि के ऊपर लेट रहे हों। या नागराज वासुकी देवासुर सग्राम देखने को भूमि पर पडे हों।

अपना एक हाथ कट जाने से वृत्रासुर को बडा क्रोध आया लाल लाल आँखें करता हुआ वह दूसरे हाथ में एक बडा भारी दृढ परिघ लेकर प्रलयान्तक अग्नि के समान इन्द्र का विनाश करने के लिये दौडा। उसने इन्द्र को लक्ष्य करके इतनी सावधानी से परिघ को चलाया कि उसका लक्ष्य व्यर्थ नहीं हुआ। वह परिघ जाकर इन्द्र की ठोढी में लगा जिससे देवेन्द्र तिलमिला उठे और उनका ऐरावत घायल होकर हट गया। इतना ही नहीं

भयके कारण इन्द्र के हाथ से दधीचि मुनि की पावन अस्थियों से बना वह अमोघ अस्त्र भी छूटकर भूमि पर गिर पड़ा।

इन्द्र ने अपनी पराजय मान ली। वे अत्यन्त लज्जित हुए किंकर्तव्य विमूढ बने ज्यों के त्यों खडे रहे। वृत्र चाहता तो ऐसी स्थिति में इन्द्र को मार गिराता, किन्तु वह तो धर्म के मर्म को जाननेवाला वीर शिरोमणि था। जिस वज्र में अनन्त तप तेज निहित है, जिसमें स्वयं साक्षात् श्रीहरि की शक्ति प्रवेश कर गई है, उस वज्र को अमराधिप इन्द्र के हाथों से गिरा देना कोई साधारण कार्य नहीं है। वृत्रासुर के उस अति अद्भुत महान पराक्रम और अनुपम साहस की देवता, असुर, सिद्ध चारण, गन्धर्व, उरग, राक्षस, भूत, वैताल, डाकिनी, साकिनी, कूष्माड, गुह्यक, योगिनी, रुद्रानुचर तथा अन्य सभी ऋषि मुनियों ने प्रशंसा की। वे सब यह समझ कर कि अब तो इन्द्र मारे जायेंगे, अत्यन्त ही दुखी हुए। इन्द्र ने भी समझा अब मेरी विजय नहीं हो सकती। उनका अमोघ अस्त्र हाथ से छूटकर वृत्रासुर के समीप ही पडा था, किन्तु उस वीर ने उस पृथिवी पर पड़े हुए तप तेजयुक्त वज्र को दूर से ही प्रणाम किया। उसने गौरव से उसे उठाया नहीं। इन्द्र तो अत्यन्त ही लज्जित हो रहे थे, उनका साहस भग हो गया, मुख म्लान पड़ गया, लज्जा के कारण उन्होंने गिरे हुए अस्त्र को फिर उठाया नहीं।

इन्द्र को लज्जित और युद्ध से पराङ्मुख हुआ देखकर वृत्रासुर हँसते हुए बड़े मधुर वचनों में उनसे बोला—"हे देवेन्द्र, इतना दुःख क्यों करते हो? यह विषाद का समय नहीं है, साहस को मत खोओ, लज्जा मत करो, गिरे हुए अस्त्र को फिर से उठाओ मैं तुम्हारा शत्रु सम्मुख खडा हूँ मुझ पर सावधानी के साथ प्रहार करो।"

यह सुनकर अत्यन्त ही क्रोडित हुए देवेन्द्र बोले—"भै क्या लड़ें ? तुमने मुझे युद्ध मे परास्त कर दिया। जो यु में शत्रु से पराजित हो गया, उसमे साहस कहाँ रहता है ?

हँसते हुए वृत्रासुर ने कहा—"अर, इन्द्र ! तुम इतने बुद्धि मान होकर भी ऐसी भूली भूली सी बातें कर रहे हो ? भैय युद्ध मे जब दो लड़ते हैं, तो उनमें से एक हारता है, एक जी जाता है। यह जय, पराजय तो सदा लगी ही रहती है विश्वम्भर हैं, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण है जो अज, अखिलेश, सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वसमर्थ, अविनाशी अ अच्युत हैं, उनकी तो कभी पराजय होती नहीं। नहीं तो भैया ससार मे ऐसा कौन है जिसकी सदा जय ही हुई हो। बड़े बड़े बली, शक्तिशाली शूरवीरों को पराजित होना पड़ा है, हिरण्य कशिपु, हिरण्याक्ष, मधु कैटभ, रावण, कुम्भकर्ण ये इतने इतने भारी शूरवीर हुए हैं, कि इनके डरसे समस्त लोकपाल थर थर काँपते थे, जिन्हे तपस्या के द्वारा असख्यों वरदान प्राप्त थे। एक दिन युद्ध में इन सब को भी पराजय का अनुभव करना पड़ा इस लिये भैया, तुम चिन्ता मत करो। ससार मे जो भी युद्ध करने चला है, उसकी कभी विजय हो जाती है, कभी शत्रु द्वारा परा जित भी हो जाता है।"

इन्द्र ने पूछा—"हे सुरेन्द्र ! यह जय पराजय किसके ऊपर अवलम्बित है ? क्या अपने पुरुषार्थ से जय नहीं होती ?

यह सुनकर शीघ्रता के साथ वृत्र ने कहा—'होती क्यों नहीं, विजय तो पुरुषार्थ से ही होती है, किन्तु सर्वत्र पुरुषार्थ काम देता ही हो, सो बात नहीं। जब विपरीत प्रारब्ध हो जाता है, तब सभी पुरुषार्थ उद्योग धरे के धरे ही रह जाते हैं। जिस

समय जैसा काल होता है, उस समय वैसे ही वानिक बन जाते हैं। जैसा राग निकलने को होता है, उसके पूर्व ही वैसा ठाठ बँध जाता है। यथार्थ बात यह है, कि जय पराजय में मुख्य कारण काल है, यह काल दुर्निवार है। ये जितने भी लोक हैं, इनके जितने भी अधिपति लोकपाल हैं ये सब के सब काल के गाल में फँसे उसी प्रकार विवश होकर चेष्टायें करते हैं, जैसे जाल में फँसे पक्षी भाँति भाँति की भय युक्त चेष्टायें करते हैं, तड़फड़ाते हैं, बिलबिलाते हैं, उससे निकलने का प्रयत्न करते हैं, परों को फटफटाते हैं, किन्तु विवश होने के कारण उससे निकल नहीं सकते। यह सम्पूर्ण विश्व काल के अधीन है। वृक्ष काल पाकर ही फलते हैं। फल काल पाकर ही पकते हैं, फूल काल पाकर ही खिलते हैं, पत्ते काल से ही हिलते हैं, प्रेमी काल पाकर ही परस्पर में मिलते हैं। सभी का काल नियत है, जो कार्य जिस काल में होना होगा, वह उसी काल में होगा। तुम लाख प्रयत्न करो अमावस्या को पूर्ण चन्द्रमा उदित हो जायँ नहीं होंगे, वे तो पूर्णिमा को ही पूरे होंगे। काल ही प्राणियों के मनोबल, इन्द्रियबल, प्राण, जीवन मृत्यु, सुगति, दुर्गति, जय, पराजय, मान, अपमान, सत्कार, तिरस्कार आदि के रूप में स्थित है।"

इन्द्र ने आश्चर्य के साथ पूछा—"महाभाग वृत्रजी! आप तो बड़ी ऊँची बातें कह रहे हैं, फिर कर्ता की स्वतन्त्रता कहाँ रही। व्याकरणादि शास्त्रों में तो कर्ता को स्वतन्त्र बताया है।

हँसकर वृत्रासुर ने कहा—"हे अमरेश! तुम भूलकर रहे हो। जीव को स्वतन्त्रता कहाँ? यथार्थ कर्ता तो श्रीहरि ही हैं। वे ही विश्व ब्रह्माण्ड के पूर्ण रूप से कर्ता, भर्ता, हर्ता और विधाता हैं। यह प्राणी तो परतन्त्र है। जैसे नाक में नाथ डालकर स्वामी

पशुओं को नचाता है, वैसे ही ये सब उन सर्वाधार के सकेत पर नाच रहे हैं। जैसे काठ की पुतली स्वत नृत्य नहीं करती परदे के भीतर बैठा हुआ व्यक्ति उन्हें इच्छानुसार घुमाता है। तुमने देखा होगा मेले ठेलों मे बच्चों को झुलाने के लिये यन्त्र आते हैं। गोल गोल डडो पर काठ के बने बहुत से घोडे रहते हैं। बच्चे पैसा देकर घोडो पर चढते हैं। चक्र वाला व्यक्ति उनको इच्छानुसार घुमाता है। अज्ञ बालक समझते हैं, ये घोडे स्वत घूम रहे हैं। वे बडे गर्व से माता पिता से आकर कहते हैं, आज हम घोड़े पर चढकर बहुत घूमे। उन्हें पता नहीं उन काठ के घोडों मे स्वत घूमने की सामर्थ्य नहीं। घुमाने वाला तो उनसे पृथक् ही चैतन्य था। ये घोड़े तो जड हैं, स्वत घूमने मे असमर्थ हैं। इसी प्रकार भूतभावन भगवान् इन सम्पूर्ण भूतो को कालचक्र पर बिठाकर घुमा रहे हैं, नचा रहे हैं, खिला रहे हैं, भुला रहे हैं, अपना मनोरजन कर रहे हैं।"

लोग भूल से कहते हैं सृष्टि की उत्पत्ति में पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहत्तत्व, पचभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, अन्त करण की मनोबुद्धि, चित्त और अहकार ये वृत्तियाँ कारण हैं। इन सब के वास्तविक कारण तो करुणेश हरि ही हैं, उनके बिना ये कोई भी कुछ करने में समर्थ नहीं।

इन्द्र ने चकित होकर कहा—"प्राणी यदि न चाहें, तो यह सृष्टि आगे कैसे चले। जब मनुष्य सकल्प पूर्वक गर्भाधान आदि करता है तभी सृष्टि वृद्धि होती है, मनुष्य निष्क्रिय हो जायँ तो ससार का कोई व्यवहार ही न हो।"

वृत्र ने कहा—"निष्क्रिय हो जाना कुछ पूड़ी के ऊपर का पुआ तो है नहीं, जो झटमुँह में गये पट निगल गये। निष्क्रिय

तो तब हो जाँय जब यह जीव स्वतन्त्र कर्ता भोक्ता ईश्वर हो। इन सब प्राणियों के एक मात्र नियामक तो भगवान् वासुदेव ही हैं। वे ही प्राणियों के द्वारा प्राणियों का रचना करते हैं। वे ही जीवों से जीवों का उत्पत्ति कराते हैं और फिर वे ही उनका जीवों से संहार भी करा देते हैं। जीव जीव को जन्म देता है और जीव जीव को खा भी जाता है। सब उन्हीं क्रीडाप्रिय मुकुन्द की इच्छा से हो रहा है। जिस समय जिसका जैसा काल होता है, उस समय वैसी ही परिस्थितियाँ बन जाती हैं जय पराजय, सुख दुख सभी रथ के पहिये के समान काल के अधीन होकर प्रेरणा से प्राणियों के पास आते और जाते हैं।

इन्द्र ने कहा—'हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ असुरराज! मनुष्य अपने पुरुषार्थ से क्या दुःखों को मेट नहीं सकता? पराजय को विजय के रूपमें परिणित नहीं कर सकता?"

खीजकर वृत्रासुर ने कहा—'कैसे कर सकता है भैया, जब स्वतंत्र हो तभी तो कर सकेगा। यदि पुरुषार्थ से ये अन्यथा किये जा सकते, तो संसार में कोई रोगी न होता, किसी का अपयश न होता, कोई मरता नहीं। स्वेच्छा से रोगों को, अपयश को, मृत्यु को, कौन चाहता है? किन्तु बिना चाहे भी प्राणियों को नाना रोग होते हैं। न चाहने पर भी ज्वर आ जाता है सिर में पीड़ा होने लगती है कोई भी अपना अपयश नहीं चाहता, सभी चाहते हैं, सर्वत्र हमारी प्रशंसा हो, सभी हमारा सत्कार करें, सब से हम श्रेष्ठ समझे जायँ, किन्तु यश कितनों को मिलता है? बड़े बड़े लोगों की अपकीर्ति फैल जाती है। जब काल विपरीत होता है तब रोग, शोक जरा मृत्यु, अपयश आदि इच्छा के प्रतिकूल वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, जब वही काल अनुकूल होता है, तो इच्छा-

नुसार यश, ऐश्वर्य, भोग, विभव, आयु लक्ष्मी और कीर्ति का प्राप्ति होती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को प्रतिकूल वस्तुओं का प्राप्ति म न तो विषाद करना चाहिय न अनुकूल पदार्थों का प्राप्ति में फूल कर कुप्पा ही हो जाना चाहिय। सुख दु ख यश अपयश, जय पराजय, जीवन मरण आदि मे सर्वदा समानभाव से रहना चाहिये।

इन्द्र ने कहा—"हे ज्ञानी असुरपंभ ! ये तीनों गुण ही आत्मा को बाँधे हुए हैं। इन गुणों के ही कारण आत्मा सुखी दुखी होता है।"

वृत्र ने कहा—'देवेन्द्र ! यह बात नहीं। ये सत्व, रज और तम तीनों गुण आत्मा के नहीं हैं। ये तो प्रकृति के गुण हैं। आत्मा तो केवल साक्षी मात्र है। जैसे रात्रि के समय भवन में दीपक जल रहा है। दीपक न कुछ करता है न कहता है। उसके आलोक से ही सब वस्तुएँ प्रकाशित हो रही हैं। जहाँ उसने अपने प्रकाश को अपन मे लीन कर लिया, तहाँ वस्तुएँ रहने पर भी उनकी प्रतीति नहीं होती। दीपक के साक्षित्व मे ही वे दिखाई देती हैं। उसी के प्रकाश मे गृह के लोग कार्य करते हैं। इसी प्रकार प्रकृति का समस्त पसारा आत्मा के आलोक पर ही निर्भर है। आत्मा कर्ता भोक्ता नहीं वह तो केवल कूटस्थ साक्षि मात्र चैतन्य घन है। वह प्रकृति के गुण दोषों से सर्वथा निर्लिप्त बना रहता है। जिसे ऐसा ज्ञान हो गया है, वह प्रकृति से सुख दुख, जय, पराजय आदि द्वन्दों मे लिप्त नहीं होता। अत मैं जय पराजय दोनों मे सम हूँ।"

इन्द्र ने आश्चर्य से कहा—"महाराज ! आप को कुछ दु ख नहीं होता।"

हँसकर वृत्रासुर ने कहा—"यदि मैं भगवत कृपा का अनुभव न करता होता, तो मुझे दुःख होता। अब तो मैं समझता हूँ, मेरे प्रभु की यही इच्छा है वे मुझ से समर करना चाहते हैं, अत कर्त्तव्यबुद्धि से मैं समर कर रहा हूँ। देखो, तुमने मेरा हाथ काट दिया है, मैं हस्तहीन हो गया हूँ, फिर भी तुम्हारे प्राण लेने का उद्योग कर रहा हूँ, इसी प्रकार तुम भी अपने कर्तव्य का पालन करो। यह तो भैया खेल है, युद्ध तो एक प्रकार का जुआ है, इसमें कभी किसी का दाव लग जाता है, कभी किसी का कभी कोई हार जाता है, कभी कोई जीत जाता है। किसी को पता नहीं रहता मैं हार ही जाऊँगा या मेरी विजय निश्चित ही है, अत तुम चिन्ता मत करो विषाद को त्याग करो। गिरे हुए इस अमोघ वज्र को फिर से उठा लो। मैं तुम्हारा शत्रु समर मे सम्मुख खड़ा हूँ, मुझ पर सावधानी से प्रहार करो। देखना है अब किसका पासा उलटता है। ऊँट किस करवट बैठता है। विजय लक्ष्मी किसे वरण करती है। विजय तो तुम्हारी निश्चित ही है, क्योंकि तुम्हारे वक्ष में भगवान वासुदेव विराजमान हैं। फिर मैं तुम्हें सहज मे न छोड़ूँगा। शक्तिभर घनघोर युद्ध करूँगा या तो तुम्हें परलोक ही पहुँचा दूँगा, या मैं स्वय ही मरकर अपने स्वामी की सेवा मे सदा के लिये पहुँच जाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! वृत्र के ऐसे गूढ ज्ञान से भरे वचनों को सुनकर इन्द्र परम विस्मित हुए उन्होंने गिरे हुए

वज्र को उठा लिया और वे वृत्र के इस ज्ञान की पुन पुन' प्रशसा करते हुए उनके वचनों का अभिनन्दन करने लगे।"

छप्पय

इन्द्र करो मत सोच वज्र कूँ फेरि उठाओ।
सदा कौन की भई विजय यह मोइ बताओ॥
यश अपयश जय अजय दु ख सुख रहैं सग महँ।
रोग शोक भय हर्ष होहि नहिं कवन अग्र महँ॥
युद्ध द्यूत क्रीड़ा सरिस, दोउन महँ का कब थके।
जय होवे या पराजय, निश्चय कोउ न कहि सके॥

इन्द्र द्वारा वृत्र के वचनों का अभिनन्दन

(४१२)

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्यते मतिरीदृशी ।
भक्तः सर्वात्मनात्मान सुहृद जगदीश्वरम् ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

सुनी भक्तिमय मधुर वृत्र की सुरपति बानी।
बोले आदर सहित अहो, दानव ! तुम ज्ञानी ॥
सब जीवन कू विश्व मोहिनी मोहे माया ।
असुर होहि जस कृष्ण करी कस तुम पर दाया ॥
तुम विजयी हौं पराजित, तोऊ सम्मुख लरुङ्गो ।
क्षुद्र स्वर्ग सुखके निमित, समर असुरवर करङ्गो ॥

सत्य के सम्मुख सभी को सिर झुका देना पड़ता है। सत्य जहाँ से भी निकलेगा वहीं चमकेगा। मोती साप से निकलता है, कमल कीच से होते हैं कस्तूरी मृग के हृदय से निकलती है।

---

* वृत्रासुर के ज्ञानमय उपदेश को सुनकर देवराज इन्द्र उसकी प्रशंसा करते हुये कहने लगे—अहो ! हे दानव ! अवश्य ही तुम कोई सिद्ध हो निश्चय ही तुमने सम्पूर्ण जीवों के आत्मा और सुहृद स्वरूप जगदीश्वर श्रीहरि की आराधना की है। इसलिये तुम्हारी ऐसी शुभ मति है।

शहद मक्खियों के मुख से उगला हुआ होता है, शङ्ख हड्डी होते हैं रेशम कीडो के मुख से उन्हें मार कर निकाला जाता है ये सब वस्तुएँ अपात्र के ससर्ग से अपावन नहीं मानी जाती। सुवर्ण चाहें जहाँ पडा हो, चाहे जहाँ से उत्पन्न हुआ हो उसका सभी आदर करते हैं, इसी प्रकार भगवद् भक्ति किसी भी जाति के किसी भी वर्ग के पुरुष के हृदय मे उत्पन्न क्यों न हो वह सराहनीय है श्लाघनीय है वन्दनीय और पूजनीय है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्र की बात सुनकर इन्द्र कहने लगे—वृत्रासुर! भैया, तुम ही धन्य हो जो असुर होकर युद्ध मे भी तुम्हारी ऐसा दृढ मति बनी हुई है। निश्चय पूर्व जन्म मे तुमने विविध भाँति के दैव कर्म किये हैं अग्नि, अतिथि और गुरुजनो की तुमने निष्कपट भाव से आराधना की है। तुमने अपने शील सदाचार से पूर्व जन्मों में अवश्य ही प्रभु को प्रसन्न कर लिया होगा तभी तो नीच तामस असुर योनि मे आकर भी तुम्हारी ऐसी विशुद्ध बुद्धि बनी हुई है। भगवान् इन चराचर प्राणियों के भीतर समान भाव से रम रहे हैं, वे ही सब की आत्मा हैं। प्राणिमात्र के सुहृद हैं, सखा हैं, हितैषी हैं, उन जगदात्मा श्रीहरि की ही उपासना का यह फल है कि रणागन मे भी आपकी मति कुठित नहीं। हम अब तक यही सुना करते थे कि भगवान् की दैवी माया बडी दुस्तर है बडे बड़े ज्ञानी भी इसके चक्कर में फँस जाते हैं। इस तीक्ष्ण धारावाली सरिता को हाथों द्वारा तैर कर किनारे पर पहुँचते पहुँचते डूब जाते हैं किन्तु मैं दृढता के साथ कह सकता हूँ, कि आप इस विश्वमोहिनी माया को तर गये। आप इसे उपासना द्वारा पार कर गये।

वृत्र ने कहा—देवेन्द्र तुमने यह बात कैसे जानी?

इन्द्र दृढता के स्वर मे—"बोले बन्धुवर! देखिये हम सत्व प्रधान देवता कहलाते हैं। किन्तु फिर भी माया के चक्कर में फँसे हुए हैं। भोग की वासनाओं मे अधे होकर प्रकृति का अनुसरण कर रहे हैं, किन्तु तुम आसुरी योनि में जन्म लेकर भी आसुरी प्रकृति से निर्मुक्त बने हुए हो। तुम्हें ससार की माया ने स्पर्श तक नहीं किया। अवश्य ही तुम महापुरुष हो। तुम्हारी उपासना बडी ऊँची है। प्राय देखा गया है, कि विशुद्ध सत्व धाम श्री हरि मे उन्हीं पुरुषों का चित्त स्थिर होता है जो सात्विकी प्रकृति वाले होते हैं, सतोगुणी कार्य करते हैं। किन्तु तुम्हार सब कार्य रजोगुणी हैं। रज और तम प्रधान असुर योनि मे तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम्हारे साथी भी सब रजोगुणी असुर हैं, फिर भी तुम सर्वात्म भाव से भगवान् के भक्त हो। भगवान वासुदेव में तुम्हारी बुद्धि इतनी दृढ़ता के साथ लगी हुई है, कि इसे देख कर मैं तो विस्मित तथा लज्जित हो रहा हूँ। अब मैं समझ गया कि आप स्वर्ग पर राज्य करने की इच्छा से युद्ध नहीं कर कर रहे हैं।"

हँसते हुए वृत्र ने पूछा—"तब तुम मेरे युद्ध का क्या कारण समझे हो?"

इन्द्र ने कहा—"मैं समझता हूँ आप कर्तव्य बुद्धि से अपने पिता की आज्ञा का पालन कर रहे हो आपको हर्ष विषाद कुछ भी नहीं है। न आपको मेरे प्रति द्वेष भाव ही है। जय पराजय दोनों मे ही आपकी बुद्धि सम है। फिर आप स्वर्गीय सुखों की चाहा करने ही क्यों लगे। अजी जिन्होंने मोक्षपति भगवान् वासुदेवके प्रेमामृत से भरे सुधा समुद्र मे क्रीडा करली। जो उसका सुख लूट चुके, उन्हें फिर भला ससारी विषय भोग रूप क्षुद्र गढों में सड़े तालाबों मे दुर्गन्धि युक्त जलोंमे विहार करने की

स्पृहा क्यों होने लगा। महाभाग! जैसा ज्ञान आज आपने दिया है, ऐसा ही ज्ञान एक बार मुझे महाभाग बलि ने दिया था। उस ज्ञान को सुनकर मेरा मोह दूर हो गया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बलि ने इन्द्र को ज्ञान कब दिया? क्यों दिया? वह ज्ञान कैसा था? यदि आप उसे उचित समझें और बताने योग्य हो तो हमें उसे अवश्य बतावें। वृत्र की इन बातों को सुनकर हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियों! मैं महाभाग परम भगवद्-भक्त बलि और इन्द्र के इस सम्वाद की वार्ता संक्षेप में सुनाता हूँ। आप सब दत्त चित्त होकर श्रवण करें एक बार बलि ने इन्द्र पर चढ़ाई की बड़ा घमासान युद्ध हुआ। बलि की बहुत सी सेना मारी गई असुरों का पराजय हुई, देवताओं ने असुरों को बहुत मारा और भागते हुओं को भी खदेड़ा। असुर राज बलि भी घायल हुए। इन्द्र ने उनका पीछा किया। भागते भागते वे पृथिवी में कहीं जाकर छिप गये।

एक बार इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर चढ़कर पृथिवी पर आये। उनके ऊपर छत्र लगा था, दोनों ओर चँवर ढुल रहे थे। आगे २ गन्धर्वगान करते जाते थे, अप्सरायें नाच रहीं थीं। वन्दीजन उनके पराक्रमों का गान कर रहे थे। इस प्रकार स्वर्गीय श्री से सम्पन्न देवेन्द्र बड़े ठाठ बाट से जा रहे थे। जाते समय उन्होंने एक फूटे किले के समीप ही एक गदहे को चरते देखा। गदहा उस मैले कुचेले स्थान में बड़े आनन्द से सड़ी गली वस्तुओं को खा रहा था। उस गदहे को हृष्ट पुष्ट और अकेले देखकर इन्द्र को कुछ विस्मय हुआ। उन्होंने ध्यान लगाकर देखा, तो ज्ञात हुआ कि यह तो असुरराज बलि है। गदहे का

रूप रखकर अपने दिन काट रहे हैं। यह देखकर इन्द्र को बड़ी हँसी आई और बड़े गर्व से कहने लगे—"कहिये, असुरराज! आज तो गदहा बने घूम रहे हो। एक बार तुमने मुझे स्वर्ग के सिंहासन से भगा दिया था। उस समय की तुम्हारी श्री कहाँ चली गई। उस समय तो तुम स्वर्णसिंहासन पर बैठते थे। छत्र चवरों के नीचे रहते थे। आज यह निंदित वेष? तुम्हें लज्जा भी नहीं लगता। कहो तो मैं अभी तुम्हें मार गिराऊँ।

इतना सुनते ही असुरेन्द्र बलि बोले—"अरे, इन्द्र! तुझ जैसे अज्ञानियों को दुःख होता है। मैं तो इसमें दुख का कोई कारण नहीं देखता। यह तो समय की बलिहारी है। एक दिन हमारा वह भी समय था एक दिन आज भी है। उस समय न मुझे हर्ष था और न इस समय कोई विषाद। यह तो गुण प्रवाह है। सुख दुख जय पराजय, अनुकूल प्रतिकूल ये सब तो समयानुसार आते जाते रहते हैं। बुद्धिमान इन बातों से मोहित नहीं होते। तुझ जैसे अज्ञानी ही दुख में दुखी होते हैं और सुख में मारे अभिमान के आपे से बाहर हो जाते हैं। आज मेरा ऐसा समय है, इसे भी मैं प्रभु की देन समझकर भोग रहा हूँ। एक दिन फिर वह समय आवेगा कि तुझे इन्द्र पद से हटा कर मैं स्वयं इन्द्र बन जाऊँगा।

रही मारने की बात। सो, जब तक मेरा मरने का काल नहीं आता तब तक तू मुझे मार ही नहीं सकता। मारने वाले और जिलाने वाले तो मेरे सर्वान्तर्यामी प्रभु ही हैं, तू भी उनका ही बनाया हुआ इन्द्र है। वे तुझे समय आने पर इन्द्र पद से उतार कर उसी प्रकार फेंक देंगे, जैसे संसारी लोग दूध में से मक्खी को निकाल कर फेंक देते हैं।"

इन्द्र ने कहा—'हे असुराधिप! यहाँ अकेले आपको इस

निन्दित योनि मे कष्ट नहीं प्रतीत होता ?"

इस पर बलि ने कहा—"कष्ट उन्हीं को होता है, जो इन वैषयिक पदार्थों को सत्य मानते हैं। मेरी तो इन पदार्थों में सत् भाव की आस्था ही नहीं। मैं तो भगवत् चिन्तन को ही मुख्य मानता हूँ। भगवान् का चिंतन बना रहे, फिर चाहे सूकर कूकर योनि हो या देवयोनि दोनों ही बराबर हैं। तुम्हें जो सुख अपनी इन्द्राणी के साथ है। सूकर को वही सुख अपनी सूकरी के साथ है। जो लोग अज्ञानी हैं, वे विषयों की प्रचुरता और न्यूनता में सुखी दुखी होते हैं। मुझे तो इस योनि मे कोई भी कष्ट नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! असुर राज बलि की ऐसी बातें सुनकर लज्जित हुए देवेन्द्र वहाँ से चले गये। उन्होंने जिस प्रकार बलि की बातों का अभिनन्दन किया था उसी प्रकार वृत्रासुर की बातों का भी अभिनन्दन किया। अब वृत्र मे और इन्द्र मे जो बड़ा भारी घमासान युद्ध होगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तुम कृतार्थ ह्वै गये भक्ति भगवत की पाई।
पर उपकारक असुर ज्ञान दे करी भलाई॥
हम तो भैया! विषय भोग मह सदा निरत हैं।
इन्द्रासन रक्षार्थ करें हम यत्न सतत हैं॥
प्रभु पद पद्मनि महँ परे, विजय पराजय सम तुम्हें।
धर्म युद्ध कर्तव्य हित, करनो चहिये अब हमें॥

— o —

वृत्र के उदर में देवेन्द्र

(४१३)

इति ब्रुवाणावन्योन्य धर्मजिज्ञासया नृप।
युयुधाते महावीर्यावन्द्रवृत्रौ युधापती॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

यों कहि दोनों भिरे परिघ अरु वज्र घुमावें।
क्रोधित ह्वै के फिरें परस्पर शस्त्र चलावें॥
वृत्र चलाई शक्ति बीच मर्हं सुरपति डॉटी।
मारयो तकि कें वज्र बाहु दूसरि हू काटी॥
असुर भुजा दोनों कटी, परबत सम घूमत फिरत।
भीषन मुखकूं फारिकें, इन्द्र ओर दौरयो तुरत॥

ज्ञानी अज्ञानी दोनों को ही कर्म मे प्रवृत्त होते देखा गया है, किन्तु उनकी भावनामे बहुत अतर है, भावना के अनुसार ही फल भी होता है, अत ज्ञानी अज्ञानीके एक समान दीखने वाले कर्मों के फल में बडा अतर हो जाता है। अज्ञानी पुरुष तो आसक्ति के सहित फल की इच्छा से कर्म मे प्रवृत्त होता है,

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार वृत्रासुर और देवेन्द्र धर्म की जिज्ञासा से बातें करते हुए फिर परस्परमें दोनों युद्ध करने लगे दोनो ही युद्ध स्थल के अधिनायक थे।

किन्तु ज्ञानी योगी आसक्ति को छोड़कर आत्मशुद्धि के निमित्त कर्म करना ही चाहिये इस बुद्धिसे—कर्मों को करते हैं। उनके फल में वैसा ही अन्तर हो जाता है, जैसे कच्चे दाने और भुने दानों के बोने से। दो खेत हैं, ज्ञानी अज्ञानी दोनों ने ही उन्हें समान भाव से जोता। जोत कर दोनों ही उसमें चने बोए। चने तो दोनों के एक से हैं खेत भी एक सा है, बोने की क्रिया भी एक सी है, दीखने में दोनों एकसे काम करते दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु बीच में तनिक सा अंतर है। अज्ञानी के बोने वाले बीज कच्चे हैं वे बोने के १०।५ दिन पश्चात् अंकुरित हो उठते हैं, पौधे होते हैं, लाल लाल फूल लगते हैं, फिर उनमें चना के बूट लगने लगते हैं, किन्तु ज्ञानी के बीज भुने होते हैं उसने भी बो दिये। क्योंबोयेजी? अब क्यों का क्या उत्तर है? खेल खेल में बो दिये। बैठे ठाले आलस्य में पड़े पड़े क्या करते? बो दिये बस, बो तो गये, उनमें न अंकुर हुआ न पेड़ हुए न फल लगे। उनका कर्म विफल हो गया। उनमें अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं की। इसीलिये कहा है कि जिसे कर्तृत्व का अभिमान नहीं, जिस की बुद्धि शुभाशुभ कर्मों को करते हुए उनमें लिप्त नहीं होती, वह यदि लोगों को मार भी दे, युद्धादि क्रूर कर्मों को करे भी तो न वह मारने का दोष भागी होता है न कर्म बन्धनों में लिप्त ही होता है। उसके लिये सब खेल है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन! असुराज वृत्र में और सुरराज इन्द्र में इस प्रकार धर्म सम्बन्धी भगवद् भक्ति सम्बन्धी बातें होती रहीं। अब दोनों ने युद्ध करने की ठानी। दोनों ही परस्पर में अपने अपने अस्त्र शस्त्र लेकर भिड़ गये। एक ओर देवताओं की सम्पूर्ण सेना चुपचाप खड़ी थी, दूसरी ओर असुरों की सेना युद्ध से पराङ्मुख हुई खड़ी थी दोनों ही

ओर के सैनिक इन्द्र और वृत्र के युद्ध को बड़ी उत्सुकता से देख रहे थे। आकाश में बहुत से विमान मँडरा रहे थे, उनमें बैठे हुए

सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि दानों के भयंकर युद्ध

को निहार रहे थे। दोनों ही वीर थे, दोनों ही बली, शास्त्रज्ञ, रण विद्या विशारद तथा नामी योद्धा थे। एक दूसरे को पराजित करने के निमित्त सतत प्रयत्न कर रहे थे।

लडते लडते शत्रुसूदन असुर वशावतश इन्द्र-मदमर्दन वृत्रासुर ने भयानक लोहे का परिघ उठाया। पहिले तो उसे हिलाया फिर दशों दिशाओं मे वेग से घुमाया और दाँतों को कटकटा कर इन्द्र के ऊपर चलाया। वृत्र क परिघ को अपनी ओर आते देखकर देवराज की सिटिल्ली भूल गई, वे पहिले तो घबराये, किन्तु फिर नारायण का स्मरण करके और दधीचि मुनि की अस्थियों के बने वज्र की महिमा जानकर वे विचलित नहीं हुए उन्होंने तानकर एक ऐसा वज्र मारा कि परिघ के तो सैकडों टुकड़े हो ही गये। जिस हाथ से वृत्रासुर ने उस परिघ को चलाया था उस हाथ को भी जड से काट डाला। अब तो वृत्रासुर दोनों हाथों से हीन रुण्ड मुण्ड सा दिखाई देने लगा। वह दोनों बाहुओं से हीन हुआ ऐसा प्रतीत होता था, मानों कोई पर्वत का शिखर इधर उधर घूम रहा है। राजन्! पूर्वकाल में इन सब पर्वतों के पङ्ख हुआ करते थे। ये स्वेच्छा से आकाश मे उडा करते थे, जहाँ चाहते बैठ जाते। जिस स्थान में य बैठते वहाँ के नगर ग्राम क्षेत्र सभी नष्ट भ्रष्ट हो जाते। प्रजा को बडा कष्ट हुआ। प्रजा के प्रतिनिधि एक शिष्ट मण्डल बनाकर देवेन्द्र अमर पति के समीप गय, उन्होंने सब बाण मारकर पर्वतों क पङ्ख काट दिये थे। जिस प्रकार ऊँचे शिखर वाले किसी पङ्ख कटे पर्वत के दो पैर जोड दिये हों, उसी प्रकार भुजाओं से हीन वृत्रासुर उस रणाङ्गन मे दौडता हुआ दिखाई देने लगा। लडाई तो हाथों से ही होती है उसके दोनों हाथो को तो इन्द्र ने काट दिया था। अत उसने एक दूसरा उपाय सोचा।

वृत्रासुर एक तो वैसे ही बहुत लम्बा तडङ्गा था, फिर भी मायावी असुर ही ठहरा। सभी प्रकार की मायाओं को जानता था। उसने अपना विकट रूप बनाया। उसके पैर तो पृथिवी पर टिके थे। सिर का मुकुट स्वर्ग को छू रहा था। छाती भुवर्लोक तक तनी थी। इस पर तीनों लोकों को अपनी विशाल काय से ढककर उसने अपने भीषण मुख को फाडा। मुख क्या फाडा उसने एक नये ही आकाश की सृष्टि की। उसकी ठोढी तो पृथिवी मे लगी हुई थी। ऊपर का ओठ स्वर्ग को छू रहा था, उस भयानक मुख मे अजगर के समान एक जिह्वा लपलपा रही थी और कराल काल के सदृश भयङ्कर बडी बडी दाढें उस की भयङ्करता को और भी बढा रही थीं। उसके ऐसे वीभत्स रूप को देखकर देवताओं के छक्के छूट गये। पृथिवी थर थर काँपने लगी। बड़े बडे पर्वत स्वत ही हिलने डुलने और गिरने लगे। देखने मे वह अत्यन्त भयङ्कर तथा डरावना लगता था। अजन पर्वत के समान वह काला था। सूर्य चन्द्र के समान उसकी दो आँखे चमक रही थीं। वह हू हू करता हुआ बडे वेग से इन्द्र की ओर दौडा। इन्द्र ज्यों ही अपने वज्र को सम्हालते हैं, त्यों ही वह ऐरावत के सहित इन्द्र को निगल गया। जैसे हम लोग दाल भात को मिलाकर उसके ग्रास को निगल जाते हैं वैसे ही ऐरावत रूप दाल को इन्द्र रूप भात के ग्रास के साथ कदरा रूप मुख के द्वारा वृत्रासुर ने पेट रूप आकाश मे विलीन कर लिया।

अब देवताओं की बुरी दशा थी, वे डरकर दशों दिशाओं में भागने लगे। असुरों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे सम्पूर्ण बल लगाकर वृत्रासुर की जय बोलने लगे। उन्होंने अपने जय-जयकारों से दशों दिशाओं को भर दिया। आकाश मडल गूँजने

लगा। पर्वत फटने लगे, मेघ गर्जने लगे, यक्ष राक्षस तर्जने लगे, माता पिता बालकों को बाहर निकलने से वर्जने लगे। सर्वत्र

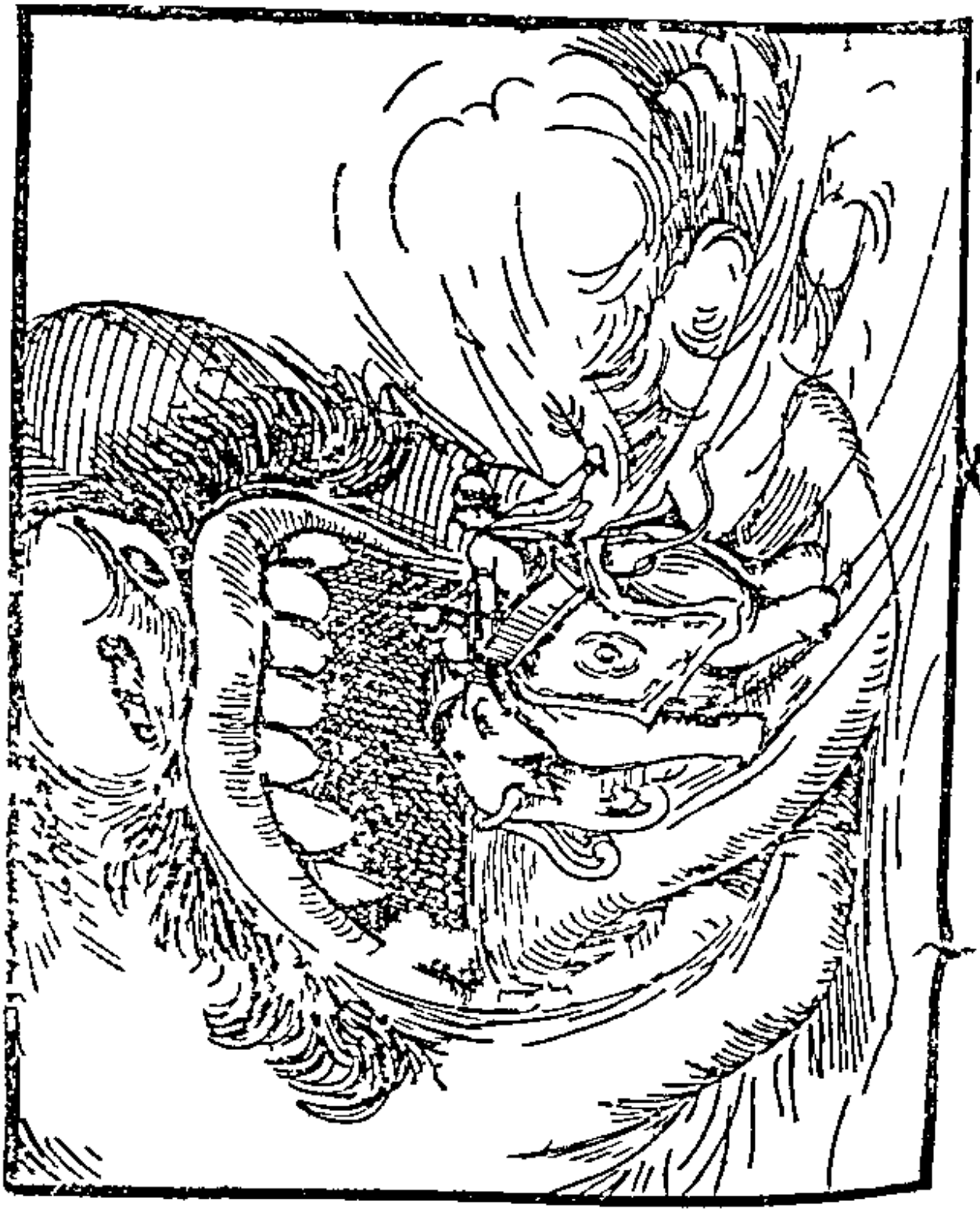

हाहाकार सा मच गया। बिना इन्द्र के त्रिलोकी में अन्धकार सा

छा गया, ऋषि मुनि तथा धर्मात्मा लोग व्याकुल होने लगे। यज्ञ भगवान् घबराने लगे, अग्नि का तेज मद पड गया। सभी ओर से ऋषि मुनि, मनु, प्रजापति दौडे आय और इन्द्र को वृत्रासुर के पेट में पडा देखकर सभी 'बडे दु ख की बात है, ऐसा कैसे हो गया, यह तो अत्यन्त ही अद्भुत बात है' इस प्रकार अनेक बाते कहकर आश्चर्य प्रदर्शित करने लगे। कोई शाति पाठ करता, तो कोई मत्रही जपने लगता। कोई दुर्गापाठ करता, तो कोई अपने इष्टदेव को मन ही मन मनाता। इस प्रकार सभी के मन मे ग्लानि हुई, सभी परम विस्मित होकर सोचने लगे, कि अब आगे क्या होगा। देवराज इन्द्र वृत्रासुर के पेट मे पडे पडे अपनी विजय का बातें सोच रहे थे।"

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! यह तो आप बडी आश्चर्य जनक बातें कह रहे हैं। वृत्रासुर के पेट मे पहुँचने पर भी इन्द्र मरे क्यो नहीं? उनका प्राण घुट क्यो नहीं गया। वे पेट मे जाकर भी जीवित ही क्यो बने रहे।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान शुक कहने लगे—"राजन्! देखिये, जिनकी रक्षा श्री हरि करते हैं, उन्हे कोई मार नहीं सकता। यदि पेट मे जाने से ही जीव मर जाता तो सभी जन्म से पहिले माता के पेट में ही रहते हैं। बालक कितने दिन माता के पेट में रहता है, वहाँ खाता है पीता है, सास लेता है। मर तो नहीं जाता। भगवान् की माया अपार है। जिस महाभारत युद्ध मे करोडों हाथी, घोडा योद्धा मरे, जिसमें बडे बडे वीरों का सहार हुआ रक्त की नदियाँ बहीं। उसमें ४ पक्षी के अडे सुरक्षित बने रहे।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! यह तो आप बड़ी ही विचित्र बात सुना रहे हैं, अजी कोई और जीव होता

तो उसकी बात मानी भी जा सकती थी। रणभूमि में अडे कैसे बच गये इस विषय में हमें बडा कुतूहल हो रहा है। यदि आप उचित समझें तो इस कथा को हमें अवश्य सुना दें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो, आप सब ध्यानपूर्वक श्रवण करें, मैं इस कथा को आप सबको सुनाता हूं।

ज्ञानियों की दृष्टि में यह जगत् भगवान् की क्रीडा है। वे कभी विषाद् नहीं करते। जिस घटना को भी देखते हैं उसे ही देखकर हँस जाते हैं। समझते हैं मेरे प्रभु इसी रूप में आनन्द अनुभव कर रहे हैं। नारदजी का कुतूहल ऐसा ही है। उन्हें दैत्य दानव, यक्ष राक्षस, देवता, असुर, मनुष्य पशु पक्षी सभी मानते और पूजते हैं। ये भी इधर का उधर लगाकर एक को दूसरे से भिडाकर तमाशा देखते रहते हैं। चोर से कह आते हैं, वह बडा धनी है उसके घर माल मिलेगा, शाह से जाकर कह देते हैं—"देख, सावधान रहना, तेरे घर अमुक चोरी करने आनेवाला है। यही इनका व्यापार है। खेल की बातों का प्राय लोग बुरा नहीं मानते दक्ष आदि एक आध इसके अपवाद भी होते हैं, किन्तु प्राय नारदजी से सभी सन्तुष्ट रहते हैं। हाँ, तो एक दिन घूमते फिरते नारदजी स्वर्ग में पहुँचे नन्दनवन के दिव्य पुष्पों की धीमी धीमी गन्ध आ रही थी। चारों ओर वसंत की छटा छिटक रही थी। शीतल, मन्द सुगन्धित पवन हँसते हुए अठखेलियाँ करते हुये बह रहे थे। देवराज इन्द्र अपनी सुधर्मा सभा में शची देवी के साथ सिंहासन पर सुखपूर्वक बैठे हुए थे। गंधर्व गा रहे थे, अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। उसी समय वीणा बजाते हरि गुन गाते नारदजी इन्द्र की सभा में पहुँचे। देवर्षि नारद को आते देख, देवराज

शीघ्रता के साथ अपने सिहासन से उठ खडे हो गये। ऋषि का प्रसन्नता प्रकट करते हुए स्वागत किया। पाद्य अर्घ्य आचमनीय आदि देकर उनकी पूजा की और एक अत्यन्त सुन्दर रत्न खचित आसन पर मुनिवर को बिठाया।

नारदजी वैसे हैं तो ब्रह्मचारी ही, किन्तु हैं बडे रसिक सगीतशास्त्र के तो मानो सर्वश्रेष्ठ आचार्य ही ठहरे। नृत्य विद्या मे भी बडे निपुण हैं। इसीलिये कोई भी इनके सम्मुख सकोच नहीं करते। हँसते हुए नारदजी ने पूछा—"देवेन्द्र, क्या हो रहा था? बडी सुन्दर छम्म छम्म की ध्वनि हो रही थी। हमारे आने से तुम्हारे रङ्ग मे भग पड गई।"

शिष्टाचार क स्वर मे देवेन्द्र ने कहा—"नहीं, भगवन। रग में भग पडने की क्या बात है। आपके आने से तो और रग जम गया। आपका जैसा सरस रसिक हृदय तो किसी भी ऋषि को प्राप्त नहीं हुआ। आप सर्व प्रिय हैं इसीलिये सबके वन्दनीय पूजनीय और आदरणीय हैं। आपकी वीणा सदा अमृत उगलती रहती है। महाराज! इस समय नृत्य हो रहा था। आज्ञा हो तो आपको भी दिखाया जाय।

मुनि को नृत्य क्या देखना था, वे तो कलह प्रिय हैं। जितना आनन्द उन्हे इधर उधर की तिकडम भिडाने में आता है, उतना छम्म छम्म मे कहाँ आने लगा। फिर भी बोले—"अच्छी बात है, मैंने भी आपके यहाँ की अप्सराओं के नृत्य की सर्वत्र बडी भारी प्रशसा सुनी है, दिखलाइये किसी का नृत्य।"

अपनी वस्तु की प्रशसा सुनकर प्राणियों को स्वाभाविक प्रसन्नता होती है अत प्रसन्न होकर इन्द्र बोले—"महाराज, ये सम्मुख सभी श्रेष्ठ अप्सरायें खड़ी हैं उर्वशी है, रम्भा है, तिलोत्तमा है, घृताची है, मेनका है, मिश्र केशी, सुकेशी, चारु

हासिनी, वपु, पद्मगधा ये सभी तो एक से एक श्रेष्ठ और सगीत विद्या में पारगता हैं। इनमें से आप जिसे आज्ञा दें वही आपको नृत्य दिखावे।"

मुनि को तो कलह में सुख मिलता है, अत कलह का बीज बोते हुए बोले—"देखिये, देवेन्द्र! मैं सब से सुन्दरी का नृत्य देखना चाहता हूँ। अत इसमें जो अपने को सबसे सुन्दरी समझती हो, वही आकर मुझे नृत्य दिखावे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! स्त्रियों में सौंदर्य चरचा ही एक कलह का बीज है। कैसी भी काली कलूटी असुन्दरी स्त्री होगी। वह भी अपने को सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी समझता है। वह भी कहती है मेरे समान दूसरी कौन है। नारद जी को तो लडाना ही था। प्रतीत होता है, वे किसी अप्सरा के गर्व को चूर्ण करने ही आय थे। कहीं पर एक अप्सरा को अपने सौंदर्य का डींग हाकते हुए देखा होगा। वह सम्भवतया कह रही होगी, कि मेरे समान सुन्दरी स्वर्ग में दूसरी ललना नहीं है। प्रतीत होता है उसे ही शिक्षा देने और अपना विनोद करने मुनि का आगमन स्वर्ग म हुआ था। सर्व श्रेष्ठ सुन्दरी की बात सुनकर सभी अप्सरायें आपस में झगडने लगीं। रम्भा कहती मैं श्रेष्ठ हूँ, उर्वशा कहती मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, मैंने बड़े बड़े ऋषि मुनियों के मन को विचलित कर दिया है। मेनका कहने लगी—तुम अपनी बहुत डींग मत मारो। विश्वामित्र जैसे ऋषि को मैंने अपने सौंदर्य जाल में फँसा लिया, फिर भी तुम सब को मेरे सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य में सदेह करने के लिए स्थान शेष रह गया। इस प्रकार सभी आपस में अपने को सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी बताने लगीं। इन्द्र के सामने ही कलह हो लया। नारदजी मन ही मन प्रसन्न हो रहे

थे, कि इसमे जितना आनन्द आ रहा है, उतना नाच गान और छम्म छम्म मे भला कहाँ ?

देवेन्द्र ने देखा यह तो मुनि ने अच्छी घर मे ही लडाई कराई। मुझे यहाँ सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का निर्णय तो करना नहीं। मुझे तो नारदजी को नृत्य दिखाना है, अत बात को टालने के लिए प्रेमपूर्वक सबको झिड़कते हुए बोले—"अरे, तुम तो परस्पर मे लडाई करने लगीं। अपने को कुरूपा कौन बताता है, अपनी दृष्टि मे सभी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हैं। हमे तो नारदजी को नृत्य दिखाना है। इस समय हम नारदजी को ही सरपच बनाते हैं, नारदजी आज जिसे कह दे वही इस समय सर्वश्रेष्ठ समझी जायगी।"

नारदजी का सभी को विश्वास था। एक स्वर में सभी ने नारदजी को पच मान लिया। सभी बडी उत्सुकता से नारदजी क मुख को देखने लगीं। वे निर्णय सुनने को अत्यन्त उतावली हो रही थीं, किन्तु नारदजी पूरे गुरु के चेले ठहरे। वे यों फट्ट से उत्तर देने वाले जीव नहीं हैं। जब तक कलह न हो, लडाई न हो, शापाशापी की नौबत न आये, तब तक नारदजी को चैन कहाँ। अत वे कुछ देर सोचकर बोले—"देखो, भाई, ऐसे तो हम सहसा निर्णय देंगे नहा। अब हम तो नित्य ही स्वर्ग आना है, यो एक का नाम लेदें तो दूसरा सभी बुरा मानेगी। अत हम एक परीक्षा रखते हैं, उसमें जो उत्तीर्ण हो जाय, वही सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी समझी जाय।"

यह सुनकर सभी एक स्वर मे बोल उठीं—"हाँ, हाँ मुनिवर! रखिये, रखिये, हमें परीक्षा स्वीकार है।

इस पर नारदजी बोले—"देखो, इस समय महामुनि दुर्वासा हिमालय पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं। जो जाकर अपने सौंदर्य

से उनके मन को विचलित कर दे, वही स्वर्ग की सम्पूर्ण अप्सराओं में सर्वश्रेष्ठ समझी जायगी।"

इतना सुनते ही सबके मुख फक्क पड गये। सबने समझा ये मुनिवर हमे मरवाना चाहते हैं, सभी ने सिर हिला दिया और कहने लगीं—"महाराज! अग्नि मे कूदने को कहें, तो वह तो हमे स्वीकार है, किन्तु क्रोधी दुर्वासा के समीप हम भूलकर भी न जायँगीं।"

प्रतीत होता है नारदजी इस रूपगर्विता वपु नामक अप्सरा पर ही कुछ चिढे हुए थे। अत उसे लक्ष्य करके बोले—"वपु! सब तो साहस खो बैठीं? बोलो तुम क्या कहती हो?"

वपु के मन म मुनियों के मन को विचलित कर देने का गर्व था। वह सुन्दरी तो थी ही उसका कठ इतना मधुर था, कि जब कोई परोक्ष मे उसका गायन सुनता तो यह निर्णय नहीं कर सकता कि यह कोई कोकिल कूक रही है अथवा कोई अप्सरा गायन कर रही है। नारदजी की बात सुनकर उसका गर्व और भी बढ गया। सबका तिरस्कार करता हुई वह बोली—"मुनिवर! मैं डरने वाली अप्सरा नहीं हूँ। मुझे अपने सौंदर्य पर भरोसा है मैं इस बात को दृढता के साथ कह सकती हूँ, कि मेरे सम्मुख कोई भी सत या तपस्वी स्थिर नहीं हो सकता। आज मैं क्रोधी दुर्वासा मुनि के सम्मुख जाऊँगी, उनके समीप ही जाकर वीणा बजाऊँगी, नृत्य हाव भाव कटाक्षों द्वारा रिझाऊँगी, मुनि का समाधि भङ्ग कराऊँगी, स्वर्ग की सबसे श्रेष्ठ अप्सरा कह लाऊँगी और आप से पारितोषिक पाऊँगी।"

मुनिवर नारद तो यह चाहते ही थे। अत बोले—'अच्छी बात है, तुम जाओ। यदि लौट आओगी तो सबसे श्रेष्ठ तुमही

कहलाओगी। यदि मुनि के कोपानल में पड़ गईं, तो जो है सो तुम्हारा नाम क्या है वपुदेवीजा गोविन्दायनमोनम होजाओगी। अच्छा तुम जाओ मैं भी तब तक तप लोकमें घूम फिर आऊँ।"

इतना कहकर नारदजी ने अपनी वीणा उठाई और विष का बीज बोकर चलते बने। इधर उस रूप गर्विता वपु विपत्ति की मारी देव की सताई भाग्यवश दुर्वासा मुनि के तप को भंग करने चली। आज उसने बड़े मनोयोग से लट झड़ शृङ्गार किया, कशपाश सम्हाले बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को धारण करके मद में मदमाती हुई इठलाती यौवन का छटा दिखाता, बिजली के समान प्रकाश फैलाती हिमालय पर्वत की ओर चली। दूर से ही उसने समाधि में स्थित महामुनि दुर्वासा को देखा। वह उनके समीप नहीं गई। दूर ही एक सघन वृक्षों के झुरमुट में बैठकर अपने वीणा के स्वरों को छोड़ती हुई पञ्चम स्वर में तान अलापने लगी। उसके स्वर में लोच था गायन में मनमोहक माधुरी थी। उसके स्वर लहरी से वह वन्य प्रान्त संगीतमय बन गया। पक्षियों ने कलरव करना बंद कर दिया। वायुदेव मंद मंद बहने लगे। असमय में वसन्त ने आकर अपना प्रभाव जमाया।

समाधि में स्थित मुनि के कर्ण कुहरों में उस कलाभिमानिनी कामिनी का कमनीय कोकिल कलरव सुनाई दिया। मुनिका चित्त चंचल हो गया। उस स्वर लहरी ने उनके हृदय प्रवेश में कौतूहल और उत्सुकता की सृष्टि कर दी मुनिका मन स्थिर न रह सका वे उस स्वर लहरी का अनुसरण करते हुए अप्सरा के समीप पहुँचे। वह वराङ्गना अपनी सौंदर्य छटा को बखेरती हुई बड़े मनोयोग से गा रही थी। मुनि को देखकर वह लज्जित हुई, क्रीडा का भाव प्रदर्शित करती हुई वह मुनि को लक्ष्य कर के

अपने तीक्ष्ण कटाक्ष रूपी कामबाणों को छोडने लगा। वह मुनि को घायल करना चाहती थी। सर्वज्ञ मुनि उसके अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अपने चञ्चल हुए चित्त को हठात् उस अप्सरा की ओर से रोका। काम के प्राबल्य से क्रोध नष्ट हो जाता है। और काम अत्यन्त क्रोध करने से शान्त हो जाता है। दुर्वासा मुनि तो क्रोध के अवतार ही ठहरे। सहसा उन्हे क्रोध आ गया—वे उस अप्सरा को सम्बोधित करते हुए क्रोध मे भर कर बोले—"हे आकाशचारिणी दुष्टे! मदमाती अप्सरे! तू मेरे हृदय को अपने कामबाणों से वेधना चाहती है। पगली तू समझती नहीं, मेरे पास शाप रूपी अमोघ अस्त्र है। उसी अस्त्र का मैं तेरे ऊपर प्रयोग करता हूँ, तुझे शाप देता हूँ, तू आकाश म विचरने वाली पक्षिणी हो जा। हे दुष्ट विचार रखने वाली वराङ्गना! १६ वर्षों तक तुझे पक्षीयोनि मे रहना पडेगा। तैंने अपने कामबाणों के द्वारा मेरे हृदय को विदीर्ण करना चाहा है अत लोहे के बाणों द्वारा तेरा पेट फट जायगा। अब तू अपने किये का फल भोगकर पुन स्वर्ग को चली जायगी।" अपन नूपुरों की मधुर झङ्कार से उस वन्य प्रदेश को झङ्कृत करने वाली और अपने कटाक्ष तथा कङ्कणों की खनखनाहट से क्रीडा का अभिनय करने वाली उस रूप गर्विता वपु नामक अप्सरा को इस प्रकार शाप देकर और क्रोधसे लाल लाल नेत्र किये मुनिवर दुर्वासा बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए वहाँ से चले गये।"

कालान्तर में वही वपु नामक अप्सरा एक सुन्दर चिडिया हुई। मन्दपाल नामक चिरौटा के साथ उसका विवाह हो गया और उसने उससे ऋतुकाल मे गर्भ धारण किया। अभी उस चिडिया का गर्भ ३॥ महीने ही हुआ था तभी

कुरुक्षेत्र मे कौरव और पाडवों का भीषण युद्ध हुआ। वह पक्षिणी प्रारब्ध की मारी मुनि के शाप के कारण उस घन घोर युद्ध क्षेत्र में प्रवेश कर गई। उस समय घनघोर युद्ध हो रहा था। अर्जुन अपने अक्षय तूणीर से निरतर बाणों को निकाल निकाल कर कौरव सेना पर वर्षा कर रहे थे। उनके बाणों से सम्पूर्ण आकाश मडल भर रहा था। उस समय समर विजयी पाडुनन्दन सव्यसाची अर्जुन भगदत्त के साथ भीषण युद्ध कर रहे थे। वह पक्षिणी उसी अवसर पर वहाँ पहुँची। अर्जुन का एक तीखा बाण धनुष से छूटकर उस पक्षिणी का पेट पार करके बडी दूर तक चला गया। बाण के आर पार हो जाने से वह पक्षिणी कलामुण्डी खाकर तडपती हुई चिल्लाती हुई पृथिवी पर गिर पडी। उसके पेट से शुभ्ररङ्ग के चार अडे एक साथ निकल पड़े। वे चारों रक्त से सने हुए ऐसे लगते थे मानो चाँदी की गोलियों पर गेरू पोत दिया हो। वह हतभागिनी पक्षिणी तो गिरकर मर गई। अब उन अडों का क्या हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिनके रक्षक श्रीहरि हैं, उन्हे मृत्यु भी मारने मे समर्थ नहीं। जहाँ वे अडे गिरे थे उन्हीं के ऊपर भगदत्त के हाथी का एक बडा भारी घटा टूटकर गिर पडा। वह घटा ऐसा गिरा कि चारों अडे उसके बीच मे आगये ऊपर से वेग मे गिरने के कारण वह पृथिवी म घुस भी गया इधर उधर हाथी घोडों के पदाघात से उस पर मिट्टी भी जम गई। ऊपर के छेद से वायु भी आती रहती थी। उधर से हजारों लाखों हाथी घोड़े निकले। लाखों रथ पृथिवी को चीरते हुए इधर से उधर दौड़े, किन्तु वह गजघटा वहाँ से टस से मस नहीं हुआ। अडे उसी में आनन्द से बढ़ते गये।

१८ दिनों के पश्चात् महाभारत समर समाप्त हो गया।

पक जाने से अंडे फूट गये और उसमें के बच्चे भूख के कारण चहचहाने लगे। भाग्यवश उधर से परम सत्यमी दयालु शमीक मुनि आ निकले। उनका आश्रम निकट ही था। ये वे ही शमीक मुनि थे जिनके पुत्र शृङ्गी ने महाराज परीक्षित् को शाप दिया था। शमीक मुनि ने अपने शिष्यों से कहा—"बच्चो! देखो यह कैसा बड़ा भारी गजघट पड़ा है। प्रतीत होता है इसके नीचे कोई जीवित पड़ा है। इस घटे को उठाओ तो सही।"

गुरु की आज्ञा पा २—४ शिष्यों ने मिलकर उस घटे को उठाया। उठाते ही उसमें से ८ बच्चे बिलबिलाते हुए निकले। मुनिको उन असहाय भूखे बच्चों पर बड़ा दया आई और अत्यंत ही आश्चर्य के साथ कहने लगे—"बच्चो! देखो, कैसे आश्चर्य की बात है, इतने भारी युद्ध में भी ये बच्चे जीवित बने रहे। प्रारब्ध का कुछ पता नहीं चलता। अवश्य ही ये कोई विशिष्ट जीव हैं, तभी तो ऐसी अघटित घटना होने पर भी ये जीवित बने हुए हैं। इन्हें अपने आश्रम पर ले चलो।"

इस पर एक शिष्य ने कहा—"गुरुजी! ले तो चलें। अपने आश्रम पर तो सभी प्रकार के पक्षी हैं। इनके न पङ्ख हैं न इनकी माता ही है। संभव है कोई बिल्ली ही आकर उठाले जाय। बाज ही पकड़ ले जाय। चूहे न्योला सभी तो ऐसे पङ्ख हीन बच्चों को खा सकते हैं।"

इसपर शमीक मुनि ने हँसकर कहा—"अरे भैया! तुम रक्षा करने वाले कौन हो। सबकी रक्षा करने वाले तो श्रीहरि ही हैं। जब इनकी रक्षा इतने भयंकर युद्ध में लाखों करोड़ों हाथी, घोड़ा, रथ आदि के संघर्ष में हो गई है, तो चूहे न्योले इनका क्या बिगाड़ सकेंगे। देखो, परिस्थिति सर्वथा इनके प्रतिकूल थी, किन्तु दैव इनके अनुकूल था अतः ये इतनी कठिन परिस्थिती में

अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को मुझे ठीक ठीक बताओ।

पक्षियों ने कहा—"हे मुनिराज! आप तो सर्वज्ञ हैं, आपका कथन यथार्थ है। पूर्वकाल में हम चारों सुकृप नामक मुनि के पुत्र थे। एक दिन मुनि के समीप एक क्षत विक्षत गिद्ध आया। उसने हमारे पिता से कहा—"मुनिवर! मैं आपकी शरण में हूँ मेरी रक्षा करो। मुझे मेरे अनुकूल आहार दीजिये।

मुनि ने कहा—"हे दुखित पक्षी! मैं तेरी मनोभिलाषा को पूर्ण करूँगा, तू जो आहार माँगेगा मैं दूँगा। तू मेरी शरण में आया है, शरणागत का पालन प्राण देकर भी समर्थ पुरुष को करना चाहिये। बताओ, तुम क्या खाओगे? तुम्हें कौन सी वस्तु प्रिय है?"

गिद्ध ने कहा—"मुनिवर! मुझे तो मनुष्य मांस बहुत प्रिय है, आपने मुझसे प्रतिज्ञा की है। आप झूठ तो बोलते ही न होंगे, यदि आप सत्यवादी हैं, तो मुझे मनुष्य मांस दें।"

हमारे पिता ने हम चारों को बुलाकर धर्म का मर्म समझाया शरणागत की रक्षा का रहस्य बताया और हमसे अपने शरीर का मांस देने को कहा। मुनिवर! जीवित शरीर से काट कर मांस देना सरल काम नहीं है। हम चारों डर गये और पिता से बोले—"पितृदेव! यद्यपि यह ठीक है, कि हमें आपकी सभी आज्ञाओं का पालन बिना विचार के करना चाहिये। किन्तु प्रभो! हमें अपने अपने शरीरों से अत्यन्त मोह है। हम अपने शरीर का मांस न दे सकेंगे। फिर इस घृणित पक्षी के निमित्त हम शरीर कैसे काट सकते हैं। पक्षी तो अधमयोनि है।"

हमारी इस अविनय से हमारे पिता को क्रोध आ गया। उन्होंने हमें शाप दिया—"तुम पक्षी योनि से घृणा करते हो,

अतः जाओ तुम चारों पक्षी हो जाओ।" हमे ऐसा शाप देकर उन तपोनिधि ने अपनी और्ध्वदैहिक समस्त क्रियायें स्वय कीं, और उस पक्षी के लिये अपना शरीर अर्पण कर दिया और बडे उल्लास के सहित बोले—"पक्षिराज ! तुम मेरे इस शरीर को भक्षण करके अपनी बुभुक्षा को शात करो। आज यह मेरा शरीर धन्य है जो परोपकार के काम मे आया। इससे किसी दु.ख सतप्त आर्त प्राणी का दु ख नाश होगया, यह नश्वर शरीर किसी काम तो आ गया। अन्त में तो इसे भस्म होना ही था, या कीड़े पडते। या विष्ठा हो जाती।"

वे पक्षी कहते हैं—"मुनिवर ! यह गिद्ध और कोई नहीं था स्वर्गपति इन्द्र ही हमारे पिता के सत्य की परीक्षा लेने गिद्ध का रूप रखकर आये थे। उनकी ऐसी धर्मनिष्ठा और सत्यपरायणता को देखकर इन्द्रने पक्षी का रूप छोड़ दिया। और वे अपने यथार्थरूप से हमारे पिता के सम्मुख प्रकट होगये। और बोले—"हे मुनिश्रेष्ठ ! आप धन्य हैं, अब आप सिद्ध हो गये। अब आपकी तपस्या में कभी कोई विघ्न न होगा।" इतना कहकर इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये।

वे पक्षी कह रहे हैं—"मुनिवर ! इन्द्र के अन्तर्धान होने पर हमने अपने पिता की बहुत विनती की। भाँति २ से अनुनय विनय करके उन्हे प्रसन्न करना चाहा। इसपर वे परम तेजस्वी तपोधन हमारे जनक मुनिवर बोले—"देखो, बच्चो ! जबसे मैंने अपनी स्मृति सम्हाला है, तबसे आज तक कभी हँसी मे भी मैंने मिथ्या भाषण नहीं किया। अत मेरा वचन मिथ्या तो होने का नहीं। फिर भी मैं तुमसे कहता हूँ, कि पक्षी हो जाने पर भी तुम्हारा ज्ञान नष्ट न होगा। दैव की गति दुर्निवार है। प्रतीत होता है, तुम्हारे किसी पूर्वजन्म के कर्मों का ऐसा ही फल होना

था, नहीं सगा पिता अपने पुत्र को ऐसा घोर शाप कैसे दे सकता है। इस भाग्य का पता नहीं चलता क्षणभर में क्या से क्या कर दे। मेरे मन में ऐसा कर्म करने की पहले कभी कल्पना ही नहीं उठी थी। दैव ने बलपूर्वक मुझसे यह कार्य करा लिया। अच्छी बात है, पक्षियोनि से क्या हुआ, पक्षी होने पर भी तुम्हें परम ज्ञान प्राप्त होगा, तुम्हारे समस्त पाप ताप धुल जायँगे। तुम परम सिद्धि को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे।"

पक्षी शमीक मुनि से कह रहे हैं—"हे मुनिवर! यही हमारी पक्षियोनि में जन्म लेने की कथा है। हम वास्तव में मुनिपुत्र हैं। पक्षियों की ऐसी बातें सुनकर शमीक मुनि का कौतूहल दूर हुआ। वे पक्षी भगवान के परम भक्त महान ज्ञानी और सर्व शास्त्रों के मर्म को भली भाँति जानने वाले थे। उन चारों पक्षियों का पता महामुनि मार्कण्डेयजी ने मुनि श्रेष्ठ जैमिनी को बताया। जिनसे विन्ध्य पर्वत पर जैमिनीने समस्त मार्कंडेय पुराण श्रवण किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसे भगवान ने उन चारों पक्षियों के अंडों की रण में रक्षा की थी, उसी प्रकार भगवान ने इन्द्र की वृत्रासुर के पेट में रक्षा की। विश्वरूपजी से इन्द्र ने नारायण कवच प्राप्त किया था। उस नारायण के नाम रूप कवच को इन्द्र धारण किये हुए थे और श्रीहरि उनकी रक्षा कर रहे थे। योग और माया के प्रभाव से वे सुरक्षित थे, अतः दैत्य के पेट में भी उन्हें कोई पीड़ा न हुई। कुछ देर सोचकर उन्होंने वृत्र का वज्र से पेट फाड़ दिया और वे फट्ट से बाहर निकल आये।

छप्पय

ऐरावत के सहित लीलि ली है सुरपति जब।
असुर उदरमहँ गये इन्द्र सुर दुखित भये सब॥
नारायण शुभ कवच अमर पति काया धारन।
बाल न बाँको भयो नाम श्रीहरि के कारन॥
वृत्रासुर के पेट कूँ, फारि इन्द्र बाहर गये।
नारायण महिमा लखी, सुर मुनि विस्मित ह्वै गये॥

॥ श्रीहरि ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँ मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८ खंडोंमें), ६८ खंड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मूल्य १।), बारह आना डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५।)

३—बदरीनाथ दर्शन—बदरीनाथ यात्रापर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३५६, मू० २॥।)

५—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्ध में उठने वाली तर्कों का युक्तियुक्तपूर्ण विवेचन। मू० ॥)

७—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ॥)

८—भागवती कथा की बानगी—(आरंभ के तथा अन्य खंडोंके कुछ पृष्ठों की बानगी) पृष्ठ संख्या १००, मू० ।)

९—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ।-)

१०—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद संस्मरण पृष्ठ १३० मू० ।)

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु हिन्दु बन सकते हैं? इसका शास्त्रीय विवेचन पृष्ठ सं० ७६ मू० ।-)

१२—प्रयाग माहात्म्य—मू० -)॥

१३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० -)

१४—राघवेन्दु चरित—भागवतचरितसे ही पृथक् छापागया है मू० ।-)

१५—प्रभुपूजा पद्धति—पूजा करने की सरल शास्त्रीय विधि मू० =)

१६—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें प्रथम खंड का मू० १)

१७—भागवत चरित की बानगी—भागवत चरित के कुछ अध्यायों की बानगी मू० ।)

१८—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र (छप्पयछंदों में) मू० =)॥

१९—गोपीगीत—(मूल तथा हिन्दी पद्य सहित) अमूल्य।

२०—श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरितसे ही पृथक् छापा गया है मू० २)

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।

अभयदाता भगवान्

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवतदर्शन—

भागवती-कथा

(अष्टदश-खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती-कथा' ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

— ० —

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) प्रयाग

— ❀ —

संशोधित मूल्य २-०० रुपये

तृतीय संस्करण १००० प्रति] मार्गशीर्ष—२०२१ विक्र० [मू० १-२५ पै०

हिन्दी और अङ्गरेजी-विद्यालयों के अध्यापकों से

"भागवती-कथा" उत्तरप्रदेश (राज्य मे) पाठशाला-पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है। स्वयं—सरकार तीनसौ-प्रतियाँ, सब खण्डो की खरीदती है। मध्यप्रान्त की शिक्षा-संस्थाओं के लिये भी राज्य-सरकार से स्वीकृत है! अतः विद्यालयो के पुस्तक-विभाग के अधिकारियो को यह अनुपम-पुस्तक अवश्य मँगानी चाहिये और जिन प्रान्तोंमें अभी स्वीकृत नहीं है उनमे भी स्वीकृत कराने के लिये उद्योग करना चाहिये। 'भागवती-कथा' कैसी है? इसे पाठको को क्या बताना वे तो पढ़ते-ही हैं!

व्यवस्थापक—संकीर्तन-भवन झूँसी, प्रयाग

"भागवती कथा" के लिये

योग्य-प्रचारक चाहिये

जो 'भागवती-कथा' का बाहर जाकर प्रचार कर सके अथवा कार्यालय मे ठीक तरह कार्य कर सकें ऐसे धार्मिक-प्रवृत्ति के हमे चार प्रचारक चाहिये!

कार्य-वैतनिक या अवैतनिक करेंगे?

शीघ्र ही पत्र-व्यवहार करें।

व्यवस्थापक—

श्रीसंकीर्तन-भवन, झूँसी (प्रयाग)

विषय-सूची

विषय		पृष्ठाक
४१४—दधीचि-मुनिकी अस्थिके वज्र से वृत्रासुर का वध		५
४१५—इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या	...	१४
४१६—स्थानापन्न-इन्द्र नहुष का स्वर्ग से पतन	...	२२
४१७—निष्पाप हुए इन्द्र को पुनः इन्द्रपद की प्राप्ति	...	३२
४१८—वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त	...	४०
४१९—महाराज चित्रकेतुके महलमें अङ्गिरा-मुनि का आगमन		५०
४२०—महाराज की मुनि से सतान की याचना	...	५९
४२१—अङ्गिरा-मुनि की कृपा से चित्रकेतु को पुत्रप्राप्ति	..	७४
४२२—रानी-कृतद्युति की सौतों द्वारा उसके सुत को विषदेना		८०
४२३—मृतपुत्र के लिये माता-पिता का शोक	...	८८
४२४—रानी-कृतद्युति का पुत्रके निमित्त करुण-क्रन्दन	...	९८
४२५—शोकसतप्त राजाके निकट अङ्गिरा व नारदजी का आगमन		१०४
४२६—महामुनि-अङ्गिरा द्वारा राजा को ज्ञानोपदेश	...	११३
४२७—श्रीनारदजी द्वारा राजा को शिक्षा	..	१२३
४२८—मृत-पुत्र के जीवात्मा द्वारा शिक्षा	..	१३४
४२९—विष देनेवाली-रानी द्वारा प्रायश्चित्त	...	१४०
४३०—महाराज-चित्रकेतु को विद्याधराधिपत्य की प्राप्ति		१४६
४३१—चित्रकेतु को भगवान-सकर्षणजी का उपदेश	..	१५२
४३२—चित्रकेतु का भरी-सभा में शिवजी पर आक्षेप	...	१६०
४३३—चित्रकेतु को शिवा भवानी द्वारा शाप	..	१६९
४३४—चित्रकेतु की सुख दुख में समता		१७५
४३५—शिवजी द्वारा भगवद्भक्तों का महत्व	...	१८२

विषय		पृष्ठांक
४३६—वृत्र-चरित की समाप्ति	...	१६४
४३७—अदिति के शेष-वंश का वर्णन	...	२०२
४३८—दिति-वंश का वर्णन	...	२१२
४३९—महिषासुर की कथा	...	२२२
४४०—दिति से मरुतों की उत्पत्ति कैसे ?	...	२३१
४४१—दिति की अपने पतिसे इन्द्रहता-पुत्र की याचना		२३८
४४२—कश्यपजी का दुखित होकर नीतिपूर्वक वर देना		२४५

चित्र-सूची

अभयदायक-भगवान [रङ्गीन]

१—स्थानापन्न-इन्द्र नहुष का स्वर्ग से पतन	...	२९
२—चित्रकेतु के महल मे अङ्गिरामुनि तथा नारदजी	...	५३
३—रानी-कृतद्युति की सौतों द्वारा सुत को विषदान	...	८५
४—मृत-पुत्र के लिये माता-पिता का शोक	...	९४
५—महामुनि-अङ्गिरा द्वारा राजा को ज्ञानोपदेश	...	११७
६—महाराज-चित्रकेतु को विद्याधराधिपत्य की प्राप्ति	...	१५०
७—चित्रकेतु का भरी-सभा में शिवजी पर आक्षेप	...	१६५
८—शिवजी द्वारा भगवद्भक्तों का महत्व	...	१९२
९—देवी-दुर्गा तथा महिषासुर का युद्ध	...	२२७

दधीचि-मुनि की अस्थि के वज्र से वृत्रासुर का वध

(४१४)

वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः—
कृन्तन्समन्तात्परिवर्तमानः ।
न्यपातयत्तावदहर्गणेन—
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

आके बाहिर इन्द्र असुर के सिर कूँ काटे ।
वज्र, वेग तैं घुसैं असुर की अस्थि न फाटें ॥
सबरी शक्ति लगाय करयो धड़ सिर ते न्यारो ।
एक वर्ष यों लग्यो मरयो पुनि वृत्र विचारो ॥
मुनि दधीचि की अस्थि ते, वज्र बन्यो सुर-रिपु मरयो ।
अब चरित्र अगिलो सुनो, जो दधीचि पत्नी करयो ॥

महत्-पुरुषों के चरित्र महान ही होते हैं। वे, जिस कार्य को भी करते हैं उसे सुचारु-रूप से करते है। उनका हर्ष और कोप

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब वृत्रासुर के वध का योग उपस्थित हुआ तब इन्द्र ने अपने वेगशाली तीव्र-वज्र को सब ओर घुमाते हुए उसके मस्तक को भूमि पर गिरा दिया। उसका सिर काटने

दोनों ही व्यर्थ नहीं होते ! वे, निग्रह—अनुग्रह दोनों मे ही समर्थ होते हैं। परोपकार के लिये सब कुछ कर डालना यह साधुओं का स्वभाव होता है। हर्ष-शोक में सर्वत्र समभाव से अवस्थित रहना यही ज्ञानियो का चिन्ह होता है। पति के पीछे, पुत्र प्राण सभी का मोहत्याग कर उन्हीं के पथ का अनुसरण करना, उन्हीं के शरीर के साथ भस्म हो जाना, यह पतिप्राणा-पतिव्रताओं का स्वभाव होता है ! अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए उचित-अनुचित का कुछ भी विचार न करके जैसे हो वैसे अपनी कार्य-सिद्धि कर लेना यह स्वार्थ परायण पुरुषों का ध्येय होता है। यथार्थ में धन्य तो वही है जिसके हृदय में भगवत्-भक्ति है। वह चाहे फिर जिस योनि मे हो—जिस अवस्था मे हो, पूजनीय है—वन्दनीय है—स्मरणीय और अभिनन्दनीय है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृत्रासुर का पेट फाड कर इन्द्र बाहर निकल आये, इतने पर भी वृत्रासुर मरा नही ! उसके दोनों हाथ कट गये, पेट फट गया, फिर भी वह विन्ध्याचल-पर्वत के समान पडा था। कदरा के समान उसका मुख फटा हुआ था और इन्द्रधनुष के समान उसकी जिह्वा निकली हुई थी। देवेन्द्र ने अपना अमोघ वज्र लेकर उसके सिर को काटना आरभ किया, किन्तु वह क्यों कटने लगा ! उसकी अस्थियाँ तो वज्र के समान दृढ और अभेद्य थीं। इन्द्र ने भगवान का नाम लेकर चारों ओर घूम घूमकर बडे-कष्ट से सम्पूर्ण बल लगा कर उसे काटना आरभ किया। उस असुर के सिर के काटने मे

में इन्द्र को उतना ही समय लगा जितना सूर्यादि-ग्रहों की उत्तरायण और दक्षिणायण-रूप गति में लगता है, अर्थात् हमलोगों का पूरा एक वर्ष !

उन्हें अपने दिनमान से एक दिन और [illegible] गया, अर्थात् हम मनुष्यों के दिनों से पूरे एक वर्ष [illegible] सिर कट पाया। जब वृत्रासुर का सिर धड़ से [illegible] तो देवताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। [illegible] दुदुभी लेकर अपने-अपने विमानों पर चढ़कर [illegible] दुदुभी बजाने लगे। ऋषि-महर्षि, वेद के मन्त्रों से [illegible] सुरेन्द्र की स्तुति करने लगे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं, [illegible] गाने लगे। दसों-दिशाओं में आनन्द छा गया।

जहाँ पर वृत्र का सिर, इन्द्र अपने वज्र से काट रहे थे वहीं [illegible] शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी-वनमाली खड़े हँस रहे थे। महाभाग-वृत्रासुर, मरण के समय एकटक-भाव से अपने इष्टदेव-श्याम-सुंदर को स्नेहपूर्वक निहार रहे थे। उन्हें न हर्ष था और न विषाद। अपने स्वामी के दर्शनों से, उनके मंगलमय-नाम के स्मरण में उन्हें तनिक भी कष्ट प्रतीत नहीं हुआ। आकाश में सिद्ध, चारण, गंधर्व इस विचित्र-दृश्य को देख रहे थे। सभी ने प्रत्यक्ष देखा कि, वृत्रासुर के शरीर से एक परम प्रकाशमान ज्योति निकल कर सर्वलोकातीत-भगवान-वासुदेव के शरीर में उसी प्रकार विलीन हो गई—जैसे वर्षाकाल में बिजुरी चमककर आकाश में विलीन हो जाती है। इस प्रकार वृत्रासुर ने भगवान की भक्ति से शरीर त्याग करके सद्गति पाई। वे [illegible] से छूट कर विमुक्त हो गये। उन्होंने [illegible] के कारण वह पद प्राप्त किया—[illegible] मे लौटकर नहीं आता।

कथा सुनकर तो हमारे रोंगटे खड़े हो गये। यदि वे-महर्षि अपने शरीर को न देते तो निश्चय ही किसी भी प्रकार वृत्रासुर न मारा जाता! किन्तु एक बात तो आपने अधूरी ही छोड दी। आपने कहा था—"देवता जब दधीचि मुनि से उनकी अस्थि माँगने गये, तब उनकी पतिव्रता-पत्नी पानी भरने सरिता के किनारे गई थी। देवता डर रहे थे कि, कहीं मुनि-पत्नी आ जायेंगी तो सब गुड-गोबर हो जायगा! वह कभी मुनिको शरीर त्याग न करने देगी। देवताओं के आग्रह पर मुनि ने पत्नी के आने से पूर्व ही शरीर त्याग कर दिया और विश्वकर्मा ने क्षणभर मे ही उनकी अस्थियों से वज्र तथा अन्य-अस्त्रों को बना लिया और शीघ्र ही वहाँ से सब देवता चलते बने।" देवताओं के चले जाने पर मुनि-पत्नी लौटी तो उन्होंने क्या किया? इस बात को सुनने के लिये हमे बड़ा कुतूहल हो रहा है।

इतना सुनते ही सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और अत्यंत ही आनन्द प्रदर्शित करते हुए वे कहने लगे—"मुनियो! आप जैसे श्रोताओं को पाकर मैं धन्य हुआ—कृतार्थ हुआ! मेरा कथा कहनेका कार्य सफल हुआ। इतने कथा-प्रसंग मे तो मैं उस प्रसंग को सर्वथा भूल ही गया था। आपकी स्मरण-शक्ति की बलिहारी है, जो आप उसे नही भूले। अच्छी बात है; मैं उस प्रसंगको ही आपको सुनाता हूँ—आप सावधानी के साथ श्रवण करे।

हाँ-तो, देवता अपना स्वार्थसिद्ध करके—मुनिकी अस्थियों से अस्त्रशस्त्र बनाकर—दधीचि-मुनि के आश्रम से चले आये। पीछे दधीचि-मुनि की पत्नी अपने वस्त्रोंको धोकर, बल्कलों को न्हिलाकर, पानी भरकर और भगवती-गौरीका पूजन करके आश्रम पर लौटीं। आज उन्हे आश्रम सूना-सूना सा श्रीहीन दिखाई दिया। वहाँ के पशु-पक्षी उदास थे, हरिण आदि रो रहे थे, वृक्षों के पल्लव मुर-

झाये हुए थे। अग्निहोत्र के अग्निदेव तेजहीन से प्रतीत होते थे। प्रहर-भर में ही आश्रम का इतना परिवर्तन देखकर पतिप्राणा-गर्भास्तिनी को बड़ा आश्चर्य हुआ! उसने अपने पति को नहीं देखा तब तो उसने अग्निहोत्र की अग्नि से ही पूछा—"हे अग्नि-देव! तुम सबके शुभाशुभ के साक्षी हो, सब बातें जानते हो, मेरे पति कहाँ चले गये? तुम मुझे सत्य-सत्य सब समाचार सुना दो।" पतिव्रताके प्रभावसे अग्निदेव चुप न रह सके, वे मूर्तिमान होकर बोले—'देवि! तुम्हारे पति ने अक्षयलोक को प्राप्त किया है, उन्होंने परोपकार के लिये—देवताओं के हितार्थ हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग किया है। संसार में उनका यह परोपकार—भय-त्याग सर्वश्रेष्ठ समझा जायगा। तुम्हारे पति शरीर विहीन होने पर भी अमर हो गये हैं।"

अग्नि के मुख से सभी समाचार सुनकर सती का हृदय भर आया। जिसके पति ही देवता हैं, पति के पादपद्मों में ही जिनकी सदा—सर्वदा रति है, पति ही जिनकी गति हैं ऐसी पतिव्रताओं के लिए पतिवियोग से बढ़कर दूसरा कोई दुख नहीं! रोते-रोते उस गर्भास्तिनी ने कहा—"देवताओं को शाप देने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। सामर्थ्य होती तो भी मैं उन्हें शाप न देती। मेरे पति ने इस क्षणभंगुर-नाशवान-शरीर का मोह नहीं किया! उन्होंने अपनी कीर्तिको अजर-अमर बना लिया, उन्होंने उस दिव्य-अक्षय-लोक को प्राप्त करलिया जिन्हें बड़े-बड़े राजसूय अश्वमेध-यज्ञी भी प्राप्त नहीं कर सकते। वह पाँच-भौतिक क्षणभंगुर-शरीर तो एक दिन नाश होने ही वाला है; इसका विनाश तो अवश्यम्भावी है! मेरे पतिने इसका उपयोग महान कार्य में किया। संसार में वे लोग धन्य-धन्य हैं जो—गौ, ब्राह्मण तथा देवताओं के लिये अपने प्राणों तक को उत्सर्ग कर देते हैं। मैं भी अपने पति के

पथ का अनुसरण करूँगी। परलोक में पहुँचकर उनके पाद-पद्मों को प्रसन्नतापूर्वक एकड़ूँगी। मैं भी अब सती हूँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! ऐसा निश्चय करके दधीचि-पत्नी ने अग्निहोत्र की अग्नि को प्रणाम किया, गौओं के बछड़ों को हरिन तथा पशु-पक्षिओं को प्यार किया। वृक्षों का आलिंगन किया और वे अपने पति के रोम, चर्म, अग्निहोत्र के पात्र और वल्कल-वस्त्रों को लेकर सती होने के लिये उद्यत हुईं। स्वयं ही वन से वह काष्ठ चुन लाई, बड़ी-सी चिता बनाई।

अब उसके सम्मुख एक धर्म-संकट उपस्थित हुआ। उसके पेट में मुनि के वीर्य से स्थापित अमोघ-गर्भ था। वह तो पति का न्यासभूत था। गर्भिणी-नारी को सती होने का विधान नहीं है, किन्तु गर्भास्तिनी अपने पति के बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकती है! यद्यपि गर्भ के दिवस प्रायः पूरे हो चुके हैं, किन्तु प्रसव में अभी विलम्ब है। अतः उसने स्वयं ही अपने उदर को विदीर्ण किया, उसमें से दधीचि-मुनि के सदृश रूप-रंग और तेजवाला एक पुत्र निकला। उसे माता ने गोदी में लेकर प्यार किया। बार-बार उस अबोध-शिशु का मुख चूमा और वन के देवी-देवताओं तथा दसों-दिशाओं को सुनाती हुई वह गद्गद्-वाणी में बोली—"जो यहाँ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे, वन के देवी-देवता, मृग, पशु-पक्षी, वृक्षों के अधिष्ठातृ-देवता हों वेसब मेरी बात सुनें। मैं अपने पति से विहीन होकर इस अवनि पर एक क्षण भी रहना नहीं चाहती! मैं अपने पति के पीछे-पीछे परलोक प्रस्थान कर रही हूँ। यह बालक अनाथ है, मातृहीन है, इसके कोई कुटुम्बी—सगे सम्बन्धी भी नहीं हैं। अतः इस अनाथ बालक की हे वृक्षों के अधिष्ठातृ देवताओं तुम्हीं रक्षा करना! अनाथ-बालकोंकी रक्षा

करना परमधर्म है। मैं इस अबोध बालक को इसके भाग्य पर ही छोड़कर पति के पीछे-पीछे जा रही हूँ।

गर्भास्तिनी की ऐसी करुणा भरी वाणी सुनकर आश्रम के सभी प्राणधारी जीव-जन्तु रोने लगे। जिन पक्षियों को मुनि और मुनि पत्नी ने पुत्र की भाँति पाला था, जिन्हें नीवार खिला-खिला कर जिलाया था, जिन हरिजनोंको थपकियाँ दे-देकर खिलाया था, जिन पौधों को बड़ी सावधानी से पक्तिबद्ध लगाया था, आज वे अपने माता पिता के सदृश दधीचि और गर्भास्तिनी से रहित होकर रोने लगे। सभी माता के वियोग में विकल होकर सिसकियाँ भरने लगे।

गर्भास्तिनी ने उस सद्य प्रसूत शिशु को एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के कोटर में रख दिया और वह अपने पति की अवशिष्ट-वस्तुओं को साथ लेकर अग्नि में प्रवेश कर गई—सती हो गई। इधर आश्रम के वृक्षों के अधिष्ठातृ-देवों ने अपने राजा—चन्द्रमा से कहा, चन्द्रमा ने अपनी अमृतमयी-किरणों से उस शिशु को जिलाया। कुछ दिनों में बालक बड़ा हो गया, वह पीपल के ही नीचे रहता—पीपल के ही फलों को खाकर निर्वाह करता। अतः संसार में वह बड़ा तेजस्वी-पिप्पलाद नाम का महर्षि हुआ।

पिप्पलाद ने जब अपने माता-पिता की मृत्यु का समाचार सुना तो उसे देवताओं पर अत्यंत क्रोध आया। उसने सोचा—"इन देवताओं ने अपने क्षुद्र-स्वार्थ के लिये मेरे पिता के जीवन को नष्ट कर दिया—मुझे जन्म से ही मातृ-पितृहीन कर दिया। अतः मैं देवताओं से बदला लूँगा। देवताओं को उनकी क्रूरता का फल चखाऊँगा, मैं भी उन्हें मारकर यमसदन [illegible] ऐसा निश्चय करके उसने आशुतोषभगवान

आराधना की। एक तो भोलानाथ वैसे ही 'आशुतोष-औघड़ दानी हैं' दूसरे उस मातृ-पितृ विहीन बालक की करुण पुकार सुन कर शीघ्र ही द्रवीभूत हो गये और उसके सम्मुख प्रकट होकर उससे वरदान माँगने को कहा। उसने कहा—"जिन देवताओं ने मेरे पिता को अन्याय से मार डाला है उन्हें मारने के लिये मुझे शक्ति दीजिये।" भोलेबाबा ने कहा—'तथास्तु, अच्छी बात है ऐसा ही होगा।" इतना कहकर शिव ने एक भयंकर कृत्या उत्पन्न की। उस कृत्याने पिप्पलाद मुनिसे कहा—"बताइये मैं आपका कौन सा कार्य करूँ?"

इस पर पिप्पलाद मुनि ने कहा—"तू उन सब देवताओं को मार डाल जिन्होंने मेरे पिता की स्वार्थवश देह-अपहरण की है।" इतना सुनते ही कृत्या देवताओं के ऊपर दौडी। देवताओं में भगदड मच गई। सर्वत्र हाहाकार होने लगा। देवता दौड़े-दौडे भवानीपति-शङ्कर के समीप आये और अनुनय-विनय करके उनसे बोले—"महाभाग! आप पिप्पलाद को समझा दें नही तो हम सबके सब मारे जायँगे।"

शिवजी ने भी सोचा, बात का बढ़ाना ठीक नही। दधीचि-मुनि ने स्वयं ही परोपकार के लिये हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग किया था। अतः शिवजी ने परोपकार का महत्व बताते हुए पिप्पलाद को सब प्रकार से समझा दिया। शिवजी के समझाने पर पिप्पलाद भी शान्त हो गये, कृत्या शान्त हो गई। देवता प्रसन्न हुए। स्वर्ग से पिप्पलाद के माता-पिता दिव्य-विमान पर चढकर अपने यशस्वी-पुत्र को आशीर्वाद देने आये। पिप्पलाद की कृपा से ही वहाँ पिप्पलेश्वर-शिव की स्थापना हुई और तभी से यह गङ्गा-तट पर परम पावन-तीर्थ बन गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने अत्यंत संक्षेप में दधीचि-मुनि की पत्नी और उनके पुत्र पिप्पलाद का 'इतिवृत्त' सुनाया; अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"हाँ-तो, महाभाग ! वृत्रासुर को मारकर फिर इन्द्र ने क्या किया ? फिर उनके पुरोहित कौन हुए इस बात को और बताइये !"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियों ! वृत्र के मारने से जिस प्रकार इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या लगी—उस अत्यंत रोचक पुण्य-मय उपाख्यान को मैं आप सबको सुनाता हूँ आप इसे कान-खोलकर श्रवण करें।"

छप्पय

लै दधीचि की अस्थि गये सुर अति हरषाई।
इत मुनि पत्नी न्हाइ-धोइ आश्रम महँ आई॥
सब सुनि काट्यो पेट, पुत्र तजि सती भई पुनि।
पीपल पाले पुत्र भये ते पिप्पलाद-मुनि॥
पिप्पलाद-मुनि सुरनि पै, कोप शंभु वर तें कियो।
सुरनि सरन शिव लीनई, रुद्र शांत मुनि करि दियो॥

इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या

(४१५)

तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम् ।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० १३ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

त्वष्टा दूसर-तनय वृत्र यों मारयो सुरपति ।
वृत्रासुर के मरत भये मुनि देव सुखी अति ॥
मारयो ब्राह्मण-पुत्र ब्रह्महत्या पुनि आई ।
चाण्डालिनि अति मलिनि इन्द्र के ऊपर धाई ॥
डरे इन्द्र तहँ ते भगे, अति व्याकुल मन महँ भये ।
मिली सरन जब कहूँ नहिं, मानस-सर महँ घुसि गये ॥

पुण्य और पाप प्रगट करने से कुछ काल में नष्ट हो जाते हैं। हमने कोई यज्ञ, दान, व्रत अथवा शुभकर्म किया—हम अपने ही मुख से चारों ओर उसका विज्ञापन करते फिरें—अपनी प्रशंसा स्वयं ही करें कि हमने यह किया वह किया ! तो उस

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृत्रासुर के मर जाने पर इन्द्र ने देखा चाण्डालिनी के समान रूप बनाये हुए प्रत्यक्ष ब्रह्महत्या उनकी ओर चिपटने के लिये दौड़ी चली आ रही है। वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर काँप रहा है, उसे क्षय रोग हुआ है, उसके वस्त्र मासिकधर्म के रक्त में सने हुए हैं।"

पुण्य का परलोक में कोई फल नहीं होता। यहाँ जो कुछ दिन साधु-साधु हुई; प्रशंसा फैली वह फल भी समाप्त हो गया। इसी प्रकार पाप की बात है! पाप करके हम स्वयं उसे सब पर प्रगट कर दें, उस पाप के करने से लज्जा का अनुभव करें, पश्चात्ताप के कारण किसी को मुँह दिखाने में भी संकोच करें और हृदय से—पश्चात्ताप पूर्वक भगवान से—उसके लिये क्षमायाचना करें तो वह पाप भी नष्ट हो जाता है। पापी की जो निन्दा करते हैं, उसके पापों को बढ़ा-चढ़ाकर उसे अपमानित करने की भावना से सर्वत्र कहते फिरते हैं, उन निन्दकों पर पापी का पाप चला जाता है। अतः पाप करके उसे सब पर प्रगट कर देना चाहिये, हृदय से उसके लिये पछताना चाहिये और कभी भूलकर भी किसी की निन्दा न करनी चाहिए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर के मर जाने पर देवता, गन्धर्व, लोकपाल, मनुष्य, तिर्यक् सभी तीनोंलोकों के प्राणी सुखी हुए, केवल देवराज-इन्द्र को छोड़कर। उस युद्ध को देखने के लिये ऋषि, मुनि, देवता, पितर, साध्य, गुह्यक, दैत्य-दानव, ब्रह्माजी, महादेवजी तथा स्वयं विष्णुभगवान भी पधारे थे। वृत्र के मारे जाने पर सब अपने-अपने लोकों को चले गये। किन्तु इन्द्र को शांति नहीं हुई। वे बड़े दुखी और चिन्तित हुए।"

यह सुनकर आश्चर्य के सहित राजा परीक्षित ने पूछा—"प्रभो! यह आप कैसी बात कह रहे हैं? वृत्र के वध में सबसे अधिक प्रसन्नता तो इन्द्र को ही होनी चाहिये वृत्रासुर इन्द्र का ही तो महान—शत्रु था। त्वष्टा-ऋषि ने अपने तप और तेज से इन्द्र के मारने के लिये ही [illegible] किया था। वह तो दैवेच्छा से स्वर का

कारण पासा पलट गया। इन्द्र को मारनेवाला न होकर इन्द्र जिसे मारे—ऐसा असुर उत्पन्न होगया। फिर भी रण में वृत्रासुर ने इन्द्र के दाँत-खट्टे कर दिये! उसे स्वर्ग के सिंहासन से भ्रष्ट कर दिया, घरबार विहीन बना दिया। ऐसे प्रबल-पराक्रमी शत्रु को मार कर भी इन्द्र विमन क्यों बने रहे? उन्हें प्रसन्नता क्यों नहीं हुई?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! इन्द्र ने यह सोचा, कैसा भी हो—वृत्र था तो ब्राह्मण का पुत्र ही। असुर ही सही—था तो महान ब्रह्मज्ञानी! ब्रह्मज्ञानी—ब्राह्मण को मार देना सर्वथा पाप है।"

राजाने पूछा—"महाराज! जब देवराज को पता था कि यह ब्रह्मज्ञानी—ब्राह्मण है; तो उसे मारा ही क्यों? क्षमा कर देते अपना लोटा-डोर और सत्तू बाँधकर घूमते रहते पृथ्वी पर! इस ब्रह्महत्या के पाप से तो बच जाते। उन्होंने ऐसा साहस किया ही क्यों?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! कुछ काम तो ऐसे होते हैं जो स्वयं अपने आप उत्साह से किये जाते हैं, कुछ कार्य इच्छा न रहने पर भी धर्म के लिये—दूसरों के अनुरोध से—कर्तव्य-बुद्धि से किये जाते हैं। वृत्रासुर का वध इन्द्र ने महर्षियों के अनुरोध से ही किया था।"

- राजा ने पूछा—"भगवन्! ऋषियों ने ऐसा अनुचित अनुरोध स्वर्गाधिप-इन्द्र से किया ही क्यों?"

इस पर शुक गंभीर होकर बोले—"महाराज! उचित-अनुचित का वर्णन करना बड़ा कठिन हो जाता है। किसी एक के मारे जाने से हजारों का भला हो, असंख्यों-आदमी सुखी हों; तो उसका मारना उचित न होने पर भी लोक के उपकार की दृष्टि

से उचित ही माना जाता है। धर्म की बड़ी सूक्ष्म-गति है। कहीं ऊपरसे दीखने वाला धर्म अधर्म हो जाता है और कहीं पर अधर्म समझा जाने वाला कार्य धर्म से बढ़कर फल देने वाला सिद्ध होता है। बात यह थी कि, जब वृत्रासुर अपनी विशाल काया से तीनोंलोकों को त्रास देने लगा तब सभी ऋषि-महर्षि मिलकर देवराज-इन्द्र के समीप गये और उनकी स्तुति करके कहने लगे—"हे त्रिलोकेश! आजकल वृत्रासुर सभी देवताओं तथा अन्य प्राणियों को पीड़ा दे रहा है। वह इतना बली है कि अन्य कोई उसे मार नहीं सकता, आप ही उसे मारने में समर्थ हैं। अतः उसे आप मार डालिये।"

इस पर देवराज ने विनीत-भाव से कहा—"ऋषियों! आप मुझसे ऐसा अनुचित प्रस्ताव न करें। वृत्र, भगवान-त्वष्टा की अग्निहोत्र की अग्नि से उत्पन्न हुआ—'अयोनिज' पुत्र है। धर्म के मर्म को जानने वाला मैं, उस ब्राह्मण-कुमार को कैसे मार सकता हूँ।"

ऋषियों ने हँसकर कहा—"विश्वरूप भी तो ब्राह्मण था। इसका बड़ा भाई था, तुम्हारा गुरु-पुरोहित और पूजनीय था। परिवार का ही था उसे तुमने कैसे मारा?"

देवराज ने कहा—"मुनियों! उसका मारना भी अनुचित ही था, किन्तु देवताओं के कल्याण के लिये उसे मारना अनिवार्य बन गया। उसे मैंने अत्यंत विवश होकर मारा था। मार तो डाला किन्तु उसके मारने पर जो हमें कष्ट उठाने पड़े उसे मैं ही जानता हूँ। यदि वृक्ष, पृथ्वी, जल और नारियों ने मेरी हत्या को न बँटाया होता, तो मैं अब तक हत्यारा ही बना रहता। मैंने तब तीनों-लोकों के सभी प्राणियों से कहा। इन चार परोप-

कारियों को छोड़कर सभी ने निषेध कर दिया। वह हत्या तो जैसे-तैसे बँट-बँटा गई, किन्तु अब यह जो नई-ब्रह्महत्या होगी उसे कौन बँटावेगा! उसका मार्जन मैं कहाँ करूँगा?"

इस पर ऋषियों ने कहा—"हे अमराधिप! आप कैसी बातें कर रहे हैं। हम, आपको अश्वमेध-यज्ञ करावेंगे। अश्वमेध-यज्ञ करने से राजा सभी प्रकार की हत्याओं के पापों से छूट जाता है। अश्वमेध-यज्ञ में होता क्या है? उन यज्ञपति सर्वान्तर्यामी-श्रीहरि का आराधन होता है, जिनके नाम का संकीर्तन करने से मनुष्य सभी पापों से छूट जाता है। यदि भूल से किसी से मातृ-हत्या, पितृ-हत्या, गौ-हत्या या आचार्य-हत्या आदि महा-पाप हो गये हों—ब्राह्मण हो या शूद्र, पुल्कस हो या चांडाल, जिनके नाम का संकीर्तन करने से नीच-पुरुष भी तत्काल शुद्ध हो जाता है—उन भगवान की आराधना कराके हम आपको ब्रह्म-हत्या से छुड़ा लेंगे! अबके आपको ब्रह्महत्या बाँटनी न पड़ेगी।"

यह सुनकर देवेन्द्र ने कहा—"मुनियो! उन्हीं महा-पापों का प्रायश्चित्त है जो अनजानमें किये हों, जान-बूझकर—संकल्पपूर्वक—जो महापाप किये जाते हैं उनका कोई प्रायश्चित्त नहीं, फिर आप ऐसा लोक-निन्दित कर्म करने को क्यों कहते हैं?"

इस पर महर्षियों ने कहा—"सुरनायक! हम अपने बल-भरोसे आपसे यह सब कह रहे हैं। हम तो भगवन्नाम-कीर्तन के प्रभाव से आपको बड़े से बड़े पाप से छुड़ा सकते हैं। वृत्र तो असुर है, लोकों को त्रास देने वाला है, इसे मारने से जो पाप होगा—वह तो नगण्य ही होगा।"

जब महर्षियों ने छाती-ठोंककर, निर्भय होकर देवेन्द्र को इस प्रकार आश्वासन दिया, तब-ही उन्होंने वृत्र का वध किया।

ब्राह्मण वध करने पर ब्रह्म-हत्या ने उन पर आक्रमण किया। सब क सम्मुख ब्रह्म-हत्या को अपनी ओर आते देखकर इन्द्र को बड़ा दुःख हुआ। कहाँ लोग इन्द्र को तीनोलोको का स्वामी समझते थे, कहाँ ब्रह्म-हत्या उनका धर्षण करने के निमित्त उनकी ओर दौड़ी। राजन्! जैसे कोई बड़ा भारी न्यायाधीश है, सर्वत्र उसकी प्रतिष्ठा और सम्मान है, सब लोग उससे डरते हैं, यदि किसी कारण वश राजा की आज्ञा से उसके हाथ में हथकड़ी पड़ जाय तो जिस तरह वह अत्यंत लज्जित होता है—उसी प्रकार इन्द्रको भी बड़ा संताप सहना पड़ा! आत्मग्लानि के कारण उन्हें कल नहीं पड़ती थी, निरंतर बेचैन बने रहते थे। कैसा भी सहनशील, धैर्यवान् पुरुष क्यो न हो; अपकीर्ति के कारण वे भी विचलित हो जाते है।

भयंकर-वेष बनाये ब्रह्म-हत्या देवेन्द्र के ऊपर दाँतनिकाले दौड़ी। वह देखनेमे साक्षात् चांडाली जसी दिखाइ देती थी। अंजन के समान वह काली-कलूटी था, सभी अंगों मे झुर्रियाँ पड़ रही थीं। बड़े-बड़े ओठ थे, काले-काले बड़ेदाँतो को निकाल हुए वह बड़ा ही डरावनी लगती थी। वृद्धावस्थाके कारण लच भी रहो था, मुँह पिचक रहा था, अत्यंत दुबली-पतली ऐसी प्रतीत होती थी मानो उसे राजयक्ष्मा-रोग हो रहा है। उसके संपूर्ण शरीर से सड़ी हुई मछली जेसी दुर्गंध आ रही थी। मुखसे भा ऐसी दुर्गंध आ रही थी मानो उसके मुह मे मुर्दा सड़ गया हो। उसक वस्त्र अत्यंत ही जीर्ण-शीर्ण थे। कश रूखे और भूरे-भूरे थे, वे बिखरे हुये भी थे। फटेहुए वस्त्रो से उसके कुरूप-अंग दिखाई देते थे। मासिक-धर्म के रक्त से उसके वस्त्र लथपथ थे, उन पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पैरों पर मैल जमा हुआ था, नथुनों से नाक बह रही थी, आँखों मे कीचड़ भरी हुई थो। वह, इन्द्र को ही ल—

चली आ रही थी और बार-बार कहती थी—"इन्द्र तू ठहर, मैं तेरे शरीर में लगूँगी, तेरे ही सिर पर सवार हूँगी।" बेचारे इन्द्र क्या करते ऋषि-महर्षियों ने धोखा दिया। चंग पर चढ़ाकर वे सब तो नौ-दो-ग्यारह हुए। अब न कोई यज्ञ कराने आया न बात पूछने। इन्द्र मुट्ठी बाँध भागे। ब्रह्म हत्या ने भी उनका पीछा किया। यमलोक, वरुणलोक, कुबेरलोक, ब्रह्मलोक, शिव-लोक सभी लोकों में घूमे। किसी ने उन्हें आश्रय न दिया। अब क्या करते? ये पुरुष तो वज्र हृदय के होते हैं, उन्हें माँ कमला की याद आई। इस विपत्तिसे माँ ही तो रक्षा कर सकती है। अतः माँ-लक्ष्मी की शरण चलें। सुनते हैं, वे उत्तरदिशा में मानसरो-वर के कमलों में रहती हैं। अतः इन्द्र पूर्व और उत्तर के कोने में स्थित मानसरोवर के समीप पहुँचे। वहाँ वे एक कमल की नाल में घुस गये। इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई क्या करें। बाहर निकलते हैं तो ब्रह्महत्या चिपट जायेगी, यहाँ रहें तो खायँ क्या? देवताओं के मुख हैं—अग्निदेव। यज्ञ में देवताओं के निमित्त जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें अग्निदेव ही सब देवताओं को पहुँ-चाते हैं। पानी के भीतर अग्निदेव जायँ तो ठंडे हो जायँ। अतः वहाँ इन्द्र को कुछ आहार न मिला। वे एक सहस्रवर्ष उपवास करते हुए—बिना कुछ खाये पिये—उसी कमल-नाल में छिपे रहे।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! जब एक-सहस्रवर्ष इन्द्र अलक्षित भाव से मानसरोवर में कमल की नाल में छिपे रहे तब क्या इतने दिनों तक इन्द्रासन खाली ही पड़ा रहा? त्रैलोक्य का पालन पोषण कैसे हुआ? इन्द्र के बिना यज्ञों का हविर्भाग किसने लिया और समयपर वृष्टि किसने की?"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! इन्द्रपद तो

कभी रिक्त रह ही नहीं सकता ! देवेन्द्र के अभाव में राजा-नहुष को स्थानापन्न इन्द्र बनाया गया। तबतक वे ही इन्द्रपद पर प्रतिष्ठित होकर त्रैलोक्य का पालन करते रहे। अन्त में वे, भी अपनी काली करतूतों के कारण इन्द्रपद से च्युत हुए ?"

इस पर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी ! महाराज-नहुष ने क्या पाप पुण्य किया था उसे आप हमें सुनावें।"

सूतजी, यह कहकर बोले—"मुनियो ! मैं इस वृत्तान्त को आप सबके सम्मुख कहूँगा; आप, सब इसे एकाग्र चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कमलनाल महँ रहे ब्रह्म-हत्यार शचि पति।
मिले न तहँ आहार भई सुरपति की दुर्गति॥
स्वर्ग इन्द्र बिनु भयो नहुष सुर—इन्द्र बनाये।
पाइ स्वर्ग सम्पत्ति मनुज-भूपति बौराये॥
इन्द्राणी तें कहें नृप, 'पौलोमी' अब हठ तजो।
मैं शासक हूँ स्वर्गपति, इन्द्र मानि मोकूँ भजो॥

स्थानापन्न—इन्द्र नहुष का स्वर्ग से पतन

(४१६)

तावत्त्रिणाकं नहुषः शशास
विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ॥❀

(श्री भा०६ स्क० १३ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

नये-इन्द्र की बात शची सुनि अति घबराई ।
चिंतित, व्याकुल, दुखी, डरी, सुरगुरु ढिँग आई ॥
गुरु प्रसन्न ह्वै युक्ति अनोखी ताहि बताई ।
कामी-विषयासक्त-नृपति पै खबरि पठाई ॥
ऋषि-कथनि शिविका धरें, चढि मम ढिँग आवें अवसि ।
तो निज पति केई सरसि, वरन करूँ तिनकूँ हरषि ॥

धन, ऐश्वर्य, यौवन, और प्रभुत्व पाकर भी जिसकी इन्द्रियाँ अपने अधीन बनी रहें, उसे भगवान का परम कृपापात्र समझना

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब तक इन्द्र छिपे रहे, तब तक महाराज-नहुष अपने विद्या, तप, योग और बल से सम्पन्न होकर स्वर्ग का शासन करते रहे । किन्तु उनकी बुद्धि सम्पदा और ऐश्वर्य के कारण मदान्ध हो गई । इसीलिये इन्द्राणी के तिरस्कार के कारण वे तिर्यक (सर्पयोनि) को प्राप्त हुए ।"

चाहिये। ससार मे एसे व्यक्ति विरले ही देखने मे मिलते हैं। अधिकार और ऐश्वर्य का मद ऐसा होता है कि, मनुष्य के सम्पूर्ण विवेक को नष्टकर देता है। कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रह ही नही जाता। अधिकारारूढ हो जाने पर मनुष्य समझने लगता है—मेरा हाथ पकडने वाला कौन है? मेरे जो मन मे आवेगा वही मैं करूँगा! मैं प्रभु हूँ, स्वामी हूँ, सब मेरे सेवक हैं, सब को मेरी इच्छा के अनुसार बर्ताव करना चाहिये। मेरी हाँ मे हाँ मिलानी चाहिये। मेरी आज्ञा का अविलम्ब पालन होना चाहिये। मैं जो करता हूँ ठीक करता हूँ। मुझसे भूल हो ही नही सकती! मेरा तिरस्कार करनेवाला—मेरी आज्ञाका उल्लघन करने वाला—मेरा शत्रु है। उसका अस्तित्व मिटा दो। जिसे रहना हो मेरी इच्छा के अनुसार रहे। ये सब विचार, अविवेक से—काम तथा अहकारके कारण—उठते हैं और इन्हीं विचारो से मनुष्यका पतन होता है।

श्री सूतजी, नैमिषारण्य निवासी मुनियो से कह रहे हैं—"मुनियो! जब वृत्रासुर मारा गया और इन्द्र भी मानसरोवर में ब्रह्महत्या के भय से जा छिपे तो इन्द्रासन खाली हो गया। अब त्रैलोक्य का कार्य कैसे चले? इन्द्र के बिना यज्ञ याग, वर्षा आदि कौन करे? असुर तो पराजित ही हो चुके थे। देवताओंमे ऐसा कोई था नही। ऋषियो ने सोचा—"मनुष्य लोक के किसी विख्यात-राजर्षिको तब तक के लिये स्थानापन्न-इन्द्र बना देना चाहिये।" यह सोचकर सभी ऋषि-महर्षि, देवता तथा उपदेव मिलकर पृथिवी मे आये। उन दिनों पृथिवी पर चन्द्रवशी परम यशस्वी-महाराज 'आयु' के पुत्र राजर्षि-नहुष राज्य करते थे। वे बड़े धर्मात्मा, तेजस्वी, यशस्वी और दान-धर्म मे निरतर निरत रहने वाले थे। उन्होंने बहुतसे यज्ञ भी किये थे। ऋषियो ने उनके

जाकर कहा—"राजन्, आप तब तक स्वर्गके इन्द्र बन जायें जब तक देवेन्द्र लौट कर नहीं आते।"

ऋषि-मुनियों का सत्कार करके, उनकी विधिवत्पूजा करके राजर्षि-नहुष बोले—"मुनियों! आपकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा है जो आप मुझ मरणशील-व्यक्ति को देवताओं के आधिपत्य पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं! किन्तु महर्षियों, मैं सर्वथा इसके अयोग्य हूँ। मुझमें न इतना तप है न तेज, न विद्या है न योग! और नहीं शक्ति। फिर स्वर्ग का शासन कैसे कर सकता हूँ?"

ऋषियों ने कहा—"हे आयुष्मन्! आप बड़े धर्मात्मा हैं। आप सर्वथा इन्द्रपद के योग्य हैं! रही तप, तेज, विद्या और योग्य-शक्ति की बात, सो हम सब मिलकर आपको अपना तप तेज देंगे।"

राजा ने कहा—"महर्षियो! आप मुझे ऐसा वरदान दें कि, मैं जिसकी ओर भी देख दूँ—उसका उसी समय आधा तप-तेज मेरे पास चला आवे। जो भी मेरे सम्मुख आवे वही तेजहीन हो जाय।"

ऋषियों और देवताओं को तो अपना काम निकालना था; अतः उन्होंने कहा—"अच्छी बात है राजन्! ऐसा ही हो जायगा; आप चलकर इन्द्रासन को सुशोभित करें।"

यह सुनकर राजा-नहुष को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे पृथिवी से स्वर्ग में आगये। ऋषि-मुनियों ने विधिवत् उनका इन्द्रासन पर अभिषेक किया। अपना अपमान करने वाले इन्द्र को पदच्युत् देखकर भगवान-बृहस्पति भी फिर आ गये। नहुष बड़े ठाठ-बाठ से इन्द्रासन का उपभोग करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! प्रायः देखा गया है कि छोटा—आदमी जब बड़े-पद को प्राप्त कर लेता है तो वह अपनी पुरानी

परिस्थितिको भूल जाता है, उसे बड़ा अभिमान हो जाता है ! उस अभिमान से उसका उसी प्रकार पतन होता है; जैसे मध्यान्ह के प्रचंड-सूर्य का सायंकाल में—अस्ताचल में जाकर—पतन होता है। कुछ दिन तो नहुष ठीक-ठीक कार्य करता रहा, किन्तु कहाँ तो मर्त्यलोक के क्षणभंगुर विषय-सुख, कहाँ स्वर्ग का दिव्य-ऐश्वर्य ! कहाँ अन्न का भोजन और कहाँ अमृत-पान !! नहुष को अभिमान बढ़ गया। अब तो ऋषियों का भी अपमान करने लगा। कोई कुछ कहता तो डाँट देता—झिड़क देता। मुनिगण चुप हो जाते, क्या करते ? वे हाथ तो पहिले ही से कटा चुके थे। जो भी उसके सामने आता, उसका तप-तेज वह वरदान के प्रभाव से हरण कर लेता। अब तो ऋषि-संघ में राज्यक्रांति होने लगी। इस नये इन्द्र के सभी लोग विरुद्ध हो गये। ऋषियों ने देवगुरु-बृहस्पति से कहा। बृहस्पतिजी ने सब सुन-समझकर कहा —"देखो, अब तुम्हारी कुछ चलने की नहीं ! तुम तो उसे वरदान दे ही चुके। जब मनुष्य, गुरुओं का अपमान करता है और पर-नारियों पर कुदृष्टि डालता है तभी उसका पतन होता है ! यह ऋषियों का तो अपमान करता है, किन्तु अभी इसने पर-नारी पर कुदृष्टि नहीं डाली। जब यह अपने इस धर्म से च्युत हो जायगा तब अपने आप इस पुण्य-पद से गिर जायगा।"

ऋषियों को नहुष की बातें बहुत बुरी लगतीं थीं। उन्होंने ऋषि समितिका गुप्तरूप से एक विशेष-अधिवेशन किया और यह प्रस्ताव रखा कि, इस उद्धत-राजा को इन्द्रपद से किसी प्रकार च्युत कर देना चाहिए। एक ऋषि ने कहा—"इस समिति का एक सभापति चुन लो। मैं समझता हूँ—ये अगस्त-मुनि इसके सर्वथा उपयुक्त हैं, इन्होंने विन्ध्याचल को पट्ट लिटा दिया

आतापी को खाकर पचा गये, समुद्र को सोख गये। इस अब्रह्मण्य-राजा को भी ये इन्द्र-पद से युक्तिपूर्वक च्युत कर सकेंगे।"

सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और ऋषि-मुनि अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने लगे। जो अप्सरायें नहुष की सभा में नाचती थीं, वे अपने गीतों में 'पौलोमी-इन्द्राणी' के रूप-सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा किया करती थीं। प्रतीत होता है उन सबोंके किसीने कान भर दिये थे। इन्द्राणीकी प्रशंसा सुन-सुनकर नहुष के मन में उसे पाने की प्रबल इच्छा हुई। एक दिन उसने इन्द्राणी के भव्य-भवन को निहारा और गन्धर्वों से पूछा—"यह इतना सुन्दर किसका भवन है?"

हाथ जोड़े हुये गधर्वों ने कहा—"प्रभो, यह इन्द्र-पत्नी भगवती-शचीदेवी का अंतःपुर है! इसमे कोई भी प्रवेश नही कर सकता।"

राजा तो ऐश्वर्य के मदमें मदांध हो ही रहा था। उसने कहा—"जब हम इन्द्र हैं तो इन्द्राणी को भी हमारी सेवा करनी चाहिए। वह हमारे पास क्यों नही आती? यह तो हमारा प्रत्यक्ष अपमान है।"

यह कहकर तुरत वायुदेव को बुलाया और उनसे बोला—"वायु! तुम्हारी सर्वत्र गति है। तुम मेरी आज्ञा से इन्द्राणी के पास जाओ और उससे मेरी ओरसे कहो वह मुझ वरण करे। मैं इन्द्र हूँ! न्यायतः जो इस पद पर प्रतिष्ठित है, इन्द्राणी उसीकी पत्नी है। उसे मेरी सेवा करनी चाहिए।"

बिचारे वायुदेव क्या करते! बात तो उन्हे बुरी लगी, किन्तु इन्द्रकीआज्ञा पालन करनी ही थी। शचीदेवीके समीप जाकर सब समाचार कह सुनाया। नहुष के ऐसे प्रस्ताव को सुनकर शची-देवी बड़ी घबड़ाई—अत्यत दुखी हुई। उन्हें चिन्ता व्याप गई कि,

दुष्ट कहीं मेरे साथ बलात्कार न करे। बलपूर्वक मेरा सतीत्व न नष्ट कर देवे। इन विचारो के आने से वे डर गईं। थर-थर काँपने लगीं और अशरण-शरण श्रीहरि का मन ही मन स्मरण करने लगीं। अंतमें उन्हें एक युक्ति सूझी—वे अपने कुलगुरु भगवान-बृहस्पति के समीप गईं। उनकी चरण-वदना करके वे उनके सामने बिलख-बिलख कर रोने लगीं।

त्रैलोक्यपति-इन्द्र की पत्नी को इस प्रकार दीन-हीन अनाथिन की भाँति बिलखते देखकर बृहस्पति जी को बडी दया आई और वे बोले—"बेटी! तू क्यो रो रही है, मुझे अपने दुख का कारण बता। किसने तेरा अनिष्ट किया है।"

सुबकियाँ भरती हुई शची ने कहा—"प्रभो! कौन किसका अनिष्ट कर सकता है? भाग्य ही सब कुछ कराता है। हे कृपा सिंधो! हमने अपने किये हुए का बहुत फल पा लिया। गुरुके अपमानका फल हमें बहुत मिला। हमारा राज्य नष्ट हुआ, शत्रुओं ने हमे घर-द्वार हीन कर दिया। अनाथ की भाँति मारे-मारे फिरे। ऐश्वर्य से हीन हुए। ब्रह्महत्या हमारे सिर पर चढी। आज मैं अपने पति से विहीन होकर अपने दिन काट रही हूँ। कौन अनुमान कर सकता है कि तीनों-लोकों के स्वामी इन्द्र की पत्नी इतने भारी कष्ट मे पडकर अपने दिन बिता रही है। गुरुदेव! मैं तो शूकरी-कूकरी को अपने से लाखगुना सुखी समझती हूँ कि वे अपने पतियों के साथ तो रहती है। मैं बडे कष्ट से पति के वियोग रूप दुख को सहन कर रही थी, कि अब मेरे सिरपर एक नई बडी भारी-विपत्ति आ टूटी। अब तक मैं जैसे-तैसे अपने सतीत्व को बचाये हुए थी, अब देखती हूँ उसकी भी रक्षा में संदेह है।"

यह सुनकर भगवान बृहस्पति, दुखित होकर

स्वर में बोले—"देवी ! तुम्हारा किसने अपमान किया ? कौन तुम्हें बुरी-दृष्टि से देखने का साहस कर सकता है ? तुम मुझे उस दुष्ट का नाम बताओ—मैं उसे अभी अपने तप-तेजसे भस्म-सात् कर दूँगा।"

हाथ जोड़े हुए काँपते-काँपते शची ने कहा—"प्रभो ! यह जो नया-इन्द्र आपने बनाया है, आज इसी ने मेरे समीप वायुदेव को अनुचित-प्रस्ताव लेकर भेजा है।" वह कहता है—"मैं नियमानुसार इन्द्र हूँ, तुम मेरी सेवा करो और मेरी इन्द्राणी बनो।"

यह सुनकर, सुर-गुरु-बृहस्पति-मुनि गंभीर हो गये और बोले—"बेटी ! यह तो बड़ी कठिन-समस्या है। ऋषियों ने बिना इसके स्वभाव को समझे इसे बहुत बड़ा वरदान दे दिया। इसके सम्मुख जो जाता है; उसी का यह वरदान से तप-तेज हर लेता है। किन्तु फिरभी कोई चिन्ताकी बात नहीं। प्रतीत होता है अब, इसके पुण्यक्षीण हो रहे हैं ! इसका स्वर्ग से पतन होने वाला है, तभी तो इसके मन में तुम जैसी सती-साध्वी के प्रति पाप-बुद्धि उत्पन्न हुई है। कोई चिन्ता नहीं, तू उसके पास संदेश भेज दे कि, सहस्र-मुनियों को अपनी पालकी में लगाकर, उन पर चढ़कर अमुक समय आप यहाँ आवें तो मैं आपकी सेवा करूँगी।"

गुरु की आज्ञा पाकर शची ने ऐसा ही संदेश, नहुष के पास भेज दिया। इसे सुन कर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सब ऋषियों-महर्षियों को बुलवाया और कहा—"आज तुम सबको मेरी पालकी उठाकर ले चलनी पड़ेगी। समझे कुछ ? जो इगिर-दिगिर करेगा उसके डंडे लगेंगे।"

मुनि विचारे क्या करते ? सबकी ओर देख-देखकर उसने उनका तप हरण कर लिया था, उसके सम्मुख मना करने का किसी को

"साहस ही नहीं हुआ। सब ने कहा जैसी आपकी आज्ञा।"

नहुष ने सेवकों से 'शिविका' सजाने को कहा। सेवक, शिवि-

का सजाने लगे, वह अपना स्वयं शृंगार करने लगा। आज

इसने बड़े मनोयोग से शृंगार किया कि शची उसका रूप देखकर ही मुग्ध हो जाय, प्रसन्नतापूर्वक मुझे अपना ले और स्वेच्छा से अपना पति बना लेवे। शृंगार करते-करते इसे बहुत विलम्ब हो गया। झटपट निकल कर शिविका में बैठ गया और ऋषियों से बोला—"मेरी पालकी को अति शीघ्र शची के शयनागार की ओर ले चलो।" ऋषियों ने विवश होकर जैसे-तैसे उसे उठाया। इन्द्राणी ने जो समय नियुक्त किया था वह समीप ही आगया था, नहुष को उससे मिलने की चटपटी लगी हुई थी। अतः वह बार-बार ऋषियों से कहता "शीघ्रमेव सर्प-सर्प" अर्थात् शीघ्र चलो। किन्तु ऋषियों से शीघ्र कब चला जाता है? कोई यज्ञयाग कराना होता तो शीघ्रता करते या प्रसाद पाना होता—निमंत्रण उड़ाना होता तो दूसरी बात थी! इन सबका तो उन्हें नित्य का अभ्यास था। अब उन्हें एक अनभ्यस्त-कार्यमें बलपूर्वक नियुक्त कर दिया गया था। एक तो सबके शरीर कुछ स्थूल थे दूसरे ऋषि ही ठहरे! कभी भी किसी की ऐसी आज्ञा सहन नहीं की, फिर भी शीघ्रता से चलने लगे।

इतने पर भी नहुष को सन्तोष नहीं हुआ। वह ऋषियों पर पादाघात करने लगा और बारम्बार सर्प-सर्प, चलो-चलो चिल्लाने लगा। इस पर एक दूसरे मुनि की जटा में छिपे हुए अगस्त-मुनि ने उसे शाप दे दिया—"अरे दुष्ट! ले, बार-बार हम ऋषियों को 'सर्प-सर्प' कहता है—जा तू ही सर्प हो जा।"

इतना सुनते ही ऋषि के शाप से नहुष औंधे-मुँह गिर पड़ा—वह सर्प हो गया। इन्द्रासन पुनः खाली हो गया। अब ऋषियों को पुनः इन्द्र की चिन्ता हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! इस प्रकार मैंने यह नहुष

का स्वर्ग से पतन को अत्यत ही सक्षेपमे कथा सुनाई। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हम अब अग्रिम-वृत्तान्त सुनने को उत्सुक है। इन्द्र का क्या हुआ ? इन्द्रासन पर फिर कौन बैठा ? देवेन्द्र को यह दूसरी ब्रह्महत्या छूटी या नहीं ? इन सब बातो को आप बतावे।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! मैं इस परम रोचक प्रसग को आगे सुनाता हूँ आप मनोयोग से सुने।"

छप्पय

चढ्यो पालकी नहुष सहस मुनि ताहि उठावें।
'सप-सर्प' नृप कहे अनसुनी ऋषि करि जावें॥
अति जब करिबे लग्यो कोप कुभज-मुनि कीन्हों।
दुष्ट सर्प ह्वै जाय शाप मुनिवर ने दीन्हों॥
चट्ट-पट्ट अजगर भयो, औंधे मुँह ते गिर परयो।
तुरत पाप को फल चख्यो, इन्द्राणी प्रति जस करयो॥

निष्पाप हुए इन्द्र को पुनः इन्द्रपद की प्राप्ति

(४१७)

स वाजिमेधेन यथोदितेन
वितायमानेन मरीचिमिश्रैः ।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-
मिन्द्रो महानास विधूतपापः ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० १३ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

भयो पाप को अन्त गये सब मिलिके ऋषि-मुनि ।
देवराज कूँ लाइ करायो अश्वमेध पुनि ॥
ज्यों कुहरा नसि जाइ उदित दिन के ह्वैने ते ।
पाप-पुञ्ज त्यों नसे नाम हरि को लैवे ते ॥
इन्द्र, नार्क पति पुनि भये त्रिभुवन अति हर्षित भयो ।
यों दधीचि को त्याग अरु वृत्रासुर को वध कह्यो ॥

मन मे जब तक अत्यधिक पाप रहते हैं; तब तक शुभ-कर्मों मे प्रवृत्ति ही नहीं होती । पापात्माओं की पापो मे और

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार शास्त्रोक्त विधि से मरीचादि महर्षियों ने देवराज-इन्द्र को अश्वमेध यज्ञ कराया । उस यज्ञ के द्वारा पुराण-पुरुष यज्ञरूप-श्रीहरि का भजन करके, इन्द्र निष्पाप होकर पूर्ववत् महान हो गये ।"

पुण्यात्माओं की पुण्य-कार्यों में स्वाभाविक ही प्रवृत्ति होती है। जब भगवत्-कृपा से पापों के क्षय का समय सन्निकट आ जाता है तब वैसे ही वातिक बनने लगते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं और अपकारी उपकार करने की बात सोचने लगते हैं! प्रतिकूल परिस्थितियाँ अनुकूल होने लगती हैं और दुर्भाग्य हटकर सौभाग्य का पदार्पण होने लगता है। इसीको कहते हैं—काल का प्रभाव !!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृत्रासुर के मारे जाने पर इन्द्र को जो ब्रह्महत्या लगी थी, उसके अंत होने का समय आ गया। सहस्र-वर्ष निराहार रहकर और जल में छिपे-छिपे इन्द्र ने जो तपस्या की थी—भगवान का स्मरण किया था, इसी से उनके सब पाप क्षीण हो गये। इधर नहुष को जो सहस्र-वर्ष तक इन्द्र बनने का पुण्य भोग करना था, उसकी भी समाप्ति हो गई। वे पुण्य के क्षीण होने पर अजगर बनकर पृथिवी पर गिर पड़े।"

अब तो फिर ऋषि, मुनि, देवता, गन्धर्व तथा तीनों-लोकों के जीवों को इन्द्र की चिन्ता हुई। ऋषियों के संघ का पुनः अधिवेशन हुआ। उसमें निश्चय हुआ—पुराने इन्द्र को खोजा जाय! अग्निदेव को दूत बनाकर भेजा गया। जैसे-तैसे अग्निदेव ने उनसे ऋषियों का संदेश कहा। ऋषियों ने मेरे ऊपर कृपा की है यह सुनकर इन्द्र को प्रसन्नता हुई। वे मरीचादि महर्षियों की शरण में आये। ऋषियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया और सर्व-पाप शमन के लिये भगवान-पुरुषोत्तम की आराधनारूप-अश्वमेध-यज्ञ की विधिवत् दीक्षा दी। जब उन वेदवादी-मुनियों ने अश्व-मेध यज्ञ के द्वारा सर्वदेवमय परमपुरुष परमात्मा का प्रेम पूर्वक भजन कराया, तो उसीसे उनका वृत्रवध-जनित महान पाप-पुञ्ज विलीन हो गया। देवेन्द्र उसी प्रकार विशुद्ध बन गये, जैसे

अग्नि में तपने से सुवर्ण मलरहित हो जाता है ! वर्षाकालीन जल मे निर्मली डालने से जैसे वह शुद्ध हो जाता है,.. जिस प्रकार मासिक-धर्म के अनंतर नारियाँ शुद्ध हो जाती हैं, ग्रहण के अनन्तर सूर्य-चन्द्र पुनः विशुद्ध बन जाते हैं, तपाने से घृत शुद्ध हो जाता है, अपवित्र पृथिवी जैसे काल पाकर स्वतः ही शुद्ध हो जाती है, स्नान करने से जैसे शरीर शुद्ध हो जाता है अपवित्र-पात्र इत्यादि शुद्धि करने से विशुद्ध हो जाते है ! जैसे संस्कारो से द्विज, तप से इन्द्रियाँ और मन !! दान से धन तथा संतोष से चित्त शुद्ध बन जाता है—उसी प्रकार भगवत्-आराधना रूप अश्वमेध-यज्ञ से इन्द्र भी विशुद्ध हो गये। उनके समस्त पाप धुल गये ! वे पुनः उसी प्रकार तीनों-लोकोंके पूजनीय, माननीय, वन्दनीय, अर्चनीय, सम्माननीय तथा आदरणीय बन गये। चिरकाल से बिछुड़े अपने पति को पाकर पौलोमी-इन्द्राणी अत्यंत ही प्रसन्न हुई। इन्द्र ने विनीत-भाव से जाकर अपने गुरुदेव के पाद-पद्मों मे श्रद्धा-भक्ति पूर्वक प्रणाम किया और अपनी पुरानी अविनय के लिये विशुद्ध-हृदय से पश्चात्ताप करते हुए क्षमा-याचना की। इसपर प्रसन्नता प्रगट करते हुए बृहस्पतिजी ने कहा—"देवेन्द्र ! तुम न तो मुझे दोष देना और न अपनी इस दुर्गति पर दुख ही करना। कौन; किसे दुख-सुख देता है ? यह सब काल ही कराता रहता है। जिस समय जैसा काल होता है, उस समय पुरुष की वैसी ही बुद्धि बन जाती है ! वैसे ही कार्य करता है, वैसे ही कर्म करने की अन्तःकरण से प्रेरणा भी होने लगती है। जैसी भवितव्यता होती है उसीके अनुरूप संयोग जुटने लगते हैं। उसी से प्रेरित होकर ऋषि-मुनि शाप और वरदान देते हैं। आपका ऐसा प्रारब्ध ही था। कोई अनिष्ट महत्त्व संयोग था, अच्छा ही हुआ—उसे भोगकर आपने समाप्त

कर लिया। प्रारब्ध कर्मों का भोग तो सभी को भोगना ही पड़ता है। अंतर इतना ही है कि बुद्धिमान पुरुष, विवेक के साथ सुख-दुख में समवृत्ति रखकर, अवश्यम्भावी समझकर उसे निर्लेप-भाव से भोगते हैं और अज्ञानी पुरुष कष्ट से रोते हुए दुख पूर्वक भोगते हैं। भोगना तो सभी को पड़ता है। अब आप विशुद्ध होकर तीनों-लोकों का न्यायपूर्वक पालन करो। मंगलमय-श्रीहरि तुम्हारा मंगल करेंगे।"

भगवान के नाम, गुण, कीर्तन की महिमा का वर्णन है। भक्तों के विशुद्ध-चरित्र और उनकी अहैतुकी-अनन्य-भक्ति का निरूपण किया गया है। इस आख्यान को एकबार ही पढ़कर न छोड़ देना चाहिए कि—एक बार पढ़ तो लिया! नहीं; इसे बार-बार पढ़ना चाहिए। पुनः-पुनः मनन करना चाहिए। पूर्वकाल उपस्थित होने पर, यात्रा में, मित्रों की गोष्ठी में, श्राद्धादि के समय, पुण्य-क्षेत्रों में, इस भक्तिवर्धक आख्यान के पढ़ने से मन पवित्र होता है! चित्त में शांति आती है!! अन्तःकरण में आह्लाद उत्पन्न होता है!!! इस लोक में धन, यश, विजय, दीर्घ-आयुकी प्राप्ति होती और परलोक में भी इच्छानुसार सुख मिलता है।"

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर मेरे गुरुदेव भगवान-शुक चुप होगये।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस पुण्य-आख्यान के श्रवण करने से तो हमें बड़ा सुख मिला। इसमें वैसे तो सभी बातें एक से एक बढ़कर हैं, किन्तु दो प्रसंग इसमें बड़े ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी प्रतीत हुए—एक तो दधीचि-मुनि का त्याग और दूसरी वृत्रासुर की विशुद्ध अहैतुकी भगवद्-भक्ति! महाभाग, असुर-शरीर में भी भगवान् के प्रति ऐसा दृढ़-अनुराग हमने तो कहीं सुना नहीं। फिर घोर-समर में जहाँ एक योद्धा दूसरे योद्धा के रक्त का ही प्यासा बना रहता है, जहाँ क्षण-क्षण में क्रोध आता है, वहाँ भी समभाव में स्थित रहकर भगवान की इतने स्नेह से स्तुति करना—इससे तो हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है! वृत्रासुर की ऋषि-मुनि और योगियों से भी श्रेष्ठ ऐसी मति किस कारण से—किस साधन से हुई और इतने बड़े भगवद्-भक्त को आसुरी-योनि किस अपराध से प्राप्त

हुई ? इन बातों को सुनने की हमारे मन में बड़ी लालसा है ! यदि आप उचित समझें तो इस प्रसंग को हमें और समझा दें।"

यह सुनकर सूतजी गंभीर होकर कहने लगे—"मुनियों ! भगवद्-भक्ति एक जन्म का फल नहीं है। वह, साधन-साध्य नहीं है—कृपा-साध्य है ! भगवान जिस पर कृपा करदें, जिस विशुद्ध-अन्तःकरण वाले महापुरुष के हृदयरूपक्षेत्र में भक्तिके बीज का वपन कर दें। महाभाग ! हजारों-लाखों जन्मों में तप, यज्ञ, अनुष्ठान आदि शुभ-कर्म करने से अन्तःकरण विशुद्ध होता है। उनमें से किसी विरले-पुरुष के हृदय में भागवती-भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। सो, मुनियों ! यह वृत्रासुर के पूर्व-जन्मों के सुकृतों का ही फल है, रही—आसुरी-योनि की बात ! सो,भक्त इन शरीरों को महत्त्व नहीं देते। य देह तो आत्मा के आवरण मात्र है ! जैसे राजा कैसा भी वस्त्र पहिने राजा ही है। भगवद्-भक्त तो पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, गुल्म, मनुष्य, देवता, स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, धनी-दरिद्र, सभी में पाये जाते हैं। इसमें आप सदेह न करें ! वृत्रासुर ने भगवान-सङ्कर्षण की बड़ी सावधानी से—पूर्वजन्म में—आराधना-उपासना की थी। उसीका यह फल था कि आसुरी-योनि में भी उसका प्रभु-पादपद्मों में दृढ़ अनुराग बना ही रहा।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग सूतजी ! हमें वृत्रासुर के पूर्वजन्म का चरित्र सुना दीजिये। इसे सुनने के लिये हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो ! मैं आपको वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त अवश्य सुनाऊँगा। मेरे गुरुदेवसे भी महाराज-परीक्षित ने यही प्रश्न पूछा था। उन्हें भी आपही की

कौतूहल हुआ था, उस परम पुण्य-उपाख्यान को मैं सुनाऊँगा। आप, अपने मन को तनिक भी इधर उधर न होने दें। यह इतना रोचक, सारगर्भित और मन को प्रसन्न करने वाला इतिहास है कि आप दत्तचित्त होकर सुनेंगे तो सुखी होंगे। तनिक भी चित-चचल हुआ तो "गोविन्दाय नमो नम:" ही है। कथा का रस चला जायगा।"

इसपर शौनकजी ने कहा—"सूतजी, आप बार-बार यह क्यों कहा करते हैं—सावधानी से सुनो, दत्त-चित्त होकर सुनो, मन लगा कर सुनो, चित्त को चचल मत होने देना। हम सब तो कितनी सावधानी से सुनते हैं, फिर भी आप बार-बार टोकते रहते हैं, चेतावनी देते रहते हैं—यह क्या बात है?"

यह सुनकर सूतजी खिलखिला कर हस पडे और बोले—"क्या बताऊँ महाराज! मेरी ऐसी टेव पड गई है। आप इसका यह अर्थ न समझें कि आप सावधान होकर नहीं सुनते, यदि आप असावधानी करते तो मैं सुनाता ही नहीं। फिर भी जो मैं यह चेतावनी देता हूँ—अपनी लत से, आदत से विवश होकर कह देता हूँ। कथावाचकों का कोई एक विशिष्ट-शब्द होता है, उसे वे बार-बार दुहराते हैं। कोई कहते हैं—"समझे?" कोई कहते हैं "क्या समझे?" कोई कहते हैं—"क्यों ठीक है न?" कोई कहते हैं—"कहो कैसी कही?" कोई-कोई कहते हैं—"तुम्हारा रामजी भला करे!" कोई,श्रीसीतारामजी की इच्छा से! श्रीगोपालजीकी इच्छासे!! श्रीजीकी इच्छा!!! इसी प्रकार मेरा भी यह पादपूर्ति वाला विशिष्ट-शब्द है! हाँ—तो अब मैं वृत्रासुर के पूर्व—जन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप सब सावधानी के साथ स्वस्थ चित्त से सरसता-पूर्वक सुनने की कृपा करें।

छप्पय

यह अति सुखद पवित्र चरित शिक्षाप्रद भारी।
पढ़ें सुनें नर-नारि होहिँ ते अवसि सुखारी॥
मुनि-दधीचि को त्याग वृत्र की भक्ति-अनूठी।
ये ही द्वै हैं सार! और जग-चर्चा झूठी॥
शौनक बोले—सूत! कस, वृत्र असुर देही लही।
सूत कहें—शुक ने कथा, नृपति प्रश्न पै सब कही॥

वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त

(४१८)

आसीद् राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृपः ।
चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत्कामधुङ् मही ॥
तस्य भार्यासहस्राणांसहस्राणि दशाभवन् ।
सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम् ॥❀

(श्री.भा० ६ स्क० १४ अ० १०, ११ श्लो०)

छप्पय

कहैं परीक्षित प्रभो ! वृत्र को पूर्व जनम महँ ।
कस अस हरिपद भक्ति रह्यो कस अटल धरम महँ ॥
शुक बोले—सुनु, भूप ! नृपति इक चित्र केतुवर ।
शूरसेन को ईश साधुसेवी सुठि सुन्दर ॥
विद्या रूप उदारता, सम्पति सब अगनित भरी ।
नृप की रानी दस-अयुत हती कुलवती सुन्दरी ॥

पूर्व संस्कार, मनुष्य के साथ उसी प्रकार चिपटे रहते हैं जिस प्रकार गर्भ का बालक 'जरा' नामक झिल्ली से लिपटा

❀ श्रीशुकदेवजी, वृत्रासुर के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त बताते हुए कहते हैं—"राजन् ! शूरसेन-देश में एक चित्रकेतु नाम का सार्वभौम राजा रहता था । उसके राज्य में पृथिवी, कामधेनु के समान सभी इच्छित पदार्थों को देने वाली थी । यद्यपि वे, निर्वीर्य नहीं थे—सन्तान

रहता है। किसी देश की, किसी वर्ण की, किसी जाति की स्त्री के गर्भ से बालक हो—जरा से लिपटा ही पैदा होगा! इसी प्रकार जीव चाहे जिस योनि में जाय, पूर्व-कृत पाप-पुण्य उसके साथ ही सटे रहेंगे। बिना पुनर्जन्म को माने संसार की जन्म-जात विषमताओं का किसी प्रकार समाधान हो ही नहीं सकता! पूर्वजन्म में जिसे हमने दुख दिया होगा वही आकर—अकारण ही—हमें पीडा पहुँचावेगा। कितने पक्षी उडे जारहे हैं, उनमें से एक-दो को ही बाज क्यों मारता है? शेष क्यों बच जाते हैं! एक घर में बहुत से चूहे हैं, उनमें से बिल्ली एक ही दो को क्यों पकड़ती है? बहुत से पकड लेने पर भी क्यों भाग जाते हैं! एक साथ बहुत आदमी रहते हैं, उनमें से एक दो के ही साथ हमारा प्रेम क्यों होता है! शेष, समीप रहते हुए भी हमारे लिये उपेक्षणीय क्यों बने रहते हैं? एक कन्या-पाठशाला में सैकडों-कन्यायें शिक्षा पाती हैं, विष्णुमित्र का विवाह शीला के साथ ही क्यों होता है? अन्य-कन्याओं को वह देखते हुए भी क्यों नहीं देखता! उसका मन शीला ही की ओर अत्यधिक-आकर्षित क्यों होता है? आप कहेंगे कि यह तो आकस्मिक घटना है, संयोग की बात है! इसके उत्तर में हम कहेंगे, संसार में कोई कार्य कारण के बिना नहीं होता, अकस्मात् तो कुछ होता ही नहीं! संयोग भी दैवेच्छा से-पूर्व जन्मकृत-कर्मों के अनुसार ही होता है। पूर्वजन्म में हमारा जो कोई कुछ रहा होगा, वही इस जन्म में हमें इस रूप में सुख-दुःख देने आया हुआ है।

वृत्रासुर के वृत्तान्त को सुनकर और उसकी भगवद्-भक्ति तथा

उत्पन्न करने में समर्थ थे और उनके हजारों-रानियाँ थीं, फिर भी उनके कोई सन्तान नहीं थी।"

श्रीकृष्ण पाद-पद्मों मे अनन्य-अनुरक्ति को स्मरण करके महाराज परीक्षित् श्रीशुक से पूछने लगे—"भगवन् ! यह तो बड़े ही आश्चर्य की-सी बात मालूम पड़ती है, घोर-रजोगुणी तमोगुणी वृत्रासुर की प्रभुपाद-पद्मोंमे ऐसी अचल-प्रीति किस प्रकार हुई ! कैसे वह भयंकर-संग्राम में निश्चल-भाव से भगवान की स्तुति करता रहा !! उस इतने उग्र-स्वभाव के असुर की सहसा मुक्ति किस प्रकार हो गई ?"

इस बात को सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"क्यों महाराज ! मुक्ति का या भगवद्-भक्ति का किसी ने ठेका ले रखा है क्या ?"

इस पर महाराज परीक्षित् शीघ्रता से बोले—"नहीं भगवन्, ठेका की बात नही है । मेरे कहने का 'अभिप्राय यह है कि अपवाद तो सभी में होते हैं ! किन्तु प्रायः करके शुद्ध, सतोगुणी, पवित्राचरण करने वाले पुरुषों के हृदय मे ही भगवद्-भक्ति का संचार होता हैं । सभी सतोगुणी भगवद्-भक्त होते हैं; सो भी बात नही ! बहुत से सतोगुणी-देवताओं में और पवित्र चित्तवाले ऋषि-मुनियों तक के हृदयों में भगवान के पादपद्मों मे प्रीति उत्पन्न नही होती ! फिर इस महापापी-वृत्रासुर के हृदय में इतना प्रगाढ़ प्रभु-प्रेम कैसे प्रगट हो गया ?"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन, आप ऐसी बात क्यों कर रहे हैं ! भगवान के हाथों से जो भी क्रूर-पापी-दुष्टचित्तवाले असुर मरे हैं; वे सब के सब मुक्त हो गये हैं ! फिर वृत्रासुर, भगवान के तेजयुक्त-वज्र से मर कर मुक्त हो गया तो इसमें कौन सी आश्चर्य की बात हुई ?"

इस पर महाराज परीक्षित् बोले—"भगवन् ! मुक्ती हो जाना तो दूसरी बात है । मुक्ति को मैं उतनी कठिन नही मानता

जितनी कि भक्ति को ! मुक्ति तो बहुतों को हो जाती है, प्रायः बहुत से असुर-राक्षस भी मुक्त ही जाते हैं किन्तु भक्ति तो किसी विशेष ही भाग्यशाली को प्राप्त होती है।"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन् ! मुक्ति को क्या आपने गुड का पुआ समझ रखा है जो गप्प से मुँह मे डाला और निगल गये। मुक्ति को आप सुलभ कैसे बता रहे हैं ?"

शीघ्रता से महाराज परीक्षित् बोले—"नहीं-नहीं भगवन् ! मेरा यह अभिप्राय कदापि नही कि मुक्ति सुलभ है। मुक्ति का मार्ग तो छुरे की धार की भाँति तीक्ष्ण है। इस जगत में मुक्ति के ही लिये तो समस्त जीवों के प्रयत्न हैं। कोई रोग की मुक्ति के लिये, कोई दुख की मुक्ति के लिये, कोई कामवासना से मुक्ति के लिये, कोई भूख से मुक्ति पाने के लिये, कोई जाडे—गरमी से मुक्ति पाने के लिये, कोई कलह से मुक्ति पाने के लिये कोई 'पु' नामक नरक से मुक्ति पाने के लिए, इस प्रकार सभी किसी न किसी अभाव की पूर्ति के लिये सतत प्रयत्न कर रहे हैं। ससार मे असख्य-जीव हैं। पृथिवी के समस्त-कणो की सख्या तो सभव है गणनाकी भी जा सके, किन्तु ससारके समस्त-जीवो की गणना करना असभव है। उद्भिज, स्वेदज, अडज और जरायुज (इस प्रकार जीवों के ४ भेद बताये हैं इन चारों की ८४ लाख) योनियाँ बताई हैं। एक योनि मे असख्यो-जीव इस ब्रह्माड में है। यह १४ भुवनोंवाला एक ही ब्रह्माण्ड हो सो भी बात नहीं ! ऐसे असख्या ब्रह्माण्ड हैं। उन सभी मे पृथक पृथक ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, मुनि, प्रजापति आदि बताये गये हैं। इन इतनी योनियों में से मनुष्य आदि कुछ ही ऐसी योनियाँ हैं जो इस ससार-सागर से पार जाने की सोच सकते हैं। उन सोचनेवालों मे से कुछ ही लोग मु

लिये प्रयत्न करते हैं। उन प्रयत्न करनेवालों में भी प्रबल-इच्छा वाले कम ही होते हैं। सभी प्रबल इच्छावाले मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाते हो, सो भी बात नहीं। उनमें कोई भाग्यशाली ही सिद्धि लाभ करके मोक्ष के अधिकारी होते हैं। उन करोड़ों जीवन्मुक्त तथा सिद्धपुरुषों में से कोई विरले ही शांतचित्त, नारायण-परायण महापुरुष होते है। भगवत्परायणता कोई सरल नहीं! यह बात नहीं जो भी वेष बना ले—माला खटकाले, वही प्रभु-परायण हो जाय। आप कह रहे हैं—वृत्रासुर नरायण-परायण था, संग्राम में भी उसकी भगवान के चरणारविन्दों में दृढ़मति बनी रही सो यह कैसे हुआ? इस विषय में मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है! वृत्रासुर साधारण-वीर भी नहीं था, युद्ध में उसने देवताओं के छक्के छुड़ा दिये। अपने पुरुषार्थ से उसने रण में इन्द्र को भी 'सन्तुष्ट' कर दिया! यह सब किस प्रकार हुआ?"

यह सुनकर श्री शुकदेवजी बोले—"राजन्! यह सब पूर्व-जन्मों के संस्कार से होता है।"

इस पर राजा बोले—"इसी बात के सुनने की भगवन्! मेरी इच्छा है। मैं जानना चाहता हूँ; यह वृत्रासुर पूर्व-जन्म में कौन था? किस प्रकार इसका भगवान में अनुराग हुआ, फिर इतना भगवद्-भक्त होकर यह असुर-योनि में क्यों उत्पन्न हुआ? आप सर्वज्ञ हैं भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सब बातें जानते हैं, अतः मुझे इन सब बातों को सुनाने की कृपा कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! जब महाराज परीक्षित् ने इस प्रकार पूछा तो मेरे गुरुदेव-भगवान व्यासनंदन-श्रीशुकजी उनके समीप प्रश्नों का उत्तर देने लगे।"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! इसमें सर्वज्ञता की तो कोई बात नहीं। यह तो बहुत प्राचीन और बहुत ही इतिहास—

प्रसिद्ध वृत्तान्त है। मैंने पहिले तो इसे अपने पिता भगवान-व्यास के मुख से सुना था। एक बार मुझे देवल-मुनि मिल गये, उनसे भी यों ही बात-बात में पुनर्जन्म का प्रसंग छिड़ गया—तो उन्होंने भी इसी इतिहास को मुझे सुनाया! फिर एक बार मेरी देवर्षि-नारद जी से भेंट हो गई, मैंने उनसे प्रश्न किया कि 'भगवान की भक्ति किन लोगों के हृदय में उत्पन्न होती है?' इसके उत्तर में इन्होंने कहा—"भगवान कब किस पर कृपा कर दें; इस विषयमें कोई निश्चित नियम नहीं। देखो—वृत्र कितना बली-पराक्रमी और देवताओं को भयभीत करने वाला असुर था, परन्तु उसकी भी भगवान में अहैतुकी-भक्ति थी।" इसी प्रसंग में उन्होंने भी मुझे वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाया।"

यह सुनकर राजा बोले—"तब तो महाराज! यह बड़ा-प्राचीन और प्रामाणिक-इतिहास है। इतने बड़े-बड़े महर्षि प्रमाण-भूत मानकर इसका कथन करते हैं। तब तो आप इसे मुझे अवश्य सुनावें।"

इस पर हँसते हुए श्रीशुक कहने लगे—"अच्छी बात है राजन्! सुनिये। मैं आपको इस परम-पुण्यमयी कथा को सुनाता हूँ।

बहुत प्राचीन समय की बात है, कि शूरसेन-देश में एक बड़े ही प्रतापी-राजा राज्य करते थे। महाराज! श्रीयमुना जी के किनारे पर जहाँ आजकल श्रीबटेश्वर-शिवजी विराजमान हैं; इसी के आस-पास के प्रान्त को शूरसेन-देश कहते हैं। उन धर्मात्मा-राजा का नाम चित्रकेतु था। उनके पुण्य के प्रभाव से उन दिनों यह पृथिवी,कामधेनु के समान सभी इष्ट वस्तुओं को संकल्प मात्र से ही देती थी। राजन्! जब मनुष्यों में अविश्वास बढ़ जाता है, अधर्म का प्राबल्य हो जाता है; तो यही भूमि समस्त वस्तु को

अपने भीतर छिपा लेती हैं ! अच्छी-अच्छी वस्तुओं के बीजों को उत्पन्न ही नहीं करती। प्रभावशाली-औषधियों को निकालती ही नहीं। दुष्ट-राजाओं के कारण यह निर्बीज बन जाती है। यदि इस पर धर्मात्मा-राजा होते हैं, तो बिना जोते-बोये जो चाहें वही देती है। स्थान-स्थान पर हीरा-मोती निकलते हैं ! उन महाराज-चित्रकेतु के राज्य में ऐसा ही था। किसी को किसी वस्तु की कमी नहीं होती थी। अन्न-वस्त्र सभी को पृथिवी यथेष्ट उत्पन्न करदेती थी।

राजा बड़े रूपवान थे, कामदेव के समान उनका सुन्दर शरीर था। बड़े ही उदार थे,उनसे जो भी आकर जिस वस्तु की याचना करता वे उसे उसी वस्तु को आदर और प्रसन्नता के साथ देते। कभी किसी की आशा को भंग करके विमुख नहीं जाने देते। वे वंश-परम्परा के राजा थे, सत्कुल में उनका जन्म हुआ था ! पिता-पितामह तथा प्रपितामहों से चले आये हुए राज्य के वे अधिकारी थे। प्रायः राजा बहुत पढ़ने-लिखने नहीं पाते; उनमें यह बात नहीं थी, वे सभी विद्याओं में पारंगत थे। उनका अतुलनीय-ऐश्वर्य था। उनकी अटूट-सम्पति थी जिसकी कोई सीमा नहीं थी। सारांश यह कि, उनमें सभी सद्-गुण विद्यमान थे। यथासमय उन्होंने एक सत्कुलोत्पन्ना सुंदरी-राजकुमारी से विवाह किया। राजा, सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ थे किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं हुई। फिर राजा ने दूसरा विवाह किया, उससे भी कोई संतति नहीं हुई ! इसी प्रकार तीसरा, चौथा, ऐसे लाखों-विवाह किये; किन्तु किसी भी रानी से उनके सन्तान नहीं हुई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! एक पुरुष लाख—

करोड पत्नियों का पति कैसे हो सकता है ? यह तो हमें गप्प-सी मालूम पडती है।"

इस पर उपेक्षा के स्वर मे सूतजी बोले—"महाभाग ! यहाँ लाख-करोड कहने से इतना ही अभिप्राय समझना चाहिये कि, उनके बहुत-सी रानियाँ थीं ! शत, सहस्र, लक्ष, अयुत ये सब बहुवाचक-शब्द हैं। महाराज ! सामर्थ्यवान्-पुरुषों के लिय हजार विवाह करना कोई बडी बात नहीं। इस कलियुग मे अभी हमने, एक-एक राजा के सौ सो दो-दो सौ पत्नियाँ अपनी आँखों से देखी हैं ! हाँ, तो उनक भी बहुत सी सुदरी—सत्कुलोत्पन्ना-महिषियाँ थीं, किन्तु थीं सबकी-सब वन्ध्या ही ! किसी एक के भी न कोई पुत्र हुआ न पुत्री।"

राजा को सभी प्रकार सुख था। स्वय सभी गुणों से सम्पन्न थे ! समस्त पृथ्वी-मडल के सार्वभौम-राजा थे, सर्वत्र उनकी आज्ञा मानी जाती थी। मत्री, पुरोहित, आमात्य तथा अन्य राज-कर्मचारी उनके अनुकूल थे। प्रजा उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी, वे भी पुत्र की तरह सबका धर्म-पूर्वक पालन करते थे। इस भाँति सभी प्रकार की समृद्धियों के रहते हुए भी बिना सतति उन्हें सुख नहीं था ! ये सभी भोग उन्हें फीके फीके से प्रतीत होते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! गृहस्थी की शोभा बाल-बच्चों से ही है। वे बडे भाग्यशाली-गृहस्थ हैं, जिनके घर में छोटे-छोटे फूल से हँसते हुए बाल-गोपाल इधर से उधर किलकारियाँ मारते हुए घूमते हैं ! जेसे कमल के बिना सरोवर की शोभा नहीं, जैसे पति के बिना स्त्री की शोभा नहीं, जेसे सिन्दूर के बिना सुहागिन की शोभा नही, जेसे छत्र चँवर के बिना राजा की शोभा नही, जैसे विद्या बिना ब्राह्मण की शोभा नही, जैसे चन्द्रमा के

बिना रात्रि की शोभा नही, जैसे दीपक के बिना अँधेरे-घर की शोभा नही—इसी प्रकार बिना बालक के गृहस्थी की शोभा नहीं होती। जिनके धन-सम्पत्ति अटूट है और घर में; उसे आगे भोगनेवाला कोई पुत्र नही तो उन्हें या तो भगवान को अपना पुत्र मानकर रात्रि-दिन उसी के लाड़चाव मे लगे रहना चाहिये या धन को धर्म के काम में व्यय करके बन में चले जाना चाहिये। जो दो मे से एक भी नही करता—धन को संग्रह करके, जोड़ कर रखता जाता है—न स्वयं खाता है न दूसरो को खाने को देता है, तो वह जीते जी नरक भोगता है तथा मरकर भी प्रेत बनकर उसी धन पर मँडराता रहता है और अंत मे नरकों की अग्नि में पचता है। पुत्र के बिना गति नही, शांति नही, सुख नही।"

महाराज-चित्रकेतु ने पुत्र प्राप्ति के लिये विविध-उपाय किये। जिसने जो कुछ भी दान, धर्म, व्रत, उपवास बताये—सब किये-कराये! किन्तु उन्हें पुत्र का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ। इसी से राजा सदा उदास बने रहते थे। उनका किसी काम मे मन नही लगता था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! आप ही अच्छे हैं, जो इन स्त्री-बच्चों के झंझट में आरम्भ से ही नहीं पड़े। महाराज! क्या बतावें—यह कैसा चक्कर है कि इसमें जो फँस जाता है; भगवान ही निकाले तो निकल सकता है। पुत्र न होने पर जो दुख होता है, उसे आप लोग बिना घर-द्वारवाले-बाबाजी क्या समझ सकते हैं! अतः उसका मैं अधिक वर्णन आपके सामने नही कर सकता। करूँ भी तो व्यर्थ है! तीन चार वर्ष की लड़की के सन्मुख ससुराल के सुखका कितना भी वर्णन करो—वह समझ ही नही सकती! सो, मुनियों! अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त करके आगे की रोचक-कथा सुनाता हूँ।"

छप्पय

किन्तु न तिनके पुत्र हतो सब बन्ध्या रानी।
यातें नृप के चित्त माहिं नित रहे गलानी॥
सब सुख विषवत् लगें, भार सम शासन लागत।
निसि दिन चिन्ता रहे, भूपकूँ सोवत-जागत॥
दान, धर्म, व्रत, नियम, जप, करें पुत्र हित बहु नृपति।
किन्तु न सतति सुख लह्यो, तातें चिन्तित भये अति॥

महाराज चित्रकेतु के महल में अङ्गिरा-मुनि का आगमन

(४१६)

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः ।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद् यदृच्छया ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

एक दिना नृप भवन अङ्गिरा-मुनिवर आये ।
करि सेवा सत्कार कनक-आसन बैठाये ॥
पूछी मुनि कुशलात नृपति की नीति बताई ।
पुनि पूछे, नृप रह्यो कमलमुख कस मुरझाई ॥
चित्रकेतु बोले विभो ! कहूँ कहा प्रभु विज्ञ हैं ।
तप समाधि अरु योग तें, आप नाथ सर्वज्ञ हैं ॥

संसार में सभी वस्तु सुलभ है । किन्तु सन्त समागम, सत्संग ही एकमात्र दुर्लभ-वस्तु है । संसार में वे लोगधन्य हैं; जिन पर किसी साधु-संत की कृपा है । इस गृहस्थी रूपी अंधकूपमें निरंतर दुख ही दुख है । यह विपत्तियों का भण्डार और चिन्ताओं का

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन राजा चित्रकेतु के महल में एक दिन दैवयोग से सभी लोकों में विचरते हुए भगवान-अंगिरा-ऋषि आ पहुँचे ।"

घर है ! नित्य ही नई चिन्तायें लगी रहती हैं। आज यह वस्तु नहीं; आज इसका अभाव है, आज यह टूट गई तो; आज यह मलिन हो गई है, कल वहाँ जाना है, आज यह लाना है ! आज स्त्री बीमार तो कल बच्चे का ही स्वास्थ्य गड़बड़ है। आज स्वयं भूख नहीं लगती—ज्वर हो आया है; सिर में पीड़ा हो रही है। सारांश कोई क्षण ऐसा नहीं बीतता जिसमें कोई चिन्ता न लगी हुई हो। वही समय सार्थक है जिस समय घर में साधु संत आ जायें ! महात्माओं के सत्संग में जो क्षण बीत जायँ वे ही अमूल्य हैं, वे ही सार्थक हैं—सुखमय हैं। शेष तो दुख ही दुख है।

साधु संग, बड़े सौभाग्य से पूर्वजन्मों के महान पुण्यों से प्राप्त होता है। वे गृहस्थी परम भाग्यशाली हैं जिनके घर कभी-कभी सन्त कृपा करते हैं—जिनका आंगन, सन्तों की पदधूलि से पवित्र हो गया है—जिनके घरमें महात्माओंके पैरों का धुला हुआ जल पड़ गया है और जिन्हें साधु-सेवा करने का सुयोग प्राप्त हो गया है ! साधु सबके घर नहीं जाते, किसी-किसी भाग्यशालीके घर को ही वे पावन बनाते हैं। किसी सुकृतिको ही वे सेवा का सुअवसर प्रदान करते हैं।

शास्त्रकारों ने साधु-सेवाको भगवत्-सेवा से भी बढ़कर बताया है। भगवान की सेवा में तो केवल भगवान की ही अर्चना होती है; किन्तु भगवत्-भक्तकी सेवामें भक्त और भगवान—दोनों की—सेवा हो जाती है। सौभाग्य से हमारे घर में संतोंने पदार्पण किया, अपने ही उनके लिए भोग बनाया ! संत ऐसे तो हैं नहीं कि बनती गई और उड़ाते गये। वे पहिले भगवान का भोग लगाते है तब प्रसाद पाते हैं। रसोई बनी तो भगवान का भी भोग लगा और संतों ने भी प्रसाद पाया। इसीलिए भगवान के

भोग को महाप्रसाद कहते हैं और उस 'महाप्रसाद' को भक्त पाकर जो उच्छिष्ट छोड़ देते हैं; वह महा-महाप्रसाद कहलाता है! इसी प्रकार हमने संतों के निमित्त माला बनाई। संत बिना भगवान को चढ़ाये—बिना निर्माल्य बनाये तो धारण करते नहीं! पहिले माला भगवानको चढ़ी तब संतोंने धारण किया दोनों ही की सेवा हो गई। इसी प्रकार वस्त्र,चंदन, अनुलेपन सभी में समझनाचहिये। संत की सेवा से जितने भगवान सन्तुष्ट होते हैं, वैसे अपनी सेवा से सन्तुष्ट नहीं होते।

जिन भाग्यशालियों के घर संत निवास करते हैं, वे घर साधारण-घर नहीं रह जाते—वे तो तीर्थ-स्वरूप बन जाते हैं। संतों के जहाँ पैर पड़ गये, जहाँ उन्होंने भगवान की पूजा-अर्चा करली,जहाँ उन्होंने भगवानके सुमधुर-नामोंका कीर्तन और उनकी यश सम्बन्धी कथा कहदी, वह भूमि तो परमदिव्य बन जाती है। संत ही इस पृथिवी को पावन बनाये हुए हैं। देवता, ब्राह्मण, गऊ, संत और सती ये ही पृथिवी को धारण किये हुए हैं। इनके बिना संसार रह नहीं सकता! पहिले तो सन्त किसी भाग्यहीन-पापी के यहाँ जाते नहीं, यदि चले जावे तो उसका भाग्य बदल जायगा, वह पापात्मा से पुण्यात्मा बन जायगा। उसका बेड़ा पार लग जायगा, वह संसार-बन्धन से सदा के लिये निश्चय-ही छूट जायगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शूरसेनाधिप-महाराज-चित्रकेतु; संतति के बिना सदा उदास और चिंतित रहा करते थे, एक दिन दैवयोग से लोक-लोकों में घूमते-घामते भगवान-अंगिरा-मुनि वहाँ आ पहुँचे। मुनिवर-अंगिरा को आते देख कर महाराज चित्रकेतु सहसा अपने आसन के उठ खड़े हुए। अत्यंत ही श्रद्धा सहित मुनि का सत्कार किया,

पुरोहित को बुलाकर विधिवत् उनकी पूजा की ! पाद्य अर्घ्य आचमनीय और फल-फूल देकर मुनि को संतुष्ट किया। जब अतिथिका

समुचित समस्त शिष्टाचार और सत्कार हो चुका

प्रसन्न हुए ! खड़े हुए राजा को बैठ जाने की आज्ञा दी। मुनि की आज्ञा पाकर उनके समीप ही—नीचे आसन पर—हाथ जोड़े हुए राजा बैठ गये।"

राजा को विनय पूर्वक समीप बैठे देख कर मुनिवर-अङ्गिरा उनको कुशल पूछते हुए बोले—"राजन् ! कहिये आप के राज में सब सुखी तो हैं ? राजा स्वयं एक ब्रह्मांड होता है। जैसे ब्रह्माण्ड पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और अहंतत्व एवं महत्तत्व इन सात आवरणों से सदा घिरा रहता है। उसी प्रकार राजा के भी स्वामी, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र ये सात-आवरण बताये हैं। राजा इनके बिना रहता ही नहीं। इनसे वह निरंतर घिरा रहता है, ये राजा के आवश्यक-अंग हैं! बताइये; आप इन सातों के सहित सुखपूर्वक तो हैं ?"

हाथ जोड़कर राजा ने कहा—"भगवन् ! यह सब तो आप की कृपा ही है, ये सभी प्रकृतिरूपा-आवरण तो मेरे अनुकूल ही हैं।"

इस पर अङ्गिरा-मुनि ने कहा—"जब आप की ये सातों प्रकृतियाँ आप के अनुकूल हैं; तब तो आपको राज्य का पूर्ण-सुख होना चाहिए। आप को किसी प्रकार की चिन्ता न होनी चाहिए आप का मुख-कमल सदा खिला रहना चाहिए; किन्तु मैं देखता हूँ आप का मुख म्लान हो रहा है ! आप का अन्तःकरण संतुष्ट नहीं है, चित्त में प्रसन्नता नहीं, मुख की आकृति से कोई गहरी-वेदना स्पष्ट झलक रही है।"

"एक बात और भी है ! स्वयं तो प्रकृतिके अनुकूल चले किन्तु उसके आश्रय में रहने वाले किसी कारण उसके अनुकूल न हों, विरुद्धाचरण करें तो भी कार्य नहीं बनता। इससे भी राजा की शांति में विघ्न पड़ता है। मैं पूछना चाहता हूँ—तुम्हारी रानियाँ

तुम्हारे अनुकूल आचरण तो करती हैं न ? उनमें किसी कारण से दुराचार का प्रवेश तो नहीं हो गया है ? आपकी प्रजा के लोग आप से हृदय से सन्तुष्ट हैं न ? वे अराजकता तो नहीं फैलाते ? आपकी आज्ञाओं का उल्लंघन तो नहीं करते ? आपके आमात्य, राज्य का प्रबंध सुचारु-रीति से तो करते हैं—उनमें प्रजा से अनुचित-द्रव्य ठगने की लत तो नहीं पड़ गई है ? आपके सेवक, धर्म समझ कर श्रद्धा सहित तो सेवा करते हैं—वे केवल लोभ से, अनिच्छापूर्वक बे-मन से कार्य तो नहीं करते ? आपके राज्य के व्यापारी बहुत छल-कपट तो नहीं करते ? आवश्यकता से अधिक झूठ बोलकर वस्तुओं को तेज तो नहीं बेचते, समय समय पर वे आप को राज्य-कर तो देते रहते हैं ? आपके मंत्री अच्छी-सम्मति तो सदा देते रहते हैं न ? ऐसा तो नहीं है कि, वे आपके शत्रुओं से भीतर ही भीतर मिले हुए हों और आपको उलटी-पलटी बातें सुझाकर राज्यच्युत करना चाहते हों !? आपके पुरवासी आपके अनुकूल तो हैं, आप में उनकी श्रद्धा तो बनी हुई है ? नगर को छोड़कर और भी समस्त देशवासी आप में पूर्ण अनुराग तो रखते हैं ? आपकी सदा भलाई तो चाहते रहते हैं ? सभा में बैठनेवाले आपके सामन्त-गण आपके आधीन तो हैं, उनका भी आपके प्रति सहज-स्नेह तो बना रहता है ? आपके राजकुमार आपकी आज्ञाओं का पालन तो करते हैं और राज-काज में आपका हाथ तो बँटाते हैं ?"

राजकुमार शब्द सुनकर राजा की उदासीनता और भी बढ़ गई, वे दुखित चित्त से बोले—"प्रभो ! आपने जिन सबका नाम लिया है वे सब मेरे अनुकूल ही हैं। कोई भी विरुद्ध आचरण नहीं करता, सभी मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं।"

इस पर शीघ्रता के साथ मुनि बोले—"तब आप इतने चिन्तित और दुखी क्यों हैं ? राजा के दुख के कारण तो यही हो सकते हैं—किसी शत्रु ने चढ़ाई कर दी हो, कोई अपनी प्रजा का अंग विरुद्ध हो गया हो, राज्यमें अकाल पड गया हो, दुर्भिक्ष हो गया हो,ये सब बातें आपके राज्यमें हैं ही नहीं ! फिर भी आप सुखी नहीं हैं—चिन्ताग्रस्त हैं, अतः आप मुझे अपने दुख का कारण समझाइये, मुझे अपनी विपत्ति का बीज बताइये। प्रतीत होता है—आपको कोई मानसिक व्यथा है, क्योंकि मन के दुखी होने से ही दुखी और मन के सुखी होने से ही मनुष्य सुखी होता है ! जिसका मन अपने वश मे है, उसके वश मे सभी हो जाते हैं ! देवता, लोकपाल तक उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, सदा उसके अनुकूल आचरण करते रहते हैं। अपने स्नेहियों, हितैषियों और शुभचिन्तकों के सम्मुख दुख प्रकट करने से वह बँट जाता है—चित्त हलका हो जाता है, अतः तुम मेरे सम्मुख अपने दुख का कारण बताओ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे उत्तरानन्दन ! मुनि तो त्रिकालज्ञ थे, उनसे कौन सी बात अविदित थी, फिर भी बात चलाने के निमित मुनि ने राजा से इस प्रकार के प्रश्न किये।"

भगवान-अंगिरा-मुनि के पूछने पर हाथ जोडे हुए अत्यंत ही विनीत-भाव से लजाते हुए—अपने अंगों को अपने आप में ही छिपाते हुए—राजा उनसे बोले—"भगवन् ! आप मुझसे ये सब बातें इस प्रकार पूछ रहे हैं—मानो कुछ आप जानते ही नहीं ! जैसे साधारण लोग प्रश्न करते हैं उसी प्रकार आप मुझसे पूछ रहे हैं। प्रभो ! जिनकी पाप—वासनायें सर्वथा नष्ट हो गई हैं उन योगीश्वरों को प्राणियों के बाहर-भीतर रहने वाली ऐसी कौन सी वस्तु है—जिसे वे अपने तप ज्ञान और समाधि के प्रभाव

से न जानते हो ?? आप सर्वज्ञ हैं—भूत भविष्य तथा वर्तमान तीनो कालों की बातो को हाथ मे रखे आँवले की भाँति देखते हैं ! फिर भी आप मुझसे मेरी मानसिक-व्यथा का कारण पूछते हैं तो इसमे मुझे आपके त्रिकालज्ञ होने में सदेह नही होता, मैं समझता हूँ आप मेरे ही मुख से कहलवाना चाहते हैं। अतः आप के सशय को दूर करने के अभिप्राय से नही—आपकी आज्ञा समझकर ही मैं बताता हूँ। आपसे कुछ छिपा तो है नही, किन्तु आप मुझे प्रेरित कर रहे हैं—आज्ञा दे रहे हैं, उसका उल्लघन भी कैसे करूँ ?)

"मुनिवर ! मेरे यहाँ सभी प्रकार के सुख हैं। मुझे किसी के द्वारा कोई कष्ट नहीं। प्रजा, पुरोहित, आमात्य, मन्त्री सभी मेरे अनुकूल हैं। मेरी ऐसी कोई इच्छा नही जो तत्क्षण पूरा न होती हो ! किन्तु प्रभो, इतना सब होने पर भी मुझे सुख नही, शाति नही, ये सब सम्पत्तियाँ मुझे उसी प्रकार काटने दौडती है जैसे भूख-प्यास से व्याकुल पुरुषको अन्नजलके अतिरिक्तसभी विषय-भोग दुखद प्रतीत होते हैं।भूखेको अन्न न देकर उसे मालायें पहिनाओ, सुन्दर-शैय्या पर सुलाओ, पङ्खा करो, चन्दन लगाओ,तैल-मर्दन करो, सुगन्धित द्रव्य लगाओ यद्यपि ये सब सुख देनेवाली वस्तुएँ हैं किन्तु क्या इनसे उसे सुख होगा ? युवती पत्नी है, पति उसके भोजन वस्त्र का यथेष्ट प्रबध करता है, भोग की सभी सामग्री अत्यधिक मात्रा में देता है, सहस्रों-सेविकायें लगा रखी हैं, किन्तु पति उसके समीप जाता ही नहीं—उसे दर्शन तक नही देता तो क्या ये सब सुखोपभोग की वस्तुएँ उसे प्रसन्न कर सकेंगी ? इसी प्रकार भगवन् ! मेरे यहाँ सब सामग्रियाँ हैं,किन्तु पुत्र के बिना सभी फीकी हैं ! सतान के बिना ये अमृतोपम-विषय विष के समान मुझे प्रतीत होते हैं।"

इस पर मुनि ने पूछा—"तुम्हारे कितनी रानियाँ हैं ?"

राजा ने दुखित होकर कहा—"महाराज, रानियों की संख्या न पूछें ! असंख्यों हैं—किन्तु मेरा ऐसा भाग्य खोटा है, बड़ी खोज से एक के पश्चात् दूसरा; दूसरे के पश्चात् तीसरा ऐसे अनेकों विवाह किये, किन्तु सबकी सब बाँझ निकल गईं। किसी के भी पुत्र नहीं हुआ। यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है; यदि आप मुझे अपना सेवक समझकर सुखी बनाना चाहते हैं, तो मुझे अधिक नहीं कम से कम एक पुत्र तो देवें ही।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज-चित्रकेतु की यह बात सुनकर मुनि कुछ सोच में पड़ गये और इस राजा का कल्याण कैसे हो इसका विचार करने लगे।"

छप्पय

निष्कल्मष है सन्त-आचरण तम नहिँ तिनकूँ।
भूत भविष्यत वर्तमान दीखे सब उनकूँ॥
बड़भागी ते गृही सन्त जिनिके घर आवें।
करि पूजा, स्वीकार विष्णु परसादी पावें॥
होहिँ दुखित दुख दूरि सब, करें कृपा यदि ते कहीं।
घट-घट की जानत सकल अविदित तिनकूँ कछु नहीं॥

—:※:—

महाराज की मुनि से सन्तान याचना

(४२०)

लोकपालैरपि प्रार्थ्याः साम्राज्यैश्वर्यसम्पदः ।
न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्कामभिवापरे ॥
ततः पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः ।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद् विधेहि नः ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० २५,२६ श्लो०)

छप्पय

तोऊ आशा मानि दुख को हेतु बताऊँ ।
प्रजानाथ सम्राट जनेश्वर हौं कहलाऊँ ॥
सब सुख मेरे यहाँ किन्तु सुत एक न स्वामी ।
ताई तें अति दुखी रहूँ मुनि अन्तर्यामी ॥
प्रभु सर्वज्ञ समर्थ हो, कृपा कृपानिधि करो तुम ।
देउ एक सुत मनोहर, बने लोक परलोक मम ॥

गृहस्थियों के वहाँ स्वार्थी ही लोग जाते हैं, क्योंकि वे सदा स्वार्थ में ही संलग्न रहते हैं। जैसी प्रकृति का मनुष्य होगा,

---

❀महाराज चित्रकेतु अङ्गिरामुनि से कह रहे हैं—"मुनिवर ! मेरी साम्राज्य ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति इतनी है कि लोकपाल भी करते हैं, किन्तु वह भी मुझ पुत्रहीन को इसी प्रकार प्रसन्न सकती जिस प्रकार भूख-प्यास से व्याकुल व्यक्ति को

उसका वैसे ही लोगों से सम्बन्ध और संसर्ग रहेगा। किसी भाग्यशाली, पुण्यात्मा, सुकृति-पुरुष के यहाँ यथार्थ में संत कृपा करते हैं। उसकी सेवा को स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया करते हैं। संतो के दर्शनो से पातक दूर होते हैं। संतों का दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता, वह अमोघ होता है। संतों से संसार में आज तक किसी का भी अनिष्ट नही हुआ है। वे अकारण—अपकार करने वालों पर भी—कृपा करते हैं; द्वेष करने वालों से भी प्रेम करते हैं, निंदा करने वालों का भी आदर करते हैं। वे जैसा अधिकारी देखते हैं वैसा ही उपदेश देते हैं। अति-अधिकारी के दुख को दूर करके उसे परमार्थ की ओर लगाते हैं। अर्थार्थी को अर्थ देकर उससे अंतर्वैराग कराते हैं। मुमुक्षु को मोक्ष का मार्ग बताकर उसे ज्ञान के सुखद-सोपानों से ऊपर चढ़ाते हैं। ज्ञानी को,भगवद्-भक्ति का—प्रभु-प्रेम का—पाठ पढ़ाते हैं और भक्तों को हरिकथा सुनाकर सुख देते हैं। उनसे कभी किसी का न तो अहित हुआ और न कभी किसीका अनिष्ट होगा ही! संतों का रोम-रोम परोपकार के लिये होता है, उनकी स्वांस—स्वांस से कृष्णनाम का उच्चारण होता है। वे परकार्यों को साधने के कारण ही संत कहाते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब राजा-चित्रकेतु ने मुनि से पुत्र देने की प्रार्थना की तो मुनि ने कहा—राजन्, सब वस्तुएँ भाग्य से प्राप्त होती हैं। मालूम होता है। आप के

आदि भोग सुखी नहीं कर सकते। हे महाभाग! पुत्र के बिना मैं अपने पूर्वज-पितरों के सहित नरक में जा रहा हूँ, आप मेरी नरकसे रक्षा करें। आप कोई ऐसा उपाय करें कि, परलोक में 'पुं'नामक नरक को पुत्र पाकर पार कर जाऊं।"

भाग्य में पुत्र-सुख बदा नही है, तभी तो इतनी रानियो के होते हुए भी किसी एक के भीसंतान नही हुई। इसलिये आप भगवान का भजन करें, इस पुत्र-पौत्र की मोह—ममता को छोड़ दें !"

राजा का मन तो पुत्र मे लगा हुआ था, उस समय उसके मन में तो पुत्र की ही कामना थी,अतः वह हाथ जोडकर मुनि से बोले—"प्रभो ! इस समय मुझे कुछ भी अच्छा नही लगता। बिना पुत्र उत्पन्न हुए मुझे कभी भी शांति न होगी, न मेरा भगवान मे चित्त ही लगेगा। मुझे तो जैसे भी हो पुत्र दीजिए ! रही भाग्य की बात, सो संत तो विधि के रेख पर भी मेख मार सकते हैं—भाग्य को भी उलट सकते हैं ! प्रारब्ध को भी अन्यथा करते हैं, संतो में बडी सामर्थ्य होती है। मैंने इस सम्बन्ध मे संतों के ही मुख से एक कहानी सुनी है; आज्ञा हो तो उसे सुनाऊँ ?"

यह सुनकर अङ्गिरामुनि बोले—"राजन् ! सन्तों की महिमा वाले इतिहास को आप अवश्य सुनावें। क्योंकि संसार में दो ही तो सुनने के लिये अत्यंत सुघड हैं,या तो हरिदासोंके चरित्र या श्रीहरि के चरित्र ! हाँ-तो, किस संत ने भाग्य को अन्यथा कर दिया, किसने विधि के लेख पर मेख मार दी—सुनाइये।"

मुनि की आज्ञा पाकर राजा चित्रकेतु कहने लगे—"प्रभो ! मैंने कथा कहने वालों के मुख से यह कथा सुनी थी, बात प्राचीन है। एक बडे ही धनिक—श्रेष्ठी थे, उनके यहाँ अटूट धन-सम्पत्ति थी। सर्वत्र उसका व्यापार चलता था। घर मे सभी प्रकार की सुख सामग्रियाँ थी, किन्तु उनके कोई पुत्र नहीं था। श्रेष्ठी की पत्नी बड़ी धर्मपरायणा थी, पति को वह प्राणों से भी अधिक प्यार करती, उसकी इच्छानुसार बर्ताव करती। श्रेष्ठी; साधु सेवी था, जो भी साधु-सन्त आते उनका सत्कार करता,

उनकी पूजा करता। श्रेष्ठी-दम्पति सन्तान के बिना सदा मेरी ही भाँति चिन्तित रहते थे। एक बार दैवयोग से घूमते फिरते नारद जी उनके घर पधारे। देवर्षि-नारद को देखकर दोनों—पति पत्नी परम प्रसन्न हुए और उनका यथोचित आदर-सत्कार किया, विधिवत षोडशोपचार पूजा की। श्रेष्ठी की पूजा को स्वीकार करके नारद जी ने उनकी कुशल पूछी।"

अपनी कुशल बता कर श्रेष्ठी ने पूछा—"प्रभो! आप कहाँ से आ रहे हैं और अब कहाँ जाने वाले हैं?"

नारदने कहा—'भाई, जनलोक में ऋषियों का एक सत्र था उसी में सम्मिलित होने मैं गया था। अब मैं भगवान-विष्णु के दर्शन करने विष्णुलोक जा रहा हूँ।"

श्रेष्ठी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! आप तो भगवान के पार्षद हैं, परोपकार ही आप का व्रत है। नित्य भगवान के यहाँ आते जाते रहते हैं। मेरा एक काम कर लावेंगे क्या?"

नारदजी ने कहा—'बताओ, मैं तुम्हारा कौन सा कार्य कर लाऊँ। मेरे योग्य जो कार्य हो उसे करने के लिये सदा प्रस्तुत हूँ।"

श्रेष्ठी ने कहा—"भगवन्! आपके लिए क्या योग्य क्या अयोग्य। आप तो सर्व समर्थ हैं, जो चाहें कर सकते हैं। मुझे एक बड़ी चिन्ता रहती है। मेरे यहाँ इतनी अतुल-सम्पत्ति है, किन्तु आगे इसका उपभोग करने वाला तथा पितरों को पानी देने वाला कोई मेरे पुत्र नहीं है। यह सब वस्तुएँ भाग्य से प्राप्त होती हैं। मैं केवल यह जानना चाहता हूँ कि मेरे भाग्य में पुत्र है या नहीं। यदि नहीं, तो मैं निश्चिंत होकर साधुसेवा ही करूँ।

होवे तब तो आप यह पूछ आवे कब होगे ? इस प्रकार दुविधा में चित्त सदा व्याकुल रहता है !"

नारदजी ने कहा—'बहुत अच्छी बात है,मै आज ही जाकर भगवान से पूछूँगा और आज ही तुम्हे इसका उत्तर भी दे जाऊँगा।"

इतना कहा और नारदजी अपनी वीणा उठा विष्णुलोक की ओर चल दिये। विष्णुलोक मे पहुँचकर उन्होंने भगवान की स्तुति की, गाना गाया और सुमधुर-कीर्तन सुनाया। नारदजी की स्तुति सुनकर भगवान बडे प्रसन्न हुए और पूछा—"नारदजी इस समय आप कहाँ से आ रहे हैं ?"

भगवान की बात सुनकर उत्सुकता के स्वर मे नारदजी बोले—"भगवन् ! मैं इस समय मर्त्यलोक से आ रहा हूँ, आप से एक विशेष-बात पूछनी थी। वह जो श्रेष्ठी है—बडा साधुसेवी है। आपका भक्त है ! उसको कोई सन्तान नहीं है। वह सदा इसके लिये चिन्तित रहता है; सो उसके सतान होगी या नहीं ? यदि होगी तो कब होगी ?"

यह सुनकर भगवान हँसे और बोले—"नारदजी ! आपको सदा दूसरों की चिन्ता लगी रहती है। महाभाग ! उसके भाग्य में इस जन्म की तो कौन कहे—सात जन्मों तक सन्तान नहीं है। भाग्य को अन्यथा करने मे तो मै भी समर्थ नहीं।"

यह सुनकर नारदजी, भगवान को प्रणाम करके वीणा बजाते हुए पुनः क्षण भर में ही मर्त्यलोक मे आ गये और उस श्रेष्ठी से आकर कहने लगे—"भक्तजी ! अत्यत दुख की बात है, कि आपके कोई सन्तान नही हो सकती। इसी जन्म मे नही सात-जन्मों तक तुम्हारे सन्तान का योग नहीं।"

श्रेष्ठी ने कहा—"चलो, भगवन्! अच्छा हुआ जो यह बात मालूम पड़ गई। अब दुविधा तो नहीं रही। अब इस धन का मैं सदुपयोग करूँगा! साधु-संतों की सेवा और परोपकार में इसे लगाऊँगा।"

इतना कहकर नारदजी तो चले गये, अब श्रेष्ठी ने अपने उपार्जित धनका सदुपयोग करना आरंभ किया। उसने विद्यार्थियों के लिये बहुत से विद्यालय खुलवा दिये, अनाथ-बालकों के भोजन वस्त्रों का प्रबन्ध कर दिया। दीन-दुखियों के लिये अन्नक्षेत्र खोल दिये, गरीबों के लिये निःशुल्क दातव्य-औषधालय बनवा दिये, आतुरों के लिये उपचारगृह और सुश्रूषा-भवन बनवा दिये। सारांश कि—उसने अपना सारा द्रव्य परोपकार में लगा दिया! उसके यहाँ जो भी साधु-संत-महात्मा आते, उनका ईश्वर-बुद्धि से पूजन करता और सब प्रकार से सेवा करता।

एक दिन घूमते-फिरते कोई बड़े भारी विरक्त-अवधूत आ गये जो भगवान के अनन्य-भक्त थे। अहर्निश कृष्णकीर्तन करते रहते थे। एक कौपीनमात्र ही उनका संग्रह था। भक्त-दम्पति ने उनकी अत्यधिक सेवा-सुश्रूषा की। उन दोनों पति-पत्नी की सेवा से सन्तुष्ट हुए संत ने उनसे पूछा—"तुम्हारे घर में कोई सन्तान नहीं दीखती।"

दुख के साथ स्त्री ने कहा—"भगवन्! हमारे ऐसे भाग्य कहाँ? पूर्वजन्म में कुछ किया होता तो पुत्र का मुख देखने को मिलता!"

महात्मा के हृदय में दया आ गई और सहसा बोल उठे—"अच्छी बात है; जाओ तुम्हारे एक बच्चा हो जायगा।"

स्त्री ने चौंक कर कहा—"अजी महाराज! हमारे एक बच्चा हो जायगा, यह आप कैसी बात कह रहे हैं!!"

सत ने कहा—"क्या तुम एक से 'सन्तुष्ट नहीं,अच्छी बात है दो हो जायँगे।"

स्त्री ने शीघ्रता से कहा—'नहीं, भगवन्! मेरा अभिप्राय नहीं। एक हों दो हों, किन्तु क्या ऐसा सम्भव है, कि हमार सन्तान हो जाय ?"

महात्मा बोले—कहता तो हूँ हो जायँगे हो जायँगे हो जायँगे। दो नहीं तीन होंगे।

अब तो श्रेष्ठ चुप न रह सके बोले—"भगवन्! देवर्षि नारद पधारे थे, उनसे मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे भाग्य मे सन्तान है ही नहीं। क्योंकि

बीच मे ही बात काटकर सत बोले—'नारद की ऐसी तैसी। अब कहते हैं तुम्हारे चार पुत्र होंगे।"

श्रेष्ठि बडा आश्चर्य मे पडा। उसने कहा—"भगवन्! आप मेरी बात तो सुने। नारदजी भगवान् क यहाँ जा रहे थे, मैन उनसे पुछवाया, मेरे भाग्य में सन्तान है कि नहीं। इस पर भगवान ने कहा कि सात जन्मो तक इसके सन्तान नहीं है।"

इस पर सत बोले—"हम कहते है —"तुम्हारे सात लडक होंगे।"

अब क्या कहते सेठ जी चुप हो गये। महात्मा इच्छानुसार अन्यत्र चले गये। कुछ काल के पश्चात् सेठ की पत्नी को गर्भ रहा और वर्ष भर के पश्चात् उसने एक पुत्ररत्न का प्रसव किया। इसी प्रकार सात वर्ष में सात लडके हो गये। उस भक्त दम्पति की प्रसन्नता का ठिकाना नही रहा। बच्चे बडे ही सुदर सुकुमार शील और सर्वगुण सम्पन्न थे। वे अपनी बाललीलाओं से माता पिता को सदा प्रसन्न करते रहते थे।

कुछ काल के पश्चात् घूमते फिरते एक दिन श्रीनारदजी फिर उसी गृहस्थ के घर आ पहुँचे। नारदजी को देखकर दोनों पति पत्नी ने उनका अत्यधिक आदर किया। सभी बच्चों ने आकर मुनि की चरण वन्दना की। माता पिता ने सभी को मुनि के चरणों मे लिटा दिया।

बच्चों को देखकर नारदजी ने आश्चर्य के साथ पूछा—" भक्तवर ! ये किनके पुत्र हैं ? ये आप के घर मे क्यों रहते हैं।

हाथ जोड़े हुए उन श्रेष्ठी ने कहा—"भगवन् ! ये सब आप के ही सेवक हैं ?"

चौंक कर नारदजी ने पूछा—" हैं.क्या कहा ? ये सब तुम्हारे पुत्र हैं ? क्या ये सब के सब सेठानी जी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं ?"

सेठजी ने कहा—"हाँ, भगवन् ! आप सब संतो की दया है। ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि ये सब संत सेवी बनें।"

नारदजी के तो आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान् के ऊपर खीज गये। सोचने लगे—"भगवान् ने मुझे झूठा बना दिया। यह गृहस्थी क्या सोचता होगा, कि यह नारद तो झूठे ही गप मारता है, मैं भगवान् के यहाँ जाता हूँ।" यह सोचकर नारदजी को तो बड़ा क्रोध आया। शीघ्रता मे उन्होंने अपनी वीणा उठाई और खड़ाउओं को चटकाते चोटी को हिलाते राम-कृष्ण का गुन गाते भगवान् की सभा मे पहुँच ही तो गये।"

भगवान् नारदजी की व्यग्रता को देखकर हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"आइये नारदजी ! कहिये कहाँ कहाँ से आये ? कैसे आज अनमन से बने हुए हो ?"

रोष के स्वर में नारदजी ने कहा—"अजी महाराज ! रहने भी दो। आप तो मुझे सदा सबके सामने हास्यास्पद बनाते रहते हैं। आपको मेरी मान प्रतिष्ठा अपकीर्ति का कुछ भी ध्यान नहीं है।"

अनजान की भाँति भगवान् ने पूछा—"क्यों, क्यों नारदजी ! क्या हुआ ? क्या हुआ ? कैसे आपका अपमान हुआ ?"

नारदजी ने रोष में कहा—"महाराज ! आपने कहते थे उस सेठ के भाग्य में सात जन्मों तक संतान नहीं है। मैं तो उसके एक नहीं दो नहीं तीन नहीं पूरे ७।७ बच्चे अभी इसी जन्म में प्रत्यक्ष खेलते हुए देखकर आया हूँ। वह सोचता होगा, यह नारद बड़ा झूठा है, जो भगवान् की बात कहकर असत्य बातें लोगों से कहता फिरता है।"

इस पर भगवान् ने कहा—' नारदजी ! इस समय तो मेरा स्वास्थ ठीक नहीं है। कल मैं आपको इसका उत्तर दूँगा।"

दूसरे दिन नारदजी गये,तो लक्ष्मीजी ने उदास होकर कहा—"आज तो भगवान् को न जाने कैसी पीड़ा हो गई है।"

नारदजी तो यह सुनकर घबड़ा गये भगवान् के समीप गये और बोले—"प्रभो ! आप तो सुख दुख से रहित हैं आपको यह असह्य वेदना कैसे हो गई।"

भगवान् ने अन्यमनस्क भाव से कहा—' नारद ! क्या बताऊँ, यद्यपि मुझे स्वयं कोई कष्ट नहीं होता किन्तु भक्तों का कष्ट तो मुझे अपने ऊपर लेना ही पड़ता है। एक भक्त का ही कष्ट है, जब एक कोई भक्त ही इसका निवारण न करे, तब तक मुझे शांति नहीं, चैन नहीं, सुख नहीं।"

नारदजी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"भगवन् ! आप बताइये। संसार में तो आपके बहुत से भक्त हैं। कोई भक्त भी न

है कोई रोते हैं, कोई गाते हैं, कोई दिन भर घण्टी ही हिलाते रहते हैं। आपके लिये तो सभी भक्त सभी कुछ करने को तत्पर होंगे।"

भगवान ने कहा—"अच्छा, कोई अत्यत भक्त जीवित अपने हाथों से अपना हृदय निकाल कर दे दे तो मेरा दुख दूर हो सकता है।"

नारदजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"भगवन् यह कौन सी बडी बात है। मैं तो १४भुवनों में घूमता रहता हूँ। बहुत से भक्तों से मेरा परिचय है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी, बात है नारदजी! आप जाँय और किसी भक्त का हृदय निकलवा कर लावे, किन्तु किसी गृहस्थी भक्त के पास मत जाना। वे बिचारे तो अपने हृदय को स्त्री बच्चों को दे ही चुके हैं। ऐसे विरक्त भक्तों के ही पास जाना जो मेरे निमित्त ही लगोंटी लगाकर बाबाजी बन गये हैं। मेरा नाम लेकर ही भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करते हैं।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! यह तो और भी सरल हो गया। गृहस्थियों मे भी बडे ऊँचे ऊँचे भक्त हैं, किन्तु संभव है, कोई स्त्री बच्चे के कारण हृदय देने मे हिचकता। इन बाबाजियों के लिये क्या न आगे नाथ न पीछे पगहा। भगवान् के काम मे उनका हृदय लग जाय, तो इससे उत्तम कौन सी बात है! मैं अभी जाता हूँ।

भगवान् ने कष्ट से निःश्वास छोडते हुए कहा "नारदजी! हाँ जाइये। यदि ऐसे किसी भक्त का हृदय मिल जाय, तो मुझे शान्ति होगी नहीं तो इसी प्रकार तडपता रहूँगा।"

नारदजी इतना सुनते ही अपनी वीणा को उठा कर चल दिये। वे साधुओं के पास जायँ और कहे—"भाई भगवान् को

बडा कष्ट है तुम जीते जी अपना हृदय निकाल कर दे दो भगवान् को शांति होगी।" इस बात को सुनकर कोई हँस जाते, कोई नारदजी को पागल बताते। कोई कहते नारद तो ऐसे ही ऊट पटाँग बकते रहते हैं। कोई कहते भगवान् को क्या कष्ट? कोई कहते—'अजी, भडारे खा खाकर जो यह देह इतनी पाली पोसी है, सो क्या अपने हाथ से चीरने के लिये। कटने मरने को तो गृहस्थी ही बहुत हैं। अपने राम तो राम राम रटते हैं, भर पेट प्रसाद पाते हैं। हृदय फ़ृदय कोई दूसरा दे।

भगवत भजन पेट का धधो। और करे सो पूरो अधो।

कोई कहते—"राम राम रटना। पराया माल अपना" कोई कहते—'राम राम लड्डू गोपाल नाम घीउ, हरि को नाम मिश्रा तू घोर घोर पिउ।

नारदजी बडे घबडाये, कि इन बाबाजियों से तो गृहस्थी ही अच्छे हैं। इधर से उधर बहुत घूमे किन्तु अपने आप हृदय निकाल कर देने वाला कोई नहीं मिला। नारदजी उदास होकर भगवान् के पास गये और दुखित मन से कहने लगे—'प्रभो! आपकी माया बडी प्रबल है। महाराज! कोई तैयार नहीं होता।"

भगवान् यह सुनकर बडे सोच मे पड गये। कुछ काल सोचकर बोले—"नारदजी! एक काम और करो। देखो, विन्ध्याचल के उस अरण्य में गगा किनारे वट वृक्ष के नीचे एक विरक्त बाबाजी पडे हैं, उनके पास और जाओ। सभव है उनके समीप जाने से कार्य हो जाय।"

नारदजी तो इसके लिये उत्सुक ही थे, गये महात्माजी के पास। देखा, एक अवधूत पत्थर की शिला का तकिया बनाये आनंद पूर्वक लेट रहे हैं। उनके दोनो अधर पुट निरतर हिल

रहे हैं। प्रतीत होता है। वे निरन्तर नामस्मरण ही करते रहते हैं। एक लंगोटी लगी हुई है, न कोई कंथा है न कमंडलु। मस्त साँड़ की भाँति निश्चिन्त पड़े है। नारदजी ने वहाँ जाते ही अपनी वीणा पर जयजय रामकृष्ण हरिका अलाप किया। अपने सम्मुख ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारदजी को देखकर वे अवधूत उठकर खड़े हो गये और प्रणाम करके बोले—"आइये नारदजी! आप तो भक्ताग्रगण्य है। बड़े भाग्य से आपके दर्शन होते हैं। भगवान् के दर्शनों से भक्तों के दर्शन दुर्लभ माने जाते है।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! विष्णु भगवान् को कुछ व्यथा है वह तभी शान्त होगी जब कोई जीवित भक्त अपना हृदय निकाल कर स्वतः दे दे।"

इतना सुनते ही उन परमहंसजी ने पूछा—"नारदजी! आप छुरा लिये हैं?" नारदजी तो छुरा लिये घूम ही रहे थे बोले—"महाराज! मैं तो छुरा लिये सर्वत्र घूमा कोई विश्वास ही नहीं करता। सब कहते हैं—"भगवान् को क्या कष्ट हो सकता है। भगवान् तो स्वयं सबके कष्टों को हरने वाले हैं। इसी लिये कोई तैयार नहीं होता।"

यह सुनकर वे अवधूत बोले—"नारदजी! भगवान् को कष्ट होता है या नहीं इस विवाद मे मैं पड़ना नहीं चाहता। उन्हें कष्ट चाहे हो चाहे न हो, किन्तु जब आप इतने बड़े भगवद्भक्त कह रहे हैं, तब तो इसमे अविश्वास वाली कोई बात ही नहीं। यदि इस क्षणभंगुर देह मे भगवान् की रंचक मात्र भी प्रसन्नता हो जाय, तो इसे हम अपना बड़ा सौभाग्य समझते हैं। आप जैसे भगवद्भक्तों के कहने से उनके सम्मुख भगवान के निमित्त ये प्राण चले जाँय, यह हाड़ मांस का बना हृदय प्रभु

के काम आजाय, इससे बढकर इस अनित्य नाशवान् रोगों के घर, अशुचि शरीर का और क्या उपयोग हो सकता है। छुरा मुझे दीजिये, तत्क्षण आप हृदय लेकर जॉय। मेरे तो मन, प्राण, शरीर सब कुछ प्रभु के ही निमित्त हैं।"

राजा चित्रकेतु अङ्गिरा मुनि से कहते हैं—"भगवन्! इतना कहकर ज्यों ही उन अवधूत ने तीक्ष्ण छुरे से अपने हृदय को विदीर्ण करना चाहा, त्यों ही शङ्ख चक्रधारी वनमाली वहाँ तुरत प्रकट हो गये और उन अवधूत का हाथ पकडते हुए बोले—"ब्रह्मन्! आप तो मुझे अपना हृदय दे ही चुके हैं। मैंने उस अपनी वस्तु को इस देह रूपी मन्दिर मे रख छोडा है। आप इस मन्दिर को तोडे नहीं। मुझे जब इच्छा होगी निकाल ले जाऊँगा।"

भगवान को सम्मुख देखकर अवधूत चकित हो गये। वे आत्मविस्मृत बने प्रभु के पुनीत पादपद्मों में पड गये। उन्होंने अपने नयन सरोरुहों के शीतल जल से प्रभु के पादपद्मो का प्रक्षालन किया! नारदजी ने भी भगवान् का सम्मुख देखकर प्रणाम किया। तब भगवान नारदजी को सुनाते हुए बोले—"नारद! अब तुम्हीं सोचो, जो अपना कठिनता से छोडने योग्य घर द्वार, कुटुम्ब परिवार, स्त्री बच्चों, धन वैभव आदि सभी को छोडकर एक मात्र मेरी शरण मे आ गये है। उनकी आज्ञा का मैं उल्लघन कैसे कर सकता हूँ। ऐसे भक्त जो भी कुछ कह दे उसे अन्यथा करने की मुझमे सामर्थ्य नहीं। ऐसे अनन्य भक्तो के लिये प्रारब्ध का मेटना, विधि विधान को अन्यथा कर देना कोई कठिन काम नहीं। जब सब के भाग्य का विधाता, मैं स्वय ही उनके अधीन हूँ, तो उनके सम्मुख प्रारब्ध, दैव, भाग्य का क्या महत्त्व है। यह सत्य है उस श्रेष्ठी के भाग्य मे सात जन्मों

तक पुत्र नहीं था, किन्तु इन महात्मा के मुख से निकल गया, तो भाग्य न होने पर भी भाग्य बन गया। प्रारब्ध में न होने पर भी उसे पुत्रों की प्राप्ति हो गई। मैं अपने अनन्य भक्तों की बातों को कभी झूठी नहीं होने देता।"

इस पर नारदजी ने कहा—"तो, भगवन्! मैं भी तो आपका भक्त हूँ, मेरी बात आपने झूठी क्यों कर दी।"

हँसकर भगवान बोले—"आप भक्त हैं इसमें तो कुछ संदेह ही नहीं। किन्तु नारदजी बुरा न मानें तो एक बात कहूँ?"

नारदजी ने कहा—"नहीं, महाराज! बुरा मानने की कौन सी बात है, आप तो जो भी कहेंगे मेरे कल्याण के लिये कहेंगे। आपके वचन तो मेरे लिये तो शिक्षाप्रद ही होंगे।"

इस पर हँसते हुए भगवान् बोले—"नारदजी! तुमने भी तो लंगोटी लगाई है। तुम भी तो विरक्तों के शिरोमणि कहाते हो। जब मुझे विरक्त भक्त के हृदय की ही आवश्यकता थी, तो आप अपनी बगल में छूरा दबाए इधर से उधर एक लोक में दूसरे लोक में मारे मारे क्यों फिरे। तुरन्त वहीं कह देते, कि महाराज! मैं स्वयं उपस्थित हूँ मैं अपना हृदय निकाल कर दिये देता हूँ। यह सब तो आपने किया नहीं। इधर से उधर मेरे दुख में दुखी हुए घूमते रहे। भगवान् की इच्छा में इच्छा मिला कर उसके लिये उद्योग करना—प्रयत्न में लगे रहना—यह भी साधारण काम नहीं है। बड़ी ऊँची भक्ति है किन्तु जिन्हें ने अपना कुछ रखा ही नहीं जो अनन्य हो गये हैं, वे मुझसे भी बढ़कर हैं, उनके लिये भाग्य का मेट देना कोई कठिन काम नहीं।"

राजा चित्रकेतु महामुनि अंगिराजी से कह रहे हैं—"सो,हे

प्रभो ! आप उन्हीं अनन्य-भक्तों में से हैं। आपके लिये प्रारब्ध का मेट देना कोई कठिन नहीं है। मैं दुखी हूँ, आर्त हूँ, संतान के बिना मुझे सुख नहीं है, शान्ति नहीं है। यदि मेरे भाग्य में पुत्र नहीं है; तो आप अपने प्रभाव से मेरे भाग्य को मेंट दीजिये और जैसे बने तैसे मुझे पुत्र दीजिये। मैं आपकी शरण हूँ—आप मेरे स्वामी हैं. सेवक के आग्रह को स्वामी सदा पूरा किया ही करते हैं।"

राजा की ऐसी बात सुनकर सरलता के साथ महामुनि अंगिरा बोले—"राजन ! मैं वैसा भगवद्भक्त कहाँ हूँ। नारदजी के आगे मेरी भगवद्भक्ति नगण्य है। फिर भी मैं आपकी इच्छा की पूर्ति करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! यह कहकर भगवान-अंगिरा ऋषि राजा को पुत्र प्राप्ति कैसे हो, इस विषय को सोचने लगे।"

छप्पय

करि न सकैं का सत विष्णुहित जे व्रत धारैं।
भाग्य अन्यथा करैं रेख पै मेखहु मारैं॥
हरि जिनके आधीन भाग्य तिनको है चेरो।
सन्त दरस जन भये, भयो तब सब हित मेरो॥
सात-जनम सतति नहीं, नारद ते बच हरि कहे।
सत-कृपा तें सात सुत, भक्त सेठ तोऊ लहे॥

———

अङ्गिरा मुनि की कृपा से चित्रकेतु को पुत्र प्राप्ति

(४२१)

इत्यर्थितः सभगवान् कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः ।
श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद्विभुः ॥
अथाह नृपतिं राजन्भवितैकस्तवात्मजः ।
हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० २७, २९ श्लो०)

छप्पय

चित्रकेतु सुनि विनय दया मुनिवर कूँ आई ।
त्वष्टा के हित खीर ब्रह्म-सुत सविधि बनाई ॥
यजन कर्यो जो बची बड़ी-महिषी कूँ दीन्हीं ।
जाते होवे पुत्र अङ्गिरा आयसु कीन्हीं ॥
रानी कृतद्युति मुदित अति, राजा हू हर्षित भयो ।
खाइ खीर मुनि कृपातें, गर्भ नृपति पत्नी रह्यो ॥

जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है उनका दर्शन अमोघ होता है । जिन्हें ऐसे सतों के दर्शन हो जायँ, उनका

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज-चित्रकेतु की प्रार्थना पर परम-कृपालु ब्रह्मपुत्र भगवान अङ्गिरा मुनि ने त्वष्टा-सम्बन्धी खीर बनाकर उससे त्वष्टा देवता का हवन किया ! (यज्ञोच्छिष्ट-

भव बन्धन ढीला पड़ जाता है। यदि कहीं उनकी कृपा हो जाय, तब तो बेड़ा पार ही है। सन्त की कृपा से कुछ कष्ट सा भी प्रतीत हो, तो उसका परिणाम सुखकर ही होगा। क्योंकि सन्त तो अत्यन्त थोड़े ही समय में प्रारब्ध के भोग को पूरा करा देते हैं। सामान्य नियम को विशेष कृपा से नष्ट कर देते हैं। या बहुत कुछ कम कर देते हैं। तप और मन्त्रों के प्रभाव से वे नूतन अदृष्ट उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! जब राजा चित्रकेतु बार बार भगवान् अङ्गिरा मुनि से पुत्रक लिये विनय करने लगे।" तो कृपालु मुनि को उनके ऊपर दया आ गई और बोले—'राजन् मैं आपको एक पुत्र के निमित्त यज्ञ कराऊँगा। उससे आपके अवश्य एक पुत्र होगा।"

इतना सुनते ही राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उनकी मुरझाई हुई आशा लता मुनि के अमृत रूप वचनों के पड़ते ही पुनः हरी भरी हो गई। प्रेम में विह्वल होकर उन्होंने मुनि को कसकर पैर पकड़ लिये और गद्गद् कण्ठ से कहने लगे—'हे प्रभो! आप ही मेरी डूबती हुई नौका के पार करने वाले सर्व समर्थ नाविक हैं। आप ही मेरी इच्छा को पूर्ण करने वाले कल्पतरु हैं। आपकी कृपा के सहारे ही मैं अपने मनोरथ रूप दुस्तर सागर को सरलता के साथ तर जाऊँगा। बताइये मैं क्या करूँ। आज्ञा दीजिये कौन कौन सी सामग्री एकत्रित करूँ।"

खीर का रानी को देकर उन्होंने कहा—"राजन्! इस खीर से आपके एक पुत्र होगा, जो तुम्हें पहिले हर्ष भी होगा और पीछे शोक भी।" इतना कहकर अङ्गिरा मुनि वहाँ से चले गये।

राजा के ऐसे हर्ष युक्त विनीत वचन सुनकर मुनिवर अङ्गिरा ने यज्ञ की समस्त सामग्री बताई। राजा ने बड़े उत्साह के साथ समस्त सामग्री को शुद्धता और सावधानी के साथ संग्रह किया। भगवान् अङ्गिरा ने शास्त्रीय विधि से यज्ञ आरंभ किया। उस पुत्र के निमित्त की हुई इष्टि मे त्वष्टा देवता की प्रधानता थी, इसीलिये मुनि ने सभी देवताओं को आहुतियाँ देने के अनन्तर त्वाष्ट्र चरु तैयार किया। उसे शास्त्रीय विधि से मंत्रो के द्वारा विधिवत् त्वष्टा देवता के निमित्त अग्नि मे हवन किया। हवन करने के अनंतर जो यज्ञ शेष चरु अवशिष्ट रहा, उसे लेकर मुनि बोले—"राजन्! आपके एक ही पुत्र होगा। बोलिये, किस रानी से आप पुत्र चाहते हैं?"

एक दो रानी होतीं तो राजा बताते भी। लाखों रानियाँ थीं, सभी के मन मे यह इच्छा हो रही थी, कि महाराज हमारे द्वारा ही संतान उत्पन्न करावे। सभी बड़ी उत्सुकता से महाराज के निर्णय की धड़कते हुए हृदय से प्रतीक्षा कर रही थीं। इतने मे ही पुरोहित ने कहा—"भगवन्! पत्नीत्व उसी को कहा गया है, जो सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठा रानी हो, जिसके साथ यज्ञ की प्रधान दीक्षा ली जाती है। महाराज की बगल मे जो सबसे बड़ी पट्ट महिषी महारानी कृतद्युति विराजमान हैं। इनके ही द्वारा संतानोत्पत्ति होनी चाहिये। न्यायः ये ही इसकी अधिकारिणी हैं। पुरोहित की ऐसी बात सुनकर शेष सभी रानियाँ हताश हो गईं। उनकी आशालता पर पानी फिर गया। न्यायतः महारानी कृतद्युति ही पट्ट महिषी थीं, उन्हे ही यज्ञ अवशिष्ट चरु दिया गया। शास्त्रीय विधि से राजा ने उस चरु को सूँघकर रानी को दिया। पुरोहित और ब्राह्मणो की आज्ञा से रानी ने उस यज्ञ अवशिष्ट खीर को खाया। यज्ञकी पूर्णाहुति हुई अवभृत

स्नान हुआ। महामुनि अङ्गिरा राजा से अनुमति लेकर ब्रह्मलोक को चले गये।

इधर ऋतु स्नान के अनन्तर महारानी कृतद्युति ने महाराज के सकाश से गर्भ धारण किया। राज्य भर में आनंद छा गया। रानी राजा के आनन्द की सीमा नहीं रही, किन्तु रानी की सौतों के मनमें कुछ डाह हुआ। हाय! हम वैसे ही रह गईं॥

जिस प्रकार शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा बढ़ता है, [illegible] शुक्ल पक्ष में सोमलता नित्य बढ़ती है उसी प्रकार रानी [illegible] दिन-दिन बढने लगा। जब गर्भ के दिन पूरे [illegible] रानी ने एक अत्यन्त ही सुन्दर कुमार को जन्म दिया [illegible] कुमार क्या था, सौन्दर्य की साक्षात् सजीवमूर्ति [illegible] मुख ऐसा था मानो चन्द्रमा को मथकर उसके [illegible] बनाया गया हो, इतने सुन्दर सुकुमार मनोहर [illegible] माता पिता के हर्ष की सीमा नहीं नहीं।

ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिये। बालक के स्वस्तिवाचन पूर्वक जात कर्म संस्कार कराये। नान्दीमुख श्राद्ध के समय राजा ने असंख्य वस्तुओं का दान दिया। इस प्रकार सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, ग्राम, हाथी, घोड़े, करोड़ों गौओं को राजाने ब्राह्मणों और याचकों को दान दिया। राजा चाहते थे मेरा पुत्र तेजस्वी यशस्वी और दीर्घजीवी हो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जिस वस्तु की प्राप्ति में जितनी अधिक प्रतीक्षा तपस्या करनी पड़ती है, उसकी प्राप्ति में उतना ही अधिक सुखानुभव होता है। जो वस्तु जितने ही अधिक श्रम से प्राप्त होती है उसका उतना ही अधिक मूल्य होता है। भगवान यदि ऐसे ही बिना परिश्रम के जहाँ-तहाँ जिसे-तिसे मिल जायँ, तो फिर उनकी प्राप्ति उतनी महत्व पूर्ण न समझी जाय। यदि कन्या को पति प्राप्ति में इतनी उत्कंठा इतनी प्रतीक्षा न करनी पड़े, केवल सरलता से दो बातें करने पर ही मिल जाय तो उससे उतना अधिक स्थाई सुख न होगा। यदि कंकर पत्थर की भाँति सोना-चाँदी जहाँ-तहाँ वैसे ही मिल जाया करें, उनके लिये श्रम न करना पड़े तो वे भी कंकड़ पत्थर की भाँति सबको प्राप्त हो सकें तो सोने में और कंकड़ में अंतर ही क्या है, दोनों ही पृथ्वी के विकार हैं, दोनों ही पृथ्वी से निकलते हैं। अन्तर इतना ही है, कि कंकड़ों की अपेक्षा सुवर्ण निकलने में श्रम अधिक करना पड़ता है। उसकी प्राप्ति में कंकड़ों की अपेक्षा अधिक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः वस्तु का मूल्य नहीं, उस पर जो श्रम किया जाता है; उसका मूल्य अधिक हो जाता है।

निर्धनों के यहाँ प्रतिवर्ष चूहे बिल्ली की भाँति बच्चे पैदा होते हैं। उनके पैदा होने से उन्हें उतनी प्रसन्नता नहीं होती। यही नहीं दरिद्र बड़े परिवार में अन्न वस्त्रों के अभाव के कारण

अधिक सन्तान होने से कष्ट का भी अनुभव होता है, किन्तु जिनके पुत्र हुआ ही नहीं, घर मे अटूट-धन सम्पत्ति भरी पडी है, वे हर समय चाहते रहते हैं किसी प्रकार एक पुत्र हो जाय ! पुत्र के लिये उसी प्रकार प्रतीक्षा करते रहते हैं जैसे चातक,स्वाति बूँदों की प्रतीक्षा करता रहता है। दैवयोग से उनके कहीं पुत्र हो जाय तो उन्हें जो आनन्द होगा वह वर्णनातीत है।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन ! चिरकाल मे—बहुत दिनों की प्रतीक्षा के अनन्तर महाराज चित्रकेतु ने पुत्र का मनोहर-मुख देखा था, अत जिस प्रकार किसी कङ्गाल को कठिनता से करोडो रुपये प्राप्त हो जाने पर उनमे अत्यत आसक्ति हो जाती है उसी प्रकार अत्यत क्लेश से प्राप्त उस प्यारे पुत्र मे राजर्षि चित्रकेतु का प्रेम दिन दूना रात्रि चौगुना बढने लगा। उन्हे बिना पुत्र का मुख देखे पल भर भी चैन नहीं पडता था। राजसभा से बीच मे कई बार उठकर पुत्र का मुख देखने आते और उसके मुख को अत्यत आसक्ति से बार बार चूमकर चले जाते। ज्यो-ज्यो बच्चा बढता जाता था त्यो-त्यो उसके प्रति राजा का मोह भी अत्यधिक बढता जाता था। वह राजा के बाहरी प्राणो के समान प्यारा हो गया।

छप्पय

शुक्लपक्ष को चन्द्र बढे ज्यों बढै गर्भ त्यों।
त्यों त्यों आनँद बढे गर्भ दिन बीते ज्यों-ज्यों
समय पाइके पुत्र भयो सब लोग सिहाये।
राज माहि सर्वत्र नगर पुर बजत बधाये॥
सुनत पुत्र के जन्म कूँ, अति आनन्दित नृप भये।
गो, धन, वर भूषन, बसन, पुर पत्तन विप्रनि दये॥

रानीकृतद्युति की सौतोंद्वारा सुतको विषप्रदान

(४२२)

एवं संदह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा ।
राज्ञोऽसमतवृत्तीनां विद्वेषो बलवान्भूत् ॥
विद्वेषनष्टमतयःस्त्रियो दारुणचेतसः ।
गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति ॥❀
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० ४२-४३ श्लो०)

छप्पय

दिन-दिन बाढ्यो नेह गेह-सुत तनिक न त्यागें ।
नहिँ औरनि घर जाइँ कृतद्युति महल विराजें ॥
सौतिनि मन अति डाह पुत्र नहिँ शत्रु भयो है ।
जब तें जनम्यो दुष्ट छीनि पतिप्रेम लयो है ॥
जा कटक कूँ काटि के, निष्कटक हम होहिँ कस ।
विष दे मारो शत्रु कूँ, सब मिलि निश्चय कियो अस ॥

संसार में शत्रु बाहर नहीं है। अपने भीतर ही शत्रु छिपे हुए हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मत्सर ये ६ शत्रु सदा

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार महारानी-कृतद्युति की सौतों का उसकी पुत्ररूप-सम्पत्ति से सन्तप्त होने से और राजा के द्वारा भी अपमानित होने के कारण उनका महारानी के प्रति अत्यन्त द्वेष हो गया। उन कठोर-हृदयवाली क्रूरचित्त-स्त्रियों की विद्वेष के

मनुष्य के भीतर बैठे रहते है। जिसने इन पर विजय प्राप्त कर ली; वह विश्वविजयी हो जाता है। जो इनके अधीन बन गया, उसे पग पग पर पराजित होना पड़ता है। परउत्कर्ष को देखकर हृदय मे दाह होना, जलन होनी इसी का नाम ईर्ष्या है। ईर्ष्या के वशीभूत होकर प्राणी बड़े बड़े दारुण पाप कर डालता है। अपनी हानि उठाकर ही परोपकार किया जाता है, जो सदा सब से अपना स्वार्थ ही सिद्ध करना चाहता है, जहाँ स्वार्थ में तनिक सा भी व्याघात हुआ वहीं जो बिगड़ जाते हैं, वे कृपण कहलाते हैं। उनका स्वभाव क्रूर हो जाता है। सौहार्द्र उनमे रहता नहीं ये धनिक प्रायः हृदयहीन होते है, क्योंकि इनमें सौहार्द्र की मात्रा नहीं रहती। ये चैतन्य से प्रेम करना नही जानते। सोना चाँदी जड़ पदार्थों मे ही इनका प्रेम सीमित रहता है। धन के लोभ के कारण ये चाहे जो कर सकते हैं। इसी प्रकार क्रोधी पुरुष भी किसी का प्यारा नहीं होता। क्रोध मे आकर वह अपने सगे सम्बन्धियो की भी हत्या कर डालता है। यही दशा कामियों की है, काम को ही जो स्त्री पुरुष सर्व श्रेष्ठ सुख मानते हैं, उनके काम सुख में जहाँ व्याघात हुआ, वहाँ अत्यंत क्रूर हो जाते हैं स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा कामवासना अधिक होती है, इसी लिये जो स्त्री अपने सतीत्व से भ्रष्ट हो जाती है, वह काम सुख के लिये क्रूर से क्रूर कार्य करने में नहीं हिचकती। काम के पीछे न करने योग्य कामो को भी कर डालती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! इस संसार की रचना भगवान ने कैसी विचित्र की है। कैसे विभिन्न वस्तुओं के इन

कारण बुद्धि नष्ट हो गई, अतः वे [illegible] वृत्र को [illegible] सकीं। उन्होंने उस बालक को [illegible]।

जगत् का निर्माण हुआ है। जो वस्तु एक के लिये सुखकर है वही दूसरों के लिये दुख देने वाली होती है। चन्द्रमा की चाँदनी सब लोगों कर सुखकर है, किन्तु चोरों को और विरहियों को वही दुख देने वाली हो जाती है। वर्षा से सभी को सुख होता है, किन्तु जिस कुम्हार के कच्चे बर्तन बाहर रखे हैं, उसे वर्षा से दुख होता है। अपने परिजन की मृत्यु पर घरवालों को दुख होता है, किन्तु शत्रु इस संवाद से सुखी होते हैं। एक डाकू को देखकर पथिक मारे डर के थर थर काँपने लगते हैं, वही जब अपनी प्रिया के पास जाता है, तो वह सुखी होती है। इसी प्रकार इस संसार मे जो सब को प्रिय हो ऐसी कोई भी वस्तु नहीं।

महाराजा चित्रकेतु की बड़ी रानी कृतद्युति के पुत्र हुआ, समस्त प्रजा को राजा रानी को अत्यंत हर्ष हुआ, किन्तु कृतद्युति की सौतो को—राजा की अन्य रानियो को—उसके कारण दुख हुआ। इसका कारण यही था, कि अब राजा महारानी कृतद्युति को ही सबसे अधिक चाहने लगे। उसी का अत्याधिक मान सम्मान होने लगा। उसी के महलों में महाराज रात्रिदिन रहने लगे। रानी का अपने फूल से सुकुमार इकलौते पुत्र पर इतना स्नेह था, कि पल भर भी वह उसे आँखो से ओझल न होने देती। राजा भी कंगाल के धन की तरह अपने पुत्र को चाहते। अब वे अन्य रानियों को भूल से गये।

अब तक तो यह बात थी, कि सभी रानियाँ एक सी थीं। किसी के भी संतान नहीं थी। राजा चाहें जिसके महलों मे चले जाते। सभी अपने को एक समान ही समझती थीं, अब तो भेद भाव हो गया। एक के पुत्र हो गया शेष वन्ध्या ही बनी रहीं। यदि वन्ध्या होने पर भी राजा पहिले की भाँति उन पर स्नेह

करते, उनका आदर सत्कार करते, तो भी उनको संतोष रहता, किन्तु राजा तो अपने पुत्र के मोह जनित स्नेह मे ऐसे विमूढ़ बन गये कि वे और सब रानियों को भूल ही गये। कृतद्युति को अपने सौभाग्य पर गर्व था, अन्य रानियाँ उससे डाह करने लगीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! एक ही दुःख मे दुखी लोग परस्पर मे द्वेष भाव को छोड़कर सहानुभूति रखने लगते हैं। ऐसा प्रत्यक्ष देखा गया है कि गंगा की बाढ मे सर्प मनुष्य दोनो बहकर किसी पेड के आश्रय मे रुक गये हैं एक पेड पर चढ़े हैं। सर्प काटता नहीं वह भी शांत बना पडा रहता है। राजा की अन्य सभी रानियो को एक सा ही दुख था। सभी का राजा का ओर से तिरस्कार हो रहा था, सभी संतान हीन थीं। सभी का अन्तःकरण जल रहा था। अतः उन सब ने मिलकर गोष्ठी की। उनमे जो अपने को सर्व श्रेष्ठ सुंदरी समझती थी जिसे अपने रूप यौवन सौन्दर्य माधुर्य का अत्याधिक गर्व था, वह सब के प्रति सहानुभूति प्रकट करती हुई बोली—"बहिनो! देखो हम सब राजपुत्रियाँ हैं। हमने राजवंश मे जन्म लिया है। हम वैसे ही आ गई हों सो भी बात नहीं है, राजा ने धर्म पूर्वक शास्त्रीय विधि से हमारे साथ विवाह किया है। अब तक वे हमारा समान भावसे आदर सत्कार और सम्मान भी करते थे किन्तु जब से हमारी सौत कृतद्युति के लडका हुआ है, तब से वे हम सबका अपमान करने लगे हैं। कृतद्युति की दासियों से तो वे कैसी घुल घुल कर बातें करते हैं, किन्तु हमें देखते ही मुँह फेर लेते हैं। कभी कुशल प्रश्न भी नहीं पूछते हमारे महलों में आना तो पृथक् रहा। स्त्रियों का धन सर्वस्व पति ही है। पति के पीछे ही वे अपने को सौभाग्यवती समझती हैं। जिन स्त्रियों

का पति जिन्हे अपनी स्त्री करके नही मानता और सौते जिनका दासयो के समान तिरस्कार करती हैं, उन भाग्यहीना पति-तिरस्कृता, दुर्भगा पापिनी, सतान रहिता स्त्रियों को धिक्कार है। आज हमारी भी ऐसी ही दशा है, हम सब अपने पति के द्वारा अपमानित हो रही हैं। हमारा धर्म था अपने स्वामी की सेवा करना सो हमारी इस कृतद्युति सोत ने हमारा वह भी अधिकार छीन लिया' हम धर्महीना बनी हुई हैं।"

इस पर एक दूसरी बोली—"स्त्री तो सदा से पराधीन होती आई है। उसे सदा दासी बनकर रहना पडता है। पति की आज्ञा में चलना पडता है। उसके रुख को देखकर व्यवहार करना पडता है।"

यह सुनकर तीसरी बोली—"दासी बनने मे तो कुछ दुख नही सुख ही है। पति की सेवा करने को मिले तो दासीपना भी श्रेष्ठ है। क्योंकि स्त्रियों को तो पति सेवा से सम्मान ही मिलता है किन्तु आज हम सब सतानहीना होने के कारण कृतद्युति की दासियों की दासियों से भी गई बीती बन गई हैं। कृतद्युति की दासियों की जो सेविकायें हैं उनसे भी महाराजा बाते कर लेत हैं किन्तु हमसे तो बोलते तक नहीं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार स्त्रियो म परस्पर एसा ही रागद्वेषापूर्ण ईर्ष्या की बाते होती रहीं। कृत-द्युति का पुत्र सम्पत्ति से उनका हृदय सतप्त हो रहा था। राजा की उपेक्षा ने उनक जलत हुए हृदय मे ईंधन का काम किया। अब तो उन दुस्साहस करने वाली क्रूरचित्ता स्त्रियों ने मिलकर निश्चय किया कि कृतद्युति का यह छोकरा ही हमारे बीच मे कन्क है इसी के होने म हम इतनी तिरस्कृता और अपमानिता

हो रही है—किसी प्रकार इसे ही मार डालना चाहिए। ऐसा निश्चय करके उन्होंने एक दिन सोते हुए बच्चे को चुपके से

तीक्ष्ण विष दे दिया। बच्चा विष खाते ही मर गया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! इन स्त्रियों के हृदय का पता नहीं लगता। ये जितनी ही स्नेहमयी कोमलहृदया दयामयी और सरला होती हैं, उतनी ही द्वेष उत्पन्न होने पर क्रूरहृदया और दुस्साहस कर्म करने वाली बन जाती हैं। जब ये अपने धर्म मे स्थित रहती हैं तब तो साक्षात् लक्ष्मी रूपा गृह की कामधेनु के समान सुखकारी होती हैं जब ये काम के वशीभूत होकर ईर्ष्या द्वेष आत्मग्लानि और प्रतिहिंसा के अधीन हो जाती हैं। तो साक्षात रणचण्डी भयावनी और राक्षसी बन जाती हैं। उस समय ये कठिन से कठिन क्रूर कर्म कर सकती हैं। पति को मार सकती हैं, पुत्र की हत्या कर सकती हैं भाई, माता पिता सभी को विष दे सकती हैं और स्वयं भी कूएँ मे कूदकर, विष खाकर, फाँसी लटका कर आत्म-घात कर सकती हैं। जितनी ही ये स्वभावसुलभा कोमलांगी होती हैं उतनी ही कामवश होकर तीक्ष्ण हृदया क्रूरा बन जाती हैं।"

महाराज चित्रकेतु की पत्नियो की बुद्धि सौत के सौभाग्य को देखकर विद्वेष से नष्ट हो गई थी। उन्हें राजा का इतना अधिक पुत्र स्नेह सहन न हो सका उनके मनमें यह कुबुद्धि बैठ गई, कि इसी के कारण हमारा अपमान होता है। अतः विष दे कर उसके जीवन का अन्त कर दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यह प्राणी कितने २ ऊँचे मनोरथ करता है, अन्त में उसके सब मनोरथ विफल हो जाते हैं। महारानी कृतद्युति तो सोच रही थी मेरा सलौना सुत सुख से सो रहा है, किन्तु वह तो सदा के लिये सो गया था। वह तो इस लोक को त्याग कर परलोक-वासी हो गया था। कृत-द्युति बार बार सोचती आज अभी मेरा लाल जागा नहीं क्या

बात है। कई बार इच्छा होती जाकर देखूँ, फिर सोचती मेरे जाने से उसकी नींद मे विक्षेप होगा। कच्ची-नींद मे जाग जायगा तो सिर मे पीडा हो जायगी। यही सोचकर वह महल में इधर से उधर घूमती रही परन्तु बच्चे के समीप नहीं गई।"

छप्पय

भई सबनि की बुद्धि भ्रष्ट ईर्ष्या मन आई।
सोवत शिशु कूँ एक दिवस विष दयो सबाई॥
मर्‌यो सौति को पुत्र सबनि मन सुख अति होवे।
इत कृतद्युति निश्चिन्त कुमर मम सुखतें सोवे॥
कच्ची नींद जगे लला, नहिँ अनबन मन होहि कहिँ।
ममता वश अस सोचिकें, सुतहिँ जगावत मातु नहिँ॥

मृत पुत्र के लिये माता-पिता का शोक

(४२३)

पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतं च बालं सुतमेकसन्ततिम् ।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजम्
सती दधाना विललाप चित्रधा ॥❀
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

देर बहुत जब भई मातु मन भय अति लाग्यो ।
नित तो सोवत नेक आज अब तक नहिँ जाग्यो ॥
धाइ पठाई तुरत लला कूँ ले आ प्यारी ।
धाइ जाइ लगि मृतक सुतहिँ किलकारी मारी ॥
हाय ! अभागिनि लुटि गई, हाय दई ! जिह का भई ।
हा ! मम छौना ! लाल ! सुत ! यों कहि दासी गिरगई ॥

सुख दुख का परस्पर में समान रूप से सम्बन्ध है। जिसके संयोग में जितना ही अधिक सुख मिलेगा, उसके वियोग में हमें

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महारानी कृतद्युति अपने इकलौते पुत्र को प्राणहीन देखकर तथा पति को अत्यन्त शोकाकुल देखकर, सम्पूर्ण प्रजा तथा मन्त्री आदि के हृदयों में शोक उत्पन्न करती हुई विविध प्रकार से करुण विलाप करने लगी।"

उतना ही अधिक दुख होगा। दुख का लघुत्व गुरुत्व व्यक्ति के ऊपर निर्भर नहीं। वह तो सम्बन्ध के ऊपर निर्भर है। हमारा जिससे जितना ही अधिक स्नेह होगा उसके वियोग मे उतना ही अधिक दुःख होगा। हम तो स्मशान क समीप रहते हैं। नित्य ही मृतक पुरुषों को देखते हैं, कुछ भी दुःख नहीं होता क्योंकि उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। कोई कहता है, तो हम उपेक्षा के स्वर मे कह देते हैं। अजी, यह तो ससार का व्यवहार है, लगा ही रहता है। सदा कौन जीता रहता है, जो जन्मा है वह मरेगा ही। किन्तु जब हमारा कोई सम्बन्धी मरता है, तो हमें दुख होता है, उससे भी अधिक दुख तब होता है जब अपने घर का कोई भाई, बन्धु' पिता, चाचा या और निकटतम सम्बन्धी मरते हैं। और यदि किसी का युवा प्यारा पुत्र मर जाय, तब तो उसके दुःख का कहना ही क्या ? तब तो ज्ञान, ध्यान वेदान्त उपासना सब भूल कर आठ आठ आँसू रोने लगेगा। इसीसे यही सिद्ध हुआ दुख का कारण मृत्यु नहीं है। यदि मृत्यु से ही दुख होता, तो सभी को मरने पर दुख होना चाहिये था, किन्तु बात ऐसी नहीं, किसी को तो उसके मर जाने पर अत्यधिक प्रसन्नता होती है। दूसरे को अत्यधिक दुख होता है। यथार्थ में तो दुख का करण है मोह जनित स्नेह, ममता पूर्वक अत्यधिक आसक्ति। जिनकी किसी में असक्ति नहीं, उन्हे न किसी के मरने पर दुख होता है न पैदा होने पर सुख। वे तो सभी दशाओं में समान रहते हैं। किन्तु ऐसे समदर्शी ज्ञानी संसार में विरले ही होते हैं। नहीं तो जिनके साथ सदा हिलमिल कर प्रेम पूर्वक रहे हैं। जिनसे प्यार किया है, जिनका प्रेम पूर्वक आलिंगन चुम्बन किया है। जिन्हें आँखों की पुतली के समान प्रेम पूर्वक पाला है खिलाया पिलाया और सुलाया है उनके वियोग में जिन

न फटे उन्हें या तो वज्र हृदय का समझो या हृदयहीन।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उन क्रूर चित्ताक्षियों ने उस फूल से सुकुमार सुन्दर राजकुमार को निर्दयता पूर्वक हलाहल विष दे दिया।

बच्चा बड़ा ही सुन्दर था। ३-४ वर्ष का हो गया था। तोतली बोली में कोकिल की तरह कूजता रहता। कभी माँ के गले में लिपट जाता कभी पिता की गोदी में खेलने लगता। उसकी बड़ी भोली भाली सूरत थी। वह जब हँसता, तो ऐसा लगता मानो मुख से मोती झर रहे हों। जब वह अपनी कारी कारी घुँघराली लटाओं को बखेर कर राजहंस की भाँति लड़खड़ाता हुआ माता की उँगली पकड़ कर चलता तो माता के आनन्द का ठिकाना नहीं रहता। माँ बार बार उसके ऊपर तृण तोरती, उसकी बलैया लेती देवताओं की मनौती मनाती। राई नोन लेकर उसके ऊपर उतार कर अग्नि में डालती। मिरचों को लेकर तवे पर जलाती। मेरे बच्चे को किसी की नजर न लग जाय। न जाने वह कितने जादू टोना करती। अपने हाथ से बच्चे का निहलाती धुलाती, बाल सम्हालती। भाँति भाँति के रंग बिरंगे वस्त्राभूषण पहिना कर सजाती। बड़ी बड़ी आँखों में मोटा मोटा काजल लगाती। माथे पर एक डिठौना लगा देती, फिर बार बार उसके मुख को देखती छाती से लगाती, मुँह चूमती और फूली नहीं समाती। मजा बजाकर राजा की गोद में बिठा देती। राजा उसके स्पर्श से स्वर्गीय सुख का अनुभव करते, उसके मुख चुम्बन में उन्हें अमृत से भी बढ़कर सुख मिलता। उसके साथ बालक बन जाते, भाँति भाँति की क्रीड़ा करते, कभी बच्चा गोद में खेलते खेलते सो जाता, तो उसे बड़ी सावधानी से माँ की गोद में दे देते। महारानी बच्चे को सुवर्ण के हिंडोले में लिटा कर लोरियाँ देती।

अन्य रानियाँ भी बच्चे को देखने आया करतीं। [illegible] स्पष्ट तो मना कैसे कर सकती थीं, कि तुम मेरे बच्चेको [illegible] आया करो, किन्तु उसे उनका आना अच्छा नहीं लगता [illegible] कंगाल के द्रव्य के समान बच्चे को बड़े यत्न से छिपाकर [illegible] भरसक ऐसा प्रयत्न करती, कि किसी की दृष्टि [illegible] पावे। वह क्षण क्षण में बच्चे के मुँह को [illegible]

इससे बड़ा सुख होता था उसके अचलों में अपने आप पुत्र स्नेह के कारण दूध भर आता था। बच्चा देर तक न उठता तो वह स्वतः बहने भी लगता था।

बच्चेके जब उठने का समय हो गया, तो माँ ने कई बार झाँका बच्चा आज अभी उठा नहीं। कोई बात नहीं, नींद आ गई है। सोने दो, सोना तो बच्चे के लिये परम हितकर है। दो घड़ी हुई तीन हुई चार हुई। अब तो माँ को संदेह होने लगा। बच्चा इतना तो कभी सोता नहीं था। पलङ्ग पर पड़े पड़े ही महारानी ने पुकारा—"धाय! तू बच्चेके पास है या नहीं?"

धाय ने कहा—"हाँ, महारानीजी! मैं हूँ। कुमरजी अभी सो रहे हैं।"

उसने धीरे से कहा—"आज बहुत देर हो गई, अभी तक जगा नहीं, तू उठा तो ला गोदी मे यहीं मैं उसे पलंग पर अपने साथ लिटाऊँगी। आज क्या बात है। इतनी देर तक तो कभी सोता नहीं था॥'

रानी की यह बात सुन कर धाय ने धीरे से मुख का वस्त्र उठाया। वस्त्र उठाते ही उसने जो देखा, उसे देखकर वह तो हक्की बक्की सी रह गई। बच्चे की सब नसे नीली हो गई हैं मुख से झाग निकल रहे हैं, आँखें पथरा गई हैं, वह प्राणशून्य हुआ निर्जीव पड़ा है। उसने बच्चे को धड़कते हुए हृदय से टटोला प्राणों की गति देखी, किन्तु उसके प्राण अब कहाँ? वे तो परलोक प्रयाण कर चुके थे। उसे तो यमराज अपने पाश मे बाँधकर यमपुरी ले गया था। अब बच्चा नहीं था केवल उसका निष्प्राण मृतक शरीर मात्र पालने पर पड़ा था। यह देख कर सहसा धाई हा! मेरे लाल कहकर धडाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी। धाय का रुदन और पतन का शब्द सुनकर रानी तो

सहसा अधीर हो उठी, उसके शंकित चित्त मे एक बड़े वेग का धक्का लगा। यंत्र की भाँति बिना संकल्प के ही वह सहसा पलंग से उठ पडी और एक झपट्टे मे ही दौडती हुई पुत्र के पालने के पास पहुँच गई। वहाँ उसने जो कुछ देखा, उसे देखकर तो उसके हृदय के टुकड़े टुकडे होने लगे। उसका हृदय फटने लगा। वह अपने को सम्हाल न सकी। शोक के कारण वह सज्ञाशून्य सी बन गई थी। उसे शरीर की सुधि नहीं रही, मूर्छित होकर वह धडाम से पृथ्वी पर गिर पडी।

उस समय उसके सिर का वस्त्र खिसक गया था, बाल खुल गये थे। बालो मे लगे मालती के पुष्प इधर उधर म्लान होकर बिखर रहे थे, मानों वे भी उसके दुख मे दुखी होकर रो रहे हो। उसके अंग प्रत्यंग अस्त व्यस्त हो गये। वह कुररी की भाँति चिल्ला रही थी, वत्स हीन गो के समान डकरा रही थी। उसकी आँखों से अश्रुओं की दो निरन्तर धारायें बह रही थीं। वह छाती को पीटती जाती थी और हा! मेरे लाल हा! मेरे जीवनाधार कहकर मुक्त कंठ से रुदन कर रही थी।

उसके दुःख और करुणा भरे रुदन की गूँज सम्पूर्ण अन्तःपुर मे भर गई। दास दासी, रानी, प्रतिहार जिन्होने भी सुना वे ही सब काम छोड़कर रानी के पास दौड़े आये। सभी पुत्रको मरा देखकर रानी के ही समान छाती पीट पीट कर रोते हुए दुखी होने लगे। रोने चिल्लाने लगे। अब वे सब रानियाँ भी जिन्होने यह नीच कृत्य किया था वे भी भोली भाली अनजान की भाँति आकर पूछने लगीं—"क्या हुआ! क्या हुआ! हाय! अभी अभी तो खेल रहा था। हाय! हम सब लुट गईं। अनाथ हो गईं हमारा सर्वस्व चला गया। यह कहकर वे महारानी वृत्तद्युति से भी अधिक चिल्ला चिल्लाकर रोने लगीं। महाराज!

इन स्त्रियों की लीला भगवान् भी नहीं जान सकते; फिर मनु-की तो बात ही क्या है ?"

उस समय महाराज-चित्रकेतु राजसभा में बैठे हुए थे।

दूसर राष्ट्र के विषय में सन्धि विग्रह की बात चल रही थी। सहसा अंतःपुर मे करुण क्रन्दन, रुदन की भीषण ध्वनि सुनकर वे सहम गये। इतने मे एक दासी दौड़ी दौड़ी अस्तव्यस्त भाव से पहुँची और रोती हुई बोली—"महाराज! कुमार तो हम सबको छोड़ गये।" इतना कह कर वह दासी मूर्छित होकर वहीं गिर पड़ी।

हैं! राजकुमार की मृत्यु हो गई, अरे, अभी तो मैं उसे देख कर आया था। राजा का तो सम्पूर्ण शरीर सुन्न पड़ गया। काटो तो एक बिन्दु रक्त न मिले। 'सम्पूर्ण रक्त पानी हो गया। वे सहसा अंतःपुर की ओर दौड़े किन्तु चल न सके बीच मे ही ठोकर खाकर गिर पड़े। मंत्रियो ने दौड़ कर राजा को पकड़ा। वे संज्ञा शून्य हो रहे थे। स्नेहानुबंध के कारण अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त शोक के कारण वे संज्ञा-शून्य से बन गये थे। चलना चाहते थे, किन्तु पैर काम नहीं देते थे। कुछ बोलना चाहते थे, किन्तु वाणी रुद्ध हो गई थी। वे तड़फड़ा रहे थे, बिलबिला रहे थे, वे अन्तःपुर मे जाने को उत्सुक थे, किन्तु चलने मे असमर्थ थे, वाणी रुद्ध हो जाने से किसी से कह भी नहीं सकते थे, मुझे कोई मेरे मृतक लाल के पास पहुँचा दो। मंत्रियो ने राजा की विवशता का अनुभव किया। कइयों ने मिल कर पकड़ा राजा मंत्रियों तथा ब्राह्मणों से घिरे लड़खड़ाते, ठोकर खाते, गिरते पड़ते सभी के कंधों का सहारा लेते, रोते चिल्लाते अधीरता प्रकट करते अन्तःपुर मे पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा बच्चा मरा पड़ा है। उसकी माँ समीप में ही बाल बखेरे कुररी पक्षी की भाँति चिल्ला रही है। अब तो राजा का रहा सहा धैर्य भी छूट गया। वह बच्चे के पैरो के पास कटे वृक्ष की भाँति गिर पड़े। ने उन्हें सम्हाला, ब्राह्मण उन्हें घेर कर बैठ गये। रानी

मूर्छित पडी बिलबिला रही थी। लाखो रानियाँ वहाँ अश्रु बहाती हुई झूठी समवेदना दिखा रही थीं। यद्यपि वे रानियाँ कृतद्युति के ही समान दुखी जान पडती थीं। उसी के समान रुदन कर रही थीं। किन्तु उनके रुदन मे और बडी रानी के रुदन में आकाश पाताल का अतर था। वह झूठा रुदन था इसका मर्मस्पर्शी हार्दिक दुःख जनित दुख था।

महाराज की आखों के सम्मुख अँधेरा छा रहा था। उनका मुकुट गिर गया था, बाल बिखर गये थे, वस्त्राभूषण तितिर बितिर हो गये थे। अत्यन्त शोक के कारण गला भर रहा था। स्त्रियों के करुण क्रन्दन म वहाँ के भवन रोते हुए प्रतीत होते थे। राजा राना चाहते थ, किन्तु रो नहीं सकत वे चाहते थे मेरे आँसू निकलें, किन्तु बढे हुए शोक स अश्रु भी नहीं निकलते थे। वे पाले से दग्ध हुए वृक्ष के समान झुलसे प्रतीत होत थे।

राना ने जब अपने सग सुख म रहने वाले पति को इस दुःखावस्था म देखा तब तो उसक शोक का पारापार न रहा। एक ओर मरा हुआ पुत्र पडा है, दूसरा ओर उसका सर्व समर्थ राज राजेश्वर पति पागलों की भाति बिना आसन क पृथ्वी पर लोट रहा है। शोक क कारण उसका अग प्रत्यग व्याकुल हो रहा है, तो इससे रानी को और भी अधिक कष्ट हुआ। वह पति की ऐसी दशा देखकर शोक सागर मे निमग्न हो गई। उस समय उसकी आँखों से जो अश्रु बह रहे थे। वे हरे रग के से प्रतीत होते थे। उसकी आँखों म जो काजल लगा था, उससे मोती के समान शुभ्र अश्रु काले हो गए थे। वे कज्जल कालिमा मिश्रित अश्रु बिन्दु निकल निकल कर कुकुम मिश्रित चदन से चर्चित कुचों पर पडते थे। कालिमा और पीत के मिश्रण से जो हरित वर्ण के अश्रुकण बन जाते थे उनमे रानी के सम्पूर्ण वस्त्र

भीग गये थे। वह पगली की तरह सिर हिला रही थी। उसे आज लाज भी छोड़कर चली गई थी, मन्त्रियों और पुरोहितों के सामने भी वह बाल बखेरे मुँह खोले रुदन कर रही थी।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! रानी का रुदन बड़ा ही हृदय-द्रावी था, उसे अभी वर्णन करने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। तनिक विश्राम लेकर मैं उसके रोमाञ्चकारी करुण-विलाप का वर्णन करूँगा।"

छप्पय

दासी कूँ लखि विकल, गईं तहँ भगि के रानी।
मृतक-वत्स लखि मातु धेनु सम गिरि डकरानी॥
करुणा क्रन्दन सुन्यो सेविका सब घबराईं।
कपट वेदना प्रगट करत रानी सब आईं॥
समाचार भूपति सुन्यो, हृदय विदारक अति विकट।
पहुँचे अन्त पुर तुरत, गिरत-परत सुत शव निकट॥

रानी-कृतद्युति का सुत के निमित्त करुण-क्रंदन

(४२४)

नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम् ।
किं वा गतोऽस्यपुनरन्वयमन्यलोकम्
नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते ॥१

(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० ५८ श्लो०)

छप्पय

फटै कृतद्युति हियो रुदन भूपति को सुनि-सुनि ।
अस्त-व्यस्त तनु भयो भूमि पै लोटे पुनि-पुनि ॥
कज्जल कालिख मिले अश्रु-मोचन करि रोवे ।
चन्दन-चर्चित पीन पयोधर सतत भिगोवे ॥
अहो विधाता निर्दयी, तोहि दया नहिं नेक हूँ ।
कहूँ मिलावे प्रेम तें, बिछुरावे दुख तें कहूँ ॥

हे भगवान तू गृहस्थियों को सब दुख देना, किन्तु पुत्रवियोग-जनित दुख किसी को मत देना। जिस पुत्र को प्राणों से भी

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मृतक-पुत्रके सम्मुख विलाप करती हुई महारानी-कृतद्युति कह रही है—हे पुत्र! मैं बड़ी हतभागिनी हूँ जो तेरे मधुर मुस्कान-युक्त मुखकमल को प्रसन्न चितवन के सहित नहीं देखती। बेटा! क्या यथार्थ में तुम्हें दयाहीन-यमराज उस लोक में ले गया जहाँ से लौटकर कोई फिर आता नहीं? क्योंकि मैं तुम्हारी सुमधुर तोतली वाणी नहीं सुन रही हूँ।"

बढकर प्यार से पालते हैं, पल-पल पर जिसकी सुविधा का ध्यान माता-पिता रखते हैं, जो प्रेम का सजीव साकार स्वरूप होता है, जो अपनी ही आत्मा नवीन-वपु बनाकर अपनी गोद मे क्रीडा करती है, जिसे देखने मे सुख होता है, चुम्बन मे मधुरिमा होती है, स्पर्श मे आनन्दोद्रेक होता है। जिसे गोद में लेने से रोम-रोम खिल उठते हैं। जिसकी चंचलता, चपलता, बाल सुलभ-सरलता हृदय में नूतन स्फूर्ति का संचार करती है। जिसका देह से दिव्यगंध आती है, जिसके सिर सूँघने से सर्वोत्कृष्ट-सुगन्धि का अनुभव होता है। जो रोता हुआ भी सुन्दर लगता है और हँसता हुआ भी हृदय को हँसा देता है। वह पुत्र यदि गृहस्थी के सामने ही, माता पिता के देखते देखते मर जाय—परलोकवासी बन जाय तो उसके माता-पिता पर क्या बीतती होगी इसे माता पिता बिना बने कोई अनुभव कर ही नहीं सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! जिसका प्राणों से भी प्यारा, आँखो का तारा, जीवन का सहारा इकलोता-पुत्र मर गया है वह रानी कृतद्युति, विधाता को धिक्कारती हुई अत्यत-करुणा के स्वर मे रोती हुई असम्बद्ध-प्रलाप करने लगी। उसने रोते-रोते हाथों को फटफटाते हुए कहा—अरे ओ निर्दयी विधाता! तुझे तनिक भी दया नहीं है। किसने तुझे सृष्टि का कर्ता बना दिया? किसने तुझे इतने प्रतिष्ठित-पद पर बिठा दिया! तुझे इतनी भी बुद्धि नहीं, वृद्ध माता-पिता के सामने अबोध-बालकों को वधिकों की तरह—हत्यारो की तरह पकड ले जाता। यदि तुझे मारना ही था तो पैदा क्यों किया? इस बच्चे को इतना सौन्दर्य—इतना लावण्य क्यों प्रदान किया! तुझे मारना था, तो मुझे मारता—मुझे अपने लोक को ले जाता। बूढों के

रहते बच्चों को मार देना; तेरी मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

तू कह सकता है कि, संसार में ऐसा कोई क्रम नहीं कि पहले बूढ़े ही मरें, जब जिसका काल आ जाता है तब वही मर जाता है। यह तो सब प्रारब्ध के ऊपर निर्भर है ! यदि ऐसी ही बात है—कोई क्रम नहीं, कोई नियम नहीं, तो फिर तेरी आवश्यकता क्या है ? यह तो शत्रुता का काम है, कि नन्हे-नन्हे हँसते-खेलते बच्चों को उनके माता-पिताओं की गोद से छीन ले जाना उन्हें वियोग-दुख में तड़फाते रहना।

यदि जीवों के मरने-जीने का कोई क्रम नहीं; तो यह स्नेह की फँसरी तैंने पैदा क्यों की ? प्राणियों के हृदयों में यह प्रेम का बीज, स्नेह का अंकुर क्यों पैदा कर दिया ? हाय, इससे तो अच्छा यही था—हृदय के स्थान में तू एक पत्थर रख देता। न कोई काहू से प्रेम करता, न उसे वियोग-दुख सहना पड़ता।

तू कह सकता है कि यदि प्राणियों में परस्पर मे प्रेम न होता, पति पत्नी को न चाहता, पुत्र माता-पिता को प्यार न करता, मातृहृदय में संतान के प्रति ममत्व न होता तो इस सृष्टि की वृद्धि कैसे होती ? यह सर्ग, अभिवृद्धि को कैसे प्राप्त होता ? "अच्छा तैंने सृष्टि बढ़ाने को ही स्नेह की—प्रेम-पास की रचना की है; तो छोटे-छोटे अबोध बालकों को—जिनसे आगे चलके सृष्टि-वृद्धि हो सकती है, उन्हें-तू क्यों अकाल में ही मार डालता है ?" अरे, अपने आप तो विष का पेड़ लगाकर भी नहीं काटते ? निर्दयी, तू स्नेहलता को पैदा करके उसका मूलोच्छेदन कर रहा है—उसे जड़-मूल से काट रहा है। कैसी है तेरी यह क्रूरता ! कैसी तेरी यह निष्ठुरता और नीचता है !!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वह प्रेम मे पगली हुई, विरह में कातर बनी—रानी अपने आप ही इस प्रकार असबद्ध-प्रलाप करती रहीं! फिर उसने उठकर झट से पालने में से अपने मृतक-शिशु के शव को गोद मे उठा लिया, उसकी गर्दन लटक रही थी, मुँह से निकले नीले फेन सूख से गये थे, आँखें-पथराई हुई थीं। अपने फूल से प्यारे-दुलारे बच्चे की ऐसी दशा देख-कर उसे गोदी में लिये हुए ही रानी फिर से गिर पडी। बार-बार उसके मुखको चूमती और कहती—"बेटा, मेरा मुन्ना! मुझ अनाथिनी-दीना को छोडकर तुम कहाँ जा रहे हो? भैया! तुम जहाँ भी जाओ, अपनी अभागिनी-माँ को साथ लेकर जाओ। पहले तो मेरे तनिक न बोलने पर तू रो पडता था। अब मैं कितनी देर से तुम्हें पुकार रही हूँ, तू बोलता क्यों नही? मेरे किस व्यवहार से तू अप्रसन्न हो गया है! अच्छा, मेने कुछ अपराध किया हो तो मुझसे मत बोलो, किन्तु देख, ये तेरे पिता शोक-सतप्त हुए भूमि मे लोट रहे हैं, इनकी ओर तो देख दे! इनकी गोदी मे जाकर क्रीडा कर।

बेटा! तू तो मुझे और अपने पिता को बहुत प्यार करता था। मैं जहाँ भी जाती तू मेरे ही साथ जाता था। आज मुझ अभागिनी को छोडकर तू इस क्रूरपाश हस्तवाले यमराज के साथ क्यों जा रहा है? इस लोक को रुलानेवाले मृत्यु के साथ मत जा बेटा! देख, हमने तो तुझसे बडी-बडी आशायें लगा रखी थी। हम सोचते थे—तू हमें 'पु' नामक नरक से पार लगा देगा। हम, अपुत्रियों के लिये दुष्पार घोर-नरक को तेरा सहारा लेकर सुगमता से पार कर जाना चाहते थे। तू तो हमे बीच में ही बिलखता हुआ छोड गया। मैं तेरी जननी हूँ! ये महाराज तेरे जनक हैं, हमने कभी कष्ट सहा नहीं। तेरे कारण

हम आज अत्यंत-कष्ट में पड़े हुए हैं, हमें कष्ट में पड़े हुए देखकर भी तुझे दया नहीं आती। अब तो बेटा! बहुत सो लिये अब उठो—उठो। हमारे शोक-संतप्त हृदय को अपनी तोतली-शीतल-वाणी सुनाकर शान्त करो।

अच्छा—अच्छा तू आज हम दोनों से ही असन्तुष्ट है, तो देख जिनके साथ तू नित्य भाँति-भाँति के खेल खेला करता था, वे तेरे ये साथी-सखा अन्य बालक तेरे साथ खेलने को उत्सुक खड़े हैं! उनके साथ प्रेमपूर्वक क्रीड़ा कर—अपने खिलौनों से इनके साथ खेल। उठ भैया! क्यों आज निष्ठुर बन गया है। बहुत हो गया। सोने की भी सीमा होती है—तुझे बहुत भूख लग रही होगी। तेरे भोजन का समय बीत गया। अब तक तो तू दो-चार खा लेता था, दो-चार मेरे, स्तनों का दूध पी लेता था। उठ मेरे लाल! मेरे दूध को पी ले। मुझे अधजली छोड़कर मत जा। तुझे जाना ही है—तो मुझे भी अपने साथ ले चल।

श्रीशुकजी कहते हैं राजन्! वह शोक संतप्ता राजमहिषी पगली हो गई थी। अत्यंत-शोक के कारण उसकी बुद्धि नष्ट-सी हो गई थी। उसे जड़-चैतन्य का विवेक नहीं रहा था। वह मृत-पुत्र को बार-बार जीवित की भाँति पुकार रही थी। जब बार-बार पुकारने पर भी बच्चे की ओर से कोई उत्तर न मिला, तब तो वह और भी अधिक व्याकुल हुई और रोती हुई निराशा के स्वर में कहने लगी—"मालूम होता है बेटा! तू अब उस लोक में चला गया जहाँ से लौटकर इस शरीर से प्राणी नहीं आते! हाय, तभी तो तेरा सुमधुर मनोहर-मुख म्लान पड़ गया है। तभी तो तेरी प्यारी-प्यारी तोतली-वाणी सुनाई नहीं देती। प्रतीत होता है, यह निर्दयी-यमराज तुझे पकड़ कर बहुत दूर तक ले गया है; जहाँ तू मेरी वाणी नहीं सुन पाता। तभी

तू मेरी बातो का कुछ उत्तर नहीं दे रहा है।"

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! रानी, बारम्बार करुण-स्वर मे विलाप कर रही थी। वह उठती और पुनः पछाड खाकर गिर पडती। असम्बद्ध बातें बकने लगती। उसे इस प्रकार विलाप करते देखकर राजा भी ढाह-मारकर मुक्त-कण्ठ से रुदन करने लगे। राजा के रोने पर सभी मन्त्री, पुरोहित, पुरवासी, नगर-वासी और वे क्रूरहृदया-रानियाँ भी रोने लगीं। सबके रुदन से वह अन्तःपुर भर गया। वहाँ का वायुमण्डल-क्षुब्ध हो गया। दशों-दिशाओ मे शोक छा गया।

छप्पय

हाय! कहा जिह भयो कुँवर ने नातो तारयो।
छलकर यमपुर गयो भाग्य मेरो पुनि फोरयो॥
बेटा! मोकूँ छोरि अकेलो मति तू जावे।
दूर देश महँ दूध तोइ को तहाँ पिआवे॥
बेटा! सोवत आज तो, देरी तोकूँ ह्वै गई।
यों अतिसय सुतशोक महँ, रानी बहु-व्याकुल भई॥

शोक संतप्त-नृप के निकट अङ्गिरा और नारदजी

(४२५)

एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम् ।
ज्ञात्वाङ्गिरा नाम मुनिराजगाम सनारदः ॥❀
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० ६१ श्लो०)

छप्पय

रानी-राजा शोक-सिन्धु महँ डूबें पुनि-पुनि ।
आये देवै धीर अङ्गिरा अरु नारद मुनि ॥
देखे बेसुधि-भूप उठें नहिं विप्र उठावें ।
कहि-कहि सुन्दर युक्ति उभय-मुनि यों समुझावें ॥
जीव काल-क्रम तें मिलैं, समय पाय बिछुरें तुरत ।
रचि माया मायेश पुनि, बालकवत् क्रीड़ा करत ॥

संसार में परहित निरत—परोपकार-व्रती संत न हों—तो यह सम्पूर्ण जगत् रौरव-नरक बन जाय । इस जगत् मे आधि, व्याधि, चिन्ता, शोक, भय, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश आदि विपत्तियों

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार राजा को शोक-संतप्त तथा संज्ञाशून्य हुआ देखकर और यह जानकर कि इसका कोई त्रायक-शिक्षादाता नहीं है, नारदजी को साथ लिये अङ्गिरा-मुनि वहाँ आ पहुँचे ।"

के अतिरिक्त है ही क्या? जिह्वा और उपस्थके क्षणभर का सुख है; वह भी परिणाम में दुखद ही है। अधिक जिह्वा-लोलुपता करने से अरुचि, मंदाग्नि,सग्रहणी आदि रोग हो जाते हैं। अधिक काम सेवन से प्रमेह, दौर्बल्य, निर्वीर्यता,क्षय आदि नाना-रोग उत्पन्न होते हैं। जगत् में जिधर देखो उधर ही दुख है। इस दुख से त्राण करने वाले संत ही हैं। शोक-सागर में डूबते हुए को हाथ पकड कर उबारने वाले परोपकारी-साधु ही हैं। साधु ही अशांत को शान्त बनाते हैं, रोते को हँसाते हैं, दुखी को सुखी बनाते हैं, मृतक को जीवन-दान देते हैं और बीच-मँझधार में—ससार सागर में डूबनेवाले को उस पार लगाते हैं! जिन पर साधु की कृपा हो जाय उसे पार ही समझो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! सर्वत्र विचरने वाले, संकल्प से जहाँ चाहें—तहाँ पहुँच जाने वाले, सबकी घट-घट की जानने वाले भगवान अङ्गिरा-मुनि ने जब ज्ञानदृष्टि से राजा चित्रकेतु को इस प्रकार दुखित देखा, तो उन्हें दया आ गई। उनके पास नारदजी बैठे थे। अपने भाई-नारदजी से अङ्गिरा-मुनि बोले—'ऋषिवर! चलो, हम तुम्हें एक मोहग्रस्त जीव के दर्शन करा लावें।"

नारदजी बोले—"महाराज! मोहग्रस्त तो सभी संसारी मनुष्य हैं।"

इस पर अङ्गिरा-मुनि बोले—"नहीं, नारदजी! हम आप को ऐसे पुरुष के समीप ले चलेंगे जो वास्तव में तो मोक्ष का अधिकारी है, किन्तु वासना-निवृत्ति के लिये जिसे हमने ही जान-बूझकर मोह में फाँसा है। जैसे काँटे को निकालते समय अधिक कष्ट होता है,परंतु निकल जाने पर प्राणी स्वस्थ हो जाता है।

प्रकार उसका मोह दूर कराने को हमने उसे संसार की स्थिति का दिग्दर्शन कराया है।"

नारदजी तो ऐसी बातों के लिये उधार खाये ही बैठे रहते हैं। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है महाराज! चलिये—अपने को तो घूमने का शाप ही है।"

नारदजी की सम्मति पाकर अङ्गिरा-मुनि उन्हें लिए हुए राजा-चित्रकेतु के अन्तःपुर में आये। सम्पूर्ण महल रुदन की चीत्कारों से गुंजायमान हो रहा था। राजा अपने मृतक-पुत्र के समीप संज्ञाहीन हुए पड़े थे! उनके बाल खुले हुए थे, वस्त्र-भूषण अस्त-व्यस्त हो रहे थे, अङ्गों में धूलि लगी थी, वे पृथ्वी पर ही पड़े थे। हा पुत्र! हा वत्स! कह कर वे मुक्तकण्ठ से रो रहे थे। उनके समीप ही मृतक-पुत्र को गोद में लिये हुए रानी विलाप कर रही थी। बार-बार उसे छातीसे चिपटाती—चिल्लाती थी। राजा-रानी को घेरे हजारों—लाखों स्त्री-पुरुष खड़े थे। मंत्री, पुरोहित, राजा को घेरे बैठे थे। सबकी आँखों से अविरल-अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। सभी राजा के दुख में दुखी हो रहे थे। किसी को कुछ कहने का साहस नहीं हो रहा था। इतने में ही ये दोनों सर्वज्ञ-ज्ञानी मुनि पहुँच गये। मंत्री और पुरोहित ने साश्रु-नयनों से उनका यथोचित समयानुकूल स्वागत-सत्कार किया। दोनों मुनि मंत्री के दिये हुये आसन पर राजा के समीप ही—सुखपूर्वक बैठ गये। राजा बार-बार बच्चे को देखते और छटपटाते चिल्लाते—"हाय मेरे लाल! हा मेरे जीवनाधार!! तू हमें बीच में छोड़कर कहाँ चला गया? तू तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करता था।"

राजा को इस प्रकार शोकग्रस्त और मृतक के समान संज्ञा-हीन देखकर—पागलों के समान प्रलाप करते देखकर भगवान

अंगिरा उनसे बोले—राजन् ! आप जिस जीव के लिये इतना शोक कर रहे हैं; वह बालक आपका इस जन्म में या पहिले किसी जन्म में कौन था और आगामी-जन्मों में कौन होगा ? तुम्हारा वह कौन है और तुम उसके क्या लगते हो ?"

मुनि की ऐसी बात सुनकर राजा आँखें फाड़-फाड़ कर मुनि की ओर देख रहे थे, किन्तु उनको तो अपनी देह की भी सुधि-बुधि नहीं थी। मुनि की बात सुनकर भी उन्होंने नहीं सुना।

राजा को कुछ भी उत्तर न देते देखकर पुरोहित ने कहा—भगवन् ! पूर्व जन्मों के संस्कारों से ही इस जन्म में जीवों से सम्बन्ध होता है। यह कुमार पूर्वजन्म में महाराज का कोई घनिष्ठ सम्बन्धी रहा होगा इसीलिये इस जन्म में इनका पुत्र हुआ। पिता के लिये पुत्र प्राणोंसे भी अधिक प्यारा होता है, अतः ये इस बच्चे के पिता हैं,और यह इनका पुत्र है। अकाल में इसकी मृत्यु हो गई महाराज के यही एक पुत्र था; अतएव इतना अधिक दुख होना स्वाभाविक ही है।

इस पर अंगिरा-मुनि बोले—"विप्रवर ! राजा का यह भ्रम है कि यह मेरा पुत्र है,अब तक जीता था और अब मर गया है। ब्रह्मन् ! यह जगत्-प्रवाह अनादि है। इसमें न कोई किसी का पिता है न पुत्र। जैसे गंगा जी के प्रवाह में बहते हुए बालुका के कण एक स्थान पर आज एकत्रित हो जाते हैं; कल लहर आई—कुछ कण आगे चले गये, कुछ जम गये, कुछ वायु में उड़ गये। कभी हरिद्वार की बालू बहते-बहते प्रयाग आ गई और कभी प्रयाग की बहते-बहते गंगासागर पहुँच गई। यह नित्य-प्रवाह अविच्छिन्न—गति से बह रहा

यह स्वाभाविक है। इसके लिये राजा का शोक करना व्यर्थ है। काल-क्रम से जीव कभी इकट्ठे हो जाते हैं, समय आने पर वे बिछुड़ भी जाते है—अलग-अलग हो जाते हैं। इसमें न कोई किसी का शत्रु है न मित्र। सब मुँह-देखे का मोह है।"

इस पर पुरोहित ने कहा—"महाराज! बिना संस्कार के संयोग-वियोग होता नहीं। जिनसे अपना संस्कार वश सम्बन्ध हो गया है उनके मिलने पर हर्ष और बिछुड़ने पर शोक होता ही है।"

अपनी बात पर बल देते हुये अङ्गिरा मुनि बोले—"शोक होता है तो अज्ञान से होता है,व्यर्थ होता है। होना नहीं चाहिये! संस्कार ही तो प्रवाह में कारण है। देखिये, प्रत्येक पूर्णिमा को गंगास्नान का मेला होता है। सहस्रों, लाखों नर-नारी अपनी-अपनी पोटलियाँ बाँध-बाँधकर—साथ मे लोटा ले-लेकर गंगाजी की ओर जाते हैं। मार्ग में साथी भी मिल जाते हैं, कुछ से घनिष्टता बढ़ जाती है। वे साथ-साथ चलते हैं, साथ-साथ ठहरते हैं। छोटे-बच्चे; स्त्रियों से माता जी कहने लगते हैं, सयाने-पुरुषों से भाई कहते हैं, बूढ़ों से बाबा कहते हैं, युवक-पुरुष बच्चों से कहते हैं—"भैया! अपनी भाभी से अमुक-वस्तु तो ले आ। वह भी जाकर कहता है—"भाभी! भाईजी ने अमुक-वस्तु माँगी है! वह भी घूँघट की ओट में से पुचकार कहती है—लल्ला, ले जाओ। इसे अपने भैयाजी को दे देना। अच्छा देखो! यह लड्डू तुम खा लेना।"

क्षणभर में माता, भाई, भौजाई,बाबा सब कुछ बन गये। अब दूसरे कोई यात्री इस यात्री-समूह के साथ कुछ अन्याय करते है, समूहकी किसी स्त्री के ऊपर व्यंग करते हैं या उनके स्थान के समीप सोते हैं तो सब मिलकर लड़ते हैं—हमारे स्थान पर तुम क्यों बैठ गये?

हमारे आदमियों से तुमने यह बात क्यों कह दी ? क्षणभरमे अपने होगये ! पूर्णिमाको गंगा स्नान किया, मेला तितिर-बितिर हुआ। कौन किसका भाई और कौन किसकी भौजाई ? तुम अपने घर—हम अपने घर। फिर उनकी याद भी नहीं आती। प्याऊ पर बहुतसे लोग एकत्रित हो जाते हैं—पानी पिया; सब चले जाते हैं। गंगा जी के घाट पर पार होने को बहुत से पुरुष जुट जाते हैं, पार होते हैं—अपने-अपने गन्तव्य स्थान को चले जाते हैं। इसमे न कोई किसी का शत्रु है न मित्र, पिता है न पुत्र, मिथ्या-कल्पना है ! अज्ञानजनित-मोह है। माया का चक्कर है। ज्ञानी-पुरुष को भूल कर भी इस माया-जालमे न पडना चाहिये। उसे नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अविनाशी-श्रीहरि ही की ओर सदा-सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। वे न मरते हैं, न जन्म लेते हैं। उनमे क्षय नहीं, वृद्धि नहीं, ह्रास नहीं, विकास नहीं। वे तीनो-कालों में समभाव से अवस्थित हैं।"

पुरोहित ने कहा—"तब महाराज ! जन्य-जनक का सम्बन्ध तो व्यर्थ ही हो गया ?"

उपेक्षा के स्वर मे मुनि ने कहा—"अजी विप्रवर ! कौन जन्य—कौन जनक ? ये सब मिथ्या कल्पनायें हैं। एक बीज से अनेकों बीज उत्पन्न हो जाते हैं, उन अनेकों बीजों में भी पृथक-पृथक अनेकों को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। बहुत बीजों में से तो बीज उत्पन्न होते है, बहुतों से नहीं भी होते। यह तो गुण-प्रवाह है। इसमे कोई जन्य-जनक नहीं। इसी प्रकार भगवान की माया से प्रेरित होकर प्राणियों से अन्य प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनसे फिर और होते तथा नष्ट हो जाते हैं। यह तो गोरख-धंधा लगा ही रहता है। आत्मा का इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं।"

इतना कहकर मुनि राजा को ही सम्बोधित करके कहने

लगे—"राजन्! तुम इतने बुद्धिमान् होकर किसके लिये इतना शोक कर रहे हो? अजी, हम-तुम तथा और भी जो ये इतने चराचर-प्राणी वर्तमान हैं—वे न पहिले कभी थे,न अब हैं और न आगे होंगे! यह सब तो मिथ्या-कल्पना है, गन्धर्वपुर की रचना है। सीपी मे रजत का भान है, टेढ़ी-मेढ़ी रस्सीमे सर्प की मिथ्या-प्रतीति है। श्रीहरि ही सत्य हैं, वे ही त्रिकाल-अबाधित हैं। तुम सत्य की शरण लो, मिथ्या कल्पनाओं मे मत भटको।"

इस पर पुरोहित बोले—"भगवन्! जब यह सब कुछ है ही नहीं, तो प्राणियों का जीना मरना, सृष्टि का उत्पन्न होना, पालन होना तथा प्रलय हो जाना यह सब क्या है?"

हँसते हुए अङ्गिरा मुनि बोले—"विप्रवर! यह सब उन सर्व-भूतपति-अजन्मा-सच्चिदानन्द-परमेश्वर की क्रीड़ा मात्र है। यद्यपि उन्हे कोई इच्छा नहीं है! वे सर्वदा निरीह और निस्पृह हैं, फिर भी बालवत्-खेल-खेल मे ही इन खिलौने रूप परतन्त्र-प्राणियो से अन्य-प्रणियों की सृष्टि-सी कराते हैं, उन्हीं से पालन कराते हैं और फिर काल-रूप से संहार भी करा लेते हैं। वास्तव मे इनका कोई प्रयोजन नहीं! विनोद के अतिरिक्त इनमे कुछ भी सत्यता नहीं। परस्पर मे ऐसे शतरंज की गोटे—दूसरी गोटों को हराती हैं, जिताती हैं, उन जड-गोटों में हराने-जिताने की शक्ति कहाँ है? जब तक चैतन्य-जीव बुद्धि द्वारा उन्हें उठाकर न रखे इस प्रकार एक देह का दूसरे देह से संयोग कराकर—रज वीर्य मिला कर—तीसरे देह को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार से यह चक्र चलता रहता है। इन मे उत्पन्न कराने वाला ही नित्य है—सत्य है। जो उत्पन्न होते हैं वे तो मिथ्या हैं?"

पुरोहितने कहा—"भगवन्! यह बात भली प्रकार समझ में आई नहीं।"

अङ्गिरा-मुनि बोले—'देखो! घडा, सकोरा, दीपक, ये सब मृत्तिका से ही तो बनते हैं। चाहे कितनी भी आकृतियाँ पृथक्-पृथक् हो जायँ, उनके कितने भी भिन्न-भिन्न नाम रख दिये जायँ, सब मिथ्या हैं, सब नाशवान् हैं, एकमात्र मृत्तिका ही सत्य है। वही तीनों-कालों में रहती है। घडे बनने के पूर्व भी मिट्टी थी, जब वह मिट्टी घडे के आकार मे परिणित हो गई तो उसका मृत्तिकापन चला नहीं गया, वह ज्योंका त्यों मृत्तिका बनी रही! घडे का आकार नष्ट हो गया फिर भी मृत्तिका ही बनी-बनाई है। घडे के पूर्व भी मिट्टी थी, अत मे भी मिट्टी ही हो गई। जिस समय नाम रूप की उपाधि से मृत्तिका के स्थान मे घट नाम से प्रसिद्ध हो गई उस समय भी उसमे से मृत्तिकापन हटा नहीं क्योंकि वह नित्य है। नाम रूप मिथ्या है! जाति और व्यक्ति पृथक् पृथक् नहीं है। केवल कल्पना से हमने इनमे पृथकत्व स्थापित कर लिया है। जैसे घटत्वादि जाति तथा घट आदि व्यक्ति का विभाग, व्यवहार मे बनावटी है उसी प्रकार यह देह और देही का विभाग अविद्या कल्पित है—किन्तु है अनादि। विवेक के द्वारा ही इस अविद्याजनित कल्पना का नाश किया जा सकता है।"

शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज चित्रकेतु ने जब अङ्गिरा मुनि के ऐसे गूढ ज्ञानमय वचन सुने, तब तो उन्हें कुछ-कुछ चेत हुआ। राजा विवेकी थे, सत्सङ्गी थे। महत्पुरुषों की उन्होंने चिरकाल तक श्रद्धा से सेवा की थी, यह तो एक निमित्त-विशेष से उन्हे मोह हो गया था। जब मुनि ने अकाट्य-युक्तियों द्वारा इस दृश्य-प्रपच को, अज्ञान जनित मोह का कारण बताया—तब तो राजा को कुछ-कुछ ज्ञान हुआ। उन्हे जो असह्य-मानसिक वेदना हो रही थी, वह कुछ कम हुई। अब तक वे भूमि

संज्ञाहीन होकर लेट रहे थे, अब वे उठकर बैठ गये। उनका मुख-मलिन हो रहा था, नेत्रों से निरन्तर झर-झर आँसू बह रहे थे। राजा ने अपने हाथों की हथेलियों से अपने लाल-लाल नेत्रों को रगड़कर बहते हुए आँसुओं को पोंछा। सामने बैठे हुए दोनों-मुनियों को प्रणाम किया और उनको सम्बोधित करते हुए शोक के कारण रुद्ध हुई वाणी से उनसे कुछ पूछने के लिये उद्यत हुए।"

छप्पय

हैं निरीह अखिलेश अजन्मा भूमा श्रीहरि।
शिशु सम खेलें सदा योगमाया आश्रय करि॥
रचैं जीव तें जीव जीव तें पुनि मरवावैं।
कबहूँ जग करि जगैं कबहुँ लय करि सो जावैं॥
नहिं त्रिकाल-बाधित अजर, अमर नित्य प्रभु जगत्पति।
तजि तिन पद भ्रमवश करहिं, अज्ञ जगत महँ मोह रति॥

—:❀:—

महामुनि-अङ्गिरा द्वारा राजा को ज्ञानोपदेश

(४२६)

सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः ।
गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥
दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः ।
कर्मभिर्ध्यायतो नाना कर्माणि मनसोऽभवन् ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० १५ अ० २३-२४ श्लो०)

छप्पय

मुनि सचेत नृप भये मुनिन सन बोले बानी ।
को हैं दोनों आप परम तेजस्वी ज्ञानी ॥
कहैं अङ्गिरा—"भूप ! अङ्गिरा मोकूँ जानों ।
ब्रह्माजी के पुत्र इन्हें नारद मुनि मानों ॥
ज्ञान देन आये उभय, आप शोक-सन्तप्त हैं ।
सोभे नाहिँ मोह भ्रम, जे नर भगवद्भक्त हैं ॥"

जो—जिनका सहज स्वभाव है यदि वही किसी विशेष कारण-वश विपरीत-सा हो जाय, तो कुछ काल में वह स्वयं

❀ महामुनि अङ्गिरा, महाराज चित्रकेतु को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"हे शूरसेनाधिप राजन् ! जितनी भी ये राज्यादि-सम्पत्तियाँ हैं, स्वप्न के द्वारा, माया के द्वारा और मन के द्वारा कल्पित-पदार्थों के समान असत्य हैं एवं ये सभी शोक, मोह और भय को देनेवाले हैं ।

ही प्रकृति में अवस्थित हो जाता है। जल का सहज-स्वभाव है—शीतल! यदि वह अग्नि के अथवा ज्येष्ठ वैशाख के सूर्य की गरमी से उष्ण हो जाय तो कुछ कालमे पुनः शीतल हो जायगा। जो सदा साधु-सेवा और सत्संग मे सलग्न रहते हैं, यदि वे किसी घोर-विपत्ति मे पडकर अपने स्वभाव के विरुद्ध आचरण करें तो बोध कराने पर वे फिर सम्हल सकते हैं। साधु-सेवा, साधु-सग, साधु की शिक्षा कभी व्यर्थ नहीं जाती! अंतर इतना है, कि पात्र-भेद से कहीं तो वह तुरत फलवती हो जाती है, कहीं कालान्तर मे अपना परिणाम दिखाती है। कुछ बीज तो ऐसे है जो पृथिवी मे पडते ही कुछ दिनो मे फल-फूल देने लगते है और कुछ ऐसे भी बीज है कि बहुत समय तक पृथिवी में ज्यो के त्यो पडे रहते है, समय आने पर—अनुकुल परिस्थिति के होने पर उनमे अकुर उत्पन्न होता है। राजा-चित्रकेतु पुत्र-शोक मे इतने सन्तप्त हुए कि अपने साधु-स्वभाव को भूल ही गये। जब उन्हे भगवान अङ्गिरा ने बोध कराया तब वे कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अङ्गिरा-मुनि के तत्व-ज्ञान से परिपूर्ण पुनीत-वचनों को सुनकर महाराज-चित्रकेतु उनसे पूछने लगे—"महाभाग! आप दोनो कौन हैं? कहाँ से पधारे हैं? इस समय आपने इस दीन-हीन, मति-मलीन, पामर-

---

गन्धर्व-नगरी के समान ही ये मिथ्या हैं। न होनेपर भी दीखते हैं। दृश्य-जगत् के सभी पदार्थों की इस मन ने ही कल्पना कर ली है, क्योंकि जैसे ये दीखते हैं—वह इनका वास्तविक रूप नहीं है। इसलिये कभी दीखते हैं और कभी नहीं दीखते। जो लोग कर्म-वासना के द्वारा विषयों का चिन्तन करते हैं, उन्हीं के मन मे नाना-प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं।"

प्राणी पर ऐसी अहैतुकी-कृपा कैसे की ? आपकी गूढ़ ज्ञानमय-बातों को सुनकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप कोई महान्-ज्ञानी, परम भगवद्भक्त, राग-द्वेष, मोह-ममता से सर्वथा रहित परम-तत्वज्ञानी महान से भी महान ऋषि हैं। आप दोनों ने अवधूतों का सा वेष बना रखा है, वास्तव में आप कोई सिद्ध हैं !"

इस पर हँसकर अङ्गिरा मुनि ने कहा—"तुमने हममें ऋषियों के कौन से चिन्ह देखे ?"

राजा ने कहा—'प्रभो ! चिन्ह न भी हों तो भी आप साधारण भिक्षुक नहीं। आपने अपना यथार्थ स्वरूप छिपा रखा है ! बहुत से भगवान के एकनिष्ठ-भगवद्भक्त, ज्ञानी-ब्राह्मण अपने स्वरूप को छिपाकर छद्मवेष से इस अवनि पर पर्यटन करते रहते हैं। कभी वे अवधूत का वेष बना लेते हैं, कभी अपने को पागलसिडी प्रदर्शित करते हैं, कभी उन्मत्त या पिशाच के समान आकृति बना लेते हैं। उनका काम यही होता है कि, दयावश मुझ जैसे मूढ़मति-पुरुषों को अपनी अहैतुकी-कृपा द्वारा संसार से पार पहुँचाते रहते हैं। बहुत से नित्य-सिद्धों के तो मैंने नाम सुने हैं, जो सृष्टि के अंत तक जीवित रहकर लोकों में स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करते रहते हैं। उनमें सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन, नारद, अंगिरा, भृगु, देवल, असित, भगवान-वेदव्यास, मार्कण्डेय, गौतम, वशिष्ठ, भगवान परशुराम, कपिल, श्रीशुक, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातू, कर्ण्य, आरुणि, लोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, अत्रिमुनि, पतंजलि, वेदशिरा, बोधायन मुनि, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कौसल्या, श्रुतदेव, और ऋतध्वज इतनों के तो मैं नाम जानता हूँ। इनके अतिरिक्त भी बहुत से सिद्ध-महापुरुष हैं जो बिना कर्म

के स्वेच्छानुसार शरीर धारण करके इधर-उधर घूमा करते हैं। मुझे तो प्रतीत होता है आप इन्हीं में से कोई हैं। अन्य विषयों में आसक्त हुए मुझ मूढमति को तत्त्वज्ञान का उपदेश करने आप कृपावश पधारे हैं। अज्ञानान्धकार में पड़े हुए मुझ पशु को ज्ञानालोक दिखाने आये हैं, संसार-सागर में मोह-रूपी मगर के मुख में जाते हुए मुझ-अभागे को हाथ पकड़कर निकालने के लिये ही बिना-बुलाये आप यहाँ आये हैं। मुझे आप अपना परिचय दें और इस विपरीत-सागर से उबारें—मैं आप दोनों ही की शरण हूँ।"

राजा की विनीत वाणी सुनकर भगवान अंगिरा-मुनि बोले—"अरे राजन्! तुम मुझे भूल गये क्या?"

राजा ने कहा—"भगवन्, इस समय पुत्र-शोक के कारण मेरी बुद्धि भ्रष्ट-सी हो गई है। अतः हे प्रभो! आप बुरा न मानें, मेरी धृष्टता को क्षमा करें। मुझे कुछ स्मरण तो हो रहा है!"

अंगिरा-मुनि ने हँसकर कहा—"राजन्! स्मरण करो मैं वही अंगिरा हूँ—जिससे तुमने पुत्र-प्रदान करने के निमित्त अत्यधिक आग्रह किया था। तुम्हारे अत्यत-आग्रह को देखकर मैंने ही तुम्हें यह पुत्र प्रदान किया था।"

यह सुनकर राजा संभ्रम के साथ बोल उठे—"हाँ-हाँ गुरु-देव! अब जान गया। मैं मूढ तो आपको संसारी-मोह में फँसकर भूल ही गया था, किन्तु आप मुझे नहीं भूले—यही मेरे लिये अत्यंत कल्याणकारी बात है। संसारी-जीवों का भूल जाना तो स्वाभाविक है, किन्तु आप कैसे भूल सकते हैं! हम जैसे संसारी माया-मोह-रूप पंक में फँसे प्राणियों की आप जैसे संत ही तो गति हैं। ये दूसरे महापुरुष कौन हैं?"

अंगिरा-मुनि बोले—"इनको भी भूल गये ? ये मेरे भाई—ब्रह्मपुत्र देवर्षि-भगवान नारद हैं।"

इतना सुनते ही राजा उठकर दोनों-मुनि के चरणों में गिर-

कर फूट-फूटकर रोते हुए कहने लगे—"हे अकारण-कृपा करने वाले मुनियो ! मुझ-मूढ़मति को इस शोक-सागर से निकालिये।"

राजा के ऐसे विनीत-वचन सुनकर अत्यंत ही स्नेह के साथ महामुनि-अंगिरा बोले—"राजन् ! ऐसी अधीरता आपके अनुरूप नहीं है। देखिये—कैसी भी विपत्ति क्यों न पड़ जाय, भगवद्भक्त कभी विचलित नहीं होते, वे दुख में अधीर नहीं हुआ करते। आप पुत्र-शोक-मोह रूप दुस्तर-अज्ञानांधकार में निमग्न थे, इसीलिये उससे उद्धार करने के निमित्त हम-दोनों यहाँ आये है। आप हमारी बातों को श्रद्धापूर्वक-श्रवण करें। आप भगवद्भक्त और प्रभु के प्यारे हैं ! आपको इस प्रकार रोना—दुख करना, अपने आपको भूल जाना उचित नहीं। आप परमार्थ-तत्व के अधिकारी हैं, उत्तम-मुमुक्षु हैं। मैं आपको ज्ञान-प्रदान करने ही आया हूँ।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"प्रभो ! उसी समय आपने मुझे ज्ञानोपदेश क्यों नहीं कर दिया ? तभी ज्ञान हो जाता तो ये दुख के दिवस क्यों देखने पडते ! इस विपत्ति के सागर में इस प्रकार क्यों निमग्न होना पड़ता ?"

इसपर महामुनि-अंगिरा बोले—"राजन् ! मैं आया तो था उस समय आपको ज्ञानोपदेश ही करने, किन्तु उस समय मैंने देखा आपकी-सम्पूर्ण चित्त की वृत्ति पुत्र-प्राप्ति के निमित्त लगी हुई है। उस समय सुत की ही तुम्हारी उत्कट-अभिलाषा समझकर मैंने तुम्हे पुत्र ही दिया। उस समय मैं ज्ञानोपदेश देता तो वह व्यर्थ होता, आप उसे ग्रहण करने में असमर्थ होते। इसलिये मैं बिना ज्ञानोपदेश किये ही चला गया। अब आप पुत्र-जनित दुख का अनुभव कर चुके, अब आप समझ गये कि; ये पुत्र, दारा आदि परिणाम में दुख ही देने वाले हैं !

अब आप ज्ञानोपदेश ग्रहण कर करने के अधिकारी हुए हैं, इसलिए नारदजी को लिये हुए मैं तुम्हारे समीप आया हूँ। अब तो आपने देख लिया न कि पुत्रवालों को कितने कितने कष्ट सहने पड़ते हैं। ये पुत्रादि दूर से देखने में ही सुखकर प्रतीत होते हैं—जैसे दूर से पर्वत अच्छा दीखता है, उसके ऊपर चलो—उसकी कटकाकीर्ण झाड़ियों में प्रवेश करो, तब उसकी दुर्गमता का पता चलेगा। देखो, पुत्र के जन्म से मृत्यु पर्यन्त कष्ट ही कष्ट है। पैदा होते समय माता को महान कष्ट। पालन करने में प्रतिपल-कष्ट, बड़ा हुआ तो पढ़ाने-लिखाने में—विवाह करने में कष्ट। अयोग्य निकल गया तो उसकी बुरी बातों से सदा हृदय जलता रहता है, सुयोग्य हुआ तो सदा उसके शरीर की चिन्ता बनी रहती है। साराश यह कि—निरतर उससे कष्ट ही कष्ट है। यदि अकाल में मृत्यु हो गई तब जो कष्ट होता है, उसका अनुभव तो आप कर ही रहे हैं।

जो बातें पुत्र के सम्बन्ध में हैं, वे ही अपने शरीर तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाली स्त्री, धन-सम्पत्ति, शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शवाले भोग्य-पदार्थों के विषयमें तथा राज्यवैभव, पृथिवी, राज्य, सेना, कोष, नौकर चाकर, मंत्री-आमात्य तथा बंधु बान्धव, सुहृद्गण और स्नेहियों के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिये। ये सभी चलायमान हैं, अशाश्वत और नाशवान् हैं।"

राजा ने कहा—"भगवन्! ये जो हमें नृत्य-गीत करनेवाले गायक, सुन्दर-सुन्दर रूपवाले पदार्थ लड्डू—पेड़ा बरफी, जलेबी, खुरमा, नुक्ती, खीर, मालपुए आदि खाद्य पदार्थ, दुग्ध, दही, घी, रस, आदि पेय पदार्थ, चटनी आदि लेह्य पदार्थ, आम आदि चोस्य-वस्तुएँ, भाँति भाँति के पुष्प, इत्र, सुगंधित तैल आदि गन्धवाले पदार्थ, गद्दा, तकिया, कामिनी, सुखद-वस्त्र आदि

सुखकर पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, फिर इनमें सुखानुभूति क्यों होती है ?"

यह सुनकर अङ्गिरा-मुनि बोले—"राजन् ! यही तो भ्रम है। ये जो पदार्थ जिन्हें आप प्रत्यक्ष बता रहे हैं, वास्तव में कुछ हैं ही नहीं। इनका अस्तित्व तक नहीं।"

राजा ने कहा—महाराज ! यह कैसे हो सकता है, जिन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं, नित्य व्यवहार करते हैं, इनके व्यवहार से सुख-दुख का अनुभव भी होता है, फिर आप इनका अस्तित्व ही क्यों उड़ाये देते हैं। प्रत्यक्ष तो सबसे बड़ा प्रमाण है।"

अंगिरा-मुनि ने कहा—"राजन् ! आप प्रत्यक्ष किसे कह रहे हैं ! जिन चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा आप प्रत्यक्ष करते हैं, वे भी तो असत् हैं। रही देखने की बात सो गन्धर्व-नगर भी तो दिखाई देता है, क्या वह सत्य है ? इन्द्रधनुष भी तो रंग-बिरंगा प्रत्यक्ष दीखता है ! क्या कोई ऐसा रंग-बिरंगा-धनुष आकाश में लटक रहा है ? आकाश भी तो नीला-नीला प्रत्यक्ष दीखता है, क्या नील-रंग मे रंगा कोई बड़ा-तवा गगन मे लगा हुआ है ? रही प्रत्यक्ष-अनुभव की बात ! सो स्वप्न मे तो वस्तुएँ प्रत्यक्ष होती ही हैं। स्वप्नमे हाथी-घोड़े प्रत्यक्ष दीखते हैं—वे हमे मिल जायँ तो सुख होता है, हमें कोई कष्ट दे—सिर काटे तो दुख होता है, विषय-सुख सम्बन्धी कोई वस्तु मिलती है तो उसके उपभोग में प्रत्यक्ष-सुख का अनुभव होता है। मनसे हम बहुत से मनोरथ करते हैं—तन्मय होकर बड़ी-बड़ी सुखद-कल्पनायें करते हैं—ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे, यह सुख भोगेंगे, वह आनन्द लूटेंगे। जिस समय मन के रथ पर चढ़कर ये सुखद-कल्पनायें करते हैं; सुख होता है यदि दुखद-कल्पना करते है दुख होता है। गन्धर्व-नगर की वस्तुएँ स्वप्न तथा मनोरथ की वस्तुएँ न होने पर भी उनका

स्वप्नादि में, अस्तित्व विहीन अनित्य वस्तुओं से संयोग होने पर सुख-दुख का अनुभव तो होता ही है। ये सब मनोकल्पित-मिथ्या-पदार्थ हैं। ये नाश वान् और परिवर्तनशील हैं, क्योंकि बिना वास्तविक-स्वरूप के ही ये सब दिखाइ दे रहे हैं। इसीलिये आज कुछ दीखते हैं और कल कुछ।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन्! ये सुख-दुख सभी को होते हैं—सभी के सचित-कर्मों को बढाते हैं?"

इसपर अंगिरा-मुनि ने कहा—"राजन्! यह बात नहीं। ज्ञानी-पुरुष का द्वैतभाव नष्ट हो जाता है, वह तो—जो भी करता है, वासना-रहित होकर करता है। वह तो सोचता है, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के ही अर्थ विषयोंमे प्रवृत्त हो रही हैं,मेरा इनसे क्या सम्बन्ध? इसीलिए वह किसी कर्म मे लिप्त नहीं होता। उसके सचित-क्रियामाण सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं! किन्तु जो कर्म-वासना में प्रेरित होकर विषयों का चिंतन करते हैं उन्ही के मन से नाना प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं,अतः इन असद्-पदार्थों मे से सद्बुद्धि का त्याग कर देना चाहिये। इन अनित्य पदार्थों को भूलकर भी नित्य न समझना चाहिए, परिणाम में दुखद सिद्ध होने वाले विषयों से कभी सुख बुद्धि न करनी चाहिए।"

इस पर आश्चर्य में पड़कर महाराज चित्रकेतु ने पूछा—"प्रभो! जब जीवात्मा सुख दुख से रहित है, तो इसे किस कारण से सुखी-दुखी होना पडता है?"

इस पर अंगिरा-मुनि बोले—"राजन्! यह जो मन सहित ग्यारह-इन्द्रियों वाला पचभूतात्मक सूक्ष्म-देह है, यही जीवात्मा को विविध-प्रकार के क्लेश और सतापों को भुगाता है। इसीलिए तुम स्वस्थ होकर शात-चित्त से विचार करो—इन ससारिक-

पदार्थों मे से आसक्ति निकाल दो। जैसे स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं; वैसे ही ये भी सब दीखने वाले पदार्थ मिथ्या हैं। रात्रि का स्वप्न तो प्रातःकाल मिथ्या प्रतीत होने लगता है, किन्तु यह जागृत का स्वप्न बिना ज्ञान हुए सत्य-सा ही सदा दिखाई देता है। लोग इस स्वप्नमें पडे-पडे चौरासी लाख योनियों मे घूमते रहते हैं। इसलिये अब तुम बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध करो। यह शरीर—मैं हूँ, शरीर से सम्बन्ध रखने वाले स्त्री, पुत्र, परिवार, राज्य, धन, गृह ये सब मेरे हैं—इस बुद्धि को त्याग दो। आत्मा के यथार्थ-स्वरूप का ज्ञान, वैराग्यपूर्वक विचार करके इस द्वैत-भ्रम मे जो नित्य बुद्धि हो गई है इसको छोड़ दो। इस प्रकार तुम आत्मचिंतन करोगे, तो समस्त शोक-मोह को भूलकर परम शांति-लाभ करोगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान-अंगिरा-मुनि राजा चित्रकेतु को आत्म और अनात्म-पदार्थ का भेद बताकर चुप हो गए। उनका संकेत पाकर अब भगवान नारदजी राजा से कुछ कहने को प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

को कलत्र, को मित्र, पुत्र को काको भाई।
जगके सब सम्बन्ध अन्त महँ अति दुखदाई॥
सम्पति सब ऐश्वर्य, विषय-सुख, राज, कोष, धन।
पृथवी, सेना, भृत्य, सुहृद् आमात्य बन्धुगन॥
स्वप्न समान अनित्य ये, शोक मोह भय देहिँ दुख।
तजो द्वैत भ्रम-जाल कूँ, तब पाओ नृप नित्य-सुख॥

श्रीनारदजी द्वारा राजा को शिक्षा-दीक्षा

(४२७)

एतां मन्त्रोपनिषद् प्रतीच्छ प्रयतो मम ।
यां धारयन्सप्तरात्राद्द्रष्टा सङ्कर्षणम्-प्रभुम् ॥१

(श्री भा० ६ स्क० १५ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

कह्यो अङ्गिरा ज्ञान, फरि बोले नारद मुनि ।
देहुँ मन्त्र उपनिषद् ताहि नृप सावधान सुनि ॥
जगके सब सम्बन्ध सग तन केइ जावें ।
नाता—पत्नी बने पिता पुनि पुत्र कहावें ॥
यों कहि मृतक कुमार कूँ, मुनि जीवित सो कार दयो ।
दुखित-भूप तें जीव ने, आत्मज्ञान अतिप्रिय कह्यो ॥

जीव तो कर्माधीन होकर ससार मे भटकता है। उस भटकने में सयोगवश बहुतों से सम्बन्ध हो जाता है, कालान्तर में उनको भूल जाता है। उसे तो कर्मों का फल भोगना है, वासनाओं के पीछे-पीछे चलना है। एक सेठ है, धन के लिये

---

१ श्रीनारदजी राजा चित्रकेतु से कह रहे हैं—"राजन्! मैं तुम्हें इस मन्त्रोपनिषद् का उपदेश देता हूँ, तुम इसे सयत चित्त होकर ग्रहण करो। इसे यदि तुम सात रात्रि धारण करोगे तो तुम साक्षात्-सङ्कर्षण-प्रभु के दर्शन पाओगे।"

वह नाना-देशों में जाता है; नाना-लोगों से सम्पर्क रखता है, किसी से क्रय करता है; किसी को विक्रय करता है, किसी के साथ मार्ग में चलता है; किसी के घर ठहरता है और किसी से काम कराता है। कार्य कराते समय तो कैसा स्नेह प्रदर्शित करता है, कैसो घुल-घुलकर मीठी-मीठी बातें करता है! किन्तु जैसे बनिया कभी किसी का मित्र नहीं होता, उसकी मित्रता स्वार्थ की होती है, वैसे ही इस जीवरूप-बनिए की भी किसी से मित्रता नहीं। जहाँ यह शरीर छूटा कि सब सम्बन्ध छूटे। अजी, दूसरे जन्म की बातें जाने दो—जो वर्षों साथ पढ़े हैं, एक साथ खाये-खेले हैं—बड़ी घनिष्टता रही हैं वे जब दस या बीस वर्ष के पश्चात् लंब-तड़ंगे दाढ़ी-मूँछवाले होकर आते हैं तो पहिचाने नहीं जाते! फिर दूसरे जन्म में जहाँ शरीर सर्वथा दूसरा हो जाता है; कैसे पहिचान सकते हैं। जहाँ शरीर छूटा सब नाते भी छूट जाते हैं। पिता, पुत्र बन सकता है—स्त्री; माता बन जाती है, बहिन, पत्नी हो जाती है! मनुष्य से पशु बन जाते हैं। कभी देवता हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि संसारी-सम्बन्ध स्थाई नहीं। आत्मा से इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं, शरीर के साथ इनका सम्बन्ध है। जहाँ शरीर छूटा—"गोविन्दाय नमोनमः" हो गई!!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! जब भगवान अङ्गिरा-मुनि उपदेश देकर चुप हो गए, तो राजा उनके मुख की ओर देखता का देखता ही रह गया। उसने कहा—"तब भगवन्! मैं क्या करूँ?"

इस पर अंगिरा-मुनि ने कहा—"राजन्! गुरु के बिना उद्धार नहीं। तुम्हारे सौभाग्य से सर्व-विद्याओं के आचार्य—ब्रह्मपुत्र भगवान-नारदजी स्वयं ही यहाँ उपस्थित हैं! तुम

इनके शरणापन्न हो जाओ—इनसे मंत्र-दीक्षा ले लो। मंत्र-दीक्षा देकर फिर ये तुम्हे शुभ-शिक्षा देंगे। इनकी शिक्षा को शिरोधार्य करके तुम उसी के अनुसार आचरण करोगे तो तुम्हें शान्ति की प्राप्ति होगी, तुम मुक्त हो जाओगे।"

भगवान-अंगिरा की आज्ञा मानकर महाराज-चित्रकेतु नारदजी के शरणापन्न हुए और उनसे मंत्र-दीक्षा देने की प्रार्थना की। नारदजी कनफूंका साधारण-गुरु तो थे ही नहीं कि जो भी सामने आया—कान फूंक दिए! चेले के कान में कह दिया—"कानाबाती कुर्रु, तू चेला मैं गुर्रु" वे तो शिष्य की परीक्षा करके—उसके अधिकार को समझकर—जैसे को तैसा उपदेश देनेवाले गुरु थे। उन्होंने सोचा—"इसे यथार्थ-वैराग्य तो है नहीं। अत्यन्त-शोक होने के कारण वैराग्य है—सो भी तमोगुण के कारण। अतः इसे महान तमोगुणी देव की उपासना बतानी चाहिये। मुक्ति या तो पराकाष्ठा के घोर-सत्व मे होती है या पराकाष्ठा के घोर-तम मे। पराकष्ठा के सतोगुण में तो सत्व-मूर्ति भगवान श्रीलक्ष्मीनारायण की उपासना करके असंख्यों शान्त-स्वभाव क भगवद्भक्त इस संसार के कर्म-बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं और पराकाष्ठाके घोर-तम में मधु, कैटभ, रावण, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष आदि बड़े-बड़े बली असुर राक्षस मुक्त हुए हैं! इसलिये इसे भगवान की घोर तमोमयी संकर्षण भगवान् की उपासना बतानी चाहिये। वे इसे भक्ति भी देंगे और मुक्ति भी प्रदान कर देंगे।" यह सब सोच-समझ कर भगवान नारद राजा से बोले—"देखो राजन्! मैं तुम्हें संकर्षण-भगवान सम्बन्धी मंत्रोपनिषद् का उपदेश देता हूँ। इसे धारण करके; बिना सोये यदि तुम सात दिनों तक इसका निरंतर-जप करते रहोगे तो तुम्हें अतिशीघ्र—एक सप्ताह मे ही

भगवान-संकर्षण के दर्शन हो जायँगे।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! इस मंत्रोपनिषद् का फल क्या है?"

नारदजी ने गंभीर होकर कहा—"महाराज! इसका फल अमोघ है, यह मेरे द्वारा दिये जाने पर कभी व्यर्थ न होगी! इससे तुम्हे परमानन्द की प्राप्ति हो जायगी।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! किसी को इससे परमानन्द की प्राप्ति हुई भी है?"

इसपर दृढ़ताके स्वरमे देवर्षि-भगवान नारद बोले—"हे राजेन्द्र! पूर्वकालमें उन संकर्षण-भगवान के चरण-कमलों का आश्रय ग्रहण करके;तमोगुण के मूर्ति भगवान-शंकर तथा अन्य भी बड़े-बड़े योगी-सिद्ध आदि इस भेद-भ्रम को त्यागकर शीघ्र ही उनकी साम्यातिशयहीन-महामहिमा को प्राप्त हो चुके हैं!! इसीलिये इस मंत्रोपनिषद् का मैं तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ—तुम भी इसके प्रभाव से समस्त शोक, मोह-जनित कर्मबन्धनों को त्यागकर परमपद को प्रेमपूर्वक प्राप्त हो जाओगे। तुम इस अज्ञान-जनित द्वैतभ्रम को त्यागकर सदा के लिये सुख-स्वरूप श्रीहरि मे ही प्रतिष्ठित हो जाओगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार पहिले मन्त्र की महिमा और उसका प्रभाव बताकर नारदजी ने राजा को संकर्षणी-मन्त्रोपनिषद् का उपदेश देने का आश्वासन दिया एवं प्रत्यक्ष-जीव को बुलाकर भ्रम निवारक—शिक्षा दी।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजा के लिये भगवान-नारदने किस मन्त्रोपनिषद्की दीक्षा दी—उसे हमें भी सुनाइये।"

इसपर सूतजी बोले—"भगवन! मन्त्र का विषय बड़ा रहस्यमय है, अधिकारी-अनधिकारी सबके सामने कहा नहीं

जाता। रहस्य-वस्तु को इस ढंग से कहा जाता है कि; केवल संस्कारी-अधिकारी ही समझ सकें, अनधिकारियों की बुद्धि में बैठे ही नहीं! वे उसे गप्प-शप्प समझकर छोड़ ही दें। इस चालू कथा-प्रसंग में मैं उसे कहना नहीं चाहता। जब पृथक्मन्त्र-उपासना प्रकरण का प्रसंग होगा तो यथास्थान-समयानुसार इसका वर्णन किया जायगा। आगे फिर जैसी आपकी आज्ञा?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"नहीं सूतजी! आप जैसे उचित समझें यही ठीक है। अच्छा; दीक्षा की बात तो रहस्यमय है, नारदजी ने राजा को शिक्षा क्या दी—उसे तो सुनाइये।

इस पर सूतजी बोले—"भगवन्! नारदजी ने उसी प्रकार प्रत्यक्ष करके जीव से राजा को शिक्षा दिलाई, जिस प्रकार भगवान ने शोकातुर-अर्जुन को अभिमन्यु से शिक्षा दिलाई थी।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान ने अर्जुन को कैसे शिक्षा दिलाई थी—पहिले इस प्रसंग को हमें सुनाइये, फिर नारदोक्त-उपदेश का वर्णन कीजिये। जिससे समझने में सरलता और सुगमता हो।"

यह सुनकर सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"भगवन्! आप सब कथा के बड़े प्रेमी और रसिक हैं। आप कथा की सब पद्धति को जानते हैं। कौन-सी बात किस प्रकार कहने पर सरल और हृदयग्राही बन सकती है; इसका आपको अत्यधिक अनुभव है। अच्छी बात है—पहिले मैं आपको उसी प्रसंगको सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! अर्जुन को अपना अभिमन्यु सबसे अधिक प्यारा था। वह श्रीकृष्ण की भगिनी-सु उत्पन्न हुआ था। बड़ा ही सुन्दर, सुशील, मातृ-पितृ-

अर्जुन का वह प्रतिरूप ही था। सुन्दरता में, गुणों मे, शील-सदाचार मे तथा अस्त्र-शस्त्र विद्या मे वह अर्जुन से भी कुछ अशों मे बढा-चढा था। अर्जुन का तो वह बाहिरी-प्राण ही था। उसे जब वे देखते तभी उनका हृदय खिल उठता। यद्यपि अब वह युवा हो गया था, उसका विवाह भी हो चुका था फिर भी अर्जुन उसे अत्यंत-प्यार से बालकोकी भाँति गोदीमें बिठाकर खूब चूमते पुचकारते। वह भी सकोच और लज्जासे सिर नीचा किये हुए सकोची-शिशु के समान चुपचाप पिता की गोद मे बैठा रहता। उस समय कोई उसे देखता तो समझ भी नहीं सकता था कि-यह त्रैलोक्य-विजयी शूरवीर है। जैसा वह धर्मराज का आदर करता था वैसा ही उनके सभी भाइयों का आदर करता था। पाँचों-पांडवों में जो कोई भी उससे जो कार्य करने को कहता उसे वह बिना उत्तर दिये—तुरन्त करता। सभी का उस पर समान स्नेह था, किन्तु अर्जुन की तो वह आत्मा ही था।

महाभारत के युद्ध में शत्रुओं ने उसे अन्याय से रण के नियम के विरुद्ध—घेरकर मार डाला। इससे पाँचों पांडवों को ही नहीं—समस्त सेना को महान दुख हुआ। अर्जुन की दशा तो अत्यत शोचनीय हो गई। उसने अपना धनुष उतारकर रख दिया, तूणीरों को शरीर से पृथक् कर दिया। श्रीकृष्ण के सम्मुख घुटने टेक दिये और नेत्रों से शोकाश्रु बहाते हुए कहने लगा—"प्रभो! बस हो गया—अब मैं युद्ध न करूँगा। अब युद्ध करूँ भी तो किसके लिये। पुत्र को मरवाकर उसके रक्त से रजित-राज्य को लेने की मेरी इच्छा नहीं है!!"

अर्जुन के वचनों में दृढ़ता थी, यह युद्धारम्भ मे की हुई शंका के समान नहीं थी! जिसे भगवान ने गीता का ज्ञान देकर शांत कर दिया था। यह निश्चय तो अटल था भगवान ने

भाँति-भाँति से उसे समझाया, अनेक दृष्टांत दिये, मृत्यु को अनिवार्य बताया, कर्मों की गहनगति समझायी, प्रारब्ध की ध्रुवता पर बल दिया, सब कुछ किया, पूरी शक्ति लगाकर समझाना चाहा, किन्तु अर्जुन अपने निश्चय से टस से मस नहीं हुए। उन्होंने युद्ध करना स्वीकार नहीं किया।"

तब सर्वान्तर्यामी भगवान् बोले—"अच्छी बात है, तू चाहता क्या है? किसी भी प्रकार युद्ध करेगा।"

अर्जुन ने दृढ़ता के स्वर मे कहा—"हाँ, यदि अभिमन्यु मुझे मिल जाय, तो मैं युद्ध कर सकता हूँ। युद्ध ही क्या, आप जो भी आज्ञा करेंगे वहा करूँगा।"

तब भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, चलो मैं तुम्हें अभिमन्यु से मिलाये देता हूँ, अब उसे लाना न लाना तुम्हारे अधिकार की बात है।"

चौंककर अर्जुन ने कहा—"हाँ, भगवन्! एक बार आप मुझे उससे मिला भर दे। फिर उसे लाना मनाना तो मेरे ऊपर रहा। फिर आपको कुछ भी करना न होगा। आप भले ही उससे एक शब्द भी न कहे उसे मुझे दिखा भर दे। साक्षात भेंट करा दे।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, चलो।" यह कहकर भगवान् ने अपना दिव्य रथ तैयार किया। अर्जुन को उसमें बिठाया। आज रथ पृथिवी पर नहीं चलता था वायुवेग से भी कई गुना शीघ्र वह उड रहा था मनके समान वह जा रहा था। कुछ ही क्षणों मे वह सात समुद्र सात द्वीप आदि को लाँघता हुआ लोकालोक पर्वत के भी उस पार पहुँचा। वहाँ न यह पृथिवी थी न प्रकाश। एक दिव्य सुवर्णमयी घोर अन्धकार से आवृत

भूमि थी। भगवान् के चक्र-सुदर्शन ने उस तम को मार भगाया। वहाँ अर्जुन ने देखा एक बहुत बड़ा चक्र बड़े वेग से घूम रहा है। उस चक्र के आस-पास बहुत से सुन्दर-सुन्दर बालक जैसे खेल-खेल में दौड़ा करते हैं वैसे दौड़ रहे हैं। भगवान् ने कहा—"अर्जुन! इन बालकों में से तू अपने पुत्र अभिमन्यु को पहिचान ले।" यह कहकर भगवान् उस घूमते हुए चक्र के समीप बैठ गये।

अर्जुन ने देखा, उस चक्र के चारों ओर घूमने वाले बच्चे एक से एक सुन्दर हैं, वे सभी चंचल, हँसमुख और वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हैं। कोई किसी की ओर देखता नहीं। अपनी ही धुनि में वे दौड़े जा रहे हैं, वे न तो दौड़ने से थकते हैं न हाँपते हैं। अर्जुन उन सबको बड़े ध्यान से देखते रहे। कुछ काल में उन्होंने क्या देखा कि अभिमन्यु भी उनमें सजा-बजा हँसता हुआ आ रहा है। किन्तु उसने अर्जुन को देखा भी, फिर भी बिना बोले सर्र से निकल गया। अर्जुन दौड़ा, किन्तु उस बच्चे को कैसे पा सकता था।"

भगवान् ने कहा—"भाई, देख लिया तुमने पुत्र का प्रेम?"

अर्जुन ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—'भगवन्! उसने मुझे भली-भाँति देखा नहीं। देख लेता तो अवश्य खड़ा हो जाता।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, वह तो घूम-फिरकर फिर आवेगा। अब के सही।"

कुछ काल में अभिमन्यु फिर आया। अबके तो अर्जुन

न्नद्ध थे। दौडकर उन्होंने अभिमन्यु को पकड ही तो लिया
ौर बडे प्यार से बोले—"बेटा !"

अभिमन्यु ने प्रणाम की तो कौन कह अर्जुन को देखा तक
हीं। बलपूवक अपना वस्त्र छुडाकर भाग गया।"

भगवान् ने कहा—"और भी कुछ शङ्का रह गई क्या ?"

अर्जुन का मुख फक पड गया। भगवान् के सम्मुख उसे
डी लज्जा आ रही थी। लजाते हुए वह बोला—"भगवन् ! एक
र और देख लेने दीजिये।"

भगवान् ने कहा—'नहीं, एक बार क्यों दश बार देखो। उसे
इसी के चक्कर काटने हैं।"

कुछ काल पश्चात् अभिमन्यु फिर दीखा। अबके अर्जुन ने
से कसकर पकड लिया और रोते हुए बोले—'अरे, बेटा ?
ऐसा निष्ठुर क्यों बन गया है। पहिले तो तू मुझसे बडा
गार करता था। मेरा कितना आदर करता था। अब मेरी ओर
खता भी नहीं। ऐसा निष्ठुर क्यो हो गया है मेरे लाल !
तेरे बिना जीऊँगा नहीं। तू ही मेरे जीवन का सहारा है,
क भटकते हुए अंधे की तू ही लकडी है। तू अब इस खेल को
ोड दे और मेरे साथ चल। देख तेरी माता अत्यन्त दुखी है,
सने कुछ खाया भी नहीं। तेरे ताऊ, चाचा, मामा, नाना सभी
फल हैं, एक तेरे इन कारे मामा को छोडकर।

यह सुनकर अभिमन्यु ने अर्जुन को धुडक कर कहा—
चल हट ! आया बडा बाप बनने वाला। तुझे पता है, कै बार
मेरा बेटा बन चुका है। कै बार मैं तेरा बाप बन चुका हूँ।
रे भैया, यह तो गुण प्रवाह है इसमें कौन किसका बाप कौन
सका बेटा ! जब तक शरीर है तब तक सम्बन्ध है जब तक

गोल साँचे में ढला है तब तक रुपया है। गलाकर छल्ला बना लो कोई रुपया न कहेगा। कड़े, छड़े, बिछुआ बना लो उसी नाम का हो जायगा। इस संसार चक्र में तो ऐसे ही क्षणिक सम्बन्ध हैं मेरे खेल में विघ्न क्यों डालता है? भाग जा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर अभिमन्यु शीघ्रता से अपना शरीर छुड़ाकर भाग गया। अर्जुन का भंग हुआ और आकर फिर से युद्ध करने लगा। सो, मुनि इसी प्रकार नारदजी ने भी महाराज चित्रकेतु के मरे हुए के जीवात्मा का अपनी योग शक्ति से प्रत्यक्ष बुलाया। लड़ जीवित के समान उठकर बैठ गया। तब तो सबको सुनाते नारदजी उससे कहने लगे—"हे जीवात्मन्! देखो, ये तुम पिता हैं, ये तुम्हारी स्नेहमयी माता हैं। ये तुम्हारी मौसियाँ ये तुम्हारे सब स्वजन हैं। बन्धु बान्धव हैं। तुम्हारे लिये अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं। सभी तुम्हारे वियोग में अत्य दुखी हैं। सभी रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं। भैया, तुम इन ऊपर दया करो। अपने शरीर में पुनः प्रवेश करके शेष आयु इन्हें सुखी करो। ये महाराज चित्रकेतु अब वृद्ध भी हो चले हैं ये अति शीघ्र तुम्हें राज्य सिंहासन सौंप देंगे। पृथिवी का छत्र सम्राट् बना देंगे। तुम्हारे ऊपर छत्र लग जायगा। चँवर ढुलने लगेंगे। तुम सबके ऊपर शासन करना। सब तुम्हारी आज्ञा में रहेंगे। इससे तुम्हारे माता-पिता को भी आन्तरिक सुख होगा। ये तुम्हारे आश्रय में रहने वाले मन्त्री पुरोहित भृत्य सब आनन्दित हो जायँगे। इस पर तुम पिता के दिये हुए भोगों को भोगो और इन सबको प्रमुदित करो।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! नारदजी की ऐसा बात सुन र वह जीवात्मा ठहाका मारकर बडे जोरो से खिलखिलाकर स पडा। और हँसते-हँसते सबको सुनाकर नारदजी का रणा से कुछ कहने को उद्यत हुआ।"

छप्पय

नारद बोले—जीव ! पिता माता ये तेरे।
शोकाकुल अति भये पकरि पग रोवें मेरे॥
जीवित है के राज्य विषय सब भोगो सुख तें।
अति ई दोनों विकल छुडाओ इन कूँ दुख तें॥
सुनि हँसि बोल्यो जीव वह, काके को पितु मात हैं।
सब मुँह देखे क स्वजन, सुहृद बन्धु सुत तात हैं॥

मृत पुत्र के जीवात्मा द्वारा शिक्षा

[४२८]

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु॥*
(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० ६ श्लो०

छप्पय

जीव नित्य अति सूक्ष्म प्रकाशक स्वय निरजन।
माया के गुण रोपि करे योनिनि मनरजन॥
मायिक गुण सम्बन्ध भयो दीखे मदमातो।
जब तक रहे शरीर माँहिं तब तक ई नातो॥
अगनित योनिन महँ भ्रमे, काकूँ निज पर कहिगने।
कबहू नर, पशु, देव बनि, पिता, पुत्र, भ्राता बने॥

जिनसे हम प्यार करते हैं और उनसे स्वयं भी प्यार करने आशा रखते हैं,यदि वे हमारे प्रेमको ठुकरा दें, वे हमारी सर्व उपेक्षा कर दें, तो प्रायः ऐसे समय वैराग्य हो जाता है। प्रा इसलिये कहा कि उन्हीं को वैराग्य होता है, जिनके अन्दर कु

---

* नारदजी द्वारा बुलाये जाने पर राजा के मृतपुत्र का जीवात्मा कह रहा है—"देखिये, जैसे—सोना, चाँदी, अन्नादि क्रयविक्रय की वस्तु एक दूसरे के पास, दूसरे से तीसरे के पास घूमती रहती हैं, उसी प्रकार कर्मवश जीव भी भिन्न-भिन्न योनियों में घूमता रहता है।"

आध्यात्मिक सस्कार रहते हैं । जो माया मोह मे अत्यत ग्रसित हैं, उन्हे बार बार तिरस्कृत और अपमानित होने पर भी वैराग्य नहीं होता। उनकी असद् मे सद् बुद्धि बनी ही रहती है। यह जीव माया मोह मे ऐसा ग्रसित हो गया है, कि स्वय अपने प्रयत्न द्वारा इसका छूटना अत्यत ही कठिन है । श्रीहरि हा कृपा कर सत रूप मे स्वय ही आकर दयावश मार्ग बता दे, तब तो इस ससार चक्र से यह प्राणी छूट सकता है। नहीं तो बडा कठिन यह काल चक्र है।

श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन्! जब नारदजी ने राजकुमार के प्रेतात्मा को पुन बुलाकर उससे जीवित होने को कहा और माता पिता को सुखी बनाने का प्रस्ताव किया, तो वह हँस कर कहने लगा—"भगवन्! आप इन्हे मेरे माता पिता किस कारण से कह रहे हैं?"

नारदजी ने कहा—"अरे, भाई! तुम्हे इन्होंने उत्पन्न किया था। ये तुम्हारे जनक हैं,ये तुम्हारी जननी हैं।'

जीवात्मा ने कहा—"भगवन्! यदि उत्पन्न करने से ही माता पिता हैं, तो मुझे इस समय सहस्रो जन्मो की स्मृति होरही हैं। सहस्रों योनियो मे मैंने अनेकोबार जन्म ग्रहण किये हैं। उन सब योनियो में मेरे माता पिता हुए हैं। तो किस किस जन्म के किस-किस योनि वालो से मैं माता पिता कहूँ। फिर मैंने भी अनेक योनियों में अनेकों सताने उत्पन्न की हैं। ये भी अनेकों बार मेरे पुत्र पुत्री बने हैं। तब तो मैं भी इनका पिता हुआ। सब योनियों में जीव के एक ही माता, पिता, बन्धु, भृत्य होने हों सो बात नहीं। कभी पिता पुत्र बन जाता है, भ्राता साला बन जाता है, माता पत्नी हो जाती है। जाति वाले विजाती में जन्म ले लेते हैं। शत्रु मित्र बन जाते हैं। साराँश यह है कि ज्ञाति, शत्रु, मि

उदासीन, बन्धु-बान्धव ये सब बदलते रहते हैं, उलटते पलटते रहते हैं।

नारदजी ने कहा—"उलटने पलटने से क्या हुआ इस जन्म में तो तुम्हारे माता पिता ही हैं।"

जीवात्मा ने कहा—"भगवन्! हैं नहीं, थे कहिये। जब तक जिसका सम्बन्ध रहता है, तभी तक उसका उनमें ममत्व भी रहता है। ये सभी सम्बन्ध तो शरीर के साथ हैं। जहाँ शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हुआ तहाँ ममत्व भी छूट जाता है। जैसे रुपया, पैसा, मोहर, निष्क आदि सुवर्ण चाँदी के सिक्के हैं। जब तक हमारे पास हैं हम कहते हैं हमारे हैं, उन्हें प्राणों से भी अधिक सम्हाल कर रखते हैं। शक्ति भर खर्च नहीं करते। जहाँ हमारे पास से चले गये, हमारा उनमें से ममत्व भी चला गया। अब दूसरे के पास जाकर वे खो जायँ, टूट जायँ, नष्ट हो जायँ हमें कोई चिन्ता नहीं। हमारा एक घर है जब तक हमारे नाम है, हमारा उसमें ममत्व है, तभी तक उसके टूटने फूटने जीर्ण होने की चिन्ता है। जहाँ वह दूसरों के अधिकार में चला गया हमारे जाने वह टूट जाय, हम उसे अपना कहते ही नहीं। इसी प्रकार जहाँ शरीर का अंत हुआ पुराने सम्बन्धों का भी अंत हो जाता है। अब मेरा इनमें कोई सम्बन्ध नहीं।

वास्तव में देखा जाय तो जीव तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, जन्म मरण आदि से रहित है। स्वयं प्रकाश होने के कारण सबका अधिष्ठान है। यह सर्व समर्थ है, मायिक गुणों से स्वयं ही इस दृश्य प्रपंच की रचना करके इसमें स्वयं ही प्रविष्ट हो जाता है। जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला निकाल कर उसे बुनकर उसी में अपने आप किलोल करती रहती है। आत्म-स्वरूप से यह अकर्ता है, केवल बुद्धि का साक्षीमात्र है। इसके लिये

निजत्व परत्व का भेद भाव नहीं। प्रियत्व, अप्रियत्व, शत्रुता मित्रता आदि से यह रहित है। आत्मा किसी के बन्धन में नहीं वह तो कार्य कारण का साक्षी मात्र है। जो कर्ता होता है वह क्रिया के फलों को ग्रहण करता है। यह तो शुद्ध-बुद्ध होने से गुण दोष तथा क्रियाफल से शून्य रहता है। केवल उदासीन भाव से स्थित रहता है। मेरा इनका इतने ही दिन का सम्बन्ध था। सम्बन्ध अब समाप्त हो गया। अब ये कितना भी रोवें, कितने भी चिल्लावें मैं लौट नहीं सकता। काल की गति दुर्निवार है। विधाता के विधान अमोघ हैं, उनमें न राई भर घट सकता है, न तिल भर बढ़ सकता है। आप सर्व समर्थ हैं। आपने अपनी योग-शक्ति से मुझे बुला लिया, अब मुझे जाने की आज्ञा मिलनी चाहिए।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर वह जीवात्मा चला गया। राजपुत्र का शरीर पुनः मृतकवत् बन गया। अब तो राजा को चेत हुआ, 'अरे' जिसके लिये मैं इतना शोक कर रहा हूँ, जिसके निमित्त मैं इतना अधीर हो रहा हूँ, वह मुझसे इतना उदासीन है। मेरे मोह के लिये धिक्कार है, अब मैं इस शोक मोह और दुख के मूल भूत ममत्व को त्याग दूँगा अपने चित्त को समत्व में स्थापित करके इन महर्षि के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करूँगा। इस प्रकार निश्चय करके राजा ने अपने बहते हुए आँसुओं को पोंछ डाला। देह की धूलि झाड़ी बालों को सम्हाला और बालक के प्रति जो स्नेह बन्धन बँध गया था उसे काट डाला और शोक रहित होकर नारदजी के चरणों का शरण गहा।

राजा ने मुनियों से पूछा—"हे महर्षियो! अब मुझे क्या करना चाहिए?"

इस पर अंगिरा मुनि ने कहा—"राजन्! उस मृतक बालक का सर्व प्रथम और्ध्व दैहिक संस्कार होना चाहिए।"

मुनि की आज्ञा पाकर राजा ने और उनके सगोत्रियों ने उस मृतक बालक के देह का उस समय जैसा होना चाहिए तथा जैसी शास्त्रीय विधि है उसके अनुसार-और्ध्व दैहिक संस्कार किया। जैसा जैसा कुलपुरोहित तथा ब्राह्मणों ने बताया वैसा वैसा कृत्य धर्मात्मा राजा ने किया।"

जब बच्चे का संस्कार हो गया, तब उन विष देने वाली रानियों को भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ। बालक ने जो मृतक शरीर में प्रविष्ट होकर गूढ ज्ञान दिया था, उसका प्रभाव सभी पर पड़ा था, किन्तु उन रानियों को तो अत्यधिक आत्मग्लानि हुई। वैसे वे सब हृदय की बुरी नहीं थीं। सभी सत्कुलोत्पन्ना थीं परिस्थिति ने उनकी बुद्धि विपरीत कर दी। ईर्ष्या ने सौतिया डाह ने उन्हें क्रूर निष्ठुर प्रकृति का बना दिया। अब जब वैर का कारण ही समाप्त हो गया, तो उनका हृदय भी उन्हें टोंचने लगा।

उन सब ने मुनियों के जाकर पैर पकड़े और रोते २ कहा—"प्रभो! हम अभागिनियों के पाप का कोई प्रायश्चित्त हो सकता है क्या?"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मुनि तो सर्वज्ञ थे, सब कुछ जानते थे, फिर भी पाप प्रकट करने से बहुत कुछ कम हो जाता है। बहुत सा पाप निन्दा करने वालों पर चला जाता है। अतः उनके पाप को बाँटने के निमित्त अंगिरा मुनिने पूछा—"तुमसे कौन सा ऐसा पाप बन गया है, जिसके लिये तुम इतनी लज्जित और दुखी हो?"

यह सुनकर उनमें से जो सब से वाचाल थी वह बोली—

'प्रभो! आप सब कुछ जानते हुए भी हमसे पूछ रहे हैं। अतः हम बताती हैं। इस बच्चे को ईर्ष्यावश हमने ही विष देकर मार डाला है। हमारी सबकी सम्मति से ही इसे विष दिया गया है, अतः हम सब समान रूप से पाप की भागिनी हैं। यदि हमारे इस पाप का कोई प्रायश्चित्त हो सकता हो तो कृपा करके हमें बताइये। आप जो भी आज्ञा करेंगे वही हम करने को तैयार हैं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! उन रानियों की बात सुन कर मुनिवर उनके पाप का प्रायश्चित्त सोचने लगे।'

छप्पय

निज पर तें है रहित आतमा नित्य निरन्तर।
अक्रिय निर्गुण विहान सर्वगत अजर शुद्ध तर॥
साक्षी सर्व स्वतन्त्र दोष गुण हू ते न्यारो।
कर्ता भोक्ता नहीं दीपवत करहि उजारो॥
मृत कुमार को आतमा, यों कहि अन्तर्हित भयो।
सुना ज्ञानमय बात जब, तब नृपको भ्रम भगि गयो॥

विष देने वाली रानी द्वारा प्रायश्चित्त

(४२६)

बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः ।
बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम् ॥
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम् ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

जिन रानिनि विष दयो तिननि हू अति दुख कीहों ।
पूर्वजन्म को वैर विमाता बनिके लीहों ॥
मुनि के पकर पाइ पाप निज सत्य सुनायो ।
सब मुनि प्रायश्चित्त सबनि तें सविधि करायो ॥
हतप्रभ लज्जित नारि सब, यमुनाजी में न्हाइके ।
पछिताई कल्मष रहित, भईं कृष्ण गुन गाइके ॥

पाप चाहे सकल्प पूर्वक हो, इच्छा से हो, अनिच्छा से हो उसका फल तो भोगना ही पडता है, अत. कभी भूलकर भी

❀ श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"हे महाराज ! वे जो विष देने वाली रानियाँ थीं, वे बालहत्या के कारण हतप्रभ और लज्जित हो रही थीं। उन्होंने महामुनि अङ्गिराजी के भाषण को स्मरण करके, ब्राह्मणों ने जैसे बताया वैसे ही यमुना के किनारे बालहत्या का प्रायश्चित्त किया।

पाप न करना चाहिये। सदा इस बात की चेष्टा करते रहना चाहिये कि हमारे द्वारा असावधानी मे भी पाप न होने पाये। साथ ही पापी की निन्दा भी न करनी चाहिए। हम जैसी भावना करते हैं, जैसे विचारों मे निमग्न रहते हैं वैसे ही हो जाते हैं। सोच लेना चाहिए सभी स्वकर्म सूत्रों मे बँधकर विवश हुए कार्य कर रहे हैं। अच्छे बुरे सभी काम पूर्वजन्मों के संस्कारों द्वारा-प्रारब्ध से प्रेरित होकर प्राणी करता है। हम उसकी निन्दा करके उसके पापो मे भाग क्यो लगावे। क्यो मन का उनसे ससर्ग होने दे। इस सबको भगवान् की क्रीडा ही क्यों न समझें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब वे विष देने वाली रानियाँ अपने कर्म पर अत्यंत लज्जित हुईं, तब महामुनि अङ्गिरा ने उनके पाप का प्रायश्चित्त बताया। उसके कराने की विधि ब्राह्मणों को समझाई वे सबकी सब महलो को छोडकर कल-कल निनादिनी यमभगिनी कृष्ण प्रिया कालिन्दी के तट पर जाकर व्रत उपवास करने लगी और ब्राह्मणो के बताये हुए प्रायश्चित्त कर्मों को अव्यग्र भाव से करने लगीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो पाप हो जाने पर जिसे हार्दिक सच्चा पश्चात्ताप होता है और उसका शास्त्रीय रीति से प्राय-श्चित्त करता है उसका वह पाप कुछ काल मे छूट जाता है।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"महाभाग! सूतजी! हमे इस बात का आश्चर्य हो रहा है, कि रानी इतनी सावधानी रखती थी, उसके सम्मुख कुमार पर विष का प्रयोग किया ही कैसे गया। फिर एक दो नहीं लाखो रानियाँ थीं, वे सबकी सब सत्कुलोत्पन्ना राजकुमारी थीं। उनमे से एक ने भी इस निन्दित कर्म का विरोध क्यों नहीं किया? जब बात इतने कानो मे

पहुँच गई, तो राजमहल में भी यह बात छिपी कैसे रही ? रानी तक यह बात पहुँची क्यों नहीं ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"भगवन् ! आपकी इन सब बातों का मैं एक ही बात में उत्तर दिये देता हूँ, कि जैसी भवितव्यता होने को होती है वैसी होकर रहती है। लाख प्रयत्न करो भवितव्यता अन्यथा नहीं होती। जैसा होने को होता है, वैसा ही वातिक बन जाता है, वैसे ही सब साज सामान जुट जाते हैं। भगवान् वैसी ही लीला रच देते हैं। एक राक्षस था उसने घोर तपस्या की। ब्रह्माजी प्रसन्न हुए, उसने वर माँगा कि ब्रह्मलोक को छोड़कर मेरी कहीं मृत्यु ही न हो। ब्रह्माजी ने तथास्तु कह दिया। अब वह राक्षस मरता ही नहीं था। मर कर ही ब्रह्मलोक जा सकता है। पृथिवी पर मर नहीं सकता मृत्यु होना आवश्यक है। अतः भगवान् एक बड़े सुन्दर हंस का रूप बनाकर उसके सम्मुख उड़ने लगे। उस चित्र विचित्र हंस को देखकर असुर ने उसे पकड़ लिया और खेल खेल में उसके ऊपर चढ़ गया हंस उड़ा और सीधा उसे ब्रह्मलोक ले गया। वहाँ जाकर उसके शरीर का पात हो गया।

एक दूसरा असुर था, उसने वर माँगा कि जल को छोड़ कर मुझे किसी से भय ही नहीं। उसे जब यह वर मिल गया तो सदा जल से बचा रहता था, कभी भूलकर भी जल में प्रवेश नहीं करता था। जब उसकी मृत्यु निकट आई तो वह मृत्यु से बचने को ऊँचे पहाड़ की चोटी पर चला गया। उसी समय वह क्या देखता है, कि समुद्र उमड़ा चला आ रहा है, उसे प्रतीत हुआ, कि यह समुद्र इस पर्वत के शिखर तक पहुँच कर इसे डुबो देगा। असुर चारों ओर से घिर गया था, बड़ा

घबड़ाया। कहाँ तो प्राणों को बचाने आया था, कहाँ प्राणों पर आ पड़ी। उसी समय उसे बड़ा भारी द्वीप के समान डील डौल वाला एक कछुआ दिखाई दिया। असुर प्राण रक्षा के लिये उसी पर चढ़ गया। वह कछुआ और कोई नहीं था, काल स्वरूप कृष्ण ने ही यह कच्छ रूप बना रखा था। जब वह असुर बैठ गया तो कछुआ स्वामी ने एक बुडकी लगाई। गोविन्दाय नमो नमः हो गई। असुर मर गया। भगवन्! हिरण्यकशिपु ने अपने मृत्यु के कितने २ बचाव किये अस्त्र से न मरूँ, शस्त्र से न मरूँ, दिन मे न मरूँ रात्रि में न मरूँ। पृथिवी पर न मरूँ, स्वर्ग में न मरूँ, मनुष्य से न मरूँ, पक्षी से न मरूँ। भगवान् ने इन सबका बचाव करते हुए उसे नृसिंह रूप रखकर मार ही डाला। सो प्रभो! उस बच्चे की तो ऐसी ही मृत्यु बदी थी, इसीलिये बात फैली नहीं रानी भी उस समय असावधान हो गई।"

रही यह बात, कि किसी ने उस क्रूर कर्म का विरोध क्यों नहीं किया? सो ब्रह्मन! वैसा ही संयोग था जिनकी एक साथ मृत्यु बदी होती है वे देश देशान्तरों से उसी समय इकट्ठे हो जाते हैं, सब नौका पर चढ़ जाते हैं नौका डूब जाती है मर जाते हैं। इन सबका कारण होता है। अकारण कोई भी घटना नहीं होती। पूर्वजन्म मे हमने जिसका अपकार किया होगा इस जन्म मे वही हमारा भी आकर अपकार करेगा। पूर्वजन्म मे जिसे हमने मारा होगा, इस जन्म मे वही आकर हमे मारेगा। पूर्वजन्म मे इस बच्चे ने इन सब रानियों को मारा था। इनकी मृत्यु इसी के हाथों से हुई थी। ये सबकी सब बदला लेने के सङ्कल्प से साथ ही मरी थीं। प्रारब्धानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों मे प्रकट हुई। भाग्यवश ही सबकी सब फिर पुत्रहीन राजा की

पत्नियाँ बनकर एकत्रित हो गईं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पहिले जन्म में ये स्त्रियाँ कौन थीं। क्यों इनको इस कुमार ने मारा था?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाभाग! सभी स्त्रियाँ पूर्व जन्म में चींटियाँ थीं। लाखों करोड़ों साथ ही बिल में रहती थीं। एक दिन भगवान् के नैवेद्य के चावलों को लिये हुए ये अपने बिल में घुस रही थीं। यह कुमार भी पहिले राजकुमार ही था। यह बैठा बैठा देख रहा था इतनी चींटियों को एक साथ देखकर इसे एक कुकर्म सूझा। सम्मुख ही जल गरम हो रहा था। पानी खौल रहा था। इसने विनोद विनोद में ही गरम पानी के पात्र को इन चींटियों के बिल में उंडेल दिया। इसमें गरमी पाकर सबकी सब चींटियाँ मर गईं।

भगवान् के नैवेद्य का उन्होंने स्पर्श किया था, इस पुण्य से तो वे सबकी सब रानियाँ हुईं और अपना बदला लेने के लिये उन्होंने विष दिया। यह राजकुमार भी ज्ञानी था। भूल से उससे यह पाप बन गया। उसका संस्कार इसके हृदय पर अवशिष्ट था। उसे भोगने के लिये इसे फिर पवित्र राजकुल में जन्म लेना पड़ा। जब इन्होंने उसे विष दे दिया, तो यद्यपि उसकी अकाल मृत्यु हुई थी, फिर भी ज्ञान के कारण मुक्त हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार सभी कार्य किसी कारण से ही होते हैं। सभी जीव प्रारब्ध के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। सभी का संयोग निश्चित है। अतः किसी घटना को देखकर न तो सोच करना चाहिए न विस्मय में पड़ना चाहिये। यह जो होता है सब ठीक ही होता है। लीलाधारी की लीला है, विनोदी का विनोद है। यह मैंने

उन रानियों का वृत्तान्त सुनाया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—'सूतजी ! रानियों की बात तो हमने सुनी। अब राजा की बात सुनना चाहते हैं। उनका क्या हुआ, वे सकर्षण भगवान् की उपासना करके सिद्ध हुए या नहीं। इस वृत्तान्त को हमें और सुनाइये। इसे सुनने के लिये हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

ऋषियों को ऐसी उत्सुकता देखकर सूतजी बोले—"मुनियो ! अब मैं आपको महाराज चित्रकेतु के उत्तर चरित्र को सुनाता हूँ। आप सब सावधान होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

राजन् ! सुख दुख देइ न कोई कबहुँ अकारन।
पूर्व बैर करि यादि करें उच्चाटन मारन॥
चींटी पूरब जन्म माहिं ये सबई रानी।
क्रीडा महँ अति उष्ण कुमर ने छोड़्यो पानी॥
उष्ण तोइ के परतईं, ये सबकी सब मरि गईं।
चित्रकेतु के भवन महँ, तेईं सब रानी भईं॥

———

महाराज चित्रकेतु को विद्याधराधिपत्य की प्राप्ति

(४३०)

चित्रकेतुस्तु विद्यां तां यथा नारदभाषिताम् ।
धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहितः ॥
ततश्च सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया ।
विद्याधराधिपत्यं स लेभेऽप्रतिहतनृपः ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

रानिनि कीन्हों जाइ बालहत्या नाशक व्रत ।
नारद तें लै मन्त्र नृपति घरते निकसे इत ॥
केवल जल पी रहें सात दिन मन्त्र जपत नित ।
शोक मोह सब गयो लग्यो सकर्षण महँ चित ॥
विद्याधर पति ह्वै गये, मनुज देह ई तें नृपति ।
पहुँचे सकर्षण ! निकट, बढी योग ते विपुल गति ॥

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध गुरु की दी हुई विद्या कभी व्यर्थ नहीं जाती। उनकी बताई विधि से सावधानी के साथ किया

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि नारद की बताई हुई उस विद्या को राजा चित्रकेतु ने उनकी बताई हुई विधि के अनुसार ७ दिनों तक केवल जल पीकर एकाग्र चित्त से धारण किया इसके अनन्तर

हुआ अनुष्ठान सफल ही होता है। पात्र भेद से उसके फल मे कुछ अन्तर हो जाय, कोई अवान्तर विघ्न हो जाये, यह दूसरी बात है। किन्तु विद्या अमोघ ही होती है। इसीलिए समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण मे जाना चाहिए। इस भवनिधि को पार कराने मे समर्थ श्रीगुरुदेव भगवान् ही हैं। अन्य किसी की गति नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब राजा अपने मृतक पुत्र के सभी पारलौकिक संस्कार कर चुके और उनकी रानियों ने अपने बालहत्या रूप पाप का प्रायश्चित्त कर लिया, तो महाराज चित्रकेतु भी राज, पाट, धन, परिवार, स्वजन बन्धु बान्धवों के स्नेह को त्याग कर उसी प्रकार घर से निकल पड़े, जिस प्रकार कीचड में फँसा हाथी किसी दयालु पुरुषकी कृपासे निकल जाय।

महाराज ने सबसे पहिले सर्व पातक नाशिनी भगवती मन्दाकिनी में स्नान किया। जब वे स्नान तर्पण आदि कर चुके तब वस्त्र धारण करके सर्व प्रथम उन्होंने भगवान् अङ्गिरा मुनि तथा नारद मुनि के पादपद्मों मे प्रणाम किया। फिर अङ्गिरा मुनि ने नारदजी को अनुमति दी, कि वे राजा को मन्त्र दीक्षा दें। तब नारदजी ने ८ मंत्रों वाली गूढ़ विद्या का उपदेश दिया। राजा ने उस दीक्षा पाकर अपने गुरुदेव भगवान् नारदजी के चरणों मे सादर कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम किया।

नारदजी ने कहा—"राजन्! आप बड़ी सावधानी से इस उपनिषद् का अनुष्ठान करें, अब मैं जाता हूँ।"

पश्चात् उस मन्त्रानुष्ठान के प्रभाव से राजा को विद्याधरों का गतिहत का आधिपत्य प्राप्त हुआ। अर्थात् वे देव योनि विशेष विद्याधरों के राजा हो गये।

इतना कहकर अङ्गिरा मुनिको साथ लिए हुए भगवान नारद अपने धाम ब्रह्मलोक को चले गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अङ्गिरा और नारद मुनि के चले जाने पर राजा चित्रकेतु ने नारदजी की बताई हुई विद्या का मन्त्रानुष्ठान विधि से एकाग्र चित्त होकर बड़ी सावधानी और तत्परता के सहित अनुष्ठान किया। वे सात दिन तक न तो सोये ही और न उन्होंने कुछ खाया ही। केवल कालिन्दी के निर्मल जल को पीकर सात दिन और सात रात्रि पर्यन्त उसी मंत्रोपनिषद् का जप करते रहे।"

सात दिन के पश्चात एक बड़ा भारी आश्चर्य हुआ, बिना मृतक हुए ही, उनका यही शरीर दिव्य हो गया। वे मनुष्य से देवता हो गये। देवताओं की एक उपजाति है विद्याधर। विद्याधर बड़े ही रूपवान् होते हैं, वे आकाशचारी स्वच्छन्दविहारी देवगण सभी कामदेवके समान सुन्दर और सदा दिव्य वस्त्र भूषणों से अलङ्कृत रहते हैं। महाराज चित्रकेतु साधारण विद्याधर ही हो गये हों, सो बात नहीं। वे तो विद्याधरों के अधिपति होगए थे। उनकी सर्वत्र अप्रतिहत गति थी। सभी विद्याधरों के गणों का उन्हें आधिपत्य प्राप्त था। नारदजी की विद्या अमोघ थी, अतः वे विद्याधर होने पर भी उसका अनुष्ठान करते रहे। उसके प्रभाव से वे स्वयं साक्षात् तमोगुण की मूर्ति भगवान् संकर्षण शेष नागजी के चरणारविन्दों के समीप पहुँचे। उन्हें भगवान् धरणीधर के प्रत्यक्ष दर्शन हुए।

महाराज चित्रकेतु ने देखा सहस्रफणों वाले भगवान् सङ्कर्षण के एक फण पर सरसों के समान यह सम्पूर्ण भूमण्डल रखा हुआ है। उनके चारों ओर बड़े बड़े सिद्धेश्वर अञ्जलि बाँधे खड़े हुए हैं। उनके सहस्र फणों मे सहस्र मुकुट शोभायमान हैं।

मुकुटों मे नाना प्रकार की बहुमूल्य मणियाँ जगमगा रही हैं। मणियो के चाकचिक्य से वह पाताल विवर परम प्रकाशवान बना हुआ है। भगवान् का सम्पूर्ण श्रीअङ्ग कमल नाल के सदृश शुभ्र और तेजोमय है। उस पर दिव्य नीलाम्बर फहरा रहा है। किरीट, केयूर, कटिसूत्र, कङ्कण आदि आभूषणो की शोभा से सुशोभित उनका सम्पूर्ण श्रीअङ्ग झिलमिल झिलमिल कर रहा है। माधुरी सुधा का पान करने से उनके कमल नयन कुछ अरुण से हो रहे हैं। मुख मन्द मन्द मुस्कान से मनोहर और अत्यंत आकर्षक प्रतीत हो रहा है। भगवान् के समस्त ओठ हिल रहे हैं, वे सुमधुर भगवन्नाम का निरन्तर जप कर रहे हैं।

विद्याधर बने हुए राजर्षि चित्रकेतु ने स्नेहभरित हृदय से अपने इष्टदेव के दर्शन किये। भगवान् संकर्षण के दर्शन करते ही उनके समस्त पाप सताप नष्ट हो गये। उनके अंतःकरण मे जो भी कुछ मल अवशेष था, वह तत्काल ही नष्ट हो गया। इससे उनका अंतःकरण शुद्ध तथा निर्मल बन गया। जैसे भूखे को सुस्वाद भोजन मिल जाय, चिर वियोगिनी को अपना प्रियतम मिल जाय, अत्यंत दीन दुखी दरिद्र को जैसे सम्पत्ति मिल जाय। इन सबको जैसे प्रसन्नता होती है, उससे भी सहस्रों गुना प्रसन्नता राजर्षि चित्रकेतु को भगवान् के दर्शनों से हुई। उन्होंने भक्तिभाव से अपने प्रेम प्यासे नेत्रों में प्रेमाश्रु भरकर रोमांचित हुए और भूमि में लोटकर देवाधिदेव भगवान् संकर्षण के दिव्यचरणारविन्दो मे साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय देकर भगवान् के पादपीठ की पूजा करनी चाहिये। इसलिए स्नेहवारि से उन्होंने पादपीठ को धोकर प्रेमाश्रुओं द्वारा ही पाद्यादि कृत्य किये। पवित्रकीर्ति भगवान् आदि देव संकर्षण के चरणों को उन्होंने प्रेम

पसारा। प्रेमोद्रेग के कारण उनका कंठ रुद्ध हो गया था। इस लिये अत्युत्कट इच्छा रहने पर भी वे भगवान की स्तुति भी न

कर सके।

प्रेम का वेग जब कुछ कम हुआ, तब उन्होंने अपने को सम्हाला जब कुछ-कुछ बोलने की शक्ति प्राप्त हो गई, तब बुद्धिपूर्वक मन को समाहित करके समस्त बिखरी हुई चित्त की वृत्तियों का निरोध करके तथा बाह्य और अन्त.करण की वृत्ति को सयमन करके जगद्गुरु भगवान शेषजीकी स्तुति करने को प्रस्तुत हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राजर्षि चित्रकेतु ने जो सकर्षण भगवान की दिव्यातिदिव्य मधुरातिमधुर स्तुति की है, उसे मैं स्तुति के प्रकरण मे कहूँगा। वह स्तुति बडी ही भावपूर्ण है।

राजर्षि चित्रकेतु की स्तुति से भगवान् सकर्षण अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रसन्न होकर जो उन्हें भगवान ने उपदेश दिया उसे आप सावधान होकर आगे श्रवण करें

छप्पय

कनक मुकुट मणिजटित फणनि पै चहुदिशि चमकैं।
गौर वर्ण पै परम रम्य नीलाम्बर दमकैं॥
ककणादि कटि सूत्र मनि तें शोभा अद्भुत।
सुधापान तें अरुन नयन अति ई आभायुत॥
श्रीअनन्त दर्शन करत, बढी हृदय महँ भक्ति अति।
गद्गद् वानी त विनय, प्रेम सहित कीन्हीं नृपति॥

चित्रकेतु को भगवान सङ्कर्षण का उपदेश

[४३१]

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसंभवाम् ।
आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचिच्छमाप्नुयात् ॥१

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० ५८ श्लो०)

छप्पय

चित्रकेतु को विनयपाठ सुनि शेष सिहाये ।
तत्व ज्ञानमय गूढ वचन हितकर समुझाये ॥
दुर्लभ है नरदेह भाग्य तें कोई पावें ।
पाइ करें नहिँ भक्ति अन्त महँ ते पछितावें ॥
ज्ञान दयो श्री शेष ने, भक्त प्रवर भूपति भये ।
पुनि करि सेवक श्रम सफल, अन्तर्हित हरि ह्वै गये ॥

इष्टदेव, गुरुदेव के दिये हुए ज्ञान का समर्थन करते हैं। गुरुमंत्र के जप का फल है, इष्टदेव के दर्शन। जिसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो गई, वह कृतार्थ हो गया। उसे न फिर कुछ करना शेष रह जाता है और न फिर कर्तव्य बुद्धि से भगवत्सेवा के

---

* विद्याधरों के अधिपति राजर्षि चित्रकेतु से अनन्त भगवान कह रहे हैं—"राजन्! इस लोक में जो पुरुष जिसके द्वारा ज्ञानविज्ञान सम्भव है, ऐसी मनुष्य योनि को पाकर भी उसके आत्मभूत भगवान को नहीं जानता, तो उसे कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।"

अतिरिक्त कोई कर्म बन्धन ही अवशिष्ट रहता है। इष्ट जो उपदेश देता है, वह तो साधन का महत्व बताने क लिये, साधक की प्रसन्नता के लिये ही बताते हैं। सेवक को स्वामी के श्रीमुख से उपदेशादि श्रवण करने की सदा इच्छा बनी रहती है। उसी इच्छा की पूर्ति के लिये प्रभु उपदेश करते हैं। वह अन्य साधकों क लिए पथ प्रदर्शन का काम देता है, उसक सहारे असख्यो साधक अपने साध्य तक पहुँचने मे समर्थ होते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब विद्याधरो के अधिपति महाराज चित्रकेतु ने भगवान् सकर्षण के प्रत्यक्ष दर्शन किये और प्रेम मे विभोर होकर उनकी लम्बी चोडी स्तुति की तो उससे प्रसन्न होकर भगवान् अपने भक्तसे हँसते हुए बोले—"राजन्! अब स्तुति का क्या काम है, अब तो तुम सिद्ध हो गये। साधन तभी तक है जब तक इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो। इष्ट वस्तु प्राप्त हो गई, तो फिर शुभ साधन छूट जायँ सो बात नहीं। वे तो शरीर रहते हुए स्वभावानुसार किसी न किसी रूप मे होते ही रहेंगे। अन्तर इतना ही है, कि फिर उनमे कर्तव्य बुद्धि न रहेगी। जैसे स्वास प्रस्वास स्वय बिना प्रयत्न के आते जाते रहते है, वैसे ही सिद्धो के साधन होते रहते हैं। जिस दिन तुम्हें अङ्गिरा और नारदजी ने मेरे विषय मे उपदेश दिया, तुम तो उसी दिन सिद्ध हो चुके थे, जो कुछ न्यूनता शेष थी, वह भी मेरे दर्शनों से पूर्ण हो गई। अब तुम समझ लो कि सम्पूर्ण भूतो का पालन करता मैं ही हूँ। मैं ही सबकी अन्तरात्मा हूँ सब के हृदय में विराजकर सभी प्रकार की प्रेरणायें मेरे ही द्वारा होती हैं। मेरी दो मूर्तियाँ हैं।

राजा ने पूछा—"भगवन्! वे दो मूर्तियाँ आपकी कौन कौन हैं। कौन सी पहिली हुई कौन सा पीछे हुई।"

यह सुनकर भगवान् अनन्त बोले—"राजन् ! हुई कहाँ से वे तो नित्य हैं, सनातन हैं। एक तो मेरी मूर्ति है शब्दब्रह्म दूसरी मूर्ति है परब्रह्म। इन दोनों में कोई भेदभाव या पृथक्त्व नहीं। ये दोनों मेरी सनातन मूर्तियाँ हैं।"

महाराज चित्रकेतु ने पूछा—"भगवन् यह जो हमे प्रत्यक्ष प्रपंच दिखाई दे रहा है, उसका जीवात्मा के साथ क्या सम्बन्ध है ?

इस पर भगवान् सङ्कर्षण बोले—"देखिये, राजन् ! यह जो प्रपंच है यह जीवात्मा मे व्याप्त है। बिना प्रपंच के जीव का प्रयोजन ही क्या ? उसी प्रकार जीवात्मा में प्रपंच भी व्याप्त है। दोनों का परस्पर मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनों में भी कारण रूप से मैं ही व्याप्त हूँ। वास्तव में तो सबका एकमात्र कारण मैं ही हूँ।"

राजा ने कहा—"भगवन् ! यह बात तो समझ मे आई नहीं। जब जीवात्मा और प्रपंच का परस्पर मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और इन सबके कारण एकमात्र आप ही है तो आप तो सत्य हैं, सुख स्वरूप हैं, एक रस हैं। ये सब बातें इस दृश्य प्रपंच में भी होनी चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"राजन् ! ये सत्य नहीं हैं। मेरे मे माया द्वारा कल्पित हैं। जैसे एक आदमी सो रहा है। सोते सोते स्वप्न में वह अपने मे ही सबको देखता है अर्थात् मैं ही सब कुछ हूँ। फिर दूसरा स्वप्न देखने लगता है, उस स्वप्न से निवृत्त हो जाता है, तब देखता था जगत् मुझसे पृथक् है मैं उसके किसी एक देश में अवस्थित हूँ। स्वप्न देखनेवाला एक ही है। एक स्वप्न में तो वह सबको अपने में ही देखता है, फिर स्वप्नान्तर में अपने को संसार के एक देश मे स्थित मानता है। वास्तव में

दोनों ही बातें स्वप्न की हैं, उनमें सत्यता नहीं है। इसी प्रकार जीव की जो ये जाग्रत स्वप्न आदि अवस्थायें हैं ये कुछ वास्तव में हैं थोड़े ही परमेश्वर की माया मात्र ही है। ये जितने भी कार्य हैं, सबके एकमात्र कारण सबके साक्षी मायातीत महेश्वर हैं और वह मैं ही हूँ। इसलिये सदा सर्वदा इन मायिक प्रपचों को भूलकर मेरा ही निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये। मेरा स्मरण ही सब साधनों का सार है।"

राजा ने पूछा—"जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों के अभिमानी, विश्व, तेजस् और प्राज्ञ ये बताये हैं। इनमें से किसे आत्मा माने।"

इस पर भगवान् ने कहा—"इन तीनों का भी जो साक्षी है वही आत्मा है। अजी, यों समझो। स्वप्न में हम सोते हैं, एक तो निद्रा के सुख का अनुभव करते हैं। उस समय दृश्य प्रपच तो रहता नहीं, जिनके द्वारा विषय ग्रहण करते है, वे इन्द्रियाँ भी अचेतन पड़ी रहती हैं। फिर भी हम अनुभव करते हैं, कि हम आज अत्यन्त ही सुख से सोये। अब दो बातें हुईं एक तो निद्रा जनित सुख और दूसरा अतीन्द्रिय सुख। इन दोनों का जो अनुभव करता है वह आत्मरूप ब्रह्म मैं ही हूँ।"

राजा ने पूछा—"तब फिर भगवन्! निद्रा आती किसे है? आत्मा को या देह को।"

इस पर भगवान् ने कहा—"आत्मा को निद्रा से क्या सम्बन्ध। जिसे निद्रा आती है, वह जागता है, आत्मा तो नित्य जागृत है। अतः निद्रा जागृति ये एक कल्पित अवस्था मात्र हैं। इन दोनों में ही जो समान रूप से साक्षी रूप से अनुगत है। इनसे सर्वथा पृथक होता हुआ भी जो कभी विकृति को प्राप्त नहीं होता वह केवल शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही परब्रह्म है।"

इस पर राजा ने पूछा—"तब प्रभो! जीव बन्ध मोक्ष के चक्कर में क्यों फँस जाता है है। इसे नाना योनियों में पुनः पुनः जन्म क्यों लेना पड़ता है?"

भगवान् संकर्षण ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"अजी, कहाँ जन्म लेना पड़ता है, न कहीं बन्ध है न मोक्ष व्यर्थ में मिथ्या कल्पना में पड़कर जीव अकारण भटकता रहता है। कंठ में माला पड़ी है, बाहर ढूँढ़ रहा है माला कहाँ है माला कहाँ है। एक आदमी है, उसने आवश्यकता से अधिक भाँग चढ़ा ली है, उसी भाँग के नशे में बच्चे को बगल में दबाये घर आया। घर पर आते ही याद आया छोरा नहीं है। अब यहाँ ढूँढ़ वहाँ ढूँढ़। बड़े दुखी बड़े चिन्तित। कहीं सुख नहीं, कहीं शान्ति नहीं। किसी दयालु ने उसे अत्यन्त व्यग्र देखकर पूछा—"क्यों जी, आप क्या ढूँढ रहे है? क्यों इतने चिन्तित और दुखी हैं?"

उसने कहा—'जी, क्या बताऊँ। घर से आया था अपने छोरा को संग लाया था, वह खोगया है उसे ही ढूँढ रहा हूँ।"

उस आदमी ने हँसकर कहा—"छोरा तो आपकी बगल में ही है। इधर उधर आप व्यर्थ कहाँ भटक रहे हैं?"

तब उसने देखकर प्रसन्नता के साथ कहा—"वाह! यह अच्छी रही "बगल में छोरा। नगर गाँव में ढिंढोरा" सो राजन्! जब जीव मेरे इस परब्रह्म स्वरूप को भूल जाता है, तभी वह अपने आत्म स्वरूप से अपने को बिछुड़ा सा अनुभव करने लगता है, अपने को संसारी कर्मों में बँधा हुआ समझकर नाना योनियों के सुख दुख जन्म मरण को अपने में ही मानकर संसारी बन जाता है।" इसलिये जिसे सबके आत्मारूप परमेश्वर का ज्ञान हो गया, वह तो सांसारिक दुःखों से

सर्वदा के लिये मुक्त हो गया। जो इस ज्ञान से वञ्चित रहा वह तो फिर—"पुनरपिजनने पुनरपिमरणे पुनरपि जननीजठरे शयनम्। के चक्कर में पड़ा पड़ा गेंद बन जाता है, जो ठोकर के सहारे उछलता और गिरता रहता है। यह ज्ञान मनुष्य देह मे ही संभव है। अतः! जिसने मनुष्य देह पाकर इस ज्ञान को प्राप्त कर लिया, उसने तो मनुष्य देह का फल पा लिया, जो इससे वञ्चित रहा वह तो गोविन्दाय नमोनमः हो गया।"

विद्याधराधिप चित्रकेतु ने कहा—"भगवन्! यह प्राणी सदा सुख के लिये ही प्रयत्न करता रहता है। फिर इसे दुःख की प्राप्ति क्यों होती है?"

इस पर अनन्त भगवान् बोले—"महाराज! दुःख का कारण है, फलकी इच्छा। ये संसारी लोग विषय सुखों की प्राप्ति के लिये दिनरात्रि कितना प्रबल प्रयत्न करते रहते हैं। दिनरात्रि एक कर देते हैं। अहर्निशि व्यग्र बने रहते हैं; किन्तु सुख इसलिये नहीं मिलता कि वे अनित्य वस्तुओं के लिये फलाकांक्षी होकर प्रयत्न करते हैं। आप वृक्ष तो लगावे बबूर का और उसे ही पालने पोसने मे सदा श्रम करते रहे, उससे फल सुन्दर चाहे तो श्रम का फल तो होगा ही, किन्तु विपर्यय फल होगा। मधुर सुस्वादु फल न लगाकर उसमें बड़े बड़े काँटे ही लगेंगे। जो पुरूष इन सांसरिक प्रवृत्तियों में नहीं फँसते, इन विषयों से निवृत्त होकर आत्मस्वरूप श्रीहरि की ही शरण मे जाते हैं। कामना से निवृत्त होकर फल की वांछा नही रखते उनको कहीं भय नहीं। वे नित्य निर्भय पद को प्राप्त होते हैं।"

यह तो आपका कहना ठीक ही है, कि सभी स्त्री पुरूष सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए ही समस्त कार्य करते

है, किन्तु उनकी गति तो उल्टी है। जाना है उन्हें उत्तर की ओर रास्ता चल रहे हैं दक्षिण की ओर का, फिर गन्तव्य स्थान पर कैसे पहुँच सकते हैं। विपरीत पथ और विपरीत भावना होने से न तो उनका दुःख ही दूर होता है न शाश्वत सुख की ही उपलब्धि होती है।

महाराज चित्रकेतु ने पूछा—"तब फिर भगवन्! दीखता यह दृश्य जगत् ही है, इसमें आसक्ति न करे, तो फिर मनुष्य करे क्या? बिना प्यार किये तो कोई प्राणी रह नहीं सकता।

इस पर अनन्त भगवान् बोले—"मुझसे प्यार करे, मेरा भक्त हो जाय। इतना करना पर्याप्त है।"

राजा ने पूछा—"कैसे भक्त हो महाराज! यह संसार छोड़े तब न?

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"छोड़ने वाली बात क्या है, भैया! यह मनुष्य प्राणी अभिमान में भरकर अपने को ही सब कुछ समझता है, इसीलिये इसे विपरीत फल की प्राप्ति होती है। आत्मा की गति तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से विलक्षण है। जब तक इस लोक के वैषयिक पदार्थों से तथा परलोक के दिव्य पदार्थों से विराग नहीं होता, तब तक मेरी भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। विषयों का भक्त मेरा भक्त हो ही नहीं सकता। जो बाहरी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये भीतर की इन्द्रियाँ संसारी वस्तुओं में संलग्न हैं उन्हें ही सत्य समझकर ग्रहण करती हैं तब तक योग मार्ग में कुशलता प्राप्त नहीं हो सकती। जब समस्त भीतरी बाहरी इन्द्रियों द्वारा एकमात्र उन आनन्द-घन सच्चिदानन्द परब्रह्म सुख स्वरूप श्रीहरि का ही दर्शन करता है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। यही सच्चा

भगवद्भक्त है। मनुष्य के लिये यही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है, इसी का नाम परम पुरुषार्थ है। यदि तुम भी इस मेरे उपदेश के अनुसार अपने समय को व्यतीत करोगे, तो तुम ज्ञान विज्ञान परितृप्त नित्यमुक्त भगवद्भक्त हो जाओगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार और भी भांति २ के उपदेश देकर अनन्त प्रभु वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा उनके दर्शन से प्रमुदित हुए हक्के बक्के से खड़े के खड़े ही रह गये। जैसे कोई स्वप्न से निवृत्त होकर विस्मित भाव से इधर उधर आश्चर्य से देखता है वैसे ही राजा इधर उधर चकित भाव से आँखें मलते हुए देखने लगे। फिर जिस दशा में भगवान् अन्तर्हित हुए थे उस दिशा को प्रणाम करके वे आकाशमार्ग से स्वच्छन्द विचरण करने लगे।"

छप्पय

हरि अन्तर्हित भये रहे विद्याधर विस्मित।
भौचक्के से होइ निहारे पुनि पुनि उत इत॥
करि धरनीधर दरस मनोरथ सफल भये सब।
मिट्यो सकल सन्ताप कृतारथ भये भूप अब॥
सङ्कर्षण जिहि दिशा महँ, दे सिख अन्तर्हित भये।
करि प्रणाम तिहि दिशा कूँ, चढ़ि विमान में उड़ि गये॥

चित्रकेतु का भरी सभा में शिवजी पर आक्षेप

(४३२)

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता ।
गिरिशं ददृशे गच्छन् परीतं सिद्धचारणैः ॥
आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि ।
उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० १७ अ० ४, ५ श्लो०)

छप्पय

अष्टसिद्धि नवनिद्धि नृपति के निकट विराजैं ।
विद्याधरपति भये तेज महँ रवि सम भ्राजैं ॥
एक दिना कैलाश गये शिव शिवा सग महँ ।
बैठे लै के अंक मिलायें अंग-अंग महँ ॥
हँस्यो देखि शिव सन कहे, वचन कठिन अति व्यङ्ग तें ।
तजि लज्जा लिपटे रहैं, शम्भु शिवा के अङ्ग तें ॥

आर्य धर्मशास्त्र में जितने नाम वाले पदार्थ हैं, सबको सजीव योनिवाला बताया गया है, अंडज, पिंडज, स्वेदज और

❀श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! एकबार चित्रकेतु भगवान् के दिये दिव्य विमान पर चढ़कर आकाश से जा रहा था। तब उसने सिद्ध चारणों से घिरे हुए भगवान् भोलेनाथ को देखा। वे मुनि-मण्डली में अपनी प्रिया भगवती पार्वती का बाहु से आलिङ्गन किये

जरायुज ये तो मर्त्यलोक के प्राणी हैं देव, दैत्य, दानव, ऋषि गंधर्व आदि अनेकों ऊपर के लोकों की जातियाँ हैं। धर्म, अधर्म ये भी सब व्यक्ति विशेष हैं, इनका भी वंश बढ़ता है, इनके भी जातियाँ हैं काम की उत्पत्ति कैसे हुई काम की बहू कौन है उनके बच्चे कौन हैं इन सब बातों का पुराणों में वर्णन है। यहाँ हमें मद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताना है। यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य के काम क्रोधादि ६ शत्रु बताये हैं। उनमें एक 'मद' भी है। मद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है। यह कथा वृत्रासुर की उत्पत्ति से मिलती जुलती भी है। एक बार भगवान् च्यवन ऋषि इन्द्र के किसी अपराध पर उससे क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपने तपोबल से इन्द्र को मारने के निमित्त एक शत्रु को पैदा किया। जब यह बात इन्द्र ने सुनी, तब तो उनके छक्के छूट गये। च्यवन के तप, तेज, प्रभाव से वे भली-भाँति परिचित थे। अन्य कोई उपाय न देखकर वे दौड़े-दौड़े च्यवन ऋषि के पास आये आकर अपने मणिमय किरीट से युक्त मस्तक उनके चरणों में रख दिया और अत्यन्त ही विनीत भाव से उनकी प्रार्थना करने लगे। ब्राह्मण का हृदय तो नवनीत के समान होता है सनिक में पिघल जाता है मुनि प्रसन्न हो गये उनका क्रोध जाता रहा वे [illegible] चिन्ता के साथ बोले— भैया, इन्द्र! तुम [illegible] जानते नहीं तो यह मेरा उत्पन्न किया हुआ असुर तुम्हें निश्चय मार डालता। [illegible] बड़ा बली है अब इसे कहाँ रखें। [illegible] धारण कर सके तुम जहाँ [illegible] इसे रख दें।

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! जब यह तीनों लोकों के स्वामी मुझ भी मारने में समर्थ है, मुझसे भी बली है तो इसे बहुत स्थानों में बाँट दीजिये।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, इसे हम सभी स्थानों में बाँट देते हैं। एक तो यह स्त्रियों में बहुत रहेगा। विशेष कर युवतियों में, वे सदा मदमाती बनी रहेंगी। जुआड़ियों में रहेगा। सुरा में, मृगया में, जितनी भर विद्यायें हैं उनमें, समस्त शिल्पों में, रूपवानों में, बलवानों में, कुलीनों में, ऐश्वर्य-शालियों और कहाँ तक कहें सभी प्राणियों में सामान्य रूप से रहेगा। हाथियों में और मद्य में विशेष रहेगा। कहाँ तक कहें त्यागी भी इससे न बचने पावेंगे।" तभी से यह मद प्राणियों में रहकर उन्हें मदमाता बनाये रहता है। विशेषकर जो ऐश्वर्य-शाली है, जिन्हें अपने तप, तेज, ऐश्वर्य का अभिमान है उन्हें यह बहुत तंग करता है। मद में भरकर ही तो लोग बड़ों का अपमान करते हैं, इसीलिये वे शाप से शापित होकर क्लेश उठाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु भगवान् सङ्कर्षण के दर्शनों से और उनके उपदेश से कृतार्थ हो चुके थे। उन्हें जो वैराग्य हुआ था अत्यन्त शोक के कारण तामस भाव से हुआ था। इसीलिये भगवान् नारद ने भगवान् की तमोमयी मूर्ति की उपासना बताई। अज्ञान निवृत्त हो जाने पर भी प्रतीत होता है, उनके कुछ प्रारब्ध शेष रह गये थे। ज्ञान हो जाने पर भी जीवन्मुक्त पुरुषका प्रारब्ध शेष रह जाता है। संचित कर्मों के नाश हो जाने पर भी शरीर के प्रारब्ध कर्मों का तो भोग भोगना ही पड़ता है, उनमें आसक्ति न हो, उन्हें प्राप्त करके सुख दुःख का अनुभव न करे यह दूसरी बात है।"

महाराज चित्रकेतु के भी कुछ भोग अवशेष थे। उन्हें भोगते हुए वे आकाशमार्ग से दिव्य लोकों में विचरण करने लगे। भगवान् ने उन्हें एक अत्यन्त ही तेजोमय सर्व सम्पत्ति युक्त सुखकर दिव्य विमान दिया था। विद्याधरों की जो सबसे सुन्दरी कन्यायें थीं, वे सदा उनकी सेवा मे रहने लगीं। अत्यन्त सुन्दरी गाने, बजाने और नाचने मे प्रवीण सहस्रों सुरसुन्दरी अप्सराये उनकी उपासना करतीं। अपने महान् योग के प्रभाव से उन सब भोगों को निष्काम भाव से भोगते हुए वे स्वच्छन्द विहार करने लगे। कभी वे इन्द्रलोक चले जाते, कभी वरुणलोक क रमणीय वनो में सुखपूर्वक विचरते। कभी गन्धर्वों के लोको मे जाकर गायन सुनते, कभी सिद्धो के लोकों मे आनन्द उठात। कभी सुमेरु पर्वत की कन्दराओं मे किलोले करते। कभी गन्धर्वों से भगवान् की लीलाओ का अनुकरण कराते, कभी विद्याधरो क सुन्दर गानेवाली सुन्दरियो से श्रीहरि का सुयश गान कराते और उस बडी श्रद्धा के साथ श्रवण करते।

इस प्रकार सुखपूर्वक वे अपने काल यापन करने लगे। उन्हे अपने योग का, अपने ऐश्वर्य का, अपनी अव्याहत गति का कुछ तनिक सा मद भी हो गया था। भगवद्भक्तों को प्रथम तो कभी मद होता नहीं। कदाचित् किसी कारण से हो भी जाय तो मदहारी मधुसूदन उनके मद का तुरन्त नाश कर देते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब विद्याधरों के स्वामी महाराज चित्रकेतु मुनि सिद्ध तथा गन्धर्ववारणो द्वारा अपने सुयश को सुनते हुए इधर से उधर घूमने लगे। एक दिन वे घूमते फिरते कैलाश के ऊपर से जा रहे थे। वहाँ उन्हें मुनि जनों की गोष्ठी मे बैठे हुए भगवान् भूतनाथ दिखाई दिये।

शिवजी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त उन्होंने विमान नीचे उतारा और विमान में बैठे ही बैठे उसने शिवजी के दर्शन किये। वहीं से उसने उन्हें प्रणाम किया।

शिवजी कैलाश के एक अति रमणीय प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त शिखर पर विराजमान थे। बहुत से सनकादि ऊर्ध्वरता ब्रह्मचारी उन्हे घेरे हुए बैठे थे, मुनि मंडली के मध्य में शिवा के साथ बैठे हुए शिवजी ऐसे प्रतीत होते थे मानो आकाश मंडल में ताराओं से घिरे रोहिणी के सहित चन्द्रमा बैठे हो। सिद्धचारण गन्धर्व उनकी स्तुति कर रहे थे। भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, यक्ष राक्षस, गन्धर्व वैताल तथा गुह्यक आदि उपदेव उनकी सेवा में समुपस्थित थे चिता की शुभ्र भस्म से वे जाज्वल्यमान सूर्य के समान चमक रहे थे। जटाओं में गङ्गाजी हिलोरें मार रही थीं। माथे पर द्वितीया के चन्द्रमा तिलक के साथ दमदमा रहे थे। रुद्राक्ष की मालाओं से उनका श्रीकंठ सुशोभित था। बाजू बन्दो के स्थान मे भी रुद्राक्ष बँधे थे। भगवान् की गोद में त्रैलोक्य सुन्दरी पार्वती वस्त्राभूषणों से अलंकृत सोलह शृङ्गार किये हुए विराजमान थीं। भगवान् अपने बायें हाथ से उनका आलिङ्गन किये हुए थे। दायें हाथ से मुनियों को उपदेश दे रहे थे। शिवा और शिव के वक्षःस्थल सटे हुए थे। प्रेम में निमग्न हुई भगवती शरीर को ढीला किये हुए भगवान् के अङ्क मे ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव कर रही थी। सब मुनियों का तो इधर ध्यान ही नहीं था। क्योंकि वे तो अर्धनारी नटेश्वर शिव के उपासक थे। उनके लिये शिव और शिवा में कोई भेद ही नहीं था एक ही शरीर के दो अङ्ग हैं ऐसी उनकी विशुद्ध दृढ धारणा थी।

भगवान् भोलेनाथ के इस रूप मे दर्शन करके विद्याधर

चित्रकेतु को प्रसन्नता नहीं हुई। उसने समझा शिवजी सदाचार का उल्लंघन कर रहे हैं। यह ठीक है अपनी अर्धाङ्गिनी धम-

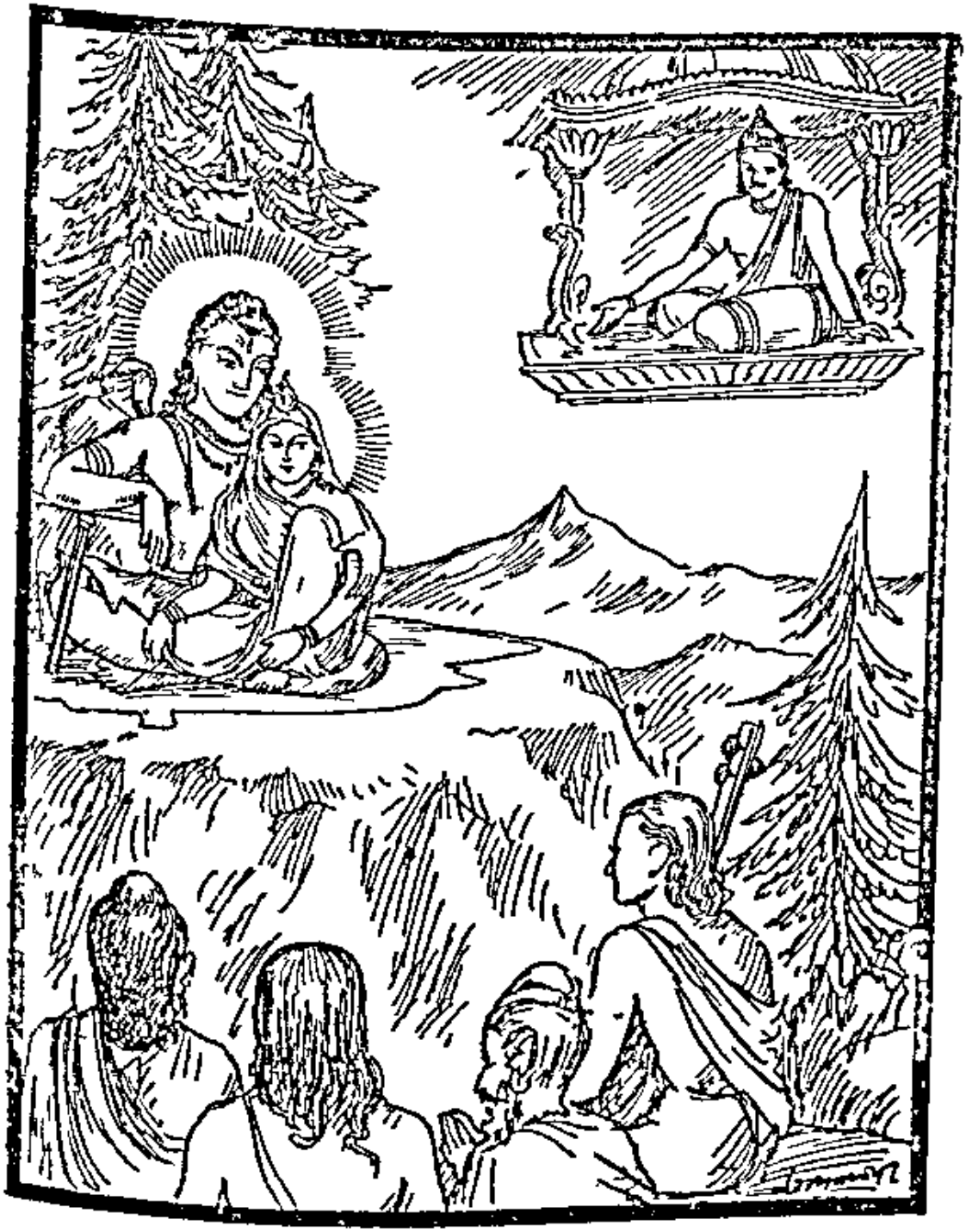

पत्नी को अंक मे बिठाना कोई पाप न
सामने ऐसा व्यवहार शोभनीय नहीं है। महाराज ऐसा मनमें

माँगकर शिवजी को प्रणाम करके चले जाते, तो भी ठीक था, किन्तु उन्हें तो उस समय ऐश्वर्य और योग के मद ने घेर लिया था। वे भगवान् शिव की भरी सभा मे आलोचना करने लगे।

भगवान् अर्धनारी नटेश्वर शिव को देखकर हँसते हुए और जगज्जननी भगवती पार्वती को सुनाते हुए वे बोले। किसी मनुष्य से नहीं आकाश मे अपने आप ही सबको सुनाते हुए बिना किसी को सम्बोधित किये कहने लगे—"हैं! देखिये, भगवान् की कैसी विचित्र माया है। इन शिवजी का नाम महादेव देवाधिदेव है। अर्थात् ये पशु, पक्षी, मनुष्य देवता समस्त प्राणियो में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ये सर्व धर्मों के आचार्य भी हैं। इनके वाक्य प्रमाण में उद्धृत किये जाते हैं, ये धर्मों के वक्ता, उपदेष्टा और शिक्षक हैं। इनका एक नाम सदाशिव जगद्गुरु भी है। इतना सब होने पर भी इनके आचरण इतने हुए हैं, कि कोई सामान्य पुरुष भी नहीं कर सकता। भरी सभा मे ये अपनी भार्या को अंक मे बिठाकर उसका आलिङ्गन किये बैठे हुए हैं।

वैसे मैं शिवजी की निन्दा नहीं करता। ये तो महान् तपस्वी हैं। तपोमूर्ति ही हैं, मूर्तमान धर्म हैं, ब्रह्म वेत्ताओं के अग्रणी हैं। नियम, व्रत, जप, तप, समाधि के स्वरूप हैं, इनकी बड़ी बड़ी जटायें शरीर की भस्म ये सब तपस्वियों के चिन्ह हैं। इनका तप तेज तो प्रत्यक्ष ही है कि इस इतनी बड़ी सभा जिसमें सनकादि महर्षि तथा अन्यान्य सिद्ध, चारण, गन्धर्व, देवता, ऋषि मुनि तथा और भी बड़े बड़े लोकपालादि विराजमान हैं, इन सबसे ये उच्चासन पर विराजमान हैं। इस सभा के ये सम्माननीय सभापति हैं। इतना सब होने पर भी न जने

क्यों ये इस भरी सभा में साधारण विषयी कामी पुरुषों की भाँति निर्लज्ज होकर स्त्री को गोद में बिठाये हुए हैं।

इस पर कोई कह सकते हैं, कि अपनी अर्धाङ्गिनी धर्मपत्नी को गोद में बैठाने में क्या दोष ? तो दोष चाहे न भी हों, किन्तु यह बात लोक मर्यादा तथा सदाचार के विरुद्ध है। साधारण विषयी पुरुष भी इस प्रकार का आचरण अपनी पत्नी से एकान्त में करते हैं। स्त्रियाँ अपने पति से सबके सामने लज्जा करती हैं। परदे में रहती हैं। किन्तु ये इतने बड़े व्रतधारी तथा तपस्वी होकर भी सबके सामने बिना शील सकोच के स्त्री को गोद में बिठाये हैं, क्या यह सदाचार के विरुद्ध नहीं है ?"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु की ये व्यङ्ग भरी बातें सभा में बैठे सभी लोगों को बुरी लगीं। किन्तु सभा के नियम के विरुद्ध बिना सभापति की अनुमति के कोई बोल कैसे सकता है। किसी की बात का प्रत्युत्तर या खडन मडन कैसे कर सकता है। इसीलिये सब भगवान् शूलपाणि के श्रीमुख की ओर देखने लगे। शिवजी तो भोले ही बाबा ठहरे। चित्रकेतु की इन कटाक्षपूर्ण बातों को सुनकर परम गभीर अगाध बुद्धि भगवान सदाशिव हँस पडे। उनके हास्य की शुभ्र से दशो दिशायें धवलित हो उठी आकाश उनके अट्टहास से गुञ्जायमान हो गया। उन्होंने अपने हास्य से यह ध्वनित किया कि यह बच्चा है, इसकी बात का कुछ भी विचार न करना चाहिये। जिस बात की सभापति ही उपेक्षा कर रहा है स्वय ही इस विषय को आगे बढाना नहीं चाहता, तो सभा में बैठे अन्य सदस्यगण भी उन्हीं के अनुसार मौन रहें। बात यह है, कि बडे लोगों में बडी गभीरता होती है। जो नये साधक होते हैं वे नया वैराग्य नया रक्त-होने के कारण बडी उछल कूद

मचाते हैं। बड़े लोगों के आचरण में तनिक सी बात भी उन्हें अपनी बुद्धि से विपरीत दिखाई दी, तो उसपर वे बड़े-बड़े व्यंग कसते हैं। न कहने योग्य बातें कह जाते हैं। जो कल तक उनके सामने नंगा घूमता था आज वही तनिक सी सिद्धि पाकर तनिक सी प्रतिष्ठा पाकर आपे से बाहर हो रहा है। बड़े लोग समझ जाते हैं ज्यों-ज्यों इसकी अवस्था परिपक्व होती जायगी। इसकी यह चञ्चलता, उच्छृङ्खलता नष्ट हो जायगी। इसलिये वे उसके व्यंग वचनों का उत्तर नहीं देते। हँसकर टाल देते हैं! इसी न्याय से शिवजी ने चित्रकेतु की एक भी बात का उत्तर नहीं दिया। जैसे उसने असामयिक अरण्य-रोदन किया था, वैसे ही उसे उपेक्षणीय ठहरा दिया, हँसकर उड़ा दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शिवजी ने तो उसकी अविनय धृष्टतापूर्ण अनुचित बातों को क्षमा कर दिया। किन्तु पार्वती जी कब मानने वाली थीं। सतीस्त्रियाँ सब कुछ सह सकती हैं किन्तु जहाँ कोई उनके चरित्र के सम्बन्ध में अनुचित बात कहता है तो उसे वे सहन नहीं कर सकतीं। इसीलिये माँ पार्वती उस उच्छृङ्खल बालक को उपदेश और शिक्षा देने को विवश हुईं।

छप्पय

खिलखिलाय हर हँसे नृपति के व्यंग वचन सुनि।
निरखि शंभु रुख मौन रहे सुर असुर देव मुनि॥
किन्तु सहन नहिं भये कुपति अति भई भवानी।
जान्यो है यह धृष्ट नीच अतशय अभिमानी॥
रोष सहित बोलीं शिवा, हमरे गुरु आये नये।
ब्रह्मा, हरि, नारद, कपिल, ये सब तो बूढ़े भये॥

———

चित्रकेतु को शिवा द्वारा शाप

[४३३]

एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं–
जगद्गुरुं मंगल मंगलं स्वयम् ।
यः क्षत्रबन्धुः परिभूयसूरीन्–
प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥❀
(श्री भा० ६ स्क० १७ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

ब्रह्मादिक नित लखें नहीं बरजे श्री शिवकूँ ।
आये ये आचार्य धर्म समुझावन हमकूँ ॥
ऋषि-मुनि साधक सिद्ध आइ हर पद सिर नावें ।
विद्याधर ये तिन्हें नियम आचार सिखावें ॥
अपराधी वाचाल अति, मानी परम अशिष्ट है ।
अतः नीच क्षत्रिय अधम, दण्डनीय जिह दुष्ट है ॥

माँ कभी नहीं चाहती, कि वह पुत्र को दंड दे, उसकी सदा इच्छा यही रहती है, सदा उसे प्यार ही करती रहे, सदा

❀ चित्रकेतु की धृष्टता से कुपित हुई भगवती पार्वतीजी कह रही हैं—"जिनके युगल चरणकमल इन सभी देवता ऋषि-मुनि आदि के भी ध्येय हैं, साक्षात् उन्हीं मंगलों के भी मंगल जगद्गुरु भगवान सदाशिव का यह नीच क्षत्रिय निरादर पूर्वक शासन करता है, उन्हें खरी खोटी सुनाता है। इसलिये यह धृष्ट दण्ड देने योग्य है।"

उसे छाती से चिपटा कर स्नेह ही करती रहे, सदा उसके कमल मुख को चूमती रहे। सदा उसे प्रसन्न रखे। किन्तु जब बालक अति कर देता है, उसकी उच्छृङ्खलता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो माता खीज जाती है। उसे दंड देने को बाध्य हो जाती है। छड़ी लेकर मारने और रस्सी लेकर बाँधने तक का अभिनय करती है। उस रोष में भी उसका अगाध स्नेह भीतर ही भीतर भरा रहता है। पुत्र का अनिष्ट हो यह उसकी भावना नहीं रहती। उसने जो अक्षम्य अपराध अब किया है, उसे फिर न करे—इसे अपराध करने की लत न पड़ जाय—इसी लिये वह डाँटती है। इसीलिये उसे ऊपर से क्रोध दिखाती हुई ताडना देती है। बड़ों की ताडना भी सभी को नहीं मिलती भाग्यशालियों को ही वह प्राप्त होती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब चित्रकेतु ने भगवान् सदाशिव को बहुत सी उलटी सीधी न कहने योग्य बातें कहीं, तब शिवजी ने तो हँसकर टाल दी किन्तु शिवा से ये बातें सहन न हुईं। वे उसकी हँसी उडाती हुई व्यङ्ग वचनों में अपनेको नीच बताती हुई और उसको तिरस्कार पूर्वक बडा बताती हुई उसकी व्याज प्रशंसा सी करने लगीं। फिर भगवती पार्वती बोलीं 'धन्य भाग! धन्य भाग! आज तक तो भगवान् शिवजी शासक न रहने के कारण स्वेच्छाचार करते रहे। जैसा मन में आता वैसा लोक वेद विरुद्ध आचरण करते रहते थे। अब हमारे कोई नये शासक उत्पन्न हुए हैं। हम जैसे निर्लज्ज सदाचार से रहित पुरुषों के ये प्रभु हैं। ये हमारी चर्या में करना चाहते हैं। ये शासक, सुधारक, उपदेशक, धर्मप्रवर्तक निग्रहायक और अजितेन्द्रियों को सदाचार का पथ प्रदर्शन वाले हैं।

पार्वतीजी के समीप ही उनकी जया विजया दो सखियाँ
ार ढुला रही थीं। जया कुछ प्रगल्भा थी अतः उसने पार्वतीजी
शांत करते हुए कहा—"महारानीजी, जाने भी दो। भगवान्
कुछ नहीं कहा। इसने लौकिक धर्म की बातें कही है।"

रोष में भरकर भगवती शैलकुमारी बोलीं—"ये बातें धर्म
हैं, या अधर्म की। यही सबसे बड़ा धर्मात्मा है। इसने ही
धर्म समझने का ठेका ले रखा है। जो वेदों के प्रकटकर्ता
सृष्टि के रचयिता हैं, अयोनिज हैं, धर्म के प्रवर्तक हैं, सब
पितामह हैं, वे ब्रह्माजी धर्म के मर्म को नहीं जानते? क्या
वजी उनके सम्मुख ऐसा आचरण नहीं करते? क्या
वान् कमलयोनि ने शङ्कर के ऐसे आचरण की कभी आलो-
ना की है? यह नीच भगवान भृगु से भी अधिक तेजस्वी और
स्वी होगया। जो प्रजापति हैं, जिन्हें सुर असुर सभी नमस्कार
रते हैं, जो समस्तलोक के वन्दनीय और पूजनीय माने जाते
। जो परम यशस्वी और तपस्या की मूर्ति ही माने जाते हैं।
नके अतिरिक्त वशिष्ठ, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, अत्रि और
रीचादि ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, प्रजापति हैं, वे इस अविनय
नहीं समझ सकते?

य जो सम्मुख बालरूप में सनक, सनंदन, सनातन और
कुमार बैठे हुए हैं, ये तो शिवजी के भी अग्रज हैं, सबके
नीय और वन्दनीय हैं, इसके पूर्वजों के भी पूर्वजों के अर्चनीय
य तो बाल ब्रह्मचारी हैं इन्होंने तो कभी स्त्री का स्पर्श
नहीं किया, यदि शिवजी की यह क्रीड़ा इन्हें अनुचित और
चार के विरुद्ध लगती, तो यहाँ ये इस प्रकार हाथ जोड़े हुए
दा में विनीत भाव से क्यों बैठे रहते।

इनकी बगल में ही ये वीणा दबाये त्रैलोक्यवन्दित बाल ब्रह्मचारी तपोधन नारदजी बैठे हैं, जो समस्त विद्याओं के आचार्य हैं सदाचार के प्रवर्तक हैं। भक्ति के संस्थापक हैं, भगवान् के अवतार हैं, यदि भगवान् सदाशिव के आचरण को ये निषिद्ध समझते, मर्यादा के विरुद्ध अनुभव करते, तो ये इस प्रकार आकर शिवजी से प्रश्न क्यों किया करते? क्यों उनकी आकर उपासना करते?

ये योगीश्वरों के भी ईश्वर भगवान् कपिल ज्ञानावतार और सतयुग के युगावतार माने जाते है। संसार में इनसे बढ़कर ज्ञानी कहाँ मिलेगा? कौन इनके ज्ञान की थाह पा सकता है? कामनेच्छा और विषय भोग की अभिलाषा तो इन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकती। ये स्वयं आकर शिवजी के चरणों में अपना मस्तक रगड़ते हैं, ये स्वयं आकर भगवान् से शिक्षा ग्रहण करते हैं, धर्म के मर्म को समझते हैं, यदि शिवजी को ये सदाचार च्युत समझते तो यहाँ आकर शिव वन्दना क्यों करते? क्यों इन योगेश्वर की आकर श्रद्धा भक्ति के साथ उपासना करते? राजवंशों के प्रवर्तक ये भगवान् स्वायंभुव मनु बैठे हैं और भी अनेकों मन्वन्तरों का शासन करनेवाले और कर चुकनेवाले बहुत से मनु यहाँ समुपस्थित हैं। जो इसके बाप के बाप के भी पूजनीय और माननीय हैं, इन्होंने शिवजी के व्यवहार को कभी धर्म विरुद्ध नहीं बताया। यही एक परम सदाचारी धर्मात्मा क्षत्रियाधम प्रकट हुआ है, कि शिवजी की चर्या को दोषपूर्ण बताता है।

मनुष्य स्वयं जैसा होता है वैसा ही वह दूसरों को भी समझता है। आँख में जैसा भी शीशा लगा ले, वैसा ही संसार दिखाई देता है। यह स्वयं क्रूर है अतः सर्वत्र क्रूरता ही देखता है।"

जवा ने कहा—"महारानी जी आपका तो बच्चा ही है, क्षमा कर दो इसे।"

भगवती ने रोष के स्वर में कहा—"क्षमा करने योग्य अपराध किया होता तो मैं इसे अवश्य क्षमा कर देती, किन्तु इसने तो अक्षम्य अपराध किया है। जो समस्त मङ्गलों के भी मङ्गल स्वरूप है। स्वयं साक्षात् मङ्गल की सजीव मूर्ति ही माने जाते है, जो समस्त लोकों के गुरु माने जाते हैं उन शङ्कर का इसने निश्शङ्क होकर भरी सभा में सबके सम्मुख अपमान किया है उन्हें डाँटा है, अपना शासन चलाया है। सब पापियों की निष्कृति हो सकती है, किन्तु गुरुद्रोही की निष्कृति नहीं। आज यदि मैं इसे क्षमा कर दूँगी, तो इसकी देखादेखी और भी लोग अपराध करेंगे, ऐसा अपराध करने से उन्हे कोटि कल्पों तक नरक की अग्नियों में पचना पडेगा। अतः इस समय क्षमा करना इसके लिये भी हितकर नहीं है और संसार के लिये भी अहितकर है। यदि अब इसे अपने किये का दण्ड तत्क्षण मिल जायगा तो यह भी इस घोर पाप से निवृत्त हो जायगा और संसारी लोग भी सावधान हो जायँगे, कि शिव निन्दा करने वाले का किसी भी प्रकार कल्याण नहीं हो सकता। अरे, देखो तो सही इसे अपनी श्रेष्ठता का कैसा अभिमान है। जिनके युगल अरुण चरण कमलों का ध्यान करके ब्रह्मादिक देवता अपने को कृतार्थ समझते हैं, उन्हीं के प्रति यह द्वेष भाव रखता है। ऐसा अभिमानी पुरुष भक्तभयहारी अकिंचनों के धन, अमानियों के सर्वस्व भगवान् विष्णु के चरणों के निकट रहने योग्य नहीं है। इसलिये मैं शाप अवश्य दूँगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! जब पार्वतीजी ने ये बातें कहीं तब तो सभी सभा के लोग चौकन्ने हो गये। सभी ने

भक्ति, प्रभु पाद पद्मों में, सुदृढ़ अनुरक्ति। वे आर्त होकर अपने इष्ट जीवन धन के पाद पद्मों में रो रो कर प्रार्थना करते हैं—"हे प्रभो! हमारा चाहे सहस्रों लाखों योनियों में जन्म हो, शूकर, कूकर, श्वपच चांडाल किसी योनि में चाहे उत्पन्न होना पड़े। पृथ्वी पर, स्वर्ग मे, पाताल में, नरक में या नरकों से भी बढ़कर जो दुखदाई लोक हो उनमें हमे रहना पड़े। इन सब के लिये हम सहर्ष तैयार हैं, हम आपसे इस के लिये प्रार्थना नहीं करते कि आप हमारे प्रारब्ध और संचित कर्मों को मेट दें। हे अशरण शरण! हे भक्त भय भंजन! हे शरणागत प्रतिपालक! हमारी आप के चरणारविन्दो मे यही प्रार्थना है, यही भिक्षा हम आप से माँगते हैं कि किसी भी योनि में हों आप के भक्त बनकर रहे। हमारी सुदृढ़ अचला भक्ति हो। मरण समय में आप के चरणों का स्मरण बना रहे।" इसी कारण भक्त जहाँ भी जाते हैं वहीं वैकुंठ बना लेते हैं। वे स्वयं तो तरे ही हैं अपने संसर्गियों को भी तार देते हैं। भक्त के लिये घृणास्पद तो कुछ है ही नहीं। वे तो सब मे अपने इष्ट का दर्शन करते हैं। इष्ट की प्राप्ति ही परम सिद्धि है। फिर उन्हे असुर, राक्षस, भूत प्रेत, पिशाच, पशु पक्षी इनमे से किसी भी योनि से क्यों द्वेष होने लगा। वह भी तो हमारे इष्ट का ही घर है। हम तो जहाँ

मे ग्रहण करता हूँ। क्योंकि देवताओं के द्वारा प्राणियों को जो भी कुछ शाप या अनुग्रह के वचन कहे जाते हैं, वे उनके पूर्व जन्म के कर्मों के फल स्वरूप ही होते हैं। हे सति! आपको मैं प्रसन्न इसलिये नहीं कर रहा हूँ कि आप मुझे शाप से मुक्त कर दें। किन्तु हे भामिनि! आप को जो मेरे वचन अनुचित प्रतीत हुए हैं, उनके लिये ही क्षमा याचना करता हूँ। आप मुझे क्षमा कर दें।

भी रहेंगे इष्टके ही घरमें रहेंगे। हमारा मन तो उन्हीं मे तल्लीन रहेगा। अतः भक्त भगवद् भक्ति को छोड़कर और किसी की आकांक्षा नहीं करते। कोई अनुग्रह कर दे तो हर्ष नहीं, शाप दे दे तो विषाद नहीं। क्योंकि ये सब तो दैव की गति से कर्मानुसार प्राप्त होते हैं। इसमें हर्ष शोक करने से क्या लाभ ?

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् भगवती पार्वतीजी का शाप सुनकर महाराज चित्रकेतु जब उनके चरणों मे पड़े, तब सब ने यही समझा कि यह विद्याधरों का राजा शापसे डर गया इसी भ्रम को मिटाने के लिये विनीत भाव से महाराज चित्रकेतु बोले—'हे जगज्जननी ! हे माँ ! मैं तुम्हारे शाप को सिरसे सहर्ष स्वीकार करता हूँ। आप ने जो शाप दिया है, वह सफल हो।"

इतना सुनते ही पार्वती जी तो भौंचकी सी रह गई। यह बात नारद जी के ही सम्बन्ध मे सुनी थी, कि उन्होंने दक्ष के शाप को सहर्ष स्वीकार कर लिया। किंतु वह सुना ही था, यहाँ तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अत्यंत आश्चर्य के साथ गिरिराज कुमारी ने पूछा—"बेटा ! अरे; तुम बडे साहसी हो। वरदानको तो हमने सहर्ष स्वीकार करते हुए अनेको को देखा, किन्तु शाप को इतनी प्रसन्नता से स्वीकार करते तो आज तक हमने किसी को देखा नहीं। तुम मेरे दिये शाप को ऐसे ग्रहण क्यों कर रहे हो ? मैंने तो तुम्हारा अनिष्ट ही किया है।"

यह सुनकर विनीत भाव से चित्रकेतु बोले—"माँ ! पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, माँ कभी कुमाता नहीं होती। आप तो अपनी संतानों का अनिष्ट कर ही नहीं सकतीं। आपकी बात तो पृथक् है, कोई भी प्राणी किसीका न अनिष्ट कर सकता है और न सुख ही पहुँचा सकता है। न कोई किसी को स्वेच्छा से वर-

दान ही देने में समर्थ है न शाप ही दे सकता है। पूर्वजन्म के जिसके जैसे कर्म होंगे प्रारब्धानुसार वैसा ही उन्हें सुख-दुख प्राप्त हो जायगा। शाप और वरदान देने वाले तो केवल निमित्त मात्र होते हैं, जो कुछ मिलता है, वह तो प्रारब्धानुसार ही मिलता है। मेरा कोई ऐसा ही कर्म रहा होगा। यही प्रारब्ध शेष होगा आपका इसमें क्या दोष है, जैसा मैंने कभी किया होगा, उस का वैसा फल तो कभी न कभी भोगना ही है। यह जीव अज्ञान से मोहित होकर ही संसार चक्र मे—नाना योनियों मे—स्वकृत कर्मानुसार सुख-दुःख उठाता हुआ, जन्मता तथा मरता रहता है। कौन किसे दुख-सुख दे सकता है। विवेक हीन पुरुष ही ऐसी बातें कहा करते हैं, उसने हमे बड़ा दुख दिया, उसने हमे अभूत पूर्व आनन्द पहुँचाया। सब स्वकर्म सूत्र मे बँध कर विवश हो कर कर्म करते रहते हैं।"

पार्वतीजी ने कहा—"अरे भैया! फिर भी तो शाप तो शाप ही है, वरदान-वरदान ही है। तुम्हें मेरे शाप से तनिक भी दुःख नहीं हुआ क्या?"

गंभीर होकर चित्रकेतु ने कहा—"माताजी! दुख वाली तो कोई बात मुझे दीखती नहीं। यह संसार रूप एक सरिता है। उसमें सत्व, रज और तम ये तीनों गुण ही प्रवाह हैं? प्रवाह मे कभी काँटा भी आ गया, कभी फूल वह आये कभी फल ही पड़ कर थिरकने लगे। इसी प्रकार शाप, अनुग्रह, स्वर्ग नरक, बन्ध, मोक्ष तथा सुख-दुख ये तो सब आते ही जाते रहते हैं। ज्ञानी पुरुष इनमें समभाव रखते हैं। वे इनमें ममत्व नहीं करते। इनके परिणाम से क्षोभ को प्राप्त नहीं होते।"

पार्वतीजी ने कहा—"भगवान् तो सदा सर्वदा सत्स्वरूप,

चैतन्य स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप हैं। उनमें गुण प्रवाह कहाँ से आ गया ?"

चित्रकेतु ने कहा—"माताजी ! भगवान् कुछ गुणों के अधीन थोड़े ही हैं। भगवान् अपनी बनी-ठनी क्षण-क्षणमें रूप रंग बदलने वाली माया देवी के द्वारा इन सम्पूर्ण भूतों की तथा उनके बन्ध, मोक्ष और सुख-दुःख की रचना करते हैं।"

पार्वतीजी ने पूछा—"तो क्या वे स्वयं फिर अपनी ही माया के चक्कर में फँस जाते हैं ?"

दृढ़ता के स्वर में चित्रकेतु ने कहा—"नहीं माताजी ! उन्हें चक्कर-फक्कर से क्या प्रयोजन ? वे स्वयं तो इन बन्ध, मोक्ष, सुख-दुख, आदि द्वन्दों से सदा सर्वदा पृथक् ही बने रहते हैं।"

हँस कर पार्वतीजी ने कहा—"तब, भैया जीवों में जो यह विषमता दिखाई देती है यह क्यों है ? इससे तो भगवान् का पक्षपात सिद्ध होता है, कोई सुख भोग रहा है, कोई दुख की दावाग्नि में जल रहा है, कोई रो रहा है कोई हँस रहा है, इसका क्या कारण है ?"

इसपर चित्रकेतु ने कहा—"जगज्जननी ! आप सब जानती हैं, आप ही तो सब की मूल कारण हैं। भगवान् में विषमता दोष नहीं है। वे तो सर्वथा निर्दोष हैं वे सर्वत्र समान भाव से व्याप्त हैं। उनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। उनका न कोई अपना है न पराया, न कोई जाति वाला है, न परिवार वाला। वे रागद्वेष से रहित हैं, द्वंदातीत हैं, निर्द्वंद रह कर सर्वदा सुख स्वरूप से अवस्थित रहते हैं। इन संसारी सुखों में न उन्हें राग है न द्वेष। जब एक वस्तु में राग होता है, तभी दूसरी से घृणा होती है सग से आसक्ति बढ़ती है आसक्ति से ही क्रोध होता है।

यह सब उनमें कुछ नहीं हैं। ये जो सब जीव माया के कारण अपने में पाप पुण्य का आरोप कर लेता है, इसीलिए अपने को सुखी-दुखी अनुभव कहने लगता है। इसमें मेरा हित है इसमें अहित है, इसे करने से दुःख होगा, न करने से सुख होगा, यह बन्धन है, यह मोक्ष है, यह जन्म है या मरण है। इस प्रकार द्वंद्व कल्पना ही संसार को चलाने में कारण है। ये ही संसृतिके हेतु हैं।

पार्वती जी ने हँसकर कहा—"तुम तो भैया! बड़े ज्ञानी हो प्रतीत होता है तुमने तो भगवान् की माया को जीत लिया है फिर तुम मेरे सामने अब दीनता क्यों दिखा रहे हो, मुझसे क्या चाहते हो?"

दृढ़ता के स्वर में चित्रकेतु ने कहा—"माताजी! आप कुछ अन्यथा न समझें। मुझे शापकी तनिकभी चिन्ता नहीं इस बहते हुए संसार प्रवाह में क्या शाप क्या वरदान, ये तो बच्चों की बातें हैं। हे देवि! मैं जो आपके सम्मुख विनय कर रहा हूँ, वह किसी भय से नहीं। मैं शाप से मुक्त होने के लिए आपकी प्रार्थना नहीं कर रहा हूँ। मेरी विनय शाप को हटाने के लिये नहीं है। एक नहीं ऐसे सहस्रों शाप मुझे मिल जायँ, तो भी मैं विचलित नहीं होने का। आसुरी योनि क्या कोई बुरी है। असुरों में क्या भगवद्भक्त नहीं हुए हैं? योनि तो आवरण मात्र है। हृदय में भगवान् की भक्ति हो कोई योनि प्राप्त हो जाय। मैं विनय इसलिए कर रहा हूँ, कि मेरी सत्य बात भी आपको बुरी लगी। मैंने तो एक शिष्टाचार के नाते अपनी बुद्धि से सत्य बात कही थी। आपको इससे दुख हुआ, तो उसी अविनय के लिये क्षमा माँग रहा हूँ। मेरा कथन आपको अनुचित प्रतीत हुआ उसके लिये आप मुझे क्षमा कर दें। शाप का तो मुझे लेश-मात्र भी भय नहीं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ? इस प्रकार कहकर चित्रकेतु ने भगवान् शंकर और पार्वती के पादपद्मों में प्रणाम किया और उनके उत्तर के बिना प्रतीक्षा किये अपने विमान में बैठकर चला गया। उसकी ऐसी निःस्पृहता और समता को देखकर सभा में जितने भी सभापद बैठे थे, सबके सब चकित रह गये। सभी अपने मनमें सोचने लगे—"देखो, इस विद्याधर की कैसी सुदृढ़ निष्ठा है। इसकी बुद्धि समत्व मे स्थित हो गई है। प्रतीत होता है यह भगवान् संकर्षण की उपासना के प्रभाव से इस दुस्तर माया को तर गया है। प्रतीत होता है यह माया मोह रूप अगाध सागर के परली पार पहुँच गया है। तभी तो इतने बड़े शाप की बात सुनकर भी इसका मुख म्लान नहीं हुआ भ्रकुटियों में रंचक मात्र भी वक्रता नहीं आई।"

भगवती पार्वतीजी भी चकित हो गईं। उनके लिये यह एक रहस्यमय आश्चर्य की बात हुई। वे शिवजी के श्रीमुख की ओर रहस्यमय दृष्टि से देखती की देखती ही रह गईं। सर्वान्तर्यामी शिव उनके मनोभावों को समझ गये और हँसते हुए उनके सामने भगवद्भक्तों के महत्व का बखान करने लगे।

छप्पय

शाप अन्यथा करहु विनय यहि हेतु करौं नहि।
होहि भोग को नाशभाग्यवश दुःख आदि सहि॥
अविनय मेरी समुझि मातु तुम कुपित भई अति।
तातें विनती करी और कछु तुम समुझो मति॥
सती शभु पद वन्दि कें, चित्रकेतु पुनि चलि दये।
सती सभा सद सभा के, समता लखि विस्मित भये॥

———

शिवजी द्वारा भगवद्भक्तों का महत्व

(४३५)

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः ।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निस्पृहाणां महात्मनाम् ।
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० १७ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

हरि हँसि बोले—'शिवा ! लखी महिमा भक्तनिकी ।
सदा एक मति रहे स्वर्ग नरकनि महँ इनकी ॥
जो हैं भगवद्भक्त कहो तिनकूँ काको भय ।
तीनि काल महँ सदा निहारैं जगकूँ प्रभुमय ॥
देइ न सुख दुख दूसरो, भ्रमवश नरपशु कहत हैं ।
माया के वश जीव ने, करे करम सो सहत हैं ॥

जिसे एक देश का राज्य प्राप्त हो गया है, जो सम्राट् बन गया है, वह चाहे रत्नजटित सिंहासन पर बैठे या अपने राज्य

❀ चित्रकेतु की निस्पृहता देखकर पार्वतीजी को सुनाते हुए शिवजी कह रहे हैं—"सुश्रोणि ! तुमने अद्भुतकर्मा श्रीहरि के दासानुदासों का माहात्म्य देख लिया न ? देखो, ये महात्मा कितने निस्पृह होते हैं । बात यह है कि जो नारायण परायण हैं वे सबके सब निर्भय होते हैं, उन्हें किसी बात का भय नहीं । क्योंकि वे स्वर्ग, नरक, मोक्ष सभी को समान भाव से देखते हैं ।"

की नदी की बालू मे बैठे सर्वत्र सम्राट ही हैं। कहीं भी उसे दु ख नहीं। अपने राज्य के किसी भी स्थान मे रहने से उसका अपमान नहीं, तिरस्कार नहीं। उसके लिये अपने राज्य मे सर्वत्र समभाव है। अपने राज्य मे जो बुद्धि राजा की है वही राजपुत्र की है वह भी राज्य का अधिकारी है। राज्य की प्रत्येक वस्तु को वह अपनी मानता है। उसके राज्य मे सुवर्ण-खानि है उन्हे भी अपनी कहता है, कोयले की खानि है उनमें भी उसका उतना ही ममत्व है अपनी वस्तु छोटी हो बडी हो, अच्छी हो बुरी हो अपनी ही है। इसी प्रकार भगवद्भक्त इस जगत को अपने स्वामी श्रीहरि की लीलास्थली मानते है। उनका निश्चय है, हमारे स्वामी की इच्छा के विरुद्ध किसी वस्तु का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। सबके पति वे हमारे स्वामी ही है। हम उनके एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। प्रधान दायभाक् हैं। हमारे स्वामी की जो वस्तु हैं वे हमारी ही है। हमारे स्वामी हमे जहाँ रखें वही आनन्द है। वही हमारा घर है, यदि हम अपने स्वामी को न भूले तो। यदि स्वामी को भूलकर अपने को ही सब कुछ समझकर निजत्व परत्व का भेदभाव स्थापित कर ले, तो हमे दुःख-सुख का भागी बनना पडेगा।

श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन्! जब विद्याधराधिपति चित्रकेतु ने शाप की बात सुनकर भी पार्वतीजी के प्रति क्रोध न किया। उलटी उनसे क्षमायाचना ही की और बिना शाप मुक्ति की प्रार्थना किये हुए श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके हँसता हुआ चला गया, तब तो पार्वतीजी विस्मित हुईं उन्हें विस्मयाविष्ट देखकर हँसते हुए भगवान् भोलेनाथ उनसे कहने लगे—"पार्वतीजी! देखा तुमने भगवद्भक्तो का माहात्म्य? आई कुछ समझ मे बात? अब तुम्हारा क्रोध शान्त हुआ?"

कुछ लज्जित सी होती हुई हिमांचल कुमारी बोली—"क्या बताऊँ महाराज ! आप ईश्वरों की लीला कुछ समझ में नहीं आती—मैंने तो समझा यह बड़ा अभिमानी है यह तो कोई बड़ा भक्त निकला। महाराज, यह किस देवता का भक्त है ?

शङ्करजी बोले—"देवि ! वैसे तो यह भगवान् के ही भक्त है, किन्तु भगवान् से भी अधिक यह भगवान् के भक्तों का भक्त है। दासो का अनुदास है। नारद जी और अंगिरा मुनि का यह चरणसेवक है। जिन्हें भगवद् भक्ति प्राप्त हो चुकी है, उन्हें संसारी किसी भी वस्तु की स्पृहा नहीं रह जाती। वे सर्वथा निःस्पृह हो जाते हैं। उनके लिये स्वर्ग, नरक, सब समान हैं। वे संसार में किसी भी दुःख से किसी व्यक्ति से डरते नहीं यहाँ तक कि भगवान को भी वे खरी खोटी सुनाने को प्रस्तुत हो जाते हैं। भगवान् भी जब मुक्ति लेकर उनके समीप जाते हैं, तो निर्भीक होकर कह देते हैं। हमे मुक्ति नहीं चाहिये। हमें यदि बंधन से मुक्ति अच्छी लगती हो, हमारी मुक्ति और बंधन में कुछ भेद बुद्धि हो,तब तो बंधन को छोडकर मुक्ति को ग्रहण करे भी हमारे लिये तो दोनों समान है। जन्म होता है होता रहे। नरक जाना पड़े चले जायँगे भगवान उन्हें बलपूर्वक मुक्ति देते हैं, किन्तु वे उसे ग्रहण नहीं करते। भगवद्भक्तों से वे सदा डरते रहते हैं ऐसा न हो कि कहीं भक्तों का अपराध हो जाय, वे विष्णु भृत्यों के सदा भृत्य बने रहते हैं। देखो, तुमने कुपित होकर इन राजर्षि चित्रकेतु को शाप दे दिया। वे सामर्थ्यवान थे चाहते तो उलट कर वे तुम्हें भी शाप दे सकते थे। किन्तु उन्होने ऐसा नहीं किया उलटी तुम्हारी अनुनय विनय की। क्योंकि मैं वैष्णव हूँ और तुम मेरी सहधर्मिणी हो। दूसरों के दोष देखना तो दूर की बात है, भक्त मन से भी किसी के दोषों का चिंतन नहीं करता। वह

भूल में भी ऐसा काम नहीं करता, जिससे भगवद्भक्तो को सङ्कोच हो। उनके दोषों को प्रत्यक्ष देख लेने पर भी नहीं कहता उलटा उनका समर्थन करता है।"

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! यह बात तो कुछ हमारी समझमे आई नहीं। जो दोष जिनमे नहीं उनका ईर्ष्यावश आरोप करके उनकी निंदा करना यह तो महापाप है किन्तु जो दोष जिसमें प्रत्यक्ष है उन्हें कह देने में तो हम कोई दोष समझते नहीं आप कहते हैं, पापीके पापों को न कहकर भक्त लोग उलटे उनका समर्थन करते हैं यह तो बुद्धि के परे की बात है तब तो सब लोग खुलकर पाप करेंगे। पापीके पाप की भली-भाँति आलोचना होनी चाहिये जिससे समाज में दुराचार न फैलने पावे। समाज का सुधार हो सदाचार का प्रचार हो।"

इस पर सूतजीने कहा—"भगवन् ! सबके अधिकार पृथक्-पृथक् हैं। सभी सब के कामों को करने लगें तो समाज में संकरता छा जायगी। राजा प्रजा के दोष देख सकता है उसे दड दे सकता है। शासक को प्रजा का शासन करने का, उसके अपराधों का दंड देने का अधिकार है। आचार्य शिष्यों के दोषो को देखकर धर्मानुसार उन्हे सचेत कर सकता है। समझा-बुझा सकता है। पिता पुत्र के दोषों को देखकर ताडन कर सकता है। हम सर्व साधारण लोग दूसरो के दोषों को कहते फिरें उनके पापो को प्रकट करते फिरें, समाज में उनकी बुराई करते रहें तो हमें क्या लाभ होगा जिसे जो बुरी टेव पड गई है, वह उसे निन्दा की भय से छिपकर करेगा, मानेगा तो है नहीं। उल्टे निन्दा करने से उसके संस्कार हमारे में आवेंगे, उसके पापो का चिंतन करते रहने से हमारे भावों मे भी उन पापों के परमाणु प्रवेश करेंगे। भक्त अपने को समाज

रक नहीं मानता। वह तो सोचता है मैं पहिले अपने को ही सुधार लूँ यही बहुत है। यदि सभी यही सोचकर अपने-अपने सुधार में लग जायँ, तो समाज का सुधार स्वतः ही हो जाय। लोग अपने को तो सुधारते नहीं, दूसरों का सुधार करने दौड़ते हैं। लोग अपने हृदय पर हाथ रख कर देखें, क्या उन्होंने अपने मन को वश में कर लिया है। क्या वे कभी भूलकर भी वासना के वशीभूत होकर सदाचार के विरुद्ध कभी कोई काम नहीं करते? यदि यह बात नहीं है, तो फिर दूसरों की निन्दा करने से लाभ ही क्या? हम प्रत्यक्ष अपने जीवन में अनुभव करते हैं। हम जानते हैं पर स्त्री पर दृष्टि डालना घोर पाप है। शक्ति भर हम बचते भी हैं, किन्तु कभी ऐसा अकस्मात् संयोग हो जाता है, इच्छा न होने पर भी हमारा मन चञ्चल हो जाता है। जब हम अपने मन पर ही अधिकार नहीं कर सकते। उसे ही कुपथ पर जाने से नहीं रोक सकते तो दूसरों से कैसे आशा रखें। सभी निंदा से डरते हैं, किन्तु वासनाओं के वशीभूत होकर न करने योग्य कामों को कर जाते हैं भक्त उनकी निंदा करना उचित नहीं समझते। समर्थन इसलिये कर देते हैं, कि भक्त को संकोच न हो। वह हमसे भयभीत न हो। इस विषय में मैं आपको एक परम वैष्णव भक्त का सुन्दर सा मनोहर दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक वैष्णव आचार्य थे। उनके समीप उनके शरणापन्न और भी बहुत से भगवद् भक्त थे। बहुत से उन्हीं से दीक्षित थे। उनमें एक बड़े साधुसेवी परमनिष्ठावान् संत थे। गुरुदेव ने उन्हे नित्य ही भगवान् की सेवा के लिये पुण्यतोया कावेरी से जल लाने की सेवा सौंपी थी। वे उस कैङ्कर्य को बड़ी श्रद्धा भक्ति से करते और सभी संतो में ईश्वर बुद्धि रखते थे।

वे न कभी किसी वैष्णव की निन्दा करते, न उनके दोषों को ही देखने का यत्न करते। यही समझते कि ये सब हमारे स्वामी के ही अनुरूप स्वरूप हैं।

एक बार वे भगवती कावेरी से जल का घडा लेकर आ रहे थे। मार्ग मे उन्होंने देखा कि अपने ही यहाँ के एक वैष्णव बिना जल लिये हुए लघुशका कर रहे हैं। वैष्णवों के लिये बिना जल लेकर लघुशका को जाना एक शौच सम्बन्धी बडा दोष है। शास्त्रीय नियम तो ऐसा है जितनी बार शौच या लघुशंका जाय, उतनी ही बार स्नान भी कर किन्तु स्नान भी कई प्रकार के हैं भस्म स्नान, मत्र स्नान, पच स्नान, वस्त्र स्नान, प्रत्येक समय सम्पूर्ण शरीर से स्नान करना तो कठिन है, अतः लघुशका को जाय तो जल लेकर जाय, आकर तीन बार हाथ धोवे पात्रको मले, हाथ पैर मुख को धोवे तीन कुल्ला करे यही पच स्नान हो जाता है तब शुद्धि होती है। वे वैष्णव लघुशका के लिये जल भी नहीं लिये थे अत. उन्हे बडी लज्जा लगी। शका भी हुई कि ये सत जाकर आचार्य चरणो मे जाकर मेरे अपराध का निवेदन कर देंगे। इसलिये वे कुछ भयभीत से हो गये।

वे सत इनके भाव को ताड गये। उन्हे बडा मानसिक दुःख हुआ, कि एक सत को मेरे कारण व्यर्थ ही लज्जित और सकुचित होना पडा। कैसे इसका सकोच दूर हो ?" यह सोचकर वे सिरपर घडा रखे ही रखे वहाँ खडे होकर लघुशका करने लगे।"

यह देखकर उन वैष्णव को बडा सन्तोष हुआ कि हम इनसे तो अच्छे ही हैं। ये तो हमसे भी गये बीते हैं। भगवान् के लिये जल ले जा रहे हैं और खडे-खडे मूत रहे हैं। हय

कोई वैष्णवता है।" यह सोच कर वे प्रसन्न होते हुए चले गये।

इधर ये संत फिर कावेरीजी में लौट आये। आकर सचैल स्नान किया। घड़े को मला फिर जल लेकर चले। वे वैष्णव तो जैसे थे वैसे ही थे, उन्होंने अपने स्वभावनुसार यह बात जाकर आचार्य चरणों में निवेदन कर दी—"महाराज, अपने उन संत को कैसा अनुचित कैंकर्य सौंप दिया है। मैंने अपनी आँखों से देखा, वे तो भगवान् के घड़े को सिर पर रखकर खड़े-खड़े लघुशंका कर रहे थे।"

आचार्य को बड़ा आश्चर्य हुआ वे संत तो ऐसा कर नहीं सकते। इसी बात को वे बार-बार सोचने लगे। बहुत सोचकर आचार्य ने उन्हें सबके सम्मुख बुलाया और बोले—"क्यों भाई ये वैष्णव कह रहे हैं कि तुम भगवान् का सेवाजल लेकर आ रहे थे और उसे सिर पर रखकर खड़े-खड़े ही लघुशंका कर दी थी। क्या यह बात ठीक है?"

हाथ जोड़ सबके सम्मुख नम्रतापूर्वक लज्जित होकर संतने कहा—"हा भगवान्! यह बात सत्यही है मैंने ऐसा किया था। वैष्णव असत्य भाषण थोड़े ही करेंगे।"

आचार्य ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"तुमने ऐसा भैया! सदाचार विरुद्ध आचरण क्यों किया?"

नीचा सिर करके आखों में आँसू भरके संत बोले—"प्रभो! मैं तो पशु ही हूँ। पशु जो अनुचित करता है, उसके अपराध की ओर स्वामी ध्यान नहीं देते। पशु को शौच-अशौच का विवेक ही नहीं रहता। भगवान् के दिव्य देश के हाथी पर भगवान् के अभिषेक के लिये नित्य जल आता है। जल लेकर हाथी आता है तो रास्ते में लघुशंका दीर्घशंका भी करता

आता है। पशु होने से उसके इस अशोच की ओर कोई ध्यान नहीं देते। म भी तो एक दो पैर वाला नरपशु ही हूँ। मेरा अपराध करने का स्वभाव है आप गुरुजनों का स्वभाव क्षमा करने का है मेरे अपराध को क्षमा करें।

सूतजी कहते हैं—" मुनियो! इसी का नाम साधुता है। पिशुन और अपकारी के भी दोष को प्रकट न करके अपने ही दोषोंको सदा देखता रहे यही वैष्णवता के लक्षण हैं। कभी अपनी विद्या प्रभुता तथा भक्ति का अभिमान न करे। यही सोचे मैं सबका दास हूँ। देखिये, राजर्षि चित्रकेतु को तनिकसा मदने स्पर्श कर लिया था, इसीलिये लोकगुरु शिवजी का लक्ष्य करके सत्य होने पर भी न कहने योग्य वचन कह दिये। शिवजी तो उनके भाव को समझ ही गये, इसीलिये हँसकर टाल गये किन्तु स्त्री स्वभाववश माताजी सहन न कर सकी क्रोध मे भरकर उसे शाप दे ही डाला। हे महाभागवत राजर्षि चित्रकेतु भगवती भवानी को शाप के बदले मे शाप देने को सर्वथा समर्थ और शक्तिशाली थे, किन्तु उन्होंने ऐसा न करके उस शाप को सहर्ष सिर से स्वीकार किया और साथ ही शैल सुता की विनती चिरौरी की क्षमा माँगी। यही साधुता का लक्षण है। साधु अपने कारण किसी को सकोच मे पडा नहीं देखते। इस विषय में एक भक्त का दृष्टान्त सुनिये।

एक बडे ही साधु सेवी सदाचारी सत थे। उन्हें न कोई धूम्रपान आदि का व्यसन था न कोई ससारी इच्छा। उन्हें साधु सेवा का बडा व्यसन था। जो भी जैसा भी साधु आजाय उसकी वे भली-भाँति सेवा करते उसे असन्तुष्ट नहीं होने देते एक दिन की बात है साधुओं की पक्ति हो रही थी, उसमें एक भगेडी साधु भी बैठे थे।

भाँग के नशा में वे अधिक प्रसाद पाते थे। प्रसाद पाने से पूर्व अपने भंग के घोटने से घोटकर एक लोटा भाँग चढ़ा जाते थे उसी के नशे मे खाते जाते थे। उन्होंने देखा परोसने वाला सब को परिमाण के अनुसार परोस रहे हैं। तब तो उन्होंने दो पत्तलें पृथक-पृथक रख लीं। परोसने वाले संतने इनके सामने की पत्तल पर परोस दिया किन्तु दूसरी पत्तल पर नहीं परोसा। उन भंगेड़ी संत ने कहा—"इस पर भी परोसो।"

उन्होंने पूछा—"यह किनकी पत्तल है ?"

भंगेड़ी संत बोले—"ये मेरे भंग के सोंटे की पत्तल है। यह मुझसे भी अधिक खाता है।

परसने वाले संत को कुछ बुरा लगा उन्होंने कहा—संतों की पंक्तियों में संतों की ही पत्तलें परसी जाती हैं। सोटे लगोटे की पत्तलें नहीं होतीं।" यह कह वे आगे परसते हुए चले गये।

जब वे आश्रम के अधिपति संत आये तो उन्हे देखकर भाँग के नशे में उन भंगेड़ी सन्त ने जूठी पत्तल उनके मुँह में उठाकर दे मारी और कहा—"ऐसी ही तुम साधु सेवा करते हो ? मुझे प्रसाद देते हो और मेरे सोटे को भूखा रखते हो ?"

इतने पर भी सन्त ने हाथ जोड़कर उनके फेंके हुए प्रसाद को चीन-चीनकर अपने वस्त्र मे रख लिया और बड़े स्नेह से बोले—"आज मेरा अहोभाग्य जो सन्तों ने कृपा करके मुझे अपनी सोथ प्रसादी प्रदान की।" जब उन्होंने वह सोटे वाली बात सुनी, तो परसने वाले को बुलाया उन्हे शिक्षा दी उन सन्त से क्षमा याचना कराई और उन्हे परसने के काम से पृथक कर दिया। यही साधुता का आदर्श है। अब एक सन्त भूल करता रहा है तो हम भी उसके प्रत्युत्तर में क्रोध करके दूसरी भूल क्यों करें। अच्छा उसी की बात बड़ी सही कालांतर में उसे अपनी

भूल प्रतीत हो जायगी। हमारे क्रोध का उतना प्रभाव न पड़ेगा, जितना साधुता का। सुनते हैं पीछे भाँग का नशा उतरने पर उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने भाँग पीनी छोड़ दी।

ऐसी ही एक घटना और हुई। एक बार किसी महोत्सव पर सन्तों का भंडारा था। दूर-दूर से बहुत से सत पधारे हुए थे। सब फूँस की झोपड़ियों में अपने-अपने आसन लगाये हुए थे। महन्त जी सब के दर्शनों को गये। एक बुड्ढे से सत थे उन्हें धूम्रपान करने का व्यसन था। ज्यों ही वे सुंदर चिलम भरकर लाये, दो चार मिठास के साथ घूँट मारे त्यों ही उन्हें महन्तजी आते हुए दिखाई दिये। उन्होंने झट हुक्के को छिपा दिया, यह बात महन्त जी ने देख ली। वे शीघ्रता से उन सन्त के निकट आये। इधर उधर की एक दो बातें करके वे पेट पकड़ कर कहने लगे—"पेट में बड़ा दर्द हो रहा है क्या करें।" यह कह कर वे पीड़ा का सा अनुभव करते हुए उन्हीं बूढ़े सन्त के आसन पर बैठ गये और बोले दो घूँट हुक्का के कहीं मिल जाते, तो मेरा दर्द शान्त हो जाता। उनके शिष्य तो आश्चर्य चकित हो गये। महाराज कभी तमाल पत्र का स्पर्श तक नहीं करते आज धूम्र-पान की इच्छा क्यों कर रहे हैं।" उसी बीच उस वृद्ध ने सोचा—"अरे, ये भी धूम्रपान के व्यसनी हैं, तब तो कोई हानि नहीं। झट से उन्होंने छिपे हुए हुक्के को निकालकर दे दिया। महाराज अभी भरकर लाया हूँ

महन्त जी प्रसन्न होकर बोले—"अच्छा,-अच्छा लाइये।" यह कहकर उसमें उलटी-पुलटी दो फूँके मारी और मार कर बोले—"अब लीजिए, आप पीवें। वे सन्त पीने लगे महन्तजी चले गये।

सुनते हैं पीछे जब उन्हें महन्तजी की साधुता का ज्ञान हुआ और पता चला कि यह सब अभिनय सन्त के चित्त को

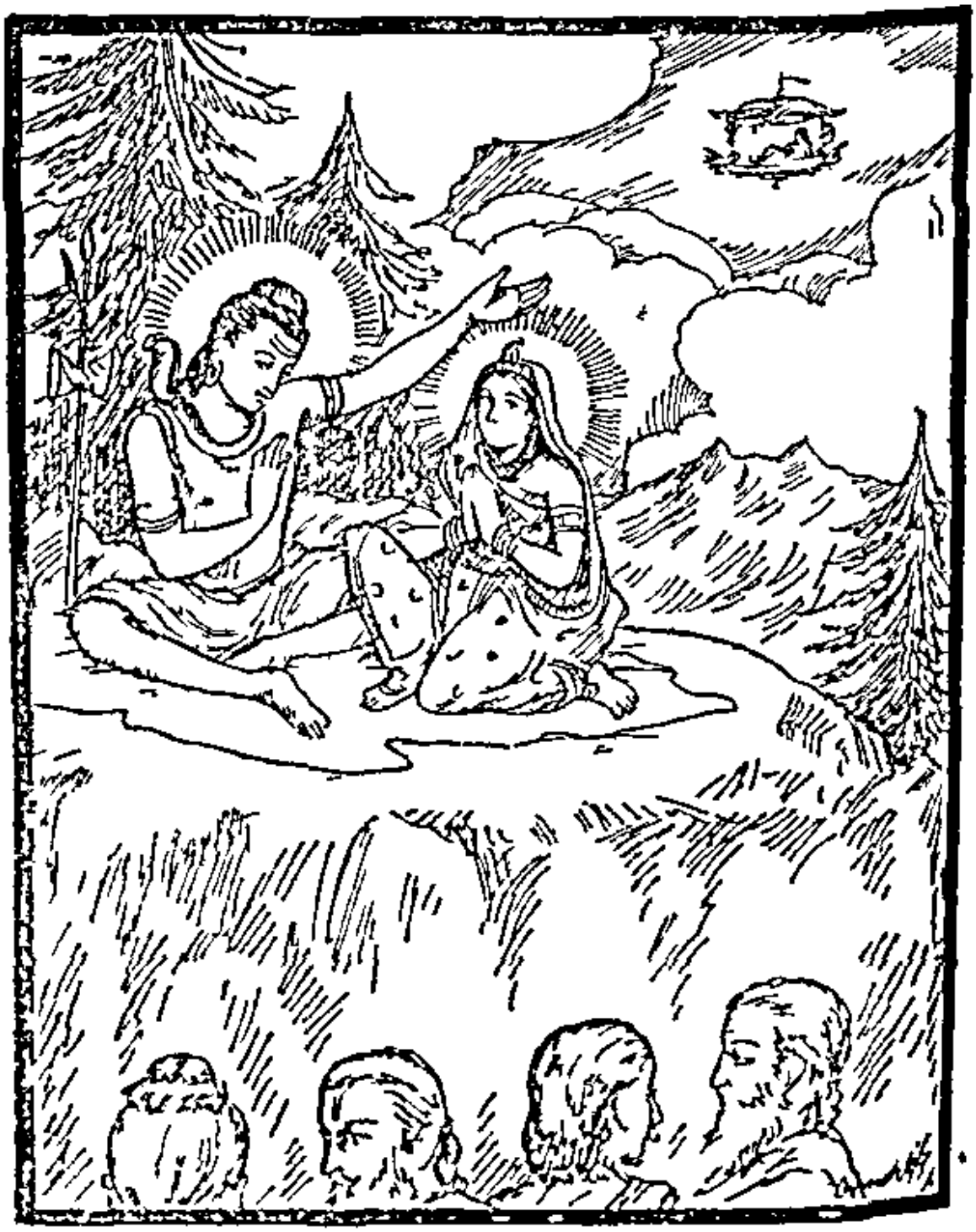

दु ख न हो इसलिये था तो उन्होंने उनकी सरलता और साधुता से प्रभावित होकर धूम्रपान करना छोड़ दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! क्षमा का, सहन शीलता का दण्ड से अधिक प्रभाव पडता है। यदि चित्रकेतु भी भगवती पार्वती को कुपित देखकर कोप करने लगते और शाप के बदले में शाप दे डालते, तो नैतिक दृष्टि से तो चाहे यह ठीक कहा भी जा सकता, किन्तु साधुता के यह विरुद्ध पडता। समर्थ हो कर भी सहन कर लेना यही साधुता का, सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। इसी बात को समझाते हुए शिव जी पार्वती जी से कह रहे हैं—"देवि ! इससे तुम शिक्षा ग्रहण करो। भक्तों के महत्व को समझो भगवन् परायण पुरुषों के लिये शाप अनुग्रह, स्वर्ग नरक दुःख-सुख समान ही है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शिवजी इतना ही कह कर चुप नहीं हुए वे विष्णु भक्तों का और भी महात्म्य कहने लगे। उसे भी मैं आप को आगे सुनाऊँगा आप सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

भक्तनि के जो दास दोष देखें नहि जनके।
अनुचित यदि कछु करें कर्म निंदे नहिं उनके॥
ऋषि मुनि सुर नर चरन कमल पूजे नित जिनके।
मेरे हू जो इष्ट नृपति अनुगत हैं तिनके॥
गत विस्मय ह्वै नृप गये, घोर शाप दीयो इन्हें।
जे अच्युत प्रिय भक्त हैं, नहीं अशक्य कछू तिन्हें॥

वृत्र चरित्र की समाप्ति

(४३६)

जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः ।
वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० १७ अ० ३८, ३९ श्लो०)

छप्पय

यो महिमा गिरिजेश विष्णु भक्तनि की गाई ।
सुनि अति सहमी शिवा चित्तमहँ समता आई ॥
बोले शुक अभिमन्यु तनय तनई त्वष्टा मुनि ।
करयो इन्द्र पै कोप मरण सुत विश्वरूप सुनि ॥
चित्रकेतु वे ई नृपति, असुर योनिकूँ पाइकें ।
भये प्रकट दक्षिण अनल, तें मुनि मखमहँ आइकें ॥

साधु सन्त वस्त्र पहिनते हैं, देह को सजाने बजाने के लिए नहीं, केवल शीतोष्ण निवारणार्थ। त्यागी लोग भी भोजन

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वे ही चित्रकेतु त्वष्टा की दक्षिणाग्नि मे दानवीयोनि का आश्रय लेकर उत्पन्न हुए। ये ही संसार में ज्ञान विज्ञान से संयुक्त वृत्रासुर इस नाम से विख्यात हुए। इस प्रकार महाराज! आपने जो वृत्र की आसुरी योनि मे जन्म लेने

करते हैं, वे भी जल पीते हैं, स्वाद के लिये नहीं केवल क्षुधा पिपासा शान्त करने के निमित्त। अन्न, जल वस्त्र तथा अन्य भी जीवनोपयोगी वस्तुओं को वे इसीलिये ग्रहण करते हैं, कि यह शरीर भली भाँति चलता रहे। वे उनकी सुन्दरता और मृदुता तथा सुस्वादपनेको अत्यधिक महत्व नहीं देते। इसी प्रकार भक्तों का एकमात्र उद्देश्य होता है, भगवत् स्मरण। जिस योनि से भी भगवत् स्मरण हो, वही योनि भक्तों के लिये सर्वश्रेष्ठ है। इन्द्र बन गये, वरुण बन गये, कुबेर बन गये और भक्ति से शून्य ही रह गये, तो वह देवयोनि भी निन्दनीय और हेय है, यदि शूकर कूकर योनि से भी हरिस्मरण हो सके तो वही श्रेष्ठ है। काकभुसुण्डी को गुरु क शापवश ब्राह्मण शरीर त्याग कर मल भक्षण करने वाली पक्षियों मे चांडाल मानी जाने वाली काकयोनि प्राप्त हुई थी। पीछे गुरु कृपा से ही उन्हें यह भी वरदान प्राप्त हो चुका था, कि ये इच्छानुसार जिसका चाहे, रूप रख सकते हैं। इतना होने पर भी उन्होने हेय समझकर काकयोनि को त्यागा नहीं। यही नहीं उससे उन्होंने इसलिए और भी अधिक प्रेम किया कि इसी के द्वारा मुझे भगवत्भक्ति की प्राप्ति हुई है। जटायु पक्षियो मे अधम गृद्ध शरीर मे थे, किन्तु उसी में इसीलिए अत्यधिक हर्षित थे कि इसमें हमें भगवान् की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त होता है। भक्तो की दृष्टि मे इस बाह्य शरीर की आकृति का कोई विशेष महत्व नही है। मन भगवान् मे लगा रहे, योनि कोई भी मिले सभी सुन्दर है। इसीलिये विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु आसुरी

पर भी भगवद्भक्त होने का कारण पूछा था। वह सब आपसे कह दिया।"

योनि में भी दुखित नहीं हुए। वहाँ भी वे जैसे के तैसे भगवत् भक्त ही बने रहे।

श्री शङ्करजी पार्वतीदेवी से कह रहे हैं—"हे पार्वति! भक्तों की दृष्टि में द्वैत रहता ही नहीं। वे तो सर्वत्र अपने सर्वज्ञ सर्वव्यापक स्वामी को ही देखते हैं। स्वर्ग हो, नरक हो, देवयोनि हो, कीट पतंग की योनि हो। प्रयाग हो, मगध हो सर्वत्र उनकी समबुद्धि रहती है। उनकी यह सदा दृढ धारणा रहती है कि कोई किसी को सुख दुख देने में समर्थ नहीं है। न कोई स्वेच्छा से किसी को शाप दे सकता है न अपने आप अनुग्रह करने में ही समर्थ है। ये जो जीवों को सुख-दुख, जन्म मरण, शाप-अनुग्रह आदि द्वन्द प्राप्त होते हैं। वे भगवान् की लीला से ही देव तिर्यक आदि देहों के संयोग से ही हुआ करते हैं। आत्मा में तो देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का भेदभाव है ही नहीं। आत्मा तो सबमें समान रूप से व्याप्त है।

इस पर पार्वतीजी ने पूछा—"प्रभो! जब सभी में आत्म सत्ता समान है तो यह देवता है, पूजनीय है, यह असुर है, अनादरणीय है। ऐसा भेद भ्रम क्यों होता है? क्यों लोग देवताओं को श्रेष्ठ समझते हैं क्यों आसुरी योनि की निन्दा करते हैं।"

इस पर शिवजी ने कहा—"प्रिये! यह तो व्यवहार की बातें हैं। वास्तव में आत्मा में अणुमात्र भी भेदभाव नहीं। जैसे स्वप्न में सुख दुख की प्रतीत भेद भ्रम के कारण ही होती है। अँधेरे में जागने पर भी सम्मुख ठूँठ को देखकर भूत का भ्रम हो जाता है। टेढी-मेढी रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम हो जाता है। दूर से काष्ठ की हथिनी को देखकर यथार्थ हथिनी का भ्रम हो जाता है। यह सब अज्ञान के कारण होते हैं। जागने पर ज्ञान हो जाने पर, समीप पहुँचने पर ये

भेदभाव दूर हो जाते हैं। भक्त तो भगवान् के पार्श्ववर्ती ही ठहरे उन्हें यह भ्रम नहीं होता भक्ति को ही प्रधान मानते हैं। जो भगवान् वासुदेव के भक्त हैं, वे निर्बल और भयभीत नहीं होते, वे ज्ञान वैराग्य के बल से सदा सम्पन्न रहते हैं। वे किसी भी योनि में चले जायँ वहीं निर्भय रहते हे। उन्हें इस ससार मे भगवान् को छोडकर अपनी बुद्धि का कोई अन्य आश्रय नहीं दीखता। यदि शूकर योनि में भी भक्ति प्राप्य है, तो वह श्रेष्ठ है। देवयोनि में यदि वह नहीं है, तो वह निकृष्ट है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! फिर भी श्रेष्ठ योनियों मे श्रेष्ठता तो होती ही है।"

शीघ्रता से सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! होती क्यों नहीं, किन्तु वह साधन भजन की सुगमता के ही कारण होती है, इन्द्रियो की बनावट के कारण नहीं। मनुष्य योनि से अधिक साधन भजन, भगवत् चिंतन तथा परमार्थ साधन हो सकते हैं। इसीलिये मनुष्य योनि को सर्वश्रेष्ठ कहा है। यदि यह सुदुर्लभ देह, सुलभता से प्राप्त हो जाय और इसे प्राप्त करके भी इस ससार रूप समुद्र को पार करके प्रभु के पादपद्मों के पास न पहुँचे तो मुनियो ने उसे आत्महा—आत्मा का हनन करने वाला—बताया है। भक्त तो भगवत् प्रेम चाहते हैं वह यदि पशु बनने पर भी प्राप्त हो जाय, तो उन्हे पशु बनना सहर्ष स्वीकार है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस विषय मे मैं आपको एक बहुत ही सुन्दर दृष्टात सुनाता हूँ। परम पावन काचीपुरी मे एक बडे ही भगवद्भक्त वैष्णव रहते थे। उन्हें सर्वदा यही चटपटी लगी रहती थी, कि 'किस प्रकार प्रभु मेरे ऊपर कृपा

करें। कैसे मैं भगवान् का अधिक से अधिक स्नेहभाजन बन सकूँ।

एक दिन वे संत बैठे थे। उन्होंने देखा एक श्रीमान् बड़े विभवशाली रथ मे बैठकर जा रहे हैं। उसके साथ उसकी धर्मपत्नी भी है एक कुत्ता भी उनकी गोद मे बैठा है। वे दोनो पति-पत्नी उस कुत्ते को अत्यधिक प्यार कर रहे हैं। कभी उसे पुचकारते हैं। कभी उसके बदन को थपथपाते हैं। कभी मृदु करो से उसके मुख को दबाते हैं। कभी उसे सुहराते हैं कभी उसके बड़े-बड़े बालो मे कोमल उँगलियाँ डालकर उसे खुजाते हैं। भगवद्भक्त इस लीला को देखकर मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। मुनियों ये हरिभक्त प्रेम के पापी होते हैं। प्रेम जहाँ भी देखते हैं रीझ जाते हैं। जैसे अपने आहार को देखते ही चित्त उसकी ओर स्वाभाविक दौड़ता है। जैसे किसी को धूम्रपान करने का व्यसन है, उसे धूम्रपान की बड़ी प्रबल इच्छा हो रही हैं, तो किसी नीच को धूम्रपान करते देखता है तो उनकी इच्छा होती है, इसी से लेकर मैं पान कर लूँ। प्रेमी जहाँ किसी दूसरे को अपने प्रियतम से प्रेम करते देखते हैं तहाँ उनके मनमें गुद-गुदी होने लगती है, हाय! किसी तरह हमारा भी प्रेमी हमें ऐसे प्यार करने लगे तो बेड़ा पार हो जाय।"

वैष्णव सोचने लगे—"देखो! ये सपत्नीक श्रीमान् अपने कुत्ते से कितना स्नेह रखते हैं। यदि मैं भी कुत्ता हो जाऊँ तो संभव है। श्री लक्ष्मीवरद रमारमण मुझसे भी अपनी प्रिया के सहित प्रसन्न हो जायँ, वे भी मुझे इसी भाँति प्यार करने लगे।"

यह सोचकर वे उस दिन से अपने को कुत्ता ही समझने लगे। कुत्ते की भाँति हाथों को पृथिवी पर टेककर चलते।

वैष्णवों की उच्छिष्ट पत्तलों को कुत्ते की भाँति चाटते। कोई टुकड़ा डाल देता तो कुत्ते की भाँति उसे खाते। नदी मे जाकर कुत्ते की भाँति पानी पीते। जहाँ-तहाँ कुत्ते की भाँति मलमूत्र कर देते। कोई मार देता, तो कुत्ते की भाँति-भाँति कांउ-कांउ करके भाग जाते। सारांश ये अपने को सब भाँति कुत्ता ही समझते।" भगवान् उनकी इस निष्ठा से प्रसन्न हुए और उनके ऊपर कृपा की। सो, मुनियो! शरीर तो वही श्रेष्ठ है जिससे भजन हो। भजन न हो और कामदेव के समान सुन्दर मन सब संसारी भोगों से युक्त मनुष्य शरीर को प्राप्त हो जाय तो वह व्यर्थ है। इसी भाव को समझते हुए शिवजी पार्वती जी से कह रहे हैं—"देवी! उन भगवान् की महिमा को उनकी अद्भुत लीलाओं को सब नहीं जान सकते। और लोगों की बात तो जाने दो मैं स्वयं भी उनके महत्व को भली-भाँति नहीं जानता। ब्रह्माजी, सनकादि महर्षि, नारदमुनि, मरीच, अत्रि, अंगिरा आदि ब्रह्माजी के पुत्र तथा अन्य लोकपाल आदि कोई भी प्रधान-प्रधान देवगण उनके यथार्थ स्वरूप को कहने मे समर्थ नहीं फिर अन्य लोगों की तो बात ही क्या? संसारी लोग तो मूर्खतावश अपने को सर्वसमर्थ मानते हैं। इन चित्रकेतु में जो इतनी सहनशीलता है, यह भगवान् की अहैतुकी भक्ति के ही कारण है, इसलिये तुम किसी प्रकार का विस्मय मत करो। भगवान् के भक्तों के लिये कोई कार्य दुष्कर नहीं। उनके लिये कुछ भी असंभव नहीं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! भगवान् शंकर के मुख से ये बातें सुनकर पार्वतीजी को जो भी कुछ विस्मय हुआ था, वह दूर हो गया। विष्णु भक्तों के इस महान् महात्म्य को सुनकर वे गत विस्मया बन गईं।"

वे ही राजा चित्रकेतु माता पार्वती के शाप से जब त्वष्टा मुनि ने विश्वरूप के वध से क्रोधित होकर अग्नि में 'इन्द्र का शत्रु बढ़े' इस मंत्र से दक्षिणाग्नि मे हवन किया था, उसी में से ये असुर होकर उत्पन्न हुए थे। उत्पन्न होते ही इन्होंने तीनों लोकों को वृत्र अर्थात् ढक सा लिया था, इसीलिये ये वृत्रासुर के नाम से विख्यात हुए। असुर योनि में होने पर भी इनका ज्ञान-विज्ञान लुप्त नहीं हुआ। ये उसी प्रकार अनन्य अच्युत उपासक परम भगवद्भक्त हुए। राजन्! तुमने जो शंका की थी, कि असुर होकर भी वृत्रासुर इतना भगवद्भक्त क्यों हुआ? इसी के उत्तर मे मैंने यह परम शिक्षाप्रद राजर्षि चित्रकेतु का पुण्य-प्रद उपाख्यान कहा, इसे सुनकर आपका विस्मय दूर हो जायगा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

महाराज परीक्षित जी ने परम आश्चर्य के सहित कहा—"भगवन्! यह तो बड़ी ही सुन्दर कथा आपने सुनाई। क्यों न हो भगवान् की भक्ति की महिमा ऐसी ही है। जो भगवत् चरित्रों को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करता है, उसके पाप संताप सब दूर हो जाते होंगे।"

इस पर हँसकर श्रीशुकदेवजी बोले—"अजी, राजन्! भगवान् के चरित्रो के सुनने से संसार बन्धन छूट जाय, यह तो निर्विवाद बात है। मैं तो कहता हूँ विष्णु भक्तों के महात्म्यरूप इन महात्मा चित्रकेतु के इस पवित्र इतिहास को जो श्रद्धाभक्ति और एकाग्र चित्त होकर सुनते हैं उनके सब संसारी बन्धन छूट जाते हैं। भगवान् के चरित्रों से भक्तो के चरित्र श्रेष्ठ बताये गये हैं क्योंकि उनमे स्थान-स्थान पर भगवान् की भक्त-वत्सलता, करुणा और अहैतुकी की कृपा का वर्णन होता है। भक्तों के चरित्र और हैं क्या भगवत् परायणता ही तो उनका

प्रधान चरित्र है। सोते-जागते उठते-बैठते भगवद्भक्ति मे ही तो निमग्न रहते है। भगवान् के अतिरिक्त उनका ससार मे और कोई धन है ही नहीं। जो पुरुष प्रातःकाल उठते ही भगवान् का स्मरण करके इस भक्तिवधक इतिहास को कहता सुनता या सुनाता है वह अवश्य ही परमपद का अधिकारी बन जाता है। इसमें आप तनिक भी—रत्ती भर की अणुमात्र की सदेह न करें अच्छा! समझे राजन्! इसे भूलियेगा नही भला। यह तो मैंने त्वष्टा के वंश का वर्णन करते हुए विश्वरूपजी के जन्म के सम्बन्ध मे प्रसगवश अत्यत सक्षेप मे वृत्रासुर की कथा सुनाई। अब आगे आपकी क्या सुनने की इच्छा है?

छप्पय

जे पवित्र यह चरित वृत्र को सुनें सुनावें।
बड़भागी ते मनुज परमपद निश्चय पावें॥
कहें उत्तरा तनय अदिति के शेष वश कूँ।
प्रभो सुनावें अवसि कथा के बचे अश कूँ॥
शुक बोले—सविता वरुण, मित्र विधाता उरुक्रम।
धाता भगके वश कूँ, कहूँ सुनें ते भजे भ्रम॥

———

अदिति के शेष वंश का वर्णन

(४३७)

पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम् ।
अग्निहोत्रं पशुं सोम चातुर्मास्यं महामखान् ॥❀

(श्र भा० ६ स्क० १८ अ० १श्लो०)

छप्पय

सविता पत्नी पृश्नि जने तिनि सब यज्ञादिक ।
भगकी पत्नी सिद्धि जने सुत तीनि सुता इक ॥
धाता पत्नी कुहू सिनीवाली राका अरु ।
अनुमति चौथी पत्नि भये सुत सबके सुन्दरु ॥
साय प्रातः दर्श अरु, पूर्ण मास सुत अति विमल ।
क्रिया विधाता की महू, जने पुरी व्याहिक अनल ॥

संसार मे जितने भी नाम रूप वाले पदार्थ हैं, सबके पृथक्-पृथक् अधिष्ठातृदेव हैं, घर, ग्राम, नगर, दुर्ग, वृक्ष, लता, गुल्म तथा सभी योनि के जीवों के अधिष्ठातृदेव होते हैं। इसे आधिदैविक सृष्टि कहते हैं इस प्रकार संसारमें जड कुछ नहीं है आधिदैव और अध्यात्मक को न मानना केवल देखने वाले पचभूतों

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अदिति के बारह आदित्यों मे से पञ्चम सविता थे, इनकी पत्नी का नाम पृश्नि था। उससे उन्होंने सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य तथा पञ्च महायज्ञ ये सन्तानें पैदा की।

को ही सब कुछ मानकर इन्हीं के द्वारा सांसारिक वासनाओं की पूर्ति करते रहना इसीका नाम जड़ता है। हमें इन चर्मचक्षुओंसे जो दीखता है, वह वस्तुओं का आधिभौतिक रूप है। क्योंकि हम चक्षु गोलकों द्वारा ही सबको देखते हैं और चक्षु गोलक आधिभौतिक ही हैं। ये चक्षु गोलक होनेपर भी इनमें सूर्यशक्ति प्रवेश न करे, तथा हमारे नेत्रों को तथा देखने वाली वस्तुओं को प्रकाश प्रदान न करे तो हम वस्तुओं को नेम गोलकों के रहने पर भी कुछ नहीं देख सकते। इसीलिये घोर अंधकार में हमें कोई वस्तु दिखाई नहीं देती।

प्रकाश और गोलक का जो अधिष्ठान चक्षु नाम इन्द्रिय है, जो प्रकाश को ग्रहण करके वस्तुओं को प्रकाशित करती है यही उसका आध्यात्म रूप है। पुराणों में जो सृष्टि का वर्णन है वह अध्यात्म और आधिदैविक ही है। आधिभूत का वर्णन प्रायः नहीं के ही बराबर है। इसीलिये पुराणों में भिनगों की भाँति जन्मने मरने वाले जीवों का वर्णन नहीं मिलता। उनका वर्णन करने से लाभ क्या? जो नित्य हैं। कम से कम कल्पजीवी है, या जो मुक्त हैं मुमुक्षु हैं, उन्हीं का प्रायः वर्णन है। बद्ध जीवों का कहीं उदाहरण के रूप में आ गया, तो दूसरी बात है किन्तु उन का वर्णन करना पुराणों को इष्ट नहीं। बद्ध तो बद्ध हैं ही।

जब श्रीशुकदेवजी ने वृत्रासुर के इतिहास को समाप्त किया तब राजा को मूल कथा का स्मरण हो आया। उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा—"ब्रह्मन्! आप मुझे देवता, ऋषि तथा पितर आदि सबके वंशोंको सुना रहे थे। पहले आपने स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद इन दोनों पुत्रोंके वंश का वर्णन किया। महाराज प्रियव्रत के पुत्र अग्निध्र हुए उनके नाभि और नाभि के यहाँ भगवान् ऋषभदेवका जन्म हुआ। ऋषभदेव के ही भरतजी

हुये जो जडभरत कहाये। इन सबके आपने मुझसे चरित्र कहा उत्तानपाद के वंश का वर्णन करते हुए आपने महाराज प्राचीनबर्हि के वंश तक का वर्णन किया था। फिर आपने बताया था कि महाराज प्राचीनबर्हि के १० प्रचेता हुए। उन्होंने वार्क्षी नामक कन्यासे विवाह किया। जिनके ब्रह्माजी के पुत्र दक्ष शिवजी के शाप से पुनः पुत्र रूप में इस मन्वन्तर में हुए। उस समय सब प्रजा क्षीण हो गई थी। इसलिये इन प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने ही सम्पूर्ण सृष्टि को फिर से बढ़ाया। पहिले उन्होंने हर्यश्व और शबलाश्व नामक ग्यारह हजार पुत्र उत्पन्न किये, नारदजी के उपदेश से सबके सब साधु बन गये। तब ब्रह्माजी की आज्ञा से उन्होंने ६० कन्यायें उत्पन्न कीं। जिनमे से २७ चन्द्रमा को १० धर्मको दो दो भूत, अंगिरा और कृशाश्व को चार तार्क्ष्यको इस प्रकार ४७ तो इन सबको दी और १३ भगवान् कश्यप को दीं। पहिले आपने ४७ कन्याओं के वंश को संक्षेप में बताया था। तब कश्यप के १३ पत्नियों के वंश का वर्णन करने लगे। उनमे से तिमि, शरमा, सुरभि, ताम्रा, क्रोधवशा, मुनि, इला, सुरसा, अरिष्टा, काष्ठा, और दनु इन ग्यारह की संतानों का वर्णन आपने सक्षेप में किया। फिर आप कश्यप की प्यारी पत्नी अदिति के वंश का वर्णन कर रहे थे। आपने इसी प्रसंग मे बताया था, कि अदिति के १२ पुत्र हुए, जो १२ आदित्य कहलाये। जिनके नाम विवस्वान, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र और उरुक्रम थे। उनमें से आपने विवस्वान, अर्यमा, पूषा के वंशों के सम्बन्ध में संक्षेप मे वर्णन करते हुए चौथे आदित्य त्वष्टा के वंश का वर्णन किया था। आपने बताया था कि त्वष्टा मुनि ने असुरों की छोटी बहिन रचना के साथ विवाह किया था उनके पुत्र विश्वरूपजी हुए। उसी कथा के

प्रसंग में विश्वरूप का वध और वृत्रासुर की कथा भी छिड गई यह अवान्तर कथा थी। अब आप मुझ, मूल कथा को ही सुनावे विवस्वान्, अर्यमा, पूषा और त्वष्टा क अतिरिक्त सविता आदि ८ आदित्य और शेष हैं। उनके वंश का वर्णन अब आप और करें। अपनी मूल कथा पर आ जायें।

राजा परीक्षित्की ऐसा बाते सुनकर श्रीशुकदेवजी बडे प्रसन्न हुए और बोले—"राजन! तुम धन्य हो। कथा सुनने के सच्चे अधिकारी तुम ही हो। तुम कथा के मूल स्रोत को हाथ से नही जाने देते। जड को कस कर पकडे रहते हो शाखा प्रशाखाओ के विस्तार से मूलको भूलते नही। मैं ता वृत्रासुर की कथा कहते-कहते भूल गया था, कि आगे क्या कहना है। अब आपने अच्छी याद दिला दी। राजन्! इन बारह आदित्यों से ही तो समस्त दैविक सृष्टि उत्पन्न हुई है। इनके वश का मैं विस्तार से वर्णन करने लगूँ तो कभी समाप्त ही न होगा। अतः मैं कथा प्रसंग को व्यवस्था और क्रम मे रखने के निमित्त इनके वंश का अत्यंत ही संक्षेप मे वर्णन करता हूँ। उसे आप दत्त चित्त होकर श्रवण करे।

हाँ, तो पाँचवे आदित्य सविता हुए। उनकी स्त्री का नाम था पृश्नि। इनके तीन लडकी और पाँच लडके हुए। यह जो सावित्री है जिसे गायत्री भी कहते हैं यह इनकी ही लड़की है। दूसरी व्याहृति है जो गायत्री के साथ लगी रहती है। तीसरी विद्या है, जिससे समस्त कर्मकांड आदि हैं। वेदोमें पांच प्रकारके यज्ञ बताये गये हैं। एक तो अग्निहोत्र जिसे विवाह हो जाने पर समस्त वर्णाश्रमी द्विजो को करने का विधान है। एक पशु यज्ञ होता है, जिसमें पशु बलि दी जाती है। एक सोमयज्ञ होता है जिसमे सोमलता से सोम निकालकर देवताओं को उसका भाग दिया

जाता है। एक चातुर्मास्य यज्ञ होता है जो वर्षा के चार महीनों मे किया जाता है। एक पंचमहायज्ञ है जो नित्यप्रति प्रत्येक द्विजाति गृहस्थ को करना चाहिये। इन पांचों के अधिष्ठात्री देवता सविता से ही उत्पन्न हुए। यह मैंने अत्यंत संक्षेप में सविता के वंश का वर्णन किया अब छठे आदित्य भग की सन्तानों को सुनिये।

भग देवता की स्त्री का नाम था सिद्धि। उनसे इनके महिमा, विभु और प्रभु ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए और एक कन्या भी उत्पन्न हुई जिसका नाम आशिष है। बड़े लोग जो छोटो को आशिष या आशीर्वाद देते हैं। यह इन्हीं भग की कन्या है। दक्ष यज्ञ मे कुपित हुए वीरभद्र ने इनके नेत्र फोड़ दिये थे इसलिय ये मित्र देवता क नेत्रों से देखते हैं। तब से सबको ये मित्रभाव से निहारते हैं। इससे यह भाव प्रकट हुआ कि जो किसी को अमित्रभाव से देखता हैं, उसके नेत्र देखने योग्य नहीं रहते।

अब सातवे आदित्य धाताकी संतानोकी भी सुनिये। इनके चार पत्नियां थीं, जिनके नाम कुहू, सिनीवाली, राका और अनुमति ये हैं। ये अमावस्या की रात्रि के भेद हैं। इनचारों के एक-एक पुत्र हुआ। कुहू के पुत्र का नाम सायं है। सूर्यास्त के समय जो हवन पूजन किया जाता है वह सायं हवन कहलाता है। इसके अधिष्ठातृदेव ये धाता पुत्र सायं ही हैं। सिनीवाली का पुत्र हुआ दर्श। अमावस्या को जो पितरों के उद्देश्य से यज्ञ किया जाता है उसे दर्शयाग कहते हैं। उसके अधिष्ठातृ देव ये धाता के दूसरे पुत्र हैं। राका नामक पत्नी से प्रातः नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सुर्योदय के आगे पीछे का जो समय है जिसमें प्रातःकालीन अग्निहोत्र आदि होते हैं उसके अधिष्ठातृ देव ये ही हैं। धाता की चौथी पत्नी अनुमति का पुत्र पूर्णमास हुआ। मास के अंत मे जो

पूर्णिमा के दिन देवताओं के उद्देश्य से याग किया जाता है उस क अधिष्ठातृ देव ये धाता के चौथे पुत्र हैं। अब आठवें विधाता की सतानों को भी सुनिये।

धाता के छोटे भाई विधाता की स्त्री का नाम क्रिया था। उस से पुरीष्य सज्ञक पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। पूर्वजन्म मे ये पाँचो पवित्र आदि थे। तपस्वी लोग अब भी पचाग्नि तप करते हैं। इन पाँचों अग्नियों के अधिष्ठातृ देव ये ही हैं।

नव में आदित्य हुए वरुण। इनकी पत्नी का नाम था चर्षणी जो भृगु पहिले ब्रह्माजी के पुत्र थे वे किसी कारण विशेष से फिर उत्पन्न हुए अत' वे इनके ही यहाँ पुत्ररूप में प्रकटे। एक पुत्र और भी उत्पन्न हुए जो बडे तपस्वी हुए। उन्होंने इतनी घोर तपस्या की कि तपस्या करते-करते उनके शरीर पर दीमकों ने अपना घर वल्मीक बना ली। उस वल्मीक को हटाकर वे फिर से प्रकट हुए। वल्मीकि से उत्पन्न होने क कारण वे ही वाल्मीक ऋषि कहलाये। ये दो तो इनके शुद्ध पुत्र थे दो मिले-जुले और पुत्र हुए। बात यह थी कि ये अपने छोट भाई मित्र के साथ एक दिन आ रहे थे। दोनों का ही स्वर्गीय ललना ललाम उर्वशी अप्सरा क रूप को देखकर शुक्र स्खलित हो गया। दोना मे अमोघ वीर्य थे। वह दिव्य वीर्य व्यर्थ न जाय इसलिये उन दोनों ने उसे एक घट म रख दिया। उसी समय वाशिष्ठजी का राजा निमि स यज्ञ के सम्बन्ध मे वाद विवाद हो गया। उसम दोनो आर से शापा-शापी हो गई। वशिष्ठजी ने कहा—"तेरी देह नष्ट हो जाय।" राजर्षि निमि भी कुछ कम नहीं थे, उन्होंने कहा—"आपकी भी देह नष्ट हो जाय।" अब वशिष्ठजी तो कल्पजीवी ठहरे मर तो सकते नहीं। बिना शरीर के पृथिवी पर कैसे रहे। देहरूप आश्रय

तो चाहिये। इसलिये जीव रूप से वे उसी घड़े के वीर्य मे प्रविष्ट हुए। ऐसे ही एक दिव्य जीव उसमे और आगये। उनका नाम हुआ अगस्त्य। इस प्रकार वशिष्ठ और अगस्त्य ये दोनों मित्रा वरुण के पुत्र कहलाये। इसलिये ये दोनों मिले जुले साझे के सम्मिलिति अयोनिज पुत्र हुए। घड़े से उत्पन्न होने से दोनों कुम्भज भी कहलाते हैं।

दशवें आदित्य मित्र थे इनकी भार्या का नाम रेवती था। उससे इनके उत्सर्ग, अरिष्ट और पिपल नामक तीन पुत्र हुए। अब ग्यारहवें आदित्य की सन्तानों को सुनिये।

ग्यारहवें आदित्य शक्र हुए जो देवताओं के राजा होनेसे इन्द्र भी कहलाये। इन्होंने अपना विवाह असुर वंश में किया। इसलिये कि पुलोमा नामक असुर की शची नाम वाली कन्या बड़ी ही सुन्दरी थी। तीनों लोक में उसके समान सुन्दरी कोई कन्या उस समय नहीं थी। इसकी एक बहिन और थी उसका नाम बाप ने अपने ही नाम पर पुलोमा ही रखा था जिसका विवाह भृगु के साथ हुआ। जिनसे च्यवन ऋषि उत्पन्न हुए। हाँ तो शची का विवाह इन्द्र के साथ हो गया उससे इनके जयंत, ऋषभ और मीढ़ष नाम तीन पुत्र उत्पन्न हुए एक जयन्ती नामवाली कन्या भी उत्पन्न हुई जिसका विवाह ऋषभ देव जी के साथ हुआ जिनके भरतजी आदि १०० पुत्र उत्पन्न हुए।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! हमने तो सुना है। देवताओं के सन्तानें ही नहीं होतीं। आप कह रहे हैं इन्द्र के तीन लड़के एक लड़की हुई।"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन्! पहिले तो सब के सन्तानें हुआ करती थीं। जब से पार्वतीजी ने इन देवताओं को शाप

दिया तब से इनके सन्तान होनी बंद हो गई। नहीं तो कुबेर के नलकूबर मणिग्रीव ये दो पुत्र थे। वरुण के पुष्कल नामक पुत्र थे। यमराज की कन्या अंग की पत्नी सुनीथा थी। यह तो शाप से सब के सब आधे नपुंसक हो गये। देवता शब्द पुलिङ्ग भी है और स्त्री लिङ्ग भी है।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—महाभाग! सूतजी! पार्वतीजी ने इन देवताओं को शाप क्यों दे दिया?"

सूतजी यह सुनकर कुछ अन्यमनस्क से हो गये और बोले—'भगवन्! क्या करोगे इनसब बातों को सुनकर। ये सब झगडे टंटे की बात हैं। योंहीं समझ लीजिये, इन देवताओं का प्रारब्ध ही ऐसा था। अच्छा ही किया इन सब को भगवती पार्वती ने निस्सतान बना दिया। नहीं ये लोग बडे कामी होते हैं। नित्य ही सन्तानें उत्पन्न करते और इन ऐश्वर्य में मदोन्मत्त हुए कामियों को सतान रात्रि दिन अनर्थ हा करती रहती। देखिये! इन्द्र पुत्र जयंत ने ही कैसी अशिष्टता की माता जानकी के ही ऊपर कुदृष्टि डाली। नलकूबर मणिग्रीव की अशिष्टता से दुखी होकर ही नारदजी ने उन्हें वृक्ष बन जाने का शाप दिया। इसलिये इन ऐश्वर्यशाली धनिकों का निस्सतान होना ही ठीक है। हीं भी तो एक दो सतान बहुत हैं।

पार्वतीजी ने शाप क्यों दिया यह कथा है तो बहुत लम्बी किन्तु मैं बहुत संक्षेप म इसे सुनाता हूँ। पार्वतीजी को सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा हुई। इसी भावना से वे गर्भधारण कर रही थीं। स्वार्थी देवताओं ने अग्नि को भेजकर बीच ही में गड-बड-सडबड कर दी। भगवती की इच्छा मे विघात हुआ इसी से क्रुद्ध होकर उन्होंने शाप दे दिया—"जाओ! तुमने मेरी सतान

की इच्छा का विघात किया है, तुम्हारे भी किसी के संताने न हो बस, तब से ये सबके सब देवता निपूते बन गये। जो पहिले हो गये थे, वे हो गये इसके पीछे गोविन्दाय नमो नमः हो गया।

अब सबसे अंतिम बारहवें आदित्य हुए विष्णु जो इन्द्र से छोटे होने के कारण उपेन्द्र भी कहलाते हैं। स्वर्गसिंहासन के ये भी उप सभापति हैं।"

इसपर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! विष्णु तो सबसे बड़े हैं आप इन्हें इन्द्र से छोटा क्यों बता रहे हैं, ये तो इन्द्र के भी शास्ता हैं? फिर आप इन्हें स्वर्ग का उपसभापति उपेन्द्र क्यों कहते हैं—

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"महाराज, इन विष्णु की माया अपरम्पार है। ये छोटे बनने पर भी बड़े खोटे होते हैं। छोटे बनकर इन्होंने बड़ी तिकड़म भिड़ाई। विचारे बलिको ऐसा चक्कर में फँसाया कि उसका राज-पाट सब छीन-छान कर पाताल में भेज दिया। बाँधना तो चाहते थे ये उसे ही किन्तु भोलेपन के कारण स्वयं बँध गये। बालक ही जो ठहरे। सेवक बनाने गये, स्वयं सेवक बन गये। अब हाथ में छड़ी लिये हुए बलि के द्वार पर पहरा देते रहते हैं। महाराज, यह बड़ी भारी कहानी है। भगवान् ने अदिति देवी को प्रसन्न करने के लिए उनके गर्भ से अवतार लिया था। इन्द्र के छोटे भाई बनकर उन के दुःख को दूर किया। असुरों को छलकर कपट से उनका राज्य छीनकर देवताओं को दे दिया। इन सब बातों को मैं वामन चरित्र में आगे कुछ विस्तार के साथ बताऊँगा। पहिले आप मुझे भगवान् कश्यप की १२ पत्नियों की संतानों का संक्षेप में वर्णन कर लेने दो।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"अच्छी बात है सूतजी!

१० पत्नियों के वंश का वर्णन तो आप कर ही चुके अब एक दिति ही रह गई, सो उसके वंश का वर्णन और कीजिये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! अब मैं दिति के वश का वर्णन करता हूँ, उस दैत्य वश को आप सब सावधान हो कर श्रवण करें।

छप्पय

वरुण चर्षणी माँहिँ भये भृगु मुनि पुनि तिनतें।
सुत वशिष्ठ बाल्मीक अगस्तहु जनमें इनतें॥
मित्र रेवती नारि माँहिँ सुत तीनि भये वर।
इन्द्र शचीतें ऋषभ जने मीढुस जयन्त सुर॥
वामन पत्नी कीर्ति ने, बृहच्छ्लोक शुभ सुत जने।
श्री उपेन्द्र बलि जज्ञ में, छोटे से बौना बने॥

दिति वंश का वर्णन

(४३८)

अथ कश्यपदायादान् दैतेयान् कीर्तयामि ते ।
यत्र भागवतः श्रीमान् प्रह्लादो बलिरेव च ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १० श्लो०)

छप्पय

हिरनकशिपु हिरनाक्ष भये दिति सुत खल भारी ।
हिरनकशिपु की बहू कयाधू अति पति प्यारी ॥
अनुह्लाद सह्लाद ह्लाद प्रह्लाद जने सुत ।
सुता सिंहिका भई जासु सुत भयो विप्रचित ॥
जन्यो पचजन असुर कूँ, कृति ते सुत सह्लाद ने ।
इल्वल वातापी जने, धमनि पत्नि तें ह्लाद ने ॥

ससार में जो भी बल, पौरुष, पराक्रम, श्री, तेज, ऐश्वर्य है सब भगवद् दत्त ही हैं। जहाँ भी ये सब दिखाई दें उसे भगवान् की विभूति समझना चाहिए। भगवान् की सात्विकी विभूति आदि देवता आदि हैं, राजसी विभूति ब्रह्मा मनु प्रजा

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब मैं महर्षि कश्यप की पत्नी दिति के उदर से उत्पन्न होनेवाले दैत्यों के वश का वर्णन तुमसे करता हूँ जिस वश में परम भागवत श्रीमान् प्रह्लादजी तथा महादानी बलिजी उत्पन्न हुए हैं।"

पति आदि हैं और तामसी विभूति रुद्र, असुर, भूत, प्रेत, पिशाच, दैत्य दानव आदि हैं। जब भगवान् को सतोगुण की वृद्धि करनी होती है, तो देवताओं के बल को बढा देते हैं। और तमोगुण की वृद्धि करने की इच्छा होती है, तो असुर राक्षसों के बल को बढा देते हैं। वे देवताओं को मारते है, पीटते हैं स्वर्ग से निकाल देते हैं, इन्द्रासन छीन लेते हैं। भगवान् बैठे बैठे हँसते रहते हैं।"

'असुरों की वृद्धि वे क्यों करते हैं जी, अब इस क्यों का क्या उत्तर? लड्डुओं के साथ मिरच क्यों खाते हैं। खीर के साथ चटपटी चटनी क्यों चाटते हैं। मन प्रसन्न करने के लिए। शतरंज मे कभी कभी सैनिक राजा को हरा देता है। काठ का सैनिक काठ के राजा को क्या हरावेगा। खेलने वाले का विनोद है। इसी प्रकार त्रिगुणातीत भगवान् की दृष्टि में न कोई अधम है न कोई उत्तम। सभी उनके खिलोने हैं लीला के लिये विनोद के लिये जय पराजय कराते रहते हैं। जैसे नाटकों में खेल होता है, फिर कुछ नहीं। अत. सृष्टि के लिये जैसे ही सुर आवश्यक हैं वैसे ही असुर आवश्यक हैं। सुरों से पहिले मधुकैटभ असुर ही उत्पन्न हुए। इसलिए ये देवताओं के बडे भाई कहे जाते हैं। जैसा ही फल सुरों के वश श्रवण का है वैसे ही असुरों के वश श्रवण करने का भी फल है। पिता दोनों के एक ही हैं। केवल माता के भेद से उनमे पृथक्त्व हो गया। अदिति के आदित्य हुए और दिति के दैत्य कहलाये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मैंने तुमसे भगवान कश्यप की १२ पत्नियों के वश का वर्णन कर दिया अब उनकी तेरहवीं पत्नी दिति के वश को भी सुन लीजिये।

यह बात हम सूकरावतार के प्रसंग में हिरण्याक्ष वध की कथा में बता ही चुके हैं, कि अपनी अन्य सौतों को संतानवती देखकर दिति को डाह हुआ। वह संध्या समय अग्नि-होम करते समय पुत्र-कामना से सकामा होकर अपने पति भगवान् कश्यप के समीप गई और आग्रहपूर्वक गर्भाधान की प्रार्थना करने लगी। मुनि ने बहुत समझाया, किन्तु भवितव्यता ऐसी ही थी, उसके सिरपर काम भूत सवार था, पतिकी एक भी बात न सुनी। विवश होकर मुनि ने उस दारुण वेलामें गर्भाधान संस्कार किया और कह दिया इससे तेरे दो महाक्रूर आसुरी भाव वाले बड़े पराक्रमी पुत्र होंगे। सर्वज्ञ मुनि का वचन अन्यथा कैसे होता। उस दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष ये दो आदि दैत्य उत्पन्न हुए। ये दोनों और कोई नहीं थे भगवान् विष्णु के प्रिय पार्षद जय विजय ही सनकादिकों के शाप से असुर होकर उत्पन्न हुए थे। तभी तो ये भगवान् से टक्कर ले सके देवताओं के दाँत खट्टे कर सके। इनकी माता ने अपने पति भगवान् कश्यप से वरदान माँग लिया था, कि मेरे पुत्रों की मृत्यु भगवान् से ही हो इसीलिये भगवान् ने दो अवतार लेकर इन दोनों भाइयों को मारा। सूकरावतार धारण करके तो हिरण्याक्ष को मारा और श्री नृसिंहावतार लेकर हिरण्यकशिपु को पछाड़ा। सूकरावतार की कथा पीछे सुना ही चुका हूँ। नृसिंहावतार की कथा आगे सुनाऊँगा। यहाँ तो इन हिरण्यकशिपु दैत्यों के वंश को सुन लीजिये।

हाँ, तो राजन्! हिरण्यकशिपु ने अपना विवाह जम्भ नामक दानव की पुत्री कयाधू के साथ किया। उससे हिरण्यकशिपु के चार पुत्र हुए, जिनके नाम सह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और भक्ताग्रगण्य श्री प्रह्लाद जी हैं। एक सिंहिका नाम की कन्या भी हुई। जिसका

विप्रचिति नामक दानव के साथ विवाह हुआ। उसी सिंहिका का पुत्र राहु हुआ जिसका सिर भगवान् ने मोहनी रूप से, समुद्र मथन के समय काटा था। इन चारों के अतिरिक्त स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, तङ्ग, पतग, क्षुद्रभृद् और घृणी ये ६ पुत्र और हुए जो प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर में मरीचि प्रजापति की ऊर्णानाम वाली स्त्री के पुत्र थे और ब्रह्माजी के शाप से असुर हो गये थे। मुख्य तो चार ही थे। अब उन चारों का वंश सुनो।

हिरण्यकशिपु का सब से बड़ा पुत्र था सह्लाद उसकी स्त्री का नाम था कृति। उससे उसके पञ्चजन्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह असुर समुद्र के जल में शंख रूप में रहता था। द्वापर के अंत में भगवान् ने इसे मार कर उस शंख को ग्रहण किया, इसीलिये भगवान् के शंख का नाम पाञ्चजन्य शंख है। वह असुर धन्य है, जिसकी अस्थि के शंख का स्पर्श भगवान् श्यामसुन्दर के अत्यन्त कोमल अधरों से होता है, जिनके लिये साधिकायें असंख्यों वर्ष तपस्या करती रहती हैं।

हिरण्यकशिपु के दूसरे पुत्र का नाम ह्लाद था। उसकी स्त्री का नाम था धमनी। उस धमनी के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए उनमें से एक का नाम तो इल्वल (आतापी) और दूसरे का नाम था वातापी, इनमें से वातापी को महामुनि अगस्त्य जी खाकर पचागये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतने बड़े बली असुर को भगवान् अगस्त्य ब्राह्मण होकर क्यों खा गये और कैसे पचा गये, इस कथा को आप उचित समझें तो हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! यह बडी लम्बी कथा है, किन्तु मैं आप को अत्यन्त सक्षेप मे इसे सुनाता हूँ। आप सब सावधानी के साथ कथा को श्रवण करें।

बात यह थी कि ये दोनो असुर वातापी और इल्वल बडे ही शूरवीर पराक्रमी धनी और ऐश्वर्यशाली थे। उन दिनों ये पृथिवी पर ही रहते थे। पृथिवी के राजाओं मे वे सबसे अधिक धनी समझे जाते थे। परन्तु इन लोगों को एक बडा बुरा व्यसन पड गया था। मास भोजी दैत्य तो थे ही। इन्हें ऋषि मुनियों के मास खाने की लत पड गई। श्राद्ध के अन्न को खा खाकर मोटे हुए ब्राह्मणों का मास इन्हें बहुत प्रिय लगता था। जो क्षीणतेज और अल्पवीर्य मुनि थे, ऐसे बहुत से मुनियों को इन लोगों ने खा डाला। इन्होने एक युक्ति निकाल रखी थी। इच्छानुसार रूप बनाने की तो इनमे शक्ति थी ही। इसलिये वातापी बड़ा भारी बकरा बन जाता था। इसका भाई इल्वल ब्राह्मण का वेष बनाकर मुनियों के पास जाता और हाथ जोडकर कहता—"मुनियो! मेरे यहाँ श्राद्ध है, आप भोजन करने मेरे यहाँ पधारें। मैं मास भी खा लेता हूँ अतः श्राद्ध मे मास भी भोजन कराऊँगा। वे ब्राह्मण स्वीकार कर लेते। तब यह मेष बने हुए उस मायावी वातापी के मास को पका कर सब को परोसता। श्राद्ध में निमन्त्रण ब्राह्मण उसे खा जाते। तब इल्वल पुकारता—"भैया, वातापी निकल तो आओ बाहर।

इतना सुनते ही वह सब के पेटों को फाड-फाड कर निकल आता और दोनों मिल कर बडे प्रेम से उन ब्राह्मणों के मास का खा जाते। जो ब्राह्मण कहते कि हम तो फलाहारी हैं मास छूते भी नहीं, उनके लिये कटहल, पेठा, कुहडा आदि फल बन जाता। जब वे खा लेते तो पेट में से फाडकर वे बडे-बडे फल निकल

पड़ते। तब दोनों उन्हें खा जाते। ऐसे छिपकर वे श्राद्ध करते कि किसी को पता न चले, बहुत दिनों तक वे इसी प्रकार ब्राह्मणों को मार-मार कर छल से खाने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पाप बहुत दिन छिपा नहीं रहता। मुनियों को यह बात मालूम पड़ गई। वे बड़े घबड़ाये कि इस प्रकार तो ये हम सब का ही उलटा श्राद्ध कर देंगे। ऋषि मंडली में हलचल मच गई। सब ने मिलकर एक सभा की, उसमें निश्चय हुआ कि एक शिष्ट मंडल महर्षि अगस्त्य जी के पास भेजा जाय। वे ही हम सब में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। वे एक चुल्लू में समस्त सागर के जल को पी गये थे और फिर लघुशंका के द्वार से उसे निकाल दिया, उसी दिन से सागर का जल खारा हो गया। वे चाहें तो इन असुरों को भी दंड दे सकते हैं। साधारण मुनि के वश में ये असुर नहीं आने के।"

जब सर्वसम्मति से निश्चय हो गया, तो एक शिष्ट मंडल मिलकर भगवान् अगस्त्यजी के समीप पहुँचा। दोनों ओर से नमस्कार प्रणाम, शिष्टाचार कुशल प्रश्न हो जाने के अनंतर भगवान् अगस्त्यजी ने पूछा—"मुनियो! आज आप सबने किस कारण मेरे ऊपर कृपा की? आप सब इतने उदास और चिन्तित क्यों हो रहे हैं?"

उन ऋषियों में से जो एक बूढ़े से थे वे हाथ जोड़ कर बोले—"क्या बतावें भगवन्! हम लोग बड़े दुखी हैं, ये जो हिरण्यकशिपु दैत्य के नाती हैं, आतापी और वातापी इन दोनों ने न जाने कितने ब्राह्मणों को खा डाला है। वातापी बकरा बन कर ब्राह्मणों के पेट में चला जाता है, फिर आतापी के पुकारने पर सबका पेट फाड़कर निकल आता है। दोनों उन ब्राह्मणों

को खा जाते हैं। इस प्रकार न जाने कितने ब्राह्मणों को ये दोनों भाई खा गये।"

यह सुनकर उन्हें धैर्य देते हुए अगस्त्य मुनि बोले—"मुनियो एक दिन मेरा भी किसी प्रकार निमंत्रण कराओ तो मैं इनकी सब चौकडी भुला दूँ।"

ऋषियों ने कहा—"अच्छा, महाराज ! कल ही सही। भगवन् ! आप हम सब के शिरोमुकुट हैं आपका कुछ अनिष्ट हुआ, तो हमारा तो समाज ही नष्ट हो जायगा।"

इस पर हँसकर भगवन् अगस्त्य बोले—"मुनियो ! आप डरें नहीं। वे अधम असुर मेरा बाल-बाँका नहीं कर सकते। मेरे चक्कर में फँस जायँ तो वे बच नहीं सकते।"

ऋषियों ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! आप ध्यान रखें। वह ब्राह्मण का रूप बनकर आवेगा।"

किसी प्रकार ऋषियों ने उनसे कहला दिया कि एक दिन महर्षि अगस्त्य जी का निमंत्रण करें, उनकी भी दृष्टि ऋषि के दर्शनीय शरीर पर लगी थी, अतः दूसरे ही दिन सुन्दर सा बहुमूल्य पीताम्बर ओढकर तिलक छापे लगाकर मुनि के समीप पहुँचा। दूर से ही साष्टाङ्ग दन्डवत् झुकाई। मुनि तो समझ गये इस बगुला भगत की यह बिलैया डंडोत है। फिर भी कुछ बोले नहीं। गंभीर बने बैठे रहे, उसने आकर हाथ जोड कर कहा—"भगवन् ! कल मेरे यहाँ श्राद्ध है आप सब शिष्यों सहित मेरे यहाँ पधारें।"

मुनि ने गंभीर होकर कहा—"भैया, हम तो श्राद्ध का अन्न खाते नहीं। श्राद्धान्न बडी कठिनता से पचता है। यदि उसके लिये जप तप न करें, तो ब्राह्मण का नाश करता है। तो भी आप इतनी दूर से आये हैं, तो अच्छी बात है हम आ जायेंगे।"

यह सुनकर आतापी बडा प्रसन्न हुआ और मन में आनदित होता हुआ घर चला गया। दूसरे दिन नियत समय पर वह मुनि के पास आया। मुनि शिष्यों सहित उसके यहाँ पधारे। उसने पहिले सबकी पूजा की और फिर पत्तल परोसने लगा।

मुनि ने कहा—'मेर ये शिष्य तभी भोजन करेंगे, जब पहिले मैं भोजन करलूँ। पहिले मेरा पेट भर दो तब देखा जायगा।"

इसपर आतापी ने कहा—"महाराज ! मैं तो मास से श्राद्ध करता हूँ।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, जैसा तुम्हारा सदाचार हो। लाओ परसो।"

अब तो वह परसता जाय और मुनि खाते जायँ। पूरे वातापी के मास को खा गये। तब ऋषि ने बडे जोर से एक डकार ली और इतने जोर से अपान वायु छोडी कि सब शिष्य हँसते २ लोट-पोट हो गये। इसी समय आतापी ने पुकारा—"भैया, वातापी। निकल तो आ, मुनि का पेट फाड कर।"किन्तु वातापी अब कहाँ। उसने फिर तीन चार बार पुकारा। तब अपान वायु छोडते छोडते हँसते हुए मुनि बोले—"बच्चा जी ! अब गोविन्द के गुन गाओ। अब वातापी की आशा मत रखो। उसे तो मैं खाकर पचा भी गया।"

इतना सुनते ही आतापी मुनि के ऊपर झपटा। तब मुनि ने एक बार हुकार मारी। इसी में वह अचेतन होकर गिर पडा। मुनि अपने शिष्यों के सहित चले गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् अगस्त्य के पेट में सदा बडवाग्नि प्रज्वलित रहती है। वे जो भी कुछ खायँ तत्क्षण भस्म

हो जाता है। इसलिये जिन्हे अजीर्ण हो भोजन पचता न हो भूख न लगती हो । वे भोजन करके तीन बार पेटपर हाथ फेरे और इस मत्र को तीन बार पढ़ें तो वे जो भी कुछ खायें वही तत्क्षण पच जायगा।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! उस मत्र को हमें अवश्य बता दीजिये। कभी-कभी कथा मे अधिक बैठने से उदर मे भारीपन हमारे भी हो जाता है।

यह सुनकर सूतजी हँस पडे और बोले—"अजी महाराज ! आप तो विश्व को पचाने वाले हैं। आपके भारीपन क्या होगा। फिर भी मंत्र तो मैं बताये ही देता हूँ। औरों के काम आवेगा। वह यह है—

वातापी भक्षितो येन आतापी च निपातितः।
समुद्रः शोषितो येन स मेऽगस्त्यः प्रसीदतु ॥

इस मत्र को पढो फिर खीर, हलुआ, मालपूआ जो चाहो उड़ाओ, सब स्वाहा।

इस प्रकार मुनियो ! मैंने हिरण्यकशिपु के दो पुत्रों के वश का वर्णन कर दिया अब अन्य पुत्रों के भी वंशों को सुनिये।

छप्पय

अनुह्लाद की नारि भई सूर्या सुकुमारी।
तातें द्वै सुत भये बली सुररिपु अति भारी ॥
प्रथम बाष्कल भयो द्वितिय महिषासुर मानी।
चढयो स्वर्ग पै बली भगे सुर तजि रजधानी ॥
स्वर्ग छोड़ि सुर भगि गये, महिषासुर सुरपति भयो।
दुखित पराजित सुरनि मिलि, हाल जाइ विधि सन कह्यो ॥

महिषासुर की कथा

(४३९)

अनुह्लादस्य सूर्म्यायां बाष्कलो महिषस्तथा ।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यास्तस्याभवद् बलिः ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

महिषासुर की सुनी बात विधि हू घबराये ।
लैके देवनि सग तुरत श्रीहरि ढिँग आये ॥
सम्मति करिकें तेज निकारयो सबने निज निज ।
दुर्गादेवी भईं शक्ति दस दस धारें भुज ॥
गर्जा तर्जा चडिका, आयुध लै रिपु ढिँग गईं ।
महिषासुर कूँ मारिकें, जगत मॉहि पूजित भईं ॥

यह सम्पूर्ण ससार महामाया की शक्ति द्वारा ही सचालित हो रहा है। शक्ति के बिना सर्वसमर्थ शिव भी शव के समान हो जाते हैं। ससार में सर्वत्र सर्व रूपो मे सर्वतो भावेन शक्ति ही व्याप्त है। ससार में जितने स्त्रीवाची पदार्थ हैं, वे सब शक्ति के ही स्वरूप हैं। उनके बिना पुलिङ्गवाची शब्दो

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! हिरण्यकशिपु के पुत्र अनुह्लाद की पत्नी का नाम सूर्म्या था। उसके गर्भ से बाष्कल और महिषासुर का जन्म हुआ। प्रह्लादजी का पुत्र विरोचन हुआ और विरोचन का पुत्र बलि हुआ।

का कोई महत्व नहीं। भगवती महामाया के अनन्त नाम हैं, उनके ब्रह्मादिक देवता भी पार नहीं पा सकते। शिवा, भद्रा, जगदम्बा, रौद्रा, नित्या, गौरी, धात्री, ज्योत्स्नामयी, चन्द्र-रूपिणी, सुखस्वारूपा, शरणागतवत्सला, सिद्धिस्वरूपा, नैर्ऋती, भूभृता, लक्ष्मी, शर्वाणी, दुर्गा, दुर्गपरा, सारा, सर्वकारिणी, ख्याति, कृष्णा, धूम्रा, सौम्या, रौद्ररूपा, जगदाधारभूता, कृति विष्णु माया आदि अनेक नामों से विश्व ब्रह्माण्ड में विख्यात हैं। उनके अनेक रूप है। उनके बिना विश्वब्रह्माण्ड की सृष्टि की, तीनों देवों की, चतुर्दशभुवनों की तथा चराचर जगत् की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे जगदीश्वर की जननी कहीं देवकी रूपमे दिखाई देती हैं, कहीं उन्हींकी सहोदरी माया बनकर भगिनी रूप में पूजी और मानी जाती है। कहीं श्रीकृष्ण को आह्लाद देने वाली श्र जी के रूप में चराचर विश्व को सुख देती हैं। वे धमपत्नी के रूप मे धम के पुत्रो को उत्पन्न करने वाली हैं, कहीं वे प्राणियों मे सुख संचार करने वाली शान्ति बन कर अवस्थित हैं। वे ही देवी तुष्टि, पुष्टि, स्मृति, शान्ति, कान्ति भ्रान्ति, शक्ति, वृत्ति, बुद्धि, जाति, व्याप्ति, लक्ष्मी, ईश्वरी, क्षुधा, तृष्णा, छाया, माया, निद्रा, चेतना, क्षमा, श्रद्धा, विशुद्धा, दया, आदि अनेक रूपो मे चराचर जगत् मे व्याप्त हैं। उनके सात्विकी राजसी तथा तामसी अनेक भेद होने पर भी वास्तव में वे मूल में एक ही हैं। रजोगुणी शक्ति सत्वगुणी शक्ति से दब जाती है और तमोगुणी रजोगुणी से। जब भिन्न-भिन्न शक्तियाँ काम नहीं देतीं, तब वही देवी सब शक्ति के प्रभाव से कठिन से कठिन कार्य को सरलता से कर लेती हैं दुर्जयसे दुर्जय शत्रु को सुगमता से जीत लेती हैं। जब यह क्रोध रूपी भैंसा हमारी समस्त दैवी वृत्तियों को दबाकर शरीर रूपस्वर्ग पर अपना

आधिपत्य जमा लेता है, तब हम अपने समस्त सद्गुणों विवेक शक्ति को उत्पन्न करते हैं। वही शक्ति समस्त शत्रुओं का शस्त्रों से संहार कर देती है। देवताओं की विजय हो जाती है। आत्मा का विनाश करने वाले जो काम, क्रोध तथा लोभ आदि प्रबल शत्रु हैं उनका चंडीदेवी विनाश कर देती हैं। तमोगुण से व्याप्त ऐश्वर्य के मद मे मत्त हुए क्रूर असुरों के लिये वे कोमलाङ्गी होने पर भी रणरङ्गदुर्मदा बन जाती हैं। सुकुमारी होकर भी रणचंडी हो जाती हैं। वे अबला होने पर भी सबला बन जाती हैं। सिंह को वाहन बनाकर वे शत्रु पर झपटती हैं। उस समय वे फलाहार से उतना प्रेम नहीं करतीं उन्हें आमिष आहार प्रिय होता है। वे कुंकुम और अलाक्त से अपने मुख पर कृत्तिम लालिमा नहीं लगातीं। वे मधुपान करके अपने मुखमण्डल को रक्तरञ्जित सा बना लेती हैं। उस समय उन्हें मोतियो के हार प्रिय नहीं। वे नर मुण्डों की माला से ही अपने वक्षःस्थल को सुशोभित करती हैं। वे अपने खप्पर को शत्रु के उष्ण रक्त से भर लेती हैं और अत्यन्त प्रबल महिषासुर को चरणों के तले दबाकर नाश कर देती हैं। वे सबकी शक्ति से प्रकट होती हैं। सबके सम्मिलित अस्त्र शस्त्रों को धारण करती हैं। सबको साथ लेकर लडती हैं और विजय के सुख को स्वयं न भोगकर उसे देवताओ को अर्पण कर देती है। ऐसी सघ से उत्पन्न हुई महिषासुर मर्दिनी देवी के पादपद्मों में हमारा कोटिशः प्रणाम है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु के तीसरे पुत्र अनुह्लाद की स्त्री का नाम सूर्म्या था। उसके गर्भ से वाष्कल और महा पराक्रमी महिषासुर उत्पन्न हुआ। राजन्! महिषासुर इतना बली था, कि युद्ध मे कोई उसका सामना नहीं

कर सकता था। उसने युद्ध मे देवताओ के दाँत खट्टे कर दिये उन्हे स्वर्ग से निकाल दिया और स्वयं इन्द्र बनकर तीनों लोकों का शासन करने लगा। तब भगवती दुर्गा देवी ने प्रकट होकर उसका संहार किया।"

यह सुनकर शौनक मुनि ने पूछा—"सूतजी! भगवती देवी कैसे प्रकट हुई? उनमें स्त्री होकर इतना प्रबल पराक्रम कैसे आया। वे किसकी पुत्री थीं उनका विवाह किसके साथ हुआ। उन्होंने महिषासुर को क्यों मारा? हमारे इन प्रश्नो का कृपा करके उत्तर दीजिये।"

इस पर सूतजी कहने लगे—"मुनिवर! यह कथा बहुत लम्बी है। महामाया भगवती का चरित्र अनन्त है। यहाँ मैं भगवती की महिमा का वर्णन करूँगा, केवल जिस प्रकार देवी ने महिषासुर का मर्दन किया था, उसी कथा को कहूँगा।"

जब महिषासुर ने अपनी असुरो की बलवती सेना लेकर देवताओं पर चढ़ाई की और इन्द्र को जीतकर स्वर्ग के इन्द्रासन पर स्वयं बैठ गया, तब देवता अत्यन्त ही दुखी हुए। वो घरबार विहीन होकर पृथिवी पर मनुष्य की भाँति गुप्त रूप से विचरण करने लगे। देवता बड़े दुखी थे अन्त मे वे सब मिलकर लोक पितामह ब्रह्माजी के समीप गये। ब्रह्माजी उन सबको लेकर शिवजी के पास गये और फिर शिवजी सबको साथ लेकर विष्णु भगवान् के निकट पहुँचे। देवताओं ने भगवान् से सब अपना आदि से अन्त तक दुख सुनाया। दैत्यों के ऐसे साहस को सुनकर सर्वेश्वर विष्णु को बडा क्रोध आया। भगवान् के क्रोध करते ही उनके श्री मुख से एक तेज निकला। फिर भगवान् रुद्र के मुख से भी तेज निकला। अब तो सभी देवता अपना अपना तेज उसमें मिलाने लगे। एक सूत के

धागे से पेड को बाँधो, तो टूट जायगा। यदि बहुत से धागे मिला कर बट दो तो फिर हाथी भी बाँध दो नहीं टूट सकता। "सात पाँच की लकडी एक जने का बोझ" सघ से महान् शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अब तो वह सब तेज मिलने लगा। वह तपस्या त्याग शम, दम जनित सात्विकी तेज नहीं था। वह तो क्रोध से उत्पन्न हुआ वीरता पूर्ण रौद्र रस से प्लावित तेज था। ज्यों ज्यों तेज आकर भगवान के तेज में मिलता, त्यों त्यों वह एक मानवीय आकार से परिणित हो जाता था। भगवान् रुद्र का जो रौद्र तेज निकला उसने मुख का रूप धारण कर लिया। यम का तेज बालों के रूप मे परिणित हो गया। भगवान् विष्णु के तेज से वीरता पूर्ण बीस भुजायें बन गईं। चन्द्र के तेज से स्तन, इन्द्र के तेज से कटि प्रदेश, वरुण के तेज से जघा, पृथिवी के तेज से नितम्ब प्रकट हुए। ब्रह्मा के तेज से दोनो चरण, सूर्य के तेज से उँगलियाँ, कुबेर के तेज से नासिका, प्रजापतियों के तेज से दाँत, अग्नि के तेज से नेत्र, सन्ध्या के तेज से भौंहें, वायु के तेज से कान, तथा अन्यान्य देवों के तेज से अन्यान्य भाग उत्पन्न हुआ। अब तो वह तेजपुञ्ज एक परम वीरवती नारी के रूप मे प्रकट हुआ। सब देवों ने उस सर्वशक्तिमयी देवी के पाद पद्मों मे श्रद्धा भक्ति पूर्वक प्रणाम किया। उसे देखकर सभी देवता भगवती की जय हो, जय हो कहकर जय घोष करने लगे। उनकी जय जय की ध्वनि से सभी दिशायें भर गईं।

भगवती देवी ने सभी देवताओं की ओर कृपा भरी दृष्टि से देखकर कहा—"देवताओं! तुम लोगों ने मुझे क्यों स्मरण किया है?'

देवताओं ने कहा—"जगदम्बे! हम सब महिषासुर से बहुत सताये गये हैं, हमारी रक्षा करो। हमें अभयदान दो। हमारी

गई हुई श्री को हमे असुरों से दिला दो।"

देवी ने कहा—"देवताओं! मैं तुम सबकी शक्ति से ही प्रकट हुई हूँ अब तुम सब मिलकर मुझे अपने अस्त्रों को और दो। तब मैं महिषासुर के मान को मर्दन करूँगी।"

देवी की यह बात सुनकर सभी सुरों ने सहर्ष उन्हें अपने अपने अस्त्रों से उसी की शक्ति वाले अस्त्र निकाल कर अर्पण किये। शिवजी ने शूल, विष्णु ने चक्र, वरुण ने शङ्ख, अग्नि ने शक्ति, वायु ने धनुष, तथा बाणों से भरे दो तर्कस। इन्द्र ने वज्र और घंटा, यम ने दण्ड, वरुण ने पाश, ब्रह्माजी ने कमण्डलु, प्रजापति ने स्फटिकाक्ष माला, सूर्य ने रोमों में तेज, काल ने ढाल तलवार, समुद्र ने उज्वल मुक्ताहार और दिव्य वस्त्र, चूडामणि, कुण्डल, कंकण, केयूर, नूपुर, अँगूठी तथा अन्य सभी अंगों के दिव्य आभूषण प्रदान किये। विश्वकर्मा ने फरसा कभी न कुम्हिलाने वाली मालायें, समुद्र ने क्रीडाकमल, हिमालय ने सवारी के लिये सिंह तथा बहुत से रत्न, कुबेर ने मधुपूर्ण पात्र शेष ने मणि मुक्ताओं से युक्त नागहार, कहाँ तक गिनावें सभी ने जिसके पास जो भी सुन्दर वस्तु थी, अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिये, अपने गये हुए राज्य को लौटाने के लिये, जिस पर आततायी असुरों ने अन्याय पूर्वक अधिकार कर लिया था, देवी को अपनी सभी वस्तुएँ भेंट देकर उनका सम्मान किया, उनके उत्साह को बढाया।

देवताओं के द्वारा उत्साहित होकर महामाया अपने सिंह को नचाती हुई, फरसा और तोमरों को घुमाती हुई, अपनी वीरता से वीरता को भी लजाती हुई, पृथिवी को अपने तेज बल पौरुष से कँपाती हुई असुरों की ओर चली। दैत्यों ने जब देवी

को दूर से ही आते देखा, तो वे हक्के-बक्के रह गए। महिषासुर अपनी सेना को सुसज्जित करके देवी की ओर दौड़ा।

असुर ने देखा देवी की सहस्रों भुजाओं सहस्रों आयुध हैं। वह तेज पुंज के समान निर्भय होकर असुर सेना में घुसकर

उनका संहार कर रही है। तब तो असुर पूरी शक्ति लगाकर उनसे लडने लगे। चिक्षुर नामक एक परम पराक्रमशाली दैत्य उस महिषासुर की समस्त सेना का अधिनायक था। वह आगे आकर देवी से युद्ध करने लगा। महामाया ने अट्टहास करते-करते बात की बात में उसे यमपुर पहुँचा दिया। अब तो चामर, उदग्र, असिलोमा, बाष्कल आदि उनके सेनापति भगवती से लड़ने आये और वे बात की बात में अपने प्राणों को परित्याग करके यमपुर सिधार गये। कुछ को तो देवी अपने अस्त्र-शस्त्रों से मारती और कुछ को उनका सिंह ही दहाड से, पञ्जों से मार मारकर यमसदन पठा देता। इस प्रकार देवी के साथ दैत्यों का भीषण युद्ध हुआ। देवी अपराजिता थीं वे बराबर मधुपान करके क्रोध में भर जातीं और असुरोंकी सेनाका संहार करतीं। जब महिषासुर ने देखा मेरी सेना को देवी ने विध्वंस कर दिया है और उसमे भगदड मच गई है, तब तो वह स्वय भैंसे का रूप धारण करके देवी के सम्मुख दहाड मारता हुआ और पैंने पैंने सींगों को हिलाता हुआ दौड़ा। उसने आते ही देवी के गणों को त्रास देना आरम्भ किया। तब देवी ने ललकार कर कहा—"अरे, दुष्ट! तुझे ही तो मैं इतनी देर से खोज रही थी। आज मैं तुझे तेरे किये का फल चखाऊँगी। आज तुझे मैं यमसदन पठाऊँगी।"

आज मैं तेरी चटनी बनाऊँगी, आज तुझे तेरे दर्प का फल चखाऊँगी तू तनिक मेरे सामने आ तो जा।" इतना सुनते ही महिषासुर अपने सींगों से बडे २ पहाडों को उठाकर भगवती के वाहनसिंह के ऊपर फेंकने लगा। वह खुरों से पृथ्वी को खोद रहा था। मेघ की तरह सिंहनाद कर रहा था। वह अपनी स्वांस से फुफकार छोड़ रहा था। अपने समस्त पराक्रम को दिखाकर

भगवती को परास्त करना चाहता था। इतने में ही देवी ने एक झपट्टा मार कर उस भैंसे के रूप बनाये हुए असुर को पाश में बाँध लिया और दाँत पीसकर किटिकिटाती हुई तथा अट्टहास करती हुई बोलीं—"अब बता तू क्या करेगा ?"

इतने में ही उसने भैंसे का रूप त्याग दिया और वह बड़ा बली सिंह बन गया। देवी ज्यों ही उस सिंहरूप दैत्य का सिर काटना चाहती थीं, त्यों ही वह खड्गधारी मनुष्य बन गया, तब देवी ने ढाल तलवार उठाई और दूसरे हाथों से बाणों को छोड़कर उसके सम्पूर्ण शरीर को बींध दिया। तब तो वह पुरुष का रूप त्याग कर हाथी बन गया और जगदम्बा के सिंह का अपनी सूँड में लपेट कर खींचने लगा। देवी ने ज्यों ही तीक्ष्ण खड्ग से उसकी सूँड काटनी चाही त्यों ही वह फिर भैंसा बन गया। अब तो वह फिर वही पर्वतों को उठाकर-भगवती पर फेंकने लगा।

देवी का क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था उन्होंने उछल कर उस दैत्य को धर दबोचा और पैरों के नीचे दबाकर ज्यों ही उसका सिर काटने लगीं, त्योंही वह फिर निकलने का प्रयत्न करने लगा। तब तो देवी को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने एक तीक्ष्ण खड्ग से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। उस महिषासुर के मरते ही असुर सेना में हाहाकार मच गया। देवता आकाश से भगवती पर पुष्पों की वृष्टि करने लगे। गन्धर्व गाने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। आकाश में सभी चिल्ला रहे थे, 'भगवती की जय, महामाया की जय, जगदम्बिका भवानी की जय। बोल दे अटल छत्र की जय।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यंत संक्षेप में अनुह्लाद के पुत्र महिषासुर के वध की कथा कही। अब आगे

हिरण्यकशिपु के चौथे पुत्र महा भागवत् प्रह्लाद जी के वंश को आप सब सावधानी के साथ सुनें।"

छप्पय

दुर्गा देवी दया करहु दुख दुरित नसाओ।
शक्तिहीन सतान परीं माँ आय जगाओ॥
भये भवानी भीत आइ भय भूत भगाओ।
खड्ग हाथ महँ देहु युद्ध को पाठ पढाओ॥
कलि कराल कलुषित करहिं, करि कल्यान कपर्दिनी।
मेंटो ममता मोह कूँ, महिषासुर मद मर्दिनी॥

दिति से मरुतों की उत्पत्ति कैसे

(४४०)

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः ।
त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण मात्मताम् ॥१

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

हिरनकशिपु लघु पुत्र भये दैत्यनि कुल भूषन ।
भक्त मुकुट प्रहलाद भये तिनि पुत्र विरोचन ॥
तिनि सुत दानी परम भये बलि जग विख्याता ।
जिनने कीये विष्णु द्वाररक्षक पुरत्राता ॥
बलि असना मह जने सुत, शत सबने सब श्रेष्ठ हैं ।
तिन सब महँ शिवभक्त अति, बाणासुर ही ज्येष्ठ हैं ॥

प्रारब्ध का कैसा विचित्र चक्कर है, कोई कहीं उत्पन्न होता है और कहीं उसकी प्रसिद्धि होती है। उच्चकुल में भी नीच प्रकृति के पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं और नीचकुल में भी भगवद्-भक्त महापुरुषों का जन्म हो जाता है। हम किसी भावना से कार्य करने चलते है। अन्त मे उसका फल उसके सर्वथा विपरीत ही होता है। त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाला पुत्र उत्पन्न करना

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ये ४९ मरुत् भी दिति के ही पुत्र हैं। ये सब पुत्र रहित थे इन सबको इन्द्र ने अपने सदृश ही बना लिया अर्थात् ये असुर से देवता हो गये।"

चाहा था, किन्तु भाग्यवश उत्पन्न ऐसा हुआ, जिसे इन्द्र ने ही मार डाला। ऐसी नित्य की घटनाओं को देखते-देखते मनीषियों ने यही निश्चय किया है, कि शक्ति भर पुरुषार्थ तो करना ही चाहिये। क्योंकि बिना पुरुषार्थ किये प्रारब्ध प्रकट ही नहीं होता, पता ही नहीं चलता यह हमारे प्रारब्ध में है या नहीं। फिर पूर्वजन्म के पुरुषार्थ से ही तो प्रारब्ध की रचना होती है इसलिये कर्म करते समय सोच लेना चाहिए हमारा अधिकार कर्म करने में है, फल ईश्वरेच्छा पर निर्भर है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मैंने हिरण्यकशिपु के संह्लाद, अनुह्लाद और प्रह्लाद इन तीन पुत्रों के वंश का वर्णन आप से किया। अब उसके सबसे छोटे पुत्र परमभागवत प्रह्लाद जी के भी वंश का वर्णन सुनो। महाराज आप उत्सुक न हों, मैं भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद जी का चरित्र आगे विस्तार के साथ कहूँगा यहाँ तो प्रसंगानुसार केवल उनके वंश का ही वर्णन करता हूँ।

प्रह्लादजी के पुत्र हुए विरोचन। ये परमब्रह्मण्य हुए इन्होंने ब्राह्मण बने देवताओं के माँगने पर अपने प्राणों तक को दे दिया उन्हीं विरोचन के पुत्र हुए दानियों में श्रेष्ठ महाराज बलि। बलि के सदृश साहसी और दानी इस पृथिवी पर विरले ही हुए हैं। महाराज बलि की पत्नी अशना (रत्नावली) थी उनके गर्भ से १०० पुत्र हुए। उन सबों में बाणासुर ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हुए ये भगवान् भूतनाथ शंकर के अनन्य भक्त थे। अपनी अनन्य शिव भक्ति के कारण ही इन्होंने शिवपार्षदों में प्रमुखता प्राप्त की। आगे इनका चरित्र विस्तार के साथ वर्णन किया जायगा। यह तो हिरण्यकशिपु के वंश का वर्णन हुआ। अब हिरण्याक्ष के वंश का भी वर्णन सुनिये।

भगवान् कश्यप के वीर्य से दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु

और हिरण्याक्ष दो पुत्र हुए। हिरण्याक्ष का विवाह रुषाभानु के साथ हुआ। उसके गर्भ से ९ पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम शकुन, शम्बरासुर, धृष्ट, भूत सन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु और उत्कच थे। ये सबके सब परमवीर बड़े उत्साही सुरों के द्वेषी और महापराक्रमशाली थे। वैसे तो असुर बहुत हैं किन्तु दिति के दोनों पुत्रों के वंश का वर्णन मैंने तुमसे कर दिया यह सब मैंने इसलिये किया है, कि अब मुझे महाभागवत प्रह्लाद जी का चरित्र कहना है। उसीकी आप इसे भूमिका समझें। वैसे इन दैत्यों के वंशों के कीर्तन से तो हमारा कोई प्रयोजन है ही नहीं। जिन दैत्यों का भगवान् से वैर भाव से भी सम्बन्ध हो गया है या जो भगवद्भक्त हैं, उनका चरित्र भगवान् के सम्बन्ध से श्रवणीय और कथनीय बन गया है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यह मैंने दिति के हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दो पुत्रों का वंश कहा। इन दो के अतिरिक्त ४९ पुत्र दिति के और भी हैं जो ४९ मरुत् कहलाते हैं ये दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी दैत्य न कहाकर देवता कहलाते हैं। इन ४९ देवताओं का एक पृथक् गण ही है।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो ! यह तो आप बड़ी विचित्र बात बता रहे हैं। दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी मरुत् दैत्य न कहाकर देवता कैसे बन गये। प्रारब्ध का विचित्र खेल है। इस विषय को सुनने के लिये मुझे बड़ा कुतूहल हो रहा है, यदि आप उचित समझें तो इस प्रसंग को आप मुझे सुनावें। इन ४९ दिति के पुत्रों ने ऐसा कौन सा शुभकर्म किया था जिससे ये असुर कहाकर देवभाव को प्राप्त हो गये। इस बात से मैं ही आश्चर्यान्वित हुआ होऊँ, सो बात नहीं ! इस परिषद् में जितने ऋषि, महर्षि बैठे हैं; सभी को इस विषय को जानने के

लिये समुत्सुक से दिखाई देते हैं। अतः कृपा करके इस परम रहस्यमय उपाख्यान को हमें सुनाइये।"

महाराज परीक्षित् की ऐसी उत्सुकता देखकर व्यास नन्दन भगवान् श्रीशुकदेव अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे राजा की प्रश्न चातुरी से परम प्रमुदित हुए। महाराज के वचन विनय युक्त थे, थोड़े भी बहुत भाव को प्रकट करने वाले तथा सारगर्भित थे। ऐसे मनोरथ जिज्ञासा पूर्ण वचन सुनकर परमहंस चूड़ामणि श्रीशुक ने उनकी प्रशंसा की और कहने लगे—"राजन्! आपने यह बहुत ही उत्तम प्रश्न किया। इस उपाख्यान से भाग्य की विडम्बना और भगवान् की भक्तिवत्सलता प्रकट होती है। मैं इस परमपावन उपाख्यान को आपके सम्मुख कहता हूँ आप इन समस्त ऋषियों के सहित श्रवण कीजिए।"

महाराज! जब भगवान् ने सूकर रूप रख कर हिरण्याक्ष को और नृसिंह रूप से हिरण्यकशिपु को मार डाला, तब इन दोनों की माता दिति को अत्यन्त ही दुःख हुआ। उसने सोचा—"विष्णु तो समदर्शी हैं। उनका न कोई शत्रु है न मित्र। किन्तु हैं भोले भाले। प्रतीत होता वह अत्यधिक स्तुति प्रिय हैं, जो इनके साथ पीछे लगा रहता है उनकी स्तुति प्रशंसा करता रहता है, उस पर वे प्रसन्न हो जाते हैं और उनका पक्ष लेकर न करने योग्य अनुचित कार्यों को भी कर डालते हैं। मेरे पुत्र आत्माभिमानी थे, वे विष्णु के समीप जाते आते नहीं थे। ये इन्द्रादि देवता सदा विष्णु भगवान् के ही पीछे-पीछे घूमा करते हैं। उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। जो वे कहते हैं वह वे करते हैं, सब प्रकार से उनके अधीन रहते हैं। इन्होंने ही इधर-उधर की उलटी सी बातें भिड़ाकर विष्णु के कान भर दिये।

उन्हें मेरे पुत्रों के विरुद्ध उभार दिया। और स्वर्ग के सुख को निष्कंटक भोगने के निमित्त मेरे पुत्रों को मरवा डाला। यह सम्पूर्ण दोष इस शतक्रतु इन्द्र का ही है। अतः मेरा प्रधान शत्रु तो मेरी सौतिका लड़का यह इन्द्र ही है। यह बड़ा क्रूर है, इसका चित्त अत्यंत ही निष्ठुर है। अपने भाइयों की हत्या करा कर यह स्वर्गीय सुख भोगना चाहता है। भाइयों के रक्त रंजित विषयों को भोगकर यह सुखी होना चाहता है। यह बड़ा विषय-लोलुप पापात्मा और निर्दयी है। मुझे सभी प्रकार से ऐसा उद्योग करना चाहिये, कि किसी प्रकार यह पापी मारा जाय। इन्द्र मर जायगा तो मैं सुख से सोऊँगी। अपने मृत पुत्रों का बदला चुका कर प्रसन्न होऊँगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब किसी को किसी पर क्रोध आ जाता है, तो उसे उसमें सब बुराई ही बुराई दिखाई देने लगती हैं। द्वेष के कारण उसमें एक भी गुण नहीं दीखता। दिति तो पुत्र शोक से अंधी हो रही थी। उसका विवेक नष्ट हो गया था। वह सोचने लगी—"इन्द्र कितना नीच है। तनिक से सुख के लिये यह अपने एक ही पिता के पुत्रों को भाइयों को मरवा देता है। अरे, इस नाशवान् शरीर के पीछे हत्या कराना कहाँ तक उचित है। शरीर चाहे राजा का हो या रंक का सबकी तीन ही गति हैं। जला दिया तो मिट्टी राख होगई। कहीं जल में अरण्य में फेंक दिया तो सियार, कुत्ते, काक कछुए आदि जीवों ने खाकर मल बना दिया और पृथिवी में गाड़ दिया तो कीड़े पड़ गये। इस तुच्छ शरीर के पालन पोषण के लिये प्राणियों की हिंसा करना यह पापियों का ही काम है। जो इन संसारी सुखों के लिये हिंसा करते हैं पाप करते, है, प्राणियों से द्वेष करते हैं, वैर-भाव स्थापित करते हैं, उन्हें तो चिरकाल तक नरकों की अग्नियों में

पचना पड़ेगा। यमसदन मे अनेकों भाँति की यातना सहनी पड़ेंगी। मेरे पुत्रों को मरवाने वाला यह इन्द्र ही है, यह जिस प्रकार मारा जाय, वही उद्योग मुझे करना चाहिए !"

फिर उसने सोचा—मै कौन सा ऐसा काम करूँ, कि इन्द्र मारा जाय। विष्णु की आराधना करूँ तो संम्भव है विष्णु इन्द्र का ही पक्ष ले। इसलिय मुझे अपने सर्वसमर्थ पति का ही आश्रय लेना चाहिये। उन्हें मैं अपना सेवा तथा हावभाव कटाक्षों द्वारा वश में लाऊँगा। उन्हें प्रसन्न करके उनसे ही एक ऐसा पुत्र माँगूगी जो इन्द्र का मारने वाला हो।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! स्त्रियाँ बड़े लगन की होती हैं। जिस बात का इन्हें लगन लग जाती है, उसमे ये तन्मय हो जाती हैं। फिर शरीर की सुधि-बुधि भूल जाती हैं। इनके मन की बात तो जानी नहीं जाती, किन्तु इनकी सेवा सुश्रूषा से पाषाण हृदय भी पिघल जाता है। किसी प्रकार से भी वश में न होनेवाला व्यक्ति भी इनकी सेवा चातुरी से वशमें हो जाता है। दिति भी अपने मन मे ऐसा निश्चय करके, परम अनुराग और विनय के साथ इन्द्रियों को वश मे करके निरन्तर अपने पति भगवान् कश्यप की सेवा मे तत्पर रहने लगी। वह पति के भावों को जानती थी पति को कौन सी बात किस समय प्रिय है इसका उसे ज्ञान था इसीलिए वह अपने उत्कृष्ट भावों द्वारा, मन्द-मन्द मुसकानमयी कटाक्ष भङ्गिमों द्वारा तथा मीठे और मनोहर वचनों द्वारा अपने पति को रिझाने लगी भला ऐसा कौन कृतज्ञ पुरुष होगा, जो अपनी पत्नी की ऐसी सेवासे उसके ऊपर प्रसन्न न हो जाय। कश्यपजी उसके चक्कर में फँस गये। प्रेम जाल मे फँसकर उसके अधीन होगये। उन्हें क्या

पता था, कि इसके भीतर कौन सा स्वार्थ भरा है। यह किस अभिप्राय से इस प्रकार सेवा कर रही है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— महाराज, अपनी पत्नी की सेवा से सन्तुष्ट होकर भगवान् कश्यप उसे वरदान देने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

उनचास जे मरुत पुत्र ते ऊ दिति के हैं।
किन्तु भये नहिं दैत्य मरुद्गण सुर सब ते हैं॥
राजा पूछें—"दैत्य देवता भये विभो कस ?
असुर भाव कू त्यागि राग सुरपति कीयो कस ?
श्रीशुक बोले—भूपवर ! दिति के द्वै जब मरे सुत।
शत्रु इन्द्र बध के निमित्त, पति सेवा महँ भइ रत॥

दिति की पति से इन्द्रहन्ता पुत्र की याचना

४४१

वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे।
अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

मन्द-मन्द मुसकाइ मधुर वर बोले बैना।
कजरारे अनुराग नयन दे छोड़े सैना॥
प्रतिपल पति मुख जोहि भाव कूँ समुझि सयानी।
करे काज अनुकूल सदा ई रहै सिहानी॥
त्रिया चरित समुझ्यो नहीं, मुनि मोहित से ह्वै गये।
सुठि स्वाभाव सेवा निरखि, अति प्रसन्न दिति पै भये॥

हृदय मे जब द्वेष की अग्नि भडक उठती है, तब अपने पराये का विवेक नष्ट हो जाता है। जब हृदय मे क्रूरता आ जाती है और उस क्रूरता को जो किसी साधु पुरुष के द्वारा पूरी

❀ श्रीशुक बोले—"राजन्! भगवान् कश्यप के प्रसन्न होने पर उनसे वरदान माँगती हुई दिति कहती है—"हे ब्रह्मन्! यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो ऐसा वर दीजिये कि मेरे एक ऐसा पुत्र हो, जो स्वय तो अमर हो किन्तु उस इन्द्र को मार सके, जिसने मेरे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दोनों पुत्रों को मरवाकर मुझे पुत्रहीन बना दिया है।"

कराना चाहते हैं, तो कुछ काल के लिये स्वार्थी लोग साधु के स्वभाव के ही अनुरूप बन जाते हैं। वे अपने मनको वशमें करके, चित्त को चंचल नही होने देते। इन्द्रियों पर संयम रखते हैं। सभी सुखों को तिलाञ्जली दे देते हैं। उस साधु पुरुष के सर्वथा अधीन हो जाते हैं। मनस्वी पुरुषों के समान सुख दुख मे समान भाव से रहकर अपने इष्ट की पूर्ति मे सदा सचेष्ट रहते हैं। तभी तो मनीषियों ने स्वार्थी और मनस्वी दोनों को एक सा बताया है। दोनों मे अन्तर इतना ही है। कि मनस्वी लोग उसे हृदय से करते हैं और सदा करते रहते हैं। स्वार्थी कार्यार्थी बनावटी भाव से करते हैं, और तभी तक वे मन को वश मे करके उस कार्यको करते हैं, जब तक वह कार्य सिद्ध न हो जाय। कार्य के सिद्ध हो जाने पर वे निवृत्त हो जाते हैं। अपना यथार्थ रूप प्रकट कर देते हैं। जहाँ पोल खुली कि महापुरुष उसकी धूर्तता को समझ जाते हैं। ऐसे लोगो का कल्याण नही होता। उन्हे पीछे पछताना पडता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दिति ने अपने पति भगवान् कश्यप की ऐसी सेवा की, कि वे उसके वश मे हो गय। वे उसका अभिप्राय तो समझ न सके, कि यह मेरे त्रैलोक्य वन्दित ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को मारनेके लिये सेवा कर रही है। इसकी मीठी वाणी में विष भरा है। इसका मुझे लुभाने के लिये मधुर संगीत उसी प्रकार है। जैसे वहेलिनी मृग को फँसाने के लिये वीणा वजाकर मधुर स्वर से गाता है मादक तान छोड़ती है। वे उसके वश में हो गया।"

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! भगवान कश्यप तो विद्वान थे, विचारवान् थे, वे इसके मायाजाल में कैसे फँस गये?"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन्! यह स्त्री

रूपी महामाया ऐसी बलवती है, कि बड़े-बड़े योगी भी इसके चक्कर में फँस जाते हैं। फिर यह सेवा इतनी मोहक वस्तु है, कि सेवा करके मनुष्य चाहे जिसे वश में कर सकता है। संसार मे जितनी मोहक वस्तुएँ हैं उन सबमे यह स्त्री रूपी माया सबसे अधिक मोहक है। इसका उठना, बैठना, बोलना, चालना, चलना चितवन, मुसकाना, कोप, रुदन, स्पर्श, वाणी कहाँ तक कहें सभी चेष्टायें हृदय को प्रिय लगने वाली हैं। यदि फिर वह रूपवती और बुद्धिमती हो, तब तो ब्रह्माजी को भी वश में करने में समर्थ है। साधारण लोगों की तो बात ही क्या। स्त्री की सेवा से कैसा भी वज्रहृदय पुरुष होगा, वह भी वश मे हो जायगा। फिर भगवान् कश्यप जैसे सहृदय मुनि की तो बात ही क्या? सेवा से सन्तुष्ट हुए पुरुष से स्त्री जो चाहे सो करा सकती है। न तो ऐसा करा लेना बुद्धिमती स्त्री के लिये कोई आश्चर्यकी बात है और न स्त्री मे आसक्त हुए पुरुष के लिये कुछ भी कार्य कर देना आश्चर्य है। ब्रह्माण्ड को रचने वाले ब्रह्माजी भी इस चक्कर में आ गये?"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन्! इस नारी जाति में इतनी मोहकता कैसे आई?

हँसकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! यह सब इन चार मुँह वाले बूढ़े बाबा की बोई विष की बेल है। जैसे मनुष्य सोचता है मुक्ति के लिये, उससे और बन्धन हो जाता है। बात यह थी। सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी को सृष्टि बढ़ाने की बड़ी चिन्ता थी। उन्होंने बहुत से ऋषि मुनि आदि की मानसी सृष्टि उत्पन्न की। जिसे उत्पन्न करे वही जाकर तप में लग जाय। भगवान् के ध्यान में निमग्न हो जाय। कोई किसी से सम्बन्ध ही न रखे। सबको एकान्त बड़ा प्यार लगे।' इससे ब्रह्माजी

अत्यधिक चिन्तित हुए, वे सोचने लगे। ऐसी सृष्टि कैसे बढ़ सकती है। इन ध्यान करने वाले बाबाजियों से सृष्टि बढ़ाने की क्या आशा की जाय। बहुत सोचने पर भी ब्रह्माजी की समझ में कोई बात आई नहीं तब भगवान् ने ही उनके मन में प्रेरणा करी कि कोई ऐसी मोहक वस्तु बनाओ कि जिसके कारण मनुष्य बन्धन मे फँस जाय। एकान्त प्रियता को छोड़कर उसके संग के लिये लालायित रहे। इस विचार के आते ही ब्रह्माजी के शरीर के दो भाग हो गये। एक तो नाक में नथ पहिने काली चोटी को हिलाते छम्म छम्म करके इधर से उधर मद के साथ घूमने लगी। दूसरा उसके ऊपर अनुरक्त होकर उसके चरणो के चिन्हों का अनुकरण करने लगा। वह नथ वाला मोहक भाग ही स्त्री के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसीलिये स्त्री को अर्धाङ्गिनी कहा है। स्त्री के बिना पुरुष आधा है और पुरुष के बिना स्त्री आधी है। दोनो मिल कर ही एक होते हैं और एक से ही फिर अनेक हो जाते हैं। चना के आधे भाग को भूमि मे बोओ वह कभी भी अंकुरित पुष्पित फलित न होगा। इन दोनों भागों में स्त्री भाग अधिक आकर्षक है। उसे देखते ही ऋषि मुनि माला झोली छोड़कर गृहस्थी बनने को लालायित होगये। बस, ब्रह्माजी की गाड़ी चल निकली, संसार चक्र घूमने लगा। पुरुष पागल हो कर नारी के संकेत पर नाचने लगा। सो, राजन्! इसमें आप आश्चर्य न करे। नारी की लगन से की हुई सेवा अत्यधिक मोहक होती ही है। आप तो मुक्त भोगी हैं क्यों होती है न?"

लज्जित होकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"हाँ, भगवन्! शास्त्रकारों के अनुभव मिथ्या थोड़े हैं। ऐसी ही बात है। अच्छा तो फिर क्या हुआ?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! होता और क्या जब

हिरन जाल मे फँस जाता है, तो उसका मनमाना उपयोग किया ही जाता है। एक दिन भगवान् कश्यप उसकी स्नेहमयी सेवा से सन्तुष्ट होकर उससे कहने लगे—"प्रिये। मैं तुम्हारे शील स्वभाव से तुम्हारी सच्ची लगन से की हुई सेवा से—परम सन्तुष्ट हूँ। हे भामिनि! हे अनिन्दिते! तुम मुझसे कोई वर मांगो। तुम दुर्लभ से दुर्लभ भी वर माँगोगी तो मैं उसे तुम्हे दूँगा।"

प्रेम के मान से मुनि के मन के मोहती हुई वह भामिनी बोली—"रहने दो महाराज! आप वरदान फरदान क्या दोगे। आप मुझे इसी प्रकार प्यार करते रहे, यही मेरे लिये बहुत है। आप के कहने से मैंने कोई बात मांगी और आप उसे न दे सके तो दोनो की बात जायगी इसलिये ऐसे ही ठीक है।"

अपनी बात पर बल देते हुए मुनि ने कहा—प्रिये! तुम कैसी बाते कर रही हो तुम्हे मेरे ऊपर विश्वास नहीं है क्या?"

इस पर अदिति ने कहा—"महाराज, विश्वास की तो कोई बात नही। मुझे भय है, मैंने कोई दुर्लभ वस्तु मांग ली तो आप को संकोच में पड़ना पड़ेगा।"

अत्यंत स्नेह के साथ सम्पूर्ण ममता बटोर कर भगवान् कश्यप बोले—"प्रिये! तुम मुझसे वर मांगने मे संकोच मत करो। पति के प्रसन्न हो जाने पर सती स्त्री के लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं। फिर चाहे वह इस लोक की हो या परलोक की मैं तुम्हारे समस्त मनोरथो को पूर्ण करूँगा।"

इस पर भक्ति दिखाती हुई दिति बोली—"प्रभो! आप, ही तो हमारे पूजनीय आराधनीय और इष्ट हैं। ससार मे आपके अतिरिक्त हमारा और कौन है?"

इस पर भगवान् कश्यप ने कहा—"प्रिये! मैं क्या हूँ।

पूजनीय तो वे सर्वान्तर्यामी श्री हरि ही हैं। वे भगवान वासुदेव ही सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में विराजमान होकर नाम रूप के भेद से कल्पना किये गये हैं। भगवान् को जो जिस भाव से भजते हैं, वे उन्हें उसी भाव से दर्शन देते हैं। किसी भी देवता की उपासना क्यों न करो, सब रूप में वे ही अखिलेश अच्युत पूजे जाते हैं। सती साध्वी स्त्रियाँ उन्हीं को पति रूप से पूजा करती हैं। इसलिये तुम जो अर्चना वन्दना कर रही हो, मेरे पाँच भौतिक शरीर की नहीं, उन्हीं अन्तर्यामी श्रीहरि की पूजा कर रही हो तुमने निष्कपट भाव से अपने शरीर के सुखों को छोड़कर मेरी पूजा की है इस लिए आज मैं तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करूँगा। तुम मुझसे जो चाहो वर माँग लो। इस बात में सदेह ही मत करो, कि मेरी इच्छा पूरी होगी या नहीं। तुम अपनी इच्छा को पूर्ण हुई ही समझो।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दिति ने सब प्रकार से भगवान् कश्यप को अपने वश में देखा तब वह अपने हृदय पर पत्थर रखकर विष से भरे मधुर वचन बोली। उनसे कहा—"ब्रह्मन्! यदि आप हृदय से मुझसे प्रसन्न हैं, मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो मैं एक पुत्र आप से चाहूँगी।"

महामुनि कश्यपजी ने कहा—"बस, इतनी ही छोटी सी बात के लिए तुम इतनी भूमिका बाँध रही थीं। यह कौन सी बात है एक नहीं ।

बीच में ही बात काटकर दिति बोली—'नहीं ब्रह्मन्! मैं ऐसा वैसा साधारण पुत्र नहीं चाहती। मेरे विश्वविजई, परम पराक्रमी, त्रैलोक्य विख्यात, हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दोनों पुत्रों को इस अधम इन्द्र ने मरवा दिया है। अब के मैं

ऐसा पुत्र चाहती हूँ, जो इन्द्र को मारने वाला हो। मेरी सौति के इस समृद्धिशाली, ईर्ष्यालु, सम्पत्ति असहिष्णु शतक्रतु को जो यमपुर पहुँचा दे। ऐसा प्रबल पराक्रमी पुत्र मुझे दें।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दिति के ऐसे वचनों को सुनकर भगवान् कश्यप तो सन्न रह गये। वे कुछ भी न कह सके। न तो उनसे हाँ कहते बना और न निषेध ही कर सके।"

छप्पय

बोले दिति ते प्रिये माँगु वर इच्छित मोतें।
तव सेवा लखि तुष्ट भयो भामिनि हौं तोतें॥
है प्राननितें अधिक पियारे निजपति जिनिकूँ।
तब जग महँ फिरि कौन वस्तु है दुर्लभ तिनिकूँ॥
माँगे वर हिय वज्र करि, दिति लखि पति अति प्रीति युत।
जो मारे देवेन्द्रकूँ, अमर एक अस देहिं सुत॥

कश्यपजी का दुखित होकर नीतिपूर्वक वर देना

(४४२)

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देवबान्धवः ।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० १८ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

दिति के वर कूँ सुनत भये व्याकुल कश्यप मुनि ।
हाय कहा हौं करयो भयो परवश सोचें पुनि ॥
नारि चरित अति प्रबल बयन सर बड़े कँटीले ।
कमल कुसुम के सरिस मधुर मुख बैन रसीले ॥
क्षुरधारा के सरिस हिय, जो चाहें जे करि सकें ।
क्रुद्ध भये पति पुत्र के, प्राननि कूँ हू हरि सकें ॥

क्रोध पाप का मूल बताया है। क्रोधित हुआ पुरुष हो या स्त्री दोनों ही अपने आपे में नहीं रहते, उनके सिरपर भूत सवार हो जाता है, वे कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान को खो देते हैं। स्त्रियाँ

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् कश्यपजी ने पश्चात्ताप करने के अनन्तर दिति से कहा—हे भद्रे ! इन्द्र का मारने वाला तेरे पुत्र तभी हो सकेगा, जब तू एक संवत्सर विधिपूर्वक इस व्रत का पालन कर सके। नहीं तो वह देवताओं का बन्धु होगा।

जितनी ही कोमलाङ्गी होती है, कुपित होने पर वे उतनी ही कठोर हो जाती हैं। अपने स्वभाव में स्थित रहने पर ये जितनी ही दयामयी ममतामयी और प्रेममयी होती हैं, यदि ये प्रतिकूल स्वभाव वाली बन जायँ तो उतनी ही निर्दयी क्रूरस्वभाव वाली और वज्रहृदया हो जाती हैं। स्त्रियों में प्रायः अस्थिरता और चंचलता पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। शील संकोच और सदाचार में स्थिति रहने वाली स्त्री ही नारी है, इन्हें जो परित्याग कर देती हैं, वे रणचण्डी बन जाती हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दिति ने अपने पति भगवान् कश्यप से इन्द्र को मारने वाला पुत्र वरदान में माँगा, तब तो मुनि धर्मसंकट में पड़ गये। अब उनकी आँखें खुलीं। अब वे सब रहस्य को समझ गये। अरे, यह तो स्वार्थ की सेवा थी, कपट का प्रेम था, बनावटी स्नेह था यह तो कनक घट में विष भरा हुआ निकला। अब मैं क्या करूँ? यदि मैं इसे वरदान देता हूँ; तब तो अपने सर्वश्रेष्ठ, देवताओं के अधीश्वर त्रैलोक्य वंदित-पुत्र के वध का भागी हूँगा। मर कर नरकों की यातनायें सहनी पड़ेंगीं। यदि कहकर-प्रतिज्ञा करके भी—मैं इसे वर नहीं देता तो मैं झूठा पड़ूँगा। झूठ से बढ़कर संसार में दूसरा कोई पाप नहीं।"

मेरी कुबुद्धि तो देखो। मैं इन्द्रियलोलुप होकर इस चपला के चाक्यचिक में ऐसा फँस गया, कि अपने आपे को ही भूल गया। इस मुनिमनमोहिनी महिला रूपी माया ने मेरे मन को भी मथित कर दिया। मुझे भी कठपुतली बनाकर इच्छानुरूप नचा दिया।

ये स्त्रियाँ जब तक बालिका रहें; तभी तक प्यारी रहती हैं, या ये यथार्थ में सती धर्म में स्थित रहें तब। इसके

अतिरिक्त जहाँ ये मनमानी करने लगी, जहाँ ये स्वच्छन्द गामिनी हुई, तहाँ इनमें विवेक नहीं रहता। मन में जो आ जाता है उसे ही अनेकों उपायों से कर लेती हैं। देखने में बड़ी भोली-भाली सरला दिखाई देती हैं। भीतर चाहे कितना भी रागद्वेष भरा हो। हृदय में चाहे पैनी छूरी कतरनी चल रही हो, किन्तु ऊपर से काली-काली घुँघराली लटोंसे आवृत शरदकालीन कमल कुसुम के सदृश अपने मनोहर मुख को मंद-मंद मुस्कानसे सदा प्रफुल्लित बनाये रखेंगी। वाणी ऐसी बोलेंगी मानो अमृत रस में पागे हुए ही बोल हों। इन्हें जिससे अपनी अभिलाषा पूर्ण करानी होगी, उसके इतने अनुकूल बन जायँगी कि प्राणों से अधिक प्रियतमा दिखाई देंगी। किन्तु ऐसी स्वार्थ में तत्परा, कुलटा स्त्रियों का कोई भी अपना सगा नहीं! कोई भी सम्बन्धी नहीं। कोई भी प्रिय नहीं कोई भी बन्धु बान्धव नहीं। ये अपने स्वार्थ के लिये पति पुत्र, पिता, भाई तथा चाहे जिस सम्बन्धी की हत्या करा सकती हैं। सती तो पति की होती ही हैं किन्तु कामिनी किसी की भी नहीं होतीं।"

इतना सोचते-सोचते मुनि फिर दूसरी बात विचारने लगे। उन्होंने सोचा—"अरे! इसमें इसका क्या दोष? मैं इस एक के पीछे समस्त स्त्रियों को क्यों कोस रहा हूँ। अपना ही दाम खोटा न होगा, तो परखने वाला उसे खोटा कैसे कह सकेगा। दूसरा कोई सुख दुख नहीं दे सकता। मनुष्य अपनी वासना में ही बँधकर पाप का भागी बनता है। यदि मैं अजितेन्द्रिय न होता, अपनी इन्द्रियों पर मैंने संयम किया होता, तो आज यह नौबत ही क्यों आती। मैं तो विषय भोगों में फँस गया। स्त्री सुखको ही सर्वस्व समझ कर उसके अधीन हो गया। इसके मिथ्या प्रेम में तन्मय होकर अपने वास्तविक स्वार्थ को भूल गया। इस विचारी का क्या

दोष ? दोष तो मेरा ही है। मैंने ही बार बार इसे वरदान के लिये प्रेरित किया उत्साहित किया, और विवश किया। मुझे धिक्कार है। मेरे तप, सयम, अग्निहोत्र व्रत आदि सभी को धिक्कार है जो मैं स्त्रैण हो गया। मेरा मन स्त्री जनित सुख में फँस गया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् कश्यप स्त्री पुरुष दोनों के ही काम की निन्दा करते हुए दुखी हुए। उन्होंने धैर्य धारण किया और फिर सोचने लगे—"अच्छा, अब जो हुआ सो हुआ। अब मैं क्या करूँ। क्या इसे वर दे दूँ? नहीं, मैं ऐसा वर नहीं दे सकता। कोई ऐसा उपाय सोचूँ जिससे मेरा वचन भी सर्वथा मिथ्या न हो और इन्द्र का भी वध न हो। यद्यपि है तो यह कपट सा ही, किन्तु ऐसे अवसरों पर यह क्षम्य है। वरदान के साथ ऐसा कोई नियम लगा दूँ, कि न वह पूरा हो, न इन्द्र का मारने वाला पुत्र पैदा हो। न नौ मन काजर आवे न राधा नाचे। "न बाजा आवे न घटा बाजे" यह सब सोच साच कर भगवान् कश्यप उस से बोले—"प्रिये! तुम्हारे इन्द्र का मारने वाला पुत्र हो तो सकता है, किन्तु इसके साथ एक प्रण है।

दिति ने पूछा—"वह क्या भगवन्?"

भगवान् कश्यप बोले—"वह यह कि मैं तुम्हें एक व्रत बताऊँगा। यदि एक वर्ष तक तुम उस व्रत को निर्विघ्न धारण कर सको—वह व्रत बिना किसी विघ्नबाधा के पूरा हो सके, तब तो तुम्हारे गर्भ से इन्द्र का मारने वाला पुत्र हो सकता है यदि व्रत में कुछ त्रुटि हो गई, कोई छिद्र रह गया, तो उसका परिणाम उलटा होगा, वह इन्द्र हन्ता न होकर देवताओं का बन्धु बन जायगा।"

दृढताके स्वर मे दिति ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं सब कुछ करने मे समर्थ हूँ। आप मुझे उस व्रतकी शिक्षा दीक्षा दीजिए। आप जैसे बतावेंगे वैसे ही मैं बडी सावधानी के साथ उस व्रत को करूँगी। किसी प्रकार का विघ्न न होने दूँगी। पहिले तो मुझे यह बताइये कि इस व्रत मे करना क्या होगा। अर्थात् पहिले तो विधि का वर्णन करें, फिर निषेध कार्यों को भी बतावे अर्थात् कौन सा कार्य न करे जिसके करने से व्रत भग हो सकता है ?"

यह सुनकर भगवान् कश्यप बोले—"प्रिये ! तुम पुंसवन नामक व्रत करो। प्रातःकाल अरुणोदय मे उठना चाहिये। शौच आदि नित्यकर्मों से निवृत होकर विधिवत् स्नान करना चाहिये स्नान करके शुद्ध शुभ्र धुले हुए वस्त्र धारण करने चाहिये। रोली कुकुम आदि सर्व सौभाग्य चिन्हो का धारण करना चाहिये। बार-बार भोजन न करना चाहिये। बिना कुछ खाये गौ, ब्राह्मण और लक्ष्मी सहित श्रीमन्नारायण का पूजन करना चाहिये। भगवान् के पूजन अनन्तर सौभाग्यवती स्त्रियो का गंधमाला, धूप द्वीप नैवेद्यादि से पूजन करना चाहिये। तदनतर इसी प्रकार श्रद्धासहित पति का भी पूजन करे। पति की आज्ञा का कभी उल्लघन न करे, सदा उसकी सेवा में तत्पर रहे, उसके अनुकूल आचरण करे। और निरतर इस बात का ही चिंतन करती रहे, कि इनका तेज मेरी कुक्षि में विराजमान है। ये ही एक मूर्ति से मेरे उदर मे अवस्थित हैं। ये पु सवन व्रत के सदाचार हैं। व्रत का उपदेश तो मैं पीछे करूँगा। ये तो उसमे कर्तव्य कार्य हैं।

इस पर दिति ने कहा—"ब्रह्मन् ! आपने व्रत के कर्तव्य कार्यों का निर्देश तो कर दिया, अब मैं यह सुनना चाहती हूँ, कि कौन सा कार्य इस व्रत में न करना चाहिये। निषिद्ध आचरणों को मुझे

और बता दीजिये। जिससे व्रत भग न हो सके। ये तो परम आवश्यक हैं।"

इस पर भगवान् कश्यप बोले—"देखो, इतनी बातों पर सावधानी से दृष्टि रखनी चाहिये इन कार्यों को कभी न करे।

१—कभी किसी प्राणी की हिंसा न करे।

२—क्रोध के वशीभूत होकर किसी को शाप न दे।

३—कभी भी झूठ न बोले। मौन रहे या सत्य भाषण करे।

४—नख और रोमों को व्रत में न काटे।

५—जो अमङ्गल अशुचि वस्तु है। उनका स्पर्श न करे। जल को लेकर उसी से स्नान करे।

६—जल के भीतर घुसकर स्नान न करे।

७—भूल कर भी क्रोध न करे।

८—जो दुष्ट स्वभाव के पुरुष हैं उन दुर्जनों से संभाषण न करे।

९—जो वस्त्र धुला हुआ न हो उसे धारण न करे।

१०—दूसरे पुरुषों की पहिनी उच्छिष्ट मालाओं को न पहिने।

११—किसी का भी जूठा अन्न न खावे।

१२—जो अन्न भद्रकाली को निवेदित कर दिया हो, उसे न खाय।

१३—मांसयुक्त भोजन को भूल से भी न खाय।

१४—जिस बने हुए अन्न को शूद्र लाया हो, उसे भी न खाय।

१५—जिस अन्न को रजस्वला स्त्री ने देख लिया हो, उसे भी न खाय।

१६—दोनों हाथों की अजलि बाँध कर पस से भर कर जल न पिये।

१७—जूठे मुँह कभी घर से बाहर न निकले।

१८—भोजन करके जब तक आचमन न कर ले, तब तक बाहर न जाय।

१९—प्रात और सायकालीन दोनों सध्याओ के समय घर से न निकले। उस समय भगवद् ध्यान मे ही तल्लीन रहे।

२०—बिना चोटी बाँधे खुले बालों से निर्लज्ज स्त्रियो की भाँति बाहर न जाय।

२१—बिना सौभाग्यवती के चिन्हो के धारण किये बिना शृगार किये घर से बाहर न हो।

२२—बाहर जाय तो वाणी का बडी सावधानी से सयम करे कोई मिथ्या, कडवी, अप्रिय बात न कहे।

२३—बिना वस्त्र पहिने या एक वस्त्र से बाहर न निकले।

२४—शैया पर सोते समय पैर धोकर ही सोवे।

२५—जूठे मुख या और किसी प्रकार की अपवित्रता हो, तो उसी दशा मे शैयापर न सोवे। पवित्र होकर आचमन करके सोवे।

२६—गीले पैरो से भूल कर भी शयन न करे। पैर धोकर उन्हे भली भाँति पोंछ कर तब सैया पर पैर रखे।

२७—उत्तर या पश्चिम की ओर सिर करके कभी भी न सोवे, जब सोवे तब या तो पूर्व की ओर या दक्षिण की ओर सिर करके सोवे।

२८—किसी दूसरे की शैया पर अथवा दूसरे के साथ भी न सोवे।

२९—नग्न होकर भूलकर भी शयन न करे।

३०—प्रातः सन्ध्या के समय और सायकालीन सन्ध्या के समय कभी भी न सोवे।

इस प्रकार तीस निषिद्ध बाते हैं। इन्हे बचाकर यदि तुम एक वर्ष तक विधिवत् पुसवन व्रत करोगी, तो तुम्हारा मनोरथ

पूर्ण हो जायगा। यदि इनमें से कोई भी विघ्न हो गया, तो उसका फल प्रतिकूल हो सकता है।

यह सुनकर दृढ़ता के स्वर में दिति ने कहा—"ब्रह्मन्! इनमें तो कोई भी कठिन बात नहीं है। इनका तो प्रायः मैं वैसे ही पालन करती हूँ। ये तो सदा पालनीय सदाचार की सुन्दर शिक्षायें हैं। मैं इन पालन करने योग्य नियमों का पालन करूँगी और त्याग करने वाली बातों से सर्वथा बचूँगी। आप मुझे पुंसवन व्रत का उपदेश कीजिये।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दिति के स्वीकार कर लेने पर भगवान् कश्यप ने उसे विधिवत् पुंसवन व्रत की शिक्षा दीक्षा दी। उसके शास्त्रीय विधि से गर्भाधान संस्कार किया। भगवान् कश्यप का अमोघ तेजयुक्त वीर्य दिति के गर्भ में उसी प्रकार बढ़ने लगा जैसे आकाश मे शुक्लपक्ष का चन्द्रमा बढता है। अपने पति से गर्भ धारण करके दिति बडी सावधानी से व्रत के नियमो का पालन करने लगी।

छप्पय

सोचि कहैं व्रत एक बताऊँ तोइ पुंसवन।
करे ताहि निर्विघ्न होहि इच्छित सुत शोभन॥
होहि तनिकहू छिद्र फेरि सुत सुरप्रिय होवे।
यदि ह्वै कें अपवित्र जूठ मुख तें तू सोवे॥
सदाचार पालन करे, कदाचार कूँ त्यागी कें।
व्रत वैष्णव यदि वर्ष भर, करे समय पर जागि कें॥

इससे आगे की कथा उन्नीसवें-खण्ड में पढ़िये:—

भारतीय संस्कृति और शुद्धि

क्या अहिन्दु हिन्दु बन सकते हैं ?

आज सर्वत्र बलात् धर्म परिवर्तन हो रहा है। हिन्दु समाज से लाखों स्त्री पुरुष सदा के लिये निकल कर विधर्मी बन रहे हैं, कुछ लोगों का हठ है कि जो अहिन्दु बन गये हैं वे सदा के लिये हिन्दु समाज से गये, फिर वे हिन्दु हो ही नहीं सकते ! श्री ब्रह्मचारी जी ने पुराण, स्मृति इतिहास और प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों से यह सिद्ध किया है, कि हिन्दु समाज सदा से अहिन्दुओं को अपने में मिलाता रहा है। जब से हिन्दु समाज ने अन्य सम्प्रदाय वालों के लिये अपना द्वार बन्द किया है; तभी से उसका ह्रास होने लगा है। बडी ही सरल सुन्दर भाषा मे शास्त्रीय विवेचन पढ़कर अहिन्दुओ को हिन्दु बनाइये। अपने समाज की उन्नति कीजिये। सुन्दर छपाई सफाई युक्त ७५ पृष्ठ की पुस्तक केवल ३१ पैसे मात्र।

पता—संकीर्तन भवन झूँसी, प्रयाग

शोक शान्ति

[श्री ब्रह्मचारीजी का एक मनोरंजक और तत्व ज्ञान पूर्ण पत्र]

इस पुस्तक के पीछे एक करुण इतिहास है। मदरास के गुंटूर प्रान्त का एक परम भावुक युवक श्री ब्रह्मचारीजी का परम भक्त था। अपने पिता का इकलौता अत्यन्त ही प्यारा दुलारा पुत्र था। वह त्रिवेणी सङ्गम पर अकस्मात् स्नान करते समय डूब कर मर गया। उसके संस्मरणों को ब्रह्मचारीजी ने बड़ी ही करुण भाषा मे लिखा है। पढ़ते-पढ़ते आँखे स्वतः बहने लगती हैं। फिर एक साल के पश्चात् उसके पिता को बड़ा ही तत्व ज्ञान पूर्ण ५०।६० पृष्ठों का पत्र लिखा था। उस लिखे पत्र की हिन्दी और अङ्गरेजी मे बहुत सी प्रतिलिपियाँ हुई उसे पढ़कर बहुत से शोक संतप्त प्राणियों ने शान्तिलाभ की इसमें मृत्यु क्या है इसका बड़े ही सुन्दर ढंग से मनोरञ्जक कथायें कह कर वर्णन किया गया है, लेखक ने निजी जीवन के दृष्टान्त देकर पुस्तक को अत्यन्त उपादेय बना दिया है अक्षर-अक्षर मे विचारक लेखककी अनुभूति भरी हुई है। उसने हृदय खोलकर रख दिया है। एक दिन मरना सभी को है अतः सब को मृत्यु का स्वरूप समझ लेना चाहिये, जिन्हे अपने सम्बन्धी का शोक हो, उनके लिये तो यह रामबाण औषधि है। प्रत्येक घर मे एक पुस्तक का रहना आवश्यक है। ६४ पृष्ठ की सुन्दर पुस्तक का मूल्य ०.३१ न० पै० मात्र है। आज ही मँगाने को पत्र लिखे समाप्त होने पर पछताना पड़ेगा।

पता—सङ्कीर्तन भवन, झूँसी (प्रयाग)

मेरे महामना मालवीयजी

और

उनका अन्तिम सन्देश

अधिकारियो ने श्री ब्रह्मचारी को विजयादशमी के अवसर पर रामलीला के जुलूस के सम्बन्ध में कारावास भेज दिया था। देश के कोने-कोने से युक्तप्रान्त के प्रधान मंत्री के पास सैकडों तार पत्र गये। रोग शय्या पर पड़े-पड़े महामना मालवीय जी ने प्रधान मंत्री और गृह मंत्री को तार दिये। वे ही उनके अन्तिम तार थे ब्रह्मचारी जी को छुड़ाने को उन्होंने श्री पन्तजी और मिस्टर किदवई को दो पत्र लिखे वे ही उनके अन्तिम पत्र थे। इन पत्रों को लिख कर और ब्रह्मचारीजी को छुडाकर उसके आठवे दिन वे इस असार संसार से चल बसे। इस पुस्तक मे उन पत्रों के लिखने का बड़ा ही सरस, रोचक और हृदयग्राही इतिहास है। महामना मालवीय जी के सम्बन्ध में श्री ब्रह्मचारीजी महाराज के अनेकों सुखद संस्मरण हैं। अन्त में उनका पूरा ऐतिहासिक संदेश भी है। पुस्तक बड़ी रोचक और ओजस्वी भाषा में लिखी गई है गुटका के आकार में लगभग १३० पृष्ठ हैं। मूल्य २५ न०पै० १.०० से कम की वी० पी० न भेजी जायगी। स्वयं पढ़िये और मँगाकर वितरण कीजिये।

श्रीभागवत-दर्शन

भागवती कथा

(उन्नीसवाँ खण्ड)

व्यासशाखापवनत सुमनासि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

तृतीय संस्करण] आषाढ़, सं० २०२१ वि० [मू० १.२५ न० पै०

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन (प्रतिष्ठानपुर)
झूसी, प्रयाग

मुद्रक
भागवत प्रेस
झूसी, प्रयाग

विषय-सूची

अ० सं०	विषय	पृष्ठांक
	(आ) प्राक्कथन ...	५
४४३—	छद्मवेषी इन्द्र द्वारा दिति का गर्भोच्छेद	२५
४४४—	मरुद्गण चरित की समाप्ति .	३८
४४५—	भगवान् में विषमता क्यों ? .	४७
४४६—	भगवन् निर्गुण तथा निर्लेप हैं ...	५६
४४७—	युधिष्ठिर नारदजी सम्वाद .	६५
४४८—	जय विजय के शाप का कारण ..	७९
४४९—	भाई के मारे जाने पर हिरण्यकशिपु का श्रीहरि पर क्रोध ...	८६
४५०—	हिरण्यकशिपु का अपने सम्बन्धियों को धैर्य देना	९३
४५१—	यमराज और प्रेत बन्धुओं का सम्वाद	१०१
४५२—	सबके रक्षक श्रीहरि ही हैं ..	१०९
४५३—	दैवरक्षित ही यथार्थ रक्षित है ..	१३८
४५४—	आत्मा शरीर से भिन्न है ...	१४७
४५५—	स्वपराभिनिवेश अज्ञान जन्य है ..	१५७
४५६—	हिरण्यकशिपु की तपस्या ...	१६४
४५७—	हिरण्यकशिपु को दुर्लभवरों की प्राप्ति	१७३
४५८—	हिरण्यकशिपु का अनुपम ऐश्वर्य ...	१८३
४५९—	दुखित देवों पर दीनबन्धु की दया ...	१९५
४६०—	भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजी ...	२०६
४६१—	भगवद्भक्तों की दशा ...	२१३
४६२—	पिता पुत्र में मतभेद ...	२२२
४६३—	प्रह्लाद के उत्तर से गुरुपुत्रों का कोप ...	२२

प्रेस
प्रयाग

चित्र-सूची

१—दिति और इन्द्र ४०
२—श्री नारदजी और धर्मराज युधिष्ठिर ६७
३—बालक वेषधारी यमराज और सुयज्ञ के बन्धु बान्धव १०७
४—भगवान् परशुरामजी और अकृतव्रणजी १४३
५—हिरण्यकशिपु और ब्रह्माजी १७७
६—भगवद्भक्ति के आवेश में प्रह्लादजी .. २१७
७—हिरण्यकशिपु और प्रह्लादजी .. २२६

प्राक्कथन

तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्ट चेतनः ।
मायां प्राप्नोति मृत्युवा तद्वन्नानार्थदृक्पुमान् ॥

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

प्रभु जड चेतन माहिँ व्याप्त हरिमय जग देखैं ।
परमारथ पथ पथिक पृथक्ता पक्ष न पेखैं ॥
भिन्न भाव भव माँहिँ भ्रमाव बन्ध करावे ।
देखैं जे गुण दोष न ते पुनि प्रभुपद पावैं ॥
करे चित्त जस भावना, तस पावे यह जीव तन ।
भले बुरे हिय भाव जो, उठैं होहि तद्रूप मन ॥

"भागवती कथा" के सोलहवें खण्ड में मैंने एक 'प्राक्कथन' के सम्बन्ध में 'निवेदन' किया था और उस पर पाठकों से सम्मति माँगी थी। सब पाठकों के तो उत्तर आये नहीं किन्तु बहुत से पत्र आये। जितने पत्र मेरे पास आये उनमें से एक भी ऐसा

श्री भगवान् उद्धवजी कहते हैं—"उद्धव ! इन्द्रियाँ निद्राग्रस्त राजस् अहंकार के कारण से होती हैं। तब शरीरस्थ जीव या तो चेतना शून्य होकर स्वप्न रूप माया को प्राप्त होता है अथवा सुषुप्ति रूप मृत्यु को प्राप्त होता है। अर्थात् निद्रा आने पर मन या तो स्वप्न के पदार्थों में जीव को भटकाता है या गहरी निद्रा में मृतकवत् होकर पड़ा रहता

नहीं आया, जिसमे 'प्राक्कथन' लिखने मे असम्मति प्रकट की हो।

एक सज्जन ने बड़ी सुन्दर बात लिखी। उन्होने लिखा—'आपने प्रथम खण्ड मे ही यह बात लिखी थी, कि मैं कुछ नहीं लिखता, भगवान् जो लिखाते हैं, वही लिख देता हूँ। वे जो लिखायेंगे लिख दिया करूँगा। फिर यह सम्मति असम्मति का प्रश्न ही क्यो उठा ? पाठकों मे अनेक प्रकार के होते हैं, कोई कुछ कहेंगे कोई कुछ। इसलिये आप किसी की सम्मति की प्रतीक्षा न करके जो भगवत प्रेरणा हो वह करे। भगवान् लिखावें तो लिखें न लिखावे न लिखें।" यह बात बड़ी ही सुन्दर कही। जीव में यही तो एक बड़ी भारी त्रुटि है, वह एक बार तो बुद्धि से विचार कर निश्चय करता है सब भगवान् करते है, किन्तु फिर बहक जाता है। फिर अपने मे कर्तृत्व का आरोप कर लेता है। इसकी सम्मति लेने में 'प्रशंसा सुनने की भावना, निहित थी। 'मेरी कृति का लोग आदर करते हैं या नहीं।' अच्छा, यह भी भगवत् प्रेरणा ही होगी। पाठको के मुख से ही कहलाकर पुनः प्रेरित कराना चाहते होगे। प्रभो ! ऐसी कृपा करो तुम्हारे कार्यों में मुझे अपने पन का अभिमान न हो।

'भूमिका' 'प्रस्तावना' 'प्राक्कथन' दो शब्द 'अपनी बात'

है। उसी प्रकार जो दूसरों की निन्दा स्तुति करता है ऐसा भेददर्शी पुरुष या तो विक्षेप को प्राप्त हो कर या लय को प्राप्त होकर स्वार्थ साधन से भ्रष्ट हो जाता है। भाव यह कि उसको या तो स्वर्गादि जीवों की प्राप्ति हो जायगी या चौरासी के चक्र मे पुनः पुनः पिसता रहेगा। मोक्षमार्ग से वह गिर जायगा।"

'मुख बन्ध' 'प्राथमिक वक्तव्य' आदि आदि नामों से पुस्तकों में जो मुख बन्ध लिखा जाता है, उसमें दो बातें होती थीं, पुस्तक के विषय के सम्बन्ध में और पुस्तक के लेखक के सम्बन्ध में। अब एक तीसरी बात का भी समावेश हो गया है, पुस्तक की छपाई प्रकाशन की सुविधा असुविधा का दिग्दर्शन कराना। इन तीनों बातों में से मुझे अपने प्राक्कथन में कौन सी बात लिखनी है। पुस्तक के विषय में क्या लिखूँ, प्रत्येक अध्याय के पूर्व एक छोटी सी भूमिका रहती ही है। छपाई आदि के सम्बन्ध में प्रकाशकीय वक्तव्य में समय समय पर प्रकाश डाला ही जाता है। अब रह गई अपनी बात। सो, अपनी क्या बात लिखूँ ? कुछ बन्धु स्नेह वश लिखते हैं अपने चरित्र का कुछ दिग्दर्शन कराया करें। चरित्र तो चरित्रवालों का लिखा जाता है। मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ, कि मैं वैसा चरित्रवान् पुरुष अपने को नहीं समझता। कुछ कहते हैं—"अपने अनुभव लिखो जिससे दूसरे परमार्थ पथ के पथिकों को कुछ लाभ हो। अनुभव बुद्धिमान् पुरुषों को दो ही कारणों से होते हैं—

'बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया'

मनुष्यों को आयु की वृद्धि से तथा गुरुजनों की सेवा से स्वयं ही बुद्धि आ जाती है। उसे अनुभव होने लगते हैं। गुरु जनों की सेवा तो इस जीवन में हो नहीं सकी। हाँ, आयु की वृद्धि से अनुभव अवश्य हुए। अपने प्राचीन पापों का प्राय-श्चित्त करने की बातें सोच रहा हूँ। मैंने अनुभव किया, पर-मार्थ पथ में परदोष दर्शन से बढ़ कर कोई पाप नहीं है। दूसरे के जिस दोष का हम मन में चिन्तन करेंगे, वाणी से उसे

कहेंगे। उसके संस्कार हमारे जीवन में अवश्य पड़ेंगे, अवश्य पड़ेंगे, बिना पड़े रहेंगे नहीं। दर्पण के सम्मुख जो आवेगा उसी का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ेगा। इसी प्रकार गुणों का भी। हम किसी के गुणों की प्रशंसा करेंगे, तो वे गुण हम में कभी न कभी अवश्य आवेंगे और उसके पुण्य हमें लाभ में मिलेंगे। इसी प्रकार जिसके दोषों का हम वर्णन करेंगे चिन्तन करेंगे वे दोष हममें कभी न कभी अवश्य आवेंगे और उसके पापों में भी भागीदार होना पड़ेगा। एक साधु को सुन्दर बढ़िया भवन में बड़े ठाठ बाठ से हुक्का पीते देखकर एक साधक ने उसकी निन्दा की। दूसरे महात्मा ने कहा—"अरे, ऐसा मत कहो। नहीं तुझे भी एक दिन ऐसा ही होना पड़ेगा।" कुछ लोगों का कहना है—'सत्य बात कहने में क्या दोष? दोषा वाच्याः गुरोरपि?' जब तक हम निन्दित काम वालों की निन्दा न करेंगे, तब तक वे निवृत्त कैसे होंगे? समाज की व्यवस्था कैसे समुचित रूप में रहेगी?" ये बातें अपने दोषों के समर्थन के लिये हैं। निन्दा करने से कौन पापों से निवृत हुआ है? फिर जो अधिकारी हों, जिनमें दण्ड देने की सामर्थ्य हो, उनके लिये तो यह भी कहा जा सकता है, जिसे सबको अभयदान देकर न्यस्त दण्ड होकर परमार्थ के पथ की ओर अग्रसर होना है, उसे दूसरों के दोष देखने और उनका प्रचार करने का अवसर ही कहाँ है। यदि वह दूसरों के दोष देखता है, तो मानो वह परमार्थ पथ की ओर अभी एक पग भी नहीं बढ़ा। यह ध्रुव सत्य है, मेरी अनुभूत बात है। जो जिस बात को सोचेगा, उसका उसके मन पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। यह सृष्टि संकल्पमयी है। इसीलिए वैदिक ऋषि नित्य वेद मंत्रों से प्रार्थना करते थे, मेरे संकल्प शुभ हों। अपने त्याग वैराग्य के मिथ्याभिमान वश

मैंने दूसरो की जो निन्दायें कीं, वे सब मुझमे आ गई हैं। जिन अपराधों के लिये मैंने अपने साथियो का अत्यधिक भर्त्सना की उनसे बडे बडे प्रायश्चित्त कराये, वे सब अपराध किसी न किसी अश मे मुझमे आ गये। जिनके दर्शन और स्पर्श से व्रत भङ्ग होता है, अत्यन्त लज्जा, दुःख और ग्लानि के साथ मैं स्वीकार करता हूँ कि उनसे मे निर्मुक्त न रह सका और मेरी भावना सर्वथा विशुद्ध भी नहीं बनी रही। अपने शरीर का रक्त निकाल कर उसके द्वारा हस्ताक्षर करके मैंने स्वय और अपने साथियो से कामिनी काचन स्पर्श न करने की प्रतिज्ञायें कीं और कराईं और मेरे जीवन मे एक आडम्बर मात्र शेष रह गया। धन के विषय मे मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी, कि मैं कभी किसी से धन की याचना करूँगा या उसके लिये चिन्ता करूँगा, किन्तु अब दोनों बातें हो रही है। धन के लिये मुझे सङ्कल्प भी देना पडता है। हाथ से स्वय न छुओ, दूसरो से छुआओ। हाथ से न रखो दूसरों से रखाओ। एक ही बात है, सेठ साहूकार भी बाँधे नही फिरते। बैङ्कों में कोषाध्यक्षो के पास ही रखते है। यही दम्भ ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में समझो केवल 'अध्यवसाय' मात्र से निवृत्त होना ही तो ब्रह्मचर्य नहीं। स्मरण, दर्शन, स्पर्श आदि से भी तो निर्मुक्त रहना चाहिये। सो रहा नहीं। ये विषय ऐसे हैं कि स्पष्ट कहे भी नहीं जा सकते और परमार्थ मे कहे बिना काम चलता भी नहीं। अतः श्रेष्ठ तो यही है कि—

अन्यस्य दोष गुण चिन्तनमाशु त्यक्त्वा।
सेवाकथारसमहो नितरा पिब त्वम्॥

दूसरो के गुण दोषों का चिन्तन त्यागकर निरन्तर सेवा

कथा के रस पान में ही लगे रहो। यदि किसी प्रकार ऐसा न हो, तो गुण ही गुण देखे। दोषों की उपेक्षा कर दे। यह सम्भव नहीं, किसी मे कोई गुण न हो। यदि हमारी वृत्ति गुण देखने की ओर लग जायगी तो सबमे कुछ न कुछ गुण दीखने ही लगेंगे। दोष देखने का स्वभाव पड़ जाय, तो ऐसा एक भी न दीखेगा जिसमे दोष दिखाई न दे। गुणों की अपेक्षा दोषों का प्रभाव अधिक पडता है। पुण्य कर्मों की अपेक्षा पाप कर्मों का प्रभाव तुरन्त पड़ता है। सहस्रों वर्ष तप करो, ब्रह्मचर्य से रहो, पल भर मे ब्रह्महत्या, सुरापान या गुरुपत्नीगमन जैसे महापाप बन जायँ, सब पुण्य समाप्त। पाप तो क्षण भर मे हो गया, उसे भोगने को कई युग, लाखों करोड़ वर्ष चाहिये। हम अभिमानवश कहते हैं—"हम पापियों की दुराचारियों की निन्दा इसलिये करते हैं कि वे दोष हममें न आने पावे। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर मैं भी निन्दा करता था, करता हूं, किन्तु यह तो मुख पर तमाचा मारकर उसे लाल करने के समान है। हम अपने मुखपर कसकर तमाचा मारें, तो मुख कुछ काल के लिये लाल अवश्य हो जायगा, किन्तु वह ललाई क्षणिक होगी। उसकी वेदना बनी ही रहेगी। इस प्रकार बुरे लोगों की क्रोध मे भरकर बुराई की जाय, तो कुछ काल को उस बुराई के प्रति घृणा अवश्य होगी, किन्तु उसके संस्कार हमारे मनमे शेष रह जायँगे और अवसर पाते ही वे बुराइयाँ हममें अवश्य प्रकट होंगी। पृथ्वी मे बहुत सी वस्तुओं के बीज पड़े रहते हैं, जो दिखाई नहीं देते। चैत्र वैशाख मे उष्णता के कारण सर्वत्र स्वच्छ दिखाई देता है। जहाँ वर्षा हुई, अनुकूल अवसर आया, कि वे बीज अंकुरित हो उठते हैं और अपने जैसे और भी अनेक बीजों को उत्पन्न करते हैं। बुराई से बुराई

नष्ट नहीं होती। हमारा चिंतन ही भजन है। हम जो सोचते हैं—"मानो वही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। मरकर हम उसी लोक को प्राप्त होंगे जिसे इस जन्म मे प्राप्त कर लेंगे। कुंडलिनी योग के मतानुसार हमारे शरीर मे षड्चक्र है। उन चक्रों मे भिन्न भिन्न वर्ण, देवता, तथा लोकादिकों की कल्पना है। उस शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है हम जिस स्थिति को यहाँ प्राप्त कर लेंगे, वही हमें वहाँ प्राप्त होगी। जो पैदा करेंगे उसे ही बैठकर खायेंगे। कोन सी गति प्राप्त होगी, यह सहज ही अपने मनके विचारों से जानी जा सकती है। जो निरन्तर घर द्वार कुटुम्ब परिवार की ही चिंता करता रहता है, उसे फिर यहीं आकर जन्म लेकर ये वस्तु प्राप्त होगी, जो निरन्तर स्त्री मे आसक्त रहता है उसे वही प्राप्त होगी जो धर्म का सेवन करता है, मन मे धर्म की ही चिंता करता रहता है उसे स्वर्गादि धर्मलोक प्राप्त होंगे। जो शून्य की भावना करता है, वह शून्य मे विलीन होगा, जो निरन्तर भगवत् भावना मे भावित रहता है उसे भगवत् लोको की प्राप्ति होगी। बाहर ज्योतिषी से पूछने की आवश्यकता नहीं। अपने मन को ही देखो उसी से हमे अपनी स्थिति का पता चल जायगा। बहुत से साधक चिरकाल तक साधाना करते हैं, उन्हें मन का ही पता नहीं चलता। मन को मनन किया जाय, अपने विचारों कार्यों पर निरन्तर ध्यान रखा जाय, तो अपने मन की स्थिति का पता चलता है। पूर्व जन्मों के संस्कारवश मैं अति छोटी अवस्था से भगवान् की सेवा पूजा में प्रवृत्त रहता था। गाँव छोडकर जब नगर मे आया, तो मुझे एक आर्य समाजी बन्धु का साथ हो गया। उन्होंने उन्नति की जो वक्तृता दी उसने मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। मेरे विचारों में समाजीपन आ गया। मेरी

कैसे भी सङ्कल्प हो, कल्पवृक्ष के नीचे व्यर्थ नहीं हो सकते। सोचो—'भोजन आ जाय, भोजन आगया। सोचो सिंह आ जाय मुझे खा जाय, तो सिंह आ जायगा खा जायगा। संसार में भी यही है। सृष्टि सङ्कल्प से ही चल रही है। बड़े से बड़े पद पर प्रतिष्ठित होकर भी तनिक से असत् सङ्कल्प से प्राणी उससे पतित हो जाता है। इस सम्बन्ध की एक बहुत ही सुन्दर कथा उस दिन यहाँ शरदोत्सव मनाया गया था, उस अवसर पर पूज्यपाद श्रीहरि बाबाजी ने सुनाई थी। उससे विदित हो जायगा, कि उत्तम लोक में भी यदि असद् सङ्कल्प हो जाय, तो उसका भी तत्काल फल भोगना पड़ता है,वह कथा इस प्रकार है—

एक राजा की राजसभा में एक सन्यासी जी ने प्रवेश किया। सन्यासीजी के पास पिंजड़ा में एक पक्षी था। राजा ने उठकर सन्यासीजी का आदर किया और पूछा—"महाराज! आप सन्यासी होकर इस पक्षी को क्यों लिये फिरते हैं? इस पक्षी में कौन सी विशेषता है?

सन्यासी ने कहा—"यह पक्षी स्वयं ही अपनी कथा कहेगा।

राजा ने यह सुनकर पक्षी से कहा—"हे पक्षी रूप में देवी जी! यदि आप अपनी कथा, सुनाने में समर्थ हो तो हम सबको अपनी कथा सुनावें।"

यह सुनकर पक्षी दैवी मानुषी भाषा में बोली—"राजन्! मैं आपको अपनी कथा सुनाती हूँ। पूर्वकाल में जब भगवान् बुद्ध बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्ति के निमित्त घोर तप कर

रहे थे उन्ही दिनो बोधि गया के समीप एक छोटे भूमि-पति राजा थे उनकी पत्नी का नाम सुजाता था। राजा के कोई सन्तान नहीं थी, रानी सुजाता ने वनदेवता मे प्रार्थना की, कि यदि मेरे पुत्र हो जाय, तो मैं आपकी विधिवत् पूजा करूँगी।" वनदेवता की कृपा से उनके एक पुत्र हो गया। अब वनदेवता की सुन्दर सुन्दर स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पायस (खीर) बनाकर पूजा करती थी। राजा के सहस्रो गौये थी, सहस्रो बीघा खेत थे। उन्होंने सुन्दर उत्तम जाति के धान मँगाकर ५०० खेतों मे बुआये। फिर उनमे से जो अति उत्तम बीज थे, उन्हें २५० खेतो मे, उनमे से भी छाँटकर १०० खेतो मे, फिर उनमें भी जो अत्यन्त उत्तम धान थे, ५० खेतों मे, फिर पाँच खेतों मे, तब एक खेत में धान बोए। साराश इतना ही है, कि सर्वोत्तम चावल थे। इसी प्रकार का सुन्दर सुन्दर स्वस्थ नीरोग अधिक दूध देने वाली ५०० गौओ को मीठी मीठी घास तथा घुँघचियो के लताये खिलाईं जिनसे उनका दूध स्वादिष्ट हो जाय। उन सबके दूध को दुह कर वह १०० अत्यन्त सुन्दरी गौओ को पिलाते, उन्हें जल के स्थान पर दूध हा पिलाते जिससे उनका दूध स्वादिष्ट और गाढा हो जाय। फिर १०० गौओं के दूध को २५ गौओं को पिलाते। उनके दूध को पाँच गौओं को पिलाते जिससे वह दूध अमृत के समान स्वादिष्ट बन गया। उस दूध की उन चावलों से सुजाता देवी ने वन देवता की पूजा करने को परम प्रेमयुक्त हाकर पायस बनाई। सुवर्ण के कटोरे में रखकर वह सोलहू शृगार करके वनदेवता की पूजा करने चली। प्रथम उसने दासी को भेजा कि जाकर वनदेवता के मन्दिर को झाड़ बहार कर स्वच्छ करे।

बोधि वृक्ष के निकट ही एक जीर्ण शीर्ण प्राचीन वन देवता का मन्दिर था। दासी उस मन्दिर को स्वच्छ करने लगी ता सम्मुख पद्मासन लगाये भगवान् बुद्ध को देखा। भगवान् बुद्ध राजकुमार थे, परम सुन्दर थे, युवक थे, घोर तपस्या करने से उनके सम्पूर्ण शरीर से दैवी तेज निकल रहा था। वे आसन लगाये निश्चल भाव से विराजमान थे। दासी देखकर भोचक्की रह गई उसके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। वह दौडी दौडी रानी सुजाता के समीप गई और हाँपती हुई बोली—"रानीजी! रानीजी! आप बडी भाग्यवती हैं, आपके भक्ति भाव से प्रसन्न हाकर वन देवता तो मूर्तिमान होकर मन्दिर के बाहर विराजमान हैं।

यह सुनकर सुजाता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह प्रेम मे पगली हुई स्नेह भरित हृदय से सुवर्ण के कटोरे मे उस पायस को लेकर पहुँची। भगवान् बुद्ध ध्यान मग्न थे, सुजाता देवी एक पैर से जाकर खडी हो गई। कुछ काल मे भगवान् बुद्ध ने नेत्र उठाकर देखा तो पूजा की सामग्री लिये एक देवी खडी है।

भगवान् ने पूछा—"देवी! तुम कौन हो? क्यो खड़ी हो?

सुजाता ने कहा—"हे वनदेवता! आपकी ही कृपा से मेरे पुत्र हुआ है, मैं आपकी पूजा करना चाहती हूँ।"

भगवान् ने कहा—"देवी मैं कोई देवता नहीं। मैं तो तुम्हारे ही जैसा एक मनुष्य हूँ।

अत्यन्त विनीत भाव से सुजाता ने कहा—"प्रभो! आप

कोई हो मुझे पूजा कर लेने दे।"

श्रद्धा भक्ति की पराकाष्ठा होने से सभी विवश हो जाते हैं। भगवान् बुद्ध ने पूजा करने की आज्ञा दे दी। सुजाता ने विधिवत् भगवान् की पूजा की और पायस अर्पण की भगवान् को अत्यन्त भूख लगी हुई थी। बहुत दिनों से उन्होंने आहार छोड़ रखा था। नदी तट पर बैठकर उन्होंने उस खीर को खाया। सुवर्ण पात्र वहीं फेंक दिया। खाकर वे पुनः आसन पर विराजमान हो गये। सुजाता के नेत्र उनके दर्शनों से तृप्त ही नहीं होते थे, वह अपलक भाव से भगवान् के दर्शन कर रही थी। उसने आश्चर्य के साथ देखा भगवान् के श्री अङ्ग से दिव्य ज्योति निकल रही है जो पृथिवी से आकाश पर्यन्त एक दिव्य सुवर्णमय वृत्त के आकार मे परिणत हो गई है। सुजाता उस दिव्य प्रकाशमय वृत्त के दर्शन करके आनन्द मे विभोर हो गई। उसे इतना अधिक आह्लाद, इतना आनन्द हुआ कि शरीर उसे सहन करने मे समर्थ न हुआ। सुजाता के शरीर का वहीं पात हो गया।

पक्षिणी देवी, राजा से कह रही है—"राजन्! वह सुजाता और कोई नहीं थी, मेरा ही नाम सुजाता था। उस दिव्य तेज के दर्शनानन्द मे तनु त्याग करने के कारण मुझे तुषित नामक दिव्य लोक की प्राप्ति हुई। उस आनन्दमय दिव्य लोक मे मैं दिव्य शरीर से सहस्रों वर्षों तक-उस आनन्द का अनुभव करती रही। वहाँ पर भी मेरा सूक्ष्म अभिमान शेष था। एक दिन मुझे वही भगवान् के दिव्य तेज का स्मरण आ गया। मैंने देखा भगवान् बुद्ध के शरीर से एक तेज पुंज निकल कर वृत्त के आकार मे परिणत हो गया है और उस पर एक दिव्य पक्षी 'बैठा' है। मेरा ध्यान उस

पक्षी की ओर लग गया। चित्त की तनिक सी वृत्ति पक्षी में लग जाने से ही मेरा उस दिव्य लोक से पतन हो गया और मुझे पक्षी योनि प्राप्त हो गई। किन्तु पुण्य प्रभाव से सौभाग्य-वश मैं पक्षी भी हुई तो ब्रज मडल में हुई। जिस माता ने मुझे जन्म दिया उसका घोसला ब्रज मे यमुना जी के तट पर एक सघन वृक्ष के ऊपर था। वहीं मैं अपनी माता के साथ रहती। माता इधर उधर से अन्न कण एकत्रित करके लाती और मुझे खिलाती।

जिस वृक्ष पर हमारा घोसला था, उसी वृक्ष के नीचे वानरों का श्मशान घाट था। जो वानर मरता उसे दूसरे वानर वहीं लाकर उसका अन्तिम सस्कार करते। उसी समय कोई वानर मरा। अन्य वानर उसे लाये। परस्पर दो पाषाणों को टकराकर वे अग्नि प्रकट करते थे, उसके लिये उन्हें कुछ कोमल तृणों की आवश्यकता प्रतीत हुई। एक वानर ने झपट कर हमारा घोसला तोड लिया और उनसे अग्नि जलाई सौभाग्य से उस समय हम घासले में नहीं थी। मेरी माँ मुझे अन्य शाखा पर बिठाकर भोजन करा रही थी। जब हमारा घर उजड गया, तो मेरी माँ ने उस श्मशान भूमि के वृक्ष पर रहना उचित न समझा। वह मुझे लेकर शनैः शनैः उडी। उड़ती उडती बीच बीच में विश्राम करती हुई वह पञ्चनद प्रदेश मे अटक नदी के तट पर जा पहुँची। वहाँ नदी तट पर दुर्गा देवी का एक भव्य मन्दिर था, समीप ही एक सघन निम्ब वृक्ष था। मेरी माँ ने उसी पर अपना नया घर बनाया। मैं सुख पूर्वक वहाँ रहने लगी।

एक दिन मेरी माँ अन्न कण एकत्रित करने गई किन्तु लौट-

कर नहीं आई। मैं अभी अबोध थी, जब नियत समय तक माँ नहीं आई तो मैं बडी चिन्तित हुई। पल, पल, क्षण क्षण मेरे लिये भारी हो गया। दिशाओं की ओर देखते देखते मेरी आँखें पथारा गई। मैं अत्यन्त कातर होकर रुदन करने लगी तीन दिन इस प्रकार मुझे हो गये। मैं अत्यन्त विह्वल होकर माता के लिए विलाप करती रहती थी। मेरे पाषाण को पिघला देने वाले करुण-क्रन्दन को श्रवण करके दुर्गा देवी अब आसन पर स्थिर न रह सकीं। वे दिव्य शरीर से प्रकट होकर मेरे निकट आई। उन्होंने अपना वरद हस्त मेरे मस्तक के ऊपर रखा। देवी के हस्त का स्पर्श होते ही मैं परम सुन्दरी सुकुमारी कुमारी बन गयी। तब देवी ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक मुझसे कहा—"बेटी तू चिन्ता मत कर। तू पक्षी नहीं तू तो श्री कृष्ण की नित्य सहचरी है, तेरे मन मे कुछ अहंकार का अंश शेष था, उसे ही नष्ट करने तुझे तेरे सकल्पानुसार यह पक्षी योनि प्राप्त हुई। अब तू साधन द्वारा उस अहकार को नष्ट कर।"

मैंने विनीत भाव से कहा—"माँ! मैं तो पक्षी योनि मे उत्पन्न हुई हूँ, मैं साधन भजन क्या जानूँ ?"

देवी ने कहा—"देख, साधन मैं तुझे बताती हूँ मैं तुझे एक दिव्य नाम मंत्र का उपदेश करती हूँ, इस नाम का उच्चारण तू अत्यन्त अनुराग के साथ, परम प्रेम युक्त होकर, मधुर वाणी मे, लय के साथ एकाग्र चित्त से करना। और मन्त्र तो मन ही मन जपे जाते हैं, किन्तु यह नाम मंत्र वाणी मे, बोलकर गाकर तू उच्चारण करना। इस नाम मन्त्र के गान से तेरे समस्त रहे सहे अशुभ नष्ट हो जायेंगे। तुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी और फिर तू जन्म मरण के चक्र से सदा के

लिये निवृत्त हो जायगी। मन्त्र जाप मे अनुराग, तन्मयता और हृदयोल्लास यही प्रधान हैं। आत्मविस्मृत होकर तू इस मन्त्र का गान करना।" यह कह कर देवी ने मुझे।

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव॥

इस श्रुतिमधुर परम दिव्य मन्त्र का उपदेश दिया। और कहा—"अब तू पुनः व्रज में ही जाकर निवास कर।

मैंने हाथ जोड कर देवी से कहा— माँ! मैं तो तुम्हारे साथ रहूगी, तुम्हें छोडकर मै कहीं नहीं जाऊँगी।"

देवी ने मुझे अत्यन्त प्रेम के साथ पुचकारते हुए कहा— "देख, बेटी तू मर्त्य लोक की है, मैं दिव्य लोक का देवी हू, मेरा तेरा साथ कैसे हो सकता है। तेरा श्रेय व्रज मे जाकर होगा। तू चाहे तो इस मानवी रूप को भी रख सकती है, किन्तु युवती सुन्दरी कन्या के रूप में अनेक विघ्न बाधायें हैं, कामी लोग सुन्दरी युवती को अकेली देखकर भाँति भाँति के विघ्न डालते हैं, अतः मेरी सम्मति मे तू वही पक्षी का रूप रख ले।" इतना कह-कर दुर्गा देवी अन्तर्हित हो गई। मैंने पुनः पक्षिणी का रूप रख लिया। भगवती के पादपद्मों मे साश्रु प्रणाम करके नयनों के नीर से उनके पादो को प्रक्षालन करके मैं व्रज मन्डल की ओर उड-कर चल दी।

जो वृन्दावन धाम भुवि का भूषण है जो मायिक प्रपञ्चों से सर्वथा रहित है, जहाँ रसिक विहारी रासेश्वर श्रीकृष्ण अपनी

नित्य सहचरियों के सहित नित्य रास विलास करते रहते हैं इस परम शोभामय धाम के दर्शनों से ही मेरा हृदय खिल उठा। कालिन्दी के कलित कूल के निकट स्थित वंशीवट की एक शाखा पर मैंने अपना घर बनाया। दिन में तो मैं शनैः शनैः "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस मंत्र का जप करती रहती। जब अरुणोदय होता तो मैं सस्वर अत्यन्त ताल लय के साथ सुन्दर स्वर में इस नाम मंत्र का गान करती। मेरा स्वर इतना सुरीला था, कि जो भी मेरे मन्त्र गान को सुनता वहीं मन्त्र मुग्ध होकर स्तम्भित हो जाता। यमुना स्नान करने जितने भी नर नारी आते, मेरे सुमधुर अलौकिक दिव्य गान को सुनकर सब कार्यों को भूलकर वहीं चित्र लिखे से खड़े के खड़े हो जाते। नित्य ही मेला सा लग जाता। कोई कहता—"यह दिव्य गान है, कोई स्वर्गीय बताता और कहता—"पता नहीं कौन गा रहा है। मैं छोटी सी थी, वंशीवट के हरे हरे सघन वृक्षों के बीच घोंसले में ऐसी छिपी रहती, कि किसी को दिखाई ही न देती, फिर इस बात का कोई अनुमान भी तो नहीं कर सकता था, कि कोई पक्षी मानवी भाषा में ऐसा दिव्य गान कर सकता है।

एक दिन मन्त्रगान करते करते मैं तन्मय हो गई शरीर की भी मुझे सुध न रही। उसी अचेतनावस्था में गान करते करते, मैं वंशीवट से भूमि पर मूर्छित होकर गिर गई। ये सन्यासी महाराज भी वहीं वंशीवट के निकट कुटी बनाकर रहते थे, ये भी मेरे गायन से मुग्ध थे। जब मैं गाते गाते गिरी तो इन्हें निश्चय हो गया, यह पक्षिणी ही गान करती है, तुरन्त इन्होंने मुझे पकड़ कर एक पींजड़े में बन्द कर दिया।

जब मेरी मूर्छा भंग हुई, तब अपने को बन्धन मे देखकर दीनवाणी मे मैंने स्वामी जी से विनय की—स्वामिन्! आप वीत-रागी, गृह त्यागी विरागी सन्यासी हैं। आप तो सब को बन्धन से मुक्त करने वाले हैं, फिर आप मुझे बन्धन मे क्यों डालना चाहते है?"

इन सन्यासीजी ने कहा—"देख, यद्यपि मैं सन्यासी हूँ, फिर भी मेरा मनुष्य शरीर तो है ही। मनुष्य योनि सब योनियो से बडी है। उसे अधिकार है, जिनसे अपना काम चले, उन्हें बन्धन मे रखे ऐसा न हो तो मनुष्य का काम कैसे चले। गाय, भैंस, बैल, घोडा, गधा, ऊँट, भेड, बकरी, तथा अन्य पशुपक्षियो को बाँधकर—मनुष्य रखता है। मुझे तेरा गायन अत्यन्त प्रिय है, तू भगवन्नाम का गायन करती है इससे मुझे भगवत् स्मृति होती है। तुझे मैं बाँधकर रखूँगा।"

मैंने कहा—"स्वामी जी! यदि किसी पुष्प के सौंदर्य को देखकर चित्त प्रसन्न होता हो, तो उसे तोड कर अपनाकर अपने पास रखना मोह है, लोभ है, सग्रह है। आप अपने स्वार्थ के लिये मुझे बन्धन मे रखना चाहते हैं, यह अन्याय है।"

स्वामीजी ने कहा—"अपने स्वार्थ के लिये तो सब कुछ करना होता है। ऐसा न करे तो शरीर यात्रा ही न चले। तुम्हे मैं कष्ट न दूँगा। गायन सुनूँगा इसमे मैं तो कोई अन्याय की बात देखता नहीं।"

मैंने कहा—"अच्छा आप किसी राजा के पास चले वह जो निर्णय करे उसी के अनुसार कार्य हो।" स्वामीजी ने यह बात स्वीकार कर ली।

स्वामीजी मुझे लेकर एक राजा की सभा मे गये, यद्यपि राजा मेरे पक्ष मे ही थे, किन्तु उनके मन्त्रीगण मेरे विपक्ष मे थे, अतः बहुमत स्वामीजी के पक्ष मे होने से कोई निश्चित निर्णय न हुआ। तब मैंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि जगन्नाथपुरी के महाराजा बडे धर्मात्मा हैं, प्रजावत्सल सत्यवादी, न्यायप्रिय और युक्तायुक्त के निर्णय करने मे परम पटु हैं। उनके पास चला जाय। वे जो भी निर्णय करे वह दोनो को मान्य हो।" स्वामी जी ने मेरी यह भी प्रार्थना स्वीकार की इसीलिये मुझे लेकर ये आप के समीप आये हैं, अब आप जो भी निर्णय करेंगे, वह हम दोनो को मान्य होगा।" इतना कह कर वह पक्षिणी चुप हो गई।

पक्षिणी की कथा सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह गये। कुछ देर सोचने के पश्चात् कटकाधिप महाराज हाथ जोडकर स्वामी जी से बोले—"भगवन्! आपकी नाम निष्ठा और कीर्तन श्रवण का अनुराग सराहनीय है। आप यहाँ राजगुरु के पद को सुशोभित करे, मुझे अपना शिष्य बनाकर सत्शिक्षा देते रहे। किसी को बन्धन मे रखना न्याय नहीं है, अतः आप इस पक्षिणी को छोड दे।"

राजा की बात स्वामीजी ने स्वीकार करके उस पिजड़े से पक्षिणी को मुक्त कर दिया।

पिजडे से बाहर जब वह कृतज्ञता भरी दृष्टि से राजा की की ओर निहारने लगी, तब राजा ने उससे कहा—"हे, देवि! तुम अब उड कर श्री वृन्दावन के निकट, यमुना तट वशी वट वृक्ष पर ही जाकर रहो। अब तुम अपना गायन कीर्तन अर्च-

रात्रि की वेला में किया करना जिससे कोई श्रवण न करे।,, यह सुनकर पक्षिणी ने स्वामीजी को और राजा को प्रणाम किया और वह उडकर वृन्दावन में वंशी वट पर रहने लगी। अब वह अर्ध रात्रि के समय 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हेनाथ नारायण वासुदेव—,,इस दिव्य नाम मंत्र का गायन किया करती थी। गायन करते करते शरद् पूर्णिमा की परम सुषमा दिव्यचन्द्रयुक्ता विभावरी आई।

भगवान् का रास तो नित्य है। नित्य ही वे अपनी सखी सहचरियों के साथ वृन्दावन की पुण्य भूमि में रास किया करते हैं, किसी भाग्यशाली को दर्शन भी हो जाते हैं। उस दिन उस पक्षिणी को एक राम नाम मयी दिव्य वाणी सुनाई दी। उस वाणी के श्रवण मात्र से ही उसका समस्त अहंकार नष्ट हो गया। तुरन्त उसने इस पाँचभौतिक शरीर का परित्याग करके दिव्य व्रजाङ्गना का रूप रख लिया। रासेश्वरी श्री राधा रानी ने उसे अपने परिकर में मिला लिया। वह नित्य लीला की अधिकारिणी सहचरी बन गई।,'

इस आख्यान से यही शिक्षा मिलती है, कि जब तक किसी प्रकार की भी वासना शेष है, तब तक उसे प्रभु प्रेम की प्राप्ति कैसे हो सकती है। जब तक विषय वार्ता श्रवण में सुख प्रतीत होता है, तब तक समझना चाहये उसे भगवत् गुण श्रवण रस ने स्पर्श तक नहीं किया। भगवत् गुण श्रवण रसका जिसने यत् किंचित भी अनुभव कर लिया हो, उसे विषयवार्तायें विष से भी अधिक दुखद प्रतीत होंगी। जिसने हृदय से एक बार भी ब्रह्म संस्पर्श कर लिया हो, उसे इन हाड मांस के बने मलमूत्र से भरे शरीरों के स्पर्श में भला क्या सुख हो सकता है, जिसकी घ्राण ने भगवान् के चरणतल में

पडी दिव्य तुलसी की सुगंधि का अनुभव किया हो, उसे इन भौतिक पदार्थों मे क्या सुख होगा। जिसने कभी स्वप्न मे ये एक बार भी उस दिव्य छटा की बाँकी झाँकी कर ली हो, उसे हाड़ मांस के बने काले गोरे मुख मलपिंड अपनी ओर क्या आकर्षित कर सकेंगे। वह तो सब मे उसी अपने हृदयधन की छटा का अवलोकन करेगा। जिसकी रसना को क्षण भर को भी नामामृत रस का स्वाद मिल गया हो, वह अन्य के गुण दोषो का वर्णन कैसे करेगा? मैं इनसे बहुत दूर हूँ, नरक के द्वारभूत काम, क्रोध तथा लोभ ने मेरा पिंड नहीं छोड़ा। अहङ्कारवश जो मैं अपने को त्यागी विरागी माने बैठा था, वह मेरा मिथ्याभिमान था, दम्भ था, मैं चाहता हूँ, निरन्तर भगवत् चिन्तन, भगवत गुण श्रवण हो, सो हो नहीं पाता। सांसारिक वस्तुओ मे से आकर्षण कम नहीं होता। मैं अपनी इस उभयभ्रष्ट स्थिति पर लज्जित हूँ, दुखित हूँ। "भागवती कथा" के पाठकगण ऐसा आशीर्वाद दे—यदि आशीर्वाद भारी शब्द प्रतीत होता हो, तो ऐसी मनोकामना करें—प्रभु से प्रार्थना करें—कि मेरा चित्त सासारिक पदार्थों की ओर न देखकर प्रभु पादपद्मो की ही ओर लगा रहे। मेरी जिह्वा निरन्तर नामामृत का ही पान करती रहे, मेरे हृदय मे निरन्तर वही त्रिभङ्गललित माधुरी मूरति नृत्य करती रहे। मेरे कर्ण कुहरो मे यही एक ध्वनि सदा भरी रहे।

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव॥

भूसीसंकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(प्रयाग)
कार्तिक शु० । २००५

सबका स्नेह भाजन,
प्रभुदत्त

छद्मवेषीइन्द्र द्वारा दिति का गर्भोच्छेद

(४४३)

मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद ।
शुश्रूषणेनश्रमस्थां दितिं पर्यचरत्कविः ॥
नित्यं वनात्सुमनसः फलमूलसमित्कुशान् ।
पत्राङ्कुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत ॥

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० ५६, ५७ श्लो०)

छप्पय

यों कहि विधि के सहित बतायो मुनिवर ने व्रत ।
धारयो दिति ने तुरत लगायो निजहित महँ चित्त ॥
मौसी को सकल्प जानि सुरपति घबराये ।
परे सोच में अधिक तुरत तिहि आश्रम आये ॥
छिद्रान्वेषनके निमित, वेष बदलि बालक बने ।
करें टहल नित कपट ते सदा रहे चित अनमने ॥

मनुष्य सुखों को जीवन की आशा से धैर्य पूर्वक सहन कर सकता है। यदि उसे जीवन का ही भय हो जाय,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन्! जब बुद्धिमान् इन्द्र ने अपनी मौसी दिति के मन के अभिप्राय को समझ लिया तो वे आश्रम

तब उसका धैर्य छूट जाता है। और वह प्राणपन से मृत्यु को हटाने की चेष्टा करता है। सभी प्राणी मृत्यु से बचने के लिये ही निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। किसी प्रकार मृत्यु न आवे हम जीवित बने रहे यही प्राणिमात्र की भावना रही है। जिनके हृदय में से मृत्यु का भय भाग गया। जिन्होंने स्वेच्छा से मृत्यु को अपना लिया वे ससार बन्धन से मुक्त होकर मुक्तिपति के ही बन गये। तदीय हो गये। जब तक जीवित रहने की आशा है, तब तक सभी उपायो से मृत्यु को हटाने का प्रयत्न चलता रहता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! कितना भी छिप कर पाप पुण्य करें, वह कभी न कभी प्रकट हो ही जाता है। क्योंकि आदित्य, चन्द्र, सूर्य, पचभूत, दिशायें, धर्म ये तो सब के मन की बातो को जान ही लेते हैं। इन्द्र को भी यह बात मय दानव से मालूम पडगई कि मेरी मौसी दिति देवी मुझे मारने के लिये पुसवन व्रत कर रही है। उसके गर्भ में मेरे तेजस्वी पिता का अमोघ वीर्य भी स्थापित हो चुका है। मेरे पिता सत्य सकल्प हैं, वे कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोलते। यदि मेरी मौसी का एक वर्ष का व्रत निर्विघ्न समाप्त हो गया, तब तो उसके गर्भ से मुझे मारने वाला पुत्र पैदा हो ही जायगा। यदि किसी प्रकार इसके व्रत मे विघ्न पड जाय तो यह गर्भ व्यर्थ हो जायगा। अब जैसे हो तैसे इसके व्रत मे

म रहने वाली दिति की सेवा सुश्रूषा करने लगे उसके लिये वे नित्य ही वन से दोनों समय फल, फूल, मूल, दूब, समिधा कुशा, हाथ पैर धोने की मृत्तिका तथा जल आदि आवश्यक वस्तुएँ ला लाकर देते रहे।"

भिन्न करना चाहिये। विघ्न भी मैं क्या कर सकता हूँ। जब तक यह नियम पूर्वक रहेगी, सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करेगी, तब तक मैं क्या कोई भी इसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता। अब मुझे क्या करना चाहिये ?"

इस बात को सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! दिति के गर्भ की बात मय को कैसे मालूम पड गई और यदि मालूम भी हो गई हो तो घर की बात उसने देवताओं के राजा इन्द्र को क्यों बता दी।

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग ! मयासुर सभी मायाओं का पडित है। वह अपनी माया मे सब कुछ जान लेता है यह भी तो असुर ही था। दिति के घर की बातें सब जानता था। मित्रता के वशीभूत होकर इसने इन्द्र से सब सत्य सत्य बात कह दी।"

यह सुनकर और भी आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनक जी ने पूछा—"सूतजी आप एक से एक अद्भुत बात बता रहे हैं। देवताओं और असुरों का तो वैसे ही स्वाभाविक वैर है। फिर हमने सुना है कि मयासुर के भाई नमुचिको इन्द्र ने ही अपने वज्र से मार दिया था फिर भ्रातृहन्ता इन्द्र से मयासुर की मित्रता कैसे हो गई ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! इस विषय मे एक पौराणिक कथा है, उसे मैं आप को सुनाता हूँ। बात यह थी, कि पहिले नमुचि सब दैत्यों का राजा था। इधर इन्द्र देवताओं के राजा थे। दोनों मे बडा भारी घमासान युद्ध हुआ। इन्द्र को तो पराजित होने का शाप ही है, वे पराजित होकर युद्ध

से भाग खड़े हुए। इन्द्र को युद्ध से जाते देखकर नमुचि ने भी उनका पीछा किया। इन्द्र अपने पीछे नमुचि को आते हुए देख कर बहुत डर गये। वे ऐरावत को छोड़कर समुद्र के फेन में घुस गये। नमुचि को शाप था, कि वह न गीली वस्तु से मरेगा न सूखी से। तब इन्द्र ने वज्र को समुद्र के फेन में लपेट कर नमुचि पर प्रहार किया नमुचि मर गया। इन्द्र को बड़ी प्रसन्नता हुई।

मयासुर नमुचि का छोटा भाई था। अपने बड़े भाई की इन्द्र द्वारा मृत्यु सुनकर मय को बड़ा भारी क्रोध आया। उसने अपने भाई के वध करने वाले को मारने के संकल्प से घोर तप किया। तपस्या के प्रभाव से उसने ऐसी मायाओं को प्राप्त कर लिया कि जिन्हें देवता किसी प्रकार भी न जान सके। व्यर्थ करना तो दूर की बात है। उसने अपनी कठोर तपश्चर्या से चराचर के स्वामी श्री हरि को भी प्रसन्न कर लिया और उसने श्रेष्ठ वर को भी प्राप्त किया। मयासुर बड़े यज्ञ करता, ब्राह्मणों का पूजन करता, याचकों को मुँह माँगा दान देता। उसके दान की सर्वत्र ख्याति हो गई। ब्राह्मण उसे हृदय से आशीर्वाद देने लगे। अब तो इन्द्र बड़े घबड़ाये। उन्हें न भोजन अच्छा लगता था न स्वर्गीय सुख। रात्रि दिन उन्हें यही चिंता लगी रहती थी, कि मैं मय से किस प्रकार बच सकूँ। जो इतना धर्म करता है, अपनी सेवा से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करता है, उसे मैं युद्ध में किसी प्रकार पराजित नहीं कर सकता। फिर उसने भगवान् विष्णु से वर प्राप्त कर लिया है। अनेक मायाओं को जान लिया है। उससे तो मैत्री करने में ही कल्याण है। यही सब सोच विचार कर इन्द्र ब्राह्मण का वेष बनाकर

मय के समीप गये। और याचकों की सी दीन वाणी मे बोले—"राजन्! आज कल ससार में आपके दान की सर्वत्र ख्याति है। मैंने सुना है, आप के द्वार से कोई याचक विमुख नहीं जाता। इसी आशा से मैं आपके यहाँ आया हूँ, आप मेरी भी इच्छा पूरी कीजिये। मुझे मनोवाछित वस्तु दीजिये।

ऐसे योग्य ब्राह्मण को देखकर मयासुर के रोम-रोम खिल उठे। उसने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"विप्रवर! मैं कृतार्थ हुआ। आप अपनी इच्छा को पूरी हुई ही समझें आप को जो भी माँगना हो नि.सकोच माँग लें।

विप्र वेषधारी ने कहा—"यदि आप मुझे मेरी मनोभिलाषित वस्तु देना ही चाहते हैं तो मैं आप से मैत्री चाहता हूँ। आप मुझे अपना मित्र बना ले।

साश्चर्य के साथ मय ने कहा—"ब्रह्मन्! आप ये कैसी बाते कर रहे हैं। मैं तो ब्राह्मणों का दास हूँ। मेरी आप से कभी शत्रुता हुई हो, तो मित्रता करूँ भी। मेरा तो आज ही आप से परिचय हो रहा है। मित्रता क्या मैं तो आपका आज्ञाकारी सेवक हूँ ही। आप और कोई वर माँगिये।"

मयासुर की ऐसी स्नेहभरी उदारता पूर्ण वाणी सुनकर इन्द्र अपने यथार्थ रूप मे प्रकट हो गये। मय अब क्या करता सज्जनो के वचन तो एक बार ही निकलते हैं और उन्हे जीवन भर निभाते हैं। उन्होने दु.ख प्रकट नही किया। बडी प्रसन्नता से आश्चर्य प्रकट करते हुए इन्द्र से कहने लगे—"अरे, आप तो वज्रपाणि देवेन्द्र निकले। देखिये इस प्रकार दीन होकर भीख

माँगना आपके अनुरूप नहीं है।"

इन्द्र ने प्रेम और लज्जा से सिर नीचा करके कहा—"बंधुवर! जब प्राणों का संकट उपस्थित हो जाय तो बुद्धिमान् पुरुष को जिस किसी उपायसे हो अपनी रक्षा करनी चाहिए। मैं जानता था आपसे युद्ध करके मैं किसी प्रकार नहीं जीत सकता इसीलिये इस उपाय का अवलम्ब लिया। अस्तु, अब तो हम दोनों मित्र हो ही गये।"

मयासुर ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"हाँ अब तो हमारी आपकी प्रगाढ़ मैत्री हो गई। यह कह कर मय ने इन्द्र को हृदय से लगा लिया और दोनों प्रेम के साथ रहने लगे। मय ने इन्द्र को समस्त माया भी सिखाई और हृदय से उनके साथ मैत्री निभाने लगा।

जब उसने सुना कि माता दिति ने इन्द्र के नाश के निमित्त भगवान् कश्यप से गर्भ धारण किया है और उसका व्रत पूरा हो गया, तो उससे इन्द्र को मारने वाला पुत्र होगा, तो मैत्री भाव से उसने इन्द्र से आकर सब बातें सच सच कह दीं।

इस बात को सुनकर इन्द्र बड़े घबड़ाये और उन्होंने अपने मित्र मयासुर से पूछा—"भैया, अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ? इस विपत्ति से मेरा कैसे छुटकारा हो? कैसे मैं दिति के भावी गर्भ के भय से बच सकूँ? तब मय ने इन्द्र को सब बातें बताईं कि दिति इस समय अगस्त्य जी के आश्रम पर रहती है। वहाँ जाकर तुम रहो और उसके व्रत में विघ्न करो।"

मय की बात सुनकर देवराज इन्द्र ने कहा—"बन्धुवर! इस समय मेरी बुद्धि तो कुछ काम नहीं दे रही है

यदि ऐसा वैसा कोई राजस तामस देवता का व्रत होता तो मैं किसी प्रकार विघ्न भी कर सकता था। यह है वैष्णव व्रत। इसमें मैं स्वयं तो कुछ विघ्न करने मे समर्थ नहीं। हाँ दैव वशात् इससे ही कोई त्रुटि हो जाय, तो अवश्य विघ्न हो सकता है। क्योंकि मेरे पिता ने इससे यही कहा है। अब मुझे जैसे हो तैसे सदा एक वर्ष पर्यन्त इसी के समीप रह कर इसके व्रत के छिद्रों को देखते रहना चाहिये।

ये सब बातें मय से कह कर उसकी सम्मति से देवराज इन्द्र ने एक ७, ८, वर्ष के छोटे से बालक का रूप रख लिया और जाकर दिति के पास रोने लगे। माताओं का स्वभाव तो दयायुक्त होता ही है। विशेष कर दुखी बालक को देख कर मातृ हृदय पिघलने लगता है। फिर वह बालक किसी का क्यों न हो। दिति ने बड़े प्यार से पूछा—"बेटा! तू कौन है? क्यों रोता है? क्या चाहता है? तुझे जो कष्ट हो वह मुझे बता।

बालक वेषधारी देवेन्द्र आँसू पोछते हुए बोले—"माँ! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई भी नहीं। मुझे अपने जीवन की भी आशा नहीं। यदि आप मुझे आश्रय दे दें, तो मेरे प्राण बच सकते हैं। मैं आप की शक्तिभर सेवा किया करूँगा। मुझे केवल खाने को अन्न मात्र चाहिए।

दिति उस बच्चे के भोलेपन पर रीझ गई। उन्होंने बड़े स्नेह से कहा—"बेटा! तू बड़े आनन्द से रह। तेरी इच्छा हो सो काम कर लिया कर। जो न इच्छा हो मत किया कर। तुझे किसी बात का कष्ट न होगा।

भोजन विश्राम का कहाँ अवकाश था।

इन्द्र ऊपर से तो सेवा करते थे, किन्तु भीतर ही भीतर उन्हें भय बना रहता था। वे सोचते थे—'कहीं इसका व्रत निर्विघ्न समाप्त हो गया तो मेरा कुशल नहीं है। वे सर्वदा दिति के व्रत में छिद्र देखते रहते थे। तनिक सा भी कोई छिद्र मिले तो मैं इसके गर्भ में हानि पहुँचाऊँ। ज्यों ज्यों दिन बीतते जाते थे, त्यों-त्यों इन्द्र की चिन्ता बढ़ती जाती थी वे अपने को उसी प्रकार छिपाये हुए थे जैसे व्याध मृग का चर्म ओढ़कर मृग को फँसाने के लिये अपने को छिपाये रहता है। वे अपने को इसी प्रकार प्रकट नहीं होने देते थे, जैसे विधवा अपने गर्भ को प्रकट नहीं होने देती। जैसे कंजूस अपने धन को छिपाये रहता है। जैसे राजा अपनी गुप्त मन्त्रणा को छिपाता है, जैसे चोर चोरी के धन को छिपाता है, जैसे चटोरी स्त्री मिठाई को छिपाकर रखती है। जैसे कुलीना कामिनी अपने अंगों को छिपाये रखती है, जैसे शीलवान् पुरुष अपने दान-पुण्य और सत्कर्मों को छिपाकर रखते हैं। इन्द्र यह प्रकट होने देना नहीं चाहते थे कि मैं इन्द्र हूँ और किसी स्वार्थ-वश सेवा कर रहा हूँ। वे अपने व्यवहार से अपने को निस्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। वे व्रत में स्थित दिति के व्रत को भंग करने के निमित्त अवसर को देखते हुए बड़ी तत्परता से उसकी टहल करने लगे।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार सेवा करते करते इन्द्र को लगभग एक वर्ष हो गया। वर्ष में दो चार दिन ही शेष रहे थे। वे निरन्तर उसके छिद्रान्वेषण

में ही लगे रहते थे। एक दिन की बात है, व्रत करते-करते वह अत्यन्त क्षीण हो गई थी। विधि के विधान से वह विमोहित सी बन गई थी। शरीर में बड़ी सुस्ती सी आने लगी। सायंकाल का समय था, उसने कुछ खा लिया था। खाकर न मुख धोया न आचमन किया। वैसे ही बिना पैर धोये वह शैया पर केश खोले उलटी पड़ गई। पड़ते ही नींद आ गई और सो गई।

इस अवस्था में उसे सोते देखकर इन्द्र को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। एक तो सन्ध्या के समय सोना ही पाप है। फिर उच्छिष्ट मुख से बिना पैर धोये केश खोले उलटी शैया पर सो रही थी। यह उसके व्रत में बड़ा भारी छिद्र था। बस, अब क्या था। इन्द्र योगी तो थे ही अपने योग बल से अत्यन्त लघु रूप बना कर वज्र लेकर उसके पेट में घुस गये। गर्भ पूरा हो चुका था। दिति श्रम के कारण अचेत हुई सो रही थी। उसे कुछ पता ही नहीं था कि मेरे पेट में क्या हो रहा है। इन्द्र ने अपने वज्र से उस सुवर्ण की सी कान्ति वाले तेज से जाज्वल्यमान् गर्भ के सात टुकड़े कर डाले। टुकड़े होने से वे सब के सब रोने लगे। इन्द्र को भय लग रहा था। ये बच्चे रो पड़े तो दिति जग जायगी और मुझे शाप देकर भस्म कर डालेगी। इसलिये वे बार बार कह रहे थे मा-रुद् मा-रुद् अर्थात् रोओ मत, रोओ मत। जब सात टुकड़े करने पर भी वे न मरे और एक के सात बच्चे बन गये तब इन्द्र ने फिर अपने वज्र से एक

एक के सात सात टुकड़े कर डाले। इस पर वे ४९ हो गये। भगवान् की ऐसी कृपा कि वे पूरे ४९ जीवित बच्चे बन गये। उन सब ने हाथ जोडकर इन्द्र से कहा—"हे देवेन्द्र! तुम हमे क्यो मारना चाहते हो? हमारे तुम्हारे पिता तो एक ही हैं।" हम तो तुम्हारे भाई हैं। भाई को भी भला भाई मारता है।" यह सुनकर इन्द्र बडे प्रसन्न हुए और बोले—"तुम मुझे मारोगे तो नहीं? जब भाई को भाई नहीं मारता तो मैं भी तुम्हें न मारूँगा। आज से तुम ४९ मरुद्गण मेरे प्रधान पार्षद् हुए।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो एक गर्भ के ४९ टुकडे होने पर भी वे मरे क्यो नहीं? सब के सब जीवित कैसे रह गये?"

इस पर श्री शुकदेवजी बोले—'अब राजन! इस विषय मे क्या कहें? यही कहना पडता है कि यह भगवान् की माया है। उनकी ऐसी ही इच्छा थी। भगवान् की माया के सम्मुख कुछ असम्भव नहीं। वे कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु-शक्य." कहे जाते हैं। असभव का सभव और सभव को असभव कर सकते हैं। मरुद्गण तो नित्य हैं। उनको शरीर धारण करना था। वे दिति के गर्भ मे प्रवेश किए। गर्भ एक था मरुद्गण सख्या में ४९ होते हैं अत, इन्द्र को ४९ भाग करके एक निमित्त भगवान् ने बना दिया। वैसे नित्य मरुद्गणों को कोन मार सकता है। फिर जिन भगवान का सच्चे हृदय

में प्रेम पूर्वक मरते समय नाम लेने से मनुष्य अमर हो जाता है, उन्हीं भगवान् की दिति ने तो कुछ दिन कम एक वर्ष तक आराधना की थी। इसीलिये एक के ४९ टुकड़े करने पर भी वे मरे नहीं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब गर्भ में ही दोनों में सुलह हो गई तो ४९ मरुद् और पचासवें इन्द्र इस प्रकार ये सबके सब मरुद्गण कहलाये। दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी ये दैत्य नहीं कहाये। इन्द्र के सम्बन्ध से इनकी देवताओं में ही गणना हो गई। जहाँ यज्ञों में इन्द्र को तथा अन्य देवताओं को हविर्भाग सोमभाग मिलता है, वहाँ इन्द्र के साथ इनको भी भाग मिलता है। ये यज्ञ भागभुक् कहे जाते हैं। इस प्रकार दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी ये देवता ही माने गये। राजन्! तुमने जो मुझसे पूछा था उसका मैंने उत्तर दे दिया अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं?"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो! मरुद्-गणों की कथा सुनकर मुझे सुख हुआ। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि जब दिति को यह सब समाचार विदित हुआ तब उसने क्या किया? उसने क्रुद्ध होकर इन्द्र को शाप तो नहीं दिया?"

इस पर श्रीशुक बोले—"अच्छा राजन्। मैं आगे की भी

कथा कहूगा उसे आप सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

लावे नित प्रति फूल मूल जल फल अरु अङ्कुर।
छिद्रान्वेषी बने रहे सेवा महँ तत्पर॥
बिनु पग धोये साँझ समय सोई इक दिन दिति।
व्रत को छिद्र निहारि उदर महँ प्रविशे सुरपति॥
करे वज्र तें गर्भ के सात खण्ड पुनि रुदन सुनि।
मा रुद् कहि मारुत् भये, एक एक के सात पुनि॥

—.००.—

मरुद्गण चरित की समाप्ति

(४४४)

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया ।
मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ?

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० ७७ श्लो०)

छप्पय

उनचास सुत भये इन्द्र प्रकटे सुर पालक ।
दिति पूछे व्रत कर्‌यो एक हित च्यौं बहु बालक ॥
इन्द्र आदिते अन्त सत्य सब वृत्त बतायो ।
छद्मवेष च्यौं धर्‌यो बिना छल कहि समुझायो ॥
सुनि दिति अति सन्तुष्ट ह्वै, गोली काट्‌यो गर्भकूँ ।
होहि बन्धु तव मरुद्गन, सब जाओ मिलि स्वर्गकूँ ॥

सत्य एक ऐसी वस्तु है कि शत्रु के हृदय पर भी उसका प्रभाव पडता है । हम दुःख को मिटाने के लिये असत्य भाषण करते हैं । किन्तु उससे दुःख कुछ काल को घटा हुआ सा भले

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब इन्द्र ने सब सच बातें बतादीं तो उसके शुद्ध भाव से दिति परम सन्तुष्ट हुई । तदनतरदेवराज इन्द्र उन्हें प्रणाम करके तथा उनकी आज्ञा लेकर मरुद्गणों को साथ लेकर स्वर्ग को चले गये ।

ही प्रतीत हो। किन्तु उसका परिणाम दुखद ही होता है। किन्तु सत्य भाषण से आरम्भ में दुःख और विपत्ति भी आती हुई दिखाई दे, तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि विजय सदा सत्य की होती है। असत्य की विजय नहीं होती। हम से कोई बड़ा का अपराध बन गया है और हम बड़ी नम्रता से पश्चात्ताप के सहित सब सच-सच बात बता देते है, तो उन पर सत्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक कहानी है, कि तीर्थ यात्रा में कुछ लोगों के साथ एक बालक भी जा रहा था। रास्ते में डाकू मिले उन्होंने सब को लूट लिया। सब को लूट कर जब वे चलने लगे, तो उस भोले बच्चे से जाकर डाकुओं के सरदार ने पूछा—"क्यों बच्चे तेरे पास तो कुछ नहीं है?" उसने कहा—"जी, मेरे पास ५० मुहरें हैं।' डाकू सरदार ने उसके सम्पूर्ण शरीर को खोजा। कहीं भी उसे मुहर नहीं मिली। तब तो उसने क्रोध में भरकर कहा—'क्यों रे बच्चे! तू मुझसे हँसी करता है? तेरे पास तो कुछ भी नहीं?"

बच्चे ने कहा—"जी, आप मेरी रजाई को फाड़कर देखें। उसकी रुई के बीच बीच में छिपी मुहरें सिली हुई है।" सरदार ने रजाई को फाड़ा उसमें सचमुच ५० ही मुहर सिली हुई थीं। इस पर सरदार ने पूछा 'बच्चे! तेने इतना छिपा धन क्यों बता दिया। यदि तू न बताता तो तेरा यह धन तो बच ही जाता, क्योंकि बिना बताये कोई अनुमान भी नहीं कर सकता था कि, इस मैली कुचैली रजाई में ५० मुहरें होंगी।" इस पर उस बालक ने कहा सरदारजी, मेरी माँ ने चलते समय कहा था, "झूठ मत

बोलना इसीलिये मैंने सब बात सच-सच कह दी।" बच्चे के सत्य का डाकुओं के सरदार के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा उसने सब के लूटे हुए धन को लौटा दिया। एक के सत्य के पीछे सब का धन बच गया। अतः सत्य भाषण से सदा मङ्गल ही होता है। अमङ्गल नहीं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दिति के गर्भ में घुसकर इन्द्र ने उसके गर्भ के ४९ टुकड़े कर दिये और वे ७ के पृथक्-पृथक् ७-७ गण हो गये तो उनके साथ इन्द्र गर्भ के बाहर आये। उसी समय दिति की आँखें खुल गईं। उसने देखा इन्द्र के साथ ४९ बालक प्रेम के साथ भाई-भाई की भाँति खेल रहे हैं। तब तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। इस लड़के के साथ ये भाई की भाँति व्यवहार क्यों कर रहे हैं और मैंने तो एक पुत्र के लिये पुंसवन व्रत किया था। ये ४९ बालक कैसे हो गये। यही सब सोचकर वह उस बालक वेषधारी इन्द्र से बोली—"बेटा! मैंने तो अपनी सौत अदिति के पुत्रों को भय पहुँचाने के निमित्त एक ही पुत्र के लिए यह व्रत अनुष्ठान किया था। मेरी संकल्प परम पराक्रमी इन्द्रहन्ता एक ही पुत्र के लिये था, फिर ४९ पुत्र क्यों हुए? और ये सब तेरे साथ भाई का सा बर्ताव क्यों करते हैं? यदि तू इसका कुछ रहस्य जानता है तो मुझे सत्य सत्य बता दे। छल कपट मुझसे मत करना।"

अपनी मौसी दिति की ऐसी बात सुन कर इन्द्र ने बनावटी

रूप त्याग दिया। वे वज्र हाथ में लिए हुए सज्ञान देवेन्द्र के

रूप में प्रकट हो गये और हाथ जोड़कर अत्यन्त विनय के साथ बोले—"माता, मैं तुम्हारे सकल्प को सुनकर ही सदा

तुम्हारी सेवा मे रहने लगा था।"

दिति ने पूछा—"तुमने तो मेरी निःस्वार्थ भाव से बड़ी लगन के साथ सेवा की थी।"

देवेन्द्र ने कहा—"माँ! मैंने निःस्वार्थ भाव से सेवा नहीं की थी। मैंने निःस्वार्थ भाव को छिपा रखा था। ऊपर से निःस्वार्थता प्रकट करता था। मुझे धर्म का कोई विचार नहीं था। मैं तो बड़ी सावधानी से आप के समीप रहकर आपके व्रत में छिद्रों को देखा करता था, कि कब आपके व्रत मे छिद्र हो और कब आप का व्रत भंग हो। देवि! आज आप बाल खोले सन्ध्या के समय उलटी खाट पर उत्तर सिर करके सो रही थीं। एक तो सन्ध्या समय मे सोना पाप है दूसरे बाल खोले उलटी खाट पर, तीसरे आपका मुख जूठा था। चौथे आप बिना हाथ पैर धोये ही सो गईं। इन दोषों के कारण आपका व्रत भंग हो गया। व्रत मे छिद्र होने से मुझे साहस हुआ और आपके उदर मे घुसकर आपके गर्भ के ४९ टुकड़े मैंने कर-डाले। पहिले मैंने ७ टुकड़े किये थे। जब ७ टुकड़े करने पर भी न मरे, तो फिर एक एक के सात सात टुकड़े किये। ४९ होने पर भी जब न मरे तब तो मैं आश्चर्य चकित हो गया और समझ गया कि यह तो सबके जीवन-दाता परम पुरुष श्रीमन्नारायण की ही उपासना से प्राप्त होने वाली कोई सिद्धि है। माँ! मैंने अपने जीवन की रक्षा के लिये स्वार्थ भाव मे प्रेरित होकर सेवा की। मैं बड़ा नीच हूँ। सेवा तो सदा स्वार्थ भाव को छोड़कर करनी चाहिए। मोक्ष की भी इच्छा न रखनी चाहिए। जिन्हें संसारी स्वार्थ की आकांक्षा नहीं, वास्तव मे तो वे ही स्वार्थ

कुशल नर हैं। जो नाशवान् तुच्छ भोगों की इच्छा से भगवान् को भजते हैं, वे तो जान बूझकर अपने लिये कुआ खोदते हैं नरक का मार्ग प्रशस्त करते हैं।"

दिति ने कहा—'इतना सब जानते हुए भी तैंने ऐसा गर्भ हत्या का पाप क्यों किया ?"

इन्द्र ने लज्जित होकर कहा— अब माता जी! इसका मैं क्या उत्तर दूँ। यह मेरी क्षुद्रता ही है। स्वार्थी क्षुद्र पुरुष सदा क्षुद्रता ही करते हैं। बड़े लोगों की सदा बड़ी ही बातें होती हैं। माँ! तुम सब प्रकार से बड़ी हो। मेरी माता की सहोदरा भगिनी हो पूज्य पिता की प्यारी पत्नी हो, मेरी माता के तुल्य हो। अब तो मैं आप के उदर में प्रवेश करके आप के बच्चों के साथ फिर से पैदा हुआ हूँ, फिर से मेरा नया जीवन हुआ है, अतः मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। मैंने की तो दुष्टता ही है। किन्तु जिनके रक्षक श्री हरि हैं, उनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। सौभाग्य की बात है, कि मेरी इतनी क्रूरता करने पर भी आपके सबके सब बालक जीवित हैं और मुझसे द्वेष न करके सगे भाई की भाँति स्नेह करते हैं।"

इन्द्र की ऐसी सत्य और तथ्यपूर्ण बात सुनकर दिति उन पर बड़ी प्रसन्न हुईं। उन्होंने कहा— अच्छी बात है बेटा! भगवान् का जो इच्छा होती है, वही होता है। मनुष्य सोचता है कुछ, हो जाता है कुछ। बड़े सौभाग्य की बात है कि ये बच्चे तुमें अपना भाई मानते हैं। तू भी मेरे पेट में से फिर उत्पन्न हुआ है अतः उनचास ये और एक तू सब मिलकर तुम ५

कहाओगे। ये तेरे प्रधान पार्षद् होंगे। सदा तेरे समीप सेवा में समुपस्थित रहा करेंगे। तू इन सब को संग लेकर हर्ष के सहित स्वर्ग चला जा। मैं तेरे शुद्ध भाव से सन्तुष्ट हूँ।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—राजन्! दिति के ऐसे भाव को देखकर इन्द्र को हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपना नूतन ही जन्म समझा। वे दिति को प्रणाम करके और मरुद्गणों को साथ लेकर स्वर्ग को चले गये। इस प्रकार मरुद्गण दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी सोमपायी देवता हुए। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में मरुद्गणों की उत्पत्ति का प्रसंग कहा अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा—"प्रभो जिस पुंसवन व्रत को देवी दिति ने किया था, उस व्रत को मैं विधि पूर्वक और सुनना चाहता हूँ। क्योंकि यह वैष्णव व्रत है, इसके करने से विष्णु भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसकी विधि मुझे बतलाइये। कबसे किया जाता है कैसे पूजनादि होता है?

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कहते—"मुनियो! महाराज परीक्षित के प्रश्न करने पर श्री शुकदेव जी ने इस पर परम पावन वैष्णव व्रत की विधि बताई तथा कैसे पूजा करनी चाहिये किस मंत्र का जप करना चाहिए, किस मंत्र से हवन करना चाहिए। कब से यज्ञ व्रत आरम्भ करना चाहिए ये सब बताईं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूत जी इस व्रत को हमें भी बताइये।"

इस पर सूत जी ने कहा—"महाराज ! इस कथा प्रसङ्ग में अगन्यास करन्यास आदि विधि विधानों को बताने लगूँ, तो कथा का प्रवाह रुक जायगा। अत, मेरी इच्छा ऐसी है, इन व्रतादिका को इकट्ठा ही प्रसगानुसार बताऊँगा। फिर आपकी जैसी आज्ञा हो।

इस पर शौनक जी ने कहा—"अच्छी बात है, यही सही किन्तु हम उन ४९ मरुद्गण का नाम और जानना चाहते हैं। यदि आपको याद हों तो हम सुनाव।"

इस पर सूत जी ने कहा—"महाराज ! आप की कृपा से मुझे याद तो सब हैं, किन्तु ये सब के सब मरुद्गण ही कहलाते हैं। वैसे उनके नाम भी है सुनिये—

१—एकज्योति २—द्विज्योति ३—त्रिज्योति, ४—चतुर्ज्योति, ५—ज्योति, ६—एक शक्र, ७—द्विशक्र, ८—त्रिशक्र, ९—इन्द्रगति, १०—प्रतिसकृत, ११—मित, १२—सम्मित, १३—अमित, १४—ऋत जित्, १५—सत्यजित, १६—सुषेण, १७—सत्यजित्, (द्वितीय) १८—अतिमित्र, १९—नमित्रे, २०—पुरमित्र, २१—पुराजित्, २२—ऋत, २३—ऋतधाता, २४—विधाता, २५—धारण, २६—ध्रुव, २७—विधारण, २८—महातेजा, २९—ईदृक्ष, ३०—अदृक्ष, ३१—एतादृक, ३२—अमिताशन, ३३—कीर्तिन, ३४—प्रसदृक्ष, ३५—सरभ, ३६—धातु, ३७—उग्र, ३८—ध्वनि, ३९—भीम, ४०—अतिमुक्त, ४१—क्षिप, ४२—सह, ४३—द्युति, ४४—वपु, ४५—अताधृष्य, ४६—त्रास, ४७—काम, ४८—जय, ४९—विराट्।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने मरुद्गण उत्पत्ति

कहाओगे । ये तेरे प्रधान पार्षद् होंगे। सदा तेरे समीप सेवा मे समुपस्थित रहा करेंगे। तू इन सब को संग लेकर हर्ष के सहित स्वर्ग चला जा। मैं तेरे शुद्ध भाव से सन्तुष्ट हूँ ।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—राजन्! दिति के ऐसे भाव को देखकर इन्द्र को हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपना नूतन ही जन्म समझा। वे दिति को प्रणाम करके और मरुद्गणों को साथ लेकर स्वर्ग को चले गये। इस प्रकार मरुद्गण दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी सोमपायी देवता हुए। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप मे मरुद्गणो की उत्पत्ति का प्रसंग कहा अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा—"प्रभो जिस पुंसवन व्रत को देवी दिति ने किया था, उस व्रत को मैं विधि पूर्वक और सुनना चाहता हूँ। क्योंकि यह वैष्णव व्रत है, इसके करने से विष्णु भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसकी विधि मुझे बतलाइये। कबसे किया जाता है कैसे पूजनादि होता है ?

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कहते—"मुनियो ! महाराज परीक्षित के प्रश्न करने पर श्री शुकदेव जी ने इस पर परम पावन वैष्णव व्रत की विधि बताई तथा कैसे पूजा करनी चाहिये किस मंत्र का जप करना चाहिए, किस मंत्र से हवन करना चाहिए। कब से यज्ञ व्रत आरम्भ करना चाहिए ये सब बताई।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूत जी इस व्रत को हमें भी बताइये।"

इस पर सूत जी ने कहा—"महाराज ! इस कथा प्रसङ्ग मे अगन्यास करन्यास आदि विधि विधानों को बताने लगूँ, तो कथा का प्रवाह रुक जायगा। अतः मेरी इच्छा ऐसी है, इन व्रतादिकों को इकट्ठा ही प्रसगानुसार बताऊँगा। फिर आपकी जैसी आज्ञा हो।

इस पर शौनक जी ने कहा—"अच्छी बात है, यही सही किन्तु हम उन ४९ मरुद्गण का नाम और जानना चाहते हैं। यदि आपको याद हों तो हमे सुनावें।"

इस पर सूत जी ने कहा—"महाराज ! आप की कृपा से मुझे याद तो सब हैं, किन्तु ये सब के सब मरुद्गण ही कहलाते हैं। वैसे उनके नाम भी है सुनिये—

१—एकज्योति २—द्विज्योति. ३—त्रिज्योति, ४—चतुर्ज्योति, ५—ज्योति, ६—एक शक्र, ७—द्विशक्र, ८—त्रिशक्र, ९—इन्द्रगति, १०—प्रतिसकृत, ११—मित, १२—सम्मित, १३—अमित, १४—ऋत-जित्, १५—सत्यजित, १६—सुषेण, १७—सत्यजित्, (द्वितीय) १८—अतिमित्र, १९—नमित्रे, २०—पुरुमित्र, २१—पुराजित्, २२—ऋत, २३—ऋतधाता, २४—विधाता, २५—धारण, २६—ध्रुव, २७—विधारण, २८—महातेजा, २९—ईदृक्ष, ३०—अदृक्ष, ३१—एतादृक, ३२—अमिताशन, ३३—कीर्तिन, ३४—प्रसदृक्ष, ३५—सरभ, ३६—धातु, ३७—उग्र, ३८—ध्वनि, ३९—भीम, ४०—अतिभुक्त, ४१—क्षिप, ४२—सह, ४३—द्युति, ४४—वपु, ४५—अताधृष्य, ४६—रास, ४७—काम, ४८—जय, ४९—विराट्।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने मरुद्गण उत्पत्ति

प्रकरण सुनाया। इसके सुनने सुनाने से भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। इस देवासुरवंश के श्रवण के अनन्तर जो महाराज परीक्षित् ने भक्ति को बढाने वाला अत्यन्त ही दिव्य प्रश्न पूछा है उसे मैं आप से कहूँगा इसमे दैत्यकुलभूषण भक्ताग्रगण्य महामना प्रह्लादजी का परमपावन चरित्र होगा।

छप्पय

दिति आयसु सिरि धारि मरुद्गण स्वर्ग सिधाये।
इन्द्र भये अति मुदित प्रान फिरितें जनु पाये॥
यों दिति के ये पुत्र इन्द्र पार्षद् कहलाये।
मातृदोष कूँ त्याग असुर कुलतें मिलगाये॥
परम पुण्य प्रद मरुद्गण, को चरित तुमते कह्यो।
अन्य प्रश्न पूछो नृपति! यह प्रसङ्ग पूरन भयो॥

भगवान् में विषमता क्यों

(४४५)

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन् भूतानां भगवान्स्वयम् ।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ॥

(श्री भा० ७ स्क० १ अ० १ श्लो०)

छप्पय

अब पूछें पुनि नृपति प्रभा ! शका इक भारी ।
समदरशी भगवान् सुहृद सब के सुखकारी ॥
तब क्यों देवनि हेतु फेरि दैत्यनि कूँ मारें ।
क्यों अमरनि को पक्षलेहिँ असुरनि सहारे ॥
नारायन के गुननि, प्रति, शका मो मन महँ भई ।
ताहि नाश भगवन् करें, प्रात हिये की कहि दई ॥

वेद शास्त्र के वचनो मे विश्वास न करना ही नास्तिकता कहलाती है। वेद शास्त्रों के वचनों को सत्य मान कर उनके आधार पर परस्पर मे विरोधी से वचन जान पड़ते हो उनका

महाराज परीक्षित् श्री शुकदेव जी से पूछते हैं—'ब्रह्मन् ! श्री भगवान् तो सभी प्राणियों के स्वभाव के ही प्रिय हैं। उनके लिये सभी प्राणी समान हैं वे सब के सुहृद् हैं, फिर वे इन्द्र के लिये विषम दृष्टि पुरुषों की भाँति दैत्यों का वध क्यों करते हैं।

समन्वय करना, मीमांसा करना, इसी का नाम आस्तिक दर्शन है। वैसे तो भगवान् जो भी करते है सब अच्छा ही करते है इसी बात पर विश्वास रखना चाहिये, किन्तु यदि कोई विरोधी बात जान पड़े, तो श्रद्धा पूर्वक उस विषय मे शंका करना दोष नही। जिन्हे शंका उठे ही नहीं वे तो बड-भागी पुरुष हैं, किन्तु जिन्हें उठे उन्हें उसका महत्पुरुषों के समीप जाकर समाधान कर लेना चाहिये। महाराज परीक्षित् ने ऐसी ही एक सुन्दर शास्त्रीय शंका की।

सूत जी करते हैं—"मुनियो! जब दक्ष की ६० कन्याओं के वंश की कथा समाप्त हो गई, तब महाराज परीक्षित् ने कथा का तार टूटने न पावे, इसलिये एक शंका उपस्थित की। महाराज ने भगवान् शुक से पूछा—"प्रभो! मैने आपके मुख मे अत्यन्त ही सुन्दर विदुर मैत्रेय सम्वाद सुना इस प्रसंग मे हिरण्याक्षवध, देवासुरसग्राम, वृत्रवध, दक्षप्रजापति की कन्याओं के वश का वर्णन। देवताओं तथा दैत्यो की उत्पत्ति और मरुद्गणों का चरित्र ये सब कथायें सुनी। इनमे मैंने अनुभव किया भगवान् देवताओं का पक्षपात करते हैं। वे अमरो के कहने से असुरो का संहार किया करते हैं। देवताओं का पक्ष लेकर दैत्यों को मारते हैं। इन्द्र के साथ स्वयं गरुड पर चढ़कर असुरो से युद्ध करते हैं उन्हे परास्त करते हैं। ऐसा भगवान् क्यों करते हैं? भगवान् तो समदर्शी हैं। उनके लिये तो जैसे ही देवता वैसे ही दैत्य।

मनुष्य दूसरो का पक्ष दो ही कारणों से लेते हैं, या तो एक से राग हो और दूसरे से द्वेष हो अथवा किसी प्रकार का लोभ हो। भगवान् की दृष्टि मे तो प्राणी मात्र एक से हैं।

सभी उनकी सताने हैं, अत. उन्ह न तो दैत्यो से किसी प्रकार का द्वेष उद्वेग हा है और न देवताओ से किसी प्रकार का राग हो। अब रहा लोभ का बात। लोभ उसे ह ता है, जो अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करना चाहता हो। भगवान् क लिय कोई वस्तु अप्राप्य नहीं। ब्रह्मादिक देवता भी उन्हीं की दी हुई विभूति का उपभोग करते हैं। उनके ही दिय कण मात्र ऐश्वर्य से वे ऐश्वर्यशाली बने हुए हैं। वे साक्षात् कल्याण स्वरूप ही हैं। इस लिय यह भी नहीं कह सकते कि भगवान् किसी लोभ लालच से देवताओ का पक्ष ले लेते हा फिर वे ऐसा विषम व्यवहार क्या करते है ? इस विषय मे मुझे बडी शका है। आप भगवन ! सर्वज्ञ हैं, सब के विषयों के ज्ञाता हैं मेरी इस शका का समाधान काजिये।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! महाराज परीक्षित् की इस शका को सुन कर श्रीशुकदेवजी क्रुद्ध नहीं हुए। उन्हाने राजा को डॉटकर यह नही कहा, कि तुम बडे नास्तिक हो जी, भगवान् क विषय मे शका करते हो ? उनको शका की असगत नहीं बताया। यही नहीं उन्होंने राजा के शका की प्रशसा की। इस बात को सुनकर उनका रोम रोम खिल उठा और राजा को साधुवाद देते हुए बोले—"महाराज आपने यह तो बडा ही सुन्दर प्रश्न किया। इस शका का तो परम्परागत सम्बन्ध श्री हरि के विचित्र चरित्रो के साथ है। इसका समाधान करते हुए उदाहरण मे आप से में परम भागवत श्री प्रह्लाद जी का चरित्र कहूँगा। आप कहते हैं भगवान् असुर से द्वेष करते हैं। तो प्रह्लाद जी भी असुर ही हैं। वे ससार में सर्वश्रेष्ठ भक्त माने जाते हैं। जहाँ परमभागवत भगवद्भक्तों की गणना की जाती है, वहाँ सर्वप्रथम श्री प्रह्लाद जी

का ही नाम लिया जाता है। असुर ही उनके यश का कीर्तन करते हो, सो भी बात नहीं। उनके यश का गान तो नारदादि बड़े-बड़े महर्षि देवर्षि तक करते हैं। मैंने अपने पिता भगवान् कृष्ण द्वैपायन के मुख से यह भक्ति विवर्धिनी कथा श्रवण की थी। अतः उस कथा को उनके पादपद्मों में प्रणाम करके मैं आरम्भ करूँगा। अब पहिले मैं आपकी शंका का संक्षेप में समाधान करके तब महा-भागवत प्रह्लादजी के परमपावन चरित्र को कहूँगा।

देखिये, इस जगत् में जो भी कुछ है। सब भगवान् का ही विलास है। भगवत् सत्ता से ही इस प्रपंच की सत्ता है। भगवान् को इससे पृथक् कर दीजिये तो कुछ भी शेष न रह जायगा। केले के पेड़ को लेके और उसके वल्कल को हटा कर चाहे कि हम केले के पेड़ को बनाये रखें, तो वह नहीं रहेगा उसके वल्कल को उतारते जाइये एक के पश्चात् दूसरा दूसरे के पश्चात् तीसरा निकलता जायगा। अन्त में कुछ न रहेगा। प्याज के छिलकों को निकाल कर आप चाहे प्याज का अस्तित्व बनाये रखें, तो नहीं रह सकता। सब पत्तों को पृथक् कर दीजिये कुछ भी नहीं रहेगा। इसी प्रकार भगवान् वास्तव में निर्गुण अजन्मा, अव्यक्त और प्रकृति से अतीत हैं। फिर भी अपनी विचित्र रूप माया का आश्रय लेकर स्वयं ही वाच्य वाचक भाव को प्राप्त हो गये हैं।

स्वयं ही संसार बन गये हैं, और स्वयं ही उसे प्रकाशित कर रहे हैं। जैसे सूर्य आँखों में रह कर ज्योति प्रदान करते हैं यदि चक्षु के अधिष्ठातृदेव सूर्य न हों तो आँखें रहते हुए भी नहीं देख सकती। आँखों में तो अधिष्ठातृ रूप से हैं और बाहर

प्रकाश रूप से हैं। आँखे हैं भी यदि बाहर प्रकाश न हो तो आँखा के रहते हुए भी नहा देख सकते। इसी प्रकार वे ही प्रकाश्य हैं वे ही प्रकाशक हैं। आत्मा तो निर्गुण है। य जा सत्य, रज और तम तीन गुण हैं य आत्मा के नहा प्रकृति के गुण हैं। जब भगवान् अपना माया का आश्रय लेकर प्रकृति क गुणों मे विहार करने से दृष्टि गोचर होत है, तो इन गुणो म न्यूनाधिकता दिखाई देने लगती है। साम्य म सृष्टि नहीं। जब ये तीनों गुण साम्यावस्था म रहते है, तो प्रकृति सोई रहता है वह कुछ भी नहा कर सकती। जहाँ गुणो म विषमता हुई कि ससार चक्र चलने लगता है। कोई गुण कम हो जाता है, कोई अधिक।

इस पर महाराज ने पूछा—"प्रभो ! कब कोन से गुण का प्राबल्य होता है, कब किस किस गुण की न्यूनता होती है ?"

यह सुनकर शुक ने कहा—"इन गुणो की वृद्धि और ह्रास के कारण हा सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन युगो का कल्पना की गई है। किन्तु इन सब मे भगवान् की इच्छा प्रधान है। उनकी इच्छा को क्या कहना चाहिये उनकी क्रीडा ही प्रधान है। कभी सत्व बढ जाता है तो रज और तम घट जाते हैं, कभी रज बढ जाता है तो सत्व और तम न्यून हो जाते हैं और कभी तम बढ जाता है सत्व और रज दुर्बल से बन जाते हैं। तीनों का एक साथ न वृद्धि होती है न क्षति ही।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! कसे जाने कि अब सत्व कि वृद्धि है, अब रजो गुण का प्राबल्य है, और अब तमोगुण की प्रधानता है ?

इस पर श्री शुकदेवजी ने उत्तर दिया—"देखये राजन्! जिस समय भगवान् को सत्व गुण की वृद्धि करनी होती है उस समय भगवान् अपनी विशेष शक्ति से देवता ऋषि मुनि आदि सत्व गुणी प्राणियों में प्रवेश करते हैं। सर्वत्र सत्वगुण का ही बोलबाला होता है। यज्ञयाग, ज्ञानसत्र, सत्संग कथा वार्ता आदि की धूम मच जाती है। जब भगवान् को रजो गुण की वृद्धि करनी होती है, तो असुरों का बल बढ़ आता है देवता *निर्बल हो जाते हैं, यहाँ तक कि नारदादि परम ज्ञानी मुनियों* को भी उन असुरों के संकेत पर चलना पड़ता है वे त्रैलोक्य पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं। सर्वत्र मार धाड़ मच जाती है सभी प्राणी कर्मों में अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं, सब के चित्त चंचल हो जाते हैं। जैसे हिरण्ययाक्ष, हिरण्यकशिपु के समय में सब हो गये थे। इसके अनन्तर जब तमोगुण की वृद्धि करनी श्री हरि को अभीष्ट होती है, तो यक्ष राक्षसों की बढ़ती होती है। वे अत्यन्त निद्रालु, महान् प्रमादी और विषय लम्पट होते हैं। अधर्म को धर्म मानते हैं। उस समय ऋषि मुनि देवता गन्धर्व सभी का बल क्षीण सा हो जाता है सभी को राक्षसों के अधीन रहना पड़ता है। आत्मा इन तीनों गुणों से पृथक् है?"

इस पर महाराज परीक्षित् जी ने कहा—"आत्मा यदि पृथक् है तो उसको प्रतीत होनी चाहिये। हमें तो भिन्न भिन्न देहों में भिन्न भिन्न आकृतियाँ भिन्न भिन्न नाम ही दिखाई देते हैं। इससे तो हम यही समझते हैं कि देह ही आत्मा है।"

इस पर हँस कर श्री शुकदेवजी बोले—"महाराज! शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा एक है, शरीर बहुत से हैं शरीर एक

देशीय है. आत्मा सर्वव्यापक है । अच्छा, तुमने अग्नि देखी है ?"

महाराज बोले—"हाँ, महाराज ! क्यों नहीं देखी है कहीं अग्नि गोल होती है, कहीं टेढ़ी, कहीं मोटी. कहीं बहुत, कहीं थोडी ।"

यह सुन कर श्री शुकदेवजी बोले—"राजन् यह जो आप टेढ़ी, मेढ़ी, छोटी, मोटी आदि आकृतियाँ देख रहे हैं ये अग्नि की नहीं । अग्नि तो अरूप तेजोमय है । उसका कोई रूप नहीं । जिस आश्रय मे प्रकट होती है, वैसी ही दीखने लगती है । लकडी टेढ़ी हुई तो अग्नि भी वैसी ही दीखती है । लोहे का गोला हुआ उसमे गोल दीखता है । उसके शान्त होने पर अग्नि का नाश नहीं होता, व्यष्टि अग्निशक्ति समष्टि अग्नि मे मिल जाती है । मिल जाती है यह कहना भी ठीक नहीं । आकाश सर्व-व्यापक है । घट मे मठ मे सर्वत्र आकाश है । घट के फूट जाने पर घट का आकाश सर्वगत आकाश में मिल जाता है । अर्थात् उसमे जो घट- सम्बन्ध से व्यवधान सा दिखाई देता था वह नहीं रहता । आप काष्ठ आदि के अग्नि की उपलब्धि करना चाहें तो न होगी । अग्नि को प्रकट करने के निमित्त कोई आश्रय चाहिए । इसी प्रकार भिन्न भिन्न देहो मे भिन्न भिन्न रूपो से आत्मज्योति प्रकाशित हो रहा है । इसीलिये देहादि से पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं होती । मूर्ख पुरुष जैसे काष्ठ लोहा आदि अग्नि प्रकाशित होने वाली पदार्थों को ही अग्नि कहते हैं वैसे ही अविवेकी पुरुष इन देहो को ही आत्मा मानते है । किन्तु मनीषी जन आत्मा काल से रहित है, "आत्मा स्वभाव से रहित है, आत्मा कर्मों से रहित है" ऐसे सभी वादों का बाध हुए अन्त मे उसे अपने अन्तःकरण में ही अन्तर्यामी

प्राप्त करते हैं। वे ही आत्मज्ञानी, जीवन्मुक्त भगवद्भक्त कहलाते हैं।"

राजा परीक्षित् ने कहा—"अब भगवन्! मुझे शंका इस बात का है, कि जब भगवान् पूर्ण काम हैं, उन्हें कोई इच्छा नहीं, आकांक्षा नहीं, तो फिर वे काल कर्म, स्वभावों में विभिन्नता करके इस दृश्य प्रपंच में प्रविष्ट क्यों होते हैं?"

इस पर शीघ्रता से श्रीशुक बोले—"अजी, राजन् प्रविष्ट कहाँ होते हैं? प्रविष्ट हुए से दिखाई देते हैं। उसके बिना भी किसी की सत्ता ही नहीं। फिर जीवों के अनन्त कालीन अदृष्टों के कारण अपनी माया को भगवान् कर्म फल भुगाने के लिये प्रेरित करते हैं। या यों कह लो जब वे सोते-सोते थक जाते हैं तो कुछ विनोद करना चाहते हैं। नित्यपूर्ण काम का थकना और विनोद ये भी उपलक्षण मात्र है। हाँ, शब्दों में तो ये भाव अधूरे ही व्यक्त होते हैं। तो तब वे भिन्न-भिन्न शरीरों की रचना करना चाहते हैं। शरीरों की रचना के निमित्त रजोगुण को पृथक् उत्पन्न करते हैं। वे ब्रह्मा कहलाते हैं। वे नाना भाँति की सृष्टि कर डालते हैं। की हुई सृष्टि का पालन करते हुए उन में रमण करना चाहते हैं, तो वे सत्वगुण की सृष्टि करके विष्णु रूप में प्रकट होते हैं और मनु-मनु पुत्र इन्द्र देवता, सप्तर्षि तथा मन्वन्तरावतार इस प्रकार ६ रूपों में विभक्त होकर भाँति २ की क्रीड़ा करते हैं। सृष्टि की रचा करते हैं। जब संहार की इच्छा होती है, तो अपनी तमोगुणी मूर्ति रुद्रदेव को प्रेरित करते हैं। वे समस्त सृष्टि का संहार कर देते हैं। यही खेल प्रवाह रूप से नित्य चलता रहता है। भगवान् काल के अधीन नहीं है। स्वयं काल ही भगवान् के अधीन है।

वे कालो के भी काल हैं। ये कालदेव जगत् के निमित्तभूत प्रकृति और पुरुष के सहकारी तथा आश्रय रूप हैं। इसीलिये जब सत्वगुणी काल आ जाता है तब भगवान देवताओ का पक्ष लेकर असुरो से लडते हैं। असुरो को पराजित करते हैं। जब रजोगुण का काल आ जाता है तब देवताओ मे बोलते भी नही क्षीर सागर मे, तानदुपट्टा सोते रहते हैं लक्ष्मी जी तलुओ को सहराती रहती हैं। देवता पुकारते ही रहते हैं। उन्हे मार पीटकर असुर स्वर्ग पर अधिकार कर लेते है। सो राजन्! यह गुण प्रवाह चल रहा है। भगवान को न किसी से राग न द्वेष सत्व गुण की अभिवृद्धि के काल मे वे सत्व प्रधान अमर समाज का उत्कर्ष करने के निमित्त असुरो का सहार करते से दिखाई देते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो उनके लिए सुर असुर, यक्ष, राक्षस, तिर्यक् मनुष्य आदि सभी चराचर के प्राणी समान है। इस विषय मे हम आपको एक बडा सुन्दर प्राचीन उपाख्यान सुनाते हैं। उसके सुनने से आपको शंका का समाधान हो जायेगा।"

श्री सूतजी कहते है—"मुनियो! यह कह कर मेरे गुरुदेव राजा परीक्षित को युधिष्ठिर नारद सवाद सुनाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हँसि बोले शुकदेव-करी शङ्का नृप सुन्दर।
यह सब माया रचे प्रकृति पालक विश्वम्भर॥
आत्मा निर्गुण नित्य प्रकृति के ये तीना गुन।
कबहुँ सत्व बढि जाई कबहुँ तम कबहुँ रजोगुन॥
जब जैसे गुन बढत हैं, हरि तब तैसोई करें।
सत्व वृद्धि के समयमहँ, असुर मारि सुर दुख हरें॥

———

भगवान् निर्गुण तथा निर्लेप हैं

(४४६)

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम् ।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम् ॥
हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा ।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ॥
(श्री भा० ७ स्क० १ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

राजसूय के समय युधिष्ठिर नारद मुनि सन ।
पूछयो विस्मय सहित प्रश्न नृप जिही विलक्षन ॥
सदा करें शिशुपाल कृष्णकी निंदा पापी ।
मुक्त भयो कस दुष्ट अधम भक्तनि सतापी ॥
धर्मराज की बात सुनि, नृप सन मुनि बोले वचन ।
निरभिमान हरिमहँ नहीं, राग द्वेष निन्दा स्तवन ॥

संसार मे बढ़ना तो सभी चाहते हैं, किन्तु इस शरीर को

महाराज युधिष्ठिर के पूछने पर श्री नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! निन्दा, स्तुति, सत्कार और तिरस्कार के आश्रयभूत इस देह की रचना प्रकृति और पुरुष के अविवेक से ही हुई है । हे राजन् ! अहंता ममता रूप विषमता और दण्ड तथा निन्दा आदि के दुःख की अनुभूति उस शरीर के अभिमान से ही जीवों मे होती है ।"

त्यागकर बढना नहीं चाहते। मैं ब्राह्मण बन जाऊँ, किन्तु इसी शरीर से मेरा शरीर दिव्य हो जाय किन्तु इसे त्यागना न पडे। मै धनी, मानी, यशस्वी, प्रतिष्ठित, पूजित, सत्कृत, पवित्र ज्ञानी, ध्यानी जो भी होऊँ इस शरीर से होऊँ। इस भाव मे दो बातें हैं, एक तो बडा बनने की अभिलाषा, दूसरे शरीर का ममत्व। बडा बनने की इच्छा तो आत्मा का गुण है। क्योंकि आत्मा से बढकर तो कोई है नहीं और शरीर मे ममत्व होना अज्ञान का चिह्न है। यदि शरीर मे से ममत्व हट जाय तो जीव शिव स्वरूप ही है। फिर वह बद्ध नहीं, छूटा नही जीवन्मुक्त है बडे से बडा है। जब तक हम विषयो के दास हैं, अनित्य नाशवान् शरीर को अपना माने बैठे हैं, तब तक दुखी हैं, अशान्त हैं। जहाँ विषयदास न होकर हरिदास हो गये जहाँ नित्य शाश्वत् सौन्दर्य माधुर्य के निधान श्रीमन्नारायण को अपना मानने लगे। तब दुख का नाम भी नहीं रहता। आनन्द के सागर मे डुबकियाँ लगाते रहते हैं। प्रकृति के गुणों को अविवेक से हम अपने मे आरोपित किये हुए हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर चुके तब वे वहीं यज्ञ मडल मे मुनि मडलो से घिरे बैठे थे। देश-देशान्तर के राजा भी उपस्थित थे। स्वय साक्षात् भगवान् द्वारिकाधीश भी विराजमान थे। उसी समय सब मुनियो के समक्ष धर्मराज युधिष्ठिर ने देवर्षि नारदजीसे एक प्रश्न किया। पहिले तो उन्होंने नारदजी की विधिवत् पूजा की फिर प्रणाम करके उनसे बोले—"भगवन् मेरी एक शका है, आप आज्ञा दे तो मैं पूछूँ?"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए नारदजी ने कहा—"राजन! आप अपनी शंका को अवश्य पूछो मैं इन समस्त मुनियों के सम्मुख आपकी शंका का यथाशक्ति यथा मति समाधान करूँगा।"

नारदजी को प्रसन्न और उत्तर देने के लिये उद्यत देखकर धर्मराज ने हाथ जोड़ कर कहा—"ब्रह्मन्! मेरी शंका सामायिक है। अभी आपने देखा था शिशुपाल भगवान् को न कहने योग्य कुवाक्य कह रहा था। बुरी-बुरी गालियाँ दे रहा था। अन्त में वह भगवान् के चक्र से मारा गया। हमें तो आशा थी, कि यह मर कर रौरवादि घोर नरकों में जायगा, किन्तु वह तो प्रत्यक्ष सब के देखते ही देखते भगवान में मिल गया। उसकी ज्योति श्री हरि के श्री अंग में समा गई, उसकी सायुज्य मुक्ति हो गई। यह कैसी महान् आश्चर्य की बात है।

इस पर हँसकर नारदजी ने पूछा—"राजन्! इसमें आश्चर्य करने की कौन सी बात है?"

राजा युधिष्ठिर ने विस्मय के साथ कहा—"अजी, महाराज! आप को भले ही आश्चर्य न लगता हो। हमें तो बड़ा आश्चर्य हो रहा है। और आश्चर्य की बात भी है। देखिये, साधारण आदमी को भी गाली दे, तो देने वाले को बड़ा पाप लगता है। किसी की निन्दा करना किसी को गाली देना यह महापाप है। संसार में निंदक के बराबर कोई पापी नहीं। घोर से घोर यातना वाले नरकों में निंदक ही जाते हैं। महाराज इस विषय में मैंने एक कहानी सुनी है आप आज्ञा दें तो मैं सुनाऊँ?"

नारद जी ने कहा— हाँ राजन ! सुनाइये। आप तो धर्म क अवतार ही हैं। आप जो भी बात कहेंगे वह धर्म का सार ही होगा।"

यह सुनकर विनय के सहित धर्मराज बोले—'भगवन ! मैंने सत्सग के प्रसग मे महर्षियों के मुख से एक कथा सुनी है कि किसी राजा को अपनी प्रशसा सुनने का बडा व्यसन था। वह निरन्तर ऐसे कार्य करता कि सब लोग उसकी मुख पर आकर प्रशसा करते। प्रशसको का बहुत धन देता था। प्रशसा के लिये धम भी करता था। जब वह स्वर्ग मे गया तो उसे रहने को बडे-बडे सुवर्ण के महल मिले, किन्तु भीतर जाकर वह देखता है, तो उन महलों मे घोडे की लाद भर रही है। कहीं रहने को स्थान नहा। थोडा सा स्थान लीद से रहित है।

राजा ने देवराज इन्द्र से पूछा— हे देवेन्द्र ! मेरे घर मे यह घोडे की लीद क्यो भर रही है ?"

इस पर स्वर्गाधिप इन्द्र बोले—'राजन् ! आप निरन्तर अपनी मिथ्या प्रशसा मे लगे रहे। मिथ्या प्रशसा लीद के ही समान निस्सार है। आप धन देकर अपनी प्रशसा तो सुनते थे, किन्तु निंदा नहीं सुनते थे जो लोग छिपकर आपकी निंदा करते थे, वे थोडी सी लीद को खा गये। उसीसे इतना स्थान लीद से रिक्त है। आपके राज्य म एक बढई है। यदि वह आपकी निंदा कर दे, तो अभी यह भवन खाली हो जाय क्योंकि वह कभी किसी की निंदा नहा करता। राजा इन्द्र की आज्ञा लेकर वेष बदल कर उस बढई के पास गये और

जाकर बोले—'हे महानुभाव! आप बड़े धर्मात्मा हैं। देखिये इस देश का राजा कैसा प्रतिष्ठालालुप था सदा अपनी प्रशसा ही सुनता रहता था। वह तो बड़ा नीच था।"

यह सुनकर बढई हँसा और हाथ जोड कर बोला—राजन्! आप मेरे ऊपर अकारण अन्याय क्यों करते हैं? उस सुवर्ण के भवन मे भरी लीद को मुझे क्यो खिलाना चाहते हैं? महाराज! मैंने किसी की आज तक निंदा नहीं की है न मैं करूँगा। परनिंदा से बढकर कोई दूसरा पाप ससार मे नहीं है। जब सभी अपनी प्रकृति के अनुसार अवश हैं, निंदा करने से क्या लाभ?"

महाराज युधिष्ठिर नारदजी से कहते हैं—"ब्रह्मन्! बढई की ऐसी बात सुनकर राजा उदास होकर लौट गया। सो, हे महर्षि! निंदा से बढकर मुझे तो दूसरा पाप ससार मे दृष्टिगोचर होता नहीं। देखिये, राजर्षि अग के पुत्र वेन ने ब्राह्मणों की निंदा की थी। इस कारण उसे भयकर नरको की यातना सहनी पड़ी। जब ब्राह्मणो की निदा से वेन नरक गये तो यह शिशुपाल तो साक्षात् ब्रह्मण्यदेव भगवान् वासुदेव को गाली दे रहा था। यहाँ राजसूय यज्ञ मे ही गाली दी हो, सो भी बात नहीं। हमतो इसके बाप को भी जानते हैं। जब यह पैदा हुआ था, तब भी हम लोक व्यवहार के नाते इसे देखने गये थे। वैसे भी हम इनके यहाँ जाते आते रहते थे। हमारे सम्बन्धी ही ठहरे। यह तो हमारी मौसी का लडका ही था। जब से इसने तुतला कर बोलना आरम्भ किया, तभी से यह भगवान् से द्वेष करने लगा। उन्हे कुवाच्य कहता था, उनका निन्दा करता था। ऐसे पापा को तो नरक से भी दुखदायी यातनाये हो, वे देनी

चाहिये थी। सो यह दमघोष का महापापी पुत्र शिशुपाल था वैसा ही इसका मित्र दन्तवक्र था। वह भी जन्म से ही भगवान से द्वेष करता था। ये दोनों ही भगवान् के हाथ से मरे और दोनों का ही मुक्ति हो गई।

हँसकर नारद जी बोले—'तो आपकी क्या सम्मति है? इन्हे क्या दण्ड मिलना चाहिये?

रोष के स्वर में धर्मराज ने कहा—"महाराज! इस पाप का तो जो भी दण्ड हो वही थोड़ा है। मेरी सम्मति में तो जिस जिह्वा ने अविनाशी परब्रह्म, इन भगवान वासुदेव को कटुवाक्य कहे उस जीभ में गलित कुष्ट हो जाना चाहिये। वह जिह्वा गल कर गिर जानी चाहिये। उसके अंग प्रत्यंग में अरबों खरबों साँप बिच्छू काटने की वेदना निरन्तर बनी रहनी चाहिये। यह सब तो हुआ नहीं। उलटे उन्हे वह मुक्ति मिली जिसके लिये योगी अनेकों जन्मों तक तप स्वाध्याय करके शरीर को सुखाते रहते हैं। महाराज! इस घटना से तो हम बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है। हमारी बुद्धि वायु के झकोरों से चंचल हुई दीप शिखा के समान उद्भ्रान्त सी हो रही है। आप समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं भगवान् के कृपापात्र हैं। कृपा करके हमारी इस शंका का समाधान कीजिये। मेरे ही समान ये सब राजे महाराजे ऋषि मुनि भी इस प्रश्न का उत्तर सुनने को समुत्सुक हो रहे हैं।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसे भगवत् प्रेम से सने हुए वचनों को सुनकर नारद जी परम सन्तुष्ट हुए और हँसते हुए धर्मराज के प्रश्न का उत्तर

देने को उद्यत हुए।

नारदजी ने कहा—"राजन्! हम आप से पूछते हैं, कि ये निन्दा, स्तुति, सत्कार और तिरस्कार आदि शरीर के होते हैं या आत्मा के?"

धर्मराजने कहा—'भगवन्! आत्माका क्या सत्कार तिरस्कार? उसकी कोई क्या निंदा स्तुति कर सकता है। आत्मा तो नित्य, एकरस, सत्कार, तिरस्कार, से पर है। निंदा स्तुति तो शरीर सम्बन्ध से ही है।"

इस पर नारद जी ने कहा—"हाँ, राजन्! आप सत्य कहते हैं। अब यह बताइये कि इस शरीर की उत्पत्ति क्या आत्मा से होती है?"

धर्मराज ने कहा—"नहीं, भगवन्! आत्मा मे कहाँ उत्पत्ति विनाश? शरीर की रचना तो प्रकृति और पुरुष के आश्रय से हुई है। इनसे जो उत्तम पुरुष हैं वे ही पुरुषोत्तम कहलाते हैं।"

नारदजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"महाराज आप तो सब जानते ही हैं। देखिये, यह मुझसे छोटा है यह बड़ा है। इस प्रकार की विषमता अहंता ममता के कारण होती है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं पंडित हूँ इस प्रकार की अहंकृति का नाम ही अहंता है। यह मेरा धन है ये मेरे जन हैं, यह मेरा गृह है, यह मेरा कुटुम्ब परिवार है इस प्रकार के मेरेपन का नाम ममता है। अहंता ममता जीवों मे शरीर अभिमान से हुआ करती है। जो जितना ही शरीराभिमानी होगा उसे उतनी ही अहंता ममता होगी। उतना ही वह सत्कार से सुखी और तिरस्कार से दुखी होगा। वह स्तुति सुनकर हर्षित होगा और

निन्दा सुनकर दुखी होगा। देहाभिमानी पुरुषों की निन्दा कर तो नरकादि लोकों में जाकर नाना यातनाय भोगनी पड़ेगी। किन्तु श्री हरि में देह के सम्बन्ध से अहंता ममता का लेश भी नहीं है। उन्हें यदि मार दो—यद्यपि उन्हें कोई मार नहीं सकता तो भी पाप न लगेगा। द्वेष भाव से निन्दा करो तो निन्दा से नरकादि लोकों की प्राप्ति भी न होगी। देहाभिमान जीवों में अहंता ममता के भाव होते हैं। सर्वात्मा श्री हरि में छोटेपन बड़ेपन का भाव नहीं होता। क्योंकि वे तो एक अद्वितीय हैं। वे किससे बड़े किससे छोटे। भगवान् किसी को मारते भी हैं। तो वैर के कारण द्वेष से नहीं कल्याण के निमित्त मारते हैं इससे मरने वाले का कल्याण ही होता है। क्योंकि भगवान् कल्याण के निधान हैं। उनसे जीवों का कैसे भी सम्बन्ध हो जाय तो उनका कल्याण ही होगा। छुरी को फल पर डाला तो फल ही कटेगा यदि फल को छुरी पर डालो तो भी फल ही कटेगा। इसी प्रकार भगवान् से जो स्वयं सम्बन्ध करले उसका भी कल्याण होगा और भगवान को द्वेष वश न चाहे भगवान् ही हठ पूर्वक सम्बन्ध जोड़ले उसे मार दें, तो भी उसी का कल्याण होगा। देहाभिमानी दूसरे देहाभिमानी को मारे तो मारने वाले को भी पाप लगता है और मरने वाले को भी कर्म फल भोगने पड़ते हैं। किन्तु भगवान् के हाथ से जो मारे जाते हैं उनसे जो वैर करके भी प्राण त्याग करते हैं वे भी मुक्त हो जाते हैं।

यह सुनकर बड़े आश्चर्य के साथ महाराज युधिष्ठिर ने पूछा—"भगवन्! यह आप कैसी बात कह रहे हैं, क्या वैर से भी भगवान् में तन्मयता हो सकती है?

नारद जी ने कहा—"हो क्या सकती है, होती ही है इस विषयको मैं आगे आपको विस्तार से सुनाऊँगा। आप ध्यान पूर्वक इस गहन विषय को श्रवण करें।

छप्पय

जाकूँ है अभिमान देह को अतिशय भारी।
मैं अति सुन्दर सुघर सुन्दरी मेरी नारी॥
पाप पुण्य तें करे कर्म वश सुख दुख पावें।
जिनिमहँ नहिं अभिमान द्वन्द तिनिढिग नहिं जावें॥
क्रीड़ा वश हरि अवतरहिं, तिनि महिमा को कहि सके।
धर्म हेतु सुर रिपु दलन, हिंसा तिनि कस लगि सके॥

युधिष्ठिर नारद संवाद

(४४७)

तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ।
मातृष्वस्रेयो वश्चैद्यो दन्तवक्रश्च पाण्डव ।
पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ ॥

(श्री भा० ७ स्क० १ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

कैसेहू सम्बन्ध कृष्ण तें जो जुरि जावे ।
काम, द्वेष, भय भक्ति प्रेम वश चितर्फेंसि जावे ॥
तो होवे कल्याण भयो जगमहँ बहुतनि को ।
काम भाव व्रजवधू थापि पद पायो हरि को ॥
भयते मामा कंस ने, यादवगन सम्बन्ध करि ।
शिशुपालादिक द्वेषतें, मुक्त भये हरि हृदय धरि ॥

राजा अपनी राज सभा मे सुन्दर से सुन्दर बहु मूल्य सुगंधित इत्र लगाकर आता है। उस सभा मे उसके मित्र शत्रु सम्बन्धी स्नेही तथा बन्दी आदि जितने बैठे होंगे, सबको

---

* देवर्षि नारदजी, धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—राजन्! भगवान् से कैसा भी सम्बन्ध हो जाय कल्याणप्रद ही है। अतः जिस किसी प्रकार से भी मन को श्रीकृष्ण मे लगाना चाहिये। ये जो

सुगन्धि से समान सुख मिलेगा सब की घ्राणेन्द्रिय उससे तृप्त होगी। राजा मे उनका कैसा भी भाव क्यो न हो, किन्तु उसकी सन्निधि मे आने पर वे सुगन्धि से वञ्चित न रहेंगे। जो उसकी सन्निधि मे नहीं आये उनकी बात दूसरी है। कल्पतरु के नीचे जो भी जायेगा, उसकी ही मनोकामना पूर्ण होगी। जो उससे दूर रहेगा वह उसके उस गुण से वचित रहेगा। भगवान् आनन्द के स्वरूप हैं मुक्ति के धाम हैं सौंदर्य माधुर्य की राशि हैं। उनमे द्वेष नहीं, अपने पराये का भाव नहीं। उनसे कोई कैसे भी सम्बन्ध रखे मुक्त तो हो ही जायगा एक आदमी ने अन्नसत्र खोल रखा है जो आता है उसी को खिलाता है। बहुत आकर दाता को गालियाँ देते हैं, कुवाक्य कहते हैं। लडने को तत्पर हो जाते हैं। उदारमना दाता उन्हे भी खिलाता है और जो आकर उसकी प्रशसा करते हैं उनके दान धर्म की बडाई करते हैं उन्हें भी खिलाता है। अन्तर इतना ही है द्वेषियो निन्दकों को केवल भोजन मिलता है और साधु स्वरुप के गुणग्राही सत्पुरुष को भोजन के साथ वह स्नेहरस भी देता है। प्रेम मे पगे उस भोजन मे और केवल भोजन मे अतर तो है ही फिर भी पेट दोनो का ही भर जाता है। धर्मात्मा दाता के द्वार से कोई निराश नहीं लौटता।'

तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल और दन्तवक्र हैं, पहिले ये भगवान् विष्णु के प्रधान पार्षद थे। सनकादि ब्राह्मणों के शाप से ये अपने पद स च्युत हो गये।"

श्री नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! देखिये लोग रागद्वेष तभी तक करते हैं, जब तक कि इन शब्द,

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी सांसारिक असुखकर

विषयों में प्रियत्व की बुद्धि हो। एक चाहता है, इस पदार्थ को मैं लूँ दूसरा चाहता हूँ मैं लूँ, तभी राग, द्वेष, ईर्ष्या लड़ाई, कलह युद्ध आदि होते हैं। जिस समय सभी को मनुष्य आत्मारूप में देखने लगता है ऐसे समदर्शी पुरुष को न राग, न द्वेष, न मोह, न शोक। भगवान् का तो इन संसारी पदार्थों से कोई सम्बन्ध ही नहीं। जो पुरुष संसारी पदार्थों के लिये संसारी पुरुषों से आशा रखकर उनसे सम्बन्ध करते हैं उन्हें तो बार-बार जन्मना पड़ता है और बार-बार मरना पड़ता है, किन्तु जो चाहे जिस कारण से, चाहे जिस भावसे, भगवान् से सम्बन्ध कर लेता है उनमे अपने चित्त को फँसा लेता है तो उसका आवागमन छूट जाता है।

इस पर धर्मराज ने पूछा—"महाराज, किन किन कारणों से चित्त किसी मे तन्मयता प्राप्त करता है ?"

यह सुनकर नारदजी बोले—"राजन्! किसी भी वस्तु में चित्त के तन्मय होने के पाँच ही कारण हैं। एक तो भक्ति भाव से चित्त भजनीय इष्ट में तन्मय हो जाता है। भक्त जिस समय प्रेमाश्रु बहाता हुआ गद्-गद् कंठ से अपने इष्ट की स्तुति करता है, उस समय उसे संसार भूल जाता है, वह बढ़ी हुई भक्ति के कारण भगवान् में ऐसा तदाकार हो जाता है कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती। ऐसी तन्मयता जिन भक्तों को प्राप्त है उसके पादपद्मों में हमारा प्रणाम है। भय से भी तन्मयता होती है। जिस को फाँसी की आज्ञा हो जाती है उसे भय के कारण कुछ भी दिखाई नहीं देता, चित्त सदा सोच में ही पड़ा रहता है। जिन्होंने किसी फाँसी वाले आदमी को देखा होगा वे

जानते होंगे कि उसकी दशा में और ब्रह्मज्ञानी की दशा में ऊपर से देखने पर कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता। दोनों संसार से उदासीन से हो जाते हैं। मैत्री में भी तन्मयता होती है वे बड़भागी हैं जिन्हें कोई हार्दिक प्रेम करने वाला मित्र मिल गया हो। मैत्री में तन्मयता कैसे होती है, यह बिना मित्र प्राप्त किये जानी नहीं जा सकती। यह कहने की बात नहीं, अनुभव करने की बात है। काम से भी तन्मयता होती है। कोई स्त्री किसी पुरुष पर आसक्त हो या कोई पुरुष किसी स्त्री पर आसक्त हो, तो फिर इन को संसार में अपने चाहने वाले के अतिरिक्त कोई दिखाई नहीं देता। सोते जागते उठते बैठते उसी का चिन्ता रहती है। इस विषय में मैंने एक कहानी सुनी है आप कहें तो सुनाऊँ।"

धर्मराज ने कहा—"भगवन्! दृष्टान्त से विषय स्पष्ट हो जाता है, अतः आप उस कहानी को अवश्य सुनाइये।

धर्मराज की जिज्ञासा देखकर नारद जी कहने लगे—"राजन्! एक कोई राजा की दासी थी, उसकी किसी पुरुष में अत्यन्त आसक्ति थी। पुरुष राजा का कर्मचारी था। दोनों एक दूसरे को हृदय से चाहते थे। एक दिन वह स्त्री अपने उस जार पति से मिलने पकेतानुसार अरण्य में जा रही थी। मार्ग में एक क्रोधी मुनि भगवान का ध्यान कर रहे थे। वह कामिनी तो कामावेग के कारण अन्धी बनी हुई थी, ध्यानस्थ मुनि के ऊपर पैर रखकर ज्यों ही जाने लगी तो मुनि को क्रोध आ गया, दो डंडे उसके जमा दिये। वह चली गई। अपने जार पति से मिल मिला कर फिर वह उधर से लौटी। मुनि ने उसे बुलाया और बुलाकर पूछा—'तू मेरे शरीर पर पैर रखकर क्यों गई थी?'

उसने हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता के साथ कहा—"भगवन्! यह कितने दिनों की बात है, मुझे तो स्मरण नहीं आता कि मैंने आप के साथ कभी ऐसा अशिष्ट व्यवहार किया हो?"

मुनि ने क्रोध में भरकर कहा—"कैसी बातें कर रही है, कैसा अपने को निर्दोष बता रही है। अभी-अभी की तो बात है तू अधी हुई जा रही थी। मैं ध्यानमग्न था जब तेरे पैरों से मेरे शरीर का स्पर्श हुआ, तो मुझे बड़ा क्रोध आया। मैंने तुझको दो डंडे भी जमा दिये थे। तुझे इतना भी ध्यान नहीं।"

तब उस कामिनी ने कहा—"प्रभो! सत्य कहती हूँ, मुझे कुछ भी पता नहीं। भूल से लग गया होगा। उसके लिये मैं क्षमा चाहती हूँ, किन्तु मेरी अशिष्टता क्षमा की जाय, तो मैं एक बात कहूँ?"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है कहो, तुम निर्भय होकर कहो। मैं बुरा न मानूँगा।"

उस कामिनी ने कहा—"नहीं, महाराज! बुरा मानने वाली तो कोई बात नहीं। मैं यह कहती हूँ कि आपके उस मिथ्याध्यान से तो मेरा ही ध्यान श्रेष्ठ था। आप तो एकान्त में बैठकर आसन लगा कर आँख मीच कर ध्यान में लगे हुए थे, फिर भी मेरे पैरों के स्पर्श से आपका ध्यान भंग हो गया। आपने मुझे पहिचान लिया, यही नहीं दो डंडे भी जमा दिये। किन्तु मुझे देखिये मैंने न आँखें मीची न आसन लगाया, न एक स्थान पर बैठी। दौड़ी जा रही थी आँखें खोलकर भूल से आप पर पैर पड़ गया। आप कहते हैं मैंने दो डंडे भी मारे,

मुझे न आप दिखाई दिए न डंडों का पता चला। तब तो आप से अधिक तो मेरा ही ध्यान श्रेष्ठ रहा।

यह सुनकर मुनि लज्जित हुए और बोले—"देवि! सत्य कहती हो, मेरा चित्त भगवान् मे तन्मय नहीं होता तुम्हारा चित्त अपने जार पति मे तन्मय हो रहा था।

नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार अत्यन्त काम की आसक्ति मे भी चित्त तन्मय हो जाता है। वह ससारी कामवासना भगवान् मे हो जाय, भगवान् को अपना पति, उपपति, जार पति, प्रेमी कुछ भी समझ कर स्त्री भाव से जीव चाहने लगे, तो उसके कल्याण मे सन्देह नहीं। चार कारण तो ये हुये। पाँचवाँ सुदृढ़ वैरानुबन्ध से भी चित्त तन्मय हो जाता है।

धर्मराज ने आश्चर्य के साथ कहा—"महाराज! वैर से कैसे चित्त तन्मय हो जाता है?"

यह सुन कर नारदजी बडे जोरो से हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"राजन्! वन्ध्या को प्रसव पीडा का अनुभव कैसे कराया जा सकता है। अबोध बालिका को पतिगृह के सुख का अनुभव कैसे कराया जा सकता है? महाराज! आप ठहरे अजातशत्रु। आपने किसी से तीव्रता के साथ हृदय से वैर किया ही नहीं। इसलिये आप आश्चर्य कर रहे हैं, किन्तु मैं तो दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि जैसे चित्त वैरी के प्रति तन्मयता को प्राप्त होता है वैसा न काम से होता है न स्नेह से, न भक्ति से और न भय से। महाराज! अपना प्रबल शत्रु सदा हृदय पटल पर नाचता रहता है। एक भृंगी

मकान कीड़ा होता है। वह गीली मिट्टी अपने मुँह मे ला ला कर भीत पर एक घर बना लेता है। उस घर मे कहीं से भी किसी कीड़े के बच्चे को पकड़ कर बंद कर देता है और उसके आगे गूँजता रहता है। निरन्तर कैद मे टालने वाले शत्रु की गूँज सुनकर उस कीड़े के बच्चे को बड़ा उद्वेग होता है। वह निरन्तर उसी शत्रु का स्मरण करता रहता है। स्मरण करते-करते वह कीट भी भृङ्गी बन जाता है, तन्मय हो जाता है। सो, महाराज! वैर से तो बड़ा ही चित्त तन्मय होता है। यदि संसारी किसी व्यक्ति से वैर करोगे, तो मर कर उसी के सम्बन्धी बनोगे। पूर्वकृत वैर का बदला लोगे। यदि वही वैर जान मे अनजान मे भगवान् से हो जाय, तो बेड़ा पार है। आवागमन सदा के लिये छूट जायगा। इसलिये महाराज! चित्त के तन्मय होने के काम, द्वेष, भय, स्नेह और भक्ति ये ही पाँच उपाय हैं। इन भावों से भगवान् मे चित्त लगा कर बहुत से लोग इस संसार सागर को पार कर गये।"

आश्चर्य के साथ धर्मराज ने कहा—"भगवन! यह तो आपने एक विलक्षण ही सिद्धान्त बता दिया। भगवान् मे काम भाव कैसे रखा जाता है? काम भाव से किसे सिद्धि प्राप्त हुई है।"

इस पर नारदजी ने कहा—'देखिये राजन्! भगवान श्याम सुन्दर जब व्रज मे प्रकट लीला कर रहे थे, तब पहिले कुछ गोपियों का चित्त उनकी ओर काम भाव से ही आकृष्ट हुआ। पहिले पहिल उन्होंने उन्हे एक अत्यन्त रूपवान अपना परम श्रेष्ठ ही समझा। जब सम्बन्ध हो गया, तो वे जान गयीं कि ये केवल गोपिका नन्द ही नहीं हैं अखिल प्राणियों की

अन्तरात्मा में विचरण करने वाले सर्वेश्वर भी हैं। उनका काम भाव किसी संसारी सौन्दर्ययुक्त युवक के प्रति होता तो वह पाप होता, बन्धन का कारण माना जाता। किन्तु भाग्य-वश वह काम कामारि केशव के प्रति हो गया। अन्धे के हाथों बटेर लग गई। राजन्! यह तो व्यवहारिक लीला की बात है। वास्तविक बात तो यह है कि गोप-गोपी गौ आदि ये सब तो भगवान् के नित्य सहचर तथा पार्षद् हैं। इसी लिये रस-शास्त्र में व्रजाङ्गनाओं के काम को ही प्रेम कहा गया है।

यह सुनकर धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! भय से कैसे चित्त तन्मय होता है?"

नारद जी ने कहा—"भय से तो मैं कीट भृंगी का दृष्टान्त देकर समझा ही चुका। कंस जन्म से पूर्व ही भगवान् से वैर रखता था मुझसे जब उसने सुना कि मेरा शत्रु गोकुल में नन्द के घर बढ़ रहा है तब तो उसे सोते, जागते, उठते बैठते, खाते-पीते, चलते फिरते सर्वत्र कृष्ण का ही ध्यान रहने लगा, कृष्ण मुझे मारेंगे, कृष्ण आ तो नहीं गये, कृष्ण को पकड़ कर लाइये, कृष्ण से मेरी कैसे रक्षा हो। उसका कृष्णमय चित्त हो गया। वैरी बनकर वह कृष्ण की आराधना करने लगा। भगवान् की प्रतिज्ञा है जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसको उसी भाव से भजन करते हुए उसी रीति से फल देता हूँ। इसीलिये भगवान् ताल ठोकर उसके सम्मुख आगये और उसे अपने श्री हस्तों से मारकर मुक्त कर दिया।"

धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! द्वेष से भगवान् का चिंतन

कैसे किया जाता है।

हँस कर नारद जी बोले—"महाराज! प्रत्यक्ष में प्रमाण की क्या आवश्यकता। यह तो शिशुपाल के वध के समय सभी ने प्रत्यक्ष देख लिया कि शिशुपाल के शरीर से ज्योति निकल कर इन सर्वान्तर्यामी प्रभु के शरीर में समा गई। यह शिशुपाल जन्म से ही भगवान् से द्वेष करता था। इसी प्रकार दन्तवक्र भी। आपके तो ये दोनों मौसेरे भाई ही थे। श्री कृष्ण की बुआओं के ये लड़के थे, किन्तु पूर्व जन्म के संस्कार के कारण भगवान् से जन्म लेते ही द्वेष करने लगे। संसारी राजाओं से करते तो मर कर फिर राजा होते, उन्होंने द्वेष किया इन भव भयहारी वनवारी के साथ। अतः ये दोनों मरकर मुक्त हो गये। और भी बहुत से राजा भगवान् से द्वेष करके ही मुक्ति के अधिकारी हुए।"

धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! भगवान् से सम्बन्ध कैसे किया जाता है?"

नारद जी ने कहा—"जैसे संसारी लोगों से किया जाता है। ये मेरे पिता हैं, चाचा हैं, ताऊ हैं, बाबा, परबाबा हैं, भाई हैं, भतीजे हैं, पुत्र हैं, मामा हैं, भानजे हैं, फूफा हैं, जीजा हैं। ये सब सम्बन्ध इन मायिक प्राणियों से करोगे, बन्धन बढ़ेगा, भगवान् से करोगे मुक्त हो जाओगे। ये समस्त यादव मुक्ति के अधिकारी हैं, क्योंकि अनजान में भी ये श्रीकृष्ण को अपना सगा सम्बन्धी समझते हैं।"

धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! मित्रता से भगवान् में कैसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है?"

यह सुनकर नारद जी खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"राजन्! रसगुल्ला तो स्वयं खाते हो और स्वाद मुझसे पूछते हो ये जो सम्मुख पीताम्बर धारी बनवारी बैठे हैं इन्हें तुम साक्षात् भगवान् समझते तो एक संगमरमर का सुन्दर मन्दिर बनाकर इनकी सदा पूजा ही करते रहते। इनसे रथ न हँकवाते, दूत न बनाते। सेवकाइ न कराते, इनसे घुलघुल कर बातें न करते, पैर न छुआते। इन्हें अपना मित्र सुहृद्, सखा, हितैषी सर्वस्व समझते हैं। उसी का तो यह फल है कि आपका घर परम पावन तीर्थ बन गया है। बड़े बड़े ऋषि महर्षि आपके आंगन की धूल लेने के लिये यहाँ सदा आते रहते हैं। घन चक्कर की भाँति जो मैं यहाँ चक्कर काटता रहता हूँ, केवल तुम्हारी सुस्वादु सामग्रियों तथा हलुआ पूडी उडाने के ही निमित्त नहीं आता। इन वासुदेव की चरण धूलि से अपने अङ्ग को पावन करने आता हूँ। सो, राजन्! आप लोग धन्य हैं जो सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव को अपना सुहृद्, सखा, मित्र मानते हैं?"

इस पर नम्रता के साथ हाथ जोड कर धर्मराज ने कहा—"भगवन्! यह सब आप गुरुजनों के चरणों की कृपा का फल है। हम लोग इस योग्य थोडे ही हैं कि भगवान् वासुदेव से मित्रता कर सकें। भगवान् ने ही कृपा करके हमें अपना रक्खा है। हाँ, भक्ति से भगवान् की कैसे आराधना की जाती है?"

इस पर नारद जी ने सकोच के साथ कहा—"अब भक्ति की क्या बताऊँ। ये सब ऋषि मुनि बैठे हैं। भगवान् को भक्ति भाव से ही पूजते हैं। मैं जो वीणा लेकर निरन्तर राम कृष्ण राम कृष्ण हरि की रट लगाता रहता हूँ इसलिये मुझे

भी लोग भक्त कहने लगे हैं। वैसे मुझ में भक्ति फक्ति तो कुछ है नहीं। ये ही श्यामसुन्दर सहारा दे—"ये ही अभक्त समझकर भी भक्त वेष देख कर ही अपना ले—तो दूसरी बात है।

आपने जो महाराज वेन का दृष्टान्त दिया, सो राजन्! वेन का भगवान् से न द्वेष था न प्रेम। वह तो अपने को सर्व श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता था। उसकी सर्वश्रेष्ठता में बाधक थे ब्राह्मण। वह सोचता था—"समाज पर इन ब्राह्मणों का ही अधिकार है, इन्हें नष्ट कर दें, तो सब लोग हमें श्रेष्ठ कहने लगें। भगवान् के प्रति तो उसकी उपेक्षा बुद्धि थी। क्योंकि वे सब किसी को इन चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देते। उसका द्वेष ब्राह्मणों से था। इसीलिये ब्रह्मशाप से मरकर नरक में गया। जब उसका भगवान् के साथ सम्बन्ध हो गया पृथु-भगवान् ने उसे अपना पिता मान लिया, तो उसका उद्धार हो गया, वह मरकर यातनाओं से मुक्त हो गया। इसीलिये महाराज! जैसे बने तैसे भगवान् में प्रेम करना चाहिये। इस चंचल चित्त को उनमें जोड़ देना चाहिये। संसार में सब वस्तुएँ सब को प्राप्त नहीं। जिनके पुत्र न हो, वह भगवान् को अपना पुत्र मान कर लाड़ लड़ावे, उन्हें पुत्र की भाँति प्यार करे। जिनका कोई स्वामी न हो भगवान् को स्वामी मानकर सेवा करे। जिनके गुरु न हो भगवान् को गुरुदेव मानकर पूजे। जिनका मनोनुकूल पति न हो वे भगवान् को ही पति मान कर पति का सा ही सब सम्बन्ध रखें उन्हें ही अपने हाव भाव कटाक्ष और शृङ्गार से रिझावें। जिनके मित्र न हो, वह भगवान् से ही मित्रता स्थापित करलें, जिनके शत्रु न हो भगवान् को ही शत्रु बनालें। साराश किसी भी प्रकार मन को कृष्ण में लगा देना चाहिये। उसका पल्ला इन परात्पर को पकड़ा देना चाहिये।

इनके साथ गठ बन्धन कर लेना चाहिये। राजन ! ये दन्तवक्र और शिशुपाल कोई और नहीं हैं। भगवान के नित्य पार्षद जय विजय ने ही सनकादिकों के शाप से पृथिवी पर जन्म लिया था। अन्त में भगवान् के हाथों से मरकर ये मुक्त हो गये। पुनः अपने पदपर प्रतिष्ठित हो गये।

यह सुनकर धर्मराज ने पूछा—"महाराज ! जय विजय को शाप क्यों हुआ ? सनकादि इतने त्यागी तपस्वी माया के गुणों से रहित मुनियों को क्रोध क्यों आया। इस प्रसङ्ग को आप मुझे सुनावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! धर्मराज के पूछने पर देवर्षि नारद जी ने जय विजय के शाप की समस्त कथा सुनाई। महाराज ! हिरण्याक्ष के वध प्रसंग में उस कथा को मैं सुना ही आया हूँ। फिर भी अब हिरण्यकशिपु का वृतान्त कहना है, अतः फिर भी स्मरणार्थ अत्यन्त संक्षेप में उस कथा का संकेत करूँगा। क्योंकि प्रसंगानुसार कहनी पड़ती है, नहीं तो विषय अधूरा रह जायगा। आप इसे पुनरुक्ति दोष न समझें।

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी ! साहित्य में तो निरुक्ति दोष होता है, किन्तु भागवती कथाओं में पुनरुक्तिदोष नामक कोई वस्तु नहीं। उसमें तो एक ही बात को हजारों बार कहा जाता है। एक ही तो बात है अवतार चरित, उसी को कहना है आप निःसंकोच कहें।" शौनक जी की यह बात सुन-

कर सूत जी जय विजय के प्रसंग को पुनः अत्यन्त संक्षेप से कहने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

धर्मराज तुम धन्य धन्य तुमरे पितु माता।
बने सहृद् घनश्याम तुम्हारे जे भय त्राता॥
हरि शोभा के धाम मगलनि के मगल हैं।
उनमहँ जिनको चित्त फँस्यो तिनके मगल हैं॥
दन्तवक्र शिशुपाल हरि, करतें मरि हरिपुर गये।
प्रभु पार्षद् जय विजय जे, विप्र शापवश खल भये॥

जय विजय के शाप का कारण

(४४८)

कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः ।
अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः ॥

(श्री भा० ७ स्क० १ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

कह युधिष्ठर—नाथ ! शाप की बात बताओ ।
प्रभु पार्षद् जय विजय असुर कस भये बताओ ॥
बोले नारद—"प्रभो ! गये हरिपुर सनकादिक ।
गदा बेत ले खड़े द्वार के दोनों पालक ॥
नग धड़गे बाल लखि, रोके हरि दरसननि तें ।
शाप दयो सुररिपु बनों, ये डरि बोले मुनिनि तें ॥

पिता को जब पुत्र से खेल करने की इच्छा होती है, तब वह उससे लड़ता है। छोटा बच्चा पिता से क्या लड़ेगा, किन्तु खेल ही जो ठहरा। पिता लड़ने का अभिनय करता है, बच्चा

धर्मराज युधिष्ठिर नारदजी से पूछते हैं—"भगवन् ! भगवान् भक्तों का भी तिरस्कार करने वाला यह शाप किसका था और जय विजय को वह कैसे लगा ? जो भगवान् के एकान्त भक्त हैं उनका पुनः संसार में जन्म लेना तो कुछ अविश्वसनीय सा जान पड़ता है ।"

भी शक्तिभर बल लगाता है फिर पिता अपने आप ही गिर पड़ता है और बनावटी आश्चर्य से कहता है—"अरे भाई, तू तो बड़ा बली है, मुझे पछाड़ दिया बच्चा सब समझता है, पिता स्वयं ही गिरा है। फिर भी प्रसन्न ही होता है क्योंकि पिता की प्रसन्नता में उसकी प्रसन्नता निहित है। भगवान् के अवतार लेने के अनेक प्रयोजन बताये गये हैं, किन्तु हम तो उनके अवतार का एक मात्र प्रयोजन यही समझते हैं कि अपने भक्तों को अपनी क्रीड़ा से सुख देना। भगवान् भक्तों को निमित्त बनाकर नाटक रचते हैं। सब पात्र उनके ही अधीन हैं। कौन सा नाटक करना है यह भी वे सब जानते हैं, कौन सा पात्र कौन सा अभिनय कब करेगा, इन सब बातों का उन्हें परिज्ञान है। फिर भी जब वे वेष बनाकर रंगमञ्च पर उतरते हैं, तो अपने ही जनों से अपने ही सिखाये पढ़ाये पात्रों से क्रोध करते हैं, युद्ध करते हैं, प्यार करते हैं। इसी का नाम है भगवन्लीला। इसी को अवतार चरित कहते हैं। इसी के पुनः पुनः श्रवण करने से भव बन्धन कटता है।

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! आपने जय विजय के शाप की बात मुझसे पूछी थी, उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें। एक दिन की बात है कि ब्रह्माजी के सनकादि सनदन, सनातन और सनतकुमार ये चारों मानस मुनि नंगे धड़ंगे अनेक लोकों में विचरते टहलते, घूमते फिरते भगवान् विष्णु जी के वैकुण्ठधाम में पहुँच गये। इनकी तो सर्वत्र अव्याहत गति थी। भगवान् वैकुंठनाथ के दिव्य भवन में सात ड्योढ़ियाँ लगी हुई थीं। छै ड्योढ़ियों को ये पार कर गये, सातवीं पर जब ये पहुँचे

तो वहाँ के प्रधान द्वारपाल जय विजय इन्हें भीतर जाते देख कर ललकार कर बोले—"सावधान ! सावधान ! ओ बच्चो ! भीतर मत जाओ !

ये बच्चे तो थे नहीं, इनकी दाढी बाहर न निकलकर पेट की ओर बढी थी, ये तो पूर्वजो के भी पूर्वज थे। इन कल के छोकडो के मुख से अपने को बच्चा सुनकर मन मे बुरा तो लगा फिर भी बिना कुछ कहे इनकी अवहेलना करके वे बढते ही गये। वे इनके ऐसे उपेक्षा भाव को देखकर बोले—"बच्चो ! तुम नहीं मानोगे ?

"हाँ, नहीं मानेंगे" ये तडाक से बोले।

उन्होंने पडाक से बेंत को फटकारा और द्वार रोक कर खडे हो गये और बोले—"अच्छा, देखें कैसे भीतर जाते हो ?"

अब काम का छोटा भाई क्रोध मुनियो के ऊपर सवार हो गया 'वहाँ वैकुण्ठ मे वह कैसे पहुँच गया' बस, यही पूछ कर गड-बड सडबड मत करो। क्रोध को भगवान् के बिना सत्ता ही नहीं। अधर्म तो भगवान् की पीठ से ही उत्पन्न होता है। भगवान् का इच्छा हुई आ गया। अब तो मुनियो ने कहा—"जाओ तुम दोनो पापमयी आसुरी योनि को प्राप्त हो जाओ।

"क्यो महाराज ?' अब तो उनकी वाणी मे मृदुता थी 'भय बिनु होहि न प्रीति'

"क्योंकि तुम रजोगुण तमोगुण से व्याप्त हो, भगवान् के लोक मे रहने के योग्य नहीं हो। देखो, अब बच्चो की शक्ति, अभी औंधे मुँह से गिरते हो।" व्यग की हँसी हँसते हुए कुमार बोले।

'अर्जी महाराज, दया करो। हमतो आपके बच्चे हैं।" अब आई बुद्धि ठिकाने "सभी चमत्कार को नमस्कार करते हैं।" हँस पडे कुमार।

"दया करो प्रभो! हमने आपको जाना नहीं, आपके स्वरूप को पहिचाना नहीं। आपका वचन माना नहीं। सदा हमे आसुरी योनि मे ही न रहना पड।" दोनो गिडगिड़ा कर कुमारों के कोमल पैरो पर पड गये।

साधु का क्रोध पानी की लकीर के समान होता है, आया उसी क्षण समाप्त हो गया। कुमार बोले—"अर, भाई वचन तो हमारा मिथ्या होगा नहा, किन्तु तीन जन्मो तक आसुरी भाव को भोगकर तुम फिर भगवान् के लोक मे आ जाओगे।'

"तो क्या हम तीनो जन्मों मे भगवान् से पृथक रहेंगे?' पैरो पर पडे पडे जय विजय बोले।

कुमार हँस पड़े और कहने लगे—"अरे, भया! तुम भगवान् से पृथक होना भी चाहो, तो नहीं हो सकते। तीनो जन्मो मे भगवान् ही तुम्हें मारेंगे। तीसरे जन्म मे जब पीताम्बरधारी वनवारी तुम्हारा सहार कर देंगे, तब तुम आसुरी भाव से मुक्त हो जाओगे।"

प्रसन्न होकर दोनो पैरो पर से उठ पडे, फिर दडवत् प्रणाम की ओर बोले—"तब कोई चिंता नहीं। भगवान् मारेंगे तब तो भगवान् से सम्बन्ध रहेगा। द्वेष से ही सही, उनकी निरतर शत्रु भाव से स्मरण तो बना रहेगा। यहाँ चिरकाल मे पहरदारी करते करते हम भी ऊब गये थे। अब दो दो हाथ भगवान से ही सही। सकोच तो सबन्ध मे ही होता है। द्वारपाल होकर तो स्वामी से लड़ नहीं सकते। जब से वे हमारी वनमाला शङ्ख चक्र,

पद्म और गदा आदि को छीन कर काला मुँह करके असुर बना देंगे, तब हम भी अपनी कुश्ती की कला दिखावेंगे। आपकी कृपा से जलवायु का परिवर्तन हो जायगा। संसार देखने को मिलेगा। अपने स्वामी के विचित्र अवतारों के दर्शन करेंगे। यहाँ तो हम सदा श्रीमती लक्ष्मी जी से पैर दबवाते हुए ही दर्शन करते है। कुछ मार धाड़ हो लड़ाई भिड़ाई हो, खटाखट, चटापट, झटापट, सटापट पटापट हो। उधर से वे मारें इधर से हम, हमारी पटका पटकी झटका झटकी हो, कुछ आनन्द आवे। अच्छी बात है महाराज! गिरते हैं हम।" यह कह कर अड़ड़ड़ धम अड़ड़ड़ धम करके दोनों गिर परे वैकुण्ठ लोक से।

नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर जी से कह रहे हैं—"राजन्! वे ही जय विजय भगवान् कश्यप के अमोघ वीर्य से दिति देवी के गर्भ से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नाम से प्रसिद्ध हुए, जो दैत्य दानवों के प्रथम पूर्वज और प्रतापशाली राजा थे। उनमें से हिरण्याक्ष को तो भगवान् ने शूकर रूप रखकर पछाड़ा और हिरण्यकशिपु को विकराल नृसिंह रूप बनाकर मारा। फिर वे ही दोनों भगवान् पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा की स्त्री केशिनी के गर्भ से रावण और कुम्भकर्ण रूप में प्रकट हुए, जिन्हें अवधकुलमंडन, कौशल्यानन्दवर्धन दशरथनन्दन मैथिलीहृदयसर्वस्व श्री राघवेन्द्र ने युद्ध में मारा था। फिर तीसरे जन्म में वे ही भगवान की दो बुआओं के यहाँ दो मौसियों के यहाँ पृथक्-पृथक शिशुपाल और दन्तवक्र के नाम से उत्पन्न हुए। इस जन्म में वे भगवान के हाथ मर कर मुक्त हो गये वैर भाव से ही सही। ये निरंतर करते तो भगवान् का ही ध्यान थे। जो जिसका ध्यान करेगा उसी के रूप का हो

जायगा। इसलिये ये भगवान् अच्युत के स्वरूप को प्राप्त होकर उनके समीप चले गये। श्री रामावतार की कथा आप महामुनि मार्कंडेय जी के मुख से श्रवण करोगे।

इस पर धर्मराज ने कहा—"महाराज! श्री रामचरित्र को तो मैं मार्कंडेय मुनि से सुन लूगा और सूकरावतार की कथा इन्हीं भगवान् से सुन लूँगा। किन्तु नृसिंह की कथा तो आप ही मुझे सुना दें। कहीं भगवान् से मैंने सुनी और फिर इन्होंने भूल से वही ही रूप धारण कर लिया, तो यहाँ सब गोविन्दाय नमो नमः हो जायँगे। भगवान् ने नृसिंह रूप किस निमित्त से धारण किया?"

इसपर नारदजी कहने लगे—"राजन्! हम आपको बता तो चुके, भगवान् के सभी अवतार भक्तों को सुख देने को होते हैं। जब इन्हें असुर राजा हिरण्याक्ष पाताल में ले गया, तो ये उसे मार कर धरा देवी को अपने दाँढ़ों पर बिठा कर ऊपर ले आये। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु अपने छोटे पुत्र प्रह्लाद से बहुत द्वेष करता था। उसे मार डालना चाहता था। उसे मारने के उसने बड़े-बड़े उपाय किये। इसी पर भगवान् को क्रोध आगया और अत्यन्त भयानक नृसिंह रूप बना कर खम्भ फोड़ कर तड़ाक से उससे निकल पड़े। खम्भ के बेटा बन गये। चैतन्य के पुत्र तो सभी बनते हैं, भगवान भक्त के लिए जड़ के पुत्र बन गये।

इस पर धर्मराज ने कहा—"भगवन्! माता पिता का पुत्रों पर प्राणों से भी अधिक ममत्व होता है। पुत्र चाहे अयोग्य ही क्यों न हो, माता पिता उससे प्यार ही करते हैं, उसका भला ही चाहते हैं। फिर छोटे पुत्र पर तो विशेष स्नेह होता है।

ऐसा कोनसा कारण हो गया, कि पिता पुत्र में इतना द्वेष बढ गया, कि मारने तक की नोबत आई और बाप बेटे की लडाई म रघवा को बधवा बनना पडा। खिले हुए शारदीय कमल के समान मनोहर मुख को भयकर दाढा और बडी बडी मूँछो से सजाना पडा। इस चरित्र को सुनन के लिय मेरे मन मे बडा कुतूहल हो रहा है। इसे आप अवश्य सुनाय।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज युधिष्ठिर के पूछने पर नारदजी ने उसे उत्तर दिया था उसे मैं उसी प्रकार आपसे सुनाऊँगा जिस प्रकार मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने महाराज परीक्षित् को सुनाया था। आप सब उसे समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करे।"

छप्पय

विप्र! रहैं कब तलक असुर तन समय बताओ।
मुनि बोले—फिरि यहाँ तीनि जन्मनि महँ आओ॥
हिरनकशिपु हिरनाक्ष भये तो प्रथम जनम मह।
नर हरि अरु वाराह हने दोनों तिनि रन महँ॥
कुम्भकरन रावन बने, राम हाथ मारे गये।
दतवक्र शिशुपाल पुनि, हरि हाथनि मरि सुर भये॥

———

भाई के मारे जाने पर हिरण्यकशिपु का श्रीहरि पर क्रोध

(४४९)

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना ।
हिरण्यकशिपू राजन्पर्यतप्यद्रुषा शुचा ॥

(श्री भा० ७ स्क० २ अ० २ श्लो०)

छप्पय

नारद बोले—नृपति ! चरित नरसिंह सुनाऊँ ।
हिरनकशिपु जस हन्यों भक्त महिमा अब गाऊ ॥
सूकर बनि लघु बन्धु हन्यो बड़ भयो दुखारी ।
विष्णु हमारो शत्रु असुर कुल को संहारी ॥
मारूँ पहिले विष्णु कूँ, तब देवनि कूँ वश करूँ ।
करिके विष्णु विहीन जग, असुर वंश को दुख हरूँ ॥

अपना तथा अपने सम्बन्धियों के प्रति द्वेष भाव रखने वाले के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक ही है। मातृ, पितृ, भ्रातृ

---

* नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! इस प्रकार जब सूकर रूप धारी भगवान् ने हिरण्यकशिपु के भाई हिरण्याक्ष को मार डाला, तब वह क्रोध और शोच के कारण अत्यन्त संतप्त हुआ ।"

तथा सम्बन्धियों के हिंसक के प्रति हिंसा के भाव प्रायः सभी के हृदय में उठते हैं, जिसके नहीं उठते वे या तो जड़ हैं या जीवनमुक्त हैं। यदि एक अनुपकार करता है, तो उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी के साथ द्वेष हो जाता है। भगवान् परशुरामजी के पिता जमदग्नि का सिर हैहय वंश के क्षत्रियों ने काटा था, इस पर क्रुद्ध होकर परशुरामजी ने पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों के विनाश की प्रतिज्ञा की और घूम घूमकर २१ बार क्षत्रिय कुल का संहार किया। जब ऋषि मुनियों तक में प्रतिहिंसा के भाव होते हैं, तब असुरों में हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

महाराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! आपने मुझसे पूछा था, कि हिरण्यकशिपु ने अपने सगे और सुपुत्र प्रह्लादजी से द्वेष क्यों किया। इस विषय में पहिले मैं आप को हिरण्यकशिपु का चरित्र सुनाऊँगा। तदनन्तर प्रह्लादजी का स्वभाव बताऊँगा। दोनों के प्रतिकूल भाव होने से कैसे भगवान ने नरहरिरूप धारण करके अपने आश्रित भक्त की रक्षा की इस परम पवित्र आख्यान को अत्यन्त सरसता और मनोरञ्जकता के सहित सुनाऊँगा। अब आप आरम्भ से ही इस चरित्र को सुनिये।

भगवान् ने सूकरावतार धारण करके जैसे धरणी का उद्धार किया और उस अवसर पर जिस प्रकार हिरण्याक्ष का वध किया था यह प्रसङ्ग तो आप सुन चुके होंगे। जब देवताओं के हित के निमित्त सूकर रूपधारी विष्णु ने हिरण्यकशिपु के छोटे भाई को मार डाला, तो यह सुनकर महाबली दैत्यराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त ही कुपित हुआ। एक तो उसे अपने आज्ञाकारी प्यारे

भाई के मारे जाने का दुःख था, दूसरे विष्णु भगवान् देवताओं के साथ पक्षपात करते हैं इसका शोक था। इस कारण वह दाँतों को पीसता हुआ तथा दाँतों से ओठों को काटता हुआ, क्रोधाग्नि से जलता हुआ सभी असुरों को सुनाकर भरी सभा में बोलने को खड़ा हो गया। क्रोध के कारण वह काँप रहा था। मुख से स्पष्ट शब्दों का उच्चारण नहीं होता था, उसकी दोनों भृकुटियाँ टेढ़ी हो रही थीं। नेत्र लाल लाल हो रहे थे, कराल दाढ़ों को निकालने से उसका अति भयङ्कर मुख बड़ा ही भयानक और दुर्धर्ष हो रहा था। रोष में भरकर त्रिशूल को घुमाता हुआ वह सबको सम्बोधन करके बोला—"द्विमूर्द्धा !"

द्विमूर्द्धा ने उठकर नम्रता के साथ कहा—"जी प्रभो ! मैं उपस्थित हूँ, मेरे लिये जो आज्ञा हो ?" तब वह बोला—"त्र्यक्ष, शम्बर, शतबाहु, हयग्रीव कहाँ हैं ?" इतना सुनते ही वे चारों खड़े हो गये और बोले—"प्रभो ! हम भी उपस्थित हैं, जो आज्ञा हो ?"

तब वह बोला—"नमुचि, पाक, इल्वलागज, विप्रचित, पुलोमा और शकुनि को भी बुलालो। जितने प्रधान प्रधान दैत्य दानव हैं वे सब भी सावधान होकर मेरी बात सुनें। जो मैं कहता हूँ उसे अव्यग्र भाव से श्रवण करके उसके अनुसार कार्य करें।"

सबने हाथ जोड़कर कहा—"हाँ अन्नदाता ! हम तो सेवा में सदा समुपस्थित ही हैं। हमें जो भी आज्ञा मिलेगी उसका उसी समय पालन करेंगे।"

इस पर हिरण्यकशिपु बोला—"यह तो तुम सबको विदित ही है कि मेरे प्राणों से भी प्यारे भाई को इस विष्णु ने सूअर का रूप रखकर मार डाला है।"

हाथ जोड़कर शम्बरासुर ने कहा—हाँ, प्रभो! यह तो बड़ा अन्याय हुआ। छोटे महाराज को छल से सूअर रूपधारी विष्णु ने मारा है।"

इस पर क्रोध से ओठों को काटता हुआ हिरण्यकशिपु बोला—"छल से मारा हो या बल से। हम कहते हैं, विष्णु का उसने क्या बिगाड़ा था। हम तो सदा से सुनते आये हैं, कि विष्णु तो समदर्शी है, उसके लिये जैसे ही सुर वैसे ही असुर। अन्तर इतना ही है, कि सुर सदा उसके सामने हाथ जोड़कर घिघिआते रहते हैं। उसकी लल्लो चप्पो में लगे रहते हैं। हम लोग उससे सम्बन्ध नहीं रखते। उसके सामने घुटने नहीं टेकते। दाँत नहीं गिड़गिड़ाते उसकी प्रशंसा के पुल नहीं बाँधते। इसी से वह हमसे चिढ़ा रहता है। अपनी प्रशंसा संसारी लोगों को प्रिय होती है। प्रतीत होता है, वह भी आत्मश्लाघी हो गया है। वह भी मिथ्या प्रशंसा वचनों को सुनकर फूल कर कुप्पा हो गया है। हमतो सुनते थे विष्णु शुद्ध स्वरूप है। शुद्ध स्वरूप को किसी से राग द्वेष कैसे हो सकता है? प्रतीत होता है, विष्णु ने अपना स्वभाव त्याग दिया। अब वह भी पक्षपाती बन गया। अब प्रतीत होता है वह भी बच्चों की तरह अस्थिर चित्त हो गया। बालकों के समान बन गया कि जिसने फूल दिखा दिया माला पहिना दी, मिठाई का लालच दिया उसी की ही गोदी में चला गया। अब वह अपनी मर्यादा से च्युत हो गया है। अतः मैं इसी त्रिशूल से उसके सिर को काट कर उसमें से जो उष्ण रक्त निकलेगा, उसी के द्वारा अपने परम प्यारे सहोदर बन्धु का तर्पण करूँगा। उस रक्त को पान करके मेरा परलोकगत बन्धु अत्यन्त सन्तुष्ट होगा।

इस पर नमुचि ने कहा—"प्रभो! हमारे मुख्य शत्रु तो

देवता हैं। पहिले उन्हें ही मारना चाहिए। तदन्तर विष्णु पर चढ़ाई करना चाहिए।"

यह सुनकर हिरण्याक्ष बोला—"अरे, तुम समझते नहीं! अरे, भाई बात यह है कि देवता तो हैं नपुंसक। उनमें तो कुछ बल पौरुष है नहीं। ये तो प्रसिद्ध भगोड़े जगत् विख्यात हैं। मेरे भाई को ही देखकर इन्द्र शची के भवन में चूड़ी पहिन कर बैठ गया। इन सब को एक मात्र विष्णु का ही बल है। विष्णु ही इनके साहस और उत्साह का मुख्य कारण हैं। अतः पहिले मूलका उच्छेदन कर देना चाहिये पहिले जड़ ही काट देनी चाहिए। जड़ के कट जाने पर पत्ता, पुष्प शाखा आदि तो अपने आप गिर पड़ेगे जैसे घर की नींव को खोद दो तो पूरा घर गिर पड़ेगा, उसी प्रकार विष्णु को मार देने पर ये सब देवता भी निस्तेज और श्री हीन हो जायँगे।"

इस पर असुरों ने कहा—'हे असुरेन्द्र! शत्रु को मारने के पूर्व उसे दुर्बल बना लेना चाहिए। दुर्बल शत्रु शीघ्र ही मारा जा सकता है।"

इस पर हिरण्यकशिपु बोला—"यह तुम लोगों की सम्मति सर्वथा सत्य है। विष्णु का मूल है यज्ञ। यज्ञ को विष्णु ही कहा है। यज्ञ होते हैं वेद, ब्राह्मण और गौओं की सहायता से। जहाँ धर्म है वहाँ विष्णु हैं, क्योंकि उन यज्ञ स्वरूप पुराण

पुरुष का यथार्थ रूप तो धर्म ही है। धर्म के आश्रय पर ही ये देवता, पितर, ऋषि, मुनि तथा पंचभूत आदि सभी स्थित हैं। इसलिये पहिले इन्हे नष्ट करो। इनके नष्ट होने से विष्णु निर्बल बन जायगा। जब यज्ञादिक ही न होंगे, तो विष्णु को यज्ञ भाग भी न मिलेगा। यज्ञ भाग न मिलने से वह निर्बल हो जायगा। अतः जहाँ यज्ञ होते हो, उन देशो को जला दो। ब्राह्मणों को मार कर यमपुर पहुँचा दो। उनके रक्त का तुम सब पान करो। गौओं को मार दो। ब्राह्मणों के पेट फाड़ दो।"

हिरण्यकशिपु की यह आज्ञा क्या हुई मानो असुरो को निधि मिल गई। वे तो मार काट और हिंसा तथा क्रूरता के लिए उधार खाये ही बैठे रहते थे। उन्हे तो जीवो को मारने मे हिंसा आदि करने मे बडा आनन्द आता था। बस, फिर क्या था, सभी ने अपने अपने अस्त्र शस्त्र उठाये और पृथ्वी मे घूम घूमकर ब्राह्मणोंको सताने लगे। घरोंमे आग लगा देने लगे। धर्म के विरुद्ध जो भी कुछ कर सकते थे करने लगे। ग्रामोंमे चले जाते उन्हें जला देते, नगरो को नष्ट कर देते। व्रज, उद्यान, क्षेत्र, बगीचे, आश्रम, खान, खेट, खर्वट, घोष तथा नगरो को स्वाहा करने लगे। कुल्हाड़ी से फलों वाले वृक्षो को काटने लगे। कुदाली से सेतु, परकोटा, नगर द्वार तथा महलों को खोदने लगे। बड़ी बड़ी राजधानियों को अग्नि लगाकर स्वाहा करने लगे।

नारद जी कहते हैं—"महाराज! इस प्रकार जब हिरण्यकशिपु के दैत्यों ने पृथ्वी पर जाकर यज्ञयागों को बन्द कर दिया, तो देवताओं को कोई हवि ही न देता। वे भूख के कारण यज्ञ भाग से वञ्चित होकर साधारण मनुष्य जैसे पृथ्वी पर घूमते हैं, वैसे ही घूमने लगे। स्वर्ग पर तो हिरण्यकशिपु का

अधिकार ही हो गया। वहाँ भूखे देवता क्या करें? अतः अपना वेष बदल कर विपत्ति के दिनों को कष्ट से का लगे।"

छप्पय

हे शम्बर! हे नमुचि! शकुनि! सब मिलिके जाओ।
वेद विप्र गौ यज्ञ अवनि तें जाइ मिटाओ॥
यज्ञरूप हैं विष्णु, देवता यज्ञ सहारे।
विष्णु यज्ञ मिटि जाँई देव का करें विचारे॥
दुर्बल देवनि पक्ष लै, विष्णु कपट सूअर बन्यो।
समदर्शी ने छल सहित, सुहृद सहोदर मम हन्यो॥

हिरण्यकशिपु का अपने सम्बन्धियों को धैर्य देना

(४५०)

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम् ।
रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः ॥

(श्री भा० ७ स्क० २ अ० २० श्लो०)

छप्पय

अनुशासन सुनि असुर अवनि पै मिलि सब आय ।
सब वर्णाश्रम धर्म यज्ञ यागादि मिटाये ॥
भये देव अति दुखित यज्ञ आहुति बिनु पाये ।
हिरण्यकशिपु इत मातु बधुसुत पास बिठाये ॥
दई सान्त्वना सबनिकूँ, शोक मग्न जे अति भये ।
यह झूठो संसार सब, उदाहरन बहुतक दये ॥

जब हमारा कोई सगा सम्बन्धी मरता है, तो हम रोते हैं,

हिरण्याक्ष के मारे जाने पर हिरण्यकशिपु सबको समझाते हुए कह रहा है। अपनी माता दिति, हिरण्याक्ष की स्त्री और उनके बच्चों को सम्बोधन करके उसने कहा—"माताजी! ओ बहू! और देखो बेटी! तुम भी सुनो। शूरवीरों को शत्रु के सम्मुख युद्ध में शरीर त्यागना परम श्लाघनीय और प्रशंसनीय है अतः तुम्हें मेरे उस शूरवीर भाई के सम्बन्ध में तनिक भी शोक न करना चाहिए।"

दुखी होते हैं। जब हमारे किसी सम्बन्धी का सम्बन्धी मरता है तो हम उसे समझाते हैं, संसार को अनित्य बताते हैं, शोक करने को व्यर्थ बताते हैं। यह प्रथा सनातन है। स्वयं रोने के समय रोवेंगे। किन्तु दूसरे को समझाने के समय उसी रुदन की निन्दा करेंगे। अर्जुन को समझाते समय तो भगवान् ने कैसा ज्ञान दिया, किन्तु जब उनके ससुर मर गये तो—लोक दिखावे को ही सही—वे भी पिताम्बर से अपने आसुओं को पोंछ कर सिसकियाँ भरने लगे। यह लोकाचार है। रोने के समय रोना और समझाने के समय शोक करने को व्यर्थ बताना।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु अपने छोटे भाई हिरण्याक्ष को अत्यन्त ही प्यार करता था। जब उसे वाराह भगवान् ने मार डाला, तो उसे देवताओं पर और विष्णु भगवान पर अत्यन्त क्रोध आया। उसी क्रोध में भर कर उसने असुरों को अवनि पर वैदिक धर्म के नाश करने के निमित्त भेजा। असुरों ने जाकर ऐसा ही किया। देवता निर्बल बन गये। अब स्वयं भी उसने विष्णु भगवान् से बदला लेने का उद्योग किया। बिना शक्ति संचय किये, बिना अजर अमर और रण में अजेय बने विष्णु जीते नहीं जा सकते। इसलिये उसने तपस्या करने का निश्चय किया। क्योंकि तपस्या के बिना शक्ति बढ़ती नहीं।

तपस्या की जाने के पूर्व जो हिरण्याक्ष के वध से दुखी उसकी माता थी, हिरण्याक्ष की बहू थी तथा उसके पुत्र थे, उन्हें सान्त्वना देना, समझाना बुझाना आवश्यक था। इतने वीर पराक्रमी के शोक से सभी परिवार वाले अत्यन्त दुखी थे।

रो रहे थे। अतः उन सब को उसने अपने समीप बुलाया। दिति अपने छोटे पुत्र के शोक से सन्तप्त थी। हिरण्याक्ष की बहू विधवा हो जाने के कारण अत्यन्त दुखी थी। उसके शकुनि, शम्बर, धृष्ट, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्म उत्कच आदि पुत्र पिता के मर जाने से अत्यन्त चिन्तित और उदास हो रहे थे। हिरण्याक्ष ने सबको समीप बिठाकर मधुर वचनों में सान्त्वना दी और समझाते हुए कहने लगा। पहिले उसने अपनी माँ दिति से ही कहा—'अम्मा! देखो, हिरण्याक्ष सोच करने योग्य तेरा पुत्र नहीं है। संसार में शोचनीय तो वह होता है, जो शूकर कूकर की भाँति पैदा हुआ, न यश कमाया न धर्म किया पशु पक्षियों की भाँति आहार विहार में दिन बिताकर कुत्ते की मौत मर गया। वह तो अवश्य ही शोचनीय है, किन्तु जिन्होंने संसार में आकर यश कमाया, अपने प्रबल पराक्रम से शत्रुओं का हृदय दहलाया, बड़े बड़े अभिमानियों पर आतंक जमाया और सम्मुख युद्ध में हँसते हँसते शत्रु को बिना पीठ दिखाये शस्त्र के प्रहार से वीर गति को प्राप्त हुआ, ऐसा पुत्र तो परम प्रशंसनीय है। जननी ऐसे ही पुत्र से पुत्रवती कहलाती है। ऐसे ही पुत्रों से उसकी कोख सफल समझी जाती है। तेरे पुत्र ने सभी देवता और लोक पालों को वश में किया। शत्रु जिसके नाम से थर-थर काँपते थे, देवताओं के उसकी चर्चा से रोंगटे खड़े हो जाते थे, ऐसे शूरवीर का स्वयं साक्षात् विष्णु भी सामना न कर सके। उन्हें भी कपट वेष बनाकर उससे युद्ध करना पड़ा। यदि युद्ध में दुर्बल शत्रु से मारा जाय, तो भी कुछ सोचने की बात है, किन्तु प्रबल शत्रु के हाथ से तो मार जाने में भी प्रशंसा है। इसलिये तुम्हें अपने बच्चे के लिये तनिक भी सोच न करना चाहिये।

दिति ने यह सुनकर आँसू पोंछते हुए कहा—"बेटा! तू कहता तो सत्य है। मेरा बच्चा संसार में सर्व श्रेष्ठ बली था। उसका सामना कोइ भी नहीं कर सकता था। किन्तु क्या करूँ जब मैं सम्मुख इस विधवा बहू को देखती हूँ, तो मेरा हृदय फटने लगता है। ये इसके छोटे छोटे बच्चे पितृहीन होकर बिलबिला रहे हैं। मरने का समय तो मेरा था। जिस माता के सामने उसका युवावस्थापन्न पुत्र मर जाय, उसके समान अभागिनी संसार मे और कौन हो सकती है? जिसकी युवती बहू सास के सम्मुख ही अपने सिर के सिन्दूर को पोछकर विधवा बन जाय, उस बहू को देखकर कौन सास धैर्य धारण कर सकती है? मेरा क्या है बेटा, मैं तो नदी के कूल की लता के समान हूँ, कब कूल कट जाय कब नष्ट हो जाय। मुझे तो इन बच्चों का, इस भोली भाली बहू का सोच है। इन्हें तू समझा।

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने अपने छोटे भाई की बहू को जो अपने जेठ के सामने घूँघट मारे रो रही थी, जो उसकी पुत्रवधू के समान थी। सम्बोधन करके कहा—"बहू! तू इतनी बुद्धिमती होकर इस प्रकार बच्चों की भाँति विलाप कर रही है। यह बात ठीक नहीं। देख, सोच तब किया जाता है जब तेरा पति कहीं चला गया हो। अरी, पगली! वह तो यहीं है जिसकी कीर्ति संसार मे व्याप्त है. वह मरकर भी जीवित हो बना हुआ है।"

बहू ने आँसू पोछते पोछते घूँघट मे से ही सिसकियाँ भरते हुए कहा—"मुझे तो वे दीखते ही नहीं। उनके बिना मैं कैसे जीवित रह सकूँगी?"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त प्रेम के साथ भर्राई हुई वाणी मे कहना आरम्भ किया। भाई क स्मृति से उसका भी हृदय भर रहा था, किन्तु अपने को धैर्यवान सिद्ध करते हुए वह बोला—'दीखते क्यो नहीं। ये जो तेरे सामने शकुनि, शम्बर धृष्ट, भूतसन्तापन, वृक, आदि सब बच्चे बैठे है ये सब उसके ही तो प्रतिरूप हैं। पिता ही स्त्री के पेट से पुत्र बन कर फिर मे उत्पन्न होता है। इसलिए पुत्रवती स्त्री जाया कहलाती है। वह अपने पति को ही उत्पन्न करती है, उसा के तेज को उदर मे धारण करती है।"

रही सम्बन्ध की बात सो, यह ससारी सम्बन्ध तो क्षण भर का है। मार्ग मे चल रहे हैं। चलते चलते थक गये कोई पाना का पौसला देखा। कहीं तालाब का किनारा आ गया। छायादार वृक्षो को देख कर बैठ गये। कुछ पूर्व के यात्री आ गये, कुछ पश्चिम से आ गये सब मिलकर एक पेड की छाया म विश्राम करने लगे। मीठी मीठी प्रेम की बातें होने लगा। क्षण भर मे सम्बन्ध हो गया। जहाँ दोपहरी ढल गई धूप कुछ कम हो गई। कोई पूर्व चला गया, कोई पश्चिम को चला गया। सभी बिछुड गये। इसा प्रकार यह ससार रूप अध्वा है। इसम य सम्बन्ध ही बटाही हैं। भाग्यवश गृहस्थी रूपी छाया म सब मिल जाते हैं। परस्पर म प्रेम करने लगते हैं, समय आने पर फिर सब पृथक् पृथक् हो जाते हैं।"

इस पर दिति ने कहा—'हाँ, भैया कहता तो तू यथार्थ है किन्तु फिर भी अपने आदमी के मरने का शोक होता ही है।

हिरण्यकशिपु ने बात पर बल देते हुए कहा—"मरना

क्या ? मरना भी एक प्रकार का भ्रम ही है। शरीर तो मरता नहीं। यहीं पड़ा रह जाता है। जब जीव इस शरीर से पृथक् हो जाता है, तो इस शरीर के सीमित पंचभूत महाभूतों में मिल जाते हैं। रही आत्मा की बात, सो आत्मा न मरता है, न जन्म लेता है। वह तो नित्य अविनाशी, शुद्ध-बुद्ध सर्वगत तथा सर्वज्ञ है। उसका देह, इन्द्रिय, मन, आदि से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। इन सब से वह सर्वथा पृथक् है।

दिति ने कहा—"फिर भैया, वह देह धारण क्यों करता है ?"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"माँ ! वास्तव में आत्मा तो न देह धारण करता है, न छोड़ता है। वह अपनी अविद्या शक्ति से ही सुख दुःखादि गुणों को स्वीकार करता हुआ सा दिखाई देता है और लिङ्ग शरीरों में उसका भान होता है।

दिति ने कहा—"जब ये मायिक गुण आत्मा में नहीं हैं, तो इन गुणों को अपने में धारण करके वह नाना क्रियाओं को क्यों कर रहा है ? क्यों भ्रान्तवत् बना है ?"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"कल्याणि ! माता जी, आप स्वयं सोचें। आत्मा वास्तव में निर्विकार है, किन्तु अविद्या जन्य इन मायिक गुणों के कारण मन के भ्रमित होने पर आत्मा भी भ्रमित सा जान पड़ता है। वस्तुतः वह देहादि लिङ्ग से रहित होने पर भी उनसे युक्त जान पड़ता है।"

दिति ने कहा—"भैया ! यह कैसे हो सकता है।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—'देखो, माँ ! हम किसी नौका में बैठकर नदी की प्रबल धारा की ओर जाते हैं। नौका बड़े वेग से बह रही है, तो किनारे के वृक्ष हमें ऐसे लगते हैं मानो ये हमारे साथ ही साथ चल रहे हैं। यही बात वेग वाली सवारी में बैठने से दीखती है। वास्तव में वृक्ष तो स्थिर हैं, वे चल नहीं रहे हैं। नौका के चलने के कारण भ्रम से उनमें चलने की प्रतीति होती है। छोटे-छोटे बच्चे चाई माँई करके घूमते हैं भ्रमरी नृत्य करते हैं। वेग से घूमने के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो यह समस्त पृथ्वी वृक्ष आदि घूम रहे हैं। भ्रमवश अज्ञानी बालक कहते हैं—'हमारे साथ पृथ्वी भी घूम रही है। यह सब आत्मविपर्यय के कारण ही होता है।"

दिति ने पूछा—"आत्मविपर्यय, भैया ! किसे कहते हैं ?"

हिरण्यकशिपु ने कहा—'अशरीरी आत्मा में शरीर की भावना होना। असत् को सत् समझना, अनात्मा में आत्मा का आरोप करना। यही आत्मविपर्यय कहलाता है। बस यह आत्म-विपर्यय ही दुख, शोक तथा चिन्ता का हेतु है। इसी के कारण यह प्रिय है, यह अप्रिय है। यह सुख है, यह दुःख है, यह अनुकूल है, यह प्रतिकूल है। यह संयोग है, यह वियोग है। इस प्रकार के द्वन्द्वों की अनुभूति होती है। इसी आत्मविपर्यय के कारण कर्म करते हैं और उन कर्मों के द्वारा संसार में जन्म-मरण होता है। नाना प्रकार के शोक, मोह, द्वेष, भय, उद्वेग, आधि, व्याधि, अविवेक, आत्मविस्मृति तथा अनेक प्रकार की चिन्ताएँ होती हैं। इस विषय में मैं तुम सबको एक बहुत ही प्राचीन शिक्षाप्रद दृष्टान्त सुनाता हूँ। उसे तुम सब बड़ी सावधानी से सुनो। उसके सुनने से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।

नारदजी कहते हैं—"धर्मराज ! यह कहकर हिरण्यकशिपु अपनी माता, भ्रातृपत्नी तथा भतीजों को बहुत ही सुन्दर शिक्षाप्रद दृष्टान्त सुनाने लगा। उसे आप भी समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

देखो माता कौन बन्धु का को सम्बन्धी।
करें मृतक हितशोक प्रथा जग की यह अधी॥
नदी धार तृन नहें परस्पर महँ मिलि जावें।
सङ्ग सङ्ग कछु चलें फेरि इत उत बिलगावें॥
आत्मा अविनाशी अमर, सदा एकरस सर्वगत।
मायिक गुण सम्बन्ध तें, भ्रमवश दीखें भ्रान्तवत॥

यमराज और प्रेतबन्धुओं का सम्वाद

(४५१)

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यमस्य प्रेतबन्धूनां सम्वादं तं निबोधत ॥

(श्री भा० ७ स्क० २ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

नृप सुयज्ञ इक मर्यो युद्धमहँ शत्रुहाथ तें ।
दुःखित परिजन भये भूप की मृत्युबात तें ॥
मृतक देहकूँ घेरि बन्धु रोवे डकरावे ।
छाती सबई धुनें दीन ह्वैके बिललाव ॥
रामिनि रोवत देखि के, यम बालक बनि कें गये ।
विविधि भाँति कें ज्ञानते, सबकूँ समझावत भये ॥

भगवान् की माया कैसी प्रबल है, मनुष्य नित्य देखता है, संसार में कितने लोग नित्य पैदा होते हैं, कितने मरते हैं। हमारे सम्मुख कितने बच्चे पैदा हुए, कितने पैदा होते ही मर

हिरण्यकशिपु अपनी माता आदि को समझाते हुए कह रहा है—"इस सम्बन्ध में एक मृतक व्यक्ति के बन्धुओं के साथ यमराज का जो सम्वाद हुआ था वह पुराना उदाहरण कहा जाता है। उस इतिहास को तुम सब मुझसे श्रवण करो।"

गये, कितने १०।५ वर्ष के होकर मरे. कितने ही युवा होकर मर गये, कोई अधेड़ अवस्था मे कोई वृद्ध होकर मरे। हमारे कितने साथी मर गये, घर मे ही बाबा, पिता, चाचा, ताऊ, गोत्र परिवार वाले मरे, हमें भी एक दिन अवश्य मरना है, फिर प्रियजनो की मृत्यु पर लोग कितना दुख करते है, कितने रोते बिलबिलाते है यह सब भगवान् की माया का चक्कर है। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि मे जन्म भी एक खेल है, मृत्यु भी एक खेल है। जीवात्मा तो मरता नहीं। शरीरों का रूपान्तर हो जाता है। इसमे सोच करने से कुछ लाभ नहीं, क्योंकि मरा हुआ पुरुष लौटकर आ नहीं सकता। यम जिसे उठा ले गया वह चला गया।

नारदजी महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु अपनी माता, भाई को पत्नी तथा भतीजो को, समझाते हुए कह रहा है—"देखो, तुम सब ध्यानपूर्वक सुनो, मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।"

प्राचीन काल मे उशीनर देश के एक बड़े धर्मात्मा शूरवीर राजा थे। उनका नाम था सुयज्ञ। सुयज्ञ यथा नाम तथा गुण थे। उन्होने बड़े-बड़े यज्ञयाग किये थे। वे अपनी पत्नियो को दान सम्मान से सदा सन्तुष्ट रखते थे। अपने बन्धु बान्धवो मे भी बड़ा स्नेह रखते थे। सम्पूर्ण प्रजा उन्हें पिता के समान मानती थी, वे भी सबका भेदभाव और पक्षपात के बिना पुत्र के समान पालन करते थे। एक समय की बात है कि शत्रुओं ने एक साथ मिलकर उन पर चढ़ाई की। राजा शूरवीर और योद्धा तो थे ही। उन्हें अपने बाहुबल का भरोसा था। अतः वे

शत्रुओं से लड़ने गये। कई शत्रुओं ने अकेले राजा को घेर लिया और उन्हें मार डाला।

राजा की रानियों ने जब अपने प्राणनाथ के परलोक प्रयाण का दुःखद समाचार सुना तो वे छाती पीटती हुई रण भूमि की ओर नंगे पैरों ही बिना सवारी के पैदल चलीं। राजा के बन्धु बान्धव, पुत्र तथा मन्त्री पुरोहित भी शोक सन्तप्त हुए आँसू बहाते हुए राजा को देखने चले। रानियों और राजपरिवार के लोगों को आते देखकर धर्मतः शत्रु सेना वहाँ से हट गई और राजपरिवार के लिये सभी सुविधायें कर दीं। रानियों ने जब अपने प्राणेश्वर को पृथ्वी में रक्त से लथपथ पड़ा देखा, तो उनके दुःख का ठिकाना नहीं रहा। महाराज जो रत्न जड़ित कवच अपने अङ्ग में पहिने थे, वह बाणों तथा अन्य अस्त्रों के प्रहार से छिन्न-भिन्न हो गया था, उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे थे। मणि मुक्ताओं की मालायें जहाँ तहाँ बिखरी पड़ी थीं। हृदय में अनेकों बाण बिँध रहे थे। उनसे रक्तस्राव हो रहा था। सिर के सुन्दर शोभायमान बाल इधर उधर बिखरे हुए थे। नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई थी। क्रोध के कारण वे दाँतों से ओठ को काट रहे थे। उनका मुखारविन्द म्लान हुआ धूलि से धूसरित हो रहा था। कहीं तूणीर पड़ा था। कहीं टूटा हुआ धनुष पड़ा था। उनके प्राण परेरू शरीर त्याग करके परलोक को प्रयाण कर गये थे।

राजा को इस दशा में देखकर उनकी सब रानियाँ उसी प्रकार चिंघाड़ मारने लगीं जैसे यूथपति के मारे जाने पर हथिनियाँ चिंघाड़ मारती हैं। उन स्त्रियों ने लज्जा का परित्याग कर दिया था। जिन्हें सूर्य भी कभी नहीं देख सकता था, उन्हें

आज साधारण सैनिक बिना बाधा के देख रहे थे। उनके नेत्रों से श्रावण भादो के मेघ के समान अश्रुओं की धारा बह रही थी। वे मृतक महाराज के चरणों को अपने वक्षस्थलों पर धारण करके रो रही थीं। सिर धुन धुनकर कह रही थीं—"हा नाथ! हम तो बिना मौत के ही मारी गईं। हे प्राणनाथ! आप हम सबका परित्याग करके अकेले ही कहाँ चले गये।

अत्यन्त शोक के कारण जो उनके अश्रु कपोलों के द्वारा बहकर वक्षःस्थल पर आते और वहाँ कुच कुंकुम की अरुणिमा को साथ लिये हुए प्रियतम के पादपद्मों पर पड़ते तो ऐसा प्रतीत होता था, मानों वे अपने हृदय के स्निग्ध अनुराग से पति के पैरों का प्रक्षालन कर रही हों।

वे रो रही थीं, शोक में हिल डुल रही थीं, मृतक पति के अंगों का आलिङ्गन कर रही थीं, उनके सिर के वस्त्र उतर गये थे, केश पाश अस्त व्यस्त हो गये थे। उनमें लगी मालती सुमनों की माला गिर गई थी, उनकी आँखों का अञ्जन धुल गया था। सम्पूर्ण शरीर रक्त से सन गया था, वे कुररी पक्षिणियों की भाँति करुण क्रन्दन करती हुई कह रही थीं—"हाय! निर्दयी विधाता! तूने यह क्या किया? हमारे साथ ऐसा अन्याय क्यों किया? हमने तेरा क्या बिगाड़ा था, तैंने हमसे किस वैर का बदला लिया। असमय में तैंने हमें अपने प्राणेश्वर से पृथक् कर दिया। ऐ निर्दयी दैव! तुझे दया भी नहीं आती। अबलाओं पर अपना बल दिखाते हुए तुझे लज्जा भी नहीं लगती, हम अब किसके आश्रय में रहें। किनका कमलमुख देखकर जीवन धारण करें।"

इस प्रकार वे विधाता को उपालम्भ देती हुई फिर अपने

पति को सम्बोधन करके कहने लगी—'स्वामिन्! हे प्राण नाथ हे जीवन सर्वस्व! आपतो अपनी प्यारी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे, आपतो सब के वृत्ति दाता तथा भय त्राता थे। भयभीत हुई हम सबको आप भय से क्यो नहीं बचाते? हम दुखियों को हमारे सिर पर अपना सुखस्पर्शी करकमल रखकर हमें धैर्य क्यों नहीं बँधाते? आप हम असहाय अबलाओं को अनाथ करके अकेले ही परलोक को क्यो चले गये। आप जैसे अत्यन्त कृतज्ञ प्रियतम के बिना हम सब कैसे जीवित रह सकगी? किनका स्नेहभरित मधुमय मजुल मुख देख कर प्राण धारण कर सकेंगा? हे पृथिवीपते! हम पत्नियो से उदासीन होकर आप पृथिवी का आलिंगन किये चिरकाल से क्यों पडे हैं। यह आपके अयोग्य है। आपतो सदारत्न जडित शैया पर शयन किया करते थे। हे वीर! यदि आपने भूमण्डल को परित्याग करके परलोक जाने का निश्चय ही कर लिया है, तो आप अकेले न जायँ। वहाँ अपकी सेवा कौन करेगा। आप हम सब को भी साथ ले चले। हम सदा से आप क चरणों की चेरी रही हैं। हमारे अधिकार पर आघात न करें हमार स्वत्व को न छीनें, हे देव! हमें भी आप अपने सग ही ले चलो।"

हिरण्यकशिपु कह रहा है—'देखो, जब वे स्त्रियाँ अपने मृतक पति से लिपट कर इस प्रकार शोक करती हुई करुण क्रदन करने लगीं तब सभी का हृदय फटने लगा। सूर्यास्त हो रहा था, राजा के बन्धु बान्धव महाराज के मृतक शरीर का दाह सस्कार करना चाहते थ, क्योंकि रात्रि में तो दाह सस्कार हो नहीं सकता, किन्तु शोक के कारण वे स्त्रियाँ राजा के शरीर को किसी भी प्रकार छोडने तैयार

नहीं थी तब राजा के समस्त परिवार के लोग अत्यन्त ही दुखी हुये।

उन सबको इस प्रकार दुखी देखकर सहसा न जाने कहाँ से एक ४, ५ वर्ष का बालक वहाँ आ गया। वह मैले कुचैले वस्त्र पहिने हुये था। उसके मुख पर मद मुस्कान छिटक रही थी। देखने मे वह बड़ा तेजस्वी जान पडता था। राजा की रानियाँ और उनके बधु बान्धवों को इस प्रकार शोक मे मग्न हुआ देखकर स्वय अपने आप कुछ कहने लगा मानो आकाश से बातें कर रहा हो।

उसने उपेक्षा के स्वर मे कहा—'देखो, भगवान् की कैसी प्रबल माया है। ये रोने वाले स्त्री पुरुष मुझसे अवस्था मे कितने बड़े हैं। कितने लोगों को नित्य मरते देखते हैं। फिर भी इन्हे बोध नहीं होता। यद्यपि मैं बालक हूँ। अभी मेरी अवस्था बहुत छोटी है, फिर भी मुझे कोई विशेष दुःख नहीं होता। इनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर दया के कारण मुझे दुःख हो रहा है। ये सब ससार की जन्म मरण रूप गति को निरन्तर देखते हैं, देखते हुये भी ये अन्धे हो रहे हैं। हमे जाल मे जकडे हुये हैं। बताइये, सोच करने की इनमे कौन सी बात है। अरे, सुयज्ञ सदा तो यहाँ रहने वाला नही था। कहीं से आया था, जहाँ से आया था, वहाँ चला गया। इसके लिये रोना धोना व्यर्थ है। अच्छा, यदि ये रोने वाले भी सदा यहीं बने रहे, तो भी रोने का कुछ अर्थ हो सकता है। ये स्वय भी मरणधर्मा हैं। एक दिन इन सबको भी मरना है, इसीके पथ का अनुसरण करना है, फिर रोने का काम क्या?

हिरण्यकशिपु कह रहा है—'हे माताजी! उस बालक

की बातों को ध्यानपूर्वक सुनो। बहू सुनती है? तू भी कान खोलकर सुन ले। बेटाओ, तुम भी उस बालक के वचनों

पर विचार करो। देखो, उसने कैसी ज्ञान की गूढ़-गूढ़ बातें कहीं। सब को सावधानी से सुनो और सुनकर मनन करो, तब तुम्हारा सब शोक मोह दूर हो जायगा।

छप्पय

बोले अपने आप अहा अद्भुत हरि माया।
पति है का को कौन कौन काकी है जाया॥
नितई देख मरत न सोचें तोऊ प्रानी।
काल न देखें दीन दुखी राजा अरु रानी॥
आयो जहँ तें जिह, करे तहाँई गमन हैं।
स्वय तहाँ सब जायगे, व्यर्थ शोक दुख रुदन हैं॥

सबके रक्षक श्रीहरि ही हैं

(४५२)

अहो वयं धन्यतमा यदत्र,
त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः ।
अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः,
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥
(श्री भा० ७ स्क० २ अ० ३८ श्लो०).

छप्पय

शिशुपन ते ई हमे पिता माता ने त्याग्यो ।
कोई ढिँग नहिँ रखे कह सब जड़ो अभागो ॥
है अनाथ वन माँहि फिरे तह तर सो जाव ।
भोजन हू मिलि जाइ भेड़िया सिंह न खावे ॥
मृत्यु समय यदि निकट नहिँ, रहे चाहिँ वन महँ परयो ।
करें सदा पालन जिननि, गर्भ माँहिँ पालन करयो ॥

काल को दुर्निवार बताया है। मृत्यु को कोई टाल नहीं सकता। जन्म के साथ ही साथ मृत्यु उत्पन्न होती है। मृत्यु की घड़ियाँ जन्म लेने के साथ ही माता के उदर मे ही निश्चित

प्रेतबन्धुओं से बालक रूपधारी यम कह रहे हैं—"अहो ! हम ही परम धन्य हैं, क्योंकि हमे हमारे माता पिता ने परित्याग कर दिया है,

हो जाती हैं। वयमाता अपनी लेखनी से लिलार में लिख देती है, इसकी मृत्यु अमुक समय में अमुक के द्वारा अमुक स्थान में होगी। जो वयमाता ने लिख दिया उसे कोई मेट नहीं सकता। उसकी अलीक लिपिको कोई अन्यथा नहीं कर सकता। विधि के लेख पर मेख मारने की सामर्थ्य किसकी है। जिसका काल नहीं आया है, उसे कोई किसी भी उपाय से न मार सकेगा। उसे विष दे दीजिये पच जायगा या वमन होकर निकल जायगा। विषधर सर्प से कटा दीजिये कुछ न होगा। पर्वत से गिरा दीजिये जीवित बच जायगा। सहस्रों अस्त्र शस्त्रों के प्रहारों को सह कर भी वह सकुशल लौट आवेगा। इसके विपरीत जिसका काल आगया है वह कंकड़ी से मर जायगा। छींक आते ही प्राण निकल जायँगे बैठे-बैठे, खाते पीते, बोलते चालते हृदय का गति रुक जायगा। इसलिये अवश्यम्भावी मृत्यु के लिये सोच न करना चाहिये। मृत्यु का आना अवश्यम्भावी है, जो पैदा हुआ है उसे एक दिन अवश्य मरना है, उसे कोई किसी भी उपाय से अन्यथा नहीं कर सकता। जो दुर्निवार वस्तु है, उसके लिये सोच करना मूर्खता है।

हिरण्यकशिपु अपनी माता बहन और भतीजों को समझाते हुये कह रहा है— देखो! जब सुयज्ञ की रानी विलाप कर रही थीं तो उस बालक ने हँसकर कहा—"देखो! ये इतनी बड़ी बड़ी अवस्था के स्त्री पुरुष इस प्रकार अनाथों की भाँति रुदन कर रहे हैं। इनके घर है, द्वार है, धन है परिवार है। फिर भी ये अपने को दुखी समझ रहे हैं। इसलिये कि इनका सगा

फिर भी हम चिन्ता नहीं करते। हमारे में बल नहीं है, फिर भी जंगल में रहने पर भी हमें भेड़िये आदि हिंसक जन्तु नहीं खाते। सच है जिसने गर्भ में रक्षा की है वही अब भी करेगा।"

सम्बन्धी राजा मर गया है। अब जो मर गया सो मर गया। मरा हुआ लौटकर तो आ नहीं सकता। जिसका काल आ गया है, उसे कोई बचा नहीं सकता और जिसका काल नहीं आया उसे कोई किसी भी उपाय से मार नहीं सकता।

हम बाहर दृष्टान्त खोजने कहाँ जायँ, हम अपनी ही बात बताते हैं। एक दरिद्र के घर में हम उत्पन्न हुए। बाल्यकाल में ही हमारे माता पिता हमें अबोध छोड़कर मर गये। हम अनाथ और असहाय हो गये। किसी सगे सम्बन्धी ने हमें आश्रय नहीं दिया। घोर अरण्य में आकर हम भाग्य के सहारे बैठ गये। हमने निश्चय कर लिया यदि हमारी मृत्यु है, तो हमें कोई कितना भी सुख देकर बचा नहीं सकता। यदि हमारी मृत्यु अभी नहीं है तो हमें कोई किसी भी उपाय से मार नहीं सकता। इसी धारणा को दृढ़ करके हम स्वच्छन्द होकर वनों में विचरते हैं। न उधो का लेना, न माधो का देना। प्रारब्ध-वश जो मिल जाता है उसे खा लेते हैं। गङ्गा जी के स्वच्छ निर्मल पापहारी पय को पी लेते हैं और वृक्षों के नीचे पड़े रहते हैं। हमें न तो कोई सिंह आकर खाता है, न व्याघ्र। न चीता आता है न भेड़िया। रीछ निकट से निकल जाते हैं सर्प कभी कभी साथ ही सो जाते हैं। न कोई काटता है, न सताता है, क्योंकि हमारा अभी काल नहीं आया। जिस दिन काल आगया, उस दिन बड़े बड़े महलों में रहें तो वहाँ भी नहीं बच सकते। न तो कोई मनुष्य किसी को मार सकता है, न जिला सकता है। इसी सुयज्ञ ने न जाने कितनों को युद्ध में परास्त किया था, उस समय कोई इसका बाल भी बाँका न कर सका। अब इसकी मृत्यु का समय आ गया, शत्रु के

हाथी मारा गया। इसमें शोक संताप करने की कोन सी बात है देखो, चन्द्रहास को मारने के लिये कितने कितने उपाय किये गये तो भी वह मरा नहीं। उल्टे भगवान् की कृपा से उसका वैभव हुआ बड़ा अनाथ से राजा हो गया।

इस बात को सुनकर शौनक जी बोले—"महाभाग! चंद्रहास को शत्रुओं ने क्यों मारना चाहा और वे कैसे बच गये। इस कथा को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है। आप उचित समझें तो इस उपाख्यान को हमें सुनावें।

शौनक जी की बात सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! यह बड़ा ही सुन्दर रोचक और शिक्षाप्रद कथानक है। इसे आप सब को सुनाता हूँ आप समाहित चित्त से श्रवण करें। एक बड़े धर्मात्मा राजा थे। उनके यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र सर्वाङ्ग सुन्दर था। उसका मुखमंडल भव्य था, देखने में वह अत्यन्त ही मनोहर लगता था। उसके अङ्ग सुडौल थे सुवर्ण के समान उसका वर्ण था। सर्वगुण संपन्न होने पर भी उसमें एक दोष था। वह व्यङ्ग था ५ के स्थान में एक हाथ में उसके ६ उँगलियाँ थीं। ज्योतिषियों ने बताया—"महाराज विशेष अङ्ग वाला बालक माता पिता के लिये अशुभ होता है, उस पर धन ठहर नहीं सकता। अतः आप इस पुत्र का परित्याग कर दें।"

राजा के एक ही पुत्र था, वह भी वृद्धावस्था में हुआ था। ऐसे सुन्दर पुत्र को वे कैसे परित्याग कर सकते थे। उन्होंने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया और पुत्र का अत्यन्त स्नेह के साथ लालन पालन करने लगे।

सब समय एक सा नहीं रहता। दुख के पश्चात् सुख और

सुख के पश्चात् दुख यह चक्र सदा चलता ही रहता है। न संसार में कोई सदा सुखी ही सुखी रहा है न दुखी ही दुखी, अब तक जो राजा सभी सुखों का उपभोग करते थे और अपने पुत्र चन्द्रहास को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे, उन्हीं पर सहसा उनके शत्रु राजा ने चढाई कर दी। युद्ध में राजा मारे गये। रानी ने पति की मृत्यु का समाचार सुनते ही अपने शरीर का परित्याग कर दिया। अब केवल मातृ पितृ विहीन ३।४ वर्ष का राजकुमार चन्द्रहास ही उस काल में बच गया। कुमार की धाई कुमार को पुत्र से भी बढकर प्यार करती थी। उसने जब देखा कि कुमार ही रह गया है, यदि यह शत्रु के हाथों पड़ जायगा तो शत्रु इसे भी मार डालेंगे। अत. बडे कौशल से कुमार को छिपाकर वह गुप्त मार्ग से राजधानी के बाहर हो गई। उसने कुमार को फटे पुराने जीर्ण शीर्ण वस्त्र पहिना दिये थे। वह गाँवों में जाकर भी भीख माँगती और सब से कहती यह अनाथ बालक है। मैले कुचैले वस्त्रों में कामदेव के समान शिशु को देखकर सभी चकित हो जाते। और उसे दयावश कुछ न कुछ दे देते। इस प्रकार वह धाई माँगती खाती कुन्तल देश में पहुँची। वहाँके राजा बडे धार्मिक थे। राज्यका समस्त भार अपने प्रधान मन्त्री धृष्टबुद्धि को सौंप रखा था। वैसे धृष्टबुद्धि राज्य काज में तो बड़ा प्रवीण था, किन्तु बडा हठी था। जिस बात को वह निश्चित कर लेता उसे शक्ति भर करके ही छोडता था। राज्य में उसकी बड़ी धाक थी। सभी उसके नाम से डरते थे, राजा तो नाममात्र के राजा थे, वास्तव में कुन्तल देश का धृष्ट-बुद्धि ही बिना छत्र का राजा था। उसका एक पुत्र था जिसका नाम मदन था। वह बडा ही सरल तथा साधु स्वभाव का था।

माता पिता का आज्ञाकारी और साधु सेवक था। धाय ने कुन्तल देश मे आकर लोगों से कहा—"मुझे कोई नौकर रखलो जिससे मैं अपने इस बच्चे का पालन पोषण कर सकूँ।"

उस बच्चे के ऐसे रूप लावण्य को देखकर नगर निवासियों ने कहा—"माता जी! आप महामंत्री धृष्टबुद्धि जी के समीप जायँ, उनसे आप प्रार्थना करेंगी तो वे आपको अवश्य ही आश्रय देंगे।"

धाई यह सुनकर धृष्टबुद्धि के समीप गई। सयोग की बात कि महामंत्री द्वार पर ही खड़े मिल गये। धाय ने जाकर दीनता भरे स्वर मे रोकर कहा—"अन्नदाता! मैं अनाथ निराश्रिता अबला हूँ। विपत्ति मे पड़कर इधर से उधर भटक रही हूँ। मेरा यह ३-४ वर्ष का बच्चा है, इसे लेकर मैं आपकी शरण आई हूँ। मुझे कोई टहल मजदूरी मिल जाय तो मैं इस बच्चे का पालन कर सकूँ।"

उस बच्चे की भोली भाली सूरत देखकर महामन्त्री को दया आ गई और उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, तू यहाँ महलो मे रहकर जो तुझसे बने काम कर दिया कर, तेरी सभी आवश्यकताओं की यहाँ पूर्ति होगी।"

धाय ने महामन्त्री का जयजयकार किया और वह उनके महलो मे रह कर टहल चाकरी करने लगी। चन्द्रहास को आश्रय मिला। वह महामन्त्री के बच्चो के साथ खेलने लगा। यहाँ कोई काम तो था ही नहीं, सुख पूवक दिन कटने लगे।

कहीं भी चले जाओ भाग्य तो साथ ही जाता है। भाग्यवान को सर्वत्र सुख ही सुख मिलता है, किन्तु भाग्यहीन सुमेरु पर भी चला जाय तो वह पत्थर सा दिखाई देने लगता है। चन्द्रहास के दुर्भाग्य का अभी अंत नहीं हुआ था। वर्ष दो वर्ष के पश्चात् उसकी धात्री भी उसे अनाथ बनाकर इस लोकका परित्याग करके परलोकगामिनी हो गई। अब तो चन्द्रहास सभी ओर से आश्रय-हीन हो गया। जब मनुष्य सभी ओर से निराश हो जाता है, तब उसे भगवान् का स्मरण होता है। भगवान् को तो निर्बल के बल, निर्धन के धन और निराश्रय के आश्रय कहा ही गया है। जो सब ओर निराश्रय हो जाता है, अपना पुरुषार्थ खो बैठता है, उसे भगवत् कृपा का अनुभव होता है। चन्द्रहास ने भी देखा संसार में अब मेरा कोई नहीं है। एकमात्र श्रीहरि ही मेरी शरण हैं। यह सोचकर वह आर्त्तस्वर से एकान्त में रो रो कर भगवान् को पुकारने लगा। संयोग की बात कि उसी समय एक महात्मा वहाँ पधारे। इस बालक की ऐसी निष्ठा देखकर उन्होंने इस पर कृपा की। भगवान् के नाम का उपदेश दिया और श्री शालिग्राम की एक बटिया इसे पूजन करने के लिये दी और कह दिया—"ये भगवान् हैं, सदा इन्हें स्नान करा के चरणामृत लेना और इन्हें भोग लगाकर ही प्रसाद पाना।"

चन्द्रहास को मानो निधि मिल गई। भगवान् शालिग्राम को पाकर वह परम प्रसन्न हुआ। उन्हें वह कहाँ रखता, कोई स्थान उनके लिये नहीं था अतः वह भगवान् के श्री विग्रह को अपने मुख में सदा रखे रहता। प्रातः नदी किनारे चला जाता,

नित्य कर्मों से निवृत्त होकर वह नदी में स्नान करता फिर मुख से भगवान् शालिग्राम को निकालता, स्नान कराता वहीं से शुद्ध मृत्तिका लेकर तिलक लगाता, जंगल से कोई फल फूल मिल जाता तो भगवान् को नैवेद्य चढ़ाता और पूजा करके उन्हें पुनः मुख में धारण कर लेता। प्रेम में भर कर भगवान् के नामों का कीर्तन करता रहता। गद्गद् कण्ठ से प्रभु की स्तुति करता और स्तुति करते- करते उनके ध्यान में तन्मय हो जाता। घर में आकर उसे मन्त्री के यहाँ से जो कुछ भोजन को मिलता पहिले उसे भगवान् का भोग लगता, तब उसे प्रभु का प्रसाद समझ कर प्रेम पूर्वक पाता। इस प्रकार वह निरन्तर भगवान् के ध्यान और भगवत् परिचर्या में निमग्न रहने लगा। महामंत्री धृष्टबुद्धि की एक २-३ वर्ष की छोटी पुत्री थी उसका नाम था विषया। वह बड़ी ही सुन्दरी थी। महामंत्री का उसके ऊपर सहजस्नेह था। एक पुत्री होने के कारण वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते। लड़की बड़ी ही भोली भाली चंचल और होनहार थी। जो भी उसे देखता वही उसे प्रेम से गोद में उठा लेता और प्यार करता। लड़की चन्द्रहास के साथ खेला करती थी। चन्द्रहास की अवस्था ६, ७ वर्ष की थी उस कन्या की अवस्था २-३ वर्ष की थी दोनों ही परस्पर में एक दूसरे को प्यार करते थे।

एक दिन महामन्त्री के यहाँ कोई पर्व का महोत्सव था। दूर दूर से संत महात्मा और ब्राह्मण उत्सव में पधारे थे। महामन्त्री ने उन सबका सत्कार किया, बड़ी धूम धाम से उत्सव होता रहा। उसी उत्सव में महामंत्री ने अपनी छोटी कन्या को ले जाकर महात्माओं के चरणों में डाला और पूछा— "महात्माओ! मेरी यह प्राणों से भी प्यारी पुत्री है। आप लोग

सर्वज्ञ हैं, यह बतावें इसका भाग्य कैसा है? इसे अच्छा घर वर तो मिलेगा?"

महामन्त्री जब महात्माओं से यह पूछ रहे थे, तब चन्द्रहास भी वहीं बैठा था। उन सन्तों में से एक वृद्ध संत उस बच्चे का हाथ देखने लगे। सहसा उनकी दृष्टि चन्द्रहास के तेजस्वी मुख मंडल पर पड़ी। उन्होंने बालक चन्द्रहास को अपने समीप बुलाया। उसके सभी अङ्गोंके लक्षण देखकर महामंत्री से बोले—"मन्त्री जी आप बुरा न मानें तो मैं एक बात कहूँ?"

मन्त्री जी ने बड़े उल्लास के साथ कहा—"नहीं, भगवन्! बुरा मानने की कौन सी बात है, आप जो कहना चाहें निःसंकोच होकर कहें।"

इस पर वे वृद्ध संत बोले—"देखिये, मन्त्री जी! यह जो बालक है, बड़ा प्रतापशाली है। भविष्य में यही आपका स्वामी होगा और यही आप की पुत्री का पति भी होगा। अतः आप इसका श्रद्धा और सावधानी के साथ पालन पोषण करें।"

यह सुनकर धृष्टबुद्धि को तो मन ही मन बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा—"यह तो मेरा घोर अपमान है। मैं तो सोच रहा था, अपनी पुत्री का विवाह किसी राजकुमार के साथ करूँगा। मुनि कहते हैं, यह अनाथ दासी पुत्र मेरा जामाता बनेगा और मेरा स्वामी भी। ऐसा मैं कभी न होने दूँगा। यह तो मेरा घोर अपमान है। अब तक जो दास बनकर मेरे टुकड़ों से पला है, उसे मैं अपनी कन्या कैसे दे सकता हूँ, कैसे इसके पैर पूज सकता हूँ। किस प्रकार इसके अधीन होकर इसकी आज्ञा का पालन कर सकता हूँ। सम्भव है ऋषियों ने कुछ

सोचा हो। अब तो यह मेरे अधीन है। इसे अभी से क्यों न मरवा दूँ। "न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी" मूल के छिन्न होने पर उसके शाखा पत्ता कैसे निकल सकते हैं। जब यह रहेगा ही नहीं तो मेरा जामाता तथा राजा कैसे बन सकेगा।" यह सोचकर उसने अपने भावों को छिपाते हुए कहा—"भगवन्! दैवगति विलक्षण है। पता नहीं क्षण में क्या से क्या हो जाता है। जो होने वाला होगा, वह होगा ही।" यह कह कर वह अपनी पुत्री को गोद में लेकर भीतर चला गया। इधर उत्सव भी समाप्त हो गया। संत महात्मा अपने अपने स्थानों को चले गये।

दूसरे दिन महामन्त्री धृष्टबुद्धि ने वधिकों बुलाकर कहा—"देखो, तुम इस दासी के नीच बच्चे को घोर जंगलमें लेजाओ। वहाँ इसका वध करके नदी में फेंक आना। बड़ी सावधानी से यह कार्य करना किसी को मालूम न होने पावे।"

वधिकों ने हाथ जोड़ कर महामन्त्री की आज्ञा शिरोधार्य की। जब रात्रि हो गई तो उस बच्चे को पकड़कर वे जंगल में ले गये। उजाली रात्रि थी, एक सघनवन में चट्टान के ऊपर वधिकों ने चन्द्रहास को बिठा दिया। उन्होंने चमचमाता हुआ खड्ग निकालकर चन्द्रहास से कहा—"ओ बच्चे! अब तुझे जो करना हो वह कर ले। अब हम तेरा सिर धड़ से पृथक् करते हैं?"

चन्द्रहास ने आश्चर्य के साथ पूछा—"भाइयो! तुम मुझे क्यों मारना चाहते हो? मैंने तुम लोगों का क्या बिगाड़ा है?"

इस पर एक वधिक बोला—हमारा तो तुमने कुछ भी नहीं

बिगाड़ा है, किन्तु महामन्त्री की ऐसी ही आज्ञा है। हम तो उनके अधीन हैं, हमारा काम ही हत्या करने का है, जिसे मारने की हमें आज्ञा मिलती है उसे मार डालते हैं।"

इस पर चन्द्रहास ने कहा—"अच्छा भैया! यदि तुम मुझे मारना ही चाहते हो, तो मुहूर्त भर ठहर जाओ मैं अपने भगवान् की पूजा स्तुति कर लूँ, तब तुम मुझे प्रसन्नतापूर्वक मार डालना।"

इस पर एक युवक से वधिक ने कहा—"हम इतनी देर नहीं रुक सकते।"

यह सुनकर उन सबमें जो श्रेष्ठ था, जो सबका चौधरी था वह बोला—"भगवान् की पूजा करना चाहता है, कर लेने दो। हमें और काम ही क्या है।"

चौधरी की बात सुनकर सभी सहमत हो गये। समीप ही एक जल का स्रोत बह रहा था। चन्द्रहास ने स्नान किया। मुख से शालिग्राम निकाले। विधिवत् पूजा की और नेत्र बन्द करके वह अत्यन्त ही करुणाभरी वाणी में भगवान् की स्तुति करने लगा। वह समझ रहा था यह मेरी अन्तिम स्तुति है, अतः उसका हृदय भर रहा था। इच्छा न होने पर भी दोनों नेत्रों से अश्रुओं की दो धारायें बह रही थीं। गद्गद् कण्ठ से वह ममता भरी वाणी में प्रभु को पुकार रहा था। उसके करुण क्रन्दन और प्रेमोद्रेक के कारण पत्थर भी पिघल गये, वायु की गति रुक गई, प्रकृति स्तब्ध हो गई। वधिकों के मनमें भी दया उत्पन्न हो गई। वे सोचने लगे—"महामन्त्री न जाने क्यों इस फूल से बच्चे का वध कराना चाहते हैं। इसने किसी का क्या अपकार किया होगा। कैसा भोला-भाला बालक है। भगवान् में

इसका कैसा अनुराग है। कैसी इसकी निर्मल बुद्धि है, भगवान में कैसी इसकी भक्ति है। हम लोग इसे बिना अपराध क्यों मारें ?"

वधिक ये बातें सोच रहे थे कि इतने ही में चन्द्रहास पूजा स्तुति से निवृत्त होकर वधिकों के समीप आया और अपनी भोली भाली सरल वाणी से विनयपूर्वक बोला—"भाइयो ! अब तुम मुझे मार सकते हो ?"

यह सुनकर उसी बूढ़े वधिक ने पूछा—"बेटा ! महामन्त्री का तुमने क्या अपराध किया था। वे तुम्हें क्यों मरवाना चाहते हैं।"

चन्द्रहास ने कहा—"भैया ! मुझे तो पता ही नहीं, वे मुझे क्यों मरवाना चाहते हैं। वे तो सदा मुझे पुत्र की भाँति प्यार करते थे।"

इस पर बुड्ढे वधिक ने कहा—"अच्छा, देखो ! यदि तुम कभी भूलकर भी फिर महामन्त्री के समीप न जाओ तो हम तुम्हें जीवित ही छोड़ देंगे।" बोलो, तुम्हें यह बात स्वीकार है न ?"

चन्द्रहास ने कहा—"मुझे अब उनके समीप जाने की क्या आवश्यकता है ? अब तो मैं एकान्त जंगलों में विचरूँगा और भगवान् का भजन करूँगा।"

चन्द्रहास के सरलता तथा सुकुमारता पर रीझकर वधिकों को उसे मारने का साहस न हुआ। उनके मनमें भी दया का संचार हो गया। चिन्ह ले जाने के लिये उसकी जो एक अधिक उँगली थी वह काट ली। उँगली कटने से बालक अचेत सा हो

गया। उसे उसी अवस्था मे छोडकर वधिक नगर को चले गये। चन्द्रहास वहीं अचेत बना पडा रहा। महामन्त्री के समीप जाकर वधिकों ने निवेदन किया—"महाराज हम आपके आज्ञानुसार उस बच्चे को मार आये हैं, चिन्ह स्वरूप उसकी यह अधिक उँगली ले आये हैं।"

महामन्त्री को यह सुनकर बडा सन्तोष हुआ। उन्हे सन्देह के लिये तो कोई स्थान ही नहीं था। वे सोचते थे वधिक मेरी आज्ञा का उल्लघन कर ही नहीं सकते। अतः उन्हे निश्चय हो गया कि मेरा शत्रु मारा गया। उसके वध की बात सुनकर महामन्त्री निश्चिन्त हो गये। जिसकी भगवान् रक्षा करते है, उसे कोई प्रयत्न से रोक नहीं सकता। दैव की गति को कोई पुरुषार्थ द्वारा अन्यथा नहीं कर सकता। चन्द्रहास का अशुभ लक्षण जाता रहा। छटी उँगली कट जाने से उसके भाग्योदय का समय आ गया। वह घोर जगल मे अकेला अचेत अवस्था मे पड़ा था। बहुत से पक्षी अपने पङ्खों को फैलाकर उसको छाया कर रहे थे। उसी समय दैवयोग से मृगया करते हुए कुलिदनरेश वहाँ आ पहुँचे।

किसी मृग का पीछा करते हुये वे अपने सैनिको और साथियों से बिछुड गये थे। अतः वे अकेले ही थे। घोर जगल मे उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमार बालक को पक्षियों से घिरा हुआ देखा। पक्षी उसके ऊपर अपने पङ्खों से छाया कर रहे थे। राजा उस बालक के ऐसे तेज को देखकर स्तम्भित रह गये। उन्होंने सोचा—"बाल्यकाल मे ही जब इसका ऐसा प्रभाव है, तो बड़े होने पर तो न जाने यह क्या करेगा।'

कुलिन्द नरेश कुन्तल नरेश के मण्डलीक करद राजा थे, उनके कोई सन्तान नहीं थी, अरण्य में इस बालक को देखकर उनका चित्त स्वतः ही इसकी ओर आकर्षित हो गया। जब जैसा होना होता है वैसी ही लोगों की बुद्धि हो जाती है। चन्द्रहास का अब अभ्युदय का समय आ गया था। राजा उसे बड़े सत्कार से अपने घर ले गये। रानी इस इतने रूप लावण्य युक्त सुन्दर सुकुमार बच्चे को पाकर परम प्रसन्न हुई और दोनों ने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। समस्त प्रजा में बड़ा आनन्दोत्सव मनाया गया। राजा रानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। राजमहल में रहकर चन्द्रहास शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। वह बाल्यकाल से ही साधु सेवक तथा भगवद्भक्त था। अतः सर्वत्र उसकी भक्ति की ख्याति हो गई। चारों दिशाओं से सन्त महात्मा और पण्डितगण आ आकर उसे दर्शन देने लगे। वह भी तन से मन से तथा धन से सबकी यथोचित सेवा करता। फिर क्या था, अब तो सर्वदा साधु सन्तों की भीड़ लगी रहने लगी। सर्वत्र कथा कीर्तन की धूम सी मची रहती। नित्य ही उत्सव सा होता रहता।

कुलिन्द नरेश अपने पुत्र के ऐसे व्यवहार से फूले नहीं समाते थे। जितना ही चन्द्रहास अधिक व्यय करता, उतना ही उन्हें हर्ष होता। इसी कारण कई वर्षों से कुलिंद नरेश के यहाँ से 'राज्यकर' न जा सका।

एक दिन महामन्त्री धृष्टबुद्धि ने राजा से कहा—"प्रभो! हमारे सभी मण्डलीक राजा नियत समय पर कर भेज देते हैं। किन्तु कुलिंद नरेश ने इधर कई वर्षों से वार्षिक कर नहीं भेजा। आज्ञा हो तो उस पर चढ़ाई करके उसे बन्दी बना लाऊँ। मेरी

पुत्री भी अब सयानी हो गई है। उधर से ही मैं उसके लिये कोई वर भी खोज लाऊँगा।

कुन्तल नरेश धर्मात्मा थे, उन्होंने सुन रखा था कि आज कल कुलिंद नरेश बड़ा दान पुण्य करते हैं, उन्होंने किसी लड़के को भी दत्तक पुत्र बना लिया है। अतः वे अपने प्रधान मन्त्री से बोले—"मन्त्रीजी! यदि कोई व्यसन में पड़कर राज्यकर न देता, तब तो उसके ऊपर चढ़ाई करना उचित भी था। वह तो साधु सेवा ही करता है। अतः तुम सेना लेकर उसकी राजधानी को घेर लो, केवल डरा धमका कर उससे थोड़ा बहुत कर ले आओ। उसे कोई क्षति मत पहुँचाना।

हमने सुना है राजा ने कोई पुत्र गोद लिया है, यदि वह योग्य हो, तो उसे युवराज भी बना देना और वह तुम्हारी पुत्री के योग्य वर हो, तो इसका भी ध्यान रखना।"

राजा की ऐसी आज्ञा पाकर धृष्टबुद्धि चतुरंगिणी सेना लेकर सदल बल कुलिंद देश की राजधानी पर चढ़ गया। उसने राजा के किले को घेर लिया और युद्ध का बाजा बजाया।

कुलिंद नरेश पहिले से ही डटे हुए थे। वे जानते थे धृष्टबुद्धि कितना क्रूर मन्त्री है, यदि यह युद्ध करेगा, तो मैं इससे पार न पा सकूँगा, अतः उन्होंने चन्द्रहास के हाथों बहुत सी भेंट का सामान धृष्टबुद्धि के समीप भेजा और अपने अपराध के लिये क्षमा चाही।"

धृष्टबुद्धि तो यह चाहता ही था, उसे युद्ध करने की तो राजा की ओर से आज्ञा ही नहीं थी। कुलिंद नरेश के इस व्यवहार से वह प्रसन्न हो गया। चन्द्रहास को देखते ही वह

भौचक्का हो गया। उसे बार बार सन्देह होने लगा कि हो न
यह लड़का वही है। १० वर्ष में चन्द्रहास १८ वर्ष का यु
हो गया था उसकी आकृति बदल गई थी। महामन्त्री ने रा
को बुलाया और बड़े स्नेह से कहा—'राजाजी! मैंने तो वैसे
धमकी दी थी। आपने कई वर्षों से कर नहीं भेजा था। अ
कोई बात नहीं। अब आप जितना दे सकें कर दे दें। शेष को
महाराज से कहकर क्षमा करा दूँगा। आपने यह कुमार कहाँ
दत्तक बनाया है?"

मन्त्री के पूछने पर राजा ने सब समाचार सचसच ब
दिया कि इस प्रकार मैं आखेट के लिये गया, वहाँ पक्षि
से घिरा मुझे यह बालक मिला। इसकी एक उँगली कटी हु
थी, उसमें से रक्त बह रहा था। मैं इसे ले आया। लड़क
कुलीन है, होनहार है, मैंने इसे दत्तक बना लिया, अब आप महा
राज से कहकर इसे युवराज बनवा दें, जिससे यह राज्य क
अधिकारी हो सके।"

धृष्टबुद्धि तो यह सुनकर मन ही मन जल गया। उसकी
ईर्ष्या बुद्धि जागृत हो गई। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया
इस दुष्ट को जैसे हो तैसे मरवा देना चाहिये। अब खुलकर
कैसे मरवा सकता था। अतः उसने अपने मनोगत भावों को
छिपाकर ऊपर से प्रसन्नता प्रकट करते हुये कहा—"बहुत अच्छा
बात है, बालक बड़ा सुशील योग्य और होनहार है। मैं अपने पुत्र
के नाम का एक पत्र देता हूँ, इसे लेकर यह अकेला चला जाय।
वहाँ हमारा पुत्र महाराज के सम्मुख इसे उपस्थित करा देगा।
महाराज इसे युवराज स्वीकार कर लेंगे और सम्भवतया कर
राजा के स्थान में स्वतन्त्र राजा बना देंगे।"

भोले भाले राजा को मन्त्री के कपट का कुछ पता ही नहीं था। उन्होंने यह बात सहर्ष स्वीकार कर ली। मन्त्री ने अपने पुत्र के नाम एक गुप्त पत्र लिखा। जिसमें एक ही यह श्लोक था।

विषमस्मै प्रदातव्यं त्वया मदन शत्रवे।
कार्यकार्यं न कर्तव्यं कर्तव्यं किल मे प्रियम् ॥"

इसका अर्थ यह हुआ कि हे पुत्र मदन! इस शत्रु को तू तत्काल विष दे देना। इसमें कर्तव्याकर्तव्य का विचार मत करना कि इस समय न दें। तुम मेरा यह प्रिय कार्य अवश्य ही कर देना।"

इस प्रकार पत्र लिखकर उसे लिफाफे में बन्द करके सील मुहर लगाकर उस पर मदन का नाम लिखकर चन्द्रहास को दे दिया और कह दिया, तुम प्रातःकाल उठ कर चले जाना दोपहर तक पहुँच जाओगे। मेरा पुत्र जब तक जाने को न कहे तब तक तुम आना मत वहीं रहना।"

महामंत्री की बात सुनकर राजसीय वस्त्रालंकारों से सजधज कर चन्द्रहास अपने सुन्दर सफेद घोड़े पर चढ़कर कुन्तलपुर की ओर चला। वह एक तो स्वभाव से ही सुन्दर था, फिर आज राजदरबार में जाने के निमित्त उसने सावधानी से श्रृङ्गार किया था। युवावस्था का लावण्य उसके मुख मंडल से फूट-फूट कर निकल रहा था। वह कामदेव के समान लगता था, उसके अंग प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य झाँक रहा था। मूर्तिमान सौन्दर्य के समान प्रतीत होता था। चलते चलते उसे दोपहर हो गया। गर्मी के दिन थे। मार्ग श्रमसे वह श्रमित हो गया था, प्यास भी लगी थी, समीप ही उसे एक सुन्दर पुष्पवाटिका दिखाई

दी। स्वच्छ जल से भरी वहाँ एक बावड़ी भी थी। एक बड़े पेड़ की डाल में उसने अपना घोड़ा बाँध दिया। बावड़ी में घुस कर उसने हाथ पैर धोये, पेट भरकर जल पिया और वहीं समीप के वृक्ष की छाया में विश्राम करने के लिये यों ही लेट गया। मार्ग का थका हुआ तो था ही। लेटते ही उसे गहरी निद्रा आ गई और वह सो गया।

वह वाटिका महामंत्री धृष्टबुद्धि की ही थी। संयोग की बात कि उस दिन महामन्त्री की प्यारी विषया सखी सहेलियों के साथ क्रीड़ा करने आई थी। उसकी सखी सहेली तो इधर उधर जल विहार तथा नाना क्रीड़ायें करने लगीं। वह अकेली घूमती घामती वहीं आ पहुँची जहाँ पर चन्द्रहास सो रहा था।

विषया ने १४ वें वर्षों को पार करके १५ वें वर्ष में पदार्पण किया था। यौवन उसके साथ अठखेलियाँ कर रहा था यद्यपि वह उससे अव्यक्त प्रेरणा के कारण संकेत पर नाचने को विवश थी। उसके अल्हड़पन में मादकता थी, नेत्रों में चंचलता बढ़ गई थी, हृदय किसी के लिये छटपटा रहा था—अन्तःकरण से एक अव्यक्त हूक सी निकलती थी और वह उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सिहरन सी उत्पन्न कर देती थी। दूर से ही उसने कामदेव के समान साकार सौन्दर्य स्वरूप उस युवक को वृक्ष की छाया में बिना शैया के भूमि पर पड़े देखा। करुणा, स्नेह, उत्सुकता आदि अनेक भावों के एक साथ उदय हो जाने से बिना सकल्प के ही उसके समीप आ गई।

युवक गहरी नींद में सो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था

मानो पूर्ण चन्द्र मे दो कमल मुँदे हुए हैं। उसके अग प्रत्यग स सौन्दर्य का किरणे निकल कर उस पुष्प वाटिका का आलाकित कर रहा थीं। युवक को कुछ भी पता नही था कि मेरा सौन्दर्य सुधाको छिपकर कोन निश्चिन्ता क साथ पान कर रहा है। उसके मुख मडल को देखत देखते विपया का दृष्टि उसके मुकुट का पाग के छोर म बँध एक पत्र पर पडी। या हा कुतूहलवश उसने शनै शनै उस पत्र को खोला। देखते हा उस महान् आश्चय हुआ। उस पर ता उसके पिता की अँगूठी का छाप है।

जाने के पूर्व धृष्टबुद्धि अपनी स्त्री से कह रहा था, विपया अब बडी हो गई, इस वर्ष इसका विवाह अवश्य कर देना है। मे कलिंग देश की ओर जा रहा हू, उधर कोई योग्य वर मिल जायगा, तो पक्का कर आऊँगा।" माता पिता मे जब ये बाते हो रही थीं, तब विपया छिपकर उन सब बातो को सुन रही थी। सहसा अपने पिता की छाप देख कर उसे वे सब बातें स्मरण हो आईं। अब तो उसकी उत्सुकता और भी बढी। पिताजा ने मेरे लिये कोन सा वर चुना है। यदि इसे ही पिता जी ने मेरे लिये भेजा हो, तो मेरा जीवन सफल हो जाय। यदि इसके अतिरिक्त किसी क साथ पिताजी ने तै किया हा, तो मैं अभी हीरा की कनी खा कर यहीं प्राण दे दूँगी।"

यही सब सोचकर उसने शनै शनै उस पत्र के आवरण का खोला। उसमे लिखा था—

विपमस्मै प्रदतव्य त्वया मदन शत्रवे।
कार्याकार्यं न कर्तव्य कर्तव्य किल मे प्रियम्॥

विपया ने एक बार पढा, दो बार पढा, तीन बार पढा।

उसकी समझ में ही न आया कि मेरे पिता इस इतने सुन्दर सुकुमार को विष देने को क्यों कहेंगे। फिर उसने सोचा—'अरे लिखने में भूल हो गई। वे विषयास्मै प्रदातव्य त्वया मनदशत्रवे' यह लिखना चाहते थे। लाओ पिता की भूल को मैं ही सुधार दूँ। यह सोचकर उसने अपने नख से नेत्रों में लगे काजल से 'म' को 'या' बना दिया और मदन और शत्रवे जो दो पृथक् पृथक् शब्द थे उन्हें एक में मिलाकर समासान्त पद बना दिया। अब इसका अर्थ हो गया—कि कामदेव को भी अपने सौन्दर्य से तिरस्कृत करने वाले युवक को विषया दे देना। अर्थात् इसके साथ विषया का विवाह कर देना। इसमें कर्तव्याकर्तव्य का विचार मत करना। मेरी प्रसन्नता के लिये इस काम को शीघ्र ही सम्पन्न कर देना।

इस प्रकार बनाकर पत्र को ज्यों का त्यों चिपका कर उसने युवक की पगड़ी में बाँध दिया और वहाँ से चली गई। कुछ काल के पश्चात् युवक की निद्रा भंग हुई। वह तुरन्त उठा और घोड़े पर चढ़कर चल दिया। घर तो उसका देखा ही हुआ था। वह जा कर महामंत्री के पुत्र मदन से मिला। चन्द्रहास को राजकुमार के वेश में देखकर मदन को बड़ी प्रसन्नता हुई। मदन बहुत ही सज्जन और प्रेमी युवक था। अपने पिता के पत्र को पढ़कर उसे अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने तुरन्त अपने पुरोहित को बुलाया और विषया के विवाह का मुहूर्त पूछा।

पुरोहित ने कहा—"कल ही सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त है, आपके पिता की आज्ञा है कि तुरन्त यह मेरा प्रिय कार्य हो जाना चाहिए। अतः विवाह तो कल हो जाय, उत्सव आदि पीछे पिता के आने पर होता रहेगा।"

मदन तो यह चाहते ही थे। उन्होंने तुरन्त सब प्रबन्ध किया। दूसरे दिन विषया का चन्द्रहास के साथ बड़ी धूम धाम से विवाह हो गया।

इधर मंत्री ने समझा चन्द्रहास मर गया होगा। अतः वह अपनी सेना को साथ लेकर कुन्तलपुरी में लौट आया। ज्यों ही महामंत्री ने नगर के भीतर प्रवेश किया त्यों ही सूत, मागध, वन्दी, भिक्षुक तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उसकी जय-जयकार का और पुत्री के सुन्दर वर मिल जाने के उपलक्ष्य में बधाई दी।

धृष्टबुद्धि तो आश्चर्यचकित रह गया। उसकी समझ में ही यह बात न आई कि मेरी पुत्री को वर कब और कैसे मिल गया। उसने अपने कुल पुरोहित से पूछा—"पुरोहितजी! बात क्या है?"

पुरोहित ने कहा—"अन्नदाता! कल भाग्यवती विषया की बड़ी धूम-धाम से पाणिग्रहण संस्कार हो गया। चिरंजीव मदन ने सभी को यथेष्ट धन दक्षिणा दी। सभी उनकी उदारता से परम सन्तुष्ट हुए। यह सब आप के पुण्य का प्रताप है।"

यह सुनकर मंत्री तो किंकर्तव्यविमूढ़ बन गया। महलों में पहुँचा तो सभी ने उसे प्रणाम किया। चन्द्रहास भी अपनी नववधू विषया के सहित अपने श्वसुर के चरणों में प्रणाम करने दास दासियों से घिरा हुआ आया। धृष्टबुद्धि ने ऊपर मनसे दोनों को आशीर्वाद दिया, किन्तु उसके भीतर ही भीतर प्रबल द्वेषाग्नि धधक रही थी। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया

कि चाहे मेरी पुत्री विधवा भले बन जाय, इस शत्रु का तो मैं अन्त करा ही डालूँगा। इसे मैं जीवित छोड़ूँगा नहीं।

यह सोचकर उसने वधिको बुलाया और कह दिया कि सूर्यास्त के पश्चात् रात्रि मे जो भी भद्रकाली के मन्दिर म पूजन की थाला लेकर आवे उसका सिर धड से काटकर तुम लोग चले आना।"

वधिक तो नोकर ही ठहर, उन्होंने स्वीकार किया। इधर धृष्टबुद्धि ने चन्द्रहास को बुलाकर कहा—"देखो, हमारे यहाँ एक लोकाचार है, विवाह के दूसरे दिन जामाता अकेला जा कर भद्रकाली का विधिवत पूजा करता है। अतः तुम सूर्यास्त के पश्चात् बिना किसी से कहे भद्रकाली के मन्दिर म चले जाना, वहाँ भद्रकाली की पूजा करके कुछ देर स्तुति विनय करके लौट आना। चन्द्रहास के मन मे तो छल कपट की बात थी ही नहीं। सूर्यास्त होते ही वह चुपके मंत्री के दिये हुये थाल को लेकर अकेले ही भद्रकाली के मन्दिर की ओर चल दिया। भद्रकाली का मन्दिर दूर अरण्य मे था। फिर भी मंत्री की आज्ञा से वह पैदल ही जा रहा था।

इधर कुन्तल नरेश से जाकर लोगों ने महामंत्री के भाग्य की बडी सराहना की और चन्द्रहास के शील स्वभाव सौन्दर्य और सरलता की राजा से बडी भारी प्रशंसा की। राजा के मनमे यह बात आई कि देखो, मंत्री को मैंने अपनी पुत्री के लिए वर खोजने को भेजा था। मेरी लडकी सयानी हो चुकी है। मेरे कोई पुत्र भी नहीं। शीघ्र ही मैं इसका विवाह करके कुछ भगवत् भजन करना चाहता हूँ, मंत्री अभी तक मेरे पास आये नहीं।' सहसा उसी समय चिरजीवी भगवान् लोमश ऋषि वहाँ आ पहुँचे।

मुनि को देखकर महाराज ने उनका श्रद्धा से हृत स्वागत सत्कार किया। शास्त्रीय विधि से पूजा की, दोनों ओर से कुशल प्रश्न हो जाने पर राजा अपने पुत्र को बुलाकर उससे ऋषि के चरणों में प्रणाम कराया और फिर हाथ जोड़कर कहने लगे—'ब्रह्मन्! मैं बूढ़ा हो गया हूँ। यही पुत्र मेरी एकमात्र सन्तान है। मैं चाहता हूँ कोई योग्य वर मिले, तो उसके साथ इसका विवाह करके राज्यभार उसे सौंपकर मैं भगवान् की आराधना करूँ। आप यह बताइये कि अभी मेरी कितनी आयु शेष है।"

सर्वज्ञ मुनि ने ध्यान लगाकर देखा और फिर कहने लगे—'राजन्! आपकी आयु तो समाप्त हो गई। केवल कल तक ही आयु और शेष है।"

यह सुनकर राजा तो अत्यंत घबराये और कर्तव्यविमूढ़ से बने अत्यन्त शोक और दुःख के साथ कहने लगे—'ब्रह्मन्! मैंने तो अभी तक कुछ भी नहीं किया। मेरी इस बच्ची को पीछे कौन विवाह करेगा, कौन इसके लिये योग्य वर खोजेगा? कौन इतने बड़े राज्य को सम्हालेगा। अभी तक मैंने भगवान् का भजन भी नहीं किया संसार से छूटने के लिये कोई साधन भी नहीं किया। क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

इस पर लोमश ऋषि ने धैर्य बँधाते हुए कहा—'राजन्! आप चिन्तित न हों, भक्तभयहारी भगवान् वासुदेव सभी का कल्याण करते हैं। उनके बनाये हुए विधान अन्यथा नहीं होते। आपके राज्य का अधिकारी और इस कन्या के सर्वथा अनुरूप वर इस राजधानी में स्वतः ही आ

है। जिस चन्द्रहास के साथ महामन्त्री की कन्या का विवाह हुआ है। वही आपकी कन्या का भावी पति है उसी के साथ आपकी कन्या का विवाह होगा। वही इस राज्यभार को सम्हाल सकता है। वह सर्वथा इसके योग्य है। इसी समय शुभलग्न है आप उसे बुलाकर अभी विवाह करादें। लग्न हाथ से न जाने पावे। राज्याभिषेक प्रातः कर देना।"

यह सुनकर राजा की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा, मन्त्री का पुत्र मदन राजा के समीप ही बैठा था। अभी तक न मदन को पता था, कि मन्त्री लौट आये है और न राजा को। अतः राजा ने मदन से कहा—"तुम अभी शीघ्रगामी रथ लेकर चले जाओ और अपने बहनोई को बुला लाओ। तब तक मैं कन्या दान की सब सामग्री एकत्रित कराता हूँ। देखो, सावधान, लग्न न निकलने पावे।"

महाराज की आज्ञा पाकर मदन के हर्ष का तो ठिकाना नहीं रहा। उसने सोचा—'अब तो राज्य हमारे घर में ही आ रहा है।" यही सब सोचकर वह शीघ्रगामी रथ पर चढ़कर अपने भवन की ओर चला। सयोग की बात, कि उधर से ही पूजन की सामग्री का थाल लिये चन्द्रहास आ रहा था। दूर से ही अपने बहनोई को हाथ में थाल लिये पैदल आते देखकर विस्मय के साथ मदन ने पूछा—"आप कहाँ जा रहे है?"

चन्द्रहास ने कहा—"पिताजी, अभी लौटकर आये हैं, उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि हमारे यहाँ यह कुल परम्परा की लौकिक रीति है कि विवाह के अनन्तर भद्रकाली का पूजन किया जाय।" इसीलिये मैं पूजन करने जा रहा हूँ।"

मदन ने हँसते हुए कहा—"बिना ही पूजन के आपका भाग्योदय हो रहा है। महाराज आपको अभी इसी समय बुला रहे हैं, रही पूजन की बात सो, यह तो लौकिक रीति है, आपकी ओर से मैं ही पूजन कर आऊँगा। आप तुरन्त इस रथ पर चढ़कर राजभवन में जायँ। देरी करने का काम नहीं है।" यह कहकर मदन ने चन्द्रहास को तो रथ पर बिठा दिया और स्वयं पूजन की सामग्री लेकर अकेला ही भद्रकाली के मन्दिर की ओर चल दिया।

चन्द्रहास रथपर बैठकर राजभवन में गया। राजा द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें पल पल भारी हो रहा था। वे अपनी पुत्री का विवाह अपनी आँखों से देखना चाहते थे। उन्हें भय था महामुनि की बताई लग्न निकलने न पावे। ज्योंही चन्द्रहास ने पहुँचकर राजा के चरणों में प्रणाम किया, त्योंही उन्होंने शीघ्रता से उसे उठाकर अपने हृदय से चिपका लिया। चन्द्रहास के शील स्वभाव, सदाचार, रूप, लावण्य तथा भव्य आकृति को देखकर राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ। चन्द्रहास ने महामुनि लोमपजी के चरण पकड़े। ब्राह्मणों ने वेदध्वनि की। विवाह के बाजे बजने लगे। पुण्याहवाचन की सुमधुर ध्वनि से राजमहल गूँजने लगा। रानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे वर के मुख को देखते देखते अघाती ही नहीं थीं। जितनी ही सुन्दरी राजकुमारी थी, उससे भी सुन्दर चन्द्रहास था। दोनों की अनुपम जोड़ी को देखकर माता, पिता, मुनि, परिजन, पुरजन तथा अन्य सभी मन्त्री पुरोहित अत्यधिक सन्तुष्ट हुए। शास्त्रीय विधि के साथ राजकुमारी का चन्द्रहास के साथ विवाह हो गया। प्रातः मङ्गल कृत्य करके राजा ने चन्द्रहास को अपना मुकुट पहिना दिया और समस्त राज

भार उसे सौंपकर मुनि की आज्ञा लेकर वन को चले गये।

इधर मदन पूजन की सामग्री लेकर ज्योंही भद्रमाल के मन्दिर मे घुसा, त्योंही महामन्त्री के नियुक्त वधिकों ने उसका सिर धड से उतार लिया और उसे वहीं मरा छोडकर चले आये और आकर यह समाचार महामन्त्री को सुना दिया। मन्त्री को पहिली घटना से सन्देह था, कि सम्भव है ये वधिक उसे छोड न आये हो। इस बात की परीक्षा लेने वह अकेला ही भद्रकाली के मन्दिर की ओर चला। वहाँ जाकर जो उसने देखा इससे तो उसका हृदय फटने लगा। उसने देखा उसका प्यारा पुत्र मरा पडा है। इतने मे ही कुछ लोगो ने आकर महामन्त्री का जय जयकार किया और अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अन्नदाता! आप यहाँ अकेले क्यों खडे हैं। महाराज ने तो आपके जामाता के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया है उन्हे राज्यभार सोंप रहे हैं। हम अभी दान दक्षिणा लेकर आ रहे हैं।"

यह सुनकर धृष्टबुद्धि को तो बडी चोट लगी। उसने सोचा—"मेरे जीवन को धिक्कार है, जिसे मैं मारना चाहता था वह राजा बन गया, मेरा प्राणो से प्यारा पुत्र मर गया। अब मैं जीवित रहकर क्या करूँगा।" यह सोचकर उसने लोगो को तो विदा कर दिया। और स्वय खड्ग से आत्महत्या करके मर गया। पिता पुत्र दोनो के मृतक देह भद्रकाली के आँगन मे पडे थे, किवाडें लगी थीं।

प्रात काल जब राजगद्दी का कार्य समाप्त हो गया, तो अपनी नवीन पत्नी को लेकर चन्द्रहास अपने पितृस्थानीय श्वसुर धृष्टबुद्धि को प्रणाम करने गाजे बाजे के साथ महामन्त्री

के भवन की ओर चले। वहां पहुँचकर उसे पता चला न तो धृष्टबुद्धि ही है, और न मदन ही। इतने में ही बहुत से लोगों ने आकर चन्द्रहास को सूचना दी—'प्रभो! रात्रि में किसी ने महामन्त्री को और मन्त्री पुत्र की हत्या कर दी। दोनों ही भद्रकाली के मन्दिर में कटे हुए पड़े हैं।" इतना सुनते ही चन्द्रहास के दुःख का ठिकाना न रहा वह रोता चिल्लाता भद्रकाली के मन्दिर की ओर चला।

मन्दिर में पहुँचकर उसने अपने श्वसुर और साले दोनों को मरे हुए देखा। उसने रो रोकर बड़े ही करुण स्वर में भद्रकाली की स्तुति की। उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर भद्रकाली प्रकट हुईं और बोलीं—"वत्स! मैं तुम्हारी भक्ति से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। तुम तो भगवान के भक्त हो। भगवत भक्तों से द्वेष रखने वाले का कभी कल्याण नहीं होता। यह धृष्टबुद्धि तुमसे हृदय से द्वेष करता था, इससे यह स्वयं ही मारा गया। यद्यपि मदन तुमसे द्वेष नहीं करता था, फिर भी शत्रु का पुत्र होने से वह भी मारा गया। अब तुम मुझसे जो भी माँगना चाहो वह माँग लो।"

भद्रकाली की बात सुनकर चन्द्रहास ने कहा—"माताजी! यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं और वर देना ही चाहती हैं तो मैं आपसे यही माँगता हूँ, कि मेरे श्वसुर साले जीवित हो जायँ और मेरे श्वसुर का अन्तःकरण शुद्ध हो जाय उनके मनसे द्वेष के भाव नष्ट हो जायँ।"

चन्द्रहास के ऐसे निष्कपट भाव को देखकर भद्रकाली और भी अधिक सन्तुष्ट हुईं। तुरन्त ही दोनों का सिर धड़ से जुट

गया और वे इस प्रकार उठकर खड़े हो गये जैसे निद्रित पुरुष निद्रा के भंग होने से उठकर खड़ा हो जाता है। धृष्टबुद्धि का अन्तःकरण पवित्र हो गया था, उसने जब सामने चन्द्रहास को खड़े देखा तो दौड़कर उसे छाती से चिपटा लिया। दहाड़ मारकर वह रोने लगा। रोते रोते उसने अपने अश्रुओं से चन्द्रहास के राज्याभिषेक के अभिमन्त्रित जल से भीगे हुए बालों को और भी अधिक गीला कर दिया। उसे अश्रुओं से न्हिला दिया। आज श्वसुर दामाद प्रेमपूर्वक मिले। मदन से भी श्रद्धा सहित चन्द्रहास का अभिनन्दन किया। प्रजा के लोगों ने चन्द्रहास का अभिनन्दन किया। सबने एक स्वर में उसे अपना सम्राट् मान लिया। समाचार सुनते ही कुलिन्द देश के राजा रानी दौड़े आये। अपने पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठे देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। धृष्टबुद्धि भी अपने जामाता को आशीर्वाद देकर मन्त्री पद त्यागकर तपस्या करने वन में चला गया। उनके स्थान पर मदन महामन्त्री हुए। दोनों ही साले बहनोई मिलकर धर्मपूर्वक कुलिंद और कुन्तल देशों का पालन करने लगे। इसीलिये किसी ने सच कहा है—

जिन पॉइन पनहीं नहीं, उन्हे देत गजराज।
विष देते विषया मिली, राम गरीबनिवाज॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपके पूछने पर मैंने यह चन्द्रहास की मनोहर कथा सुनाई। देखिये, धृष्टबुद्धि ने उसे मारने के कितने कितने उपाय किये, किन्तु उसकी मृत्यु नहीं थी इसलिये उसे कोई भी मार नहीं सका। जो गर्भ को ऐसी कोठरी में जहाँ न शुद्ध वायु जा सकती है न अन्न जल। वहाँ भी जो बालक की रक्षा करता है, तो फिर संसार में जब

वस्तुओं के रहते हुए रक्षा क्यों न करेंगे। जिसकी जितनी आयु होती है, उतनी उसे भोगनी ही पड़ती है। जब जिसकी मृत्यु आ जाती है, फिर उसे कौन बचा सकता है। सुयज्ञ की पत्नियों से बालक वेषधारी यमराज कह रहे हैं—"हे राज पत्नियो! तुम इस मृतक सुयज्ञ के लिये सोच मत करो। उसकी इतनी ही आयु थी। अब यह जीवित नहीं हो सकता।"

इस दृष्टान्त को देकर हिरण्यकशिपु अपनी माता, भाई की पत्नी और भतीजों को समझा रहा है, कि दैव की गति समझ कर तुम लोगों को हिरण्याक्ष के लिये शोक न करना चाहिए।

छप्पय

मारन चाह्यो धृष्टबुद्धि ने चन्द्रहास कूँ।
नधिकनि सौंप्यो विविधि करे उद्योग नाशकूँ॥
किन्तु मृत्यु नहिँ भई राजद्वै देशनि पायो।
द्वै द्वै रानी मिलीं श्वसुरहू मृतक जिवायो॥
विष बदले विषया मिली, भिच्छुक ते राजा भयो।
भयो भाग्य अनुकूल जब, तब तस बानिक बनि गयो॥

दैवरक्षित ही यथार्थ रक्षित है

(४५३)

पथि च्युत तिष्ठति दिष्टरक्षितम्,
गृहे स्थितं तद् विहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने,
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥
(श्री भा० ७ स्क० २ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

पुरुष बली नहिँ होहि दैव इ बली कहावे ।
जैसो होनो होइ दैव तस बुद्धि बनावे ॥
नष्ट होन को समय जासु को अवई नाईं ॥
अति करत पुरुषार्थ सके नहिँ लोग नसाईं ।
गिरी गैल म वस्तु हू, ज्यों की त्यों रहि जायगी ।
नष्ट होन को यदि समय, तो घर महँ नसिँ जायगी ॥

भगवान् को अमोघ संकल्प कहा गया है। मनुष्य बहुत सी इच्छायें करता है, उनमें से कुछ पूरी हो जाती हैं, कुछ पूरी

---

* बालक सिद्धान्त की बात कह रहा है—"देखो यदि दैव द्वारा कोई वस्तु रक्षित है, तो उसे मार्ग में डाल दो ज्यों की त्यों पड़ी रहेगी और यदि उसके नाश का समय आ गया है, तो घर में भी कितनी भी

नहीं भी होतीं, किन्तु भगवान की इच्छा और पूर्ति दो वस्तु नहीं। उनकी जो इच्छा हुई उसे पूरी ही समझो। इस सम्पूर्ण जगत की रचना प्रभु खेल खेल में इच्छा मात्र से ही करते हैं। इसमें उन्हें न कुछ श्रम है न आयास। यह चराचर विश्व प्रभु की इच्छा के ही ऊपर अवलम्बित है। जैसे वाटिका के चतुर माली की सभी वृक्षों पर दृष्टि रहती है। कौन कितना बढ़ रहा है, किसकी कब कलम करनी होगी, कब किसे कहाँ से उठाकर कहाँ रखना होगा। कब किसमें खाद देनी होगी, कब पानी से सींचना होगा। वह सबका बड़ी सावधानी से पालन पोषण करता है। उसमें भूल नहीं होने देता। माली के काम में चाहे भूल हो भी जाय, किन्तु भगवान् के कामों में कभी भूल नहीं होती। उनका यह अखण्ड क्रीडामय व्यापार निरन्तर प्रवाह रूप से चलता रहता है। इसका आदि नहीं अन्त नहीं। आदि काल से यह इसी प्रकार व्यवस्थित रूप से चल रहा है। जो इस व्यवस्था के रहस्य को समझ जाते हैं, वे ज्ञानी कहलाते हैं उन्हें किसी भी घटना से हर्ष विस्मय नहीं होता। वे समझते हैं यह घटना तो होनी ही थी, क्योंकि प्रभु इच्छा बिना कोई घटना घटित नहीं होती। किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे सबको नूतन

सुरक्षा से रखो वहाँ भी वह हो जायगी। भगवान् की जिन पर दया दृष्टि है अर्थात् जिनका काल नहीं आया है उन्हें चाहे वन में अनाथ करके छोड़ दो, वहाँ भी जीवित रहेगा। यदि उसका काल आ गया है, तो घर में कितनी भी सावधानी से रखो, वहाँ भी मर जायगा।

और अकस्मात् हुई घटना समझकर कभी रोते हैं कभी हँसते हैं, कभी सुखी होते हैं, कभी दुखी होते हैं। यही अज्ञान है यही मूर्खता है।

बालक उन सुयज्ञ की रानियों को समझाते हुए कह रहा है—"देखो, अबलाओ। तुम रोओ मत। सबके रक्षक वे श्रीहरि ही है। अब यह मृतक शरीर तुम्हारी क्या रक्षा कर सकेगा। वे अच्युत अज अविनाशी श्रीहरि अपनी इच्छा मात्र से ही इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करते हैं। स्वयं ही रचकर इसका पालन भी करते हैं और जब इच्छा होती है, तब "मनुआ मरि गयो, खेल बिखर गयो, कह कह कर इसका संहार भी करते हैं। यह चराचर विश्व उनका खिलौना है। उनके मनोरंजन का, खेलने का एक साधनमात्र है। जैसे बच्चा गेंद को जब चाहे बना सकता है, जब चाहे फाड़ फूड कर फेंक सकता है, बनाने और नाश करने में जैसे बालक स्वतंत्र है वैसे श्री हरि इसके उत्पत्ति, पालन और संहार मे सर्वथा स्वतन्त्र हैं सर्व प्रकार से समर्थ हैं।

इस पर राजा के पुरोहित ने पूछा—"बच्चे! तुम तो बड़ी बड़ी ज्ञान की बातें कह रहे हो। यह बताओ कि कोई अपने पुरुषार्थ से किसी की मृत्यु को नहीं टाल सकता? किसी नष्ट होने वाली वस्तु को नहीं बचा सकता।"

इसपर बालक ने कहा—"पुरोहित जी! पुरुषार्थ वहीं काम

देता है, जहाँ प्रारब्ध अनुकूल होता है। जिस काम मे दैव विपरीत है, वहाँ पुरुषार्थ विफल हो जाता है। फिर भी पुरुषार्थ तो निरन्तर करते ही रहना चाहिये, क्योंकि पुरुषार्थ करने स ही प्रारब्ध का पता चलता है, कि यह वस्तु हमारे भाग्य मे है या नहीं। महाराज सब वस्तुओं की अवधि बनी होती है। जितने दिन जिस वस्तु की अवधि हैं, उतने दिनों तक उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। चाहे उसे चौराहे पर डाल दो, पैरों से कुचल दो। वहाँ भी वह ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इसके विपरात जिसके नष्ट होने का समय आ गया है उसे ७ तालों के भीतर बन्द करके रख दो, तो भी वह वहाँ नष्ट हो जायगी। जिसका जीवन शेष है, उसे चाहे सिंह व्याघ्रों मे जाकर छोडदो वहाँ भी वह जीवित रहेगा। जिसका जीवन शेष नहा, उसे चाहे सात ड्योढियों मे सुरक्षित रखकर पुष्पों की शैया पर सुला दो वहीं वह मर जायगा। देखो! अकृतव्रणजी की भगवान् ने कैसे रक्षा की।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी, अकृतव्रण जी की किस विपत्ति से भगवान् ने कैसे रक्षा की इस कथा को आप उचित समझें तो हमे सुनायें।"

यह सुनकर सूत जी बोले—"मुनियों! यह अद्भुत पौराणिक आख्यान है। यह त्रेता युग की बात है, उन दिनों प्रायः सभी ब्राह्मण अपने स्वधर्म मे निरत रह कर तप स्वाध्याय मे

संलग्न रहते थे। उन्हीं दिनों एक बड़े सुशील, शान्त दान्त मु
एक अरण्य में अपनी स्त्री के सहित पर्णकुटी में तपस्या क
थे। उनके एक बड़ा सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। ऐसे सुन्दर पु
का मुख देखकर मुनि दम्पति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा
एक दिन सायंकाल के समय मुनि सन्ध्या में निरत थे, मुनि
पत्नी नदी तीर जल लेने गई थी। इतने में ही एक भेड़िय
आया। वह बच्चे को उठा कर ले गया। मुनि ने जब देखा त
बहुत उसके पीछे दौड़े, किन्तु उनका परिश्रम सब व्यर्थ हुआ
भेड़िया उस अबोध बालक को लेकर भाग गया। उस बालक
की अभी मृत्यु नहीं थी। अतः भेड़िया के मन में कुछ दया आ
गई। उसने लेजाकर अपनी पत्नी को उस बालक को दिया।
वह उसे अपनी गुफा में रखकर उससे खेलने लगी। अपने पुत्रों
के साथ पुत्रवत् उस भी प्यार करने लगी। भेड़िया जो जानवरों
को मारकर लाता उसका मांस उस बच्चे को खिलाता। अब तो
बच्चा उसके सभी बच्चों में हिलमिल गया। हाथ पैर से भेड़िया
के बच्चों की भाँति चलने लगा। और भेड़िया की सी ही भाषा
बोलने लगा।

एक दिन भगवान् परशुराम जी उधर से जा रहे थे।
उन्होंने जब एक मनुष्य बालक को भेड़िया के बच्चों के सा
पशुओं की भांति चलते और उनका सा ही आचरण व्यवहार
करते देखा, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। आगे बढ़कर उन्होंने

इस बच्चे को पकड़ लिया जिन्होंने २१ बार अपने एक हो

फरसे से समस्त भूमंडल के क्षत्रियों का संहार कर दिया था उनके सम्मुख भेड़िये क्या ठहर सकते हैं। भेड़िये डरकर भाग गये। मुनि इस बच्चे को लेकर अपने आश्रम पर चले आये।

भगवान् परशुराम जी ने देखा, बच्चा इतने दिन भेड़ियों में रहा, किन्तु उन्होंने इसके अंगमें एक भी व्रण (घाव) आदि नहीं किया। इसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया। इसीलिए उसका नाम। "अकृतव्रण" रख दिया।

ये महात्मा अकृतव्रण बड़े ही तेजस्वी तपस्वी और भगवान् परशुराम जी के एकनिष्ठ अनुयायी रहे हैं। जब भगवान् परशुराम जी ने भीष्म पितामह से युद्ध किया था, तब उनके रथ को ये ही हाँकते थे।

सूतजी कहते हैं—"महाराज, अकृतव्रण की आयु शेष थी, अतः भेड़ियों में रहकर भी बचे रहे। इसके विपरीत चित्रकेतु के पुत्र की आयु शेष नहीं थी। कितना प्रयत्न करने पर भी मर गया। अर्जुन ने अभिमन्यु के मारे जाने पर प्रतिज्ञा की थी, कि यदि सूर्यास्त तक आज मैं जयद्रथ को न मार डालूँगा, तो स्वयं अग्नि में भस्म हो जाऊँगा। इधर द्रोणाचार्य तथा दुर्योधन की ११ अक्षौहिणी सेना ने प्रतिज्ञा की थी, कि हम जैसे तैसे आज जयद्रथ को बचावेंगे।" मुनियो ! आप ही सोचें। ११ अक्षौहिणी सेना में आधे दिन तक एक व्यक्ति को छिपाये रखना कौन सी बड़ी बात है। बड़े बड़े महारथियों ने अनेकों

भाँति के व्यूह बनाकर उसके मध्य में जयद्रथ को छिपा दिया था। किन्तु उसका काल आगया था। काल के भी नियन्ता कृष्ण के मन में सूर्यास्त से पूर्व ही उसे परलोक पहुँचाने का विचार हो गया था, वह सूर्यास्त से पूर्व अर्जुन के बाणों द्वारा मारा गया।

एक नहीं ऐसे हजारों लाखों, असंख्यों दृष्टान्त हैं, कि अनेकों असुरों ने अमर होने के भाँति २ के वरदान माँगे। वे संसार में अपने को सब से अधिक बली, महान् पराक्रमी समझते थे, वे भी समय आने पर साधारण लोगों के हाथों मारे गये। इन सब बातों को देखकर यही सिद्धान्त स्थिर होता है, कि जब तक मृत्यु नहीं है, तब तक कोई किसी उपाय से भी किसी को मार नहीं सकता और जिसकी मृत्यु आगई है, उसकी कोई किसी भी उपाय से रक्षा नहीं कर सकता।

वह ज्ञानी बालक महाराज सुयज्ञ की रानियों तथा सम्बन्धियों को समझाते हुए कह रहा है—"देखो, रानियों! इन राजर्षि का काल आ गया था, तभी तो ये शत्रु के हाथों मारे गये, नहीं तो ये तो समर मे सदा विजय लाभ ही किया करते थे। समय सब कुछ करा लेता है इसलिये तुम लोग सोच को छोड़ दो इन राजर्षि की और्ध्वदैहिक क्रिया होने दो इनके मृत शरीर के साथ मोह करने से व्यर्थ मे शोक करने से क्या लाभ?"

नारदजी कहते हैं—"महाराज ! इस प्रकार हिरण्यकशिपु अपनी माता तथा अन्य सम्बन्धियों को समझाते हुए सुयज्ञ की कथा सुना रहे हैं।" हिरण्यकशिपु ने कहा—"सुयज्ञ के सम्बन्धियों को उस ज्ञानी बालक ने और भी शोक शान्ति की बातें कहीं, उन्हें भी आप सब लोग एकाग्र चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

व्याघ्र पकरि ले गयो हतो इक मुनि सुत जाकूँ।
आयु शेष कछु हती पुत्रवत पाल्यो ताकूँ॥
व्याघ्रनि महँ ई रहे सग उनके वन जावे।
हाथ पैर तें चले मास तिनिके सङ्ग खावे॥
परशुराम नर शिशु निरखि, आश्रमकूँ सग ले गय।
पाल्यो मुनि सुत के सरिस, अवृतव्रण मुनि ते भये॥

आत्मा से शरीर भिन्न है

(४५४)

यथानलो दारुषु भिन्न ईयते,
यथानिलो देहगतः पृथक् स्थितः ।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते,
तथा पुमान्सर्वगुणाश्रयः परः ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० २ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

आत्मा है निर्लेप रह नित पृथक् देहते ।
जैसे गेही रहे भिन्न हो सदा गेहते ॥
जल महँ बुद् बुद् होहिँ नहीं ते जल कहलावें ।
कनक एक रस रहे हार कंकण मिटि जावें ॥
अनल काठते अलग है, वायु देह ते पृथक् ज्या ।
है असँग नभ सर्वगत आत्मा, हू निर्लेप त्यों ॥

जैसे पद्मपत्र सरोवर में ही रहता है, किन्तु उसमें लिप्त होता। इसी प्रकार आत्मा शरीर में स्थित है, किन्तु शरीर

सुयज्ञ के सम्बन्धियों को यम समझा रहे हैं—"जैसे अग्नि काष्ठ में व्याप्त होने पर भी उससे पृथक है। वायु देह में रहने पर भी देह से पृथक् है। आकाश जैसे सर्वत्र व्याप्त होने पर भी निर्लिप्त है, उसी प्रकार आत्मा सम्पूर्ण देहादि में रह कर भी उनसे भिन्न है।"

के सुख दुःख, वृद्धि क्षय, हानि लाभ, चिन्ता शोक तथा जन्म मरण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जो लोग देह और आत्मा मे भेद भाव नहीं करते। दोनों को एक ही समझते हैं शरीर को ही आत्मा मानकर निरन्तर उसके पालन पोषण में व्यग्र बने रहते हैं, वे ही अज्ञानी कहलाते हैं। जब मनुष्य को यह बोध हो जाय, कि आत्मा का देह के सुख दुःखों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा तो नित्य शाश्वत द्वन्द्वों से पृथक् तथा असंग है। ऐसा जिसे ज्ञान हो जाता है, वही ब्रह्मज्ञानी कहलाता है। ब्रह्मज्ञानी को हर्ष शोक नहीं होते। एकत्व भावना के कारण वह शोक मोह से सर्वदा रहित बना रहता है।

हिरण्यकशिपु अपनी माता को सम्बोधन करके सबको समझा रहा है—"माँ! वह ज्ञानी बालक सुयज्ञ की पत्नियों को ज्ञानोपदेश करते हुए बोला—"हे रानियो! आप विचार करें, कि आप किसके लिए रुदन कर रही हैं?"

एक रानी ने रोते-रोते कहा—"हमारे पति परलोक प्रयाण कर गये हैं, उनके वियोग मे दुःख होना स्वाभाविक ही है और दुःख मे रुदन प्रायः करते ही हैं।"

उस बालक ने कहा—"यही तो मैं पूछ रहा हूँ, कि तुम्हारा पति कौन है? एक तो देह है एक जीवात्मा है। यदि तुम देह के लिए रुदन कर रही हो, तो देह तो तुम्हारे सामने ही पड़ी है। तुम कह सकती हो, कि यह तो मृतक शरीर है। इसमे से जीवात्मा तो निकल गया।" तो जीवात्मा तो कभी मरता नहीं। जैसे हम एक वस्त्र का त्याग कर दूसरा वस्त्र धारण कर लेते हैं वैसे ही जीवात्मा एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण करता है। यह शरीर पंच भूतों का बना हुआ है यह अपने

कारण रूप लिङ्ग देह के धर्म अधर्म, पाप पुण्य आदि कर्मों के अनुसार समय समय पर भिन्न-भिन्न योनिया मे भिन्न-भिन्न देशों मे जन्मता और मरता रहता है। किन्तु शरीर को जनम मरण क्रिया के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नही। यद्यपि जीवात्मा शरीरों मे ही स्थिति है, किन्तु शरीर के उत्पन्न होने और नष्ट होने के साथ उसका अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं।

इस पर बूढ़े मत्री ने पूछा—"बालक! तुम ब्रह्मज्ञानी मालूम पडते हो। अच्छा, यह बताओ जब आत्मा का शरीर के सुख, दुख, जन्म, मरण आदि से कोई सम्बन्ध नही, तो फिर पुरुष इस शरीर को अपना समझकर इसमे इतना ममत्व क्यो करता है?"

बालक ने दृढ़ता के स्वर मे कहा—"मत्री जी! इस ममत्व का कारण है माया मोह। देखिये, अपने गॉव से बहुत दूर एक तालाब है, वहॉ की मिट्टी मे ईंटे बनीं। किसी के पास एक लाख रुपया था। कल तक वह उन्हे मेरा कहता था। किसी कारण से वे रुपये हमारे पास आगये अब उन रुपयो में हमारा ममत्व हो गया। उन रुपयो को हम अपने रुपये कहने लगे। जब ईंटे पककर तैयार हो गईं, तो उन रुपयों मे से कुछ रुपये देकर हम ईंटे मोल ले आये। अब जो रुपये दे दिया उन से तो ममत्व-मेरापन छूट गया, किन्तु सिक्का के स्थान मे उन मिट्टी की ईंटों मे ममत्व आ गया। कुछ रुपये देकर लोहा लकडी ले आये कुछ रुपये से चूना कलई ले आये। एक भवन तैयार हो गया। उसमे लगने वाली ईंटो से, लोहा लकड, चूना, बालू, कलई किसी से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु जब

घर बन गया, तो हम बड़े अभिमान से कहते हैं—"मेरा घर है मेरा भवन है, मैं इसका स्वामी हूँ।" हमसे कोई पूछे—'क्यों जी, इसमें तुम्हारा क्या लगा है, किस शरीर के अंग को काटकर तुमने इसे बनाया है।" तो उत्तर में यही कहना पड़ेगा, कि हमारी इसमें कोई वस्तु नहीं लगी। केवल अपनापन है। कुछ काल में हम दिवालिया हो गये। घर बिक गया। तो घर के साथ हम तो बिके नहीं। जैसे घर बनने के पहिले थे, वैसे ही अब हैं। भवन भी ज्यों का त्यों खड़ा है। किन्तु उसमें से हमारा ममत्व निकल गया। मेरापन मिट गया। जैसे गृह का स्वामी गृह से पृथक् है वैसे ही आत्मा भी देह से सर्वथा पृथक् है अज्ञान वश जीव इस देह को ही आत्मा मान बैठे हैं।

जल से लहर उत्पन्न होती है, बुद्बुद् उत्पन्न होते हैं, तो वे सब जल तो नहीं कहलाते। जल के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं जल तो ज्यों का त्यों निर्मल बना रहता है उसी प्रकार देह के संयोग वियोग से, जनम मरण से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। इसे ध्यानपूर्वक समझो। मिट्टी से घड़े बने, सकोरे बने, नाद बनी और न जाने क्या क्या बने। चीनी से घोड़े बने, हाथी बने, ऊँट बने, बछेड़े बने, लाख से चूड़ियाँ बनीं भाँति २ की आकृतियाँ बनीं कनक से कुंडल बने, कर्णफूल बने, कङ्कण बने, करधनी। चाँदी से कड़े बने, छड़े बने, बाजू बन्द बने। बनने के पूर्व भी मिट्टी, चीनी सोना, चाँदी और लाख अपने स्वरूप में थे। जब बन गये तो केवल नाम और आकृति को छोड़कर ज्यों के त्यों बने रहे। सकोरे में, घड़े में, नाद में, मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चीनी के चाहे घोड़े को ले लो या हाथी को, चीनी को छोड़कर उसमें

कुछ नहीं। हाथी घोड़ा बनने के पूर्व भी चीनी थी, बन जाने पर भी चीनी ही रहा। फूट जाने पर भी ज्यों की त्यों चीनी ही है। जिस प्रकार नाम और आकृतियों के कारण चीनी आदि में कुछ भी परिवर्तन नहीं। उसी प्रकार नाना देह धारण करने पर भी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। उसकी निःसङ्गता नित्यता नष्ट नहीं होती।"

इस पर पुरोहित ने पूछा—"भैया, आत्मा शरीर में रह कर उससे पृथक् कैसे रहता है।

बालक बोला—"देखिये महाराज, दो काठों के मन्थन करने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि काष्ठ में अग्नि पहले से ही विद्यमान थी। रगड होने से वह प्रकट हो गई। फिर भी काष्ठ को अग्नि तो कोई कहता नहीं। अग्नि तो काष्ठ से पृथक् ही है। वायु शरीर के रोम-रोम में व्याप्त है। वायु के बिना शरीर की सत्ता नहीं। फिर भी वायु देह नहीं है। देह से वायु पृथक् ही है। इसी प्रकार आकाश सर्वगत है। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ आकाश न हो। व्यवहार में कहते है यह घड़े का आकाश है, यह भवन का आकाश है। यह देह से छिद्रों का आकाश है। अनेक प्रकार के भेद होने पर भी आकाश में स्वयं कोई भेद नहीं वह सदा सबसे असङ्ग रहता है। उसी प्रकार आत्मा के बिना शरीरों की सत्ता स्थिति नहीं। फिर भी आत्मा शरीर नहीं। शरीर से पृथक् निर्लेप और स्वतन्त्र है। देह के लिए यदि तुम रोती हो, तो देह तुम्हारे सम्मुख है। आत्मा के लिये सोच कर रही हो, तो आत्मा मर तो जाती नहीं उसके लिए सोच करना व्यर्थ है। आत्मा किसी को दिखाई भी नहीं देता।"

इस पर रानियों ने कहा—"आत्मा दिखाई न देता हो, किन्तु जिससे यह शरीर जीवित बना हुआ था, वह प्राण तो इस शरीर में दीखता था। उस प्राण के बिना ही ये निष्प्राण पड़े हुए हैं। हमारा शोक उसी के लिये है।"

यह सुनकर बालक बोले—"प्राण तो बोलता सुनता नहीं। यद्यपि यह महाप्राण इन सभी इन्द्रियों मे प्रधान है फिर भी प्राण आत्मा तो है नहीं। इस शरीर का आश्रय तो प्राण है प्राण भी जिसकी प्रेरणा से चलते हैं वह आत्मा तो देह, मन, बुद्धि तथा प्रान इन सभी से पृथक् है।"

आत्मा यद्यपि सर्वगत है देहादि से भिन्न है, फिर भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, कान, नाक, मुख, आँख, रसना, वाक् प्राणि, पाद, शिश्न, गुदा और मन आदि लिंगो से प्रतीत होने वाले उत्तम अथवा अधम, ऊँच अथवा नीच योनियो को अपने तेज से अपने से साक्षीपने समय पर धारण करता है और काल आने पर त्याग देता है।

यह सुनकर पुरोहित ने पूछा—"फिर आत्मा को कर्मानुसार उत्तम अधम योनियों में जन्म क्यों धारण करना पड़ता है? क्यों सुख दुख, नरक स्वर्ग आदि भोगने पड़ते हैं।

यह सुनकर बालक ने कहा—"आत्मा जब तक लिंग शरीर से संयुक्त सा रहता है। तभी तक उसे कर्म बन्धन लगने से प्रतीत होते हैं। इसीलिये उसे शोक मोह और नाना क्लेश पुनः २ प्राप्त होते हैं! वास्तव में आत्मा में तो ये सब होते नहीं माया के कारण ही ऐसी विपरीत भावना होती है। ये जो सुख दुख हैं ये सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के परिणाम

हैं, यह सत्य नहीं मिथ्याभिनिवेश है।

पुरोहित ने पूछा—"भैया, यह बात तो उलटी सी है। जो वस्तु है ही नहीं उसमे मिथ्याभिनवेश कैसे हो जायगा ?

बालक बोला—"अच्छा सुनिये, इस विषय मे हम एक दृष्टान्त देते हैं। एक कोई पढ़े लिखे शिष्टपुरुष बाजार से कुछ मिट्टी के चिकने घड़े मे तेल क्रय करके घर ला रहे थे। शिष्टपुरुष तेल के भारको स्वय लेकर कैसे आवें। लोग हँसी उडावेंगे। उनकी पद प्रतिष्ठा के विरुद्ध बात थी। एक निर्धन व्यक्ति से उन्होने कहा—"भाई, तुम इसे हमारे घर तक पहुँचा दो हम तुम्हे आठ आने देंगे।

उसने कहा—"श्रीमान् ! मैं तो बारह आने लूँगा।" अन्ततोगत्वा दस आने मे बात तै हो गई। वह नौकर उनके तेल के घडे को लेकर चला। घर दूर था। इसलिये मार्ग मे वह सोचने लगा आज मुझे दस आने मिलेंगे, तो मैं क्या करूँगा ? उसने सोचा उस बाग मे जाऊँगा। उस बाग के आम बहुत कम मूल्य पर मिलते हैं। वहाँ का माली भी मेरा परिचित है। दस आने के आम लाऊँगा। बाजार मे आते ही वे सवा रुपये मे अवश्य बिक जायेंगे। दूसरे दिन सवाके लाऊँगा तो वे ढाई रुपये मे बिक जायँगे। आठ आने अपने भोजनादि को रख कर तीसरे दिन २) के लाऊँगा तो ४) मे बिक जायेंगे। फिर ४) के लाऊँगा ८) में बिक जायँगे। उनमें से ६) की एक बकरी ले लूँगा। २) के आम लाऊँगा उसके चार हो जायँगे। इधर रुपये बढेंगे। उधर बकरी २-३ बच्चे देगी। दूध को

बेच दूँगा और बकरियों को रख लूँगा। जब ४ बकरियाँ हो जायँगी तो उन्हें २) में बेचकर एक गौ ले लूँगा। गौ प्रतिवर्ष एक बच्चा देगी। दूध होगा। दो बच्चों को बेचकर एक भैंस भी ले लूँगा। १-१५ सेर नित्य दूध होगा। साल भर में ५००) का दूध बिक जायगा। तो फिर विवाह कर लूँगा। घर में छम्म छम्म करती हुई वह आ जायगी। उसको दूध बेचकर सोने चाँदी के आभूषण बनवाऊँगा। पचरंगी चुनरी और ८ गज का बड़ा सा लहँगा बनवाऊँगा। सब लोग मुझे चौधरी कहेंगे। उसे चौधरानी। फिर मैं एक बड़ी सी चौपाल बनवाऊँगा। ५-७ बच्चे हो जायेंगे। जब वे बड़े होंगे तो उनका विवाह करूँगा। गुड़िया सी छोटी-छोटी कई बहुएँ आवेंगी। मुझे देखते ही घूँघट मार लिया करेंगी। मैं घर में जाया करूँगा तो खाँस मठार कर जाया करूँगा, जिससे वह घूँघट मार ले। फिर मैं कुछ काम धन्धा न किया करूँगा। चौपाल पर अपने मचपर बैठा हुक्का पीया करूँगा। मेरे लड़कों के भी लड़का हो जायेंगे। तब वे मुझसे आकर कहा करेंगे—"बाबा चलो भोजन कर आओ। दादी बुला रही हैं।" तब मैं बड़े गर्व से यों सिर हिला दिया करूँगा।"

बालक कह रहा है—"पुरोहितजी, इन बातों के सोचते-सोचते वह ऐसा तन्मय हो गया, कि इस बात को सर्वथा भूल ही गया कि मेरे सिर पर तेल का घड़ा रखा है। ज्यों सिर हिलाया कि सिर का घड़ा पृथिवी पर गिरकर फटमे फूट गया। सब तेल बिखर गये।"

इस पर वे शिष्ट सज्जन बड़े क्रुद्ध हुए और अत्यन्त क्रोध

प्रकट करते हुए बोले—"तुम बड़े मूर्ख हो जी ४) की मेरी हानि कर दी। सब तेल फैला दिया।"

इस पर उसने रोते २ कहा—"श्रीमान्! आपकी तो चार रुपये की ही हानि हुई। मेरी तो बनी बनाइ गृहस्थी बिगड़ गई।" यह कहकर वह फूट फूटकर रोने लगा। स्त्री बच्चों की याद करके उसे अत्यंत दुःख हुआ।

ज्ञानी बालक कह रहा है—"देखिए, उस तेल ढोने वाले का विवाह भी नहीं हुआ था, फिर बच्चों की तो कथा ही क्या, किन्तु मनोरथ द्वारा उसने पूरी गृहस्थी बना ली और उसके विफल होने पर रोने लगा। यही है असत् में सत् का मिथ्याभिनिवेश! हम सो रहे हैं। स्वप्न देखते हैं हम राजा बन गए हाथी पर चढ़कर जा रहे हैं। छत्र लगा है, चँवर ढुल रहे हैं। आँख खुल गई, न हाथी, न छत्र न चँवर। वही टूटी पाटी की पुरानी, खटिया है, उस मैली चद्दर को ओढ़े गुड़मुड़ी मार अपनी छोटी सी कुटी में सो रहे हैं। जिसमें हाथी का प्रवेश तो कौन कहे गधा भी नहीं घुस सकता। जिस प्रकार वह स्वप्न का हाथी न होने पर भी स्वप्न काल में सत्य ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण आत्मा देह से पृथक होने पर भी, विषय भोग मिथ्या होने पर भी सत्य के समान प्रतीत होते हैं। इसलिये यदि आत्मा के लिये शोक करते हो, तो यह तो सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा तो नित्य है न जन्मता है न मरता है। यदि देह के लिए शोक करते हो, तो देह तो अनित्य क्षणभंगुर है ही। इसका नाश अवश्यंभावी है। उसे कोई टालना भी चाहे तो नहीं टाल सकता। कितना भी शोक करो जिस वस्तु का जो स्वभाव है

वह बदल नहीं सकता। जो आत्मा नित्य तथा अजर अमर है वह प्रयत्न करने पर भी अनित्य तथा नाशवान् हो नहीं सकता। अतः आप सबका शोक करना व्यर्थ है। आप सबके दुःख को देखकर मुझे दया आ गई है। अतः इस सम्बन्ध में मैं आपको एक बड़ी ही सुन्दर शिक्षाप्रद और रोचक कहानी सुनाता हूँ। उसे आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

माया वश ई कर्मबन्ध महँ फँस्यो जीव है।
माया बन्ध न कटे जीव नहिं फेरि शीव है॥
मन ते मोदक खाय मुदित होवे हर्षावें।
सपने महँ धनहीन चक्रवर्ती बनि जावें॥
स्वप्न मनोरथ ज्यों सबहिं, जैसे सत्यातीत है।
तैसे ही जग को विषय, भ्रमवश होत प्रतीत है॥

स्वपराभिनिवेश अज्ञानजन्य है

(४५५)

ततः शोचत मा यूयं परं चात्मामेव च।
क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा॥
स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम्॥
(श्री भा० ७ स्क० २ अ० ६० श्लो०)

छप्पय

फँसी कुलिङ्गी एक जाल महँ तजि निज सुतपति।
लखि कुलङ्ग निज बधू फँसीमन भयो दुखित अति॥
नैननि नीर बहाय कहे कैसे जीऊँ अब।
प्रिया विरह अति दुसह भये असहाय पुन सब॥
देइ दैव को दोष पुनि, कह विधाता का करयो।
व्याधा मारयो बान तकि लगत बान मरि गिरि परयो॥

जो स्वय सिह से भयभीत है, वह दूसरो की उससे क्या रक्षा कर सकेगा। जिसे स्वय सर्प ने डस लिया है, वह

हिरण्यकशिपु अपने स्वजनोंको समझाता हुआ कर रहा है—"देखो, ससार में कोई किसी का है नहीं अत तुम सब अपने या पराये के लिये किसी भी प्रकारका शोक मत करो। इस ससार में अपनापन और परायापन क्या है? कौन अपना है कौन पराया है। निजत्व परत्व का अभिनवेश अज्ञान के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।"

दूसरों को सर्प से कैसे बचा सकता है। इसी प्रकार जो प्राणी स्वयं मरणधर्मा है, जिसे स्वतः एक दिन अवश्य मरना है, वह दूसरों को मृत्यु मुख से सदा के लिये कैसे बचा सकता है। मरे हुए के लिये शोक करने से कोई लाभ तो होता नहीं उलटी हानि ही है। शरीर में अज्ञान के कारण-मिथ्याभिनिवेश के कारण ही शोक तथा मोह होता है।

हिरण्यकशिपु अपने भाई की वधू को सम्बोधन करके सब को सुनाकर कह रहा है—'क्यों कल्याणी! तू इस बात का विचार कर कि तू रोती रहेगी तो क्या होगा। देख सुयज्ञ की रानियाँ अपने मृत पति के शरीर को लेकर भाँति भाँति से विलाप कर रही थीं। उन्हें वह छोटा सा ज्ञानी बच्चा रात्रि में सान्त्वना देते हुए समझा रहा था कि जो मरण शील (शरीर) है, वह अमर हो नहीं सकता। जो अमर आत्मा है उसका कभी नाश नहीं होता। इस विषय में तुम्हारा शोक करना व्यर्थ है। इससे लाभ तो कुछ होगा नहीं, हानि ही होगी। इस विषय में तुम सबको मैं एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त सुनाता हूँ। उसे तुम सब दत्तचित्त होकर ध्यान से सुनो।"

किसी जंगल में एक कुलिङ्ग का जोड़ा रहता था। कुलिंग अपनी कुलिंगी को अत्यधिक प्यार करता था। कुलिंगी भी अपने पति को प्राणों से भी अधिक चाहती थी। दोनों ने एक घने वृक्ष पर अपना सुन्दर घोंसला बना लिया था। दोनों साथ ही चुगने जाते, साथ ही लौटकर आते। साथ ही चोंच में चोंच भिड़ाकर खाते। साथ ही दोनों किलोल करते. आनन्द विहार सुखपूर्वक दिन व्यतीत करते। उन दोनों में ऐसा स्नेह था कि वे स्नेह के दिन उन्हें जाते हुए

कुछ भी प्रतीत नहीं होते थे कि कब दिन होता है, कब रात्रि। उन्हें उसका कुछ पता नहीं था, वे तो परस्पर के अनुराग में ऐसे उन्मत्त मदान्ध हो रहे थे, कि न उन्हें दिन का ज्ञान था न रात्रि का। इस प्रकार उनके दिन बड़े आनन्द से कटने लगे।

कुछ काल में कलिंगी ने चार सफेद अण्डे दिये। अब वह उन्हें बड़े स्नेह से छाती से चिपटा कर सेती। कालान्तर में वे अण्डे फूट गये और उनमें से चार बिना पङ्ख के बच्चे उत्पन्न हो गये। उन पक्षहीन मांस के लोथड़ों के समान अति कोमल बच्चों को देखकर माता पिता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। जब वे चीवें चीवें करके माता पिता के अंग में लिपट जाते, तो कुलङ्गी अपने आपको भूल जाती। अब दोनों का साथ चरने जाना बन्द हो गया। एक घोसले में रहकर बच्चों की देखभाल करता। एक दाना ले आता। प्रायः कुलिंगी जाती दाना लेकर लौट आती बच्चों की चोंच में अपनी चोंच सटाकर उन्हें खिलाती, तब तक कुलिंग जाकर और भी दाना ले आता। कुलिंग और कुलिंगी तो परस्पर में मोह ममता में फँसे अपने बच्चों के लालन पालन में व्यग्र हो रहे थे, किन्तु कालदेव एक ओर अव्यग्र भाव से खड़े खड़े उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था, कि कालदेव की गणना अब समाप्त ही होने वाली है।

उसी समय वहाँ एक बहेलिया कंधे पर जाल रखे हुए आया। ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो साक्षात् यमराज ही बहेलिया का रूप रखकर आ गये हों। उसका शरीर अंजन के समान काला था। बाल कड़े रूखे और ताम्रवर्ण के थे। उसका माथा छोटा था। नाक चिपटी हुई थी। आँखें गोल और लाल

थीं। उसके मुख से क्रूरता मूर्तिमान होकर प्रकट हो रही थी। उसके सभी अंग प्रत्यङ्ग कर्कश और भयानक थे। उसने वहाँ आकर जाल बिछा दिया और उसमें बहुत से चावल के दाने बिखेर दिये।

कुलिङ्गी ने दूर से देखा आज तो भगवान् ने समीप ही बहुत सा भोजन भेज दिया। वह झट से दाने के लालच से घोंसले से उड़ी। ज्यों ही उसने दाने के लिये चोंच मारी त्यों ही जाल मे फँस गई। बहुत तड़फड़ाई, घबड़ाई, किन्तु जो जाल मे फँस गया सो फँस गया।

दूर से कुलिंग ने देखा—"अरे, यह तो मेरी पत्नी जाल मे फँस गई। अब क्या करूँ, यह व्याधा तो उसे मार डालेगा। हाय! मैं अकेला रह जाऊँगा। स्त्री के बिना अकेला रहना तो मृत्यु से भी बढ़कर दुखदायी है। स्त्री घर की लक्ष्मी होती है। गृहिणी से ही घर की शोभा है। वही सब घर की रेख-देख कर सकती है। उसके बिना इन बच्चों को कौन पालेगा। दुख मे मुझे धैर्य कौन बँधावेगा। कौन मेरा मनोरंजन करेगा। वह मुझसे कितना प्यार करती, कितनी घुल घुलकर मधु से भी मीठी-मीठी बाते करती। हाय! आज मेरा भाग्य फूट गया। मैं आधे अंग से हीन अनाथ और आश्रय हीन हो गया। मैं अपनी प्यारी पत्नी के बिना कैसे जी सकता हूँ। वह मुझे खिलाकर खाती थी, मेरे सो जाने पर सोती थी, मुझसे पहिले उठ जाती थी। मेरे सभी संकेतो को समझती थी। उसके बिना मेरा जीवन सूना शुष्क और नीरस हो जायगा।

बालक कह रहा है—"राजरानियो! इस प्रकार वह कुलिंग

भाँति भाँति से शोक करता हुआ रो रहा था, कि पेड के नीचे छिपे हुए व्याध ने एक तककर बाण उस कुलिंग का लक्ष्य करके मारा। बाण कुलिग के हृदय मे लगा। तत्क्षण वह मरकर गिर पडा। क्षण भर पहिले जो अपनी स्त्री का भावी मृत्यु पर दुखी हो रहा था, उसे मृत्यु का सामना करना पडा। वह अपने जीवन से हाथ धो बैठा। इसी प्रकार तुम भी इन राजर्षि के लिये व्यर्थ सोच कर रही हो। एक दिन तुम्हे भी इसी रास्ते से जाना होगा। एक दिन तुम्हें भी मृत्यु के जाल का ग्रास बनना होगा। यदि तुम सौ वर्ष तक ऐसे ही, बैठी रोती रहो तो भी अब तुम फिर अपने पति सुयज्ञ को नहीं पा सकती।"

हिरण्यकशिपु अपनी माताको सम्बोधित करके कह रहा है—"माताजी! इसी प्रकार आप भी चाहें अब जितना सोच कर, आपका पुत्र हिरण्याक्ष अब लौटकर नहीं आ सकता। उसे तो काल रूप कृष्ण ने सूकर रूप से मारकर परलोक पहुचा दिया। उस बालक की बातो को सुनते सुनते सुयज्ञ के सम्बन्धियो क पूरी रात्रि बीत गई।

रात्रि के बीत जाने पर सबको बोध हुआ। उस ज्ञानी बालक की बातो का सभी के ऊपर बडा प्रभाव पडा। रानियाँ जो अपने मृत पति के शरीर को कसकर पकडे बैठी थी उन्होने उसे छोड दिया। राजा के बन्धु बान्धव सगे सम्बन्धियो ने चन्दन की चिता लगाकर शास्त्रीय विधि से उनका दाह सस्कार किया। फिर समस्त और्ध्वदैहिक कर्म किये सबके देखते देखते वह बालक वहाँ अन्तर्धान हो गया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ५-६ वर्ष के बच्चे को इतना

भारी ज्ञान होना हमें तो महान् आश्चर्य में डाल रहा है। यह बालक कौन था ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग ! यह बालक और कोई नहीं था, स्वयं साक्षात् यमराज ही बालक का वेष बनाकर दयावश सुयज्ञ के बिलखते हुए बन्धु बान्धवों को ढाँढस बँधाने आये थे।"

इस प्रकार हिरण्यकशिपु ने अपनी माता को भ्रातृपत्नी तथा भतीजों को गूढ़ ज्ञान का उपदेश दिया। उसने कहा—"तुम द्वैत भाव को छोड़ दो। अपने या पराये किसी के लिये भी सोच मत करो। संसार में तो सभी अपने हैं या सभी पराये हैं। आत्मा के अतिरिक्त सभी पर हैं, त्याज्य हैं और आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ संसार है भी नहीं। अतः सबको अपने आत्मा में देखो अथवा सभी में अपने आपके ही दर्शन करो।

देवर्षि नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! इस प्रकार जब हिरण्यकशिपु ने अपनी माता को तथा अन्य सभी को समझाया,तो सभी ने धैर्य धारण किया। हृदय से अज्ञानजन्य शोक मोह को निकाल दिया।

दिति ने कहा—"बेटा ! तैंने बड़ी आत्मतत्व की गूढ़ बातें बताईं ! अब मेरा शोक बहुत कुछ कम हो गया। मैं बहू को भी समझाऊँगी कि वह शोक को त्याग दे। ये बच्चे तो अभी बच्चे ही ठहरे। इनको भी मैं समझाऊँगी। तू अब आगे अपने कल्याण की चिन्ता कर। ऐसा न हो कि ये देवता तुझसे भी शत्रुता करें।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"माँ ! तुम मेरी कुछ भी चिन्ता न करो। मैं तो अपने पुरुषार्थ से मृत्यु के सिर पर पैर रख दूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! ऐसा कहकर हिरण्यकशिपु आगे के कर्तव्य के विषय मे गंभीरता पूर्वक सोचने लगा।

छप्पय

कितनो हू दुख करो भूप कूँ अब नहिं पाओ।
तातें तजि के शोक माह अपने घर जाओ॥
सुनि बालक की बात शोक सबने तजि दीन्हों।
मिलि सम्बन्धी सविधि दाह नृपशव को कीन्हों॥
हिरनकशिपु सबते कहैं, बन्धु शत्रु कूँ मारि हम।
बदलो वंध को लेइँगे, तजो शोक सन्ताप तुम॥

हिरण्यकशिपु की तपस्या

(४५६)

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम् ।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत ॥
स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम् ।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादांगुष्ठाश्रितावनिः ॥

(श्री०भ० ७ स्क० ३ अ० १,२ श्लो०)

छप्पय

या सबकूँ समुझाइ चल्यो तपकूँ असुराधिप ।
अजर अमर रनजयी मनन हित करे घोर तप ॥
मन्दर गिरि की गुहा माँहिँ एकाकी रहि कैं ।
करे तितिक्षा असुर शीत उष्णादिक सहिकैं ॥
मास दीमकनि भखि लयो, अस्थि मात्र ई बचि गई ।
असुर उग्र तपतें जगत, महँ अशान्ति अति मचि गई ॥

शुभ अशुभ कोई भी कर्म क्यों न करो। उसका फल अवश्य ही मिलेगा। वस्तु एक है, पात्र भेद से भावना भेद

धर्मराज युधिष्ठर से श्रीनारद जी कह रहे हैं—"राजन्! अपने आपको अजर, अमर अजेय तथा एकछत्र सम्राट बनने की इच्छा से वह हिरण्यकशिपु मन्दराचल की कन्दरा में जाकर घोर दारुण तप

से उसके फल मे विपर्यय हो जाता है। वर्षा का जल एक है नदी में पडने से मीठा हो जाता है, समुद्र मे पडने से खारा हो जाता है। कल्पवृक्ष सब के लिये एक सा ही फल देने वाला है। उसके नीचे जो चाहो प्राप्त कर लो। किन्तु भावना के भेद से फल मे बड़ा अन्तर हो जाता है। एक कहानी है कि कोई अबोध अज्ञानी अकस्मात् कल्पवृक्ष के नीचे चला गया। वहाँ वह सोचने लगा—'यहाँ तो बडा सुख है जल होता तो स्नान करता पानी पीता तत्क्षण अमृतोपम जल वाला वहाँ एक स्वच्छ सर बन गया। उसने स्नान किया जल पिया। फिर सोचा ऐसी जगह तो एक सुन्दर भवन होता शैया होती तो सोता। तत्क्षण भवन बन गया। सुन्दर स्वच्छ शैया बिछ गई। फिर सोचा—"यदि यहाँ सुन्दर भव्य पदार्थ होते, तो पेट भर के भोजन करता। बात की बात मे ५६ प्रकार के भोगो से सजा थाल वहाँ आ गया। उसने पेट भर भोजन किया। फिर सोचा—"इतने बड़े भवन मे एकाकी क्या रहना। एक स्त्री भी होती तो सुख से बात करते हुए रहते।" देखते देखते स्त्री भी आ गई। अब उसे सदेह होने लगा।—"यह कोई जादू तो नहीं है, जो सोचता हूँ वही हो जाता है। यह कोई राक्षसी तो नहीं है, जो मुझे खा जाय।" तत्क्षण वह स्त्री राक्षसी बनकर उसे खा गई। जो कल्पवृक्ष सभी भावनाओं को पूर्ण करता है। उसके नीचे रह कर दिव्य से भोग माँगना ही श्रेयस्कर है। वहाँ यदि बुरी वस्तु माँगो तो वह भी

करने लगा। उसने अपनी बाहुओं को ऊपर उठा रखा था, दृष्टि आकाश की ओर लगा रखी थी, भूमि पर उसका केवल एक अँगूठा ही टिका हुआ था।

मिलेगी। इसी प्रकार तपस्या करके भगवान् की भक्ति माँगना यह तो तप का सर्वोत्कृष्ट फल है और तपस्या करके इस जड़ शरीर को बनाये रखने की याचना करना, पर पीड़ा की शक्ति माँगना। यह तो तप का दुरुपयोग है। मिलती तो ये भी सब वस्तु हैं, क्योंकि तपस्या तो व्यर्थ जा नहीं सकती। किन्तु इन वस्तुओं से शाँति नहीं मिलती, चित्त सदा उद्विग्न बना रहता है। सर्वदा शत्रु की चिन्ता लगी रहती है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार अपनी माता मातृवधू और भतीजों को समझा बुझाकर हिरण्यकशिपु ने अब अपने को संसार में सर्वश्रेष्ठ शूरवीर बली बनाने के निमित्त उपाय सोचा। वह सोचने लगा—"किस प्रकार मेरी यह देह सदा ज्यों की त्यों अजर और अमर बनी रहे। किस उपाय से मैं तीनों लोकों का एक छत्र सम्राट अजेय समर विजयी तथा सबसे उत्तम सम्माननीय बन सकूँ। कोई भी योद्धा मेरे सम्मुख खड़ा न हो सके। कोई भी मुझे न मार सके न पराजित कर सके। सोचते-सोचते उसके मन में आया कि सब वस्तुएँ तपस्या के ही द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। तपस्या के प्रभाव से दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है। असंभव भी संभव बन जाती है इसीलिए मन्दराचल पर्वत पर जाकर तपस्या करनी चाहिए।"

ऐसा सोचकर वह मन्दराचल की एक बड़ी भारी गुफा में चला गया। वहाँ जाकर उसने घोर तप करना आरम्भ कर दिया। वह एक पैर के अँगूठे के सहारे खड़ा होकर, ऊपर हाथ उठाकर, आकाश की ही ओर देखता हुआ वृक्ष के सूखे ठूँठ

की भाँति, निश्चेष्ट भाव से खड़ा रहा। न वह हिलता था न डुलता था। उसके सिर पर बड़ी-बड़ी जटायें बढ़ गई थीं, तपस्या के कारण उसका मुख मन्डल चमचमा रहा था। उससे ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रलयकालीन सूर्य मयूख माला से सुशोभित हुए दमदमा रहे हों। अंजन पर्वत शिखर के समान वह स्थिर भाव से खड़ा था। इस प्रकार वह सहस्रों वर्षों तक खड़ा रहा।

हिरण्यकशिपु को तप में लगा देखकर देवताओं को सन्तोष हुआ। समस्त देवताओं को उसने पदच्युत कर दिया था। स्वयं ही इन्द्रासन पर बैठकर तीनों लोकों का शासन करता था। अब देवता फिर अपने अपने पदों पर आकर प्रतिष्ठित हुए। सब ने सोचा—"अच्छा है वह दुष्ट वहीं तपस्या करते करते मर जाय। उसकी तपस्या साधारण तो थी नहीं। फल फूल अन्न की तो कौन कहे जल की एक बूँद भी नहीं लेता था। उसका रक्त सूख गया। मांस चर्म को दीमकें चाट गईं, केवल अस्थि कंकाल शेष रह गया, किन्तु उसने तपस्या से अपने चित्त को नहीं हटाया। देवताओं के वर्षों से हजारों वर्ष वह ऐसी ही घनघोर तपस्या करता रहा।

उसकी तपस्या परपीडन के निमित्त तमोगुणी थी। अतः उसके कपाल से तमोमय धूम्रयुक्त अग्नि की एक ज्वाला सी प्रकट हुई। वह अग्नि तीनों लोक में फैलकर सभी प्राणियों को संतप्त करने लगी। उस तमोमय अग्नि के कारण दशों दिशाओं में दुर्धर्ष दाह फैल गया। द्वीप, पर्वत, नद, नदी पूर्ण पृथिवी उसी प्रकार डगमगाने लगी जैसे हाथी के बैठ जाने से नौका डगमगाने लगती है। कूप, नदी, नद तथा समुद्रों का जल खौलने लगा।

[illegible] ने कहा—"[illegible] [illegible] [illegible] [

इस पर देवता बोले—"महाराज, उसका विचार है, न एक जन्म में होगा, दो जन्म में होगा। दस,बीस सौ दो सौ,हजार पाँच सौ कितने भी दिनों में हो। इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं। उसका कहना है, यह काल तो निरवधि है। इसका तो कभी अन्त नहीं। आत्मा नित्य, अजर, अमर है। उसका कभी नाश होता नहीं। शरीर तो नाशवान् है ही। अतः कितने भी जन्म में क्यों न हो वह सिद्धि प्राप्त करके ही हटना चाहता है। वह महाराज! आपके ब्रह्मपद को लेना चाहता है, आपकी गद्दी पर अधिकार करना चाहता है। वह कहता है मुझे न शिवपद चाहिए न विष्णुपद मुझे तो ब्रह्मपद से ही प्रयोजन है। वह तो भगवन्! आपके पद के पीछे पागल हो रहा है।"

ब्रह्माजी ने हँसकर कहा—"अच्छी बात है भैया! फिर हानि ही क्या? ब्रह्मा भी तो बदलते ही रहते हैं। ब्रह्मपद पर रहेगा धर्म का पालन करेगा।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"नहीं, भगवन्! आप इस भरोसे पर न रहें। उसका दूसरा ही विचार है। वह कहता है मैं ब्रह्मा होकर इन समस्त नियमों को उलट दूँगा। अधर्म को धर्म बना दूँगा। स्वर्ग में देवों के स्थान पर दैत्य रहेंगे। पृथ्वी से जल, जल से तेज, तेज से वायु और वायु से आकाश उत्पन्न करूँगा। वृक्षों से पुरुष उत्पन्न करूँगा। इस प्रकार वह सृष्टि के पाप-पुण्यादि कर्मों को विपरीत बना देना चाहता है। जगत में उथल पुथल करके प्राकृतिक नियमों में मूलतः उलट पलट करना चाहता है। हमने तो ऐसा ही सुना है, कि वह आप को हटा कर, आपके पद पर प्रतिष्ठित होकर ये विपरीत बातें करना चाहता है। यह महाराज! हम सुनी सुनाई बातें कह रहे हैं।

इसमे सत्यता कितनी है और उसे इसमे सफलता कहाँ तक प्राप्त हो सकती है, इसे तो सर्वज्ञ होने के कारण आप ही जान सकते हैं।

इस पर ब्रह्माजी ने गभीर होकर देवताओंसे कहा—'अच्छा, इस विषय मे तुम सबकी क्या सम्मति है?'

देवताओं ने यह सुनकर कहा—"महाराज! हम मे आप को सम्मति देने की योग्यता कहाँ है। इसे तो आप ही निर्णय कर सकते है। हमारी सम्मति तो यही है, कि वह जो कुछ चाहे उस वर को दे दा कर उसे तप से निवृत्त करे। आगे न जाने और क्या उपद्रव करेगा। भगवन! आपका पद असुरो के बैठने योग्य नहीं है। इस स्थान से तो सदा गो ब्राह्मणो का हित होता रहा है। सबका मूल कारण होने से ब्रह्मपद कल्याण, विभूति, कुशल और विजय का कारण है। उस पर तो आपकी ही शोभा है। आपके द्वारा ही इतना प्रतिष्ठित पद बना हुआ है। यदि इस पर हिरण्यकशिपु राक्षस आकर बैठ गया, तब तो सब गुड गोबर हो जायगा।

देवताओ की सब बाते सुनकर गम्भीर होकरब्रह्माजी बोले—"अच्छा भैया, तुम सब लोग जाओ। मैं इसका कुछ न कुछ उपाय अवश्य सोचूँगा। उसे जैसे बनेगा तैसे तप से निवृत्त करूँगा। तुम किसी बात की चिन्ता मत करो।"

श्री नारद जी धर्मराज से कहते है—"राजन्! इस प्रकार देवताओं को आश्वासन देकर बूढे बाबा उस असुर के समीप जाने की तैयारियाँ करने लगे।

छप्पय

दौरे दौरे देव गये धाता के ढिंग सब।
बोले ब्रह्मन् बढ्यो बवडर विश्व माहिँ अब॥
असुर करे तप देव ब्रह्मपद चाहे लेवो।
ब्रह्मा बनि के चहे आप कूँ धक्का देवो॥
सुनि विधि बोले देवगन, असुर निकट हों जाऊँगो।
दैके इच्छित वर तुरत, तप ते ताहि हटाऊँगो॥

हिरण्यकशिपु को दुर्लभ वरों की प्राप्ति

(४५७)

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान्वृणीषे वरान्मम ।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान्यदपि दुर्लभान् ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ४ अ० २ श्लो०).

छप्पय

यों कहि ब्रह्मा गये ढेर दीमक को देख्यो ।
तृन बाँसनि ते ढक्यो अस्थिमय सुररिपु पेख्यो ॥
दिव्य कमण्डलु नीर छिरकि तनु सुघर बनायो ।
बोले बेटा ! माँगु तोहि वर देवे आयो ॥
करि पूजा बोल्यो असुर, माँगू वर ये देहिँ विभु ।
रचे तुम्हारे जीव तें, मृत्यु न मेरी होहि प्रभु ॥

तप कभी व्यर्थ नहीं जाता, तप का फल अवश्य होता है, किन्तु जो तप देह को ही आत्मा समझ कर देह की अजरता, अमरता तथा लौकिक ऐश्वर्य के निमित्त किया जाता है, वह

हिरण्यकशिपु के वरदान माँगने पर श्री ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे तात ! यद्यपि तुम जो भी वर मुझसे माँग रहे हो, वे मनुष्यों के लिये अत्यन्त ही दुर्लभ हैं । फिर भी कितने भी दुर्लभ क्यों न हों, मैं उन सब वरों को तुम्हें देता हूँ ।"

राजस् तामस् तप है। जो तप भगवत् प्राप्ति के लिये किया जाता है, यथार्थ मे तो वही तप है। असुर भी तप करते हैं और भक्त भी तप करते हैं। दोनो पर ही तप के प्रभाव से इष्ट प्रसन्न होते हैं। असुर माँगते हैं—"हमारा शरीर सदा बना रहे हमे कोई जीत न सके, जिसके सिर पर भी हम हाथ रख दें वही मर जाय, "इत्यादि इत्यादि" किन्तु भक्तगण इष्ट के प्रसन्न होने पर कहते हैं—"हमे धन नहीं चाहिये, वैभव की हमें वांछा नहीं। हमे प्रसन्न होकर प्रखर प्रतिभा दे इसके लिये भी हमारा आग्रह नही। हमे परिवार, पुत्र, पत्नी तथा प्रिय परिजनों की प्राप्ति हो, इसकी भी अभिलाषा नहीं। हम तो हे कमलनयन! हे हृदयेश! यही चाहते हैं, कि आपके पावन पादपद्मों में हमारी अहैतुकी भक्ति हो।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु के तप की बात ब्रह्माजी से कहकर देवता अपने अपने लोकों को चले गये, तब लोकपितामह ब्रह्मा अपने पुत्र मरीचादि प्रजापतियों से घिरकर उस स्थान पर आये जहाँ हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था। ब्रह्माजी ने अपने हंस पर से बैठे ही बैठे हिरण्यकशिपु को देखना चाहा, किन्तु उन्हे वह दिखाई ही न दिया। इधर उधर बहुत खोज की किन्तु वहाँ कहीं हिरण्यकशिपु का पता ही न चला। सर्वत्र घास खड़ी थी। बाँसों का वन था दीमकों ने स्थान स्थान पर मिट्टी के ढेर एकत्रित कर लिये थे। विशेष अन्वेषण करने पर उन्हे एक दीमक का ढेर सा दिखाई दिया उस पर बाँस उगे हुए थे। बड़ी बड़ी दूब जम रही थी। चीटियों ने वहाँ बहुत से बिल बना रखे थे। ध्यान से देखने पर ब्रह्माजी को निश्चय

हो गया। कि यही हिरण्यकशिपु है। उन्होंने देखा उसके रक्त, मांस, मेदा, चर्म आदि को दीमक और चींटी आदिकों ने चट कर लिया है, केवल उसकी अस्थिमात्र अवशिष्ट है। यह देखकर दयावश लोकपितामह ब्रह्माजी उससे बोले—"हे दितिनन्दन! हे कश्यपकुलकेतु! उठो, उठो अब तुम्हारी तपस्या पूरी हुई। तुम्हारी साधना का श्रम सफल हुआ। तुम अब सिद्ध हो गये। उठो, उठो अब अधिक कष्ट सहन करने की आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हें वर देने के लिये आया हूँ। जैसा तप तुमने किया है वैसा न आज तक किसी ने किया और न आगे कोई कर सकेगा। तुम्हारा धैर्य विलक्षण है। देखा, तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर को चींटियों ने, दीमकों ने, डाँस और मच्छरों ने खा लिया है, फिर भी तुम तप से निवृत्त नहीं हुए। देवताओं के वर्षों से सौ वर्ष पर्यन्त तुम बिना कुछ खाये, बिना जल पिये, शरीर की सुधि भुलाये तपस्या कर रहे हो, इस प्रकार तप करने की किसकी सामर्थ्य है? मैं तुम्हारे दुष्कर कर्म से सराहनीय साहस से, तीव्र तपोनिष्ठा से और सुदृढ़ निष्ठा से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। तुम मुझसे जो चाहो वर माँगो। तुमने मुझे अपने तप से वश में कर लिया है, अब तुम जो भी वर माँगोगे उसे ही मैं दूँगा। मुझे देवता, असुर, यक्ष, गन्धर्व तथा सभी प्राणी वरदाताओं में श्रेष्ठ बताते हैं, मैं तुम्हारे भी मनोरथों को पूर्ण करूँगा। तुम अब विलम्ब न करो और निःसंकोच होकर जो चाहो वर माँग लो। तुम मरणधर्मा प्राणी हो, मैं नित्य अमर हूँ, अतः मेरा दर्शन निष्फल नहीं हो सकता।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्माजी ने विविधि भाँति से हिरण्यकशिपु को समझाया,

किन्तु उसने कुछ सुना ही नहीं वह तो दीमकों के ढेर मे जड़ बना हुआ था। तब तो ब्रह्माजी समझ गये कि इसे मर आने का पता भी नहीं है। अतः पहिले इसे चेतन्यता प्राप्त करानी चाहिये।" यह सोचकर उन्होंने अपने दिव्य कमण्डलु का अमोघ जल उनके ऊपर छिड़क दिया। उस दिव्य जल के स्पर्श होते ही वह उसी प्रकार उन बाँस दूब के बीच मे से उत्पन्न हो गया, जिस प्रकार अरणियों के बीच मे से अग्नि प्रकट हो जाती है। अथवा मन्द हुई अग्नि में उसे घृत पडने से प्रज्वलित हो जाती है, अथवा सूखा हुआ वृक्ष जैसे अमृत पडने से हरा हो जाता है, अथवा मुरझा हुआ कमल पानी पाकर प्रफुल्लित हो जाता है। जिस कमण्डलु से त्रैलोक्य पावनी, मुनिमनहारिणी जगद्वन्दिनी भगवती भागीरथी प्रकट हुई हैं उस अघहारी जल के स्पर्श होते ही हिरण्यकशिपु का शरीर पहिले से अधिक दिव्य सुदृढ और दर्शनीय हो गया। सह, ओज और बल से युक्त होकर वह परम दर्शनीय और हृष्ट पुष्ट होकर उस बल्मीक के ढेर से बाँसो और तृणों के बीच से सहसा खडा हो गया सुवर्ण के समान उसका शरीर दमक रहा था। दिव्य आभूषण उसके अङ्गों में चमक रहे थे। जब उसने आकाश मे हंस पर विराजमान लोकपितामह ब्रह्माजी को देखा, तब तो वह हक्का बक्का सा रह गया। सम्भ्रम के साथ प्रेम के वेग में और कुछ भी न करके वह भूमि में दण्ड के समान पड़ गया और भक्ति भाव से लोक पितामह को साष्टाङ्ग दण्ड प्रणाम करता रहा। बडी देर तक वह ऐसे ही पडा रहा। जब प्रेम का वेग कुछ कम हुआ, बाह्यज्ञान होने से वह उठा। उसके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो रहे थे, प्रेम के कारण कण्ठ

गद्गद हो गया था। बड़े कष्ट से आँसू पोछकर वह भर्राई

हुई वाणी से भगवान् ब्रह्मा की स्तुति करने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी की अव्यक्त ब्रह्मभाव से बड़ी ही सुन्दर स्तुति की। उसमें ब्रह्माजी को ही सृष्टि स्थिति और लय का कारण बताया। उन्हें ही अव्यक्त, पुराणपुरुष, निरुपाधिक चेतन अचेतन शक्ति से युक्त, जगन्नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वगत सिद्ध किया। उस दिव्य स्तुति को मैं फिर स्तुति प्रसङ्ग मे सुनाऊँगा। उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने पुनः कहा—"बेटा! मैं तेरे तप से ही परम सन्तुष्ट था, अब तैंने दिव्यस्तुति करके मुझे और भी अधिक सन्तुष्ट कर लिया, अब तू अपना मनोभिलषित वर मुझसे माँग ले।'

ब्रह्माजी की बात सुनकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ हैं, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे सदा के लिये अजर अमर-कभी भी न मरने वाला बना दीजिये।"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"भैया! वस्तु तो वही माँगनी चाहिये जो जिस पर हो। किसी व्यक्ति ने शीतला देवी की आराधना की। शीतला देवी का वाहन गधा है। कुछ काल के अनन्तर उसकी आराधना से सन्तुष्ट होकर गर्दभवाहिनी भगवती शीतलादेवी प्रकट हुईं और उससे वर माँगने को कहा। उस व्यक्ति ने कहा—"देवि! यदि आप मुझ पर सन्तुष्ट हैं,

तो मुझे एक सुन्दर घोड़ा दे दे।"

यह सुनकर खीजकर देवी बोली—"मैं स्वयं तो गधे पर चढ़ती हूँ, तुझे घोड़ा कहाँ से दूँ। घोड़ा होता तो मैं ही उस पर क्यों न चढ़ती?" सो, भैया! अजर अमर तो हम भी नहीं। अपनी आयु से १०० वर्ष पूर्ण हो जाने पर हम बदल जाते हैं। दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं। हमारा पद भी स्थाई नहीं। यह हमारी शक्ति के बाहर की बात है। भगवान् की अचिन्त्य माया है, उसका पार मैं स्वयं भी नहीं पा सकता। हाँ, जो हमारी शक्ति की बात हो, उसे हम दे सकते। तू जितना अपना बचाव कर सकता हो उतना कर ले। अपने आपको बचाने के लिये जितनी बातें सोच सकता हो, उनसे अपने को निर्भय बना ले।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छी बात है, भगवन्! अब मैं जो जो वर माँगू उन सबको आप मुझे दें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, माँगो।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छा प्रभो! इन बातों से मुझे अभय कर दें।

१—मैं आपके रचे हुए किसी प्राणी से न मरूँ।

२—किसी घर, मठ, महल के भीतर न मरूँ और बाहर भी न मरूँ।

३—मेरी मृत्यु न तो दिनमें हो न रात्रि के समय हो।

४—किसी अन्य व्यक्ति के रचे हुए से भी मेरी मृत्यु न हो।

५—किसी भी धातु के, काष्ठ के, बने अस्त्र-शस्त्र से मेरी मृत्यु न हो।

६—पृथ्वी मे स्थित मेरे शरीर का अन्त न हो।

७—अधर आकाश मे उड़ते हुए या लटकते हुए मेरी मृत्यु न हो।

८—जितने भी मनुष्य हैं, जितने भी पशु पक्षी हैं जितनी भी जाति के जीव हैं उनमें से किसी से मेरी मृत्यु न हो।

९—पृथ्वी के अतिरिक्त स्वर्गादि अन्य लोकों मे रहने वाले देवता, असुर, यक्ष, नाग, गुह्यक, कूष्माण्ड, वैताल, भूत प्रेत, पिचाश, डाकिनी, साकिनी, गन्धर्व, किंपुरुष, किन्नर आदि किसी भी देव उपदेव जाति के जीव से मेरी मृत्यु न हो।

१०—युद्ध मे अस्त्र शस्त्र लेकर कोई भी मेरा सामना न कर सके।

११—तीनो भुवनों का मैं ही एकमात्र अधीश्वर होऊँ।"

१२—इन्द्रादि सभी लोकपाल आपका आदर करते हैं आप की आज्ञा मानते हैं, मेरी भी वैसी ही महिमा हो, मेरी भी आज्ञा को सब लोग विना ननु नच किये माना करें। सर्वत्र मेरी अप्रतिहत आज्ञा चले। आपको जो अणिमादि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हैं, व मुझे भी प्राप्त हों। योगादि के प्रभाव से योगिजनों को कभी भी क्षीण न होने वाला ऐश्वर्य मुझे भी प्राप्त हो। सारांश में आपसे किसी बात मे कम न होऊँ।"

इतने वरों को एक साथ सुनकर ब्रह्माजी घबडाये। वे सोचने लगे—"यह तो मुझसे भी बढना चाहता है। मेरी सम्पूर्ण विभूति पर अधिकार करना चाहता है।" किन्तु करते क्या वचन दे चुके थे। अत. बोले—"बेटा! मैं तेरे तप से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यद्यपि तुम जो जो वर माग रहे हो, वे सब मरणधर्मा जीव क लिये परम दुर्लभ हैं। किन्तु तुमने तप हा अभूतपूर्व किया है और मैं तुम्हें वचन दे चुका हूँ, अतः दुर्लभ होने पर भी मैं तुम्हें ये सब वरदान देता हूँ। अपनी ओर से तो मैं तुम्हे ये सबवर देता हूँ। आगे भगवान् जाने।"

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार परम दुर्लभ होने पर भी उन सब वरों को हिरण्यकशिपु को देकर अमाघानुग्रह भगवान् ब्रह्माजी दैत्यराज से पूजित हाकर अपने लोक को चले गये।"

हिरण्यकशिपु पहिले से ही अभिमानी था। अब जब उसनें ऐसे ऐसे श्रेष्ठ वर प्राप्त कर लिये तब तो उसका अभिमान सीमा को पार कर गया। अब तो वह ससार मे अपने को सर्वश्रेष्ठ शूरवीर पराक्रमी और निग्रह अनुग्रह करने मे समर्थ समझने लगा। ससार मे सभा को तुच्छ समझता। तपस्या के कारण उसके शरीर की कान्ति सुवर्ण क समान सुन्दर और तेज युक्त हो गई थी। उसके अग प्रत्यग से दर्प निकल रहा था, वह सभी को अपने सम्मुख तृण के समान समझता था। अब उसने सम्पूर्ण जगत् को अपने वश मे करने का निश्चय किया। उसने साचा—"यह विष्णु ही देवताओ का मूल है। इसी क बल पर देवता उछल कूद मचाते हैं। देवताओ के कहने से ही मेर छोटे भाई को वाराह रूप विष्णु ने मार डाला है, अतः मैं

इस विष्णु को मारकर अपने भाई का बदला लूँगा देवताओं को आश्रयहीन बनाकर अपना दास बनाऊँगा।" यही सब सोचकर वह भगवान् के साथ द्वेष करने लगा। उन्हे अपना शत्रु समझने लगा।

छप्पय

भीतर बाहर नहीं मरूँ निशि तथा दिवस महँ।
अस्त्र शस्त्र तें नहीं कटूँ सब हो मम वश महँ॥
होहि न मेरी मृत्यु मनुज, मृग, नाग असुर तें।
नहिं नभ थलमहँ मरूँ होहि भय नहिं सुरनरतें॥
प्रभु जस जग महँ मान्य है, तस मेरो हू वृद्धि हो।
बल महँ तप महँ तेजमहँ, योगिनि सम सब सिद्धि हो॥

हिरण्यकशिपु का अनुपम ऐश्वर्य

(४५८)

सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित् ।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० ४ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

ब्रह्मा बोले—वत्स ! बहुत वर दुरलभ माँगे ।
तऊ दुगो अवसि करयो प्रन तेरे आगे ॥
वर दे अन्तर्धान भये सुररिपु घर आयो ।
विधि वर मद महँ मत्त उपद्रव आइ मचायो ॥
सुरपुर यमपुर वरुनपुर, धनपतिपुर निज करें वश ।
सबको स्वामा बन गयो, फाको सबको करयो यश ॥

ससार मे एक तो प्रेम से प्राणी वश मे होते हैं। और दूसरे भय से । प्रेम से तो हृदय से वश मे हो जाते हैं और भय से केवल शरीर से और वाणी से वश मे होते हैं प्रेम

❀नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! हिरण्यकशिपु ने सम्पूर्ण जीवों को स्वामियों को जीतकर अपने वश में कर लिया । अपने तेज से सभी लोकपालों के स्थाना और तेज को छीनकर वह असुर विश्व को जीतने वाला हो गया ।"

की अधीनता जीवन पर्यन्त सदा बनी रहती। किन्तु भय की अधीनता तभी तक रहती है जब तक अपने में शक्ति न हो, निर्बलता बनी रहे। जहाँ सबल हुए विरोध करने की शक्ति आई, तहाँ अधीनता समाप्त हो जाती है और उस पराधीन बनाने वाले के सर्वनाश का प्रयत्न करते हैं। पाशविक शक्ति का कुछ दिन तक बोलबाला रहता है, एक दिन उससे भी बलवान् आकर उसे पछाड़ देता है। उसके मरने पर सब सुखी होते हैं, संसार में सर्वत्र उसकी निंदा फैल जाती है, किन्तु प्रेमी के मरने पर सभी उसके लिये दुखी होते हैं और उसका यश सौरभ संसार में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, वे यश के कारण अजर अमर हो जाते हैं। यह साधारण लोगों के सम्बन्ध का सिद्धान्त है। भगवान् से तो द्वेष करने वाले भी अजर अमर हो जाते हैं। उनके कोई काम से, क्रोध से द्वेष से अथवा लोभ से कैसे भी सम्बन्ध जोड़ ले वही अमर हो जाता है इसलिये जिस किसी प्रकार मन को श्री कृष्ण से ही सम्बन्धित कर देना चाहिये।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् ब्रह्माजी से ऐसे ऐसे दुर्लभ वर पाकर हिरण्यकशिपु अपने घर आया। आते ही उसने इच्छा प्रकट की कि मैं विश्वविजय के लिये दिग्विजय करने जाना चाहता हूँ। यह सुनते ही हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल इस प्रकार चतुरंगिनी सेना सजकर उसके पीछे चलने को उद्यत हुई। उसने डाँट कर कहा—"साथ में सेना तो वे लोग ले जाते हैं, जिन्हें अपने बाहुबल का भरोसा नहीं। मैं तो अकेला ही सम्पूर्ण विश्व को विजय करूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कहकर वह शूरमानी दैत्य हाथ मे गदा लेकर दिग्विजय के लिये निकला। पहिले उसने समस्त असुरो को अपना बल दिखाया। असुरो ने एक स्वर से उसे अपना सम्राट स्वीकार कर लिया। असुरो को जीत कर उसने स्वर्ग पर चढाई की। देवता तो उसका नाम सुनते ही स्वर्ग को सूना छोड कर भाग खड़े हुए। समस्त स्वर्गीय वस्तुओ पर उसका स्वतः ही आधिपत्य हो गया जब देवता ही हार गये तब उपदेवो की तो बात ही क्या है। गन्धर्व, नाग, गरुण, सिद्ध, चरण, विद्याधर, पितर, यक्ष राक्षस, भूत. प्रेत, पिशाच, वैताल, गुह्यक, कूष्मांड, मनुष्य, ऋषि, मुनि मनु, प्रजापति तथा सभी गणो के अधिपति उसके प्रभाव को देख कर हतप्रभ हो गये। सभी ने उसकी अधीनता स्वीकार करली। इस प्रकार उसने दशो दिशाओ को तीनो लोको को अपने वश मे कर लिया। जिन जिन के जो जो सुन्दर स्थान थे, वे सभी इस विश्वविजयी दैत्य ने छीन लिये ससार मे जितने रत्न हैं सभी को चुन चुन कर इसने अपने भवन मे एकत्रित कर लिये। अब इसने पृथ्वी पर रहना छोड़ दिया। इन्द्र की अमरावती पुरी मे जाकर अपनी राजधानी बनाई।

ब्रह्माजी के वरदान के कारण दैत्य को कोई भय तो था ही नहीं। संसार मे अपना कोई शत्रु न रहने से किसी बात की उसे चिन्ता भी नहीं थी। मनुष्य जब चिन्ता और भय से मुक्त हो जाता है, तो उसे कला कौशल की वृद्धि, नाना प्रकार की सजावट तथा इन्द्रिय सुखों की बाते सूझती है। इसीलिये अब दैत्य स्वर्ग मे रह कर वहाँ के सुखो का उपभोग करने लगा।

स्वर्ग की शोभा का तो कहना ही क्या है, जहाँ दिव्य नन्दन वन है, जिसमें कल्पवृक्ष, पारिजात के कभी भी न कुम्हिलाने वाले, सम्पूर्ण स्वर्ग को सदा सुवासित बनाये रखने वाले दिव्य पुष्प खिले रहते है, उस वन की शोभा से अमरावती के अनुपम उद्यानों में जिनकी रचना स्वयं साक्षात् विश्वकर्माने की है, उन त्रिलोकी शोभा के आश्रय भूत निखिल वैभव सम्पन्न इन्द्र भवनो मे देवाङ्गनाओं के साथ वह विहार करने लगा।

यौवन के मद से मदमाती नवीन वय वाली स्वर्गीय सुरललनाओं के सरल संगीतों से उसकी निद्रा खुलती थी और देवता, ऋषि, मुनि, सूतमागधों की भाँति उसकी स्तुति करते थे। उसके रहने की चित्रसारी अटाअटारी, शयनगृह, पानगृह, क्रीडागृह सब के सब सुन्दर सजे बजे और कला कौशल पूर्ण थे। कनक के बने भवनों में विद्रुम की सीढियाँ लगी हुई थीं। उनके आँगन मरकत मणियों से बने हुये थे। दूर से देखने मे ऐसे लगते थे मानों समुद्र मे हिलोरें उठ रही हों, भवनों की भव्य भीतें स्फटिक मणियों की थीं, जिन्हें देखते ही आँखों के सामने चकाचौंध हो जाता। उसमें जितने खम्भे थे वे वैडूर्य मणियों से बने हुये थे। वे भवन क्या थे, मानो मणि मुक्ताओं के आलय थे शोभा के समुद्र थे। उनकी सजावट कला कोविन्दो ने सौन्दर्य विशारदों ने बड़ी लगन के साथ चित्त लगाकर की थी। चाँदनी और मोतियों की झालरों के चाकचिक्य से वे झलमल झलमल कर रहे थे। उनमें स्थान स्थान पर पद्मरागमणियों के आसन पड़े थे। वे भवन सभी ऋतुओं के लिए सुखदाई थे। उनमें सदा वासंती

सुषमा विराजमान रहती। न वहाँ गरमी पड़ती थी, न सरदी। वायु मद, सुगंधित और मनोनुकूल बहती थी। वहाँ शैयायें सुखद, स्वच्छ, सुन्दर तथा सभी सुन्दर सामग्रियों से सुसज्जित थीं। उन पर अत्यन्त ही सुकोमल गुदगुदे गद्दे बिछे हुए थे। दुग्ध फैन के समान, श्वेत शंख के समान, बकुले के पंख के समान शुभ्र वस्त्र उन पर बिछे थे। सुन्दर सुगंधित पुष्पों की सुकोमल कलियों से वे कारीगरी के साथ सजाई गई थीं। उनमें मोतियों की झालरें हिल रही थीं। अत्यन्त सुखस्पर्श सुकोमल ओढने के वस्त्र और सिरीश पुष्पों के पखड़ियों से भी मृदु तकिये इधर उधर रखे हुए थे। वहाँ तेल अथवा घृत के दीपक नहीं जलाये जाते थे प्रकाशवान् मणियों के प्रकाश से ही वे दिव्य भवन सदा आलोकित बने रहते थे। क्षीण कटि, मृदुहास और सुन्दर दाँतों वाली यौवन और मेरेय मधु के मद से मदमाती असंख्यों ललाम ललनायें अपने नूपुर युक्त पदों की ललित गति से उन भवनों का सदा संगीतमय बनाये रखती थीं। उनके नूपुरों की ध्वनि से, करधनियों और आभूषणों की झंकार से वे सुरभवन बोलते हुए से—गाते हुए से—प्रतीत होते थे। छम्म-छम्म करती हुईं, और रत्न स्थलियों में अपने मनोहर मुखों को निहारती हुईं, सिहाती इठलाती, नैनों को नचाती देवाङ्गनायें उन भवनों में स्वच्छन्द विहार करती रहती थीं। उन्हें न किसी वस्तु की चिन्ता थी, न आकांक्षा। सभी सामग्रियाँ उन्हें संकल्प मात्र से प्राप्त थीं। पहिले वे देवराज इन्द्र को रिझाती थीं अब दैत्यराज हिरण्यकशिपु की परिचर्या में सदा लगी रहती थीं।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु जितना ही सौन्दर्य प्रिय था, उतना

ही कठोर शासक भी था उसके सम्मुख सिर उठाने के लिये किसी का साहस नहीं होता था। वह महाबली, मनस्वी, ओजस्वी, त्रैलोक्य विजयी तथा संसार मे सर्वश्रेष्ठ शूरवीर था। वरदानों के प्रभाव से उसके सम्मुख समर मे अस्त्र लेकर शत्रु ठहर नहीं सकता था। जिन देवताओं का तेज, ओज, उसके तेज के सम्मुख दब गया था, वे देवतागण उसके युगल चरणों की सदा सेवा करते रहते थे। उसकी ओर आँख उठाकर कोई देखदे ऐसा साहस किसी का भी नहीं होता था। वह सुन्दर उत्कट गंध वाली मदिरा का निरन्तर पान करता था, इसके कारण उसके अरुणवर्ण के बड़े बड़े विशाल नेत्र मदमाते अलसाये से सदा चढ़े हुए रहते थे। तप मे, तेज मे, ओज मे, पान मे, पराक्रम में तथा शारीरिक बल मे उसके समान, त्रिभुवन मे तीनों देवों को छोड़कर और कोई नहीं था। इन्द्र, वरुण, कुबेर यम वायु, अग्नि आदि लोकपाल हाथों मे उपहार लिये उसकी सेवा मे सदा समुपस्थित रहते थे। वह जब आज्ञा देता तब उठते, वह जब कहता तब बैठते। इतना कठोर हृदय होने पर भी वह असुर संगीत का बड़ा प्रेमी था। विश्ववसु, तुम्बुरु, आदि गंधर्व सदा उसकी सभा मे उसी का गुणगान करते रहते थे। ऋषि' मुनि' सिद्ध, विद्याधर आदि उसी की स्तुति करते। राजन्! और की तो बात ही क्या हमे भी उसके गुण गाने पड़े।

यह सुन कर हँसते हुए धर्मराज बोले—'भगवन्! आप तो भगवान् के अवतार हैं। आप उस दुष्ट के गुण क्यों गाते थे।"

शीघ्रता से नारद जी बोले—"अजी, राजन! बलवान् के

सम्मुख अवतारपना सब धरा ही रह जाता है उस समय उस रज और तम युक्त तामसी अवतार का ही समय था। सभी अपने अपने समय पर चमकते हैं। परशुरामजी इतने बडे बडे बली क्षत्रियो के सम्मुख कितने चमके। सहस्राबाहु भी तो अवतार ही था किन्तु परशुराम अवतार के सामने उसका तेज हत हो गया वह उनके हाथो मारा गया। कोई क्षत्रिय उनका सामना न कर सका। २१ बार घूम घूमकर उन्होंने पृथ्वी को नि.क्षत्रिय बना दिया। जब उनका समय समाप्त हो गया तो श्रीरामचन्द्रजी के सम्मुख वे पराजित हुए। लज्जित हुए, तेज हीन बन कर तपस्या करने गये। इसी प्रकार उस असुर के सम्मुख मेरा भी अवतारपना भूल गया। मुझे भी उस की हा म हाँ मिलानी पडी।

धर्मराज हँसकर बोले—"महाराज! आप कैसे उसकी सभा में पहुँच गये।"

इस पर नारद जी बोले—"राजन! आप जानते ही हैं। मैं सगीत का व्यसनी हूँ। गायन मुझे बडा प्रिय है। सदा ही मैं अपनी इस स्वरब्रह्म विभूषित वीणा पर भगवान् के सुमधुर नामो की तान छेडता रहता हूँ। तुम्बुरू गन्धर्व से मेरी प्रगाढ मैत्री है। एक दिन उस गन्धर्व ने उस दुष्ट से कह दिया—"महाराज, एक तुमडिया बाबा जी है वह बडा अच्छा गाता है।" बस फिर क्या था। उसने आज्ञा की उस बाबाजी को पकड लाओ।"

तुम्बरू तो मेरे स्वभाव को जानता था, वह मेरे पास आया और बोला—"नारद जी! आज कल स्वर्ग म सगीत की बडी

सुन्दर गोष्ठी होती है, यह जो असुर नया इन्द्र बना है, यह संगीत का बड़ा प्रेमी है। अच्छे गायक गन्धर्वों को और अप्सराओं को वह बुलाकर रखता है। एक दिन आप भी चलो।"

राजन्! संगीत प्रेमी को यदि कहीं सुन्दर संगीत श्रवण का सुअवसर प्राप्त हो जाय, तो वह उसे कभी छोड़ नहीं सकता। मैंने तुरन्त अपनी वीणा उठाई और तुम्बरू के साथ चल पड़ा। स्वर्ग में जाकर मैंने देखा, कि संगीत का सागर बह रहा है। वहाँ हमारा स्वागत कौन करता है। गन्धर्वों में ही जाकर हम बैठ गये। सब लोग गा गाकर उसे सुना रहे थे। मैंने भी तुम्बरू से कहा—"मैं गाऊँ क्या? उसने संकेत से कहा—"नहीं अभी नहीं।

बड़ा सुन्दर संगीत हो रहा था, बार बार मेरा हृदय तड़पने लगा। गाने के लिये मैं छटपटाने लगा, किन्तु तुम्बरू मुझे बार बार बरज देता था। उसी समय हिरण्यकशिपु ने तुम्बरू की ओर देखा। तुम्बरू ने खड़े होकर कहा—"प्रभो ये ही मेरे देवर्षि नारद हैं, बड़ा सुन्दर गाते हैं। आज्ञा हो तो इनका भी कुछ हो।"

यह सुनकर उसने गर्व सहित स्वीकृति सूचक सिर हिला दिया। मैं अपनी वीणा सम्हाल कर उस पर अलाप भरने लगा। ज्यों ही मैंने राम कृष्ण हरि की तान छेड़ी त्यों ही उसकी दोनों कुटिल भ्रकुटियाँ चढ़ गईं और क्रोध के कारण ओंठ काटने लगा। तुम्बरू मुंह में वस्त्र देकर मुख फिरा कर हँस रहा था। अप्सरायें डर रही थीं। गन्धर्व उत्सुकता से मेरी ओर देख रहे थे। राजन्! आप जानते ही हैं, मैं तो समय

वादी हूँ। समय देखकर काम करता हूँ। असमय मे बेसुरा राग नहीं अलापता। जब मैंने देखा, कि यहाँ इस समय राम-कृष्ण गुण गाने का अवसर नहीं है, तो मैंने अपना राग बदल दिया और गाने लगा—"हिरण्यकशिपु हिरण्यकशिपु हिरण्यकशिपु हारी। जय हिरण्यकशिपु हारी।"

अपने नाम का कीर्तन सुनकर वह असुर बडा प्रसन्न हुआ। उसने तुम्बुरू से पूछा—"यह तूमडिया बाबाजी मेरे नाम का कीर्तन कर रहा है, यह तो बडा सुन्दर है, किन्तु यह पद के अत मे हारी हारी क्या कहता है?"

तुम्बुरू ने बात सम्हाल ली। वह बोला—"प्रभो! ये इन अप्सराओ को सम्बोधन करके कहते हैं कि अरी अप्सराओ हा, देखो कैसा सुन्दर नाम है।" यह सुनकर वह दुष्ट सतुष्ट हुआ। सो, राजन्! हमने कीर्तन तो किया था हिरण्यकशपु हारी श्री हरि का ही, किन्तु उस दुष्ट को प्रसन्न करने के लिये छल से किया था। भगवत् के नाम का कीर्तन कैसे भी किया जाय कल्याणप्रद ही है।

धर्मराज से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार वह दुष्ट स्वर्ग के सुखो का ही उपभोग नहीं करता था, किन्तु यज्ञों में जो इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देवताओं और लोकपालो को हवि भोग दिया जाता था, उसे भी वह स्वय ही ग्रहण करने लगा। बड़ी बडी दक्षिणाओ वाले-धूम-धाम से विधि विधान पूर्वक किये हुये यज्ञों से यजन किये जाने पर उन भागी को अपने प्रबल प्रभाव के कारण वह अपहरण करने लगा। जड़ चैतन्य सभी उसके भय से थर थर कांपते थे।

एक दिन वह पृथ्वी पर विचरण कर रहा था, उसने देखा बहुत से कृषक हल लेकर पृथ्वी जोत रहे हैं। उसने पूछा—"तुम सब लोग स्वयं इतना परिश्रम क्यों कर रहे हो और इन बैलों को इतना कष्ट क्यों दे रहे हो ?"

कृषकों ने कहा—"प्रभो ! यदि हम भूमि को जोते नहीं, तो इसमें बीज भी न जमेगा। बीज न जमेगा तो हम सब खायेंगे क्या बिना खाये भूखों मर जायेंगे इसीलिये भूमि को जोत रहे हैं।"

उसने क्रोध के साथ पूछा—"यदि न जोतो तो ?"

कृषकों ने कहा—"अन्नदाता ! न जोते तो भूमि उर्वरा न रहेगी, ऊसर हो जायगी। अन्न उत्पन्न न करेगी।"

रोष के स्वर में वह दैत्यराज बोला—"मेरे राज्य में पृथ्वी का इतना साहस ? मैं आज्ञा देता हूँ, आज से हलों को तोड़ कर फेंक दो कोई पृथ्वी को न जोते और न उसमें बीज बोये जिसे जिस धान्य, ओषधि की इच्छा हो मन से सकल्प करले। पृथ्वी घर बैठे उसे दे न देगी, तो मैं इस पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा।"

उस दैत्य से तो सभी डरते थे, उसी दिन से पृथ्वी बिना जोते बोये उसके राज्य में यथेष्ट इच्छित अन्न उत्पन्न करने लगी। स्वर्ग में जो जिसकी जब जैसी इच्छा होती तब तैसी ही वस्तुएँ मिलती। पाताल लोक में ऐसे ऐसे रत्न भर गये, कि वहाँ मणियों और रत्नों की सर्वत्र प्रदर्शनी लग गई।

उसे जब रत्नों की आवश्यकता होती, तो वह समुद्रों में नहीं

जाता। सातों समुद्र स्वयं अपनी तरङ्गों से अपनी पत्नी नदियों के द्वारा उसके समीप विविध रत्न पहुँचा देते। समुद्र उसे स्वयं रास्ता दे देते। वृक्ष उसके लिये बिना माँगे सब ऋतुओं में स्वादिष्ट पके फल देते। पर्वत अपनी गुफाओं को मणिजटित बना देते, कि कहीं विहार करने देवाङ्गनाओं के साथ वह असुर न चला आवे। सारांश कि सभी जड चेतन उसके तेज से भयभीत होकर अनुकूल उसके आचरण करने लगे। संसार में वह जो भी उचित अनुचित करता, किसी का साहस नहीं होता था, कि कोई उसका विरोध करे। वह अकेला ही सभी लोकपालों के विभिन्न गुणों को स्वय ही धारण करता था। इन्द्र बनकर स्वयं वर्षा करता। कुबेर बनकर समस्त धनों का आधिपत्य करता। यम बनकर दण्ड देता वरुण बनकर जलचरों पर शासन करता।

यद्यपि उसे सुख थे, तीनों लोकों के भोग उसे यथेष्ट मात्रा में प्राप्त थे। संसार के समस्त धन, धान्य, वाहन, स्त्रियों और शब्द, रूप, रसगन्ध और स्पर्शजन्य विषयों का एकमात्र स्वामी था, त्रिभुवन का एक छत्र सम्राट् और लोकपालों का भी अधीश्वर था, फिर भी विषयों से सदा अतृप्त ही बना रहता था। भोगों से उसकी तृप्ति नहीं होती थी। शास्त्रकारों ने सत्य ही कहा है, कि अजितेन्द्रिय को कितनी भी भोग सामग्री मिल जाय, वह सदा अशान्त तथा अतृप्त ही बना रहेगा।

नारदजी कहते हैं—"धर्मराज! संसारी किसी भी प्राणी को इतना बल, इतना ऐश्वर्य ऐसा प्रभाव, इतनी भोग सामग्री किसी भी प्रकार प्राप्त हो नहीं सकती। यह तो प्रभु का प्रिय

पार्षद ही था। विप्र शाप के कारण असुर योनि मे उत्पन्न हो गया था। इसीलिये उसका सामना कोई कर नहीं सकता था। इस प्रकार ऐश्वर्य के मद में मत्त हुए उस असुर के बहुत से वर्ष संसारीसुखोपभोगो मे ही व्यतीत हो गये।"

छप्पय

शतक्रतु दयो निकारि इन्द्र बनि सुख सब भोगे।
इन्द्र भवन महँ बसै स्वर्ग को वैभव भोगे॥
मरकत मनि की भूमि बनी सीढी विद्रुम की।
नन्दनकानन कल्पवृक्ष वर गध कुसुम की॥
दुग्ध फेन सम स्वच्छ मृदु, शैय्या वर वाराङ्गना।
तऊ तृप्ति नहि असुर की, नित नव बाढ़ै कामना॥

दुखित देवों पर दीनबन्धु की दया

(५६)

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः ।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम् ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ४ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

सुर नर वाके उग्र दण्ड तें दुखित भये जब ।
अन्य शरन नहिँ लखी गये हरिकी शरननहिँ सब ॥
क्षीर सिन्धु ढिँग जाई करें मिलि के सुर तप अति ।
जहाँ लगावें लेट शेष शैय्या पै श्रीपति ॥
अन्न खाँय नहिँ पियें जल, तजि निद्रा निशि दिन जगे ।
वायु पान करि विष्णु को, आराधन करिबे लगे ॥

भगवान् का एक रूप है काल । काल स्वरूप कृष्ण जब जैसा चाहते हैं तब तैसा काल उपस्थित कर देते हैं । कभी सात्विक काल कभी राजस् काल और कभी तामस काल के रूप में वे ही कसारि क्रीड़ा करते हैं । उनके लिये न कोइ अपना

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! हिरण्यकशिपु क उग्र दण्ड से सम्पूर्ण लोक तथा लोकपाल अत्यन्त उद्विग्न हो गये । उन्हें अन्य कहीं शरण न मिली, तो शरणागतवत्सल श्रीहरि की शरण में गये ।"

है न पराया। धर्म अधर्म सभी उन्हीं के अङ्ग में हैं, सभी उन्हीं की इच्छा से होते हैं। जब धर्म निर्बल हो जाता है, तब अधर्म की वृद्धि होने लगती है बड़े बड़े दुष्कृति प्राणी इस पृथ्वी पर पैदा हो जाते हैं। वे सब दुष्ट उत्पन्न होकर साधु पुरुषों को पीड़ा पहुँचाते हैं। उन दुष्टों के विनाश के निमित्त और साधु जनों के परित्राण के निमित्त तथा धर्म की पुनः संस्थापना करने के लिये स्वयं साक्षात् श्री हरि अवतरित होते हैं। तब वे अधर्म को दबाकर धर्म की वृद्धि करते है। अधर्म का जड़मूल से नाश ही कर देते हैं सो बात नहीं। यदि अधर्म का अस्तित्व ही मिटा दें तब तो उसकी कमर ही टूट जाय। तब तो यह संसार चक्र चले ही नहीं। फिर तो सदा विशुद्ध सत्ययुग ही बना रहे, त्रेता द्वापर तथा कलि कभी आवे ही नहीं। अधर्म भी अपने स्थान में रहता है और धर्म भी जब अधर्म अपनी मर्यादा को उन्हीं की इच्छा से अतिक्रमण कर जाता है। तब उसे वे ही स्वयं मर्यादा मे लाते हैं। जब तक देवता अपने आपे मे रहते हैं, तब तक वे उनकी रक्षा करते हैं। जब असुरो की वृद्धि का समय आ जाता है, तब बली असुर देवताओं को स्वर्ग से खदेड़ देते हैं बेचारे देवता इधर से उधर मारे मारे फिरते रहते हैं। भगवान् क्षीर सागर मे शेष की शैय्या पर तान दुपट्टा सोते रहते हैं। लक्ष्मीजी अपने अत्यन्त गुदगुदे उरूओं पर उनके पावन पादपद्मों को रखकर अपने अत्यन्त ही कोमल कर कमलोंसे उनके तलुओं को सुहराती रहती हैं। योगनिद्रा का आश्रय लेकर रमा-रमण श्रीकान्त खुर्राटे भरते रहते हैं। कोई कितना ही चिल्लाओ पुकारो उठते ही नहीं, पड़े पड़े ही कह देते हैं—"काल की प्रतीक्षा करो।" इससे सिद्ध यही हुआ कि बली अबली बनाने वाला काल ही है और काल कोई अन्य वस्तु नहीं। वे कृष्ण ही काल

स्वरूप हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु तो भूमि, स्वर्ग तथा पाताल तीनों लोकों का एकछत्र शासक बन गया था। देवताओं का वह स्वभाव से द्वेषी था। उसकी दृढ धारणा थी, कि मेरे भाइ को विष्णु ने देवताओं के कहने से ही मारा है। ये देवता और विष्णु ही असुर कुल के कटक हैं। ये ही असुरों की वृद्धि नहीं देख सकते, अतः जैसे हो सके तैसे इनका ही विनाश करना चाहिये। यह सोचकर वह साधारण प्रजाओं का तो प्रेम पूर्वक पालन करने लगा। उन्हें तो सब इच्छित पदार्थ देने लगा, किन्तु देवताओं को वह बहुत दुख देता। उनके साथ विषम व्यवहार करता। इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपालों के साथ वह कठोरता करता, उनसे झाड़ू लगवाता। सर्वदा उनका अपमान करता। त्रिलोकी को छोड़ कर वे जायँ भी तो कहाँ जायँ। हिरण्यकशिपु से कोई बली होता तो उसके समीप जाकर अपना दुख रोते, विपत्ति की बातें सुनाते, किन्तु वह तो सब का अधीश्वर बना हुआ था। देवता एक बार लुक छिपकर ब्रह्माजी के पास गये और दीन होकर बोले—"भगवन्! इस हिरण्यकशिपु को किसी प्रकार मारिये। यह हमें अत्यधिक कष्ट दे रहा है।"

यह सुनकर अपनी भूरी भूरी दाढी पर हाथ फेरते हुए ब्रह्माजी बोले—"भैया! मुझे सब पता है। किन्तु मैं स्वयं बड़े धर्म संकट में पड़ा हूँ। अपने हाथ से विष का भी वृक्ष लगाकर बुद्धिमान् पुरुष उसे स्वयं नहीं काटते। मैंने ही तो उसे इतने बड़े बड़े दुर्लभ वर दिये हैं। अब मैं ही कैसे उसे मार सकता हूँ। फिर मारने का काम मेरा नहीं। मैं तो पैदा करना, वरदान देना ही जानता हूँ। मारने का काम तो रुद्र देव का है उनके

समीप जाओ।"

हताश होकर देवता रुद्रदेव के समीप गये। सब आदि से अन्त तक कथा सुनाई। सुनकर कामारि कपर्दी बोले—"देखो भाई! मेरा किसी से राग द्वेष तो है ही नहीं। मैं बिना बात बैठे ठाले किसी को मारता रहूँ यह बात तो है नहीं। जब जिसका का आ जाता है। मैं उसका संहार कर देता हूँ। फिर मैं ब्रह्मा जी की सृष्टि से बाहर तो हूँ नहीं। उनका पुत्र ही ठहरा। जब मेरे पिता ने उसे वर दिया है, कि तुम मेरी बनाई सृष्टि के द्वारा न मरोगे, तो मैं अकाल मे उसे कैसे मार सकता हूँ और कैसे पदच्युत कर सकता हूँ?"

दोनो देवो की ऐसी बाते सुनकर देवताओ को बडी निराश हुई। किसी ने भी उन्हे शरण नहीं दी। किसी ने भी दया करके उनके दुख को दूर करने की आशा नहीं दिलाई। जब वे सब ओर से निराश हो गये। जब उन्हे अन्यत्र कहीं भी शरण न मिली, तब वे अशरणशरण शरणागतवत्सल भगवान् वासुदेव की शरण गये।

भगवान उन दिनो क्षीरसागर मे शेष शेया पर शयन कर रहे थे। विपत्ति के मारे देवता क्षीर समुद्र, इक्षु, समुद्र, सुरा समुद्र, और घृत समुद्र को लाँघकर क्षीर समुद्र के तट पर पहुँचे चारो ओर उन्होने आँखे फाड फाडकर भगवान् को देखा। तो भी उन्हे न शेषशैया दीखी और न उसके ऊपर शयन करने वाले शेष शायी श्री हरि ही के दर्शन हुए। जिनके मन मे राग द्वेष भरा है, उनको भगवान के दर्शन कैसे हो सकते हैं? भगवान् के दर्शन तो अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। अनन्य भाव से उन्हीं की शरण में जाय कृपा करके वे ही अपना ले, तभी उनके दर्शन सभव हैं

देवताओं ने जब वहाँ श्री हरि को नहीं देखा तो समुद्र के किनारे ही आसन जमाकर वे घोर तप करने लगे। वैसे तो दूध के समुद्र का किनारा ही था यथेष्ट दूध पीते चरु बनाकर अग्नि द्वारा उसे उड़ाते, किन्तु फिर भगवान् के दर्शन कैसे होते, विपत्ति से कैसे छूटते, अतः वे भोजन पान सभी का परित्याग करके केवल वायु भक्षण करके घोर तप करने लगे।

भगवान् तो सो ही रहे थे। हिरण्यकशिपु की ओर से उन्होंने आँखें जानबूझकर बन्दकर ली थीं। जब देवताओं ने भगवान् के द्वार पर ही धारणा दिया। उनके घर पर ही अनशन आरम्भ कर दिया। तो भगवान् क्या करते? दया सागर ही ठहरे अपने दयालुस्वभाव से विवश थे। किन्तु हिरण्यकशिपु का काल समाप्त नहीं हुआ था। उसके पाप पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचे थे असमय मे वे किसी का सहार कैसे करते। देवताओं को भी आश्वाशन देना था अभी नींद भी पूरी नहीं हुई थी। योगनिद्रा उनके आश्रय मे पडी थी। अत शैय्या पर लेटे लेटे ही वहीं से आँखें बन्द किये ही भगवान् देवताओं को आश्वाशन देने लगे। उन्हे दर्शन इसलिये नहीं दिये कि अभी इन्होंने अपने किये का पूर्ण प्रतिफल प्राप्त नहीं किया है। अभी ये दर्शनों के अधिकारी नहीं हुए। अभी मैं इन्हे दर्शन दे दूँ और सम्मुख आने पर सकोच मे पड जाऊँ तो असामयिक कार्य हो जायगा जिसे मैं कभी करता नहीं देवता बारबार कह रहे थे—"हम श्रीहरि तो दिखाई देते नहीं, हम उस दिशा को ही नमस्कार करते हैं जिस जिस दिशा मे चरा चर जगत् के ईश्वर सर्वात्मा श्री हरि निवास करते हैं। जिन्हें प्राप्त करके निर्मल शान्त सयासी गण पुन. नहीं लौटते।"

भगवान् की तो प्रतिज्ञा ही है, जो मुझे जिस भाव से प्राप्त

होते हैं, उन्हे मैं उसी भाव से भजता हूं। देवताओं को अकस्मात् एक दिन मेघ के समान गम्भीर आकाशवाणी सुनाई दी। वह साधुओं को अभय प्रदान करने वाली थी और जिसके गंभीर घोष से दशों दिशायें गुंजायमान हो गई थीं। आकाशवाणी के शब्द स्पष्ट सुनाई देते थे। वह आशावाणी कह रही थी "हे देवताओ! तुम सब का कल्याण होगा, तुम डरो मत निर्भय हो जाओ। निश्चिन्त होकर तान दुपट्टा सो जाओ।"

हाथ जोड कर इन्द्र ने उसी दिशा को प्रणाम करके कहा—"महाराज, भय का कारण उपस्थित होने पर भय होता है। हम तो इस अधम असुर के उत्पातों से अत्यधिक आकुल हो रहे हैं। अधीर होकर ही आप अशरण शरण की शरण में आये हैं।"

आकाश वाणी ने कहा—"कोई बात नहीं, भय प्राणियों को तभी तक होता है, जब तक वे मेरी शरण नहीं आते। जो मेरी शरण आ गये, जिन्हे मेरे दर्शन हो गये उनके सब दुख दूर हो गये। मेरा दर्शन प्राणियों के लिए सब प्रकार के मङ्गलों का साधन है।"

इन्द्र ने कहा—"महाराज! वह दुष्ट हिरण्यकशिपु हम से पानी भराता है, झाड़ू लगवाता है, हमारे यज्ञ भाग को भी खा जाता है, भाँति भाँति की विविध यातनायें देता है और हम सबका अ.....।

बीच मे ही आकाश वाणी ने कहा—"भाई, मुझे बताने की आवश्यकता नहीं है। मुझे उस अधम दैत्य की सम्पूर्ण

दुष्टता का पता है। मैं उसकी सभी चौकड़ी भुला दूँगा, उसके गर्व को खर्व कर दूंगा।"

दीनता के स्वर मे अधीर होकर देवताओं की ओर से इन्द्र ने कहा—'कब कर दोगे महाराज! अब तो ये दु ख सहे नही जाते। सहनशीलता की भी सीमा होती है।"

आकाशवाणी ने कहा—"अभी उसके विनाश का समय नहा है, इसीलिय मैं अभी कुछ नहा कर सकता। जैसे इतने दिन सहन किया है, कुछ काल और भी सहन करो। समय आते ही मैं इसका चकनाचूर कर दूँगा। इसे यम सदन का अतिथि बना दूँगा।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! वह समय कब आवेगा। कैसे जाने कि अब इसके विनाश का समय सन्निकट आ गया है।"

आकाशवाणी ने कहा—"देखो, जब कोई प्राणी अकारण ही देवताओं से द्वेष करने लगे, देवताओं की पूजा बद करदे, देव की निन्दा करने लगे, गौओं को दु ख दे, उन्हें पीडा पहुँचावे। ब्राह्मणो को हृदय से शत्रु समझे, उनका प्रभाव घटाने को सतत प्रयत्न करता रहे, उनके हृदय से द्वेष करने लगे। साधुओ म अश्रद्धा कर, उन्हे अवाच्य वचन बोले, धर्म को अवनति का कारण मानने लगे, धर्म से च्युत हो जाय तथा मुझ जगदीश्वर से विद्वेष करने लगे, तब समझना चाहिये वह शीघ्र ही नष्ट होने वाला है।"

इन्द्र ने कहा—"यह सब तो वह कर रहा है।"

भगवान् ने कहा—"कर तो रहा है, किन्तु अभी पूर्ण रूप से नहीं करता। अभी कुछ कमी है। थोड़े पाप से शीघ्र विनाश नहीं होता। यों करने को तो ऐश्वर्य के मद में भरे तुम भी ये सब काम करते थे। सत्य पूछा जाय तो तुम अपनी करनी से ही अपने पद से च्युत हुए। असुर भी उपदेव हैं, उनसे तुम द्वेष करते ही हो, उन्हें नीचा दिखाने को भाँति २ के प्रयत्न करते हो। कभी कभी पाखंडमत का आश्रय लेकर तुम भी देव विरुद्ध आचरण करने लगते हो। पृथु के यज्ञ में पाखंड मत का तुमने ही प्रचार किया। देव विरुद्ध नास्तिकों का सा रूप तुमने ही धारण किया था। श्री कृष्णावतार में तुमने ऐश्वर्य के मद में भर कर मेरी गौओं का नाश करने के लिये सांवर्तक मेघों को तुमने ही प्रेरित किया था। गो वंश का विनाश करने का तुमने संकल्प किया था। विश्वरूप ब्राह्मण ही था, उसका असावधानी में तुमने ही सिर काटा था। साधुओं की तपस्या भंग करने तुम सदा ही स्वर्ग से सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें, वसंत, कामदेव आदि को भेजते रहते हो। अपने स्वार्थ के लिये धर्म की भी अवहेलना कर देते हो। मैंने शिक्षा देने को व्रज में तुम्हारा यज्ञ बंद किया था, इससे तुम मुझे बुरा भला कहने लगे थे मुझसे द्वेश करने लगे थे। सब के सब पाप तुमने भी किये हैं, किन्तु अंतर इतना ही है, कि तुमने ये सब विवश होकर कम मात्रा में किये हैं। करके पश्चात्ताप किया है

और पापो का प्रायश्चित भी किया है। इससे तुम्हारा विनाश नहीं हुआ है। तनिक विपत्ति आकर ही भोग समाप्त हो गये हैं। जब इस हिरण्यकशिपु के ये पाप पराकाष्ठा पर पहुँच जायेंगे। तब मैं इसे तुरन्त मार डालूँगा। इसमें कोई सदेह नहीं।

इस पर देवताओ ने कहा—"भगवन्! पाप पराकाष्ठा पर पहुँच गये हैं, उसे कैसे जाने? उसकी कोई मोटी-सी पहिचान बता दे।"

यह सुनकर आकाशवाणी ने कहा—"देखो, पापो के पराकाष्ठा पर पहुँचने की मोटी पहिचान यही, कि जब मनुष्य भगवद् भक्तो से व्देप करने लगे। भगवान् के भक्तो से व्देप साधारण पापी नहीं कर सकता। जो महापापी होगा, जिसके पाप सीमा को पार कर गये होगे, वही भक्तो का अनिष्ट सोचेगा, वही उनसे व्देप करके उन्हे यातना देगा। मै बडे बडे पापो को क्षमा कर सकता हूँ। मेरा भी कोई अपराध करे, तो उसे भी छोड सकता हूँ, किन्तु भक्तापराधी को मैं कभी क्षमा नहीं कर सकता। उसकी अवहेलना मैं नहीं कर सकता। जब जीव भक्तो से व्देप करने लगे समझना चाहिये इसके पापो का घडा भर गया।"

इस पर इन्द्र बोले—"भगवन्! हम सब आपके भक्त ही तो हैं, हमसे तो वह व्देप करता ही है।"

आकाशवाणी ने कहा—"भैया, तुम सब भक्त तो हो भक्ताग्रगण्य नहीं हो। जब यह भक्ताग्रगण्य से व्देप करेगा, उसे भाँति भाँति की यातना देगा, तब मैं इसे मार डालूँगा।"

इन्द्र ने पूछा—"महाराज ! भक्ताग्रगण्य, कहाँ उत्पन्न होगा, उसके साथ सभव है इसकी भेट न हो। क्योंकि भक्त तो दुष्टो से शक्ति भर बचे रहते हैं, उनके समीप यथाशक्ति नहीं जाते।' इस पर आकाशवाणी ने कहा—"भक्ताग्रगण्य बाहर कहीं न होगा। उसके घर मे ही उत्पन्न होगा। उसका चौथा पुत्र होगा प्रह्लाद। जब यह अपने भगवद्भक्त सगे पुत्र से द्वेष करेगा, तभी मैं इसे मार डालूँगा।"

देवताओं ने कहा—"महाराज ! मारेंगे कैसे आप ? इसे तो ब्रह्माजी से बडे बडे वर प्राप्त हैं।"

आकाशवाणी ने कहा—"इसकी तुम चिन्ता मत करो। ब्रह्माजी तो मेरे बच्चे ही हैं मैं तो उनकी सृष्टि से पृथक ही हूँ, अतः ब्रह्माजी के वर से तेजस्वी होने पर भी मैं उनके वरो की रक्षा करते हुए बडी तिकडम से इसका अन्त कर दूँगा। इसे मृत्यु के मुख मे डाल दूँगा।'

देवर्षि नारद धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—'राजन् ! इतना कहकर आकाशवाणी शान्त हो गई। अब फिर वह सुनाई नहीं दी। उसी देववाणी को सुनकर देवताओं के सभी दुख दूर हो गये। उनका उद्वेग शान्त हो गया। उन्हे विश्वास हो गया। भवभयहारी भगवान हम भक्तो पर कृपा करेंगे। हमारे शोक सन्ताप को दूर करेंगे। अभी जितने समय का दुःख शेष है उसे सहें, अब दुख की सीमा तो ज्ञात हो गई। अब तो हमे भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद के जन्म की प्रतीक्षा करनी चाहिये यह ससार आशा के ही ऊपर अवलम्बित है। जहाँ भक्तवर

प्रह्लादजी का जन्म हुआ, तहाँ हमारा सभी दुख मिट जायगा। हिरण्यकशिपु की स्त्री गर्भवती तो है ही। नारदजी से हमें यह समाचार मिल गया ही है, कि उसके गर्भ में भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद जी हैं।" यही सब सोचकर वे निश्चिन्त हो गये। उन्होंने समझ लिया कि अब तो यह हिरण्यकशिपु मर ही गया। केवल अंतिम साँसें ले रहा है। यह सोचकर वे अपने अपने स्थानों को चले गये।

छप्पय

कछुक काल महँ तहाँ भई सहसा नभ बानी।
देव दुखित मति होहु बात मैंने सब जानी॥
वेद, देव, गो, विप्र साधु सन द्वेष करे जन।
मो ते बाँधे वैर असुर सहार करूँ तब॥
शान्त दान्त निर्वैर सुत, भक्त वीर प्रह्लाद मम।
मारूँ तब हौं तुरत ही, देइ यातना जब अधम॥

भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजी

(४६०)

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ४ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

नभवानी सुनि देव लौटि निज निज घर आये ।
हिरनकशिपु ने देव भक्त इत अधिक सताये ॥
चौथे ताको पुत्र अवस्था मह छोटो अति ।
किन्तु भक्ति महँ श्रेष्ठ आसुरी नहिँ जाकी मति ॥
विद्या, कुल धन रूप को, जाके नहिँ अभिमान चित ।
सुहृद सदाचारी सरल, सब सद्गुन जामे निहित ॥

समस्त सद्गुण वहाँ स्वतः ही आकर निवास करने लगते हैं, जहाँ भगवान् की भक्ति हो। भक्ति समस्त गुणों की खानि है। सद्गुण भक्ति के आश्रय से रहते हैं। अभक्तों के गुण

श्री नारदजी महाराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! उस दैत्य राज हिरण्यकशिपु के अद्भुत चार पुत्र थे। उन सबमें प्रह्लादजी छोटे होने पर भी गुणों में महान् थे। वे साधु महात्माओं की सेवा करने वाले थे।"

कहाँ ? वे तो मनके पीछे दौड़ने वाले होते हैं। मनकी स्वाभाविक रुचि विषयों मे है। विषय दुःख के मूल हैं, अतः अभक्त के अजितेन्द्रिय के समीप सद्गुण कैसे रह सकते हैं। वह तो सदा अशान्त, चिन्तित और दुखी बना रहता है। भक्त सदा प्रसन्न-चित्त बना रहता है, वह सद्गुणों के लिये प्रयत्न नहीं करता। वह तो निरन्तर भगवद्भक्ति मे ही तल्लीन बना रहता है। सद्गुण आकर स्वयं ही उसके स्वच्छ हृदय में निवास करते हैं।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन ! हिरण्यकशिपु के सह्लाद, अनह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद ये चार पुत्र थे। इनमे प्रह्लादजी अवस्था मे सबसे छोटे होने पर भी गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। बाल्यकाल से ही सरल, सुशील और अत्यन्त ही नम्र थे। उन्हें छोटे से छोटा भी ब्राह्मण मिल जाता, तो उसे भी वे श्रद्धा सहित प्रणाम करते। सदाचार की तो वे सजीव साकार मूर्ति ही थे। खेल खेल मे कभी किसी से किसी कार्य के लिये कह देते, तो शक्ति भर, प्राण रहते, उस प्रतिज्ञा का पालन करते। कभी हँसी मे भी भूल मे भी झूठ नहीं बोलते थे। वे अपनी सभी इन्द्रियों को अपने वश में किये रहते थे। इन्द्रियाँ उनके अधीन थीं, वे इन्द्रियो के अधीन नहीं थे। वे सभी प्राणियों मे आत्मभाव रखते थे। हमे कोई कुवाक्य कह दे, तो कष्ट होता है। इसलिये वे कभी भी किसी को कड़वे वचन नहीं कहते थे। जैसे हमारा कोई सम्मान करे, तो हमें उसके शील स्वभाव से प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार वे भी सबका आदर करते थे। वे सभी के प्रिय

थे, न वे स्वयं किसी से द्वेष करते थे न दुष्टों को छोड़कर अन्य कोई भी उनसे द्वेष रखता था। वे सबके प्यारे दुलारे थे। जिनके संसर्ग में वे आते थे, वे सभी उन्हें अपना सुहृद् समझते थे। साधु सन्त तथा श्रेष्ठ पुरुषों और भगवद्भक्तों के चरणों में दूर से ही साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगते। वे सदा विनीत बने रहते। जो अपने से छोटे दीन, दुखी तथा अनाथ होते उन पर पिता की भाँति स्नेह करते, यथा शक्ति उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। उनके दुःखों को दूर करने के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते। जो अपने बराबर वाले होते, उनसे सगे सहोदर भाई के समान प्यार करते। यह अभिमान कभी मनमें नहीं लाते कि हम राजा के पुत्र हैं, ऐश्वर्यशाली हैं, सम्पन्न हैं अपने से छोटे लोगों के साथ कैसे मिलें। बराबर वालों को यह प्रतीत ही नहीं होता था, कि ये राजकुमार हैं, हम इनकी प्रजा हैं। वे उनमें ऐसे घुलमिल जाते कि सभी साथी इन्हें अपना सहोदर भाई ही समझते। अपने से जो विद्या में, तप में तेज में, गुणों में बड़े होते, उनका ईश्वर बुद्धि से पूजन करते। उनकी सभी आज्ञाओं का पालन करते और उनमें आदरबुद्धि रखते।

वे जन्म से ही विद्वान् थे। बिना पढ़े ही उन्हें सब विद्यायें आती थीं। किन्तु विद्या का मद छू भी नहीं गया था। धन के लिये तो पूछना ही क्या, राजपुत्र ही ठहरे। ऐसे वैसे राजा के पुत्र नहीं। उस हिरण्यकशिपु के प्यारे पुत्र थे, जिसने तीनों लोकों को अपने बाहुबल से जीत लिया था। जिसके नाम से इन्द्रादि लोकपाल थर थर काँपते थे। संसार के समस्त बहुमूल्य रत्न जिसके भवन में एकत्रित थे, उस इतने भारी समृद्धिशाली चक्रवर्ती सम्राट् के सुत होने पर भी उन्हें धन का अभि-

मान छू भी नहीं गया था। देखने मे वे कामदेव के समान सुन्दर थे। उनके सभी अङ्ग-प्रत्यग सुन्दर, सुडौल सुगठित और जैसे उतार चढ़ाव के होने चाहिए, वैसे थ। उन्हे जो भी एक बार देख लेता वही मुग्ध हो जाता। इतने अधिक सुन्दर होने पर भी उन्हे रूप का तनिक भी गर्व नहीं था। वे अपने को साधारण जनो के समान समझते थे। वे महर्षि कश्यप के कुल में उत्पन्न हुए थे। फिर भी उन्हें अपने कुलीन होने का अभिमान नहीं था। साधारण दैत्य बालकों के साथ हँसते खेलते और उन्ही मे घुल मिल जाते थे। किसी बात का उन्हें न गर्व था न अभिमान।

प्रह्लाद जी बड़े धैर्यशाली थे। किसी भी दुर्घटना तथा विपत्ति को देखकर वे घबाराते नहीं थे। उन्हें शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्शजन्य सासारिक सुखों की तनिक भी स्पृहा नहीं थी न वे यही चाहते थे कि उन्हें स्वर्गीय सुख, विमान, नन्दन कानन मे विहार, अप्सरायें तथा पान करने को अमृतादि पदार्थ प्राप्त हों। इन सभी सुखो से वे सदा उदासीन बने रहते थे। वे सिद्ध ही कहे जा सकते थे। उनकी समस्त इन्द्रियाँ, प्राण, मन और शरीर सभी सयत थे। वे कामनाहीन, निष्काम और ससारी पदार्थों से निर्लिप्त थे। अधिक क्या कहें यही कहना पर्याप्त होगा, कि वे असुर होने पर भी आसुरीभावो से सर्वदा रहित थे।

प्रह्लाद जी की देवर्षि नारद के मुख से इतनी प्रशसा सुनकर

थे, न वे स्वयं किसी से द्वेष करते थे न दुष्टों को छोड़कर अन्य कोई भी उनसे द्वेष रखता था। वे सबके प्यारे दुलारे थे। जिनके संसर्ग में वे आते थे, वे सभी उन्हें अपना सुहृद् समझते थे। साधु सन्त तथा श्रेष्ठ पुरुषों और भगवद्भक्तों के चरणों में दूर से ही साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगते। वे सदा विनीत बने रहते। जो अपने से छोटे दीन, दुखी तथा अनाथ होते उन पर पिता की भाँति स्नेह करते, यथा शक्ति उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। उनके दुःखों को दूर करने के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते। जो अपने बराबर वाले होते, उनसे सगे सहोदर भाई के समान प्यार करते। यह अभिमान कभी मनमें नहीं लाते कि हम राजा के पुत्र हैं, ऐश्वर्यशाली हैं, सम्पन्न हैं अपने से छोटे लोगों के साथ कैसे मिलें। बराबर वालों को यह प्रतीत ही नहीं होता था, कि ये राजकुमार हैं, हम इनकी प्रजा हैं। वे उनमें ऐसे घुलमिल जाते कि सभी साथी इन्हें अपना सहोदर भाई ही समझते। अपने से जो विद्या में, तप में तेज में, गुणों में बड़े होते, उनका ईश्वर बुद्धि से पूजन करते। उनकी सभी आज्ञाओं का पालन करते और उनमें आदरबुद्धि रखते।

वे जन्म से ही विद्वान थे। बिना पढ़े ही उन्हें सब विद्यायें आती थीं। किन्तु विद्या का मद छू भी नहीं गया था। धन के लिये तो पूछना ही क्या, राजपुत्र ही ठहरे। ऐसे वैसे राजा के पुत्र नहीं। उस हिरण्यकशिपु के प्यारे पुत्र थे, जिसने तीनों लोकों को अपने बाहुबल से जीत लिया था। जिसके नाम से इन्द्रादि लोकपाल थर थर काँपते थे। संसार के समस्त बहुमूल्य रत्न जिसके भवन में एकत्रित थे, उस इतने भारी समृद्धिशाली चक्रवर्ती सम्राट् के सुत होने पर भी उन्हें धन का अभि-

मान छू भी नहीं गया था। देखने मे वे कामदेव के समान सुन्दर थे। उनके सभी अङ्ग-प्रत्यंग सुन्दर, सुडौल सुगठित और जैसे उतार चढ़ाव के होने चाहिए, वैसे थ। उन्हें जो भी एक बार देख लेता वही मुग्ध हो जाता। इतने अधिक सुन्दर होने पर भी उन्हें रूप का तनिक भी गर्व नहीं था। वे अपने को साधारण जनों के समान समझते थे। वे महर्षि कश्यप के कुल मे उत्पन्न हुए थे। फिर भी उन्हें अपने कुलीन होने का अभिमान नहीं था। साधारण दैत्य बालकों के साथ हँसते खेलते और उन्हीं मे घुल मिल जाते थे। किसी बात का उन्हें न गर्व था न अभिमान।

प्रह्लाद जी बड़े धैर्यशाली थे। किसी भी दुर्घटना तथा विपत्ति को देखकर वे घबाराते नहीं थे। उन्हें शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्शजन्य सासारिक सुखों की तनिक भी स्पृहा नहीं थी न वे यही चाहते थे कि उन्हें स्वर्गीय सुख, विमान, नन्दन कानन मे विहार, अप्पसरायें तथा पान करने को अमृतादि पदार्थ प्राप्त हो। इन सभी सुखों से वे सदा उदासीन बने रहते थे। वे सिद्ध ही कहे जा सकते थे। उनकी समस्त इन्द्रियाँ, प्राण, मन और शरीर सभी सयत थे। वे कामनाहीन, निष्काम और ससारी पदार्थों से निर्लिप्त थे। अधिक क्या कहें यही कहना पर्याप्त होगा, कि वे असुर होने पर भी आसुरीभावो से सर्वदा रहित थे।

प्रह्लाद जी की देवर्षि नारद के मुख से इतनी प्रशंसा सुनकर

धर्मराज युधिष्ठिर ने पूछा—"भगवान्! बड़ा आश्चर्य है, कि एक असुर कुल में उत्पन्न बालक में जन्म से ही ऐसे गुण हों। उनमें ये इतने गुण किस साधन से कैसे आ गये?"

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन्! मैं पहिले बता तो चुका हूँ। ये सब गुण किसी साधन से प्राप्त नहीं होते। उनकी ही कृपा से कोई कोई उन्हें प्राप्त कर सकता है देखिये, प्रह्लादजी को हुए कितने वर्ष हो गये। लाखों करोड़ों वर्ष बीत गये, फिर भी उनके गुण, उनकी विमल कीर्ति पृथ्वी पर अभी तक ज्यों की त्यों बनी है और सदा ऐसी बनी रहेगी। भगवान् में और भगवान् के भक्तों में कोई भेद नहीं होता। जैसे भगवान् के गुण नित्य हैं वैसे ही भक्तों के गुण भी नित्य हैं। प्रह्लादजी के महान् गुणों का स्मरण करके पंडितजन आज तक उनका अनुकरण करके भक्ति मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। राजन्! प्रह्लादजी के गुणों के सम्बन्ध में अब मैं आप से क्या कहूँ। शेष जी की भाँति मेरे भी सहस्रों जिह्वाएं होतीं, तो भी मैं प्रह्लादजी के गुणों का वर्णन नहीं कर सकता था। फिर अब तो मेरे एक ही जिह्वा है। महाराज! उनके गुणों की महत्ता इसी से समझ लो, कि देवता उनके प्रतिपक्षी हैं, किन्तु जहाँ उनके समाज में भी भगवद्भक्ति का प्रसङ्ग चलता है, वहाँ उदाहरण में प्रह्लादजी का ही दृष्टान्त दिया जाता है, उन्हीं के गुणों का अनुकरण किया जाता है। इस विषय में प्रह्लादजी का क्या मत है, उन्होंने ऐसे अवसर पर कैसे आचरण किया

था, ये बातें देवसभा मे प्रमाण के रूप मे उपस्थित की जाती हैं और प्रह्लादजी का आचरण आदर्श रूप मे माना जाता है। जिनका इतना आदर जब शत्रु करते हैं, तो आप जैसे निर्वैर अजातशत्रु उनका आदर करें, उनके आचरण को प्रमाणभूत मान लें, तो इसमे आश्चर्य की ही कौन सी बात है।

प्रह्लादजी का प्रभाव अनन्त है, उनके गुण अनन्त हैं। उन सबका तो अनंतकाल तक वर्णन करते रहें, तो भी पूर्ण वर्णन नहीं हो सकता। सक्षेप मे यही कहना यथेष्ट होगा, कि उनका भगवान् वासुदेव मे सहज स्वभाविकी प्रीति थी। ये गुण तो केवल निर्देश मात्र किये हैं। इन गुणों से ही उनका माहात्म्य सूचित होता है।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! प्रह्लादजी भक्तो के प्रतीक हैं। भक्तिशास्त्र मे भक्तो के जो जो गुण, जो जो आचरण, जैसे उनकी रहनी सहनी वर्णन की है, ये सब एक मात्र प्रह्लादजी के देह मे प्रकट हुये। उनकी रहनी से ही भक्तो का रहनी, उनके व्यवहार से ही भक्तो के व्यवहार जाने जा सकते हैं। अतः अत्यन्त संक्षेप मे, सकेत रूप से मैं उनकी रहनी सहनी और मानसिक स्थिति का दिग्दर्शन कराऊँगा। क्योंकि भक्तिमार्ग के पथिको को इससे बड़ा सहारा मिलेगा। वे इन बातों को समझकर अपने जीवन मे भी ऐसी स्थिति उत्पन्न करने के लिये रो रोकर प्रभु से प्रार्थना करेंगे। प्रभु तो वांच्छा कल्पतरु

ही ठहरे। उनसे तो जो भी जिस वस्तु को हृदय से माँगता है, उसे वही दे देते हैं। अतः आप संक्षेप में प्रह्लादजी की बाल्यकाल की रहनी सुन लीजिये।

छप्पय

सुख दुख महँ सम सदा सत्व स्वाभाविक जामें।
मिथ्या मायिक भोग होहिँ अनुरक्त न तामें॥
तन मन इन्द्रिय पान रखें नित अपने वश महँ।
स्वाभाविक ई प्रीति श्यामसुन्दर के यश महँ॥
सतत हिये महँ जरि रही, ज्योति प्रेम के जोग की।
भक्तिभावभावित हृदय, नहीं कामना भोग की॥

भगवद्भक्तों की दशा

(४६१)

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहग्रहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥
आसीनः पर्यटन्नश्नञ्छयानः प्रपिबन्ब्रुवन् ।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ४ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

शत्रु मित्र को भाव कबहुँ मन महँ नहिँ आनें ।
जिनकी शुद्धाभक्ति निरखि सुर लोहो माने ॥
सोवत जागत चलत उठत खावत अरु पीवत ।
रहैं अनमनेनने सबनि सिरीं से दीखत ॥
गावे नाचें प्रेमते, हृदय सदा श्रीहरि बसे ।
कृष्ण भूत सिर पै चढ्यो, कबहूँ रोवें पुनि हँसे ॥

जब जीव प्रकृतिस्थ होता है, अपने जीव स्वभाव मे स्थित

श्री नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! बालक होने पर भी प्रह्लादजी ने खेल कूद को छोड़ दिया था हरि ध्यान में तन्मय हो जाने के कारण वे जड़वत् बन जाते थे। उनके मन को कृष्ण रूप

रहता है, तब उसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान रहता है। वह यथावत् क्रिया करता है। शिष्टता से व्यवहार करता है, लोकमर्यादा का पालन करता है, किन्तु जब उसके ऊपर कोई भूत, प्रेत, पिशाच या अन्य ग्रह का आक्रमण हो जाता है तो वह अपने स्वभाव को छोड़कर अंट संट व्यवहार करने लगता है। उसके ऊपर चढ़ा ग्रह जो कराता है करता है। जैसे आचरण अपनी प्रकृति में रहकर करता था, उससे विलक्षण ही आचरण वह करने लगता है।

श्री नारदजी राजा परिक्षित् से कह रहे हैं—"राजन! महाभागवत प्रह्लाद जी का स्वभाव जन्म से ही अलौकिक था प्रायः बालकपन में सभी को खेल अत्यंत प्रिय होता है, किन्तु प्रह्लादजी जब बालक थे, तभी से बड़े गम्भीर थे। वे गुल्ली डंडा, आँख मिचौनी, भड्डू, लभैरवंशी आदि जो बालकों के स्वाभाविक और प्रिय खेल हैं, उन्हें कभी भी नहीं खेलते थे। खेल में भी वे गोपाल जी की मूर्ति बनाकर उनका पूजन अर्चन करते, भोग लगाते, प्रसाद बाँटते और सभी से रामधुनि कराते। वे एकान्त में जाकर भगवान् का ध्यान करते। भगवत् ध्यान में ऐसे तन्मय हो जाते, कि यह जगत काला है, पीला है या लाल है, इसके पदार्थ भोग्य हैं, इसमें यह प्रिय है यह अप्रिय हैं, इन बातों का उन्हें कुछ भी ज्ञान

ग्रह ने ग्रस लिया था। उन्हें यह संसार ऐसा दिखाई नहीं देता था जैसा संसारी लोगों को दीखता है। वे उठते, बैठते, घूमते, फिरते, खाते, पीते, सोते, जागते, बोलते, चालते—इन सब कामों को करते हुए भी इनके ज्ञान से शून्य बने रहते थे, क्योंकि वे मन से गोविन्द का आलिंगन करते रहते थे।"

न रहता। वे तो सम्पूर्ण जगत् को हरिमय निहारते। सभी में भगवद् बुद्धि करके सभी की वन्दना करते। वे सब कुछ स्वभावानुसार मन्त्र की भाँति बिना कुछ सकल्प से क्रियाओं को करते रहते, किन्तु उनकी ओर उनका ध्यान नहीं जाता था। जैसे हम स्वभावानुसार साँस लेते हैं, पलक मारते हैं खुजली होती है तो खुजाते हैं, उसी प्रकार शरीर से उनकी क्रियायें होती रहती। मन सदा मनमोहन की माधुरी में मत्त बना रहता। कभी चल रहे है, तो चले ही जा रहे हैं पागल सिर्री विरक्तों की भाँति कोई सकल्प नहीं। कोई गन्तव्य लक्ष्य नहीं, कहीं पहुँचने का निश्चय नहीं। पैर अपने आप चले जा रहे हैं। जहाँ रुक गए, कब तक रुके रहे कुछ पता नहीं। बैठ गये, तो बैठे ही है, लेट गये तो लेटे ही हैं। माता प्रसाद दे दिया तो पा लिया, उसमे अच्छे बुरे, स्वादु अस्वादु, सरस नीरस का विवेक नहीं, विचार नहीं। जल मिल गया पी लिया। गाने लगे, तो भगवान् के मगलमय मधुमय मधुर नामों को तथा उनके गुणों को गाते ही रहे। मौन हो गये तो प्रहरो समस्त इन्द्रियों को रोककर चुपचाप मौन ही धारण किये हैं।

कभी कभी चित्त मे ग्लानि हो गई। हा! भगवन् वैकुण्ठ नाथ ने कहाँ लाकर मुझे इस भवाटवी मे पटक दिया। जहाँ चित्त मे यह चिन्ता चुभी वही हृदय हो गया। प्रियतम के विरह का अनुभव होते ही हृदय भर आया। आँखों से अश्रुओं का जो प्रवाह बहा कि फिर बहता ही रहता। दोनो नेत्रों से निरन्तर नेह का नीर निकल निकल कर उनके नवनीरद के समान श्री अग को गीला बना देता।

हा! श्यामसुन्दर मुझे संसार सागर मे छोड़कर स्वयं छिप गये हैं, यह अनुभूति होते ही अश्रुधारा फूट पड़ती। वे प्रहरों रोते रहते, तड़पते रहते, आहें भरते रहते। इसके विपरीत कभी हृदय में भगवत् स्मृति जाग्रत हुई और हृदय से हृदय सर्वस्व जीवनधन अपने प्रेष्ठतम प्राणनाथ का संस्पर्श हुआ। उन्हें भावजगत् मे आलिंगन कर लिया, तो उस संस्पर्श जन्य सुख का अनुभव करके खिल खिलाकर पागलो की भाँति हँस पड़ते। हँसते तो हँसते ही रहते। दूसरा देखने वाला इन्हे एकान्त में अकारण इतना हँसते देखकर पागल समझता और सोचता—"अवश्य ही इसे कोई मस्तिष्क सम्बन्धी रोग है।"

कभी कभी ऐसा होता कि मन मे यह विचार उठता, हाय यह मेरी चामकी जिह्वा व्यर्थ ही मुख रूपी बिल में पड़ी रहती है, इसका मुख्य कर्तव्य तो है भगवद्गुणों का गान। इसे न करके यह दूसरे की निन्दास्तुति तथा परापवाद मे ही लगी रहती है। इसकी सार्थकता तो कृष्णगुणगान मे ही है, अहर्निश यह भगवान् के नामों का उच्चारण करती रहे, यही इसकी सफलता है। इसे मैं सफल बनाऊँगा ऐसा सोच कर लज्जा को त्याग कर भगवद्गुणगान मे निमग्न हो जाते, प्रहरों भगवन्नाम कीर्तन ही करते रहते। बीच बीच में हुँकारी भरते, विह्वल होते, छटपटाते, रोते चिल्लाते उसी

आवेश में लोक लाज छोड़कर नाचने लगते। नाचते ना चते

उन्हें भगवद्भाव का आवेश आ जाता, तो भगवान् की मधुमय लीलाओं का अनुकरण करने लगते। कभी गोवर्धन को उठाने का अनुकरण करते, कभी गोयें चराने की लीला करते कभी धनुष बाण धारण करके राघव लीलाओं को दिखाते। कभी वनगमन की सी लीला करने लगते।

कभी कभी भगवद् ध्यान में ऐसे तल्लीन हो जाते, कि यह अनुभव करते, कि श्रीहरि मुझे अपने कर कमलों से उठाकर अपनी छाती से लिपटा रहे हैं। भगवान् के स्पर्श को पाकर उनका रोम रोम खिल जाता, सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो जाता वाणी रुद्ध हो जाती और प्रियतम के अलिङ्गन सुख से शरीर को शिथिल किये नेत्र बन्द किये अविचल भाव से बैठकर आनन्दाश्रुओं को बहाते रहते। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि दो मुंदे हुए कमलों से ओस में कण झर झर झर झर, झर रहे हों।

उनकी दशा बहुत ऊँची हो गई थी। यह दशा कामी और विषयियों को प्राप्त होनी कठिन ही नहीं असम्भव है। यह तो निष्कञ्चन भगवद्भक्तों के निरन्तर के सहवास से, हृदय से की हुई भगवत् परिचर्या से, उन्हीं की अहैतुकी कृपा से प्राप्त हो सकता है। जिसे ऐसी प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है। वह स्वयं तो तर ही जाता है, अपने समीपवर्ती अन्य सभी को तार देता है, वह तरणतारण बन जाता है। प्रह्लादजी अपनी बढ़ी हुई भगवद्भक्ति से अन्य कुसंगग्रस्त पुरुषों को बम्बार शान्ति प्रदान करने लगे। उनके चित्त में भी आनन्द का स्रोत बहने लगे। उन्हें भी अपने उत्कट स्नेह से आह्लादित करने लगे।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कहने लगे—राजन्! ऐसे भगवद्भक्त अनुरागी, साधु स्वभाव के पुत्र प्रह्लाद से भी उसके हरिद्रोही पिता हिरण्यकशिपु ने विरोध किया। यह विरोध अन्त यहाँ तक बढ़ा, कि भगवान् को नृसिंहावतार लेकर प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु का वध करना पड़ा।

इस बात को सुनकर आश्चर्य के साथ धर्मराज ने पुछा—"ब्रह्मन्! पिता ने अपने पुत्र से विरोध क्यो किया! यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है।

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन! इसमे आश्चर्य की कौन सी बात है। विरोध पति पत्नी मे, भाई भाई मे, पिता पुत्र में, सगे सम्बधी में सभी मे हो जाता है।"

यह सुनकर धर्मराज बोले—"नही भगवन् मेरा अभिप्राय यह था, कि पुत्र कैसा भी हो, पुत्र ही है। अयोग्य, मूर्ख पुत्र के प्रति भी पिता माता का अनुराग, मोह होता है। यो शिक्षा के लिये डॉट डपट दे, यह तो दूसरी बात है, किन्तु उससे द्वेष करके उसे मार डालने का विचार करे, यह तो आश्चर्य की ही बात है। प्रह्लाद तो महात्मा ही थे। उनके सम्बन्ध मे अधिक मैं क्या कहूँ। जब आप तीनो लोको के वन्दनीय चौदहो भुवनों मे समान रूप से सम्मान पाने वाले भगवत् स्वरूप सत् जिनके गुणों का वर्णन करते-करते अघाते नही, उनकी महत्ता के विषय मे विशेष कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। ऐसे सरल सदाचारी धर्मात्मा पुत्र से उसके पिता ने ही द्वेष क्यों किया? इस विषय को सुनने के लिये मुझे बडा कौतूहल हो रहा है। यदि आप उचित समझें, तो उसका कारण विस्तार

के साथ मुझे बताये।

इस पर नारद जी ने कहा—"राजन! द्वेष का कारण है अपनी इच्छा के प्रतिकूल आचरण। चाहे कितना भी निकटतम सम्बन्धी हो, यदि वह हमारी इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है, जिसके लिये हम मना करते हैं उसे हठ पूर्वक करता है, तो उससे विरोध ही हो जाता है। उसका हम कुछ अनिष्ट करने का प्रयत्न करते ही हैं। प्रयत्न करने पर भी हम उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते, तब हमारे हृदय मे प्रतिहिंसा की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। हम उसका जैसे बने तैसे अधिकाधिक अनिष्ट करने पर उतारू हो जाते हैं। यही बात हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के सम्बन्ध मे हुई।"

यह सुनकर युधिष्ठिर जी ने कहा—"हिरण्यकशिपु प्रह्लादजी से क्या कराना चाहता था, किस बात के लिये मना करता था? फिर यह बात यहाँ तक कैसे बढ़ गई कि पिता ने पुत्र का वध करने के लिये द्रोह किया। ब्रह्मन्! इन सभी बातों को सुनाकर मेरे बढ़े हुए कुतूहल को शान्त कीजिये।',

इस पर नारदजी कहने लगे—"राजन्! सुनिये, अब मैं महाभागवत प्रह्लाद जी का आरंभ से ही चरित्र सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार नारद जी ने धर्मराज को प्रह्लाद चरित्र सुनाया और जैसे मैंने अपने गुरुदेव

भगवान् शुक के मुख से महाराज परीक्षित् की सभा मे सुना था, उसे ही मैं आपको सुनाता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

जिनकी लखिकें भक्ति सभी जन होहि सुखारे।
हिरनकशिपु हरि नाम सुनत फटकारे मारे॥
गुरुगृह भेजे पढ़न पढ़ का पढे पढाये।
राजनीति के दाव पेंच तिनि मन नहिँ भाये॥
पूछे इक दिन पुत्र तें, अक लाइ पुनि चूमि मुख।
सुत! प्रिय ताकूँ का लगे, कौन काज तें होहि सुख॥

पिता पुत्र में मतभेद

(४६२)

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनाम्,
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रात् ।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपम्,
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

सुनि बोले प्रह्लाद-पिताजी ! बुरो न मानें ।
हम तो जग महँ भली बात जाई कूँ जानें ॥
रहे सदा उद्विग्न चित्त घर दारा धन महँ ।
ताते तजि के मोह समनि को जावे वन महँ ॥
यह अपनो यह परायो, अभि निवेश मिथ्या तजे ।
जग की आशा छोड़ि के, प्रेम सहित प्रभुकूँ भजे ॥

विरोध तब होता है, जब दो विभिन्न स्वार्थ एक स्थान मे आकर टकराते हैं। बहुत से लोग हैं, जो हमारे मत से सह-

---

❀ अपने पिता के पूछने पर प्रह्लादजी कह रहे हैं—"हे असुरवर्य ! जिन लोगों की बुद्धि अहंता ममता रूप अभिनिवे सदा उद्विग्न बनी रहती है, उनके लिये मैं यही सर्वश्रेष्ठ बात समझता हूँ कि

मत नहीं हैं। उनसे हम लड़ने नहीं जाते, कि तुम हमारे विपरीत विचार क्यों रखते हो। किन्तु जो हमारा पुत्र है, आश्रित है, पालनीय है सगा सम्बन्धी या अधीन है, यदि वह हमसे विरुद्ध विचार रखता है, तो हमे दु.ख होता है। यदि उन विचारों को वह हमारे सम्मुख व्यक्त करता है, तो हम उससे भी अधिक क्लेश होता है। अपने विचारों को व्यक्त ही न करे, अपितु हमारे विचारों की अवहेलना करे, उन्हें हेय और उपेक्षणीय सिद्ध करे, आज्ञा का उल्लघन कर तो बाध्य होकर उसे हमे यथोचित दण्ड देना पडता है। इसमे न सुरों का दोष न असुरों का यह स्वाभाविक नियम है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कहते है—"राजन्! जिस प्रकार प्रह्लादजी का अपने पिता हिरण्यकशिपु से मतभेद हुआ, उस प्रसग को मैं आपको सुनाता हूँ। प्रह्लादजी का माता का नाम कयाधू था। कयाधू पेट मे सहस्रो वर्ष रहने के अन्तर प्रह्लाद जी उत्पन्न हुए। उत्पन्न होते ही ये भक्ति सम्बन्धी ही खेल खेलने लगे। छोटे बच्चे क्या खेल खेलते है, इसकी ओर बडे ध्यान नहीं देते। विशेषकर छोटा बच्चा माता के ही समीप रहता है। जैसे स्वभाव की माता

आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले इस गृहस्थी रूप अधकूप को त्याग कर वन मे चला जाय और वहाँ श्रीहरि का ही आश्रय लेले। उन्हीं की शरण हो जाय।"

होती है, प्रायः वैसा ही स्वभाव बालक का बन जाता है। प्रह्लादजी की माता तो राजन्! मेरी शिष्य सविका ही थी, इसलिये उस ता भगवद् सम्बन्धी खेलों में भगवन्नाम सङ्कीर्तन में, भगवान् का कथाओं में कोई आपत्ति थी ही नहीं किन्तु वह अपने पति से सदा डरती थी कि इन्हें बच्चे के मनोभाव विदित न हो जायँ। अतः वह शक्ति भर उनके भावों को छिपाये रखने की चेष्टा करती। इस प्रकार शनैः शनैः प्रह्लादजी की अवस्था ५, ६ वर्ष की हो गई।

एक दिन हिरण्यकशिपु ने अपनी पत्नी कयाधू से कहा—"सुनती है। प्रह्लाद अब पढ़ने योग्य हो गया है, इसे अब गुरु गृह पढ़ने को भेजना चाहिये।"

इस पर कयाधू ने कहा—"पढने कहाँ भेजे, हम लोगों के पुरोहित भगवान् शुक्राचार्य तो सुना कहीं बाहर चले गये हैं, और अभी शीघ्र लौट कर आने वाले नहीं।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"भगवान् भार्गव नहीं हैं, तो उनके शण्ड और अमर्क नामक दो पुत्र, तो हैं। जैसे ही गुरु वैसे ही गुरु पुत्र। जब तक गुरु जी नहीं आते हैं, तब तक गुरु पुत्रों के पास ही प्रह्लाद पढेगा।"

कयाधू ने कहा—"अच्छी बात है, कल पट्टीपुजवादो पूजन, कराके प्रसाद बँटवाओ कल शुभ मुहूर्त में अक्षरारम्भ हो

जाव।"

इस पर धर्मराज ने पूछा—"भगवन्! शुक्राचार्य तो ब्राह्मण ऋषि थे, उनके पुत्रो के ये शण्ड अमर्क जैसे अशुभ और रूखे नाम क्यों हुए?"

हँसकर नारद जी बोले—"अब राजन्! इसका क्या उत्तर दूँ, संसर्ग का भी तो कुछ दोष है। असुरो के पुरोहितों के ऐसे उटपटांग नाम स्वाभाविक ही हैं। कुछ तो असुरपना आना ही चाहिए। हाँ, तो दूसरे दिन शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त बड़ी धूमधाम के साथ प्रह्लाद जी का अक्षरारम्भ हुआ। अब वे नियमित रूप से चटसार जाने लगे। पंडित जी से पाठशाला मे पाठ पढ़ने लगे। और भी असुरो के बहुत से बालक उनके पास पढ़ने आते प्रह्लाद जी भी पट्टी और पठ्य-पुस्तक लेकर प्रेम पूर्वक पढ़ने आते। कभी घर चले जाते कभी गुरुगृह में ही रह जाते। गुरु पुत्र नीतिशास्त्र के बड़े पडित थे, अतः वे बालको को राजनीति की ही शिक्षा दिया करते। शत्रु के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिये। साम का प्रयोग कैसे किया जाता है। दान देकर शत्रु के तथा शत्रु को पक्षीय लोगों को किस प्रकार वश मे किया जाता है। शत्रु के शत्रुओं मे तथा शत्रु के राज्य में भेद कैसे डाला जाता है। सन्धि कैसे की जाती है। आवश्यकता पड़ने पर दण्ड कैसे दिया जाता है, दण्ड के कितने भेद हैं, किस स्थान पर कैसा दण्ड उपयुक्त

होता है, आदि आदि ऐसी ही नीति की शिक्षा वे सबको देते थे। प्रह्लाद जी की बुद्धि अत्यन्त ही तीव्र थी। वे ज्यों ही गुरु जी के मुख से सुनते, त्यों ही उसे फट्ट ज्यों का त्यों सुना देते। गुरु पुत्रों को उनकी ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि और विलक्षण प्रतिभा को देखकर आश्चर्य होता था और मन ही मन प्रसन्न होते, कि ऐसे शिष्य को शीघ्र ही पढाकर राजा से अधिक से अधिक पारितोषिक लेंगे।

प्रह्लाद जी पढे हुए पाठ को तुरन्त सुना देते थे, किन्तु उन्हे ये राजनीति की बाते अच्छी नहीं लगती थीं। उनमे सदा ये ही बाते रहती थीं यह अपना है, यह पराया है, यह शत्रु है। यह मित्र है। प्रह्लादजी तो समदर्शी थे, वे तो मन से किसी को शत्रु मानते नही थे। इसीलिये ऐसी असद् आग्रह से युक्त बाते उन्हें अच्छी नही लगती थीं, फिर भी पिता की आज्ञा समझकर वे पढते थे।

एक दिन की बात है, कि प्रह्लाद जी पढकर आ रहे थे, हिरण्यकशिपु महलो मे बैठा था। प्रह्लाद जी ने पुस्तक पट्टी रख कर पिता के पादपद्मो मे अत्यन्त विनीत होकर प्रणाम किया। अपने अति सुन्दर फूल के समान सुकुमार पुत्र की ऐसी विनय और भक्ति से दैत्य राज अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उसने स्नेह से पुत्र को उठाकर अपनी गोदी मे बिठा लिया और बार बार मुख

चूमकर प्यार करके बोला—"बेटा! आजकल तू क्या पढ़ता

है। हमें भी कुछ सुना।"

नम्रता के साथ प्रह्लादजी ने कहा—"पिता जी! जो आ
हो, वही सुनाऊँ।"

जैसे कि बच्चों से हँसी करते हैं, वैसे ही दुलार से हँसी कर
हुए हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छा तू यह बता, कि संसार
तुझे सब से अच्छी बात कौन सी लगती है। तेरे मत में पुरुष
सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य कौन है?"

प्रह्लाद जी बिना पैंदी के लोटा तो थे नहीं कि जिधर भार
पड़ा उधर ही लुढ़क गये। उनका तो एक निश्चित सिद्धान्त था
मनुष्य के पेट के भीतर जो पदार्थ होगा, उसी के उद्गार वाह
आवेंगे। अतः वे अपने पिता से बोले—"पिताजी! मैं तो
संसार में प्राणियों के लिये सर्वश्रेष्ठ बात यही समझता हूँ, कि
अहंता ममता रूप असद् अभिनिवेश से जिनकी बुद्धि सदा
उद्विग्नमनी रहती है, उन्हें इस बिना पानी के अंधे कूआँ रूप
गृहस्थाश्रम का तुरन्त परित्याग कर देना चाहिये। इस गृहस्था-
श्रम में दुख के अतिरिक्त सुख क्या है। क्षण भर का जिह्वा तथा
उपस्थ का सुख है जो परिणाम में दुखद ही है। इनके सेवन से
आत्मोन्नति न होकर आत्मपात होता है, अतः मेरे मत में संसारी
विषयों से विरक्त होकर निरन्तर प्रभु पादपद्मों का ध्यान करते
रहना और श्रीहरि की शरण में जाना, यही सर्वश्रेष्ठ कार्य है।
यही सबसे सुन्दर बात है।"

श्री नारद जी कहते हैं—"राजन्! जैसे सांप को छेड़ देने
से वह फुफकारने लगता है, जैसे प्रज्वलित अग्नि में आहुति

डालने से वह और भी अधिक जलने लगती है, वैसे ही भगवान् का नाम सुनते ही उसका हृदय द्वेष से जलने लगा। फिर उसने प्रह्लाद की ओर देखा। छोटा सा नन्हा सा बच्चा है, बातें ऐसी कर रहा है मानो देवगुरु बृहस्पति उपदेश दे रहे हों। छोटे मुँह बड़ी बात सुनकर दैत्यराज का क्रोध शान्त हो गया और उसे बच्चे की भोली भाली बात पर हँसी आ गई। राजन्! लोग तो कहते हैं बालबुद्धि कच्ची होती है, किन्तु मुझे तो बालकपन बहुत प्रिय है। मेरी शक्ति चले तो मैं सदा बालक ही बना रहूँ। बालक जो भी अपराध कर दे, सब क्षम्य है। कितना भी बड़ा अपराध क्यों न हो जाय, माता पिता जब बच्चे को डाँटते हैं, तो दूसरे उन्हें समझाते हुए कह देते हैं—"अजी, जाने भी दो। बालक हो तो ठहरा। बच्चों की बात पर ध्यान नहीं देते। बालक ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसकी बात पर ध्यान दिया जाता है, वह दोषी और अपराधी ठहराया जाता है। यद्यपि हिरण्यकशिपु के लिये भगवान् का नाम लेना बहुत बड़ा अपराध था। फिर भी प्रह्लाद को बालक समझ कर वह हँस पड़ा और अपने आप ही बोला—'देखो, इसका नाम है लड़कपन। लड़का की बुद्धि इसी प्रकार दूसरों के बहकाने से बिगड़ जाती है। परन्तु बाल्यकाल के संस्कार अमिट होते हैं, अतः मुझे इनकी उपेक्षा न करनी चाहिये। अभी से इसका कुछ प्रबन्ध करना चाहिये।" यह कहकर उसने अपने एक गृह कार्य करने वाले मन्त्री को बुलाया और उससे कहने लगा—"देखो, अब इसके घर आने की आवश्यकता नहीं। वहाँ गुरुगृह में ही इसे सावधानी से रखो। उन ब्राह्मणों से कहना, इसकी अधिक देख रेख रखें। विष्णु के पक्षपाती गुप्तवेष बनाकर विचरते रहते हैं और सरल चित्तवाले भोले भाले लोगों को इधर उधर

की बातें बताकर वैष्णव बना लेते हैं। जहाँ मनुष्य वैष्णवे बना कि उसकी लौकिकी बुद्धि बिगड जाती है, वह निरर्थक बन जाता है, किसी भी काम का नहीं रहता। शत्रुओं पर क्रोध भी नहीं करता। अपने पास जो होता है, बेकार लोगों को लुटा देता है। इसलिये वैष्णवों से इसे सब प्रकार से बचाना। गुरु पुत्रों से डाँट डपटकर मेरी ओर से कह आना।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर हिरण्यकशिपु ने तुरन्त प्रह्लाद को मन्त्री के हाथों गुरुगृह भेज दिया। मन्त्री ने जाकर गुरुपुत्रों से कहा—'विप्रो! आपने इस राजकुमार को क्या अट संट पढ़ा दिया। महाराज आज बहुत बिगड़ रहे थे। यह तो हम असुरों के सर्वथा विरुद्ध बातें कह रहा था। आपको उन्होंने कड़ी चेतावनी दी है, कि इसकी भली भाँति देख रेख रखें। प्रतीत होता है, आपके यहाँ कोई विष्णु का पक्षपाती देवताओं का गुप्तचर छिपकर रहता है वही बालकों की बुद्धि को बिगाड़ता है।"

राजा के क्रोध की बात सुनकर गुरुपुत्र तो डर गये। वे विनय के साथ बोले—"मन्त्री! हमने तो कुमार को कोई ऐसी बात सिखाई नहीं। रही देवताओं के गुप्त चर की बात, सो आप गिन लें। हमारी पाठशाला में जितने लड़के हैं, सब असुरों के ही विश्वसनीय बालक हैं। ऐसी विरुद्ध बातें इसने दैत्यराज के सम्मुख कैसे कहीं हमें भी आश्चर्य है। अच्छी बात है। हम इससे पूछेंगे। आप महाराज को हमारी ओर से कह दें, हम कुमार की आज से बहुत सावधानी रखेंगे, और इस बात का तत्परता के साथ पता लगावेंगे, कि इसकी ऐसी विपरीत बुद्धि किस कारण से हुई। कारण को जानकर उसका प्रतीकार करने की शक्ति भर चेष्टा करेंगे।" यह सुनकर

मन्त्री चला गया। मन्त्री के चले जाने पर उन दोनों गुरुपुत्रों ने बड़े प्यार से प्रह्लादजी को अपने पास बुलाया। उन्हें गोदी में बिठाकर बड़े दुलार से उनकी ठोढ़ी में हाथ देकर पूछने लगे—प्रह्लाद! देख, बेटा! हम तुमसे एक बात पूछते हैं, बोल सच सच बतावेगा? झूठ तो न बोलेगा?"

प्रह्लाद ने कहा—"गुरुजी! जो पूछना हो पूछिये?"

गुरु पुत्रों ने फिर कहा—"पूछते तो भैया, किन्तु देख, इस बात का ध्यान रखना, हम तेरे गुरु हैं। हमारे सम्मुख कोई बनावटी बात बताई तो बड़ा भारी पाप लगेगा। वैसे हम तुझे जानते हैं, तू तो राजा बेटा है, कभी झूठ नहीं बोलता तू बड़ा अच्छा बच्चा है।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"गुरुजी! आप मेरा विश्वास करें आप जो पूछेंगे उसका मैं सच सच ही सच उत्तर दूँगा।"

गुरु पुत्रों ने कहा—"अच्छा, तू यह बता। तैंने जो अपने पिता के सम्मुख ऐसी अंट सट बातें बकी थीं वे तुझे किसने सिखाईं हमने तो कभी सिखाईं नहीं। इन लड़कों में से किसी ने सिखाई हो, तो उसका हमें नाम बता दो और किसी भिखारी ने गुप्त ऐप बनाये पंडित, ज्योतिषी, साधु या अन्य गुप्तचर ने बताई हो तो उसका परिचय दे दे या तैंने अपने मन से ही कही हो तो यही बता दे, तैंने ये सब बातें कैसे जानीं। बात यह है कि देख। करता तू है और दोष हमारे सिर पर आता है। तू बताने वाले का हमें परिचय दे दे तो हम फिर इसका कुछ उपाय करें, आगे के लिये सावधान हो जायँ।"

धर्मराज से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! गुरु पुत्रों की

ऐसी बात सुनकर प्रह्लाद जी मुस्कराये और फिर उनके प्रश्नों का बड़े सुन्दर ढंग से उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

सुनि हँसि बोल्या असुर होहि मारे बालक अति।
देखें जा जस सीख होहि तैसी तिनकी मति॥
वप बदलि कें विष्णु भक्त ढिंग जाके आवें।
कहि कहि हार को सुयश सरलशिशुकूँ बहकावें॥
सेवक शासन सुनां सब सावधान सबइ रहा।
बाबा जिनि तें बचावें, गुरु पुननि तें तुम कहो॥

प्रह्लादजी के उत्तर से गुरुपुत्रों का कोप

(४६३)

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते ।
अन्य एष तथान्योऽयमिति भेदगतासती ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

आज्ञा सुनि प्रह्लाद तुरत गुरुगृह पहुँचाये ।
असुर कहे जे वचन सेवकनि जाई सुनाये ॥
पूछे शण्डामर्क कुमर तें नेह सहित अस ।
किनके वश तू भयो भई विपरीत बुद्धि कस ॥
हँसि बोले प्रह्लाद गुरु ! कौन काहि को वश करें ।
हरि ई सबकी बुद्धि कूँ, जब चाहें तब तस करें ॥

जन्म लेते ही जीव पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुसार कार्य करने लगता है। गौ बच्चा देते ही उसे चाटने लगती है। बच्चा पैदा होते ही उठने का प्रयत्न करता है और माँ के स्तनों को

❀ गुरुपुत्रों के पूछने पर प्रह्लादजी कहते हैं—"उन प्रभु की जब जीवों पर अनुग्रह होती है, तब उनकी पशुबुद्धि नष्ट हो जाती है। जिस मिथ्या बुद्धि के कारण ही, यह मैं हूँ यह अन्य है, ऐसा भेद भाव होता है।"

खोजने लगता है। स्तन नहीं पाता तो अगले पैरों के बीच में ही हुड्ड मारता है। पुनः खोजते खोजते स्तनों को पा जाता है, तो दूध पीने लगता है। यह सब उसे किसने सिखाया? कहना होगा, कि उसके जन्म जन्मान्तर के संस्कार थे। जिन बातों का पूर्वजन्म में संस्कार न होगा, आप लाख प्रयत्न करें वह बात आवेगी ही नहीं। आवेगी तो बहुत प्रयत्न करने पर कुछ संस्कार बनेंगे। अगले जन्मों में वे काम देंगे। कुछ कार्यों के संस्कार-अधूरे होते है, जो इस जन्म में गुरु के द्वारा पूरे किये जाते हैं। कुछ संस्कार पूर्ण रहते हैं, उनमें तनिक सी कोई त्रुटि हो जाने से भगवद् इच्छा से इस धराधाम पर जन्म लेना पड़ता है। उनकी शिक्षा दीक्षा तो पूर्वजन्मों में पूर्ण हो चुकी है। इस जन्म में उसे पूर्ण नहीं करना पड़ता। प्रारब्ध के भोग भोगकर फिर संसार का आवागमन छूट जाता है। ऐसे लोगों को जब स्वतः ही उन धर्मों का आचरण करते देखते हैं, तो अज्ञानी लोग कोई उन्हें स्वयं भू बताते हैं, कोई मन्मुखी कहकर हँसी उड़ाते हैं, कोई निगुरा कहकर तिरस्कार करते हैं। अपने को विद्वान् और शिक्षा दीक्षा का आचार्य समझने वाले आश्चर्य करते हैं कि इसने इतना ज्ञान सीख किससे लिया। इसे इतनी विद्या आ कैसे गई? यह इतना साधन सम्पन्न स्वतः ही कैसे बन गया। उन्हें यह पता नहीं, कि इन सबकी शिक्षा दीक्षा इसे पूर्व जन्मों में जन्म लेने के पूर्व ही प्राप्त हो चुकी है और उसे यह पूरा कर चुका है।

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! जब गुरुपुत्रों ने प्रह्लादजी से प्रेमपूर्वक पूछा कि भगवद्भक्ति को

शिक्षा तुझे किसने दी है, तब वह कहने लगे—"देखिये महाराज ! उत्तर देने के पूर्व मैं मङ्गलाचरण कर लूँ ।"

गुरुपुत्रों ने कहा—"अच्छी बात है, मङ्गलाचरण करके ही उत्तर दो ।"

यह सुनकर प्रह्लादजी कहने लगे—"जिसकी अचिन्त्य माया से मोहित होकर जीव, यह मेरा है, यह तेरा है, यह अपना है, यह पराया है ऐसी भेद बुद्धि करता है। मिथ्या दुराग्रह के कारण जिनकी बुद्धि मोहग्रस्त हो रही है। उस माया के पति भगवान् वासुदेव को प्रणाम है।

गुरुपुत्रों ने कहा—'अरे, भैया ! तू किसको प्रणाम कर रहा है। यह भेद भाव तो अनादि है। स्वभावानुसार हैं। प्रह्लादजी ने कहा—गुरुओ ! संसार में यही पशु बुद्धि है, यही अज्ञान है कि यह मेरा है, यह पराया है। जब सर्वान्तर्यामी हरि की जीवों पर कृपा होती है। या जब जीव उनकी कृपा की अनुभूति का अधिकारी बन जाता है, तो यह भेद भाव नष्ट हो जाता है। भगवान् की कृपा अनुग्रह साध्य है, अतः सदा सर्वदा भगवद् अनुग्रह की ही प्रतीक्षा करते ? कभी न कभी करुणेश कृपा करते ही है।"

इस पर गुरुपुत्रों ने क्रोध पूर्वक कहा—'अरे, तू क्या अट सट बक रहा है। किसने तेरी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है ? हम जो बात पूछते हैं, उसे तो बताता नहीं। अनुग्रह प्रतीक्षा, साधन, साध्य न जाने क्या क्या बिना सिर पैर की बातें कह रहा है। चला है हमें ज्ञान सिखलाने को। अरे, यह

बता कि तेरी बुद्धि को किसने भ्रष्ट कर दिया है, किसने तुझे यह उलटी पट्टी पढाई है ?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"मूर्ख लोग जो आत्मा मे अपने परायेपन का आरोप करते हैं, यह सत्य नहीं। बुद्धि हीन पुरुष ही ऐसा निरूपण करते हैं। जिन्हे प्रभु की कृपा प्राप्त हो चुकी है वे ऐसी विपरीत बाते त्रिकाल मे भी नहीं करते। उन मदनमोहन की मोहिनी माया बडी ही दुर्गेय है। बडे बडे वेदज्ञ ब्राह्मण ब्राह्मादिक देवगण भी उसके मोह मे पड कर मोहित हो जाते हैं। उन्हीं मदनमोहन ने मेरी बुद्धि मे भेद भाव उत्पन्न कर दिया है। मैं क्या करूँ ब्राह्मणो। आप मेरे गुरु हैं, मैं सत्य कहता हूँ, किसी व्यक्ति ने मुझे बहकाया नहीं है। मेरा मन उनकी ओर स्वत' उसी प्रकार आकर्षित हो जाता है जैसे लोहा चुम्बक की ओर आकर्षित हो जाता है। जैसे मन के सम्मुख विषय आने से,स्वतः ही वह उनकी ओर खिच जाता है, जैसे ढालू पृथ्वी पर पडा पानी स्वतः ही नीचे को बहने लगता है उसी प्रकार भगवान् के नाम गुणों की ओर मेरी स्वभाविकी प्रवृति है, किसी के सिखाने पढाने या बहकाने से मैं ये बाते नहीं कह रहा हूँ।

इस पर गुरुपुत्रों ने कहा—"तू बडा ढीठ है रे लड़के! हम समझते थे, तू बच्चा है, बाल चापल्य वश ऐसा बातें करता है, किन्तु तू तो बडे बडों के कान काटने लगा है। हमे भी

उपदेश देने लगा है! छोड़ इन व्यर्थ की बातों को।"

गुरु पुत्रो को क्रोधित देखकर प्रह्लादजी ने फिर उनसे कुछ कहना उचित नहीं समझा। उन दोनो के क्रोधित होने पर मना करने पर भी उन्होंने ध्यान न दिया। वे मौन हो गये।

गुरु पुत्रों ने जब देखा कि यह तो हमारी बातो की अवहेलना करता है, हमारी आज्ञा नहीं मानता, तब तो उनका क्रोध सीमा का उलघन कर गया। क्रोध में भरकर दाँतो को किटकिटा कर वे बोले—'अरे, दुर्मुख! भीतर से हमारा बेत तो उठा लाना। यह नीच कुलाङ्गार समझाने से नहीं समझेगा। लातो का देव बातो से नहीं माना करता। हमने कितने प्यार से समझाया, राजा का भय दिया ऊँच नीच समझाया, किन्तु इसकी बुद्धि पर तो पत्थर पड गये हैं। यह बिना पिटे न मानेगा। जब पीठ पर पडा सड १०, २० बेत पडेगे तब इसकी बुद्धि ठिकाने आवेगी। तब यह हाय भैया बप्पा! चिल्लावेगा।"

नारद जी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! दासता से बढ़ कर कोई पाप नहीं। आश्रितो को सदा अपने आश्रयदाता का रुख देखकर बाते करनी पडती हैं। उसे प्रसन्न करने के लिये भाँति-भाँति की चेष्टाये करनी पडती हैं। स्वामी यदि दिन को रात्रि कहे और रात्रि को दिन कहे तो रात्रि मे सूर्योदय हुआ बताना पडता है। ये शड और अमर्क तो

हिरण्यकशिपु के आश्रित ही ठहरे! राजा को प्रसन्न करने के निमित्त उसी के पुत्र से वे कहने लगे—"अरे, ओ नीच राजकुमार! अपने कुल का नाश मत कर। एक कुल्हाड़ी लेकर वन को काटने वाले पुरुष को देखकर वन के वृक्षों ने कुल्हाड़ी से कहा था—'कुल्हाड़ी! तू हम क्या काट सकती थी, किन्तु कर क्या तुझमें बट हमारी जाति लकड़ी का ही पड़ा है। घर का भेदी ही लंका ढा देता है। तू इस असुर रूप चन्दन के वन में काटों का वृक्ष बन कर उत्पन्न हुआ है। तेरे कारण इस सम्पूर्ण कुल का नाश होगा। अभी से तू अपने शत्रु के गीत गाता है, उसी की भक्ति करता है। विष्णु दैत्यों के लिये कुल्हाड़ी है, तू उसका बट है। तेरे सहारे ही वह असुर कुल का नाश कर डालेगा।"

नारदजी कहते हैं— राजन्! इस प्रकार उन गुरुपुत्रों ने प्रह्लाद जी को बहुत सी उलटी सीधी कहने न कहने योग्य बातें सुनाईं, किन्तु प्रह्लाद जी ने गुरु के गौरव से उसमें से किसी का भी उत्तर नहीं दिया, वे चुपचाप उनकी बातें सुनते रहे। अंत में गुरुपुत्रों ने कहा—"अच्छी बात है, आज तो हम तुझे क्षमा करते हैं। अब फिर तूने ऐसी बातें की तो बिना मारे न छोड़ेंगे। अब हम जो शिक्षा दें उसी को ग्रहण करना। इस प्रकार विविध उपायों से प्रह्लाद जी को भय दिखाकर उन्हें अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति कराने वाली विद्या की शिक्षा देने लगे। प्रह्लादजी को ये बातें अच्छी तो लगती

नहीं थीं, किन्तु गुरुगौरव से उन सबको श्रद्धा सहित सुनते रहते थे।

छप्पय

अति कोप्ये गुरु पुन कहे अति खल जिह बालक।
कुलाङ्गार दुर्बुद्धि असुर कुल को सहारक॥
लाओ मेरो बेंत न माने मात पिता की।
हड्डी पसली तोरि उधेड़ूँ चमड़ी जाकी॥
चंदन वन यह असुर कुल, विष्णु कुल्हाडी सम भयो।
मूलोच्छेदन करन हित, वेट सरिस जिह ह्वै रह्यो॥

—:❀:—

॥ श्रीहरिः ॥

[ब्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य अनुपम पाठ के योग्य महाकाव्य]

श्रीभागवतचरित

(रचयिता—श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषामें रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ ब्रजभाषा की छप्पय छन्दो मे लिखा गया है। बीच बीच मे दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागों मे विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलो का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओ को सरल, सरस तथा प्रांजल छन्दो मे गाया गया है। सैकड़ो नर-नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पण्डित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पण्डित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ की पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ो सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़ेकी टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उसपर रङ्गीन कवरपृष्ठ है। बाजार मे ऐसी पुस्तक १०.०० मे भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधार ले। न्योछावर केवल ५.२५ न०पै० मात्र, डाकव्यय पृथक्।

पता—सङ्कीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

श्रीभागवत-दर्शन

भागवती कथा

(बीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

द्वितीय संस्करण] वैशाख, सं० २०२१ वि० [मू० १.२५ न० पै०

॥ श्रीहरिः ॥

श्री बद्रीनाथ-दर्शन

(*श्रीब्रह्मचारीजीका एक अपूर्व महत्वपूर्ण ग्रन्थ*)

" श्रीब्रह्मचारीजीने अनेकों बार श्रीबद्रीनाथजी की यात्रा की है। यात्रा ही नहीं की है, वे वहाँ महीनों रहे हैं। उत्तराखण्डके छोटे बड़े सभी स्थानों में वे गये हैं उत्तराखण्ड कैलाश, मानसरोवर, शतोपन्थ, लोकपाल और गोमुख ये पाँच स्थान इतने कठिन हैं कि जहाँ पहाड़ी भी जाने से भयभीत होते हैं। उन स्थानों मे ब्रह्मचारीजी गये है वहाँ का ऐसा सुन्दर सजीव वर्णन किया गया है, कि पढ़ते-पढ़ते वह दृश्य आँखों के सम्मुख नृत्य करने लगता है। उत्तराखण्ड के सभी तीर्थों का इसमें सरस वर्णन है, सबकी पौराणिक कथायें हैं। किंवदन्तियाँ हैं, इतिहास हैं और यात्रावृत्त हैं। यात्रा सम्बन्धी जितनी उपयोगी बातें हैं सभीका इस ग्रन्थमें समावेश है। बद्रीनाथजी की यात्रा पर इतना विशाल महत्वपूर्ण ग्रंथ अभी तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ। आप इस एक ग्रंथ से ही घर बैठे उत्तराखण्ड के समस्त पुण्यस्थलों के रोमाञ्चकारी वर्णन पढ़ सकते हैं। अनुभव कर सकते हैं। यात्रा में आपके साथ यह पुस्तक रहे तो फिर आपको किसी से कुछ पूछना शेष नहीं रह जाता। लगभग सवा चार सौ पृष्ठ की सचित्र सजिल्द पुस्तक का मूल्य ४.०० रुपया मात्र है थोड़ी ही प्रतियाँ हैं, शीघ्र मँगावे दूसरा संशोधित संस्करण छप गया है।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठाङ्क
भूमिका [भक्ति की महिमा]	...	५
४६४—पिता का प्रह्लादजी से पुनः प्रश्न	...	२१
४६५—प्रह्लादजी द्वारा गुरुपुत्रों की निर्दोषिता	...	२९
४६६—प्रह्लादजी पर प्रहार		३८
४६७—प्रह्लादजी के मारने के उपाय		४४
४६८—हरिभक्त को भय कहाँ ?		५२
४६९—हिरण्यकशिपु को गुरु पुत्रों की सम्मति	...	६०
४७०—प्रेम पाठशाला का प्रथम पाठ	...	६८
४७१—गृहस्थ को वैराग्य होना अत्यन्त कठिन है	...	८०
४७२—वैराग्य की बाधक वृत्तियाँ	...	८७
४७३—भगवद् भक्ति ही जीव का प्रधान कर्तव्य है	...	९५
४७४—नारद जी के आश्रम पर प्रह्लाद जननी	...	१०६
४७५—भागवत धर्म का उपदेश	...	११६
४७६—आत्मानुभव के कुछ उपाय	...	१२७
४७७—गुरु शुश्रूषादि साधन	...	१३६
४७८—अन्य साधन	...	१५०
४७९—प्रभु पादपद्मों में रति	...	१७४
४८०—भगवद् भक्तों की प्रेम दशायें	...	१८१
४८१—भगवान् अति सन्निकट हैं	...	१९२
४८२—भगवान् को सभी भज सकते हैं	...	१९९
४८३—प्रह्लाद जी पर पिता का पुनः कोप	...	२०६
४८४—हरि कहाँ हैं ?	...	२१६
४८५—भगवान् नृसिंह का प्रादुर्भाव	...	२२३
४८६—हिरण्यकशिपु और नृसिंह भगवान् का युद्ध	...	२३१

४८७—हिरण्यकशिपु उद्धार ... २३८
४८८—सिंहासनासीन नृसिंह प्रभु ... २४९

चित्र-सूची

१—नृसिंह भगवान् [तिरंगा] ... ७०
२—प्रेम पाठशाला का प्रथम पाठ ... ७०
३—नारद के आश्रम पर प्रह्लाद जननी ... १११
४—एक भगवद् भक्ति की प्रेनिष्ठा ... १४६
५—भगवान् नृसिंह का प्रादुर्भाव ... २१०
६—नृसिंह भगवान् और हिरण्यकशिपु ... २२१
७—प्रह्लादजी पर नृसिंह भगवान् की कृपा ... २४६
८—सिंहासनासीन नृसिंह प्रभु ... २५२

भूमिका

भक्ति की महिमा

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तम् ।
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ॥
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च ।
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥❀
(श्री भा० ११ स्क० ११ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

उर उपजे हरि भक्ति भक्त अद्भुत ह्वै जावे ।
कबहूँ रोवे हँसे विकल बनि नाचे गावे ॥
हरि कूँ सब महँ निरखि चराचर सेवक माने ।
सबके छूवे चरन नीच अपने कूँ जाने ॥
कथा कीर्तन महँ सतत, लग्यो रहे हरि हृदय धरि ।
त्रिभुवन कूँ पावन करहिं, नर अहैतुकी भक्ति करि ॥

पाठकों का अत्यन्त आग्रह है, कि प्रत्येक खण्ड में भूमिका

❀ श्रीभगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"हे उद्धव ! मेरी भक्ति के कारण जिसकी वाणी गद्गद् हो जाती है, चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी तो बार बार रोता है, कभी हँस पड़ता है। उच्च स्वर से सङ्कोच छोड़कर कभी गाने लगता है, कभी नाचने लगता है। इस प्रकार मेरी भक्ति से युक्त पुरुष त्रिभुवन को पुनीत बना देता है।

अवश्य हो और साथ ही अपना अनुभव भी।

यह तो मैं नहीं कह सकता कि मुझे कुछ अनुभव नहीं हुये हैं, अनुभव मुझे हुये हैं, किन्तु कटु अनुभव हुए हैं, उनसे भक्ति मार्ग के पथिकों को निराश ही होना पड़ेगा। एक प्रकार से देखा जाय, तो निराशा की तो कोई बात भी नहीं है। जो घोड़े पर चढ़ेगा वही गिरेगा, जो मार्ग चलेगा वही भूलेगा। जो पानी मे तैरने का अभ्यास करेगा वही डूबेगा। श्रेय के कार्यों में विघ्न तो होते ही हैं, यदि भक्ति मार्ग गुड़ का पूआ होता, तो सभी भक्त हो जाते। पाठकों ने पिछले खण्ड में भक्ताग्रगण्य श्री प्रह्लादजी का चरित्र पढ़ा ही होगा और इस पूरे खण्ड में भी उन्हीं के पावन चरित्र को पढ़ेंगे। संसार में भक्ति के लिये प्रह्लादजी आदर्श हैं। जहाँ भक्तों की गणना की जाती है, सर्व प्रथम प्रह्लादजी का नाम लिया जाता है। प्रह्लादजी ने भक्तों के लिये एक आदर्श उपस्थित कर दिया है। भक्त दो प्रकार के होते हैं, एक तो नित्यसिद्ध भक्त दूसरे साधनसिद्ध भक्त। जो नित्यसिद्ध भक्त हैं, वे तो संसार में भगवान् की भाँति भक्ति की स्थापना करने के निमित्त अवतार धारण करते हैं। उनमें बहुत से स्वयं भगवद् भक्ति में निरन्तर निमग्न रहकर एक आदर्श उपस्थित करके चले जाते हैं। पीछे भक्ति मार्ग के पथिक उसी आदर्श को लक्ष्य बनाकर भक्ति मार्ग की ओर बढ़ते हैं।

दूसरे आचार्य रूप में भक्त अवतरित होते हैं, वे स्वयं भक्ति मार्ग के साधनों का अपने जीवन में आचरण करते हैं और अपने अनुयायियों से कराते भी हैं, वे आचार्य भक्त कहाते हैं। वे भी भगवान् के अभिन्न स्वरूप माने जाते हैं, वे अपने इष्ट धाम में बैठकर अपने अनुयायियों की कल्प

पर्यन्त प्रतीक्षा करते हैं और जो इनके मार्ग के अनुयायी हो जाते हैं, उन्हें ये भगवद् सम्मुख करते हैं।

साधन सिद्ध भक्त प्रारम्भ से पूर्व जन्मों के संस्कारानुसार साधन में प्रवृत्त होते हैं, बीच में विघ्न पड़ने से कुछ दिन वे भगवान को भूल जाते हैं, पीछे भगवान् उन पर कृपा करते हैं, उनके हृदय में पश्चात्ताप उत्पन्न करते हैं। पश्चात्ताप से उनके भीतर के सब मल धुल जाते हैं, वे शुद्ध बन जाते हैं। भक्ति मार्ग ऐसा प्रशस्त मार्ग है, कि इसमें सभी का अधिकार है। स्त्री हो, पुरुष हो, ब्राह्मण हो, चांडाल हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, सदाचार हो, कदाचारी हो, भगवान् को भजने का अधिकार सभी को है।

कुछ लोग कहते हैं, पहिले पाप करना छोड़ दो, अन्तःकरण को विशुद्ध बना लो तब भगवान् की भक्ति करो, अशुद्ध अन्तः-करण से भगवान् का नाम जपने से ही अन्तःकरण शुद्ध होगा। यह तो वही बात हुई, कि पहिले तैरना सीख लो, तब पानी में उतरो। जिससे डूब न जाओ। पहिले घोड़े पर चढ़ना सीख लो तब घोड़े पर चढ़ो जिससे गिर न पड़ो। अरे भाई! तैरना सीखेंगे, तो जल में ही, घोड़े पर चढ़ना, बिना घोड़े पर चढ़े कैसे आवेगा? पाप करने का हमारा स्वभाव पड़ा हुआ है। हम उसे छुड़ाना चाहते हैं तो भगवान् के अतिरिक्त हमें कौन शरण देगा। पापों से छुड़ाने वाले भी तो वे ही हैं, इसीलिये उनका नाम पतित पावन है। हम पतित न होंगे, तो हमें पावन क्या करेंगे। इसीलिये इस भ्रम को निकाल देना चाहिये कि सदाचारी ही भगवद् भक्ति कर सकते हैं। सदा चारी हो और फिर भक्ति भी करे, तो सोने में सुगंधि है, किन्तु

पापी, भक्ति कर ही नहीं सकता, यह बात नहीं, भक्ति मार्ग में ऐसी किसी पात्रता का बन्धन नहीं है। जिसके भी हृदय में भगवान् की चाह हो, जो भी उन्हें पाने के लिये उत्सुक हो वही भक्ति मार्ग की ओर बढ़ सकता है। अजामिल, गीध, व्याध, कुब्जा, विदुर, गज, गणिका तथा अन्याय बहुत से व्यक्ति भक्ति के द्वारा ही तर गये।

यदि भगवान् चरित्रवान् सदाचारी ज्ञानी ध्यानियों के ही होते, तो पतितों का कैसे उद्धार होता। संसार में जन्म लेकर ऐसा कौन है, जिससे पाप न हुआ हो, भगवान् के यहाँ यही नियम हो, कि जिसने एक बार भी पाप कर लिया हो, वह मेरी भक्ति नहीं कर सकता, तब तो उनकी भक्ति संसारी लोग कर ही नहीं सकते, किन्तु पतित पावन प्रभु तो डंके की चोट पर कहते हैं, कि दुराचारी ही, नहीं बड़े से बड़ा सुदुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मेरा अनन्य भाव से भजन करता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिये। तुमसे जो भी पाप हुये हैं, रोकर उन्हें प्रभु के सम्मुख सच्चे हृदय से निवेदन कर दो। उनका आश्रय ग्रहण करो प्रभु तुम्हारे पापों को भस्म कर देंगे। तुम पंडिताई, पुरोहिताई, अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, शासन, राजकाज, नौकरी, व्यापार, लेनदेन, खेतीबारी, गो सेवा सेवावृत्ति, सैनिक, चोरी, जारी, छल, कपट, कुछ भी करके अपनी आजीविका चलाते हो। भगवान् की शरण लो, उनका आश्रय लो भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे, तुम्हारी बुद्धि शुद्ध करेंगे, तुम्हें अपना लेंगे। पुत्र कितना भी नीच हो कितना भी अयोग्य हो फिर भी पिता के सम्मुख वह जाने का अधिकारी ही है। पिता उसे दण्ड देता है वह भी शिक्षा के ही निमित्त देता है। पाप कर्म अनेक जन्मों के अन्तराय हैं। वे भगवान् के

निरन्तर नाम कीर्तन से, भगवान् की कथा सुनने से, साधु सन्तों के सत्सङ्ग से शनैः शनैः छूट जायँगे।

भक्ति मार्ग के पथिक के लिये सर्व प्रथम तो यह बताया है, कि सम्पूर्ण भूतों में अपने को देखने का प्रयत्न करे। चराचर जगत् को भगवान का रूप समझकर किसी का अपमान न करे। जिसे देखे उसे ही मन से अपना इष्ट समझ कर प्रणाम करे, उसके लिये हृदय में आदर भाव करे। इस प्रकार सबका आदर करते-करते सब में समभाव हो जायगा। सब में भगवत् बुद्धि करने से सब में भगवान् दीखने लगेंगे। फिर मोह शोक का नाम ही न रहेगा। कोई अपनी निन्दा भी करे, तो उसका यह समझकर तिरस्कार न करे, कि यह तो मूर्ख है, ऐसे ही बकता है। न जाने भगवान् उसी के द्वारा हमें शिक्षा दे रहे हों। मुझे अपने जीवन की एक घटना भूलती नहीं।

मैं १०।१२ वर्ष यहीं झूसी में सन्ध्यावट के नीचे रहा। वट के नीचे एक छोटी सी कुटी थी, उसमें अकेला रहता था, समय पर लोग कथा कीर्तन करने आते थे, चले जाते थे। मैं अकेला ही रहता था। उन दिनों सम्भवतया कोई परिचारक भी निकट नहीं रहता था, काम करके चले जाते थे। उन दिनों ऐसा था, कि जितने भी फल आदि आजायँ, उन्हें कल के लिये नहीं रखना, सब बाँट देना। कोठरी बन्द करके अपना जप अनुष्ठान करता रहता। और सब तो खिड़कियाँ किवाड़ बन्द रहतीं वायु तथा प्रकाश आने को पूर्व की ओर की एक खिड़की खुली रहती, उस पर भी एक बाँस की चिक पड़ी रहती, कुछ लोग आते उस खिड़की से रुपये पैसे डाल जाते।

भजन से उठकर मैं झाड़ू से उनको कूड़े के साथ नीचे नाले में फेंक देता। फल जो आते बाँट देता। लोग अधिक आते थे।

कुछ लोग सर्वत्र ऐसे होते हैं, जिनका स्वभाव ही ऐसा होता है, दूसरों के दोष देखना। ये भगवान् की ओर से भेजे जाते हैं, सुधार करने के लिये। ये साधकों की निन्दा करके उनके पापों को स्वयं ले लेते हैं। कुछ सात्विक प्रकृति के होते हैं, जो साधकों के त्याग, वैराग्य तथा अन्यान्य गुणों की प्रशंसा करके उनके पुण्यों में अपना भाग लगा लेते हैं।

एक सज्जन ने कहा—"अरे, भैया! ब्रह्मचारी जी तो बड़े त्यागी हैं, पैसे का स्पर्श तक नहीं करते।

दूसरे सज्जन ने हँस कर कहा—"अरे भैया! ये सब लोगों को फँसाने के ढँग है ये सब ढोंग हैं। अभी क्या है देखना ये ही ब्रह्मचारीजी लाखों का चंदा करेंगे।" तब मैं इस बात को सुनकर हँसा था और सोचा था—"ये निंदक ऐसे ही दूसरों की ईर्ष्यावश निंदा किया करते हैं।" किन्तु आज देखता हूँ, उसके मुख से भगवान् बोले थे। आज उसकी बात अक्षरशः सत्य हुई। मैं लाखों के चक्कर में फँस गया। लाख रुपये हों, तो इतना बड़ा प्रेस आवे। शीघ्राति शीघ्र भागवती कथा के सब खण्ड निकल जायँ, कैसे इसका अधिकाधिक प्रचार प्रसार हो कैसे ग्राहक बढ़ जायँ।" इसीलिये शास्त्रकार जगत् को हरिमय देखने के लिये बार-बार उपदेश देते हैं। इसीलिये भक्त अपने को तृण से भी नीच तरु से भी सहिष्णु समझता है। स्वयं अमानी रहकर दूसरों को मान देता है। अतः भक्ति मार्ग में समस्त भूतों में इष्ट के ही दर्शन

करने का विधान है।

यद्यपि भक्ति मार्ग में सदाचार, अवस्था, विद्या, जाति, बल पुरुषार्थ, रूप तथा धन आदि की पात्रता अपेक्षित नहीं। व्याध का क्या सदाचार था, ध्रुवजी की अवस्था तो पाँच ही वर्ष की थी, गजेन्द्र तो पशु था कुछ पढ़ा लिखा नहीं था, विदुरजी तो दासी के पुत्र थे, उग्रसेन तो बहुत बूढ़े बलहीन थे, कुब्जा तो तीन स्थान से टेढ़ी थी, बहुत रूपवती भी नहीं सुदामा तो अत्यन्त धनहीन थे। इस प्रकार ये सब गुणहीन होने पर भी उच्चकोटि के भक्त हुए। इससे यह तो सिद्ध होता है, कि भक्ति मार्ग में सब का अधिकार है फिर भी सब भक्त नहीं हो सकते। भक्ति हृदय की वस्तु है, हृदय प्रधान पुरुष ही भक्त होते हैं। भगवत् प्राप्ति के सनातन दो मार्ग हैं। एक ज्ञान मार्ग दूसरा कर्म मार्ग। जिसकी आरंभ से ही संसारी वस्तुओं में अनाशक्ति हो जो मस्तिष्क प्रधान हो, इन लौकिक वैदिक कर्मों में जिसकी स्वाभाविक रुचि न हो ऐसे पुरुष को ज्ञान मार्ग का अधिकारी समझना चाहिये। उसे विरक्त होकर एकान्त में बैठकर आत्मचिंतन करते रहना चाहिये। उपनिषदादि शास्त्रों का निरन्तर ध्यान करते हुए सद् असद् का विवेक करते रहना चाहिये। शमदमादि षड् सम्पत्तियों को धारण करके ज्ञान वैराग्य द्वारा उसे इस संसार सागर से पार हो जाना चाहिये।

इसके विपरीत जो संसार से पार तो होना चाहता है, किन्तु प्रारब्धानुसार कर्मों में उसकी अत्यन्त आसक्ति है, ऐसे पुरुषों के लिये कर्म मार्ग श्रेयस्कर कहा गया है। अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार निरंतर देवता, पितर और ऋषियों के उद्देश्य से तद्तद् कामनाओं के अनुसार शुभ कर्मों में लगे रहना

चाहिये। अपनी कर्मासक्ति का उपयोग वेद विहित कर्मों में करना चाहिये।

इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा मध्य का मार्ग है। कर्म करने में जिसको न तो अत्यन्त आसक्ति ही हो और न उनसे तीव्र वैराग्य ही हो। लौकिक वैदिक कामनायें न हों, जो हृदय प्रधान व्यक्ति हो वह यदि कर्मों को भगवत् बुद्धि से करे, तो उसे उपासक या भक्त कहते हैं वैदिकी भक्ति का नाम उपासना है, उसमें तो अधिकार और पात्रता का विवेचन है, किन्तु भक्ति मार्ग में तो ऐसी किसी पात्रता की आवश्यकता नहीं है। हृदय में लगन चाहिये चित्त में भगवान् की चाह हो। फिर पात्र भेद से भक्ति के भी सहस्रों भेद हैं, ज्ञान प्रधान, वैधी, रागानुगा आदि सबका सार एक ही है श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में अनुराग होना, जो भी कर्म करे भगवत् प्रीत्यर्थ करे। मेरे इस कर्म से सर्वान्तर्यामी मेरे इष्ट प्रसन्न हों। यही कर्म करने का लक्ष्य हो।

भक्ति मार्ग का आरम्भ होता है, कथा श्रवण से हम जा रहे हैं दूसरे कार्य से भाग्यवश किसी सन्त पुरुष का दर्शन हो गया भगवान् की कथा में अनुराग हो गया, महापुरुष से मन्त्र दीक्षा ले ली, भक्ति मार्ग का आचरण करने लगे। भगवान् की कथा सुनते-सुनते उनके नाम में उनके यथाश्रुत रूप में उनके लीला स्थानों में तथा उनकी त्रैलोक्य पावन लीलाओं में अनुराग होने लगता है, यह अनुराग ही समस्त अशुभों का नाश कर देता है। जब तक भगवत् चरित्रों में भगवान् के परम पावन यश लीला श्रवण में अनुराग न हो, तब तक समझना चाहिये हम भक्ति मार्ग की ओर बढ़े नहीं।

भक्ति करते-करते प्रारब्धानुसार बीच में बड़े-बड़े अन्तराय

आते हैं। भगवान् का नाम भी लेते हैं, भगवत् कथाओं में अनुराग भी बढ़ गया है। बीच बीच में हृदय भी भर आता है, नेत्रों से प्रेमाश्रु भी बहने लगते हैं। शरीर पुलकित हो जाता है। सांसारिक कर्मों तथा विषय भोगों के प्रति उतना अनुराग भी नहीं, समस्त सांसारिक कामनाओं को मन से दुःख रूप भी समझता है। इतना समझकर भी उन्हें छोड़ने में असमर्थ हो जाता है। विषय सम्मुख आते ही चित्त चंचल हो उठता है, तो उसके लिये शास्त्रकारों ने बताया है घबराने की कोई बात नहीं। धैर्य पूर्वक उस स्थिति का सामना करे। उस समय बार बार विचारे कि इस कार्य का परिणाम दुःखमय है। अपने से ऐसे अनुचित कार्य बन जायँ, तो बार बार उनकी निन्दा करे हृदय से पश्चात्ताप करे। भगवान् के चरणों में पुनः पुनः प्रार्थना करे—"प्रभो! मुझसे अब यह अनुचित कार्य मत कराओ। इस प्रकार श्रद्धा सम्पन्न तथा दृढ़ निश्चय वाला होकर प्रेम पूर्वक प्रभु का भजन करता रहे। मन में पाप प्रवृत्ति उदय भी होजाय और शरीर से भी कोई अनुचित कार्य बन जाय तो निरन्तर भगवान् के ही सम्मुख रोता रहे, उनका ही भजन करे, प्रभु कृपा करेंगे।

भक्ति मार्ग इतना प्रशस्त और उदार मार्ग है, कि इसमें सदाचारी दुराचारी सभी के लिये मार्ग खुला है। कर्म काण्ड में तो ऐसा है, कोई कार्य किसी कामना से किया उसमें यदि त्रुटि रह गई, तो उसके विपरीत फल हो जाता है। यज्ञ की किसी

विधि में दोष हो गया, यों विधिहीन यज्ञ के कर्ता का शीघ्र ही नाश हो जाता है। ये कर्म विधि के अधीन हैं, किन्तु भक्ति मार्ग तो प्रेम अधीन है। इष्ट के लिये प्रीति चाहिये भगवान् अपने आप समस्त साधन जुटा देंगे। संत रूप में, गुरु रूप में आकर स्वयं मार्ग दिखादेंगे। प्रह्लादजी को माता के उदर में ही भक्ति मार्ग का उपदेश दे दिया। विमाता से अपमानित बालक ध्रुव को घर से निकलते ही उपदेश दे दिया। वाल्मीकि जी के आचरण कुछ अच्छे थोड़े ही थे। डाका डाल डालकर अपनी आजीविका चलाते थे। गुरु रूप मे भगवान् ने उन पर भी कृपा की उन्हें भी सिद्धि प्राप्त हुई। गणिका तो वेश्या वृत्ति करती थी, उसके हृदय में भी भगवान् ने प्रेरणा करदी।

हम पाप पंक में फँसे संसारी लोगों की इसी एक मार्ग का तो अवलम्ब है, नहीं हम अपने पापों की ओर देखे तो कोटि जन्मो में भी हमारा निस्तार नहीं। पेट भरने को हमें कितने कितने पाप करने पड़ते हैं। हम यदि चिकित्सक हैं, तो घर में किसी का मनुष्य मर रहा है हमे औषधि और शुल्क का दाम तुरन्त चाहिये। इस प्रकार जितनी भी आजीविकायें हैं उनमे कुछ न कुछ परपीड़ा तो होती ही है। परधन परनारी को देख कर क्षण भर में चित्त चंचल हो जाता है। उस समय विवेक रहता नहीं। जैसे शरीर को पक्षाघात (लकवा) मार जाता है वैसे ही मन की दशा हो जाती है। विषय सम्मुख आते ही ज्ञान वैराग्य, धर्म सब भूल जाता है। उसे अपना लेते हैं

पीछे पश्चात्ताप होता है, फिर उसी काम को करते हैं। यदि भगवान् हमारे इन निन्द्य कर्मों को देखकर हमें ठुकरादें, तब हमारा कहीं सहारा ही न रहे। नीच, पापी, निन्दक, व्यभिचारी आदि होने पर भी भगवान् के इन वचनों से बड़ा सहारा मिलता है कि 'कैसा भी पाप क्यों न हो एक बार मेरी शरण में आने पर मैं उसके सब पापों का नाश कर देता हूँ।'

हृदय में उनके प्रति अनुराग हो और पापों में प्रवृत्ति भी हो जाय, तो भगवान् स्वयं ही किसी न किसी रूप में उसे छुड़ा देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के हृदय में उनकी भक्ति थी साथ ही विषयों में भी आसक्ति थी। भगवान् ने उनकी स्त्री से ही उन्हें उपदेश दिला दिया। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, कि जो पहिले अत्यन्त विषयी दुराचारी थे पीछे भगवत् कृपा से वे बड़े ऊँचे भगवत् भक्त हुए। मैंने ऐसे बहुत से बड़भागी भक्तों के दर्शन किये हैं।

पहिले मैं गंगा किनारे किनारे कुछ भी समीप न रख कर बनावटी त्यागी की भाँति घूमा करता था। यह लगभग १६।१७ वर्ष पहिले की मैं बात बता रहा हूँ, एक बार चलते चलते मैं कानपुर से बहुत दूर निकल गया। अब उस स्थान का नाम तो मुझे याद रहा नहीं, किन्तु उसका चित्र अब लिखते समय ज्यों का त्यों मेरी आँखों के सामने नाच रहा है। गंगा जी के किनारे पर ही जीर्ण शीर्ण सा शिव मन्दिर था। उससे कुछ

दूर पर एक गाँव था। उसके समीप किसी ऋषि का प्राचीन आश्रम था। उन दिनों कुछ पास तो रखता ही नहीं था। अपरिग्रही बन कर भगवान् का चिन्तन करना ही मेरा लक्ष्य था, किन्तु भगवान् की अपेक्षा भोजन की चिन्ता अधिक बनी रहती। कहाँ चलने से भोजन मिलेगा, कहा पेट भर के भिक्षा मिलेगी यह चिन्ता प्रायः हर समय मन में बनी रहती। उसी उद्देश्य को लेकर मैं उस जीर्ण शीर्ण से शिवालय में गया। वहाँ जाकर देखा एक गौरवर्ण के सन्यासी जी बैठे हैं। मुख पर बड़ा तेज, बड़ी सौम्य मूर्ति। वे वृद्ध नहीं थे, किन्तु युवावस्था उनको छोड़ कर जाने की तैयारी कर रही थी। संक्रान्ति के दिन जैसे तिल चावल मिला देते हैं वैसे ही उनके कुछ काले कुछ सफेद बाल थे। मैंने जाकर उन्हें प्रणाम किया। परिचय हुआ। मैंने उन्हें अपना नाम बताया वे मेरे पैरों पर पड़ गये। उन दिनों मैं कल्याण में प्रायः लेख लिखा करता था। प्रेम के संबन्ध के मेरे उन्होंने लेख पढ़े थे, उन लेखों को पढ़ कर उन्होंने ऐसा अनुमान लगा लिया होगा, कि मैं कोई बड़ा प्रेमी हूँ। उनको क्या बहुत लोगों को भ्रम हो जाता है। वे जानते नहीं कि लेख लिखना एक कला है। एक बड़ा भारी लेखक था। अत्यत ही सुरापी था। किसी ने कहा "तुम मदिरा की निन्दा में एक ग्रन्थ लिखो। उसने बड़ा सुन्दर ग्रन्थ लिखा। उसे पढ़कर बहुतों ने सुरा पीना छोड़ दिया, किन्तु वह सुरापी का सुरापी ही बना रहा। बहुत से चित्रकार भगवान् के ऐसे सुन्दर सुन्दर चित्र

बताते हैं कि भक्त उन्हें देखकर विह्वल हो जाते हैं। उसका ध्यान करते करते उसमें से प्रत्यक्ष भगवान् को प्रकट कर लेते हैं। किन्तु चित्रकार न जाने ऐसे कितने चित्र नित्य बनाता है, उसे तो अपनी उदर पूर्ति और वासना पूर्ति को उसके बनाने का पारिश्रमिक २०) २५) चाहिए। यही दशा मुझ जैसे लेखकों की है। अस्तु

मैंने बनावटी शिष्टाचार से कहा—"स्वामी जी! आप तो बड़े हैं, मैं तो आपका बालक हूँ, आप यह अपराध मेरे ऊपर क्यों चढ़ाते हैं। आप तो सन्यासी हैं।

उन्होंने रोते रोते कहा—"महाराज! मैं तो अत्यन्त पतित हूँ, काहे का सन्यासी हूँ। नाम मात्र को मैंने वस्त्र रंग लिये हैं। आज्ञा हो तो मैं अपने अत्यन्त गर्हित जीवन का वृत्त सुनाऊँ?"

हृदय से निकले उनके इन वचनों में कितनी वेदना थी, कितनी मर्मान्तिक पीड़ा थी, मेरे मन पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। मैंने कहा—"हाँ, स्वामी जी! सुनाइये।"

वे बोले—"महाराज, मैं कानपुर में रहता था। जाति का ब्राह्मण हूँ, मेरे स्त्री है, बच्चे हैं। मैं एक सेठ के यहाँ मुनीमी करता था। उस सेठ की एक युवती विधवा लड़की थी। लड़की बड़ी ही सुन्दर सरल हृदय की थी। मेरे कोई पूर्व जन्म के पाप उदय हुए। उससे मेरा अवैध सम्बन्ध

हृदय से मुझे इसका दुःख था और उसे भी, किन्तु आसक्ति इतनी अधिक बढ़ गई थी, कि मैं उसे छोड़ नहीं सकता था। आकर्षण दोनों ही ओर से था। मैं भगवान् के मन्दिर में जाता रोता चिल्लाता, विनय करता किन्तु भगवान् ने मेरी एक भी न सुनी। मेरे घरवाले जानते थे, उसके भी घरवाले जानते थे, किन्तु दोनों ओर से किसी ने आपत्ति नहीं की घरवालों को यथेष्ट धन मिलता था। किन्तु न उसे सन्तोष था न मुझे।

एक दिन मैं बहुत ही उसके लिये व्याकुल हो रहा था। अत्यन्त प्रतीक्षा के अनन्तर उससे भेंट हुई। उसने कहा—"जितना तुम मुझसे प्रेम करते हो उतना यदि भगवान् से करो, तो तुम्हारा बेड़ा पार जाय।" महाराज! कोई समय ऐसा होता है, कि उस समय का वचन हृदय में तीर के समान लग जाता है। मुझे ऐसा लगा—मानों साक्षात् भगवान ने ही मुझे उपदेश दिया। मैंने उसके पैर पकड़ लिये और कहा—"आज से तुम मेरी गुरु हुईं।" उसने इस बात को स्वीकार किया। मैं यहाँ आ गया। अपने आप मैंने कपड़े रंग लिये। यहाँ एक सन्यासी रहते थे। उनके नाम के ही अनुसार मैंने नाम रख लिया। यथार्थ में मेरी गुरु वे ही हैं। अब मुझे वे यहाँ कभी कभी दर्शन देने आती हैं। कोई ऐसी बात नहीं भगवान् ने मेरे ऊपर उनके द्वारा कृपा की है।"

मेरे ऊपर उनकी इस कथा का बड़ा प्रभाव पड़ा। भग-

वान् को इसीलिये पतित पावन कहा है। हृदय में उनकी चाह हो, यह विश्वास बना रहे, कि हम नीच हैं, पापी है, किन्तु भगवान् हम पर कभी न कभी कृपा अवश्य करेंगे तो एक दिन वह आवेगा, कि हमारे मन की समस्त वासनाओं को भगवान् मेंट देंगे।

राम राम रटते रहो, जब लग घट में प्रान।
कबहुँ तो दीन दयाल के, भनक परेगी काम॥

आज इस कलिकाल में योग, तथा ज्ञान आदि साधन केवल कथन मात्र को अवशिष्ट रह गये हैं। कुछ इनको करने वाले भी कहीं छिपे, होंगे नहीं तो कलिकाल का प्रभाव बड़ा कठिन हैं। कोई योगी दीखता है, न सिद्ध, न ज्ञानी, न सत्कर्म करनेवाले विशुद्ध कर्म निष्ठ कलिरूप दावानल ने सभी साधनों को भस्मसात् कर दिया है। लोगों की पाप कर्मों मे स्वाभाविकी प्रवृत्ति हो गई। हम जैसे साधुवेषधारी असाधु भी उसी कलि के प्रभाव से अपने धर्म कर्मों से पतित होकर उभयभ्रष्ट बन गये हैं। ऐसे लोगों के लिये भक्ति मार्ग के अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं, अवलम्ब नहीं। अपने कर्मों के द्वारा-साधनों द्वारा-प्रभु की प्राप्ति हो सके यह असंभव है, उनकी पतित पावनता को स्मरण करके ही कुछ आशा बँध रही है। उसी आशाके सहारे जी रहे हैं।

पूर्वं कृतानि दुरितानि मयातुयानि,
स्मृत्वाखिलानि हृदयं परिकम्पते मे।

ख्याता चते पतितपावनता तु यस्मात्
तस्मात् त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो ।

छप्पय

सदाचार तैं हीन पतित पापी हौं पामर ।
करहु पतित उद्धार पतित पावन हे अघहर ॥
सतत करहुँ अपराध पाप को प्रभुवर आकर ।
किन्तु एकई आश आप करुना के सागर ॥
उदर नाम लैकें भरहुँ, करहुँ नाम अपराध नित ।
कृपा करहु करुनाअयन, तव चरननि महँ लगहि चित ॥

संकीर्तन भवन, झूसी, प्रयाग
पौष शु० ११।२००५
} प्रभुदत्त

पिता का प्रह्लादजी से पुनः प्रश्न

(४६४)

प्रह्लादनूच्यतां तात स्वधीतं किंचिदुत्तमम् ।
कालेनैतावतायुष्मन्यदशिक्षद्गुरोर्भवान् ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

यों डराइ धमकाइ पढ़ावें राजनीति पुनि ।
लख्यो लालकूँ चतुर गये लै ढिँग भूपति पुनि ॥
पर्यो पैर महँ पुत्र असुरपति तुरत उठायो ।
सिर सूँघ्यो करि प्यार प्रेम तें गोद बिठायो ॥
कहा श्रेष्ठ समझयो तुमनि, पुनि पुनि पूछे पुत्र अब ।
निज स्वभाव तें विवश है, बोले श्री प्रह्लाद तब ॥

यदि स्वभाव दुस्त्यज न होता, तो दुष्ट लोग उपकारी के साथ भी दुर्व्यवहार क्यों करते। संत लोग दुष्टों के द्वारा अपमानित तिरस्कृत और दण्डित होने पर भी उनकी मङ्गल

---

* हिरण्यकशिपु प्रह्लादजी से पूछ रहा है—"चिरञ्जीवी पुत्र प्रह्लाद इतने दिनों गुरु के समीप रहकर जो तुमने सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया है, उसमें तुम्हें जो सर्वश्रेष्ठ बात मालूम हुई हो, उसे हमें सुनाओ।

कामना क्यों करते ? इन सब बातों से प्रतीत होता है, कि उत्तम पुरुष उत्तम कार्य करने के लिये और अधम पुरुष अधम कार्य करने को विवश हो जाते हैं। सभी जानते हैं जुआरियों को जूए में कुछ मिलता नहीं, कभी एक पाते हैं, तो फिर दस गँवा देते हैं। सुरापी भी समझते हैं सुरापान बुरा व्यसन है। इससे हानि ही हानि है, किन्तु वे स्वभाव से विवश हैं, इसी प्रकार जिनके हृदय में जन्म से ही भगवद्भक्ति है वे बिना भगवत्परिचर्या के रह नहीं सकते। परोपकार करने में परोपकारियों को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। निंदा सुनते हैं, विरोध सहन करते हैं, लाठी डंडा सहन करते हैं, चले जाते हैं, यहाँ तक कि हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ जाते हैं, किन्तु परोपकार को किसी भय के कारण किसी भी प्रकार से नहीं छोड़ते। निर्भय होकर उसी कार्य को करते रहते हैं। धर्म में परोपकार में बड़ा साहस होता है, धर्मात्मा लोगों का प्रतिपक्षी कितना भी बली क्यों न हो, वे अपने साहस तथा आत्मबल के सम्मुख उनसे भयभीत नहीं होते।

नारदजी कह रहे हैं—"धर्मराज ! शुक्राचार्य के पुत्र शंडा और अमर्क प्रह्लादजी को साम, दाम, भेद और दण्ड मूलक अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति कराने वाली राजनीति को बड़े परिश्रम से पढ़ाने लगे। प्रह्लादजी राज पुत्र ही ठहरे, उन्हें राजनीति से कोई विरोध तो था नहीं, इसे व्यवहार के लिये अच्छा मानते हुये सर्वश्रेष्ठ तो वे भगवद्भक्ति को ही समझते थे, किन्तु गुरुओं के सम्मुख अपने आन्तरिक भावों को उन्होंने कुछ काल के लिये गुप्त रखा। बुद्धि तो उनकी अत्यन्त तीव्र थी ही। गुरु जो भी बात एकबार कहते, उसे तुरन्त याद करके उसी समय ज्यों की त्यों सुना देते। उनकी ऐसी

विलक्षण चमत्कारपूर्ण प्रतिभा को देखकर गुरुपुत्र आश्चर्य चकित हो जाते और मन ही मन सिहाते, कि अबके यदि हम इसे ले जायँगे, तो मनमाना पारितोषिक पावेंगे।

कुछ काल में प्रह्लादजी नीतिशास्त्र में पारंगत हो गये। उनको योग्य जानकर गुरुपुत्र उन्हें राजा के अन्तःपुर में ले गये। कयाधू ने गुरुपुत्रों के सहित अपने पुत्र को जब देखा, तो वे अत्यंत ही हर्षित हुई। गुरुपुत्रों की उसने विधिवत् पूजा की। पुत्र को गोद में बिठाकर प्यार किया उसका मुंह चूमा और सिर सूँघकर उसकी कुशल पूछने लगीं। भोला बालक माँ की छाती से चिमट गया उससे माँ के स्तनों में अपने आप दूध भर आया, जिससे प्रह्लादजी के वस्त्र और बाल भीग गये। माता ने उठकर बच्चे को उबटन लगाकर विधिवत् स्नान कराया। सुन्दर से सुन्दर वस्त्र पहनाये, अमूल्य आभूषणों से अलंकृत किया। आखों में मोटा मोटा काजर लगाया। भाल पर गोरोचन का तिलक दिया। सुन्दर स्वादिष्ट कुरुकुरे, लुचलुचे, भुरु भुरे, खाद्य, भोज्य, लेह्य, चोस्य और पेय इस प्रकार पाँचों प्रकार के भोजन कराके, गुरुपुत्रों के साथ उसे पिता के समीप राज सभा मे भेजा।

प्रह्लाद ने सभा में पहुँचकर बड़ी श्रद्धा भक्ति से पिता के पैरों में पड़कर साष्टाङ्ग दण्डवत की। अपने प्यारे दुलारे छोटे पुत्र को पैरों में पड़ा देखकर पिता का हृदय पसीज गया। उसने तुरन्त पुत्र को उठाकर छाती से लगाया। सिर सूँघकर प्यार किया। फिर उसकी छोटी छोटी काली काली घुँघराली लटों को अपनी ऊँगलियों से सुलझाते हुये हिरण्यकशिपु बोला—"बेटा, अब के तो तुमने सार्थक सुन्दर शिक्षा पाई होगी। मैंने गुरुपुत्रों से अबके अत्यंत सावधानी रखने का संकेत कर दिया था।

अच्छा, अब तुम बताओ, किस बात को तुम सर्वश्रेष्ठ समझते हो ? तुमने अब तक जो कुछ पढ़ा है, उसमें जो सर्वश्रेष्ठ बात हो, जिसे प्राणिमात्र का समान रूप से कल्याण होता हो, उसे तुम मुझे सुनाओ ?"

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! प्रह्लादजी के मन में तो और ही बात बसी हुई थी, उन्होंने तो संसार का कल्याण आसुरी प्रकृति से विपरीत आचरण में ही समझा था। अतः वे निर्भय होकर बोले—"पिता जी ! मेरी बात ध्यान पूर्वक सुन लें, बीच में टोकें नहीं मैंने जो भी सार सिद्धान्त समझा है, उसे मैं संक्षेप में आपको सुनाता हूँ, आप सावधान होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

हिरण्यकशिपु ने उल्लास के स्वर में कहा—"अच्छी बात है, मैं तुझे बीच में टोकूँगा नहीं, तू निर्भय होकर कह।"

तब प्रह्लादजी कहने लगे—"पिताजी ! बहुत से लोगों को दूसरों की निंदा, परचर्चा, प्रवाद, अपवाद तथा और भी इधर उधर की बातें बड़ी मीठी लगती हैं। इन बातों के सुनने में उन्हें बड़ा रस आता है, किन्तु मैं विष्णु भगवान् के नाम तथा गुणों के श्रवण को ही सर्वश्रेष्ठ साधन समझता हूँ। यही संसार सागर से पार होने का प्रथम सोपान है। कुछ लोग इन काम, क्रोध के वशीभूत लोगों के गुणों के कीर्तन से अपना लाभ समझते हैं। वे सोचते हैं, इनकी प्रशंसा करेंगे तो ये हमें कुछ देंगे। वे स्वयं भूखे लोग दूसरों को क्या देंगे और अधिकाधिक माया जाल में फँसावेंगे। जिससे यह भव

जाल कट जाय, छिन्न भिन्न हो जाय, वह तो कृष्ण नाम और गुणों का कीर्तन ही है। कृष्ण कीर्तन से बढ़ कर कोई श्रेष्ठ बात संसार में नहीं है।

प्रायः लोग विषयों का ही चिंतन करते रहते हैं। जो जिसका चिंतन करेगा, अन्त में उसे उसी वस्तु की प्राप्ति होगी, विषयों की चिन्तना करने वाले पुरुष विषय रूप विष को पीकर मरते और जन्म लेते हैं। विषयों को छोड़ कर जो विष्णु का स्मरण करते हैं, वे अमर हो जाते हैं, अतः मेरे मत में तो विष्णु स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है।

पापियों के पादसेवन को करते करते प्राणी पापमय बन जाता है, किन्तु प्रेमपूर्वक प्रभु के पादपद्मों का पूजन करने से उसे परम पद की प्राप्ति होती है, अतः प्रभुपाद सेवन से श्रेष्ठ संसार में सुखकर कोई सामग्री नहीं। कुछ लोग विषयी पुरुषों का अर्चन करते हैं कुछ अन्य राजसी तामसी देवों का करते हैं, तो करें, मैं उनकी निन्दा नहीं करता, किन्तु मेरे मत में तो अच्युत से उत्तम कोई अर्चनीय देव नहीं, अतः दुख की अत्यन्त निवृत्ति अच्युत के आराधन से ही हो सकती है, ऐसा मेरा मत है।

विषयी लोगों का वन्दन विषय प्राप्ति के लिये करें तो समझना चाहिए यह अमृत देकर विष ग्रहण करना चाहता है। विश्व में वन्दनीय तो भगवान् वासुदेव ही हैं। वासुदेव बुद्धि से चाहें जिसका वन्दन किया जाय वही उत्तम वन्दन है, शेष सभी संसार बन्धन को कसने वाले हैं।

संसारी लोग सोने, चाँदी तथा कागद के टुकड़ों के लिये

अपने शरीर को अर्पण कर देते हैं। रात दिन केवल पैसों के लिये ही दासता रूपी रज्जु में बँधे रहते हैं, विषयियों के संकेत पर नाचते रहते हैं, उनकी कुत्सितवासनाओं की पूर्ति के लिये अपने धर्म, कर्म, सत्य और सदाचार को भी खो देते हैं। यदि इन दुष्टों की दासता न करके दयासागर दीनबन्धु की दासता स्वीकार करले, निष्कपट भाव से उनकी दास्य भक्ति करने लग जाय, तो यह जन्म सफल हो जाय। मैं तो नरदेह की सार्थकता भगवान् की दास्यभाव से की गई भक्ति में समझता हूँ।

लोग जिसे भी सुन्दर, सहृदय. धनी या गुणी देखते हैं उसी की ओर आकर्षित हो जाते हैं चाहते हैं, इससे हमारी मित्रता हो जाय, संसारी मैत्री शुद्ध तो होती नहीं। वह तो स्वार्थ की शाठ्य मिश्रित होती है। इन मन्मुखी मनुष्यों से मैत्री करना व्यर्थ है यदि मदन मोहन मधुसूदन माधव से मैत्री हो जाय तो मनुष्यों की मनोकामनायें मिट जायँ। माधव की मंजुल मूरति मन में बैठ जाय, तो मोक्ष भी तुच्छ हो जाय, क्योंकि मुरारि तो मोक्ष के भी पति हैं। अतः मेरे मत में मुरलीमनोहर से मैत्री करना ही मनुष्यों के लिये सर्वश्रेष्ठ कार्य है।

मनुष्य सर्वभाव से अपने को विषयों के अधीन कर लेते हैं। मन को वश में न करके मन के अधीन हो जाते हैं। उसके संकेत पर नाचते हैं, उसके यन्त्र बन जाते हैं। ऐसा न करके जो अपने समस्त कर्मों को अपनी समस्त इच्छाओं और वासनाओं को श्रीहरि को अर्पण कर देते हैं। अपना कुछ भी न रखकर उन्हें ही जो आत्मसमर्पण कर देते हैं, मेरे मत में उनसे उत्तम कार्य करने वाला कोई भी नहीं। इस प्रकार श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और

आत्मनिवेदन यह नवधाभक्ति ही मेरी बुद्धि में सबसे बड़ी बात है। भगवदर्पण पूर्वक इनका आचरण करने ही में पढ़ने का फल और सर्वश्रेष्ठ अध्ययन समझता हूँ। पिताजी! मैंने अपने मन की बात कह दी, जो मुझे सबसे अच्छी बात लगी वह बता दी। अब आप और जो भी कुछ पूछेंगे उसे भी बताऊँगा।

प्रह्लाद की ऐसी बातें सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोध के कारण आग बबूला हो गया। उसकी भौंहें तन गईं, शरीर थर-थर काँपने लगा। अधर फरकने लगे दाँतों से ओठों को काटता हुआ लाल-लाल आँखें करके उन गुरुपुत्र शंडामर्क से कहने लगा—"क्यों रे, नीच ब्राह्मणों! क्या तुमने इस बच्चे को यही पढ़ाया है, इसी शिक्षा के लिये इसे मैंने तुम्हारे पास भेजा था क्या? तुम लोग बड़े मदोन्मत्त हो गये हो। अपने को स्वतन्त्र समझते हो। मेरी आज्ञा का तुम तनिक भी ध्यान नहीं रखते। मेरे शत्रु विष्णु का आश्रय लेकर उसकी प्रशंसा सूचक कैसी सारहीन शिक्षा तुमने इस शिशु को दी है। हम तो तुम्हें अपना हित में अग्रणी रहने वाला पुरोहित समझते थे। तुम तो घर के भेदिया शत्रु निकले। अंगरखी की बाँह में छिपे सर्प सिद्ध हुए। तुम लोग हमारे घर में ही भेद भाव डालना चाहते हो। प्रतीत होता है, तुम हमारे शत्रु विष्णु के गुप्तचर हो। तुम्हारा भंडा फोड़ हो गया, तुम्हारी कलई खुल गई, पाप सदा छिपा नहीं रहता, काठ की हंडी बार-बार नहीं चढ़ती तुम मेरे पुरोहित नहीं वैरी हो, मैं तुम्हें दण्ड दूँगा।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु की ऐसी क्रोध युक्त बातें सुनकर गुरुपुत्र उसे मनाते हुए शान्तिपूर्वक उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

श्रवन कीरतन करे विष्णु सुमिरन पद सेवन।
अर्चन वन्दन दास्य सख्य अरु आत्मनिवेदन॥
है जिह नवधा भक्ति करे जग में जो इनकूँ।
यही बात अति श्रेष्ठ गनूँ हौं उत्तम तिनकूँ॥
सुनि खिसियानों असुर अति, गुरु पुत्रनि पै क्रोध करि।
डाँटि कहे ओ अधमद्विज, गयो पुत्र कैसे बिगरि॥

प्रह्लादजी द्वारा गुरुपुत्रों की निर्दोषता

(४६५)

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतम्,
सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो ।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्,
नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

बोले गुरु के पुत्र असुरपति कोप न कीजे ।
देवें लखि अघ दंड बात सबरी सुनि लीजे ॥
नहिं हम कबहूँ जाइ कृष्ण को नाम सिखायो ।
नहीं बदलि के वेष गुप्तचर कोई आयो ॥
यह मति जाकी सहज है, बिना पढ़ाये कहै सब ।
हिरनकशिपु अति क्रोधकरि, बोल्यो सुतकूँ निपकि तब ॥

भृत्य के अपराध का दोष स्वामी का कहना जाता है और

❀ गुरुपुत्र कह रहे हैं—"हे इन्द्रशत्रो ! आपका यह पुत्र जो बातें कह रहा है वे न मेरी सिखाई हैं न किसी दूसरे की सिखाई हैं । हे राजन् ! इसकी ऐसी मति स्वाभाविक ही है । इस विषय में आप दोष न दें अपने क्रोध को शान्त करें ।

शिष्यों की उद्दंडता का उत्तरदायित्व गुरु पर है। सामान्यतया लड़के भली बुरी बातें अपने अध्यापकों से सीखते हैं। इसीलिये गुरु उपदेश देते हुए कहा करते हैं—"भैया! देखो, हमारे जो सुचरित हों, उन्हीं को ग्रहण करना। इतर बुरे चरित्र हममें देखो, तो उन्हें मत ग्रहण करना। सामान्यतया हम बड़ों के गुणों की अपेक्षा दोषों को ही शीघ्र ग्रहण करते हैं, क्योंकि विषयों में जीवों की स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा गया है। बिना सिखाये पढ़ाये अभक्तों में भक्त पैदा हो जाते हैं। दुष्टों के संसर्ग में रहने पर भी बालक साधु बन जाते हैं, उन पर सङ्ग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपनी भिन्न प्रकृति और भिन्न स्वभाव को ही लेकर उत्पन्न होते हैं। इसे स्वाभाविकी या जन्मजात विद्या कहते हैं।

नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु ने गुरुपुत्रों को बहुत डाँटा फटकारा तब वे बिचारे दीन राजसेवक अपने को निरपराध सिद्ध करते हुये कहने लगे—"राजन्! आप तो न्यायप्रिय हैं, पहिले हमारी बात सुनलें, यदि इसमें हमारा दोष हो तो हमें दण्ड दें। आप अकारण केवल सन्देह के ऊपर ही हमें दोषी न ठहरावें क्रोध को छोड़कर हमारी प्रार्थना सुनलें।"

क्रोध से लाल-लाल आखें निकालकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अच्छी बात है, कहो क्या कहते हो?"

दीन होकर गुरुपुत्रों ने कहा—"प्रभो! आप हमारा विश्वास करें, हमने कभी इसे ये बातें नहीं सिखाई हैं। जो आपका शत्रु वह हमारा भी शत्रु, हम उसकी भक्ति प्रपत्ति, प्रशंसा

स्तुति क्यों करने लगे ? आपकी शरण छोड़कर उस अशरण की शरण क्यों जाने लगे।"

क्रोध में भरकर दैत्यराज बोला—"तुम लोग कहते हो, तो हम तुम्हारी बात पर विश्वास करते हैं, तुमने न सिखाया तो तुम्हारे यहाँ कोई विष्णु का दूत वैष्णव छिपकर रहता होगा, उसने इसे ये विष्णु की दासता की बातें सिखा दी होंगी।"

गुरुपुत्रों ने कहा—"अन्नदाता ! जब से आपकी आज्ञा हुई थी, कि इसे किसी भी अपरिचित व्यक्ति से न मिलने दिया जाय, तब से हम बड़ी सावधानी रखते हैं। इसे सदा पास में ही बिठाते हैं, पास में ही सुलाते हैं। हममें से कोई एक किसी काम को चला जाता है, तो दूसरा अवश्य इसके समीप बना रहता है। अतः हम दृढ़ता के साथ कहते हैं, किसी दूसरे ने भी इसे नहीं सिखाया।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु का गुरुपुत्रों के प्रति जो क्रोध उत्पन्न हुआ था, वह जाता रहा। सरलता के साथ उसने कहा—"यह बड़े आश्चर्य की बात है। आपने सिखाया नहीं दूसरा कोई इससे मिलता नहीं, तो फिर इसने ये हमारे शत्रु की भक्ति की बातें सीख कहाँ से लीं ?"

राजा को क्रोधरहित देखकर गुरुपुत्रों का साहस बढ़ा। वे अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"हे इन्द्रशत्रो ! हे त्रिभुवनाधिप राजन् ! कोई-कोई गुण किसी-किसी बालक में स्वाभाविक होता है। वह माता के पेट से ही उसमें पारंगत होता है। जहाँ बोलने चालने लगा, उसे करने लगता है।

इसी प्रकार इसकी यह स्वाभाविकी बुद्धि है। इस विषय में आप हमें व्यर्थ दोषी न समझें।"

गुरुपुत्रों की बात पर हिरण्यकशिपु को कुछ-कुछ विश्वास हो गया, उसी को दृढ़ करने के लिये और अपने क्रोध को प्रह्लाद पर उतारने के लिये, उसे डपटते हुए दैत्यराज क्रोध पूर्वक उनसे बोला—"क्यों रे छोकरे! तू सच-सच बता दे, तेरी ऐसी अमङ्गलमयी खोटी बुद्धि कैसे हुई? जब ये बातें तुझे गुरुओं ने नहीं बताईं तो तैंने कहाँ से ये सीखीं? झूठ मत बोलना सत्य-सत्य कह देना। यदि तैंने तनिक भी इधर उधर की नमक मिरच मिलाई तो देख, इस बेंत से तेरी चमड़ी उधेड़ दूँगा। तेरी हड्डी पसली तोड़ दूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब प्रह्लाजी से इस प्रकार लाल ताते होकर असुर ने ये बातें पूछीं, तो वे भक्ताग्रगण्य महानुभाव बिना हिचकिचाहट के निर्भय होकर पिता की गोद में बैठे-बैठे ही मेघगंभीर वाणी से कहने लगे—"पिताजी! इन गुरुपुत्रों का कोई दोष नहीं ये बातें इन्होंने मुझे नहीं सिखाईं। जिनके पूर्व जन्मों के संस्कार नहीं, उन्हें सिखाने से ये बातें आ भी नहीं सकतीं।"

इसपर दाँतों को पीसकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"दुष्ट! यही तो मैं पूछता हूँ, गुरुपुत्रों के बिना सिखाये तेरी इन बातों में प्रवृत्ति कैसे हो गयी।"

प्रह्लादजी ने नम्रता के साथ कहा—"पिताजी! इन गृहासक्त विषयी पुरुषों की विषयों में प्रवृत्ति कैसे हो जाती है। वही दारा है, वही अन्न, जल, पुष्प शैय्या है। एक बार भोग

लेने पर भी इन पदार्थों से तृप्ति क्यों नहीं होती। किसके सिखाने से इन्हें बार २ भोगने की लालसा होती है साधुसंतों से सदा सुनते रहते हैं कि संसारी भोग अनित्य हैं, क्षण-भंगुर हैं, नाशवान हैं फिर भी इनका परित्याग क्यों नहीं करते। इन ग्राम्यसुखासक्त पुरुषों की बुद्धि स्वतः या परतः अथवा पारस्परिक सत्संग से भी भगवान में नहीं लगती। सो, महाराज! सिखाने से ही ये बातें नहीं आतीं।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"अरे, नीच! कुलाङ्गार तेरा भगवान ऐसा है, तो वह मेरे सम्मुख क्यों नहीं आता। मेरी बुद्धि को विपरीत क्यों नहीं बनाता। बच्चों को ही क्यों बिगाड़ता है। भोले भाले लोगों को ही क्यों अपने फंदे में फँसाता है?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"महाराज! सबके सम्मुख वे श्रीहरि प्रकट नहीं होते। सब कोई उन्हे प्राप्त करने में समर्थ नहीं। आपही सोचें इन संसारी विषयों को ही सर्वस्व तथा सुख का साधन मानकर उनके पीछे पड़े रहते हैं, बिना पुत्र के गति नहीं, ऐसे पुष्पित वाक्यों को ही प्रमाण मानकर भेड़िया धँसान में पड़कर अंधकूप में पतित होते हैं, ऐसे दुर्मति अपने परम पुरुषार्थ रूप श्रीहरि को कैसे प्राप्त कर सकते हैं?"

इस पर दाँतों से ओठों को काटता हुआ क्रोध के साथ दैत्यराज हिरण्यकशिपु बोला—"अरे दुष्ट! वह परम पुरुषार्थ रूप तेरा विष्णु है कहाँ? मैं तो उसे बलहीन नपुंसक और डरपोक मानता हूँ, यदि उसमें कुछ शक्ति है, तो मेरे सम्मुख आकर

दो दो हाथ करे।"

प्रह्लादजी ने निर्भीक होकर कहा—"पिताजी ! क्रोध न कीजिये। क्रोध बुरी वस्तु है। भगवान् यों सभी को नहीं मिल जाते। जब तक निष्किञ्चन भगवद्भक्त महापुरुषों की चरणरज को श्रद्धा सहित नित्य नियम से सिर से पैर तक नहीं लगाते। उसमें सर्वाङ्ग स्नान नहीं करते, तब तक भगवान् के दर्शन दुर्लभ हैं, असंभव हैं, असाध्य हैं। महाराज ! इस संसार रूप अनर्थ का सर्वनाश तभी हो सकता है जब बुद्धि भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में विलीन हो जाय। आप की तो बाह्य दृष्टि है, अब मैं आपसे अधिक क्या कहूँ।"

प्रह्लाद के मुख से ये बातें सुनकर हिरण्यकशिपु के कोप का पारावार नहीं रहा। वह क्रोध में अंधा हो गया। गोद में बैठे अपने प्यारे पुत्र को उठा कर पृथ्वी पर पटक दिया और नौकरों को सम्बोधन करके बोला—"इस दुष्ट को यहाँ से ले जाकर मार डालो। इसे जीवित न छोड़ो।"

समीप में बैठे मंत्री ने कहा—"प्रभो ! छोटे से बालक पर इतना क्रोध उचित नहीं।"

क्रोध के आवेश में दैत्यराज बोले—"यह छोटा नहीं बड़ा खोटा है। इससे बढ़कर नीच कौन होगा। जो विष्णु हमारे कुल का संहारक है, जिसने मेरे छोटे भाई इसके सगे चाचा-को मार डाला उसी की यह पूजा करता है, उसी का अपने को दास मानता है, तो इसमें और विष्णु में क्या अंतर रहा। शत्रु का मित्र अपना भी शत्रु है। एक दिन यह मेरे शत्रु से मिल-कर मुझे भी मरवा डालेगा। इससे बढ़कर नीच कौन होगा।

कहता है—"मैं विष्णु की पूजा करता हूँ, उनकी भक्ति करता हूँ" यह विष्णु की भी क्या भक्ति करेगा। जो अपने सगे बाप का नहीं हुआ, वह विष्णु का कैसे हो सकता है। तनिक मतभेद हुआ, कि उससे भी द्वेष करने लगेगा। पूत के पाँव तो पालने में ही दीख जाते हैं। होनहार बिरवाओं के जन्म से ही चिकने पत्ते होते हैं। द्वेषी सबसे द्वेष करता है। प्रेम और द्वेष तो घर से ही आदमी सीखता है। जो पिता का, कुल का, परिवार का, हितैषी नहीं, पक्षपाती नहीं, वह देश का धर्म का पक्षपाती क्या होगा। घर वालों से द्वेष, शत्रुओं से मैत्री क्या यही भक्ति है। अभी पाँच वर्ष का है, किन्तु मेरे सामने कैसा टका सा उत्तर दे रहा है, इसे लज्जा भी नहीं लगती।"

मंत्री ने कहा—"महाराज, कैसा भी हो पुत्र तो पुत्र ही है अपने शरीर से उत्पन्न पुत्र का भला कौन वध करा सकता है?"

इस पर क्रोध से हिरण्यकशिपु बोला—"मंत्रीजी आप कैसी बात कर रहे हैं। शरीर से उत्पन्न होने से ही कोई ग्राह्य नहीं होता। मल, मूत्र, पसीना जूँए, नख, केश तथा रोग ये सब शरीर से ही उत्पन्न होते हैं। बुद्धिमान् पुरुष अपने हितके लिये इन्हें तुरन्त शरीर से पृथक् करके फिर इनकी ओर देखते भी नहीं। रोग शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हें अहितकर समझते हैं, किन्तु शरीर से उत्पन्न रोगों का नाश करने वाली ओषधियाँ अन्यत्र उत्पन्न होती हैं, उन्हें हितकर समझकर शरीर में स्थान देते हैं, खाते हैं। किसी के पैर में जहरवाद हो गया हो तो बुद्धिमान् पुरुष उस अपने शरीर के अंग को भी काटकर पृथक् कर देते हैं और वहाँ अन्यत्र उत्पन्न काठ या लोहे का पैर लगाकर सदा अंग में लगाये रहते हैं,

इस दुष्ट पर दया मत करो। साँप को दूध पिलाना विष को ही बढ़ाना है।

नौकरों ने हाथ जोड़कर पूछा—"प्रभो इन्हें हम किस उपाय से मारें।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"जैसे यह मरे वैसे ही मारो। किसी लड्डू में विष मिलाकर खिलादो, दूध आदि में मिलाकर हलाहल विष पिलादो। लोहे आदि की शैया पर सुलाकर उसमें विष प्रयोग करो। अग्नि में बिठा दो। जल में डुबा दो। सारांश यह है, कि जिस उपाय से भी इसके प्राण निकल जायँ, वही उपाय काम में लाओ।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! वे सेवक तो पैसे के दास ठहरे। पैसे के लिये ये सब कुछ कर सकते हैं। अपने स्वामी की उचित अनुचित जो भी आज्ञा हो, उसी का पालन उन्हें सर्वदा करना ही पड़ता था। यद्यपि वे असुर स्वभाव से ही क्रूर थे, फिर भी वे भोले भाले राजपुत्र प्रह्लाद को मारना नहीं चाहते, किन्तु करें क्या उनका स्वामी ही अपने औरस पुत्र को मारने की आज्ञा दे रहा है, अतः वे मारो काटो कहकर अपनी बड़ी-बड़ी तीक्ष्ण दाढ़ों को निकाल कर फरसे, भाले, त्रिशूल लेकर प्रह्लादजी को मारने के लिये दौड़े, किन्तु जिसकी रक्षा अच्युत करते हैं, उसका कौन बाल-बाँका कर सकता है? अतः उनके अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो गये। तब तो असुरों ने प्रह्लादजी को मारने के लिये अनेकों और भी चेष्टायें कीं। जिनका संक्षेप में वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

च्यौ रे छोरा बात सिखाई कौंने तोकूँ।
मुनि बोले प्रह्लाद पिता सिखवे को मोकूँ ॥
बिष्णु भक्ति तो नहीं सिखाये तें ई आवे।
सोई होवे भक्त कृष्ण जाकूँ अपनावे ॥
तजे न जब तक छल कपट, सत्संगति नहिँ नित करे।
पावे कस प्रभु भक्ति रज, संत चरण सिर नहिँ धरे ॥

प्रह्लादजी पर प्रहार

(४६६)

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।
युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

कुपित भयो अति असुर पुत्र पृथ्वी पै पटक्यो ।
गर्जन करि कें उठ्यो चर्र सिंहासन चटक्यो ॥
दैत्यनि तें यों कहे दुष्ट कूँ मारो मारो ।
जीवित खाल खिँचाय चील गीधनि कूँ डारो ॥
सुनत असुर झपटे तुरत, वज्रहृदय विकराल मुख ।
छेदें अङ्गनि शूल तें, विविधि भाँति तें देइ दुख ॥

भगवान दुख पीछे देते हैं, उसको सहनशक्ति पहले दे देते हैं। बड़े-बड़े रोग जिनकी चिकित्सा अत्यन्त ही व्यय साध्य है, वे निर्धनों, गरीबों को प्रायः नहीं होते। दुख उन्हीं पर पड़ते हैं, जिनमें उन्हें सहने की शक्ति हो। कभी-कभी भग-

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब असुर प्रह्लादजी पर प्रहार कर रहे थे तब उनका मन अनिर्वाच्य अखिलात्मा भगवान् परब्रह्म में लवलीन था। इसलिये उन सबके प्रहार उसी प्रकार व्यर्थ हो गये जैसे पापी पुरुषों की सत्क्रियायें व्यर्थ हो जाती हैं।"

वान् किसी-किसी देह में अपनी शक्ति प्रदर्शित करते हैं। अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि योग की अनेकों शक्तियाँ हैं जिनसे आदमी बड़े से बड़ा छोटे से छोटा, मोटे से मोटा और भारी से भारी हो सकता है, आकाश में उड़ सकता है, तीनों लोकों को वश में कर सकता है, नई सृष्टि रच सकता है। मन को एकाग्र होने पर उसे जिस जिस कार्य में दृढ़ता से नियुक्त करोगे वही हो जायगा। मन में अनन्त शक्ति है। यह सम्पूर्ण संसार मन से ही तो निर्मित है। चित्त के एकाग्र करने के एक दो मार्ग ही नहीं हैं। अनेकों मार्ग हैं, जहाँ पर भी जैसे भी चित्त एकाग्र हो। यथाभिमत ध्यान से भी चित्त की एकाग्रता होती है। जिन्होंने अपना चित्त चितचोर व्रजकिशोर के चारु चरण में लगा लिया है, वह भी उन्हीं के जैसा हो जाता है। भगवान् अनिर्वाच्य हैं, अतः भगवद्भक्तों में कितनी महत्ता है, इसका कोई कथन नहीं कर सकता। भगवान सर्वात्मा हैं, अतः भक्त का सुख दुख भी सभी का सुख दुख हो जाता है। उसे स्वयं किसी बात से दुख होता है न सुख। वह तो सदा दुख सुख से परे परमानन्द में निमग्न रहता है। सारांश यह है कि भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं। कोई अन्तर नहीं दोनों एक से हो जाते हैं।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! स्वपराभिनिवेश अज्ञान से होता है। स्वार्थ में अन्धा होकर मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य को भूल जाता है और अपनी ही बात को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये सभी प्रकार के प्रयत्न करता है। जब प्रह्लादजी हिरण्य-कशिपु की इच्छा के विरुद्ध भक्ति की महिमा वर्णन करने लगे, तो उसने उन्हें गोदी में से ही नहीं फेंक दिया अपितु सेवकों को उन्हें मार डालने की आज्ञा दी। राक्षस तो क्रूर होते ही हैं, फिर

वे तो सेवक ठहरे। स्वामी जो आज्ञा दे उसी का पालन करना। अतः वे लोग त्रिशूल घुमाते हुए मारो, काटो, पकड़ो चिल्लाते हुए अपना बल, पौरुष, क्रोध दिखाते हुये प्रह्लादजी की ओर दौड़े। किन्तु उस समय उनका शरीर तो वज्र के समान बन गया था। भगवान् ही भक्त के हृदय रूप भवन में दृढ़ वपु बनकर बैठ गये थे। अब भगवान् को मारने की सामर्थ्य किसमें है, परमात्मा को कौन मार काट सकता है? इसीलिये असुरों के वे प्रहार प्रह्लादजी के मर्म स्थानों में ऐसे लगते थे, मानों कोई कोमल पुष्प का प्रहार कर रहा हो। असि, त्रिशूल, खड्ग, तोमर आदि अस्त्र-शस्त्र प्रह्लादजी के श्री अंग में वैसे ही विफल होते थे जैसे पर्वतों को बड़ी चट्टानों पर मारने से खड्ग व्यर्थ हो जाता है। जिनके चित्त में भगवान् बैठे हैं, भगवद् रूप हो चुके हैं, उनको कोई क्षति कैसे पहुँचा सकता है।

धर्मराज से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब बड़े-बड़े बली असुरों के अस्त्र-शस्त्र भी प्रह्लादजी के शरीर में व्यर्थ हुए, तब तो हिरण्यकशिपु के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसने सोचा—"अवश्य इसने कोई जादू टोना सीख लिया है, अवश्य ही विष्णु के पक्षपाती गुप्तचरों ने इसे कोई विद्या सिखा दी है, तभी तो यह इतने प्रहार करने पर भी मरता नहीं। किन्तु मैं अपने शत्रु को जीवित कैसे छोड़ सकता हूँ। जब मैंने इन्द्र वरुण, कुबेर आदि बड़े-बड़े लोकपालों को वश में कर लिया, तब यह तनिक सा छोकरा किस खेत की मूली है। यह चाहे कितनी भी माया क्यों न सीख आया हो, मेरे सामने इसकी एक भी माया न चलेगी। मैं इसे मारे बिना छोड़ूँगा नहीं।" यह सब सोच तो रहा था, किन्तु उसका चित्त शङ्कित हो रहा था। पापी का चित्त सदा शङ्कित बना ही रहता है।

अब उसने अपने सेवकों से कहा—"देखो, हाथी शाला से पूर्व जो पृथक् हाथीगृह है उसमें जो सब से बड़ा मदोन्मत्त हाथी है, उसके सम्मुख इसे ले जाकर डाल दो। वह इसे तुरन्त अपने पैरों के नीचे रौंद देगा।"

सेवकों ने ऐसा ही किया। प्रह्लादजी को ले गये और उन्हें उस मतवाले हाथी के सम्मुख डाल दिया, जो मनुष्य की गन्ध पाते ही उसे चीर डाले। उसके सम्मुख डालकर सेवक अलग हो गये हाथी प्रह्लादजी के सम्मुख आया। उसने उनके श्री अंग को सूँघा और फिर प्रेम से सूँड़ में लपेट कर पीठ पर बिठा लिया। अब तो प्रह्लादजी उसका कान पकड़कर चलाने लगे। वह सीधे सादे भैंसे के समान प्रह्लादजी को चढ़ाकर बिना कुछ उपद्रव किये राजसभा के द्वार पर आकर खड़ा हो गया। मतवाले हाथी को भी प्रह्लादजी की आज्ञानुसार कार्य करते देख, हिरण्यकशिपु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा—"इन हाथियों के विष तो हैं नहीं। मद में कभी उन्मत्त होते हैं। कभी मद उतर भी जाता है। विषधर सर्पों की दाँढ़ों में सदा विष भरा रहता है। यदि १०, २० बड़े सर्प इसके अंगों में लपेट दिये जायँ तो वे अवश्य इसे डस लेंगे। तीक्ष्ण विष-वाले, क्रूर सर्पों का काटा कोई भी प्राणी नहीं बचता, यहाँ तक कि उनके विष से हरा वृक्ष भी तत्क्षण सूख जाता है।" यही सब सोचकर उसने सेवकों से कहा—"देखो, बड़े-बड़े तीक्ष्ण विष वाले सर्प ले आओ। उनसे इसे कटा दो। तब यह अपने आप ही मर जायगा।

सेवकों को तो विश्वास हो गया था, कि अब यह किसी भी उपाय से नहीं मर सकता। जिसके जड़ चेतन सभी अनु-

कूल हैं, प्रकृति जिसकी चेरी बनी है, उसकी प्राकृतिक उपायों से मृत्यु कैसे होगी।" फिर भी स्वामी की आज्ञा मानना तो उनका कर्तव्य ही था। बड़े-बड़े विषधर सर्पों को वे ले आये। एक चारों ओर से सुरक्षित स्थान में प्रह्लादजी को बिठा दिया गया और उनके ऊपर एक से एक क्रोधी मारकविष वाले सर्प छोड़े। किन्तु वे सब सर्प प्रह्लादजी की गोदी में लोटने लगे। उनके अंगों से लिपट कर क्रीड़ा करने लगे। जिसे अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है—अहिंसा का अभ्यास करते-करते, जिसके चित्त में किसी के प्रति हिंसा के लेश मात्र भी भाव नहीं रहते—तब उसकी सन्निधि में जो भी आता है, वही वैर का परित्याग कर देता है। उसका संसार में कोई वैरी रह ही नहीं जाता, उसका अनिष्ट करने की सामर्थ्य किसी में रहती ही नहीं। ऐसे निर्वैरी को भला सर्प कैसे काट सकते हैं। प्रह्लादजी उन विषधर सर्पों से निःशंक होकर खेलने लगे। उनके दाँत खोल खोलकर देखने लगे। उन्हें हृदय से चिपटाने लगे। हार की भाँति गले में डालने लगे। कंकण केयूर की भाँति अंगों में धारण करने लगे।

इस लीला को देखकर तो हिरण्यकशिपु का मुख फक्क पड़ गया। उसे निश्चय हो गया, कि यह कोई मंत्र तंत्र जानता है। मन्त्र को व्यर्थ मन्त्र ही कर सकता है। अतः मन्त्रतन्त्रों के ज्ञाता स्यानों को बुलाकर इसकी मन्त्र सिद्धि को व्यर्थ बनाने के लिये हिरण्यकशिपु सोचने लगा।

छप्पय

सबरी शक्ति लगाय असुर मिलि गुलिके मारे।
चट्ट पट्ट सुनि सिंह व्याघ्र भपटें चिघारे॥
फूल सरिस सब शस्त्र भये दिति सुत घबरायो।
सोच्यो और उपाय मत्त गजराज मँगायो॥
रँदवाये पैरनि तरे, गज बकरी सम बनिगयो।
सूँघि सँड़ि तें सिर धरे, अति सूधो हाथी भयो॥

प्रह्लादजी के मारने के उपाय

(४६७)

दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च अभिचारावपातनैः ।
मायाभिः सनिरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

पुनि विषधर बुलवाइ कटावे सुत कूँ खलिमति ।
सरल स्याँप सब भये करें क्रीड़ा सुन्दर अति ॥
करवायो अभिचार मूँठ जादू टौंना सब ।
भये विफल सब जतन भयो संकित मुररिपु तब ॥
गिरवाये गिरि शिखर तें, बहुतक माया हू करी ।
काल कोठरी महँ दये, पैरनि हू बेड़ी भरी ॥

जिन्होंने सर्वात्मभाव से अपने को प्रभु को अर्पण कर दिया है, वे भारी से भारी विपत्ति आने पर भी उसका प्रतीकार नहीं करते। वे कह देते हैं—"हमने तो अपना तन मन सर्वस्व

---

* नारदजी धर्मराज से कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद जी के वध के लिये उन्हें दिग्गजों से रौंदवाया, विषधरों से कटवाया, अनेक अभिचार कराये, पर्वतों से गिराया, अनेक मायाओं का प्रयोग किया, कालकोठरियों में बन्द करा दिया, विष दिलाया तथा भोजन भी बन्द कर दिया।

उन्हें ही सौंप दिया है, वे जो चाहें सो करें। हमें न अनुरोध करना है न विरोध। इसी प्रकार जो पुरुषार्थवादी हैं, अपने निजी पुरुषार्थ से ही सभी कार्यों को सिद्ध करना चाहते हैं। आगत आपत्ति विपत्तियों का अपने प्रयत्न से ही प्रतीकार करना चाहते हैं, वे प्राण रहते प्रयत्न करते रहते हैं, कभी हतोत्साह नहीं होते।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! असुरों से त्रिशूलों द्वारा मरवाने पर, दिग्गजों से रौंदवाने पर, तथा विषधरों से कटवाने पर भी जब प्रह्लादजी का बाल भी बाँका न हुआ, तब हिरण्यकशिपु ने सोचा—"ऐसे यह न मानेगा। प्रतीत होता है किसी मन्त्र के प्रभाव से यह सब विपत्तियों से बच जाता है, अतः इसके ऊपर अभिचार का प्रयोग किया जाय। अभिचार से तामसी शक्तियों के द्वारा स्वतः ही इसकी मृत्यु हो जायगी। यही सब सोचकर उसने बड़े-बड़े स्याने ओझा और जादू टौना करने वालों को बुलाया।

बुलाकर सबसे पूछा—"तुम लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि क्रियाओं को जानते हो? मैं इस अपने शत्रुरूप पुत्र का वध करना चाहता हूँ।"

इसपर किसी ने कहा—हम मूँठ चलाकर मार देंगे।" किसी ने कहा "हम हवन करके कृत्या उत्पन्न करके उसके द्वारा इसको मरवा देंगे।" किसी ने कहा—"हम ऐसी ऐसी वस्तुएँ इसके यहाँ डलवा देंगे, कि यह सोता का सोता ही रह जायगा, फिर उठेगा नहीं।"

सब की बातें सुनकर असुर ने उन सब को सामग्री के लिये

यथेष्ट द्रव्य दिया। वे अपने इष्टों को स्मरण करके तामस प्रयोग करने लगे, किन्तु सात्विक देव श्री विष्णु के सम्मुख ये तामस भूत, प्रेत, पिशाच, कृत्या आदि क्या कर सकते हैं। जो विष्णु भक्त हैं, जिनके हृदय में सदा सर्वेश्वर का निवास है, उनके ऊपर अभिचार नहीं चलता। कृत्या उनके समीप आने से ही डरती है। उस पर किये हुये मारण मोहन मन्त्रादि सब व्यर्थ हो जाते हैं। इसीलिये इन इतने लोगों द्वारा किये गये कार्यों का प्रह्लादजी पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा उनका बाल भी बाँका न हुआ।"

हिरण्यकशिपु ने देखा, इसके ऊपर तो इन मन्त्र तन्त्रों का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। तब उसने सेवकों को बुलाकर कहा इसे सबसे ऊँचे पहाड़ की चोटी पर ले जाओ वहाँ से इसे गिरा दो। पहिले तो गिरते ही पत्थरों से टकराकर ही मर जायगा। यदि बीच में न भी मरा तो नीचे आते-आते तो, इसके प्राण अवश्य निकल जायँगे।"

सेवक तो सेवक ही ठहरे। स्वामी की आज्ञा पाकर वे प्रह्लादजी को पहाड़ पर ले गये। उन्हें गिरि शिखर से नीचे डाला, किन्तु प्रह्लादजी का शरीर भगवान् की कृपा से फूल सा हो गया। उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ। नीचे ऐसे लगा जैसे किसी ने गोद में उठा लिया हो।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ऐसे कैसे हो सकता है, इन बातों में तो हमें कुछ अत्युक्ति सी दिखाई देती है।"
इसपर सूतजी ने गम्भीर होकर कहा—"भगवन्! ये

सब बातें तर्क से सिद्ध नहीं होतीं, इनमें विश्वास ही मुख्य है। यह सत्ययुग की बातें हैं, हमने कलियुग में ऐसी घटनायें प्रत्यक्ष देखी हैं, जो तर्क से किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती।

एक लड़का कूए में गिर गया। तीन दिन पश्चात् उसका पता चला। उसे कूए से निकाला जीवित और स्वस्थ था। पूछने पर उसने बताया। मुझे कोई गोद में लिये हुये था और नित्य दूध पिला जाता था। एक स्थान में भूचाल आई बहुत से आदमी दब गये। तीसरे दिन जब बहुत से लोगों ने मिट्टी पत्थर हटाये तो एक वृद्ध और बालक स्वस्थ निकले। एक दूसरे स्थान में भूचाल हुआ एक गर्भिणी भी सब के साथ दब गई। कई दिन के पश्चात् मिट्टी हटाई गई। वह गर्भिणी स्वस्थ थी, यही नहीं वहीं उसके बच्चा पैदा हुआ और माता पुत्र दोनों स्वस्थ जीवित बाहर निकले। महाराज! ऐसे एक नहीं अनेकों अब भी इस कलिकाल में भी प्रत्यक्ष उदाहरण मिलते हैं। यहाँ तर्क काम देती ही नहीं। सो, महाराज! प्रह्लादजी तो भगवान् के अनन्य भक्त थे। जिसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता नहीं हिल सकता। वायु जिसके भय से बहती है। सूर्य जिसके भय से तपता है, उस सर्व समर्थ की शरण लेने वाले को किसका भय हो सकता है और उसका कोई बिगाड़ ही क्या सकता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप सत्य कहते हैं। जो अचिन्त्य भाव हैं, वे तर्क के द्वारा सिद्ध हो भी नहीं सकते। अच्छा तो फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! फिर होता क्या? इधर क्यों

ज्यों पिता दुःख देता, त्यों-त्यों प्रह्लादजी का भगवान् में विश्वास बढ़ता और उधर दैत्यराज को उतना ही अधिक क्षोभ होता क्रोध आता। नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! जब पर्वतों से गिराने पर भी प्रह्लादजी न मरे, तब तो उसने आसुरी मायाओं को उत्पन्न किया।

सहसा आकाश से गड़गड़ान तड़तड़ान होने लगी। रक्त की वर्षा होती, बिजली चमकती। बड़े-बड़े राक्षस खड्ग, पाश, तोमर और नाना अस्त्र-शस्त्र लेकर उतर रहे थे। हाथ में त्रिशूल लिये डाकिनी साकिनी आतीं और मारो, काटो, पकड़ो कह कहकर चिल्लातीं। यह सब होता रहा, किन्तु प्रह्लादजी आँखें बन्द करके भगवान् के ध्यान में तन्मय हो गये।

जब सब माया भी व्यर्थ हुई, तब प्रह्लादजी को एक काल कोठरी में बन्द कर दिया। उनको इससे तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। अपितु बड़ा आनन्द आया। सोचा—"यहाँ एकान्त में भगवान् का ध्यान निर्विघ्न होगा। वे प्रेमाश्रु बहाते हुये उच्च-स्वर से श्रीकृष्ण कीर्तन करते रहे। एकान्त कोठरी में उन्हें आनन्द पूर्वक भजन करते देखकर हिरण्यकशिपु को बड़ा क्रोध आया। वह अपनी पत्नी कयाधू के पास गया और बोला—"तू मेरी आज्ञा मानेगी, या नहीं?"

पतिव्रता कयाधू ने हाथ जोड़कर कहा—"नाथ! आप यह कैसा प्रश्न पूछ रहे हैं। पतिव्रता पत्नी के लिये पति से बढ़कर पिता, पुत्र, परिजन, पुरजन, सगे सम्बन्धी कोई नहीं। स्त्रियों के पति ही देवता हैं, पति ही इष्ट हैं। स्त्रियों की अपनी निजी इच्छा तो कुछ होती ही नहीं। वे तो अपनी इच्छा को पति की

इच्छा में मिला देती हैं। मेरे तो आप ही सर्वस्व हैं।"

इसपर उस दुष्ट ने कहा—"यदि तू मेरी आज्ञा मानती है, तो मैं कहता हूँ, तू अपने पुत्र को मेरे कहने से विष दे दे।"

रोते-रोते कयाधू ने कहा—"प्राणनाथ! आप यह कैसा प्रस्ताव मुझसे कर रहे हैं? पशु पक्षी भी प्राण देकर अपनी सन्तानों की रक्षा करते हैं। एक सर्पिणी को छोड़कर और ऐसी कौन वज्रहृदया माता होगी जो अपनी सन्तान को मार दे। नाथ! आप सर्वसमर्थ हैं, तीनों लोक आपने अपने भुज-बल से जीत लिये हैं। आप मुझे ऐसी आज्ञा न दें। आप जो चाहें सो करें। माता तो नीच से नीच पुत्र की भी मंगल कामना करती हैं, फिर मैं इतने योग्य पुत्र को अपने ही हाथों विष कैसे दे दूँ।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"मैं यह सब सुनना नहीं चाहता। एक बात बताओ। यदि तुम मेरे साथ रहना चाहती हो, तब तो तुम्हें पुत्र को विष देना ही होगा और यदि तुम पुत्र को प्यार करती हो, तो अभी मैं तुम्हारा परित्याग करता हूँ।"

कयाधू ने सोचा—"अब ये मानेंगे नहीं। मेरी परीक्षा ले रहे हैं—जब मेरा पुत्र मतवाले हाथी से, विषधर नागों से, अभिचार आदि से नहीं मरा तो विष उसे क्या मार सकता है। उसके हृदय में तो विषहारी वासुदेव निवास कर रहे हैं, जो पूतना के स्तनों में लगे विष को पीकर पचा गये थे। अतः उसने हाथ जोड़कर कहा—"हे स्वामिन्! जब यही बात है, तो पति और पुत्र में तो पति का ही गौरव अधिक है। पति के

रहने पर अनेकों पुत्र प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु पति के परित्याग कर देने पर स्त्रियों की कोई गति नहीं। जैसी आपकी आज्ञा होगी वही मैं करूँगी।"

हिरण्यकशिपु तो ईर्ष्या द्वेष के कारण पागल बन रहा था। वह प्रह्लाद जी को अँधेरी कोठरी से स्वयं जाकर निकाल लाया और उसकी माता को सौंप दिया।

नारद जी कहते हैं—"राजन्! जो ईर्ष्यालु हैं, द्वेषी हैं, लोभी हैं उन्हें अपने सगे सम्बन्धियों पर भी विश्वास नहीं होता। हिरण्यकशिपु अपने हाथ से ही अति तीक्ष्ण हलाहल विष घोलकर ले आया और अपनी पत्नी के हाथ में दे दिया।

स्त्री ने रोते रोते स्नेह और करुणा के आँसू बहाते बहाते काँपते हुए हाथों से वह विष प्रह्लाद जी को दिया। प्रह्लाद जी ज्यों ही भगवान् का नाम लेकर उसे पीने लगे त्यों ही माता उच्चस्वर से चीख मार कर गिर पड़ी और अचेत हो गई। विष के पूरे प्याले को प्रेम पूर्वक पीकर प्रह्लादजी ने अपनी माता को उठाया और कहा—"माँ! तुम मुझे अमृत पिलाकर भी दुखी क्यों हो रही हो। जननी! जिस वस्तु को जनार्दन का नाम लेकर उनका भोग लगाकर पाया जाता है, वह अमृत से भी बढ़कर हो जाता है। भगवद् प्रसाद से कभी किसी का अनिष्ट न हुआ है न होगा। माँ मैं स्वस्थ हूँ तुम उठकर मुझे प्यार को रो।"

अपने पुत्र के ऐसे वचन सुनकर माता ने उठकर देखा, बच्चा स्वस्थ है हँस रहा है, भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन कर रहा है, तब तो उसे आंतरिक सन्तोष हुआ, किन्तु हिरण्यकशिपु

के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। यह और भी अधिक क्रुद्ध हुआ। किन्तु करता क्या ? उसने अपनी शक्ति भर सभी प्रयत्न किये। जिन जिन कारणों से मृत्यु हो सकती है उन सबका प्रयोग किया। जब देखा प्रह्लादजी पर किसी बात का प्रभाव नहीं पड़ता, जितना ही मैं इसे मारने का प्रयत्न करता हूँ, उतना ही यह अधिकाधिक प्रसन्न होता है, मुझसे द्वेष भी नहीं करता। विष्णु नाम के कीर्तन को भी नहीं छोड़ता, तब तो वह उन्हें मारने के अन्य उपायों को सोचने लगा।

छप्पय

हालाहल विष दयो नहीं कछु भोजन दीयो।
शीत वातते त्रास दयो, जल भीतर कीयो॥
होरी लेके अग्नि माँहि बैठी मारन हित।
भये नहीं प्रह्लाद तनिक हू प्रन ते विचलित॥
सागर में बैठाइकें, पर्वत ऊपर चुनि दये।
मरे नहीं निकसे तुरत, सबरे पर्वत गिरि गये॥

हरिभक्त को भय कहाँ?

(४६८)

हिमवय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरःसुतम् ॥
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत ❀

(श्रीभा० ७ स्क० ५ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

कीन्हें विविध उपाय सफलता नहिं कछु पाई।
मन महँ चिन्ता करे करूँ का अब हौं भाई ॥
कहे कठिन कटु वचन बहुत विधि तें मरवायो।
बार न बाँको भयो तनिक हू नहिँ घबरायो ॥
अवसि शत्रुता मानिकें, विष्णु पक्ष लै लरेगो।
मैं चाहे मरि जाऊँ परि, जिह बालक नहिँ मरेगो ॥

जिसे मरने की जीवन रक्षा की चिन्ता है, जो कल कैसे काम चलेगा, इसकी चिन्ता करता है, वह पूर्ण भक्त नहीं।

❀ नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! जब उन प्रह्लादजी को हिरण्यकशिपु शीत, वायु, अग्नि, जल तथा पर्वतों आक्रमणों द्वारा भी मारने में समर्थ न हुआ, तो उसे बड़ी चिन्ता हुई अब कैसे यह मारा जाय इसका उसे कोई अन्य उपाय सूझता नहीं था।

भक्त को तो न जीवन की चिन्ता न मृत्यु का भय। वह दुःखों से ऊबकर मरना नहीं चाहता और आई हुई मृत्यु को सम्मुख देखकर भागता नहीं। वह तो अपने जीवन की बागडोर श्रीहरि को सौंप देता है। प्रभो ! तुम चाहे जिधर ले जाओ चाहे जैसा घुमाओ। ऐसे अनन्याश्रयी की रक्षा श्रीहरि स्वयं करते हैं। उसके योग क्षेम का भार वे अपने आप वहन करते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—राजन् ! जब विष दिलाने पर भी प्रह्लादजी नहीं मरे तब भी हिरण्यकशिपु ने अपने प्रयत्न शिथिल नहीं किये उसने सोचा—"और चाहें किसी उपाय से यह न भी मरे किन्तु यदि इसे भोजन न दिया जाय, तो यह भूखों तो अवश्य ही मर जायगा।" यही सोचकर उसने प्रह्लादजी को एक कोठरी में बन्द करा दिया उसमें ताला लगाकर ताली अपने पास रखली और ताले पर सील मुहर लगादी, कि कोई किसी भी उपाय से खोलने न पावे।

प्रह्लादजी को तो कोई चिन्ता थी ही नहीं वे भीतर बैठे बैठे उच्च स्वर से—"श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव"। भगवान् के इन सुमधुर नामों का कीर्तन करने लगे। पूरा दिन बीत गया। रात्रि हो गई। प्रह्लादजी को न भूख न प्यास, पहरे वाले दुखी थे, बालक भूखा है। किन्तु उन्हें पता नहीं यह निरन्तर भगवन्नामामृत का प्रेम पूर्वक पान कर रहा है, जिसके पान से आधि व्याधि कुछ भी नहीं होती। दूसरे दिन प्रह्लादजी ने देखा एक सुवर्ण के थाल में ५६ प्रकार के भोग सजकर उसके सम्मुख उपस्थित होगये हैं और कोई कह रहा है—"प्रह्लाद ! यह भगवान

महाप्रसाद है, इसे तू प्रेमपूर्वक पाले।"

भक्तों के लिये भगवान् का महाप्रसाद ही सर्वस्व है। प्रसाद प्राप्त होते ही भक्त उसे तुरन्त पा जाते हैं, उसे रखते नहीं देर नहीं करते। यह महाप्रसाद की अवहेलना मानी जाती है। प्रह्लादजी ने जो खीर का सपोटा लगाया, कि प्रहरी चौंक गये। उन्होंने छिद्र से देखा। प्रह्लादजी सुन्दर स्वादिष्ट दिव्य प्रसाद पा रहे हैं, उसकी मनमोहक गन्ध से वह कोठरी सुवासित हो रही है। उस सुगन्ध से ही प्रहरी तृप्त हो गये। उन्होंने जाकर राजा से निवेदन किया—"प्रभो! कुमार तो भीतर ही भीतर कुछ खा रहे हैं।" यह सुनते ही दौड़ा दौड़ा असुर वहाँ आया। ताला ज्यों का त्यों लगा था। सील मुहर भी जैसी की तैसी लगी है। भीतर प्रह्लादजी लच्छेदार रबड़ी उड़ा रहे हैं।"

देखते ही हिरण्यकशिपु क्रोध में लाल तात हो गया और बोला—"क्यों रे, तुझे ये इतने सुन्दर पदार्थ किसने दिये? मैंने तो तुझे कोठरी में बन्द कर रखा है।"

प्रह्लादजी ने उल्लास के साथ कहा—पिताजी! यह कोठरी तो बहुत बड़ी है। माता के पेट की कोठरी तो अत्यन्त ही छोटी थी। उसमें जिसने खाने को दिया, क्या वह यहाँ नहीं दे सकता? जिसने पेट में उस दशा में भोजन पहुँचाया जहाँ हाथ पैर हिल डुल नहीं सकते मुँह फट नहीं सकता। हाथ से उठा कर ग्रास मुख में नहीं दे सकता। तब भी किसी भाँति वह पेट में भोजन पहुँचाता था। उसके लिये इतनी बड़ी कोठरी में जब कि मैं स्वयं खा पी सकता हूँ, भोजन पहुँचाना कौन से आश्चर्य की बात है।"

इस बात को सुनकर हिरण्यकशिपु को तो बहुत ही क्रोध आया। किन्तु करता क्या ? उसने सोचा अब इसे इसमें बन्द रखना व्यर्थ है। अब किसी दूसरे उपाय से इसे मारना चाहिए। यह सोचकर कोठरी से निकाल लिया। फिर उसने प्रह्लादजी को बरफ के नीचे लिटाकर ऊपर से बरफ रख दी। तब भी वे नहीं मरे। वायु में उड़ाया। गरम गरम वायु को छोड़ा। ये सब उपाय भी व्यर्थ हुए। तब तो हिरण्यकशिपु अत्यन्त ही चिन्तित हुआ। वह सोचने लगा—"अब मैं क्या करूँ ?"

उसे चिन्ता में पड़ा देखकर उसकी एक बहिन थी जिसका नाम होलिका था। उसने कहा—"भैया ! तुम इतने चिन्तित क्यों हो ?"

उसने कहा—"बहिन ! क्या बताऊँ। यह मेरा दुष्ट पुत्र मेरे शत्रु का पक्ष लेकर मुझे मरवाना चाहता है। इसलिये मैं इस अपने घर के शत्रु को अभी ही मरवा देना चाहता हूँ। मैंने इसे मरवाने के बहुत से उपाय किये, किन्तु यह किसी भी प्रकार से मरता ही नहीं।"

होलिका ने कहा—"भैया ! तुम चिन्ता न करो, जब तुम्हें इसे मारना ही अभीष्ट है, तब मैं इसे मार सकती हूँ। मुझे ऐसा वरदान प्राप्त है, कि कितनी भी प्रज्वलित अग्नि हो, उसमें मैं बैठ जाऊँ, तो भी न जलूँ। मैं इस बालक को गोदी में लेकर दहकती हुई अग्नि में बैठ जाऊँगी, यह मर जायगा, मैं निकल आऊँगी।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु बड़ा प्रसन्न हुआ उसने इधर

उधर से लकड़ी, काष्ठ, छान छप्पर जो भी कुछ मिला, सब मँगाकर ईंधन का एक पहाड़ सा बनवा दिया। होलिका जब प्रह्लादजी को गोद में लेकर उसमें बैठ गई, तो असुरों ने उसमें आग लगा दी। धू धू करके अग्नि जलने लगी। अग्नि की जितनी ही लपटें उठतीं, प्रह्लादजी उतने ही हँसते। इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए हिरण्यकशिपु ने पूछा—"बेटा, प्रह्लाद! तैंने कोई औषधि खाली है या शरीर में लगाली है कि तू जलता नहीं। तुझे जलती अग्नि के भीतर बैठे रहने में भय नहीं लगता?"

हँसकर प्रह्लादजी ने कहा—"पिताजी! रामनाम जपने वाले के समीप भला भय कैसे फटक सकता है। आप कहते हैं तैंने कोई औषधि खाली है।"सो, हाँ मैंने औषधि ही नहीं महौषधि संजीवनी, जीवन मूर खाली है और निरंतर उसका ही सेवन करता हूँ। उसी की सर्वदा सेवन से मुझे आधि व्याधि जनित पीड़ा नहीं होती। मुझे दुःख नहीं, शोक नहीं, भय नहीं, ग्लानी नहीं, चिन्ता नहीं। आप प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं। यह अग्नि मेरे चारों ओर जल रही है, किन्तु मेरे समीप भी नहीं आती। मेरे लिये इसकी लपटें शीतल हो रही हैं, मानों मलयाचल की शीतल, मंद सुगन्धित वायु चल रही हो।"

प्रह्लादजी के ऐसे उत्तर को सुनकर असुर लज्जित हो गया। उसने अग्नि से प्रह्लादजी को निकलवाया। प्रह्लादजी के वस्त्र का एक छोर भी नहीं जला था, होलिका उस अग्नि में जलकर भस्म हो गई। प्रातः लोगों ने जब उसे देखा तो उसके ऊपर धूल डाली। उसी दिन से लोक में होली और धूलि ये पर्व प्रचलित हुए। ये राम नाम महिमा के पावन प्रतीक हैं।

हिरण्यकशिपु को द्वेष, ईर्ष्या और भय के कारण रात्रि में नींद नहीं आती थी, वह न जाने क्यों प्रह्लाद से अत्यधिक भय-भीत हो गया। पापी का हृदय सदा भय से भरा रहता है। उसने मंत्रियों से सम्मति की। उनमें से एक मंत्री ने कहा—"महाराज ! वैसे तो कुमार के मारने के विविध उपाय किये। उनमें से किसी से भी उनकी मृत्यु नहीं हुई। इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि ये किसी वरदान से अजर अमर हो गये हैं। मेरी सम्मति में तो यह आता है कि इन्हें समुद्र के जल में डुबो दिया जाय और ऊपर से बड़े पहाड़ चुन दिये जायँ फिर तो मर ही जायँगे। न मरेंगे तो उसी के नीचे दबे पड़े रहेंगे। हमारी हानि ही क्या करेंगे ?"

यह सम्मति असुर को अत्यंत ही अच्छी लगी। उसने तुरन्त प्रह्लाद जी को समुद्र में डुबाया और हजारों असुरों से बड़े बड़े पहाड़ मँगवा कर उसके ऊपर चुन दिये समुद्र में एक प्रकार की बड़ी भारी कोठी ही बनवादी। प्रह्लाद जी उसी के भीतर बैठकर भजन करने लगे। जब असुर बनाकर चले गये तब प्रह्लाद जी ने कहा प्रभो ! अब आप क्या चाहते हैं यहाँ आपके श्री विग्रहों के दिव्य वेषों के दर्शन नहीं, सत्संग नहीं। अच्छी बात है, कुछ न सही आपका भवभय हारी श्रुति मधुर मंजुल मय मनोहर नाम तो है। उसी की निरन्तर रट लगाता रहूँगा। उसी का यहाँ बैठा बैठा कीर्तन करता रहूँगा।"

नारद जी कहते हैं राजन् ! इस प्रकार प्रह्लाद जी सोच ही रहे थे, कि वे सब पहाड़ कोठी कोठी जल के ऊपर ऐसे तैरने लगे, मानों पुष्प तैर रहे हों। प्रह्लाद जी उसके नीचे से निकलकर राज सभा में आगये और अपने पिता के चरणों

में प्रणाम किया। इतना कष्ट देने पर भी प्रह्लाद जी ने बुरा नहीं माना न पिता के प्रति मन में कोई दुर्भाव ही रखा। पूर्ववत् श्रद्धा भक्ति करते रहे।

इसका कारण असुरराज को और भी अधिक खेद हुआ वह अत्यन्त चिन्तित होकर सोचने लगा—बड़े आश्चर्य की बात है कि सगा पुत्र होने पर भी मैंने इसके साथ ऐसे अत्याचार किये, जिन्हें कोई दूसरा कभी कर ही नहीं सकता। फिर भी यह मरता नहीं न जाने ऐसा इसका कौनसा प्रभाव है, कि यह मरता ही नहीं। मैं मन से इससे द्वेष करता हूँ, ईर्ष्या रखता हूँ, किन्तु इसके हृदय पर इन भावों का कोई प्रभाव नहीं। इतना बालक होने पर भी मेरे समीप निर्भय होकर बैठा है। प्रतीत होता है इसे किसी बड़े का भरोसा है। किसी महाशक्ति के आश्रय से यह निश्चिन्त है! मैंने इसे बहुत कष्ट दिये। संभव है, यह जीवन भर इनको याद करके मुझे कोसता रहेगा। मैंने इसके साथ जो अपकार किये हैं उन्हें यह भूल नहीं सकता। जैसे शुनःशेप अपने पिता के अपकारों को जीवन भर नहीं भूला था।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—सूतजी! शुनःशेप के पिता ने उसके साथ क्या अपकार किया था?"

इस पर सूतजी बोले—महाभाग! शुनःशेप की विस्तार से कथा मैं आगे सुनाऊँगा। अब आप यों ही समझें कि उसके पिता अजीगर्त ने उसे यज्ञ पशु बनाकर बेच दिया था। तब वह भयभीत होकर विश्वामित्र जी की शरण में आया। उसे ऋषि ने अपने तप के प्रभाव से बचा लिया था। जब

विश्वामित्रजी ने उसके पिता के पास जाने को कहा, तो उसने स्पष्ट मना करते हुए कह दिया—"मेरे पिता ने तो क्रूरता के साथ मुझे बेच ही दिया। उसके समीप मैं नहीं जाऊँगा। न उस गोत्र में रहूँगा।" तभी से वह विश्वामित्र के गोद में हो गया। सूतजी कहते हैं—"महाराज! यही शङ्का हिरण्यकशिपु को थी कि कहीं प्रह्लाद भी मेरे अपकारों को स्मरण करके मुझसे द्वेष करने लगे और विष्णु से मिलकर छल से मुझे मरवा दे। किन्तु यह उसका भ्रम था, स्वयं उसके पेट का पाप था। भगवद्भक्त किसी से द्रोह नहीं करते, किसी का बुरा नहीं सोचते।

नारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन्! प्रह्लादजी के अपरिमित प्रभाव को स्मरण करके हिरण्यकशिपु चिन्ता में पड़ गया। वह किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर अपना आगे का कर्तव्य स्थिर नहीं कर सका।

छप्पय

चिन्ता बहुविधि करे बुद्धि महँ कछु नहिं आवे।
पुनि पुनि सम्मति हेतु पुरोहित मिश्र बुलावे॥
ठकुरसुहाती कहैं असुर कूँ देइ बढ़ावो॥
ज्यों अबोध शिशु हेतुनाथ! ऐसे घबरावो॥
तब सम्मुख जिहि नेकसो, छोरा कैसे लरैगो।
गुरु पितु को अपमान करि, बिना मौत के मरैगो॥

हिरण्यकशिपु को गुरु पुत्रों की सम्मति

४६९

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा,
निधेहि भीतो न पलायते यथा।
बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया,
यावद् गुरुर्भार्गव आगमिष्यति ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० ५ अ० ५० श्लो०)

छप्पय

बोले गुरु के-पुत्र-नाथ! मति जाकूँ मारो।
भयवश भागि न जाइ बाँधि पासनि तैं डारो॥
आवें श्री गुरुदेव लौटि कैं जब तक पुर महँ।
तब तक जाकूँ रखें प्रभो! हम अपने घर महँ॥
सेवा गुरुजन की करे, कछु वय हू बढ़ि जाय जब।
बालकपन की बुद्धि जिह, बिना यत्न हरि जाय तब॥

मनुष्य जब अपने समस्त प्रयत्नों में विफल हो जाता है,

❀ गुरु पुत्रों ने कहा—'हे दैत्यराज! इस प्रह्लाद को जब तक गुरुदेव श्री शुक्राचार्य न आवें तब तक वरुण के पाशों से बाँधकर रखना चाहिये, जिससे कि यह डरकर भाग न जाय। सम्भव है तब तक स्वयं ही ठीक हो जाय, क्योंकि प्रायः आयु बढ़ जाने से सत्पुरुषों की सेवा करने से मनुष्यों की बुद्धि स्वयं ही ठीक ठिकाने आ जाती है।

तब यदि वह आस्तिक हुआ, तब तो भगवान् की शरण में जाता है, यदि नास्तिक हुआ, तो कुछ दिन और प्रतीक्षा करके फिर यत्न करता है। आस्तिक को भगवान् की शरण में जाने पर आन्तरिक शान्ति होती है, नास्तिक को चिन्ता, दुःख, खेद ग्लानि और क्षोभ होता है। उसकी बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है, उस विक्षिप्तावस्था में बहुत से आत्मघात कर लेते हैं, बहुतेरे न करने योग्य कार्यों को कर डालते हैं और बहुत से ऐसे विपरीत आचरण करते है कि उनकी मृत्यु स्वतः ही हो जाती है।

श्री नारद जी कहते हैं—"राजन्! अब हिरण्यकशिपु को सोते, जागते, उठते बैठते सदा प्रह्लादजी की ही चिन्ता रहती कि यह मेरे शत्रु विष्णु का भक्त है, यह, यदि मरेगा नहीं तो मुझे मरना पड़ेगा। क्योंकि जब मैं विष्णु के भक्त को नहीं मार सकता तो विष्णु को क्या मारूँगा।" इसी प्रकार की अनेकों चिन्तायें वह करता रहता था।

एक दिन वह एकान्त में चिन्तित बैठा था कि शुक्राचार्य के दोनों पुत्र शण्ड और अमक उसके समीप गये, उन दोनों ने जाकर असुरराज का जय जय कार किया और कुशल प्रश्न के अनन्तर पूछा—"प्रभो! आप इतने चिन्तित क्यों हैं?

हिरण्यकशिपु ने कहा—"आप लोग देख नहीं रहे हो, यह मेरा पापी पुत्र कैसा अजर अमर बन गया है। न मरता है न मेरी बात मानता है।"

इस पर गुरुपुत्रों ने कहा—"महाराज! आप भी इतने बड़े होकर किस बच्चे की चिन्ता कर रहे हैं। अजी, हाथी कहीं

चींटी पर प्रहार करता है। कहाँ आप और कहाँ यह नन्हा सा बालक। आप कोई सामान्य शासक तो हैं नहीं, आप के भृकुटि विलास से सम्पूर्ण देवता, लोकपाल आदि समस्त ऐश्वर्यमानी भयभीत होकर भागने लगते हैं। जिन तीनों लोकों पर देवताओं के इन्द्र शतक्रतु का आधिपत्य था, उन लोकों को आपने बिना युद्ध किये बात की बात में जीत लिया है, ऐसे आपके सम्मुख यह बालक है किस खेत की मूली। यह बच्चा तो बच्चा ही ठहरा। आपके प्रताप के सम्मुख यह पासंग भी नहीं है। फिर बच्चों की बातों पर ध्यान थोड़े ही दिया जाता है। यह अवस्था ही ऐसी होती है। बालक जो भी दोष कर दें, उनके सब अपराध क्षम्य माने जाते हैं।

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"तब क्या मैं अपने विपरीत आचरण करने वाले को छोड़ दूँ। यदि मैं इसे अब क्षमा करता हूँ, तब तो आगे यह और भी बढ़ जायगा। दूसरों को भी भड़कावेगा। सर्वत्र अराजकता मच जायगी।"

"गुरुपुत्रों ने कहा—नहीं प्रभो! हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि इसे सदा के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। हम तो यह चाहते हैं अभी इसे कुछ अवसर दिया जाय। अभी हमारे पूज्य पिता गुरुदेव भगवान् भी यहाँ नहीं हैं। जब तक वे न आजायँ, तब तक आप इसे ऐसे ही रहने दें।

हिरण्यकशिपु ने कहा—"यदि इसे छोड़ दिया और यह भागकर शत्रुओं से मिल गया तो।"

गुरुपुत्रों ने अवहेलना के स्वर में कहा—"अजी, शत्रुओं

से तो क्या मिलेगा। हाँ, यह संभव भी है, कि प्राणों के भय से भयभीत होकर भाग जाय सो, इसका एक यह उपाय हो सकता है, कि इसे वरुण को पाशों से बाँधकर डाल दिया जाय। हम इसको भागने न देंगे।"

हिरण्यकशिपु तो सब कुछ करके हार ही चुका था। यह तो कोई बहाना खोज रहा था। गुरुपुत्रों ने जब यह कहा, तब यह बोला—"अच्छी बात है, जब आप लोगों की यही सम्मति है, तो यही सही, किन्तु इसकी रेख देख आप लोगों को ही करनी पड़ेगी। देखो और अधिक उद्दंड न हो जाय।"

गुरुपुत्रों ने कहा—"अजी महाराज! उद्दंड क्या होगा, यह अवस्था ही ऐसी गधापचीसी की होती है। कच्ची अवस्था में सद् असद् का विवेक तो रहता नहीं। ज्यों ज्यों अवस्था परिपक्व होती जाती है, बड़ों की, गुरुजनों की संगति करते हैं त्यों त्यों गंभीरता आने लगती है, कर्तव्याकर्तव्य का विवेक होने लगता है। अतः आप इसकी धृष्टताओं को केवल बाल चापल्य मात्र ही समझें।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु बोला—"अच्छा, आप लोगों की सम्मति मुझे सहर्ष स्वीकार है, किन्तु केवल बाँधे रखने से ही काम नहीं चलने का। आप इसे अपने साथ ले जायँ। बड़ी सावधानी से रखें और असुरराजाओं के जो धर्म हैं उन्हीं का उपदेश इसे करें।"

हिरण्यकशिपु की आज्ञा पाकर प्रह्लाद जी को साथ गुरुपुत्र अपने घर की ओर चले। प्रह्लादजी तो सागर-

उनके लिये सभी स्थान एक से थे। पिता ने जब गुरुपुत्रों के साथ जाने को कहा, तो उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके वे गुरुगृह चले गये। अब तो शण्ड और अमर्क दोनों गुरुपुत्र बड़े ही मनोयोग से प्रह्लादजी को पाठ पढ़ाने लगे। अन्य दैत्यों के भी बहुत से बच्चे चटशाल में पढ़ने आते थे, किन्तु गुरुपुत्रों को उन्नति तो प्रह्लादजी के ही ऊपर निर्भर थी। राजपुत्र होने के कारण वे उन्हें बहुत डाँट डपट भी नहीं सकते थे। प्रेम पूर्वक असुर धर्म, अर्थ और काम शास्त्र का उपदेश देने लगते। प्रह्लादजी सब सुन तो लेते, किन्तु जो शिक्षा विषय भोगों में आसक्त पुरुषों के लिये ही श्रेष्ठ बताई गई है, वह शिक्षा उन्हें अच्छी नहीं लगती थी क्योंकि वह तो राग द्वेष से भरी हुई थी। शत्रु के साथ ऐसा व्यवहार करो, काम का इस भाँति से सेवन करो, कामिनियों को ऐसे ऐसे व्यवहार से सन्तुष्ट रखो आदि आदि। ये बातें उन्हें प्रिय नहीं थीं। उन्हें तो भगवन्नाम संकीर्तन, भगवत् चर्चा, ज्ञान, वैराग्य की वार्ता, ये ही सब विषय अच्छे लगते थे।

जब प्रह्लादजी गुरुपुत्रों का विरोध नहीं करते, तब उनको विश्वास हो गया, कि यह सुधर जायगा। उन्हें बढ़ावा देने के लिये गुरुपुत्रों ने उनको छात्रों में सर्वश्रेष्ठ बना दिया और कह दिया—"हम न रहा करें तो तुम इन बच्चों को पढ़ा दिया करो।"

अब क्या था। प्रह्लादजी को इससे सत्संग का सुअवसर प्राप्त हो गया। लड़कों में परस्पर मिलकर खेलने कूदने तथा घुल घुल कर बातें करने की स्वाभाविकी रुचि होती है। अवसर पाते ही वे उछलने कूदने लगते हैं किन्तु जो संस्कारी

बालक होते हैं, उनको खेल कूद प्रिय नहीं होता, वे भगवच्चिन्तन, भगवन्नाम संकीर्तन तथा भगवत् कथा के कथन श्रवण में ही अपने समय का सदुपयोग करते हैं।

एक दिन की बात है, कि गुरुपुत्रों के यहाँ कोई पर्वोत्सव था। वे उसमें दूध लाने, दही मँगाने, सामग्री जुटाने में व्यस्त थे। प्रह्लादजी से कह गये—"भैया, तू इन लड़कों की देख रेख रखना हमें आज कुछ काम है।" इतना कहकर वे काम धन्धों में लग गये।

लड़के कम अवस्था के अध्यापक के वैसे ही कम डरते हैं, यदि अध्यापक न रहे तब तो उनका साम्राज्य ही हो जाता है पुस्तक को छूते नहीं, कक्षा में बैठते नहीं फिर तो कबड्डी आरम्भ हो जाती है। गुरुपुत्रों के जाते ही लड़कों में भगदड़ मच गई किसी ने कहा—'हम गुल्ली डंडा खेलेंगे,' किसी ने कहा भड्डू हो, कोई बोला—"नहीं भैया सुरंग घोड़ी का खेल हो।" कोई कूदने लगे, कोई उछलने लगे, कोई अपनी धोती को समेट कर ताल ठोकने लगे। कोई किसी से भिड़ गया, कोई चिढ़कर रो पड़ा। कोई उसे मानता है, कोई पुचकारता है, कोई गुल गुली करता है। क्षण भर में पाठशाला क्रीड़ाशाला तथा मल्लशाला बन गई। किन्तु प्रह्लाद जी कक्षा में ही चुपचाप बैठे ध्यान कर रहे थे। इस पर एक चंचल से लड़के ने कहा—"अरे, भैया! तू अकेला वहाँ क्या बैठा है आजा तू भी खेल। तू समझता होगा, मैं राजा का पुत्र हूँ। सो भैया! खेल में कौन राजा कौन रंक। खेल में तो सब एक से ही हैं।"

यह सुनकर प्रह्लादजी ने सोचा—"देखो, इन सभी के सिर

पर काल मंडरा रहा है। मृत्यु पैर दबाये नित्य प्रति [illegible] अधिकाधिक समीप आ रही है और ये अभी खेल कूद [illegible] ही लगे हैं। उन भूले हुए दीन असुर बालकों पर दयालु स्वभ[illegible] प्रह्लादजी को दया आ गई। वैष्णवों का यह स्वभाव [illegible] होता है, वे दीनों पर अकारण दया करते हैं परपीड़ा से उन[illegible] अन्तः करण पिघल जाता है। इसीलिये प्रह्लादजी उन पर [illegible] की दृष्टि करते हुए प्रेम दृष्टि से देखकर हँसते हुए बोले "अच्छा आओ हम आज एक नया खेल खेलें। वह ऐसा खेल होगा, कि उसे यदि भली भाँति खेल गये तो यह संसारी खेल सदा के लिये समाप्त हो जायगा।

बच्चों को तो कुतूहल होता ही है। उनका हृदय सरल होता है, उसमें राग द्वेष तो होता नहीं। प्रह्लादजी पर उनका पहिले से ही प्रभाव था। वे उनके शील, सदाचार से पहिले ही प्रभावित थे, राजपुत्र भी थे सभी उनका आदर करते थे, उनमें गौरव बुद्धि रखते थे। उनकी बात सुनकर सब अपनी खेल कूद की सामग्री—गेंद, गुल्ली, डंडा—छोड़ कर प्रह्लादजी को घेरकर बैठ गये। अब बीच में प्रह्लादजी आस पास चारों ओर उनके मुख कमल में अपनी दृष्टि गड़ा कर असुर बालक बैठ गये। अब भक्ति की पाठशाला प्रारम्भ हुई।

नारदजी कहते हैं—"राजन्। उस प्रह्लाद की भक्ति पाठशाला के कुछ पाठ आप भी सुनना चाहें तो मैं आपको सुनाऊँ?"

बड़ी उत्सुकता से धर्मराज बोले—"हाँ, हाँ महाराज! अवश्य सुनावें। ये ही तो सुनने की बातें हैं। आप जितने

ही अधिक पाठ सुनावेंगे उतना ही अधिक मुझे आनन्द होगा।

धर्मराज की उत्सुकता को देखकर नारदजी बोले—"राजन्! अच्छी बात है, अब आप भक्ति पाठशाला का प्रथम पाठ प्रेम पूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

विवश भयो सुर शत्रु बात तिनकी स्वीकारी।
कह्यो जाइ लै जाउ देउ शिक्षा हितकारी॥
संग लियो प्रह्लाद गये गुरुपुत्र भवन महँ।
सुधरे कैसे बाल जिही सोचें ते मन महँ॥
अर्थ काम अरु नीति की, शिक्षा दैवें जाइकें।
सहपाठिनि प्रह्लाद जी, सिखवें अवसर पाइकें॥

प्रेम पाठशाला का प्रथम पाठ

४७०

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान्भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥
यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् ।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० ६ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

एक दिना गुरु गये करन घरके काजनि कूँ ।
ढिंग बिठाइ प्रह्लाद देहिं शिक्षा छात्रनि कूँ ॥
है दुरलभ नरदेह नाश होवैगो जाको ।
होवै प्रभु पद प्रेम सारथक जीवन ताको ॥
सुख तो होवै दैव वश, च्यौं जाकूँ पचि-पचि मरो ।
प्रभु पद पदुमनि प्रेम हित, होवै जिह चिन्ता करो ॥

संसार का ऐसा नियम है, कि जो वस्तु जिसे अत्यन्त प्रिय होती है, उसे वह सर्वश्रेष्ठ समझता है। यदि वह उदार है,

❀ प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो, भैया ! पंडित पुरुष को इस संसार में भागवत धर्मों का पालन कुमारावस्था में ही करना चाहिये। यह मनुष्य शरीर यद्यपि नाशवान् है, फिर भी इसके

ो उसके सेवन की सबको सम्मति देता है। सबको उसका वितरण करता है, अवसर पाते ही उसीकी चर्चा करता है। सीके प्रचार प्रसार के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है। हमें कोई रोग है, किसी ओषधि से हम अच्छे हो गये हैं, तो जिसे भी हम उस रोग से ग्रस्त देखेंगे, उसे ही उस ओषधि के सेवन की सम्मति देंगे। कारुणिक पुरुषों का यह सहज स्वभाव ही होता है।

श्री नारदजी धर्मराज से कहते हैं—"राजन्! जब दोनों गुरुपुत्र अपने घर के कार्यों में व्यस्त थे, पाठशाला में प्रह्लाद जी और उनके सहपाठी ही विद्यमान थे। बालक तो अपने स्वभावानुसार क्रीड़ा ही में तन्मय थे, किन्तु प्रह्लादजी गंभीरता पूर्वक कुछ और ही सोच रहे थे। बच्चों को क्रीड़ा में आसक्त देखकर उन्हें उन सब पर दया आई। वे सोचने लगे—"देखो, यह समय कितना अमूल्य है। एक एक क्षण दुर्लभ है। उस समय का ये बालक कैसा दुरुपयोग कर रहे हैं, किस प्रकार इसे व्यर्थ बिता रहे हैं। यदि इस समय में ये कृष्ण कीर्तन करें, हरिचर्चा में लगें, तो इनका जीवन धन्य हो जाय, ये संसार के आवागमन से सदा के लिये छूट जायँ। जन्म-मरण के असंख्यों दुःख इन्हें सहन न करने पड़ें।"

वे ये बातें सोच रहे थे, कि कुछ लड़कों ने उनसे भी खेलने का प्रस्ताव किया। उन्होंने सबको अपने आस पास बिठा लिया और कहने लगे—"अरे भैया ओ! मेरी बात सुनो। देखो,

द्वारा आत्मा की प्राप्ति रूप प्रयोजन सिद्ध होता है, इसीलिये यह बड़ा दुर्लभ है। इस मनुष्य जन्म में जीव का एक मात्र कर्तव्य भगवान् के चरणों की शरण लेना ही है। कारण कि वे श्रीहरि ही समस्त प्राणियों के आत्मा, प्रिय' ईश्वर और सुहृद् हैं।

इस खेल कूद में क्या रखा है। संसार के कितने लोग खेलते

खेलते ही मर गये। वे दुःख में ही जनमें दुख में ही पले और दुःख को ही साथ लेकर इस संसार से विदा हो गये। इसलिये इन धन रत्नों में, संसारी भोगों की प्राप्ति में कुछ नहीं रखा है। आत्मोन्नति के लिये कुछ प्रयत्न करना चाहिये। अनर्थ को छोड़ कर परमार्थ का चिंतन करना चाहिये।"

इस पर बालकों में से एक ने कहा—"कुमार! हमें तो गुरु सदा, धर्म, अर्थ, काम और राजनीति की ही शिक्षा देते रहते हैं। आत्मा-परमात्मा के चक्कर से तो वे हमें सदा बचने के लिये कहते हैं।"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—देखो, भाई! आत्मा का हित अहित तो स्वयं ही सोचना चाहिये। जिससे अनर्थ की प्राप्ति प्रत्यक्ष दीखती हो, ऐसे वचन गुरु के भी न मानने चाहिये। जो युक्तियाँ अज्ञान रूप गहरी निद्रा में सोये हुए को जगाने में समर्थ न हों, उन्हें मानना उचित नहीं। स्वयं जो सोया हुआ है, वह दूसरों को क्या जगावेगा। स्वयं जो अंधा है, वह दूसरों का पथ-प्रदर्शन कैसे करेगा। आत्मा का न कोई शत्रु है, न मित्र और न उदासीन। ये संसारी सुख-दुख तो प्रारब्ध के अधीन हैं। इसलिये इन बाहरी विषयों में फँसकर आत्मा का अधः पात न करना चाहिये। परम पुरुषार्थ रूप जो प्रेमास्पद प्रभु हैं उन्हीं की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्न करना चाहिए।

असुर बालकों ने कहा—"अरे, भैया! तू तो बालक होकर बूढ़ों की सी बातें कर रहा है। बाल्यावस्था तो खेलने कूदने के लिये है। अभी से आत्मा-परमात्मा के पचड़े में पड़ने से प्रयोजन ही क्या? यदि आवश्यक ही होगा, तो वृद्धावस्था में माला लेकर खटकाने लगेंगे। तब राम राम रटा करेंगे।

प्रह्लादजी ने शीघ्रता से कहा—अरे, तब क्या रहोगे? बाल्यकाल से ही संस्कार पड़ जाते हैं, वे ही आगे चल के स्थाई हो जाते हैं, अतः भागवत धर्मों का आचरण तो कुमारावस्था से ही करना चाहिए। जीव का प्रधान कर्तव्य यही है।"

असुर बालकों ने कहा—"इन पशु पक्षी वृक्ष आदि को हम देखते हैं, ये तो निरंतर आहार, निद्रा मैथुनादि में ही संलग्न रहते हैं। इन्हें तो हमने आत्मा-परमात्मा के चक्कर में फँसते देखा नहीं।" इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"पशुओं में और मनुष्यों में यही तो अन्तर है। देह सम्बन्धी सुख के लिये, विषयों की प्राप्ति के लिये तो सभी प्राणी प्रयत्नशील हैं। मानव जन्म में यही विशेषता है, कि इसके द्वारा मुक्ति, भगवत प्राप्ति तक हो सकती है। चौरासी लाख योनियों में मनुष्य देह को इसीलिये तो सर्वश्रेष्ठ बताया गया है कि इसके द्वारा परमार्थ साधन हो सकता है। वैसे तो यह शरीर अनित्य तथा नाशवान् है, किन्तु इसके द्वारा नित्य और शाश्वत वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। अध्रुव देह से ध्रुव स्वरूप श्री हरि की उपलब्धि हो सकती है। कौन बुद्धिमान् इस सस्ते सौदे को करना न चाहेगा। मूर्ख और अबोध को छोड़कर कौन इस लाभ से अपने को वंचित रखेगा।"

असुर बालकों ने कहा—"भैया, तू तो बड़ी आश्चर्य की सी बातें कह रहा है। अरे, इन्द्रियों के शब्द रूप, रस, गंध और स्पर्श ये जो विषय हैं, ये मन को अत्यन्त प्रिय हैं। इन विषयों की प्राप्ति के लिये उद्योग करना यही तो हम मुख्य कर्तव्य समझे बैठे हैं। तू इन्हें हेय और तुच्छ बता रहा है,

तब फिर करें क्या ? मनुष्य का मुख्य कर्तव्य क्या रहा !"

प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, भाई ! इस मनुष्य जन्म में भगवान् वासुदेव के चरणों की सर्वतोभावेन शरण लेना ही जीव का एक मात्र, सर्वश्रेष्ठ और मुख्य कर्तव्य है। क्योंकि भगवान् विष्णु को छोड़कर दूसरा कोई न प्रिय पदार्थ है, न उनसे बढ़कर कोई श्रेष्ठ है। वे सबके आत्मा, प्रियतम सुहृद् और सबके स्वामी हैं।"

इसपर असुर बालकों ने कहा—"भैया, तुम तो हो राजा के पुत्र। तुम्हें सब भोग सामग्रियाँ स्वतः ही प्राप्त हैं। तुम्हारा तो ऐसा सोचना उचित भी है। किन्तु हम लोग यदि प्रयत्न न करें तो भोजन कहाँ से आवे, शरीर स्वस्थ और सुखी कैसे रहे। सन्तानोत्पत्ति कैसे हो। मनोभिलषित इन्द्रियोपभोग कैसे प्राप्त हों। जितनी सुख की सामग्रियाँ हैं वे सब तो प्रयत्न से, पुरुषार्थ से ही प्राप्त होंगी। प्रयत्न न करें, हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें, तो जीवन कैसे रहेगा। सिंह भाग्य के सहारे ही बैठा रहेगा, तो हिरन अपने आप आकर उसके मुख में थोड़े ही घुस जायँगे, कि हमें खा लो। अतः भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।"

प्रह्लादजी ने इस बात को सुनकर कहा—"देखो, भाई ! लड़कपन तो करो मत। बाल चापल्य को छोड़कर गम्भीरता पूर्वक इसपर विचार करो। राजा हो या रङ्क, धनी हो या निर्धन सभी को सुख सामग्रियाँ भाग्य के ही अनुसार मिलती हैं। बहुत बड़े धनिक हैं, भोजन की सब सामग्रियाँ समुपस्थित हैं। उन्हें संग्रहणी हो गई। चिकित्सकों ने मना कर दिया छाछ को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु न लें। तो रहने पर भी उसके लिये सब वस्तुएँ व्यर्थ हैं, अप्सराओं के समान

सर्वाङ्ग सुन्दरी आज्ञाकारिणी सुशील सर्व सुलक्षणा धर्मपत्नी है। पुरुष को कोई असाध्य रोग हो गया, नपुंसक हो गये। न होने के समान है। इसी प्रकार पदार्थों के समीप रहने पर भी भाग्य न हो तो उन्हें भोग नहीं सकते। बहुत से लोग सुख के लिये सर्वदा सतत प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हें सुख नहीं मिलता इसके विपरीत कौन चाहता है हमें ज्वर आवे, घाव हो, फोड़ा हो, पुत्र शोक हो, कन्या विधवा जाय, पुत्र अयोग्य हो जाय मित्र विश्वासघात करे, अन्न के बिना उपवास करने पड़ें किन्तु न चाहने पर भी ये दुःख प्रारब्ध वश आ ही जाते हैं अनिच्छा पूर्वक ही सही उन दुःखों को भोगना ही पड़ता है जब यही बात है, तब जैसे, बिना चाहे दुख आ जाते हैं वैसे ही प्रारब्ध में होंगे तो सुख भी स्वतः आ जायँगे, प्रारब्ध में न होंगे तो प्रयत्न करने पर भी सुखों की प्राप्ति न होगी तब इन्द्रिय जनित सुखों के लिये प्रयास करना मुझे तो अनुचित ही जान पड़ता है।"

इस पर पुरुषार्थवादी असुर बालक बोला—"प्रह्लादजी यह बात तो हमारी बुद्धि में बैठती नहीं। बिना कुछ प्रयत्न करे पुरुषार्थ के भरोसे बैठे रहना हमें तो उचित जान नहीं पड़ता। प्रयत्न करने पर भी बहुत से लोगों को इच्छानुसार भोग सामग्रियां प्राप्त नहीं होतीं, तो यह समाज का दोष है धनिक वर्ग, श्रमजीवियों को चूसते हैं। पूँजीपति भृत्य वर्ग को सताते हैं। इसमें भाग्य का क्या दोष? भाग्य के निर्माता तो हम स्वयं हैं। पूर्व जन्म के किये पुरुषार्थ से ही तो प्रारब्ध की रचना होती है। अतः यह प्रारब्ध के भरोसे निरुद्योगी होना हमें तो उपयुक्त जँचता नहीं।"

प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, सुख-दुख का दाता कोई दूसरा

नहीं है। स्वकृत पुण्य पाप को ही मनुष्य भोगता है। अमुक हमें दुख देता है, अमुक सताता है, ये भाव राग, द्वेष, ईर्ष्या डाह मत्सर से पैदा होते हैं। दूसरों के वैभव को देखकर हृदय में जो एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न होती है उसी के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसी बातें करता है समाज में तो सदा से विषमता रही है और सदा ही रहेगी। सब पर समान सम्पत्ति रहे यह एक तो संभव नहीं। मानलो सांसारिक सम्पत्ति समान हो भी जाय तो आयु, बुद्धि, बल, विद्या, कला, कौशल, सौन्दर्य, आकृति प्रकृति में तो विभिन्नता रहेगी। आज धन कृत विभिन्नता है, कल जातिकृत, बुद्धिकृत, बलकृत विभिन्नता होगी। अधिक बुद्धिमान् कमबुद्धि वालों को दबा कर मन माना कार्य करा लेंगे। सृष्टि की रचना ही विभिन्नता से हुई है। साम्य में सृष्टि नहीं, गुणों की विषमता में ही सृष्टि संभव है। अतः सांसारिक सुख दुख सदा प्रारब्धानुसार ही होंगे। समाज की रचना चाहे जिस सिद्धान्त पर की जाय विषमता नहीं मिट सकती। विषमता मिट जायगी प्रलय हो जायगी। तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। विषमता में ही विकृति होती है। बस प्रारब्ध पृथक् पृथक् हैं। प्रारब्धा नुसार सुख दुख अवश्य होता है। जैसे इच्छा न करने पर दुख हो जाता है, वैसे ही इच्छा न होने पर भी भाग्यवश सुखोपभोग प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये अनायास प्राप्त होने वाले इन्द्रिय जनित सुखों के लिये चिंता ? चिन्ता तो प्रभु प्रेम के लिये करनी चाहिये।"

असुर बालकों में से एक ने पूछा—"जैसे सुख दुख प्रारब्धानुसार प्राप्त होते हैं, वैसे ही प्रभुप्रेम भी प्रारब्ध से प्राप्त होना होगा तो हो जायगा, उसके लिये भी फिर चिन्ता क्यों ?"

इस पर प्रह्लाद जी बोले—"यह सत्य है, जब प्रभु प्रेम प्राप्त होना होगा, अवश्य हो जायगा। प्रेम प्रयत्न साध्य है भी नहीं। कुछ विचार न करना सर्वथा प्रारब्ध पर ही जीवन को छोड़ देना यह सिद्धावस्था है, किन्तु जब तक मन बुद्धि हैं, तब तक मनुष्य बिना कुछ सोचे, बिना तर्क वितर्क किये रह नहीं सकता। इसीलिये मनुष्य को साधक कहा है। यदि साधन करना ही हो, विचार करना ही हो, तो प्रभु के सम्बन्ध में करे। कथा कीर्तन का प्रचार प्रसार हो, जीवन में प्रेम का संचार हो, हृदय में भगवद् भक्ति का अंकुर उत्पन्न हो, इसके लिये साधन करना श्रेष्ठ है। यही मनुष्य जीवन का मुख्य कर्तव्य है।

इस पर एक लड़के ने कहा—"यदि ऐसा ही है तो युवावस्था में भली भाँति सुखोपभोग करले। विषय भोगों से तृप्ति हो जाय, तो परमार्थ चिन्ता फिर करेंगे।"

यह सुनकर हँसते हुए प्रह्लादजी ने कहा—"संसार में आज तक किसकी विषय वासना तृप्त हुई है जो तुम्हारी ही होगी। अरे जैसे अग्नि में जितना ही घी डाला उतनी ही उसकी लौ बढ़ती है, उसी प्रकार विषयों का जितना ही सेवन करो उतनी ही लालसा बढ़ती है। मरते समय तक भोगी की वासना नहीं छूटती। फिर परमार्थ साधन तो स्वस्थ निरोग शरीर से ही भली भाँति हो सकता है। इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, वृद्धावस्था ने शरीर को जर्जर बना दिया, तब फिर क्या साधन करोगे। अतः जब तक यह सर्वावयव पूर्ण मानव शरीर विपत्तिग्रस्त न हो, तब तक ही भव—भय में पड़े विवेकी पुरुष को अपने कल्याण का उपाय कर लेना चाहिये।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"प्रह्लादजी! परमार्थ चिंतन

के लिये आप इतना बल क्यों दे रहे हैं। ऐसी शीघ्रता क्या है, इतनी लम्बी आयु पड़ी है। कुछ दिन खेल खा लें, विषयों के मोहक रस का स्वाद चख लें, कुछ दिन के पश्चात् आत्मा परमात्मा के विषय में सोचेंगे।"

प्रह्लादजी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"तुम आयु को इतनी बड़ी क्यों कहते हो? क्या किसी को निश्चय है कि हम इतने दिन जीवित रहेंगे। अच्छा मान लो पुरुष को शतायु कहा है। देवता, असुर आदि उपदेव मनु, प्रजापति, ऋषि, जीव इनकी आयु का तो परिमाण नहीं, चाहे जितने दिन जीवें कोई कोई मन्वन्तर तक जीवित रहते हैं, कोई कल्प जीवी होते हैं। कोई कोई ब्रह्मा की आयु से भी बड़े होते हैं। किन्तु जिस मनुष्य योनि को साधक बताया है जिसमें मुमुक्षता—मोक्ष की इच्छा विद्यमान् है उसकी १००वर्ष की आयु मान लो, तो उसमें आधी तो सोने आदि में चली जाती है। आधी के चार भाग कर लो। बालकपन, युवावस्था, अधेड़ और वृद्धावस्था, बाल्यावस्था और कौमारावस्था के २०।२५ वर्ष तो गधा पचीसी में चले जाते हैं, उनमें तो खाना पीना सो जाना और इधर उधर की अंड बंड बातें सोचना-यही होता है। उस समय कुछ करते हैं तो लोग यह कहकर टाल देते हैं—"अजी अभी बच्चा ही तो है। अन्त के २०।२५ वर्ष वृद्धावस्था में खटिया पर खों खों करते बीतते हैं लठिया के सहारे चलते हैं, बुढ़िया भी बात नहीं पूछती। हंडिया में भोजन पानी मिलता है। उस समय तो शरीर शिथिल हो जाता है, बल घट जाता है, किन्तु ममता अधिकाधिक बढ़ती जाती है। इस प्रकार आयु के दो भाग तो यों ही मटरगस्ती में बीत गये।

इस पर असुर बालकों में से एक ने कहा—"अच्छा शेष

समय में ही भगवत् चिन्तन करेंगे।"

इसपर हँसकर प्रह्लादजी ने कहा—"शेष रही युवावस्था और अधेड़। सो तुम तो अभी बच्चे ही ठहरे। युवावस्था में कैसी मादकता आती है, चित्त में कैसी कैसी लहरें उठती रहती हैं, उसे वही जानता है, जिसने युवावस्था में पदार्पण किया हो। उस समय यह संसार विचित्र ही दीखता है। मन किसी अव्यक्त भाव में भर हिलोरें लेता रहता है। कामाग्नि इतनी प्रबल हो जाती है कि उसकी प्रचंड ऊर्मियों में कर्ताव्याकर्तव्य का ज्ञान भस्म हो जाता है, रोम रोम से उन्माद फूटने लगता है। गृह में तथा गृहिणी में अत्यन्त आसक्ति हो जाती है। उस समय न आत्मा की चिन्ता होती है न परमात्मा का ध्यान। जिस किसी प्रकार विषय भोगों में सामग्री उपलब्ध हो, वैषयिक सुख प्राप्त हों यही एक मात्र उत्कट इच्छा बनी रहती है। अतः बाल्य और कौमार को स्वच्छन्द बिताकर जो युवावस्था में भगवत् चिन्तन की बात सोचते हैं, वे भूल करते हैं। अतः भागवत धर्मों का आचरण तो कुमारावस्था से ही करना चाहिये। इसलिये प्रेम पाठशाला का प्रथम पाठ तो यह है, कि बाल्यकाल में जब से भी स्मृति सम्हाले, तभी से भगवान् की ओर चित्त को लगा दे यह तब होगा, जब चित्त इन सांसारिक बाह्य विषयों से विरक्त होगा।"

यह सुनकर एक असुर बालक ने पूछा—"विषयों से वैराग्य होने में कुछ कठिनता है क्या?"

हँसकर प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, भैया! कठिनता क्यों नहीं। वैराग्य कोई हँसी खेल नहीं, गुड़ का पूआ नहीं, जो गप से खा गये। लोहे के चने हैं। ये सभी विषय हमें हठात्

अपनी ओर खींच रहे हैं। और मन में इनकी अभिलाषा छिपी है। ऐसी दशा में किसी भाग्यशाली को ही वैराग्य होता है। इस विषय को मैं विस्तार से सुनाता हूँ, तुम दत्तचित्त होकर सावधानी से इसे श्रवण करो।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! यह कह कर प्रह्लादजी वैराग्य की दुरूहता बताने लगे।

छप्पय

करै कवल कब काल कहो को जाने जग महँ।
सदा घात महँ रहै पकरि लै जावै पल महँ॥
क्रीडा महँ कौमार व्याधि महँ बितें बुढ़ाई।
मादकता अँग अँग युवावस्था महँ छाई॥
तातें शिशुपन तें सतत, भूलि जगत के करम कूँ।
करो आचरन प्रेम तें, शुद्ध भागवत धरम कूँ॥

गृहस्थ को वैराग्य होना अत्यन्त कठिन है

४७१

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः,
सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।
सुहृत्सु च स्नेहसितः शिशूनाम्,
कलाक्षराणामनुरक्त चित्तः ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० ५ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

नहीं कठिन वैराग्य होहि नहिं यदि द्वै जगमहँ ।
कनक कामिनी पाश न लिपटें यदि नर-पगमहँ ॥
प्राननि पैऊ खेलि करै पैदा जा धन कूँ ।
तामें अति आसक्त हटावै कैसे मन कूँ ॥
अति प्यारी प्रियतमा की, बानी सरस सुधा सनी ।
कैसे छोड़े शिशुनिकी, तोतरि बानी सोहनी ॥

मन में विषयों के प्रति स्वाभाविक अनुराग है और विषयों

❀ प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो, भैया ! जिसका चित्त अपने स्नेह करने वाली प्रियतमा पत्नी के एकान्त सहवास में, मीठी-मीठी प्रेम की बतोड़ियों में आसक्त है, तथा बन्धु बान्धुओं के प्रेम बालकों की तोतली प्यारी वाणी में फँसा है, उसे वैराग्य कैसे हो सकता है ?

में मन को आकर्षित करने की शक्ति है। ऐसी दशा में संसार के सभी पदार्थ हमें अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। किन्तु जो इन्द्रिय सुखों के लिये अधिक उपयोगी हैं, अधिक आकर्षक हैं, वे अत्यधिक खींचते हैं। इनमें काञ्चन और कामिनी हैं ये दो तो सर्वतोभाव से विमुग्ध बना लेते हैं। और चाहे सब को मनुष्य छोड़ दें, किन्तु ये दो घाटी ऐसी कठिन हैं, कि कोई विरला ही इन्हें पार कर सकता है, नहीं तो बड़े-बड़े इन्हीं में रह जाते हैं। पुरुष को स्त्री का, स्त्री पुरुष का—जहाँ सङ्ग मिल गया, तहाँ मनुष्य परलोक को भूलकर यहीं स्वर्ग तथा वैकुण्ठ का अनुभव करने लगता है। एकान्त अरण्य में कोई कवि अपनी प्रियतमा के साथ बैठे थे। दोनों भूखे थे, कवि से पत्नी ने पूछा—"तुम्हारी अंतिम अभिलाषा क्या है, तुम किस स्वर्गीय सुख की आकांक्षा करते हो। इस पर अत्यन्त गम्भीर होकर कवि ने कहा :—

इस तरु तले कहीं खाने को रोटी का टुकड़ा हो एक।
पीने को मधु पूर्ण पात्र हो करने को हो काव्य विवेक।
तिस पर तुम भी मेरे ढिंगही बैठि बगल में गाती हो।
तो मेरे लीये इस वनमें स्वर्ग राज्य का हो अभिषेक।

जीवनोपयोगी वस्तुएँ (धन से) मिल जायँ और प्रियतमा पास में हो, तो फिर अन्य स्वर्ग की अपेक्षा नहीं। यहीं स्वर्ग बन जायगा।

इसी प्रकार किसी ग्रामीण कवि से पूछा गया—"तुम्हारे जीवन का लक्ष्य कैसे स्वर्ग या वैकुण्ठ को पाने का है ?" इस पर उसने कहा :—

भुँइयाँ खेरे हर होहि चार।
घर होहि गिहथिन गऊ दुधार॥
रहर की दाल जड़हन को भात।
कागदी निबुआ अरु घिउ तात॥
पटरसखंड दही जो होय।
बांके नैन परोसें सोय॥
कहैं घाघ फिरि सब कुछु झूँठा।
यहैं छोड़ि यह ही बैकूँठा॥

अर्थात् अपने गांव के समीप ही खेती हो। चार हल चलते हों। घर में घरवाली अवश्य हो। दूध देने वाली गौ भी अवश्य हो। घर में अरहर की दाल और जड़हन के भात की कमी न हो। अरहर की दाल में यदि कागदी नींबू निचोड़ दिया जाय और गरम करके घी छोड़ दिया जाय तब तो कहना ही क्या। यह सब हो तो सही किन्तु रसोया न परसे, बांके नैनोंवाली ही बार बार हँसती हुई प्रेमपूर्वक परसे तो कविवर घाघ कहते हैं, हमें अन्य किसी वैकुण्ठ की अपेक्षा नहीं। यहीं घर बैठे वैकुण्ठ बन जायगा। सारांश जीवनोपयोगी सामग्रियाँ हों, और सुख दुःख में हाथ बँटाने वाली सहधर्मिणी हो तो मनुष्य को न स्वर्ग चाहिए न वैकुण्ठ।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! बाल्यकाल से ही भागवत धर्मों के पालन करने की आवश्यकता बताकर प्रह्लादजी अब वैराग्य की कठिनता बता रहे हैं। असुर बालकों से वे बोले—"दैत्य बालको! देखो, जिन्होंने घोर साधनों द्वारा अपने चंचल चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों को एकत्र करके प्रभु पादपद्मों में उन्हें नहीं लगा दिया है, जिन्होंने विषयों की ओर बहती हुई इन्द्रियों की वृत्तियों का भली

भाँति निरोध नहीं कर लिया है, ऐसे अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिये संसार से वैराग्य होना महान् दुर्लभ है। लोग कहते तो हैं, कि प्राण सब से प्यारे हैं, किन्तु इन प्राणों की भी बाजी लगाकर मनुष्य धन का उपार्जन करता है। देखो, चोर जब चोरी करने चलता है, तो कितना साहस करके चलता है। चलते समय सिर को हथेली पर रखकर जाता है। देखिये धन के लिये वह कितनी विघ्नबाधाओं को सहता है। रात्रि में उसी से सावधान रहने को प्रहरी निरंतर पहरा देते रहते हैं। धनी लोग अस्त्र शस्त्र समीप रखकर बड़े यत्न से सुरक्षित स्थान में सोते हैं, धन को वैसे ही रख देते हों, सो बात भी नहीं। ७ पेटियों में सुदृढ़ तालों में उसे रखते हैं। उस धन को लेने के लिये प्रहरियों की आँख बचाकर भवन को फोड़कर या लाँघकर वह घर में घुसता है। सोते हुए स्वामी के सन्मुख तालों को तोड़ कर धन लेकर निकल जाता है। उसे पग-पग पर प्राणों का भय है। स्वामी जाग पड़ा, प्रहरी की ही दृष्टि पड़ गई, राजकर्मचारी ही मिल गये, किन्तु वह इन सब विपत्तियों को सहकर प्राणों पर खेलकर धन को ले आता है।

इसी प्रकार सेवक पैसे के लिये कितने कष्ट झेलता है। सदा स्वामी के रूप को देखता रहता है। स्वामी के शरीर की सेवा करता है। प्रतिपल उसकी खरी खोटी बातें सुनता है। समय पर न सो सकता है न खा सकता है। महीने में उसे कुछ नियत धन मिलता है, उसी के लिये रात्रि दिन स्वामी के कार्यों में अव्यग्र हुआ लगा रहता है। स्वामी युद्ध में जाने की आज्ञा देता है, तो लड़ने मरने चला जाता है। प्राण बेचकर धन को प्राप्त करता है। इसी प्रकार

व्यापारी को देखिये, धन के लिये वह कैसे कैसे नीच कर्म करता है, कितना झूठ बोलता है, कैसा छल कपट करता है। न स्वयं खाता है, न दूसरों को देता है। उसका सिद्धान्त होता है, चमड़ी चाहे चली जाय, किन्तु दमड़ी न जाय। बड़े बड़े अगाध समुद्रों को पोतों द्वारा पार करता है बीच में बवन्डर आ जाय पोत डूब जाय। बड़े बड़े यन्त्रों में काम करता है, कि तनिक सी असावधानी से अंग प्रत्यंग कट जायँ। कृषि में कितना श्रम है, इन सब आपत्ति विपत्तियों को व्यापारी वणिक् धन के लिये सहर्ष सहता है।

प्रह्लादजी कहते हैं—"असुर बालको! जो धन अपने प्रिय से भी प्रिय प्राणों का पण लगाकर प्राप्त होता है, उस प्राणाधिक धन की तृष्णा को मनुष्य सुगमता से कैसे छोड़ सकता है। शरीर चाहे क्षीण हो जाय, दुखी हो जाय, किन्तु पैसा व्यय न करना पड़े। जितने भी धनी होंगे, प्रायः वे उतने ही कृपण होंगे। कृपणता करके ही तो धन एकत्रित होता है। दूसरों के मुख से ग्रास छीनकर, दूसरों के रक्त को शोषण करके ही तो धनी बनते हैं। उस धन को चाहे स्वेच्छा से छोड़कर वन में चले जायँ, भगवान् की आराधना में लग जायँ, यह असंभव है।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"तो क्या धन का त्याग करना ही सबसे कठिन है?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"नहीं, धन से भी कठिन त्याग है प्रियतमा पत्नी का त्याग कामनी का परित्याग। बालको प्रायः संसार में पति पत्नियों में नित्य अनबन बनी रहती है। बात बात में कलह लड़ाई झगड़ा हो जाता है। किसी भाग्यशाली की तो बात पृथक् है, नहीं तो घरवाली किसी न

किसी बात को लेकर सदा पति को कुछ न कुछ उलटी सीधी सुनाती ही रहती है। फिर भी मनुष्य को वैराग्य नहीं होता। सब सुनकर भी उसी का दास बना रहता है। उसे छोड़ने में उसका रोम रोम कांपता है। कभी कभी चित्त में आता भी है, इस नित्य की कहा सुनी से तो कहीं एकान्त में जाकर रहें तो अच्छा है। किन्तु जब फिर कभी उसका मधुरहास्य युक्त मुख देखता है, तो इसका सब क्रोध कपूर की भांति उड़ जाता है। रोष हास्यरूपी प्रवाह में बह जाता है। फिर उसी की हाँ में हाँ मिलाता रहता है यह बात उनकी है जिनकी पत्नियाँ बहुत अनुकूल नहीं रहतीं। फिर जिनकी पत्नियाँ जिनके अनुकूल हैं। पति को प्राणों से भी अधिक प्यार करती हैं। एकान्त में घुल घुलकर प्रेम भरी बातें करते करते अघाती नहीं। जो सब प्रकार से अपने पति को प्रसन्न करती हैं। अपने शरीर को सौंपकर सब प्रकार से स्वामी को सुखी बनाने के लिये प्रयत्नशीला बनी रहती हैं। ऐसी अनुकूला-मनोज्ञा प्रियतमा को छोड़कर परमात्मा की खोज में जाना अशक्य है, असंभव है। मनुष्य उसके स्नेह पाश में ऐसा बँध जाता है, कि घर छोड़ने का नाम सुनते ही उसकी छाती फटने लगती है। फिर साथ ही स्वजनों का स्नेह भी अपनी ओर खींचता है। सबसे बड़ा आकर्षण तो है बच्चों का। छोटी छोटी लटूरियों को लटकाये, घुँटनों से या स्खलित चाल से चलते हुए किलकारियाँ भरते हुए, तोतली वाणी में अम्मा-बप्पा, मम्मा पप्पा कहते हुए छोटे छोटे बालक जब आँगन में इधर उधर डोलते हैं। देखते ही दोनों हाथों को ऊपर उठाकर गोद में दौड़कर छाती से चिपट जाते हैं। इस सुख का जिसने अनुभव कर लिया है, वह यदि ब्रह्मा भी कहें, तो भी घर

को नहीं छोड़ सकते। फूल की तरह खिले हुए बच्चे के मुख चुम्बन में जितना आकर्षण है, उतना किसी में भी नहीं। बच्चा माता पिता दोनों का प्रतीक ही है, दोनों की सजीव क्रीड़ा करती हुई आत्मा है, दोनों के बाह्य प्राण हैं। प्राण भले चले जायँ, पुत्रवियोग न हो। गृहस्थ का सर्वश्रेष्ठ सुख है सुत के सुन्दर सुललित शरीर का संग। उसकी अमृत से भी मधुर वाणी का श्रवण।

प्रह्लादजी कहते हैं—"असुर बालको! जीव को ये ही सब आकर्षण संसार में बाँधे हुए हैं। ये ही सब इसे चौरासी के चक्कर में घुमा रहे हैं। यद्यपि प्रधान बन्धन ये ही हैं, तो भी इनके अनुगत और भी बहुत से प्रलोभन हैं, जिनसे मनुष्य छूटने में अपने को असमर्थ पाता है। उनका भी वर्णन मैं करूँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

कन्या रोवत दुखित जाइ पति गृह सुकुमारी।
भोली भाली बहिन भला कस छाड़ें प्यारी॥
आज्ञाकारी बन्धु पुत्र सुकुमार दुलारे।
छोड़े कैसे जाँइ मातु पितु वृद्ध दुखारे॥
दुग्ध फेन सम शुभ्र शभ, शैया सुखद सुहावनी।
स्वेच्छा तें कस तजें सब, वस्तु सरस मनभावनी॥

वैराग की बाधक वृत्तियाँ

४७२

पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितृर्हृदग्या,
भातृन्स्वसृर्वा पितरौ च दीनौ ।
गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च,
वृत्तींश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥❀
(श्री भा० ७ स्क० ६ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

कुलगत अपनी वृत्ति छोडि जावें कस बन महँ ।
हाथी, घोड़ा, गाय बसें सुठि सेवक मन महँ ॥
सबतें ममता जोरि मोह को जाल बनायौ ।
पूरयो चारिहुँ ओर जानि निज अङ्ग फँसायौ ॥
होहि विरक्त न विपति सहि, सुमरे नहिँ सर्वेश हरि ।
पोसै निज परिवार कूँ, आयु गँवावे पाय करि ॥

रेशम का कीड़ा अपने मुख से ही सूत निकालता है और

❀ प्रह्लादजी असुर बालको से कह रहे हैं—"देखो, भाई ! गृहस्थी को पुत्रों की विवाहिता पुत्रियों की, भाइयों की, बहिनों की, वृद्धावस्था के कारण दीन हुए माता-पिता की, घरों की, सुन्दर मनोहर शैया बिछौना आदि प्रचुर परिच्छदों की, वंशपरम्परागत वृत्तियों की, घर के पशु तथा सेवकादिको की, स्मृति बनी ही रहती हैं । उनको मनुष्य कैसे त्याग सकता है ?

उसे अपने चारों ओर पूरने लगता है। उसे मुख से सूत निकालने में आनन्द आता है, किन्तु इसके परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता। जितना ही अधिक वह रेशम का सूत निकाल कर अपने चारों ओर लपेटता है उतना अधिक फँसता जाता है। अन्त में ऐसा फँस जाता है, कि उसका निकलना असंभव हो जाता है।

पेट में जब तक बालक रहता है, तब तक सभी सम्बन्ध दूर खड़े रहते हैं। जहाँ बाहर आया कि सम्बन्ध उससे लिपट जाते हैं। बहिन भाई कहती है, माता-पिता पुत्र कहते हैं, मामा भानजा कहते हैं, चाचा भतीजा कहने लगते हैं। सारांश सभी सम्बन्ध जोड़ने लगते हैं, वह स्वेच्छा से इन्हें स्वीकार ही नहीं करता स्वयं भी नये नये सम्बन्ध बनाता है। न जाने कहाँ किसके यहाँ उत्पन्न लड़की को स्वेच्छा से ले आता है, उसे पत्नी मानने लगता है। उसके सम्बन्ध से सास, ससुर, साले, सरहज न जाने कितने सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। फिर पुत्र पौत्र आदि को उत्पन्न करके इन सब सम्बन्ध रूपी जाल में ऐसा फँस जाता है, कि उससे निकलना अत्यंत दुरूह हो जाता है। भगवान् ही निकालना चाहें, तो यह मोहजाल छिन्न भिन्न हो, नहीं तो अत्यन्त ही दृढ़ बन्धन है। निकलना अत्यन्त ही कठिन है।

प्रह्लादजी अपने सहपाठी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भैया! देखो, संसार से वैराग्य होना अत्यंत ही कठिन है। वैसे तो संसार की प्रत्येक वस्तु हमें किसी न किसी भाव से अपनी ओर खींच रही है, किन्तु सुन्दर वस्तुओं में आकर्षण अधिक होता है। निरंतर के संग से ईंट पत्थर मिट्टी की बनी भीतों में, चित्रों में, वृक्षों में आसक्ति हो जाती है। परिवार में जिनसे अपना सम्बन्ध है, जो साथ ही रहते हैं वे शरीर की

ही भाँति प्यारे हो जाते हैं। अपने घरमें लड़की पैदा होती है। पैदा होते ही कुछ लोग नाक भौं सिकोड़ते हैं—अजी, लड़का नहीं हुआ लड़की हो गई। ज्यों ज्यों लड़की बढ़ती जाती है। उसमें दिनों दिन ममता बढ़ती है। कोई कहता है—"अमुकस्थान पर चलो।" तो निराश होकर कहता है—"अजी बाल बच्चों को छोड़कर कैसे चलें। देखते नहीं हो बच्ची कितनी छोटी है, इसे किस पर छोड़ें। जब बच्ची बढ़कर विवाह के योग्य हो जाती है, तो रात्रि दिन उसीकी चिन्ता लगी रहती है, कैसे अच्छा घर वर मिले। स्थान स्थान पर भटकना पड़ता है, सब की ऊँचनीच सहनी पड़ती है। अपने से जो कुल में, धन में, विद्या में, वय में सब प्रकार छोटे हैं, तो भी जब सुनते हैं ये लड़की वाले हैं विवाह करने आये हैं, तो अकड़ जाते हैं, बढ़बढ़ाकर बातें सुनाते हैं। सबकी सुननी पड़ती है, बेटी के बाप ही ठहरे।

जैसे तैसे विवाह पक्का हुआ। इधर उधर से जुटाकर लड़की के पीले हाथ किये। जब लड़की ससुराल जाते समय रो रो कर माता पिता से लिपट जाती है, तब हृदय फटने लगने लगता है। जैसे तैसे विदा करते हैं। अब उसकी चिन्ता लगी ही रहती है। वहाँ उसे कोई कष्ट तो नहीं, सास ससुर प्रेम से रखते तो हैं। पति आदर करता है या नहीं। अभी उसके बाल बच्चा नहीं हुआ। बार बार बुलाते हैं। कपड़े लत्ते देते हैं। सब प्रकार से चिन्ता रखनी पड़ती है, सम्बन्ध और दृढ़ होता जाता है। लड़के लड़की हुए तो छोछक भात आदि देने पड़ते हैं। ऐसी लड़की का मोह कैसे परित्याग किया जा सकता है?'

पुत्र हैं, उन्हें कितने प्यार दुलार से पालते पोसते हैं, एक एक दिन गिनते हैं, वर्ष वर्ष में उनकी जन्म तिथि मनाते हैं,

धन व्यय करके पढ़ाते हैं। युवा होने पर व्याह करते हैं। अब तक पुत्र की चिन्ता थी अब उसके साथ पुत्र वधू की भी चिन्ता हो जाती है। कोई कहता है—"तीरथ व्रत करलो। जगन्नाथ जी के दर्शन कर आओ।"

व्यग्रता के स्वर में उत्तर देता है—"अजी, कैसे चलें, घर से निकलना ही नहीं होता। कच्ची गृहस्थी है, लड़के का यद्यपि विवाह हो गया है, किन्तु अभी गृहस्थी सम्हाल नहीं सकता, बात बात में मुझसे पूछता है। कुछ बड़ा हो जाय, बाल बच्चे हो जायँ, तो फिर हम निश्चिन्त हो जायँ।"बाल बच्चे भी हो जाते हैं, तब और भी अधिक उनमें लिप्त हो जाता है। दिन भर उन्हें खिलाता है, यह धर, वह उठा, यह ला, वह ला, इसी सटर पटर में लगा रहता है। कंठगत प्राण आते हैं, मरने की घड़ी तक उनकी ही चिन्ता में फँसा रहता है, ऐसे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रों को छोड़कर भगवत् चिन्तन कैसे हो सकता है?

भाई है बहिन हैं, कोई बड़े हैं कोई छोटे हैं। बड़ों की रेख देख रखनी पड़ती है, कष्ट न हो। लोग यह न कहें—"भाइयों की रेख देख नहीं करता।" छोटे हैं उनका पुत्र की भाँति पालन पोषण करता है। अनुकूल हैं तो उनके भरण पोषण की चिन्ता करता है। प्रतिकूल हैं तो उनसे लड़ने झगड़ने राज सभा में अभियोग चलाने में ही लगा रहता है। अनुकूल प्रतिकूल कैसे भी हों चिन्ता तो उनकी रखनी पड़ती है। बहिन गरीब घर में है, तो उसकी उसके बाल बच्चों की चिन्ता रहती है। धनी घर में है तो भी उससे अधिकाधिक सम्बन्ध बनाये रहने में अपना लाभ है, कभी उसे बुलाता है, कभी उसी के घर जाता है। ऐसे भाई बहिनों के मोह को त्यागना सहज काम नहीं है।

माता पिता वृद्ध हो गये हैं। बेटाओं की जो बहुएँ आई हैं

वे नये विचार की हैं। उन्हें ये बूढ़े अच्छे नहीं लगते। इनकी खो खो से उनके कानों में खुजली होती है। बड़ी दीन वाणी में माता-पिता कहते हैं "बेटा! तनिक हमारा भी ध्यान रखा करो। ये बहुएँ तो अभी बच्ची ही हैं। भगवान् इनका भला करे, इनकी गोद भरे, दूध पूत से फलें फूलें। अब अधिक दिन नहीं जीवेंगे। जब तक हैं, पानी पत्ता का ध्यान रखाकर" अपने जनक जननी के ऐसे वचनों से हृदय भर आता है। यथासाध्य उनकी देख रेख करनी पड़ती है। एक दिन भी बाहर चले जायँ तो कोई उन्हें पानी भी नहीं देता। नौकर चाकर मनमानी करते हैं। जिन्होंने हमें पाल पोस कर इतना बड़ा किया है, पढ़ा लिखाकर योग्य बनाया है, उन्हें वृद्धावस्था में असहाय कैसे छोड़ सकते हैं। अब भगवत् भजन करें कि इन्हें देखें। इस प्रकार माता पिता के मोह में ही समय जाता है, परमार्थ चिन्ता का अवसर ही नहीं।

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भैया, कहाँ तक तुम्हें गिनावें। एक एक वस्तु में मन फँसा रहता है। घर की एक एक वस्तु में चित्त आसक्त रहता है। मेरा भवन है सुन्दर सुन्दर शैयायें हैं, गद्दा, तकिये गलीचे हैं, नाना प्रकार के वाहन हैं, बाग बगीचे हैं, वापी, कूप, तड़ाग, आराम हैं। व्यपार है, बड़ी बड़ी कोठिया हैं। लेन देन है, ग्राम हैं, पद है, प्रतिष्ठा है। आज्ञाकारी भृत्य सेवक हैं, संगी साथी, पुरजन परिजन, प्रजा परिवार वाले हैं। सारांश सभी में मन फँसा रहता है। इन सबसे चित्त को हटाकर एक मात्र भगवान् की ही ओर लगाना बड़ा कठिन प्रतीत होता है। उपस्थेन्द्रिय का सुख ऐसा है, कि इससे कभी तृप्ति नहीं होती। कितनी अवस्था हो जाय, मन भरता ही नहीं। इन्द्रियाँ भले ही शिथिल हो जायँ, किन्त

शिथिल नहीं होती।

फिर घर में नित्य नूतन भोजन बनते हैं। स्त्री के हाथ के साग परामठों में जैसा स्वाद है, वैसा बाजार के भोजन में कहाँ। पुत्रवधू ऐसे सुन्दर २ साग बनाती है, कि पेट तो भर जाता है, किन्तु मन नहीं भरता। नित्य ही पर्व उत्सव लगे रहते हैं। भाँति भाँति की मिठाइयाँ बनती हैं, सम्बन्धियों के यहाँ से आती हैं। घर न छोड़ने का प्रधान हेतु तो यही है। इतनी सुविधायें जंगल में कहाँ मिल सकती हैं। भीख के बासे कूसे टुकड़ों पर, कड़वे कसैले फलों पर निर्वाह कैसे हो सकता है। यहीं बैठकर भगवान् के दो नाम ले लेंगे। यह कह तो देते हैं, किन्तु लेते नहीं। उपस्थ और जिह्वा के सुखों को ही श्रेष्ठ मानने वाले महामोह ग्रस्त व्यक्ति संसार से विरक्त कैसे हो सकते हैं? कठिन है खड्ग की धार पर चलने से भी दुरूह है।

प्रातः पूर्व में नित्य सूर्य उदय होते हैं, सायंकाल को पश्चिम में अस्त हो जाते हैं। आयु के वर्षों में से एक दिन घटाकर चम्पत हो जाते हैं। सोमवार बीत गया मङ्गल आ गया। इसी भाँति बुद्ध, बृहस्पति, शुक्र, शनि और रवि बीत गये एक सप्ताह हो गया। देखते देखते दो सप्ताह चले गये पक्ष पूरा हो गया। कृष्ण शुक्ल दो पक्ष बीते कि महीना समाप्त। १२ महीने बीते एक वर्ष हो गया। इस प्रकार वर्ष पर वर्ष व्यतीत होते जाते है, हम माया मोह में फँसकर ऐसे अंधे हो जाते हैं, कि आखों के सामने से जाने वाला काल दिखाई नहीं देता। हम सोचते रहते हैं हमें सदा ही जीना है। भवन भी बनावेंगे तो ऐसा दृढ़ कि कभी न टूटे फूटे। मानों हमें सदा इसीमें रहना है। हम समय की ओर से प्रमत्त बने रहते हैं, किन्तु वह अप्रमत्त हुआ आयु के पल पल की गणना

करता रहता है। कुटुम्ब के पालन पोषण में हम ऐसे प्रमत्त हो जाते हैं, कि अपने हिताहित को सर्वथा भूल जाते हैं। वास्तविक पुरुषार्थ क्या है इसका ध्यान ही नहीं रहता।

जब कुटुम्ब बढ़ जाता है, तो बात बात पर द्रव्य की आवश्यकता होती है। धर्म से धन न मिलने पर पाप बुद्धि होती है, चोरी करने की वृत्ति जागृत होती है। जब सूर्य जैसे प्रतापी देवता अपने भाई के लिये पानी की चोरी करते हैं। प्राणियों के देखते देखते जीवों के शरीरों से, कूआ, नदियों और समुद्र से जल चुरा चुराकर चन्द्र को देते हैं इसीलिये वे वारितस्कर कहलाते हैं, तो मनुष्य अपने कुटुम्ब के लिये विवश होकर अन्याय चोरी करता है तो उसकी विवशता है। स्वयं ही उसने जाल बुना है, स्वयं ही उसमें फस गया। अब निकलने को छटपटाता है—पाप करके निकलना चहता है, झंझटों से मुक्त होना चाहता है किन्तु और भी अधिकाधिक बँधता है। कुटुम्ब के भार से दबे रहने के कारण चित्त निरन्तर धन में आसक्त रहता है आवश्यकतानुसार धन मिलता नहीं क्यों कि तृष्णा बढ़ी है। यह भी जानता है कि अन्याय से चोरी से धन उपार्जन करेंगे, पकड़े जायेंगे, कारावास में जायगे, मरकर नरकों की यातनायें सहनी पड़ेंगी, किन्तु यह सब जानते हुए भी दूसरों का धन चुराता है। परदाराभिगमन करता है, क्योंकि इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर सका है, स्वयं इन्द्रियों का दास बना हुआ है। इसीलिये सदा अशान्त काम बना रहता है।

प्रह्लादजी कह रहे हैं—"सो भैया! दैत्य कुमारो। तुम सोच लो, जिस गृहस्थी में इतने बन्धन हैं, उन सब बन्धनों को तोड़ना हँसी खेल नहीं। मूर्खों की बात तो जाने

जो विद्वान् हैं जिन्होंने विधिवत् अध्ययन किया है, वे भी अज्ञानियों के समान तमोग्रस्त हो जाते हैं। वे भी अपने पराये का भेद भाव करके कुटुम्ब पोषण के लिये तथा इन्द्रियों की तृप्ति के लिये पाप करते देखे गये हैं। ऐसे लोगों को परमार्थ की प्राप्ति कैसे हो सकती है ये सब वृत्तियाँ तो वैराग्य की बाधक हैं। मैं विषयों की दशा और भी बताता हूँ उसे भी तुम सावधान होकर सुनो।

छप्पय

भोगी ज्यों ज्यों भोग बढ़ै त्यों त्यों तृष्णा नित।
पर धन अरु परनारि माँहि नित फँस्यो रहे चित॥
करै पाप नित नये झूठ तें द्रव्य बटोरै।
धनहित तनकूँ बेचि हाथ नीचनि के जोरै॥
पोथी पत्रा पढ़ि भये, पंडित हू विख्यात हैं।
मोह ग्रस्त ह्वै मोक्ष तें, वञ्चित ते रहि जात हैं॥

किया है, उनमें से किसी ने भी यह नहीं कहा कि हम सर्वथा सन्तुष्ट हो गये। जितनी ही भोग सामग्रियाँ बढ़ती जाती हैं, उससे दूनी तृष्णा बढ़ती जाती है। इन्द्रियाँ चाहे उपभोग करने योग्य न रह जायँ, किन्तु मन में लालसा बनी ही रहती है। मन सदा उनमें फँसा ही रहता है। कितना भी बड़े से बड़ा धनी ऐश्वर्य शाली प्रभाव वाला क्यों न हो, विषयों के लिये भूखा प्यासा वह भी बना रहता है। विश्वविजयी हिरण्यकशिपु, लोक को रुलाने वाला रावण तथा और भी बलशाली बहुत से दैत्य दानव इन सबको किस वस्तु की कमी थी, सभी सबको जीतने वाले शूरवीर थे, संसार के सभी पदार्थ उन्हें प्राप्त थे देवता, यक्ष गन्धर्व सभी को उन्होंने जीता था। किन्तु एक मन को न जीतने के कारण ये सदा विषयों के दास बने रहे। इसके विपरीत जिसके पास कुछ भी नहीं, सर्वथा निष्किंचन है किन्तु हृदय में भगवद्भक्ति है, तो उसके पास सब कुछ है, उसने सब कुछ पा लिया, जीवन को सफल बना लिया, मनुष्य देह पाने का प्रयोजन सिद्ध कर लिया। भगवान् की भक्ति करके वे स्वयं तर गये और अपने चरित्र रूप आदर्श को पीछे भी छोड़ गये जिसे देख देखकर जीवों को स्वस्वरूप का बोध हो जाय। भगवद्भक्ति के ही कारण परम भागवत प्रह्लाद जी दैत्यवंश में अवतरित होने पर भी भगवान् के समान ही पूजनीय वन्दनीय तथा पुण्यश्लोक बन गये। यह सब भगवती भक्ति महारानी का ही प्रभाव है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब महाभागवत प्रह्लादजी असुर बालकों को उपदेश दे रहे थे, तब वे सबके सब टकटकी लगाये बड़े ध्यान से उनकी बातें सुन रहे थे। जब उन्होंने गृहस्थाश्रम में फँसे जीव की दुर्दशा

बताई तब उनमें से एक ने पूछा—"कुमार ! गृहासक्ति की इतनी निन्दा क्यों करते हो। यदि परिवार का पालन न करें तो फिर और करें ही क्या ?"

प्रह्लादजी बोले—"मैं परिवार के पालन के लिये मना थोड़े ही करता हूँ। मैं तो कहता हूँ उन सब में आसक्ति मत बढ़ाओ, उन्हें भी भगवत् स्वरूप ही समझो। कर्तव्य बुद्धि से भगवत् सेवा समझकर जो भी काम करना हो करो। तुम सोचो तो सही पहिले तो माता पिता में ही कितनी आसक्ति होती है। बच्चा माता पिता को छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहता है। विलग होते ही रोता है। कुछ बड़ा होने पर वह आसक्ति पत्नी में हो जाती है। चित्त चाहता है सदा इसके पास ही बैठे रहें। डिबिया में बंद करके गले में बाँध रहें, नैनों में छिपाये रखें। फिर जब बच्चे कच्चे हो जाते हैं, तो उनमें मोह ममता बढ़ जाती है। इस प्रकार यह मनुष्य कामिनियों का खिलौना बन जाता है, उनके विहार का क्रीड़ामृग हो जाता है, उनके संकेत पर नाचता है। संतति रूपी बेड़ी इसके पैरों में पड़ जाती हैं सब विषयों में दीन बन जाता है। इस प्रकार परिवार में आसक्त हुए पुरुष अपनी आत्मा का कभी भी कहीं से भी किसी प्रकार भी उद्धार कर सकते हैं ? मैं कहता हूँ, नहीं कर सकते, नहीं कर सकते।"

दैत्यकुमारों ने पूछा—"तब फिर करना क्या चाहिए।"

प्रह्लादजी ने कहा—"एकमात्र जो प्रधान कर्तव्य है, वही करना चाहिए। आदि देव भगवान् वासुदेव की शरण में जाना चाहिये। वे ही जीव के सहज सुहृद हैं, वे ही परागति हैं, वे ही साधु पुरुषों के वाञ्छित मोक्ष प्रद हैं, उन्हीं की शरण जाने से समस्त दुःखदुरित ताप संताप छूट सकते हैं। अतः विषयों

पुरुषों का संग सर्वदा के लिये त्यागकर उन सर्वात्मा श्री हरि की सेवा करो उन्हें ही अपना सर्वस्व समझो।

दैत्य बालकों ने कहा—"अरे, भैया! भगवान् को प्रसन्न करना तो बहुत कठिन कार्य है। कोई दीखता हो तो उसकी सेवा की भी जा सकती है।

यह सुनकर हसते हुए प्रह्लादजी बोले—"अरे, भैयाओ! भगवान् को प्रसन्न करने में भला क्या प्रयास? जो भिन्न स्वभाव का अन्य होता है, उसे प्रसन्न करने में कठिनता होती है। जो अपनी आत्मा ही हैं, प्रेम स्वरूप ही हैं, प्राणी मात्र के जो सहज सुहृद हैं, वे आत्मरूप अच्युत तो अपने आप ही अनुकूल हैं। केवल अनुभूति की आवश्यकता है। उन्हें खोजने कहीं अन्यत्र न जाना पड़ेगा वे घट घट में सर्वत्र के समान रूप से व्याप्त हैं।

इसपर असुर बालकों ने कहा—पदार्थ तो भैया बहुत हैं भगवान् एक हैं, इन सबमें वे कैसे रहते होंगे। देखो, एक तो गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, फिर उसी प्रकृति में जब गुण वैषम्य हो जाता है, तो उसी से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। फिर अहंतत्व। उसके भी सात्विक, राजस् तथा तामस् भेद से तीन रूप हो जाते हैं, इन्हीं से पंचमहाभूत, दस इन्द्रियों तथा मन आदि की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन्हीं पञ्चभूतों से देह, घट, पट, वृक्ष, लता आदि समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन सब में भगवान् कैसे रहते हैं।

इस पर हँसकर प्रह्लादजी ने कहा—"बहुत होनेसे क्या हुआ ब्रह्माजी से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी छोटे बड़े स्थावर जंगम पदार्थों में वे ही श्रीहरि अनुस्यूत हो रहे हैं। कंकण, हार,

अँगूठी, कड़े छड़े आदि अनेक छोटे बड़े सुन्दर असुन्दर पदार्थ हैं। किन्तु उन सबमें सुवर्ण समान रूप से व्याप्त है। नाना नाम रहने पर भी जिस प्रकार उन आभूषणों से सुवर्ण किसी भी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार संसार के किसी भी पदार्थ से वे श्री हरि पृथक् नहीं किये जा सकते। जैसे माला का अस्तित्व सूत्र के बिना नहीं रह सकता, वैसे ही प्रभु के बिना यह जगत् कुछ भी नहीं है।

दैत्य बालकों ने कहा—"उनके रूप का वर्णन कीजिये उनकी यथार्थ महिमा बताइये।"

प्रह्लादजी ने कहा—"उनका कोई एक रूप हो तो बतावें भी। सभी उनके रूप हैं फिर भी वे अरूप हैं। जो कहा जाता है, सब उन्हीं के सम्बन्ध से कहा जाता है, फिर भी उनका यथार्थ निर्वचन नहीं हो सकता, वे अनिर्वचनीय हैं। वे अन्तर्यामी हैं, उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः वे अविकल्पित कहाते हैं। वे द्रष्टा रूप से व्यापक और अनात्मा दृश्य रूप से व्याप्य कहलाते हैं। वास्तव में उनमें व्याप्य व्यापक भाव केवल कल्पित है वे सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप और आत्म स्वरूप हैं। उन महामहिम सर्वेश्वर का ऐश्वर्य गुणमयी सृष्टि करने वाली माया से आच्छादित है। जहाँ माया का आवरण हटा तहाँ उनका दर्शन हो जाता है वे घूँघट में अपने चन्द्रमुख को छिपाये रहते हैं। घूँघट हट गया फिर उनका मनोहर मोहक मुखड़ा दीख जाता है। जीव कृतकृत्य हो जाता है, अपने आपे को भूलकर उन्हीं का सा हो जाता है। क्या हो जाता है सो तो होने वाला ही जाने गूंगे का गुड़ है।"

असुर बालकों ने कहा—"अरे, भैया! तब तो भगवान्

बड़े सुन्दर हैं उनका दर्शन कैसे हो। किस साधन से यह माया का आवरण हट सकता है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"भगवान जिस पर प्रसन्न हो जायँ। उसी का आवरण हटा देते हैं। तुम असुर भाव को त्याग दो। उनकी प्रसन्नता का कारण है सरलता। चित्त को सरल बनालो प्राणी मात्र से प्रेम का भाव रखो जीव मात्र पर दया करो। दया और प्रेम से ही प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं।"

असुर बालकों ने पूछा—"प्रभु प्रसन्न होने पर क्या होता है ?

यह सुनकर प्रह्लादजी हँस पड़े और बोले—"अरे, प्रसन्न होने पर होता क्या है, जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। प्रभु के प्रसन्न होने पर फिर तो कुछ कर्तव्य ही शेष नहीं रहता, कोई प्राप्य वस्तु ही नहीं रह जाती। ये जितने धर्म, अर्थ और काम्य पदार्थ हैं ये सब तो प्रारब्धानुसार स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। इनके लिये प्रयत्न तो व्यर्थ है। इनसे हमें क्या प्रयोजन है।

इन असुर बालकों ने कहा—"धर्म अर्थ, काम और मोक्ष चार ही तो पुरुषार्थ हैं। इनमें मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा है। यदि धर्म, अर्थ और काम नहीं चाहते तो मोक्ष चाहते होंगे उसी के लिये प्रयत्न करते होंगे ?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, भाई ! प्रयत्न अप्राप्य वस्तु के लिये किया जाता है। हम लोग नित्य भगवान् का चरणामृत पीते हैं। चरणामृत लेते समय मंत्र पढ़ते हैं—

अकाल मृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

अर्थात् यह भगवान् का चरणामृत अकाल मृत्यु का हरने

वाला सभी प्रकार की व्याधियों का नाश करने वाला है, इसको पीकर फिर संसार में जन्म नहीं होता।" जब मोक्ष, चरणामृत पानसे भक्तों को स्वतः प्राप्त है, तो फिर मोक्ष के लिये प्रयत्न क्यों करें। रही पाप विनाशन की बात सो भगवान् के नाम और गुणों का गान करने से सभी पाप ताप नष्ट हो जाते हैं। फिर हम मोक्ष की इच्छा क्यों करने लगे।

असुर बालकों ने कहा—"तब" चार ही तो पुरुषार्थ हैं, चारों का ही तुम निषेध कह रहे हो तो फिर चाहते क्या हो? कर्म किस उद्देश्यसे किये जायँ। बिना कर्म किये तो प्राणी रह नहीं सकता।"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, भाई, कर्म तो करने वे ही होंगे केवल उनके उद्देश्य में अन्तर होता है। साधुसंत घर द्वार कुटुम्ब परिवार, खेत बगीचा, स्त्री पुत्र सबको छोड़कर आते हैं। आकर फिर तीर्थों में, एकान्त स्थानों में, गंगा यमुना आदि पुण्य सरिताओं के तट पर मन्दिर बनाते हैं, बाग बगीचा लगाते हैं, कूआ खुदाते हैं, १० आदमियों को एकत्र करके कथा कीर्तन कराते हैं। काम तो वे ही सब हुए। वे ही ईंट पत्थर पेड़ पौधे आदि हैं, केवल उद्देश्य में अन्तर पड़ जाता है। घर में बाग लगाते थे, फूल आये निवासस्थान की चौकी पर मनोहर गुच्छा बनाकर शोभा के लिये रख दिया। भोजन बनाया गरमागरम बिना भोग लगाये उड़ाते गये। वहाँ जो भी काम करते थे, शरीर सुख के लिये अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करने के लिये। अहंकार को बढ़ाने के लिये। यहाँ जो भी करते हैं, भगवान् के लिये, भगवान के नाम पर। भगवान् की वाटिका, भगवान् का कुआ, भगवान्

का मन्दिर, नित्य मन्दिर को स्वयं झाड़ते बुहारते हैं पुष्प लाते हैं पहिले भगवान् को चढ़ाते हैं, फल आते हैं अमनिया करके भगवान को भोग लगाते हैं, तुलसी पत्र डालते हैं, तब प्रसाद पाते हैं, भोजन बनता है, पहिले भगवान् का भोग लगता है, तब विष्णु नैवेद्य को श्रद्धा सहित पाते हैं। भगवान् के चरणों में चढ़ी तुलसी माला आदि को सिर पर चढ़ाते हैं, सूँघते हैं। इत्यादि इत्यादि जो भी काम करते हैं भगवान के उद्देश्य से करते हैं। काम सब वे ही हैं केवल भावना बदल गई है। जो अपने लिये ही भोजन बनाकर खाते हैं, वे पाप खाते हैं। जो विष्णु के निमित्त बनाते हैं, भोग लगाकर प्रसाद पाते हैं वे नित्य अमृत का भोजन करते हैं। ऐसे अनन्य भगवद् भक्त मोक्ष की इच्छा क्यों करने लगे ?

असुर बालकों ने पूछा—"तब फिर कर्म करने का उद्देश्य ही क्या रहा ?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"कर्म करने का उद्देश्य है सर्वात्म भाव से अपने सर्वस्व को सर्वात्मा श्री हरि के पादपद्मों में समर्पित कर देना। जो कर्म अपने परम सुहृद श्रीहरि भगवान् पुरुषोत्तम के आत्मार्पण करने में सहायक न हों, तो मैं उन कर्मों को व्यर्थ समझता हूँ। शास्त्रों में आन्वीक्षिकी विद्या, कर्मकाण्ड, न्याय, दण्डनीति, कृषि वाणिज्य आदि नाना प्रकार के आजीविका के साधनों का वर्णन है। धर्म अर्थ और काम जो त्रिवर्ग बताये हैं उनका भी स्थान-स्थान, पर विशद् वर्णन किया गया है। ये सब कर्म तभी उचित हैं, जब इनके द्वारा भगवत् सेवा हो सके प्रभु की भक्ति में

ये सहायक हों। नहीं तो केवल श्रम मात्र ही है, उलटे ये कर्म संसार बन्धन को और भी दृढ़तर करने वाले हैं।

यह सुनकर आश्चर्य के साथ असुर बालकों ने पूछा—"भैया! है तो तू छोटा सा ही। इतनी ज्ञान की गूढ़ बातें तैंने कहाँ से सीख लीं? ये तैंने अपने मन से गढ़ ली हैं या ये यह विमल ज्ञान सम्प्रदाय पुरस्सर तुझे कहीं से प्राप्त हुआ है?"

इस पर प्रह्लादजी बोले—"ना भैया! मैंने अपने मन से इन बातों को नहीं बनाया है। यह तो परम्परागत प्राप्त ज्ञान है। इस ज्ञान के आदि आचार्य स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। भगवान् ने अपने अनन्य भक्त नारद जी को यह ज्ञान सिखाया था। नारदजी का तो व्रत ही है परोपकारी संसार में फँसे प्राणियों को भय से छुड़ाना यही उनका प्रधान कार्य है, अतः जो भी अधिकारी चाहें, वही नारदजी का आह्वान करके इस विशुद्ध विमल ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। मेरे ऊपर भी भगवान् नारदजी ने कृपा की मुझे भी इस ज्ञान का उन्होंने बहुत वर्षों तक उपदेश दिया।

इस पर प्रह्लादजी की हँसी उड़ाते हुए असुर बालकों ने कहा—"अब तो भैया! तू गप्प मारने लगा। अभी ५।६ वर्ष का तो तू स्वयं ही है। हमारे सामने तू पैदा हुआ। साथ ही हम बड़े खेले कूदे। हमने तो कभी नारदजी को यहाँ आते देखा नहीं

कभी आये भी होंगे। उन्होंने तुझे उपदेश कहाँ दिया ? तू रहता है, भीतर अन्तःपुर में। नारदजी भीतर स्त्रियों में जाते नहीं। फिर हम तेरी इस बात पर कैसे विश्वास करें ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, तुम मेरी बात पर विश्वास नहीं करते। मैं सत्य कहता हूँ। मेरे गुरु तो नारद जी ही हैं। यहाँ उन्होंने मुझे उपदेश नहीं दिया, दूसरे ही स्थान पर दिया था।"

असुर बालकों ने कहा—"नहीं, भैया ! अविश्वास की तो कोई बात नहीं किन्तु हमारे तुम्हारे गुरु तो ये दोनों आचार्य पुत्र ही हैं। अभी तक तो हम इन्हें ही गुरु समझते थे, किन्तु ये विशुद्ध भागवत् धर्म जानते नहीं और तैंने जो बातें कही हैं, वे विज्ञान युक्त और भक्ति शास्त्र के सार भूत हैं। देवदर्शन भगवान् नारद के न हमने स्वयं दर्शन किये और न तुझे ही उनसे शिक्षा ग्रहण करते देखा। इसलिये हमें शंका हो गई। इसका यदि तुम उचित समाधान कर सको तो हमें पूरा विश्वास हो जाय। कब और कैसे तुम्हारी नारदजी से भेंट हुई और उन्होंने दैत्य पुत्र समझ कर भी तुम्हें इस रहस्य मय भागवत् धर्म का उपदेश कैसे दिया। इन सब बातों का उचित उत्तर दो।"

श्रीनारदजी धर्मराज से कह रहे हैं—"राजन् ! असुर बालकों के पूछने पर, जिस प्रकार मुझसे प्रह्लादजी को यह ज्ञान

प्राप्त हुआ था, उसे वे परम भागवत असुरकुलवंशावतंस भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद जी अपने सभी साथियों को सुनाने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

धर्म अर्थ अरु काम मोक्ष हरि भक्त न चाहैं।
प्रभु पादोदक पान करहिं नित हरगुन गायें॥
तेई करम यथार्थ कृष्ण की भक्ति दृढ़ावें।
अन्य जगत के कर्म अधिक भव बन्ध बढ़ावें॥
शुद्ध भागवत धर्म जिह, श्री नारद मुख तें सुन्यो।
दैत्य पुत्र सुनि हँसि परे, हँसत उदर सबको फुल्यो॥

नारदजी के आश्रम पर प्रह्लाद जननी

(४७४)

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम् ।
युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ७ अ० २ श्लो०)

छप्पय

हँसि सब बोले-मित्र ! व्यर्थ क्यों बादर फारे ।
नारद कब कहँ मिले गप्प हमतें मति मारे ॥
सुनि बोले प्रह्लाद गये पितु तप हित जबहीं ।
जानि सुअवसर देव चढ़े दैत्यनि पै तबहीं ॥
हारे असुर रह्यो तबहिँ, मैं माता के उदर महँ ।
मम जननी कूँ अमर पति, पकरि लै चल्यो स्वरग महँ ॥

भगवान् के सभी विधानों में मङ्गल निहित है। हमारे ऊपर जो आपत्ति-विपत्ति आती हैं, देखने में तो तत्क्षण वे बुरी लगती हैं, किन्तु अन्त में उनका परिणाम भला ही होता है। सत्य शिव और सुन्दर स्वरूप श्रीहरि की क्रीड़ायें असत्य अशिव और असुन्दर कैसे हो सकती हैं ? यह जिसे दृढ़ निश्चय

---

* प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो, जब हमारे पिता जी मन्दराचल पर्वत पर तपस्या करने के निमित्त 'चले गये' तब देवताओं ने दानवों से युद्ध करने के लिए महान् उद्योग किया।

हो जाय उसकी बुद्धि विपत्ति में विचलित नहीं हो सकती। जितने भी अवतार पुण्यश्लोक महापुरुष हुए हैं सभी के जीवन में बड़ी से बड़ी विपत्तियाँ आई हैं और उन्हें सहने के कारण वे आज जगद्वन्द्य बने हैं। सुवर्ण को ही बार बार तपाया जाता है, उसे जितना ही तपाते हैं, वह उतना ही उज्वल निकलता जाता है। अतः विपत्तियों को प्रभु की देन समझकर सहना यही सुखकर मार्ग है, इसी में कल्याण है।

धर्मराज युधिष्ठिर से श्री नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब असुर बालकों ने प्रह्लादजी की बात पर अविश्वास सा प्रकट किया और इस बात की जिज्ञासा प्रकट की कि मेरे साथ नारदजी का समागम कहाँ और कैसे हुआ, तो वे उन्हें सब कथा सुनाने लगे प्रह्लादजी दैत्य बालकों से बोले—"देखो, भैया! यह बात तो तुम लोगों ने सुनी ही होगी, कि मेरे पिता ने मंदराचल पर्वत पर जाकर घोर तपस्या करके ब्रह्माजी से बड़े बड़े दुर्लभ वर प्राप्त किये हैं।"

असुर बालकों ने कहा—"हाँ, यह बात तो जगत् प्रसिद्ध है। हम तो इसे बाल्यकाल से सुनते आ रहे हैं। सुना तेरा तो तब जन्म नहीं हुआ था।"

प्रह्लादजी ने कहा—"यही तो मैं बता रहा हूँ। मेरा जन्म तो तब नहीं हुआ था, किन्तु तब मैं माता के गर्भ में था। मेरे पिता जब तपस्या करने चले गये और घोर तपस्या करके दीमकों की मिट्टी के ढेर में दब गये, तब देवताओं ने सोचा—"यह हमारा शत्रु अपने आप ही मर गया। अब तो अनाथ हो गये। इन्हें पराजित करने का यही उत्तम है।" यह सोचकर देवता बहुत बड़ी तैयारी

असुरों पर चढ़ आये। दैत्य सभी असावधान थे, देवता सेना अस्त्र शस्त्र आदि से सुसज्जित थे। देवताओं ने पहिले चढ़ाई की थी। कहावत है पहिले मारे सो जीते। सहसा देवताओं की चढ़ाई को देखकर दैत्य किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये, उनका कोई स्वामी नहीं था, वे घर द्वार, स्त्री, परिवार, पशु, भृत्य तथा भोग सामिग्रियों को छोड़कर भाग खड़े हुए। देवताओं की विजय हो गयी। वे असुरों के धन रत्नों को लूटने लगे। देवराज इन्द्र मेरे माता को पकड़ कर स्वर्ग को ले जाने लगे। उन्होंने उसे बल पूर्वक अपने रथ में बिठा लिया। रथ आकाश मार्ग से जा रहा था, मेरी माँ दुःख और शोक के कारण कुररी पक्षी की भाँति रुदन कर रही थी। संयोग की बात कि उसी समय राम कृष्ण गुण गाते, वीणा बजाते देवर्षि नारद उधर से आ निकले।

त्रैलोक्य वन्दित उन देवर्षि को देखकर देवराज इन्द्र ने उन्हें श्रद्धा सहित प्रणाम किया। मुनिराज ने मेरी माता को इस प्रकार रुदन करते देखा, तब दया वश वे देवेन्द्र से बोले—"देवराज ! यह किसकी पत्नी है, इस प्रकार विलाप क्यों कर रही है ? तुम इसे इस प्रकार क्यों लिये जा रहे हो ?'

मुनि के वचन सुनिके अमराधिप इन्द्र ने कहा—"भगवन् ! यह मेरे शत्रु हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधू है, मैंने असुरों को जीत लिया है, अतः मैं इसे स्वर्ग ले जा रहा हूँ।

यह सुनकर देवराज को धिक्कार देते हुए देवर्षि बोले—' "छिः छिः तुम देवताओं के राजा होकर ऐसा निन्दित कार्य कर रहे हो ? अरे, परपत्नी को तो स्पर्श करना ही महापाप है। तुम्हारी शत्रुता हिरण्यकशिपु से है, इस अबला ने तो

तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा है। यह तो सर्वथा निरपराधिनी है। यदि तुम परनारी सती साध्वी पतिव्रता की ओर कुदृष्टि करोगे, तो तुम्हारे सिर के सौ टुकड़े हो जायँगे। गौतम की पत्नी के साथ जो तुमने अन्याय किया, उसका फल तो तुम अभी भोग ही रहे हो।"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ सुरेन्द्र बोला—"नहीं भगवन्! मेरे इसे ले जाने में कोई दुष्ट विचार नहीं हैं। मैं इस सती पतिव्रता का न स्पर्श करूँगा, न इसे कोई कष्ट दूँगा। इसके उदर में हिरण्यकशिपु का अमोघ वीर्य है। हम उसी दुष्ट से सदा भयभीत रहते हैं। चूहे का लड़का चूहा ही होता है, वह भी पैदा होने ही बिना सिखाये बिल ही खोदता है। पैदा होते ही यह भी हमसे शत्रुता करेगा, अतः जब तक यह बालक पैदा नहीं होता, तब तक इसे सत्कार पूर्वक रखूँगा। जब इसके बच्चा हो जायगा, तो उसे मार दूँगा। इसे छोड़ दूँगा। इसके गर्भ में उस राक्षस राजा का देवद्रोही असह्य वीर्य स्थित है। आप कोई अन्यथा विचार न करें। प्रसव काल तक इसे मेरे पास रहने दें, प्रसव होते ही मैं इसे विमुक्त कर दूँगा।"

इस पर क्षोभ के स्वर में नारदजी ने कहा—'सहस्रनेत्र होने पर भी तू अन्धा का अन्धा ही रहा। अरे, इस गर्भ में भक्तों का मुकुटमणि है। त्रैलोक्यवन्दित चराचर का पूजनीय, समस्त दोषों से रहित, परम भागवत, महान् गुणी, भगवान् वासुदेव का अनन्य उपासक, सर्वश्रेष्ठ सेवक भगवद्भक्त है

इससे तुझे ही क्या किसी भी प्राणी को भय नहीं हो सकता। उसे मारकर तू क्या लेगा। फिर तू इसे मारना भी चाहे, तो नहीं मार सकता। भगवद्भक्तों को भला कौन मार सकता है? तू यदि अपनी कुशल चाहता है तो इसे इसी क्षण छोड़ दे।"

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो! भगवद् भक्त का नाम सुनते ही इन्द्र भयभीत हो गया। उसने तुरन्त वहीं देवर्षि के सम्मुख मेरी माता को छोड़ दिया। इसके उदर में भगवद्भक्त है, इस गौरव से इन्द्र ने मेरी माता की परिक्रमा की। मेरे उद्देश से प्रणाम किया और देवर्षि को प्रणाम करके वह स्वर्ग चला गया।"

इधर मेरी माँ निरन्तर रुदन कर रही थी, जब उसने अपने रक्षक, भयत्राता भगवान् नारदजी को सम्मुख देखा तो वह उनके चरणों पर गिर पड़ी। अपने शोकाश्रुओं से उसने देवर्षि के पुनीत पादों का प्रक्षालन किया। दुःख में रोती हुई मेरी माता के मस्तक पर महर्षि ने अपना वरद्हस्त रखते हुए कहा—"बेटी! चिन्ता करने की कोई बात नहीं। तू सती साध्वी है, तेरे उदर में भगवान् का परम भक्त है, अमङ्गल न होगा, तू अपने घर चली जा।"

मेरी माता ने रोते रोते कहा—"प्रभो! अब मेरा घर कहाँ है? मेरे स्वामी मन्दराचल पर तपस्या करने चले गये हैं। सब अपने अपने गृह परिवार को छोड़कर भाग गये हैं। असुर

उन फूटे खण्डहरों में अकेली कहाँ रहूँगी। कौन वहाँ मेरी

रक्षा करेगा, किसके आश्रय में मैं अपने दिन काटूँगी। आप करुणा के सागर हैं, शरणागतवत्सल हैं। आपने मुझे कृपा करके शत्रु के हाथ से छुड़ाया है, मेरा उद्धार किया है, तो मुझे कुछ काल के लिए अपने चरणों में ही आश्रय दीजिये। आप की छत्रछाया में रहकर मैं अपनी विपत्ति को काट ले जाऊँगी। भगवन् मैं आप की शरण हूँ आपके चरणों के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई अकुतोभय स्थान दिखाई नहीं देता। आप मुझ दीना का परित्याग न करें, मुझे अपनी शरण में ही रखें।"

प्रह्लादजी कहते हैं—"दैत्यकुमारो! मेरी माता की ऐसी करुण भरी वाणी सुनकर महामुनि का नवनीत के समान कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया। वे बोले—"वैसे तो साधु के समीप स्त्री का रहना उचित नहीं, किन्तु भगवद्भक्त की माता होने के कारण तुम लोक माता हो, सबकी वन्दनीया हो, अतः जब तक तुम्हारे पति लौटकर नहीं आते, तब तक तुम सुख पूर्वक मेरे आश्रम पर रहो।"

यह सुनकर मेरी माता को बड़ा सन्तोष हुआ। वे अपने आँसू पोंछकर दुःख और लज्जा से सिकुड़ी हुई नीचा सिर करके देवर्षि के पीछे पीछे चलने लगी। अपने आश्रम पर पहुँचकर मुनि बड़े स्नेह के साथ बोले—"देख, बेटी! संकोच करने की कोई बात है नहीं। तू इसे अपने पिता का ही घर समझ। मेरे तप के प्रभाव से यहाँ कोई भी जीव जन्तु तेरी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता। यहीं रहकर तू अपने शुभ दिनों की प्रतीक्षा कर।"

मेरी माँ ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! मेरा प्रसवकाल

सन्निकट ही है गर्भ के दिन बहुत पहले ही पूर्ण हो चुके हैं। मैं यह चाहती हूँ; यहाँ ऋषि आश्रम पर प्रसव न हो। मेरे पति लौट आवें, तब घर पर ही मेरे सन्तान हो।"

मुनि तो सर्वसमर्थ थे, तपस्या के द्वारा उन्हें सभी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वे अपने प्रभाव से अनुग्रह निग्रह करने में समर्थ थे; अतः मेरी माता पर प्रसन्न होकर बोले—"अच्छा बेटी! तू जैसा चाहती है; वैसा ही होगा। तेरा, बालक तब तक गर्भ से बाहर न होगा, जब तक तेरे पति लौटकर न आवेंगे। तेरे गर्भस्थ बालक को उदर में ही सब ज्ञान हो जायगा। वह सब सुनेगा समझेगा।"

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो! तुम चाहे, विश्वास करो या न करो। माता के गर्भ में ही, मैं इन सब बातों को स्पष्ट सुन रहा था और समझ भी रहा था। मेरी माता इस वर को पाकर परम प्रसन्न हुईं। उन्हें ऋषि की कुटी पर कुछ काम तो था नहीं, फिर भी वे भक्ति के वश प्रातःकाल जाकर जल ले आतीं, ऋषि के आश्रम को झाड़ बुहार कर लीप देतीं। पूजा के लिये पत्र पुष्प ले आतीं। सारांश जितनी भी वे कर सकती थीं, मुनि की सेवा किया करतीं। मेरी माता एक तो स्वभाव से ही सरला थीं, पतिव्रता थीं, दीना थीं ऋषि के चरणों में उनकी अत्यन्त श्रद्धा थी, इसलिये मुनि भी उस पर बड़ी कृपा रखते। उसे घर की याद न आवे, इसलिये नित्य नियम से कथा सुनाते, भागवत धर्मों का निरूपण करते। ज्ञान की गूढ़ से गूढ़ बातें बताते। प्रेम की प्रक्रिया समझाते। भाव अनुभाव समझाते, श्रद्धा भक्ति की व्याख्या करते और नाना इतिहास सुनाते। मेरी माताजी

का चित्त तो घर की चिन्ता में लगा रहता, वे कुछ सुनतीं कुछ वैसे ही बिना सुने समझे हाँ हाँ हूँ हूँ कर देतीं। ऋषि का मुख्य अभिप्राय तो मुझे सुनाने का था, माता को लक्ष्य करके वे मुझे ही विशुद्ध भागवत् धर्मों की शिक्षा दिया करते थे। उन परम कारुणिक सर्वसमर्थ मुनि ने धर्म के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का तथा, विशुद्ध ज्ञान का यथावत् उपदेश दिया। पूर्व जन्मों के संस्कारों से केवल श्रवण मात्र से ही मैंने उनके परम रहस्यमय गोपनीय उपदेश को माता के उदर में ही धारण कर लिया। मेरी माता को तो अब वे सब बातें भूल गईं। उनके लिये तो वे सब स्वप्न के समान हो गईं। वे तो उस कथा को समय बिताने का साधन समझती थीं। एक तो स्त्रियों को घर गृहस्थी की चिन्ता पुरुषों से अधिक रहती ही है। दूसरे उन्हें जितनी बेटा बहू की कथा प्यारी लगती है उतनी भागवती कथा प्यारी नहीं लगती इसीलिये मेरी माँ को वे सब बातें याद नहीं रहीं। समय भी बहुत अधिक हो गया। बहुत दिनों में बात भूल भी जाते हैं, किन्तु मेरे हृदय पटल पर तो वे सब बातें ज्यों की त्यों लिखी हुई हैं। मैं उन्हें कैसे भूल सकता हूँ। यदि तुम लोगों की उन बातों को सुनने की श्रद्धा हो, तो मैं तुम्हें भी उन्हें सुना सकता हूँ।"

यह सुनकर असुर बालक बड़ी उत्सुकता के साथ बोले—"हाँ हाँ हमारी बड़ी सुनने की इच्छा है, आप हमें उन बातों को अवश्य सुनाइये।"

धर्मराज युधिष्ठिर कह रहे हैं, राजन् जब असुरों ने इस प्रकार जिज्ञासा की, तो प्रह्लादजी मेरे बताये हुए ज्ञान को उन असुर बालकों को सुनाने लगे।

छप्पय

नारदजी मग मिले इन्द्र कूँ बहु धिक्कारयो।
जानि उदर महँ मोह मातु तजि स्वर्ग सिधारयो॥
मम माता कूँ लाइ रख्यो निज आश्रम मुनिवर।
मोकूँ करि उद्देश सुनावैं कथा मनोहर॥
माँ मुनि की सेवा करे, पायो इच्छा प्रवस वर।
सुन्यो भागवत धर्म तहँ, उदर माहिँ मैंने सुघर॥

भागवत धर्म का उपदेश

(४७५)

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत ॥
(श्रीभा० ७ स्क० ७ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

असुर तनय तब कहें हमें हू ताहि सुनाओ ।
बोले-श्री प्रह्लाद—सुनाऊँ इत मन लाओ ॥
जन्म वृद्धि परिणाम जीर्णता नाश तथा क्षय ।
ये सब तन महँ होहिं आत्मा नित्य अनामय ॥
कनक माँहि मल मिलि गयो, साधनतें नर पृथक् करि ।
त्यों ही आत्मा देहतें, करे, पृथक् तब मिलहिं हरि ॥

जो सब में समान रूप से व्याप्त है, जिसकी प्रभा से सभी प्रभावान् हैं। जिसके प्रकाश से सभी प्रकाशित हो रहे हैं, उस आत्मा में दुःख नहीं शोक नहीं, चिन्ता नहीं भय नहीं। उसी का जब माया के साथ संसर्ग हो जाता है, माया तो वह

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! दैत्यबालकों को मेरे कथन को बताते हुए प्रह्लादजी ने कहा—"देखो भाई ! भगवान् श्री हरि ईश्वर सभी प्राणियों में विराजमान हैं। ऐसा विचार करके सभी प्राणियों का मन से सम्मान करे और सेवा द्वारा उनकी यथा साध्य कामनाओं को पूर्ण करे।

की उपाधि से वह बद्ध सा प्रतीत होने लगता है। अनात्म में आत्म बुद्धि करना यही मायाजनित अज्ञान है। जब जीव उपाधि को त्यागकर अपने सत् स्वरूप को समझ जाता है, तब वह मायातीत बन जाता है। इसीलिये मनीषियों ने आत्म अनात्म विवेक का ही नाम ज्ञान कहा है। ज्ञान हो जाने पर ही आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द घन श्री हरि का यथार्थ बोध होता है, अतः पहिले यही समझना आवश्यक है, कि मायिक पदार्थों से आत्मा में क्या विलक्षणता है।

धर्मराज युधिष्ठर से श्री नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब असुर बालकों ने प्रह्लादजी से आत्म ज्ञान की जिज्ञासा की, तो वे मेरे बताये हुए ज्ञान का स्मरण करके उसी को अत्यन्त ही संक्षेप में कहने लगे। प्रह्लादजी कहते हैं—"भाइयो! मुख्य ज्ञान तो यह है, कि तुम आत्मा और अनात्मा को जान लो।" देह अनात्मा वस्तु है, चैतन्य आत्मा है।

असुर बालकों ने कहा—"भैया, हम तो देह को ही आत्मा समझते हैं। देह से पृथक् आत्मा तो दिखाई देता नहीं।"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, भैया! देह आत्मा नहीं हो सकता। देह तो उत्पन्न होती है, उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त होती है। वृद्धि होते होते ही वृद्धि की सीमा अर्थात् परिणाम को प्राप्त होती है। फिर इसमें क्षय आरंभ होता है, सभी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लगती हैं। क्षीणता होने से जीर्णता आती है। जीर्ण होते होते नाश हो जाता है। इसे आप सभी देहों में देखेंगे। आम के फल को ही लीजिये। वृक्ष पर जब बौर लगता है तो उसमें राई की भाँति छोटे छोटे फल उत्पन्न होते हैं। फिर वे फल क्रमशः नित्य ही बढ़ते हैं। बढ़कर

जितना आम बढ़ना चाहिए, उतना उसका परिणाम है, उतना बढ़ जाता है। बढ़ जाने के अनंतर उसमें पीलापन आने लगता है। परिणाम प्राप्त होने पर उसमें क्षय आरम्भ हो जाता है। फिर वह पेड़ पर ही पिलपिला हो जाता है, पक जाता है, गूदा कठिन से गुलगुला हो जाता है। रङ्ग बदल जाता है, डाली और फलका सम्बन्ध शिथिल पड़ जाता है। एक दिन होता है जब फल पककर अपने आप चू पड़ता है, डाली को छोड़कर गिर पड़ता है। ये ६ विकार समस्त शरीरों में दृष्टिगोचर होते हैं। शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश तो होता नहीं। नाश उसीका होता है, जिसका जन्म होता है। आत्मा तो जन्म, वृद्धि, परिणाम, क्षय, जीर्णता और नाश इन ६ विकारों से सर्वथा रहित है, उसका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।"

इस पर असुर बालकों ने कहा—"तब आत्मा क्या वस्तु है? हम तो यही समझते हैं शरीर के साथ आत्मा उत्पन्न होती है, शरीर के मर जाने पर मर जाती है।"

प्रह्लादजी ने हँसकर कहा—"आत्मा में जन्म मरण संभव नहीं। उसका तो आविर्भाव और तिरोभाव होता है। दो लकड़ियों के मथने से उनमें अग्नि उत्पन्न हो गई, जलने लग गई शनैः शनैः वह मन्द होते होते बुझ गई। तो इससे यह न समझना चाहिए कि अग्नि सर्वदा बुझ ही गई। दोनों लकड़ियों के मन्थन के पूर्व भी उनमें अग्नि थी। मन्थनसे उन लकड़ियोंमें अग्नि की अभिव्यक्ति हो गई, आविर्भाव हो गया। जब उसका आधार ईंधन समाप्त हो गया तो वह अपने नित्य स्वरूप में पुनः जाकर मिल गई। उसका नाश नहीं हुआ, केवल तिरोभाव हो गया। नाश हो जाता तो दूसरी बार मन्थन से अग्नि प्रकट नहीं होती।

उत्पन्न और विनाश ईंधन में संभव है। अग्नि में नहीं। इसी प्रकार आत्मा का न जन्म होता है न मरण। जन्मादि ६ विकार तो शरीर के हैं ?"

असुर बालकों ने पूछा—"फिर आत्मा को कैसे जाने ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"भौतिक देहों से जो भिन्न है वही आत्मा है। देह अनित्य है, आत्मा नित्य है। देही का नाश होता है, आत्मा अविनाशी है। देह अनेक धातुओं और मलों के कारण अशुद्ध है, आत्मा नित्य शुद्ध है। देह अनेक हैं असंख्य हैं, आत्मा एक है। देह क्षेत्र है आत्मा उसको जानने वाला क्षेत्रज्ञ है। देह एक भूमि है, आत्मा उसका अधिष्ठाता है। देह विकारवान् है आत्मा अविकारी है, देह का ज्ञान दूसरे के द्वारा होता है, आत्मा स्वयं प्रकाश है। देह भूतों का कार्य है आत्मा सबका कारण है। देह एकदेशीय परिच्छिन्न है, आत्मा सर्वत्र समान रूप से व्यापक है। देह आसक्तिवाला है, आत्मा असङ्ग निर्लेप है। देह अपूर्ण है, आत्मा पूर्ण अनावृत है।

इस प्रकार देह आत्मा से सर्वथा भिन्न है। देह में जो मैं मेरे पन का भाव हो गया है, अज्ञान के कारण है। जब तक आत्मा के पीछे बताये लक्षणों को समझकर देह को उससे भिन्न करके न देखेंगे तब तक आत्मा का यथार्थ ज्ञान न होगा। देह संसर्ग से आत्मा ऐसा मिल जुल गया है, कि बिना परिश्रम इसका शुद्ध बोध नहीं होता।

असुर बालकों ने कहा—"जब देह के साथ आत्मा इतना मिल जुल गया है, तब इस अनित्य नाशवान् देह के द्वारा उस नित्य शाश्वत आत्मा की उपलब्धि कैसे हो सकती है ?

प्रह्लादजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"इसी का नाम तो साधन है। यही तो मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। देखो, जब खान में से सुवर्ण निकाला जाता है तो जैसे हमारी अँगूठी का सोना दम-दम दमक रहा है ऐसा सुवर्ण खान से थोड़े ही निकलता है। खान से जो सुवर्ण निकलता है—वह बड़ा मलिन होता है। उसमें कंकड़ पत्थर आदि मिले रहते हैं। उनके मलों के कारण वह तेजस्वी प्रभावान् होने पर भी मलिन सा दिखाई देता है। जो उसके विशेषज्ञ हैं वे बार-बार उसे अग्नि में डालकर—तपाकर—नाना युक्तियों द्वारा शुद्ध बनाते हैं। जितने मल हैं उन्हें विविध उपायों से पृथक् कर देते हैं। जब वह केवल शुद्ध सुवर्ण रह जाता है तो चमकने लगता है। इसी प्रकार आत्मस्वरूप के ज्ञाता पंडित जन अध्यात्म योग के द्वारा देहरूप क्षेत्र में ही ब्रह्म पद को उपलब्ध कर लेते हैं।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"फिर देह किस का नाम है ? देह करके हम किन किन वस्तुओं को समझें ?"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"देखो, सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से ही सम्पूर्ण संसार की सृष्टि है। जब ये तीनों गुण न कोई किसी से कम न अधिक इस प्रकार समान रूप से स्थित रहते हैं, तो उन गुणों की साम्यावस्था का ही

नाम 'प्रकृति' है उसमें कोई सृजन की शक्ति नहीं, वह अक्रिय है। जब प्रकृति में विकृति होती है। समान गुणों में क्षोभ होने से असमानता हो जाती है, तभी प्रकृति का कार्य चलता है। मूल प्रकृति से महत्तत्व, उससे अहंकार, सात्विक, राजस् तथा तामस् होने से भूतों तथा इन्द्रिय मन आदि को उत्पन्न करता है। अतः सामान्य तया मूल प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन आठों को प्रकृति कहते हैं। ब्रह्माण्ड के चारों ओर इन अष्ट प्रकृतियों के ही क्रमशः आवरण हैं और एक आवरण से दूसरा आवरण दस गुना है। आठ ये प्रकृति, तीन गुण, शब्द, रूप रस, गंध और स्पर्श पाँच ये तन्मात्रायें, इन १६ विकारों के सहित का ही नाम देह है। इन सब में एक 'पुरुष' अनुगत है। जैसे माला में सूत अनुगत है। देह दो प्रकार की मानी है, स्थावर देह और जंगम देह। स्थावर देह तो जैसे कंकण पत्थर, वृक्ष आदि है जो अपने स्थान से स्वयं नहीं चल सकते। जंगम देह वे कहलाते हैं जो चलते फिरते हैं। जैसे पशु, पक्षी मनुष्य आदि। अब इस देह में ही आत्मा का अन्वेषण करो।"

असुर बालकों ने कहा—"वही तो हम पूछना चाहते हैं, अन्वेषण कैसे करें।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"अरे, भाई देखो! हम गंगा जी में स्नान कर रहे हैं। वहाँ स्नान करते करते हमारा एक रुपया गिर पड़ा। नीचे बहुत सी छोटी छोटी सीपें भी हैं कंकण पत्थर के

गोल गोल टुकड़े भी है और भी हड्डी आदि के टुकड़े पड़े हैं। उनमें से हमें अपना रुपया खोजना है। हाथ में नीचे की सब वस्तु उठाते हैं। यह सीप है, रुपया नहीं है इसे छोड़ दो। यह पत्थर का टुकड़ा है रुपया नहीं है इसे छोड़ दो। यह कांच का टुकड़ा है रुपया नहीं है इसे छोड़ दो। यह तो किसी मृतक की हड्डी है रुपया नहीं फेंक दो। ऐसे हम सब वस्तुओं को ध्यान से देखते हैं। रुपये के गुण न पाकर उसे छोड़ देते हैं। अन्त में सब निकालने पर हाथ में चमकीला सिक्का आ जाता है। हम प्रसन्न हो जाते हैं अरे, यही तो हमारा रुपया है इसी के लिये तो सब कुछ कर रहे थे।

या, यों समझो कि हमारे हाथ में कोई माला है। उसमें नाना प्रकार की मणियाँ हैं। हम एक दाने को लेकर कहें—क्या यह माला है तो गुरु कहेगा नहीं यह माला नहीं हैं क्योंकि इसके निकाल लेने से माला नष्ट न होगी। तब दूसरे दाने को लेकर कहते हैं क्या यह माला है। गुरु कहता है यह भी माला नहीं। उनमें से प्रत्येक दाने को पूछे। कोई भी माला नहीं सब के संघात का नाम माला है। वह भी सूत्र के अधीन है। दाने सब ज्यों के त्यों बने रहें, एक सूत्र को निकाल लीजिये माला का अस्तित्व न रहेगा। वह सूत्र यद्यपि सब दोनों में समान रूप से अनुस्यूत है। तथापि उन दानों में मिल नहीं गया है अपने पृथक अस्तित्व को खो नहीं बैठा है। वह उन दानों से सर्वदा पृथक् है निर्लेप है इसी प्रकार ये जगत के समस्त

विकार माला के दाने हैं सूत्रात्मा इनसे पृथक् रहता हुआ इनका साक्षी मात्र है। वह इस दृश्य प्रपञ्च से विलक्षण और निराला है। सब में रहता हुआ भी सबसे पृथक् है। इसी प्रकार आत्मा को इस देह में ही जो बुद्धि को सूक्ष्म बनाओ स्थूलता को छोड़ो, इधर उधर विषयों में फसी बुद्धि को विचार में विवेक में लगाकर सूक्ष्म करो। स्थूल पदार्थों को सोचते सोचते बुद्धि स्थूल हो जायगी। वह भौतिक पदार्थों की सत्यता आगे सोच ही न सकेगी। भूतों से आगे सूक्ष्म तत्व अहंतत्व महत्तत्व प्रकृति तत्व या प्रकृति के परे के तत्व का विचार करो। उसे आत्म तत्व का विचार अति सूक्ष्म बुद्धि वाले मनीषी ही कर सकते हैं। जो सब अवस्थाओं का साक्षी है वही आत्मा है।

असुर बालकों ने कहा—"हम तो साक्षी मनको समझते हैं। मन में जो आता है कर डालते हैं मन ही इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त कराता है।

प्रह्लादजी ने कहा—ठीक है अच्छा मन ही साक्षी सही। यदि मनके द्वारा ही सब कुछ होता है तो यह करना चाहिए ऐसा विकल्प मनमें क्यों होता है, फिर किसकी प्रेरणा से यही करना चाहिये यह वृत्ति जागृति होती है ?"

असुर बालकों ने कहा—"हाँ मनमें संकल्प होते हैं, किन्तु जब हम कर्तव्य अकर्तव्य का बुद्धि से निर्णय कर लेते हैं तो विकल्प दूर हो जाता है।

इस पर हँस कर प्रह्लाद जी ने कहा—तब तो मन की भी साक्षी बुद्धि हुई। बुद्धिमें स्वयं निर्णय करने की सामर्थ्य नहीं उसे भी शक्ति आत्मा से प्राप्त होती है। देखिये, हम जागते रहते हैं तो इन्द्रियाँ काम करती हैं, स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ प्रसुप्त हो जाती हैं, उस समय मन इधर उधर भटकता रहता है। सुषुप्त अवस्था का अनुभव करता है, वही सब का साक्षी आत्मा है। वह जागृत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में समान रूपसे साक्षी है वही सर्वावस्था को साक्षी परमात्मा कहलाता है।

असुर बालकों ने कहा—ये जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति क्या आत्मा की वृत्ति है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"नहीं, आत्मा में वृत्ति कहाँ ? ये सब तो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। अब यों समझो हम वाटिका में बैठे लिख पढ़ रहे हैं, वायु चली बड़ी सुगन्धि आई। हम प्रसन्न हो गये। बड़ी सुगन्धित वायु है। वास्तव में सुगन्धि वायु में तो है नहीं। गन्ध का आश्रय वायु है। गन्ध से वायु का ज्ञान होता है। उसी प्रकार बुद्धि की इन कर्म जन्य तथा परिवर्तित होने वाली जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं द्वारा आत्मा के निर्लेप असंग और एकरस स्वरूप का ज्ञान करना चाहिये।

असुर बालकों ने कहा—"तब तो आत्मा ही सत्य रहा। यह संसार तो सर्वथा मिथ्या ही सिद्ध हुआ। हँसते हुए प्रह्लाद जी ने कहा—"भाई ! यही तो मैं कह रहा हूँ। इस संसार का मूल

यह देहाध्यास ही है। देह में आत्म बुद्धि होने से ही संसार की प्रतीति है। गुण और कर्म इसके निमित्त हैं। यह जगत् अज्ञान जनित और मिथ्या ही है।"

असुर बालकों ने कहा—"भाई! हमें तो यह संसार प्रत्यक्ष दीख रहा है। यदि इसका अस्तित्व न होता तो इसकी प्रतीति कैसे होती?"

प्रह्लाद जी ने कहा—"जो होता नहीं उसकी प्रतीति नहीं होती क्या? गन्धर्व नगर कुछ वस्तु है क्या? आकाश में यह जो नीले नीले बादल दिखाई देते हैं क्या यह नीला आकाश है? किन्तु सभी कहते हैं नीला आकाश दिखाई देता है। वर्षात् में इन्द्र धनुष दीखता है क्या ऐसा कोई धनुष रखा है? न होने पर भी प्रत्यक्ष दीखता है। स्वप्न में सिंह दिखाई देने से हम उसके कारण थर थर कांपने लगते हैं, क्या उस समय खटिया पर कोई चार पैर का सिंह बैठा था? स्वप्न का सिंह मिथ्या होने पर भी हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता था, उससे भय भी होता था। इसी प्रकार यह संसार वास्तव में कुछ भी न होने पर हमें अज्ञान के द्वारा सत्य सा प्रतीति होता है। इसलिये भाइयो! इस संसार सङ्कट से सदा के लिये मुक्त होने के लिये तुम लोगों को दृढ़ता के साथ कोई उपाय करना चाहिए।

असुर बालकों ने कहा—"क्या उपाय करें भाई। तुम्हीं बताओ।

प्रह्लाद जी ने कहा—"जिससे इस त्रिगुणात्मक जगत् का अत्यंताभाव हो, कर्मों का बीज सर्वदा के लिये नष्ट हो उस योग का आप लोगोंको साधन करना चाहिये। यह व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधि में नहीं लग सकती। लौकिक विषयों को ही ग्रहण करने वाली बुद्धि की वृत्तियाँ जब तक निवृत्त न होंगी तब

तक आत्मसाक्षात्कार न होगा।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"यही तो हम पूछ रहे हैं जिससे अपने स्वरूप का बोध हो ऐसा उपाय बताओ।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"कोई एक उपाय हो तो मैं बताऊं उस आत्मा के अनुभव के लिये सहस्रों उपाय हैं। जिसे जो रुचिकर हो, जिसके जो अनुकूल हो।"

असुर बालकों ने कहा—"भैया! सहस्रों उपाय हैं। यह ठीक है, किन्तु उनमें से कुछ तो बताओ। कुछ मुख्य मुख्य का निर्देश करो।"

धर्मराज से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! असुर बालकों की जिज्ञासा पर मैंने जो आत्मानुभव के उपाय बताये उनमें से कुछ का वर्णन प्रह्लादजी उन बच्चों के सम्मुख करने लगे।

छप्पय

यह संसार असार स्वप्नवत सत्य लखावे।
आत्मज्ञान गुरु कृपा बिना नर कबहुँ न पावे॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति वृत्ति को साक्षी जो है।
सत् चित् आनंद रूप ब्रह्म पद आत्मा सो है॥
जनम मरन चक्कर छुटे, कर्म बीज जाते नसे।
करे योग साधन सतत, दिव्य ज्ञान हिये महँ बसे॥

आत्मानुभव के कुछ उपाय

(४७६)

तत्रोपाय सहस्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० ७ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

आत्मा अनुभव हेतु उपाय असंख्य जगत महँ ।
गुरु शुश्रूषा भक्ति निरन्तर सन्त चरन महँ ॥
हरि उपासना कथा कीरतन महँ रति नित-नित ।
प्रभु प्रतिमा महँ प्रेम कृष्ण चरननि चिंतन चित ॥
काम, क्रोध, मद मोह अरु, मत्सर लोभ विहाय सब ।
निरखे सब महँ श्याम कूँ, पावे प्रभु पद प्रेम तब ॥

जिन कर्मों के द्वारा मन कृष्ण चरण कमलों में लगे, वास्तव में वे ही तो कर्म हैं, शेष सब अकर्म हैं, मिथ्या कर्म हैं अज्ञान जनित मोह का नाश बिना भगवद्भक्ति के नहीं हो सकता। जीव किसी के लिये तड़फड़ा रहा है। वह किसी की

---

*प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं। आत्मानुभव के सहस्रों उपाय होने पर भी उन सब में जो स्वयं साक्षात् भगवान् ने एक मुख्य उपाय बताया है वह यह है कि जिन साधनों से भी भगवान् श्रीहरि में स्वाभाविकी रति हो। उनका ही सर्वदा आचरण करना चाहिये।

खोज में हैं। जहाँ उसका मन रमता है जिधर आकर्षित होता है दौड़ता है, किन्तु कुछ दिनों में वहाँ से भी मन हट जाता है, फिर दूसरी वस्तु की ओर आकर्षित होता है, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी ऐसे ही इधर से उधर भटकता रहता है कहीं शान्ति नहीं पाता। जहाँ जाकर भटकना बन्द हो, जिसे पाकर कृतार्थ हो जाय फिर किसी अन्य को पाने की इच्छा ही न हो वही वास्तविक तत्व है। वही मनुष्य का परम साध्य है।

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो भैया! सब साधनों का एक मात्र उद्देश्य यही है कि प्रभु के पाद पद्मों में अनुराग हो। जिन साधनों से भगवान् विष्णु में स्वाभाविकी रति हो उन उन कार्यों को सदा सर्वदा तत्परता के साथ करते रहना चाहिए।"

असुर बालकों ने कहा—"ऐसे कुछ कर्मों का निर्देश तो कीजिये। किन किन कर्मों के करने से कृष्ण पादपद्मों में रति होती है?"

प्रह्लादजी बोले—"देखो, प्रधान कर्म है, गुरुदेव की प्रेम पूर्वक पूजा करना। जिसकी गुरु में और गोविन्द में एकसी भक्ति नहीं, जो गुरु को मनुष्य करके नहीं मानते। जो उनकी सेवा में सदा तत्पर रहते हैं उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं। भगवान् उनके वश में हो जाते हैं। गुरु की जिसपर

प्रसन्नता नहीं हुई, उसने कितनी भी सम्पत्ति प्राप्त की हो उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। जिसे गुरु की कृपा प्राप्त है वह निर्धन होने पर भी सब से बड़ा धनी है, उसे प्राप्त करने को कुछ शेष रहा ही नहीं।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आप गुरु की महिमा भगवान् से भी बढ़कर बता रहे हैं। यह ठीक है, गुरु विद्या में बड़े हैं, उनका सम्मान करना चाहिए, किन्तु उनमें ईश्वर बुद्धि रखे, यह तो हमें कुछ अत्युक्ति सी लगती है। गुरुके भी हमारी ही भाँति हाथ पैर हैं। उनमें भी हमारे जैसे गुण दोष हैं फिर आप उनकी इतनी महिमा क्यों गा रहे हैं?"

इस पर सूतजी ने अत्यंत गम्भीर होकर कहा—"भगवन् आप को तो गुरु तत्व में किसी प्रकार की शंका हो ही नहीं सकती। आप संसारी लोगों की ओर से शंका कर रहे हैं महानुभाव! यह संसार भाव पर ही अवलंबित है। माता, बहिन, बुआ, पुत्री, पत्नी सभी तो स्त्री हैं। उनमें कोई ऐसा भेद नहीं हमारी माता भी किसी की पत्नी हैं बहिन भी किसी की पत्नी है, बूआ भी किसी की पत्नी है और पुत्री भी किसी की पत्नी है। किन्तु हम सबसे एकसा व्यवहार नहीं करते। भाव के ही कारण उनके साथ व्यवहार में भेद है। हमारा घर, आँगन, चक्की, सिल, बट्टा सभी पत्थर के हैं और भगवान् का श्री विग्रह, प्रभु की प्रतिमा भी पाषाणमयी है, किन्तु भाव का

भेद होने से मन्दिर में हम साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। घर के पत्थरों पर जूता पहिन कर चलते हैं। खड़ाऊँ भी काष्ठ के हैं और माला भी काष्ठ निर्मित है एक को पैरों में पहिनते हैं दूसरी को पूज्य बुद्धि से सिरपर धारण करते हैं। यज्ञोपवीत भी सूत का बना है, और पादत्राण लंगोटी और मलमूत्र शुद्ध करने का कपड़ा भी सूत का है, एक को ब्रह्मरूप मानते हैं, दूसरे को साधारण वस्त्र। गड्ढे तालाब का जल भी पानी है और गंगा जल भी पानी है, एक को स्पर्श भी करने में घृणा है दूसरे को साक्षात् ब्रह्मद्रव मानते हैं। भगवन्! संसार में भाव ही प्रधान है। भाव से ही भक्ति है, भाव ही मुक्ति है। यदि हम गुरु को भी मनुष्य मानकर उससे कुछ सीखते हैं, तो वह भौतिक विद्या तो हमें आजायगी, किन्तु हमारे सद्भावों की वृद्धि न होगी। हृदय में सद्गुणों का विकाश न होगा। हम कला कौशल सीखकर अधिकाधिक सम्पत्ति संचित भले ही करलें, दैवी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव न होगा। गुरु की पूजा एक प्रकार की उपासना है। उपास्य में ईश्वर बुद्धि किये बिना उपासना हो नहीं सकती। सत्ययुग त्रेता आदि युगों में प्रायः प्रतिमा पूजा नहीं थी, उस समय गुरु में ही ईश्वर बुद्धि रखकर उनकी पूजा किया करते थे। तब देवता भी प्रत्यक्ष सशरीर होते थे। जब मनुष्यों में मैं बड़ा तू छोटा ऐसी ईर्ष्या होने लगी। तब अवतारों की पूजा ऋषियों द्वारा प्रचलित हुई। गुरु में मनुष्य भाव रखने से आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती।

हमें तो अपनी श्रद्धा को बढ़ाना है। किसी को आत्म समर्पण करना है। दो ही मार्ग हैं या तो अपने आप जो सत्य अनुभव हो उस पर स्वयं चलना या अपने को सर्व भाव से तद्गुरु के चरणों में समर्पित कर देना। गुरु सेवा भक्ति के बिना हो नहीं सकती। यह दृढ़ विश्वास हो जाय, कि मेरा इनके ही द्वारा उद्धार होगा, तो चाहें गुरु में उतनी शक्ति न भी हो, तो अपने विश्वास के ही आधार पर बेड़ा पार हो जायगा। ऐसे एक नहीं अनेकों दृष्टान्त है, कि अज्ञगुरु में से ही भगवान् प्रकट हो गये हैं भगवान् तो सर्वत्र हैं, जहाँ प्रेम और विश्वास देखते हैं प्रकट हो जाते हैं।

एक कथा है, कि बंगदेश में कोई गुरु थे। उनके एक निष्ठावान् गृहस्थी शिष्य थे। गुरु तो साधारण ही थे, किन्तु उन धनी के वंश परम्परा के पुरोहित कुलगुरु थे। बंगदेश में गुरु भक्ति ही प्रधान है वहाँ साधु भक्ति उतनी नहीं है। वे सम्भ्रान्त गृहस्थ भक्त गुरु में भगवद् बुद्धि रखते थे। समय समय पर गुरु उनके घर आते। दोनों दम्पति मिलकर भगवद् भाव से उनका पूजन सत्कार करते।

एक दिन उनका एक छोटा सा बच्चा सुवर्ण और मणियों का एक बहु मूल्य हार पहिने गुरु के समीप खेल रहा था। माता पिता कोई नहीं थे सर्वथा एकान्त था। गुरु के मन में पाप उत्पन्न हुआ। बच्चे का हार और उसके अभूषण उतार लिये। फिर सोचा—

"इसे ऐसे ही छोड़ दें तो घर में कह देगा।" अतः उसका गला घोटकर समीप में ही एक बड़ा संदूक रखा था उसी में रखकर ताला लगा दिया। सोचा—रात्रि में जब सब सो जायेंगे तो इसे गंगाजी में फेंक आवेंगे। प्रातः इन आभूषणों को लेकर चल देंगे।" यही सोचकर वे निश्चिन्त हो गये।

इधर जब माता ने बच्चे को नहीं देखा। तो खोज हो लगी। इधर उधर ढूँढ़ा बच्चा कहीं भी नहीं। सब को चिन्ता हुई किन्तु वे पति पत्नी निश्चिन्त थे। वे सोचते थे गुरु देव के य रहते हमारा अनिष्ट हो ही नहीं सकता।" उनकी ऐसी दृढ़ का गुरु के हृदय पर भी प्रभाव पड़ा। उन्हें भी अपने किये पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने दुःख के साथ अपने शिष्य से कहा "भैया! हमसे बड़ा पाप बन गया। आभूषणों के लोभ से हम तुम्हारे बच्चे को मार डाला।"

शिष्य ने दृढ़ता के स्वर में कहा—मेरे गुरु को तो लोभ स्प भी नहीं कर सकता। लोभ तो दूसरों की वस्तु पर होता है। ज हमारा सर्वस्व गुरु का ही है, तो वे लोभ क्यों करने लगे! अतः वे तो जीवनदान देने वाले हैं। मार कैसे सकते हैं।"

गुरु ने कहा—"ना भैया हमारे मनमें पाप आगया। इस लिये यह गर्हित परम निन्दित कार्य हमसे बन गया।"

शिष्य ने कहा—"मेरे गुरु को तो पाप स्पर्श भी नहीं क सकता।"

गुरु उनकी निष्ठा देखकर झुंझला उठे। वे सन्दूक को उठा लाये और उन दोनों के सम्मुख रख दिया। सन्दूक खोलने पर बच्चा मरा निकला। दोनों में से किसी को न शोक हुआ न विस्मय। उन्होंने बच्चे को उठाकर गोद में रखा। गुरु के चरणों का चरणामृत लिया और उसके मुख में डालते हुए कहा—"यदि हमने मनसा वाचा कर्मणा कभी भी गुरु पर अविश्वास न किया हो, तो यह बालक जीवित हो जाय।" आश्चर्य की बात कि गुरु का चरणोदक मुख में पड़ते ही बच्चा हँसता हुआ उठ खड़ा हुआ। इस पर उन दोनों को तो कुछ भी आश्चर्य न हुआ किन्तु उनका अभिमान बढ़ गया।

सुनते हैं कुछ काल के पश्चात् उनके किसी दूसरे शिष्य के यहाँ एक पुरुष की मृत्यु हुई। गुरुजी ने कहा—"देखो हम इसे अभी जिलाते हैं।" यह कहकर उन्होंने अपना चरणामृत स्वयं उसके मुख में डाला। किन्तु वह जीवित नहीं हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस कथा का सारांश इतना ही है कि शिष्य की दृढ़ श्रद्धा और सच्ची भावना ही फलवती होती है। जितने भी महापुरुष हुए हैं सभी ने गुरु भक्ति का अनुपम आदर्श उपस्थित किया। स्वयं साक्षात् भगवान् वासुदेव ने भी अवन्तीपुरी में जाकर गुरु सान्दीपन मुनि की निश्छल भाव से सेवा की थी। सभी जानते हैं, भगवान् को न कुछ प्राप्त ही करना शेष था न उन्हें विद्याओं की आवश्यकता थी

किन्तु गुरु शुश्रूषा का आदर्श उपस्थित करने के निमित्त ही उन्होंने यह सब लीला की। वे अपने सहपाठी सुदामा जी के साथ गुरुपत्नी के कहने पर वन से जाकर स्वयं ईंधन तोड़कर लाते थे और गुरु की सभी प्रकार की सेवा किया करते थे। इतिहास पुराणों में ऐसे एक नहीं अनेकों प्रमाण हैं जिनमें गुरु के कहने से शिष्यों ने हँसते हँसते प्राण दे दिये हैं। मुनियो! अन्य युगों की बातें जाने दें इस काल में ही ऐसे गुरुभक्त उत्पन्न हुए हैं जो अपनी गुरुभक्ति के कारण ही मूर्खसे सर्वशास्त्र पारंगत हो गये हैं। एक गुरु के पास बड़े बड़े विद्वान शिष्य पढ़ा करते थे किन्तु एक गुरुभक्त शिष्य निरंतर गुरु-सेवा में ही लगा रहता था। एक दिनकी बात है कि आचार्य पढ़ाने को उद्यत हुए किन्तु उनका वह परम सेवक शिष्य तब तक नहीं आया था। वह आचार्य के वस्त्रों को धो रहा था आचार्य ने अन्य शिष्यों से कहा—"अभी उसे भी आ जाने दो तब पाठ आरम्भ करेंगे।"

अन्य विद्वान् शिष्यों ने कहा—"अजी महाराज! वह तो मूर्ख है। कुछ समझता बूझता थोड़े ही है। उसका आना न आना बराबर है।"

बस फिर क्या था आचार्य की उसी क्षण उस पर कृपा की दृष्टि हो गई। तत्क्षण उसकी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान हो गईं और वह सबसे बड़ा आचार्य हो गया। सो, मुनियो! गुरु शुश्रूषा से असम्भव बात सम्भव हो जाती है। इस विषय में

मैं आप सबको एक इतिहास सुनाता हूँ। उसे आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

गुरु गोविंद को रूप जानि श्रद्धाचित लावे।
गुरु मेरे सरवस्व कबहुँ नहि तिन्हें भुलावे॥
गुरु तें पहिले उठे अन्त महँ गुरु के सोये।
गुरु आज्ञा का देहि सतत तिनको मुख जोये॥
गुरु, मूरति को ध्यान करि, गुरु चरनामृत लेइ नित।
गुरु हित सौंपै देह कूँ, गुरु चरननि महँ रखहिं चित॥

गुरु शुश्रूषादि साधन

(४७७)

गुरु शुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० ७ अ० ३० श्लो)

छप्पय

गुरु सेवा जिन करी करयो तिन सबु जग माहीं।
गुरु सेवन नहिं करयो करयो तिन ने कछु नाहीं॥
गुरु की मूरति मधुर ज्ञान की ज्योति जगावे।
गुरु अनुकम्पा करे, हिये को तम नसि जावे॥
प्रभु प्रसाद समुझे सबहिं, कहे नाथ! नहिं कछू मन।
करि अरपन विनती करे, हे हरि! हिय को हरो तम॥

यह संसार गुण दोषों से व्याप्त है। दोनों के मिश्रण से ही इसकी स्थिति है। संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसमें

❀ प्रह्लादजी आत्मानुभव के साधन बताते हुए कह रहे हैं—"भक्ति पूर्वक गुरु शुश्रूषा करने से, जो प्राप्त हो उसे भगवान् को समर्पित करने से, साधुओं का और भक्तों का सङ्ग करने से तथा ईश्वर का आराधन करने से भगवान् में स्वाभाविकी रति होती है।

गुण ही गुण हों और कोई ऐसा भी नहीं जिसमें अवगुण ही अवगुण हों। इस गुण दोष से पूर्ण संसार में श्रीहरि सर्वत्र रम रहे हैं। जो गुण दोष सहित मोह वश जिस वस्तु में आसक्ति करता है तो वह उसी का रूप हो जाता है जिसे दोष दीखते ही नहीं। प्रेमवश, श्रद्धावश किसी से प्रेम करता है तो भगवान् वहीं प्रकट हो जाते हैं। जैसे कोई स्त्री है। वह अपनी कामना पूर्ति के लिये पति के शरीर में भोग बुद्धि से आसक्त रहती है। तो उसे सदा संसार में ही भटकते रहना पड़ता है। पैदा होना पैदा करते रहना यही क्रम लगा रहेगा। यदि वह पति में ईश्वर बुद्धि करके उससे प्रेम करती है तो उसी में से भगवान् प्रकट होते हैं। सदा के लिये उसका जन्म मरण छूट जाता है और लक्ष्मी की तरह वह सदा वैकुण्ठ में जगत् पति के साथ दिव्यानन्दका अनुभव करती है।

प्रेम में दोष नहीं दीखते। जहाँ दोष बुद्धि है वहाँ प्रेम नहीं। यदि हमें दोष ही देखने की टेव पड़ जायगी तो संसार में सभी में दोष ही दोष दिखाई देंगे। दोष तो ऊपर तैरते रहते हैं। उन्हें देखने के लिये अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। गुण गर्भ में छिपे रहते हैं, अतः गुण ग्रहण के लिये गहरे में पैठना पड़ता है अपने आपे को भूलकर उसी में निमग्न होना पड़ता है। ढूँढ़ना पड़ता है, तब गुण प्राप्त होते हैं। इसीलिये स्त्रियों के लिये पति, शिष्यों के लिये गुरु ईश्वर रूप ही बताये गये हैं। यह संभव हो सकता है कि सती का जो पति है शिष्य का जो गुरु है हम अन्य लोगों की दृष्टि में उससे बढ़कर ज्ञानी ध्यानी सदाचारी अन्य भी पति या गुरु कहलाने वाले हो सकते हैं किन्तु उनका उद्धार तो उन्हीं से होगा जिनका

उन्होंने पल्ला पकड़ा है। पार जाने के लिये छोटी, बड़ी, सुन्दर, असुन्दर, सजी, बिना सजी, दृढ़, जर्जर अनेक प्रकार की नौकायें हैं। किन्तु हम सबसे तो पार जा नहीं सकते। किसी एक से ही पार जायेंगे। जिसमें बैठकर हम चल रहे हैं वही नौका हमें पार करेगी हमारा प्रयोजन तो उसी नौका के मल्लाह से है। इसी प्रकार जिससे गठबन्धन हो चुका है वह पति कैसा भी हो उसी के साथ जीवन बिताना है उसी के द्वारा पार होना है। यह अच्छा नहीं दूसरा चाहिये दूसरा नहीं तीसरा चाहिये। इसमें तृप्ति नहीं। शान्ति नहीं उद्धार नहीं पार होने की आशा नहीं। हाँ यदि पति पतित हो जाय, परधर्मावलम्बी हो जाय तब उसके परित्याग में कोई दोष शास्त्रकारों ने नहीं बताया। अन्य समय उसकी सभी आज्ञाओं को बिना विरोध यथाशक्ति पालन करना चाहिये। सदियों के ऐसे असंख्यों दृष्टान्त हैं। एक बात में यदि आज्ञा उल्लंघन भी हो जाय तो कोई दोष नहीं। पति कहे तुम भगवान् की सेवा पूजा मत करो, तो यदि यह आज्ञा न भी मानी जाय तो कोई पाप नहीं। इसी प्रकार गुरु की भी सभी आज्ञा को विरोध श्रद्धा सहित मानना चाहिए। किन्तु यदि वह भगवान् के भजन को मना करे तो उसे न माने तो कोई दोष नहीं लगता। क्योंकि भगवद्भक्ति ही तो जीव का प्रधान लक्ष्य है। इसीलिये तो गुरु किये जाते हैं। गुरु दो कार्य करते हैं हमें मन्त्र की दीक्षा देते हैं परमार्थ की शिक्षा देते हैं। कभी-कभी शिक्षा कोई दूसरे गुरु देते हैं दीक्षा दूसरे। ऐसी दशा में दोनों में ही श्रद्धा रखनी चाहिये। किन्तु दीक्षा गुरु की अपेक्षा शिक्षा गुरु अधिक सम्माननीय और श्रेष्ठ हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! प्रह्लादजी अपना शिक्षा गुरु मुझे ही मानते थे। इसीलिये आत्मानुभव के सैकड़ों उपायों में से गुरु शुश्रूषा को उन्होंने सर्वप्रथम-स्थान दिया है। इसी प्रसंग का नैमिषाख्य के शौनकादि मुनियों के सम्मुख सूतजी कह रहे हैं—"मुनियों! शिष्यों ने गुरु की आज्ञा का पालन के लिये किस प्रकार अपने जीवन की भी चिन्ता नहीं की इस विषय के अनेकों दृष्टान्तों में से कुछ आपको सुनाता हूँ।

एक गुरु के समीप तीन शिष्य पढ़ते थे। प्राचीन वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के अनुसार बच्चा जहाँ ५।६ वर्ष का हुआ तहाँ माता पिता उसे गुरु गृह में छोड़ आते थे। इसी का नाम उपनयन (गुरु समीप ले जाना) संस्कार था। वहाँ गुरु उसे वेदमन्त्र गायत्री की दीक्षा देकर सदाचार की वेदादिधर्म शास्त्रोंकी शिक्षा देते थे। विद्यार्थी का एक मात्र कार्य था, गुरु की शुश्रूषा। पढ़ना उसका कार्य नहीं था। यह तो गुरु की इच्छा पर निर्भर था। गुरु जब योग्य समझेंगे तब पढ़ने बुला लेंगे। उसका काम तो यह होता था अपने समस्त शारीरिक सुखों को भूलकर सब प्रकार से गुरु की सेवा करते रहना, उनकी प्रत्येक आज्ञा का अव्यग्र-भाव से पालन करना। घर घर से भिक्षा माँग कर लाकर गुरु को सौंप देना। गुरु उसमें से जितनी देदें उसी पर सन्तोष कर लेना। उनके लिये वन से फल, फूल, मूल, कंद समिधा तथा कुशा आदि आवश्यक वस्तुएँ लाना और वे जो भी करने को कहें उसे श्रद्धा सहित करना। उन आचार्य के तीनों शिष्य आज्ञाकारी और गुरु भक्त थे।

प्रथम शिष्य को एक दिन गुरु ने कहा—"देखो, तुम

कर खेत की मेड़ बना आओ जिससे खेत में से पानी न निकलने पावे।" शिष्य गुरु की आज्ञा से खेत की मेड़ बनाने चला, जाकर उसने खेत की मेड़ बनाई। मेड़ बनाते बनाते वर्षा होने लगी। एक ओर से पानी खेत की मेड़को काटकर बहने लगा। शिष्य ने जाकर देखा पानी खेत से निकल रहा है। गुरुजी की आज्ञा है पानी खेत से न निकले उसने इधर उधर से मिट्टी लाकर कटे हुए स्थान पर रखी। ज्यों ही वह मिट्टी रखता त्योंही पानी का प्रवाह उसे बहा ले जाता। बहाव का स्थान भी शनैः शनैः बढ़ने लगा। नियम ऐसा है कि बहते हुए पानी को रोकने के लिये पहिले फूटे हुए स्थान से पूर्व के स्थान को रोकते हैं उतना देर में फूटे हुए स्थान पर यथेष्ट मिट्टी रख देते हैं जब तक पहिले रोके स्थान को काट कर पानी आता है तब तक यह फूटा स्थान यथेष्ट मिट्टी रखने से दृढ़ हो जाता है, इससे पानी निकलने नहीं पाता किन्तु यहाँ पानी का प्रवाह इतना तीव्र था कि उसमें ऊपर रोकने को अवसर ही नहीं था। जब शिष्य ने अपना सम्पूर्ण श्रम व्यर्थ हुआ समझा तब वह स्वयं फावड़े को टाल कर कटे हुए स्थान पर लेट गया। इससे जल रुक गया खेत पानी से भर गया। वर्षा भी बन्द हो गई, किन्तु शिष्य उठा नहीं। उठता है तो खेत का समस्त पानी निकल जायागा। गुरु आज्ञा का उल्लंघन हो जायगा। यही सोचकर वह सूर्यास्त तक बिना खाये पीये यों ही पड़ा रहा।

रात्रि में जब गुरु ने देखा शिष्य अभी तक नहीं लौटा तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। शिष्य वत्सल गुरु ने सोचा मैंने उसे खेत की मेड़ बनाने भेजा था, अभी तक लौटा नहीं। क्या कारण है। शिष्य के स्मरण से उनका हृदय भर आया। हाथ में लाठी लेकर दोनों शिष्यों को साथ लिये वे रात्रिमें खेत पर पहुँचे।

वहाँ देखा शिष्य नहीं है। तब तो वे बड़े चिंतित हुए। उच्च स्वर से पुकारने लगे—"बेटा आरुणी ? तुम कहाँ हो। जहाँ भी हो शीघ्रता से मेरे समीप चले आओ। शिष्य ने सोचा—मैं गुरु आज्ञा से ही तो यहाँ पानी को रोके पड़ा हूँ यदि अब गुरु बुला रहे हैं तो मुझे तत्क्षण जाना चाहिए। यह सोचकर वह वहाँ से उठकर उसी समय गुरु के समीप गया और हाथ जोड़कर बोला गुरुदेव ! मैं यहाँ उपस्थित हूँ मेरे लिये क्या आज्ञा होती है ?"

गुरु ने पूछा—बेटा ! तुम तब से कहाँ थे ?"

शिष्य ने कहा—"भगवन ! आप की आज्ञा थी, मैं खेत के पानी को मेड़ बनाकर रोकूँ जब मैं किसी प्रकार उसे रोकने में समर्थ न हुआ, तो स्वयं मेंड़ बनकर पानी को रोक कर पड़ा था। अब आपकी आज्ञा पाते ही पानी को बहुता हुआ छोड़कर चला आया।"

गुरु उसकी आज्ञाकारिता पर बड़े प्रसन्न हुए और आशीर्वाद देते हुए बोले—"तुमने निष्कपट भाव से गुरु शुश्रूषा की है, अतः बिना पढ़े ही तुम्हें समस्त विद्या आ जायगी और संसार में तुम बड़े यशस्वी होगे।" वे ही महानुभाव गुरु कृपा से संसार में परम तेजस्वी यशस्वी तथा मृत्यु को जीतने वाले उद्दालक ऋषि के नाम से विख्यात हुए।"

ऐसे ही एक उनके दूसरे शिष्य थे। उन्हें गुरु ने गो सेवा का काम सौंपा। वे दिन भर गौ चराते रात्रि में भिक्षा माँग कर निर्वाह करते गुरु तो उसकी परीक्षा लेना चाहते थे। अतः उससे पूछा—"क्या खाता है जो ऐसा मोटा हो रहा है ?"

शिष्यने सब बता दिया भिक्षा लाकर निर्वाह करता हूँ। इस पर गुरु ने कहा—"भिक्षा लाकर गुरु को देनी चाहिए गुरु जो दे उसी पर निर्वाह करना चाहिये। दूसरे दिन शिष्य ने ऐसा ही किया किन्तु गुरुजी ने एक ग्रास भी शिष्य को नहीं दिया शिष्य ने सोचा—गुरु जी नहीं देते जाने दो। मैं दुबारा माँग कर उसी पर निर्वाह करूँगा। दूसरे दिन से वह ऐसा ही करने लगा। गुरु जी ने पुनः उसे हृष्ट पुष्ट देख कर पूँछा—"अब तू क्या खाता है ?"

शिष्य ने बता दिया, दुबारा भिक्षा ले आता हूँ। गुरु जी ने डाँट कर कहा—"ऐसा मत करना। ऐसा करने से लोभ प्रकट होता है गृहस्थियों को कष्ट होगा।" शिष्य ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की। अब वह दिन भर गौ चराता रात्रि में भिक्षा लाकर गुरु को दे देता। भूख लगती तो गौओं का यथेष्ट दूध दुहकर पी जाता।

गुरु जी तो उसके पीछे ही पड़े थे, कारण पूछने पर जब उसने दूध पीने की बात कही तो क्रोध करके गुरु बोले—"मेरी आज्ञा के बिना गौओं का दूध पीना पाप है। अब ऐसा मत करना।" उसने आज्ञा शिरोधार्य की। अब वह बछड़ों के मुख से गिरे फैन पर निर्वाह करने लगा। मालूम होने पर गुरु जी ने कहा—"बछड़े तुम पर दया करके अधिक फैन गिरा देते होंगे, फैन भी मत खाया करो।"

अब बिचारा क्या करता, दिन भर गौ चराता भिक्षा माँग कर गुरु को देता। दूध, फैन, भी नहीं लेता। भूख के कारण एक दिन वह बहुत व्याकुल हुआ। वहाँ बहुत से आक के पेड़

खड़े थे। अत्यंत भूख में वह बहुत से आक के पत्तों को खागया। आक का दूध आँखों में भी लग गया, जिससे आँखें फूट गयीं। अंधा हो गया। फिर भी गौओं के पीछे घूमता रहा। घूमते-घूमते वह एक कुए में गिर गया। गौयें सायंकाल को बिना अपने गोपाल के आश्रम पर लौट आईं। तब तो गुरु जी को बड़ी चिन्ता हुई, उनका हृदय भर आया। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"प्रतीत होता है, उपमन्यु का भोजन मैंने सर्वथा बंद कर दिया है, इसीलिये भूख के कारण नहीं लौटा उसे क्रोध भी आ गया होगा। अतः चलो, उसे ढूँढे।' यह कहकर गुरु जी वन मे बेटा! उपमन्यु बेटा! बेटा उपमन्यु कहकर चिल्लाने लगे। गुरु की वाणी सुनकर शिष्य ने कुएँ में से ही कहा—"गुरु देव! आक के पत्ते खाने से मेरे नेत्रों की ज्योति भी जाती रही है। अतः मैं कूएँ में पड़ा हूँ, यहाँ से आपकी आज्ञा का पालन कैसे करूँ।"

गुरुदेव सम्पूर्ण रहस्य को समझ गये, उससे देव वैद्य अश्विनी कुमारों की स्तुति करने को कहा—उसने स्तुति की। अश्विनी कुमारों ने स्तुति से प्रसन्न होकर उनकी आँखें ज्यों की त्यों बना दी और गुरु शुश्रूषादि से सन्तुष्ट होकर उसे सर्व शास्त्रज्ञ होने को आशीर्वाद दिया।" अश्विनी कुमारों के आशीर्वाद का गुरु ने भी अनुमोदन किया और वह बिना पढ़े ही गुरु कृपा से समस्त वेदों का ज्ञाता हो गया। संसार में वे ही सर्व पूज्य उपमन्यु ऋषि हुए।

गुरुजी के तीसरे शिष्य का नाम था वेदा वह अत्यंत ही गुरु भक्त था। जो जितना ही दृढ़ धारणा वाला होता है, उसकी उतनी ही कठिन परीक्षा ली जाती है गुरुजी ने वेद को अपनी गृहस्थी का सब काम सौंप दिया।

वेद बहुत प्रातः काल उठते ही सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र से निबटकर सम्पूर्ण आश्रम को झाड़ बुहार कर स्वच्छ करना गुरु के बर्तनों को मलता, पीने तथा स्नान आदि को पानी भरकर स्वयं लाता। पानी के घड़ों को उठाते उठाते उसके कंधों में गड्ढे पड़ गये थे। फिर गुरु के तथा गुरु पत्नियों के वस्त्रों को धोता। उच्छिष्ट बर्तनों को मलता। सारांश रात्रि दिन गुरु के घर के कामों में ही लगा रहता। गुरुजी उसमें भी मना नहीं करते थे। यही नहीं वे उसे सदा किसी न किसी काम में लगाये ही रहते। क्षण भर को भी विश्राम न लेने देते। वह शीत उष्ण, भूख प्यास सभी दुःखों को सहता हुआ सब कार्यों को गुरु की इच्छानुसार ही करता रहता। न कभी काम से डरता न किसी भी समय असावधानी करता चिरकाल के पश्चात् गुरु उसकी शुश्रूषा से सन्तुष्ट हुए और उसे सर्वज्ञ होने का आशीर्वाद दिया। वेद अपने गुरु के आशीर्वाद ग्रहण करके और उनके पादपद्मों में प्रणाम करके स्नातक होकर घर लौट गये। उन्होंने विधिवत् विवाह किया और वे ही आचार्य हो गये। उनके समीप जो छात्र पढ़ने आते उनसे वे दया वश घर का कोई भी कार्य न कराते थे, वे जानते थे, कि गुरुगृह में रहकर सेवा करने में कैसा क्लेश होता है।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार शास्त्रों में गुरु शुश्रूषा के अनेकों उत्कृष्ट से उत्कृष्ट उदाहरण भरे पड़े हैं। वे शिष्य धन्य हैं जो अपने शरीर के सुखों की तनिक भी चिन्ता न करके सदा गुरु शुश्रूषा में लगे रहते हैं।

आत्मानुभव के उपाय बताते हुए प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"गुरु शुश्रूषा से जनार्दन भगवान् अत्यंत शीघ्र

सन्तुष्ट हो जाते हैं। दूसरा उपाय है सर्व लब्धार्पण। जो भी कुछ प्राप्त हो उसे भगवान् को अर्पण कर देना। मन में ऐसी धारणा सर्वदा जागृत रखनी चाहिए कि सब के स्वामी श्री हरि ही हैं। जीव व्यर्थ में मेरी मेरी करता है। यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, यह मेरा निज का उपार्जित धन है। अरे, भैया! तू क्या उपार्जित कर सकता है। तू तो एक जल की विन्दु एक पृथ्वी का कण एक नन्हा सा बीज भी नहीं बना सकता भगवान् की बनाई गुठली को, भगवान् की बनाई भूमि में उनके ही दिये हाथों से तू गाड़ देता है। उनके ही बनाये जल को उनकी प्रेरणा से ही उसमें डालता है। उन्हीं की कृपा से वृक्ष बढ़ता है, फलता फूलता है। उन फलों मे तेरा क्या? तू क्यों उसमें अपने पन का अभिमान करता है। जो भी भोग्य पदार्थ आवे उसी को देखकर कहना चाहिये—हे गोविन्द! यह तुम्हारी वस्तु है, तुम्हीं को इसे समर्पित करता हूँ। समर्पित वस्तु को क्या कर सकता हूँ, इसमें जो मेरा मिथ्या ममत्व हो गया है, उस ममत्व को तुम्हें देता हूँ। आप इसमें से मेरे पन को ग्रहण कर लीजिये मेरे ऊपर प्रसन्न हुजिये।" इसी का नाम है सर्वसमर्पण।

अन्न आवे तो पहिले भगवान् को भोग लगा कर उन्हें अर्पित करके तब प्रसाद पाओ। जल आवे तो उसे प्रसादी बनाकर अच्युत को अर्पण करके पीओ। शैया, यान, वस्त्र, गंध जो भी सामग्री हो सबको भगवत् अर्पण करके ग्रहण करो अप्रसादी किसी भी वस्तु को ग्रहण करना पाप को ग्रहण करना है।

एक भगवद्भक्त थे, वे बिना भगवान् को अर्पण किये किसी

वस्तु को ग्रहण नहीं करते थे। एक बार वे किसी विपत्ति में भूले भटके किसी अरण्य में पहुँचे। भूख से व्याकुल थे। एक सुन्दर

फल उन्हें मिला। मुँह में अकस्मात् डाल लिया। जब वह कंठ के नीचे उतर गया, तभी उन्हें स्मरण हुआ, मैंने इसे भगवान् को भोग नहीं लगाया। प्रभु को अर्पण नहीं किया अब क्या करते। दृढ़ता के साथ गले को पकड़ कर रह गये। उन्हें भय था, कहीं यह अनर्पित वस्तु मेरे पेट में न पहुँच जाय। अतः एक तीक्ष्ण शस्त्र लेकर उन्होंने ज्यों ही कंठ को काटना चाहा कि तत्क्षण भगवान् उनकी निष्ठा से प्रसन्न होकर प्रकट हो गये। यह सबसे श्रेष्ठ साधन है, कि किसी भी वस्तु को बिना भगवत् अर्पण किये ग्रहण न करना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बताइये, इसमें लगता ही क्या है। भगवान् के सम्मुख रख दिया तुलसी पत्र छोड़ दिया विनती करली—"प्रभो! इसे स्वीकार करलो।" इतने से ही भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।" आगे प्रह्लादजी कहते हैं—"तीसरा साधन है साधु भक्तजनों का संग करना।"

मुनियो! सत्संग से बढ़ कर परमार्थ का कोई दूसरा साधन नहीं। भक्तों का सङ्ग करने से मनुष्यों की तो बात ही क्या पशु, पक्षी वृक्ष तक तर जाते हैं। साधु के संग से संसार में आज तक किसी का अकल्याण हुआ हो इसका एक भी उदाहरण नहीं मिलता। दुष्टों के संग से अच्छे अच्छे महात्मा लांछित हो जाते हैं। क्षण भर के साधु संग से तोते को पढ़ाने वाली वेश्या तर गई। जड़भरत जी से पालकी ढुलाने में

रहूगण राजा तर गया। हनुमान जी का मुक्का खाकर उसी सत्संग से लङ्किनी तर गई। सो, मुनियो! जिन्हें परमार्थ पथका पथिक बनना हो, उन्हें विषयियों का संग सर्वथा छोड़ कर साधुओं का संग करना चाहिये। सत्संगति मनुष्य को क्या से क्या नहीं बना देती। इसके अनेकों दृष्टान्त हैं।

प्रह्लादजी बता रहे हैं—"चौथा साधन है भगवान की उपासना करना।" सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् की उपासना से मन के सभी प्रकार के मल दूर हो जाते हैं हृदय पवित्र हो जाता है। मन में विषयों के प्रति जो श्रेष्ठ बुद्धि है वह हट जाती है। अन्तःकरण विशुद्ध बन जाता है। विशुद्ध श्रीहरि की उपासना के द्वारा ही असंख्यों भक्त इस भयंकर भव सागर को बात बात में पार कर गये। भगवान् की उपासना के अनेकों भेद हैं उनमें से जो अपने अनुकूल हो, जिस पद्धति की भी गुरु ने शिक्षा दी हो। उसी के अनुसार उपासना करनी चाहिये। उपासना करते करते उपासक के उपास्य वश में हो जाते हैं, फिर उपासक उनसे जो भी कराना चाहें, भगवान् उसी को करते हैं। भगवान् अपने उपासकों की बड़ी चिन्ता रखते हैं। जो उन्हीं के ऊपर निर्भर रहता है, ऐसे उपासक की सब भाँति से वे रक्षा करते रहते हैं, कि हमारे सच्चे उपासक को कोई कभी भी किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचा सके। भगवान् ने अपने परमप्रिय आयुध सुदर्शन चक्र को यही आज्ञा दे दी है, कि तुम अपने तेज से मेरे भक्तों की

रक्षा करते रहो। तभी से सुदर्शन चक्र सदा भक्तों की रक्षा करता रहता है, उन्हें बड़े बड़े सङ्कटों से बचाता रहता है। परम भक्त अम्बरीष को महामुनि दुर्वासा के शाप से सुदर्शन ने ही तो बचाया था। यह सब महाराज अम्बरीष की दृढ़ भक्ति और भगवान् यज्ञ पुरुष की उपासना ही का तो एकमात्र फल था। अतः आत्मानुभव के इच्छुकों के लिये भगवान् की उपासना करना, परम आवश्यक है।

छप्पय

सदासाधु सत्संग करे विषयिनि ते बचिकें।
समुझे सरबस साधु करे सेवा रचिपचि कें॥
तनतें मनतें और द्रव्यतें यथा शक्ति नित।
हरि उपासना करें हृदय तब होवै प्रमुदित॥
जे उपासना ईसकी, करें नहीं जगमहँ फँसे।
ते पामर पशु पतित नर, मरिके नरकनि महँ बसे॥

अन्य साधन

(४७८)

श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् ।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात्तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥
(श्री भा० ७ स्क० ७ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

कृष्ण कथा महँ चित्त प्रेम तें सुनै सुनावैं ।
नित नव नव अनुराग बढे कबहूँ न अघावैं ॥
ज्यों मधु महँ अनुरक्त रहे मधुलोलुप मधुकर ।
त्यों ई हरि गुन गान कृष्ण कीर्तन महँ तत्पर ॥
कथा कीरतन गुन श्रवन, करि करि हरि हिय महँ धरे ।
इत उत कबहुँ न जाइ चित, चरन कमल चिंतन करे ॥

किसी बात को सौ बार दुहराओ सौ बार ध्यान से सुनो अनायास बिना प्रयत्न के वह बात याद हो जायगी उसके संस्कार जम जायँगे। मनुष्य जैसी बात सुनता है, उसके

प्रह्लादजी असुर बालकों को आत्मानुभव के साधन बताते हुए कह रहे हैं—"देखो, भाई ! भगवान् की कथाओं में श्रद्धा करने से, भगवान् के गुणों का और कर्मों का कीर्तन करने से, उनके चरण कमलों का चिन्तन करने से, भगवत् प्रतिमाओं का पूजन करने से तथा उनके दर्शन आदि करने से भगवान् में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है।

वैसे ही अव्यक्त संस्कार बनते हैं, जिसकी चिंतना करता है, वही हो जाता है जिसे निरंतर देखता रहता है, उसी की ओर आकर्षित हो जाता है। निरंतर जिसका सेवन करेगा उसी के स्वभाव का मनुष्य हो जायगा। विषयी निरंतर विषयों का चिन्तन करते हैं। मल मूत्र, विष्ठा, लार, खखार, रज वीर्य, रक्त मांस के सहित इस देह का चिन्तन करने से इसी में आसक्ति हो जाती है, इसी के सङ्ग में सुख का अनुभव करता है। मर कर नरकों में इन्हीं वस्तुओं के कुंडों में डाला जाता है। वहाँ स्थूल देह तो होती नहीं सूक्ष्म—यातना देह को कभी मल के कुन्ड में कभी मूत्र के कुन्ड में कभी पीव, रक्त, रज, वीर्य तथा कृमियों के कुन्डों में डालकर ये सब वस्तुएँ उसे पिलाई खिलाई जाती हैं। जो इन हाड़ मांस के शरीरों को न सोचकर भगवान के दिव्य स्वरूप का चिन्तन करता है, कृष्ण की कमनीय ललित कथाओं को श्रद्धा सहित श्रवण करता है। नंदकिशोर चितचोर के चारु चरित्रों का चिन्तन करता है। प्रभु की परम पावन प्रेममयी पुनीत प्रतिमाओं का पूजन वन्दन अर्चन तथा दर्शन करता है, वह भगवद् भावों से भावित होकर भगवान् के वैकुन्ठ धाम को जाता है, जहाँ आधि नहीं, व्याधि नहीं, चिन्ता नहीं, दुखः नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, शोक नहीं, सन्ताप नहीं, पतन नहीं, क्षय नहीं, माया नहीं, अविद्या नहीं सदा सर्वदा आनंद ही आनंद है; जो पुरुष इस मायिक जगत् को मिथ्या मानकर आत्मानुभव करने के लिये समुत्सुक हैं उनके लिये भगवत् कथा श्रवण, गोविंद गुण कर्मों का कीर्तन, उनके चारु चरण कमलों का चिन्तन उनकी प्रतिमाओं का पूजन अर्चन वन्दन आदि साधनों के अतिरिक्त कोई अन्य कर्तव्य नहीं। उन्हें

निरंतर इन्हीं कर्मों में लगे रहना चाहिये।

भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो! आत्मानुभव के मैंने पीछे कुछ उपाय बताये अब और बताता हूँ। जो आत्मसाक्षात्कार करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि निरंतर वे नियम से भगवान् की कथाओं को सुना करें। जिनके कानों को भगवन् कथा का रस मिल गया है। जो भगवत् कथा के बिना रह ही नहीं सकते। ऐसे लोगों से असत् कार्य हो ही नहीं सकते। उनकी बात तो जाने दो, एक बार भी जिनके कानों में नाम पड़ गया है महात्माओं के मुख से, उनकी भी दुर्गति नहीं हो सकती।"

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! नित्य प्रति कथा श्रवण से तो संस्कार बनते हैं, किन्तु एक बार प्रसंग वश कथा श्रवण से क्या लाभ हो सकता है?"

इस पर सूतजी बोले—महाभाग! कब कौन सी बात हृदय में चुभ जाय। जीवन भर पुण्य करते हैं, किसी बुरी बात से दुःख से, मन में पाप आ जाता है। देखिये! अजामिल कैसा शान्त, दांत, तपस्वी, सदाचारी ब्राह्मण था। उसका एकान्त में एक वेश्या से समागम हो गया, संस्कार जाग उठे पतित हो गया। इसी प्रकार कभी कभी संतों के यहाँ जाने से राठ भी सुधर जाते हैं दुराचारी भी सदाचारी हो जाते हैं। इस विषय मे एक दृष्टान्त सुनिये।

कोई एक नामी चोर था। बहुत सा धन चुरा-चुरा कर अपनी माता को दिया करता था। उसकी माता कहा करती थी। देख बेटा! कथा में कभी मत जाना। यदि कहीं कथा हो रही हो, तो कानों में अँगुली देकर उधर से निकल जाना।" मातृ-भक्त बालक ऐसा ही करता, कभी भी किसी कथा में नहीं जाता।

एक दिन दैव योग से वह कहीं जा रहा था, कि वहाँ कथा हो रही थी, वह नियमानुसार कानों में उगँली देकर निकल रहा था, कि वहीं उसके एक बहुत बड़ा काँटा लग गया काँटा निकालने को ज्यों ही उसने हाथों से पैर पकड़ा, त्यों ही उसके कानों में यह शब्द पड़ गया, कि सदा सत्य बोलना चाहिये। सत्य बोलने से कभी किसी की हानि नहीं होती।" वह बात उसके मन में बैठ गई काँटा निकल गया और वह उठ कर चला गया।

अब तो वह यही सोचने लगा। मैं झूठ क्यों बोलूँ? सत्य का ही आश्रय क्यों न लूँ? सत्य बोलने से हानि भी नहीं होती फिर मैं तो रात्रि में चोरी करता हूँ बोलने का मुझे काम ही नहीं आज से मैं सत्य बोला करूँगा। मन ही मन उसने ऐसी प्रतिज्ञा की और वह सत्य ही शक्ति भर बोलने लगा।

एक दिन वह राजा के यहाँ चोरी करने गया। बहुत सुन्दर मूल्यवान् वस्त्र पहिने हुए था। रात्रि में राजा की ड्योढ़ी पर गया। प्रहरी ने पूछा—"आप कौन हैं? उसने स्पष्ट कह—"हम चोर हैं।" उन्हीं दिनों रानी के भाई आये हुए थे। प्रहरियों ने समझा सम्भव है वे ही हों, चोर ऐसे थोड़े ही कह सकता है। उन्होंने सत्कार पूर्वक रास्ता दे दिया। वह भीतर घुस गया।

राजसेवकों पर उसकी इन स्पष्ट और सत्य बातों का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे विनीत भाव से बोले—आप हमारे साथ राजा के समीप चलें।"

उसे राजकर्मचारियों ने राजा के समीप उपस्थित किया। राजा के पूछने पर भी उसने सभी सच सच बातें कह दीं। उसकी ऐसी निष्ठा और सत्य प्रियता को देखकर राजा ने पूछा—"महाभाग! आप में यह नैतिक बल किस साधन से आया।"

उसने कहा—"राजन्! यह प्रसङ्गवश एक बार अनिच्छा से कथा श्रवण करने का फल है। मेरी माँ मुझे कथा सुनने के लिये मना किया करती थी। एक बार दैववशात् काँटा लगने से कथा में सत्य की महिमा मेरे कानों के द्वारा हृदय में चली गई। हृदय में न जाती, इस कान से सुनकर उस कान से निकल जाती, तब तो कोई बात नहीं थी। उसने मेरे हृदय में घर कर लिया। उसी दिन से मैंने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा की। महाराज! सत्य का जब इतना प्रभाव है, कि लाल रंग का घोड़ा सफेद हो सकता है, तो फिर कोई कारण नहीं कि मेरा काला हृदय स्वच्छ न हो सके। सत्य की बड़ी महिमा है कथा श्रवण कभी व्यर्थ नहीं जाती।"

उस चोर की ऐसी निष्ठा देखकर राजा उसके पैरों में पड़ गये और कहने लगे—"महाभाग! तुम ही धन्य हो तुम्हारा ही कथा सुनना सार्थक है। अब तुम चोरी के काम को छोड़ दो हम तुम दोनों मिल कर यहीं भगवान् की कथा नित्य नियम से सुना करें। उस दिन से दोनों ही नियम से भगवान् की

कथा सुनने लगे और निरन्तर भगवत् स्मृति में ही अपना समय व्यतीत करने लगे। सो महाराज! जब अकस्मात् कथा का एक शब्द कान में पड़ने से यह फल हुआ, तो जो नित्य कथा सुनते हैं, उनका तो कहना ही क्या?"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! उस चोर पर तो कथा के एक शब्द का ही इतना प्रभाव पड़ा और हम देखते हैं बहुत से लोग नित्य कथा सुनते हैं इनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस विषय में हमने एक कहानी सुनी है आप कहो तो हम उसे भी सुना दें।

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज सुनाइये।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! एक नगर में एक सेठ जी रहते थे। अच्छे थे विचारे धर्मात्मा। जैसे सेठ लोग भगत होते हैं। वैसे भगत थे। सब लोग उन्हें भगतजी भगतजी कहा करते थे। वे अन्न का व्यापार करते थे। नित्य कथा सुनने मन्दिर में जाते थे। एक दिन अपने लड़के को भी कथा सुनने साथ ले गये। बालकों की बुद्धि शुद्ध होती है उसमें छल कपट नहीं होता, जो सुनते हैं उसे तत्क्षण करने को उत्सुक रहते हैं। उस दिन कथा में निकला कि गौ यदि पानी पी रही हो, या कुछ खा रही हो तो उसे हटाना न चाहिये।" लड़के ने यह बात हृदय में धारण कर ली। दूसरे दिन लड़का दुकान पर बैठा था इतने में ही एक गौ आई और दुकान में रखे अन्न को खाने लगी। लड़के ने उसे हटाया नहीं। इतने में ही भगत जी आ गये। देखते ही चौंक पड़े। लड़के पर बहुत बिगड़े और बोले—"गौ न जाने कितनी देर से अन्न खा रही है, तूने इसे हटाया नहीं।"

लड़के ने कहा—"पिताजी ! कथा में तो कल निकला था। खाती हुई गौ को न हटाना चाहिये।"

अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेठजी बोले—"तेरी ऐसी तैसी, कथा को ऐसी तैसी। अरे मूर्ख, कथा की बात को दुकान पर लाने का क्या काम ? जो सुना पंडितजी को वहीं उसी समय सौंप आओ। पंडित जी की कथा पंडितजी के सिर पर। सो, सूतजी ! वह सेठ तो नित्य कथा सुनते थे, उनपर प्रभाव क्यों नहीं पड़ा ?"

यह सुनकर सूतजी गंभीर हो गये और बोले—"महाभाग ! कथा श्रवण कभी व्यर्थ तो होता नहीं। यह दूसरी बात है, किसी के हृदय पर उसका तत्क्षण प्रभाव होता है, किसी के हृदय पर देर में और किसी का तो केवल संस्कार मात्र शेष रहता है उसका प्रभाव इस जन्म में न होकर दूसरे जन्मों में होता है। कथा का प्रभाव विशेष कर श्रोता की योग्यता के ऊपर निर्भर है। उसके हृदय में कितनी उत्सुकता है, कितनी जिज्ञासा है कितनी दृढ़ता है। श्रोता के साथ वक्ता का भी प्रभाव होता है। वक्ता यदि निर्लोभ और सदाचारी होगा तो उसकी कथा भी सारगर्भित होगी और यदि वक्ता टका-पंथी है। केवल पण के लोभ से पुस्तक दबाये घर घर कथा कहता फिरता है, कथा के शब्दों पर दृष्टि न रखकर उसकी दृष्टि सर्वदा पैसे पर ही रहती है तो ऐसी सारहीन कथा का विशेष प्रभाव भी नहीं पड़ता। आपने तो सेठ जी का दृष्टान्त सुनाया। कहिये तो मैं पंडित जी का दृष्टान्त सुनाऊँ !"

शौनक जी ने कहा—"हाँ सूतजी ! सुनाइये। आप का तो काम ही है, कथा में दृष्टान्त सुनाने का।

सूत जी बोले—"महाराज ! एक पंडित जी थे। और घर पर से जा जाकर सीधा लाते थे, तथा कथा सुनाया करते थे। दशमी को वे अपने घर में बैंगन रख गये और स्त्री से कह गये कल बहुत सुन्दर मसाले भरके बैंगन बनाना स्त्री ने एकादशी के दिन सुन्दर बैंगन बनाये परामठे बनाये फिर सोचा —"चलूँ मैं भी कथा सुन आऊँ। वह भी भोजन रखकर कथा सुनने गई। कथा मे निकला एकादशी के दिन जिसके पेट में एक भी बैंगन का बीज रह जाता है। वह उतने ही हजार वर्ष नरक में जाता है।" यह सुनकर पंडितानी बड़ी डरी और आकर उसने सभी बने बनाये बैंगनों को फेंक दिया।

कथा से निवृत होकर पंडितजी आये। स्त्री ने परामठे आगे रख दिये। पंडित जी ने पूछा—"क्यों आज साग नहीं बनाया क्या ?"

पंडितानी ने कहा—"अजी, बनाया तो था, बैंगन का साग सो आकर मैंने सब फेंक दिया।"

पंडित जी ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्यों, क्यों, फेंक क्यों दिया ? क्या बात हो गई ?"

पंडितानी ने कहा—"बात क्या हो गई, आप ही तो कथा में कह रहे थे कि एकादशी के दिन जितने बैंगन के बीज पेट में रह जाँय, उतने हजार वर्ष नरक में रहना पड़ता है। सो इन

बैंगनों में तो हजारों बीज होते हैं इसीलिये फेंक दिये।"

यह सुनकर पंडित जी हँस पड़े और बोले—"अरे तू भी बड़ी भोली लुगाई है। अरे, वे कथा के बैंगन दूसरे होते हैं, घर के बैंगन दूसरे हैं। कथा के कथा में रह जाते हैं।"

पंडितानी ने कहा—"अब महाराज! तुम ही जानो कथा वाचकों के दाव पेंच। बैंगन तो मैंने दो कभी नहीं सुने। हाँ यह कहो हाथी के दाँत खाने को और होते हैं, दिखाने को और होते हैं। मैं तो खाने की नहीं। तुम खाओ तो लाओ फिर बना दूँ।"

सूत जी कहते हैं—"सो, मुनियो! ऐसी सारहीन कथा कहने वाले वक्ताओं का कभी श्रोताओं पर प्रभाव नहीं पड़ता और जो हृदय में स्वार्थ ही रखकर कथा में बैठे हैं ऐसे कपटी श्रोताओं पर भी कथा का जितना प्रभाव होना चाहिये उतना प्रभाव नहीं होता। फिर भी अकरणात् मंद करण श्रेष्ठ माना गया है। कुछ न करने से कुछ करना श्रेष्ठ है। मन न लगे तो भी कथा में बैठना चाहिये। कुछ न कुछ संस्कार बनेंगे ही। कोई न कोई अच्छी बात कान में पड़ेगी ही। यदि योग्य विद्वान, संशयछेत्ता कथा वाचक न हो, तो जैसा मिले तैसे से ही भगवान् के चरित्र सुनने चाहिये। भगवत् चरित्र तो जैसे भी सुने जायें तैसे ही कल्याण कारी हैं। अतः भगवत् कथाओं को श्रद्धा पूर्वक सुनना आत्मानुभव का सर्वश्रेष्ठ सर्वोपयोगी सुलभ साधन है। कथा श्रवण में श्रद्धा का प्रधान

स्थान है बिना श्रद्धा के सुनेगा तो उतना लाभ न होगा।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! सब श्रोताओं पर कथा का एक सा प्रभाव क्यों नहीं पड़ता। किसी किसी को तो कथा से बड़ा लाभ होता है और कोई कोई तो और गिरते हुए भी देखे गये हैं।"

यह सुनकर सूतजी ने उत्तर दिया—"महाराज ! यह तो अधिकार भेद से होता है। कथा का जैसा अधिकारी श्रोता होगा, उसपर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। श्रोता पांच प्रकार के होते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पाँच प्रकार के कौन कौन से।

सूतजी बोले—"महाराज ! एक तकुआ श्रोता, एक भकुआ श्रोता, एक सूप श्रोता, एक चलनी श्रोता और एक कोरमकार श्रोता।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इनकी व्याख्या और कीजिये हाँ तो तकुआ श्रोता कौन होते हैं ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! जैसे चरखे पर सूत कातते हैं तो अच्छा बुरा, मोटा, पतला, निर्मल, मैला जैसा भी सूत तकुए पर लपेटते जाओ वह अपने में लपेटता रहेगा। मना नहीं करेगा। ऐसे ही जो कथा में जो भी अच्छी बुरी बात आई याद कर लेते हैं वे तकुआ श्रोता कहाते हैं।

शौनकजी ने कहा—"भकुआ श्रोता कैसे होते हैं सूतजी !

सूतजी बोले—"महाराज ! जो कथावाचक की ओर भकर भकर देखता रहे, जो अपने प्रयोजन की बात आवे उसे तो ग्रहण करले और इधर की बातों क. ओर ध्यान न दे। जैसे कथा में निकला—"श्राद्ध मे विस्तार न करना चाहिये" तो जो पहले १०।२० ब्राह्मण जिमाते थे, एक दो ही जिमाने लगे। इस बात पर ध्यान ही न दिया कि कथा में यह भी निकला था कि श्राद्ध के दिन यथेष्ट बन्धुबान्धवों को भोजन कराना चाहिये।" ऐसे लोग कथा से पारमार्थिक लाभ उठाने नहीं जाते दूसरों की आलोचना करने, खंडन करने, स्वार्थ साधने जाते हैं।"

फिर शौनक जी ने पूछा—"अच्छा, चलनी श्रोता कैसे होते हैं।

सूतजी बोले—"महाराज ! जैसे चलनी में आटा छाने तो अच्छे २ को तो नीचे निकाल देगी और बुरे बुरे को धारण किये रहेगी। इसी प्रकार कथा में जो बुरी बातें हों उन्हें तो ग्रहण करना, अच्छी को छोड़ देना। अमुक कथा में निकला था मांस भक्षण में कोई दोष नहीं। अमुक में था कि सुरापान स्वाभाविक है। इन्हें तो ग्रहण कर लेंगे। और इनके सम्बन्ध के निषेध वाक्यों की ओर ध्यान भी न देंगे। ऐसे लोग चलनी के समान श्रोता कहलाते हैं।

कुछ ठहर कर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! सूप श्रोता कौन से होते हैं ?"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन् ! जैसे सूप बुरी बुरी वस्तुओं को—कूड़े करकट को—निकाल देता है अच्छे २ अन्न को

छाँटकर—शुद्ध करके अपने में रखता है। इसी प्रकार जो 'हंस नीर क्षीर' विवेक सिद्धान्त के द्वारा भगवत् भक्ति प्रभु प्रेम की जो अतिमधुर सरस बातें हों उन्हें तो धारण करे और इधर उधर की काम अर्थ सम्बन्धी बातों की ओर विशेष ध्यान न दें वे सूप श्रोता कहलाते हैं। ऐसे ही श्रोता धन्य हैं वे ही श्रद्धा पूर्वक कथा श्रवण करें तो उन्हें कथा से अत्यधिक लाभ होगा।"

शौनकजी ने फिर पूछा—"सूतजी ! आपने एक पाँचवें कोरमकार श्रोता भी तो बताये थे, उनका क्या लक्षण है ?'

अपनी हँसी को रोकते हुए सूत जी बोले—"अब महाराज कोरमकार का लक्षण क्या बताऊँ। यों ही समझ लें कि कथा में किसी कारण से गये, किसी भीत के सहारे बैठ गये। जहाँ "नारायणं नमस्कृत्य नरंचैव नरोत्तमम्" का मंगलाचरण हुआ वहीं वो सोये कि अंत में ही उठे। जैसे कोरे घर से गये थे वैसे कोरमकार घर लौटे।

सुनिये एक कोरमकार श्रोता का दृष्टान्त। ऐसे ही एक श्रोता किसी के संकोचवश कथा में गये। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्द की रासलीला की अति मधुर कथा होती थी। कथा वाचक का कंठ अत्यन्त ही मधुर और सुरीला था। किन्तु जिनके पाप उदय होते हैं उन्हें ऐसी मधुर कथा में, निद्रा आ ही जाती है, वे भी भीत के सहारे जो बैठे सो खुर्राटे लेने लगे।

महाराज ! बहुत लोगों का सोते समय मुँह फट जाता है उनका भी मुँह फट रहा था। अन्य श्रोता कथा श्रवण में तल्लीन थे। बीच-बीच में बड़ी बड़ी शंकायें होती। कथा वाचक उनका निवारण करते। उनके मुख से शंकाओं का समाधान सुनकर सभी साधु-साधु कहने लगते। इतने में ही वहाँ एक श्वान देवता आ गये। उन्हें बड़ी तो नहीं कुछ लघुशंका मालूम हुई। जो कोरमकार श्रोता मुँह फाड़े सो रहे थे, टाँग उठाकर श्वान भगवान् ने उनके मुँह में अपनी लघुशंका करदी। इतने में ही कथा समाप्त हुई "अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्ण दामोदरं वासुदेवं हरिम्" सब कहने लगे। एक साथ सब श्रोताओं की वाणी सुनकर बिना समाधान कराये ही श्वान देवता भागे। भागते समय उनकी लघुशंका उन श्रोता के वस्त्रों पर भी पड़ गई। सब लोग कहने लगे—"धन्य है, आज कथा क्या हुई, अमृत की वर्षा हुई। कोलाहल सुनकर कोरमकार श्रोता की भी नींद खुली। अमृत की वर्षा की बात सुनकर वे बोले--"हाँ अमृत की वर्षा तो अवश्य हुई। किन्तु अमृत कुछ खारा खारा सा था। एक सज्जन देख रहे थे, वे हँसते हँसते लोट पोट हो गये और बोले—"जो कथा में आकर सोवेंगे, उन्हें ऐसा ही खारा अमृत पीने को यहाँ और वहाँ परलोक में भी मिलेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कथा में जाकर सोना, चिल्लाना, बातें करना यह बड़ा पाप है। कथा में जाय पहिले श्रद्धा सहित भगवान्को, कथा वाचक व्यासको, पुस्तक को तथा सब श्रोताओं को प्रणाम करे, यथा योग स्थान पर चुपचाप नम्रता पूर्वक बैठ जाय। अपनी दृष्टि वक्ता की ही ओर रखे। इधर उधर अन्य पुरुषों और स्त्रियों की ओर न देखे। इस प्रकार जो श्रद्धा सहित समझ कर कथा सुनते हैं उन्हें अति शीघ्र लाभ होता है, यों कैसे

भी आकर कथा में बैठे कोई न कोई अच्छी बात कान में पड़ेगी ही।

जिस प्रकार कथा श्रवण सुन्दर साधन है उसी प्रकार प्रभु के गुण और कर्मों का कीर्तन करना भी श्रेष्ठ साधन है। भगवान् ने कैसे कैसे कर्म किये। श्रीकृष्णावतार में कैसी-कैसी अद्भुत लीलायें की। रामावतार में किस प्रकार असुरों का संहार करके सुरों को सुख पहुँचाया। भगवान् कैसे भक्तवत्सल दीनबन्धु, अशरण शरण, प्रणत प्रति पालक, शरणागतवत्सल तथा आरत हर हैं। इस प्रकार के जिन पदों में भगवान् के गुण और कर्मों का वर्णन हो, ऐसे पदों को गावें ऐसे चरित्रों को पढ़े यह भी भक्ति के बढ़ाने का आत्मानुभव का प्रधान साधन है। प्रह्लादजी दैत्य बालकों से कह रहे हैं—"यदि तुम आत्मानुभव करना चाहते हो, तो भगवान् के गुण कर्म तथा नामों का निरन्तर कीर्तन किया करो। अभी मैं तुमसे कीर्तन कराऊँगा। कुछ मुख्य मुख्य साधनों को और बताता हूँ।

इस पर असुर बालकों ने कहा—"कोई ऐसा सरल साधन बताइये, कि जिसमें मन स्वभाव से ही रम जाय।"

इस पर प्रह्लादजी ने कहा—"भाई, इतने साधन तो बताये। मुख्य उद्देश्य है, भगवान् के चरण कमलों का चिन्तन करना। इन सब के लिये भगवान् की प्रतिमाओं का प्रेम पूर्वक कथा लब्धोपचारों से पूजन करना, श्रद्धा सहित दर्शन करना यह सर्वोपरि साधन हैं।

असुर बालकों ने कहा—"भगवान् की प्रतिमाओं का कैसे पूजन करें?"

इस पर प्रह्लाद जी ने कहा—"यह तो बहुत बड़ा क्रियायोग का अगाध विषय है। पाञ्चरात्र आदि तन्त्र शास्त्रों में

पूजा के अनन्त प्रकार हैं। जिसे जो अनुकूल पड़े। जो पद्धति जिसकी वंश परम्परा से चली आती हो, जो जिस सम्प्रदाय के हों उसी के अनुसार श्रद्धा सहित प्रभु के अर्चा विग्रह की सेवा पूजा करे। सेवा के ३२ उपचार षोडशोपचार, पञ्चोपचार आदि अनेक उपचार हैं। अपनी जैसी शक्ति हो, जैसी सामर्थ्य हो, जितनी पूजा सामग्री उपलब्ध हो सकती हो वैसे ही पूजा करे। जिस मूर्ति की मंत्रों द्वारा विधिवत् प्रतिष्ठा हो गई हो, उसी की पूजा करे या मृत्तिका चित्र में प्रतिभा बनाकर उसमें देवता का आवाहन करके पूजन करे। पूजा के अन्त में विसर्जन कर दो। अचल स्थिर प्रतिमाओं में आवाहन विसर्जन होता भी है नहीं। सबसे सरल पूजन तो है शालग्राम भगवान् का। इसमें न प्रतिष्ठा का झंझट न चल अचल का भेद। आवाहन.विसर्जन की भी आवश्यकता नहीं। पुरुष सूक्त से एक एक मन्त्र पढ़कर आवाहन, आसन, पाद्य-अर्घ्य, आचमनीय, स्नान पंचामृत स्नान, यज्ञोपवीत, वस्त्र, धूप, दीपनैवेद्य, ताम्बूल, पूँगीफल, दक्षिणा, नीराजन, प्रदक्षिणा, नमस्कार तथा स्तुति आदि सभी करे। यदि यह सब न हो तो पौराणिक तांत्रिक मन्त्रों से करे। वे भी याद न हों तो मूल मन्त्र, गुरु मन्त्र से ही स्नान, चन्दन, धूप, दीप, पुष्प नैवेद्य से पञ्चोपचार पूजा कर दे। कुछ न बने जल से स्नान करा दो। जो भगवान् दें उसे भोग लगाकर प्रसाद पा ले। धोकर पी लिया, दिखाकर खा लिया। इससे बढ़कर सरल और किस

देव की पूजा होगी। पूजा में मुख्य वस्तु है श्रद्धा। भगवान हमारी पूजा के भूखे तो हैं नहीं। उन्हें गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य की कमी तो है नहीं। पूजा उनके लिये नहीं है, अपनी आत्म तुष्टि के लिये सद्भावना वृद्धि के लिये है। जनार्दन तो भाव ग्राही हैं। यदि तुम पूजा प्रतिमा को पत्थर मानते हो, तो वह पत्थर का ही फल देगी, उसमें सच्चिदानन्द भाव से पूजा करोगे, तो स्वयं साक्षात् सच्चिदानन्द उसी में से प्रकट हो जायँगे, क्योंकि भगवान् तो सभी में समान रूप से रम रहे हैं। जहाँ भी भक्त का अनन्य प्रेम देखते हैं वहीं प्रकट हो जाते हैं। जो उन्हें जिस भाव से भजते हैं वे उसी भाव से दर्शन देते हैं। भगवान् वस्तु के भूखे नहीं हैं भाव के भूखे हैं। अतः प्रतिमा पूजन में प्रधान वस्तु है भावना।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भावना कैसे करें। जड़ पत्थर में चैतन्य की भावना होनी अत्यन्त कठिन है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ये सब कर्मकांड क्रिया कलाप भावना के ही लिये तो हैं। मन्त्रों द्वारा भावना, शास्त्र वाक्यों पर विश्वास रखकर भावना करना गुरु वचनों से भावना अपने आप प्रेम उमड़ पड़े उससे भावना करना। इन्हीं सब पर विश्वास करने से भावना दृढ़ होती है यदि आपकी प्रतिमा में चैतन्य की भावना नहीं तो आपकी पूजा उपचार मात्र है। यदि शुद्ध भावना है तो आप चाहे अविधि

से ही पूजा करें भगवान् प्रसन्न हो जायँगे ऐसे भावना के इस कलिकाल में अनेकों दृष्टान्त हैं।

एक पुजारी बड़े सरल थे। नित्य भगवान् की बड़े प्रेम से पूजा करते थे। सांयकाल को राजा नित्य दर्शनों को आते उन्हें भगवान् का प्रसादी हार प्रसाद मे देते। एक दिन रात्रि में बहुत देर हो गई। पुजारीजी ने समझा आज राजा न आवेंगे। भगवान् की प्रसादी हार स्वयं पहिन लिया और शयन का प्रबन्ध करने लगे। इतने में ही राजा के आने की सूचना मिली शीघ्रता में हड़बड़ाहट में उन्होंने तुरन्त प्रसादी हार उतार कर भगवान् को पहिना दिया और खड़े हो गये। राजा आये। दर्शन किया पंचामृत प्रसाद लिया। पुजारीजी ने हार उतार कर राजा को दिया। पुजारीजी के बड़े-बड़े सफेद बाल थे। शीघ्रता में उतारने के कारण एक दो बाल हार में लग गये। संयोग की बात राजा की दृष्टि इन सफेद बालों पर पड़ गई। राजा ही जो ठहरे आ गया क्रोध। ऊपर से हँसते हुए बोले—"क्यों पुजारीजी! भगवान् बूढ़े हो गये क्या? यह बाल कैसे लगा है हार में?"

पुजारीजी तो सकपका गये बोले—"अब महाराज! जो कुछ हो बूढ़े तो हो ही गये होंगे?"

राजा ने क्रोध के स्वर में कहा—"अच्छा, तो कल दिखाना नहीं तुम्हारी कुशल नहीं। तुम्हें कड़े से कड़ा दण्ड दिया जायगा।"

पुजारी तो कुछ निर्णय ही न कर सके। अत्यन्त भयभीत हो गये थे। सहसा उनके मुख से निकल गया "भगवान् का जैसी इच्छा होगी वही होगा।" राजा इतना कहकर चले गये अब पुजारी को शांति कहाँ। वे बड़े विह्वल हुए। रात्रि भर उन्हें निद्रा नहीं आई। भगवान् पाषाण की प्रतिमा हैं यह भाव उसका रहा ही नहीं। प्रातःकाल हुआ रो-रो कर उसने पूजा प्रारम्भ की। प्रति पल वह रोम-रोम से भगवान् से यही प्रार्थना कर रहा था—"प्रभो! आज मेरी लाज बचाओ। आज अपना भक्त वत्सल, करुणा सागर नाम सार्थक करो। तुम्हारा होकर मैं वधिकों द्वारा फाँसी पर न चढ़ाया जाऊँ। मैं कैसा भी हूँ अच्छा बुरा तुम्हारा ही हूँ। सब तुम्हारा पुजारी कहते हैं।" भगवान् तो घट-घट की जानने वाले हैं। भगवान् प्रतिमा में से शब्द हुआ—"तुम चिन्ता मत करो" पुजारी को धैर्य हुआ। नेत्रों से प्रेम के अश्रु बहने लगे। सायंकालीन आरती करके जब दर्शक चले गये, तब पुजारी ने भगवान् के श्री विग्रह की ओर जो देखा, तो उनके किरीटि मुकुट के नीचे लटकते हुए बड़े-बड़े शुभ्र बाल और सफेद हंस के पंखों के समान दाढ़ी फहरा रही है। भक्त के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। इतने में ही राजा दर्शनों को आ गये, आज वे बड़े गम्भीर थे। दर्शन किये पुजारी ने उल्लास के साथ प्रसाद चरणामृत दिया, प्रसादी हार दिया। राजा ने पूछा—"कहिये पुजारीजी! भगवान् बूढ़े हो गये हैं क्या?"

विनीत भाव से पुजारी ने कहा—"प्रभो! प्रत्यक्ष में क्या प्रमाण, आप दर्शन नहीं कर रहे हैं क्या?"

राजाने हँसकर कहा—"ये दाढ़ी जटा कहाँ से मोल लाकर चिपका दी हैं?"

पुजारी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"महाराज! मैंने काहे को चिपकाई हैं ये तो भगवान् के स्वतः ही उत्पन्न हुई हैं?"

राजा ने शासन के स्वर में कहा—"न उत्पन्न हुई हो तो?"

दृढ़ता के स्वर में पुजारी ने कहा—"न उत्पन्न हुई हों तो अन्नदाता! जो काले चोर को दंड दिया जाता है वह मुझे दिया जाय।"

राजा पुजारी की दृढ़ता को देखकर अवाक रह गये आवेश में भरकर उन्होंने भगवान् की दाढ़ी के दो तीन बाल बल पूर्वक खींचे। बाल खींचते ही उखड़ आये और वहाँ से रक्त की धारा बहने लगी। राजा की तो सब सिटिल्ली भूल गई। हक्के बक्के होकर मन्दिर में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। अपने अपराध की बार २ क्षमा मांगी।

भगवान् की आज्ञा हुई। आज जाओ यह अपराध तो तुम्हारा क्षमा किया गया, किन्तु आज से कोई भी तुम्हारे वंश का राजा राजगद्दी पर बैठकर मेरे दर्शन को न आवे।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! वह मन्दिर अब भी विद्यमान है। उस राज्य के राजा जब तक गद्दी पर नहीं बैठते युवराज

रहते हैं, तब तक दर्शनों को आते हैं। जहाँ गद्दी पर बैठे तब दर्शनों को नहीं आते इसीलिए कहा है साधु सन्तों के दर्शनों को भगवान् के दर्शनों को मान मद अहंकार को छोड़ कर जाना चाहिये। महाभाग! जब तक मूर्ति घास की दीखती है, तब तक उसमें से प्रभु प्रकट नहीं होते। जब भगवत् प्रतिमा सजीव और चैतन्य अनुभव होने लगती है तब उसमें से प्रभु तुरन्त सजीव होकर प्रकट हो जाते हैं इस विषय में एक बड़ा ही मनोरंजक दृष्टान्त है सुनिये।

एक व्यक्ति ने किन्हीं महात्मा से कहा—"महाराज, हमें किसी ऐसे देवता का पूजन बतावें जिनके पूजन से शीघ्र सिद्धि हो। साधु ने एक सुन्दर भगवान् की मूर्ति दी और कहा—"तुम इनका नित्य नियम से पूजन करना। भक्ति भाव से पूजन करोगे, तो ये शीघ्र तुम्हें दर्शन देकर तुम्हारी सभी इच्छाओं को पूर्ण करेंगे।" मनुष्य भोला भाला शुद्ध अन्तःकरण का था। बहुत वर्षों तक पूजा करता रहा किन्तु उसे भगवान् के साक्षात् दर्शन नहीं हुए। अब तो उसे भगवान् पर क्रोध आने लगा—"देखो, मैं इनकी कितनी लगन से पूजा करता हूँ, ये मुझ पर प्रसन्न नहीं होते!" क्रोध के कारण अब उसकी आस्था पूजन से हट गई किसी दूसरे साधु के पास गया और अपना सब दुख सुनाकर कहने लगा—"इतने दिन से मैं भगवान् का पूजन कर रहा हूँ, मुझे कोई लाभ नहीं होता।"

साधु ने कहा—"तुम किनका पूजन करते हो?

उसने बताया—"मैं विष्णु भगवान् की चतुर्भुजी मूर्ति का पूजन करता हूँ।"

वे साधु शैव थे, अतः बोले—"अरे भैया! विष्णु का क्या पता कब प्रसन्न हों। वे तो क्षीर सागर में सोते ही रहते हैं। शेष के गुद गुदे गद्दे पर उन्हें ऐसी गहरी नींद आती है, कि माता लक्ष्मी जी पैर सुहलाती रहती हैं, उनकी ओर भी नहीं देखते। शिव जी की पूजा किया करो शिवजी आशुतोष हैं वे केवल पानी चढ़ाने और गाल बजाने से ही प्रसन्न हो जाते हैं।" यह कह कर उन्होंने एक शिव लिङ्ग प्रदान की और कहा—नित्य नियम से पूजन करना।"

उसे तो भगवान् पर क्रोध आ ही रहा था उसने क्रोध करके भगवान् की प्रतिमा को ऊपर उठा कर दीवाल में रख दिया और वहाँ शिव लिङ्ग स्थापित करदी। बड़े प्रेम से उनकी भी पूजा करने लगा। एक दिन वह कहीं से बड़ी सुन्दर कस्तूरी मिश्रित सुगन्धित धूप की बत्ती लाया। शिवजी के सम्मुख उसे जलाया। उसका धूँआ सीधा जा रहा था, जहाँ ऊपर भगवान् की मूर्ति रखी थी। अब तो उसे बड़ा क्रोध आया यह ठाकुर बड़ा स्वार्थी है, देखो, हमें दर्शन भी नहीं देता और ऊपर बैठा बैठा शिव जी की धूप को सूंघता रहता है।" यह सोच कर वह रूई लेकर भगवान् की नाक में पूरी शक्ति से ठूँसने लगा। बस फिर क्या था भगवान् उसके भोलेपन पर हँस पड़े और बोले—"मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, तू जो चाहे वर माँग ले।"

उस आदमी ने आश्चर्यसे पूछा—"महाराज! यह तो आपको प्रसन्न करने का बड़ा सुन्दर सरल साधन निकला। मुझे बात पहिले से विदित होती तो मैं पूजा में इतना श्रम क्यों करता? पहिले से ही नाक में रूई ठूँसता।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—"भैया! न मैं रुई ठूँसने से प्रसन्न होता हूँ, न पूजा से। मैं तो भाव का भूखा हूँ। निष्ठा से प्रसन्न होता हूँ। अब तक तेरी भावना थी, यह पपथ धातमयी प्रतिमा है, तो मैं धातु मय ही बना रहा अब तेरी दृढ़ धारणा हो गई, कि यह चैतन्य हैं और गंध को सूँघते हैं तो मैं प्रकट हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी प्रकार भगवद् अर्चा साक्षात् सच्चिदानन्द भगवान् की बुद्धि रख कर जो पूजा की जाती है, उससे प्रभु शीघ्र प्रसन्न होते हैं। इन्हीं सब उपायों को असुर बालकों को बताते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—हे दैत्य कुमारो! आत्मानुभव के सहस्रों उपायों में से गुरु सेवा सर्वार्पण, साधु संग हरि उपासना, कथा श्रवण, प्रभु नामागुण कर्मकीर्तन, चरणचिन्तन, अर्चा, पूजन, दर्शन आदि उपायों को मैंने तुम्हारे सम्मुख वर्णन किया अब तुम लोग और क्या सुनना चाहते हो?"

इस पर दैत्य बालकों ने कहा—"भैया! हम यह जानना चाहते हैं कि इन साधनों के करने से होता क्या है?

प्रह्लाद जी ने कहा—"इन सब साधनों को करते करते भगवान् में स्वाभाविक रति होती है।

इस पर दैत्य बालक बोले—"भैया! तू बार बार रति रति कहता है। रति का अभिप्राय क्या? भगवान् में रति होने से मनुष्य की कैसी दशा होती है कृपा करके इन बातों को हमें और बता दे।"

असुर बालकों के ऐसा कहने पर प्रह्लाद जी ने कहा—

"अच्छी बात है, अब मैं आप सब को भगवत् रति के सम्बन्ध में बताऊँगा। तथा भगवान् के प्रेम में अनुरक्त हुए भक्तों के भी लक्षण बताऊँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन् ! साधन बता कर अब प्रह्लाद जी मेरे बताये हुये उपदेश को स्मरण करके भगवान् में जैसे अनन्य प्रीति होती है और अनन्य प्रीति वाले भक्तों की जैसी अलौकिक दशा हो जाती है, उसका वर्णन करने को उद्यत हुए।

छप्पय

अर्चा महँ अति प्रेम नेम तें पूजे नित हरि।
सबरी सेवा करे इष्ट कूँ सदा हिये धरि॥
दिव्य देश महँ जायँ भक्ति तें भगवत सेवें।
सिर धरि हरि निरमाल्य विष्णु पादोदक लेवे॥
अरचन पूजन निरखि जे, अतिशय हिये सराहिंगे।
ते सब पापनि ते छुटे, कृष्ण चरन रति पाइँगे॥

प्रभुपाद पद्मों में रति

(४७६)

एवं निर्जित षड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे।
वासुदेवे भगवति यथा संलभते रतिम् ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

इष्ट विषय की प्रीति कहें रति ताकूँ बुध जन।
जामें नितई फँस्यो रहे व्याकुल है के मन॥
कान भनक परि जाय नाम होवे तनु पुलकित।
सुमिरि सुमिरि गुन करम होहिँ अति उत्कंठित चित॥
है अधीर रोवे कबहुँ, गद्गद् गिरा गँभीर स्वर।
हँसे कबहुँ पुनि पुनि कहे, गिरधर नटवर व्रजेश्वर॥

श्रद्धा पूर्वक किये हुए समस्त साधनों का एक मात्र फल यही है, कि श्री कृष्ण चरणारविन्दों में रति हो। श्रद्धा की परिपक्वावस्था का नाम ही रति है और रति ही अंत में भक्ति रूप में परिणित हो जाती है। श्रद्धा से रति और रति से भक्ति

---

*प्रह्लाद जी दैत्य बालकों से कह रहे हैं—इस प्रकार जो लोग षड्रिपुओं को जीत लेते हैं वे ईश्वर में ऐसी भक्ति किया करते हैं जिससे भगवान् वासुदेव में उनकी रति हो जाती है।

यही क्रम है। रति कहलो प्रेम कहलो इसमें कोई अन्तर नहीं है श्रद्धा,. रति, प्रेम, भक्ति सामान्यतया एक ही है अवस्था भेद से इनके नामों में भेद है। श्रद्धा प्रायः गुणों के कारण होती है। गुणों के अभाव में श्रद्धा घट भी जाती है। किसी के लेख की, वक्तृता की, कला कौशल की हमने बड़ी ख्याति सुनी। उस पर हमारी श्रद्धा हो गई, किन्तु जब साक्षात्कार हुआ और जैसी हमने कल्पना की थी वैसा उसे न पाया, तो हमारी श्रद्धा हट जाती है। या पहिले तो जो बहुत तपस्वी सदाचारी थे इस कारण हम उनमें श्रद्धा करते थे, पीछे वे वैसे नहीं रहे तो हमारी श्रद्धा भी नहीं रही। श्रद्धा यदि परिपक्व हो जाय, अडिग हो जाय तो उसीका नाम रति है। रति में सम्बन्ध जुड़जाता है। अपनापन् हो जाता है। गुण अवगुण की ओर ध्यान ही नहीं जाता। उसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक क्रिया प्यारी लगती है। उसके प्रति स्वभाविक अनुराग हो जाता है। उसको चेतन में, स्मरण में, नाम में, संयोग में वियोग में, हास्य में, क्रोध में, प्यार में तिरस्कार में, सत्कार—सभी में एक अनिर्वचनीय आनन्द आ जाता है। जब यह रति पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, इष्ट के अतिरिक्त कोई दिखाई ही नहीं देता, वही भक्ति है वही काष्ठा है वही परा-गति है। इससे आगे कुछ नहीं है। कुछ नहीं है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन् असुर बालकों के पूछने पर प्रह्लाद जी रति के सम्बन्ध में बता रहे हैं। वे बोले—"देखो, भाई! जब तक कोई भवन अशुचि है उसमें चोर वास करते हैं तब तक कोई भला आदमी वहाँ रहने को न जायगा। इसी प्रकार जब तक हमारे मलिन अन्तः करण में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये ६ शत्रु विद्य-

मान हैं, तब तक हृदय में प्रेम हो, भगवत् साक्षात्कार हो यह असम्भव है। वस्त्र, जल स्वभावतः स्वच्छ होते हैं, इनमें जैसा रंग चढ़ाओगे उसी रंग के बन जायँगे। जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों से अन्तःकरण में नाना प्रकार की कामनायें भरी पड़ी हैं। जब हमारी इच्छा का विघात होता है, मनोनुकूल काम की प्राप्ति नहीं होती तो क्रोध आता है। पहिले मानसिक क्रोध होता है, फिर वह वाणी से व्यक्त होता है, फिर इन्द्रियों के द्वारा प्रहारादि के द्वारा प्रकट होता है। जैसे अग्नि जिस वस्तु में लगती है, पहिले उसे जलाकर तब दूसरे को जलाती है इसी प्रकार क्रोध जिस अन्तःकरण में उत्पन्न होता है, पहिले उसे जलाता है, तब दूसरों को हानि पहुँचाता है अतः क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है।

संसार में भोग पदार्थ तो परिमित हैं, जीवों की लालसायें अपरिमित हैं। कितनी भी भोगसामग्रियाँ क्यों न मिल जायँ उनसे तृप्ति नहीं होती। जितनी ही वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, उतनी ही अधिक लालसा और भी उत्पन्न होती जाती है। इसी का नाम है लोभ। यह ऐसा घड़ा है कि इसमें कितना भी जल डालते जाओ कभी भरेगा नहीं। संसार के जितने विषय हैं, सभी एक ही मनुष्य को दे दिये जायँ, तो भी उसकी लालसा पूरी न होगी और अधिक पाने की अभिलाषा बनी रहेगी, अतः जब तक हृदय में इन भौतिक पदार्थों के प्रति अत्यधिक ममत्व है। इन्हें अधिक मात्रा में बटोरने और संग्रह करने की इच्छा बनी है तब तक प्रभु प्रेम नहीं हो सकता। जहाँ पैसा ही प्रेम है वहाँ प्रभु प्रेम कैसे हो। मन तो एक ही है उसे चाहे विषयों में लगालो या विष्णु में फँसा लो।

जिन भौतिक पदार्थों में अपना पन है, उसमें जो एक

प्रकार की आसक्ति होती है उसे मोह कहते हैं। मोह में और प्रेम में देखने में कोई विशेष अन्तर नहीं। अन्तर इतना ही है कि मोह सांसारिक नाशवान् वस्तुओं के साथ होता है, यही यदि अविनाशी परात्पर प्रभु के साथ किया जाय, तो प्रेम कहलाता है। विषयों के मोह वाले अन्तःकरण में विश्वेश्वर नहीं विराजते। उन्हें अशुचिता, दुस्संग, प्रिय ही नहीं। वे तो एकाकी स्वच्छ स्थान में रहना चाहते हैं। अतः मोहन का वास वहीं है जहाँ मोह न हो।

सांसारिक वस्तुएँ धन, जन, पद प्रतिष्ठा तथा अन्य ऐश्वर्य प्राप्त होने पर जो एक बड़ेपन का मिथ्याभिमान होता है, उसे मद कहते हैं। मद में आदमी अंधा हो जाता है। गुरु जनों का अपमान तक कर डालता है, न कहने योग्य बातों को कह डालता है, न करने योग्य कार्यों को करता है। मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, मैंने यह किया वह किया, इसे मारा उसे पछाड़ा इसे पकड़ा उसे जकड़ा इस प्रकार के विचार उसके बने रहते हैं धन मद, विद्यामद, ऐश्वर्यमद, रूपमद, वयमद, जातिमद तथा मदिरा आदि का मद इस प्रकार मदके अनेको भेद हैं। ये सभी मद मनुष्य को संसार गर्त में गिराने वाले हैं। अतः मदन मोहन को मन में बिठाने की इच्छावालों को मद का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

दूसरों की उन्नति को देखकर जो अन्तःकरण में एक प्रकार की ईर्ष्या डाह उत्पन्न होती है उसे मत्सर कहते हैं। मत्सरी लोग प्रायः दूसरों को देख कर जला करते हैं। उनका स्वभाव जैसा होता है। वह मुझसे धन में इतना बड़ा क्यों हो गया, उसका चारों ओर इतना नाम क्यों है। उसे इतने लोग क्यों

बड़ा मन लगता है। भगवद् भक्तों की प्रेम दशाओं का और भी वर्णन करो।"

इस पर प्रह्लाद जी बोले—"अच्छी बात है, मैं वर्णन करता हूँ, आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

कबहूँ करे विलाप ध्यान महँ मग्न होहि पुनि।
गावे कबहूँ गान होहि हर्षित हरि गुन सुनि॥
सम्मुख देखे जाइ पैर परि परि के रोये।
कबहूँ नाचे ठुमुकि कबहुँ पृथ्वी पै सोवे॥
लोक लाज संकोच तजि, यों तन्मय ह्वै कें रहे।
नारायण हरि जगतपति, राम, कृष्ण, वामन कहे॥

भगवद्भक्तों की प्रेम दशायें

(४८०)

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्,
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रु गद्गदम् ,
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० ७ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

लड़खड़ात मग चलैं परैं पग इत उत अनिमित ।
चलत चलत पुनि गिरैं फिरैं उत्कंठित जित तित ॥
रहै प्रेम की ज्योति प्रज्वलित हिये निरन्तर ।
जरैं वासना बीज दिखैं जब श्री राधावर ॥
फँस्यो चित्त चितचोर की, रूप माधुरी में सतत ।
जग बन्धन कटि जात सब, होहिं फेरि जग तें विरत ॥

रस शास्त्र के आचार्यों ने रति के अनेक भेद बताये है। नवों रसों में रति होती है, किन्तु विशेष कर रति का पूर्ण

❀प्रह्लादजी दैत्य बालकों से कह रहे हैं—जब मनुष्य अवतारों के लीला विग्रहों द्वारा किये हुए कर्मों को उनके अनुपम गुण और पराक्रम को श्रवण करके अत्यन्त हर्ष के उद्रेक से रोमाञ्चित और गद्गद् कण्ठ होकर उत्कण्ठित होकर उच्च स्वर से गाने रोने और नृत्य करने लगता है, तो उसकी प्रेम की दशा समझनी चाहिए।

प्रकाश शृंगार में ही व्यक्त होता है। उसके प्रधानतया दो भेद हैं एक सम्भोग रती दूसरी विप्रलम्भया वियोग रति। अपने प्रियतम के साथ सभी प्रकार सुखों का भोग करना इसे समान्यतया सम्भोग रति कहते हैं जैसे:—

रुचि के प्रकाश परस्पर खेलन लागे।
राग-रागिनी अलौकिक उपजत नृत्यत संग अलग लाग लागे
रागही में रंग रह्यौ, रंग के समुद्र में ए दोऊ भागे।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुन्ज विहारी
पै रंग रह्यौ रसही में पागे।

ब्रज के रसिकों ने इस विषय के वर्णन में पराकाष्ठा कर दी है। विप्रलम्भ या विरह की समान्यतया अवस्थायें बताई हैं। प्रथम अवस्था का नाम है चक्षुः प्रीति,। नेत्रों में अपने इष्ट प्रियतम की मूर्ति गढ़ जाय। उसका रूप माधुर्य नेत्रों में समा जाय। उदाहरण को लीजिये।

नैना लोभी रे, बहुरि सके नहिं आय।
रोम रोम नखसिख सब निरखत ललकि रहे ललचाय ॥१॥
मैं ठाढी गृह अपने री, मोहन निकसे आय।
वदन चन्द्र परकासत हेलो, मन्द मन्द मुसुकाय ॥२॥
लोक. कुटुम्बी बरजि बरजहीं, बतियाँ कहत बनाय।
चञ्चल निपट अटक नहिं मानत, परहथ गये बिकाय ॥३॥
भली कहौ कोई बुरी कहौ मैं, सब लई शीश चढ़ाय।
मोरा प्रभु गिरधरन लाल बिनु पल भर रह्यौ न जाय ॥

जिसके बिना पल भर भी न रहा जाय, निगौड़े नैंना नेह नीर के सदा प्यासे से बने रहें, समझलो यहाँ रति का उदय हो गया। बरबस नेत्र उधर ही चले जायँ। उसी की खोज में चंचल हो जायँ यह विप्रलम्भ रति की प्रथमावस्था है।

दूसरी अवस्था में निरंतर मन से संग बना रहे। मन में वही मूरत वही सूरत नाचती रहे। मन सदा उसी का चिन्तन करता रहे। उसी की याद में तड़फता रहे उदाहरण लीजिये—

पिया, तैं कहाँ गयौ नेहरा लगाय।
छाँड़ि गयौ अब कहाँ विसासी, प्रेम बाती बराय॥
विरह समुद्र में छाड़ि गयो पिव, नेह की नाव चलाय।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, तुम बिनु रह्यो न जाय॥

जिसके बिना रहा ही न जाय, चित्त से जिसकी मूरति उतरे ही नहीं समझो यह विप्रलम्भरति की द्वितीयावस्था है।

तीसरी अवस्था का नाम है स्मरण निरन्तर उसी का स्मरण उसी का चिन्तन। पल पल पर उसी का नाम उसीका रूप स्मरण होता रहे। उदाहरण

म्हारी सुधि ज्यूँ जानों ज्यूँ लीजो जी।
पल पल भीतर पन्थ निहारूँ दर्शन म्हाँ ने दीजो जी॥
मैं तो हूँ बहु औगुण हारी, औगण चित मत दीजो जी।
मैं तो दासी थाँरे चरण कमल की
मिल बिछुरन मत कीजो जी।

मीराँ तो सतगुरुजी शरणे हरि चरणाँ चित दीजो जी ॥

अपने प्रियतम के निरन्तर स्मरण में कैसा सुख अथवा दुख होता है, इसे भुक्त भोगी के अतिरिक्त दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। अतः साधारण लोगों का इस विषय में कुछ कहना अनाधिकार चेष्टा ही समझी जायगी।

विरह की चौथी अवस्था का नाम है 'निद्राभेद' "प्यारे की स्मृति इतनी अधिक रहने लगती है, कि नेत्रों में प्रयत्न करने पर भी नींद नहीं आती। निद्रा प्रियतम के पास चली जाती है और फिर बुलाने पर भी नहीं आती।"

"अस्माकंतु गतेकृष्ण गता निद्रापि वैरिणी" इसका उदाहरण लीजिये—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया के पन्थ निहारते, सब रैन विहानी हो ॥
सखियन मिलकर सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल ना परै, जिय ऐसी ठानी हो ॥
अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदन विरह की, कोई पीर न जानी हो ॥
ज्यों चातक घन कूँ रटै, मछली जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल विरहिणि, सुध बुध बिसरानी हो ॥

इस प्रकार दिन और रात्रि एक समान तड़फते, प्रिय की स्मृति में जागकर बिताये जायँ, उसे जागरण अथवा 'निद्रा भेद' कहते हैं।

पाँचवी अवस्था का नाम है' तनुता' अथवा कृशता। निद्रा नाश के अनन्तर भोजन की भी इच्छा न रहे। खान पान की न सुधि रहे न आवश्यकता ही प्रतीत हो। शरीर तो पंचभूतों का बना हुआ है। अन्न से ही प्राण प्रबल होते हैं। यदि शरीर को आहार न मिलेगा तो वह दुर्बल, कृश होगा ही। इसीलिये विरही का जहाँ वर्णन किया जाता है, वहाँ उसे अत्यन्त कृश बताया जाता है। किसी विरहिनि को पलंग पर न देखकर किसी ने कहा था—"भाई, बिस्तरे को झाड़ो सम्भव है उसमें कहीं छिपी हो" मानों विरहिनि सूखकर कांटे के समान हो गई। श्री कृष्ण के विरह में ब्रज के लोगों की जो दशा हुई थी, उससे बढ़कर कृशता व्याकुलता का उदाहरण और कहाँ मिलेगा। कृष्ण वियोग में ब्रजवासियों के शरीर कैसे कृश हो गये इसका उदाहरण लीजिये—

कहाँ लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम तुम बिनु उन लोगनि जैसे दिवस बिहात॥
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत वै, मलिन बदन कृस गात।
परमदान जनु सिसिर हिमीहत, अंबुजगन बिन पात॥
जो कहुँ आवत देख दूर तें सब पूछत कुसलात।
चलन न देत प्रेम—आतुर डर, कर करनन लपटात॥
पिक चातक बन बसन न पावहिँ, बायस बलिनहि खात।
'सूर स्याम' संदेसनि के डर पथिक न वहि मग जात॥

श्री कृष्ण के विरह में गोपी ही कृश नहीं हैं, अपितु गोधन, गौवत्स, शुक, पिक, काक भी कुछ नहीं खाते वे भी तनुता को प्राप्त हो गये हैं।

छठी विरह की अवस्था का नाम है, विषयों से विरक्त। प्रियतम के विरह में पुष्प, माला, गंध, तेल फुलैल, गद्दा, तकिया, गाना, बजाना, सुस्वादु, भोजन आदि जितने सुखकर विषय हैं उनको ओर से विरक्ति हो जाना। विरहिनी श्रीराधिका जी की दशा का वर्णन करते हुए कवि उस दशा का बड़ा ही सुन्दर मर्मस्पर्शी चित्र खींचते हैं—

चित दै सुनौ स्याम प्रवीन।
हरि तुम्हारे विरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यौ तेल तमोल भूषन अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाढ़, भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुन्दरि, गवन मोतन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी, गिरि धरनवलहीन॥
कंठ वचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैंन जल भरि रोय दीनों, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि पट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहि आसा लीन॥

केवल मलिन बसन मल से आवृत, कृश शरीर में विरहिनि के प्रान इसी आसरे से अटके रहते हैं, कि सम्भव है, कभी प्रियतम के दर्शन हो जाँय।

विरह की सप्तम अवस्था का नाम है 'लज्जा प्रणाश' प्रेम में लोक लाज, कुल परिवार बड़े बूढ़ों की कानि नहीं रह जाती हमारी इस दशा को देखकर दूसरे क्या कहेंगे, इसकी चिन्ता नहीं। दूसरे जो चाहे कहें, बकते हैं तो बकते रहें। कवि ने—इसका कैसा सुन्दर चित्र खींचा है। विरहिणी कह रही है—

कोऊ कहो उलटा कुलीन अकुलीन कोऊ,

कोऊ कहो रंकन कलंकन कुनारी हूँ ॥
कैसो देवलोक परलोक तिरलोक में तो,
लीनो हौं अलोक लोक लोकन ते न्यारी हूँ ॥
तन जाओ पन जाओ देव गुरु जन जाओ,
जीव क्यों न जाओ नेक टरत न टारी हूँ।
वृन्दावनवारी गिरधारी के मुकुट वारी,
पीत पटवारी बाँकी मूरति पै वारी हूँ ॥

विरह की अष्टम अवस्था का नाम है—'उन्माद'। उन्माद एक वीर्य सम्बन्धी रोग होता है। जिसे वह हो जाता है, उसे चैन नहीं। प्रतिक्षण व्याकुल बना रहता है। जो मन में आता है, अंड बंड बकता है। शरीर की सुधि नहीं, लोक लाज शील सदाचार किसी का भी ध्यान नहीं पागलों की सी दशा हो जाती है। उदाहरण लीजिये—

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी मेरो दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, सोणो किस विधि होय।
गगन मंडल पै सेज पिया की किस विधि मिलणो होय।
घायल की गति घायल जाने, जो कोई घायल होय।
जौहरि की गति जौहरि जाने, दूजा न जाणे कोय।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, वैद मिल्यो नहीं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जब वैद सँवलिया होय ॥

यह प्रेमोन्माद तभी शान्त होता है। जब सँवरिया आकर नाड़ी पकड़ते हैं। वैद्य बन के उपचार करते हैं।

विरह की नवमी अवस्था का नाम है मूर्छा क्षण क्षण में

अचेत हो जाना शरीर की स्मृति न रहना। मूर्छा नामका वैद्यक में रोग होता है। उसमें रोगी धड़ाम से पृथ्वी पर गिर जाता है। तनकी सुधि बुधि भी नहीं रहती इसका अनूठा उदाहरण लीजिये।

थाकी गति अंगन की मति परि गई मंद,
सूख झाँझरी—सी ह्वै कैं देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज, जित तित लागे दूर जान॥
'हरीचन्द' रावरे विरह जग दुखभयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहू अथान लागे,
आओ प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

प्राण मुरझाने से लागे, अर्थात् मूर्छित होकर विकल हो गई। ये नौ अवस्थायें कहने की हैं। दशवीं दशा मरण की है। यहाँ मरण से अभिप्राय साक्षात् मरण नहीं मृत्यु के समान की अवस्था समझनी चाहिये। इसका क्या उदाहरण दें। प्रह्लादजी ने अपने उपदेश में प्रेम की इन विभिन्न दशाओं का बड़ी बुद्धिमानी से दिग्दर्शन कराया है।

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो! भगवान् में प्रेम हो जाने पर उनके चरणों में अनन्य प्रीति उत्पन्न होने पर उनके लीला विग्रहों द्वारा किये हुए कर्मों को स्मरण करके

भक्त की विभिन्न लोक वाह्य दशायें हो जाती हैं। भगवान् के अनुपम सौन्दर्य माधुर्य को स्मरण करके वह आनन्द में निमग्न होकर वार वार फुरुहरी लेता है। उसके रोम रोम मे सिहरन उठने लगती है। पल पल पर कँपकपी आती है। रोयें खड़े हो जाते हैं रोमों की जड़ में गुठली सी पड़ जाती हैं। कंठ गद्गद् हो जाता है मुख से स्पष्ट वाणी नहीं निकलती। कुछ कहना चाहता है, कुछ निकलता है। स्खलित वाणी में अपनी वेदना को प्रकट करता है। सो भी भली भाँति करने नहीं पाता। परन्तु चित्त मानता नहीं। भीतर के भरे भाव ऊपर आना चाहते हैं। अन्तकाल की अव्यक्त भावनायें व्यक्त होना चाहती हैं। उसी आवेग में भक्त उच्च स्वर से विरह के पदों को गाने लगता है। गायन में वह अपने हृद्गत् भावों को व्यक्त करता है गाते गाते उसकी विरह वेदना वढ़ जाती है। वह अनुभव करता है, मेरे प्रियतम मुझे दर्शन नहीं देते। इस बात का स्मरण आते ही वह रोने लगता है। अश्रु वहाने लगता है। रोते रोते विकलता वढ़ती है, तो वह ऐसा अनुभव करता है। मानों मेरे प्राणनाथ मुझसे मिलने के लिये व्यग्र हों। उसी भाव में भावित होकर वह नृत्य करने लगता है।

उसकी सभी चेष्टायें लोक वाह्य हो जाती है। जैसे सिर पर भूत चढ़ने पर आदमी अंट संट वकता है, सिर और सम्पूर्ण अंगो को कँपाता है, असम्वद्ध प्रलाप करता है, उसी प्रकार वह व्यर्थ की चेष्टायें करने लगता है। कभी कभी

तो रो रो कर विलाप करता है। "हे शरणागत वत्सल! मुझे छोड़ कर कहाँ गये। हे हरे! मै तुम्हारे बिना कैसे जीऊँगा। हे करुणा के सागर! दया करके दर्शन दीजिये। हे अशरण शरण! सागर मे डूबते हुए मुझ अधम अकिंचन का उद्धार कीजिये। हे गोपी जन वल्लभ मुझे अभय प्रदान कीजिए। विलाप करते करते जब थक जाता है, तो एकान्त में नेत्र बन्द करके ध्यान करने लगता है। ध्यान में तन्मय हो जाता है फिर ध्यान में उसे बड़ी दीनता उत्पन्न होती है। अपने को अत्यन्त हेय अनुभव करने लगता है। उसे अनुभव होता है, सब मेरे ऊपर कृपा करें तो सम्भव है मेरे प्राण धन इष्ट मुझे मिल जाँय। इसलिये जिसे भी सम्मुख देखता है उसको देख कर रोने लगता है। उसके चरण पकड़ कर गद्गद् कंठ से कहता है—"मेरे ऊपर कृपा करो। मुझे वर दो मेरे प्राणेश्वर मुझे मिल जॉय। दीन जान कर उसे कृपालु लोग समझाते हैं, कहते हैं—"इस प्रकार अधीर होने की आवश्यकता नहीं। कृपालु कृष्ण अवश्य ही कृपा करेंगे। दया सागर दामोदर दया की दृष्टि से तुम्हें देखेंगे। इन आश्वासनों को सुनकर वह उन्हीं के भाव में भावित हो जाता है। अन्तःकरण से उनसे ही मिल जाता हैं, उन्हीं के ध्यान में तन्मय हो जाता है लज्जा को तिलाञ्जलि देकर, सर्वथा संकोच को छोड़कर बारम्बार दीर्घ निश्वास छोड़ता हुआ हे हरे रक्षा करो! हे जगतपते! कृपा करो! हे नारायण! मुझे विपत्ति सागर से

उबारो। हे अच्युत! मेरी ओर दया की दृष्टि से निहारो। इस प्रकार प्रलाप करते करते भक्त मूर्छित हो जाता है।

प्रह्लादजी असुर बालकों से कह रहे हैं—"बालको! हृदय में जब कृष्ण रति—भगवान् वासुदेव में अनन्य प्रीति—हो जाती है, तब उसकी दशा अवर्णनीय अलौकिक हो जाती है।

छप्पय

मलिन हृदय जे मनुज फँसे जग चक्कर माँही।
काटन बन्ध उपाय कृष्ण चरननि तजि नाहीं॥
तातैं तजि व्यवहार जगत के हरि चित धारौ।
ज्ञान खड्ग कूँ धारि काम क्रोधादिक मारौ॥
जिही मुक्ति निर्वान है, जाहि परमपद हू कहैं।
हृदयेश्वर हरि सर्वदा, हृदय माहिं दीखत रहैं॥

भगवान् अति सन्निकट हैं

(४८१)

कोऽतिप्रयासोऽसुर बालका हरे—
रुपासने स्वे हृदि द्विद्रवत्सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनाम् ,
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० ७ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

धन, दारा, पशु, पुत्र, अश्व सम्पति रथ हाथी ।
नाशवान् सब छनिक जीव के जे नहिँ साथी ॥
जो सबके हैं सुहृद् आतमा अन्तरयामी ।
अविनाशी अखिलेश चराचर जग के स्वामी ॥
ते अति घाटे में रहैं, हरि तजि विषयनि कूँ भजैं ।
चाकचिक्य लखि कांच को, कर गत हीरा कूँ तजैं ॥

अज्ञान वश जीव को कैसी मूढ़ता व्याप्त हो गई है। स्त्री, पुत्र, परिवार, पृथ्वी, पैसा परिजन, पुरजन जो दूर के हैं, जिनका

❀प्रह्लादजी अपने सहपाठी असुर बालकों से कह रहे हैं—"देखो भैया ! श्री हरि भगवान् की उपासना करने में ऐसा कौन सा प्रयास है, अरे वे तो आकाश के समान अपने हृदय में ही स्थित हैं वे तो सामान्यतः सभी प्राणियों के आत्मा हैं सखा हैं। फिर उनके अतिरिक्त अन्य विषयों के उपार्जन में लाभ ही क्या ?

अपने से कोई सम्बध नहीं, उनमें तो ममत्व कर लेता है, किन्तु जो आत्मा अति सन्निकट है जिसके समीप कोई नहीं उसे भूल जाता है उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नवान् नहीं होता यदि आत्मानुभूति से वंचित रहा और धातुओं के चार ठीकरे इकट्ठे कर भी लिये तो इससे लाभ ही क्या ?

नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—'राजन! असुर बालकों की उत्सुकता देख कर प्रह्लादजी उनसे फिर कहने लगे —"प्रेम के आवेग में भगवद् भक्त निरंतर भगवान् के नामों को ही लेता रहता है, बड़ी आर्तवाणी में, करुण स्वर से, अश्रु विमोचन करता हुआ वह नाम कीर्तन करता है।"

असुर बालकों ने पूछा इससे क्या होता है ? ऐसा करने से क्या लाभ है ?"

प्रह्लाद जी ने कहा—"भाई, पहिले तो तुम लाभ का ही अभिप्राय समझो, लाभ क्या ? क्या कुछ धातुओं के सिक्के मिल गये, यही लाभ है। यह तो अति तुच्छ लाभ है। इससे तो संसार बन्धन और बढ़ता है, संसृति स्थाई होती है। वास्तविक लाभ तो यह है, कि भगवान् के पादपद्मों में प्रीति हो। यह संसार बन्धन सदा के लिये विलीन हो जाय। जब तक मन में वासना रूप जीव विद्यमान है, तब तक उसमें से अंकुर उत्पन्न होते रहेंगे और पुनः पुनः जन्मना, पुनः पुनः मरना रूप चक्कर चलता ही रहेगा। जब भक्ति रूपी अग्नि की उष्णता से वासना रूप बीज निदग्ध हो जायगा, तब उसमें चाहे जितनी भी खाद दो जितना भी जल दो अंकुरित न होगा उसमें से जब वह जमेगा, ही नहीं तो फिर आगे और वृक्षों को

उत्पन्न ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब शरीर के सहित चित्त भगवद् भाव में भावित हो जायगा। साँवलिया के रंग में रंग कर उनके ही अनुरूप रूप वाला हो जायगा तब वह बन्धन और मुक्ति दोनों के चक्कर से मुक्त हो जायगा।

असुर बालकों ने पूछा—"बीज रूप वासना के दग्ध हो जाने पर जन्म मरण के चक्कर से तो छूट जायगा, किन्तु फिर ब्रह्म निर्वाण रूप परमपद की प्राप्ति कैसे होगी ?

प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, भाई ! समस्त प्रयत्न तो वासनाओं की निवृत्त के लिए हैं। जहाँ वासनायें नष्ट हुई, तहाँ अपने आप प्रकाश होने लगता है। दर्पण पर मैल चढ़ा है। आत्म दर्शन नहीं होता। उसमे कहीं से अपना प्रतिबिम्ब लाने के लिये प्रयत्न नहीं करना है। प्रयत्न तो एकमात्र उस धूलि को हटाने के लिये है। जहाँ धूलि हट गई, कि आत्म दर्शन होने लगेगा। इसी प्रकार काम क्रोधादि शत्रु नष्ट हो जायँ वासना का बीज दग्ध हो जाय, अन्तःकरण पवित्र हो जाय, पवित्र अन्तःकरण में भगवद्भक्ति का संचार हो जाय, अन्तःकरण भगवद् भाव में रग जाय, बस यही ब्रह्मनिर्वाण है।" यही परम सुख है, यही मुख्य उद्देश्य है यही परमपुरुषार्थ है।

असुर बालकों ने कहा—भैया, प्रह्लाद ! भगवान् तो दीखते नहीं। उन्हें कैसे पावें ? कहाँ रहते हैं वे ? कहाँ जाने में उनके दर्शन होंगे। कहाँ भजन करने से वे मिलेंगे ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, भाइयो ? प्रयास तो बाहर की दूर से वस्तु लाने में होता है। भगवान् की उपासना में क्या प्रयास ? देखो चाहें न देखो, वे बाहर नहीं भीतर हैं, घट घट

में व्याप्त है, माया के परदे में मुँह छिपाये बैठे हैं, जब यह अज्ञान रूपी जवनिका हट जायगी, तब वे अपने आप दिखाई देने लगेंगे। वे सामान्यतः सभी प्राणियों के सखा, सुहृद्, बन्धु, हितैषी, शुभचिंतक और सर्वस्व हैं। ऐसे श्रीहरि को त्याग कर विषयों के संग्रह में ही समय को व्यतीत करना व्यर्थ है।"

असुर बालकों ने कहा—"संसार के सुखद पदार्थों का संग्रह न करें, तो कल्याण कैसे हो ? सुख की प्राप्ति कैसे हो ?

प्रह्लाद ने कहा—"देखो, भैया ! गंभीरता पूर्वक विचार करो। जिसे स्वयं सर्प ने काट लिया है, वह दूसरों की क्या रक्षा कर सकता है ? जो स्वयं डूब रहा है, वह दूसरे डूबते हुए को कैसे उबार सकता है ? जिन धन, स्त्री, पशु, पुत्र, घर, भूमि, हाथी, घोड़ा, नाना वाहन, परिच्छद तथा अन्य विषयोपयोगी सामग्रियों को सुख प्राप्ति का साधन समझते हो, ये स्वयं नाशवान् अनित्य तथा क्षणभंगुर हैं। फिर ये इस मनुष्य का प्रिय करने में कैसे समर्थ हो सकती है ? भैया ! इन नाशवान् विषय भोगों के उपभोग से अविनाशी श्रीहरि कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? पदार्थ यहीं रह जाते हैं, उनकी वासनायें साथ जाती हैं, उसी के कारण पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है और मरना पड़ता है।"

दैत्यकुमारों ने पूछा—"अच्छा, ये सांसारिक भोग तो अनित्य हैं किन्तु जो स्वर्गीय सुख हैं, नंदनकानन कल्पवृक्ष के दिव्य पुष्प, अमृत, अप्सरायें दिव्य विमान आदि पुण्य से प्राप्त होने वाले पदार्थ तो नहीं है ?"

प्रह्लादजी ने हँसकर कहा—"अरे, भाई ! जैसे ये पदार्थ

हैं वैसे ही वे हैं। स्वर्गीय पदार्थ कुछ देर में नष्ट होते हैं। यहाँ के वर्ष छोटे हैं, वहाँ के बड़े यहाँ के पदार्थ कम मोहक हैं, वहाँ के अधिक मोहक हैं। दोनों ही अनित्य, दोनों ही नाशवान् और परिणाम में दुखद हैं। वे भी क्षयिष्णु हैं, उनमें भी सातिशय दोष है। वे भी निर्दोष नहीं। निर्दोष तो एकमात्र ब्रह्म ही हैं परमेश्वर को छोड़कर सभी में कुछ न कुछ दोष है। सभी कभी न कभी काल के अधीन होने वाले हैं। अतः जो काल के भी काल हैं उन प्रभु को ही एकनिष्ठ होकर भक्ति भाव से भजना चाहिए। उन्हीं की अनन्य भाव से उपासना करनी चाहिये। उन्हीं की सर्वात्म भाव से आराधना करनी चाहिये। इन संसारी कर्मों में क्या रखा है।"

दैत्य बालकों ने कहा—"कर्म करने का उद्देश्य सुख है जिससे सुख मिले वे कर्म तो अवश्य करने चाहिये।"

प्रह्लादजी ने कहा—"यह सत्य है कर्म सुख के लिए किये जाते हैं, किन्तु किसके सुख के लिए। आत्मा के सुख के लिए या शरीर सुख के लिए?

असुर बालकों ने कहा—"संसार में तो शरीर का सुख ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है।"

प्रह्लादजी ने कहा—"शरीर का सुख सुख नहीं है। जितने ही कामना सहित कर्म करोगे, उतने ही दुखी होगे। इसलिये कामना को त्यागकर निष्काम भाव से—भगवद् अर्पण बुद्धि से—किये हुये कर्म ही श्रेष्ठ हैं। सकाम कर्मों का फल प्रायः विपरीत ही होता है। मनुष्य जिस शरीर के लिये लोक में काम्य कर्मों के द्वारा भाँति भाँति के भव्य भोगों को प्राप्त करता है। वह शरीर भी तो सदा रहने वाला नहीं है, अस्थायी है

न जाने कब निर्जीव होकर नष्ट हो जाय। फिर दूसरा शरीर प्राप्त हो। शरीर तो मिलते रहते हैं छूटते रहते हैं। जिस शरीर के लिए यह सब पाप करते हैं, जो संसार में सब से प्यारा है। बच्चे को मार कर भी जिस शरीर की लोग रक्षा करते हैं, जब इस शरीर का ही ठिकाना नहीं तो स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, माता, पिता ये ममता से ही अपनाये हुए हैं। शरीर ही न रहेगा तो ये क्या रहेंगे। कैसा भी सुन्दर घर बनाओ, कितनी भी कारीगरी से रचपच के बनाओ। कितने भी परिश्रम से कितना भी अन्न एकत्रित करो, कितना भी बड़ा राज्य हो, हाथी घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा, पुरजन परिजन, मन्त्री अमात्य सेवक तथा और भी कितने अनुयायी क्यों न हों सब के सब एक न एक दिन नष्ट होने वाले हैं, शरीर के साथ इनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जायगा, इसलिये इन अनर्थकारी अनित्य भोग पदार्थों में ममत्व बुद्धि न करके आत्मचिन्तन में सदा लगे रहना चाहिये।"

दैत्य बालकों ने कहा—"अरे, भैया! ये सब सामग्रियाँ तो सुख देने वाली हैं। संसार में इनके सहारे ही तो मनुष्य सुखी रहता है।"

प्रह्लादजी ने कहा—"भैया! इस प्राणी को सुख कहाँ। गर्भ में कितना दुःख है, जन्म के समय माता को बालक को कितना दुख होता है। बाल्यकाल में दुख ही दुख है। दाँत उत्पन्न होते हैं तो दुख। कान छेदन में दुःख। पढ़ने में दुख, आजीविका पैदा करने में दुःख। विवाह का क्षण भर का सुख होता है, उसमें कितनी कितनी विपत्तियाँ मोल लेनी पड़ती हैं। फिर दरिद्रता का दुःख। व्यापार में घाटे का दुःख स्वजन बन्धु

बान्धवों की बीमारी का दुख। आत्मीय पुरुषों की मृत्यु का दुख, अपने शरीर में होने वाले रोगों से दुख। जो हाथी, घोड़ा वाहन आदि सुखके लिये हैं अन्तमें वे भी दुखदायी बन जाते हैं। लिङ्ग-देह की प्रेरणा से कर्म करते हैं, उन्हीं से शरीर प्राप्त होता है प्रारब्ध कर्म भोगने ही पड़ते हैं चाहे ऐं करो या चें। इसलिये शरीर सुखों की ओर ध्यान न देकर सदासर्वदा श्रीहरि का ही चिन्तन करते रहना चाहिये।

धर्मराजयुधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! इतना कहकर प्रह्लादजी चुप हो गये।

छप्पय

भैया सोचो नेक जगत में कितने सुख हैं।
गर्भवास तैं मरन काल तक दुखई दुख हैं॥
करिकैं नाना कर्म जीव फँसि जाइ जगत महँ।
करै कामना सहित कर्म चित देइन हित महँ॥
देह कर्म अविवेक तैं, होहिं तिन्हैं तातैं तजौ।
आश्रय जिनके विश्व है, तित सर्वेश्वर कूँ भजौ॥

भगवान् को सभी भज सकते हैं

(४८२)

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयते ऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ७ अ० ५१, ५३ श्लो०)

छप्पय

नहीं नियम है जिही तिन्हें आराधें द्विजई ।
होंहिं असुर, विट, शुद्र, नारि चाहें अन्त्यजई ॥
करि कैं भक्ति अनेक तरे नर पशु गोधादिक ।
नहीं रिझावें तिन्हें दान, तप, व्रत, शौचादिक ॥
आवश्यक नहिं विप्रपन, ऋषिपन हू अरु अमरपन ।
प्रभु प्रसन्नता के निमित, आवश्यक हरि अपनपन ॥

श्री हरि यदि किसी गुण से, किसी कला से, किसी व्यवहार से किसी दान धर्म से ही प्रसन्न होने वाले होते तो वे दीनों

प्रह्लादजी दैत्य बालकों से कह रहे हैं—"भाइयो ! भगवान् को प्रसन्न करने के लिये ब्राह्मणपना, देवता सोना, ऋषि होना, शील सदाचार, बहुज्ञता पर्याप्त नहीं और न वे दान, तप, यज्ञ, शौच एवं व्रतादि से ही प्रसन्न होने वाले हैं । ये तो केवल विशुद्ध भक्ति से प्रसन्न होते हैं । इसके अतिरिक्त और सब विडम्बना मात्र ही है ।

को कभी न मिलते, सदा बड़े आदमी ही उन्हें प्राप्त कर सकते। यद्यपि द्विज होना यह बड़े पुण्य का फल है। ब्राह्मण भगवान् की विभूति ही है, किन्तु द्विज होने से ही कोई भगवान् का कृपा पात्र बन जाय सो बात नहीं। यदि ब्राह्मण है, उसने विधिवत् चारों वेदों का अध्ययन किया है, किन्तु वह भगवान् का भक्त नहीं, तो वह भगवान् का प्यारा नहीं। इसके विपरीत जो चांडाल है, किन्तु भगवान् का अनन्य भक्त है, तो वह उस वेदज्ञ ब्राह्मण से श्रेष्ठ है, भगवान् का अत्यन्त प्यारा है। अतः भगवद् भक्ति मे बड़ाई छुटाई जातिकृत तथा वय आदि नहीं है। वहाँ तो जिसकी जितनी हो अधिक अनन्यता है, वह उतना ही भगवान् का प्रिय है।

दैत्य बालकों से प्रह्लाद जी कह रहे हैं—"भाइयो! देखो, भगवान प्राणि मात्र के प्रभु हैं, वे घट घट में व्याप्त हैं, सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं। उनका जो भी भक्ति भाव से भजन कर लें वे ही भगवत् बन जायँगे। देखो, मेरा ही जन्म अधम असुर कुल में हुआ है। फिर भी भागवान् ने मुझ पर कितनी कृपा की है, मुझे अपनाया है। अपना त्रैलोक्य पावन सुमधुर नाम लिवाया है।

असुर बालकों ने कहा—"भैया! तुम कुलीन हो, राज वंश में उत्पन्न हुए हो। तुम पर भगवान् ने कृपा की है, हम तो अधम असुर कुल में दीन हीनों के यहाँ उत्पन्न हुए हैं। धनी भी नहीं, देवता भी नहीं हम पर प्रभु कैसे कृपा करेंगे?"

प्रह्लादजी ने कहा—"अरे, भैया! देवता होने से कुलीन होने से क्या हुआ। देवता असुर, मनुष्य राक्षस, यक्ष, गन्धर्व,

ब्राह्मण चांडाल कोई भी क्यों न हो, जो भी भगवान् के चरणों का चिन्तन करेगा वही सुखी होगा। देखो, यदि ब्राह्मण होने से ही प्रभु प्रसन्न हो जाते, तो सभी ब्राह्मण भक्त बन जाते। बहुत से ब्राह्मण अपनी करनी के कारण राक्षस हो जाते है। बहुत से अधम योनियों में प्राप्त होते हैं। देवता होने से ही कोई भगवान की कृपा का पात्र हो सो भी बात नहीं। इन्द्र का भी पतन होता है, उसे भी कर्मवश सूकर कूकर आदि योनियों में जन्म लेना पड़ता है। ऋषि ही हो गये, यह भी पर्याप्त नहीं। ऋषियों का योगारूढ़ होने पर भी भगवद् भक्ति के बिना पतन होते देखा गया है। कहो कोई शील, सदाचार, बहुज्ञता, दान, तप यज्ञ, शौच तथा व्रतादि से ही भगवान् को प्रसन्न कर ले सो भी बात नहीं। इनके द्वारा भी कभी कभी पतन होता है।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! यह तो प्रह्लादजी ने बेतुकी बात कह दी। देखिये, जप, मौन, व्रत, अध्ययन, स्वधर्म पालन, एकान्त वास, समाधि; ये सब मोक्ष के साधन हैं और प्रह्लादजी इन सब का निषेध कर रहे हैं, यह क्या बात है? मोक्ष के साधनभूत इन कार्यों को भी नर न करें तो और करें क्या?"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ सूतजी बोले—"नहीं, नहीं, भगवन्! इस कथन का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि इन कर्मों को करे ही नहीं। करे अवश्य, किन्तु भक्ति के साथ करे। भक्ति हीन ये कर्म व्यर्थ हैं। इन्द्रियों पर विजय किये बिना वासना युक्त मलिन चित्त से किये गये, ये कर्म केवल सांसारिक भोगों को ही देने वाले होते हैं। ये भी एक प्रकार

के व्यापार—पेट भरने के साधन बन जाते हैं। अतः यहाँ इनकी अनुपयोगिता बताने में इतना ही तात्पर्य है, कि भक्ति रहित ये कार्य व्यर्थ हैं। भक्ति सहित किये जायँ तब तो कहना ही क्या ? यदि भगवान् केवल सदाचार से ही सन्तुष्ट होने वाले हों तो बड़े सदाचारियों को मोक्ष प्राप्ति क्यों न हो वे केवल स्वर्ग में ही क्यों जायँ, इसके विपरीत गीध का क्या आचार विचार सदाचार था, मृतक जीवों का मांस खाता था। अजामिल किस द्विजत्व के सदाचार का पालन करता था। उससे कौन सा कदाचार बचा था ? फिर भी भगवान् की इन पर कृपा हुई। गज ने कौन से शास्त्र पढ़े थे, भीलनी ने कौन से व्रत की दीक्षा ली थी, केवल भक्ति के सहारे ही वह भगवान् को प्राप्त कर सकी। नृग ने तो नित्य ही असंख्यों गौओं का दान किया था। किन्तु अन्त में उसे गिरगिट होना पड़ा। सुदामा के पास तो स्वयं ही खाने को नहीं था, दान क्या देता ? फिर भी भगवान् ने उसके चरण पखारे, उसे अपना ऐश्वर्य प्रदान किया। कितने कितने ऋषि तपस्या करके मर गये, जीवन में उन्होंने शाप देकर अपने तप को नष्ट ही किया। व्रज के ग्वाल बालों ने पंचाग्नि नहीं तापी थी, जल में डूब कर समाधि नहीं लगाई थी। घर घर से माखन चुराया था, गोपियों को चिढ़ाया, इसी पर भगवान् उनसे प्रसन्न हो गये। व्याध ने तो न कोई यज्ञ किये न व्रत, निरन्तर पक्षियों को मारा करता था, भगवान् के चरण कमल को भी मृग के भ्रम से वेध दिया। इसी पर उसे परम पद की प्राप्ति हुई। इसके विपरीत दक्ष प्रजापति ने तो सम्पूर्ण वैभव पूर्ण महायज्ञ किया था। समस्त देवताओं को बुलाया था, पानी की भाँति द्रव्य व्यर्थ किया था, किन्तु भक्ति हीन होने के कारण—विश्वनाथ

से द्वेष रखने के कारण—उसके यज्ञ का विध्वंस हुआ। उसका वीरभद्र के द्वारा सिर काटा गया।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् की प्रसन्नता के लिये यज्ञ, तप, शौच तथा व्रतादि शुभ कर्म ही पर्याप्त नहीं। भगवान् भक्ति से प्रसन्न होते हैं। और सब विडम्बना है मिथ्याचार है, जीवन को व्यर्थ खोना है।

प्रह्लाद जी कह रहे हैं—"दैत्य बालको! तुम भेद भाव को तिलाञ्जलि दे दो। सब में एक ही आत्मा का अनुभव करो। जैसे तुम्हारे पैर में काँटा गड़े तो तुम्हें दुःख होता है। इसी प्रकार समझो सब को दुःख होता होगा। इसलिये कभी किसी को काँटा न गड़ाओ। तुमसे कोई अवाच्य वचन कहे तो तुम्हें मानसिक दुःख अवश्य ही होता होगा, अतः तुम भूल कर भी किसी को बुरे वचन न कहो। सरांश यही है जो बात तुम्हें अच्छी न लगती हो तो उसका आचरण अन्यों के साथ भी मत करो। सम्पूर्ण जगत को हरिमय समझ कर सब को मन से प्रणाम करो, सबका आदर करो। भक्ति से ही अनेक जीवों को सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं।

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आप भक्ति की इतनी प्रशंसा कर रहे हैं इसे हम स्वीकार करते हैं किन्तु बिना अधिकार प्राप्त किये बिना ज्ञानार्जन किये मुक्ति कैसे हो सकती है?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाभाग! भगवान् में भक्ति हो जाय, तो सब ज्ञान वैराग्य स्वतः ही बिना बुलाये आ जाते हैं। भक्ति जाति-कुल, गोत्र, ऊँच नीच की अपेक्षा नहीं

करती। भक्ति श्वपच तक को पवित्र कर देती है। देखिये प्रह्लाद बलि व्यास बाणासुर ये सब असुर ही तो थे। भगवत् भक्ति के कारण पुण्यश्लोक हो गये। विभीषण राक्षस ही तो थे, भक्ति के प्रभाव से आज जगद्वन्द्य हो गये हैं। व्रजाङ्गनायें तो सभी अनपढ़ थीं, वे तो शौच, सदाचार, शिष्टाचार सभी से अनभिज्ञ थीं सीधी सादी सरल ग्रामीणा थीं। भगवान् उनके शुद्ध भाव से—अनन्य प्रेम से ही रीझ गये। हनुमान् जी जाति क कौन श्रेष्ठ थे किंपुरुष होने पर भी आज वे देवताओं के भी पूजनीय और वन्दनीय बन गए। गरुड़, गज, गीध आदि तो पक्षी ही थे। प्रभु का प्रसाद पाकर ये अजर अमर त्रैलोक्य वन्दित भागवत हो गये। भगवान् में भक्ति रखने के ही कारण अवध के कीट पतंग तक भगवद् धाम के अधिकारी हो गये। अतः संसार में भक्ति ही सार है। किसी भी प्रकार से काम से, क्रोध से, लोभ से, द्वेष से, वैर से अथवा प्रेम से, भगवान् में ही भक्ति रखनी चाहिये। उन्हीं से येन केन प्रकारेण सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये। उन्हीं में चित्त को लगाना चाहिये।

दैत्य बालकों ने कहा—"अच्छा भैया! तैंने बहुत बातें बताईं। अब तो सबका सारासिद्धान्त समझा दो जीव का एक प्रधान कर्तव्य बता दो।"

यह सुनकर प्रह्लादजी बोले—"भैया! मैं तो संसार में इसी को सबसे श्रेष्ठ सार बात समझता हूँ। यही जीव का सबसे बड़ा स्वार्थ है, यही परम पुरुषार्थ है, यही उत्तोत्तम कर्तव्य है, कि समस्त प्राणियों में सर्वत्र अपने इष्ट श्यामसुन्दर का दर्शन करे। भेद भाव को भुला कर सब में भगवान् को देखे। यही अनन्य प्रेम है, यही उत्तम अद्वैत भाव है, यही ऐकान्तिक

भक्ति है यही परमेश्वर में परानुरक्ति है। इसी को करना चाहिए।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! प्रह्लादजी की ऐसी सुन्दर रसीली रंगीली प्रेम से भीगी बातें सुनकर उन दैत्य बालकों ने उन्हें स्वीकार किया। क्योंकि वे सब शुद्ध अन्तःकरण के भोले भाले सरल निर्दोष थे। अब गुरु जी की शिक्षा को तो भूल गये सब मिलकर "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव" की रटन लगाने लगे।

छप्पय,

सुखद सार को सार शास्त्र सिद्धान्त सुनाऊँ।
मुख्य जीव को धर्म कह्यो जो ताहि बताऊँ॥
हरिमय सबकूँ जानि करो सम्मान सबनि को।
विषय चिन्तना त्यागि रहे नित चिंतन उनि को॥
खग, मृग, नर, सुर असुर, अघ, नाम लेत तरि जाइँ सब।
तातें तजि मद मोह तुम, गहौ कृष्ण की शरन अब॥

प्रह्लाद जी पर पिता का पुनः कोप

(४८३)

अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तस स्थिताम् ।
आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद्यथा ॥
श्रुत्वा तदप्रियं दैत्यो दुःसहं तनयानयम् ।
कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे ॥❀

(श्रीभा० ७ स्क० ८ अ० २,३ श्लो०)

छप्पय

देइ सीख प्रह्लाद असुर सुत अति हरषावैं ।
मानैं श्रद्धा सहित प्रेमतैं हरि गुन गावैं ॥
आये इत गुरु पुत्र निरखिकैं अति घबराये ।
ह्वै कैं अति भयभीत दैत्य पति के ढिग आये ॥
कहैं दीन ह्वै प्रभो ! अब, कुमर बिगारै सबनिकूँ ।
कृष्ण नाम कीर्तन करो, सिखवे यों बालकनिकूँ ॥

परमार्थ रूप पादप बीज है संत समागम । कथा उस पादप

❀धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं—"राजन् ! जब गुरुपुत्रों ने देखा कि इसकी बुद्धि तो एकान्त भाव से श्रीहरि में ही लगी है, तो-डर के कारण अति शीघ्र जाकर हिरण्यकशिपु को सब समाचार निवेदन कर दिया । पुत्र के द्वारा किये इस अप्रिय सम्वाद को सुनकर दैत्य राज का शरीर कोप के आवेश के कारण काँपने लगा । उसने मन में निश्चय कर लिया कि मैं इस पुत्र को मार डालूँगा ।

का फूल है और कीर्तन उसका सुस्वादु अत्यंत मधुर फल है भक्ति विवर्धिनी परम प्रेममयी कृष्ण कथा को सुनकर जिसे नाम गुण कीर्तन करने की अभिलाषा नहीं होती। उसे यही समझना चाहिये कि सफल वृक्ष के सन्निकट पहुँचने पर भी वह फलों से वञ्चित ही रहा। जैसे फलवान् वृक्षों के फूलों का परिणाम फल है, वैसे ही कथा श्रवण का परिणाम है, कृष्ण कीर्तन।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! विशुद्ध अन्तःकरण वाले प्रह्लाद जी की हृदय से निकली हुई शिक्षा का निर्दोष भोले भाले दैत्य बालकों के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने पूछा "भैया ! अब हम क्या करें ?"

प्रह्लाद जी ने कहा—" कथा के पश्चात् कीर्तन होता है, सो कीर्तन करो।"

इसपर असुर बालकों ने कहा—"भैया ! हमारे तो बाप दादों ने भी कीर्तन नहीं किया है, कीर्तन करना तो हम जानते नहीं हैं।"

हँसकर प्रह्लाद जी ने कहा—"कीर्तन करना कोई कठिन काम थोड़े ही है ! इसे तो सब कोई, पढ़े, बिना पढ़े, बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण चाण्डाल सभी कर सकते हैं। किसी प्रकार के कला कौशल की आवश्यकता नहीं। मुख से नाम उच्चारण करो हाथों से ताली बजाते जाओ। ताली बजाने से पाप रूपी दुष्ट पक्षी उड़ जायँगे। देखो, पहिले मैं बोलूँगा मेरे पीछे तुम सब एक स्वर में बोलना। बोलो—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।

हे नाथ नारायण वासुदेव ॥

दैत्य बालकों ने एक स्वर में बोलना आरम्भ किया—"श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" प्रह्लादजी स्वर के सहित ताली बजाकर बड़ी लय से उस धुनि को कह रहे थे। बच्चे उनके स्वर में स्वर मिलाकर उनका अनुसरण कर रहे थे। अब प्रह्लाद जी ने क्रमशः अपनी गति को द्रुत कर दिया। तालियाँ भी द्रुत गति से बजने लगीं। सभी झूम झूमकर कीर्तन करने लगे। सभी तन्मय हो गये थे, सभी के नेत्र बन्द थे। यन्त्र के समान वे ताली बजा बजाकर झूम रहे थे। मुख से माधव के नामों का उच्चारण कर रहे थे। जब कीर्तन का ठाठ भली भाँति जम रहा था, जब सुन्दर समा बँध रहा था, तभी गुरु पुत्र आये। द्वार पर से ही संकीर्तन की सुमधुर ध्वनि सुनकर उनके कान खड़े हुए। बाहर कुतूहल वश बहुत से लोग खड़े थे। गुरु पुत्र भी आकर खड़े हो गये, किन्तु उनकी ओर देखने का अवसर ही किसे था। सभी प्रेमानन्द में छके हुए शरीर की सुधि बुधि भूले हुए थे।

गुरु पुत्रों ने सोचा—"मैं यहाँ खड़ा हूँ, किसी ने अभी जाकर हिरण्यकशिपु से कह दिया, कि वे तो खड़े खड़े सबसे कीर्तन कराते हैं, तब तो हमारे ऊपर विपत्ति के पहाड़ ही टूट पड़ेंगे। अतः किसी के सम्वाद देने के पूर्व हम ही क्यों न जाकर राजा को सूचना दे दें कि प्रह्लाद सब बालकों को बिगाड़ रहा है, उलटी पट्टी पढ़ा रहा है। हमारे पहिले जाकर कहने से दोष हमारे सिर न रहेगा।"

यह सोचकर दोनों गुरु पुत्र दौड़े दैत्यराज के समीप गये और हाँपते बोले—"प्रभो! प्रह्लादजी ने तो सबको

अपना सा बना लिया। उसने तो पाठशाला को कीर्तन भवन बना लिया है।"

इस दुस्सह सन्वाद को सुनते ही हिरण्यकशिपु का क्रोध सीमा को पार कर गया। वह इस असह्य अप्रिय समाचार के सुनते ही क्रोध के कारण काँपने लगा। उसने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि यह मेरा कुलघातक अधम पुत्र अब बहुत अधिक बढ़ गया है। अब इसे मैं स्वयं ही खड्ग से मार डालूँगा।"

उसने ओठों को काटते हुए अत्यन्त क्रोध भरी वाणी में सेवकों से कहा—"तुम अभी जाकर मेरे उस दुष्ट पुत्र को पकड़ लाओ। आज मैं उसे मारे बिना छोड़ूँगा नहीं।"

सेवक तो प्रह्लादजी की भगवद् भक्ति और दृढ़ निष्ठा से पहिले ही प्रभावित हो चुके थे। वे मन ही मन प्रह्लादजी का बड़ा आदर करते थे। किन्तु डर के कारण अपनी श्रद्धा को प्रकट नहीं करते थे। उन्होंने पाठशाला में विनीत भाव से जाकर कहा—"कुमार ? आपको पिताजी राजसभा में बुला रहे है। कृपा कर आप राजसभा में पधारें तो अति उत्तम हो महाराज कुछ क्रुद्ध हैं।"

इतना सुनते ही प्रह्लाद जी पिता के समीप जाने को उद्यत हुए। लड़के तो चंचल होते ही हैं उन्हें नवीन बात का बड़ा कुतूहल होता है। वे सबके सब बोले—"कुमार ? हम भी आज सब राजसभा में चलेंगे और कीर्तन करते हुए चलेंगे। आज महाराज के कान में भी तो भगवान् के परम पावन सुमधुर नाम पड़ जायँ। इससे अंत में उनकी भी सद्गति हो जायगी।"

प्रह्लादजी को इसमें क्या आपत्ति होनी थी। सबको साथ लेकर वे बड़े उत्साह से संकीर्तन करते हुए राज सभा

की ओर चलने लगे। राज पथों पर हाथ उठा उठाकर उच्चस्वर

से बालकों के साथ कीर्तन करते हुए जब नर नारियों ने प्रह्लादजी को देखा, तो वे भी सब के सब मिलकर कीर्तन करते हुए उनके साथ २ हो लिये। नगर कीर्तन से यही तो बड़ा लाभ है, कि जिनकी इच्छा भी नहीं उनके कानों में भी भगवान् का मंगलमय नाम पड़ जाता है।

उस कीर्तन मंडली को साथ लिये हुए प्रह्लाद जी अपने पिता के समीप पहुँचे। अन्य लोगों ने जब हिरण्यकशिपु की क्रोधमयी मुद्रा देखी, तब किसी का भी साहस उसके समीप जाने का नहीं हुआ। कुछ लोग तो उसके लाल लाल नेत्रों को ही देखकर भाग गये। कुछ दूर खड़े हुए देखते रहे। वे सब डर के कारण थर थर काँप रहे थे, किन्तु प्रह्लाद जी तो निर्भय थे, उन्हें तो किसी का कुछ भय था ही नहीं। वे बड़े उत्साह से अपने पिता के सम्मुख गये। भगवन्नाम के निरन्तर जप से उनके ओठ हिल रहे थे। जाकर प्रथम उन्होंने पितृ चरणों में श्रद्धा सहित प्रणाम किया। पुनः अत्यन्त नम्रता के साथ विनय पूर्वक अञ्जलि बाँधकर उसके सम्मुख खड़े हो गये।

हिरण्यकशिपु ने जब भगवद् भक्त प्रह्लादजी को शान्त दान्त होकर खड़े देखा तो वह दुष्ट उनका तिरस्कार करता हुआ अत्यन्त कठोर वाणी से बोला, उस समय उसका क्रोध सीमा को पार कर गया था। जैसे भूखा व्याघ्र हिरन पर झपटता है, जैसे पैर के नीचे दब जाने पर साँप फुंकार मारता है। जैसे तिरस्कृत हुआ तपस्वी शाप देने को उद्यत हो जाता है। वैसे ही वह निष्ठुर हृदय का दैत्य अपनी दृष्टि से प्रह्लादजी को भस्म सात करता हुआ बोला—क्यों रे नीच! तैंने अब

भी अपनी नीचता नहीं छोड़ी।"

प्रह्लादजी ने बड़ी नम्रता के साथ कहा—"पिताजी मैंने क्या किया ?"

सर्प के समान दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ वह दैत्यराज बोला—"अरे कुलाङ्गार ! अब भी तुझे पता नहीं। तू बड़ा धृष्ट हो गया है। मेरे सामने उत्तर देने मे तुझे भय भी नहीं लगता। अभी इन गुरु पुत्रों ने कहा है, तू पाठशाला के सभी लड़कों को विपरीत शिक्षा देता है मेरे शत्रु का नाम कीर्तन कराता है उसी के गुणों को गाता है जिसने मेरे भाई को मार डाला है। तू मुझे कुछ भी नहीं समझता ?

प्रह्लादजी ने विनीत भाव से कहा—"नहीं, पिताजी ! मैं तो आपका हृदय से आदर करता हूँ।"

कुटिल भृकुटि से क्रोधपूर्वक देखता हुआ वह असुर बोला—"आदर करता है पत्थर ! यही आदर है कि मैं जो कहूँ उसके विपरीत आचरण करना। मेरी आज्ञा का सर्वदा उल्लंघन करना। वह आदर नहीं अनादर है मुझे तृण के समान समझना है। इसका मैं तुझे अभी फल चखाऊँगा। तुझे इसी क्षण यम सदन पठाऊँगा। इसी खड्ग से तेरा सिर धड़ से पृथक् करूँगा।" तू मुझे साधारण असुर समझता होगा। तुझे ज्ञात हो कि मेरे कुपित होने पर सम्पूर्ण देव उपदेव तथा लोकपाल थर थर काँपते हैं। तू किसके बल पर ये बढ़ बढ़कर बातें कर रहा है। किसके सहारे तू सब को तृण के समान समझता है ? किसके सहारे निर्भय होकर छाती फुलाकर धृष्टता के साथ उत्तर दे रहा है ?"

प्रह्लादजी ने विनीत भाव से कहा—"पिताजी ! जिनके बल पर संसार में सभी अपने को बली समझते हैं उन्हीं का मुझे बल है। मुझे ही क्या ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सभी को वे ही बल प्रदान करते हैं। उन्हीं की सत्ता से सब की सत्ता है। छोटे बड़े, स्थावर जंगम सभी प्राणी उन्हीं के अधीन हैं। हम में उन्हीं का दिया बल है।

क्रोध से ओठों को काटता हुआ हिरण्यकशिपु बोला—"अरे दुर्विनीत ! तू यह कैसी राय भाटों की सी स्तुति कर रहा है। सम्पूर्ण जगत् तो मेरे अधीन है। सबका स्वामी तो मैं हूँ, मेरे बल के सम्मुख अन्य किसका बल हो सकता है।

प्रह्लादजी ने सरलता के स्वर में कहा—"पिता जी ! आपके पास भी उन्हीं का दिया बल है। संसार के समस्त बलवानों के बल वे ही वासुदेव हैं। वे ही सब के स्वामी हैं, वे ही सब से महान् बली हैं, वे ही काल स्वरूप हैं। शरीर के बल रूप में, इन्द्रियों के ओजरूप में और मन के बल सह रूप में वे श्रीहरि हैं। वे ही जगत् के रचयिता, पालन कर्ता और संहार-कर्ता हैं।

अत्यंत क्रोध से काँपता हुआ दाँत पीस कर वह दैत्य बोला—"अरे, नीच जगत् का पालन पोषण कर्ता मैं हूँ। मैं ही सब जगत् की रक्षा करता हूँ। मेरे संकेत से सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य होते हैं। यज्ञों का भोक्ता मैं हूँ। पंचभूत मेरे ही कथनानुसार कार्य करते हैं।"

प्रह्लादजी ने नम्र किन्तु दृढ़ता के स्वर में कहा—"पिता जी ! यही तो असुरपन है। जो देह को ही आत्मा मानते हैं

भी अपनी नीचता नहीं छोड़ी।"

प्रह्लादजी ने बड़ी नम्रता के साथ कहा—"पिताजी मैंने क्या किया ?"

सर्प के समान दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ वह दैत्यराज बोला—"अरे कुलाङ्गार ! अब भी तुझे पता नहीं। तू बड़ा धृष्ट हो गया है। मेरे सामने उत्तर देने में तुझे भय भी नहीं लगता। अभी इन गुरु पुत्रों ने कहा है, तू पाठशाला के सभी लड़कों को विपरीत शिक्षा देता है मेरे शत्रु का नाम कीर्तन कराता है उसी के गुणों को गाता है जिसने मेरे भाई को मार डाला है। तू मुझे कुछ भी नहीं समझता ?

प्रह्लादजी ने विनीत भाव से कहा—"नहीं, पिताजी ! मैं तो आपका हृदय से आदर करता हूँ।"

कुटिल भृकुटि से क्रोधपूर्वक देखता हुआ वह असुर बोला—"आदर करता है पत्थर ! यही आदर है कि मैं जो कहूँ उसके विपरीत आचरण करना। मेरी आज्ञा का सर्वदा उल्लंघन करना। वह आदर नहीं अनादर है मुझे तृण के समान समझना है। इसका मैं तुझे अभी फल चखाऊँगा। तुझे इसी क्षण यम सदन पठाऊँगा। इसी खड्ग से तेरा सिर धड़ से पृथक् करूँगा।" तू मुझे साधारण असुर समझता होगा। तुझे ज्ञात हो कि मेरे कुपित होने पर सम्पूर्ण देव उपदेव तथा लोकपाल थर थर काँपते हैं। तू किसके बल पर ये बढ़ बढ़कर बातें कर रहा है। किसके सहारे तू सब को तृण के समान समझता है ? किसके सहारे निर्भय होकर छाती फुलाकर धृष्टता के साथ उत्तर दे रहा है ?"

प्रह्लादजी ने विनीत भाव से कहा—"पिताजी ! जिनके बल पर संसार में सभी अपने को बली समझते हैं उन्हीं का मुझे बल है। मुझे ही क्या ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सभी को वे ही बल प्रदान करते है। उन्हीं की सत्ता से सब की सत्ता है। छोटे बड़े, स्थावर जंगम सभी प्राणी उन्हीं के अधीन हैं। हम में उन्हीं का दिया बल है।

क्रोध से ओठों को काटता हुआ हिरण्यकशिपु बोला—"अरे दुर्विनीत ! तू यह कैसी राय भाटों की सी स्तुति कर रहा है। सम्पूर्ण जगत् तो मेरे अधीन है। सबका स्वामी तो मैं हूँ, मेरे बल के सम्मुख अन्य किसका बल हो सकता है।

प्रह्लादजी ने सरलता के स्वर में कहा—"पिता जी ! आपके पास भी उन्हीं का दिया बल है। संसार के समस्त बलवानों के बल वे ही वासुदेव हैं। वे ही सब के स्वामी हैं, वे ही सब से महान् बली हैं, वे ही काल स्वरूप हैं। शरीर के बल रूप में, इन्द्रियों के ओजरूप में और मन के बल सह रूप में वे श्रीहरि हैं। वे ही जगत् के रचयिता, पालन कर्ता और संहार-कर्ता हैं।

अत्यंत क्रोध से काँपता हुआ दाँत पीस कर वह दैत्य बोला—"अरे, नीच जगत् का पालन पोषण कर्ता मैं हूँ। मै ही सब जगत् की रक्षा करता हूँ। मेरे संकेत से सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य होते हैं। यज्ञों का भोक्ता मैं हूँ। पंचभूत मेरे ही कथनानुसार कार्य करते हैं।"

प्रह्लादजी ने नम्र किन्तु दृढ़ता के स्वर मे कहा—"पिता जी ! यही तो असुरपन है। जो देह को ही आत्मा मानते हैं

वे ही असुर हैं। आप इस असुर भाव को त्याग दें। यह छोटा है, मैं बड़ा हूँ। यह पोष्य है मैं इसका पोषक हूँ। इन बातों को भूल जाइये। बुद्धि को साम्य भाव में स्थिर कीजिये। मेरे ऊपर क्रोध न करें।

हिरण्यकशिपु ने प्रह्लादजी को झिड़क कर कहा—"क्रोध करने का तो तू काम ही करता है। मेरे शत्रु का भजन करता है, उसके गुणों का गान करता है उसे अपना इष्ट समझ कर दास भाव से उसकी उपासना करता है। शत्रु का पक्ष पाती शत्रु ही माना जाता है।"

गंभीरता के साथ प्रह्लादजी ने कहा—"पिताजी! क्रोध को शान्त कीजिये। चित्त को स्थित कीजिये संसार में न कोई बाहर शत्रु है न मित्र। अपना मन ही शत्रु है, मन ही मित्र। इस संसार में असंयत और कुमार्ग का आश्रय लेने वाले चित्त के अतिरिक्त और कोई द्वेष पात्र नहीं है। अतः इस चित्त को समदर्शी बनाइये। मैं मेरा तूँ तेरा के भाव को भूल जाइये। सब को समान भाव से आत्म रूप में देखिये। जीवों में द्वैधी भाव न देखना सब को आत्म स्वरूप ही समझना यही सर्वेश्वर की सर्वश्रेष्ठ सेवा है। वही शूर है, वही विजयी है।

हिरण्यकशिपु ने कहा—"अरे मूर्ख! त्रैलोक्य विजयी तो मैं हूँ। मेरे सन्मुख संसार में कौन ठहर सकता है? आठों लोक पालों को तो मैंने वश में किया है। उन सब पर तो मैंने विजय प्राप्त की है।' सरलता के स्वर में प्रह्लादजी बोले—"अजी, पिता जी! लोकपालों को जीतने से क्या होता है। बाहर की विजय विजय नहीं कहलाती। बाहर के शत्रु जीत लिये, किन्तु अत्यन्त प्रबल जो भीतर के काम क्रोध लोभ मोह

शत्रु हैं उन्हें न जीता तो उसका सब जीवन व्यर्थ है। जो सम्पूर्ण प्राणियों में प्रभु को देखते है, जो सब को हरिमय समझकर सभी का सम्मान करते हैं। ऐसे ज्ञानी विज्ञानी परमहंस मुनि इन अज्ञान के बन्धु काम क्रोधादिक रिपुओं के जीतने में समर्थ होते हैं। जब वे भीतर के शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर न उनके भीतरी शत्रु रहते हैं न बाहरी। वे अजात शत्रु बन जाते हैं। सो, पिताजी! आप पहिले अपने भीतरी शत्रुओं पर ही धावा बोलें। फिर आपको मुझसे भय न होगा। न फिर मुझे मारने की विविध प्रकार की चेष्टायें ही करेंगे।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी से कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार जब निर्भीक होकर प्रह्लादजी स्पष्ट उत्तर देने लगे, तब तो उस असुर को अत्यन्त ही क्रोध आया वह क्रोध से काँपता हुआ प्रह्लादजी की ओर देखता का देखता ही रह गया। क्षण भर उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

छप्पय

सुनत मुखद सम्वाद दैत्यपति बहुत रिस्यान्यो।
भगवद् भक्त सुशील तनय कूँ रिपुसम मान्यो॥
कहे दीठ अति भयो म्यान ते खड्ग निकारूँ।
नैक कृपा नहि करूँ दुष्ट कूँ अबई मारूँ॥
पठये पकरन पुत्र कूँ, सेवक तुरतहिं गये सब।
करत कीरतन सबनि सँग, आये श्री प्रहलाद तब॥

हरि कहाँ हैं

(४८४)

यस्त्वया मन्द भाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तंम्भेन दृश्यते ❀॥

(श्रीभा० ७ स्क० ८ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

मुख तैं मधुमय मधुर नाम माधव के गावत ।
शीलवान् अति सरल लख्यो सुत सम्मुख आवत॥
किटकिटाय कें दाँत दैत्य गर्जन करि बोल्यो ।
मानों विष तैं भर्यो स्पॉपने निज मुख खोल्यो ॥
दुर्विनीत कुलरिपु ! अधम ! बोल्यो विष उगिलत वचन ।
बोलि विष्णु तेरो कहाँ, पठऊँ तोकूँ यमसदन ॥

साधारण नियम यह है, कि बड़े आदमी-प्रतिष्ठित पुरुष स्वयं न तो अपने हाथों से किसी को मारते हैं और न कोई

❀ हिरण्यकशिपु प्रह्लादजी से कह रहा है—"हे मन्द भाग्य ! तू जिस जगदीश्वर को कह रहा है, यदि वह मुझसे कोई भिन्न दूसरा है तो उसे बता । वह कहाँ रहता है । तू कहता है वह सर्वत्र है, तो इस खम्भे में दिखाई क्यों नहीं देता ?"

साधारण दंड देते हैं। केवल सेवकों को आज्ञा भर दे देते है। कारण कि उन्होंने अपने छोटे से कोई बात कही उलट कर उसने भी बात कह दी या मारने को प्रहार करने को उद्यत हो गया, तो बड़े लोगों का इसमें घोर अपमान है, किन्तु जब बड़े लोग अत्यधिक क्रोध में आते हैं, तो स्वयं उसे मारने लगते हैं। जैसे अत्यन्त प्रेम में प्रेमी की स्वयं ही छोटी से छोटी सेवा किया करते हैं। सामान्यतया पुत्र और शिष्य को स्वयं ही दन्ड दिया जाता है, किन्तु न्यायाधीश के आसन पर बैठ कर सम्मुख जो भी अभियुक्त आवे, वह चाहे अपना सगा सम्बन्धी हो, सब को नियमानुसार ही दन्ड देना चाहिये।

नारदजी महाराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! प्रह्लाद जी पर नियमानुसार राजद्रोह का—राजाज्ञा उल्लंघन का—अभियोग चलाया गया था। किन्तु हिरण्यकशिपु तो स्वयं ही उनसे द्वेष करता था। वह प्रह्लाद जी के मुख से भगवान् के गुणगान सुनते सुनते ऊब गया था, अतः अब उसने अन्य किसी से दन्ड दिलाना उचित न समझा, अब वह स्वयं ही प्रह्लादजी को दन्ड देने को उद्यत हो गया। जब उसके पूछने पर प्रह्लादजी ने बताया मुझे भगवान् विष्णु का बल है। मुझे क्या सम्पूर्ण जगत् का और आपको भी उन्हीं का बल है।" तब तो वह दाँत किटकिटा कर अत्यन्त ही क्रोध के साथ प्रह्लादजी से कहने लगा—"अरे, मूर्ख! प्रतीत होता है, तेरा अब अन्त काल अत्यन्त ही निकट आ गया है। जो मरने वाला होता है उसकी बात कुपित हो जाती है। बात के वेग में वह अंट संड असम्बद्ध बातें बकने लगता है। कुछ का कुछ कहता है। तू बार बार कह रहा है जगदीश्वर रक्षा करते हैं जगदी-

श्वर पालन करते हैं। क्या मेरे अतिरिक्त कोई संसार में और भी जगदीश्वर है ?"

प्रह्लाद जी ने कहा—"हाँ, है।

क्रोध से दैत्य ने पूछा—"कहाँ है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—सर्वत्र है।"

झुँझलाकर दैत्य ने पूछा—सर्वत्र कहाँ, मूर्ख ?

प्रह्लाद जी ने कहा—"सर्वत्र अर्थात् सब स्थानों में मुझमें तुम में, खड़ग खम्भ में, वृक्ष में लता में गुल्म में ?

बीच में ही हिरण्यकशिपु ने पूछा—"क्या इस पत्थर के खम्भे में भी तेरा ईश्वर है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"पिता जी ! मैं कह तो रहा हूँ, वे सब में समान रूप से व्याप्त हैं यदि सब में हैं, तो इस खम्भे में भी होंगे ?"

अत्यन्त क्रोध के स्वर में हिरण्यकशिपु ने कहा—"होंगे नहीं। यह बता हैं या नहीं ? तुझे दीखते हैं या अनुमान ही लगा रहा है ? मुझे ठगना नहीं सच सच बता, जो प्रत्यक्ष देखता हो उसी को कह ?

सत्यवादी प्रह्लाद जी अब क्या कहते। हिरण्यकशिपु का क्रोध पराकाष्ठा को पार कर गया था, उसका हरि सम्बन्धी द्वेष सीमा को भी उल्लंघन कर गया था। इधर प्रह्लादजी का प्रेम भी चरम सीमा पर पहुँच गया था। भगवान् साधारण

स्थिति में प्रकट नहीं होते। जिन्हें खाने पीने में संसारी सुखों में ही सुख मिलता है, जिन्हें अपनी साधारण स्थिति पर सन्तोष हैं, वहाँ भगवान् शीघ्र प्रकट नहीं होते। जहाँ अत्यंत काम भाव से, अत्यंत क्रोध भाव से, अत्यंत द्वेष भाव से, अत्यंत भय से, अत्यंत स्नेह से मनुष्य सीमा का उल्लंघन कर जाता है। इन भावों को पराकाष्ठा पर पहुँचा देता है, वहाँ तुरंन्त श्रीहरि प्रकट हो जाते हैं।

प्रह्लादजी ने अब एकाग्रचित्त से भव भयहारी भगवान् को अत्यंत करुणा के सहित पुकारा सम्पूर्ण चित्त की वृत्तियों को बटोर कर मन को उन्हीं में तल्लीन करके भगवान् की कृपा का, उनकी सर्वव्यापकता का अनुभव किया। भगवान् तो भक्त के वश में हैं। सच्ची पुकार के पीछे दौड़ने वाले हैं। प्रह्लादजी ने अनुभव किया कि खम्भ में से भगवान् झाँक रहे हैं और अपनी विकराल मूर्ति से अट्टहास कर रहे हैं।" प्रह्लादजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने चौंककर चिल्लाकर दृढ़ता के स्वर में दैत्यराज से कहा—"पिताजी! मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, भगवान् वासुदेव इस खम्भ में अवश्य हैं। साकार स्वरूप से विराजमान हैं।

हिरण्यकशिपु भी प्रह्लाद के ऐसे दृढ़ वचनों से कुछ संभ्रम में पड़ गया और उस खम्भ की ओर ध्यान से देखने लगा, किन्तु उसे खम्भ के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही न देता था।

तब तो वह रोष के स्वर में बोला—"नीच ! तू मुझे भुलाना चाहता है। आज मैं तेरा सिर धड़ से पृथक करूँगा, देखें तेरा भगवान् तुझे कैसे बचाता है।" अब तू अपने उस सर्वज्ञ ईश्वर को याद करले। अब वह आकर तेरी रक्षा करे तुझे मेरे हाथ से बचावे।"

प्रह्लादजी इस धमकी से न तो डरे ही न विचलित ही हुए। अब प्रत्यक्ष देखा भगवान् भयंकर रूप से खम्भ में जीभ लपलपा रहे हैं उसे ऐसा लगा मानों भगवान् क्रोध करके दैत्यराज का नाश करने के लिए उद्यत हैं वे चिल्ला उठे—"पिता जी ! खम्भ में भगवान् प्रत्यक्ष विराजमान हैं, आप उनसे अपनी रक्षा करें।"

इतना सुनना था, कि वह महादैत्य दांत किटकिटा कर क्रोध से आँखों को लाल लाल किये अपने आसन से शीघ्रता के साथ उठ खड़ा हुआ और प्रह्लादजी को बारम्बार धिक्कारता हुआ तुरंत सिंहासन से कूद पड़ा। और बोला—"अच्छी बात है, आज मैं तुझे और यदि मेरे सामने आ जाय, तो तेरे विष्णु दोनों को ही इस चन्द्रहास खड्ग के घाट उतारूँगा। पहिले मैं तेरे विष्णु को ही देखता हूँ—बोले, हैं इस खम्भ में ?"

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! इतना कह कर खड्ग निकाल कर प्रह्लादजी के ऊपर झपटा।" प्रह्लादजी ने फिर कहा—हाँ हैं ?

अब तो हिरण्यकशिपु अपने को सम्हाल न सका। उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बड़े वेग से एक मुक्का उस

खम्भे में मारा। दैत्यराज के जिस मुक्के से पृथ्वी फट जाती थी, उस मुक्के का खम्भा पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। यही

नहीं उसमें से एक अत्यन्त भयानक शब्द हुआ। जिसकी प्रतिध्वनि तीनों लोकों में भर गई। लोक पाल घबड़ा गये। ब्रह्माजी डरकर वेद पढ़ने लगे ऋषिगण स्वस्ति स्वस्ति कहने लगे। सबको ऐसा प्रतीत हुआ मानों ब्रह्मांड कटाह फट गया हो।

छप्पय

विष्णु कहाँ रे! दुष्ट ताहि यम सदन पठाऊँ।
यत्र तत्र सरवत्र कहाँ हौं तिन्हें बताऊँ॥
मो मे? हाँ, का सभा मांहि? हैं अवसि तहाँऊँ।
खम्भ मांहि? कहि दई पिताजी! रहे वहाँऊँ॥
मुनि सिंहासन से उठयो, खम्भ मांहि घूंसा दयो।
तुरत तहां तें भयंकर, सिंहनाद भीषण भयो॥

भगवान् नृसिंह का प्रादुर्भाव

(४८५)

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥❀
(श्रीभा० ७ स्क० ८ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

प्रकटे हुँ हुँ करत फिरत गरजत अरु तरजत ।
बदन महा विकराल क्रोध तैं अंग अंग फरकत ॥
सिर तो सिंह समान शेष धड़ नर सम सुन्दर ।
लपलपात अति जीभ भयंकर मुख जनु कंदर ॥
जन्तु विचित्र निहारि खल, नहीं डरयो न ठाढ़ौ रह्यो ।
हरि मायावी है जिही, दैत्यराज हँसि के कह्यो ॥

भगवान् अजन्मा हैं, फिर भी भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये जन्म लेते हैं। उनका कोई रूप नहीं, फिर भी अपने

❀नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! अपने सेवक प्रह्लादजी के कथन को सत्य बनाने के निमित्त तथा सम्पूर्ण भूतों में अपनी व्यापकता दिखाने के निमित्त उसी सभा में उसी खम्भे के बीच से भगवान् अत्यद्भुत रूप को धारण किये प्रकट हुए। वे न तो पूरे सिंह थे न मनुष्य ही।

आश्रितों के सन्तोष के निमित्त नाना रूप धारण करते हैं। भगवान् सबके माता पिता हैं उनका न कोई जनक है न जननी, फिर भी वे शरणागतों की इच्छा पूर्ति के लिये किसी के पुत्र कहलाते हैं, किसी के यहाँ अवतरित होते हैं। उनके लिये चर अचर सभी एक से हैं, किसी में कुछ भी भेद भाव नहीं। वे सूकर भी बन जाते हैं। कच्छ मच्छ हंस और आधे सिंह और आधे मनुष्य भी बनजाते हैं। कहीं वे किसी भाग्यवती स्त्री की गोद में क्रीड़ा करते हुए उनके पुत्र कहलाते हैं, तो कहीं खम्भ को ही अपना पिता माता बना लेते हैं उन्हें तो भक्तों को सन्तुष्ट करना है, वे क्षेत्र और बीज को ओर नहीं देखते। सब के आदि बीज तो वे स्वयं ही हैं। प्रकृति उनकी चेरी है अतः भक्तों के लिये वे चीर में ही बढ़ने लगे हैं। खम्भ फाड़के ही निकल आते हैं। भक्तों ने भगवान् को अपने आधीन कर रखा है।

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु ने सभा के बीच में लगे खम्भ में मुष्टि प्रहार किया, तो उसमें जो शब्द हुआ वह ऐसा लगा मानों यहाँ ब्रह्माण्ड कटाह फट गया हो। ब्रह्मलोक में बैठे ब्रह्माजी चकित होकर इधर उधर देखने लगे। उन्होंने सोचा—"यह कुसमय मे प्रलय कहाँ से हो रही है। अभी तो प्रलय का समय नहीं।

क्रोध में भ्रकुटि ताने दातों से ओंठ को काटते हुए असुर ने भी उस भीषण अत्यद्भुत घोर शब्द को सुना, समीप में बैठे दैत्यगण उस असह्य घोररव को सुनकर थर थर काँप रहे थे, किन्तु उन्हें इसका कुछ कारण न जान पड़ा दैत्य चकित होकर खम्भ की ओर देख रहा था, किन्तु यह शब्द किसका है,

उस शब्द के आधारभूत व्यक्ति के दर्शन उसे नहीं हो रहे थे। सहसा उस खम्भ में से ही चतुर्भुज भगवान् विष्णु प्रकट हो गये।"

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने पूछा—"प्रभो! निर्जीव खम्भ में से भगवान् क्यों प्रकट हुए, उन्हें अवतार ही लेना था, तो किसी जीव जन्तु के यहाँ लेते। खम्भ को बाप बनाना तो उचित नहीं।"

यह सुनकर नारदजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! भगवान् का कौन बाप दादा हो सकता है। वे ही सबके दादाओं के भी दादा हैं। जड़ चैतन्य का भेद तो हम अज्ञ पुरुषों के लिये है। उनके लिये कौन जड़ है, कौन चैतन्य। इस समय खम्भ से प्रकट होने के उनके कई कारण थे। पहिला कारण तो यह था, कि हिरण्यकशिपु ने वरदान माँगा था कि मैं देवता, असुर, पशु, पक्षी आपके बनाये किसी जाति के जीव से न मरूँ। यदि भगवान् किसी योनि से उत्पन्न होते तो उसी के पुत्र कहलाते। आधे सिंह और आधे नर होने पर भी यदि मानवीय योनि से या सिंहिनी के गर्भ से प्रकट होते तो मनुष्य या सिंह कहलाते। अब खम्भ से उत्पन्न हुए, तो खम्भ के तो पुत्र होते नहीं अतः खम्भ से उत्पन्न होकर मानों उनके वर को सत्य किया। दूसरा कारण यह भी है कि प्रह्लादजी ने कहा—इस खम्भ में भगवान् हैं। भगवान् अपनी प्रतिज्ञा तो मिथ्या कर सकते हैं, किन्तु भक्त की प्रतिज्ञा के लिये तो वे सब कुछ करने को तत्पर रहते हैं। मेरे भक्त का कथन मिथ्या न हो, इस हेतु वे खम्भ से प्रकट हुये। तीसरा कारण यह भी हो सकता है, लोग भगवान् को परिच्छिन्न न समझें कि वे क्षीरसागर, वैकुण्ठ, साकेत अथवा

श्वेत द्वीप आदि में ही रहते हैं। दैत्य दानव तथा समस्त प्राणी जानले कि श्रीहरि सर्वत्र सम्पूर्ण प्राणियों में समान रूप से व्याप्त हैं। उनके लिये जड़ चेतन, पत्थर, काष्ठ, देह, सभी समान हैं।

इस प्रकार खम्भ में से निकलकर भगवान् इस दैत्य के सम्मुख निर्भय होकर खड़े हो गये। उस समय की उनकी शोभा अद्भुत थी। उस समय श्रीहरि का यह विश्ववन्दित विग्रह सौम्य नहीं था। वे अत्यन्त भयानक रूप में प्रकट हुये थे। उनका सिर बालों से आवृत गोल गोल था। मस्तक चौड़ा था चिपटे हुए नथुनों से बार-बार निःश्वास छोड़ रहे थे। उनके दोनों बड़े-बड़े विशाल नेत्र क्रोध के कारण तपाये हुए सुवर्ण के समान लाल-लाल तथा भयानक हो रहे थे, वे बिजली के पिण्ड के समान चमक रहे थे। ऊपर का ओठ मोटा और भयंकर था। उसमें लम्बे-लम्बे बाल मूछों के स्थान में इधर-उधर हिल रहे थे। पर्वत की गुफा के समान उनका भीषण और भय उत्पन्न करने वाला मुख था। जिसमें खूँटा के समान नुकीली अत्यन्त तीक्ष्ण दाँढ़ें दमक रहीं थीं। पैंतरा के साथ हिलती हुई खड्ग के समान लपलपाती हुई जिह्वा से वे ओठों को बार-बार चाट रहे थे, टेढ़ी भृकुटियों के कारण उनका मुख मण्डल ऐसा लगता था मानों साक्षात् क्रोध ही मुख का रूप बनाये प्रकट हो गया हो। ऊपर की ओर खड़े हुए बड़े-बड़े बालों से ढके हुए दोनों कान ऐसे लगते थे मानों दो शंकु घास में छिपे हों।

उनका मुख फटा हुआ था, मानों तीनों लोकों को निगलने का उपक्रम कर रहे हों। उनके नासिकापुटों से निकली हुई उष्ण सांस ऐसी लगती थी मानों जगत् को भस्म करने के प्रलयानिल बह रहा हो। वे साधारण सिंह के समान १०।५ हाथ के नहीं थे। सभा मन्डप की छत को फाड़ कर उनका मस्तक मानों स्वर्ग को छूने के लिये उत्सुक हो रहा हो। उनकी ग्रीवा के बड़े बड़े सुन्दर सुनहले बाल हिल रहे थे मानों वे भी नृसिंह प्रभु की चेष्टा को न समझ कर भय के कारण थर थर कॉप रहे हों। मनुष्य के समान उनका वक्षस्थल—विशाल और उन्नत था। उसमें श्रीवत्स का लांछन शोभा दे रहा था, किन्तु कोमलाङ्गा लक्ष्मीजी को इस क्रोध मूर्ति के सम्मुख गति नहीं थी। कन्धे के बालों से ढके हुए उनके स्तन द्वय घास से ढके दो छोटे पर्वत शिखरों के समान उन्नत थे। उनका उदर कृश था। सम्पूर्ण शरीर पर चन्द्र किरणों के समान श्वेत रोमावलि फैली हुई थी। उनके दो नहीं चार नहीं आठ नहीं अनेकों भुजायें थी। आज उनके हाथ में न प्यारी गदा थी न शत्रु संहारी सुदर्शनचक्र ही था। आज तो उनके बड़े बड़े तीक्ष्ण नख ही समस्त आयुधों का काम दे रहे थे। आज उन्होंने अपने को श्रीविग्रह ऐसा उग्र और दुरासद बना लिया था कि किसी का भी साहस उनके समीप तक जाने को नहीं होता था। आज सब दूर से ही भयभीत हुए उनकी असौम्य मूर्ति के दर्शन कर रहे थे। जिनके अस्त्र

शस्त्रों ने प्राचीन काल में असुरों के उष्णरक्त का पान किया था, आज उसी के लिये उनके अनेकों वज्र के समान नख लालायित हो रहे थे। वे सहसा खम्भ फाड़कर सबके सम्मुख प्रकट हो गये थे। हिरण्यकशिपु हाथ में तलवार लिये किं-कर्तव्यविमूढ़ बना खड़ा था। वह सोच रहा था—"हो न हो यही मायावी विष्णु है यह माया बनाने में बड़ा पटु है सबसे बड़ा मायावी और बहुरूपिया है जब जैसा चाहता है तब तैसा ही रूप बना लेता है। इसी ने अनेकों शस्त्रों से असुरों को पछाड़ा है, इसी ने सूकर रूप बना कर मेरे लघु भाई को मारा है यह मुझे भी मारना चाहता होगा, किन्तु मुझे क्या मारेगा स्वयं ही मर जायगा। स्वयं ही मृत्यु का कवल बन जायगा इसके शौर्य, तेज, बल, पराक्रम से मेरा क्या बिगड़ सकता है। मुझे यह क्या क्षति पहुँचा सकता है?"

हिरण्यकशिपु ने साहस नहीं छोड़ा, वह भयभीत नहीं हुआ। हाथ में गदा लेकर वह भगवान् नृसिंह के ऊपर प्रहार करने को दौड़ा, किन्तु वह उन चराचर के स्वामी पर क्या प्रहार कर सकता था। पतंगा अग्नि को बुझाने के लिये दौड़े, तो अग्नि को वह क्या बुझावेगा, स्वयं ही जलकर भस्म हो जायगा। जिस प्रकार रात्रि का दीपक सूर्य के उदय होते ही भगवान् मरीचि माली के सम्मुख आते ही प्रभाहीन और तेज रहित हो जाता है। उसी प्रकार भगवान् नृसिंह के तेज के सम्मुख हिरण्यकशिपु का तेज फीका पड़ गया। जैसे जुगुनू का तेज रवि के उदय होने पर उसमें मिल जाता है, उसी प्रकार वह असुर निष्प्रभ होकर भगवान् के तेज में विलीन सा हो गया। भगवान् के तेज से ही चराचर विश्व के तेजस्वी पुरुष तेजोवान् बने हुए हैं सृष्टि के आरम्भ में प्रलय

कालीन तम को पान करके ही तो इन्होंने जगत को प्रकाशित किया है असुर का तेज भी प्रभुदत्त ही तेज है । जब स्वयं

साक्षात् प्रभु ही प्रकट हो गये तो अंश अंशी में मिल गया।

दैत्य तेजहीन हो गया।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! अब असुर ने सम्मुख खड़े हुए भगवान् नृसिंह से भयङ्कर युद्ध करने का निश्चय किया।

छप्पय

मायावी तू विष्णु मारि वे मोकूँ आयो।
बहुरूपी सुर अधम आजु अस वेष बनायो॥
तकिके मारूँ गदा धरनि पै तोहि गिराऊँ।
मिल्यौ बहुत दिन माहि बन्धुऋण आजु चुकाऊँ॥
यौं कहि दौरयो गदा लै, अट्टहास नरहरि करयो।
प्रभु के बल युत तेज महँ, खल पतङ्ग समगिरि परयो॥

हिरण्यकशिपु और नृसिंह भगवान् का युद्ध

(४८६)

तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभि—
चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः।
कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्वणम्,
निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः ॥❀
(श्री भा० ७ स्क० ८ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

ज्यौं ईं दौरयो दैत्य पकरि नरहरि ने लीन्हौं।
छटपटाइ कें यत्न निकसिवे को बहु कीन्हौं॥
श्री हरि लीला करी ढीलि दीयो छुटि भाग्यो।
जानि असुर कूँ बली सुरनि अति विस्मय लाग्यो॥
हरि हाथनि तें निकसि कें, वेग सहित इत उत फिरै।
नीचे ऊपर उछरि कें, रन कौतुक बहु विधि करै॥

अहंकार ही हिरण्यकशिपु है, उसकी सात्विक वृत्ति से

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जिस प्रकार बाज पक्षी वेग के साथ ऊपर नीचे आता जाता है उसी प्रकार ढाल तलवार के पैतरे बदलते हुए, निरन्तर ऊपर नीचे उछलते कूदते उस महादैत्य हिरण्यकशिपु को महान् पराक्रमी नृसिंह भगवान् ने उच्च प्रचण्ड अट्टहास करते हुए पकड़ लिया। भगवान् के साहस प्र सिंहनाद से उसकी आँखें मिचगईं।

विवेक रूप पुत्र उत्पन्न होता है। जब वह अहंकार तमोगुण से व्याप्त होकर विवेक को दबाना चाहता है, तो नाना प्रकार की यातनाओं की—भाँति भाँति के कुविचारों की सृष्टि करता है। किन्तु प्रह्लाद रूप विवेक प्रबल हुआ और उसके शम, दम, तितिक्षा, त्याग, वैराग्य रूप साथी दृढ़ हुए तो वह प्रबल हो जाता है। वह सब भूतों में अपने इष्ट का अनुभव करता है। हिरण्यकशिपु रूप तमो जन्य अहंकार उसे अधिक कष्ट देता है तो उसे दीनता आती है उससे ज्ञान रूप नृसिंह उत्पन्न होकर तम रूप अज्ञान का नाश कर देते हैं। भक्त रूप विवेक की विजय हो जाती है। इस हिरण्यकशिपु रूप अज्ञान के वध का जो रहस्य समझता है, वह कभी मोह को प्राप्त नहीं होता।

धर्मराज युधिष्ठिर से देवर्षि नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु ने अपने काल रूप श्रीहरि को सम्मुख देखा, तब तो वह गदा लेकर भगवान् के ऊपर झपटा। भगवान् उसकी धृष्टता को देखकर हँस पड़े। उन्होंने एक झपट्टे में असुर को गदा सहित पकड़ लिया और बोले—"कहो, बच्चाजी! अब क्या कहते हो?"

असुर ने उनकी बात अनसुनी करके अपना सम्पूर्ण बल लगाया और भगवान् के हाथ से छूटने का प्रबल प्रयत्न करने लगा। जिसे भगवान् ने पकड़ लिया है, वह भला कितना भी चाहे, तो कैसे छूट सकता है। किन्तु भगवान् तो कौतुकी ठहरे उन्हें क्रीड़ा अत्यधिक प्रिय है, अतः क्रीड़ा करने के निमित्त उन्होंने असुर को ढीला कर दिया। जैसे बच्चे को प्रसन्न करने को पिता अपने आप उसे ढीला कर देते हैं और बच्चा गोद से निकल कर भाग जाता है, तो वह बड़े गर्व से कहता है—

"देखो, मैं अपने बल पुरुषार्थ से निकल आया।" उसी प्रकार उस असुर का अभिमान और बढ़ाने को हरि भगवान् ने उसे शिथिल कर दिया। असुर झट से उनके हाथ से ऐसे ही निकल भागा, जैसे बिल्ली के मुख से चूहा निकल भागता है, अथवा गरुड़ के पंजे से सर्प निकल भागता है, अथवा कारावास के सीकचा से बन्दी निकल जाता है, अथवा सिंह के मुख से मृग निकल जाता है। इस प्रकार जब प्रभु के पंजे से वह दैत्य निकल गया, तो अंतरिक्ष में अपने-अपने विमानों पर बैठे हुए लोकपाल हाय-हाय करने लगे। उन्होंने सोचा—"जब यह असुर भगवान् के भी हाथ से छूट गया, तब तो इसका वध अत्यन्त ही कठिन है।" भगवान् उन सब लोकपालों को शंकित और भयभीत देखकर हँस रहे थे। इधर हिरण्यकशिपु का अभिमान भी और बढ़ गया। वह सोचने लगा—"देखो, मैं कैसा बली हूँ, इस मायावी विष्णु के हाथ से भी छूट आया! अब तो मैं इसका वध ही करके छोड़ूँगा।"

नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! अब तो वह दैत्य श्रम, ग्लानि, विकलता सभी को भुलाकर भगवान् के ऊपर झपटा। अब उसने गदा को तो फेंक दिया। हाथ में ढाल तलवार लेकर वह रणरंग दुर्मद युद्ध करने को उद्यत हुआ। भगवान् तो युद्ध करने के लिये ही अवतार लेते हैं, क्षीर सागर में सोते-सोते या वैकुण्ठ धाम में आनन्द विहार करते-करते जब ऊब जाते हैं, तभी किसी न किसी अपने निज जनको निमित्त बनाकर विपक्ष की स्थापना करते हैं, फिर स्वपक्ष बनकर स्वयं अवतरित होते हैं। तब हँसते हैं, खेलते हैं, दौड़ते हैं, मारते हैं, मार खाते हैं, जितनी सब लोकवत् लीला होती है सब करते हैं। कच्छपावतार में एक दैत्य को ही लेकर डूब गये इतने बड़े मन्द-

राचल पर्वत को रगड़ को यही समझा मानों कोई मेरी पीठ को सुहला रहा है। मत्सावतार में पाताल में जाकर दैत्य को मार-कर वेदों का उद्धार किया। लक्षांवर्प प्रलय के एकार्णव जल में घूमते रहे। वाराह अवतार में हिरण्यकशिपु से द्वंद्व युद्ध किया नाना पैंतरे दिखाकर उसे पछारा। वामनावतार में ब्राह्मण बन कर भी बलि को बाँधा और उसके अनुचर जब अस्त्र-शस्त्र लेकर इनके ऊपर टूटे, तब उनसे भी मनमाना युद्ध किया। इन्द्र के साथ उपेन्द्र बनकर असुरों से घोर युद्ध किया। परशुरामावतार में तो कुछ पूछिये ही नहीं, युद्ध का प्रलयंकारी दृश्य दिखला दिया। ब्राह्मण भी ऐसी क्रूरता से युद्ध कर सकता है, यह एक नूतन विचित्र बात दिखाई। २१ बार सम्पूर्ण पृथ्वी को निःक्षत्रिय बना दिया। रामावतार में तो पैदा भी अपने आयुधों के ही साथ हुए और पृथ्वी भर के राक्षसों को मार डाला, विभी-षणादि कुछ भक्त राक्षसों को छोड़कर लोक को रुलाने वाले रावण का उसके बन्धु, बान्धव, कुल, परिवार तथा सैनिकों के साथ संहार किया। वीरता का सजीव दृश्य दिखा दिया। कृष्णावतार का तो कुछ कहना ही नहीं। जब दुध मुँहे बच्चे थे तभी से जो मार धाड़ आरम्भ की, कि अन्त में अपने परिवार वालों को भी मार पीट कर अन्त में स्वधाम पधारे। व्रज में जब तक रहे पूतना, केशी, धेनुकासुर, अघासुर, बकासुर, तथा वत्सासुर आदि असुरों को लात घूँसा और मुष्टियों से ही मार गिराया। मथुरा पहुँचकर अपने आयुधों का स्मरण किया, फिर तो औरों को लड़ाते भी रहे लड़ते भी रहे। आपके बड़े भाई बल-रामजी तो फिर बड़े ही ठहरे, जहाँ युद्ध का अवसर आया वहीं दौड़े गये। बुद्धावतार को छोड़कर जितने भी अवतार हुए मार धाड़ के और युद्ध भूखे प्यासे रहे। कल्की अवतार तो दुष्टों

का विनाश करने के लिये होता ही है। वह तो घोड़े पर चढ़ कर स्वयं ही अधार्मिक दुष्टों का विनाश नहीं करते अपितु अपने घोड़े की टाप से ही असंख्यों पापियों को कुचलवा देते हैं। जब भगवान् को युद्ध इतना प्यारा है, तो लोग युद्ध प्रिय हों तो क्या आश्चर्य? तभी तो बड़े बड़े विद्वान लोग शांति शांति चिल्लाते रहते हैं, युद्ध का हर प्रकार से खंडन करते हैं, किन्तु युद्ध रुकता नहीं, न पहिले रुका न आगे ही रुकने की सम्भावना है। युद्ध ही तो जीवन है। जहाँ युद्ध नहीं वहाँ जीवन नहीं उत्साह नहीं, आगे बढ़ने की प्रवृत्ति नहीं, विनाश नहीं, उन्नति नहीं, नूतनता नहीं, विजयोल्लास नहीं। इसलिये भगवान ने सहसा पकड़ कर हिरण्यकशिपु को नहीं मारा। जैसे सिंह अपने आखेट किये हुए मृग से खेल करता रहता है, वैसे ही प्रभु उस असुर से युद्ध क्रीड़ा करते रहे।

हिरण्यकशिपु को अपने बल का घमंड था। वह अपने सामने सबको तुच्छ समझता था। उसने सोचा—"जब मेरी त्वचा इन्द्र के वज्र से भी नहीं छिली। लोकपालों के दिव्य से दिव्य अस्त्र भी मेरे सम्मुख कुण्ठित हो गये, तो यह जंगली जीव मेरा क्या बिगाड़ सकता है। यही सोचकर वह तलवार घुमाता हुआ इधर से उधर पैंतरे बदलने लगा। कभी तलवार को घुमाता हुआ, दाईं ओर से निकल जाता, कभी बाईं ओर से कभी नीचे से कभी ऊपर से कभी इधर ललकारता, कभी उधर दौड़ता। जिस प्रकार कोई बच्चा अपनी धृष्टता से किसी बलवान् के ऊपर आक्रमण करता हो, उसी प्रकार वह निरन्तर नरहरि भगवान् पर आक्रमण कर रहा था। अनवरत इधर से उधर उछल कूद करता हुआ पैंतरे बदल रहा था।

आकाश में स्थित देवतागण डर रहे थे, कि भगवान्

इससे खेल कर रहे हैं, ऐसा न हो कहीं यह प्रहार कर बैठे। प्रह्लादजी चकित चकित नेत्रों से निरन्तर भगवान् को ही

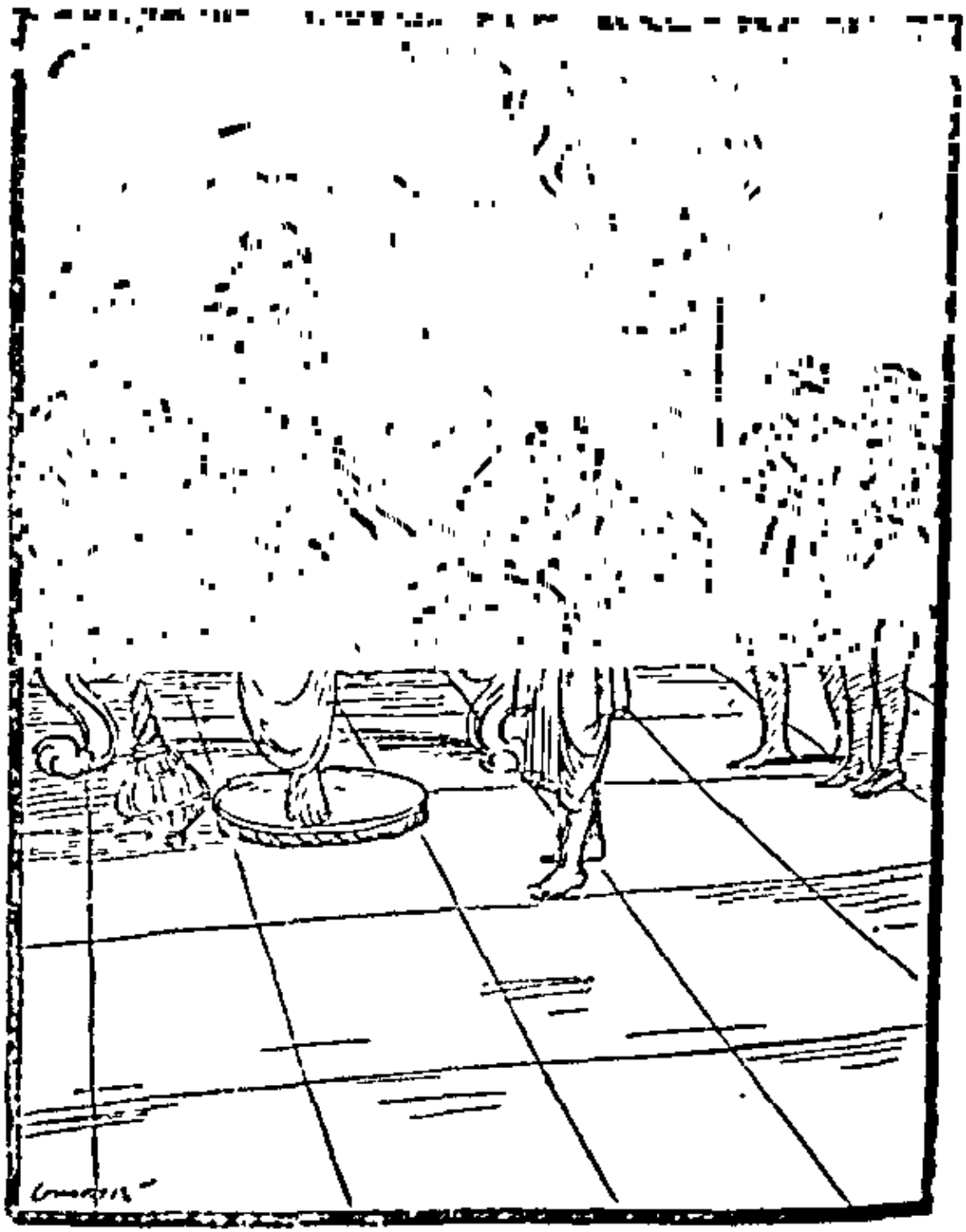

निहार रहे थे। यद्यपि भगवान् भक्तापराध के कारण हिरण्य-

कशिपु पर क्रोधित थे, फिर भी प्रह्लादजी को उनकी मूर्ति सौम्य ही प्रतीत होती थी। जब दीपक बुझने वाला होता है, तो वह पूरी शक्ति लगाकर वेग से जलने लगता है उसी प्रकार अब असुर बल पौरुष की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। तब तो नृसिंह भगवान् ने भयङ्कर अट्टहास करके उसे सरलतापूर्वक अपने तीक्ष्ण नख वाले पञ्जों से पकड़ लिया। इससे दैत्य महाक्रुद्ध हुआ। पूरी शक्ति लगाकर भगवान् के पंजे से निकलने के लिये छटपटाने लगा। किन्तु अबके तो भगवान् ने उसे कस कर पकड़ा था, अबके बिना उसका अन्त किये वे छोड़ने वाले नहीं थे।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! अब असुर ने मनमें समझ लिया कि मेरा अन्त समय आ गया है। उसे ब्रह्माजी के वरों की याद आई और सोचने लगा क्या ब्रह्माजी के वरदान भी असत्य हो सकते हैं? क्या मुझे कोई वरदानों के रहते हुए भी मार सकता है?

छप्पय

कछुक भुलाइ खिलाइ ठठाको मारि हँसे हरि।
गरुड़ सर्प कूँ गहै असुर त्यौं पकरि लयो फिरि॥
छटपटाइ अकुलाइ निकसिबे कूँ तरफै अति।
किन्तु छूटि कस सकै जाइ जेहि पकरैं श्रीहरि॥
परयौ असुर पुनि फंद में, भूल्यो सब फरफंद अब।
सिंहनाद हरि ने करयौ, नेत्र ह्वै गये बन्द तब॥

हिरण्यकशिपु—उद्धार

(४८७)

विष्वक्स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
र्व्यालो यथाखुं कुलिशाक्षतत्वचम् ।
द्वार्यूर आपात्य ददार लीलया-
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

अति विकराल कराल नयन नरहरि के चमकैं ।
गर्जन तर्जन करैं केश कंधा के दमकैं ॥
लपलपाइ हरि जीभ ओठ कूँ चाटैं पुनि पुनि ।
कापैं सबरे असुर भयङ्कर सिंहनाद सुनि ॥
सभा द्वार सन्ध्या समय, जङ्घा पै धरि नखनि तैं ।
फारयौ नरहरि ने उदर, बच्यौ नहीं विधिवरनि तैं ॥

जीव मरने से डरता है, इसलिये कि इन सांसारिक

❀ धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! नरहरि भगवान् के पकड़ लेने पर उनके पञ्जे से छूटने के लिये सर्प से पकड़ा चूहा जैसे सब ओर से आतुर होकर छटपटाता है ऐसे ही छटपटाने लगा । इन्द्र के वज्र से भी जिसकी त्वचा में खुरसट नहीं आई थी, उसी दैत्यराज को सभा की देहली पर बैठकर अपनी जाँघों पर रखकर भगवान् ने उसे नखों से लीलापूर्वक उसी प्रकार चीर डाला जैसे गरुड़ महाविषधर सर्प को चीर डालता है ।"

विषयों को ही सत्य और सुखप्रद समझ कर सदा इनका सेवन करते रहना चाहता है, किन्तु नाशवान् अमर कैसे हो सकते हैं। असत्य और मिथ्या पदार्थ शाश्वत कैसे सिद्ध हो सकता है। उत्पन्न होने वाले का नाश न हो यह संभव नहीं। इस सत्य को न मान कर जो ब्रह्म में रमण न करके प्राणों में असुरों में ही रमण करते हैं, वे असुर कहलाते हैं। असुर उग्र तपस्या के द्वारा मृत्यु से ही बचना चाहते हैं। तप तो भगवान् का हृदय ही है, तपस्या का फल व्यर्थ तो जाता नहीं। अतः भगवान् मृत्यु रूप में ही प्रकट होकर उनका स्वयं संहार करते हैं। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा जी को प्रसन्न करके कैसे कैसे दुर्लभ वर प्राप्त कर लिये थे। वह समझता था कि विष्णु मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते, मुझे कोई मार नहीं सकता, पराजित नहीं कर सकता, क्योंकि मैं अजर अमर हूँ। किन्तु यह उसका अभिमान अन्त में मिथ्या ही सिद्ध हुआ।

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जब हिरण्यकशिपु अत्यन्त उछल कूद करने लगा और बार बार तलवार घुमाकर प्रभु पर प्रबल प्रहार करने का प्रयत्न करने लगा, तब तो नृसिंह भगवान् ने उसे अपने पंजों से पकड़ लिया। जिस प्रकार विषधर सर्प पैर से कुचल जाने पर क्रुद्ध होता है उसी प्रकार भगवान् के पकड़ लेने पर वह दैत्यराज अत्यन्त ही कुपित हुआ। पूरी शक्ति लगाकर उसने अपने को भगवान् के पञ्जों से छुड़ाना चाहा, किन्तु उसका सब प्रयत्न निष्फल हुआ। अब तो उसे ऐसा लगा मानों मुझे [illegible] डालेगा। अतः वह क्रोध के साथ नरहरि भगवान् से [illegible] "मुझे निश्चय हो गया तू ही [illegible] विष्णु है, तेरे [illegible]

रूप बनाकर मेरे भाई को मार डाला था। क्या तू मुझे मारना चाहता है। नहीं, मुझे तू नहीं मार सकता।"

यह सुनकर नरहरि भगवान् अट्टहास करने लगे। उनके हास की प्रतिध्वनि से तीनों लोक गूंजने लगे। दैत्य डर गया। साहस करके फिर बोला "मुझे मारने की सामर्थ्य तुझमें नहीं है।"

भगवान् हँसते हुए बोले—"क्यों ?"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"इसलिये कि मुझे ब्रह्माजी से अमर होने का वरदान प्राप्त है।"

भगवान् ने कहा—"ब्रह्माजी ने अमर होने का वरदान कब दिया ? संसार में स्थाई अमरत्व तो किसी को प्राप्त नहीं। अपने १०० वर्षों के अनन्तर स्वयं ब्रह्माजी भी बदल जाते हैं। जब उनका पद भी स्थाई नहीं, तो वे तुझे कैसे मृत्यु रहित बना सकते हैं।

असुर ने कहा—"हाँ ! यह बात तो ब्रह्माजी ने भी कही थी, किन्तु मैंने घुमा फिरा कर उन्हें भूल भूलैयों में फँसा कर ऐसे ऐसे दुर्लभ वर प्राप्त कर लिये थे, कि वे सदा अजर अमर होने के ही समान हैं। उन वरों के रहते मुझे कोई मार न सकेगा।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"जैसे भूल भुलैयों में फँसाकर तैंने वर प्राप्त किये थे, वैसे ही भूल भुलैयों में फँसा कर उन वरों को सत्य बनाते हुए मैं तुझे मार डालूँगा। बोल, कौन कौन तेरे वर हैं। पीछे तू यह न कहे, कि ब्रह्मा जी के वरों को मिथ्या बना कर मुझे मार डाला।

इस पर हिरण्यकशिपु ने कहा—"मुझे यह वर प्राप्त है कि मैं ब्रह्माजी की सृष्टि के रचे किसी प्राणी से न मरूँ। फिर तू मुझे कैसे मार सकता है ?"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"तुझे ब्रह्माजी की सृष्टि से बने जीव से अभय प्राप्त है। मुझे ब्रह्मा ने तो बनाया नहीं। ब्रह्मा को तो मैंने स्वयं बनाया है। ब्रह्मा तो मेरा बेटा है। बाप को बेटा कैसे बना सकता है। अतः मुझसे तू बच नहीं सकता।"

यह सुनकर असुर बोला—"अच्छा, जाने दीजिये आप ब्रह्माजी की सृष्टि से बाहर ही सही। फिर भी मारेंगे तो मुझे इस ब्रह्माण्ड में ही। मुझे वर प्राप्त है, कि मैं न किसी घर के भीतर मरूँ न बाहर। अब तुम मुझे मारोगे कहाँ ?"

यह सुन कर भगवान् राज सभा की देहरी पर जा बैठे और बोले—"अच्छा बता, यह देहली घर के भीतर है या बाहर है ?"

यह सुनकर दैत्य सटपटाया और बोला—"हाँ, यह तो न भीतर है न बाहर। अच्छा, मुझे एक यह भी वर प्राप्त है, कि मैं न दिन में मरूँ न रात्रि में। फिर आप मुझे किस समय मारेंगे ?"

भगवान् ने सूर्य के अस्त होते समय—सायंकालीन सन्ध्या की वेला में कहा—"देखो, अब न तो दिन ही है, क्योंकि सूर्य अस्त हो गये न रात्रि ही है क्योंकि अभी चन्द्र ग्रह नक्षत्र कुछ भी दिखाई नहीं देते। कोई भी इसे न दिन

कहता है न रात्रि सन्ध्या का समय है।"

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने कहा—"अब महाराज! आप तो माया में मेरे भी बाबा गुरु निकले। इतने सब बचाव करने पर आप सबका निराकरण करते जाते हैं। बाबाजी के बनाये जीव तो आप हैं नहीं, किन्तु मैंने एक यह भी वर माँगा था, कि मैं किसी धातु या काष्ठादि के बने अस्त्र शस्त्रों से न मारा जाऊँ। तब आप फिर मुझे मारेंगे किससे?"

भगवान् अपने बड़े बड़े तीक्ष्ण तीक्ष्ण नख दिखाते हुए बोले—"बताओ, ये किस धातु के बने अस्त्र शस्त्र हैं। कोई भी न इन्हें अस्त्र कहेगा न शस्त्र। इन्हीं से तेरे बरबूजे जैसे पेट को फट से फार डालूँगा।"

हिरण्यकशिपु की कान्ति क्षीण होती जा रही थी उसका साहस टूटता जा रहा था। उसने धैर्य धारण करके कहा—"अच्छा, यह सब तो सत्य ही है, किन्तु आप मुझे मारेंगे कहाँ? मुझे तो वरदान प्राप्त है कि मैं न पृथ्वी पर न मरूँ न आकाश में।"

भगवान् बोले—"देखो, तुम्हारे पैर यदि पृथ्वी पर टिके रहें और हम किसी अस्त्र शस्त्र से मार डालें तो पृथ्वी पर मारना हुआ। तुम आकाश में उड़ रहे हो, वहाँ पकड़ कर जैसे बाज अन्य पक्षी को मार देता है, वैसे मारें तो आकाश में मारना हुआ। मैं दोनों ही प्रकार से न मारूँगा। अपने घुटनों पर लिटाकर तुम्हारा पेट फाड़ूँगा, न पृथ्वी ही पर हुआ न पूरा आकाश में ही।"

हिरण्यकशिपु ने दृढ़ता से कहा—"अच्छा, मारेंगे तो आप

ही। मैंने तो वरदान प्राप्त किया है, कि मैं न नर से मरूँ न मृग से ?"

भगवान् हँसकर बोले—"तेरी आँखें फूट गई हैं या बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। तू देखता नहीं, मुझे कौन मनुष्य कहेगा। और सिंह भी नहीं कह सकता। सिर सिंह का सा, धड़ मनुष्य जैसा। अतः न मैं नर हूँ न सिंह मिला जुला खिचड़ी के समान हूँ। कुछ नर कुछ सिंह इसीलिये मेरा नाम है नृसिंह।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"एक वर मुझे ऐसा प्राप्त है, कि उसका निराकरण आप न कर सकेंगे। संसार में दो ही प्रकार की वस्तु हैं चैतन्य और जड़। कुछ प्राणधारी कुछ प्राण रहित। मैं दोनों से ही अवध्य हूँ। न मेरी मृत्यु प्राणहीनों से हो सकती है न प्राणधारियों से।"

भगवान बोले—"जिनमें प्राण नहीं वे बढ़ते नहीं चैतन्यता नहीं होती और जो प्राणधारी है, उनमें वृद्धि होती है चैतन्यता दिखाई देती है, काटने से कष्ट होता है। ये नख जड़ हैं या चैतन्य। यदि जड़ हैं तो बढ़ते क्यों हैं, यदि अन्य अङ्गों की भाँति सजीव हैं तो जैसे उँगली आदि काटने से कष्ट होता है वैसे नख काटने से कष्ट क्यों नहीं होता। अतः ये नख जड़ भी हैं चैतन्य भी हैं। पूरे जड़ हैं न पूरे चैतन्य अतः ये ही तेरे प्राणों का अन्त करेंगे।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"मैं तो देवता, असुर, नाग, किन्नर, यक्ष गन्धर्व आदि सभी जाति के उपदेवों से अवध्य हूँ।" ऐसा वर मुझे प्राप्त है।"

भगवान् बोले—"मैं न देवता, न यक्ष, न गन्धर्व, न

मनुष्य, न पशु, न पक्षी मैं तो जो हूँ सोई हूँ। इसलिये असुरराज अब तुम बच नहीं सकते। बचाव तो तुमने बहुत किये किन्तु उन सबको मैं निष्फल कर दूँगा। आज तुझे मारकर मैं अपने भक्तों को निर्भय बना दूँगा, उनके दुःखों को दूर कर दूँगा।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! इतना कहकर क्रोध से लाल-लाल नेत्र किये नृसिंह भगवान् ने उसे अपने पञ्जों से पकड़ सभा के द्वार पर टिका, जाँघों पर पटक अपने तीक्ष्ण नखों से उसके फूले हुए पेट को उसी प्रकार फाड़ डाला, जिस प्रकार चटाई बुनने वाला बीच में से ऐरका को फाड़ देता है। अथवा गरुड़ जैसे बड़े भारी विषधर सर्प को चीर देता है, अथवा सिंह जैसे हाथी का पेट फाड़ देता है अथवा बच्चे जैसे कुहड़े को चाकू से चीर डालते हैं।

भगवान् ने हिरण्यकशिपु के पेट के टुकड़े करके उसमें अपने तीक्ष्ण नख वाले ककेश कर डालकर उसकी आँतों को निकाल लिया। आँतों के निकलने से तथा पेट के फटने से रक्त की पिचकारियाँ छूटने लगीं, मानों नृसिंह भगवान से दैत्य का शरीर होली खेल रहा हो। उस समय टेसू के रंग से रंग रसिया के समान, गुलाल लगाये होली के रंगीले के समान श्रीहरि शोभित हुए। रक्त की बिन्दुओं से उनके बड़े-बड़े सुनहले बाल बिंदकी वाली कुसुम्बी चूँनरी के समान शोभित हो रहे थे। लाल-लाल मुख पर, क्रोध से आरक्त नेत्रों पर पड़े हुए रक्त बिन्दु ऐसे प्रतीत होते थे, मानों किसी ने चन्दन से श्री मुख पर पत्रावली की रचना की हो। रक्त से रंजित वे कंधे के बाल जब हिलते थे, तो ऐसा लगता था मानों वे उसकी

मृत्यु का हिल-हिलकर समर्थ कर रहे हों। भगवान् ने दैत्य के पेट से रक्त में रंगी हुई आँतों को निकालकर माला के स्थान पर उन्हें गले में पहिन रखा था, इससे वे भयंकर होने पर भी बड़े सुहावने लगते थे। वे आँतों को निकाल कर फिर दैत्य के पेट में हाथ डाल कर नखों से उसके पेट को खुरचने लगे।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग! हिरण्यकशिपु को मार देना ही पर्याप्त था, भगवान् ऐसा वीभत्स कृत्य क्यों करने लगे?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग! भगवान् तो सर्वगत हैं, सबमें समान रूप से व्याप्त हैं। शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर भयानक, अद्भुत शांत और वीभत्स सब उन्हीं के रस हैं। वे सर्वरसमय हैं। वे ही रस हैं। सबका प्रदर्शन उन्हें करना है ऐसा प्रतीत होता है, भगवान् को कुछ संदेह होगया। सम्मुख खड़े प्रह्लादजी को देख कर भगवान् ने सोचा—"ऐसा भक्त रत्न इस असुर से उत्पन्न हुआ, संभव है ऐसा कोई दूसरा रत्न उसके पेट में कहीं इधर उधर छिपा हो, इसलिये आंतों को तो गले में पहिन लिया और उसके पेट को खुरच खुरच कर देखने लगे, संभव है कहीं दबा ढका ऐसा एक रत्न और मिल जाय तो प्रह्लाद के सहित उसेभी मैं अपने हृदय में धारण कर लूँ। दूसरा कारण यह भी है कि इसने मेरे भक्त को बहुत कष्ट दिये थे इसे भी तो ज्ञान

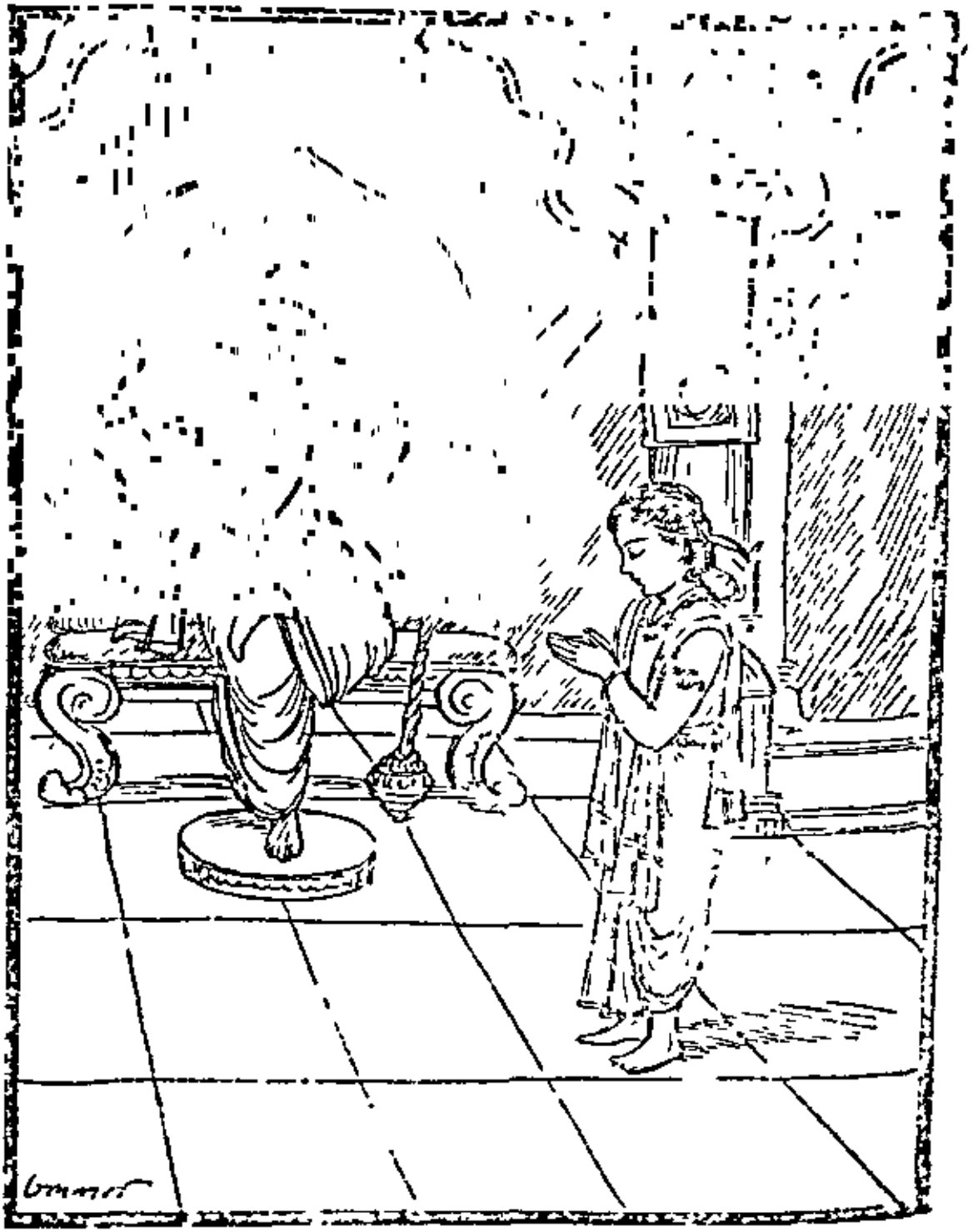

प्रह्लादजी पर नृसिंह भगवान् की कृपा

हो जाय शरीर कटने से कितना कष्ट होता है। तीसरे भगवान् ने सोचा होगा सर्प को काट भी दो तो पूर्व की आयु चलने से वह कटा हुआ भी जी पड़ता है। ऐसा भी देखा गया है, किसी से भूल से सर्प कटा है केवल फण रहा है तो वह फण ही उछलता उछलता उस पुरुष का पता लगाते लगाते उसके घर पहुँच गया है और जूते में छिप कर उसे काट लिया है। यह भी तो विषधर सर्प ही है, यदि इसके पेट मे ही तनिक से प्राण शेष रह गये, तो यह पुनः जीवित हो सकता है इसलिए खुरच खुरच कर उसके प्राणों को निकालने लगे।"

नारदजी धर्मराज से कहते हैं—राजन्! जब असुर मर गया, तब भगवान् ने उसे धड़ाम से पृथिवी पर पटक दिया। असुर के मरते ही उसके सहस्रों सेवक और अनुयायी नृसिंह भगवान् को मारने अस्त्र शस्त्र लेकर दौड़े। भगवान् एक दहाड़ मारी और १०-२० को उठाकर उसी रोष में पकड़ कर बीच से फाड़ दिया। अब क्या था सर्वत्र भगदड़ मच गई। बहुत से असुर मर गये और जो बचे थे वे अपने प्राणों को लेकर भागे। कुछ असुर और अस्त्र-शस्त्र और सेना लेकर आये। भगवान् अकेले थे उनके हाथ ही उनके सहायक सैनिक थे। बड़े बड़े तीक्ष्ण नख ही उनके अमोघ अस्त्र शस्त्र थे। इसी के बल पर उन्होंने समस्त असुरों को हरा दिया अब तो कोई भी उनके समीप आने का का साहस न करता था। भगवान् का क्रोध अभी शांत नहीं हुआ था। वे रोष में भरकर सभा मंडपमें इधर से उधर घूमने लगे।

छप्पय

फर्र फारि कै पेट सर्र ते आँत निकारीं।
अट्टहास करि गरे माँहिं माला सम धारीं॥
रक्त बिन्दु तै रँगे केश अति सुन्दर लागैं।
देखि भयङ्कर रूप असुर गन भयतैं भागैं॥
अस्त्र शस्त्र लै धृष्ट कछु, असुर चले रन हित तुरत।
नख आयुध तैं मरत कछु, गिरत बचै रन तजि भगत॥

सिंहासनासीन नृसिंहप्रभु

(४८८)

ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे
नृपासने संभृततेजसं विभुम् ।
अलक्षितद्वैरथमत्तपर्षणम् ,
प्रचण्डवक्त्रं न बभाज चश्चन ॥

(श्रीभा० ७ स्क० ८ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

तितिर बितिर धनहोयँ केश नरहरि फटकारैं ।
ग्रहगन फीके परैं क्रोध करि जबहिँ निहारैं ॥
प्रलयानल सम स्वाँस नाद सुनि सब डरि जावैं ।
जब पटकैं प्रभु पैर असुर भय तैं मरि जावैं ॥
सिंहासन खाली लख्यौ, जाइ बिराजे धम्म तैं ।
यों सेवक हित सर्वगत, प्रकटे नरहरि खम्भ तैं ॥

हमारी स्वाभाविक इच्छा होती है, कि हमारे पूजनीय

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! अब नृसिंह भगवान् उस सभा में उत्तम सिंहासन पर जाकर विराजमान हो गये । उनका वदन विकराल था, तेज से वे जाज्वल्यमान् थे यद्यपि अब उनकी भयंकर मूर्ति को देखकर कोई उनके समीप नहीं गया ।

श्रद्धेय हमारी पूजा को स्वीकर करें, जो वस्तु हम उनकी सेवा में श्रद्धा से समर्पित करें, उसे हमारी प्रसन्नता के निमित्त ग्रहण करें। हमारी वस्तुओं को विना भेद भाव के निःसंकोच भाव से अपनावें। गुरुजन प्रायः ऐसा करते भी हैं, अपने आश्रित की प्रसन्नता के निमित्त उसके दिये उपहारों को स्वीकार करते हैं। किन्तु जो भक्त के शिष्य के ऐश्वर्य को अपना ही समझकर उसके वाणी से न कहने पर भी उसका उपभोग करते है, तो इसमें अत्यधिक अपनापन सिद्ध होता है, इससे भक्त की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता।

श्री नारद जी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! उस हिरण्यकशिपु से सभी ऋषि, मुनि, पितर, सिद्ध, किं पुरुष भूत, वैताल, किन्नर, आदि असन्तुष्ट थे। उसका नाम सुनते ही इन सब के मस्तक में पीड़ा होने लगती थी। कोई भी नहीं चाहता था, यह त्रैलोक्य का शासक रहे, किन्तु सभी ब्रह्माजी के वरों से विवश थे, उन्हें अन्यथा बनाने की सामर्थ्य किसमें थी। सभी के वे पितामह ठहरे। सभी उनसे छोटे हैं, किन्तु उनके भी पिता ने आकर जब दैत्यराज को मार डाला, तो सभी के हृदय शीतल हो गये, हिरण्यकशिपु के मर जाने पर देवता हर्षोत्कर्ष के कारण नाचने लगे, देवाङ्गनायें कल्पवृक्षों के पुष्पों को अञ्जलियों से भर भर कर नृसिंह भगवान् के ऊपर बर्षाने लगीं। गन्धर्व गाने लगे ऋषि, मुनि, सिद्ध, चारण, नृहरि भगवान् की स्तुति करने लगे। अन्तरिक्ष में कोलाहल मच गया। देवता ऊपर से उतर उतर कर भूमि के समीप आने लगे, किन्तु मारे डर के भगवान् के समीप आने का साहस किसी को नहीं होता था। दूर से ही अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे।

सबसे अधिक प्रसन्नता थी, देवताओं को। क्योंकि हिरण्यकशिपु उन्हीं से अधिक शत्रुता रखता था। उनका तो मानों रामराज्य हो गया। उसके दिये दुःखों से दुखी होकर देवता दयानिधि के धाम क्षीर सागर में गये थे। बड़ी स्तुति विनती की भगवान् ने दो टूँक बात कह दी। अभी उस असुर के मारने का काल नहीं है, जब वह मेरे परम भक्त प्रह्लाद को यातना देगा, तब मैं अवतीर्ण होकर उसे मारूँगा। तभी से देवता प्रह्लाद के जन्म की प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रह्लाद जी को दैत्य ज्यों ज्यों यातनायें देता, त्यों त्यों देवताओं की आशा बढ़ती जाती थी, कि अब भगवान् अवतार लेंगे, अब प्रभु प्रकट होंगे। आज जब खम्भ फाड़कर—विचित्र वेष बनाकर—विष्णु प्रकट हो गये और असुर को मार कर सिंहासनासीन हो गये। तब तो देवताओं के हर्ष से तीनों लोकों में कोलाहल मच गया। वे अपने पटह, दुन्दुभि आदि बाजों को बजाने लगे, अप्सराओं के नृत्य की छम्म छम्म और गन्धर्वों के गान की तिन्न तिन्न से शब्द सुनाई पड़ता था। दर्शनार्थी देवता और उपदेवताओं के विमानों से आकाश व्याप्त था। वे सबके सब हाथ में पुष्पाञ्जलि लिए नृहरि भगवान् की स्तुति करना चाहते थे, किन्तु उनके विकराल वदन और क्रोध से चमचमाती हुई लाल लाल आँखों को देख कर किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता था, समीप जाना तो दूर की बात रही। ब्रह्माजी देवेन्द्र, सदाशिव, अन्य देवगण, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्याधर नाग, मनु, प्रजापति सभी परस्पर में एक दूसरे का मुख देखने लगे। उन सब में ब्रह्माजी बूढ़े थे, किन्तु सम्मुख जाने का साहस उनका भी नहीं होता था। फिर भी सबके सम्मुख अपने भय को प्रकट कैसे होने दें। ये मेरे ही पुत्र पौत्र क्या कहेंगे। यही

सोचकर दूर से ही डंडौत करके वहीं से हाथ जोड़े जोड़े ब्रह्माजी बोले—"हे प्रभो ! आपकी अद्भुत शक्ति की कोई सीमा नहीं,

आपका ऐश्वर्य निस्सीम है। आपके कर्म सदा मङ्गलमय और

रम पवित्र होते हैं। आप शिव स्वरूप हैं, आपकी किसी भी चेष्टा से अशिव कार्य होने का संभावना नहीं। आप इस दृश्य प्रपञ्च की उत्पत्ति बिना प्रयास के लीला से ही करते हैं। मुझे उत्पन्न करके सृष्टि कार्य में नियोजित कर देते हैं। स्वयं विष्णु बनकर मेरी रची सृष्टि का पालन पोषण करते हैं, अन्त में स्वयं ही शंकर रूप से उसका संहार भी करते हैं आप आनंद हैं, अच्युत हैं, अव्यय हैं, अविनाशी और अविकारी हैं। आपके पादपद्मों में मैं प्रणत होकर पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।"

ब्रह्मा जी की स्तुति सुनकर सबका साहस बढ़ा। जब ब्रह्मा जी ने दूर खड़े होकर स्तुति करने की प्रथा चला दी। तो सब के सब वहीं दूर खड़े होकर स्तुति करने लगे। सबसे आगे भगवान् ब्रह्मा खड़े थे, जब ब्रह्माजी स्तुति वन्दना कर चुके तब देवाधिदेव महादेव की पारी आइ। वे भी खड़े खड़े हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगे।

शिवजी ने देखा, भगवान् अभी तक क्रुद्ध हो रहे हैं उनका क्रोध कम नहीं हुआ तब तो वे अत्यंत ही विनय के साथ साथ स्तुति करते हुए कहने लगे—"हे भक्तभय हारी भगवन्! हम जानते हैं आप काम क्रोधादि विकारोंसे सर्वथा रहित हैं। फिर आप कभी क्रोध करते से दिखाई देते हैं, तो किसी की व्याप्ति के विघात में क्रोध नहीं करते। अपितु, आपका क्रोध केवल भक्तवत्सलता के ही कारण होता है। इस समय जैसे आप क्रोध कर रहे हैं। उसका अभी यह समय नहीं। इस

क्षुद्र दैत्य के कारण इतना क्रोध आप के अनुरूप नहीं है। यदि इस दैत्य पर क्रोध आ भी गया, तो वह तो मर ही गया। कारण नष्ट हो जाने पर फिर कार्य का कोई महत्व नहीं रहता। जिसके कारण आपने क्रोध किया उस अपने शरणागत भक्त प्रह्लाद पर कृपा कीजिये सौम्य दृष्टि से देख कर आश्वासन दीजिये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने ऐसा क्रोध पहिले तो कभी किया नहीं। एक असुर के निमित्त इतना अधिक क्रोध तो कुछ असंगत प्रतीत होता है भगवान् के सम्मुख वह कीटपतङ्ग तुच्छ दैत्य था ही क्या, उसे मार कर भी भगवान् शान्त क्यों नहीं हुए?"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ सूत जी बोले—"महाभाग! भगवान् को क्रोध दैत्य पर नहीं था। दैत्य उनके सम्मुख था ही क्या? क्रोध उन्हें इस बात पर आया कि इस दुष्ट ने मेरे भक्त को कैसी कैसी भीषण यातनायें दीं। भक्तवत्सलता के कारण ही भगवान् इतने अधिक क्रुद्ध हुए। सम्मुख भोले भाले प्रह्लाद को देखकर उनका क्रोध और भी उमड़ा, इस इतने सीधे बच्चे को दुष्ट ने कैसे कैसे कष्ट दिये। कुछ अपने ऊपर भी क्रोध था, मैं पहिले ही प्रकट क्यों नहीं हुआ। मुनियो! भगवान् तो कृपा के सागर हैं, उनका क्रोध भी भक्तों के ही निमित्त होता है और वह वरदान के ही समान है।"

नारदजी धर्मराज से कहते हैं—"राजन्! जब ब्रह्माजी तथा शिवजी स्तुति कर चुके, और भगवान् ने उन्हें घुड़का नहीं तब तो औरों को भी साहस हुआ सभी स्तुति करने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

मृतक असुर कूँ निरखि उतरि सुर नभतें आये।
नरहरि क्रोधित लखे विनय युत वचन सुनाये॥
विधि बोले हे विभो! विश्व के तुमही करता।
पालन हू तुम करो अन्त होओ संहरता॥
शिव बोले अब क्रोध को, काम कहाँ केशव रह्यो।
करहु कृपा प्रह्लाद पै, अधम असुर तो मरि गयो॥

—:❀:—

आगे की कथा एकइसवें खण्ड में पढ़िये

श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी जी लिखित कुछ अन्य पुस्तकें जो हमारे यहाँ मिलती हैं—

१—बदरीनाथदर्शन—ब्रह्मचारीजी ने चार-पाँच बार श्रीबदरी नाथ जी की यात्रा की है वहाँ के छोटे बड़े सभी स्थानों की यात्रा का वर्णन उपन्यासी ढंग से सरल रोचक भाषा में किया है। लगभग सवा चार सौ पृष्ठ की सचित्र सजिल्द पुस्तक का मूल्य ५ रु०।

२—महात्माकर्ण—दानवीर कर्णका रोचक खोजपूर्ण आलोचनात्मक जीवन, पृष्ठ ३४५ मूल्य २ रु० ७५ न० पै०।

३—मतवाली मीरा—भक्तिमती मीरा के सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन, जीवन तथा पदों की झाँकी पृष्ठ—२२४ मूल्य २ रु० मीरा का भाव पूर्ण चित्र।

४—श्री शुक—रङ्गमञ्च पर खेलने योग्य शिक्षाप्रद सरस धार्मिक नाटक—पृष्ठ १२५ मूल्य ५० न० पै०।

५—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ—८२ मूल्य ३१ न०पै०

६—मेरे महामना मालवीय तथा उनका अंतिम संदेश—मालवीय जी के दुखद संस्मरण पृष्ठ १०४ मूल्य ३१ न० पै०।

७—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु-हिन्दु बन सकते हैं, इस महत्व पूर्ण प्रश्न का शास्त्रीय विवेचन, पृष्ठ ७५ मूल्य ३१ न० पै०।

८—शोक शान्ति—श्री ब्रह्मचारी जी का एक परम कृपा पात्र त्रिवेणी डूबकर मर गया था। उसके सुखद संस्मरण, तथा उसके पिता के लिये लिखा हुआ तत्व ज्ञान पूर्ण मनोरञ्जक पत्र। पृष्ठ ६४ मूल्य ३१ न० पै०।

सब पुस्तकें मिलने का पता—

व्यवस्थापक संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवत-दर्शन—

भागवती-कथा

(इक्कीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:o:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:o:—

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

द्वितीय संस्करण
१००० प्रति
श्रावण—२०२३ विक्र०
मू० १-२५ पै०

विषय-सूची

अ० सं०		पृष्ठांक
४८९—इन्द्रादि देवों द्वारा नृसिंह स्तुति	...	३
४९०—प्रह्लादजी पर नृसिंह भगवान् की अनुकम्पा		१५
४९१—प्रह्लादजी द्वारा नृसिंह भगवान् की स्तुति	...	२१
४९२—प्रह्लादजी का विचित्र वरदान	...	२७
४९३—द्वेषी पिता के प्रति भी प्रेम प्रदर्शन	....	३५
४९४—प्रह्लादजी का राज्याभिषेक और भगवान्का तिरोभाव		४२
४९५—प्रह्लादजी के पूर्वजन्म का वृत्त	...	४९
४९६—प्रह्लादजी का तीसरा जन्म	....	७२
४९७—नृसिंह चरित्र की समाप्ति	...	७८
४९८—त्रिपुर विजय वृत्तान्त	...	८४
४९९—शिवजी द्वारा त्रिपुर दाह	....	९५
५००—धर्मराज नारद सम्वाद की समाप्ति	...	१००
५०१—मन्वन्तरावतारों की कथा	...	१०८
५०२—तृतीय और चतुर्थ मन्वन्तरावतार	...	१३५
५०३—गज और ग्राह	...	१४०
५०४—ग्राह के द्वारा गज का पैर पकड़ा जाना	...	१४८
५०५—गज की भगवत स्तुति	....	१५५
५०६—गज और ग्राह का उद्धार	....	१६०
५०७—गजेन्द्र के पूर्वजन्म का वृत्तान्त	...	१६७
५०८—गज ग्राह चरित्र की समाप्ति	...	१७३
५०९—पञ्चम और षष्ठ मन्वन्तरावतार	...	१८३
५१०—इन्द्रापराध से त्रैलोक्य का श्रीहीन होना	....	१८८
५११—सुरों के सहित ब्रह्माजी हरि चरणों में	....	१९६
५१२—भगवान् की सुरों को सम्मति	...	२०३
५१३—स्वार्थ सिद्धि के लिये शत्रु से भी सन्धि	...	२१०
५१४—देवों की दैत्यों से सन्धि	...	२२४

इन्द्रादि देवों द्वारा नृसिंह स्तुति

(४८६)

प्रत्यानीताः परमभवता त्रायता नः स्वभागा ।
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि ॥
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते ।
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० ८ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

इन्द्र कहैं हरि हमें असुर मख भाग न दीये ।
करवाये लघु काज सदा अपमानित कीये ॥
करुणासिन्धु कृपालु कृपा करि सुर रिपु मारयो ।
सुर गन अति ई दुखित दुष्ट हनि दुख सब टारयो ॥
ऋषि बोले तब तपहि तनु, करैं सदा परि भय भयो ।
मैंटे सब तप असुर ने, तिहि हनि तप अवसर दयो ॥

किसी व्यक्ति के मरने पर जो हर्ष या शोक प्रकट करते हैं, वह प्रायः अपने स्वार्थ को सम्मुख रख

❀ भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुए देवेन्द्र कह रहे हैं—"हे परमात्मन् ! आप हमारी रक्षा करके जो हमें यज्ञ भाग दिया था उसे लौटा कर हमें दे दिया। आपका घर जो हमारा हृदय रूप कमल है वह दैत्य के भय के कारण मुँद गया था, उसे पुनः आपने विकसित कर दिया।

कर करते हैं। पत्नी कहती है अब मेरा भरण पोषण कौन करेगा, पुत्र कहता है, अब हमारी देख रेख कौन करेगा ? पुत्री कहती है, अब हमें दान दहेज कौन देगा, कौन प्यार करेगा ? इसका कारण यही है, कि दुःख सुख का अनुभव अपने से ही होता है। अपने दुःख से ही दुःख और अपने ही सुख से सुख अनुभव होता है। हिरण्यकशिपु के शासन से सभी देव उपदेव दुखी थे। जब वह मर गया तो सभी आकर अपने अपने दुःखों को बताकर भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने लगे।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! जब ब्रह्माजी और भोले बाबा, दोनों ही स्तुति कर चुके, तब देवताओं के इन्द्र शचीपति श्री नरहरि के सम्मुख आये और दूर से ही हाथ जोड़कर कहने लगे—"हे परमात्मन् ! हे अखिल भुवनेश्वर ! हे अशरणशरण ! आप यज्ञपति हैं। यज्ञों के भोक्ता वास्तव में आप ही हैं। आपके अंशभूत होने से हम यज्ञों के भागों को पाते थे। उसी से हमारा निर्वाह होता था। इस दुष्ट ने हमारा वह यज्ञ भाग भी छीन लिया था। स्वयं इन्द्र बनकर यज्ञों के भोगों को भी ग्रहण करता था, और वृष्टि आदि भी स्वयं ही करता था। आपने इस दुष्ट को मारकर मानों अपने ही यज्ञ भागों को लौटा लिया। अतः हम आपकी कृपा से आपके दिए हुए यज्ञ भागों को आपके ही अंशों से आपकी ही शक्ति द्वारा भोग करेंगे।

प्रभो ! पहिले हमारे हृदय में सदा आपकी मन मोहिनी मधुर मूर्ति नाचती रहती थी, पहिले हमारा हृदय कमल आपकी कृपारूपी किरणों के लगने से, और अनुग्रह रूपी वारि से सदा प्रफुल्लित और विकसित रहते थे। जबसे इस दुष्ट

की निशारूपी सत्ता स्थापित हुई और कर्कशता रूपी कीच अधिकाधिक सूखने लगी, तबसे हमारा मन मुकर मुरझा कर मुँद सा गया था। आज आपने कृपावृष्टि करके उसे प्रेम रूप वारि से प्लावित करके अप्रचण्ड तेजरूप दिवाकर को उदित करके उसे पुनः नव जीवनदान करके विकसित कर दिया। हे सर्वेश्वर! आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।"

हे देव! हमें लोग प्रायः स्वार्थी कहा करते हैं, और हम लोग प्रायः भोग प्रधान होते भी हैं, किन्तु आपके चरणों में आकर भी हम भोगों की याचना करें यह अत्यन्त ही क्षुद्रता है। भला जो भोग मोक्ष के स्वामी हैं, उनसे ये नश्वर तुच्छ संसारी भोग क्या माँगने। ये सब तो नाशवान और कालग्रस्त हैं; जिन्हें आपकी कृपा प्राप्त है, वे तो मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं, फिर भोगों की तो बात ही क्या? अतः प्रभो! हमें आपकी दया चाहिए। आप हमारे ऊपर अनुग्रह की वृष्टि करें कृपा की दृष्टि से हमें देखें।

देवेन्द्र शतक्रतु के चुप हो जाने पर सब ऋषि गण अपनी दाढ़ी और जटाओं को सम्हाल कर हाथ में पुष्प लेकर कहने लगे—"हे तपोमूर्ति! हे आदि देव! जब आपने सृष्टि की थी और हमारे पूर्वज भगवान् ब्रह्मा को उत्पन्न किया था, तब वे सृष्टि रचना में किंकर्तव्यविमूढ़ बने हुए थे। उस समय आपने उन्हें तप करने का आदेश दिया था। तप से ही उन्होंने विश्व की रचना की। तप से ही वे सृष्टि वृद्धि करने में सफल हुए। तप से ही उन्होंने समस्त सिद्धियों को प्राप्त किया था। उस अमोघ सिद्धि की कुञ्जी को पाकर कमलासन प्रभु परम प्रसन्न हुए और उन्होंने उसी का उपदेश हम सबको किया। तभी से हम सब तपस्या में ही निरत रहते थे। बीच में यह पुरुष

उत्पन्न हो गया। इसने समस्त जप, तप, नियम, साधन आदि नष्ट कर दिये। हम सब तपस्या से हीन होकर दुखी बन गये। आज इस अधम को मारकर आपने पुनः तपस्या की प्रतिष्ठा की। अब हम सब सुखपूर्वक पुनः पूर्ववत तप कर सकेंगे और तपस्या द्वारा आपकी आराधना कर सकेंगे। हे तपपति! आपके चरण कमलों में हमारा प्रणाम है।

इतने में ही पितर भी सम्मुख आये। पितरों को देखकर ऋषि गण एक ओर हट गये। सभी पितर दुर्बल थे। उनके साथ उनकी पत्नी स्वधा भी थी। स्खलित वाणी से वे बोले—"हे प्रभो! हमारे खेती तो होती नहीं। व्यापार भी नहीं करते, नौकरी चाकरी तथा और कोई भी धन्धा हम नहीं करते। पृथ्वी लोक में रहने वाले हमारे पुत्र पौत्र तथा अन्य पुरुष जो श्राद्ध में पिंड और तर्पण में उदक देते थे, उसी को खा पीकर हम अपना निर्वाह करते थे। इस चोर ने उन सब पिंडों को चुराकर अपने पेट में छुपा लिया था। आज आप न्यायाधीश ने उन सब चोरी की वस्तु को इसके पेट को फाड़कर बाहर निकाल ही नहीं दिया, चोर को भी सदा के लिये नष्ट कर दिया। अब हम शीघ्र ही स्वस्थ और पुष्ट हो जायँगे। अतः हे जीविका प्रदान करने वाले प्रभो! आपके पाद पद्मों में प्रणाम है।

पितर इतनी स्तुति करने से श्रमित से दिखाई देते थे अतः शीघ्रता के साथ सिद्ध कहने लगे—"हे नरहरि! हमें लोग सिद्ध कहते हैं। सिद्धियाँ हमें जन्म से स्वतः ही प्राप्त होती हैं किन्तु, इस असुर ने सब सिद्धियों को अशुद्ध बना दिया। हमारी समस्त शक्ति का अपहरण कर लिया। हम असिद्ध शक्ति हीन हो गये। इसी के पेट में सब सिद्धियाँ सन्निहित हो

गई थीं। आपने इसके पेट को फाड़कर सब सिद्धियों को बाहर निकाल दिया अतः आपके पादपद्मों में प्रणाम है। अब हम आपके दर्शनों से और असुर की मृत्यु से पुनः सिद्ध हो गये।

सिद्धों के पीछे विद्याधर खड़े थे उन्होंने जब देखा कि सभी को कुछ न कुछ कहना ही चाहिए। अपने दुःख को सुनाकर नृसिंह भगवान् की स्तुति करनी ही चाहिए। अतः वे बोले—"हे विभो! हम लोग विविध विद्याओं को अपनी धारणा से धारण करने के कारण विद्याधर कहलाते हैं। किन्तु इस असुर के सम्मुख हमारी एक भी विद्या नहीं चलती थी, इसने हमारी समस्त विद्याओं को व्यर्थ बना दिया था। हमें विद्या रहित कर दिया था। आज आपने इसके प्राणों को व्यर्थ बना दिया। इसका समस्त गर्व खर्व कर दिया। अतः हे विश्वेश्वर! हम आपके नयनाभिराम तीक्ष्ण नखों से युक्त पवित्र पादों में प्रणाम करते हैं।

विद्याधर और नाग ये उपदेव अत्यन्त ही स्वरूपवान् होते हैं। इनके पास बड़ी बड़ी बहुमूल्य मणियाँ होती हैं। हिरण्यकशिपु नाग लोक में जाकर नागों की स्त्री रत्नों को और मूल्यमान् मणियों को बलपूर्वक अपहरण कर लाया था। आज उस असुर को मृत देखकर वे सब सुन्दरी नाग कन्यायें भी अन्तःपुर से निकल आई थीं और नागों के साथ नागलोक जाने के लिये बड़ी समुत्सुक बनी हुई थीं। उन्हें देखकर नाग एक स्वर में ही बोल उठे—"हे प्रभो! जिस दुष्ट ने हमारी मणियों को हर लिया था, सो तो कुछ बात नहीं। स्त्री रत्नों को बलपूर्वक हमारे घर से ले आया था। आज वे सब आपका हार्दिक अभिनन्दन कर रही हैं। इन अबलाओं को सुख देने वाले हे सुखार्णव! हम श्रद्धा सहित प्रणाम करते हैं।

नागगण जब स्तुति कर चुके, तो फिर मनुगण आये। अब तक तो देवता स्तुति कर रहे थे, अब मनुष्यों के आकार में मनुओं को देखकर नृसिंह भगवान् ने आँखें लाल करके पूछा—"तुम लोग कौन हो ?"

इतना सुनते ही मनुओं की तो सिटिल्ली भूल गई सब विनय स्तुति करना भूल गये। डरते हुए स्खलित वाणी में बोले—"देव! हम आपकी आज्ञा का पालन करने वाले मनु हैं।"

गरजकर नृसिंह भगवान् बोले—"क्या काम करते हो तुम लोग ?"

मनुओं ने कहा—"महाराज! हममें कार्य करने की सामर्थ्य कहाँ है, आपने जो मर्यादा बाँध दी है, उसी का आपकी आज्ञा से पालन करते हैं। इस दुष्ट ने आपकी मर्यादा का उल्लंघन किया था।"

डाँटकर भगवान् बोले—"अब तुम लोग क्या चाहते हो ?"

मनुओं ने कहा—"महाराज! हम आपकी आज्ञा चाहते हैं ? हम आपकी क्या सेवा करें ? हम तो प्रभो! आपके दास हैं। हमारे योग्य जो सेवा हो आज्ञा प्रदान कीजिये।"

इतना कहकर मनुगण पीछे खिसक गये। उनके पीछे प्रजापति गण हाथ जोड़े खड़े थे। नृसिंह भगवान् अब तो बोलने लगे। किन्तु बोलते हैं रोष के साथ। कहीं ऊपर चढ़ बैठे तो गोविन्दाय नमो नमः हो जायगा अतः अब कोई स्तुति तो करते नहीं। जो भी भगवान् पूछते हैं, उसका डरते-डरते उत्तर देते हैं।

भगवान् ने पूछा—"तुम लोग कौन हो जी ?

काँपते काँपते प्रजापतिगण बोले—"हे परमात्मन्! हम आपके ही बनाए हुए प्रजापति हैं ?

रोष के स्वर में भगवान् ने पूछा—"तुम किस काम पर नियुक्त हो ?"

प्रजापतियों ने कहा—"महाराज ! आपने ही हमें प्रजापति का काम सौंपा था ?"

भगवान् ने कहा—"कितनी प्रजा की वृद्धि की तुम लोगों ने ?"

प्रजापति बोले—"महाराज ! करें कहाँ से। इस दुष्ट ने तो हमारी क्रिया ही रोक ली थी। इसी से प्रजावृद्धि न कर सके। सौभाग्य की बात है, इस दुष्ट को आपने पछाड़ दिया। हम फिर प्रजावृद्धि करेंगे। सभी लोकों का कल्याण होगा सभी सुखी होंगे आपका यह सत्वप्रधान अवतार संसार के कल्याण के निमित्त हो।"

पीछे खड़े हुए गन्धर्व पैर में घुँघुरू बाँधे बार-बार छम्म-छम्म कर रहे थे। वे नाचना चाहते थे। किन्तु भगवान् की क्रोधमयी मूर्ति को देखकर उनका साहस नहीं होता था, कि कहीं नृत्य में दहाड़ मार दी तो रंग में भंग हो जायगी। सब सुख फीका पड़ जायगा। अतः वे हाथ जोड़ प्रजापतियों के पार्श्व में खड़े हो गये। उन्हें बने ठने देखकर भगवान् ने पूछा—"तुम कौन हो रे ? यह काँख में क्या दबाये हुए हो ?"

गन्धर्वों ने कहा—"हे भक्त भयहारी भगवान् ! हम आपके सम्मुख नाचने और गाने वाले गन्धर्व हैं ? ये हमारे पखावज, वीणा, मुरज आदि वाद्य हैं। आज्ञा हो तो हम कुछ संगीत सुनावें ?

भगवान् ने पूछा—"अब तक तुम क्या करते थे ?

गन्धर्वों ने कहा—"महाराज ! अब तक तो हमें इस पापी ने अपने बलवीर्य से बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया था।

अनिच्छा पूर्वक इसी का गुण गाते थे। इसी के सम्मुख नाचा करते थे। हमसे तनिक भी भूल हो जाती, तो यह लात ही मारता था, आज स्वयं ही टँगड़ी ऊपर किये पड़ा है। पेट के दो टुकड़े हो गये हैं। प्रभो! आपका विधान ही ऐसा है जो जैसा करेगा वैसा भरेगा।"

पास में ही चारण खड़े थे भगवान् ने पूछा—"क्या तुम भी दैत्य के अनुचर हो?"

यह सुनते ही चारणों का तो रक्त सूख गया। डर से थर-थर काँपने लगे। बोले—"नहीं प्रभो! हमने तो आपके भवभयहारी पादपद्मों का ही आश्रय ग्रहण किया है। आपने इस दैत्य को मारकर बड़ा पुण्यकर्म किया नाथ! सन्तजनों के हृदय में शूल की भाँति खटकने वाले इस दैत्य का आपने अन्त कर दिया। हम इसके अनुयायी नहीं थे। हम तो आपके दासानुदास हैं?"

विकृत वेष वाले यक्षों को देखकर भगवान् बोले—"तुम कौन हो! ऐसे गुम्म सुम्म मूर्खों की तरह खड़े हो?"

यक्षों ने समझा सबका क्रोध हमारे ही ऊपर न उतारा जाय, अतः बोले—"महाराज! हम तो आपके प्रधान दास हैं?"

भगवान् बोले—"क्या प्रधानता है तुममें। तुम तो बड़े मैले कुचैले अँगरखा पहिने, हाथ में पालकी का डंडा लिए खड़े हो?"

यक्षों ने काँपते-काँपते कहा—"नहीं भगवन्! हम तो बड़े बड़े मनोहर कर्म करते हैं। इस दुष्ट ने हमें बलपूर्वक पालकी ढोने के काम में नियुक्त कर दिया था। क्या करते विवश होकर करते ही थे। नहीं तो हम पृथ्वी, तेज, वायु, आकाश, पंचभूत, दस इन्द्रियाँ पञ्चतन्मात्रायें तथा मन अहंकार, महत्तत्व, प्रकृति, इन २४ तत्वों के नियन्ता पच्चीसवें पुराण पुरुष आपही

हैं। आपने इस दुष्ट को मार डाला अब आप हमें जो सेवा सौंपेंगे उसी को करेंगे।

गन्धर्व कुछ कहना ही चाहते थे, कि भगवान् किंपुरुषों की ओर देखकर बोले—तुम कौन हो?

वे डरते-डरते बोले—"प्रभो! हम किंपुरुष हैं।

रोष में भगवान् बोले—"क्या करते हो तुम?"

अब क्या कहें, शीघ्रता से बोले—"भगवन्! हम कविता करते हैं।"

भगवान् बोले—"कैसी कविता करते हो?

किंपुरुष डरे तुरन्त तुक भिड़ाकर बोल उठे—

हम किंपुरुष कुपुरुष यह, पापी पामर पापमति।
महापुरुष प्रभु आप हैं, दई दैत्य कूँ परमगति॥

वैतालिनों ने देखा, अब तो भगवान् कविता भी सुनने लगे हैं। कुछ पारितोषिक मिले तो सब किंपुरुष ही न ले जायँ अतः वे बोले—"भगवन्! बड़ी बड़ी सभाओं में धूम धाम से होने वाले यज्ञोत्सवों में हम सदा आपका यशगान करते थे। वहाँ हम बहुत सी दान दक्षिणा, भेंट पूजा, न्योछावर पारितोषिक पाते थे। वह सब इस दुष्ट ने नष्ट भ्रष्ट कर दिया। अब यह दुष्ट मर गया, तो अब फिर हमें अपना स्थान प्राप्त हो जायगा। फिर उसी प्रकार भेंट पूजा मिलने लगेगी।"

किन्नरों ने सोचा—"अब तो आजीविका का प्रश्न आ गया। यहाँ जो नियुक्ति हो गई वह स्थाई समझी जायगी। सिंहासन पर प्रभु विराजमान हैं। जिसके लिये जो आज्ञा हो जायगी वही उसे मिल जायगा। अतः वे दीनता के स्वर में बोले—"प्रभो! हमारी भी सुन ली जाय, हम आपके मुख्य अनुचर हैं। इस दुष्ट ने तो हमें विष्टि में—बिना पैसा दिये काम

कराने में नियुक्त कर रखा था, अब तक विवश होकर करते रहे। अब हम ऐसे ही न रह जायँ ? हमें आशा है इस दुष्ट के मारे जाने पर अब हमारी उन्नति हो जायगी।"

भगवान् के नन्द, सुनन्द, गरुड़ आदि पार्षद भी आये थे। सब लोग बार बार हिरण्यकशिपु को दुष्ट ! खल, नीच आदि कह रहे थे। यह बात उनके कहने के लिये असह्य थी। वे जानते थे ये हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु हमारे ही साथी जय विजय पार्षद थे। आज ये सनकादिकों के शाप से असुर योनि में आ गये थे। ये तो वैकुण्ठनाथ अत्यन्त मनोहर चतुर्भुज भगवान् के दर्शन करते थे। उसी रूप के आदी थे। आज इस विकराल मुख, लम्बी-लम्बी दाढ़ें, भयङ्कर आकृति को देखकर वे डर रहे थे। डरते-डरते वे बोले—"प्रभो ! इस विचित्र रूप का दर्शन तो आज हमने अपने जीवन में पहिले पहिल ही किया है, यह तो हम जानते हैं आप हमारे स्वामी हैं, किन्तु आपने यह अद्भुत रूप बना लिया है। जिसे ये लोग बार बार दुष्ट दुष्ट कहते हैं, यह तो आपका आज्ञाकारी दौवारिक दास है, आपका प्रिय पार्षद है। विप्र शाप से इसने यह अधम योनि प्राप्त की है। इसे मारकर आपने इसका कल्याण ही किया। यह आपका क्रोध भी वरदान के तुल्य है। इस हमारे साथी के ऊपर आपकी अगाध अनुकम्पा है। प्रभो ! हमें भूल न जायँ।"

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार सभी ने मिलकर भाँति-भाँति से नृसिंह भगवान् को प्रसन्न करना चाहा, किन्तु उनकी मुद्रा में अणुमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ। वे उसी प्रकार क्रोध में भरे लाल लाल आँखें किये बार बार क्रोध से ओठ काटते सिंहासन पर खड़े रहे। सबकी बात सुनते रहे,

किसी को मारा पीटा नहीं। इससे देवताओं का कुछ साहस बढ़ा। अब वे सोचने लगे, कि किसी प्रकार पैरों तक पहुँच जायँ, तो ज्ञात हो जाय यह क्रोध हम पर तो नहीं है। अतः वे आपस में समीप जाने के लिये काना फूँसी करने लगे।

छप्पय

अब तो क्रम तें करहिं विनय नरहरि की सबई।
ब्रह्मा, शिव, देवेन्द्र, हटे आये सुर तबई॥
पुनि मुनि, ऋषि, मनु, पितर, सिद्ध, चारन, विद्याधर।
नाग, प्रजापति, यक्ष, भूत, वैतालहु किन्नर॥
आई मृदुतनु अपसरा, देव और उपदेव गन।
हरि पार्षद नन्दादि हू, विनय करहिं भयभीत मन॥

प्रह्लादजी पर नृसिंह भगवान् की अनुकम्पा

[४९०]

स्वपादमूले पतितं तमर्भकम्,
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजम्,
कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

दूरहि तैं डंडौत करैं सुर पास न जावैं ।
तू जा, तू जा, करैं दूरितैं सैन चलावैं ॥
लक्ष्मी बोलीं अबहिं करूँ वश ज्यौं घबरावत ।
करि सोलह श्रृङ्गार चलीं नूपुर खनकावत ॥
हरि चिंघारे श्री डरीं, भगीं लौटि आईं तहीं ।
थर थर काँपैं पुनि कहैं, जे मेरे दुलहा नहीं ॥
अपने इष्ट को भलीभाँति भक्त ही समझ सकता है ।

❀ धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कहते हैं—"राजन् ! जब भगवान् ने उन बालक प्रह्लाद जी को अपने पैरों के पास पड़ा हुआ देखा, तब कृपा से परिप्लुत होकर हरि ने उन्हें उठा लिया । फिर काल रूप व्याल से भयभीत पुरुष को निर्भयता प्रदान करने वाले अपने करकमल को उनके मस्तक पर रखा ।"

जिसने जिसे अपने अनन्य प्रेमसे भक्तिभाव से प्रकट उसके यथार्थ रहस्य को नहीं जानता है पिता कितना भी कुपित हो फिर भी पिता ही है। सिंह सब पर क्रोध करता है, किन्तु अपने बच्चे को हृदय से चिपटाता है। सिंह से सभी डरते हैं। किन्तु सिंह का बच्चा उससे तनिक भी भयभीत नहीं होता। बिल्ला चूहों को मुँह में ले जाती है, उसी तरह उसी मुख में अपने बच्चों को भी उठाकर ले जाती है। चूहे उसके मुँह में पड़ते ही तड़फड़ाने लगते हैं, भयभीत होकर थर थर काँपने लगते हैं, किन्तु उसके बच्चों को कोई चिन्ता नहीं, कोई दुख नहीं, शोक नहीं, भय नहीं। कारण यही है कि बच्चों को विश्वास है यह हमारी माता है, इससे हमारा अनिष्ट कभी हो नहीं सकता। इसके विपरीत चूहे उसे अपनी घात करने वाली समझते हैं, उनकी दृढ़ धारणा है यह हमें मार डालेगी खाजायगी। भावना ही फलवती होती है, जनार्दन प्रभु भाव ग्राही हैं। जाकी जैसी भावना होती है ताको तैसी ही सिद्धि प्राप्त होती हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् देवगण सिंहासनस्थ नर हरि प्रभु की दूर से खड़े खड़े स्तुति तो कर रहे थे, किन्तु भयके कारण कोई आगे नहीं बढ़ते थे। सब देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा—"प्रभो! आप ही सबके अग्रणी हैं, पहिले आप ही भगवान् के पादपद्मों को स्पर्श करें।"

यह सुनकर ब्रह्माजी सबको डाँटते हुए बोले—"तुम लोग कैसा अन्याय कर रहे हो, ऐसे समय युवकों को आगे बढ़ना चाहिये।"

ब्रह्माजी की ऐसी बात सुनकर देवताओं ने शिवजी से

कहा—"भगवन्! हम सब तो साधारण देव हैं, आप देवाधिदेव महादेव ठहरे। अतः पहिले आप बढ़ें। आप हमारे आगे चलें।

शिवजी ने कहा—"देखो भैया! मुझे आगे चलने में तो कुछ आपत्ति है नहीं। तुम मेरा सब स्वभाव जानते हो, मेरा तो वैसे ही रुद्ररूप है। तमोगुण प्रधान होने से क्रोध करना मेरा काम ही है। ये भी इस समय क्रोध में भरे हैं। यदि मुझे भी क्रोध आगया तो मेरी तो कुछ हानि है नहीं। तुम लोगों के ही ऊपर बीतेगी।"

यह सुनते ही इन्द्र ने कहा—"नहीं, नहीं भगवन्! आपका जाना उचित नहीं। इन बनी ठनी नाचने वाली अप्सराओं को भेजो। बहुत मुँह मटकाती हैं, सैन चलाती हैं, सदा मदमाती बनी रहती हैं, अपने आगे किसी को कुछ समझती नहीं। आज इनके हाव भाव कटाक्षों की परीक्षा है।

यह सुनते ही सब अप्सरायें एक स्वर में चिल्ला उठीं देवेन्द्र! प्रभो! आप हमें कहाँ भेज रहे हैं, वैसे ही हमें आग में झोंक दीजिये। एक भी नख मार दिया तो हमारी तो दुर्दशा हो जायगी। हम हार मानती हैं, यहाँ हमारा सौन्दर्य माधुर्य किसी भी काम न आवेगा। हमारा क्या संसार में कोई भी सुन्दरी से सुन्दरी स्त्री इन भयंकर मूर्ति वाले कुपित प्रभु को प्रसन्न करने में समर्थ नहीं।"

समीपमें ही लक्ष्मी जी खड़ी थीं, उन्हें यह बात बहुत बुरी लगी। अप्सराओं को डाँट कर बोलीं—"अप्सराओ! यह तो तुम नारी जाति का अपमान कर रही हो। पुरुष कैसा भी क्रुद्ध क्यों न हो, जब स्त्री प्रेम भरी दृष्टि से स्नेह पूर्वक उसकी ओर देखती है, तो उसका समस्त क्रोध कपूर की भाँति उड़

जाता है। तुम जैसी वाराङ्गनाओं की बात तो दूसरी है, कौन सती साध्वी स्त्री अपने पति के क्रोध को शांत करने में समर्थ न होगी ?"

अप्सरायें यह सुनकर सन्न रह गईं। उन्हें अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ। इस बात से देवताओं को सहारा मिल गया। वे हाथ जोड़कर बोले—"माताजी ! अब आपके ही द्वारा भय दूर हो सकता है। आप ही कुपित प्रभु को शांत करने में सर्वथा समर्थ हो सकती हैं। आप के अतिरिक्त हमारी कोई गति नहीं त्राणका उपाय नहीं।"

लक्ष्मीजी गर्व के साथ बोलीं—"अरे, तुम लोग डरते क्यों हो ? देखो, जहाँ मैं भगवान् के सम्मुख हुई कि भगवान् हँस पड़ेंगे। मेरी दृष्टि से जहाँ दृष्टि मिली, जहाँ चार आँखें हुईं, कि वे क्रोध करना भी चाहेंगे तो न कर सकेंगे।"

विनय के साथ देवताओं ने कहा—"तब माता जी। आप पधारें। वहीं अप्सराओं ने पर्दा लगा कर ओट करदी। लक्ष्मी जी के बालों में कंघी की गई। नेत्रों में अंजन, मुख में बीरी, इस प्रकार सोलहूँ शृङ्गार करके वस्त्राभूषणों से सजबज कर नूपुर, करधनी, कड़े छड़ों की झनकार करती हुई प्रेम भरे नेत्रों से तिरछी निहारती हुई हंसिनी की चाल से मन्द मन्द मुस्कराती हुई आगे बढ़ीं। ज्योंही कुछ बढ़ीं, कि नृसिंह भगवान् ने तनिक मुँह मटकाकर आँखें फाड़कर लक्ष्मीजी की ओर पंजे बढ़ाकर हुँ हुँ कर दिया, एक दहाड़ मारी। दहाड़ सुनते ही लक्ष्मीजी की तो सब सिटिल्ली भूल गई। आँखें मिच गईं सब सैन चलाना भूल गईं, अंग थर थर कांपने लगा। वेणी में लगी फूलों की माला गिर गई। कहीं वस्त्र कहीं आभूषण। मुट्ठी बाँध कर जो भागीं कि उनकी छोटी छोटी कुटिल अलकावली बिखरकर उड़ने लगीं !

नीलाम्बर वायु में उड़ने लगा। सुवर्ण के समान उनके अंग प्रत्यंग दिखाई देने लगे। गले की मालायें अस्त-व्यस्त हो गईं। अप्सरायें भी डर गई थीं, उनके बीचमें जाकर कमला रानी थर थर काँपने लगीं।

अप्सराओं ने पूछा—"क्यों क्या हुआ माता जी !-क्या हुआ माताजी ? माता जी को सुधि बुधि हो तब तो बतावें। वे डरी हुई थीं। वाणी रुद्ध हो गई थी। वे लड़खड़ाई वाणी में बोलीं—"बहिनाओ ! मैंने तो उनका ऐसा भयंकर रूप आज से पहिले कभी देखा नहीं। मुझे तो इस बात पर भी सन्देह है कि हमारे वे ये हैं भी कि नहीं। हमारे प्राणनाथ तो ऐसे कभी नहीं गुर्राते थे। ऐसी दहाड़ तो मैंने कभी सुनी नहीं। मुँह में वस्त्र देकर मुँह फेरकर देवाङ्गनायें हँसने लगीं। बूढ़े ब्रह्मा जी को भी लक्ष्मी जी की दशा देखकर दया आ गई। वे सोचने लगे—"जिसकी गाँठ उसी से खुलती है। ये प्रभु प्रह्लाद के ऊपर कृपा करके प्रकट हुए हैं, अतः प्रह्लाद ही चाहे तो इन्हें प्रसन्न कर सकता है। अतः वे प्रह्लाद को पास बुलाकर बोले—"बेटा ! प्रह्लाद, तुम प्रभु के पाद पद्मों के निकट जा सकते हो ?"

प्रह्लाद जी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"हाँ महाराज ! मुझे क्या डर, आपकी आज्ञा हो, तो मैं उनके पैरों को पकड़ सकता हूँ, गोदी में बैठ सकता हूँ। उनके मुख में उँगली दे सकता हूँ। दाढ़ी मूँछ पकड़ सकता हूँ। पिता से पुत्र को क्या भय, सिंह क्या अपने बच्चे को प्यार नहीं करता ?"

देवताओं ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए एक स्वर से कहा—"हाँ, हाँ भैया, तुम जाओ, तुम्हीं भगवान् को प्रसन्न कर सकते हो।"

सबकी आज्ञा पाकर प्रह्लाद जी अत्यंत ही सरलभाव से कमर में वस्त्र लपेटकर भगवान् के समीप गये और सिंहासन पर विराजमान नृसिंह भगवान् के पादपद्मों में प्रणाम किया। प्रेमाश्रुओं से उनके पैरों को पखारा।"

प्रह्लाद को अपने पैरों में पड़े देखकर प्रेम से परिपूर्ण हृदय प्रभु ने उन्हें बलपूर्वक अपने करकमलों से उठाया और कसकर आलिंगन करते हुए उनके मस्तक को सूँघा तथा काल व्याल से भयभीत हुए पुरुषों को निर्भय बनाने वाले अपने करकमल को उनके मनोहर मस्तक के ऊपर रखा। गोदी में प्रेम पूर्वक बिठाकर प्यार किया। वात्सल्य प्रेम उमड़ आने से वे बार बार उनके मुख को चूम रहे थे। प्रह्लादजी उसी प्रकार आनन्द में निमग्न भोले भाले बने उनकी गोद में बैठे थे जैसे सरल शिशु अपने प्रेमी पिता की गोद में बैठा हो।"

भगवान के सुखद स्पर्श से उनका रोम रोम आनन्द से खिल गया था। उनके समस्त कृत कर्मों का नाश हो गया था, उन्हें भगवान् के वास्तविक स्वरूप का बोध हो गया, वे कृतार्थ हो गये। स्वरूप साक्षात्कार होने से उन्हें भूत भविष्य, वर्तमान सभी कालका ज्ञान हो गया। हृदय सागर में प्रेम का ज्वार भाटा सा आगया, स्नेह का एक उफान सा आ गया। नेत्रों से प्रेम के अश्रु बिन्दु झरझर झरने लगे। वे भगवान् की मनोहर मूर्ति के दर्शनों से तृप्त ही नहीं होते थे। बिना पलक मारे निर्निमेष भाव से भगवान् की ही ओर निहार रहे थे।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब कुछ प्रेम का वेग कम हुआ और कुछ कुछ बाह्य ज्ञान होने लगा, तो प्रह्लाद जी

गद्गद कंठ से प्रेम में विभोर होकर भगवान् की स्तुति करने लगे।

छप्पय

कमलयोनि प्रह्लाद बुलाये बोले बानी।
बेटा विभु अति कुपित डरीं कमला पटरानी॥
तुम प्रभु के हो भक्त चरन ढिंग उनके जाओ।
करि विनती परि पैर कुपित नरहरिहिं मनाओ॥
तब बोले प्रह्लाद विधि! नरहरि ढिंग हौं जाउँगो।
विनय करौं अति दीन है, सब विधि प्रभुहिं मनाउँगो॥

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः ।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥ *

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

है जो जगके ईश प्रनतके प्रन प्रतिपालक ।
हौलें हौलें गये जोरि कर, प्रभु ढिंग बालक ॥
परे दंडवत भूमि माँहि चरननि लिपटाये ।
देखि दयावश दौरि देवने तुरत उठाये ॥
शिशु कपोल करतें गह्यो, पुनि पुनि मुख चुम्बन करयो ।
सिर सूंघ्यो पुनि लाइ उर, अभयकरन कर सिर धरयो ॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चार प्रकार की वाणी

---

*प्रह्लादजी भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"ब्रह्मादिक देवता, मुनि, तथा सिद्ध जिनकी मति एक मात्र सत्व में ही स्थित रहती है, जब ये लोग भी बहुत गुणों से तथा अपने वचनों के प्रवाह से आपको आज तक सन्तुष्ट नहीं कर सके, तब फिर उग्रजाति में उत्पन्न हुए हम असुरों से आप कैसे सन्तुष्ट हो सकेंगे ।

बताई गई है। हम सर्वसाधारण लोग वैखरी वाणी में ही बातें करते हैं। ज्यों ज्यों वृत्ति अन्तर्मुख होती जाती है, ज्यों ज्यों भगवत् कृपा का निज इष्ट अनुग्रह अनुभव होता जाता है त्यों त्यों वाणी की गति सूक्ष्म और श्रेष्ठ होती जाती है। जब तक शरीर में अशुभ संस्कार रहते हैं, तब तक उसमें से वाणी भी अशुभ ही निकलती है। ज्यों ज्यों पाप नष्ट होते जाते हैं त्यों त्यों वाणी भी विशुद्ध बनती जाती है। भगवान् का जिन्होंने संस्पर्श कर लिया है, या कृपा कर भगवान् ने ही जिनके मस्तक पर कृपा से परिपूर्ण कालसर्प से भयभीत पुरुषों को अभय देनेवाला अपना वरद हस्त रख दिया है, उनके समस्त अशुभ उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं। फिर उनकी वाणी वेद वाक्य के समान शुभ और कल्याणकारिणी बन जाती है। उनके उच्चारण किये हुए स्तोत्र परम शक्तिशाली और प्रभु कृपा प्राप्ति के सुखद-साधन स्वरूप हो जाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! जब श्री हरि ने अपने शरणागत भक्त प्रह्लाद जी पर कृपा की, उनके सिर पर अपना वरदहस्त रखा तब प्रह्लाद जी के समस्त अशुभ नष्ट हो गये। उनकी प्रज्ञा विशुद्ध बन गई। उसी विशुद्ध वाणी से उन्होंने विश्वेश्वर श्री नरहरि की स्तुति की।

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"ऋषियो! प्रह्लादजी ने जो स्तुति की है, उसका एक एक शब्द अमूल्य है, स्तुति क्या है, सर्वशास्त्रों का सार है, ज्ञान रूपी समुद्र को मथकर वह स्तुति रूपी अमृत निकाला गया है। वह भक्ति रूप दुग्ध की मधुर मनहर मलाई है। उसमें प्रह्लाद जी की वाणी ही नहीं है हृदय की आह है, साधना की प्रणाली है।

सर्व प्रथम प्रह्लाद जी ने असुर होने से अपनी दीनता दर्शाई।

फिर भगवान् की भक्तवत्सलता, भक्तिप्रियता, भगवान् के यहाँ ऊँच नीच का भेद नहीं है इस सिद्धान्त को स्थिर करके अपना ही दृष्टान्त दिया। फिर देवताओं की ओर संकेत करके उन्हें दुखी देखकर प्रभु से क्रोध परित्याग करने की प्रार्थना की।

जब प्रह्लाद जी ने इस प्रकार बड़ी ऊँची ऊँची ज्ञान की निर्भय होकर बातें कीं तो भगवान् ने प्यार से पूछा—"बेटा! तुझे मेरे भयानक मुख, लपलपाती जिह्वा और बड़ी बड़ी दाढ़ों को देखकर भय नहीं होता?"

इस पर प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! माता पिता से भी भला कभी पुत्र को भय हो सकता है। मैं तो आपके मुख में अभी अपना हाथ दिये देता हूँ।" यह कह उन्होंने भगवान् की बड़ी बड़ी तीक्ष्ण दाढ़ों को कोमल पीपर के पत्ते के समान अपने छोटे छोटे अरुण हाथों की नन्हीं नन्हीं उँगलियों से पकड़ा। नृसिंह भगवान यह देखकर हँस पड़े। देवताओं का भय दूर हुआ। चलो, भगवान् हँस तो पड़े। फिर प्रह्लादजी ने दास्य भाव की बड़ी प्रशंसा की भगवान् से प्रार्थना की मुझे दास्य भाव का उपदेश देकर अपना दास बना लें। आप ही मेरे माता पिता बन्धुबान्धव सर्वस्व हैं। फिर यह बताया कि यह संसार चक्र आपकी प्रेरणा से कैसे घूम रहा है। इसमें प्राणी आ आकर अपने आप कैसे पिस रहे हैं इस चक्र से वही बच सकता है, जिस पर आपकी कृपा हो। सो, हे नाथ, मुझ पर कृपा करो। मुझे इस चक्कर से बचाओ। प्रभो! मेरे ऊपर आपने जैसी कृपा की है, वैसी कृपा अपने पुत्र ब्रह्मा पर अपनी गृहिणी लक्ष्मी पर तथा अपने अंशभूत देवों पर भी नहीं

इस प्रकार प्रह्लाद जी ने भाँति भाँति से ..

स्तुति की, सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! मैं उस स्तुति का वर्णन आपसे इस कथा प्रसङ्ग में करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। अवसर मिला तो उस दिव्य स्रोत का वर्णन पृथक् स्तोत्र प्रकरण में करूँगा।"

शौनकजी ने यह सुनकर कहा—"सूतजी ! प्रह्लादजी की तो हम एक से एक आश्चर्यप्रद बातें सुन रहे हैं। महाभाग उनके स्तोत्र को सुनकर भगवान् ने क्या कहा ? इस बात को हमें और बताइये।

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग ! प्रह्लाद जी की स्तुति सुनकर भगवान् ने उन्हें हृदय से लगाया, प्यार किया और मुख चुम्बन करके बोले—"बेटा प्रह्लाद ! मैं तुम्हारी सरलता निष्कपटता, एक निष्ठा और अहैतुकी भक्ति से अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे जो भी चाहो, वही वर माँग लो। मुझे प्रसन्न करके तुम वर माँगने मे संकोच मत करना। संकोच तो उन्हीं को होता है, जिनके हृदय मे भगवद् भक्ति नहीं होती, जो अपने को ही कर्ता मानते हैं जो इन संसारी पदार्थों को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। हे आयुष्मन् ! जिन ने भक्ति के द्वारा मुझे प्रसन्न कर लिया है, उसे किस बात की कमी रह सकती है, वह कभी किसी वस्तु के आदान प्रदान में लोभ या संकोच न करेगा। वस्तुओं का अभाव जन्य क्लेश प्राणियों को तभी तक होता है, जब तक उन्हें मेरा दर्शन नहीं होता। जहाँ मेरा दर्शन हुआ कि फिर उन्हें यह कहने का अवसर नहीं रहता, कि मेरी अमुक कामना पूर्ण नहीं हुई। भगवद्भक्त साधु-जन सब कुछ परित्याग करके मेरी प्रसन्नता के ही लिये सतत प्रयत्न क्यों करते रहते हैं। इसीलिये कि प्रसन्नता में ही सकल

सिद्धियाँ सन्निहित हैं। तुमने मुझे अपने भक्ति भाव से प्रसन्न कर लिया है, अतः तुम जो भी चाहो, मुझसे वरदान माँग लो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! बालक प्रह्लाद के लिये यह सबसे बड़ा प्रलोभन था। जिसने इन विषयों को तुच्छ न समझा हो, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त न की हो, यदि उसके सम्मुख ऐसा प्रलोभन आता, समस्त भुवनों के एक मात्र स्वामी श्री हरि उससे वरदान माँगने को कहते, तो वह अवश्य ही फिसल पड़ता। प्रलोभन में आ जाता किन्तु प्रह्लाद जी ने तो सेवा संयम द्वारा अपनी समस्त इन्द्रियों को संयत कर रखा था, उनकी दृष्टि में तो ये सांसारिक पदार्थ अति तुच्छ और गर्हणीय थे। अतः इतना प्रलोभन देने पर भी उनके मन में अणुमात्र भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। वे उसी प्रकार निष्काम बने रहे।

धर्मराज युधिष्ठिर को नारदजी सुना रहे हैं, "राजन् ! इस प्रकार जब प्रभु ने प्रसन्न होकर बार बार प्रह्लाद जी से वर माँगने का आग्रह किया तो प्रह्लाद जी कुछ काल तो मौन रहे, फिर उन्होंने इस पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया, अन्त में जब उन्होंने निश्चय कर लिया कि सांसारिक भोगों के लिये वरदानादि माँगना भक्तियोग के पथिक के लिये बड़ा भारी विघ्न है, तब वे मुस्कराते हुए भगवान् से कुछ कहने के लिये प्रस्तुत हुए।

छप्पय

बोले श्री प्रह्लाद कृतारथ भयो नाथ अब।
परसे पावन पाद पदुम दुख दूरि भये सब॥
किहि बिधि बिनती करूँ, आप हरि अन्तरजामी।
भटकैं जगमहँ जीव उबारौ तिनकूँ स्वामी॥
बिनती सुनि प्रह्लाद की, भये मुदित श्रीरमापति।
मधुर बचन बोले बिहँसि, बार बार करि प्यार अति॥

प्रह्लादजी का विचित्र वरदान

(४९२)

यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥*

(श्री भा० ७ स्क० १० अ० ७ श्लो०)

छप्पय

अति प्रसन्न हौं वत्स माँगु तूँ वर मन चाह्यो ।
सकल मनोरथ सफल करन हित ही हौं आयो ॥
सुनि बोले प्रह्लाद न हरि ! वर तैं ललचावैं ।
विषयनि तैं करि दूरि अखिल पति अब अपनावैं ॥
नहि माँगहुँ वर विषय सुख, सदा नाथ ! हिय महँ बसहिं ।
करुनामय करुना करहु, कबहुँ कामना उठहिं नहिं ॥

जिन्होंने भगवत् कृपा का अनुभव कर लिया है, वे इन संसारी विषय भोगों में क्यों कर फँसने लगे। ये संसारी भोग तो परिणाम में दुखद हैं। सुख स्वरूप श्री हरि को प्रसन्न करके भी उनसे विषय सुखों की ही याचना की तो मानों कल्पवृक्ष के नीचे जाकर भी उससे एक मुट्ठी भुने चने और

---

* प्रह्लादजी भगवान् से कह रहे हैं "हे वरदानियों में श्रेष्ठ ! हे ईश ! यदि आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे मन में किसी प्रकार की कामनाओं का अंकुर ही उत्पन्न न हो यही मेरा वर है।"

एक टूटी झोपड़ी रहने को माँगी। चक्रवर्ती को प्रसन्न करके उससे तनिकसी चावलों की भूसी ही माँगी। मोक्षपति प्रभु के समीप जाकर भी बन्धन वाली वस्तुओं की इच्छा करना मूर्खता नहीं तो क्या है?

श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जब भगवान् बार बार प्रह्लाद जी से वर के लिये आग्रह करने लगे तो प्रह्लाद जी प्रेम के रोष के साथ बोले—"प्रभो! मेरे ऊपर कृपा करें, प्रमत्त को और अधिक सुरा पान न करावें, अंधे को पथ भ्रष्ट न करें, गिरे को और न गिरावें। घाव पर और शस्त्र न चलावें। भूखे को और व्यंजनों से न ललचावें। कामी को अधिकाधिक काम सामग्रियाँ प्रदान न करें। मैं तो स्वभाव से ही भोगासक्त हूँ फिर आप मुझे वर आदि का ऊपर से और भी लोभ दे रहे हैं।"

भगवान हँसकर बोले—"अरे भाई! नाशवान् और न्यून भोगों से दुख होता है, तुम यथेष्ट भोगों की पर्याप्त सामग्री माँग लो। सांसारिक भोग नहीं, स्वर्ग के दिव्य चिर स्थाई सुख माँगो। अक्षयलोकों को माँग लो।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! भूलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक का पार्थिव या दिव्य सभी सुख नाशवान् हैं, किसी का न्यून समय में किसी का अधिक समय में नाश अवश्य होगा, ये सभी अन्तवन्त हैं। ये सभी क्षयिष्णु हैं। पुनः पुनः जन्म मरण के चक्कर में डालने वाले हैं। अशाश्वत हैं। बन्धन के कारण हैं। मैं तो इन बन्धनों से छूटने के निमित्त आपकी शरण आया हूँ। भोगों के भोग से भयभीत होकर प्रसन्न हुआ हूँ।"

तो चाहते नहीं। अब तक तुझे तेरे पिता ने बड़े बड़े कष्ट दिये; अब तू सुख पूर्वक रहे इसीलिये तुझ से वर माँगने को कहा।"

शीघ्रता पूर्वक प्रह्लाद जी ने कहा—"नहीं, नहीं प्रभो! यह मेरा अभिप्राय नहीं है। आप मेरा अहित करने के लिये विषय सुख नहीं दे रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है, आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं। तभी तो संसार को और बढ़ाने वाले विषयों की ओर प्रेरित कर रहे हैं। आप यह देखना चाहते हैं, इसकी विषयों में कितनी आसक्ति है। सो, हे जगद्गुरो! मैं विषयी तो हूँ ही। इन विषयों के दुस्सह दुखों से ही डरकर तो आपका आश्रय ग्रहण किया है। आप मुझे विषयों में फँसाने के अभिप्राय से वर देना नहीं चाहते, ऐसा आप करने ही क्यों लगे। केवल परीक्षार्थ कह रहे हैं सो, प्रभो! मैं अपने पुरुषार्थ से [illegible] नहीं [illegible]। आप ही कृपा करो आप ही [illegible] सकता हूँ।"

तो है प्रेम का। निरपेक्ष और निष्काम भाव से की हुई सेवा ही सच्ची सेवा है। प्रभो! मैंने आपकी भक्ति विषय भोगों की इच्छा से नहीं की है। आपको भी इसके बदले विषयों का वर देकर मेरी भक्ति के महत्व को घटाना न चाहिए। मैं आपका निष्काम भक्त हूँ, आप मेरे सच्चे स्वामी हैं। अतः आप मुझे अपना लें। इन संसारी वरों के लोभ में न फँसावें।"

प्रह्लादजी की ऐसी युक्तियुक्त बात सुनकर भगवान् बोले—"देखो, भैया! यह आदान प्रदान तो प्रेम का लक्षण है। निर्धन पिता अपनी पुत्री को चाहे वह कितने भी धनिक परिवार में विवाही हो, वस्त्र आदि देते हैं। मित्र भी मित्र को देते हैं। देते समय उन वस्तुओं का महत्व नहीं। प्रेम निराकार वस्तु है, इन वस्तुओं के साथ वे प्रेम दान देते हैं। देना यह प्रेम की अभिव्यक्ति है। प्रेम प्रकट करने का साधन है। देने लेने से परस्पर में प्रेम बढ़ता है। अतः मुझ से तुम कुछ माँगलो उसे देने में मुझे प्रसन्नता होगी।"

यह सुनकर प्रह्लादजी बोले—"हे वरदानियों में श्रेष्ठ! यदि आपका आग्रह ही है। यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो मैं एक ही वर आपसे मांगता हूँ, क्या आप देंगे?"

भगवान् ने स्नेह के साथ कहा—"बेटा! मेरे लिये कौन सी वस्तु अदेय है, तू जो भी माँगना चाहे निस्संकोच होकर माँगले।"

इस पर प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! आप देना ही चाहते हैं। तो मुझे यही वर दें कि मेरे मन में किसी प्रकार की कामना ही न उठे। विषयों के उपभोग का अंतः करण में अंकुर ही उत्पन्न न हो।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और प्यार के साथ

बोले—"अरे भैया ! यह क्या वरदान ! कामनाओं से इतने क्यों डरते हो तुम ?"

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो ! हत्या की जड़ तो ये कामनायें ही हैं। जिस समय मनुष्य के हृदय में किसी वस्तु की कामना उत्पन्न हो जाती है तो उसकी समस्त इन्द्रियाँ चञ्चल हो जाती हैं। मन विक्षिप्त सा होकर उसी का निरन्तर चिन्तन करता रहता है, बुद्धि की सद् असद् निर्णय करने की शक्ति कुंठित हो जाती है। प्राणों की गतिद्रुत हो जाती है, देह के रोम रोम में वही वासना भर जाती है। धर्म का विचार नहीं रहता। धैर्य नष्ट हो जाता है। लोक लाज को तिलाञ्जलि देकर भी अपनी कामना की पूर्ति के लिये सतत प्रयत्न करता है। उसकी श्री, समृद्धि, प्रभा, न्यून हो जाती है। तेज क्षीण हो जाता है। स्मृति में विभ्रम उत्पन्न हो जाता है और सत्य असत्य के विचार को छोड़कर जैसे हो तैसे कामना पूर्ति की धुनि सवार हो जाती है। अतः प्रभो ! कामना से बढ़कर आत्मा का पतन करने वाली दूसरी वस्तु संसार में नहीं है। जीवका यही जीवत्व है, कि उसके मन में विषयों के भोगने की कामना है। जिस समय जीव के मनकी कामनायें नष्ट हो जाती हैं, तो वह शिव स्वरूप हो जाता है। अतः हे अशरणशरण ! हे जगद्गुरु ! हे परब्रह्म ! हे परमात्मन् ! हे नृहरि विष्णो ! मुझे यही वर दीजिये कि कभी मेरे मन में विषयों की कामना उठे ही नहीं।

प्रह्लाद जी के ऐसे निष्कपट, छलछिद्र से रहित निष्काम वचन सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"बेटा ! प्रह्लाद ! तुम्हारे जैसे निष्काम अनन्य भक्त यद्यपि न, तो पृथिवी के भागों की इच्छा रखते हैं न दिव्य स्वर्गीय भोगों की। तथापि जिनसे मुझे कुछ काम लेना होता है, उन्हें इच्छा न

रहने पर भी मैं कुछ काल के लिये ऐश्वर्य प्रदान करता हूँ। अतः इस पूरे मन्वन्तर पर्यन्त तुम असुरों के सम्राट् होकर नाना प्रकार के भोगों को भोगो। राज्य सिंहासन पर बैठो, विवाह करो, बच्चे पैदा करो।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"अजी, महाराज! यह आपने क्या वर दे दिया। इन कच्चे बच्चों के चक्कर में मुझे मत डालो। भगवन्! मैं तो अपने ही लिये नहीं समस्त प्राणियों के लिये यही सर्वोत्तम समझता हूँ कि आत्म पतन के हेतुभूत यह जो घर गृहस्थी स्त्री बच्चों वाला गृहस्थाश्रम रूप अँधेरा कुँआ है इससे निकल कर एकान्त वनमें चला जाय और वहाँ जाकर सर्वात्मभाव से आपकी ही उपासना करे। इन बाल बच्चों की किच्च पिच्च में मुझे न फँसाइये। फिर तो पत्नी के संकेत पर नाचना पड़ेगा। आज यह नहीं, यह ला वह ला। इसी में समय बीतेगा। आपको भूल जाऊँगा।"

भगवान् ने कहा—"नहीं भैया! भूलने का क्या काम है। भूलते तो वे हैं जो विषय सुख को ही सर्वोत्तम समझते हैं। अपने को ही कर्ता मानकर विषयों के जुटाने में ही लगे रहते हैं। तुम तो गृहस्थाश्रम को मेरी सेवा ही समझना यही सदा मन में रखना कि यह सब मैं भगवत् आज्ञा से, कर्त्तव्य बुद्धि से सब कुछ कर रहा हूँ। संसारी कार्यों को करते हुए एक बात मत भूलना। समस्त भूतों में समान भाव से विराजमान मुझ यज्ञेश्वर को सर्वदा अपने हृदय में धारण करके, सदा अव्यग्र भाव से मेरी सुमधुर कथाओं को अवश्य सुनते रहना। मुझे मन में रख कर मेरी कथाओं को जो बिना व्यवधान के नित्य सुनता रहता है, उसे यह संसार बाधा नहीं देता। अतः मेरी कथा सुनना मत भूलना। जिस दिन तुम कृष्ण कथा से वञ्चित रह जाओ।

उस दिन को व्यर्थ समझना। यदि तुम नित्य नियम से मेरी कथा सुना करोगे और सर्व कर्मों को मुझे ही अर्पण करते हुए भक्तियोग द्वारा मेरी आराधना करते रहोगे तो गृहस्थ में रहकर भी तुम्हें बन्धन न होगा।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो! आपकी आज्ञा तो सब प्रकार से शिरोधार्य है ही, किन्तु कर्म कैसे भी किये जायँ उसका शुभ अशुभ कुछ फल तो होगा ही। कर्म ही बन्धन के कारण हैं। मैं इस संसार बन्धन से मुक्त होना चाहता हूँ। आप उलटे कर्मों में फँसा रहे हैं!"

भगवान् ने कहा—"देखो भैया! मेरी प्रीति के निमित्त किये हुए कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। अभी पुण्य पाप युक्त तुम्हारा प्रारब्ध तो शेष है ही। बिना प्रारब्ध शेष रहे, यह शरीर टिक ही नहीं सकता। अतः जो पुण्य शेष है, उन्हें सुख भोग से क्षय करो। जो पाप शेष हैं, उन्हें बड़े बड़े यज्ञ-यागों द्वारा क्षय करो। यज्ञादि करने से पाप क्षय हो जाते हैं। जब तुम्हारे पाप और पुण्य दोनों ही क्षय हो जायँगे। तो अन्त में तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। तुम्हारी अनन्य भक्ति की गाथायें तीनों लोकों में व्याप्त हो जायँगी। तुम तो मुक्त हो ही जाओगे जो हमारी तुम्हारी इस कथा को कहेंगे सुनेंगे तुम्हारे कथित स्तोत्रों का पाठ करेंगे वे भी कर्म बन्धन से मुक्त हो जायँगे। भैया! तुमने कुछ मुझसे वर नहीं मांगा। यदि तुम वर माँग लेते तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती।"

धर्मराज युधिष्ठिर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! जब भगवान् ने बार बार प्रह्लाद जी से वरदान माँगने को कहा, तब प्रह्लाद जी सोच में पड़ गये और फिर कुछ सोच साचकर भगवान् से वर माँगने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हँसि बोले भगवान् विषय चाहैं नहिं हरिजन।
करहिं निरन्तर भक्ति सदा राखैं मो मे मन॥
मन्वन्तर तक तऊ भोग सब भोगो जग महँ।
कथा निरन्तर सुनै चित्त बाँधौ मम पग महँ॥
सुख तैं पुण्यनि नाश करि, दुख हू सुख करिके नसौ।
पुण्य पाप तैं मुक्त ह्वै, मम समीप महँ फिरि बसौ॥

द्वेषी पिताके प्रति भी प्रेम प्रदर्शन

(४६३)

वरं वरय एतत् ते वरदेशान्महेश्वर,
यदनिन्दत्पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम् ।
तस्मात्पिता मे पूयेत दुरन्ताद् दुस्तरादघात्,
पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल ॥*

(श्री भा० ७ स्क० १० अ० १५, १७ श्लो०)

छप्पय

बार बार वर हेतु कही तब वर जिह माँग्यो ।
मेरो शुभ आचरन पिता कूँ खोटो लाग्यो ॥
हरि निन्दा नित करी दास कूँ दुख बहु दीन्हों ।
पग पग पै अपमान नाथ को मम पितु कीन्हों ॥
अति दुरन्त दुस्तर दुसह, दोष दैत्यपति ने करे ।
छमे नाथ ! जद्यपि सबहि, दृष्टिमात्र तें अघ हरे ॥
हृदय हीन कृतघ्नों की बात तो छोड़ दीजिये, साधारण-

---

* प्रह्लादजी नृसिंह भगवान् से कह रहे हैं—"हे महेश्वर ! आप वर देने वालों के ईश हैं, अतः आपसे मैं वर माँगता हूँ। आपके ईश्वर सम्बन्धी तेज को बिना जाने जो मेरे पिता ने आपकी निन्दा की है इस दुरन्त और दुस्तर पाप से मेरे पिता पवित्र हो जायँ। वैसे तो हे कृपणवत्सल ! आपके दृष्टिपात से ही वे पवित्र हो गये हैं।

तथा अपने से स्नेह करने वाले से स्नेह तो सभी करते हैं। चोर, डाकू तथा हत्यारे पुरुषों के भी प्रेमी होते हैं, किन्तु वैष्णव तो अपने से द्वेष करने वालों से भी प्रेम करते हैं। उन्हें जो दुःख देता है, तो अपने शरीर में दिये दुख की उन्हें उतनी चिन्ता नहीं होती, जितनी दुखें देने वाले की होती है। वे सोचते हैं—"यह भूला भाई भ्रमवश दुख दे रहा है। इससे इसे व्यर्थ ही नरक की यातनायें भोगनी पड़ेंगी, अतः वे भगवान् से दीन होकर प्रार्थना करते हैं—"प्रभो! इसका भला कर इसकी दुर्गति न होने पावे।" भगवत् भक्तों के, महात्माओं के ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं। किसी कृषक ने अन्न की बाल तोड़ने पर किन्हीं सन्त को बहुत पीटा। सन्त राजा के गुरु थे। राजा को जब यह बात विदित हुई, तो उस कृषक को पकड़ बुलाया और महात्मा से पूछा—"इस दुष्ट को क्या दण्ड दिया जाय?"

महात्मा ने कहा—"जिस खेत से हमने भूख के कारण बाल तोड़ी थी, उस खेत के कर से यह सदा के लिये मुक्त कर दिया जाय।" राजा ने ऐसा ही किया। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है, कि सन्तों का सत्संग कैसे भी, किसी भी भावना से क्यों न हो जाय, कल्याणकारी ही है। सन्तों का सम्बन्ध सभी दशाओं में सदा सर्वदा सुखप्रद ही होता है।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् प्रह्लादजी से बार बार वर याचना के लिये आग्रह करने लगे, तब कुछ सोचकर प्रह्लादजी बोले—"अच्छा, महाराज। मैं एक वर माँगता हूँ, आप देंगे न?"

भगवान् ने कहा—"तू कैसी बातें कर रहा है, मेरे यहाँ

भक्तों के लिये अदेय तो कोई वस्तु ही नहीं। तू जो चाहे सो माँग ले ?"

तब प्रह्लादजी ने कहा—"अच्छी बात है, जब आपका वर देने का अनुग्रह ही है और आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मेरा यही वर है, कि मेरे ये पिता पवित्र हो जायँ ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"तुम्हारे पिता को क्या हो गया है ?"

प्रह्लादजी ने कहा—"महाराज ! हो तो कुछ नहीं गया है, किन्तु इन्होंने तो बड़े बड़े पाप किये हैं। सदा सर्वदा आपसे द्वेष रखा है। कहने न कहने योग्य बातें इन्होंने आपसे कही हैं। आपके ईश्वरीय तेज को न जानने के कारण विष्णु मेरे भाई को मारने वाले हैं, अतः मेरे शत्रु हैं ऐसी मिथ्या दृष्टि सदा रखते थे। आपको अपना प्रतिपक्षी शत्रु समझ कर आपसे भी द्रोह करते थे और आपके भक्त मुझसे भी द्रोह करते थे। आप अपने द्रोही को तो क्षमा कर भी देते हैं किन्तु अपने भक्त के द्रोही को कभी क्षमा नहीं करते। इस दोष को आप अत्यन्त ही दुरन्त और दुस्तर समझते हैं। हे दीन बन्धो ! हे भक्त वत्सल ! मेरी आपके पाद पद्मों में यही विनय है, कि आप इन्हें इस दोष से निर्मुक्त कर दें। इन्हें अब पापी होकर नरक की अग्नियों में न पचना पड़े। वैसे तो मरते समय जिसे आपके दर्शन हो जायँ, जिसके ऊपर आपकी दृष्टि पड़ जाय, उसके पाप रह ही नहीं सकते। फिर भी मैं दीनता वश आप से प्रार्थना कर रहा हूँ, कि आप इन पर कृपा करें। इन्हें आप पावन बना दें।"

प्रह्लादजी के ऐसे सुन्दर वचन सुनकर भगवान्

प्रसन्न हुई और हँसते हुए बोले—"अरे बेटा ! तू बड़ा भोला भाला है। मेरे प्यारे बच्चे ! जिसके यहाँ तेरा जैसा भगवद् भक्त पुत्र उत्पन्न हुआ है, वह पापी रह ही कैसे सकता है ? हे निष्पाप ! पिता की तो बात ही क्या तेरे समान पुत्र जिस कुल में उत्पन्न हो गया वह ७ पहिली पीढ़ी, ७ आने वाली पीढ़ी और ७ मातृ पक्ष की पीढ़ी, इस प्रकार इक्कीस पीढ़ियों को अपनी भक्ति के प्रभाव से ही तार सकता है। इसलिये तुम्हारा पिता ही पावन नहीं हो गया तुम्हारी २१ पीढ़ियों के पुरुष पावन हो गये। इसके पीछे तो मैं भी तर गया। तुम्हारा पिता हिरण्य-कशिपु है, उसके पिता कश्यप हैं, कश्यप जी के पिता मरीचि हैं और मरीचि के पिता लोकपितामह ब्रह्मा हैं और ब्रह्मा का पिता मैं हूँ। अतः मैं इसे क्या पावन करूँगा ? इसके सम्बन्ध से मैं स्वयं पावन हो गया। मेरे भक्तों का ऐसा महात्म्य है कि वे जहाँ उत्पन्न होते हैं वह स्थान परमपावन तीर्थ बन जाता है।

प्रह्लादजी ने कहा—"प्रभो ! आपके भक्त तो पुण्य क्षेत्रों में रहते ही हैं, पवित्र कुल में ही उनका जन्म होता है, वे स्वयं भी पवित्र होते हैं, फिर उनके लिये पवित्रता क्या होगी ?"

भगवान् ने कहा—"सो बात नहीं। मेरा भक्त पावन क्षेत्रों में न रहे अंग वंग, कलिंग आदि कीकट देशों में ही चाहे उत्पन्न हुआ हो नीच कुल में ही उसका जन्म हुआ हो। भक्त जिस देश में जन्म लेता है, वह देश पवित्र हो जाता है, जिस कुल में वह प्रकट होता है वह कुल पूजनीय बन जाता है। मेरे भक्त समदर्शी होते हैं, वे मुझसे तुम्हारी भाँति किसी वस्तु की कामना नहीं करते। वे मन से भी किसी प्राणी का अनिष्ट नहीं चाहते, न किसी को किसी प्रकार की पीड़ा ही देते हैं।

प्रह्लादजी ने कहा—"प्रभो ! मेरा जन्म अधम असुर योनि में हुआ है। मेरे पिता सदा आपसे द्वेष करते थे। मेरी आपके चरणों में दृढ़ अनुरक्ति नहीं, अतः हे शरणागतवत्सल ! हे दीन बन्धो ! मुझे ऐसा आशीर्वाद दें, मेरे ऊपर ऐसी कृपा करें, कि मैं भी आपके भक्तों का एक तुच्छ सेवक समझा जाऊँ। दास होने का तो मेरा अधिकार भी नहीं, सौभाग्य भी नहीं आपके दासों का अनुदास हो सकूँ।"

यह सुनकर नृसिंह भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे, भैया ! तू भक्तानुचर बनने को कहता है, मैं तो कहता हूँ, संसार में तुझसे बढ़कर मेरा कोई अन्य भक्त ही नहीं। तू मेरे सम्पूर्ण भक्तों में आदर्श स्वरूप है। तुम्हारे भक्त होने में तो कोई सन्देह वाली बात ही नहीं। जो लोग संसार में तुम्हारा अनुकरण करेंगे, वे भी त्रैलोक्य में परम वन्दनीय मेरे भक्त बन जायँगे। तुम अब अपने पिता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह मत करो। इसकी अधोगति न होगी। मेरे अङ्ग स्पर्श से यह पावनों से भी पावन बन गया, तथापि लोक मर्यादा की रक्षा के निमित्त तुम इसके और्ध्व दैहिक कर्मों को करो।"

प्रह्लादजी ने कहा—"प्रभो ! मैं आपकी आज्ञा से पिता की पारलौकिक क्रियायें तो सब करूँगा ही, किन्तु इस दैत्य के सिंहासन पर किसी अन्य को बिठा दें। मेरे तीन और भी बड़े भाई हैं, उनमें से जिसे आप उचित समझें उसे ही राजा बना दें। मैं तो अब सर्वात्मभाव से आपकी सेवा ही करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया ! असुरों के सिंहासन पर बैठने के तुम ही सर्वथा उपयुक्त हो। मैं तुम्हें ही आज्ञा दे-

अपनी आसक्ति से नहीं। मेरी आज्ञा मानकर तुम अपने पिता के पद पर स्थित हो ओ। तुम जो भी काम करो, वेदवादी मुनियों से पूँछ कर करना। वेदज्ञ ब्राह्मणों की आज्ञा का कभी भूलकर भी उल्लंघन मत करना। इस प्रकार तुम करोगे, तो यह राजपाट तुम्हें बन्धन कारक न होगा।"

प्रह्लादजी ने कहा—"प्रभो! इस राजपाट के झंझट में पड़ कर आपका भजन तो नहीं हो सकेगा।"

भगवान् ने प्रेम के साथ कहा—"अरे, भैया! भजन और क्या है, मेरी आज्ञा का पालन करना ही भजन है। तुम इन सब कार्यों को कर्तव्य बुद्धि से करना। चित्त को सदा मुझ में ही लगाये रखना, मेरी परिचर्या में सदा निरत रहना। ऐसा करने से तुम्हें राजपाट, गृहस्थाश्रम से कुछ भी क्लेश न होगा।

प्रह्लादजी ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्! आपकी आज्ञा ही वेद वाक्य है। ऐसी कृपा करें, कि मुझे कभी राजमद, धनमद आदि न होने पावें, मेरे मन में कभी अज्ञान वश अहंकार मद आदि दोष आ भी जायँ, तो उन्हें शीघ्र ही हर लें। उनकी जड़ मेरे हृदय में जमने न दें।"

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया प्रह्लाद! मेरे भक्तों को पहिले तो मद-मत्सर होते ही नहीं। कदाचित् किसी कारणवश उन्हें कभी अहंकार हो भी जाता है, तो मैं उसे अति शीघ्र जड़ से उखाड़ कर फेंक देता हूँ। मेरा सुदर्शन चक्र सदा तुम्हारी रक्षा करता रहेगा।" तुम्हें सभी विपत्तियों से छुड़ाता रहेगा।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्? भगवान् की आज्ञा पाकर प्रह्लादजी ने शास्त्रीय विधि से अपने पिता की समस्त और्ध्व दैहिक क्रियायें की।"

छप्पय

नरहरि बोले वत्स ! तरे कुल पितु महतारी।
पीढ़ी पावन भईं पुत्र ! इक्कीस तुम्हारी॥
तुम सम जाके तनय नरक कैसे वह जावे।
पुत्र पुण्य परभाव, परम पद पितु तब पावै॥
मृतक काम पितु के करो, अब बेटा ! तुम जाइकैं।
नित मम परिचरिया करो, मो मैं चित्त लगाइ कैं॥

प्रह्लादजी का राज्याभिषेक और भगवान् का तिरोभाव

(४९४)

इत्युक्त्वा भगवान्राजंस्तत्रैवान्तर्दधे हरिः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना ॥
ततः कव्यादिभिः सार्धं मुनिभिः कमलासनः ।
दैत्यानां दानवानां च प्रह्लादमकरोत् पतिम् ॥*

(श्री भा० ७ स्क० १० अ० ३१ ३३ श्लो०

छप्पय

हरि आयसु सिरधारि असुर के करे कर्म सब ।
राज्यासन अभिषिक्त मुनिनि प्रह्लाद करे तब ॥
कीन्हीं विधिबहु विनय विश्वपति भल अति कीन्हों ।
असुर मारि प्रह्लाद तथा देवनि सुख दीन्हों ॥
हँसि विधि तैं नरहरि कहैं, बीज तुम्हारे ई बये ।
तुमने बाबा विधाता, दुरभ वर जाकूँ दये ॥

भगवान तो नित्य हैं, न कभी उनका जन्म होता है न वे

धर्मराज युधिष्ठिरसे नारदजी कह रहे हैं—"राजन् ! भगवान् नृसिंह ब्रह्माजी से ऐसा कहकर और उनके द्वारा पूजित होकर वहीं अन्तर्धान हो गये । अन्तर्धान क्या हो गये सभी प्राणियों में अदृश्य हो गये । तब ब्रह्माजीने शुक्राचार्य आदि मुनियों के सहित प्रह्लादजी को दैत्यों का स्वामी बना दिया ।

शरीर त्यागते हैं। जितने कच्छ, मत्स्य, वाराह, नृसिंह-सूकर आदि अवतार हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं, पृथक् पृथक् द्वीप और वर्षों में इनकी सत्ता सदा रहती है और वहाँ के निवासी पुरुष उनकी शास्त्रीय विधि से पूजा करते हैं। हिरण्यकशिपु के पहिले नृसिंह भगवान् नहीं थे या उनकी पूजा अर्चा नहीं होती थी, सो बात भी नहीं। नृसिंह तो तब भी वैसे ही थे, अब भी वैसे ही हैं और प्रह्लाद के लिये हिरण्यकशिपु की सभा में जो प्रकट हुए तब भी वैसे ही प्रकट हुए। फिर भी लौकिक व्यवहार की दृष्टि से भगवान् के ऐसे नैमित्तिक अवतार जिस उद्देश के लिये होते हैं, उस निमित्त को पूरा करके तत्क्षण तिरोहित हो जाते हैं। केवल भक्त रक्षार्थ ही नृहरि भगवान् अवतरित हुए थे। भक्त की रक्षा करने के अनन्तर उनका इस अवतार का इस समय कार्य समाप्त हुआ। वास्तव में तो न भगवान् का कोई कार्य है, न उनकी समाप्ति। ये सब उपचार से लीला में आरोप किये जाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठर से नारद जी कह रहे हैं—"राजन्! जब प्रह्लाद जी ने भगवान् की आज्ञा से अपने पिता की और्ध्व दैहिक क्रिया कर दी, तब भगवान् की ही आज्ञा से प्रह्लाद जी का विधिवत् राज्याभिषेक किया गया। हिरण्यकशिपु की क्रिया के पूर्व राज्य सिंहासन रिक्त न रहे इसलिये पहिले सामान्य रीति से राज्य तिलक देकर उन्हें सिंहासन का अधिकारी घोषित किया गया। जब उसका अग्नि संस्कार कर दिया, तब शुक्राचार्य जी को बुलाया गया। ये ही दैत्य दानवों के कुल पुरोहित हैं, अन्य ऋषि मुनि भी बुलाये गये। सब ने भगवान् के सम्मुख ही विधि विधान पूर्वक प्रह्लाद जी को राजा बनाया उनके ऊपर शुभ्र छत्र ताना गया, इधर उधर

ढुलने लगे। राज्य सिंहासन पर बैठे हुए प्रह्लाद जी अत्यंत सुशोभित हुए। भगवान् ने उन्हें शिक्षा देते हुए कहा—देखो, निरंतर मेरी भक्ति करते हुए निष्काम भाव से कर्तव्य बुद्धि से सब कार्यों को करना।

ब्रह्माजी ने देखा अब तो भगवान् हँस हँस कर बातें कर रहे हैं। असुर की क्रिया कर्म होने के साथ प्रभु का क्रोध भी समाप्त हो गया है; प्रसन्नता से उनका श्रीमुख अत्यंत सौम्य हो गया है। रोष का चिन्ह भी नहीं, तब तो ब्रह्माजी का साहस हुआ, वे श्रीहरि के अत्यंत ही सन्निकट आकर स्तुति करने लगे।

ब्रह्माजी बोले—'हे देवाधिदेव! यह तो बड़े ही आनंदकी बात हुई कि आपने इस अधम असुर को यम सदन पठा दिया, इसके अभिमान को मिट्टी में मिला दिया, इसे अपने पापों का फल चखा दिया। इस दुष्ट ने समस्त लोकों को संतप्त कर रखा था।

भगवान् हँस पड़े और बोले—"बाबा! यह इतना बलवान् बन कैसे गया?"

ब्रह्माजी बोले—"अजी महाराज! क्या बताऊँ। इसने बड़ी भारी तपस्या की थी, इसकी तपस्या से प्रसन्न होकर मुझे ऐसे ऐसे दुर्लभ वर इसे देने पड़े, कि यह मदोन्मत्त हो गया था। इसने मुझसे वर माँग लिया था कि मैं आपके रचे हुए किसी भी प्राणी से न मरूँ। इसी कारण अपने तप, कर्मों के कौशल और शारीरिक बलके प्रभाव से सभी देवताओं को जीत लिया। सभी लोक पालों को सेवक बना लिया, सम्पूर्ण वेदकी विधियों का उच्छेदन कर दिया और अपने पुत्र को भी अत्यंत दुःख दिये।

भगवान् ने हँसकर कहा—"ऐसे ही समय तो ब्रह्माजी! मैं धर्म संकट में पड़ जाता हूँ। आप बिना सोचे समझे ऊट पटांग वर दे देते हैं, फिर ये क्रूरकर्मा असुर, प्रजा को पीड़ा देने लगते हैं। और बातों को तो मैं सहभी सकता हूँ, भक्तों के साथ किये हुए अन्याय को सहन करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं, इसीलिए मुझे यह खिचड़ी की भाँति मिला जुला नृसिंह वेष बनाना पड़ा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! आप ही तो सब के ईश हैं, यह बड़े आनंद की बात है, कि आपने मेरे वरों की रक्षा करते हुए इस दैत्य को मारा और अपने परम भक्त प्रह्लाद जी को दुःख से छुड़ाया। यह प्रह्लाद भी सर्वभाव से आपकी शरण में आ गया। अब प्रभो! इस पर आप कृपा करें, इसे अभय प्रदान करें। आप के दर्शन ही समस्त अमङ्गल और भयों को निवारण करने वाले हैं। आपने अपने अनन्य आश्रित भक्त को भी बचाया और मेरे भी वरों की मर्यादा रख कर मुझे झूठा नहीं बनाया।"

भगवान् हँसकर बोले—"अजी, ब्रह्माजी! आप के वरों ने ही तो सब गुड़ गोबर कर दिया। उन्होंने ही तो इस असुर को इतना उन्मत्त और उच्छृङ्खल बना दिया। अब आगे के लिये स्मरण रखें। कभी भूलकर भी किसी को ऐसे असंभव वर न दिया करें। अजी कोई भला आदमी हो, ज्ञानी ध्यानी भक्त तपस्वी, सदाचारी हो उसे वर देना तो शोभा भी देता है ऐसे दुष्टों को ऐसे कठिन वर देना मानों अपने आप अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना है। घर में सापों को दूध पिला कर पालना है।

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, भगवान्! अब जो

भई सो भई। आगे से मैं ध्यान रखूँगा। इतना कहकर जा ने भगवान् की विधि पूर्वक पूजा की।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं, राजन्! ब्रह्माजी की पूजा करके नृहरि भगवान् सब के देखते देखते वहीं तत्क्षण अन्तर्धान हो गये। अब किसी को भी उनकी मन मोहिनी मूर्ति दिखाई न दी। भगवान् के अन्तर्धान हो जाने के अनंतर राज्य पाय हुए प्रह्लाद जी ने समागत सभी देवताओं की यथा योग्य पूजा की। सब का आदर किया और सब से कृपा दृष्टि रखने की प्रार्थना की।

देवताओं ने, मुनियों ने तथा समागत अन्य साधु सन्तों ने प्रह्लाद जी को आशिर्वाद दिया, उनकी मंगल कामना की, तथा उनसे सत्कृत होकर वे सबके सब अपने अपने धामों को चले गये।

श्री नारद जी कहते हैं—"राजन्! आपने मुझसे हिरण्यकशिपु का वृतान्त पूछा था। वह मैंने तुम से कह दिया। हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष पहिले भगवान् के जय और विजय नामक पार्षद थे। सनकादि महर्षियों के शाप से भगवान् कश्यप के वीर्य से अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। ये भगवान् को अपना चेरी समझकर निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करते रहते थे। तीन जन्म में इन्हें शाप से मुक्त होने का वर था। अतः ये ही मरकर दोनों रावण कुंभकरण हुए, जिन्हें भगवान् ने श्री रामावतार रखकर मारा। तदनन्दर ये दोनों शिशुपाल और दन्तवक्त्र हुए जिन्हें श्री कृष्णावतार रखकर भगवान् ने मारा है।

राजन्! यह जो अभी शिशुपाल मारा गया, जिसकी सायुज्य मुक्ति को देख कर आपने आश्चर्य किया है, यह और कोई नहीं है, भगवान् का पार्षद है। तीसरे जन्म में अब इसकी

मुक्ति हो गई। यह मैंने भगवान् ब्रह्मण्य देव परमात्मा श्री कृष्ण की परम पवित्र नृसिंह अवतार की कथा कही, जिसमें आदि दैत्य हिरण्यकशिपु के वध का प्रसंग भी है। हिरण्याक्ष वध की कथा वाराहावतार के प्रसंग में तुम से कह ही दी।"

हिरण्याक्ष के वध की कथा सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आपने यह तो भगवान् की बड़ी ही अद्भुत कथा सुनाई। शिशुपाल के तीनों जन्मों का परिचय कराया, किन्तु एक सन्देह हमें बना ही रहा। उसका समाधान आप और करें।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! कहिये मैं यथामति इसका उत्तर दूंगा।

शौनकजी ने कहा—"महाभाग! प्रह्लादजी का जितना ही चरित्र मैंने सुना है, उतना ही मुझे आश्चर्य हुआ है। बाल्य-काल से ही भगवद् गुणों में अनुरक्ति, आसुरी भावों से विरक्ति, पठन पाठन में ही प्रभु पाद पद्मों में आसक्ति, यह साधारण पुण्य का काम नहीं। पिता ने उन्हें कितने २ कष्ट दिये, उनसे बच जाना तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि जिसके रक्षक भगवान् हैं उसे कोई भी मारने में समर्थ नहीं, किन्तु मुझे आश्चर्य इस बात का हो रहा है, कि पिता ने उन्हें इतनी इतनी घोर यातनायें दीं, इतने क्लेश पहुँचाये, फिर भी प्रह्लाद जी के मन में किसी प्रकार का भी द्वेष भाव पिता के प्रति उत्पन्न नहीं हुआ। उनकी वैसी ही श्रद्धा बनी रही। यही नहीं, मरने पर भगवान् से उन्होंने अपने पिता की सद्गति के ही लिये प्रार्थना की। महाभाग ऐसा तो न कभी देखा गया न सुना गया। इतना धैर्य्य ऐसी सहनशीलता किस कारण प्रह्लादजी में आ गई?

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन्! यह एक जन्म के पुण्य का फल नहीं है। इतनी सहनशीलता ऐसे महान् गुण अनेक जन्मों की कठिन साधना से आते हैं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूत जी! आपने शिशुपाल के पूर्व जन्म की कथा तो सुनी ही है, अब यह बताइये, प्रह्लादजी पूर्व जन्म में कौन थे, कैसे उनमें इतनी सहन शक्ति आई? कैसे वे द्वेषी पिता के भी इतने भक्त हो सके। इसे सुनने के लिये हमारे मन में बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

इस पर सूत जी बोले—अच्छी बात है मुनियो! अब मैं प्रह्लाद जी के पूर्व जन्म का वृत्त सुनाता हूँ आप इसे ध्यान पूर्वक सुने।

छप्पय

अब कबहूँ नहिं देइ दुष्ट दैत्यनि कूँ अस वर।
करैं सुधा को पान सदा विष उगलें विषधर॥
यों सब कूँ समुझाइ भये अन्तर्हित नरहरि।
विदा करे प्रह्लाद देव ऋषि अति आदर करि॥
हिरनकशिपु उद्धार अरु, चरित असुर सुत को कह्यो।
यों द्वेषी शिशुपाल हरि, हाथनि मरि तन्मय भयो॥

प्रह्लादजी के पूर्व जन्म का वृत्त

(४९५)

स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः ।
प्रवृद्ध भक्त्वा ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति ॥*
(श्री भा० ३ स्क० १४ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

पूर्व जन्म महँ हते विप्र प्रह्लाद यशस्वी ।
मातु पिता के भक्त धर्मरत परम तपस्वी ॥
लैंन परीक्षा पिता देह महँ कुष्ट बनायो ।
घृना तनिक नहिँ करी अमृत को घड़ा भरायो ॥
पुत्र भक्ति तें पिता हू, अति प्रसन्न तिनि पै भये ।
आशिष दै दीक्षा दई, पत्नी सँग बन कूँ गये ॥

जीव की जब तक किसी में निष्ठा नहीं होती जब तक उसके

---

* कश्यपजी प्रह्लादजी के जन्म के पूर्व ही कह रहे हैं—वह महात्मा प्रह्लाद परम भागवत परम प्रतापी महान् से भी महान् उदाराशय होगा। वह अपने प्रवृद्ध भक्ति भाव से विशुद्ध अन्तःकरण में श्री हरि को स्थापित करके इस शरीर का परित्याग करेगा।

हृदय में आस्तिकता, दृढ़ता, स्थिरता, कर्तव्य में तत्परता तथा सहनशीलता नहीं आती। निष्ठा सम्बन्ध से होती है। सबसे अधिक सम्बन्धी माता पिता हैं। वे इस शरीर को देने वाले हैं! इनसे भी अधिक सम्बन्धी श्री गुरुदेव हैं, जो अज्ञान को मेंटकर ज्ञान ज्योति प्रदान करते हैं। तभी तो शास्त्रकार इस बात पर पुनः पुनः बल देते हैं कि माता को देवता के समान समझो, पिता को देवता के समान समझो और आचार्य को देवता के समान समझो। जो मातृदेव, पितृदेव तथा आचार्य देव हैं, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। जिनके घर में मात पिता हैं और यदि वे तीर्थों में भटकते हैं, तो उनका तीर्थ भ्रमण व्यर्थ है। अरे, जब घर में जंगमतीर्थ उपस्थित है, तो स्थावर तीर्थों में क्यों जाते हैं? माता पिता से बढ़कर संसार में कौन तीर्थ है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! मैं आपको महाभागवत प्रह्लाद जी के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ, उसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

समुद्र से घिरी हुई प्राचीन काल में द्वारिका नाम की एक परम पावन पुरी थी। जिसे गन्धर्वों के खंडहर कर देने पर द्वापर के अन्त में भगवान ने फिर से उसे बसाया है! यह अति प्राचीन पुरी है। पूर्व काल में इस पुरी में वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता परम धार्मिक शिवशर्म्मा नामक एक परम तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। उनके पाँच पुत्र थे। सबसे बड़े का नाम यज्ञशर्म्मा दूसरे का नाम वेदशर्म्मा तीसरे का नाम धर्म्मशर्म्मा, और चौथे का नाम विष्णुशर्म्मा था। ये सबके सब धर्मात्मा मातृ पितृभक्त और पिता की आज्ञा के अनुसार ही बर्ताव करने वाले थे। इन सबके इष्ट पिता ही थे। पिता से बढ़कर ये किसी देवता को नहीं

मानते थे। पितृसेवा करते करते वे चारों भी सिद्ध हो गये थे। सभी को मानसिक सिद्धि प्राप्त हो चुकी थी।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! यह त्रेता युग की बात है। उन दिनों सभी प्रायः सदाचारी, नियम संयम से रहने वाले शांत तथा दान्त होते थे। देवता प्रत्यक्ष पृथिवी पर आते जाते थे। तपस्या के प्रभाव से मनुष्य जीवित ही स्वर्ग चले जाते थे और इच्छानुसार लौट आते थे। महाराज दशरथ, महाराज खट्वाङ्ग आदि अनेकों राजा दैत्यों से युद्ध करने देवताओं की ओर से गये थे। कई पृथिवी के राजा तो इन्द्रासन पर बैठकर स्वर्ग का शासन तक करते थे। तपस्या के प्रभाव से उन दिनों ब्राह्मणों को वर तथा शाप देने की भी शक्ति थी जिसे प्रसन्न होकर जो चाहते वर दे देते, क्रोध में आकर जो चाहते शाप देते। आज कलियुग में तो लोग इन बातों पर विश्वास ही न करेंगे। क्योंकि अब लोगों में श्रद्धा नहीं, संयम नहीं, सदाचार नहीं, साधुता नहीं। जो अपनी इन्द्रियों पर विजय कर लेते हैं, कामिनी काञ्चन के लोभ को पास नहीं फटकने देता। वह जो चाहे सो कर सकता है। तपस्या में निरत हुए साधु की यही परीक्षा थी कि उसके मन में कामिनी काञ्चन की चाह तो नहीं रही है। इसीलिये इन्द्र जिसे भी उग्र तपस्या करते देखते हैं उसी के समीप स्वर्ग की अप्सरायें भेजते हैं।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! ये स्वर्ग की अप्सरायें होती भी हैं या वैसे ही आकाश पुष्प समान नाम लेने को ही हैं। कलियुग में तो वे दिखाई नहीं देतीं। पहिले तो जहाँ भी जिसने तनिक तपस्या की, कि तुरन्त इन्द्र अप्सराओं को भेज देते थे। आजकल तो लोग इतनी तपस्या करते हैं किसी के समीप अप्सरायें नहीं आतीं। यह क्या बात है?"

इतना सुनते ही सूतजी गम्भीर हो गये और बोले—"महाराज! ये जितनी वेद पुराणों में बातें कही गई हैं सब सत्य हैं। यह हमारी श्रद्धा की कमी है, कि हमें उन पर विश्वास नहीं होता। वेद शास्त्रों में से पुनर्जन्म तथा परलोक सम्बन्धी बातें निकाल दी जायँ, तो उनमें शेष ही क्या रहेगा। नीचे ऊपर अनेकों लोक हैं। उनमें देव, असुर, गुह्यक, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, पलग किंपुरुष, किन्नर, भूत वैताल आदि अनेकों प्रकार के प्राणी रहते हैं। देवता हैं, स्वर्ग हैं, उसके अधिपति इन्द्र हैं, अप्सरायें हैं। ये सब पुण्य से तपस्या से प्राप्त होते हैं। कलियुग में इतना पुण्य कहाँ रहा है? पहिले बात बात पर गौदान, सुवर्णदान भूमिदान होता था। एक एक आदमी नित्य लाख लाख गौदान करता था, अब लाख गौएँ देखने को नहीं मिलतीं। पहिले लाख लाख वर्ष बिना खाये तपस्या करते थे, तब इन्द्र का आसन डगमगाता था। तब इन्द्र को अप्सरा भेजने की चिन्ता होती थी आज तो एक दिन भी अन्न न मिले तो हमारे प्राण ही डगमगाने लगेंगे। पहिले लोग इन कामिनी काञ्चन को तुच्छ समझकर इनकी ओर से दृष्टि हटा कर तब तप करते थे। जब इन मर्त्य लोक की ललनाओं से विरक्ति होती थी, तब स्वर्गीय अप्सरायें आती थीं। कलियुगी तपस्वी तो इन मानवीय रूपों को ही देखकर फिसल जाते हैं। तनिक से चाकचिक्य और सौन्दर्य को ही देखकर चंचल हो जाते हैं, फिर इनके पास अप्सराओं को इन्द्र क्यों भेजें। जो सहज में तमाचे से ही मर जाय, उसके लिए बड़ा अस्त्र उठाने की आवश्यकता क्या है। भगवन्! कलियुग में कामिनी काञ्चन का लोभ सिद्धि प्राप्त नहीं होने देता। इनमें आकर्षण तो अनादि काल से है। सत्ययुग में भी लोग मोहित होते थे. किन्तु जिसकी जितनी ही बड़ी सामर्थ्य होती

थी, जिसका जितना ही बड़ा त्याग वैराग्य होता था, उसे उतनी ही बड़ी वस्तु प्राप्त होती थी। कलियुगी जीवों के हृदय में तो कामिनी काञ्चन का लोभ भरा रहता है। ऊपर से जप, तप, पूजा, पाठ, परोपकार करते हैं। इन शुभ कर्मों से लोगों का उनके प्रति आकर्षण होता है। नर नारी उनके समीप आने जाने लगते हैं। जहाँ तनिक अनुराग का आकर्षण हुआ कि फिर गोविन्दाय नमो नमः हो जाती है। जो है सो मुनियो! तुम्हारा रामजी भला करें, सब जप तप भूल जाते हैं। हृदयधन को छोड़ कर संसारी धन संग्रह करने में लग जाते हैं, राम को भूलकर रौंड़ों के चक्कर में फँस जाते हैं। ऐसी दशा में अप्सरायें क्यों आवें। इसी से कलियुगी बगुला भगतों को भगवान् के दर्शन नहीं होते हैं। ऐसी ही शंका एक दिन श्रीनारदजी ने भगवान् से की थी।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! नारदजी ने भगवान् से क्या शंका की और भगवान् ने उसका क्या उत्तर दिया, कृपा करके इस कथा को आप हमें सुनावें।"

शौनक जी की बात सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! इस सम्वाद को मैं आपको सुनाता हूँ आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

एक दिन नारदजी भगवान् वैकुन्ठनाथ के समीप गये। वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर बोले—"भगवन्! आप कलियुगी जीवों के प्रति इतने कठोर क्यों हो गये हैं।"

भगवान् ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्यों, क्यों नारद जी! क्या हुआ?"

नारदजी ने बात पर बल देते हुए कहा—"महाराज! हुआ

क्या, अन्य युगों में तो आप स्मरण करते ही आजाते थे कलियुग मे लोग आपका इतना भजन करते हैं, इतना पुकारते हैं, फिर भी आप दर्शन नहीं देते। आपके भक्त आपके लिये सदा व्याकुल बने रहते हैं।"

भगवान् ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"नारद जी! मुझे कौन पुकारता है, यदि मुझे कोई हृदय से पुकारे, तो मैं रह ही नहीं सकता।"

नारदजी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"भगवान्! आप ये कैसी बातें करते हैं। मैं तो भारतवर्ष में नित्य ही जाता हूँ। वहाँ तो मैंने भक्तों को देखा है, प्रेम में विभोर होकर बहुत से रोते हैं, बहुत से गाते हैं, बहुत से कीर्तन करते करते मूर्छित हो जाते हैं। बहुत से दान करते हैं। बहुत से तप करते हैं, बहुत से अखंड कीर्तन करते हैं। प्रातः नहाने आते हैं, आपको पुकारते हैं, चिल्लाते हैं, किन्तु न जाने क्यों आप किसी की पुकार सुनते ही नहीं, बहरे से बने बैठे रहते हैं।"

भगवान् ने आह भरके कहा—"अजी नारद जी! मुझे कौन पुकारता है। मन में काम और दाम भरा है ऊपर से मुझे पुकारते हैं। दिन भर पाप करते हैं पाप को छिपाने—भक्त बनने को लम्बे तिलक लगाते हैं सुमिरिनी हाथ में लेकर झूठे ही होंठ चलाते हैं। मुख में राम बगल में ईंट, ऐसे ये कलियुगी बगुला भक्त हैं। दान देंगे तो नाम के लिये प्रति दिन पाप से पैसा पैदा करेंगे, दीन दुखियों का रक्त शोषण करेंगे उस पाप के पैसे में से प्रतिष्ठा पैदा करने को दान करेंगे। जो वे चाहते हैं वही मैं देता हूँ। वे मेरे दर्शनों में सुख नहीं मानते चाम के और दाम के सुख को ही सबसे श्रेष्ठ सुख समझते हैं। उन्हें मेरी इच्छा नहीं काम सुख और दाम सुख के ही वे इच्छुक हैं।

मैं तो भावग्राही हूँ। अन्य लोगों को भ्रम में डाल सकते हैं किन्तु मैं तो अन्तर्यामी हूँ। घट घट की जानने वाला हूँ। मुझसे किसी के भाव छिपे नहीं रहते अतः भावानुसार फल देता हूँ। तुमने यदि कोई मुझे चाहने वाला भक्त देखा हो तो बताओ। अभी चलकर मैं उसे दर्शन दे सकता हूँ।

यह सुनकर नारदजी तो परम विस्मित हुए। अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"विभो! आप कैसी विचित्र बातें कह रहे हैं। एक नहीं मैंने सहस्रों भक्त आपके दर्शनों के लिये उत्कंठित और रोते हुए देखे हैं। बहुतों का तो आहार ही सत्संग है। सत्संग के लिये ये दूर दूर जाते हैं, बहुत से नित्य गंगा नहाते हैं, बहुत से अन्न छोड़कर फल फूल ही खाते हैं; बहुत से बोलना छोड़कर मौनी कहाते हैं, बहुत से सत्संग के लिये भक्तों को दूर दूर से बुलाते हैं, बहुत से नियमित सत्संग कीर्तन कराते हैं। आप प्रकट हों, तो फिर देखिये कितनी भीड़ लग जाय, कितने भक्त आनन्द में तन्मय हो जायँ।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, मैं तो भक्तों के दर्शनों को लालायित ही बना रहता हूँ। चलो; कोई भक्त मिल जाय तो मैं भी उसके दर्शनों से कृतार्थ हो जाऊँ।"

यह सुनकर परोपकारी नारदजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उनका तो व्रत ही है, जैसे हो तैसे जीवों को भगवान् के सम्मुख करना। भूले भटकों को मार्ग दिखाना। भगवान् की दयालुता का स्मरण करके उनका हृदय भर आया। सोचने लगे—"वहाँ जाऊँगा, वहाँ के भक्तों को यह सुखद सम्वाद सुनाऊँगा। उन्हें भगवान् के दर्शन कराऊँगा।" ऐसी अनेक बातें सोचते हुए भगवान् के पीछे पीछे वे चले। आज भगवान्

ने गरुड को साथ नहीं लिया, स्वयं चतुर्भुज रूप से नारदजी के साथ हो लिये।

भगवान् ने नारद जी से पूछा—"कहो नारद जी, पहिले कहाँ चलें ?"

नारदजी कुछ सोचकर बोले—"भगवान् ! पहिले प्रयागराज ही पधारें। वह समस्त तीर्थों का राजा है। पृथ्वी का जघन स्थान है। भारत का केन्द्र है, सभ्यता का उद्गम है, परम पावन ब्रह्मावर्त प्रदेश है, गंगा यमुना का संगम है, कल्पना में भी नाश न होने वाला वहाँ अक्षयवट है, प्रान्त भर का प्रधान न्यायालय है। सभी देशों के सहस्रों यात्री संगम स्नान करने वहाँ आते हैं। कथा कीर्तन भी वहाँ निरन्तर होता रहता है। घर घर कीर्तन होता है, संगम पर भक्तों की भीड़ लगी रहती है। वहाँ अभक्त तो आवेगा ही क्यों ! वहीं पधारें। वहाँ एक साथ सहस्रों लक्षों भक्तों के दर्शन हो जायँगे। वहाँ से यह सुखद सम्वाद सर्वत्र व्याप्त हो जायगा। पुनः काशी चलेंगे। ऐसे ही पृथ्वी के सभी मुख्य मुख्य स्थानों के भक्तों को दर्शन देकर उनके जीवन को सफल बनायेंगे।"

भगवान ने कहा—"चलो, भाई ! अब तो नारदजी ! हम तुम्हारे अधीन हैं, जहाँ चाहो ले चलो। यह कहकर भगवान् नारदजी के साथ चल दिये और बात की बात में तीर्थराज प्रयाग में आ गये। जहाँ गंगा और यमुना परस्पर हिल मिल कर प्रेम प्रदर्शित कर रहीं हैं, जहाँ श्री माधव १२ रूपों से प्रयाग मण्डल के चारों ओर निवास करते हैं। उस समस्त तीर्थों के सम्राट् प्रयाग क्षेत्र में नारदजी के सहित भगवान् उतरे। संगम से अर्ध क्रोश इन्द्र की पूर्व दिशा में जहाँ भगवान शंखमाधव रूप से विराजते हैं वहाँ भगवान नारद के संग उतरे। सघन अमराई

और मंदिर के समीप सघन वट वृक्ष को देखकर भगवान वहीं गये और नारदजी से बोले—"नारद ! देखो सहज में जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसका लोग आदर नहीं करते। जो वस्तु कुछ परिश्रम से प्राप्त होती है, उसका महत्व अधिक होता है। हम तो वैकुंठ से इतनी दूर आगये। अब घर दर्शन देने जाना उचित नहीं। जिन्हें दर्शन की लालसा हो यहीं बुला लाओ नित्य संगम भी तो लोग आते ही हैं। संगम के संन्निकट तो है ही, यहीं भक्तों को बुला लाओ।"

नारदजी ने कहा—"हाँ महाराज, बहुत उत्तम है। अभी मैं यहीं भक्तों को लाता हूँ आप इस वट वृक्ष की छाया में विराजें अन्तर्धान न हो जायँ।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, नारदजी ! अन्तर्धान होने की क्या बात है, भक्त जितने मेरे दर्शनों को लालायित रहते हैं, उनसे सौ गुना मैं उनके दर्शनों को लालायित रहता हूँ। आप जावें और जो भी भक्त मेरे दर्शनों को आना चाहे उसे ही लिवा लावें। इसमें किसी प्रकार का भेद भाव न करें।"

यह सुनकर नारदजी ने शीघ्रता से अपनी वीणा उठाई। ग्रीष्म काल था। वैशाख का महीना, त्रिवेणी जी पर बड़ी भीड़ थी। नारदजी ने वीणा की तान छेड़ी और सबसे कहा—"जिसे भगवान् के साक्षात् दर्शन करने हों शंख माधव जी पर चल कर करलें।"

यह सुनकर कुछ हँसे, कुछ मुस्कराये। कुछ ने कहा—"भगवान् तो सर्वत्र हैं।" कुछ ने कहा—"भगवान् कहीं ऐसे आते हैं ?"

नारदजी ने दृढ़ता के साथ कहा—"अरे, तुम लोग बड़े अश्रद्धालु हो रे ? प्रत्यक्ष में प्रमाण क्या, शंख माधव जी यहां से कुछ दूर तो हैं नहीं चल कर देख लो। जिसके लिये तुम सब

इतना भजन, ध्यान, गंगा स्नान करते हो वे प्रत्यक्ष पधारे हैं।" इस प्रकार नारदजी ने एक प्रभाव शाली भाषण दे डाला, सब सुनकर हँसने लगे किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। तब तो नारद जी एक एक से पूछने लगे कुछ सफेद कपड़े वाले नहा रहे थे— उसने कहा—"तुम क्यों नहीं चाहते ? इतनी श्रद्धा से गंगा स्नान करते हो। उन्होंने कहा—"बाबा ! हमतो स्वास्थ्य के लिये नहाने चले आते हैं।" किसी ने कहा—हमें दुकान खोलनी है, किसी ने कहा—"हमें नौकरी पर जाना है, लौटने में अभी विलम्ब हो रहा है। समय पर न पहुँचे तो नौकरी भी जायगी।" किसी ने कहा—"हमें न्यायालय जाना है।" स्त्रियों ने कहा—हमें भोजन बनाना है।" सारांश यह है कि कोई भी नारदजी के संग चलने को उद्यत नहीं हुआ। नारदजी ने सोचा—"चलो, ये लोग तो नित्य आने वाले हैं, सब के समय बँधे हैं। नगर में चलें, वहाँ भक्त मिलेंगे। अब नारदजी मन्दिरों में गये, सत्संग के अड्डों पर गये, अखाड़ों में गये। सारांश जहाँ भी इन्हें भक्तों की आशा थी सब स्थानों में घूमे। कोई कहीं दौड़ा जा रहा है, कोई किसी चिन्ता मे मग्न है, कोई किसी कार्य के पीछे पड़ा है। नारदजी की बात सब सुनलें, कोई हँस दें, कोई अवकाश न होने से दुःख प्रकट कर दें, कोई विवशता बतादें, सारांश कोई उनके साथ चलने उद्यत नहीं हुए दोपहर होगया था। ठीक दोपहर में कौन घर से बाहर हो सकता है नीचे से ऊपर छत पर जाना भारी हो जाता है। नारद-जी को बड़ी निराशा हुई। दोपहर ढल चुका था। कार्यालय से कार्य कर करके लोग लौट रहे थे। नारदजी जिसे भी तिलक लगाये देखें उसी से कहें। सब कहें—"बाबा कृपा करो। दिन भर के क्लान्त तो अभी लौटे हैं। तुम ही भगवान् के दर्शन कर आओ। अब तो नारदजी को दुःख भी हुआ, निराशा भी हुई।

लज्जा भी लग रही थी, भगवान् के पास कैसे जायँगे ? सोचा—"उस पार प्रतिष्ठानपुर में सुना बहुत कीर्तन होता है। वहाँ भगवान् के ही नाम पर घर बार छोड़ने वाले बहुत से संत महात्मा साधक कुछ अवश्य मिलजायँगे। शंख माधव वहाँ से समीप भी पड़ते हैं। यह सोचकर नारदजी प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में आये। जिसे देखें उसीसे कहें—"देखो,भैया ! मैं नारद हूँ, भगवान् दर्शन देने शंख माधव जी पर बैठे हैं। चलो दर्शन कर आओ। लड़के कहें—"हमें पढ़ना है।" कोई कह दें हमें अमुक काम करना है कुछ कहें—"हमें कथा कीर्तन में जाना है। कुछ माताओं को नारदजी ने देखा—उनसे भी कहा। वे बोलीं—"महाराज ! क्या करें इतना काम करना है, इतनी दूर हमसे चला भी न जायगा, फिर उधर से लौटना भी कठिन है। यह निश्चित भी नहीं भगवान् हैं भी या नहीं ?"

इस पर नारदजी ने कहा—"मैं नारद होकर झूठ बोलूँगा ?"

माताओं ने कहा—"अजी, महाराज ! यहाँ तो सब शुकदेव, नारद, दत्तात्रेय ही आते हैं। इससे कम तो यहाँ कोई आता ही नहीं।"

नारदजी ने कहा—"वे सब बनावटी नारद, शुक हैं। मैं यथार्थ नारद हूँ।"

वे बोलीं—"अब, महाराज ! यथार्थ और बनावटी की परीक्षा कौन करे। सब सत्य ही हैं "हरि व्यापक सर्वत्र समाना प्रेम ते प्रकट होहिं भगवाना"। सब जगह भगवान् हैं। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'।

नारद जी अपना सा मुँह लेकर फिर संगम पर आये कुछ यात्री थे, कुछ सायंकाल को घूमने फिरने लोग आ गये थे कुछ निषाद केवर्त थे। नारद जी झुंझला रहे थे। अकेले वे लौटना

नहीं चाहते थे। वहाँ उन्होंने एक प्रभाव शाली व्याख्यान दिया और अन्त में कहा—"मैं तुमसे कुछ माँगता नहीं। कोई परिश्रम नहीं कराता। दूर जानेको नहीं कहता। मेरी बात पर विश्वास तो करो। भगवान् के दर्शन करके इस मनुष्य देह को सफल करो। भगवान् न हों तो जो कारे चोर को दण्ड दिया जाता है, वह मुझे दें।" कुछ उत्साही १०।५ नवयुवक थे। कुछ यात्री थे कुछ अन्य भक्त थे। सबने कहा—"अच्छी बात है, चलो देखें अपना बिगड़ता ही क्या है। न भगवान् होंगे, टहलना ही हो जायगा!" यह सोच कर वे नारदजी के पीछे चल दिये। कुतूहल वश कुछ कैवर्त निषाद भी साथ हो लिये कुछ यात्री, कुछ भक्त ऐसे १०० २०० आदमियों की भीड़ नारदजी के साथ चली। कुछ स्त्रियाँ भी जाने को उत्सुक थीं, किन्तु इसी भय से न जा सकीं कि लौटने में देरी होगी। रात्रि में कैसे लौटेंगी, घर वाले क्या कहेंगे। स्त्रियों का जन्म तो भगवान् ने व्यर्थ ही दिया, जीवन भर बन्दिनी बन कर—परमुखापेक्षी रहकर बिताना पड़ता है।" यों विधाता को कोसती हुई वे लौट गईं।

नारदजी बड़े उत्साह से आगे जा रहे थे, उन्हें सन्तोष था, इतने भक्त तो मिल गये बीच में भगवान् ने क्या माया रची कि तनिक आगे बढ़ते हैं, मार्ग में पैसों का ढेर लगा था। कुछ लोगों ने कहा—"अजी, वहाँ क्या रखा है बाँधले इन्हें।" जब कुछ लोग उधर लपके तब नारदजी ने व्याख्यान देना आरम्भ किया—"छिः छिः बड़े दुःख की बात है। मनुष्य देह पाकर इन ताँबे के ठीकरों के लालच से भगवान् के दर्शनों से वंचित रहते हो। भगवान् के दर्शन हो गये तो मानों सब मिल गये। किन्तु नारद जी की बात को कौन सुनता है। कुछ तो गठरी बाँधकर लौट आये। कुछ लोग उनकी ओर न देखकर आगे बढ़े। कुछ दूर

चलने पर चाँदी के रुपयों का ढेर मिला। बहुत से वहीं फिसल गये। जो बचे वे आगे बढ़े। और आगे बढ़कर सुवर्ण की मुद्रायें मिलीं। कुछ वहाँ अटक गये। जो बचे उन्हें आगे मणि माणिक्य मोती मिले। नारदजी के मना करने पर शेष उनपर टूट पड़े। ५ ऐसे साहसी निकले जो उन्हें भी ठुकरा कर नारद जी के पीछे पीछे चले।

आगे चलकर भगवान् की माया से निर्मित् अत्यन्त ही सुन्दर पाँच युवती लड़कियाँ खड़ी थीं, वे रो रही थीं। उन पाँचों ने जाकर पूछा—"देवियो! तुम क्यों रो रही हो?

उन्होंने सिसकियाँ भरते हुए कहा—"हम राजपरिवार की कुलीना कुमारी हैं, हमारे देश में उपद्रव हो गया है। हम वहाँ से भाग आई हैं। हम चाहती हैं हमारा कोई उद्धार करे। हमारे साथ कोई विवाह करले। हमारे पास धन भी है यथेष्ट अमूल्य आभूषण भी हैं। इतनी सुन्दर स्त्री और अटूट धन इस लोभ को वे युवक न रोक सके। तब तो नारदजी को बड़ा क्रोध आया और वे लाल लाल आँखें करके बोले—"अरे, तुम लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। देखो, ये न स्त्री हैं न इन पर यथार्थ धन है। यह तो भगवान् की माया है, तुम्हें भ्रम में डालने तुम्हारी परीक्षा लेने भगवान् ने यह सब माया प्रदर्शित की है तुम इन डाइनों के चक्कर में मत पड़ो। किनारे पर आकर नौका को मत डुबोओ। भगवान के दर्शन करने से आठों सिद्धि नवो निद्धि प्राप्त होगीं। ये तो परमार्थ में विघ्न करने वाली हैं।"

यह सुनकर उनमें से एक बिगड़कर बोला—"तुम साधु हो कि राक्षस? दुखी की सेवा करना यही साधुता है। प्रतीत होता है तुम कोई धूर्त हो।"

नारदजी ने कहा—"देखो, अभी परीक्षा हो जाती है, तुम

मेरे साथ चलो, इनको छोड़ो। तुम अपने हृदय पर हाथ रख कर पूछो, तुम परोपकार बुद्धि से अपनाना चाहते हो या लोभवश। तुम तो अत्यन्त सन्निकट आ गये हो। इन्हें लेना ही है तो लौट कर ले लेना।

इस पर एक ने कहा—"हाँ, अच्छी बात है, यहाँ ये बैठें हम अभी देखकर लौटते हैं।"

यह सुनकर वे लड़कियाँ बोलीं—"अब सूर्यास्त हो ना ही चाहता है, हम इस अरण्य में अब अधिक न ठहरेंगी आप हमें छोड़ जायँगे तो हम नगर में जाकर कहीं अन्य स्थान में शरण की याचना करेंगी।"

इस पर एक बोला—"अच्छी बात है, दो आदमी इनके पास बैठो, तीन इन बाबा जी की बात की भी परीक्षा कर आओ।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! यह धन और स्त्री ऐसी वस्तुएँ हैं, कि मनुष्य सहसा दूसरे पर विश्वास करता ही नहीं। सगे से सगे पर अविश्वास हो जाता है। अब उनमें इसी बात पर वाद विवाद उठ खड़ा हुआ कौन इनके समीप रहे। अन्त में एक ने कहा—"ये भी साथ ही भागवान् के दर्शन को चले।"

इस पर उन लड़कियों ने कहा—"देखिये! आप सब कुलीन परिवार के प्रतीत होते हैं। हम आपको स्पष्ट बता देना चाहती हैं, कि इस बाबाजी के साथ हम एक पग भी न जायँगी। यह हमें कोई ठग प्रतीत होता है। साधु तो कोमल स्वभाव के होते हैं। उनके लिए स्त्री पुरुष सब समान हैं। यह तो दया से हीन कठोर हृदय का है। अवश्य ही तुम लोगों को यह किसी बड़े चक्कर में फँसाना चाहता है। आप लोग इसके चक्कर में फँसते हैं तो हम तो चलीं।

यह कहकर वे चलने को उद्यत हो गईं। अब तो सब का मन डाँवा डोल हो गया। इधर भगवान दर्शनों की इच्छा थी इधर हाथ में आई लक्ष्मी जा रही हैं। अन्त में उन्होंने सोचा इस बाबा जी का क्या विश्वास। आई लक्ष्मी को क्यों ठुकराते हो? 'बोल उलूक वाहिनी की जय, कह कर वे उन्हें लेकर लौट पड़े। नारदजी चिल्लाते ही रह गये, किसी ने उनकी ओर फिर कर देखा तक नहीं।"

अब तो नारदजी बड़े दुखी हुए। अत्यन्त लज्जा के साथ लौट कर भगवान के समीप पहुँचे। भगवान ने बड़े उल्लास से खड़े होकर कहा—"आइये, नारद जी! आइये। कहाँ है आपकी भक्त मण्डली? बड़ी देर लगादी। मैं तो तभी से प्रतीक्षा कर रहा था, मुझे तो पल पल भारी हो रहा था।"

नारदजी ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! आपकी माया अपरम्पार है। जब माया से छूटें तब मायापति की शरण में आवें। सभी किसी न किसी प्रकार की माया के चक्कर में फँसे हैं। हे प्रभो! आपही जिस पर कृपा करें वही आपकी गुण मयी दुरत्य माया से छूट सकता है। जीव तुम्हें नहीं चाहते। तुम्हारे नाम को वे शस्त्र नहीं मानते। वे तो पापों से प्यार करते हैं। आपके नाम का उपयोग वे ढाल के स्थान में पापों की रक्षा के निमित्त करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"सो, मुनियो! परमार्थ पथ में ये बड़े दो ही विघ्न हैं काम और लोभ। जिन्होंने इन पर विजय प्राप्त करली वह सिद्ध हो गया। शिवशर्मा के पाँचों पुत्रों ने इन दोनों पर विजय पाली थी, अतः वे अपने संकल्पों को सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ थे। शिवशर्मा स्वयं योगी थे।

योग की सिद्धियों से वे जब जैसा चाहते थे तब वैसा रूपरख सकते थे।

एक बार शिवशर्म्मा ने अपने पाँचों पुत्रों की परीक्षा करने का निश्चय किया, कि ये मेरे पूर्ण भक्त हैं या नहीं। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपनी पतिव्रता पत्नी को माया से रोगिणी बना दिया और कुछ काल में माया से ही उसे मृतक भी बना दिया। तब उन्होंने अपने सबसे ज्येष्ठ पुत्र यज्ञशर्म्मा को बुलाकर कहा "बेटा! यह तुम्हारी जननी मर गई है। अब इससे अपने लोगों का क्या प्रयोजन? इसे वन में ले जाओ और काट कर टुकड़े टुकड़े करके फेंक आओ।" यह सुनकर यज्ञशर्म्मा ने कुछ आपत्ति न की। पिता की आज्ञा शिरोधार्य्य करके वे माता के मृतक शरीर को उठा ले गये और वन में फेंक आये। फिर पिता से आकर कहा—"पिताजी, मैंने आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन कर दिया। अब मेरे लिये क्या आज्ञा होती है?"

अपने पुत्र की ऐसी पितृभक्ति देखकर योग से सिद्ध हुए शिवशर्म्मा अत्यन्त प्रसन्न हुए। यद्यपि वे जानते थे, कि मेरे पाँचों पुत्र पितृ भक्त और सिद्ध हैं फिर भी लोक में उनकी प्रसिद्धि कराने के लिये उन्होंने यह माया रची। जब प्रथम पुत्र की परीक्षा हो गई तो दूसरे वेदशर्म्मा की उन्होंने परीक्षा लेनी चाही। माया से उन्होंने एक अत्यन्त ही रूपवती स्त्री की रचना का और अपने द्वितीय पुत्र वेदशर्म्मा से बोले—"बेटा! यद्यपि तुम सब मेरी बड़ी सेवा करते हो, बड़े पितृ भक्त हो, किन्तु तुम जानते हो, स्त्री जैसी सेवा करती है, वैसी सेवा कभी कोई दूसरा कर ही नहीं सकता। स्त्री, माता, सखा, मंत्री सभी का काम देती है। फिर स्त्री के हाथ के भोजन में जो स्वाद होता

है, वह पुरुष के बनाये भोजन में कभी हो ही नहीं सकता। स्त्रियों में अन्नपूर्णा का अंश होता है। पुरुष के लिये संसार में स्त्री से बढ़कर सुख देने वाला कोई नहीं है। मेरी स्त्री मर गई है, मैं स्त्री के बिना रह नहीं सकता। समीप में जो यह स्त्री है इसी से हम पुनर्विवाह करना चाहते हैं। यह स्त्री जैसे भी सन्तुष्ट हो, तैसे इसे सन्तुष्ट करके हमारे लिये ले आओ। यदि यह स्त्री न मिली तो हम बचेंगे नहीं।"

पिता की ऐसी बात सुनकर वेद शर्म्मा ने कहा—"पिताजी, मैं अपने प्राणों का बलिदान देकर भी आपकी इच्छा की पूर्ति करूँगा।" यह कहकर वह उस माया निर्मित सुन्दरी के समीप गया। वहाँ जाकर उसने कहा—"देवि! मेरे पिता आपसे विवाह करना चाहते हैं, आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों और मेरे पिता को भजें।"

उस स्त्री ने कहा—"देखिये, ब्रह्मन्! आप युवक होकर कैसी अधर्म की बात कर रहे हैं। उस बूढ़े से विवाह करने में मुझे क्या लाभ? उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं। दिन भर खों खों करता रहता है, कफ से वह स्थान को भ्रष्ट करता है, लाठी लेकर चलता है। ऐसे खूँसट से मैं विवाह करना नहीं चाहती।"

वेद शर्म्मा ने कहा—"देवि! मेरे पिता सिद्ध हैं, वे जो चाहें कर सकते हैं। आप मेरे ऊपर कृपा करके उन्हें अपनावें।"

स्त्री ने कहा—"ब्रह्मन्! आप उस बूढ़े की अधर्म की बात का व्यर्थ समर्थन क्यों कर रहे हैं। उसे इस वृद्धावस्था में विवाह की क्या आवश्यकता है। विवाह का समय तो आपका है। मेरा चित्त तो आप में आसक्त है। मेरे पास यथेष्ट धन है

आप मेरे साथ विवाह करके संसार के सब सुखों को भोगें। बूढ़ों की तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। पहिले अपना सुख देखना चाहिए। स्वयं सुखी रहेगा तभी धर्म कर्म भी कर सकेगा।"

वेदशर्म्मा ने कहा—"देवि! तुम ऐसी अधर्म की बात न कहो। जब तुमको मेरे पिता ने मन से वरण कर लिया है, तो तुम मेरी माता के समान हो। अतः ऐसी बातें आपको शोभा नहीं देतीं। अब वह बात बताओ जिसके करने से मेरे पिता की इच्छा पूर्ण हो सके।"

स्त्री ने कहा—"तुमने पितृ भक्ति करके क्या सिद्धि प्राप्त की है, उसे मुझे दिखाओ, तब मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँगी। यदि तुममें कुछ सिद्धि है, तो मुझे देवताओं के दर्शन कराओ।"

यह सुनते ही वेद शर्म्मा ने देवताओं का मन से आवाहन किया। तुरन्त वहाँ इन्द्र वरुण कुबेर आदि देवता समुपस्थित हुए और वेदशर्मा से बोले—"ब्रह्मन्! हम आपकी पितृ भक्ति से सन्तुष्ट हैं, आप हमसे जो चाहे वर माँगलें।"

वेदशर्म्मा ने कहा—"मेरी पिता के चरणों में सदा अनन्य भक्ति बनी रहे। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं चाहता।" देवता 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। तब उस माया की स्त्री ने कहा—"देवताओं के देखने से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ। यदि तुम सच्चे पितृ भक्त हो तो अपना सिर अपने हाथ से काट कर मुझे दो।" यह सुनते ही वेद शर्म्मा उछल पड़ा उसने कहा—"अहा! हम धन्य हैं। लोग कहा करते हैं, यह मनुष्य का शरीर किसी काम नहीं आता। यदि हमारे शरीर से पिता की कुछ सेवा हो सके, तो हमारा शरीर धारण करना सार्थक हो जाय।" यह कहकर उन्होंने तुरंत एक तीक्ष्ण खड्ग से अपना सिर काट कर उस स्त्री को दिया।

वह स्त्री उस शरीर को लेकर उनके पिता के समीप आई पिता ने जब अपने पुत्र का सिर उस स्त्री के हाथ में देखा, तो वे पुत्र की पितृ भक्ति देखकर प्रसन्न भी हुए और पुत्र के वियोग के कारण दुखी भी। ब्राह्मण के अन्य पुत्र उस स्त्री के साहस को देखकर थरथर काँपने लगे और वेदशर्म्मा के भाग्य की प्रशंसा करने लगे।

पिता शिवशर्म्मा ने अपने तीसरे पुत्र धर्मशर्म्मा को बुला कर कहा—"बेटा, हम इस स्त्री के साथ विवाह तो करना चाहते हैं, किन्तु जब तक हमारा आज्ञाकारी पुत्र वेदशर्म्मा जीवित न होगा तब हमें न शान्ति होगी न सुख। तुम इस बच्चे के सिर को ले जाओ और जैसे वह जीवित हो सके वैसा उद्योग करो।" यह सुनकर धर्मशर्मा ने कहा—प्रभो! मेरा भाई आपके धर्म के प्रभाव से अवश्य ही जीवित होकर आपको हर्षित करेगा।" यह कहकर वे मृतक भाई के समीप गये। वहाँ उसके धड़ में सिर जोड़ कर उन्होंने कहा—"मैंने मन से, वचन से, तथा कर्म से सदा पितृ भक्ति की हो तो धर्मराज अभी आकर इस मेरे भाई को जिलादें।" इतना कहना था कि धर्मराज वहाँ तुरन्त ही प्रकट हुए और धर्मशर्मा से बोले—"वत्स! मैं तुम्हारे शील, सदाचार, शम, दम, त्याग तथा तितिक्षादि गुणों से परम सन्तुष्ट हूँ तुम जो चाहो मुझ से वर माँगलो।"

धर्मशर्म्मा ने कहा—"प्रभो! यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो यही वर दें कि यह मेरा भाई जीवित होकर मेरे पिता को सुख पहुँचावे।"

धर्मराज ने कहा—"यह तो होगा ही, इसके अतिरिक्त तुम जो वर चाहो मुझसे माँगलो।"

हाथ धर्मशर्मा ने कहा—"मैं यही वर माँगता हूँ, कि मेरी पितृ-चरणों में निरन्तर भक्ति बनी रहे और अन्त में मेरा मोक्ष हो।" "तथास्तु" कहकर धर्मराज चले गये, तुरन्त मृतक चंद्रशर्मा जीवित होकर उठे और दोनों भाई प्रसन्न होकर पिता के समीप गये। अपने पुत्र को पुनः जीवित देखकर शिवशर्मा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, वे उस माया निर्मित प्रमदा के साथ आनन्द विहार करने लगे।

तीन पुत्रों की तो परीक्षा हो चुकी और चौथे विष्णुशर्मा की परीक्षा लेने के निमित्त पिता ने कहा—"बेटा! मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ, यदि तुम स्वर्ग जा कर मेरे लिये अमृत ला सको, तो मैं अजर-अमर बन जाऊँगा।"

विष्णुशर्मा ने कहा—"बहुत अच्छा पिताजी! मैं आपकी आज्ञा से अभी स्वर्ग जाता हूँ।" यह कह कर वह अपने योग बल से स्वर्ग गया। इन्द्र ने उसके अभिप्राय को जानकर उसे लुभाने को स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी उर्वशी अप्सरा को भेजा, किन्तु पितृ भक्त विष्णुशर्मा उसके चक्कर में नहीं फँसे। इन्द्र ने दर्शन नहीं दिये। इस पर ब्राह्मण कुमार ने क्रोध करके दूसरा इन्द्र बनाने के संकल्प से अनुष्ठान किया। तब इन्द्र आये और अमृत का घड़ा देकर उन्हें सादर विदा किया। विष्णुशर्मा ने घड़ा लाकर पिता के चरणों में रख दिया।

अपने चारों पुत्रों की पितृ भक्ति को देखकर पिता अत्यंत प्रसन्न हुए और उनसे बोले—"पुत्रो! मैं तुम्हारी भक्ति और योग शक्ति तथा निष्काम वृत्ति के अत्यंत सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझसे जो चाहो वर माँगलो।"

इसपर चारों भाइयों ने कहा—"पिता जी! आप सर्व समर्थ हैं। आप जो चाहें, सो कर सकते हैं। अतः हम आपसे

यही वर माँगते हैं, कि हमारी माता पुनः जीवित हो जाय।"

माता मरी तो थी ही नहीं। शिवशर्म्मा ने अपने योगबल से उसे अन्तर्हित करा दिया था। अतः वे बोले—"अच्छी बात है, तुम्हारी माता जीवित हो जायगी।" इतना कहना था कि माता जो तुरन्त वहाँ प्रकट हुई। पाँचों पुत्रों ने उनके चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा—"पुत्रों की इसीलिये कामना करते हैं, कि वे माता पिता का नरकों से उद्धार करें। तुमने अमती भक्ति से हमें सन्तुष्ट कर लिया अतः तुम्हारा कल्याण होगा" यह कह कर माता ने पुत्रों को आशीर्वाद दिया। उनका सिर सूँघ कर बहुत प्यार किया।

१२ वर्ष पश्चात् तीर्थयात्रा करके पिता लौटे। उन्होंने योगबल से अपने सम्पूर्ण शरीर में कुष्ट उत्पन्न कर लिया। उसी प्रकार अपनी पत्नी के शरीर में भी वे इस प्रकार कुष्ट रोग से ग्रसित होकर दीन हीन दशा में सोमशर्म्मा के समीप आये। अपने माता को कुष्ठी देखकर भी सोमशर्म्मा ने उनके प्रति तनिक भी अश्रद्धा प्रकट नहीं की। बड़ी भक्ति के साथ उनके चरणों की वन्दना की और कहा—"पिताजी! आप तो परम धर्मात्मा हैं, ऐसा धर्म का आचरण करने वाला तो मैंने कोई देखा नहीं। आपको यह भयंकर रोग कैसे हुआ? मेरी माता तो सती साध्वी स्त्रियों में शिरोमणि हैं यह रोग इनको किस कारण हुआ?

पिता ने कहा—"बेटा ! कर्मों के फल तो सबको भोगने पड़ते हैं। तुम हमारी सेवा करो।"

यह सुनकर सोमशर्म्मा तन मन धन से अपने माता पिता की सेवा में तत्पर हो गये। वे उनके घावों को स्वयं धोते। उनको सुन्दर से सुन्दर भोजन कराते। चरण सेवा करते। सारांश यह कि जितनी सेवा हो सकती है, उतनी वे करते। पिता उन पर कभी कभी कुपित हो जाते, डंडे से मार भी देते, किन्तु वे उनकी एकबात का भी न उत्तर देते न विरोध करते। उनकी मार को सह लेते। एक दिन पिता ने कहा—"पुत्र ! वह जो अमृत का घड़ा रखा है, उसे ले आओ। हम उसे पीकर निरोग हो जायँ।"

यह सुनकर सोमशर्म्मा उस स्थान पर गये जहाँ वह अमृत घट सुरक्षित रखा था। किन्तु उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा उसमें एक बिन्दु भी अमृत नहीं था। पिता ने योग बल से परीक्षार्थ सब अपहरण कर लिया था। तब तो सोमशर्म्मा ने हाथ में जल लेकर प्रतिज्ञा की—'यदि मैंने धर्म पूर्वक हृदय से माता पिता की देववत् पूजा की हो, तो यह घट पुनः अमृत से भर जाय।" देखते देखते घट अमृत से भर गया। सोमशर्म्मा उसे लेकर पिता के पास गये। इस पर पिता परम प्रसन्न हुए। उन्हें वैष्णव मंत्र की दीक्षा देकर वन को चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! ये सोम शर्म्मा ही अंत में जाकर हिरण्यकशिपु के यहाँ पुत्र रूप में प्रह्लाद हुए और युद्ध में विष्णु भगवान् के हाथ से मारे गये।"

यह सुनकर शौनकजी चौंक पड़े और बोले—'सूतजी ! यह तो आप एक से एक विचित्र बातें बता रहे हैं। इतने

धर्मात्मा सोमशर्म्मा असुर योनि में क्यों उत्पन्न हुए और प्रह्लाद जी को युद्ध में भगवान ने क्यों और कब मारा ? प्रह्लाद जी तो जन्म से ही भगवान के भक्त थे। हमारी इस शंका का समाधान कीजिये।

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"मुनियों मैं आपकी शंका का समाधान करूँगा। इसमें एक बड़ा विचित्र रहस्य है यह बड़ी गूढ़ कथा है। आप ध्यान पूर्वक इसे सुनें।

छप्पय

मातु पिता वन जाइ मुनिनिके सब व्रत धारे।
अंत समय तनुत्यागि धाम वैकुंठ सिधारे॥
करै योग, व्रत, नियम सोमशर्म्मा हू सब विधि।
सुख दुख महँ सम रहैं त्यागतैं भये तपोनिधि॥
अन्त समय आयो जबहिँ, असुर शब्द सुनि डरि गये।
दैत्य भाव हिय महँ धँस्यो, हिरनकशिपु के सुत भये॥

प्रह्लादजी का तीसरा जन्म।

(४९६)

अलम्पटः शीलधरो। गुणाकरो
हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता
नदाधिक तापमिवोडुराजः ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १४ अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

नाम धरयो प्रह्लाद मातु के अति ही प्यारे।
देवासुर संग्राम माँहि श्री हरि ने मारे॥
रुदन करै नित जननि तहाँ नारदमुनि आये।
कमला देखी दुखित दया करि बचन सुनाये।
प्रकटे तेरे उदर तैं, तजो सोच सुत जिही तव।
नाम होहि प्रह्लाद ही, नहीं रूप गुन शील सब॥

भगवान् नित्य हैं, उनकी लीला भी नित्य है, लीला के उपकरण भी नित्य हैं। पार्षद नित्य हैं, अवतार नित्य हैं,।

---

* कश्यपजी दिति को वरदान दे रहे हैं कि—तेरे पुत्र का पुत्र विषयों से अलम्पट होगा। वह सुन्दर स्वभाव वाला, सम्पूर्ण गुणों का सागर, दूसरों के सुख में सुखी तथा दुख में दुखी होने वाला और अजात शत्रु होगा। वह ग्रीष्मऋतु के ताप को हरने वाले चन्द्रमा के समान जगत् के शोक को हरने वाला होगा।

अनित्य कुछ नहीं, जो कुछ है सब नित्य है। सब शाश्वत है। गुण प्रवाह अनादि है, श्रीहरि खेल रहे हैं, विहार कर रहे हैं, रास रच रहे हैं। इस रास का कभी अन्त नहीं, अवसान नहीं। इसमें प्राचीनता नहीं। नित्य नूतन सा प्रतीत होता है। श्रीहरि कभी ऊबते नहीं। फिर फिर कर वे ही क्रीड़ायें करते हैं। इसमें कोई बात असम्भव नहीं। असम्भव शब्द ही नहीं सभी संभव है; जो लोग यह भ्रम करते हैं ऐसा कैसे हुआ ? वे भूल करते हैं। अरे हुआ कैसे, जो होना होता है वही होगा। जो हो रहा है, वही होना चाहिये। इसमें ऐसे कैसे का प्रश्न ही नहीं।

शौनकजी ने जब शङ्का की कि शिवशर्म्मा के पञ्चम पुत्र सोम शर्म्मा मरकर असुर योनि में प्रह्लाद क्यों हुए ? श्रीहरि ने उन्हें देवासुर संग्राम में क्यों और कैसे मारा ? तब सूतजी बोले—"मुनियो ! संस्कार ही प्रधान होते हैं। जिन दिनों सोमशर्म्मा के पिता अमृत का घड़ा रखकर तीर्थ यात्रा को चले गये थे, उन दिनों वे निरन्तर यही सोचते रहते थे, किस अमृत के लिये देवताओं और दैत्यों में कैसा घोर संग्राम हुआ था ? भगवान् ने असुरों के साथ कैसा अन्याय किया ? मोहिनी रूप रखकर असुरों को अमृत से वञ्चित कर दिया। ये देवता कैसे स्वार्थी होते हैं। जब इन्हें अपना कोई प्रयोजन सिद्ध करना होता है, तब तो कैसी चिकनी चुपड़ी बातें करते हैं, जहाँ प्रयोजन सिद्ध हुआ कि फिर बात भी नहीं करते। मेरा भाई ही जब स्वर्ग में अमृत लेने गया, तो इन्द्र ने उर्वशी अप्सरा भेजकर उनके कार्य में कितना विघ्न किया ? इस प्रकार की बातें वे अमृत के सम्बन्ध में सोचते रहते थे। मनुष्य के विचार ही उसकी प्रार्थना है। जो जैसा निरन्तर सोचता

रहेगा, वैसा ही हो जायगा। इस लोक में मन से जिस स्थिति को प्राप्त करेगा, पर लोक में उसे वही स्थिति प्राप्त होगी। जो यहाँ निरन्तर पाप ही सोचता रहेगा, वह पाप लोकों में जायगा। पुण्य की बातें सोचेगा स्वर्गादि पुण्य लोकों में जायगा। निरन्तर वैकुंठ भगवान् की पूजा अर्चा की बातें सोचता रहेगा, उनके सुमधुर नामों का कीर्तन करता रहेगा, तो वह वैकुंठ लोक को जायगा। भाव ही भव का कारण है भावानुसार ही स्थिति होती है।

जब शिवशर्म्मा इस लोक को त्याग कर वैकुंठ वासी हो गये, तो उनके पंचम पुत्र सोमशर्म्मा परम पुण्य शालग्राम क्षेत्र में जाकर घोर तपस्या करने लगे। तप करते करते उन्होंने बहुत वर्ष बिता दिये। अब उनके मरण का काल आया दैव योग से उसी समय वहाँ असुरों की सेना आगई। वे निरन्तर देवताओं को मारो, काटो, पकड़लो, जाने मत दो, ऐसे भयंकर क्रोधयुक्त शब्दों को कहते रहते थे। कुछ पूर्वजन्म के संस्कारों की बात समझिये, उनका ज्ञान ध्यान, सब भूल गया। कहावत है "अन्ते या मतिः सा गतिः" अन्त में जिनका स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, उसी को जीव प्राप्त होता है। दैत्यों के भय के कारण उनका प्राण दैत्य भाव को प्राप्त हुआ और उसी अवस्था में उनकी मृत्यु हो गई। इसीलिये हिरण्यकशिपु की पत्नी कमला के उदर से इनका जन्म हुआ। पूर्वजन्म के संस्कार तो कहीं जाते नहीं। इस जन्म में भी व बड़े मातृ पितृ भक्त हुए। पिता माता इनके शील, स्वभाव, सदाचार से सदा सन्तुष्ट रहते थे। कालान्तर में बड़े हो गये। उसी समय पुनः देवासुर संग्राम हुआ। ये असुरों की ओर से देवताओं से लड़ने गये। इन्होंने अपने बल पौरुष से देवताओं के दाँत खट्टे

कर दिये। अन्त में विष्णु भगवान् ने अपने चक्र से इनका सिर काट दिया और ये मृत्यु के वशीभूत हो गये।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पीछे तो आपने बताया है कि प्रह्लादजी बाल्यकाल से ही भगवान् के भक्त थे और कल्पपर्यन्त जीवित रहकर देवता दानवों का आधिपत्य करेंगे। अब आप कहते हैं उन्हें देवासुर संग्राम में भगवान् ने मार दिया, इस बात की संगति कैसे बैठे?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"सुनिये महाराज! मैं इसका भी कारण बताता हूँ। जब प्रह्लादजी भगवान् के हाथ से मारे गये, तो उनकी माता—हिरण्यकशिपु की पत्नी कमला अत्यंत ही दुखित हुईं। वे निरन्तर अपने पुत्र के गुणों को तथा सुन्दर स्वभाव और स्वरूप को स्मरण करके रोती ही रहती थीं। वे प्रह्लाद जी से बड़ा प्रेम करती थीं। एक दिन घूमते घामते देवर्षि नारद जी हिरण्यकशिपु के अन्तःपुर में जा पहुँचे। पुत्र शोक से विह्वल हुई कमला को देखकर उन्हें बड़ी दया आयी और उसे आश्वासन देते हुए बोले—"भद्रे! तुम अपने पुत्र के लिये तनिक भी सोच न करो। वह तुम्हारा पुत्र फिर तुम्हारे ही उदर से अभी पैदा होगा। उसका रूप, रंग, स्वभाव सब वैसा ही होगा, उसका नाम भी प्रह्लाद ही होगा। केवल अब के उसमें असुर भाव तनिक भी न रहेगा। वह परम वैष्णव साधु स्वभाव देवता ब्राह्मणों का भक्त, भगवान् का अनन्य उपासक तथा परम यशस्वी होगा। उससे तुम्हारी बड़ी ख्याति होगी।" इस प्रकार समझा बुझाकर देवर्षि नारद ब्रह्मलोक को चले गये। कालान्तर में प्रह्लादजी ने पुनः कमला के गर्भ से जन्म लिया। अब के ये परम शान्त और देवताओं से भी बढ़कर सात्विक स्वभाव के थे। उनमें वे सब ही गुण विद्यमान थे, जिनका उल्लेख

जी ने किया था। ये ही प्रह्लादजी पीछे इन्द्र हुए।

शौनकजी ने यह सुनकर कहा—"सूतजी! आपके कथन में बहुत सी आपस में विरुद्ध बातें हो जाती हैं। पहिले तो आपने हिरण्यकशिपु की स्त्री का नाम कयाधू कहा था अब उसका नाम कमला बता रहे हैं। पीछे कहा था, ब्रह्मादिक देवों ने तथा शुक्राचार्य आदि मुनियों ने मिल कर प्रह्लादजी को दैत्यों के सिंहासन पर अभिषिक्त किया। फिर आप कहते हैं वे इन्द्र हुए। इन सब परस्पर की विरुद्ध बातों की संगति कैसे लगे?"

इस पर सूतजी गंभीर होकर बोले—"महाराज! यह संसार का गुण प्रवाह अनादि है। इसका न कभी अंत है न आदि। ऐसा ही चलता रहता है। बहुत से कीड़े ऐसे होते हैं, हमारे एक दिन में उनमें कई जन्म हो जाते हैं कई बार मरते और जन्म लेते हैं। हम जिसे ८ प्रहर का छोटा सा एक दिन कहते हैं, उनके लिये वह महाप्रलय के समान समय है। हम ३६५ दिनों के समय को एक वर्ष कहते हैं। पितारों के वे दो पक्ष हैं और देवताओं का एक दिन ही है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग सहस्र बार बीत जाते हैं तो इसी समय १४ इन्द्र, १४ मनु बदल जाते हैं, किन्तु ब्रह्माजी का यह एक ही दिन है। ऐसा दिन जब ३६० बीत जाते हैं तब ब्रह्माजी का एक वर्ष होता है, ऐसे वर्षों से ब्रह्माजी १०० वर्ष पर्यन्त रहते हैं। फिर दूसरे ब्रह्माण्ड की रचना होती है; यह ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है। क्षीरशायी भगवान् की एक स्वाँस में ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है प्रश्वास में ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है। ब्रह्माजी की आयु के १०० वर्ष भगवान् की एक स्वाँस के बराबर है असंख्यों बार सृष्टि हुई है असंख्यों बार होगी। इसकी संख्या नहीं, गणना नहीं। कितनी बार प्रह्लाद हुए, कितनी बार नृसिंह भगवान्

प्रकट हुए। कितनी बार सृष्टि हुई, कितनी बार प्रलय हुई। ये सब अगणित संख्यायें हैं। यही समझना चाहिए कि यह सब भगवान् की माया है, उनके लिये असंभव कोई बात नहीं। महाराज इन सब चरित्रों का तात्पर्य यही है, कि सदा सर्वदा श्रीहरि का चिन्तन करना चाहिये। अपने को भगवान् का यन्त्र समझना चाहिये। भगवान् हमें अपनी क्रीड़ा का चाहे जो उपकरण बना लें। हमें सर्वथा उन्हीं की इच्छा पर निर्भर हो जाना चाहिये। संसार में असत्य कुछ नहीं। जो हो रहा है सब सत्य है, क्योंकि स्वयं श्री हरि सत्य हैं, उनके सब साधन सर्वदा सत्य ही होंगे। उनकी क्रीड़ा में सत्य ही है। शिव के कार्य अशिव कैसे हो सकते हैं? मंगलमय का विधान अमंगल कैसे हो सकता है। अतः मुनियो! भगवान् और भगवत् चरित्रों को नित्य समझ कर उन्हें श्रद्धा पूर्वक श्रवण करना चाहिये। उनमें कहीं परस्पर में विरुद्ध बातें भी आ जायँ, तो उन्हें कल्प भेद समझना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में नृसिंह भगवान् का चरित्र और परम भक्त प्रह्लादजी की भगवद् भक्ति का वृत्त कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

छप्पय

होहिं—भागवत—परम—आसुरी—भाव—न—उनमें।
होवे प्रेम अनन्य सदा श्री हरि चरननि में॥
यों कहि नारद गये बनम प्रह्लाद लयो पुनि।
उदर माँहि शुभ ज्ञान दयो तिनि श्रीनारद मुनि॥
श्री नरहरि को चरित अति, पावन यह मैंने कह्यो।
ऐसे श्री प्रह्लाद ने, जनम असुर कुल महँ लह्यो॥

नृसिंह चरित्र की समाप्ति

(४९७)

एतद् य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलाम्,
दैतेन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत ।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यम्,
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम् ॥*
(श्री भा० ७ स्क० १० अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

जामें भगवत भक्त चरित अति मधुर मनोहर ।
ज्ञान भक्ति वैराग्य ललित लीला अति सुन्दर ॥
नारद बोले धर्मराज ! तुम अति बड़भागी ।
सेवैं जिनकूँ सदा भक्त ज्ञानी वैरागी ॥
रहैं सदा सेवक सरिस, ते हरि तुम्हरे पास नित ।
सम्बन्धी प्रिय सुहृद बनि, रहैं नित्य हित महँ निरत ॥

जीवन का मुख्य फल है भगवान् में अनुराग। भक्तों ने भगवान् में अनुराग करके भगवान् से भी उच्च पदवी प्राप्त की

---

*श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन् ! जो मनुष्य आदि पुरुष पुरुषोत्तम श्री नरहरि की लीलाओं को तथा हिरण्यकशिपु और उसके यूथपों के वध की वार्ता को और हिरण्यकशिपु के पुत्र साधु श्रेष्ठ प्रह्लादजी के पवित्र चरित्र को सुनता है और पढ़ता है, वह उनके प्रभाव को सुनने से निर्भय वैकुंठ धाम को प्राप्त होता है ।

है। इसीलिए भगवान् ने कहा है "मैं भक्तों के अधीन हूँ।" भगवान् अपनी सेवा से उतने सन्तुष्ट नहीं होते, जितने भक्त की सेवा से सन्तुष्ट होते हैं। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए जितने ही उपयोगी भगवत् चरित्र हैं, उतने ही नहीं उनसे भी अधिक उपयोगी हैं भागवत चरित। भक्तों के चरित्र में भगवान् की ही तो कृपालुता भक्त वत्सलता का वर्णन रहता है। अतः सुनने योग्य दो ही चरित्र हैं या तो हरि चरित्र या हरिदासों का चरित्र। दोनों का परस्पर में अन्योन्य सम्बन्ध है। भक्त के बिना भगवान् का चरित्र नहीं और भगवान् के बिना भक्त का चरित्र नहीं। अवतार चरित्रों में भक्त और भगवान् का चरित्र उसी प्रकार गुंफित रहता है, जैसे सूत्र में माला गुंफित रहती है।

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! मैंने यह प्रह्लाद जी का चरित्र आपको सुनाया है। इसमें सर्वप्रथम भक्ति का महत्व है, फिर हिरण्यकशिपु ने जो अपने सम्बन्धियों को ज्ञान दिया है उसका वर्णन है। फिर उसकी घोर तपस्या का, विचित्र वरदानों का, दिग्विजय का और त्रैलोक्य के एक मात्र अधीश्वर होने की कथा है। तदनन्तर महाभागवत प्रह्लाद जी के शील स्वभाव का, उनकी भगवद् भक्ति का, गुरु गृह में जाकर पढ़ने का, पिता के सम्मुख भगवद् गुणानुवाद कथन का, इससे क्रुद्ध होकर हिरण्यकशिपु का उन्हें नाना यातना देने का वर्णन किया है, पुनः गुरुपुत्रों के कहने से गुरुगृह में जाकर पढ़ने का दैत्य बालकों को भगवद् भक्ति का उपदेश देने का, इससे क्रुद्ध होकर पिता को उन्हें बुलाने का वृत्तान्त बताया गया है।

प्रह्लाद जी की भक्ति से खम्भ में से भगवान् के प्रकट होने का, दैत्य के वरों की रक्षा करते हुए उसके पेट को फाड़कर मार डालने का, देवताओं की की हुई स्तुति का, प्रह्लाद जी पर की हुई

नृसिंह भगवान् की अनुकम्पा का, उनकी स्तुति से भगवान् का वर याञ्चा का आग्रह, प्रह्लाद जी द्वारा विद्वेषी पिता की मुक्ति का वरदान माँगना आदि प्रसंगों का वर्णन है। राजन्! प्रह्लाद जी की जैसी भक्ति परम दुर्लभ है। देखिये, भगवान् ने उनके ऊपर कैसे कृपा की?"

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—"प्रभो! महाभागवत प्रह्लादजी ही बड़भागी हैं, जिन पर भगवान् ने ऐसी कृपा की, जिन्हें गोद में बिठाकर प्यार किया।"

यह सुनकर नारदजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! आप प्रह्लादजी की तो सराहना कर रहे हैं, किन्तु अपने सौभाग्य के लिए कुछ नहीं कहते?"

धर्मराज ने मार्मिक वेदना के स्वर में कहा—"अजी, महाराज! अपनी क्या कहूँ, मेरा तो भगवान् के चरणों में चित्त लगता ही नहीं। इन्हीं राज्यपाट, गृह, कोष, सेना आदि की चिन्ता में लगा रहता हूँ।"

नारदजी यह सुनकर हँसते हुए बोले—"अजी, महाराज! संसार में आप से बढ़कर भाग्यशाली और कौन होगा? प्रह्लाद जी को तो भगवान् ने आधे नर और आधे सिंह रूप में अति भयंकर आकृति बनाकर दर्शन दिया, किन्तु आपके पीछे तो वे छैल चिकिनिया बने नव-जलधर के समान आभा वाले सौन्दर्य माधुर्य के साकार स्वरूप में घूमते रहते हैं।

प्रह्लादजी को तो क्षण भर दर्शन देकर अन्तर्हित हो गये। आपके तो वे घर में ही सदा निवास करते हैं। प्रह्लादजी के तो वे स्वामी बनकर ही प्रकट हुए थे आपके तो ये श्रीकृष्ण सुहृद्, सम्बन्धी, मन्त्री, सखा, सारथी, दूत, सेवक, भृत्य, स्वामी तथा सर्वस्व हैं। आपका छोटे से छोटा बड़े से बड़ा

कोई भी कार्य करने में इन्हें संकोच नहीं होता ! आप कहते हैं मुझे घर की चिन्ता है। आपका घर अब घर नहीं रह गया है। यह तो पृथिवीपते ! प्रभु के पादपद्मों के पड़ने से परम पावन तीर्थ बन गया है। नहीं तो इतने त्यागी, विरागी, भगवद् भक्त ऋषि मुनि सदा आपके यहाँ क्यों पड़े रहते। क्यों ये आपके द्वार पर धूनी रमाते रहते। राजन् ! यह प्रभु पादपद्मों का ही प्रभाव है। जिन मुनियों के दर्शनों से मनुष्य अपने को कृतार्थ करते हैं, वे चारों ओर से दौड़ दौड़ कर उसी प्रकार आपके घर में आते रहते हैं जैसे सर्वत्र से दौड़ कर नदियाँ समुद्र में आती रहती हैं। आपका घर मुक्ति का केन्द्र है। आपसे बढ़कर जगत् में भाग्यशाली दूसरा कौन होगा ? जिनको सदा साकार ब्रह्म का साक्षात्कार होता रहता है।"

युधिष्ठिर जी ने पूछा—"भगवन् ! ब्रह्म का तो कोई आकार नहीं। वह तो निर्गुण, निराकार, निर्लेप, निरीह है ?"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! यह सत्य है। ब्रह्म निर्गुण निराकार, निर्लेप तथा निरीह है, फिर भी भक्तों पर कृपा करके वह निर्गुण से सगुण हो जाता है, निराकार से साकार स्वरूप धारण कर लेता है। निर्लेप से भक्तों के कार्यों में लिप्त सा दिखायी देता है। निरीह से नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ सा प्रतीत होता है। हे पृथिवीपते ! ये जो आपके समीप सजे बजे बैठे हैं ये ही तो साकार ब्रह्म हैं। लाखों वर्ष की समाधि लगाकर योगिजन इन्हीं की तो खोज करते रहते हैं। ये परमानंद स्वरूप हैं, उपाधि से रहित हैं, स्वयं साक्षात् परब्रह्म रूप हैं, आप इन्हें अपने मामा वसुदेव का पुत्र समझते हैं, आप जिनका सबसे अधिक आदर करते हैं, अभी आपने सर्वश्रेष्ठ मानकर

इनकी सर्व प्रथम पूजा की है ये ही जगद्गुरु श्रीकृष्ण सब की आत्मा साकार ब्रह्म हैं। अब बताइये, आपसे बढ़कर भाग्यशाली कौन है ?

गद् गद् कंठ से प्रेम भरित हृदय से, डबडबाई आँखों से भगवान् की ओर निहारते हुए धर्मराज बोले—"भगवन्! मैं इन प्रभु के यथार्थ रूप को नहीं जानता हूँ। अज्ञान के कारण मैं इन्हें अपना सुहृद्, सम्बन्धी, पूज्यतम और गुरु ही समझता हूँ।"

यह सुनकर भक्ति भाव से नारदजी ने कहा—"राजन्! आप जो समझते हैं, वे भी ये हैं और उससे अधिक भी हैं। उससे कितने अधिक हैं, इसे मैं स्वयं नहीं जानता। मैं क्या नहीं जानता स्वयं साक्षात् त्रिपुरारी शंकर नहीं जानते, मेरे पिता पद्मयोनि भगवान ब्रह्मा नहीं जानते। हमारी तो बस, राजन्! यही इन विश्वेश्वर के चरण कमलों में प्रार्थना है कि हम जो कुछ इन्द्रिय दमन, मौन, स्वाध्याय, जप, तप करते हैं उनका फल यही हो, कि ये भक्त प्रतिपालक प्रभु हम पर प्रसन्न हों। ये जिनपर प्रसन्न हो जाते हैं उनके सब दुख दूर हो जाते हैं। मयासुर के कारण संसार के सभी प्राणी तथा शंकरजी भी चिंतित थे, इन्होंने ऐसी युक्ति से काम लिया कि भगवान् रुद्र देव की सर्वत्र ख्याति हुई वे त्रिपुरारी, त्रिपुरातंक कहाये।"

धर्मराज ने कहा—"भगवन्! भगवान् सदाशिव शंकर इन प्रभु की कृपासे त्रिपुरारी कैसे कहाये ? इस कथाको मैं सुनना चाहता हूँ, कृपा करके इसे सुनावें।

नारदजी ने कहा—अच्छी बात है राजन! सुनिये मैं इसे सुनाता हूँ।

छप्पय

अज, शिव, ऋषि, मुनि, इन्द्र भेद जिनको नहिं पावैं ॥
नेति नेति कहि जिन्हें वेद चारों डरि गावै ।
जप, तप, जोग, विराग, करैं जिन हित मुनि सब तजि ॥
होवैं खल अति विमल नाम जस तस जिनको भजि ॥
निज कैंकर्य कराइ कें, कृपा करैं करुनायतन ।
दूरि करैं दुख दरस दै, सफल करैं निजजन नयन ॥

त्रिपुर विजय वृत्तान्त।

(४९८)

एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया
विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः
वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरो—
र्लोकान्पुनानान्यपरं वदामि किम् ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० १० अ० ७१ श्लो०)

छप्पय

राजन्! जिन करि त्रिपुर नाश शिव यश विस्तारयो।
त्रिपुरारी शिव भये असुर मायासुर हारयो॥
कनक रजत पुर लोह मयासुर तीनि बनाये।
नभ महँ घूमैं गुप्त दैत्य लखि अति हरषाये॥
डरे देव शिव ढिग गये, पशुपति तान्यो निज धनुष।
हर सर तैं मरि मरि असुर, गिरत तुरत पुर तैं निकस॥

भगवान् के तीन रूप हैं। जब वे सृष्टि करते हैं ब्रह्मा कहलाते हैं, पालन के समय विष्णु और संहार के समय शिव।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कहते हैं—'राजन्! इस प्रकार जगद् गुरु हरि के-जो अपनी माया से स्वयं ही अपने आप मनुष्यों जैसी विडम्बना करते हैं उनके—लोकों को पवित्र करने वाले अनेकों चरित्र ऋषियों द्वारा कहे गये हैं। बताइये, इसके आगे अब मैं आप से क्या कहूँ?

तीनों में कोई भेद नहीं, कोई अन्तर नहीं, छुटाई बड़ाई नहीं। फिर भी प्रभु लीला के लिये पृथक् पृथक् अनेक रूपों से विचित्र विचित्र क्रीड़ायें करते हैं। कभी स्वयं शिवजी को इष्ट मानकर भी उनकी पूजा करते हैं, कहीं स्वयं इष्ट बनकर उनकी पूजा को ग्रहण करते हैं। कभी छल न करने का उपदेश देते हैं, कभी स्वयं छल बल करके शत्रुओं का संहार करते हैं, उन मायावी की विचित्र माया को कौन समझ सकता है? कौन उसका पार पा सकता है? तीनों यद्यपि उनके ही रूप हैं, किन्तु ब्रह्मा रूप तो कार्य व्यस्त है; उन्हें सृष्टि उत्पन्न करने से काम। यह सृष्टि कैसे भी बढ़े यही उन्हें रात्रि दिन चिन्ता बनी रहती है। त्रिपुरारी तो भोले बाबा ही ठहरे। जिसने जो वर मांगा वही दे दिया, जिसने अनुनय विनय की उसी से कह दिया तू इच्छानुसार वह मांगले। न आगा देखना न पीछा। इसका क्या परिणाम होगा, इसकी भी चिन्ता नहीं। औघड़ दानी ही ठहरे। किन्तु ये चतुर्भुज भगवान् बड़े कांइयाँ हैं। ये ऐसी ऐसी तिकड़म भिड़ाते हैं। ऐसी ऐसी अद्भुत माया रचते हैं। इनकी माया अपरम्पार है। इन्हें न कच्छ, मच्छ, सूअर, सिंह बनने में संकोच न कड़े-छड़े पहिनकर घूँघट वाली बहू बनने में लज्जा, जब जैसा समय देखते हैं तब तैसे बन जाते हैं। कहीं धर्म रूप से साँड़ बन जाते हैं तो कहीं गौरूप धारण कर लेते हैं। बहु रूपिया कृष्ण ही जिनके ऊपर कृपा करें उनके माया का बंधन कैसे रह सकता है। जब मायापति का ही आश्रय ले लिया तो फिर यह बनी ठनी सैन चलाने वाली माया भक्तों का क्या बिगाड़ सकती है।

धर्मराज युधिष्ठिर ने पूछा कि मयासुर किस कारण से विश्वनाथ भोले बाबा के सुयश को नष्ट करना चाहता था और इन कंसहारी कृष्ण ने कैसे उनकी कमनीय कीर्ति को दिग्दिगान्तों

में व्याप्त किया। तो इसपर नारद जी कहने लगे—"राजन्! सुनिये, मैं आपको इस मनोहर कथा को सुनाता हूँ। आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

महाराज! आप जानते ही हैं, इन देवताओं में और असुरों में स्वाभाविक वैर भाव है। बृहस्पति जैसे विज्ञानी ज्ञानी ध्यानी जिनके गुरु हैं वे देवता भी जब वैर को न छोड़ सके, तो इससे यही प्रतीत होता है, कि स्वभाव दुस्त्यज है। भगवान् ने भी बहुत समझाया लड़ाई भिड़ाई ठीक नहीं, किन्तु करें क्या भगवान् ही तो सब को लड़वाते हैं। कभी देवताओं का पक्ष लेकर असुरों को हरा देते हैं कभी असुरों में बल देकर सुरों को परास्त करा देते हैं। दोनों में बल देने वाले ये ही मायापति हैं। हाँ, तो एक बार देवताओं में और असुरों में बड़ा भारी घमासान युद्ध हुआ। दैत्य बड़े साहस और उत्साह के साथ देवताओं से लड़े किन्तु काल उनके अनुकूल नहीं था, वे देवताओं से परास्त हुए। युद्ध में हार कर वे पीठ दिखाकर युद्ध से भाग गये। विजय श्री ने देवताओं को वरण किया। युद्ध में परास्त हुए दैत्यों को बड़ा दुःख हुआ। वे देवताओं को हराने के उपाय सोचने लगे। उन्हीं दिनों मय नामक असुर ने भगवान् की आराधना करके अनेक प्रकार की माया रचने का वरदान प्राप्त किया था। माया रचने में वह अत्यन्त ही प्रवीण था। सभी मुख्य मुख्य असुर मिलकर मयासुर के समीप पहुँचे।

प्रधान प्रधान दैत्यों को अपने समीप आये देखकर मयासुर ने उन सबका स्वागत सत्कार किया और नम्रता के साथ कहने लगा—"सम्माननीय असुरो! आप धन में, पद में, प्रतिष्ठा में सबसे ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, आपने इस दीन पर कैसे कृपा की? मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो बताइये।"

असुरों ने 'कहा आप शिल्पविद्या में विश्व कर्मा से भी बढ़कर हैं। माया में तो आपके सदृश कोई दूसरा है ही नहीं किन्तु आपकी माया से हम लोगों को क्या लाभ ? जिस विद्या से कुल परिवार वालों का ज्ञाति बन्धुओं का, उत्कर्ष न हो उससे क्या लाभ ?"

मयासुर ने कहा—"असुरो ! आप लोग मुझे आज्ञा दें क्या बात है ? अपनी असुविधा की बात मुझे बताइये।

यह सुनकर असुरों ने कहा—"देखिये ! ये देवता हमें सदा पराजित करते रहते हैं। कोई ऐसी युक्ति निकालो, कि हमतो इनके ऊपर प्रहार करें, किन्तु ये हम पर प्रहार न कर सकें।"

यह सुनकर मयासुर ने कहा—"असुरो ! आप निश्चिन्त हो जायँ, मेरे रहते आप पर कोई भी प्रहार नहीं कर सकता न आप-को पराजित ही कर सकता है।"

नारद जी कहते हैं—"राजन् ! यह कहकर मायावियों में श्रेष्ठ मयासुर ने तीन अद्भुत पुर बनाये। उनमें से एक सुवर्ण का पुर था। दूसरा चाँदी का और तीसरा लोहे का। तीनों ही सुन्दर और सुदृढ़ बने हुए थे। तीनों में ही युद्धोपयोगी समस्त अस्त्र शस्त्र आदि उपकरण रखे हुए थे। वे तीनों पुर आकाश में उड़ते रहते थे किसी को दिखाई नहीं देते थे। उनका गमनागमन गुप्त होता था उनमें छिपे हुए असुर सेनापति इन्द्र, वरुण, यम कुबेर आदि लोकपालों की पुरियों में जाकर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करके भाग आते। देवताओं को दिखाई दें तब तो उनका सामना करें। इस माया की गुप्त लड़ाई से देवता अत्यन्त दुखी हुए।

सबने मिलकर एक सभा की। उसमें इसी प्रस्ताव पर बहुत

काल तक वाद विवाद होता रहा, कि ऐसे अवसर पर क्या करना चाहिये ? किसी ने कहा—"ब्रह्माजी के पास चलना चाहिये।

इस पर कुबेरजी ने कहा—"देखो, भाई ! ब्रह्माजी के लिये तो जैसे ही देवता वैसे ही असुर। हम दोनों ही उनके पौत्र हैं, वे युद्ध भी नहीं करते। हमारी तो सम्मति है, सब मिलकर देवाधिदेव महादेव के समीप चलें। वे देवताओं का पक्ष लेते हैं, मेरे ऊपर उनकी बड़ी कृपा है। अयोग्य होने पर भी मुझे वे अपना मित्र मानते हैं।"

यह बात सभी ने सहर्ष स्वीकार की और सब मिलकर कैलाशपति भगवान् भवानीनाथ के समीप कैलाश में गये। भगवान् शम्भु वट वृक्ष के नीचे बैठे सनकादि सिद्धों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे रहे थे। देवताओं ने जाकर भगवान् शंकर की विधिवत् पूजा करके उनकी स्तुति की। शंकरजी ने प्रसन्न होकर पूछा—"अरे, लोकपालो ! आज तुम किस कारण मेरे पास आये हो ? तुम लोग इतने भयभीत क्यों हो ? किस अभिप्राय से तुम मेरी ऐसी लम्बी चौड़ी स्तुति कर रहे हो। अपने दुःख का कारण मुझे बताओ। मेरे समीप आने से अपने दुःख का अन्त ही समझो।"

शिवजी के ऐसे आश्वासन पूर्ण वचन सुनकर देवता अत्यंत प्रसन्न हुए और बोले—"प्रभो ! आप हमारे स्वामी हैं, रक्षक हैं भयत्राता हैं। आपके सहारे ही हम सदा असुरों को परास्त करते रहे हैं। किन्तु दीनानाथ ! अबके असुरोंने बड़ी माया रची है। अबके न जाने कहाँ से छिपे छिपे वे आकाश मार्ग से बाणों की वर्षा करते हैं। उनके अस्त्र शस्त्र तो हमें क्षति पहुँचाते हैं, किन्तु हम उन्हें देख न सकने के कारण प्रहार ही नहीं कर सकते,

इससे हमारी बड़ी हानि हो रही है, इस संकट से हमें किसी प्रकार बचाइये।"

देवताओं के ऐसे दीन वचन सुनकर दीन दयाल श्री शिवजी उन्हें निर्भय करते हुए बोले—"देवताओ ! डरने का कोई काम नहीं। मैं मयासुर के बनाये उन तीनों पुरों का नाश कर दूँगा। तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो।"

यह कहकर कामारि श्री कैलाशनाथ ने अपना दिव्य धनुष उठाया और बाणों को पाशुपतास्त्र से अभिमंत्रित करके ज्यों ही मय के रचे त्रिपुरों के उद्देश से उन्हें आकाश में छोड़ा, त्यों ही वे उसी प्रकार एक से अनेक हो गये जिस प्रकार एक सूर्य से अनेक किरणें निकलने लगती हैं। उन बाणों का जहाँ उन पुरों में रहने वाले असुरों के शरीर से स्पर्श हुआ, तहाँ वे पके फल के समान निष्प्राण होकर धड़ाम धड़ाम पृथिवी पर गिरने लगे।"

मयासुर ने देखा, शिवजी ने तो मेरी सभी माया व्यर्थ कर दी। वह भी बड़ा बुद्धिमान था। उसने पहिले ही एक पुर में अमृत का कूप बना रखा था। जो दैत्य मरता उसे उठाकर अमृत के कूप में डालता जाता। ज्योंही अमृत से उनका स्पर्श होता, त्योंही वे सबके सब जीवित हो उठते। इस प्रकार उसमें रहने वाले असुरों का अन्त ही नहीं होता था। शिवजी ने एक बार देखा, दो बार देखा। वे चक्कर में पड़ गये। अभी तो ये असुर मरकर गिर गये थे, अभी अभी ये फिर कैसे जीवित हो गये ? फिर सोचा, संभव है एक सी आकृति होने से मुझे भ्रम हो गया हो। फिर सहस्रों को मारकर गिराया। दूसरे ही क्षण वे उस सिद्ध अमृत के संस्पर्श से वज्र के समान सुदृढ़ शरीर वाले तथा अत्यंत तेजस्वी होकर सम्मुख खड़े हैं। वे आकाश में इसी प्रकार चमचमाते हुए दिखाई देते थे

जैसे मेघ माला के बीच से बिजली। शिवजी ने समझ लिया यह तो कुछ दाल में काला है। ध्यान लगाकर जो उन्होंने देखा, तो समझ गये, अरे! यह तो अमृत कूप का फल है। अब शिव जी क्या करें। उन्हें बड़ी चिन्ता हुई, देवता भी आपस में काना फूँसी करने लगे। कोई कहता—"शिवजी तो कभी भी पराजित नहीं हुए थे। इन असुरों की माया से ये भी भ्रम संकल्प से दिखाई देते हैं। शिव जी मारे संकोच के कुछ कहते नहीं थे। निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहे थे, किन्तु उनके बाण लक्ष भेदन करने पर भी व्यर्थ से हो रहे थे। अब तो शिवजी ने मन ही मन मायामहेश्वर भगवान् वासुदेव का स्मरण किया। हरिस्मृति तो सर्वविपद् विमोचणी होती ही है। भगवान् ने तुरन्त ब्रह्मा जी को बुलाया और उनसे बोले—"ब्रह्माजी! मैं तो गौ बनूँगा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अजी, महाराज! गौ क्यों बनते हो, यह आपके अनुरूप नहीं। गौ वेष तो अबला पृथिवी धारण करती है। यदि बनना ही है तो साँड़ बनो।"

भगवान् ने कहा—"नहीं भैया, हमारे तो सभी अनुरूप हैं। जो रूप हम धारण करलें वही उचित है। स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी सभी हमारे ही रूप हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"जैसे महाराज! आपकी इच्छा। फिर मेरे लिये क्या आज्ञा है।"

भगवान् ने कहा—"तुम बछड़ा बन जाओ। ब्रह्माजीने हँसकर कहा—"महाराज! मैं तो आपका बछड़ा हूँ ही। चाहे जिसका बछड़ा बना लो।"

भगवान् ने शीघ्रता के साथ कहा—"अच्छी बात है, देखो अब शीघ्रता करो। शिवजी बड़े घबड़ा रहे हैं उनका चित्त बड़ा

उद्विग्न हो रहा है।" यह कहकर भगवान् बड़ी सुन्दर गौ बन

गये। ब्रह्माजी को तो बछड़ा बनना ही था। अपनी माया से

वे तुरन्त मयासुर के उस पुर में पहुँच गये जहाँ अमृत का बड़ा भारी कूप के समान सर था। दैत्यों ने देखा, यह इतनी सुन्दर गौ कहाँ से आगई। गौ बड़ी प्यासी दिखाई देती थी। वह अपनी मन्द मन्द मन्थर गति से अमृत कुंड की ओर जा रही थी, उसका बछड़ा भी किलोल करता हुआ उसके पीछे पीछे दौड़ रहा था। जाकर गौ ने अमृत के कुंड में मुँह डाल दिया। छिपकर नहीं, सबके देखते देखते अमृत पीने लगे। पानी पीती हुई गौ को रोकना यह बड़ा अधर्म है। भगवान् की माया से मोहित होने के कारण असुर श्री हरि का यथार्थ रूप तो समझ नहीं सके। सबने कहा—"पी लेने दो प्यासी गौ है।" परन्तु उन्हें पता नहीं था, यह साधारण प्यासी गऊ न थी। जो घूँट मारा और चुसकी के साथ अमृत पान आरम्भ किया, सो सबको चढ़ा गई। एक बूँद भी अमृत उसमें शेष न रहा। इतने में ही मयासुर आगया और बोला—"अरे, तुम लोगों ने यह क्या किया ?"

रक्षक असुरों ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो ! प्यासी गौ थी, हमने समझा इसे निवारण करना उचित नहीं। थोड़ा अमृत पी ही लेगी तो क्या हो जायगा।"

हँसकर मयासुर ने कहा—"यह साधारण गौ नहीं है। अमृत कुंड की तो बात ही क्या यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को पी जाती है। सबको अपने उदर में रख लेती है।

दुखी हुए दैत्यों ने कहा—"अजी, हम तो ठगे गये, अब क्या करें। यह तो बहुत ही बुरा हुआ।

सुख दुख में सम रहने वाला महायोगी मय हँसकर बोला—"अजी, काहे का दुख, कैसा सुख, भगवान् के विधान को अन्यथा करने की सामर्थ्य किसमें है ? वे प्रभु जो करना चाहते

हैं वही होता है। जीव अपने बचाव के अनेकों उपाय करता है, विविध भाँति से सुरक्षित और अजर होना चाहता है। किन्तु जीव का विधान सफल नहीं होता। भगवान् जो करना चाहते हैं, वही होता है। उनके विधान को अन्यथा करने की समर्थ्य किसमें है?

इस पर दैत्यों ने कहा "आप तो बड़े मायावी हैं, अपनी माया से और भी ऐसे अनेकों अमृत कूप बना सकते हैं, दूसरा कोई उत्तम उपाय कर सकते हैं। आप इस विधान को व्यर्थ बनाकर इससे उत्तम और कोई सुरक्षित पुरों का निर्माण कर सकते हैं।"

मयने कहा "असुरो! तुम जो कुछ कह रहे हो सब सत्य है, किन्तु ये हरि मुझसे भी माया में श्रेष्ठ हैं। ये तो माया के स्वामी ही हैं, मैं तो उस माया समुद्र में से इतनी सी ही माया जानता हूँ जैसे एकार्णव समुद्र में से एक नन्हीं सी बूँद। अपने लिये दूसरों के किये अथवा दोनों के लिये विधाता ने जैसे विधान बना दिया है, उसे व्यर्थ बनाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है, किसी अन्य असुर में नहीं है, देवताओं में नहीं है, ब्रह्माजी में नहीं है, फिर यक्ष गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि इनके बनाये जीवों की तो बात क्या है।"

श्री नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कह कर दैवगति को ही प्रधान मानकर मयासुर ने शोक नहीं किया। वह भगवान् के विधान को समझ कर उदासीन हो गया। अब तो असुर निरुपाय हो गये। फिर भी वे भागे नहीं। वे सब शिवजी से युद्ध करने की घनघोर तैयारियाँ करने लगे।

छप्पय

मरे असुर जे तिन्हें वेगि मायासुर लावे।
अमृत कुन्ड महँ डारि सबनि कूँ तुरत जिवावे॥
त्रिपुरारी मय सिद्धि निरखि अतिशय घबराये।
मायापति की शरन शम्भु मन ही मन आये॥
कामधेनु श्री हरि बने, विधि बनाइ बछरा लये।
अमृत कुन्ड के जाइ दिँग, पान अमृत सब करि गये॥

शिवजी द्वारा त्रिपुर दाह

(४९९)

धर्मज्ञान विरक्त्यृद्धि तपोविद्याक्रियादिभिः,
रथं सूतं ध्वजं वाहन्धनुर्वर्म शरादियत् ।
सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे,
शरंधनुषि संधाय मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० १० अ० ६६, ६७, श्लो०)

छप्पय

फिरि हरि हर ढिँग आइ धरम रथ दिव्य बनायो ।
ज्ञान सारथी करयो धनुष पत तीव्र सुहायो ॥
ध्वजा विरक्ति बनाय अश्व ऐश्वर्य लगायो ।
धारयो विद्या कवच क्रिया के बाण चढ़ाये ॥
अस रथ पर चढ़ि सदाशिव, प्रभु सुमिरत आगे बढ़े ।
बाण धनुष पै धारि कैं, त्रिपुर निवासिनि तैं भिड़े ॥
मन ही मयासुर है । सत्व, रज, तम ही त्रिपुर हैं, दुर्गुण ही

❀ श्री नारदजी धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन् ! भगवान् ने शिवजी के निमित्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, विद्या और क्रिया आदि शक्तियों से रथ, सारथी, ध्वजा, अश्व, कवच और बाण आदि की रचना की । उस दिव्य रथ में बैठ कर तत्पर होकर, हाथ में धनुष-बाण लेकर तथा उस धनुष पर बाण चढ़ाकर अभिजित मुहूर्त में उन तीनों दुर्भेद्य पुरों को जला दिया ।"

दैत्य हैं, सद्गुण ही सुर हैं। दुर्गुण जब तीनों गुणों के प्रभाव से विशेषकर रज और तम के आवेश में सत् गुणों को दबाते हैं, तब विवेक रूप शिव की शरण में जाते हैं; जिससे वे वैराग्य रूप धनुष को लेकर विजय करना चाहते हैं। किन्तु त्याग रूप हरि के बिना वैराग्य अकेला क्या कर सकता है। त्याग के द्वारा तृष्णा रूपी सुधा के सर को सोखा जा सकता है। तृष्णा ही ऐसी है, जो वासनाओं को पुनः पुनः जीवित करती रहती है। वासना क्षय हो जाने पर तृष्णा के नाश होने पर वैराग्य रूप धनुष में ज्ञान रूप बाण चढ़ाकर लक्ष्य भेदन करे तो तीनों पुरों का दाह हो जाता है, जीव त्रिगुणातीत होकर शिव स्वरूप हो जाता है। यही त्रिपुर दाह का आध्यात्मिक अर्थ है। यथार्थ अमृतत्व की प्राप्ति त्याग के ही द्वारा संभव है।

धर्मराज युधिष्ठिर से नारदजी कह रहे हैं—"राजन्! जब मयासुर के रचित अमृत कुन्ड को श्री हरि पान कर गये, तब वे शिवजी के समीप आये और आकर बोले—"हे देवाधिदेव, महादेव! अब आप दिव्य रथ निर्माण करके असुरों को जीत लें। अब आपकी विजय निश्चित है।"

भगवान के ऐसे वाक्य सुनकर शिवजी ने उनका अभिनन्दन किया और धर्म का एक रथ बनाया। जिसमें ज्ञान को सारथी के स्थान पर बिठाया। वैराग्य की सुन्दर सुहावनी ध्वजा लगाई। ऐश्वर्य के अश्व जोड़े। तप को ही धनुष बनाया विद्यारूप कवच को धारण करके क्रियारूप बाण को धनुष पर चढ़ाया। इस प्रकार युद्ध की सामग्री से सुसज्जित होकर वे त्रिपुर विनाश के निमित्त चले। यह तो शिवजी के आध्यात्मिक रथ का वर्णन है। कहीं कहीं ऐसा वर्णन है कि इस ससागरा समस्त वसुन्धरा को ही रथ बनाया। सूर्य और चन्द्रमा को रथ

के पहिये। नागराज भगवान् शेष को रथ की धुरी बनाया। इलापत्र और पुष्पदन्त इन दोनों नागों को जूए के अन्त का बन्धन और मलयाचल को रथ का जूआ बनाया। तक्षक को तीन लकड़ियों वाले जूए को बाँधने की रस्सी, गन्ध मादन और विन्ध्याचल को रथ के दोनों ओर की छोटी ध्वजायें तथा समस्त प्राणियों को रथ की रासें बनाईं। ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चारों वेद ही उस रथ के चार घोड़े थे। उपनिषद् उन घोड़ों की लगाम थीं। ओंकार को तीव्र चाबुक बनाया और गायत्री सावित्री को डोरी। ब्रह्माजी से कहा—"आप इस रथ को हाँकिये। सीदे सादे ब्रह्माजी उस ससागर वसुधा रूप दिव्य रथ को सारथी के स्थान पर बैठकर हाँकने लगे। शिवजी उस रथ मे विराजमान हो गये। मन्दराचल को गांडीव धनुष बनाया, वासुकी नाग को धनुष की ज्यो-डोरी के स्थान में लपेटा। स्वयं साक्षात् विष्णु को बाण बनाया। अग्नि को बाण के आगे का फलक तथा वायु के दोनों पंख बनाये। यम को बाण की पुच्छ विद्युत् को बाण की धार और मेरु को रथ की ध्वजा के स्थान में लगाया। ऐसे दिव्य और असाधारण रथ पर चढ़ कर शिवजी त्रिपुर विनाश के लिये चले।

उन तीनों पुरों को ब्रह्मा जी का वरदान था कि वे तीनों पृथक् पृथक् नाश नहीं हो सकते। वे आकाश में पृथक् पृथक् घूमा करते थे। हजार वर्ष में एक बार वे मिलते थे, फिर पृथक् हो जाते थे। इसीलिये शिवजी अपने दिव्य रथ में बैठकर हजार वर्ष तक तपस्या करते रहे। जब वे तीनों आपस में मिले तो उसी मुहूर्त में शिवजी ने अपने दिव्य बाणों से उन विचित्र पुरों को जलाकर भस्म कर दिया जो अजेय कहलाते थे, उन्हें जीत

लिया, जो दुर्भेद्य बताये जाते थे, उनका भेदन किया। जो दुराधर्ष कहलाते थे उनका धर्षन किया।"

नारद जी कहते हैं—"राजन! उन विचित्र दुर्धर्षपुरों को जीतने के कारण ही शिव जी के त्रिपुरान्तक, त्रिपुरारि, त्रिपुरविनाशक आदि नाम पड़े। उनके इस अद्भुत कर्म को देखकर समस्त देवता, पितर, ऋषि, मुनि, यक्ष, गन्धर्व गुह्यक, किन्नर किंपुरुष तथा सिद्ध गण आदि अत्यन्त प्रसन्न हुए। हर्ष के कारण सभी जय जय, नमो नमः, साधु साधु आदि करने लगे। देवाङ्गनायें नन्दन कानन के कमनीय पुष्पों की वर्षा करने लगीं, अप्सरायें नाचने लगीं और गन्धर्व गण गाने लगे। इस प्रकार भगवान् की कृपा से ही शिव जी की कीर्ति संसार में अक्षय हो गयी। उसे भगवान् ने अपने भक्त प्रह्लाद को भी दुखी देखकर, उसके वचनों को सत्य करने के निमित्त खम्भ में से अवतार लिया, भक्त के दुखों को दूर किया और देवताओं को अपने दर्शनों से कृतार्थ किया।"

इस प्रकार राजन्! यह मैंने अत्यंत संक्षेप में प्रह्लाद जी का चरित्र सुनाया, अब आप मुझसे और क्या पूछना चाहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारद और धर्मराज के सम्वाद को सुनकर महाराज परीक्षित् अत्यंत ही हर्षित हुए। फिर उन्होंने ब्रह्मपुत्र नारद जी से और भी अनेक प्रश्न पूछे।"

इस पर शौनक जी ने कहा—'सूतजी! हम इस धर्मराज नारद सम्वाद को सुनकर अत्यंत ही हर्षित हुए। महाभाग! जहाँ साक्षात् धर्म की मूर्ति युधिष्ठिर पूछने वाले हों और भगवान् के अवतार-भूत, भविष्य, वर्तमान की सब बातें जानने वाले

नारद जी उत्तर देने वाले हों, उस सम्वाद के सम्बन्ध में कुछ कहना तो व्यर्थ ही है। अब हम यह जानना चाहते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर ने प्रह्लाद जी के पावन चरित्र श्रवण करने के अनन्तर देवर्षि भगवान नारद जी से क्या क्या प्रश्न किये और नारदजी ने उनका क्या क्या उत्तर दिया ? इस बात को हमें और सुनाइये। इस सम्वाद को सुनते सुनते तो हमारी तृप्ति ही नहीं होती।

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! आप धन्य हैं, जो कथा श्रवण से ऊबते नहीं। प्रत्युत प्रतिक्षण नवीन उत्साह के साथ श्रवण करने को व्यग्र बने रहते हैं। अब जो धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर नारद जी ने उपदेश दिया था, उसका अत्यन्त ही संक्षेप में आपको मैं दिग्दर्शन कराऊँगा, उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कीन्हौं त्रिपुर विनाश भये त्रिपुरारी शङ्कर।
ऋषि, मुनि, सुर, गन्धर्व कहैं जयशङ्कर शिवहर॥
सबको यश विस्तार करैं ये ही श्री नरहरि।
करे पूज्य प्रह्लाद हिरनकशिपू को वध करि॥
नारद जी के वचन सुनि, धर्मराज प्रमुदित भये।
पुनि वर्णाश्रम धर्म कूँ, मुनिवर तैं पूछत भये॥

धर्मराज नारद सम्वाद की समाप्ति

(५००)

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः,
पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ।
कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः,
श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥❀

(श्री भा० ७ स्क० १५ अ० ७८, ७९ श्लो०)

छप्पय -

चारि वरन के धर्म देवऋषि पृथक् बताये ।
कौन कौन कस कर्म करे कहि सब समुझाये ॥
पुनि नारिनि के धर्म कहे सुनि सहमी शारद ।
ब्रह्मचर्य व्रत गृही धर्म भाखै सब नारद ॥
वानप्रस्थ सन्यास के, पृथक् पृथक् लक्षण कहे ।
धर्मराज नारद निकट, यदुनन्दन बैठे रहे ॥

सनातन वैदिक धर्म को वर्णाश्रम धर्म भी कहते हैं, क्योंकि

❀ श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! भरतवंश में श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर नारदजी के द्वारा कहे गये इस संवाद को सुनकर प्रेम में अत्यन्त विह्वल होकर उन्होंने श्री कृष्ण भगवान् की तथा नारदजी की पूजा की । फिर धर्मराज से तथा कृष्ण भगवान् से अनुमति लेकर तथा उनके द्वारा पूजित होकर नारदजी इच्छानुसार चले गये । धर्मराज श्री कृष्ण भगवान् को "साक्षात् परब्रह्म हैं" ऐसा सुनकर परम विस्मित हुए ।"

वैदिक धर्म की भित्ति वर्णाश्रम धर्म पर ही अवलम्बित है। जहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं वहाँ आर्य धर्म नहीं। वह तो म्लेच्छ, अनार्य धर्म है। यद्यपि गुणकर्म स्वाभावानुसार चातुर्वर्ण की सृष्टि स्वयं श्रीहरि ने ही की है, इसीलिये यह अनादि है। फिर भी घोर सत्व में—आदि सत्ययुग में—तथा घोर तम में कलियुग के अंत में—वर्णाश्रम धर्म प्रायः नहीं रहता। घोर सत्व में तो सभी धर्म परायण सत्यवादी और दम्भ ईर्ष्या से रहित होते हैं, अतः वहाँ वर्णाश्रम धर्म की आवश्यकता ही नहीं और घोर कलिकाल आ जाने पर सबकी बुद्धि तमोगुण से व्याप्त हो जाती है। उस समय वे तमोगुण की प्रधानता वाले मूढ़ लोग अधर्म को ही धर्म मानने लगते हैं। वर्णाश्रम धर्म को ही उन्नति में बाधक समझते हैं। वर्ण भेद को ही वे अवनति का मूल कारण समझकर उसके विनाश की चेष्टा करते हैं। सत्वगुण का प्रकाश न रहने से सबकी बुद्धि तमोगुण से आवृत हो जाती है। इसीलिये वर्णाश्रम धर्म छिन्न भिन्न हो जाता है। शेष सभी युगों में वर्णाश्रम धर्म की प्रधानता रहती है, इसीलिये हमारे यहाँ वर्णाश्रम धर्म श्रवण करने का अनन्त महात्म्य है। नित्य नित्य वर्णाश्रम धर्म को श्रवण करना चाहिए। हमारे यहाँ कोई ऐसी कथा नहीं, वार्ता नहीं, शास्त्र नहीं, पुराण नहीं जिनमें वर्णाश्रम धर्म का वर्णन न हो। कोई भी कथा, कोई भी वार्ता तब तक पूर्ण नहीं मानी जाती, जब तक उसमें वर्णाश्रम धर्म की चर्चा न हो।

महाराज परीक्षित् श्री शुकदेव जी से पूछते हैं—"भगवन्! धर्मराज युधिष्ठिर ने प्रह्लाद चरित्र सुनने के अनन्तर आपके पिता भगवान् व्यास के गुरु श्री नारद जी से और क्या क्या प्रश्न किये। कृपा करके उन्हें आप मुझे और सुनावें।"

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन ! जब नृसिंह भगवान् का चरित्र समाप्त हो गया तब धर्मराज ने नारद जी से पूछा "प्रभो ! मैं सनातन वैदिक वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था सुनना चाहता हूँ। किस वर्ण का किस आश्रम का क्या क्या धर्म है, इसे आप मुझे बतावें।"

नारद जी ने कहा—"राजन ! तुम हम से ही यह सब क्यों पूछना चाहते हो ?"

इस पर धर्मराज बोले—"महाराज ! और कौन इस विषय को भलीभाँति जान सकता है। सब धर्मों के प्रवर्तक लोक पितामह ब्रह्मा जी ही हैं, आप उनके मानसिक पुत्र हैं। साधारण पुत्र ही नहीं तपस्या, योग तथा समाधि की उत्तमता के कारण उनके सर्वश्रेष्ठ पुत्र हैं। आपका सभी श्रेणी के लोग समानभाव से आदर सत्कार करते हैं। आप भगवद्भक्त हैं, प्रभुपरायण हैं, दयालु हैं, सदाचारी हैं, बाल ब्रह्मचारी हैं, शांत स्वभाव और गुह्यज्ञान के ज्ञाता हैं, वर्णाश्रम धर्म के रहस्य को जितना आप जानते हैं, उतना दूसरा कोई नहीं जान सकता।"

इस पर नारद जी ने कहा—"अच्छी बात है, राजन ! मैं आपको स्वयं साक्षात् भगवान् के मुख से सुने हुए वर्णाश्रम धर्म के रहस्य को बताता हूँ।

इस पर धर्मराज ने कहा—"महाराज ! आपने भगवान् के मुख से कहाँ सुना था यह धर्म ?"

धर्मराज के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नारदजी बोले—"राजन ! धर्म की १३ पत्नियों में से एक मूर्ति देवी भी हैं, उन्हीं से भगवान् ने नर नारायण का अवतार धारण किया। वे दोनों बदरिकाश्रम में जाकर घोर तपस्या में निरत रहते हैं। उन्हीं के चरणों में बैठकर मैंने वर्णाश्रम धर्म सुना था,

उसे ही उन नर नारायण भगवान् को नमस्कार करके मैं इन धर्मों को सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कह कर भगवान् नारद मुनि ने सबसे पहिले तो मनुष्यमात्र के धर्म बताये। किसी वर्ण, किसी जाति, किसी देश, किसी धर्म, किसी भी सम्प्रदाय का मनुष्य क्यों न हो, उन सबको इन ३० लक्षण वाले धर्म का पालन करना चाहिये, वे ३० ये हैं :—१—सत्य बोलना २—प्राणिमात्र पर दया रखना ३—यथाशक्ति तप करते रहना ४—पवित्रता से वर्ताव करना ५—सहन शीलता रखना ६—युक्तायुक्त का विचार करते रहना। ७—मानसिक शान्ति बनाये रखना, ८—इन्द्रियों का दमन करना ९—किसी भी प्राणी की यथासाध्य हिंसा न करना १०—ब्रह्मचर्य व्रत का यथा स्थिति में पालन करना ११—त्याग की भावना बनाये रहना १२—सबके साथ सरलता का व्यवहार रखना १४—सन्तोष धारण करते रहना १५—समदर्शी भगवद्भक्त महात्माओं की यथाशक्ति सेवा करते रहना १६—अभ्यास द्वारा सांसारिक भोगों की चेष्टा से निवृत्त होना १७—मनुष्यकृत प्रयत्नों का प्रायः विपरीत ही फल देखने में आता है इसका विचार करते रहना। १८—अपनी वाणी पर संयम रखना १९—आत्म-चिन्तन करते रहना २०—यथाशक्ति प्राणियों को अन्न का विभाजन करके भोजन करना २१—समस्त प्राणियों में प्रभु को देखना, नहीं तो मनुष्य मात्र को तो उन्हीं प्रभु का पुत्र मान कर भ्रातृ भाव का वर्ताव करना २२—भगवान् के गुणों का श्रवण करना २३—उनके नाम और यश का कीर्तन करना २४—भगवान् के रूप का स्मरण करना २५—भगवत् सेवा में सदा तत्पर रहना, २६—प्रभु पूजा में प्रेम रखना २७—

भगवान् को, भगवत् भक्तों को नम्रता पूर्वक नमस्कार कर २८—अपने को भगवान् का दास समझना २९—भगव को अपना सखा, सुहृद् समझना ३०—और अपने आप भगवान् के समर्पित कर देना। इन तीस प्रकार के नियम का आचार मनुष्य मात्र के लिये कल्याणप्रद है। इनके पाल करने से सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। ब्रह्मच गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम हैं। अध्ययन अध्यापन, दान लेना, दान देना, यज्ञ करना और यज्ञ करन ये ६ कर्म ब्राह्मण के हैं। क्षत्रिय के अध्ययन, दान देना, यज्ञ करना और प्रजा का पुत्रवत् पालन करना और उससे दण्ड कर आदि लेकर वृत्ति चलाना ये ही धर्म कहे गये हैं। वैश्यों के लिये अध्ययन, दान देना, यज्ञ करना, ब्राह्मण क्षत्रिय के अनुकूल वर्ताव करना, कृषि गोरक्षा और वाणिज्य द्वारा वृत्ति चलाना यही परम धर्म है। शूद्रों के द्विजों की श्रद्धा पूर्वक सेवा करना यही परम धर्म है। उन्हें अपने स्वामियों से आजीविका मिलनी चाहिये।

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया भगवत् परायणता और सत्याचरण ये ही ब्राह्मणों के लक्षण हैं। ब्राह्मणों में ये गुण स्वभाव से होते हैं। शूरवीरता, पुरुषा धैर्य, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मणों के प्रति भक्ति भाव, अनुग्रह और प्रजा की रक्षा करना ये क्षत्रियों के लक्षण हैं देवता, गुरु तथा भगवान् में भक्ति रखना। धर्म अर्थ औ काम की पुष्टि करना आस्तिकता, नित्य ही व्यापार आदि उद्योग करते रहना। व्यवहार के कुशलता ये वैश्यों के लक्षण हैं उच्च वर्णों के प्रति विनम्र रहना, पवित्रता, निष्कपट भाव

स्वामी की सेवा, पौराणिक मन्त्रों से यज्ञादि करना, सत्य बोलना चोरी न करना, अपने पुरुषार्थ से गौ ब्राह्मणों की रक्षा करते रहना ये शूद्रों के धर्म हैं। पति की सदा सेवा में तत्पर रहना, उनके प्रति सदा आदर भाव रखकर प्रेम का वर्ताव रखना किसी से द्वेष भाव, लड़ाई, झगड़ा न करना यही स्त्रियों के प्रधान धर्म हैं। उनका मुख्य धर्म है पतिप्राणा होना। शूद्रेतर लोगों के वे ही धर्म हैं जो वंश परम्परा से चले आ रहे हों। चोरी हिंसा को छोड़कर। यह नहीं कि हमारे पिता चोरी करते हैं, वध करते थे तो हम भी करें। ये यदि पैतृक कार्य हों भी तो इन्हें छोड़ देना चाहिये। पिता आदि नाटकों में स्त्री आदि बनते हों, तो ऐसे पैतृक धंधे को छोड़ने में कोई दोष नहीं। इसके अतिरिक्त जो भी पैतृक कार्य हो उन्हें करते ही रहना परम धर्म है।

ये तो संक्षेप में वर्णधर्म हुए अब आश्रमों के भी धर्म सुनें। ब्रह्मचारी के मुख्य धर्म हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करना, अग्नि और देवों, गुरु की सेवा करना तथा अध्ययन में निरन्तर निरत रहना। गृहस्थ का धर्म है, बाँट कर खाना, देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण इन तीनों ऋणों से उऋण होना, सन्ध्या, तर्पण, अग्निहोत्र, पंच महायज्ञों को करना। याचक को यथा शक्ति अन्न देना। यथा शक्ति देवता पितरों के निमित्त यज्ञ करते रहना। वाणप्रस्थ का मुख्य धर्म है, घोर तपस्या में निरत रहना, वन में रह कर कन्द, मूल, फलों पर निर्वाह करना, शरीर को सुखाते रहना, जाड़े में गीले कपड़े पहिन कर गरमी में पंचाग्नि तापकर, वर्षा में सम्पूर्ण वर्षा को सिर पर ही बिताना, इस प्रकार की तपस्या में लगे रहना। अग्निहोत्र को न छोड़ना। जब वृद्धावस्था आ जाय ज्ञान हो जाय तो फिर सन्यास का धारण कर लेना। प्राणिमात्र को अपने से अभय कर देना किसी

का भी संग्रह न करना, निरन्तर ध्यान में निमग्न रहना। जगत् के सुखों को सर्वदा मिथ्या समझते रहना। किसी से वाद विवाद न करना, किसी के पक्ष को लेकर वितंडा बातें न करना ये ही सन्यासी के प्रधान लक्षण हैं। अवधूत को न दुःख होता है न शोक। वह निर्द्वंद, निर्मल होकर जगत् में बालवत् विचरता रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! भगवान् नारदजी ने तो इस विषय को बहुत विस्तार के सहित बताया था, किन्तु मैंने उसका केवल अत्यंत संक्षेप में सारांश मात्र कह दिया है। यहाँ कथा प्रसङ्ग में इसका विस्तार करने लगूँ तो कथा का प्रवाह ही रुक जायगा। अतः यहाँ तो मैंने केवल दिग्दर्शन मात्र ही करा दिया है। प्रभु इच्छा हुई तो अन्य प्रसंग में इसका मैं विस्तार के साथ वर्णन करूँगा। सो, मुनियो! इस प्रकार देवर्षि भगवान् नारदजी ने धर्मराज युधिष्ठिर के सब प्रश्नों का उत्तर दिया। तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर ने बड़ी भक्ति भाव से नारदजी की पूजा की। पास में ही बैठे हुए देवकी नन्दन की भी उन्होंने फिर से पूजा की। इस प्रकार नारदजी धर्मराज से भली भाँति सत्कृत हुए। अब उन्होंने अपनी स्वरब्रह्म विभूषिता वीणा उठाई। भगवान् को प्रणाम किया और राम कृष्ण हरि की रट लगाते हुए वहाँ से सबके देखते ही देखते आकाश मार्ग से ब्रह्म लोक को चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह धर्मराज-नारद सम्वाद परम पवित्र है, यश और कीर्ति को बढ़ाने वाला है। जो इसे श्रद्धा पूर्वक सुनेंगे, पढ़ेंगे, उनके मनोवांछित फल अवश्य प्राप्त होंगे। इस लोक में सुख शांति पूर्वक सभी सुखों को भोगेंगे। मरने पर सद्गति को प्राप्त होंगे। मुनियो! यह मैंने आपसे

धर्मराज नारद सम्वाद कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

छप्पय

यह प्रसङ्ग अति धन्य पुण्यप्रद परम सुहावन।
धर्म वृद्धि नित करै मोक्षप्रद अतिशय पावन॥
भक्ति सहित नर नारि जाइ जे सुनैं सुनावैं।
जग बन्धन तैं छूटि मोक्ष की पदवी पावैं॥
धर्मराज प्रति देवऋषि, कह्यो सुखद सम्वाद अति।
श्रवन मनन तैं अवसिही, हरि चरननि महँ होहि रति॥

मन्वन्तरावतारों की कथा

(५०१)

स्वायम्भुवस्येह गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः,
यत्र विश्वसृजां सर्गो मनून्यानूवदस्व नः ।
यत्र यत्र हरेर्जन्म कर्माणि च महीयसः,
गृणन्ति कवयो ब्रह्मंस्तानिनो वद शृण्वताम् ॥❀
(श्री भा० ८ स्क० १ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

कहैं परीक्षित् प्रभो प्रथम मनुवंश सुनायो।
मनुपुत्रिनि पति भये प्रजापति सर्ग बढ़ायो ॥
अन्य मनुनि को वंश कृपाकरि और सुनावें।
भये कौन अवतार कर्म गुन नाम गिनावें ॥
शुक बोले--जा कल्प महँ, छै मनु बीते आठ अरु।
होंगे, प्रकटैं हरि सबनि, महँ भूपति सब श्रवन करु ॥
सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, ये सब चारों सहस्र

❀ राजा परीक्षित् श्री शुकदेवजी से पूछते हैं– "हे गुरुदेव ! आप के मुख से स्वयंभुव मनु के वंश का वर्णन तो विस्तार के साथ सुना जिसमें प्रजापतियों की परम्परा थी। अब मुझे आप अन्य मनुओं का वृत्तान्त सुनावें। ब्रह्मन् ! मैं तो अवतार चरित्र सुनने का इच्छुक हूँ अतः महामहिम श्री हरि जहाँ जहाँ जैसे जन्म लिये हैं, जैसे कर्म किये हैं, जिनका कि कविगण कथन किया करते हैं उन सबको मुझे सुनाइये।"

सहस्र बार बीत जाते हैं, तब ब्रह्मा बाबा का एक दिन होता है इतनी ही बड़ी इनकी रात्रि दिन बीत जाने पर ब्रह्माजी तीनों लोकों को अपने में लीन करके भगवान् के उदर में सो जाते हैं। निशा का अवसान होने पर फिर धंधे में लग जाते हैं फिर से सृष्टि करने लगते हैं। जैसे व्यापारी रात्रि में दुकान के सब सामान को भीतर रखकर ताला बंद करके सो जाता है। प्रातः होते ही फिर उस पसारे को पसारता है, इसी प्रकार ब्रह्मा जी दिन के अंत में भू-भुव और स्वः इन तीनों लोकों को अपने में छिपा लेते हैं मह, जन, तप और सत्य ये चार लोक बने रहते हैं। महर्लोक की बस्ती खाली हो जाती है, वहाँ के निवासी जन लोक में चले जाते हैं। इसी का नाम है कल्पप्रलय। महाप्रलय में अर्थात् ब्रह्मा जी की १०० वर्ष की आयु पूर्ण होने पर जो प्रलय होती है, उसे महाप्रलय कहते हैं। उस समय कोई भी लोक नहीं रहता। ब्रह्मलोक तक समस्त लोक वैकुन्ठनाथ में लीन हो जाते हैं। एक कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं। ७१ चौकड़ी से कुछ अधिक चौकड़ी का एक मन्वन्तर होता है। उस मन्वन्तर के एक अधिपति मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि देवगण इन्द्र और एक उस मन्वन्तर का अवतार होता है। इस कल्प में सबसे पहिला मन्वन्तर स्वायम्भुव मन्वन्तर हुआ। जिसमें मन्वन्तरावतार भगवान् यज्ञ पुरुष हुए। कपिल नर नारायण आदि और भी अवतार हुए। इस प्रकार यह निमेष, पल घटका, मुहुर्त, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, दिव्य वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प, महा कल्प की शृंखला बंधी ही रहती है। एक के पश्चात् दूसरे आते जाते रहते हैं। यह प्रवाह अनादि है और अनंतकाल तक ऐसा ही चलता रहेगा। इसका आदि नहीं, अंत नहीं ओर नहीं, छोर नहीं। इस इतने बड़े काल में

मनुष्यों के दिनों से मनुष्यों के १०० वर्ष अनन्त सागर में एक बिन्दु के सदृश्य भी तो नहीं हैं, जिसके अभिमान में यह प्राणी फूला नहीं समाता। मैं यह कर दूँगा, वह कर दूँगा, अरे भैया! तू क्या कर देगा, यह प्रवाह तो सनातन है, तू अवतार चरित्रों का श्रवण कर! इसी में तेरा कल्याण है! ये भौतिक पदार्थ तो सदा से ऐसे ही हैं, ऐसे ही रहेंगे। डांड़ से नौका चलाली या लोहे की बड़ी बनाकर वाष्प से भगा ली। हल से खेती करली या विविध यन्त्र बनाकर विद्युत् से करली। इनमें कोई अंतर नहीं। मनुष्य जीवन की सफलता तो भगवत् चरित्रों के श्रवण में है, भक्त और भगवान के चरणों में प्रीति रखने में है, वही श्रवणीय है, वही मनन करने योग्य है। और सब तो जग का जंजाल है। यह सब तो संसार का चकर है, जन्ममरण देने वाला है, अधिकाधिक संसार में फँसाने का व्यापार है।

धर्मराज नारद सम्वाद को समाप्त करके जब सूतजी ने नैमिषारण्य के मुनियों से पूछा कि 'आप अब और क्या सुनना चाहते हैं, इसे सुनकर शौनक जी बोले—"सूत जी! आपने तो इस प्रसंग को ऐसे स्थान पर समाप्त किया कि इसमें अब आगे कथा प्रसंग कैसे चले? महाराज! हम तो अवतार चरित के रसिक हैं। हमें तो आप भगवान् के अवतारों का चरित्र सुनायें या उनके अनन्य उपासक भक्तों का चरित्र सुनावें अन्य बातों के सुनने की हमारी इच्छा नहीं। हाँ, तो आप यह बताइये, कि इतनी कथा सुनाकर गंगा तट पर अन्न जल छोड़े हुए महाराज परिक्षित् ने शुकदेव जी से क्या प्रश्न किया। उनका प्रश्न तो प्रसंगानुसार ही होगा। इस कथा को चालू रखने को इसी सम्बन्ध का उन्होंने प्रश्न किया होगा, उसे ही

सुनावें।"

यह सुनकर सूत जी हँस पड़े और बोले—"महाराज! आप सर्वज्ञ हैं। आप तप के प्रभाव से भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कालों की बात जान लेते हैं। जो आप मुझसे पूछ रहे हैं, उसीसे मिलता जुलता प्रश्न भरतवंशावतंस महाराज परीक्षित् ने अवधूत चक्रचूडामणि मेरे गुरु देव व्यासनन्दन भगवान् शुक से पूछा था। उसी प्रश्न के उत्तर में आपके प्रश्न का उत्तर आ जायगा।

इतनी कथा सुनकर महाराज परीक्षित् ने शुकदेव जी से पूछा—"प्रभो! अब तक आपने स्वायम्भुव मन्वन्तर में होने वाले मनु की सन्तानों का, उनके पुत्र, पौत्र और दौहित्रों के वंश का वर्णन किया। जिन्होंने इस समस्त सृष्टि को जीवों से भर दिया। ब्रह्मन्! आपने कहा था एक कल्प में १४ मनु होते हैं। अब तक तो आपने एक ही मनु के वंश का वर्णन किया। अब इस कल्प के शेष १३ मनुओं के वंश का वर्णन और करें।"

महाराज के इस प्रश्न को सुनकर श्रीशुकदेवजी खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"राजन्! एक ही मनु के वंश को सुनाते सुनाते तो आज चौथा दिन हो गया। श्रीमद्भागवत् के ७ स्कन्ध समाप्त हो गये। अब तीन ही दिन तो आपकी अवधि में शेष हैं। बारह स्कन्धों में चार स्कन्ध शेष हैं। यदि विस्तार से शेष १३ मनुओं के वंश का वर्णन करूँ तब तो यह कथा वर्षों में भी समाप्त न होगी। आपने तो एक साथ इतना लम्बा चौड़ा प्रश्न कर दिया, कि फिर इसमें आगे प्रश्न करने का अवसर ही नहीं। एक के पश्चात् दूसरे, दूसरे के पश्चात् तीसरे, इस प्रकार इन मनुओं के वंश का वर्णन करता रहूँ।"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ महाराज परीक्षित् बोले—

"नहीं, नहीं भगवन्! यह मेरा अभिप्राय नहीं है, कि आप इनके एक एक वंशज का बखान करें, पूरे वंश की पीढ़ियों का वर्णन करें। मुझे तो इन मन्वन्तरों में भगवान् के जो अवतार हुए हैं, मन्वन्तरावतार धारण करके प्रभु ने जो जो चरित्र किए हैं, उन्हें ही संक्षेप में सुनावें। इस कल्प में कितने मनु होंगे उनमें से कितने हो चुके हैं? कौन मन्वन्तर अब चल रहा है आगे कितने मन्वन्तर शेष हैं, यह बताकर इनमें जो विशेष चरित्र हों उन्हें ही कहीं संक्षेप से कहीं विस्तार से सुनावें।

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन्! इसी कल्प में क्यों सभी कल्पों में १४ मन्वन्तर होते हैं। इस कल्प (ब्रह्माजी के दिन) के ६ मन्वन्तर तो बीत चुके हैं, साँतवाँ चल रहा है। सात और आने वाले हैं। जो मनु बीत चुके हैं, उनके नाम स्वायंभुव, स्वरोचिष, प्रियव्रत, तामस, रैवत और चक्षुष हैं। इस समय जो वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है यह सातवाँ मन्वन्तर है इस के अधिपति विवस्वान के पुत्र श्राद्धदेव हैं। इस प्रकार ये सात मन्वन्तर हो गये। अब आगामी जो सात मनु होंगे उनके नाम सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि धर्मसावर्णि होंगे। ये क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे इस प्रकार सभी अपने मन्वन्तर पर्यन्त शासन करेंगे। इन प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान् के एक एक अवतार होंगे।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—सूतजी! हमें भगवान् के अवतारों का ही चरित्र सुनावें।"

इसपर सूतजी बोले—"भगवन्! प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान् ६ रूप रखकर रहते हैं, इन ६ का ही चरित्र भगवत् चरित के अन्तर्गत है। मनु, मनुपुत्र, इन्द्र, देवगण, सप्तर्षि और मन्वन्तरावतार। भगवान् क्रीड़ा के लिये अपने ये ६ रूप बना

लेते हैं प्रत्येक मन्वन्तर में अवतार लेकर भगवान् कोई न कोई विशिष्ट कार्य करते हैं।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सबसे पहिले स्वायम्भुव मन्वन्तर में भगवान का कौन कौन सा मन्वन्तरावतार हुआ और उसने कौनसा विशिष्ट कार्य किया इसे आप हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवन्! यह तो मैं पीछे बता ही चुका हूँ, कि प्रथम मन्वन्तर के अधिपति स्वायम्भुव मनु थे। उनकी शतरूपा नाम की रानी थी, जिनसे आकूति, देवहूति और प्रसूति ये तीन कन्यायें और प्रियव्रत, उत्तानपाद ये दो पुत्र हुये थे। भगवती देवहूति के गर्भ से भगवान् से प्रथम युगावतार भगवान् कपिल हुये, जिन्होंने संसार में ज्ञान का उपदेश दिया। उनका चरित्र तो मैं पहिले सुना ही चुका हूँ। भगवती आकूति के गर्भ से भगवान् का मन्वन्तरावतार हुआ ये भगवान् संसार में धर्म का प्रचार करने के निमित्त 'यज्ञ' नाम से प्रसिद्ध हुये। इन यज्ञ भगवान् ने स्वायम्भुव मनु की और उस मन्वन्तर के इन्द्र बनकर, इन्द्र पद का पालन कैसे किया जाता है, इसकी शिक्षा दी।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्वायम्भुवमनु को असुर राक्षसों ने क्यों कष्ट दिया और यज्ञ भगवान् ने उनकी किस प्रकार रक्षा की इस प्रसंग को आप हमें विस्तार के साथ सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज, विस्तार से तो नहीं सुना सकता, क्योंकि अभी मुझे बहुत कथा कहनी है। हाँ, संक्षेप में सुनाता हूँ, आप सावधानी के साथ सुनिये।"

भगवन्! जब भगवान् स्वायम्भुव मनु अपनी पुत्रियों, पौत्रों का विवाह कर चुके और संसारी विषय भोगों की ओर

से उनकी अरुचि हो गई, तो अपना राज्यपाट पुत्र को सौंपकर वैराग्य को धारण करके, सम्पूर्ण भोगों से विरक्त हो कर, अपनी पत्नी शतरूपा के साथ तपस्या करने वन को चले गये।

वहाँ जाकर वे गुह्य मन्त्रोपनिषदसार का निरन्तर जप करते रहे। वे जो मन्त्र जपते थे उसका सार यह था "जिससे यह समस्त विश्व ब्रह्माण्ड व्याप्त है, जिसकी सत्ता से सभी प्राणी चैतन्य हैं, किन्तु जिसे किसी की चेतनता की अपेक्षा नहीं है। इस विश्व के शयन करने पर भी जो साक्षि रूप से सर्वदा जाग्रत ही बना रहता है। जो जगत् को जानता है, जगत् जिसे जानता नहीं। जो भी कुछ दृश्य, श्रुत है सब उन्हीं के द्वारा व्याप्त है। इसीलिये वे सर्व व्यापक विभु और ब्रह्म हैं। जगत् में जो कुछ है सब ईश से ढका है इसलिये भक्ति भाव से भोग करना चाहिये सब कुछ उन्हें समर्पित करके, प्रसाद रूप से ग्रहण करना चाहिये। कभी भी किसी के धन में आसक्त न होना चाहिए। वह ब्रह्म, चक्षु, कर्ण, श्रोत आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन बाह्य इन्द्रियों द्वारा उनका ज्ञान असम्भव है, किन्तु वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है। उसका ज्ञान कभी क्षीण नहीं होता। उसी सबके अन्तःकरण में निवास करने वाले, सब प्रकार की आसक्तियों से रहित, उन परात्परप्रभु का ध्यान करना चाहिये।

जिन प्रभु का न आदि है, न मध्य तथा न अंत, न कोई अपना है न पराया, जो न बाहर है न भीतर अर्थात् सर्वत्र है। जो आदि, मध्य, अन्त, कर्ता, धर्ता, हर्ता सब वे ही हैं। यह दृश्य प्रपञ्च एक मात्र उन्हीं से उत्पन्न हुआ है। उनका स्वरूप सत्य है,

चैतन्य है, अनन्त है। वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं, बृहद् होने से ब्रह्म कहाते हैं।

यह विश्व ही उनका प्रत्यक्ष स्थूल शरीर है। उनके अनन्त नाम हैं, ईश्वर, सत्यरूप, स्वयंप्रकाश, अजन्मा तथा पुराण-पुरुष ये प्रसिद्ध नाम हैं। तीनों शक्तियों का वही एक मात्र स्वामी है। अपनी मायाशक्ति से इस विश्व ब्रह्माण्ड की रचना करके उसी के द्वारा पालन करता कराता है। वही अपनी नित्यसिद्ध ज्ञान शक्ति से इन सबको त्याग कर सर्वथा, निरीह बन जाता है। यद्यपि कर्म बन्धन के कारण हैं तथापि नैष्कर्म की सिद्धि के लिये भी तो साधन रूप कर्म करने ही पड़ते हैं। उसी के द्वारा सकाम कर्मों के स्थान में निष्काम कर्म करने की चेष्टा करते हैं; क्योंकि निष्काम भाव से किया हुआ कर्म ही मोक्ष प्राप्त करा सकने में समर्थ हो सकता है। यदि कर्म करने मात्र से ही बन्धन होता हो, तो भगवान् नाना अवतारों को धारण करके विविध कर्म क्यों करते? वे सर्वान्तर्यामी प्रभु कर्म करते हैं, आत्म लाभ से पूर्ण काम होने के कारण उन कर्मों में आसक्त नहीं होते। निरासक्त होकर कर्म करते हैं। इसी प्रकार जो तदीय हैं, प्रपन्न हैं, भगवत्शरणापन्न हैं, वे भी निष्काम कर्म करते हुए उन कर्मों के फलों में आसक्त नहीं होते। जो प्रभु सबको शिक्षा देते हैं, जो स्वयं निष्काम कर्म का आचरण करते हुए अपने सनातन मार्ग पर स्थित रहते हैं। जो ज्ञान स्वरूप होने के कारण अहंकार से रहित हैं, जो पूर्ण काम होने से निष्काम हैं जो किसी दूसरे की प्रेरणा से कार्य नहीं करते, जो सम्पूर्ण धर्मों की प्रवृत्ति कराने वाले हैं, उन परात्परप्रभु परमेश्वर की मैं शरण लेता हूँ।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार स्वायंभुव मनु ध्यान में तन्मय हुए एकाग्र चित्त से इस मन्त्रोपनिषद् का निरन्तर जप करते रहे। जप करते करते उन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही। उसी समय वहाँ बहुत से असुर राक्षस आ गये। वे बुभुक्षा से पीड़ित थे। भूख में वे सब मिलकर मनु जी को खाने दौड़े। वे तो ध्यान में मग्न थे। सर्वान्तर्यामी प्रभु ने जो यज्ञ रूप धारण करके मनु पुत्री आकूति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, तुरन्त वहाँ अपने याम नामक पुत्रों के साथ आये। उन्होंने आकर यक्ष राक्षसों से घनघोर युद्ध किया। अन्त में यक्षराक्षसों की हार हुई। भगवान् ने उन सबको मार भगाया। भगवान् के इस प्रभाव को देखकर देव गण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। तब सब देवताओं ने मिलकर भगवान् से देवेन्द्र बनने की प्रार्थना की। देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् स्वर्ग के इन्द्रासन पर विराजमान हुए। उनके याम नामक जितने सब पुत्र थे उस मन्वन्तर में देवताओं के गण हुए। इस प्रकार उस मन्वन्तर का भगवान् ने इन्द्र बनकर पालन किया। यह मैंने प्रथम, मन्वन्तरावतार की कथा कही।"

स्वायम्भुव मनु के मन्वन्तर के बीत जाने पर दूसरे मन्वन्तर में अग्नि के पुत्र स्वारोचिष दूसरे मनु हुए। उनके द्युमान्, सुषेण तथा रोचिष्मान् आदि मनुपुत्र हुए। उस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम था रोचन, तुषित नामक देवगण हुए और उर्जस्तम्भ आदि सात मुनियों ने सप्तर्षि का पद ग्रहण किया। जैसे प्रथम मन्वन्तर में मन्वन्तरावतार और इन्द्र के दोनों ही पदों को भगवान् ने सुशोभित किया वैसे इस मन्वन्तर में नहीं हुआ। इसमें रोचन इन्द्र पृथक् हुए और वेदशिरा नामक

मुनि की तुषिता नाम वाली पत्नी से भगवान् ने अवतार ग्रहण किया।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ये स्वारोचिष मनु पूर्व जन्म में कौन थे, किस पुण्य प्रभाव से उन्हें यह त्रैलोक्य वन्दित पद प्राप्त हुआ? कृपा करके इनकी कथा यदि आप उचित समझें तो हमें सुना दें।"

यह सुनकर सूत जी बोले—"भगवन्! इन द्वितीय मनु की कथा बड़ी ही सरस, मनोरञ्जक तथा शिक्षाप्रद है, उसे मैं आप को सुनाता हूँ आप दत्तचित्त होकर इसे श्रवण करें।"

काशी क्षेत्र में भगवती भागीरथी में आकर पुण्यतोया वरुणा नदी मिली है। वरुणा नदी बड़ी पवित्र है, इसी नदी के तट पर प्राचीन काल में अरुणास्पद नामक एक सुन्दर नगर था। उसमें एक बड़े ही सदाचारी कर्मकाण्डी ब्राह्मण रहते थे। वे ब्राह्मण कुमार इतने सुन्दर थे, कि दूर दूर से लोग उनको देखने के लिये आते थे। स्वर्ग में जैसे अश्विनी कुमार सबसे सुन्दर माने जाते हैं, उसी प्रकार मर्त्य लोक में वे ब्राह्मणकुमार सुन्दर थे। जैसे वे शरीर से सुन्दर थे वैसा ही उनका अन्तःकरण भी स्वच्छ, निर्मल और पवित्रता पूर्ण था। उन्हें आगत अतिथियों के स्वागत सत्कार में, उनकी सेवा करने में बड़ा आनन्द आता था। इससे उनका चारों ओर नाम हो गया था। जो भी अतिथि आश्रम के लिये स्थान पूछता, सब निःसंकोच इन ब्राह्मणकुमार के समीप भेज देते और ये भी उसका भलीभाँति आदर सत्कार करते, ठहरने को स्थान देते भोजन के लिये सामग्री देते और भी वे जो इच्छा प्रकट करते यथासाध्य उसकी पूर्ति करते। इससे उनका यश भी चारों

ओर फैल गया और सब लोग उनका आदर भी अत्यधिक करने लगे। ब्राह्मण कुछ प्रकृति प्रेमी भी थे, वे एकान्त में जा कर घंटों पेड़ पत्तों को देखते रहते। सोचते—"इन इतने सुन्दर पुष्पों को किसने बनाया, इतने फलवान् वृक्षों की उत्पत्ति कैसे हुई? यह पृथिवी कितनी बड़ी है, इस पृथिवी पर कितने देश हैं? लोग हिमालय की बड़ी प्रशंसा करते हैं, हिमालय पर्वत कैसा होगा?" इस प्रकार वे पृथिवी के वन, उपवन, नद, नदी तथा पर्वतों को देखने के लिये सदा समुत्सुक बने रहते थे।"

एक दिन उनके यहाँ एक दूसरे वेदज्ञ ब्राह्मण आकर अतिथि हुए। ब्राह्मण कुमार ने उनका बहुत आदर सत्कार किया। श्रद्धा सहित भोजन कराया, ठहरने के लिये स्थान दिया। जब सत्संग के लिये दोनों बैठे, तो आगन्तुक ब्राह्मण अनेक देशों की बातें करने लगे। वह देश ऐसा है, उसका ऐसा सदाचार है, वहाँ की स्त्रियाँ ऐसी हैं। हिमालय पर्वत की छटा अपूर्व है, उस पर सिद्ध, गन्धर्व विचरण करते हैं, अप्सरायें वहाँ विहार करती हैं।"

इन सब बातों को सुनकर ब्राह्मणकुमार को बड़ा कुतूहल हुआ, उन्होंने उन आगन्तुक ब्राह्मण से पूछा—"ब्रह्मन्! मुझे एक शंका है, उसका आप निवारण करें। आपकी बातों से तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों आपने देश विदेश सभी स्थानों में भ्रमण किया हो, समुद्र पार के भी देशों में आप गये हों। सभी पर्वत प्रान्तों का आपने अवलोकन किया हो।"

ब्राह्मण ने कहा—"हाँ, द्विजवर! आपका अनुमान सत्य है, पृथिवी पर कोई भी ऐसा देश शेष नहीं है जो मैंने देखा न हो।"

तब ब्राह्मणकुमार ने कहा—"मुझे शंका इसी बात की है, कि आप न तो अभी बूढ़े ही हुए और न यात्रा जनित श्रम ही आपके शरीर से प्रतीत होता है, फिर आप इतनी लम्बी लम्बी यात्रायें कैसे कर सके ?"

ब्राह्मण बोला—"हे द्विजवर ! मुझे पैदल नहीं चलना पड़ता। मुझे बहुत सी औषधियों का ज्ञान है। मेरे पास एक ऐसी औषधि है, जिसका पैरों में लेप कर लेते हैं जिस दिशा को जाना हुआ उस दिशा को अभिमंत्रित कर लेते हैं, फिर उस औषधि के प्रभाव से मैं आधे दिन में चार हजार कोश चला जाता हूँ।"

यह सुनकर ब्राह्मणकुमार को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—"ब्रह्मन् ! हिमालय देखने को मेरी बड़ी इच्छा है, यदि आप मेरे ऊपर भी कृपा करें, तो मैं भी अपनी इच्छा पूर्ण कर सकूँ।"

यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा—"अच्छी बात है, मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा।"

इस बात से ब्राह्मण कुमार को बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रातःकाल वे सन्ध्या अग्निहोत्र करके हिमालय की यात्रा के लिये तैयार हुए। उन्होंने सोचा—"जब आधे दिन में चार हजार कोश जा सकता हूँ, तो सायंकाल लौट कर यहीं आकर सन्ध्या अग्निहोत्र करूँगा। इसीलिये साथ में अग्निहोत्र आदि की कोई वस्तु नहीं ली।"

ब्राह्मण ने उनके पैरों में एक लेप लगा दिया, उत्तर दिशा को अभिमन्त्रित कर दिया, अब वे इच्छानुसार उत्तर दिशा की ओर उड़ने लगे। जहाँ संकल्प करते उतर जाते, फिर उड़ने लगते। इस प्रकार मार्ग के नगर, उद्यान, नदी नद तथा विशिष्ट

स्थानों को देखते हुए वे ब्राह्मण कुमार हिमालय पर जा पहुँचे। वहाँ की शोभा देखकर वे चकित रह गये। एक पर्वत शिखर से दूसरे पर्वत शिखर पर उड़कर पहुँच जाते। वे हिमालय की शोभा देखकर आत्म विस्मृत से बन गये। बरफ से ढके स्वच्छ, शुभ्र निर्मल चाँदी के समान चमकते हुए पर्वतों को देखकर उनका चित्त भरता ही नहीं था। हिमालय की उपत्यिकाओं की अद्भुत शोभा, वहाँ के विचित्र पुष्पों की मन मोहक गन्ध, शान्त एकान्त स्थान, ये सभी वस्तुएँ विप्र के मन में एक अनिवर्चनीय आनन्द का संचार करने लगीं। ब्राह्मण अपने आपे को भूलकर पैदल ही उस हिमावृत्त प्रदेश में विचरण करने लगा। बरफ पर पैदल चलने से औषधि का लेप धुल गया, ब्राह्मण को इसका पता ही न चला जब वह इधर उधर घूमते घूमते थक गया और भगवान् भुवनभास्कर भी जब अस्ताचल की ओर प्रस्थान करने के लिये प्रस्तुत हुए, तब उसे अग्निहोत्र और सन्ध्या की स्मृति आई। अब उन्होंने पुनः उड़ कर घर जाने का संकल्प किया, किन्तु अब क्या होता था, औषधि तो बरफ के जल से धुल गई थी। उसका प्रभाव नष्ट हो चुका था, ब्राह्मण ने घर लौटने में अपने को असमर्थ पाया। अब तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे इस अवसर पर मुझे कोई सन्त मिल जाते, तो मेरे धर्म का लोप न होता। सन्ध्या अग्निहोत्र करना मेरा परम धर्म है। मैं सब कुछ छोड़ सकता हूँ, किन्तु धर्म को छोड़ना मेरे लिये कठिन है। धर्म संकट में पड़े हुए पुरुषों को सन्त ही उबार सकते हैं।" यह सोचकर वे संत की खोज में इधर-उधर फिरने लगे। उन्हें कोई सन्त तो मिला नहीं एक सन्तिनी मिल गई।

उस वन्य प्रदेश में वरूथिनी नाम की अप्सरा इधर उधर

घूमती हुई प्रकृति पर्यवेक्षण कर रही थी। यौवन के मद में मदमाती हुई वह अप्सरा अपने सौंदर्य के आलोक से दशों दिशाओं को आलोकित करती हुई मुग्धा हरिणी की भाँति फिर रही थी। वह स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्राओं में गिनी जाती थी। उसका सौंदर्य अनवद्य था। उसने अभी तक किसी पुरुष से प्रेम नहीं किया था। सहसा उसकी दृष्टि इन विपत्ति में पड़े ब्राह्मणकुमार के ऊपर पड़ गई। एकान्त में इनके अनवद्य सौंदर्य को देखकर अप्सरा इनके रूप पर आसक्त हो गई। कामी पुरुष कितना भी सुन्दर क्यों न हो काम की वासना से निरन्तर असत् के चिंतन से, उसका सौंदर्य मलिन पड़ जाता है, उसमें आकर्षण नहीं रहता। किन्तु जो सदाचारी है, संयमी है वह चाहे उतना सुन्दर न भी हो, किन्तु संयम सदाचार के ओज तेज के कारण उसका सौंदर्य निखर जाता है। उसमें एक प्रकार के अद्भुत आकर्षण का समावेश हो जाता है। जिसकी दृष्टि उस पर पड़ती है, वही उसे देखकर प्यार करने लगता है। वह वरूथिनी प्रेम की प्यासी थी, अभी तक उसका हृदयमंदिर प्रेम प्रतिमा के बिना सूना था। उसने उसमें अभी तक कोई प्रतिमा स्थापित नहीं की थी। मन्दिर के अनुरूप कोई प्रतिमा उसे दिखाई ही न दी। सहसा अनाहूत भाव से उस ब्राह्मण की अनुपम छवि उसके हृदय मन्दिर में घुस ही नहीं गई बल पूर्वक उसमें बैठ गई। अप्सरा पगली सी होकर उस विप्र-कुमार की ओर देखती की देखती ही रह गई।

ब्राह्मणकुमार कामी होते तो उनका भी चित्त चंचल होता, वे बार बार उसके मुख की ओर निहारते। हृदय के भाव जो प्रायः मुख पर अंकित हो जाते हैं उन्हें पढ़ने का प्रयास करते, किन्तु वे तो धर्मात्मा थे। अतः उन्होंने वरूथिनी की ओर निहारा

तक नहीं, किन्तु वरूथिनी तो अपना सर्वस्व उन ब्राह्मण कुमार के ऊपर निछावर कर चुकी थी, अतः वह अपनी आभा से उस अरण्य प्रान्त को आभासित करती हुई, सरलता के साथ विप्र कुमार के सम्मुख आ खड़ी हुई।

उस एकांत पर्वत प्रांत में एक परम सुन्दर रमणी को देखकर ब्राह्मण को कुछ धैर्य हुआ और वे मधुर स्वर में बोले—सुन्दरी! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? यहाँ एकांत में अकेली क्यों विचरण कर रही हो?"

वरूथिनी ने अत्यन्त ही अनुराग भरी वाणी में परम स्नेह लज्जा और व्रीड़ा प्रदर्शित करते हुए कहा—"महाभाग! मैं स्वर्ग की अप्सरा हूँ, वरूथिनी मेरा नाम है। मैं प्रेम की प्यासी इस प्रांत में स्वेच्छा से विचरण करती हूँ। मैंने बहुत से मनुष्य, देवता, दैत्य, यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, किन्नर, विद्याधर तथा अन्य देव योनि वाले देखे हैं, किन्तु जैसा सौंदर्य आपमें है वैसा मुझे कहीं देखने में नहीं मिला। जिस प्रकार आपने मुझे बरबश अपनी ओर आकर्षित किया है वैसा किसी ने नहीं किया। आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं?

यह सुनकर ब्राह्मण कुमार बोले—"सुन्दरि! मैं ब्राह्मण हूँ अरुणास्पद नामक नगर का निवासी हूँ, एक सिद्ध की कृपा से दिव्य अनुलेप के प्रभाव से मैं इस प्रांत में आ सका हूँ। मेरी असावधानी से बरफ के जल के कारण वह लेप धुल गया है। इस समय मैं बड़े धर्म संकट में पड़ गया हूँ, मैं अपने अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों से वञ्चित हो रहा हूँ, तुम मेरी सहायता करो।"

वरूथिनी ने अनुराग भरित हृदय से प्रेमभरी वाणी में कहा—"देव! आज्ञा करें, मैं आपकी कौन सी सेवा करूँ?"

ब्राह्मण ने कहा—"तुम वही उपाय करो, जिससे मैं अपने घर पहुँच सकूँ।"

वरूथिनी ने अपनी समस्त ममता बटोरकर आँखों में आँसू भर कर गद्गद् वाणी से कहा—"जीवनधन ! आप ऐसी बात कभी फिर मुख से न निकालें। मैं आपके बिना रह नहीं सकती। मैंने अपना सर्वस्व आपके चरणों में वार दिया है। आप मुझ अनुरक्ता को अपनाइये, मुझ दुखिनी के दुख को दूर कीजिये। कामबाण से पीड़ित मुझे प्रेम दान देकर प्रसन्न कीजिये।"

ब्राह्मण ने गम्भीर वाणी में कहा—"सुर सुन्दरि ! तुम कैसी धर्मविरुद्ध बातें कर रही हो। ब्राह्मण के लिये काम के वश में होना, कभी भी उचित नहीं। उसे तो सदा धर्म में स्थित रहना चाहिये। अपने नित्य नैमित्तिक कृत्यों में ही निरंतर अनुरक्त रहना चाहिये। सांसारिक प्रेमपदार्थ क्षण भर के लिये सुखदायी होते हैं, किन्तु धर्माचरण इस लोक में कठोर सा दीखने पर भी परलोक में अनन्त सुख देने वाला होता है; अतः तुम मेरी कुछ सहायता कर सकती हो, तो यही करो कि मैं अपने घर पहुँच जाऊँ और अपनी अग्नियों की जाकर उपासना कर सकूँ।

वरूथिनी ने कहा—"देव ! परलोक में भी यही सुख है। आप तो भाग्यवश मुझे प्राप्त हो गये हैं। आप यहीं निवास करें। यह प्रान्त स्वर्ग से भी सुन्दर है। इसीलिये हम स्वर्ग को त्याग कर यहाँ रहती हैं। आपकी मैं सब प्रकार से सेवा करूँगी, अपने हृदय का हार बनाऊँगी, दिव्यवस्त्राभूषण, सुन्दरभक्ष्य, भोज्य तथा अङ्गराग, अम्लान पुष्पों की दिव्य मालायें तथा अन्यान्य भोग की सामग्रियाँ मैं आपकी सेवा में

सदा समर्पित करती रहूँगी। अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्व समर्पित करके सदा आपको सुखी और सन्तुष्ट बनाये रखूँगी।"

ब्राह्मण ने कहा—"भामिनि ! इन सांसारिक पदार्थों में विषय भोगों में यथार्थ सुख नहीं। सच्चा संतोष नहीं, वास्तविक सुख तो धर्म पालन में है। तुम इस पार्वत्य प्रदेश को रमणीय बता रही हो, मेरे लिये तो अग्निशाला ही सर्वोत्तम सुख का स्थान है। तीनों अग्नियाँ ही मेरी अराध्य हैं। यज्ञवेदी ही मेरी प्रिया है। तुम मुझसे ऐसा धर्म विरुद्ध प्रस्ताव मत करो। मैंने चंचलता वश बड़ी भूल की जो देश देखने के लोभ में पड़ कर अपनी अग्निशाला को छोड़कर यहाँ चला आया। ब्राह्मण को तो अपनी अग्निशाला में ही रहकर नित्य नैमित्तिक कर्मों में लगे रहना चाहिये। उसे देश विदेश के देखने के लोभ को संवरण करना चाहिये। यात्रा में न पूजन की सामग्री जुटती है, न भली भाँति नित्य नैमित्तिक कर्म ही होते हैं।"

वरूथिनी ने कहा—"प्राणनाथ ! आप कैसी स्नेह हीन बातें कर रहे हैं ? शरणागत की रक्षा करना, शास्त्रों में परम धर्म बताया है। मैं आपकी शरण आई हूँ, आपको आगे करके काम मुझे मार्मिक पीड़ा दे रहा है, मेरे अंग प्रत्यंग में वह मर्मान्तक बाण चुभो रहा है। हे शरणागतरक्षक ! उससे मेरी रक्षा करें। मुझ दीना को अपनावें, मुझे अपने हृदय से लगावें।" इतना कहकर वह अत्यन्त ही कातर भाव से परम अनुराग के साथ बलपूर्वक ब्राह्मण के हृदय से लग गई। उस समय उसका शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। काम के कारण वह अत्यन्त पीड़ित थी।"

उसके ऐसे साहस को देखकर ब्राह्मण ने साहस बटोरकर डाँटकर रोष के साथ कहा—"चल हट, दुष्टा कहीं की, यदि मुझे स्पर्श किया, तो मैं अभी भस्म कर दूँगा। तू ऐसे ही लोगों के पास जा जो तेरी इच्छा करते हों।" ऐसा कह कर वे ब्राह्मण उसी प्रकार उस अप्सरा से दूर हट गये, जिस प्रकार पुरुष अग्नि, साँप, बिच्छू अथवा सिंहादि हिंस्रक जन्तुओं को देखकर सहसा पीछे हट जाता है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् ने इस मनुष्य प्राणी को अपूर्ण बनाया है, यह एक से ही प्रेम कर सकता है। जो लोग धर्म से प्रेम करते हैं, उनकी दृष्टि में धर्म विरुद्ध काम, धर्महीन धन तुच्छ है। वे धर्म के आगे किसी को कुछ नहीं समझते। धर्म की बलि वेदी पर वे सब कुछ होम सकते हैं। धर्म के विरुद्ध भी कोई आकर्षण उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। जिनके हृदय में काम जम जाता है, ऐसे कामी धर्म, अर्थ किसी को भी कुछ नहीं समझते। वे काम के पीछे चाहे जितने धर्म, विरुद्ध आचरण कर सकते हैं, धन को पानी की तरह बहा सकते हैं। अर्थ लोलुप धन के लिये धर्म तथा काम को कुछ नहीं समझते। पैसे के लिये वे अपनी पत्नी, बहिन बेटियों से भी अनुचित कार्य करा सकते हैं, देखिये, जिस वरूथिनी के एक कटाक्ष पर कलि नामक गन्धर्व अपना सर्वस्व होमने को तत्पर था, उसी वरूथिनी की एकान्त में दीनता पूर्वक की हुई प्रार्थना को एक धर्मभीरु ब्राह्मण ने बुरी वस्तु के सदृश ठुकरा दिया।"

ब्राह्मण ने जब सूर्यास्त के पूर्व किसी प्रकार भी अपने को अपनी अग्निहोत्रशाला में पहुँचने में असमर्थ पाया, तो वे

चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा—"मैंने इतने दिनों तक अग्निदेव की अव्यग्र भाव से, आलस्य तथा दम्भ कपट छोड़कर, आराधना की है, क्या वे मेरी इस समय सहायता न करेंगे।" यह सोच कर उन्होंने निर्मल जल से आचमन किया और हाथ जोड़कर बोले—"हे अग्निदेव! आप जगत् के पालक हैं, सबके रक्षक हैं, यदि मैंने कभी नियत समय पर वैदिक कर्म का परित्याग न किया हो, यदि मेरे मन में कभी पराये धन की अधर्म पूर्वक लेने की इच्छा न हुई हो और यदि मेरा मन कभी परस्त्री की ओर चंचल न हुआ हो, तो इस सत्य के प्रभाव से मैं सूर्यास्त के पूर्व ही अपने घर पहुँच जाऊँ।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहते ही तुरन्त उनके शरीर में गार्हपत्य अग्नि ने प्रवेश किया। उनकी ज्वालाओं से ब्राह्मण का शरीर द्वितीय सूर्य के सदृश प्रकाशित हो गया। वरूथिनी उनके ऐसे अपूर्व तेज और ओज को देखकर और भी अधिक उन पर आसक्त हो गई। अग्नि के प्रभाव से वे तुरन्त उड़े और सूर्यास्त के पूर्व ही अपने घर पहुँच गये, वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपने नित्य के अग्निहोत्रादि कर्म किये।"

इधर वरूथिनी की बुरी दशा थी। ब्राह्मण के जाते ही, उनके आँखों के ओझल होते ही वह कटी लता की भाँति गिर पड़ी उसे शरीर की सुधि नहीं रही। लम्बी लम्बी सांसे छोड़ती हुई वह जल से निकाली मछली की भाँति बिलबिलाने और तड़पने लगी। वह रात्रि उसने बड़े कष्ट से तड़फड़ाते और आँसू बहाते हुए ही बिताई। प्रातःकाल हुआ पर उसकी दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भूख, प्यास, आहार, विहार की कुछ सुध ही नहीं थी। अश्रु बहाती हुई वह उसी ब्राह्मण कुमार की याद में बिलख बिलख कर रोती रही थी।

उसी समय कलि नामक गन्धर्व वहाँ आया। वह वरूथिनी पर पहले से ही आसक्त था। उसने बड़ी दीनता से वरूथिनी से प्रणय की भिक्षा माँगी थी। इस पर वरूथिनी ने इसे अस्वीकार ही नहीं किया, उसका तिरस्कार भी कर दिया था। वह अपना सा मुँह लेकर चला गया, किन्तु उसके मन में वरूथिनी की मनमोहिनी मूरति दूर नहीं हुई। वह सदा उसी का चिन्तन करता रहता। आज जब उसने वरूथिनी की ऐसी दशा देखी तो उसे परम विस्मय हुआ। उसने यह बात जानने के लिये कि वरूथिनी की ऐसी दशा क्यों हुई, ध्यान लगाया। ध्यान लगाने से उसे सब बातें मालूम हो गईं। अब तो उसका मुख चमकने लगा। उसने सोचा—"क्यों न ब्राह्मण का रूप रखकर इसे ठग लूँ।"

वह कामी तो था ही, काम के सम्मुख उसके मन में सत्य धर्म का कुछ भी आदर नहीं था। अतः उस मायावी गन्धर्व ने माया से ज्यों का त्यों ब्राह्मण का रूप रख लिया और उसके सम्मुख इधर उधर विचरने लगा। वरूथिनी ने जब देखा, वे ब्राह्मण देव पुनः आ गये तो वह दौड़कर उनके समीप गई और बोली—"देव ! आप मेरी रक्षा करो। सत्य कहती हूँ यदि आप मुझे ठुकरा देंगे, तो मैं यहीं प्राण दे दूँगी। इससे आपको स्त्री—वध का पाप लगेगा।"

ब्राह्मण वेशधारी कलि ने कहा—"भामिनि ! क्या करूं, मैं तो धर्म संकट में पड़ गया। एक ओर तो मेरा व्रत और दूसरी ओर तुम्हारे प्राणों की रक्षा का प्रश्न किसे छोड़ूँ किसे अपनाऊँ ?"

इस पर दीनता के स्वर में वरूथिनी ने कहा—"हे धर्मज्ञ ! किसी के प्राणों की रक्षा करना करोड़ों धर्मों से बढ़कर है।

आप मेरी रक्षा करेंगे तो आपका पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी।"

ब्राह्मण वेषधारी कलि गन्धर्व ने कहा—"तुम्हें एक प्रतिज्ञा करनी होगी रतिकाल में तुम नेत्र बन्द कर लिया करोगी। मेरी ओर उस समय भूलकर भी न देखोगी।"

वरूथिनी को इसमें क्या आपत्ति होनी थी, दोनों में गान्धर्व विवाह हो गया, दोनों आनन्द से गिरिराज के पुष्पित काननों में पर्वतों की सुन्दर मन हारिणी गुफाओं तथा सुन्दर सरिताओं के तटों पर विहार करते। वरूथिनी गर्भाधान के समय उन्हीं ब्राह्मण देव की तेजोमयी मूर्ति का ध्यान करती रहती। कुछ काल में वह गर्भिणी हुई। उसे गर्भिणी देखकर कलि गन्धर्व चला गया। कालान्तर में उस अप्सरा ने एक पुत्र रत्न को प्रसव किया। वह अपनी किरणों से सूर्य के सदृश सुशोभित था, अतः माता ने उसका नाम 'स्वरोचिष् रखा। शनैः शनैः वह बालक बढ़ने लगा। उसने मुनियों से वेद, वेदाङ्ग तथा धनुर्वेद सहित सभी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह धनुष बाण लिये राजकुमारों की भाँति उस पर्वत प्रान्त में विचरण करने लगा।

एक दिन वह धनुष बाण धारण किये एक अत्यन्त ही मनोरम उपत्यका के समीप जा रहा था, कि उसे "बचाओ बचाओ मेरी रक्षा करो, रक्षा करो" ऐसे करुणा भरे सुमधुर कोमल शब्द सुनाई दिये। दृष्टि उठाकर उसने देखा एक अत्यन्त ही सुन्दरी नव युवती भय से विह्वल हुई उससे अभय की भिक्षा माँग रही है।"

अपने धनुष पर बाण चढ़ाते हुए नवयुवक कुमार स्वरोचिष् ने कहा—"देवि! तुम डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा के लिये

समुपस्थित हूँ, तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? किससे तुम्हें भय हुआ है ? यह सब वृत्तान्त मुझे सुनाओ।"

यह सुनकर भय से थर थर काँपती हुई उस युवती ने चारों ओर दृष्टि डाल कर कहा—"देव ! विद्याधरों के एक गण के अधिपति नलनाभ नामक गन्धर्वराज हैं। उनके पुत्र का नाम इन्दीवराक्ष था मैं उन्हीं की पुत्री हूँ मेरा नाम मनोरमा है, मेरे नाना गन्धर्व राज मरुधन्वा भी एक विख्यात वीर्य थे। उन्होंने भगवान् वसिष्ठ से अस्त्रहृदय नामक वह विद्या प्राप्त की थी जो वसिष्ठ जी ने स्वायंभुव मनु से और मनु ने पिनाक धारी भगवान् शूलपाणि से प्राप्त की थी। मैं पिता की इकलौती प्यारी पुत्री हूँ, मेरी दो सखियाँ और हैं एक का नाम तो विभावरी है जो मन्दार विद्याधर की पुत्री है, दूसरी कलावती नाम्नी पार मुनि की पुत्री है। एक दिन हम तीनों ही क्रीड़ा करती हुई कैलाश पर्वत के एक पावन प्रदेश में गईं। वहाँ एक अत्यंत कृश विरूप मुनि को देखकर यौवन के उमंग में मैं उनकी हँसी उड़ाने लगी। मुनि ने क्रोध में भर कर मुझसे कहा—"दुष्टे ! तू मेरा उपहास करती है, जा, कुछ ही दिनों में एक राक्षस तेरे ऊपर झपटेगा।"

मुनि के शाप को सुनकर मेरी सखियाँ उस मुनि को भला बुरा कहने लगीं और उसके तप की निंदा करने लगीं। मुनि क्रोध में तो भरे ही थे। उनमें से एक को शाप दिया तुझे कुष्ट रोग हो जाय, दूसरी को शाप दिया तुझे राजयक्ष्मा हो जाय।" मुनि का शाप असत्य तो हो ही नहीं सकता था, अतः तुरन्त उन दोनों के ये रोग हो गये। मेरे पीछे भी आज तीन दिन से एक बड़ा भयंकर राक्षस पड़ा है। देखिये, वह दहाड़ रहा है, उससे आप मेरी रक्षा करें।"

वह यह कह ही रही थी कि इतने में एक भयंकर राक्षस स्वरोचिष् को दिखाई दिया। तब भय से विह्वल हुई मनोरमा ने कहा—"देव! आप इस राक्षस पर मैं जो कहूँ वे ही अस्त्र छोड़िये। बात यह है कि मेरे नाना पर जो भी अस्त्र विद्या थी उसे उन्होंने मेरी माता के साथ दहेज में मेरे पिता को देदी थी, पिता ने यह सब स्नेहवश मुझे सिखादी थी। आप उस विद्या को तुरन्त मुझसे रहस्य एवं उपसंहार सहित ग्रहण करें। उसी के द्वारा आप इसे जीत सकेंगे।"

स्वरोचिष् ने आचमन करके प्रसन्नता पूर्वक उस अस्त्र हृदय को ग्रहण किया और उसी अस्त्र का उस राक्षस पर प्रयोग करना चाहा। इससे राक्षस डर गया और भयभीत होकर बोला—"हे शूरवीर! प्रथम मेरी बात सुनलें तब इस अस्त्र का प्रयोग करें।"

स्वरोचिष् ने कहा—"अच्छा, कहो क्या कहते हो?"

राक्षस ने कहा—"हे वीरवर! मैं राक्षस नहीं, इस लड़की का पिता इन्दीवराक्ष विद्याधर हूँ।"

स्वरोचिष् ने पूछा—"फिर आप राक्षस क्यों हो गये? और अपनी पुत्री पर ही आक्रमण क्यों कर रहे हो?"

राक्षस बोला—"भैया! अपनी अपनी करनी का फल है। मैं आयुर्वेद पढ़ने ब्रह्ममित्र नामक मुनि के समीप गया, उन्होंने निषेध किया। मैंने छिपकर छल से उनसे पढ़ लिया बात खुलने पर उन्होंने मुझे राक्षस होने का शाप दे दिया। बहुत अनुनय विनय करने पर उन्होंने कह दिया—"राक्षस होकर जब तुम अपनी पुत्री पर ही भूलकर आक्रमण करोगे, तो उस समय जो भी युवक तुम पर प्रचंड आक्रमण करने को उद्यत होगा उसी के द्वारा तुम्हारा उद्धार हो जायगा, तुम्हें पुनः

गन्धर्वलोक प्राप्त होगा।" सो हे धर्मज्ञ! अब मुझे पूर्ण ज्ञान है, मैं तुम्हें आयुर्वेद विद्या भी देता हूँ और अपनी इस मनोरमा कन्या को भी देता हूँ।" यह कहकर वह अपनी कन्या को और आयुर्वेद विद्या को देकर गन्धर्व लोक चला गया, पुनः उसे विद्याधर की योनि प्राप्त हुई।

इधर स्वरोचिष् ने मनोरमा के साथ विधिपूर्वक विवाह कर लिया। आयुर्वेद के प्रभाव से उसने अपनी पत्नी की दोनों सखियों को भी अच्छा करके उनके साथ विवाह कर लिये इस प्रकार अपनी तीनों पत्नियों के साथ वे आनन्द पूर्वक हिमालय की मनोहर उपत्यकाओं में विहार करने लगे। उन तीनों के गर्भ से विजय, मेरुनन्द और महाबली ये तीन पुत्र हुए। तीनों पुत्रों के लिये तीन नगर बसा कर उन्हें वहाँ रख दिया और ये तीनों पत्नियों के साथ पूर्ववत पार्वत्य प्रदेश में ही आनन्द विहार करने लगे।

स्वरोचिष् को मृगया से बड़ा प्रेम था, अतः एक दिन धनुष बाण लिये उसने एक सूअर का पीछा किया। इतने ही में एक हरिणी ने आकर कहा—"हे धनुर्धारियों में श्रेष्ठ आप इस सूअर पर बाण क्यों छोड़ते हैं, मुझे ही अपने बाण से मार गिराइये। जिससे मैं भी अत्यंत क्लेश से छूट जाऊँगी, आपका भी बाण सफल होगा।"

मृगीके मुखसे मानुषीवाणी सुनकर सहानुभूति के स्वर में स्वरोचिष् ने कहा—"मृगी! तुम्हें क्या कष्ट है, अपने कष्ट का कारण बताओ, मैं भरसक उसके निवारण का यत्न करूँगा।'

मृगी ने कहा—'मुझे और कुछ कष्ट नहीं यही सबसे बड़ा कष्ट है, जिससे मैं प्यार करती हूँ वह मुझे प्यार नहीं

करता। प्यार के बिना रूखा जीवन बिताना व्यर्थ है। अपने प्रेमास्पद की अवहेलना की अपेक्षा तो मर जाना अच्छा है, सर्वश्रेष्ठ है।"

स्वरोचिष् ने कहा—"ऐसा कौन सा पुरुष है, जिसे तुम प्यार करती हो और वह तुम्हें प्यार नहीं करता। बड़ा हृदय-हीन है।"

मृगी ने कहा—"नहीं, हृदयहीन तो नहीं है, किन्तु वह अन्य स्त्रियों को प्यार करता है।"

स्वरोचिष् बोले—"मुझे उसे बताओ तो सही।"

मृगी बोली—"देव! अपराध। क्षमा हो। मैं आपको ही प्यार करती हूँ, आपको ही पाना चाहती हूँ। आप इन सुन्दरियों के रहते मुझसे प्रेम करेंगे नहीं, अतः आप के बाण से मरने में ही मुझे सुख है।"

हँसकर स्वरोचिष् ने कहा—"मैं दो पैर वाला, तुम चार पैर वाली। मैं तुमसे प्रेम भी करूँ तो व्यर्थ, तुम से विवाह कैसे कर सकता हूँ?"

मृगी बोली—"यदि आप मेरे ऊपर कृपा करने को उद्यत हों तो अनुराग भरित हृदय से मेरा गाढ़ आलिंगन कीजिये। स्नेहालिंगन एक ऐसी दिव्योषधि है, कि इससे असंभव बात भी संभव हो जाती है।"

यह सुनकर स्वरोचिष् ने स्नेह पूर्वक उसका आलिंगन किया। आलिंगन करते ही वह अत्यंत ही सुन्दर दिव्य रूप धारिणी सर्वाङ्ग सुन्दरी सुकुमारी नारी बन गई।"

विस्मित होकर स्वरोचिष् ने पूछा—"तुम कौन हो?"

हँसकर उसने कहा—"देव! मैं इस वन की अधिष्ठात्र देवी हूँ। प्रथम मन्वन्तर बीतने पर जो दूसरा मनु होगा वह

आपके वीर्य से मेरे ही गर्भ द्वारा होगा, ऐसी बात मुझे देवताओं ने बताई है, अतः आप अपने वीर्य से मुझमें द्वितीय मनु को उत्पन्न करें।"

यह सुनकर स्वरोचिष् ने वन देवी के गर्भ से एक पुत्र रत्न उत्पन्न किया। पिता ने तो उसका नाम द्युतिमान् रखा किन्तु स्वरोचिष् का पुत्र होने से उसका नाम स्वारोचिष् हुआ। तपस्या के प्रभाव से उसने ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया और ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर उसे मनुपद पर प्रतिष्ठित किया। ये ही दूसरे मन्वन्तरके अधिपति स्वारोचिष् मनु हुए। स्वारोचिष् अग्नि का भी नाम है इसीलिये स्वारोचिष् किसी कल्प में अग्नि पुत्र के भी नाम के विख्यात हुए।

तदनंतर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! द्वतीय मन्वन्तरावतार का क्या नाम था और उन्होंने कौनसा विशेष कार्य किया? यह कथा तो रह गई।"

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन् इस अवतार में भगवान् का नाम "विभु" था।

राजा ने पूछा—भगवन्! इन विभु भगवान् की पत्नी का क्या नाम था, इन्होंने कौनसा कार्य्य किया?

इसपर श्री शुक बोले—"महाराज! इन विभु भगवान ने तो विवाह किया ही नहीं। इन्होंने यही सबसे बड़ा कार्य किया कि संसार में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आदर्श उपस्थित किया। पहिले यह मान्यता थी कि अपुत्रों की गति नहीं। इन्होंने कहा—"नहीं, परमार्थ में स्त्री पुत्रों की कोई आवश्यकता नहीं, जिनके मन में संतान वासना न हो, वे विवाह न करके अखंड ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हैं, तो वे अक्षय लोकों को प्राप्त होते हैं, मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं। ये जो नैमिषारण्य

में ८८ हजार ऋषि हैं, जो कुमारावस्था से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए यम नियमादि साधनों के साधना में तत्पर रहते हैं, इस व्रत की दीक्षा भगवान् विभु ने ही इन्हें दी है। ये कल्पजीवी ऋषि ही हैं, कलियुग आने पर ये जन लोक में चले जाते हैं शेष समय नैमिषारण्य आदि पुण्य क्षेत्रों में भगवत् कथा में बिताते हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने प्रथम और द्वितीय मन्वन्तरावतार की कथा कही, अब आप तृतीय और चतुर्थ मन्वन्तरावतार की कथा सुनें।

छप्पय

यज्ञपुरुष प्रभु भये प्रथम मन्वन्तर माहीं।
तप स्वायम्भुव करत असुर सोचैं तिनि खाईं॥
जान्यो तिनको भाव मारि उद्धार करयो प्रभु।
मन्वन्तर जब द्वितीय भयो प्रकटे वे ईं विभु॥
ब्रह्मचर्य व्रत आयुभर, पालन की दीक्षा दई।
सहस आठासी मुनिनि नैं, उन ही तैं शिक्षा लई॥

तृतीय और चतुर्थ मन्वन्तरावतार

(५०२)

चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः ।
पृथुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः ॥
तत्रापि जज्ञे भगवान् हरिण्यां हरिमेधसः ।
हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० १ अ० २७, ३० श्लो०)

छप्पय

'उत्तम' प्रियव्रत पुत्र तीसरे मनु विख्याता ।
इन्द्र 'सत्यजित्' इते भये प्रभु तिनके त्राता ॥
धर्म पत्नि सूनृता उदर तैं प्रकटे श्री पति ।
'सत्य सेन' विख्यात सुरनि की एक मात्र गति ॥
ता मन्वन्तर मध्य महँ, सखा सत्यजित् के बने ।
सुरद्रोही दुःशील खल, दुष्ट यक्ष राक्षस हने ॥

बहुत से नास्तिक लोग कहते हैं, कि इस जगत् का कर्ता

❀श्री शुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन् ! उत्तम के भाई तामस चौथे मनु थे । पृथु, ख्याति, नर, केतु आदि उनके दश पुत्र थे । उस मन्वन्तर में भगवान् ने हरिमेधा नामक ऋषि की हरिणी नाम्नी भार्या में अवतार धारण किया, जो "हरि" इस नाम से जगत् में विख्यात हुए जिन्होंने गज को ग्राह से छुड़ाया ।

कोई नहीं है। स्वभाव से ही गुण गुणों में वर्त रहे हैं। जैसे जल स्वभाव से शीलता है, रजवीर्य के संयोग से सन्तानोत्पत्ति स्वभाव से ही हो जाती है। प्रकृति नियमों से ही यह संसार चल रहा है। यदि प्रकृति जड़ है तो उसमें संयमित करने की शक्ति नहीं। कोई जड़ यन्त्र चैतन्य के नियन्त्रण के बिना चिरकाल तक मर्यादानुसार चल नहीं सकता। परन्तु हम देखते हैं, संसार किसी एक नियम में आबद्ध यथावत् चल रहा है। ऋतुएँ क्रम से आती हैं, समय पर फल फूल लगते हैं, सूर्य, चन्द्र व अन्य ग्रह, नक्षत्र आदि एक नियम से चलते हैं। इन्हीं सब कारणों से प्रकृति से पुरुषोत्तम की सत्ता सिद्ध होती है। जैसे दिन के पश्चात् रात्रि होती है, गर्मी के पश्चात् वर्षा और वर्षा के पश्चात् जाड़ा वैसे ही एक मन्वन्तर के अनन्तर दूसरे, दूसरे के अनन्तर तीसरे ऐसे ही कल्प के १४ मन्वन्तर बीते हैं। उनमें वैसे ही एक मनु वैसे ही मनुपुत्र, इन्द्र, देवता, सप्तर्षि और अवतार हो जाते हैं। पिछले अवसर प्राप्त मनु देवता, सप्तर्षि आदि स्वर्ग लोक तथा महर्लोक में जाकर अधिकार हीन होकर आनन्द करते रहते हैं। दूसरे कल्प में फिर चुनाव में आ गये, तो कोई मनु इन्द्र बन गया कोई इन्द्र मनु हो गया। कोई सप्तर्षि हो गये ऐसे पद बदलते हैं। ब्रह्माजी का पद तक अस्थाई है नाशवान् क्षयिष्णु है एक विष्णु पद ही अक्षय है।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! मैंने आपसे दो मन्वन्तरों के अवतारों आदि का वर्णन कर दिया, अब आप तीसरे मन्वन्तर का वर्णन सुनें।

पीछे मैं स्वायम्भुव मनु के वंश वर्णन में बता ही चुका हूँ, कि स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद ये दो पुत्र थे। प्रियव्रत के पुत्र एक उत्तम थे, वे अपने पुण्य प्रभाव से तीसरे मन्वन्तर में मनु हो गये। उस पूरे मन्वन्तर का उन्होंने मनु

बनकर पालन किया। उनके पवन, सृञ्जय और यज्ञ होत्रादि पुत्र हुए जो इस पृथ्वी पर राजा बनकर इसके पालन करते रहे। वसिष्ठ जी के प्रमद आदि सात पुत्र थे, वे सातों भाई उस मन्वन्तर में सप्तर्षि हुए तथा सत्य वेदश्रुत और भद्र नामक देवताओं के गण हुए। उस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम सत्यजित् था। भगवान् का उस मन्वन्तर में 'सत्यसेन' नाम से अवतार हुआ। धर्म देव की पत्नियों में से जो सूनृता थी, उसी के गर्भ से भगवान् प्रकट हुए।

उस समय दुष्ट यक्ष राक्षस इन्द्र को बहुत क्लेश देते थे, वे सर्वदा इसी चेष्टा में रहते थे कि इस इन्द्र को इन्द्रासन से उतारकर हम लोग ही स्वर्ग के अधिपति हो जायँ। असत्य-भाव वाले उन दुःशील दुष्टों के अभिप्राय को जानकर देवेन्द्र सत्यसेन भगवान् की शरण में गये और इनसे सहायता के लिये प्रार्थना की। इस मन्वन्तर में भगवान् का अवतार इसी विशेष कार्य के लिये ही तो हुआ था, अतः भगवान् ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उन दुष्ट स्वभाव के यक्ष, राक्षस, असुर, भूत आदि को जो कि सभी प्राणियों से द्रोह करते थे, यज्ञ आदि में विघ्न करते थे, उन्हें नष्ट कर दिया। इस पर इन्द्र को बड़ी प्रसन्नता हुई।

उसने भगवान् से प्रार्थना की—"प्रभो! आप मुझे मित्र भाव से स्वीकार करलें और इसी प्रकार सदा मेरी इन असत्य परायण असुरों से रक्षा करते रहें।"

भगवान् ने 'तथास्तु' कहकर इन्द्र की प्रार्थना मान लिया तभी से वे इन्द्र के सखा कहलाये। भगवान् से सख्य सम्बन्ध स्थापित हो जाने से इन्द्र निर्भय हो गये और उस मन्वन्तर भर स्वर्ग का पालन भगवान् की सहायता से ही करते रहे।

महाराज प्रियव्रत के द्वितीय पुत्र उत्तम के छोटे भाई 'तामस' चौथे मन्वन्तर के मनु हुए। उनके पृथु, ख्याति, नर तथा केतु आदि १० पुत्र हुए जो पृथिवी पर भिन्न भिन्न स्थानों में अपनी अपनी राजधानी बना कर पृथिवी का पालन करने लगे और राजवंश की वृद्धि करने लगे। उस मन्वन्तर में सत्यक, हरि और वीर इस नाम से देवताओं के गण थे। इन्द्र का नाम त्रिशिख था ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे। उस तामस मन्वन्तर में विधृति के पुत्र वैधृत नामक कुछ विशेष देव गण हुए थे, जिन्होंने काल क्रम से नष्ट हुए वेदों की सप्तर्षियों के साथ रक्षा की। प्रतीत होता है, उस समय के सप्तर्षि कुछ न्यून तेज वाले हो गये होंगे तभी तो विशेष देवगणों ने अवतीर्ण होकर अपने तेज से रक्षा की। उस मन्वन्तर में भगवान् का "हरि" नाम से अवतार हुआ। हरिमेधा नाम ऋषि की हरिणी नामक पत्नी के गर्भ से 'हरि' भगवान् प्रकट हुए।"

राजा ने पूछा—"प्रभो! 'हरि, भगवान् ने कौन सा विशेष कार्य किया?"

इस पर श्री शुकदेव जी ने कहा—"राजन्! इन्हीं हरि भगवान् ने ग्राह के फंदे में फँसे हुए गज का उद्धार किया।"

यह सुनकर अत्यंत ही उल्लास के साथ राजा परीक्षित् ने कहा—"प्रभो! गज ग्राह उद्धार की कथा तो संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है यह तो अत्यन्त ही परम पावन चरित्र है। भगवान् की भक्त वत्सलता का यह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है अपने आश्रितों की रक्षा के लिये भगवान् कैसे दौड़े आते हैं, इसका अत्यन्त उज्वल उदाहरण इसी प्रसंग में मिलता है। प्रभो! मैं इस पुण्याख्यान को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ। गज को ग्राह ने कैसे पकड़ लिया, भगवान् ने कैसे जाकर

उसका उद्धार किया, इस परम पवित्र मंगलकारी शुभ चरित्र को आप कृपा करके मुझसे कहें। सब कथाओं में वही प्रसंग श्रेष्ठ है, सब प्रसंगों में वही प्रसङ्ग प्रशंसनीय तथा आदरणीय है, जिसमें पवित्र कीर्ति भगवान् हरि के नाम तथा गुणों का कीर्तन किया हो। स्वामिन्! मैं शुश्रुषु हूँ इस परम पावन पुण्यप्रद प्रसंग को प्रेम पूर्वक मुझ प्रणत को सुनाइये।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियों! महाराज परीक्षित् ने इतनी दीनता से अत्यन्त उत्सुकता के साथ जब गजग्राह के उद्धार का प्रश्न किया, तब भगवान् व्यास नन्दन ने उनकी प्रशंसा की। भगवान् की कथा के प्रति ऐसा ही उत्कट अनुराग होना चाहिए इस बात को बार बार कह कर राजा से बोले—"राजन्! मैं आपको गज ग्राह के उद्धार की कमनीय कथा सुनाता हूँ, उसे आप श्रद्धा सहित ऋषियों के साथ श्रवण करें।

छप्पय

चौथे मनु जग माँहिं भये तामस प्रियव्रत सुत।
मन्वन्तर अवतार भये "हरि" अति शोभा युत॥
पितु हरिमेधा भये मातु हरिनी कहलाईं।
कीन्हों गज उद्धार ग्राह तैं तुरत गुसाईं॥
क्यों गज पकर्‍यो ग्राह नें, शंका राजा ने करी।
भयो युद्ध कहँ, कति दिवस, कैसे दुख मेट्यो हरी॥

गज और ग्राह

(५०३)

आसीद् गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः ।
क्षीरोदेनावृतः श्रीमान् योजनायुतमुच्छ्रितः ॥*

(श्री भा० ८ स्क २ आ० १ श्लो०)

छप्पय

बोले शुक सुन नृपति क्षीर सागर दिग गिरिवर ।
हतो त्रिकूट प्रसिद्ध सहस दस योजन सुन्दर ॥
लता गुल्म द्रुम सघन शृङ्ग सुखकर सब सोहैं ।
झर झर झरना झरैं सिद्ध सुर मुनिमन मोहैं ॥
क्रीड़ा कानन जहँ वरुन, को सुन्दर ऋतुमान अति ।
सुरललना घूमत फिरत, सुरति निरत निज सहित पति ॥

यह पृथ्वी मंडल अनियमित स्वतः ही बन गया हो सो

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! त्रिकूट नामक बड़ा भारी विख्यात एक पर्वत है, वह चारों ओर क्षीर सागर से घिरा हुआ है। वह दश सहस्र योजन ऊँचा है और अत्यंत ही शोभायमान है।

चात नहीं। इसका निर्माण बड़ी सावधानी के सहित नाप तोल कर किया गया है। अर्थशास्त्रों में वर्णन है, कि ७ द्वीप हैं और उनसे घिरे सात समुद्र हैं, कमल के खिले पुष्प के समान यह जम्बूद्वीप है। इस जम्बूद्वीप में ९ खंड है कमल के बीच में जो कर्णिका है, उसके स्थान पर इलावृत खंड है। उसमें 'दिव्य सुमेरु पर्वत है। कमल चारो ओर जैसे दल होते हैं वैसे ही ८ खंड इस कमल के दल के समान हैं। इसके चारों ओर खारे जल का समुद्र है। समुद्र पार चारों ओर प्लक्ष द्वीप है। जैसे किले के चारों ओर खाई होती है वैसे ही प्लक्ष द्वीप के एक ओर क्षार समुद्र हैं दूसरी ओर इक्षु समुद्र है। एक समुद्र और उसके पश्चात् एक द्वीप। ऐसे सात द्वीप सात समुद्रों से घिरे हुए हैं। क्षारसमुद्र, इक्षुसमुद्र, सुरासमुद्र घृत-समुद्र, क्षीरसमुद्र, दधिमण्डोद समुद्र, तथा शुद्धोदक समुद्र, ये सात समुद्र हैं। क्षीर समुद्र को छोड़कर अन्य ६ समुद्र इन चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देते! ये दिव्य हैं, इनमें ऐसे ही जीव जन्तु, लता गुल्म, वृक्ष, ग्राम, नगर, वन, पर्वत, नद, नदी आदि सभी हैं। इनके पर्वतों पर सुन्दर सुन्दर देवोद्यान हैं जिनमें देवता अप्सराओं के साथ आकर विहार करते हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियों! जब निराहार व्रत करके सावधानी के साथ श्री शुक के मुख से निसृत कथामृत के पान से तृप्त हुए भूपति श्री परीक्षित ने भगवान् व्यास नन्दन से गज ग्राह के उद्धार की कथा का प्रश्न किया तब तो भगवान् बादरायण गद्गद हो उठे। बोले—"राजन्! तुम धन्य हो, जो अन्न जल त्यागने पर भी कथा सुनने में नवीन नवीन उत्साह दिखा रहे हो। महाराज पहिले मैं आपको गज और ग्राह के निवास स्थानों को बताता हूँ, फिर आगे इस परम पावन

प्रसंग को आपको सुनाऊँगा। आप इसे एकाग्र चित्त से समस्त मुनियों के सहित श्रवण करें।

हे उत्तरानन्दवर्धन! राजन! क्षीरसागर से घिरा हुआ, एक त्रिकूट नाम का अत्यंत रमणीय पर्वत था। वह साधारण पर्वत नहीं था सुमेरु के सामान ही वह प्रसिद्ध और विस्तीर्ण था। दस-हजार योजन तो वह ऊँचा था और इतना ही चारों ओर से विस्तृत था। राजन! वह भूस्वर्ग का मुकुट मणि गिरिवर था। उसके नीचे पुण्यशेष स्वर्गीय पुरुष निवास करते हैं। जो न कभी वृद्ध होते हैं, न उनके बाल ही सफेद होते हैं। जहाँ दूध का समुद्र है, संकल्प के अनुसार वस्तुएं देने वाले दिव्य दिव्य असख्यों द्रुम थे। जहाँ के निवासियों को न रोग होता है, न शोक। उस पर्वत पर देवता, यक्ष, किन्नर, गुह्यक और अप्सरायें भी स्वच्छन्द विहार किया करती थीं। उस पर्वत के तीन शृंग थे। एक सुवर्ण का शृंग था दूसरा चाँदी का और तीसरा लोहे का था। इसी लिये वह त्रिकूट कहलाता था। ये तीन कूट (शृंग) तो उसके प्रधान शृंग थे। इनके अतिरिक्त भी उस विशाल पर्वत के असंख्यों शृंग थे, जिनमें नाना भाँति की धातुओं की खानें थीं, कहीं की भूमि रक्त वर्ण की थी, कहीं के पाषाण कृष्ण वर्ण के थे। कहीं के शुभ्रवर्ण के। कहीं विविध मणियों की खानें थीं, वे सूर्य की किरणों के संयोग से दिशाओं को प्रकाशित कर रहीं थीं। वहाँ के वृक्ष अत्यंत मनोहर सदा फल पुष्पों से नमित रहते थे। स्थान स्थान पर त्रिकूट पर्वत से सुन्दर स्वच्छ जल वाले झरने झर रहे थे, वृक्षों पर बैठे पक्षिगण कलरव कर रहे थे। वह विशाल पर्वत चारों ओर सागर से घिरा हुआ था मानों क्षीरसागर में कमल खिला हो। क्षीर सागर की दुग्धमयी तरल तरंगों से प्रक्षालित

उस के पादप्रान्त की हरितवर्ण मरकतमई शिलाओं से पृथिवी कुछ श्याम वर्ण की सी प्रतीत होती थी।

वह गिरिराज शोभा का सजीव साकार स्वरूप बना हुआ था। स्थान स्थान पर उसमें कमनीय कंदरायें थीं जो सभी ऋतुओं में सुख को देने वाली थीं, जहाँ अप्सरायें अपने प्रियतमों के साथ ऐकान्तिक क्रीड़ायें किया करती थीं। कुछ कंदराओं में सिंह व्याघ्र आदि जंगली जन्तु सुख पूर्वक निवास करते थे। उनकी दहाड़ से हाथियों की चिंघाड़ से वह निरन्तर कीर्तन करता हुआ सा प्रतीत होता था। एक सिंह ने दहाड़ दी, उसकी प्रतिध्वनि कंदरा में से उठी। सिंह ने समझा समीप ही मेरा कोई प्रतिद्वन्दी मुझे ललकार रहा है, अतः इर्ष्या और असहिष्णुता के कारण और अधिक बल लगाकर गर्जने लगा। उसकी गर्जन तर्जन को सुनकर और भी सिंह दहाड़ मारने लगे उन्हें भी भ्रम हुआ। हाथियों ने जब दहाड़ सुनी तो वे भी चिंघाड़ मारकर भागने लगे। इस प्रकार वहाँ निरंतर कोलाहल होता रहता था।

सुंदर और विस्तृत कंदरायें, उनमें रहने वाले जंगली जन्तुओं के झुंड, विविध देवद्रुमों से संकुलित देवोद्यान, उनमें विविध क्रीड़ाओं में आसक्त हुई देवाङ्गनायें। वृक्षों पर बैठे विहंगों का सुमधुर कमनीय कलरव, सुन्दर स्वच्छ स्वादिष्ट सलिल से सराबोर सर समूह, तरंग और आवर्तों से इठलाती हुई कुटिलगामिनी सरितायें ये सब वहाँ की शोभा को सहस्रगुनी बढ़ाये हुए थीं। वहाँ के सुखस्पर्शी स्वच्छ जल में आकर निर्भय होकर देवाङ्गनाएँ स्नान करतीं, उनके कुचकुंकुम से पीत और सुगंधित हुए जल को मृग और मृग वधूटियाँ अत्यंत उल्लास के साथ पान करतीं।

उस त्रिकूट पर्वत पर वृक्षों की भरमार थी। इधर उधर अनेकों जाति के वृक्ष अपनी शोभा को बखेर रहे थे। पर्वत के ऊपर पश्चिम दिशा के लोकपाल जलों के स्वामी भगवान् वरुण का ऋतुमान नामक क्रीड़ा कानन था। जहाँ की शोभा अवर्णनीय थी। देवाङ्गनाओं की गति, विलास और अट्टहास से वह निरन्तर हँसता हुआ सा प्रतीत होता था। वहाँ के पक्षी अपने कल कूजित कंठों से क्रीड़ा कामिनियों की काम क्रीड़ाओं का समर्थन करते से प्रतीत होते थे। वहाँ के द्रुम शाखारूपी हाथों को हिलाहिलाकर क्रीड़ा प्रेमियों को अपने समीप बुला से रहे थे। वे वृक्ष सदा दिव्य दिव्य फलों और पुष्पों से सुशोभित रहते थे। उस कानन में असंख्यों प्रकार के वृक्ष थे। शाल हैं, ताल है, तमाल हैं, मन्दार हैं, पराजित हैं, पाटल हैं। पनस, खजूर, बिजौरा, महुआ, आम, असन, अर्जुन, अरिष्ट, पीपर, पाकर, पिचुमंद प्रियाल, बहेड़ा, वट, बेर, बेल, किंशुक, कोविदार कदली, कपूर, केला, कपित्थ, चंदन, चिरौंजी, चिरचिटा, सरल, सीसम, सेंमर, देवदारु, दाख, आँवला, अखरोट, अनार, अशोक, नारंगी, नीबू, नीम, नारियल और भी असंख्यों प्रकार के वृक्ष उस देवोद्यान को शोभायमान किये हुए थे। कमलों की तो वहाँ भरमार थी। गिरशृंगों के जो प्रान्त सदा हिम से आवृत रहते हैं, उनमें स्थल कमल अपनी उत्कट गंध से उस द्रुम रहित स्थान को शोभायुक्त बनाये हुए थे। सरोवरों और तालाबों में जल कमल खिले हुए थे, कोई लाल, कोई सफेद, कोई नीले कोई अष्टपत्र कोई षोड्श पत्र कोई शतपत्र और कोई सहस्रदल वाले कमल थे. कुमुद, उत्पल, कल्हार आदि कमलों की विविध जातियाँ थीं। उन सरोवरों के स्वच्छ जल में रंग बिरंगी मछलियाँ इधर से उधर फुदक रही थीं।

उनके आने जाने से कमल नालों के हिलने से पुष्प उसी प्रकार चंचल हो रहे थे जिस प्रकार कामी और कामिनियों का चित्त स्पर्श से चंचल हो उठता है। उन सरों के समीप हंस, कारण्व, चक्रवाक, सारस, जलकुक्कुट, बकुल, पपीहा आदि जलाश्रित पक्षी इधर से उधर घूम रहे थे।

वहाँ झरने, नद, नदी, तालाब, सरोवर बहुत थे। किन्तु उन सब में एक सबसे बड़ा सरोवर था। उसके आस पास कदम्ब, वेत, नीप, तथा बञ्जुल आदि के सुगंधि युक्त पुष्प थे। उनकी पराग जब पानी में मिल जाती और कमल की सुगंधि के साथ तन्मय हो जाती, तब वह जल अमृत से भी बढ़कर सुन्दर स्वादिष्ट और सुगन्धित बन जाता। उस सर के समीप ही लताओं के सघन कुंज थे। जाती, मल्लिका, माधवी आदि की लताएँ वृक्षों से लिपट रही थीं। इनके अतिरिक्त नाग, पुन्नाग, कुन्द, कुरबक, सुवर्ण यूथिका, पीतमल्लिका विविध रंग के पाटल अपने पुष्पों से उस भूमि को पुष्पावृत बनाये हुए थे। अधिक कहाँ तक कहें सरोवर सभी ऋतुओं में सुखकर और वहाँ के सभी सरों में सर्वश्रेष्ठ था। उसी में एक अत्यन्त बलवान् ग्राह निवास करता था। प्रतीत होता है, वह कोई पुण्यक्षीण शाप से शासित सिद्ध हो। वह इतना बड़ा था, कि योजनों लम्बा उसका शरीर था। सम्पूर्ण सरोवर को घेर कर वह उसमें निवास करता था, मानों वह उस सरोवर का सम्राट् हो।

उसी वन में एक यूथपति गजराज भी रहता था। वह हाथी क्या था चलता फिरता अंजन का पर्वत ही था। सिंह, उसे देखकर भाग जाते थे व्याघ्र उसके पास भी नहीं फटकते थे। गैंडा उसे देखकर मार्ग बदल देता था। हाथी उसे आते

देखकर मार्ग छोड़ देते थे। उसके उस वन में रहने के कारण भेड़िया, शूकर, भैंसे, रीछ, स्याही, बन्दर, भालू, लंगूर हरिन, शशक, जंगली कुत्ते तथा और क्षुद्र जीव निर्भय होकर इधर से उधर विचरते थे। जिस प्रकार ग्राह उस सरोवर का सम्राट् था उसी प्रकार यह गजराज भी मानों सम्पूर्ण वन का सम्राट् था। उसके सैकड़ों हथिनियाँ थीं और हजारों बच्चे थे। उन सब के साथ वह आनन्द से अपने दिन व्यतीत करता था। उससे सभी डरते थे, कोई उसका वन में प्रतिद्वन्दी नहीं था। सिंह उसके भय से भूखों मरते थे, किसी भी छोटे से छोटे जन्तु को पकड़ने का उनका साहस नहीं होता था। वह सदा अभिमान में चूर रहता था, उसे विश्वास था कोई भी जीव मेरा सामना नहीं कर सकता।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! मदहारी हरि सभी के मद को चूर्ण करते हैं। उनका आहार ही मद है। विशेषकर जो उनका कभी भक्त रह चुका है और उसे मद हो गया है, तब तो वे उसे छोड़ते नहीं। इन गज और ग्राह दोनों को ही अपने शारीरिक बल का बड़ा भारी मद था, ये दोनों संसार में अपने को अजेय समझते थे। श्री हरि के ये पूर्व जन्म के भक्त थे अतः प्रभु ने इनके मद को अन्त में चूर्ण करके इनका उद्धार किया।

इसपर महाराज परीक्षित ने पूछा हाँ, तो प्रभो! कैसे भगवान् ने इनका उद्धार किया। इसी प्रसंग को मुझे सुनावें।

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्री शुक बोले राजन्! अब मैं यही सुनाऊँगा। आगे की कथा को आप प्रेम पूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

तहँ सुन्दर सर स्वच्छ सलिल युत सुखकर सुन्दर।
खिले अरुन वन कमल नील कहार मनोहर॥
लता तीर के निकट लिपटि द्रुम नेह दिखावें।
पुष्पित शाखा हिलहिँ मनहु कर पथिक बुलावें॥
रहैं जन्तु जल के बहुत, मत्स, सर्प, कच्छप, मगर।
तहीं ग्राह बलवान् इक, विपुल काम निवसै निडर॥

ग्राह के द्वारा गज का पैर पकड़ा जाना

(५०४)

तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो,
ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत् ।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो,
यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे ॥*
(श्री भा० ८, स्क० २ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

तिहि बन महँ गजराज बसे जनु जीवित गिरवर।
सिंह व्याघ्र भगि जायँ गन्ध तैं मृग, अहि सूकर॥
छोटे बड़े अनेक पुत्र पौत्रादिक तिहि सँग,
क्रीड़ा करैं अनेक सूँड तैं सूँघैं पितु अँग,
इन दिन संग कूँ संगलै, जल पीवन सर ढिंग गयो।
घुस्यो सरोवर सलिल महँ, हथिनिनि सँग खेलत भयो॥

जीव जब अँधेरे में तड़पता है, अज्ञान सागर में फँसकर अपने को उससे निकालने की सोचता है तो हाथ फटफटाता

---

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! उस सरोवर में भाग्य के वशीभूत होकर किसी बलवान् ग्राह ने उस गज का रोष में भरकर चरण पकड़ लिया। देखो, अकस्मात् ही वह हाथी विपत्ति में फँस गया। उस अत्यन्त बलीगज ने यथाशक्ति उससे छूटने को बहुत बल लगाया।

है। यदि वह भाग्यशाली हुआ तो उसे किसी भक्त का चरण दैव संयोग से मिल जाता है। अपने प्रयत्न से भक्तचरण प्राप्त नहीं होता है। हरि ही कृपा करें तो घर बैठे सन्त अनुग्रह करने आ जाते हैं। घर आने पर भी प्रायः वे पानी पीकर चले जाते हैं, जिस दिन जीव हरिभक्त का चरण इतनी दृढ़ता से पकड़ ले, कि उसे शक्ति भर छोड़े ही नहीं, तभी वह संसार सागर से बाहर निकल आता है। भगवान् उसे दर्शन देते हैं और उसको देह बन्धन से मुक्त करके अपने धाम को ले जाते हैं।

श्री शुकदेव जी महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! वह यूथपति अपनी सैकड़ों हथिनियों के साथ तथा सहस्रों पुत्र पौत्रों को लिये हुए उस समुद्र के समान विस्तीर्ण सरोवर में जलपान तथा क्रीड़ा करने के निमित्त गया। हाथियों को उष्णता बहुत कष्ट देती है। ग्रीष्म ऋतु में उसे जल में अत्यन्त सुख मिलता है। यूथपति को किसी का भय तो था ही नहीं। सिंह व्याघ्र उसे देखकर भाग जाते थे। गैंडे उसकी परछाँई से डरते थे। उसके प्रबल प्रभाव से अन्य छोटे मोटे हाथी, मृग, शशक भेड़िये, भैंसे, शूकर, स्याही, चमरी गौएँ, रीछ, कुत्ते, बंदर, पशु पक्षी सर्प तथा अन्य भी जीव जन्तु निर्भय होकर इधर से उधर विचरते थे।

वह यूथपति मदोन्मत्त होकर पथ में चलता था, बड़े बड़े वृक्षों की शाखाओं को सूँड़ से तोड़ डालता, लताओं को मरोड़ डालता, झाड़ियों को रौंदता हुआ बाँसों को चकना चूर करता हुआ वह चलता था, कमल की गंध से उसकी उत्सुकता और भी बढ़ गई थी। उसके गंडस्थलों से मद बह कर उसके कपोलों को गीला करता हुआ भूमि पर गिर रहा था, उसकी गन्ध से हथिनियाँ और भी उन्मत्त सी बनी हुई थीं। अपनी हथिनियों

तथा पुत्र, पौत्र, पुत्री तथा पौत्र पौत्रियों से घिरा हुआ वह सैकड़ों शृंगवाले चलते फिरते पर्वत के समाने दिखाई देता था। बच्चे अपनी चंचल प्रकृति के कारण उसके आगे दौड़े जा रहे थे। हथिनियाँ उसके पीछे चल रही थीं। कुछ युवा पुत्र, पुत्रियाँ आस पास उसे घेरे हुए थे, वह सबको लिये हुए द्रुत गति से सरोवर की ओर जा रहा था। प्यास और घाम के कारण उसका मुख क्लांत हो रहा था।

कुछ ही काल में वह सरोवर के समीप पहुँच गया। स्वच्छ, निर्मल काँच के समान चमचमाते उस शीतल सुगन्धित पद्मकी केशर सुवासित जल में घुस कर उसने यथेष्ट स्नान किया। पेट भर के जल पिया। जब उसकी तृप्ति हो गई, तब उसे क्रीड़ा की सूझी। किसी बच्चे को उठाकर जल में पटक देता, किसी को ढकेल देता, किसी पर पानी ही उड़ेल देता। सूँड़ में भर भर-कर उसने अपनी हथिनियों को नहलाना आरम्भ कर दिया कभी किसी की सूँड़ में सूँड़ डालकर उसके मुँह में बहुत सा जल भर देता कभी किसी की आँखों में जल छोड़ता। हथिनियाँ उसे चारों ओर से घेर कर उसके ऊपर—जल की धारायें छोड़तीं, सूँड़ में जल भर भरकर उसके ऊपर उड़ेलतीं, वह सबकी सहता और सब को अपनी विचित्र क्रीड़ा से हँसाता था। सब हंस रहे थे, खेल रहे थे, आनन्द का सागर उमड़ रहा था सब प्रेम में अपने आप को भूले हुए थे, सभी आत्म विस्मृत से बने जल क्रीड़ा का आनन्द लूट रहे थे। इस बात को वे भूले हुए थे, कि हँसने का परिणाम रोना है—सुख का पर्यवसान दुख में है। उत्थान का अन्त पतन में है। जिस प्रकार बहुत से पौत्रों वाला गृहस्थ भगवान् की माया से मोहित होकर उन्हीं के लिये सटर पटर करता रहता है, उन्हीं की सर्वदा चिंता में

निमग्न रहता है। उसी प्रकार वह यूथपति द्विप भी क्षण भर में आने वाले कष्ट से अपरिचित था, वह तो हथिनियों को हँसाने में, उनके ऊपर जल के फुहारे छोड़ने में, बच्चों को हँसाने, खिलाने, और रिझाने में लगा हुआ था।

संयोग की बात कि उस महा सरोवर में रहने वाला वही द्वीप के समान बृहत्काय ग्राह चट्ट से वहाँ आगया और पट्ट से

उस पहाड़ सदृश हाथी का पैर पकड़ लिया। हाथी को तो

गर्व था, कि मुझे कौन पकड़ सकता है, मेरा कौन सामना कर सकता है। स्थल में उसका वह गर्व संभव हो सकता था, किन्तु जल में उसका वह गर्व चकनाचूर हो गया। गज ने ग्राह से छूटने को शक्ति भर सब उपाय किये। उसे अपने बल का, परिवार का, प्रेम का, प्रभाव का, पुरुषार्थ का, प्रतिभा का तथा अन्याय गुणों का बड़ा भरोसा था। एक एक करके आज उसने सबकी परीक्षा की। पहिले तो उसने स्वतः ग्राह की अवज्ञा करके अपनी पूरी शक्ति लगाई, किन्तु ग्राह टस से मस भी न हुआ हाथी अपने को छुड़ा न सका। समीप में ही खड़ी हथिनियाँ, तथा बच्चे चिंघाड़ रहे थे, रो रहे थे, बिलबिला रहे थे, छटपटा रहे थे, अपने यूथपति के लिये आँसू बहा रहे थे, किन्तु उनका रोना धोना व्यर्थ था। तब गजराज ने साहस करके अपनी भाषा में सब को डाँटते हुए कहा—"रोने धोने से क्या होगा, कुछ उद्योग करना चाहिए। एक काम करो, यहाँ जल में खड़े खड़े मैं पूरा बल नहीं लगा सकता। बच्चों को एक ओर करदो। एक युवक मेरी सूँड़में सूँड़ डालो दूसरा उसकी पूछ को अपनी सूँड़ से कसले ऐसे ही एक दूसरे से कसकर शृंखलाबद्ध हो जाओ तीर पर जाकर सब मिलकर बल लगाओ। मैं भी बल लगाऊँगा इस प्रकार इस ग्राह को लिये हुए ही हम सम्मिलित शक्ति से बाहर हो जायँगे बाहर पहुँच कर इसे मार डालेंगे।"

अन्य हाथियों और हाथिनियों ने ऐसा ही किया, वे सब मिलकर ग्राह को खींचने लगे, किन्तु आश्चर्य की बात कि बाहर निकलना तो पृथक रहा ग्राह सबको और गंभीर जल में खींचने लगा। जब अन्य हाथियों ने देखा, इसके साथ तो हम भी जा रहे हैं, तुरन्त वे प्राणों के लोभ से उसे छोड़कर भाग गये। गज अब अकेला रह गया। उससे यूथ के इतने व्यक्ति विपत्ति में

कुछ भी काम न आये। वह मृत्यु की घड़ियाँ गिनने लगा। उसकी बुद्धि कुंठित हो गई पुरुषार्थ नष्ट हो गया, उत्साह शिथिल पड़ गया, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने में वह असमर्थ हो गया। ग्राह तो जल का ही जन्तु था, वह तो अपने घर में ही था, उसका तो दिन दिन बल बढ़ता जाता था, किन्तु यह तो स्थल का जीव था, पानी के अतिरिक्त कोई आहार भी नहीं था, दूसरे ग्राह के फँदे में फँसा था, इसका बल नित्य क्षीण होता जाता था। इस प्रकार उसे ग्राह से युद्ध करते करते सहस्र वर्ष बीत गये, अर्थात् बहुत समय हो गया। देवता, दानव तथा अन्य जीव जन्तु विपत्ति में भी उसके ऐसे साहस को देखकर अत्यधिक विस्मित हुए।

गज को जब पूर्ण निश्चय हो गया कि अब मेरा बल पुरुषार्थ कुछ भी काम न देगा, तब पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण उसको एक सद्बुद्धि उत्पन्न हुई। उसने सोचा—"मैं अपनी पूरी शक्ति लगा चुका। जिन साथी, संगियों, पुत्र पौत्रों का भरोसा था, वे भी मुझे विपत्ति में फँसा देखकर भग गये। अब मैं सर्वथा असमर्थ हो चुका हूँ। अब तक मैं अपने को सबल समझता था अब मैं निर्बल बन चुका हूँ। मैंने सुना है निर्बल के बल राम हैं, क्यों न मैं उन्हीं राम की शरण में जाऊँ क्यों न उन्हीं के गुण गाऊँ, क्यों न उन्हें ही अपने स्तोत्रों से रिझाऊ, क्यों न उन्हे ही रोकर अपनी सहायता के लिये बुलाऊँ।"

परमहंस चूड़ामणि भगवान् शुकदेव महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! ऐसी सद्बुद्धि उत्पन्न होने पर गज को एक नूतन स्फूर्ति मिली। उसके उत्साह की वृद्धि हुई। उसने अपने बल पुरुषार्थ का सहारा छोड़ दिया, जीवन मरण की आशा में सम भाव रखकर वह देवाधिदेव भगवान् की भक्ति

भाव से स्तुति करने को प्रस्तुत हुआ। सब ओर की आशाओं को छोड़कर उसने एक मात्र श्री हरि में ही अपनी समस्त चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित कर दिया। वह गद्गद् कंठ से आंखों से अश्रु विमोचन करता हुआ, भव भयहारी भगवान् की स्तुति करने लगा।

छप्पय

कबहूँ जल भरि सूँड़ बधुनि के अंग उड़ेलै।
कबहूँ मारै हुड्ड पकरि कैं दूरि ढकेलै॥
यों ह्वै कैं मदमत्त ज्ञान विज्ञान बिसार्‌यो।
कुंजर करत कलोल काल नहिं निकट निहार्‌यो॥
चट आवा तहँ ग्राह इक, पद पैर पकर्‌यो जकड़ि।
कछु न गिन्यो बल दर्पतैं खींचे तिहि पुनिपुनि अकड़ि॥

गज की भगवत् स्तुति ।

[५०५]

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम् ।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयात्,
मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥*
(श्री भा० ८ स्क० २ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

पूरो करयो प्रयत्न यथामति शक्ति लगाई ।
करी अनेकों युक्ति एक हू काम न आई ॥
ग्राह सलिल को जन्तु बढ़ै नित नित वह बल महँ ।
भगे संग के छोड़ि होहि गज निर्बल जल महँ ॥
अन्य शरन जब नहिं लखी, शरण गही घनश्याम की ।
करे शिथिल साधन सबहिं, टेर करी हरि नाम की ॥

जीव जब तक अपने बल भरोसे रक्षा चाहता है, तब तक

---

*गजराज भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहा है—"मैं उसका नाम रूप नहीं जानता जो भी कोई ईश्वर है, जो प्रचण्ड वेग से काल रूप बली सर्प के भय से भयभीत होकर भागते हुए शरणागत व्यक्तियों का परिपालन करता है। मृत्यु भी जिसके भय से भाग जाता है, उसी प्रभु की शरण में हम प्राप्त हैं।

उसकी रक्षा नहीं होती। जब सब कुछ भूल कर त्राण का अन्य उपाय न लखकर अशरण शरण की शरण में जाता है, जब सर्वात्मभाव से अपने को उन्हीं के ऊपर छोड़ देता है, तब वह निर्भय हो जाता है। सर्वत्र जीव को मृत्यु का ही भय है। जो स्वयं मरणधर्मा हैं, जिनका स्वयं एक दिन विनाश अवश्यम्भावी है, वे दूसरे की रक्षा कैसे कर सकते हैं? अमृतत्व की प्राप्ति तो अजन्मा अखिलेश श्री हरि की ही शरण में जाने से ही हो सकती है।

श्री शुकदेव जी कह रहे हैं—"राजन्! जब सब ओर से निराश होकर गज ने अपने हृदय में हृदयेश श्रीहरि का ही ध्यान करना निश्चय किया, तब वह दिव्य स्तोत्र से श्रीहरि की स्तुति करने लगा।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! हाथी कैसे स्तुति कर सकता है? वह न पढ़ा न लिखा, पशु होकर वह शुद्ध संस्कृत में स्तोत्रों द्वारा भगवान् की स्तुति करे, यह बात तो असंभव सी जान पड़ती है।"

इसपर श्रीशुक बोले—"महाराज, असंभव कोई बात नहीं। भगवान् की सृष्टि में सब सम्भव है। शुक कितनी शुद्ध मनुष्य वाणी बोलता है, शुक से भी सुन्दर बड़ा तोता जो विविध रंगों का होता है, वह बोलता है। आप जो कहें तुरन्त उसे ज्यों का त्यों सुना देता है। यह हाथी यद्यपि इस जन्म में पढ़ा नहीं था, किन्तु पूर्वजन्म में इसने भगवान् की ही उपासना की थी। राजन्! शुभ कर्मों का फल कभी नष्ट नहीं होता। इसलिये गज को इस समय विपत्ति में पूर्वजन्म की विद्या स्मरण हो आई। जैसे वह पूर्वजन्म में भगवान् की

स्तुति करता था, भगवत् कृपा से वैसे ही वह स्तुति करने लगा।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! पहिले क्यों नहीं इसे स्मरण हुआ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! पहिले तो वह अपने बल, पुरुषार्थ प्रभाव के मद में उन्मत्त था। पूर्वजन्म का स्मरण तप से होता है। एक सहस्र वर्ष पर्यन्त बिना कुछ खाये वह जल में खड़ा रहा, यही उसकी महान् तपस्या हो गई। फिर उसने अपना समस्त बल पुरुषार्थ प्रभु पाद पद्मों में समर्पित कर दिया। सर्वतोभावेन उसने आत्मसमर्पण कर दिया तब तो पूर्वजन्म की स्मृति होनी ही चाहिये। इसीलिये उसने इतने अद्भुत स्तोत्र से भगवान् की स्तुति की, कि कोई भी दुख में फँसा प्राणी, सच्चे हृदय से भगवान् की उस स्तोत्र से विनती करेगा, तो उसका दुःख अवश्य ही दूर हो जायगा।"

यह सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूत जी! उस दिव्य स्तोत्र को आप हमें भी सुनावें।"

इसपर सूतजी बोले—"भागवती समस्त दिव्य स्तोत्रों को मैं एक साथ ही सुनाना चाहता हूँ, अतः आप इस समय अपने उस अद्भुत स्तोत्र को श्रवण करने के लोभ को संवरण करें। आगे की कथा को सुनें। वह तो नित्य पठनीय स्तोत्र है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है कथा ही कहिये। कथा भी तो अमृत तुल्य है।"

सूत जी बोले—"मुनियो! गज ने अपने सूँड़ में एक नाल सहित कमल लेकर अत्यन्त ही आर्त वाणी में सर्वान्तर्यामी अखिलेश श्रीहरि की स्तुति की और स्तुति के अन्त में कहा—"प्रभो! आप यह न समझें कि मैं जीवित रहने के

निमित्त यह स्तुति कर रहा हूँ। ऐसी बात नहीं भगवन्! इस तमोमय अज्ञान से आवृत हाथी की योनि में मुझे सुख ही क्या है। इस योनि में तो मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है। आत्म-प्रकाश से हीन होकर मैं पशु योनि में जीकर क्या करूँगा? हे सर्वान्तर्यामिन्! मैं तो अज्ञान से मुक्त होना चाहता हूँ। इसी निमित्त मैं इस विश्व के कर्ता भर्ता, संहर्ता सर्वान्तर्यामी अच्युत की स्तुति कर रहा हूँ, जो विश्व रूप होते हुए भी विश्वातीत हैं। यह विश्व जिन की क्रीड़ा का उपकरण मात्र है, जो अजन्मा होते हुए भी विश्वात्मा हैं उन परात्पर प्रभु का मैं स्मरण करता हूँ। जिनकी माया से आवृत होकर अहंता ममता के वशीभूत होकर जीव जिनके यथार्थ रूप को नहीं जान सकता, उन अपरिमेय शक्ति वाले महामहिम महेश्वर के पाद पद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! गजेन्द्र ने किसी एक देव का नाम नहीं लिया उसने निर्विशेष भाव से भगवान् की स्तुति की। इन्द्र त्रिलोकेश कहाते हैं, अतः देवताओं ने कहा—"विभो! आप जाकर उस भयग्रस्त गज का उद्धार करें।"

इन्द्र ने कहा—"भाई, उसने एक बार भी वृत्रहन्ता, वज्रधारी, शचीपति, नाकपति तथा शतक्रतु आदि मेरा एक भी नाम तो लिया नहीं मैं उसकी रक्षा करने कैसे जा सकता हूँ?"

तब देवताओं ने प्रजापति ब्रह्मा जी से कहा। ब्रह्माजी ने कहा—"उसने न कमलासन कहा, न चतुर्मुख न ब्रह्मा और न विधि, मैं उसकी रक्षा के लिये कैसे जा सकता हूँ?"

देवताओं के लिये एक कुतूहल हो गया, उन्होंने शिवजी

से कहा। शिवजी ने कहा—"यद्यपि मैं महादेव हूँ। किन्तु पता नहीं, वह किस देव को बुला रहा है। मैं गया और कोई दूसरा देव भी आ गया तो हम में ही कहा सुनी हो जायगी। अतः वह तो निर्विशेष देव की स्तुति कर रहा है।

देवता दौड़े दौड़े हरि भगवान् के समीप पहुँचे और जाकर उनकी स्तुति करने लगे। उन्होंने देखा भगवान् बड़े व्यग्र हैं। उन्होंने उसी क्षण गरुड़ का आवाहन किया था। गरुड़जी भी व्यग्र हुए उड़ने को समुत्सुक थे। भगवान् को और उनके वाहन विनतानन्दन गरुड़ को इस प्रकार व्यग्र देखकर देवताओं को कुछ भी कहने का साहस नहीं हुआ। वे एक ओर खड़े होकर हरिणीनन्दन भगवान्हरिमेधा आनन्दवर्धन प्रभु की स्तुति करने लगे। उनकी स्तुति की ओर ध्यान न देकर भगवान् अत्यन्त ही शीघ्रता के साथ गरुड़ जी की पीठ पर सवार हुए। गरुड़ जी वायु वेग का भी तिरस्कार करके मनोवेग के सदृश उड़े। देवता भी पीछे पीछे स्तुति करते हुए वंदियों की भांति अपने अपने विमानों पर चढ़ कर प्रभु का अनुगमन करने लगे।

छप्पय

हे हरि ! अशरन शरन दीन दुख मेटन हारे।
हे करुना के अयन ! प्रनत-प्रन पालन वारे॥
आइ ग्रस्यो तम ग्राह सच्चिदानन्द उबारो।
कैसे हू करि कृपा कष्ट हरि हरो हमारो॥
निर्विशेष विनती सुनी, नहिँ आये सुर अन्य जब।
गरुड़ध्वज चढ़ि गरुड़ पै, आये गज ढिँग तुरत तब॥

गज और ग्राह का उद्धार

(५०६)

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशुसरसः कृपयोज्जहार ।
ग्राहाद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रम्
संपश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम् ॥*
(श्री भा० ८ स्क० ३ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

विनती गद् गद् कंठ करै नयननि कूँ मूँदे ।
गजकूँ निरख्यो विकल गरुड तैं श्री हरि कूदे ॥
एक हाथ तैं पकरि ग्राह सँग गजहिं उबारयो ।
जल तैं बाहर कर्‌यो चक्र तैं मुहड़ौ फारयो ॥
नयनानंद निहारि हरि, शान्ति हृदय गज के भई ।
भवभयहारी विष्णु ने, मुक्ति ग्राह हू कूँ दई ॥

हरि तब तक प्रकट नहीं होते, जब तक जीव को अपने पराये या और भी किसी के बल पौरुष की आशा रह जाती

---

*श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! अजन्मा श्री हरि गज को अत्यन्त पीडित देखकर सहसा गरुड़ से उतर पड़े। और अत्यन्त ही कृपा पूर्वक उसे ग्राह सहित तुरन्त सरोवर से बाहर निकाल लिया। फिर समस्त देवताओं के देखते देखते भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से नक्र का मुख फाड़कर गज का उद्धार किया।

है। भगवान् तब प्रकट होते हैं जब मनुष्य अनन्य हो जाता है। श्वेतद्वीप में जो जाता है, उसे ही भगवान् के दर्शन होते हैं, क्योंकि भगवान् वहाँ नित्य ही अपने दिव्य रूप से निवास करते हैं। एक बार एकत, द्वित और त्रित नामक तीन महर्षि अपनी तपस्या के प्रभाव से श्वेतद्वीप में पहुँच गये। वहाँ के रहने वाले जन सभी चतुर्भुज होते हैं, सभी के हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म रहते हैं। इन तीनों महर्षियों ने वहाँ के निवासी पुरुषों के तो दर्शन किये; किन्तु श्वेतद्वीप में जाने पर भी उन्हें भगवान् के दर्शन नहीं हुए। तब तो उन्होंने आश्चर्य चकित होकर इसका कारण पूछा। कुछ भी उत्तर न मिलने पर वे बड़े चिन्तित हुए। तब आकाश वाणी हुई, कि तुम्हारी मुझमें अनन्य अनपायिनी भक्ति नहीं है। अब तुम मेरे इस लोक से लौट जाओ, इस लोक के और यहाँ के निवासियों के दर्शन हो गये यही तुम्हारे तप का फल पर्याप्त है। वे सब लोग लौट आये। इसके पश्चात् नारदजी गये। उन्हें जाते ही भगवान् के दर्शन हुए। उन्होंने इसका कारण पूछा तो भगवान् ने बताया तुम्हारा मेरे प्रति अनन्य भाव है, इसीलिये तुम्हें सरलता से मेरे दर्शन हो गये। उन ऋषियों को कुछ अन्य इच्छायें भी थीं, कुछ मेरी भी इच्छा थी, ऐसी मिली जुली भक्ति से मेरा प्रसाद प्राप्त करना दुर्लभ है। अहैतु की अव्यभिचारिणी अनन्य भक्ति से मैं प्रसन्न होता हूँ।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! गजेन्द्र को पूर्वजन्म का ज्ञान हो गया था। अब वह कुटुम्ब, परिवार, पुत्र, पौत्र यहाँ तक कि इस गज शरीर से भी विरक्त हो गया था। उसकी डोरी श्यामसुन्दर के चरणों में लग रही थी। शनैः शनैः उसकी सब वासनायें क्षीण हो गई थीं, सब ओर से

आशा हट चुकी थी। जब बल घट गया, और ग्राह उसे निर्बल समझ अथाह जल में खींच कर ले जाने लगा, तब गज का सब शरीर डूब गया। केवल सूँड़ डूबने से शेष रह गई थी। हाथी की जब तक सूँड़ नहीं डूबती, तब तक वह कितने भी अथाह जल में चला जाय, उसे कोई भय नहीं। अब तो सूँड़ भी डूबने लगी, अनन्यता बढ़कर पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। जौ भर सूँड़ डूबने को शेष थी। गजराज ने समझा अब तो प्राण गये, अन्त समय मुख से भगवान् का नाम उच्चारण हो जाय, तो समस्त साधना पूरी हो जाय। यही सोचकर उसने कमल उठाकर नारायण नाम ज्योंही लिया त्योंही उसे आकाश में गरुड़ पर चढ़े चतुर्भुज श्रीहरि भगवान् के दर्शन हुए। अब क्या था, गज का हृदय पुलकित हो उठा। उसने सोचा—"भगवान् तो अभी आकाश में बहुत दूर हैं, गरुड़जी उतरते उतरते ही उतरेंगे तब तक मैं तो डूब ही जाऊँगा। क्योंकि अब डूबने में पल भर का भी विलम्ब नहीं। सर्वान्तर्यामी प्रभु उसके मनोगत भाव को समझ गये। गरुड़ जी की पीठ में बार बार ऐड़ मारने लगे। गरुड़जी इतने वेग से उड़ने के कारण थक गये थे। अतः भगवान् वहीं से गरुड़ की पीठ रप से सरोवर के बीचोंबीच कूद पड़े और हाथी के पिछले पैर को पकड़ कर इतने वेग से खींचा कि गज को लिये हुए ग्राह को किनारे ले आये। वहाँ आकर चक्र सुदर्शन से नक्र के मुख को फाड़ दिया। मुख फटते ही पैर बाहर निकल आया। गज का बन्धन छूट गया। "बोल दे बन्धन हारी हरि की जय।" जय जयकार से आकाश गूँज उठा देवताओं ने पुष्पों की वृष्टि की, दुन्दुभी बजाई। अप्सरायें नृत्य करने लगीं, गन्धर्व गाने लगे। सर्वत्र आनन्द उत्साह छा गया। ऋषि,

मुनि, सिद्ध तथा चारण आदि आ आ कर भगवान् के प्रबल

पराक्रम की और भक्त वसलता आदि गुणों की गाकर स्तुति करने लगे।

राजा ने पूछा—"प्रभो! गज तो भगवान् का भक्त था, उसका तो उद्धार होना ही था, किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ, कि जिसने भगवद् भक्त का पैर पकड़ा था उसकी क्या

दशा हुई। क्या भक्त का पैर पकड़ने वाला मरकर नरक में गया ?

यह सुनकर श्री शुकदेव जी हँस पड़े और बोले—'राजन्! भगवद् भक्तों के पैर पकड़ने वालों की भला कभी दुर्गति हो सकती है। वह उसी क्षण दिव्य रूप धारण करके और सुवर्ण के समान चमचमाते विमान पर चढ़कर तुरन्त निष्पाप होकर गन्धर्व लोक को चला गया।

इस पर महाराज ने पूछा—"प्रभो! यह ग्राह कौन था? किस कारण इसे ग्राह योनि प्राप्त हुई यह गन्धर्व लोक को क्यों गया? मैं इसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ।

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! यह ग्राह पूर्व जन्म में गन्धर्वों में श्रेष्ठ हूहू नामक गन्धर्व था। हाहा और हूहू ये दो गन्धर्व गायन में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। एक दिन हूहू गन्धर्व गंगाजी में अपनी स्त्रियों के साथ जल विहार कर रहा था। मद में मत्त हुआ वह अपने आपे को भूले हुए था। अनेक प्रकार से मुँह बना कर वह स्त्रियों को हँसा रहा था। नाना प्रकार से जल के छींटे डालकर उन्हें प्रसन्न कर रहा था। उसकी गन्धर्विणियाँ भी मद में मदोन्मत्ता बनी उसके साथ हँस रही थीं, खेल रही थीं, नाना प्रकार की उसके साथ काम क्रीड़ायें कर रही थीं, समीप में ही महर्षि देवल सन्ध्या वन्दन कर रहे थे। उस कामी को एक कुतूहल सूझा। उसने सोचा जल के भीतर शनैः शनैः जाकर मुनिका पैर पकड़ लें। इससे वे अपनी दाढ़ी जटाओं को हिलाकर चौंक पड़ेंगे। उनके चौंकने पर मेरी ये प्रियतमायें खिलखिला कर हँस पड़ेंगी, बड़ा आनन्द आयेगा। अति सुन्दर विनोद होगा। यही सोचकर वह डुबकी मार कर जल के भीतर ही भीतर गया और मुनि का फंस कर पैर पकड़

लिया। मुनि सूर्य का उपस्थान कर रहे थे। पैर पकड़ते ही चौंक पड़े। उनके चौंकते ही गन्धर्व निकल आया। स्वयं भी हँसने लगा और उसकी गन्धर्विणी भी हँस पड़ी।"

मुनिको उसकी इस अवज्ञा पर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने तुरन्त शाप दे ही तो डाला—"तैंने ग्राह की भाँति आकर मेरा पैर पकड़ा है अतः तू ग्राह होजा।"

हँसी में खँसी होगई, रङ्ग में भंग पड़ गया। गन्धर्व को अपनी भूल मालूम हुई, किन्तु अब होता क्या है, बाण तो धनुष से छूट चुका था, वह लक्ष्य भेद किये बिना लौटने वाला नहीं। गन्धर्व का मुख फक पड़ गया। उसने हाथ जोड़कर बिनती की, "प्रभो! मैंने यह सब विनोद में किया था।"

मुनि ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"विनोद बराबर वालों से किया जाता है। जो सन्ध्या में मग्न हों, अपने से ज्येष्ठ हों उनसे असमय में ऐसा विनोद उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं किया जाता। मैंने तो कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला अतः मेरा वचन मिथ्या नहीं हो सकता।"

दीनता के स्वर में हूहू गन्धर्व ने कहा—"महाराज मेरे उद्धार का कोई उपाय बतादें।"

मुनिका क्रोध शान्त हो चुका था। इन ब्राह्मणों के वचन वज्र के समान होते हैं, हृदय नवनीत से भी अधिक कोमल होता है, क्रोध इनका पानी की लकीर के समान होता है। आया और मिट गया। मुनि उसकी बिनती पर प्रसन्न होगये और बोले—"अच्छी बात है, ग्राह तो तुझे होना ही पड़ेगा, किन्तु अन्त में जब तू किसी गज का पैर पकड़ेगा तब भगवान् स्वयं साक्षात् चतुर्भुज रूप से तुझे दर्शन देंगे। तब तू उनके दर्शनों से निष्पाप

होकर उस तमोगुणी योनि को त्यागकर पुनः अपना दिव्य रूप प्राप्त करेगा।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वही हूहू गन्धर्व भगवान् के चक्र के स्पर्श से पाप मुक्त होकर आश्चर्यमय दिव्य शरीर वाला गन्धर्व होगया। उसने उत्तमश्लोक कीर्तिधाम, अविनाशी, कीर्तनीय गुणवाले जगदीश्वर के पाद पद्मों में प्रणाम करके उनके सुयश का गान किया। भगवान् उसके गायन से अत्यत प्रसन्न हुए उसे अभीष्ट वर दिया। वह भी प्रभु प्रसाद और दिव्यरूप प्राप्त करके निष्पाप होकर अपने धामको चला गया। राजन्! यह मैंने ग्राह के पूर्व जन्म का वृत्तान्त कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?

छप्पय

ग्राह योनि तजि भयो तुरत गन्धर्व मनोहर।
पूर्व जन्म महँ करत रह्यो क्रीड़ा जल अन्दर॥
देवल मुनि को चरन हँसी महँ हूहू पकर्‍यो।
चौंके मुनि ह्वै भीत तबहिँ हँसि बाहर निकर्‍यो॥
समुझि अवज्ञा शाप तब, ग्राह बनन को दै दयो।
सुरगायक गन्धर्व सो, नक्र शाप वश ह्वै गयो॥

गजेन्द्र के पूर्व जन्म का वृत्तान्त।

[५०७]

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद् विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः॥
स वै पूर्वमभूद्राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः॥*

(श्री भा० ८ स्क ४ अ ६, ७ श्लो०)

छप्पय

पूर्व जन्म गज चरित मुनी श्रद्धातैं अब तुम।
इन्द्रद्युम्न द्रविडेश हतो राजा सुरपति सम॥
ध्यान मग्न इक दिवस रह्यो मलयाचल माहीं।
शिष्यनि सहित अगस्त्य गये नृप निरखे नाहीं॥
करे तपस्या मौन है, बाल बढ़े मत महँ निरत।
अतिथि धर्म तैं च्युत निरखि, मुनि अगस्त्य कोपे तुरत॥

अतिथि धर्म की शास्त्रकारों ने बड़ी प्रशंसा की है। अतिथि

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् का स्पर्श होते ही गजराज अज्ञान बन्धन से विमुक्त हो गया। वह चतुर्भुजी और पीताम्बर धारी होकर भगवत् रूप को प्राप्त हो गया। महाराज! यह पूर्वजन्म में द्रविड सत्तम, पांड्य देश का प्रख्यात इन्द्रद्युम्न नाम का राजा था और सदा भगवान् विष्णु सम्बन्धी व्रत उपासना में तत्पर रहता था।

को मनुष्य समझना पाप है। अतिथि तो भगवान का स्वरूप है। भगवत् बुद्धि से ही उसकी पूजा करनी चाहिए। जो अभिमान में भरकर अपने तप, तेज, प्रभाव बड़प्पन आदि के कारण अतिथि का अपमान करते हैं, वे उस अपराध से अधोगति को प्राप्त होते हैं। अतिथि जब भी आ जाय तब ही उसका सत्कार करना चाहिये। जप, तप, पूजा, पाठ सब अतिथि के लिये है। यदि हमारी सेवा से अतिथि सन्तुष्ट हो गया, तब तो हमारे सब साधन सार्थक हैं और यदि हमारे किसी भी व्यवहार से अतिथि रुष्ट हो गया, तो समझो हमारा सब कुछ किया कराया निरर्थक हो गया।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! मैंने तुम्हें ग्राह के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुना दिया, देवल मुनि के शाप से हूहू गन्धर्व ही ग्राह बन गया था। आज भगवान् का स्पर्श पाते ही वह इस अधम योनि को त्याग कर दिव्य पुरुष बन गया।"

इस पर राजा ने कहा—"भगवन्! ग्राह का तो पूर्व चरित आपने सुनाया, किन्तु यह नहीं बताया, वह परम भागवत गजेन्द्र पूर्व जन्म में कौन था? महाराज! यह भी कोई पुण्यात्मा सुकृति ही रहा होगा, नहीं तो महातमोमय गज योनि में इस प्रकार की अनन्य भावना असंभव ही है।"

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन्! मैं गजेन्द्र के पूर्व जन्म का वृत्तान्त आपको सुनाता हूँ, आप इसे सावधान होकर श्रवण करें। यह परम पुण्यप्रद यश को बढ़ाने वाला भगवद् भक्ति वर्धक आख्यान है। महाराज! पूर्वकाल में दक्षिण देश के पांड्य नाम के देशों में एक बड़े ही यशस्वी राजा थे। द्रविड देश में वे नरपति बड़े ही यशस्वी, तेजस्वी, तपस्वी और विष्णु-

भक्त माने जाते थे। उनका नाम था इन्द्रद्युम्न। वे बहुत काल तक अपनी प्रजा को पुत्र की भाँति पालन करते रहे। जब उन्होंने देखा मेरी आयु ढल रही है, तो राज्य को पुत्र को सौंप कर वे तपस्या करने मलयाचल के पुण्य प्रदेश में चले गये जहाँ भगवान् का नित्य निवास है, जो दक्षिण देश में परम पुण्य प्रद तीर्थ समझा जाता है, ऐसे पर्वत पर जाकर पृथिवी-पति वानप्रस्थ होकर तपस्या करने लगे। मलयाचल के मनोहर प्रान्त में जहाँ सुन्दर सुस्वादु सलिल के झरने झर रहे हैं, जहाँ की पत्तियाँ भी मधुर हैं उसी देश में रह कर वे घोर तप करने लगे। उन्होंने ग्राम्य आहार का परित्याग कर दिया था। कन्द मूल फलों पर वे निर्वाह करते थे, बाल न बनवाने के कारण उनकी जटायें बढ़ गई थीं। मौनी बन कर वे निरन्तर जप में निरत रहते थे।

एक दिन महाराज प्रातः कालीन नित्य कर्मों से निवृत्त होकर एकान्त में बैठकर वाणी का संयम करके सर्वान्तर्यामी श्री हरि की आराधना कर रहे थे। उसी समय दैवयोग से घूमते घामते समुद्र को सोख लेने वाले महातपस्वी भगवान् अगस्त्य मुनि अपने शिष्यों सहित वहाँ आ गये। राजा ने आते हुए मुनि को देख कर भी नहीं देखा। महाराज को यह तो विदित हुआ कि कुछ ऋषि मुनि आये हैं, किन्तु यह सोचकर कि मैं तो भगवान् की आराधना कर रहा हूँ, ऐसे अवसर पर उठना उचित नहीं। यही सोचकर वे चुपचाप बैठे रहे। प्रतीत होता है, महर्षि धूप में थके हुए इस आशा से आये थे, कि राजा हमारा अतिथि सत्कार करेंगे, कन्द मूल फलों को अर्पित करके सम्मान प्रदर्शित करेंगे। वह सब होना तो दूर रहा, राजा ने वाणी से भी सत्कार नहीं किया।

इस पर मुनि को बड़ा क्रोध आगया। उन्होंने क्रोध में भरकर राजा को शाप देते हुए कहा—"अरे मूढ़ ! हमारे आने पर भी तू हाथी की भाँति बैठा ही रहा, अतः जा तू हाथी हो जा।" इतना कह कर अगस्त्य मुनि फिर वहाँ क्षण भर भी नहीं ठहरे। अपने साथियों के सहित शीघ्र ही उस स्थान से अन्यत्र चले गये।

राजा ने मुनि का शाप सुना, उन्हें क्रोध में भरकर जाते हुए भी देखा, किन्तु न तो राजा ने उन्हें रोका और न उनसे शाप विमोचन के लिए अनुनय विनय की। राजा ने सोचा—"देखो, यह लोकोक्ति सत्य ही है, कि 'हवन करते हाथ जलते हैं" कहाँ तो मैं घर द्वार, कुटुम्ब परिवार तथा राजपाट परित्याग करके यहाँ जंगल में एकान्त में आराधना करने के निमित्त आया था। कहाँ यहाँ भी मेरे सिर पर शाप का पहाड़ टूट पड़ा। सत्य ही है प्रारब्ध को मेंटने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। इसमें भी मंगलमय भगवान् का कोई शुभ विधान ही है।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी ! यह तो आपने बड़ी अद्भुत कथा सुनाई। महाभाग महाराज इन्द्रद्युम्न का अपराध ही क्या था, भगवान् की आराधना कर रहे थे। इसी पर मुनि ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया।"

इस पर परीक्षित् जी बोले—"भगवन् ! आप सब जानते हैं। कौन किसे सुख दुख दे सकता है ? शाप अनुग्रह करने की किसकी सामर्थ्य है। महाराज ! समस्त प्राणी अपने कर्म सूत्र में बँधे हैं। प्रारब्ध का जैसा विधान होता है, वैसे ही बानक बन जाते हैं, राजा का कोई ऐसा ही अदृष्ट था। अगस्त्य मुनि तो एक निमित्तमात्र बन गये। नियमानुसार राजा को जब यह

विदित हो गया था, कि कोई मुनि मेरे आश्रम पर आये हैं, तो भजन से बढ़कर अतिथि सत्कार को समझकर उन्हे उठकर मुनि का स्वागत सत्कार करना चाहिये था। भूल में ही सही उनसे महत् अपराध हो ही गया। जैसी भवितव्यता होती है वैसे ही विधान बन जाते हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"तब तो सूतजी, इतने दिन का जप, तप, पूजा, पाठ, आराधना, उपासना सब व्यर्थ ही हो गई। हाथी योनि में क्या साधन हो सकता है?"

इस पर शीघ्रता से सूतजी बोले—"नहीं महाराज! शुभ कार्य कभी भी व्यर्थ नहीं होते। भगवान् की उपासना अमोघ होती है। भगवत् प्राप्ति सहज नहीं। अनेक जन्मों की घोर तपस्या के अनन्तर भगवत् प्राप्ति होती है। कोटि जन्मों के पुण्यों के प्रभाव से पुरुषों की प्रभु पाद पद्मों में भक्ति होती है। महाराज इन्द्रद्युम्न तो अपनी भगवद् भक्ति के कारण उसी जन्म में प्रभु को प्राप्त कर लेते, किन्तु कोई जन्मान्तर का दुष्कृत उदय हो गया, इससे उन्हें कुछ काल तमोमयी गज योनि में रहना पड़ा। पशु योनि प्राप्त करके भी उनका ज्ञान अक्षुण्ण बना रहा। तभी तो उन्होंने पशुयोनि में ऐसी दिव्य स्तुति की। उनकी आराधना का ही फल था, कि स्मरण करते ही स्वयं साक्षात् श्री हरि चतुर्भुज रूप से उनके सम्मुख उपस्थित हुए और उन्हें घोर संकट से उबारा। भगवान् का त्रैलोक्य वंदित मनोहर मुख देखते देखते वाणी से उनके सुमधुर नामों का कीर्तन करते करते उन्होंने उस गज शरीर को त्यागा।

गज के शरीर को त्यागते ही उनका रूप चतुर्भुज हो गया। चारों हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मशोभा देने लगे। पीताम्बर को धारण करके वह भगवान का दिव्य पार्षद

वह भगवत् सारूप्यता को प्राप्त हो गया। मनुष्य योनि में भी जो दुर्लभ वस्तु है, वह उसने पूर्व जन्म की आराधना के प्रभाव से पशु योनि में प्राप्त कर ली।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षत् से कहते हैं—"राजन! यह मैंने चतुर्थ मन्वन्तरावतार भगवान् हरिका परम पावन चरित्र आप से कहा। गज और ग्राह दोनों का ही उद्धार करके वैकुंठ पति भगवान् हरि गरुड़ पर चढ़कर अपने भवन को चले गये। उनके पीछे पीछे गंधर्व गाते जाते थे, ऋषि मुनि और नित्य पार्षद उनकी स्तुति करते जाते थे।

महाराज! यह गजेन्द्र मोक्षण नामक श्री हरि का चरित्र परम धन्य है, यश को बढ़ाने वाला है। सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है जो इसे श्रद्धा पूर्वक सुनेंगे सुनावेंगे उनके समस्त मनोरथ पूर्ण होंगे और उनकी भगवान् के चरणों में अहैतुकी भक्ति होगी। अतः मंगल चाहने वालों को इसका नित्य पाठ करना चाहिये।

छप्पय

बोले मुनिवर 'अधम' ! करै तू अतिथि निरादर।
दैकें क्षत्रिय नहीं करै विप्रनि को आदर॥
गज सम बैठ्यो रह्यो होइ तू जड़ मति गजई।
दैकें दारुन शाप गये तत् क्षण मुनि तब ई॥
हर्ष न विस्मय नृपति कूँ, समुझि दैव गति रहि गये।
ते ई दूसर जन्म महँ, पारसेन्द्र भूपति भये॥

गज ग्राह चरित्र की समाप्ति

(५०८)

एतन्महाराज तवेरितो मया,
कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम्, ।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहम्,
दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

करि गज को उद्धार भये आनंदित श्रीहरि।
बोले करुना सिन्धु सबनि कूँ सम्बोधित करि।
ये मेरे हैं रूप कंदरा वन गज सरवर।
विधि हरि हर के धाम बाँस पर्वत गिरि गह्वर॥
शेष शारदा सप्त ऋषि, सूर्य चन्द्र ध्रुव धर्म हैं।
गंगा यमुना सरसुती, यज्ञ आदि शुभ कर्म हैं॥

श्री हरि जहाँ अवतार धारण करके क्रीड़ा करते हैं वह स्थल पवित्र हो जाता है, वहाँ की धूलि पावन बन जाती है,

---

* श्री शुकदेवजी राजा परिक्षित् से कह रहे हैं—"हे महाराज! यह श्रीकृष्ण कृपा रूप गजेन्द्र मोक्षण चरित मैंने आप को सुना दिया। यह चरित्र धन्य है, कलि कल्मषों को काटने वाला है, स्वर्ग देने वाला है, दुःस्वप्नों का नाश करने वाला है। हे राजन्! सुनने वालों को यह सुयश देने वाला है।

वहाँ के वृक्ष, गुल्मलता, सरोवर, पर्वत, वन गिरिगह्वर तथा सभी स्थान पुण्य प्रद हो जाते हैं। जिन व्यक्तियों का भगवान् से संसर्ग होता है, वे सभी प्रातःस्मरणीय हो जाते हैं। जीव भगवत् के साक्षात्कार के बिना ही तो इधर उधर व्यर्थ भटक रहा है। जहाँ उसको भगवद् दर्शन हुए वहीं कृतकृत्य बन गया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् ने गज और ग्राह दोनों का उद्धार किया और वे दोनों ही दिव्य धामों को प्राप्त हो कर कृतार्थ हो गये?"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो ऐसा सुना है कि इन गज ग्राह को गरुड़ जी भक्षण कर गये थे और ये दोनों सगे भाई थे और आप कह रहे हैं, ग्राह हूहू गन्धर्व था और गज द्रविण देश के महाराजा इन्द्रद्युम्न थे। इनमें से कौनसी बात सत्य है?"

इस पर शीघ्रता के साथ सूतजी ने कहा—"महाराज, दोनों ही सत्य हैं। किसी कल्प में गज ग्राह को गरुड़ जी खा गये होंगे मैं तो इस कल्प के चतुर्थ मन्वन्तर की कथा कह रहा हूँ, इस मन्वन्तर में तो हरिणीनन्दन भगवान् हरि ने ही इनका उद्धार किया। गरुड़ जी ने जो गज कछुए का भक्षण किया, वह कथा भी बड़ी रोचक है। वहाँ लड़ने वाला ग्राह न होकर कछुआ था।"

यह सुनकर शौनक जी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी! उसे भी सुनाइये। गरुड़ और गरुड़ध्वज दोनों के ही चरित्र तो समान ही हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"मुनियो! यह कथा

तो बहुत बड़ी है, मैं उसे संक्षेप से सुनाता हूँ आप सब एकाग्र चित्त से श्रवण करें।

गरुड़ जी और अरुण जी की माता विनता और सर्पों की माता कद्रू ये दोनों सगी बहिनें भी थीं और कश्यप की पत्नी होने से सौतें भी थीं। एक दिन उच्चैश्रवा की पूँछ के पीछे दोनों में वाद विवाद हो गया। विनता कहती थी पूंछ सफेद है, कद्रू कहती थी काली है। बात यहाँ तक बढ़ गई कि एक की बात असत्य होने पर वह दूसरी की जीवन भर दासी बने। वास्तव में उच्चैश्रवा की पूंछ सफेद ही थी, कद्रू ने अपने पुत्र नागों को उसकी पूंछ में लिपटा दिया, इससे वह काली दिखाई देने लगी। यों छल से कद्रू ने विनता को दासी बना लिया। जब विनता के पुत्र गरुड़ जी पैदा हुए, तो उन्होंने सब बातें सुनी। नागों से पूछा—तुम कौन सा काम कर देने पर हमें दासता से मुक्त कर सकते हो?"

नागों ने कहा—"आप हमें स्वर्ग से अमृत ला दें, तो आप और आपकी माता हमारी दासता से मुक्त हो जायँ। गरुड़जी के के लिये तो संसार में कुछ असंभव था ही नहीं। वे अमृत लाने को चल दिये। चलते समय उन्होंने अपनी माता से पूछा—"माँ! मुझे इतनी दूर इन्द्रलोक जाना है। भूख बहुत अधिक लग रही है, मैं खाऊँ क्या?"

माता ने कहा—"भैया, यहाँ पृथ्वी पर तो तेरा पेट भरना असंभव है। तू एक काम कर समुद्र के बीच में बहुत से निषाद रहते हैं। ये बड़े हिंसक, क्रूर और निर्दयी होते हैं। तू इन सब को भक्षण कर जाना। किन्तु किसी ब्राह्मण को भूल से भी मत खा जाना।"

गरुड़जी 'बहुत अच्छा' कह कर माताजी को प्रणाम कर

सर्व प्रथम उस द्वीप में ही पहुँचे। वहाँ के म्लेच्छ अनार्य देखने में तो सुन्दर थे, किन्तु उनके हृदय कलुषित थे, वे हिंसा में सदा तत्पर रहते थे। गरुड़ जी ने उन्हें खाना आरम्भ किया। सर्वत्र भगदड़ मच गई। उसी झपट्टे में उनका पुरोहित भी गरुड़ जी के कंठ में चला गया। गरुड़ जी का कंठ जलने लगा। तब उन्हें माता की बात याद आ गई। उन्होंने झट उसे उगल दिया और उसकी निषादी पत्नी को भी। इस प्रकार वे सहस्रों को खा गये, किन्तु उनका पूरा जल पान भी नहीं हुआ। आधे पेट ही वे उड़ने लगे। रास्ते में सुमेरु पर्वत पर उन्हें उनके पिता कश्यप जी मिल गये। पिता के चरणों में गरुड़ जी ने प्रणाम किया। अपने पुत्र को देखकर मुनि अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और बोले—"बेटा! कहो, सब कुशल तो है, मर्त्य लोक में तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं।"

गरुड़ जी ने कहा—"पिताजी! और तो कोई कष्ट है नहीं किन्तु कष्टात् कष्टतरी क्षुधा बताई है। मर्त्यलोक में मेरा पेट नहीं भरता। अब भी मुझे भूख व्यथित कर रही है। कोई मेरे अनुरूप आहार बताइये, जिसे खाकर मैं अपनी भूख शान्त कर सकूँ।"

यह सुनकर कश्यप जी ने कुछ काल ध्यान किया और बोले—"हाँ, तुम्हारे योग्य एक आहार है। यहाँ से समीप ही देवताओं का एक सिद्ध सरोवर है, उसमें बड़ा वारणेन्द्र हाथी है और एक जल जन्तु कच्छप है वे दोनों लड़ते रहते हैं। उन्हें सहस्रों वर्ष लड़ते हो गये। तुम उन दोनों को खाकर अपनी क्षुधा को बुझा लो।"

इसपर गरुड़ जी ने कहा—"अजी, पिताजी एक गज से तथा कच्छप से मेरा क्या पेट भरेगा, वे कितने बड़े हैं?"

कश्यपजी ने आश्चर्य की मुद्रा बनाकर कहा—"अरे, भैया! तुम उनकी लम्बाई चौड़ाई मत पूछो। हाथी २४ कोस तो चौड़ा है और ४८ कोस ऊँचा है, और कच्छप १२ कोस ऊँचा है ४० कोस का उसका घेरा है। कच्छप एक पूरा द्वीप है गज एक पूरा पहाड़ है। मेरा विचार है दोनों को खा लेने पर तेरी तृप्ति अवश्य हो जायगी।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए गरुड़जी ने कहा—"हाँ, पिता जी! इतने से तो मेरा पेट भर जायगा। अच्छी बात है, मैं जाता हूँ। यह कहकर वे उसी क्षण उड़कर उस सरोवर की ओर चल दिये।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! कभी २ तो आप ऐसी गप्प मार देते हैं, कि बुद्धि काम नहीं देती। बताइये ४८ कोस ऊँचा हाथी और ४० कोस घेरे का कच्छप। एक तो इतने बड़े जीव ही असम्भव हैं, फिर हो भी तो गरुड़जी का पेट क्या हुआ पाताल का बिवर हो गया, जिसमें इतने बड़े जीव जन्तु समा जायँ।"

इस पर सूतजी बोले—"भगवान्! ये सीमित क्षुद्र बुद्धि वाले अहंकारी अपने को बड़ा पंडित मानने वाले—मनुष्य ऐसी बात कहें तो ठीक भी है। आपके लिये ऐसी शंका शोभा नहीं देती। प्रभो! इस सृष्टि में विविध भाँति के जीव हैं। अनेक प्रकार के समुद्र, द्वीप और वर्ष हैं। मनुष्यों को तो जम्बू द्वीप के ९ खण्डों में से एक भारतवर्ष ही दिखाई देता है; इसे ही ये क्षुद्र प्राणी संसार कहते हैं। ७ समुद्रों में से इन्हें तो लवण सागर ही दिखाई देता है। शेष ६ समुद्रों का देखना तो पृथक् रहा ये लोग उनकी कल्पना तक नहीं कर सकते। जल जन्तुओं में अब भी तिमिङ्गल नामक मछली—

से बड़ी मानी जाती है, उसके मरने पर टापू बन जाते हैं कोसों लम्बे चौड़े। जब इस छोटे से खण्ड में इतने बड़े बड़े जन्तु हैं, तो जो क्रम से एक से दूसरे १०।२० गुने परिमाण में हैं, उनमें न जाने कितने लम्बे जीव जन्तु होंगे। भगवन्! मनुष्य अपनी ही बुद्धि से सोचता है। पहाड़ी लोग पहाड़ों के ऊपर पत्थर हटा हटाकर २—२,४—४ हाथ के खेत बना कर उसी में अन्न बोते हैं। वे इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि गंगा यमुना की सम भूमि में हजार हजार बीघे खेत होते हैं। उनसे कोई कहे कि दो बीघे का खेत होता है, तो वे विश्वास ही नहीं करते क्योंकि उनके मस्तिष्क में तो वे ही २—२,४—४हाथ के खेत भर रहे हैं। गरुड़जी के खाने की बात, सो, गरुड़जी कोई साधारण जीव तो हैं नहीं। इन्द्र के भी दांत खट्टे करने वाले हैं। असंख्यों ब्रह्माण्ड जिनके उदर में हैं, उन श्री हरि को वहन करने वाले उनके वाहन हैं। आप अनुमान करें कि सहस्रों निषाद जिनके लिये जल पान को भी पर्याप्त नहीं होते, उनके लिये इतने लम्बे चौड़े हाथी और कच्छप को खा जाना कौन सी बड़ी बात है क्या चींटी कल्पना कर सकती है कि एक आदमी एक दिन में १० सेर लड्डू खा जायगा। भीमसेन सवा मन का जलपान करते थे यह तो सुनी हुई बात है, किन्तु १० सेर लड्डू एक स्थान पर बैठ कर खाने वाले तो अब भी हैं। भगवन्! जैसा जिसका डील डौल होता है, वैसा ही उसका आहार भी होता है। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं।"

हँसकर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! आप की ही बात सत्य रही, अब आगे की कथा तो सुनाओ।"

सूतजी बोले—"हाँ, तो महाराज! जाते समय गरुड़जी

ने अपने पिता भगवान् कश्यप से पूछा—"भगवन्! ये दोनों कौन हैं, क्यों लड़ते रहते हैं, इन्हें खाने में कुछ पाप तो न लगेगा?"

इस पर कश्यपजी ने कहा—"भैया! ये दोनों पूर्व जन्म में विभावसु और सुप्रतीक नामक दोनों सगे भाई ब्राह्मण थे। बड़े विभावसु बहुत ही क्रोधी थे। इनके पिता धनी थे। छोटे भाई सुप्रतीक इनके साथ रहना नहीं चाहते थे। क्रोधी के साथ किसे रहना प्रिय होगा। वे अपने बड़े भाई से बार बार धन का बँटवारा करने को कहा करते थे। भाई टाल देते थे मना कर देते थे सुप्रतीक मानते नहीं थे।

इस पर क्रोध में भरकर बड़े भाई विभावसु ने कहा—"देख, तू पैतृक सम्पत्ति के लिये लड़ता है मैं तुझे बार बार वारण (मना) करता हूँ, तो भी तू नहीं मानता। अतः जा वारण (हाथी) हो जा।"

सुप्रतीक भी कम नहीं थे, वे भी मुनि पुत्र थे उन्होंने भी शाप दिया—"तू भी धन को छिपा बैठा है, अतः कछुआ हो जा।"

कश्यपजी कहते हैं—"बेटा, गरुड़! वे दोनों ही मुनि पुत्र गज और कच्छप हो गये। पूर्व जन्म के वैर को स्मरण कर क्रोध में भरे वे दोनों निरन्तर लड़ते रहते हैं उनका युद्ध सर्वदा चलता रहता है। भगवान् ने तुम्हारी वृत्ति ही जीवों को खाने की बनाई है तुम्हारा आहार ही यह है। फिर जो क्रोधी, जिससे जीवों का अपकार होता है, ऐसे लोगों को मारने में कोई दोष नहीं, पुण्य ही है। इन दोनों के कारण सरोवर में रहने वाले सभी जीव-जन्तु दुखी हैं, तुम इन दोनों को मार कर अपनी भूख को शान्त करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिता की आज्ञा
गरुड़जी चले और क्षण भर में ही सरोवर के सम
गये। एक झपट्टे में उन्होंने गज और कच्छप दोनों
एक एक पंजे में दबा लिया और उड़ चले। उनके
में दो ग्रास थे। अब उन्हें चिन्ता इस बात की थी,
दोनों को कहाँ बैठ कर खावें।" पृथिवी थर थर क
थी, वृक्ष शाखा हिला हिला कर मना कर रहे थे, हमा
मत बैठना।" सब को भयभीत देखकर सुमेरु पर्वत
विशाल वट वृक्ष था उसकी शाखायें १००।१०० योजन लम्
उसने कहा—"गरुड़जी आप मेरी शाखों पर बैठ कर
करलें।"

गरुड़ जी ने कहा—"अच्छी बात हैं। ज्योंही वे एक
दृढ़ शाखा पर बैठे थे कि वह शाखा गरुड़ जी, हाथी कच्
बोझ को न सम्हाल सकी, पड़ाक से टूट पड़ी। अब तो
जी बड़े धर्म संकट में पड़े। उस डाल पर साठ हजार
खिल्य मुनि उलटे लटक कर तपस्या कर रहे थे। उनका
अँगूठे के पौरुए के बराबर था। गरुड़जी ने सोचा—यदि
डाल पृथिवी पर गिर पड़ी, तो ये सब मुनि पिच कर
जायँगे। यही सोचकर उन्होंने डार को गिरने नहीं
एक हाथ में ४८ कोस ऊँचा हाथी दूसरे में ४० कोस
कछुआ और चोंच में ४०० कोस लम्बी वट की शाखा
हुए वे उड़े। अब भूख प्यास को तो गरुड़ जी भूल
अब उन्हें यह चिन्ता पड़ गई कि इन अँगूठा की

सुमेरु के शिखर के समान डील डौल वाले गरुड़जी उड़ते उड़ते पुनः अपने पिता के समीप पहुँचे। अपने योग बल से कश्यप जी ने सब जान लिया। अतः उन्होंने बालखिल्य मुनियों से प्रार्थना की कि आप मेरे पुत्र गरुड़ की सहायता करें इसे धर्म संकट से बचावें।"

बालखिल्य मुनियों ने कश्यप की प्रार्थना स्वीकार की और वे उस डाली को छोड़ कर हिमालय पर्वत पर तपस्या करने चले गये। तब गरुड़ जी ने पिता की आज्ञा से उस डाल को हिमालय की उन चोटियों पर छोड़ दिया जो सदा बरफ से ढकी रहती हैं जहाँ कोई भी जीव जन्तु नहीं रहते। वहीं बैठकर गरुड़जी बड़े आनन्द से उन दोनों को खा लिया और तब निश्चिन्त होकर अमृत लेने गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कल्पान्तरकी कथा है, इसका गजग्राह से सम्बन्ध नहीं! यह तो गज और कछुए की कथा है। हरिणीनन्दन भगवान् हरिने जो हरिमेधा मुनि के यहाँ अवतीर्ण हुए थे, उन्होंने तो गज और ग्राह का उद्धार किया था। गज और कच्छप को खाकर उनका उद्धार उनके वाहन गरुड़ ने किया था।

यह गजेन्द्र उद्धार की कथा तो समस्त पापों को नाश करने वाली है, इस कथा के संसर्ग से जो गज का, ग्राह का, ग्राह के रहने के सर का, उसके किनारे के वृक्षों का, बाँस का, कीचक, गुल्मों का, वन, पर्वत, द्रुम, लता तथा गिरिवरों का, भगवत् धामों का, भगवान् की जो विभूति हैं क्षीरसागर, श्वेतद्वीप, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला, कौमोदकी गदा, सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, गरुड़, लक्ष्मी, नारद, शिव, प्रह्लाद, मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण आदि अवतारों का सूर्य, चन्द्र

अग्नि, प्रणव, सत्य, अव्यक्त, गौ, ब्राह्मण, धर्म का, कीर्ति आदि धर्म पत्नियों का, गंगा, यमुना, सरस्वती, भद्र आदि पुण्य सरिताओं का, ऐरावत, नाग, ध्रुव, सप्तर्षि, अन्यान्य महर्षि, नल, युधिष्ठिर आदि पुण्य श्लोक पुरुषों का जो प्रातः उठकर स्मरण करेगा। उन्हें मरते समय भगवान् का स्मरण हो जाया करेगा। ऐसी भगवान् ने स्वयं आज्ञा दी थी।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने चतुर्थ मन्वन्तरावतार भगवान् हरि का चरित्र सुनाया। अब पाँचवें और छठे मन्वन्तरावतारों की कथा सुनिये।

छप्पय

कौस्तुभ मनि श्रीवत्स और मेरी वनमाला।
पाञ्चजन्य शुभ शंख गदा मम दिव्य विशाला॥
असुर विनाशक चक्रसुदर्शन मेरो भारी।
सुरमुनि अरु अवतार पुरुष सब शुभ व्रतधारी॥
इन सबकूँ जो प्रात उठि, श्रद्धा तैं सुमिरन करें।
भव सागर कूँ मनुज ते, बिनु प्रयास निश्चय तरें॥

पञ्चम और षष्ठ मन्वन्तरावतार।

(५०६)

तत्रापि देवः संम्भूत्यां वैराजस्याभवत्सुतः।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः॥
पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः॥*

(श्री भा० ८ स्क० ५ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

भये पाँचवें रैवत मनु मन्वन्तर अधिपति।
लियो विष्णु अवतार नाम 'वैकुण्ठ' रमापति॥
कमला हित, वैकुण्ठ रच्यो सब लोक नमस्कृत।
मन्वन्तरपति भये, छठे चाक्षुस मनु श्रीयुत॥
सम्भूती के गर्भ तें, भये विष्णु वैराजसुत।
'अजित' नाम अच्युत रख्यो, मथ्यो सिन्धु श्री अमृत हित॥

भगवान् की लीलायें इतनी दिव्य और आश्चर्य जनक होती हैं, कि साधारण लोग उनका रहस्य समझ ही नहीं सकते।

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! छठे मन्वन्तर में भगवान् वैराज नामक ऋषि की सम्भूति नाम वाली स्त्री में 'अजित' नाम से अपने अंश से उत्पन्न होकर विख्यात हुए। जिन्होंने समुद्र को मथकर देवताओं को अमृत पिलाया था। समुद्र के जल में घूमते हुए मन्दराचल को कछुआ का रूप रखकर धारण किया था।

जब तक भगवान् स्वयं कृपा न करें तब तक उनके अवतार का भेद कोई समझ नहीं सकता।

महाराज परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी से कहा—"प्रभो! चार मन्वन्तरों की कथा तो आपने कही अब आगे के मन्वन्तरों में भगवान् के कौन कौन अवतार हुए और उनमें भगवान् ने कौन कौन से विशिष्ट कार्य किये इन बातों को आप मुझे और सुनावें।"

श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् चतुर्थ मन्वन्तर के अधिपति जो उत्तम के भाई तामस थे, उनके भी एक सहोदर भाई रैवत थे। वे रैवत अपने पुण्य प्रभाव से पंचम मन्वन्तर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके अर्जुन, बलि, विन्ध्य आदि कई पुत्र हुए जो राजा बनकर पृथिवी का शासन करते रहे। उस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम विभु था। भूतरय आदि देवताओं के गण हुए तथा हिरण्यरेता, वेदशिरा और ऊर्ध्ववाहु आदि सप्तर्षि हुए। उस मन्वन्तर में भगवान् ने शुभ्र मुनि की विकुण्ठा नामक पत्नी से अवतार ग्रहण किया, इसीलिये वे वैकुण्ठ नाम से प्रसिद्ध हुए।

महाराज परीक्षित ने पूछा—भगवन्! इन वैकुण्ठ भगवान् ने क्या कार्य किया?"

श्री शुकदेव जी ने कहा—"राजन्! इन वैकुण्ठ भगवान् ने रमा देवी की प्रार्थना पर उनकी प्रसन्नता के निमित्त सर्वोत्तम वैकुण्ठ लोक की कल्पना की। वह ऐसा लोक निर्माण किया जिसकी वन्दना सभी लोक करते हैं।"

इस पर शौनकजी ने शंका की—"सूतजी! वैकुण्ठ लोकतो अनादि है। उसकी रचना का क्या अभिप्राय। उसका कभी

अदर्शन तो होता नहीं वह तो नित्य है। फिर वैकुण्ठ की भगवान् ने रचना क्यों की ?"

इसपर सूतजी बोले—"महानुभाव! वैकुण्ठ तो नित्य है ही। उस में तो महाविष्णु अहर्निशि विराजकर लोकातीत दिव्य क्रीड़ायें करते ही रहते हैं। वहाँ की लीलाओं की कल्पना भी मानवीय बुद्धि के बाहर की बात है। इन वैकुण्ठ भगवान् ने उसी वैकुण्ठ की प्रतिमूर्ति वैसे ही, दिव्य वैकुण्ठ की रचना की जिनकी लीलाओं का आस्वादन भूतल के प्राणी भी कर सकें। उसकी दिव्यता में या नित्यता में कोई व्याघात नहीं केवल भक्तों के अनुग्रहार्थ लोकवत् लीला करने के निमित्त भगवान् ने इस वैकुण्ठ की कल्पना की। जय विजय को शाप इसी वैकुण्ठ में हुआ। हिरण्यकशिपु अपने भाई का बदला लेने इसी वैकुण्ठ में गया, जिससे डरकर भगवान् उसके हृदय में प्रवेश कर गये। भगवन्! केवल यह भगवान् का विनोद मात्र है। नहीं तो उन्हें किसका भय, उनके पार्षदों को शाप देने का किनका साहस। यह सब उनकी भक्तों पर कृपा है, ऐसे कौतुक न करें तो भक्तों का मनोरंजन कैसे हो। किनके चरित्रों को सुनकर वे हँसे रोवें और प्रेम में विभोर हों। इन वैकुण्ठ भगवान् की कुछ लीलाओं का दिग्दर्शन जय विजय के शाप के प्रसंग में वर्णन हो ही चुका है। अब आप छठे मन्वन्तरावतार की कथा सुनिये।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! छठे मन्वन्तर के अधिपति चक्षुष् के पुत्र चाक्षुष हुए। उनके पुरु, पुरुष और सुद्युम्न आदि पुत्र हुए। उनके वंशजों ने इस पृथिवी का राजा बनकर शासन किया। उस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम मन्त्रद्रुम था। आप्य आदि देवताओं का गण था तथा हविष्मान्

वीरक आदि सप्तर्षि थे। इस मन्वन्तर में भगवान् ने वैराज की पत्नी सम्भूति के गर्भ से अवतार धारण किया। ये संसार में "अजित" इस नाम से विख्यात हुए।"

इसपर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! इन अजित भगवान् ने कौन सा विशेष कार्य किया?"

हँसकर भगवान् शुक बोले—"अजी राजन्! इन बहुरूपिया भगवान की लीला के विषय में कुछ न पूछिये। इन्होंने तो ऐसी लीलायें की कि कुछ कहते भी नहीं बनता। चुरी, बीछिया और नथ पहिनकर नर से नारी भी बन गये।"

इस पर राजा ने आश्चर्य से कहा—"भगवन्! पुराण पुरुष प्रभु नर से नारी क्यों बने?"

श्री शुक हँसते हुए बोले—"अजी राजन्! इनका एक रूप हो तो कुछ कहा भी जाय। ये न स्त्री हैं न पुरुष हैं और न पुंसक-योनि पशु हैं न पक्षी न मनुष्य न देव। क्या हैं कुछ कहा नहीं जाता। ऐसे ही कुछ सट्ट पट्ट हैं।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! ऐसी कौन सी लीला रची, जिसके लिये कड़े छड़े बीछिया पहिनने पड़े।"

श्री शुक बोले—"राजन्! इन्होंने देवताओं को अमृत पिलाने के लिये लक्ष्मी जी को प्रकट करने के लिये समुद्र मंथन किया था। यह ऐसी कुतूहल पूर्ण लीला थी, कि एक अवतार से काम ही न चला। चार चार अवतार एक साथ धारण करने पड़े। स्त्री बनना तो पृथक् कछुआ भी बने और वैद्य भी।

अत्यन्त आश्चर्य के साथ महाराज परीक्षित् ने कहा—"अजी, महाराज! एक साथ चार अवतार! तब तो यह समुद्र मन्थन की लीला बड़ी अद्भुत हुई होगी? कृपया इसे विस्तार के साथ मुझे सुनावें भगवान् को कछुआ क्यों बनना पड़ा? समुद्र मंथन

की क्यों आवश्यकता हुई ? समुद्र मथा कैसे गया ? किस किसने मथा। अमृत भगवान् ने देवताओं को ही क्यों पिलाया ? लक्ष्मी जी कहाँ चली गई थीं ? स्त्री बनने की भगवान् को क्यों आवश्यकता प्रतीत हुई ?"

इस पर श्री शुकदेव जी बोले—"महाराज ! इसका संक्षेप में उत्तर तो यही है, कि भगवान् की लहर है, जो आ जाय। स्थल में रहते रहते सोचा होगा, लाओ कछुआ बनकर भी देख लें। बार बार पुरुष बनकर लक्ष्मी जी की घुड़की सुनते सुनते सोचा होगा लाओ स्त्री बनकर भी देख लें। इसमें कितनी मोहकता है। जानते तो सब हैं, जान बूझकर भी अनजानों की सी क्रीड़ायें करते हैं। यही इनकी भगवत्ता है। आपने जो समुद्र मन्थन सम्बन्धी प्रश्न किये हैं उन सबका मैं संक्षेप में उत्तर दूँगा। पहिले तो इसी बात का उत्तर देता हूँ कि लक्ष्मी कहाँ चली गई और अमृत तथा लक्ष्मी के निमित्त क्यों समुद्र मथा गया। इसी प्रसंग में भगवान् के चारों अवतारों अजित, कच्छ मोहिनी और धन्वन्तरि की कथायें आजायगीं। आप इन्हें सावधान होकर सुनें।

छप्पय

धरि कछुआ को रूप मंदराचल कूँ धारयो।
सुरनि संग इक अजित रूप धरि अमृत निकारयो॥
अमृत कलश लै प्रकट भये हरि धन्वन्तरि बनि।
दैत्य छले ह्वै नारि अमृत दै दीयो देवनि॥
कहें परीक्षित कथा सब, सिन्धुमथन की कहहु प्रभु।
श्री अन्तर्हित भई कस, चार रूप क्यों धरे विभु॥

किसी को अनुभव नहीं होता। सभी वहाँ देवताओं की भाँति विहार करते हैं। सुख से अपनी समस्त काम वासनाओं को पूर्ण करते रहते हैं। सिद्ध, गन्धर्व, किंपुरुष, किन्नर, गुह्यक, विद्याधर, यक्ष, नाग आदि अनेक उपदेवों की जातियाँ हैं। इन सब में गन्धर्व और विद्याधर ये सबसे अधिक सुन्दर होते हैं। इनकी स्त्रियाँ सदा नवयौवना ही बनी रहती हैं, उन्हें न कभी वृद्धावस्था व्यापती है, न उनके शरीर से पसीना, कफ आदि मल निकलते हैं, उनके सुन्दर शरीर से पद्म के समान सदा गन्ध निकलती रहती है। काम क्रीड़ाओं से कभी उनकी तृप्ति नहीं होती। वे सदा यौवन मद में उन्मत्त हुई संगीत की तान छोड़ती हुई इधर उधर पक्षियों की भाँति चहकती रहती हैं और वन उद्यानों तथा सरोवर के तटों में स्वेच्छानुसार विहार करती रहती हैं।

एक दिन एक विद्याधर कन्या एक सुन्दर सरोवर के तट पर एकाकी खड़ी थी। वह अपनी सौन्दर्य की छटाओं से उस वन्य प्रदेश को आलोकित कर रही थी। हाथ में कमनीय कमलों की सुगन्धित माला लिये वह उसी प्रकार प्रतीत होती थी मानों कामदेव से विलग हुई रति खड़ी हो। उसके हाथ में दिव्य पुष्पों की माला थी, उसकी गन्ध के लोभ से बहुत से भौंरे उसके चारों ओर मड़रा रहे थे। खिले हुए कमल के भ्रम से वे भ्रमर उसके आनन पर बैठने को समुत्सुक हो रहे थे, वह उन्हें क्रीड़ा के सहित वरज रही थी। उस माला में ऐसी उत्कट मनोज्ञ गन्ध थी, कि योजनों उसकी सुवास फैल रही थी। दैव योग से उसी गन्ध से आकर्षित हुए महर्षि दुर्वासा वहाँ आ पहुँचे। स्वयं उसका वर्ण सुवर्णके समान था, रक्त कंचुकी के ऊपर उसने नीली साड़ी ओढ़ रखी थी। वह हाथ में कमलों की

माला लिये एकाग्र चित्त से जल की ओर निहार रही थी। वह सजीव साकार श्री के समान ही दिखाई देती थी। मुनि ने उसे देखा किन्तु उसने मुनि को नहीं देखा, वह तो ध्यान में तन्मय थी। उस अनवद्य सौंदर्य को देखकर मुनि मन्त्र मुग्ध की भाँति बिना प्रयास के ही उसकी ओर बढ़ते गये। उनके चित्तमें कुछ चंचलता भी आ गई थी। सहसा उसका ध्यान भंग हुआ। पीछे फिर कर ज्यों ही उसने देखा, त्यों ही उसे दुर्वासा मुनि दिखाई दिये। दुर्वासा को देखकर वह सहम गई, डर के कारण उसकी सम्पूर्ण प्रसन्नता विलीन हो गई। भयभीत मृगी की भाँति वह मुनि की ओर न देखकर थर थर काँपने लगी। मुनि ने देखा यह बाला मुझे देखकर अत्यंत ही डर गई है। तब वे उसकी झिझक मिटाने के लिये बोले—"सुन्दरि ? तुमने यह माला तो बड़ी सुन्दर बनाई है इसकी गन्ध बड़ी ही मन-मोहक है क्या तुम इस माला को मुझे दे दोगी ?"

मुनि की ऐसी सरल बातें सुनकर बाला का भय कुछ कम हुआ। उसने माला मुनि को श्रद्धा सहित समर्पित करदी और बड़ी भक्तिपूर्वक पृथिवी में घुटने टेककर भूमिष्ठ होकर मुनि के चरणों में प्रणाम किया और तुरन्त वहाँ से चल दी। मुनिवर कुछ काल तो उसकी ओर देखते रहे। फिर उन्होंने प्रकृतिस्थ होकर अपनी चित्त की वृत्ति को उधर से हटाया। विद्याधरी की दी हुई माला को उन्होंने अपनी जटाओं में खोंस लिया और अवधूत वृत्ति से वहाँ से चल दिये।

मुनिवर आनन्द में मग्न हुए उन्मत्तों की भाँति जा रहे थे, कि सम्मुख उन्होंने ऐरावत पर चढ़े हुए इन्द्र को उधर से आते देखा। उनके सिर पर अमृत स्रोती स्वेत छत्र लगा हुआ था। अप्सरायें तथा गन्धर्व उनके गुणों का गान कर रहे थे। त्रैलोक्य

की श्री से सम्पन्न इन्द्र ऐरावत पर बैठे थे। दुर्वासा ने देवराज को देखा, उनका सम्मान करने के निमित्त अपनी जटाओं

मे से वही माला निकाल कर उनके ऊपर फेंक दी। देवराज ने उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सोचा—"बहुत से ऋषि मुनि मेरे सम्मुख खड़े होकर मेरी स्तुति करते हैं, फूल माला चढ़ाते हैं। मैं सभी देवता, ऋषि मुनियों तथा प्राणियों का स्वामी हूँ। मुझे भेंट देना, मेरा सम्मान करना सबका कर्तव्य ही है। यही सब सोचकर उन्होंने उस माला को कोई महत्व नहीं दिया। हाथ से उठाकर ऐरावत के मस्तक पर रख दिया।

हाथियों का स्वभाव होता है उनके मस्तक पर कुछ रख दो,

तो उसे वे सूँड़ से उठा लेते हैं। ऐरावत ने भी उस माला को सूँड़ से उठा लिया और पैरों से कुचल दिया। पशु ही ठहरा उसे पता नहीं था इस माला के पीछे एक मधुर सुखद स्मृति पूर्ण इतिहास है।

दुर्वासा तो दुर्वासा ही ठहरे। वे इन्द्र की इस अविनय तथा उपेक्षा को कैसे सहन कर सकते थे। क्रोध मे भरकर उन्होंने शाप दिया—"इन्द्र ! तुझे अपनी श्री का बड़ा अभिमान है। जा, आज से तेरी श्री नष्ट हो जाय। तेरी ही नहीं त्रैलोक्य की श्री नष्ट हो जाय।"

इतना सुनते ही इन्द्र का समस्त मद चूर हो गया। शीघ्रता से ऐरावत की पीठ से कूद कर वह दुर्वासा मुनि के चरणों में गिर पड़ा।"

अपने चरणों में शचीपति देवेन्द्र को पड़ा देखकर सूखी हँसी हँसकर मुनि बोले—"शचीपति ! देखो, यहाँ वह गुड़ नहीं है, जिसे चींटे खा जायँ। यह अन्य मुनियों का हृदय नहीं है जो पैरों में पड़ते ही पसीज जाय। तुम चाहे ऐं करो चाहे चैं करो। पैरों पर पड़ो या नाक रगड़ो। मेरे मुख से जो निकल गया वह निकल गया। उसे तुम वज्र लेप हुआ समझो। मेरी वाणी क्या है पत्थर की लकीर है। तुम ऐश्वर्य के मद में मदोन्मत्त हो गये थे तुम्हारी यही सर्वोत्तम औषधि है। जाओ, अपनी करनी का फल भोगो।"

इतना कह कर बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये मुनि चले गये। श्री हीन हुए इन्द्र स्वर्ग में लौट कर आये। यहाँ उन्हें सभी निस्तेज दिखाई दिये। स्वर्ग की अप्सरायें कान्ति-हीन होकर कुरूपा सी दिखाई देने लगीं। जिसको देखो वही श्री, तेज, ऐश्वर्य, प्रभा तथा कान्ति से हीन प्रतीत होते

है। इन्द्र का सभी आनन्द नष्ट हो गया। वे सदा चिन्तित रहने लगे।

शुक्राचार्य से सभी समाचार असुरों को मिला। इस सुखद सम्वाद को सुनकर उनका रोम रोम खिल उठा। उनकी प्रसन्नता का वारापार नहीं रहा। तुरन्त उन्होंने सेना सजाकर स्वर्ग पर धावा बोल दिया। श्री हीन सुरों ने असुरों का सामना किया, किन्तु उनमें उत्साह ही नहीं था। वे असुरों की मार को न सह सके और रण में मर कर गिरने लगे। यदि कोई असुर मरता तो उसे तो शुक्राचार्य अपनी संजीविनी विद्या के प्रभाव से जिला देते, किन्तु जो देवता मरते, तो वे मरे के मरे ही रह जाते, फिर पृथ्वी पर से नहीं उठते थे। यह देख कर इन्द्र का साहस छूट गया। वे युद्ध से भाग निकले। उनके भागते ही सभी देवता भाग गये। विजय असुरों की हुई। स्वर्ग पर असुरों का अधिकार हो गया। देवता इधर उधर श्री हीन हुए नाना वेष बनाकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे और अपने दिनों को जैसे तैसे काटने लगे।

जब श्री ही नहीं, तब मंगल कहाँ? जब मंगल ही नहीं, तब उत्सव कहाँ, जब उत्सव ही नहीं तब धार्मिक यज्ञ यागों में उत्साह कहाँ? जब यज्ञ यागादि ही नही तब संसार का क्षेम कहाँ?

सर्वत्र यज्ञ बन्द हो गये। देवताओं का यही तो आहार है। अग्नि मे जो देवताओं के उद्देश्य से हवनीय द्रव्यों का वेद मंत्रों के सहित तद् तद् देवताओं के निमित्त जो विधिपूर्वक हवन किया जाता है, उस द्रव्य को अग्नि उन उन देवताओं के समीप पहुँचा देते हैं उसी से देवता तृप्त होते हैं। अब जब हवन ही बन्द हो गये, तो अग्नि क्या पहुँचावे? इन्द्रादि देवता भूखों मरने लगे।

सभी प्राणी श्रीहीन हो गये, यज्ञादि कर्मों का सर्वथा उच्छेदन हो गया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब सम्पूर्ण संसार की ऐसी दुर्दशा हो गई और देवता भूखों मरने लगे, तब तो उन सब ने मिलकर एक सभा की। इन्द्र वरुण, कुबेर, यम तथा अन्यान्य सभी देव गण एकत्रित हुए। बड़ी देर तक वाद विवाद होता रहा। प्रश्न यही था, कि अब क्या करना चाहिये? किसी ने कुछ कहा किसी ने कुछ कहा। अन्त में कुछ भी निर्णय होते न देख कर इन्द्र ने कहा—"भाई ऐसे काम न चलेगा। हम लोग सब मिलकर लोकपितामह भगवान् ब्रह्माजी की सेवा में चलें। वे जो भी उपाय बतावेंगे उसी को हम सब करेंगे। यह बात सभी को अच्छी लगी। अतः सभी मिलकर सुमेरु के मध्य शिखर स्थित पर ब्रह्माजी की सभा में चलने के लिये उद्यत हुए।

छप्पय

माला धारी जटनि माँहि मुनि मगन चलैं मग।
चितवत इत उत मत्त अटपटे परैं पंथ पग॥
मग महँ निरखे इन्द्र जटनि तैं माल निकारी।
फैंकी सुरपति उपरि गर्व तैं इन्द्र न धारी॥
ऐरावत मस्तक धरी, कुचली पैरनि तासु जब।
दुर्वासा क्रोधित भये, शाप इन्द्र कूँ दयो तब॥

खाना प्रायश्चित्त है। इसने तो मेरे पापों का प्रायश्चित ही कर दिया। श्री के मद से अन्धे हुए पुरुषों के लिये दारिद्रय ही परमांजन है। अब मैं साधु संतों को नत होकर प्राणि मात्र को प्रणाम करके भगवान् की स्तुति करके उन पापों का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! श्रीहीन हुए देवगण जब परस्पर में मिल कर भी अपने उद्धार का उपाय न सोच सके, तब सब के सब मिलकर सुमेरु के शिखर पर स्थित ब्रह्मा जी की सभा में गये। ब्रह्मा जी का मुख्य निवास स्थान तो ब्रह्मलोक है, किन्तु देवताओं तथा तीनों लोकों के प्रार्थना पत्रों का निर्णय करने तथा प्रजा के सुख दुख सुनने ध्रुव लोक के नीचे सुमेरु शिखर पर अपनी सभा में आकर बैठते हैं वहीं देवताओं के सुख दुःखों को सुनते हैं। देवताओं ने ब्रह्मा जी की सभा में जाकर पहिले लोक पितामाह के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया पुनः आदि से अन्त तक अपनी सम्पूर्ण गाथा सुनाई।

ब्रह्मा जी ने देखा, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि सबके सब देवतागण कान्ति हीन निःसत्व तथा तेज रहित हो रहे हैं; तब तो उन्हें उनकी दुर्दशा पर दुःख हुआ। देवताओं का राजपाट, धन ऐश्वर्य सब असुरों ने छीन लिया है। सुरों का पराभव तथा असुरों की वृद्धि हो रही है, देवता मारे मारे इधर से उधर फिर रहे हैं। तबतो उन्होंने एकाग्रचित्त से परम पुरुष भगवान् श्रीमन्नारायण का ध्यान किया और पुनः सबको सम्बोधित करके कहा—"देवताओं! तुम मुझसे क्या चाहते हो? मैं तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य करूँ?

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम बड़ी विपत्ति में फँसे

हुए हैं। हमें अपने दुःख से छूटने का अन्य कोई उपाय नहीं दिखाई देता। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अधीश्वर हैं, आप निग्रह अनुग्रह करने में समर्थ हैं, अतः आप हमारा इस विपत्ति से उद्धार करें हम आपकी शरण में आये हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए ब्रह्माजी मेघ गम्भीर वाणी में बोले—"देवताओं! तुम भ्रम वश मुझे जगत् का कर्ता और ब्रह्माण्ड का स्वामी समझ रहे हो। देखो, मैं जो सृष्टि का कर्ता कहलाता हूँ, महादेवजी जो संहार करता माने जाते हैं। तुम लोग जो तीनों लोकों में पूजनीय समझे जाते हो और कहाँ तक कहें असुर, राक्षस, मनुष्य तिर्यक् वृक्ष तथा स्वेदज आदि जितने भी जीव हैं उन पुरुषावतार प्रभु के एक अंश से निर्मित हैं। अतः भैया। मेरी शरण में आने से क्या काम चलेगा, हम सबको मिलकर उन्हीं की शरण में जाना चाहिए।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! श्री हरि तो समदर्शी हैं उनके लिये जैसे ही हम वैसे ही असुर। यदि स्वर्ग पर असुरों का ही आधिपत्य रहा आवे तो श्रीहरि को क्या आपत्ति हो सकती है। उनकी इच्छा न होती तो क्या दैत्य हमें जीत सकते थे।"

यह सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—"भैया, तुम्हारा कहना यथार्थ है। उनकी दृष्टि में न कोई वध करने योग्य है, न रक्षा करने योग्य है और न कोई उपेक्षणीय ही है, फिर भी संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के निमित्त वे समयानुसार क्रमशः रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण को स्वीकार करते हैं। सृष्टि करनी होती है, तो वे मुझमें मेरे अंश प्रजापति, मनु और ऋषियों में सृजन शक्ति प्रदान

जब सृष्टि की स्थिति की रक्षा करनी होती है तो मनु-पुत्रों में, अन्य राजाओं में देवताओं में अपनी शक्ति की वृद्धि करते हैं, स्वयं भी अवतार रूप से अवतीर्ण होते हैं और जब प्रलय करनी होती है तो रुद्र रूप रख लेते हैं। यक्ष राक्षस, भूत प्रेत पिशाच, ज्वर, रोग अनावृष्टि आदि रूपों से इस रची-हुई सृष्टि का संहार कर देते हैं। आवश्यकतानुसार अभिमान होने पर बीच में भी कभी सुरों का बल बढ़ा देते हैं कभी असुरों का।"

देवताओं ने कहा—"तब भगवन्! आजकल तो काल असुरों के ही अनुकूल है। भगवान् ने उनको ही अपना बल प्रदान कर रखा है, तभी तो उनका अभ्युदय और हमारा पराभव हो गया। त्रैलोक्य की श्री ने हमें छोड़ दिया और असुरों को वरण कर लिया। अब तो भगवान् हमारी सुनेंगे भी नहीं।"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, भैया! सब का काल होता है। कालस्वरूप श्रीहरि असमय में कोई कार्य नहीं करते तुम लोगों को अपने धन ऐश्वर्य का अत्यधिक गर्व हो गया था, गर्वहारी गोविन्द ने तो तुम्हारे गर्व को खर्व करने के निमित्त ही तुम्हारी पराजय कराई है। नहीं तो, इस समय असुरों के बढ़ने का समय नहीं है। यह तो प्राणियों के अभ्युदय का काल है। सत्व गुण को स्वीकार करके प्रभु सृष्टि की रक्षा में तत्पर हैं। यह तो उनका पालन का अवसर है। तुम अपने अपराध के लिए भगवान् से क्षमा प्रार्थना करो, वे तुम्हें अवश्य ही कोई न कोई विजय की युक्ति बतायेंगे।

देवताओं ने कहा—महाराज! जैसी आपकी आज्ञा हो।

हम तो आपके अधीन हैं, हमें जो करने को कहेंगे उसे बिना विचारे करेंगे।"

इस पर ब्रह्माजी बोले—"मेरी सम्मति तो यह है कि हम सब मिलकर उन परात्पर, प्रभु सम्पूर्ण जगत् के गुरु श्रीहरि की शरण में चलें। यदि हम सर्वात्मभाव से उनकी शरण में प्राप्त होंगे, तो वे अवश्य हमारा उद्धार करेंगे। हमें इस संकट से बचावेंगे। क्योंकि वे देवताओं के शुभचिन्तक हैं, सुहृद् हैं। हमें अपना शरणागत समझकर अवश्य ही हमारा कल्याण करेंगे।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! भगवान् ब्रह्माजी की यह सम्मति, सबको रुची। सभी ने उनकी सम्मति का सहर्ष समर्थन किया। अतः उन सब को साथ लेकर लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा भगवान् अजित के दिव्य सत्वमय परमधाम क्षीर सागर के समीप गये। वहाँ पहुँचकर भी अजितेन्द्रिय विषय लोलुप पुरुषों को भगवान् के दर्शन नहीं होते। अतः सभी सावधान होकर, समस्त इन्द्रियों को जीतकर उन सर्वव्यापक श्री हरि की दिव्य स्तोत्र से दिव्य स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्माजी ने भगवान् की जो दिव्य स्तुति की है, जिसमें उनके विश्वविराट् रूप का वर्णन है, वह बड़ी ही सुन्दर है। उसका उल्लेख मैं यथास्थान फिर करूँगा। आप सब अग्रिम कथा को श्रवण करें।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"अच्छी बात है, सूतजी! यह तो आपकी कथा कहने की शैली ही है। हाँ, तो ब्रह्माजी की स्तुति सुनकर भगवान् कुछ पसीजे या नहीं। देवताओं को अपना दुर्लभ दर्शन दिया या नहीं?"

इस पर गद्गद् कंठ से सूतजी ने कहा—"भगवन्!

सागर तो परम कारुणिक हैं, उनकी कोई झूठे भी स्तुति करता है, तो उस पर भी प्रसन्न हो जाते हैं, फिर वेदगर्भ भगवान् ब्रह्माजी ने तो इन्द्रियों को जीतकर समाहित चित्त से भगवान् की स्तुति की थी। अतः उन्हें तो दर्शन होने ही थे। भगवान् कैसे प्रकट हुए, किस प्रकार उन्होंने प्रकट होकर देवताओं का कल्याण किया इसे मैं आप को सुनाऊँगा। आप समाहित चित्त से इस प्रसंग को सुनने की कृपा करें।"

छप्पय

हे अच्युत! अखिलेश दया देवनि पै कीजै।
दुखी द्वार पै परे दयानिधि दरशन दीजै॥
विभो भये ऐश्वर्य हीन तव चरननि आये।
रिपुनि स्वर्ग तैं भ्रष्ट करे हम मारि भगाये॥
विधि विनती विश्वेश सुनि, तुरत तहाँ परकट भये।
सुर गन हरि दरसन लहे, अति प्रसन्न सब ह्वै गये॥

भगवान् की सुरों को सम्मति

(५१२)

हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो हे देवा मम भाषितम् ।
शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद्यथा सुराः ॥
यात दानवदैतेयैस्तावत्सन्धिर्विधीयताम् ।
कालेनानुगृहीतैस्तैर्यावद् वो भव आत्मनः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ६ अ० १८, १९ श्लो०)

छप्पय

सुर प्रसन्न अति भये विष्णु की करिकें झाँकी ।
कीन्हीं गद् गद् गिरा सबनि मिलि बिनती बाँकी ॥
हौ प्रसन्न खिलवाड़ करन कूँ बोले नटवर ।
मम सुर सम्मति सुनो करो मिलि के सब सत्वर ॥
कच्छ छिपावै अङ्ग ज्यौं, त्यौं निजभाव छिपाइ कैं ।
असुरनि तैं कछु काल कूँ, करो मित्रता जाइ कैं ॥

सब जानते हैं भगवान् ने सीताजी का उद्धार और रावणादि का बध बन्दरों और भालुओं की सहायता से किया था । जिसकी

---

*श्री भगवान् देवताओं से कह रहे हैं—"हे चतुरानन ! हे शङ्कर तथा हे देवताओं ! तुम सब सावधान होकर मेरी सुनो । देवताओ ! जिस प्रकार तुम्हारा कल्याण होगा वह बताऊँ । अच्छा जाओ ! पहिले तुम तब तक दैत्यदानवों से सन्धि करलो जब तक तुम्हारे अभ्युदय का समय न आवे क्योंकि अभी काल उनके अनुकूल है ।

भ्रुकुटि विलास से असंख्यों ब्रह्माण्ड बनते हैं और लीन होते हैं, उसे किसी कार्य में अन्य की अपेक्षा ही क्या हो सकती है? जो सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, जिनकी सत्ता के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता उनकी आदि शक्ति भगवती जगदम्बा का उद्धार ये बन्दर भालू क्या करेंगे? किन्तु वे तो कौतुक प्रिय हैं, उन्हें जब खेल करने की इच्छा होती है तो ऐसी ही अनेकों लीलायें रचते हैं। रोते रोते सुग्रीव के समीप गये, मेरी प्रिया का पता लगादो, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। उसके संदेह करने पर अपने बल की परीक्षा दी। सभी दिशाओं से वानर भालू बटोरे चार महीने तक रोते बिलबिलाते सीता के विरह में आँसू बहाते सुग्रीव की प्रतीक्षा में गुफा में निवास करते रहे। ये सब नर नाट्य भगवान् भक्तों के निमित्त करते हैं। इसी प्रकार देवताओं के काम को स्वयं अकेले भगवान् संकल्प मात्र से करने में समर्थ थे, किन्तु कुतूहल कराने को समुद्र मन्थन के निमित्त सभी को प्रेरित किया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन! जब देवताओं ने पूर्ण भक्तिभाव के साथ आर्त होकर अच्युत की श्रद्धा पूर्वक स्तुति की, तो भक्तवत्सल भगवान् उनके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त वहीं प्रकट हुए। उस समय उनका तेज सहस्रों सूर्यों के समान था। वे अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को देदीप्यमान बनाये हुए थे। भगवान् के ऐसे असह्य तेज के कारण सभी देवताओं की आँखें चका चौंध हो गईं। उस समय उनके नेत्रों में इतना प्रकाश भर गया, कि भगवान् के दर्शन करना तो पृथक् रहा, वे दिशाओं को पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों को तथा अपने आप को भी न देख सके।"

इस पर राजा परीक्षित ने पूछा—"तो क्या प्रभो! सबके सब देवता अन्धे हो गये?"

हँसकर भगवान् शुक बोले—"अजी, राजन्! अन्धे तो नहीं हुए, किन्तु प्रकाश इतना अधिक था कि सब की आँखों की ज्योति उस महाज्योति में विलीन हो गई। केवल देवाधिदेव महादेव और कमलयोनि भगवान् ब्रह्मा ने भगवान् के रूप के दर्शन दिये। उस समय भगवान् की शोभा अवर्णनीय थी। सजे बजे श्याम सुन्दर फूले हुए टेसू और कन्नेर वृक्ष के समान शोभित होते थे। मरकत मणि के समान वर्षा कालीन हरी हरी दूब के समान, अलसी के पुष्प के समान, नील कमल के समान, मयूर के कंठ के समान, नवीन जल भरे मेघों के समान, तथा नीलाञ्जन शिखर के समान उनका विशाल व शुद्ध श्री विग्रह चित्त को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूर्णचन्द्र के समान विकसित आनन पर कमल कोश के सदृश अत्यन्त ही स्निग्धलावण्य युक्त अरुण नयन अपनी शीतल रश्मियों द्वारा शरणागतों को सान्त्वना प्रदान कर रहे थे। भगवान् का त्रैलोक्य पावन जगत् सुखकर सुन्दर शरीर परम पावन पीताम्बर से आवृत था। एक पतले पीताम्बर को पहिने हुए थे, एक कन्धों पर पड़ा मन के समान चंचल हुआ पवन में फहरा रहा था। तपाये हुये सुवर्ण के समान जिसकी अप्रतिम आभा है ऐसा वह कौशेय पीतवर्ण का पतला वस्त्र श्रीहरि के नील वर्ण की श्री विग्रह पर उसी प्रकार लिपटा हुआ था मानों किसी मेघखंड से विद्युत् लिपट गई हो। उनके सभी अङ्गप्रत्यङ्ग सुन्दर, सुडौल, सलौने, सुखकर और सम्पूर्ण शोभाओं से संयुक्त थे। उनका सुमधुर मनोहर मुख जिस पर, नयन, भ्रकुटि अपाङ्ग, पक्ष्म कपोल, गंड

एक चित्ताकर्षक और सुहावने थे। काले काले घुँघराले बालों के ऊपर मनोहर मुकुट दमदम दमक रहा था। कानों के कमनीय कुन्डलों की कान्ति से कपोलों की आभा अत्यन्त ही सुखकर प्रतीत होती थी। जानुलम्बित विशाल भुजाओं में कंकड़ केयूर और बाजूबन्द अत्यन्त ही शोभा दे रहे थे। वक्षस्थल में कौस्तुभमणि इधर से उधर क्षण क्षण में हिल रही थी, मानो उसमें स्थित लक्ष्मी जी की चंचलता को द्योतित कर रही हो। रंग बिरंगी वनमाला अपनी आभा को दशों दिशाओं मे मानों निरंतर बिखेर रही हो। कटि में कण करती हुई कर्धनी अपने चाकचिक्य से पीताम्बर के भीतर छिपे हुए नितम्बों के प्रतिबिम्ब को व्यक्त करने में व्यग्रतासी प्रकट कर रही थी। सुन्दर विशाल चारों बाहुओं में मूर्तिमान् शंख चक्रादि आयुध शोभा दे रहे थे। भगवान् के ऐसे त्रैलोक्य वंदित रूप को देखकर अन्य सब देव तो सुधि बुधि भूल गये थे, किन्तु देवाधिदेव महादेव तथा ब्रह्माजी ने भूमि में लोटकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। सब की ओर से ब्रह्माजी ने अपने चारों मुख से भगवान् की स्तुति की—

हे प्रभो! आप जन्म स्थिति तथा प्रलय आदि विकारों से रहित हैं। अज हैं अव्यक्त हैं, भूमा हैं, पुराण पुरुष है। अनादि हैं अनंत है। निर्विशेष हैं, निरंजन है, निराकार हैं, निष्फल हैं निरीह और निर्लेप हैं भगवान् अधिक क्या कहें. इस जगत् मे आप ही आप हैं आपके अतिरिक्त किसी की भी सत्ता नहीं। देवगण दुखी होकर आप के चरणों की शरण में आये हैं। इन्हें कोई दुःख से दूर होने का उपाय बताईये। इन भूले हुओं को सन्मार्ग दिखाइये। हमें अपना सेवक शरणागत समझकर अपनाइये। हम सब देवगण आप के अंशरूप हैं जैसे अग्नि से

निकली हुई चिनगारियाँ। आपके बिना हम कुछ भी करने में समर्थ नहीं। अतः जो करने से हम लोगों का कल्याण हो, इस समय जो हम सब का कर्तव्य हो उसका आदेश उपदेश दीजिये।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब जितेन्द्रिय होकर समाहित चित्त से देवताओं ने भगवान् की इस प्रकार स्तुति की, तो भगवान् उनसे मेघगम्भीर वाणी में समुद्र मन्थन की सम्मति देने लगे। यद्यपि भगवान् चाहते तो, स्वयं अकेले ही सब कुछ करने में समर्थ थे, किन्तु उन्हें तो कुछ सरस लीला करानी थी अतः देवताओं को सम्मति देते हुए बोले—'ब्रह्माजी आप मेरी बात सुनें। हे शङ्कर! आप भी कान खोलकर सुनें आपने बहुत आकधतूरा खाया, जो मैं सम्मति बताऊँगा आपको भी उसमें सहयोग देना होगा। देवताओं! तुम लोग भी दत्तचित्त होकर श्रवण करो। जो मैं कहूँगा उसी में तुम्हारा कल्याण है। उसके अतिरिक्त जाने का कोई भी दूसरा मार्ग नहीं है।

सभी ने एक साथ हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! आप आज्ञा करें। हमें जो भी आदेश होगा, उसका हृदय से पालन करेंगे।"

इस पर भगवान् ने कहा—"अच्छा तो देखो, एक काम करो। अभी तुम लोग जाकर असुरों से सन्धि करलो।"

देवताओं ने निराशा के स्वर में कहा—"अजी, भगवन्! असुरों से सन्धि कैसे हो सकती है? मेल जोल तो बराबर वालों में होता है। जो विजयी है, बलवान है वह पराजित निर्बल से प्रतिष्ठा पूर्वक सन्धि क्यों करने लगे, फिर भगवन्! स्वभाव तो दुस्त्यज होता है। चूहे और बिल्ली में स्वाभाविक वैर होता है सांप न्योले में सन्धि हो ही नहीं सकती। असुर

हमसे स्वभाव से द्वेष रखते हैं। उनसे सन्धि होना असम्भव है।

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई, मैं सदा के लिये सन्धि करने को नहीं कहता। मेरा अभिप्राय यह है कि तुम अभी कुछ काल के लिये उनसे प्रेम करलो।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! ऐसे अस्थाई सन्धि से लाभ ही क्या?"

भगवान् ने कहा—"देखो, जब समय अपने विपरीत हो तो मान अपमान का ध्यान नहीं करना चाहिये। जैसे भी हो सके अपने स्वार्थ को साध लेना चाहिये। बुद्धिमान् वही है जो समय देखकर कार्य करता है। मूर्ख वही है जो समय नहीं देखता। काल के विरुद्ध कार्य करता है। अपमान को आगे करके और मान को पीछे डाल कर बुद्धिमान पुरुष अपना कार्य निकाल लेते हैं। अपने स्वार्थ के लिये तो गधे को भी बाप बनाना पड़ता है।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! दुष्टों की मित्रता अन्त में हानि ही करने वाली होती है।"

भगवान् ने कहा—"भाई, मैं जीवन भर मित्रता निभाने को तो कह नहीं रहा हूँ। इस समय काल उनके अनुकूल है, अतः ऊपर से उनसे मिल जाओ। भीतर से सावधान बने रहो। जब समय देखो, तब पछाड़ देना दाव लगते ही ऊपर चढ़ बैठना उन्हें दबाकर स्वर्ग पर अधिकार कर लेना।"

इस पर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"सूतजी! यह तो भगवान्! छल कपट सिखाने लगे।"

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! काहे का छल कपट। संसार में सब ऐसे ही सट्ट पट्ट काम चलता है। धर्म दूसरी वस्तु है राजनीति कहीं उससे प्रतिकूल भी पड़ती है।

भगवान् ने खेल के लिये जो जो दावपेच बताये उन्हें मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

स्वाभाविक जो प्रेम द्वेष छूटे नहिं, कबहूँ।
करें मित्रता दैत्य करें फिरि भगवन् हमहूँ॥
देवनिकी सुनि बात हँसे प्रभु अन्तर्यामी।
क्रीडा के हित रचें विविध कौतुक सुर स्वामी॥
हरि बोले तब सुरनि तें, स्वार्थ जगत् महँ श्रेष्ठ है।
सधे स्वार्थ जब जाहिसों, सोई जग महँ ज्येष्ठ है॥

स्वार्थ सिद्धि के लिये शत्रु से भी सन्धि करले ।

(५१३)

अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे ।
अहिमूषकवद्देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ६ अ० २० श्लो०)

छप्पय

घुस्यो पिटारी माँहि सर्प इक निज भोजन कूँ ।
मोटो मूसक तहाँ घुस्यो काटे कपड़नि कूँ ॥
करी पिटारी बन्द लगायो स्वामी तारो ।
मूसक अतिशय डरै भयो चिंतित अहि कारो ॥
सर्प विचारे भूख वश, जो जाकूँ भखि जाउँगो ।
तो फिरि घुटि के पिटारी, में ही हौं मरि जाउँगो ॥

धार्मिक नियम प्रायः सभी के लिए एक से होते हैं । तीस लक्षणों वाला धर्म मनुष्य मात्र के लिये कहा गया है, किन्तु

---

*श्री भगवान् देवताओं से कह रहे हैं—"देखो, भाई ! कार्य की गुरुता होने पर शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिये । जहाँ कार्य सिद्ध हुआ, तहाँ फिर चूहे सर्प वाली नीति को वर्त लेना चाहिये ।

विशेष विशेष अवसरों पर विशेष विशेष व्यक्तियों के कुछ विशेष धर्म हो जाते हैं। उसी प्रकार राजनीति में समयानुसार कभी कभी कुछ ऐसे व्यवहार भी करने पड़ते हैं, जो देखने में धर्म के विरुद्ध से जान पड़ते हैं। वास्तव में राजनीति में एक विशिष्ट स्वार्थ को सम्मुख रखकर व्यवहार किया जाता है। शत्रु को छल से भी जीत लेना वहाँ दोष नहीं माना जाता, अपने स्वार्थ की जिस उपाय से सिद्धि हो राजनीति में वही धर्म माना जाता है। भगवान् तो वांछा कल्पतरु है। उनके पास जो धर्म की इच्छा से जाता है, उसे धर्म का उपदेश देते हैं, जो काम भाव से जाता है उसकी कामनाओं की पूर्ति करते हैं, अर्थार्थी बनकर जाता है उसे अर्थ प्रदान करते हैं और जो मोक्ष की इच्छा से जाता है, उसे संसार सागर से सदा के लिये मुक्तकर देते हैं। बलार्थी को बल देते हैं। छल चाहने वालों को छल की शिक्षा देते हैं, उनके यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं। उनकी शरण जाने वाले की इच्छा पूर्ति तो होती ही है, अन्त में वह मोक्ष का भी अधिकारी बन जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब भगवान् ने देवताओं को यह सम्मति दी कि तुम जाकर दैत्यों से सन्धि करलो तो इस पर देवताओं ने कुछ आनाकानी की अपनी अनिच्छा सी प्रकट की, कि उनसे हमारा मेल होना कठिन है। तब भगवान् उन्हें समझाते हुए बोले—"देखो भैया ! अपने कार्य का गौरव देखकर मान अपमान पर ध्यान न देना चाहिये। यदि छोटा बनने से काम निकलता हो तो छोटा ही बन जाना चाहिये। यदि शत्रु से प्रेम करने पर काम नि हुआ दिखाई दे, तो उससे प्रेम कर लेना चाहिये।

ने अपना काम निकालने को चूहे से कैसे मेल कर लिया था,

इसपर देवताओं ने आश्चर्य के साथ पूछा—"प्रभो! सर्प

में और चूहे में तो स्वाभाविक वैर है। सर्प ने चूहे से कैसे प्रेम कर लिया था, इस कहानी को आप हमें सुनावें।"

भगवान् ने कहा—"भैया! वैर होने से क्या हुआ, सर्प को तो अपना काम निकालना था। अच्छा, सुनो मैं तुम्हें इस कहानी को सुनाता हूँ।"

किसी एक धनिक के घर में वस्त्रों की पिटारी रखी थी। उसमें एक बड़ा सा चूहा घुसकर वस्त्रों को काट रहा था। इतने में ही एक बहुत बड़ा काला सर्प भूखा हुआ आहार की खोज में घुस गया। दैवयोग से उसी समय वहाँ स्वामी आ गया, उसने उस पिटारी को बन्द कर दिया। ताला मार कर चला गया। अब तो सर्प और चूहे दोनों पिटारी में बन्द हो गये। सर्प भूखा था, वह चाहता तो चूहे को खा कर अपनी भूख शान्त कर सकता था, किन्तु उसने सोचा अभी मैं चूहे को खाने की शीघ्रता करता हूँ, तो अभी तो मेरा पेट भले ही भर जाय, किन्तु अन्त में मुझे यहीं घुटकर मर जाना पड़ेगा। कोई ऐसी युक्ति निकालो, कि यहाँ से जीवित निकल भी जाय और आहार भी मिल जाय।"

यही सब सोचकर वह चूहे से बोला—"कहिये चूहे बाबू! क्या हाल चाल है? आप इतने उद्विग्न क्यों हो रहे हैं? चित्त स्वस्थ तो है?"

डरते डरते चूहे ने कहा—"हाल चाल क्या है श्रीमान्! अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रहा हूँ।"

सर्प ने अत्यन्त ही ममत्व के साथ कहा—"क्यों क्यों, क्या बात है? आप इतनी ही विपत्ति से भयभीत हो गये।"

चूहे ने कहा—"नहीं श्रीमन्! मैं इस पिटारी में बन्द होने से

भीत भी नहीं। भय तो मुझे आप से है। न जाने कब आप मुझे निगल जायँ ?"

यह सुनकर सहानुभूति के स्वर में सर्प ने कहा—"अजी, आप कैसी बातें कर रहे हैं! वैर भाव सदा थोड़े ही रहता है। वह तो समय पर होता है। इस समय हम आप दोनों विपत्ति में हैं, आपस में हम दोनों को मित्रता कर लेनी चाहिये।"

चूहे ने कहा—"अजी, निर्बल और बलवान की मित्रता कैसी ? गौ घास से मित्रता करले तो भूखों मरे। मित्रता तो समानता में होती है।"

सर्प ने कहा—"अब तो हम तुम दोनों समान ही विपत्ति में ग्रस्त हैं। इसलिये आप मुझे अपना मित्र बना लें और दोनों उद्योग करके इस पिटारी से बाहर हो जायँ।"

चूहा तो यह चाहता ही था, उस मूर्ख ने सर्प से मित्रता करली। चूहे ने अपने दाँतों से पिटारी को काटकर एक छिद्र बनाया। सर्प ने जब देखा, अब तो निकलने का मार्ग बन गया है। झट से लपक कर चूहे जी को गप्प कर गया। निकलने का रास्ता भी बनवा लिया और अपनी भूख भी मिटा ली। इसी का नाम कूटनीति है। समय पड़ने पर शत्रु से दब जाय, समय टल जाने पर फिर उसे धर दबोचे।"

भगवान् देवताओं से कह रहे हैं—"देखो भैया! यह समय दैत्य दानवों के अनुकूल है, तुम्हारे प्रतिकूल है। अतः जब तक अनुकूल समय न आवे तुम्हारा अभ्युदय जब तक न हो, तब तक छोटा बनके दबकर दैत्यों के अधीन बन जाओ। वे बली हैं, तुम दोनों मिलकर समुद्र को मथकर अमृत निकालो। निकल आने पर उन्हें सींग दिखा देना। चूहे की तरह उनसे काम निकलवाकर स्वर्ग से च्युत कर देना।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो भगवान् देवताओं को मिथ्याचरण सिखा रहे हैं। क्या यह विश्वासघात नहीं है ?"

इतना सुनते ही सूतजी हँस पड़े और बोले—"अजी, महाराज ! राजनीति में कौन किसका विश्वास करता है। सभी स्वार्थ के वशीभूत होकर व्यवहार करते हैं। संसार में जितने सम्बन्ध हैं सब स्वार्थ के हैं। सात्विक प्रकृति के निःसंग पुरुषों को साधु, महात्मा, विरक्त, भगवद् भक्त, ब्राह्मण तथा सन्यासियों को छोड़ दीजिये इनका काम तो धर्माचरण करना ही है, किन्तु जिन्हें रात्रि-दिन स्वार्थियों में ही रहना पड़ता है, पग पग पर स्वार्थियों से ही काम पड़ता है। अपना भी स्वार्थ छोड़ा नहीं जा सकता, तब इस कूटनीति से काम लेना ही पड़ता है। जो स्वार्थ त्याग कर सकता है वही विशुद्ध धर्म का आचरण कर सकता है। जिसे स्वार्थ साधना है उसे तो जैसे सब करते हैं, वैसे कूटनीति से अपने स्वार्थ की रक्षा करनी ही होगी, हाथ पाँव को बचाना मूंजी को टरकाना, यही साधारणतया नियम है। जान बूझकर किसी के साथ ऐसा कूट व्यवहार न करना चाहिये, किन्तु जब विवश हो जाय, तब किया क्या जाय, इस स्वार्थ पूर्ण संसार में ऐसे ही तो काम निकालना होता है। कहीं निर्बल शत्रु से भी समयानुसार दबना पड़ता है। देखिये मेढ़क सर्प का भोजन है, किन्तु समय पड़ने पर सर्प को भी मेढ़क का घोड़ा बनना पड़ा। बलवान होते हुए भी ब्राह्मण को अपनी स्त्री से दबना पड़ा। समय आने पर दोनों ने अपना स्वार्थ साध लिया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मेढ़क सर्प ..

क्यों बना ? ब्राह्मण को दबना क्यों पड़ा इन बातों को हमें बताइये। इस विषय में जो कथा हो उसे सुनाइये।"

शौनकजी की बात सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! यह कथा अत्यन्त प्राचीन है। मैं उसे आप को सुनाता हूँ उसे आप ध्यान पूर्वक सुनें।"

एक दिन गंगा के किनारे एक दंडी स्वामी ने एक सर्प को देखा। उसके ऊपर मेढ़क चढ़ रहा था और प्रसन्नता से उछल रहा था। सर्प उसे खाता नहीं था नीचा सिर किये चुपचाप बैठा सब सह रहा था। यह देख कर दंडी स्वामी को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे हँस पड़े कि देखो, समय कैसा विपरीत आ गया, जो मेढ़क सर्प का भोजन है, वही आज सर्प के ऊपर चढ़ा है। सर्प उसका वाहन बना हुआ है। सर्प स्वामी जी के मनोगत भावों को समझ गया वहीं से वह बोला—

मेढ़क वाहन हौं नहीं, स्वामी जी! तुम हँसो च्यौं।
अवसर को परखूँ अबहिँ, घृत तैं अंधो विप्रज्यौं॥

यह सुनकर स्वामी जी ने पूछा—"सर्प देवता! आप कैसा अवसर देख रहे हैं। घृत से भला ब्राह्मण कैसे अंधा हो गया? यदि उचित समझें, तो इस कथा को मुझे सुनावें।"

सर्प बोले—"भगवन्! अपना बलाबल देखकर कभी पुरुष को बलवान् होकर भी निर्बल की तरह आचरण करना पड़ता है। आँखें रहते हुए भी अन्धा बनना पड़ता है। अनुकूल अवसर आने पर अपने बल का प्रदर्शन करके प्रतिपक्षी को परास्त किया जाता है। इस विषय में एक प्राचीन कथा है उसे सुनिये।

एक ब्राह्मण देवता थे। अच्छे पढ़े लिखे पंडित थे। पाठशाला में पढ़ाते थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। वृद्धावस्था में वह

मर गई। शोक से उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई, एक युवती से उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया। वृद्धकी पत्नी का जैसा होना चाहिये वैसे ही उनका स्वभाव था पंडित जी से उनकी बनती नहीं थी। वह शरीर से भी हृष्ट पुष्ट थी। पंडित जी का भी शरीर तो अच्छा था पहिली पत्नी इन्हें अच्छी प्रकार खिलाती पिलाती थी, किन्तु जब से यह आई, इसने पंडित जी को घी दूध सब बन्दकर दिया। अपना यथेष्ट खाती और मन मानी करती। घर का जो सामान होता उसे अपने भाई को शनैः शनैः पहुँचाती। पंडित जी को बड़ी चिन्ता हुई। वे दुर्बल भी हो गये थे, उससे कुछ कह भी नहीं सकते। कहते तो वह एक की चार सुनाती। बड़े दुखी थे।

उनके एक युवक मित्र थे। अपना दुःख जाकर उन्होंने इनसे कहा। मित्र ने कहा—"पंडितजी! ऐसे काम न चलेगा। मनुष्य भय से डरता है। भय होता है बलवान् से। आप यथेष्ठ घृत खाइये जब बलवान् हो जायँ, तब उसकी मरम्मत करें।"

पंडितजी ने खेद के साथ कहा—"भैया! तुम कहते तो ठीक हो, किन्तु खाऊँ कहाँ से? तीनों तो उसके पास में है। घर की स्वामिनी तो वह बनी बैठी है, जो रूखा सूखा देती है उसी पर निर्वाह करना पड़ता है। स्वयं तो माल उड़ाती है, मुझे बासी कूसी में ही टरकाती है।"

यह सुनकर वह युवक बोला—"अच्छी बात है, मैं आपको एक उपाय बताता हूँ, आप उससे जाकर कहें, कि मुझे आँखों से कुछ कम दीखने लगा है। अब नव दुर्गायें हैं। अष्टमी का व्रत करके नवमी को सायंकाल में दुर्गा देवी का भक्ति भाव से पूजन करो और उनसे प्रार्थना करो मेरी आँखें अच्छी जायँ, तो देवी! मैं तुम्हारी विशेष पूजा करूँगी। ५

जिमाऊँगी।" ऐसी प्रार्थना करने पर अवश्य ही आकाश वाणी होगी।"

पंडितजी ने कहा—"ऐसा करने से लाभ ?"

उस युवक ने कहा—"लाभ तो आप प्रत्यक्ष देखेंगे। वह यह वरदान माँगेगी "मेरे पति की आँखें फूट जायँ।" फिर आप देखना क्या होता है।"

पंडितजी ने कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही करूँगा।" दूसरे दिन उन्होंने जाकर अपनी बहू से कहा—"सुनती है, मुझे कुछ आँखों से कम दीखने लगा है।"

यह सुनकर वह मन ही मन प्रसन्न होकर ऊपर से सहानुभूति दिखाती हुई बोली—"कम कैसे दीखने लगा। अभी आपकी अवस्था भी कुछ अधिक नहीं। इसकी कुछ औषधि कराइये।"

पंडितजी ने कहा—"औषधियों से यह रोग अच्छा होने का नहीं, तुम्हीं चाहो तो अच्छा हो सकता है।"

उसने शीघ्रता से अपने मनोगत भावों को छिपाते हुए कहा—"हाँ, हाँ बताइये बताइये। क्या करने से रोग दूर होगा। मैं वही करूँगी। मेरे तो सब कुछ आप ही हैं।"

पंडित जी ने कहा—कल अष्टिमी है, तुम दिन भर व्रत करो। नवमी को सायं काल में बड़ी भक्ति भाव से दुर्गा देवी की पूजा करो, मनौती मानो, कन्या लांगुरा जिमाने को कहो, तब आकाश वाणी होगी। देवी जो आज्ञा दें वही करने से मेरी मनोकामना पूर्ण होगी।"

पंडितानी ने कहा—"अच्छी बात है। मैं अवश्य इस उपाय को करूँगी।"

दूसरे दिन अष्टिमी आने पर उसने दिन भर निराहार व्रत

किया। दुर्गा देवी को मनाती रही। नवमी को भी कुछ न खाया। पूजा की सब सामिग्री लेकर वह सूर्यास्त होते ही देवी जी के मन्दिर चली गई। कुछ मातायें और भी पूजा कर रही थीं। वे सब करके चली गईं और जब यह अकेली रह गई, तो बड़ी भक्ति से देवीजी की पूजा की। स्नान चंदन पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, सूत्र, इक्षुफल, मालपुआ, फल, ताम्बूल, दक्षिणा आदि समर्पित करके उसने आरती, प्रदक्षिणा की और दोनों हाथ जोड़कर बोली—"हे देवी! मेरे पति की दोनों आँखें फूट जायँ, तो मैं तुम्हारी विशेष पूजा करूँगी। कन्या लाँगुरा जिमाऊँगी।"

पंडितजी के वे सम्मतिदाता मित्र पहिले से ही मन्दिर के ऊपर एक छिपे स्थान में गुप्त बैठे थे। ऊपर से चाँदनी लगी थी। रात्रि में दिखाई नहीं देते थे। वे ऊपर से बोले—"हाँ, तेरी मनोकामना पूर्ण हो जायगी। आज से तू अपने पति को छीलकर पीसकर आधा पाव बादाम की मिंगी आधा पाव शुद्ध गौ का घृत, ११ काली मिरच आधा पाव मिश्री, तीन पाव दूध में मिलाकर नित्य दिया कर। १०० दिन का यह प्रयोग है। १०० दिन इसे खिलाने से आँखें फूट जायँगी। इस बात को किसी से कहना मत कहेगी तो तेरी ही आँखें फूट जायँगी।

उस आकाश वाणी को सुनकर पंडितानी परम प्रसन्न हुई वह तुरंत वहाँ से चली आई और आते ही उसने वे सब वस्तुएँ बना कर पति को दीं। पति ने कहा—"यह क्या है?"

पंडितानी ने कहा—"घृत, मिश्री, बादाम और काली मिरच तथा दूध है।"

पंडित जी ने कहा—'नहीं, नहीं, मैं इन वस्तुओं को नहीं खाऊँगा। इनसे तो और आँखें फूटती हैं।"

पंडितानी को और भी विश्वास हो गया। अतः बोली—"देवीजी की ऐसी ही आज्ञा है। आप अवश्य खायँ। १०० दिन का यह प्रयोग है।"

पंडित जी ने सरलता से कहा—"अच्छी बात है, तू तो मेरी स्त्री ही ठहरी। मेरा अनिष्ट तो करेगी ही नहीं। देवी जी की जो आज्ञा। इतना कहकर उस माल टाल को चुपके से चढ़ा गये। इधर पंडितजी सेव की भांति लाल पड़ते जाते। आँखों में नई ज्योति, शरीर में नवस्फूर्ति, और अंगों में नव जीवन का संचार होता हुआ प्रतीत होता, तो भी वे अपने भावों को छिपाये काल की प्रतीक्षा करते हुए देखते हुए भी अंधे बने रहते।

अब तो कुछ दिनों में पंडितजी ने सर्वथा आँखें मींचलीं हाथ से भी टोह टोहकर चलने लगे। स्त्री जहाँ बिठा देती बैठते जहाँ ले जाती चले जाते। स्त्री को बड़ी प्रसन्नता हो गई। उसने घी की मात्रा और भी बढ़ादी। अब तो वह खुलकर खेलने लगी। जो वस्तु होती उसे ही माँ के यहाँ पहुँचा देती। पंडितजी देखते हुए भी अंधे बने थे। पहिले पंडितजी का निरादर करने में संकोच करती थी। अब प्रत्यक्ष निरादर करने लगती। पंडित जी पानी माँगते तो कह देती "दिन भर तुम्हें कौन पानी देता रहे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! दूसरे दिन उस युवक ने पूछा—"कहो, पंडितजी! क्या हाल चाल है?"

पंडितजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुये कहा—हाल चाल क्या है भैया! तीर ठीक लक्ष्य पर जाकर लगा। १०० दिन में तो मैं बुढ़े से युवक हो जाऊँगा, इस ओषधि के सेवन से।"

युवक ने पंडितजी के कान में कहा—"महाराज! एक काम

और करें। १०।५ दिन के पश्च[illegible]
और भी कम दिखाई देने ल[illegible]
मुझे कुछ भी नहीं दीखता उस[illegible]
पंडितजी ने तो उसे गुरु [illegible]
करण मंत्र जो बताया था। उस[illegible]
कहने लगे—"तू मुझे क्या खि[illegible]
दिन और भी मंद होती जा[illegible]
भी प्रसन्न होती हुई घृत की [illegible]
है—"मुनियों ! आपको [illegible]
कष्ट है। यदि भाग्य से घरवाल[illegible]
आचरण करने वाली मिल[illegible]
सुखाभास दिखाई भी देता[illegible]
सहधर्मिणी सहस्रों में किसी [illegible]
नहीं तो ऐसी ही प्रायः मिलत[illegible]
रहती हैं। इतने पर भी मनुष्य[illegible]
सकता। सब सहता हुआ उस[illegible]
बुरी भली सुनता है। महाराज[illegible]
करने में अपना बड़ा गौरव [illegible]
बैठकर बड़े अभिमान से कहत[illegible]
कह दिया—वहाँ रखी हैं लेल[illegible]
बनाने की नहीं हुई—मैंने कह[illegible]
खानी हो बनालो।" इस प्रक[illegible]
अनुभव करती हैं। देवरों को [illegible]
देखती। कहीं देवर ने यह का[illegible]
कम है, या दाल भली भाँति [illegible]
दस बार उस बात को दुहरा[illegible]

[illegible]ात् कहने लगो कि मुझे तो अब
[illegible]गा है। १० दिन में कह दें अब
[illegible]का हाथ पकड़ कर चला करें।"
[illegible]ी बना रखा था, उसने बहू-वशी-
[illegible] की सम्मति के अनुसार स्त्री से
[illegible]ाती है, इससे तो मेरी ज्योति दिन
[illegible]रही है।" यह सुनकर वह और
[illegible]मात्रा और बढ़ा दी। सूतजी कहते
[illegible]ता नहीं, गृहस्थ में कितना
[illegible]ी सती, साध्वी, अपने अनुकूल
[illegible]गई, तबतो गृहस्थाश्रम में कुछ
[illegible] है ! किन्तु महाराज ! ऐसी
[illegible]एक भाग्यशाली को मिलती हैं,
[illegible] हैं, जो बात बात पर लड़ती
[illegible] इस माया जाल को छोड़ नहीं
[illegible] में लिपटा रहता है। रात्रि दिन
[illegible] साधारण स्त्रियाँ पति के अपमान
समझती हैं। सखी सहेलियों में
[illegible] हैं, वे आये, रोटी माँगी,। मैंने
[illegible]। उस दिन मेरी इच्छा रोटी
[illegible] दिया, मुझसे नहीं बनती तुम्हें
[illegible]र की बातें कह कर वे गर्व का
[illegible] तो वे फूटी आँखों से भी नहीं
[illegible] दिया कि आज साग में नमक
[illegible]मली नहीं। तब देखो उनके ठाठ।
[illegible]वेंगी—"लल्लू ! मुझे तो ऐसा ही

बनाना आता है। अब तुम कोई अच्छी सी पतुरिया ले आओ तो तुम्हें ५६ व्यंजन बना बनाकर खिलाया करे। और न जाने क्या क्या बकती हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए शौनकजी बोले—सूतजी ! अब रहने भी दो। ये सब गृहस्थी के जंजाल हमें क्यों सुना रहे हो ! आप तो घी के अंधे हुए ब्राह्मण की कथा सुना रहे थे, उसे शीघ्रता से समाप्त करके समुद्र मन्थन की कथा सुनाओ।"

सूतजी भी हँस पड़े और बोले—"ऋषियो ! आप ही धन्य हो, जो गृहस्थ जंजाल से बचे हुए हो। महाराज ! यदि आप फँसे होते तो ऐसे दिन भर कथा न सुनते रहते। अच्छी बात है मैं समाप्त करता हूँ। हाँ तो ९९ दिन हो गये तो पंडित जी ने अपना अंधापन छोड़ दिया और पंडितानी का हाथ पकड़ लिया और बोले—"अब तक तो मैं अन्धा था, इसीलिए यह धाँधली चलती रही। अब मेरी आँखों में नव ज्योति का संचार हो गया है, अब यह धाँधली न चलेगी।" हाथ पकड़ते ही पंडितानी समझ गई, कि पंडितजी में अत्यधिक बल आ गया है। वह डर गई। ताली कुञ्जी पंडितजी ने अपने वश में करली उसे खाने भर देते थे। उसी दिन से वह सुधर गई। सो मुनियो ! जब तक बलवान् न बन जाय तब तक सब सहते हुए काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसीलिये भगवान्ने देवताओं को सम्मति दी, कि तुम दैत्यों से मेल करलो, अपना स्वार्थ निकाल लो जब बलवान् हो जाओ तब फिर उन्हें मार भगाना।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो फिर भगवान् की सम्मति सुनकर देवताओं ने क्या ? वे असुर और दैत्यों के पास सन्धि करने गये या नहीं।"

इस पर सूतजी बोले—"जिस प्रकार परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरु देव ने समुद्र मन्थन की कथा सुनाई थी, असुरों से सन्धि करने जैसे देवता गये। उस प्रसंग को मैं आगे सुनाऊँगा। आप सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

सोचि समझि कैं करी मित्रता मूसकतें अहि।
कटवाई संदूक प्रेम की बातें कहि कहि।
जब जान्यो पथ बन्यो तुरत मूसक भखि लीन्हों।
यों वैरीतैं मेल करयो कारज निज कीन्हों॥
देवनि तैं श्री हरि कहैं, ऐसे ही तुम जाइ कैं।
दैत्यनि सों मैत्री करो, साधो स्वार्थ फँसाइ कैं॥

देवो की दैत्यों से सन्धि

(४१४)

ततो देवासुराः कृत्वा संविदंकृतसौहृदाः ।
उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परंतप ॥❀
(श्री भा० ८, स्क० ६ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

हरि सम्मति सिर धारि गये असुरनि ढिँग सुरगन ।
शत्रुनि आवत निरखि दैत्य सोचें मनही मन ॥
किहि कारन सुर शस्त्र त्यागि हमरे ढिँग आये ।
करि स्वागत सत्कार असुर पति बलि बैठाये ॥
बोले सुरपति सबनि तैं, भाई हैं हम सुर असुर ।
पिता एक माता पृथक, क्यों फिर झगरैं परस्पर ॥

कहावत है "मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना ।" जितने मूंड़ हैं उतने मत हैं । जैसे सर्वथा किसी के सूरत एक सी नहीं होती, सभी की वाणी भिन्न होती है । सबके हस्ताक्षर एक से नहीं होते । यहाँ तक कि अँगूठे की रेखायें पैर की रेखायें ये भी सब भिन्न भिन्न होती हैं । एक ही रजवीर्य से पैदा हुए, एक ही उदर से

❀श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! इसके अनन्तर देवता और दैत्यों ने परस्पर में मित्रभाव से सन्धि कर ली । अब वे दोनों मिल कर अमृत प्राप्ति के लिये परम उद्योग करने लगे ।

उत्पन्न हुए भाई बहिनों में आकाश पाताल का अंतर होता है। यदि जगत् में एक का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ से आबद्ध न होता, तो भी एक दूसरे से पृथक रहते। कोई किसी से बात भी न करता, किन्तु स्वार्थ ने इस विभिन्नता में भी एकता कर दी है। एक स्वार्थ के लोग विभिन्न विचार के होने पर भी स्वार्थवश मिल जाते हैं। व्यापार में भिन्न भिन्न सम्प्रदाय, भिन्न भिन्न मत के लोग मिल कर व्यापार करते हैं। राजा के यहाँ भिन्न भिन्न मत के सेवक एक ही स्वार्थ के कारण एकत्रित कार्य करते हैं। चारों में भिन्न मत भिन्न विचार भिन्न भिन्न रुचि के मनुष्य होते हैं, किन्तु सभी का चोरी का एक स्वार्थ होने से दल बनाकर चोरी करते हैं, डाँका डालते हैं, लूटते हैं और लूट के माल को नियमानुसार बाँट लेते हैं। संसार में स्वार्थ का प्रेम है, शाठ्य मिश्रित सौहार्द्र है, जिनकी अनित्य भोगों में नित्य बुद्धि है, असत् को सत् समझे बैठे हैं, वे स्वार्थ रहित प्रेम की कल्पना भी नहीं कर सकते।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान ने देवताओं को दैत्यों से सन्धि कर लेने की सम्मति दी तब देवताओं ने पूछा—"महाराज! उनसे सन्धि करके कार्य कौन सा करें?"

इस पर श्रीअजित भगवान् बोले—"देखो, दैत्य बड़े बली हैं। तुम दोनों मिल कर क्षीर सागर से अमृत निकालने का यत्न करो।"

देवताओं ने कहा—"प्रभो! अमृत से क्या होगा?"

भगवान् ने कहा—"होगा क्या, अभी तुम लोगों ने देखा असुरों की ओर जो मरे उन्हें तो शुक्राचार्य ने अपनी मृतसंजीविनी विद्या से जिला लिया। तुम्हारी ओर उस विद्या को जानता नहीं तुम्हारे गुरु बृहस्पति जी भी उससे अनभिज्ञ

इसी लिये तुम्हारी ओर के बहुत से देवता मर गये। यदि अमृत निकल आवेगा तो उसे पीकर तुम लोग अमर हो जाओगे। फिर कितना भी युद्ध करो, मरोगे नहीं। तुम सबके सब मरण-धर्मा देव अमर बन जाओगे।"

देवताओं ने उल्लास के साथ पूछा—"तब, भगवन्! वह अमृत निकलेगा कैसे। समुद्र तो अगाध है उसमें जाने कहाँ अमृत छिपा हुआ है?"

भगवान् ने कहा—"भाई ऐसे अमृत दिखाई थोड़े ही देगा। जैसे दुग्ध के कण कण में घृत व्याप्त है, युक्ति से जमा कर मथने से उसमें से घृत निकलता है पहले दूध में जामन डालकर जमाया जाता है, फिर रई में रस्सी डालकर निरन्तर मथा जाता है मथते मथते ऊपर घृत आ जाता है छाँछ पृथक् हो जाता है।"

देवताओं ने पूछा—"अच्छा तो महाराज! यहाँ किस वस्तु को जामन के स्थान पर डाले। रई किसकी बनावें, दाम-रस्सी किसकी हो। मथें किस प्रकार?

भगवान् बोले—"एक काम करो। जितनी भी सुन्दर सुन्दर अमृत स्रावा औषधियाँ हैं, जितना लतायें हैं, घास हैं तथा जड़ी बूटियाँ हैं सबको उखाड़ उखाड़ कर समुद्र में डाल दो। सबसे श्रेष्ठ मन्दराचल पर्वत की रई-मथानी बनाओ और वासुकिनाग को नेति, दाम अथवा रस्सी बनाकर तुम दैत्य दानव दोनों मिलकर उसे मथो।

देवताओं ने कहा—"अजी, महाराज,! हमसे यह सब कैसे होगा। इतना बल हम में कहाँ है।

भगवान् ने आश्वासन देते हुए कहा—"अरे, देवताओ! तुम यार! ऐसे ही क्लीवके क्लीव ही रहे। हृदय की दुर्बलता,

क्लीवता को छोड़कर उत्साह से इस काम को करो। मैं तुम्हारे साथ तो हूँ, मुझे न भुलाकर मेरे साथ रह कर तुम यदि मथोगे तो तुम्हें कोई भी कष्ट न होगा।"

देवताओं ने कहा—"हाँ, महाराज! यह तो सत्य है, आप जब हमारे साथ रहेंगे, तब फिर हमें क्यों कष्ट होगा। किन्तु भगवन्! जब असुर हमारे साथ साथ बराबर परिश्रम करेंगे, तो उन्हें भी अमृत बराबर मिलेगा।"

भगवान् बोले—"देखो, जो लोग मुझे भुलाकर कर्म करते हैं; उनको केवल कर्म का श्रम ही श्रम मिलता है। जो लोग अपने को व्यर्थ ही ज्ञानीमानकर अभिमान पूर्वक कर्म करके कठिनता से उच्च पद को प्राप्त हो जाते अन्त में ऊपर चढ़कर भी वे फिर गिर जाते हैं, क्योंकि उन्होंने मेरे चरणों का आश्रय ग्रहण नहीं किया, और जो सब कार्य मेरा स्मरण करके, मेरी सेवा समझकर, कर्त्तव्य बुद्धि से करते हैं और करके सब मुझे समर्पण कर देते हैं, तो उन्हें कर्मजन्य श्रम भी नहीं होता और महाफल के अधिकारी भी बन जाते। तुम्हारे साथ असुर परिश्रम तो समान ही करेंगे, किन्तु अमृत का मीठा रस तुम्हें ही मिलेगा, दैत्यों के भाग तो केवल क्लेश ही आवेगा। इसलिए तुम लोग जैसे बने तैसे फुसलाकर उन्हें समुद्र मंथन के लिये अपने अनुकूल बना लो।"

देवताओं ने कहा—"अजी, भगवन्! वे दुष्ट बड़े हठी हैं। उनकी उलटी खोपड़ी है, जिस बात पर अड़ जाते हैं उसी को करके छोड़ते हैं।

भगवान् बोले—"अड़ जाने दो। भैया। हमें तो अपना काम निकालना है। इस समय वे लोग जैसा भी कहें तुम उसी का समर्थन करना। बिना सोचे समझे उनकी हां में

मिलाते रहना। भैया, यह नीति है, शान्ति से बिना खट पट किये जैसे काम बन जाता है, वैसे क्रोध करके लड़ाई झगड़ा करने से नहीं बनता।

देवताओं ने कहा—"महाराज! मथने पर भी उसमें से अमृत न निकला तो? या अमृत न निकल कर कोई अन्य अन्य ही वस्तु निकली तब क्या करें?"

भगवान् बोले—"जब तक अमृत निकले नहीं तब तक तुम निरन्तर मथते ही जाना, निराश मत होना। सर्व प्रथम इन औषधियों और समुद्र का विकार रूप विष ही निकालेगा। उस विष को देखकर डर मत जाना, हतोत्साह भी न होना, कि इसमें तो पहिले ही पहिल विष निकला।"

देवताओं ने पूछा—"प्रभो! विष ही निकलेगा या और भी अमृत के अतिरिक्त वस्तुएँ निकलेंगी?"

भगवान् बोले—"अमृत विष के अतिरिक्त बड़े सुन्दर सुन्दर एक से एक अद्भुत रत्न निकलेगें। उन रत्नों को देखकर फिसल मत जाना उन्हें लेने के लिये मन में लोभ मत करना। प्राप्त करने के लिये क्रोध करके युद्धादि भी मत करना।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् असुरों को समझा कर, उन्हें कूटनीति की युक्ति बता कर तुरन्त उसी स्थान पर अन्तर्धान हो गये, सबने भगवान् के अव्यक्त सच्चिदानन्द स्वरूप को प्रणाम किया। फिर ब्रह्माजी बोले—"अच्छा, भैया! मैं तो जाता हूँ! मेरे लिये तो तुम दोनों ही एक से हो। बड़े बूढ़ों का ऐसे कार्यों में सम्मिलित होना उचित नहीं।" यह कहकर ब्रह्मा जी अपने लोक को चले गये। शिवजी ने भी कहा—"अच्छा, भैया! अब मुझे भी

अनुमति दो। मैं तो तुम्हारे साथ ही हूँ। फिर आवश्यकता समझो तो बुलालेना। यह कहकर वे भी कैलाश को चले गये।

अब देवता भली भाँति सज बजकर असुरों की राज-सभा में गये। वहाँ जाकर देखा त्रैलोक्य के सिंहासन पर प्रह्लादजी के प्रौत्र परमदानी महाराज बलि विराजमान् हैं। वे पूर्ण शोभा से सम्पन्न हैं। राज्य श्री ने उन्हें वरण कर रखा है। सिंहासन पर वे इन्द्र के समान शोभित हो रहे हैं। चारों ओर शम्बर, अरिष्टनेमि तथा और भी बड़े बड़े बुद्धिमान असुर बैठे हुए उसकी उपासना कर रहे हैं। सभा भवन की रक्षा के लिये प्रहरी तथा सैनिक खड़े हैं। बहुत से सेनानायक बलि की सभा में बैठे हैं। देवताओं को एक साथ अपनी ही ओर आते देखकर सब सैनिक अस्त्र शस्त्रों को सम्हाल कर युद्ध के लिये तत्पर हो गये। प्रधान सेनानायक ने सब को सुव्यवस्थित खड़े होने की आज्ञा दी। अन्य सेनानायक सम्हलकर प्रहार करने को तत्पर हो गये।

देवताओं को निःशस्त्र देखकर और युद्ध के लिये तनिक भी उद्यत न देखकर महाराज बलि ने प्रधान सेनानायक से पूछा "तुम सब लोग किस से युद्ध करना चाहते हो?"

सेनानायक ने कहा—"अन्नदाता! हमारे पुराने शत्रु देवता मिलकर हमारी ओर आरहे हैं उन्हें हमें पकड़ना है परास्त करना है।"

हँसकर महाराज बलि बोले—"अरे भाई, जो युद्ध करने आता हो, उसी से तो लड़ना चाहिए। देखते नहीं देवता खाली हाथ आ रहे हैं इनके पास न कोई अस्त्र शस्त्र हैं न युद्धोपयोगी अन्य ही उपकरण। ऐसी अवस्था में युद्ध के लिये

समुत्सुक होना अनुचित है। प्रतीत होता है, ये किसी विशेष प्रयोजन से मेरे पास मैत्री भाव से आये हैं। इस दशा में मैं इनका हृदय से स्वागत करूँगा। तुम सब प्रधान प्रधान कर्मचारी आगे जाकर सत्कार पूर्वक इन सब को मेरे समीप ले आओ।"

बलिजी की ऐसी आज्ञा सुनकर प्रधान मंत्री प्रधान सेनानायक तथा अन्यान्य सचिव सुरों के समीप गये और उन्हें सत्कार पूर्वक बलि के समीप ले आये। बलि ने उठकर उनका आदर किया और बैठने के लिये सब को यथा योग्य आसन दिये। महाराज बलि ने पाद्य अर्घ्यादि देकर उन सब की पूजा की और आने का कारण पूछा।"

बलि के पूछने पर इन्द्र ने कहा—"महाभाग! हम आपके पास एक विशेष कार्यवश आये हैं। हमारा एक प्रस्ताव है, यदि आप उसे मानें तो कहें।"

हँसकर बलि ने कहा—"बिना सुने ही हम कैसे कह दें मान ही लेंगे। आप बतावें क्या प्रस्ताव है। उसे सुनकर मैं अपने मंत्रियों से सम्मति करूँगा। फिर जैसी सबकी सम्मति होगी आपसे निवेदन करूँगा।"

इन्द्र ने कहा—"हम सुर असुर सब सगे भाई भाई ही हैं। हम दोनों के पिता तो एक ही हैं। एक ही वीर्य में हम सब हुए हैं। माताओं के पृथक् होने से हमारे नामों में कामों में कुछ भेद हो गया है। फिर भी भाई तो हैं ही, हम चाहते हैं हमारी आपकी लड़ाई सदा के लिये समाप्त हो जाय।"

असुरों ने कहा—"जो बात असम्भव है उसका प्रस्ताव करना व्यर्थ है। हमारी तुम्हारी लड़ाई कभी समाप्त नहीं होने की।"

इन्द्र ने कहा—"अच्छी बात है, लड़ाई न भी समाप्त हो। हम लड़ते ही रहें, तो भी दोनों में से किसी को हानि न हो।" लड़ने पर भी कोई मरे नहीं, युद्ध की इच्छा भी पूरी हो, हानि भी न हो। साँप मरे न लाठी टूटे।"

बलि ने पूछा—इसका क्या उपाय है?"

इन्द्र ने कहा—"इस क्षीर सागर में अमृत है। हम सुर असुर सब मिलकर मंदराचल को मथानी बनाकर वासुकी से इसे मथें। मथते मथते इसमें से अमृत निकल आवेगा। उसे हम लोग पीकर अमर हो जायँगे इसमें दोनों का ही स्वार्थ है।"

असुरों को यह बात बड़ी अच्छी लगी। वे तो हाहा हूहू धूम धड़ाके वाले कार्यों को उत्तम समझते हैं। इन कार्यों में उनको बड़ी रुचि है। असुरों ने सोचा—"इन देवताओं को उल्लू बनायेंगे। परिश्रम तो इनसे यथेष्ट करायेंगे, किन्तु जब अमृत निकलेगा, तो उसे हम लोग ही पी जायेंगे। ये दुर्बल हमारा क्या कर सकते हैं?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! असुरों के मन में पहिले ही पाप आ गया।"

इस पर शौनक जी बोले—"महाभाग सूतजी! पाप तो देवताओं के मन में भी था। वे तो असुरों को छलने ही आये थे।"

इस पर सूत जी बोले—"हाँ भगवन्! यह सत्य है; देवता भी असुरों की वञ्चना ही करना चाहते थे, किन्तु स्वतः नहीं भगवान् की आज्ञा से। जो भगवत् आज्ञा मानकर कार्य करता है, उसे उसका परिणाम नहीं भोगना पड़ता। वह तो भगवान् की आज्ञा का पालन कर रहा है। ये असुर तो अपने

को ही सब कुछ समझ कर देवताओं को ठगना चाहते थे। उन्हें तो अपने बल का भरोसा था। देवताओं को भगवान् का भरोसा था। जिसे भगवान का ही एक मात्र भरोसा है, उसका कभी अकल्याण नहीं होता।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा ठीक है, हाँ तो आगे की कथा सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ तो महाराज! फिर क्या था अब दोनों में परस्पर में सन्धि हो गई। एक ने दूसरे की बात सहर्ष स्वीकार कर ली और दोनों मिलकर अमृत प्राप्ति के लिये महान् उद्योग करने लगे। सबसे पहिले सब मिलकर मन्दराचल को उखाड़ने चले।"

छप्पय

करि कैं सब पुरुषार्थ उदधि तैं अमृत निकारैं।
मरन धरम कूँ त्यागि अमर बनि मृत्युहिं मारैं॥
लड़ैं परस्पर वीर मरैं नहिं कोई रन महँ।
मन महँ हो विद्वेष घाव होवै नहिं तनमहँ॥
असुरनि सुर सम्मति सुनी, साधु साधु सब ने कही।
अमृत निकारैं मिलि उभय, बात जिही पक्की रही॥

आगे की कथा २२ वें खण्ड में पढ़ें

मोहिनी में भगवान्

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवत-दर्शन—

भागवती-कथा

(बाईसवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) प्रयाग

—:※:—

विषय-सूची

अ० सं०	विषय		पृष्ठांक
	व्यवस्था सम्बन्धी बातें	(भूमिका) ...	
५१५—	मथानी के लिये मन्दराचल	.	१५
५१६—	उल्टों से उल्टा व्यवहार	...	२२
५१७—	कच्छपावतार	....	२८
५१८—	श्रीहरि द्वारा समुद्र मन्थन	...	३४
५१९—	समुद्र मथने पर सर्वप्रथम विष	....	४०
५२०—	प्रजापतियों द्वारा महादेव जी की स्तुति	....	४७
५२१—	परोपकार का महत्व	...	५३
५२२—	विश्वनाथ का विषपान	...	६०
५२३—	परोपकार प्रभु की परमाराधना	...	६८
५२४—	क्षीर सागर से रत्नों की उत्पत्ति	..	७५
५२५—	समुद्र से लक्ष्मी जी की उत्पत्ति	....	८३
५२६—	वरवर्णिनी लक्ष्मीजी	...	९१
५२७—	श्री लक्ष्मी जी का नारायणवरण	....	१०२
५२८—	धन्वन्तरि अवतार तथा अमृतोत्पत्ति	....	१०९
५२९—	अमृत के लिये असुरों में परस्पर कलह	...	११४
५३०—	मोहिनी अवतार	...	१२०
५३१—	अमृत बांटने वाली मोहिनी	....	१३१
५३२—	सुरों को अमृत पिलाकर मोहिनी को मोहन बन जाना	...	१३९
५३३—	श्रीहरि के कपट व्यवहार का कारण	...	१४५
५३४—	विषयासक्ति में मृत्यु है	...	१५३

५३५—देवता और असुरों का युद्ध १६३
५३६—देव और दैत्यों का द्वन्द युद्ध ... १७०
५३७—इन्द्र के साथ बलि का माया युद्ध ... १७५
५३८—आसुरी माया का नाश और असुरों का विनाश १८०
५३९—देवेन्द्र द्वारा नमुचि वध .. १८६
५४०—दैवासुर संग्राम की समाप्ति .. १९५
५४१—श्री शिव को मोहिनी दर्शन की लालसा ... २००
५४२—शिव का मोहिनी दर्शन ... २१०
५४३—महादेव और मोहिनी सम्मिलन ... २१९

चित्र-सूची

१. मोहिनी भगवान् और शिव (रंगीन)
२. मन्दराचल पर्वत उठाने के लिये भगवान् का प्रकट होना १७
३. वासुकी की पूंछ पकड़कर भगवान् का समुद्र मन्थन ३७
४. शिवजी का विष-पान ६२
५. समुद्र से लक्ष्मीजी की उत्पत्ति ८८
६. श्रीहरि को लक्ष्मी जी का हार पहनाना १०६
७. मोहिनी रूप १३२
८. शिवका मोहिनी दर्शन २१६

॥ श्रीहरिः ॥

"कथा" की भूमिका

तव कथामृतं तप्तजीवनम्,
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंङ्गलं श्रीमदाततम्,
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३१ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

होत हियो हरहरो इष्टके सुनि गुन गायन ।
प्यारे की प्रियकथा कान की सुखद रसायन ॥
पापनाशिनी परम सुखद वर कवि जन कीर्तित ।
अमृत मयी सुखमयी रम्य मङ्गलमय विस्तृत ॥
जे गावत अति सुख लहत, ते हरिभक्त अनन्य हैं ।
सुनत होहि हर्षित हृदय जिनको ते नर धन्य हैं ॥

भगवद् भक्तों के चरणों में मेरा बार बार प्रणाम है, जो भगवान्

---

*गोपिकायें गीत गाती हुई कह रही हैं—"तुम्हारी अमृत मयी कथायें सन्तप्त जीवों को जीवन दान देने वाली हैं, कवि जनों द्वारा कीर्तित हैं, समस्त पापों को नाश करने वाली हैं, सुनने में अत्यन्त ही मधुर हैं तथासुख शान्ति प्रदायिनी हैं उन कथाओं को जो भूलोक में कहते हैं, प्रचार करते हैं, समझो संसार में वे ही सबसे श्रेष्ठ दान देने वाले हैं।"

की मधुमयी, आनन्दमयी कथा के रसिक हैं। संसार में सब कुछ सुलभ है किन्तु कृष्ण कथा दुर्लभ है। पहली बातें तो छोड़ दीजिये, वे बातें तो हमने पुस्तकों में पढ़ी ही हैं। किन्तु जो बात मैंने अपनी आँखों से देखी है, उसे स्मरण करके रोमाञ्च होता है। व्रज में जन्म लेने के कारण, शिक्षा दीक्षा व्रज में ही होने के कारण उन संस्कारों की छाप यत्किंचित शेष है। बहुत छोटी अवस्था में जब लघु कौमुदी लिये मथुरा वृन्दावन और गोकुल की गलियों में घूमता था, तब प्रेम में मदमाते कृष्ण-कथा के रसिक ऐसे भक्तों के दर्शन होते थे, अब व्रज में भी उनके दर्शन दुर्लभ हो गये हैं धर्म की बात है, यह कृष्ण कथा एक प्रकार का नशा है, सबको नहीं होता। भाग्यशालियों को ही होता है। कृष्ण कथा बिना रहा ही न जाय, हृदय में हिलोर उठती रहे, कानों को रोग हो जाय, ऐसे भक्तों के दर्शनों से जीव कृतार्थ हो जाता है। ऐसे कथा प्रेमी अनन्य रसिकों के लिये संसार रहता ही नहीं। उनके कर्ण कुहरों में कोई ऐसा यन्त्र लग जाता है, कि उनमें पर निंदा परचर्चा प्रवेश करती ही नहीं जैसे मधुलोलुप भ्रमर मधुयुक्त सुमनों की ही ओर जाता है, वैसे ही उनके कृष्ण कथा लोलुप कान कृष्ण कथा के अतिरिक्त कुछ सुनते ही नहीं उसमें उन्हें क्या सुख मिलता है वे ही जानें।

बात यह है, कि सब का आहार उसकी प्रकृति के अनुरूप होता है। जिसकी जैसी प्रकृति होती है, उसे उसी वस्तु में अधिक आनन्द आता है। रुचि वैचित्र्य का ही नाम तो संसार है। सती स्त्री को अपने पति से बातें करने में, उनके दर्शन करने में, उनकी कीर्ति सुनने में कितना सुख होता है। इसके विपरीत असती स्त्री रात दिन परपुरुष की चिन्ता में ही मग्न

रहती है। पति के निकट रहने पर भी उसे पति की कोई बात अच्छी नहीं लगती। अहर्निशि जार के ही सम्बन्ध की बात सोचती रहती है, उसे उसी का व्यसन लग गया है, उसे उसी में सुखानुभूति होती है। विष के कीड़ा को विष ही प्रिय है, है, विष्ठा के कीड़े को उससे पृथक कर दो तो वह मर जायगा। मिष्ठान्न का कीड़ा मिष्ठान्न खाकर ही जीवित रहता है।

संसार में सभी सहृदय पुरुषों को कथा, प्रिय है। जिनमें विचार करने की बुद्धि है जिनमें श्रवण करने की शक्ति है वे बिना कथा सुनें रह नहीं सकते। अन्तर इतना ही है, कि सब अपने अपने प्रिय की कथा सुनना चाहते हैं। जो कृपण हैं, वह धन से अत्यन्त प्यार करता है, उसे आप कोई धन प्राप्ति की कथा सुनाओ सब कुछ छोड़कर रात्रि रात्रि जागकर सुनेगा और प्राणों का पण लगा कर उसमें प्रवृत्त होगा। पैसे के पीछे प्राणों को भी होम देगा। इसी प्रकार जो कामी जार पुरुष होते हैं, उनका किसी परस्त्री से प्रेम हो जाता है, तो उसके सम्बन्ध की एक बात सुनने को समुत्सुक रहते हैं। उनके पीछे कुटुम्ब, परिवार, धन, वैभव राज्यपाट सभी का परित्याग कर देते हैं।

बहुत से प्रेमियों को हमने देखा है, वे अपने प्रेमियों के पत्र पाने के लिये कितने लालायित रहते हैं। बार बार पत्रालय का चक्कर लगाते हैं। कुछ भी करते रहें दृष्टि उनकी डाकिया के आने की राह पर ही लगी रहती है। अपने प्यारे का सन्देश सुनने के लिये हृदय में कैसी कुलबुली मची रहती है, यह कथन की वस्तु नहीं अनुभूति की है और उसका थोड़ा बहुत अनुभव इन पंक्तियों के पढ़ने वाले प्रत्येक पाठक पाठिकाओं

को हुआ होगा, तनिक देर पढ़ना बन्द करके सोचें ऐसी उत्सुकता उन्हें कब हुई थी और वह कितने दिन रही।

बात यह है, कि यह प्राणी प्रेम का भूखा है प्रेम के बिना भटक रहा है, प्रेमी की बात सुनना चाहता है, इसकी समस्त उत्सुकता प्रेमी के लिये है। पाँच इन्द्रियाँ प्रेम के विविध विषयों का अपने द्वारा उपभोग करना चाहती है। आँखें प्रेमी को देखने के लिये लालायित रहती हैं, स्पर्शेन्द्रिय प्रिय के स्पर्श को, घ्राणेन्द्रिय सूँघने को, रसना रस लेने को और कान प्यारे की बातें सुनने को लालायित रहते हैं इन सब में श्रोत्रइन्द्रियको शास्त्रकारों ने प्रधान बताया है। इसीलिये तो ज्ञान मार्ग मे भक्ति मार्ग में तथा कर्म मार्ग मे "श्रवण, का बड़ा महत्व बताया है। भक्ति का प्रथम अंग श्रवण है। श्रवण के पश्चात् मनन और तब निदिध्यासन होता है। श्रवण वहीं होता है जहाँ उस विषय के ज्ञाता हैं। इसलिये भक्ति का प्रथम अंग है भक्तों का संग और तदनंतर है भगवत कथा श्रवण में रति। जिनको कथा सुनने का व्यसन लग जाता है, उन बड़भागियों का चित्त निरन्तर कृष्ण कथा में ही मग्न रहता है। ऐसे बड़भागियों से कैसे भी सम्बन्ध हो जाय, यह बड़े सौभाग्य की बात है। इस अर्थ में मैं अपने को बड़ा सौभाग्य शाली समझता हूँ भागवती कथा की कृपा से मेरा संसर्ग भक्तों से हो गया। मेरे पास नित्य ही बहुत से भक्तों के ऐसे पत्र आते हैं जिन पत्रों को पढ़कर मुझे बड़ी स्फूर्ति मिलती है।

अभी दो तीन दिन की बात है, अलवर से एक देवी जी का पत्र आया। उसमें वे लिखती हैं—"आप एक्कीसवें बाइसवें खण्डों को अति शीघ्र भेजिये देखिये नृसिंह भगवान् कुपित हुए बैठे घुर्र घुर्र कर रहे हैं।" पहिले तो मेरी समझ में

ही यह बात नहीं आई कि धुर्र धुर्र से क्या सम्बन्ध है। मुझे स्मरण तो रहता नहीं किस खण्ड में क्या छपा। मसाल दिखाने वाला दूसरों को तो प्रकाश प्रदान करता है, स्वयं अंधेरे में रहता है। जब मैंने बीसवें खण्ड को खोला तब पता चला उसमें नृसिंह भगवान् की अधूरी कथा रह गई है। सिंहासनासीन नृसिंह प्रभु क्रुद्ध हुए बैठे हैं। ऐसे एक नहीं अनेक पत्र आते हैं, उनमें वे इतनी कड़ी कड़ी बातें कहते हैं, ऐसी ऐसी हमारी भर्त्सना करते है, कि किसी अन्य विषय को लेकर वे इतनी कड़ी बातें कहते तो कम से कम मुझे तो क्रोध अवश्य ही आ जाता, किन्तु जैसे ससुराल की गलियों को सुनकर सुख होता है, वैसे ही उनकी कड़ी कड़ी बातों को सुनकर आन्तरिक अह्लाद होता है, देखो, प्रेम की कैसी कुटिल गति है प्रेम का जिससे भी सम्बन्ध हो जाता है, वही मधुर हो जाता है, जो भाई हमें बुरा भला कहते हैं, वे कथा प्रेम के ही कारण तो कहते हैं। "तीन महीने हो गये, आपने आगे के खण्ड नहीं भेजे। पुस्तक आते ही दो दिन में पढ़ लेते हैं, आगे की कथा पढ़ने को बड़ी उत्सुकता हो रही है। आप बड़े सुस्त हैं, हमारी विवशता पर आपको दया नहीं आती। जब आप प्रबन्ध कर ही नहीं सकते थे, तो ऐसे काम को आरम्भ ही क्यों किया ?" इन बातों से उन भाई बहिनों की कृष्ण कथा उत्कण्ठा उत्सुकता और रति का अनुभव होता है। मुझे उनके सौभाग्य पर ईर्ष्या होती है डाह होती है। हाय! मेरी कृष्ण कथा के प्रति इतनी अनुरक्ति नहीं मुझे कृष्ण कथा के लिये इतनी चटपटी नहीं। यन्त्रकी भांति लिखता जाता हूँ। यह भी याद नहीं रहता क्या लिखा है। ये लोग धन्य हैं जो कथा को इतने चाव से पढ़ते हैं।

भगवती कथा, में कोई नई बात हो, सो भी बात नहीं। नई लावेंगे कहाँ—"सम्पूर्ण ज्ञान का तो व्यासजी भगवान् प्रथम ही उच्छिष्ट कर गये हैं। उन्हीं में से कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा लेकर जोड़ देना है।" किन्तु प्रेमी पाठक तो प्रेम के आवेश में इधर ध्यान ही नहीं देते। वे तो इन कथाओं को नित्य नई ही मानते हैं। बहुत से कहते हैं—"जब तक तुम्हारे अगले खण्ड नहीं आते हम पिछलों को ही फिर फिर पढ़ते रहते हैं।" "ऐसा क्यों करते हो जी?" एक बार पढ़ी बात को फिर फिर पढ़ने से लाभ क्या?" अब लाभ की बात तो पढ़ने वाले ही जानेंगे। व्यास भगवान् को तो इसके लिये दूसरा दृष्टान्त ही नहीं मिला उन्हीं ने तो महाराज परीक्षित् के प्रश्न करने पर यही कहा—"जिन्होंने अपने मन वाणी और कान भगवान् की कथा में ही लगा दिये हैं, उन सारग्राही भक्तजनों का यह स्वभाव ही होता है, कि उन्हें श्री अच्युत की कथायें क्षण क्षण में नवीन ही प्रतीत होती हैं। जैसे स्त्री प्रेमी कामी पुरुषों को स्त्री विषयक चर्चा में नया ही नया रस निरन्तर अनुभव होता रहता है *। कामुक स्त्री पुरुषों में और दूसरी कौन सी बात होती है। दोनों ओर से एक ही विषय होता है "मैं तुम्हें चाहता हूँ मैं तुम्हें चाहती हूँ।" किन्तु यही एक बात मिश्री से भी अधिक मीठी, गुलाब जामुन से भी अधिक पुलपुली रसीली और चटपटी चटनी से भी अधिक हृद्य लगती है। इस

* सतामयं सारभृतां निसर्गो—

यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि।

प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्यत्

से तृप्ति नहीं होती। रात्रि भर इसी एक बात को दुहराते हैं और इस में रस की अनुभूति करते हैं। इसी प्रकार कथा प्रेमी रसिकों को भगवान की कथा को बार बार पढ़ने में नित्य नया नया रस आता है। रामायणजी का भागवतजी का जब भी नया पाठ करो, तभी एक प्रकार की नवीनता भक्तों को प्रतीत होती है। अभक्त तो उन्हें पढ़ते ही नहीं। यदि किसी विपरीत भावना से पढ़ते हैं, तो अर्थ का अनर्थ करते हैं। एक सुप्रसिद्ध संत मुझे बताते थे कि एक ईसाई पादरी मेरे समीप आया। उसने कहा —"मैंने १३ बार रामायण पढ़ी है १३ बार।"

मैंने पूछा—"तुमने रामायण में क्या पढ़ा, क्या समझा ?"

उसने कहा—"मैंने यही समझा कि रामायण का दशरथ महामूर्ख है, जो बहू के चक्कर में फँस गया और बेटों के झगड़े में मर गया। उससे भी अधिक मूर्ख राम है, जो एक कामी बाप के कहने से विमाता के भड़काने से इतने बड़े राज्य को छोड़कर वन में चला गया। उससे भी अधिक मूर्ख सीता है जो सास ससुर पति के समझाने पर भी बिना अपराध पागल पति के पीछे पीछे फिरती रही। सब से अधिक मूर्ख भरत है, की इतने बड़े स्वतः आये राज्य को छोड़ कर बाबाजी बना बैठा रहा।"

उन संत ने हँसकर कहा—"भैया ! तैंने तेरह बार, की कौन कहे रामायण देखी भी नहीं ? रामायण के तुझे दर्शन ही नहीं हुए।"

वास्तविक बात यह है, कि यह तो भाव जगत की बातें हैं। भावना बिना इन बातों को कोई कैसे समझ सकता है, जिन्होंने इस जड़ भौतिकवाद को ही उन्नति का चरम-

लक्ष्य समझ लिया है, वे भावजगत् की इन उच्चतम बातों को कैसे समझ सकेंगे। बिना दाँतों वाला छोटा बालक ऊख को छीलकर चूसकर उसका रस पान स्वतः पान कैसे कर सकेगा। कोई कृपालु पुरुष गन्ने को छीलकर उसका रस मुँह पकड़ कर बच्चे को पिला दें तभी वह उस रस का स्वाद ले सकेगा। सो भी उसके भीतर रसास्वाद करने की शक्ति हो, वह निरोग हो। पित्त का प्राबल्य हुआ; तो गन्ने से निकाले मीठे रस का भी आस्वादन वह न कर सकेगा। रस की बातें रसिक ही समझ सकते हैं "भगवत् रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोई समुझ सकेना।" सो, वे लोग धन्य हैं, जिन्हें भगवान् की कथाओं में नित्य नूतन रस मिलता है, ऐसे भक्तों से संसर्ग रखने से हमें भी बल मिलता है। धर्म की बात मुझसे पूछो तो ऐसे ही लोगों के प्रोत्साहन से तो यह कथा लिखी जा रही है।

उस दिन एक सन्यासी सज्जन मेरे यहाँ आये। वे कुछ आलोचना प्रकृति के थे। बातों ही में उन्होंने बताया अमुक आदमी कह रहा था "ब्रह्मचारीजी भगवत् भक्ति का बड़ा प्रचार कर रहे हैं, मैंने तो स्पष्ट कह दिया—"वे भक्ति का प्रचार नहीं कर रहे हैं अपने नाम का प्रचार कर रहे हैं।" क्यों यह बात सत्य है न ?"

मैंने कहा—"सत्य नहीं, सोलह आने सत्य है। हम तो अपने नाम के ही लिये सब कुछ करते हैं। किन्तु नाम के लिये भगवान् की ही। कथातो कहते हैं अपने पाप को तो छिपाते हैं। कथाओं को प्रकाशित करते हैं। कथाओं में कुछ शक्ति होगी तो वे अपना फल दिखावेंगी ही। घृत या रस किसी पात्र में ही रहेगा। कथा को जो कहेगा उसी का नाम होगा। जितने भी

कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि हुए हैं अपना नाम लेकर ही तो उन्होंने गुन गान किये हैं।

उन्होंने कहा—"वे लोग तो नाम चाहते नहीं थे, उनका नाम तो स्वतः ही हो गया। तुम तो सब नाम होने की ही भावना से करते हो।"

मैंने कहा—"यही हमारा दोष है, कथा में शक्ति होगी तो इस दोष को नष्ट करके वह स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित हो जायगी। कथा तो रस वर्धिनी है ही। घी को चाहे सुवर्ण के पात्र में रखो या फूटी पुरानी हांडी में, स्वाद लेने वालों को वो दोनों में ही घृत का स्वाद आवेगा। हाँ, जो ऊपर के चाकचिक्य तो देखने हैं, वे मिट्टी के पात्र के घृत का तिरस्कार कर देंगे, किन्तु घृत ही रहेगा।"

बात यह है, कि भगवान् की कथाओं में रति जन्म के पुण्यों से नहीं होती। यह तो कोटि जन्म के पुण्य का फल है। जिनका भगवत्कथाओं में प्रेम हो गया है, वे धन्य हैं, उनका जीवन सार्थक हो गया। अपने जीवन में मैंने ऐसे कथा प्रेमियों के दर्शन किये हैं किन्तु अत्यन्त दुःख की बात है अब ऐसे कथा प्रेमी देखने में आते नहीं। अब समय बहुत भयंकर आ रहा है। अब आगे इतने भी न मिलेंगे। हमारे धर्म प्राण देश की भावी सन्तानों के हृदय में जड़ भौतिकवाद ने प्रवेश कर लिया है। वे इन सब बातों को निरर्थक और अवनति का कारण समझने लगे हैं। भगवान ही रक्षा करें। वे ही चाहें तो उनकी सुमधुर कथाओं का प्रचार प्रसार हो सकता है। लोग चाहे माने न माने, यह बात मैं डंके की चोट कहूँगा; संसारी संतापों से संतप्त प्राणियों के लिये शांति का पाठ पढ़ाने वाली भगवान् तथा भगवद्भक्तों की ये सुमधुर कथायें ही हैं।

इसी लिये गोपीगीत में गाते हुए गोपिकाओं ने कहा— हे श्यामसुन्दर ! संसारी संतापों से तपे हुए जीवों को जीवन देने वाली तुम्हारी ये कथायें ही हैं। मोह से मृतक प्राणियों के प्राण हीन शरीरों में ये ही जीवन का संचार करने में समर्थ हो सकती हैं। उन्हीं कविजनों की कविता तथा प्रतिभा सार्थक है जिन का उपयोग आप की ही कथा में होता हो। जो निरन्तर आपकी कमनीयकीर्ति का बखान करते हों। संसार में आकर ऐसा कौन जीव होगा जिसे पाप न हुआ होगा। प्राणियों से पग पग पर पाप होते हैं। उनमें से कुछ पाप प्रायश्चित द्वारा नाश होते हैं कुछ प्रायश्चित्तों द्वारा भी नाश नहीं होते उन सभी आर्द्र तथा शुष्क पापों को नाश करने में आपकी कमनीय कथायें ही समर्थ हो सकती हैं। हमारा मङ्गल हो इसी उद्देश्य से लोग निरन्तर सब कर्म करते हैं। लोक परलोक के समस्त कार्य मङ्गल के ही निमित्त किये जाते हैं, किन्तु आत्यंतिक मंगल तो भगवान् की मंगल दायिनी अमृत मयी कथाओं से ही होगा। लोग अन्नदान करते हैं कन्या दान करते हैं, सुवर्णदान, पृथ्वी-दान गौदान, औषधिदान तथा विविध प्रकार के दान करते हैं। ये सब दान उत्तम हैं स्वास्थ्यप्रद हैं किन्तु सब से श्रेष्ठ दान है अभयदान। सम्पूर्ण दानों में प्रधान अभयदान बताया गया है।

भगवान की कथा श्रवण के बिना अभय हो नहीं सकती अतः जो स्नेह भरित हृदय से आपकी कमनीय कथाओं का प्रचार करते हैं उन्हें लोगों को सुनाते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ दान हैं। और जो भगवत् कथाओं से प्रेम करते हैं वे सब से बड़े भाग्यशाली हैं।

भागवती कथा के पाठकों में अधिकांश भागवती कथाओं के

रसिक हैं। वे मेरे लिये भी भगवान् से प्रार्थना करें मेरा भी भागवत चरित्रों में अनुराग हो। मुझे भी कथायें मीठी रसीली लगने लगें। मैं भी उनमें विभोर बनकर लिखना, पढ़ना, छापना सब भूल जाऊँ अभी तो बाबाजी बनकर भी बुरे चक्कर में फँस गये हैं। जैसा पहिले सोचा था वर्ष भर में मैं इन सब झंझटों से पृथक हो जाऊँगा वैसा हुआ नहीं और अधिक पहिले से फस गया हूँ। इससे या तो भगवान् ही निकालें या आप जैसे कथा प्रेमी भगवत भक्तों का आशीर्वाद ही। अरे, मैं कथा की कथा कहते कहते अपनी कथा कहने लगा। बात यह है कि आदमी के जिस अंग में पीड़ा होती है, जहाँ कांटा लगा रहता है वहां मन रोकने से भी हठ पूर्वक चला जाता है। अच्छी बात है, अब आज इस कथा की कथा को समाप्त करता हूँ अब पाठक मन्वन्तरों की कथा, ग्राह से गज को बचाने की कथा समुद्र मंथन का कथा, कच्छप भगवान्, धनवन्तरि भगवान् तथा अजित भगवान् की कथा सुनें और उन मोहिनी भगवान् की भी कथा सुने जो नर से नारी बन गये जिन्होंने नथ पहिन कर घूंघुट की ओट से कजरारे नयनों की चोट से असुरों को ही लोटपोट नहीं कर दिया, किन्तु चन्द्रशेखर के भी चित्त को चुरा लिया। वे हमारे ऊपर कृपा करें और चुरी, बिछुआ, नथ फेंक कर मुरली लेकर हमें दर्शन दें।

संकीर्तन भवन, भूसी
शिवरात्र का प्रातः काल
सं० २००५

विनीत
प्रभुदत्त

मथानी के लिये मन्दराचल

(५१५)

ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः ।
नदन्त उदधिं निन्युः सक्ताः परिघबाहवः ॥
(श्री भा० ८स्क० ६ आ० ३३, श्लो०)

छप्पय

सब तें पहिले चले उभय लैवे गिरि मन्दर ।
लीयो तुरत उखारि चले लैकें देवासर ॥
भारसह्यो नहीं जाइ सबनिकूँ चक्कर आवै ।
सब अकुलाये कहैं, भाड़ महँ अमृत जावै ॥
अड़ड़ड़धम करि गिरि गिरयो, पिचे देव दानव सबहिँ ।
हतोत्साह जब सब भये, प्रकटे गरुड़ध्वज तबहिँ ॥

बालक का जब उत्साह बढ़ाना होता है, तो उसे भाँति भाँति के उत्साहवर्धक वचन कह कर चलने को माता पिता प्रेरित करते हैं। उनके उत्साह को पाकर वह अपने बल पर बिना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार देवता और असुर सलाह कर के परिघ के समान भुजाओं वाले परम शक्ति शाली तथा अपने बल के अभिमान में चूर हुए सुर और असुरों ने अत्यन्त उत्साह के साथ मन्दराचल को उखाड़ लिया और क्षीर सागर के ओर उसे लेकर जाने लगे।"

माता पिता की उँगली पकड़े डगमगाता हुआ चलने का प्रयत्न करता है। कुछ दूर चलकर वह अपने भार को सहन करने मे समर्थ न होने से गिर पड़ता है; गिर कर चोट लगने के कारण रोने लगता है। तब माता पिता दौड़ कर उसे उठा लेते हैं, छाती से चिपटा लेते हैं। बार बार उसके उत्साह को बढ़ाते हैं, और गोदी में लेजाकर उसे गन्तव्यस्थान तक पहुँचा देते हैं, जिससे आगे को वह हतोत्साह न हो। अपने प्रयत्न में सतत प्रवृत्त रहे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब देवेन्द्र शचीपति ने असुरों को अमृत के लाभ बताये तब वे सब के सब समुद्र मन्थन के लिये सहर्ष सहमत हो गये। अब तो देवता दैत्य सभी मिलकर सर्वप्रथम मन्दराचल पर्वत को लेने चले। सभी बली थे, सभी उत्साही थे, सभी अपने पुरुषार्थ के मद में मदोन्मत्त बने हुए थे। सभी ने एक साथ कोलाहल किया और मिलकर सहस्रों योजन वाले उस मन्दराचल को जड़ से उखाड़ ही तो लिया। उखाड़कर सब उसे लादकर ले चले। कुछ दूर तो उत्साह में चले, किन्तु वह पहाड़ इतना भारी था, कि देवता दैत्य दोनों उसके भार को सम्हाल न सके। दोनों के ही छक्के छूट गये। उत्साह मन्द पड़ गया। पैर लड़खड़ाने लगे, वाणी रुद्ध हो गई। अब एक पग भी आगे बढ़ने का साहस न रहा बीच में ही उसे पटक दिया। बहुत से उसके नीचे पिस गये, बहुतों के अंग दब गये बहुतों की कचूमर बन गई बहुतों के शरीर क्षत विक्षत हो गये। दोनों ही खीज कर कहने लगे—"भाड़में जाय ऐसा अमृत और चूल्हे में जाय ऐसा अमरपन।" बैठे ठाले किस संकट में पड़ गये। जब यह पर्वत ही हमसे नहीं उठता, तो मन्थन कैसे होगा। अपने अपने घर चलें, हो गया समुद्र मन्थन। अमृत किसने देखा।"

अन्तर्यामी भगवान् ने जब देखा ये सब तो आरम्भ में ही

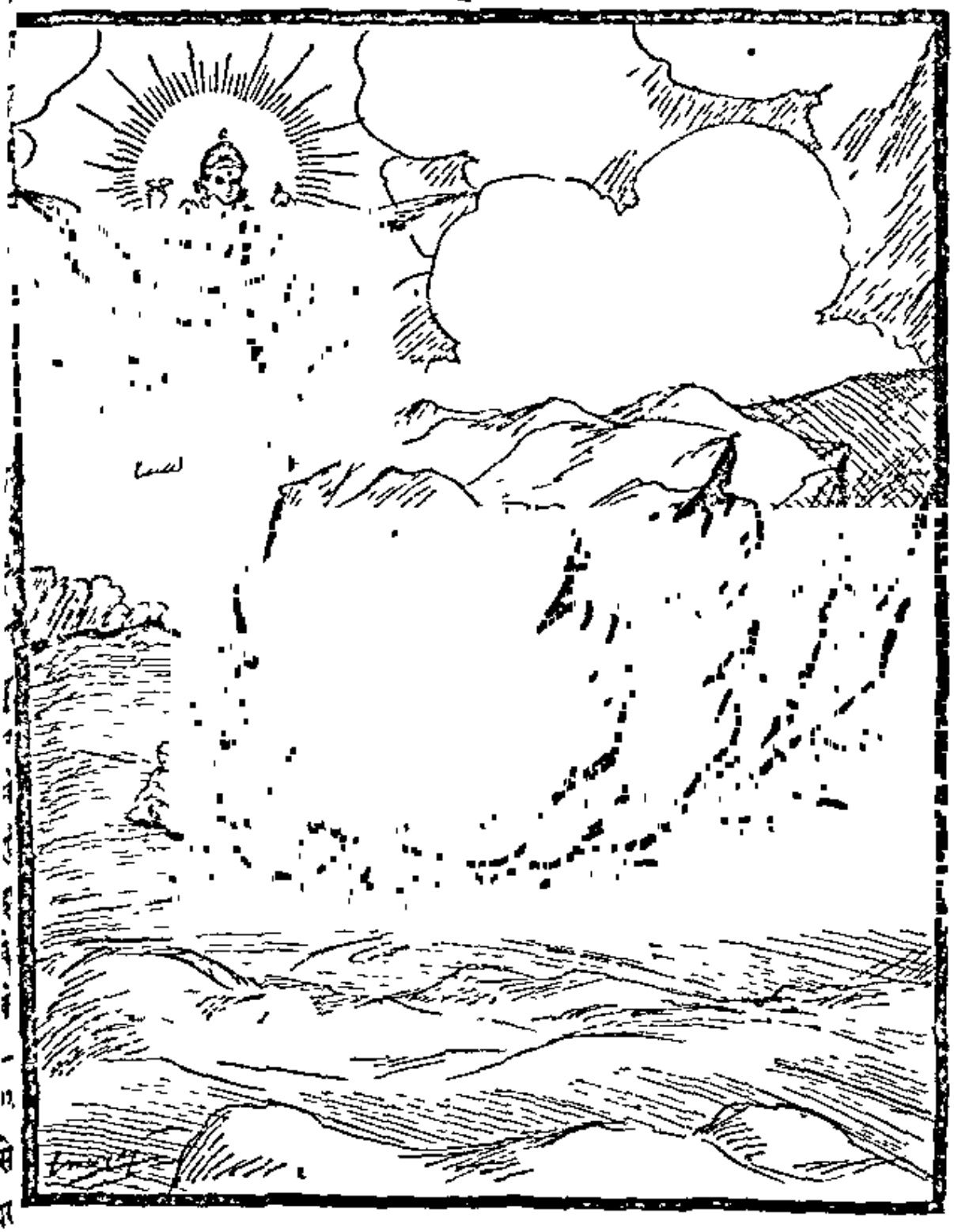

उत्साहहीन हो रहे हैं, तो उन सब को उत्साहित करने के

लिये तुरन्त वहाँ प्रकट हुए। भगवान् के दर्शन करके देवताओं को बड़ा आनन्द हुआ।

भगवान् ने पूछा—"अरे, भाई। तुम लोग क्या कर रहे हो?"

इस पर देवेन्द्र बोले—"अजी, महाराज! कर क्या रहे हैं। हम दोनों देवासुर भाई भाई हैं। हमारी इच्छा है हम मिल कर समुद्र को मथकर अमृत निकालें उसी के लिये मथानी बनाने इस मन्दराचल पर्वत को लिये जा रहे हैं। मार्ग में श्रमित हो जाने के कारण यह हम से गिर गया है।

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"अरे तुम लोग कश्यप की सन्तान होकर इस इतने से ढेले को भी नहीं उठा सकते। हटो, लाओ मैं अकेला ही तुम जहाँ कहो रख आऊँ। कहाँ, ले चलना है?"

देवताओं ने कहा—"महाराज, क्षीर समुद्र के तट तक ले चलना है।

इतना सुनते ही भगवान ने हँसते हुए खेल खेल में लील से उस पर्वत को छत्राक की भाँति बायें हाथ मे उठाकर गरुड़ जी के ऊपर रख लिया। जो देवता दबकर लँगड़े लूले हो विक्षत हो रहे थे, उन्हें भगवान् ने अपनी अमृत वर्षिणी दृष्टि से पुनः पूर्ववत् स्वस्थ कर दिया। भगवान गरुड़ जी पर स्वयं भी चढ़ गये और मन्दराचल को भी रख लिया। गरुड़ जी के क्या था जिनका जलपान ४० कोस ऊँचे हाथी और ४८ कोस के कछुए का होता है, उनके लिये सहस्रों योजन का मन्दराचल राई के समान था। क्षण भर में उड़कर क्षीर सागर के समीप पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर गरुड़ जी ने अपने पंखों से उस

पर्वत को उतार कर जल में रख दिया और देवताओं से बोले—"अब तुम लोग मथो समुद्र को।"

देवता और असुरों ने कहा—"महाराज, अभी कैसे मथें? मथने के लिये नेति रस्सी भी तो चाहिये। बिना दाम के केवल रई से तो नहीं मथा जा सकता। जब नागराज वासुकी आ जायँ, तो उन्हें लपेट कर मथा जाय।"

भगवान् बोले—"जाकर शीघ्रता से उनको भी बुला लाओ।"

देवताओं ने कहा—"महाराज, बुला कैसे लावें। जहाँ बिल्ली बैठी हो वहाँ लाख प्रयत्न करने पर भी चूहे नहीं आ सकते। आपके ये वाहन गरुड़जी तो सर्पों के शत्रु हैं। यदि इन्हें कहीं भूख लग गई, तो एक झपट्टे में ही वासुकी को उड़ा जायँगे। न हमारा समुद्र मन्थन होगा न अमृत निकलेगा। नागराज के प्राण व्यर्थ में ही जायँगे। अतः जब तक गरुड़जी हैं तब तक नागराज नहीं आ सकते।"

यह सुनकर भगवान् ने हँसते हुए गरुड़जी से कहा—"अच्छा, गरुड़जी! अब आप कुछ काल के लिये घूम फिर आइये।"

गरुड़जी ने खिसिया कर कहा—"अजी, महाराज! इतनी दूर से ढोकर हम मन्दराचल को यहाँ लाये, कुछ अमृत हमें भी मिलना चाहिए।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"जाओ, जाओ, भाग जाओ। लड़कपन मत करो। तुम्हें अमृत की क्या आवश्यकता है। तुम तो विष को भी अमृत बना सकते हो। होने दो खेलमाल। गड़बड़ सड़बड़ मत करो।"

गरुड़जी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! लो, जाता हूँ मैं, आप इस बच्चों के खेल को कीजिये। आपको भी जब

कोई धुनि सवार हो जाती है तो सब कुछ कर डालते हो बड़े बड़े ढोंग रचते हो।" यह कहकर गरुड़जी वहाँ से फर्र पंखों को फट फटाते, समावेद का घोष करते हुए गये।"

भगवान् ने कहा—"अब भैया देर का काम नहीं। "शु शीघ्रम" जाओ नागराज वासुकि के पास उन्हें समझा बुझा ले जाओ।"

भगवान् की आज्ञा पाकर देवता दैत्य मिलकर वासुकि पास पहुँचे और जाकर कहा—"नाग हमारा एक बड़ा कार्य है। हम समुद्र मथकर अमृत निकालना चाहते हैं, आप ए सहायता करें।"

नागराज वासुकि ने कहा—"मैं क्या सहायता कर सकत हूँ, तुम लोग इतने बली हो मुझे तो मथना आता नहीं।"

देवताओं ने कहा—"अजी, आप से हम मथवायेंगे नहीं आपको नेति बनाकर मन्दराचल में लपेट कर हम दोनों भा मथेंगे।"

सूखी हँसी हँसकर वासुकि बोले—"यह अच्छी बात रही माल उड़ाओ तुम और शरीर चकना चूर हो मेरा "गुड़ खाय दादी, कान छिदावे लाली।" पहाड़ से मेरे शरीर को रगड़ोगे यह मेरे वश की बात नहीं है।

देवता और असुरों ने कहा—"अजी, नागराज! यह परोपकार का कार्य है। अपने शरीर को क्लेश देकर ही तो दूसरों का उपकार किया जाता है।

सिर हिलाते हुए वासुकि ने कहा—"ऐसे परोपकार को दूर से ही डंडौत है। पहिले आत्मा तब परमात्मा। शरीर को बचाकर ही परोपकार किया जाता है। मेरा शरीर उधार का

तो है ही नहीं अमृत पीओ तुम और मसला जाय मेरा शरीर ?"

यह सुनकर देवता असुर बोले—"अच्छी बात है आपको को भी अमृत का भाग देंगे। आधे साझे पर तो चलोगे ?"

यह सुनकर वासुकि ने कहा—"अच्छी बात है, यदि आध बटाई पर चलना है तो चलो।' इस पर उन्हें समझा बुझाकर क्षीर समुद्र के तट पर ले आये।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन् ! अब तो मथानी-रई भी आ गई। नेति-रस्सी भी आ गई अब मथना ही शेष रहा। सबसे पहिले पीताम्बर फेंक बाँधकर वस्त्राभूषणों को सम्हाल देवताओं का पक्ष लेकर अजित भगवान ही समुद्र मन्थन करने को उद्यत हुए। यह लीला तो पूरी की पूरी राजनीति की थी इसमें तो पगपग पर छल कपट से ही काम लेना था। आरम्भ में ही भगवान् ने एक ऐसी युक्ति की कि उसे भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई कर ही नहीं सकता था। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।" इतना कहकर भगवान् शुक कुछ काल के लिये मौन हो गये।

छप्पय

हँसिकें बोले विष्णु—डारि गिरिवर ज्यौं दीयो।
व्यथित दुखित सुर लखे गरुड़पै गिरि धरि लीयो॥
लाइ सिन्धु दिँग धर्‌यो गरुड़ तैं बोले जाओ।
पुनि देवनि तैं कहँ वासुकी नागहिँ लाओ॥
गये वासुकी निकट सब, अम्मृत को लालच दयो।
लाइ लपेटे दाम करि, मथो विहँसि हरिने कह्यो॥

उलटों से उलटा व्यवहार

(५२६)

आरेभिरे सुसंयत्ता अमृतार्थं कुरूद्वह ।
हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन् ॥
तन्नैच्छन्दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम् ।
न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम् ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ७आ० ७, ३ श्लो०

छप्पय

पीताम्बर की फैंट बाँधि हरि पकरयौ मुख जब ।
सुरहू पीछे लगे क्रोध करि कहैं असुर सब ॥
हम कुलीन विद्वान अमङ्गल पूँछ न पकरैं ।
रूँगटि यदि तुम करो यहाँतैं हम सब निकरैं ॥
हरि हँसि बोले व्यर्थ क्यौं, बाद बढ़ाओ बन्धुवर ।
सब सुर पकरो पूँछकूँ, मुख कूँ पकरैं ये असुर ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब देवता और असुरों ने भली भाँति सावधान होकर अमृत के लिये समुद्र को मथना आरम्भ किया । सबसे पहिले भगवान् ने वासुकि का मुख पकड़ा, देवताओं ने भी भगवान् का अनुकरण किया । अब असुरों के लिये पूंछ रह गई । उन्हों ने पूंछ पकड़ना स्वीकार नहीं किया भगवान् की इस चेष्टा का विरोध करते हुए वे बोले—"हम लोग सर्प की अपवित्र पूंछ को कभी भी नहीं पकड़ेंगे ।"

संसार में जिससे जिस ढँग से काम निकले उससे उसी ढँग से काम लेना चाहिये। लड़का चन्द्रमा लेने को मचल रहा है, किसी तरह से मानता ही नहीं, तो उसे जल में प्रतिबिम्ब दिखाकर कह देते हैं यही चन्द्रमा है। किसी अनिष्टकारी वस्तु के लिये आग्रह कर रहा है। रो रहा है। तो उसे झूठे ही फेंक कर छिपा लेते हैं और हाथ हिला कर कह देते हैं चिड़ियाँ ले गईं। किसी को अपनी स्तुति प्रिय है, तो उसकी स्तुति करके काम निकाल लेते हैं। कोई गीत प्रिय हैं तो उसे संगीत सुना कर स्वार्थ साध लेते हैं कोई हास्य प्रिय है तो उसे हँसा कर अपना मनोरथ सिद्ध करते हैं। सारांश अपना काम जिससे निकलता हो, उसे यथाशक्ति अपने अनुकूल बनाना पड़ता है। कोई उलटी खोपड़ी के होते हैं, उनसे उलटा ही व्यवहार करना पड़ता।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब मथनी, मथानी नेति सब साज सामान जुट गये तब समुद्र मन्थन की बारी आई। सहस्रों योजन लम्बे वासुकि नाग को मन्दराचल में लपेट दिया। एक ओर उसकी पूँछ थी दूसरी ओर मुख। दोनों ओर से दोनों पक्ष के लोग खींच कर मथें तब मक्खन [illegible] जाय। भगवान् ने सोचा ये देवता सुकुमार हैं, [illegible] हैं, यदि इन दुष्ट दैत्यों ने इन्हें मुख की ओर लगा दिया, तो ये बेचारे तो नाग की विषैली फुफकार में [illegible] औंधी खोपड़ी के हैं, यदि इन से [illegible] लग जाओ, तो अड़ जायँगे [illegible] पहिले देवताओं को ही मुँह [illegible] सोचें।" यही सब सोच विचार कर [illegible] गंभीर वाणी से कहा—[illegible]

अपने काम में।" यह कह कर स्वयं ही पीताम्बर की फेंट में और वस्त्राभूषणों को सम्हाल कर वासुकि की मुख की लग गये। भगवान् को मुख के ओर लगा देखकर देव ने भी अनुकरण किया, वे सब भी नाग के मुख की लग गये। तब भगवान् ने असुरों से कहा—"देखते क्या हो भैया! तुम भी एक ओर लग जाओ और होने दो घमर घमर।"

इतना सुन कर भी असुर चुप चाप खड़े रहे। वे मन्दराचल के समीप भी नहीं आये।"

जब भगवान् ने फिर कहा—"तो आँखें लाल लाल करके असुर बोले—"विष्णो! तुम हमें क्या समझते हो? क्या हम विद्वान् नहीं? कुलीन नहीं? क्या हम वेद पाठ, यज्ञ हवन दान नहीं करते? हम किससे कम हैं?"

भगवान् ने हँस कर कहा—"भैया! मैं कब कम बता रहा हूँ, तुम देवताओं से भी डेढ़ हाथ ऊँचे सही। इसमें छुटाई बड़ाई की क्या बात है, एक ओर तुम लग जाओ, एक ओर हम सब लगते हैं"

उसी क्रोध के स्वर में असुर बोले—"लग कैसे जायँ, तुम्हारे कहने से? तुम संसार भर के छली कपटी, बताओ? हम कुलीन सदाचार, श्रेष्ठ होकर साँप की पूँछ पकड़ें? साँप की पूंछ तो महा अशुद्ध और अमंगलकारिणी मानी जाती है। हम तो उसे छूएँगे भी नहीं।"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और मन ही मन सोचने लगे—"अच्छा बच्चू जी! मत छूओ जब मुँह से विषैली वायु निकलेगी तब दाल आटे का भाव मालूम पड़ेगा। तब बड़प्पन मालूम होगा। यह सोचकर भगवान् ने मुख को छोड़ दिया

और देवताओं से कहा—"चलो, भैया! हम लोग सब छोटे ही सही, पकड़ो पूँछ। इन बड़ों को मुँह ही पकड़ने दो।" इतना कह कर पूँछ की ओर जा लगे, देवताओं ने भी भगवान् के पीछे पीछे पूँछ पकड़ी। तब भगवान् असुरों से बोले—"कहो, भाई! अब प्रसन्न हो? हमें तो तुम्हें सन्तुष्ट रखना है। अच्छा, अब मुँह ही पकड़ो।"

भगवान् की ऐसी बात सुनकर असुर बड़े प्रसन्न हुए। वे सोचने लगे ये देवता बड़े दब्बू हैं इनसे जो कहो वही करने को तैयार हैं। इन सब में यह चतुर्भुज अजित विष्णु ही चाँइया है। यही इनको पट्टी पढ़ाता रहता है नहीं तो ये देवता कर ही क्या सकते हैं। करालो हमसे परिश्रम ऐसे निर्बल पुरुष अमृत तो प्राप्त ही कैसे कर सकते हैं। यही सब सोचकर उन्होंने वासुकी का मुख पकड़ा।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी, भगवान् ने बड़ी कूट नीति से काम लिया। ऐसी वँचना भगवान् ने क्यों की?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! जब किसी औंधी खोपड़ी वाले से पाला पड़ जाता है तब अपना काम निकालने को उलटी ही बातें करनी पड़ती हैं। यदि ऐसा न करें तो काम ही न चले। इस विषय में एक मनोरंजक कथा सुनाता हूँ।

एक ब्राह्मण देवता थे। दुर्भाग्य से उन्हें औंधी खोपड़ी की बहू मिली वे कहें 'आज खीर पूड़ी साग रायता बनाना, तो उस दिन अदवद के रूखी रोटी बनाती और जिस दिन रूखी रोटी बनाने को कहते उस दिन हलुआ पूड़ी घोटती। ब्राह्मण कहें आज मेरे पिता का श्राद्ध है १० ब्राह्मण जिमा दो, तो वह

कहे कोई आवश्यकता नहीं। जिस दिन जिमाने को मना करें उस दिन अवश्य निमन्त्रण करके जिमा दे।

ब्राह्मण उसका स्वभाव समझ गये। अब उन्हें जो कहना हो, उलटा ही कहा करें। शरीर में दर्द हो तो कहें आज तू मेरा शरीर दबाना मत,तब वह आकर दबाने लगती—"नहीं मैं तो दबाऊँगी ही।" जिस दिन खीर पूड़ी खाने की इच्छा हो उस दिन कहें आज सूखी रोटी ही बनाना। खीर आदि मत बनाना।' उस दिन वह अवश्य खीर पूड़ी बनाती। इस प्रकार काम निकलने लगा। एक बार दोनों मिलकर गङ्गा जी स्नान को गये किनारे पर वस्त्र रखकर दोनों नहाने लगे। वर्षा के दिन थे, गंगा जी बढ़ रही थीं ब्राह्मण नहाते नहाते उसके उलटे स्वभाव को भूल गये। सहज स्वभाव में ही चिल्ला उठे देखना भीतर मत जाना।"

उसकी तो ब्रह्माजी ने खोपड़ी ही उलटी बनाई थी, यह सुनते ही वह और-भीतर घुस गई। भीतर जाकर गुड़प गुड़प पानी पीने और डूबने लगी। ब्राह्मण घबड़ाये और अपनी धोती फेंकी और बोले—"अरे, इसे पकड़ ले।" उसे तो सब काम उलटा ही करना था, पास में धोती रहने पर भी न पकड़ी, एक लहर आई वह गई डूब गई।

ब्राह्मण रोते रोते उसे ढूँढ़ने चले। जिधर गङ्गा जी का प्रवाह था उसके विपरीत वे चले। रोते जाते थे और देखते जाते थे। किसी ने पूछा—"क्या बात है?"

ब्राह्मण ने बताया—"मेरी स्त्री बह गई है उसे ही खोज रहा हूँ। वह न मिले तो उसकी लाश ही मिल जाय, जिससे क्रिया कर्म करदूँ।"

उस पुरुष ने हँस कर कहा—"तुम बड़े पागल आदमी हो

जी ! अरे, जब गङ्गा जी में वही है, तो प्रवाह की ओर खोजो, वह कर तो आगे ही जायगी, इधर खोजने से क्या लाभ ?"

उसने कहा—"महाराज ! उसकी औंधी खोपड़ी थी। सब काम वह अपने जीवन में उलटे ही करती थी, अतः मेरा विश्वास है, मर कर भी वह सीधी न बह कर उलटी ही बही होगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! भगवान् को तो देवताओं को अमृत पिलाना था। उन्होंने सोचा इन औंधी खोपड़ी के असुरों से जैसे—जिस रीत से भी—काम निकले उसी रीत से निकालना चाहिये इसीलिये भगवान् ने यह युक्ति निकाली। वे तो अन्तर्यामी हैं, घट घट के भावों को जानते हैं। इस समय खिलाड़ी का वेष बनाये हैं। जिस रीति से खेल रोचक बने, जिस क्रिया से जिस खेल में सरसता आ जाय वही सब कर रहे हैं। अब मुख की ओर असुर लगे पूँछ की ओर देवता लगे। दोनों ही समुद्र मथने को उद्यत हुए।

छप्पय

युक्ति सहित यों देव विपत्तितैं अजित बचाये।
तुरत सर्प मुख छोड़ि पूँछ ढिंग हरि सँग आये॥
यों करि पृथक विभाग सिन्धुकूँ मथवे लागे।
कसि कसि कैं सब फेंट होड़करि खींचें आगे॥
पहले खींचें असुर सब, पुनि सुर खींचें दामकूँ।
धँस्यो जाय गिरि उदधिमहँ, सुमरें सुर सब श्यामकूँ॥

कच्छपावतार

(५१७)

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

असुर कहैं—सुर ढीलि देहिं ये कम सब बलमहँ ।
सुर सोचे—यह निराधार गिरि डूबत जलमहँ ॥
कछुक कहैं विघ्नेश न पूजे अब फल पाओ ।
कछु अनन्य यों कहैं हृदय तें अजित मनाओ ॥
हरि निरखें भयभीत सुर, तुरत कूर्म तनु धरिकें ।
धारयो मदर पीठिपै, उछरे बुड़की मारिकें ॥

वस्तु हो आधार पात्र न हो, तो वस्तु सुरक्षित नहीं रह सकती । उसका । पतन हो जाता है । पतन से जो त्राण करे

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"विघ्नेश्वर के किये हुए महान् विघ्न को देखकर भगवान् ने बड़ाभारी अद्भुत कच्छप का रूप धारण कर लिया क्योंकि वे अनन्त पराक्रमी और अमोघ संकल्प हैं । समुद्र के जल में घुसकर डूबते हुए पर्वत को ऊँचा उठा दिया।"

वही आधार पात्र है । इसीलिये श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं, वे पतन से बचाते हैं गिरते हुए को सहारा देते हैं, जहाँ कोई भी अवलम्ब नहीं होता, वहाँ वे अवलम्ब देते हैं । जहाँ कोई आधार नहीं होता वहाँ वे स्वयं आधार बन जाते है। वे सर्वत्र हैं सर्व समर्थ हैं जीव की यही अल्पता है, कि वह घोर विपत्ति में पड़ कर किंकर्तव्य विमूढ़ बन जाता है और सोचता है, अब हम क्या करें अब हमारी रक्षा कैसे हो ? किस प्रकार हम अपना बचाव कर सकें, यदि सर्वावस्था में सर्वेश्वर का ही चिन्तन करता रहे, उन्हें न भूले तो वे सभी विपत्तियों से बचाते हैं। सभी विघ्नों को दूर करते हैं। अन्य देवों के किये हुए अन्तराय को भी हटा देते हैं । अतः सब कार्यों को करते हुए आधार तो उन अखिलेश अच्युत को ही समझना चाहिये।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! मन्दर को भगवान् ने पहिले तीर पर थोड़े जल में ही रख दिया था। जब उसके चारों ओर वासुकी को लपेट कर अथाह जल में छोड़ा, तो वह नीचे धँसने लगा। देवता चिल्लाने लगे—'अरे, भाई, इतनी ढील क्यों दे रहे हो ? कस कर पकड़ लो। देखो, मंदराचल जल में डूबा जा रहा है।"

इस पर असुर लाल लाल आँखें करके क्रोध में भर के बोले—"तुम देवता तो सदा के निर्बल और डरपोक हो। हमारी तुम्हारी जोड़ी कैसे निभ सकती है, तुम तो बल ही नहीं लगाते।"

देवताओं ने दीनता के स्वर में कहा—"अरे, भाई ! और कितना बल लगावें शक्ति भर तो हम उठा रहे हैं। जल में कोई नीचे आधार तो है नहीं, अगम अथाह ...

भारी मन्दराचल है यह बिना आधार के कैसे टिक सकता है ?"

दैत्यों ने कहा—"वासुकी को कसलो। अधर में उठाकर मथो।"

यह सुनकर देवताओं ने पूंछ को कसकर पकड़ा अब तो वासुकी का शरीर पिचने लगा। कष्ट होने से वह मुँह से विष उगलने लगा। उस विषैली वायु से असुरों को मूर्छा सी आ गई अब तो उन्होंने भी साहस छोड़ दिया। निराश होकर बोले—"भैया! यह तो निराधार में टिकने का नहीं। डूबता है तो डूबने दो आरम्भ से ही इसमें विघ्न पड़ रहे हैं जिस काम में आरम्भ से ही पग पग पर विघ्न हों, उसका परिणाम शुभ नहीं होता। भाड़ में जाय यह अमृत। यह कहकर वे छोड़ बैठे इधर देवताओं की दशा अत्यंत ही सोचनीय थी। निराशा के कारण वे दुःखित होकर मन ही मन मदन मोहन माधव का स्मरण करने लगे और आर्त होकर कहने लगे—"प्रभो! आप ही हमारे आधार हैं हमारा पुरुषार्थ तभी सफल हो सकता है जब आप उसे पूर्ण करना चाहें।

अनन्त पराक्रमी अमोघ संकल्प अजित भगवान् ने जब देखा, कि इन लोगों ने कार्य के आरम्भ में विघ्न विनाशक एकदन्त श्रीगणेश जी का पूजन नहीं किया है। इसीलिये यह सब विघ्न हो रहे हैं इसलिये देवता दैत्य दुखी हो रहे हैं और मेरी सहायता चाह रहे हैं तब बहुरूपिया भगवान् ने एक बड़े भारी कछुए का रूप धारण कर लिया। मन्दराचल क्षीर सागर में धँसता ही जा रहा था, केवल उसके ऊपर की एक चोटी शेष थी। वासुकी जल से भयभीत होकर उसे छोड़ने ही वाले थे कि सहसा कच्छप भगवान् ने उस इतने बड़े

विशाल पर्वत को अपनी पीठ पर धारण कर लिया और सहसा जल में से उछले। उनके उछलते ही मन्दराचल फिर निकल आया। देवता दैत्यों को बड़ी प्रसन्नता हुई। असुरों ने पुनः वासुकी का मुख पकड़ लिया। देवता तो पूँछ पकड़े प्रभु की प्रार्थना कर ही रहे थे। सबके मुख की मलीन हुई कान्ति फिर दमकने लगी। सभी का चित्त प्रफुल्लित हो गया। उस इतने बड़े कच्छप को देखकर दैत्य परम विस्मित हुए। देवताओं ने निश्चय कर लिया, ये दयासागर, दीनबन्धु, अजित, भगवान् ही हैं। ये ही कच्छप बनकर हमें आधार प्रदान कर रहे हैं। ये ही हमें विपत्ति से बचाने के लिये कछुआ बने इस पर्वत को धारण किये हुये हैं।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! इतने बड़े सहस्रों योजन लम्बे चौड़े मन्दराचल को पीठ पर धारण करने से भगवान् को कष्ट नहीं हुआ होगा, फिर उन्होंने कितना बड़ा रूप अपनाया होगा?"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—अजी, राजन्! अमेय भगवान् वासुदेव को कष्ट ही क्या? उनके लिये सम्भव असंभव कोई बात ही नहीं। कच्छप क्या था मानों समुद्र मे एक नया ही जम्बूद्वीप उत्पन्न हो गया हो। एक लाख योजन का भगवान् का वह विचित्र विग्रह था। उस पर मन्दराचल ऐसे ही रखा था जैसे सुमेरु पर कोई फल।

जब देवता और असुर मिलकर उनकी पीठ पर रखे मन्दराचल को घुमाते, तो वह पीठपर घूमता हुआ उन्हें ऐसा प्रतीत होता था मानों कोई चींटी रेंग रही हो अथवा सोते समय बड़े आदमियों के तलवों को सुकुमार हाथों से ललनायें शनैः

शनैः सुहलाती रहती है, जिससे निद्रा आ जाय। इसी प्रकार भगवान् को प्रतीत हुआ मेरी पीठ को कोई मृदुकारों से सुहला रहा है। इसीलिये उन्हें झपकियाँ आ जाती। जब झपकी लेते तभी मन्दराचल कुछ नीचे घुसने लगता। पुनः सम्हल जाते। इस प्रकार भगवान् के लिये तो वह खेल हो गया था। जल में शयन करने की तो इनकी पुरानी टेव है इसी लिये मीठी मीठी झपकियाँ लेते हुए क्षीर सागर की लहरों में आनन्द लूटने लगे। कभी क्षीर सागर का दुग्ध के समान मीठा जल मुख में चला जाता, तो मुख को चाट लेते फिर अपने अंगों को समेट कर सो जाते। शीतल मन्द सुगन्धित वायु चल रही थी। पीठ को देव दानव मन्दराचल से सुहला रहे थे। सोने का सभी सामान तो सुन्दर था। भगवान् खुर्राटे भरने लगे। योग निद्रा में निमग्न होकर अपने आप में ही रमण करने लगे।

यह समुद्रमन्थन लीला श्रीहरि का एक अद्भुत खेल है। जैसे नाटककार बहुत से लोगों को स्वयं ही तो सिखाता पढ़ाता है। स्वयं ही कोई नाटक बनाता है, स्वयं ही उसकी कल्पना करता है स्वयं ही पात्र चुनता है, स्वयं ही अपनी इच्छानुसार परदे बनवाता है, स्वयं ही रंगमञ्च निर्माण करता है। स्वयं ही पात्रों को गाना, बजाना, नाचना, सिखाता है। स्वयं ही संकेत कर करके अभिनय कराता है और फिर स्वयं ही देख देखकर प्रसन्न होता है। इसी प्रकार भगवान् ने स्वयं ही तो देवताओं को समुद्र मथने की सम्मति दी। स्वयं ही गरुड़ पर लाद कर मन्दराचल पर्वत को लाये। स्वयं ही सम्मति देकर नागराज वासुकी को बुलाया। स्वयं ही कछुआ बन गये, किन्तु स्वयं शक्ति न दें तो समुद्र मथा कैसे जाय। अतः दैत्य रूप से दैत्यों में देव

रूप से देवों में स्वयं शक्ति देकर उनके भीतर शक्ति का सञ्चार करने लगे। निद्रा रूप से वासुकि के शरीर में घुस गये, कि वार वार खींचने से कष्ट न हो। स्वयं अपनी शक्ति से सहस्रों भुजावाले बन कर उस मन्दर को दबाये रहे, कि इधर उधर गिर न जाय। इस प्रकार ऊपर नीचे अगल बगल, मथने वाले मथाने वाले आदि सभी में वे ही हरि व्याप्त थे। स्वयं ही क्रीड़ा करने को नाना वेष बनाये कौतुक रच रहे थे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार श्री हरि की शक्ति सर्वत्र व्याप्त हो जाने से अब समुद्र भली भाँति मथा जाने लगा।

छप्पय

मन्दर उठतो निरखि सुरासुर सबई हरषे।
भये मुदित मुनि सिद्ध सुमन बहु नभते बरषे।
नीचे ऊपर देव दैत्य मन्दरमहँ श्रीहरि॥
वासुकि तनमहँ घुसे रूप तिनमहँ तस तस धरि॥
धरमरं करि मथै सब, मन्दर मथनी सम फिरै।
कच्छप प्रभु की पीठिपै जनु प्रमदा खुजली करै॥

श्रीहरि द्वारा समुद्र मन्थन

(५१८)

मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योत विद्युन्,
मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः ।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा,
मन्थन् मन्था प्रतिगिरिवाशोभताथोद्धृताद्रिः ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

वायु विषैली लगी दैत्य झुलसे रिसियाने ।
अमृत निकसै नहीं सुरासुर सब खिसियाने ॥
सबकूँ निरख्यो विकल अजित हँसि बोले बानी ।
हो कश्यप संतान थाह तुम सबकी जानी ॥
लाओ मारूँ हाथ द्वै, अम्मृत देउँ निकारिकै ।
मोऊकूँ मिलि जाय कछु, खेचूँ रई रिस्याइकै ॥

सद् वृत्तियाँ ही सुर हैं असद् वृत्तियाँ ही असुर हैं । जब सद्वृत्तियों पर असद्वृत्तियों की विजय हो जाती है, मनुष्य अपने पुरुषार्थ से असद् वृत्तियों को दबाने में असमर्थ होता है

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिस समय देवताओं की ओर से भगवान् समुद्र को मथने लगे उस समय उनकी कैसी अद्भुत शोभा थी । वे स्वयं मेघ के समान श्याम थे । कानों में कुण्डल बिजली

तो वह गुरु ब्रह्मा के पास जाता है गुरुदेव उसको भगवान् का मार्ग बताते हैं । गुरु तो समर्थ हैं अपने पुरुषार्थ से प्रभु को प्रकट कर लेते हैं, किन्तु शिष्य को साधन बताते हैं सद्-वृत्तियों को कार्य में लगाते हैं, कर्म का महत्व बताते हैं । संसार रूप सागर को ज्ञानरूप मन्दर की मथनी बनाकर वैराग्य रूप वासुकी की नेति से मथने को आज्ञा देते हैं । मथने में लोभ हो जाय, तो मन्थन व्यर्थ है अतः सुवर्ण रत्नों के प्रति निर्लोभता त्याग का उपदेश देते हैं । असद् वृत्तियों का तिरस्कार नहीं जहाँ तक वे अपने उद्देश्य में सहायक हैं तहाँ तक उनका सहयोग भी वांछनीय है । पुरुषार्थ के द्वारा त्याग वृत्ति से मन्थन रूपी साधन पुनः पुनः किया जाता है अर्थात् निरन्तर अभ्यास करते रहने से प्रथम तो विघ्न रूप विष उत्पन्न होता है। जिस साधन में विघ्न नहीं वह प्रगतिशील नहीं । योग के समस्त विघ्नों को शिव शांत कर देते हैं ।विघ्नेश उन विघ्नों को पी जाते हैं । तदनन्तर विविध रत्न रूप सिद्धियाँ सम्मुख आने लगती हैं । श्री अर्थात् शोभा को न समझ कर सिद्धियों में चित्त को न फँसाकर जो निरन्तर अव्यग्र भाव से मन्थन कार्य अर्थात् अभ्यास करता रहता है, तो अन्त में उसे अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। अमृतत्त्व की प्राप्ति होने से जीव कृत्यकृत्य हो

के सदृश चमक रहे थे । सिर पर की अलकावली हिलती हुई शोभा दे रही थीं, गले में वनमाला पहिने थे, उनके नेत्र अरुण थे । जगत् को अभय प्रदान करने वाली अपनी विश्वविजयिनी बाहुओं से साँप को पकड़कर मन्दराचल की मथानी से क्षीर सागर को मथने लगे, तो ऐसे प्रतीत होते थे, मानो गिरिराज को या गोवर्धन को उखाड़ कर धारण करने वाले श्री कृष्ण हों ।"

जाता है। वह जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है। यही समुद्र मन्थन के रूपक का आध्यात्मिक रहस्य है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवता और दैत्य समझ रहे थे, कि हम स्वयं समुद्र को मथ रहे हैं, अपने पुरुषार्थ से अमृत निकाल लेंगे। उन्हें इस बात का पता नहीं था, कि पर्वत के ऊपर नीचे, हमारे शरीरों में, इस मन्दराचल पर्वत में वासुकी नाग में वे ही परमात्मा व्याप्त हैं। उन्हीं की शक्ति से यह सब प्रपञ्च चल रहा है। पर्वत जब वेग से समुद्र में घुमाया जाने लगा तो, मगर, घड़ियाल मछली आदि अनेक जलजन्तु अत्यन्त व्याकुल हो गये। नागराज वासुकि का शरीर कुछ दुखने लगा। वे अपने नेत्रों और मुखों से विष उगलने लगे, जिससे असुर अत्यन्त ही त्रस्त हो गये। उनका उत्साह भंग हो गया। सर्प की श्वासों से निकलते हुए विषाग्नि धूम्र से निस्तेज होकर पौलोम, कालेय और इल्वल आदि दैत्यगण दावानल से झुलसे हुए अग्नि लगे वृक्ष के समान मुरझा गये।

इधर वासुकी की श्वांस देवताओं तक भी आती थी जिससे देवताओं के भी वस्त्र माला मुकुट, मुख तथा अन्य आयुध आभूषण धूम्र वर्ण के हो गये थे। भगवान् ने देखा अब तो बात बिगड़ना चाहती है। खेल समाप्त होना चाहता है। ताव के आने के पूर्व ही चासनी व्यर्थ बनना चाहती है तो, उन्होंने सुन्दर सुशीतल समुद्रों की तरंगों से स्पर्शित सुगन्धित वायु चलाकर तथा रिमिझिमि रिमिझिमि नन्हीं नन्हीं बूँदे बरसाकर देवताओं के श्रम को दूर कर दिया। फिर भी भगवान् ने देखा अमृत नहीं निकल रहा है और देवता असुर दोनों ही घबड़ा

रहे हैं तो भगवान् ने कहा—"देवता और दैत्यो! लाओ, अब हम भी अपने बल की परीक्षा करें।"

सब ने प्रसन्नता पूर्वक कहा—"हाँ महाराज! आप भी अपना बल लगाइये।"

बस फिर क्या था भगवान् ने कस कर फेंट बाँधी और देवताओं की ओर खड़े होकर वसुकि नाग की पूँछ पकड़ कर मथने लगे। अहा! उस समय की श्रीहरि की शोभा कैसी

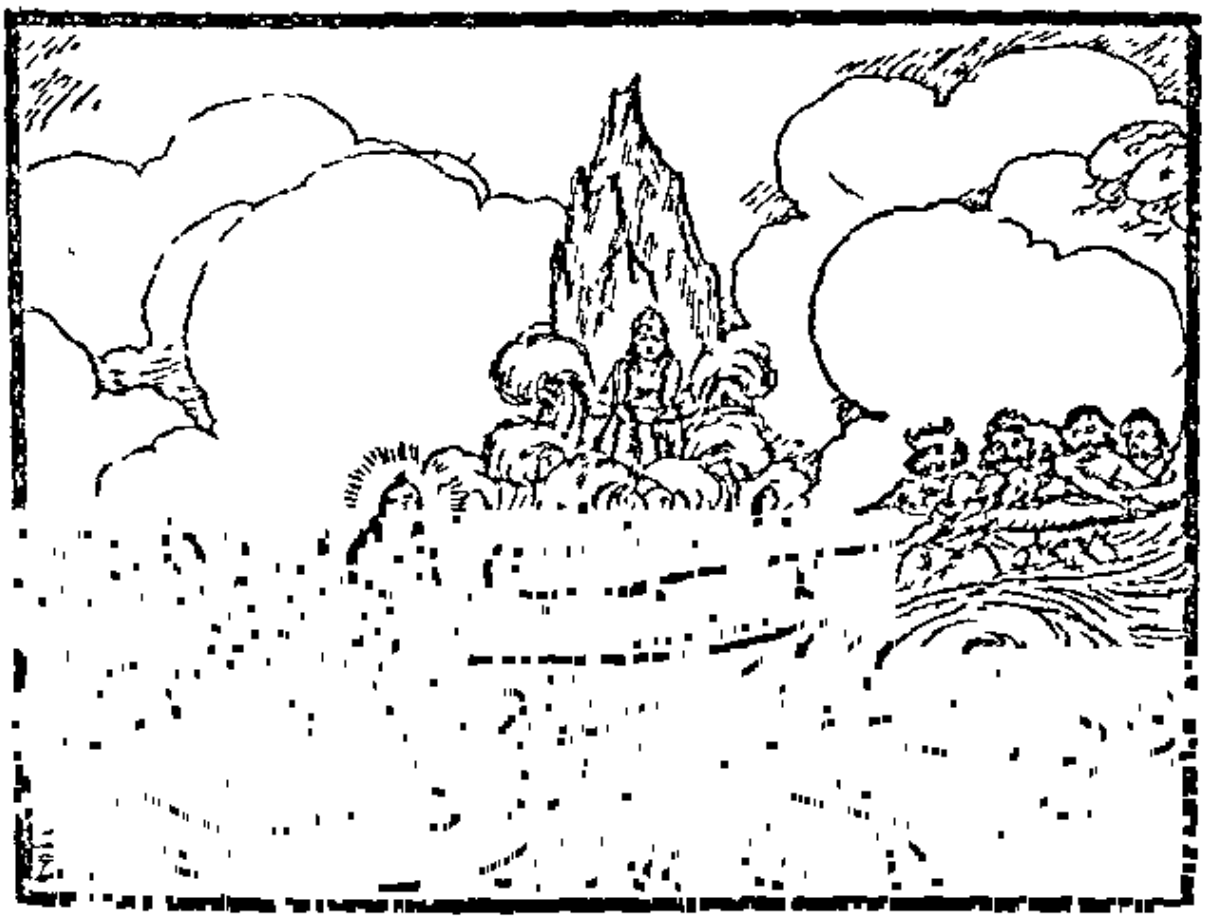

अद्भुत थी। ऐसा प्रतीत होता था मानों विद्युत् को लपेटे नीलांजन पर्वत मन्दर पर्वत से युद्ध कर रहा हो उस समय श्री हरि के कानों में कमनीय कुण्डल हिलहिल कर मानों मना

कर रहे हों, कि प्रभो ! आपका यह कार्य नहीं है। आपके बल लगाते ही धरा रसातल में धँस जायगी, समुद्र सूख जयगा, मन्दराचल के टुकड़े टुकड़े हो जायँगे। वासुकि का अस्तित्व मिट जायगा।

उनके सिर के काले कुंचित नागों के छौनों के सदृश बाल हिलहिल कर ऐसे प्रतीत होते थे मानों वासुकी नाग के बच्चे अपने पिता के ऊपर होने वाले अत्याचार के विरुद्ध सिर हिला रहे हो। भगवान् के ऐसा न करने को मना कर रहे हों। पाँचों रंग वाली वनमाला कंठ देश में उसी प्रकार हिल रही थी मानों प्रियतमा रूठे हुए प्राणनाथ को गलबैयाँ डालकर मनाने का उपक्रम कर रही हो, उसे विविध चेष्टाओं से रिझा रही हो सुवर्ण वर्ण का पतला पीताम्बर वायु में उड़ उड़कर शब्द करता हुआ उसी प्रकार फहरा रहा था, मानों आक्रमण के पूर्व ही शत्रु ने शस्त्र डाल दिये हों और स्वतः आकर विजय ध्वजा पताका फहरा दी हो। कमल कोश के सदृश अरुण नेत्रों से वे समुद्र को निहार रहे थे मानों अब तक अमृत न निकलने के कारण उस पर क्रोध कर रहे हों।

वे अपनी विश्व विजयिनी बाहुओं से घमर घमर करके उदधि को उसी प्रकार मथ रहे थे, जिस प्रकार पत्नी के कहीं चले जाने पर पति ही घर के दूध को मथता हो।

भगवान् के मथते ही जल जन्तुओं में हाहाकार मच गया मगर चिल्लाने लगे ! जल सर्प इधर से उधर सर्र सर्र करके भागने लगे, कछुए ऊपर आ गये और कच्छप भगवान् की पीठ को द्वीप समझकर उसके ऊपर बैठकर अपने मुँहों को मटकाने लगे। तिमि तिलिङ्गिल तिमिङ्गिलगिल आदि बड़े बड़े मत्स्य अपने बड़प्पन के अभिमान को भूलकर उस महा कच्छप को

विस्मय के साथ निहारने लगे। दैत्यों के हाथ दुखने लगे। देवताओं ने अपना सब बल छोड़ दिया। हरि के लगते ही वे निश्चिन्त से हो गये। उन्हें अब विश्वास हो गया, कि अब कार्य सिद्धि में कोई संदेह नहीं।

भगवान् जहाँ दो चार कसकर हाथ मारे कि क्षीर सागर के ऊपर काली काली काई अत्यंत तीक्ष्ण गन्ध वाली वस्तु तैरती हुई सी दिखाई देने लगी। सभी उसे छोड़कर हाहाकार करने लगे और वासुकि को छोड़कर देव दैत्य दोनों ही भागकर दूर खड़े हो गये।

छप्पय

अजित उठाई नेति रईकूँ खींचि घुमावैं।
कुटिल केश जनु हिलैं सर्प सुत शीश डुलावैं॥
पीताम्बर बनमाल श्याम तनुपै सोहैं जनु।
इन्द्र धनुष नभमहिं लपेटैं विद्युत्कूँ मनु॥
सोहैं अपर सुमेरु सम, गिरिधर गिरिवर ढिंग खड़ैं।
द्वंद युद्ध हित मल्लजनु, कसि कछनी निज प्रन अड़ैं॥

समुद्र मथने पर सर्व प्रथम विष

(५१९)

निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषम् ,
महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः ।
सम्भ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात्—
तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात् ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

कसिकें मारे हाथ जीव जलके घबराये ।
मेढ़क मछली मगर मत्स्य ऊपर उठि आये ॥
खलबलाइ सब उदधि जीव चिंघारी मारैं ।
विश्वविजयिनी बाहु घुमावैं नहिं हरि हारैं ॥
हालाहल सबतैं प्रथम, निकस्यो विष अति उग्रतर ।
दशहु दिशनिमहँ व्याप्त वह, भयो भगे सब सुर असुर ॥

संसार में हम सब कर्म करते हैं सुख के लिये किन्तु किसी

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् के समुद्र मथने पर इस क्षीर सागर से सर्व प्रथम हालाहल नाम का उग्र विष उत्पन्न हुआ समुद्र का जल मथने से मछलियाँ तिलमिला उठीं थीं । मगर सर्प और कच्छप तैरने लगे थे तथा तिमि जलहस्ति, ग्राह और तिमिङ्गिल आदि जलजन्तु व्याकुल हो गये थे ।"

विरले ही काम में विघ्न न पड़ता होगा, नहीं तो शुभ कामों में पग पग पर विघ्न पड़ते हैं। उन विघ्नों के कारण अल्प साहसी पुरुष काम को छोड़ बैठते हैं। किन्तु जो उत्साही कर्मवीर और परिश्रमी भी होते हैं, वे विघ्नों से डरते नहीं। विघ्नों के सम्मुख ताल ठोंक कर युद्ध करने के लिये तत्पर हो जाते हैं। जिस समय वे पुरुषार्थ करने को तत्पर होते हैं, उस समय वे अपने को अजर अमर मान कर कार्य करते हैं, वे प्रतिज्ञा करते हैं सूर्य चन्द्र चाहें विपरीत उदय होने लगें। हिमालय चाहें अपने स्थान से डिग जाय, समुद्र चाहे सूख जाय, दिग्गज चाहे पृथ्वी को छोड़ दें। सम्पूर्ण प्रकृति चाहें हमारे विरुद्ध क्रान्ति कर दे किन्तु एक जन्म में न सही अनेक जन्मों में हम अपने लक्ष्य को प्राप्त करके ही छोड़ेंगे। ऐसे दृढ़ प्रतिज्ञा पुरुषों के सम्मुख सिद्धि हाथ जोड़े खड़ी रहती है। श्री उन्हें हँस कर वरण करती है, विजय उनके गले में स्वयं जयमाला डालती है समस्त प्रतिकूलताएँ अनुकूल हो जाती हैं। सदा शिव उन विष रूप विघ्नों को पान कर जाते हैं। नील कंठ उनको पेट में पहुँचा कर पचाते नहीं, न मुख से निकालते ही हैं, केवल कंठ में धारण किये रहते हैं। उद्योगी पुरुषसिंह ही लक्ष्मी को मथ कर समुद्र से निकाल सकता है, वह विष से डरता नहीं। प्रलयानल से घबराता नहीं और मृत्यु से भयभीत नहीं होता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! स्वयं साक्षात् सच्चिदानन्द सर्वेश्वर ही नेति लेकर समुद्र को मथने लगे, तब फिर सिद्धि क्यों न हो। इसीलिये सबसे पहिले साधन में काय शुद्धि नाड़ी शुद्धि आदि से अन्तःकरण के मल निकालते हैं। इसी न्याय से सर्व प्रथम समुद्र का मल विष बनकर निकला। क्षीर

सागर के धवल जल के ऊपर वह कालकूट हलाहल अतितीक्ष्ण परम उग्र विष काला काला चारों ओर लहराने लगा। उसकी गन्ध से ही देवता असुर मूर्छित से हो गये। जल जन्तु मरने लगे, दशों दिशाओं में हाहाकार मच गया। ऊपर नीचे इधर उधर चारों ओर उसकी उग्र गन्ध फैलने लगी। सभी प्राणी तिलमिला उठे। देवताओं ने भगवान् से पूछा—"प्रभो! अब हम क्या करें?"

भगवान् ने कहा—"भैया! हम तो युक्ति ही बताने वाले हैं, करना कराना तुम्हारा काम है।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! कोई युक्ति ही बताइये।"

भगवान् ने कहा—"एक काम करो। यह और किसी के वश की बात तो है नहीं, शिवजी चाहें तो इस विष को पी सकते हैं।"

देवताओं ने कहा—"अजी, महाराज! शिवजी को कोई लड्डू का भोग लगाते हैं, कोई हलुआ खिलाते हैं कोई मलीदा का गोला चढ़ाते हैं, हम उनसे विष पीने को कैसे कहें?"

भगवान् बोले—"अरे, उनके लिये विष अमृत सब समान है। उनका विष क्या बिगाड़ सकता है, नित्य ही आक धतुर खाते हैं, तुम घबड़ाओ मत, जाओ उनके चरणों में। परोपकारियों के पास से कोई निराश नहीं लौटता। विरोधी भी उनसे लाभ उठाते हैं विष देने वाले भी अमृत पाते हैं। यह विघ्न है। अतः विघ्नेश के आप दर्शन करते ही समाप्त हो, जायगा। देवता असुर दोनों मिलकर उनके चरणों में जाओ निष्कपट होकर उनकी स्तुति करो।"

भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर देवता और असुर सब मिलकर भगवान् सदाशिव भोले नाथ के समीप कैलाश में

पहुँचे । वहाँ भगवान् भूतनाथ अपनी प्राणप्रिया सती के साथ बैठे आमोद प्रमोद कर रहे थे कि उसी समय देवता और दैत्यों ने उन्हें लम्बी दंडौत झुकायी सबके सब सन के पौंनों के समान पशुपति के पादपद्मों में पट्ट पड़ गये ।

सर्वज्ञ शिव तो समझते ही थे अतः हँसकर बोले—"देवताओ ! दैत्यो ! आज यह किस बात की लम्बी दंडौत हो रही है । आज तुम दोनों एक साथ मिलकर क्यों यह बिलैया डंडौत कर रहे हो ? भैया, बिना किसी गहरे स्वार्थ के ऐसी डंडौत नहीं होती ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी दंडवत् तो सब एक सी ही हैं । इसमें स्वार्थ निस्वार्थ का क्या भेद ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! हैं तो एक सी ही, किन्तु पात्र भेद से उसके प्रकार में भेद हो जाता है । जल तो एक ही सा है उसे सुरा के पात्र में रखो, दुर्गंध वाला हो जायगा, सुगन्धित पात्र में रखो सुगंधित हो जायगा जैसे रंग के काँच के पात्र में जल को रखो वैसा दीखने लगेगा । इसी प्रकार स्वार्थी लोगों की दंडवत बड़ी लम्बी चौड़ी होती हैं । एक अपमान से भी दंडवत होती है । जैसे हिरण्यकशिपु ने वरुणजी से की थी । एक हँसी विनोद में दंडवत होती हैजैसे लोग हँसकर कह देते हैं—"प्रणाम देवताजी । एक शिष्टाचार की दंडवत होती है । दूर से ही कह दिया—'गोड़ छुइं, पाइलगी" आदि और चले गये । एक आँह देखे की प्रणाम होती है अपने कोई पुराने अध्यापक हैं, बड़े हैं । इच्छा नहीं प्रणाम करें । आँख बचाकर निकलना चाहते हैं, किसी प्रकार आँखे ही मिल गईं तो हाथ उठाकर शीघ्रता से कह दिया—"प्रणाम पंडितजी" एक भेड़िया-धसान दंडवत होती है । सब लोग किसी के पैर छू रहे हैं

देखा देखी हमने भी छू दिये। एक उल्लू बनाने की डंडौत होती है। साधु पर, ब्राह्मण पर, कोई अच्छी वस्तु देखी। जाकर उनके बड़ी श्रद्धा से पैर छूए, बड़ी भक्ति दिखाई शिष्य ही बन गये। जहाँ वह वस्तु उनसे हथियाई वहीं हँसते हुए भागे और साथियों से गर्व के साथ कहने लगे "कहिये कैसा उल्लू बनाया।" घोर संसारी लोग आकर एकान्त में ज्ञान वैराग्य की बातें छाँटे और कोई रहस्य साधन पूछ कर बहुत श्रद्धा दिखावे तो ऐसे लोगों से साधुओं को सदा सचेष्ट रहना चाहिये। ये आते ही उसके बढ़ते प्रभाव का दुरुपयोग करेंगे या किसी के द्वारा अपना कोई काम करवाने का पत्र लिखने का प्रस्ताव करेंगे या कोई अन्य ही स्वार्थ साधने की घात में होंगे साधु के पैर पूजकर, उसे साक्षात् ईश्वर बताकर, उससे चाहे जो काम करालो। स्तुति से प्रायः सभी पसीज जाते हैं स्वार्थ के प्रणाम से केवल वही कार्य सधता है, यदि निस्वार्थ प्रणाम की जाय तो मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है।

जैसे जप, तप, योग समाधि आदि साधन हैं वैसे ही प्रणाम भी एक साधन है। केवल प्रणाम करने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यह साधन इस प्रकार किया जाता है, कि कूकर, सूकर, गदहा, घोड़ा, ऊँट, बैल, पशु, पक्षी तथा मनुष्यादि जिसे भी देखे, उसी के सम्मुख शरीर दण्ड की भाँति लेटकर प्रणाम करे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तब तो वह दिन भर प्रणाम ही करता रहेगा।

सूतजी बोले—"महाराज! यही तो अभीष्ट है, तभी तो चराचर विश्व में वे ही विश्वम्भर व्याप्त हैं; इसका ज्ञान होगा।

धारणा दृढ़ हो जाय, तो शरीर से प्रणाम करना छोड़ कर केवल मन से करे और फिर मन को प्रणाम करते २ प्रणाम में मिला दे। ऐसा यदि एक प्रणाम किया जाय तो वही तार देगा। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक बड़ी सरला सीधी शुद्ध अन्तःकरण की बुढ़िया थी उसने एक दिन मंदिर में पंडित से यह श्लोक सुना—

"एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामः
दशाश्वमेधावभृतेन तुल्यम्।
दशाश्वमेधी पुकरेव याति।
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय।"

अर्थात् श्रीकृष्ण को एक बार भी प्रणाम करले, तो वह १० अश्वमेध यज्ञ के अवभृत स्नान के तुल्य है किन्तु एक अन्तर है। अश्वमेध करने वाला लौटकर संसार में फिर से आता है किन्तु कृष्ण को प्रणाम करने वाला फिर लौटकर संसार में कभी नहीं आता।"

सुनते ही उसके मन में अत्यन्त ही पश्चात्ताप हुआ—"हाय मैंने कभी भी भक्ति भाव से भगवान् को एक बार प्रणाम नहीं किया। इस भाव के आते ही उसकी आँखें बहने लगी। शरीर पुलकित हो गया, कंठरुद्ध हो गया। शरीर में समस्त सात्विक भावों का प्रादुर्भाव हुआ और उसने अत्यन्त भक्ति-भाव से भगवान् को सर्वाङ्ग प्रणाम किया। दण्ड के समान वह भगवान् के सम्मुख पृथिवी पर पड़ गई। पड़ते ही उसका शरीर छूट गया और वह सदा के लिये संसार बन्धन से छूट गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रद्धा भक्ति पूर्वक बिना कोई स्वार्थ के केवल कृष्ण प्रीत्यर्थ ही जो भगवान् के

चल विग्रह संतो को, अचल विग्रह अर्चा स्वरूपों को या दृश्य-रूप चराचर विश्व को प्रणाम करता है, तो उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। वैसे तो प्रणाम करना सब प्रकार से श्रेष्ठ ही है जो नित्य ही माता, पिता, गुरु तथा वृद्धों को प्रणाम करते हैं। उनकी आयु बढ़ती है, विद्या बढ़ती है, यश बढ़ता है, और बल की वृद्धि होती है। विपत्ति का नाश होता है।

देवता दानव दोनों ही इस समय विपत्ति में थे। विपत्ति से छूटने का उन्हें यह एक उपाय भगवान् ने बताया कि तुम भगवान् भोलेनाथ की शरण में जाओ। वे ही तुम्हारे समस्त मनोरथों को पूरा करेंगे।

इसीलिये विचारे स्वार्थ से प्रेरित होकर कैलाश गये और वहाँ जाकर दण्डवत करके शिवजी की स्तुति करने लगे।

छप्पय

हरि बोले हर निकट प्रजापति सँग सब जाओ।
करिकें अनुनय विनय हलाहल उनहि पिआओ॥
शिव सँग विहरैं शिवा प्रेमतैं पुलकित अँग अँग।
पहुँचे विपतैं दुखी प्रजापति सब सत्वनि सँग॥
दंड सरिस सब भुइँ परे, कहहिं दयानिधि दुख हरहु।
सब जग भयवश अति दुखित, निरभय करुनाकर करहु॥

प्रजापतियों द्वारा महादेव जी की स्तुति

(५२०)

देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन ।
त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद्विषात् ।
त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ।
तं त्वामीशन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० २१ ,२२ श्लो०)

छप्पय

शरन तिहारी लई जगतके तुम हो स्वामी ।
अज अच्युत अखिलेश अनामय अन्तरयामी ।
पालन अरु संहार करौ तुमहीं जग रचिकैं ।
तीनिहु कारज करो विष्णु हर विधि वपु धरिकैं ॥
रुंडमाल गलगंग सिर, मस्तक शशि शिव नाम है ।
उमा सहित सर्वेश पद, पदुमनि मोंहि प्रनाम है ॥

शरणागत का प्रति पालन करना सबसे श्रेष्ठ धर्म बताया गया है। जो आकर अपना आश्रय ग्रहण करे, दीन होकर सहायता की याञ्चाकरे, भयभीत होकर अभय चाहे, उसके दुख

प्रजापति गण श्रीशिवजी की स्तुति कर रहे हैं—'हे देवाधिदेव ! हे महादेव ! हे सर्वभूतात्मन् ! हे भूतभावन ! यह जो कालकूटविष

को दूर करना । उसे निर्भय कर देना यही महान् पुरुषों की महत्ता है। संसार में सभी दुखी हैं, सभी को किसी की सहायता की अपेक्षा है। सभी दुख में दूसरों से आशा रखते हैं। सर्वेश्वर को छोड़कर न कोई स्वतन्त्र है न समर्थ। वे ही सबके स्वामी हैं । अन्य लोग तो स्वयं ही दुखी हैं वे सर्वांश में सबको सुखी नहीं बना सकते । वे दुःख के मूल कारण को नहीं मिटा सकते। उन परात्पर प्रभु की ही शरण में जाने से, उन्हीं की स्तुति करने से उन्हीं की महिमा गाने से जीव अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। अतः उनका ही गुण गाना चाहिये उन्हीं की स्तुति करनी चाहिये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब त्रिलोकी के जीव उस हालाहल विष से उद्विग्न हो गये, तो सब मिलकर सदाशिव की शरण गये। तीनों लोकों के कल्याण के निमित्त वे सब सुरासुर, प्रजापति, मनु आदि कैलाश पर्वत पर विराजमान मुनि मण्डली द्वारा माननीय उस परात्पर देवश्रेष्ठ श्री उमापति को सभी लोग दंडवत् करके स्तुति करने लगे।

श्रीशिव के सम्मुख खड़े होकर हाथ जोड़कर गद् गद् कण्ठ से सर्व प्रथम गन्धर्वों के पति प्रभु की स्तुति करते हुए एक स्वर में सब बोले—

है तीनों लोकों को भस्म कर रहा है, इससे हमें बचाइये। हम आपके शरणागत हैं। आपही एक मात्र सम्पूर्ण जगत् के ईश्वर हैं तथा बन्धन और मोक्ष के भी ईश्वर है इसीलिये कुशल पुरुष शरणागतों के दुःखों को हरने वाले आप जगत् गुरु को ही सदा पूजते हैं।"

देव देव महादेव, सर्व जगत् रक्षक।
प्रणतपाल प्रभु कृपाल, अन्त विश्व भक्षक।
काल कूट विष महान् हलाहल ज्वालाकुल।
त्रस्त जलजीव कच्छ, सर्प गज तिमिङ्गल॥
वामदेव सद्यो जात, त्राहि त्राहि विश्वनाथ।
तत् पुरुष हर अघोर चरण कमल नवत माथ।
पृथिवी, जल, नभ, प्रकाश वायु आदित्य अधीन
मायापति रक्ष रक्ष, उमानाथ हर प्रवीन॥

गन्धर्वों के पश्चात् प्रजापति आगे आये और कहने लगे—प्रभो! आप सर्वव्यापक हैं, आपका ज्ञान स्वतः है, आपको किसी की अपेक्षा नहीं। आप अपनी गुणमयी शक्ति से इस जगत् की उत्पत्ति करते हैं। आपही उत्पन्न हुए जगत् की रक्षा करते हैं और आपही अंत में संहार भी करते हैं। आपही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, आप ही महेश्वर हैं तथा आपही सर्वेश्वर हैं।

फिर मनु बोले—"विश्वनाथ! आपही देवता हैं। आपही मनुष्य हैं, आपही पशु, पक्षी, वृक्ष तथा गुल्मलता हैं। आपही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति करने वाले हैं। आपही सबसे गोपनीय, गुह्य रहस्यमय अद्भुत परब्रह्म हैं। आप जगदीश्वर परमात्मा अखिलेश, निरंजन निराकार होकर अपनी अनेक शक्तियों से इस जगत् में भासमान हो रहे हैं।

फिर विद्याधरों के पति बोले—"हे हर! आप वेद के उत्पत्ति स्थान हैं जगत् के मूल कारण आपही हैं। समस्त महत्तत्व हैं, आप ही अहङ्कार हैं, आपही मन हैं, आपही समस्त

इन्द्रियाँ हैं, आपही प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान रूप पंचप्राण हैं, आपही पृथिवी हैं, आपही जल हैं आपही तेज हैं, आपही वायु हैं और आपही आकाश हैं। आपही शब्द हैं, आपही रूप हैं, आपही रस हैं, आपही गन्ध हैं और आपही स्पर्श हैं। आपही काल हैं, आपही संकल्प हैं, आपही सत्य हैं, आपही अमृत हैं और आपही धर्म हैं। यह जो सत्वरज और तम की साम्यावस्था-रूपा मूल प्रकृति है वह आपके ही आश्रित हैं।

इसके अनन्तर श्रेष्ठ ऋषि गण बोले—"हे आशुतोष! देवताओं के हवि पहुँचाने वाले अग्निदेव आपके मुख हैं। यह वसुन्धरा, सप्त सागरा मेदिनी आपके चरण स्थानीय है। सब देवता आपके ही अंश हैं आपका चलना फिरना यही जगत् की गति है। ये जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, तथा ऊपर नीचे जो दश दिशायें हैं वे ही मानों आपके पांच मुखों मे दस कान हैं। वरुण देव रसना है। आकाश आपके नाभि स्थानीय है। वायु आपके श्वास प्रश्वास हैं, सूर्य आपके नेत्र हैं, जल आपका वीर्य है। जितने उत्तम, मध्यम, निष्कृष्ट, ऊँच, नीच, छोटे बड़े, मोटे पतले ये जीव हैं, वे ही आपके अहंकार स्थानीय हैं! चन्द्रमा आपका मन है, स्वर्ग आपका सिर है, समुद्र आपकी कुक्षि हैं, समस्त पर्वत समूह आपकी अस्थियाँ हैं। जितनी औषधियाँ, लता, गुल्म आदि हैं वे सब आपके रोंयें हैं। रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र और ओज ये जो आपकी सप्त धातुएँ हैं वे गायत्री, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति त्रिष्टुप, जगती और अति ये जो सप्त छन्द हैं उनके स्थान में हैं। धर्म आपका हृदय है।

फिर ज्ञानी विज्ञानी ब्रह्मर्षिगण बोले—"प्रभो जिनसे अड़तीस मन्त्रों का समूह उत्पन्न हुआ है वे तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान नामक पाँच उपनिषद् आपके पांच मुख हैं। और हे देव! जो शिव नामक स्वयं प्रकाश परमार्थ तत्व है; वह आपकी उपरतावस्था है।

देवताओं ने कहा—"हे देव! आप शरणागत वत्सल हैं। शरण में आये हुए सभी प्राणियों को रक्षा करते हैं।"

असुरों ने कहा—"प्रभो! आप भेदभाव से रहित हैं। सभी को समान भाव से देखते हैं, निरञ्जन, निष्फल और निष्कपट हैं आप समुद्र से निकले विष का पान करें।"

सभी देवता, दैत्य, मनु, प्रजापति, मिलकर शिवजी की स्तुति कर रहे थे। इस पर पार्वती मन ही मन सोच रही थीं कि देखो, ये लोग कैसे स्वार्थी हैं, आज इन्हें विष पिलाना है तो कैसी चढ़ चढ़कर स्तुति कर रहे हैं! जब इनका काम निकल जाता है, तब बात भी नहीं पूछते। मेरे स्वामी को ये मिलकर विष पिलाना चाहते हैं। मैं अपने सन्मुख ऐसा अन्याय न होने दूंगी। भगवान् तो भोलानाथ ह ठहरे जो जैसा वर माँगता है, दे देते हैं। जो जिस वस्तु की याचना करता है, उसे बिना विचारे प्रदान कर देते हैं। पीछे विपत्ति हमें उठानी पड़ती है। एक दुष्ट भस्मासुर ने यही वरदान मांग लिया कि जिसके सिर पर मैं हाथ रख दूं वह मर जाय। अन्त में उसने मेरे ऊपर ही मन चलाया, भगवान् के ही सर पर हाथ रखना चाहा। आज फिर ये सब ऐसा ही प्रस्ताव करने आये हैं। मैं अपने देखते ऐसा अन्याय न होने दूँगी।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! भगवती भवानी यह सोच

ही रही थी कि सर्वज्ञ शिव उनके मनोगत भाव को ताड़ गये अतः उन्हें मधुर वाणी में समझाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हे शम्भो ! सुख शांति शक्ति सरबसुके दाता।
आशुतोष अखिलेश भवानीपति भयत्राता ॥
कालकूटतैं दुखी विपतितैं नाथ बचाओ।
पान हलाहल करो दुखिनि के दुःख मिटाओ ॥
उमा विचारै स्वारथी, हैं सबरे ये प्रजापति।
कालकूट विष पान हौं, करन न दुंगी तीक्ष्ण अति ॥

परोपकार का महत्व

(५२१)

अहो बत भवान्येतत् त्वजश्नां पश्य वैशसम् ।
क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटादुपस्थितम् ॥
आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयभयं हि मे ।
एतावान् हि प्रभोरर्थोयद् दीनपरिपालनम ॥
(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ३७, ३८ श्लो०)

छप्पय

अन्तर्यामी शंभु उमाके मनकी जानी ।
सती करन संतोष मधुर बोले बानी ॥
प्रिये ! प्रजा अति दुखित परी संकट महँभारी ।
शरणागत प्रतिपाल करनकी बनि हमारी ॥
जीवनिपै किरपा करैं, हरि प्रसन्न तिनपै रहैं ।
पान हलाहल विष करूँ, दुखित होहि ये सब कहैं ॥

यदि संसार में सभी लोग सदा अपने स्वार्थ की ही ओर

देवि ! भवानि ! अरे, देखो क्षीर सागर के मन्थन करने से जो कालकूट विष उत्पन्न हुआ है उसके कारण प्रजाओं के ऊपर कैसी विपत्ति आ पडी है । इन सब प्राणों की रक्षा चाहने वाले जीवों को मुझे अभय दान देना चाहिये । दीनों का परिपालन करना यही तो प्रभुओं की प्रभुता है ।

दृष्टि रखें, तो तह सम्पूर्ण संसार रौरव नरक बन जाय। संसार में जितने भोगने वाले हैं, उतने भोग्य पदार्थ नहीं। उतने क्या एक पुरुष की तृप्ति के लिये भी संसार के सब पदार्थ यथेष्ट नहीं। जब एक वस्तु की इच्छा करने वाले अनेक हो जाते हैं, तब परस्पर में संघर्ष, राग, द्वेष होने लगता है। एक स्वार्थ के लिये अनेकों झगड़ने लगते हैं, तो परस्पर में मनोमालिन्य हो जाता है। ऐसी दशा में परोपकारी पुरुष अपना स्वार्थ त्याग कर दुखियों का दुख दूर करते हैं। अपने सुख को त्याग कर स्वयं दुःख सहन कर संतप्तों को सुखी बनाते हैं। उन्हीं का जीवन धन्य है। परोपकार ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है। पुरुषों का पुरुषत्व परोपकार में ही। जो स्वार्थी हैं, वे तो पतित जीव हैं परोपकारी हैं, दयालु हैं वे समर्थ शिव हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! प्रजापतियों की प्रार्थना से अप्रसन्न होकर पशुपति की प्राणप्रिया सती जब मन ही मन असन्तुष्ट हो गईं, वे भगवान् भोलानाथ के विष पान करने के प्रस्ताव से अन्तःकरण से कुछ विचलित सी दिखाई दीं तो उन्हें समझाते हुए शिव जी बोले—"देवि! शिवे! सुन रही हो, तुम इन सब लोगों की बातें?"

अनजान की भाँति भगवती सती ने कहा—"क्या बात है महाराज! ये लोग ऐसी लम्बी डंडौत और अनुनय विनय क्यों कर रहे हैं?"

शिवजी ने कहा—"देखो, ये दैत्य और देवता दोनों मिल कर अमृत के लिये क्षीर सागर को मथ रहे हैं। उससे सर्व-प्रथम हलाहल कालकूट विष निकला है, उसी के कारण ये सब दुखी हैं। इन सब लोगों पर इस समय बड़ा भारी संकट आ पड़ा है। इस समय ये सब अत्यंत ही क्लेश में हैं।"

सती जी ने कहा—"तब फिर क्या किया जाय। स्वयं ही तो इन लोगों ने समुद्र को मथा है। जो आ पड़ा है उसे भोगें।"

भगवान् भोलेनाथ ने गम्भीर होकर कहा—"देवि! सब में न तो सब प्रकार के दुखो को सहन करने की सामर्थ्य ही होती है, और न सभी स्वयं आई हुई विपत्ति का प्रतीकार ही कर सकते हैं। संसार में सभी एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। जो श्रेष्ठ हैं सामर्थ्यवान् हैं, उनसे दीन दुखी इस बात की आशा रखते हैं; कि वे हमारे दुःख को दूर करें संकट में सहायक हों। इस समय ये सब अपनी प्राण रक्षा के लिये आतुर हैं। भयभीत होकर मेरी शरण में आये हैं। शरणागत की रक्षा करना श्रेष्ठ पुरुषों का परम कर्तव्य है और शरणागत के त्याग करना महान पाप है। अतः इन सबको मुझे अभय-दान देना ही चहिये।"

सती जी ने कहा—"महाराज, दुखिया लोगों का तो काम ही है आकर रोना धोना।"

भगवान् शंकर गरज कर बोले—"जैसे दुखियों का काम रोना धोना है वैसे ही समर्थ पुरुषों का काम है दीन दुखियों की रक्षा करते रहना।"

सतीजी ने सरलता से कहा—"महाराज! रक्षा करना तो ठीक ही है, किन्तु अपना भी तो कुछ ध्यान रखना चाहिये। प्राण ही न रहे तो परोपकार क्या कर सकेंगे? इसीलिये पहिले अपना उपकार करे तब परोपकार करे। पहिले आत्मा तब पर-मात्मा। शरीर है तो सब है। सर्व प्रथम कर्तव्य तो है प्राणों की रक्षा करके शरीर को निरामय रखकर जो हो सके वह परोपकार करे।"

शिवजी ने कहा "देवि ! जिसे अपने ही प्राणों की चिंता है, वह परोपकार क्या करेगा । अपने आप दुःख उठाकर दूसरों को सुखी बनाया जाता है। प्राणों की बाजी लगाकर भी अन्य जीवों की रक्षा की जाय तो उनका प्राणोत्सर्ग प्राणरक्षा से करोड़ों गुना श्रेष्ठ है। परोपकार का जीवन ही जीवन है। केवल शरीर को पुष्ट करते रहे, इसी क्षणभंगुर नाशवान् देह को ही पालते पोषते रहे तो पशु पक्षियों में और मनुष्यों में अन्तर ही क्या रहा ? जो समर्थ होकर भी शरणागत की रक्षा न कर सका, उसकी सामर्थ्य को, उसके शरीर धारण को धिक्कार है। देखो एक पेड़ पर एक कबूतर रहता था। एक व्याध ने जाल डालकर कबूतरी को फँसा लिया। बहुत से पक्षियों को मारते-मारते उसे रात्रि हो गई। उसी समय वर्षा हुई भूखा, प्यासा वह बहेलिया उसी पेड़ के नीचे आकर पड़ गया । जिस पर कबूतर रहता था। अब कबूतर ने सोचा—"यह मेरी शरण आया है मेरा अतिथि है इसका दुख दूर करना चाहिये। जाड़े के दिन थे, बहेलिया भूखा प्यासा तो था ही जाड़े में थर-थर काँप रहा था। उसके पास जाड़े से बचने का उस घोर अरण्य में कोई साधन नहीं था। दया के कारण कबूतर का हृदय भर आया। वह उड़कर कहीं से अपनी चोंच में एक जलती लकड़ी ले आया ऊपर से सूखी सूखी लकड़ियाँ डाली बहेलिये ने उनको जलाया । अपने सम्पूर्ण शरीर को सेक कर स्वस्थ किया । जब उसका जाड़ा छूट गया' तो उसे भूख लगी, कबूतर उसी समय ऊपर से अग्नि में कूद पड़ा और कहने लगा—"मुझे भूनकर खा लो।" सो देवि ! साधुजन परोपकार के लिये प्राणों का मोह नहीं करते। जो जीवन भर प्राणों को ही पोषता रहता है, उसे कौन जानता है। असंख्यों जीव सहस्रों

वर्षों तक शरीर को मोटा बना बनाकर मर गये उनका कोई नाम भी नहीं जानता। महाराज शिवि का नाम अमर क्यों है। उन्होंने शरण में आये कबूतर की अपने प्राणों की बाजी लगाकर बाज से रक्षा की। दधीचि मुनि का शरीर चाहे न रहा हो किन्तु उनकी कीर्ति तो सर्वत्र व्याप्त है। देवताओं के उपकार के लिये उन्होंने जीवित ही अपनी अस्थियाँ प्रदान कर दी थीं। महाराज दिलीप ने गौ को बचाने के लिये सिंह को अपना शरीर अर्पित कर दिया। यदि इस नश्वर, क्षणभंगुर, अनित्य शरीर से किसी प्राणी का उपकार हो जाय, यह नाशवान् शरीर किसी के काम में आजाय; तो इससे बढ़ कर इसका और क्या उपयोग हो सकता है।"

सतीजी ने कहा—"भगवन्! जिसने जन्म धारण किया है, उसको एक दिन मरना ही है। आज हमने अपने प्राणों को देकर उसे बचा लिया, तो वह सदा अमर तो रहेगा ही नहीं। मरना तो उसे एक दिन पड़ेगा ही, फिर परोपकार से क्या लाभ? हमने किसी का दुख दूर कर दिया, तो यह तो है ही नहीं कि फिर उसे कभी दुःख हो ही नहीं। वह फिर भी दुखी हो सकता है। फिर हमारे परोपकार से क्या लाभ?

शिवजी ने कहा—"देखो परोपकार तो दूसरों के लिये करते हैं, वे परोपकार का महत्व नहीं समझते। हम दूसरों का क्या उपकार कर सकते हैं? हमें तो अपनी दयावृत्ति को बढ़ाकर अपना ही उपकार करना है, हम संसार में दुःख का अत्यन्ताभाव तो कर ही नहीं सकते। भगवान् की गुणमयी माया से मोहित होकर जीव परस्पर में वैर भाव मानते रहते हैं, दूसरों का दुख पहुँचाने के निमित्त नाना प्रकार के घृणित कार्य करते रहते हैं। ऐसे दया के पात्र जीवों पर जो कृपा करते

हैं। उस कृपा के कारण सबके अन्तः करण में समान रूप से व्याप्त होने वाले सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं। जिस पर सर्वव्यापक परमात्मा प्रसन्न हैं उस पर मानो चराचर जीव प्रसन्न हैं, क्योंकि चर अचर में वे ही विष्णु विराजमान हैं, जिस पर सर्वात्मा तथा सर्वप्राणी प्रसन्न होते हैं उसे मैं अत्यन्त ही प्यार करता हूँ। जो मेरा प्रिय पात्र है उसे संसार में दुर्लभ क्या है। अतः परोपकार प्रभु प्रीत्यर्थ करना चाहिये। किसी का भी उपकार करे किसी पर भी कृपा करे उस समय यही सोचे मेरे इस कार्य से सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हों। यही परोपकार का प्रधान लक्ष्य है। प्राणियों का जिसमें कल्याण हो उस कार्य को करना समर्थ पुरुषों का कर्त्तव्य है।"

पार्वती जी ने कहा—"तब महाराज! इन सबका क्या करने से कल्याण होगा?"

भगवान् हर ने कहा—"ये सब सागर के निकले कालकूट विष के कारण दुखी हैं, यदि मैं इस विष को पान करलूँ, तो मेरी प्रजाओं का कल्याण हो जायगा। अतः मैं विश्वकल्याणार्थ हालाहल विष का पान करूँगा। इसमें तुम्हारी क्या सम्मति है।"

सतीजी अब क्या उत्तर देतीं। शिवजी ने उन्हें नाना प्रकार के दृष्टान्त देकर परोपकार का महत्व बता दिया था, अब वे सोचने लगीं—"मेरे सर्वज्ञ पति सर्वसमर्थ हैं, यह विष इनका क्या अनिष्ट कर सकता है। इन्हें क्या कष्ट पहुँचा सकता है। इनके श्रीअंग में जाकर यह विष अमृत हो जायगा। शिव के श्रीविग्रह से संसर्ग होते ही सभी शिव स्वरूप हो जाते हैं। यही सब सोच समझकर शिवा बोलीं—

क्या दे सकता है। यदि आपके विष पान करने से इन सब दुखियों का दुख दूर हो सकता है, यदि ये सब संतप्त प्राणी सुखी हो सकते हैं, तो आप लोककल्याणार्थ इस हलाहल का पान कीजिये। आपकी सामर्थ्य से मैं परिचित हूँ, आपका ऐसे असंख्यों विष भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते। जिसमें विश्व का कल्याण हो वही कार्य कीजिये मैं मोहवश आपसे मना नहीं करती।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवती सती के अनुमोदन करने पर भगवान् भूतनाथ उस विष का पान करने के लिए प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

दया धरम को मूल मरम मूरख नहिं जानैं।
छिन भंगुर यह देह अज्ञ अजरामर मानैं॥
शिवको सद् उपदेश सती सुनि दीन्हीं सम्मति।
पान करन विष चले शम्भु मननहँ हर्षित अति॥
व्यापि रह्यो विष जगत्महँ, जीव दुखी सबई रहैं।
पान कर्यो विष शम्भु ने, सज्जन परहित सब सहैं॥

विश्वनाथ का विष पान

(५२२)

ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम् ।
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

लीयो तुरत समेटि बनायो विषको गोला ।
पान करत हर लगे उमापति शंकर भोला ॥
राम नाम सँग लीलि गरेतैं नाहिँ उतारयो ।
निगल्यो उगल्यो नहीं कंठमें ही विष धारयो ॥
जलमल हालाहल हरषि पान सतीपति करि गये ।
कण्ठ नील विषतैं भयो, नीलकण्ठ तबतैं भये ॥

यह संसार रूप समुद्र है, इसमें विष भी है अमृत भी है। प्रशंसा होना, प्रतिष्ठा होना यही अमृत है। निंदा होना अपवाद होना यही विष है। जो सहर्ष विष का पान करता है, निन्दा अपमान को पी जाता है, वही कल्याण स्वरूप है शिव है। जो केवल प्रशंसा के पीछे ही पड़े रहते हैं, निन्दा से डरते हैं, उनमें दो प्रकार के लोग होते हैं; एक सद् दूसरे असद्। एक देव

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भूतभावन भगवान् भव ने सर्वत्र व्याप्त उस हालाहल विष को समेट कर अपनी हथेली पर रखकर भक्षण कर लिया।"

दूसरे दैत्य। सद् वृत्ति वाले पुरुष प्रशंसा चाहते हैं; उसके लिये संसार सागर को श्रम करके मथते भी हैं, किन्तु अपना आधार उन अखिलेश्वर को ही मानते है। उनपर जहाँ कोई आपत्तिविपत्ति आई कि भगवान् की शरण में जाते हैं। ऐसे शरणापन्न व्यक्तियों की सदा प्रभु रक्षा करते है, उन्हें स्वयं मथकर स्वयं असद्वृत्ति वालों से छीनकर अमृत दे देते हैं। प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुंडरीक, व्यास, अम्बरीश, शुक, शौनक, भीष्म तथा दाल्भ्य आदि ऐसे अनेकों भगवत् भक्त हो गये हैं, जिनकी कीर्ति भगवान् की कृपा से संसार मे अब तक अक्षुण्ण व्याप्त है। जो असद् वृत्ति वाले पुरुष हैं, पुरुषार्थ तो वे भी करते हैं, अमृत के इच्छुक वे भी है, परिश्रम करके वे अमृत को निकाल भी लेते हैं, क्योंकि पुरुषार्थ का फल तो मिलना ही चाहिये, किन्तु प्राप्त करके भी वे उसकी रक्षा नहीं कर सकते। कठिनता से वे परमपद को प्राप्त करके नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि उन्होंने प्रभु के पादपद्मों का आदर नहीं किया,उनका आश्रय नहीं लिया यथार्थ अमृतत्व की प्राप्ति तो अमृत और विष को समान समझने से होती है। जो भी आवे उसे राम का नाम लेकर पी जाय। पत्र पर जिसका नाम लिख देते हैं; वह उसे ही प्राप्त हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं "राजन्! जब सतीजी ने भी विश्वनाथ को विष पान करने की अनुमति दे दी, तब भगवान् भूतनाथ देवता और असुरों के साथ उस स्थान पर आये जहाँ क्षीर सागर के ऊपर विष तैर रहा था। क्षीर सागर का जल दुग्ध के समान धवल था। उसके ऊपर काला काला हालाहल कालकूट विष तैर रहा था, मानों कीर्ति के ऊपर कलंक उतर रहा हो। शिवजी ने सर्वप्रथम उस विष को

दोनों हाथों से समेटा। समेट कर बाबा भोला ने एक बड़ा भारी गोला बनाया। तब उसे हथेली पर रखकर उस पर राम नाम

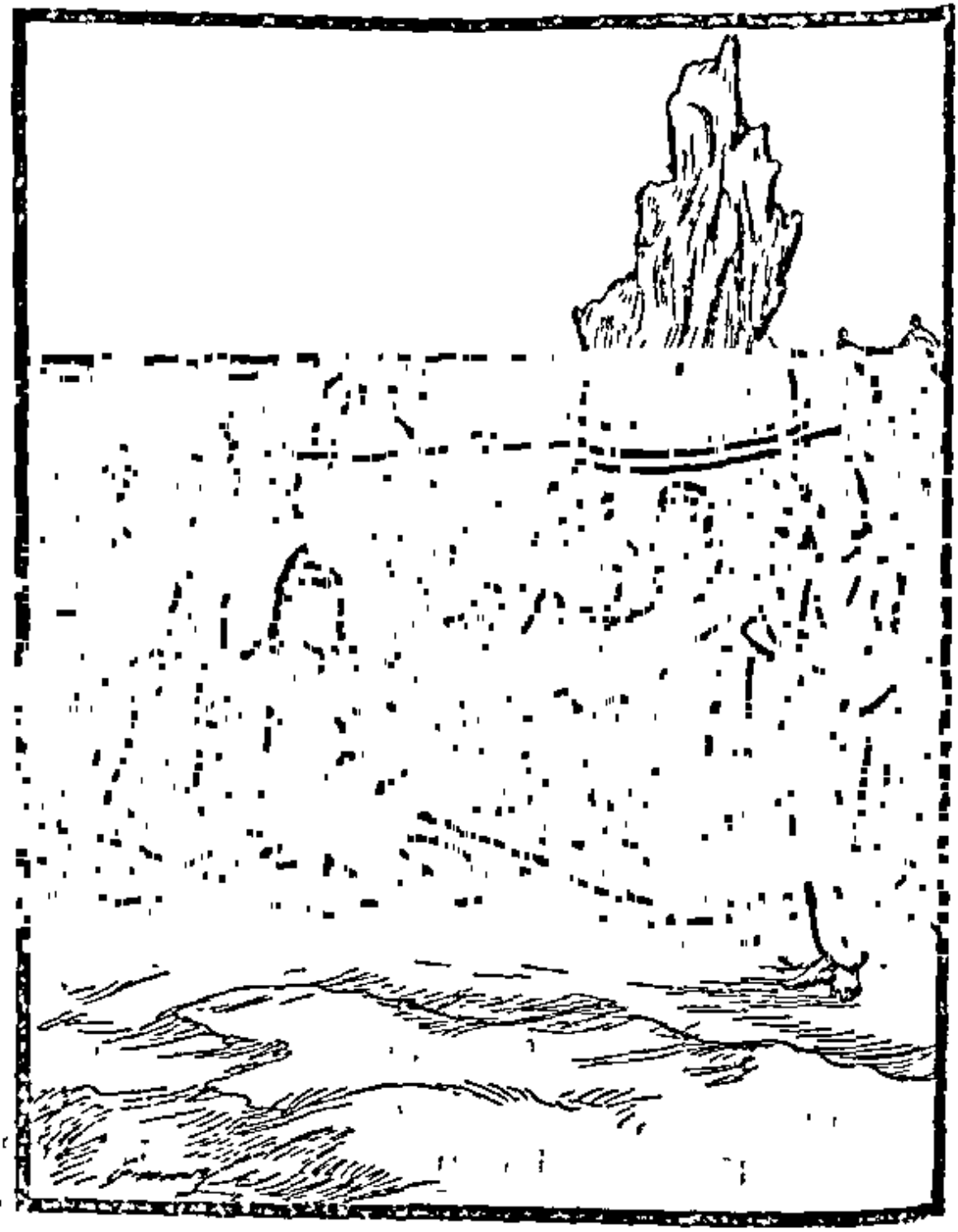

अंकित कर दिया। और राम का नाम लेकर उसे गप्प कर गये

उन्होंने उसे पेट के भीतर नहीं जाने दिया कंठ में ही उसे रोके रहे।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! शिवजी ने विष को गले से नीचे क्यों नहीं उतारा? उसे गले में ही क्यों धारण किये रहे?"

यह सुनकर सूतजी ने उत्तर दिया—"महाराज! सज्जन पुरुष पर निन्दा रूप विष को यदि खाकर पचा जायँ, तो उनके मन में भी दोष आ जायगा, क्योंकि कहावत है—"जैसा खाय अन्न वैसा बने मन।" इसलिये शंकरजी ने उसे पचाया नहीं ग्रहण नहीं किया। यदि उसे उगलते हैं—वाणी द्वारा दूसरों से कहते हैं, तो दूसरों के दोष प्रकट करने वालों को वही पाप लगता है जो करने वालों को लगता है। इसलिये शिव जी ने उसे उगला नहीं—किसी से कहा नहीं—उसे कंठ में ही रोक रखा।"

दूसरा कारण यह भी हो सकता है, कि उनके हृदय में सदा हरि विराजमान रहते हैं। उन्होंने सोचा मैं तो निरन्तर राम नाम रूप अमृत के उच्चारण के उनकी अर्चा करता रहता हूँ, अब इनको विष क्या अर्पण करूँ, इसलिये उन्होंने विष को कंठ के नीचे जाने ही नहीं दिया। कंठ में ही उसे धारण किये रहे और राम राम के उच्चरण से उसे भी अमृत बनाते रहे।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है, कि भीतर से किसी की निन्दा करने की भावना उठे भी तो उसे कंठ में आते आते भस्म कर देना चाहिये। श्रेष्ठ तो यही है दूसरों के गुण दोषों का मन से चिन्तन ही न हो। यदि मन में किसी के दोष दीख भी जाय, तो उसे कंठ से ऊपर न आने दे किसी से कहे नहीं।

चौथा करण यह भी जान पड़ता है, कि सब लड़ाई झगड़े कंठ से अर्थात् बोलने से ही होते हैं अतः वाणी के ऊपर रोक रखें। एक राजा के लड़का हुआ। बड़ा सुन्दर, सुशील रूपवान था, किन्तु बोलता नहीं था। राजा ने बहुत प्रयत्न किया मंत्रतज्ञों को दिखाया, चिकित्सकों से निदान कराया किन्तु किसी की बुद्धि में भी उसका रोग न आया। राजा गूंगे पुत्र से निराश हो गये।

एक दिन राजा किसी पक्षी का आखेट कर रहे थे। पक्षी पेड़ की डाली में छिप रहा था। सहसा वह बोल उठा। बोलते ही राजा ने शब्दवेधी बाण मारा और वह मर गया। उसी समय राजपुत्र ने कहा—"मूर्ख ! और बोल। जो बोला वह फँसा।"

राजपुत्र को आज बोलते देखकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने बहुत से दान धर्म कराये और बच्चे से बड़े स्नेह से कहा—"बेटा ! तू अब तक बोलता क्यों नहीं था। तू गूंगा तो था नहीं। जान बूझकर अपनी वाणी को क्यों रोके था ?"

इस पर राजपुत्र ने कहा—"राजन् ! मैं पहिले जन्म में बड़ा शान्त, दान्त, तपस्वी एक मुनि पुत्र था। मैं एकान्त में मौन रह कर घोर तप करता था। मेरी वाणी बड़ी मधुर थी। दैवयोग से वहाँ एक राजा अपने राजकुमार के सहित आखेट के निमित्त आया। उस राजकुमार के बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को देखकर तथा उसके सुन्दरस्वरूप को देखकर मेरा मन उसकी ओर आकर्षित हो गया। मैंने मौन को छोड़कर उससे मीठी बातें की। वह भी मेरी मधुर बातों से मुग्ध हो गया। हम दोनों में मैत्री हो गई। अब मेरा मन तपस्या में नहीं लगता। उस राजकुमार का ही चिंतन करता था। उसी चिंतन में मेरी मृत्यु

हो गई तपस्या के प्रभाव से मुझे पूर्वजन्म की सब बातें याद हैं। मैं जानता हूँ जो बोला वह फँसा। इसीलिये मैं बोलता नहीं था। देखिये, यह चिड़िया न बोलती, तो क्यों मारी जाती। इसीलिये राजन्! कल्याण की कामना वाले पुरुषों को वाणी के ऊपर संयम रखना चाहिये। कंठ में गोला रख लेना चाहिये, जिससे भगवान् के नाम कीर्तन और गुण कीर्तन के अतिरिक्त कण्ठ से दूसरी कोई भी निन्दा स्तुति की बात न निकले। प्रतीत होता है, शिवजी ने यही सद शिक्षा देने के लिये विष के गोले को कपाट के स्थान में गले में अटका लिया। राम नाम पर तो विष का कुछ प्रभाव पड़ नहीं सकता। अन्य कोई बातें कण्ठ से निकालना भी चाहें, तो वे विष की ज्वाला से बीच में ही भस्म हो जायँ। इसीलिये विष को कण्ठ से नीचे नहीं उतरने दिया।"

शौनक जी ने पूछा—"हाँ, तो फिर क्या हुआ? अब सूत-जी! आगे की कथा सुनाइये।

सूत जी बोले—"महाराज! मेरे गुरुदेव भगवान शुक महाराज परीक्षित् को सुना रहे हैं कि राजन्! वह हालाहल विष कैसा भी हो विष ही था। यद्यपि वह शिवजी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता था, किन्तु फिर भी उसने अपना कुछ न कुछ प्रभाव तो दिखाया ही। भगवान् त्रिपुरारी का कण्ठ उस विष के कारण नीला पड़ गया। उसी दिन से शिवजी का नाम नीलकण्ठ हो गया। इसीसे शिवजी को गरमी अधिक लगती है। इसी कारण बरफ में कैलाश पर्वत पर बैठे रहते हैं। शंकर जी को जल-धारा अत्यन्य प्रिय है। जाड़ा हो, गरमी हो शिवजी पर चुल्लूभर जल चढ़ा दो, गाल बजा दो, शिवजी प्रसन्न हो जायँगे। यदि

सहस्र घटों से शिवजी की कोई पूजा करे, तो उसे वे अपना रूप प्रदान कर देते हैं।

गरमी के दिनों में शिवजी का कंठ अधिक सूखता है। इसीलिए गरमी के चार महीने शिवजी के ऊपर जलहरी चढ़ाई जाती है। जिससे आठों प्रहर उनके सिर पर जलधारा पड़ती रहे। जो गरमी के दिनों में शिवजी पर जलहरी चढ़ाते हैं उनपर शिवजी अत्यंत प्रसन्न होते हैं।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज ! कण्ठ नीला होने से शिवजी के रूप में तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई।"

शीघ्रता से श्रीशुक बोले—"अजी राजन् ! उन मंगल स्वरूप, सर्वसौन्दर्य के सागर शिव जी के रूप में गड़बड़ ही क्या होनी थी। उन साधु शिरोमणि शंकर के कंठ का वह नीलापन मनोहर अलंकार ही बन गया। उस नीलेपन से उनकी शोभा और बढ़ गई।"

राजा परीक्षित् ने फिर पूछा—"भगवान् ! मुझे एक शंका है। शिवजी तो सदा अखंड समाधि में निमग्न रहते हैं। वे तो एकाग्रचित्त से उन अखिलेश का आराधन करते रहते हैं। फिर वे उस आराधन को छोड़कर विषपान आदि बाह्य वृत्ति वाले कार्यों में प्रवृत्त क्यों हो गये। अपने निजानन्द में निमग्न रहते। दैत्य देवता सब अपना सुलझते। शिव जी ने समाधि छोड़कर इस बाह्य कार्य को क्यों किया ?"

इस पर हँसकर श्रीशुक बोले—"राजन् ! भगवान् की पूजा करना, उनके नाम के गुणों का कीर्तन करना ये सब भगवान् की आराधना कहलाते हैं। षोडशोपचारों से की हुई आराधना से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार की

आराधना श्रेष्ठ है। किन्तु इस आराधना से भी उत्कृष्ट एक परमात्मा की परमाराधना है। वह है दूसरों के दुखः से दुखी होना। देखिए राजन् ! अपने दुख से तो संसार में सभी दुखी होते हैं। अपने सगे सम्बन्धियों के लिये तो सभी रोते हैं। जो सबके दुःख को समझते हैं संसार में उनकी सर्वश्रेष्ठ आराधना सर्वोपरि है। जो सबमें ईश्वर को देखकर प्राणिमात्र की सेवा करते हैं सबके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं वे समाधि न लगाने पर भी निरन्तर समाधि में मग्न रहते हैं। अर्चाविग्रह की पूजा न करने पर भी निरन्तर जनता रूप जनार्दन की सेवा करते हैं। शिवजी ने विष पान करके कोई बहिर्मुख कार्य नहीं किया। उन्होंने अपनी आराधना को और भी उत्कृष्ट बना लिया।"

राजा ने कहा—"महाराज ! इस विषय को विस्तार से समझाइये। अन्ताराधन से परोपकार कैसे श्रेष्ठ है।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"अच्छा, महाराज ! सुनिये। मैं इसे भली भाँति समझाता हूँ।"

छप्पय

हृदय माँहिं हरि बसैं विश्वपति विष नहिं निगल्यौ।
अघ अंगीकृत त्याग सोचि बाहर नहिं उगिल्यौ॥
दोषनि लेहिं पचाय दोष अपनेमहँ आवैं।
प्रकट दोष यदि करै तुरत निज अंग लपटावैं॥
तातैं कंठहिमहँ धरयौ, हर शोभा अतिशय बढ़ी।
मुनिकै शोभा सुरनि तैं, सुरसरि शिव सिरपै चढ़ी॥

परोपकार प्रभुकी परमाराधना है

(५२३)

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमारानं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

है आराधन श्रेष्ठ त्यागि सब हरि आराधें ।
जप, तप, पूजा पाठ, योग नियमादिक साधें ॥
इन सब तें उत्कृष्ट परम आराधन भारी ।
परदुखमहँ हों दुखी यही पूजा प्रभु प्यारी ॥
समुझैं सब महँ श्यामकूँ, ते ही भक्त अनन्य हैं ।
परकारज हित सहहिं दुख, जगमहँ ते नर धन्य हैं ॥

सब साधनों का मूल्य है सर्वत्र श्रीहरि को ही समझना। एक ही श्रीहरि ने अनेक रूप रख लिये हैं। एक ही सुवर्ण के कनक कुंडल-कंकण, कर्णफूल आदि विविध आभूषण बन गये

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! साधुजन प्रायः दूसरों के दुःखों से सदा दुखित बने रहते हैं । क्योंकि उन अखिलात्मा हरि की दूसरों के लिये दुःख उठाना यही सर्वोत्कृष्ट आराधना है ।"

हैं । एक विश्व भर बहुत हो गये हैं । इसे जिसने तत्वतः, समझ लिया है वही कृतार्थ हो गया है। भय सदा द्वितीय से होता है । एकत्व में भय नहीं जहाँ एकत्व है वहीं प्रेम है और प्रेम ही प्रभु का रूप है। दो दिखाई देने वाले जग दृष्टि से दृष्टि मिलाकर सर्वथा एक हो जाते हैं, वहां प्रभु प्रकट हो जाते हैं। 'यह तेरा यह मेरा' जहाँ यह द्वैत हुआ वहीं कलह, राग, द्वेष, लड़ाई, झगड़े, दुःख, शोक तथा नाना प्रकार के उपद्रव उठ खड़े होते हैं। अतः गुरुदेव सब साधनों को बताते हुए अन्त में कह देते हैं—"हरि घट घट में विराज रहे हैं सब में उन्हीं को देखो । किसी से राग द्वेष मत करो ।" अर्चा विग्रह में हरि व्याप्त हैं, किन्तु वे बोलते नहीं, बड़ी कठिनाई से किसी भाग्यशाली से बात करते हैं। किन्तु जनता रूपी जनार्दन की सेवा तो उनकी प्रत्यक्ष सेवा है । वहाँ तो पग पग पर संयम और आत्मान्वेषण का अवसर मिलता है, इसीलिये मनीषियों ने इस परोपकार आराधना को परमाराधना कहा है ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! तुमने पूछा—समाधि सुख को त्याग शम्भु ने हलाहल पान क्यों किया ? सो, राजन् ! आप बताइये समाधि क्यों लगाई जाती है ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! यह जगत् भूल जाय। संसार के जितने सुख दुःख, पुण्य पाप, धर्म अधर्म आदि द्वन्द हैं ये सब परिणाम में दुःख ही देने वाले हैं समाधि में द्वन्द रहते नहीं। निर्द्वंद होकर निजानन्द में मग्न रहते हैं । आत्मसुख का अनुभव करते हैं ।"

श्रीशुक ने कहा—"अच्छा, तो इसका भाव यह हुआ कि यह जो हमें अपने पराये का मिथ्याभिनिवेश हो गया है उसे भूल जाना। यदि हम सम्पूर्ण जगत् को ही उन्हीं श्री हरि का

स्वरूप मान लें, सब में ही उन राधारमण को रमण करता हुआ देखने का प्रयत्न करें, तो फिर आँख खुली होने पर भी समाधि ही है।"

राजा बोले—"महाराज यह कैसे हो सकता है ?"

श्रीशुक बोले—"यह इस प्रकार होता है, कि हम परायेपन का भाव त्याग दें पराया कोई है ही नहीं जिन्हें पर कहा है वे अपने हैं, जैसे अपने पैर में काँटा चुभने से कष्ट होता है, वैसे ही हम दूसरे के कष्ट को भी अपना ही अनुभव करें। जैसे हम अपने ऊपर दुःख आने पर दुखी होकर उसके निवारण की चेष्टा करते हैं वैसे ही दूसरों के दुखों को अपना दुःख समझ कर उनके निवारण के लिये प्रयत्न करें। यही सर्वत्र श्री हरि को देखने का साधन है।"

राजा ने पूछा—"तो भगवन् ! यह श्रीहरि की आराधना तो हुई नहीं। यह तो परोपकार, पुण्य पाप का कार्य हुआ। पुण्य कार्य का फल है स्वर्ग। स्वर्ग भी नाशवान् है। फिर परोपकार प्रभुकी परमाधना कैसे हुई ?"

श्रीशुक ने कहा—"राजन् ! आप ध्यान से इस बात पर विचार करें जब हम दूसरों के दुःख में दुखी होंगे और उन दुःखों के निवारण के लिये प्रयत्नशील होंगे, तो सर्वत्र उन श्री हरि को ही अनुभव करेंगे। ऐसे करते करते हमारा निजपन परायेपन का भाव हटाता जायगा। भगवान् का यह जगत् रूपी वैसे ही है जैसे पितारूप पुत्र है। आप कोई वस्तु पिता को दें तो उसे उतनी प्रसन्नता न होगी जितनी पुत्र को देने पर होगी। इस प्रकार भगवान् अपनी पूजा से उतने प्रसन्न नहीं होते जितने अपने स्वरूप जनता की सेवा से प्रसन्न होते

हैं। इसीलिये जप, तप, पूजा पाठ आदि भगवान् की आराधना है तो जनता रूपी जनार्दन की सेवा करना परमाराधना है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जनता की सेवा करने वालों के ऊपर भगवान् इतने प्रसन्न क्यों होते हैं ?"

इसपर सूतजी बोले—"देखिये महाराज ! कोई राजा है वह खेल खेल रहा है। एक व्यक्ति ने जाकर उसके खेल के मंच को सुन्दर बना दिया। वहाँ के फूलों को पानी देकर छाँट कर स्वच्छ कर दिया झाड़ू लगा दी। एक दूसरा है वह जब भी राजा निकलता है उसे झुक झुक कर प्रणाम करता है उसके पैर छूता है, उसके सम्मुख नीचा सिर किये खड़ा रहता है, तो बुद्धिमान राजा खेल की साजों के सजाने वाले पर अधिक प्रसन्न होगा या प्रणाम करने वाले पर ? कहना पड़ेगा कि जो उसके खेल में सहयोग दे रहा है उसे भाँति भाँति से सजा बजा-कर सुन्दर बना रहा है, उस पर प्रणाम करने वाले की अपेक्षा अधिक प्रसन्न होगा। इस विषय में एक सुन्दर दृष्टान्त सुनिये।

एक दिन बहुत से भक्त एक मन्दिर में शम्भु कीर्तन कर रहे थे। बहुत से पूजन कर रहे थे, बहुत से निराहार व्रत रख-कर शिवजी की आराधना कर रहे थे। भक्तों की भीड़ थी। उनमें एक ऐसा भी व्यक्ति बैठा था जो शिवजी के श्री विग्रह की सेवा तो कर नहीं रहा था, निरन्तर जनता के सुख की बातें सोच रहा था। किस प्रकार प्राणियों का भला हो, इन्हीं विचारों में निमग्न था। जितनी उसकी शक्ति थी, सामर्थ्य थी, उसके अनुसार दूसरों के दुःखों को दूर करने के लिये सदा प्रयत्नशील भी रहता था। इतने में ही सबने देखा ऊपर

से एक विमान उतर रहा है। उसमें धर्मराज के प्रधान मुनीम उसमें चित्रगुप्तजी बैठे हैं और लेखनी से कुछ लिख रहे हैं। उतर कर वे नीचे आये भक्तों ने विमान घेर लिया। किसी ने पूछा—"देव ! आप यह क्या लिख रहे हैं ?"

चित्रगुप्त ने कहा—"मुझे भगवान् की आज्ञा है कि मैं उन लोगों का नाम लिखूँ, जो भगवान् से प्रेम करते हैं।"

यह सुनते ही सब दौड़ पड़े। कोई कहता—"हम भगवन् से बहुत प्रेम करते हैं। कोई कहता हम उनके ही नाम का जप कर रहे हैं। कोई कहता—हम उनका ही नाम लेकर कीर्तन कर रहे हैं, नाच रहे हैं, गा रहे हैं, बजा रहे हैं। कोई कहता—"हम तो उन्हीं के प्रेम में निमग्न हुए यहाँ बैठे हैं। हमारा नाम अवश्य लिख लें।"

इतने में ही वह परोपकारी व्यक्ति आया और बोला—"देव ! आप मेरा नाम तो इस सूची में लिखें नहीं। मैंने तो भगवान् को देखा ही नहीं। जब देखा ही नहीं तब मैं अपनी बुद्धि से उनसे प्रेम करने में असमर्थ हूँ। मुझे तो उनकी रची यह सृष्टि दीखती है। मैं तो जनता के रूप में ही जनार्दन को जानता हूँ। मैं इन जीवों से प्रेम करता हूँ।"

चित्रगुप्तजी ने कहा—"भाई, न तो हम किसी के कहने से किसी का नाम लिख सकते हैं और न किसी के कहने से काट ही सकते हैं। हमें तो जो उचित प्रतीत होगा लिखेंगे।" यह कहकर वे नाम लिखकर चले गये।

दूसरे दिन फिर वहीं भक्तों ने उसी विमान को उतरते हुए देखा। आज चित्रगुप्त जी कुछ लिख नहीं रहे थे। लेखनी उनके कान में खुरसी हुई थी। वे एक बही को लेकर पढ़ रहे थे।

जब उनका विमान नीचे आया तो भक्तों में से एक ने पूछा—"देव! आप क्या पढ़ रहे हैं?

चित्रगुप्तजी ने कहा"भाई, मैं उन लोगों का नाम पढ़ रहा हूँ, जिन्हें भगवान् प्रेम करते हैं।"

सभी बड़ी उत्सुकता से आये और पूछने लगे—"हमारा नाम है क्या? क्या भगवान् हमें प्यार करते हैं?

जो परोपकारी सज्जन थे उन्होंने तो सोचा—'मेरा नाम तो इस सूची में होगा ही नहीं। क्योंकि मैं जनता को प्यार करता हूँ।"

भक्तों के आग्रह से चित्रगुप्त उस सूची को पढ़ने लगे। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, सर्वप्रथम उस जन-सेवक का नाम उस सूची में था।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसलिये सेवक का धर्म सर्व-श्रेष्ठ कहा गया है। सेवा करते हुए सेवक को यह अभिमान न हो, कि मैं दूसरों का भला कर रहा हूँ। मेरे द्वारा इतने लोगों का उपकार हो रहा है। यही सोचे—"मैं प्रभु की सेवा कर रहा हूँ। अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ। करने कराने वाले तो वे श्री हरि ही हैं। सो, महाराज! शिवजी ने विष पान करके परोपकार की महत्ता बताई, उपासना का उत्कृष्ट आदर्श साधकों के सम्मुख रखा।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् भगवान् भवानीनाथ के इस अद्भुत कार्य को देखकर और सबकी कामना पूर्ण करने वाले देवाधिदेव महादेव का निस्वार्थ त्याग देखकर समस्त प्रजा, श्रद्धा, मैत्री, दया, शांति, तुष्टि, पुष्टि क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री, मूर्ति, स्वाहा, स्वधा ये सब सतीजी की बहिनें अपने बहनोई के इस कर्म की

भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगीं। अपनी बहिन को ऐसे समर्थ पति पाने के उपलक्ष में साधुवाद देने लगीं। ब्रह्माजी अपने चारों मुखों में अत्यन्त हर्ष के साथ साधु साधु कहने लगे। विष्णु भगवान् भवानीपति की प्रशंसा करते करते अघाते नहीं थे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"रावन विष पान करते समय भूल से भोलेनाथ के हाथ से कुछ विष गिर गया। जिसे साँप बिच्छू, बर्र ततैया आदि विषैले जीवों ने तथा संखिया, कुचिला मांठा आदि विषैली औषधियों ने ग्रहण कर लिया। इससे इनके काटने तथा भक्षण करने से प्राणी मर जाते हैं। जब विष को शिवजी पी गये, तो फिर भगवान् की आज्ञा से समुद्र मथा जाने लगा। अब तो उसमें से रत्न निकलने लगे।

छप्पय

फैली जगमहँ बात शम्भु हालाहल पीयो।
दुखी प्रजा को कष्ट वृषभध्वज सब हरि लीयो॥
साधु साधु सब कहैं विष्णु, विधि शिव यश गावैं।
दुंदुभि नभतें बजैं सुमन सुरगन बरसावैं॥
हर भोलाकी भूलतैं, गोलातैं कछु विष गिरयो।
सो अहि, बिच्छू, औषधिनि, थावर जंगम विष करयो॥

क्षीर सागर से रत्नों की उत्पत्ति

(५२४)

पीते गरे वृषङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः ।
मम्न्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत् ॥
तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः ।
यज्ञस्य देवयानस्य मेध्याय हविषे नृप ॥❀

(श्री० भा० ८ स्क० ८ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

शिव पीयो विष सिंधु सुरासुर मथिबे लागे ।
कामधेनु पुनि प्रकट भई रत्नन्तिं आगे ॥
अग्निहोत्र के हेतु सुरभि मुनिगन स्वीकारी ।
उच्चैःश्रवा महान् अश्व फिरि प्रकट्यो भारी ॥
घोड़ा राजा बलि लयो, पुनि ऐरावत गज भयो ।
सो वाहन देवेन्द्र को हरि अनुमतितैं है गयो ॥

जिसमें स्वच्छता हो, कान्ति हो, पवित्रता हो, तेज और

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब श्री शङ्करजी ने विषका पान कर लिया तो देवता दैत्य अत्यन्त प्रसन्न होकर बड़े वेग से पुनः समुद्र को मथने लगे, तब उससे फिर कामधेनु गौ उत्पन्न हुई। उसे ब्रह्मवादी अग्निहोत्री ऋषियों ने ले लिया। क्योंकि वह घृतादि अग्नि होत्र की वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली थी ब्रह्मलोक के मार्ग स्वरूप यज्ञादि में उपयोगी हवि के लिये ग्रहण किया।"

ओज हो, उसी .को रत्न संज्ञा है। रत्नों में श्री का निवास है। संसार में ९ रत्न प्रसिद्ध हैं, धेनुरत्न, तुरंगरत्न, गजरत्न, वनस्पतिरत्न, स्त्रीरत्न, मणिरत्न, धनरत्न, वारुणीरत्न। इन सब में श्री का निवास है। ये सब रत्न प्रयत्न से पुरुषोत्तम का आश्रय ग्रहण करने से प्राप्त होते हैं। उद्योगी पुरुष सिंह ही लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है, उद्योग करने पर भी सफलता श्री हरि के हाथ में है, अतः प्रयत्न करते हुए हरि को सदा स्मरण बनाये रखना चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शिवजी के विष पान कर लेने से विपत्ति टल गई। सभी को सन्तोष हुआ, सभी की चिन्ता दूर हुई। अब सभी पुनः नवीन उत्साह, नूतन स्फूर्ति के साथ फेंट बाँध-बाँधकर पूरी शक्ति के साथ बड़े वेग से समुद्र को मथने लगे। दही को मथते समय जब तक ताव नहीं आता तब तक मक्खन निकलने में देर होती है। ताव आ जाने पर एक बार मक्खन निकलने पर फिर तो जहाँ दो हाथ मारे नहीं कि शीघ्र-शीघ्र मक्खन निकलने लगता है। इसी प्रकार विष के निकलने से अब तो ताव आ गया तुरन्त ही सुन्दर मुड़े हुए सींगों वाली लम्बी पूँछ वाली अत्यन्त ही दर्शनीय कामधेनु गौ उत्पन्न हुई?"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! तो क्या इससे पहिले गौएँ नहीं थीं?"

सूतजी ने कहा—"थीं क्यों नहीं, अवश्य थी, किन्तु दुर्वासा के शाप से गौओं की भी श्री नष्ट हो गई थी। वे दुबली पतली दूध न देने वाली, श्री हीन हो गई थी। देवता और दैत्यों के उद्योग से सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु उत्पन्न हुई। जिसके सुन्दर स्वच्छ हृष्ट पुष्ट गौ है

उसे किस वस्तु की कमी है ब्राह्मणों की श्री यज्ञ और तप है घी से यज्ञ होते हैं घृत, दुग्ध दधि आदि से यज्ञों में प्रायश्चित शुद्धि होती है, गौ के गोबर, गोमूत, गोघृत, गोदधि और गोदुग्ध से। जब गौओं का तेज ही नहीं रहा, तो ब्राह्मण भी तेजो हीन हो गये। उन सबका तेज पुञ्जीभूत होकर पुनः समुद्र से निकला वह समस्त ब्राह्मी श्री का प्रदान करने वाला तथा गौरूप में समुद्र से निकाला था। इसीलिये गौ को सर्व-श्रेष्ठ रत्न कहा है। ४ पैर की सुन्दर सुहावनी दर्शनीय गौ को देखकर अग्निहोत्री मुनियों का मन ललचा गया। उन्होंने सोचा—"यह गौ जो हमें मिल जाती तो हमारे समस्त मनोरथ पूर्ण हो जाते। यह अग्निहोत्र की सामग्री उत्पन्न करने वाली है ब्रह्मलोक के भाँग स्वरूप यज्ञादि में उपयोगी घृत, दुग्धादि इसी से उत्पन्न होते हैं, अतः यह हमारे, तेज, तप और ओज को बढ़ाने वाली होगी।

गौ के निकलते ही हल्ला मचा इसे कौन लेगा। यह किसके भाग में आवेगी। इसपर भगवान बोले—"देखो, तुम लोग दोनों ही कश्यप मुनि की संतान हो, दोनों ही धर्म के मर्म को भली भाँति जानते हो, दोनों ही गौ के ब्राह्मणों के भक्त हो। शास्त्रीय नियम ऐसा होता है कि अपने घर में जो अन्न हो, फल हो अथवा कोई भी सर्वप्रथम वस्तु आवे उसे पहिले ब्राह्मण को दान दे देनी चाहिये। सभी शुभ कर्मों के पूर्व गौदान करना चाहिये। तुम लोग अमृत के निमित्त समुद्र मन्थन रूप महान कार्य कर रहे हो। इसीलिये दोनों मिलकर इस सबसे पहिले निकले रत्न को ब्राह्मणों को दान दे दो। ब्राह्मणों के सन्तुष्ट होने पर इसमें शीघ्र एक से एक अनुपम सुन्दर रत्न निकलते रहेंगे।"

भगवान् की यह सम्मति सुर असुर दोनों को ही अच्छी लगी क्योंकि दोनों ही अग्निहोत्र करते थे दोनों ही ब्राह्मणों को मानते थे दान देते थे। अतः दैत्यों की ओर से राजा बलि ने और देवताओं की ओर से देवेन्द्र ने कामधेनु की पूँछ पकड़ी। वेद वादी ब्राह्मणों ने विधि विधान पूर्वक संकल्प पढ़ा और उस गौदान को ग्रहण कर लिया।"

अब फिर समुद्र मथा जाने लगा। अब के एक बड़ा ही सुन्दर दर्शनीय उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा उत्पन्न हुआ। वह अत्यन्त ही हृष्ट पुष्ट और मनोहर था। चन्द्रमा के समान उसका श्वेत वर्ण था वह चंचल दृष्टि से गले के बालों को हिला हिलाकर इधर उधर देख रहा था। देवताओं ने सोचा—"यह तो हमें मिल जाय। इधर असुर राज बलि उसके ऊपर निकलते ही लट्टू हो गये। वे निर्भीक होकर बोले—"इस घोड़े को तो हम लेंगे।"

भगवान् ने तो पहिले ही देवताओं को सिखा पढ़ा दिया था, कि तुम किसी वस्तु के लिये लोभ मत करना, लड़ाई झगड़ा मत मचाना इसीलिये देवेन्द्र ने कहा—"अच्छी बात है, इसे आप लेलें। आप बड़े हैं। बड़ी वस्तु बड़ों के ही लिये उपयुक्त है।" इस प्रकार वह घोड़ा विरोचन के पुत्र असुर राज बलि के भाग में आया। समुद्र पुनः मथा जाने लगा।

इतना सुन्दर घोड़ा निकलने से सभी का उत्साह बढ़ गया था। सभी किसी अनुपम वस्तु के लोभ से पुनः पूरी शक्ति लगाकर मन्थन कार्य करने लगे। कुछ ही काल में क्या देखते हैं, कि समुद्र में से बड़े बड़े चार दाँतों वाला कैलाश शिखर के समान डील डौल वाला श्वेत रंग का ऐरावत नाम का गजराज उत्पन्न हुआ। उसकी कान्ति अनुपम थी। मन्दराचल के

समीप खड़ा वह ऐसा प्रतीत होता था। मानो श्वेत गिरि का सुत गिरिराज मन्दराचल के निमित्त कुछ संदेश लेकर आया हो उसे देखकर इन्द्र का मन उसके ऊपर अत्यन्त ही लुभायमान हो गया। भक्तवत्सल भगवान् उसके भाव को समझ गये और बोले—"भाई, यहाँ तो बराबर का बँटवारा है। एक वस्तु बलि ने लेली अब इसके न्यायतः अधिकारी देवेन्द्र है।"

दैत्यों ने इस बात में आपत्ति नहीं की। इन्हें रत्नों की तो कुछ कमी थी ही नहीं। देवता अमृत के लिये समुत्सुक थे। अतः उन्होंने कह दिया—"हाँ यह उचित ही है इसे शचीपति इन्द्र ही लेलें।' उसी दिन से ऐरावत इन्द्र का वाहन बना।

समुद्र पुनः मथा जाने लगा। अब के एक बड़ी ही चमचमाती, दशों दिशाओं को अलौकित करती हुई कौस्तुभ नाम की पद्मरागत् मणि उत्पन्न हुई। उस पर भगवान् का भी मन चला गया। उन्होंने सोचा जब लक्ष्मी जी आवेंगी तो उन्हें मेरे हृदय के अतिरिक्त कोई स्थान प्रिय न होगा। अतः उनके बैठने के लिये आसन भी तो चाहिये। मणि में लक्ष्मी का निवास है। इसीलिये धनिक श्रीमान् पुरुष कंठ में मणियों की माला धारण करते हैं। यही सब सोचकर भगवान् बोले—"देखो, भाई सब लोग अपनी अपनी रुचि की वस्तु लेते जाते हैं। हम तो कुछ बोलते चालते नहीं। तुम सब देख ही रहे हो, परिश्रम हमने भी किया। हम माँगते तो कुछ हैं नहीं किन्तु नियमानुसार अब के हमारी बारी है। फिर आप लोग जैसा उचित समझें।"

भगवान् की ऐसी घुमाव फिराव की बातें सुनते ही सब समझ गये कि इस कौस्तुभमणि को श्यामसुन्दर लेना चाहते

हैं। अतः सबने एक स्वर में कहा—"हाँ, प्रभो ! यह मणि आपके ही उपयुक्त है। हम सब हृदय से सहमत हैं आप इस मणि को अपनाइये। इसे अपने वक्षःस्थल में धारण कीजिये।" सबके कहने से भगवान् ने उसे अपने वक्षःस्थल में विभूषित करने के निमित्त धारण कर लिया।

एक के पश्चात् एक सुन्दर रत्न उत्पन्न होते हैं इससे सब का उत्साह सैकड़ो गुणा बढ़ गया। सब बिना विलम्ब के क्षीर सागर को मथने लगे। तदनन्तर लहलहाता हिलता हुआ, सुन्दर पत्तों वाला कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ उस पर पुष्प लगे थे योजनों उसकी गंध जा रही थी उसके उत्पन्न होते ही वह सम्पूर्ण स्थान सुवासित हो उठा। अब दोनों में वाद विवाद उठ खड़ा हुआ इसे कौन ले।"

तब भगवान् अजित बोले—"देखो, भाई ऐसी वस्तु किसी एक की न होनी चाहिये। इसे पंचायती मान लो। यह स्वर्ग पर जिसका भी अधिकार रहे वही इसका भी स्वामी माना जाय। स्वर्ग में जाने वाले स्वर्गीय पुण्यात्मा प्राणियों की समस्त कामनाओं को यह संकल्प मात्र से पूर्ण किया करे। बोलो, हमारा यह प्रस्ताव आप सब लोगों को स्वीकार है ?"

सब ने एक स्वर से कहा—"हाँ महाराज ! स्वीकार है।" विवाद समाप्त हुआ कल्पवृक्ष स्वर्ग भेज दिया गया।

फिर समुद्र मथा जाने लगा। अब के उसमें से बड़ी सुन्दर सुकुमाराङ्गी, यौवन के मद में मदमाती, सबके मनको मथती हुई वस्त्राभूषणों से अलंकृत बहुत सीं अप्सरायें उत्पन्न हुईं। उनकी चितवन में मादकता थी, वे हास विलास पूर्ण चंचल दृष्टि से लज्जा सहित देवता दैत्यों को निहार रहीं थीं। उनकी गति मनोहर और आकर्षक थी। वे स्वर्गीय ललना मूर्तिमती

प्रसन्न ही दिखाई देती थीं। उन्हें देखकर तो देवता दैत्य सभी भौंचक्के से हो कर सब काम छोड़कर उन्हें ही देखते के देखते रह गये। समुद्र मन्थन का कार्य बन्द हो गया। भगवान् ने सोचा—"यह स्त्री रत्न विचित्र निकला इसने तो सब गुड़ गोबर कर दिया। हमारा खेल ही बिगाड़ दिया। प्रतीत होता है इनके ही निमित्त देवासुर संग्राम छिड़ जायगा। अतः देश काल को जानने वाले श्री हरि बोले—"देखो, भाई, स्त्री रत्न सबसे श्रेष्ठ रत्न है। गौ पूंछ पवित्र मानी गई है, बकरी के कान, इस प्रकार किसी का कोई अंग पवित्र होता है किसी का कोई। किन्तु स्त्री सर्वाङ्ग पवित्र है। ये निर्दोष हैं। इनका दर्शन मंगल देने वाला है, इसीलिये ये मंगल मुखी कहलाती हैं। नीतिकारों ने तो यहाँ तक कहा है—"स्त्री रत्न दुष्कुलादपि' स्त्री रत्न यदि दुष्कुल में उत्पन्न हो तो उसे भी ग्रहण कर लेना चाहिये। ये मानवीय स्त्रियाँ न होंगी ये स्वर्गीय ललना कहलायेंगी। इनसे स्वर्ग की शोभा बढ़ेगी। ये किसी एक की सम्पति न समझी जायँगी। इन पर स्वर्गीय पुण्यात्मा पुरुषों का समान अधिकार होगा। सभी स्वर्ग के निवासी इनका उपभोग कर सकेंगे। फिर भी इनकी पवित्रता में कोई दोष न आवेगा इनके लिये कोई भी आग्रह मत करो कि ये हमारी ही होंगी।"

भगवान् की इस बात से सभी सन्तुष्ट हो गये असुर तो समझते थे, हम सदा स्वर्ग के स्वामी बने रहेंगे। तब ये हमारे ही काम में आवेंगी। देवताओं ने भी आपत्ति नहीं की।

सूतजी कहते —"मुनियो इस प्रकार ६ रत्न उत्पन्न हो गये। समुद्र का मन्थन अमृत के लिये चालू ही था।

छप्पय

पुनि कौस्तुभमनि भई चित्त चित्तचोर चलायौ।
रत्न अमोलक निरखि हरषि श्रीहरि हर्षियायौ॥
कल्पवृक्ष सुरबधू भईं सुर असुर सिहाये।
सार्वजनिक करि दई, सुनत सबई हरषाये॥
सुरललना गति ललित अति, चुभी चित्त चितवन चपल।
पठई हरि सुर पुर तुरत, लखि सुर असुरनि कूँ विकल॥

समुद्र से लक्ष्मी जी की उत्पत्ति

(५२५)

ततश्चाविरभूत्साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा।
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत्सौदामिनी यथा ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ८ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

पुनि प्रकटीं प्रभुप्रिया रमा निज शोभा बिकसित।
विधुवत् शुभ्र प्रकाश करत जगकूँ अनुरञ्जित ॥
यौवन रूप सुवर्ण भाव गुण महिमा अनुपम।
सुर, नर, किन्नर, असुर भये लखि सबई जड़ सम ॥
करैं भेंट बहुमूल्य मिलि, रमा-प्रेम महँ सब पगे।
लैवे की इच्छा भई, सेवा सब करिबे लगे ॥

संसार में ऐसा कौन है, जो ऐश्वर्य, तेज, यश, शोभा ज्ञान और वैराग्य रूप सम्पत्ति को न चाहता हो। श्री के सभी

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इसके अनन्तर भगवत् परायणा साक्षात् श्री लक्ष्मी देवी क्षीर सागर से उत्पन्न हुईं वे अपनी कान्ति से दशोंदिशाओं को उसी प्रकार अनुरञ्जित कर रही थीं, जिस प्रकार सुदामा गिरिपर दमकने वाली दामिनी दिशाओं को प्रकाशित करती है।"

इच्छुक हैं। श्री हीन व्यक्ति संसार में कुछ कर नहीं सकता। श्री के अनेक रूप हैं ब्राह्मणों के यहाँ वह ब्राह्मी श्री के रूप में रहती है। क्षत्रियों के यहाँ वह राज्य श्री के रूप में निवास करती है। वैश्यों के यहाँ व्यापारादि में वह लक्ष्मी रूप से विराजती है। शूद्रों के यहाँ वह सेवा रूप से दर्शन देती है। कहीं कान्ति, कहीं शोभा, कहीं समृद्धि, कहीं उन्नति आदि उनके रूपों में उसके दर्शन होते हैं। जो भगवान् को छोड़कर केवल लक्ष्मी को ही चाहते हैं उनकी ही आराधना करते हैं, वहाँ वे जाती तो हैं, किन्तु वे मन से जाती है पाने वाले को शान्ति न होकर उनसे अशान्ति ही होती है। वहाँ वे अपने प्रियतम का तिरस्कार देख कर अधिक टिकती भी नहीं। अतः जो अकेली लक्ष्मी पर मन चलावेंगे, उनकी ही अनुनय विनय करेंगे लक्ष्मी उनकी ओर देख तो देंगी किन्तु उनका वरण न करेंगी। क्योंकि वे स्वर्गीय सुरवधुओं की भाँति तो हैं नहीं, वे तो श्री हरि की अनन्या हैं। भगवान् को छोड़ कर वे कहीं अन्यत्र रह नहीं सकती। यद्यपि वे एक रूप से चंचला बनकर संसार में घूमती रहती हैं; किन्तु एक रूप से श्रीनिवास के चरणों में नित्य निवास करती हैं। जो उनके पति से प्यार करते हैं, उनके उन्हें अधीन रहना पड़ता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो श्री छाया की भाँति भगवान् के साथ रहती हैं, अबके मथने पर समुद्र से वे विष्णु वल्लभा श्री उत्पन्न हुईं।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! आप कहते हैं लक्ष्मी जी कभी श्रीहरि से पृथक् ही नहीं होती। वे छाया की भाँति सदा श्रीहरि के संग ही रहती हैं। फिर आप कह रहे हैं

वे समुद्र से उत्पन्न हुईं। हमने तो सुना था लक्ष्मीजी भृगु की पुत्री हैं। इसका क्या तात्पर्य ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! इसका उत्तर तो मैं पहिले ही दे चुका हूँ। लक्ष्मी जी तो भगवान् की नित्य सहचरी हैं, वे तो कभी भगवान् को पल भर को भी नहीं छोड़ती उनका उत्पन्न होना केवल उपचारमन्य है। जैसे प्रातः काल हम कहते हैं सूर्य उदय हो गया। आप ध्यान से सोचे, सूर्य का क्या उदय होना। सूर्य तो कभी अस्त होता ही नहीं वह तो सदा उदित ही रहते हैं। सुमेरु की छाया होने से हमें दिखाई नहीं देते तो हम कहने लगते हैं सूर्य अस्त हो गये। जब दिखाई देने लगते हैं, तो कह देते हैं उदय हो गये। इसी प्रकार लक्ष्मी जी हम संसारी लोगों की दृष्टि में कुछ काल के लिये अदृश्य सी हो जाती हैं, तो हम कहते हैं अब श्री नष्ट हो गई। फिर वे प्रकट होती हैं तो हम कहते हैं उत्पन्न हो गई। अनेक कल्पों में श्री अनेक स्थानों से उत्पन्न होती हैं। कभी वे भृगु के यहाँ भी पुत्री होकर प्रकट हुई थीं। कभी कमल से ही उत्पन्न हुई थीं। इसीलिये उनका नाम कमला पड़ा। कभी शिव की शक्ति उमा के अंश से उत्पन्न होती हैं और कभी समुद्र से भी उत्पन्न हो जाती हैं। उनका उत्पन्न होना एक क्रीड़ा मात्र है।" दुर्वासा के शाप से लक्ष्मी जी समुद्र में अदृश्य हो गई थीं। अजित भगवान को विवाह करना था। लक्ष्मी जी तो उनकी नित्य सहचरी हैं, उन्हें छोड़कर वे किसी अन्य से विवाह करना नहीं चाहते इसीलिये भगवान् ने अमृत का लोभ देकर देवता दैत्यों से समुद्र मथवाया। हाथी घोड़ा देकर दोनों को सन्तुष्ट कर दिया। अप्सराओं को तथा कल्पवृक्ष को सार्वजनिक पंचायती वस्तु बना दिया। कौस्तुभ मणि को स्वयं कह

सुनकर ले लिया। अब निकली लक्ष्मी जी। वे तो अपनी वस्तु ही थी इसलिये भगवान् कुछ भी नहीं बोले कि ये किन के भाग में आवेंगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब विद्युत् के समान अपने वस्त्राभूषणों की चमक दमक से दशों दिशाओं को अपनी अनुपम आभा से अनुरञ्जित करती हुई भगवती लक्ष्मी देवी निकली तो उनके दर्शन मात्र से ही सब के मन मुग्ध हो गये। सभी उन्हें अनुराग भरी दृष्टि से निहारने लगे। सभी उन्हें पाने को समुत्सुक हो गये। लक्ष्मी जी लजाती हुई अपने, रूप औदार्य; यौवन वर्ण महिमा से सबके मनको विमुग्ध बनाती हुई, विलास पूर्ण चितवन से निहारती हुई, मन्द मन्द मनोहर गति से चलकर सब लोगों के बीच में आकर खड़ी हो गई। उसको देखकर सभी हक्के बक्के से रह गये। सभी के मन खो गये सभी विमूढ़ बन गये। सभी ने चाहा यह हमें मिल जाय। परन्तु वे किसी की ओर ताकती ही नहीं थी। ब्राह्मणों ने व्यग्रता के साथ कहा—"अरे, तुम लोग देख क्या रहे हो। ये तीनों लोकों की स्वामिनी उत्पन्न हुई हैं इनका विधि विधान पूर्वक अभिषेक तो करो। अभिषेक करने पर ये जिसे वरण करलें वही इनका पति होगा।" यह सुनकर सभी को कुछ कुछ आशा हुई। किसी ने सोचा हमारा अपार ऐश्वर्य है, हमें लक्ष्मी जी अवश्य वरण कर लेंगी। किसी ने तप के प्रभाव सोचते हुए कहा—"हम महान् तपस्वी हैं। लक्ष्मी जी हमें छोड़ नहीं सकती।" इस प्रकार किसी ने तेज के सहारे, किसी ने तप, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, सौन्दर्य के सहारे लक्ष्मी जी को पानेकी आशा की। अब तो सभी कुछ न कुछ स्वागत सत्कार करके भेंट करने लगे कि संभव है लक्ष्मी जी की हमारे ही ऊपर कृपा हो

जाय इसलिये नाना उपायन भेंट करने लगे। सबसे पहिले इन्द्र ने अत्यन्त ही बहुमूल्य आसन उन्हें बैठने के लिये प्रदान किया तदनन्तर गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियाँ मूर्तिमति होकर आईं। उन्होंने सुवर्ण के कलशों में जल भर-कर अभिषेक के निमित्त लाकर उपस्थित किया। भूमि ने पवित्र औषधियों को लाकर समर्पित किया। गौओं ने दुग्ध, दही, घृत, गोमूत्र तथा गोबर पञ्चगव्य के लिये स्वयं लाकर दिया। बसन्त ऋतु ने जितने फल, फूल चैत्र, वैशाख में होते हैं, वे सब लाकर उपस्थित किये। जब सब सामग्री एकत्रित हो गई, तो वेदवादी ऋषियों ने विधि पूर्वक लक्ष्मी देवीजी का अभिषेक आरम्भ किया।

अहा! उस अभिषेकोल्लास का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है। वह तो दर्शनीय समारोह था। सभी लक्ष्मी जी के रूप, शील, यौवन, वर्ण सौन्दर्य हास विलास तथा सुन्दर स्वभाव से विमोहितसे किंकरों की भाँति काम कर रहे थे। सभी की इच्छा थी लक्ष्मी जी हमारी ओर कटाक्षपात कर दें। तनिक हमें अपने नेत्रों की ओर से निहार भर लें। अभिषेक के समय गन्धर्व, मंगल गीत गाने लगे। अप्सरायें हाव भाव दिखाकर सुमधुर नृत्य करने लगीं। आकाश स्थित मेघ गण मूर्तिमान होकर मृदङ्ग, पणव, मुरज, आनक, गोमुख, शङ्ख, घंटा घड़ियाल बांसुरी, वीणा तथा और भी विविध भाँति के बाजे बजाने लगे। चारों ओर से जय हो, 'जय हो' नमो नमः के सुन्दर शब्द सुनायी देने लगे। जय जयकारों से आकाश गूँज उठा। दशों दिशाओं के दिग्पालों ने अपनी अपनी सूँड़ों में सुवर्ण के कलशों को लेकर लक्ष्मी जी का अभिषेक किया। उस समय हाथ में क्रीड़ा कमल लिये कमला मंद

मन्द मुसकाती, कुछ कुछ लजाती सिर नीचा किये खड़ी थीं।

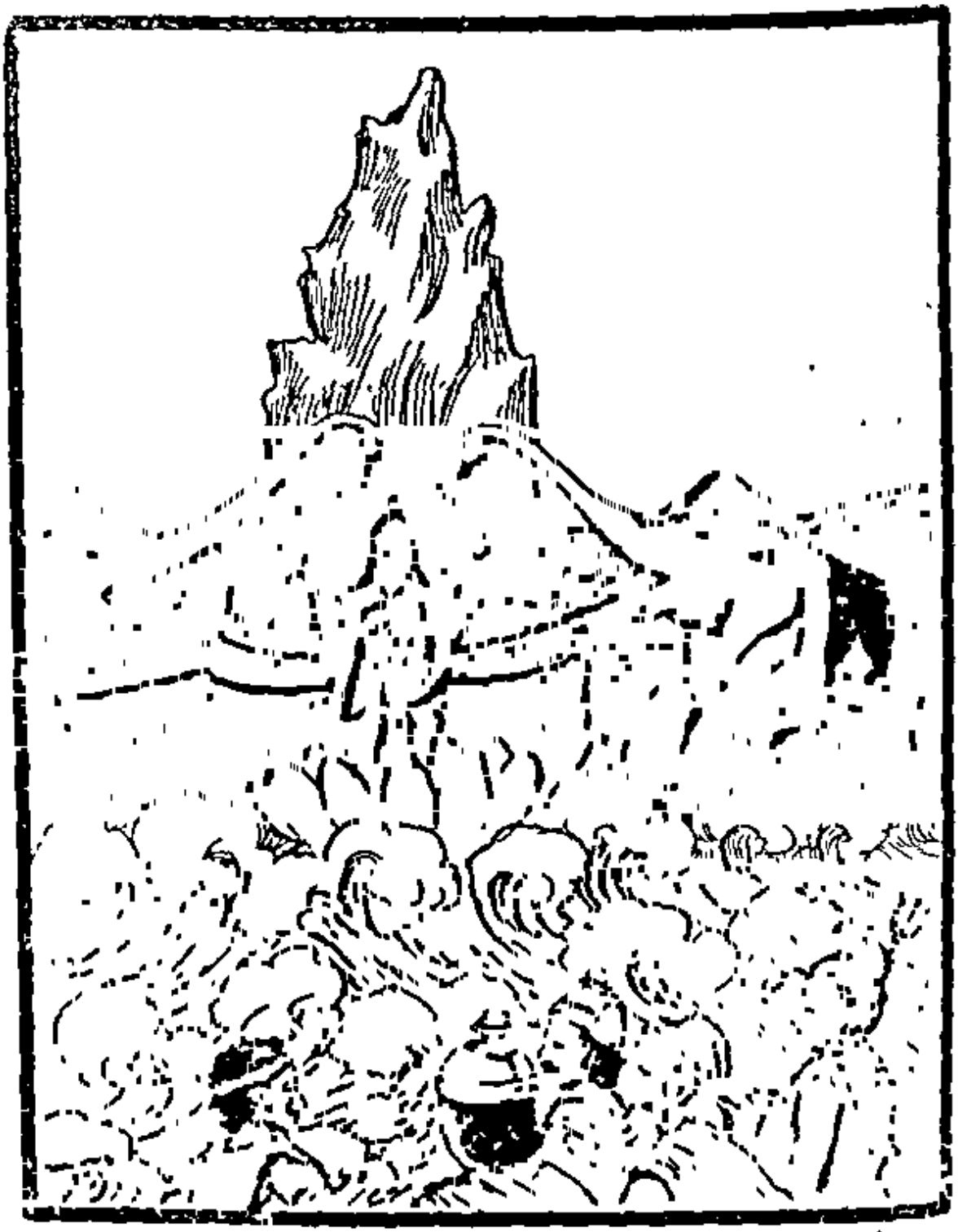

वेदज्ञ ब्राह्मण मधुर वाणी में सस्वर स्वतिवाचन पाठ कर

रहे थे। गायन, वाद्य और नृत्य के स्वर में वेद पाठ का स्वर मिलकर एक नवीन ही स्वर लहरी का निर्माण कर रहा था। पिता समुद्र ने अपनी प्यारी पुत्री को पहिनने के निमित्त प्रेम पूर्वक दो सुन्दर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र दिये। वरुण ने एक वैजयन्ती माला दी। जिसके मधु की गंध से मत्त हुए मधुकर माला के चारों ओर मँडरा रहे थे। विश्वकर्मा ने देखा कि और सब तो सामग्री हैं, किन्तु आभूषणों के बिना लक्ष्मीजी की शोभा नहीं। इसलिये वे भाँति-भाँति के अभूषण ले आये। अप्सराओं ने भगवती कमला देवी को वे सब अभूषण पहिना दिये। सरस्वती देवी ने देखा मेरी सहेली सजबज रही है, तो उन्होंने अत्यन्त प्यार मे एक दमदमाता हुआ हार ले जाकर उनके कंठ में पहिना दिया और बोली—"बहिन! इस हार से तुम्हारी शोभा नहीं बढ़ी, किन्तु तुम्हारे कमनीय कंठ में यह हार ही अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो गया। यह सुनकर मोती के समान स्वच्छ और छोटे छोटे दाँतों की छटा को बिखेरती हुई कमला रानी हँस पड़ी। ब्रह्मा जी तो कमलासन ही ठहरे कमल से ही उनकी उत्पत्ति है, कमल पर ही बैठते हैं, कमल ही उन्हें प्रिय है। अतः एक क्रीड़ाकमल लेकर बोले लें यह कमल खेलने को लेले। उस कमल को लेने से कमला यथार्थ में कमला हो गई। नागों ने दो कुण्डल लाकर दिये, जिनके पहिनने से उनके सुचिक्कण कपोल द्वय दमकने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब त्रैलोक्य सुन्दरी लक्ष्मी-जी अभिषेक के अनन्तर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो गई तो वे अब अपने योग्य पति की खोज के लिये हाथ में जयमाला लेकर उठीं।

छप्पय

स्वीकारे उपहार बाद्य बजहिँ मनोहर ।
हरषि बिप्रगन पढ़हिं बेद मंत्रनिकूँ सस्वर ॥
पितु पीताम्बर दयो पहिनकैं हरषी बाला ।
पहिनी वरुणप्रदत्त बृहद् बैजयन्ती माला ॥
वस्त्राभूषन पहिनकैं श्रीशोभा अनुपम भई ।
निज वर खोजन के निमित्त, जयमाला करमहँ लई ॥

होते हैं, उन्हें हम लोग गुणवान् कहते हैं और जिनमें अवगुण अधिक होते हैं उन्हें निर्गुण कहते हैं। वास्तव में तो जैसे कोई भी ऐसा अक्षर नहीं जो मंत्र न हो, कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जो किसी की औषधि न हो। इसी प्रकार कोई भी ऐसा पुरुष नहीं जिसमें कुछ न कुछ गुण न हों। यह दूसरी बात है, कि अवगुणों के कारण किसी के गुण प्रकट न होते हों या अधिक गुणों के कारण या स्नेह के कारण किसी में दोष दिखाई ही न देते हों, नहीं तो गुण दोष से रहित कोई भी नहीं है। केवल एक मात्र श्रीहरि ही सम्पूर्ण सद्गुणों के आश्रय हैं। ब्रह्म ही निर्दोष है। उन निर्दोष ब्रह्म को ही उनकी नित्य शक्ति लक्ष्मी भज सकती हैं। श्रीहरि के अतिरिक्त उनका और कोई पति हो ही नहीं सकता। ऐसी लक्ष्मीजी को मोह वश अपनी बनाना चाहते हैं उन पर सर्वथा अधिकार करना चाहते हैं, उन्हें अन्त में निराश होना पड़ता है। अतः शक्तिमान् के सहित उन्ही की शक्ति का मातृ भाव से चिन्तन करना चाहिये। इसी में सुख है, यही कल्याण का प्रशस्त पथ है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब लक्ष्मीदेवी वस्त्राभूषणों से भली-भाँति सुसज्जित हो गईं ब्राह्मणों ने विधिपूर्वक उनका स्वस्त्ययन करा दिया, तब वे बन ठनकर हाथ में अत्यन्त मनोहर गंधयुक्त कमल की विजय माल लेकर मंद-मंद गति से हंसिनी की भाँति अपने पादपद्मों की नूपुर की झंकार से उस सभा स्थल को झंकृत करते हुई आगे बढ़ीं। वे अपने प्राण पति जीवन सहचर को उस भीड़ में से चुनना और खोजना चाहती थीं। इधर तो पैरों में पड़े, कड़े, छड़े और नूपुरों की रुनझुन-रुनझुन ध्वनि हो रही थी, उधर कटि में लिपटी करधनी की क्षुद्र घंटिका में अपनी ताल नूपुर की ध्वनि के

साथ मिला रही थीं। करों के कंकण चूड़ियों के साथ झनकार कर रहे थे, साथ ही हाथ की मनोहर माला पर मंडराने वाले मतवाले मधुकर गुन-गुन गाते हुए गुञ्जार कर रहे थे। इधर वीणा पणव आदि मङ्गल वाद्य मधुर-मधुर स्वर में शनैः-शनैः बज रहे थे। इन सब शब्दों की ध्वनि से सभी की हृद्तंत्री के तार झंकृत हो रहे थे। सभी एकटक भाव से विलास गति से गमन करने वाली कमला के मनोहर मुख की ओर आशा भरी दृष्टि से निहार रहे थे। अहा! उस समय लक्ष्मी जी की शोभा कैसी अपूर्व थी। उनके कमनीय कानों मे नागों के दिये दो दिव्य कुण्डल उसी प्रकार हिल रहे थे मानों समुद्र से निकले चन्द्र पर दो मछलियाँ तिलमिला रही हों। चन्दन कुंकुमादि सुगन्धित दिव्य द्रव्यों से अनुरञ्जित, परस्पर में सटे उन्नत और पीन पयोधरों के भार से नमित तथा पृथुल श्रोणी के भार से मन्द मन्द गति से चलती हुई, उदर के कृश होने के कारण लचती हुई, वे सुवर्णलता के समान प्रतीत होती थीं। समुत्सुक इच्छुक व्यक्तियों के कर्ण कुहरों में अपने नूपुर की झंकार के साथ मादकता और मोहकता को छोड़ती हुई वे आगे बढ़ रही थीं। उनके चन्द्रमा के समान विकसित आनन पर हास था, अभिलाषा थी, इच्छा थी, लज्जा थी और थी सुन्दर मनोज्ञ सर्वगुण सम्पन्न वर की समुत्सुकता।

रमादेवी ने देखा सम्मुख सजे बजे सुर, असुर, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, ऋषि, मुनि, सिद्धचारण तथा अन्य भी विविध देव उपदेव बैठे हैं। उन सबमें से उन्हें अपने लिये एक वर चुनना था। सभी के हृदय में द्वन्द्व युद्ध हो रहा था, कोई भी अपने को छोटा मानने को उद्यत नहीं थ। कोई तप के कारण कोई ज्ञान के कारण, कोई महत्व के कारण, कोई ऐश्वर्य के

कारण, कोई धर्म के कारण, कोई शुभ कर्मों के कारण, कोई त्याग के कारण, कोई बल के कारण, कोई विरक्त के कारण तथा कोई दीर्घायु के कारण अपने को सर्वश्रेष्ठ समझते थे। लक्ष्मीजी जिधर भी जातीं उधर ही सब उचक उचक कर उन्हें अपना मुँह दिखाते अपना महत्व जताते। किन्तु कमला तो सर्वगुण सम्पन्न पति की इच्छुका थी। उन्हें साधारण पति से संतोष नहीं होने का, अतः वे सब में अपने मनोनुकूल पति खोजती हुई क्रीड़ा और विलास के साथ रंगभूमि में आगे बढ़ीं।

सबसे पहिले उन्होंने बड़ी-बड़ी जटा बढ़ाये तप से जाज्वल्यमान रूखे-रूखे चर्म वाले, घोर तपस्या में निरत दुर्वासा आदि मुनियों को देखा। जो अपने तप के प्रभाव से शाप अनुग्रह करने में समर्थ हैं, जो नई सृष्टि बना सकते हैं। नया ब्रह्मांड रच सकते हैं जिनके नाम से बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् थर-थर काँपते हैं उन परम तपस्वी मुनियों को बैठे देखा। लक्ष्मी जी ने एक दृष्टि उन पर डाली। सभी को आशा हुई कि सम्भव है रमा हमारे तप से रीझ जायँ, किन्तु रमा कोई काम भावुकता के आवेश में करने वाली तो थी ही नहीं! उन्होंने सोचा—"तपस्या अच्छी वस्तु है। तपस्या में बड़ी शक्ति है। तप से प्राणी जो चाहे सो कर सकता है, किन्तु प्रायः ऐसा देखा गया है, कि तपस्वियों में क्रोध बहुत होता है। मैं देखती हूँ तपस्वी तनिक-तनिक सी बात पर दारुण शाप दे देते हैं। अगस्त्य मुनि राजा इन्द्रद्युम्न के समीप गये, वह मौन होकर जप कर रहा था, उसे शाप दे दिया, तू हाथी हो जा। कोई देखकर हँस पड़ा उसे शाप दे दिया, राक्षस हो जा। दुर्वासा मुनि तो शाप देने में प्रसिद्ध हैं ही, इनके अतिरिक्त भी मैं किन्हीं

तपस्वी मुनि को नहीं देखती जिन्होंने शाप न दिया हो। एक बद्रिकाश्रम के दो मुनियों को छोड़कर। अतः इन क्रोधी पतियों से मेरी न पटेगी। इनके साथ मेरी पटरी न बैठेगी। क्रोधी पति से पत्नी प्रतिक्षण शंकित बनी रहती है, उसे दिन में भोजन अच्छा नहीं लगता। रात्रि में सुख नींद नहीं आती। भगवान् क्रोधी पति किसी भी स्त्री को न दें।" ऐसा सोच कर रमादेवी उनकी ओर से आखें मोड़कर आगे बढ़ गईं। तपस्वी निराश हो गये।

अब लक्ष्मी जी आगे बढ़ीं। आगे क्या देखती हैं, कि देवताओं के गुरु बृहस्पति जी, असुरों के गुरु शुक्राचार्य जी तथा और भी नीति शास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अन्यान्य शास्त्रों के ज्ञाता ब्रह्मवादी ज्ञानी मुनि बैठे हैं। सबको अभिमान था हम ज्ञानी हैं संसार में ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ हैं अतः लक्ष्मी जी हमें अवश्य वरण कर लेंगी। लक्ष्मी जी ने अपने घूँघट को तनिक सरकाकर तिरछी दृष्टि से उनकी ओर निहारा सबका हृदय हरा हो गया। कमला के कटाक्षपात से ही उनकी आशालता लहराने लगी; हरी भरी होकर हिलने लगी। लक्ष्मी जी ने सोचा—"ये लोग ज्ञानी तो बहुत हैं, किन्तु ज्ञान की शोभा है- निःसंगता। इन्हें यद्यपि वेदशास्त्रों का ज्ञान है, फिर भी ये अपने जिजमानों के अधीन बने रहते हैं उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। दान दक्षिणा के लिये उनके उचित अनुचित कार्यों में इन्हें साथ देना पड़ता है। वशिष्ठ जैसे ज्ञानी ने दूसरे से यज्ञ करा लेने के कारण कुपित होकर निमि को शाप दे दिया। बृहस्पति जी ने इन्द्र के कहने से अपने कुल परम्परा के जिजमान महाराज मरुत्त का परित्याग कर दिया। इस प्रकार इन ज्ञानियों में निःसंगता नहीं अतः इन हाँ में हाँ मिलाने वालों

मेरा क्या काम चलेगा। यह सोचकर वे और आगे बढ़ गईं। ज्ञानी मुनियों की ओर दुबारा उन्होंने फिरकर भी नहीं देखा।

आगे उन्होंने देखा बड़े-बड़े महत्वशाली प्रजापति बैठे हैं, लोकपितामह ब्रह्माजी बैठे है। विश्वामित्र पराशर, सौभरि आदि महामहिम प्रजाओं के जनक विराजमान हैं। लक्ष्मी देवी जी ने दृष्टि भर कर उनकी ओर देखा। वे सब सोचे बैठे थे लक्ष्मी जी हमें अवश्य वरण कर लेंगी। संसार में सर्वत्र महत्व का ही आदर है। महत्व की आकांक्षा प्राणीमात्र को रहती है। महत्वशाली से सम्बन्ध स्थापित करने में सभी अपना गौरव समझते हैं, किन्तु लक्ष्मी जी उनकी ओर देखकर भी उनमें अनुराग प्रदर्शित नहीं किया। उन्होंने सोचा—"यद्यपि ये सब बड़े महत्वशाली हैं, संसार में इन सबकी ख्याति है, किन्तु फिर भी इन्होंने काम को नहीं जीता। ब्रह्माजी का मन संध्या को देखकर चंचल हो गया। चन्द्रमा ने अपने महत्व के अभिमान में न करने योग्य कार्य कर डाला, विश्वामित्र जी ने नई सृष्टि तो बना दी, अपने तप के महत्व से वशिष्ठजी को वश में कर लिया, किन्तु काम पर विजय वे भी न पा सके, कोई भी पतिव्रता सती साध्वी कामी पति से प्रसन्न नहीं रह सकती। स्त्रियों के लिये इससे बढ़कर संसार में कोई दूसरा दुख है ही नहीं कि उनके पति का आचरण विशुद्ध न हो। कैसी भी स्त्री क्यों न हो वह सदा सदाचारी पति की इच्छा करेगी। यह सोच कर लक्ष्मीजी आगे बढ़ गईं।

आगे देखा इन्द्र हैं, कुबेर हैं, वरुण हैं, और भी नागलोक के ईश्वर, पाताल के, पृथ्वी के तथा अन्तरिक्ष के बहुत से अधिपति स्वामी बैठे हैं। उन्हें देखकर लक्ष्मी जी तनिक देर के लिये ठिठक गईं। लक्ष्मीजी को अपनी ओर निहारते देखकर

सभी के मन मुकुर खिल उठे, लक्ष्मीजी खड़ी-खड़ी सोचने लगीं—"यद्यपि ये अपने मन के पीछे इन्द्र लगाते हैं देवेन्द्र असुरेन्द्र, नरेन्द्र, राक्षसेन्द्र आदि किन्तु क्या वास्तव में ये इन्द्र-स्वामी-सामर्थ्यवान हैं। इन्द्र को ही सब असुर परास्त कर देते हैं, तो दीन होकर त्रिदेवों की शरण में जाते हैं उनके द्वार पर नाक रगड़ते हैं, रोते चिल्लाते हैं, ऐसे दूसरों के आश्रय में रहने वालों को अपना दुलहा बनाकर मैं क्या सुख पाऊँगी। स्त्री की इच्छा होती है, मेरे पति मेरे स्वामी तो हों ही और भी सभी उनकी आज्ञा मानें। जो स्वयं दूसरों के आश्रय में रहने वाला है, ऐसे पति से पत्नी को जैसे प्रसन्नता हो सकती है। पत्नी घर की ही स्वामिनी नहीं है अपने पति के हृदय की भी स्वामिनी है, यदि उसका पति परमुखापेक्षी है, दूसरों के अधीन उसकी जीविका है, दूसरों का दास है तो उस दास की स्वेच्छा से कौन स्वाभिमानिनी स्त्री पत्नी बनेगी।" यह सोचकर वे और आगे बढ़ीं।

आगे क्या देखती हैं, कि बड़े-बड़े धर्मात्मा, यज्ञ करने वाले, धर्म की रक्षा करने वाले परशुराम आदि बैठे हैं। लक्ष्मीजी ने उनकी ओर भी दृष्टि पात किया—"फिर सोचा, कि धर्म में ही आग्रह करने वालों को दया नहीं होती। कितने मूक प्राणियों को धर्म के नाम पर धर्मात्मा बलि चढ़ा देते हैं। परशुराम जी ने धर्म के ही नाम पर कितने क्षत्रियों का संहार कर डाला। धर्म की आड़ लेकर बहुत प्राणियों का वध किया जाता है। प्रायः देखा गया है, धर्म के नाम पर सौहार्द को तिलाञ्जलि दे दी जाती है, अतः सौहार्दहीन धर्मात्माओं से विवाह कर के स्त्री को क्या सुख मिल सकता है। जो पति पत्नी को प्यार न करे केवल सूखे धर्म में ही लगा रहे, ऐसे

पति को स्वयं, वरवर्णिनी कन्या कैसे वरण करेगी ?" यह सोच कर वे आगे बढ़ गईं।

आगे चल कर देखा बड़े बड़े त्यागी बैठे हैं। कोई कोई तो ऐसे त्यागी हैं जिन्होंने अपना राजपाट त्याग दिया है, बहुतों ने परोपकार के लिये प्राणों तक को भी समर्पित कर दिया। लक्ष्मीजी ने उनकी ओर भी देखा और सोचने लगीं—"त्याग यद्यपि बहुत ऊँची वस्तु है, त्याग से ही शाश्वती शांति प्राप्त हो सकती है, किन्तु प्रायः देखा जाता है, जो लोग अन्न, धन, वस्त्र, राज्य, पाट यहाँ तक कि प्राणों तक का भी त्याग करते हैं, वे केवल स्वर्ग की कामना से करते हैं। हमें इस कर्म से अक्षय स्वर्ग प्राप्त हो नृग ने स्वर्ग कामना से ही दान दिया। महाराज शिवि का त्याग भी स्वर्ग प्राप्ति के लिये ही था। जो त्याग मुक्ति का कारण नहीं वह सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता।" यह सोचकर वे और भी आगे बढ़ गईं।

आगे चल कर भगवती रमा देवी ने देखा बड़े बड़े बली बने ठने बैठे हैं, उन्हें अपने बल का बड़ा अभिमान है, वे आशा भरी दृष्टि से लक्ष्मीजी को निहार रहे हैं। लक्ष्मीजी ने उनकी ओर भी कटाक्षपात किया। लक्ष्मीजी के निहारते ही वे सब बल पौरुष को भूल गये, मंत्रमुग्ध की भाँति उनकी ओर देखते के देखते ही रह गये। लक्ष्मीजी ने सोचा—"यद्यपि बलवान् सर्वत्र विजयी होता है, सभी उससे भयभीत रहते हैं, बलवान् पति को पाकर पत्नी प्रसन्न होती है, वह अपने को सुरक्षित समझती है फिर भी समरशूर की पत्नी अपने सौभाग्य को स्थिर नहीं समझती। उसे सदा शंका ही बनी रहती है, कि समर में न जाने कब कोई श्रेष्ठ शूर आकर मेरे स्वामी को मार दे। रावण, हिरण्यकशिपु, कार्तवीर्य आदि आदि कितने

वाले महात्मा बैठे हैं। उन दीर्घजीवी ऋषियों को देखकर कमला कुछ हँसी और सोचने लगीं—"यह सत्य है, कि दीर्घ जीवन सभी चाहते हैं। ये मार्कंडेय मुनि कल्पजीवी हैं, लोमश ऋषि की आयु की थाह ही नहीं। एक ब्रह्मा के बदलने पर ये अपना एक लोम गिरा देते है, किन्तु ऐसे दीर्घजीवन से क्या लाभ ? इन बूढ़े लोगों मे स्त्रियों को प्रसन्न करने की शक्ति नहीं, इनका शील सरल और सानुराग नहीं। इनके साथ मङ्गल चाहने वाली महिलाओं का मन मङ्गलमय न हो सकेगा। आयु के दिन भार हो जायँगे। स्त्रियो का चित्त चंचल होता है, उन्हें गुम्म सुम्म पाषाण के पुतले के समान बिना हँसने खेलने वाला पुरुष प्रिय नहीं। इन बडी-बड़ी दाढ़ी जटावाले दीर्घजीवी जीवों के साथ मेरा निस्तार नहीं, निर्वाह नहीं।" यह सोचकर वे आगे बढ़ गईं।

आगे देखा जो दीर्घजीवी भी हैं और सरस प्रकृति के भी हैं, स्त्रियों में अनुराग भी रखते है किन्तु वे लोग लड़ाकू हैं। उन्हें युद्ध अत्यन्त प्रिय है। जो युद्ध के लिये सदा उधार खाये बैठा रहता हो, जिसे सबसे शत्रुता करने में आनन्द आता हो, उसे पति बनाकर अपने माँग सिदूर को संशय में कौन डालना चाहेंगी ? अतः ऐसे लोगों को भी छोड़कर कमला रानी आगे बढ़ीं।

आगे उन्होंने देखा दत्तात्रेय, भगवान भोलेनाथ तथा और भी अनेकों योगेश्वर विराजमान हैं। वे लोग दीर्घजीवी भी हैं, सरस प्रकृति के भी हैं अपनी प्रियाओं को प्यार करने वाले भी हैं किन्तु इन सब की रहन सहन विचित्र है कोई श्मशान में रहते हैं, कोई मुंडमाला पहिनते हैं, कोई कुत्तों के साथ घूमते है, कोई भूतों के साथ नाचते हैं, कोई खप्पर में

खाते हैं, कोई सुरा को चढ़ाते हैं, कोई चिता की भस्म लगाते हैं, कोई अशुचि वस्तुओं से अपने शरीर को सजाते हैं, ऐसे अघोरियों के साथ कमला रानी की इच्छा रहने की नहीं हुई। वे तो सात्विक प्रकृति की हैं, उनको तो पवित्रता शुचिता तथा स्वच्छता चाहिये। उन्हें ऐसा पुरुष चाहिये जिसमें तप भी हो, तेज भी हो, ओज भी हो, ज्ञान भी हो, वैराग्य भी हो। जो महत्वशाली भी हो, जितेंद्रिय भी हो, अजर भी हो, अमर भी हो, बली भी हो, योगी भी, सुन्दर भी हो सरस भी हो हँस मुख भी हो, मधुरभाषी भी हो, विश्व विजयी भी हो, पवित्र भी हो और अलंकार प्रिय भी हो सरांश यह कि सर्वगुण सम्पन्न हो, जो सदा बनाठना रहता हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा पति कहाँ मिले, इसी लिये कमला रानी आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देखने लगीं।"

छप्पय

सब सद्गुन सम्पन्न करै अन्वेषन निजवर।
तेज ओज तप युक्त होहि सुखर अजरामर॥
लखि सबके गुन दोष फिर पतिहित गजगामिनि।
नहिँ निरखे निरदोष चकित ह्वै चितवति भामिनि॥
आभा अतसी कुसुम सम, निरखे नयननंद हरि।
गुणसागर निरवद्य लखि, ठिठकी नीचे नयन करि।

—:o:—

श्री लक्ष्मी जी का नारायण को वरण।

(५२७)

एवं विस्मृश्याव्यभिचारिसद्गुणैः,
वरं निजैकाश्रयतागुणाश्रयम् ।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितम्,
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ८ अ० २३ श्लो० ।

छप्पय

निरगुन सब गुन युक्त सरस सुन्दर सुखसागर ।
सरल सलौने श्याम सनातन शोभा आकर ॥
मम अभीष्ट वर जिही विष्णु निश्चय करि जाने ।
रमा मुदित अति भईं पुरातन हित हहिचाने ॥
नव कमलनिकी माल पै, गूँजे बहु मधुकर निकर ।
करकमलनि तैं कंठ में डारि वरे श्री अजित बर ॥

जीव भटकता है प्यार के लिये। कहीं तप देखता है उधर ही आशा लगाता है, किन्तु तपस्वी किसके मीत हैं उन्हें तो स्वर्ग की इच्छा है, कहीं सुन्दरता देखकर मुग्ध हो जाता है, किन्तु कनक घट में भी भीतर विष भरा रहता है। कहीं महत्व यश प्रशंसा कीर्ति सुनकर उनके पास जाता है, किन्तु उनका आन्तरिक आचरण देखकर उनसे भी निराश हो जाता है।

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा विचार कर श्रीलक्ष्मी जी ने नित्य निर्दोष, सद्गुणों से सम्पन्न, समस्त प्राकृत गुणों से अतीत सम्पूर्ण दिव्य गुणों से अलंकृत अपने योग्य वर श्री मुकुन्द भगवान् को वरण कर लिया। यद्यपि वे श्री हरि उनकी ओर से निरपेक्ष से दिखाई दिये, फिर भी सर्वगुण समझकर स्वीकार लिये।"

कहीं कामिनी के सुमधुर हास्य से, उनकी तिरछी चितवन से, उनकी मधुमय वाणी से विमुग्ध होकर वहाँ आशा लगाता है, किन्तु जहाँ काम है वहाँ प्रेम कहाँ, तृप्ति कहाँ? वहाँ से भी उसे निराश होना पड़ता है। प्राणी प्रेम के बिना रह नहीं सकता। प्रेम होता है निर्दोष, निश्चल, प्रतिक्षण वर्धमान। जिसमें क्रोध, काम, संग, दीनता, रूक्षता, आसक्ति नीरसता अपवित्रता तथा चिंता आदि अवगुण हैं; वहाँ स्थाई प्रेम कहाँ? उनमें तो स्वार्थ का प्रेम है। गुणग्राही प्रेम है। जहाँ वे गुण नष्ट हुए तहाँ प्रेम भी शिथिल पड़ गया। इसलिये जीव सर्वत्र प्रेम खोजता है, घर में, परिवार में, जाति में, देश में सर्वत्र वह प्रेम की ही खोज करता है, किन्तु पाटल के साथ कंटक सर्वत्र दिखाई देते हैं। निर्दोष प्रेम कहीं देखता ही नहीं तब वह संसार से मुख मोड़ कर इन मरण धर्मा प्राणियों से प्रेम की आशा छोड़कर मृत्यु को भी मारने वाले मुकुन्द की शरण में जाता है, उन्हे पति रूप में वरण करता है, उन्हें अपना स्वामी बनाकर वह सदा के लिये सुखी हो जाता है। वही तो उसका पुरातन सनातन प्रेमास्पद है। उसे भूलकर इधर उधर ठोकर खाता है। अन्वेषण करता है, पुरुषार्थ करके साधन में तत्पर होता है अथवा, मार्ग, पन्थ, में प्रवृत्त होता है आगे बढ़ता है। बढ़ते-बढ़ते सबका यथार्थ मर्म समझते, सब दर्शनों से यथार्थ वस्तु की खोज करता है नेति-नेति से अन्वय करता है। जब उसे पा लेता है, तो उसके कंठ में हार ही नहीं डाल देता है उसके हृदय का हार बन जाता है उसे वरण कर लेता है, पुरातन सम्बन्ध समझ जाता है अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, कृतार्थ हो जाता है। यही स्वयंवर का रहस्य है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लक्ष्मी जी लजाती हुई स्वयं ही पति की खोज कर रही थीं। उन्होंने उतावली नहीं की। गंभीरता से विवेक-पूर्वक वे अन्वेषण में तत्तपर रहीं। सबके गुणों को भी देखा, किन्तु उन गुणों को दोषों से युक्त अनित्य समझ कर उन्होंने उनका आदर नहीं किया। पति का अन्वेषण पूर्ववत् चालू ही रखा। आगे जब वे ये नहीं, ये नहीं, ये भी नहीं, कहती-कहती आगे बढ़ीं तो सब से अन्त में उन्होंने बैठे हुए बनवारी को निहारा, वे छैल चिकनिया बने बैठे थे। उन्हें न उत्सुकता थी न इच्छा। वे हँसते हुए बैठे थे, वे बार-बार उचक-उचक कर लक्ष्मी की ओर देख भी नहीं रहे थे। वे समस्त ऐश्वर्य से सम्पन्न थे। सौन्दर्य के सागर नित्य सद्गुण सम्पन्न थे। उनका तप, क्रोध से रहित था बदरीवन में जब इन्द्र के कहने से काम, वसंत, मलयानिल तथा अप्सरायें उनके तप को भंग करने सब मिलकर उनके आश्रम पर आये तो उन्होंने क्रोध नहीं किया। हँसकर मुस्करा कर उनका स्वागत किया। वे तपस्या-तपस्या के निमित्त करते हैं। क्रोध करके तप का नाश करना वे जानते नहीं। वे ज्ञान के साकार स्वरूप हैं प्राणी मात्र से निःसङ्ग हैं। सब कुछ करते हुए भी सबसे पृथक् हैं। काम को उन्होंने विजित ही नहीं किया अपना पुत्र बना लिया। जो सगा पुत्र बन गया, उसे तो जीतने का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं वे किसी का आश्रय नहीं चाहते। विश्व उनके आश्रय में पल रहा है। प्राणि-मात्र के एक मात्र आश्रय वे अखिलेश अच्युत ही हैं। वे सर्व भूतों के सच्चे सनातन सुहृद हैं। सबको सगे सम्बन्धी से भी बढ़कर स्नेह करते हैं। मुक्ति उनकी दासी है, काल के भी काल हैं। वे इतने सरस हैं कि सरसता उन्हीं से शिक्षा पाती है,

उन्हीं की चेली बनकर संसार में शृंगार रस का प्रचार करती है। वे मङ्गल स्वरूप हैं। सत्व, रज तथा तम इन गुणों से सर्वथा निर्लिप्त होते हुए भी दिव्य गुणों के आकर हैं। अणिमादि सम्पूर्ण सिद्धियाँ तथा धर्म ज्ञान, वैराग्य आदि सम्पूर्ण दिव्य सद्गुण उनके किंकर हैं। ऐसे सर्वगुणाश्रय मुकुन्द को निहारकर रमा वहीं ठिठक गईं। मुकुन्द मन्द-मन्द मुस्कराये, किन्तु उत्सुकता तथा व्यग्रता प्रकट नहीं की। लक्ष्मीजी ने देखा, और तो इनमें सम्पूर्ण सद्गुण ही सद्गुण हैं। एक बात है, कि जितना मैं इन्हें चाहती हूँ उतना ही ये मुझे सम्भवतया नहीं चाहते। इनकी चेष्टा से निरपेक्षता प्रकट होती है। सो कोई बात भी नहीं। स्त्रियाँ ऐसे पुरुष से भी विशेष सन्तुष्ट नहीं होतीं जो उनका सदा क्रीड़ा मृग ही बना रहता है, उनके संकेत पर नाचता ही रहता हो, उनके सर्वथा अधीन होकर उनके तलवों को ही चाटता रहता हो। वे पति को स्वाभिमानी देखना चाहती हैं, जो अवसर पड़ने पर उनसे प्रेमकलह कर सकता हो और समय पड़ने पर मना भी सकता हो! इसलिये इनका मेरे प्रति निरपेक्ष भाव भी एक महान् गुण ही है। यह सब सोचकर उन्होंने मृणाल के सरिस अपने उतार चढ़ाव के बाहुओं को तनिक ऊँचा किया। जिसमें कंकण, चूड़ी और बाजूबन्द हिलकर खन-खन कर रहे थे उन बाहुओं से उस दिव्य कमल की जयमाला को, जिस पर मत्त मधुप गूँज रहे थे श्रीहरि के कमनीय कंठ में पहिना दी। उस माला को पहिन कर मुकुन्द उसी प्रकार शोभित हुए मानो नीलांजल पर टेसू के फूल फूल रहे हों अथवा बड़े भारी जलधर मेघ में इन्द्र धनुष लिपटा हुआ हो। श्रीहरि हँस रहे थे वे नेत्रों की कोर से नीचा सिर किये हुए कभी-कभी दृष्टि बचाकर रमा की ओर देख लेते थे। किन्तु रमादेवी निरन्तर उनके विशाल

वक्षस्थल की ओर एक टक भाव से निहार रही थीं। वे

विस्फूर्जित नयनों से लज्जा सहित मुस्कराती हुई मानव की मन-मोमक माधुरी का अपलक पान कर रही थीं। वे अब न हिलती

थीं न डुलती थीं पाषाण की सजीव प्रतिमा के समान निश्चल भाव से नटवर के सम्मुख खड़ी थीं।

भगवान् ने जब देखा रमा की समुत्सुकता पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी हैं। उनके हृदय सागर मे प्रेम का ज्वार भाटा उमड़ रहा है, वे स्नेह की लहरियो में स्वयं ही बहना चाहती हैं तो उन्होंने नेत्रों के संकेत से उन्हे अपने समीप बुलाया। लजाती हुई कुछ भयभीत सी हुई प्रेम के भाव में भावित हुई रमादेवी आगे बढ़ीं श्रीहरि ने देखा ये बार-बार मेरे विशाल वक्षःस्थल को निहार रही हैं। प्रतीत होता है इन्हें मेरा हृदय देश ही अत्यन्त प्रिय है, ये मेरे हृदय मे विराजमान कौस्तुभमणि को कुछ डाह की दृष्टि से देख रही हैं, तो लाओ इन्हे भी अपने हृदय का हार बना लूँ। वैजयन्ती माला और कौस्तुभमणि की सहेली बना लूँ। यहा सब सोचकर श्रीहरि ने लक्ष्मीजी को अपने हृदय का हार बना लिया, उन्हें अपनी छाती पर बिठा लिया। ऐसा उत्तम निवास स्थान पाकर लक्ष्मीजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा वे अपने सौभाग्य की सराहना करने लगीं। जब वे जगत् पिता के हृदय की स्वामिनी बन गईं तब तो जगन्माता हो गईं। अब किसका साहस जो उन्हें अन्य किसी भाव से देख सके। सभी उन्हें अपनी जननी, प्रसविनी, माता के रूप में देखने लगे। जगन्माता लक्ष्मीजी ने भी तीनों लोकों की अपनी संतानों को वात्सल्य दृष्टि से एक बार देखा। समीप में ही बैठे हुए इन्द्र, वरुण कुबेर, मय, वायु, अग्नि आदि लोकपालों को उन्होंने करुणामयी दृष्टि से निहार कर सब की श्री की वृद्धि की। तीन लोक जो निःश्री हो गये थे। लक्ष्मी देवी के पुनः प्राकट्य और श्री मुकुन्द के वरण करने से पुनः श्री सम्पन्न हो गये। उस समय गन्धर्व शंख, मृदंग, पणव, वीणा आदि बाजे बजाकर

"जय रमारमण गोविन्द" आदि जय घोष करने लगे। अप्सरायें नाचने लगीं, ऋषि, मुनि स्तुति करने लगे। सर्वत्र आनन्द छा गया, सुख की सरिता सी प्रवाहित होने लगी। आनन्द का समुद्र सा उमड़ने लगा। जय जयकारों के महान् शब्द से तीनों लोक भर गये। ब्रह्माण्ड के बाहर भी ध्वनि छा गई। ब्रह्मा, महादेव तथा अङ्गिरा आदि महर्षि पुष्पाञ्जलियों को समर्पित करते हुए वेद के मन्त्रों से लक्ष्मी सहित नारायण की स्तुति करने लगे।

देवता पुनः श्री सम्पन्न होकर हृष्ट-पुष्ट हो गये। दुर्वासा का शाप समाप्त हो गया। दैत्य, दानवों को आशा थी, लक्ष्मी हमारा वरण करेंगी। किन्तु उनकी आशा निराशा में परिणित हो गई। लक्ष्मीदेवीजी ने उनका तिरस्कार कर दिया। वे अपने सत्य सनातन प्राचीन पति के ही वक्षःस्थल में पुनः विराजमान हुईं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लक्ष्मीजी के निकलने पर और भगवान् अजित के वरण कर लेने पर समुद्र फिर से मथा जाने लगा।

छप्पय

हरि को वक्ष बिशाल निरखि श्री अति हरषाई
रमाभाव पहिचान विष्णु उर-माल बनाई॥
हरि हिय आसन मिल्यो जगन्माता पद पायो।
लखे जीव श्रीहीन कृपा करि तेज बढ़ायो॥
विधि, हर, सुर, मुनि, ऋषि सबहिं, मंत्र पढ़हिं बिनती करहिं।
नाचैं मिलि सुरसुन्दरी, बिबिध वाद्य बिधिवत बजहिं॥

धन्वन्तरि अवतार तथा अमृतोत्पति

अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः ।
स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः ॥
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् ॥*
(श्री भा० ८ स्क० ८ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

तब पुनि मथ्यो समुद्र बारुनी कन्या निकसी ।
हरि असुरनिकूँ दई पाइ तिनिकूँ सो हरसी ॥
घमर घमर सब मथैं भये पुनि पुरुष पुरातन ।
अमृत कलशकूँ लिये विष्णु के अंश सनातन ॥
सुन्दर सौभाग्य शरीर सुभ, देवनिकूँ देखे बिहँसि ।
मुखपै लटकैं लट मनहु, अहि शिशु पावैं सुधा शशि ॥

भगवान् की एक-एक लीला में अनेक-अनेक कारण छिपे रहते हैं। रोग सनातन हैं, इसी प्रकार रोगों की चिकित्सा भी सनातन है। रोग होते हैं पाप से। जब सृष्टि के आदि में कोई पाप ही नहीं करता था, तो रोग भी नहीं होते थे। जब आदि सत्युग का अन्त होने लगा, ध्यान के स्थान में यज्ञ का प्रचार होने लगा, तब मैं बड़ा तू छोटा ऐसे विषम विचार उत्पन्न हुए। राग

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! समुद्र से करों में कंकणादि से विभूषित साक्षात् विष्णु भगवान् के अंश से अवतीर्ण हाथ में अमृत का कलश लिए एक पुरुष प्रकट हुए। वे आयुर्वेद के प्रवर्तक हुए। यज्ञ भाग के अधिकारी हुए, उनका धन्वन्तरि ऐसा नाम संसार में हुआ।

द्वेष का बीज उत्पन्न हुआ दक्ष के यज्ञ से कलह हुई तभी रोगों की उत्पत्ति हुई। जब रोग हुए तो उनकी चिकित्सा करके आजीविका करने वाले वैद्य हुए।

आर्य शास्त्र में भाव को प्रधान माना गया है, जो आजीविका निकृष्ट है, उससे निर्वाह करने वाले निकृष्ट माने गये हैं। यद्यपि शव हस्त से दान लेने वाले महापात्र आचार्य ब्राह्मण हैं, किन्तु उनकी आजीविका अधम होने से वे अस्पर्श माने गये हैं। इसी प्रकार दुखी लोगों के दुख को दूर करना, रोग से व्याकुल जीवों को औषधि द्वारा निरोग करना यह महान् पुण्य का कार्य है किन्तु उससे धन लेकर आजीविका चलाना यह निकृष्ट कार्य है। अधम वृत्ति है। इसीलिये वैद्य विद्या को वेद वादियों ने अथमाधम कहा है। वैद्यों को यज्ञ में भाग नहीं मिलता था भगवान् तो भक्तवत्सल हैं अतः अब उन्होंने वैद्यावतार ही धारण किया, जिससे अमृत देखकर देवता स्वार्थवश वैद्यों को भी यज्ञ भाग देने लगे। संसार में चमत्कार को नमस्कार होता है। जिस पर कुछ है, उससे सम्बन्ध रखने में हम अपना गौरव समझते हैं, जिस पर कुछ है ही नहीं उससे बातें करना व्यर्थ समझते हैं, इसीलिये यह अवतार खाली हाथ नहीं निकला अमृत के कलश को हाथ में लिये हुए उत्पन्न हुआ।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब लक्ष्मी जी ने श्री मन्नारायण के कंठ में विजय माला पहिना दी और भगवान् ने भी प्रसन्नता पूर्वक उन्हें अपने हृदय का हार बनालिया तो देवता, असुर, लक्ष्मीजी से निराश से हो गये। उन सबने उन्हें मातृ-भाव से स्वीकार कर लिया।

समुद्र पुनः मथा जाने लगा। अब के कुछ ही काल में मद से विघूर्ण नेत्र वाली, अलसाती इठलाती मदमाती एक अत्यन्त

सुन्दरी वारुणी नामक कन्या उत्पन्न हुई। सब उसे देखकर मतवाले से हो गये सभी अनुराग भरी दृष्टि से देखने लगे! भगवान् ने सोचा—"इसे देवताओं ने ले लिया, ये सदा वारुणी के मद में चूर बने रहेंगे, मुझे भूल ही जायँगे! अतः वे पहिले से ही बोले—"भाई, यह तो असुरों के भाग की वस्तु है। हम अन्याय नहीं करना चाहते।"

असुरों ने हर्षोल्लास के स्वर में शीघ्रता से एक साथ ही कहा—"हाँ, हाँ यह हमारे ही भाग की तो हैं, हम इसे अवश्य ग्रहण करेंगे।" यह कह कर उन सब असुरों ने श्रीहरि की सम्मति से वारुणी देवी को लिया। भगवान की सम्मति के सन्मुख सुरों ने विरोध प्रकट नहीं किया वह भी इस बात से सहमत हो गये।

समुद्र का मथना फिर भी बन्द नहीं हुआ। अमृत निकालने का संकल्प अभी पूरा नहीं हुआ था जब तक अमृत न निकले तब तक परिश्रम करते रहना यही पुरुषार्थ है। जो नियम पूर्वक धैर्य के साथ विघ्नों सामना करते हुए अव्यग्र भाव से अपने कार्य में लगा रहता है, उसे एक दिन अवश्य ही सफलता प्राप्त होती है। यही सब सोचकर देवता असुर दोनों ही दुगुने उत्साह से समुद्र मथते ही रहे। अबके उनका परिश्रम सफल हुआ। समुद्र में से साक्षात् विष्णु भगवान् के अंशावतार धन्वन्तरि भगवान प्रकट हुए।

उनकी भुजाएँ स्थूल लम्बी और उतार चढ़ाव की सुन्दर तथा मनोहर थीं। शंख के समान कमनीय कण्ठ था। विकसित कमल के सदृश उनके दीर्घायत अरुण विशाल नेत्र थे। उनका शरीर सुन्दर सुचिक्कण तथा श्यामवर्ण का था। चढ़ती हुई नवीन तरुण अवस्था थी! गले मे अम्लान पुरुषों की घुटनों तक लटकने

वाली सुगन्धित वृहद्माला धारण किये हुए थे। अङ्ग प्रत्यंगों में तत् तत् स्थानीय अमूल्य आभूषण धारण किये हुए थे। उनके शोभायुक्त सुन्दर शरीर पर पीतवर्ण का महीन रेशमी वस्त्र झलमल झलमल करके शोभित हो रहा था तथा वायु में इधर-उधर उड़कर अपना बाल सुलभ चापल्य प्रदर्शित कर रहा था। विशाल वक्षःस्थल पर मणिमय हार विद्युत् प्रभा के सदृश दमदम दमक रहा था। कानों में अत्यन्त स्वच्छ आभा युक्त मणिमय कुन्डल हिल रहे थे, चमक रहे थे, शोभित हो रहे थे। उनकी काली काली घुँघराली सुगन्धित द्रव्यों से पोसी पाली, अलकावली, हिल हिल कर अपनी कुटिलता मे से भी आभा को बखेर रही थीं। जो दर्शकों के नयनों को तृप्ति प्रदान करने वाले अत्यन्त ही आकर्षक और मनोहर थे। ऐसे धन्वन्तरिजी अपने आंगुलीय कंकणादि से विभूषित हाथ में सुवर्ण पूर्ण कलश लिये हुए बाहर निकले।

श्रीसुक कहते हैं—"राजन्! इस समुद्र मन्थन लीला में एक साथ भगवान् ने जितने अवतार धारण किये, उतने संभवतया किसी भी लीला में नहीं धारण किये। ये धन्वन्तरि भगवान् भी साक्षात् श्रीहरि के अंशावतार ही थे। भगवान् के २४ अवतारों में धन्वन्तरि भगवान की भी गणना है। उन्होंने ही पृथिवी पर आयुर्वेद विद्या का प्रचार किया। जिससे आयु सुरक्षित रहती है, उसकी वृद्धि होती है और अकाल मृत्युओं से बचाती है। ये भगवान् आयुर्वेद के आदि आचार्य माने गये हैं। इनके नाम संकीर्तन से सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं। ये हाथ में अमृत कलश लिये हुए ही उत्पन्न हुए।

धन्वन्तरि भगवान् को हाथ में अमृत का कलश लिये हुए देखकर सभी हर्ष के कारण नृत्य करने लगे। सभी के मुख कमल

अमृत रूप रवि के दर्शन मात्र से खिल उठे। सभी ने तुरन्त वासुकि को छोड़ दिया। समुद्र मन्थन का कार्य समाप्त हो गया। आशा भरी दृष्टि से उस अमृत पूर्ण कलश की ओर निहारने लगे। उसे लेने, उसका स्वाद चखने को सभी व्यग्र हो उठे। जो वस्तु जितनी ही प्रतीक्षा से, जितनी विघ्न बाधाओं के अनन्तर कष्ट से, उत्पन्न होती है, उसके लिये उतनी ही अधिक उत्सुकता बढ़ती हैं। ऐसे समय किसी बिरले को ही धैर्य रहता है जो अजितेन्द्रिय हैं, जिन्होंने साधन द्वारा अपनी इन्द्रियों को संयमित नहीं किया है, वे ऐसे समय अपने कर्तव्य और धैर्य से विचलित हो जाते हैं। अमृत को देखकर सबके मन में लोभ आ गया। सभी कर्तव्य को तिलाञ्जलि देकर अपने ही स्वार्थ की बात सोचने लगे। सभी अमृत को अकेला ही पी जाने का प्रयत्न करने लगे। इसीलिये उत्पन्न होते ही अमृत के लिये छीना झपटी आरम्भ हो गई।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अमृत से भरे हुए कलश को देखकर सभी वस्तुओं पर पहिले से ही मन चलाने वाले असुरों ने उसे छीन लेने का प्रयत्न किया।"

छप्पय

धन्वन्तरि भगवान् भये भक्तनि सुखदाई।
कुंडल मंडित करन हृदय बनमाल सुहाई॥
हरषे दानव दैत्य कौरिकै देखैं पुनि पुनि।
गुन गावैं गन्धर्व पढ़ैं मन्त्रनिकूँ ऋषि मुनि॥
अजितेन्द्रिय अति ई असुर, अमृत निरखि व्याकुल भये।
आव गिन्यो नहिं ताव कछु, छीन अमृतकूँ भगि गये॥

अमृत के लिये असुरों में परस्पर कलह।

(५२९)

मिथः कलिरभूत्तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ८ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

देवनिके मुख फक्क परे अतिशय घबराये।
कहि कहि सुन्दर बचन अजित सब विधि समझाये॥
ठगिके छीनूँ अमृत अन्तमहँ सींग दिखाऊँ।
चिन्ता कछु मति करो पेट भर तुम्हें पिलाऊँ॥
सुरनि सान्त्वना दई पुनि, अन्तरहित श्रीहरि भये।
मैं पीऊँ तू पिये कस, असुर अमृत हित लड़ि गये॥

अधर्म से-पाशविक बल-से जो सम्पति प्राप्ति होती है, उसे प्राप्त करते समय ही क्षणिक सुख होता है, परिणाम उसका दुखद ही होता है। यदि अधर्म से उत्पन्न धन से किसी की समृद्धि

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब असुर अमृत कलश को छीन ले गये तो फिर उन अमृत लोलुप दैत्यों में ही परस्पर कलह होने लगी। कोई कहता मैं पहिले पीऊँगा? दूसरा कहता? नहीं मैं पीऊँगा। इस प्रकार से उनमें कलह होने लगी।

होती, तो तभी चोर श्रीमान् हो जाते। बहुत से राजकर्मचारी जो अभियोग होने पर नित्य ही प्रजा से बहुत सा धन अनुचित रूप से ले लेते हैं, यदि वह सुकृत में लगता, तो वे सबके सब धनी हो जाते। किन्तु प्रायः देखा गया है, इस प्रकार अधर्म तथा अन्याय से धन लेने वालों का पेट भी नहीं भरता। उनका वंश नहीं चलता। जिस प्रकार से धन आता है, उसी प्रकार से चला जाता है। इस विषय में एक गाथा है। किसी वेश्या को वृद्धावस्था में धरम करम करने की सूझी। उसने सोचा—"पितृपक्ष में श्राद्ध करने का बड़ा पुण्य है, मैं भी श्राद्ध करूँ। धनका तो कुछ कमी थी ही नहीं। उसने ब्राह्मणों से अपना विचार कहा। तब तक वर्तमान समय की भाँति घोर कलियुग नहीं आया था। वेश्या का धन लेना किसी ब्राह्मण ने स्वीकार नहीं किया। यह बात किसी बूढ़े भाँड़ को मालूम पड़ी। वह तिलक छापे लगा कर ब्राह्मण का वेष बनाकर वेश्या के समीप आया और बोला—"बाईजी! आशीर्वाद!"

बाईजी ने उठकर उन बूढ़े कपट वेषधारी ब्राह्मण का स्वागत किया और बोली—"पंडितजी! आप भले आये मुझे कनागत में नित्य एक बामन जिमाना है।"

बूढ़ा भाँड़ बोला—"अब बाई जी! क्या बतावें आप लोगों का धन इतना निकृष्ट है, कि कोई भला ब्राह्मण क्यों लेने लगा। किन्तु फिर भी तुम लोगों का भी उद्धार तो कैसे भी हो। अस्तु मैं सूखा सीधा लिया करूँगा।" वेश्या ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। नित्य ही माल घुटने लगे। खीर खांड का भोग लगने लगा। एक सुवर्ण मुद्रा वह नित्य दक्षिणा देती। इस प्रकार १६ दिन बड़ा आनन्द रहा। अंत में वेश्या ने भी

महाराज के चरणों को धोकर चरणामृत लिया, वस्त्र धन आदि "दान दिये और हाथ जोड़कर बोली, महाराज, कुछ आशीर्वाद दो।"

भाँड़ ने सब वस्तुओं की पोटली बाँधकर रख ली और बोले—

सोलहू कनागत बीत गये, खाई खीर औ खाँड़।
पौं को धन पौं ही गयो, तुम वेश्या हम भाँड़॥

यह कहकर वह चलता बना। सारांश यह है कि जैसा धन आता है वैसे ही काम में व्यय होता है। दूसरों के साथ विश्वासघात करके बलपूर्वक जो धन छीन लेते हैं वे प्रायः उसका उपभोग नहीं कर सकते।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवताओं ने परिश्रम तो बहुत किया, भगवान् की आज्ञा मानकर संतोष भी करते रहे, किसी वस्तु पर मन भी नहीं चलाया दैत्यों से सर्वदा दबते रहे। दैत्य उनसे बली थे, इन्हें केवल अजित भगवान् का भरोसा था। उन्हीं भगवान् के भरोसे पर उन्होंने पुरुषार्थ किया परिश्रम से अमृत निकाला। किन्तु यह सनातन से चला आ रहा है, कि छोटे लोग वस्तुओं को परिश्रम करके पैदा करते हैं उसका उपभोग करते हैं बली लोग; क्योंकि दोनों ही भगवान् पर विश्वास नहीं रखने। निर्बल धर्म को बली अधर्म दबा लेता है यदि भगवान् पर विश्वास रखकर पुरुषार्थ किया जाय, तो निर्बल होने पर भी उसका सुमधुर फल उन्हें ही प्राप्त होगा, बली मुँह ताकते के ताकते ही रह जायँगे। कुछ काल को अन्यायी बली प्रसन्न भले ही हो लें अन्त में उन्हें रिक्तहस्त ही रहना पड़ेगा।

श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—राजन्! असुर तो अत्यन्त लोलुप थे ही। वे तो समुद्र से जो भी वस्तु निकलती उसे ही लेना चाहते

थे। भगवान् के बीच में पड़ जाने से वे और देवताओं के सब सह लेने से वे अब तक साथ देते रहते। लड़ाई झगड़ा न कर सके। किन्तु अब ज्यों ही उन्होंने अमृत के कलश को धन्वन्तरि जी के हाथ में देखा, त्यों ही सहसा उसके ऊपर टूट पड़े और न आव-गिना न ताव अत्यन्त शीघ्रता से धन्वन्तरि भगवान् के हाथ से अमृत छीन कर ये गये वे गये। क्षण भर में माल मित्रों का हो गया। देवता टुम्म टुम्म देखते के देखते ही रह गये। दैत्य हाथ मार ले गये। माल मसाले को लेकर चम्पत हुए।

देवताओं के मुख काले पड़ गये। वे अत्यन्त ही दुखी हुए। एक दूसरे को धिक्कारने लगे। कोई कहता 'तुम्हारी ही असा-वधानी से ऐसा हुआ, कोई 'कहता हमें पहिले से ही सावधान रहना था। कोई कहता 'सब किया कराया चौपट हो गया। सब गुड़गोबर हो गया। वे अत्यन्त दीन होकर मलिन मुख से श्री हरि की शरण गये। हारे के हरि भगवान्।

दीनदयाल दामोदर को देवताओं की दीनदशा पर दया आई और वे उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—"अरे, देवताओं। इतने से ही घबरा गये। भैया! चिन्ता की कोई बात नहीं। तुम मेरे ऊपर विश्वास करो। देखो, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ तुम्हें अमृत पिलाऊँगा और अवश्य पिलाऊँगा। अपनी माया से मायावी दैत्यों को मोह में डाल कर उनके किये कुकृत्य का फल चखाऊँगा। अमृत को उनसे छीन कर तुम्हें दिखलाऊँगा, भर पेट पिलाऊँगा और उन्हे अन्त में उल्लू बनाकर सींग दिखाऊँगा।

भगवान् के ऐसे आश्वासन को पाकर देवताओं का दुःख दूर हुआ वे भगवान् के वचनों पर विश्वास करके निश्चिन्त हो गये। इधर असुर अमृत को लेकर भाग गये। समस्त असुर उनके पीछे

पीछे गये। देवता गुम्म सुम्म वहाँ के वहीं भगवान् के भरोसे पर बैठे रहे।

दैत्यों में भी कुछ बली थे कुछ निर्बल। कुछ छोटे थे कुछ मोटे, कुछ अच्छे थे कुछ खोटे। कुछ सीधे थे कुछ टेढ़े। जिसके मन में कपट है वह सभी से कपट करता है। सगे भाई को भी ठगना चाहता है, पिता के जीते जी उसके द्रव्य पर अधिकार जमाना चाहता है असुरों में जो बली थे वे कहने लगे—"पहिले हम पीवेंगे हमसे जो बचे वह और पीवें।" दूसरे बोले—"यह कैसे हो सकता है। तुम्हारे सोने के पंख लगे हैं। पहिले हम पीवेंगे।" कुछ बोले—"भाई, हम तुम क्यों करते हो सबको बराबर बाँट दो।"

अब जो वैसे तो निर्बल थे। किन्तु बात बनाने में चतुर थे, ऐसे लोगों ने सोचा हमें तो ये लोग देंगे नहीं। तो वे लोग धर्म का सहारा लेने लगे। स्वार्थी लोग जब देखते हैं यहाँ हमारी वैसे दाल न गलेगी तो बहुमत का जनता का सहारा लेकर धर्म की आड़ लेकर उस प्रश्न को धार्मिक सार्वजनिक रूप दे देना चहते हैं। ऐसे ही कुछ दुर्बल असुर जनता के धर्म के प्रतिनिधि होकर डाह और स्वार्थवश होकर बोले—"भाई, देखो! हम धर्म की बात कहते हैं, देवता और दैत्य सभी ने समान परिश्रम किया है। न्याय यही कहता है, सबको समान भाग मिलना चाहिये। यह नहीं कि बली सबको पी जायँ, निर्बल देखते के देखते ही रह जायँ। अन्याय मत करो, अधर्म का आश्रय मत लो, लोक परलोक का विचार करो। जहाँ धर्म है वहीं विजय है, जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी भी रक्षा करता है। अतः धर्म की रक्षा करने से तुम्हारा कल्याण होगा "बोल दो सनातन धर्म की जय।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वे असुर इस प्रकार अमृत

के लिये परस्पर में वाद विवाद कर रहे थे। दूर से ही उन्हें छम्म छम्म की ध्वनि सुनाई दी उस ध्वनि में ऐसा आकर्षण था, कि असुर अमृत को भुलकर उसी ओर देखने लगे।"

छप्पय

असुरनि मोहन हेतु मोहिनी बने मुरारी।
पँचरँग चूनरि ओढ़ि नासिका महँ नाथ धारी॥
लहँगा धारीदार हरी-सी पहिनी चोली।
करि सोलह सिंगार नारि सम बोलैं बोली॥
नील कमल सम श्याम रँग, अँग अँग महँ यौवन उठनि।
हंसगमनि अनुपम हँसनि, लीलायुत चितवनि चलनि॥

मोहिनी अवतार

(५३०)

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुःसर्वोपायविदीश्वरः ।
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥
प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम् ।
समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम् ॥❀

(श्री० भा० ८ स्क० ८ अ० ४१-४२ श्लो०)

छप्पय

कारे कुंचित केश भालपै बेंदी मनहर ।
नयन, नासिका गंड अङ्ग सब अतिशय सुन्दर ॥
वस्त्राभूषन धारि चली यौवन मदमाती ।
कंदुक क्रीड़ा करति फिरति इत उत अलसाती ॥
सुन्दरता साकार है, शोभा भई सजीव मनु ।
असुर मृगानिकूँ फाँसिबे, व्याधिनि बिहँसति चली जनु ॥

विरागियों को विरक्ति वश में कर सकती है, धन लोलुप धन के द्वारा अपनाये जा सकते हैं। मानी सम्मान के द्वारा

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उसी समय सभी उपायों के जानने वाले विष्णु भगवान् ने एक परम अद्भुत अनिर्वचनीय स्त्री का रूप धारण किया। वह नील कमल के समान सर्वाङ्ग सुन्दर स्वरूप था। सभी इन्द्रियाँ समान थीं और तत् तत् स्थानों के आभरण भी समान थे। सुन्दर कपोल और उन्नत नासिक से युक्त आनन था।"

पक्ष में लाये जा सकते हैं और कामी कामिनियों के द्वारा दास बनाये जा सकते हैं। जो जिसे चाहता है, जिसके ऊपर लट्टू है, वह उसके फंदे में फँसकर सब कुछ कर सकता है। संसार में प्रियता अपेक्षा कृत है। साधारणतया जिनसे हमारा द्वेष नहीं जिनमें जितना ही अधिक आकर्षण होता है, वे उतने ही अधिक प्रिय समझे जाते हैं। जिनके प्रति अत्यधिक आकर्षण हो जाता है, उनके ऊपर सर्वस्व निछावर कर दिया जाता है, उनके लिये कोई भी वस्तु अदेय नहीं। बरसात में पतिंगे दीप की ज्योति से आकर्षित होकर उसके ऊपर टूट पड़ते हैं, अन्त में अपना सर्वस्व गँवाकर प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं। संसार में रूपाकर्षण न हो, तो यह संसार चक्र ही न चले। परस्पर के आकर्षण से ही यह सृष्टि क्रम चल रहा है। जब जीव धर्म को त्याग कर अनुचित आकर्षण में फँस जाता है, तभी वह ठगा जाता है। तभी लुट जाता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! अमृत के छिन जाने पर जब देवता दुखी हुए, तो दुखियों के दुख को दूर करने वाले दीनदयाल उनसे बोले—"देखो, तुम निराश न हो। मेरी शरण में जो आ जाता है, उसे फिर निराश नहीं होना पड़ता। मैं तुम्हें यथेष्ट अमृत पिलाऊँगा।"

देवताओं ने निराशा के स्वर में कहा—"अजी, महाराज! अब क्या पिलाओगे। अब तो वे दुष्ट दैत्य छीन ले गये। वह उसे रखेंगे थोड़े ही, जाते ही चढ़ा जायँगे। यदि अब उनसे युद्ध करें झगड़ा कर, बलपूर्वक पीने से रोक दें, तो न स्वयं पावेंगे न हमें पीने देंगे। मिट्टी में फेंक देंगे पानी में उड़ेल देंगे। अब तो उनके हाथ से लेने का कोई उपाय ही नहीं दिखाई देता।"

यह सुनकर भगवान हँसे और बोले—"अरे, देवताओं! तुम लोगों को मेरे ऊपर विश्वास नहीं ? तुम सब मन्दराचल को नहीं उठा सके, उस समय मैं उसे कैसे लीला से ले आया। जिस समय तुम मथने से निराश हो गये थे, उस समय स्वयं मैंने मथकर तुम्हें कितना सहारा दिया, जब तुम्हारा मन्दर जल में घुसा जा रहा था, उस समय कछुआ बनकर मैंने उसे किस प्रकार अपनी पीठ पर धारण किया। उपाय तो मैं जानता हूँ। तुम देखना दैत्य न तो अमृत को पी ही सकेंगे, न फेंकेंगे ही। प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छा से वे मुझे अमृत कलश दे देंगे। ऐसा उपाय रचूँगा, कि न साँप मरे न लाठी टूटे। देखना यह मेरी चातुरी।"

देवताओं ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज! आप सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर श्री हरि अन्तरहित हो गये। सब मायाओं के विशारद नटनागर ने इस बार ऐसी लीला रची कि देवों की तो बात ही क्या देवों के भी देव महादेव उस लीला को देखकर चक्कर में आ गये, वे भी उसके रहस्य समझने में तनिक देर के लिये विमोहित हो गये।

अमृत के लिये असुर परस्पर कलह कर रहे थे, उस अमर होने वाली औषधि के लोभ से स्वाभाविक सौहार्द को तिलाञ्जलि देकर वे दस्युधर्म में प्रवृत्त होकर अमृत पात्र की छीना झपटी में लगे हुए थे। उसी समय छम्म छम्म की ध्वनि सुनकर उनके कान खड़े हुए। जैसे बच्चा किसी बच्चे से झगड़ा कर रहा हो, रो रहा हो उसी समय उसे मिठाई या

सुन्दर चमकीली कोई खेलने की वस्तु दिखा दो, तो रोने को छोड़कर वह उसी में अनुरक्त हो जाता है उसी प्रकार असुर लड़ना भूलकर उस ध्वनि का अन्वेषण करने लगे। इतने में ही वे क्या देखते हैं, कि सामने से एक षोडशवर्षीय श्यामा अपनी आभा से दशों दिशाओं को देदीप्यमान करती हुई चली आ रही है उसका रूप सौन्दर्य अद्भुत अनिर्वचनीय तथा अनुपम है। नील कमल के समान उसका सुन्दर श्याम सुचिक्कण सुकोमल स्वरूप है। सौन्दर्य उसके अङ्ग प्रत्यंग से फूट फूट कर निकल रहा है। उसके कर्णों के कुंडल तनिक, उन्नत लोल गोल कपोलों की आभा को अधिकाधिक आकर्षक बना रहे हैं, मनोहर मुखपर नुकीली नासिका शुक तुन्ड को भी तिरस्कृत कर रही है अर्धोन्मीलित कमल समान मनोहर मुख पर मन्द मन्द हास्य छिटक रहा है, उसमें मादक दिव्य गन्ध निकल कर दशों दिशाओं को सुवासित कर रही है। उस गन्ध और मकरन्द के लोलुपमत्त मधुप कमल के भ्रम से उसके आनन के चारों ओर मड़रा रहे हैं। यौवन के उठान के कारण उसके आनन का सौन्दर्य निखर गया था जिस पर स्वाभाविक अल्हड़पन, नैसर्गिक भोलापन और स्त्री सुलभ चांचल्य सब साथ ही क्रीड़ा कर रहे थे। क्रीड़ा और लीला के साथ मुख पर आये हुए मधुकरों को उड़ाती, करके कंकणों और आभूषणों को खनकाती, वायु में बिखरे वस्त्रों को सम्हालती हुई, वह मंद मंद गति से असुरों की ही ओर आ रही थी। एक क्रीड़ा कंदुक उसके कमनीय करों में था, दो कठोर कंदुक उसने अपनी कंचुकी में छिपा रखे थे। उदर के कृश होने के कारण वह चलते चलते सुवर्णलता के समान लच जाती। नितंबों के भार के कारण उसके पादतल बालू में धँस जाते, उन्हें उठाते समय

उसके मुखपर श्रमयुक्त सिकुड़न पड़ने से स्वेदकण नन्हें नन्हें मोतियों के समान चमकने लगते। सर्पिणी के समान पृष्ठ देश में पड़ी उसकी वेंणी वायु वेग से तथा गमन के श्रम के कारण कुटिलता पूर्वक हिल रही थी। उसमें गुथे हुए मालती मल्लिका के कुसुम कुम्हिला कुम्हिला कर कहीं कहीं गिर रहे थे। कण्ठ में पड़ी मणियों और रत्नों की मालायें, वक्षःस्थल के स्पर्श से चंचल सी हो रही थीं। मृणाल के सदृश अत्यन्त कोमल विशाल भुजाओं में कंकण, बाजूबन्द अंगद आदि भूषण विभूषित हो रहे थे जिससे वह शब्दायमान सी प्रतीत होती थी। निमल वस्त्र से वेष्टित नितम्बद्वय के ऊपर सुवर्णमयी कर्धनी विद्युत् के समान चमक रही थी और मंजीर सदृश शब्द कर रही थी। जंघन और उरुओं के बोझ से आरक्त पादद्वय नूपूर की झन्कार सहित शनैः शनैः क्रम से उठ और बैठ से रहे थे।

उस सबला अबला का सलज्जमुस्कान के कारण चलायमान तथा भ्रूभङ्गी से कटाक्षपात करता हुआ अति अद्भुत रूप दैत्य यूथपतियो के हृदय में बारम्बार कामोद्दीपन कर रहा था। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! लीला के आवेश में तुम इस बात को मत भूल जाना कि यह ललना और कोई नहीं है बहुरूपिया घनश्याम ने ही यह रूप धारण कर लिया है। यह मोहिनी रूपधारी भगवान् ही हैं। ये लक्ष्मी जी के दुलहा ही आज लक्ष्मी जी की सहेली बन आये हैं। जो प्राणी इस परम पूजनीय वंदनीय रूप में काम भाव करेंगे वे नरक के अधिकारी होंगे। दैत्य ही ऐसा भाव रख सकते हैं देवता तो इस रूप को अश्रु विमोचन करते हुए बारंबार प्रणाम करते हैं। उनकी पद धूलि को श्रद्धा सहित सिर पर चढ़ाते हैं। हाँ, तो राजन्। यह भगवती मोहिनी असुरों के मन को मथती हुई, मन्द मुस्कान

से मूर्खों को मोहती हुई, असुरों से तनिक दूर ही खड़ी हो गई।

उसे देखते ही सब असुर अपने आपको भूल गये और परस्पर कहने लगे—"अहा! इस कामिनी की कैसी कमनीय कान्ति है। इसका कैसा विशुद्ध विचित्र वेष है। कैसी यौवन क आरम्भ की नूतन अवस्था है यह कौन है, देवताओं में ऐसा सौन्दर्य नहीं, गन्धर्व तथा विद्याधरों की युवतियों में भी ऐसा अनवद्य सौन्दर्य देखने में नहीं आया। यह तो सृष्टि से परे का सौन्दर्य है। ऐसा रूप लावण्य इस भूमण्डल में आज तक न कभी सुना गया, न देखा गया, चलकर इसे पूछें तो सही, यह कौन है, क्या चाहती है, हमसे दूर क्यों खड़ी है।" ऐसा कहते हुए कुछ उतावले असुर दौड़कर उसके समीप पहुँचे, बहुतों ने लम्बे पैर बढ़ाकर उनका अनुगमन किया। कुछ बड़े बूढ़े टहलते हुए ऊपर से निरपेक्षभाव प्रदर्शित करते हुए अपनी उत्सुकता को न रोकने के कारण पीछे से जाकर खड़े हो गये।

एक साथ असुरों ने उससे अनेक प्रश्न कर डाले—"देवी जी! आप कौन हैं? बाई जी! आप कहाँ से आई हैं? हे सुशोभने! आप क्या चाहतीं हैं? हे मृगनयनी! क्या आप मोहन मन्त्र जानती हैं? हे भामिनी! आप किनकी कन्या हैं? एक बात और भी हम पूछना चाहते हैं। पूछना तो न चाहिये, किन्तु रहा भी नहीं जाता। क्या आपने अभी तक किसी का पाणिग्रहण किया ही नहीं?

मोहिनी देवी ने किसी की बात का उत्तर नहीं दिया वे नीचा सिर किये हुए चुपचाप खड़ी रहीं! बात चलाने को असुर फिर बोले—"देवीजी! हमें तो ऐसा लगता है, कि किसी भी देवता,

असुर, सिद्ध, गन्धर्व, चारण तथा लोकपालों ने तुम्हारा अभी तक स्पर्श नहीं किया। जब इन्द्रादि लोकपाल भी तुम्हें नहीं पा सके, तो विचारे अल्पवीर्य मनुष्यों की बात ही क्या? हम सब आपका परिचय पाने को बड़े ही उत्सुक हैं। आप किसी देहधारी प्राणी के रजवीर्य से उत्पन्न नहीं हुई हैं, हमें तो ऐसा जान पड़ता है, कि साक्षात् ब्रह्माजी ने अपने हाथों से संसार का सौन्दर्य एकत्रित करके तुम्हारा निर्माण किया है। इन नाना प्रकार के क्लेशों से क्लांत प्राणियों के मन की प्रसन्नता के हेतु देहधारियों पर दया करके देव ने तुम्हारी सृष्टि की है। हम परस्पर में ही कलह करने वाले भाइयों के वाद-विवाद को शान्त करने के निमित्त भाग्य ने तुम्हें यहाँ भेजा है। आप कौन हैं, कृपा करके अपना परिचय हमें दीजिये।"

इतने पर भी मोहिनी महारानी कुछ भी नहीं बोलीं। वे बार-बार असुरों के ऊपर ठहर ठहर कर कटाक्ष बाण फेंककर उन्हें अधिकाधिक व्यथित बनाती रहीं। तब तो असुर अत्यधिक अधीर हो उठे और बोले—"अच्छा, आप कोई भी हों। हमें आपके पारिवारिक परिचय से क्या प्रयोजन? आपका परिचय तो प्रत्यक्ष ही है। अच्छा, हमारा परिचय सुनिये।"

इस बार मोहिनी देवी ने तनिक अपने मुख को हिलाकर उन्हें परिचय देने की आज्ञा प्रदान की। तब तो वे बड़े उल्लास से कहने लगे—'भगवती जी! हम सब महामुनि कश्यपजी की संतान हैं। बड़े कुलीन हैं, श्रेष्ठ कुल में हमारा जन्म हुआ है हम सब तीनों लोकों के अधीश्वर हैं।"

मन्द मन्द मुस्कराती हुई मोहिनी देवी बोली—"तब तुम यहाँ क्यों एकत्रित हुए हो?"

इस पर अत्यन्त ही आह्लाद के साथ असुर बोले—"बाईजी ! हम सब मिलकर अमृत के लिये समुद्र मथ रहे थे।"

मोहिनी रानी बोली—"तो क्या अमृत निकला ?"

शीघ्रता के साथ असुर बोले—"हाँ, निकला।

देखिये, यह अमृत का ही कलश है।"

मोहिनी देवी ने पूछा—"तब पीते क्यों नहीं तुम लोग। लड़ाई झगड़ा क्यों कर रहे हो ?"

कुछ निर्बल असुरों ने कहा—"कलह का कारण यह अमृत का कलश ही है। हमारे ये बली भाई कहते हैं, पहिले हम भर पेट पीलेंगे तब किसी को देंगे। हम कहते हैं पंक्ति भेद मत करो सबको बराबर बराबर दो। इसी पर वादविवाद हो रहा है।"

वीणा विनिन्दित वाणी में मोहिनी देवी हँसती हुई बोलीं—"अरे, तुम कुलीन होकर झगड़ा करते हो ? न्यायानुकूल बाँट कर पीलो।"

इस पर अन्य कोई बोल उठे—"देवीजी तुम्हारा भगवान भला करें, तुमने धर्म की बात कही है। हम लोग तो भाई भाई होकर भी लोभवश एक वस्तु के पीछे परस्पर में वैर बाँधकर वादविवाद कर रहे हैं, लड़भिड़ रहे हैं। आप पक्षपातहीन हैं। आप हमारी पंच बन जायें, हम भाइयों में यथान्याय इस अमृत को बाँटकर जातिद्रोह को शांत करें। गृहकलह के द्वारा होने वाले कुल नाश से हमारी रक्षा करें।" इतना कह कर वे असुर सबको सम्बोधन करते हुए बोले—"कहो ! भाई सबको यह बात स्वीकार है ? देवी जी को सब लोग पंच मानते हो ?"

असुर तो उस मोहिनी वेषधारी भगवान की मोहिनी माया के कारण मोहित हो ही रहे थे। वे तो आँख मूँद कर सब कुछ करने को उद्यत थे। उनके एक कटाक्ष के लक्ष्य पर अपने प्रा

का उत्सर्ग करने के लिये भी कटिबद्ध थे। सभी ने एक स्वर में हाथ उठाकर कहा—"हम सबको सहर्ष स्वीकार है। देवी जी हमारी पंचायत की अधिनायिका बने। हमारी न्यायाधीश्वरी बने ये यदि हमें कुछ भी न दें विष भी पिला दें तो भी स्वीकार है।"

यह सुनकर मोहिनी देवी मन्द मन्द मुस्कराती हुई अपनी कुटिल कटाक्ष भङ्गी से दैत्यों की ओर निहारती हुई बोली—"असुरों! तुम कहते तो अपने को कश्यप मुनि की संतान हो, किन्तु मुझे तुम बड़े भोले दिखाई देते हो?"

असुरों ने समुत्सुक होकर कहा—"क्यों देवी जी! क्या बात है?

मोहिनी ठगिनी बोलीं—"बात क्या है, तुम लोग स्त्री के चक्कर में फँस गये। भले मानस, कहीं कामिनियों का विश्वास करते हैं? अरे, किसी को सती साध्वी पतिव्रता स्त्री हो, किसी की कुलीन कन्या हो, वीर प्रसविनी माता हो इनका विश्वास किया जा सकता है। जो पण्य स्त्री है वारङ्गना है चंचल चित्त की है, व्यभिचारिणी है उसका अनुसरण करना तो जान बूझकर अग्नि में प्रवेश करना है। पतंगे की भाँति उसकी रूप की ज्योति में जलकर मर जाना है। तुम मुझे जानते नहीं। मैं किसी एक की पत्नी नहीं, व्यभिचारिणी वेश्या हूँ। जो मुझसे प्रेम करते हैं, मेरा ध्यान करते हैं, मेरी ही बातों को सुनते रहते हैं, मुझे अपना सर्वस्व समर्पित करते हैं, मेरे ही पैरों की सेवा करते हैं, मुझे ही हृदय में धारण करके सोते हैं, मेरी ही याद करके रोते हैं मेरी ही चिन्ता में अपने आपको खोते हैं। मैं उन्हीं की हो जाती हूँ, उन्हें ही अपने आप को सौंप देती हूँ। उन्हीं के अधीन हो जाती हूँ। जो मुझे भूल जाते हैं वे दुखी होते हैं, दुख उठाते हैं। मैं किसी एक की नहीं

सबकी हूँ। ऐसी स्त्रियों का विश्वास करना तुम जैसे स्वाभिमानियों के लिये उचित नहीं।

यह सुनकर दैत्यों का विश्वास और भी बढ़ गया। सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कोई आदमी अपने ही अवगुण अपने आप बताने लगे तो उसकी सत्यता पर सबको बड़ा विश्वास हो जाता है। इसलिये बड़े विश्वास के साथ असुर बोले—"आप कोई भी क्यों न हों, हमें प्रेम भरी दृष्टि से देख रही हैं यही हमारे लिये यथेष्ट है पर्याप्त है।"

मोहिनी बोलीं—"देखो व्यभिचारिणी स्त्रियों की दृष्टि स्वाभाविक ही ऐसी होती है। कामी भ्रमवश उसे प्रेममयी समझ लेते हैं। जैसे कमलिनी का स्वाभाव ही खिल जाने का है। मधु-लोलुप मूढ़ मधुप समझता है यह मुझे ही देखकर खिल गई है, मुझे ही रस पिलाने को हिल रही है, इसी प्रकार स्वैरिणी स्वभावानुसार हँसती है कटाक्षपात करती है, किन्तु कामी समझते हैं यह मेरे प्रति प्रेम प्रदर्शित कर रही है, मुझे रिझा रही है। मुझे तो तुम बिना स्वामी की ग्राम्य कुतिया की तरह समझो। जैसे कुतिया को जो भी टुकड़ा दिखा देता है, उसी के पीछे दौड़ने लगती है। उसी के आगे पूंछ हिलाती है, पैर चाटती है, पेट दिखाती है, उसे रिझाती है। तुम मेरा विश्वास व्यर्थ कर रहे हो। मैं तुम्हारे साथ छल करूँगी, कपट का व्यवहार करूँगी। पक्षपात भी करूँगी। यह सब तुम्हें स्वीकार हो, तो मैं तुम्हारी न्यायकारिणी बन सकती हूँ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मोहिनी देवी या देव की ऐसी विचित्र स्पष्ट बिना लगाव लपेट की बातें सुनकर असुरों का उनके ऊपर और भी विश्वास बढ़ गया। उन्होंने ये सब परिहासोक्तियाँ ही समझी और बोले—"हमें

स्वीकार है, आप जो भी स्याह सफेद करें, हम कुछ न कहेंगे।" यह सुनकर मोहिनी महारानी हँसी और बँटवारे की अध्यक्षा बन गईं।

छप्पय

आये सब मिलि असुर कहें को तुम का नामा।
को पति काकी नारि फिरहु अस कस बन श्यामा॥
अमृत हेतु हम लरहिँ हमारी रार मिटाओ।
बटवारो करि देउ यथामति अमृत पिआओ॥
सुनि हँसि बोली मोहिनी, कश्यपसुत सिरीं भये।
मम वेश्या के रूपपै, च्यों मदमाते ह्वै गये।

अमृत बाँटने वाली मोहिनी

[५३१]

तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्दुकूल—
श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।
सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन
कुम्भस्तनी कलशपाणिरथाविरेश ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ९ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

बालाकी सुनि बात बढ़्यौ बिश्वास सबनिकूँ ।
अमृत कलशकूँ लाइ तुरत दे दीओ तिनकूँ ॥
तिरछी चितवनि निरखि बिहँसि बोली बर बानी ।
कहियो फिरि मति कछु, करौंगी हौं मनमानी ॥
सब बोले-परमेश्वरी, हमकूँ सब स्वीकार है ।
जो चाहैं लो करो तुम, मार तुम्हारी प्यार है ॥

जीव- जब जिस पर मोहित हो जाता है, तब फिर उसे सर्वस्व सौंप देता है। काम का वेग ऐसा प्रबल होता है, कि

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित से कहते हैं—"राजन्! जिनके नितम्ब प्रदेश पर दिव्य दुकूल शोभा दे रहा है। करीन्द्र शावक सूँड के समान जिनकी मनोहर उतार चढ़ाव जंघायें हैं उन मद से विह्वल नयन वाली कुम्भस्तनी मोहिनीजी ने अमृत का कलश हाथ में लिये हुए अमृत बाँटने के स्थान में प्रवेश किया। उस समय उनके पैरों में कनक के नूपुर झंकार कर रहे थे।

फिर उसमें विवेक नहीं रहता। मनुष्य जिस पर लट्टू हो जाता है, फिर उसकी सभी बातें अच्छी लगती हैं। उसकी प्रत्येक

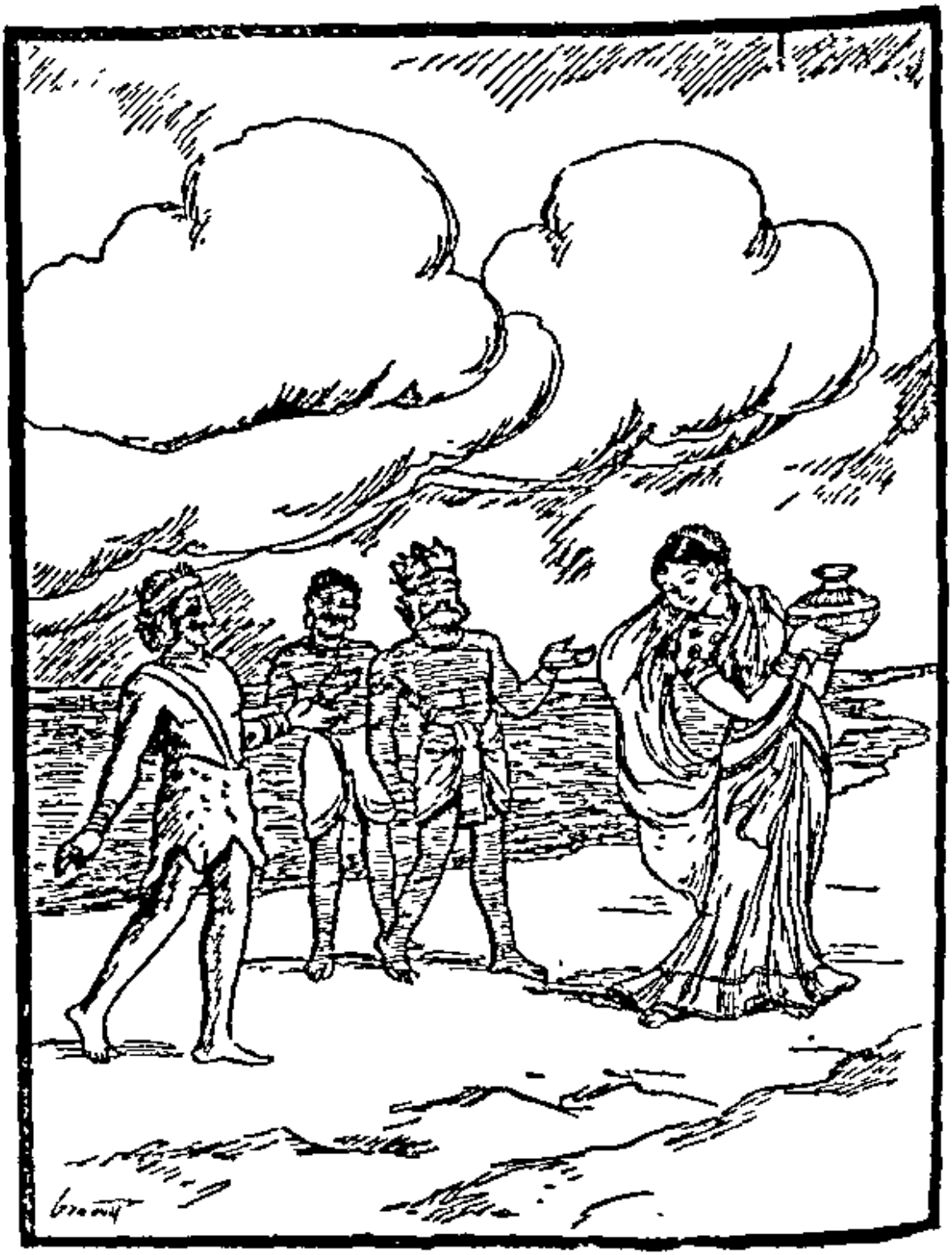

चेष्टा सुखकर प्रतीत होती है, उसके दोष भी गुण के समान

दिखाई देते है। जब वह मद उतर जाता है, तब ज्ञान होता है। तब उसे अपनी भूल प्रतीत होती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब मोहिनी देवी ने स्पष्ट शब्दों में अपने को पण्यस्त्री बता दिया, तब तो वे कामी असुर और भी अधिक उस पर विश्वास करने लगे और उससे बार-बार अमृत बाँटने का आग्रह करने लगे। उसकी टेढ़ी चितवन के आगे अमृत उन्हें तुच्छ दिखाई देता। उसकी मधुर मुसकान के सम्मुख अमृत नीरस और शुष्क सा प्रतीत होता था। जब असुरों ने विश्वास में आकर मोहिनी देवी को अमृत का कलश दे दिया, तो स्थूणाखनन न्याय से मोहिनी देवी बोली—"देखो, असुरो! फिर मुझे पीछे दोष मत देना। कान खोल कर मेरी बात को फिर से एक बार सुन लो। मैं अच्छा करूँ या बुरा, किसी को कम दूँ या अधिक, किसी को दूँ या न दूँ, पीछे तुम यह मत कहना हमारे साथ पक्षपात किया।"

असुर अत्यन्त प्रेम के साथ बोले—"बाईजी! आप कैसी विचित्र बातें कर रही है। हमने एक बार कह दिया बार-बार कह दिया। हम से चाहें जैसे शपथ करालो, प्रतिज्ञा पत्र लिखा-लो, गङ्गाजी में खड़ा कराके कहलालो। हमें सब स्वीकार है। आप जो करेंगी उसमें हम कुछ हस्तक्षेप न करेंगे।"

यह सुनकर मोहिनी रानी हँसी। उन्होंने अपने हास्य से सभी के मन मन्त्र मुग्ध बना लिये और फिर टेढ़ी भौंह तान कर हँसती हुई अधिकार के स्वर में बोलीं—"अच्छा, जाओ! सब स्नान करो।"

असुरों ने स्नान काहे को किया होगा, किन्तु मोहिनी देवी की आज्ञा से सब ने उबटन लगाकर शरीर को मलमल कर भली भाँति स्नान किया।

तब मोहिनी बोली—"सब कोरे-कोरे वस्त्र पहिनों।" असुर तो मूढ ही ठहरे उन्हे क्या पता था, ये कोरे वस्त्र पहिनाकर हमें सर्वदा कारमकार कर देंगी।" सबने कोरे वस्त्र पहिने, चन्दन लगाया, फूलों की सुगन्धित मालायें धारण की। वस्त्रा-भूषणों से सुसज्जित होकर, बन ठनकर वे मोहिनी देवी के समीप आये।

फिर उन्होंने—"प्रज्वलित अग्नि में हवन किया। कामधेनु गौ की पूजा की ब्राह्मणों को दान दक्षिणा दी। वेदवादी मुनियों से स्वस्तिवाचन कराया और उल्लास के साथ बच्चों की भाँति बोले—"देवीजी! अब क्या करें।"

पंचायत की प्रधान पंचिनी मोहिनी बोलीं—"अच्छा सब उस बड़े भवन मे बैठ जाओ।"

मोहिनी की आज्ञा पाते ही अत्यन्त शीघ्रता के साथ सब जाकर विशाल भवन में बैठ गये। अब देवताओं का साहस छूट गया, भगवान् के आश्वासन को भूल गये उन्होने सोचा—"यह स्त्री सब को अमृत बाँट रही है। चलो, हम भी चलें सम्भव है हमें भी दया करके कुछ दे दे।" यह सोचकर वे भी दौड़े-दौड़े गये और असुरों मे मिलकर बैठ गये। असुर सब सब उत्सुकता के साथ पूर्व की ओर मुख करके कुशाओं के बिछाये अमृत की प्रतीक्षा कर रहे थे। देवता भी उन्हीं में मिल गये।

वह विशाल भवन मणि माणिक्य और सुवर्ण आदि से बना हुआ था। चारों ओर से उसमें कल्पवृक्ष के पुष्पों की दिव्य मालायें लटक रही थीं अगरु, घृत, चन्दन का चूरा और कपूर की धूप से वह विशाल भवन सुवासित हो रहा था, सब बार-बार मुड़-मुड़ कर देख रहे थे, कि अभी देवीजी ने पदार्पण नहीं किया। अभी मोहिनी ने भवन में प्रवेश नहीं किया। इतने

में ही सबने क्या देखा कि सुवर्ण के नूपुरों की झन्कार करती हुई मोहिनी देवी आ रही हैं। गज शावक की सूड़ के समान सुन्दर सुडौल उतार चढ़ाव ऊरूओं के ऊपर नितम्ब देश में दिव्य पतला पीताम्बर पहिने हुए हैं। उस दिव्य दुकूल में से उनकी आभा फूटी ही पड़ती है। यौवन के मद से त्तत्त नयनों से वे चंचलता पूर्वक चारों ओर निहार रही हैं, कठिन और उन्नत वक्ष का अरुण अम्बर हिल हिलकर कामियों के चंचल चित्त को और भी विह्वल बना रहा है। राजन्! शृंगार लीला के प्रवाह में आप जैसे भक्त बहते नहीं। वे इस बात को कभी नहीं भूलते ये कुम्भस्तनी और कोई कामिनी नहीं हैं साक्षात् श्रीहरि ने ही लीला से असुरों को मोहने के लिये ऐसा मनमोहक रूप बना लिया है। भक्त इस मोहक रूप को प्रणाम करते हैं और कामी इसमें फँस जाते हैं।

हाँ तो राजन्! मोहिनी भगवान् के कानों में कुण्डल हिल रहे थे कर्ण समान, सुन्दर और लघु थे, नथ से भूषित नासिका नयनाभिराम थी, कुण्डलों की आभा से कपोल दमदम दमक रहे थे, कंठ में पड़े बहुमूल्य मोती चमचम चमक रहे थे। मनोहर मुखारविन्द पर ओस के कण के समान श्रम से श्वेत बिन्दु झलमलाकर उसकी शोभा को सहस्रगुणी बढ़ा रहे थे। वे देखने में लक्ष्मीजी की कोई स्नेहमयी श्रेष्ठ सखी सी जान पड़ती थीं। राजन्! उनकी मधुर मुस्कान में जादू था चितवन में विचित्र टौना था भीतर घुसते ही वायु ने उनके वस्त्र के अंचल को खिसका दिया। क्रीड़ा पूर्वक एक हाथ से अमृत कलश को साधती हुई वे अञ्चल को सम्हालने लगीं। हाथ घिरे रहने से तथा वायु के वेग से सम्हलने के स्थान में वह और अधिक खिसक गया। उस समय उनकी परवशता पूर्वक भावभंगी और

सलज्ज मन्दस्मित पूर्ण चितवन से समस्त सुर और असुर विमोहित बन गये। किसी को अपने शरीर की सुधि नहीं रही।

इस समय उनके मुख पर अधिकार के गुरुत्व के कारण गम्भीर तेज था। वे अपनी अत्यन्त पतली वाणी से अधिकार पूर्ण स्वर में देवताओं को देखकर घुड़कती हुई बोलीं—"पीले-पीले वस्त्रों वाले तुम लोगों में ये कौन आ गये।

असुरों ने नम्रता पूर्वक कहा—"देवीजी! ये भी हमारे भाई हैं।

डाँटकर मोहिनी रानी बोलीं—"भाई होने से क्या हुआ! ये यहाँ क्यों बैठ गये हैं?"

इस पर असुरों ने कहा—"बाईजी! हम और इन दोनों ने ही मिलकर समुद्र मथा है। यही नहीं समुद्र मथने की सम्मति भी इन्होंने ही दी थी। हम दोनों ने मथने में समान श्रम किया है।" मोहिनी भगवान् बोले—"तो क्या इनको भी अमृत देना होगा?"

असुरों ने अत्यन्त स्नेह के स्वर में कहा—"यह आपकी इच्छा के ऊपर निर्भर है। हमने तो आप पर ही सब छोड़ दिया है।"

इस पर देवताओं से घुड़कते हुए मोहिनी मोहन बोले—"तुम सब लोग पीछे हट जाओ असुरों से पृथक बैठो।"

देवता अपना सा मुँह लिये चूतड़ों के बल घिसक कर कुछ दूर हट गये। उन्हें डाँटती हुई मोहिनी बोली—"तुम लोग वैसे नहीं मानोगे रे! लात का देवता बात से नहीं मानने का। सीधे से उठकर वहाँ दूर जाकर बैठो।"

देवताओं को निराशा होने लगी। इतनी सुन्दरी कोमलाङ्गी अकेली ही हम सब पर शासन कर रही है और हम सब

देवता असुर चूहे की तरह भयभीत हुए इसके संकेत पर नाच रहे हैं, किन्तु करें क्या अमृत का कलश तो इसके हाथ में है। बिचारे उठकर दूर जा बैठे। दैत्य मन ही मन प्रसन्न हुए। देखो, इनमें पक्षपात नहीं है कैसा तेज है, कैसी निर्भीक होकर आज्ञा दे रही है। वे भी देवताओं को डाँटने लगे—"अरे, तुम लोग मानते क्यों नहीं हो? देवीजी जो कहें उसका अविलम्ब बिना ननु नच किये पालन करो।"

देवता क्या करते दूर जाकर बैठ गये। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जो भगवान् पर विश्वास न करके लालच करते हैं, उन्हें इसी प्रकार अपमानित होना पड़ता है।"

देवता अब दूर जाकर बैठ गये। अपने समीप की बड़ी पंक्ति में तो मोहिनी भगवान् ने असुरों को बैठाया और बहुत दूर पर देवताओं को बिठाया। जब दोनों का विभाग हो गया देव दैत्यों की दो पृथक्-पृथक् पंक्तियाँ बैठ गईं, तब कमल की पंखड़ियों के समान अपनी कोमल और लाल-लाल पतली-पतली उँगलियों को हिलाती हुई, अपने हाव-भाव कटाक्षों से असुरों को रिझाती हुई, कोकिल कूजित कंठ से, मोहिनी देवी मुस्कराती हुई बोली—"अजी, कश्यप वंश वालो! तुम मेरी एक बात सुनो। देखो, भूखे आदमी की दृष्टि बड़ी बुरी होती है। कोई सुन्दर वस्तु खा रहे हों और किसी भूखे लालची की उस पर दृष्टि पड़ जाय, तो वह वस्तु पचती नहीं। देखो ये देवता बड़े भुक्कड़ हैं। ये कैसे अमृत की ओर टुम्म-टुम्म देख रहे हैं। मेरी इच्छा होती है, पहिले ऊपर से पतला-पतला चुल्लू-चुल्लू भर अमृत इन्हें पिला दूँ। पीछे से नीचे का गाढ़ा-गाढ़ा तुम्हारे लिए बच जायगा इससे दृष्टि दोष भी बच जायगा और अन्याय भी न होगा। इन्होंने भी तो परिश्रम किया ही है।"

असुरों के हृदय को तो मोहिनी ने अपनी प्रणय पूर्ण चितवन से चुरा ही लिया था, उन्हें तो अपने कुटिल कटाक्षों से मन्त्र मुग्ध बना ही लिया था, अतः वे प्रसन्नता पूर्वक बोले—"बाईजी ! आपकी जैसी इच्छा हो वैसा ही करें। हमें तो कुछ कहना ही नहीं।"

असुरों की ऐसी बात सुनकर, कलश के भार में लचती हुई, सब पर कुटिल दृष्टि फेंकती हुई वह कपट नारी मन्द-मन्द गति से देवताओं की ओर चली। देवताओं के प्राणों में प्राण आये। उन्होंने सोचा—"डाँट फटकार मिली सो मिली, किन्तु अब अमृत भी मिलेगा।"

यह सोचकर वे पालथी मारकर बैठ गये। मोहिनी भगवान् ने आते ही देवताओं को भर-भर पेट अमृत पिलाना आरम्भ किया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! दैत्यों की उपेक्षा करके भगवान् अपने आश्रित देवताओं को ही सन्तुष्ट करने लगे। उन्हें ही अमृत से छकाने लगे।"

छप्पय

हाव भाव भर कुटिल कटाच्छनितैं मन मोहै।
वैंणी झोटा खाइ कलश करमहँ शुभ सोहै॥
भूलि न जावैं भूप ! फिरै जो भामिनि सुन्दर।
नाहिं कामिनी अन्य स्वयं मायावी नटवर॥
असुर मोहिनीने ठगै, अमृत पिआयो सुरनिकूँ।
समुझि सकैं को जगत महँ, तिरियनि के चक्करनिकूँ॥

———

सुरों को अमृत पिलाकर मोहिनी का मोहन बन जाना

(५३२)

पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवाँल्लोकभावनः ।
पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः ॥

(श्री भा० ८ स्क० ९ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

राहु समुझि हरि कपट देव बनि रवि शशि ढिँगई ।
बैठ्यो पीयो अमृत जानि मारयो प्रभु तबई ॥
राहु केतु द्वै अमर भये ग्रह संग बिराजैं ।
नवग्रह तबतैं भये असुर सुरवत् बनि भ्राजैं ॥
अमृत सुरनिकूँ प्याइकैं, असुरनि सींग दिखाइकैं ।
त्यागि मोहिनी रूपकूँ, बनै पुरुष पुनि आइकैं ॥

यह शास्त्रों का सुदृढ़ सिद्धान्त है, कि भाग्य के बिना न विद्या फलवती होती है और न पौरुष । भाग्य में हो तो छप्पर फाड़ कर धन आ जाता है । भाग्य में न हो, तो घर में रखा

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब सब देवता अमृत पी चुके, तब लोक भवन मोहिनी भगवान् समस्त दैत्याधिपतियों के देखते ही देखते स्त्री से पुरुष हो गये । उन्होंने अपना यथार्थ रूप धारण कर लिया ।"

सुवर्ण मिट्टी हो जाता है। सुनते हैं महाराज नल जब विपत्ति के समय अपने किसी राजा के घर गये, तो राजा ने उसका स्वागत किया एक बड़े सुन्दर भवन में ठहराया। रात्रि में वे क्या देखते हैं कि एक खूँटी पर रत्नों का एक नौलखा हार टँगा है उस हार को खूँटी निगल रही है। राजा ने समझ लिया हम अब किसी परिचत के घर रहने योग्य भी नहीं रहे। भाग्य हमारे विपरीत है। प्रातः सब लोग यही कहेंगे महाराज नल ने ही निर्धनता के कारण हार चुरा लिया। खूँटी हार को निगल गई इसे कौन विश्वास करेगा।" यह सोचकर वे उसी समय वहाँ से चले गये। ऐसी ही एक कथा और भी है। दो भिक्षुक थे। एक तो कहा करता था "जिसे न दे हरि, उसे क्या देगा भूपति" दूसरा कहता था "जिसे न दें भूपति उसे क्या देगा जगतपति" राजा दोनों की बात सुनता। राजा आस्तिक था, उसने एक दिन दोनों को बुलाया और बड़ी-बड़ी लम्बी-लम्बी लौकी मँगाई उनमें बड़ी युक्ति से सौ-सौ सुवर्ण मुद्रायें रख दीं। फिर उन दोनों को एक-एक लौकी बिना बताये दे दीं। जो राजा की ही प्रशंसा करता था वह तो अन्न लेने के निमित्त गया और एक सागवाली के यहाँ उसे चार पैसे में बेंच आया। जो भगवान् के भरोसे पर रहता था, वह उसे घर ले गया। घर में उसकी स्त्री ने आज बहुत दिन में भगवान् ने लौकी भेजी है, मेरे यहाँ चना की दाल रखी है, एक ऐसी ही लौकी और ले आओ तो आज भर पेट लौकी चना की दाल खायें। भिक्षुक बाजार में गया। संयोग की बात उसी साग वाली के यहाँ पहुँचा और उसी लौकी को ६ पैसे में ले आया। दोनों को फाड़ा तो उनमें से १००।१०० सुवर्ण मुद्रायें निकलीं। दूसरे दिन राजा ने बुलाकर पूछा, तो दोनों ने सब सत्य समाचार

सुना दिया। तब राजा बोला—"यह बात सत्य है कि जिसे न दे हरि उसे क्या देगा भूपति।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान ने तो असुरों को ठगने के लिये ही यह ठगिनी मोहिनी रूप बनाया था। असुर उनके रूप जाल में फँस गये अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मार ली। वह मोहिनी माया इन्हें उलटी पट्टी पढ़ाकर देवताओं को अमृत पिलाने लगी। असुरों मे भी बड़े बड़े बुद्धिमान थे वे उस कपट स्त्री के भाव को ताड़ गये उसके बाँटने के ढंग से ही समझ गये, कि कुछ दाल में काला है। वे आपस में काना फूँसी करने लगे। जो उसके रूप पर अत्याधिक आसक्त थे वे उन लोगों को डाँटते हुए बोले—"देखो, जी ! यह बात उचित नहीं। जब तुमने उसे सर्वाधिकार दे रखा है, तब वह चाहे जो करे। तुम उसकी आलोचना करने वाले कौन होते हो। यह तो प्रेम का तिरस्कार ने। स्नेह में संदेह को स्थान नहीं। चुपचाप बैठे रहो, जो वह करे करने दो।" यह सुनकर वे लोग भी चुप हो गये। सोचने लगे स्त्री से कौन लड़ाई झगड़ा करे। करने दो जो उसे करना है, फिर हमने ही कुछ कहा तो हमसे ही बिगड़ जायगी। यह सोचकर सबके सब चुपचाप बैठे रहे। कुक ने सोचा देवता भी तो अपने भाई ही हैं, पीने दो उन्हें ही जिसका भला हो उसी का सही।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ये देवता, दैत्य दानव आदि सब सगे भाई ही तो हैं। कश्यप भगवान् की अदिति दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि ये १३ पत्नियाँ थीं। जिनमें अदिति से आदित्य अर्थात् देवता हुए। दिति से हिरण्यकशिपु

आदि दैत्य हुए और दनुके गर्भ से, शम्बर प्रारिष्ठ विप्रचित्त आदि दानव हुए दनुके पुत्र विप्रचित्त का एक लड़का था, जिसका नाम राहु था। वह दानव बड़ा बुद्धिमान था। अमृत के लिए वह अत्यन्त ही लालायित था। वह दूर बैठा मोहिनी भगवान् को गाते विधि निहार रहा था। मोहिनी भगवान् जिस ढंग से देवताओं का अमृत पिला रहे थे उसी से वह समझ गये कि असुरों को अमृत नहीं मिल सकता। अतः वह मायावी दैत्य चुपके से देवताओं का सा स्वरूप बनाकर सबसे पीछे सूर्य और चन्द्रमा के बीच बैठ गया। मोहिनी देवी अब शीघ्रता कर रही थीं। सबको पिला चुकी अंत के दो तीन ही शेष थे। कपट व्यवहार में पग-पग पर शंका रहती है। वे सब को पिलाकर भाग जाने का उपक्रम कर रही थी। उसी शीघ्रता में सूर्य को भी दिया बीच में देवता बने राहु को भी दिया और चन्द्रमा को भी दिया सूर्य चन्द्र ने पीते पीते भगवान से शीघ्रता पूर्वक कहा—"बाईजी! यह हमारी जाति का नहीं है यह तो दानव है।"

इतना सुनते ही मोहिनी भगवान् ने तत्क्षण अपने चक्र से उसका सिर काट दिया। अब काटने से क्या होता है। अमृत तो कंठ से नीचे उतर चुका था। अतः सिर भी अमर हो गया और धड़ (केतु) भी अमर हो गया। यह तो लाभ में ही रहा। एक का दो हो गया। भगवान् अब क्या करते राहु, केतु दोनों को ग्रह बना दिया पहिले रवि, सोम, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि ये सात ही ग्रह थे अब दो राहु केतु और मिलाकर नव ग्रह हो गये। यद्यपि ये दानव होने से क्रूर ग्रह हैं फिर भी देवताओं में तो इनकी गणना हो ही गई। जहाँ भी समस्त वैदिक कामों में ग्रहों का पूजन होता है वहाँ अन्य

के साथ राहु केतु भी पूजे जाते हैं। राहु तो दानव ही ठहरा सूर्य चन्द्रमा ने जो उसे बता दिया इसलिये वह अब तक सूर्य चन्द्र से वैर मानता है। जब इसे अवकाश मिलता है तभी पूर्णिमा और अमावस्या के दिन यह मुँह फाड़कर सूर्य चन्द्रमा को निगल जाता है। किन्तु इसका निगलना व्यर्थ होता है। जैसे किसी के कंठ में छेद हो जाय और भोजन पानी पीते ही उससे निकल जाय। उसी प्रकार धड़ न होने से ज्यों ही यह सूर्य चन्द्रमा को लीलता है त्यों ही वे बाहर निकल आते हैं। पेट होता तो उसमे चले जाते। इसीलिये ग्रहण थोड़े ही काल के लिये होता है। यह तो ग्रहण का अधिदैविक रूपक है। अध्यात्म भाव यह है, कि अज्ञान कुछ काल के लिए प्रकाश ज्ञान को ढक लेता है, किन्तु कुछ काल में ज्ञान पुनः प्रकाशित हो जाता है। आधिभौतिक के अर्थ तो सभी जानते हैं पृथिवी की छाया पड़ने से सूर्य चन्द्र ग्रह दिखाई नहीं देते, धुँधले हो जाते हैं ये कहीं न चले जाते हैं न इन्हें कोई निगलता है।

हाँ तो राजन्! इस प्रकार अमृत बाँट कर राहु के चक्र से दो ग्रह बनाकर, दैत्यों की ओर मुड़कर उन्हें अंगूठा दिखाकर, अमृत के कलश को वहीं रखकर भगवान् मोहिनी से मोहना हो गये। कड़े, छड़े, नथ, नक बेसर, बिछुआ, चूरी फेंक कर स्त्री से पुरुष बन गये देवी से देवा हो गये। महरारू से मनसेधू बन गये। दैत्यों ने अब समझा अरे यह तो मायावी विष्णु निकला। वे अपने भाग्य को ठोंकते हुए पछताने लगे, किन्तु "अब पछिताये होता क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।"

छप्पय

ठगिया है यह विष्णु समुझि पुनि दैत्य रिस्याने ।
खिसियाये करि कोप अस्त्र देवनिपै ताने ॥
अमृत हेतु इक काल कर्म सबने सम कीयौ ।
कोरे दानव रहे अमृत देवनिने पीयो ॥
हरि हिय धरि श्रद्धा सहित, कर्म करैं जे भक्तितैं ।
उत्तम फल पावैं अवसि, मनमोहन की शक्ति तैं ॥

श्रीहरि के कपट व्यवहारका कारण

(५३३)

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-
हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः
तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपु-
र्यत्पादपङ्कजरजः श्रयणान्न दैत्याः ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ९ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

अबला रूपी परम प्रबल माया है भारी।
मोहे सुर अरु असुर इन्द्र ब्रह्मा त्रिपुरारी॥
मित्र शत्रु बनि जायँ नृपति सर्वस्व गँवावैं।
सहज प्रेम तजि बन्धु नारिहित लरिमरि जावैं॥
पुरुषनि नारायन लखैं, नारिनिकूँ लक्ष्मी गनहिँ।
ते साधारन नर नहीं, कवि तिनकूँ हरि ही भनहिँ॥

जिस भावना से कर्म किया जाता है, वैसा ही उसका फल होता है। आर्य शास्त्रों में कर्म को प्रधानता नहीं दी है। भाव

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् इस प्रकार देश, काल, हेतु, अर्थ, कर्म और मति के समान होने पर भी सुर और असुरों के कर्म फल में भिन्नता हो गई। देवताओं को उन श्रीहरि के पाद पंकजों की परिचर्या के प्रभाव से सुगमता पूर्वक अमृत मिल गया, किन्तु असुर गण उस अमृत से वञ्चित ही रह गये।"

को प्रधानता ही दी है। भगवान् भावमय ही हैं। जो भगवान् को भूल कर केवल कर्मों मे ही आसक्त रहते हैं। वे जड़त्व को प्राप्त होते हैं। क्योंकि कर्म जड़ है। जड़वाद के पोषक जड़ता को ही प्राप्त करेंगे। किन्तु जो कर्म तो करते हैं, किन्तु कृष्णार्पण बुद्धि से करते हैं। भगवद् भाव से भावित होकर कर्तव्य बुद्धि से उनकी आज्ञा मान कर भगवत् सेवा समझकर कर्म करते हैं वे भगवान् को प्राप्त होते हैं, वे जड़ता से ऊँचे उठ जाते हैं, क्योंकि वे श्रीहरि चैतन्य स्वरूप हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! सब प्रकार असुरों की वंचना करके भगवान ने देवताओं को अमृत पिलाया। यद्यपि समुद्र मन्थात रूप कार्य में पुरुषार्थ देवता असुर सभी ने समान किया। दोनों ने क्षीर सागर के तट पर एक ही स्थान में प्रयत्न किया। एक ही समय में एक ही हेतु से समुद्र मथा। कर्म भी दोनों का एक सा ही था। पुरुषार्थ में भी कोई अन्तर नहीं था, किसी ने अपने कर्म में असावधानी भी नहीं की। दोनों ने ही मथा यथामति लगन के साथ हृदय से परिश्रम किया। परिश्रम का फल भी हुआ अमृत भी निकला, किन्तु भोग में भेद हो गया। देवता अमृत पी गये दैत्य देखते के देखते ही रह गये।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! क्या यह अन्याय नहीं हुआ? क्या इससे भगवान् का पक्षपात सिद्ध नहीं होता दैत्यों के साथ भगवान् का यह विश्वासघात कहाँ तक उचित है। बेचारों ने विश्वास करके भगवान् को कलश थमा दिया और भगवान् उन्हें बहका कर देवताओं की ओर चले गये। उन्हें आशा में लटकाये रखा। अन्त तक उनसे कहते रहे—अब देंगे अब देंगे।" अन्त में कुछ न देकर भाग गये?

फिर भगवान् समदर्शी कहाँ रहे । जगत् के समान भाव से पालन कर्ता उन्हें कैसे कहा जा सकता है ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज ! आपका कहना तो सत्य है, किन्त, कोई साधारण आदमी करता तो ये सब अभियोग उचित भी थे। भगवान् में यह सब लागू नहीं।"

शौनक जी बोले—"सूतजी ! यह तो आप भी पक्षपात कर रहे हैं। बड़े हों, छोटे हों, अधर्म सब के लिये अधर्म है, धर्म सबके लिये धर्म है। भगवान् के लिये देवता असुर सब एक से थे। उन्हें ऐसा भेद भाव पक्ष पात नहीं करना चाहिये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान् द्वेषवश पक्षपात नहीं करते। वे सर्वज्ञ हैं, इस बात को वे ही जान सकते हैं, कि किस काम के करने से किसका कैसे कल्याण होगा । देखिये एक माता के १० पुत्र हैं उसके लिये दशों समान हैं, दशों को समान प्यार करती है, फिर भी भोजन देने में पक्षपात करती है । जो बीमार है उसे मूँग की दाल का पानी ही देती है। जो बहुत छोटा है, उसे मेद घटाने को सूखी रोटी, मठा और शहद का शरबत देती है, दुबला पतला है उसे घी दूध अधिक देती है। जो बुड्ढा है उसे कोमल वस्तु देती है, किन्तु उसका प्रेम सबमें समान है। वह जानती है कौन सी वस्तु से किसका कल्याण होगा। उद्देश्य उसका सभी का भला करना ही है । दूसरा दृष्टान्त लीजिये वाटिका में माली अपने सभी पेड़ पौधों को प्यार करता है, सभी की रक्षा करता है, किन्तु इस बात को वही जानता है, किस पौधे का क्या करने से कल्याण होगा किसी को वह काट देता है, किसी को छाँट देता है, किसी को कहीं से उठाकर कहीं रख देता है। किसी को बहुत पानी देता

है, किसी मे कम, किसी में देना ही नहीं । काटने में उसका भाव दुष्ट नहीं होता, किन्तु ऐसा करने से ही वह वाटिका की उस वृक्ष की वृद्धि समझता है, देखने में वह निर्दयी जान पड़ता है, किन्तु उसके हृदय में कल्याण की ही भावना छिपी हुई है। भगवान का कार्य है, विश्व की रक्षा करना उन्होंने सोचा इन दैत्यों को अमृत पिला देंगे, तो ये प्रजा को निरन्त पीड़ा पहुँचाते रहेंगे। जैसे सर्प को कितना भी दुग्ध पिलाय जाय, उसका विष ही बढ़ेगा । असुरों को अमृत पिलाना मान संसार का अनिष्ट करना था। अतः जगत् पति प्रभु ने विश्व कल्याणार्थ असुरों को अमृत पिलाना अनुचित समझा। रह समान पुरुषार्थ की बात । सो, पुरुषार्थ भी वही सफल होता है जो भगवान् का भरोसा रखकर किया जाता है। जो श्रीहरि के चरण कमलों का आश्रय ग्रहण करते हैं, उनका पुरुषार्थ तो सफल होना ही है, किन्तु जो अभिमान में भरकर अपने को ही कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता समझते हैं उनके पुरुषार्थ का फल तो निकलता है, किन्तु वे उसका उपयोग नहीं कर सकते फल भोगने वाला दूसरा ही होता है । एक साथ दो भाई व्यापार करते है दोनों को समान लाभ होता है। एक तो उस धन से दान पुण्य करता है, सुखोपभोग की समिग्रियों इकट्ठी करता है। आनन्द से रहता है, बालबच्चों को परिवार वालों को खिलाता पिलाता है। दूसरा न स्वयं खाता है, न घर वालों को खाने देता है। जोड़ जोड़ कर रख जाता है, पीछे उसका उपभोग अन्य करते हैं। सो, महाराज ! पुरुषार्थ का फल तो होता ही है फल का उपभोग वही कर सकता है जिसे प्रभु करावें। जिसपर प्रसन्न होकर अमृत रूप फल पीने को दें । देवताओं को एकमात्र भगवान् का आश्रय था। भगवन्

आज्ञा समझकर कर्तव्य बुद्धि से उन्होंने पुरुषार्थ किया। दुःख पड़ा तो भगवान् का ही स्मरण किया। जो निकला भगवान् को ही अर्पण कर दिया। भगवान् ने जो प्रसाद रूप में दे दिया इसे ही अर्पण कर दिया। भगवान ने जो प्रसाद रूप में दे दिया उसे ही स्वीकार किया। लोभ नहीं किया प्रत्येक वस्तु पर मन नहीं चलाया। अमृत को जब असुर ले गये। तब भी भगवान् की शरण में गये। इसके विपरीत असुर लालच वश समुद्र मथने आये थे। बात बात भगवान का विरोध करते रहे। उन्होंने अपने बल पौरुष को मुख्य समझा अमृत के निकलते ही लालच वश देवताओं का तिरस्कार करके भगवान् धन्वन्तरि के हाथ से अमृत लेकर भाग गये। धन्वन्तरि भगवान् तो पुरुष ठहरे, बिना विरोध किये दे दिया। अब देवता भगवान् की शरण गये, तो भगवान् ने कहा—"भैया! अब पुरुष रूप से काम न चलेगा। अब तो मोहिनी बनकर ही अमृत छीना जा सकता है। इसलिये एक अद्भुत विचित्र अवतार धारण करके उन असुरों को ठग लिया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! भगवान् ने स्त्री का अवतार क्यों धारण किया।"

हँसकर सूतजी बोले—"क्यों महाराज! स्त्री का अवतार बुरा होता है क्या? दुर्गा, काली, पार्वती, लक्ष्मी, तथा सरस्वती आदि जगन्मातायें स्त्रियाँ होती है। ये सब भी तो शक्तियाँ हैं शक्ति के बिना शक्तिमान क्या कर सकता है। शिवा के बिना शिव शव के समान हैं।"

शीघ्रता से शौनक जी बोले—"नहीं सूतजी! मेरा यह अभिप्राय नहीं है, कि स्त्री अवतार कुछ बुरा है। किन्तु महाराज! तीन तीन तो अवतार धारण कर लिये फिर चुरी

बिछिया पहिनकर स्त्री वेष बनाकर कपट का व्यवहार करना भगवान् को तो शोभा देता नहीं।"

सूतजी यह सुनकर बहुत हँसे और हँसते हँसते ही बोले—"अब महाराज ! यह तो भगवान् से पूछो कि उन्होंने ऐसी लीला क्यों की। रही शोभा की बात, सो महाराज ! बड़े लोग जो भी करें उसीमें उनकी शोभा है। बताइये, सूअर बनाना कुछ अच्छी बात है भगवान् ने सूकरावतार धारण किया। जल तुरई कहकर लोग जिन्हें उड़ा जाते हैं उस मछली का अवतार भगवान् को शोभा देता है ? आधे पुरुष आधेसिंह बनकर किसी की आंत निकाल कर उसकी माला बना लेना यह भगवान् को उचित है ? महाराज ! भगवान् की लीला के विषय में यह नहीं कहा जा सकता यह उचित है या अनुचित है। जिसमें उचित अनुचित का विचार हो यह क्रीड़ा ही क्या हुई। लीला में तो जब जैसी आवश्यकता होती है वैसा ही रूप रखना पड़ता है। लड़का खेलते २ क्यों रो पड़ता है, क्यों हँसा जाता है, क्यों रुपया फेंक देता है, क्यों फूल को उठा लेता है, क्यों गोदी से उतर कर कीच मे लोटने लगता है, क्यों साँप को पकड़ने दौड़ता है ? खेल ही जो ठहरा। भगवान् की इच्छा हो गई स्त्री बन गये।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है, लक्ष्मीजी बार बार रूठ जाती होंगी भगवान् बार बार उन्हे मनाते होंगे, एक दिन मन में आई होगी लाओ स्त्री बनकर भी देख लें। देखें मुझमें लक्ष्मीजी जैसा आकर्षण आता है या नहीं। इसीलिये उन्होंने श्रीसखी का वेष बनाकर अपने आकर्षण की परीक्षा की होगी।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि, पुरुष बड़े कठोर होते हैं, उनसे परिचय होने में विलम्ब लगता है। स्त्री का

मृदु स्वभाव होता है जहाँ दृष्टि से दृष्टि मिली दो मीठी बातें हुईं कि घनिष्टता हो गई। भगवान् को तो तत्काल अमृत लेना था।

सबसे प्रधान कारण यही जान पड़ता है। भगवान् ने देखा इस समय ये युद्ध करके जीते नहीं जा सकते। धन के लोभ के वश में हो नहीं सकते। धन की इन्हें कमी नहीं। आपस में इनमें फूट डाली नहीं जा सकती। क्षण भर में ही ये अमृत को पीजायेंगे ये लोग बड़े कामी हैं, कामी को वश में करने का एक मात्र उपाय है, अत्यधिक सुन्दरी कामिनी। भगवन्! सौन्दर्य रूपी दीप की ज्योति में बड़े-बड़े वीर पतंगों की भाँति भस्म हो गये हैं। जो अस्त्रों से, शस्त्रों से, बल से, पराक्रम से नहीं जीते जा सके हैं, उन्हें स्त्रियों के एक कटाक्ष ने जीत लिया है! भगवन्! यह स्त्री रूप भगवान् की ऐसी मोहिनी माया है कि यही विश्व को नचा रही है। माया, अविद्या, यही तो संसृति का कारण है। रावण जैसे वीर पराक्रमी को जीतने का साहस किसमें था, यदि वह जगज्जननी सीता के ऊपर कुदृष्टि न करता तो। देखिये सुन्द-उपसुन्द दोनों भाई कितने बली थे, कैसे योद्धा थे, त्रैलोक्य विजयी थे, दोनों भाइयों में परस्पर कैसा प्रेम था, किन्तु एक स्त्री के पीछे उनका विनाश हो गया। सो महाराज! मोहिनी भगवान् को उन दैत्यों को मोहना था इसीलिये यह शृंगार रस की छटा दिखा दी सरसता की धारा बहाकर उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! ये सुन्द-उपसुन्द कौन थे, किस स्त्री के कारण इसका सर्वनाश हुआ यदि आप उचित समझें तो इस कथा को हमें सुना दें।"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! मैं आपको

इस शिक्षाप्रद इतिहास को सुनाता हूँ, आप सब इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

जग रक्षाके हेतु विष्णु अवतारनि धारैं।
भक्तनिको करि त्राण दुष्ट दैत्यनिकूँ मारैं॥
ऊँच नीच लघु ज्येष्ठ भेद उन महँ कछु नाहीं।
कच्छ मच्छ नर नारि, कबहुँ सूकर बन जाहीं॥
शिव स्वरूप मंगलभवन, जीव मात्रके सुहृद हरि।
करैं विश्व कल्याण नित, विविध भाँति के वेष धरि॥

विषयासक्ति में ही मृत्यु है

(५३४)

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-,
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत्पृथक्त्वात्
तैरेवसद्भवति यत्क्रियतेऽपृथक्त्वात्,
सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत् ❀

(श्री भा० ८ स्क० ९अ० २९ श्लो०)

छप्पय

सुन्द और उपसुन्द बन्धु दोऊ अति प्यारे।
एक प्रान द्वै देह होहिं कबहुँ नहि न्यारे॥
उग्र तपस्या करी कठिन बर बिधितैं पाये।
जीते तीनहु लोक स्वर्गतैं अमर भगाये॥
बिश्व बिजय करि विषय सुख महँ दोनों ही फँसि गये!
मृत्यु गर्तमहँ गर्वतैं, असुर मोहवश धँसि गये॥

अपने तप से, बल से, पराक्रम से, विद्या से तथा अन्य

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मनुष्य अपने प्राण, धन, कर्म, मन और वाणी आदि से देह तथा पुत्रादिकों लिये जो कर्म करता है वे पृथक बुद्धि से व्यर्थ ही हो जाते हैं, किन्तु अभेद भाव युक्त होकर जो प्राणादि के योग से कर्म किये जाते हैं वे सफल होते हैं। क्योंकि श्रीहरि के उद्देश्य से किया कर्म उसी प्रकार सब को तृप्ति करने वाला होता है, जैसे वृक्ष की जड़ में पानी देने से शाखा आदि सभी की तृप्ति हो जाती है।"

साधनों से चाहें जिसे जीत ले किन्तु जिसने काम को नहीं जीता, वह अन्त में कामिनी के विष बुझे कटाक्ष बाणों से विंधकर मृत्यु के मुख में धँस जाता है। काम को वही जीत सकता है जो काम के पिता का किंकर बन जाता है। काम जनक के पादपद्मों का आश्रय ग्रहण करके अपनी जीवन नौका उनके ही अधीन कर देता है। तपस्या करके कितनी भी शक्ति संचय क्यों न करलो कैसे भी दुर्लभ वर प्राप्त क्यों न करलो, अन्त में तो काम का लक्ष्य बनना ही पड़ेगा। अतः संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में उन्हीं प्रभु को व्यापक समझकर त्याग भाव से धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करना चाहिये। अधर्म पूर्वक दूसरों की वस्तु पर मन न डिगाना चाहिये। भूलकर भी काम के अधीन न होना चाहिये। जो काम के अधीन हो जाते हैं वे पीछे पछ-ताते हैं।

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! आप ने जो सुन्द उपसुन्द की मुझसे कथा पूछी है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ।

भगवान् कश्यप की दिति नामक पत्नी से हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष नामक दो दैत्य हुए। हिरण्याक्ष के वंश मे एक निकुम्भ नामक बड़ा प्रतापी असुर हुआ। सुन्द उपसुन्द उसी निकुम्भ के प्रिय पुत्र थे। दोनों भाई परस्पर में बड़े ही स्नेह से रहते। दोनों साथ ही साथ नहाते, दोनों साथ ही साथ एक थाली में खाते दोनों साथ ही सिंहासन पर बैठते, साथ ही लेटते, साथ ही सोते, साथ ही समस्त राज्य, सुखों का उपभोग करते सारांश यह कि वे दोनों प्राण अपान के समान रहते। उनमें परस्पर में ऐसा प्रेम था, कि किसी भी बात में उन दोनों

में मत भेद नहीं होता था। वे जो भी काम करते साथ ही साथ करते।

दोनों ने अरण्य में जाकर साथ ही साथ घोर तपस्या की, निराहार रहकर स्वांस रोककर वे उग्र तप करने लगे। देवताओं ने उनके तप में भाँति-भाँति के विघ्न किये किन्तु वे दोनों भाई, उन विघ्नों से तनिक भी विचलित नहीं हुए। यही नहीं उनके कारण वे और भी कठोर तप करने लगे। उनके तप से तुष्ट होकर लोक पितामह ब्रह्माजी उनके समीप आये और वर माँगने को कहा। अपने सम्मुख लोक पितामह चतुरानन को देखकर वे दैत्य हाथ जोड़कर कहने लगे—"देव! यदि आप हम पर सन्तुष्ट हैं तो हमें चार वर दीजिये। एक तो हम अमर हो जायँ, दूसरे हमें कोई जीत न सके, हमारे शरीर में अपार बल आ जाय। तीसरे बिना सीखे हमें समस्त अस्त्र-शस्त्र आ जायँ। चौथे हम इच्छानुसार रूप रख सकें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो भाई! सुनलो मेरी सच्ची सीधी बात। मैं और सब वर तो दे सकता हूँ। किन्तु अमरत्व प्रदान नहीं कर सकता। अमर तो देवता ही हैं, जन्मधारी को एक दिन मरना अवश्य है। अतः तुम अपने दीर्घजीवन के लिये जैसे चाहो वैसे बचाव करलो। अपनी मृत्यु का कोई असम्भव कारण सोच लो, उसे छोड़कर मैं सबसे तुम्हे अमर निर्भय बना दूँगा।

यह सुनकर उन दैत्यों ने सोचा—"हम दोनों में इतना प्रेम है, कि कोई भी हम में भेदभाव नहीं डाल सकता। किसी भी कारण से हम एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हो सकते। यही सब सोच समझकर वे बोले—"अच्छा भगवन्! हम किसी

भी चराचर जीव से न मरे। यदि हमारी मृत्यु हो, तो परस्पर में लड़कर ही हो।"

ब्रह्मा ने कहा—"एवमस्तु! ऐसा ही होगा। ऐसा वर देकर वे चले गये। ब्रह्माजी के जाते ही उन दोनों के शरीर में अपार बल आ गया। अब तो उनका अभिमान अत्यधिक बढ़ गया। उन्होंने ऐसी सेना सजाकर सर्वप्रथम स्वर्ग पर चढ़ाई कर दी। देवताओं ने ब्रह्मा बाबा के विचित्र वरदान की बात सुन रखी थी। अतः वे उसके आते ही स्वर्ग से भाग गये। अनायास ही उन्होंने बिना लड़ाई भिड़ाई के स्वर्ग जीत लिया। अब तो उन्होंने तीनों लोकों पर विजय कर ली। दोनों वरदान के दर्प से संदर्पित हुए इधर-उधर घूम-घूमकर ब्राह्मणों को दुःख देने लगे उनके यज्ञों को विध्वंस करने लगे नाना रूप रखकर मुनियों को खाने लगे। उनके राज्य में यज्ञ याग करना असम्भव हो गया। सर्वत्र हाहाकर मच गया। धार्मिक कार्य लुप्त प्रायः हो गये। जनता में अनाचार कदाचार और व्यभिचार बढ़ गया। तीनों लोक उनके अधीन हो गये।

जब उनका कोई सामना करने वाला, लड़ने वाला नहीं रहा, तब तो वे संसारी भोगों में आसक्त हो गये। सुन्दर वनों और उपवनों में पर्वत की कंदरा और उपत्यकाओं में जा जा कर सुर सुन्दरियों के साथ काम क्रीड़ायें करने लगे। बहुत सी गन्धर्व किंपुरुष विद्याधर की कन्यायें गाकर बजाकर नृत्य करके उन्हें रिझातीं, उनको संगीत सुनाकर प्रसन्न करतीं, वे दोनों भी यथेच्छ वारुणी पान करके उनके साथ आमोद प्रमोद करते इस प्रकार विषय भोगों में लिप्त हो जाने से वे विषयासक्त बन गये। फिर भी उनमें ज्यों का त्यों प्रेम भाव बना हुआ था।

एक दूसरे को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। उनके कारण यज्ञादि धर्म कार्य सब बन्द हो गये थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो उन दुष्ट दैत्यों के अत्याचारों से दुखी होकर देवता ऋषि मुनि आदि मिलकर लोक पितामह ब्रह्माजी के पास गये और हाथ जोड़कर स्तुति विनय करके बोले—"विभो! आपने उन दुष्ट दैत्यों को कैसे कठिन वर दे दिये, वे तो सृष्टि के संहार पर ही उतारू हैं धर्म कर्म सभी को चौपट कर रहे हैं यदि उन्हें मारने का कोई उपाय नहीं किया जाता, तो वे संसार से धर्म हटा ही देंगे।"

देवता तथा ऋषियों की बात सुनकर सर्वज्ञ कमलासन कुछ काल मौन होकर उनके मारने का उपाय सोचते रहे? फिर बोले—"देवताओं और ऋषियों! यद्यपि उन्होंने तप के प्रभाव से दुर्लभ वर प्राप्त कर लिये हैं, तो भी मैं उन्हे युक्ति पूर्वक मरवा दूंगा। तुम किसी बात की चिन्ता मत करो।" यह कह कर ब्रह्माजी ने विश्वकर्मा को बुलाया और उनसे बोले—"हे विश्व कर्मन! तुम सब वस्तुओं को बनाने में विशारद हो। तुम कोई ऐसी सुन्दरी प्रमदा बनाओ, जिसके समान त्रैलोक्य में कोई भी सुन्दरी न हो। आज ही तुम्हारी चातुरी की परीक्षा है।"

ब्रह्माजी के ऐसे उत्साहवर्धक वचन सुनकर विश्वकर्मा बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मनोयोग के के साथ विश्व की समस्त वस्तुओं से सुन्दर सौन्दर्य एकत्रित करके एक स्त्री की रचना की। वह स्त्री क्या थी सौन्दर्य रूप रत्नों की खान थी। तिल तिल करके सौन्दर्य एकत्रित करके उसका निर्माण बड़े चातुरी से किया गया था। असंख्यों रत्नों की आभा उसके रोम रोम में जड़ दी थी। उसके अंग में एक तिल भर भी ऐसा स्थान नहीं

था, जिसमें सौन्दर्य न हो सुषमा न रही हो। यौवन के भारसे मद माती अलसाती सभी को अपनी चितवन से विमुग्ध बनाती वह भगवान ब्रह्मा के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ी हो गई और नम्रता के साथ बोली—हे "जगदीश्वर! मेरी रचना किस कारण से हुई? मुझे कौन सा कार्य करना है?"

ब्रह्माजी ने कहा—"हे सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी! तुम सुन्द उपसुन्द के समीप जाओ और अपने रूप का जादू डालकर उन दोनों को फँसा लो। जिससे उनमें परस्पर में विरोध हो जाय। तुम्हें छोड़कर संसार में उन्हें न कोई जीत सकता है न मार सकता है। तुम्हारे अंगों में तिलभर भी स्थान ऐसा नहीं जो उत्तम न हो। अतः तुम्हारा नाम तिलोत्तमा ऐसा प्रसिद्ध होगा।"

यह सुनकर उस तिलोत्तमा ने ब्रह्माजी को प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके चलने को उद्यत हुई। मुनियो! उसके सौन्दर्य को देख कर सभी विमुग्ध हो गये थे। सभी उसे एकटक निहार रहे थे। यहाँ तक कि देवाधि देव महादेव भी उसे देखते रहे। श्रेष्ठ पुरुष ठहरे। छोटे पुरुषों की भाँति मुख मोड़कर कैसे देखते, अतः परिक्रमा करते हुए वह जिधर घूमती उधर ही शिवजी के मुख निकल आता ऐसे शिवजी के चारों दिशाओं में मुख हो गये। इन्द्र की दो नेत्रों से तृप्ति नहीं हुई अन्त में उनके अंग अंग से नेत्र निकल पड़े। वे सहस्राक्ष हो गये सारांश इतना ही है कि ब्रह्माजी को छोड़कर सभी देवता उसके रूप पर मुग्ध हो गये। तब सब ने समझा कि यह तिलोत्तमा विश्व विजयी सुन्द उपसुन्द दोनों को अवश्य ही अपने वश में कर लेगी।

ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर वह रक्त वर्ण की एक अत्यन्त पतली

साड़ी पहिने अलसाती, इठलाती, कमल घुमाती भौंहे मटकाती, कटाक्ष रूपी बाणों को चलाती, हावभाव दिखाती मद में मतवाली सी होकर उन दोनों भाइयों के समीप आई। वन्य प्रदेश में वासन्ती श्री छिटक रही थी। चारों ओर पुष्प खिल रहे थे, शीतल, मंद, सुगन्धित वायु चल रही थी, वृक्षों पर बैठी कोकिला कुहूँ कुहूँ कर रही थी। वे दोनों भाई गन्धर्व ललनाओं से घिरे आनन्द प्रमोद में लगे थे। गन्धर्व गा रहे थे, सुन्दर, से सुन्दर अप्सरायें नृत्य कर रही थीं, सहस्रों सुर सुन्दरी उन सर्व समर्थ सुररिपुओं की सेवा मे समुपस्थित थीं। उसी समय उन दोनो भाइयों ने दूर पर खड़ी हुई तिलोत्तमा को देखा। वह मन्द मन्द हँसती हुई कटाक्ष पात कर रही थी सुन्द उपसुन्द सुरा के मद में मतवाले हो रहे थे, उनके नेत्र अत्यधिक आसव के पान से लाल लाल हो रहे थे। उन्होंने इस विघूर्णित नेत्रों वाली ललना ललाम को दूर से ही देखा। देखते ही वे दोनों काम के वश मे हो गये और दोनों ही शीघ्रता से उसे पकड़ने दौड़े एक साथ दोनों उसके समीप चले गये। एक ने उसका बायाँ हाथ पकड़ा दूसरे ने दायाँ। और स्नेह भरी वाणी में दीनता पूर्वक उससे बोले—"हे त्रैलोक्य सुन्दरी! हम तुम्हारे अधीन हैं, तुम हम पर दया करो। हमें अपनाओ और अपना किंकर बनाओ।"

वह भय का नाट्य दिखाती, अलसाती, मदमाती बोली—मै तो तुम लोगों से ऐश्वर्य और पराक्रम की प्रशंसा सुनकर आई ही हूँ, किन्तु तुम सर्व समर्थ होकर मेरे धर्म की रक्षा करो तुम दोनों में से कोई एक मुझे विधि पूर्वक ग्रहण करो। एक मुझे अपनी पत्नी बना लो।"

यह सुनकर सुन्द बोला—"उपसुन्द! तू इसका हाथ छोड़

दे। मैं इसके साथ विवाह करूँगा। मैंने इसे मन से पहिले ही वरण कर लिया है अतः धर्मतः यह मेरी पत्नी होने से तेरी माता के समान है।"

उपसुन्द तो उस पर ऐसा अनुरक्त हो गया था, कि प्राणों के रहते उसे कभी छोड़ने वाला नहीं था। वह क्रोध से लाल लाल आँखें करके बोला—"भाई जी! आप कैसी धर्म विरुद्ध बातें कर रहे हैं। इसका सर्वप्रथम हाथ तो मैंने पकड़ा है। मेरी पत्नी होने से आपकी पुत्रवधू के समान है। इसे आप छोड़ दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब क्या था। कलह का बीज बोगया। दोनों दूसरे को कुवाच्य कहने लगे। फिर अस्त्र शस्त्र लेकर युद्ध करने लगे। युद्ध करते-करते दोनों ही मरकर पृथिवी पर गिर पड़े। देवताओं ने जय जयकार किया। अप्सराओं ने पुष्प वृष्टि की, ब्रह्माजी ने तिलोत्तमा की प्रशंसा की। सूर्य मण्डल के साथ घूमने का और सर्वश्रेष्ठ सुर सुन्दरी होने का वर दिया। जिस कार्य को ब्रह्मादि देवता भी न कर सके उसे तिलोत्तमा मोहिनी देवी ने क्षण भर में कर दिखाया। "बोल दे मोहिनी देवी की जय"

सूतजी कहते हैं—"सो मुनियो! भगवान तो जानते थे, ये असुर मोहिनी बिना वश में नहीं हो सकते। अतः वे मोहिनी बन गये। चाहे मोहिनी बनें या मोहना उनकी समस्त चेष्टायें संसार के कल्याण के ही निमित्त होती हैं। कर्म तो सब एक से ही हैं, केवल भाव से उनमें भेद हो जाता है। माता, बहिन तथा पुत्री का स्पर्श एक ही भाँति, एक ही अंगों से करते हैं किन्तु भेदभाव से उस उस स्पर्श में भेद हो जाता है। मनुष्य प्राणों को, धनको, मनको, वाणी को तथा समस्त कर्मों

को अपना समझकर भेद बुद्धि से जो व्यापार करता है वह पुरुषार्थ करने पर भी व्यर्थ हो जाता है, उसका फल तुच्छ होता है। उन्हीं कार्यों को विष्णु प्रीत्यर्थ, भगवत् सेवा बुद्धि से करें तो वे ही कर्म अक्षय हो जाते हैं। सब में ईश्वर को व्याप्त समझकर उनकी प्रसन्नता के लिये ही सब कार्य करने चाहिये।

यद्यपि देवता और दैत्यों ने समान कर्म किया। फल भी समान ही निकला किन्तु देवताओं ने भगवान् का आश्रय ग्रहण किया था, उन नित्य अविनाशी प्रभु की प्रसन्नता के हेतु परिश्रम किया था, अतः उन्हें पीने को अमृत मिला। असुरों ने आसुरी बुद्धि से केवल अनित्य क्षण भंगुर शरीर को पोसने का ही काम किया था छल कपट से छीन झपट कर अमृत पर अधिकार जमा लिया था। इसीलिये उनका पुरुषार्थ सफल नहीं हुआ। आया हुआ अमृत हाथ से निकल गया। स्वेच्छा से उन्होंने दे दिया। सो महाराज! यह मोहिनी रूप भगवान् की एक लीला ही है।

श्रीशौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! भगवान् की तो सभी चेष्टायें लोक कल्याणार्थ ही होती हैं। अच्छा तो फिर क्या हुआ? अमृत छिन जाने पर दैत्य क्रुद्ध तो अवश्य हुए होंगे। क्रुद्ध होकर उन्होंने क्या किया। इस समुद्र मन्थन की कथा को आप पूरी करें।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! दैत्य तो दैत्य ही ठहरे। अमृत छिन जाने पर वे अत्यधिक क्रुद्ध हुए उन दोनों में जैसा घोर देवासुर संग्राम हुआ, उसे मैं आप को सुनाऊँगा। मेरे गुरु-देव भगवान् श्रीशुक ने राजा परीक्षित को आगे की कथा जिस

प्रकार सुनाई उसी को मैं आप सब को सुनाऊँगा। आप सब इसे सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

कामी दैत्यनि हेतु सुघर बिधि बधू बनाई।
खलनि फँसावन रूप जाल लै भामिनि आई॥
मेरी मेरी करत परस्पर भिड़ै प्रेम तजि।
मरै नारि के हेतु लड़ै दोऊ ही सजि बजि॥
करे कर्म हरिभाव तैं, जीव मात्रकूँ होहिं सुख।
स्वार्थ हेतु श्रम जे करैं, ताको ध्रुव परिणाम दुख॥

देवता और असुरों का युद्ध

(५२६)

सपत्नानां परामृद्धिं दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः ।
अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान् प्रत्युद्यतायुधाः॥
ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः ।
प्रतिसंयुयुधः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः ॥

(श्री भा० ८ स्क० १० अ० ३,४ श्लो०)

छप्पय

अमृत पान सुर कर्यो असुर मिलि लरिबे आये ।
अमर सबल सुर भये न पीछे पैर हटाये ॥
दोनो ही रनसूर परस्पर शस्त्र चलावें ।
नाना बाहन चढ़े युद्ध कौशल दिखलावें ॥
गुत्थम गुत्था ह्वै गई, मारो काटो मचि गई ।
कटि कटि सिर वसुधा भरी, सरिता शोणितकी भई ॥

जीव जब क्रोध में भर जाता है अपने स्वार्थ पर आघात होते देखता है, अपने को बली शूरवीर साहसी समझता है

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपने शत्रुओं की श्री वृद्धि को वे दिति पुत्र असुर सहन नहीं कर सके वे अस्त्र शस्त्र लेकर सुरों से संग्राम करने को उद्यत हो गये तब देवता भी अपने प्रयुधों को लेकर असुरों से युद्ध करने लगे। उन्होंने श्री हरि के चरणों का आश्रय ले रखा था और अमृत पीकर सबल भी हो गये थे।"

और विपक्षी के अशिष्ट व्यवहार से क्षुभित हो जाता है, या अपनी शक्ति का सार्वजनिक प्रदर्शन करना चाहता है, तो वह लड़ने को उद्यत हो जाता है। लड़ना भिड़ना कुछ अच्छी बात तो है नहीं, किन्तु प्राणी लड़े बिना रह नहीं सकता। जैसे बिना प्यार किये कोई नहीं रह सकता वैसे ही बिना लड़ाई के रहना कठिन है। लड़ना जीव का स्वभाव है। जहाँ युद्ध नहीं वहाँ जीवन नहीं। जहाँ युद्ध नहीं वहाँ वृद्धि नहीं। जहाँ समर नहीं वहाँ साहस नहीं, जहाँ विपक्षी नहीं वहाँ सचेष्टता नहीं जीवन एक युद्ध ही है। संसार एक युद्ध स्थली है, इसमें निर्बलों का निर्वाह नहीं। जब बल ही न हो, तो पराधीन रहो या दुख भोगो सबल हो वीर हो तो वसुन्धरा की सामग्रियों का सुख पूर्वक उपभोग करो। जीवन संग्राम में आगे बढ़ो या मरो। यही मूल मन्त्र है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! समुद्र मथने पर अमृत निकला। परिश्रम देवता दानवों ने समान किया, किन्तु हरि विमुख होने के कारण असुर उसके मधुर फल से वञ्चित ही रहे देवताओं ने भर भर भर पेट अमृत पीया। श्रीहरि के अनुकूल होने से उन्हें अपने उद्योग का यथेष्ट फल प्राप्त हो गया। मोहिनी बने भगवान् ने उन्हें तृप्त कर दिया सूर्य चन्द्रमा को अमृत पिलाकर राहु के सिर को काट कर मोहिनी माई यह गई वह गई। अब वहाँ न मोहिनी न मोहिनी की साड़ी। अब तो वहाँ शङ्ख चक्रधारी, पीताम्बर धारी मुरारी बनवारी हँसते हुए दिखाई दिये। असुरों की अब आँखें खुली। अब उनका काम मद उतरा। अब उनको चेत हुआ अरे! यह तो ठगिया विष्णु था। यह तो बहुरूपिया विष्णु ने कपट वेष बना लिया था। हम इस मिथ्या मोहिनी के भ्रममें फँसकर व्यर्थ ठगे गये हमें इस

मायावी हरि ने हराने के लिये ही यह षड्यन्त्र रचा था। अच्छी बात है, कोई चिन्ता नहीं। पी लेने दो इन नपुंसकों को अमृत। देखें ये हमारा क्या कर सकते हैं। अभी हम इन्हें अपने किये का फल चखाते हैं, अभी विष्णु को यम सदन पठाते हैं, अभी देवताओं को अपना बल पौरुष दिखाते हैं। अभी इन्हें मारकर भगाते हैं। ये हैं किस खेत की मूली। इन्हें हम मार डालेंगे, पीस डालेंगे।" इस प्रकार दाँतों को किट किटाते, मारो काटो, पकड़ो, जाने न पावे, इस प्रकार चिल्लाते वे अस्त्र-शस्त्र लेकर देवताओं के ऊपर दौड़े।

देवता पहिले से ही सावधान थे। अमृत पीकर वे सबल भी बन चुके थे। लक्ष्मीजी के उत्पन्न होने से वे श्री सम्पन्न भी हो चुके थे। सबसे महत्व की बात यह थी कि वे प्रभु के पाद पद्मों को प्रेम पूर्वक पकड़े हुए थे। एक अच्युत का ही आश्रय रख कर वे अस्त्र-शस्त्र लेकर असुरों का सामना करने के लिये तत्पर हुए। इस प्रकार वहीं क्षीर सागर के तीर पर देवता दैत्यों में रोमाञ्चकारी परम भयावह घनघोर युद्ध होने लगा। रोष में भरकर एक दूसरे को ललकारने लगे। शत्रु के सम्मुख दहाड़ने लगे। विपक्षी वीरों के उत्साह को भंग करने और स्वपक्ष के उत्साह की वृद्धि के निमित्त वे विविध भाँति के रण बाजे बजाने लगे। वीर योद्धा वाहनों पर चढ़ चढ़कर सजने लगे। उस समय वीरों के गर्जन से, घोड़ों की पाद ध्वनि से, रथों की घर घराहट से शङ्ख, तूर्य, मृदङ्ग, वीणा, वेणु, पणव तथा डमरू आदि बाजों की उत्साह वर्धिनी ध्वनि से आकाश मंडल गूँज उठा। चारों ओर भीषण शब्द होने लगे। रथी रथियों से भिड़ गये, पैदल पदातियों से लड़ गये, हाथी हाथियों से जुड़ गये घोड़े घोड़ों की ओर मुड़ गये। कोई किसी को पटक कर उसकी छाती

पर चढ़ गये। इस प्रकार दोनों दलों में घमासान युद्ध होने लगा।

देवताओं की सेना तो पैदल अश्वारोही-गजारोही, और रथारोही इस प्रकार चार अंगों वाली थी, किन्तु असुरों के वाहन विचित्र थे। कोई ऊँटों पर चढ़े थे तो कोई गधे पर, कोई हाथियों पर तो कोई घोड़ों पर, खच्चरों पर चढ़े थे तो कोई भैंसों पर। कोई रीछों पर कोई व्याघ्रों पर कोई मृगों पर कोई सूअरों पर कोई बिल्लियों पर, कोई चूहों पर, कोई मेढकों पर कोई पतंगों कोई गिरगिटों पर, कोई सांपों पर कोई गिद्धों पर कोई चील्हों पर कोई कौओं पर, कोई कबूतरों पर कोई बतखों पर बगुलों पर कोई बैलों पर कोई बकरों पर कोई भेड़ों पर कोई खरहों पर कोई लोमड़ियों पर कोई बिच्छुओं पर कोई बर्रों पर, कोई मक्खियों पर कोई चींटियों पर। कोई छिपकलियों पर कोई दीमकों पर। सारांश यह है कि कोई ऐसा जीव नहीं था जो असुरों का वाहन न हो।

इस पर शौनक जी ने पूछा सूतजी—"यह तो आप ऐसी बातें कहते हैं, जो बुद्धि के बाहर की हैं कभी कभी आवेश में आकर ऐसा वर्णन कर जाते हैं, कि धुनि बांध देते हैं। भला, हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, गधा, खच्चर, सिंह व्याघ्र आदि वाहन तो कहीं तक उचित भी है। चूहे बिल्ली, मच्छर चींटी गिरगिट, उल्लू ऊदबिलाव मकरी, दीमक आदि तनिक तनिक से जन्तुओं पर पहाड़ समान असुर कैसे चढ़े होंगे। यह तो बुद्धि के बाहर की बात है।"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी! महाराज वे कोई साधारण मच्छर थोड़े ही थे। उन असुरों ने ही ऐसे रूप रख लिये थे। एक वाहन बन गया था दूसरा उसके ऊपर

चढ़ गया था। मायावी दैत्य इच्छानुरूप रूप धारण कर सकते हैं माया से वे जो चाहें बन सकते हैं। इसीलिये उन्होंने इच्छानुसार रूप बना लिया। इन्हें सब आप माया निर्मित समझें। अब आप इस युद्ध को मानवीय युद्ध के साथ तुलना करेंगे, तो गाड़ी आगे चल ही नहीं सकती। यह तो माया का युद्ध था। माया में कोई भी बात असम्भव नहीं। माया में सब कुछ संभव है।

शौनक जी बोले—"अच्छा, सूतजी! ठीक है, हाँ तो फिर क्या हुआ?"

सूतजी शीघ्रता से बोले—"फिर क्या हुआ महाराज! युद्ध हुआ, घमासान युद्ध हुआ, तड़ातड़ी हुई, चटाचटी हुई, खटा-खटी हुई अब के इसने उसके मारा, उसने इसके मारा, उसने इसे पछाड़ा इसने उसे लताड़ा। एक ने दूसरे का सिर काटा, दूसरे ने उसे वीरता पूर्वक वचनों से डांटा। इस प्रकार वे परस्पर एक दूसरे से भिड़ गये। दोनों सेनाओं के वीरों की पताकायें हिल रहीं थीं, सेनायें युद्धार्थ मिल रही थीं। शुभ्र और निर्मल छत्र चमक रहे थे मनोहर मणि मय मुकुट दमक रहे थे, चमरी के शुभ्र चमर हिल रहे थे, रंग बिरंगे दुपट्टे वायु में उड़ रहे थे। उस समय देवता और असुरों की मिली हुई सेना उसी प्रकार गर्जन कर रही थी मानों धनुष कोटि में दो समुद्र मिल कर परस्पर में लड़ रहें हों और उनकी उत्ताल तरंगे पर-स्पर में टक्कर खाकर आकाश की ओर शब्द करती हुई ऊँची उठ रहीं हों।

दैत्यों की सेना के अधिनायक प्रह्लाद के पौत्र विरोचन के पुत्र बलि थे उधर देवताओं के सेनापति शचीपति इन्द्र थे। दैत्यराज बलि मय दानव के बनाये वैहायस नामक विमान पर

चढ़े ऐसे ही शोभित होते थे, मानों आकाश में सूर्य उदय ही हो रहा हो। उनके प्रबल प्रताप से दशों दिशायें प्रकाशित हो रही थीं। अन्य दैत्य यूथपति उनका अनुसरण कर रहे थे। उनके ऊपर उज्वल श्वेत छत्र लगा हुआ था दोनों ओर चमर ढुल रहे थे। वे आकाश में उत्तम ग्रह के समान शारदीय चन्द्र के समान दिखाई देते थे। उनकी रक्षा के निमित्त विमान को घेरे हुए नमुचि, शम्बर, विप्रचित्त, आयोमुख, द्विमूर्धा काल नेमि, प्रहोति, होति, इल्वल, वातरिपु, शकुनि, भूत संताप वज्र-दंष्ट्र विराचन, हयग्रीव, शङ्क शिरा, कपिल, मेघन्दुमि, तारक, शुम्भ निशुम्भ, जम्भ उत्कल, अरिष्ट नेमि, मय, त्रिपुर निवासी दैत्यगण पुलोमा वंश के असुर, कलेप और निवातकवचादि बड़े बड़े मायावी बलवान दैत्य अस्त्र शस्त्र लिये युद्धार्थ उपस्थित थे। ये बड़े बली थे, अनेकों बार इन्होंने देवताओं को परास्त किया था और अनेक बार देवताओं से भी हारे थे। अमृत न मिलने के कारण ये अत्यंत कुपित हो रहे थे। एक दूसरे को उत्साहित कर रहे थे, दाँत पीस रहे थे, ताल ठोंक रहे थे, पैंतरे दिखा रहे थे, अस्त्र शस्त्रों को घुमा रहे थे। देवताओं को पीस डालना चाहते थे। वे अपने अपने शंखों को बजा रहे थे। वाहनों को सजा रहे थे, खड्गों को हिला रहे थे। ये सभी रणरङ्गदुर्मद असुर सब प्रकार से सुसज्जित होकर सुरों की सेना पर टूट पड़े।

इधर अमराधिप इन्द्र असुरों को सुसज्जित और युद्ध के लिये उद्यत देखकर परम क्रुद्ध हुए। वे चलते फिरते पर्वत के समान मदमाते ऐरावत हाथी पर विराजमान थे। गन्धर्व उनके गुन गा रहे थे। त्रैलोक्य की श्री ने उन्हें पुनः वरण कर लिया था। अमृत पी लेने से वे निर्भय निःशंक और साहसयुक्त

हो गये थे। उनके वाहन ऐरावत के गंडों से निरंतर मद चू रहा था मानों पर्वत शिखर से दो झरने गिर रहे हों, उसके ऊपर विराजमान इन्द्र उसी प्रकार शोभित हुए मानों उदयाचल पर दिननाथ भगवान् भुवन भास्कर उदित हो रहे हों। उनके चारों ओर उनचास मरुत वरुण कुबेर, यम, सूर्य चन्द्र तथा अन्य भी मुख्य मुख्य देवता अपने अपने वाहनों पर चढ़े उनका अनुगमन कर रहे थे। अब तो दोनों ओर से भिड़ंत आरंभ हो गई। सबने अपने अपने जोटिया चुन लिये। अपने अपने समान के वीरों के साथ सम्पूर्ण शक्ति लगाकर सुरासुर युद्ध करने लगे। इन्द्र और बलि का भयंकर लोमहर्षण तुमुल युद्ध हुआ दोनों ही एक दूसरे को तीखे तीखे बाणों से वेधने लगे। दोनों ही दिव्य अस्त्रों के प्रयोग से एक दूसरे के अंगों को क्षत विक्षत बनाने लगे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिस प्रकार इन्द्र और बलि में युद्ध हो रहा था, उसी प्रकार अन्य भी अपना अपना प्रतिद्वंदी चुनकर प्राणों का पण लगाकर घनघोर युद्ध करने लगे।"

छप्पय

चढ़ि के दिव्य विमान विरोचन सुत बलि आये।
इति ऐरावत चढ़े शचीपति परम सुहाये॥
निज निज शंख बजाइ सुरासुरपत हरषावत।
दिव्य अस्त्र लै भिड़े वज्र अरु गदा घुमावत॥
युद्ध इन्द्र बलि को लख्यो, सब जोड़ी खोजन लगे।
वीर हृदय उमगन लगे, कायर रन तजि के भगे॥

देव और दैत्यों का द्वन्द्व युद्ध

(५३६)

तेऽन्योन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः ।
आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः ॥❀
(श्री भा० ८ स्क० १० अ० २७ श्लो०)

छप्पय

तारक सङ्ग कुमार मयासुर सँग शिल्पी सुर ।
वरुणहेतितैं लड़ैं त्रिपुररिपु सङ्ग जम्भासुर ॥
त्वाष्ट्रा शम्बर सङ्ग सूर्यतैं लड़ैं विरोचन ।
अपराजित सङ्ग नमुचि बृहस्पति तैं इकलोचन ॥
वृषपर्वा सुर वैद्य सङ्ग, राहु चन्द्रमातैं लड़ैं ।
महिषासुर सुर वदन सङ्ग, सौ बलिसुत रवितैं भिड़ैं ॥

अधिक लोग जब मिलकर उत्साह से किसी काम को करते हैं, तो अन्य लोगों का भी साहस बढ़ता है, वे भी प्रभाव में बहकर अपनी शक्ति से बाहर कार्य कर जाते हैं। जहाँ बहुत से लोग किसी संस्था को दान कर दे रहे हों तो देखा देखी कृपण भी कुछ दे देते हैं। जहाँ बहुत से भावुक भक्त भजन कीर्तन करते हों, वहाँ अन्य लोग भी उनकी देखा देखी उसमें

❀श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वे दैत्य और देवता एक दूसरे को ललकारते हुए, मर्म भेदी शस्त्रों की वर्षा करते हुए, रण में आगे बढ़ कर परस्पर में दो दो मिल कर युद्ध करने लगे।"

सम्मिलित हो जाते हैं। इसी प्रकार वीर योद्धाओं को लड़ते देखकर तथा युद्ध के बाजे बजते देखकर कायरों की धमनियों में भी वीरता के रक्त का संचार होने लगता है। वे भी उत्साह में भरकर लड़ने लग जाते हैं। अपने पक्ष के लोगों को सैनिक और सेनापतियों को घनघोर युद्ध करते देखकर दोनों पक्ष के सैनिक अपनी विजय के लिये सतत प्रयत्न करते हैं और यथा-शक्ति कुछ उठा नहीं रखते।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! जब बलि और इन्द्र का परस्पर में घोर युद्ध होने लगा, तब सब के शरीरों में उत्साह भर गया। सभी अपनी जोड़ी खोज खोजकर युद्ध में प्रवृत्त हुए। इधर देवताओं के अधिपति इन्द्र थे तो उधर असुरों के अधिपति महाराज बलि थे। दोनों में युद्ध होने लगा। असुरों के शिल्पी मयासुर ने सुरों के शिल्पी विश्वकर्मा से कहा—"लाओ, भाई! हमारे तुम्हारे भी दो दो हाथ हो जायँ।" विश्वकर्मा भी कुछ कम नहीं थे, लड़ने का उत्साह उनका भी प्रबल हो रहा था। भर पेट अमृत जो पी लिया था। दोनों परस्पर भिड़ गये और होने लगी मार काट उधर से कहीं असुरराज वृषपर्वा जिनकी कन्या को महा-राज ययाति ने ग्रहण किया था आ निकले। प्रतीत होता है ये भी चिकित्सा शास्त्र के ज्ञाता रहे होंगे, तभी तो इन्होंने अपनी जोड़ी देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमारों से लगाई। ये दोनों मिलकर लड़ने लगे। असुरों का सेना नायक तारका-सुर था और देवताओं के सेनानायक स्वामिकार्तिकेय षडानन थे। दोनों सेनानायक परस्पर मे भिड़ गये। उसी समय सबको एक आँख से देखते हुए असुरों के गुरु एकाक्षी शुक्राचार्यजी आ पहुँचे देवताओं के गुरु बृहस्पति जी भी वहाँ धूम रहे थे।

हँसकर शुक्राचार्य ने कहा—"देवगुरो ! आज सब अपनी अपनी जोड़ी लगाकर लड़ रहे हैं हमारे तुम्हारे भी दो दो हाथ हो जायँ । यद्यपि ब्राह्मण का कार्य लड़ना नहीं है, फिर भी हमें अपने शिष्यों का पक्ष लेकर लड़ना ही चाहिए। पुरोहित के लिए धर्मयुद्ध मे प्रवृत्त होना अधर्म नहीं है ।"

यह सुनकर हँसते हुए देव गुरु बृहस्पति जी बोले—"हमारी तुम्हारी क्या जोड़ी, तुम्हारी एक आँख हमारे दो। लड़ें भी तो किसी दो आँख वाले से लड़ें । एकाक्षी का तो दर्शन भी अशुभ माना जाता है ।"

यह सुनकर कुपित होकर शुक्राचार्य बोले—"आँख से क्या लेना । युद्ध तो हाथों से होगा, हाथ हमारे तुम्हारे समान हैं, तुम सुरों के पुरोहित हो, मैं असुरों का होने दो, दोदो हाथ ।"

बृहस्पति जी बोले—"मैं किसी से कम थोड़े हूँ, तुम नहीं मानते हो, तो आ जाओ। यह कहकर वे शुक्राचार्य से भिड़ गये। अब तो होने लगी दोनों ओरसे गद्द पद्द । आज पुरोहितों को लड़ते देखकर देवता असुर परम विस्मित् हुए। अब तो सब ही अपने अपने बराबर के योद्धा की खोज करने लगे। हेति नामक असुर जल के स्वामी लोकपाल वरुण से भिड़ गया। उसका भाई प्रहेति मित्र नामक सूर्य के साथ । हाथ में दन्ड और पाश लिये हुए लोकपाल यमराज काल नेमि नामक परम पराक्रमी असुर के साथ द्वंद्व युद्ध करने लगे। शम्बरासुर के साथ विश्वकर्मा के पिता त्वष्ट्रा रण में कूद पड़े। सविता नामक सूर्य के साथ विरोचन भिड़ गये। भृति अपराजित से नमुचि लड़ गये । राजा बलि के बाणासुर प्रभृति सौ पुत्र थे, उनके साथ सूर्य लड़ने लगे चन्द्रमा के साथ वैर स्मरण करके सिर कटा

राहु लड़ने लगा। इन्द्र के ससुर पुलोमा के साथ वायुदेव युद्ध करने लगे। भद्रकाली देवी शुम्भ निशुम्भ से लड़ने लगीं महादेव जी जम्भासुर से और अग्निदेव महिषासुर से। इल्वल और वातापी दोनों प्रसिद्ध दैत्य ब्रह्माजी के पुत्रों से लड़ने लगे।

दोनों ओर के वीर गर्ज रहे थे, तर्ज रहे थे, एक एक पर प्रहार कर रहे थे। दुर्मस के साथ कामदेव और वल्कल के साथ मातृगण, शनैश्चर के साथ नरकासुर तथा निवात कवचों से मरुद युद्ध करने लगे। कलियों में वसुगण पौलोमों के साथ विश्वदेव गण तथा क्रोधवशों के साथ रुद्रगण संग्राम करने लगे। अधिक कहाँ तक गिनावें जिसने जिसे अपने अनुरूप समझा, वह उससे भिड़ गया लड़ गया, जूझ गया।

दोनों ओर के वीर हुँकार मार रहे थे। एक दूसरे को क्रोध दिला रहे थे, कटु वाक्य कह रहे थे खड्ग, बाण, भाले, बरछी तथा अन्यान्य अस्त्र शस्त्रों को एक दूसरे पर फेंक रहे थे। बड़ी बड़ी तोपें चल रही थीं बन्दूकें छूट रही थीं। आकाश में विमानों पर बैठे कुछ लोग युद्ध कर रहे थे, पृथ्वी पर लड़ रहे थे। कुछ बिना अस्त्र के एक दूसरे को पकड़ कर पटक रहे थे। चारों ओर चक्र, गदा ऋष्टि, पतिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, परश्वध निस्त्रिंश, भाले, मुद्गर तथा भिन्दिपालों परिघों से प्रहार हो रहे थे। उस समय युद्ध क्षेत्र की शोभा दर्शनीय हो रही थी। वह एक विशाल समुद्र के समान प्रतीत हो रही थी। वीरों के कटे सिर ही मछलियों जैसे तैर रहे थे। चारों ओर रक्त का समुद्र सा बन गया था, उसमें कटे हुए हाथी ग्राहों के समान दीखते थे, वीरों की बाहुएँ ऐसी बह रही थीं मानों जल में सर्प घूम रहे हों, किरीटों के रत्न रक्त में से चमक जाते थे।

चारों ओर से वीरों के शब्द ऐसे प्रतीत होते थे मानों समुद्र गर्जन कर रहा है। धूलि का वहाँ नाम भी नहीं था। रक्त ने समस्त धूलि को शोष लिया। चारों ओर वस्त्र, आभूषण, ध्वजा, पताका, वाहन वीरों के अंग प्रत्यंग कटे हुए पड़े थे। बहुत से कटे सिर तड़प रहे थे, लुढ़क रहे थे। बहुत से कबन्ध हाथ में खड़ग लिये, बिना सिर के ही युद्ध कर रहे थे और शत्रु सेना का संहार कर रहे थे। कहीं कोई किसी को कुवाच्य कह कर क्रोधित कर रहे थे,तो कहीं बहुत से वीर एकसाथ ही किसी के हाथों से कट-कट कर मर रहे थे। कहीं कोई क्षतविक्षत होने पर भी रणक्षेत्र में पड़े जी रहे थे, तो कहीं कोई किसी के रक्त को पी रहे थे सभी एक दूसरे को पराजित करना चाहते थे। सभी विजय श्री का वरण करने को समुत्सुक थे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार वह देवासुर संग्राम की बड़ी ही सज-धज के साथ आरम्भ हुआ। महाराज! वीरों का उत्साह सहस्रों गुणा बढ़ रहा था! दोनों ही अपने को अमरजित मानते थे, इसीलिये युद्ध ने अत्यन्त ही भीषण रूप धारण कर लिया?"

छप्पय

नरकासुर शनि सङ्ग काम के सँग दुरमरषन।
क्रोध बशनितैं करै युद्ध निर्भय ह्वै शिव गन॥
अष्टबसुनितैं कालकेय मुनि सँग वातापी।
देवी काली संग लड़ैं, खल शुम्भ प्रतापी॥
एक दूसरेतैं लड़ैं, छोड़ि प्रानके मोह कूँ।
छोड़ि सकैं नहिं देवहू, सहज रिपुनिके द्रोहकूँ॥

इन्द्र के साथ बलि का माया युद्ध

(५३७)

एवं दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभीषणैः ।
सृज्यमानासु मायासु विपेदुः सुरसैनिकाः ॥

(श्रीभा० ८ स्क० १० अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

बलि सुरपतितैं लड़ैं करैं बाननि की वृष्टी ।
छूटत अस्त्र अमोघ प्रलय होगी जनु सृष्टी ॥
शतक्रतु मारन हेतु विविध विधि अस्त्र चलाये ।
बाल न बाँको भयो विपतितैं विष्णु बचाये ॥
दैत्यराज ढिँग युक्ति जब, कोई नहिँ बाकी बची ।
तब मायावी असुर ने, अति अद्भुत माया रची ॥

जीव जब धर्म को निर्बल समझकर माया का आश्रय लेता है, तब उसकी पराजय होती है। जो स्वयं मायावी है उसे प्रबल मायावी जीत सकता है किन्तु जिसे एक मात्र भगवान् का ही आश्रय है, उसका माया कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती, क्योंकि श्री हरि तो सभी मायाओं के पति हैं। भगवान् की

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिनकी गति अत्यन्त भीषण थी और जो दिखाई नहीं देती थी ऐसे महामायावी दैत्यों के अनेकों मायाओं के उत्पन्न करने पर देवता अत्यन्त ही विषाद को प्राप्त हुए।"

शरण में जाने से सभी मायायें व्यर्थ हो सकती हैं। माया का प्रभाव क्षण भर को सफल सा दिखाई देता है, अन्त में वह विफल हो ही जाती है, क्योंकि माया की शक्ति स्थायी नहीं। स्थायित्व तो भगवान् में ही है। भगवान् की भक्ति ही स्थाई है। भक्त का बल ही स्थित है। आसुरी माया तो नश्वर है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब सबने अपने अपने प्रतिद्वन्दी ही चुन लिये तब उनमें घनघोर रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। वह युद्ध क्या था। मानों असमय में प्रबल काल उपस्थित हो गया हो।

राजा बलि ने दस बाण मार कर देवेन्द्र को घायल किया तीन बाण उनके वाहन ऐरावत को पीठ पर मारे। चार बाणों से ऐरावत के चारों पैरों के रक्षकों को मारा और एक से हस्तिप को घायल किया। इस प्रकार दस और तीन तेरह-तेरह और चार सत्रह और एक अठारह बाण मारे।"

यह सुनकर हँसते हुए शौनक जी बोले—"सूतजी उन बाणों को बैठा-बैठा वहाँ युद्ध में गिन कौन रहा था?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज गिनने की क्या आवश्यकता है, मेरे गुरु के गुरु श्री भगवान् व्यासदेव ने समाधि द्वारा सब को प्रत्यक्ष करके ही लिखा है। दिव्य दृष्टि से भूत भविष्य तथा वर्तमान की सभी बातें जानी जा सकती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा तो फिर क्या हुआ? उन बाणों से क्या देवेन्द्र व्यथित हुए?"

सूतजी बोले—"नहीं महाराज! देवेन्द्र ने हँसते २ लीला से ही वे बाण काट दिये। मेरे गुरुदेव राजा परीक्षित् को इन्द्र और बलि के युद्ध का विशद् वर्णन करते हुए बता रहे हैं, कि बलि

के बाण जब व्यर्थ हो गये तो उसने इन्द्र पर एक बलवती शक्ति चलाई। किन्तु शतक्रतु ने तुरन्त ही छोड़ने से पूर्व ही उसे काट दिया।

जब बलि ने देखा अस्त्र शस्त्रों से मैं इन्द्र को नहीं जीत सकता। तब वह प्रत्यक्ष युद्ध छोड़कर वहीं अन्तर्धान हो गया। अन्तर्धान होकर उसने मय की बनाई आसुरी माया का आश्रय ग्रहण किया। माया से अनेक वस्तुओं का निर्माण करके वह देवताओं की सेना को व्यथित करने लगा। आकाश से गड़गड़ान तड़तड़ान होने लगी बड़े बड़े पत्थर देव सेना के ऊपर पड़ने लगे। पर्वतों के शिखर गिर-गिर कर सुर सैनिकों को कुचलने लगे दावाग्नि से वहाँ के वृक्ष आदि जलने लगे, पैने-पैने पत्थर सबके पेटों पर पड़ने लगे बड़े-बड़े सर्प बिच्छू ऊपर से गिर कर सैनिकों को काटने और ग्रसने लगे बली-बली व्याघ्र मुँह फाड़े गिर कर सेना के हाथियों को डराने लगे। बहुत सी भयंकर आकृति वाली राक्षसियाँ बाल बिखेरे, हाथ में त्रिशूल लिये नंग-धड़ंगी ऊपर से उतर कर रण भूमि में मारो काटो करती हुई विचरण करने लगीं। वह क्रोध से खींज रहीं, दांतों को पीस रही थीं, देवताओं को डरा रही थी, कर्कश वाणी में चिल्ला रही थीं। इतने में ही आकाश से अग्नि की वर्षा होने लगी, बिजली चमकने लगी वीभत्स सी दामिनी दमकने लगी। देव सेना में प्रचण्ड अग्नि उत्पन्न होकर सैनिकों और सामिग्रियों को स्वाहा करने लगी वीभत्स वायु बहने लगी। कभी अपार सागर दिखाई देता जिसमें उठती हुई उत्ताल तरंगें आकाश को स्पर्श सी करने लगतीं। चारों ओर हाहाकार मच गया। सुर सैनिकों के छक्के छूट गये। माया के प्रभाव से सभी दुखी होकर त्राहि-त्राहि करने लगे।

अब तो देवेन्द्र भी चिन्तित हुए। उन्हें माया के नाश का कोई उपाय ही न सूझता था। जब विपत्ति पड़ी तब उन्हें फिर विपत्ति भंजन श्रीहरि का स्मरण हुआ वे दीन होकर विश्व भावन भगवान् का ध्यान करने लगे। उन्होंने आर्त स्वर में कहा—"हे प्रभो! हम पर जब जब भीर पड़ी तभी आपने आकर हमारी रक्षा की। हमें तो असुरों ने स्वर्ग से भ्रष्ट ही कर दिया था आपने हमें समुद्र मंथन की शुभ सम्मति दी, आपने ही हमें सिखा पढ़ा कर युक्ति बताकर असुरों के समीप भेजा। आपने उनकी बुद्धि ऐसी बना दी कि उन्होंने हमारी बात मान ली। फिर जब मन्दराचल के लाने से हम सब थक गये क्लांत हो गये तो आपही गरुड़जी की पीठ पर मन्दर को उठाकर क्षीर सागर के समीप ले आये। क्षतविक्षत सुरों को स्वस्थ बनाया हमें सर्प मुख की ज्वाला से बचाया युक्ति से पूछ की ओर लगाया। डूबते हुए मंदर को कच्छपावतार धारण करके बचाया। मंदर के ऊपर बैठकर ऊपर से उसे डाँटे रहे वासुकि के बदन में निद्रा बनकर प्रवेश कर गये। देवता और असुरों में शक्ति बनकर बल प्रदान करते रहे। इतने पर भी जब अमृत न निकला तो अपनी चारों बाहुओं से स्वयं समुद्र को मथने लगे। बड़ी युक्ति से निकले हुए रत्नों का दोनों पक्षों को सन्तुष्ट करते हुए बँटवारा करते रहे। अन्त में अमृत निकलने पर जब वे दुष्ट दैत्य आपके अंशावतार धन्वन्तरि के हाथ से अमृत कलश को लेकर भग गये, तब आपने मोहिनी अवतार धारण करके हाथ से अमृत को छुड़ाया। हम पिपासितों को अमृत पिलाया। पंडितमानी खल असुरों को मोहकर मूर्ख बनाया। अब इस युद्ध में ये मायावी असुर हमें मोह में डाले हुए हैं। हे मायापति! हमें इस आसुरी माया से बचाइये।

अपने आश्रित भक्तों को शीघ्र आकर बचाइये। हे प्रभो! जैसे आपने सर्वत्र रक्षा की वैसे ही इस अवसर पर भी हमारी रक्षा करें।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं ने इस प्रकार दीन होकर आर्त स्वर में उन आर्त हारी अच्युत की स्तुति की तो शरणागत वत्सल भगवान् उसी समय प्रकट हुए। उस समय की भगवान् की शोभा अद्भुत थी। इस समय वे अष्ट भुजाओं को धारण किये हुए थे। नव पद्मदलायतेक्षण भगवान् वासुदेव अपने सुन्दर सुकोमल विश्ववन्दित चरण कमल को गरुण के कन्धे पर रखे हुए थे। उनकी शोभा अकथनीय थी। कानों में बहुमूल्य रत्नों से शोभित कनक कुंडल हिल रहे थे। वक्षःस्थल में लक्ष्मी जी कौस्तुभ मणि तथा विविध मणि मय मालायें अपनी शोभा का प्रदर्शन कर रही थी। भगवान् के तुरन्त प्रादुर्भाव होने से दुखित देवताओं के हृदय हरे हो गये। उन्हें बड़ा सहारा मिला। वे अब अपने को सुरक्षित समझने लगे।

छप्पय

माया निर्मित अंधकार सब जगमँह छायो।
विद्युत चमकै तीक्ष्ण बिना ऋतु घन घिरि आयो॥
नभतैं बरषैं सर्प ब्याघ्र सिंहादिक तरजैं।
राक्षस प्रेत पिशाच भूतगन घूमैं गरजैं॥
चंडी मुन्डी कालिका, लै त्रिशूल घूमत फिरत।
मारौ काटौ सुरनि कूँ, डाइन करकस रव करत॥

आसुरी माया का नाश और असुरों का विनाश

(५३८)

तस्मिन् प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा,
माया विनेशुर्महिना महीयसः ।
स्वप्नो यथाऽहि प्रतिबोध आगते,
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ॥

(श्री भा० ८ स्क० १० अ० ५५ श्लो०)

छप्पय

माया निरमित जन्तु जगतमहँ चहुँदिशि छाये ।
निरखी माया प्रबल आसुरी सुर घबराये ॥
अन्य शरन नहिं लाखी, शरन श्री हरि की लीन्हीं ।
ह्वै के परम अधीर विनय देवनि मिलि कीन्हीं ॥
प्रभु प्रकटे माया नसी, करी कृपा करुनायतन ।
मनमोहनकी माधुरी, निरखि भये सुरगन मगन ॥

जिसने शरीर धारण किया है, उसे सुख भी होगा दुख भी। शरीर धारियों को न कभी सुख ही हो सकता है न दुख ही दुख। यह देह प्रारब्ध से प्राप्त होता है। सुख दुख प्रारब्ध के अधीन हैं। जब जैसा समय आता है तब वैसा

श्रीशुकदेवजी, कहते हैं—राजन्! श्रीहरि के सुर सेना में प्रवेश करते ही असुरों की कूट कर्म से उत्पन्न माया उन महान से भी महान् प्रभु के तेज से उसी प्रकार नष्ट हो गई जैसे जिस प्रकार जाग जाने पर स्वप्न का नाश हो जाता है। इसीलिये तो कहा है "भगवान् की स्मृति सम्पूर्ण विपत्तियों से मुक्त कर देने वाली है।"

घटना घटित हो जाती है। ज्ञानी लोग सुख दुख दोनों को दीनदयाल की देन समझकर दुख में न अधिक दुखी ही होते हैं और न सुख में फूल कर कुप्पा ही हो जाते हैं। सुख आता है चला जाता है दुख आता है, एक दिन उसका भी अंत हो जाता है। ऐश्वर्य का सदा उपभोग किसने किया है। देवताओं को भी समय समय पर स्वर्ग छोड़ना पड़ता है इन्द्र को भी अवसर आने पर इन्द्रासन से च्युत होना पड़ता है, असुर भी कभी स्वर्ग के स्वामी होते हैं! वे भी कभी त्रिलोकी पर शासन करने लगते हैं। राजा हो जाना, शासन सूत्र हाथ में ले लेना युद्ध में विजय प्राप्त कर लेना, विषय भोग की प्रचुर सामिग्रियों को एकत्रित कर लेना, इसी का नाम उन्नति नहीं है। इसे तो असुर भी कर लेते हैं। यही नहीं, सुरों की अपेक्षा इन्द्रिय सुखोपभोग असुर ही अधिक करते है। उन्हें सदा इन शरीर को बनाये रखने का चिन्ता रहती है। परपीड़न करके अपनी इन्द्रियों को सुखी करना प्राणों में ही रमण करना यही आसुरी भाव है। उन्नति तो यही है, कि सुख दुःख में सर्वत्र श्रीहरि को स्मरण करते रहना। सुख आने पर उसे भी सर्वेश्वर को समर्पित कर देना और दुख आने पर भी उन्हीं का चिन्तन करते रहना। सारांश यह, कि सर्वत्र सर्वकाल में सर्वभाव से श्रीहरि को ही हृदय में धारण किये रहना यही सुख है यही सर्वश्रेष्ठ साधन है। यही जीवन की सार्थकता है।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! जब इन्द्रादि देवताओं ने बलि की आसुरी माया से घबरा कर श्रीहरि का स्मरण किया, तब भक्तवत्सल भगवान् तुरन्त वहाँ प्रकट हो गये। भगवान् के प्रकट होते ही आसुरी माया उसी प्रकार नष्ट हो गई, जिस प्रकार सूर्य के उदय हो

जाने पर अंधकार नष्ट हो जाता है, रवि के उदय होने पर नीहार नष्ट हो जाता है, ज्ञान के उदय हो जाने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है, तथा भक्ति के उदय होने पर दुःख शोक नष्ट हो जाते हैं। भगवान् के दर्शनों से देवताओं को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने दुःखों को दूर हुआ ही समझा।

अब जब दैत्यों ने देखा कि देवताओं का पक्ष लेने तो भगवान् विष्णु आ गये हैं, तब वे उन पर भी प्रहार करने लगे। कालनेमि नामक बड़ा बली दैत्य, जिसने तपस्या के द्वारा बड़े बड़े वरदान प्राप्त कर लिये थे, जो अपने को सदा विजयी ही मानता था, उसने आगे बढ़कर भगवान् का सामना किया। वह असुर सिंह पर चढ़ा हुआ था। गर्जन-तर्जन करता हुआ सिंह को दौड़ता हुआ वह हाथ में त्रिशूल लेकर गरुणवाहन भगवान् के ऊपर दौड़ा। भगवान् के तो युद्ध के लिये हाथ खुजाते ही रहते हैं। उन्हें तो अपने अस्त्रों से दैत्यों को मार कर उनके तप का फल देना ही है। जो भाग्यशाली दैत्य वैर भाव से भगवान् को भजते हैं, उनकी शत्रुता के साथ भक्ति करते हैं, उनकी भगवान् के शस्त्र से मरने पर सद्गति होती है। यह कालनेमि भी भगवान् की वैर भक्ति करता था, अतः इसने बड़े बल से भगवान् के वाहन गरुड़जी के मस्तक पर घुमाकर त्रिशूल मारा। उस त्रिशूल को आता देख परम चतुर रण प्रवीण भगवान् विष्णु ने फूल की भाँति लीला से ही बीच में उस त्रिशूल को हँसते हुए पकड़ लिया और बोले—"वीरवर! अब बोले क्या करोगे?"

अपने अस्त्र को व्यर्थ हुआ देखकर वह असुर उसी प्रकार अंड-बंड बकने लगा, जैसे त्रिदोष में आदमी बकता है। वह हाथ पैर पटकने लगा। भगवान् पर प्रहार करने लगा! भगवान् ने उसके सिर पर वही त्रिशूल कस कर मारा। जिससे

वह दैत्य अपने वाहन सिंह के साथ मरकर पृथ्वी में गिर पड़ा। राजन्! यही कालनेमि भगवान् से विरोध करके अंत में कंस हुआ, जो अंत में भगवान के हाथ से मरकर मुक्त हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! कालनेमि असुर विशुद्ध क्षत्रिय महाराज उग्रसेन के यहाँ कैसे हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! यह बहुत बड़ी कथा है, इसे मैं फिर कभी सुनाऊँगा। अब तो आप देवासुर संग्राम की बातें सुनें।"

शौनकजी बोले—"अच्छी, बात है, हाँ, तो फिर क्या हुआ।"

सूतजी बोले—"मेरे गुरुदेव श्रीशुक राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! जब कालनेमि दैत्य मर गया तो उसका बदला लेने के लिये अत्यन्त प्राचीन असुर माली, सुमाली और माल्यवान् ये तीनों विश्व विजयी भगवान से लड़ने आये। भगवान् ने पहिले तो हँसी-हँसी में लीला के साथ युद्ध किया, इससे असुरों का उत्साह बढ़ा। अन्त में अपने तीक्ष्ण चक्र से उन्होंने माली और सुमाली नामक दैत्यों का सिर उसी प्रकार काट लिया जैसे किसान फूली फली पकी खेती को खेत से काट लेता है। माली सुमाली के मर जाने पर माल्यवान् भगवान् से लड़ने आया। वह भी उसी रास्ते का पथिक बना जिस पर कुछ क्षण पूर्व उसके भाई गये थे। इन चारों दैत्यों के मरने से असुर सेना में हाहाकर मच गया। देवताओं का उत्साह बढ़ गया। जो देव आसुरी माया से मोहित होकर अचेत हो गये थे वे पुनः प्रभु प्रताप से सचेत हो गये। वे पुनः असुर सेना का संहार करने लगे। रण में अपने प्रतिपक्षियों को

पछाड़ने लगे। सिंहनाद करते हुए उत्साह में भर कर दहाड़ने लगे।

अब शचीपति इन्द्र भी परम उत्साहित हुए। उनके रक्त में नवजीवन का पुनः संचार हुआ, वे अपना दिव्य वज्र लेकर बलि को मारने के लिये दौड़े। महाराज बलि तो उनके सम्मुख ही खड़े थे, वे बड़े शूरवीर मनस्वी तेजस्वी और परमज्ञानी थे। इन्द्र को प्रहार करते देखकर भी वे अपने स्थान से न हिले न डुले। ज्यों के त्यों सुमेरु के समान अचल भाव से खड़े रहे। बलि को इस प्रकार निश्चल निर्भय खड़े देखकर देवेन्द्र उनका उत्साह भंग करने के लिये अत्यन्त तिरस्कार के साथ उसकी भर्त्सना करते हुए बोले—"अरे, मूढ़ ! तू माया करके मुझ मायेश को मोहना चाहता है ? जैसे मायावी नट मूर्खों की दृष्टि बाँधकर नाना प्रकार के विचित्र खेल दिखाकर उन्हें ठगना चाहता है, उसी प्रकार तू आसुरी माया से हमारी वञ्चना करना चाहता है। हम तेरे चक्कर में नहीं आ सकते। तू चाहता होगा मैं माया के द्वारा ही तीनों लोकों को जीत लूँगा। स्वर्ग का स्वामी बना रहूँगा। मोक्ष प्राप्त कर लूँगा ! वह तेरा भ्रम है, अज्ञान है, मूर्खता है, दुर्लभ मनोरथ है। मैं तेरे भ्रम का निवारण कर दूँगा, तेरी आँखें खोल दूँगा, तुझे तेरे किये का फल चखा दूँगा, तेरे मनोरथ को असंभव बना दूँगा। आज मैं तुझे युद्ध में जीता न जाने दूँगा। तेरी समस्त मायाओं को व्यर्थ बनाकर, तुझे तेरे बन्धुबान्धवों और सैनिकों के साथ यमपुर के मन्दिर का द्वार दिखा दूँगा तेरे सिर को धड़ से पृथक कर दूँगा। अपने सौ पर्व के वज्र से धड़ से तेरे सिर को काटकर कंदुक की भाँति ऊपर उछाल दूँगा।"

यह सुनकर परम ज्ञानी महाराज बलि बोले—"इन्द्र ! तू सहस्राक्ष होकर भी अंधा ही रहा ? अरे, भैया ! कौन किसे मार

सकता है, कौन किसे पराजित कर सकता है। यह सब तो काल की प्रेरणा से होता है। जब काल हमारे अनुकूल होता है, तो हम तुम्हें स्वर्ग से खदेड़ देते है, परास्त कर देते हैं, जब वह काल हमारे प्रतिकूल हो जाता है, तो हम परास्त हो जाते हैं। दो पक्ष आपस में लड़ते हैं। कभी किसी पक्ष को विजय श्री वरण करती है कभी किसी को। कभी किसी पक्ष की कीर्ति हो जाती है, कभी किसी का। कभी एक पक्ष की विजय हो जाती है कभी दूसरे पक्ष की। जो तेरे जैसे मूर्ख हैं, वे समझते हैं, यह विजय मुझे अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हुई। मैंने अपने बल से परपक्ष को पराजित किया। तुम जैसे मूर्ख पागल व्यर्थ में ही अपनी प्रशंसा रूप प्रलाप को करते रहते है। इसमें मुझे न हर्ष है न शोक। मैं तो सब कालकृत मानता हूँ। आ जा मेरे तेरे दो दो हाथ हो जायें, जिसका अनुकूल काल होगा, उसे ही विजयश्री वरण करेगी। जय उसके ही कंठ में विजय माला पहिनावेगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार इन्द्र और बलि परस्पर में एक दूसरे का तिरस्कार करते हुए घन घोर युद्ध करने लगे।"

छप्पय

कालनेमि लखि विष्णु सिंह चढ़ि लड़िबे आयो।
मारयो तकि तिरशूल असुर यमसदन पठायो॥
पुनि माली अति बली सुमाली माल्यवान् जब।
अस्त्र शस्त्र लै आइ करैं घनघोर युद्ध सब॥
हरि संहारे देवरिपु, सद्गति शत्रुनिकूँ दई।
अति प्रसन्नता सुरनकूँ, असुरनिके क्षयतें भई॥

देवेन्द्र द्वारा नमुचि वध

[५३९]

जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः ।
नमुचिश्च बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ११ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

वज्रपाणि देवेन्द्र लड़न पुनि बलि सँग आये ।
अरिकूँ सम्मुख लख्यो बहुत कटु बचन सुनाये ॥
मार्‍यो तकिकैं वज्र गिर्‍यो बलि मुर्छित ह्वैके ।
लखि बलि मूर्छित जम्भ लड़न सर आयो लैके ॥
जम्भ मारि सुरपति दयो, नमुचि सुनत आयो तुरत ।
अस्त्र शस्त्र लै युद्ध में, रण दुर्मद इत उत फिरत ॥

भगवान् जब जिसे जितनी शक्ति प्रदान कर देते हैं, तब वह उतना ही पौरुष कर सकता है असुरों में भी उन्हीं की

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब नारद जी के मुख से अपने भाई जम्भ का मारा जाना सुना, तो अत्यन्त शीघ्रता से बल पाक और नमुचि वहाँ आगये।"

शक्ति है और सुरों में भी। जब उन्हें असुरों की वृद्धि करनी होती है तो असुर बलवान् बन जाते हैं वे देवताओं को हरा देते हैं और जब उन्हें सुरों की वृद्धि करनी होती हैं, तो सुरों में शक्ति प्रदान कर देते हैं। जब धर्म को बलवान् करना होता है तो सब धार्मिक हो जाते हैं, सत्युग, त्रेता आदि युग प्रवृत्त होने लगते हैं जब अधर्म की वृद्धि करनी होती है तो धर्म की शनैः शनैः ग्लानि होने लगती है, धर्म निर्बल हो जाता है। अधर्म प्रबल हो जाता है कलियुग आदि युग प्रवृत्त होने लगते हैं। भगवान् तो इन सब प्रपञ्चों से पर हैं। वे केवल क्रीड़ा के निमित्त, विलास के निमित्त यह सब करते हैं। उन्हें कोई इच्छा नहीं, स्पृहा नहीं केवल लोकवत् लीला कर रहे हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इन्द्र और बलि का घमासान युद्ध होने लगा। अब बलि ने धनुष बाण चढ़ाया और उसे कानों तक खींचकर इन्द्र के ऊपर छोड़ा ऐसे एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा बाण छोड़ते गये। इन्द्र के शरीर में बाण उसी तरह बिंध गये जैसे स्याही के शरीर में कांटे होते हैं। शत्रु के प्रहारों से क्रुद्ध हुए देवेन्द्र अंकुश से आहत करीन्द्र के समान तिलमिला उठे। अब उन्होंने बलि पर कभी भी व्यर्थ न होने वाला दधीचि मुनि की तेजोमय अस्थियों से निर्मित—अपना वज्र छोड़ा। फिर क्या था वज्र के लगते ही पंख कटे पर्वत के समान दैत्यराज बलि मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

बलि के गिरते ही दैत्य सेना में सर्वत्र हाहाकार मच गया बलि के अत्यंत प्रिय सखा जम्भासुर ने जब यह समाचार सुना तब तो वह सन्न हो गया। तुरन्त समर सामग्रियों से

सन्नद्ध होकर सुरेन्द्र से समर करने समर भूमि की ओर चला। गदा ताने हुए वेग से अपनी ही ओर आते हुए जम्भासुर को देखकर देवेन्द्र सम्हल गये। वह दुष्ट दैत्य एक बड़े भारी डील डौल सिंह के ऊपर चढ़ा हुआ था। ऐरावत को खाने के लिये मुँह फाड़े सिंह को, और गदा ताने दुर्मद दैत्य को देखकर देवेन्द्र तनिक भी विचलित नहीं हुए। जम्भासुर ने आते ही एक गदा ऐरावत के मस्तक पर मारी। उसी आघात से ऐरावत तिलमिला उठा। मुख से रक्त उगलने लगा। आगे चलने में वह असमर्थ सा प्रतीत होता था। उसी समय इन्द्र के चतुर सारथी मातलि सहस्र अश्वों वाले सुवर्ण मंडित दिव्य रथ को लेकर तुरन्त वहाँ उपस्थित हुए। किंकिणियों की खनखनाहट और रथ की घरघराहट को सुनकर शचीपति को परम संतोष हुआ। समीप आते ही ऐरावत को छोड़कर तुरन्त वे रथ में बैठ गये। यह देखकर जम्भासुर बड़ा प्रसन्न हुआ। वह मातलि की प्रशंसा करते हुए कहने लगा—"मातलि तुम यथार्थ में स्वामि भक्त सारथि हो। तुम समय को समझने वाले, अवसर से न चूकने वाले प्रत्युत्पन्न मति रथवाहक हो। सारथि को ऐसा ही होना चाहिये। उसे सदा स्वामि के हित में तत्पर रहना चाहिये। धन्यवाद, यमपुर की यात्रा करो, अन्त समय में स्वामी का ऋण चुका कर उऋण हो जाओ।" यह कहकर—उसने युद्ध क्षेत्र में मुस्कराते हुए एक जाज्वल्यमान त्रिशूल उस पर छोड़ा। त्रिशूल के लगते ही क्षण भर को मातलि अचेत सा हो गया, किन्तु उसने घोड़े की न तो रश्मियों को छोड़ा न हाथ से तोत्र ही गिराया क्षण भर में धैर्य धारण करके बड़े कष्ट से उसने उस त्रिशूल की असह्य पीड़ा को सहन किया।

अपने सारथी को दुखी और पीड़ित देखकर इन्द्र के क्रोध का

ठिकाना नहीं रहा। अब उन्होंने इस दुष्ट पर अन्य साधारण बाण न छोड़कर अमोघ वज्र का ही प्रहार किया। आगे बढ़ कर रथ में से देवेन्द्र ने उसके सिर को लक्ष करके ज्यों ही उस पर वज्र छोड़ा त्यों ही उसका सिर धड़ से कटकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। असुर के मरते ही सिद्ध गन्धर्व साधु साधु कहने लगे। इन्द्र के ऊपर पुष्पों की वर्षा होने लगी।

क्षण भर में यह समाचार सम्पूर्ण दैत्य सेना में फैल गया। देवर्षि नारदजी भी आकाश में खड़े खड़े युद्ध का आनन्द लूट रहे थे। जब जम्भासुर मर गया, तब अन्य किसी असुर का देवेन्द्र से लड़ने का साहस ही नहीं हुआ। नारदजी ने सोचा अरे, यह तो खेल ही समाप्त होना चाहता है। अतः वे दौड़े दौड़े परम पराक्रमी, तपस्वी, तेजस्वी, और देवताओं के दाँत खट्टे करने वाले नमुचि के पास गये। नमुचि ने घोर तपस्या करके ब्रह्माजी से यह वर प्राप्त कर लिया था, कि मैं किस सूखी वस्तु से न मरूँ न गीली से।" इससे वह अपने को अजरामर समझता था। देवता उसके नाम से डरते थे। तीनों लोकों में उसका बल विख्यात था। देवर्षि नारद ने उससे कहा—"अजी असुर शिरोमणि नमुचि महाराज! आपको अभी ज्ञात नहीं कि इन्द्र ने आपके परम पराक्रमी भाई जम्भ को मार डाला।"

नारदजी के मुख से अपने बन्धु जम्भ की मृत्यु सुनकर नमुचि परम क्रुद्ध हुआ और वह बल तथा पाक आदि को साथ लिए हुए अत्यन्त शीघ्र सुरेन्द्र से लड़ने के लिये समर भूमि में आ गया। आकर उसने कहा—"अरे, दुर्बुद्धि देवेन्द्र! तुझे बड़ा अहङ्कार हो गया है, आज मैं तेरे अहङ्कार को चकना चूर कर दूँगा, तुझे तेरे किये कुकृत्य का फल चखा दूँगा। अब तू सम्हल जा मरने के लिये कटिबद्ध हो जा।" यह कह कर वह अनगिनती

बाणों की इन्द्र पर अपने भाइयों के सहित उसी प्रकार वर्षा करने लगा, जैसे मेघ पर्वत शिखर पर घनघोर वर्षा करते हैं। सर्व प्रथम बल नामक दैत्य ने एक साथ सहस्र बाण छोड़कर इन्द्र के रथ में लगे हुए सहस्र घोड़ों को बींध दिया। पाक नामक दैत्य ने सौ बाण मारकर इन्द्र के सारथी को घायल किया तथा रथ को भी बाणों से ढक लिया। इस प्रकार चारों ओर से रथ के बिंध जाने पर स्वयं नमुचि सुवर्ण पङ्खयुक्त पंद्रह बाण मार कर वज्र पाणि देवेन्द्र को आहत किया इस प्रकार इन्द्र के सारथी तथा रथ को साङ्गोपाङ्ग वेधकर और इन्द्र को आहत करके वह दुष्ट दैत्य जल भरे मेघों के समान भयंकर नाद करके गर्जने लगा। इन्द्र बाणों से चारों ओर से उसी प्रकार ढक गये जैसे वर्षा काल में सूर्य मेघों से ढके दिखाई नहीं देते।

इन्द्र को इस प्रकार बाणों से ढककर दैत्यों ने देव सेना पर प्रहार किया दैत्यों के प्रहार को न सह सकने के कारण देवताओं की पराजित सेना रणस्थली को छोड़कर भाग खड़ी हुई देवताओं ने देखा वरुण हैं, कुबेर हैं, सूर्य हैं, चन्द्रमा हैं तथा अन्यान्य भी लोकपाल, वसु, आदित्य, मरुद्गण आदि हैं, किन्तु सबके अधिनायक देवेन्द्र दिखाई नहीं देते। तब तो देवताओं के छक्के छूट गये। वे नायक हीन हुए देवता उसी प्रकार दुखित हुए जैसे यूथपति के बिना यूथ के अन्य लोग दुखी होते हैं। समुद्र में नौका टूट जाने पर जैसे व्यापारी के अनुचर हाय हाय करके शोकाकुल होते हैं, वैसे ही इन्द्र के बिना देवता दुखी हुए। कुछ ही क्षण में मूर्छा भंग होने पर देवेन्द्र अपनी शक्ति से उस शर पंजर को फाड़ कर उसी प्रकार निकल आये जैसे कुहरे को फाड़ कर सूर्य निकल आता है, अथवा पिंजड़े के खुल जाने पर सिंह निकल जाता है। उनका रथ ज्यों का त्यों

था। सारथी, अश्व, ध्वजा रक्षक सभी सुरक्षित थे। उन्होंने देखा दैत्यों के प्रहार से क्षतविक्षत हुई देव सेना इधर उधर भाग रही है, असुर भगते हुए सैनिक को खदेड़ रहे हैं; तब तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। वे वज्र लेकर शत्रु सेना पर टूट पड़े और उसका संहार करने लगे। सम्मुख उन्हें बल, पाक और नमुचि युद्ध करते हुए दिखाई दिये। एक वज्र मार कर तो उन्होंने बल और पाक को धराशायी किया। दोनों के प्राण परेरू शरीर रूपी पिंजड़ों को परित्याग करके उड़ गये। उन दोनों को मरते देख कुछ लोग और भी झपटे, उनकी भी ढेरी बना दी, उन्हें भी पट्ट पृथिवी पर लिटा दिया, कुछ भागे कुछ अस्त्र त्याग कर वहीं गये। महावीर नमुचि ने भागते हुओं को धैर्य बँधाया, और धर्म बताया और स्वयं गदा लेकर लड़ने के लिये इन्द्र के सम्मुख आया।

बन्धु बल और पाक के मारे जाने से नमुचि अत्यन्त ही क्षुभित था। वह असहनशीलता, शोक तथा रोष में भर कर बड़े वेग से इन्द्र को मारने के लिये दौड़ा। उस समय वह प्रलयानल के समान प्रतीत होता था, हाथ में सुन्दर सुवर्ण की घंटिकाओं से सजा त्रिशूल लेकर वह इन्द्र को मारने के संकल्प से उनके ऊपर झपटा। "इन्द्र! तू मारा गया, अपनी करनी का फल भोग" यह कहते हुए उसने तेज से तेज जाज्वल्यमान चमकते हुए त्रिशूल को इन्द्र के ऊपर फेंक ही तो दिया। उस त्रिशूल को पुच्छल प्रकाश मान ग्रह के सदृश अपनी ओर आते देखकर देवेन्द्र ने एक दिव्य बाण छोड़ कर बीच में ही उस त्रिशूल के टुकड़े कर दिये और उसे अस्त्र ग्रहण करने के लिये पुनः अवसर न देकर वज्र से उसके कंठ पर प्रहार किया। इन्द्र के आश्चर्य का तब ठिकाना नहीं रहा जब उस वज्र से नमुचि के शरीर में घुरसट नहीं आई। इन्द्र को पूरा विश्वास था, कि वज्र के लगने से नमुचि बच नहीं

सकना किन्तु मरने की कौन कहे उसकी सात त्वचाओं में से एक ऊपर की भी त्वचा नहीं कटी। इससे इन्द्र परम विस्मित हुए वे सोचने लगे—"आज इस वज्र को हो क्या गया, इसकी तीक्ष्ण धार इस असुर के शरीर संसर्ग से कुन्ठित क्यों हो गई, यह वज्र दधीचि मुनि के तप तेजप्रोत अस्थियों से बना है, विश्वकर्मा ने इसका निर्माण किया है, भगवान् की शक्ति इसमें विशेष रूप से व्याप्त है, इसने बड़े २ शूर मानी प्रबल पराक्रमी विश्व विजयी दैत्यों का वध किया है। वृत्रासुर अपने को अजरामर और त्रिलोक विजयी मानता था, उसके सिर को इसने धड़ से पृथक् किया है, पर्वतों के पंखों से प्राणी पीड़ित होकर मेरी शरण गये! तब इसी वज्र से मैंने पर्वतों के पंख काट डाले, नाश होने वाली प्रजा को पंख काट कर सुखी करने वाला यह वज्र आज कुन्ठित क्यों हो गया। अभी इस वज्र से मैंने कितनों को मारा है। आज तक यह कभी व्यर्थ नहीं हुआ, फिर आज यह शक्ति हीन क्यों बन गया। घोर तपस्या के बल से बलवान् हुए और वरदान के दर्प से दर्पित असंख्यों असुरों को इसने यम का सदन दिखाया है फिर आज इसे हो क्या गया। वृत्रासुर तो किसी भी अस्त्र से नहीं मारा जा सकता था, उसके सम्मुख यह तुच्छ नमुचि क्या वस्तु है। उसे मारने वाला वज्र इस दैत्य पर मोक्ष सिद्ध हुआ। यद्यपि इसमें वही तेज व्याप्त है, किन्तु इसने मुझे युद्ध के समय में शत्रु के सम्मुख लज्जित किया, अतः आज से मैं इसे पुनः धारण न करूँगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! त्रिलोकेश इन्द्र इस प्रकार सोच ही रहे थे, कि आकाश से अरूपा वाणी सुनाई दी आकाश वाणी कह रही थी—"हे इन्द्र! हतोत्साह मत हो। पहिले इस

असुर ने बड़ी घोर तपस्या की थी, तब मैंने इसके माँगने पर इसे वर दिया था, कि तुम्हारी सूखी व गीली वस्तु से मृत्यु न होगी।" उसी वर के प्रभाव से तुम्हारा वज्र व्यर्थ हो गया। अब इस वर को दृष्टि में रखकर तुरन्त इसके मारने का कोई अन्य उपाय सोचो।"

इस प्रकार आकाश वाणी को सुनकर इन्द्र सावधान हुए। वे चिन्ता कर ही रहे थे, कि सम्मुख उन्हें समुद्र पर तैरता हुआ क्षीर सागर का भाग दिखाई दिया। वह समुद्र फेन वायु लग जाने से सूख सा भी गया था और पानी में रहने से गीला भी था। अतः उसे न तो विशुद्ध गीला ही कह सकते हैं विशुद्ध सूखा ही लपेट लिया और उस फेन मय वज्र से उस नमुचि के सिर को धड़ से काट दिया।

महाबली परम पराक्रमी नमुचि के मारे जाने पर सभी चराचर प्राणी देवेन्द्र की प्रशंसा करने लगे। सिद्ध, चारण ऋषि, मुनिगण इन्द्र को साधुवाद देने लगे। गन्धर्व उनके गुणों का गान करने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। सारांश कि तीनों लोकों में सर्वत्र आनन्द छा गया। सभी लोग इस नमुचि के कारण दुखी थे। आज इन्द्र ने इसे मार कर सभी को निर्भय बना दिया। अब तो सभी का उत्साह बढ़ गया, सभी अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने लगे, सभी असुरों की सेना को उसी प्रकार मार गिराने लगे जिस प्रकार सिंह मृगों को मार गिराता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! बलि के संज्ञा शून्य होकर मृत समान गिर जाने पर तथा जम्भ, बल पाक और नमुचि के मर जाने पर दैत्य शक्ति हीन हो गये। देवतागण उनको उसी प्रकार काटने लगे जिस प्रकार कृषक खेती को काटता

है। देव सेना में हर्ष और असुर सेना में सर्वत्र विषाद छा गया।"

छप्पय

नमुचि, पाक, बल असुर बान मिलिकै बरसाये।
इन्द्र, सारथी, अश्व ढके सुरगन घबराये॥
इन्द्र निकसि बल पाक बज्रतै दोऊ मारे।
मरै नमुचि जब नहीं गिरानभ बचन उचारे॥
आर्द्र शुष्क तजि हनौ रिपु, बज्र फैनमय करयो हरि।
नमुचि शीश छेदन करयो, हृदय विष्णु को ध्यान धरि॥

देवासुर संग्राम की समाप्ति

[५४०]

ब्रह्मणा प्रेषितो देवान् देवर्षिर्नारदो नृप ।
वारयामास विबुधान् दृष्ट्वा दानवसंक्षयम् ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ११ अ० ४३, श्लो०)

छप्पय

जीते देवनि शत्रु दैत्य दानव घबराये ।
ब्रह्मा बाबा डरे तुरत नारद बुलवाये ॥
कह्यो जाइकें सुरनि करो उपरत तुम रनतै ।
बिधि आज्ञा सिर धारि आइ बोले देवनितै ॥
अमृत पिया जय श्री लही, करी कृपा श्री अजित अति ।
आयसु विधि मानो करो, दैत्यनि को संहार मति ॥

संसार की स्थिति द्वंद से है। भले के साथ बुरा भी रहेगा तभी संसार चक्र चलेगा। विद्या में सृष्टि नहीं अविद्या के

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! युद्ध को रोकने के लिये ब्रह्माजी ने नारदजी को भेजा। देवर्षि नारदजी ने देखा बहुत से दानवों का व्यर्थ नाश हो रहा है तब उन्होंने देवताओं को युद्ध करने से निवारण कर दिया।"

साथ से सृष्टि है। केवल धर्म से ही काम चलता तो अधर्म की सृष्टि क्यों होती, सत्ययुग के साथ ही कलियुग क्यों सदा रहता। सुरों से काम चल जाता तो, असुरों के उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी। शरीर में और धातुएँ भी हैं मल भी है। सम्पूर्ण मलक्षय हो जाय तो जीवन नहीं रह सकता। मल में भी जीवन है शुक्र में भी। देवता असुर सभी ब्रह्माजी के बनाये हैं, सृष्टि के लिये दोनों आवश्यक हैं। दोनों के ही ब्रह्माजी पिता हैं। चराचर उन्हीं के द्वारा उत्पन्न होता है इस लिये उन्हें लोक पितामह भी कहते हैं। कोई अन्याय करे। अधिक बढ़ जाय तो उसको यथा स्थान लाने के लिये दण्ड देना तो वे भी चाहते हैं, किन्तु सर्वथा नाश वे किसी का नहीं चाहते। इस द्वंद को वे बनाये रखना चाहते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! देवताओं और असुरों का घोर संग्राम हुआ। जब तक बलि लड़ते रहे, तब तक तो असुर बड़े मनोयोग से संग्राम में संनद्ध रहे, किन्तु जब बलि भी मूर्छित हो गये और महाकर्मी नमुचि भी इन्द्र के वज्र से वरदान प्राप्त होने पर भी मर गये, तब तो असुरों का साहस छूट गया। वे घबरा गये, देवताओं का उत्साह बढ़ गया, वे एक ओर से दैत्य दानवों को काटने और मारने लगे। ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी ने जब अपनी दिव्य दृष्टि से देखा कि दैत्य दानवों का व्यर्थ में संहार हो रहा है तब तो उन्हें चिन्ता हुई। यह उन्हें अभीष्ट नहीं था। उन्होंने नारदजी का स्मरण किया। स्मरण करते ही ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारद तुरन्त अपने पिताजी के सम्मुख उपस्थित हो गये और प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—"पिता जी ! मेरे लिये क्या आज्ञा होती है ?"

ब्रह्माजी ने बड़े स्नेह से कहा—"देखो, भैया ! क्षीर सागर

के तट पर जो देवासुर संग्राम हो रहा है, उसमें भगवान् की विशाल बाहुओं के आश्रय से देवताओं को विजय श्री ने वरण किया है। वे विजय के मद में मदोन्मत्त होकर व्यर्थ दैत्य दानवों का संहार कर रहे हैं। तुम जाकर देवताओं को युद्ध से उपरत कराओ और असुरों को सुरों से बचाओ। सृष्टि में किसी का भी बीज नाश न होना चाहिये।

ब्रह्माजी की ऐसी बात सुनकर मनोवेग से भी शीघ्र जाने वाले देवर्षि नारद तुरन्त क्षीर सागर के समीप पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा, देवता दैत्यों को खदेड़ खदेड़ कर मार रहे हैं। नारदजी ने अपने हाथ में पीताम्बर लेकर उसे हिलाकर देवताओं से युद्ध न करने का संकेत किया। रणाङ्गण में वीणा लिये हुए नारदजी को देखकर सभी देवता युद्ध बंद करके उत्सुकता पूर्वक उनके समीप आ गये और उन्हें घेर कर खड़े हो गये। उन सब को देखकर नारदजी बोले—"भाई, तुम लोग अब व्यर्थ युद्ध क्यों कर रहे हो?"

देवताओं ने कहा—"महाराज, ये तो हमारे पुराने शत्रु हैं?"

नारदजी ने कहा—"भाई, शत्रु को विजय करना ही तात्पर्य है। उसका बीज नाश करना तो अभीष्ट नहीं। अपना स्वार्थ साधकर विजय करके शत्रु को छोड़ देना चाहिये। आप लोगों की लक्ष्मी नष्ट हो गई थी। श्रीभगवान् की विशाल भुजाओं के आश्रय से तुम लोगों ने भर पेट अमृत पी लिया त्रैलोक्य की विजय लक्ष्मी ने तुम्हें पुनः वरण कर लिया तुम्हारी समृद्धि हो गई। अब इन मरों को क्या मारना। भागते हुओं पर क्या प्रहार करना अब तुम लोग स्वर्ग में जाकर सुख भोगो।

युद्ध को समाप्त करो। ऐसी भगवान् ब्रह्माजी की तुम्हारे लिये आज्ञा है।

नारदजी के मुख से लोक पितामह की ऐसी आज्ञा सुनकर सभी देवता युद्ध से उपरत हो गये। उन्होंने मुनिवर के वचनों को मानकर क्रोध को त्याग दिया। वे सब आनंद मानते विजय के बाजे बजाते विजयोल्लास में चिल्लाते हुए स्वर्ग को चले गये।

यह सुनकर राजा परीक्षित् ने पूछा—"महाराज ! फिर क्या हुआ असुरों को तो बड़ा क्लेश हुआ होगा। मूर्छित बलि की मूर्छा भंग हुई या वे वहीं पड़े रहे ?"

इसपर श्रीशुक बोले—"राजन् ! दैत्यराज महाराज बलि तो तब तक अचेत ही पड़े थे। नारदजी ने जब उन्हें इस अवस्था मे देखा, तब बचे हुए असुरों से उन्होंने कहा—"देखो, भैया ! अब यहाँ तुम्हारा रहना उचित नहीं। अब तुम लोग स्वर्ग भी मत जाओ। स्वर्ग पर तो अब पुनः देवताओं का अधिकार हो गया। तुम इन विरोचन नन्दन दैत्यराज को इसी अवस्था में उठाकर अस्ताचल पर्वत पर ले जाओ। वहाँ जाते ही इनकी मूर्छा भंग हो जायगी और भी जो मरे असुर हैं, जिनके कटे सिर खो नहीं गये हों अंग प्रत्यंग कटकर इधर उधर नष्ट नहीं हो गये हों, उन सब को भी ले जाओ। शुक्राचार्य मृत संजीविनी विद्या जानते हैं, वे इन सब को जिला देंगे।"

नारदजी की ऐसी शुभ सम्मति सुनकर असुर परम सन्तुष्ट हुए और वे सब मृतक और घायलों को लेकर अस्ताचल पर चले गये। वहाँ पहुँच कर शुक्राचार्यजी ने ज्यों ही महाराज बलि को स्पर्श किया त्यों ही वे सोते हुए पुरुष की भांति आँखें

मलते हुए उठकर बैठ गये। उन्होंने चारों ओर देखकर पूछा —"मैं यहाँ कहाँ आ गया।"

तब सबने उन्हें युद्ध की बातें सुनाईं। वे तो बड़े विवेकी ज्ञानी और संसार के तत्व को जानने वाले थे। अपनी पराजय सुनकर भी उन्हें तनिक भी दुःख नहीं हुआ। उन्होंने सोचा —"इस सांसारिक हार जीत में रखा ही क्या है। यह तो बच्चों का क्षणिक खेल है, मन के मोदक है। यथार्थ में तो वही विजयी है जो जगत से मुख मोड़कर उन प्रभु के स्मरण में ही तन्मय हो गया है।" इस प्रकार सोचकर वे पराजय के कारण तनिक भी व्यथित नहीं हुए।

शुक्राचार्य जी ने अन्य क्षत विक्षत तथा आहत असुरों के अंगों के अवयव उनके शरीर में जोड़कर उन्हें मृत संजीवनी विद्या के प्रभाव से जिला दिया।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियों! यह मैंने आपको देवताओं का श्री नष्ट होने की, समुद्र मन्थन और देवासुर संग्राम की संक्षेप में कथा सुना दी अब आप और आगे क्या सुनना चाहते हैं?"

छप्पय

मुनि बचननिकूँ मानि युद्धतै विरत भये सुर।
जयकी शङ्ख बजाय इन्द्र हर्षित पहुँचे पुर॥
बलि सँग मृत सब असुर लाइ इत शुक्र जिवाये।
यदपि पराजित भये तदपि नहिँ बलि सकुचाये॥
देवासुर संग्राम अरु, क्षीर सिन्धु मंथन कथा।
सुनहिं पढ़हिं जे प्रेमतैं, तिनकूँ न ब्यापे व्यथा॥

श्री शिव को मोहिनी दर्शन की लालसा।

(५४१)

अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः।
सोऽहं तद् द्रष्टु मिच्छामियत्ते योपिद्वपुर्धृतम् ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० १२ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

श्रीपशुपति जब सुनी बने हरि नरतै नारी।
रूप मोहिनी लखन भई उत्कंठा भारी॥
चढ़े बैल पै लई संग गिरिराजकुमारी।
पहुँचे हरिपुर हरषि कामरिपु हर त्रिपुरारी॥
करि विनती हँसि हरि कहैं, नाथ! बात अद्भुत सुनी।
मोहन रूप दुराइ कै, आप बने प्रभु मोहिनी॥

कोई विचित्र वस्तु हो, अपूर्व हो नूतन अद्भुत हो, तो उसे

❀ श्री शिवजी भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं—"हे विभो! गुणों के द्वारा रमण करते हुए, आपने जो जो अवतार धारण किये हैं, वे सब मैं देखे हैं। सुना है आपने स्त्री का भी रूप धारण किया था उसे मेरी देखने की इच्छा और है।"

देखने के लिये लोगों में प्रारम्भ में बड़ी समुत्सुकता रहती है। किसी के दो सिर हों, दो पुरुष बीच में जुटे हुए हों यद्यपि यह कोई विशेष बात नहीं, किन्तु ऐसे लोग बहुत अल्प संख्या में होते हैं अतः उन्हें देखने के लिये सबकी इच्छा होती है, आरम्भ में जब वायुयान चले ही चले थे, तो उन्हें देखने दूर दूर से लोग आते थे, किन्तु जब वे नित्य व्यवहार में आने लगे, तो उन्हें देखने के लिये किसी को भी उत्सुकता नहीं रही। नई वस्तु को देखकर कुछ लोगों को विस्मय होता है, पुरानी पड़ जाने से फिर कोई पूछता ही नहीं। भगवान् की माया विचित्र है, उसमें सब कुछ सम्भव है। इसलिये भगवान् के समस्त खेलों को देखकर हाथ जोड़ देने चाहिए। उनकी परीक्षा लेना या उन्हें देख कर अत्यधिक विस्मित या चिंतित हो जाना यह अच्छी बात नहीं।

सूतजी ने जब देवासुर संग्राम की समाप्ति करते हुए पूछा कि अब आप और क्या सुनना चाहते हैं, तो शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आपने और अवतारों की कथा तो विस्तार के साथ कही, किन्तु मोहिनी माई के अवतार की कथा तो अत्यन्त ही संक्षेप में कह दी। इसका कुछ विस्तार करें।"

सूत जी ने कहा—"महाराज, यह अवतार तो क्षण भर के लिये हुआ। असुरों को अपने हाव भाव कटाक्षों से मोहकर सुरों को अमृत पिलाकर अन्तर्हित हो गया। यह अवतार तो काम प्रधान है, कामनियों को सुख देने वाला है, आप लोग त्यागी विरागी महात्मा इस अवतार के विषय में इतने उत्सुक क्यों हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह सत्य है

कि हमें कामी और कामिनियों की काममयी कथायें न सुननी चाहिए, किन्तु भगवान् के विषय में यह नियम लागू नहीं। भगवान् की तो समस्त लीलायें दिव्य हैं। उनमें काम की गन्ध ही नहीं। भगवान में मन लगाना ही जीव का परम लक्ष्य है। सभी भक्ति भाव नहीं कर सकते। भक्ति के भी अनेक भेद हैं, कोई भगवान को सखा मानते हैं, कोई अपना पुत्र ही समझते हैं। जो प्रेमरूपी भक्ति नहीं कर सकते हैं, वे भगवान् से द्वेष करके ही इस संसार सागर को पार कर गये हैं। काम से, द्वेष से भय से, स्नेह से और भक्ति आदि उपायों से भगवान् में चित्त लगाकर बहुत से लोग कामादिजन्य पाप से मुक्त होकर उनमें सायुज्य प्राप्त कर चुके हैं। इसलिये किसी भी उपाय से ही मन को भगवान में लगाना चाहिए। कामी असुर भगवान के उस मोहक रूप में भले ही फँस गये हों, हम लोग तो भगवान् के उपासक हैं, उन्हें ही हम अपना सर्वस्व समझने वाले हैं अतः मोहिनी रूप भगवान् के अन्य चरित्र श्रवण से हमारी भक्ति की तो और वृद्धि ही होगी। यदि कोई उन स्त्री रूपधारी हरि की और लीला हो तो उसे सुनावें।"

हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज! जो रूप मोहने के लिए सत्य संकल्प श्री हरि ने धारण किया है, उसे देखकर यदि कोई मोहित न हो, तब तो भगवान असत्य संकल्प हो जायँ। महाराज! औरों की तो बात ही क्या है योगीश्वरों के ईश्वर श्री सदाशिव भोले नाथ भी क्षण भर को इस मोहिनी भगवती के चक्कर में फँस गये।

उत्सुकता के साथ शौनकजी ने पूछा—"शिवजी कैसे फँस गये सूत जी! इस चरित्र को आप हमें अवश्य सुनावें, जिसमें

हर और हरि दोनों का चरित्र होगा, वह तो गंगा, यमुना के संगम प्रयाग के सदृश पुण्यप्रद और परम पावन होगा।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, सुनिये महाराज! यह हरि हर चरित्र परम पवित्र है, धन्य है, भक्ति को बढ़ाने वाला है, असुरों की कामवृद्धि और भक्तों की भक्ति वृद्धि करने वाला है। यह इतना महत्व पूर्ण चरित्र है, कि महाराज परीक्षित के बिना प्रश्न किये ही अपने आप भगवान् शुक ने यह चरित्र कह डाला। हाँ, तो सुनिये! देवासुर संग्राम की कथा समाप्त करते ही उसी झोंक में मेरे गुरु परमहंस चक्र चूडामणि, अवधूत शिरोमणि दिगम्बर, कामादि भावों से सर्वथा रहित, परम ज्ञानी श्री शुकदेव जी कथा प्रसङ्ग को पूर्ववत् चालू रखते हुए कहने लगे।

श्रीशुक बोले—"राजन! समुद्र जब मथा गया और उसमें से जो विष निकला उसे पिलाने के लिये सब लोग शिव जी को ले आये थे। शिवजी जहर का पान कर लिये। वहाँ उन्होंने भगवान् को कच्छप रूप में भी दर्शन किये थे, अजित रूप में तो प्रत्यक्ष ही विराजमान थे। अमृत लेकर जब धन्वन्तरि रूप प्रादुर्भूत हुए तब भी भगवान वृषभध्वज ने उनकी बाँकी झाँकी की। प्रतीत होता है, जब असुरों ने अमृत के लिये छीना झपटी आरम्भ की तो शान्ति प्रिय शंकरजी वहाँ से चले गये। उन्होंने सोचा होगा—"यहाँ रहूँगा तो किसी न किसी का पक्ष लेना ही पड़ेगा। मेरे भक्त देवता भी हैं असुर भी हैं। यदि कहीं असुर आकर रोये गाये और मैंने उनका पक्ष ले लिया तो हम दोनों में ही युद्ध छिड़ जायगा, यही सब सोच कर वे चले गये होंगे।"

जब भगवान् ने मोहिनी रूप रख कर अमृत कलश को

असुरों से छीन लिया और देवताओं को पेट भर पिला दिया, जिससे देवताओं की विजय हो गई और असुर मर गये। यह समाचार सब ने जाकर शङ्कर जी से कैलाश पर निवेदन किया।

यह सुनकर भगवान् भूतनाथ को बड़ी उत्सुकता हुई वे बार बार सोचने लगे—"भगवान् पुरुष से स्त्री कैसे बने होंगे। पुरुष रूप में ही वे इतने मोहक हैं, तो मोहिनी बन कर तो न जाने कैसे चोटी गूँथकर इठलाते हुए चले होंगे, कैसे कामी दैत्य ठगे होंगे कैसे वे लक्ष्मी पति स्त्री वेष में सजे बजे होंगे।" इस प्रकार उनके मन में असंख्यों विचार उठने लगे। वे अपनी उत्सुकता को रोक ही न सके। अपने स्वामी को विविध वेषों में देखने की समुत्सुकता सभी को होती है। सभी की स्वाभाविक इच्छा होती है, अपने प्रेमास्पद को विविध रूपों में निहारें। अतः बड़ी उत्कंठा से वे पार्वती जी से बोले—"प्रिये! भगवान् का रूप देखने की तो मेरी बड़ी इच्छा है।"

पार्वती जी ने व्यंग के स्वर में कहा—"बस, तुम्हे तो सदा ऐसी ही बातें सूझती हैं। तुमने कभी स्त्री नहीं देखी?"

सतीपति बोले—"प्रिये! सत्य कहता हूँ, संसार में मैंने असंख्यों स्त्रियों को देखा, किन्तु तुम्हारे समान सुन्दरी मैंने तीनों लोकों में कहीं नहीं देखी। मैं यह देखना चाहता हूँ, कि भगवान का वह रूप क्या तुम्हारे रूप से भी अधिक सुन्दर होगा क्या? मैं तो समझता हूँ तुमसे मोहक वह हो ही नहीं सकता।"

मन ही मन प्रसन्न होकर ऊपर से प्रेम का भाव प्रदर्शित करती हुई भगवती पार्वती बोली—"चलो, हटो! तुम्हें सदा ये

व्यर्थ की ही बातें सूझा करती हैं। सदा मुझे ही बनाते रहते हैं।"

अत्यन्त प्यार से उनकी दृष्टि में दृष्टि घोल कर सदाशिव बोले—"प्रिये ! मैं तुम्हें बनाता नहीं। सत्य कहता हूँ, उस मोहिनी रूप भगवान् के दर्शन करना चाहता हूँ। मेरा कोई अन्य भाव नहीं। तुम भी चलो साथ। तुम्हारे बिना अकेला तो मैं जा नहीं सकता। ये भूत, प्रेत, पिशाच भी चलें सभी उस मोहिनी रूप के दर्शनों से कृतार्थ हों।"

प्रायः ऐसा होता है, स्त्रियों को रूप देखने का बड़ा कुतूहल होता है जब वे किसी अपने से सुन्दरी स्त्री को देखती हैं, तो उसमें अनेकों त्रुटियाँ बताती हैं। क्या सुन्दरी है, बड़ी प्रशंसा सुनते थे, ऐसी है वैसी है कुछ भी नहीं है भौंड़ी है। पार्वती जी ने भी सोचा मैं भी तो देखूँ भगवान् ने कैसा मोहिनी रूप बनाया जिस मेरे रूप पर अनुरक्त हुए सर्वज्ञ शिव सदा मुझे अपने अंक में धारण किये रहते हैं, जिन्होंने अपने आधे अंग में छिपा कर अर्धनारी नटेश्वर का रूप बना लिया है, क्या वह मोहिनी मुझसे भी अधिक मोहक होगी ?" यही सब सोच कर शिवा ने भी चलने की सम्मति दे दी।

अब क्या था, बैल पर झूल पड़ने लगी। उन पर सिंहासन रखा गया। भूत, प्रेत पिशाचों ने हाहा हूहू शब्द किया डमरू बजा। यात्रा की तैयारियाँ हो गईं। शिवा के साथ बैल के ऊपर चढ़े। बात की बात में भगवान् वैकुंठनाथ के धाम में पहुँच गये।

आज पार्वती सहित भगवान् भूतनाथ को उत्सुकतापूर्वक आया हुआ देखकर रमापति भगवान् शीघ्रता के साथ उठकर

खड़े हुए। अपने पार्षदों को डाँटते हुए बोले अरे! तुम लोग कैसे गुम्म सुम्म खड़े हो, देखते नहीं विश्वभावन भगवान विश्वनाथ पधारे हैं, पाद्य लाओ, अर्घ्यलाओ, माला बनाओ, बाजे बजाओ, आसन बिछाओ।"

बड़ी नम्रता के साथ शिव ने कहा—"अजी, महाराज, इन सब की क्या आवश्यकता है। आपका अनुग्रह ही सबसे बड़ा सत्कार है।"

इस प्रकार भगवान ने शिवजी का समुचित आदर सत्कार करके उन्हें दिव्य सिंहासन पर बिठाया। स्वच्छ चित्त से आसन पर पूजित होकर बैठ जाने पर शिव जी ने भगवान की स्तुति आरंभ की—

"हे देवाधिदेव! आप जगत् में सर्वत्र व्याप्त हैं। आप जगत के ईश्वर हैं। जगत् आपका रूप है, आप ही सब भावों के आत्मा हैं! आपही सबके हेतु हैं, ईश्वर हैं। आप जगत् के आदि हैं। मध्य हैं। अनन्त है। आप स्वयं आदि मध्य अन्त से रहित हैं। आप दृश्य भी है, द्रष्टा भी हैं। भोग भी हैं भोक्ता भी हैं। सत्य हैं, चेतन हैं, ब्रह्म है आप सब के उपास्य हैं। आप अमृत हैं, निर्गुण हैं, निशोक हैं, आनन्द स्वरूप हैं, निर्विकार हैं, सर्वमय हैं! सबसे पृथक हैं, पूर्ण है, विश्व के कारण हैं, विश्व के पालक हैं, विश्व के संहारक हैं। शासक हैं, निरपेक्ष हैं, सबके फलदाता हैं, धाता हैं, विधाता हैं, ज्ञाता हैं, ज्ञान हैं, ज्ञेय हैं। आपही कार्य हैं, कारण हैं अभेद हैं, उपाधि से रहित हैं। कोई आपको ब्रह्म कहते हैं कोई धर्म, कोई प्रकृति पुरुष से परे पुरुषोत्तम, कोई परमपुरुष, कोई महापुरुष और कोई आपको अवतार बताते हैं, आप अज्ञेय हैं, आप सर्वात्मक हैं, विज्ञान घन हैं, आप सर्वत्र समान भाव से व्यापक हैं। आप

सम्पूर्ण जगत् में प्रविष्ट होकर उसकी चेष्टा, स्थिति, जन्म, नाश प्राणियों के कर्म तथा संसार के बन्धन मोक्ष के ज्ञाता हैं।"

ऐसी लम्बी चौड़ी स्तुति सुनकर लक्ष्मीनाथ मुसकराये। सर्वज्ञ प्रभु सब जानते हुए भी अनजान की भाँति हँसते हुए बोले—"हे पार्वती पति! आज आप इतनी लम्बी चौड़ी स्तुति क्यों कर रहे हैं। महाराज! बुरा तो मानें नहीं। इस इतनी बड़ी स्तुति में कोई हेतु छिपा हुआ है। स्तुति तो बहुत हो गई अब अपना अभिप्राय कहिये।"

सरलता के स्वर में शिवजी बोले—"नहीं, महाराज! कोई विशेष बात तो है नहीं। एक मुझे उत्सुकता है?"

भगवान बोले—"वह क्या?

शिवजी कुछ रुक रुककर बोले—"भगवान्! आपने जो सनक, सनन्दन, सनत् कुमार और सनातन के रूप कुमार अवतार लिये हैं उनके प्रायः मैं नित्य ही दर्शन करता हूँ। लोक व्यवहार से वे मुझसे ज्ञान की जिज्ञासा करते हैं, विविध प्रश्न पूछते हैं। आपने जो रसातल में गई पृथ्वी के उद्धार के निमित्त सूकरावतार ग्रहण किया था उसे भी मैंने देखा था। नारद, नर, नारायण, कपिल दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, मत्स्य धन्वन्तरि, नृसिंह, वामन परशुराम, हँस, हयग्रीव, व्यास, राम, कृष्ण, बलराम, बुद्ध कल्कि आदि आपने जितने भी गुणों के आश्रय से क्रीड़ा करते हुए आपने अवतार धारण किये थे उन सब के तो मैंने भली भाँति दर्शन किये हैं, किन्तु भगवन्! मैंने सुना है आपने स्त्री का भी रूप धारण किया था। उस लटके को मैं और देखना हूँ। छम्म छम्म करके कैसे घूमे

होंगे। कुछ पुरुष पन की झलक उसमें थी या सोलहू आने लुगाई ही बन गये थ। आप को लुगाई बने मैंने कभी नहीं देखा।"

यह सुनकर भगवान् खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"हाँ, महाराज! मैंने चुरी बीछियाँ पहिन कर ओढ़नी ओढ़ी थी, चोली पहिनी थी। असुरों को अपनी चटक मटक दिखाई थी।"

शिवजी बच्चों की भाँति अत्यन्त उत्सुकता के साथ बोले—"महाराज! मैंने कैलाश पर सुना था, कि आपने न तीर चलाया न कमान उठाई, न गदा घुमाई न बाँसुरी बजाई। केवल सैन चला कर मुँह मटका कर ही असुरों के हाथ से अमृत छीन लिया था और उनके देखते देखते उनकी आँखों में धूलि झोंककर देवताओं को अमृत पिलाते रहे, और वे सब मूढ़ कामी असुर काठ की मूर्ति बने चुपचाप देखते रहे।"

हँसकर भगवान् ने सिर हिलाया और बोले—"हाँ ऐसा ही हुआ था।"

शिवजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"तो महाराज! उस लटके को तो मैं भी तनिक देखना चहता हूँ उस छद्म वेष की बाँकी झाँकी तो मैं भी करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अजी, शिवजी! आप बड़े बूढ़े होकर इस चक्कर मे क्यों फँसते हो। जो हो गया सो हो गया। काठ की हंडी दुबारा थोड़े ही चढ़ती हैं। संभव है, मैं फिर वैसा रूप अब बना भी न सकूँ। और रूप तो मैंने एक कारण विशेष से बना लिया था। जब अमृत के कलश को बल पूर्वक असुर मेरे अंशावतार धन्वन्तरि के हाथ से छीन ले गये, तो मैंने देवताओं का कार्य विचार कर दैत्यों को कुतूहल में डालने के लिये स्त्री का मोहिनी रूप बनाया था। वह तो काम वर्धक रूप

दैत्यों के ही लिये था। आप तो देव भी नहीं महादेव हैं, आप उसे देखकर क्या करेंगे।"

शिवजी ने अत्यन्त उत्सुकता के साथ कहा—"नहीं महाराज! मेरी बड़ी इच्छा है, उस रूप को देखने की हानि ही क्या है, फिर एक बार सही। आपके लिये तो यह सब नाटक ही है।"

भगवान् ने हँसते-हँसते कहा—"अच्छी बात है महाराज! मुझे क्या? किन्तु फिर सम्हले रहना पार्वतीजी से बोले—"सुनती हो गिरिराज किशोरी भोले बाबा को पकड़े रहना।"

मुँह बनाकर पार्वती ने कहा—"अब महाराज! आप जाने वे जाने मैं तो आप लोगों के चक्कर में पड़ती नहीं। आप भले देवी बनों चाहे देवा। मोहनी बनो चाहें मोहना। आपस में ही दोनों सुलझ लो।"

शिवजी बोले—"अजी, महाराज! आप दिखाइये भी!" भगवान् कुछ सम्हल कर बोले—"अच्छा, कामी पुरुषों के अत्यन्त सम्माननीय और कामोद्दीपन करनेवाले उस कामिनी रूप को मैं आप को दिखाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर भगवान् तुरन्त ही अन्तर्धान हो गये। शिवजी चारों ओर चकित नेत्रों से देखने लगे कि मोहिनी भगवान् किधर से प्रकट होते हैं।"

छप्पय

हरि हँसि बोले देव! भये क्यों ऐसे उत्सुक।
असुर अमृत लै भगे करयो तब मैंने कौतुक॥
रूप मोहनी धरयो आँधरे दैत्य बनाये।
सुर संतोषित करे प्याइकैं अमृत छकाये॥
इच्छा उत्कट उमापति, तो पुनि तुम्हें दिखाउँगो।
सरस मोहनी रूपकी, झाँकी अबहिँ कराउँगो॥

शिव का मोहिनी दर्शन

(५४२)

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियम्,
विचित्रपुष्पाम्रुणपल्लवद्रुमे ।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलयालसद्,
दुकूलपर्य स्तनितम्बमेखलाम् ॥
(श्री भा० ८ स्क० १२ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

अन्तर्हित हरि भये तुरत निरखैं हर इत उत ।
उत्सुकता अति प्रबल प्रेमतैं चहुँ दिशि चितवत ॥
इतने में ई लखी नारि उपबनतैं आवत ।
कंदुक क्रीड़ा करत कपरदी चित्त चुरावत ॥
दमकै सौदामिनि सरिस कटितट पै कसि छीन पट ।
पीन पयोधरि भारतैं नमित फिरत सरवर निकट ॥

इन आँखों को भगवान् ने वाणी तो दी नहीं, किन्तु इतनी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इतने ही में शिव जी ने समीप के उपवन के अरुण वर्ण के नूतन पल्लवों से युक्त वृक्षों से जिनमें चित्र विचित्र पुष्प खिल रहे हैं ऐसे वृक्षों से गेंद उछाल उछाल कर क्रीड़ा करती हुई एक सुन्दरी स्त्री को देखा, जिसके देदीप्यमान दुकूल से सुशोभित नितम्ब देश पर मेखला सुशोभित थी ।

शक्ति प्रदान की है, कि इनमें सब कुछ शक्ति भरी हुई है हृदय के समस्त भाव आँखों में अंकित हो जाते हैं और आँखें ही उन्हें पढ़ लेती हैं, समझ लेती हैं, स्वीकार कर लेती हैं। प्राणी व्यर्थ में बोलता है। बोलना अपूर्णता का, असंयम का अधीरता का चिन्ह है। आँखें जहाँ चार हुईं, सब बातें हो गईं। मिलना तो नैनों का ही नाक है। सुन्दर सूँघकर तथा छूकर भी भाव व्यक्त किये जाते हैं, किन्तु देखकर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना सुनकर, सूँघकर अथवा छूकर नहीं होता हत्या की जड़ ये नेत्र हैं। ये नेत्र रूप के लालची होते हैं। संसार में दो ही तो वस्तु हैं, नाम और रूप। सभी दृश्य पदार्थों में अच्छा बुरा किसी प्रकार का भी रूप तो है ही, किन्तु सुन्दर सुरूप को देखकर आखें गड़ जाती हैं, मन को बार बार प्रेरित करती हैं। मन भी अधीर हो उठता है और उसे पाने का प्रयत्न करता है। यदि इन अनित्य पदार्थों के रूप में चित न फँसकर नित्य आनन्द रूप श्रीहरि के रूप लावण्य में फस जाय, तब तो बेड़ा पार ही हो जाय, यह संसार का आवा-गमन सदा के लिये छूट जाय, अतः जिसे रूप दर्शन का व्यसन हो उसे प्रभू के रूप का ही अवलोकन करना चाहिए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! जब भगवान् अन्तर्हित हो गये, तो शिवजी चारों ओर देखने लगे, कि भगवान कहाँ से प्रकट होते हैं।

जहाँ श्रीशिवजी विराजमान थे। वहाँ सम्मुख तो श्रीहरि के मणि माणिक्यमय भवन थे इधर एक अत्यन्त ही रमणीय उपवन था। जिसमें बारहों महीने ऋतुराज वसंत मूर्तिमान् होकर रहते थे। जिसमें नाना भाँति के पुष्प और फलों वाले बहुत से वृक्ष थे। उसके बीच में स्वच्छ सलिल वाला सुन्दर सुघड़ सरोवर था। जिसमें जल जन्तु किलोल कर रहे थे,

भाँति भाँति के कमल खिलकर उसकी शोभा को सहस्र गुणी बढ़ा रहे थे, सरोवर के चहुँदिशि पंक्तिबद्ध सघन वृक्ष लगे हुए थे, जिनके चित्र विचित्र पुष्प खिल रहे थे, अरुण वरण के नव पल्लव वायु के स्पर्श से हिल रहे थे, एक दूसरे की शाखा से शाखा सटाकर परस्पर में मिल रहे थे। कोई पुष्पों से परिपूर्ण थे, तो कोई फलों के भार से नमित थे। सघन द्रुमों का झुर मुट ऐसा प्रतीत होता था मानों किसी ने पुष्प गुच्छ सजा कर रख दिया हो।

शिवजी की दृष्टि ज्यों ही उस फल पुष्पों वाले वृक्ष के झुर मुट की ओर पड़ी त्यों ही क्या देखते हैं, कि एक नव यौवना युवती उन वृक्षों में से उसी प्रकार निकल रही है जैसे मेघों से विद्युत्। वह स्वाभाविक यौवन के मद में अलसाती, गेंद को उछालती इधर से उधर स्वेच्छा से क्रीड़ा कर रही है। उसके मांसल और पीन नितम्ब देदीप्यमान बहुमूल्य क्षीण दुकूल से आच्छादित हैं। उस पर सुवर्णमयी मेखला कुछ लटकती सी हिल रही है। उसका उदर प्रदेश अत्यंत क्षीण है। श्रोणी के भार से नमित सी, स्तन और उनके ऊपर पड़े चन्द्राहार, मुक्ता हार, वनमाला आदि मालाओं के भार से जिसकी क्षीण कटि पद पद पर लचती हुई टूटी सी जाती है। जो अपने चञ्चल अरुण चरण पल्लवों को निर्दयता पूर्वक इधर से उधर ले जाती है, उनमें पड़े नूपुर मंजीर की भाँति शब्द करते हुए मानों पग पग पर मना कर रहे हैं, विरोध कर रहे हैं कि इन कमल से भी कोमल चरणद्वय के साथ ऐसा अन्याय मत करो, इन्हें इस कठिन अवनि पर मत घसीटो। किन्तु स्वाधीन-पति के समान उनकी उपेक्षा करती हुई वह कंदुक क्रीड़ा में तन्मय है। अपने कोमल कोमल करों से कंदुक को

क्रीड़ा के निमित्त कुछ ऊपर उछालती है, फिर ऊपर से नीचे नचाती हुई आने वाली गेंद को लपकने के लिये उसी में दृष्टि गड़ा कर जब वह दौड़ती है, तो उसका उभरा हुआ वक्षःप्रदेश और लच जाता है अञ्चल खिसक जाता है कंचुकी ढीली हो जाती है और कोमल पद इधर उधर स्खलित से होते हुये प्रतीत होते हैं। सिर का वस्त्र पुनः पुनः ऊपर निहारने से खिसक कर कंधे पर एकत्रित सा हो गया है, जिससे कृष्ण नागिनी के समान झोटा खाती हुई उसकी वेणी हिल रही थी। उसकी क्रीड़ा एक दिशा को लक्ष्य में रखकर नहीं हो रही थी दिशा विदिशाओं में कन्दुक उछालने की चपलता से उसके उत्फुल्ल कमल के सदृश बड़े बड़े विशाल नेत्र चञ्चल हो रहे थे। आकाश में फैंकी हुई गेंद को वह अपने दोनों नेत्रों से उसी प्रकार एकाग्र होकर निहारती थी मानों दो चकोर चलते हुए चन्द्र को निहार रहे हों। शोभा में पूर्ण चन्द्र को भी लज्जित करने वाले तथा कोमलता में कमल को भी तिरस्कृत करने वाले उनके मनोहर मुख पर छिटकी हुई काली काली घुँघराली अलकें ऐसी ही लगती थीं, मानों चन्द्र की पत्नी रोहिणी अपने मुख को पति के मुख में सटाये हो और उसकी नीली अलकें सजीव होकर उसके अमृत का पान कर रही हों। उसके कान के कमनीय कनक कुंडल अपनी कान्ति से कपोलों की श्रीवृद्धि कर रहे थे। कभी कभी क्रीड़ा की चञ्चलता में साड़ी खिसक जाती। भूमि पर लटक जाती, वेणी शिथिल हो जाती। उसमें खुँसी हुई मल्लिका माला लटक कर हिल जाती, तो वह मनोहर बायें कर कमल से उसे सँभालती जाती और दूसरे से गेंद को भी उछालती जाती। वह कंदुक क्या उछाल रही थी मानों विश्व को विमोहित करने के लिये सब के मन को उछाल उछालकर

अपनी ओर बुला रही थी। वह क्रीड़ा के आवेग में हँस जाती, कभी उनकी चेष्टा चंचल हो जाती, कभी कंदुक के ऊपर क्रोध की मुद्रा दिखाती। श्रम के कारण मुख कमल पर स्वेद विन्दु झलक रहे थे। कभी-कभी वह ऊपर को दृष्टि किये ही उन्हें वस्त्र से पौंछ डालती और कुछ काल में वे फिर उदित हो जाते। वह क्रीड़ा मे तन्मय होकर अपनी रूप सुधा को उस उपवन में विखेर रही थी। मानो उसके लिये कंदुक के अतिरिक्त संसार में और कुछ है ही नहीं।

शिवजी ने उस कंदुक क्रीड़ा करती हुई कामिनि को देखा। अब वे उस बात को तो भूल गये, कि भगवान मुझे मोहिनी रूप में दर्शन देकर मेरी इच्छा पूर्ति कर रहे हैं। वे सोचने यह लगे कि यह ऐसी सुन्दरी अकेली स्त्री यहाँ क्रीड़ा क्यों कर रही है, कौन है यह।" शिवजी एकटक भाव से उसे ही देख रहे थे और उसी के सम्बन्ध की बाते सोच रहे थे, इतने में ही वह साकार सौन्दर्य की मूर्ति शिवजी की ही ओर अपनी गेंद को उछालने लगी। कन्दुक क्रीड़ा के मध्य में वह सलज्ज स्फुट मुसकान युक्त कटाक्ष बाण शिवजी को लक्ष करके छोड़ती जाती थी और बड़ी चातुरी से उनके हाव भावों को भी पढ़ती जाती थी।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! किसी को देखकर चित्त मे चंचलता हो, तो उधर से बलात् दृष्टि हटा लेनी चाहिये। किसी ऐसे अत्यन्त आवश्यक काम में चित्त को फँसा देना चाहिये कि वे विचार मन से हट जायँ। किन्तु जब चित्त को कोई चोरी कर लेता है, तो इच्छा न रहने पर भी दृष्टि उधर से हटाई नहीं जा सकती लाख प्रयत्न करने पर भी मन अन्य किसी काम में लगता नहीं। हृदय पटल पर उसी चित्तचोर की मूर्ति नाचती

रहती है, चित्त के लिये चिन्तन करने का अन्य कोई विषय नहीं रह जाता। बार-बार निहारने से उत्सुकता और बढ़ती है, तन्मयता गहरी होती है, विवेक नष्ट हो जाता है, कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं रहता, लोक-लाज छोड़कर चली जाती है, कुल कानि कहीं भाग जाती है। द्वैत को मिटाने के लिये व्यग्रता बढ़ती है, उसे प्राप्त करने, उसे अपने में मिला लेने की इच्छा बलवती हो जाती है और इन्द्रियाँ बलपूर्वक बिना कहे हठात् उधर ही दौड़ने लगती हैं। इन्हीं सब क्रीड़ाओं का प्रदर्शन कैलाश पति प्रभु कर रहे थे। लौकिकी गति का नाट्य दिखा रहे थे।

अब चन्द्रशेखर के चित्त को उस चारु हासिनी चंचला ने चुरा लिया। वह लोक मर्यादा कुलकानि शील संकोच के बन्धन को तुड़ाकर स्वच्छन्द विहार करने को उद्विग्न हो उठा। पास में पार्वतीजी बैठी हैं, वे क्या सोचेंगीं। मैं उन्हें क्या कहकर लाया हूँ! ये मेरे नन्दी भृङ्गी आदि गण हैं, ये क्या कहेंगे, इन सब बातों को वृषभध्वज भूल गये। वे तन्मय होकर एकाग्र भाव से उस कन्दुक के पीछे कुदकने वाली कामिनी के अतिरिक्त किसी को भी नहीं देखते थे।

एक बार जब उस रमणीरत्न के कर कमलों से उछाली हुई गेंद दूर चली गई, तब तो वह उसे लपकने वेग के साथ दौड़ी। उसी झोंके में उसकी अति झीनी साड़ी अंगों से खिसक गई। वह क्रीड़ा का भाव दिखाती, बार-बार शिवजी की ओर तिरछी चितवन से निहारती, अनुराग युक्त कटाक्षपात करती दौड़ रही थी। नेत्रों ने नेत्रों का भाव पहिचाना। अनुरक्त हुए पार्वतीपति ने जब जाना कि यह भी मेरे ऊपर अनुरक्त है और मुझे स्नेह भरी दृष्टि से, प्रेम भरी चितवन से पुनः पुनः निहार रही है। तब तो उनका विवेक उन्हें छोड़कर लज्जा से

छिप गया। उसके छिपते ही शिवजी उस सुन्दर कटाक्ष वाली

दर्शनीया तथा मनोहारिणी मोहिनी के पीछे चल दिये। पार्वती

जी ने बहुत रोका—"कहाँ जाते हो, ठहरो ठहरो। गणों ने विनय की। नान्दी बार बार बम्ब बम्ब करके चिल्लाने लगे, किन्तु बम्भोले तो उसके रूपजाल में फँस चुके थे, उन्हें अब रोकने की सामर्थ्य किसमें थी। लज्जा डर कर भाग गई, विनय दूर खड़ी हो गई, शील संकोच दोनों ही खिसक गये। केवल काम ने साथ दिया और अशरीरी अनंग शिवजी के आगे आगे गुप्त रूप से चल रहा था।

अपनी ओर त्रिलोचन शिव को आते देख, वह क्रीड़ा प्रिया कामिनी कन्दुक को छोड़कर अनावृत होने के कारण सकुचाती, लजाती, व्रीड़ा का भाव दिखाती, अंगों को अपने आप में ही छिपाती सी, अपने हाव भावों से भवानीशंकर को लुभाती, मदमाती, हँसती हुई वहाँ से आगे बढ़ गई। वह द्रुतगति से वृक्षों के झुरमुट में छिपने के लिये प्रयत्न करने लगी। जैसे अंधेरे में कोई विद्युत् पुनः पुनः प्रकाश दिखाकर मार्ग को बताती हो, वैसे ही वह बीच बीच में अनुराग भरे कटाक्ष बाणों को छोड़ती हुई शिवजी को अपनी ही ओर आने के लिये अधिकाधिक आकर्षित करती। वह छिपती थी, प्रकट होने के लिये। वह दूर हटती थी, मिलने के लिये वह लज्जा दिखा रही थी, निर्लज्जता प्रकट करने के लिये वह करना कुछ और चाहती थी, प्रदर्शन कुछ और ही कर रही थी।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन्हें विवेक छोड़कर चला जाता है, वे इन स्वच्छन्दचारिणी कामिनियों के भावों को समझ न सकने के कारण फँस जाते हैं, लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। शिवजी का प्रथ प्रदर्शक तो उस समय रतिपति अनंग था, अतः उसी के वशीभूत होकर वे उस कामिनी के पीछे

उसी भाँति दौड़ रहे थे जैसे मदोन्मत करीन्द्र करिणी के पीछे दौड़ रहा हो।

छप्पय

पग युग अटपट परत उदर कृश नमत निरन्तर।
कंदुक श्रमतैं स्वेद बिन्दुयुत मुख अति सुन्दर॥
अलकनि पलकनि और कपोलनि की झलकनिपै।
छटकि सरसता रही भामिनी के अंगनिपै॥
तिरछी चितवनते लखे, भूलि अपनपौ शिव गये।
छाँड़ि शील सङ्कोच सब, मृगनयनीसँग चलि दये॥

महादेव और मोहिनी सम्मिलन

(५४३)

सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम् ।
केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिपस्वजे ॥*

(श्री० भा० ८ स्क० १२ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

आवत देखे शम्भु चली द्रुत गति मुसकावति ।
सकुचि सहमि हँसि चलय मनहुँ मग रस बरसावति ॥
गाय वृषभ उन्मत्त फिरै करिणी सँग जनु करि ।
खिसके वस्त्र सम्हालि भगै पुनि देखे फिरि फिरि ॥
वेंणी झोटा खाइ जनु, लता चढ़ी नागिनि हिलै ।
हार हृदय को करन हित, हर सोचें कैसे मिलै ॥

हृदय में काम भाव उत्पन्न होने से एक प्रकार की विकलता अधीरता तथा विह्वलता की अनुभूत होती है। चिंतन की

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शिवजी ने बड़े वेग से उसके पीछे दौड़कर उसकी चोटी पकड़ ली और अनिच्छा प्रकट करती हुई उस अबला को अपनी बाहुओं से पकड़ कर आलिंगन किया।"

अपेक्षा देखन से वह और बढ़ती है, देखने की अपेक्षा छूने से छूने की अपेक्षा अंगस्पर्श से । अंगस्पर्श की अपेक्षा सहवास से उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है जो एक बार ऊपर से गिरता है, वह तब तक गिरता ही जाता है, जब तक नीचे न आ जाय। गंगाजी ब्रह्मलोक से गिरी तप, जन तथा महर्लोकादि होती हुई ध्रुव लोक में आईं वहाँ से स्वर्ग भुवर्लोक होती हुई शिवजी के मस्तक पर गिरी। मस्तक से गिरकर कैलाश पर, फिर हिमालय पर। तदनन्तर पृथिवी पर और पृथिवी से भी बहती बहती समुद्र में जाकर खारी हो गई इसीलिये मनीषियों ने कहा है, जो विवेक को खो देते हैं फिर वे उत्तरोत्तर खिसकते ही जाते हैं।

शिवजी भगवान् की मोहिनी माया चक्कर में ऐसे फँसे कि वे पार्वती जी को अपने गणों को सर्वथा भूलकर उस कपट-कामिनी के पीछे दौड़े। उसकी बँधी हुई वेणी निरन्तर हिल रही थी, सदाशिव उसकी ओर अपना हाथ बढ़ा रहे थे। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो कंकण के स्थान पर जो शिव जी ने काले सर्पों को लपेटा था, उसमें भूल से कोई नागिनि लिपट गई। वह भाग कर किसी लता पर चढ़ गई। शिवजी उसे पुनः पकड़ने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वायु वेग के कारण लता हिल रही है, सर्पिणी हाथ में नहीं आती।

शिवजी ने सम्पूर्ण बल लगाकर उस मोहिनी भगवती की वेणी पकड़ ली और उसे हाथ में लपेट कर और उसके चन्द्रमा के समान विकसित आनन को बाहुओं से साध कर हृदय प्रदेश में धारण कर लिया। उस समय वृषध्वज के विशाल वक्षःस्थल में वह उत्फुल्ल आनन उसी प्रकार शोभा पा रहा था,

जिस प्रकार शारदीय चन्द्र गगन में शोभा पा रहा हो। कंधे पर यज्ञोपवीत के स्थान पर पड़े तीन सर्पों में मिलकर वह वेणी ऐसी शोभा दे रही थी मानों शिव ने एक कृष्णवर्ण की ऊन का मोटा यज्ञोपवीत और धारण कर लिया हो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! लीला के आवेश में आप भूल न जायँ। यह माया मोहिनी कोई अन्य नहीं हैं ये त्रिदेवों में से सत्वावतार भगवान् विष्णु ही हैं। आज वे इस बात को अपने भक्तों को प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं, कि शिवजी के हृदय में विष्णु विराजमान हैं, और विष्णु के हृदय में शिव। आज गंगा यमुना की भाँति हर और हरि का सुन्दर सम्मिलन हो रहा था। आज भेदभाव को त्याग कर दोनों ही एक हो रहे थे। शिव को तो अद्वैत प्रिय ही हैं, किन्तु विष्णु को तो द्वैत ही प्रिय हैं उन्हें तो भेद भाव से भजन ही अत्यन्त प्रिय है, अतः मोहिनी रूपधारी हरि ने अनिच्छा प्रकट करते हुए, अपने हास्य युक्त विकसित चन्द्रानन को इधर उधर हिलाते हुए, अङ्गों को खिसकाकर छुड़ाकर भागने का प्रयत्न करने लगीं। उसी मोहिनी माया ने कुछ काल तक तो यों ही अङ्गों को हिलाया पुनः एक झपटा मार कर वे शिवजी से अपने को छुड़ाकर द्रुत गति से भगीं उस समय उनकी शोभा अद्भुत थी। उनके स्थूल नितम्ब परस्पर सटे हुए होने के कारण हिल रहे थे। श्वास प्रश्वास की गति तीव्र थी। शिवजी के पकड़ने से उनके कुटिल केश पाश खुलकर बिथुर गये थे। वायु में उड़ते हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानो फूली हुई लता पर किसी ने रेशम के काले लच्छे पर बाँध दिये हों और वे प्रबल झंझावात से फहरा रहे हों।

यह शिवजी की प्रथम ही पराजय थी। एक बार उन्होंने काम

बड़े से बड़े देवाधिदेव भी आ सकते हैं, किन्तु जिनके हृदय में श्रीहरि का निरन्तर निवास है, उनकी रक्षा श्रीहरि सर्वत्र करते हैं। भगवान् के तो सभी रूप हैं किन्तु किसी रूप की तो दूर से ही दंडवत करनी चाहिये और किसी रूप को हृदय से लगाना चाहिए ! मन से सब में अपने इष्ट को ही देखे तो मोह नहीं होता, फिर बन्धन का कोई काम ही नहीं, फिर तो सर्वत्र वे ही मोहक सर्वेश्वर दिखाई देंगे।

छप्पय

बढ़े बेगतैं केश पास पकरे त्रिपुरारी।
लीन्हीं हृदय लगाइ सहम सकुची सुकुमारी॥
हर हिय नभ हरि-बदन इन्दु सम शोभा पावै।
इत ये पुनि पुनि कसैं मोहिनी विवश छुड़ावै॥
बिखरी अलकावलि सुघर, झूमत लागैं अति भली।
बाहुपाशतैं पृथक् ह्वै, तुरत तहाँतैं भगि चलीं॥

इससे आगे की कथा तेईसवें खण्ड में पढ़िये

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्षका एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्व—श्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३४५ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल २·७५ दो रुपया पचहत्तर पैसा है, शीघ्र मँगाइये।

मतवाली मीरा

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा। उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढंग से आलोचना की है, भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या, प्रेम के निगूढ़ तत्त्व को मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन बेटियों माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते पढ़ते प्रेम में गद्गद् हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढंग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गयी। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २) दो रुपये मात्र हैं। मीराबाई का जहर का प्याला लिये चित्र बड़ा कला-पूर्ण है।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

शब्द (कविता संग्रह : 1980)
उस जनपद का कवि हूँ (कविता संग्रह : 1981)
अरघान (कविता संग्रह : 1984)

पता : सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

श्री भागवत दर्शन—

भागवती कथा

(तेईसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक—

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—

संकीर्तन भवन

प्रतिष्ठानपुर (झूसी, प्रयाग)

द्वितीय संस्करण] चैत्र, सं० २०२३ वि० [illegible] मूल्य [illegible]

वार्षिक मूल्य डाक व्यय, रजिस्ट्री सहित, १५=)

मुद्रक—राजाराम शुक्ल संकीर्तन प्रेस, वंशीवट, वृन्दावन

विषय-सूची

	भूमिका [सन्तों के जीवन से उपदेश]	१
५४४	मोहिनी चरित्र की समाप्ति	२५
५४५	समय वैवस्वत मन्वन्तर	३४
५४६	आगामी सात मन्वन्तरों की कथा	४८
५४७	मन्वन्तरों के मनु आदि के कार्य	५४
५४८	महाराज बलि का पुनः स्वर्ग के लिये प्रयत्न	६०
५४९	क्षयिष्णु स्वर्ग पर बलि की चढ़ाई	६७
५५०	देव गुरु की सम्मति से सुरों का स्वर्ग त्याग	७४
५५१	पुत्रों के पराभव से अदिति को दुःख	८१
५५२	कश्यप जी द्वारा अदिति को उपदेश	९०
५५३	पयोव्रत की विधि	९७
५५४	पयोव्रत से प्रसन्न प्रभु का प्राकट्य	१०३
५५५	अच्युत का अदिति का स्वयं पुत्र होने का वरदान	११०
५५६	वामन भगवान्	११८
५५७	भगवान् वटु वामन का उपनयन	१२५
५५८	बलि के यज्ञ में वामन भगवान्	१३३
५५९	बलि और वामन	१४०
५६०	वामन द्वारा बलि के कुल की प्रशंसा	१४८
५६१	वामन द्वारा बलि के प्रपितामहों की प्रशंसा	१५६
५६२	वामन की बलि से तीन पग पृथ्वी की याचना	१६६
५६६	शुक्राचार्य का शिष्य को समझाना	१७०
५६४	शुक्राचार्य का व्यावहारिक धर्म	१७७
५६५	शुक्राचार्य द्वारा गोलमोल धर्म	१८५
५६६	कहाँ असत्य निन्दनीय नहीं होता	१९३
५६७	महाराज बलि की सत्य में दृढ़ता	२०६
५६८	महामना बलि की उदारता	२१५
५६९	महाराज बलि को शुक्राचार्य का शाप	२२६
५७०	बड़े वामन का विश्वरूप	२३२

श्री वामन भगवान

भूमिका

सन्तों के जीवन से उपदेश

सङ्गं त्येजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः,
सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि ।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युंजीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥

(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० ५१ श्लो०)

छप्पय

परहित धारहिं देह संत सुख देहिं सबनि कूँ ।
स्वयं कष्ट सहि सत्य सिखावें नर नारिनि कूँ ॥
संत चरित साकार, ज्ञान प्रत्यक्ष दिखावें ।
है जीवन ही वेद ग्रन्थ तिनिके बनि जावें ॥
केवल पढ़ि समुझत नहीं, पठन श्रवन इक व्यसन है ।
सन्त करहिं प्रत्यक्ष जब, होवे संशय-शमन है ॥

भक्त और भगवान् के चरित्र जिनमें गाये जांय वे कथायें ही भागवती कथायें हैं। अवतार पुरुष, संत पुरुष, तथा महा-

---

भगवान् सौभरि ऋषि यमुना के जल में डुबकी मारकर तपस्या करते थे। भीतर उन्होंने एक मत्स्य को मिथुन धर्म में स्थित देखा तभी उनकी गृहस्थी बनने की इच्छा हुई। उन्होंने पचास विवाह किये। अंत मे

पुरुष जो कुछ कह गये है, जैसा जीवन बिता गये हैं, उनका ही उल्लेख इतिहास-पुराणों में होता है। भगवान् का जिनके साथ सम्बन्ध है उनकी प्रत्येक घटना से उपदेश मिलता है। प्राचीन घटनाओं के पढ़ने से हृदय पर उसका प्रभाव पड़ता है और लोग उससे उपदेश ग्रहण करते हैं। पुरानी घटनाओं की अपेक्षा नई, प्रत्यक्ष देखी घटनाओं का अत्याधिक प्रभाव हृदय पर होता है। सन्तों की समस्त चेष्टायें लोक-कल्याणार्थ ही होती है, उनके जीवन की प्रत्येक घटना से उपदेश मिलता है। आज प्राक्कथन में मुझे एक महापुरुष के ही सम्बन्ध में कुछ कहना है, उनके ही कुछ सुखद संस्मरणों को पाठकों के सम्मुख रखना है। ये महापुरुष हैं ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्री उड़िया बाबा जी महाराज।

उत्कल प्रदेश में जगन्नाथ पुरी के समीप एक विप्रवंश में आपका जन्म हुआ था। सुनते है ज्योतिषियों ने ३२ वर्ष की अवस्था में आपका मृत्युयोग बताया था, उसी अवस्था में आप ने सन्यास ले लिया। मानों आपका दूसरा जन्म हुआ आप घूमते घामते गंगातट पर बुलंदशहर जिले में राजघाट नरौरा के समीप रामघाट में आ गये और अधिक समय वहीं रहने लगे। रामघाट मेरी जन्मभूमि के समीप ही है। हमारे वहां के

फिर वैराग्य हुआ और उन्होंने कहा—'मुमुक्षु पुरुष को दाम्पत्य धर्म में स्थित संसारी लोगों का सहवास सर्वथा त्याग देना चाहिये। अपनी इन्द्रियों को बहिर्मुख न होने देना चाहिये। वह सर्वदा एकान्त में अकेला ही निवास करे, चित्त को एकमात्र अनन्त ईश्वर में ही लगा दे। यदि संग करना ही हो तो भगवत् परायण साधु पुरुषों का ही सर्वथा सहवास करे।

सब लोग गंगा स्नान करने रामघाट आते थे। इसी संबन्ध से बाल्यकाल से ही मैं उड़िया बाबा के नाम से परिचित था। उड़ीसा प्रान्त के होने से ही सब लोग आपको उड़िया बाबा कहने लगे थे।

उन दिनों आपके ज्ञान, वैराग्य, त्याग, तितिक्षा तथा सुन्दर स्वभाव की इस प्रान्त में सर्वत्र ख्याति हो रही थी। सहस्रों, स्त्री, पुरुष दूर दूर से आप के दर्शनों को आते रहते थे। महाराज जहां भी जाते वहीं एक मेला सा लग जाता। आप बड़े ही दयालु, मृदुभाषी, तथा सरल प्रकृति के थे। एक बार जो आपका दर्शन कर लेता वह सदा के लिये उनका बन जाता, आप जैसा अधिकारी देखते उससे वैसी ही बातें करते। युवक आप से अत्यंत प्रभावित होते थे। आप राजनीतिक विषयों में भी बड़ा अनुराग प्रदर्शित करते। जो राजनीतिक विचार के युवक आते, उन्हें राजनीतिक कार्यों के लिये प्रोत्साहित करते। जो धार्मिक विचार के आते उन्हें धर्मानुष्ठान सिखाते, और जो मुमुक्षु होते उन्हें मुक्ति मार्ग सिखाते। अन्नपूर्णा की आपको सिद्धि थी। कहीं भी बैठ जायँ वहीं भांति भांति के पदार्थों के ढेर लग जाते और सैकड़ों पुरुष प्रसाद पाते। एक दृष्टि में ही वे दर्शनार्थी को अपना बना लेते। प्रथम दर्शन में ही मुझे अनुभव होने लगा मानों ये मेरे परम आत्मीय हैं। उन्होंने इस अधम पर इतना अधिक अनुराग प्रदर्शित किया कि उसे व्यक्त करने की क्षमता नहीं। सत्पिता जिस प्रकार पुत्र की प्रत्येक बात का ध्यान रखता है उसी प्रकार वे मेरी बातों का ध्यान रखते। मैं जब जब भी उनके चरणों में गया तब तब मुझे नूतन स्फूर्ति प्राप्त हुई। उन दिनों उनकी युवावस्था थी। त्याग और वैराग्य की पराकाष्ठा थी। एक काठ

के कमंडलु के अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं रखते थे। स्वयं घर घर मधुकरी भिक्षा करने जाते। रामघाट में इमली के नीचे एक फूंस की कुटी थी। उसमें सिरकी लगी थी। एक छोटा सा तख्त उसमे पड़ा था, नीचे एक चटाई बिछी थी। बाहर एक लगोटी और भीतर कमंडलु भरा जल। भगवती भागीरथी के तट पर उस महान् योगी की पर्णकुटी त्याग वैराग्य की प्रतीक थी। प्रातः काल वे किसी से मिलते नहीं थे। लगभग ५-६ घंटे बिना आसन बदले एक ही आसन से बैठे ध्यान में मग्न रहते। कोई उस समय उनके समीप जा नहीं सकता था। मध्याह्न काल में वे गांवों में भिक्षा करने जाते और तीसरे पहर सत्संगियों की शंकाओं का समाधान करते। यही उनकी चर्या थी।

उन दिनों मेरे जीवन में भी त्याग की एक क्षीण सी रेखा उदित हुई थी। उन्होंने मुझे प्रेम में नहला दिया। मुझ अधम से भी कोई इतना स्नेह कर सकता है, यह मैंने कल्पना भी नही की थी। यद्यपि महाराज प्रातः काल किसी से मिलते नहीं थे, मौन रहते थे, संकेत भी नहीं करते थे किन्तु मुझे कुटी में आने की आज्ञा थी। एक दिन मैं गया तो उन्होंने एक पुस्तक निकाली। पुस्तक संभवतया श्रीमद्भगवत् गीता की थी और वह उड़िया भाषा में थी। उसमें से उन्होंने मुझे बुद्ध भगवान् का एक चित्र दिखाया। जिस समय भगवान् बोधि वृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्ति के संकल्प से बिना खाये पीये बैठे थे। उनका शरीर सूख गया था, अस्थि मात्र अवशिष्ट थी। चित्र बड़ा ही भावपूर्ण था, ऐसा चित्र फिर कभी देखने में आया नहीं।

उन दिनों मैं काशी में साहित्यिक जीवन व्यतीत करता था, उसे छोड़कर इसी संकल्प से हिमालय की यात्रा कर रहा था कि जब तक भगवत् प्राप्ति न होगी, तब तक हिमालय से लौटकर देश में न आऊँगा। संभवतया मेरे इस भाव की पुष्टि के ही निमित्त उन्होंने मुझे बुद्ध भगवान् का वह दिव्य चित्र दिखाया था। उनके मुख मंडल पर एक विचित्र ओज और तेज था। उनकी वाणी में भी बड़ा आकर्षण था। श्लोक इस लय से बोलते थे कि सुनते सुनते रोंगटे खड़े हो जाते थे। कहां किस शब्द पर कितना बल देना चाहिये इसे वे ही जानते थे। उनके मुख से यह श्लोक मैंने जब जब सुना तब तब जीवन में एक विचित्र स्फूर्ति मिली, हृदय में एक विचित्र भाव उत्पन्न हुआ। वे तन्मय होकर गाते थे।

इहासने शुष्यतु मे शरीरम्,
त्वगस्थि मांसं निलयं तुयान्तु।
अप्राप्यबोधं बहुकाल दुस्तरम्,
इहासनान्नैव समुच्चलिष्ये।*

प्रायः वे गङ्गा किनारे ही विचरते थे। सो भी १०, २० कोस के आस पास। संभवतया कुंभ के अवसर पर एक बार हरिद्वार तक गये। ऋषीकेश से आगे वे कभी नहीं गये। कहा करते थे कि बद्रीनारायण जाकर फिर लौटा थोड़े ही जाता है। उधर गये सो गये। मेरी स्मृति में एक बार ही वे काशी तक

*इस आसन पर बैठे बैठे चाहे मेरा शरीर सूख जाय। त्वगहड्डी मांस चाहे नष्ट हो जाय, किन्तु मैं बहुकाल दुस्तर बुद्धत्व प्राप्त किये बिना मैं इस आसन से कभी उठूंगा नहीं हिलूंगा नहीं।

गये पीछे गङ्गा जी छोड़कर वे आस-पास के गांवों में भी चले जाते थे। वे कभी किसी सवारी पर नहीं चढ़ते थे, सदा पैदल ही चलते थे। पैदल चलने का उन्हें ऐसा अभ्यास था कि १०-२० कोस चलना उनके लिये सामान्य बात थी। वे सदा एक चदरा, एक कमंडलु रखते थे। इसके अतिरिक्त वे किसी वस्तु को नहीं रखते। जिसके यहां से जब चलना होता, रात्रि में चुपके से उठकर चले जाते, किसी से कह कर नहीं जाते थे। सांप जैसे केंचुली को छोड़कर उसकी ओर फिर देखता भी नहीं, उसी प्रकार वे सब कुछ छोड़कर चल देते। लोग जहां भी आपका आगमन सुनते वहीं सहस्रों की सख्या में दौड़ आते। वे सबसे समान भाव से मिलते, सबकी सुख दुख की बातें पूछते। जिससे भी बातें करते वही यह समझता ये मुझ से सबसे अधिक प्यार करते हैं। वे ऐसे घुल-मिल जाते कि सभी उन्हें अपना आत्मीय स्वजन समझते, अपना दुख सुख बताते और छोटी से छोटी घर गृहस्थी की बातों में भी सलाह देते। किसी की लड़की को वर नहीं मिलता उसे वर बता देते। किसी को अनुष्ठान बता देते। सारांश यह कि वे लोक परलोक दोनों प्रकार की बातों में ही अपने आश्रितों की सहायता करते।

हिमालय से लौटकर-रुग्ण होकर-मैं पुनः उनके चरणों में आया, अपनी असफलता बताई। तब आपने मुझे प्रोत्साहित करते हुए कहा—"भैया! कोई बात नहीं। असफलता में ही सफलता छिपी रहती है। तुम्हारी लिखने लिखाने की ओर प्रवृत्ति है, तुम पुस्तकें लिखो। तभी मैंने "श्री श्री चैतन्य चरितावली" लिखी। जिस दिन आरम्भ की उस दिन मैंने आदमी भेजा कि महाराज मुझे आशीर्वाद लिख भेजें। उसी समय आपने तुरन्त एक श्लोक लिखवाकर भेजा—

जो श्री चैतन्य—चरितावली के प्रथम खण्ड के आरम्भ में छपा है। फिर आप मेरी प्रार्थना पर श्री हरि बाबाजी के बाँध पर पधारे जहाँ मैं चैतन्य चरितावली लिख रहा था, और मेरी प्रार्थना स्वीकार करके कुछ दिनों वहां विराजे भी। इसके अनन्तर अनेकों बार मैंने दर्शन किये। जब भी मुझे कोई कठिनाई होती उनके चरणों में जाता और वे उचित परामर्श देते। वे सबके मन की बातें जानते थे, जैसा जिसका रुख देखते वैसी ही उससे बात करते। वे कभी किसी में बुद्धि भेद नहीं करते थे। उनकी जैसी सहनशीलता आज तक मैंने किसी में देखी नहीं। वे सबकी बात सहते, जिसे एक बार अंगीकार कर लेते, अंत तक उसका प्रतिपालन करते। अपनाकर ठुकराने की वे मन से भी कल्पना नहीं कर सकते थे। दयालु इतने थे कि घोर से घोर विरोधियों पर भी कभी क्रोध न करते, उनके बड़े से बड़े अपराधों को क्षमा कर देते। एक भूले भाई ने उनपर प्रहार किया। आपकी नासिका में घाव भी हो गया, फिर भी आपने कुछ नहीं कहा, उसे पुलिस तक में नहीं दिया, क्षमा कर दिया। भोजन कराने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। अपने हाथों से भक्तों को परोसते और आग्रह-पूर्वक खिलाते। वे दोनों के प्रतिपालक थे। इनका तप सौम्य था, उसमें क्रोध का अभाव था। उनका त्याग छल से रहित था, उनका स्वभाव शिशु की भांति सरल था। वे सेवा लेना उतनी नहीं जानते थे, जितनी सेवा करना जानते थे। मैं जब भी जाता मेरी सब बातों का स्वयं प्रबन्ध करते, लोगों को नियुक्त करते। मेरे ही साथ नहीं सभी के साथ उनका इसी प्रकार स्नेहमय व्यवहार था। वे हृदय को पकड़ना जानते थे और निभाना भी। पीछे से आपका संग पूज्यपाद श्री हरिबाबा जी के साथ हुआ। गङ्गाजी के बाँध

वँधने के अनन्तर ही इन दो महापुरुषों का सम्मिलन हुआ और ऐसा हुआ कि ये दोनों एक हो गये। जैसे निमाई निताई (श्री चैतन्यदेव और श्री नित्यानन्द) दोनों घुल मिल गये हैं वैसे ही उड़िया बाबा और हरिबाबा परस्पर अन्योन्याश्रित भाव से एक बन गये। भक्तगण हरिहरात्म भाव से उनकी पूजा करते थे। श्री हरिबाबाजी से वे अवस्था में ९—१० वर्ष बड़े थे। अतः वे उनमें पूज्य बुद्धि रखते। वे भी श्री हरिबाबाजी का अत्यन्त ही संकोच करते। स्वयं श्री हरिबाबा कहते थे कि जबसे हम मिले दोनों में कुछ ऐसा संकोच का सा सम्बन्ध हो गया था कि कभी हम खुलकर मिल ही न सके। उन्होंने कभी मेरे सामने उपदेश नहीं दिया, कथा नहीं कही। मैं पहुंच जाता तो वे कुछ कह भी रहे हों तो चुप हो जाते। कभी उन्होंने मुझे आदेश, उपदेश नहीं दिया। सदा मेरा रुख देखकर बातें की।"

मैंने तो अपनी आँखों सब प्रत्यक्ष देखा है। श्रीहरिबाबाजी के और उनके स्वभाव में, रहन सहन में, व्यवहार में, पृथिवी-आकाश का सा अन्तर था। वे प्रवृत्ति के कार्यों से घबराते थे इनका सब कार्य लोकहित के ही निमित्त जन समूह में होता था। वे समय का कोई विशेष विचार नहीं रखते थे। जब तक चाहें उपदेश देते रहें, जब तक चाहें बातें करते रहें। इनका सभी काम का पल पल बँधा रहता है, घड़ी देखकर प्रत्येक कार्य करते हैं। वे भक्तों के साथ हँसते खेलते थे, उनके सुख दुख की बातें पूछते, घर गृहस्थी की सम्मति देते। इनके चाहे कोई मरो, चाहे कोई जीओ, नीची दृष्टि करके कथा में बैठे रहना, कुछ पढ़कर सुना देना, कीर्तन कर लेना और फिर

किवाड़ बन्द करके बैठ जाना। कोई आओ कोई जाओ किसी से कोई व्यवहार की बातें ही नही, मिलना नहीं जुलना नही। उनकी अद्वैत वेदान्त में पूर्ण निष्ठा थी, ये भक्ति पथ के पथिक हैं। इस प्रकार की विषमता होने पर भी दोनों एक हो गये। श्री उड़िया बाबाजी जब तक नहीं पहुंचते तब तक बांध का उत्सव होता ही नही था। महाराज ने अपनी समस्त इच्छायें श्रीहरि बाबाजी की इच्छा में मिला दी थी। जितना उन्होने निभाया उतना कोई भी नही निभा सकता। वे सदा श्री हरिबाबा जी की भावभंगी देखा करते। उन्हें किसी बात से कष्ट न हो यही चिन्ता उन्हें सदा बनी रहती थी। इन तक वे किसी बात की सूचना नहीं पहुँचने देते थे। कीर्तन ठीक नहीं हुआ। श्री हरिबाबा जी के चित्त में दुःख हुआ, तो वे सभी को बुलाते समझाते और हरिबाबाजी को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते। आने जाने वालों की समस्त देख रेख उन पर थी; हरिबाबा जी तो यह भी नहीं जानते थे, कि कौन आया कौन गया, कहाँ से रुपया आया, किसने दिया, क्या व्यय हुआ। इन सब की सार सम्हाल वे स्वयं करते थे। श्री हरिबाबा जी तो केवल कह भर देते थे—यह होना चाहिये, उनके समस्त कार्य दूसरों के उपकार के ही निमित्त होते थे। या अंगीकार किये हुए के प्रतिपालन के निमित्त। जिसे भी उन्होंने अपना कहकर स्वीकार कर लिया, उसकी फिर चाहे कोई भी आकर कितनी भी बुराई करो, वे उसे त्यागते नही थे। दोष देखते हुए भी वे उसकी ओर ध्यान नहीं देते थे। इतनी अदोष दृष्टि दूसरे स्थान में मिलनी कठिन है। पहिले इस भाँति के संकीर्तन या सत्संग महोत्सव नहीं होते थे। बांध के उत्सवों के पश्चात् ही सर्वत्र इनका प्रचार हुआ। मेरे ऊपर तो आपकी अत्यन्त

ही अनुकम्पा थी। जैसे पिता पुत्र की बातों को मान लेता है उसी प्रकार वे मेरी सभी बातों को मान लेते। अलीगढ़ में सर्व-प्रथम वृहत् सकीर्तन उत्सव हुआ। बा० रामस्वरूप जी केला का उस उत्सव को सफल करने में बड़ा हाथ रहा। उनकी इच्छा थी कि आजकल जितने प्रसिद्ध, प्रसिद्ध महात्मा हैं—सभी इस उत्सव में बुलाये जायँ और प्रायः सभी पधारे भी थे। वृन्दा वन के प्रसिद्ध गोस्वामी बालकृष्ण जी गोस्वामी, श्री उड़िया बाबा जी, श्री स्वामी एकरसानन्द जी, श्री स्वामी कृष्णानन्दजी, (मंडली वाले), दीन जी तथा और भी उस समय के जितने संत थे आज इनमें से एक भी अब साकार रूप से पृथ्वी पर नहीं हैं श्री हरिबाबा जी भी पधारे थे। वहाँ की सेवा का कार्य मुझपर भी था। मैं स्वामी एकरसानन्द जी को लेकर महाराज श्री उड़िया बाबा जी के पास गया। स्वामी एकरसानन्द जी वृद्ध थे। उनके साथ उनके बहुत से प्रसिद्ध शिष्य भी थे। महाराज का स्वभाव था वे किसी को देखकर न उठते थे न किसी को प्रणाम करते थे। वे चौकी पर बैठे थे, बैठे रहे। स्वामी एकरसानन्द जी महाराज भी जाकर बैठ गये। दोनों महापुरुषों में बड़ी देर तक बातें होती रहीं। कोई बात नहीं। मैंने अनुभव किया कि कुछ लोगों को यह बात अच्छी नहीं लगी कि महाराज ने स्वामी जी को अभ्युत्थान नहीं दिया। वह एक अपूर्व सम्मेलन था। मेरी इच्छा थी कि यहाँ किसी भी बात पर कटुता न होने पावे। मैं महाराज के समीप गया और कहा—"महाराज जी, आपको स्वामी एकरसानन्द जी के पास चलना चाहिये।" आप तुरन्त उठ पड़े और बोले—चलो। हम गये, महाराज तख्त के नीचे जाकर बैठ गये स्वामी जी ने ऊपर बैठने को बहुत कहा, किन्तु ऊपर नहीं बैठे। इसका सभी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सारांश

यह कि उनके मन में कभी किसी प्रकार का मान अपमान का ध्यान नहीं था। अपने आनन्द में सदा मग्न रहते। हम जहाँ के लिये भी प्रार्थना करते, तुरन्त 'हाँ' कर लेते।

कुछ लोगों के आग्रह से फर्रुखाबाद में एक महीने के महोत्सव का आयोजन किया। मैं वहां की भीतरी बातों से तो परिचित नहीं था। श्री हरिबाबा उड़िया बाबा दोनों से प्रार्थना की, दोनों ने स्वीकार करली। महाराज को पैदल जाना था। पैदल चलकर पहुंचे। वहाँ आपस में ही विरोध हो गया। जैसा चाहिये उत्सव हुआ नहीं। मुझे बड़ी लज्जा लगी। मुझे भी ज्वर आ गया। आपने कह दिया कोई बात नही, ऐसा तो होता ही है। साधुओं के लिये मान अपमान क्या? प्रसग बहुत बड़ा है, यहाँ मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आप अभी किसी के दोष की ओर ध्यान ही नहीं देते थे। मान अपमान में सुख दुख में सदा समभाव से रहते।

जब झूसी में चौदह महीने का अखण्ड कीर्तन साधनानुष्ठान हुआ तब मैंने प्रार्थना की। ढाई तीन सौ कोस पैदल आना सामान्य बात नहीं थी। आपने मेरी प्रार्थना सहर्ष स्वीकार कर ली और रामघाट से पैदल चलकर आप झूसी आ गये। जहाँ तक मुझे स्मरण है, जब से रामघाट आये तब से यही एक काशी–प्रयाग की उनकी यात्रा सबसे प्रथम और सबसे अन्तिम थी। यहाँ लगभग दो ढाई महीने आपने निवास किया। जहाँ हमने आपके लिये फूस की कुटिया बनवाई थी, इसका चित्र अभी तक ज्यों का त्यों मेरी आँखों के आगे नृत्य कर रहा है। इस स्थान को देखकर अब भी हृदय भर आता है। आप यहां बड़े ही प्रसन्न रहे, अत्यन्त ही अनुराग आपने

शित किया। आप दर्शकों में बिना आसन के सर्वसाधारण लोगों के साथ बैठ जाते और लोग आकर गद्दी तकिया लगा कर आसनों पर बैठते। आप नीचे बैठे बैठे सब सुनते रहते। कभी आपने अपना अपमान अनुभव नहीं किया। कुछ मंडलेश्वर आये, वे गद्दी तकिया लगाये बैठे थे, आप साधारण व्यक्ति की भाँति उनके आगे भूमि पर जा बैठे। किसी ने कहा—"आसन दो" आपने कहा—"आसन की क्या आवश्यकता है, भूमि ही आसन है।"

यहीं से आप काशी गये, विश्वनाथ जी के दर्शन करके आपने कहा—अभी आधे विश्वनाथ जी के दर्शन हुए हैं। आधे तब होंगे जब मालवीय जी के दर्शन हो जायँ। आप विश्वविद्यालय गये। मालवीय जी के कमरे में जाकर खिड़की से झाँका। वे आराम कर रहे थे। आपने कहा—आराम करने दो किसी ने मालवीय जी को सूचना दे दी, मालवीय जी भी मिलने को उत्सुक थे, सुनते ही दौड़े आये। दोनों महापुरुष परस्पर लिपट गये और प्रेम के अश्रु बहाने लगे। काशी से लौटकर फिर आप झूसी ही आ गये। अनुष्ठान समाप्त करके हम सब साथ साथ रामनवमी के अवसर पर श्री अयोध्या जी गये। उन दिनों लखनऊ में राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) का महाधिवेशन होने वाला था, हम सबके कहने पर आप लखनऊ भी पधारे। वहाँ महात्मा गान्धी जी से भी आपने भेंट की। महात्मा जी आपके त्याग वैराग्य को देखकर बहुत प्रभावित हुए और भिक्षा करने का भी आग्रह किया।

जो भी आपको अपने घर भिक्षा को बुलाता वहीं वे उसकी प्रसन्नता के निमित्त भिक्षा करने चले जाते। कई बार तो एक

दिन में ६०-६० ७०-७० घरों में भिक्षा करने गये थे। कभी कभी मैं भी साथ जाता था। मैं तो ऊब कर लौट आता, किन्तु वे सबका मन रखते थे, दूसरे का कष्ट देख नहीं सकते थे। भूख न होने पर भी यदि कोई आग्रह करता तो वे खा लेते थे स्वयं कष्ट उठा लेते थे पर दूसरे का कष्ट नहीं देख सकते थे। इन्हीं कारणों से पीछे आपका पेट भी बिगड़ गया था।

जिन दिनों मैं श्री वृन्दावन में श्रीकृष्ण लीला-दर्शन लिख रहा था उस समय मैंने वृन्दावन पधारने की प्रार्थना की। आप वृन्दावन पधारे। वहीं कुछ एक छोटी सी कुटी बनाने का भक्तों ने प्रस्ताव रखा। मैंने इसका विरोध किया, किन्तु मेरा एक मत था, बहुमत के सामने वह अमान्य ठहराया गया। संयोग की बात कि कुटिया बन गई और फिर शनैः शनैः उसका विस्तार बहुत हो गया। रामघाट, कर्णवास, अनूपशहर तथा और भी कई स्थानों में महाराज के भक्तों ने उनके नाम से आश्रम बनाये महाराज की इन सब में आसक्ति तो होनी ही क्या थी किन्तु इस प्रवृत्ति विस्तार से भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग एकत्रित हो गये। महाराज अंगीकार करना तो जानते थे, किन्तु अंगीकार करके त्यागना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। प्रवृत्ति में ऐसा होता है इसमें किसी का दोष नहीं। महापुरुषों की समस्त चेष्टायें लोक-कल्याण के ही निमित्त होती हैं। यह संसार तो असुख है, अनित्य है, सदा से यह ऐसा रहा है, सदा रहेगा। महापुरुष आते है, अपने प्रभाव से इसे सुखमय बनाते है, फिर यह ज्यों का त्यों हो जाता है। कुत्ते की पूँछ को चाहे जितने दिन कसकर सीधी बाँध दो। खोलोगे तो टेढ़ी की टेढ़ी ही रहेगी। न जाने कितनी बार भगवान् ने इस अवनि पर अवतार धारण किया, फिर भी संसार से दुःख का अत्यन्ता भाव नहीं हुआ। यह संसार

दु खमय का दु:खमय ही बना रहा। यही नहीं इसमें आकर बड़े बडे अवतारो को भी दु:ख सहन करने पड़े। राम, कृष्ण, परशु राम, वामन, बलदेव, पृथु, सहसार्जुन, व्यास ये सब के सब अवतार ही थे। जिनका संसार के साथ सम्बन्ध हुआ ऐसा कौन है, जिसे संसार ने अपयश का पुरस्कार न दिया हो। जितने महापुरुष हुए हैं, सभी ने अस्त्रों के द्वारा, विष के द्वारा, या अन्य प्रहारों के द्वारा ही अपने प्राणों का परित्याग किया है। संसारी लोग उनके यथार्थरूप को भूलकर उन्हें शत्रु समझने लगते हैं और उन पर आक्रमण कर देते हैं। वे भी ऐसी ही लीला रचकर शरीर का अंत कराना चाहते हैं। मरते मरते वे मृत्यु से भी संसारी लोगों को शिक्षा दे जाते हैं। भगवान् बुद्ध, श्रीशंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों पर भी संसारी लोगों ने आक्रमण किया, विष का प्रयोग किया। आचार्य हित हरिवंश जी ये तो ईश्वर कोटि के हैं। इनका भी विपक्षियों ने सिर काट लिया। महात्मा पलटू दास को जीवित ही जला दिया। इन बातों में भी कोई न कोई रहस्य होता है। हम अल्पज्ञ प्राणी इसे समझ नहीं सकते। महात्मा गांधी जी साधारण मृत्यु से मरते तो उनका यश इस प्रकार दिग् दिगन्तों में व्याप्त न होता। गोली से मरकर उन्होंने बहुत कार्य किया। श्री उड़िया बाबा जी कहते थे, जब मैंने महात्मा जी की मृत्यु की बात सुनी तब मैं ढाह मारकर मुक्त कंठ से रुदन करने लगा।" कौन जानता था आप भी ऐसी ही मृत्यु से अपने इस पांच भौतिक शरीर का अन्त करेंगे।

इधर कुछ दिनों से आप बहुमूत्र रोग से पीड़ित थे। एक पैर की नस में भी कुछ सूजन सी आ गई थी, इससे चलने में कुछ कष्ट होता था फिर भी आप चलते फिरते थे। गत माघ के पिछले माघ में अर्धकुंभी थी। उस समय पूज्य श्री हरिबाबा जी

प्रयाग पधारे थे। यहाँ से श्री श्री आनन्दमयी माँ को वे बाँध के उत्सव पर ले गये थे। श्री उड़िया बाबा जी भी इस उत्सव में पधारने वाले थे, किन्तु अस्वस्थता के कारण वे पधार न सके। उनके बिना श्री हरिबाबा जी उत्सव करते ही नहीं। जब नियत तिथि पर नहीं पधारे तब श्री माँ को लेकर श्री हरिबाबाजी महाराज जी के पास वृन्दावन पहुचे। श्री हरिबाबा के लिये वे सब कुछ करने को तत्पर रहते थे। उन्हीं के लिये वे घड़ी रखने लगे और यथा शक्ति समय से कथा कीर्तनादि के कार्यक्रमों में सम्मिलित होने लगे। फिर भी पैदल चलने के नियम को वे निभाते रहे। इसके लिये कभी श्री हरिबाबा जी ने भी आग्रह नहीं किया। अब के श्री हरिबाबा जी ने बल देकर कहा—"आपके लिये नियम फियम क्या? आप मोटर पर बाँध चलें। आपके बिना उत्सव न होगा। "श्री माँजी ने भी उनकी बात का समर्थन किया।" आप मोटर पर बाँध गये। यही सर्वप्रथम आपका सवारी पर चढ़ना था। बाँध के अनन्तर श्री हरिबाबा जी तो श्री माँ आनन्दमयी के साथ नैनीताल, अल्मोड़ा चले गये। महाराज वृन्दावन में आकर निवास करने लगे।

श्री हरिबाबा गरमियों के पश्चात् काशी होते हुए आषाढ़ में झूसी पधारे और यहां एक वर्ष संकीर्तन भवन में निवास करने का विचार किया। कार्तिक तक आप लगभग पाँच महीने झूसी रहे भी। आपके बिना श्री उड़िया बाबा जी का मन अत्यन्त उदास रहता था। आपने श्री हरिबाबा जी को बुलाने चार पांच बार आदमी भेजे, किन्तु महाराज यहां से नहीं गये और कहला दिया—'मेरा एक वर्ष रहने का यहां संकल्प है।'

जब कार्तिक में महाराज की विशेष अस्वस्थता का समाचार सुना तो फिर महाराज से झूसी में नहीं रहा गया। आप माताजी

को साथ लेकर मार्गशीर्ष में वृन्दावन चले गये। वहाँ जाकर निश्चय यह हुआ कि श्री हरिबाबा, श्री उड़िया बाबा, तथा श्रीमाँ आनन्दमयी सब मिल कर देहली कुरुक्षेत्र, खन्ना, होशियारपुर होते हुए कोटकाँगड़ा, ज्वालामुखी आदि मोटर से जायँ और होली आकर वृन्दावन की करें।" इस निश्चय के अनुसार तीनों ही देहली से कुरुक्षेत्र होते हुए खन्ना गये। वहाँ महाराज श्रीउड़िया बाबाजी को ज्वर आ गया। स्वास्थ भी अच्छा नहीं रहा। अतः आगे की यात्रा स्थगित करके सब वृन्दावन आ गये और होली का उत्सव वहीं सबने मिलकर मनाया।

मैंने श्रीहरिबाबा से प्रार्थना की थी कि आप हमें छोड़ कर चले गये। इस चैत्र के नवसम्वत्सर उत्सव में तो अवश्य पधारें। आपने उत्तर दिलाया—"भाई, हम तुम्हारे ही काम से वृन्दावन गये है। श्री उड़िया बाबा जी को लेकर हम चैत्र के उत्सव में अवश्य आवेंगे और अधिक से अधिक रहेंगे।" इस बात से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और अबके हम बड़े उत्साह से उत्सव का विशेष प्रबन्ध करने लगे। पीछे समाचार मिला कि श्रीउड़िया बाबा जी का स्वास्थ अच्छा नहीं है, अतः वे तो पधार न सकेंगे अकेले श्री हरिबाबा जी ही उत्सव में पधारेंगे। हम लोग बड़ी तैयारियाँ कर रहे थे, हमारी हार्दिक इच्छा थी, कि महाराज पधारें, किन्तु जब स्वास्थ्य की बात सुनी तो हमने भी आग्रह करना उचित नहीं समझा।

चैत्र कृष्ण त्रयोदशी रविवार (सं० २००५) को सायंकाल के समय। पूज्यपाद श्री हरिबाबा जी आश्रम से चले। यद्यपि श्री उड़िया बाबा जी अस्वस्थ में भूसी आने की उनकी इच्छा थी, फिर भी उन्होंने श्रीहरि बाबाजी को अकेले ही जाने की सहर्ष अनुमति दे दी। उन्हें पहुंचाने मोटर तक आये। जब

तक मोटर चली नही तब तक खड़े रहे। प्रसाद भी दिया और स्नेह भरित हृदय से विदा दी।

श्रीहरिबाबा चतुर्दशी सोमवार के प्रातः यहाँ पधारे। मंगलवार को तार आया कि श्री उड़िया बाबा का शरीरान्त हो गया। पढ़ कर सभी को आश्चर्य हुआ। श्री हरिबाबा जी कहने लगे—"मैं तो सकुशल छोड़ आया था।" श्रीमाँ कहने लगी—'कहीं गिर तो नहीं पड़े।' फिर सोचा—'शरीर का क्या पता कब इसका अन्त हो जाय, यह तो क्षणभंगुर है ही। यही सब सोच रहे थे कि दूसरे दिन बुध को "अमृत बाजार पत्रिका' में पढ़ा—"उनकी उनके किसी शिष्य ने हत्या करदी।" यह और भी आश्चर्यजनक बात थी। एक से एक आश्चर्य की बात सुनकर सभी चिंतित, उद्विग्न, और खिन्न थे। उसी समय यथार्थ घटना का पता लगाने वृन्दावन एक आदमी भेजा। गुरुवार की रात्रि में उसने सूचना दी—"घटना सत्य है. एक पागल से व्यक्ति ने गड़ासा लेकर उनके सिर में तीन बार प्रकार किया। वहां के सभी लोग अत्यन्त दुखी हैं आपकी प्रतीक्षा में हैं।" उसी समय श्रीहरि बाबा जी ने वृन्दावन जाने का निश्चय किया और वे चैत्र शु० तृतीया शुक्रवार को प्रातः यहाँ से वृन्दावन के लिये चल पड़े।

इस घटना से मेरे हृदय की क्या दशा थी वह कुछ कही नहीं जा सकती। बड़े उत्साह से इस महोत्सव की तैयारियां कर रहा था। मुझे अब भी आशा थी संभव है श्री महाराज पीछे से आ जायें। दूर दूर से लोगों को आमन्त्रित किया था किन्तु सभी उत्साह धूलि में मिल गया आश्रम में खिन्नता का वातावरण व्याप्त हो गया। सर्वत्र इसी घटना की चर्चा थी। यद्यपि मैं

एक विशेष अनुष्ठान मे हू, कही जाने का नियम नही, प्रयाग भी नही जाना। कुटी से सगम तक, इतना ही इस अनुष्ठान में मेरा ससार है। श्री महाराज के परलोक प्रयाण की बात सुनते ही मेरी जाने की इच्छा हुई। किन्तु इतने लोग उत्सव में आये हुए हैं। श्री हरिबाबा जी ही स्वयं विराजे हुए हैं, तो इस समय कैसे जायें। जब दूसरे दिन यह दुर्घटना सुनी तब तो मैंने श्रीहरिबाबाजी महाराज से प्रार्थना की कि मुझे ही आज्ञा हो तो मैं ही हो आऊँ।" उन्होंने कहा—'भैया' तुम जाकर क्या कर लोगे, जो होना था वह हो गया ये तो सांसारिक शिष्टाचार हैं। उनका शरीर तो अब होगा नही बड़े लोगों की आज्ञा में ननु नच न करनी चाहिये। मैं चुप हो गया। किन्तु मेरे मन में एक विचित्र उथल पुथल मच रही थी।

सभी नियमों के अपवाद होते हैं। अपवाद ऐसे ही समय के लिये हैं। अब पं० वागीश जी शास्त्री ने आकर बताया कि अन्त समय महाराज ने तुम्हारी ही चर्चा करते करते प्राणों का परित्याग किया है, तब तो मुझ से रहा नही गया। शनिवार को प्रातः पुराण पाठ सुनकर तथा त्रिवेणी स्नान करके शकर जी को साथ लेकर मैं वायुयान द्वारा देहली पहुंचा और वहाँ से बाबू आदित्य नारायण जी के साथ उनकी मोटर पर शाम के सात बजे वृन्दावन श्री महाराज के आश्रम पर पहुंचा।

अनेकों बार मैं इस आश्रम पर आया हूं किन्तु आज उस आश्रम की ओर जाने मे भय लग रहा था। मोटर ज्यों ज्यों आगे आश्रम की ओर बढ़ती जाती थी, त्यों त्यों हृदय बैठता जाता था। आश्रम मे जाकर देखा—वहाँ की श्री नष्ट हो गई है सर्वत्र एक उदासीनता का वातावरण छाया हुआ है। आश्रम के कण कण से मानों विषाद फूट फूट कर बह रहा है। उस समय

यहाँ कोई नहीं था सब वस्तुएँ अस्तव्यस्त पड़ी थीं, मेरा हृदय भर रहा था, मुझे रोना आ गया। रासमन्दिर में पड़कर मैं रोपड़ा मेरे रुदन को सुनकर इधर उधर से भक्तगण एकत्रित हो गये। ऊपर से श्रीहरिबाबाजी भी आ गये। स्वामी अखंडानन्दजी,स्वामी कृष्णानन्दजी, बाबूरामसहायजी, पन्डित सुन्दरलाल जी तथा और भी समस्त भक्तवृन्द एकत्रित होगये। श्री हरिबाबा जी ने कहा— यहाँ आकर महाराज की जो दशा सुनी उससे तो बड़ा आश्चर्य हुआ उस समय उन्हें देह का अनुसन्धान ही नही था।

जो उस दुर्घटना के समय वहा उपस्थित थे उन लोगों से पता चला कि उस दिन चैत्र कृष्ण चतुर्दशी सोमवार को मध्याह्नोत्तर वे सत्संग भवन में नियमानुसार पधारे। और भी बहुत से लोग कथा सुनने आते थे। आनन्द जी "भागवती कथा" की नित्य कथा कहते थे। आते ही उन्होंने पूछा—"झूसी के उत्सव का क्या हाल चाल है।" आनन्द जी ने कहा— "महाराज ! अच्छा है।" श्री हरिबाबा जी पहुंच ही गये हैं। श्री मां आनन्दमयी भी आ ही गई है। यहां से नित्यानन्द जी पहुंच गये। चतुःसम्प्रादाय के रामदास शास्त्री आदि भी जाने वाले हैं। उत्सव बड़े आनन्द से हो रहा है आप कोई चिन्ता न कर।" उनके मन में थी कि मेरे न जाने से वहाँ निराशा तो नहीं हुई। और भी एक दो-उत्सव की बात पूछी। फिर "भागवती-कथा" आरम्भ हुई। बीसवें खण्ड की कथा हो रही थी, प्रह्लाद जी का प्रसंग था। अध्याय समाप्ति मे एक पृष्ठ शेष था कि उसी समय एक पागल सा व्यक्ति काला कम्बल ओढ़कर बगल में कुट्टी काटने का गड़ासा दबाकर आया। महाराज तो नेत्र बन्द किये कथा में ध्यान मग्न थे और भी बहुत से नर नारी कथा श्रवण कर रहे थे। उसने आते ही

महाराज के सिर पर गड़ासा का प्रहार किया। महाराज का हाथ ऊपर सिर पर गया कि उसने पुनः प्रहार किया उँगली कट गई, तीसरा और प्रहार किया। वे प्रहार इतनी शीघ्रता के साथ हुए कि किसी का उसे पकड़ने का साहस ही न हुआ किसी बूढ़ी माई ने उसे दौड़कर पकड़ा। तब तक औरो ने भी पकड़ लिया। कुछ लोगो ने क्रोध में भरकर आवेश में आकर उसको भी मारा और वह वहीं तत्क्षण मर गया। महाराज का शरीर स्थूल था। सिर से रक्त के फुव्वारे से छूट रहे थे। चारों ओर की भूमि रक्त रञ्जित हो गई थी। समीप ही हत्यारा मरा पड़ा था वहां का दृश्य अत्यन्त ही वीभत्स हो रहा था। सभी किम् कर्तव्य विमूढ़ बने हुए थे। जितने मुह उतनी बातें। वस्त्र सभी रक्त रञ्जित हो गये थे। हा! विधाता की कैसी कुटिल गति है। जिस सिर पर सहस्त्रो मन पुष्प चढ़ते थे उस पर इस निर्दयता पूर्वक प्रहार ? जिस भूमि में नित्य ही कथा, कीर्तन, रास, तथा रामलीला, आदि होती थी, जहां की भूमि इत्र गुलाब और चन्दनादि से सीची जाती थी वह रक्त रञ्जित हो गई। क्या कहा जाय कुछ कहते नही बनता।

मेरे जाने पर उनके कृपापात्रों ने बताया—"वे पहिले से ही कहा करते थे। मैं ऐसे वैसे थोड़े ही मरूँगा, रक्त की नदियाँ बहा कर जाऊँगा। वे कहते थे—"हम जान बूझकर इस प्रवृत्ति में फंसें है। तुम लोगों को शिक्षा देने के लिये कि कैसा भी सिद्ध क्यों न हो, इस प्रवृत्ति में फँसेगा, उसे दुःख उठाना पड़ेगा। जो कामिनी कांचन से संसर्ग रखेगा उसको ये ही सब सहन करने पड़ेंगे। कहने से तो तुम लोग मानोगे नही, तुम पर प्रभाव भी न पड़ेगा। करके हम दिखाये देते हैं।

इसीलिये हम यह सब करते हैं। जिससे तुम्हें हमारे जीवन से शिक्षा मिले।"

यथार्थ में बात यही है। महापुरुषों के जीवन की प्रत्येक घटना से बड़ी भारी शिक्षा मिलती है। वे प्राणियो के उपकार के निमित्त स्वयं अपने शरीर पर कष्टों को झेलते है। प्रभुईसामसीह उनके शिष्यों द्वारा ही पकड़ाये गये और शूली पर लटकाये गये। उनके पवित्र बलिदान से ही आज ईसाई धर्म का इतना प्रसार हुआ। महात्मा गांधी जी की हत्या भी तो उन्ही के देशवासी बन्धु ने की। देवीजौन को भी तो उन्ही लोगों ने जीवित जला दिया, जिन्हें स्वतन्त्र करने को वह प्राणों का पण लगाकर प्रयत्न करती रही। इस संसार की ऐसी ही रीति है। महापुरुषों को यही पारितोषिक संसार की ओर से प्राप्त होता है।

महापुरुषों के जीवन के दो भाग होते हैं हेय और उपादेय। लौकिक दृष्टि से उनके जीवन में कोई धर्म व्यतिक्रम दिखाई दे, तो उसे उनका साहस समझकर उसका अनुकरण न करना चाहिये। उसके परिणाम की ओर देखना चाहिये। उनके जीवन में जो आचार युक्त मर्यादानुरूप गुण हों उन्हे ग्राह्य समझकर ग्रहण करना चाहिये श्री मद्भागवत में स्पष्ट कहा है—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणांच साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजोयथा॥
नैतत् समाचरेत् जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्यात् यथा रुद्रोऽब्धिजंविषम॥*

(श्री भा० १० स्क० ३३ अ० श्लोक)

हमारे यहाँ ऋषि उन्हें ही कहते है, जो सर्वज्ञ हैं, उस ब्रह्म को जो प्राप्त हो चुके हैं—

उनके जीवन मे भी कभी कभी कोई घटना लोक व्यवहार के विरुद्ध सी दिखाई देती हैं। वे स्पष्ट कहते हैं।

(येऽस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपासितव्यानिनोइतराणि) हमारे जो सुचरित हों उन्हीं की तुम्हें उपासना करनी चाहिये, इतरलोक विरुद्ध कार्यों का अनुकरण कभी न करना चाहिये।

महाराज का समस्त जीवन परोपकार ही में बीता, वे निराश्रितों के आश्रय थे। दीनों के बन्धु थे। मुमुक्षुओं के सर्वस्व थे। उनके यहाँ कथा कीर्तन का अखन्ड सत्र चलता रहता था। सभी श्रेणी के पुरुष उनके सान्निध्य में आश्रय पाते थे। परस्पर विरोधी विचार के व्यक्ति भी उनके समीप रहते थे। वे परमसहिष्णु, धैर्यवान् और निर्भय थे। उनका सम्पूर्ण जीवन परमार्थ के कार्यों में ही व्यतीत हुआ। इस समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्ष की थी। फिर भी ज्ञानार्जन की उनकी इच्छा कम नहीं हुई थी। नित्य ही कुछ न कुछ नई बात याद कर लेते। उन्हें कितने श्लोक कंठ थे इसकी कोई गणना नही। मैं जाता तो अपनी दैनन्दिनी दे देते और कहते इसमें तुम जो

❀ समर्थ पुरुषो द्वारा धर्म का उल्लघन और हठ पूर्वक साहसिक कार्य होते जाते हैं, किन्तु उनसे उन तेजस्वियो को दोष नही होता जैसे सर्व भक्षी अग्नि उन पदार्थों के गुण दोष के कारण दूषित नही होती। जो लोग समर्थ नही हैं उन्हे वैसे आचरण कभी भी न करना चाहिये। यदि कोई मूर्खता वश ऐसा आचरण करेगा तो उसी प्रकार नष्ट हो जायगा जैसे शङ्कर के विष पान का अनुकरण करने वाला नष्ट हो जाता है।

सुन्दर श्लोक समझते हो उसे लिख दो। उनके श्लोक उच्चारण करने का ढंग इतना सजीव था कि उस विषय को उच्चारण करते करते मूर्तिमान् करके खड़ा कर देते। उनके गुण महान् थे। भक्त वृन्द उनका जीवन चरित्र लिख रहे है। यहाँ मैं उनका जीवन लिखने नहीं बैठा हूँ। यहाँ तो मैं केवल उनका स्मरण कर रहा हूँ "भागवती कथा लिखने में मुझे उनके द्वारा बड़ी स्फूर्ति मिलती। वे नित्य "भागवती कथा" को आनन्द जी द्वारा सुनते और सभी को सुनवाते। कवि की कृति का कोई कलाकार आदर करे, तो उसके लिये इससे बड़ा पुरस्कार कोई दूसरा नहीं है। नया खण्ड निकलते ही सर्व प्रथम मैं श्री उड़िया बाबा जी, श्री हरि बाबा जी के पास भेजता। मेरे लिये यही बड़े सौभाग्य की बात थी कि ये महापुरुष उसे सुनते है। इससे मुझे लिखने में प्रोत्साहन मिलता। महा पुरुषों की इस प्रकाशन में अनुमति है, यह स्वीकृति ही मेरे लिये इस झंझट में पड़ने की नीरसता को कम कर देती है। मेरी इच्छा तो यही है कि यह ग्रन्थ पूरा लिख जाय। छपने को तो जब छपेगा तब छपता रहेगा। आज कल मैं दशमस्कन्ध के पूर्वार्द्ध में अक्रूर जी के वृन्दबन जाने की कथा लिख रहा हूँ। इन घटनाओं को देखकर बड़ी शिक्षा मिलती है, फिर भी वासना हमें हटात् प्रवृत्ति के कार्यों में प्रवृत्त करती है। 'भागवती कथा' को पूर्ण करने की वासना ही मुझे इसमें लगाये हुए है। पाठक अनुमान भी न कर सकते होंगे कि मुझे कितने कितने झन्झटों का सामना करना पड़ता है पुस्तक का एक एक अक्षर स्वयं लिखना, उसकी छपाई का प्रबन्ध करना, प्रेस का, कागद का, द्रव्य का तथा अन्य उपकरणों पर ध्यान रखना, नित्य की डाक देखना, सब की बात सुनना, प्रूफ देखना, साथ

ही अपने नित्यनैमित्तिक कर्म भी करना और आश्रम के प्रबन्ध मे भी योग देना। यह सब मैं अपनी वासना पूर्ति के निमित्त—इस ग्रंथ की समाप्त करने के निमित्त—ही कर रहा हूँ। होना न होना ईश्वराधीन है। बहुत से पाठक अनेक प्रकार की शिकायत करते हैं। कुछ लोग समय पर पुस्तक न मिलने की शिकायत करते हैं। कुछ कागज की, कुछ छपाई की कुछ और भी प्रकार की। उन सब का एक ही उत्तर मैं दिये देता हूँ, जैसी परिस्थिति सकीर्तन भवन की है उसमें जैसे तैसे यह प्रकाशित हो रही है यही बड़ी बात है। इसका सुचारु रीति से प्रकाशन तभी हो सकता है, जब इसके कम से कम या तो तीन हजार ग्राहक हो जायँ, या जो प्रति मास में इस में घाटा लगता है, उसका भार कोई अपने ऊपर ले ले। तब तो इसका प्रकाशन सर्वाङ्ग हो सकता है। जब तक इन दोनो में से एक का भी प्रबन्ध नही होता, तब तक जैसे गाड़ी किड़िर रही है वैसे ही किड़िरती रहे यही बहुत है। जीव का काम पुरुषार्थ करना है सो उसमें तो मैं अपनी शक्ति भर उठा नही रखता, उसका फल ईश्वराधीन है। जैसा वे चाहें तैसा करें। 'भागवती कथा में भागवतों के ही चरित होते है पूज्यपाद श्री उड़िया बाबा जी परम भागवत थे, अतः इस प्राक्—कथन में भागवती कथा के पाठकों सहित हम उनको चरणारविन्दों मे श्रद्धाञ्जलि समर्पित करके इस वक्तव्य को समाप्त करते हैं।

संकीर्तन भवन, झूसी प्रयाग
श्रीराम नवमी का प्रातः, गुरुवार
संवत् २००६

प्रभुदत्त

मोहिनी चरित्र की समाप्ति

(५४४)

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्ना-
नमृतममरवर्यानाशयत्सिन्धुमथ्यम्
कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारीं,-
स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १२ अ० ४७ श्लोक०)

छप्पय

चली मोहिनी भागि उमापति दौरे पकरन ।
नदी सरोवर शैल फिरैं दोनों वन उपवन ॥
ऋषि मुनि आश्रम जाइ दरश दै करै कृतारथ ।
हरि हर दरशन होहिं यही जग साँचो स्वारथ ॥
तेज पतित पृथिवी भयी, स्वर्ण रूप्य आलय भये ।
समुझी माया मोहिनी, निवृत तुरत हर ह्वै गये ॥

कोई ठूँठ है उसमें भ्रमवश किसी को भूत की प्रतीति हो

श्री शुकदेव जी मोहिनी चरित्र की समाप्ति करके इस अवतार को प्रणाम करते हुए कहते हैं—"जिन के चरणकमल असद् पुरुषो को अप्राप्य हैं, जो एक मात्र भक्तिभाव से ही प्राप्त होते है, शरण मे आये देवताओ के लिये जिन्होंने समुद्र मन्थन से प्राप्त अमृत को पिला कर कपट युवती का वेष बनाकर सुर शत्रु असुरों को मोह लिया, उन शरणागतों की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले प्रभु को मैं, प्रणाम करता हूँ ।

गई है, तो उसकी सब चेष्टायें उसे भूत की सी ही लगती हैं। वह आकाश तक लंबा प्रतीत होने लगता है। उसके बड़े बड़े डरावने दांत दिखाई देते हैं। उसके पैर पीछे को प्रतीत होने लगते हैं। उसका अंग हिलता हुआ भयंकर दीखने लगता है। शरीर भय के कारण थर थर काँपने लगता है और हम अपनी मृत्यु को समीप ही अनुभव करने लगते हैं। प्रकाश हो जाने से, समीप जाने से अथवा किसी के बताने से जब हमारा भ्रम दूर होता है, तो वहाँ न भूत रहता है न उसके आँख, कान, दाँत और पैर ही। वह एक आधे कटे वृक्ष का भाग ही रह जाता है। उसमें पहिले भूत बैठा हो और अब भाग गया हो सो बात नहीं। वह पहिले भी ठूंठ था अब भी वैसा ही ठूंठ है। उस में भूत था ही नहीं। भ्रम वश—मोह के कारण—हमें ऐसा प्रतीत होता था, भ्रम दूर होते ही भय भग जाता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब शिव जी समझ गये कि यह स्त्री नहीं है, भगवान् ने मेरी इच्छा पूर्ति की है, मुझे मोहिनी रूप के दर्शन कराये है तब तो वे भगवान् मधुसूदन के अचिन्त्य माहात्म्य को समझ गये और वे उस प्रयास से निवृत्त हो गये।

भगवान् भूतनाथ को न तो कोई आश्चर्य ही हुआ और न लज्जा तथा विषाद ही हुआ। वे प्रकृतिस्थ होकर भगवान् के ध्यान में मग्न हो गये। बार बार उनके अद्भुत अलौकिक मोहिनी रूप का स्मरण करने लगे। इतने में ही हँसते हुए भगवान् उनके सम्मुख खड़े हो गये। अब वे मोहिनी नहीं थे मोहन थे। अब वे साड़ी न पहिन कर पीताम्बर ओढ़े थे, अब

कंदुक न घुमाकर सुदर्शन चक्र धारण किये हुए थे। उन की मनोहारिणी वेणी अब घुघराली अलकावली के रूप में परिणित हो गई थी, अब वे कटाक्षवाण न छोड़कर मन्द मन्द मुस्करा रहे थे, अब उनके हाथ में चूड़ियां खन खन नहीं कर रही थी, सुवर्ण के कंकण करों की कान्ति बढ़ा रहे थे हँसते हुए भगवान् बोले—"कहिये शिवजी! डन्डौत, देखी आपने मेरी मोहिनी मूरति ?"

शिवजी ने भक्तिभाव से कहा—"हाँ प्रभो! देखी आप की मायामयी, माधुरी, मनमोहिनी मूरति। महाराज! मैं तो ठग गया। आप की स्त्री रूपिणी माया से कामनाशक होकर अत्यंत मोह प्राप्त हुआ। भगवन्! आप जिन पर कृपा करें वे ही इस माया से बच सकते हैं, जिसे आप ही फँसाना चाहें वह कैसे बच सकता है ?"

हँसते हुए भगवान् ने कहा—"भोलेबाबा! आप धन्य हो। यथार्थ में आप महादेव हो। तभी तो मेरी इस महिला रूपी मोहिनी माया से क्षण भर को अत्यन्त मोहित से हो जाने पर भी अन्त में सम्हल गये। नहीं तो प्रभो! यह मेरी स्त्री रूपिणी माया ऐसी अगाध अँधेरी खाई है, कि इसमें जो एक बार गिरा फिर उसका जीवन भर निकलना अत्यन्त ही दुष्वार है। भगवान्! मछली तो कांटे को खाद्य समझकर अनजान में निगल कर फँसती है, किन्तु यह प्राणी जान बूझकर माया के चक्कर मे फँसता है। हँसते हँसते गाकर, ढोल बजाकर सबको सुझाकर, बरात सजाकर, इस माया को ले आता है और फिर चाहे कितनी भी असुविधायें हों, जीवन भर उसे छोड़ने की इच्छा नहीं करता। यह ऐसी प्यास है, कि मरते

समय भी नहीं बुझती। इस पिपासा का स्मरण करते हुए प्राणों का परित्याग करता है, पुन: जन्म धारण करके फिर उसको प्राप्त करता है। आप देवश्रेष्ठ हैं ईश्वर हैं, सर्वज्ञ और सर्वविद् हैं जो क्षण भर मे ही अपनी निष्ठा में स्थित हो गये। यह अत्यंत ही सौभाग्य की बात है।

शिवजी ने सङ्कोच के स्वर में कहा—"प्रभो! मैं तो विवेक हीन बन ही चुका था। आपकी मोहिनी माया की विविध भाव-मयी चेष्टाओं से कामातुर होकर निर्लज्ज की भाँति दौड़ा ही था। आपने अपनी अपार कृपा प्रदर्शित करके पार लगा दिया। उसका यथार्थ रहस्य समझा दिया।

यह सुनकर श्रीहरि बोले—विभो! और किसकी सामर्थ्य है जो नाना प्रकार के हाव भाव प्रदर्शित करने वाली, हृदय, नेत्र तथा सम्पूर्ण शरीर को सरसता प्रदान करने वाली मेरी दुस्त्यज माया का एक बार उपभोग करके उसे स्वेच्छा से त्याग सके। हे देवाधिदेव! अजितेन्द्रिय कामी पुरुषों के लिये जीवन भर कभी भी इस माया के मोह को त्यागना दुस्त्यज है, अत्यन्त ही कठिन है। एक बार जो इसके बाहु पास में कस कर बँध गया फिर उसका छूटना सहज नहीं। फिर उसे पार कर जाना साधा-रण साहस का काम नहीं।

शिवजी ने कहा—"भगवन्! इतना आकर्षण तो आपमें भी नहीं। यह माया तो आपसे भी बड़ी प्रतीत होती हैं।"

हँसते हुए भगवान् बोले—"शिवजी महाराज! सृष्टि के कारण भूत तथा काल रूप मुझ परमेश्वर के तो एक अंश में ही यह स्थित है। जो मेरी माया में ही फँस जाते हैं वे मुझ

परिपूर्ण को सहज में प्राप्त नहीं कर सकते। जब मेरे एक अंश से युक्त इस गुणमयी माया में ही इतना आकर्षण है, तो मुझ में कितना आकर्षण होगा, इसे मायाबद्ध प्राणी अनुभव नहीं कर सकते। जाइये, मैं आज आपको वरदान देता हूँ, कि यह गुणमयी माया आज से आपका पराभव न कर सकेगी। आज से आप कभी भी इसके चक्कर में न आओगे।"

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! इतना कहकर भगवान् शिवजी के साथ उस स्थान पर आये जहां भगवती पार्वती जी रुद्रगणों के साथ विराजमान थीं। भगवान् ने शिवजी का पार्वती तथा गणों के सहित सत्कार किया। इस प्रकार भगवान् से सत्कृत होकर श्री महादेव जी पार्वती और गणों के साथ श्रीहरि से अनुमति लेकर बैल पर चढ़ कर कैलाश की ओर चल दिये।

मार्ग में हँसते हुए पार्वती जी ने पूछा—"कहो, महाराज! क्या गड़-बड़ सड़बड़ कर डाली। आप तो ऐसे भागे मानो किसी ने जादू टोना कर दिया हो। उच्चाटन मन्त्र पढ़ दिया हो।"

शिवजी ने कहा—"चलो, कैलाश पर चलकर इसका उत्तर देंगे।"

क्षण भर में नन्दीश्वर कैलाश के विशाल वट वृक्ष के नीचे आ गये। वहां उन्होंने देखा, सनकादि महर्षि तथा अन्यान्य तेजस्वी तपस्वी ब्रह्मनिष्ठ-ज्ञानी भगवान् भवानीनाथ की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सभी ने सदाशिव भगवान् के पादपद्मों में प्रणाम किया

भगवान् के योग पीठ पर पार्वती सहित विराज जाने पर समस्त ऋषि मुनि भी बैठ गये। सत्संग का प्रसङ्ग चलाने के निमित्त पशुपति प्रभु अपनी प्रिया पार्वती जी से बोले—"प्रिये! तुमने परदेवता परम पुरुष अजन्मा श्री हरि की माया के दर्शन किये ?"

हँसते हुए पार्वती जी ने कहा—"महाराज! माया के भी दर्शन किये और आपके भी।"

गम्भीर होकर सदाशिव बोले—देवि! तुम हँसी मत करो। परात्पर प्रभु की माया ही ऐसी प्रबल है। देखा, मैं भगवान् की कलाओं में सर्वश्रेष्ठ और परम स्वतन्त्र समझा जाता हूं। जब मैं ही उस अपने अंश से उत्पन्न हुई माया से मोहित हो गया, तो अन्य परतन्त्र प्राणी मोहित हो जायँ, इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है। कहो तो अब मैं तुम्हारे एक पुराने प्रश्न का उत्तर दे दूँ।"

पार्वती जी ने विनय के साथ कहा—"महाराज, कौन सा पुराना प्रश्न? मुझे तो अब स्मरण रहा नहीं। कभी पूछा होगा।

शिव जी ने कहा—"देखो जब मैं सहस्र वर्ष की समाधि से उठा था, तब तुमने मुझ से आकर पूछा था कि जिनका आप ध्यान धरते हैं वे पुराण पुरुष प्रभु कौन हैं?" उस समय मैंने प्रश्न को टाल दिया था। आज मैं उसका उत्तर देता हूँ "वे साक्षात् पुराण पुरुष ये ही हैं, जिनमें न काल की गति है न वेद की। जो काल के भी काल हैं। वेद जिनका वर्णन कर ही नहीं सकता। नेति नेति कहकर ही चुप हो जाता है। जिनको

माया का इतना प्रभाव है, तो उनके अमित प्रभाव के विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता।

श्री शुकदेव जी कह रहे है—"राजन् ! यह मैंने भगवान् की अद्भुत, समुद्र मंथन की लीला के प्रसंग मे मोहिनी चरित्र को सुनाया। इस लीला में अजित, कच्छ, धन्वन्तरि और मोहिनी ये चार अवतार हुए। इन चारों में यह मोहिनी अवतार परम मोहक था। जो भगवान् की इन चारों अवतारो की लीलाओं को निरन्तर सुनेंगे, सुनावेंगे, पढ़ेंगे, पढ़ावेंगे उनके कोई भी उद्योग निष्फल न होगे। क्योंकि भगवान वासुदेव का गुणानुवाद सम्पूर्ण सांसारिक श्रम को दूर करने वाला है। जिनके कर्णकुहर इन सांसारिक कलंकित कथाओं के श्रवण से कलुषित हो गये है, उनके लिये ये भगवान् की सरस कथायें परमौषधि स्वरूप है। उनके समस्त शोक संतापों के नाश के निमित्त रामबाण के समान ये कथायें अमोघ सिद्ध हुई है।"

सूत जी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"महर्षियो इस प्रकार मेरे गुरु देव ने इस मोहिनी लीला को समाप्त करके भगवान् के उस माया मोहित युवती रूप को—जिसने असुरों को ठग कर सुरों को अमृत पिलाया और शरणागतों के पन को निभाया। श्रद्धा सहित प्रणाम किया और चुप हो गये।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी इसके अनन्तर श्री शुक ने कौन सी कथा कही ?"

सूत जी बोले—महाराज ? मन्वन्तरों की कथा तो अभी अधूरी ही है न ? एक कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं। छटे मन्वन्तरावतार भगवान् अजित ने समुद्र मंथन की लीला की थी।

अभी आठ मन्वन्तरों की कथा और शेष है उसे ही मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित् को सुनाया उसे ही मैं अब आप को सुनाऊँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

तब बोले भगवान् मोहिनी देखी शङ्कर।
कहै शंभु दुसवार तुम्हारी माया प्रभुवर॥
अब न पराभव करै होहि माया सब चेरी।
है दुस्त्यज दुष्पार कहें हरि माया मेरी॥
आये शिव कैलाश पुनि, वृत्त मुनिनि सन सब कह्यो।
परम मनोहर मोहिनी, को चरित्र पूरन भयो।

सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर।

(५४५)

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः।
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

विवस्वान् सुत भये सातवें मनु सुखदाई।
वामन बलि भगवान् ठगे बलि देह बढ़ाई॥
संज्ञा छाया संग ब्याह दिनकरने कीन्हों।
श्राद्धदेव, यम, यमी भये संज्ञा के तीनों॥
छाया की तपती सुता, सुत सावर्णी शनैश्चर।
कर्‌यो सौतिया डाह जब, समुझे सब तब दिवाकर॥

संसार में जितने भी विश्वकर्मा निर्मित पदार्थ हैं उन सबकी कोई न कोई संज्ञा है। सज्ञा के बिना कोई पदार्थ नहीं। संज्ञावान् पदार्थ के साथ उसकी छाया अवश्य रहती

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—'राजन्! सातवे मनु विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव इस नाम से विख्यात हैं। जो वर्तमान मन्वन्तर के अधिपति हैं। उनकी सन्तानों का भी विवरण सुनिये।

है अँधेरे मे सब वस्तुओं के रहते हुए भी उनकी संज्ञा अज्ञात रहती है। घट, पट, वस्त्र आभूषण विविध पदार्थ रखे हैं। यदि अधकार है तो उनका विवेक नहीं होता। प्रकाश के बिना छाया भी व्यक्त नही होती। अतः संज्ञा और छाया के स्वामी विवस्वान् सूर्यदेव है। उनसे ही श्राद्धदेव आदि धर्म प्रवर्तको की उत्पत्ति होती है।

समुद्र मन्थन की कथा को समाप्त करके पूर्व कथानक को चालू रखते हुए श्रीशुक महाराज परीक्षित् से कहने लगे—"राजन् ! हाँ, तो मैं आपको १४ मन्वन्तरों की कथा सुना रहा था। सत्य, त्रेता, द्वापर, और कलि इन चारों की एक चौकड़ी होती है। ऐसी चौकड़ियाँ जब सहस्रवार बीत जाती हैं तो ब्रह्माजी का एक दिन होता है, जिसे कल्प भी कहते हैं एक कल्प मे १४ मन्वन्तर होते है। प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान् का एक विशिष्ट अवतार होता है। अब तक मैंने आपसे ६ कल्पो का और उनमें होने वाले अवतारो का वर्णन किया। प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर हुआ जिसमें यज्ञ भगवान् का मन्वन्तरावतार हुआ। द्वितीय मन्वन्तर में स्वारचिष् था जिसमें विभुभगवान् हुए, तृतीय उत्तम मन्वन्तर में सत्यसेन नाम से भगवान का अवतार हुआ। चतुर्थ तामस मन्वन्तर में गज को ग्राह से छुड़ाने वाले हरि भगवान् हुए। पाँचवाँ रैवत मन्वन्तर हुआ जिसमे वैकुण्ठ भगवान हुए। छटा चाक्षुस् मन्वन्तर हुआ उसी के मन्वन्तरावतार अजित भगवान ने यह समुद्र मन्थन की विचित्र लीला की थी। इस समय जो वर्तमान मन्वन्तर चल रहा है इसका नाम वैवस्वत मन्वन्तर है। अभी तक इसमें २८ चौकड़ी ही बीती हैं इस अष्टाईसवें कलियुग के आदि में ही पूर्णावतार भगवान् नन्द नन्दन का अवतार हुआ है।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"इस मन्वन्तर का नाम क्या है, इसके अधिपति मनु कौन हैं। इसमें भगवान् का मन्वन्तरावतार कौन हुआ। इन्द्र, मनुपुत्र, सप्तर्षि तथा देव गण कौन हुए। इसे आप विस्तार के साथ मुझे सुनावें।

यह सुनकर श्री शुकदेव जी बोले—"राजन्? इस वर्तमान सप्तम मन्वन्तर के अधिपति विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव है। इनके ईक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करूप, पृषध्र और वसुमान् ये १० मनुपुत्र है, जिनके वंशज अब तक पृथवी पर शासन कर रहे है। तुम इन्हीं के वंशज हो अदित, वसु, रुद्र विश्वेदेवा मरुद्गण, अश्विनी कुमार विभुगण ये देवताओं के गण हैं। इस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम पुरन्दर है तथा कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम जमदग्नि और भरद्वाज ये इस मन्वन्तर के सप्तर्षि हैं इस मन्वन्तर में भगवान् का कश्यप जी के द्वारा अदिति मे वामन नाम से मन्वन्तरावतार हुआ। इन्द्र के छोटे भाई होने से ये उपेन्द्र भी कहलाये। इस प्रकार ये सात मन्वन्तर तो हो गये अब मैं होने वाले ७ मन्वन्तरो का वर्णन और करूँगा, जिन्हें दिव्य दृष्टि से देखकर मेरे पूज्य पिता सर्वसमर्थ भगवान् व्यास ने अभी से लिख दिया है। आगामी अष्टम मन्वन्तर के अधिपति भी विवस्वान् के ही पुत्र सावर्णि होंगे। ये श्राद्धदेव मनु के भाई हैं। इनके पिता तो एक है। माता दोनों की पृथक् थी।

इस पर श्री महाराज परीक्षित् ने पूछा—भगवन्? जिनके दो दो पुत्र मनु है उन विवस्वान् की स्त्रियाँ और पुत्रों का मैं परिचय प्राप्त करना चहता हूँ। इनका परिचय कराके तब आप अष्टम मन्वन्तर का वर्णन करें।

यह सुनकर श्री शुकदेव जी बोले—"राजन् ! यह तो बहुत लम्बी कथा है । यदि इस मन्वन्तर के प्रसंग में उसे मैं कहने लगूँ तब तो कथा का प्रवाह ही रुक जायगा। किन्तु फिर भी मैं संक्षेप मे आप को विवस्वान् सूर्य की संतति का परिचय कराता हूँ ।

मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि भगवान् कश्यप की पत्नी अदिति के गर्भ से १२ पुत्र हुये जो द्वादश आदित्य कहलाये जिनके नाम विवस्वान् अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, धाता विधाता, वरुण, मित्र, शक्र और वामन हैं। विवस्वान् इन सब में बड़े थे। इनका विवाह प्रजापति विश्वकर्मा की सज्ञा नामक पुत्री से हुआ।

इस पर श्री शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! हमने पुराणों के कथा प्रसङ्ग में ऐसा सुना है विवस्वान् की संज्ञा, छाया, और वडवा ये तीन पत्नियां थीं और आप कह रहे हैं, कि उनकी एक ही पत्नी थी। यह क्या बात है ?"

इस बात पर सूत जी बोले—"हाँ महाराज, सत्य है वव-स्वान् के तीन ही पत्नियां थीं, किन्तु तीनो एक ही थी। संज्ञा के ही भेद हैं या कहना चाहिये संज्ञा ने ही इनका निर्माण किया था। उसी ने अपने तीन रूप बना कर तीनों से संतानोत्पत्ति की।

इस पर शौनक जी बोले—"एक सज्ञा ने तीन रूप क्यों बनाये सूत जी ! इस कथा प्रसङ्ग को तो हमें सुना ही दें, इसे सुनने को हमे बड़ा कुतूहल हो रहा है।

सूत जी यह सुनकर बोले—"अच्छी बात है महाराज, सुनिये ! विवस्वान् सूर्य का नाम है। ये बड़े प्रकाशवान् हैं इनका तेज असह्य है। कोई अधिक काल इनकी ओर आँख फाड़ कर देख भी नहीं सकता। देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा की एक पुत्री थी संज्ञा। उसका विवाह उन्होंने भगवान् विवस्वान् के साथ कर दिया। विवस्वान् अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। पति पत्नी जब समान होते है, प्रेम तभी हुआ करता है, पति धनिक हो,कन्या किसी कङ्गाल घर की हो,या पति दरिद्र का पुत्र हो, पत्नी बहुत धनिक घर की हो तो परस्पर में मनोमालिन्य रहता ही है। पति बहुत पढ़ा लिखा हो, पत्नी मूर्खा हो, या पत्नी पूर्ण विदुषी हो पति गोबर गणेश हो, तो भी उनमें अनबन रहती है। पति अत्यन्त सुन्दर हो पत्नी कुरूपा हो अथवा पत्नी अप्सरा के समान सुन्दरी हो और पति भौंड़ा कुरूप हो तो भी पटरी नहीं बैठती। पति अत्यन्त तेजस्वी हो पत्नी सीधी सादी तेजहीन हो, तब भी मन नहीं मिलने पाता। इसीलिये सम्बन्ध समान कुल में करना चाहिये। जो लालच वस लड़कियों को बड़े घरों में देते है उन बड़े घरों में निर्धनों की लड़कियों का पग पग पर कैसा तिरस्कार होता है, इसे उन लड़कियों के अतिरिक्त कौन अनुभव कर सकता है। जो विद्वान् वर के लोभ से अपनी अनपढ़ पुत्री का बहुत बड़े तेजस्वी विद्वान् के साथ विवाह कर देते हैं उन्हें पति से किस प्रकार दूर दूर रहना पड़ता है, किस प्रकार कभी कभी सम्बन्ध विच्छेद तक की नौबत आ जाती है, ऐसी घटनायें सनातन से होती आई हैं।

विश्वकर्मा जी से भी यही भूल हो गई। संज्ञा तो सीधी सादी लड़की थी। सूर्य बड़े तेजस्वी थे। संज्ञा उनके तेज

को सहन न कर सकी संज्ञा के गर्भ से तीन सन्तानें भी हो चुकी थीं। उनमें श्राद्धदेव और यमदेव दो तो पुत्र थे और यमुनाजी नाम की तीसरी कन्या थी। तीन सन्तानें उत्पन्न हो जाने पर भी संज्ञा सूर्य के सम्मुख आने में भयभीत होती थी। वे बड़े तेजस्वी थे। तीनों लोकों को तपाने वाले और प्रकाश देने वाले ही जो ठहरे।

एक दिन संज्ञा ने सोचा—मेरा इस घर मे निर्वाह होगा नहीं। अपने पति का इतना तेज मुझसे सहन न होगा। इसलिये उसने अपनी छाया से अपनी ही भाँति एक स्त्री की रचना की विश्वकर्मा की बेटी ही ठहरी, बाप का गुण आना स्वभाविक ही है। वह स्त्री ऐसी बनी कि संज्ञा और छाया में कोई अन्तर ही प्रतीत नहीं होता था। इस प्रकार छाया को घर में रखकर और उसे अपनी सन्तानों की भली भाँति देख रेख रखने का आदेश देकर एक दिन वह चुपके से अपने घर से निकल पड़ी। स्त्री पति के घर से निकले तो जाय कहाँ ? स्त्री के लिये स्वाधीन रहना तो कठिन ही है स्वतन्त्र रहने में उसके धर्म की रक्षा होना कठिन हो जाता है, इसलिये उसके लिए दो ही स्थान हैं, पति का घर या पिता का घर। इसीलिये संज्ञा प्रथम अपने पिता विश्वकर्मा के घर गई और जाकर पिता से सब बातें सत्य सत्य कह दीं।

पिता ने डाँट डपट कर कहा—बेटी ! हमें तेरी यह बात अच्छी नहीं लगी। कैसा भी हो सयानी लड़की को अपने घर रहना चाहिये। रहना तो वहीं है, जा भाग जा, सूयनारायण सुनेंगे तो मेरे ऊपर क्रुद्ध होंगे।

संज्ञा ने देखा 'कितनी आशा से मैं पिता के घर आई थी।

पिता ने मुझे घर में भी न घुसने दिया उलटे पैरों ही लौटा दिया। अब मैं न पति के घर जाऊँगी न पिता के घर वन में जाकर रहूँगी।' इस प्रकार मन में निश्चय करके वह घोर वन मे चली गई। युवती स्त्री का एकान्त वन में रहना उचित नहीं अतः इच्छा के अनुसार रूप रखने की शक्ति होने के कारण वह घोड़ी बन कर वहाँ रहने लगी। देखने वाले समझते थे कोई घोड़ी चर रही है। इस प्रकार वह एकान्त मे अपने दिन काटने लगी।

इधर छाया विवस्वान् की सेवा संज्ञा की ही भाँति करने लगी। उन्हें सन्देह तो कुछ था ही नहीं, वे छाया को संज्ञा ही समझते थे। आकृति प्रकृति सभी उसकी संज्ञा के ही समान थी। वह संज्ञा के बच्चो का भी अच्छी प्रकार से पालन पोषण करती। कालान्तर में उसके गर्भ से भी दो पुत्र और एक कन्या तीन संतानें हुई। पुत्रों का नाम सावर्णि और शनैश्चर था, कन्या का नाम था तपती। इस प्रकार तीन संज्ञा की और ३ छाया की छः संतानें हो गई। सब बच्चे छाया को ही अपनी माता समझते थे।

मनुष्य का स्वभाव है, वह कितना भी प्रयत्न करे अपने पराये का भेद भाव हो ही जाता है। विशेषकर स्त्रियों में सपत्नी के बच्चों के प्रति विरक्ति सनातन से चली आई है। इसके अपवाद स्वरूप भी कुछ मातायें होती ही हैं। किन्तु अपवाद तो अपवाद ही है। वह नियमतो हो नही सकता। छाया भी अपने पुत्रों में और संज्ञा के पुत्रों में भेद भाव रखने लगी। लड़कियाँ तो विचारी सह लेती हैं, किन्तु लड़कों से भेद भाव सहा नही जाता। संज्ञा के पुत्र श्राद्धदेव और यमराज

तथा उनकी बहिन यमुना के साथ छाया का वर्ताव
नही था। कोई मिठाई या सुन्दर वस्त्र आते तो चुपके
अपने पुत्रो को छाया दे देती। ये तीनों वैसे ही रह जा
यमुना तो लड़की ही ठहरी। सब सह लेती। श्राद्धदेव बड़े
बुद्धिमान् थे, वे इन बातो पर ध्यान ही न देते। यम कुछ
स्वभाव के थे। एक दिन किसी बात को लेकर वाद विवाद
गया। बात छोटी थी, किन्तु मन तो पहले से ही बिगड़े हुए
हृदय के भाव तो पहिले ही से दूषित थे। आज वे उमड़ प
छाया ने यम को उसकी अशिष्टता पर डाँटा। यमराज ल
ही ठहरे, नया रक्त था, क्रोध में भर कर उन्हों ने माता
मारने को लात उठाई।

इस पर अत्यन्त क्रोध में भर कर छाया ने यम को
दिया—"जिस पैर को तू मुझे मारने को उठा रहा है, उ
कीड़े पड़ जायँ। वह गल कर गिर पड़े।"

अब तो यमराज बड़े घबड़ाये। रोते रोते अपने पित
पास गये और जाकर कहा—"देखिये, पिता जी! मुझे म
जी ने शाप दिया है, कि मेरे पैर में कीड़े पड़ जांय और
गिर पड़े।"

विवस्वान् ने कहा—"तैने भी भैया! कुछ कहा होग
ताली एक हाथ से तो बजती नही। अवश्य ही तैने कोई म
अनिष्ट कार्य किया होगा।"

रोते रोते यम बोले—"नही, पिता जी! मैंने कुछ
कहा। हम देखते है, यह सदा हम तीनों से चिढ़ी रहती
हमारे साथ विषम व्यवहार करती है। हममे छोटे जो सा

शनैश्चर और तपती भाई बहिन हैं, उनसे तो बहुत प्यार करती है, अच्छी अच्छी वस्तु उन्हें ही खिलाती पिलाती है। हम लोगों की सदा उपेक्षा करती है। जूठा कूठा बासी तिवासी अन्न दे देती है। और भी अनेक प्रकार के विषम व्यवहार करती है। आज बातों ही बातों में वह मुझ से लड़ पड़ी। मैंने बाल चापल्य वश उसे मारने को पैर उठाया, तब उसने यह दारुण शाप दे दिया। पिता जी! हम सदा से सुनते आये हैं, कि पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, माता कभी कुमाता नहीं होती। इसने तो यह सब कुमाता का ही काम किया है। इसलिये हमें तो इसके व्यवहार से संदेह होता है, कि यह हमारी यथार्थ सगी माता नहीं। यह कोई दूसरी स्त्री है।"

यह सुनकर विवस्वान् को भी सन्देह हुआ। उन्होंने ध्यान लगाया, तो ज्ञात हुआ "अरे, यह तो उसकी छाया है।" तब तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और उसी समय उसके समीप जाकर बोले—"क्यों दुष्टे! तू कौन है सत्य सत्य बता।"

यह सुनकर छाया तो थर थर कांपने लगी सूर्य के अपार तेज को न सह सकने के कारण अत्यन्त भयभीत होकर उसने सब सत्य सत्य बातें बतादीं।

सूर्य नारायण ने पूछा—"यह सब तैंने पहिले मुझे क्यों नहीं बताया।"

छाया ने स्खलित वाणी में कांपते हुए रुकरुक कर कहा—"देव! मुझे संज्ञा देवी शपथ दिला गई थी, कि मैं आपसे इस बात को तब तक न कहूँ जब तक मेरे प्राणों पर न बन आवे। आज जब आप मुझे भस्म करने पर उतारू हो गये, तब

मैंने यह सच सच बात आपके सम्मुख निवेदन कर ही दी। अब आप जो उचित समझें वह करें। मुझे दण्ड देने योग्य समझें तो दण्ड दें, किन्तु प्रभो। इसमें मेरा अपराध कुछ भी नहीं है।"

सूर्यदेव ने भी सोचा—"हाँ इसका क्या अपराध है, चलो, अपनी यथार्थ पत्नी की खोज करें।" यह सोचकर वे दौड़े दौड़े विश्वकर्मा के लोक में गये। अपने दामद को आते देख विश्वकर्मा ने उनका स्वागत किया और कुशल प्रश्न पूछे।"

विश्वकर्मा के कुशल प्रश्नों का उत्तर न देकर बड़े क्रोध के साथ सूर्य ने कहा—"आप बड़े वैसे आदमी हैं जी। आपको अपनी लड़की अपने घर में ही रखनी थी, तो हमारे साथ विवाह क्यों किया? इतने दिन से वह हमें छोड़कर चली आई है, आपने समाचार तक नहीं दिया।"

विश्वकर्मा ने विनय के साथ उत्तर दिया—"लल्लूजी! क्रोध मत करो। पहिले मेरी बात तो सुनो। मुझे क्या आवश्यकता थी, कि अपनी लड़की को बुलाकर रखता। वह मेरे यहां आई तो अवश्य थी। किन्तु मैंने उसे लौटा दिया था। वह फिर आपके पास लौटकर नहीं गई। इसे मैं आज आप से ही सुन रहा हूँ।"

सूर्यदेव ने कहा—"मेरे घर में कमी किस वस्तु की है, वह मेरे घर को छोड़कर भागी ही क्यों?"

इस पर गम्भीर होकर धैर्य के साथ विश्वकर्मा ने कहा—"महाराज! बुरा न मानें। स्त्री कुछ धन की, भोजन वस्त्रों की

ही भूखी थोड़े ही होती है। उसे तो चाहिये पति का प्यार। जहाँ पति का प्यार नहीं, वहाँ संसार भर की सम्पत्ति नारी के लिये तृण के समान है और जहाँ प्यार है, वहाँ एक बार सायंकाल को साग भी मिले तो अमृत के समान है। वह आपके इतने प्रबल तेज को सहन नहीं कर सकती। विषमता में प्रेम हो नहीं सकता। अतः अपने तेज को कुछ कम कीजिये मैं उसका पता बताता हूँ वह अमुक अरण्य में घोड़ी बनकर तपस्या करती है।"

यह सुनते ही विवस्वानन् भी घोड़ा बनकर उसके समीप गये। वडवा बनी अपनी पत्नी से वाडव सूर्य ने सङ्गम किया। उसी से तो अत्यन्त सुन्दर देवतुल्य दो पुरुष उत्पन्न हुए। उनका नाम अश्विनी कुमार हुआ। ये दोनों सदा साथ रहते है और देवताओं के राजवैद्य हैं।

दोनों लौट कर फिर विश्वकर्मा के समीप आये। सूर्यदेव ने कहा—"तुम संसार में सर्वश्रेष्ठ शिल्पी हो, मेरे तेज को कम कर दो।" यह सुनकर विश्वकर्मा ने सूर्य को खराद पर चढ़ाकर उनका तेज कम कर दिया। इतने पर भी कम न हुआ तो उनके १२ भाग कर दिये। तभी से द्वादश सूर्य हो गये। खरादने से जो तेज बचा, उससे भगवान् का सुदर्शन चक्र, शिवजी का त्रिशूल उनका आजगव धनुष तथा इन्द्र का वज्र बना।

यह सुनकर हँसते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी! कभी कभी तो आप बुद्धि के बाहर की बातें कह जाते हैं। सूर्य कोई लोहे के गोले तो हैं ही नहीं जो रेती से रेतकर या खराद पर

चढाकर उन्हें छोटा कर दिया। वे तो देवता हैं, एक जाज्वल्य मान ग्रह है।"

सूतजी बोले—"महाराज ! सब बातें आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन भावों से कही जाती हैं। सभी मे रूपक होता है। यह संसार ही कालचक्र है, इस पर चढ़ाकर अपने तेज को जो परोपकार के कामों मे व्यय करता है, उसी का तेज सफल है उसी से सर्वात्मा प्रभु की सन्तुष्टि है। जो अपने तेज के घमण्ड में ऐंठे रहते है, सदा दूसरों का अपमान करते है, नम्रता धारण नही करते। विश्व के रचने वाले के समीप नम्र होकर आत्म समर्पण नहीं करते। अपने तेज को विभक्त नहीं करते। उनसे कोई सन्तुष्ट नहीं होता। अपने लोग पराये हो जाते हैं। आधिदैविक रूप में तो देवता जैसे चाहें वैसे बन सकते हैं।"

शौनक जी ने कहा—"अच्छा, हाँ तो फिर क्या हुआ। उनकी सन्तानों ने क्या किया ?"

सूतजी बोले—"विवस्वान् के सबसे बड़े पुत्र श्राद्धदेव तो इस मन्वन्मर के मनु ही बन गये। दूसरे पुत्र यम ने घोर तपस्या करके लोकपाल की पदवी प्राप्त की। वे प्राणियों के पुण्य पाप का फल देते हैं और यम रूप से पापियों का शासन भी करते हैं। इनकी बहिन यमुना नदी रूप से पापियों को तारती हैं, वे भगवान् की पटरानी हुईं। छाया के प्रथम पुत्र सावर्णि अब तक सुमेरु पर तप करते हैं। आगामी मन्वन्तर में वे भी मनुपद को प्रतिष्ठित करेंगे उनके दूसरे पुत्र शनैश्चर ग्रह हो गये। ये सब ग्रहों से शनैः शनैः चरते हैं इसीलिये शनैश्चचर कहाते हैं। कोई ग्रह सवा दो दिन, कोई महीने, कोई वर्ष

इतने में ही ज्योतिश्चक्र की परिक्रमा कर लेते हैं, किन्तु इन्हें ढाई वर्ष लग जाते है। ये जिसकी ओर देख लेते हैं उसका सर्वनाश हो जाता है। इनकी बहिन तपती का विवाह राजा सवर्ण के साथ हुआ। ये भी पीछे नदी होकर बहने लगीं।

ये सबके सब भाई शासक और कर्मानुसार फल देने वाले हुए। इन सबमें यमुना ही एक ऐसी दयावती हुई, जो पापियों को भी मुक्ति देने वाली है। इनका कार्य ही है पतितों का उद्धार करना। इन्होंने यम से भी बहिन होने के नाते कुछ सुविधायें करालीं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"विवस्वान् पुत्री यमुना ने अपने भाई यम से प्राणियों के लिये कौन सी सुविधायें कराईं इसे हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! यमुना बड़ी दयावती थीं। उनका भाई यम उतना ही कठोर हृदय था। वह नित्य ही प्राणियों को मारता, और पापियों को कठोर दण्ड देता, यह देखकर यमुना को बड़ी दया आई। उसने अपने भाई से कई बार कहा—"भैया! इतना प्राणियों को कष्ट देना उचित नहीं।"

यमराज यह सुनकर यमुना को डाँटते हुए कह देते—"तू तो लड़की है, तुझे बुद्धि तो है नहीं। कर्तव्य का पालन करना ही धर्म है।"

यमुना चुप हो जाती। उसने कई बार यम को अपने घर बुलाया, किन्तु यम को इतना अवकाश कहाँ जो किसी के घर जाते। यमुना भ्रातृस्नेह से बराबर बुलाती ही रहती।

एक बार यम ने सोचा—"चलो, छोटी बहिन है, बार बार बुलाती है, इसके घर हो आवें।" यह सोचकर यमराज उसके घर गये। यमुना ने अपने भाई को देखकर उसका बड़ा सत्कार किया। अनेक प्रकार के सुन्दर सुन्दर व्यंजन बनाये। बड़े स्नेह से अपने हाथों से ही उसने बहुत सी वस्तुएं बनाईं। सुन्दर आसन बिछाकर उसे भोजन कराया। माला पहिनाई, ताम्बूल दिया। उसके मस्तक पर तिलक काढा। यमराज ने बहिन को कुछ दक्षिणा दी। इस पर अत्यन्त प्रेम से यमुना ने कहा—"ना, भैया! मैं यह रुपये पैसे की दक्षिणा नहीं लेती। यदि तुम्हें कुछ देना ही है, तो मुझे एक वरदान दे दो।"

यमराज ने कहा—"अच्छा, बोल! क्या वरदान चाहती है?"

यमुना ने कहा—"मैं यही चाहती हूँ, कि आज के दिन जो बहिन अपने भाई को प्रेम पूर्वक भोजन कराके उसके माथे पर कुंकुम का टीका करे, और भाई उसका दक्षिणा आदि से सत्कार करे, तो उन दोनों को तुम्हारे यहाँ की यम यातनायें न सहनी पड़ें।

यमराज ने हँसकर कहा—"बहिन! तैने मुझे ठग लिया। अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। आज से जो इस दिन बहिन भाई को अत्यन्त स्नेह से जिमावेगी और भाई उसका हृदय से सत्कार करेगा, तो दोनों ही मेरे दण्ड के भागी न होंगे।" यह कहकर यम अपने लोक को चले गये।

वह दिवाली के अनन्तर कार्तिक शुक्ला द्वितीय का दिवस था। उसी दिन से उस द्वितीय का नाम भ्रातृद्वितीया पड़ गया। तभी से सभी स्नेहमयी बहिनें अपने भाइयों को उस दिन स्नेह

पूर्वक भोजन करती हैं और उनसे दक्षिणा जो पाती हैं सो तो पाती ही हैं, यमराज की यातना से भी यमुनाजी की कृपा से बचती हैं इसलिये उस दिन यमुना का स्नान अवश्य करना चाहिये और यमुना किनारे ही हो सके तो भाई को जिमाना चाहिये। यमुना किनारा न मिल सके तो घर पर ही सही।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने संक्षेप में विवस्वान् सूर्य और उनकी संतानों की कथा सुनाई अब आप आने वाले सात मन्वन्तरों का वृत्तान्त और सुनें।

छप्पय

संज्ञा छाया छोड़ि गई वन बड़वा बनि कै।
दुखित दिवाकर भये ससुरतें सब कछु सुनि कैं॥
बडवा बनि कै वैद्य अश्विनी कुमर जनाये।
संज्ञा कूँ लै संग ससुर ढिग सूरज आये॥
ससुर करयो कछु तेज कम, रवि द्वादश ह्वै गये तब।
विवस्वान् को वंश यह, राजन्! तुमतें करयो सब॥

आगामी सात मन्वन्तरों की कथा

(५४६)

राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते ।
प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः ॥*॥

(श्री भा० ८ स्क० १३ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

अष्टम मनु सावर्णि होहिगे सार्वभौम हरि ।
नवें दक्षसावर्णि प्रकट हरि ऋषभ नाम धरि ॥
दशम ब्रह्म सावर्णि विश्वसेनहु होगे विभु ।
एकादश सावर्णिधर्म मनु धर्मसेतु प्रभु ॥
रुद्रसवर्णी बारवे अंश सुधामा श्याम के ।
देव सवर्णी तेरवें देवहोल हरिमाम के ॥

प्रायः कथा प्रसंग में वंशावली सुनने की ओर श्रोताओं की रुचि कम होती है । उसका यह पुत्र हुआ उसका यह मैत्री

---

* श्री शुक देवजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार मैंने भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनो कालो के चौदहो मनुओ की कथा सुनादी । इन्ही से सहस्त्रयुग वाले ब्रह्माजी के एक दिन अर्थात् कल्प का मान किया जाता है ।

पुरोहित हुआ, केवल इस बात के सुनने से लाभ ही क्या ? यदि कोई विशिष्ट घटना हो, तो उसमें रुचि भी बढ़ती है विशेष घटना न हो, तो उसमें प्रवृत्ति न हो। प्रवृत्ति कराने को ही उसका फल बताया जाता है, कि वंशावली सुनने से, इनका नाम सुनने से स्वर्ग में यह मिलता है, इतना पुण्य बढ़ता है, क्योंकि वंशावली न बताई जाय, तो आगे कथा प्रसङ्ग चले कैसे। बीज होता है तभी उसका विस्तार हुआ करता है। अतः वंशादि का प्रकरण नीरस भी हो, तो उसे धैर्यपूर्वक पुण्यप्रद समझ कर श्रद्धा के साथ सुनना चाहिये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! मैंने इस कल्प के छै बीते हुए मन्वन्तरों की कथा सुनाई। सातवाँ जो वर्तमान मन्वन्तर चल रहा है उस के सम्बन्ध में भी तुमसे कहा।

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा—"भगवान् ! वर्तमान मन्वन्तर की कथा तो आपने अत्यन्त ही संक्षेप में कहीं वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन नहीं किया। इस मन्वन्तर के अवतार भगवान् वामन का विशेष चरित्र नहीं कहा। इन सबको विस्तार से सुनाइये। जो बीत गये वे तो बीत ही गये। आने वाले अभी भविष्य के गर्भ में छिपे हैं। काम तो हमें वर्तमान से है।

श्री शुक ने कहा—"राजन् ! मैं वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन विस्तार से करूँगा। भगवान् वामन के चरित्र को भी सुनाऊँगा। किन्तु इस कथा प्रसङ्ग को पूर्ण करने के लिये। संक्षेप में आप इस कल्प के भूत, वर्तमान और भविष्य के मनुओं का वृत्तांत सुन लीजिये। भूत और वर्तमान के मनुओं की कथा तो मैंने सुना ही दी। अब आगामी सात मनुओं की कथा सुनें।"

राजा बोले—"अच्छी बात है महाराज! संक्षेप में ही सुनाइयेगा। भविष्य तो भविष्य ही है।

इसपर श्रीशुक बोले—"अच्छा सुनिये! आठवें मनु विवस्वान् के पुत्र छाया सुत सावर्णि होंगे। निर्मोह तथा विरजस्क आदि उनके पुत्र होंगे। विरोचन के पुत्र बलि उस मन्वन्तर के इन्द्र होंगे। पीछे वे इन्द्र पद को भी त्याग कर मुक्त हो जायेंगे। उस समय गालव, दीप्तिमान्, परसुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृंग और हमारे पिता भगवान् व्यास ये ऋषि सप्तर्षि होंगे। जो इस समय अपने अपने आश्रम मण्डल में समाधि मे स्थित है। उस मन्वन्तर में भगवान् सार्वभौम नाम से अवतार ग्रहण करेंगे। उनकी माता का नाम सरस्वती और पिता का नाम देवगुह्य मुनि होगा। ये वर्तमान इन्द्र से इन्द्र पद छीनकर बलि को इन्द्रासन पर बिठावेंगे।

नवमें मनु वरुण के पुत्र दक्षसावर्णि होंगे उनके भूतकेतु, दीप्तिकेतु आदि पुत्र होंगे। पार, मरीचगर्भ आदि देवताओं के गण होंगे। अद्भुत नामक इन्द्र और द्युतिमान् आदि सप्तर्षि होंगे। उस मन्वन्तर में भगवान् आयुष्मान् से अम्बुधारा नामक पत्नी में ऋषभनाम से अवतरित होंगे। वे इन्द्र को त्रैलोक्य का राज्य प्रदान करेंगे।

दशवें मनु उपश्लोक के पुत्र ब्रह्म सावर्णि होंगे। उनके भूरिषेण आदि पुत्र होंगे तथा हविष्मान् सुकृति, सत्य, जय और मूर्ति आदि सप्तर्षि होंगे। सुवासन और विरुद्ध आदि देवगण तथा इन्द्र का नाम शम्भु होगा। इस मन्वन्तर मे भगवान् विष्वक्सेन नाम से विश्वम्भटा के गृह विषूचि नाम की उनकी

पत्नी के गर्भ से अवतीर्ण होकर शम्भु की सहायता करके उन शतक्रतु को सुखी करेंगे।

ग्यारहवें महामनस्वी धर्मसावर्णि नाम के मनु होंगे। उनके सत्य धर्मादि दश पुत्र होंगे। उस समय के देव गणों के नाम विहंगम, कामगम और निर्वाणरुचि होंगे। इन्द्र का नाम वैधृत होगा। अरुण आदि सात ऋषि उस समय के सप्तर्षि होंगे। आर्यकका के वीर्य से वैधृता के गर्भ से उस समय भगवान् का मन्वन्तरावतार धर्मसेत नाम से विख्यात होगा और उस मन्वन्तर पर्यन्त इन्द्र का पालन उन्हीं अंशावतार द्वारा होगा।

बारहवें मनु का नाम रुद्रसावर्णि होगा। उसके देवतान् उपेक्ष और देवश्रेष्ठ आदि मनु पुत्र होंगे जो उस मन्वन्तर पर्यन्त पृथिवी का पालन करेंगे। उस समय ऋतधामा नाम के इन्द्र होंगे। हरित आदि देवताओं के गण होंगे तपामूर्ति, तपस्वी तथा आग्रीध्रकादि सात मुनि उस मन्वन्तर के सप्तर्षि होंगे। सत्यसह नामक मुनि से उनकी पत्नी सूनृता में भगवान् श्रीहरि का अंशावतार होगा। जो सुधामा नाम से विख्यात होकर उस मन्वन्तर का पालन करेंगे।

तेरहवें मनु का नाम देवसावर्णि होगा। तथा चित्रसेन और विचित्र आदि उसके मनुपुत्र होंगे। उस समय सुकर्म और सुत्राम नामक देवगण होंगे, इन्द्र का नाम दिवस्पति होगा। तथा निर्मोक और तत्वदर्श आदि सात महर्षि सप्तर्षि के पद पर प्रतिष्ठित होंगे। उस समय के दिवस्पति इन्द्र को इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित कराने और मन्वन्तर पर्यन्त इसका पालन करने के निमित्त योगेश्वर नाम से भगवान् अवतार धारण करेंगे। उनकी माता का नाम वृहती और पिता का नाम देवहोत्र होगा।

चौदहवें इन्द्र का नाम होगा इन्द्रसावर्णि। उरु और गम्भीरबुद्धि आदि उनके प्रसिद्ध पुत्र होंगे। उस समय के पवित्र और चाक्षुष आदि देव गण होंगे। शुचिनाम के इन्द्र होंगे तथा अग्निवाहु, शुचि, शुद्ध और मागध आदि सप्तर्षि गण होंगे। राजन्! उस मन्वन्तर में वितानी नामक महा भाग्यवती माता के गर्भ से सत्रायण के पुत्र वृहद् भानु नाम से भगवान् के अंशावतार अवतीर्ण होंगे। वे उस मन्वन्तर के मनु का पालन करेंगे और संसार में कर्म काम का विस्तार करेंगे.

श्री शुकदेवजी कहते है—"यह मैंने ६ भूत एक वर्तमान और सात भविष्य के इस प्रकार १४ मन्वन्तरों का वर्णन किया। ब्रह्मा जी के एक दिन मे १४ मनु, १४ इन्द्र, १४ सप्तर्षि, १४ देवताओं के गण, १४ मनु पुत्रों के वश और १४ भगवान् के मन्वन्तरावतार होते हैं, तव ब्रह्मा जी का एक दिन होता है, उसकी कल्प संज्ञा भी है। कल्पान्त मे तीनों लोक नष्ट हो जाते है नैमित्तिक प्रलय हो जाती है। उतनी ही बड़ी ब्रह्मा जी की रात्रि होती है ऐसे ३६० दिन रात्रियों का ब्रह्मा जी का एक वर्ष होता है। अपने वर्षों से ब्रह्मा जी १०० वर्ष पर्यन्त जीते हैं। १०० वर्ष के अनन्त दूसरे ब्रह्म आजाते हैं। फिर ऐसे ही सृष्टि क्रम चालू हो जाता है फिर सृष्टि होती है, फिर कल्प होते हैं। यह चक्र अनादि से चल रहा है। अनन्त काल तक चलता रहेगा। इसका न ओर है न छोरा इस काल चक्र में मनुष्यों के १०० वर्ष जिनके ऊपर मनुष्य बड़ा गर्व करते हैं—नित्य बड़े बड़े पाप करते हैं—उतने भी नहीं जितने कि अनन्त अगाध समुद्र के दो विन्दु। इसलिये अभि-

मान छोड़कर उन काल रूप कृष्ण का ही चिन्तन करना चाहिये ।

छप्पय

चौदहवें सावर्णि इन्द्र मनु होहिं तपस्वी ।
सत्रायण सुत वहद्भानु हरि होहिं यशस्वी ॥
यों भविष्य अरु भूत कहे ये मन्वन्तर सब ।
इन सब को का काज, करूँ ताको वर्णन अब ॥
मन्वन्तर को पुण्यमय, सुनै कथा जे प्रेम तैं ।
हरि पद पावैं करै जे, कथा कीरतन नेम तै ॥

मन्वन्तरों के मनु आदि के कार्य।

(५४७)

मन्वंतरेषु भगवन् यथा मन्वादयस्त्विमे।
यस्मिन्कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद्वदस्व मे ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १४ अ० १ श्लोक)

छप्पय

मन्वन्तर पर्यन्त करैं पालन मनु जग कूं।
सब सप्तर्षि समूह बतावैं श्रुति के मग कूं॥
पृथिवी पालन करैं होंहि जे मनु के वंशज।
लेकें हरि अवतार करैं पालन सुरपति अज॥
पावैं सब ही देवगन, भाग यज्ञ अरु हवन महँ।
सुरपति बनि देवेन्द्र हू, पूजित होंवैं सुरनि महँ॥

यह सम्पूर्ण जगत् एक नियम के अवस्थित है। सब के कार्य निश्चित हैं, सब कार्यों का कार्य काल निश्चित है। सब की आयु, सुख, दुख आदि पहिले से ही लिखे हुए हैं।

* राजा परीक्षित श्री शुकदेव जी से पूछ रहे हैं—भगवन्! आप ने जो मन्वन्तरों के मनु इन्द्रादि बताये भिन्न भिन्न मन्वन्तरों में जिस के द्वारा जिस जिस कार्य में नियुक्त किये जाते हैं, उन उन कार्यों का वर्णन और कीजिये।

यदि ऐसा न हो, तो ज्योतिष आदि भविष्य को सब शास्त्र व्यर्थ हो जायँ। हम अज्ञता के कारण भविष्य की बातों को नहीं जानते इसीलिये अँधेरे में भटकते रहते हैं। जब हमें तीनों कालों का ज्ञान हो जाय तब आश्चर्य करने की कोई बात ही न रह जाय। इन्द्र का कार्य निश्चित है। उनका कार्यकाल निश्चित है। इसी प्रकार सबका पहिले से ही सब निश्चित है। जीव भ्रम वश भटकता है, अज्ञान वश दुखी होता है, इस सृष्टि के रहस्य को भली भाँति समझ लें हृदय पटल पर इसे अंकित करले, तो फिर कुछ चिन्ता की कोई बात नही रह जाती। इसीलिये शास्त्रो मे बार बार सृष्टि का उसके नियमों का वर्णन किया जाता है। जिसे जान कर जीव शोक मोह तथा विस्मय आदि से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

जब भूत भविष्य वर्तमान के १४ मन्वन्तरों में होने वाले मनु, मनुपुत्र, इन्द्र, देवगण सप्तर्षि और भगवान् के मंवतंरावतार का वर्णन श्रीशुक ने किया, तब सब सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! आप ने भिन्न भिन्न मन्वन्तरो के मनु आदि का वर्णन तो किया, किन्तु मुझे एक शंका तो रह ही गई। ये सब छैऊ भगवान् के अवतार भेद ही हैं। इन सब का कार्य क्या क्या है। मन्वन्तर के मनु कौन सा काम करते है। उनसे उत्पन्न हुये पुत्र उनके किस कार्य में क्या क्या सहयोग देते हैं। इन्द्र क्या करते हैं। इतने देवताओं के गणो की सृष्टि के लिये आवश्यकता क्या है। सप्तर्षि मिलकर किस कर्तव्य का पालन करते हैं प्रत्येक मन्वन्तर में पृथक् पृथक् भगवान् के अंशावतार की आवश्यकता क्यो है ? भगवान् अवतरित होकर कौन सा कार्य करते है ?"

महाराज परीक्षित् के इन वचनों को सुनकर श्रीशुक

हो गये और बोले—राजन् ! ये छः देखने में ही पृथक् २ प्रतीत होते हैं। वास्तव में तो ये सब एक ही हैं। श्रीहरि ही सृष्टि की रक्षा के निमित्त छः रूप धारण कर लेते है। प्रजापालक प्रभु ही अपनी कला अथवा अंश से इन सब में प्रवेश कर जाते है। फिर अपने आप ही इन सब के शासक बनकर शासन करते हैं। मन्वन्तरावतार लेकर भगवान् मनु इन्द्र आदि की रक्षा करते है, उन्हें संकटों से बचाते है, असुरों को दण्ड देते हैं तथा ससार यात्रा का निर्वाह करते है।

मन्वन्तर के अधिपति मनु ब्रह्मदेव की रचित तथा श्री हरि द्वारा प्रचलित इस सृष्टि के प्रजा जनों से धर्म का आचरण कराते हैं। चतुष्पाद धर्म की स्थापना करते है। सत्ययुग त्रेतादि धर्म प्रधान युगों में पृथिवी पर रहते है। तथा अधर्म प्रधान कलियुग आदि युगों में गुप्त रूप से अन्य वर्षों या लोकों में ध्यान मग्न रहते है। मनु के पुत्र मन्वन्तर पर्यन्त पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्रादि क्रम से इस समस्त भूमण्डल में भूपति बन कर शासन कहते है।

इन्द्र स्वर्ग के राजा होते हैं। वे सभी सुरों के शासक तथा अधिपति होते है। भगवान् की दी हुई त्रिभुवन की लक्ष्मी का वे उपभोग करते हैं। स्वर्ग के अति उत्कृष्ट सुखों को भोगते हुए तीनों लोकों का पालन करते है। उसके साथ नित्य देवताओं के पृथक् पृथक् गण भी होते हैं। वे भी मन्वन्तर पर्यन्त पंच महायज्ञादि कर्मों में जिन ऋषि, पितृ, भूत और मनुष्य आदि को भोक्ता रूप से सम्बन्ध है उन सब के साथ यज्ञ का भाग ग्रहण करते हैं। मनुष्य यज्ञ के द्वारा देवताओं का भजन करते हैं। इससे प्रसन्न हुए देवता गण उनके समस्त

मनोरथों को पूर्ण करते हैं यों परस्पर के भाव से भावित हो कर परम श्रेय के अधिकारी होते हैं।

उस मन्वन्तर में होने वाले सप्तर्षि गण वेदों का उद्धार करते हैं, शास्त्रों का प्रचार करते हैं, भिन्न-भिन्न रूप रखकर धर्म की संस्थापना करते है। जैसे ज्ञान का प्रचार करने के लिये सनकादि सिद्धों का रूप रख लेते है और प्रजा को ज्ञानोपदेश करते हैं। कुछ मुनि स्मृतिकार बनकर कर्मकांड का उपदेश करते है। याज्ञवल्क्यादि रूपों में स्वयं कर्मकांड का आचरण करते हैं अन्य गृही आदिकों को प्रेरित करते हैं। दत्तात्रेय कपिल आदि योगेश्वरों का रूप रखकर योगमार्ग का प्रचार करते है। नारदादि रूप से भक्ति के पांचरात्र आदि शास्त्रों का प्रचार, प्रसार करते है।

श्री हरि के ही ये सब स्वरूप हैं। वे ही स्वयं प्रजापति रखकर अंडज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज रूप में समस्त सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। सम्राट् बनकर दस्युओं से प्रजा की रक्षा करते हैं उन्हें लूट पाट से बचाते हैं। वे ही वसंत, ग्रीष्म वर्षा, शरद, हेमंत, और शिशिर रूप रखकर सरदी, गर्मी करते हैं प्राणियों की आयु का नाश करके काल रूप रखकर उनका संहार करते हैं। इस सम्पूर्ण संसार में वे प्रभु उसी प्रकार ओत प्रोत हैं जिस प्रकार माला की मणियों में सूत्र ओत प्रोत है। सम्पूर्ण जीव भगवान् की नाम रूपात्मिका माया से मोहित होकर कोई कहता है भगवान नहीं हैं, कोई कहता है अद्वैत है, कोई विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शिवाद्वैत आदि कहकर उनका निरूपण करते हैं। भिन्न भिन्न शास्त्रों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में निरंतर निरूपण किये जाने पर भी वास्तविक रूप से किसी से भी नहीं जाने जाते। महाराज! यह मैंने

आप से अत्यन्त संक्षेप १४ मन्वन्तरों का वृत्तान्त, मनु, मनु पुत्र, इन्द्र देवगण, सप्तर्षि और मन्वन्तरावतारों का नाम तथा उनके कार्यों का वर्णन किया अब आप और क्या पूछना चाहते है ?"

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा "भगवन् ! आप ने इस वर्तमान मन्वन्तर का नाम वैवस्वत मन्वन्तर कहा और इस मन्वन्तर के अवतार का नाम वामन या उपेन्द्र बताया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ। कि इन उपेन्द्र भगवान् ने कौन सा विशेष कार्य किया। वामन भगवान् के चरित्रश्रवण करने की मेरी बड़ी उत्कट अभिलाषा है।"

इस पर भगवान् शुक ने कहा "राजन् ! इन वामन भगवान ने छलकर-कपट रूप बनाकर-बलि से तीन पग पृथिवी की याचना की। जब राजा बलि न दे सके तो उन्हें बाँध लिया।

यह सुनकर राजा अत्यंत ही आश्चर्य के साथ कहने लगे—"प्रभो ! आप एक से एक विचित्र और अद्भुत बातें बता रहे हैं। देखिये भगवन् ! याचना वह करता है, जिसके पास वह वस्तु न हो। भगवान् के यहाँ किस वस्तु की कमी है। वे माँगे भी तो किस से माँगें ? वे तो सम्पूर्ण जगत् के स्वामी है, विश्वनाथ है। यह कहो कि भगवान्ने म दिरा की रक्षा के लिये माँग ली होगी। तो फिर तीन ही पग पृथिवी क्यों माँगी। तीन पग पृथिवी को भी इतने बड़े चक्रवर्ती महाराज बलि क्यों नहीं दे सके। मानलो, किसी कारण से न दी गई हो तो उसने कुछ ऋण तो खाया नहीं था। भगवान् ने उसे बाँधा क्यो ? ऐसा काम तो कृपण कञ्जूस लोग

करते हैं, कि किसी पर अपना ऋण है वह देने [illegible]
तो राजद्वार से उसके घर को बिकवा देते हैं [illegible]
भिजवा देते हैं। भगवान् को तो ऐसी बात [illegible]
फिर भीख तो वह मांगें जिसे अपनी [illegible]
करनी हो। भगवान् विश्वेश्वर तो पूर्णकाम [illegible]
निस्पृह हैं। उनकी भूमि और धन के लिये [illegible]
उचित नहीं जान पड़ती। इस विषय में [illegible]
रहा है। प्रभो! इस सम्पूर्ण चरित्र की [illegible]
शंकाओं का समाधान कीजिये। मेरी [illegible]

सूतजी शौनकादि मुनियों से [illegible]
अभिमन्यु सुत उत्तरानन्दवर्धन महाराज [illegible]
के प्रश्न किये, तब उनका उत्तर देते [illegible]
चरित्र सुनाने के लिये उद्यत हुए।

महाराज बलि का पुनः स्वर्ग के लिये प्रयत्न

(५४८)

पराजितश्री रसुभिश्च हापितो-
हीन्द्रेण राजन् भृगुभिः स जीवितः।
सर्वात्मना तानभजद् भृगून्बलिः
शिष्यो महात्मार्थ निवेदनेन ॥
(श्री भा० ८ स्क १५ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

कहैं परीक्षित देव ! बने ज्यों वामन श्रीहरि।
लघु बनि भिक्षा करी बढ़े ज्यों पुनि प्रभु छल करि॥
बोले शुक सुनु भूप पराजित दैत्य भये जब।
अस्ताचल ले जाय जिवाये शुक असुर सब॥
गुरु सेवाई अभ्युदय, की कारन बलि जानि कैं।
शुक्रहि सौंप्यो राज्य तनु, इष्ट देव सम मानि कैं॥

जिन्होंने अपने आप को गुरु चरणों में समर्पित कर दिया

श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—राजन् देवासुर संग्राम में जब देवेन्द्र द्वारा श्रीहीन हुये महाराज बलि प्राणहीन हो गये और शुक्राचार्य ने फिर उन्हें जिला दिया, तो महात्मा बलि, अपने गुरु शुक्राचार्य को सर्वात्मभाव से अपना सर्वस्व समर्पित करके सब प्रकार से उन्हीं की सेवा सुश्रूषा करने लगे।

है, उनके सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। संसार में सभी कार्य पुरुषार्थ से होते हैं। उद्योगी अपने उद्योग से भारी से भारी संकट आने पर भी विचलित नहीं होता। कार्य करने मे विघ्न तो होते ही हैं किंतु मनस्वी उन विघ्नों को तुच्छ समझकर सर्वथा उनकी अवहेलना करते रहते हैं। एक तो पुरुषार्थ अहंकार पूर्ण होता है, उसकी सिद्धि में तो सन्देह ही रहता है क्योंकि प्राणी अपूर्ण है, किंतु जो पुरुषार्थ श्रद्धा सहित—गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा करते हुये किया जाता है वह कभी असफल नहीं होता। उसकी सिद्धि में तो कभी किसी प्रकार का संदेह नहीं। उसमें सफलता होना तो ध्रुव है।

श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे—"राजन् मुझ से भगवान् वामन के अवतार का कारण पूछा, उसे मैं आप को सुनाता हूँ। हां, तो समुद्र में से निकले अमृत को जब मोहिनी रूप भगवान् ने देवताओं को ही पिला दिया तब घनघोर देवासुर संग्राम हुआ। भगवान् की कृपा से उस युद्ध में असुरों की पराजय हुई, विजयश्री ने सुरों को वरण कर लिया। असुरों के राजा विरोचन पुत्र बलि उस युद्ध में मृत प्राय हो गये थे, और भी बहुत से असुर मर गये थे। दूसरे असुर उन सब को उठाकर अस्ताचल पर्वत पर ले गये। वहाँ शुक्राचार्य ने उन सब को अपनी मृत संजीवनी विद्या से जिला दिया। महाराज बलि तो शुक्राचार्य के स्पर्श करते ही जीवित हो गये। श्री हीन और प्राण विहीन बलि को भृगुनंदन शुक्राचार्य ने जीवन दान दिया।

महाराज बलि बड़े धर्मात्मा और कृतज्ञ थे। उन्होंने सोचा

—"देखो, गुरुदेव ने हमारे ऊपर कितनी बड़ी कृपा की है हम तो मर ही गये थे, गुरुदेव ने ही हमें जीवन दान दिया है। अब हम जो भी कुछ उन्नति कर सकेंगे, गुरु कृपा से ही करेंगे प्राणियों के अभ्युदय का मुख्य कारण गुरु सेवा ही है, जो सेवा करते हैं वे मेवा पाते हैं। जो गुरु का पूजन करते हैं, वे संसार में सर्वत्र पूजित होते हैं। जो गुरु को सर्वस्व समर्पण कर देते हैं, उन्हें सर्वस्व की प्राप्ति होती है।" यह सोचकर वे तनसे, मनसे, धनसे, सभी प्रकार से शुक्राचार्य की सेवा करने लगे। उन्होंने अपना सर्वस्व गुरु चरणों में अर्पित कर दिया। शुक्राचार्य जो कहते उसे ही वे करते। उनके सुख की सुविधाओं को सदा ध्यान रखते, जिस वस्तु की आवश्यकता होती उसे तत्क्षण कहीं न कहीं से मँगाते। उनकी जितनी सामग्री की आवश्यकता होती उससे दशगुनी भेजते इस प्रकार उन्होने अपने जीवन का ध्येय गुरु सुश्रूषा ही बना लिया।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! सेवा एक ऐसी वस्तु है कि वह मनुष्य को वश में कर ही लेती है। पाषाण हृदय पर भी उसका प्रभाव पड़ता है, फिर सहृदय साधु पुरुष तो सेवा द्वारा अनुचित कार्य करने को भी विवश हो जाते हैं। सेवा से वे इतने दब जाते हैं, कि कृतज्ञतावश उसके अभ्युदय के लिये सब कुछ करने को तत्पर हो जाते हैं। दुर्योधन यद्यपि क्रूर स्वभाव का था, किन्तु उसने गुरु द्रोणाचार्य की भीष्म और शल्य की ऐसी सेवा की कि वे अपने प्राणों से प्यारे पांडवों के विरुद्ध भी अस्त्र शस्त्र लेकर युद्ध के लिये रणाङ्गन में आ गये और सहज स्नेह तथा प्राणों का मोह त्यागकर जूझ मरे। दुर्वासा जैसे क्रोधी मुनि दुर्योधन की सेवा से सतुष्ट

होकर पांडवों के सर्वनाश के लिये उतारू हो गये। शिवजी सेवा के कारण वाणासुर के पुररक्षक बने। जिसकी हम सेवा करते हैं, उसका हृदय सदा हमारी मङ्गल कामना के लिए व्यग्र बना रहता है। सती स्त्री सत्पति को सेवा के द्वारा ही वश में कर लेती है। और की तो बात ही क्या, स्वयं भगवान् भी सेवक के अधीन हो जाते है। जब उनके भक्त महाराज अम्बरीष पर दुर्वासा ने कृत्या छोड़ी और सुदर्शन उसे नष्ट करके दुर्वासा के पीछे भागे और वे सब लोकों में शरण न पाकर भगवान् के समीप गये। तब भगवान् ने स्पष्ट कह दिया—"मैं तो भक्तों के अधीन हूँ, भक्त मुझे जैसा नचाते हैं, नाचता हूँ, जो कराना चाहते है, करता हूँ। मैं स्वतन्त्र नहीं, भक्तों के संकेत पर नाचने वाला हूँ। इसीलिए तो सेवा से बढ़कर वश में करने का कोई दूसरा उपाय नही।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! सब महाराज बलि इस प्रकार शुक्राचार्य की तथा अन्यान्य ब्राह्मणों की सेवा करने लगे। तब शुक्राचार्य ने सभी ब्राह्मणों से सम्मति की। सबको बुलाकर उन्होंने पूछा—"ब्राह्मणों आप सब देख ही रहे हैं, ये विरोचननन्दन महाराज बलि अपना सर्वस्व समर्पित करके ब्राह्मणों की किस तहर सेवा कर रहे हैं, हम लोगों को ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे इनका कल्याण हो, अभ्युदय हो। इन्हें पुनः राज्यश्री वरण करें। ये पुनः तीनों लोक के स्वामी होंगे।"

ब्राह्मणों ने कहा—"प्रभो! हम महाराज बलि की सेवा से अत्यन्त ही संतुष्ट हैं, हमारे लिये जो आज्ञा हो उसे हम प्राणपन से करने को उद्यत हैं।"

इसपर शुक्राचार्य ने कहा—"मेरी हार्दिक इच्छा है, कि मैं अपने शिष्य को विधिपूर्वक विश्वजित् नाम का यज्ञ कराऊँ। यदि यह यज्ञ विधि पूर्वक सम्पन्न हो गया, तो इन्हें निश्चय ही पुनः तीनों लोकों का राज्य ऐश्वर्य प्राप्त हो जायगा।

ब्राह्मणों ने उत्साह के साथ कहा—"भगवन्! हम सब कुछ करने को तत्पर हैं। अवश्य ही आप असुरेन्द्र को विश्वजित् यज्ञ के लिये अभिषिक्त कीजिये।"

ब्राह्मणों की अनुमति पाकर शुक्राचार्य ने विधि विधान पूर्वक महाराज बलि को भृगुवंशी ब्राह्मणों के सहित स्वर्ग की कामना से ऐन्द्र महाभिषेक से अभिषिक्त किया। पुनः वैदिक विधि से विश्वजित् महायज्ञ का अनुष्ठान कराया। देवता तो मन्त्राधीन ही होते हैं। महाराज बलि के द्वारा शुद्ध पवित्र न्यायोपार्जित हवन आदि सामग्रियों द्वारा पूजित अग्निदेव उन पर प्रसन्न हुए। यज्ञ कुण्ड से मूर्तिमान् अग्नि ने उत्पन्न होकर राजा बलि को दर्शन दिये। अग्नि ने सुवर्ण मण्डित एक दिव्य रथ जिसमें मनोवेग के समान दौड़ने वाले हरित वर्ण के घोड़े जुते हुए थे जिसमें सिंह के चिन्ह से चिन्हित, दृढ़ ध्वजा लगी थी। ऐसा रथ महाराज बलि को प्रसन्न होकर प्रदान किया। साथ ही सुवर्ण जटित दिव्य धनुष जिनके बाण कभी चुकते ही नहीं थे ऐसे दो अक्षय तूणीर और कभी न टूटने वाला दिव्य कवच ये युद्धोपयोगी विजयदायिनी वस्तु भी दैत्येन्द्र को दी।

महाराज बलि के पितामह प्रह्लाद जी ने पौत्र की मंगल कामना के निमित्त कभी भी न कुम्हिलाने वाली दिव्य पुष्पों की

एक अति मनोहर माला दी। पितामह की दी हुई माला को पहिन कर महाराज बलि की शोभा अद्भुत हो गई वे मूर्तिमान वीररस के समान शोभित हुए। शुक्राचार्य ने प्रसन्न होकर अपने शिष्य को ऐसा अद्भुत शंख दिया जिसके बजाते ही शत्रुओं के छक्के छूट जायँ, वे रणाङ्गन को त्याग कर भाग खड़े हों। इस प्रकार सभी से विजय के अनुरूप युद्धोपयोगी सामग्रियों को पाकर महाराज बलि अत्यंत प्रसन्न हुए। अब उन्होंने फिर से स्वर्ग को जीतने का संकल्प किया। प्रसन्न हुए भृगुवंशी ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन किया विजय सम्बन्धी मन्त्र पढ़े। इस प्रकार समस्त सामग्रियों से सन्नद्ध होकर तथा ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त करके महाराज बलि अपनी चतुरङ्गिणी सेना को सजाकर युद्ध के लिए तैयार हुए। उन्होंने ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा की। सबको श्रद्धा सहित प्रणाम किया। फिर अपने पितामह प्रह्लाद जी के समीप आकर उनकी चरण वन्दना की और उनसे कहा—"पितामह आप हमें आशीर्वाद दे कि हमारी विजय हो। तब प्रह्लाद जी ने आशीर्वाद देते हुए कहा—तुम्हारा पन्थ किण्कन्टक हो तुम अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो।"

ब्राह्मणों और बड़ों की अनुमति और आशिष पाकर महाराज बलि अग्निदत्त उस सुवर्ण मन्डित रथपर बैठ गये। दिव्य कवच उन्होंने पहिन लिया। धनुष को धारण करके पृष्ट भाग में दोनों अक्षय तूणीरों को लटका लिया। युद्धोपयोगी खड्ग तरकस आदि अस्त्र शस्त्रों को धारण करके वे विश्वविजयी वीर अभी से प्रतीत होते थे। उनकी बाहुओं में सोने के बाजू बन्द शोभित हो रहे थे। कानों में मकराकृत कुन्डल झल मल झलमल करते हुए चमक कर कपोलों की श्री वृद्धि कर रहे थे। जिस समय वे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर दिव्य रथ में बैठे

उस समय ऐसे प्रतीत होते थे मानों पृथ्वी पर सूर्य उदित हुए हों अथवा हवन कुन्ड मे मूर्तिमान अग्नि प्रज्वलित हो रहे हों। श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन् ! इस प्रकार राजा बलि सुसज्जित होकर स्वर्ग को पुनः विजय करने के निमित्त सेना सहित चले।

छप्पय

सेवा तें सन्तुष्ट शुक्र इक यज्ञ रचायो।
नाम विश्वजित विदित वेदविद विप्र करायो॥
पूजित ह्वै के अग्नि दिव्य सुन्दर रथ दीन्हों।
द्वै अक्षय तूणीर कवच धनु अर्पण कीन्हों॥
दीन्ही माला पितामह दिव्य शंख गुरु ने दयो।
यों रन को सामान सब, एकत्रित बलि पै भयो॥

क्षयिष्णु स्वर्ग पर बलि की चढ़ाई

तां देवधानीं स वरूथिनीपतिः,
बहिः समन्वादुरुधे पृतन्यया ।
आचार्यदत्तं जलजं महास्वनम्,-
दध्मौ प्रयुञ्जन्भयमिन्द्रयोषिताम् ।

(श्री भा० ८ स्क० ८ १५ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

सजि सेना सुर विजय हेतु नृपवर चलि दीन्हें ।
सुरपुर घेरयो हृदय रिपुनि के कंपित कीन्हें ।
सुर समृद्धि अति रम्य हृदय इन्द्रिनि सुखदाई ।
बन उपवन वर वृक्ष चहूँ दिशि शोभा छाई ॥
झुकि झूमैं चूमैं अवनि, सुर तरु फल दल सुमन युत ।
मधुकर खग कलरव करहिं, सुर ललना झूमत फिरत ॥

जीव के सब प्रयत्न सुख के ही निमित्त है। सुख के ही लिये सामग्रियों को एकत्रित करता है। युद्ध करता है, सुखद वस्तुओं को दूसरों से छीन कर अपने पास रखता है, किन्तु

+श्रीशुक देव जी कहते है—"राजन्! उस इन्द्र की अमरावती पुरी को असुर सेना नायक महाराज बलि ने बहार चारों ओर से सेना से घेर लिया। शुक्राचार्य जी ने जो महान् शब्द करने वाला शङ्ख दिया था उसे इन्द्र की स्त्रियों को भयभीत करते हुए बजाया।

इन अनित्य क्षयिष्णु नश्वर वस्तुओं में सुख कहाँ, संतोष कहाँ! बार बार उन्हे प्राप्त करता है, सुख के स्थान में दुख उठाता है फिर भी उनके लोभ को छोड़ नहीं सकता। इसी का नाम भगवान् की माया है। माया मोहित जीव इन अनित्य भोगों के लिये हिंसा करता है, ईर्ष्या करता है। फिर भी ये लोग सदा साथ नही रहते। क्षणभर में उसी प्रकार कुम्हिला जाते हैं, अपने से पृथक हो जाते है, जैसे निशा के अवसान में नायिका के कंठ की माला कुम्हिला जाती है शरीर से पृथक् हो जाती है। इसीलिये ज्ञानी पुरुष इन लौकिक पारलौकिक भोगो में स्पृहा नही रखते। वे इन का उपभोग करते हुए भी इनसे उदासीन बने रहते है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन्! महाराज बलि अपनी चतुरङ्गिणी महती असुर सेना को साथ लेकर पृथ्वी तथा आकाश मन्डल को कंपायमान करते हुए स्वर्ग के ऊपर चले गये! सेना के सभी सैनिक अपनी लम्बी जिह्वा से बार-बार ओठों को चाट रहे थे। मानों वे, विश्व ब्रह्माण्ड को पी जाने के लिये लालायित हैं। वे अपनी लाल लाल आंखों को निकाल निकाल कर नाक लोक को निहार रहे थे, मानों दशों दिशाओं को दग्ध करने के लिये दुराग्रह कर रहे हों। वे सब के सब अतुल ऐश्वर्य के आवेग में अपने को अद्वितीय मानते थे। सभी अपने को बलि के सदृश ही बली माने हुए थे। असुर साम्राज्य के विभूति के मद में मदोन्मत दैत्य यूथपति अपने अमित प्रभाव से अपने आपको अजेय समझ रहे थे। वे इन्द्र का, और इन्द्र के अमरावती पुरी का तिरस्कार करके उसके ऊपर चढ गये और चारो ओर से उसे घेर लिया। क्रोध से लाल लाल नेत्र किये हुए असुरों से घिरी हुई वह दिव्य स्वर्ग की पुरी कमल

कोशों से घिरी कर्णिका के समान प्रतीत होती थी। उसके चारों ओर नन्दन आदि दिव्य कानन थे। जिनमें कल्पवृक्ष अपनी शोभा बखेर रहे थे, जिन पर योजनों सुगन्धि वाले दिव्य पुष्प खिल रहे थे। जिन पर मधुलोलुपमत्त मधुप मँडरा कर मधु मकरन्द का पान करते हुए पंखों मे पराग लगने से पीले से प्रतीत होते थे। कलरव करते हुए विहंग वृन्द इधर से उधर वृक्षों की नमित शाखाओं पर फुदक रहे थे। अपनी प्रियाओं के साथ किलोलें कर रहे थे। किन्हीं किन्हीं वृक्षों पर सुन्दर गोल गोल विवध वर्ण के पके कच्चे फल लगे हुए थे। नवीन चिकनी पल्लवों में वे फल ऐसे प्रतीत होते थे, मानों लाल मखमल का बिछौना बिछाकर सो रहे हों किसी पर छोटे बड़े पुष्पों के गुच्छे लहक रहे थे, वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानों यौवन वृक्षों के अंगों से फूट कर निकल रहा हो। वायु के वेग से जब वे हिलते थे तो वे हिलाने वाली वायु को बहुत सी सुरभि दे देते थे। इतनी अधिक सुरभि को लेकर वायु चलने मे असमर्थ हो जाती और दौड़ती हुई मार्ग में उसे बिखेरती जाती थी। उन पुष्पो पर भ्रमर उसी प्रकार मँडरा रहे थे, जैसे दाता के चारों ओर याचक मड़राते रहते है।

स्वर्ग के उस उत्तम शोभायुक्त उपवन में स्वच्छ सलिल वाले बहुत से सरोवर थे। जिनका जल पद्मों की पराग से सुगन्धित हो गया था और जो कमलों की बेल से ढके हुए से प्रतीत होते थे। उनके किनारे किनारे हंस सारस, चकवा, चकवी, कारण्डव जलकुक्कट, वक तथा अन्यान्य जल जन्तु इधर से उधर चोंच घुमाते हुए घूम रहे थे। बड़े बड़े सरों में सुर सुन्दरियाँ अपनी सखी सहेलियों के साथ कमिनीय क्रीड़ायें कर

रही थी। उनके अंग में लगे दिव्य अंगराज की गन्ध से सुवासित जल और भी अधिक सुगन्धित बन रहा था।

इन्द्र कोअमरावती का परकोटा जाम्बूनद सुवर्ण से बना हुआ था। आकाश गंगा उसे चारों ओर से घेरे हुए थी। मानों वही उस किले की परीखा है। पर कोटे से अत्यन्त ऊँचे सतखने विमानों की अट्टालिकाओं, पर लगी पताकायें हिल रही थीं। मानो असुरों को पुनः इन्द्रासन के लिये आमन्त्रित कर रही हों। उस देवपुरी के द्वार स्फटिक मणि के ऊँचे कंगूरों से शोभायमान थे। उनमें बड़ी बड़ी सुवर्ण मन्डित किवाड़ें लगी हुई थी। जिनमें वज्र के सदृश बड़े बड़े ताले लगे हुए थे। पुरी से बाहर जाने को जितने द्वार थे उन पर बड़े बड़े विस्तृत राज पथ थे। जिनके दोनों ओर सघन वृक्ष लगे थे जो परस्पर में सटे हुए थे। जिनके कारण पथ सदा शीतल बना रहता था। बडे बड़े पथों से कहीं कहीं छोटे पथ भी जाते थे। वे भी सुन्दर और रम्य थे। दो सड़कों के मिलने से जो चौराये बन जाते, उनमें छोटे छोटे उद्यान लगे हुए थे, आस पास सभा वन और आमोद प्रमोद गृह थे।

जिस इन्द्र पुरी में असंख्यों विमान मंडरा रहे थे। कुछ रखे थे कुछ आकाश में उड़ रहे थे। उन में निरन्तर गायन वाद्य और नृत्य की सुमधुर ध्वनि हो रही थी। वनों मे उपवनों, में विमानों में, सरों मे, घरों में, महलों में तथा सर्वत्रही अमिट सौन्दर्य से युक्त नित्य ही नव यौवन के मद से मद माती रूपवती श्यामा रमणियाँ सुन्दर स्वच्छ वस्त्रालंकारों से भूषित स्वच्छन्द विहार करती रहती थीं। वे देदीप्यमान अग्नि शिखा के समान, साकार शोभा के समान, सजीव सुन्दरता के समान,

अम्लान चंपाकलिका के समान तथा यौवन कान्ता के समान प्रतीत होती थी।

वहाँ का वायु भी ऐसा रसिक है कि सुर सम्मानिता सुराङ्गनाओं के अंचल को उधारकर उनके केशपाश में गुंथी सुगन्धित पुष्पों की नवीन माला के मनोहर आमोद को चुरा कर मार्ग में उसी के साथ खिलवाड़ करता हुआ चलता हैं। उसकी इस अशिष्टता पर न कोई टीका करता है न टिप्पणी, सभी सुरसुन्दरियाँ उसकी उपेक्षा कर देती है और क्रीड़ा का भान प्रदर्शित करती हुई पुनः अपने पुष्पों से गुंथे केशपाशों को छिपा लेती हैं।

उस पुरी को सौगंधिक पुरी कह दें तो अत्युक्ति न होगी। क्योंकि यहाँ की सब वस्तु सुगंधित है। पारिजात के पुष्प योजनों गन्ध फैलाते है। सुर ललनाओ के मुखों से अंगो से केशपाशों से, तथा उनके वस्त्राभूषणों से निरंतर सुगंधि निकलती रहती है। राज पथों पर सुगंधित जलों का ही छिड़काव होता है। भवनों से जो सुगन्धित धूप का धूम्र निकलता है, वह प्रकाश में उड़ता हुआ स्वर्गीय पारावत के समान प्रतीत होता है। सभी विमानों के वितान मुक्ता दाम मन्डित शुभ्र और स्वच्छ हैं, उनमें लगी ध्वजायें सुवर्ण जड़ित तथा मणि मुक्ताओं से मन्डित है। रंग विरंगी चित्र विचित्र ध्वजाओं से वह पुरी नव विवाहिता वधू के समान सजी प्रतीत होती है

उस अमरपुरी के भवनो और विमानों के छज्जों पर बैठे मयूर, कपोत, तथा अन्यान्य पक्षी कलरव कर रहे हैं। स्थान-स्थान पर खिले कुसुमों को रिझाने के लिये भ्रमर गण गीत से गा रहें हैं। अप्सराओं के कड़े छड़े नूपुर और करधनियों

की क्षुद्रघंटिकाओं के शब्द से तथा उनके कलकन्ठों से कूजित और मूर्छना सहित गायनों से और मृदङ्ग, शंख, पखावज तथा दुन्दुभियों के घोष से वह बात करती दिखाई देती है। जो अपनी प्रजा से दर्शकों को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। जिसमें पापी प्रवेश नहीं कर सकते। अधर्मी भूतद्रोही मानी कामी और लोभी पुरुषों का जिसमें प्रवेश भी असम्भव है अब उसी पुरी को असुरों ने गुरु कृपा से घेर लिया।

बलि ने गुरु अनुग्रह से दैवी शक्ति प्राप्त करली थी। इन्द्र पुरी को घेरकर जब उन्होंने शुक्रदत्त शंख को पूरी शक्ति से बजाया तो देवताओं के छक्के छुट गये; अप्सरायें मूर्छित होकर गिर गई। इन्द्र तो बड़े ही भयभीत हो गये क्षण भर पहिले जिस पुरी में सर्वत्र आमोद प्रमोद हो रहा था, अब सर्वत्र हाहाकार मच गया। सभी असुरों के उद्योग को देखकर भयभीत हो गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्। इन क्षयिष्णु अनित्य स्वर्गीय सुखों में शान्ति नहीं सुख नहीं। त्रिलोकेश इन्द्र बलि के शंख ध्वनि सुनकर अत्यंत ही घबरा गये और देवताओं को साथलिये हुए अपने कुल गुरु भगवान् बृहस्पति के समीप गये।

छप्पय

श्याम सुभगा सदा सुहागिनि विहरैं बाला।
केशपाश महँ ग्रथित दिव्य सुमननिकी माला॥
तिन तैं लै आमोद अनिल भग सुरभि बखेरै।
बनि परिखा नभगंग अमर नगरी कूँ घेरै॥
नहिं प्रवेश पापी करहिं पुण्य प्राप्त जहँ भोग सब।
गुरु आशिषतैं सुरपुरी, घेरी असुरनि आइ अब॥

पुत्रों के पराभव से अदिति को दुःख

(५५१)

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा ।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत् ॥*
(श्री भा० ८ स्कं० १३ अ० १ श्लोक)

छप्पय

अमर अवनि पै फिरें कपट तनु धरि कै इत उत ।
अदिति सुतनि दुरदशा समुझि अति दुःख भयो चित ॥
आये कश्यप जबहिं लखे घर अधिक उदासी ।
पत्नी तनु अति छीन मलिन जनु भूखी प्यासी ॥
मुनि पूछी कुशलात जब, अदिति दुखित बोली बचन ।
इन दैत्यनि तव अमर सुत, करे पदच्युत तपोधन ।

इस कुतूहल पूर्ण संसार में भगवान् ने कैसी कैसी अद्भुत अद्भुत वस्तुएँ बना ली हैं। यह प्राणी नाटक, स्वांग तथा अन्यान्य खेल देखने को कैसा उत्सुक रहता है, किन्तु ध्यान से देखे तो संसार की सभी वस्तुएं सभी घटनायें एक महान्

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार जब अदिति के पुत्र स्वर्ग के ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो गये और वे स्वर्ग से अदृश्य होकर कहीं छिप गये, तो इससे देवताओं की माता अदिति अनाथों की भाँति अत्यंत दुःख करने लगी ।

कुतूहल की वस्तुयें हैं। नन्हें से वट के बीज से कितना महान वृक्ष हो जाता है, उस राई के दाने से भी छोटे बीज में इतना भारी वृक्ष कहां छिपा है, उसके टुकड़े टुकड़े कर डालिये, कहीं भी उसमें वृक्ष न मिलेगा, किन्तु सत्य बात यही है, कि उसमें वृक्ष छिपा हुआ है। रज और वीर्य रूप दो जल बिन्दुओं से मिल कर इतनी भारी डील-डौल की देह कैसे बन जाती है ये सब कल्पना से बाहर की बातें हैं। और इन सब को प्राणी ध्यान से देखने लगे, तो उसे फिर बाहरी नाटक देखने कहीं अन्यत्र न जाना पड़े। वह जहां बैठा हो वही उसे एक से एक अद्भुत वस्तु दिखाई देने लगे।

संसार की असंख्यों अद्भुत वस्तुओं में से एक परम अद्भुत वस्तु है मातृहृदय। ब्रह्मा जी ने मातृहृदय किन धातुओं के सम्मिश्रण से बनाया है, इसे न अब तक कोई जान सका है और न संभव है आगे भी कोई जान सके। उसमें रक्त मांस आदि के अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु है जो विचित्र है, अपनी संतानों के लिये माता क्या करती है, उसमें अपनी सन्तानों के प्रति कितना महत्व होता है, इसका अनुभव माता बिना बने कोई कर ही नहीं सकता। वह अपनी सन्तानों की मङ्गल कामना के निमित्त उचित अनुचित सभी काम करने के लिये उद्यत रहती है। स्वयं खाकर मां को उतना सन्तोष नहीं होता जितना सन्तानों के खिलाने से होता है। उसके रोम रोम से सदा यही निकलता रहता है। मेरी संतानें सुखी रहें। जो राक्षसी मानवीय देह में उत्पन्न हो गई है कामवासना की पूर्ति ही जिनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है, जो कामतृप्ति के लिये विविध उपायों से गर्भाशय को निकलवा देती है अथवा विकृत करा देती हैं तथा जो कामजन्य संतानों की हत्या करने में

भी नहीं हिचकती उनकी बात तो छोड़ दीजिये। नहीं तो मातायें संतानों के लिये कितनी लालायित रहती हैं, उनके पालन पोषण के लिये कितने कितने क्लेश उठाती हैं, उनके रुग्ण होने पर कितने भाँति के भूत, प्रेत, पिशाच पूजती हैं, जादू टोना टोटका करती हैं। यहाँ तक कि देवी देवताओं के सम्मुख मूक पशुओं की बलि तक चढ़ाती हैं। उस समय वे भूल जाती हैं, कि जिन प्राणियों को बलि देकर हम अपनी संतानों को सुखी करना चाहती हैं वे प्राणी भी किसी की सतानें हैं। इनके भी कोई माता है, इनकी माता भी इनकी मृत्यु पर मन से हमारी ही भाँति दुखी हो रही होगी। किन्तु उन्हें तो अपनी सन्तानों की चिन्ता है। एक कहानी है कि किसी पाठशाला में बहुत से बच्चे साथ पढ़ते थे। उसमें बड़े धनिकों, कुलीनों, विद्वानों तथा सेठ साहूकारों के भी सुन्दर से सुन्दर लड़के थे। उनमें ही एक विधवा वृद्धा का बच्चा भी पढ़ता था। गरीबी के कारण उसके वस्त्र भी सदा मलिन रहते उसकी आँखों में, नाक में शरीर, में, मैल लगा रहने से मक्खियाँ भी भिनकती रहती। रंग भी उसका बुरा था। मुख पर चेचक के गड्ढे से थे एक आँख भी फूटी थी एक दिन अध्यापक ने उसे चार लड्डू दिये और कहा—"तुझे इन बच्चों में जो भी सबसे सुन्दर दिखाई दे, उसे ही इनको दे दे।" उस बुढ़िया ने अपने बच्चे को वे लड्डू देते हुए कहा—"मुझे तो इससे बढ़कर सुन्दर और प्यारा इन लड़कों में दूसरा दिखाई देता ही नहीं।" यह अपनापन ही मातृ हृदय की विशेषता है। सभी किसी न किसी की संतानें हैं, किन्तु मेरी सन्तान सुखी रहे। माता की हार्दिक इच्छा यही रहती है। अपने आपको दुखी करके भी माँ सन्तानको सुखी करना चाहती है। एक

प्रयोग कथा है। एक पुत्र के कारण दो स्त्रियों में झगड़ा हो गया। वास्तव में जिसका लड़का था, वह अनाथ थी, दूसरी स्त्री उसे नीचा दिखाना चाहती थी, उसे पुत्रहीन करना चाहती थी। उसने राज दरबार में अभियोग चलाया, पुत्र मेरा है मेरे ही पास रहता है। न्यायाधीश ने दोनों को बुलाया, दोनों से पूछा दोनों ही ओर से साक्षियों की साक्षी हुई। कुछ ने कहा इसका है, दूसरे पक्ष वाला ने कहा—इसका है। न्यायाधीश कुछ निर्णय न कर सके। दूसरे दिन न्यायाधीश ने सब लोगों के सम्मुख उन दोनों स्त्रियों से कहा—तुम लोगों की बात से यह निर्णय नहीं हो सका है कि बच्चा किसका है। दोनों को ही अधिकार प्रतीत होता है। अतः हमने यह निर्णय किया है कि बच्चे के बीच से दो टुकड़े करके हम आधा आधा तुम दोनों को दिलाये देते हैं। इतना सुनते ही जो यथार्थ माँ थी वह रो कर चिल्ला उठी बच्चा—नहीं है मेरा बच्चा नहीं है। इसे फड़वाइये नहीं। इसी को दे दीजिये मैं झूठी हूँ। न्यायाधीश फड़वाया तो चाहते ही नहीं थे, उन्हें तो मातृहृदय पहिचानना था। बच्चा उसी को दे दिया गया और दूसरी को दण्ड दिया गया। कहने का सारांश इतनाही है, कि माता पुत्र की मंगल कामना के लिये सब कुछ कर सकती है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब बृहस्पति जी की आज्ञा से देवता स्वर्ग छोड़कर भाग गये और असुरेन्द्र बलि तीनों लोकों के ईश बन गये तब देवता पृथ्वी पर विविध वेश बनाकर दुःख से अपने दिन काटने लगे। जो देवता एक दिन स्वर्गीय सुख भोगते थे अब समय के विपरीत होने से साधारण प्राणियों की भाँति इधर से उधर मारे मारे फिरने लगे। इससे

देवताओं को जो दुख हुआ सो हुआ ही देवताओं की माता अदिति को अत्यन्त ही दुख हुआ। उसे न भूख लगती थी न नींद ही आती थी। सदा अपने पुत्रों के पराभव से दुखित हुई अश्रु बहाती रहती थी। सन्तानों की पराजय से उसके दुख की सीमा न रही। मेरे बच्चे जो सदा सुखोपभोग के योग्य हैं, वे कहाँ पृथ्वी पर वेश छिपाये मारे मारे फिर रहे होंगे। अब तो उन्हें यज्ञ भाग मिलता ही न होगा। कुलीन वंश वाले सहसा किसी से माँग भी नहीं सकते, छोटा मोटा कार्य भी पद प्रतिष्ठा के विपरीत नहीं कर सकते। मैं कहाँ जाऊँ। कैसे करूँ, किस उपाय से मेरे बच्चे सुखी हो सकेंगे, किस जप, तप, तन्त्र, मन्त्र यज्ञ तथा अनुष्ठान के करने से मेरे बच्चों की श्रीवृद्धि होगी। देवताओं की माता अदिति दिन रात्रि यही सोचती रहती थी।

वह सुमेरु की सुन्दर उपत्यिका में अकेली रहती थी, उसके पति प्रजापति भगवान् कश्यप तपस्या करने एकान्त वन में चले गये थे। वे बहुत दिन की समाधि लगाकर उन सर्वात्मा प्रभु की आराधना किया करते थे। कभी-कभी समाधि भङ्ग हो जाने पर वे अदिति के समीप आते और आकर उससे कुशल पूछते, तथा आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध करके पुनः तपस्या के लिये चले जाते।

अब के जब समाधि भङ्ग होने पर भगवान कश्यप अदिति के आश्रम पर आये, तो उन्होंने क्या देखा आश्रम के चारों ओर एक विषाद पूर्ण वातावरण छाया हुआ है। वह आश्रय निरुत्सव और निरानन्द सा प्रतीत होता था। वहाँ के वृक्ष मुरझाये हुए से थे स्वच्छता का नाम नहीं, अदिति मलिनमुख

उदास और उत्साहहीन हुई किसी भाँति जीवन के दिन काट रही है।

अपने पतिदेव भगवान् कश्यप को आते देख अदिति घुटनों पर हाथ रखकर बड़े कष्ट से विषाद का अनुभव करती हुई उठी और कृत्रिम हँसी हँसकर उसने पति का स्वागत किया। पाद्य, अर्घ्य आसनादि देकर उसने सत्कार पूर्वक पति को बिठाया और प्रणाम करके दीन वदना दुखी अदिति उनके समीप मुख नीचा करके बैठ गई।

उसकी ऐसी दशा देखकर दयावश प्रजापति कश्यप अपनी प्राण प्रिया पत्नी से प्रेम पूर्वक स्नेह भरी वाणी में बोले—"प्रिये ! कहो, सब कुशल तो है ?"

हाँ, महाराज ! कुशल ही है" विषाद के स्वर में अदिति ने कहा। सम्पूर्ण ममता बटोरकर कश्यप ने कहा "क्यों, तुम आज ऐसी अनबनी क्यों बनी हुई हो ? अपने दुख का कारण मुझे बताओ। तुम लोकमाता हो। क्या लोक में कोई दुर्घटना घटित हो गई है ? ब्राह्मण सुखी तो है न ? धर्म का संसार में प्रसार तो हो रहा है न ? इन मर्त्यधर्मा भूलोक के प्राणियों का मङ्गल तो है न !

अदिति ने विषण वदन होकर कहा—"हाँ, महाराज ! सब ठीक है। संसार में सर्वत्र शांति है।"

कश्यप जी ने कहा "तब तुम्हारे गृहस्थ धर्म में तो किस प्रकार का व्याघात नहीं है ? तुम्हारे धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कार्यों में तो कोई त्रुटि नहीं आई ?

अदिति ने सिर नीचा किये ही किये कहा—"वह भी सब आपकी कृपा से ठीक चल ही रहे हैं।"

कश्यप जी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"तब फिर अपने दुःख का कारण बताओ। एक बात यह भी हो सकती है, कि गृहस्थी के घर पर भोजन के समय आशा से कोई अतिथि आवे और उसका भली-भाँति स्वागत सत्कार न हो, तो इससे भी गृहस्थियों का तप तेज नष्ट हो जाता है। कभी भूल से ऐसा अपराध तो तुम से नहीं बन गया। कभी तुम अपने गृहकार्यों में व्यग्र हो रही हो और आशान्वित होकर कोई गृहस्थी आया हो, उसे प्रत्युत्थान न दिया हो, पाद्य अर्घ्य तथा आचमनीय आदि से उसकी पूजा न की हो और वह निराश होकर तुम्हारे यहाँ से लौट गया हो। इससे तुम दुखी हो रही हो। यदि ऐसा हुआ है, तो यह अत्यन्त ही चिन्ता की बात है। गृहस्थी में नित्य नये पाप होते रहते है यह गृहस्थाश्रम चिन्ता का घर ही है, इसमें एक ही बात सर्वश्रेष्ठ है, कि आये हुए अतिथियों का स्वागत सत्कार होता है। जिस घर से अतिथि निराश होकर लौट जाते है, वह घर नहीं गीदड़ों का बिल है। कौओं के बैठने का घोंसला है। तुम से मुझे ऐसी आशा तो नही है।"

अदिति ने चौंककर रुक रुक कहना आरम्भ किया—नही प्रभो! जिनके आप जैसे तीनों लोकों के पूजित सर्वज्ञ प्रजापति पति हैं, उन स्त्रियों से ऐसा अक्षम्य अपराध बन ही कैसे सकता है?

इस पर महामुनि कश्यप बोले—तेज हीन होने का एक

कारण यह भी हो सकता है, कि हम अग्नि होत्री गृहस्थी हैं । नित्य नियम से अग्नि पूजन करना हमारा धर्म है। पति के न रहने पर पत्नी ही अग्नि में होम करती है। मेरे न रहने पर कभी चित्त उद्विग्न होने के कारण तुमने होम काल में हवन न किया हो, यह बात तो नहीं है ? क्यों कि ब्राह्मण और अग्नि ही श्री विष्णु भगवान् के मुख माने जाते है।

अदिति ने कहा—"नहीं प्रभो ! मैं आपकी अनुपस्थिति में दोनों समय होम काल में अग्नियों में हवन करती रहती हूं ?"

कश्यप जी ने कहा—"तब तो फिर तुम्हारे दुखी होने का मुझे कोई कारण दीखता नहीं। तुम बताती क्यों नहीं हो, तुम्हारे पुत्र एकादश आदित्य सब कुशल पूर्वक तो हैं न ?"

यह सुनकर अदिति कुछ भी नहीं बोली चुप चाप नीचा सिर किये बैठी रही उसकी आँखों से अश्रु बह-बह कर उसकी आन्तिरिक वेदना को व्यक्त कर रहे थे वह अपने नखों से पृथिवी को कुरेद रही थी, चिन्ता के सागर में निमग्न थी पति के इस प्रश्न को सुनकर उसके हृदय का दुःख पानी बनकर आँखो के द्वारा फूट निकला।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं "राजन् ! जब कश्यप जी ने बार बार अपनी पत्नी से दुख का कारण पूछा, तो वे धैर्य धारण

के अपने प्राणनाथ से अपने दुःख का कारण बताने को प्रस्तुत

—०—

छप्पय

मम सुत यश ऐश्वर्यहीन असुरनि ने कीये।
दुष्ट दैत्य मिलि दुसह दुःख देवनिकू दीये॥
सुरपुर कू सुर त्यागि फिरें सब मारे मारे।
साधारन जन सरिस भूमि पै रहें बिचारे॥
सब समर्थ सर्वज्ञ प्रभु आप प्रजापति महामुनि।
नाथ कृपा ऐसी करें, पावें सुत ऐश्वर्य पुनि॥

कश्यप जी द्वारा अदिति को उपदेश

(५५२)

उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम् ।
सर्वभूत गुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम् ॥
सन्निधास्यति ते कामान्हरिर्दीनानुकम्पनः ।
अमोघा भगवद्भक्तिर्नेतरेति मतिर्मम ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १६ अ० २०।२१ श्लो०)

छप्पय

प्रिया वचन सुनि भये चकित कश्यप मुनि ज्ञानी ।
पुत्र शोक तें दुखित अदिति की पीड़ा जानी ॥
सोचें माया प्रबल बिष्णु की विश्व नचावत ।
मिथ्या मति चित धारि नारि पति पुत्र बतावत ॥
सोचि समुझि बोले बचन, कृष्ण कृपा सब करिङ्गे ।
सेवा तें सन्तुष्टहुँ, हरि हियगत दुख हरिङ्गे ॥

भगवान् की ऐसी मोहिनी माया है, कि बड़े बड़े ज्ञानी

---

*अपनी पत्नी अदिति को उपदेश देते हुए भगवान् कश्यप कह रहे हैं—"प्रिये ! तुम उन भगवान् वासुदेव जगद्गुरु जनार्दन की उपासना करो जो सब भूतों के अन्तःकरण मे विराजमान हैं, वे तुम्हारी कामना को अवश्य पूर्ण करेंगे क्योंकि वे दीन वत्सल है। एक मात्र भगवान् की भक्ति ही अमोघ कही जाती है किसी दूसरे की नही ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है।

ध्यानी भी इसमें फँसकर अपने मुख्य कर्तव्य को भूल जाते हैं। संसार से वैराग्य हो जाय मैं श्री हरि को ही देखूँ मन में कोई सांसारिक कामना उठे ही नहीं यह तो सर्वोत्तम बात है। यदि ऐसा न हो सके, कोई दुख हो, धन का कष्ट हो, अथवा किसी प्रकार की जिज्ञासा हो, उसकी निवृत्ति के लिये साधारण लोगों की शरण में न जाकर भगवान् की शरण में जाया जाय, प्रभु से ही अपने दुःखों को मेटने का प्रयत्न किया जाय, तो वे सुकृति पुरुष हैं। साधारण लोगों से वे ऊच्चकोटि के हैं। क्योंकि भगवान् की भक्ति ही अमोघ है।

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन्। जब प्रजापति भगवान् कश्यप ने अपनी पत्नी अदिति से उसकी विपत्ति के सम्बन्ध में पूछा, तो वह शनैः शनैः वेदना के स्वर में अपने पति से कहने लगी···ब्रह्मन् ! मुझे लोकों में कोई अकल्याण नहीं दीखता, मैं यथा शक्ति धर्म का भी पालन करती हूं, अतिथि, अग्नि, देवता तथा पूज्यों की यथाशक्ति सेवा भी करती हूं। आप जैसे प्रजापति पति जब मुझे सर्वदा धर्मोपदेश देते रहते हैं, तब फिर मेरी कौन सी मनोकामना पूर्ण हुए बिना रह सकती है। मुझे अन्य किसी कारण से क्लेश नहीं है। मुझे अपनी सन्तानों के लिये दुःख है। मैं अपने पुत्रों के पराभव के कारण व्यथित हूं।"

श्री कश्यपजी ने कहा—"तुम्हारे पुत्रों पर कौन सा संकट आ गया ?"

अदिति ने कहा—"आप तो समाधि में स्थित थे। आप को तो संसार की भी सुधि नहीं थी। पीछे मेरे इन्द्रादि पुत्रों को मेरे सौत दिति के पुत्रों ने स्वर्ग से निकाल दिया। आज

असुरगण अमरपुरी के सुखों को भोग रहे हैं और मेरे पुत्र देवता पृथ्वी पर वेष बदल कर मारे मारे फिर रहे है।"

कश्यप जी ने सरलता के स्वर में कहा—"कोई बात नहीं है। स्वर्ग में रहे तो पृथिवी में रहे तो, इसमें क्या अन्तर सर्वत्र सुख-दुःख मिला हुआ है। फिर दैत्य भी तो हमारे पुत्र ही है। भाइयों में से कोई भी स्वर्ग का सुख भोगे। इसमें दुख की कौन सी बात है?

अदिति ने दीनता के स्वर में कहा—"महाराज, आपके लिये तो कोई भी दुःख की बात नहीं है। यह सत्व, रज और तमोगुण से युक्त सम्पूर्ण सृष्टि आपसे ही उत्पन्न हुई है। आपके लिये तो कोई पराया है ही नहीं। सभी अपनी सन्तानें हैं, किन्तु मैं तो स्त्री ठहरी। मेरी ऐसी विशाल बुद्धि कैसे हो सकती है! मुझे तो अपने पराये का ज्ञान है। मेरे मन में तो यह भेद बुद्धि घुसी हुई है, कि यह मेरे पुत्र हैं, ये मेरी सौति के पुत्र है! आपका समान भाव रखना तो उचित ही है, किन्तु प्रभो! मैं तो ऐसा करने में असमर्थ हूँ। पुत्रों के साथ तो आप चाहें पक्षपात न भी करें, किन्तु मेरे साथ तो आप को पक्षपात करना ही पड़ेगा।"

हँसकर कश्यप जी ने कहा "तुम्हारे साथ क्यों पक्षपात करना पड़ेगा?"

अपनी बातपर बल देते हुए अदिति ने कहा—"इस लिये कि मैं आप की भक्ता हूं, आप में अनुरक्ता हूँ। आप की दासी हूँ, चरण सेविका हूँ। कल्पवृक्ष यद्यपि समदर्शी है उसके यहाँ भेदभाव नहीं, किन्तु मनोकामना तो उसकी पूर्ण करता है जो उसके आश्रय में जाता

है। जो उसकी छाया में बैठता है। मैंने तो आपके चरणों का आश्रय ले रखा है। आश्रितों की इच्छापूर्ति तो महेश्वर करते ही हैं।

कश्यप जी ने स्नेह के साथ कहा—अच्छा पहिले यह तो बताओ तुम मुझसे चाहती क्या हो ?

अदिति ने कहा—"मैं आपकी कृपा चाहती हूँ। आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें, शत्रुओं से श्रीहीन हुए मेरे सुतों की रक्षा कीजिये। उन्हें जैसे हो तैसे पुनः स्वर्ग के राज्य पर प्रतिष्ठित कीजिये। प्रबल पराक्रमी असुरों ने मेरे पुत्रों के ऐश्वर्य, धन, यश, और पद का अपहरण कर लिया है उन्हें असुरों से छीन कर पुनः मेरे पुत्रों को दिलाइये। मुझ शोक सागर में निमग्न अबला को करावलम्बन देकर उबारिये। मुझ दुःखिता दीना तथा निराश्रिता को आश्रय प्रदान कीजिये हमारी सम्पति को दैत्यों से लौटाकर उसे फिर से हमें सौंप दीजिये। हे कृपालो ! हे अशरण शरण। हे भक्तवत्सल भगवन् ? आप ऐसा अचूक यत्न कीजिये जिससे तत्काल मेरी मनोकामना पूर्ण हो सके। मैं इस दुःख से छूट कर सुखी हो सकूं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार कहकर अदिति चुप हो गई और बड़ी आशा भरी दृष्टि से अपने पति की ओर देखने लगी।" उस समय कश्यप जी गम्भीर हो गये थे। उनके सम्मुख मानों यह संसार की मोहिनी माया मुर्तिमती बनकर खड़ी थी। वे सोचने लगे—"देखो, यह भगवान् की कैसी विचित्र माया है क्षण भर के सङ्ग होने से जीव कहने लगता है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा भाई है। यह मेरी पत्नी है।

यह मेरा सगा है, यह सम्बन्धी है, यह शत्रु है यह मित्र है। वास्तव में कौन किसका शत्रु कौन किसका मित्र। पथिकों का प्याऊ पर एकत्रित हो जाना है। धूप में कुछ देर चले साथ ही वृक्ष की छाया में बैठ गये, परिचय हो गया, मीठी कड़वी बातें हो गई। क्षण भर पश्चात् जहां धूप कम हुई तुम अपने मार्ग हम अपने मार्ग। न जाने अनन्त जन्मों में कितनी बार पत्नी माता बनी होगी माता बहिन, पुत्र, पिता, पिता भाई, यह प्रवाह तो अनादि हैं। फिर भी जीव ममत्व करता है। सभी किसी न किसी सम्बन्ध में आबद्ध हैं। सर्व भूतात्मा प्रभु जो इन नाना रूपों में दिखाई दे रहे हैं उनका इन पदार्थों के साथ सम्बन्ध ही क्या !"

कश्यप जी यह सब सोच ही रहे थे, कि इतने में ही अदिति ने फिर दीनवाणी में कहा—प्रभो, तब फिर मैं क्या आशा करूं ! क्या मेरे पुत्र इसी प्रकार भटकते रहेंगे ?"

कश्यपजी ने कहा—"प्रिये ! तुम इतनी विदुषी होकर ऐसी भूली भूली बातें कर रही हो। संसार में कौन किसका पुत्र कौन किसका पति ? यह सब तो मोह जनित सम्बन्ध है। भगवान् का भजन करो। दीनानुकम्पी भगवान् सब भला ही करेंगे।

अदिति ने दुखित मन से कहा—' महाराज ! इस समय मुझे तो कुछ सूझता नहीं। हृदय में कामना होने के कारण तो किंकर्तव्य विमूढ़ा सी हुई हूँ।"

कश्यपजी ने कहा—"श्रीहरि तो वांछाकल्पतरु हैं, वे तो समस्त कामनाओं को पूर्ण करने-वाले हैं, उनके चरणों की छाया में रहने से कोई भी कामना शेष नहीं रह जाती। सभी,

कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। और किसी की भक्ति करें तो संभव है उसका फल विपरीत भी हो जाय, किन्तु भगवान् की भक्ति तो अमोघा है। वह कभी व्यर्थ हो ही नहीं सकती तुम कामना से ही सदा उन्हीं सर्वात्मा श्रीहरि की उपासना करो। उनकी शरण में जाने से निश्चय ही तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।"

अदिति ने कहा—"तब भगवन्! मुझे बताये। किस विधि से भगवान् की आराधना करूँ। कोई ऐसा काम अनुष्ठान, व्रत नियम बताइये, जिसे नियत समय तक करने से ही अभीष्ट सिद्धि हो सके। मनोकामना पूर्ण हो सके।"

इसपर कश्यप जी बोले—"वैसे भगवान् की भक्ति तो कैसे भी की जाय, मङ्गल ही देने वाली है, किन्तु किसी कामना से भक्ति करनी हो तो उसे नियम पूर्वक विधि विधान से करना चाहिये। यदि तुम पयोव्रत को करो, तो तुम्हारी कामना अवश्य पूर्ण हो सकती है। प्रभु स्वयं ही प्रकट होकर तुम्हें आशीर्वाद देगें।"

उत्सुकता के साथ अदिति ने पूछा—"भगवन्? वह पयोव्रत कैसे किया जाता है। मुझे उसकी उपासना विधि का विस्तार के साथ उपदेश कीजिये। इस समय अपने पुत्रों के कारण अत्यन्त दुखित हो रही हूँ मुझे ऐसी विधि बताइये कि मैं शीघ्र ही दुःख के सागर से पार हो सकूँ।"

इसपर कश्यप जी बोले—"प्रिये! वैसे हृदय में कामना का उत्पन्न न होना ही सर्वश्रेष्ठ है, यदि उत्पन्न हो ही जाय तो उसकी पूर्ति के लिये भगवान् से ही प्रार्थना

करनी चाहिये। पूर्व काल में मेरे मन में भी प्रजापति बनने की कामना उठी थी, तब इसी व्रत के करने से वह पूर्ण हो गई।

अब तो अदिति के मुख पर आशा के से चिन्ह दिखाई दिये। वह बड़ी उत्सुकता के साथ पूछने लगी—"तब तो प्रभो यह आपका अनुभूत व्रत है। आपने किस कामना से यह व्रत किया था? यह कब की बात है; आपको किसने इस व्रत को बताया था?"

इसपर कश्यप जी ने कहा—"जब सृष्टि आरम्भ ही हुई थी, तब भगवान् की प्रेरणा से प्रजा की कामना मेरे मन में उत्पन्न हुई थी। उस समय लोक पितामह ब्रह्मा जी ने मुझे इस व्रत का उपदेश दिया था। इसके करने से मेरी इच्छा पूर्ण हुई।"

अदिति ने बच्चों की भाँति अत्यन्त उत्सुकता से कहा—"तब तो प्रभो! उस व्रत का मुझे अवश्य उपदेश करें। अभी करें।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! अदिति की उत्सुकता देख कर कश्यपजी उसे पयोव्रत का उपदेश करने लगे।

छप्पय

अदिति कहे हे देव! कृपा करि कष्ट मिटाओ।
व्रत मन इच्छा पूर्ण करन हित तुरत बताओ॥
कश्यप बोले—करो पयोव्रत प्रभु आराधो।
हरि कूँ हियमहँ धारि नियम व्रत के सबसाधो॥
अति उत्कंठित अदिति ह्वै बोली नाथ! बताइ दें।
कहा करूँ त्यागूँ कहा, विधि विधान समुझाइ दें॥

पयोव्रत की विधि

(५२३)

फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतः ।
अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयान्वितः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १६ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

बोले कश्यप है जीवन जा जग मँह छिनको ।
हरि आराधन करो पयोव्रत बारह दिन को ॥
केवल पी के दूध करो पूजन आराधन ।
इच्छा पूरन हेतु यही सर्वोत्तम साधन ॥
वित्त शाठ्य कूँ त्यागि के व्रत श्रद्धा ते जे करिहैं ।
सिद्ध कर हरि काज सब, अवसि दुःख दारिद हरहिं ॥

विधि विधान से किया व्रत कामना की पूर्ति करने वाला होता है। विधि हीन कोई काम करो उसमे सिद्धि नहीं, वह तो विपरीत फल को देने वाला होता है, आटा है, घी है शक्कर

* कश्यप जी अपनी पत्नी अदिति को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"प्रिये ! फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा से बारह दिन पर्यन्त परम भक्ति भाव से समन्वित होकर कमल नयन भगवान् को पूजन करना यही पयोव्रत कहलाता है।

है। वस्तुएँ सभी हैं यदि उनको विधि के साथ मात्रा देखकर यथोचित रीति से वस्तुएँ बनाई जायँ, तो उनसे हलुआ, जलेबी मालपुए चीलहे आदि सुन्दर सुन्दर पदार्थ बनेंगे जिनके खाने से चित्त प्रसन्न होगा, मन में तृप्ति होगी, शरीर की पुष्टि होगी और भूख की निवृत्ति होगी। यदि उन्हीं वस्तुओं को बिना विधि के बनाया जाय। आटा कच्चा रह जाय या बनाते समय जल जाय, कम अधिक जल डाल दिया जाय या अन्य त्रुटियां कर दी जायँ, तो वस्तुएँ तो बुरी बावरी बन ही जायँगी किन्तु उनमें उतना सुन्दर स्वाद न होगा चित्त भी प्रसन्न न होगा और पेट में जाकर वे विकार उत्पन्न करेंगी, जिनसे नाना रोगों के उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब देव माता अदिति ने अपने सर्वसमर्थ पति भगवान् कश्यप जी से पयोव्रत की विधि पूछी तो वे कहने लगे—"प्रिये! देखो मैं तुम्हें पयोव्रत की विधि बताता हूँ, तुम इसे ध्यानपूर्वक सुनना। विधि विधान में गड़बड़ी मत कर देना। यह व्रत १२ दिन का होता है। फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा से इसे आरम्भ करते हैं। पहिले दिन अर्थात् फाल्गुल की अमावस्या को पवित्र होकर व्रत की दीक्षा ली जाती है। इसमें १२ दिन केवल दूध ही पिया जाता है। दूध के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं और विधिविधान पूर्वक भगवान् का आराधन होता है।

अदिति ने पूछा—"हाँ तो भगवन्! अमावस्या के ही दिन से कृत्य बताइये उस दिन क्या करे?

कश्यप ने कहा—"उस दिन प्रातः काल उठे यदि मिल सके

तो अरण्य से जंगली सूअर की खोदी हुई मिट्टी को ले आवे। वह न मिल सके तो गोशाला की, गंगाजी की, तीर्थ की, तुलसी जी के नीचे की या ब्राह्मण गुरु के पैरों के नीचे की ही मृत्तिका ले ले। फिर यदि नहीं हो तो नदी पर अथवा तालाब या कूए पर जाकर स्नान करे। अपने सम्पूर्ण अङ्गों में मृत्तिका लगावे। इस मन्त्र को पढ़ता जाय कि देवि! सब प्राणियों के रहने के लिये आदि वाराह भगवान् ने तुम्हारा रसातल से उद्धार किया था। तू मेरे पापों को नाश करदे, तुझे नमस्कार है।❀

स्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता।
उद्धृतासि नमस्तुभ्य पाप्मानं मे प्रणाशय॥

मृत्तिका लगाकर विधिपूर्वक स्नान करे। स्नान करके अपने नित्य काम करे फिर भगवान् का पूजन करे।"

अदिति ने कहा—"भगवान् का पूजन किसमें करे। भगवान् तो सर्व व्यापक हैं?"

कश्यपजी ने कहा—"देखो, यह तो अपनी इच्छा और भावना के ऊपर निर्भर है। जहाँ जिसकी श्रद्धा हो उसी में भगवद् बुद्धि से भगवान् का पूजन करे। भगवान का अर्चा विग्रह है, उनकी मूर्ति है, उसी में पूजा करे। नहीं तो एक वेदी बनाकर उसमें पूजे। सूर्य देवता में ही ईश्वर बुद्धि से करे। जल में अग्नि में अथवा अपने गुरुदेव की ही षोडशोपचारों से पूजा करे। पहिले पौराणिक मन्त्रों को पढ़ कर भगवान् का आवाहन करें फिर पाद्यअर्घ्य आचमनीय दे। दुग्ध से भगवान् को स्नान करावे। तदन्तर शुद्ध जल से स्नान कराके वस्त्र, यज्ञोपवीत धारण करावे। फिर गन्ध, धूप, दीप, पुष्प तुलसी, माला दूर्वा तथा विल्व आदि अर्पण करे। प्रत्येक

वस्तु को अर्पण करते समय द्वादशाक्षर मन्त्र को पढ़ता जाय। सभी पूजा इसी मूल मन्त्र से करे। फिर दूध में शाली के चावल डालकर खीर बनावे उसमें घी चीनी अथवा गुड़ छोड़े। उससे अग्नि में द्वादशाक्षर मन्त्र से हवन करें। बची हुई खीर से यथाशक्ति ब्राह्मणों को भोजन करावे। हवन के पूर्व उसी खीर से भगवान् को भोग लगावे। भोग लगाकर आचमन करावे, फलअर्पण करे फिर आचमन करा के तम्बूल पुंगीफल दक्षिणा समर्पण करें। द्वादशाक्षर मन्त्र का १०८ बार जप करे। सुन्दर स्तोत्रों द्वारा भगवान् की स्तुति करे। भूमि में लोटकर साष्टांग प्रणाम करें। स्त्रियाँ पंचाङ्ग ही प्रणाम करें। भगवान् के प्रसादी चंदन को मस्तक पर लगावें। चरणामृत लें। फूल मालाओं को शिरपर धारण करें। तदन्तर विधि पूर्वक विसर्जन कर दे।

ब्राह्मण भोजन कराके उनका विधिवत सत्कार करके व्रत का संकल्प ले और जो बचा हुआ नैवेद्य हो उसे स्वयं पावें। भगवान् का स्मरण करता हुआ रात्रि में सो जाय। यह व्रत के एक दिन पहिले अमावस्या का कृत्य हुआ।

दूसरे दिन प्रातः काल उठे। फिर उसी प्रकार नित्य नियम से निवृत्त होकर। विधिपूर्वक भगवान् का पूजन करे, हवन करे, ब्राह्मण को भोजन करावे और भगवान् का भोग लगाकर केवल दूध ही पीकर रहे। इस प्रकार १२ दिनों तक नित्य केवल दूध पान करता हुआ, होम, पूजन और ब्राह्मण भोज किया करे। प्रतिपदा से त्रयोदश पर्यन्त नियम से रहे, ब्रह्मचर्य व्रत का सावधानी से पालन करे। फिर विधि पूर्वक व्रत का

उद्यापन करे। उद्यापन करते समय वित्त शाठ्य न करे अपनी शक्ति के अनुसार धूम धाम से उत्साह पूर्वक महोत्सव करे। प्रतिदिन गाना बजाना हो, नृत्य हुआ करे। कथा कीर्तन की धूम रहे। आगत अतिथियों का भक्ति पूर्वक ईश्वर बुद्धि से स्वागत सत्कार और पूजन करे।

भगवान् कश्यप अदिति से कह रहे हैं---"देवि इसी व्रत का नाम पयोव्रत है। मुझे इसका उपदेश पितामह ब्रह्माजी ने दिया था। यदि तुम इस व्रत को बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ विधि विधानपूर्वक एक मात्र हरि का ही चिन्तन करती हुई करोगी, तो अवश्य ही अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लोगी। तुम यदि भगवान् को भी चाहो तो वे भी तुम्हें प्राप्त हो जायेंगे। इस व्रत से भगवान् शीघ्र ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसका नाम सर्वव्रत" भी है। कोई कोई इसे सर्वयज्ञ भी कहते हैं। यह तपस्या का सार है और भगवान् विष्णु को वश में करने का सर्वोत्तम, सुन्दर--सरल और सर्वश्रेष्ठ साधन है। वैसे व्रत तो बहुत हैं। असंख्यों काया को क्लेश देने वाले कठिन से कठिन व्रत हैं, किन्तु यथार्थ में तो वही सच्चा व्रत है जिसके करने से भगवान् वासुदेव प्रसन्न हो जायँ। भगवत् प्रीत्यर्थ किया हुआ दान ही सच्चा दान है। प्रभु प्रसन्नतार्थ किया हुआ नियम ही यथार्थ नियम है। जिससे तपोमूर्ति प्रभु प्रसन्न हों वही वास्तविक तप है। तुम श्रद्धा, संयम सदाचार और सरलता के साथ इस व्रत का आचरण करो। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी भगवान् तुम पर प्रसन्न हो जायेंगे। फिर तुम जो चाहो वही वर मांग लेना। भगवान् सर्व समर्थ है। उनके यहाँ आश्रितों के लिये अदेय कोई वस्तु

ही नहीं।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपने पति की ऐसी शिक्षा सुनकर अदिति बड़ी श्रद्धा के साथ इस व्रत का पालन करने के लिये उद्यत हुई।

हरि पूजन अरु हवन विप्र भोजन बारह दिन।
कथा कीरतन करें नृत्य वादन अरु गायन॥
जा विधि तें जे भक्ति सहित श्रीहरि कूँ सेवैं।
प्रभु प्रसन्न ह्वै इष्ट वस्तु निश्चय करि देवैं॥
अदिति सुने व्रत के नियम, अति प्रसन्न मनमहँ भई।
सर्वयज्ञमय पयोव्रत विधितें करिबे लगि गई॥

पयोव्रत से प्रसन्न प्रभु का प्राकट्य

(५५४)

तस्याः प्रादुरभूत्तात भगवानादिपूरुषः ।
पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥
तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरम् ।
ननाम भुवि कायेन दण्डवत्प्रीतिविह्वला ॥
(श्री भा० ८ स्क० अ० १७ ४,५ श्लो०)

छप्पय

निरखि अदिति व्रत नियम भये अति तुष्ट गदाधर ।
भये प्रकट अखिलेश चतुर्भुज विष्णु मनोहर ॥
सम्मुख श्री पति लखे प्रेम महँ विह्वल माता ।
परी दण्डवत भूमि निरखि हरि भवभय त्राता ॥
अति उत्कंठित भरित हिय, लज्जातें पुनि झुकिगई ।
विनय करन एच्छा भई, गद् गद् बानी रुकिगई ॥

प्रेम की डोर इतनी प्रबल है, कि प्रभु उसमे बँध कर अपने

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ? पयोव्रत के प्रभाव से अदिति के सम्मुख भगवान् आदि पुरुष श्रीहरि प्रादुर्भूत हुए । वे पीताम्बर पहिने चार-चतुर्भुज थे । उनमें शङ्ख चक्र गदा तथा पद्म, धारण किये थे । उन्हें अपने नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष निहार कर आदर के साथ माता सहसा खड़ी हो गई । फिर प्रेम मे विह्वल होकर पृथ्वी पर पड़कर भगवान को दण्ड प्रणाम किया ।

आप खिंचे चले आते हैं। अपराजित प्रभु को भक्त ही अपनी भक्ति से पराजित कर सकते हैं। सर्व तन्त्र सर्वेश्वर को भगवद्भक्त ही वश में कर सकते हैं। प्रभु प्रेम के ही द्वारा जीते जा सकते हैं। वे भक्त कल्प द्रुम हैं। आशा रूपी लता के लिये वे घनश्याम ही अमृत वृष्टि करने वाले सजल श्यामघन हैं—। प्रेम से की हुई पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती। स्नेह से किया हुआ आह्वान सदा सफल ही होता है। अतः जिन्हें किसी भी प्रकार की कामना हो उन्हें करुणा सागर कृष्ण के चरण कमलों का आश्रय लेना चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं राजन्। देवमाता अदिति अपने पति भगवान् कश्यप के मुख से पयोव्रत की प्रशंसा सुनकर परम प्रसन्न हुई। फाल्गुन की अमावस्या के आते ही उन्होंने सर्वव्रत स्वरूप सर्वयज्ञसार इस महाव्रत को आरम्भ कर दिया। यह तो वैष्णव व्रत है। नित्य विष्णु की विधिविधान से आराधना ही इसका मुख्य उद्देश्य है। श्रद्धा सहित पूजित प्रभु समस्त मनोरथों को पूर्ण करते हैं। इसी भावना से माता ने इस व्रत की दीक्षा ली थी वे बड़ी सावधानी से व्रत के समस्त नियमों का पालन करने लगी।

व्रत की समाप्ति पर उन्होंने सहसा एक दिन क्या देखा, कि उनके सम्मुख पीताम्बर धारी वनमाली प्रत्यक्ष खड़े खड़े मन्द मन्द मुसकरा रहे हैं। उनके सुन्दर और विशाल चार भुजायें हैं, जिनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म विराजमान हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त जो सदा व्यग्र बने रहते हैं आदि पुरुष अच्युत जब अकस्मात् अदिति के सम्मुख आविर्भूत हुए, तो माता सहसा सकपका गई। आनन्द के अतिरेक

के कारण वे किंकर्तव्य विमूढ़ सी बन गई। जैसे मानों किसी ने यन्त्र से उन्हें उठा दिया हो वैसे बिना संकल्प के ही शीघ्रता से उठकर प्रेम में विह्वल हुई, एकटक दृष्टि से उस त्रैलोक्य वंदित अनवद्य सौन्दर्य सुधा का अपलक पान करने लगीं। अत्यंत पियासु के समान वे उन्हें ऐसी निहार रहीं थी मानों निःशेष पान ही कर जायेंगी। सहसा उन्हें स्मरण हो आया मैंने अपने इष्ट को मनन नहीं किया। अपने प्रभु के पाद पद्मों में प्रथम प्रणाम करना चाहिये। इस विचार के आते ही प्रेम में विह्वल हुई पृथ्वी पर लकुट के समान लेट गईं। प्रेम भरित हृदय से वे प्रभु के पादपद्मों के समीप लम्बायमान हो गईं, इस बात को वे भूल ही गई कि स्त्रियों को साष्टाङ्ग प्रणाम करना निषेध है। उनके पयोधरों का पृथ्वी से स्पर्श होना निषिद्ध है। प्रेम में नियम कहाँ ! आवेश में स्मृति नहीं रहती। आत्म विस्मृति विह्वलता का चिह्न है।

कुछ काल पृथ्वी पर पड़े रहने के अनन्तर उसे स्मरण आया मेरे जीवन सर्वस्व प्राणधन खड़े है, मैं पड़ी हूँ, उनके पधारने पर कुछ स्तुति करनी चाहिये। विनय वचन कहकर उनका स्वागत करना चाहिये। इस विचार के आते ही वे उठकर खड़ी हो गईं। स्तुति विनय करने के निमित्त उन्होंने दोनों हाथों की अजलि बाँध लीं। आँखों से निरन्तर अश्रु प्रवाह प्रवाहित हो रहा था। कत्यन्त उल्लास के कारण हृदय उछल सा रहा था। सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्च से परि पूर्ण था। वाणी रुद्ध थी। विनय करना चाहती थी किन्तु वाणी साथ नहीं देती थी। कंठ रुद्ध हो रहा था, अपने प्रयास को असफल निहार कर उन्हें लज्जा का अनुभव होने लगा, वे सिर नीचा किये प्रभु के सम्मुख मूकवत बिना बोले चाले खड़ी की खड़ी

ही रह गई। पुनः अपने को सम्हाला, धैर्य का आश्रय लिया। नेत्रों को ऊपर किया, नेत्र उन श्यामसुन्दर की छवि में उलझ गये। चैतन्य से जड़ हो गये। वे निमेष उन्मेष के व्यापार से रहित हो रहे थे। ऐसी प्रतीत होता था, मानों ये चिरकाल के प्यासे नयन प्रभु के समस्त सौंदर्य का पान ही कर जायेंगे उत्कंठा की पराकाष्ठा हो रही थी। फिर भी शनैः शनैः चित को स्थिर करके मन्द मन्द स्वर में उन्होंने विश्वम्भर की विनती आरम्भ की। अदिति कहने लगी—"हे यज्ञेश्वर! हे अच्युत! हे यज्ञस्वरूप! हे पवित्रपाद! हे पवित्र कीर्ति वाले! हे श्रवण मंगल नाम वाले! हे शरणागत दुखभंजन! हे आर्तत्राणा परायण! हे आदि पुरुष! हे दीनानाथ! हे सर्व समर्थ! हे परात्पर प्रभो? हे विश्व की उत्पत्ति, स्थित और प्रलय करने वाले परमात्मन्! हे स्वेच्छा से नाना शक्तियों को स्वीकार करने वाले भूमन्! हे अनन्त! हे अच्युत! हे अज्ञानान्धार को नाश करने वाले सूर्य स्वरूप आपके परम पावन पूजनीय पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। आप हमारा कल्याण करें हमें इच्छित वर दे। हमारी मनोकामना पूर्ण करें।

आप जिन पर प्रसन्न हो जाते हैं, उनके लिये संसार में कौन सी वस्तु दुर्लभ है। यदि वे दीर्घायु चाहें तो ब्रह्मा की आयुपर्यन्त आप आयु देते हैं। यदि वे सुन्दर शरीर चाहें तो कोटि कामदेवों के सदृश सुन्दर देह देते हैं। यदि वे ऐश्वर्य चाहें तो संसार का समस्त ऐश्वर्य उन्हें प्राप्त हो सकता है। यदि वे आधिपत्य चाहें तो, पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग तथा भुवनों का साम्राज्य आप दे सकते हैं। यदि सिद्ध होने की अभिलाषा हो, तो आपका अनुग्रह होने से असंख्यो मूर्तिमान सिद्धियां हाथ जोड़े उनके सम्मुख खड़ी रहती हैं। यदि उन्हें

त्रिवर्ग की इच्छा हो, तो धर्म, और काम को आप प्रदान करते हैं। यदि मोक्ष, की इच्छा हो, तो उसके साधन स्वरूप ज्ञान को भी आप उनके हृदय प्रदेशों मे उदित कर देते हैं। जब आप अपने आश्रितों को सब कुछ दे देते है, तो मेरी कामना अति तुच्छ है। कहने में भी मुझे लज्जा आती है। सम्राट् को प्रसन्न करके उससे एक मुट्ठी सूखी घास की याचना करने के समान है। मैं तो केवल अपने शत्रुओं पर विजय ही प्राप्त करना चाहती हूँ। स्वर्ग से भ्रष्ट अपने सुतों को पुनः स्वर्गीय पदों पर प्रतिष्ठित करना चाहती हूँ। किन्तु करूँ क्या, कामना जब हृदय में उदित हो जाती है, मनुष्य को उसके अतिरिक्त कुछ नही चाहिये। बुभुक्षित पुरुष को सुन्दर चन्दन लगाओ उत्तम माला पहिनाओ गुदगुदे से गुदगुदे गद्दे पर शयन कराओ। सुरसुन्दरियों के काकिल कूजित कमनीय कठों से सुन्दर सुखद संगीत सुनवाओ। ये सब सुखप्रद वस्तुएँ उस समय उसे दुखद ही प्रतीत होंगी। उस समय तो उसे भोजन चाहिये। पिपासित को पेय चाहिये। इसी प्रकार आज मैं मोक्ष नहीं चाहती। आप सर्वज्ञ सर्वात्मा को प्रसन्न करके भी आज मैं केवल असुरों का पराभव अपनी आँखों से देखने को लालायित हो रही हूँ। यह मेरी अति उत्कट अभिलाषा है।"

पैरा अदिति के ऐसे विनम्र वचनों को सुनकर सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सच्चिदानन्द भगवान् बोले—हे देवमाता ! मैं तुम्हारे मनोगत भावों को पहिले से ही जानता हूँ। तुम जो असुरों को पदच्युत और श्रीहीन देखना चाहती हो वह मुझसे अविदित नहीं है। मैं जानता हूँ, तुम असुरों को स्वर्ग से निकाल कर सुरों

को उसमें पुनः प्रतिष्ठित करने को निमित्त समुत्सुक हो। तुम्हारा चित्त आज प्रतिहिंसा की अग्नि से जल सा रहा है।"

यह सुनकर अदिति कुछ लज्जित होकर नीचे की ओर देखती रही। तब फिर भगवान् मेघ गंभीर वाणी में बोले—"देवि! जैसे आज तुम्हारे पुत्रों की स्त्रियाँ पतिविहीन बनी बिना शृंगार किये बिना वेणी बाँधे रोती रहती हैं उसी भाँति तुम अपने शत्रुओं की स्त्रियों को भी देखना चाहती हो। तुम युद्ध में मरे असुरों की स्त्रियों को वैधव्य दुख से दुखित देखने के लिये व्यथित रही हो। तुम अपने खोये हुए यश ऐश्वर्य और पदप्रतिष्ठा के दुख से दुखी पुत्रों को सुखी समृद्ध और हँसते हुए देखना चाहती हो। किन्तु मैं करूँ क्या! दोनों ही ओर से संकट है। ब्राह्मणों को भी भक्ति मैंने ही दी है। वे भी मेरे ही रूप हैं। तुम्हारे शत्रु मेरे दूसरे स्वरूप का गुरु रूप से आराधना कर रहे है। तुम भी मेरी आराधना कर रही हो। अतः उनकी पराजय भी कठिन है और तुम्हारा मनोरथ पूर्ण न करूँ, यह भी अनुचित है। तो भी मेरी उपासना व्यर्थ न हो, इसके लिये मैं कोई अन्य उपाय सोचूँगा। स्वयं मुझे बीच में पड़ना होगा।

अदिति ने दीनता के साथ कहा—"नहीं, प्रभो! मेरी इच्छा तो आपको पूर्ण करनी ही होगी। मेरे तो आप ही एक मात्र आश्रय है। आप ही गति हैं।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! अदिति के ऐसे वचन सुनकर श्रीहरि कोई अन्य उपाय सोचने लगे।

छप्पय

पुनि सुरमातु सम्हारि अपनपो बोलीं बानी !
हे अनादि ! अखिलेश ! अखिलपति ! इच्छादानी ।
हे सुररक्षक देव विष्णु देवतिप भंजन खलदल ॥
हे यज्ञेश्वर ! यज्ञरूप ! शरणागतवत्सल ।
निरखैं कृपा कटाक्ष तें, नासैं तिनकी सब व्यथा ।
सिद्ध मनोरथ करैं पुनि, शत्रु विजय की कथा ॥

अच्युत का अदिति को स्वयं पुत्र होने का वरदान।

(५५५)

त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये–
पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः ।
स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान्,
गोप्तास्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः ॥

(श्री भा० ८ स्क० १७ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

हँसि हरि बोले मातु बात तव हिय की जानी ।
कीन्हें सुर श्री हीन बढ़े दिति सुत अभिमानी ॥
स्वर्ग हीन सुत भये विजय चाहो तुम तिनकी ।
मिलै स्वर्ग ऐश्वर्य वृद्धि होवे देवनिकी ॥
यद्यपि असुर अजेय है, गुरु सेवा महँ निरत सब ।
होहिन निष्फल मम भजन,तदपि करहु कछु यत्न अब ॥

जहाँ दो भक्त एक वस्तु के लिये अड़ जाते हैं वहाँ स्वामी की स्थिति शोचनीय हो जाती है । दोनों अपने है । दोनों में

❀ अदिति से श्रीहरि कह रहे है—"अदिति ! तुमने पयोव्रत के द्वारा अपने पुत्रों की रक्षा के निमित्त मेरी पूजा की है । अतः मैं मरिचि नन्दन कश्यप जी के तीर्थ में स्थिर होकर अपने अंश से तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारे पुत्रों का रक्षक होऊँगा ।

से कोई त्याग करने को उद्यत नहीं। दोनों का ही उस वस्तु के लिये आग्रह है। ऐसी अवस्था में स्वामी को छोटा बनना पड़ता है। वे दीनता के साथ सबल पक्ष से कहते है "अच्छा उनको छोड़ो मैं तुमसे भीख माँगता हूँ, मुझे तुम दे दो।" शत्रु को देने में अपमान है, लघुता है, किन्तु जब स्वामी याचना करता है, तो उसे देने में गौरव है, प्रतिष्ठा है। बड़े तो बड़े ही है, वे चाहें आज्ञा देकर छोड़ने को कहें या नम्रता से माँग लें। ऐसी दशा में स्वामी को दोनों ही पक्षों को सन्तुष्ट करना पड़ता है। क्रमशः दोनों को ही उस वस्तु के उपभोग का अवसर देते हैं।

श्रीशुकदेव जी कहते है—"राजन् ! जब अदिति बारम्बार भगवान् से अपने पुत्रों को स्वर्ग का पुनः राज्य दिलाने के लिये प्रार्थना करने लगीं तब भगवान् बोले—"देवि ! कोई दुष्ट हो, अन्याय कर रहा हो, तब मैं उसे दण्ड दे सकता हूँ, पदभ्रष्ट कर सकता हूँ। महाराज बलि तो मेरे भक्त है गुरु सेवा में निरत है, यज्ञों द्वारा मेरा पूजन कर रहे हैं। उनसे मे युद्ध नहीं कर सकता, मार नहीं सकता, बलपूर्वक स्वर्ग से निकाल नहीं सकता। मुझे उनके सम्मुख छोटा बनना होगा। बिना छोटे बने काम चलेगा नहीं।"

अदिति ने कहा—"प्रभो ! आप छोटे बने या मोटे। आपको मेरी इच्छा तो पूर्ण करनी ही होगी। आप छोटे बनकर भी बड़े ही बने रहेंगे। आपके बड़प्पन में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आ सकती।

भगवान् ने कहा—"देवि ! मेरे लिये यह धर्मसंकट उपस्थित हो गया है तुम भी मेरी भक्ता हो, बलि भी मुझ में अनुरक्त हैं। अतः मुझे देवताओं से भी छोटा बनना पड़ेगा

और दैत्यों में भी जो सबसे छोटा भाई होता है, उसे सब भाइयों की धोती धोनी पड़ती है। कोई भी काम होगा, सभी छोटे से ही करने को कहेंगे। इसलिये मुझे देवताओं का छोटा भाई बनना पड़ेगा। अब तक तुम्हारे ११ पुत्र हैं, अब एक बारहवाँ मैं भी तुम्हारा पुत्र होऊँगा। मैं अपने अंश से तुम्हारे पति प्रजापति कश्यप के वीर्य में स्थित होकर तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न होऊँगा। इस प्रकार तो बड़े भाइयों की सेवा करना मेरा कर्तव्य हो जायगा। दूसरी ओर दैत्यों से भी मुझे छोटा बनना है। संसार में सबसे हलका भिक्षुक है। लोग तो कहते हैं तृण सबसे हलका है। किन्तु तृण से भी हलका भिक्षुक है, जिसे वायु भी इस भय से नहीं उड़ाती, कि यह कहीं मुझ से भी न माँग बैठे। मेरे भी सम्मुख हाथ न पसार दे। देवि! जिसने किसी के सम्मुख हाथ पसरा उसे तुम जीवित मत समझो वह तो मृत तुल्य है। सबसे छोटा है। अतः दैत्यों के सम्मुख मैं भिक्षुक बन कर काम निकालूँगा। इस प्रकार इस विषम ग्रंथि को सुलझाऊँगा।"

अदिति ने आश्चर्य चकित होकर कहा—"महाराज! आप तो त्रिलोक के नाथ हैं। मेरे गर्भ में कैसे आवेंगे। मैंने सुना है, आप भाग्यवती महिलाओं के ऊपर कृपा करके भक्त-वत्सलता के नाते कभी कभी लीला पूर्वक अजन्मा होकर भी उनके गर्भ से अवतरित होते हैं। मैं इस योग्य तो हूं नहीं, किन्तु आप मेरे ऊपर भी कृपा करना चाहते हैं, आज्ञा कीजिये मुझे क्या करना होगा।

भगवान् ने कहा—"देवि! तुम आज से अपने सर्वसमर्थ पति में मुझे इसी प्रकार विराजमान देखो। उनकी ईश्वर बुद्धि से आराधना करो। भगवत् भाव से उनकी पूजा करो। उनके

रूप में निरंतन मेरा ही चिन्तन करो। तुम्हारा कल्याण होगा। परन्तु एक बात ध्यान में रखना।

अदिति ने कहा—"वह कौन सी बात है, महाराज ?

भगवान् ने कहा—"देखो मैंने तुम्हें दर्शन दिये हैं और इस प्रकार का वर दिया है, इस बात को भूल में भी किसी से मत कहना।"

अदिति ने सतर्क होकर पूछा—"यदि महाराज मुझ से कोई पूछे तो ?"

भगवान् ने कहा—"यदि कोई पूछे तो भी मत बताना इधर उधर हाँ हूँ करके टाल देना।"

अदिति ने कहा—"क्यों प्रभो ! इसमे क्या दोष है ? सच्ची बात बताने में क्या हानि है ?"

भगवान् ने कहा—"हानि तो। कुछ नहीं। सांसारिक बातों को बताने में तो कोई बात नहीं। किन्तु ये भगवद् दर्शन सम्बन्धी बातें जितनी ही छिपाकर रखी जायें उतनी ही उत्तम हैं। देवताओं को परोक्ष प्रिय बताया गया है, अतः देवताओं के सब कार्य गोपनीय रहने से ही भली प्रकार सिद्ध होते हैं।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् ने अदिति से मनाही क्यों किया। हमें भगवान् के दर्शन होजायें उसे हम और १० आदमियों से कहें, उनका भी उत्साह बढ़े, प्रचार हो यह तो उत्तम बात है। छिपाने से क्या लाभ ?"

इसपर गंभीर होकर सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! आप कस्तूरी को कितना भी छिपाकर रखें वह छिप नहीं सकती। इसी प्रकार पाप पुण्य कितने भी छिपाकर किये जायें एक न एक दिन वे अवश्य ही प्रकट हो जायेंगे। फिर भी अपने आप पुण्य प्रकट करने से दूसरों से कहने

से—क्षय हो जाते हैं। अपने पापों को दूसरों से कहते फिरें तो दूसरे हमारी निंदा करेंगे। तो हमारा पाप उन निंदकों पर चला जायगा। अतः जो पाप बन जाय उसे कह देना चाहिये। इसी प्रकार जो पुण्य हमसे बन गया है, उसे हम दूसरों पर प्रकट कर दें तो उसका सब फल प्रशंसा करने वालों पर चला जाता है। अतः पुण्य कार्य जितने छिपाये जायें उनकी उतनी ही वृद्धि होगी।

महाराज जब स्वर्ग गये, तो इन्द्र ने उनके पुण्यों के प्रभाव से प्रभावित होकर उन्हें आधा आसन दिया। इन्द्र तो बड़े कूटनीतिज्ञ हैं। उन्होंने राजा से पूछा—"राजन् ? आप बड़े धर्मात्मा हैं आपने पृथ्वी पर रहकर कौन कौन से पुण्य कार्य किये ?"

राजा को अहंकार हो गया उन्होंने कहा—"देवेन्द्र। मैं अपने पुण्यों का वर्णन कहाँ तक करूँ। मैंने यह किया, वह किया, उसे इतना दिया, ऐसे यज्ञ किये, इतने भारी भारी दान दिये। सारांश, मैंने इतना पुण्य किया, जितना कोई कर ही नहीं सकता।"

यह सुनकर इन्द्र हँस पड़े और बोले—"राजन् ! आपका सब पुण्य नाश हो गया। अब आप नीचे सिर करके यहाँ से भूलोक में गिराये जायेंगे।"

यह सुनकर राजा बड़े घबड़ाये और बोले—'अच्छी बात है, मेरा पतन होना ही है तो हो, किन्तु मैं आपसे यही वरदान चाहता हूँ, कि मैं साधु पुरुषों के बीच में गिरूँ।"

इन्द्रने कहा—"ऐसा ही होगा, और उन्हें उसी क्षण पुण्य क्षीण हो जाने के कारण नीचा सिर करके पृथ्वी पर पटक दिया

गया। जहाँ उनके धेवते यज्ञ कर रहे थे वहाँ राजा गिरे और उन लोगों के पुण्य प्रभाव से फिर स्वर्ग को चले गये।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! पुण्यकार्यों को भी अपने मुखों से स्वयं कहना न चाहिये। अपने कर्मों की प्रशंसा स्वयं न करनी चाहिये। जो अपनी प्रशंसा अपने मुख करता है, वह जीवित ही मृतक के समान है। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी, जो मेरे गांडीव की निंदा करेगा उसे मैं मार डालूँगा।"

जब कर्ण के बाणों से व्यथित हुए धमराज युधिष्ठिर ने अर्जुन की और उनके गांडीव की निन्दा की तब अर्जुन खड्ग लेकर उन्हें मारने दौड़े। तब भगवान् ने बीच में ही रोककर कहा—"अरे यह तू क्या करता है ?"

अर्जुन ने कहा—"मेरी प्रतिज्ञा है जो गांडीव धनुष की निंदा करेगा उसका मैं वध कर दूँगा। धर्मराज ने गांडीव की निन्दा की है। उन्हें मारकर प्रतिज्ञा पालन करना मेरा धर्म है। क्या मैं अपनी प्रतिज्ञा को त्यागकर भ्रातृ मोह के कारण झूठा बनूँ क्या अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ दूँ ?"

भगवान् ने सरलता के साथ कहा—"प्रतिज्ञा छोड़ने की आवश्यकता नहीं। तुम धर्मराज का वध अवश्य करो। किन्तु अशस्त्र वध करो।"

अर्जुन ने पूछा—अशस्त्र वध कैसा होता है ?

भगवान् ने कहा—"सेवक यदि राजा की आज्ञा नहीं मानता तो वह राजा का वध है। पत्नी को अपनी शैया से पृथक् कर देना उसका वध ही है। अपने से बड़ों की उनके मुख पर ही निंदा करना, उन्हें तू कहकर पुकारना यह उनका अशस्त्र

वध ही है। तुम धर्मराज को तू तड़ाका, बोलकर उनकी निन्दा कर दो। उनका वध हो जायगा। तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी।"

भगवान् की आज्ञा मानकर अर्जुन ने ऐसा ही किया। धर्मराज की उनके मुख पर निन्दा करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

फिर खड्ग लेकर वे अपना सिर स्वयं काटने लगे। इस पर फिर भगवान् ने उन्हें रोककर पूछा—"अब तुम क्या कर रहे हो?"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! बड़ों का अपमान करने के पाप का प्रायश्चित्त यही है, कि अपने शरीर का अंत करदे स्वयं मर जाय। अतः मैं अब जीवित रहना नहीं चाहता।"

भगवान् ने कहा—"[illegible] ही चाहते हो तो खड्ग का क्या [illegible] प्रशंसा करो। अपने [illegible] समान है।"

सव्यसाची अर्जुन ने ऐसे ही किया। अपनी बहुत बढ़-चढ़ कर प्रशंसा की।"

सूत जी सुना रहे हैं—मुनियो! सारांश यह है, कि आप किसी से अपने गौरव की बातें न कहें। १२ दिन में ही भगवान् के साक्षात् दर्शन हो जाना और अपने आप ही पुत्र होने का वरदान देना, अदिति के लिये यह अत्यन्त गौरव की बात है। उसे वह सबसे कहती फिरें, तो उनके सुकृत नष्ट उनमें हो जाते। ऐसे बहुत से लोगों के दृष्टान्त हैं कि पहिले तो बड़ी सिद्धियाँ थीं, किन्तु जब वे उन्हें सब पर प्रकट करने लगे तो वे सब चली गईं। जो लोग अपूर्ण होते हैं, वे ही अपनी

तनिक सी बात को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रकाशित करने की चेष्टा करते रहते हैं। हमने बहुत से लोगों को देखा है, वे कहते फिरते हैं, हमें भगवान् के दर्शन हुए। यों भगवान् हमारे हाथ से रोटी खा गये, यों हमें दर्शन दिये। इनमें कुछ सच्चे और भोले भी होते हैं, किन्तु अधिकांश तो जनता को ठगने वाले और लोगों को फँसाकर पैसा और प्रतिष्ठा पैदा करने वाले ही होते हैं। सो मुनियो ! ऐसी भगवान् किसी पर कृपा कर भी दें, अनुग्रह करके दर्शन दे भी दें तो उसे यथा सामर्थ्य किसी पर प्रकट न करना चाहिये। इसीलिये भगवान् ने चलते समय अदिति को यह विशेष रूप से आज्ञा दी।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे है—"राजन् ! इस प्रकार अदिति को वर तथा उपदेश देकर भगवान् वहीं पर तत्क्षण अन्तर्धान हो गये। इधर भगवान् से वर पाकर अदिति भी अपने को कृतकृत्य मानकर परम भक्ति भाव पूर्वक अपने पति भगवान् कश्यप की भगवत्-बुद्धि से पूजा करने लगी। यह जानकर उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, कि परात्पर प्रभु मेरे गर्भ से अवतीर्ण होंगे। वे भगवान् के जन्म की बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगी।

छप्पय

निजि महत्व कूं त्यागि बनूं लहुरो देवनि तें।
सब सुत वनिकें करूं कपट छल इन दैत्यनि तें॥
कश्यप तपमय वीर्य माँहि ही होहुँ अवस्थित।
पति परमेश्वर समुझि करो सेवा सब समुचित॥
काहू तें कहियो न जिह, यों मोतें प्रभु कहि गये।
यों दैकें वरदान सिख, श्री हरिअन्तर्हित भये॥

वामन भगवान् का प्रादुर्भाव

(५५६)

इत्थं विरिञ्चस्तुतकर्मवीर्यः
प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम् ।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः
पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः ॥
(श्री भा० ८ स्क० १८ अ० १ श्लोक)

छप्पय

अदिति गर्भ में कछुक दिवस महँ हरि अज आये ।
दम्पति उर आनन्द भयो सुर सिद्ध सिहाये ॥
जानि गर्भगत विष्णु आइ विधि विनती कीन्हीं ।
शुभ मुहूर्त शुभ लग्न, स्वतः सब शिव करि दीन्हीं ॥
भादौ शुक्ला द्वादशी, अभिजित युत अति दिन परम ।
अज अविनाशी अदिति घर, लीयो वामन बनि जनम ॥

भगवान् को कोई १२ दिन के व्रत से, महीने भर के उपवास से, लाख वर्षों की तपस्या से, या अनेक प्रकार के नियमों

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब ब्रह्माजी गर्भगत वामन भगवान् के कर्म और वीर्य की स्तुति कर चुके, तो जन्म मृत्यु से रहित वे कमल नयन भगवन् अपने चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा, और पद्म धारण किये हुए तथा पीताम्बर को धारण किये हुए अदिति के गर्भ से प्रादुर्भूत हुए ।

से चाहें, कि उन्हें अपना पुत्र बनालें, तो नहीं बना सकते। भगवान् तो भक्तवश्य हैं। वे तो स्वयं ही किसी पर कृपा करें स्वयं ही रीझ जायँ तो पुत्र, स्त्री, सेवक सब कुछ बन सकते हैं। भगवान् अमुक व्रत से, अमुक अनुष्ठान से प्रसन्न हो गये यह तो एक निमित्त मात्रा है। उन्हें जब लीला करनी होती है, तो जिसे चाहते हैं उसे ही निमित्त बना लेते है। वे नियमों से परे हैं, उनके कार्यों से ही नियम बनाये जाते हैं। जैसे भाषा के व्यवहार से ही व्याकरण की रचना होती है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! अदिति को वर देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। भगवती अदिति अपने पति कश्यप की सेवा करती हुई, भगवान् के जन्म की प्रतीक्षा करने लगी एक दिन भगवान् कश्यप ने देखा उनके शरीर में भगवान् का तेज प्रविष्ट हुआ है। समाधि के द्वारा तेज का अनुभव करके उन्होंने विधि विधान पूर्वक शुभ मुहूर्त में उस तेज को अदिति के उदर में स्थापित किया। अदिति के गर्भ में वह तेज शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। जैसे यज्ञों में जिन दो अरणियों को मथकर अग्नि प्रकट करते हैं, अग्नि कहीं बाहर से तो आती नहीं। पहिले ही उन लकड़ियों में व्याप्त है। किन्तु मन्थन से घनीभूत होकर प्रादुर्भूत हो जाती है, उसी प्रकार अदिति और कश्यप के संभोग से सर्वव्यापक प्रभु घनीभूत होकर अग्नि की भाँति प्राज्वल्यमान होकर प्रकट होने वाले हैं। अग्नि के प्रकट होने के पूर्व उन अरणियों से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार देवी अदिति के अंगों में एक प्रकार की विचित्र ज्योति-सी विदित होने लगी। यद्यपि गर्भ के कारण उनका रंग पांडु वर्ण का हो गया था, तो भी जैसे पांडु वर्ण की चमेली अपनी शोभा से समस्त उपवन को

शोभित और सुगंधित कर देती है, उसी प्रकार उनकी शोभा भी अद्भुत हो गई। वे अब मंथरगति से चलने लगीं। भगवान् कश्यप अपनी प्रियतमा पत्नी को प्रसन्न करने के निमित्त उनसे बार बार पूछते—"प्रिये ! तुम्हारी क्या इच्छा है, पति का कर्तव्य है, गर्भवती स्त्री के समस्त मनोरथों को यथासाध्य पूर्ण करे। मुझे किसी वस्तु की कमी तो है नहीं। तुम जो भी कहो वही मँगा दूँ।

यह सुनकर अदिति लज्जा और संकोच के साथ कहती—"प्राणनाथ ? मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं। आपकी कृपा की आवश्यकता है। आप मुझसे इतना स्नेह करते हैं यही मेरे लिये सब कुछ है।" इस प्रकार अपने पति से तो कुछ न कहती, किन्तु अपनी सहेलियों से मांग लेती। किसी से कहती—"आज तुम्हारे यहाँ क्या बना है। तनिक मेरे लिये भी ले आना। भगवान् कश्यप को जब यह बात विदित हुई, तो उन्होंने समझ लिया यह गर्भ का लड़का भिखारी होगा, दूसरे से भीख मांगेगा।

अदिति से कोई सखी कुछ वस्तु उधार ले जाती तो वह दे तो देती, किन्तु लेते समय जिस बर्तन से दिया था, उससे न लेकर बड़े से लेती। सखी कुछ कहती तो कह देती मैं तो इसी से लूँगी। कश्यपजी को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने सोचा—"अरे, यह लड़का तो लोभी भी होगा। अदिति को गर्भावस्था में देखा वह बालकों की भाँति चलती है, बच्चों से बहुत बहुत प्यार करती है तब कश्यपजी ने सोचा इसके गर्भ से छोटा बच्चा होगा, किन्तु अवश्य ही खोटा होगा।" अदिति कभी-कभी छिपकर मिट्टी खा लेती। एक दिन कश्यपजी ने उसे देख लिया और बोले—"छिः छिः तुम इतने बड़े प्रजापति की पत्नी

होकर लौंनी वाली मिट्टी खाती हो, मेरे यहाँ कन्द, मूल, फल मेवा, मिठाई तथा पदार्थों की कुछ कमी थोड़े ही है जो चाहो सो खाओ मिट्टी क्यों खाती हो ?"

अत्यन्त ही लजाते हुए अदिति ने कहा—"प्राणनाथ ! क्या बताऊँ, जब से मैं गर्भवती हुई हूं, तब से न जाने क्यों मिट्टी खाने को मेरा चित्त बहुत है। सौंधी सौंधी मिट्टी बड़ी अच्छी लगती है, कच्चे घड़े के टुकड़े बड़े स्वादिष्ट लगते हैं तब कश्यप जी ने समझा—"अरे यह लड़का तो पृथिवी का लोभी होगा। अवश्य ही यह ठग विद्या करके पृथिवी का अपहरण करेगा।"

कश्यप जी ये सब बातें अपने मन में ही सोचते थे, अदिति को नहीं बताते थे। उन्होंने सोचा इससे ये बातें कहेंगे तो इसे क्लेश होगा। इस प्रकार दिन दिन देवी अदिति का गर्भ बढ़ने लगा। जैसे उदयाचल के गर्भ से बादलों को फाड़कर सूर्यनारायण उदित होकर जगत् को प्रकाशित करते है, वैसे ही भागवान् के प्रकट होने का समय सन्निकट आगया।

भाद्रपद शुक्ला द्वादशी का परम पावन दिन था। उस द्वादशी को श्रवण द्वादशी अथवा विजया द्वादशी भी कहते है, उस दिन अभिजित मुहूर्त था मध्याह्न के समय सभी ग्रह नक्षत्र योग कर्ण आदि मङ्गलमय बन गये थे। शुभग्रह उच्च स्थानो में अवस्थित थे। उसी समय भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय उनकी शोभा परम दर्शनीय थी। वे प्रथम साक्षात् चतुर्भुज विष्णु रूप मे अवनि पर अवतरित हुए।

जब गर्भ मे ही भगवान् थे तब नियमानुसार ब्रह्माजी गर्भगत विष्णु की स्तुति करने आये। स्तुति करके ब्रह्माजी ज्योंही

गये, त्योंही वे अदितिरूपी प्राचीदिशि से सूर्य रूप श्यामसुन्दर उदित हुए। उस समय उनके चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित थे। अत्यंत सुन्दर सुवर्ण के समान पीताम्बर पहिने हुए थे। कानों मे कनक कुंडलों की कांति से कपोल कुंद-कली के समान उल्लसित हो रहे थे। मुखकमल की मरंद मयी मनोहर आभा चारो ओर छिटक ही रही थी। वक्षस्थल मे श्री वत्स और वनवाला करों मे कंकण, कंठ में केयूर केशों पर कमनीय किरीट, कानों में कुंडल तथा कटि में किंकणीयुत करधनी की लड़ियां तथा पगों मे नूपुर शोभायमान थे। तट के पुष्पों की दिव्य वनमाला के मकरंद के लोभी मत्त मधुप उनके ऊपर गुन गुन करके गुंजार कर रहे थे, मानों प्रभु प्राकट्य के अवसर पर मङ्गलगान कर रहे हों। वक्ष .स्थल में विराजमान हिलती हुई कौस्तुभ मणि कश्यप जी के घर के समस्त अंधकार को उसी प्रकार पान कर गई थी, जैसे अगस्त जी समस्त समुद्र के सलिल का पान कर गये थे। मङ्गलमयके मङ्गलजन्म के समय इस विषादपूर्ण जगत में सर्वत्र मङ्गल ही मङ्गल दृष्टि गोचर हो रहा था। वायु शीतलमन्द सुगंधित तथा सुखद स्पर्श युक्त होकर वह रही थी। आकाश निर्मल था। जलाशयों के गँदले जल स्वच्छ हो गये थे। सभी प्राणियों के हृदयों में एक अव्यक्त उल्लास सा प्रतीत हो रहा था। सभी ऋतुएँ मूर्तिमती होकर भगवान् का स्वागत करने को प्रस्तुत हुई। स्वर्ग का अधिष्ठातृ देव स्वयं प्रसन्न हुआ। पृथ्वी गौ रूप रखकर नृत्य करने लगी। देवताओं का हृदय कमल अपने आप ही विकसित हो गया, सिद्धगण अन्तरिक्ष में आनन्द मनाने लगे। पर्वत हरे भरे हो गये, उन परके वृक्ष बिना ऋतु के भी फलने और फूलने लगे। गौरूपा पृथ्वी के नृत्य करने पर अन्य

कामधेनु प्रभृति गौएँ स्वयं उनकी तान में तान मिलाने लगीं। गन्धर्व गाने लगे, देवता बाजे बजाने लगे। अप्सरायें भी पृथ्वी की ताल में ताल मिलाकर नाचने लगीं शङ्ख दुंदुभि, मृदङ्ग, पणव तथा पखावज आदि बाजे अपने आप बिना बजाये बजने लगे। मुनि, देव, मनु, सिद्धगण, पितृगण, मरुद्-गण, अग्निदेव, तथा अन्यान्य देव सभी भगवान् की स्तुति करने लगे। आकाशचारी देवगण कल्पवृक्ष के पुष्पों की अपने अपने विमानों से अदिति के भवन पर वृष्टि करने लगे। सिद्ध, विद्याधर, किंपुरुष, किन्नर, चारण, प्रेत, भूत, पिशाच, पक्षी तथा यक्षराक्षस सभी आनन्द के उल्लास में गाते गाते नाचने लगे।

भगवती अदिति ने जब अपने सम्मुख चतुर्भुज भगवान् को देखा तब वे कुछ सहम गईं। आश्चर्य चकित और आनन्दित हुईं माता किंकर्तव्य विमूढ़ा बनी बैठी की बैठी ही रह गईं। वे अपने कर्तव्य को स्थिर ही न कर सकीं! प्रजापति भगवान् कश्यप ने भी उन परात्पर प्रभु के दर्शन किये और भगवान् की जय हो जय हो, इस प्रकार कहकर जय जयकार किया। भगवान् ने देखा यहां तो लीला ही दूसरी हो रही है। जन्मवाली बात तो रही नहीं। ये मुझे पुत्र तो मान नहीं रहे है। यह सोचकर तुरन्त अपने समस्त अस्त्र आयुध, तथा भूषण वस्त्र छिपा लिये और वे बौने बन गये।

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन्! उस बौने बालक को देखकर माता-पिता को बड़ा हर्ष हुआ और उनके जाति कर्म आदि संस्कार कराये।

छप्पय

रूप चतुर्भुज गदा शङ्ख चक्रादिक धारे।
सुन्दरश्याम शरीर कमल मुख कच घुँघुरारे॥
कर कंकन गल माल करधनी कटि महँ सोहे।
मणि मुक्ता मय मुकुट मुनिनि के मनकूँ मोहे॥
दर्शन करि कश्यप अदिति, सहसा भौचक्के भये।
लीलामहँ व्याधा लखी, पुनि बालन वटु बनि गये॥

भगवान् वटु वामन का उपनयन

(५५७)

तं वटुं वामनं दृष्ट्वामोदमाना महर्षयः ।
कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम् ॥

(श्री भा० ८ स्क० १८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

जाति कर्म संस्कार भये पुनि वामन बाढ़े ।
घुटुअन के बल चलैं लगे पुनि ह्वै वे ठाढ़े ॥
पाँच बरस के भये पिता उपनयन करायो ।
रवि सावित्री दई जनेऊ गुरु पहिनायो ॥
कश्यप दीन्हीं मेखला, अजिन अवनि उत्तम दयो ।
माता तें कोपीनपट, दण्ड चन्द्रमा तें लयो ॥

जिनका जीवन जनता की सेवा के लिये है, जो सार्वजनिक सुख दुख को दृष्टि कोण में रखकर जीवन यापन करते हैं, जो लोकहितार्थ कार्य करते है, उनकी सहायता करना उन्हें सुख सुविधायें पहुँचाना सभी का कर्तव्य है। प्राचीन प्रथा थी चाहें भिक्षुक ब्राह्मण हो अथवा चक्रवर्ती सम्राट् दोनों

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! उस वामन वटु को देख कर सभी ऋषि महर्षि अति आनन्दित हुए और उन सबने कश्यप जी को आगे करके सब संस्कार कराये ।

ही अपने पुत्रों को गुरु गृह में छोड आते थे। वहाँ वे दोनों ही एक समान रहते। दोनों ही घर घर से भिक्षा माँगने जाते, दोनों ही भिक्षा लाकर गुरु को अर्पण कर देते, गुरु जो दे देते उसी पर अपना निर्वाह करते। घर में चाहे वे कैसा भी सुन्दर भोजन करते हों, किन्तु यहाँ उन्हें भिक्षा से प्राप्त अन्न पर ही निर्वाह करना पडेगा। सब घरों को अपना घर मानना पड़ेगा। सभी माताओं को उन सब पर समान अधिकार है। उनका भी पुत्र तो इसी प्रकार गुरुकुल में रहकर भिक्षा माँग रहा होगा। इस प्रकार व्यष्टि जीवन को समष्टि बनाना ही आर्य धर्म का लक्ष्य है। उसी पूर्ति के लिये वर्णाश्रम धर्म है और षोडश संस्कारो की प्रथा है। इन सब संस्कारों में सर्वश्रेष्ठ सस्कार है उपनयन संस्कार द्विजाति के बालकों का यह दूसरा जन्म ही माना जाता है। इसीलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों की द्विज संज्ञा है। जिसका उपनयन नहीं हुआ गुरु के समीप ले जाकर जिसे वेद माता गायत्री की दीक्षा प्राप्त नहीं हुई। वह द्विज नहीं कहला सकता। बालक को गुरु के, उसके समीप प्राप्त कराने का ही नाम उपनयन कर्म है।

श्रीशुकदेजी कहते—"राजन् ! अबतो वामन भगवान् कुछ बड़े हुए। शरीर से बड़े नहीं हुए। जब छोटे बनने के ही संकल्प से प्रकट हुए हैं तो बढ़ कैसे सकते हैं। किन्तु अवस्था तो बढी ही। बौने जितने बढ़ सकते हैं उतने बढ़े। अब कश्यप भगवान् को उनके यज्ञोपवीत संस्कार की चिन्ता हुई। वर्ष के होने पर कश्यप जी ने सब स्नेही, सम्बन्धी, कुटुम्ब परिवार के लोगों को निमन्त्रण दिया। वामन भगवान के प्रभाव को तो सब सुन ही चुके थे, इन्द्र वरुण, कुबेर, आदि समस्त देवता वामन प्रभु के यज्ञोपवीत संस्कर में एकत्रित

हुए। सबको यही हर्ष था हमारा छोटा भाई है, चलो उनका संस्कार तो देखें। देवताओं के गुरु बृहस्पति जी भी अपने पोथी पत्रा बांधकर आचार्य का काम करने के लिये उपस्थित हुए। बहुत सुन्दर संस्कार के लिये मण्डप बनाया गया। पहिले दिन देवगुरु बृहस्पति ने कश्यप जी से मातृ का पूजन नान्दीमुख श्राद्ध आदि मङ्गल कृत्य कराये। दूसरे दिन देवताओं का ऋषियों का समाज एकत्रित हुआ। बहुत से वेदाध्ययन कराने वाले ब्रह्मचारी भी आये। वे अपने आचार्यों के सहित ऐसे प्रदीप्त हो रहे थे मानों चन्द्रमा के आस पास नक्षत्र चमक रहे हों। देवता ऋषि मुनि तथा अन्याय उपदेवों का वहाँ अद्भुत समारोह हुआ।

पहिले वटु वामन को ब्राह्मण ब्रह्मचारियों के साथ भोजन कराया गया। तदुपरान्त उनका और कर्म हुआ। फिर स्नान करके वे मन्डप में लाये गये। अब उन्हें ब्रह्मचारी बनाना था। अब तक जो बालकपन के वस्त्र पहिनते थे उनका परित्याग कराना था। अब तो उन्हें ब्रह्मचारियों का सा वेष बनाना है, नियम से रहना है, अतः माता अदिति ने उन्हें एक कौपीन और एक ओढ़ने को कन्था प्रदान की। वामन भगवान् तो सभी के हैं। सभी को उन्हें कुछ न कुछ देना चाहिये। सबके आशीर्वाद जनित तेज को पाकर ही वे सुरकार्य करने मे समर्थ होंगे। या यों कहिये अपने बिखरे तेज को एकत्रित करके वे देवताओं को विजय श्री प्रदान करेंगे। माता की दी हुई कौपीन वटुवामन को पहिनाई गई। कश्यपजी ने एक सुन्दर सी मेखला स्वयं बनाकर दी। वह बालक वामन को कटि में पहिनाई गई। साक्षात् पृथिवी देवी ने कृष्ण मृगचर्म उन्हे दिया। चन्द्रमा ने पलास का सुन्दर दण्ड लाकर

वामन भगवान् को धारण कराया। ब्रह्माजी ने जल रखने को एक सुन्दर कमण्डलु दिया। सप्तर्षियों ने कुशाओं का मूँठा (ब्रह्मदण्ड) और पहिनने को पवित्री दी। सरस्वती देवी ने एक रुद्राक्ष की सुन्दर माला लाकर उनके नन्हें से गले में डाल दी। इस प्रकार ब्रह्मचारियों के योग्य सभी वस्तुओं को पाकर और उन्हें धारण करके वामन भगवान् ब्रह्मचारी वेष में बड़े ही सुन्दर प्रतीत होने लगे। बृहस्पतिजी स्वयं यज्ञोपवीत बनाकर लाये थे। अक्षत पूर्ण पात्रों में ८ यज्ञोपवीत तथा दक्षिणा रखकर ब्राह्मणों को दान दिया। पुनः सप्तर्षियों की सहायता से बृहस्पति जी ने वटुवामन के गले में यज्ञोपवीत पहिनाया। तब वे कौपीन पहिनकर हाथ में दंड कमन्डलु धारण करके बगल में मृगचर्म दबाकर, कन्धे पर कंथा डालकर ब्रह्मचारियों की भाँति इठलाते हुए सबको अपने बालचापल्य से प्रसन्न बनाते हुए यज्ञ कुन्ड के समीप आये। उपनयन संस्कार के लिये स्थापित प्रज्वलित अग्नि का परिसमूहन परिस्तरण और पूजन कराके उसमें समिधाओं से हवन किया। गौ के गोबर के कंडों की आहुतियाँ दी। तब उनके बड़े भाई साक्षात् सविता देवता ने उन्हें गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया। बृहस्पति जी ने ब्रह्मचारियों के नियम बताये। अब तो वामन भगवान् साक्षात् वटु ब्रह्मचारी बन गये। सब संस्कार होने के अनन्तर भिक्षा की बारी आई। यज्ञपति कुबेर ने उन्हें एक भिक्षा माँगने का पात्र दिया। उसे लेकर वामन वटु भिक्षा माँगने चले। नन्हें से वटु वामन भगवान्, वस्तुएँ होगईं बहुत। कभी मृगचर्म खिसक जाता, कभी कंथा ही कंधे से गिर जाती। कभी कमडलु में पानी ही छुल्ल करके छलक जाता, कभी करधनी ही ढीली हो जाती, कभी छतरी ही गिर जाती, कभी भिक्षा का पात्र झुक जाता तो हाथ के

कुशाओं के मूंठा को ही सम्हालते। सभी समागत स्त्री, पुरुष बालक की इन बातों से हँस पड़ते, वटु वामन उन सबको उठाते धरते, सम्हालते हुए चल रहे थे। अब वे भीख माँगने की शिक्षा पाने लगे। निश्चित तो पेट में से ही थे उसका अभ्यास करने लगे। सर्वप्रथम वे सतीशिरोमणि सक्षात् जगदम्बिका भगवती उमादेवी के समीप भिक्षा माँगने गये। अन्नपूर्णा देवी ने उनके पूर्ण पात्र को पूर्ण कर दिया। किन्तु ये तो जन्म के लोभी ठहरे, इनकी तृप्ति कहाँ! सबसे उन्होंने भीख माँगी। सभी ने अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार भिक्षा दी। किन्तु लोभी की कभी तृप्ति नहीं होती। उसका तो लाभ से अधिकाधिक लोभ ही बढ़ता जाता है। सबसे भिक्षा लेकर वामन भगवान् ने देवताओं के गुरु बृहस्पति को दी।

बृहस्पति जी ने मुसकराकर कहा—"बौने वामन! इस भिक्षा से देवताओं का तथा मेरा क्या काम चलेगा। कुछ ऐसी भिक्षा लाकर दो, कि कुछ दिन हम सब का निर्वाह हो।"

यह सुनते ही वामन दन्ड कमन्डलु उठाकर शीघ्रता से बोले—मैं तो काशी जाऊँगा। काश्मीर जाऊँगा।"

हँसकर देवगुरु ने कहा—"काशी काश्मीर में क्या रखा है। वहाँ जो विद्या है, उसे तो हम यहीं पढ़ा देंगे, अथवा तुम्हें उसकी आवश्यकता ही क्या? कुछ भिक्षा लाओ।"

वामनवटु बोले—"अब इन कंगाल देवता और ऋषियों से क्या माँगना। किसी उदार महादानी का नाम बताओ, जिससे याचना करने पर कुछ प्राप्त हो।

इस पर देवताओं के गुरु बृहस्पति ने कहा—
तीनों लोकों में महाराज बलि के समान कोई भी

मनस्वी नहीं है। उनके समीप जाकर कोई भी याचक विमुख और निराश नहीं लौटता।

वामनवटु अनजान की भाँति बोले—"महाराज! बलि इस समय कहाँ है? वह कहाँ रहता है?"

बृहस्पति जी ने कहा—रहने को तो वह तीनों लोकों का स्वामी है, स्वर्ग में उसका प्रधान स्थान है, किन्तु इस समय वह यज्ञ कर रहा है।'

वामन भगवान् ने पूछा—"कहाँ यज्ञ कर रहा है? कौन सा यज्ञ कर रहा है?

बृहस्पति जी ने कहा—"वह नर्मदा नदी के उत्तरीय तट भृगुकक्ष नामक क्षेत्र में समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ कर रहा है। उसके पुरोहित भृगुवंशी ब्राह्मणों ने उसे इन्द्र पद स्थायित्व करने के निमित्त १०० अश्वमेध यज्ञों की दीक्षा दे रखी है। ९९ अश्वमेध यज्ञ तो हो गये हैं यह १०० वाँ अश्वमेध है। यदि यह पूरा हो गया, तब वह स्थाई इन्द्र बन जायगा। इसलिये वह याचकों को यथेष्ठ दान देता है, उससे जो भी ब्राह्मण जाकर जिस वस्तु की भी याचना करता है, उसे वह वही वस्तु देता है।

वामन वटु बोले—"अच्छी बात है उससे भिक्षा माँगने चलें। हमें यदि वह दे दे तभी तो उसके ९९ अश्वमेध पूर्ण हो सकते है। हमारी ही इच्छा पूर्ण न कर सका तो उसके १०० अश्वमेध कैसे पूर्ण होंगे।"

देव गुरु बृहस्पति ने मन ही मन सोचा—लोभी की कभी कोई इच्छा पूरी नहीं कर सकता। वह तो थोड़ा माँगकर पैर

फैला देता है। साधुपाद प्रसरण न्याय से जहाँ लोभी को कुछ लाभ हुआ, कि उसकी तृष्णा और भी बढ़ती जाती है। प्रकट में बृहस्पति जी बोले—"अच्छी बात है ब्रह्मचारी जी महाराज! जाइये, बलि महाराज के यज्ञ में। आप जैसे भिक्षुक जिसके द्वार पर पहुँच जायें उसका अपूर्ण यज्ञ भी पूर्ण ही हो जायगा। जाइये, भृगुकच्छ (भड़ीच) की ओर प्रस्थान कीजिये।"

वामन भगवान् बोले—"गुरुजी! मैं तो वहाँ का मार्ग जानता नहीं। छोटा सा वामन बालक हूँ, आप मेरे साथ चलें।"

बृहस्पतिजी ने कहा—"अजी, महाराज! आप सब जानते हो! ब्रह्माण्ड आपके उदर में भरा हुआ है यद्यपि आपकी दाढ़ी बाहर नहीं निकली है, किन्तु आपके पेट में बढ़ी हुई दाढ़ी है। आप छोटे होकर भी खोटे हैं। चलिये, यज्ञ मंडप तक तो मैं आपको पहुँचा दूँगा। भीतर नहीं जाऊँगा। माँग जाँच आप लेना।"

वामन वटु बोले—"गुरुजी आप भीतर क्यों नहीं जायँगे। यज्ञ से आपको चिढ़ है क्या?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"नहीं, महाराज! यज्ञ से चिढ़ करेंगे तो खायेंगे क्या? यज्ञ कराना तो हमारा काम ही है, किन्तु आप जानते ही हैं, एक व्यवसाई अपने दूसरे सहयोगी व्यवसाई से मन ही मन द्वेष रखता है। शुक्राचार्य असुरों के पुरोहित हैं, मैं सुरों का, इसलिये हम दोनों में कुछ खटपट रहती है।"

वामन भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है मार्ग ही दिखा दीजिये।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन ! यह सुनकर देवगुरु के साथ वामन भगवान् वलि के यज्ञ की ओर चल दिये।

छप्पय

धन कुवेर ने दयो पात्र भिक्षा का भारी।
माँ जगदम्बा उमा विहसि के भिक्षा डारी॥
लोभी बामन वने लाभ तें लोभ बढ़ायो।
जग ठगिवे के हेतु कपट को वेष बनायो॥
अश्वमेध नृप वलि करें, चले ब्रह्मचारी सुनत।
विश्व भार लादें अखिल, पृथिवी पग पग पै नमत॥

बलि के यज्ञ में वामन भगवान्।

(५५७)

श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितम्,
बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः।
जगाम तत्राखिलसारसंभृतो,
भारेण गां सन्नमयद्पदेपदे।
(श्री भा० द स्क० १८ अ० २ श्लो०)

छप्पय

दण्ड कमंडलु लिये ओढ़ि तन पै मृगछाला।
पहिन मेखला मूंज चले बलि की मख शाला॥
तेज पुंज जम लखे विप्रवामन व्रतधारी।
सहसा सबई भये खड़े लखि वटु लट धारी॥
भये प्रभावित विप्र गन, अधिक मोदमन बलि भयो।
पद पखारि पुनि अर्घ्य दे, बैठन कूं आसन दयो॥

जिस प्रकार कस्तूरी डिबिया में छिपाने से नहीं छिपती,

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन्! वामन भगवान् इस बात को सुनकर कि तीनों लोकों का ऐश्वर्य प्राप्त करके महाराज बलि भृगुवंशी ब्राह्मणों द्वारा अश्वमेध यज्ञ करा रहे हैं और उसके द्वारा भगवान् का पूजन कर रहे हैं, तो वे वटु वहाँ सर्वशक्ति समन्वित होकर अपने भार से पगपग पर पृथ्वी को नमाते हुये उसके यज्ञ में चले।

सूर्य चन्द्रमा ग्रहण से सर्वथा नही छिपाये जा सकते गुदड़ी में लाल नही छिपाया जा सकता, मलिनता में सौन्दर्य नहीं छिपाया जा सकता, उसी प्रकार तेजस्वियों का तेज दीन और विकृत वेष बना लेने पर भी नही छिप सकता। बड़े यदि छोटों का वेष बना लें, तो वे और अधिक बड़े बन जाते है, उनकी शोभा और भी प्रभाव शालिनी बन जाती है।

श्री शुकदेव जी कहते है—राजन् ! जीव अपने स्वार्थ की बात तुरन्त सीख जाता है और जिससे अपना विशेष प्रयोजन नही उसे प्रयत्न करने पर भी नही सीख पाता। बटु वामन को अग्निहोत्र, गुरुपूजा, सत्य और सदाचार सम्बन्धी उपनयन के समय बहुत से उपदेश दिये गये थे, उनकी ओर तो उन्होने विशेष ध्यान नही दिया, किन्तु जब भीख मांगना सिखाया तो उसे उसी क्षण सीख गये और तृष्णा ऐसी बढ़ी कि साधारण आदमियों से भिक्षा माँगना उचित ही न समझा। चक्रवर्ती सम्राट् के समीप हाथ पसारने उससे माल मारने चल दिये। बने तो छोटे ही थे किन्तु विश्व ब्रह्माण्ड जो पेट में भर रहे थे, वे कहाँ जायँ। जब वे अपने छोटे छोटे बौने पैरों को पृथिवी पर रखते तो जैसे हाथी के कारण नौका लच जाती है, डगमगा जाती है वैसे ही पृथिवी पग पग पर डगमगाने लगी। बौने वामन बटु बनके बलि को छलने चले।

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी भगवान् बौने क्यों बने। वैसे ही साधारण ब्राह्मण बनकर बलि से याचना करते। बलि अन्य ब्राह्मणों को भी तो देता ही था, फिर इस प्रकार विकृत वेष बनाने का क्या कारण है ?

यह सुनकर सूत जी बोले—"महाराज ! इसे तो वे ही

सर्वज्ञ, समर्थ, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी श्यामसुन्दर ही जाने। उनकी लीला अपरम्पार है, प्राणियों के लिये उसका पार पाना अत्यन्त ही दुष्वार है। फिर भी वामन होने के कई कारण प्रतीत होते हैं।

पहिला कारण तो यह जान पड़ता है, कि भगवान शिक्षा दे रहे हैं कि देखो, भाई आँखें फाड़-फाड़ कर भली-भांति देखलो। भीख माँगना सबसे छोटा कार्य है। मुझे सर्वेश्वर को भी भीख माँगने की आवश्यकता हुई, तो छोटा बनना पडा।

बौने के हाथ पाँव आदि अङ्ग तो सभी पुरुषो की भाँति होते है, अन्तर इतना ही है कि अवस्था, बढने पर भी वह बढता नहीं। कुछ थोड़ा सा बढ़कर ज्यों का त्यो ही गेंद सा बन जाता है। इससे भगवान् यह शिक्षा दे रहे हैं, कि भिखारी कितना भी बढ़ जाय, फिर भी वह रहेगा छोटा का छोटा ही। सदा दूसरों के सम्मुख दीन होकर हाथ पसारना होगा, पेट दिखाना होगा।

तीसरा कारण यह जान पड़ता है कि यदि हम साधारण ब्राह्मण बनके जायँ, तो राजा इच्छानुसार कुछ न देगा। अब कुछ अधिक कहें, तो उसके सेवक कह सकते है कुछ परिश्रम करो क्यों हठ कर रहे हो। बौने बनकर चलेंगे तो राजा को दया आ जायगी मन माना दान देगा। समझेगा बेचारा बौना है चौथा कारण यह भी प्रतीत होता है कि इन्हें तो पृथिवी माँगनी है, सो भी पैरों से नापकर। सोचा, मेरे छोटे छोटे पैर देखकर कोई भी आपत्ति न करेगा। कह देंगे देदो इस बौने ब्रह्मचारी को।

पाँचवाँ कारण यह भी जान पड़ता है, कि भिक्षुक का हृदय

सदा शंकित रहता है, वह निरन्तर धुकुर पुकुर करता रहता है, जाने दाता दे या न दे। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक दयामयी होती है, इसलिये वामन ब्रह्मचारी बने कि बच्चों का और ब्रह्मचारियों का सर्वत्र प्रवेश है, वे अन्तः पुर में भी बिना रोकटोक के जा सकते हैं और पुरुषों के यहाँ भी। इसीलिये भगवान् ने सोचा—"किसी के सिखाने पढ़ाने से राजा बलि ने आनाकानी की तो महारानी विन्ध्यावली के समीप जाकर उसके हृदय में दया का भाव सचार कर सकेंगे।

छटा कारण यह भी हो सकता है कि विचित्र वेष को देखकर सभी का ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। मैं छोटा बन कर जाऊँगा, सभी मेरे रूप को देखकर चकित हो जायँगे, मेरी ओर आकर्षित होंगे जब मैं देवशास्त्र सम्मत युक्ति पूर्वक बड़ी बड़ी बातें बताऊँगा, तो सभी विस्मयापन्न होकर कहेंगे, देखने में तो यह वामन बड़ा छोटा प्रतीत होता था, किन्तु बातें बड़ी लम्बी चौड़ी कर रहा है। "छोटा मुहँ बड़ी बात।" व्यापार में जैसे भी हो लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेना यह सब से श्रेष्ठ कला है। कुछ जड़ी बूटी बेचने वाले दो आदमियों को कुछ देकर झूठा झगड़ा अपनी दुकान के सामने कराते हैं। वे दोनों बुरी तरह चिल्लाते है, लड़ते हैं, झगड़ते है। बहुत से लोग कुतूहल वश वहाँ एकत्रित होजाते हैं। पूछते है—"क्या बात है, क्या बात है। तब वह वस्तु विक्रेता उन्हें शान्त कर देता है अपनी वस्तु बेचने लगता है। यह एक विज्ञापन का ढँग है। वामन भगवान् ने भी बौना वेष बनाकर अपने विज्ञापन को आकर्षित बना लिया था।

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो ? भग-

वान् के बौने बनने के इस प्रकार अनेक कारण हो सकते हैं, सब का सार यह है कि राजा को छलने को माल मारने के लिये यह वेष बनाया था। कहावत है "दुनियां मारी मक्कर ते, रोटी खाई शक्कर ते।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! नर्मदा नदी के उत्तर तट पर भृगुकक्ष (भड़ोच) नामक क्षेत्र में—जहां महाराजबलि यज्ञ कर रहे थे वहां चलते चलते वामन भगवान् पहुंचे। दूर से ही लोगों ने देखा अग्निशिखा के समान जाज्वल्य मान एक तेजपुंज यज्ञ की ही ओर चला आ रहा है। सूर्य चन्द्र के समान प्रभावान् उन माया ाणवक हरि को देखकर सबके सब भौचक्के से रह गये। महाराज यज्ञ में उपस्थित ऋत्विज, यजमान और सदस्यगण सोचने लगे—"यह कौन है, जो यज्ञ की ही ओर चला आरहा है। सम्भव है अग्निदेव ही साकार स्वरूप बनाकर अग्निलोक से आरहे हों अथवा सूर्य देव ही यज्ञ दर्शन की इच्छा से आरहे हों? बहुत सम्भव है सदा ५, ६. वर्ष के हो बाल बने रहने वाले कुमारों में से परम तेजस्वी सनत् कुमार यज्ञ की प्रशंसा सुनकर आरहे हो? इस प्रकार यज्ञ कराने वाले भृगुवंशीय ब्राह्मण अपने शिष्यों, पुत्रों और साथियों से इस विषय पर तर्क वितर्क कर रहे थे, कि इतने ही में वामन भगवान् यज्ञ मण्डप के समीप आ ही तो पहुंचे। उनके विचित्र मनमोहक वेष को देखकर सभी के चित्त स्वतः ही उनकी ओर खिचने लगे। उस समय वटु वामन की शोभा दर्शनीय थी। छोटी सी पतली कमर में मूंज की मोटी मेखला बांधे हुए थे। एक कौपीन पहिने थे, कन्धे पर मोटा सा शुभ्र यज्ञोपवीत दूर से ही दिखाई दे रहा था। श्यामवर्ण के

सुन्दर तेजस्वी शरीर पर वे मृगचर्म ओढ़े हुए थे। एक हाथ में जल से भरा कमन्डलु था दूसरे में दर्शनीय दण्ड था। सिर पर छोटी छोटी ताम्रवर्ण की लटूरियाँ लटक रहीं थी। बगल में छत्ता लगा था, कन्धे पर कन्था रखी थी। प्रतीत होता है, पथ के श्रम से श्रमित होने के कारण उन्हें ये सब इतनी वस्तुएं भार हो रही थीं। कभी कोई अपने स्थान से खिसक जाती, कभी कोई गिर जाती, कभी हिल जाती, कभी परस्पर में मिल जातीं, कभी टेढ़ी हो जातीं। उन सबको सम्हालते छोटे छोटे पैरों को बढ़ाते हुए बलि के यज्ञ मंडप में पहुंचे उनके अपरिमित अपरिछिन्न तेज को देखकर उनकी प्रभा से प्रभावित होकर सभी भृगुवंशी तथा अन्यान्य ब्राह्मण सहसा यन्त्र की भाँति बिना संकल्प के ही अपने आप से आप खड़े हो गये। अग्नि कुंड की अग्नियाँ भी प्रज्वलित होकर कुन्ड से ऊपर उठकर भगवान् का स्वागत करने लगी। यज्ञ के यजमान महाराज बलि तो उस विचित्र ब्राह्मण के वेश को देखकर ऐसे मुग्ध हो गये, कि उन्होंने तो मन ही मन अपना सर्वस्व उनके चरणों में समर्पित कर दिया।

चारों ओर हल्ला मच गया, एक परम सुन्दर, कामदेव के समान, तेजस्वी तपस्वी ब्रह्मचारी यज्ञ मंडप में आये हैं। स्त्री पुरुषों के झुंड के झुंड इस बौने वटु को देखने लगे। उनके सम्पूर्ण अङ्ग उपाङ्ग उनके रूप के ही अनुरूप थे। अति मनोहर परम दर्शनीय उस ब्रह्मचारी को देखकर सभी आत्मविस्मृत से बन गये।

स्वयं यजमान महाराज बलि ने उठकर आगे आकर उनका स्वागत किया। सुवर्ण थाल में चरण धोये। विधिवत्

मन्त्र पढकर उन्हें अर्घ्य दिया और अत्यन्त मनोहर गुदगुदा आसन उन्हें बैठने को दिया। वामन वटु ने अपना कमन्डलु एक ओर रख दिया, कन्था को कन्धे से उतार दिया मृगचर्म को सम्हाल कर दड को कन्धे के सहारे रख कर वे सुखासन से बैठ गये। वामन के बैठ जाने पर वलि ने शास्त्रोक्त विधि से उन विचित्र अतिथि विप्र का पूजन किया। तुलसी चन्दन गन्ध मिश्रित जल से चरण धोये अर्घ्य आचमनीय देकर यज्ञोपवीत वस्त्र, गन्ध पुष्प, माला, धूप आदि नैवेद्य, फल दक्षिणा आदि समर्पित करके आरती की। मधुर विनीत वचनों से स्तुति की। पुनः उनके पुनीत पादोदक को श्रद्धा भक्ति सहित सिर पर चढ़ाया। अपने सम्पूर्ण घर में छिड़का मानों आज नर्मदा तट पर घर बैठे गङ्गाजी आ गईं। भृगुकच्छ में ही गङ्गा का नर्मदा से संगम हो गया। विष्णु के पादोदक का ही नाम तो गङ्गा है। देवाधिदेव चन्द्रशेखर वृषभध्वज भगवान् शङ्कर ने तभी तो भक्ति भाव से उसे सिर पर धारण किया था।

श्री शुकदेव जी कहते है—राजन् ! योग्य अतिथि को अपनी यज्ञ में आये देखकर वलि के हर्ष का ठिकाना न रहा। वे अपने अपूर्व अतिथि को सतुष्ट करने के निमित्त कुछ पूछने को उद्यत हुए।

छप्पय

विधिवत पूजा करी हृदय फूले न समाये।
पादोदक सिर धारि पान कर अति हरषाये॥
रानी पुनि पुनि लखै रूप पै वलि वलि जाई।
चरनामृत करि पान कहै गङ्गा घर आई॥
तनु पुलकित मन मोदयुत, पात्र निरखि अतिशय मगन।
बहु स्वागत सतकार करि, दानी वलि बोलै वचन॥

बलि और वामन।

(५५६)

यद् यद् वटो वांच्छसि तत्प्रतीच्छ मे
त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये ।
गां कांचनं गुणवद्धाम मृष्टम्,
तथान्नपेयमुत वा विप्रकन्याम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १८ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

कहो विप्रसुत कृपा दास पै कीन्हीं कैसे।
है अति दुलभ दरश बिना कारण वटु ऐसे ॥
मेरे मन अनुमान आप कछु माँगन आये।
किन्तु निरखि द्विज भीर बाल मन मँह सकुचाये॥
मम ढिग कछु न अदेय है, शङ्का तजि द्विजवर ! कहहु।
अन्न पान धन धान पट, जो इच्छा सोई गहहु ॥

मनस्वी पुरुषों के लिये संसार में सत्पात्र के लिये कोई

---

* महाराज बलि वामन भगवान् से कह रहे हैं—"हे बेटी ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि तुम कुछ मांगने की इच्छा से मेरे यहा आये हो। ब्राह्मण कुमार ही ठहरे। सो, तुम्हें जिस वस्तु की भी इच्छा हो वह मुझसे मांग लो। गौ चहिये, सुवर्ण चाहिये, सुन्दर सामग्री सहित घर द्वार, मधुर पवित्र सुस्वादु अन्न जल अथवा विवाह के लिये ब्राह्मण कन्या जो भी चाहिये मुझ से कहो।

वस्तु अदेय नहीं है। पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश ये पांचों भूत भगवान् द्वारा निर्मित हैं। कोई चाहे हम एक पानी की बिन्दु बनालें, तो वह नहीं बना सकता। भूतों को उत्पन्न करने की शक्ति तो भूत भावन भगवान् में ही है। ये संसार के जितने सुवर्ण, चाँदी, मणि माणिक्य, भवन, महल, बाग बगीचा उद्यान, फूल, वस्त्र, चन्दन, स्त्री, पुरुष, घोड़ा, हाथी, ऊँट, गौ भेड़ बकरी यावन्मात्र पदार्थ हैं सब पंचभूतों के संयोग से ही बने हैं। हमारा देह भी पंचभूतो का निर्मित है, एक दिन यह भी यहाँ का यहीं रह जायगा। जल कर सड़कर या विष्ठा बन कर यह भी पांचों भूतों में मिल जायगा। जब यह देह ही नश्वर है, तो इसके द्वारा उपार्जित या निर्मित पदार्थ अविनाशी कैसे हो सकते है ये सब भी एक दिन भूतों में मिल जायेंगे। इन नश्वर पदार्थों मे स्वेच्छा पूर्वक ममत्व हटालेने से इन्हें सत्पात्र को दान देने से यदि अविनाशी मिल जायँ तो ऐसे लाभप्रद व्यापार को कौन बुद्धिमान करना न चाहेगा। पात्र उसे कहते है जो पतन से बचावे अक्षत् पात्र में पानी, घी तैल भर दो। बिना फूटे पात्र में रहने से वह गिरेगा नहीं उसका पतन न होगा। इसी प्रकार मनुष्य को पतन से बचाने वाले पतितपावन हरि ही है अतः सबसे श्रेष्ठ पात्र वे ही कहे गये है। जो वस्तु भगवान को अर्पण कर दी जाती है वह क्षयिष्णु होने पर भी अक्षय हो जाती है नाशवान् होने पर भी अविनाशी बन जाती है। अतः अपने सर्वस्वसत्पात्र स्वरूप श्री हरि को ही समर्पित कर देना चाहिये।

श्रीशुकदेव जी कहते है—"राजन् ! जब महाराज बलि वामन भगवान् की पूजा कर चके, तब हाथ जोड़ कर

बोले—"ब्रह्मन् ! आपने इस दीन को दर्शन देकर बड़ी दया की। इस यज्ञ भूमि को अपनी रज से परम पावन बना दिया। मुझे सूझता नहीं, मैं किस प्रकार आपकी सेवा करूँ, क्या कह कर आपकी बिनती करूँ।"

वामन बटु बोले—"राजन् ! हम किस योग्य हैं। भिक्षुक ब्राह्मण है आपका यश दिग दिगान्त में व्याप्त है आपकी प्रशंसा सुनकर जैसे अन्य सब दर्शक आते हैं वैसे ही आपका यज्ञ देखने हम भी चले आये।"

विनीत भाव से बलि ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं आपको अन्य साधारण दर्शकों की भाँति नहीं मानता। मैं तो आपको मनुष्य मानता ही नहीं। मेरा तो अनुमान है कि समस्त राजर्षि ब्रह्मर्षि तथा तपस्वियों का तप मूर्तिमान होकर मेरे मख को कृतार्थ करने यहाँ आया है।"

वामन बटु बोले—राजन् ! आप धर्मात्मा है अतिथि का किस प्रकार भगवत् बुद्धि से सत्कार करना चाहिए इस बात को आप जानते हैं, इसीलिये आप ऐसी शिष्टाचार की बातें कह रहे हैं ? अच्छी बात है, शिष्टाचार हो गया अब अपना कार्य करो। देवता, ऋषि, पितर इनका तर्पण करो, यज्ञ हवन करके पुण्य प्राप्त करो।"

यह सुनकर बलि बोले—"भगवन् ! जब आप के देव दुर्लभ दर्शन इस दीन हीन को हो गये, तब भी कोई कर्तव्य शेष रह गया क्या ? मेरा तो ऐसा विचार है कि आपके पवित्र पादों का प्रेम पूर्वक प्रक्षालन करने से मेरे सभी पाप नष्ट हो

गये। मैंने समस्त विधिवत् किये यज्ञों का फल प्राप्त कर लिया। आपके चरणामृत को पान करके तथा श्रद्धा सहित सिर पर धारण करके मानों मैंने आज सभी पवित्र तीर्थों मे स्नान कर लिया। मैंने समस्त देवता, ऋषि और पितरों को सन्तुष्ट कर लिया। इन कोमल कमल दल के सरिस आपके इन नन्हें नन्हें पगों के पड़ने से यह पृथिवी पावन बन गई। आपने मेरे ऊपर अत्यन्त अनुग्रह की। मैं आप से एक बात पूछना चाहता हूं, किन्तु पूछने में कुछ संकोच हो रहा है।

बटु वामन बोले—"नहीं, राजन्! संकोच करने की कौन सी बात है, आपको जो पूछना हो, वह निःशंक होकर पूछिये।

बलि बोले—"ब्रह्मन्! मुझे कुछ ऐसा प्रतीत होता है, कि कुछ मुझसे याचना करने आये है।

हँसकर बटु वामन बोले—"महाराज! आपने कैसे जाना?"

बलि ने विनीत भाव से कहा—"भगवन्! मुझे निश्चय तो है, नहीं, फिर भी मेरा अनुमान है कि आप किसी प्रयोजन को लेकर आये है। एक तो आपका यह ब्राह्मण वेश ही कह रहा है। ब्राह्मण भिक्षुक होकर ही जन्म लेता है। उसे सांसारिक प्रपञ्च से तो प्रयोजन ही नही, वह किसी के यहाँ जायगा भी तो कुछ मांगने ही जायगा। दूसरे आपने यह ब्रह्मचारी का वेष बना रखा है। ब्रह्मचारी को अपने नित्य कर्म और अध्ययन से ही अवकाश नही, वह किसी गृहस्थी के यहाँ जायगा तो किसी आवश्यक वस्तु के ही लिये जायगा। दूसरे

ब्राह्मणों की आजीविका ही है, अध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना है। यज्ञ उत्सव में ब्राह्मण कुछ आशा से ही जायगा। इन्ही सब कारणों से मैंने अनुमान लगा लिया है, कि आप कोई आवश्यक वस्तु माँगने आये हैं ? क्यों, मेरा अनुमान असत्य तो नहीं है ?"

राजा के ऐसे प्रश्न को सुनकर भिखारी वामन कुछ लज्जित से हो गये। लज्जा और दीनता युक्त मुसकान के सहित संकेत मे उन्होंने इस अनुमान की सत्यता को स्वीकार कर लिया।

महाराज बलि तो उनके तप तेज, सुन्दरता तथा सरलता पर प्रथम ही लट्टू हो रहे थे। अब उनकी लज्जा युक्त मुसकान से उनका साहस और बढ़ा, वे बोले—"ब्रह्मन् ! देखिये लज्जा करने की तो कोई बात नही। आप ब्रह्मचारी हैं सत्पात्र हैं मेरा अहोभाग्य है, कि आप जैसे सत्पात्र मुझे गौरवान्वित करने के निमित्त मुझ से कुछ याचना करने आये हैं। आप ब्राह्मणों की कृपा से मेरे यहाँ किसी वस्तु की कमी तो है ही नही। आप जो भी मुझसे माँगना चाहें माँगलें। यदि आप राज्य माँगेगें तो मैं राज्य भी दे दूँगा।"

हँसकर वामन बोले—"राजन् ! मै छोटा सा बच्चा राज्य को क्या करूँगा ?"

बलि ने कहा—"तो, जो भी इच्छा हो, वही बताइये। आप छोटे से बटु ब्रह्मचारी हैं। बच्चों को दूध बहुत प्रिय है, यदि आपको दूध पीने के लिये गौ की आवश्यकता हो तो एक, दो, दश बीस, पचास सौ, हजार पांच सौ लाख दो लाख जितना भी गौओं की आवश्यकता हो, उतनी सुन्दर से सुन्दर हाल की ब्यायी, सूधी अधिक दूधवाली गौएँ मँगादूँ ?'

वामन बोले—"अजी, महाराज ! गौओं को मैं कहां लेता फिरूंगा ? आप देखते नहीं कितना सा छोटा हूं, अपना शरीर ही लेकर चलना भारी हो रहा है।"

बलि राजा—बड़े उत्साह से बोले—"अच्छी बात है, गौ न सही। आप जितना चाहें उतना सुवर्ण ले लें। अपने पास सुवर्ण हो, तो सब सामिग्रियां अपने आप ही आ जाती हैं। भोजन मंगालो, वस्त्र मंगालो। दूध मलाई, रबड़ी खुरचन पेड़ा बरफी सब पैसों से आ सकती हैं। पैसे वाले के पास बड़े से बड़े गुणी, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पंडित उत्तम से उत्तम कलाकार आते ही रहते है। समस्त गुण आकर कांचन में ही निवास करते हैं, अतः आप यथेच्छ सोना मांग लीजिये।"

वामन बोले—"अजी, महाराज! सुवर्ण को कहां बांधे फिरूंगा। सुवर्ण के आते ही व्यवहार में असत्यता आ जाती है, धन मद बढ़ जाता है, उसमें अत्यन्त आसक्ति हो जाती है, धनी लोगों को दया नहीं रहती रजोगुण बढ़ जाता है और सब से वैर हो जाता है। सभी उसे मारकर उससे धन छीनने की घात में रहते है।"

इस पर बलि बोले—"अच्छी बात है सुवर्ण न लें। मैं आपको एक सुन्दर से सुन्दर भवन दिला दूं। जिनमें गुदगुदे गद्दे बिछे हों, सुवर्ण के पलंग पड़े हो सुन्दर से सुन्दर स्वच्छ सफेद वस्त्र टंगे हों, अन्नों के कोठे भरे हों, सभी पदार्थ रखे हों। खाने के लिये लेह्य, चोस्य, भक्ष्य, भोज्य और पेय पदार्थ यथेष्ट रखे हों। पीने को उत्तम से उत्तम पदार्थ रखे हों। ऐसा सर्व सम्पत्ति युक्त सब सामग्रियों से सम्पन्न भवन

कर दूँ।" तुम कह सकते हो मेरा तो अभी विवाह ही नहीं हुआ। गृहणी के बिना घर कैसा ? ईंट पत्थर के बने घर को घर नहीं कहते न ऐसे घरों में रहने वाले घर वाले कहाते है यदि ऐसे लोग घर वाले कहावें, तो ये बढी बढ़ी दाड़ी जटा वाले बाबाजी भी तो घरों में ही रहते हैं। ये तो गृही नहीं कहाते। गृहिणीवाला घर ही वास्तव में गृह है। यदि ऐसी बात है और तुम्हें विवाह की इच्छा हो, तो जैसे बौने आप हो ऐसी ही एक बौनटी किसी ब्राह्मण की कन्या को खोजकर उसके साथ तुम्हारा विवाह करा दूँ। तुम्हें ब्रह्मचारी से अभी गृहस्थी बना दूँ। दो पाद से चतुष्पाद करा दूं। निर्वाह के लिये गाँव चाहिये गांव दिलवा दूँ, घोड़े कहो तो घोड़े तुम्हारे घर के सम्मुख बँधवा दूं। हाथी कहो हाथी भेजवा दूं। रथ कहो तो सुन्दर सुवर्ण मण्डित रथ दिलवा दूं जिनमें बैठकर तुम अपनी बौनटी दुलहिन के साथ सुख पूर्वक घूमते-फिरते रहना। इन सब वस्तुओं के अतिरिक्त आपको और भी जो मांगना हो संकोच छोड़कर मांग लीजिये। कृपण पुरुषो से मांगने में लज्जा आती है। जो स्वयं सब कुछ श्रद्धा सहित देने को समुत्सुक है, उससे मांगने में लज्जा करना व्यर्थ है।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब वामन भगवान् ने देखा। कि राजा सब प्रकार से हमारे अनुकूल है और सब कुछ देने को उत्सुक है, तो उसे और अधिक दृढ़ करने के लिये उसे वचनों में कसकर बांधने के लिये वे ठगिया कपट वेष बनाये हुए ब्राह्मण देवता उनसे कहने लगे। उन्हें क्या चाहिये इस बात को सीधे न कहकर बड़ी भूमिका बांधकर लगाव लपेट के साथ कहने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

चाहो मनहर महल गुदगुदी सुखकर शैया।
अथवा गज रथ अश्व दूध की सूधी गैया॥
या जस बौने आप बौनटी दुलहिन चाहो।
अबई करूँ विवाह न मन महँ बटु सकुचाओ॥
बहु सम्पति युत ग्राम अरूँ, जो चाहो सोई कहहु।
अथवा मेरे महल महँ; भूपति दनि द्विजवर रहहु॥

वामन द्वारा बलि के कुल की प्रशंसा

(५६०)

वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतम्
कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम् ।
यस्य प्रमाणं भृगवः सांपराये
पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० २ श्लोक)

छप्पय

सुनि नृप बलि की बात विप्र कपटी सुख पायो ।
असुर फँसावन हेतु कपट को जाल बिछायो ॥
बूढ़े बाबा सरिस कहें–बलि ! तुम बड़ भागी ।
क्यों न होहि अस शील जहाँ भार्गव गुरु त्यागी ॥
पिता विरोचन विप्रहित, प्रान दये प्रन तज्यो नहि ।
भये भक्त प्रहलाद नर हरि, प्रकटाये कष्ट सहि ॥

नीति और युक्ति पूर्वक किये हुए कार्य ही भली प्रकार सिद्ध होते है । जैसे सब कामो में युक्ति होती है वैसे ही भीख माँगने की भी युक्ति होती है । लोग तो कहते है–"अजी, इससे

---

* वामन भगवान् महाराज बलि से कह रहे हैं—"हे नरदेव ! आप के ऐसे मधुर धर्म युक्त तथा यश को बढ़ाने वाले वचन आपके कुल के अनुरूप ही हैं । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि भृगुपुत्र शुक्राचार्य आपके पारलौकिक कार्य करने वाले हैं आपके पितामह प्रलादजी का शान्तिमय व्यक्तित्व विश्वविदित है ।

कुछ काम नहीं होगा, भीख भले ही माँग खाय।" इससे सिद्ध होता है भीख माँगना सबसे सरल काम है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। भीख मांगना बहुत कठिन काम है, दूसरे के हृदय में दया का संचार करके उससे परिश्रम से कमाये हुए पैसे को निकाल लेना सरल काम नहीं है। इसके लिये भी बुद्धिमानी और युक्ति चाहिये। भिक्षुक को सबसे पहिला काम तो यह करना चाहिए कि अपना वेष ऐसा बनावे कि दाता के ऊपर प्रभाव पड़े। उसके वेष को देखते ही वह समझ जाय कि वास्तविक रूप में इसे धन की आवश्यकता है। इसी लिये बहुत से भिखारी गेरू लगाकर पट्टी बाँध कर अपने शरीर में कृत्रिम घाव दिखाते है। बहुत से एक पैर को पृथिवी में गाढ कर उसके स्थान में काठ का पैर लगा कर अपने को लँगड़ा दिखाते हैं बहुत से एक हाथ को कुर्त्ते में छिपाकर उसके स्थान पर काठ का छोटा कृत्रिम हाथ लगाकर अपको लूला सिद्ध करते हैं, कोई आँख रहते हुए भी अन्धे होने का अभिनय करते हैं। बहुत सी स्त्रियाँ कृत्रिम बच्चे बनाकर या किसी के दूसरे बच्चे को लेकर तुरन्त बच्चा पैदा करने वाली सिद्ध करती हैं। सारांश यह है, कि जिस प्रकार भी दाता के हृदय में देने की भावना हो वैसा ही वेष भिक्षुक को बनाना चाहिये। जहाँ पन्डित बनने से काम चले वहाँ पन्डितों का सा वेष बना ले। वेष का मनुष्य पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है। स्वभाव तो सहवास से जाना जाता है। इसीलिये भगवान् ने दयनीय बौने ब्रह्मचारी ब्राह्मण का वेष बनाया।

दूसरी बात यह भिखारी को ध्यान रखनी चाहिये कि वह इस बात को पहिले ही पूछले इनके यहाँ किनकी चलती है, दाता किनको बहुत मानता है। जिसका सबसे अधिक बोल-

वाला हो उसकी जाकर प्रशंसा करनी चाहिए। उसे सबसे श्रेष्ठ गुणी बताना चाहिये। तीसरी बात यह कि दाता के वंश के लोगों की चाहे पहिले निर्धन और भिखारी ही क्यों न रहे हो, राक्षसों की भाँति क्रूर ही क्यों रहे हों। उनकी अत्यधिक बढ़ कर प्रशंसा करनी चाहिये, जिससे उसे कुलीनता का अभिमान जागृत होजाय। चौथी बात यह है, कि स्वयं दाता को मधुर शब्दों मे उनके छोटे छोटे कर्मों को बढ़ा चढ़ा कर प्रशंसा करनी चाहिये। कि ऐसे कार्यों को दूसरा कौन कर सकता है। पाँचवी बात यह कि तुरन्त जाते ही अपना अभिप्राय नही कह देना चाहिये कि हमें इस वस्तु की आवश्यकता है। बड़ी भूमिका बाँधकर अन्त में प्रसग आने पर सरलता के साथ अपनी आवश्यकता कहनी चाहिये। पहिले यह सिद्ध करदे कि इस वस्तु की मुझे नितान्त आवश्यकता है, यदि अन्यत्र कहीं मिलती तो मैं कभी आपको कष्ट न देता।

छटी बात यह कि आरंभ से ही लोभ न करना चाहिए अपनी निस्पृहता ऐसे सिद्ध करनी चाहिए कि हमें इस वस्तु की आवश्यकता न होती, तो हम कभी भी मांगने न आते। अपनी त्याग वृत्ति दिखाकर दाता को अपनी ओर आकर्षित कर लेना चाहिये। इन सब बातों को रख कर जो याचक दानी उदार पुरुषों से याचना करेगा, तो उसकी याचना कभी विफल नहीं होने की। अच्छे भिक्षुक को यथा शक्ति कृपण से कभी भी याचना न करनी चाहिए। कृपण यदि दे भी देगा, तो दस जगह अपयश करेगा, और श्रेष्ठ पुरुष मना भी कर देंगे, तो वे बड़े लज्जित होंगे। यही सब भिक्षुकों को शिक्षा देने के लिये भगवान् ने भिक्षुक का वेष धारण किया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज बलि ने अत्यन्त उदारता के साथ वटु वामन से इच्छित वस्तु मांगने के लिये आग्रह किया, तो उसे बढ़ावा देने के लिये भिक्षुक भगवान् भिखारी की सभी लीलाओं को प्रदर्शित करने लगे। भगवान् ने देखा इस समय राजा बलि शुक्राचार्य की मुट्ठी में है। वे जो कहते हैं, वही ये करते है। अतः सब से पहिले वे शुक्राचार्य की ही प्रशंसा करते हुए बोले—"राजन् ! आप धन्य हैं, जैसी हम आपकी प्रशंसा सुनते थे आप तो उससे भी कहीं बढ़ चढ़कर निकले। क्यो नहो, जिनके सम्पति दाता, पुरोहित गुरु और समस्त ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कार्यों को कराने वाले भृगुनन्दन भगवान् शुक्राचार्य हों, ऐसे वचन उनके अनुरूप ही है। सेवक के व्यवहार को देखकर स्वामी का व्यवहार समझा जा सकता है। शिष्य की योग्यता से गुरु की योग्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। एक भिक्षुक के सम्मुख ऐसे उदार, मधुर और निश्छल वचन शुक्राचार्य के शिष्य ही कह सकते है। हाँ, यदि कोई अकुलीन शिष्य हो, तो वह गुरु आज्ञा मानता ही नही। आपके कुल के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ?"

अत्यन्त ही नम्र होकर लजाते हुए महाराज बलि बोले—"प्रभो ! मैं तो आप ब्राह्मणों का दास हूँ।"

अत्यन्त ही उल्लास के स्वर में वामन वटु बोले—"महाराज! ऐसी नम्रता अकुलीनों में कभी आ ही नहीं सकती। आप ब्राह्मणों के सेवक हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। आप उन्हीं महाराज विरोचन के पुत्र हैं, जिन्होंने ब्राह्मणों के निमित्त अपने प्राणों को भी देदिया था।

बात यह थी कि महाराज विरोचन बड़े ही तेजस्वी यशस्वी, शूरवीर दानी और धनुर्वेद विशारद थे। उन्होंने अपने बाहुबल से स्वर्ग को जीत लिया था। देवताओं को स्वर्ग से भगा दिया था। वे त्रैलोक्य का शासन करते थे। उनके समीप ब्राह्मण जब भी आकर जिस वस्तु की भी याचना करते वे उसे उसी समय देते, ब्राह्मणों के लिये कोई भी वस्तु उनके लिये अदेय नहीं थी। जब सुरगण उन्हें पराक्रम से न जीत सके, तो उन्होंने उन्हें कपट से जीतना चाहा। इन्द्रादि देव ब्राह्मणों का वेष बनाकर उनके समीप पहुंचे। ब्राह्मण भक्त विरोचन ने उनका यथेष्ट स्वागत सत्कार किया वे समझ तो गये, कि ये यथार्थ ब्राह्मण नहीं है हमारे शत्रु देवता ही ब्राह्मणों का वेष बनाकर मेरे पास आये हैं, किन्तु उन्होंने सोचा—"ये कोई भी क्यों न हों, मेरे पास तो ब्राह्मण बनकर ही आये हैं। अतः मुझे तो इनका स्वागत सत्कार ब्राह्मणों की ही भाँति करना चाहिये।" यह सोचकर उनकी विधिवत् पूजा की और अन्त में कहा—"ब्राह्मणो! आप जिस प्रयोजन के लिये मेरे पास आये है, उसे कहिये। मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ!"

उनमें से ब्राह्मण वेष बनाये सहस्राक्ष इन्द्र बोले—"राजन्! आप वचन दें कि हमारी इच्छा पूरी करेंगे। तभी हम आपसे याचना कर सकते हैं।'

इस पर महराज विरोचन ने कहा—"ब्राह्मणो! आप मेरे ऊपर ऐसा अविश्वास क्यों कर रहे हैं। आपको जो भी मांगना हो, वह निरासंकोच होकर मांगे। मेरे लिये कोई भी वस्तु ब्राह्मणों के लिये अदेय नहीं है।"

यह सुनकर इन्द्र ने कहा—"राजन्, हम आपकी शेष आयु चाहते हैं। हमें अपना जीवन दे दीजिये।"

अत्यंत ही हर्ष के साथ ब्राह्मण भक्त महाराज विरोचन ने कहा—"ब्राह्मणों ! आज मैं कृतार्थ होगया मेरा जीवन धन्य होगया, जो ब्राह्मणों के काम में आगया। मैं अपना जीवन, प्राण, सहर्ष आपको समर्पित करता हूँ।"

वामनवटु कह रहे हैं—"राजन् ! इतना कह कर उन्होंने इन्द्र को जानते हुए भी अपना जीवन दे दिया। उन्ही के वीर्य से आप उत्पन्न हुए हैं। पिता ही पुत्र बनकर उत्पन्न होता है पिता की आत्मा ही पुत्र रूप में परिणित हो जाती है, आप इतने ब्राह्मण भक्त हैं इसमें आश्चर्य करने की कोई बात ही नहीं, क्योंकि आप परम भक्त यशस्वी असुराधिप महाराज विरोजन के पुत्र हैं।"

लजाते हुए बलि बोले—"महाराज, मैं तो उनके चरणों की धूल के एक कण के सदृश भी नहीं हो सकता मुझमें वैसे गुण सैकड़ों जन्मों में भी नहीं आ सकते।"

वामन वटु विकसित होकर बोले—"अजी राजन् आप ऐसी बात न कहें। आपके तो कुल में सभी ऐसे ही होते आये हैं। उन सबमें गुण थे वे सब एकत्रित होकर आपमें घनीभूत हो गये हैं। आपके पिता महाराज प्रह्लाद के विषय में कुछ कहना मानों सूर्य को दीपक दिखाना है। भगवान् के गुणों की भांति सर्वत्र उनके गुणों का भी गान किया जाता है। भगवान् के यश के समान संसार में उनका भी यश व्याप्त है, वे समस्त भक्तों के अग्रणी, पूजनीय और आदर्श हैं। जिस प्रकार असुर कुल में भक्ति शिरोमणि प्रह्लादजी हो हैं। अपने निर्मल निष्कलंक सुयश से संसार में सूर्य

देदीप्यमान मान हो रहे हैं। राजन् ! उसी कुल में आपका जन्म हुआ है। वे प्रह्लादजी तुम्हारे पिता के पिता थे, फिर पौत्र में ये सब गुण क्यों न आवें। आप के लिये तो ब्राह्मण भक्ति आदि सद्गुण कुल परम्परा की पैतृक सम्पत्ति है। आप के पूर्वज ब्राह्मणों को ही दान देने में शूरवीर रहे हों, सोभी बात नहीं है। जिस वीरमानी योद्धा ने आकर उनसे युद्ध की याचना की, ऐसा एक भी उनके समीप से निराश होकर नहीं लौटा। चाहे शुभपर्व में या युद्ध स्थल में आये हो, चाहे आकर धन की याचना की हो या युद्ध की, आपके पिता पितामह तथा प्रपितामह किसी ने भी पीछे पग नहीं रखा। उनके सम्मुख आने पर कोई निराश होकर नहीं लौटा। फिर मैं कैसे निराश होकर लौट सकता हूँ।

बलि ने कहा—"द्विजवर ! आप है तो नन्हे से, ये सब मेरी बातें जानते कैसे है ? मेरे पिता पितामह आदि सभी का इतिहास आपको विदित है, प्रतीत होता है आप सर्वज्ञ है।"

हँसकर वामन बटु बोले—"अजी राजन् ! इसमें सर्वज्ञता की कौन सी बात है ? जैसे सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, समुद्र हिमालय इन्हें सभी जानते है, वैसे ही आप का वंश विश्व विख्यात है। यह सम्पूर्ण संसार उनके यश से भर रहा है। राजन् ! जैसे शूरवीर, पराक्रमी, यशस्वी, विश्व विजयी, आपके पिता और पितामह थे वैसे ही आपके प्रपितामह भी थे। अन्य पुरुषों की तो बात ही क्या उन्होंने विष्णु के भी दाँत खट्टे कर दिये। आपने अनेकबार शुक्राचार्य आदि प्राचीन ऋषि मुनियो से इनका इतिहास सुना होगा उसमें से कुछ मैं भी सुनाता हूँ, आप सावधानी से सुनें संकोच न करें। उन चरित्रों को सुनने से आपको भी लाभ होगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यह कहकर छली वामन वलि को वढ़ावा देने, उसके प्रपितामहों की प्रशंसा करने लगे ।

छप्पय

सत्वहीन अरु कृपन भये तुमरे कुल नाहीं ।
असुरवंश को सुयस व्याप्त सबरे जग माहीं ॥
कल्पवृक्ष के सरिस भये पूर्वज तुमरे सब ।
इच्छा पूरन करो सबनिकी तुमहू नृप अब ॥
हिरनकशिपु हिरनाक्ष हू, प्रपितामह तुम्हरे भये ।
लड़े विष्णु तें समपमहूँ नाम अमर जग करि गये ॥

वामन द्वारा बलि के प्रपितामहों की प्रशंसा ।

(५६१)

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम् ।
प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः ॥*॥

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

हिरण्याक्ष नहिं समर मांहि काहू तें हारयो ।
बनि के विष्णु वराह कपट तें ताकूं मारयो ॥
हरि हिन भये हताश पराजित आप न मान्यो ।
बन्धु मृत्यु सुनि हिरनकशिपू ने सर सन्धान्यो ॥
चलै विष्णु तें लड़न हित, सोवत तें श्रीपति जगे ।
देखि वीर के तेज कूं, तजि शैया पुर तें भगे ॥

वंशपरम्परा का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य होता है, अपने पूर्वजों की कीर्ति यश तथा कार्यों का स्मरण श्रवण

*वामन भगवान् बलि से कह रहे है—"राजन् ! आपके ही कुल में हिरण्याक्ष का जन्म हुआ । जो वीर गदा लेकर सम्पूर्ण भूमंडल पर बिना सेना लिये अकेला ही दिग्विजय के लिये घूमता फिरा किन्तु उसे अपना कोई प्रतिपक्षी वीर ही नहीं मिला ।

रने से अपने आप में भी उत्तेजना आ जाती है। इसीलिये
द्ध में वीर आपस में ललकार कर कहते हैं, हम उस वंश के
। सूत, मागध, बन्दी उनके पूर्वजों के यश का गान करते हैं,
जिससे उनके प्रभाव को स्मरण करके प्राणपण से युद्ध करें।
कुल के कार्यों का स्मरण होने से कायरों की धमनियों में भी
वीरता के रक्त का वेग के साथ संचार होने लगता है। इस सम्बन्ध
मे एक प्राचीन कथा है।

दो आदमी किसी बात पर लड़ पड़े। उनमें एक वैश्य था, दूसरा क्षत्रिय। वैश्य हृष्ट पुष्ट मोटा और स्थूलकाय था, दूसरा क्षत्रिय दुबला पतला निर्बल और क्षीणकाय। बातों ही बातों में रार बढ़ गई गाली गलौच होने लगी। हाथा वाहीं की नौबत आगई। वैश्य बलवान् था मोटा था उसने क्षत्रिय को पटक दिया! और उसकी छाती पर सवार होकर बड़े गर्व से कहा—बोल अब क्या कहता है?"

दुर्बल पतला आदमी इतने मोटे मनुष्य के भार को न सह सका। उसके प्राण घुटने लगे। क्षमा याचना के निमित्त उसने नीचे पड़े पड़े ही बड़े स्नेह से यह पूछा—"बन्धुवर! आप किस जाति के है आप का जन्म किस कुल मे हुआ है?" जीता हुआ आदमी तो सिंह के समान हो जाता है। विजय के उल्लास में गर्व के साथ उसने कहा—"हम है वैश्य अग्रवाल। बोल क्या करेगा?"

इतना सुनना था, कि क्षत्रिय की धमनियों में जातिगत वीरता का संचार हुआ। डांटकर उसने कहा—धत्तेरी बनिये की, अरे, धन में व्यापारिक बुद्धि में तू भले ही जीतले शारीरिक

बल में तू कैसे मुझे जीत सकता है। यह कहकर मारी जो उसने ऐंडी कि फट्ट से लाला जी नीचे और ठाकुर साहब ऊपर। सब लोग यह देखकर हँस पड़े और बोले—"कुलागत बल का कुछ तो प्रभाव होता ही है।"

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! बलि को उत्साहित करने के लिये वामन भगवान उनके पिता पितामह की प्रशंसा कर चुके और उन्होंने अनुभव किया कि इन बातों से बलि उत्साहित हो रहा है, तो अब वे उसके प्रपितामहों की प्रशंसा करने लगे। वामन् भगवान् बोले—"राजन्! देखिये, आपका वंश साक्षात् ब्रह्माजी से आरम्भ हुआ है। ब्रह्माजी के मानसिक पुत्र भगवान् कश्यप हुए! उनके दिति अदिति आदि १३ पत्नियाँ थी। कश्यप जी तो तपस्वी ऋषि ही ठहरे। यह सम्पूर्ण स्थावर जंगम दृश्य जगत् उन्हीं की सृष्टि है, वे ब्रह्मा जी के समान ही दूसरे प्रजापति हैं! उनकी दिति नामक पत्नी में हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नाम के दो आदि दैत्य हुए। वे ही आपके प्रथम पूर्वज हैं। हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लादजी हुए, प्रह्लाद जी के विरोचन और विरोचन के आप। आपके भी ये आपके ही समान तेजस्वी, यशस्वी, दानी और शिवभक्त बाण आदि १०० पुत्र है। आपके कुल में शूरता दान, वीरता सनातन से परम्परागत चली आती है। आपके पिता पितामह की दान शीलता, वीरता और भक्ति का तो मैं यत् किञ्चित् दिग्दर्शन करा ही चुका हूँ, अब आप अपने प्रपितामहों की बात सुनिये।

आपके दो प्रपितामहों में से हिरण्यकशिपु बड़े थे, हिरण्याक्ष छोटे थे। हिरण्याक्ष इतने वीर थे, कि संसार में उनसे लड़ने

वाला तो दूर रहा, कोई सम्मुख खड़ा होने वाला भी नहीं था। इन्द्रादि लोकपाल उनका नाम सुनते ही थर थर कांप जाते थे। वे हाथ में गदा लिये हुये सम्पूर्ण संसार की दिग्विजय करते हुए घूमे सबसे वे युद्ध की याचना करते, सभी पैरों पड़कर उनसे क्षमा याचना करते। यहाँ तक साक्षात् विष्णु का भी उनसे लड़ने का साहस नही हुआ। सूअर का वेष बनाकर उनके भय से पाताल में जा छिपे। वह वीर उनका पता लगाते हुए पाताल में भी जा पहुँचा। क्योंकि युद्ध के लिये उसके हाथ खुजा रहे थे, अब होने लगी दोनों मे गुत्थम गुत्था। इस असुर वर वीर ने सूअर वेषधारी विष्णु के दाँत खट्टे कर दिये। जैसे तैसे उसे मार तो डाला, किन्तु उसके बल का स्मरण करके विष्णु अपने को पराजित ही मानते थे। युद्ध में विष्णु को ऐसा सन्तुष्ट कर दिया कि विष्णु सर्वत्र उनके बल की भूरि भूरि प्रशंसा करते थे।

जब उनके बड़े भाई हिरण्यकशिपु ने अपने छोटे भाई की मृत्यु की बात सुनी तो हाथ मे गदा लेकर वह विष्णु से लड़ने चला। तब तो विष्णु भगवान् की सिटिल्ली भूल गई। वह पराक्रमी वीर सीधा वैकुंठलोक में चला गया, कि मैं विष्णु को मारकर ही लौटूंगा।'

विष्णु ने देखा कि इस वीर से तो मैं किसी प्रकार जीत नही सकता। यह बिना मारे मेरा पीछा न छोड़ेगा। बाहर कहीं भी छिपूं यह मुझे खोज ही लेगा। क्योंकि इसकी दृष्टि बाहरी ही है। यही सब सोचकर विष्णु उसके हृदय में छिप गये। जैसे आँखों में को दिखाई नहीं देता वैसे ही हिरण्यकशिपु को हृदय में छिपे विष्णु

दिखाई नहीं दिये। उसने वैकुंठ में चारों ओर खोजा वहाँ विष्णु दिखाई ही न दिये। फिर उसने पृथिवी को छान डाला, स्वर्ग को खोजा, महाजन, तप, तथा सत्य, आदि लोकों में, दशों दिशाओं में, सातों, समुद्रों में, सातों पातालों में तथा सभी स्थानों में खोज की। विष्णु बाहर होतो मिले, वे तो भय से थर-थर काँपते हुए सूक्ष्म शरीर धारण करके हिरण्य-कशिपु के शरीर में प्रविष्ट हो गये थे। जब सर्वत्र खोजने पर भी उसे विष्णु न मिले, तो उसने गरज कर अहंकार के साथ कहा—"विष्णु को मैंने जीत किया, वह अवश्य मेरे भय से ही मर गया। कहीं होता तो दिखाई देता" इस प्रकार विष्णु से टक्कर लेने वाले तुम्हारे पूर्वज थे। उन्हीं के पुण्य-प्रभाव से प्रह्लाद जैसे विश्वविख्यात भगवद् भक्त उनके पुत्र उत्पन्न हुए। वैसे ही उनके पुत्र विरोचन हुए। एक बार विरोचन में और एक ऋषि पुत्र में झगड़ा होगया। विरोचन तो कहते थे, मैं बड़ा ऋषिकुमार कहते थे मैं बड़ा। दोनों ने ही प्रह्लाद जी को अपना पंच चुना। दोनों ने ही परस्पर में प्राणों का पण लगाया था। प्रह्लाद जी बड़े धर्म सकट मे पड़े, किन्तु उन्होने सत्य को धर्म को नहीं छोड़ा। निर्भय होकर यही निर्णय दे दिया कि विरोचन की अपेक्षा ऋषिकुमार ही श्रेष्ठ है। राजन्! आपके कुल की यह प्रथा है कि जो कह दिया सो कह दिया, जो दे दिया सो दिया। किसी को न तो आज तक निराश ही लौटाया और न किसी को वचन देकर उससे हटे हों।

आप भी-किसी से कम नहीं मैं तो कहूँगा, आपमे उन सब के समग्र गुण एकत्रित होकर आगये है। आपने अपने

बाहु बल से देवताओं को जीतकर स्वर्ग पर अधिकार कर लिया है, तीनों लोकों को अपने वश में कर लिया है। फिर भी आप विषय भोगों में लिप्त नहीं निरन्तर दान पुण्य और यज्ञयागों में ही संलग्न रहते हैं। सदा कल्पवृक्ष की भाँति याचकों के मनोरथों को पूर्ण करते रहते है। चन्द्रमा के समान सभी को शीतलता प्रदान करते हैं। सूर्य के समान सभी को प्रकाश देते हैं। आप पृथ्वी के समान सहनशील है, वायु के समान भोगों में निर्लिप्त हैं, जल के समान जीवों के जीवन हैं। आकाश के समान निर्मल हैं। यह सब गुरु कृपा का फल है। आपके गुरुदेव भगवान् शुक्राचार्य सर्वसमर्थ है। आपको हितकर धर्म की सदा शिक्षा देते रहते है। उन्ही की शिक्षा का यह फल है कि आपकी धर्म में ऐसी अविचल आस्था है।

श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन् ! उस छोटे से वामन् वटु के मुख से ऐसी धारा प्रवाह वक्तृता सुनकर गुणग्राही बलि चकित होगये। उनके मन में आया, इस मधुर भाषी बच्चे को सर्वस्व दान करदें। इसीलिये बड़े उल्लास के साथ बोले—"हे ब्राह्मण कुमार ! हे परमपूजनीय वटो ! हे ब्रह्मचारिन ! आप अपनी मनो कामना कहे आप इस बात की तनिक भी शंका न करें, कि मेरी इच्छा पूरी न होगी। आप जो भी माँगेंगे, वहा मैं बिना संकोच के दूँगा। आप संकोच छोड़कर अपनी इच्छित वस्तु माँगिये।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ? इतना सुनकर भी वटु चुप ही रहे, उन्होंने कुछ माँगा नहीं। राजा बलि उनसे बार बार आग्रह करते रहे।

छप्पय

नही दुबकि वे जोग ठौर देख्यो श्रीपति जब।
धारि सूक्ष्म तनु असुर हृदय महँ प्रविशेडरि तब॥
खोजे स्वर्ण पताल भूमि पै पतो न पायो।
समझि भगौड़ो छोड़ि लौटि अपने घर आयो॥
तुम उपजे तिहि वंशमहँ, विश्वविदित रणधीर हो।
याचक इच्छा कल्प तरु, सब दानिनि महँ वीर हो॥

वामन की बलि से तीन पग पृथ्वी की याचना

(५६२)

तस्मात् त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात् ।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र संमतानि पदा मम ॥*॥

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० १६ श्लो०

छप्पय

राजन् ! तुम तें तनिक भूमि हौं आयो याचन ।
केवल जपके हेतु लगै जामें सुख आसन ॥
दान ग्रहन आत अधम तऊ निर्वाह करन हित ।
लैवे महँ नहिं दोष अधिक तृष्णा है निंदित ॥
केवल अपने पांइ तें, तीन पैर पृथिवी चहूँ ।
अधिक लेउँ नहिं एक डग, सत्य सत्य भूपति कहूँ ॥

बड़े पुरुषों से छोटी वस्तु माँगना उनका अपमान करना है, किन्तु यदि माँगने वाला कपटी हो और उँगली पकड़ कर

* श्रीवामन भगवान् महाराज बलि से कह रहे हैं—"राजन ! आप समस्त वरदानियों में श्रेष्ठ है, इसीलिये मैं आप से थोड़ी सी पृथ्वी याचना करता हूँ । हे दैत्येन्द्र । केवल तीन पग पृथ्वी चाहता हूँ, सो भी अपने पैरों से ही नापकर ।

पहुचा पकड़ने का प्रयत्न करे, तो बड़े लोग संकट में पड़ जाते हैं, उनकी गति साँप छछुंदर की [illegible] है और न उगल हो सकते है। [illegible] वे हाँ ही कर सकते है और न नाही कर सकते हैं। किन्तु जो ज्ञानी मनस्वी होते हैं, वे प्राण रहते प्रण को नही छोड़ते, तभी तो उनकी कीर्ति संसार मे अमर हो जाती है, वे पराजित होने पर भी विजयी समझे जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् जब महाराज बलि ने बार बार वामन वटु से वांछित वस्तु माँगने का आग्रह किया तब वे महाराज बलि से बोले—"हे दैत्येन्द्र आप वरदानियों में विख्यात है तीनों लोको में आपकी विमल धवल कीर्ति व्याप्त है, सर्वत्र आके दान की प्रसिद्धि है, इसी से मै भी आपसे कुछ माँगने आया हूँ।"

यह सुनकर उल्लास के साथ बलि ने कहा—हाँ, हाँ, माँगिये ब्राह्मण ! मैं कितनी देर से प्रार्थना कर रहा हूँ, जो इच्छा हो सो माँगिये।"

वटु बोले—"मुझे कुछ पृथिवी दे दीजिये। बलि ने अत्यन्त हर्ष के साथ कहा—"सब पृथिवी महाराज आपकी है। कितनी आपको चाहिये ?"

वामन बोले राजन् ! मैं लोभी ब्राह्मण नहीं हूँ मैं आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं करता। मुझे आप मेरे पैरों से तीन पग नापकर पृथिवी दे दीजिये।

यह सुनकर राजा बलि बहुत हँसे और बोले—वृद्ध पुरुष जो कहते हैं वह मिथ्या नहीं है कि बच्चों की बुद्धि कच्ची

होती है। बातों में तो आप बूढ़ों के भी कान काट रहे थे, फिर भी बालकपने की बुद्धि कहाँ जा सकती है। अपने स्वार्थ में तुम निरे अबोध शिशु ही सिद्ध हुए। अजी, जब माँगना ही था और मुझ जैसे चक्रवर्ती राजा को अपनी सुन्दर युक्तियों और मधुर बातों से प्रसन्न कर लिया, तो फिर तीन पैर पृथिवी का क्या माँगना। समस्त पृथिवी माँगते। इतनी बड़ी पृथिवी न सही सातों द्वीपों में से किसी द्वीप का राज्य मांग लेते। माँगने भी आये तो तीन पग पृथिवी।"

यह सुन वामन बटु बोले—"राजन्! मांगना सबसे निकृष्ट कार्य है। ऋषियों ने दान लेने को बुरा बताया है उन्होंने अपरिग्रह व्रत की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यदि मांगे बिना काम न चले। दान लेना ही पड़े तो उतनी ही वस्तु ग्रहण करे जितनी से कष्ट सहित जीवन यापन हो जाय। यदि इस नियम से जो आवश्यक वस्तु का दान लेता है, तो उसे किसी प्रकार का दोष नहीं लगता।"

बलि बोले—"अच्छा यह तो ठीक ही है. किन्तु तीन पैर पृथिवी से क्या होगा उसमें। आप लेट भी तो नहीं सकते। कष्ट के अतिरिक्त आपको और क्या प्राप्त होगा। आपको कष्ट होगा फिर मेरे पास आवेंगे और कहेंगे—"इतनी से मेरा काम नहीं चलता ३ हाथ और दे दीजिये। उतनी से भी काम न चलेगा। कहाँ अग्नि होत्र करेंगे, कहाँ गौ रखेंगे, कहाँ कुँआ खुदावेंगे, कहाँ पेड़ लगावेंगे, कहाँ कथा वार्ता के लिए पीठ बनावेंगे, विद्यार्थी आगये तो कहाँ उन्हें पढ़ावेंगे, फिर आप मेरे पास आवेंगे। इस बार बार के झंझट से तो यही उत्तम

है आप एक बार यथेच्छ मांगलें। मैं दान देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखता हूं कि न्यून से न्यून इतना दान याचक को अवश्य दिया जाय, कि उसे अपने जीवन में फिर किसी के सम्मुख हाथ न फैलाना पड़े, फिर किसी से याचना न करनी पड़े। आप और अधिक पृथिवी मांग लीजिये। नन्हें नन्हें से तो आपके पैर हैं इनसे नापोगे, तो कितनी पृथिवी आवेगी।"

यह सुनकर वामन बोले—"देखिये, राजन्। सब मनुष्य अपने हाथों से ९६ अंगुल के होते है, बड़े पुरुषों की बड़े उँगलियाँ होती हैं, छोटों की छोटी। मैं छोटा हूँ, मेरे पैर भी छोटे हैं। मुझे तो केवल बैठकर जप करना है दूसरे की भूमि में जप तप करने से आधा भाग भूमि के स्वामी के पास चला जाता है। अतः मैं केवल बैठने योग्य ही भूमि चाहता हूँ।"

बलि ने कहा—'महाराज। यह सब तो सत्य है, किन्तु उतनी भूमि तो मांगो जिससे पूर्ण सन्तुष्टि हो सके?'

इसपर वामन बोले—"राजन्! मुझे आप किसी एक का नाम बता दीजिये, जिसकी पृथिवी से तुष्टि हुई हो। जो तीन पग से सन्तुष्ट नहीं हुआ, वह सातद्वीप नव खंड वाली इस पूरी पृथिवी को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। मनु प्रियव्रत, गये, भगीरथ, रावण, हिरण्यकशिपु आदि बड़े बड़े तेजस्वी प्रतापशाली राजा हुए हैं। ये सप्तद्वीपवती पृथिवी के स्वामी कहे जाते थे, सातों समुद्रों वाली इस वसुन्धरा पर उनकी आज्ञा मानी जाती थी, किन्तु वे भी अंत तक तृष्णा के वशीभूत होकर पृथिवी के ही लिये लड़ते रहे। उनकी तृष्णा शान्त

नहीं हुई। इन विषयों को जितना ही भोगो उतनी ही अधिक तृष्णा बढ़ेगी महाराज ययाति ने अपनी वृद्धावस्था अपने छोटे पुत्र को देकर उसकी युवावस्था से यथेष्ट भोगों को भोगा। अन्त में उन्होंने यही कहा—विषयों की प्रचुरता में सुख नहीं, शांति नहीं, सन्तोष नहीं, तृप्ति नहीं। उनके उपभोग से तो तृष्णा और अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। अतः राजन्! मैं तीन पग पृथिवी से तनिक भी अधिक ग्रहण न करूँगा।"

बलि ने कहा—"भगवान्! मुझे तो कोई आपत्ति ही नहीं। आप तीन पग लीजिये, तीनों लोकों को लीजिये, मैं तो सभी प्रकार से तैयार हूँ। किन्तु यह मेरी पद प्रतिष्ठा के विरुद्ध बात है। आप तो छोटे हैं छोटी वस्तु मांगने में सङ्कोच नहीं करते किन्तु मेरे लिये तो यह अपमान की बात है। आप मेरे अनुरूप दान मांगिये।"

कपटी वामन बोले—राजन्! मैं तो ब्राह्मण हूँ। ब्राह्मण का मुख्य धन तो सन्तोष है। ब्राह्मण ने जहाँ आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह किया। जहां उसने लोभ बढाया, वहाँ उसका पतन अनिवार्य है। ब्राह्मणों को तो जो भी कुछ प्राप्त हो जाय। उसी में सन्तोष करना चाहिये। असन्तोष से उसका तेज उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे पानी से अग्नि नष्ट हो जाती है। जब मेरा काम तीन पग पृथिवी से ही निकल जाय तो अधिक याचना क्यों करूँ? अधिक संग्रह कर पाप का भागी क्यों बनूँ?"

दैत्यराज बलि बालक की ऐसी हठ देख कर बोले—"संसार में तीन हठ प्रसिद्ध हैं, राजहठ, त्रियाहठ और बालहठ।

राजा तो मैं स्वयं हूँ इसलिये अपने हठ का मुझे स्वयं ज्ञान नहीं। मेरी रानी ऐसी पतिव्रता है कि वह कभी मुझसे हठ करती नहीं। सदा मेरी हां में हां मिलाती रहती है। इसीलिए उसका भी मुझे विशेष अनुभव नहीं, किन्तु बालहठ तो आज मैंने प्रत्यक्ष देख लिया। चार चार अंगुल के नन्हे नन्हे कमली पंखुडियों के समान कोमल तो इस ब्राह्मण कुमार के चरण। उनसे ही नापकर यह पृथिवी लेना चाहा है। सो भी, लाख दो लाख हजार दो हजार पग नहीं केवल तीन पग ही चाहता है। मुझे देने में लज्जा लगती है और कहने में भी। फिर वामन से बोले—"ब्रह्मचारी! भैया और कुछ मांगलो।"

हठपूर्वक कपटी ब्राह्मण बोले—राजन्! मेरा कार्य तो इतने से ही पूर्ण हो जायगा। क्योंकि अपनी आवश्यकतानुसार ही अर्थ संग्रह करना उचित है, धर्म सङ्गत है न्याय है।"

हँसकर बलि बोले—"अच्छी बात है महाराज! लेलो, तीन पैर ही पृथिवी। किन्तु नापते समय कुछ बढ़ा लेना।"

वटु वामन हँसते हुए उपेक्षा के स्वर मे बोले—"सो तो देखा जायगा। आप पहिले सङ्कल्प तो करें। पीछे जो कुछ होगा, उसे आप स्वयं ही देखेंगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वामन की यह बात सुनकर बलि महाराज उन्हें पृथिवी देने को उद्यत हुए। शुक्राचार्य तो इस वटु वामन के यथार्थ रूप को जानते थे। उन्हें तो पहिले ही पता था, यह ठग विद्या कर रहा है। मेरे चेले

का सर्वस्व अपहरण करना चाहता है। अतः वे राजा बलि को सङ्कल्प करने से रोककर उन्हें नीति की बात समझाने लगे।

छप्पय

हँसि बलि बोले बटो ! बात वृद्धनिवत भाखो।
किन्तु स्वार्थ महँ बुद्धि तनिक वामन नहिं राखो ॥
मोकूँ करि सन्तुष्ट तीनि पग पृथिवी भिक्षा।
माँगी, मानों मिली नही स्वारथ की शिक्षा ॥
कपटी वटु बोले विभो, हौ लोभी वामन नही।
तुरत देहु, संदेह मन, फिर नाहीं करदें कही ॥

शुक्राचार्य का शिष्य को समझाना

(५६३)

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम् ।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥*

(श्री भा० ८ स्कं० १९ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

लै सुवर्ण जल पात्र कहैं बलि–अच्छा, लीजै ।
शुक्र बीच महँ रोकि कहें नृप भूमि न दीजै ।
यह बटु वामन नहीं बदलि कें वेष बनायो ।
कमलापति यह विष्णु कपटतें ठगिवे आयो ॥
जब फैलावे पैर जिह, बटु विराट बनि जायगो ।
राज्य भ्रष्ट असुरनि करै, अमरनि अधिप बनायगो ॥

यजमान के हित में जो आगे रहे वही पुरोहित कहलाता है । यजमान और पुरोहित का सम्बन्ध पिता पुत्र का सा होता है । पुरोहित के पुत्र पुत्रियों से भाई बहिन का सम्बन्ध होता

*महाराज बलि को समझाते हुए शुक्राचार्य कह रहे हैं–राजन् ! तुम इन्हें साधारण ब्राह्मण मत समझो ये तुम्हारे स्थान, ऐश्वर्य लक्ष्मी और विश्व विख्यात यश को छीनकर इन्द्र को दे देंगे । ये माया से वामन बने हैं । वास्तव में ये हैं साक्षात् श्रीहरि ही ।

है। यजमान के घर को पुरोहित अपना घर समझते हैं, उसके हित में सदा तत्पर रहते है। यजमान भी बिना पुरोहित के पूछे कोई इहलोक या परलोक सम्बन्धी कार्य नहो करता। पिता की आज्ञा तो टाली भी जा सकती है, किन्तु पुरोहित की आज्ञा टालना असम्भव है। ऋषि वसिष्ठ ने अपने यजमान महाराज से कह दिया तुम्हारे पुत्र ने धर्म विरुद्ध कार्य किया है श्राद्धी पदार्थ में से बीच में से ही कुछ खा लिया है इसे अपने राज्य से निकाल दो!" इतने से छोटे अपराध पर अपने राज्य के अधिकारी युवराज्य को सदा के लिये देश निकाला दे देना यह कहाँ का न्याय है?" किन्तु इसे पूछे कौन? पुरोहित की आज्ञा के विरुद्ध बोले कौन?" राजा ने उसे निकाल दिया। कहने का सरांश इतना ही है, कि यजमान पुरोहित की समस्त आज्ञाओं का बिना ननु नच के पालन करते थे और पुरोहित भी अपना तप, तेज, लगाकर निरन्तर यजमान के हित की ही बात सोचा करते थे। उसकी उन्नति को अपनी उन्नति और उसकी अवनति को अपनी अवनति मानते थे। इसीलिये यह सम्बन्ध बड़ा पवित्र समझा जाता था। कालक्रम से यह सम्बन्ध लोप होगया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब बहुत देर तक वाद विवाद होता रहा और वामन अपनी तीन डग पृथिवी पर ही अडिग बने रहे, तब बलि ने कहा—अच्छी बात है, महाराज, जैसी आपकी इच्छा। लो, तीन ही पग पृथिवी ले लो। मेरे राज्य में जहाँ भी चाहो तीन डग नाप लो। मैं हाथ में जल लेकर संकल्प करता हूँ।" इतना कहकर ज्यों ही उन्होंने सुवर्ण की झारी में से जल लेकर शुक्राचार्य से संकल्प करने को कहा,

त्यों ही शुक्राचाय सूखी हँसी हँसकर बोले—"राजन् ! आप कर क्या रहे हैं ?"

उल्लास के साथ बलि ने कहा—भगवान् ! आप देख नही रहे है, कैसा सुन्दर तेजस्वी तपस्वी, ब्राह्मण, बालक है, इसे भूमि दान कर रहा हूँ।"

दृढ़ता के स्वर मे शुक्राचार्य ने कहा—"नही, संकल्प की कोई आवश्यकता नही। इनको भूमि दान करना उचित नही।"

यह सुनकर महाराज बलि तो आवाक् रह गये। दान देने मे गुरुजी ने आज तक कभी मना नहीं किया था, आज यह नई आज्ञा कैसी ? विस्मित होकर दीनता के स्वर में कहा—"एक तो बेचारे ब्राह्मण कुमार ने स्वयं ही बड़े संकोच के साथ बहुत कम भूमि माँगी है, तिस पर भी आप उसे देना नहीं चाहते। बात क्या है ?"

शुक्राचार्य ने कहा—"बात क्या है, ब्राह्मण हो, तो उसे दें। यह तो ठगिया है। कपट वेष बना रखा है। यह विष्णु है विष्णु। बौना बन कर नट की भाँति लीला कर रहा है। यह अपने को छिपाना तो बहुत चाहता है, किन्तु मुझ से कहीं छिप सकता है। मैं इसकी सब करतूतें जानता हूँ। मुझे इसकी छटी तक का पता है। यह महा मायावी है। तुम्हारे बाप को आधासिंह और आधापुरुष बन कर मारा तुम्हारे बड़े बाबा के छोटे भाई को सूअर बनके पछाड़ा। तुम्हें यह बौना बनकर ठगने आया है। मैं अपने सम्मुख अन्याय न होने दूंगा। मैं पृथ्वी दान न देने दूंगा।

बलि ने सरलता के साथ कहा—"क्यों किसी पर व्यर्थ शंका करते हो, यों संदेह किया जाय, तो सभी पर किया जा

सकता है। कोई भी क्यों ने हो भिखारी वन कर आया है। तीन ही डग तो पृथिवी माँगता है। दे देने दो।"

अपनी बात पर बल देते हुए शुक्राचार्य बोले—"तीन डग के ही भरोसे में मत रहना। यह तीन पैर में ही सब कुछ ले लेगा। तीन पैर में ही यह त्रिलोकी को नाप लेगा। तुम्हारा घर, द्वार, यश, ऐश्वर्य, धन, लक्ष्मी तथा सर्वस्व छीनकर यह देवताओं को दे देगा। मुझसे इसकी कोई बात छिपी थोड़े ही है। यह कश्यप जी के वीर्य से अदिति के उदर से उत्पन्न हुआ है इसके जन्म का एक मात्र उद्देश्य है देवताओं का कार्य साधना। असुरों से सब सम्पति को अपहरण करके सुरों को प्रदान करना। इसे तुमने कुछ दे दिया तो मानों सर्वस्व दे दिया। फिर असुरों का क्षेम नहीं, कल्याण नहीं, ऐश्वर्य नही, वृद्धि नही, राज्य नही। जैसे आज देवता मारे मारे फिर रहे है वैसे फिरेंगे। अतः मैं अपनी शक्ति रहते इसे दान न देने दूँगा।

वलि को ये बातें सुनकर बड़ा दुःख हुआ और बोला—अजी, इस छोटे से बच्चे के सामने ऐसी रूखी रूखी बातें क्यों कर रहे हो। बच्चा तो पहिले संकोच के कारण माँगता ही नहीं था मेरे बहुत कहने पर तो उसने मांगा, तिस पर भी आप रोड़े अटका रहे हैं। यह लोकोक्ति सत्य है, कि "ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को देखकर कुत्ते की तरह घुर घुराते हैं।" अब कोई भी हो, एक बार प्रतिज्ञा करके मना कैसे की जा सकती है। क्या आप यह चाहते हैं, मैं झूठा बनूँ? अपनी प्रतिज्ञा को पूरी न करूँ?"

शुक्राचार्य गम्भीरता के साथ बोले—"अरे पगले! जिसे ये झूठा बनाने पर तुल जायँ वह सच्चा बन ही कैसे सकता है।

जिसकी प्रतिज्ञा को ये विफल करना चाहें वह सफल हो ही कैसे सकती है। तैने इन्हें तीन पग पृथिवी देने की प्रतिज्ञा की है। ये जो तुझे इनके छोटे-छोटे कमल की पंखुड़ियों के सामन पैर दीख रहे हैं, ये तो बनावटी पैर है। नापते समय देखना तू। ये विश्व व्यापक वटु एक पैर से तो सम्पूर्ण पृथिवी को पाताल सहित नाप लेगें और दूसरे से आकाश में स्थित समस्त लोकों को। दो ही पैरों से ये ऊपर नीचे समस्त विश्व ब्रह्मांड को नाप ले गे। फिर तीसरा तू कहां से देगा। झूठा तो तुझे बनना ही है। तीन पैर दान देकर तू न दे सकेगा तो नरकमें जायगा। प्रतिज्ञा करके न देने वाले पापियो को जो यातनायें सहनी पड़ती हैं, वे तुझे सहनी पड़ेगी। यदि झूठा बनना ही हैं, तो अभी से कह दे कि महाराज, इतना मैं नही दे सकता।" बात तो एक ही हुई, तू जितना ये माँगता है, उतना दे ही नही सकता।

दीनता के साथ बलि ने कहा—"ऐसा मत कहो गुरुदेव! अब एक बार ही मुँह से जो बात निकल गई उसका तो शक्ति भर पालन करना ही चाहिये।

शुक्राचार्य ने डाँटते हुए कहा—"अरे, तू बडा पगला है रे! मुँह से तो हँसी में जाने क्या क्या निकल जाता है। आदमी को अपना हित सोचना चाहिये।"

बलि बोले—"महाराज! आप तो बार बार मुझे यही शिक्षा दिया करते थे कि दान की जड़ हरी होती है। नौका मे पानी बढ़ जाय, और घर में धन बढ़ जाय तो उसे लोभ से रखना न चाहिये। उलीच देना चाहिये। दान से धन की वृद्धि होती है। इस लोक में कीर्ति और परलोक मे सुख मिलता है।"

शुक्राचार्य ने कहा—"भाई, इस बात को तो मैं अब भी कहता हूँ, दान करना बुरी बात नहीं किन्तु पहिले आत्मा तब परमात्मा। अपनी आजीविका की रक्षा करके जो बचे उससे दान पुण्य करना चाहिये। घर में लोग भूखों मर रहे है, हम दान पुण्य कर रहे हैं, तो वह दान नही, पुण्य नहीं। पाप है, अधर्म है। जो अपने आश्रित है, पहिले उनकी रक्षा करना कर्तव्य है। पडितजन उस दान की प्रशंसा नही करते, जिससे अपनी आजीविका नष्ट हो जाय। आपके पास १००) प्रति मास की आय है। उसमें से २०) आप दान पुण्य करते है शेष से घर गृहस्थी का काम चलाते हैं, तो यह उचित है। एक साथ ही आपने सब दे डाला तो आप परिवार सहित स्वयं भूखों मरेंगे, मारे मारे फिरेंगे। दान पुण्य तो छूट ही जायगा। स्वय दूसरों से याचना करेंगे। यह धर्म नही अधर्म है। जो आजीविका युक्त पुरुष है वही दान, यज्ञ, तप और सत्कर्मों का अनुष्ठान कर सकता है।"

बलि ने कहा—"इससे अच्छी और क्या बात है, अपना सर्वस्व दान धर्म में लग जाय।"

शुक्राचार्यजी ने अत्यंत ममत्व के साथ कहा—भैया, त्यागी विरागियों के लिये तो यह बात उचित हो भी सकती है, किन्तु गृहस्थियों के लिये यह बात उचित नहीं है।

बलि ने कहा—"गृहस्थियों के लिये क्या उचित है ?

शुक्राचार्य ने कहा—"उनको व्यवहारिक धर्म का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। धर्म समझ कर किसी बात पर हठ न करनी चाहिये।

बलि ने कहा—"महाराज। व्यावहारिक धर्म क्या होता है ?

शुक्राचार्य जी ने कहा—"अच्छा सुनो, मैं तुम्हें व्यावहारिक धर्म बताता हूँ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यह कहकर शुक्राचार्य महाराज बलि को व्यावहारिक धर्म का उपदेश देने लगे।

छप्पय

धर्म भीरु बलि कहै-गुरो ! क्यों पाप कमावै।
दान धर्म महँ व्यर्थ आप रोड़ा अटकावै॥
वैसे ही वटु सकुचि बहुत धन दान न चाहैं।
उलटी पड़ी तऊ आप पुनि मोइ पढ़ाएँ॥
भई कहावत सत्य यह जो प्रसिद्ध जग बात है।
वामन वामन कूँ लख, कूकरवत गुर्रात है॥

शुक्राचार्य का व्यावहारिक धर्म

(५६४)

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

बोले शुक्राचार्य व्यर्थ तू बात बनावै ।
धर्म मर्म बिनु लखे मोइ उपदेश सिखावै ॥
अर्थ वृद्धि, यश, भोग, धर्म अरु स्वजन हेतुनर ।
करें द्रव्य व्यय सदा गृहीको यह मग सुखकर ॥
अन्न वस्त्र बिनु नारि अरु, बच्चे भूखे घर मरें ।
कर दान यश हेतु जे, तिन की निन्दा बुध करें ॥

एक तो विशुद्ध धर्म है, जिसमें कुटुम्बियों का, प्राणों का कुछ भी लोभ नहीं । जो यथार्थ छल कपट रहित धर्म है उसी का

* शुक्राचार्य जी बलि को व्यावहारिक धर्म का उपदेश देते हुए कह रहे—"राजन् ! जो आदमी अपने धन का ५ भाग करके उसे धर्म में, यश कार्यों में, धन की वृद्धि में, कामोपभोग में और स्वजनों की उन्नति में व्यय करता है, वह इस लोक और परलोक में सुख पाता है ।

पालन करना। दूसरा व्यावहारिक धर्म है 'हाथ पाँव को बचाना मूँजी को टरकाना।' विशुद्ध धर्म में कर्तव्य ही प्रधान होता है। हरिश्चन्द्र ने सत्य पालन को ही धर्म समझा था, इसके पीछे उन्होंने राज्य छोड़ दिया, देश छोड़ दिया, स्त्री बेच दी, बच्चा बेच दिया, स्वयं बिक गये, किन्तु धर्म को नहीं छोड़ा। जो व्यावहारिक धर्म का पालन करते हैं, वे तब तक धर्माचरण करते हैं जब तक अपने योग क्षेम में किसी प्रकार का अन्तराय उपस्थित नहीं होता। यदि अपने जीवन पर या अपनी वृत्ति पर व्याघात देखते है, तो वे धर्म से कुछ हट भी जाते हैं। नीतिकारों ने उसी धर्म का आश्रय लिया है। उनका मत है कि मनुष्य यदि जीता रहेगा, तो जीवन में सैकड़ों मंगल मय धर्म कार्यों को करेगा, देखेगा। एक बात पर प्राण गवाँ देना बुद्धिमत्ता नहीं।

श्री शुकदेवजी कहते है—'राजन्! जब महाराज बलि ने व्यावहारिक धर्म की जिज्ञासा की, तब शुक्राचार्य जी कहने लगे—"देखो, राजन्! गृहस्थी के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं कि अपने पेट को भरले। उसे अपनी आय के पाँच भाग करने चाहिये, तथा उन पाँचों भागों को पांच कार्यों मे व्यय करना चाहिए।

बलि ने पूछा—"गुरुदेव! पाँच कार्य कौन-कौन से है। इसे मुझे भली भाँति समझावें।

शुक्राचार्य बोले—"देखो, जैसे किसी की आय ५००) मासिक की है, तो उसे १००) धर्म कार्यों में व्यय करने का अधिकार है। क्योंकि बिना धर्म किये मनुष्य शुष्क प्रकृति का दयाहीन होता है। परलोक में धर्म ही साथ जाता है। जो हम यहाँ

करेंगे, उसे ही परलोक में पावेंगे। यह एक प्रकार से परलोक गत कोष है।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! परलोक गत धर्म-कोष कैसा ?"

यह सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"महाराज ! एक सेठ जी बड़े कृपण थे। उनके घर एक बड़ी धर्म बुद्धि वाली बहू आई। उसने देखा घर में कुछ भी दान पुण्य नही होता, तब तो वह एकान्त में जाकर कुछ देर रुदन करती। उसके समुर ने पुछवाया, कि बहूँ को कौन सा कष्ट है जो नित्य रोती है। मेरे यहाँ किसी वस्तु को कमी तो है नही। उसे जो आवश्यकता हो बतावे।

बहू ने यह सुनकर अपने ससुर से कहला दिया—"मुझे यह कष्ट है, कि नित्य ही बासी रोटी खाते खाते मेरा चित्त ऊब गया है। यहाँ के सब लोग बासी रोटी खाते है और कुछ कोष जमा नहीं करते।"

यह सुनकर सेठ ने कहा—"बहू कैसी बातें कर रही है मेरे यहाँ तो कोई बासी रोटी नही खाता। मेरे पास करोड़ों रुपये जमा हैं।"

बहू ने कहा—"ये जो खा रहे है, पूर्व जन्म में जब दान पुण्य किया होगा, तभी तो खा रहे हैं। पूर्व जन्म के दिये हुये का अब उपभोग करना यह तो बासी भोजन ही हुआ। आप जो यहां जमा कर रहे है वह तो यहाँ का यहीं रह जायगा, परलोक के लिये आपके यहाँ कुछ नहीं होता। न दान न पुण्य।"

वहू की ऐसी बात सुनकर ससुर लज्जित हुआ और अपनी आय का पाचवां भाग दान पुण्य में वहू की सम्मति से दान करने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् ने जिसे सामर्थ्य दी है वह यदि दान पुण्य नही करता, परलोक के लिये कुछ पाथेय नही रखता तो उससे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं है। इस विषय मे एक मनोरंजक इतिहास सुनिये।

एक सेठजी थे। उनके यहा एक नौकर रहता था। नौकर ग्रामीण था बडा सीधा सादा धार्मिक-विचार का भक्त था। प्रायः लोग सीधे धार्मिक लोगों की हँसी उड़ाया करते हैं। उन्हे मूर्ख भौंदू बनाने में उन्हें आनन्द आता है ? नौकर पुराना था, सीधा था, स्वामी के मुँह लगा था। घर के ही आदमी की तरह रहता था। वह पैसा जोड़ता नही था। जो मिलता था दान पुण्य मे व्यय कर देता। सेठ जी कुछ कृपण थे। इधर से भी धन आवे, उधर से भी आवे, वह कोठी भी मिल जाय, यह भी मिल जाय इसी चिन्ता में रहते। जब कुछ समय मिलता, उस नौकर से हँसी ठट्ठा कर लेते।

एक दिन सेठजी को टेंढ़ामेंढ़ा सुन्दर सा एक डंडा मिल गया। उसे उन्होंने अपने नौकर को देते हुए कहा—"देखो, यह विचित्र डंडा है, जो तुम्हें अपने से मूर्ख जान पड़े उसे तुम इसे दे देना।"

सेवक ने कहा—"बहुत अच्छा महाराज।" यह कहकर उसने डंडा ले लिया। अब जब भी वह सामान लेने बाजार जाता उस डंडे को साथ ले जाता। सेठ जी उससे नित्य पूछते—"कहो कोई मिला तुमसे अधिक मूर्ख ?"

तब सेवक कहता—"नहीं श्रीमान् ! अभी तक तो कोई मिला नहीं।" यह सुनकर सेठ जी हा हा करके हँस जाते। उनके लिये यह नित्य ही विनोद की सामग्री बन गई।

एक दिन सेठ जी को विशूचिका (हैजा) हो गई चिकित्सकों ने निराशा प्रकट की। सेठ जी को भी निश्चय हो गया कि अब मैं नहीं बचने का। उनका प्यारा सेवक भी उनकी सेवा में संलग्न था। बड़ी कातर वाणी मे सेठ जी ने कहा—"घासीराम ! हम अब चले।"

घासीराम ने कहा—"मैं भी चलूंगा सेठ जी आपके साथ।

सूखी हँसी हँसकर सेठ जी ने कष्ट से कहा—"अरे, वहाँ कोई साथ नहीं जाता।"

तब घासी ने कहा—"अच्छी बात है यह घोड़ा गाड़ी तो साथ चलेगी ही ?"

सेठ जी को बोलने में कष्ट हो रहा था—"उन्होने सिर हिला दिया।" किन्तु घासी तो मूर्ख ठहरा वह चुप न रहा, कहने लगा—"सेठ जी ! गाड़ी घोड़ा न चलेंगे तो कैसे काम चलेगा, सब रुपये भी लेते चलें, घी, बूरा, चावल, मसाले, गदा तकिया, बिछौने और जो जो आप कहें सबको मैं बाँध लूँ।"

सेठ जी ने कष्ट से कहा—"तू भोंदू ही रहा। अरे, वहाँ कुछ नहीं जाता। यह शरीर भी यहीं पड़ा रह जाता है केवल पुण्य पाप साथ जाते हैं।"

तब घासीराम ने डंडा लेकर सेठ जी के हाथ में थमाते हुए कहा—"अच्छी बात है, तो इस डंडे को आप ही सम्हालें। मुझसे मूर्ख तो आप ही दिखाई देते हैं, जो यह सब जानकर भी इन मिट्टियों के ठीकरों के लिये सदा मरते रहे, परलोक के

लिये दान पुण्य कुछ भी न किया ।" यह बात उपर्युक्त समय पर कही गई थी। सेठ जी के मन में बैठ गई। भगवान् की कृपा से वे अच्छे हो गये और आगे से दान पुण्य करने लगे।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! इसलिये अपनी आय का पांचवां भाग धर्म कार्यों में अवश्य व्यय करना चाहिये।" इसीलिये शुक्राचार्य ने अपनी आय का पंचमांश धर्म कार्यों में व्यय करने को कहा।

शुक्राचार्य जी महाराज बलि को नीति का उपदेश देते हुए कह रहे है—"राजन् ! ५००) मासिक आय में से १००) तो धर्म कार्यों में लगावें । १००) रुपया यश बढ़ाने के कार्य में लगावें क्योंकि संसार में जिसका यश नहीं वह जीवित भी मृत के समान है। उसके मनुष्य होने में कौन सी विशेषता है। सूकर कूकर भी तो पेट भर लेते है। इसलिये यशोपार्जन के लिये अपनी आय का पंचमांश लगावे। विद्यार्थियों को सहायता दें। अन्नक्षेत्र लगादें, दातव्य औषधालय बनवा दें, धार्मिक पुस्तकों के प्रसार में व्यय करे। जिस शुभ कार्य से भी यश बढ़े उसी मे लगावें।

एक पंचामांश को फिर धन बढ़ाने के ही लिये उसी में लगावे। इससे धन नित्य प्रति बढ़ता जाय, मूल धन की वृद्धि होती रहे। १००) उसमें लगावे। १००) अर्थात् आय का पचमांस अपनी शरीर और शरीर से सम्बन्ध रखने वालों के सुखोपभोग में लगावे। गद्दा, तकिये, वाहन, सवारी विविध भांति खाने पीने की वस्तु, संगीत तथा अन्य मनोरंजनों के कार्यों में व्यय करे। धन पाकर जिसने उसका उपभोग नहीं किया, तेली के बैल की भांति निरंतर कोल्हू मे ही जुतता रहा, तो

उसका धन होना न होना बराबर है ?" उसमें और नौकर मुनीमों में अन्तर ही क्या रहा ?" इसलिये पंचमांश से सुखोपभोग भी करना चाहिये।

शेष पंचमांश को अपने स्वजन बन्धु बान्धवों और जाति कुल वालों की सहायता में व्यय करना चाहिये। अपने तो सुख भोग रहे है हमारे स्वजन कुल परिवार वालों को भोजन भर को भी नहीं ऐसे लोगो की यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये। कुल वाले सम्पन्नों से मन ही मन आशा लगाये रहते हैं, कि हमारे दूसरे भाई सम्पन्न हैं, हमारी सहायता करेंगे। जिसने जन्म लेकर योग्यता प्राप्त करके अपने कुल वालों की सहायता नहीं की उसका जन्म और विद्या तथा योग्यता सब व्यर्थ हैं। इसलिये राजन् ! कुल की उन्नति में पंचमांश अवश्य व्यय करे।

शुक्राचार्य कह रहे हैं—"राजन् ! गृहस्थी को इसी प्रकार अपनी आय को व्यय करना चाहिये। धन सम्पत्ति पर उसका अकेले ही अधिकार नही है। परिवार वालों के सभी लोगों का उस पर अधिकार है। यह जो तीन पग पृथिवी बौना वामन मांग रहा है यह तो दो पैरों में ही आपका सर्वस्व ले लेगा सर्वस्व देने का आपको क्या अधिकार है ? इसीलिये मैं मना करता हूँ, कि आप इसके चक्कर में न फंसे। इसे पृथिवी आदि का सकल्प न करें।

महाराज बलि ने कहा—"भगवान् ! हाथ में जल कुशा लेकर ही संकल्प थोड़े ही कहाता है। मन से हमने संकल्प कर लिया यह वस्तु देनी है अथवा वाणी से कह दिया हम आपको देगे, तो यह संकल्प हो गया। जल कुशा लेकर मन्त्र पढ़ना तो उसकी पुष्टि मात्र है शारीरिक क्रिया है। मैं मन से और वचन से तो

संकल्प कर ही चुका हूँ। अब यदि संकल्प करके नहीं देता, तो भी नरक का गामी बनूँगा। तो क्या आपके किसी शास्त्र में ऐसा लिखा है, कि संकल्प करके भी न देना।"

शुक्राचार्य ने कहा—"हाँ, क्यों नहीं! यह तो वेदों का मत है।"

हँसकर महाराज बलि बोले—"ब्रह्मन्! यह वेद में लिखा है, या लवेद में? किस वेद में ऐसी बात लिखी है।"

शुक्राचार्य ने कहा—"ऋग्वेद की कई ऋचाओं में मेरी बात की पुष्टि की गई है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ, सुनिये।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह कहकर शुक्राचार्य अपने कथन की पुष्टि में वैदिक ऋचाओं के मनमाने अर्थ करने लगे।

छप्पय

घर महँ बालक नारि मातु पितु तजि के भाई।
बिनु पूछे जो दान करै सो पाप कमाई॥
बोले बलि गुरुदेव! दान दै दीन्हों मनतैं।
अब कस झूठो बनूँ ब्रह्मचारी बामन तैं॥
कहि कै देऊँ दान नहिं, तो पीछे पछिताऊँगो।
दोषी हौं ह्वै जाऊँगो अन्त, नरक महँ जाऊँगो॥

शुक्राचार्य द्वारा गोलमोल धर्म

(५६५)

पराग् रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत् तदोमिति ।
यत्किंचिदोमिति ब्रूयात् तेन रिच्येत वै पुमान्॥
भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० ४१ श्लोक)

छप्पय

सुनि कै शुक्राचार्य कहैं तू धर्म न जानै ।
धर्म तत्व अति गूढ़ विज्ञ नर ही पहचानै ॥
'हा देंगे, ये वचन, अर्थ व्यापक के द्योतक ।
सदा कहै नहिं देहिं धर्म यश के ये शोषक ॥
बिनु विचार दै देहिं जे, ते पीछें माँगत फिरहिं ।
ऐसे दाता कूं सदा, भिक्षुक नितई तंग करहिं ॥

वेद शास्त्र में अनेक प्रकार के बचन होते हैं। उनमें सभी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपने मत को पुष्ट करते है।

*श्री शुक्राचार्य बलि को समझाते हुये कह रहे हैं—"देखो, राजन् ओम् अर्थात् हां देंगे। यह शब्द अपूर्ण है दूर का द्योतक है और खाली करने वाला है। जो कुछ है वह दे देंगे ऐसा कहने वाला पुरुष सर्वत्र रिक्त हो जाता है। जो भिक्षुक के आते ही कह देता है सब देंगे, वह अपने भोगों को भी सुरक्षित नही रख सकता ।

भगवान् वेद व्यास रचित ब्रह्म सूत्र एक ही हैं उस के भिन्न भिन्न आचार्य भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं। कोई उनमें से द्वैत निकालते हैं, कोई अद्वैत कोई विशिष्टाद्वैत, तो कोई शुद्धाद्वैत। इस प्रकार सभी उनसे अपने मत को स्थापित करते हैं।

यह जगत् त्रिगुणात्मक है इसी प्रकार वेद त्रैगुण्य विषय वाले है, जो जैसे गुण वाला होगा वेदों से वैसा ही भाव ग्रहण करेगा। पंसारी की दूकान पर त्रिफला (सौंठ, मिरच पीपल) आदि रसायनिक वस्तुएँ भी हैं, और कुचला संखिया आदि विष भी। सभी प्रकार के मसाले हैं, अन्य वस्तुयें हैं जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, वह उसे ही ले आवेगा इसी प्रकार वेद में कुछ ऐसी व्यावहारिक बातें भी हैं, जो किसी भी अभिप्राय से कही गई हों किन्तु कुछ नीतिज्ञ उन्हें ही अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त परम प्रमाण मान कर उपदेश देते हैं।"

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन् ! असुराधिप महाराज वलि ने जब अपने गुरु से यह कहा कि वामन को तीन पग पृथिवी देने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अब उसे न देकर प्रतिज्ञा का उल्लंघन करके मिथ्या भाषण का अपराध कैसे कर सकता हूँ, तो इस पर शुक्राचार्य कहने लगे—राजन् ! सत्य क्या है, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। कभी कभी सत्य सी दिखाई देने वाली बात असत्य हो जाती है। कभी कभी असत्य सी प्रतीत होने वाली ही बात सत्य मानी जाती है।"

वलि ने कहा—"महाराज, ऐसा तो सन्देह वाक्यों में सम्भव है, यहां तो स्पष्ट है। एक बार हमने किसी वस्तु के विषय में

याचक से कह दिया "हाँ देंगे" फिर उसे न देना, यह तो निर्विवाद असत्य है। आप मुझसे असत्याचरण क्यों करा रहे हैं।

शुक्राचार्य ने डांट कर कहा—"देखो, भैया ! लड़कपन तो करो मत। बात को समझो। जिसे "हां" कहकर स्वीकार किया जाता है, वह सत्य है। "ब्रह्म है" यही सत्य है, जिसे "ना" कहकर निषेध किया जाता है, वह असत्य है। अच्छा देखो, ध्यान पूर्वक समझना। यह जो हमें ज्ञान होता है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, किसके द्वारा होता है ?"

बलि ने कहा—"महाराज, यह ज्ञान तो शरीर संसर्ग से ही होता है ?"

प्रसन्न होकर शुक्राचार्य बोले—"हां, यही बात है। ज्ञान प्राप्ति का साधन भूत तो यह शरीर ही है। इस देह की उत्पत्ति असत्य से ही हुई है, मूल प्रकृति में विकृति होने से ही २४ तत्वों की उत्पत्ति होती है। यह सब पदार्थ नाशवान हैं, मिथ्या हैं, असत्य हैं। इन असत् पदार्थों से बने देह द्वारा सत्य स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अतः इस देह रूप वृक्ष का मूल असत्य हुआ और साधन रूप ज्ञान फूल और मोक्ष रूप फल हुआ। यदि असत्य अर्थात् देह ही न रहे, तो ज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जड़ कट जाने पर जैसे वृक्ष सूख जाता है वैसे ही जिसका असत्य देह नष्ट हो गया है, उसका देह भी तत्काल सूख जाता है, इसमें सन्देह नहीं।"

बलि ने आश्चर्य के साथ कहा—"भगवान् ! आज तो आप यह बड़ी नई बात सुना रहे है। तब तो मनुष्य को सदा असत्य ही बोलते रहना चाहिये।"

शुक्राचार्य ने शीघ्रता के साथ कहा—"मेरा यह अभिप्राय नहीं कि सदा असत्याचरण ही करे। यथाशक्ति सत्य ही बोले असत्य से बचता रहे, किन्तु जहाँ अजीविका जाती हो, जहाँ शरीर रक्षा का प्रश्न हो, वहाँ केवल युक्ति से काम लेना चाहिये। सर्वदा असत्य भी न हो और अपना सर्वस्व नाश भी न हो।"

बलि ने कहा—"महाराज ! यह तो प्रत्यक्ष असत्य है। वह वामन ने कहा—"मुझे तीन पग पृथिवी दीजिये। मैंने कहा "हाँ दूँगा" इसमें अब युक्ति क्या निकल सकती है। "हाँ दूँगा" कहकर न देना, यह तो निर्विवाद असत्य है।"

शुक्राचार्य ने कहा—"भैया, मैं जो कह रहा हूँ, तुम उस बात के मूल तक तो जाते नहीं। ऊपर ही ऊपर विचार कर रहे हो। तुम्हारे पास नित्य याचक आते हैं विविधि वस्तुएँ माँगते हैं। तुम कह देते हो, "हाँ दूँगा" हाँ करने से तुम्हारा यह अभिप्राय तो है नहीं कि मैं सर्वस्व दूँगा, अपने शरीर, स्त्री, पुत्रों तथा राज्य कोष की रक्षा करते हुए दूँगा, यही अभिप्राय है। "हाँ मैं दूँगा" इस वचन का बड़ा व्यापक अर्थ है। पहिला अर्थ तो यह है कि मेरे पास जो वस्तु रखी है उसे मैं उठाकर अपना ममत्व उसमें से निकाल कर तुमको दे दूँगा, परन्तु क्या दे दूँगा, कितना दे दूँगा, कब तक के लिए दे दूँगा दास के लिए दूँगा, या अल्प काल के लिए दूँगा, इन सब बातों का इसमें कोई संकेत नहीं। भिखारी का तो काम ही है, सदा माँगते

कोई नाम भी नहीं लेता। संसार में सभी कहते हैं वह बड़ा मक्खीचूस है। जिनकी मक्खीचूस करके संसार में प्रसिद्धि है, वह जीवित ही मृतक के समान है, न स्वयं खाता है न दूसरों को देता है।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी, मक्खीचूस किसे कहते हैं ?"

यह सुनकर सूत जी हँस पड़े और बोले—"महराज, यह एक लोकोक्ति है। इसका, अभिप्राय यह है कि अणुमात्र भी अपनी वस्तु दूसरे को न दे उसे मक्खीचूस कहते हैं। एक कृपण था वह लड्डू बनाने के लिये शक्कर की चासनी बना रहा था, दैवयोग से उसमे एक मक्खी पड़ गई। मक्खी उसने निकाल ली। वह तो कृपण था ही उसने सोचा—"इस मक्खी के परों में जो चासनी चिपट गई है, वह व्यर्थ ही जायगी, मेरे काम न आकर चींटी ही खायेंगी, अतः उसने उस मक्खी को मुँह में रखकर चूस लिया, उसके पंखों में लगी चासनी को व्यर्थ न जाने दिया, उसका भी उपयोग अपने लिये कर लिया।" तभी से यह बात प्रचलित हो गई जो अत्यन्त कृपण होता है उसे लोग मक्खीचूस कहते हैं। ऐसे लोगों से अन्य लोगों की तो बात ही क्या स्त्री पुत्र भी घृणा करते है। सभी चाहते हैं यह कृपण कब मरे। कब हमें भर पेट भोजन मिले, ऐसे लोग केवल दूसरों के लिये धन एकत्रित करते हैं। जीते जी न खायेंगे, न देंगे न किसी पुण्य काम में लगायेंगे। इसीलिये छोटे छोटे बच्चे कृपणों को देखकर चिढ़ाते हुए करते हैं—"जोड़ जोड़ रख जायेंगे माल जमाई खायेंगे।"

शुकाचार्य जी महाराज बलि से कह रहे हैं—"राजन् ! मनुष्य को कृपण न होना चाहिये। जो आवे उसी से मना न करना चाहिये। किसी ने आकर हजार रुपये माँगे तो कह दिया—"अच्छी बात है महाराज यथाशक्ति देंगे।" फिर अपना वित्त देखकर उसे १००) ५०) दे दे ! हाथ जोड़ दे, महाराज इतना ही है अब कृपा करो।" इस प्रकार न तो सर्वथा मना करके अपयश का ही भागी हो और न सर्वस्वदान करके स्वयं भिखारी ही बन जाय। मध्यमार्ग का आचरण करे।"

बलि ने कहा—"हाँ महाराज। इसे तो मै मानता हूँ, यदि हमने यह कह दिया कि हम जितना देना चाहेंगे, उतना देंगे। तब तो चाहें हम एक दें हजार दें स्वतन्त्र हैं देने में किन्तु जिसने हमसे पहिले ही प्रतिज्ञा कराली है कि मैं इतना लूँगा और हमने कह दिया हाँ हम इतना ही देंगे। फिर उतना न दें तो यह तो असत्य ही हुआ। वामन ने कहा—"मै अपने पैरों से तीन डग पृथ्वी लूँगा, और मैंने कहा—"मैं आपको इच्छानुसार ही दूँगा।" तो इसमें तो अब कोई गोलमाल करने योग्य बात रही नहीं।"

शुकाचार्य ने कहा—"देखो, तुम इसमें इतना संशोधन कर लो। तुमने कहा—"मैं पृथ्वी दूँगा, तीन पग दूँगा, तुम्हारे पैरों से दूँगा। तुम पृथ्वी दो, ३ पग की अपेक्षा ३०० पग दे दो, किन्तु कह दो वामन देवता हम तुम्हारे पैरों से नहीं नापेंगे इतना ही मैं चाहता हूँ, इसमें कोई हानि भी नहीं। भिक्षुक के माँगने से अधिक दे रहे हैं।"

बलि राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज। देखिये, बुरा न मानें। यह तो सफेद झूठ हुआ। वामन बार बार कह रहा

है, मुझे तीन पग से अधिक नहीं चाहिये, अधिक भी न लूँगा, कम भी न लूंगा और अपने पैरों से नाप कर लूंगा मैंने कहा ऐसे ही दूंगा। फिर उस पर यह प्रतिबन्ध लगाना कि हम तुम्हारे पैरों से न देंगे। झूठ व्यवहार है। क्या ऐसा झूठ बोलना धर्म है?"

शुक्राचार्य ने मधुर वचनों में कहा—"हां, झूठ तो है ही भाई। किन्तु कई स्थान ऐसे होते हैं, कि उस समय यदि झूठ भी बोल दिया जाय, तो कोई दोष नहीं समझा जाता।"

बलि ने कहा—"महाराज झूठ ही है उससे तो बचते ही रहना चाहिये।"

शुक्राचार्य जी ने कहा—"देखो, मैं बताता हूँ, किन किन अवसरों पर झूठ क्षम्य है। जहाँ झूठ बोलना बहुत दोष नहीं माना जाता।

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन्। यह कहकर शुक्राचार्य अपवाद धर्म की शिक्षा देने लगे।"

छप्पय

नहीं सर्वथा करै न निज-सर्वस्व गँमावै।
भिक्षुक आवै देइ कछु कछु टाल बतावै।
अपनी वृत्ति बचाय वित्तसम करै दान नित।
लोक और परलोक माँहि राखे अपनो चित॥
रक्षा तन धन की करै सदा सत्य बोले बचन।
कहुँ असत्य बोले विवश, ह्वै प्रसंगवश विशजन॥

कहाँ असत्य निन्दनीय नहीं होता

(५६६)

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे ।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १९ अ० ४३ श्लोक)

छप्पय

हँसी खेल महँ और कामिनी क्रीड़ा मांही ।
होंहि जीविका नाश प्रान काहू के जाहीं ॥
निज प्राननि के हेतु विप्र गौ रक्षा होवे ।
तो विशेष नहिं दोष सत्य कूँ यदि नर खोवे ॥
मातु पिता अति वृद्ध हैं, बालक अति अज्ञान हैं ।
जस तस प्राननि कूं रखै, मुख्य देह महँ प्रान हैं ॥

एक नियम होता है और एक उस नियम का अपवाद होता है, तथा एक विवशता होती है। जैसे नियम तो यह है

---

* शुकाचार्यजी राजा बलि से कह रहे हैं—"राजन् ! स्त्रियों के विषय में, हँसी में, विवाह में, जीविका रक्षा में, प्राण संकट के समय गौ ब्राह्मण की रक्षा में, किसी का वध हो रहा हो उस समय इन अवसरों पर झूठ बोलना निन्दित नहीं कहा जाता।"

कि सदा सन्ध्या वन्दन करना चाहिये अपवाद यह है कि सूतकों में न करना चाहिये, विवशता यह है कि कोई बड़ा उत्सव है. यात्रा में अवकाश नहीं मिला या किसी परोपकर के कार्य में सलग्न हैं, सन्ध्या करने का अवकाश ही न मिला, तो यद्यपि सन्ध्या का लोप हुआ अवश्य, किन्तु वह दोप, दोप नही गिना जाता, वह क्षम्य अपराध है। इसी प्रकार अन्य नियमों में भी समझना चाहिये।

जब राजा बलि ने बार बार शुक्राचार्य को यह कह कह कर निरुत्तर करना चाहा। कि क्या आप मुझसे झूठ बोलने को कहते हैं, तब शुक्राचार्य ने कहा यदि ८ अवसर पर झूठ बोलना ही पड़े तो कोई दोप नहीं।"

महाराज बलि ने पूछा—"महाराज! वे ८ अवसर कौन कौन से है?"

शुक्राचार्य ने कहा—"देखो, पहिले तो यह है कि स्त्रियों को प्रसन्न करने को यदि झूठ बोलना भी पड़े तो कोई विशेप दोप नहीं होता। बड़ी बूढ़ी स्त्रियाँ तो अपनी हानि लाभ सब समझती है, उन पर तो पुत्र पौत्रों का भार आ जाने से अपनी हानि लाभ की स्थिति समझती है, और बूढ़ी होने से साज शृंगार की इच्छा भी कम हो जाती है, किन्तु जो नई नई बहू आती हैं, उन्हें कुछ अनुभव तो होता नहीं। नित्य ही नये नये वस्त्रों के लिये आभूपणों के लिये, पति से, अड़ जाती हैं। न देने पर मुंह फुलाकर बैठ जाती है किसी की अच्छी चटकीली साड़ी देखी तो आकर पति से कहती है—"सुनते हो, कल मैं कमला के विवाह में गई थी। बड़े जेठ जी की लड़की जो काशी से आई थी, वह एक ऐसी सुन्दर साड़ी पहिने थी कि मेरा

मन उसमें गढ़ गया। मैंने पूछा—"लल्ली ! यह साड़ी कब ली थी।"

उसने कहा—"चाचीजी ! इसे ४ वर्ष हो गये, जितना ही इसे धोते हैं, उतनी ही इसमें चटक बढती जाती है। बहुत मूल्य भी नहीं।" तब से मेरे मन में उसी का ध्यान है ऐसी साड़ी एक मुझे भी मँगा दो।"

अब उसे तो पता नही, महीने में कितना वेतन मिलता है, एक साड़ी लेदे तो खायेंगे क्या ? वह अड़ जाती है। ऐसे समय फुसलाने को कहना चाहिये—"अच्छी बात है, अब के महीना पूरा होने दो, मुझे काशी जाना भी है, लादूंगा।" ऐसे कहकर टाल मटोल कर देनी चाहिए। फिर चाहें साल भर में भी न ले सकें। शक्ति भर तो सत्य ही बोलना चाहिये, किन्तु वस्त्र आभूषण, या और छोटी छोटी बातों पर लड़ाई झगड़े की सम्भावना हो, तो वहाँ कोई हरिश्चन्द्र की भाँति सत्यवादी ही हो, तो उसकी बात तो पृथक् है, नहीं तो बडे बड़ों को स्त्रियों के सम्मुख ऐसी बातें बनानी पड़ती है, और ऐसे समय का असत्य बहुत निन्दित भी नहीं। व्यवहार में प्रायः ऐसा करना ही पड़ता है। स्त्रियाँ बात बात पर अड़ जाती है, कोई बात बताने की होती है, कोई नहीं बताने की। स्त्रियाँ किसी बात को अपने पेट में छिपा सकती ही नहीं। उनसे कोई गुप्त बात कह दो तो वे बातों ही बातों में काना फूँसी करेंगी। यों ही उगल देंगी। दूसरी से कहेंगी तू किसी से कहना मत कि वह ऐसे कहती थी। वह तीसरी से ऐसे ही कहेगी। ऐसे ही बात फैल जाती है। इसलिये स्त्रियाँ किसी गुप्त बात पर अड़ जायें, तो उन्हें या तो इधर उधर की बातें कहकर टाल देना चाहिये या किसी प्रकार समझा देना चाहिये।"

कैकय देश के राजा सभी जीवों की बोली समझते थे। एक योगी ने उन्हें यह विद्या बता दी थी। योगी ने यह भी कह दिया था, कि आप इस बात को किसी से कहेंगे तो आपके प्राण निकल जायेंगे। एक दिन वे अपने अन्तःपुर में बैठे थे। कुछ चीटियां आपस में बातें करती जाती थीं। वे भी पहले जन्मों में रानियां थीं। उनकी बातें सुनकर राजा को हंसी आ गई। रानी भी पास ही बैठी थी। उसने समझा राजा मेरे ऊपर हंस रहे हैं।

क्रुद्ध होकर रानी बोली—"महाराज ! आप मुझे देखकर क्यों हँस रहे है ?"

राजा ने धैर्य के साथ कहा—"देवि ! मैं तुम्हारे ऊपर नहीं हंस रहा हूँ, एक बात और है।"

रानी ने पूछा—"क्या बात है, उसे मैं सुनना चाहती हूँ, मुझे अवश्य बताइये।

राजा ने कहा—"देखो, यदि मैं उसे बता दूंगा, तो मेरी मृत्यु हो जायेगी। तुम मुझसे इस बात को मत पूछो।" किन्तु स्त्री जब हठ कर जाती है, तो ब्रह्मा की भी बात नहीं मानती। वह बोली—"नहीं महाराज ! चाहे जो हो, आपको मुझे हंसी का कारण बताना ही पड़ेगा। आप न बतावेंगे, तो मैं विष खाकर मर जाऊंगी।"

राजा बड़े धर्म सङ्कट में पड़े उन्होंने जाकर योगी से कहा। योगी ने कहा—"उसे मर जाने दो मरेगी नहीं वैसे ही हठकर रही है। उसे बताना मत।" राजा ने ऐसा ही किया कह दिया तू चाहे मर जा या जीवित रह, मैं न बताऊंगा।" राजा ने तो योगी के कहने से सत्य की रक्षा करली, किन्तु यदि

किसी कारण पुरुष की स्त्री ऐसी किसी बात पर अड़ जाय तो उसे इधर उधर की बातें बताकर शांत कर देना चाहिये। जब कुन्ती ने कर्ण की बात छिपा ली तो धर्मराज ने स्त्री जाति को शाप दे दिया, कि वे किसी बात को छिपाकर नहीं रख सकतीं। इसलिये जो बात किसी पर प्रकट न करने की हो उसे स्त्रियों से बचावे। इसमें विशेष दोष नही।

दूसरे हँसी खेल में यदि झूठी बातें मुंह से निकल जायँ, तो उतना दोष नहीं। चेष्टा ऐसी ही करनी चाहिये कि हँसी में भी झूठी बात मुख से न निकले, फिर भी हँसी में बहुत सी झूठी बाते निकल जाती हैं। लड़की को प्यार से गोदी में उठा कर कहते हैं—"ला, तुझे गंगा जी में फेंकता हूँ।" लड़की भी समझती है, ये फेंकेंगे थोड़े ही प्यार में हंसी कर रहे है, हम भी फेंकने की भावना से नही कहते। नाटकों में जो राजा नहीं है, वह राजा का झूठा वेष बना लेता है। और बार बार कहता है मैं राजा हूँ, यह करूंगा, वह करूंगा, इसे मारूंगा, इसे पछाड़ूंगा। बातें सब झूठी ही है, किन्तु खेल की बातें है इनमें असत्य जनित पाप का दोष नही लगता।

तीसरा स्थान है, विवाह प्रसंग। कोई लड़की है यदि कह दे कि वह बहुत काली है, तो उसका विवाह नहीं होता। तो बात को छिपाकर कह दे कि लड़की बड़ी सुन्दर है, तनिक सांवला पन है, सो कोई बात नही। इसी प्रकार किसी वर का विवाह नही होता निर्धन है और यह कह देने से उसका विवाह हो जाता है कि लड़का सम्पन्न है खाता पीता है, लड़की सुखी रहेगी तो कोई दोष नहीं। विवाह के पहिले ही कारी, गोरी, धनी, निर्धन का विचार होता है जहाँ विवाह हो गया दूल्हा दुलहिन मिल गये सब बातें पुरानी पड़ जाती हैं।

फिर तो निभाने की चिन्ता रह जाती है। इसलिये कन्या वर आदि की स्तुति के समय कुछ असत्य भाषण भी हो जाय तो उसका दोष नहीं।

चौथा स्थान है आजीविका का प्रसग। वाणिज्य व्यापार करते है वहां कह दिया कि अमुक वस्तु को १०) से कम में न देंगे और फिर देखेंकि ९) में। देने से घाटा नहीं तो ९) में दे देने से कोई विशेष दोष नहीं। इसी प्रकार अपनी आजीविका जा रही हो और कोई ऐसी युक्ति हो, कि अमुक बात छिपा देने से आजीविका बच जाय, तो उस बात को छिपा देना कोई विशेष निन्दनीय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीवन से भी प्यारी जीविका होती है।

पाँचवा स्थान है, प्राणों का संकट उपस्थित होना। कोई ऐसा अवसर आ गया, कि प्राण जा रहे हैं, यदि वे कुछ असत्य बात कह देने से बच जायँ, तो उस बात को—कहकर प्राणों की रक्षा कर लेनी चाहिये। जीवित रहीं तो इस पाप का प्रायश्चित्त तो करही लेंगे और भी अधिक पुण्य कमा लेंगे। प्राणों की रक्षा के लिये विश्वामित्र जैसे ऋषि ने अखाद्य पदार्थ चुराया था। एक ऋषि अत्यन्त भूखे थे, भूख के कारण उनके प्राण निकल रहे थे। उन्होंने देखा एक हाथी चलाने वाला उबले उड़द खा रहा है। ऋषि ने उससे अन्न मांगा। उसने कहा—'ब्रह्मन्! ये उड़द हैं तो सही' मेरे पास, किन्तु उच्छिष्ट हैं।" ऋषि ने कहा—"अच्छा उच्छिष्ट ही दे दो।" उसने ऋषि को दे दिये। ऋषि ने उसे खा लिया। जब वह हस्तिप उन्हें जल देने लगा तब ऋषि ने कहा—"मैं तुम्हारा जल न पीऊँगा।"

हस्तिप ने आश्चर्य के साथ कहा—"ब्रह्मन्! जूठे उड़द खाने

में तो आपका धर्म गया नहीं मेरे हाथ से शुद्ध जल पीने में आपका धर्म कैसे चला जायगा।"

ऋषि ने कहा—"बन्धुवर ! उस समय मैं बहुत भूखा था। यदि मुझे कुछ खाने को न मिलता तो मेरे प्राण चले जाते। इसलिये मैंने प्राणों की रक्षा के लिये वे उच्छिष्ट उड़द खा लिये थे, कि जीवित रहूँगा। तो इस पाप का प्रायश्चित कर लूँगा, किन्तु जल तो सर्वत्र प्राप्त है, यदि प्राप्त होने पर भी उसे मैं आलस्य प्रमादवश पीता हूँ, तो मुझे दोष लगेगा। उसका कोई प्रायश्चित नहीं। अतः प्राण रक्षा के लिये कुछ अनुचित भी कार्य करना पड़े, तो जीवन की रक्षा चाहने वाले व्यक्ति को उस कार्य को करके जीवन की रक्षा कर लेने में कोई अधिक दोष नहीं।

छटा स्थान है गौ की रक्षा। गौएँ लोक की मातायें कही गई हैं। प्राण देकर भी गौ रक्षा करनी चाहिए। यदि गौओं की रक्षा करते समय कुछ झूँठ भी बोला जाय, तो निन्दनीय नहीं, गौ हत्यारे को शक्तिभर जो भी दण्ड दिया जा सके देना चाहिये। गौ रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है अजन्मा होकर भी भगवान् गौओं और ब्राह्मणों की रक्षा के लिये ही जन्म लेते हैं। समस्त देवता पितर गौ की शरीर में निवासी करते हैं। गौ के गोबर में लक्ष्मी जी रहती हैं। गौ के सेवा करना समस्त देवताओं की रक्षा करना है। गौ भागी जा रही हो और कसाई उसके पीछे लगा हो, वह यदि पूछे गौ इधर से गई, तो वहां सत्य बोलना अनुचित ही नहीं अधर्म है वहां जैसे हो तैसे गौ को बचाना चाहिये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पाप तो पाप ही है। सत्य बोलने से अधर्म कैसे हो सकता है?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! कहीं कहीं सत्य सा दीखने वाला कार्य अधर्म हो जाता है और कहीं असत्य सा दीखने वाला धर्म हो जाता है। इस विषय में आपको मैं एक इतिहास सुनाता हूँ।"

एक बड़े अच्छे भगवत् भक्त संत थे। वे चारों धामों की पैदल यात्रा कर रहे थे। यात्रा करते करते जब वे श्री जगन्नाथ पुरी जा रहे थे, तो रात्रि में एक गृहस्थ के यहाँ ठहरे। साधु युवा थे, अत्यन्त ही सुन्दर थे। उस घर में एक वृद्ध थे उनके एक युवती स्त्री थी। स्त्री ने सन्त का बडा स्वागत सत्कार किया। बड़े प्रेम से भोजन कराये और रात्रि में वहीं रहने का आग्रह किया। सन्त भोले भाले थे, अतः उनकी श्रद्धा देखकर ठहर गये।

रात्रि में जब सब सो गये, तो वह स्त्री सन्त के समीप आयी और उनसे अनुचित प्रस्ताव करने लगी। "सन्त ने कहा—"तुम अपने पति को भजो"—पति के रहते किसी पुरुष के समीप आना उचित नही।" उसने इसका अर्थ लगाया, कि तुम अपने पति को काट दो उसके रहते मेरे पास न आओ।" उसका तो मन मलिन हो ही गया था। अतः वह गई और एक खड्ग से अपने पति का सिर काट आई और फिर सन्त के समीप आई।

सन्त ने कहा—"देवि ! तुम कैसा पाप पूर्ण प्रस्ताव कर रही हो, तुम मेरी माता के समान हो। ऐसा व्यवहार तुम्हें शोभा नहीं देता।" साधु को इन बातों का उस पर विपरीत ही प्रभाव पड़ा उसके सिर पर तो काम भूत सवार हो रहा था अपनी इच्छा पूर्ति न देखकर स्वार्थ में व्याघात समझकर उसको प्रतिहिंसा की वृत्ति जाग्रत हो उठी और चिल्लाने लगी—"चलियोरे, इस मनुष्य ने मेरे पति की हत्या कर डाली है।" हल्लागुल्ला सुनकर इधर उधर से बहुत से मनुष्य एकत्रित हो गये।

राजकर्मचारी भी आ गये। सन्त पकड़े गये राजा के यहाँ उपस्थित किये गये। पुरुष तो मरा ही था। राजा ने उन सन्त के दोनों हाथ कटवा लिये। सन्त ने सोचा—"यह भी मेरे किसी पूर्व जन्म का पाप है। इसकी निवृत्ति तो भोग से ही होगी।" यह कहकर वे जगन्नाथ जी चले गये। आगे चलकर उन्हें कोई सिद्ध मिले उनसे उन्होंने पूछा—"भगवन्! अकारण धर्म कार्य करते हुए भी मुझे यह यातना क्यों सहनी पड़ी।"

सिद्ध ने कहा—"सन्तजी, कोई भी मनुष्य किसी को कभी अकारण पीड़ा नहीं दे सकता। जिनसे अपना पूर्वजन्म का कुछ संस्कार रहता है, वे ही दुःख सुख दे देकर अपना बदला चुकाते है।"

सन्त जी ने पूछा—"भगवन्! मैंने इन माता जी का कौन सा अनिष्ट किया था।"

सिद्ध बोले—"महात्मन्! आप पूर्व जन्म में काशी जी में बड़े विद्वान् कर्मकांडी सत्यवादी ब्राह्मण थे। एक दिन आप दशाश्वमेध घाट पर स्नान कर रहे थे, उसी समय एक वधिक की गौ छूट आई। वह भी पीछे दौड़ा आपने गौ को गली में घुसते देखा।

वधिक ने आकर आपसे पूछा—"पंडित जी! आपने मेरी गौ देखी है?"

आपने दोनों हाथ उठाकर कह दिया—"हाँ, मैंने अभी जाती हुई देखी है।" आपके बताने से दौड़कर उसने गौ पकड़ ली और वधशाला में ले जाकर उसका वध कर दिया।

कालक्रम से वही गौ आकर यह स्त्री हुई और वह वधिक ही उसका पति हुआ। पुराने जन्म का द्वेष था, अतः उसने पति को काटकर अपना पूर्व जन्म का बदला चुकाया। उस हिंसा में आपका भी भाग था, आपने दोनों हाथ उठाकर गौ को बताया था, आप न बताते तो संभव है, वह न पा सकता गौ बच जाती। अतः जिन हाथों को उठाकर आपने गौ हत्या में सहायता दी, आपके वे दोनों हाथ कटवा दिये गये। अब आप श्रीजगन्नाथ जी की शरण में जायँ। वे तो अशरणशरण, दीनबन्धु दयासिन्धु हैं। वे चाहें जो कर सकते है।"

सूतजी कहते है—' मुनियो ! सिद्ध के मुख से ये बातें सुनकर संतजी जगन्नाथ जी पहुँचे उन्होंने स्तुति की। देखते देखते उनके दोनों हाथ फिर से कमल की भाँति निकल आये। इस कथा के कहने का सारांश इतना ही है कि ऐसे अवसर पर सत्य बोलना भी पाप के समान हुआ।

श्री शुक्राचार्य जी बलि को समझाते हुए कह रहे हैं—"राजन् ! गौ की रक्षा होती हो, तो वहाँ असत्य बोलना भी दोष नहीं है।

सातवां स्थान है ब्राह्मणों का हित। यदि कोई ब्राह्मण विपत्ति में हो और असत्य बोल देने से उसकी विपत्ति दूर हो तो वह असत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता। भावना तो परोपकार की है। कई ऐसे भक्त हुए है कि चोर जैसे निन्दित कर्म को करके उससे धन लाकर उन्होंने साधु ब्राह्मणों को भोजन कराया है और उनकी अधोगति नही हुई है। अतः साधु ब्राह्मणों का भला करने में थोड़ा बहुत असत्य भी बोलना पड़े तो वह असत्य निन्दनीय नहीं है।

अष्टम स्थान है, दूसरों की हिंसा रोकने के समय। कोई फाँसी पर चढ़ रहा है, हमारे झूठ बोल देने से उसके प्राण बचने है तो ऐसे अवसर पर झूठ बोल दे, तो कोई दोष नहीं लगता। यह विधि नही कि इस समय झूठ बोलना ही चाहिये। यह भी हो सकता है कुछ भी न कहे टाल मटोल कर दे। किन्तु सत्यवादी बनकर दूसरों का अनिष्ट न करावे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! टाल मटोल कैसे करदे। जब कोई हमारे सम्मुख खड़ा होकर पूछ रहा है तो हमें या तो हां करनी होगी या ना। दो में से एक बात तो कहनी ही पड़ेगी?"

सूतजी बोले—"महाराज! जो असत्य बोलना चाहते ही नही वे सत्य बोलकर किसी को दुःख भी नहीं देना चाहते। दूसरों को दुःख देने वाला अप्रिय सत्य पाप के सदृश है। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक बड़े धर्मात्मा सत्यवादी मुनि थे। वे कभी भी असत्य भाषण नहीं करते थे। एक बार वे स्नान करके आ रहे थे कि उन्होंने एक घायल मृग को झाड़ी मे छिपते हुए देखा। इतने में ही एक बड़ा बलवान् हृष्टपुष्ट क्रूर वधिक हाथ में धनुष बाण लिये ऋषि के सम्मुख उपस्थित हुआ और उनसे पूछा—"ब्रह्मन् आपने यहाँ से जाते हुए मेरा घायल मृग देखा है?"

मुनि ने सोचा—"यदि मैं इस वधिक को सत्य बात बताता हूँ तो यह अभी उसे मार डालेगा। उसकी हिंसा में मुझे भी सम्मिलित होना होगा यदि मैं कह दूँ कि मैंने नहीं देखा तो मेरा सत्य का व्रत खंडित हो जायगा। यह सोचकर वे चुप ही

रहे, न उन्होंने हाँ कहा न न।" उस वधिक ने बार बार पूछा किन्तु वे मौन ही बने रहे।

अन्त में उसने झुंझलाकर क्रोध के स्वर में कहा—"मुनि वर! मैंने सुन रखा है, आप बड़े धर्मात्मा है, हँसी में भी आप कभी असत्य नहीं बोलते। आपने मृग को देखा हो, तो 'हाँ, कर दे न देखा हो तो ना कर दें। मैं चला जाऊंगा आप एक उत्तर दे दें।"

मुनि ने गंभीर होकर कहा—"भैया! क्या उत्तर दें। आँखें जो देखती हैं उनमें तो बोलने बताने की शक्ति नहीं। जो जिह्वा बोलती बताती है उसमें देखने की शक्ति नहीं। अतः मैं तुम्हें क्या बता दूँ। आँखों ने देखा हो और वे उसे कहने में समर्थ हों, तब तो ठीक है। या कहने वाली जिह्वा देख सकती हो, तो भी उसका कहना सत्य है। किसी ने देखा, कोई बतावे तो उस बात का क्या विश्वास—"इसलिए जिसने देखा हो उससे पूछें।"

इस गोलमोल उत्तर को सुनकर वधिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह वधिक तो था नहीं। साक्षात् धर्म ही वधिक का रूप रखकर उनकी परीक्षा लेने आये थे। उनको मनोवांछित वर देकर धर्म वहीं अन्तर्धान हो गये। ऐसा वे सत्यवादी मुनि ही उत्तर दे सकते हैं। साधारण लोग ऐसा उत्तर नहीं दे सकते।

शुकाचार्य महाराज बलि से कह रहे हैं—"राजन्! यह नीतिधर्म संगत बात है कि कामिनियों को प्रसन्न रखने के समय, हँसी खेल में, विवाह कराने के अवसर पर, आजीविका

की रक्षा के लिए, प्राण संकट उपस्थित होने पर, गौ ब्राह्मणों की रक्षा करने के लिए तथा किसी की हिंसा होते समय यदि असत्य भाषण किया जाय, तो वह असत्य निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। इस समय आपकी आजीविका का प्रश्न है। यह विष्णु छल से कपट वेष बनाकर तुम्हारा सर्वस्व हरण करना चाहता है, इस समय तुम्हें कुछ असत्य भी भाषण करना पड़े, तो कोई दोष नहीं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब शुक्राचार्य जी ने इतनी युक्तियाँ देकर वेद, शास्त्र, समस्त नीति का उपदेश दिया, तो धर्मात्मा, उदार हृदय वाले महाराज बलि दृढ़ता के साथ इन बातों का उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

होहि स्वार्थ नहिं नाश कामसुखहू बचि जावै।
बाधा काहू भाँति जीविकामहँ नहिं आवै॥
होहि न अपयश जगतमाँहि कुत्सित कामनि तें।
गृही धर्म है जिहो शास्त्र सम्मत बचननि तें॥
हाथ पाँव कूँ बचानौं, मूँजी कूँ टरकावनो।
कछु असत्य कछु सत्यतें, अपनो काम चलावनो॥

महाराज बलि की सत्य में दृढ़ता।

(५६७)

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थं कामं यशोवृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित्॥
स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथंद्विजम्।
प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा॥*

(श्री भा० ८ स्क० २० अ० २, ३ श्लोक)

छप्पय

सुनि बलि बोले वीर वचन गुरु तें सकुचाई।
भगवन्! सुन्दर स्वार्थ सिद्ध हित नीति बताई॥
किन्तु लोभ वश देव? सत्य कूँ कैसे त्यागूँ।
कैसे रिपु ललकारि युद्ध तें डरिकें भागूँ॥
हाँ कहि "ना" करिवो नहीं, दितिकुल के अनुरूप जिह।
पिता प्रान द्विज हित दये, प्रन नहिं छाड़्यो पितामह॥

जो कष्टों से डरता है, वही धर्म को छोड़ता है। जिस

---

* गुरु शुक्राचार्य की बातों का उत्तर देते हुए महाराज बलि कह रहे हैं—"भगवन्! आपने जो यह बात कही कि गृहस्थियों का यही धर्म है जिससे धन में, काम में, युद्ध में तथा आजीविका में बाधा न पड़े। इस बात को मैं सत्य मानता हूं, किन्तु मैं प्रह्लाद जी का पौत्र होकर धन के लोभ से ब्राह्मण को कोई वस्तु देकर धूर्त ठगिया की भांति यह कैसे कह सकता हूँ कि अब मैं नहीं दूंगा।

सत्य की सदा विजय होती है, जिसे इस बात पर दृढ़ विश्वास नहीं है वही असत्य का आश्रय लेता है। जीव जब प्राणों का सर्वथा मोह छोड़ देगा, जब अपने सिर को सदा हथेली पर रखेगा तभी यथार्थ धर्म का पालन कर सकेगा। यह नश्वर शरीर तो किसी न किसी दिन नष्ट होगा ही। स्त्री, पुत्र, बन्धु बान्धवों से किसी न किसी दिन वियोग होना अवश्यम्भावी है। अर्थ संसार में किसके साथ गया है। लोगों ने असंख्यों मुद्रायें एकत्रित की है, सबको यही छोड़कर चले गये है। कुबेर भी कल्पान्त में बदल जाते है। काम की सामग्रियों के उपभोग से आज तक कौन सर्वथा तृप्त हुआ है। यश भी संसार में किसका स्थाई रहा है, न जाने कितने ब्रह्मा, कितने इन्द्र बदल गये। इस कल्प के इन्द्रों को छोड़कर अन्य असंख्यों कल्पों के इन्द्रों का कौन नाम जानता है। आजीविका की रक्षा मनुष्य स्वतः करना चाहे तो कैसे कर सकता है। एक साग बेचने वाली एक रुपये का साग मोल लाकर बेचती है, उसमें उसे कठिनता से चार आने भी नहीं मिलते, इतने से ही वह अपने परिवार का काम चलाती है। दूसरे सेठ के यहाँ नित्य लाखों रुपयों की आय है फिर भी पेट पेट चिल्लाता रहता है। अधर्म करते समय पेट की दुहाई देता हुआ कहता है अजी, द्यूत न खेलें, सत्य झूँठ न बोले तो पेट कैसे भरे।" यह लोगों का भ्रम है। देने वाले तो सबको श्री हरि हैं। सबकी आजीविका वे ही चलाते हैं। पत्थरों के भीतर जो मेंढ़क रहते है, वहाँ भी उन्हें भोजन पहुँचाते है।

एक दिन लक्ष्मी जी ने भगवान् से पूछा—"क्या महाराज! आप सबको भोजन पहुंचाते है?"

भगवान् ने कहा—"मेरा काम ही है सबकी आजीविका

का प्रबन्ध करना। जिसकी मृत्यु नहीं आई है, वह चाहे जहाँ जा बैठे मैं उसे वही भोजन भेजता हूँ। एक चीटी को दिखाते हुए लक्ष्मी जी ने पूछा—"इसकी आयु अभी शेष है न ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, यह अभी बहुत दिन जीवेगी।"

लक्ष्मी जी ने उसे झट एक डिबिया मे बन्द कर दिया। देखें भगवान् इसे कैसे भोजन पहुँचाते हैं। डिबिया को अपने पास रख लिया। उसमें वायु तो जा सकती थी, किन्तु कोई और वस्तु नहीं प्रविष्ट हो सकती थी। दो तीन दिन के पश्चात् उन्होंने सोचा—"चीटी तो मर गई होगी।" इसीलिये उन्होंने भगवान् से पूछा—प्रभो ! इस चीटी को आपने भोजन पहुँचाया क्या ? भगवान् हँसकर बोले—"हाँ पहुँचा दिया।"

लक्ष्मी जी ने आश्चर्य के साथ कहा—"कैसे पहुँचा दिया महाराज ?"

भगवान् बोले जैसे गर्भ में रहने वाले बच्चे के भोजन को गर्भ में पहुँचा देता हूँ।"

लक्ष्मी जी ने कहा—गर्भ में के बच्चे को तो उसकी माता के भोजन का रस नाल की नाड़ी द्वारा मिल जाता है। यह प्रबन्ध तो आप पहिले से ही कर देते हैं।"

भगवान् ने कहा—"चीटी को भी माता ने पहिले ही उसका प्रबन्ध करा दिया है।"

लक्ष्मी जी ने आश्चर्य के सहित डिबिया खोली तो क्या देखती हैं, चीटी के पास दो चावल रखे हैं। वह उन्हें प्रेम से खा रही है। "अब लक्ष्मी जी को पता चला डिबिया बन्द करते समय मेरे मस्तक के कुंकुम मिश्रित अक्षतों में से दो अक्षत

असावधानी से डिबिया में गिर पड़े। उन्हीं को खाकर चींटी जा रही है। नास्तिक इसे संयोग की बात आकस्मिक घटना कहते हैं। आस्तिक इसे भाग्य प्रारब्ध कहते हैं। वास्तविक बात यह है कि भगवान् जीव मात्र की आजीविका का स्वयं ही प्रबन्ध करते हैं। जब यही बात है तो अर्थ, काम, यश तथा आजीविका के निमित्त मनुष्य झूँठ क्यों बोले, अधर्म का आचरण क्यों करे ?"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज बलि के कुलगुरु भगवान् शुक्राचार्यजी ने राजा बलि की ऐश्वर्य रक्षा के निमित्त इस प्रकार गृहस्थी के धर्म बताये। और इस प्रकार आजीविका रक्षा के लिए असत्य बोलने में भी कुछ दोष न बताया, तब उनकी बातों का नम्रता से विरोध करते हुए महाराज बलि कहने लगे।

बलि ने कहा—"भगवन् ! आपके सदृश संसार में नीति विशारद और कौन हो सकता है। आपने जो भी कुछ कहा है, सत्य ही है। गृहस्थियों के लिए वही बर्ताव करना चाहिये जिससे अपने अर्थ की भी रक्षा हो, सांसारिक सुखों में भी व्याघात न हो, यश भी अक्षुण्ण बना रहे, कोई ऐसा निन्दित कार्य न करे जिससे अपयश हो और अपनी आजीविका की भी यथा विधि रक्षा करनी चाहिये। आजीविका से ही जीवन है। फिर भी मैं वामन को तो उसकी इच्छानुसार पृथ्वी दूँगा ही।"

उत्तेजित होकर शुक्राचार्य ने कहा—"क्यों देगा रे ? मैं मना जो कर रहा हूँ। मेरी बात का कोई महत्व ही नहीं।"

नम्रता किन्तु दृढ़ता के स्वर में महाराज बलि बोले

"महत्व क्यों नही गुरुदेव ! मेरा सर्वस्व आपके श्री चरणों में समर्पित है, किन्तु मुझसे यह पाप न होगा। आपकी इस आज्ञा का पालन करने मे मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, ।"

शुक्राचार्य ने कहा—"इसमें असमर्थता की क्या बात है, मैं पृथिवी देने से मना तो कर ही नही रहा हूँ, केवल इतना सशोधन करना चाहता हूँ, कि इन वामन वटु के पैर से न नापी जाय।"

बलि ने कहा—"भगवन् ! वटुवामन ने बड़ी भूमिका बाँध कर मुझसे यह बात स्वीकार करा ली है कि वे अपने ही पैरों से तीन डग पृथिवी नाप कर लेगे। मैंने भी इसे स्वीकार कर लिया है कि आपकी इच्छानुसार ही "दूंगा"। अब दूंगा, कहकर न देना, या उसमें कुछ फेर फार करना धूर्तता है, कपट है, असत्याचर है। क्या मैं इन मिट्टी के ठीकरों के लोभ से या अपनी वृत्ति के लोभ से आशा दिलाकर ब्राह्मण को निराश बनाऊँगा। हां कहकर 'न, करूगा। भगवन् ! मैं प्रह्लाद के वंश में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं विश्व विजयी ब्राह्मणभक्त महाराज विरोचन का पुत्र हूँ जिन्होंने ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र को जानते हुए भी प्राण दान दे दिये थे। मैंने तो अनजान में तीन पग पृथिवी दी है। ये ब्राह्मण कोई भी क्यों न हो, मैं इनकी इच्छा पूरी करूँगा। अपनी सामर्थ्य रहते इन्हें दान दूंगा। असत्य से, बढ़कर और कोई दूसरा पाप है ही नहीं। सब को धारण करने वाली पृथिवी कहती है कि इतने बडे पर्वत, नद, नदी, वन, उपवन, समुद्र तथा समस्त जीवों के धारण करने में मुझे कोई कष्ट नही किन्तु एक असत्यवादी को धारण करना मेरे लिये कठिन हो जाता है, उसके बोझ से मैं दब जाती हूँ।

शुक्राचार्य बोले—"देख, तू तो है मूर्ख। अपने स्वार्थ को समझता नहीं। तैने तो ब्राह्मण के लिए पृथिवी देने का वचन दिया है, यह ब्राह्मण थोड़ा ही है अजाति है इसकी कोई जाति नहीं। अभी यह छोटा दीखता है, क्षण भर में भूत की तरह बढ़ जायगा। तीनों लोकों मे फैल जायगा। एक पैर से समस्त नीचे के लोकों को नाप लेगा, एक में समस्त ऊपर में लोकों को दो में ही यह समस्त दृश्य जगत् को नाप लेगा। फिर यह तेरे सिर पर सवार होगा। तुझे बाँधकर कहेगा तीसरे पैर को स्थान बताओ। तुम और कहाँ बताओगे। प्रतिज्ञा तुम्हारी झूठी हो जायगी। झूठ बोलने वाले जिन नरकों में पचते रहते हैं उनमें तुम सदा पचते रहोगे। सर्वस्व छीनने से तुम दरिद्री हो जाओगे। आज तुम त्रिलोकेश के पद पर प्रतिष्ठित हो, सब तुम्हारा श्रद्धा सहित स्वागत सत्कार करते हैं, जब तुम पदच्युत हो जाओगे, तो कोई पानी के लिए भी न पूछेगा। परिवार वाले तुम्हारा अपमान करेंगे, घर वाले बात न पूछेंगे। सम्भव है यह तुम्हें देवताओं का शत्रु समझकर मार डालें।"

इसपर बलि बोले—"ब्राह्मण! यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके नरक में भी जाऊँ तो मुझे नरक जाना सहर्ष स्वीकार है। यह स्वर्ग भी तो एक प्रकार का नरक ही है। ब्राह्मण की वञ्चना न करके यदि मुझे पदच्युत भी होना हो, तो वह मुझे सहर्ष स्वीकार है। दरिद्रता में क्या दुःख है? ब्राह्मण संतुष्ट हो जाय, उससे मुझे हाँ कहकर "ना, न करनी पड़े तो मैं उस दरिद्रता का प्रसन्नता पूर्वक अभिनन्दन करता हूँ। अपने धर्म की रक्षा करते हुए सत्य का पालन करते हुए मेरी मृत्यु हो जाय, तो इससे उत्तम बात और कौन होगी। जीवन में दान करना, पर लोक सम्बन्धी पुण्य कार्य करना, यही तो जीव का मुख्य ध्येय है।

ये धन, जन, स्त्री, पुत्र वाहन आदि समस्त संसारिक सुखकर सामग्रियाँ मरने पर हमें अवश्य ही एक दिन छोड़ देंगी। जब इनका वियोग अवश्यम्भावी ही है, तो इसके लिए चिन्ता करने की कौन सी बात है। मरते समय जब इन्हें विवश होकर छोड़ना ही पड़ेगा, तो हम स्वतः प्रेम पूर्वक अपने आप ही इनमें से ममत्व क्यों न छोड़ दें। ब्राह्मण भगवान् के स्वरूप है, ज्ञान को धारण करने वाले है, यदि इस नश्वर धन से एक भी ब्राह्मण की तुष्टि हो जाय, तो इससे बढ़कर इस धन का दूसरा सदुपयोग हो ही क्या सकता है।

शुक्राचार्य ने कहा—"भाई, मैं मना कब करता हूं। मेरा कहना इतना ही है, कि तुम इनके पैरों से मत नापो। स्वेच्छा से चाहे सातों द्वीपों को संकल्प कर दो।"

बलि बोले—"महाराज! देने का अभिप्राय क्या? यही न कि लेने वाले की सन्तुष्टि हो जाय। कोई पानी के बिना प्यासा मर रहा है। आप से जल मांगता है, उसे आप बहु-मूल्य सुगन्धित तैल दे दें तो उसको वह क्या करेगा? ब्राह्मण को जिससे तृप्ति हो जाय। वही यथार्थ दान है। जिस लिये दिये दान से विप्र सन्तुष्टि नहीं हुआ तो ऐसे दान से कुछ भी लाभ नहीं। वह तो व्यर्थ है।"

शुक्राचार्य ने कहा—"अरे, भाई! अपनी वृत्ति को बचाकर दान देना चाहिये।"

बलि ने आवेश के साथ कहा—"महाराज! आप वृत्ति वृत्ति कह रहे हैं वृत्ति के दाता तो श्री हरि हैं। सत्य के सामने वृत्ति का क्या महत्व? देखिये, दधीचि मुनि ने देवताओं के मांगने पर स्वेच्छा से अपना शरीर द दिया था। महाराज शिवि ने

एक पक्षी की रक्षा के लिये अपना मांस स्वतः काट काट कर दे दिया था। जब ये धर्मात्मा सत्य के लिये प्राण त्यागने में भी नहीं हिचके परोपकार के लिये इन साधुजनों ने अपने दुस्त्यज प्राणों को भी निछावर कर दिया, तो फिर पृथिवी आदि देने के विषय में तो सोचना ही क्या है।

शुक्राचार्य ने कहा—"यदि तुम इन्हें अपना सर्वस्व ही दे दोगे, तो तुम्हारे पास शेष ही क्या रहेगा ?

बलपूर्वक बलि ने कहा—"महाराज ! मेरे पास यश शेष रहेगा, जिसका प्रलय पर्यन्त भी नाश नहीं होता। मेरे प्रपितामहों ने तथा अन्य बली राजाओं ने अपने बाहुबल से जिन जिन भूखण्डों को, जिन लोकों को, जीता था उन्हें तो काल ने ग्रस लिया, किन्तु उनकी कीर्ति अब तक ज्यों की त्यों अक्षुण्ण बनी हुई हैं। अतः भगवन् ! मैं इस तुच्छ पृथिवी के पीछे अपनी फैली हुई कीर्ति में धक्का न लगाऊँगा। अपयश न कमाऊँगा।

शुक्राचार्य ने कहा—"यश कमाने के और भी साधन हैं। यह क्या कि अपनी गाढ़ी कमाई के धन को व्यर्थ में किसी को उठाकर आवश्यकता से अधिक दे दें।"

बलि ने कहा—"हाँ महाराज। यश कमाने के अन्य साधन हैं, युद्ध में पीठ न दिखाना, शत्रु, से सम्मुख युद्ध करना, ग्रन्थ लिखना, भाषण देना, कलाओं का प्रदर्शन करना। ये सब यशोपालन के साधन अवश्य हैं, किन्तु, सत्पात्र के उपस्थित होने पर अपने प्राणों से प्यारे, गाढ़ी कमाई वाले धन को श्रद्धा-

पूर्वक दान करने वाले संसार में दुर्लभ मनुष्य है। सत्पात्र को दान देने से बढ़कर कोई पुण्य कार्य नहीं। अतः मैं इस वामन वटु को इसकी इच्छा के अनुसार ही जितनी यह भूमि माँगेगा उतनी अवश्य दूँगा।"

श्रीशुकदेव जी कहते है—"राजन् ! जब महाराज बलि किसी प्रकार भी न माने तो शुक्राचार्य जी ने फिर अन्तिम प्रयत्न किया।

छप्पय

शिवि दधीचि ने तजे प्रान दुस्त्यज हू परहित।
भूमि आदि अति तुच्छ भोग जग के जे परमित॥
नाशवान् धन, धरा, विश्व के सर्वहि पदारथ।
अविनाशी यश एक यही जग जीवन स्वारथ॥
सहज शत्रु सँग शूरता सहित, समर महं मरन है।
किन्तु पात्र कूँ प्रेम युत द्रव्य दैन अति कठिन है॥

महामना बलि की उदारता।

(५६८)

यजन्ति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता,
भवन्त आम्नायविधानकोविदाः।
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने।*

(श्री भा० ८ स्क० २० अ० ११ श्लोक)

छप्पय

यदि ये हैं भगवान् विष्णु सब जग के पालक।
वेष बदलि विश्वेश बने बटु बौने बालक॥
तो चिन्ता की कौन बात ये मख के स्वामी।
जे जो चाहैं करैं अखिल पति अन्तर्यामी॥
सब साधन को यही फल, होहि कृष्ण पद सुदृढ़ मति।
यह मेरो सौभाग्य अति, याचन आये विश्वपति॥

परोपकार के कारण प्राप्त हुआ कष्ट, युद्ध क्षेत्र में सम्मुख लड़ते हुए शत्रु के शस्त्र द्वारा हुआ घाव, सुरति के कारण हुई

---

* महाराज बलि शुक्राचार्य से कह रहे हैं—"मुनिवर! वे ये ही वरद विष्णु हैं, जिनके निमित्त की विधि को जानने वाले आप जैसे ज्ञानी पुरुष यज्ञों में आदर पूर्वक हवन करते हैं। अथवा चाहें कोई दूसरे ही हों, मैं इन्हें अवश्य ही इनकी मांगी हुई पृथिवी इच्छानुसार दूँगा।

शिथिलता, प्रेम और हर्ष के कारण आये हुए अश्रु ससुराल मे दी हुई गालियां, पुत्र प्रसव जन्य पीड़ा तथा दान के कारण हुई निर्धनता, यद्यपि ये सब अन्य के देखने में दुख से प्रतीत होने पर भी वास्तव में सुख देने वाले हैं। वैसे किसी को कारावास हो जाय तो सब उनकी निन्दा करेंगे स्वयं भी उसे ग्लानि होगी। दुखी होगा, किन्तु देश सेवा के निमित्त परोपकार करते हुए कारावास के या अन्य कष्ट सहन करने पड़ें तो हृदय में बड़ा संतोष रहता है, ससार में भी उसका गौरव होता है तथा उन कष्टों से एक प्रकार की आत्मतुष्टि होती है वैसे कही एक कांटा भी लग जाय तो कितना कष्ट होता है। किन्तु युद्ध क्षेत्र में अंग क्षत विक्षत हो जाते है, सम्पूर्ण शरीर चलनी की भांति हो जाता है, किन्तु उन प्रहारों को गौरव के साथ सहते है, उनसे सच्चे शूरवीरों को कुछ भी कष्ट नहीं होता यही नहीं, उनके रक्त को देखकर और भी बल उत्साह बढता है। इसी प्रकार दरिद्रता यद्यपि सबसे दुखकर मानी गई है। दरिद्री को पग पर असुविधाओं का सामना करना पड़ता है सभी उसका तिरस्कार करते हैं उसे भी अपना जीवन भार सा प्रतीत होता है किन्तु जो दान देते देते दरिद्री हुए हैं उन्हें एक प्रकार का आत्म सन्तोष रहता है, कि हमने धन का दुरुपयोग नहीं किया, उसे बुरे कार्यों में व्यय नही किया। उस दरिद्रता में गौरव है। धीर, वीर, दानी स्वात्माभिमानी, पुरुष उस दरिद्रता का सहर्ष स्वागत करते हैं और उसे पाकर अपने को गौरवान्वित समझते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब शुक्राचार्य जी ने बार बार कहा कि यह वटु वामन नही यह विश्वपति विष्णु

हैं, तेरा सर्वस्व अपहरण करके तुझे दरिद्र बना देगा। तो इस पर मनस्वी महाराज बलि कहने लगे—"गुरुवर! कोई भी दाता देता है तो वह स्वेच्छा से नहीं देता। उसे देने के लिए विवश होना पड़ता है। किसी दुखी दरिद्र को देखकर हमारे मन में करुणा उत्पन्न होती है। बिना दिये चित्त की विचित्र दशा होती है, हृदय में एक प्रबल असन्तोष सा होता है, जब हम उसे कुछ दे देते हैं और उसके मुख पर प्रसन्नता देखते है, तो हमें एक प्रकार के आन्तरिक सुख का अनुभव होता है, मन में सन्तोष होता है। अतः यथार्थ दानी पुरुष दूसरों के लिये दान नहीं देते। अपने सन्तोष के लिये देते है। वे समझते हैं देने वाले हम कौन है, भगवान् ही सबको देते हैं, हम तो निमित्त मात्र है। उस प्रभु के सम्मुख तो हम भी भिखारी है।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! दाता को यदि देने में ही सुख होता है तो वह बहुत से लोग किसी को देते हैं, किसी को मना कर देते है, हमने तो देखा है बहुत से लोग अधिक मांगने पर या असमय में मांगने पर भिक्षुकों को डांटते भी हैं, यह क्या बात है।"

सूतजी बोले—महाराज वे! यथार्थदाता नही। वे तो अभिमानी हैं, उनके मन में यह भावना रहती है, लाओ हम पर धन है तो थोड़ा इन अपने आश्रित कंगालों को भी दे दें। हमारा नाम होगा, दस स्थान पर कहेंगे हम उनकी सहायता करते हैं उसे देते है, उसका दुख दूर करते हैं। यह दान नहीं अपने धन का विज्ञापन है। तामस दान है। इसे असत् दान कहते हैं उसका इस लोक में तथा परलोक में कोई शेष फल नहीं। दान तो वही यथार्थ है कि दाता को यह अभिमान न हो कि मैं किसी को दे रहा हूँ, किसी की सहायता कर रहा

हूँ। उसकी यही भावना रहे यह सब भगवान् की वस्तु है। भगवान् ही मुझ से एक रूप में दिला रहे है और वे ही अनेक रूप रखकर, हाथ पसारकर ले रहे हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक बहुत बड़े दानी सेठ थे। उनके घर के नौ द्वार थे, एक दशवां भी द्वार था। सब द्वारों पर बहुत से भिक्षुक बैठे रहते वे क्रमशः सब द्वारों पर जाते और वहां जाकर सब को अन्न दान देते। उनका बड़ा नाम हो गया। स्वर्ग तक उनकी कीर्ति व्याप्त हो गई : एक बार भगवान् वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाकर उनके दान की परीक्षा करने आये। भिक्षुकों में बहुत से बड़े वाचाल और ढीठ होते हैं, वे बहुत बोलते हैं दाता की अत्यधिक प्रशसा करते है, अन्य भिक्षुकों को डांट डपट कर सबसे आगे हो जाते है। ऐसे ही ये वृद्ध ब्राह्मण थे। भिक्षुकों मे बैठकर चिल्लाने लगे—"आप बडे दानी है, कुबेर से भी बढ़कर है, आप कर्ण के समान है हरिश्चन्द्र की भाँति हैं।" सेठजी पहिले द्वार पर बाँटने आये। ये ब्राह्मण सबसे पहिले पहुँच गये। सिर नीचा करके सेठ ने उन्हें दान दिया। जब इस द्वार के सब लोगों को देकर सेठजी दूसरे द्वार के भिक्षुकों को देने गये, तब उनमें भी ये ब्राह्मण सबसे पहिले पहुँच गये। ऐसे ही नौ दरवाजों पर ये पहुँचे और सेठजी सिर नीचा करके देते ही रहे। उन्होंने न तो इनकी ओर देखा और न यही कहा कि तुम बड़े लालची हो, नौ दरवाजो पर लेते रहे हो। दशवां द्वार कभी कभी खुलता था। उस पर कभी कोई भिक्षुक जाता ही नहीं था। आज दशवां द्वार भी खुला। वह विचित्र भिक्षुक वहाँ भी खड़ा था। सेठ जी ने सिर नीचा करके वहां भी दान दिया। तब वे अद्भुत भिक्षुक बोले—"सेठजी हम आपसे एक बात पूछना चाहते हैं।"

नीचा सिर किये ही किये सेठ जी ने हाथ जोड़कर कहा—'हा, भगवन् ! पूछे।" तब वे वृद्ध भिक्षुक ब्राह्मण बोले—

दशों दुआरे फिरि गयो, कहे न कड़वे बैन।
हौ तोइ पूछौ हे सखे ! कैसे नीचे नैन॥

सेठ जी, मैं दशों द्वार पर गया, चिल्ला चिल्लाकर भिक्षा मांगी। आप समझ भी गये होंगे। यह ही भिक्षुक है, किन्तु आपने न तो मुझे डाँटा फटकारा न दान देने से मना ही किया। अस्तु, यह तो आप की उदारता और दानशीलता का चिह्न है, किन्तु आप सिर को ऊपर क्यों नही उठाते। नीचे नयन करके दान क्यों देते हैं ?"

तब आँखों में आँसू भर कर सेठ जी ने कहा—भगवन् !—

देने वाला और है, देता है दिन रैन।
लोग भरम मेरो करें, जाते नीचे नैन॥

प्रभो ! जो मनुष्य एक एक जल कण के लिये, वायु के लिये परमुखापेक्षी है, वह दूसरों को दान दे ही क्या सकेगा। जो अपने कष्ट मिटाने में समर्थ नहीं वह दूसरों के दुख दूर कर ही क्या सकता है। सबको देने दिलाने वाले वे ही हरि हैं। वे ही सदा सर्वदा सब को देते है। वे ही सबका पालन करते हैं। ये सब लोग भ्रमवश मुझे दाता मानकर मेरे मुख पर ही कहते है—"सेठ जी बड़े दानी है, बहुत दान करते है, सब के दुख दूर करते है।" भगवन् ? इन झूँठी बातों को सुन सुन कर लज्जा के कारण मैं सिर ऊपर नही उठाता। मुझे तो भगवान् ने मुनीम का काम सौंप रखा है। दाता तो वे ही दीन बन्धु है मुझ से तो वे दिला रहे है।"

इतना सुनते ही भगवान् अपना बनावटी वेष त्यागकर

चतुर्भुज रूप मे प्रगट हो गये और उन्हें अपने देव दुर्लभ दर्शन देकर कृतार्थ किया।"

सूत जी कहते—"मुनियों ! यथार्थ दानी ऐसे ही होते हैं भिक्षुकों पर जो अपने दान का, उदारता का, जो भार लादते हैं और बार बार अपने सम्पन्न होने की दुहाई देकर दूसरों को देय या तुच्छ समझते हैं वे दानी नही। महामना महाराज बलि यथार्थ मे सच्चे दानी थे तभी ता वे गुरु के मना करने पर भी दान देने को प्रस्तुत हो गये। उन्होंने गुरु से कहा—"देखिये भगवन् ! साधारण याचकों को याचना पूर्ण करने से प्राप्त हुई दुर्गति भी कल्याणकारिणी होती है। फिर आप जंसे ब्रह्म-वेत्तादि याचक बनकर जिसके पास आवें और वह उन्हें सर्व-स्वदान करके भिक्षुक बन जाय तो, उससे बढ़कर बड़भागी विश्व में कौन होगा ? इसलिये भगवन् ! चाहे हमें गुरु आज्ञा उल्लंघन का पाप ही क्यों न लगे मैं इस वटु वामन को इसकी इच्छित वस्तु अवश्य दूँगा, संकल्प पूर्वक दूँगा, हठ से दूंगा मैं मानने का नहीं। विना दिये मुझे सुख नहीं, शांति नहीं याचकों की याचना पर मैं वस्तु के रहते हुए मना नहीं कर सकता। यह मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। देकर यदि मुझे नरक जाना पड़े तो सहर्ष स्वीकार है।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—सूतजी ! दान पुण्य तो लोग अपने सुख के लिये करते हैं। इस कार्य से हमें सुख हो स्वर्ग प्राप्त हो दान का फल तो यही है। महाराज बलि दान देकर भी सहर्ष नरक की यातना सहने को क्यों तैयार हुये ?

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन् ? स्वर्ग की कामना से सकाम दान पुण्य करना यह शास्त्रकारों ने उत्तम मार्ग नहीं

बताया है। इसे तो कैतव धर्म कहा है। कर्म तो निष्काम करना ही श्रेष्ठ है जैसे शराबी सुरा बिना पिये व्याकुल बना रहता है, जब तक उसे सुरा नहीं मिलती तब तक बेचैन बना रहता है, इसी प्रकार स्वाभाविक दानियों और धर्मात्माओं की बात है। वे किसी सांसारिक कामना से दान धर्म नहीं करते। उनकी प्रकृति ही ऐसी हो जाती है कि बिना दान धर्म किये, बिना सत्य बोले वे रह ही नहीं सकते। इस विषय में एक अति प्राचीन पौराणिक उपाख्यान मैं सुनाता हूँ उसे आप ध्यान पूर्वक सुनें।

प्राचीनकाल में महाराज उशीनर के पुत्र परम धार्मिक राजर्षि शिवि हो चुके हैं। शिवि के समान दानी धर्मात्मा और सत्य प्रतिज्ञ विरले ही पुरुष हुए होंगे। उनकी क्षमा संसार मे सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसका अनुकरण करना तो दूर की बात रही उनके कर्मों पर लोगों को विश्वास होना भी कठिन है। क्षमा में वे पृथिवी से भी बढ़ गये। मुनियों ? एक दिन की बात है कि महाराज शिवि के पास एक ब्राह्मण ने आकर भोजन की याचना की। वह ब्राह्मण अघोरी का वेष बनाये हुए था।

राजा तो परमदानी थे। कल्पवृक्ष के समान सभी की इच्छा पूर्ण करने वाले थे। भूखे को भोजन देना तो परमधर्म है। अतः शीघ्रता पूर्वक बोले—"भगवन् ? आज्ञा कीजिये मैं आपके लिये कैसे भोजन लाऊँ ?"

उस अघोरी विप्र ने कहा—"राजन् ? मैं तो नरमांस खाता हूँ, सो भी वधशाला में वध हुए पुरुष का नहीं। कुलीन पुरुष का मांस मुझे प्रिय है। यदि आप अपने इकलोते पुत्र बृहद्गर्भ का स्वयं ही मांस बनाकर मुझे खिलावें तो उसी से मेरी तृप्ति हो सकती है।"

राजा ने अत्यंत ही उल्लास के साथ कहा—"ब्रह्मन् ! मेरा और मेरे पुत्र वृहद्गर्भ का यह परम सौभाग्य है कि उसका शरीर परोपकार के काम में आवे। आप विराजिये, मैं आप की इच्छा पूर्ण करूँगा।" यह कहकर राजा ने कुमार को बुलाया उसे स्वयं मारकर उसके मांस को रांधने लगे। वह अघोरी ब्राह्मण बाहर बैठा बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। राजा को भोजन लाने में विलम्ब देखकर वह अत्यंत ही कुपित हुआ। उसने नगर मे जाकर राजा के महलों में आग लगा दी। उनके निवास स्थान को जला दिया और अत्यत उपद्रव करने लगा।

महाराज शिवि अपने प्यारे पुत्र का मांस बनाकर उसे सिर पर रखकर उस ब्राह्मण के लिये लाये। सभी सेवको ने रोते रोते कहा—"महाराज ! यह कहाँ से ऐसा ब्राह्मण आगया, आपको भोजन लाने में विलम्ब देखकर वह तो आपके महलों में आग लगा रहा है।" इतना सुनकर भी राजा के मुखपर कोई रोष या दुःख के चिन्ह दिखाई न दिये। वे सीधे उस कुपित ब्राह्मण के समीप गये और बोले—"भगवन् ! भोजन तैयार है, मुझे देर हो गई, आपको कष्ट हुआ, इसके लिए मैं बारम्बार क्षमा प्रार्थना करता हूँ। आप प्रसन्न होकर अपनी इच्छानुसार भोजन कीजिये।"

राजा की ऐसी नम्रता देखकर ब्राह्मण के ऊपर तो मानों १०० घड़ा पानी पड़ गया हो, लज्जा के कारण उसका सिर नीचा हो गया। फिर भी उसने राजा की क्षमा की परीक्षा लेने के निमित्त कहा—"तू ही इस मांस को खाले।"

यह सुनकर महाराज तनिक भी विचलित नही हुए। वे वस्त्र को हटाकर ज्योंही पुत्र का मांस खाने को उद्यत हुए

त्योंही ब्राह्मण ने उनका हाथ पकड़ लिया। राजा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जिस राजकुमार को उन्होंने मारा था, वह वस्त्रालंकारों से सुसज्जित राजा की ओर हँसता हुआ दौड़ा आ रहा था। राजा के समीप आकर वह उनसे लिपट गया। ब्राह्मण ने अपना छद्मवेष त्याग दिया। वे ब्राह्मण और कोई नहीं थे लोक पितामह ब्रह्माजी ही राजा की क्षमा की परीक्षा लेने आये थे क्षण भर में वे वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा अपने पुत्र के सहित सभा में आये। सभी सभासद महाराज की ऐसी क्षमा, सहनशीलता से परम विस्मित थे।

सभासदों ने राजा से पूछा—"प्रभो ! आपने तो यह अत्यंत ही दुष्कर कर्म कर डाला। हम यह जानना, चाहते हैं कि आपने यह कार्य किस कामना से किया था ? क्या यश प्राप्ति की इच्छा से किया था ?"

यह सुन राजा ने कहा—"भाइयो ! देखो, मैं दान, यश, ऐश्वर्य अथवा अन्य किसी वस्तु की प्राप्ति की कामना से नहीं देता। सत्पुरुष सदा दान देते रहे हैं और दान की प्रशंसा करते रहे हैं, यह दान की प्रथा पुण्यात्मा पुरुषों की चलाई है, सज्जन पुरुषों को उसका अनुकरण करना चाहिये। इसी भावना से मैं सदा देता रहता हूँ। जिस मार्ग पर सदा से सत्पुरुष चलते आये हैं वही श्रेष्ठ मार्ग है, अतः उसी मार्ग का मैं निष्काम भाव से अनुसरण करता हूँ। दान देना चाहिये इसीलिये मैं देता हूँ। बिना दिये मुझसे रहा नहीं जाता।" यह सुनकर सभी सभासद परम विस्मित हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऐसे पुरुष ही यथार्थ दानी है। महाराज बलि उन्हीं श्रेष्ठ दानियों में से है। भगवान् ने

उनके गुणों की ख्याति करने के निमित्त ही वामन वेष बनाया था।

जब शुक्राचार्य ने स्पष्ट शब्दों में बलि से कहा कि मैं मानूँगा नहीं इस वामन को पृथिवी अवश्य दूँगा। तब शुक्राचार्य कुपित हो गये। और क्रोध करके बोले—"तेरी बुद्धि तो भ्रष्ट होगई है। अपने को पंडित मानता है। मेरी बात पर विश्वास नहीं करता। जो गुरु वचनों पर अविश्वास करता है, उसका अधः पतन अनिवार्य है। मै बार बार कह रहा हूँ यह ब्राह्मण नहीं साक्षात् विष्णु है।"

बलि ने नम्रता पूर्वक कहा—"मैं विश्वास करता हूँ भगवान्! मानता हूँ ये विष्णु ही हैं, वेष बदल कर आये हैं, मुझे ठगना चाहते हैं। मुझे क्या ठगेंगे स्वयं ही ठग जायँगे। आप लोग जो वेदवादी ब्राह्मण है, समस्त यज्ञ योग इन्हीं के उद्देश्य से करते हैं। समस्त यज्ञों के द्वारा इन्ही का पूजन करते है, इन्हें ही बलि देते हैं। मेरे तो दोनों हाथो में लड्डू है, यदि ये सुपात्र ब्राह्मण होंगे तो मुझे दान का पुण्य होगा यदि ये विष्णु हैं तो मेरा सर्वस्व विष्णु अर्पण हो जायगा। अपनी खिचड़ी की थाल में भूल से घी गिर पड़े तो उसे नष्ट हुआ कोई नहीं मानता। आप कहते है—"ये तुझे बाँध लेंगे—"बाँध लेंगे तो बांध लें। वेष तो इन्होंने ब्राह्मण का बना रखा है। ब्राह्मण को सदा अवध्य बताया है, इसलिये ये बाँधेगे भी तो मैं इन्हे मारूँगा नही ये अपना धर्म नहीं छोड़ेंगे। ये छोड़ भी दें तो मैं नहीं छोड़ूंगा। यदि ये अपना द्विज वेष छोड़कर देवरूप से मुझसे युद्ध करें, तो मैं भी दो दो हाथ दिखाऊंगा, या तो स्वयं मर जाऊंगा या इन्हें यमपुर पठाऊंगा

मान लो ये सर्वसमर्थ हैं, मैं इन्हें न भी दूं तो ये युद्ध में मुझे जीत कर तीनों लोकों को ले सकते हैं। यदि मैं इनकी इच्छा की पूर्ति न कर सका और इन्होंने मुझे मार डाला तो भी मैं बोलूंगा नहीं। यदि ये विष्णु न होकर कोई और होंगे और मुझसे युद्ध करेंगे, तो अपने किये का फल पायेंगे। सारांश यह कि मैं जो कह चुका हूं उससे अब पीछे न हटूंगा इन्हें इनके पैरों से तीन पग पृथिवी दूंगा।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर महाराज बलि चुप हो गये।

छप्पय

विप्र वेष में दइ देहिं या मोहि मारें।
अथवा धन गृह राज्य छीनिके देश निकारें॥
दीयो जो कुछ दान करो नहिं फिर हौं नाही।
धन तिन आवत जात रहै कीरति जग माहीं।
चाहैं वामन विप्र हों, शत्रु होहि अथवा सुहृद।
देहैं तीनि डग भूमि अब, पग लपु हौं अथवा सुहृद॥

महाराज बलि को शुक्राचार्य का शाप।

(५६६)

दृढं पंडितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया।
मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद्भ्रश्यसे श्रियः॥

(श्री भा० ८ स्क० २० अ० १५ श्लोक)

छप्पय

लखि बलि की हठ शुक्र क्रोध करि बोले बानी।
अरे मन्दमति मूर्ख अज्ञ शठ पंडितमानी॥
साधारण द्विज भिक्ष मोइ निज आश्रित जानैं।
करै उपेक्षा अधम बात मेरी नहिं मानै॥
जा तेरो ऐश्वर्य धन, छिन मह सब नसि जाइगो।
गुरु आज्ञा अवहेलना, को फल अब तू पाइगो॥

धर्म का पथ बड़ा कंटकाकीर्ण है। जो जितना ही शुद्ध होता है, उसकी उतनी ही परिक्षा की जाती है, सुवर्ण बार-

❀ श्री शुक्राचार्य राजा बलि को शाप देते हुए कहते हैं—"अरे, तू अज्ञ और मूढ़ होकर भी अपने को पंडित मानता है। तूने मेरी उपेक्षा करके मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है अतः जा तू शीघ्र ही ऐश्वर्य भ्रष्ट हो जा।

बार तपाया जाता है। तपाने से उसकी हानि नहीं होती, वह और भी उज्ज्वल चमकने लगता है। श्रेय कार्यों में बहुत से विघ्न आया करते है, किन्तु धैर्यवान् पुरुष उन्हें धैर्य के साथ सहन करते हैं। जो आपत्तियों को आते देखकर घबरा जाते हैं वे धीर नहीं, वीर नहीं, दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं। विघ्नों के चाहे पहाड़ टूट पड़ें, अपने पुरुष पराये बन जायँ, मित्र शत्रु हो जांय, किन्तु धीर पुरुष पीछे पग नहीं हटाते, अपनी सत्य प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होते। देखने में वे निर्धन बन जाते-हैं किन्तु वास्तव में उनका धन नश्वर न रहकर अविनाशी बन जाता है। वे अमरत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! संसार में भावी बड़ी प्रबल है, भवितव्यता होकर ही रहती है। मनुष्य करता किसी उद्देश्य से है फल उसका विपरीत ही हो जाता है। महाराज नृग दान करते थे स्वर्ग के लिये किन्तु होना पड़ा गिर गिट। इसी प्रकार बलि की सेवा सुश्रूषा से प्रसन्न होकर असुराचार्य भगवान् भार्गव उन्हें स्थाई इन्द्र बनाना चाहते थे किन्तु भावी के कारण वे स्वयं ही उसे क्रोध करके शाप देने को उद्यत हुए।

भगवान् ने देवताओं से पहले ही कह दिया था, बलि को पदच्युत करने का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। उसने अपनी सेवा से शुक्राचार्य को वश में कर रखा है। वे ही जब क्रोध करके उसे शाप दे दें, तब तो वह श्री हीन हो सकता है। अन्यथा किसी की शक्ति नहीं कि उसका सामना कर सके। अब वही समय आ गया। हर प्रकार से समझाकर, बुझाकर, डाँटकर, फटकारकर, प्यार से क्रोध से जब शुक्राचार्य

चुके और वलि अपनी प्रतिज्ञा पर ही दृढ़ वना रहा, तो भवितव्यतावश शुक्राचार्य को क्रोध आगया। क्रोध में भरकर वे सत्य मे परायण महामनस्वी महाराज वलि को शाप देते हुए वोले—"अरे, तू वड़ा मूर्ख है वे! लगाता तो तू अपने को वड़ा भारी पंडित है, किन्तु बुद्धि तुझ में तनिक भी नहीं। अपने स्वार्थ को तो समझता नही, उलटे मुझे ही असत्यवादी समझता है मेरी अवहेलना करता है, मेरी आज्ञा नहीं मानता। जा तू अत्यंत ही शीघ्र ऐश्वर्य से भ्रष्ट होगा।"

महाराज बलि के लिये यह सवसे वड़ी विपत्ति थी। उन्हें जो कुछ प्राप्त था, गुरु कृपा से ही प्राप्त था, उनको ही प्रसन्न करके वे स्थाई इन्द्र होना चाहते थे, वे ही आज उसके दुर्भाग्य से उसे ऐश्वर्य से भ्रष्ट होने का शाप दे रहे है, यह काल की क्रूरगति का ही प्रत्यक्ष उदाहरण है, किन्तु वे तो महापनस्वी थे, सत्य में उनकी अडिग आस्था थी। गुरु के शाप को सुनकर भी वे अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हुए। उन्होंने वामन को भूमि देने का अपना आग्रह नही छोड़ा।

महाराज वलि की सती साध्वी, पतिव्रता पत्नी विन्ध्यावली ने जव सुना मेरे पति एक सुपात्र को दान देना चाहते हैं, गुरुजी इस कार्य में रोड़ा अटका रहे है तब तो वह लजाती हुई तनिक घूंघट को सरकाकर राजा के समीप आई। भरी सभा में वह वोल तो सकती ही नहीं थी। अतः वह सुवर्ण की शुद्ध भारी में पवित्र जल लेकर उपस्थित हुई। उसने अत्यन्त ही कोमल वचनों में अपने पति से कहा—"देव! इन वटुवामन के पंकज पंखुड़ियों के सदृश पुनीत पादों को प्रक्षालन करके अपनी पृथिवी दान की पुण्य प्रतिज्ञा को पूर्ण कीजिये। ब्रह्मचारी को उसकी इच्छानुसार भूमि दान दीजिये।

आज इस संकट के समय अपनी प्राण प्रिया पत्नी को साथ देखकर बलि के हर्ष का ठिकना नहीं रहा। जो विपत्ति में अपने साथ रहे वही बन्धु है, वही स्वजन और आत्मीय है। प्रायः परिवारवाले तभी तक साथ देते हैं, जब तक ऐश्वर्य हो। ऐश्वर्यहीन होने पर सभी परित्याग कर देते हैं। मुझे मेरे गुरुदेव ने त्याग दिया, अन्य बन्धु बान्धव विमुख से हो गये, किन्तु मेरी जीवन संगिनी मेरे साथ है। अतः बड़े हर्ष से उल्लासके साथ उन्होंने अति प्रसन्नता पूर्वक स्वयं ही उन वामन बटु के श्रीसम्पन्नचरणयुगल धोकर, वह त्रैलोक्य पावन चरणोदक अपने मस्तक पर धारण किया। मानों उन्होंने अपनी कीर्तिरूप सुरसरि को श्रीहरिके चरणों से निकाल लिया हो। पुनः दान देने के पूर्व ब्राह्मण का विधि विधान पूर्वक पूजन किया। वस्त्राभूषणों से उन्हें अलंकृत किया। तत्पश्चात् वे टोंटीदार पात्र से जल लेकर वामन बटु को दान देने के लिये संकल्प पढ़ने को प्रस्तुत हुए। शुक्राचार्य जीने देखा अब तो बात बिगड़ना ही चाहती है, लाओ, एक बार प्रयत्न और करें। यह सोचकर वे उस टोंटीदार पात्र में छोटा रूप रखकर बैठ गये। उन्होंने सोचा—"जब तक जल न होगा, संकल्प न पढ़ा जायगा, संकल्प के बिना दिया हुआ दान नियमानुसार नहीं माना जाता। जब विधि की त्रुटि होगी, तो हम कहेंगे—"यह दान नियम के विरुद्ध हुआ अतः मान्य नहीं।" यही सब सोचकर उन्होंने एक बूंद भी पानी टोंटी में से नहीं गिरने दिया।

राजा बलि ने सोचा—"यह तो एक नई विपत्ति आगई। वे वामन से बोले—"द्विजवर! इस टोंटीदार पात्र से जल क्यों नहीं गिरता।"

वामन तो सब जानते थे, सर्वज्ञ से क्या छिपा रह सकता है। अतः बोले—"राजन् ! लाओ, मैं भी देखूँ, टोटी में क्या हो गया। अपने हाथ की कुशा को तो मुझे दे दें। राजा ने कुशा वामन को दे दी। उन्होंने उसकी नोंक को उस टोटी मे इतने वेग से घुसेड़ दिया कि असुर पुरोहित की एक आँख ही गोविन्दाय नमोनमः हो गई। बिना संकल्प के ही एक आँख दान में दे दी। बिना प्रतिज्ञा कराये ही वामन ने एक आँख ले ली। अब तो शुक्र वहाँ से भागे। जल गिरने लगा बलि संकल्प पढ़ने लगे—'आज ब्रह्मा के इस परार्ध में, इस कल्प में, इस मन्वन्तर में, इस द्वीप में, इस पुण्यक्षेत्र, इस युग में, इस सम्वत्सर में, इस मास में, इस पक्ष में, इस तिथि में, इस वार में, इस मूहूर्त में, करण, नक्षत्र, आदि में कश्यप कुल में उत्पन्न बलि इस कश्यप कुल में उत्पन्न वामन को तीन डग पृथिवी देता हूँ। इस दान से सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न हों, यह दान उन प्रभु का ही है, मेरा नहीं। यह दान श्री कृष्णार्पण है। हाथ फैलाकर लज्जा के सहित सकुचाते हुए वामन ने वह प्रतिग्रह ग्रहण की।

उस समय तीनों लोकों के जीव महाराज बलि की जय जय कार करने लगे। सभी इस दुष्कर कार्य की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। सब कहते—"इन दानियों में शिरोमणि मनस्वी महाराज का साहस तो देखा, यह जानते हुए भी कि ये मेरे कुल के शत्रु–देवताओं का पक्ष लेने वाले विष्णु हैं तो भी किसी हिचकिचाहट के प्रसन्नता पूर्वक इन्होने पृथिवी दान कर दी ऐसा कर्म दूसरा कोई कर ही नही सकता।

इस प्रकार सभी उनकी प्रशंसा करने लगे आकाश में

स्थित नन्दनकानन के पुष्पों की उनके ऊपर वृष्टि करने लगे, गन्धर्व गाने लगे, विद्याधर तान छोड़ने लगे, सिद्ध चारण उनकी स्तुति करने लगे। सहस्रों दुंदुभियाँ बजने लगी अप्सराओं के नृत्य की झनकार से आकाश मण्डल भर गया। सर्वत्र आनन्द छा गया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार दान देकर बलि ने बड़ा दुष्कर कर्म किया।

छप्पय

भये दैव प्रतिकूल भाग्य ने पलटा खायो।
कहाँ इन्द्र पद अटल करन हित यज्ञ रचायो॥
गुरु ने दीयो शाप पाप पूरव के प्रकटे।
तऊ न विचलित भये दान दैके नहि पलटे।
अपने जानै जीव सब, कारज सुखकर हो करहिं।
किन्तु दैववश होहि फल, हाथ हवन करतहु जरहिं॥

बढ़े वामन का विश्वरूप

(५७०)

तद् वामनं रूपमवर्धताद्भुतम्,
हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम् ।
भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधय-
स्तिर्यङ्नृदेवा ऋषयो यदासत ॥
(श्री भा० ८ स्क० २० अ० २१ श्लोक)

छप्पय

जल कुश लै संकल्प पढ्यो भू वामन दीन्ही ।
नन्हें नन्हें हाथ बढ़ाये बटु लै लीन्हीं ॥
अब पुनि बामन बढ़े लोभ वश पग फैलाये ।
तिन के तन महँ भूमि दिशा नभ सबहिं समाये ॥
भुवन चतुर्दश भूत सब, काल कर्म मनु इन्द्र सुर ।
बटु वामन के देह महँ चकित होहिं निरखहिं असुर ॥

प्रथम बिन्दु होता है, तब सिन्धु बन जाता है, वट के

❀ श्रीशुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! दान लेते ही उन बटु वामन भगवान् का रूप त्रिगुणात्मक अनन्त रूप विचित्र भांति से बढ़ने लगा । उस रूप के अन्तर्गत पृथिवी, आकाश, दिशा, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पक्षी, मनुष्य, देवता, ऋषिगण सबके सब आ गये ।

नन्हें बीज में विशाल वटवृक्ष अन्तर्भूत है, जहाँ काल, कर्म और गुणों के साथ सम्बन्ध हुआ तहाँ वह नन्हें से बीज से विशाल वृक्ष बन जाता है। जगत् के आदि में परमाणु ही थे। वही सब मिलकर समय पाकर विश्वरूप में परिणित हो गये। शुक्रबिंदु ही इतने बड़े शरीर के रूप में परिणत हो जाता है। अणु से महान् और महान् से अणु यही विश्व-प्रवाह है। वे विश्वनाथ अणु से भी अणु है, महान् से भी महान् हैं। लीला के लिये कभी बृहद् अणु से वामन वटु बन जाते हैं, फिर वटु वामन से विश्व के रूप में परिणत हो जाते है। जो अणु में महत् और महत् में अणु को देखते हैं, वे ही ज्ञानी है, विज्ञानी है, उन्होने ही इस बौने वामन के रहस्य को समझा है, जो बाह्यवृत्ति वाले है, वे इस तत्व को नहीं समझ सकते, वे ढोंग गपोड़े सपोड़े जाने क्या क्या कहते है। यह सब भी उन्हीं की प्रेरणा से कहते हैं। उनकी सत्ता के बिना न कोई कुछ कह सकता है, न कुछ कर सकता है।"

श्री शुकदेव जो कहते है—"राजन्! बड़े से जो लोग जान बूझकर छोटे बनते है वे और भी अधिक बड़े बनने के निमित्त ऐसा करते हैं। यदि बड़े बड़ों के ही अनुरूप रहें, तब तो वे बड़े है ही, उनका पतन भी हो सकता है। जो स्वभावतः छोटे हैं उनका पतन क्या होगा। जो खाट पर सो रहा हो, उसके नीचे गिरने का डर है, जो भूमि पर ही लेटा है, उसके गिरने की तो सम्भावना ही नहीं। किन्तु जो बहुत बड़े होकर भी छोटे बनते हैं, तो समझ लो इनके छोटे बनने में कोई रहस्य है। ये छोटे बनकर बड़ों के भी कान काटने की घात में हैं, उनकी सादगी में महत्वाकांक्षा अन्तर्भूत है, त्याग में महान् ऐश्वर्य छिपा

है वामन वटु जो छोटे छोटे पैरों को दिखाकर अपनी हीनता और लघुता दिखा रहे थे इसमें उनकी महत्वाकांक्षा गूढ थी। ब्रह्म के एक किसी क्षुद्र देश में प्रकृति पड़ी रहती है। उसमें भी सत्व, रज और तम ये दोनों गुण अत्यन्त सूक्ष्म बने हुए, बहुत छोटे से बाजरूप मे सोते रहते हैं। जहाँ उनका देश काल और कार्य-कारण सम्बन्ध से नाता जुड़ा कि वे तीनों गुण ही फैलकर चतुर्दश भुवनों का रूप ले लेते हैं, अणु से वृहद् बन जाते है। गुणों के साथ काल कर्म का सम्बन्ध होने से वे विश्व ब्रह्माण्ड को ढक लेते है, ब्रह्म को आच्छादन कर लेते है। फिर गुण प्रवाह के अतिरिक्त ब्रह्म दीखता ही नहीं। वह तो अन्तःकरण की सांकरी कोठरी में छिप जाता है। जो वामन अब तक नन्हें से वटवृक्ष के बीज के समान दिखाई देते थे, वह अब बलि की अनुकूलता और संकल्प के जल सहित पृथिवी को पाकर बढ़ने लगे। वटवृक्ष को तो काल की अपेक्षा है, ये तो काल के भी काल ठहरे। काल भी जिनसे कांपता है, अतः ये भूत के समान, तृष्णा के समान, लोभ के समान, रात्रि के अन्धकार के समान, बढ़कर विश्व को आच्छादित करने लगे। नूतन अभिनय के विचित्र चित्रपटों को जैसे दर्शक आश्चर्य के साथ निहारते हैं वैसे ही वहाँ के उपस्थित जन समूह ने देखा, वामन तो वर्षाव की प्रबल बाढ़ से भी बढ़कर अपने शरीर को बढ़ा रहे हैं। उनके समस्त अंगों में ज्ञानियों को समस्त विश्व ब्रह्मांड दिखाई देने लगा। परम यशस्वी महाज्ञानी महाराज बलि को उनके उस रूप में समस्त विश्व के दर्शन हुए। भगवान् अनन्त का वह त्रिगुण मय वामन रूप विश्व में व्याप्त होने लगा। वह इतना बढ़ा कि दशों दिशाओं को उसने ढक लिया। पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु

पक्षी, सरीसृप, मनुष्य, देवता तथ ऋषि-मुनि सब के सब उस रूप मे समा गये। उसके समस्त अङ्गों और प्रत्यंगों में यह सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत् दिखाई दे रहा था। राजा वलि को पाँचों भूत, दशो इन्द्रियां, पाँचो ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय, अन्तः करण चतुष्टय ये सभी दिखाई देते थे। अकेले उन्होंने ही नहीं देखा। वहाँ जो यज्ञ कर्मो में ऋत्विक् आचार्य और सदस्यगण नियुक्त थे उन्होंने भी भगवान् के विश्वरूप का दर्शन किया। नख से शिख तक भगवान् के सम्पूर्ण अङ्गों में विश्व की प्रधान विभूतियां दिखाई दीं।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! भगवान् के किस अङ्ग में कौन सी विभूति दिखाई दी ?"

इस पर भगवान् शुक बोले—"राजन् ! यह विषय तनिक धैर्य से सुनने का है। यह अन्य कथाओं की भाँति नहीं है। इसको आप एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें तो सुनाऊँ ?"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"हाँ ! भगवन् ! मैं अत्यन्त ही सावधानी के साथ श्रवण करूँगा ! आप भगवान् विराट् के नख शिख का वर्णन विस्तार से करें।

हँसकर श्री शुकदेवजी बोले—राजन् ! विस्तार से तो ब्रह्मा जी अपनी समस्त आयु निरन्तर अपने चारों मुखों से वर्णन करते रहें, तो भी सम्पूर्ण वर्णन नही कर सकते। इसलिये मैं अत्यन्त सक्षेप में वामन भगवान् के विश्वरूप का वर्णन करूँगा। अच्छा तो अब भगवान के अति कोमल तलुओ से ही आरम्भ करें।

परम भागवत महाराज वलि ने उस विश्वरूप बने वामन भगवान् के कमल की पंखुड़ियों के समान लाल लाल गुदगुदे

कोमल चरण तलों में रसातल को देखा। चरणों के ऊपरी भाग में जो कछुए की पीठ के समान उतार चढ़ाव था, उसमें भूदेवी के दर्शन किये। जंघाओं में पृथ्वी के ऊपर के बड़े बड़े पर्वतों का अवलोकन किया। जानुओं में समस्त जाति के पक्षियों को देखा और उरुओं में ४९ मरुतों के दर्शन किये। उन विश्वरूप विश्वेश्वर के बहुमूल्य वस्त्रों में घूँघट मारे सन्ध्या देवी को देखा तथा गुह्य देश में समस्त प्रजापतियों को। भगवान् के जघनों की ओर जो उन्होंने निहारा तो हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, प्रह्लाद विरोचन तथा समस्त असुरों को और अपने को भी उन्हीं में देखा। विश्वरूप भगवान् की जल के आवर्त के समान गहरी नाभि में अनन्त आकाश को देखा। उन विश्वेश्वर की कुक्षियों में सातों समुद्र हिलोरें ले रहें हैं। उरःस्थल में समस्त नक्षत्रगण चमचमा रहे हैं। हृदयस्थल की शोभा को साक्षात् धर्मदेव बढ़ा रहे हैं। दोनों स्थलों में ऋत और सत्य प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं।

मन में चन्द्रमा प्रकाशित हो रहे हैं। वक्षस्थल में बिजली के सदृश चमकती हुई चंचला चपला लक्ष्मी जी अपने यौवन के मद में इठला रही हैं, अनुराग में भीगी हुई। भगवान् के हृदय का मानों हार ही बनी हुई हैं। कंठ में सामवेद की श्रुतियाँ तथा मूर्तिमान् शब्द शोभित हो रहे हैं। भुजाओं में इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम तथा अन्य समस्त देवता सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं। कानों में छिद्राकाश में समस्त दिशायें मूर्तिमती बन कर बैठी हैं। मस्तक में ऊपर के समस्त स्वर्ग विराजमान हैं। काले काले घुँघराले कुंचित केशों में यावन्मात्र मेघ हैं वे गड़गड़ान तड़तड़ान कर रहे हैं। वायुदेव नासिका की शोभा बढ़ा रहे हैं। नेत्रों में सूर्य अपनी आभा चमका रहे

है, मुख में अग्नि अपनी लपटों की छाया दिखा रहे हैं। वाणी मे वेद सन्निहित हैं। रसना में वरुण विद्यमान हैं। एक भ्रुकुटि में विधि और दूसरी में निषेध चुपचाप बैठी हैं। पलकों के निमेष उन्मेष में दिन और रात्रि अपना आसन जमाये हैं। ललाट में क्रोध अपनी भीषण भ्रुकुटियों से निहार रहा है। अधर में लोभ लिपटा है स्पर्शेन्द्रिय, मे अपने पुष्पों के रस को सुंघाने पुष्पायुत काम कमनीय क्रीड़ा कर रहा है।

भगवान् के वीर्य में जल का निवास है। जल ही जीवन है, जल ही, भुवन है, जल ही वन है, पृष्ठभाग में अधर्म अपनी कराल दृष्टि से देख रहा है। यह भी भगवान् के पृष्ठ भाग से उत्पन्न धर्म के समान ही पुत्र है। अन्तर इतना ही है कि। धर्म की उत्पत्ति हृदय से है और इसका वास उनके पृष्ठ प्रदेश में है। भगवान् का जो पैरों का उठाना है उसमें समस्त यज्ञ योग विद्यमान है। मृत्यु देवी उनकी छाया में घूंघट मारे छिपी हुई हैं। माया देवी भगवान् की हँसी में बैठी हँस रही है। श्री हरि के रोम कूपों में समस्त औषधियाँ सन्निहित हैं। नाड़ियों में असंख्यों नदियाँ प्रवाहित हो रही है। भगवान के हाथ पैर के नखों में पर्वतों की शिलायें विद्यमान हैं। बुद्धि में जगत की उत्पत्ति करने वाले ब्रह्माजी बैठे हुए हैं, उनके समीप देवता तथा ऋषिगण विराजमान हैं। अधिक कहाँ तक कहें वटु वामन के सम्पूर्ण अङ्गों में विश्व की समस्त वस्तुएँ विद्यमान है। जगत में जितने स्थावर जंगम जन्तु हैं, वे सब महाराज बलि को उन विराट् बने प्रभु के श्री अंग मे दिखाई दिये।

श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन्! बढ़े हुए वटु वामन के इस विश्वरूप को देखकर समस्त दैत्यगण परम विस्मित

हुए। वे भयभीत होकर भगवान् का विराट् रूप को देखने लगे वे डर भी रहे थे और आश्चर्य चकित होकर उन्हें संभ्रम के साथ देख भी रहे थे। अब तो भगवान् अपना ब्रह्मचारी का वेष छोड़कर यथार्थ रूप में आगये।

छप्पय

शुक्र वचन प्रत्यक्ष भये वटु वामन बाढ़े।
अद्भूत अनुपम रूप असुर सब निरखैं ठाढ़े॥
दंड कमंडलु त्यागि अस्त्र आयुध निज धारे।
लखि विराट् कूँ कँपैं असुर सब भय के मारे॥
चक्र सुदर्शन, धनुष, सर, गदा, खड्ग धारन किये।
ढाल, शङ्ख, क्रीड़ा कमल, आठों हाथनि महँ लिये॥

गोपालक श्रीकृष्ण

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवतदर्शन—

भागवती-कथा

(चौबीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती-कथा' ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) प्रयाग

—:❀:—

तृतीय संस्करण] ज्येष्ठ—२०२२ विक्र० [मू० १-२५ पै०
१००० प्रति

प्रकाशक
संकीर्तन भवन (प्रतिष्ठानपुर)
झूसी, प्रयाग

मुद्रक
भागवत प्रेस
झूसी, प्रयाग

प्रेस की वर्तमान स्थिति।

आज प्रेस को आये १६ वप हो गये। इस अवधि में या तो मुझे इस प्रकाशन के जंजाल से विराग हो जाना चाहिये था, या १६ वर्ष की अवधि में प्रेस उन्नत होकर उत्तर प्रदेश का एक बड़ा नामी प्रेस हो जाना चाहिये था, क्योंकि उन्नति की सभी सुविधायें यहाँ हैं। विस्तृत भवन है विद्युत् उत्पन्न करने तथा जल निकालने की जल (डाइनुमा तथा ट्यूबैल) आदि है, मोटर है। सोलह पेजी एक बड़ी (सिलेंडर) मशीन है, मेरी लिखी लगभग १०० पुस्तकें हैं कोई करने वाला होता तो इतने से लाखों करोड़ों का प्रकाशन बढ़ा सकता था। देश विदेशों में भागवती कथा का सर्वत्र प्रचार हो जाता, अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद छप जाते अनेक संकीर्तन भवन बन जाते, किन्तु दोनों ही बातें न हो सकीं। मैं अभी तक इस प्रकाशन के पचड़े से इच्छा से अनिच्छा से चिपका हुआ हूँ, न तो इस व्यापार से विराग ही हुआ, न प्रेस ही ठीक चल सका। जब से प्रेस आया है, बंद पड़ा है। मशीनों को जंग लग गई लकड़ियाँ सड़ गईं। प्रेस एक दिन भी चला नहीं। न इधर के रहे न उधर के हुए। न तो त्यागी ही बने न पूरे व्यापारी ही बन सके।

त्याग वैराग्य तो अनेक जन्मों के सुकृतों से होता है, मेरे वैसे सुकृत नहीं। इस व्यापार में मन नहीं लगता। इच्छा होती है किसी से कुछ संबन्ध न रखकर भगवत् चिंतन में ही लगा रहूँ। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। पद, प्रतिष्ठा प्रशंसा मान सम्मान की वासनायें इतनी प्रबल हैं, कि इस लोक संग्रह के व्यापार से हट नहीं सकता। दिन दिन अधिकाधिक फँसता ही जाता हूँ, भगवान् ही जब कृपा करें वे ही इन वासनाओं को निकाल कर अपनी भक्ति का स्रोत खोल दें, वे ही हृदय में प्रेम उड़ेल दें तो इस झंझट से छूट कर निरंतर भगवत् भक्ति में तल्लीन हो सकता हूँ।

प्रेस की उन्नति दो कारणों से हो सकती है। या तो प्रचुर धन हो अच्छे वेतन पर सुयोग्य आदमी रखकर कार्य बढ़ाया जाय। या कोई कार्य कुशल, योग्य अनुभवी व्यक्ति परोपकार वृत्ति से इसे अपना कार्य समझ कर सम्हाललें तो साधनों की तो कमी नहीं। यह कार्य कुछ ही काल में उन्नत हो सकता है। मेरे पास दोनों वस्तुओं का अभाव है। धन मेरे पास स्थिर नहीं। वैसे जो भी कार्य प्रभु प्रेरणा से आरंभ करता हूँ उसके लिये पर्याप्त धन आ जाता है उस काम के समाप्त होने पर कुछ न कुछ ऋण रह जाता है। परोपकार वृत्ति वाला, निस्वार्थ कोई व्यक्ति मिला नहीं ऐसे योग्य पुरुष भी भाग्य से ही मिलते हैं। भगवान् को इस काम को बढ़ाना होगा तो वे किसी को कभी न कभी भेज देंगे, न बढ़ाना होगा तो मशीन तो सड़ ही रही है। मैं स्वयं न तो धन एकत्रित कर सकता हूँ, न व्यवसाइयों की भाँति तन्मय होकर इसमें जुट सकता हूँ। इसी से प्रेस की ऐसी दुर्दशा हो रही है।

संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)
(ज्ये० शु० ७।२०२२ वि०

प्रभुदत्त

विषय-सूची

प्रस की वर्तमान स्थिति — पृष्ठ संख्या ३

भूमिका — ७

५७१—विश्वरूप वामन की दो डग — २५

५७२—प्रभु पाद पद्मों से विष्णुपदी गंगा का प्राकट्य — ३१

५७३—बटु वामन पर असुरों का क्रोध — ३९

५७४—तृतीय पग के लिये बलिका बन्धन — ४७

५७५—महाराज बलि की विनय — ५२

५७६—प्रह्लाद जी का शुभागमन — ६०

५७७—धनिक धन के पीछे प्रभु का भी अपमान करता है — ६९

५७८—भक्त का सर्वस्व हरि हरण क्यों करते हैं ? — ८६

५७९—भगवद् कृपा का लक्षण — ९३

५८०—महाराज बलि का भगवदाज्ञा से सुतलमें प्रवेश — १०२

५८१—बलि के द्वारपाल वामन भगवान् — ११०

५८२—वामन प्रभु का उपेन्द्र पद पर अभिषेक — ११८

५८३—मत्स्यावतार का उपक्रम — १२७

५८४—धर्म को क्षयिष्णु होने का शाप — १३७

५८५—महाराज सत्यव्रत पर मत्स्य भगवान् की कृपा — १५२

५८६—मत्स्य भगवान् का अमितरूप — १५९

५८७—मत्स्य भगवान् का उपदेश और जल विहार — १६७

५८८—मत्स्यावतार चरित का उपसंहार — १७५

५८९—वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन — १८३

५९०—महाराज सुद्युम्न की उत्पत्ति — १९०

५९१—सुद्युम्न का पुनः पुरुष से स्त्री हो जाना १९८
५९२—सुद्युम्न इला और बुध २१०
५९३—इला और बुध से पुरूरवा की उत्पत्ति २१९
५९४—बुध की उत्पत्ति २२८

चित्र सूची

१—रङ्गीन चित्र भगवान् वामन
२—प्रह्लाद जी तथा बलि को भगवान् के दर्शन ६३
३—लक्ष्मी का प्रभाव सेठ जी पर ८१
४—बलि का दीनता से वर माँगना १०८
५—रावण का बलि के पास पाताल लोक जाना और द्वारपाल भगवान्से साक्षात्कार ११२
६—मुनि की पद्मा से भेंट १४३
७—सत्यव्रत के हाथ में मछली आ गई १५६
८—मत्स्य भगवान् का अमित रूप १६३
९—राजा का वशिष्ट ऋषि द्वारा पुत्र प्राप्ति यज्ञ १९४
१०—पार्वती का लता की ओट भागना २१३
११—पुरूरवा की उत्पत्ति २२४

भूमिका

त्याग तथा परोपकार

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥
सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम् ।
कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥*
(श्री भा० ७ स्क० १५ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

धर्म सिखावे त्याग त्याग तैं होहि विमलमति ।
धर्म स्वर्ग को हेतु धर्म तैं त्याग बडो अति ॥
करे कहा उपकार जगत् को जो है भोगी ।
त्यागी साँचो भक्त वही विज्ञानी योगी ॥
जो न करि सके देवगुरु, फँस्यो वित्त महँ जासुमन ।
करे लोक कल्याण सो, आत्माराम निरीह जन ॥

पाठक इस चौबीसवें खण्ड में महाराज बलि की कथा

---

* युधिष्ठिर जी नारद जी से कह रहे हैं—" राजन् ! अधन पुरुष को अपने शरीर निर्वाह के लिये यहाँ तक कि धर्म कार्यों के लिये भी धन की कभी इच्छा न करनी चाहिए। क्यों कि निवृत्ति परायण, अजगर के समान उद्योग हीन पुरुष का निर्वाह उसकी निस्पृहता

पढ़ेंगे। इस सम्पूर्ण कथा का सार यही है, कि विषयों के संग्रह में सुख नहीं, अपितु विषयों के त्याग में ही सुख है। दाम से बढ़कर राम है। राम की प्रसन्नता के लिये दाम का—धन सम्पत्ति का—निःसंकोच होकर त्याग कर देना चाहिये। जिन के मन में यह बात बैठी हुई है कि धन होगा तो हम बड़े बड़े परोपकार कर सकेंगे। अतः धन का संग्रह करना चाहिये। उनकी दृष्टि में त्याग से धन श्रेष्ठ है। ऐसे लोग बड़े-बड़े दृष्टान्त देते हैं। वे कहते हैं—"सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति" धन पास में होगा, तो न होने पर भी हममें सब गुण आजायँगे। धन न होगा तो कितने भी गुण हों सब अवगुण हो जायँगे। अतः स्वार्थ के लिये न भी सही, तो परोपकार के लिये तो धन संग्रह करना ही चाहिये। इसी मतकी पुष्टि असुर गुरु शुक्राचार्य ने की है, उन्होंने वैदिक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि यह शरीर असत्य से ही उत्पन्न हुआ है, अतः इसकी रक्षा के लिये असत्य भी बोला जाय, तो कोई दोष नहीं, अतः अपने धन की रक्षा के लिये भगवान से भी झूठ बोल दो।' किन्तु गुरु वाक्य होने पर भी मनस्वी महाराज बलिने

ही करती है। आप सोचिये जो आनन्द निवृत्ति परायण, सन्तुष्ट तथा अपनी आत्मामें ही रमण करने वाले पुरुष को होता है, वह आनन्द अपनी वासना तथा लोभ लालचके वशीभूत होकर धनके लिये दशों दिशाओं में दौड़ने वाले व्यक्ति को कहाँ मिल सकता है—१

इसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे त्याग को ही श्रेष्ठ समझते थे। भगवान् के लिये—सत्य की रक्षा के लिये—हमें धन जन, 'स्वजन बन्धु बान्धव, स्त्री बच्चे यहाँ तक कि अपने शरीर को भी त्यागना पड़े, तो हँसते हँसते उसे त्याग देना चाहिये।" कपट वेष बनाये वामन बने विष्णु को जानते हुए भी उन्होंने तीन पग पृथ्वी-दे दी। अपना सर्वस्व त्याग दिया, किन्तु सत्य से विचलित नहीं हुए। इसीलिये उनकी कीर्ति संसार में अजर अमर बन गई, वे पुण्यश्लोक हो गये, असुर होने पर भी वे देवताओं के पूज्य बन गये और जीवित रहते हुए भी संसार से मुक्त हो गये। त्याग का महत्व ही ऐसा है। जिसकी वृत्ति संग्रह में है वह कृपण है, जिसकी वृत्ति त्यागमयी है, वह उदार है सर्वश्रेष्ठ है। जिसकी चित्तवृत्ति त्याग की ओर जितनी ही जायगी वह उतना ही भगवान् की ओर बढ़ेगा, जिसकी दृष्टि में धन का महत्व जितना ही होगा, वह भगवान् से उतना ही दूर हटता जायगा। सर्वश्रेष्ठ साधन यही है कि अपनी वृत्तियों पर दृष्टि रखे, कि हमारे चित्त की वृत्तियाँ त्याग की ओर जा रही हैं या संग्रह की ओर। यह बात कहने सुनने की, वाद विवाद की नहीं है, अनुभव करने की है। यदि अन्तःकरण अत्यधिक मलिन नहीं हो जाता, तो अपनी अन्तरात्मा स्वयं ही बता देती है कि हम त्याग की ओर बढ़ रहे हैं या संग्रह की ओर। हम दूसरों के सामने ढोंग रच सकते हैं, अपनी तार्किक बुद्धि के बल से सत्य को असत्य सिद्ध कर सकते,

हैं, अपने पाप कर्मों को छिपा सकते हैं, किन्तु अन्तरात्मा से कोई छिपा नहीं सकता। हम किस ओर जा रहे हैं इस विषय में हमारी अन्तरात्मा ही साक्षी देती हैं। हम अपनी वासनापूर्ति के लिये उसे परोपकार या परमार्थ का रूप दे देते हैं। क्रियाओं में अच्छाई बुराई नहीं होती, या तो सभी क्रियायें अच्छी हैं या सम्पूर्ण आरम्भ की हुई क्रियायें दोष युक्त हैं।

जिन दिनों मैं काशी में रहता था, एक सज्जन मेरे समीप आये और बोले "हम यह चाहते हैं कि जितने ये मठ मंदिर हैं तथा देवोत्तर सम्पत्ति आदि हैं इन सब को अपने अधिकार में कर लिया जाय।"

मैंने पूछा—"इसके लिये आपने सोचा क्या है?" उन्होंने कहा—"हम ऐसा करेंगे बहुत से लड़कों को रखेंगे और जहाँ-जहाँ देवोत्तर सम्पत्ति आदि हैं उन मठों के महन्तों के उन्हें चेले बनवा देंगे। अवसर पाकर उन महन्तों को वे बनावटी चेले समाप्त कर देंगे, फिर सब सम्पत्तियों पर अपना अधिकार हो जायगा।"

मैंने कहा—"इस बात का क्या विश्वास है, वे चेले धन सम्पत्ति पाकर सब निर्व्यसनी तथा तुम्हारे पक्ष के ही बने रहेंगे?"

बात यह है, धन पाकर कोई विरले ही भाग्यशाली ऐसे होते हैं, जिन्हें अभिमान नहीं होता। चोरी, हिंसा, असत्य,

दम्भ, काम, क्रोध, अभिमान, मद, भेद, अविश्वास, स्पर्धा, त्रास, भ्रम और चिन्ता ये धन में स्वाभाविक दोष हैं। धन का संसर्ग होने पर इच्छा न होने पर भी ये व्यसन शनैः शनैः आ जाते हैं। इस विषय में एक कहानी है। कोई सेठ जी रुपया गिन गिन कर थैलियों मे रख रहे थे। रखकर वे जल-पान करने गये, वापस आने पर भी थैली वहाँ न मिली। बहुत देर तक खोज होती रही। लोग अनेकों पर संदेह करने लगे। उसी समय सेठजी ने देखा—'एक चूहा बार बार आता और गद्दी पर उछल कूद मचाकर बिल में घुस जाता। सेठजी ने नौकरों से कहा—"इस चूहे के बिल को खोदो।" नौकरों ने बिल खोदा, थैलियाँ उसमें मिल गईं। लोगों ने पूछा—"सेठजी! आप ज्योतिष जानते हैं क्या? आप को कैसे पता चल गया कि इस चूहे के बिल में थैली है?"

सेठजी ने कहा—"इसमें ज्योतिष जानने की तो कोई बात नहीं। इस चूहे को तो मैं पहिले भी देखता था। चुपचाप रहता था। डरते डरते बिल से निकलता था। आज जो यह इतनी उछल कूद मचा रहा है, अवश्य ही यह पैसे की गरमी है। बिना पैसे के ऐसी उछल कूद कोई नहीं मचा सकता। एक रुपये में एक सेर गरमी बताते हैं।"

यह बात तो उनके सम्बन्ध में है, जो प्रवृत्ति में फँसे हैं, जिन का लक्ष्य धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों को ही प्राप्त करना

हैं, उन्हें तो धन पाकर अभिमान होना स्वाभाविक ही है, किन्तु जिनका लक्ष्य मोक्षप्राप्ति करना है, जो मुमुक्षु हैं, यदि वे भी द्रव्य से सम्बन्ध रखेंगे, तो वे भी फँस जायँगे उनका भी पतन हो जायगा। इस धनरूप "काजर की कोठरी में कैसा भी सुजान चला जाय, एक बूंद कालिख की लागे पै लागे है।" छूंछा कोई बच नहीं सकता। इसीलिये शास्त्रकारों ने बार बार बल दे दे कर कहा है।

तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्।

जिसे अर्थ कहते हैं, वास्तव में वह अनर्थ है, अतः कल्याण की इच्छावाले को धन की लिप्सा को दूर से ही त्याग देना चाहिये। धन आने से नाना संकल्प विकल्प मन में उठने लगते हैं। आज के कुछ दिन ही पहिले की बात है, ऋषीकेश तब जङ्गल था, उसमें बस्ती नहीं बसी थी, झाड़ियाँ थीं। साधुओं की गङ्गा किनारे फूसकी कुटियाँ थीं। न कोई क्षेत्र था न साधुओं की भिक्षा का ही कोई प्रबन्ध था। झरबेरिया के बेर, जंगली बेल तथा और भी ऐसी वैसी वस्तुओं से पेट भरकर महात्मा भजन करते थे। उस समय उच्चकोटि के जैसे त्यागी विरागी महात्मा थे, आज अनेकों क्षेत्र लगने पर भिक्षा तथा वस्त्रों की यथेष्ट सुविधा होने पर भी खोजने से वैसे एक भी साधु नहीं मिलते। हाँ, तो ऋषीकेश की झाड़ी में तीन चार महात्मा रहते थे। इधर

उधर से भिक्षा ले आते दिन भर कुटी बन्द करके भजन करते रहते। सायं काल को बालू में सब एकत्रित होते, कुछ देर सत्संग होता फिर सब अपनी अपनी कुटियों में चले जाते। कभी कभी कोई गृहस्थ भक्त भी दर्शनों को चले आते थे। उन दिनों हरिद्वार से ऋषीकेश तक घोर जंगल था। आने जाने की भी सुविधा नहीं थी। फिर भी जिज्ञासु सद्गृहस्थ वहाँ पहुँचते ही थे।

उसी समय एक साधु के पास एक धनी व्यक्ति आये, उनका त्याग वैराग्य देखकर प्रसन्न हुए। श्रद्धावश वे चलते समय महात्मा के बिस्तर के नीचे ५१) रख गये। उन्होंने जताना उचित भी नहीं समझा। महात्मा को भी पता नहीं चला। सायं काल में जब बिस्तर झाड़ा तो वे रुपये दिखाई दिये। अब नित्य जो ब्रह्मविचार में चित्त लगा रहता था, आज वह इन रुपयों में लग गया। महात्मा बड़े विवेकी थे, साधन सम्पन्न थे कोई बुरा विचार तो उनके मन में आने ही क्यों लगा। फिर भी धन को अपना प्रभाव तो दिखाना ही था। महात्मा कभी सोचते—"इन रुपयों से एक कुटी बनवालें। उन दिनों इक्यावन रुपये में पक्की कुटी बन जाती थी। वर्षा में फूंसकी कुटी में बड़ा कष्ट होता है, पुस्तकें भीग जाती हैं।" फिर सोचते—"अरे, कुटी फुटी में तो बड़ा झंझट है। चूना फुकवाओ, पत्थर इकट्ठे कराओ। महीनों खटपट होती रहेगी। अच्छा तो यह है, कल इसका भंडारा कर दें। फिर सोचते—

"इतना सामान लावेगा कौन ? इतने खाने वाले कहाँ से आवेंगे न हो कुछ मिठाई मँगवाकर रखवा दें, नित्य नित्य महात्मा को दिया करें।"

इस प्रकार रात्रिभर वे ऊहा पोह करते रहे। अनेक संकल्प विकल्प उठते रहे। प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर ध्यान में बैठे, उसमें भी मन न लगा। सायंकाल को बालू में सब महात्मा एकत्रित हुए। उनके सामने उन्होंने यह प्रस्ताव रखा उनमें जो सब से वृद्ध महात्मा थे, वे बोले—"तुम अभी जाओ उन रुपयों को गंगा जी में फेंक आओ। तब हम से बातें करना।" महात्मा को कोई आसक्ति तो थी नहीं। तुरन्त जाकर वे रुपयों को गंगा जी में फेंक आये। रुपयों को फेंकते ही उन के सब संकल्प निवृत्त हो गये। तब उन वृद्ध महात्मा ने कहा—"देखो, हम लोग त्यागी हैं, त्याग ही हमारा धन है, हमें अधिकाधिक त्याग को ही महत्व देना चाहिये। यह धन का संसर्ग ऐसा है, कि बड़े बड़े त्यागियों का भी मन विचलित हो जाता है। एक कार्य आरम्भ कर दो, फिर उसमें एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा इस प्रकार अनेकों संकल्प उठते जाते हैं। अधिक संसर्ग रहने से चित्तका खिंचाव हो ही जाता है। अतः जिसने त्याग का व्रत ले रखा है, उसे धन की प्रवृत्ति से बचना ही चाहिये। परोपकार के लिये भी धन से संसर्ग न रखना चाहिये। काजल को जान कर छूओ अनजान में छुओ कालिख तो लगेगी ही।

पूज्यपाद उड़िया बाबाजी ने मुझे एक कहानी सुनाई थी। ऋषीकेश में एक बड़े सिद्ध महात्मा रहते थे। बड़े विद्वान् थे। नग्न रहते थे, कभी किसी से कोई शब्द बोलते नहीं थे, सदा मौनी बने रहते। अपने हाथ से खाते भी नहीं थे। दूसरे लोग उन्हें खिलाते थे। सब लोग उन्हें ज्ञान की, छठी भूमिका में स्थित बताते थे। एक दिन सुना उन महात्मा को कोई चुरा ले गया। बहुत महात्माओं ने ढूंढ़ की उनका कहीं पता नहीं चला। लोगों ने समझा उन्होंने जल समाधि ले ली। कई वर्षों के पश्चात् पता लगा वे बम्बई में अमुक सेठ के यहाँ हैं। लोगों ने दर्शन भी किये। सेठ बड़े धर्मात्मा थे उनकी स्त्री भी बड़ी साधुसेवी भक्तिमती तथा साध्वी थीं। महात्माजी अब भी नंगे ही रहते थे। उनका मौन भी उसी प्रकार चलता था। सेठजी की कोठी के सब से ऊपर के सुन्दर कमरे में वे अकेले ही रहते थे। सेठानी की उनपर अनन्य श्रद्धा थी। वे तन मन धन से उनकी सेवा करतीं।

यह सेवा ऐसी वस्तु है, कि पत्थर का हृदय भी पसीज जाता है संसार में बल, बुद्धि, साहस, श्रम तथा अन्य किसी भी साधन से जो कार्य न हो सके, वह सेवा से हो सकता है। महात्मा का भी चित्त खिंचने लगा। संयोग की बात, सेठजी एक छोटा सा बच्चा छोड़ कर इस लोक से चल बसे। फिर भी सेठानी की श्रद्धा में कुछ कमी नहीं हुई। अब तो महात्मा के हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ने लगा। अब वे लिखकर

से सेठानी जी को धैर्य बँधाते, उनके सुख दुख की बात सुनते। सेठजी का कारबार बड़ा था। कोई स्वामी न होने से मुनीम लोग मन माना धन उड़ाने लगे। अब तो स्वामी जी उनसे हिसाब लेने लगे, बहीखाता देखने लगे। प्रवृत्ति में तो रागद्वेष होता ही है। जो मुनीम मनमाना धन व्यय करते थे, उनके स्वार्थ में स्वामीजी विघ्न हो गये। वे स्वामी जी के सम्बन्ध में न कहने योग्य बातें कहने लगे। अन्त में स्वामीजी रेशमी वस्त्र भी धारण करने लगे। सोने चाँदी के बर्तनों का भी उपयोग करने लगे। एक बार सेठानी जी के साथ यात्रा में वे श्री वृन्दावन भी पधारे। उनके ऐसे राजसी ठाठ को देखकर लोगों ने प्रश्न किया—"महाराज, छटी भूमिका के पश्चात् भी यह सब होता है क्या ?"

महात्मा जी ने अपना सिर ठोककर कहा—"महात्माओ ! विषयों का संसर्ग ऐसा ही होता है। इच्छा से, अनिच्छा से हम जिसकी निरंतर सेवा स्वीकार करेंगे, उसके सुख दुख में हमें संकल्प देना ही होगा। इसीलिये त्यागियों का एक का अन्न खाना निषेध है। उनके लिये मधुकरी वृत्तिका ही विधान है। मेरा कोई ऐसा खोटा प्रारब्ध था जिससे मुझे पुनः इस प्रवृत्ति में फँसना पड़ा।"

अब इसे चाहे प्रारब्ध कहो या प्रमाद कहो, है सब भाग्य का ही चक्कर है। अपनी अपकीर्ति, अपना अपयश, अपना पतन

तथा अपनी अवनति कौन चाहता है ? कौन नहीं चाहता हम सर्वश्रेष्ठ बनें। किन्तु किसी व्यक्ति में किसी विषय में आसक्ति हो जाने पर वह वासना अपरिहार्य हो जाती है। उस वासना की पूर्ति के लिये इच्छा न होने पर भी अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य करने पड़ते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने मर्म स्पर्शी शब्दों में स्पष्ट कहा है।

निस्संगता मुक्तिपदं यतीनाम्
संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
संगेन योगी किमुतालपबुद्धिः ॥

आसक्ति रहित होना ही यतियों के लिए मुक्ति का मार्ग है। संग से अनेकों प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं, संगदोष से योगारूढ़ महात्माओं का भी पतन हो जाता है, फिर जो विषयों के कीड़े हैं, वासनाओं के किंकर हैं उनकी तो बात ही क्या है।

प्रायः लोग कहते हैं—"महाराज ! आपको क्या ? आप तो सब परोपकार के लिये, लोककल्याण के निमित्त कर रहे हैं। आप को क्या लेना देना है ?"

रुपयों का लेना देना ही तो लेना देना नहीं है। लोग पद, प्रतिष्ठा, कीर्ति, यश, नाम तथा प्रसिद्ध के लिये क्या क्या नहीं

करते। इन सब के लिये तो हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ जाते हैं। हम जैसे आदमी जिन्होंने अपना ही उपकार नहीं किया वे परोपकार क्या कर सकते हैं। हम तो अपने पाप को छिपाने को परोपकार की आड़ में रात्रि दिन द्रव्य की चिन्ता में संलग्न, पद प्रतिष्ठा की चिन्ता में मग्न रहते हैं। हम लोग परोपकार कर ही क्या सकते हैं, यदि निष्काम भाव से परोपकार किया जाय तो भी उसे निकृष्ट साधन ही बताया है। सर्वोत्कृष्ट साधन तो त्याग है। एक त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है इस विषय में एक कथा है।

कोई शिष्य सद्गुरु के समीप गया और विनीत भाव से उसने कहा—"प्रभो! मुझे मोक्ष मार्ग का उपदेश दीजिये।"

सद्गुरु ने कहा—"तुम मुझे भूल जाओ।"

शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! मैं ऐसा नहीं कर सकता।"

सद्गुरु ने पुनः कहा—"अच्छा, अपने आपको ही भूल जाओ।"

शिष्य ने कहा—"प्रभो! यह भी मेरी शक्ति के बाहर की बात है।"

सद्गुरु ने कहा—"अच्छी बात भैया! जब तू ये दो कार्य नहीं कर सकता, तो जा परोपकार कर। किन्तु इतना स्मरण रखना, यह भावना कभी भूल कर भी मत लाना कि मैं अमुक का उपकार कर रहा हूँ। मेरे द्वारा अमुक का उपकार

हो रहा है। सदा इस बात का स्मरण रखना कि अपना आत्मा की शुद्धि के लिये साधन कर रहा हूँ।

वास्तव में यदि इस भावना से परोपकार हो सके, तब तो देर सवेर इस संसार चक्र से छुटकारा हो सकता है। प्राणी प्रभु के पादपद्मों तक पहुँच सकता है, किन्तु जहाँ यह भावना मन में आयी कि "मैं इस क्षेत्र से हट जाऊंगा, तो फिर कोई इस कार्य को कर न सकेगा! मेरे पीछे कितनों का जीविका चल रही है कितनों का भला हो रहा है, कितनों का मैं प्रतिपालन कर रहा हूँ।" समझलो सब गुड़ गोबर हो गया। वह परोपकार नहीं वासना पूर्ति है। यह परमार्थ नहीं स्वार्थ है। इससे संसार बंधन कटने की अपेक्षा और दृढ़ होगा।

इस पर लोग पूछ सकते हैं, कि आप यह सब जानते हुए भी फिर इस प्रकाशन और लेखन के चक्कर में क्यों फँसे हैं? क्यों कहते हैं महीने में दो निकलें, छपाई अच्छी हो, प्रेस हो, यह हो वह हो। क्यों नहीं सबको छोड़ छाड़कर हरि भजन करते। क्यों नहीं 'सर्व त्यक्त्वा हरिं भजेत्' का आचरण करते?"

इस का उत्तर मैं एक दृष्टान्त देकर दूँगा। देहरादून जिले में भोजपुर एक ग्राम है। ऋषीकेश से भी वहाँ के लिये मार्ग जाता है और रायपुर से भी। नहर का किनारा है, बड़ा सुन्दर स्वास्थ्यप्रद स्थान है। वह एक गृहस्थ अपना घर

बनवा रहे थे। उसी समय एक महात्मा आये और बोले—हम भी भैया, तुम्हारे यहाँ काम करेंगे। गृहस्थी ने बहुत मना किया, किन्तु उन्होंने हठ की। घर चुनने वाले राज ने कहा—"अच्छी बात है, आप मुझे भीति चिनने के लिये गारा देते रहिये।" दिन भर महात्मा गारा देते रहे। सायंकाल के समय परिश्रम करते-करते थक गये। जो उन्हें पारिश्रमिक मिला उसकी वे घी चीनी तथा सूजी ले आये। सुन्दर हलुआ बनाया, जब हलुआ बन गया, तो उसमें उन्होंने वह मिट्टी का गारा भी मिला दिया। अब उसे खाने लगे। मिट्टी के गारे से मिला हलुआ कंठ से नीचे कैसे उतरे। दो चार बार कौर तो निगल गये, किन्तु अब निगलने में कठिनाई होने लगी। महात्मा जी ने अपने हाथों से दोनों गालों को कसकर मसल दिया हलुआ को मुँह में ठूँस-ठूँसकर कहने लगे—"खा, पापी खा पापी। ले और हलुआ खा।"

बहुत से दर्शनार्थी जुट गये। महात्मा जी का ऐसा पागलपन देखकर सब पूछने लगे—"महाराज! क्या बात है? क्यों आप हलुआ में गारा मिलाकर बलपूर्वक मुँह में ठूँस रहे हैं?"

इस पर महात्मा बोले—"मैं एकान्त कुटी में भजन करता था। गाँवों से रूखी-सूखी मधुकरी माँगकर पेट को भर लेता। भजन करता रहता। एक दिन मनमें वासना उठी हलुआ खाना चाहिये।" मैंने अपनी इस वासना को बहुत दबाया, किन्तु

दबी नहीं। मैंने अपने मन को बहुत समझाया, किन्तु वह समझा नहीं।"

जब मैं विवश हो गया, तो मैंने कहा—"अच्छा बच्चू जी! चलो। तुम्हें भी पता चले, कि हलुआ खाना सरल नहीं है। उसमें कितना श्रम होता है। कितने कष्ट से हलुआ बनता है। आज दिन भर मैंने परिश्रम किया। बार-बार मन को समझाता, घोल और हलुए पर चित्त चलावेगा। दिन भर परिश्रम करके मैंने हलुआ बनाया। मुझे गारे ने हलुआ प्राप्त कराया। अतः हलुए में गारा भी मिलाया। हलुआ भी एक प्रकार की मिट्टी का गारा ही है। अब जब इसे मैं गारा मिश्रित हलुआ खिलाता हूँ, तो यह खाता नहीं। नाक भौं सिकोड़ता है। इसलिये जब तक मन यह न कहदे कि हाँ अब मुझे हलुआ नहीं खाना है ऐसे ही मुख में ठूँसता रहूँगा। मन को बोध तो हो जाय, एक वासना की पूर्ति में कितना कष्ट है।"

लोगों ने कहा—"यह तो स्वाद के, रुचि के प्रतिकूल है।"

महात्मा ने कहा—"मनके अनुकूल इसे आहार देते तब तो वासना की वृद्धि और होती, प्रतिकूल में लगाकर ही तो इसे यह जताना है, कि वासना पूर्ति में कितना श्रम करना पड़ता है। कैसे अपने स्वाद के प्रतिकूल वस्तुओं को कंठ से नीचे उतारना पड़ता है।"

यथार्थ बात यह है कि मेरे मनमें लोकेष्णा है पुस्तकें लिखना तो मेरी प्रकृति के अनुकूल हैं। इसमें मुझे तनिक भी श्रम नहीं होता, किन्तु प्रकाशन प्रचार ये सब बातें मेरी प्रकृति के प्रतिकूल हैं, किन्तु इनके बिना पुस्तकें लिखने की वासना पूर्ति होती नहीं। अतः बल पूर्वक मेरे मन को कोई इस प्रकाशन में लगाये हुए हैं। देख लें इसमें कितने-कितने कष्ट हैं कितनी-कितनी असुविधायें है। इतना सब होने पर भी मन मानता नहीं। बार-बार यही कहता है—"१०८ तो पूरे कर ही दो।"

मैं कहता हूँ—"अच्छी बात है करो और अपनी करनी का फल भरो। 'जैसी करनी वैसी भरनी'।

सो, इच्छा न रहने पर भी, प्रकृति के प्रतिकूल कार्य होने पर भी अपनी वासना पूर्ति के लोभ से यह कीचड़ भरी टोकरी मुझे अपने सिरपर रखकर ढोनी पड़ रही है। प्रवृत्ति जितनी ही बढ़ती जाती है असुविधायें उतनी ही विस्तृत होती जाती हैं। मनुष्य समझता है, मुझे अमुक वस्तु मिल जाय, तो मेरी सभी असुविधायें दूर हो जायें, किन्तु जब वह वस्तु मिल जाती है, तो दूसरी अन्य इच्छायें उत्पन्न होती हैं। इच्छाएँ तो अगणित हैं। एक असुविधा को पूरी करो दस और उत्पन्न हो जायँगी। अब तक प्रेस नहीं था यही असुविधा थी। अब प्रेस आ गया तो अमुक वस्तु मँगाओ। आज कागद नहीं, स्याही नहीं, नौकर नहीं। ये ही सब बातें हैं। अब देखिये,

भगवान् कब तक इन वासनाओं में फंसाये रखेंगे। कब तक इस प्रवृत्ति में जोते रखेंगे। वे ही जाने, किन्तु प्रवृत्ति से निवृत्ति श्रेष्ठ है, परोपकार से भी अधिक त्याग मय जीवन परम श्रेष्ठ है। यह मेरी धारणा जब तक भी बनी हुई है। तभी तक कुछ आशा भी है जिस दिन मेरी यह धारणा मिट जायगी उस दिन फिर यह चौरासी का चक्कर रखा ही है।

पाठकों के पादपद्मों में यही प्रार्थना है। कि वे ऐसी मनोकामना करें कि निरन्तर भगवान् का स्मरण ध्यान करता रहूँ। आज कल यह नहीं हो रहा है यही बड़ा दुःख है। देखें प्रभु कब तक इस स्थिति में रखते हैं। कब निरन्तर उन्हीं की अनुकम्पा की एक मात्र प्रतीक्षा बनी रहेगी, कब जीवन को एकमात्र प्रारब्ध के ऊपर छोड़कर योगक्षेम की चिन्ता से सर्वथा निर्मुक्त बन सकूंगा? कब निरन्तर हृदय से, वाणी से, मन से तुम्हारा चिन्तन कीर्तन और ध्यान करता हुआ समय को बिताऊँगा? हे प्रभो! आपके जिन पादपद्मों में मुक्ति लोटती रहती है उन पादपद्मों को कब प्राप्त कर सकूँगा?

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो—
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते,
जीवेत् यो मुक्तिपदे स दायभाक॥

छप्पय

कब अच्युत अखिलेश दास कहिकें अपनावें।
कब नित निरखत रहैं नन्दनन्दन ढुरि जावें॥
कब मन बानी करम सकल तैं हरिकूँ पोसें।
कब सब तजि परपंच भाग्य के रहैं भरोसें॥
निरखें हरि को हाथ कब, सब कर्मनिमहँ हम सतत।
कब हरि सुमिरन भजन महँ, रहैं निरन्तर नित निरत॥

संकीर्तन भवन
झूसी (प्रयाग)
वैशाख शु० ४। २००६

विनीत—
प्रभुदत्त

विश्वरूप वामन का दोहड़ा

(५७१)

क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे
नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः ।
पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपम्
न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि ॥❀
(श्रीभा० ८ स्क० २० अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

फूली जनु कन्नेर अष्ट कर शस्त्र विराजैं ।
अंगद कुण्डल मुकुट मेखला अंगनि भ्राजैं ॥
भ्रमर निकर गुंजायमान बनमाला सुन्दर ।
मधु लोलुप मधु पियें गान कर मादक मधुकर ॥
लम्ब तड़ंगे विश्वमय, बने विष्णु वामन छली ।
जब नापै पग तैं मही, सो शोभा अतिहैं भली ॥

जो पहिले से ही बनावटी वेष बनाकर गया है उसकी

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन विराट बने वामन ने अपने एक पग से सम्पूर्ण पृथिवी नाप ली । शरीर से आकाश को और भुजाओं से दिशाओं को घेर लिया, फिर दूसरे पैर से स्वर्ग को भी नाप लिया अब उनके तीसरे पद के लिये तो अणुमात्र भी स्थान न बचा ।

बनावट तभी तक रहती है, जब तक कार्य सिद्ध नहीं होता। जहाँ कार्य सिद्ध हुआ, कि वह अपने यथार्थ रूप में प्रकट हो जाता है। मनुष्य की आकृति उसके भावों का प्रतीक है, जैसे भाव होंगे वैसे ही आकृति बन जायगी। छद्म वेष अधिक समय तक टिक नहीं सकता, उसका भंडा फोड़ हो ही जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विश्व रूप धारण करने पर भगवान् वामन के हाथ में जो दंड, कमंडलु आदि ब्रह्मचारियों के योग्य वस्तुएँ थीं वे सब नहीं बढ़ीं। उनका स्वरूप ही बढ़ा। स्वरूप बढ़ने के साथ भगवान् के अंग उपाङ्ग, अस्त्र, आयुध तथा पार्षद आदि नित्य आ गये। अब वे बौने से विराट बन गये, वामन से विष्णु हो गये छोटे से विशालता में परिणित हो गये। ब्रह्मचारी से विश्वचारी हो गये।

जब भगवान् के नित्य अस्त्र, आयुध तथा पार्षद आदि ने देखा, कि भगवान् अपना कपट वेष त्यागकर अपने यथार्थ रूप में आ गये हैं। तब तो वे भी छाया की भाँति नित्य साथ रहने वाले अपने साक्षात् रूप से वहाँ आकर उपस्थित हो गये। सर्व प्रथम भगवान् के परम प्रिय दिव्य अस्त्र सुदर्शन चक्र आये। उनका तेज असह्य था। वे अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे। वे यथा स्थान आकर भगवान् के श्री हस्त में शोभित हुए। आज भगवान् चतुर्भुज न होकर अष्टभुजी बने हुए थे। अतः आठों हाथों के आयुध क्रमशः आ आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करने लगे—चक्र के पश्चात् श्रीहरि का दिव्य शार्ङ्ग नामक धनुष आये जो

जल भरे नवीन मेघों के समान टंकार करने वाला था। इसके पश्चात् भयंकर घोष करके असुरों के छक्के छुड़ा देने वाला पाञ्चजन्य नामक प्रभु का शङ्ख आया फिर अत्यन्त वेग वाली मूर्तिमति श्रीमति कौमोदकी नामकी भगवान् की विशाल गदा आई। अत्यन्त कठिन चर्म की चन्द्रमा के समान गोल प्रहार को बचाने वाली ढाल आई और साथ ही विद्याधर नामक असुरों के उदरों को विदीर्ण करने वाला खड्ग भी आया। भगवान् के पृष्ठ देश में लटकने वाले ऐसे दो बाण रखने के तूणीर भी आये जिनके बाण कभी खाली ही नहीं होते थे। भगवान् का दिव्य क्रीड़ा कमल भी आया, जिससे वे कमला के साथ कमनीय क्रीड़ायें करते हैं; जिसकी उपस्थिति से भव सागर में पड़े हुए भक्तों को अभय प्रदान करते हैं। इस प्रकार शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, ढाल, तलवार, धनुष, और बाण ये आठ आयुध भगवान् के आठों श्री हस्तों में आकर शोभायमान हुए।

भगवान् के प्रिय पार्षदों ने तथा अंशभूत आठों लोकपालों ने जब देखा कि भगवान् ने अपना यथार्थ रूप प्रकट कर दिया है और वे आयुधों से युक्त हो गये हैं, तो आठों लोकपाल, नन्द, सुनन्द, विष्वक्सेन आदि प्रभु के प्रमुख पार्षदगण भी आकर उपस्थित हुए। उस समय की भगवान् की शोभा अत्यंत ही अद्भुत थी। लोकपाल और पार्षदों से वे घिरे हुए थे। दिव्य आयुध उनके श्री हस्तों में विराजमान होकर अपनी आभा से विश्व को आभासित कर रहे थे। उनके मनोहर मस्तक पर देदीप्यमान मुकुट दमदम करता हुआ दमक रहा था। आठों बाहुओं में सुवर्ण के अंगद चमचम करते हुए चमक रहे थे। मकराकृत कुण्डल कपोलों की श्री वृद्धि करते हुए हहर-हहर

करते हुए हिल रहे थे। वक्षस्थल में विराजमान श्रीवत्स के चिन्ह पर मणियों में श्रेष्ठ कौस्तुभमणि अपनी किरणों के समूहों से आश्रितजनों के हृदयान्धकार को मिटाने के लिये व्यग्रता सी प्रकट करती हुई चंचलता दिखा रही थी। कटि प्रदेश में लिपटी मनहर मेखला श्रीअंगकी आभा को घनीभूत करने के लिये उसे मर्यादा में रखने के लिये—प्रयत्नशील थी। उन विविध वेष बनाने वाले नटवर के तन पर पीतपट फहरा फहरा कर दामिनी की दमक को तिरष्कृत करने के लिये अभ्यास कर रहा हो। वक्षस्थल में पड़ी हुई पंचपल्लव और पुष्पों से ग्रथित वनमाला अपनी आभा से इन्द्रधनुष के गर्व को खर्व करती हुई झोंटे खा रही थी। उसके पुष्पों से चूते हुए मधुको पानकरने के लिये मधुकर मतवाले बने उसके चारों ओर मँडरा रहे थे। भ्रमर निकर की गुञ्जार से गूँजित वह वनमाला ऐसी प्रतीत होती थी मानों हिल-हिलकर गीत गा रही हो और उस गायन को श्रवण करके रसिक भ्रमर सिर हिला-हिलाकर उसका अभिनन्दन कर रहे हों।

अब वे विचित्र वेषधारी वटु वामन से विष्णु बने विभु बलि से बोले—"कहो, राजन्! अब आपने देखा मेरा यथार्थ स्वरूप? कहो तो अब नापूँ तीन पग पृथिवी?

बिना व्यग्रता प्रकट करते हुए वीरवर बलि बोले—"प्रभो! नापिये। इन तीनों लोकों का मैं अधीश्वर हूँ। आप अपनी इच्छानुसार रूप बढ़ाइये और अपने दान को ग्रहण कीजिये।"

सूखी हँसी हँसकर विराट प्रभु बोले—"यदि पूरा न पड़ा तब?"

बलि ने साहस के साथ कहा—"तब क्या ? देखा जायगा। आप नापिये तो, देखें आप हारते हैं या मैं ?"

यह सुनकर विराट् बने वामन ने एक पैर उठाया सातों पातालों के सहित सम्पूर्ण पृथिवी मंडल को उन्होंने एक पैर में ही नाप लिया। आकाश को अपने विशाल शरीर से ढाक लिया। आठों दिशाओं को अपने आठों हाथों से ढक लिया। अब फिर उन्होंने दूसरा पैर बढ़ाया स्वर्ग भी कम पड़ा इस लिये महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक तक वह दूसरा पैर पहुँच गया। फिर भी एक नख संकुचित ही रहा। नख को अब कहाँ फैलावें ब्रह्माण्ड कटाह का तो ब्रह्मलोक में और है। उसके पश्चात् तो अष्ट प्रकृति के सूक्ष्म आवरण है नख कुछ साधारण तो था ही नहीं। उसने ब्रह्माण्ड कटाह का भेदन कर डाला। पृथिवी के सूक्ष्म आवरण को भेदकर जल के आवरण को भेदा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस पर विराट् भगवान् ने एक डग में तो इस समस्त वसुन्धरा को नाप लिया और दूसरी डग में ऊपर के समस्त लोकों को नापा। जब भगवान् का पावन पादपद्म लोकों को नापता हुआ, ब्रह्मलोक में पहुँचा, तब तो ब्रह्माजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। अहा! ये ही मेरे जनक के परमपूजनीय पवित्र चरण कमल हैं जिनके ध्यान से यह जगत् बन्धन सदा के लिये विलीन हो जाता है। जिस की प्राप्ति के लिये योगीगण, निरन्तर ध्यान धारण करते हुए समाधि लगाते हैं, आज ये चारु चरण स्वतः ही मेरे लोक में आगये। इस प्रकार अपनी भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए भगवान् चतुरानन उस पद की पूजा करने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

सागर कानन शैल, नदी नद सर निर्झरिनी।
सात भूमि पाताल सहित सुन्दरी यह धरनी॥
बलि की जहँ लगि भूमि नापि वामन ने लीन्हीं।
फैलावे पग विशद पाद अन्तर्गत कीन्हीं॥
काया तैं आकाशकूँ, अष्ट करनि तैं अष्ट दिशि।
गयो द्वितिय पद स्वर्ग महँ, जन,तप, सत्यहु में प्रविशि॥

प्रभु पादपद्मों से विष्णुपदी गङ्गा का प्राकट्य

(५७२)

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि,
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥❀

(श्रीभा० ८ स्क० ११ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

फोरयो अंड कटाह चरन नख पार गयो जब ।
बही सलिल की धार कमंडलु विधि धारी तब ॥
विष्णुपदी पुनि भई पखारे पग श्रीहरि के ।
श्री गंगाजी चलीं भूमिपै वहीं उतरि के ॥
शत योजन पै बैठिकै, जे गंगा गङ्गा कहहिं ।
ते नर पावैं परमपद, भूखे नंगे नहिं रहहिं ॥

यह विश्व ब्रह्मांड व्यापक विभु के एक पाद में है और शेष

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजेन्द्र ! ब्रह्माजी के कमण्डलु का वह जल जो उरुक्रम भगवान् के पाद प्रक्षालन से परम पवित्र

तीन पग तो विशुद्ध त्रिपाद विभूति बताये गये हैं। जब वे अवतार धारण करते हैं, धराधाम पर अवतरित होते हैं, तो द्विपाद वाले बन जाते हैं। दो पैरों में ही ब्रह्मांड कटाह को आवृत कर लेते हैं और लोक कल्याण के लिये अपनी विशिष्ट विभूति से श्रीगंगा को अवतरित करते हैं। गंगाजी और कुछ नहीं हैं वह द्रवित हुआ ब्रह्म ही है। ब्रह्म ने ही निराकार धारण कर लिया है। घनीभूत परब्रह्म ही पिघल कर जल रूप में परिणित हो गये हैं। जैसे वे अन्य अवतारों में अवतरित होते हैं, वैसे ही सत्यलोक से जल रूप में समस्त लोकों को पावन बनाते हुए अवतरित हुए हैं। उसी ब्रह्मद्रव का नाम गंगा हैं। विष्णु पद प्रक्षालन के कारण उसे ब्रह्मपदी कहते हैं, सुरलोक से आने के कारण सुरसरि कहाती हैं। वे त्रिभुवन तारिणीतरल तरंगों वाली स्यर्धुनी गंगा पापियों के पापों का प्रक्षालन करती हुई अद्यावधि अवनि पर अवस्थित हैं। वे मानों वामन और बलि की विमल कीर्ति ही जल का रूप रखकर अविच्छिन्नगति से बह रही हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दो पगों से प्रभु ने पृथिवी और ऊपर के समस्त लोकों को नाप लिया, तो भी द्वितीय पैर का अँगूठा कुछ संकोच के कारण मुड़ा ही हुआ रह गया। ज्यों ही भगवान् ने अपने अंगुष्ठ को सीधा करने का प्रयत्न किया, त्यों ही ब्रह्मांड कटाह फट गया। इस ब्रह्मांड के पश्चात् प्रकृति के अष्ट आवरण हैं। प्रथम सूक्ष्म पृथिवी का आव-

---

गया था, उसी से विष्णुपदी गंगाजी हुई जो आकाश से गिरती हुई तीनों लोकों को पावन करती हैं और जो भगवान् की मानों बढ़ी हुई कीर्ति ही हैं।

रण; द्वितीय जल का आवरण। वह प्रभु के पादांगुष्ठ का नख पृथ्वी आवरण को भी भेद का जल आवरण में घुसा तो वहाँ से एक विशुद्ध जलधारा बही। उसे अति पावन समझ कर चतुर्मुख भगवान् ब्रह्माजी ने अपने कमण्डलु में उसे रख लिया।

आज प्रभुके पूज्य चरण पितामह के लोक में पधारे हैं। अतः उनकी पूजा के निमित्त ब्रह्माजी सामग्री एकत्रित करने लगे। गंगा जी को हम पूजा करते हैं, तो पाद्य, अर्घ्य तथा आचमनीय आदि के लिये जल कहीं अन्यत्र से नहीं लाते। वहीं से भर लेते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मांड कटाह के भेदने पर जो दिव्य जल निकला उसीसे ब्रह्माजी उन प्रभु के द्वितीय चरण की श्रद्धा सहित पूजा करने लगे।

इसपर शौनकजी बोले—"सूतजी! ब्रह्माण्ड कटाह भेद कर जल निकला, यह बात कुछ हमारी समझ में नहीं आई। इसे स्पष्ट करके समझावें।

सूतजी बोले—"महाराज! ७ नीचे के—अतल, वितल सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल—ये लोक और सात ऊपर के—भू, भुव, स्वर्ग, मह, जन, तप और सत्य—ये लोक, इस प्रकार ये दोनों मिलकर चतुर्दश भुवन कहाते हैं। इसे एक ब्रह्माण्ड भी कहते हैं। यह मिलकर एक अंडाकार बन गया है। ब्रह्म का अंडा होने से यह ब्रह्माण्ड कहाता है। इस ब्रह्माण्ड के बाहर इससे दश गुना सूक्ष्म पृथिवी का आवरण है। अर्थात् पृथिवी का जो अति सूक्ष्म रूप है, वह ब्रह्मांड के बाहर इससे दशगुना व्याप्त है। उससे दशगुना सूक्ष्म जल का आवरण। इसी प्रकार उत्तरोत्तर तेज, वायु, आकाश, अहंतत्व

महत्तत्त्व और सबसे अंत में प्रकृति तत्त्व का आवरण है। तब यह ब्रह्मांड पूरा होता है। ऐसे असंख्यो ब्रह्मांड इस विश्व में हैं ब्रह्माण्ड तो एक गूलर के फल के समान है। उसमें ब्रह्माजी से लेकर चींटी तक के सब जीव भिनगों के समान हैं। गूलर मे बैठे भिनगे समझते हैं बस, संसार इतना ही बड़ा है। जो इस गूलर को बेधकर भिनगा निकलता है, वह देखता है, हमारे गूलर के जैसे असंख्यों गूलर इसी पेड़पर लटके हुए हैं और वह गूलर का वृक्ष अनंत आकाश मण्डल में एक तृण के समान है।

भगवान् लीला करने को वामन बन जाते हैं और फिर विराट् रूप रखते हैं, उनके लिये क्या वामन क्या विराट सब समान ही हैं, जीवों के हितार्थ तनिक पैर बढ़ाकर सत्यलोक की ओर बढ़ा दिया जिससे ब्रह्मांड कटाइ से बाहर का विशुद्ध जल पापियों को पावन बनाने के लिये पृथिवी पर आ गया।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्माजी के कमण्डलु से वह पृथिवी पर कैसे आया?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यही तो भगवान् शुक महाराज परीक्षित् को बता रहे हैं—"राजन्! जब भगवान का वह पूजनीय पादारविन्द ब्रह्माजी ने अपने लोक में प्राप्त हुआ देखा, तो उनकी प्रसन्नता का वारापार नहीं रहा। उन्होंने देखा वह कमलदल के समान अरुणतल वाले पगनख चन्द्र-की चन्दिका से उनके नित्य सनातन आभावान् लोक की आभा भी फीकी पड़ गई है और मैं भी स्वयं जिसकी कान्ति से आच्छादित हो गया हूँ, तो वे संभ्रम के साथ उठ खड़े हुए।

बात की बात में समस्त ब्रह्मलोक में यह बात फैल गई, कि उरुक्रम भगवान् का चरण लोकों को नापता हुआ हमारे लोक में आया है तो जिन लोगों ने उन्हीं चरणों के स्मरण के प्रभाव से उस ब्रह्मलोक को प्राप्त किया है, जिसे कर्म कलाप से कोई प्राप्त कर ही नहीं सकता, वे पुण्यात्मा पुरुष ब्रह्माजी के समीप दौड़े आये। ब्रह्माजी के मानस पुत्र मरीचादि भी सुनते ही तुरन्त आ गये। ब्रह्म सभा में विराजमान सनकादि उर्ध्वरेता नैष्ठिक, ब्रह्मचारीगण, योगिजन, तथा मूर्तिमान, वेद, उपवेद, यम, नियम, तर्क, इतिहास, वेदाङ्ग, पुराण, संहिता, तथा ज्ञानरूप अग्नि से जिन्होंने अपने अज्ञानरूप मल को भस्मसात कर डाला है ऐसे ज्ञानी पुरुष भी उस पादारविन्द के समीप समुपस्थित हुए और उसको प्रणाम करके सब के सब स्तुति करने लगे।

ब्रह्माजी ने अपने कमंडलु के उसी दिव्य जल में गंध पुष्प और तुलसी डाल कर उनको धोया। प्रभु पाद की पावन रणु और तुलसी मंजरी की दिव्य गंधको लिये हुए वह त्रैलोक्य पावन पद नीचे को ओर बहा। ब्रह्मा जी के सहित समस्त ऋषि मुनियों ने उसे अपने अपने सिरों पर धारण किया। फिर वह अविच्छिन्न प्रवाह रुका नहीं। ब्रह्मलोक से उतर कर तप, जन, मह, लोक होता हुआ स्वर्ग में आया। वह पादोदक हा स्वर्ग में मन्दाकिनी से पाताल में "भागवती" नाम से और पृथिवी में "गंगा" नाम से विख्यात हुआ। वह मानों वामन भगवान् की विमल तरल कीर्ति ही तीनों लोकों को पावन करती हुई बह रही हो?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूत जी, हमने तो सुना है, गङ्गाजी को महाराज भगीरथ लाये थे। आप कह रहे हैं

वह विराट् वामन के द्वितीय पादाङ्गुष्ठ से विदीर्ण अंड कटाह से ब्रह्मा जी के कमंडलु में आई और पुनः पाद प्रक्षालन से अति पवित्र होकर समस्त लोकों को पावन करती हुई यहाँ पधारी। इसकी संगति कैसे बैठे ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! गङ्गाजी तो नित्य ही हैं यदि नित्य न होतीं और महाराज भगीरथ ही लाये होते तो महाराज हरिश्चन्द्र के समय में वे काशी में कहा से आतीं। महाराज हरिश्चन्द्र तो भगीरथ जी से बहुत पहिले हो चुके हैं। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु हुये। इक्ष्वाकु के विकुक्षि, विकुक्षि के पुत्र पुरंजय, पुरंजय को ही ककुत्स्थ कहते हैं। ककुत्स्थ के पुत्र अनेना और अनेना के पृथु, पृथु के विश्वरन्धि, विश्वरन्धि के चन्द्र, चन्द्र का युवनाश्व हुआ। युवनाश्व का शावस्त, और शावस्त का कुवलयाश्व। उसका दृढाश्व का हर्यश्व और उसका निकुम्भ हुआ। निकुम्भ से बर्हणाश्व, उससे कृशाश्व, कृशाश्व से सेनजित उससे युवनाश्व, युवनाश्व के मान्धाता। मान्धाता के पुरुकुत्स और पुरुकुत्स का त्रसद्दस्यु, उससे अनरण्य, अनरण्य के हर्यश्व, हर्यश्व के त्रिवन्धन उसका त्रिशंकु तथा त्रिशंकु के पुत्र हरिश्चन्द्र हुए, हरिश्चन्द्र के रोहिताश्व उनके हरित, हरित के विजय, विजय के भरुक उसके वृक, वृक का बाहुक पुत्र हुआ। बाहुक के सगर और सगर के असमंजस। असमंजस का पुत्र अंशुमान् हुआ। अंशुमान् के दिलीप और दिलीप के पुत्र हुए महाराज भगीरथ। इनके नाम से भगवती गंगा भागीरथी कहाती हैं। महाराज हरिश्चन्द्र इनसे १२ पीढ़ी पहिले हो चुके हैं तब भी गंगाजी थीं।

बात यह है कि भगवती विष्णुपदी तो सनातन हैं। वे बद्रीनारायण जी के चरणों को प्रक्षालन करती हुई, अलक

नन्दा के नाम से पहिले से ही बहती थीं तथा कहीं अन्यत्र जाकर समुद्र में मिलती थीं। सगर के साठ हजार पुत्र दक्षिण समुद्र के किनारे भस्म हुए थे वहाँ गंगाजी को लाना था, अतः उन्होंने गंगोत्री में जाकर तपस्या की। तब गंगाजी की एक नवीन धारा वे लाये। वे ही भागीरथी गंगा हुईं देव प्रयाग में आकर वे भगवती अलकनन्दा से मिल गईं। समुद्र के समीप तक दोनों साथ चलीं, फिर भागीरथी अलग होकर सगर पुत्रों को तारने गईं वही स्थान गंगासागर हुआ। उत्तराखंड में आज भी अलकनन्दा और भागीरथी गङ्गा की दो पृथक् पृथक् धारायें बहती हैं, जिनका संगम देवप्रयाग में होता है। अतः विष्णुपदी और भागीरथी पृथक् पृथक् होने पर भी एक ही हैं। इनमें कोई भेद नहीं। जैसे विष्णु सनातन हैं, वैसे गङ्गा भी सनातन हैं इनमें आगे पीछे का प्रश्न ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ब्रह्मलोक में पाद-पूजा होने से ब्रह्माजी का मनोरथ भी पूर्ण हो गया और भगवती विष्णुपदी का भी प्राकट्य हो गया। ये गङ्गा तीनों लोकों को पावन करने वाली हैं। आकाश गङ्गा के रूप में ये सदा ऊपर व्याप्त रहती हैं, जैसे वायु सर्वत्र व्याप्त रहती है। किसी यन्त्र विशेष से उन आकाश गङ्गा के कण एकत्रित करते हैं, जो हिम बनकर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाता है। भगवती गङ्गा के अनेक रूप हैं, कोई कहते हैं, ये भगवान् के चरणों का धोवन-चरणोदक है, कोई कहते हैं, नारदजी की वीणा के स्वरों को सुनकर भगवान् द्रवित होते होते जल बन गये, उन्हें ब्रह्माजी ने तुरन्त अपने कमंडलु में धारण कर लिया, वे ही त्रिभुवन तारिणी गङ्गा हुईं। इसीलिये इन्हें ब्रह्मद्रव कहते हैं। सारांश इतना ही है कि गङ्गा का भगवान् के साथ अभेद सम्बन्ध

है। जैसे प्रभु पादपद्म समस्त पाप पहाड़ों को पलभर में ढहा देते हैं, वैसे ही गंगाजी का जल प्राणियों के समस्त अशुभों को नाश करके उन्हें क्रमशः परमपद का अधिकारी बना देता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार दो पैर में ही समस्त ब्रह्माण्ड को नापकर भगवान् ने अपने रूप को संकुचित किया। पुनः वे अपने प्राकृत रूप में आगये।

छप्पय

जग जननी माँ अंग अंग सुख का सरसावै।
मन पुलकित पयपान लहर लखि हिय हरसावै॥
पाप पहाड़ ढहाय पुण्य को पोत पठावैं।
तापै चढ़ि माँ! भक्त सहज भवनिधि तरि जावैं॥
प्रभुपद रज तुलसी सहित, ब्रह्म कमंडलु तें निकसि।
सब स्वर्गनि पावन करति, गिरि भू, पुनि जलनिधि प्रविसि॥

———

वटु वामन पर असुरों का क्रोध

(५७३)

अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा ।
सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य वर्हिषि ॥
तस्मादस्यवधो धर्मो भर्तुः शुश्रूषणं च नः ।
इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरा सुराः ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० २१ अ० ११, ३१ श्लो०)

छप्पय

द्वै डगतैं जग नापि बने पुनि—हरि बटु बालक ।
लखि छल सबई दैत्य भये क्रोधित पुरपालक ॥
मारौ, यह द्विज नाहिँ विष्णु छलिया असुरारी ।
स्वामी कूँ छलि ठगी सबहिँ सम्पत्ति हमारी ॥
जीवित जान न पाइ जिह, अब यमपुर को मग गहै ।
क्रोधित असुरनि तैं बिहँसि, महा मनस्वी बलि कहै ॥

सच्चा सेवक वही कहलाता है जो अपने स्वामी के सुख में सुखी हो, दुख में दुखी हो। उसके लाभ में अपना लाभ

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् महराज बलि के अनुचर असुर आपस में कहने लगे—"याचना करने वाले इस शत्रुरूप वटुवामन ने हमारे स्वामी के सर्वस्वका अपहरण कर लिया है। यज्ञमें दीक्षित

समझे, उसकी हानि में अपनी हानि समझे। उसके हित के लिये प्राणों का मोह परित्याग करके सतत् प्रयत्न करता रहे। स्वामी की सेवा में यदि प्राण भी अर्पण करने हों, तो उनका मोह परित्याग करके प्राणों को अर्पण करते, स्वामी के शत्रु को अपना शत्रु समझकर सदा उससे युद्ध करने के लिये उद्यत रहे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक पग से पूरी पृथिवी को और एक पग से समस्त ऊपर के लोकों को नाप कर वामन बटु फिर ज्यों के त्यों बौने बन गये और बोले—"कहो, राजन्! तुमने तो तीन पग पृथिवी देने को मुझे वचन दिया था। यह तो दो पग भी पूरे नहीं हुए। अब तीसर की क्या व्यवस्था होगी?

महाराज बलि लज्जित हुए खड़े थे। संसार भर में हल्ला मच गया, वामन भगवान् ने बलि का सर्वस्व छलसे ले लिया। ब्रह्मा जी ब्रह्मलोक से अपने अनुचरों सहित लैंया पैंया दौड़े आये। लोक पाल आ गये, छिपे हुए देवता प्रकट हो गये। सभी ने जल, फल, फूल, माला, गन्ध, अक्षत, धूप, दीप अङ्कुर, लाजा आदि से भगवान् की पूजा की उनका महिमा से स्तोत्रों का गान किया, चरणामृत का पान किया भक्ति भगीरथ में स्नान किया, उनके विश्ववन्दित विराट् रूप का ध्यान किया, प्रभु की भक्ति वत्सलता पर अभिमान किया विविध वस्तु का ब्राह्मणों को दान किया बड़े बूढ़े

होने के कारण उन्होंने अस्त्र शस्त्रों को भी छोड़ दिया है। इसलिये हमारा बटु का वध करना ही उचित धर्म है। इसमें हम अपने स्वामी की सेवा कर सकेंगे। ऐसा कह कर उन्होंने शस्त्रों को उठा लिया।

ब्रह्मादिकों का सम्मान किया। सुन्दर मधुर पदों का ताल स्वर सहित गान किया, बार बार जय घोष किया, गन्धर्वों ने बाजे बजाये, अप्सराओं ने नृत्य किया। विविध बाजे बजने लगे। स्वर्ग पर पुनः आधिपत्य करने के साज सजने लगे। शंख दुंदुभि के शब्दों से दशों दिशायें भर गईं। रीछों के राजा जाम्बवान उन दिनों संसार में सबसे अधिक शीघ्रगामी थे। अतः उन्होंने दशों दिशाओं में सम्पूर्ण संसार में भेरी बजा बजा कर इस बात की घोषणा कर दी कि अब से इस समस्त पृथिवी के स्वामी वामन भगवान् हो गये। वे कहते जाते थे—"जगत् जगतपति का, आधिपत्य वामन भगवान् का, आज्ञा ब्रह्माजी की। बलि अब राजा नहीं रहा अदिति के सुतों के अधिकार में तीनों लोक आ गये।" तब तक वामन सम्हल कर बैठे भी नहीं थे, तभी मन के समान वेग से जाकर वे इस कार्य को करके हरि के समीप लौट आये।

महाराज बलि तो शांत थे, भगवान् की लीला देख कर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे वे तो इसे लीलाधारी की लीला ही समझ रहे थे, किन्तु उनके अनुचर वामन भगवान् पर अत्यन्त ही क्रुद्ध हुए। वे परस्पर कहने लगे 'अरे' यह ब्राह्मण नहीं ठग है, मायावी है, बहुरूपिया छली है।

एक ने कहा—"इसे दान फान कुछ नहीं लेना है। यथार्थ बात तो यह है कि यह है विष्णु। यह स्वभाव से ही असुरों से द्वेष रखता है। यह मायावी जैसा चाहे वेष बना लेता है, कहीं कछुआ बन जाता है, कहीं मछली। कहीं सूकर कहीं सिंह। अब ब्राह्मण बन आया है। इस वेष से यह देव-

ताओं का कार्य सिद्ध करना चाहता है। ऐसे यह कपट से हमारे स्वामी का सर्वस्व छीन कर इन्द्र को दे देगा।

दूसरे ने कहा—"हमारे स्वामी तो भोले भाले है, इसके छल कपट को समझ ही नहीं सके।"

तीसरे ने कहा—"यदि समझ भी जाते, तो वे क्या करते? युद्ध तो कर ही नहीं सकते क्योंकि यज्ञ में दीक्षित होने वाले को क्रोध करना, अस्त्र शस्त्र उठाना निषेध है यह बौना वामन बन कर यज्ञ में याचना करने आ गया था, इससे वे मना भी नहीं कर सकते थे, क्यों कि महाराज बड़े धर्मात्मा हैं। याचक को वे पराङ्मुख नहीं कर सकते। विशेष कर ब्राह्मणों के तो वे बड़े ही भक्त हैं, ब्राह्मणों के लिये तो वे सब कुछ कर सकते हैं। इस कपटी ने इधर उधर की अटपटी दो चार चटपटी बातें बनाकर उनसे प्रतिज्ञा करालो। वे ठहरे सत्यवादी, प्रतिज्ञा का पालन वे प्राणों का प्रण लगा कर भी करेंगे, किन्तु इस वटु ने किया कपट ही है। यज्ञ में दीक्षित महाराज को छल पूर्वक फँसा लिया है। हमारी तो सम्मति है, इस वामन को इसका फल चखा देना चाहिये।

चौथा बोला—"अजी, इसका फल तो यही है कि इसे यम-पुर पठा देना चाहिये। नाक पर बैठकर मक्खी उसमें छेद करती है, तो नाक को ही जड़ मूल से काट देनी चाहिये। जब यह वामन रहेगा ही नहीं, तो फिर कौन दो पग माँगेगा कौन तीन पग?"

पाँचवा बोला—"बन्धुवर! आपने सत्य कहा। इतने दिन से हम स्वामी का नमक खा रहे हैं, उसके पचाने का यही तो

समय है स्वामी जो अन्न वस्त्र देकर सेवक का सदा पालन पोषण करता है, वह समय के लिये ही करता है। उनके ऋण से उऋण होने का यही उत्तम से उत्तम अवसर है, इस बौने को विश्व से विदा करो।"

इस प्रकार वे सब के सब परस्पर में सम्मति करके युद्ध करने के लिये उद्यत हो गये। उन्होंने उत्साह में भर कर अपने अपने अस्त्र शस्त्र उठालिये और वे वामन भगवान् के ऊपर उसी प्रकार शस्त्रों की वर्षा करने लगे, जिस प्रकार मेघ पर्वत के ऊपर वर्षा करते हैं।" यद्यपि वे बलि को प्रसन्न करने और अपनी स्वामिभक्ति दिखाने के लिये ही शूल, पट्टिश आदि लेकर युद्ध कर रहे थे, किन्तु महाराज बलि ऐसा नहीं चाहते थे, उनकी अणु मात्र भी इच्छा नहीं थी, कि वामन वेषधारी द्विज बने विष्णु पर प्रहार किया जाय। वे सब अपने स्वामी के अभिप्राय को बिना जाने ऐसी धृष्टता कर रहे थे। भगवान् के नन्द-सुनन्द, जय विजय तथा अन्यान्य प्रिय पार्षदों ने जब असुरों को युद्ध के लिये आते देखा, तो उन्होंने उनको वामन भगवान् के समीप जाने ही नहीं दिया, बीच में ही रोक लिया। अब तो बलि के अनुचरों में और विष्णु भगवान् के पार्षदों में तनातनी होनी लगी। असुर सेना के प्रबल पराक्रमी सेनापति विप्रचित्ति राहु तथा कालनेमि आदि थे, उधर दश दश हजार हाथियों से भी अधिक बल वाले नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विश्वक्सेन, गरुड़, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त, तथा सात्वत आदि विष्णु पार्षद थे। इन्होंने असुरों के दांतखट्टे कर किये। बहुतों को मारा, बहुतों को घायल किया बहुत से युद्ध छोड़कर भागने लगे।

महाराज बलि ने जब युद्ध होते देखा तो वे शीघ्रता पूर्वक वहाँ

गये और अपने सेनापतियों को सम्बोधित करके बोले—"ओ, विप्र चित्ते ! राहो ! भैया ! तनिक मेरी बात तो सुनो, तुम लोग यह क्या गड़बड़ घुटाला कर रहो हो। देखो, युद्ध का समय होता है। न कोई निर्बल है न सबल। समय ही कभी किसी को दुर्बल बना देता है, कभी प्रबल कर देता है। जब समय अनुकूल होता है, तो बिना प्रयत्न किये अनायाश कार्य सिद्ध हो जाता है, किन्तु जब समय प्रतिकूल होता है, तो प्रयत्न करने पर भी परास्त होना पड़ता है। यह समय हमारे अनुकूल नहीं है। अतः युद्ध करने से कोई लाभ नहीं ?"

विप्रचित्ति क्रोध करके बोला—"प्रभो ! हम अपने प्रबल पुरुषार्थ से इन विष्णु पार्षदों को भगा देंगे।"

महाराज बलि ने गम्भीर होकर कहा—"अरे भैया ! पुरुषार्थ सब स्थानों मे सब समय काम नहीं आता। उसका भी समय होता है। काल ही प्राणियों को सुख दुःखादि पहुँचाने में समर्थ है उस पर कोई भी पुरुष पुरुषार्थ से विजय प्राप्त नहीं कर सकता।' देखा, एक वह भी काल था कि देवता हमारा नाम सुनते ही बिना युद्ध किये डर कर स्वर्ग की समस्त सम्पत्ति छोड़कर भाग गये थे, आज यह भी काल है, कि ये देवता घिरकर मुझे घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं। मेरी दशा को देखकर हँस रहे हैं राहु ने कहा—"महाराज ! कपटी के साथ कपट करने में कोई दोष नहीं। हम अपने बल पराक्रम से इन्हें न मार सके तो मायावियों से मंत्रणा करके बड़े बड़े बुद्धिमानों की विचित्र बुद्धि की सहायता से इनके साथ माया पूर्वक युद्ध करेंगे। किले के भीतर बैठकर ऊपर से इन्हें मारेंगे। बड़े बड़े अभिचार मन्त्र तन्त्र, जादू, टोना, वालों को बुलाकर उनसे मारण-मोहन उच्चाटन आदि प्रयोग करावेंगे। या इनके भोजन में, जल में

कोई ऐसी औषधि मिला देंगे, जिससे ये सब विना युद्ध किये अपने आप ही मर जायँ। अथवा साम-दाम आदि से इन्हें वश में करेंगे।"

बलि ने हँसकर कहा—"भैया! ये सभी उपाय अनुकूल समय होने पर ही सफल होते हैं। प्रतिकूल समय होने पर बल मन्त्री, बुद्धि, दुर्ग, मन्त्र, औषधि, तथा साम, दाम, दंड भेदादि कुछ भी काम नहीं आते, सब विफल हो जाते हैं। विधाता की प्रतिकूलता के समय ये सबके सब व्यर्थ बन जाते हैं।"

राहु ने कहा—"अजी, महाराज! ये देवता तथा विष्णु पार्षद हैं क्या? कितनी बार इन्हें हमने युद्ध में हराया है, कितनी बार ये पीठ दिखाकर भागे हैं।"

बलि बोले—"भैया! जब भागे होंगे, तब भागे होंगे। वह समय हमारे अनुकूल था। मैं जानता हूँ तुमने अनेकों बार इन पार्षदों को जीता है, किन्तु आज नहीं जीत सकते। आज कल भगवान् हमारे प्रतिकूल हैं। यदि प्रतिकूल न होते, तो सदा हमारी मन से वचन से और कर्मों से मङ्गल कामना करने वाले हमारे गुरुदेव हमसे प्रतिकूल क्यों हो जाते? हमें ऐश्वर्यहीन होने का शाप क्यों देते? कहाँ वे हमें १०० अश्वमेध यज्ञ करा-कर स्थाई इन्द्र बनाने को व्यग्र थे प्रयत्नशील थे। वे ही आज हमें पतन होने का शाप दे रहे हैं। इसलिये भैया, अब युद्ध करना व्यर्थ है। काल की प्रतीक्षा करो। जब हमारा अनुकूल काल आवे, तब युद्ध करना। उस समय फिर तुम्हारी विजय होगी।

असुरों ने कहा—"तब फिर प्रभो! हम क्या करें?"

बलि ने कहा—"भैया, अब तो भगवान् जहाँ रखेंगे वहाँ

रहना है। अब तुम युद्ध मत करो। अब पृथिवी पर भी रहने का हमें अधिकार नहीं है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपने सत्य व्रत दृढ़ प्रतिज्ञ ज्ञानी स्वामी की ऐसी सम्मति सुनकर सभी असुर समर से विमुख हो गये। उन दुर्मद दैत्य और दानव यूथ पतियों के शरीर विष्णुपार्षदों के प्रबल प्रहारों से क्षत विक्षत हो रहे थे। उनमें से बहुत से तो उसी समय रसातल को चले गये। बहुत से अपने स्वामी के साथ रह गये।

छप्पय

अरे,असुरगन! बात सुनो, मति शस्त्र चलाओ।
असमय लखि तुम तुरत लौटि रनतें सब आओ॥
समय सबल हा करै करै दुर्बल वह भाई।
काल जनित यह विपति, असुर कुलपै अब आई॥
मन्त्र बुद्धि अरु दुर्ग बल, अब न काम कछु करिंगे।
बनि विराट बटु विप्रवर, सरबसु हमरो हरिंगे॥

तृतीय पग के लिये बलि का बन्धन

(५७४)

अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट् प्रभुचिकीर्षितम् ।
बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ ॥
हाहाकारो महानासीद्रोदस्योः सर्वतो दिशम् ।
गृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभुविष्णुना ॥❀

(श्रीभा० ८ स्क० २१ अ० २६,२७ श्लो०)

छप्पय

सुनिकैं बलि की बात लौटि सुररिपु सब आये ।
बाद विवाद न बढ़ै असुर पाताल पठाये ॥
अच्युत आशय समुझि गरुड़ बलि बाँधे बरबस ।
जगमहँ हाहाकार मच्यौ हरि छीन्यौं सरबस ॥
चलित चित्त बलि नहिँ भये, हर्यो विष्णुने भुवन धन ।
लखि लज्जित बलि तैं विहँसि, बटु बामन बोले बचन ॥

बन्धन दुखका कारण है। यदि वह बन्धन सत्य धर्म का बन्धन है, तो उससे एक प्रकार का सुखद आत्मा सन्तोष होता

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इसके पश्चात् विराट् प्रभुकी इच्छा जानकर गरुड़जी ने महाराज बलि को वरुणपाश से बाँध लिया। उस दिन सोमाभिषव का दिन था। प्रभुविष्णु भगवान् विष्णु

है। संसार में यदि सत्यधर्म के कारण जो दुख होता है, यदि वास्तव में वह दुख होता, तो धर्म के लिये युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र, शिवि तथा दधीचि आदि राजर्षि ब्रह्मर्षि इतने दुख क्यों सहते। अवधकुलमण्डल दूर्वादल श्याम भगवान् राम करुणा की ऐसी दुखद सरिता क्यों बहाते। कमल से कोमल अपने नग्न चरणारविन्दों को एक वन से दूसरे वन में पैदल ही घूमकर उन्हें कंटकाविद्ध क्यों बनाते। धर्म के लिये सहन करने वाले कष्ट में भी सुख है, उसमें यश कीर्ति पारलौकिक सुख और सन्तोष सन्निहित है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वामन भगवान् ने विराट् बनकर दो पग में बलि के समस्त लोकों को नाप लिया नापकर पुनः वे वैसे ही बौने बटु बन गये। इधर जब असुर विष्णु पार्षदों से क्रुद्ध होकर युद्ध करने लगे और फिर बलि के कहने से पाताल चले गये, तब बटु भगवान् भिखारी से साहूकार बन गये। उन्होंने आँखों ही-आँखों में विनता नन्दन अपने वाहन गरुड़जी को संकेत कर दिया—"अब इस बलि को वरुण पास में बाँध लो।" गरुड़जी तो पक्षी ही ठहरे उन्हें दया मया कहाँ भगवान् का संकेत पाते ही उन्होंने तुरन्त ही महा यशस्वी परमज्ञानी महाराज बलि को वरुणपास में कस लिया।

विधि की कैसी विडम्बना है, अब तक जो त्रिभुवन का शासक था! जिसके नाम से इन्द्रादि देव थर-थर काँपते थे, जिसके वचन वेद वाक्यों की भाँति माने जाते थे, जिसकी सेवा में सहस्रों सुरसुन्दरियाँ सदा समुपस्थित रहती थीं। आज

द्वारा असुरपति महाराज बलि के बाँधे जाने पर पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र महान् हाहाकार मच गया।

वे ही वरुणपास से बँधे खड़े हैं। उस दिन यज्ञ का सबसे श्रेष्ठ दिवस था। उस दिन देवता, ऋत्विक सदस्यों के साथ यजमान सोमपान करता है। वह सोमाभिषव का दिन पशुयज्ञ तथा सोम यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ दिवस समझा जाता है। आज उसी दिन धर्मात्मा बलि बन्दी बनाये गये। तार्क्ष्य नन्दन गरुड़जी ने उन्हें कसकर बाँध रखा था। यद्यपि वे श्रीहीन हो चुके थे। उनका सर्वस्व छल से हर लिया, फिर भी वे उदारकीर्ति स्थितप्रज्ञ ज्ञानी विरोचनसुत अविचल भाव से खड़े रहे। वामन भगवान् उन्हें शक्ति भर धर्म से विचलित करना चाहा, किन्तु वे विचलित नहीं हुए।

तब हँसकर वामन भगवान् ने कहा—"कहो जी, दानियों में श्रेष्ठ महाराज! आपने मुझे तीन पग पृथिवी का संकल्प किया था न?"

हाथ जोड़े हुए बलि बोले—"प्रभो! मैं मना कब कर रहा हूँ। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर हूँ।

कपटी वामन बोले—"यदि स्थिर हो तो दो भाई अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। जहाँ तक सूर्य का ताप पहुँचता है, जहाँ तक ग्रह, नक्षत्र, तथा चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं। जहाँ तक मेघ वर्षा करते हैं। वहाँ तक की पृथिवी के तुम स्वामी हो अधिपति हो। इसके अन्तर्गत जितने लोक आते हैं, उन सब पर तुम्हारा शासन है। तुमने प्रत्यक्ष ही देखा है, मैंने एक पग में पूरी पृथिवी, शरीर से आकाश और हाथों से दिशायें नाप ली हैं। दूसरे पग से स्वर्गादि समस्त ऊपर के लोक नाप लिये हैं, तुम्हारा समस्त राज्य तो दो पग में ही पूरा हो गया। अब तीसरे के लिये तुम मेरे ऋणी हो। अब मेरा दाता और गृहीता

का सम्बन्ध नहीं है। अब तो मेरे बन्दी हो, मेरा ऋण दे दो, मुझे तीसरे पग के लिये पृथिवी बता दो तब छोड़े जा सकते हो ? या कह दो मैं झूठा हूँ।"

बलि ने कहा—"महाराज ! मैं झूठ तो बोल नहीं रहा हूँ, देने से मना तो करता नहीं।

वामन बोले—"भाई, झूठ क्या है। हमने एक पुरुष से कहा—तुम्हें हम इतनी वस्तु अवश्य देंगे। देते समय उससे कम दी, तो यह झूठ ही है, उसके साथ विश्वासघात करना है। जो प्रतिज्ञा की हुई वस्तु का नहीं देता है, उसे चिरकाल तक नरकों की अग्नि में तपना पड़ता है। या तो तुम मुझे तीसरे पैर के लिये स्थान बताओ, या नरक की वायु खाओ। अपने गुरु से पूछ लो मै झूठ तो नहीं कहता।"

बलि ने कहा—"महाराज ! गुरुजी से क्या पूछ लूँ, वे तो सब पहिले ही बता चुके थे। आपकी सब बातें समझा चुके थे। आपके यथार्थ रूप का दिग्दर्शन करा चुके थे, किन्तु मैंने ही अपनी प्रतिज्ञा से विचलित होना उचित नहीं समझा।"

भगवान् ने व्यंग के स्वर में कहा—"उचित नहीं समझा तो अब भोगो। पहिले तो तुम अभिमान में भरकर अपने को बड़ा श्री सम्पन्न मानते थे। "मैं तीन पग पृथिवी दूँगा अवश्य दूँगा।" यह बार-बार ललकार-ललकार कर कह रहे थे। अब नीचे सिर क्यों किये हो ? अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करो। जो पुरुष याचक से प्रतिज्ञा करके भी उसे उतनी वस्तु प्रदान नहीं करता, उसके साथ विश्वासघात करता है, तो मिथ्या भाषण के दोष के कारण उसे नरक में जाना पड़ता है। आप मुझसे प्रतिज्ञा करके भी उसे पूर्ण नहीं कर रहे हैं, अतः नीचे

के लोकों में तुम्हारा कुछ काल के लिये वास हो। जहाँ पृथिवी के नीचे नरक हैं वहाँ तुम्हारा निवास स्थान हो। "अब तुमने बहुत काल तक स्वर्ग के सुख भोग लिये है। अब तो स्वर्ग से लेकर पृथिवी तक के समस्त लोकों को तुम मुझे दान ही कर चुके। अब मैं जहाँ तुम्हें स्थान दूँ, वहीं जाकर अपने बन्धु बान्धवों जाति और सुहृदों के साथ रहो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् वामन ने बलि को क्रोध दिलाने को उसकी कठिन परीक्षा लेने के लिये उससे अत्यन्त ही कड़ी-कड़ी बातें कहीं, उन्हें भाँति-भाँति से धिक्कारा, किन्तु इस प्रकार बार-बार तिरस्कृत करने पर भी वे सत्य से अणुमात्र भी नहीं डिगे। स्थिरता पूर्वक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहते हुए वे असुरराज महामनस्वी बलि गम्भीर होकर भगवान् की बातों का उत्तर देने के लिये उद्यत हुए।

छप्पय

हे दानिनि महँ श्रेष्ठ! तीनि पग पृथिवी दीन्हीं।
प्रथम पाद तैं स्वर्ग द्वितिय तैं भू सब लीन्हीं॥
तीसर पग के हेतु अवनि कहु अनत बताओ।
करो प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं नरकनि महँ जाओ॥
दान प्रतिज्ञा प्रथम करि, पुनि पूरी जे नहिँ करहिँ।
ते पापी पामर पुरुष, सब नरकनि के दुख सहहिँ॥

महाराज बलि की विनय

(५७५)

यद्युत्तमश्लोक भवान्ममेरितम्,
वचोव्यलीकं सुरवर्य मन्यते ।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनम्,
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥❀

(श्रीभा० ८ स्क० २२ अ० २ श्लो०

छप्पय

कनक सरिस बलि बहुत दुसह दुख अनल तपाये ।
परि न व्यथित बलि भये मनस्वी नहिं घबराये ॥
बोले—हे विश्वेश ! सत्य तैं नहिं मुख मोरूँ ।
तीनि पैर की करी प्रतिज्ञा ताहि न तोरूँ ॥
तीसर पग मम सिर धरो, बिना बात बटु क्यों लड़ौ ।
दान वस्तु की अपेक्षा, दाता तो सब विधि बड़ौ ॥

धैर्य की परीक्षा आपत्ति काल में ही होती हैं, वैसे तो सर

❀ महाराज बलि भगवान् वामन से कह रहे हैं—"हे उत्तमश्लोक! आप मेरे कहे हुए वचनों को मिथ्या मानते हैं तो मैं उसे सत्य करूँगा। मैं आपको ठगना नहीं चाहता। हे सुरश्रेष्ठ ! अपने तृतीय पैर को मेरे सिर पर रखिये ।

अपने को धैर्यवान लगाते हैं, किन्तु घोर संकट आने पर भी
ो विचलित नहीं होते, वे ही धीर वीर कहाते हैं। अपमान
रने पर भी जिन्हें क्रोध नहीं आता वे ही सहनशील कहलाते
। एक महात्मा किसी से भिक्षा माँगने गये। उसने उन्हें
लाकर कहा—"तू इतना हट्टा कट्टा घूम रहा है, तुझे भीख
ंगने में लज्जा नहीं लगती। भाग जा यहाँ से!" यह सुनकर
हात्मा लौट गये। उसने फिर बुलाया और कहा—"तेरे बाप
यहाँ कमाकर रखा है जो फिर लौट कर आ गया। बिना
रिश्रम के व्यर्थ का भोजन मिलता है, खाकर श्मशान के कुत्ते
ी भाँति मोटा हो गया है, चल हट।" महात्मा यह सुनकर लौट
। उसने फिर बुलाया फिर लौटाया। अंत में उस पुरुष ने
ात्मा के पैरों पड़ कर कहा—"महात्मा जी आपकी सहन
लता धन्य है, जो इतने अपमान को भी निर्विकार होकर सहते
।"

इस पर महात्मा जी ने कहा—"भैया! मेरी क्या सहन
लता है, टुकड़े के लिये तो कुत्ता भी इतनी सहन शीलता
रण करता है, सहन शीलता तो महाराज हरिश्चन्द्र
है, जो अपना सर्वस्व विश्वामित्र जी को दान देकर
ता दक्षिणा के लिये, विश्वामित्र के कोड़े सहते रहे! अपनी
प्रिय पत्नी को दासी बनाकर ब्राह्मण के हाथ बेचा, नन्हें
राजकुमार को कुछ द्रव्य लेकर बेच डाला और स्वयं भी
ाल के हाथों बिक गये, फिर भी विश्वामित्र की मार आदि
ते रहे। एक शब्द भी मुख से नहीं निकाला। याचक को दान
ार भी उसके दण्ड को सहते रहना यह तो किसी विरले
ही काम है। बलि, हरिश्चन्द्र ये ही एक दो संसार में
र्श हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! वामन वटु ने विराट रूप बनाकर महाराज बलि का सर्वस्व अपहरण कर लिया। दो पग में ही उनके समस्त राज्य को नाप लिया। अब एक पग पृथिवी के लिये अड़ गये। लोभ की भी पराकाष्ठा कर दी। भी नहीं दिखाई कि अब इस पर कुछ नहीं है, तो एक पग लिये इसे क्षमा ही कर दें। उन्हें तो इनको तपाना था, निर्मल सुवर्ण बनाना था। गरुड़जी से इन्हें बँधवा लिया। न कहने योग्य वचन कह कर उनका तिरस्कार किया। कहलाने का बड़ा प्रयत्न कराया कि बलि स्वयं कह दे—"महाराज अब मेरे पास कुछ नहीं है, मैं क्या करूँ?"

महाराज बलि तो धीर, वीर, ज्ञानी, यशस्वी, मनस्वी औ स्थिरप्रज्ञ थे। अतः वे वामन की ऐसी बेतुकी बातें सुनकर भ विचलित नहीं हुए। उनकी बातों का उत्तर देते हुए बोले—"महाराज! आपकी पवित्र कीर्ति तो विश्वब्रह्मांड में व्याप्त है विष्णु बनकर आपने क्या क्या कौतुक नहीं किये हैं? कै कैसे विचित्रवेष आपने बनाये हैं। संसार जानता है आ यश को। आप बने तो इन्द्र के छोटे भाई हैं, किन्तु हैं स देवताओं में बड़े। आप मुझ से बार बार यह क्यों कहला चाहते हैं, कि मैंने तीन पग पृथिवी देने का वचन नहीं दिय मैं डंके की चोट पर कहता हूँ, मैंने तीन पग पृथिवी के लि कहा है, कहा है, कहा है। उसे दूँगा, अवश्य दूँगा अविल दूँगा।

वामन वटु सूखी हँसी हँसकर बोले—"अब कहाँ से दो जी? जहाँ तक तुम्हारा राज्य था, जितनी भूमि तुम्हारे अधिक में थी, उस भूमि पर जितना धन धान्य था, वह सब तो

हो गया। अब तुम तीसरे पग के लिये ब्रह्मांड से बाहर कहाँ पृथिवी बनाओगे ?"

बलि ने कहा—"देखिये, महाराज,! एक तो दाता होता है, एक दान की वस्तु होती है। हम गौदान करते हैं, तो गौदान के साथ यह तो नहीं है कि अपने को दान कर दें। मैंने अपनी पृथिवी ही दान की है, मैं स्वयं तो अभी शेष हूँ। तीसरे पग को मेरे सिर पर रख कर मुझे भी नाप लो।" मुझे अपना क्रीत दास बना लो।

वामन हंसे और बोले—"बड़े दीनता के वचन कह रहे हो बलि महाराज ! डर गये क्या ?"

दृढ़ता के स्वर में महाराज बलि बोले—"भगवन् ! आप डरने की बात कह रहे हैं ? आप जो मुझे बार बार नरक की धमकी दे रहे हैं; उस नरक से मुझे तनिक भी डर नहीं है। मेरे लिये नरक स्वर्ग सब समान है, आप कह रहे हैं—'तू राजा नहीं रहा, राजा नहीं रहे ?" न रहूँ राजा। राजा के कौन से पंख होते हैं। जितना साधारण पुरुष खाते हैं। उतना ही राजा खाता है, वह भी अन्य पुरुषों की भाँति वस्त्रों से तन ढकता है। उसे उठाने को जो भेरी बजाई जाती हैं, उसे सभी सुनते हैं। एक दिन मैं राज्यच्युत होकर गदहा बनकर भी घूमा था, तब इन्द्र मुझे देखकर हँसता था। आज इन्द्र भी वैसे ही घूम रहा है। यह राज्यपद तो रथ के चक्र के समान ऊपर नीचे होता रहता है, अतः मुझे पदच्युति पर तनिक भी दुःख नहीं। आपने मुझे वरुण जी के द्वारा वरुण पासों में बँधवा लिया है, इससे मेरा योग बिगड़ गया। आप कह रहे हैं—"मैं तेरा सर्वस्व हरलूँगा,

तुझे दुस्तर दुःख दूँगा। दुसह दण्ड देकर तुझे नरक में भेजूँगा। भेज दो, तुम्हारी इच्छा। इन सब बातों से मैं डरने वाला नहीं डर मुझे इसी बात का है कि लोग यह न कहें कि प्रह्लाद जी पौत्र ने वटु वामन को तीन पग भूमि का संकल्प करके उसे नहीं किया। ब्राह्मण के सम्बन्ध से हुई अपकीर्ति का ही मुझे भय है।

भीतर ही भीतर प्रसन्न होते हुए ऊपर से रुखाई के साथ वामन बोले—"दैत्यराज! मैं आपका ऐश्वर्य नाश करके ही शान्त न रहूँगा, तुम्हें दान पूरा न करने पर कठिन से कठिन दंड भी दूँगा।

हँसकर बलि बोले—"फिर महाराज! कह क्या रहे हो! सुनाते क्या हो। देते क्यों नहीं हो दंड। मैं तो आपके दंड को पाकर हे अशरण शरण! अपना अहो भाग्य समझूँगा। आप जैसे पूज्यतमों के द्वारा दंड प्राप्त होना यह तो बड़े सौभाग्य की बात है, हे विश्वम्भर! बड़े लोगों द्वारा दंड तो भाग्यशाली पुरुषों को ही प्राप्त होता है। पापी सहनशील और असदाचारी पुरुष तो गुरुजनों के दंड से वंचित रह जाते हैं। मोह के कारण माता पिता, भाई तथा सुहृद् भी यथेष्ट दण्ड नहीं देते। सदा हित की ही कांक्षा करने वाले सब भाँति की विद्या सिखाने वाले, परमार्थ पथ को बताने वाले गुरु ही यथार्थ दण्ड देते हैं। आप हम असुरों के गुरु ही नहीं परमगुरु हैं।"

वामन भगवान् बोले—"गुरु तो तुम्हारे शुक्राचार्य हैं। मैंने कब भैया! तुम्हें दीक्षा दी?

हँसकर बलि बोले—"महाराज! कान में दीक्षा देने से ही गुरु थोड़े ही होता है। जैसे दीक्षागुरु होते हैं, वैसे शिक्षागुरु भी तो होते हैं। आपने हमें प्रत्यक्ष रूप से भले ही दीक्षा

दी हो, किन्तु परोक्ष रूप से तो निश्चय ही आप हम सब असुरों के परमगुरु हैं।

भगवान् ने कहा—"गुरु का काम जीवनदान करना है या मार डालना ?"

बलि बोले—"हे परमगुरो ! आप मारकर भी जीवन ही दान देते हैं। आपका क्रोध भी वरदान के ही तुल्य है। आप हमारा ऐश्वर्य नाश भी हमारे हित के ही निमित्त करते हैं। अनेक प्रकार के मदों से मदोन्मत्त हुए असुर गण अभिमान के कारण अन्धे हो जाते हैं। आप ऐश्वर्यनाश रूपी अञ्जन को लगाकर हमें प्रकाश प्रदान करते हैं। हमारी बुद्धि को यथा स्थान लगाते हैं। जिन दैत्यों ने आपके साथ वैर बाँधा उन्होंने भी संसार में प्रसिद्धि प्राप्त की और आपके हाथों से मरकर उस दुर्लभ परमपद को प्राप्त हुए, जिसे सहस्रों वर्ष तक घोर योग तप करके योगी तपस्वी सुलभता से नहीं प्राप्त कर सकते। अतः आपसे वैर बाँधने पर भी असुरों का कल्याण ही है। जीतने पर राज्य और मरने पर मोक्ष। छोटों के द्वारा सम्मान प्राप्त करना भी श्रेष्ठ नहीं। बड़ों से पराजित होना अपमानित होना भी उत्तम है, अतः मुझे न तो आपके द्वारा बांधे जाने पर विशेष लज्जा ही है और न सर्वस्व अपहरण कर लेने पर दुःख ही। कोई बाहर का होता तो लज्जा की भी बात थी, आप तो मेरे सगे सम्बन्धी हैं।"

हँस कर बटु वामन बोले—"मेरा तुम्हारा क्या सम्बन्ध है भाई ?"

बलि ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"मेरा आप का तो बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है भगवन् ! मेरे पितामह

श्लोक प्रह्लाद जी आपके निज जन हैं, प्रिय पार्षद हैं। उनके आप स्वामी हैं तो मेरे तो स्वामी के भी स्वामी हैं, पूज्य के भी पूजनीय हैं। उनकी कीर्ति आज संसार में इसीलिये व्याप्त है कि उन्होंने आपके चरणारविन्दों का आश्रय लिया था।"

भगवान् ने कहा—"वे तो भगवद् भक्ति करके अपने पिता से पृथक् हो गये। नरहरि ने उनके पिता को मार डाला था? स्वजनों का वियोग होना क्या यही भक्ति का फल है?"

बलि ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"प्रभो! आपके चारु चरणों से संयोग हो जाय, फिर स्वजन वियोग क्या वस्तु है मेरे पितामह तो परम ज्ञानी थे उन्होंने निश्चय कर लिया था कि इन स्वजनों के रूप में डाकुओं से मेरा कुछ न होगा। स्वजन क्या करते हैं। हमारा इहलौकिक धन हरते हैं मोह बढ़ा कर परलोक का नाश करते हैं। संसार में पुनः पुनः फँसाते हैं। जिसका स्मरण करके प्राण छोड़ेंगे, उसी के यहाँ जन्म लेना पड़ेगा। ये स्वजन परिवार वाले तो परमार्थ के शत्रु हैं। जिस भार्या को प्राणों से भी अधिक प्रियतमा मानते हैं वह जन्म-मरण रूप संसार चक्र की हेतुभूता है। जिसकी मृत्यु निरंतर सिर पर नृत्य करती रहती है उस पुरुष का ये सांसारिक सम्बन्धी क्या कल्याण कर सकते हैं?" यही सब सोचकर मेरे पूज्यनीय पितामह ने आप परमात्मा के पुनीत पादपद्मों का आश्रय ग्रहण किया था आपके अनुचर होकर वे असुरवर अमर हो गये, उनकी कीर्ति अक्षुण्ण हो गई। उसी प्रकार मैं भी आपके अरुण चरणों की शरण लेकर इस भवसागर को पार हो जाऊंगा। आपके अनेकों प्रिय पार्षदों में मुझ अकिंचन की भी गणना हो जायगी। मेरा तो आपने कल्याण ही किया।

वामन बोले—"कल्याण क्या किया, मैंने तुम्हें धन वैभव से बलपूर्वक वंचित करके भिखारी बना दिया।

बलि ने निस्पृहता के स्वर में कहा—"प्रभो! इन सांसारिक धन वैभवों में रखा ही क्या है, इन्हें पाकर तो जीव मदोन्मत्त हो जाता है, अन्त में इन सब को यहीं त्यागकर मृत्यु के मुख में चला जाता है। अतः हे देव! आप चाहे मेरे शत्रु ही बन कर आयें, किन्तु आप मेरे परम मित्र हैं। भाग्य से ही मुझे आपके देव दुर्लभ दर्शन हुए। अब मेरा संसार चक्र सदा के लिये छूट जायगा। अब मुझे ८४ के चक्कर में न भटकना पड़ेगा। अब तो मैं समस्त आधि व्याधियों से विमुक्त हो गया। मेरा उद्धार हो गया, आपने कृपा करके मुझे कृतार्थ कर दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज बलि वामन भगवान् के सम्मुख इस प्रकार विनय के बचन बोल ही रहे थे, कि वैकुंठ से उनके पितामह महाभागवत प्रह्लाद जी अपने पौत्र को देखने और वटु वामन के दर्शन करने वहाँ आकर उपस्थित हुए।

छप्पय

हे हरि माता पिता सुहृद सर्वस्व हमारे।
पकरि पितामह तरे, पोत पद पद्म तिहारे॥
बन्धन तें नहिं डरौं नरकतें भय नहिं प्रभुवर।
स्वामी देवै दंड होहि सेवककूँ सुखकर॥
बैर भाव तैं भक्ति करि, तरे असंख्यों असुरगन।
जग सुख भोग्यो अंत महँ, लह्यो परम पद त्यागि तन॥

प्रह्लादजी का शुभागमन

(५७६)

तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः ।
आजगाम कुरुश्रेष्ठ राकापतिरिवोत्थितः ॥❀

(श्रीभा० ८ स्क० १२ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

बलि वामन बतराइँ भये प्रह्लाद उदित रवि ।
अरुन नयन पटपीत कृष्ण तनु अति मनहर छवि ॥
निरखि पितामह नेह नीर बलि नयननि छायो ।
पूजा कैसे करहिं बँधे ही शीश नवायो ॥
बलि सिकुरयो संकोचवश, वामन हरि सम्मुख खरे ।
पुलकित तनु प्रह्लाद जी, ह्वै प्रसन्न प्रभु पग परे ॥

बन्धु वह कहलाता है, जो हमारे सुख-दुख में उन्नति-अवनति में साथ रहे। अपने कुल में उत्सव, मङ्गल अभ्युदय से कुल परिवार वालों को बड़ा हर्ष होता है। इसी प्रकार में कोई दुखद घटना घट जाने पर दुख भी होता है। सुख-दुख में भली भाँति हम बँधे हों, यही सम्बन्ध

२६।
त्मा के
अनुचर
हो गई।
लेकर इस

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज बलि इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने में परम भागवत प्रह्लादजी वहाँ आ गये। सहसा वे चन्द्रमा के समान उदित हो गये।"

है। सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। एक देह सम्बन्ध दूसरा पारमार्थिक सम्बन्ध, देह सम्बन्ध तो माता-पिता के सम्बन्ध से। हमारी देह माता और पिता दोनों के रजवीर्य से बनी है, अतः माता के सम्बन्धी नाना नानी, मामा मामी, मौसी मौसा तथा इन सब के बाल बच्चे तथा सम्बन्धी भी सम्बन्धी कहाते हैं। इसी प्रकार पिता के सम्बन्ध से दादा, दादी, भाई भाभी बहिन बहनोई तथा बाल बच्चे और सम्बन्धी भी परिवार कुटुम्बी होते हैं। अपने देह से जिनका सम्बन्ध है जैसे स्त्री, पुत्र पौत्र आदि इस प्रकार तीन प्रकार से देह सम्बन्ध होता है। परमार्थिक सम्बन्ध भगवान् अथवा गुरु के सम्बन्ध से होता है। जो भगवद् भक्त हैं, वे हमारे सगे सम्बन्धी हैं, जिनसे हमने शिक्षा दीक्षा ग्रहण की है, उन्हींसे जिन्होंने ग्रहण की है, वे भी हमारे पारमार्थिक सम्बन्धी हैं भगवद्भक्त तथा ज्ञानी जन सांसारिक समस्त सम्बन्धों से मुख मोड़कर भगवद् भक्तों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। जो भगवान् का भक्त है, वह किसी देश, किसी जाति, किसी वर्ण तथा किसी भी रंग रूप का हो वह अपना सगा है, सम्बन्धी है, सुहृद् है, सखा है, आत्मीय है। इसके विपरीत जो भक्त नहीं, वह चाहे अपना पुत्र ही क्यों न हो उससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। यदि पहिले जिससे अपना कोई देह का भी सम्बन्ध रहा हो और वह भगवद्-भक्त भी हो, तब तो एक और एक मिलकर ११ हो जाते हैं। सोने में सुगन्ध हो जाती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाभागवत विष्णु पार्षद श्री प्रह्लादजी ने जब सुना कि मेरे पौत्र के ऊपर भी प्रभु ने कृपा की है। उसे भी अपने देव दुर्लभ दर्शन देकर कृतार्थ किया है। उसके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त भगवान् वटु से विराट

बने हैं, तो वे भी भगवान् के दर्शन करने और अपने पौत्र के सौभाग्य की प्रशंसा करने सहसा वैकुण्ठ लोक से वहाँ आये। उनके आने की कोई संभावना नहीं थी। वे उसी प्रकार उदित हुए, जिस प्रकार गगन मंडल में शीतरश्मि भगवान् निशानाथ पूर्णिमा के दिन उदित होते हैं। प्रह्लादजी तो विष्णु पार्षद ही ठहरे, उनकी शोभा का क्या वर्णन किया जाय। वे अपनी उन्नत, सुचिक्कण कमनीय काय पर सुन्दर स्वच्छ, शोभायुक्त शारदीय सुषमा के समान मनहर पीताम्बर पहिने हुए थे। कृष्ण कान्त मणि के समान देदीप्यमान उनकी विशिष्ट श्याम वर्ण की कान्ति थी। उनके विशाल बाहुओं में विष्णु पार्षदों के समस्त अस्त्र विराजमान थे। कमल के समान खिली हुई बड़ी बड़ी आँखों से वे इस प्रकार निहार रहे थे, मानों अपनी सरस चितवन से दशों दिशाओं को रसमयी बना देंगे। उनका दमदमाता हुआ श्री सम्पन्न मुख मंडल चन्द्रमा के समान खिल रहा था, जिसमें मन्दमन्द मुसकान रूपी किरणें छिटक रही थीं।

पहिले जब कभी प्रह्लाद जी अपने पौत्र के पास पधारते थे, तो वे प्रेम पूर्वक बड़ी श्रद्धा के साथ उनकी षोड्शोपचार पूजा करते थे, किन्तु आज तो वे वरुणपास से बँधे हुए थे। इस दशा में पूजा कैसे करें। सदा तो वे श्री सम्पन्न सुवर्ण राज सिंहासन पर पितामह को बिठाकर उनकी पूजा करके उन्हें प्रणाम करते थे, किन्तु आज तो उनके पास अपना कहने को कुछ था ही नहीं। वामन वटु ने सर्वस्व छीन लिया था। इसीलिये उन्हें अपनी विवशता पर बड़ी लज्जा आई। स्नेह, लज्जा और संकोच के कारण उनकी आँखें अश्रुओं से पूर्ण हो गईं। डबडबाई आँखों से बँधे ही बँधे उन्होंने अपने पूज्य पितामह को केवल प्रणाम मात्र ही किया।

इस समय प्रह्लादजी के सम्मुख उनके पौत्र भी थे और

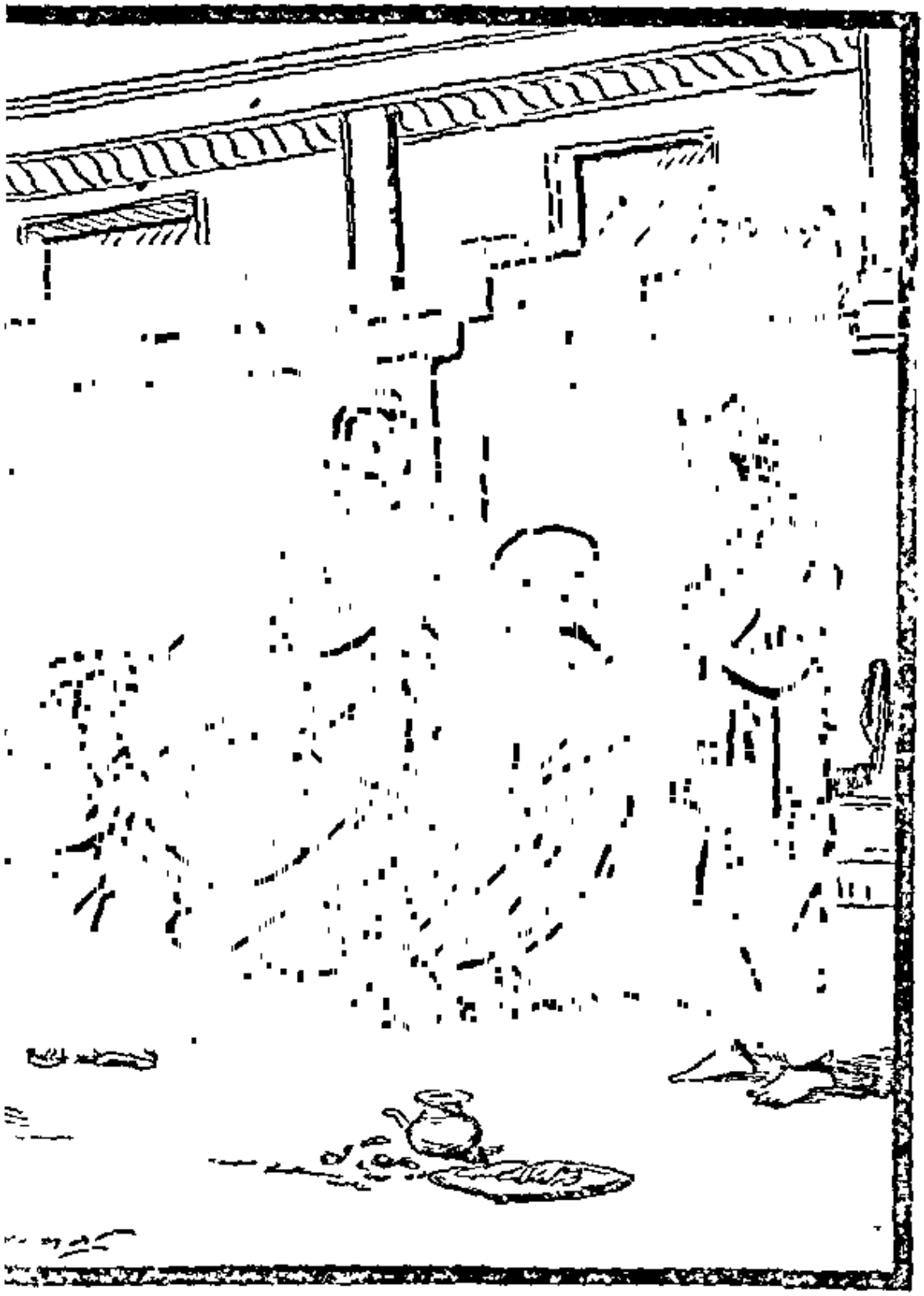

के सर्वस्व स्वामी भी थे, अतः शीघ्रता के साथ प्रेम से पुल-

कायमान शरीर से नेत्रों मे जलभर कर विह्वल होकर प्रभु के पादपद्मों मे पृथिवी पर पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे।

अब उनके सम्मुख दो कार्य थे, एक तो अपने पौत्र को सान्त्वना देते हुए उपदेश करना था, दूसरे भगवान् की स्तुति भी करनी थी। अतः अपने पौत्र को सुनाते हुए भगवान् की भक्त वत्सलता की प्रशंसा करने लगे। श्री प्रह्लादजी बोले—"भगवन! इस बलि को यह अभिमान है, कि मैंने भगवान् को अपना सर्वस्व दान कर दिया, तो इसका यह अभिमान व्यर्थ है। इसे इन्द्र पद आपने ही तो प्रदान किया था। आपने न्यास रूप में अपनी विशिष्ट शक्ति देकर इसे इन्द्र बनाया था, अब इसे अयोग्य समझ कर आपने हर लिया। इसे ऐश्वर्यशाली इन्द्र पद से पृथक् कर दिया, तो इस विषय में इसे लज्जित होने की तो कोई आवश्यकता नहीं। आपने तो इसके ऊपर अनुग्रह ही को इसे मोह में फंसाने वाली राज्य लक्ष्मी से भ्रष्ट कर दिया। यह राजलक्ष्मी आँखें रहते हुए भी मनुष्य को अन्धा बना देती है। बिना मद्पान किये मदोन्मत्त कर देती है, ज्ञानी को भी अज्ञानी और सावधान को भी प्रमादी बना देती है। बड़े बड़े विद्वान पुरुष भी इस माया के चक्कर में फँसकर मोहित हो जाते हैं। ऐसी लक्ष्मी से रहित करके आपने इस अपने अनुचर पर अत्यन्त ही अनुग्रह की ऐसे अनुग्रहावतार, भक्तवत्सल आप वामन भगवान् के पाद पद्मों में मेरी पुनः पुनः प्रणाम है।

श्री शुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन्! प्रह्लाद जी के आने से अब तो वहाँ बड़ा समारोह हो गया। श्री वामन भगवान् अपने नन्द सुनन्दादि पार्षदों से घिरे हुए बैठे थे, एक ओर समस्त देवगण विराजमान थे, उन सबके आगे, लोक पितामह

ब्रह्मा बैठे थे। महाराज बलि के प्रधान प्रधान सेना नायक असुर भी उदास मन से नीचा सिर किये चुपचाप बैठे थे। महाराज बलि के समीप ही हाथ जोड़े भगवद्भक्त श्रीप्रह्लादजी विराजमान थे। देवता और असुरों का सम्मिलित समारोह था सत्ता हस्तान्तरित होने के लोभ से देवता प्रसन्न थे। असुरों के मन में दुःख था। महामनस्वी परमज्ञानी बलि के मनमें न दुःख था न सुख वे समयाभाव से बैठे प्रभु के पाद-पद्मों को निहार रहे थे। और पुलकित हृदय से प्रेम के अश्रु बहा रहे थे। भगवत् दर्शनों से उनकी तृप्ति ही नहीं होती थी। प्रह्लादजीकी स्तुति करते सुनकर ब्रह्माजी का भी साहस बँधा, वे भी भगवान् की स्तुति करने को खड़े हुए।

अपने ददिया ससुर प्रह्लादजी को देखकर रानी विन्ध्यावली ने घूँघट मार लिया था। ससुर के सम्मुख बोलना तो सदाचार के विरुद्ध है। किन्तु भगवान् तो सबके माता पिता हैं। उनसे क्या लज्जा। अतः वे भी तनिक घूँघट को सरकाकर प्रह्लादजी की ओर मुँह छिपाकर भगवान् की ओर देखती हुई बोलीं। उन्होंने यह नहीं देखा कि लोकपितामह ब्रह्माजी कुछ कहने को खड़े हैं। ब्रह्माजी ने जब देखा कि विन्ध्यावली महारानी कुछ कहना चाहती हैं, तो वे बिना कुछ कहे चुपचाप बैठ गये। ऐसा प्राचीन सदाचार है, कि स्त्री आरही हो, तो सामने से स्वयं हट जाना चाहिये। वाहन पर पहिले स्त्री को चढ़ाकर तब चढ़ना चाहिये। सब स्थानों में लज्जावती स्त्रियों का सम्मान करना चाहिये। क्योंकि वे स्त्रीसुलभ शीलता के कारण न कुछ वस्तु स्वयं माँग सकती हैं, न किसी बात पर बल देकर कह सकती हैं। लज्जा ही उनका धन है, शील ही उनका शृङ्गार है उनकी रक्षा करना; आदर करना यह मनुष्य का परमधर्म है।

जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है, उनकी पूजा होती है, वहाँ लक्ष्मी का वास होता है। ब्रह्माजी कब उठे कब बैठ गये इसका विन्ध्यावली को पता ही नहीं। वे तो अपने पति को वरुणपाश में बँधा देखकर तथा लज्जा से अवनत सिर निहार कर, भय से व्याकुल हुई अत्यंत विनय के साथ कहने लगी—प्रभो! इस अखिलजगत् के एकमात्र आप ही अधीश्वर हैं। किसी अन्य कारण से नहीं केवल क्रीड़ा के निमित्त आपने इस जगत् की रचना की है। जब इच्छा होती है, इस त्रिगुणात्मक जगत् को बना लेते हैं, जब इच्छा होती है, उसको लेकर खेलते हैं, जब खेलते खेलते ऊब जाते हैं, फट्ट से इसे फोड़ देते हैं। संहार कर देते हैं जैसे बनाना खेल है, वैसे ही फोड़ देना आपका खेल है। न बनाने में आसक्ति न फोड़ देने में चिन्ता। अपने खेल के लिये बनाये हुए जगत् में जो ममता करता है, उसे अपना बताता है, अपने को उसका स्वामी समझता है, वह तो भूला हुआ प्राणी है। मेरे प्राणपति यदि मन से यह अनुभव करते हैं, कि तीन लोकों का मैं स्वामी हूँ, यह राज्य पाट मेरा है और इसे मैं वामन प्रभु को दान दे रहा हूँ; तो प्रभु मैं तो इसे उनकी भूल ही कहूँगी। भला, आप सब को देने वाले को कौन क्या दे सकता है। कुछ अपना हो तो दे भी सबके स्वामी तो आप सर्वेश्वर ही हैं। जब सब आपकी ही वस्तु है, तो फिर कोई अन्य किसी को क्या है समर्पण करेगा?" अतः मेरे पति ने न आपको कुछ दिया है न दे सकते हैं। सब आपकी वस्तु ही है। सबके स्वामी आप ही हैं आप अपनी वस्तु को सम्हाले। मेरे पति की इस बात पर ध्यान न दें कि मैं आपको दूँगा। आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा। आप पूर्ण काम को इच्छा हो ही क्या सकती है।"

इतना कहकर विन्ध्यावली बैठ गई। तब ब्रह्माजी फिर उठे और बोले—"हे देव देव ! हे भूतभावन भूतेश्वर ! देखिये, बलि को बाँधना आपके अनुरूप नहीं है। इसने आपका क्या अपराध किया है ? किस अभियोग के कारण इसे बन्दी बनाया गया है। इसने तो आपको अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। यह दंड पात्र न होकर आपकी कृपा का पात्र होने योग्य है। हे दयालो ! इस दुखी दीन दैत्य पर दया करो। इसे अपने चरणों की शरण दो। देखिये, एक अंगुल पृथिवी देने में ही चित्त में दुःख होने लगता है, इसने तो अपनी सम्पूर्ण पृथिवी स्वेच्छा से प्रेम पूर्वक बिना मनमलिन किये आपको देदी है। पुण्यों से उपार्जित स्वर्गादि समस्त लोक स्वेच्छा से आपको द्वितीय पद नपाने को दिये हैं। तृतीय पद के लिये इन्होंने अपना मस्तक नत कर दिया है, शरीर समर्पण कर दिया है। फिर आप इसे बाँध क्यों रहे हैं। इसे कष्ट देने का प्रयत्न क्यों करा रहे हैं। इसने तो आपके चरणामृत को श्रद्धा सहित सिर पर धारण किया है। यह तो पुण्यश्लोक पुण्यात्मा पुरुष हैं। पापी पुरुष भी आपके पादोदक का पान कर परम पुण्य के भागी बन जाते हैं। तो फिर इसके अशुभ शेष कहाँ रहे। आपके चरणों में श्रद्धा सहित, एक चुल्लू जल, एक तुलसीदल अथवा एक दूब का अंकुर चढ़ाने वाला इस संसार सागर से विमुक्त हो जाता है, फिर तो सर्वस्व समर्पित करने वाला साधु श्रेष्ठ बलि बंधन में क्यों पड़े ?"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! लोकपितामह के ऐसे सुन्दर वचन सुनकर वामन भगवान् उनका हँसते हुए उत्तर देने लगे।

छप्पय

पुनि बोले प्रहलाद प्रभो यह अति भल कीन्हों।
दयो इन्द्रपद आपु आपु ही पुनि हरि लीन्हों॥
धन बैभव में कहा होहि तव चरननि महँ रति।
धन मद महँ मदमत्त करैं नर अघ अति नित प्रति॥
बिनती करि प्रहलाद जी, पुनि कीयो चरननि नमन।
तब बिन्ध्यावलि बलिप्रिया, बिनय सहित बोली बचन॥

धनिक नध के पीछे प्रभुका भी अपमान करता है।

(५७७)

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २२ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

कर्ता भर्ता और जगत के हर्ता तुम हरि ।
अरु सहँ दुख व्यर्थ राज धन महँ ममता करि ॥
का हम दीयो देव आप अपनो स्वीकारयो ।
यों कहि बैठी सती फेरि विधि वचन उचारयो ॥
विधि बोले—विश्वेश विभु, बलि सरबसु अरपन कियो ।
फिर उदार यश असुर कूँ, बन्धन करि क्यों दुख दियो ॥

स्वार्थ की हानि का नाम विपत्ति है और स्वार्थ सिद्धि का

---

*श्री वामन भगवान् श्री ब्रह्मा जी से कह रहे हैं—"ब्रह्मन् ! जिसे मैं अपनाता हूँ उसका धन हरण कर लेता हूँ। क्योंकि धन के मद में उन्मत्त हुआ पुरुष सब लोगों का तथा मेरा भी अपमान करने लगता है।"

नाम सम्पति है। संसार में सब से बड़ा स्वार्थ श्री हरि के पादपद्मों की प्राप्ति ही है। श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ धन हैं, जिसने श्री हरि को भुला दिया वही सबसे बड़ा निर्धन है, जिसके हृदय में सदा हरिस्मृति जाग्रत है, वही सबसे श्रेष्ठ धनवान है। भोग्य वस्तुओं का न मिलना, इस नाशवान् शरीर में नाना रोग, विविध पीड़ाओं का होना, अनित्य सम्बन्ध वाले, स्वजन कहलाने वाले पुरुषों का वियोग होना, ये सब विपत्ति नहीं हैं। सबसे बड़ी विपत्ति तो यह है, कि हृदय से श्री हरि के पाद पद्मों का विस्मरण हो जाना। जिसके पास नारायण स्मृति रूपी सम्पत्ति है, वह निर्धन होने पर भी धनी है, नीच होने पर भी श्रेष्ठ है, छोटा होने पर भी ज्येष्ठ है। जो नारायण स्मृति से शून्य है, धनी भी निर्धन है, भाग्यशाली भी अभागा है, ऐश्वर्य शाली होने पर भी दरिद्र है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्माजी ने वामन भगवान् से बलि को छोड़ देने के लिये प्रार्थना की, तब भगवान् ने कहा—"ब्रह्मन्! बलि को मैं कष्ट नहीं दे रहा हूँ, उसके ऊपर कृपा कर रहा हूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भगवन्! ऐसी क्या कृपा? आपने इसका सर्वस्व अपहरण कर लिया है, तीनों लोकों का राज्य छीन लिया है, छल से वामन बनकर दान माँगा और विराट् बन कर दान की पृथ्वी को नापा। तिस पर भी आपने इन यशस्वी असुराधिपको वरुण पाश में बाँध लिया है, सब के सम्मुख भरी सभा में अपमान कर रहे हैं, इससे अधिक कष्ट और क्या होगा।"

इस पर भगवान् बोले—"ब्रह्मन्! धन ऐसी प्रबल माया

है, कि मनुष्य धन के मद में होकर सब लोगों का यहाँ तक कि मेरा भी अपमान करता है। लक्ष्मीवान् पुरुष नारायण को भी कुछ नहीं समझते। धनी पुरुष कभी किसी से प्रेम नहीं कर सकता। जिसका इन सोने चाँदी तथा कागज के जड़ टुकड़ों से मोह है, चैतन्य से कैसे प्रेम कर सकता है। उसका प्रेम स्वार्थ का होता है। वह धन को सर्वस्व समझता है, इसीलिये निर्धनों का सदा अपमान करता है।"

इसपर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! लक्ष्मी जी तो श्रीमन्नारायण की सहचरी हैं; जिन भाग्यवानों के समीप लक्ष्मी हैं; वे ऐसे क्रूर क्यों हो जाते हैं? वे भगवान् की अवहेलना क्यों करते हैं?"

यह सुनकर सूतजी गंभीर होगये और बोले—"भगवन! लक्ष्मी जी के दो स्वरूप हैं एक विष्णुवल्लभा रूप है, जो स्वयं साक्षात् अपने चैतन्य रूप से श्रीहरि के वक्षःस्थल में क्रीड़ा करती रहती हैं, एक उनका धन रूप है जो जड़ रूप से संसार में व्याप्त है इस धन के रूप में रहने वाली लक्ष्मी में बड़ा मद है, अत्यधिक आकर्षण है। संसार में चार काम अत्यन्त निन्दित बताये हैं। अधर्मपूर्वक द्यूत, अधर्म पूर्वक सुरापान, अधर्म पूर्वक मैथुन और अधर्म पूर्वक हिंसा। इन चारोंसे बढ़ कर कोई पाप नहीं। जूए में कोई विशेष दोष नहीं है, किन्तु इसमें एक बड़ा दोष है, कि जुआरी सत्य का पालन नहीं कर सकता। उसे झूठ बोलना ही पड़ेगा। असत्य ही सब पापों का मूल है। सुरापान में एक ही दोष है उससे मद होता है, मनुष्य मदिरा के मद में अंड संड बकता रहता है। अपने आपेको भूल जाता है। मैथुन में यही सबसे बड़ा दोष है, कि उससे काम तृष्णा अधिक बढ़ती है तृप्ति नहीं होती.

उपभोग से अधिकाधिक इच्छा प्रबल होती जाती है। शरीर को पुष्ट करने से, माँस के लिये प्राणियों का वध करने कराने से रजोगुण बढ़ता है। मांसाहारी पुरुष सात्विक नहीं रह सकता।

द्यूत, मदिरापान, कामिनी सेवन और हिंसा इन चारों व्यसनों में क्रम से झूठ, मद, काम, और रजोगुण ये एक एक दोष हैं, किन्तु ये चारों दोष एकत्रित धन में हैं इन चारों से भी एक अधिक सब से बड़ा दोष धन में और है, वह यह कि धनी पुरुष मन ही मन सब पर संदेह करता है, लोग भी उससे वैर करने लगते हैं।

धनी पुरुष धनको एकत्रित करने में सत्य की रक्षा नहीं कर सकता। उसका उद्देश्य तो धनोपार्जन है, यदि असत्य बोलकर धन मिल जाय, तो वह असत्य भाषण में कभी न चूकेगा। लक्ष्मी का विशेष वास व्यापार मे और व्यापार को कहा है "सत्यानृत" अर्थात् जिसमें सत्य झूठ दोनों ही छिपे रहें। व्यापारियों में कोई विरला ही सत्यवादी मिलेगा। इसी प्रकार धनी पुरुष प्रायः सुरापी कामी और हिंसक होते हैं। वे किसी से हृदय खोलकर प्रेम नहीं कर सकते। उनके प्रेम में स्वार्थ छिपा रहेगा, उनके दान में कीर्ति की वासना छिपी रहेगी, यह भावना भी रहेगी, कि इस मेरे दान को १० आदमी जाने, जिससे मेरा व्यपार बढ़े। उनका दान विज्ञापन के लिये है। साधु पुरुषों के समीप भी जायँगे, तो इसी आशा से कि एक रुपये के फल चढ़ादें, हमें लाख रुपये मिल जायँ। इतने दिन के साधु के किए जप तप को पैर छूकर-एक दिन भोजन कराकर ले लें। उनकी श्रद्धा उन्हीं

साधुओं पर होगी, जो पैसा न लेते होंगे। केवल पैर छूने पर ही धन धान्य, पुत्र पौत्रों का आशीर्वाद दे दें। उनके सम्मुख जाकर वे अपनी उदारता प्रकट करते हैं।

एक महात्मा थे, वे किसी से कुछ लेते नहीं थे, जो कुछ कोई चढ़ाता, उसे वे उसी को लौटा देते। एक दिन एक सेठ जी आये। उन्होंने सोचा—"महात्मा जी कुछ लेते तो हैं ही नहीं। लौटा देते हैं, फिर क्यों नहीं मैं अपनी उदारता प्रकट करदूँ।" यह सोचकर उन्होंने दश सहस्र रुपये की थैली महात्मा जी को भेंट की। भेंट करते ही वे इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि महात्मा जी कहदें—"अरे, भाई! यह क्या करते हो उठा लो इसे, हम क्या करेंगे।" किन्तु आज महात्मा जी तो बोले ही नहीं। सेठ जी ने कई बार संकेत किया "महाराज दास की तुच्छ भेंट स्वीकार की जाय।" कुछ काल चुप रहकर महात्मा जी अपने शिष्य से बोले—"गोपाल दास! भैया, इस थैली को उठाकर कुटिया में रखो, कल साधु महात्माओं के भंडारे के काम आवेगी।" सेठ जी पर मानों १०० घड़ा पानी पड़ गया हो। अकबका कर बोले—"महाराज, महाराज, मैंने तो सुना है आप रुपया पैसा स्पर्श नहीं करते, जो लाता है उसे ही लौटा देते हैं।"

हँसकर महात्मा बोले—"अरे, भाई! मैं स्पर्श कहाँ कर रहा हूँ। स्पर्श न करने का नियम मेरा है। गोपाल दास का नियम तो है नहीं। स्पर्श तो गोपाल दास कर रहा है। रही लौटाने की बात? सो कोई धेला पैसा रुपया दो रुपया चढ़ाता है उसे लौटा देते हैं। दश हजार किसी ने

चढ़ाये हों नहीं। बड़ी रकम के लिये यह नियम नहीं है।" इतना कह कर महात्मा हँसने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ये धनी एक पैसा देंगे तो उससे एक लाख की आशा रखेंगे। मनुष्यों से ही यह आशा रखते हों, सो बात नहीं। देवताओं को भी ठगते हैं। अपने लिये पान सुपारी लानी होगी। सुन्दर से सुन्दर चिकनी देख कर सुपारी लावेंगे। नामी बहुमूल्य पान खोज कर लावेंगे। देव पूजन के लिये आवश्यकता होगी, तो पंसारी से कह देंगे पूजा के लिये सुपारी चाहिये। यह कहकर सब से छोटी छोटी सड़ी सड़ी सुपारी छांटेंगे और उन्हें ही लावेंगे। एक सुपारी चढ़ा कर प्रार्थना करेंगे 'इस पुंगी फल से मेरी समस्त स्त्री, पुत्र, धन, धान्य की कामनायें इसी जन्म में नहीं, जितने भी मेरे जन्म हों सभी में पूरी होती रहें।' आप ही सोचिये; भगवान् से कितना सस्ता सौदा करते हैं। इनकी सब श्रद्धा स्वार्थ से भरी हुई होगी। जिसके पास तनिक भी चमत्कार देखेंगे, उसी को नमस्कार करेंगे, अन्य को सूखी प्रणाम भी न करेंगे। साधु की पूजा तभी तक है जब तक अपने स्वार्थ में व्याघात नहीं होता। जहाँ कोई दूसरा चमत्कारी दिखाई दिया कि साधु के गुरु बन जायँगे। "बहता पानी रमता जोगी" अच्छा होता है मुनियो! इस विषय में मैं आपको एक अत्यन्त ही मनोरंजक दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक सेठ जी थे सेठ जी। बड़े धर्मात्मा। कोठी चल रही है व्यापार हो रहे हैं। सभी नगरों में आढ़त है, बड़े दानी बड़े धर्मात्मा। उनके दान धर्म की सर्वत्र ख्याति हो रही है।

एक दिन हँसी-हँसी में लक्ष्मी जी ने श्री नारायण से कहा—"महाराज ! आप बड़े हैं या मैं बड़ी ? अब भगवान् तो जानते ही थे पुरुष से स्त्री बड़ी होती है किन्तु जब बच्चे को चिढ़ाना होता है तो उससे विपरीत बातें बोलते हैं भगवान् बोले—"हम बड़े हैं तुम कैसे बड़ी हो सकती हो ?"

अब तो लक्ष्मी जी अड़ गई—"महाराज ! आप कैसे बड़े बड़ी तो मैं हूँ, मेरे बिना आपको कौन पूछता है। आपकी तभी तक पूजा है जब तक मेरी प्राप्ति नहीं होती। जहाँ मैं आई, कि फिर आप को एक दल तुलसी भी चढ़ाना कठिन होता है।

भगवान् ने कहा—"संसार में तो सब हमारा ही भजन करते हैं। तुम्हारे तो वाहन का नाम लेकर ही लोग कह देते हैं—"यह उल्लू है।"

लक्ष्मी तुनक कर बोली—"देखिये, महाराज ऊपर से चाहे भजन तुम्हारा ही करें, मन से चिन्तन लोग मेरा ही करते हैं। नाम चाहे तुम्हारा ही लें रूप मेरा ही उनके नेत्रों में नाचता रहता है। ये जितने जटाधारी लटाधारी, त्यागी, विरागी, ब्रह्मचारी, मठाधारी, आचारी, श्वेताम्बर तथा दिगम्बर हैं सब मेरीमुट्ठी में हैं। जहाँ खन्न से शब्द कान में पड़ा तहाँ जप तप ध्यान सब भूल जाता है। टका देखते ही टकटकी लग जाती है। भक्त ध्यान मेरा करते हैं। कहो तो तुम्हें प्रत्यक्ष करके दिखा दूँ।"

भगवान् पर कुछ काम धंधा तो है ही नहीं। नित नई लीला रचना लक्ष्मी जी के साथ कमनीय क्रीड़ा करते रहना यही उनका व्यापार है। बोले—"अच्छी बात है। चलो, देखें

लोग तुम्हारी पूजा करते हैं या हमारी। यह कहकर दोनों पति-पत्नी वेष बना कर चले।

भगवान् ने एक वृद्ध ब्राह्मण का बड़ा सुन्दर रूप बनाया। पोथी पत्रा बगल में दाब उन्हीं धर्मात्मा सेठ जी की कोठी पर पहुँचे। विद्वान् वृद्ध ब्राह्मण को देखकर सेठ जी ने उनका बड़ा आदर किया। विधिवत् पूजा की और कुछ दिन ठहरने की प्रार्थना की। पंडित जी महाराज ज्योतिष भी बताते थे और शाम को कथा भी कहते थे। उनका स्वर इतना सुरीला था, कि श्रोता मन्त्र मुग्ध की भांति उनके मुख कमल से निसृत दिव्य कथामृत का रस पान करते करते कभी तृप्त ही नहीं होते थे। सेठ जी की भी पंडित जी पर बड़ी श्रद्धा हो गई। सब लोग पंडित जी के वश में हो गये।

लक्ष्मी जी ने देखा कि भगवान् ने तो सेठ को वश में कर रखा है, उसी समय एक योगिनी का वेश धारण करके वे भी नगर में घूमती घूमती सेठ जी के यहां पहुँची। योगिनी का इतना सुन्दर आकर्षक रूप था, कि जो देखता था, वह देखता का देखता ही रह जाता था। काली काली घुंघराली लटें लटक रही थीं गेरुए वस्त्र की वे गाती लगाये हुए थीं। जिसमें से उनके दिव्य अंग की आभा फूट फूट कर बाहर निकल रही थी चंपा और सुवर्ण के समान अंगपर भस्म लिपटी अत्यंत ही शोभा पा रही थी। कंठ में रुद्राक्ष की माला, हाथ में सुमिरनी, बगल में झोली और मस्तक पर सुन्दर तिलक शोभा दे रहा था जब वे पलकों को बन्द करके 'अलख अलख' पुकारतीं, तो ऐसी लगती मानों साक्षात् तपस्या ही शरीर धारण करके आगई हो। अथवा शोभा ही सजीव होकर भ्रमण कर रही हो। किसी ने सेठजी से

कहा—"एक बड़ी भारी योगिनी आई है।" सुनते ही सेठ जी दौड़े आये। प्रणाम किया। और कुछ सेवा के लिये प्रार्थना की।

योगिनी महारानी कुछ काल तो मौन रही और फिर बोली—"मैं तनिक जल पीना चाहती हूँ।" सेठजी ने तुरन्त एक चाँदी के पात्र में गङ्गाजल मंगाया।"

योगिनीजी ने अपनी झोली से एक जलपात्र निकाला वह शुद्ध सुवर्ण का था, उसमे बहुत से मणिमुक्ता जड़े हुए थे। उसे निकाल कर बोलीं—"सेठजी ! मैं किसी गृहस्थी के पात्र को व्यवहार में नहीं लाती। इसी पात्र में मुझे जल दे दो।"

सेठजी ने तुरंत उनके पात्र में जल दे दिया। जल पीकर योगिनीजी ने पात्र वहीं फेंक दिया। उस पात्र की रचना और मणि मुक्ताओं की चमक दमक से सेठजी तो मन्त्र मुग्ध की भाँति हो गये। उन्होंने कहा—"माताजी ! इस अपने पात्र को आप अपनी झोली में रखले।"

उपेक्षा के स्वर में योगिनी ने कहा—"मै जिस पात्र से एक बार जल पी लेती हूँ, उसे फिर नहीं छूती।"

यह सुनकर तो सेठजी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा अत्यंत ही आग्रह के साथ कहा—"माताजी ! भोजन का समय हो गया है, जितनी भी रुचि हो, कुछ भोजन अवश्य करलें।"

सेठजी का बहुत आग्रह देखकर योगिनीजी को स्वीकार करना ही पड़ा।

सेठजी स्वयं गये अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाकर स्वयं लाये। योगिनीजी को एक दिव्य आसन पर बिठाया गया,

उन्होंने अपनी झोली में से सुवर्ण के थाल कटोरे पानी पीने के पात्र निकाले। सेठजी ने बड़े उल्लास के साथ उन पात्रों में परोसा योगिनीजी भोजन करने लगीं। वे इस प्रकार शनैः शनैः भोजन कर रही थीं जिस प्रकार नया दुलहा ससुराल में लजाते हुए चींग चींगकर चिड़िया की भाँति खाता है। कथा का समय हो गया था। सेठ जी के पास कई बार बुलावा आ गया था। किन्तु योगिनी को छोड़कर कैसे जायँ। उन्होंने सेवक से संदेश भिजवा दिया—"पंडित जी से कह देना। आज अभी कथा न होगी। जब होनी होगी मैं संदेश भेजूँगा। यदि संदेश न भेजूँ तो आज कथा बन्द ही समझना। अब मेरे पास कथा का संदेश लेकर कोई न आवे।" सेवक ने जाकर पंडितजी से कह दिया। पंडित जी तो समझ ही गये, कि सेठजी उलूक वाहिनी के चक्कर में फँसगये।

इधर योगिनी जी ने भोजन किया और सेठजी से कहा—"इन पात्रों को उठा लेजा।"

सेठजी ने ऊपर के मन से कहा—"माताजी! हम आपके पात्रों को कैसे ले सकते हैं?"

योगिनी जी बोलीं—'मेरा तो नियम ही ऐसा है जिन पात्रों में एक बार खा-पी लिया, फिर वे मेरे किसी काम के नहीं रहते। अब तुम जानों तुम्हारा काम जाने।"

यह सुनकर भक्तिपूर्वक सेठजी बोले—"अच्छी बात है, आपका प्रसाद ही रहेगा। महात्माओं का प्रसाद भी तो बड़े भाग्य से मिलता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब किसी को कोई वस्तु साधु से ठगनी होती है, तो वह प्रसाद की ही आड़ में सब कुछ

ले लेता है। सेठजी के तो हर्ष का ठिकाना ही नहीं रहा, वे सोचने लगे—"यदि यह योगिनी १०।५ दिन भी रह जाय, तब तो, फिर मेरे धन का ठिकाना ही न रहे।" यह सोच कर वे बड़ी नम्रता से बोले—"माता जी! कुछ दिन इस सेवक पर भी कृपा हो, इस घर को भी अपनी पवित्र पदरज से पावन बनाया जाय।

योगिनी जी ने कुछ आँखे चढ़ाईं ध्यान किया फिर निस्पृहता के स्वर में बोलीं—"सेठजी! हम तो ठहरीं रमते राम। आज यहाँ कल वहाँ। हम स्थिर कहीं रहती नहीं। फिर भी किसी भक्त को देखती हैं, वहाँ १०-५ दिन टिक भी जाती हैं।"

सेठजी ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"दास को भी कृतार्थ किया जावे माताजी!"

योगिनीजी उपेक्षा के साथ बोलीं—"भैया! मेरे रहने में बड़े झंझट हैं। मैं सब स्थानों पर तो रह नहीं सकती। स्थान स्वच्छ चाहिये। एकान्त चाहिये कोई आस पास न रहे।"

अत्यंत ही हर्ष के साथ सेठजी बोले—"माताजी! यह इतना बड़ा भवन आपका है, इसमें जो भी स्थान आपके अनुकूल हो, वहीं मैं आपके विश्राम का प्रबन्ध कर दूँ, यहाँ अनुकूल न हो, तो नगर के बाहर मेरी एक वाटिका है, वहां सब प्रबन्ध हो जायगा। पहिले यहाँ सब देख लें।"

योगिनीजी सहमत हो गईं, वे सेठजी के साथ सभी स्थानों को देखने चलीं। अच्छे से अच्छे भवन सुन्दर से सुन्दर जो स्थान थे, सभी योगिनीजी को दिखाये। कोई भी उनके

चित्त पर न चढ़ा। दिखाते-दिखाते सेठजी वहाँ ले गये जहाँ पंडित जी ठहरे थे। योगिनीजी ने पंडितजी को देखा। आँखों ही आँखों में बातें हो गईं। मन ही मन मुस्कराती हुई योगिनी जी सेठ से बोलीं—"हाँ, यह स्थान तो कुछ अच्छा है। यहाँ तो मैं रह सकती हूँ।"

अत्यन्त ही प्रसन्नता के साथ सेठजी ने कहा—"यह मेरा अहोभाग्य है। माताजी! मेरा सर्वस्व आपका है।"

योगिनी बोलीं—"यहाँ कोई दूसरा तो नहीं रहता, यह बूढ़ा-सा तिलक धारी कौन है?"

शीघ्रता से सेठजी बोले—"माताजी! ये बड़े भारी पंडित हैं, एक कुटी में ये भी पड़े रहेंगे।"

अधिकार के स्वर में योगिनीजी ने कहा—"पड़े कैसे रहेंगे। कोई धर्मशाला है मुझे पंडित फंडित से क्या लेना। यहाँ रहेगा खों खों करेगा! यह रहेगा, तो मैं नहीं रह सकती।"

सेठजी ने घबरा कर कहा—"नहीं, नहीं, माताजी! ऐसी कोई बात नहीं। पंडितजी की क्या बात है, वे किसी अन्य स्थान में चले जायँगे।"

अपनी बात पर बल देती हुई योगिनीजी बोलीं—"चले कब जायँगे। शीघ्रता करो, अविलम्ब स्थान को रिक्त कराओ।"

सेठजी ने सरलता और दृढ़ता के साथ कहा—पंडितजी! आप नीचे के किसी कोठरी में चले जायँ।"

पंडितजी ने कहा—"न, भैया! हम तो इस स्थान को छोड़ेंगे नहीं।"

बीच में ही योगिनी जी बोलीं—"अच्छी बात है सेठजी। मैं तो चली।"

धनिक धनके पीछे प्रभु का भी अपमान करता है

दीनता के स्वर में सेठजी ने कहा—"नहीं नहीं, माताजी !

आप कोई चिन्ता न करें मैं अभी सब प्रबन्ध करता हूँ।" यह

कहकर वे पंडितजी से अधिकार के स्वर में बोले—"महाराज आप बड़े हठी हैं, नीचे चले जायँगे तो आपका क्या बिगड़ जायगा ?"

पंडितजी ने योगिनी की ओर देखकर दृढ़ता के साथ कहा—"हम पहले ही यहाँ ठहरे हैं, यह हमारा बड़ा अपमान है कि एक स्त्री के पीछे तुम हमारा तिरस्कार कर रहे हो। हम नहीं जा सकते। ये चाहें रहें या जायँ।"

सेठजी को तो अब क्रोध आ गया। धनी का स्वभाव ही है। उन्होंने नौकरों से कहा—"इस बामन के सब सामान को उठाकर फेंक दो और इसे धक्का देकर बाहर निकाल दो।

नौकरों ने ऐसा ही किया। पंडितजी के टाट कमंडलु उठाकर फेंक दिये गये। और धक्के देकर नीचे कर दिये गये। अपना सा मुँह लेकर पंडित महाराज चले गये।

कुछ क्षणों के पश्चात् लक्ष्मीजी इधर उधर से घूमकर भगवान् के पास पहुँचीं और बोलीं—"कहो, महाराज जी! देख ली आपने अपने भक्त की भक्ति।"

हँसकर भगवान् बोले—"यह हमारा भक्त थोड़े ही था।" भक्त तो था तुम्हारा। तुम्हारा भक्त होकर भी इसकी धर्म में बुद्धि थी, दान पुण्य करता था इसी दान पुण्य के प्रभाव से मेरे इसे दर्शन हो गये।"

लक्ष्मीजी ने गर्व के साथ कहा—"देखो, महाराज! तभी तक भक्ति फक्ति है, जब तक मैं नहीं पहुँचती। जहाँ मैं पहुँची, कि फिर आपको कोई नहीं पूछता।"

भगवान् ने गम्भीर होकर कहा—"नहीं देवीजी ! आपका यह भ्रम है हमारे यथार्थ भक्त तो अकेली आपसे बात भी नहीं करते। हमारे साथ चली जाओ, तो दूसरी बात है।"

लक्ष्मीजी ने शीघ्रता के साथ कहा—'अच्छी बात है, ऐसा कोई भक्त हो तो दिखाइये। मैं तो समझती हूँ, ऐसा कोई भक्त न होगा।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है चलो तुम्हें दिखावें। यह कहकर भगवान् उन्हें एक वन में ले गये। एक सुन्दर आश्रम था। लिपा पुता स्वच्छ। उसमें सुन्दर-सुन्दर फल और फूलों के वृक्ष लग रहे थे। एक वानप्रस्थी अपनी धर्मपत्नी के साथ उसमें रहते थे। तुलसी का एक छोटा सा कानन लगा हुआ था। एक फूँस की कुटी थी। भगवान् सालग्राम की पूजा एक चबूतरे पर होती थी, वानप्रस्थी जी नित्यकर्म से निवृत्त होकर वन में जाते, कंदमूल फल ले आते। भगवान् का भोग लगाकर राम-राम रटते रहते।

योगिनी जी इनके यहाँ भी पहुँचीं और जाकर बोलीं—"साधुजी ! हमें आप रहने के लिये स्थान देंगे ?

साधुजी ने कहा—"माताजी ! मैं अकेली स्त्री को तो अपनी कुटी में स्थान दे नहीं सकता। आपके पति होते तो कोई बात नहीं थी। आप नगर में चली जायँ।"

योगिनी ने कहा—"अब इस समय मैं कहाँ जाऊँगी रात्रि भर रहने को मुझे स्थान दे दो।

वानप्रस्थी जी ने कहा—"अच्छी बात है, उस पेड़ के नीचे रहो।"

योगिनी उस पेड़ के नीचे चली गई। वानप्रस्थीजी की पत्नी उन्हें कुछ कन्दमूल फल दे आई। उस योगिनी ने उससे कहा—"देवीजी! आप यहाँ वन में इतने कष्ट से क्यों हैं। आपको जितने द्रव्य की आवश्यकता हो, वह मुझसे ले लें।"

देवी ने कहा—"माताजी! आप ऐसी बात फिर मुझसे कभी न कहें। मेरे धन सर्वस्व तो ये मेरे परमेश्वररूप पति हैं। इनके रहते हुए मुझे किस वस्तु की आवश्यकता है।" यह कहकर कन्दमूल फल देकर वे चली गईं।

प्रातः योगिनी चली गई, किन्तु वहाँ वे रत्न मोतियों का एक ढेर छोड़ गईं आश्रम में झाड़ू देते हुए जब वानप्रस्थीजी की पत्नी वहाँ पहुँचीं, तो उन्होंने अन्य कूड़े के साथ उन सबको भी बाहर फेंक दिया।"

इस प्रकार वह योगिनी कई बार आई और रत्न मोती हार आदि छोड़ गई और वानप्रस्थी पत्नी ने उन सबको बाहर फेंक दिया। जब कई बार ऐसा हुआ, तो वे डाँटकर बोलीं—"देवी जी! देखिये, आप यहाँ आती हैं और कूड़ा करकट फैला जाती हैं। अब यहाँ न आइये नहीं तो फिर आपका हम अपमान करेंगे। यह सुनकर लक्ष्मीजी अपना सा मुँह बना कर वहाँ से चल दीं। तब भगवान् ने कहा—"देवि! देख लो, तुमने मेरे भक्तों की निस्पृहता। मेरे बिना, राज्य, स्वर्ग, धन वैभव यहाँ तक कि वे मुक्ति को भी नहीं चाहते। जो केवल तुम्हारे ही भक्त हैं, वे धन के मद में मत्त होकर अन्य लोगों का भी अपमान करते हैं और मेरा भी। देखो, जब तक उस सेठ का मनोरञ्जन होता रहा, तब तक तो उसने मुझे रखा। जहाँ उसे अपने स्वार्थ में व्याघात प्रतीत हुआ, कि वहाँ उसने धक्का

देकर मुझे निकाल दिया। इसीलिये जिसे मैं अपनाता हूँ, उसका पहिले सर्वस्व हर लेता हूँ।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर लक्ष्मीजी समझ गईं कि मैं तो भगवान् की चेरी हूँ, मेरी जो इतना जगत् में प्रभाव है, वह धन लोलुप अज्ञों में ही है या जो पठित मूर्ख हैं भगवान् भक्त तो मुझे भगवान् के नाते ही पूजते हैं। भगवान् के सम्बन्ध से ही मुझे चाहते हैं।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी, भगवान् अपने भक्त का सर्वस्व क्यों हरण करते हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज! इस विषय को मैं आपको समझाता हूँ आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

विधि के सुनिकैं बचन कहैं हरि हँसि के बानी।
ब्रह्मन्? तुम सर्वज्ञ वेदवित् पंडित ज्ञानी॥
जन्म कर्म ऐश्वर्य अवस्था अरु सुन्दर तन।
विद्या धन ये सबहिँ प्रशंसित जगमें हैं गुन॥
इन सब मह मद रहतु है, धनमद अति ही प्रबलतम।
धनमद मह उनमत्त नर, नेत्र सहित हू अंध सम॥

भक्त का सर्वस्व हरि हरण क्यों करते हैं?

(५७८)

यस्याहं मनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८८ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

अपने आगे धनी गनहि नहिं काहू जन कूँ ।
बढ़ै लाभ तैं लोभ पाप करि जोरे धनकूँ ॥
तातैं जापै कृपा करहुँ ही सब मदहारी ।
नासूं धन ऐश्वर्य बनाऊँ ताहि भिखारी ॥
धन, पशु, पुत्र कलत्र जे, करैं विघ्न हरि भजन महँ ।
देखि सकहुँ नहिं तिनहिं हौं, नासि लेहुँ निज शरन महँ ॥

मन एक ही है, इससे चाहें विषय कमा लो या हरि को रिझा लो। संसार के जितने विषय हैं, उनका उपयोग इतना

---

* श्री भगवान् धर्मराज युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! जिसे मैं अपनाता हूँ उसका शनैः शनैः सब धन हरण कर लेता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तो उसके स्वजन कुटुम्बी उसे दुःखों से दुखी देख कर उसका परित्याग कर देते हैं।

ही है, कि वे प्रभु सेवा के साधन हैं। पुष्प इसलिये सुन्दर नहीं है, कि वे हमारी घ्राणेन्द्रिय को क्षण भर को गन्ध प्रदान करके सुख पहुँचाते हैं। वे इसीलिये सुखद हैं, कि उनका उपयोग प्रभु सेवा में होता है। इसी प्रकार समस्त संसार के पदार्थों के लिये है। मिष्ठान्न पदार्थ इसीलिये श्रेष्ठ हैं, कि उनका भगवान् को नैवेद्य लगता है। घोड़ा मार्ग में इसीलिये सुखकर है, कि उस पर चढ़कर यात्रा सुख पूर्वक की जा सकती है। जिस घोड़े को स्वयं हमें पीठ पर लादना पड़े, स्वयं ढोना पड़े, वह तो दुख देने वाला है। मोह वश ही हम उसके बोझे को ढो रहे हैं। धन का एक मात्र उपयोग है, यह भगवान् के मङ्गलमय उत्सवों में लगे। भगवान् की महती पूजा हो, असंख्यों नरनारी प्रसाद पावें भगवान् के नाम का कीर्तन हो, सुन्दर सुन्दर सुमधुर कथायें हों। भगवान की मधुमय लीलाओं का धूमधाम से अनुकरण हो, सब लोग प्रसन्न हों, गौ ब्राह्मणों का पूजन हो, नित्य धूमधाम रहे, आगत अतिथि अभ्यागतों का उत्साह के साथ स्वागत सत्कार हो। यदि धन को एक मात्र भगवान् का ही समझ कर उन्हीं की सेवा में व्यय किया जाय, तब तो वह सुन्दर है, सुखद है, किन्तु ऐसा न करके जो केवल धन को जोड़ना ही जानते हैं, उसे दान धर्म में लगाना, भगवान् सम्बन्धी सेवाओं में व्यय करना नहीं जानते वे तो केवल भरवाही हैं उनका धन उनके लिये विघ्न है। भगवान् अपने भक्तों से कुछ कार्य कराना चाहते हैं, तो उन्हें धन ऐश्वर्य देते हैं। फिर उनका धन से महत्व हटाने के लिये सर्वस्व अपहरण कर लेते हैं। यदि अपहरण किये जाने पर भी जिसे किसी प्रकार की चिन्ता क्लेश होती नहीं, इसमें भी अपने स्वामी की कृपा का अनुभव करता

है, तो भगवान् उसे फिर आवश्यक समझते हैं, तो उसके मोह को दूर करके उसे फिर धन दे देते हैं। इसीलिये भगवान् भक्त के धन का अपहरण करें या उसके बन्धु बान्धवों का नाश करदें, तो इसे उनकी कृपा ही समझनी चाहिये। क्योंकि भगवान के समस्त विधानों में मङ्गल ही निहित है। शिव के कार्य अशिव कैसे हो सकते हैं?

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पूछा कि भगवान् अपने भक्त का सर्वस्व क्यों हरण करते, हैं इसे इतना कष्ट क्यों देते हैं? इसका मैं उत्तर देता हूँ आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें। ऋषियो! सुवर्ण को ही बार बार अग्नि में तपाया जाता है। उत्तीर्ण होने की इच्छा वाले की ही परीक्षा ली जाती है। उसी प्रकार भक्त को ही आर्थिक कष्ट देकर उसके चित्त को विषयों से मोड़ अपनी ओर भगवान् लगाते हैं। भक्त का यदि भगवान् की अपेक्षा धन में मोह है, तो श्रीहरि उस धन को हर लेते है, यदि ऐश्वर्य का गर्व है, तो उसके ऐश्वर्य का नाश करके गर्व को खर्व कर देते हैं, किसी को अपने दान, सम्मान का अभिमान है, तो अच्युत स्वयं ही उसके अभिमान को चकनाचूर कर देते हैं। इस विषय में मैं आप को एक अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त सुनाता हूँ। आप उसे दत्तचित होकर श्रवण करें।

एक बार लक्ष्मीजी ने—"भगवान् से कहा—"प्रभु! आप अपने भक्तों को धनी क्यों नहीं बनाते।"

भगवान ने कहा—"हमारे भक्त इन सोने चाँदी के ठीकरों से धनी नहीं होते, उनका धन तो मेरे चरणों की भक्ति है। यदि वे धन के माया जालमें फँस जाय, तो मेरा भजन भी भूल जायँ।"

लक्ष्मीजी ने कहा—"महाराज ! जब घर में यथेष्ट धन-धान्य होता है तभी दान देने की इच्छा होती है, तभी उदारता सूझती है। जिसके पास कुछ है ही नहीं वह क्या दान करेगा, क्या धर्म करेगा।

भगवान् ने कहा—"धन पाकर कोई विरले ही धर्म करते हैं, नहीं तो प्रायः देखा गया है, जहाँ धन आया तहाँ लोभ बढ़ता है, धर्म कर्म से विमुख होकर या तो धन को इकट्ठा करने में लग जाते हैं, या विषयों में फँस जाते हैं। अच्छी बात है, तुम्हें किसी दिन यह लीला दिखावेंगे।

एक दिन भगवान् ने एक भिक्षुक वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाया। लक्ष्मी जी को भी बुढ़िया बना लिया और एक धनी के द्वार पर पहुँचे। उसके यहाँ सौ गौएँ थीं। जाकर घरवाली से बोले—"माता जी ! हम बूढ़े हैं, निर्बल हैं, बड़े भूखे हैं स्वास्थ भी अच्छा नहीं हैं, तनिक सा दूध हमें दे दो।"

यह सुनते ही घर की स्वामिनी तो आग बबूला हो गई। क्रुद्ध होकर बोली—"तुम दोनों घर घर भीख माँगते इधर से उधर मारे मारे घूम रहे हो। कुछ काम धंधा तो करते नहीं। काम क्यों करो, जब बिना परिश्रम के ही माल मिल जायँ, कहावत है—

करै चाकरी आवै चोट।
सबसे भले भीख के रोट॥

माँगते तो हो भीख, और जीभ को वश में नहीं किया। मन चाहता है दूध मलाई उड़ावें। मानों दूध पानी है। चले हैं दूध माँगने। भाग जाओ यहाँ से।"

ब्राह्मण हठी थे—बोले—"माताजी ! कुछ तो दे दीजिये, बिना खाये चला नहीं जाता।"

घर की स्वामिनी बोली—"छटांक आध पाव मठा कहो तो मैं दे दूँगी।"

भगवान् ने कहा—"लाओ, मठा ही दे दो।"

तब उसने तनिक सा मठा दे दिया। भगवान पी गये और बोले—"माता जी, तुम्हारी बहुत बढ़ती हो, सहस्र गौयें हो जायँ।" यह कहकर भगवान् वहाँ से चल दिये। चलते चलते एक निर्धन ब्राह्मण के यहाँ पहुँचे।

उन निर्धन ब्राह्मण का घर गाँव से बाहर था। एक वे थे एक उनकी पत्नी, एक छोटा सा बच्चा भी था। घर के सम्मुख एक गौ बँध रही थी। भगवान् ने जा कर कहा—"हम बूढ़े हैं, हमें कुछ दूध दे दो।"

इतना सुनते ही ब्राह्मण ने उन्हें बैठने को आसन दिया, पैर धोये, और बड़ी नम्रता से बोले—"ब्रह्मन्! मेरी यह गौ आध सेर तीन पाव दूध देती है। वह काम में आ जाता है, सायंकाल तक आप विराजें। जितना दूध होगा, हम आपको अर्पण कर देंगे।"

ब्राह्मणी भीतर से ये बातें सुन रही थी, सुनते ही दौड़ी आई और बोली—"कुछ दूध बच्चे के लिये मैंने रख छोड़ा है। बच्चा तो नित्य पीता ही है, ये अतिथि कब कब आवेंगे। उस दूध को इन्हें दे दें।"

इतना सुनते ही ब्राह्मण उठा और दूध ले आया। आकर बोला—"ब्रह्मन्! गौ कम दूध देती है, मुझे दिनभर घास के लिये दौड़ना पड़ता है, तब कुछ दे देती है। इतना दूध है इसे अभी पी लें।" यह कहकर ब्राह्मण ने भगवान् को दूध दिया। भगवान् एक साँस में ही सब को चढ़ा गये, लक्ष्मी जी के लिये

एक बूँद भी नहीं छोड़ा। पीकर बोले—"भगवान् करे तुम्हारी यह गौ भी नष्ट हो जाय।"

यह कहकर भगवान् वहाँ से लाठी टेकते हुए चले गये। लक्ष्मी जी ने पूछा—"महाराज! जिसने आपको एक चुल्लू भी दूध नहीं दिया तनिक सा मट्ठा दिया उसे तो आपने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे एक सहस्र गौएँ हो जायँ और जिसने अपने पुत्र के पेट को काट कर अपना सर्वस्व दे दिया, उसे आपने शाप दे दिया कि तुम्हारी गौ नष्ट हो जाय। यह आप उलटा व्यवहार क्यों करते हैं? इस विषमता का क्या कारण है?"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"देखो, जिस पर मैं कृपा करता हूँ, पहिले तो उसका सर्वस्व अपहरण कर लेता हूँ। मनुष्य माया मोह में फँसकर मुझे भूल जाता है। वह अपने सम्मुख सब को तुच्छ समझता है। सब का अपमान करता है। दान धर्म में रुचि नहीं रहती। रात्रि दिन दस के बीस और बीस के तीस बनाने में ही लगा रहता है। ऐसे लोगों को मैं और सम्पत्ति देता हूँ। उस १०० गौ वाली के अभी जब १०० गौ हैं, तब मट्ठा दे भी देती है। जहाँ हजार हुईं, कि फिर इतना भी न देगी। इसलिये सहस्र गौ होने का उसे वरदान नहीं है शाप है। ये ब्राह्मण ब्राह्मणी दोनों मेरे भक्त हैं, मेरा भजन करते हैं। फिर भी इनके भजन में यह गौ कंटक है, गौ की चिन्ता न रहे तो ये मेरा और भी अधिक भजन करेंगे इसलिये गौ न रहने का इनके लिये शाप नहीं वरदान है।"

तब लक्ष्मी जी को विश्वास हो गया कि भगवान् अपने किसी किसी भक्त को जो दारिद्र्य का दुःख देते हैं। वह उसकी श्रद्धा बढ़ाने के लिये—उसके हित के लिये देते हैं। जो दरिद्रदीन हो जाता है, वह आशा भरी दृष्टि से सब की ओर देखता है। सब

का आदर करता है। धनी को गर्व हो जाता है, वह ऊपर सिर करके चलता है, सब का अपमान करता है। इसलिये भक्तों को निर्धन, भगवान् उनके कल्याण के ही लिये बनाते हैं। निर्धनता, भी उनकी दया का चिन्ह है।

इसपर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! तब तो सभी दरिद्री पुरुष पुण्यात्मा ही हुए। यदि निर्धनता से ही भजन होता तो ये सभी धन हीन पुरुष भगवद् भक्त होते, किन्तु देखने में तो ऐसा आता नहीं। दारिद्रय के दुःख से दुखी होकर लोग नाना पाप करते हैं। इसके विपरीत बहुत से धनी भी बड़े सदाचारी भगवद् भक्त अभिमान शून्य और निस्पृह देखे गये हैं। यह क्या बात है, कृपा करके हमारे इस सन्देह को दूर कीजिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! मैं इसका रहस्य आपको समझाऊँगा। आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

जे जन सब कुछ त्यागि शरन मेरी महँ आवैं।
ते तजि सब अभिमान निरन्तर मम गुन गावैं॥
जाति वरन अभिमान करैं नहिं धन महँ ममता।
परहित महँ नित निरत तजैं सब मद उद्धतता॥
त्यागि मान मद सबनि महँ, निरखैं श्री भगवान् हैं।
सब अनर्थ के मूल ये, मिथ्या ही अभिमान हैं॥

भगवद् कृपा का लक्षण।

(५७९)

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद्यस्य न भवेत्स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥

(श्री भा० ८ स्क० २२ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

माया मोहित जीव जगत महँ सुख दुख देखैं।
किन्तु भक्त सब माँहि निरन्तर मोकूं पेखैं ॥
हरि जस राखैं रहैं खवावैं जो सो खावैं।
राखैं जहँ रहि जायँ विष्णु बाँधे बँध जावैं ॥
ऐसी जिनकी मति सदा, कृपा प्रतीक्षा नित करहिँ।
परम अनुग्रह पात्र मम, ते भवसागर तैं तरहिँ ॥

अभिमान के अनेक कारण हैं। जिसे जो वस्तु भाग्यवश मिल गयी, उसे वह प्रभु प्रसाद न समझकर अज्ञानवश

श्री भगवान् ब्रह्माजी से कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! जन्म कर्म आयु, रूप, विद्या ऐश्वर्य तथा अन्य धन आदि अभिमान जनक वस्तु होने पर जिसे अभिमान न हो, तो यह मेरा उस प्राणी पर परम अनुग्रह है।

उसे अपनी समझता है और उसके लिये अभिमान करता है कि मेरे पास यह अद्भुत वस्तु है। किसी का जन्म श्रेष्ठ कुल में हो गया है तो वह उसी घमंड से फूला नहीं समाता। हम अमुक वंश के हैं। हमारे पूर्वज ऐसे वैसे थे, उसी मिथ्याभिमान में भरकर वह अन्य लोगों का तिरस्कार करता है। कोई अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप कर्म करता है, तो उसी अभिमान में चकनाचूर हो जाता है। सब से कहता फिरता है—"हम इतना जप करते हैं, ऐसे सदाचार से रहते हैं। अमुक तो बड़ा भ्रष्ट है। वह पंडित हुआ तो इससे क्या मेरे समान कर्म तो नहीं करता।" कोई युवक है, वह यौवन के मद में वृद्धों का तिरस्कार करता है। उनके पोपले मुख का अनुकरण करके खिल्ली उड़ाता है, अरे भाई हँसते क्यों हो, तुम्हें भी तो बूढ़ा होना है। कभी इस वृद्ध की भी तुम्हारी भाँति युवावस्था रही होगी। कोई अपने सौन्दर्य पर ही लट्टू है, कुरूपों से घृणा करता है। जो सुन्दर नहीं हैं उनकी निन्दा करता है। कोई अपनी विद्या के अभिमान में ही चूर है, अन्य लोगों को तृण के समान समझता है। कोई ऐश्वर्य पाकर ही मदान्ध बना हुआ है। सामने के पुरुषों को देखते हुए भी नहीं देखता। धनी अपने सम्मुख निर्धनों को तुच्छ समझता है, इसीलिये वह अपने से छोटों का अपमान करता है। यदि उत्तम कुल में जन्म, अच्छे अच्छे सत्कर्मों का आचरण, सुन्दर रोग रहित युवावस्था, भव्य आकृति, सफल विद्या, अपार ऐश्वर्य और यथेष्ट धन, इन सबके होने पर भी जिसे अभिमान न हो, उसके ऊपर भगवान् का सबसे अधिक अनुग्रह है।

शौनक जी के पूछने पर सूतजी ने कहा—"मुनियो! असत् पात्र को दान देने से मनुष्य अग्रिम जन्मों में दरिद्री होता है।

आप लोगों को तो अनुभव नहीं, दरिद्रता के कारण गृहस्थियों को कितने-कितने दुःख झेलने पड़ते हैं। जब पेट भरता नहीं तो मनुष्य इस पापी पेट के लिये बड़े से बड़े पाप करता है। पापों का फल नरक है ही, पाप करके पुरुष नरक में जाता है, नरक भोग कर फिर किसी अधम योनि में मनुष्य का जन्म होता है, वहाँ फिर पाप करता है, फिर नरक जाता है। इस प्रकार पुनः-पुनः दरिद्री होकर जन्मता है। पुनः पाप करता है, पुनः नरक जाता है। इस प्रकार यद्यपि दरिद्रता पाप का चिन्ह है, किन्तु पुण्य कार्यों के करते करते जो दरिद्रता आती हैं, वह परमपुण्य का फल है। जिस दरिद्रता में तृष्णा, असन्तोष, दुःख ग्लानि और अशान्ति है, वह दरिद्रता पाप मूलक है। जिस दरिद्रता में सन्तोष है, किसी प्रकार का दुःख नहीं, मन में ग्लानि नहीं और एक प्रकार का अपने सुकर्मों पर गर्व है आत्म शांति है ऐसी दरिद्रता तो परम पुण्य का फल है।

भगवान् के भक्तों के पास भी धन होता है, किन्तु वे धन को अपना नहीं समझते। वे तो अपने को वेतन भोगी मुनीम समझते हैं। जब उन्हें किसी प्रकार का धन पाकर मद हो जाता है तो मदहारी मधुसूदन उनके मद को मेटने को उन्हें दरिद्र बना देते हैं। भगवान् अपने भक्तों को दुःख का अनुभव कराकर विशुद्ध बना देते हैं। इस विषय में मैं आपको एक अत्यंत ही प्राचीन पौराणिक इतिहास सुनाता हूँ, उसे आप सब श्रद्धा के साथ श्रवण करें।

प्राचीन काल में एक बड़े ही धर्मात्मा चक्रवर्ती राजा थे। वे बड़े कुलीन थे, वंश परम्परा से उन्हें राजसिंहासन प्राप्त हुआ

था वे बड़े सदाचारी धर्मात्मा और दाननिष्ठ थे। जैसे राजा धर्मात्मा थे वैसी ही उनकी सती साध्वी, धर्म परायण, दयावती महारानी थीं। दोनों ही युवावस्थापन्न थे, किन्तु युवावस्था जन्य चंचलता अस्थिरता उनमें तनिक भी नहीं थी। राजा रानी दोनों ही बड़े सुन्दर थे। शची इन्द्र के समान, रति और कामदेव के समान उनकी जोड़ी थी। महाराज बड़े साधुसेवी और विद्वान् थे। धन ऐश्वर्य की तो उनके कमी थी ही नहीं। उनका कोष याचकों के लिये सदा खुला रहता था। उनका अटूट भंडार था। उनके यहाँ से कोई भी याचक निराश होकर नहीं लौटता था। जो जिस बात की इच्छा करता, उसे वह वस्तु तुरन्त दी जाती। राजा के ऐसे गुणों के कारण उनकी ख्याति स्वर्ग तक फैल गई। इन्द्र भी उनके यश को सुनकर उनसे ईर्ष्या करने लगे।

एक बार उनके धैर्य की परीक्षा लेने के लिये एक अटपटे मुनि ने आकर उनके यहाँ चातुर्मास्य व्रत आरम्भ किया। वे कुछ व्रत पालन की इच्छा से तो ठहरे ही नहीं थे, वे तो राजा के धैर्य की परीक्षा करना चाहते थे। वे जानना चाहते थे कि इतना ऐश्वर्य होने पर भी इन्हें यत्किंचित् गर्व है या नहीं। नित्य कोई न कोई अटपटी बात उनसे करते।

एक दिन मुनि ने कहा—"राजन्! हमारी इच्छा है कि हम रथ में बैठकर आपके नगर का निरीक्षण करें।"

राजा ने विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन्! यह कौन सी बड़ी बात है। सुन्दर से सुन्दर रथ समुपस्थित हैं। आप जिस प्रकार के रथ में चाहें बैठकर नगर का निरीक्षण करें।

मुनि बोले—"राजन्! हम घोड़े वाले रथ में नहीं चढ़ते। एक ओर आप लगें और दूसरी ओर आप की रानी लगे। तुम दोनों जब रथ में जुत कर उसे खींचोगे, तो उसी में चढ़कर हम जायगे।"

राजा ने दीनता के साथ कहा—"ब्रह्मन्! यह हमारा अहोभाग्य है। ऐसी सेवा का सौभाग्य हमें कब प्राप्त हो सकता है।" इतना कहकर महाराज ने रथ मँगाया। एक ओर तो अपनी प्राण प्रिया परमसुकुमारी राजमहिषी को लगाया और दूसरी ओर स्वयं जुत गये। वे अटपटे मुनि उस रथ में कोड़ा लेकर बैठ गये। बीच बाजार से वे उस रथ को लेकर चले। सब नर-नारी राजा-रानी को रथ में जुड़ा देखकर चकित रह गये। राजा के मुख पर न कोई विकार था, न लज्जा न संकोच। वे बड़ी प्रसन्नता के साथ रानी के सहित रथ को खींच रहे थे, रानी परम सुकुमारी थीं, उन्होंने अब तक सेर भर भी बोझा नहीं उठाया था, राजा को भी रथ खींचने का कभी अवसर नहीं पड़ा था, अतः वे रुक-रुक कर चलने लगे। तब वे मुनि रथ में बैठे ही बैठे राजा रानी के शरीरों में सड़ासड़ कोड़े लगाने लगे। रानी के अंगों से रक्त बहने लगा। फिर भी महाराज विचलित नहीं हुए। उन्होंने मुनि के प्रति अपनी तनिक भी अश्रद्धा प्रकट नहीं की, इस प्रकार उन्हें घुमा कर लाये।

तब तो मुनि ने प्रसन्न होकर अपना यथार्थ रूप दिखाया। मुनि ने कहा—"राजन्! आपने अपनी निरभिमानता के कारण समस्त ऊपर के लोकों को जीत लिया है। आप मोक्ष के अधिकारी हो गये हैं। आप भगवान् के परम अनुग्रह भाजन बन चुके हैं। यह जीवात्मा अनेक योनियों में कर्मानुसार भ्रमण

करता हुआ तब मनुष्य योनिको प्राप्त करता है। मनुष्य देह पाकर भी यदि उसका जन्म उच्च कुल में हो, तिस पर भी सदाचार सम्पन्न हो, नई अवस्था का हो, रूपवान् तथा विद्वान् हो, अटूट धन सम्पत्ति तथा अतुलऐश्वर्य हो, इतनी सब अभिमान बढ़ाने वाली वस्तुओं के रहते हुए भी जिसे अभिमान न हो, उस पर मेरा परम अनुग्रह है। वह मेरी कृपा का भाजन है। राजन्! तुम इस संसार सागर को अपनी क्षमा, और सहनशीलता से पार कर गये। तुम संसार के आवागमन से सदा के लिये मुक्त हो गये।" इतना कहकर वे मुनि अन्तर्धान हो गये, राजा को भगवान् के दर्शन हुए और अन्त में अपनी सहन शीलता के कारण वे परमपद को प्राप्त हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वामन भगवान् गये तो थे महाराज बलि को ठगने के लिये, किन्तु उनकी सहनशीलता तथा सत्यनिष्ठा के कारण वे स्वयं ही ठग गये। जब ब्रह्माजी ने बलि को बँधा हुआ देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और इसीलिये पूछा—"आप इसका सर्वस्व हरण करके भी इतना कष्ट क्यों दे रहे हैं?"

इसी पर भगवान् ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं बलि को बाँध नहीं रहा हूँ, किन्तु ये ही मुझे अपनी प्रबल सहन शीलता के कारण अपने वश में किये हुए हैं। देखिये, इनके ऊपर एक से एक बढ़कर विपत्तियाँ आती रहीं। एक तो मैंने इसका सर्वस्व अपहरण कर लिया, धन सम्पत्ति से हीन कर दिया, मेरे पार्षदों ने इसके सैनिकों को भगा दिया, इसका तिरस्कार किया, गरुड़

जी ने इसे बाँध लिया, जाति वालों ने भी त्याग दिया। इसके कुल गुरु ने इसे अनेक कटु वचन कहकर डराया, धमकाया, अंत में इसको अविचल देखकर उन्होंने इसे शाप भी दे दिया। फिर भी ये दैत्य दानवों के अग्रणी, परम यशस्वी दानी इन्द्रसेन महाराज अपने प्रणसे तिल भर नहीं हटे। न अपनी प्रतिज्ञा से ही विचलित हुए। इसलिये ब्रह्माजी! मैं तो समझता हूँ इन बलि महाराज ने ही मेरी दुर्जय माया को जीत लिया है, ये परमपद के अधिकारी बन गये हैं।

ब्रह्माजी ने कहा—"तब महाराज! आप अब इन्हें कहाँ रखेंगे? इनकी भूमि तो आपने छीन ली।"

भगवान् बोले—"छीन काहे को ली, इन्हें तो मैंने सर्वस्व दे डाला।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"तब क्या भगवन! ये मुक्त हो जायँगे।"

भगवान् बोले—"मुक्त हो क्या जायँगे, मुक्त तो ये हैं ही। एक रूप से तो ये मेरे पार्षद बन ही गये। अभी एक रूप से आगामी मन्वन्तर में इन्हें इन्द्र और बनाना है। तदनन्तर ये मेरे धाम को सदाके लिये प्राप्त हो जायँगे।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"तब तक ये कहाँ रहें?"

भगवान् अब महाराज बलि से कहने लगे—"हे महाभाग! विरोचननन्दन! जिसमें आधि, व्याधि, क्लान्ति, तन्द्रा पराभव और अन्य किसी प्रकार का विघ्न नहीं है, उस, विश्वकर्मा के निर्मित सुतल लोक में तब तक अपने जाति परिवार वालों के साथ आकर कर तुम वास करो। यह स्थान स्वर्ग

से भी श्रेष्ठ है, देवता भी उसकी आकांक्षा करते है, वह नीचे का स्वर्ग है। वहाँ तुम्हें कोई कष्ट न होगा, स्वर्ग से भी अधिक सुखी तुम वहाँ रहोगे। वहाँ कोई भी तुम्हें जीत न सकेगा। जो असुर तुम्हारे शासन को न मानेंगे, उन्हें मैं अपने चक्र से नष्ट कर दूँगा।"

महाराज बलिने कहा—"प्रभो! मुझे ऊपर नीचे का स्वर्ग नहीं चाहिये। मुझे तो आप चाहिये। जहाँ आप हैं, वहाँ सब कुछ है, जहाँ आप नहीं वह स्वर्ग भी मेरे लिये नरक के समान है। आपको भी मेरे साथ वहीं रहना पड़ेगा।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"लोग तो कह रहे हैं कि वामन ने बलिको बाँध लिया, किन्तु यथार्थ बात यह है कि बलिने ही मुझे सदा के लिये अपना सेवक बना लिया। अच्छी बात है, मैं तुम्हारा द्वारपाल बनकर हाथ में गदा लेकर तुम्हारे पुरकी सदा रक्षा करता रहूँगा। तुम सर्वदा मुझे वहाँ अपने समीप ही देखोगे। अब तुम में जो कुछ आसुर भाव है वह भी वहाँ रहने से सब नष्ट हो जायगा। नष्ट तो सब हो ही गया। अब आगे जो सावर्णि मन्वन्तर आवेगा, उसमें इन्द्र को हटाकर तुम्हें मैं इन्द्र बनाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज बलिको इन्द्र बनने तथा सुतल लोक का राज्य पाने से प्रसन्नता नहीं हुई। किन्तु इस बात से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई कि श्रीहरि दास होकर मेरे समीप एक रूप से प्रत्यक्ष साथ रहेंगे।

छप्पय

ब्रह्मन् बलि ने जीति लई दुर्जय मम माया।
अजर अमर ह्वै गई कीर्ति अरु इनकी काया॥
धन सम्पति तें हीन बँधे बन्धन महँ भूपति।
करे तिरस्कृत सुरनि, यातनाहू दीन्हीं अति॥
दयो भयंकर शाप गुरु, जाति बन्धु सब तजि गये।
छल करिकें सरबसु हरयो, तोऊ विचलित नहि भये॥

महाराज बलिका भगवदाज्ञा से सुतलमें प्रवेश

(५८०)

इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते।
सुतलं स्वर्गभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० १२ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

यों विधि कूँ समझाइ कहैं बलि तैं वामन हरि।
इन्द्रसेन नृपवर्य करो मम आयसु सिर धरि॥
सुतल लोक महँ बसौ दिव्य होवे तव सब अँग!
द्वारपाल बनि रहूँ द्वार पै हौं तुम्हरे सँग॥
भक्तानुग्रह निरखि बलि, बोले है गद्गद् बचन।
अनुकम्पा अनुपम करी, हे अच्युत अशरनशरन॥

सर्वेश्वर को जो अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं उनके लिये भगवान् के निकट कोई वस्तु अदेय नहीं है। भगवान्

---

* वामन भगवान् महाराज बलि से कह रहे हैं—हे महाराज इन्द्रसेन! आप अपने बन्धु बान्धवों तथा जाति के लोगों के सहित उस सुतल लोक को जाइये। जिस लोक की देवता भी इच्छा करते हैं। आपका कल्याण हो।

ज्ञानियों से बड़े प्रसन्न रहते हैं। उन्होंने मुक्ति की इच्छा की, तुरन्त उन्हें मुक्ति प्रदान कर देते हैं। मुक्ति दे दी सदा के लिये झंझट मिटा, किन्तु वे भक्तों से बड़े घबड़ाते हैं। क्योंकि भक्तों के तो उन्हें सदा पीछे-पीछे फिरना पड़ता है, उनकी सदा रेख देख रखनी पड़ती है, उनकी चरण धूलि को सदा सिरपर धारण करना पड़ता है। भक्त यद्यपि मुक्ति चाहते नहीं, किन्तु मुक्ति तो उन्हें बिना माँगे अनायास में रूँक धोक में मिल जाती है। जैसे दही लेने जाओ, तो सकोरा या दोना बिना माँगे मिल जाते हैं। पूड़ी लेने पर साग बिना दाम के मिलता है। उसी प्रकार भक्त का संसार बन्धन तो प्रभु पादपद्मों में पहुँचकर स्वतः ही कट जाता है। भगवान् की भक्तवत्सलता तो देखिये, जो उन्हें श्रद्धा से एक दल तुलसी, एक चुल्लू जल चढ़ा देते हैं, ऐसे निष्कपट श्रद्धालु भक्तों को वे अपने आपको भी दे देते हैं। ऐसा न होता तो ये इतने बड़े राजे महराजे राज्यपाट छोड़कर क्यों निरन्तर भिक्षु बनकर उनके चरणों का चिन्तन करते रहते ?

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! जब भगवान् ने महाराज बलि के समीप सुतललोक में नित्य ही रहने का तथा उनकी रक्षा करने का आशीर्वाद दिया, तो इससे उन्हें अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। आनन्द के कारण उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे। सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो गया। यद्यपि प्रेम के आवेग के कारण उनका कंठ रुक गया था, फिर भी अपने को सम्हाल कर बड़े कष्ट पूर्वक गद्गद् वाणी से, वे दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे हुए वामन भगवान् की स्तुति करने लगे।

बलि ने कहा—"प्रभो! आपकी करुणा के सम्बन्ध

कुछ कहा ही नहीं जा सकता। किसी पर आप जल देने से, किसी पर पूजा करने से, और किसी पर केवल प्रणाम करने से ही प्रसन्न हो जाते हैं। गज ने ग्राह से मुक्ति पाने के लिये सूँड़ में कमल उठाकर आपकी स्तुति की थी। आपने उसका उसी समय उद्धार किया। देवताओं पर जब जब विपत्ति पड़ती है वे क्षार सागर के समीप जाकर मधुर वाणी में पुरुषसूक्त से तथा अन्यान्यसूक्तों से आपकी लम्बी चौड़ी स्तुति करते हैं, तब कहीं जाकर आपकी अरूपा-आकाशवाणी-सुनाई देती है। मैंने तो पूजा की कौन कहे, आप की स्तुति तक नहीं की। केवल स्तुति करने को प्रस्तुत ही हुआ था कि आपने अपनी अनुपम कृपा की यथेष्ट वृष्टि कर दी। जो कृपा आपने ब्रह्मादिक देवों पर, इन्द्रादिक लोकपालों पर भी नहीं की थी, वही मुझ असुराधम पर अनायास ही कर दी। मुझे आपने अपने दर्शनों से कृतार्थ कर दिया। आप सर्वेश्वर को किस वस्तु की कमी थी, किन्तु तो भी मेरे गौरव बढ़ाने के लिये आप भिक्षुक बने और मुझ अधम के सम्मुख आपने हाथ पसारा। हे प्रभो! आपके चरणों की सदा स्मृति बनी रहे, यही मेरी आप के पुनीत पाद-पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम पूर्वक प्रार्थना है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज बलि के ऐसे कोमल विनीत वचन सुनकर भगवान् वामन मुस्कराये और कृपापूर्वक उन्होंने महाराज बलि की ओर निहारा। अपने पौत्र पर प्रभु प्रसन्न हैं, वे उनकी कृपा के भाजन बन गये हैं वह सोचकर प्रह्लाद जी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे गद्गद् कंठ से भगवान् की भक्तवत्सलता को स्मरण करके स्तुति करने लगे।

प्रह्लादजी ने कहा प्रभो ! आपकी कृपा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का नियम बनाना तो पृथक् रहा, कोई अनुमान भी नहीं कर सकता कि आप किस कारण, कब, किस, पर, कैसे कृपा करते हैं । भला, इस बात पर कोई कभी विश्वास कर सकता है कि चतुर्दश भुवनों को रचने-वाले चराचर जगत् के गुरु समस्त लोकों के पितामह भगवान् ब्रह्माजी भी जिनके पादपद्मों की प्रेमपूर्वक पूजा करते हैं, वे ही विश्वेश्वर हम अधमों के द्वारपाल बनेंगे ? हाथ में दण्ड लेकर दुर्ग की रक्षा करेंगे। मुझे तो इस बात पर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि हम मे न कोई सामर्थ्य है न शक्ति, न साधन है न सदाचार, न विनय है न भक्ति, आपके चरण कमल की मधुमय मादक मकरंद पान करके ब्रह्मादिक देवता सृष्टि रचना आदि महान् कार्यों में समर्थ होते हैं, वह कृपा हमें ऐसे ही अनायास-बिना साधन भजन किये—पड़ी मिल गई। आपकी कृपा के सम्बन्ध में अब हम क्या कहें, हमारी बुद्धि काम नहीं करती। आपने इस चित्र विचित्र जगत् को अपनी अपरमित योग माया से अनायास ही खेल खेल में लीला से ही रच दिया है। ऐसे आप सर्वज्ञ सर्वात्मा समदर्शी की इतनी अकारण अधम असुरों पर ऐसी कृपा देखकर तो हमें संदेह हो रहा है। प्रतीत होता है आप हम असुरों के साथ पक्षपात करते हैं।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"प्रह्लादजी ! आपको मेरे समदर्शीपने में सन्देह हो रहा है क्या ?"

प्रह्लादजी ने कहा—हाँ महाराज ! सन्देह तो अवश्य हो रहा है, किन्तु फिर सोचता हूँ कि आप तो कल्पवृक्ष के समान

हैं, उसके साथ भी जिसका किसी भी प्रकार संसर्ग हो जाय उसका कल्याण ही कल्याण है। कल्पवृक्ष के नीचे तो जाना पड़ता है आप स्वयं ही अपने अनुचरों के समीप आकर अनुग्रह करते हैं। अतः समदर्शी होते हुए भी आप अपने आश्रित अधमों पर विशेष कृपा करते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अब तो भक्त और भगवान् में सन्धि हो गई। खेल समाप्त हुआ। तनातनी के व्यवहार का अन्त हो गया। अब तो स्नेह से घुलघुल कर बातें होने लगीं। शुक्राचार्य जी ने देखा ये तो दोनों परस्पर में मिल गये, मैं बीच में व्यर्थ ही बुरा बना। अकारण ही मैंने अपने आज्ञाकारी शिष्य को शाप दिया। सर्वान्तर्यामी प्रभु शुक्राचार्य के मनोगत भावों को ताड़ गये, अतः उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये बोले—'हे द्विजश्रेष्ठा! हे भार्गववंशावतंस हे ब्रह्मन्! मैंने आपके यज्ञ में आकर बड़ा विघ्न किया। आपके यज्ञ का कार्य अभी तक अधूरा ही पड़ा हुआ है। अब आप कृपा करके अपने इस शिष्य के अधूरे यज्ञ को विधि विधानपूर्वक पूरा कीजिये। इसमें जो कुछ त्रुटियाँ रह गई हों उनका मार्जन कीजिये। अथवा आप वेदवादी विप्रों के रहते हुए त्रुटियाँ रह ही कैसे सकती हैं। विधि में, उच्चारण में, कर्म में, तथा स्वर सामग्री आदि में जो भी कुछ त्रुटि रह जाती है वह सब ब्राह्मण के देख देने से पूर्ण हो जाती है। अतः आप कृपा करके इस बलि के अपूर्ण यज्ञ को पूर्ण कर दीजिये?"

शुक्राचार्यजी भगवान् के ऐसे विनीत वचन सुनकर बड़े लज्जित हुए। उनका हृदय भर आया। वे भर्राई हुई वाणी

से हाथ जोड़कर भगवान् से कहने लगे—"प्रभो ! यज्ञों में ब्राह्मणगण विधि विधानपूर्वक आपके निर्गुण निराकार रूप का पूजन करते हैं, किन्तु इस यज्ञ में तो आप स्वयं सगुण साकार रूप से समुपस्थित थे। आपको कोई प्रेम पूर्वक जल, फल, फूल तथा तुलसीदलमात्र ही अर्पण कर देता है तो उसी से आप उसके अशुभों को नाश कर देते है, फिर इस यज्ञ के यजमान ने तो अपना सर्वस्व समर्पित करके आपकी पूजा की। उस बलि के यज्ञ में त्रुटियाँ, विषमतायें कैसे रह सकती हैं। आप तो स्वयं परिपूर्ण है। परिपूर्ण के सम्मुख अपूर्णता का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। आपके तो नाम में ऐसा प्रभाव है कि मन्त्र, तन्त्र, देश, काल, पात्र तथा सामग्री के सम्बन्ध से होने वाली समस्त त्रुटियों को वह उच्चारण मात्र से नाश कर देता है। फिर भी आप आज्ञा करते हैं तो मैं सब कार्यों को करूँगा, क्योंकि आपकी आज्ञा का ही नाम वेदवाक्य है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! तब भगवान् की आज्ञा पाकर शुक्राचार्य ने ब्रह्मर्षियों के साथ मिलकर बलि के यज्ञ की त्रुटियों को पूर्ण किया। यज्ञ पूर्ण होने पर भगवान् ने प्रह्लाद जी से कहा—"हे वत्स ! तुम अपने पौत्र को लेकर सुतल लोक में चले जाओ, वहाँ आनन्दपूर्वक रहना।" फिर बलि से कहा—"हे वीरों में श्रेष्ठ ! विरोचननन्दन ! तुमने मुझे प्रसन्न करके सर्वस्व प्राप्त कर लिया है, तुम अभी से मुक्त हो, तुम मेरे नित्य पार्षद हुए। अभी इस मन्वन्तर तक तुम सुतललोक में स्वर्गीय सुखों को भोगो। फिर आगामी मन्वन्तर में मैं तुम्हें इन्द्र बनाऊँगा।"

बलि ने दीनता से कहा—"महाराज! मुझे अब इन्द्र

नहीं चाहिये। मुझे तो आपके चरणों की भक्ति चाहिये।"

भगवान् ने दृढ़ता के साथ कहा—"भाई तुम्हें नहीं चाहिये तो मुझे तो चाहिये। मेरे भक्त के मन में यदि स्वप्न में भी कोई इच्छा उत्पन्न हो जाती है तो उसे मैं पूरी करता हूँ। तुम्हारे लिये तो इन्द्र पद तथा भृत्य पद दोनों ही समान हैं, जब तुम्हें मेरी प्राप्ति हो गई, तब संसार में दुर्लभ वस्तु क्या रह गई? फिर भी मैं तुम्हें एक मन्वन्तर तक इन्द्र बनाकर तब नित्यधाम में पठाऊँगा।"

बलिने विनीत भाव से कहा—"प्रभो! हम तो आपके यन्त्र हैं, जैसे चाहें घुमावें जैसे चाहें रखें। किन्तु यही प्रार्थना है कि आपके चरणों की हमें कभी विस्मृति न हो। हृदय में निरन्तर आपके दर्शन होते रहें।"

भगवान् ने कहा—"हृदय में ही नहीं भैया! मैं तो तुम्हें नित्य प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा। हाथ में गदा लिये हुए तुम्हारे पुर की रक्षा करता रहूँगा। जब भी तुम पुर में प्रवेश करोगे; मुझे वहाँ पहरे पर देखोगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् की आज्ञा और आशीर्वाद पाकर महाराज बलि प्रह्लादजी को आगे करके और अपने बन्धु बान्धव और परिवार वालों के साथ पृथिवी के बिल से सुतल लोक में चले गये।"

छप्पय

पुनि हरि आयसु पाइ शुक्र मख पूर्ण करायो।
बलि वामन को सुयश बिहँसि बलिगुरु ने गायो॥
यों करि सरबसु दान दैत्यपति अति हरषाये।
जग बन्धन कूँ तोरि विष्णु आधीन बनाये॥
आगे करि प्रहलाद कूँ, जाति बन्धु सब संग लये।
रक्षक प्रभु वामन बने, सुतल लोक कूँ चलि दये॥

बलिके द्वारपाल वामन भगवान्

(५८१)

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादम्
न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो—
विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २३ अ० ६, श्लो०)

छप्पय

बलि के द्वारे द्वारपाल बनि बसैं जगत्पति।
बलि बिरुद्ध जे होहिं करैं तिनकी ते दुर्गति॥
इकदिन रावन जाइ कहे बलि तैं बल गर्वित।
विष्णु विजय हौं करूँ कार्य कीयो जिन निन्दित॥
बलि बोले पितु पितामह, हरिनकशिपु हरि सँग लरे।
श्री नरहरि बनि विष्णु ने, हने कान कुन्डल गिरे॥

भगवान् इतने पवित्र हैं कि उन्हें यह सदा अशुचि रहने वाला नवछिद्रों वाली देही में निवास करने वाला जीव जल

---

* प्रह्लादजी भगवान् से कह रहे हैं—प्रभो! जैसी कृपा इस बलि ने आपकी प्राप्त की है वैसी न ब्रह्माजी ने, न शिवजी ने और न लक्ष्मीजी ने ही प्राप्त की है, विश्व के लोग जिनकी वन्दना करते हैं ऐसे ब्रह्मादिक देवताओं द्वारा जो आपके चरण पूजित हैं, ऐसे हम असुरों के आप दुर्गपाल हुए, यह कितने आश्चर्य की बात है।

और मिट्टी की शुचिता से चाहे कि प्राप्त कर सकें, तो असंभव है। भगवान् में इतने दिव्य सद्गुण हैं कि कोई यह अभिमान करे, कि मैं अपने गुणों से भगवान् को रिझालूँगा, अपने सदाचार से उन्हें वश में करलूँगा, तो यह असंभव है। भगवान् को गुणों के द्वारा कोई अपने अधीन नहीं कर सकता। वे तो कृपावश्य हैं। करुणा के सागर हैं, सब जीवों पर समान भाव से सदा कृपा की वृष्टि करते रहते हैं। वे साधन साध्य नहीं कृपा साध्य हैं। कृपा की प्रतीक्षा करते करते जिसका जब काल आजाय, जब जिसके ऊपर अनुग्रह की वृष्टि हो जाय। बिना छल कपट के जो अभिमान छोड़कर उनका शरण में जाता है, उसे वे अपना लेते हैं। अपना कृपापात्र कर लेते हैं। वे संसार में अपने सम्मुख गर्व किसी का नहीं रहने देते। बड़े-बड़े बलवानों को उन्होंने पछाड़ दिया। जो दीन होकर उनकी शरण में आगया, तो उनके तो वे रक्षक, प्रतिपालक और सेवक बन जाते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! जब महाराज बलि अपने सभी जाति बन्धुओं को लेकर सुतल लोक को चलने लगे, तो एक रूप से तो वामन भगवान् बलि के साथ चले और एक रूप से स्वर्ग में जाकर बलि से छीने हुए त्रैलोक्य के राज्य को पुनः देवताओं को दिया। महाराज बलि को भगवान् बाँधना चाहते थे, किन्तु उलटे ही बँध गये। अब तक उनके द्वार पर गदा हाथ में लिये हुए वे रक्षक बने खड़े रहते हैं। कोई बली महाराज बलि से लड़ने आता है, तो पहिले तो इन्हीं से मुठभेड़ होती है। इनकी रक्षा में रहकर महाराज बलि बड़ी प्रसन्नता के साथ सुतल लोक में आनन्द विहार करते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! कभी इन द्वारपाल

भगवान् का किसी से काम भी पड़ा है? कभी किसी से इतना

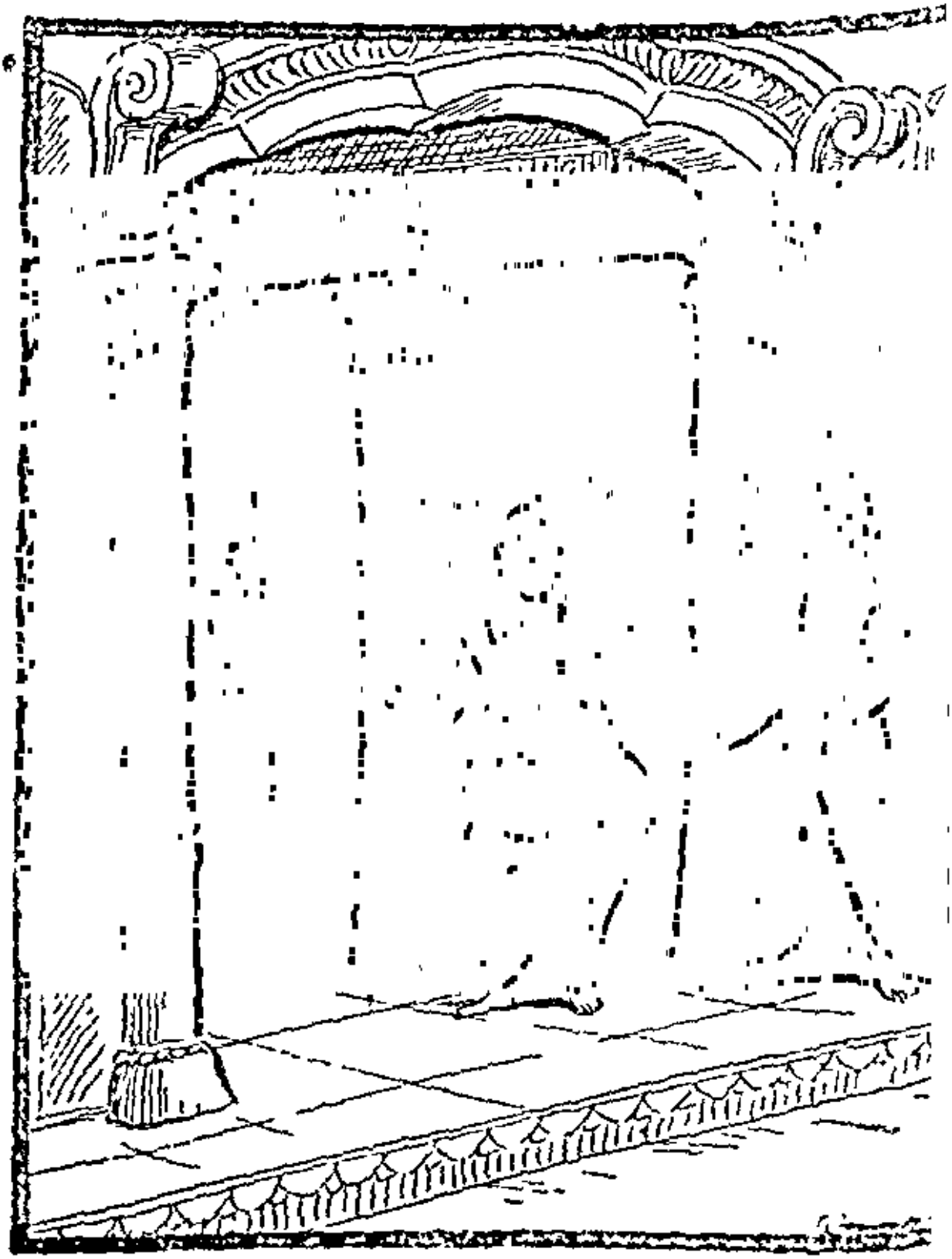

बलि के द्वार पर युद्ध भी हुआ है?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! इनसे युद्ध करने की सामर्थ्य किसमें है, एक बार रावण ने साहस किया था, उसे मुँह की खानी पड़ी।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! रावण ने क्यों इनसे लड़ने का साहस किया और क्यों उसे मुँह की खानी पड़ी। इस वृत्तान्त को आप विस्तार के साथ बतावें; हमारी सुनने की इच्छा है।

सूतजी बोले—"महाराज ! यह तो बहुत बड़ी कथा है, किन्तु मैं संक्षेप में सुनाता हूँ, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

एक बार पाताल में दिग्विजय करते-करते रावण सुतल लोकों में पहुँचा। वहाँ उसने दूर से ही महाराज बलि के दिव्य भवन को निहारा। उन भवनों के चाकचिक्य तथा चमक दमक से चकित होकर रावण ने अपने मन्त्री से पूछा—"प्रहस्त ये इतने सुन्दर मनहर दिव्य भवन किसके हैं, भीतर जाकर तुम पूछो तो, सही, इनमें रहता कौन है ?"

यह सुनकर प्रहस्त भीतर गया। ६ ड्योढी लाँघ कर जब वह सातवीं पर पहुँचा तो वहाँ सूर्य के समान जाज्वल्यमान एक पुरुष को निहारा। वह अग्नि राशि के समान तेज से प्रज्वलित हो रहा था। उसे देखकर प्रहस्त के तो रोंगटे खड़े हो गये। वह लौटकर रावण के समीप आया और भय से काँपते हुए बोला—"प्रभो ! भीतर तो लोहे का मुसल धारण किये हुए एक ऐसा व्यक्ति खड़ा है, जिसे देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये।"

यह सुनकर वीराभिमानी रावण हँसकर बोला—प्रहस्त ! तुम मेरे मंत्री होकर भी ऐसे डरते हो। अच्छी बात है मैं जाता हूँ।" यह कहकर रावण भीतर गया। वहाँ उसने भी उन तेज पुंज द्वारपाल को देखा, तो उसका भी शरीर मारे भय से थर थर काँपने लगा। सम्पूर्ण अङ्गों से पसीना निकलने लगा। फिर उसने धैर्य धारण करके लड़खड़ाती हुई वाणी में पूछा—"क्यों भाई ! इन महलों में भीतर कौन रहता है ? किसका यह निवास स्थान है।"

उस तेज से जाज्वल्यमान् व्यक्ति ने कहा—"हे राक्षसेश्वर इसके भीतर परमयशस्वी दानवीरशिरोमणि दैत्य दानवों के अधीश्वर महामनस्वी महाराज बलि निवास करते हैं। तुम क्या चाहते हो ? यदि तुम्हें युद्ध करने की इच्छा हो, तो पहिले मुझसे युद्ध करो, तब मेरे स्वामी के समीप जाना।"

रावण ने कहा—"नहीं, मैं तुम से युद्ध नहीं करना चाहता, मैं तो बलि के ही समीप जाऊँगा।"

उस व्यक्ति ने कहा—"अच्छी बात है, तो भीतर चले जाओ।" इतना सुनते ही रावण भीतर गया। वहाँ उसने असुरेन्द्र महाराज बलि को दिव्यासन पर बैठे हुए देखा। बलि ने रावण का बड़ा आदर सत्कार किया, कुशल पूछी। जो रावण सभी लोकपालों को जीतकर आया था उसे देखकर बलि को बड़ी प्रसन्नता हुई। बलि ने उसे प्रेम से उठाकर गोदी में बिठा लिया और बड़े स्नेह से पूछने लगे—"हे राक्षसेश्वर तुम क्या चाहते हो ? मैं तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य करूँ ?"

रावण ने कहा—"हे महानुभाव ! आप मातृकुल के सम्बन्ध से मेरे पूज्य हैं। मैंने ऐसा सुना है कि विष्णु वामन ने

छलकर आप का सर्वस्व अपहरण कर लिया और आपको बाँधकर पाताल पठा दिया। मैं उस विष्णु को रण में मारकर तुम्हें मुक्त करने के लिये आया हूँ! आप उस विष्णु को मुझे बता दें।

यह सुनकर महाराज बलि खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"अरे, भैया! उन विष्णु भगवान् को रण में कौन जीत सकता है। वे तो अजेय हैं।"

अहंकार के स्वर में रावण ने कहा—"मैंने यम, कुबेर इन्द्रादि समस्त लोकपालों को जीत लिया है, आज तक रण में कोई भी मेरे सम्मुख ठहर नहीं सका है। आप मुझे विष्णु को बता दें, मैं उसे अवश्य ही जीतकर आपको बन्धन से मुक्त करूँगा।"

बलि ने कहा—"अच्छी बात है, एक काम करो। यह जो सम्मुख गोल गोल चमकीला चक्र सा रखा है उसे उठाकर मेरे पास तो ले आओ।"

यह सुनते ही रावण बड़े अहंकार से गया। उसने पूरी शक्ति लगाकर उस जाज्वल्यमान चक्र को उठाया, किन्तु टस से मस नहीं हुआ। तब उसे बड़ा दुःख हुआ। पूरी शक्ति लगा कर उसने जो झटका मारा कि रावण धड़ाक से धरती पर गिर पड़ा। मुख से रक्त बहने लगा। संज्ञा शून्य हो गया, आँख निकल आई।"

तब तो महाराज बलि उसके समीप आये। उसे उठाकर अपने पास ले गये और बोले—"देखो, भैया! पूर्वकाल में मेरे पितामह के पिता एक बड़े तेजस्वी हिरण्यकशिपु थे। संसार में उनके समान बलवान् कोई नहीं था। उन्हें विष्णु भगवान् ने नृसिंह रूप रखकर खेलखेल में ही मार डाला था। उसके पेट को नखों

से ही विदीर्ण कर दिया था। उसी समय उनका मुकुट कहीं गिर पड़ा, कुण्डल कहीं गिर पड़ा। एक कुण्डल यहाँ पाताल में आकर गिरा। यह उन्हीं के कानों का कुण्डल है। इसे वे अपने कानों में पहिना करते थे। तुम कहते हो मैंने इन्द्र वरुण, कुबेर को जीत लिया है, यम को भी मैंने युद्ध में सन्तुष्ट किया है। जब तुम उस व्यक्ति के कुण्डल को भी नहीं उठा सकते, जिसे विष्णु ने विनोद में ही बिना अस्त्र-शस्त्र के—मार डाला है, तो तुम उनसे युद्ध क्या करोगे ?"

यह सुन कर रावण तो स्तम्भित रह गया। उसने पूछा—"वह विष्णु है कहाँ ?"

बलि महाराज बोले—"यह जो द्वारपर तुम्हें लोह की गदा लिये तेज पुंज पुरुष मिला था, ये ही साक्षात् श्री विष्णु हैं। तुम चाहें सहस्रों इन्द्रों को जीत लो, इनसे पार नहीं पा सकते। अपने घर लौट जाओ। मुझे मुक्त करने का प्रयास मत करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना सुनते ही महा अहंकारी रावण वामन भगवान् से युद्ध करने द्वार पर चला। भगवान् ने सोचा; यदि भूल में भी मेरा एक तमाचा लग गया, तो इस राक्षस का प्राणान्त होजायगा। (अभी इसे मारना मुझे अभीष्ट नहीं)। यह सोचकर भगवान तुरन्त अन्तर्धान हो गये।

जब राक्षस ने देखा भगवान् तो यहाँ हैं ही नहीं। तब उसने बड़े वेग से सिंहनाद किया और ललकार कर बोला "मैंने सुतललोक को भी जीत लिया।" यह कहकर वह वहाँ से तुरन्त चला गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार रावण ने भगवान् के महान् बल पराक्रम का अनुभव किया। कहीं कहीं ऐसा भी

उल्लेख है कि वामन भगवान् ने अपने बायें अँगूठे की ठोकर से रावण को मारा जिससे वह सहस्रयोजन दूर जाकर गिर पड़ा। जिन भगवान् की स्वास से यह सम्पूर्ण चराचर विश्व उत्पन्न हो जाता है, उनके लिये असंभव बात कौन सी है। वे नाना रूप रखकर केवल विनोद के लिये ही नाना लीलायें करते रहते हैं। इस प्रकार भगवान् एक रूप से तो सदा सुतल-लोक में बलि के द्वार पर रहते है और एक रूप से स्वर्ग में इन्द्र के साथ तीनों लोकों का पालन करते हैं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में वामन भगवान का चरित्र कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बलि के पाताल चले जाने पर वामन भगवान् ने और क्या किया, इसे हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"बलि से पृथिवी लेकर जिस प्रकार वामन भगवान् उपेन्द्र बने उसे मैं आपको सुनाऊँगा आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

मृतक असुर के प्रथम जाइ कुण्डलहिं उठाओ।
तब उन हरि ते लड़न हेतु तिनके ढिंग जाओ॥
टसतैं मस नहिं भयो, लगायो रावन बल सब।
हँसि बोले बलिवीर! विष्णु बल कछु समुझे अब॥
जा कुण्डल कूँ कान महँ, जे पहिनत ते हने हरि।
विजय प्राप्त कैसे करो, तिन प्रभुतैं तुम युद्ध करि॥

वामन प्रभु का उपेन्द्र पदपर अभिषेक

(५८२)

एवं बलेर्महीं राजन् भित्त्वा वामनो हरिः ।
ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत्परैर्हृतम् ॥
प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितः ।
श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २३ अ० १९, २५ श्लो०)

छप्पय

बलि बामन को विजय चरित यह नृपवर ! गायो ।
अब तक बलिको सुयश चतुर्दश भुवननि छायो ॥
सुतल लोक बलि गये विष्णु नित वहाँ विराजें ।
बलि वैभव कूँ निरखि अमर सुरपति हू लाजें ॥
यों बलि छलिके विष्णु ने, स्वर्ग राज्य देवनि दयो ।
अदिति कामना पूर्ण करि, पुनि उपेन्द्र पदहू लह्यो ॥

भक्तवत्सल भगवान् की अलौकिक लीलाओं में सर्वत्र भक्तवत्सलता ही छिपी है। उनकी समस्त चेष्टाओं में आश्रितों

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार वामन हरि ने महाराज बलि से भूमि की भिक्षा माँगकर स्वर्ग का राज्य अपने भाई

की इच्छापूर्ति ही छिपी है। वे प्रभु संकल्प मात्र से सब कुछ करने में समर्थ हो सकते हैं। किन्तु वे साकार रूप रखकर उन लीलाओं को इसलिये करते हैं, कि वे चरित सदा गाये जायँ, जिन्हें भगवान् के सगुण साकार रूप के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, वे इन चरित्रों को सुनकर कहकर ही इस दुस्तर संसार सागर से सफलता के सहित उस पार हो जायँ। जैसे कामियों को अनुकूल कामिनियों के चरित्र सुनकर रोमांचित हो जाते हैं, उनका चित्त तन्मय हो जाता है, जागृत तथा स्वप्नावस्था में भी उन्हीं का स्मरण बना रहता है, उसी प्रकार भक्त भगवत् चरित्रों को सुनकर भाव जगत् में उनका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, और उन्हीं का स्मरण बना रहने से वे तन्मय हो जाते हैं। अतः ससार में यदि श्रवणीय कोई कथा है, तो वह अवतार कथा ही है। ये कथायें कानों को भी प्रिय हैं और पापों को नाशने में भी समथ हैं। अतः सदा सर्वदा श्रद्धा सहित सच्चिदानन्द के साकार स्वरूपों के चरित्रों का ही श्रवण मनन करते रहना चाहिये। यही पुरुषार्थ है। यही सर्व-श्रेष्ठ साधन है।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् वामन ने भिक्षुक बनकर बिना अस्त्र शस्त्र उठाये महाराज बलि को जीत लिया।

इन्द्र को पुनः दिया जिसे उनसे शत्रुओं ने छीन लिया था। इन्द्र भी त्रिभुवन का ऐश्वर्य पाकर तथा उपेन्द्र वामन भगवान् के बाहुबल से सुरक्षित होकर परम श्री से सम्पन्न और निर्भय होकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! आप इसे विजय क्यों कहते हैं, छल कहिये। यह कुछ विजय थोड़े ही है।"

सूतजी यह सुनकर बहुत हँसे और बोले—"महाराज ! ब्राह्मण वेष ही ऐसा है कि इसकी सदा विजय ही है। जिसने अपना सर्वस्व त्याग दिया है, जो भिक्षुक बन गया है, उसकी क्या पराजय। कहावत है 'नंगा बड़ा परमेश्वर से' जिसने भिक्षा की लोई ओढ़ ली है, उसका कोई क्या कर सकता है। भगवन् ! ब्राह्मण जीते पर भी जीता है और हारे पर भी जीता है। इस विषय में मैं आपको एक सत्य घटना सुनाता हूँ।

भगवान् विश्वनाथ की पुरी काशी में एक गुर्जर प्रान्तीय ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मण पढ़े लिखे थे, परिवार बड़ा था, उन पर थोड़ी भूमि भी थी वहीं एक बड़े भूमिपति भी रहते थे। उनके गाँव के समीप ही इन ब्राह्मण देवता की भूमि थी। एक बहुत बड़ा बगीचा था। वास्तव में तो वह भूमिपति का था, किन्तु उस पर अधिकार ब्राह्मण का था। भूमिपति बड़े मनमौजी थे, वे भूमि सम्बन्धी कार्य देखते ही नहीं थे। सब नौकर चाकर काम काज देखते। पंडित जी से उनका बड़ा प्रेम था। किसी दिन एक प्रबन्धक ने भूमिपति से कहा—"महाराज ! इन ब्राह्मण देवता ने आपके बगीचे पर अधिकार कर रखा है।"

हँस कर भूमिपति ने पूछा—"पंडितजी ! कहिये बगीचा किसका है ?"

पंडित जी ने दृढ़ता से कहा—"मेरा है महाराज।"

प्रबन्धक ने कहा—"आपका कैसे है, महाराज! राजद्वार खाते में तो हमारे महाराज का नाम लिखा है!"

पंडित जी ने कहा—"नाम किसी का लिखा हो, बगीचा है मेरा ही।"

हँस कर भूमिपति ने कहा—"तो, न्यायालय में अभियोग चलावें?"

पंडित जी ने कहा—"चलाइये महाराज! विजय तो मेरी ही निश्चित है।"

भूमिपति ने प्रबन्धक से कहा—"अच्छी बात है इन पर अभियोग चलाओ, कि हमारे बाग पर इन्होंने अधिकार जमा रखा है।"

प्रबन्धक तो यह चाहते ही रहते हैं, कि कुछ लड़ाई-झगड़ा होता रहे! अभियोग आरम्भ हो गया। पंडित जी प्रयत्न करने लगे। धन की आवश्यकता होती तो भूमिपति से ही माँगले जाते, हमे अभियोग के लिये चाहिये।

अन्त में न्यायालय से आज्ञा हुई कि बाग भूमिपति का है, उन्हें मिलना चाहिये। हँसकर भूमिपति ने पूछा—"पंडित जी! विजय किसकी हुई?"

पंडित जी ने दृढ़ता के साथ कहा—"मेरी हुई महाराज!"

भूमिपति ने हँसकर पूछा—"बगीचा किसका है पंडित जी!"

पंडित जी बोले—"जो आम खाय उसी का बगीचा है महाराज देख लीजियेगा आम कौन खाता है?"

भूमिपति ने आज्ञा दी उस बाग पर अपना अधिकार जमा लो। प्रबन्धकों ने बाग को अपने अधिकार में ले लिया।

दो तीन मास पश्चात् श्रावणी का दिन आया। पंडित जी रक्षा बन्धन लेकर भूमिपति के यहाँ पहुँचे। जाकर पंडित जी ने राखी बाँधी और यह मन्त्र पढ़ा—

येन बद्धो बलिः राजा दानवेन्द्रो महाबलिः।
तेन त्वां प्रति बध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥

जैसे अन्य ब्राह्मणों को भूमिपति दे रहे थे, उन सब से अधिक १०।२० मुहर पंडित जी को देने लगे।

पंडित जी ने कहा—"नहीं महाराज! मुझे ये सुवर्ण की मुद्रायें नहीं चाहिये।"

भूमिपति ने हँसकर पूछा—"तो आपको क्या चाहिये, महाराज!"

पंडित जी ने कहा—"महाराज! मुझे तो मेरा बाग दे दीजिये।"

यह सुनकर भूमिपति हँस पड़े और बोले—"महाराज आपने तो सचमुच मुझे बाँध लिया। जाओ, बाग ही दिया।"

तब पंडित जी ने पूछा—"कहिये, महाराज! विजय किसकी हुई।"

हँसकर भूमिपति ने कहा—"अजी, पंडितजी! ब्राह्मण से कभी कोई जीत सकता है। उसकी तो जीते भी जीत और हारे भी जीत। विजय आपकी हुई आपकी।"

सूत जी कहते हैं—"सो, मुनियो! कैसे भी सही भगवान् ने तीनों लोकों का राज्य बलि से छीन तो लिया ही। शस्त्र बल से न छीना धर्म बल से छीन लिया। इस प्रकार बलि से सब

कुछ लेकर भगवान ने अपने सगे बड़े भाई इन्द्र को तीनों लोकों का राज्य लौटा दिया। ब्राह्मण अपने लिये भिक्षा नहीं माँगता। उसे जो मिलता है, परोपकार में लगा देता है, दूसरों को तत्क्षण दे देता है। उसे तो सदा उन्हीं भिक्षा के टुकड़ों पर निर्वाह करना पड़ता है।"

महामुनि शुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन्! जब इन्द्र फिर से स्वर्ग सिंहासन पर बैठने को हुए तब महादेवजी, सनत्कुमार, दक्ष, भृगु तथा अङ्गिरादि समस्त ऋषि, मुनि एकत्रित हुए। सभी देव, उपदेव, पितृगण, तथा राजे महाराजे वहाँ आये। वामन भगवान के माता पिता अदिति और कश्यप भी उस समारोह में समुपस्थित थे। उस भरी सभा में ब्रह्मा जी ने कहा—"उपस्थित महानुभावो! वामन भगवान् ने अपने बुद्धि बल से बलि का सर्वस्व ले लिया है। अतः आज से हम इन्हें ही समस्त लोकों का, लोकपालों का, सम्पूर्ण प्रजाओं का, वेदों का, देवों का, धर्म, यश, लक्ष्मी, मङ्गल, व्रत तथा स्वर्ग और अपवर्ग का स्वामी बनाते हैं। बनाते क्या हैं, ये ही सबका पालन करने में सर्वथा समर्थ हैं। अतः इनको ही इन्द्र पद पर अभिषिक्त कर दो।"

भगवान् ने कहा—"हे वेद गर्भ! आप धर्म के मर्म को जानते हैं। आप ऐसी अनीति न करें। बड़े भाई के रहते छोटा सिंहासन पर कैसे बैठ सकता है। मैं तो अपने सभी भाइयों में सबसे छोटा हूँ, इन्द्रासन पर तो मेरे बड़े भाई इन्द्र ही बैठ सकते हैं।

इन्द्र ने कहा—"प्रभो! आप सबसे बड़े हैं। आपको छोटा कौन कहता है? मैं तो इन्द्रासन की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हूँ।"

वामन भगवान् बोले—"यह बात नहीं आप बड़े हैं आप ही इन्द्रासन के अधिकारी हैं, मैं सेवक बनकर आपकी रक्षा करूँगा। मेरी भुजाओं से पालित इस त्रैलोक्य के राज्य की ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता।"

ब्रह्मादिक देवताओं ने कहा—"तो भी, भगवन्! आप किसी पद को स्वीकार करें ही। बिना पदाधिकारी बने कार्य में ममत्व नहीं होता। यदि इन्द्र बनने में आपको आपत्ति है, तो सहकारी इन्द्र उपेन्द्र का ही पद आप कृपा करके स्वीकार कर लें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, आप सबका आग्रह है, तो मैं उपेन्द्र बन जाऊँगा।" उसी दिन से भगवान् इन्द्र के सहायक उपेन्द्र बन गये। भगवान् के उपेन्द्र बन जाने से सभी को परम प्रसन्नता हुई। संघ में प्रभाव शाली पुरुष चाहे छोटे पद को ग्रहण करें या बड़े पद को, जहाँ भी वे रहेंगे सर्वोपरि बनकर रहेंगे। अयोग्य पुरुष सभापति भी हो, मंत्री भी हो तो वह स्वतः कुछ न कर सकेगा, दूसरों के संकेत पर चलेगा। योग्य पुरुष चाहे सहायक, लिपिकार कुछ भी क्यों न हो, सब पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लेगा। ये उपेन्द्र भगवान् कहने को तो इन्द्र से छोटे थे, किन्तु देवराज इन्द्र त्रिलोक का शासन उपेन्द्र भगवान् के बाहुबल से सुरक्षित होकर ही करते थे। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा समस्त लोकपाल निरन्तर उपेन्द्र भगवान् के यश का गान करके अपनी वाणी को धन्य बनाते हैं।

श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! यह मैंने परम पुण्यप्रद, सकल पापों को नष्ट करने वाला, यश

कीर्ति, धन-धान्य को बढ़ाने वाला, समस्त मनोगत कामनाओं को पूर्ण करने वाला वामन भगवान् का पवित्र चरित्र आपसे जैसा कुछ बना तैसा कहा। उन परात्पर प्रभु के पूर्ण चरित्र का कथन कौन कर सकता है। आकाश से गिरने वाली बूँदों की, समस्त पृथिवी के रज कणों की कोई गणना भले ही करले, किन्तु उन महामहिम महेश्वर की महिमा का पूर्ण वर्णन अब तक न किसी ने किया है, न आगे कोई करने में समर्थ ही होगा। यह चरित्र सबसे श्रेष्ठ है, इसे जो बार बार श्रद्धा सहित श्रवण करते हैं, प्रेमपूर्वक पढ़ते हैं, वे परमगति को प्राप्त करते हैं।

देव सम्बन्धी कर्मों में, पितृ सम्बन्धी श्राद्ध तर्पण आदि कर्मों में तथा मनुष्यों के यहाँ पुत्रजन्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि शुभ संस्कारों के समय इस पवित्र चरित्र का जो कीर्तन करते हैं, वे सभी शुभकर्म सभी प्रकार से सफलता पूर्वक सम्पन्न होते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जैसे भगवान् ने वामन अवतार धारण किया वैसे ही उनके असंख्यों अवतार हैं। वे कभी मनुष्यों में अवतरित होते हैं, कभी देवताओं में, कभी पशु, पक्षी, जड़, चेतन जहाँ चाहते हैं वहीं अवतार ले लेते हैं। कभी जलचर और कभी नभचर बन जाते हैं। कभी लोक जुगुप्सि मछली का रूप रख लेते हैं, तो कभी कछुआ बनकर सलिल में किलोल करते रहते हैं।

इसपर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! मैंने कच्छपावतार की कथा तो समुद्र मन्थन के प्रसंग में सुनी थी, किन्तु

मत्स्यावतार की कथा अभी तक विस्तार के साथ नहीं सुनी। प्रभो ! मैं तो अवतार कथा का ही रसिक हूँ। सम्पूर्ण लोकों को सुख पहुँचाने वाले इस मत्स्यावतार की कथा मुझे आप अवश्य सुनावें। मैं जानना चाहता हूँ कि भगवान् ने यह अत्यंत निंदित मत्स्य देह क्यों धारण की ? मछली बनकर भगवान ने कौन कौन से कार्य किये। सम्पूर्ण जीव तो कर्मबन्धनों में बँधे रहने के कारण ८४ लाख योनियों में विवश होकर जन्म लेते रहते हैं। भगवान तो कर्मबन्धनों से रहित हैं। उनके लिये न कुछ कर्तव्य है, न अकर्तव्य है फिर उन्होंने अत्यन्त तमोगुणी मत्स्य रूप क्यों धारण किया ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! महाराज परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने जिस प्रकार भगवान् के मत्स्यावतार का वर्णन किया, उसे मैं आपके सम्मुख आगे कहूँगा। आप सब इस परम पुण्यप्रद यश श्री और सौभाग्य के बढ़ाने वाले चरित्र को श्रद्धाभक्ति के साथ श्रवण करें।

छप्पय

विविधि वेष वपु धारि विष्णु विश्वेश्वर विहरें।
रहें सदा रवि किन्तु कहें नर सूरज निकरें॥
कच्छ, मत्स्य, वाराह, कबहुँ नरहरि तनु धारे।
साधुनि रक्षा करें दैत्य दानव खल मारें॥
लोक विनिन्दित मत्स्य तनु, लीलातें श्रीहरि धरयो।
प्रलय सलिल घूमत फिरे, गो द्विज, सुर कारज करयो॥

मत्स्यावतार का उपक्रम

(५८३)

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः ।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैवहि ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

बोले शुकतें नृपति—मत्स्य प्रभु चरित सुनावे ।
क्यों हरि ऐसे विश्व विनिन्दित वेष बनावे ॥
शुक हँसि बोले—भूप ! विष्णुघट-घट के वासी ।
वन्दित निन्दित कछु न विश्वपति अज अविनासी ॥
धेनु, विप्र, सुर, संत, अरु, वेदनि की रक्षा निमित ।
धर्म अर्थ रक्षित रहैं, धारैं तनु जगहित अजित ॥

सूर्य चाहे वधिक के घर में प्रकाश करें, या देवमंदिर में, वायु चाहे पुष्पों में विचरण करे, या सड़े-गले अस्थि मांस के टुकड़ों में अग्नि चाहे काष्ठ में व्याप्त हो चाहे मल मे, जिस प्रकार

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! श्री भगवान् गौ, ब्राह्मण, देवता साधु तथा वेदों की रक्षा के करने के निमित्त तथा धर्म और अर्थ की रक्षा के लिये नाना तनु धारण करते हैं ।

इन सब मे कोई विकार नहीं आता, ये सर्वदा विशुद्ध के विशुद्ध ही बने रहते हैं। उसी प्रकार निर्गुण, निराकार प्रभु छोटी-बड़ी, ऊँची-नीची किसी भी योनि में अवतार क्यों न ले लें वे स्वयं उनके संसर्ग से उच्चता अथवा नीचता के लिए प्राप्त नहीं होते। दोष और गुण संसर्ग से होता है। संसर्ग सदा सजाति के साथ अपने योग्य न्यूनाधिक गुण वाले के साथ होता है। भगवान् तो निर्गुण हैं, उनका इन गुणों से रचित योनियों के साथ संसर्ग कैसे हो सकता है। अतः भगवान् किसी योनि में अवतार धारण कर लें, वे सदा भगवान् ही हैं। नाना योनियों में अन्तर्यामी रूप से तो वे सदा विचरण करते ही हैं। उनके बिना किसी की सत्ता नहीं, महत्ता नहीं, अवस्था नहीं, व्यवस्था प्रतिष्ठा नहीं, अस्तित्व नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! जब वामनावतार की कथा की समाप्ति पर महाराज परीक्षित् ने मत्स्यावतार का प्रश्न किया, और यह पूछा कि भगवान् ने लोक विनिंदित मछली का रूप धारण क्यों किया तो उसका उत्तर देते हुए भगवान् शुक राजा को अवतार रहस्य समझाने लगे।

श्री शुकदेवजी बोले—"राजन्! भगवान् के अवतार धारण करने का प्रधान कारण क्या है, इसे तो भगवान् ही जानते हैं, किन्तु साधारणतया भगवान् गौ, ब्राह्मण, देवता, साधु, वेद तथा धर्म और अर्थ की रक्षा के निमित्त शरीर धारण करते हैं।

भगवान् इस जगत् की ब्रह्मा बनकर रचना करते हैं, इसी लिये मरीचि, अत्रि, अंगिरा, आदि प्रजापति भगवान् ब्रह्माजी के अवतार माने जाते हैं। ये ब्रह्मपुत्र प्रजापति सम्पूर्ण सृष्टि

को उत्पन्न करते हैं। उत्पन्न की हुई सृष्टि का भगवान् विष्णु बनकर पालन करते है, अतः अंशावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार, ज्ञानावतार, आवेशावतार, कलावतार, तथा पूर्णावतार आदि अनेक अवतार रखकर श्रीहरि इस जगत् में क्रीड़ा करते, विश्व का पालन करते हैं। विश्व का पालन गौ के बिना हो नहीं सकता। गौ के दो रूप हैं। पृथिवी रूप से तो वह सब को अपने ऊपर धारण करती है और कामधेनु रूप से प्राणियों का इस लोक तथा परलोक में कल्याण करती है। गौका रोम रोम पवित्र है। उसका गोरस अमृत है। मूत्र, पुरीष सभी पापों को नाश करने वाला है, उसके दुग्ध से प्राणियों का पोषण होता है। परलोक में जहाँ कोई भी सगा सम्बन्धी, धन, वैभव नहीं जा सकता, जिस वैतरिणी नदी को प्राणी किसी प्रकार पार नहीं कर सकता, वहाँ भी इस गौकी ही पूंछ पकड़कर पार होता है। उन गौओं पर जब क्रूरकर्मा पुरुष अत्यधिक अत्याचार करते हैं, तब भगवान् अवतार लेकर गौओं के दुखों को दूर करते हैं।

ब्राह्मण भगवान् के दूसरे रूप ही हैं, वे भगवान की वाणी वेद को पवित्रता के साथ धारण करते हैं। संसार में आसक्त प्राणियों को ज्ञान का पाठ पढ़ाते है। अज्ञानान्धकार में भटकते हुए जीवों को ज्ञानालोक दिखाकर सन्मार्ग पर लगाते हैं। यज्ञ योगों को कराते हैं, उन्हें पूजा प्रदान करके सन्तुष्ट करते हैं, पूजित हुए देव वृष्टि करते हैं अन्न होता है, उसे प्राणी खाते हैं अन्न खाकर प्राणी जीवन धारण करते हैं। अतः सृष्टि रक्षा के लिये ब्राह्मणों की रक्षा अत्यावश्यक है।

देवता दिव्य गुणों को धारण करते हैं। यज्ञ भाग ग्रहण करके प्राणियों को सुख प्रदान करते हैं। पुष्पों का उपभोग करते

हैं, दैवी सम्पत्ति का प्रसार करते हैं। चराचर विश्व में अधिष्ठातृ देव से निवास करते हैं। अतः देवताओं से धर्म द्वारा जगत् की रक्षा होती है। देवता नहीं तो धर्म नहीं। धर्म नहीं तो जगत् नहीं।

स्वर्ग में इन्द्रादि देव हैं और पृथिवी में साधु ब्राह्मण देवता हैं। साधु पुरुष ही धर्म को धारण करते हैं, वेद धर्म के मार्ग को बताते हैं। अर्थ काम के उपभोग की व्यवस्था बताते हैं। इसीलिये भगवान् निर्गुण से सगुण हो जाते हैं। निराकार से साकार रूप रख लेते हैं। नाना योनियों में अवतार रखकर क्रीड़ा करते हैं और जीवों को अपने देव दुर्लभ दर्शन से कृतार्थ करते हैं। भगवान् के मुख्य हेतु है भक्तों के ऊपर अनुग्रह करना, उन्हें अपने दुर्लभ दर्शन देकर संसार सागर से मुक्त करना। वे अवतार धारण करके दो ही कार्य करते हैं, जब धर्म निर्बल क्षीण हो जाता है, तो उसे सबल बनाने के निमित्त दुष्टों का संहार करते है. साधुओं की रक्षा करते हैं।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करते हैं, यह तो भगवान् अच्छा ही करते हैं, किन्तु इस काम को तो वे बिना अवतार लिये अपने संकल्प मात्र से कर सकते हैं, इसके लिये भगवान् को अवतार धारण करने की क्या आवश्यकता है। इसी के लिये निर्गुण से सगुण होना, निराकार से साकार होना यह तो उचित नहीं।

इस पर सूतजी बोले—"भगवन्! श्रीहरि तो साकार भी हैं, निराकार भी हैं, सगुण भी हैं निर्गुण भी। वे निर्गुण से सगुण बनते हैं या निराकार से साकार रूप रखते हैं, यह

कहना भ्रममात्र है। वे तो अखिल दिव्य गुणों के एकमात्र आश्रय नित्य साकार और सदा मूर्तिमान् रहते हैं। साधु रक्षण और असाधु विनाश कार्य वे संकल्प मात्र से अवश्य कर सकते हैं, किन्तु फिर भी वे करुणावश अवतार लेते हैं। भगवान इतने कारुणिक हैं, प्राणियों के इतने सहज सुहृद् हैं कि जीवों का दुःख उनसे देखा नहीं जाता, बिना अवतार लिये उन पर रहा नहीं जाता। यह उनके अतिशय करुणा का ही द्योतक है। इस विषय में मैं आपको एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।

प्राचीन काल में एक बड़े तार्किक राजा थे। उनका एक ब्राह्मण मंत्री बड़ा ही बुद्धिमान् था। वे उससे भाँति भाँति के तर्क किया करते थे। एक दिन राजा ने पूछा—"मंत्री जी! भगवान् स्वयं अवतार क्यों धारण करते हैं, यदि उन्हें धर्म की ही रक्षा करनी है, दुष्टों को ही मारना है तो अपने किसी पार्षद को शक्ति देकर भेज दिया करते। इन कामों को तो उनके सेवक ही कर सकते थे। अब देखिये, हमें किसी बड़े राजा से सन्धि-विग्रह करनी होती है तो हम स्वयं थोड़े ही दौड़े जाते हैं। अपना प्रतिनिधि दूत भेज देते हैं। कोई हमारे ऊपर चढ़ाई करता है तो हम स्वयं ही लड़ने तो जाते नहीं। सेनापति उन्हें जीत लेता है। नाम हमारा होता है। इसी प्रकार भगवान् को भी यह कार्य दूसरों से कराना चाहिए था। स्वतः क्यों विविध रूप बनाकर अवनि पर अवतरित होते हैं?

इस प्रश्न को सुनकर मन्त्री ने कहा—"महाराज! मैं कुछ काल पश्चात् इसका उत्तर दूँगा।"

राजा के एक इकलौता पुत्र था। राजा उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करता था। राजसभा से बीच में उठ कर पुत्र

को देखने जाता । उसके प्रति उसका अत्यधिक ममत्व था। सदा गोद में लेकर उसे खिलाता रहता। मन्त्री ने मोम की एक उस राजकुमार के अनुरूप एक सुन्दर मूर्ति बनाई। उस पर ऐसा रंग किया गया कि वह सर्वथा सजीव राजकुमार ही प्रतीत होता था। राजकुमार के जितने वस्त्राभूषण थे वे उसे पहिना दिये थे ? अन्तःपुर की एक दासी को मन्त्री ने मिला रखा था।

एक दिन राजा एक राजोद्यान के सुन्दर सरोवर के तीर पर मंत्री के सहित बैठे थे। सरोवर में बहुत जल था, कमल खिल रहे थे, रंग बिरंगी मछलियाँ इधर से उधर फुदक रही थी। उसी समय मंत्री ने उस सिखाई पढ़ाई दासी से कहा—"जाकर अन्तःपुर से राजकुमार को ले आओ।"

दासी को तो सब पहिले ही समझा दिया था, वह यथार्थ राजकुमार को न लाकर उस कृत्रिम राजकुमार को ले आई। मन्त्री ने पहिले ही बड़े उल्लास से कुमार को गोदी में ले लिया। कुछ काल तक तो उसे खिलाते रहे, फिर इधर उधर प्रेम पूर्वक हिलाते रहे। राजा बड़े प्रसन्न हो रहे थे। कोई किसी के बच्चे को प्यार करता है, तो माता पिता को बड़ी प्रसन्नता होती है। अतः राजा आनन्द में विभोर हो रहे थे, उसी समय मन्त्री ने उस बच्चे को उठाकर सरोवर में फेंक दिया। राजा तो घबड़ा गये। तुरन्त कपड़ों सहित सरोवर में कूद पड़े। झपट कर बच्चे को उठा लिया।

मन्त्रीजी किनारे पर ही खड़े खड़े हँसते हुए कह रहे थे—"महाराज ! महराज ! यह आप क्या कर रहे हैं। इतने सेवक समीप में काम कर रहे थे, उनमें से किसी को भी बुलाकर आप आज्ञा दे देते। आप स्वयं सरोवर में क्यों कूद ..

मैं स्वयं आपका सेवक समुपस्थित था, मुझे ही आज्ञा हो जाती।"

राजा ने देखा, कि राजकुमार यथार्थ नहीं है वह तो उसकी प्रतिमा है तब तो उन्हें बड़ा संतोष हुआ। क्रुद्ध होकर मन्त्री से बोले—"मन्त्री! तुमने ऐसी धृष्ठता मेरे साथ क्यों की?"

मन्त्री ने कहा—"अन्नदाता। उस प्रश्न का उत्तर देने के लिये मैंने यह सब किया था, जो आपने मुझसे पूछा था कि भगवान् स्वयं अवतार क्यों लेते हैं। अपने किसी पार्षदों को क्यों नहीं भेज देते?" महाराज! जिससे अधिक स्नेह होता है, उसका कार्य स्वयं ही करने में सुख होता है। दूसरों की कराई हुई सेवा से प्रेमी को संतोष नहीं होता। स्वयं अपने हाथों से खिलाने में स्वयं चरण सेवा करने मे जो सुख होता है, वह सेवकों द्वारा कराने में कहाँ प्राप्त हो सकता है। भगवान् के सबसे प्यारे भक्त हैं। भक्तों की रक्षार्थ श्री हरि स्वयं ही अवतरित होने को विवश हो जाते हैं। आपही देखें, आपकी एक वाणी सुनकर सहस्रों पुरुष आ सकते थे, सरोवर मे कूद सकते थे, किन्तु पुत्र स्नेह के कारण आप पर बैठा न रहा गया। आप स्वयं ही कूद पड़े। भगवान् अपने भक्तों पर करुणा करके ही अवतार लेते हैं। भक्तों की टेर सुनकर उनसे वैकुन्ठ में रहा नहीं जाता, तुरन्त वे अवनि पर उतर आते हैं और भक्तों को सुख देकर धर्म की स्थापना करते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"भगवन! करुणा करके अवतरित होते हैं, यह तो उनकी भक्त वत्सलता ही है, किन्तु उन्होंने मछली का ही रूप धारण क्यों किया? यह शरीर तो तमोगुण प्रधान अत्यन्त निन्दित और लोकों के भक्ष्य है।"

सूतजी बोले—"महाराज, मैं अनेक बार तो बता चुका हूँ, भगवान के लिये न कोई ऊँचा, न नीचा, उनकी जब जिस योनि में उत्पन्न होने की इच्छा होती है, तब उसी योनि में उत्पन्न हो जाते हैं। जीव प्रायः कर्मों के अधीन होकर नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। इन जीवों में से बहुत से अनुग्रह सृष्टि के भी जीव होते है। उनका संसार बन्धन भगवान् के दर्शन करने मात्र से ही छूट जाता है। उन्हें ८४ के चक्कर में फँसना नहीं होता। वे आरोहण अवरोहण क्रम के अपवाद होते हैं। प्रतीत होता है, उस समय बहुत से अनुग्रह सृष्टि के जीव जलचर देह में रहकर निवास करते थे, उन्हें भगवान् के मनुष्य रूप में दर्शन कैसे हों। इसी लिये भगवान् स्वयं जलचर बन गये। मछली के देह में जाकर भगवान् उसके सुख दुख से सदा निर्लिप्त ही बने रहे। जैसे किसी राजा के बहुत से मित्र किसी अपराध से राजकर्मचारियों द्वारा पकड़कर कारावास में बन्द कर दिये गये हैं। राजा को जब समाचार मिला, स्वयं कारावास मे पहुँच गया। उन्हें छुड़ा लाया। कारावास मे जाने पर उसे कारावास के कष्ट सहन नहीं करने पड़े। वह उनसे निर्लिप्त हो बना रहा कारावास में जाने पर भी वह सभी बन्दियों को नहीं छुड़ा लाया। जिस पर उसकी करुणा की दृष्टि हो गई, जिस पर रीझ गया, उसे साथ लेता आया। शेष सब उसी चक्कर में कर्मानुसार पिसते रहे। अतः भगवान अपने आश्रित जलचर भक्तों के निमित्त मछली बने होंगे। फिर उन्हें सप्तर्षियों की भी रक्षा करनी थी. पृथ्वी के बीजों को भी बचाना था। असुर द्वारा हरे हुए वेदों का भी उद्धार करना था इन्हीं सब कारणों से भगवान ने मत्स्यावतार धारण किया। द्रविड़ देश के

महाराजा सत्यव्रत पर भी अपने अनुग्रह की वृष्टि करनी थी। आगामी कल्प की भी सृष्टि करनी थी। क्षय हुए धर्म की भी वृद्धि करनी थी, इसीलिये भगवान् जलचर बने।

भगवान् का धर्म ही रूप है। धर्म जब क्षय हो जाता है, तो उसकी वृद्धि के लिये, वेदों का उद्धार करने के लिये भगवान् स्वयं अवतार धारण करते हैं। धर्म उनका शरीर है, वे धर्म के विग्रह हैं। एक बार भगवान् धर्म के पुत्र बनकर नर नारायण रूप से भी अवतरित हुए हैं। वे धर्म का सर्वथा क्षय नहीं देख सकते। जब जिस प्रकार के धर्म की स्थापना करने की आवश्यकता समझते हैं, तब तैसा ही रूप रख लेते हैं। इसीलिये प्रत्येक युग के अन्त में युगावतार मन्वन्तर के आदि में मन्वन्तरावतार और कभी विशेषावतार धारण करके धर्म की स्थापना करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब धर्म नित्य है भगवान् का विग्रह ही है, सनातन है, तो फिर उसका क्षय क्यों होता है, वह घटता बढ़ता क्यों है?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! धर्म को पतिव्रता का शाप हो गया था, इसीलिये चन्द्रमा की भाँति उसका क्षय होता रहता है। क्षय तो क्रमशः होता है, किन्तु उसकी वृद्धि एक साथ हो जाती है। इसीलिये घोर कलियुग के पश्चात् शुद्ध सत्ययुग हो जाता है।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब धर्म अक्षय और और सनातन है तो उसे किसी का शाप कैसे लग सकता है?" यह तो संदेह की बात है।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज! काहे की संदेह की बात है। आप सब जानते हैं। यह सब

भगवान् की क्रीड़ा है। धर्म की बात तो पृथक् रही, स्वयं साक्षात् भगवान् को भी शाप वश अवतार धारण करना पड़ता है। भृगु ऋषि ने क्रुद्ध होकर भगवान को शाप दिया था, कि आपको पृथ्वी पर भिन्न भिन्न योनियों में १० अवतार धारण करने पड़ें। उसी शाप का फल भगवान् भोग रहे हैं। यद्यपि भगवान् को शाप कौन दे सकता है, वे तो कर्म बन्धनों से सर्वदा विमुक्त हैं, फिर भी खेल के लिये, संसार चक्र को चलाने के लिये वे शाप को ग्रहण करते हैं। अपनी इच्छा से प्रेरणा करके शाप दिलाते हैं फिर उसी के अनुरूप लीलायें करते हैं। इसी प्रकार धर्म को भी भगवान को इच्छा से चारों युगों की कल्पना कराने के लिये भगवान् ने पतिव्रता से शाप दिला दिया।

शौनकजी ने यह सुनकर सूतजी से पूछा—"सूतजी! धर्म को किस पतिव्रता ने किस कारण शाप दिया पहिले इस कथा को सुनाकर तब भगवान् की मत्स्यावतार की कथा आप हमे सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! मैं तुम्हे धर्म की शाप की कथा सुनाता हूँ, उसे आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।

छप्पय

धर्म मूल भगवान् धर्म धरनी कूँ धारें।
जग महँ होहि न धर्म मातु संतति कूँ मारें॥
दृढतर रक्षित धर्म करै रक्षक की रक्षा।
लै कें हरि अवतार धर्म की देवै शिक्षा॥
सत्य सनातन धर्म की, प्रभु युग युग रक्षा करत।
जलचर थलचर गगनचर, धर्म हेतु हरि तनु धरत॥

धर्मको क्षयिष्णु होने का शाप

(५८४)

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥१

(श्री भा० ९ स्क० २४ अ० ५६ श्लो०)

छप्पय

प्रथम एक रस रह्यो धर्म सतयुग ही होवे ।
किन्तु कपट व्यवहार नित्यता नर की खोवे ॥
पिप्लादि मुनि पत्नि परीक्षा लई धर्म जब ।
कहे अटपटे वचन सती अति क्रुद्ध भई तब ॥
पतिव्रता के शापवश, धर्म वृद्धिक्षय युत भये ।
त्रेता, द्वापर, सत्य, कलि, तबई तै युग बनि गये ॥

नित्य प्रभु की लीला भी नित्य है, उनका रचा जगत् नित्य है, उनकी क्रीड़ा भी नित्य है। फिर गुणमयी माया के संसर्ग होने से अज्ञान वश अनित्य को नित्य समझकर प्राणी नित्यता

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस संसार में जब जब धर्म का क्षय हो जाता है और पाप की वृद्धि हो जाती है, तब तब सब के स्वामी श्रीहरि भगवान् अवनि पर अवतरित होते हैं।

से दूर होकर क्षयिष्णु सा बन जाता है। यह संसार उन सर्वात्मा प्रभु की क्रीड़ा भूमि है, उनकी रंगशाला है, इसमें वे नाना प्रकार का अभिनय करते रहते हैं। उनके विनोद के अतिरिक्त इस जगत् की कुछ भी सत्ता नहीं। वे नाना रूप रखकर नाना क्रीड़ायें करते हैं। समस्त घटनाओं को जो भगवान की लीला समझते हैं, वे सुखी रहते हैं, जो इनको अन्यथा समझते हैं वे भ्रम में पड़ते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे धर्म को क्षयिष्णु होने का शाप क्यों मिला इस विषय की कथा पूछी थी, मैं उसे आपको सुनाता हूँ। महाराज मनु के वंश में एक अनरण्य नामक बड़े तेजस्वी प्रतापवान तथा धर्मात्मा राजा हो चुके हैं। वे राजर्षि अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे। महाराज के १०० पुत्र थे, किन्तु उनके कोई कन्या नहीं थी। मुनियो! आप लोग तो जन्म से ही घर गृहस्थी से दूर रहे हो। आप तो कभी गृहस्थ के झंझट में फँसे ही नहीं। गृहस्थियों के यहाँ कन्या की अपेक्षा पुत्र उत्पन्न होने पर अधिक प्रसन्नता होती है। यही नहीं, किन्तु कई बार पुत्री हो पुत्री उत्पन्न हों तो विषाद भी होता है। फिर भी सभी की इच्छा होती है एक दो कन्या हमारे यहाँ अवश्य हों। शास्त्रों में भी कन्यादान को सब दानों में श्रेष्ठ बताया है। पुत्र यदि योग्य हुआ तो अपने कुल की ही कीर्ति बढ़ावेगा, किन्तु कन्या यदि योग्य पतिव्रता हुई तो वह मातृकुल पितृकुल और पतिकुल तीनों ही कुलों की कीर्ति को विमल बनाती है। इसलिये सभी सद् गृहस्थ भाग्यवती कन्या की इच्छा करता है। महाराज अनरण्य के पुत्र तो १०० थे, किन्तु उनके कोई कन्या नहीं थी। इसलिये राजा रानी चाहते

थे, हमारे अब के कन्यारत्न का जन्म हो। स्त्रियों को जितना सुख जामाता को भोजन कराने में होता है, उतना पुत्र को भोजन कराने में भी नहीं होता। भगवान् ने राजा रानी की इच्छा पूर्ण की। अब के उनके यहाँ कन्या का जन्म हुआ कन्या भी ऐसी वैसी नहीं साक्षात् लक्ष्मी के समान वह सुन्दरी थी। उसके अङ्ग प्रत्यंग इतने सुन्दर थे कि जो भी देखता, उसी का मन मुकुरखिल जाता। चंपा की कलिका के समान, साकार सुन्दरता मूर्तिमती शोभा के समान वह कन्या थी। राजा रानी तो अनुपम रूप लावण्य युक्त कन्या को पाकर परम प्रसन्न हुए। शुक्ल पक्ष के चन्द्र की कला के समान, शरद्काल की कमलिनी के समान वह राजमहल में बढ़ने लगी। वह कन्या ज्यों ज्यों बढ़ती थी त्यों त्यों उसका सौन्दर्य और बढ़ता तथा निखरता जाता था। उसे साक्षात् पद्महस्ता लक्ष्मी के समान समझकर माता पिता तथा पंडित पुरोहितों ने उसका नाम पद्मा रख दिया था। यथार्थ में वह पद्मा ही थी। बाल, पौगंड और किशोरावस्था को पारकरके पद्मा ने यौवनावस्था में प्रवेश किया। यौवन में पदार्पण करते ही उसके अंग प्रत्यंग से आभा फूट फूट कर निकलने लगी। उसकी वाणी में, चाल में चितवन में, हँसन में तथा समस्त क्रियाओं में एक प्रकार का विचित्र परिवर्तन हो गया। माता पिता ने जब अपनी प्राणों से भी प्यारी पुत्री को युवावस्थापन्न देखा, तो उन्हें उसके अनुरूप पति की चिन्ता हुई। राजा रानी की इच्छा थी, संसार में सर्वश्रेष्ठ सुन्दर किसी परम पराक्रमी राजकुमार के साथ इसका विवाह किया जाय। इसके लिये उन्होंने देश देशान्तरों के राजाओं के यहाँ दूत भेजे। राजा के समीप आकर बहुत से राजाओं ने यहाँ तक कि देवताओं

ने भी आकर—पद्मा के लिये प्रार्थना की किन्तु महाराज ने भी कह दिया—" मेरी पुत्री मर्त्यलोक की है, अतः मैं मर्त्य-लोक के किसी सर्व श्रेष्ठ वर के साथ इसका विवाह करूँगा। अब राजा को सोते, जागते, उठते, बैठते, एक ही चिन्ता थी कि मेरी पुत्री के लिये कोई योग्यवर मिले, किन्तु जैसा वे चाहते थे, वैसा राजकुमार अभी तक उन्हें कोई मिला नहीं। इसीलिये राजा रानी कुछ अधिक चिन्तित रहने लगे।

उन्हीं दिनों महाराज के राज्य में दधीचि मुनि के पुत्र महा-मुनि पिप्पलाद घोर तपस्या कर रहे थे। दधीचि मुनि ने जब देवताओं के कार्य के लिये जीवित ही अपना शरीर समर्पित कर दिया, तब ये महामुनि अपनी माता के गर्भ में थे। दधीचि मुनि की पत्नी को पति की स्वेच्छा मृत्यु पर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपने पेट को विदीर्ण करके गर्भस्थ बालक को पीपल के पेड़ के नीचे रख दिया और वे अपने पति के साथ सती हो गईं, पीपल के पेड़ों के अधिष्ठातृ देवों ने बालक की रक्षा की। पीपल के फल खाकर ही वे बड़े हुए, इसीलिये वे पिप्पलाद के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे हजारों वर्षों तक बड़े बड़े कठोर नियमों का पालन करते हुए तपस्या करने लगे। तपस्या करते-करते वे बूढ़े हो गये थे। उन्होंने न विवाह किया, न गृहस्थ धर्म का अनुभव ही, जीवन भर वे तपस्या ही करते रहे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस मनका विश्वास नहीं, कब कहाँ फिसल जाय। इसीलिये जब तक जीवन है, तब तक इस मन का कभी विश्वास न करे कि हमने इसे वश में कर लिया। जैसे दस्यु का विश्वास नहीं किया जाता, वैसे ही अविश्वसनीय यह मन है। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है,

कि अब यह सर्वथा वासना रहित हो गया। फिर न जाने कहाँ से विषयों के सम्मुख होते ही यह चंचल हो उठता है और विवेक को दबाकर जीवों पर अपना आधिपत्य जमा लेता है। पिप्पलाद मुनि बड़े जितेन्द्रिय तथा धैर्यवान थे, किन्तु प्रारब्धवश मनने उनके साथ विश्वासघात किया। एक दिन वसंत की वेलामें वनसे पुष्प, फल, मूल, समिधा, तथा कुशाओं को लेकर मुनि अपने आश्रम को लौट रहे थे, इतने ही में उन्होंने क्या देखा कि एक गन्धर्व अपनी बहुत सी अत्यंत सुन्दरी गन्धर्वियों के साथ नदी तट पर बैठा था। कल कल करती हुई स्वच्छ सलिलवाली सरिता द्रुत गति से बह रही थी। पर्वत की उपत्यका में हरी हरी दूब चारों ओर जमी हुई थी। सभी छोटे बड़े वृक्ष फल और पुष्पों के भार से नमित थे। मन्द सुगन्धित, सुखकर समीर बह रही थी, चारो ओर की फूली हुई लतायें हिल रही थी। वे गन्धर्वियाँ उस गन्धर्व की अत्यंत स्नेह से सेवा कर रही थी, वे अपना सर्वस्व समर्पित करके स्नेह भरित हृदय से उसकी उपासना कर रही थीं। वह भी उन पर अत्यंत स्नेह से अपना समस्त प्रेम उड़ेल रहा था। कोई गा रही थी, कोई नाच रही थी, कोई उसके चरणों को शनैः शनैः दबा रही थी, किसी की गोदी में सिर रखकर वह सो रहा था। कोई उसे अत्यंत स्नेह से निहार रही थी, कोई अपने अंगवस्त्र से उसकी वायु कर रही थी। वह भी अपने आपको भूले हुए उनके अनुराग में आत्म विस्मृत बना अपने को सब से अधिक सुखी अनुभव कर रहा था। वहाँ दोनों ओर से अनुराग की बाढ़ सी आ रही थी।

महामुनि पिप्पलाद ने दूर से ही उनकी कमनीया कामक्रीड़ा को देखा। मन अटक गया, पैरों ने सत्याग्रह कर दिया। चित्त

चंचल हो उठा। मुनिने सोचा जीवन भर कठोर नियमों का पालन किया, न कभी पेट भरकर भोजन किया, न कभी हँसकर किसी से दो बातें की। कठोर नियमों के बन्धन में फँसकर हमारा तो हृदय भी पत्थर के समान हो गया। हममें और इन पर्वत खंडों मे क्या अन्तर है। जिस हृदय में सरलता नहीं वह तो लोहसार है, पाषाण है, निर्जीव है। इतने दिन तपस्या में मुझे कभी ऐसा आनन्द नहीं आया, जैसा इन लोगो की क्रीड़ा देखने मे आ रहा है। क्यों न मै भी इस गृहस्थ धर्म के आनन्द का अनुभव करूँ। बहुत दिन तिक्तकषाय कच्चे फल खा खाकर तपस्या की, अब कुछ सरलता का भी तो अनुभव करना चाहिये।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! हृदय जितना ही निर्विकार होता है, उसमें इच्छा उत्पन्न होने पर उतनी ही अधिक तीव्र प्रतिक्रिया भी होती है। मुनिने समिधाओं का गट्ठर पटक दिया। कुशाओं को फेंक दिया। फल फूलों को बखेर दिया और अब वे चले विवाह की खोज में। चलते चलते आगे उन्हें पुष्पभद्रा नामक नदी मिली। वह बड़ी ही वेगवाली पतली बालिका के समान द्रुतगति से बहने वाली नदी है। दैवयोग से उस दिन कोई पर्व था। पद्मा अपनी सखियों के सहित पुष्पभद्रा में स्नान करने आई थी। भाग्यवश मुनि की दृष्टि उस राजकुमारी के ऊपर पड़गई। उसके अनवद्य सौन्दर्य तथा अनुपम रूप लावण्य को देखकर मुनि तो मन्त्रमुग्ध की भांति उसे देखते के देखते ही रह गये। ऐसा सौन्दर्य उन्हें सुरललनाओं में भी देखने को नहीं मिला था। आज तक इतनी सुन्दरी स्त्री उन्होने देखी ही नहीं थी। मुनि ने राजा के सेवक

अनुचरों से उस राजकुमारी का परिचय प्राप्त कर लिया और

यह भी जान लिया कि यह अभी अविवाहित है। फिर क्या

था, सीधे धड़ धड़ाते हुए महाराज अनरण्य की राजसभा में मुनिवर पहुँच ही तो गये।

राजा ने महामुनि पिप्पलाद को आते देखा, तो वे सहसा अपना सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये, उन्होंने पाद्य, अर्घ्य मधुपर्क आदि से मुनिकी पूजा की। फिर अनेक प्रकार के स्तुति वचन कहकर मुनि के आगमन का कारण जानना चाहा। राजा ने कहा—"मुनिवर! हम अधम गृहस्थियों को कृतार्थ करने ही महत् पुरुष पर्यटन करते रहते हैं। आपने अपने इस सेवक पर बड़ी कृपा की जो अपने देवदुर्लभ दर्शन देकर मुझे कृतार्थ किया। फिर भी मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप किसी विशेष प्रयोजन से तो नहीं पधारे हैं?"

मुनि ने गम्भीर होकर कहा—"राजन्! अवश्य मैं आज एक विशेष इच्छा लेकर आपके समीप आया हूँ। आपको मेरी वह इच्छा पूरी करनी ही होगी।"

अत्यंत ही उल्लास के स्वर में राजा ने कहा—"ब्रह्मन! यह मेरा अहोभाग्य है, मैं आज कृतार्थ हो गया, जो महात्माओं ने मुझे भी सेवा के योग्य समझा। द्विजवर मेरा राज, कोष, तथा सर्वस्व सब आपका ही है। आप जो भी माँगना चाहें निःसंकोच मागलें।"

महामुनि पिप्पलाद बोले—"हे नृपवर्य्य! ऐसे वचन आपही कह सकते हैं। आपके द्वार से कभी याचक विमुख नहीं जाते। महाराज! मेरी इच्छा गृहस्थ सुख भोगने की हो गई है। अतः आप अपनी कन्या पद्मा को मुझे विवाह के लिये दे दीजिये।"

यह सुनते ही राजा किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये। उनके सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकलने लगा। उन्हें संसार सूना दिखाई देने लगा। न वे "हाँ" कर सके न "ना" ही। वे चुप चाप नीचा सिर करके पृथ्वी को निहारते रहे।

मुनिवर राजा के भाव को समझ गये। साल छै महीने की तपस्या से ही कितना अभिमान हो जाता है, फिर मुनिके पास सहस्रों वर्षों की तपस्या का कोष संचित था। उनके सम्मुख राजा महाराजा क्या थे। अपनी इच्छा का विघात होते देखकर कामी मुनि को क्रोध आ गया। उन्होंने लाल लाल आँखे करके कहा—"राजन्! तुम्हारे भाव को मैं समझ रहा हूँ। तुम विश्वास रखो, यदि तुमने मेरी इच्छा का विघात किया, तो मैं शाप देकर तुम्हारा सर्वस्व नष्ट कर दूँगा।"

इस बात से तो महाराज का रहा सहा धैर्य भी छूट गया। वे बच्चों की भाँति फूटफूट कर रोने लगे। वे अपने प्राणों से प्यारी सुकुमारी कन्या के लिये क्या क्या सोच रहे थे। कितनी इच्छायें लेकर इसे पाला था, कैसे सर्वगुण सम्पन्न वर का मैं स्वप्न देख रहा था, आज अपनी फूल सी कोमलाङ्गी कन्या को इन वृद्धावस्थासे जर्जर भैंसे के समान कठोर चर्म वाले रूखी दाढ़ी मूँछ और जटाओं वाले मुनिको देकर मैं कैसे जीवित रहूँगा। यह तो वैसे ही हुआ कि गौ को बड़े लाड़ प्यार से पाला पोसा अन्त में उसे कसाई को दे डाला। राजा डर के कारण थर थर काँप रहे थे। उनके नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाह हो रहा था। क्षण भर में बात सर्वत्र फैल गई। अन्तः पुर में जब रानियों ने यह समाचार सुना तो वे सब कुररी पक्षी की भाँति रुदन करने लगी। कन्या की माता तो मारे शोक के मूर्छित

ही हो गई। राजसभा में सर्वत्र सन्नाटा छा गया। समाचार सुनकर पुरोहित और राजा के कुलगुरु आये। उन दोनों ने राजा को—इस दशा में देखा, तो वे बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने अनेक मधुर मधुर वचन कहकर राजा को धर्मका तत्त्व समझाया। वे बोले—"महाराज! आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों कन्या तो आपको किसी न किसी को देनी ही है। सयानी कन्या को सदा घर में कौन रख सकता है। पिता तो कन्या का पालन दूसरे के निमित्त ही करता है। महाराज! श्रेष्ठ वरके प्राप्त होने पर पिता को तुरन्त कन्या दे देनी चाहिये। युवावस्थापन्न कन्या को अधिक दिन घर मे रखना उचित नहीं। राजन्! ब्राह्मण से बढ़कर सत्पात्र संसार में और कहाँ मिलेगा। यह तो आपका बड़ा सौभाग्य है कि इतने बड़े तपोधन मुनि ने स्वयं ही आपके द्वार पर आकर कन्या की याचना की है। यदि आप मोहवश कन्या न देंगे, तो ये क्रुद्ध हुए मुनि अवश्य ही आपके सर्वस्व का नाश कर देंगे। महाराज! क्रुद्ध हुआ तपस्वी ब्राह्मण वाध से भी अधिक भयंकर हो जाता है। अतः एक कन्या के पीछे आप अपने सम्पूर्ण राज्य का क्षय न करावें। प्रसन्नता पूर्वक अपनी कन्या को इन्हें देदें।"

राजा बुद्धिमान थे, गुरु के अनुशासन में चलने वाले थे, सब कुछ आगे पीछे की सोच कर और इसी में अपने राज्य का कल्याण समझकर उन्होंने कन्या को मुनिके लिये देना स्वीकार कर लिया। मन से तो उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई। किन्तु सोचा—"एक को देकर सर्वस्व की रक्षा की जा सकती हो, तो एक को देना ही बुद्धिमानी है। अतः उन्होंने कन्या को वस्त्राभूषणों से विधिवत अलंकृत करके शास्त्रीय रीति से मुनि

को वह देदी। अबतो कमला के समान पद्मा को पाकर पिप्पलाद मुनि परम प्रसन्न हुए और उसे अपने आश्रम को लेकर चल दिये। इधर राजा को बड़ी मानसिक ग्लानि हुई, वे उसी समय राज्यपाट अपने पुत्र कीर्तिमान् को सौंपकर वन में तपस्या करने चले गये। कन्या की माता ने दुःख शोक के कारण वहीं अपने प्राणों को त्याग दिया। महाराज अनरण्य भगवान् की आराधना करते हुए अन्त में परलोक वासी हुए।

इधर महामुनि पिप्पलाद अपनी प्रिया पद्मा के साथ रह कर गृहस्त धर्म के सुखों का उपभोग करने लगे। संस्कारवश उनके मनमें ऐसी इच्छा उत्पन्न हो गई थी, नहीं तो वे सदाचारी तपस्वी दृढ़व्रत मुनि तो थे ही। इसीलिये उन्होंने धर्म पूर्वक विवाह किया और शास्त्रीय विधि से गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे। इतनी सुन्दरी पद्मा को पाकर भी वे लम्पट नहीं हुए। अपने चित्त को वश में रखकर धर्म पूर्वक व्यवहार करते। पद्मा भी मुनि को अपना सर्वस्व समझती। उसने सर्वात्मभाव से अपने को मुनि के चरणों में समर्पित कर दिया था। जिस दिन वह मुनि के साथ आई उसी दिन से उसने राजपुत्री का अभिमान छोड़ दिया। अपने को पत्नी समझकर छोटे बड़े सभी कामों को स्वयं अपने हाथों से ही करती। दिनभर मुनिकी सेवा में ही जुटी रहती। अपनी ऐसी सेवा से उसने मुनिवर पिप्पलाद को परम सन्तुष्ट कर लिया। वह घड़ालेकर पुष्पभद्रा नदी में जाती और जलभर कर स्वयं ही ढोकर उसे लाती।

एक दिन वह जल भरने जा रही थी, कि मार्ग में उसने सुवर्ण मंडित एक रथ में अत्यन्त ही तेजस्वी रूपवान् एक राजा को देखा। इस घोर अरण्य में ऐसे मलिन वसनपहिने

इतनी सुन्दरी स्त्री को देखकर राजा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वह शीघ्रता के साथ पद्मा के समीप आया और अत्यन्त ही विनीत भाव से आकर कहने लगा—"देवी! तुम तो राजरानी होने योग्य हो। हे सुभगे! तुम यहाँ निर्जन वन में कहाँ आ फँसी। कहाँ तो तुम्हारा यह अनुपम रूप लावण्य, सर्वश्रेष्ठ युवावस्था और कहाँ वह बूढ़ा मरणोन्मुख वृद्ध मुनि। हेतन्वङ्गि! मैं सत्य कहता हूँ, तुम इस बूढ़े तापस के योग्य नहीं हो। यह तो तुम्हारे साथ अन्याय किया गया है। यौवन की सफलता इसी में है कि युवती को रतिप्रिय पुरुष प्राप्त हो, और पुरुष को सर्वाङ्ग सुन्दरी सुलक्षणा, अनुरूपा स्थिर यौवना पत्नी प्राप्त हो। हे भामिनि! मैं एक देश का राजा हूँ, अनेकों मेरे यहाँ रानियाँ हैं, तुम मेरे महलों में चलो वहाँ सब की अधीश्वरी बनकर रहो। इस वृद्धावस्था से जर्जर, बूढ़े खूँसट मुनि को छोड़कर मुझे अपना किंकर बनालो। मेरे साथ निर्जन वन उपवनों में, काननों में, रम्य पर्वतीय प्रान्तों में नदी और निर्झरों के तटों में विहरो, आमोद प्रमोद करो, अपने यौवन को सफल बनाओ। इस धर्म कर्म के पचड़े को छोड़ो, ~~धनिक~~ को प्रलोभन स्वार्थियों ने देखा है। धर्म वही है जिससे इन्द्रिय सुख हो।" इस प्रकार उसने अनेक प्रकार से पद्मा के चित्त को डिगाना चाहा।

उसकी ऐसी बातें सुनकर क्रुद्ध हुई सर्पिणी के समान उसे अपनी लाल लाल आँखों से जलाती सी हुई पद्मा कहने लगी—"अरे, नीच! तू तत्क्षण यहाँ से भाग जा। हे पापात्मा! यदि तैंने मुझे काम भाव से देखा, तो तू इसी क्षण भस्म हो जायगा। यह तो कैसी धर्म विरुद्ध बातें कह रहा है! क्या मैं इन तपोधन परमर्षि के प्रति मनसे भी अश्रद्धा कर

सकती हूँ। तुम स्त्रीजित, कामी लम्पट नीच को तो देखना भी पाप है। तैंने नीचता की पराकाष्ठा करदी। मुझे देखना ही था, तो, तू मुझे मातृबुद्धि से देखता, स्त्री बुद्धि से तैंने कामात होकर मुझे देखा है, अतः जा तुझे क्षय हो जाय।"

इतना सुनते ही वह अपना छद्म वेष त्याग कर अपने यथार्थ रूप में आगया। वास्तव में वह राजा नहीं था, साक्षात् धर्म ही पद्मा की परीक्षा लेने वेष बदलकर आये थे, वे यह जानना चाहते थे, कि वृद्ध पति को पाकर पद्मा हृदय से सन्तुष्ट है या नहीं। सो यहाँ तो लेने के देने पड़ गये धर्म-देव बड़े घबराये वे अपने साक्षात् रूप से पद्मा के सम्मुख खड़े हो गये और विनीत वचनों मे काँपते हुए बोले—"हे माता! मैं साक्षात् धर्म हूँ। मैं तो केवल परीक्षा लेने आया था। मेरा कोई दूषित भाव नहीं था। आपने अपने पातिव्रत के प्रभाव से मुझे शाप दे दिया, यह उचित ही किया विधि का ऐसा ही विधान है। सर्वात्मा प्रभु की यही इच्छा थी जगत् का कल्याण करने वाले शिव सृष्टि के लिये मुझे क्षयिष्णु ही बनाना चाहते थे। उसे उन्होंने आपके द्वारा शाप दिलाकर पूरा किया। इसी को लेकर सर्वेश्वर नाना अवतार धारण करेंगे! जो प्रभु इस चराचर विश्व का लीला से ही पालन पोषण कर रहे हैं उन सर्वात्मा प्रभु को प्रणाम है।" इस प्रकार कहकर धर्म शान्त होकर पतिव्रता के सम्मुख खड़े हो गये।

पिप्पलादि पत्नी पद्मा ने जब अपने सम्मुख साक्षात् मूर्तिमान धर्म को देखा, तब तो वह चकित रह गई। अत्यंत आश्चर्य के साथ वह कहने लगी—"धर्मदेव! आप सभी प्राणियों के पाप पुण्य के साक्षी हैं, फिर आप मुझसे ऐसी अधर्म की बात क्यों

कह रहे थे। क्यों मेरे मनको मथकर चित्त को विलोडित कर रहे थे। प्रभो ! मैंने बिना जाने आपको शाप दे दिया था, इस लिये आप मुझे क्षमा करें। मेरा शाप तो मिथ्या हो नहीं सकता अब इसकी यही व्यवस्था हो, कि सत्ययुग में आपके चारो चरण रहेंगे। फिर क्रम से त्रेता मे तीन, द्वापर मे दो कलि में में एक, और कलि के अंत में आपके चारों पाद नष्ट हो जायँगे। सत्ययुग में फिर चार के चारों हो जायँगे। भगवान आपकी रक्षा करेंगे। अच्छी बात है, आप अपने घर जायँ। मुझे पतिसेवा के लिये विलम्ब हो रहा है।।"

यह सुनकर धर्म अत्यंत प्रसन्न हुए और बोले—"देवि ! मैं तुम्हारे पातिव्रत से अत्यंत ही सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हें वर देता हूँ, तुम्हारे पति परम सुन्दर युवावस्थापन्न हो जायँ। आप १० पुत्रों की जननी हों। आपके यहाँ सभी समृद्धियाँ भरी रहें। आपकी मति सदा मुझमें लगी रहे। आपको कभी किसी वस्तु की कमी न रहे। आपका सौभाग्य सदा बना रहे।"

धर्म के मुख से ऐसे वरों को पाकर पद्मा अत्यंत सन्तुष्ट हुई। उसने पृथिवी में सिर टेककर धर्म को प्रणाम किया, उनकी प्रदक्षिणा की और धर्म से आज्ञा पाकर पुष्पाभद्रा से जल भरकर वे अपने आश्रम में चली गईं। वहाँ जाकर वे क्या देखती हैं कि उनके पति कामदेव के समान सुन्दर युवावस्थापन्न बने मन्द मन्द मुस्करा रहे हैं। चारों ओर सम्पत्ति के ढेर लगे हैं। सुन्दर सुन्दर महल खड़े हैं। अपनी प्राणप्रिया पतिव्रता पत्नी के ऐसे पतिव्रत के प्रभाव को पिप्पलादि मुनि योगद्वारा जानकर परम प्रसन्न हु। काल पाकर पद्मा के गर्भ से १० पुत्र हुए जो परम तेजस्वी मुनि हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने संक्षेप में धर्म को क्षयिष्णु होने की कथा आपको सुनादी। भगवान् इसी क्षीण हुए धर्म की स्थापना के निमित्त अवतार लेते हैं। जब जैसी आवश्यकता देखते हैं तब वैसा ही रूप रखकर प्रभु धर्म की स्थापना करते हैं। मत्स्य रूप रखकर भगवान् ने जो कार्य किया, उसे महाराज परीक्षित् के पूछने पर जैसे मेरे गुरुदेव भगवान शुक ने वर्णन किया था उसे मैं आप सबको सुनाऊँगा। आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

होहि धर्म की हानि तबहिँ हरि प्रकटित होवैं।
तानि दुपट्टा अन्य समय पयनिधि मय सोवैं॥
जस जस अवसर लखैं तबहिँ तस वेष बनावैं।
नाना लीला करैं वेदहू पार न पावैं॥
नैमित्तिक लय जब भयो, ब्रह्माजी निद्रित भये।
सत्यव्रत राजर्षि हित, श्रीहरि मछली बनि गये॥

महाराज सत्यव्रत पर मत्स्य भगवान् की कृपा

(५८५)

एकदा कृतमालायां कुर्वते जलतर्पणम् ।
तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत ॥
सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत ।
उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० १२, १३ श्लो०)

छप्पय

कृतमाला महँ करहिँ द्रविणपति जल तें तरपन ।
अञ्जलि महँलघु मत्स्य निरखि कीयो जल अरपन ॥
मछली ह्वै के दीन कहे—नृप रक्षा कीजे ।
आई तुमरी शरन सत्यव्रत आश्रय दीजे ॥
दीन बचन सुनि लाइ नृप, कलश रखी सो बढ़ि गई ।
नाद सरोवर, ताल महँ, धरी तहाँ लम्बी भई ॥

भगवान् जिस रूप को रखते हैं, उसके अनुरूप नहीं बन

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे भारतवंशावतंश राजन्! द्रविड़ देश के महाराज सत्यव्रत एक बार कृतमाला नदी मे जल तर्पण कर रहे थे, उसी समय उनकी अञ्जलि में एक मछली आ गई। राजा ने उस अञ्जलि में आई हुई मछली को जल सहित नदी के जल में छोड़ दिया।

जाते हैं. किन्तु उनका अनन्त ऐश्वर्य छिपाने पर भी नहीं छिप सकता। अग्नि को कितने भी कपड़ों के परत में लपेट कर रखिये, कुछ काल में प्रकट हो ही जायगी। भगवान् जिस देह में भी अवतार धारण करें, अपनी महिमा से वे प्रकट हो ही जाते हैं। वे किसी सुकृति भाग्यशाली को ही दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं जिसने वे दर्शन कर लिये, फिर वह उन्हीं का इच्छा यन्त्र बन जाता है। यन्त्र तो सभी उनके हैं। उनकी इच्छा के बिना तो पत्ता भी नहीं हिलता। फिर भी अज्ञानी लोग इस रहस्य को समझ नहीं पाते। उनके आश्रित भक्त इस बात को समझ कर सब कार्यों में उन्हीं का हाथ निहार कर निश्चिन्त और शान्त हो जाते हैं। इतना ही अन्तर है।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे है—"राजन! यह जो वर्तमान श्वेतवाराह कल्प चल रहा है, इससे पहिले कल्प में जब ब्रह्माजी का एक दिन समाप्त हुआ। रात्रि के आने पर जब वे योग निद्रा मे शयन करने को उद्यत हुए अर्थात् कल्पान्त प्रलय का समय आया, तो निद्रित हुए ब्रह्मा जी के मुख से हयग्रीव नामक एक दैत्य उसी प्रकार निकल कर भाग गया जैसे जाल में से मछली निकलकर भाग जाती है। जैसे पिंजड़े में से पक्षी निकल जाता है। घर का द्वार खोलकर सामान लेकर चोर निकल जाता है। समीप ही वहाँ वेद पड़े हुए थे। दैत्य ने सोचा—"जो मिले सोई सही, इसलिये वेद को भी वह ले भागा और जाकर पाताल में छिप गया। ब्रह्माजी तो सो ही रहे थे, उन्हें तो इस चोर का पता चला नहीं, किन्तु सब के सोने पर भी जो निरन्तर जागते रहते हैं वे हरि तो उस दुष्ट की सब बातें जानते थे, अतः मछली का रूप रखकर

पातालके जलमें गये और उसे मारकर वेदों को छीन लाये।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह बात कुछ हमारी समझ में आई नहीं। जब तीनों लोकों का प्रलय हो गया, तो फिर वह राक्षस कहाँ से आ गया। तब तो कोई जीव था ही नहीं। फिर आप कहते हैं ब्रह्मा जी के पास में पड़े वेदों को हर ले गया। तो क्या वेदों की पुस्तक को ले गया था? यदि वेदों की पुस्तक को ले गया तो वह जल में गली क्यों नहीं? भगवान् ने मछली बनकर कैसे उद्धार किया, वह दैत्य रहा कहाँ, पाताल तो तब था ही नहीं?"

यह सुनकर सूतजी हँसते हुए बोले—'महाराज! ये सब सूक्ष्म जगत् की बातें हैं। प्रलय काल में जीव कहीं चले थोड़े ही जाते हैं, वे सब ब्रह्माजी के उदर में ही निवास करते हैं। जैसे पंसारी की दुकान में जितनी वस्तुएँ हैं, रात्रि होते ही वे नष्ट तो नहीं की जाती दुकान में रखकर दुकानदार सो जाता है, प्रातः काल उन्हें फिर ज्यों की त्यों लगा देता है। ऐसे ही कल्प के अन्त होने पर कर्मानुसार जीव फिर उत्पन्न होने लगते हैं। धाता यथापूर्व जगत् की समस्त वस्तुओं की कल्पना कर देते हैं। इसी प्रकार यह प्रवाह अनादि चल रही है। बहुत से दैत्य, दानव, देवता कल्पजीवी होते हैं। बहुत से ब्रह्माजी की आयुपर्यन्त रहते हैं। बहुतों ने तो बहुत ब्रह्माओं को देखा है। प्रलय में भी बहुत से देव, दैत्य, ऋषि, मुनिओं को ज्ञान रहता है। वे सूक्ष्म शरीर से प्रलय के जल में रह सकते हैं। सब वस्तुओं के अधिष्ठातृ देव होते हैं। वेदों के भी अधिष्ठातृ देव हैं। पुस्तकों में तो वैदिक ज्ञान लिखा है,

पुस्तक ही वेद नहीं है, जैसे हम दो अक्षर लिख देते हैं "आ" और "म", कोई पूछता है कि, यह क्या है ? तो हम कह देते हैं यह 'आम, है। वास्तव में वह तो 'आम' है नहीं। आम तो उन अक्षरों से सर्वथा पृथक है। फिर भी वह जगत में उत्पन्न होने वाले फल का द्योतक है। इसी प्रकार वेदों की पुस्तकें वेदों की द्योतक हैं। जितनी संहितायें प्राप्त हैं, उतना ही वेद नहीं। वेद अनन्त है। हयग्रीव नामक राक्षस सूक्ष्म शरीर से वेद के अधिष्ठातृ देव को ले गया। ब्रह्माजी वेदहीन हो गये। बिना वेद के वे जाग कैसे सकते हैं, जागकर सृष्टि कैसे कर सकते हैं। सृष्टि का प्रवाह रुकने न पावे इसीलिये भगवान् ने मत्स्यावतार धारण करके वेदों का उद्धार किया। उस समय पृथिवी तो जल मग्न थी, सातों समुद्र एक हो गये थे। वह दैत्य जल के भीतर जाकर छिप गया था। अगाध जल में मछली ही जा सकती है। इसीलिये भगवान ने यह जलचर रूप रखा।"

महाराज परीक्षित ने भगवान् शुक से पूछा—"प्रभो! आप मुझे मत्स्यावतार की क्रम से कथा सुनाइये।

इसपर श्री शुक बोले—"राजन् ! इस श्वेतवाराह कल्प से पहिले कल्प में सत्यव्रत नामक राजा थे, वे बड़े धर्मात्मा यशस्वी और सत्यवादी थे। दक्षिण में जो द्रविड़ देश है, उसके अधीश्वर थे। राज्य पाट छोड़कर वे कृतमाला नामक पुण्यतोया सरिता के तटपर रहकर भगवान की आराधना करते थे। उन्होंने अन्न, फल, फूल आदि सभी का परित्याग कर दिया था, केवल जल पी कर ही वे तपस्या में निरत रहते।

एकदिन की बात है कि वे राजर्षि सत्यव्रत कृतमाला नदी में जल से देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण कर रहे थे,

कि इतने मे ही उनकी अञ्जलि में एक अत्यंत छोटी सी चमकती

हुई मछली आ गई। राजा ने सोचा—"मछली बड़ी सुन्दर है,

किन्तु इसका आधार तो जल ही है, यदि इसे मैं जल से बाहर फेंक दूँगा, तब तो यह मर जायगी।' इसलिये उन्होंने उसे अञ्जलि के जल सहित कृतमाला के जल में ही छोड़ दिया। इस पर वह छोटी सी मछली मनुष्यों की सी वाणी में अत्यन्त करुणा के साथ कहने लगी—राजन्! आप धर्मात्मा हैं, दीनों पर दया करने वाले हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं। शरण में आये हुओं की रक्षा करना आपका व्रत है फिर आप मेरा परित्याग क्यों कर रहे हैं? देखिये, बड़े मत्स्य छोटी मछलियों को खा जाते हैं। छोटों से ही बड़े लोग मोटे हो जाते हैं, मैं आश्रय हीन होकर घूम रही हूँ। आप मेरी रक्षा करें, नहीं तो ये मेरी जाति के बलवान् जन्तु मुझे भक्षण कर जायँगे।"

महाराज सत्यव्रत ने जब मानवीय वाणी मछली के मुख से सुनी, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर भी उन्होंने उसे कोई साधारण मछली ही समझा, उन्होंने निश्चय कर लिया—"मैं इस मछली की रक्षा करूँगा।' यह सोचकर उन्होंने करुणवश उस मछली को जल में से पुनः निकाल लिया। स्नान करके जल लाना एक आवश्यक कृत्य है, अतः जिस छोटे से कमण्डलु में वे जल ले जाते थे, उसी में जल भर के उस मछली को भी डाल लिया। फिर वे अपने नित्य कर्मों से निवृत्त हुए। सायंकाल स्नानादिक कृत्य करके महाराज उस मछली को कमण्डलु में लिये हुए अपने आश्रम पर चले गये। राजा ने देखा, यह कमण्डलु छोटा है, मछली तो बहुत बढ़ गई है, अतः

उन्होंने उसे एक बड़े भारी कलश में रख दिया। कलश में रख कर महाराज सत्यव्रत सो गये।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जैसे भगवान् ने अपने रूप का विस्तार किया, उसे मैं आगे आपको सुनाऊँगा। आप इस सुखद, रोचक, पुण्यप्रद प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

एक दिवस महँ मत्स्य बढ़्यौ नृप चकित भये अति।
बाढ़ै छण छण माँहि वृद्धि की अति अद्भुतगति॥
शतयोजन सर घेर लियो नहिँ वृद्धि रुकी जब।
ह्वैकें अति ही दीन मीन नृप तैं बोली तब॥
नृप! निर्वाह न होहि मम, सर छोटो हौं बड़ी बहु।
कैसे जीवित रह सकूँ, सोचि समुझि भूपति कहहु॥

मत्स्य भगवान् का अमित रूप

(५८६)

नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च ।
यो भवान् योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः ॥
नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः ।
अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० २६,२७ श्लो०)

छप्पय

विस्मित नृपवर भये विहँसि के बोले बानी ।
नहीं मत्स्य हैं आप विष्णु अव्यय हौ जानी ॥
काहे कारन धरयो रूप मछली को प्रभुवर ।
नित नव लीला करौ भक्त भयहारी सुखकर ॥
हरि हँसि बोले सातदिन, महँ होवै त्रैलोक्यलय ।
एक होहिँ सातों उदधि, जगत् होहि सब सलिलमय ॥

भगवान् के पराक्रम का कोई थाह नहीं, सीमा नहीं। यह

---

* महाराज सत्यव्रत मत्स्य भगवान् से कह रहे हैं—"जल के रहने वाले जीव में ऐसा वीर्य पराक्रम तो हमने न कभी पहिले देखा है न सुना है। आपने तो इस सौयोजन वाले इस तालाब को एक दिन में ही अपने शरीर से घेर लिया। अवश्य ही आप साक्षात् अव्यय श्री नारायण हरि हैं प्राणियों पर अनुग्रह करने के निमित्त आपने मत्स्य रूप धारण किया है।

क्षुद्र प्राणी अपनी ही तोल से सबको तोलने का आदी पड़ गया है, अपने ही नाप से सबको नापता है। बलि से जब भगवान् ने अपने पैरों से पृथिवी माँगी, तो बलि सुनकर हँस "पड़ा तीन पैर यह वटु क्या माँगता है।" उसने अपने पैरों से समझा। जहाँ हम इस अपने पराये के भेद को त्याग कर सब का उन अनन्त अच्युत, अपरिमेयप्रभु के नाप से नापने लगेंगे तब आश्चर्य और विस्मय की कोई बात ही नहीं रह जाती।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज सत्यव्रत ने रात्रि में मत्स्य भगवान् को एक बड़े भारी मटका में रख दिया था। प्रातः जब वे ब्राह्ममुहूर्त में उठे तो मत्स्य भगवान् वहीं से बोले—"राजन् ! आपने जब मुझे आश्रय दिया है, तो ऐसे घोटकर मुझे क्यों मारते हैं ? इस मटके में तो मैं समा नहीं सकती। किसी विस्तृत जलाशय में मुझे रखिये।" यह सुनकर राजा के समीप ही एक तालाब में उस विचित्र मत्स्य को छोड़कर स्नान करने चले गये।

वे स्नान करके ज्यों ही लौटे त्यों ही उन्हें मत्स्य भगवान की वाणी सुनाई दी—"राजन् ! मेरा निर्वाह इस जलाशय में नहीं होने का मुझे किसी बड़े जलाशय में रखें।"

राजा ने जाकर देखा, वह एक योजन का सरोवर मछली ने अपने अंग से घेर लिया है, अब उन्हें चिन्ता हुई—"इतनी बड़ी मछली को मैं अकेला उठा कैसे सकता हूँ।" महाराज के मनमें ज्यों ही ऐसा संकल्प उठा, त्यों ही मत्स्य हरि बोले—"राजन् ! आप मुझे उठाइये चिन्ता न करें।"

राजा ने उन्हें उठाया, तो वे पुष्प के समान हलके हो गये राजा ने एक दशयोजन के सरोवर में उन्हें डाल दिया। आधे मुहूर्त में ही राजा ने देखा मत्स्य ने तो इस १० योजन के सरोवर को घेर लिया है। अब के वे स्वयं उठाने गये, १० योजन का शरीर उन्होंने उठाया, तो फूल के समान लगा। अब के उन्होंने ५० योजन के सरोवर में उन्हें छोड़ दिया। फिर भी उतने ही बढ़ गये। तब १०० योजन सरोवर में छोड़ा। वह भी उनके लिये पर्याप्त नहीं हुआ और दीन वचनों में बोले—"राजन् मुझे किसी अक्षय जल राशि में डाल दें तब राजा ने उन्हें समुद्र में जाकर फेंक दिया। आश्चर्य इसी बात का था, कि १०० योजन का शरीर था राजा के उठाने पर वे पुष्प के समान उठ जाते थे।

राजा जब मत्स्य भगवान् को समुद्र के जल में डालने लगे, तब मत्स्य भगवान् बोले—"राजन् ! कृपा करके आप मुझे यहाँ समुद्र में निराश्रित न छोड़ें, मुझे कोई यहाँ खा जायगा।" १०० योजन होने पर भी जो फूल के समान उठ आये थे, उनके मुख से ऐसी दीनवाणी सुनकर अब तो महाराज सत्यव्रत को चेत हुआ उन्होंने सोचा जो एक दिन में ही १०० योजन बढ़ गये हैं, उठाने पर फूल के समान हो जाते हैं, जो स्पष्ट मानवीय भाषा बोलते हैं, ये साधारण जलचर जीव नहीं। हो न हो ये साक्षात् श्रीमन्नारायण ही हों।" अतः वे विनीत भाव से बोले प्रभो ! आपने रूप तो मत्स्य का धारण कर रखा है। कार्य आप अलौकिक कर रहे हैं। आप कौन हैं, मत्स्य शरीर से मुझे मोह में डाल रहे हैं। ऐसा बल, पराक्रम, अपार ऐश्वर्य तो मैंने आज तक किसी भी जलचर जीव में नहीं देखा। एक दिन में ही आपने अपने शरीर को सौ योजन बढ़ा लिया है। अवश्य ही

आप जो नहीं हैं। साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। आप अज अच्युत, अविनाशी भूमा पुरुष हैं।"

हँस कर मत्स्य भगवान् बोले—"मैंने तो जन्म धारण किया है, आप मुझे अजन्मा अच्युत क्यों बता रहे हैं?"

राजर्षि सत्यव्रत बोले—"भगवन्! आप अज होकर भी लोक कल्याण के निमित्त कभी अवनिपर अवतरित होते हैं। आप अजन्मा होकर भी धर्म संस्थापनार्थ जन्म ग्रहण करते हैं अवश्य ही जीवों पर कृपा करने के ही निमित्त आपने यह जलचर रूप धारण किया है।"

यह सुनकर हँसते हुए मत्स्य भगवान् बोले—"राजन्! आप सत्य संकल्प हैं, आपका वचन मिथ्या तो हो नहीं सकता।"

अब तो राजा को निश्चय हो गया, भगवान् ने मत्स्यावतार धारण किया है, वे भगवान् की भक्तवत्सलता को स्मरण करके आनन्द मे विभोर हो गये। उनके नेत्रों से निरन्तर प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहे थे। सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था। वे गद्-गद् कंठ से भगवान् की स्तुति करने लगे। बार बार साष्टांग प्रणाम करते। वे कहने लगे "हे प्रभो! हम शरणागत भक्तों की आपही एकमात्र गति हैं, आपही हमारे सर्वस्व हैं। आपही इस चराचर विश्व को उत्पन्न करते हैं, आपही इसका नाना अवतार धारण करके पालन करते हैं और अन्त में आपही रुद्ररूप से संहार भी करते हैं। आपकी प्रत्येक चेष्टा में लोकोपकार सन्निहित है। हे अशरण शरण! हम यह जानना चाहते हैं, कि आपका यह अद्भुत जलचर अवतार किस विशेष कारण से हुआ है। वैसे तो आपकी सभी लीलायें सुखकर ही हैं, जिन्हें

गा गाकर प्राणी संसार सागर से सरलता के साथ पार हो

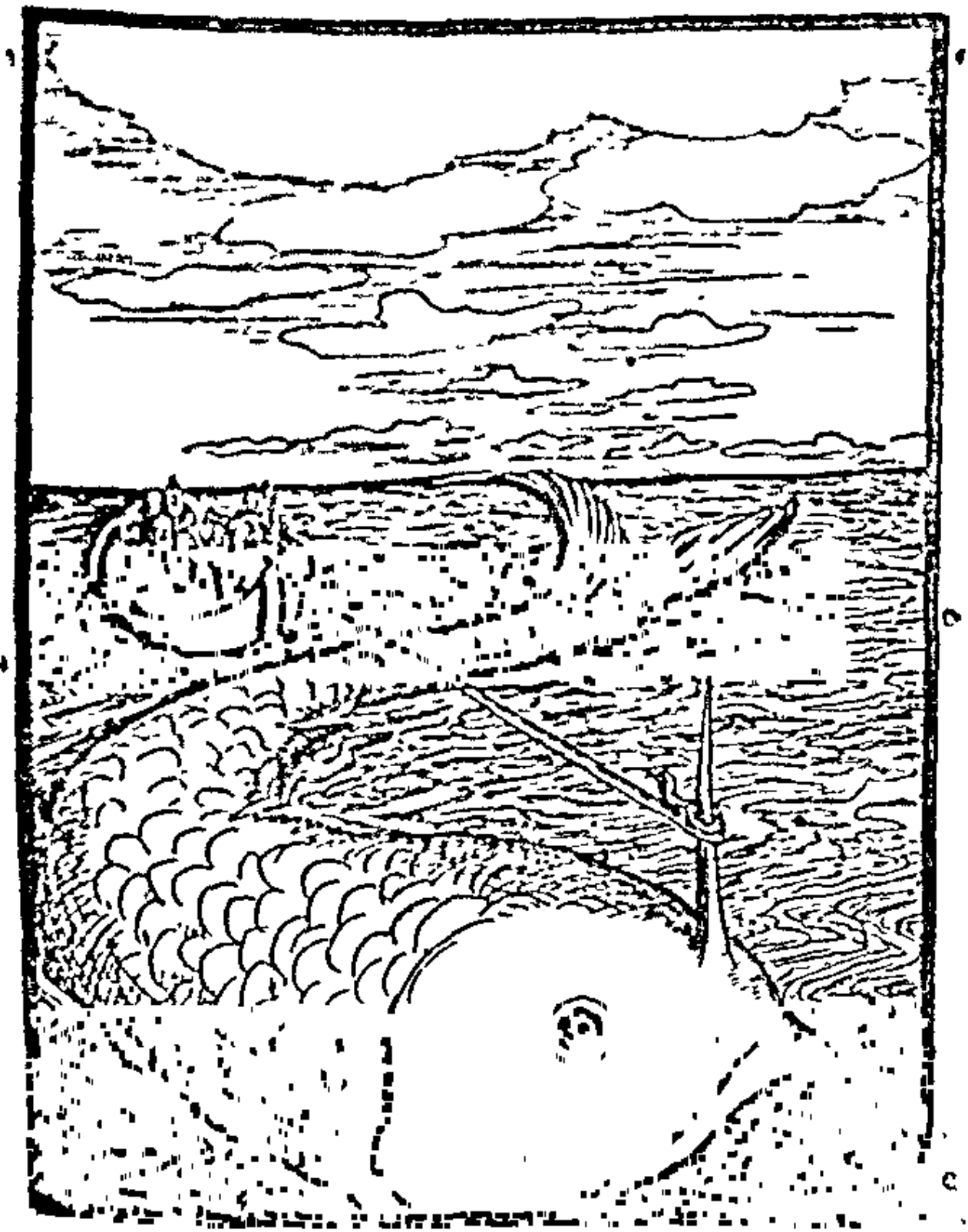

जाते हैं, फिर भी इस विचित्र अवतार का कोई विशेष कारण

आप जी नहीं हैं। साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। आप अज अच्युत, अविनाशी भूमा पुरुष हैं।"

हँस कर मत्स्य भगवान् बोले—"मैंने तो जन्म धारण किया है, आप मुझे अजन्मा अच्युत क्यों बता रहे हैं?"

राजर्षि सत्यव्रत बोले—"भगवन्! आप अज होकर भी लोक कल्याण के निमित्त कभी अवनिपर अवतरित होते हैं। आप अजन्मा होकर भी धर्म संस्थापनार्थ जन्म ग्रहण करते हैं अवश्य ही जीवों पर कृपा करने के ही निमित्त आपने यह जलचर रूप धारण किया है।"

यह सुनकर हँसते हुए मत्स्य भगवान् बोले—"राजन्! आप सत्य संकल्प हैं, आपका वचन मिथ्या तो हो नहीं सकता।"

अब तो राजा को निश्चय हो गया, भगवान् ने मत्स्यावतार धारण किया है, वे भगवान् की भक्तवत्सलता को स्मरण करके आनन्द में विभोर हो गये। उनके नेत्रों से निरन्तर प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहे थे। सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था। वे गद्-गद् कंठ से भगवान् की स्तुति करने लगे। बार बार साष्टांग प्रणाम करते। वे कहने लगे "हे प्रभो! हम शरणागत भक्तों की आपही एकमात्र गति हैं, आपही हमारे सर्वस्व हैं। आपही इस चराचर विश्व को उत्पन्न करते हैं, आपही इसका नाना अवतार धारण करके पालन करते हैं और अन्त में आपही रुद्ररूप से संहार भी करते हैं। आपकी प्रत्येक चेष्टा में लोकोपकार सन्निहित है। हे अशरण शरण! हम यह जानना चाहते हैं, कि आपका यह अद्भुत जलचर अवतार किस विशेष कारण से हुआ है। वैसे तो आपकी सभी लीलायें सुखकर ही हैं, जिन्हें

ग्रा गाकर प्राणी संसार सागर से सरलता के साथ पार हो

जाते हैं, फिर भी इस विचित्र अवतार का कोई विशेष कारण

तो होगा ही। जब आपने इस अधम को अपनाया ही है, तो अब आपके आश्रय को छोड़कर हम किसका आश्रय लें। जगत् के एकमात्र आश्रय तो आपही हैं। आप अपने अवतार का विशेष प्रयोजन बतायें और मुझे अपना सेवक समझकर अपनावें।"

इसपर जल में विहार करने की इच्छा वाले मत्स्य भगवान् अपने अनन्य आश्रित भक्त सत्यव्रत से बोले—"राजन्! मैं तुम्हारी जल की बाढ़ से रक्षा करने आया हूँ?"

आश्चर्य के साथ राजा ने पूछा—"जल की बाढ़ कैसी महाराज?"

भगवान् ने कहा—"देखो, आज से सातवें दिन ब्रह्माजी का यह कल्प समाप्त हो जायगा। भू, भुव, और स्वः ये तीनों लोक नष्ट हो जायँगे। चराचर जीवों को ब्रह्माजी अपने उदर में रखकर योगनिद्रा में सो जायँगे। मैं तुम्हें प्रलयकालीन दृश्य दिखाना चाहता हूँ। अगले कल्प में मैं तुम्हें मनु बनाना चाहता हूँ। इसलिये तुम पृथिवी के समस्त छोटे बड़े बीजों की अभी से रक्षा करो। और सप्तर्षियों के सहित अपनी भी रक्षा करो। मेरे साथ प्रलय पर्यन्त जल विहार करो।

सत्यव्रत ने आश्चर्यचकित होकर कहा—"महाराज, मैं कैसे प्रलय के ऐसे जल में ठहर सकता हूँ। मैं इन उत्ताल तरंगों को कैसे सह सकता हूँ। सप्तर्षियों को मैं कहाँ खोजूँगा?

भगवान् ने कहा—"देखो, तुम्हें कुछ भी खोजने खाजने की आवश्यकता न पड़ेगी। न तुम्हें प्रलय कालीन समुद्र की उत्ताल तरंगें ही सहन करनी पड़ेंगी। आज से सातवें दिन एक बड़ी सुन्दर सुदृढ़ नौका आकर तुम्हारे समीप अपने आप ही लग जायगी। समस्त वस्तुओं के बीजों को लेकर सप्तर्षि गण स्वयं ही तुम्हारे समीप आ जायँगे। तुम उस दिव्य नौका पर उन सब के साथ चढ़ जाना और उस नौका को एक वासुकी रूप रस्सी से मेरे सींग में बाँध देना। फिर मैं उस नौका को खींचते हुए जल विहार कराऊँगा, इधर से उधर घुमाऊँगा। आनन्द का आस्वादन कराऊँगा, सुन्दर सुन्दर अद्भुत कथायें सुनाऊँगा। उस समय तुम मुझसे जो प्रश्न करोगे, उन सबका निश्चिन्त होकर एकान्त में मैं यथावत् उत्तर दूँगा। मैं तुम्हारे ऊपर कृपा करके तुम्हें अपनी परब्रह्ममयी महिमा का साक्षात् अनुभव कराऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार द्रविणेश्वर महाराज सत्यव्रत को इस प्रकार मत्स्य भगवान् आदेश देकर तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये। अब तो राजर्षि सत्यव्रत की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान् की कृपा का अनुभव करके आनन्द में विभोर हो गये। उन्हें क्षण क्षण भारी पड़ गया। वे बार बार सोचते कब एक पक्ष हो और कब मत्स्य भगवान का दर्शन हो। प्रतीक्षा की घड़ियाँ लम्बी हो जाती हैं अतः वे बड़े कष्ट से उस दीर्घकाल को बिताने लगे। जिन

कुशाओं का अग्रभाग पूर्व की ओर है ऐसी कुशाओं के आसन पर स्वस्थ चित्त होकर और स्वयं भी पूर्व की ओर मुख करके निरन्तर मत्स्य भगवान् के चारु चरणों का चिन्तन करते हुए उस अनुपम काल की अत्यन्त उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगे।

छप्पय

मम इच्छा तैं तरणि निकट इक तुमरे आवै।
सर्पिनि के संग चढ़ावै तुमहिँ बचावै॥
वासुकि बरत बनाइ सींग मेरे महँ बाँधौ।
जल विहार मम सग करौ परमारथ साधौ॥
कहि हरि अन्तर्हित भये, करैं प्रतीक्षा भूप अब।
अति उत्कंठा हिय बढ़ी, आवै नौका दिव्य कब॥

———

मत्स्य भगवान् का उपदेश और जलविहार

(५८७)

सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे ।
एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः ॥
निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा ।
वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० ४४, ४५ श्लो०)

छप्पय

सात दिवस जब भये भई पृथिवी जलमय सब ।
आई नौका एक ऋषिनि सँग चढ़े भूप तब ॥
बाँधी शफरी सींग प्रलय जलमहँ बिचरे हरि ।
पूछे पावन प्रश्न नृपति ने अति बिनती करि ॥
जो जग मय जगतैं पृथक्, देहिं ज्ञान गुरु रूप धरि ।
गुरु के गुरु हरि हो तुमहिँ, नाम सुमिरि बहु गये तरि ॥

भजन, भोजन और प्रेम भाव एकान्त में ही होता है।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार राजर्षि सत्यव्रत के ध्यान करते ही सुवर्ण वर्ण के एक सींग वाले महामत्स्य उस प्रलयार्णव में प्रगट हो गये । वे एक लाख योजन विस्तार वाले थे । तब

सबके सम्मुख, सबको दिखाकर जो भजन होता है, वह या तो नियमपूर्ति के लिये होता है या दम्भ से। सबके साथ भोजन होता है, या तो शिष्टाचार से या विशेष उत्सव पर्वों में। इसी प्रकार सबके सामने जो प्रेम प्रदर्शित किया जाता है, भक्ति भाव दिखाया जाता है, उसमें शिष्टाचार, स्वार्थ, दम्भ तथा दिखावट की मात्रा अधिक होती है। जैसे एकान्त में पत्नी पति के सम्मुख अपने हृदय को खोलकर रखती है और पति भी उसे अपना सर्वस्व समर्पित करता है, उसी प्रकार सत्शिष्य एकान्त में गुरु के सम्मुख अपने हृदयगत भावों को प्रकट करते हैं और सद्गुरु भी रहस्य वस्तु का उपदेश शिष्यों को एकान्त में ही करते हैं। एकान्त पाकर हृदय-निर्झरिणी का प्रवाह खुल जाता है और वह वेग से बहने लगता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब मत्स्य भगवान् राजर्षि सत्यव्रत को आदेश देकर अन्तर्धान हो गये, तब महाराज बड़ी उत्सुकता से नौका और भगवान् के आने की प्रतीक्षा करने लगे। जैसे तैसे उन्होंने सात दिन बिताये। सातवें दिन वे क्या देखते हैं कि आकाश में बड़ी भारी गड़गड़ाहट तड़ तड़ाहट हो रही है। ऐसा प्रतीत होता था, मानो यह शब्द ही पृथिवी को फाड़ देगा। वर्षा इतने वेग से होने लगी, कि पृथिवी आकाश एक हो गये। हाथी की सूँड़ जैसी धारा गिरती है, ऐसी धारायें सर्वत्र गिरने लगी। क्षण भर में सम्पूर्ण धरा

भगवान ने जैसा कहा था उसी के अनुसार सर्प की रस्सी से नौका को उनकी सींग में बाँधकर महाराज सत्यव्रत उन मत्स्य रूप में मधुसूदन की स्तुति करने लगे।

जल मयी बन गई। सभी जीव जल में डूब गये। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता कुछ भी दिखाई नहीं पड़ते थे। भीतर से पाताल गंगा उमड़ी ऊपर से आकाश गंगा गिरी, सातों द्वीप जल में डूब गये। सातों समुद्र मिलकर एक हो गये। महाराज सत्यव्रत घबरा रहे थे, इतने में ही उन्होंने जल में सप्तर्षियों को आते देखा। राजा को धैर्य हुआ उसी समय उन्हें बड़ी सुन्दर सुदृढ़, चपेटों को सहने वाली एक नौका अपनी ओर आती हुई दिखाई दी सप्तर्षियों ने राजा से कहा—राजन! अब विलम्ब करने का काम नहीं। आप हमारे साथ इस नौका पर चढ़ जायँ।"

ऋषियों की आज्ञा पाकर राजा उस नौका पर चढ़ गये, फिर समस्त ओषधियों के बीजों को प्रलय से बचाने के निमित्त जो मुनियों ने पोटलियों में बाँधकर रख लिये थे, उन पोटलियों को लेकर सातों मुनि भी चढ़ गये। अब तक राजा प्रलय की प्रचंड तरंगों को देखकर थर थर काँप रहे थे। उन्हें इस प्रकार भयभीत और काँपते देखकर ऋषियों ने कहा—"राजन्! आप भय को तिलाञ्जलि दीजिये, धैर्य को धारण कीजिये और भगवान् मधुसूदन का स्मरण कीजिये। वे तुम्हारी सब प्रकार से रक्षा करेंगे, हमें सभी संकटों से बचावेंगे। हमें तो एकमात्र उन्हीं अज, अच्युत, भौमा पुरुष का सहारा है।"

राजा ने स्वस्थ होकर कहा—"नहीं। भगवन्! घबड़ाने की कोई बात नहीं। भगवान् तो मुझे आदेश दे गये हैं। वे तो मत्स्य रूप में अभी यहाँ प्रकट होंगे। मैं उन प्रलयपयोधि में विचरण करने वाले प्रभु का ध्यान कर लूँ। वे तो भक्तों के ध्यानमात्र से तुरंत उपस्थित हो जाते हैं।" ऐसा कहकर

राजर्षि सत्यव्रत भगवान् का ध्यान करने लगे। उनके ध्यान करते ही वहाँ मत्स्य भगवान् आ उपस्थित हुए।

उनका श्री अङ्ग सहस्र बिजलियों से भी अधिक चमक रहा था, वे इतने सुन्दर थे कि सुन्दरता भी उन्हीं में समागई थी। वे इतने बड़े थे कि उन्हें नापने का कोई साधन ही नहीं था। उस समुद्र में वे टापू के समान लाखों योजन में फैले हुए थे उनके माथे पर एक बड़ा ही सुन्दर चमकीला नुकीला शृङ्ग था। इस रूप में भगवान के दर्शन करके सभी को परम प्रसन्नता हुई। उसी प्रलय की बाढ़ में बहते हुए वासुकी नाग भी कहीं से आ उपस्थित हुए। राजा ने झपटकर उन महासर्प को पकड़ लिया, जिनकी रस्सी बनाकर मन्दर की रई से समुद्र मथा गया था। वासुकी भी प्रलय की चपेटों से घबराये हुए थे। वे भी पकड़ते ही नौका में चढ़ आये, इतने में ही मत्स्य भगवान भी आ गये। राजाने वासुकी के मुख की ओर से भगवान् के सींगमें लपेट दिया। पूँछ की ओर के भाग से कस कर नौका को बाँध लिया। फिर क्या था, बानक बन गया सुन्दर गाड़ी बन गई। मत्स्य भगवान् उसे आनन्द के साथ खींचने लगे। अब तो होने लगा जलविहार। भगवान् के लिये वह नौका ऐसी ही थी जैसे पुरुष मस्तक पर चन्दन की बिन्दी लगाकर स्वेच्छा से घूमते हैं। जैसे चन्दन की बिन्दी का किसी को भार नहीं होता, वैसे ही भगवान् को उस नौका का कुछ भार नहीं था। अब एकान्त में राजा ने भगवान् से विनय पूर्वक प्रश्न पूछने आरंभ किये। पहिले तो राजा ने भगवान् की स्तुति की।

महाराज कहने लगे—"भगवन्! यह जीव इस भयानक भवाटवी में न जाने कबसे भटक रहा है। इस अनादि

अविद्या ने जीव के सहज ज्ञान को आच्छादित कर रखा है। अज्ञानी पुरुष इन अनित्य धन, स्त्री, पुत्रादि पदार्थों में नित्य बुद्धि करके न जाने कब से नाना भाँति के क्लेशों को उठा रहे हैं। सत्य स्वरूप जो आपके चरणारविन्द हैं, उन्हें भूल कर यह जीव असद् वस्तुओं के लिये दौड़ रहा है भटक रहा है। दैववशात् यदि आपका अनुग्रह हो जाय, तो यह संसार बन्धन सदा के लिये छूट जाय, माया बद्ध प्राणी अज्ञान के केंचुल को छोड़कर विमुक्त हो जाय। यह सब होता है, गुरु कृपा से। अतः हमने आपको अपना गुरु वरण कर लिया है।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—गुरु बना लिया अच्छा किया। अब हमें मत्स्य न कहकर गुरु कहा करो।"

महाराज ने कहा—"नहीं, भगवन् इतने से ही तो काम न चलेगा। हमारी यह जो असद् बुद्धि है, जिसके कारण इन अज्ञान मूलक कर्मों को सुख का साधन मानकर हम आँख बन्द करके अन्धों के समान कर रहे हैं। उस अज्ञानमयी बुद्धि को आप नष्ट कर दें। हमारे हृदय में जो माया की ग्रन्थि पड़ गई है, उसे माया के पति आप प्रभु ही खोल सकते हैं। इस गुरगांठ को गुरुरूप आप हरि ही विमोचन कर सकते हैं। अतः आप हमारी हृदय ग्रन्थि का छेदन करें।"

भगवान् ने कहा—"भाई, किसी और को अपना गुरु बना लो। हमसे ही इतना आग्रह क्यों कर रहे हो?"

यह सुनकर राजर्षि सत्यव्रत बोले—"भगवन्! तुरन्त खान से निकले सुवर्ण सुवर्ण का भी अंश होता है तथा अन्य भी मल

होते हैं। अग्नि के अतिरिक्त कोई अन्य चाहे कि हम सुवर्ण से मल को दूर कर दें, तो असंभव है। अग्नि ही सुवर्ण के मल को दूर कर सकती है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप इस जीव के अन्तःकरण स्थित अज्ञान रूप मल को पृथक् करने में उसे शुद्ध स्वरूप बनाने में आप ही समर्थ हैं। आपकी सेवा रूप ताप से ही अज्ञान रूप मल पृथक् हो सकता है। लोक में विविध विद्याओं के बहुत से गुरु होते हैं, किन्तु उन सब गुरुओं के भी परम गुरु आप अविनाशी ईश्वर ही हमारे यथार्थ गुरु हैं। आपकी शरण में आने पर ही हमारे नेत्रों का अज्ञानान्धकार दूर हो सकता है।"

भगवान् ने कहा—"भाई, संसार में बहुत से इन्द्रादि देवता हैं, विद्यागुरु, शिक्षागुरु, दीक्षागुरु आदि कई प्रकार के गुरु हैं, तुम उनकी शरण में जाओ।"

राजर्षि सत्यव्रत बोले—"हाँ, भगवन्! उनकी शरण तो सुखप्रद है ही, किन्तु वे सब भी आपकी शरण जाते हैं। वे स्वयं चाहें कि आपकी कृपा के बिना अनुग्रह कर सकें तो तनिक भी नहीं कर सकते। आप ही सबके परम गुरु और परमेश्वर हैं। अतः मैंने तो आपके ही चरणों की शरण ले रखी है।"

भगवान् बोले—"भाई, कैसा भी विवेक हीन पुरुष क्यों न हो, गुरु बना लेने पर वह उद्धार कर ही देता है।"

यह सुनकर राजा बोले—"भगवन्! जिन्हें ऐसी निष्ठा हो, उन्हें मैं सिर से प्रणाम कर सकता हूँ। किन्तु मुझे तो ऐसी निष्ठा है नहीं। जो स्वयं अन्धा है, उसके पीछे चलने वाले

सबके सब गड्ढे में गिरेंगे। इसी प्रकार अज्ञानी पुरुषों का विवेक हीन पुरुष को गुरु बनाना अपने को और बन्धन में बाँधना है। आप तो स्वयं प्रकाश हैं। भाग्यवश अपनी अहैतुकी कृपा से ही हमारे सम्मुख प्रकट हो गये हैं, अतः हमने आपको अपना गुरु बना लिया है।

भगवान् ने कहा—"भाई, मन्त्र दाता ही तो गुरु होता है।"

सत्यव्रत जी ने कहा—"हाँ, प्रभो! यह सत्य है, तारक मन्त्र प्रदान करने वाला मन्त्रदाता गुरु पूज्य है, किन्तु वह तारक मन्त्र दे तब तो! जो केवल अर्थ कामादि विषयों की प्राप्ति के लोभ से कान में "कानावाती कुर्रु, तू चेला मैं गुर्रु" ऐसा ही मन्त्र दे दे। शिष्य के अज्ञान का अपहरण न करके धर्म का ही अपहरण करे। ऐसे अपने को गुरु मानने वाले अज्ञानी पुरुष स्वयं भी गिरते हैं और शिष्य को भी गिराते हैं।

"लोभी गुरू लालची चेला, होहि नरक में ठेलम ठेला" आप तो भगवन्! ऐसे गुरु नहीं हैं आप तो अमोघ ज्ञान का उपदेश करने वाले है। आपकी कृपा होते ही मनुष्य आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

भगवान् ने कहा—"देखो तुम हमें गुरु मानते हो, या ईश्वर?"

राजा ने कहा—"प्रभो! आप गुरु भी हैं, माता भी हैं, पिता भी हैं, ईश्वर भी है, सुहृद् भी हैं, सखा भी हैं। आत्मा भी हैं। कहाँ तक कहे आप सर्वस्व हैं। आप ही आप हैं, आपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। आप ही प्राप्य हैं, आप ही प्राप्त कराने वाले हैं। आप सबके घटघट में साक्षी चैतन्य

रूप से विराजमान हैं, किन्तु अन्तःकरण पर आपने अपनी माया का ऐसा पर्दा डाल रखा है कि मोहान्धकार में भटकते हुए विषयासक्त पुरुष आपको देख नहीं सकते। हे परमात्मन् आप अपने उपदेशामृत की वर्षा करके मेरे शुष्कहृदय को हरा भरा कीजिये। मेरे अज्ञानान्धकार को दूर कीजिये, सम्पूर्ण संशयों का छेदन कीजिये, हृदय की मोहरूपी घुण्डी को खोलिये मधुमय उपदेश पूर्ण वचन बोलिये।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार राजर्षि सत्यव्रत का आग्रह देखकर और उन्हें तत्वज्ञान का अधिकारी समझकर मत्स्य भगवान् उपदेश देने लगे।

छप्पय

देहिँ मोह उपदेश जगत् गुरु सबके स्वामी।
देहिँ ज्ञान का अञ्ज अन्ध नर लोभी कामी॥
परमदेव, गुरु, पिता, सुहृद् सम्बन्धी सब तुम।
छोड़ि जगत् की आश शरण आये तुमरी हम॥
सुनत नृपति के बचन हरि, मुस्काये प्रमुदित भये।
फिर भूपति अस ऋषिनि के, प्रश्नन के उत्तर दये॥

———

मत्स्यावतार चरित का उपसंहार

(५८८)

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानाम् ,
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० ६१ श्लो०)

छप्पय

जग महँ मत्स्य पुराण कहैं पंडित जन जाकूँ ।
ते नर प्रभुपद पाहिँ पढ़े श्रद्धा तैं वाकूँ ॥
यों विश्वम्भर विष्णु रूप मछली को धारयो ।
हयग्रीव खल दैत्य पकरि पाताल पछारयो ॥
भक्त भूप रक्षा करी, ज्ञान ऋषिनि के संग दयो ।
सुनत मोह तमनसि गयो, तत्क्षण भवभय भगि गयो ॥

भगवान के वचनों को ही वेद कहते हैं। जिसमें भगवान् के अवतार चरित्रों का वर्णन हो वे ही पुराण कहलाते

❀ श्रीशुकदेवजी मत्स्य चरित्र का उपसंहार करते हुए अन्त में मत्स्य भगवान् को नमस्कार करते हैं—"हयग्रीव नामक दैत्य प्रलय-कालीन जल में सोये हुए ब्रह्माजी के मुख से वेदों को चुरा ले गया

हैं। वैसे तो पुराण के १० लक्षण बताये हैं, किन्तु मुख्य लक्षण यही हैं, जिसमें पुराण पुरुष की पुण्यमयी महिमा का वर्णन हो उसे पुराण कहते हैं। वही मनुष्यों के सुनने योग्य है, उसी से अज्ञान दूर होगा, उसी से मुख्य तत्व का ज्ञान होगा। समस्त पुराणों का उपदेश भगवान् ने ही ब्रह्माजी को दिया है। यही सबसे प्राचीन ज्ञान है, इसी से इन्हें पुराण कहते हैं। प्राचीन होने पर भी जो नित्य नई ही दिखाई दे, जो निरन्तर सुनने पर भी कभी पुरानी न हो वे ही पुराण हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज सत्यव्रत जब सप्तर्षियों के साथ प्रलय के जल में नौका में बैठ गये और उस नौका को वासुकी की रस्सी से मत्स्य भगवान् के सींग में बांध दिया, तब भगवान् उसे खींचते हुए इधर से उधर घूमने लगे। उसी समय महाराज ने भगवान् से तत्वज्ञान की जिज्ञासा की भगवान् ने भी महाराज के पूछने पर सृष्टि का यथार्थ रहस्य समझाया और उनके सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। सहस्र युग पर्यन्त जब तक ब्रह्माजी की रात्रि रही, तब तक भगवान् सप्तर्षियों सहित राजा को उपदेश देते रहे। उसी का नाम मत्स्य पुराण संहिता है। यह आत्म रहस्य युक्त महापुराण बड़ा ही दिव्य है। इसमें सांख्य, योग तथा कर्मकाण्ड सभी का वर्णन है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप तो कह रहे हैं कि जितने समय में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि

था। उस दैत्य का वध करके जिन्होंने वेदों का उद्धार किया तथा सप्तर्षियों के सहित सत्यव्रत राजा को जिन्होंने ब्रह्म का उपदेश दिया उन अखिल जगत् के हेतु कपट से मछली बने प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ।

इन चारों युगों की चौकड़ी हजार बार बीत जायँ उतने समय की ब्रह्माजी की रात्रि होती है। उतने दिनों तक भगवान् उपदेश देते रहे। भगवान् के उस उपदेश का ही नाम मत्स्यपुराण है। वर्तमान मत्स्यपुराण में लगभग १४ हजार श्लोक हैं। प्रलय की रात्रि पर्यन्त भगवान् ने इतना ही उपदेश दिया क्या ? इसका तो आदमी लगकर पाठ करे तो २-३ दिन मे कर सकता है। इस पर हँसते हुए सूतजी ने कहा—"महाभाग ! मत्स्य पुराण इतना ही नहीं। मत्स्य पुराण तो अनन्त है जैसे कि भगवान अनन्त हैं। फिर भी उस अनन्त जल राशि में से भगवान् वेद व्यास ने लोक कल्याणार्थ एक पृथक् संहिता प्राणियों के हितार्थ बना दी है, जिससे थोड़े में उनका मनोरथ पूर्ण हो जाय। उन्हें ज्ञान हो जाय।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"तब यह मत्स्य पुराण पूरा नहीं हुआ। इस संक्षिप्त लघु पुस्तिका से समस्त अज्ञान दूर नहीं हो सकता, क्योंकि राजर्षि सत्यव्रत को तथा सप्तर्षियों को ज्ञान तो सहस्रयुग पर्यन्त पूर्ण पुराण सुनने पर हुआ था।"

इस पर सूतजी हँसते हुए बोले—"महाभाग ! यह भी पूर्ण ही पुराण है और इतने से ही समस्त अज्ञान दूर हो सकता है।"

शौनकजी ने कहा—सो कैसे ?

सूतजी ने कहा—"देखिये महाराज ! सगर के ६० हजार पुत्र नष्ट हो गये थे, उनके उद्धार के लिये गंगाजी को लाना था। सगर के पौत्र अंशुमान् ने गंगाजी को लाने के लिये हजारों वर्षों तक तपस्या की, न ला सके। अंशुमान् के पुत्र दिलीप

हुए। दिलीप ने भी गंगा लाने को हजारों वर्ष घोर तपस्या की। तपस्या करते करते मर गये, वे भी गंगा न ला सके। दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए। उन्होंने भी हजारों वर्ष घोर तपस्या की। तब कहीं जाकर वे गंगा जी को लाये और उसके अमृतमय जल से अपने पितरों का उद्धार किया। भगीरथ जिस गंगा को लाये उसमें अनन्त जल है। उसी गंगा में आकर सब स्नान करते हैं, अपने पापों को धोते हैं। स्नान करके जब लोग घर जाने लगते हैं, तब कोई पीतल के बर्तन में, कोई तांबे के, कोई शीशा अथवा मिट्टी के छोटे छोटे बर्तनों में गंगाजल भरकर घर ले जाते हैं। सबसे कहते हैं, हम गंगाजी लाये हैं। तो क्या वे पूर्ण गंगा जी नहीं हैं? क्या उनका एक कणजल समस्त पापों को नष्ट करने में समर्थ नहीं है? कहना पड़ेगा वे पूर्ण गंगा हैं, और जो गुण गंगा जी की अनन्त धारा में थे, वे सब उस पात्र की गंगा जी में भी हैं। इसी प्रकार मत्स्य पुराण रूपी निरन्तर बहने वाले अनन्त ज्ञानराशि वाली धारा में से साधारण लोकों पर कृपा करके भगवान् व्यास ने इस संहिता का निर्माण किया है। जिस प्रकार गंगा जल का एक बिन्दु समस्त पापों को नष्ट करने में समर्थ है, उसी प्रकार इस एक ही संहिता से समस्त अज्ञान दूर हो सकता है।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! जब प्रलय के समय कोई जीव बचता नहीं तो ये सत्यव्रत जी कैसे बच गये?

सूतजी बोले—"महाराज! भगवन् कृपा के आगे कोई भी बात असंभव नहीं। इन राजर्षि ने घोर तपस्या की थी। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी इनके सम्मुख प्रकट हुये और

इनसे वरदान माँगने को कहा। तब इन्होंने यही वरदान माँगा कि 'भगवन्! हम समस्त प्रलयकालीन दृश्य को स्वयं अपनी आँखों से देखें और प्रलय के अन्त में सभी जीवों की उत्पत्ति हम से ही हो।' ब्रह्माजी तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गये। उसी वरदान के प्रभाव से भगवान् ने कृपा करके मत्स्य रूप धारण करके राजर्षि सत्यव्रत को अपनी समस्त महिमा दिखाई। जब उस ब्रह्मरात्रिका अंत हो गया, तब वे ही राजा इस वर्तमान कल्प में सूर्य के पुत्र श्राद्धदेव होकर विख्यात हुए जिन्हें भगवान् ने मनु पद पर नियुक्त कर दिया है। आज कल हम सब इन्हीं मनु के शासन में रहकर इस पौराणिकी "भागवती कथा" की चर्चा कर रहे हैं। अब आगे जैसे मेरे गुरुदेव श्री शुक ने मत्स्य भगवान् का चरित्र कहा था, उसे सुनाकर फिर मैं इन विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव मनु के वंश का वर्णन करूँगा।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार प्रलय का रात्रि पर्यन्त भगवान उपदेश देते रहे। जब प्रलय की रात्रिका अन्त हुआ और ब्रह्माजी के जागने का समय आया, तब भगवान को ध्यान हुआ—'अरे, वेदों को तो तमप्रधान हयग्रीव हर ले गया है। जब तक ये निद्रित हैं वेदहीन हैं, तब सृष्टि कैसे हो। अतः अन्तःकरण रूप पाताल में प्रभु ने प्रवेश करके आलस्य रूप असुर को मारकर ज्ञान रूप वेद को लाकर ब्रह्माजी को चेत कराया। निद्रा को छोड़कर आंख मलते हुये ब्रह्माजी उठ खड़े हुए। चेतना ज्ञान होने से उठते ही फिर सृष्टि के कार्य में लग गये। विचारों के सागर में मत्स्य रूप भगवान् नित्य विहार करते हैं, जिनका सत्यव्रत है, वे ही उनका साक्षात्कार करते हैं।

नित्य ही आकर हयग्रीव रूपी आलस्य हमारे ज्ञान वेद अथवा बोध को हर ले जाता है हम बोधहीन हुए मृतकवत् निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं। कभी न सोने वाले वे मत्स्य भगवान् नित्य ही उस हयग्रीव दैत्य को मार कर हमें बोध कराते हैं ज्ञान प्रदान करते हैं। हम अपने कलके अपूर्ण कामों को पूर्ण करने में लग जाते हैं, किन्तु जीवन भर करते करते भी हमारे काम कभी पूर्ण नहीं होते, क्योंकि हमने अपूर्ण का आश्रय ले रखा है। यदि पूर्ण का आश्रय लें तब तो पूर्ण निकालने पर पूर्ण जोड़ने पर पूर्ण ही रह जायगा। यही इस मत्स्यावतार चरित्र का आध्यात्मिक रहस्य है।

जो इस सत्यव्रत और माया मत्स्य रूप श्री हरि के सुख सम्वाद को सुनते हैं, पढ़ते पढ़ाते हैं, श्रद्धा सहित गाते गवाते हैं उनके सभी संसार बन्धन अविलम्ब कट जाते हैं। इसमें संदेह नहीं, संशय नहीं, भ्रम नहीं, अत्युक्ति नहीं और व्यर्थ प्रलोभन नहीं। यह ध्रुव सत्य है। यह सब को सुख देने वाली मत्स्य भगवान् की पावन कथा है। जो इसका श्रद्धा से कीर्तन करते हैं उनके समस्त मनोरथ पूर्ण होते हैं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में आपसे मत्स्यावतार की कथा कही अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

इस पर महाराज परीक्षित् ने कहा—"महाराज! आप उस अधूरी कथा को पूरी कीजिये, जो आपने यह कह कर छोड़ दी थी कि इसका आगे वर्णन करूँगा।"

इसपर श्रीशुक बोले—"राजन्! मुझे तो स्मरण नहीं है। कथाओं के प्रवाह में मैं भूल जाता हूँ, आप स्मरण दिलावें।

इस पर राजा परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! आपने जो एक कल्प में १४ मन्वन्तर बताये थे। उनमें ७ बीते हुए मन्वन्तरों का तो आपने पीछे वर्णन किया। आगामी ६ मन्वन्तरों का आपने केवल नाम निर्देशमात्र कर दिया था। मैंने भी सोचा। जो बीत गये, उनसे तो शिक्षा ली भी जा सकती है, किन्तु जो अपने आने वाले हैं, वे तो अभी भविष्य के गर्भ में छिपे हैं, उनके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है। सम्हालने वाली बात तो वर्तमान की है। अतः मैंने पूछा था इस वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर की कथा आप मुझे सुनावें किन्तु फिर बलि वामन का प्रसंग चल पड़ा उसी प्रसंग में मत्स्यावतार के प्रसंग में ही विदित हुआ कि जिन राजर्षि सत्यव्रत को मत्स्य भगवान् ने उपदेश दिया वे ही आकर इस कल्प में विवस्वान के पुत्र वैवस्वत मनु हुए। आपने वहीं बताया था कि वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु आदि पुत्र हुए। सो, भगवन्! अब इन सब राजर्षियों के चरित्रों को मुझे विस्तार के साथ सुनावें। क्योंकि ये ही मनु तो हमारे पूर्वज हैं। हम भी तो इन्हीं के वंश में हैं। इस मनु वंश की कथा सुनने से तो हमें बड़ा आनन्द आ जायगा। इस मन्वन्तर में बहुत से अवतार हुए हैं। अतः अब तक जो राजा हो चुके हैं, जो इस समय वर्तमान हैं और जो मुझसे आगे राजा होंगे, उन सबका आप चरित्र मुझे सुनावें। इन सब पवित्र कीर्ति राजर्षियों पर भगवान् ने कृपा की है, इनके निमित्त भगवान् ने अनेकों अवतार धारण किये हैं। हमने सुना है इसी वंश में पूर्णावतार आनन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने भी अवतार लेकर नाना क्रीड़ायें की हैं। अतः पहिले इनके वंश को सुनाइये, तब मेरे आराध्य देव भगवान के चारु चरित्रों को मेरे कानों में उड़ेल दीजिये। आज चौथा दिन

तो हो ही गया भगवान् और उनके आश्रित भक्तों की कथा सुनते सुनते ही मैं प्राणों का परित्याग करना चाहता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से प्रायोपवेशन व्रत लिये हुए महाराज परीक्षित् ने यह प्रश्न किया तब वे राजा की उत्सुकता देखकर बड़े प्रसन्न हुए और राजा की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"राजन्! आप कथा के तार को टूटने नहीं देते। प्रसंग को चालू ही रखते हैं। अप्रासंगिक प्रश्न भी नहीं करते। मनुवंश का विस्तार से वर्णन तो हजारों वर्षों में भी नहीं हो सकता। फिर इन साढ़े तीन दिनों में मैं पूर्ण मनुवंश का वर्णन कैसे कर सकता हूँ। आवश्यकता भी नहीं। इनमें जो मुख्य मुख्य भगवद्भक्त पुण्यकीर्ति राजा हो गये हैं उनके चरित्रों के मिस से मैं आपको भगवान के चरित्र सुनाऊँगा। आप ध्यान से सुनें।" राजा को ऐसा कहकर श्रीशुकदेवजी उन्हें वैवस्वत मन्वन्तर के राजाओं की वंशावली और चरित्र सुनाने को उद्यत हुए।

छप्पय

परम पुण्यप्रद मत्स्य चरित जे सुनें सुनावें।
प्रभुपद प्रकटै प्रेम परमपद ते नर पावैं॥
सुन शफरी हरि चरित परीक्षित् अति हरषाये।
कथा प्रसंग चलाय सामयिक वचन सुनाये॥
तेरह मन्वन्तर कथा, नाथ कृपा करिकें कही।
वैवस्वत मनु वंशकी, कहहु कथा जो बचि रही॥

वैवस्वत मनुके वंश का वर्णन

(५८९)

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परंतपः ।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्ष शतैरपि ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

बोले श्रीशुक श्राद्धदेव मनु वंश सुनहु अब ।
महाकल्प पश्चात् शयन सर्वेश करैं जब ॥
होहि निशा को अन्त नाभि तैं प्रकटै पङ्कज ।
तातैं ब्रह्मा होहिं चतुर्मुख कमलासन अज ॥
मनतैं पुत्र मरीचि मुनि, तिनके कश्यप प्रजापति ।
विवस्वान तिनके तनय, जिनको जगमहँ तेजअति ॥

आर्य शास्त्रों में पूर्ण वर्णन करने की प्रथा है, जिस वर्णन को करेंगे, उसका पूर्ण परब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित करके अन्त में पूर्ण में ही उसका अवसान कर देंगे। जैसे अग्नि से ही विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं और अन्त में अग्नि

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तुम मनुवंश का वर्णन संक्षेप में सुनो। विस्तार से मनुवंश का वर्णन तो सैकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता।

में ही मिल जाती हैं। कोई बड़ी चिनगारियाँ होती हैं कोई छोटी। कोई पतली होती हैं कोई मोटी। कोई अधिक काल प्रकाश करती हैं, कोई उत्पन्न होते ही बुझ जाती हैं। ये सब ही अग्नि का स्वरूप ही हैं। अग्नि से पृथक् उनकी कोई सत्ता नहीं, अस्तित्व नहीं, इसी प्रकार ये प्रजापति, मनु, मनुपुत्र देवता इन्द्र तथा चराचर जगत् उन्हीं विश्वम्भर की लीला का विलासमात्र है। किसी के एक दिन में कई जन्म हो जाते हैं, कोई पतंगे दिन में कई बार मरते जीते हैं। कोई पक्षभर जीते है, किसी की आयु महीनों की है, कोई वर्ष भर जीते हैं। कोई अपने को शतायु कहते हैं। बहुत से दिव्य वर्षों से १०० वर्ष जीते हैं, कोई मन्वन्तर पर्यन्त, कोई कल्पपर्यन्त और महाकल्प पर्यन्त। जीव सब हैं एक से ही। अन्तर इतना है, जो भगवद् भक्त हैं, प्रभु कृपा पात्र हैं, वे प्रभुमय बन जाते हैं। उनके चरित्र श्रवण करने से भगवद् भक्ति का उदय होता है। परमार्थ का पथ परिष्कृत होता है। अतः पुण्यश्लोक पवित्र कीर्ति पुरुष के पावन चरित्र का प्रतिदिन पारायण करना चाहिये। उन्हीं के श्रवण मनन चिन्तन में समय लगाना चाहिये। यही समय की सार्थकता है।

जब महाराज परीक्षित् ने श्रीशुकदेवजी से वर्तमान मनु के वंश का वर्णन करने का आग्रह किया तो व्यासनन्दन भगवान शुक ने संक्षेप में विवस्वान् के वंश की उत्पत्ति बताते हुए कहना आरम्भ किया। श्रीशुक बोले—"राजन! यह इस मन्वन्तर का अट्ठाईसवाँ कलियुग चल रहा है। अर्थात् इस मन्वन्तर में २८। २८ बार चारों युग बीत गये। एक मनु लगभग ६२ चौकड़ी से कुछ अधिक समय तक शासन करते हैं।

मन्वन्तर के आदि में वे अपने पद पर प्रतिष्ठित होते हैं। तभी वे प्रजा पालन के लिये पुत्र उत्पन्न करते हैं। जिनके वंशज मन्वन्तर पर्यन्त इस पृथ्वी का पालन करते हैं। यदि मैं २८ चौकड़ियों में होने वाले सभी राजाओं के नाम ही वर्णन करूं तो सैकड़ों युगों में भी पूरे न होंगे। अतः मैं संक्षेप में मनु वंश कहूँगा। आप श्रद्धा सहित सुनें

सब के स्वामी तो वे सच्चिदानन्द सर्वेश्वर परात्पर प्रभु ही हैं। उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता, सृष्टि की बात तो कौन कहे। वे नारायण ही जब इच्छा करते है, इस जगत् को बना लेते हैं, स्वयं ही पालन करते हैं, और जब चाहते हैं इच्छानुसार इसे समेट कर अपने पेट में रखकर सो जाते हैं। सो क्या जाते हैं झूठे ही आँखें मींच लेते हैं। आँख भी पूरी नहीं मींचते। अब उसे क्या कहें, ऐसे ही कुछ पैर समेट कर पड़ जाते हैं। फिर वे काल की प्रेरणा से आँखें खोलते हैं। आँखे बन्द हों तो खोले, ये सब औपचारिक शब्द हैं।

हाँ, तो राजन्! भगवान् जब योग निद्रा में शयन कर जाते हैं और फिर जब सृष्टि का समय आता है, तो कालकी प्रेरणा से भगवान् की नाभि से कमल उत्पन्न होता है। वह सुवर्णमय दिव्य कमल ही सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है। उस कमल से ही चतुर्मुख ब्रह्माजी की उत्पत्ति होती है वे ब्रह्माजी ही इस चराचर सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। अपने समान ही वे प्रजापतियों को मन से रचते हैं। वे प्रजापति ही नाना प्रकार की योनियों वाले जीवों के जनक हैं। वे प्रजाओं के पिता कहलाते हैं और ब्रह्माजी पितामह। सृष्टि जैसे पहिले थी वैसी

ही हो जाती है। महाराज! इन सब बातों को मैं पीछे समझा आया हूँ। इस समय तो मुझे इस मन्वन्तर के अधिपति वैवस्वत मनु श्राद्ध देव की वंशावली बतानी है।

श्रीमन्नारायणजी से ब्रह्मा, ब्रह्माजी के मन से प्रजापति मरीचि हुए। मरीचि के परम प्रतापी चराचर प्राणियों को उत्पन्न करने वाले भगवान् कश्यप हुए। कश्यप की अदिति, दिति, काष्ठा आदि १३ पत्नियां हुईं। बड़ी दिति के दैत्य हुए। आदिति के आदित्य हुए। १० आदित्यों में एक विवस्वान् (सूर्य) भी है। विवस्वान् का विवाह विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा के साथ हुआ। संज्ञा ने ही छाया और वडवा ये दो रूप और रख लिये थे। यह कथा मैं पीछे बता चुका हूँ। संज्ञा के गर्भ से ही श्राद्धदेव का जन्म हुआ। ये श्राद्धदेव वे ही राजर्षि सत्यव्रत हैं, जिन्होंने प्रलय के जल में मत्स्य भगवान् के साथ जल विहार किया था। इस कल्प में विवस्वान् के पुत्र होने से ये वैवस्वत मनु कहाये। भगवान् ने इन्हें कारक पुरुष बना कर मनु पदपर प्रतिष्ठित कर दिया है। महाराज! आजकल हम वैवस्वत मन्वन्तर में ही कार्य कर रहे हैं। हमारे वर्तमान मनु वैवस्वत ही हैं। इन्हींके वंशज मनुपुत्र इस वसुन्धरा का उपभोग कर रहे हैं।"

राजा परीक्षित् ने कहा—"तब तो भगवन्! हमें आप वैवस्वत मनु की कथा सुनावें। हमारे पूर्वज तो ये ही हैं। इन्होंने किसके साथ विवाह किया और इनके कितने पुत्र हुए?"

श्री शुक बोले—"राजन्! वैवस्वत मनु की पत्नी का नाम श्रद्धा था। उनके इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष,

नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि ये १० पुत्र हुए। समस्त क्षत्रियवंश की उत्पत्ति इन दशों से ही है। इन क्षत्रियों के वंशज ही एक मन्वन्तर पर्यन्त इस पृथिवी का शासन करेंगे। सूर्य (विवस्वान्) के पुत्र वैवस्वत मनु (श्राद्ध देव) उनके इक्ष्वाकु आदि १० पुत्र हुए इनके जो भी वंश में हुए वे सब के सब सूर्यवंशी क्षत्रिय कहलाये। इन्हीं वैवस्वत मनु से चन्द्रवंशी क्षत्रियों की भी उत्पत्ति हुई।

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवान! हम लोग तो अपने को चन्द्रवंशी क्षत्रिय ही कहते हैं। महाराज वैवस्वत के दशपुत्रों में से किस पुत्र से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई? सूर्य के वंश में होने पर भी वे चन्द्रवंशी क्यों कहलाये?"

इसपर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन्! तुमतो कथा के मूल में पहुँच कर प्रश्न करते हो। इन इक्ष्वाकु आदि दशों पुत्रों से चन्द्रवंश की उत्पत्ति नहीं हुई। इन दशों के वंशज तो सभी सूर्यवंशी ही कहलाये। इनके अतिरिक्त इन से बड़े एक पुत्र महाराज के और थे, उनका नाम था सुद्युम्न। उन सुद्युम्न से ही चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई सुद्युम्न के पुत्र हुए पुरुरवा जो प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के राजा हुए। चन्द्रवंश के ही आदि पुरुष हैं। इन्हीं से चन्द्रवंश का आरम्भ हुआ है। समस्त चन्द्रवंशी क्षत्रियों का निकास झूसी (प्रतिष्ठानपुर) से है और समस्त सूर्यवंशी राजाओं का निकास अयोध्या जी से है। यहीं से सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रिय निकल कर समस्त पृथ्वी पर फैल गये। कोई म्लेच्छों और यवनों के पति होने से म्लेच्छ और यवन हो गये। कोई निषादों के पति से निषाद हो गये कोई जो वर्णाश्रमी देशों के शासक हुए वे शुद्ध क्षत्रिय रहे।

महाराज परीक्षित् ने कहा—"महाराज ! वह संदेह तो मुझे रह ही गया। वैवस्वत मनु के जो आपने सुद्युम्न पुत्र बताये उनके वंशज सूर्यवंशी न कहाकर चन्द्रवंशी क्यों कहलाये ? महाराज सुद्युम्न की पत्नी का क्या नाम था। पुरुरवा जो चन्द्र वंश के आदि पुरुष हैं उनकी माता का क्या नाम था ? जब महाराज सुद्युम्न बड़े, थे, तो पहिले आप मुझे उनकी ही कथा सुनाइये।

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी हँसते हँसते बोले—"महाराज आपके पूर्वज पुरुरवा के पिता भी सुद्युम्न थे और माता भी सुद्युम्न थे। चन्द्रमा के पुत्रजी से उनका संसर्ग हो गया, इसी लिये पिता के सम्बन्ध से इस वंश का नाम चन्द्र वंश हो गया। प्रतीत होता है यह "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" वाला श्लोक तभी से प्रचलित हुआ।"

आश्चर्य के साथ महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज एक ही पुरुष माता और पिता दोनों कैसे हो गये। यह बड़ी विचित्र बात है। कृपा करके पहिले मेरे कुतूहल को पूर्ण कीजिये ! तब आगे की कथा सुनाइये !

इसपर श्रीशुक बोले—"राजन् ! कुतूहल की कोई बात नहीं, यह तो संसार चक्र है। इसमें न कुछ सम्भव न असम्भव। भगवान् क्रीड़ा कर रहे हैं। पुरुष स्त्री बन जाता है, स्त्री पुरुष बन जाती है। बहुत से मरकर पुरुष से स्त्री, स्त्री से पुरुष बन जाते हैं। बहुत से इसी शरीर में पहिले पुरुष होते हैं, फिर स्त्री हो जाते हैं। बहुत सी स्त्रियों को देखा है, वे सर्वथा पुरुष बन गई हैं। पुरुष बनकर उन्होंने विवाह किया है, सन्तानें

उत्पन्न की हैं। इसी प्रकार ये महाराज सुद्युम्न एक बार स्त्री बन गये थे। उन्हीं के गर्भ से पुरूरवा का जन्म हुआ!

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! हमारे पूर्वज सुद्युम्न पुरुष से स्त्री क्यों बन गये? उनसे पुरूरवा की उत्पत्ति कैसे हुई। कृपाकर प्रथम इसी वृत्तान्त को मुझे सुना दीजिये। तब सूर्यवंश का वर्णन करें।

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"अच्छी बात है राजन्! पहिले महाराज सुद्युम्न का आपको चरित्र सुनाता हूँ, तब फिर सूर्यवंश का वर्णन करूँगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कहकर भगवान् शुक महाराज सुद्युम्न की कथा सुनाने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

विवस्वान् के पुत्र भये श्रीवैवस्वत मनु।
तिनतैं श्रद्धा माँहि भये दस सुत इन्द्रिय जनु॥
इक्ष्वाकु, शर्याति दृष्टि और धृष्ट, नभग, कवि।
नृग, करूष नरिसन्त पृषध्रहु वंश विदित रवि॥
इन सबके पहिले भये, सुत सुद्युम्न विचित्र अति।
नरतैं नारी बनि गये, ये विचित्र श्री शम्भु गति॥

———

महाराज सुद्युम्न की उत्पत्ति

(५६०)

अप्रजस्य मनोः पूर्वं वशिष्ठो भगवान् किल ।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत् प्रभुः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

श्राद्धदेव सुतहीन यज्ञ पुत्रेष्टि करायो ।
मुनि वशिष्ठ आचार्य यज्ञ को साज सजायो ॥
रानी इच्छा करी पुत्र नहिं पुत्री होवे ।
होता आहुति दई लोभ संकल्पहिं खोवे ॥
इला नाम कन्या भई, मनु मनमहँ चिन्तित भये ।
गुरु सन बोले दुखित ह्वै, मंत्र व्यर्थ क्यों ह्वै गये ॥

जीव सोचता है कुछ हो जाता है कुछ । भाग्य को कोई मेट नहीं सकता । कर्म की रेखपर मेख मारना अत्यन्त कठिन हो जाता है । भगवान् की इच्छा से ही यह सब हो रहा है । जीव तो उन्हीं की प्रेरणा से चेष्टा करता है । उन्हीं की शक्ति से सभी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पहिले वैवस्वत मनु के कोई सन्तान नहीं थी अतः पुत्र की कामना से भगवान् वशिष्ठ द्वारा उन्होंने मित्रावरुण पुत्रेष्टि यज्ञ कराया ।

शक्तिशाली बनते हैं। उनकी शक्ति सर्वोपरि है। उनका सकल्प ही सत्य है, और सब तो मिथ्या है। जग जंजाल है। अतः उनकी इच्छा में इच्छा मिला देना यही कर्तव्य है, यही प्रधान साधन है। यही पुरुषार्थ है। यही जप, तप, भजन, पूजा, पाठ तथा सब कुछ है। अतः सबमे उन्हीं की इच्छा समझकर सभी को उन्हीं की क्रीड़ा समझनी चाहिए।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! आपने मुझसे महाराज सुद्युम्न की कथा पूछी थी सो मैं आपको सुनाता हूँ। विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र श्राद्धदेव (वैवस्वत मनु) का विवाह सौभाग्यवती श्रद्धा देवी के साथ हुआ। विवाह हुए बहुत दिन हो गये, किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं हुई। महाराज! गृहस्थियों को सब से बड़ा दुःख है सन्तान का न होना। विवाह सन्तान के ही लिये किया जाता है, गृहस्थ सुख का उपभोग करे, और वंश विच्छेद न हो, हमारी कुल परम्परा अक्षुण्य बनी रहे हमें जो शरीर मिला है, पिता पितामह आदि के न्यास रूप में मिला है। जैसे पिता पुत्र को अपना प्रतिनिधि छोड़ गये हैं, वैसे ही पुत्र का भी कर्तव्य है कि वह भी पुत्र को अपना प्रतिनिधि छोड़ जाय। जो ऐसा नहीं करते हैं, वे पितृऋण से मुक्त नहीं होते। उन पुत्र हीनों की गति नहीं। वे अपने पितरों को भी नरक में डालते हैं, स्वयं भी नरक जाते हैं। हाँ, जिन्होंने अपने को सर्वात्मभाव से श्री हरि को अर्पित कर दिया हो, जगत् से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर लिया हो, उनकी तो बात ही पृथक है। उनके लिये तो कुछ कर्तव्य ही नहीं गृहस्थ के लिये पुत्र होना आवश्यक है, यही गार्हस्थ्य धर्म की सफलता है।

जब राजा को चिरकाल तक सन्तान न हुई तब उन्होंने अपने कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ को बुलाया और हाथ जोड़कर

विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन्! आप सर्वसमर्थ हैं, दूसरे ब्रह्मा की भाँति नूतन सृष्टि कर सकते हैं। मेरे कोई सन्तान नहीं। इसके लिये आप कुछ उद्योग करें।"

यह सुनकर वशिष्ठ जी ने कहा—'राजन्! देवताओं की कृपा से ही पुत्रादि सुखकर पदार्थों की प्राप्ति होती है। देवता मंत्राधीन होते हैं। सदाचार से शुद्धता पूर्वक परम्परा के अनुसार विधिवत् धारण किये हुए मंत्र कभी व्यर्थ नहीं होते। उनके उच्चारण मात्र से ही विवश होकर देवता खिंचे चले आते हैं और उपासक की कामना को पूर्ण करते हैं। मैं आपको मित्रावरुणदेव के उद्देश्य से पुत्रेष्टि यज्ञ कराऊँगा। उसके करने से आपको अवश्य पुत्र की प्राप्ति होगी।

यह सुनकर राजा परम प्रसन्न हुए और बोले—"भगवन्! वह यज्ञ आप अवश्य कराइये। जिन जिन सामग्रियों की आवश्यकता हो उन उन को अविलम्ब एकत्रित कराइये। जिन जिन ऋषियों को होना, ऋत्विज तथा अध्वर्यु आदि बनाना हो उन सब को बुलाइये। पुण्य कार्य जितना भी शीघ्र हो सके उतना ही शीघ्र उसे सम्पन्न कर देना चाहिये। पीछे कौन जाने क्या हो?"

राजा की ऐसी उत्सुकता देखकर वशिष्ठ जी ने कहा—"राजन्! मैं यज्ञ की सब सामग्रियों को एकत्रित कराता हूँ। आप अपनी पत्नी के साथ यज्ञ की दीक्षालें और जबतक यज्ञ सम्पन्न हो आप अपनी पत्नी के सहित केवल दूध पीकर ही रहें।"

वशिष्ठ जी की आज्ञा शिरोधार्य करके राजा ने यज्ञ की दीक्षाली और केवल दुग्धाहार करके वे दीक्षित पत्नी के साथ

रहने लगे। प्रारब्ध वश उनकी पत्नी के मन में एक विचार आया, कि पुत्र होगा तो बाहर रहेगा और पुत्री हुई तो महलों में सदा मेरे पास ही रहेगी। अतः किसी प्रकार इस यज्ञ से पुत्री होती तो उत्तम था।"

अपने विचार को राजा से तो कह ही कैसे सकती थी। जिस दिन पूर्णाहुति का समय आया रानी होता के समीप गई और प्रणाम करके चुप के से बोली—"ब्रह्मन्! मेरी इच्छा ऐसी है कि हमारे पुत्र न होकर पुत्री ही हो। आप ऐसा उद्योग करें, कि मेरी इच्छा पूरी हो जाय। पुत्र सम्बन्धी मंत्र न पढ़ कर पुत्री सम्बन्धी मन्त्र पढ़कर हवन किया जाय।" यह कहकर रानी ने उनकी पूजा की। महाराज! पूजा से तो देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं, फिर इन कर्मकांडी ब्राह्मणों से तो पूजा करके जो चाहो सो करालो। होताजी ने यह बात स्वीकार करली।

जब अध्वर्यु ने ब्राह्मण होता को हवि छोड़ने की प्रेरणा की तब उसने राजा की पत्नी के संकल्प को स्मरण करते हुए उसी भावना से वषट्कार का उच्चारण करते हुए हवि छोड़ी। सृष्टि तो भाव प्रधान है। जैसा संकल्प होगा, वैसा ही फल होगा।

यज्ञ समाप्त हुआ। यज्ञोच्छिष्टचरु ब्राह्मणों ने राजा को दिया। राजा ने उसे सूँघकर रानी को दिया। रानी ने उस हवि को संतान की कामना से खा लिया। उसके गर्भ रह गया और समय पाकर उनके उदर से एक कन्यारत्न का जन्म हुआ।"

राजा पुत्र की आशा लगाये बैठे थे। पुत्री के जन्म से उनका वन्ध्यापति का दोष तो छूट गया, किन्तु उन्हें प्रसन्नता नहीं

हुई। वे वंशधर पुत्र चाहते थे। उन्होंने अपने कुल गुरुवशिष्ठ

को बुलाकर कहा—"ब्रह्मन्! तो आपने वेदों को यथाविधि

धारण किया है। आपके मन्त्रों की शक्ति तो अमोघ है, यह कभी व्यर्थ तो हो ही नहीं सकती। फिर मेरे यज्ञ में यह विपर्यय फल कैसे हुआ। मैंने तो पुत्र की इच्छा से पुत्रेष्टि यज्ञ किया था। फिर पुत्री कैसे उत्पन्न हुई।"

यह सुनकर वशिष्ठ जी को भी आश्चर्य हुआ उन्होंने कहा—"राजन्! हमने मन्त्रों को विधिवत् गुरु शुश्रुषा करके नियम संयम पूर्वक जितेन्द्रिय होकर धारण किया है। हमारी विद्या कभी निष्फल या विपरीत फल वाली हो ही नहीं सकती। अवश्य ही यज्ञ में कोई भाव या विधि सम्बन्धी त्रुटि रह गई है। मै समाधि द्वारा उसे देखता हूँ। यह कह कर वशिष्ठ जी ने अपनी दिव्य दृष्टि से सब बातें जान लीं और सरलता के साथ बोले—"राजन्! आपके आधे अंग ने ही गड़बड़ कर दी। आपकी पत्नी का संकल्प विपरीत हो गया। इसीलिए होता ने नियम के विपरीत आचरण कर डाला। मन्त्रों का इसमें कुछ दोष नहीं है। आपकी रानी की इच्छा से यह सब कुछ हुआ।"

उदास होकर महाराज श्राद्धदेव मनु बोले—"तो भगवन्! अब क्या होना चाहिए?"

वशिष्ठ जी ने कहा—"अब तुम जैसा कहो वैसा हो जायगा।"

राजा ने नम्रता के साथ कहा—"भगवन्! जब आप

मन्त्रों से पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं, तो क्या आपके मन्त्रों में इतना प्रभाव नहीं है, कि इस लड़की का लड़का बना दो।"

शीघ्रता से वशिष्ठ जी बोले—"है क्यों नहीं मैं इस लड़की का ही अपने तपोबल से लड़का बना दूँगा।

वैवस्वत मनु बोले—"तब भगवन्! ऐसा ही कीजिये। इसका लड़का ही बना दीजिये।"

वशिष्ठ जी ने कहा—"अभी तो मैं इसका लड़का बनाये देता हूँ, आगे भगवान् जाने। यह कहकर भगवान् वशिष्ठ ने उस लड़की को अपने मन्त्र तथा तपोबल से लड़का बना दिया। जब वह लड़की थी तब उसका नाम इला था। लड़का होने पर इन्हीं का नाम सुद्युम्न हुआ। इस प्रकार आदि पुरुष भगवान् नारायण की उपासना और वरके प्रभाव से वशिष्ठ जी ने दुष्कर कर्म किया क्षण भर में पुत्री को पुत्र बना दिया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तपस्या के प्रभाव से ऋषिगण क्या नहीं कर सकते। महाराज वैवस्वत उस पुत्र को पाकर उसका बड़ी सावधानी से लालन पालन करने लगे। कालान्तर में वह लड़का युवा हो गया। वह बड़ा पराक्रमी था आखेट करने का उसे बड़ा व्यसन था। वह पर्वतों में वनों में दूर दूर तक आखेट को चला जाता। उसे नित्य नूतन वनों में, पहाड़ों में, दुर्गम स्थानों में, हिम प्रधान प्रदेशों में पर्यटन

करना अत्यन्त प्रिय था। वहाँ बड़े बड़े पर्वतों को लाँघ जाता जङ्गम और कठिन मार्गों में वह निर्भय होकर चला जाता। उसके इस कार्य से उसके अनुचर सन्तुष्ट तो नहीं थे, किन्तु राजपुत्र का विरोध कैसे करते। अतः जहाँ वह जाता उसके अनुचर भी उसका अनुगमन करते। इस प्रकार वह नये नये देशों में घूमने लगा।

छप्पय

मुनि वशिष्ठ धरि ध्यान कहैं सब ज्ञान भयो अब।
रानी सम्मति मान करयो होता कौतुक सब॥
किन्तु न नृप घबराउ मन्त्र बल देखो मेरो।
पुत्री तैं करि पुत्र करौं हौं कारज तेरो॥
यों कहि प्रभु बिनती करी, ह्वै प्रसन्न हरि वर दयो।
सुता इला मुनि कृपाते, पुनि सुद्युम्न कुमर भयो॥

सुद्युम्न का पुनः पुरुष से स्त्री हो जाना

(५६१)

स कुमारो वनं मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह।
यत्रास्ते भगवाञ्छर्वो रममाणः सहोमया॥
तस्मिन् प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा।
अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप॥१

(श्री० भा० ९ स्क० १ अ० २५, २६ श्लो०)

छप्पय

एक दिवस सुद्युम्न सेन सजि मृगया खेलन।
होहि अश्व असवार गयो सँग सचिवनि के वन॥
मृग लखि पीछो करयो अश्व अपनो दौरायो।
गिरि सुमेरु ढिँग खण्ड इलावृत महँ नृप आयो॥
परी दृष्टि जब देह पै, नर-तै नारी बनि गये।
परम चकित इत उत लखत, सब घोडा घोड़ी भये॥

एक पौराणिक कहानी है, कि किसी ऋषि ने पुत्र प्राप्ति के

---

१ श्रीशुदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक दिन कुमार सुद्युम्न सुमेरु गिरि के निकले प्रदेश के वन में प्रवेश कर गया, जहाँ भगवान् पशुपतिनाथ पार्वती के साथ रमण कर रहे थे। उस वन में घुसते ही परपक्षहन्ता कुमार सुद्युम्न ने अपने को स्त्री तथा अपने घोडे को घोड़ी के रूप में देखा।

लिये घोर तपस्या की। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान प्रकट हुए। उसने भगवान् से पुत्र माँगा। भगवान् ने कहा—"भाई पुत्र तेरे भाग्य में नहीं है। पुत्र के अतिरिक्त तू और जो चाहे माँगले।"

उसने कहा—"महाराज! मुझे तो पुत्र ही चाहिए मैं और कुछ नहीं माँगता।"

भगवान् बार बार अपनी असमर्थता दिखा रहे थे वह बार बार पुत्र ही माँग रहा था। इस पर गरुड़ जी को बड़ा दुख हुआ। वे बोले—"प्रभो! आप चराचर की सृष्टि, स्थित और संहार करने वाले हैं। आपके लिये पुत्र क्या वस्तु है। दे दो एक पुत्र।"

भगवान् ने गरुड़ जी से कहा—"भाई, तुम ही क्यों नहीं दे देते। तुम भी तो मेरे भक्त हो सर्वसमर्थ हो।"

गरुड़ जी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! मैं देता हूँ।" यह कहकर गरुड़ जी ने उसे एक पुत्र होने का वर दे दिया। कालान्तर में उनके एक पुत्र हुआ। जिसका नाम उन्हों-ने शुकदेव रखा। १२ वर्ष के पश्चात् वह लड़का फिर मर गया। वह ब्राह्मण अत्यन्त दुखी हुआ और एक महीने तक बिना खाये पिये वर्षा में पड़ा रहा।

कथा का सार इतना ही है, कि जो भाग्य के विपरीत हठ पूर्वक कार्य किया जाता है, उसका फल स्थाई नहीं रहता। कुछ काल में तप आदि का प्रभाव क्षीण होने से फिर वह जैसा का तैसा ही हो जाता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन! वैवस्वत मनु की पुत्री इला को वशिष्ठ जी ने सुद्युम्न नामक पुत्र बना दिया। जब

कुमार सुद्युम्न बड़ा हुआ तो एक दिन मृगया करते करते वह बहुत दूर निकल गया। हिमालय को लांघकर वह किंपुरुष खंड में चला गया जहाँ सुवर्ण का दिव्य सुमेरु पर्वत है, जो तीनों लोकों का आधार स्तम्भ है। उस पुण्यमय परमपावन प्रदेशों में पहुँचकर सुद्युम्न को अत्यंत प्रसन्नता हुई। एक मृग के पीछे अपने सिन्धुदेशीय सुन्दर वेगशाली घोड़े को दौड़ाते हुए राजा भूल से उस शिव क्रीड़ा स्वरूप प्रदेश में पहुँच गये। वहां पहुँचते ही वे पुरुष से स्त्री हो गये। उन्होंने अपने अङ्ग-प्रत्यंगों को देखा पुरुषार्चित सभी अङ्ग विलीन हो गये थे। स्त्रियों के समस्त चिन्ह उनके शरीर में उत्पन्न हो गये थे। उन्हों-ने अपने घोड़े को देखा, वह भी घोड़ी हो गया था। हाथियों को देखा वे भी सब के सब हथिनी बन गये थे। कुछ क्षण उन्हें ध्यान रहा। फिर वे अपने आपे को भूल गये। अब तो १६ आना अपने को स्त्री ही समझने—लगे मैं आती हूँ, मैं जाती हूँ, मैं खाती हूँ, मैं पीती हूँ, ऐसे बोलने लगे और लीला से नारी सुलभ हाव भाव कटाक्षों को फेंकते हुए अपनी सहेलियों के साथ एक वन से दूसरे वन में घूमने लगे।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! यह तो आप आश्चर्य की सी बात बता रहे हैं। यह तो जादू टौना की सी बात हुई! उस प्रदेश में प्रवेश करते ही सब के सब पुरुष मे स्त्री क्यों बन गये?"

यह सुनकर श्री शुकदेव बोले—"मनुष्य पर देश और काल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। काल विपरीत हो जाने से अच्छे अच्छों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, इसी प्रकार देश के गुणों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

इसपर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! ऐसा भी क्या देश का प्रभाव ? कि सर्वथा लिङ्ग विपर्यय ही हो जाय। राजा तो बुद्धिमान् थे, वे अपनी बुद्धि के प्रभाव से उस देशजन्म दोष को हटा क्यों नहीं सके।"

यह सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"महाराज ! यह सब भगवान् की क्रीड़ा है, और कह भी क्या सकते हैं। जो स्थान शापित हो जाता है उसका प्रभाव सब पर पड़ता है। साधारण पुरुषों की बात छोड़ दीजिये। ईश्वरों परभी इसका प्रभाव पड़ता है। देखिये, साक्षात् अवधकुलमंडल रघुकुलतिलक, कौशल्यानन्दवर्धन, लक्ष्मणहृदयधन जनकनन्दनीजीवन सर्वस्व श्री राघव के लघुभ्राता लक्ष्मिसम्पन्न उनके बाह्य प्राण स्वरूप, शिष्य, सेवक, अनुज, बन्धु, मित्र मन्त्री और परम प्रेमास्पद श्री लक्ष्मणजी पर भी स्थान का कैसा विचित्र प्रभाव पड़ा कि वे श्री भगवान् के प्रति और जगज्जननी जगदम्बिका सीता जी के प्रति भी कैसे अंडबंड वचन बोलने लगे।"

यह सुनकर चौंकते हुए शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! आप तो एक से एक विचित्र कथा कहकर हमारे कुतूहल को अत्यधिक बढ़ा देते हो। महाभाग ! ऐसा तो हमने कभी सुना नहीं कि अपना सर्वस्व समर्पण करने वाले लक्ष्मणजी अपने इष्ट के प्रति कोई अनुचित बात कह सकें। यह कब की बात है, कब ऐसा हुआ ? क्यों लक्ष्मणजी ने भगवान् राम और भगवती सीता के प्रति अंड बंड वचन कहे। इस कथा को पहिले सुनाकर तब हमें सुद्युम्न की कथा सुनावें। इसे सुनने को हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

इसपर सूत जी बोले—"महाराज! लक्ष्मण जी श्री राम के प्रति या जगज्जननी सीता जी के प्रति ऐसे वचन थोड़े ही कह सकते हैं। यह तो भगवान् ने स्थान का महत्व प्रकट किया था। अच्छी बात है सुनिये, पहिले मैं उसी कथा को आपको सुनाता हूँ।

किसी कल्प की बात है कि श्री रामजी चित्रकूट से वनवास के समय अत्रि मुनि की आज्ञा से पुष्कर क्षेत्र गये। वहाँ मार्कंडेय मुनि से भेंट हुई! मुनिने आज्ञा दी—"राम! यह पुष्कर क्षेत्र बड़ा पुण्यप्रद है। तुम यहाँ अपने पितरों का श्राद्ध करो।" दशरथजी ने भी स्वप्न में श्री राम को ऐसा ही आदेश दिया। पिता की इच्छा और मुनि की आज्ञा पाकर श्री रामचन्द्र जी ने वन के कंद मूल फलों से विधिवत अपने पितरों का श्राद्ध किया। वहाँ सीता ने प्रत्यक्ष ब्राह्मणों के शरीर में दशरथ जी को देखा। ससुर के सम्मुख बहू कैसे रह सकती है। अतः सीता जी एक झाड़ी में जा बैठीं। श्राद्धादि सम्पन्न हुआ। सब को बड़ा हर्ष हुआ, सबने भोजन किया। एकरात्रि वहाँ रहकर दूसरे दिन ज्येष्ठ पुष्कर पर श्री रामचन्द्रजी गये। वहाँ उन्होंने लक्ष्मण और सीता जी के सहित एक मास पर्यन्त निवास किया। व्रत किया, व्रत की समाप्ती पर श्राद्धादि कर्म किये। वहाँ से कुछ दूर एक स्थान पर जाकर श्री रामचन्द्र ने लक्ष्मण जी से कहा—"हे सौमित्रे! भैया! देखो, तुम यह मेरा कमण्डलु ले जाओ। ज्येष्ठ पुष्कर से जल ले आओ। जिससे हम पाद प्रक्षालन करके यहाँ सुख पूर्वक शयन करें।"

इतना सुनते ही लक्ष्मण जी बोले—"देखिये, महाराज! आप मुझे सदा तंग करते रहते हैं। पानी ला, फल ला, फूल ला,

यह ला, यह ला, । मैंने बहुत दिन तक आपकी दासता की। अब मुझसे न होगी। मैं पानी फानी नहीं ला सकता।"

श्री राम जी ने कहा—"अच्छी बात है, हमही ले आवेंगे।"

लक्ष्मण ने लाल आखें करके कहाँ—"हाँ आप तो ले ही आवेंगे। यह जो इतनी मोटी ताजी सीता तुमने पाल रखीं है, इससे क्यों नहीं मँगाते? यह तो मुझसे भी अधिक मोटी है। फिर भी मेरे ऊपर ही शासन करती रहती है। निरंतर मुझे क्लेश देती रहती है। और तुम भी उसी का पक्ष लेकर मुझे आराम से बैठने नहीं देते। तुम तनिक भी मेरे दुख सुख की ओर ध्यान नहीं देते। इस जानकी को तुमने मुँह लगा रखा है। क्या यह परलोक में तुम्हारा पल्ला पकड़ कर पीछे पीछे जायगी। न इस से काम के लिये कहते हो न धंधा कराते हो। अपने पिता को ही देख लो, कितना धन वैभव उन्होंने एकत्रित किया, कैकेयी को प्रसन्न करके तुम्हें वनमें भेज दिया, उस धन वैभव को यहाँ छोड़ गये। क्या कैकेयी उनके साथ गई? अब महाराज! बहुत कहने से क्या प्रयोजन? मेरी आपकी पटरी अब बैठेगी भी नहीं। आपका दूसरा मार्ग, मेरा दूसरा। यह सीता आपके साथ जाय मैं तो आपके साथ जाने का नहीं। आप इसे भली भाँति पालिये पोसिये।"

भगवान् ने श्री लक्ष्मणजी के मुख से ऐसे अप्रिय, कठोर हृदय को विदीर्ण करने वाले बचन आज तक कभी सुने ही, नहीं थे। इन अश्रुतपूर्व वचनों को सुनकर श्रीराम जी तो भौचक्के से रह गये। उन्होंने लक्ष्मण से एक शब्द भी नहीं कहा। सीताजी भी चुपचाप बैठी सब सुनती रहीं। उन्हें भी

बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उठीं, कमंडलु भरकर पुष्कर से जल ले आईं। श्री राघव के चरणों का प्रक्षालन किया। उनकी शैया बिछाई श्रीरामजी भी खिन्न मन होकर सो गये। उन्हें लक्ष्मणजी के इस व्यवहार पर दुःख हो रहा था।

प्रातःकाल होने पर श्रीराम ने बड़े मधुर स्वर में लक्ष्मण जी से कहा—"भैया, लक्ष्मण! उठो! चलो, दक्षिण दिशा की ओर चलें।"

यह सुनकर लाल लाल आँखें करके लक्ष्मण जी ने कहा—"हे कमलनयन राघव। आप अकेले ही इस सीता को लेकर चले जायँ। मैं आपके साथ नहीं जाऊँगा।"

भगवान् ने बड़े स्नेह से कहा—"अच्छी बात है, तुम मेरे साथ मत चलो, जिस वन में तुम्हारी इच्छा हो उस वन में चले जाओ।"

लक्ष्मण जी ने कहा—"नहीं, मैं दूसरे वनमें भी न जाऊँगा।"

तब भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, वनमें मत जाओ अयोध्याजी को ही लौट जाओ।"

लक्ष्मण जी ने सिर हिला कर कहा—"नहीं, महाराज! मैं अयोध्या भी नहीं जाऊँगा। इसी वनमें आपसे पृथक् रह कर १४ वर्ष तप करूँगा। फिर मेरी जो इच्छा होगी वह करूँगा। आप मेरी चिन्ता न करें।"

स्नेह के साथ रघुनन्दन ने कहा—"भैया, तुम मेरे साथ

अयोध्याजी से आये हो। तुम्हारे बिना मैं अयोध्या अकेला जाऊँगा, तो लोग क्या कहेंगे ?

लक्ष्मण जी ने कहा—"लोग कुछ भी कहें, किसी से क्या लेना। अच्छी बात है, जब आपकी वनकी अवधि पूरी हो जाय, १४ वर्ष पश्चात् आप लौटें तो इधर से ही निकल जायँ, यदि मैं जीता रहूँगा तो एक बार अपने पिता के पुर को देखने तुम्हारे साथ चला चलूँगा। अब तो मैं जाने का नहीं भगवान् आपका भला करें, यह सामने का मार्ग आपका है, मैं तो इसीवन में अब निवास करूँगा।"

श्रीरामजी ने कहा—"नहीं, भैया ! चलो तो सही।"

लक्ष्मणजी ने कहा—देखिये ! प्रभो ! आप एक बार कहें सहस्रवार कहें। अब मेरा मन खट्टा हो गया है। आप लौट कर आवेंगे तो एकबार आपके साथ आपको राज सिंहासन पर बैठे देखने के लिये चला चलूँगा। भरत शत्रुघ्न आपके अनुकूल हैं ही। हे रघुनन्दन ! मैं तो आपके प्रतिकूल ही हूँ, मुझसे आपका कोई काम होने का नहीं मैं तो वन के कष्ट सहते सहते ऊब गया हूँ। जब होता है, तब आप मुझे ही आज्ञा देते हैं।"

अत्यन्त स्नेह के साथ रघुनन्दन ने कहा—"देखो, भैया तुमने यह बात मुझसे अयोध्या में ही क्यों नहीं कह दी थी। वहाँ तो तुम कहते थे, मैं १४ वर्ष आपके साथ वनमें रहूँगा। तुम्हारे बिना भैया मैं कैसे रह सकता हूँ। वन की बात तो पृथक् रही, कोई तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग भी ले जाय तो मैं वहाँ एक क्षण भी नहीं रह सकता। यदि तुम नहीं जाना चाहते तो मैं भी यहीं रहूँगा।"

लक्ष्मण जी ने कहा—"मेरे साथ रहकर क्या करोगे ! मैं तुम्हारी अब पहिले जैसी सेवा तो कर नहीं सकता।"

श्रीरामने कहा—"भैया ! तुमसे सेवा करने को कहता कौन है। तुम मेरी सेवा मत करना, मैं तुम्हारी करूँगा। जैसे तुम रहोगे वैसे ही मैं रहूँगा। भैया, तुम मुझ पर क्रुद्ध क्यों हो गये हो। मेरे ऊपर प्रसन्न हो, मुझे तुम आधे मार्ग में क्यों छोड़ रहे हो ?"

लक्ष्मणजी ने कहा—"हे कौशल्यानन्दनवर्धन श्रीराम ! आप मुझे यहीं छोड़ दें। आप सीता सहित सुख पूर्वक जायँ।"

इसपर श्री कौशलकिशोर ने कहा—"अच्छा, एक काम करो। मैं सीता को साथ लेकर एकाकी ही चला जाऊँगा। तुम मेरा धनुष लेकर तनिक दूर मर्यादा पर्वत तक तो मुझे पहुँचा दो।"

यह बात लक्ष्मण जी ने स्वीकार करली और भगवान् के पीछे पीछे धनुष लेकर चल दिये। जब उस क्षेत्र की सीमा को उल्लंघन करके मर्यादा पर्वत के समीप पहुँचे, तो वहाँ भगवान शिवजी का एक मन्दिर देखा। वहाँ भगवान् ने शिव जी की पूजा की, स्तुति की, तदनन्तर इन्द्रमार्ग नामक नदी के तटपर पहुँचकर उन्होंने अपनी बिखरी हुई जटाओं को कसकर बाँधा और लक्ष्मण जी से बोले—"लक्ष्मण ! ला भैया ! अब मेरा धनुष मुझे दे दे। अब तेरी जो इच्छा हो सो कर। इच्छा हो, हमारे साथ रह इच्छा हो चला जा।"

आज श्री राम के मुख से ऐसे वचन सुनकर लक्ष्मण का

हृदय भर आया। वे नीचा सिर कर के बालकों की भाँति फूट-फूट कर रोने लगे। श्रीराम जी के सम्मुख देखने का भी उनको साहस नहीं हो रहा था वे थरथर कांप रहे थे। श्रीराम जी से वे एक शब्द भी न बोल सके। समीप में ही बैठी श्री जनक-नन्दिनी के समीप जाकर उनके चरणों में प्रणाम करके रोने लगे। बड़े ही स्नेह से जानकीजी ने कहा—"वत्स लक्ष्मण! तुम ऐसे अधीर क्यों हो रहे हो?"

रोते रोते लक्ष्मण जी ने कहा—"देवि! देवि! न जाने किस कारण से श्रीराम ने मेरा परित्याग कर दिया है। हे माता! श्रीराम से रहित होकर मैं क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता। मैं अभी यहीं अपने प्राणों को त्याग दूँगा।"

सीता जी ने कहा—"लक्ष्मण! तुम को भला श्रीराम कैसे छोड़ सकते हैं। तुम तो उनके बाह्य प्राण हो?"

लक्ष्मणजी ने कहा—देवि! मैं बड़ा पापी हूँ, क्रूर हूँ, कुल-कलंक हूँ। जो मेरे आराध्य देव हैं, श्रेष्ठ हैं, ज्येष्ठ हैं इष्ट हैं उनके प्रति मैंने क्रोध भरे वचन कहे उनका मैंने अपमान किया। अब मुझे किन नरकों में रहना पड़ेगा? अपने जीवन सर्वस्व के प्रति ऐसे वचन कहकर अब मेरा कहीं भी निस्तार नहीं।"

इतना कहकर लक्ष्मणजी अपने दोनों हाथों से मुख को ढाँक कर फूट-फूट कर रोने लगे। लक्ष्मण जी को रोते देखकर सीता जी ने उन्हें धैर्य बँधाया। फिर श्रीराम से कहने लगीं—"हे राघव! आपने अपने प्राणों से भी प्रिय भाई का परित्याग क्यों कर दिया? लक्ष्मण ने तो ऐसा कोई अपराध भी नहीं किया और यदि किया भी हो, तो बच्चों के अप-

राधों की ओर बड़े लोग ध्यान नहीं देते। बच्चे तो बच्चे ही हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीराम बोले—"देवि! प्रिये! क्या तुम विश्वास कर सकती हो कि मैं कभी लक्ष्मण को छोड़ सकता हूँ? और तुम कभी अनुमान भी कर सकती हो कि लक्ष्मण कभी मेरे तथा तुम्हारे विरुद्ध एक शब्द भी भूल से कभी कह सकता है? देवि! अभी जो लक्ष्मण ने ऐसी कठोर कठोर बातें कही हैं, यह इसका दोष नहीं। यह तो इस स्थान का प्रभाव है। इस स्थान को शाप है, कि यहाँ पुत्र पिता के, शिष्य गुरु के, भाई भाई के, अनुकूल नहीं रह सकता। इस स्थान की ऐसी महिमा है, कि सहज स्नेह यहाँ रहता ही नहीं। हम लोग उस स्थान की सीमा को लाँघ आये, अब कोई बात नहीं।" यह कहकर श्रीराम जी रेवा नदी के निकट आ गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी प्रकार महाराज सुद्युम्न देश के प्रभाव से पुरुष से स्त्री हो गये। उस देश को यही शाप था, कि जो वहाँ जाय वही स्त्री बन जाय। इसीलिये राजा के सब साथी सब वाहन पुरुष से स्त्री बन गये।"

राजा परीक्षित ने जब सुद्युम्न के स्त्री होने की कथा सुनी तो उन्होंने भगवान् श्रीशुक से पूछा—"भगवन् उस देश को ऐसे गुणवाला किसने कर दिया था कि वहाँ जाने

वाले सभी स्त्री हो जायँ ? किस कारण से उस वनको ऐसा शाप या वरदान प्राप्त हुआ ?"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन् ! न किसी का शाप था, न वरदान। यह सब तो शिवजी की क्रीड़ा है। नहीं तो कौन स्त्री, कौन पुरुष, सभी जीव उनके अंश हैं। एकमात्र सबके स्वामी वे ही सच्चिदानन्द शिव हैं। अच्छी बात है, मैं यह कथा आपको सुनाता हूँ आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

पूछैं नृप—गुरु ! नृपति भये कस नारी नरतैं।
अद्भुत देश प्रभाव भयो जिह किनके वर तैं॥
हँसि के श्रीशुक कहैं—"भूप अचरज मति मानें।
जगकूँ—क्रीड़ा भूमि भवानी पति की जानें॥
मेरु निकट अति सुघर वन, जहँ झर झर झरना झरहिँ।
उमा संग तहँ कपर्दी, कमनीया क्रीड़ा करहिँ॥

सुद्युम्न इला और बुध

(५९२)

तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया।
स्थानं यः प्रविशेदेतत् स वै योषिद् भवेदिति ॥१

(श्री० भा० ९ स्क० १ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

शिव दरशन के हेतु तहाँ इकदिन बहु ऋषिमुनि।
आये सोचत होहिँ कृतारथ शिव शिक्षा सुनि॥
किन्तु प्रिया सँग करें रमण कामारि उमापति।
अङ्क विराजैं उमा विवस्त्रा चित प्रसन्न अति॥
दाढ़ी वाले ऋषिनि लखि, पारवती लज्जित भईं।
उठीं अङ्क तैं तुरत ई, लता ओट महँ छिपि गईं॥

स्त्रियों का भूषण लज्जा ही है। स्त्रियों को लज्जा सिखानी नहीं पड़ती, उनमें स्वाभाविक लज्जा होती है। स्त्री की अपेक्षा

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् शिव ने अपनी प्रिया पार्वती का प्रिय करने की इच्छा से अपने क्रीडा वन के सम्बन्ध में यह कह दिया कि जो पुरुष अब इस स्थान में प्रवेश करेगा वह स्त्री हो जायगा।

श्रीभागवत—दर्शन :—

भागवती कथा

(पचीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:※:—

लेखक:—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर, झूसी (प्रयाग)

—:※:※:— संशोधित मूल्य २-०

तृतीय संस्करण] चैत्र, सं० २०२४ वि० [मूल्य १) ६५

मुद्रक—संकीर्तन प्रेस, वंशीवट वृन्दावन ।

विषय—सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
भूमिका	१
५९५ सूर्यवंश में प्रथम पृषध्र की कथा	१
५९६ कवि करूष आदि के वंशों का वर्णन	९
५९७ नाभाग चरित्र	१३
५९८ वत्सप्रीति प्रांशु आदि से चरित्र	३२
५९९ खनित्र चरित्र	४३
६०० खनिनेत्र और करन्धम चरित्र	५०
६०१ करन्धम सुत अवीक्षित् की कथा	५७
६०२ मरुत्त चरित्र	९०
६०३ दम और राज्यवर्धन चरित्र	१०९
६०४ राजर्षि तृणबिन्दु का वंश	१२४
६०५ शर्याति सुता सुकन्या चरित्र	१३३
६०६ सुकन्या का च्यवन मुनि के साथ विवाह	१४१
६०७ च्यवन वृद्ध से तरुण हुए	१५०
६०८ च्यवन मुनि द्वारा प्रतिज्ञा पालन	१५८
६०९ शर्याति के पुत्रों की कथा	१६९
६१० रेवती का बलराम जी से विवाह	१७७
६११ नभग के वंश का वर्णन	१८८
६१२ अम्बरीष-चरित्र	१९७
६१३ राजर्षि अम्बरीष की भगवद्भक्ति	२०६
६१४ अम्बरीष की एकादशीव्रत निष्ठा	२१९

※ श्रीहरिः ※

भागवत प्रेसोद्घाटन

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमोनमः ॥

महानुभावो !

आप सब संकीर्तन भवन के उत्सवों में सदा आते ही रहते हैं, किन्तु आज एक विशेष कार्य के लिये आप पधारे हैं। वह है "भागवत प्रेस" की स्थापना।

भागवत प्रेस की आवश्यकता

आप कहेंगे कि इस प्रशान्त वातावरण में इस प्रेस आदि की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई ? हमारे प्राचीन ऋषि मुनि तो इन कोलाहल पूर्ण कार्यों से सदा पृथक रह कर भजन-पूजन करते थे। बात तो सत्य ही है, किन्तु युग धर्म हमें विवश कर देता है कि हम कितनी भी प्राचीनता चाहें, फिर भी हमें नवीनता को अपनाना ही होता है। अपने भावों को जनता के समक्ष रखने के वर्तमान युग में दो ही साधन हैं, प्रेस और व्याख्यानमंच। व्याख्यानमंच से भी जो प्रचार होता है उसे भी प्रेस का आश्रय लेना पड़ता है। अतः इस युग में भावों के प्रचार और प्रसार का प्रधान साधन है प्रेस। राजनीति में भी यही बात है, जिसका प्रेस का बल जितना ही प्रबल होगा, उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक होगा और राजनैतिक सत्ता भी उन्हीं के अधिकार में होगी। प्राचीन काल में आत्मबल से

ही सब होता था। आत्मबल कम होने से इन कृत्रिम उपायोंका अवलम्ब लेना पड़ता है।

धार्मिकप्रचार का अभाव

आजकल जैसी कलुषित राजनीति हो गई है, वैसी प्राचीन युग मे कभी नही रही होगी। आज का युग चाहता है बच्चा बच्चा राजनीति में भाग ले। यह सब भौतिकवाद को ही सब कुछ जानने के कारण हुआ है। लोगों ने राजनैतिक सत्ता को ही उन्नति का चर्म लक्ष्य मान लिया है। आज का शिक्षित समाज यही चाहता है, छलसे, बलसे, कलाकौशल से जैसे भी हो, मैं राजनैतिक पदों को प्राप्त कर सकूँ पहिले यह बात नही थी। पहिले सब का लक्ष्य था भगवत् प्राप्ति। भगवान् को प्राप्त करने के निमित्त बड़े बड़े चक्रवर्ती राज्यपाट को तृण के समान त्याग कर निष्किंचन बन कर वनों में चले जाते थे। यदि राजनैतिक सत्ता से ही सब कुछ होता, तो वे सब को त्याग कर अकिंचन बनकर जीवन यापन क्यों करते? राजनीति बड़ा नीरस विषय है, किन्तु धर्म के साथ मिलकर अत्यन्त सरस बन जाता है, जैसे सोने मे सुगन्ध। किन्तु आज की राजनीति धर्म से पृथक ही रहना चाहती है, धर्म को निर्मूलन करनेको कटिबद्ध है। जब हमारे सत्ताधारी राजनैतिक नेताओं की ही ऐसी धारणा है, तो फिर उनसे धर्म के प्रचार और प्रसार की वृद्धि होगी, यह तो आशा करना निराशास्पद ही है।

हिन्दु धर्म के महान् ग्रन्थ

हिन्दु धर्म के प्रधान ग्रन्थ हैं उनका वेद। वेद इतने विस्तृत और गहन है कि उनका सर्व साधारण को पढना और सुनना कठिन ही नही असम्भव सा हो गया है। सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास जी ने कलियुगी जीवों पर कृपा करके अनन्त वेद राशि मे से छाँट छाँट कर चार संहिताएँ बना दी। फिर उनके भाष्य रूप में महा

भारत और अष्टादश पुराणो की रचना की। जो बात वेदोंमें बीज रूप से है उसी का पुराणो में विस्तार किया गया है। पुराण अठारह हैं, अठारह ही उपपुराण हैं, और औपपुराण भी हैं। इस प्रकार पुराण भी बहुत हैं। ५५ पुराण तो अब भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार पुराण भी असंख्यो हैं। इतने वेद पुराणो की रचना करके भी भगवान् वेदव्यास जी को शान्ति नही हुई। तब श्रीमद-भागवत की रचना की।

श्रीमद्भागवत क्या है ?

श्रीमदभागवत् मे समस्त वेद पुराणो का सार लेकर रख दिया है। इस बात को भागवतकार ने भागवत को आरम्भ करते ही बताया है कि भागवत क्या है ?

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः॥
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।
स तु संश्राव्यामास महाराजं परीक्षितम्॥
(श्री भा० १ स्क० ३ अ० ४०, ४२ श्लो०)

अर्थात् यह श्री मद्भागवत पुराण वेद सम्मत है इस में भगवान् के चरित्र हैं, ऋषिवर भगवान् वेदव्यास जी ने इसे बनाया है। सम्पूर्ण वेद और इतिहास का सार इसमे ले लिया गया है। उसी को श्री शुकदेवजी ने महाराज परीक्षित को सुनाया है।" यही श्री मद्भागवत का परिचय है, इसमें असत्य नही, अत्युक्ति नही, बढ़ावा नही, यह बात अक्षर अक्षर सत्य है और ध्रुव सत्य है। इसलिए भागवत का नाम 'पुराण तिलक' है। यह सभी पुराणों मे श्रेष्ठ है। आप जितने महानुभाव यहाँ विराजमान है उनमें बहुत थोडे ऐसे होंगे, जो अठारह पुराणों के नाम जानते होंगे। किन्तु आप मे से स्यात् ही कोई ऐसा होगा जिसने श्रीमदभागवत का

नाम न सुना हो । चाहे देहात से देहात भी क्यों न हो वहाँ भी भागवत का सप्ताह हुआ होगा । श्रीमद्भागवत साधारण पुस्तक मात्र नहीं उसे हमारे यहाँ भगवान् का साक्षात् वाङ्मय स्वरूप बताया है । 'भागवती कथा' इसी परम पावन ग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है ।

भागवती कथा में क्या है ?

आप कहेंगे, श्रीमद्भागवत तो छोटा सा ग्रन्थ है । सम्पूर्ण भागवत का गुटका सवारुपये मे मिलता है, उसी के आधार पर आप १०८ खण्डों में क्या लिखेंगे ? यह भागवत का अनुवाद है, भाष्य है, समालोचना है या संग्रह है,?" इसका उत्तर मैं दो दृष्टान्त देकर दूंगा । दस मन दूध है, अब उसे हम यात्रा में साथ ले जाय, तो कठिनता पड़ेगी । अतः आधुनिक यन्त्रो से उसके जल को सुखा देते हैं उसके सारअंश को निकाल कर उसका चूर्ण बनाकर डिब्बे में भर लेते हैं । फिर जब आवश्यकता हुई दस मन पानी मिलाकर उसे फिर दश मन दूध बना लिया । बीस मन भी बना सकते हैं । यह जो दूध बनेगा, पहिले से पाचक हल्का और सर्वसाधारण के उपयोगी होगा । उसी प्रकार दश मन ऊख का रस है, उसको निर्मल बनाते बनाते उसकी दस बीस सेर मिश्री बनाली । उसका भी सार लेकर एक गोली बनाली । उस गोली को दस मन जल में डाल दो तो दशमन जल का शरबत बन जायगा । इसी प्रकार समस्त रामायण, महाभारत, समस्त वेद पुराण तथा शास्त्रों से सार लेलेकर भगवान् वेदव्यास ने अठारह हजार श्लोकों मे उसे रख दिया है । जैसे व्यापारियों के यहाँ एक तो होती है दैनन्दिनी बही (रोजनामचा) उसमें नित्य के आने जाने का आय व्यय विस्तार से लिखा रहता है । एक होती है खाता बही । उसमें केवल सब का संकेत रहता है । बात दोनों में एक है, अंतर इतना

ही है, एक में विस्तार है एक में सूक्ष्म है। भगवान् व्यास ने एक एक श्लोक में इतनी कथायें भर दी हैं, कि १०८ भाग क्या एक लाख भाग मे भी उनका पूरा विस्तार नही हो सकता। इसलिये जिसने जब तक महाभारत और अठारहों पुराणो को न पढा हो, तब तक उससे पूर्णरीत्या भागवत लगती नही। अब जैसे भागवत में कह दिया—

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतांगतः।
भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥

अर्थात् चक्रवर्ती महाराज दिष्ट के पुत्र नाभाग हुए जो कर्मणा वैश्यता को प्राप्त हुए, अर्थात क्षत्रिय से वैश्य बन गये। उनके पुत्र चक्रवर्ती महाराज भलन्दन हुए और भलन्दन के पुत्र महाराज वत्सप्रीति हुए। भागवत मे केवल इतना ही उल्लेख है। अब इसमे शंका उठती है चक्रवर्ती दिष्ट के पुत्र क्षत्रिय से वैश्य क्यो हो गये? फिर वैश्य का पुत्र वैश्य ही होना चाहिये। उनका पुत्र चक्रवर्ती कैसे हो गया? केवल भागवत पढने से यह बात समझ में नही आ सकती। भागवतमें केवल बीज है इसका पूरा विवरण मार्कण्डेयपुराण मे मिलेगा। नाभाग, भलन्दन और वत्सप्रीति की बड़ी ही सुन्दर रोचक कथायें विस्तार से मार्कण्डेय पुराण मे मिलेंगी। बिना उन कथाओं को सुने इसका अर्थ लग ही नही सकता। जो बात भागवतकार ने एक श्लोक मे कही है, उसका विस्तार तीन अध्यायों मे ५०।६० पृष्ठों में बताया जायगा। इस प्रकार भागवती कथा में संक्षिप्त ज्ञान का विस्तार मात्र है। भगवत और भगवद् भक्तो के सम्बन्ध की भागवत सम्बधित जितनी सरस शिक्षा-प्रद कथायें है उनका सरसता के साथ 'भागवती कथा' में वर्णन किया गया है। अब वह वर्णन कैसा हुआ, लेखक को अपने प्रयास में कितनी सफलता मिली इसे बताने का काम मेरा नही, इसका निर्णय पाठक स्वयं ही करें किन्तु एक बात मैं कहता हूँ, बिना इन

भगवत् सम्बन्धी कथाओं के सुने, शान्ति नहीं, सुख नहीं, कल्याण नहीं, उन्नति नहीं, । आज जो सब ओर धर्म को ठुकराया जा रहा है, धार्मिक शिक्षा की अवहेलना की जा रहीहै, उस पर प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है यह वाछनीय नहीं, दुःखद प्रसंग है । बिना धर्मिक शिक्षा के चरित्र बल नहीं आता, बिना चरित्र बल के प्राणी सदाचारी नहीं बन सकता। बिना सदाचार के समाज में शान्ति नहीं स्थापित होती । आप विधान (कानून) के सहारे अन्याय को नहीं रोक सकते, जब तक आप कानून पालन करने वालों के मन में यह बात न बैठा दें, कि ऐसा करना अनुचित है । आप विधान बना दें "गंगा किनारे शौच मत जाओ" लोगों को अवसर मिलेगा अवश्य जायेंगे, किन्तु आप उनके मन में यह बैठा दें कि गंगा किनारे शौच जाना अधर्म है, पाप है तो चाहें आप के सिपाही वहाँ हों न हों, वे कभी वहाँ शौच न बैठेंगे । आप घूंस खोरी के लिये कितनी भी समिति बनाइये, कितने भी निरीक्षक नियुक्त कीजिए, कितना भी दंड दीजिये, घूंसखोरी नहीं रुकेगी नहीं रुकेगी । आज से २५-३० वर्ष पहिले की बात मैं कहता हूं, पुलिस में भी बहुत से दरोगा, सिपाही हिन्दु मुसलमान ऐसे होते थे जो दूसरे के यहाँ की इलाइची लेना भी पाप समझते थे । सन् २१ के असहयोग आन्दोलन में एक मुसलमान दरोगा मुझे मिला था उसके लिये एक पैसा भी सूअर के मांस के बराबर था । एक नहीं ऐसे बहुत से मिलते थे । अब की क्या दशा है उसे बिना ही कहे सब समझते हैं । पहिले यह भावना थी अधर्म का पैसा कभी फलीभूत नहीं होता आज सुधारकों ने धर्म को जीवन से निकालकर फेंक दिया है । वे कानूनी पकड़ को बचाकर दोनों हाथ से बटोर कर घर भर लेना चाहते हैं और इसे एक कौशल समझते हैं ।

पहाड़ों में अब भी जितनी धार्मिक मान्यता है उतनी मैदान में नहीं । इसलिये पहाड़ी जिलों में पुलिस की आवश्यकता नहीं होती ।

पुलिस तो वहाँ हो जहाँ चोर हो । वहाँ एक पटवारी से ही सब काम चलता था । जब से हम सभ्य लोगों ने वहाँ सभ्यता का प्रचार किया है तब से वहाँ भी अब चोरियाँ होने लगी हैं, मुकदमे आरम्भ हुए हैं । पहिले वहाँ सब व्यवहार धर्मसे चलता था । हम अपने बालकपन मे सुना करते थे, 'तुम बद्रीनाथ आओ रास्ते में सोना पड़ा रहे कोई उठावेगा नहीं लौट कर वही पड़ा मिलेगा । यह बात मिथ्या नही । ५० वर्ष पहिले ऐसा होता था । देखने वालो ने देखा है । एक घटना मैं सुनाता हूँ ।

आज से १५-२० वर्ष पूर्व मैं देहरादून के पास सहस्र धारा में ठहरा हुआ था । वहाँ नदी के जल को रोककर पहाडी लोग खेतों को सींचने के लिये स्वयं नहर निकाल लेते हैं और उनकी पनचक्की लगा देते हैं' जिससे आटा पिसता है । एक फूस की झोपड़ी में पनचक्की होती है, उसमें किवाड नही होते । जो चाहे जिस समय चला जाय । पानी को रोक दो चक्की चलने लगेगी । अपना अन्न पीसकर, उसकी पिसाई छप्पर में रखे एक पात्र मे रख कर चले आओ । चक्की वाला तीसरे चौथे दिन जाकर उस पिसाई के आटे को ले आवेगा । मेरा अनुमान है अब भी पहाड़ों मे ऐसा ही होता होगा ।

जहाँ मैं ठहरा था, मेरे पास ही एक चक्की थी । मैं उसके भीतर गया । एक सबका आटा पीस रहा था । मैंने पूछा—"तुम्हें पिसाई देनी पड़ती है ?" उसने कहा—"अन्दाज से रख जाते हैं । मैंने आश्चर्य से पूछा—"यहाँ कोई पिसाई लेने वाला तो है ही नही ।" उसने कहा—यही पिसाई रख जाते हैं । दो चार दिन मे चक्कीवाला ले जाता है ।" मैंने कहा—"यदि तुम न रखो तो ?" इतना सुनते ही उसकी आँखें लाल पड़ गईं और बोला—"तुम कैसी बातें करते

हो, हमारे धर्म नही क्या ? हम पिसाकर उसको पिसाई नहीं रखेंगे ? हमारे बाल बच्चे नही क्या ?"

आप सत्य समझें इस उत्तर को सुन कर मेरा हृदय धक् धक् करने लगा। मन ही मन मैंने उसे प्रणाम किया और सोचा धर्म का मर्म इसी ने समझा है। पहिले लोग धर्म से डर कर व्यवहार करते थे। हम धर्म के विरुद्ध कार्य करेंगे, तो हमें परलोक में इसका फल भोगना पडेगा। ये सब शिक्षायें हमें पुराणों से मिलती है। शंख और लिखित की कथा, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, रंतिदेव, शिवि, दधिचि तथा ऐसी ही मनोरंजक, शिक्षाप्रद सहस्रों कथाये वर्णित है। पुराणों को पढ़ते पढ़ते मेरी तो ऐसी धारणा हो गई है कि कोई भी व्यक्ति ऐसी एक भी कथा की कल्पना नहीं कर सकता, जिसका स्रोत पुराणों मे न हो। आज हम उपन्यास कहानियों को पढ़ने के लिये विदेशी भषाओं का विदेश लेखको का मुंह ताकते हैं। अपने यहाँ नहीं देखते पुराणों म कितनी सुन्दर सुन्दर शिक्षाप्रद कथायें भरी पडी हैं। संसार के समस्त भाव "रौद्र. अद्भुत. शृंगार. हास्य: वीर. वात्सल्य भयानक. वीभत्स शान्त. प्रेम और भक्ति इन ग्यारह रसो के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। इन ग्यारहों का पुराणो में इतना सुन्दर विवेचन किया गया है कि पढते पढते मन मुग्ध हो जाता है। आजकल के युवक शृंगार रस की कहानियो के. शृंगार रस के नाटक. सिनेमाओं के ऐसे उपासक हो गये हैं कि इनके बिना उन्हे कुछ अच्छा ही नहीं लगता। किन्तु पुराणो में जो शृंगार का वर्णन है, वह मर्यादा में है। आजकल का शृंगार मर्यादाहीन, हेय और अत्यन्त ही तुच्छ है। आज हम "भरतीय संस्कृति भरतीय संस्कृति, चिल्लाते तो बहुत हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि भारतीय संस्कृति पुराणो में ही निहित हैं। संस्कृति के भंडार पुराण ही हैं। उसी पौराणिक ज्ञान के प्रसार के निमित्त' उसी भारतीय संस्कृति के दिग्दर्शन के निमित्त "भागवती कथा" का प्रकाशन एक लघु प्रयास है।

भागवती कथा के अब तक चैंबीस खंड प्रकाशित हो चुके हैं। १०८ प्रकाशित करने का विचार है, जितने भी हो जायं, इसे तो भगवान् ही जाने लिखना तो हमारे लिये सरल है, किन्तु प्रकाशन का पचडा कठिन है, हमारी शक्ति प्रकृति और स्थिति सब के बाहर की बात है, किन्तु किसी दैवी प्रेरणा से यह सब हो रहा है। पहिले हमने यह चेष्टा की कोई बडा प्रकाशक इस कामको अपने हाथों मे ले ले। हम सब झ झटोसे छूट जायें। बहुतो से प्रार्थना की सब ने कहा—इतने बड़े ग्रन्थ को हम प्रकाशित नही कर सकते। भिन्न भिन्न विषय की १०८ पुस्तके निकालना तो विशेष कठिन नही है, किन्तु एकही ग्रन्थ के १०८ खड निकालना कठिन कार्य है, अबके अमुक खड नही है, अबके वह चुक गया।"

प्रकाशकों कायह कहना सत्य ही निकला २४ खड प्रकाशित करके ही हम अनुभव कर रहे हैं कि यह काम सरल नही। प्रथम खंड तीन बार छप चुका, चैथी बार छपने वाला है। सात खड तक दो दो बार छप चुके। आठवां खड बहुत दिनो से अप्राप्य है इस प्रकार अनेकों कठनाइयां हैं प्रेस वाले कितना तग करते हैं, इस बात को अब हम नही कहेंगे। क्योकि आज से हम भी तो उन्ही की श्रेणी मे आ जाते हैं। इतना बडा कार्य अपने निजी प्रेस के बिना हो नही सकता था। इसलिये 'भागवत प्रेस' की स्थापना का यह लघु प्रयास है। अभी तो चार पेज की एक छोटी सी हाथ मे चलाने की ट्रेडिल मशीन है। भगवान् की इच्छा इस काम को बढाने की हुई तो थोडे ही दिनो मे भागवती' कथा का सब काम यही होने लगेगा। आप सब के चरणो मे यही प्रार्थना, है कि आप ऐसा आशीर्वाद दे कि हम इन कार्यों को शुद्ध भगवान् की सेवा समझते

हुए करें। उनको न भूलें, हर कार्य में उन्ही का सदा स्मरण बना रहे। धर्म की रक्षा, धर्म का प्रचार, और प्रसार भगवान् ही कर सकते हैं. धर्म भगवान् को बहुत प्रिय है, अतः धार्मिक ग्रंथों का प्रचार प्रसार भगवान् की प्रिय सेवा है यह सेवा हम प्रमाद रहित हो कर करें, हमारे मन मे अहंभाव न आवे और हम अपने को चराचर का सेवक समझ कर सेवा करे। ऐसा आशीर्वाद आप सब हृदय से दे—

वांञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यचो वैष्णवेभ्यो नमोनमः॥

संकीर्तन भवन, भूसी प्रयाग
ज्येष्ठ—कृ० ५। २००६ वि

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

सूर्यवंश में प्रथम पृषध्र की कथा

(५६५)

पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणाकृतः ।
पालयामास गायत्रो रात्र्यां वीरासनव्रतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

इक्ष्वाकु नृग आदि भये सुत मनु के पुनि दश ।
प्रथम पृषध्र चरित्र कहूँ फिर औरनि को यश ॥
कीये गुरु गोपाल कुमर रक्षक गाइनि कूँ ।
हिंसक आवें सिंह व्याघ्र मारें नित तिनि कूँ ॥
एक दिना निशि धेनु कूँ, पकरि सिंह भाग्यो तहाँ ।
डकराई गैया जबहिं, लै असि सो पहुँच्यो वहाँ ॥

गोएँ लोक की माता हैं, जो गौओं की रक्षा नहीं करता उनके वध में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता देता है, वह दस्यु है, वर्णाश्रम से बहिष्कृत है गोवध का इतना बड़ा

---

* श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! वैवस्वत मनु के पुत्र पृषध्र को गुरु वशिष्ठ ने अपनी गौओं का रक्षक बनाया। वह राजकुमार रात्रि में सावधानी के साथ वीरासन मे बैठकर गौओं की रक्षा करता रहता था।"

पाप है कि उसका प्रायश्चित्त प्राण त्याग ही है। प्राचीन काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रादि सभी गौ सेवा में निरत रहते थे। देवता के समान उसकी पूजा करते थे। उनमें पशु बुद्धि रखना पशुता ही नहीं पाप भी है। गौ के समस्त अङ्गों में सभी देवता वास करते है। गौ की पूजा करने से सब देवता पूजित होते हैं। अतः गौ के महत्व बताने के लिये प्रथम मनु पुत्र पृषध्र का चरित्र वर्णन करते है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मैंने वैवस्वतमनु के प्रथम पुत्र सुद्युम्न का विचित्र चरित्र अत्यन्त संक्षेप में सुनाया। यद्यपि सुद्युम्न बड़े थे, किन्तु उन्होने स्त्री बनकर अन्य वंश की वृद्धि की उनके वंशज चन्द्रवंशी कहाये। प्रधानतया वैवस्वत-मनु का वंश सूर्यवंश ही है। अतः मैं पहिले सूर्यवंश का ही वर्णन करूँगा।

जब सुद्युम्न शिवजी के शाप से दुखित होकर वन में चले गये। तब वैवस्वतमनु ने यमुनाजी के तट पर जाकर पुत्र की कामना से १०० वर्ष तक घोर तपस्या की। १०० वर्षों तक वे यज्ञ पुरुष भगवान् की यज्ञों द्वारा निरन्तर आराधना करते रहे। राजा की आराधना से पुराण पुरुष प्रसन्न हुए और उन्हें १० पुत्र होने का वरदान दिया। दस पुत्रों का वर-दान पाकर सूर्य पुत्र मनु को बड़ी प्रसन्नता हुई। कालान्तर में उनके इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूप, नरिष्यन्त, पृषध्र नभग और कवि ये दश पुत्र हुए, इनमें इक्ष्वाकु सबसे बड़े हुए। इसीलिए सूर्यवंश का नाम इक्ष्वाकु वंश भी है। पहिले मैं सूची कटाह न्याय से इक्ष्वाकु के अतिरिक्त शेष ९ का वर्णन करूँगा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब इक्ष्वाकु बड़े हैं, तब पहिले उनके ही वंश का वर्णन करना चाहिये। आप

बड़े के वंश का वर्णन न करके छोटे वंश का वर्णन क्यों करते हैं ? सूची कटाह न्याय क्या होता है ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! एक व्यक्ति लुहार की दुकान पर गया और उससे कहा मुझे एक बड़ी सी कढ़ाई बना दे।" लुहार ने कढाई बनाने का सब सामान ठीक किया त्यों ही एक आदमी आया और बोला—"भाई ! मुझे एक सूई बना दो।" लुहार ने कढाई के कार्य आरम्भ न करके पहिले उसे सुई बना दी।"

इस पर एक ने पूछा—"क्यों भाई लुहार ! ये सज्जन पहिले से आये है, नियमानुसार तुम्हें पहिले इनका काम करके तब दूसरे का काम करना चाहिये। तुमने ऐसा न करके पीछे आने वालों का काम तो पहिले कर दिया और पहिले आये हुये के कार्य का कुछ भी ध्यान न किया।"

इस पर लुहार ने कहा—"महाभाग ! इन कढ़ाई बन वाने वालों का कार्य बहुत बड़ा है। इसके लिये अधिक श्रम और समय की अपेक्षा है। सूई बनाने का काम तनिक देर में समाप्त हो जायगा, फिर निश्चिन्त होकर इनका काम करूँगा।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! इसी प्रकार पहिले नृग, पृषध्र कवि, करूप, नारिष्यन्त तथा अन्यान्य मनु पुत्रों का वर्णन करूँगा। तब विस्तार से इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन करूँगा। जिसमें नराकृति परब्रह्म स्वयं साक्षात् कौशल्यानन्दन श्रीराम अवतरित हुए हैं। पहिले मैं इक्ष्वाकु से ९ छोटे भाइयों में से पृषध्र का चरित्र कहता हूँ।"

श्री शुकदेव जी सूर्य वंश का वर्णन करते हुए महाराज परीक्षित को सुना रहे हैं—"राजन् जब श्राद्धदेव वैव त

मनु के दस पुत्र हो गये, तो एक दिन उनके कुल पुरोहित ने उनसे कहा—"राजन् ! तुम्हारे दस पुत्र हो गये हैं। एक हमें दे दो।"

राजा ने कहा—"महाराज ! सब आपके ही हैं। मैं भी आपका ही हूं देना लेना क्या ? आप जो आज्ञा बताइये।"

हँसते हुए वशिष्ठ जी ने कहा—"ऐसे नहीं राजन् ! कि कौडी कुठिला से हाथ मत लगाओ धन माल सब आपका ही है। ये तो शिष्टाचार की बातें हैं। मुझे मेरी गौओं की रक्षा के लिये अपने पुत्रों से पृषध्र को दे दीजिये।"

राजा ने कहा—"ले लीजिये महाराज ! बड़ी प्रसन्नता से। यह तो मेरा और पृषध्र का अहोभाग्य है, जो आपने इसे यह सर्वोत्तम सेवा समर्पित की।" यह सुन कर मनु ने पृषध्र को गुरु के चरणों में अर्पित किया।

वशिष्ठ जी के यहाँ गौओं का एक गोष्ठ था। जिसमें बहुत सी गौएँ रहती थी। अरण्य था, उसकी परिधि भी भली भाँति नहीं बँधी थी गुरु जी ने पृषध्र से कहा—"देखो, तुम बड़ी सावधानी से यहाँ रह कर गौओं की रक्षा करना। रात्रि में हिंसक जन्तु आ जाते हैं कोई जीव जन्तु आकर गौओं को कष्ट न दे।"

पृषध्र ने हाथ जोड़कर कहा—'गुरुदेव ! मैं बड़ी सावधानी से गौओं की रक्षा किया करूँगा।" इस बात से गुरु बड़े प्रसन्न हुए पृषध्र भी बड़ी सावधानी से रात्रि के समय वीरासन से बैठकर निरन्तर गौओं की रक्षा किया करता था। हिंसक जन्तु की आहट पाते ही वे चौककर खड़े हो जाते और उसे मार भगाते।

एक दिन भादों की अंधेरी रात्रि थी। बादल घिर आने से तारागण भी छिप गये थे, घोर अंधकार हो रहा था। उसी समय गौओं के झुण्ड में पीछे से एक व्याघ्र घुस आया। उसके भीतर आते ही गौओं में भगदड मच गई। गौएँ गोष्ठ में बाँधी तो जाती ही नहीं थी। खुली ही वे सो रही थीं। सहसा व्याघ्र के आ जाने से वे सब की सब जाग गईं। इधर से उधर घूमने लगीं। व्याघ्र उसमें से एक गौ को लेकर भागा। जब गौ व्याघ्र के द्वारा पकडी गई, तो वह बुरी तरह से डकराने और चिल्लाने लगी। उसके आर्त स्वर को सुनकर शीघ्रता से पृषध्र वहाँ आया।

वर्षा की अंधेरी रात्रि थी, बादल छाये हुए थे। छोटी छोटी बूँदें पड़ रही थी। अंधेरे में हाथ से हाथ दिखाई नहीं देता था गौ की आर्त वाणी सुनकर कुमार को इतना भी अवसर न मिला कि वह अग्नि जलाकर प्रकाश कर ले। तुरन्त हाथ में खड्ग लेकर वह गौ के आर्त स्वर को ही लक्ष्य बना कर दौड़ा। सहसा उसने गौ को ले जाते हुए सिंह को अनुमान से देखा। वही से उसने खड्ग चलाई। वह भूल से सिंह के शरीर में न लगकर गौ के कठ में लगी। गौ का सिर धड़ से पृथक हो गया। व्याघ्र का केवल एक कान कटा। वह गौ को छोड़कर कटे कान के स्थान से रक्त बहाता हुआ भाग गया। वह अग्निहोत्र के उपयोगी कपिला गौ वहीं कटकर गिर पड़ी। कुमार ने समझा मैंने व्याघ्र को मार डाला।

कुछ काल में रात्रि समाप्त होने पर उसने जो कुछ देखा, उससे तो उसके दुःख का वारापार नहीं रहा—"हाय! व्याघ्र के भ्रम से भूल में मेरे से कपिला गौ की हत्या हो गई है अब

मैं गुरुदेव को मुँह कैसे दिखाऊँगा।" ये सब बातें सोचकर पृपध्र थरथर काँपने लगे।"

प्रातःकाल उनका मुख मलीन था। शरीर की कान्ति क्षीण हो गई थी। क्षात्रतेज उनको छोड़कर चला गया था। वे डरते डरते गुरु के समीप पहुँचे। उन्होंने स्पष्ट स्वर में इतना ही कहा—"गुरुदेव! रात्रि में भूल से व्याघ्र के भ्रम से मेरे द्वारा कपिला गौ की हत्या हो गई है।"

गौ हत्या का शब्द सुनते ही भगवान् वशिष्ठ अत्यन्त ही कुपित हो गये और उस राजकुमार को शाप देते हुए बोले—"जान में हो या अनजान में, इच्छा से हो या अनिच्छा से, पाप तो पाप ही है। फिर गौ हत्या तो ऐसा भारी पाप है, कि प्रायश्चित्त तो प्राणों का अन्त ही कर देना है। अतः मैं तुझे शाप देता हूँ, कि इस निन्दित कर्म से तू नीच क्षत्रिय भी न रहे दस्यु शूद्र के समान तू हो जाय। क्षत्रियों से तेरा कोई सम्बन्ध ही न रहे।"

अपने कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ के मुख से ऐसा शाप सुन कर कुमार दुखी नहीं हुए। उन्होंने शाप को सहर्ष शिरोधार्य किया। अब उन्होंने सोचा—"क्षत्रियों मे तो मेरा सम्बन्ध होने का नही यदि मैं अन्यत्र कहीं विवाह करता हूँ, तो मेरे वंशज सबके सब दस्यु म्लेच्छ कहलायेंगे। अतः अब मैं विवह ही न करूँगा। आज से अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा।

यह सोचकर श्रद्धा सहित गुरु चरणों में प्रणाम किया और मुनिव्रत धारण करके वह तीर्थाटन के लिये निकल पड़ा। उसने सभी प्रकार के सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग कर दिया था। निःसंग और निर्मम होकर वह प्राणि मात्र में प्रभु को देखने लगा। समदर्शी होकर भक्ति भाव से परम विशुद्ध भगवान् वासुदेव में अनन्य भक्ति भाव रखने लगा। वह उन सर्वात्मा श्रीहरि को ही अपना सर्वस्व समझकर अलक्षित गति से अवनि पर पर्यटन करने लगा। वह किसी से कोई वस्तु ग्रहण नही करता था, सदा इन्द्रियों को अपने वश में रखता, सुख दुख में सदा समान रहकर दैव वश जो भी आहार मिल जाता उसी से सन्तुष्ट होकर भगवान् का ध्यान करता रहता। लोगों के सम्मुख अपने को जड़ अन्धा, गूंगा, बहिरा तथा पागल प्रदर्शित करता। कोई खोटे वचन कहता तो उसका दुख न करता कोई उसकी प्रशंसा करता तो प्रसन्न न होता। किसी की न निन्दा करता न स्तुति। इस प्रकार पूर्णज्ञानी पुरुष की वृत्ति धारण करके वह बिना संकल्प के इधर से उधर पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा।

अब उसे अपना जीवन भार प्रतीत होने लगा। गुरु के वचन याद आये। इस गोहत्या से कलुषित शरीर को धारण करने से क्या लाभ ?' यही सब सोचकर एक दिन वन में दावाग्नि लग गई थी उसी में स्वेच्छा से उसने अपने शरीर की आहुति दे दी। अग्नि में देह को जलाकर गो हत्या के पाप का प्रायश्चित्त किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मनु पुत्र पृषध्र विना विवाह किये ही इस असार संसार से चले गये। इनका वंश जब आगे चला ही नहीं तो उसका वर्णन क्या करूँ ? अब आप वैवस्वत मनु के कवि, करूप आदि अन्य पुत्रों के वंश को श्रवण कीजिये।"

छप्पय

व्याघ्र न दीख्यो अंधकार महँ खड्ग चलायो।
भ्रमवश व्याघ्र न मरचो धेनु सिर काटि गिरायो॥
जानि दोष गुरु निकट जाय सब वृत्त सुनायो।
सुनि मुनि दीयो शाप क्षत्र त शूद्र बनायो॥
कीयो नही विवाह पुनि, जीवन भर हरि ही भज्यो।
वन दावानल महँ प्रविशि, अन्त समय महँ तनु तज्यो॥

कवि करूष आदि के वंशों का वर्णन

(५९६)

कविः कनीयान् विषयेषु निःस्पृहो-
विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम् ।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषम्,
विवेश कैशोरवयाः परं गतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

मनु सुत लघु सब माँहिं नाम कवि अतिशय त्यागी।
राज पाट परिवार त्यागि बनि गये विरागी ॥
जो करूप मनु पुत्र भये उत्तर के भूपति ।
धृष्ट पुत्र तें धार्ष्ट भये द्विज ताकी सन्तति ॥
मनु सुत नृग के सुमति सुत, भूत ज्योति तिन तें भये ।
नरिष्यन्त के वंशधर, आगे द्विज सब बनि गये ॥

कथा की परम्परा जोड़ने को सभी कथाओं में कुछ ऐसे

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वैवस्तव मनु के सबसे छोटे पुत्र कवि विषयों से निस्पृह था वह अपने भाइयों के साथ राज्य को त्याग कर वन को चला गया । वहाँ स्वयं प्रकाश भगवान् मे चित्त को लगाकर किशोरावस्था में ही परम पद को प्राप्त हो गया ।

नीरस प्रसङ्गों का भी वर्णन करना पड़ता है, जिन्हें पाठक श्रद्धा के सहित नहीं पढ़ते उनके पढ़ने सुनने में चाहे रुचि न हो, किन्तु वे पुण्य प्रद तो हैं ही यदि वंश परम्परा न बताई जाय तो कथा का प्रसङ्ग अधूरा रह जाय शृंखला टूट जाय। इसी लिये पुण्य श्लोक पुरुषों की वंशीवली सुनने का भी बड़ा महत्व है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! मैं आपके सम्मुख भगवान् स्वायम्भुव मनु के सबसे ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन करूँगा, इससे पूर्व उनके छोटे ९ पुत्रों का अत्यन्त संक्षेप में वृत्त श्रवण कीजिये। उन नौ मे से पृषध्र की कथा तो मैं सुना ही चुका शेष ८ का भी सुनाता हूँ।

मनु के सबसे छोटे पुत्र कवि थे। कवि वास्तविक में कवि थे। उन्होंने ज्ञान दृष्टि से देख लिया। संसारी भोग नीरस हैं यद्यपि कुछ काल के लिए सुखद से प्रतीत होते हैं, किन्तु परिणाम में दुखद ही हैं। इनमे सत्य बुद्धि करके रमण करना, गृहस्थी बन कर कच्चे बच्चों में फँसना, अपने आप को और जकड़ना है बन्धन को और कसना है। यही सब सोच समझकर वे राज-पाट, कुल परिवार बन्धु बांधवों तथा सभी सगे सम्बन्धियों को त्याग कर वन में चले गये। वहाँ अपने विशाल हृदय में ज्योतिस्वरूप स्वयं प्रकाश भगवान् वासुदेव को स्थापित करके किशोरावस्था मे ही परम पद को प्राप्त हो गये। वे सदा के किये उन परात्पर प्रभु में प्रवेश कर गये उनमें लीन हो गये।

नौ पुत्रों में से एक करूप भी थे। उनसे जो सन्तानें हुईं वे सब कारूप क्षत्रिय कहलाये। वे सब के सब पहाड़ो में चले गये

और उत्तरीय देशों के राजा हुये। चौथे एक मनु पुत्र धृष्ट थे। उनके वंशज धार्ष्ट नाम से विख्यात हो गये। आगे चल कर ये अपने शुभ कर्मों से ब्राह्मण भाव को प्राप्त हो गये।

पाँचवे नृग हुये। जो बड़े दानी और यशस्वी हुये, उनके पुत्र का नाम सुमिति, सुमिति के भूत ज्योति, उसके वसु उनके प्रतीक प्रतीक के ओघवान् ओघवान् के पुत्र का भी नाम ओघवान् हुआ उसके ओघवती कन्या हुई जिसका विवाह सुदर्शन के साथ हुआ।

छठे नरिष्यन्त का पुत्र चित्रसेन हुआ फिर क्रमशः वंशपरम्पराएत इतने राजा हुए। चित्रसेन, ऋक्ष मीढ़वान् कूर्चा, इन्द्रसेन, वीतिहोत्र सत्यश्रवा, उरुश्रवा, देवदत्त, देवदत्त के पुत्र अग्नि वेश्य हुए साक्षात् अग्निदेव के अवतार ही थे। जो आगे चल के कानीन या जातूकर्ण्य महर्षि नाम से विख्यात हुये इनके वंशज क्षत्रिय न होकर सभी अग्नि वेश्यायन गोत्र वाले ब्राह्मण कहलाये। अतः ये गोत्रस्थापक महान् ऋषि हुये।

मनु के सातवें पुत्र दिष्ट हुये उनके पुत्र नाभाग हुये। जो क्षत्रिय से अपने कर्मों द्वारा वैश्यता को प्राप्त हो गए। उनके पुत्र परम तेजस्वी महाराज भलन्दन हुए। राजर्षि भलन्दन बड़े ही तेजस्वी और शूरवीर हुए।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! दिष्ट के पुत्र महाराज नाभाग किस कर्म के कारण क्षत्रिय से वैश्य हो गये। जब वे वैश्य ही हो गये तो फिर उनके पुत्र भलन्दन राजर्षि कैसे हुए। वैश्य के पुत्र को वैश्य ही होना चाहिये। यह हमें बड़ा सन्देह है। कृपा करके हमें इसका कारण बताइये और इस सम्बन्ध में जो कोई कथा हो सुनाइए।

यह सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये और बोले—महाराज! मनुष्य का ऊपर से नीचे को पतन काम और क्रोध के ही कारण होता है। महाराज नाभाग की कथा बड़ी विचित्र है। मुनियो! ये नाभाग राजर्षि अम्बरीष के पिता नहीं हैं। ये तो दिष्ट के पुत्र दूसरे नाभाग हैं। मैं इनकी कथा को सुनाऊँगा, किस कारण ये क्षत्रिय से वैश्य हुये और फिर वैश्य होने पर भी इनके पुत्र चक्रवर्ती महाराज भलन्दन शुद्ध क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त राजा हुए। आप इस शिक्षाप्रद कथानक को सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

दिष्ट पुत्र नाभाग कर्म तें वैश्य भये ते।
पुत्र भलन्दन भये क्षात्र कुल माँहि रहे ते॥
शौनक बोले सूत! कथा यह अति अचरजयुत।
कौन कर्म तें भये वैश्य नाभाग दिष्ट सुत॥
वैश्य पुत्रहू भलन्दन, पुनि क्षत्रिय कैसे भये,
पिता वैश्य नृप तें भये, गुप्त पुत्र नृप बनि गये॥

नाभाग चरित्र

नाभागो दिष्ट पुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः ।
भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २ अ० २ ३ श्लो०)

छप्पय

सुनि शौनक के वचन सूत हँसि बोले बानी ।
वैश्य सुता इक हती रूप यौवन की खानी ॥
दृष्टि परी नाभाग वैश्य तें कन्या माँगी ।
नृपति वैश्य अरु द्विजनि बात अति अनुचित लागी ॥
बल पूर्वक कन्या हरी, पिता पुत्र को रन भयो ।
वैश्य बनायो मुनिनि सुत, भूप भलन्दन बनि गयो ॥

मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही हो जाता है, यदि वह धर्म को छोड़ कर कामिनी का कामवश सेवन करता है, तो वह तद रूप बन जाता है उसी के गुणों वाला हो जाता है, यदि वह धर्म की रक्षा करते हुए अर्थ और काम का सेवन

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! दिष्ट का पुत्र नाभाग हुआ । जो अपने कर्म से क्षत्रिय होकर वैश्यता को प्राप्त हुआ । उसका पुत्र भलन्दर हुआ और भलन्दर का पुत्र वत्सप्रीति हुआ ।

करता है, तो धर्म उसकी रक्षा करता है। जब मनुष्य काम के वश हो जाता है, तो अपनी पद प्रतिष्ठा सभी को खो बैठता है। शील संकोच, लज्जा तथा विनय आदि सद्गुण मनुष्यों में तभी तक रहते है, जब तक वे किसी के नयन धनुष से छोड़े कटाक्ष बाण द्वारा घायल न हुए हों। जब तक उनके चित्त को किसी ने चुरा न लिया हो। कामाधीन होकर पुरुष गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन करके कुल परम्परा के विरुद्ध भी कार्य कर बैठता है, इसके वह स्थान भ्रष्ट होकर च्युत हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं आपको उस कथाको सुनाता हूँ, जिस कारण दृष्टि के पुत्र नाभाग क्षत्रिय से वैश्यता को प्राप्त हो गये और उनके पुत्र भलन्दन पुनः क्षत्रिय हो गये।"

मुनियो! सब अनर्थ की भूल यह युवावस्था है। यौवन के उठान में न जाने मनुष्य क्या-क्या अनथ कर डालता है। उस समय युवक और युवतियों को विवेक नही रहता। काम का प्रावलल्य होने से वे मनमाना आचरण करने के लिये वाध्य हो जाते हैं। इसलिये इस अवस्था को गुरुजनों के अधीन रहकर बड़ी सावधानी से बितानी चाहिये। माता पिता अनुभवी होते है। वे युवावस्था को भोग चुके हैं, तज्जन्य अनर्थों से वे पूर्णतया परिचित हैं अपने पुत्र पुत्रियों के प्रति उनका ममत्व होता है वे सदा उसकी मङ्गल कामना करते हैं, अतः युवक और युवतियो का कल्याण इसी में है, कि वे अपने माता, पिता ज्येष्ठ भ्राता तथा अन्यान्य गुरुजनों का सम्मान करें उनकी आज्ञा का पालन करें उनकी इच्छा के विरुद्ध शक्ति भर कोई कार्य न करें, ऐसा करने से वे अनेकों अनर्थों

से बच जायेंगे और अपनी पद प्रतिष्ठा तथा कुल परम्परागत सदाचार की भी भली भाँति रक्षा कर सकेंगे। महाराज ! दृष्टि-पुत्र नाभाग ने जब युवावस्था में प्रवेश किया, तो भाग्यवश उनकी दृष्टि एक युवती वैश्य कन्या पर पड़ गई।

वह कन्या अत्यन्त ही सुन्दर थी। राजकुमार उसे देखते ही लट्टू हो गया अब तो उसके मन्में वही कन्या बस गई। पता लगाकर वह उसके पिता के पास पहुँचा और अत्यन्त ही विनय के साथ उसने कहा—"हे श्रेष्ठिवर ! आप अपनी सर्वाङ्ग सुन्दरी कन्या मुझे दे दीजिए। मैं उसके साथ धर्म पूर्वक विवाह करना चाहता हूँ।"

राजकुमार का ऐसा प्रस्ताव सुनकर वैश्य ने समझा यह धर्म भाव से नहीं काम भाव से प्रेरित होकर ऐसा प्रस्ताव कर रहा है। कामियों के वचनों का क्या विश्वास। काम के वेग में आकर वे शपथ पूर्वक जो चाहें प्रतिज्ञा करलें, किन्तु काम मद शिथिल होते ही वे सब कुछ भूल जाते हैं, अपने वचनो पर स्थिर नहीं रह सकते। अतः वह कन्या का पिता वैश्य उसे टालने के लिए बोले—"कुमार ! आपका यह प्रस्ताव आपके अनुरूप नही। आप राज पुत्र हैं। राजा स्वामी होता है वैश्य शूद्र आदि उसकी प्रजा होते हैं, आप शासक है, हम शासित आप स्वामी हैं हम भृत्य। विवाह तो समान कुल समान शील और समान वर्ण आदि में होता है आपका और हमारी क्या समानता आप किसी मूर्धाभिषिक्त राज पुत्री के साथ विवाह करें।

राजकुमार ने कहा—श्रेष्ठिवर ! आपका कथन तो सत्य

है, किन्तु जिसका मन जिससे मिल जाता है, जिसका मोह जिससे हो जाता है, वह असमान होने पर भी समान हो करता है। इच्छा और आवश्यकता ही एकता स्थापित कर देते हैं। मनकी अभिलाषा प्रतिकूलता में भी अनुकूलता का बीज रोपण कर देती है। आप अपनी पुत्री मुझे दे दें। मैं उसे से भी अधिक प्यार करूँगा।"

वैश्य ने कहा—"कुमार! आपका कहना सत्य है। आ साथ अपनी कन्या का विवाह करना मेरे लिये गौरव की बा है, किन्तु राजपुत्र! पुत्री का पिता होने के कारण मैं सहस ऐसा साहस नही कर सकता। देखिये, आप अभी स्वतन नही है, अपने पिता के अधीन हैं। मैं तो उनकी प्रजा ह ठहरा। मैं भी ऐसा कोई सदाचार के विरुद्ध कार्य उन आज्ञा के विरुद्ध नही कर सकता। अतः आप पहिले राजा आज्ञा ले लें। वे आज्ञा दे देंगे, तो मुझे इस सम्बन्ध मे भी आपत्ति न होगी। मै अपनी कन्या को सहर्ष आप दे दूँगा।"

कुमार ने विवशता के स्वर में कहा—श्रेष्ठिवर! पुत्र कितना भी बड़ा हो गया हो, वह निर्लज्ज होकर पिता के सम्मुख गुरु जनों के आगे ऐसी बातें स्पष्ट कैसे कह सकता है, कि मैं उसी के साथ विवाह करूँगा। और सब बातें तो पूछी भी जा सकती हैं किन्तु बड़ों के सम्मुख काम सम्बन्धी बातें तो मुख से निकालना भी कठिन है। आप मेरी परीक्षा ले लें मुझे अपनी कन्या दे नही तो मेरा यह शरीर न रहेगा।"

वैश्य ने कहा—"राजकुमार! मैंने आपसे पहिले ही क दिया, देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं किन्तु पिता के रह

स्वेच्छा से मैं इस सदाचार विरुद्ध कार्य को नहीं कर सकता। आपका कहना भी सत्य है। स्वय पुत्र का किसी कन्या का नाम निर्देश करके पिता से पाणिग्रहण का प्रस्ताव करना अनुचित है। आपके लिये यह लज्जा तथा, संकोच की बात अवश्य है, किन्तु मेरे लिये तो इसमें कोई लज्जा की बात नहीं कन्या का पिता दश जगह जाकर अपनी पुत्री के विवाह की बातें करता है, जिस भी सजातीय अविवाहित वर को देखता है उसी की ओर मन चलाता है। अतः आप अपने पिता से न पूछें, मैं स्वयं जाकर उनसे पूछूँगा। यदि वे आज्ञा दे देंगे, तो मुझे तो कोई आपत्ति है ही नहीं।"

नाभाग अब क्या कहते, वे चुप हो गये। वैश्य तुरन्त महाराज दिष्ट के समीप गये और हाथ जोड़कर बोले—"प्रभो! राजकुमार नाभाग ने मुझसे मेरी कन्या के लिये प्रस्ताव किया है, इसमें आपकी आज्ञा ही प्रमाण है। आप जैसी आज्ञा करें उसी का पालन करेंगे।"

यह सुन कर राजा बड़े धर्म संकट में पड़े। युवक पुत्र की इच्छा के विरुद्ध वे सहसा कैसे आज्ञा दे और कुल परम्परा के विरुद्ध एक नूतन प्रथा को भी वे सहसा कैसे चलावें। यही सब सोच कर उन्होंने धर्म के जानने वाले बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाया और उनके सम्मुख यह प्रस्ताव रखा।

सब सुनकर ऋचीक आदि ब्राह्मणों ने कहा—"कुमार! वर्णाश्रम धर्म की रक्षा आप राजा होकर भी न करेंगे, तो दूसरा कौन करेगा। पत्नी तो सदा अपने वर्ण की ही होती है। हाँ, आवश्यकतानुसार उप पत्नी अन्य वर्णों की भी रखते है। प्रथम वर्ण में विवाह करके फिर यदि और पत्नी

करने की इच्छा हो, तो धर्मपूर्वक अपने से नीचे वर्ण की कन्या के साथ भी विवाह किया जा सकता है। उस उप पत्नी का अधिकार यज्ञ मे दीक्षा लेने का नही है। जैसे ब्राह्मण की प्रधानपत्नी तो ब्राह्मणी ही होगी। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की कन्यायें उसकी उपपत्नी हो सकती हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय की उपपत्नी वैश्य, शूद्रा और वैश्य की शूद्रा भी हो सकती है। उनसे जो सन्तानें होंगी वे उप वर्ण की होंगी अर्थात् पिता के वर्ण से छोटी और माता के वर्ण से बडी। जैसे ब्राह्मण की क्षत्रिया पत्नी से जो सन्तान होगी वह उप ब्राह्मण अर्थात् मूर्धाभिषिक्त जाति के होंगे। ऐसे ही क्षत्रिय से जो वैश्य पत्नी में सन्तान होगी वे उपक्षत्रिय होंगे। अपने वर्ण की पत्नी में जो सन्तान होगी वह अपने ही वर्ण की शुद्ध समझी जायगी। इसलिये हे राजकुमार ! तुम्हें उस वैश्य कन्या से विवाह करना ही है, तो पहिले किसी क्षत्रिय की कन्या से विवाह कर लो। पीछे इसे भी उपपत्नी के रूप में ग्रहण कर सकते हो। ऐसा न करके तुम प्रथम ही इस वैश्य कन्या से विवाह कर लोगे, तो तुम भी उसी के वर्ण के हो जाओगे। तुम स्वयं भी विशुद्ध वैश्य बन जाओगे और तुम्हारी सन्तानें भी वैश्य ही कहलावेंगी। यह वर्णाश्रम धर्म का प्रचीन सदाचार है। धर्म के जानने वाले ऋषियों ने ऐसी ही व्यवस्था दी है। यदि ब्राह्मण प्रथम ही क्षत्रिय की कन्या से विवाह कर ले, तो वह क्षत्रिय ही हो जाता है। केवल ऋषियों को छोड़ कर। आप क्षत्रिय धर्म को न छोड़ें। धर्मपूर्वक व्यवहार करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऋषियों ने कुमार नाभाग को अनेकों प्रकार से समझाया, किन्तु उन्होंने ऋषियों की बात

पर ध्यान नही दिया। उसने हाथ में खड्ग लेकर सबके सम्मुख ललकार कर कहा—"क्षत्रिय के लिये राक्षस विधि से कन्या का अपहरण करना भी शास्त्र सम्मत है। मैं अपने बाहु बल से इस कन्या का अपहरण करता हूँ, जिसमें सामर्थ्य हो, वह मुझे रोके।" यह कह कर वे अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर वैश्य के घर की ओर चले। कुमार बड़े बली थे, अस्त्र शस्त्रों के पूर्ण ज्ञाता थे, रण कौशल मे परम प्रवीण थे अतः उन्हे रोकने का किसी को साहस नही हुआ।

वैश्य ने जब देखा, कि कुमार तो मेरी कन्या को बलपूर्वक अपहरण करने के लिये उतारू हैं, तो वह अपनी रक्षा के लिये राजा की शरण गया। राजा ने क्रोध में भर कर बहुत से सैनिको को भेजा, कि इस धर्म विरुद्ध आचरण करने वाले राजकुमार को मार दो।" राजाज्ञा पाकर सैनिक कुमार नाभाग से युद्ध करने चले। किन्तु वह अस्त्र शस्त्रों में इतना निपुण था, कि सभी सैनिकोंको मार भगाया। जब राजाने देखा मेरे सैनिकों को तो नाभाग ने हरा दिया है, तब तो वे स्वयं अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर अपने पुत्र का निग्रह करने चले। पिता पुत्र में घनघोर युद्ध होने लगा। सभी इस विचित्र युद्ध को उत्सुकता पूर्वक देखने लगे। पिता तो फिर पिता ही ठहरे वे अस्त्र शस्त्रों में पुत्र की अपेक्षा बढ़ चढ़कर सिद्ध हुए। नाभाग युद्ध में शिथिल होने लगे। इतने में ही सर्वत्र विचरण करने वाले बहुत से मुनि आकाश मार्ग से उतर कर राजा और कुमार के बीच में खड़े हो गये और बड़े ही मधुर स्वर से राजा से बोले—"राजन्! आपका पुत्र धर्मभ्रष्ट हो गया है। अब वह अपने कर्म से वैश्यता को प्राप्त हो चुका। महाराज! वैश्य के साथ क्षत्रिय का युद्ध करना धर्म संगत नहीं। अतः आप इससे युद्ध न करें।"

ऋषियों की बात सुनकर राजा युद्ध से निवृत्त हो गये। नाभाग ने भी उस परम सुन्दरी वैश्य कन्या के साथ विधि पूर्वक विवाह कर लिया। वैश्य कन्या नाभाग को पाकर परम प्रसन्न हुई। नाभाग ने भी अपना सर्वस्व यहाँ तक कि अपना वर्ण भी उसके ऊपर निछावर कर दिया। दोनों एक दूसरे को पाकर परम प्रसन्न हुए।

नाभाग कैसा भी सही, था तो राजपुत्र ही। विवाह के अनन्तर वह हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता के साथ अपने पिता के समीप पहुँचा और उन्हें प्रणाम करके विनीत भाव से बोला—"प्रभो! मैं आपके अधीन हूँ, अब मेरा जो कर्तव्य हो, वह मुझे बताइये।"

पुत्र कैसा भी हो, अन्ततोगत्वा पुत्र ही है। उनकी तो इच्छा थी कि भलन्दर को कुछ राज्य मिले, किन्तु धर्म और प्रजा के विरुद्ध वे कैसे कर सकते थे। अतः कुमार नाभाग के सम्बन्ध में उन्होंने एक निर्णय समिति बना दी बाभ्रव्य मुनि उस निर्णय समिति के अध्यक्ष बनाये गये। यह समिति जो निर्णय कर दे, वही सबको स्वीकार है।"

समिति की बैठक हुई। सर्व सम्मति से सभी सभासदों ने यही निर्णय किया, कि कुमार ने वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध आचरण किया है, अतः वे भूपति होने के अधिकारी नहीं है। इन्हें राजा कुछ भूमि दे दें उसमे ये कृषि करें, पशु पालन करें और वाणिज्य व्यवसाय करके अपनी आजीविका चलावें आज से ये क्षत्रिय न रहकर वैश्य बन गये।"

कुमार ने समिति का निर्णय सहर्ष स्वीकार किया। वे

अब वे अपने को वैश्य ही कहने लगे और कृषि गोरक्षा तथा वाणिज्य करके ही अपना निर्वाह करने लगे। कुछ काल में उस वैश्य कन्या के गर्भ से एक पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ उसका नाम भलन्दर रखा गया। अन्त मे ये ही भलन्दर परम तेजस्वी राजर्षि भलन्दन हुए और पिता के वैश्य रहने पर भी ये राज्य सिंहासन के अधिकारी हुए।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! यही तो हम पूछना चाहते है—भलन्दन वैश्य पुत्र होकर फिर राजा कैसे हो गये ?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, सुनिये महाराज ! मैं इस कथा को भी सुनाता हूँ। नाभाग के पुत्र भलन्दन परम तेजस्वी हुए। माता पिता ने उनके सभी वैश्योचित संस्कार कराये। जब भलन्दन बड़े हुए तो उन्हें अपने पिता के सब समाचार विदित हुए। उनके चाचा ताऊ के लड़के राज्योचित वस्त्राभूषण पहिन कर निकलते। सुन्दर सुन्दर किरीट मुकुट धारण करके अस्त्र शस्त्रों को लेकर घोड़े पर चढ़कर इधर से उधर घूमते। सभी उन्हे देखकर उठकर खड़े हो जाते। सभी प्रकार के राज्योचित सम्मान वे पाते। किन्तु भलन्दर वैश्यों की सी पगड़ी बांध कर इधर से उधर जाते। यह बात उन्हें बड़ी बुरी लगती। वे सोचते देखो, मैं भी राजपुत्र हूँ. पिता के कारण मैं राज्यवंश के प्रभुत्व से वञ्चित हो गया कैसे मैं फिर से राज्य सम्मान प्राप्त कर सकूँ।"

जब वे कुछ बड़े हुए, तो उनकी माता ने कहा—"बेटा ! वैश्योचित जो गोपाल का कार्य है उसे तू कर। जंगल में हमारी बहुत सी गौएँ हैं उनका जाकर तू पालन कर।"

माता की ऐसी आज्ञा पाकर भलन्दन माता को प्रणाम करके वन मे चला गया : उसे तो फिर से राज्य प्राप्त करने की चिन्ता थी अतः वह गौओं के गोष्ठ में न जाकर सीधा एक घोर वन मे चला गया। वहाँ पर परम प्रतापी राजर्षि नीप घोर तपस्या कर रहे थे। हिमालय के उस विस्तृत हरे प्रान्त में भलन्दन घूमता हुआ राजर्षि नीप के आश्रम पर चला गया। वहां पर उन्हे श्रद्धा सहित प्रणाम करके बैठ गया।

उस शान्त दान्त सुशील तेजस्वी बालक को देखकर राजर्षि नीप ने पूछा—"वत्स ! तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? तुम्हारे यहां आने का क्या प्रयोजन है ?"

भलन्दन ने कहा—"भगवन् ! मैं मनुपुत्र महाराज दिष्ट का पौत्र हूँ। मेरे पिता कर्मणा वैश्यता को प्राप्त हो गये है। मेरी माता ने मुझे गौपालन के लिये आज्ञा दी है। प्रभो ! मुझे यह वैश्य वृत्ति प्रिय नही। जिस प्रकार मेरे पितृव्य पृथ्वी का पालन करते है उसी प्रकार मैं भी पृथ्वी पालन करना चाहता हूँ। मैं आपकी शरण आया हूँ मुझे आप भूपिपति बना दीजिये।

उस बालक की ऐसी सरल, मधुर वीरता पूर्ण बातें सुनकर राजर्षि नीप को उस पर दया आ गई। उन्होने दिव्य दृष्टि से उसका भूत भविष्य सब जान लिया और बोले—"वत्स ! तुम मेरे आश्रम पर रहो, मैं समस्त धनुर्वेद पढ़ाकर भली भाँति अस्त्र शस्त्रो की शिक्षा दूँगा।"

राजर्षि नीप के मुख से ऐसे वचन सुनकर भलन्दन की प्रसन्नता का ठिकाना नही रहा, वे बड़ी श्रद्धा से अपने गुरु की सेवा करने लगे। महाराज नीप भी उसके शील स्वभाव से

संतुष्ट होकर उसे दिव्य से दिव्य अस्त्र-शस्त्र सिखाने लगे। कुल काल में ही भलन्दन अस्त्र शस्त्रों में पारंगत हो गया। जब उसे राजर्षि नीप ने पूर्ण धनुर्वेद का ज्ञाता समझ लिया, तो वे उससे बोले—"वत्स! अब तुम समर में अजेय हो गये हो, अब जाकर अपने ताऊ चाचा के लड़कों से अपने राज्य का भाग माँगो। यदि वे देने में आपत्ति करें, तो तुम उनसे धर्म पूर्वक युद्ध करना।"

अपने गुरु की ऐसी आज्ञा पाकर और उनके चरणों में प्रणाम करके भलन्दन अपने पितामह की राजधानी में आया और अपने चचेरे भाइयों से राज्य का भाग माँगा।"

इस पर उसके चचेरे भाइयों ने कहा—"जब तेरे बाप ही राज्य के अधिकारी नहीं रहे तो तू राज्य का अधिकारी कैसे हो सकता है। वैश्य का काम है खेती करना, गौ चराना और वाणिज्य व्यापार करना। हाथ में तराजू लेकर सामान बेचो राज्य तो पराक्रम से होता है। तुम वैश्य पुत्र हो अपना धर्म पालन करो।"

भलन्दन ने कहा—"यह पृथ्वी तो वीर भोग्या है। यदि क्षत्रिय है और उसमें बल पुरुषार्थ नहीं, तो वह राज्य का अधिकारी नहीं। जो स्वयं अपनी रक्षा करने मे समर्थ नही, वह प्रजा की भला क्या रक्षा करेगा। इसके विपरीत जिसके बाहुओं में बल है। प्रजा पालन करने की शक्ति है, वह चाहे जो हो वही अपने पुरुषार्थ से राजा बन सकता है। मै तो राजपुत्र हूँ। यदि तुम वैसे न दोगे, मैं युद्ध करके तुमसे अपना भाग ले लूँगा।"

उसकी ऐसी वीरता पूर्ण बातें सुनकर सबके सब उससे युद्ध करने को उद्यत हो गये। दोनों ओर से भयंकर युद्ध हुआ। भलनन्द ने सभी को अपने बाहुबल मे परास्त कर दिया और बल पूर्वक राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। अपने शत्रुओं को जीत कर भलनन्द अपने पिता के समीप पहुंचा। उन्हें श्रद्धा भक्ति सहित प्रणाम करके उसने नम्रता पूर्वक कहा—"पिताजी ! मैंने अपने पितृ पितामह के राज्य को आपके आशीर्वाद से जीत लिया है। आप सुख पूर्वक राज्य सिंहासन पर विराजिये और धर्म पूर्वक समस्त प्रजा का पालन कीजिये।"

भलनन्द की माता वह वैश्य कन्या भी वहां बैठी थी, उसके सन्मुख ही अत्यंत प्यार से खिन्नमन होकर नाभाग ने कहा—"वत्स ! तुमने अपने बाहुबल से राज्य प्राप्त किया है, तुम ही राज्य करो, मैं राज्य सिंहासन पर नही बैठूंगा।"

अत्यन्त ही विनीत भाव से भलन्दन ने कहा—"प्रभो ! आप यह कैसी धर्म विरुद्ध बात कह रहे है। सर्व समर्थ शूरवीर पिता के रहते, जो पुत्र राज्य सिंहासन पर बैठता है, वह नरक गामी होता है। आपके रहते हुए मैं सिंहासन पर कैसे बैठ सकता हूँ।"

यह सुनकर अत्यन्त दुःख के साथ नाभाग ने कहा—"देखो, भैया ! राज्य परिषद् ने मुझे राज्य का अनधिकारी सिद्ध कर दिया है, मैंने भी उस निर्णय को सह शिरोधार्य करके वैश्य वृत्ति को ग्रहण कर लिया है अब यदि मैं लोभ वश फिर राजा बन जाता हूँ, तो धर्म

च्युत हो जाता हूँ! यह राज, पाट, धन सम्पत्ति, स्त्री पुत्र आदि सब धर्म के ही लिये हैं। धर्म को छोड़ कर इनका कोई महत्व नही। पहिले ही मैंने एक बड़ा भारी अधर्म किया कि अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध वैश्य कन्या के साथ विवाह किया। पिता के इस अप्रिय कार्य को करके मुझे अन्त में बहुत पश्चात्ताप हुआ। मैं सोचता हूँ, इस पाप के फलस्वरूप मुझे न जाने किस नरक में जाना पड़ेगा। काम के वशीभूत होकर जो भूल हो गई, सो हो गई, अब मैं फिर दूसरी बार राज्य ग्रहण करके पिता की आज्ञा का अपमान न करूँगा। अब यदि मैं निर्णय के विरुद्ध आचरण करता हूँ तो मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। अब तो वैश्य वृत्ति धारण की है। जीवन भर वैश्य बनकर ही अपना निर्वाह करूँगा।

भलन्दन ने कहा—"महाराज, फिर मैं भी राज्य कैसे कर सकता हूँ। अब हमें किसी ने राज्य दिया थोड़े है हमने अपने बाहुबल से उसे प्राप्त किया है। इसमें अधर्म की कोई बात नहीं।"

नाभाग ने कहा—"देखो एक तो मैं वैश्य हूँ, फिर मैं स्वाभिमानी भी हूँ। चाहे तुम हमारे पुत्र हो फिर भी दूसरों के जीते हुये राज्य पर अधिकार करना मेरी यह प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। मैंने वैश्य की कन्या से विवाह किया है अतः मैं राज्य नहीं कर सकता। तुमने स्वयं राज्य प्राप्त किया है तुम ही राजा बन जाओ। इसमें कोई दोष नहीं है।"

यह सुनकर हँसती हुई भलन्दन की माता वह वैश्य कन्या अपने पति से बोली—"महाराज! आप इस बच्चे की बात मान लें। राज्य सिंहासन पर बैठें। भ्रम त्याग दें। आपने वैश्य

कन्या से विवाह नहीं किया है। जिस प्रकार आप विशुद्ध वंश में उत्पन्न क्षत्रिय हैं उसी प्रकार मैं भी विशुद्ध वंशोद्भवा क्षत्रियपुत्री हूं। प्रभो! यह कुमार भलंदन वैश्य पुत्र नहीं विशुद्ध क्षत्रिय पुत्र है।"

आश्चर्य के साथ नाभाग ने पूछा—"तुम क्षत्रिय पुत्री कैसे हो? वैश्य पिता ने तुम्हारा पालन क्यों किया? इस कथा को पहिले तुम मुझे सुनाओ तब मैं निर्णय करूंगा कि राज्य पर बैठूं या नहीं।"

यह सुनकर नाभाग पत्नी सुप्रभा ने कहा—"अच्छी बात है सुनिये, मैं इस कथा को सुनाती हूं। प्राचीन काल में सुदेव नाम के एक राजा थे। उनका एक नल नाम का विषय लम्पट मित्र था। एक दिन वसन्त के समय महाराज सुदेव अपने मित्र नल के साथ अपनी स्त्रियों को लिये हुये आम्र वन में विहार के लिये गये! महाराज! वन विहार के समय स्वेच्छा से खाना, यथोचित पेयपदार्थों का पान करना, स्वच्छन्द होकर घूमना यही तो वहां का सुख है। समाज में शिष्टाचार से रहना पड़ता है सभ्यता से व्यवहार करना पड़ता है। समाज की दृष्टि से बर्ताव करना पड़ता है किन्तु एकान्त में अपने समवयस्क और संगी साथियों के साथ मनुष्य स्वच्छन्द हो जाता है। इसी प्रकार महाराज सुदेव वन में जाकर स्वच्छन्द हो गये रसोइयों ने पूर्व ही जाकर वहां नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थ बना रखे थे। सब ने जाकर यथेष्ट वारुणी पान की सुन्दर सुन्दर भोजन किये। वैशाख का महीना था। सुन्दर स्वच्छ सलिल वाला सरोवर समीप ही था स्त्रियों के साथ राजा जल विहार करने लगे। उनका सखा नल बड़ा उद्दंड था। उसने

आज यथेष्ट वारुणी का पान किया था। वह अपने आपे में नहीं था। दैव योग से प्रारब्ध वश महर्षि च्यवन के पुत्र प्रमति की परम प्रिया पत्नी वहाँ पानी भरने के लिये आ गई। उनका जन्म कुलीन राजवंश में हुआ था। वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी, उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य प्रकट हो रहा था। वल्कल वस्त्रों में से उसका सुवर्ण वर्ण छन-छन कर एक प्रकार की विचित्र शोभा को दशों दिशाओं में बखेर रहा था। वह प्रमति पत्नी पूर्ण युवती थी उसे देख कर मदिरा के मद में उन्मत्त नल उसकी ओर दौड़ा और उसे पीछे से पकड़ लिया नल के पकड़ते ही वह ऋषि पत्नी बड़े आर्त स्वर में चिल्लाई। उसकी आर्त वाणी सुनकर शीघ्रता से महर्षि प्रमति वहाँ दौड़े आये। उन्होंने आते ही देखा मदोन्मत्त नल उनकी प्राण-प्रिया को पकड़े हुए है; वह बेचारी कुररी पक्षी की भांति चिल्ला रही है। अपनी रक्षा के लिये पुकार रही है। पास ही महाराज सुदेव बैठे हुए हैं। सुदेव को नल का ऐसा व्यवहार रुचिकर नहीं था, न वे ऋषि पत्नी का अपमान करने में सहमत ही थे, किन्तु नल का वे इतना संकोच करते थे कि उन्हें मना करने का साहस नहीं हुआ। उसी समय प्रमति ने आकर राजा को डांटते हुए कहा—"राजन्! यह आपके लिए बड़ी लज्जा की बात है, कि आप पृथ्वी पाल होकर भी ऐसा अन्याय अपनी आंखों के सामने देख रहे हैं और इस दुष्ट को मना नहीं करते, आप कैसे क्षत्रिय हैं?"

सम्मुख तेजस्वी मुनि को देखकर महाराज सुदेव सकपका गए और बोले—"ब्रह्मन्! मैं क्षत्रिय नहीं मैं तो बनिया हूँ। आप किसी अन्य क्षत्रिय के पास जायें, जो आप की रक्षा कर सके।"

ऋषि तो सब समझ ही रहे थे, कि राजा मुझसे झूठ बोल रहा है। अतः वे क्रोध से सूखी हँसी हँसकर बोले—"अच्छी बात है यदि आप अपने को वैश्य ही बताते हैं तो जाइये आज से आप वैश्य ही हुए। क्षत्रिय तो वही है जो दुःख से प्रजा की रक्षा करे। आपने दुष्ट से मेरी पत्नी की रक्षा नहीं की अतः आप क्षत्रिय धर्म से च्युत हो गये।"

सुप्रभा अपने पति नाभाग से कह रही है—"हे प्राणनाथ इस प्रकार राजा सुदेव को शाप देकर क्रुद्ध हुए प्रमति ने नल को शाप दिया कि "तू इसी क्षण भस्म हो जा।" सब के देखते-देखते नल के देह से अग्नि उत्पन्न हुई और वह वहाँ का वहीं भस्म हो गया। मुनि के ऐसे प्रभाव को देखकर अब तो सुदेव चेतना शून्य से हो गये। उनकी सब चौकड़ी भूल गई। अत्यन्त दीन होकर वे भूमि में सिर टेक कर मुनि को बार-बार प्रणाम करने लगे और अत्यन्त ही नम्रता के साथ हाथ जोड़ कर बोले—"ब्रह्मन्! मैं इस समय अपने आपे में नहीं था। सुरा के मद में मैं कर्तव्य विहीन बन रहा था। आप ऐसी कृपा करें कि मेरा क्षत्रियत्व नष्ट न हो। आप अपने शाप को लौटा लें।"

मुनियों का क्रोध तो पानी की लकीर के समान होता है, नल के भस्म होते ही महामुनि प्रमति का क्रोध शान्त हो गया था, अतः वे सरलता के साथ बोले—"राजन्! मैंने कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला है, अतः मेरा शाप मिथ्या तो होगा नहीं आप वैश्य तो अवश्य हो जायँगे, किन्तु जब कोई क्षत्रिय आकर बलपूर्वक तुम्हारी कन्या को हर लेगा, तब तुम तो क्षत्रिय हो जाओगे और वह हरने वाला वैश्य जायगा।"

अपनी पत्नी के मुख से यह बात सुनकर नाभाग ने कहा—"तब फिर मेरा वैश्यत्व तो नष्ट नही हुआ। तुम्हारे पिता का शाप भले ही छूट जाय। तुम तो वैश्य पुत्री रही ही।

इस पर सुमति ने कहा—"नही, प्रभो! मैं वैश्य कन्या नही मैं भी अयोनिजा हूँ। प्राचीन काल में गंध मादन पर्वत पर सुरति नामक राजा थे। वे जहाँ तपस्या कर रहे थे, वहाँ एक श्येन पक्षी ने एक मैना को पकड़ लिया था। बाज की असावधानी से मूर्छित हुई मैना उसके मुख से गिर गई और वह राजर्षि सुरति के सम्मुख आ पड़ी। उस दु खिया सारिका को देखकर राजर्षि कृपा के वशीभूत होकर मूर्छित हो गये। सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकलने लगा। उसी समय उनके अङ्ग से मेरी उत्पत्ति हो गई। कृपा से उत्पन्न होने के कारण मेरा नाम उन्होने कृपावती रख दिया। एक दिन मैं युवावस्था-पन्न होने पर अपनी सखियों के साथ घूम रही थी। मेरी किसी सखी ने अगस्त्य मुनि के भाई से 'वैश्य' कह दिया। इस पर उन्होंने मुझे शाप दे दिया। तू ही वैश्य पुत्री होजा।"

मैंने जब बहुत प्रार्थना की, तब उन्होंने कहा—"तू वैश्य पुत्री तो अवश्य होगी, किन्तु जब तू अपने वैश्य पुत्र को जाति का स्मरण करावेगी तब तू अपने पति के साथ पुनः क्षत्रिय हो जायगी।"

तब मैं इन वैश्य बने राजा की पुत्री बन कर रही। आपने मेरे साथ विवाह किया। अब हम और आप दोनों क्षत्रिय हो गये। अब आप राज्य सिंहासन पर बैठें प्रजा का पालन करें आपको कोई दोष न लगेगा।

इस पर नाभाग ने अपने पुत्र से स्त्री को सुनाते हुए

वत्सप्रीति प्रांशु आदि के चरित्र

(५६८)

वत्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतंप्रमतिं विदुः।
खनित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः॥*

(श्री भा० ९ स्कं० २ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

वत्सप्रीति सुत भये, भलन्दन के उत्साही।
दानव हन्यो कुजृम्भ त्रिदूरथ कन्या व्याही॥
मुदावती तें भये पुत्र बारह तेजस्वी।
ज्येष्ठ श्रेष्ठ नृप प्रांशु जगत महँ भये यशस्वी॥
भये प्रांशु के प्रमति सुत, उनके पुत्र खनित्र हैं।
अति पवित्र जग महँ विदित, तिनके चारु चरित्र है॥

वीरता के पुरस्कार में जो वस्तु प्राप्त होती है, उसका महत्व अत्यधिक होता है। वस्तुओं में न कुछ छोटापन है न बड़ापन। जिसके पीछे जितना ही अधिक परिश्रम वीरता का इतिहास है, वह वस्तु उतनी ही अधिक महत्व शालिनी है।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भलन्दन पुत्रवत्स प्रीति के प्रांशु नामक पुत्र हुआ। प्रांशु का प्रमति प्रमित का खनित्र, खनित्र से चाक्षुष और चाक्षुष से विविंशति का जन्म हुआ।"

वस्तु तो सभी पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचों भूतों की ही बनी हैं। किसी में किसी भूत की अधिकता है, किसी में किसी की। किन्तु जो वस्तु श्रम से प्राप्त है, दुर्लभ है, सब जिसे प्राप्त नहीं कर सकते उसका मूल्य अधिक है। विवाह तो बहुत होते हैं, किन्तु जिस विवाह में वीर्य का पण है, जो कन्या वीर्य पराक्रम दिखाकर प्राप्त की जाती है, उसका महत्व अन्य विवाहों से अत्यधिक है। जैसे सीताजी वीर्यपणा थीं जो शिवजी के धनुष को तान दे, वही सीताजी के साथ विवाह करले, कन्या के साथ विश्वविजयी होने की प्रतिष्ठा भी उसे प्राप्त होगी। इसीलिये यह विवाह अत्यधिक महत्वशाली समझा गया था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भलनन्दन के पुत्र परम तेजस्वी वत्सप्रीति हुए। वत्सप्रीति बड़े ही शूरवीर शत्रुविजयी और परम पराक्रमी थे। उन्होंने पाताल में जाकर कुजृम्भ नामक दैत्य का वध किया और भाग्यवती मुदावती के साथ विवाह किया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! यह कुजृम्भ नामक दानव कौन था? वत्सप्रीति ने उसे किस प्रकार मारा। मुदावती कौन थी, उसका विवाह इन राजकुमार वत्सप्रीति के साथ कैसे हुआ, कृपा करके इन सब बातों को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! मैं वत्सप्रीति का वृत्तांत सुनाता हूँ; आप सब दत्त-चित्त होकर श्रवण करें।"

पूर्वकाल में विदूरथ नाम के एक बड़े ही धर्मात्मा राजा हो गये है। वे अपनी प्रजा का पुत्रवत पालन करते थे। एक दिन

महाराज सिन्धु देश के एक सुन्दर सुडौल घोड़े पर सवार होकर वन में आखेट के लिये निकले। राजधानी से वह थोड़ी सी दूर गये होंगे, कि उन्हें एक बड़ा भारी बिल दिखाई दिया। राजा उस इतने बड़े अथाह गहरे बिल को देखकर परम विस्मित हुए। वे सोचने लगे—"मैं अनेकों बार इस मार्ग से आता जाता हूँ ऐसा अपूर्व बिल तो मैंने इसके पूर्व कभी देखा नहीं। यह साधारण बिल भी नहीं जान पड़ता। राजा इस प्रकार आश्चर्य चकित होकर उस बिल के सम्बन्ध में सोच ही रहे थे, कि उन्हें सामने से एक परम तेजस्वी तपस्वी मुनि जाते हुए दिखाई दिये। वे धर्मात्मा मुनि समीप के ही अरण्य में निवास करते थे। वे सुव्रत के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध थे।

महामुनि सुव्रत को सम्मुख से आते देखकर महाराज विदूरथ ने उन्हें भक्तिभाव से प्रणाम किया और घोड़े से उतर कर बड़ी नम्रता के साथ पूछा—"ब्रह्मन्! यह अभूतपूर्व बिल कैसे हो गया। किसने यह इतना भारी अथाह गर्त खन दिया। महाभाग! मैं तो समझता हूँ यह पाताल का द्वार ही है। इसके द्वारा तो कोई पाताल में भी जा सकता है।

यह सुनकर सुव्रत मुनि हँसे और बोले—"राजन्! तुम प्रजा के पालक होकर भी इतना नहीं जानते? फिर तुम कैसे प्रजा पालन कर सकते हो?"

लज्जित होकर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इसके पूर्व तो मैंने इस गर्त को कभी देखा नहीं था, मैं इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता अब आज्ञा कीजिये, मैं क्या करूँ! इस गर्त के द्वारा प्रजा का क्या अनिष्ट हो सकता है। आप जैसी सम्मति दें, उसके अनुसार ही मैं कार्य करूँ।"

यह सुनकर सुव्रत मुनि बोले—"रसातल में एक परम पराक्रमी कुजृम्भ नामक दानव रहता है। वही पृथिवी में स्थान-स्थान पर ऐसे छिद्र कर देता है?"

राजा ने पूछा—"भगवन्! उस दानव का नाम कुजृम्भ कैसे पड़ा? वह पाताल से लेकर यहाँ तक ऐसे छिद्र कैसे कर देता है, कृपा करके इसे भी मुझे बता दीजिये।"

महामुनि सुव्रत ने कहा—"राजन्! उस दानव ने सुरों के शिल्पी विश्वकर्मा के बनाये हुए सुनन्द नामक मूसल को धोखे से प्राप्त कर लिया है। उस मूसल में ऐसी शक्ति है, कि वह जिस पर भी चला दे वही विदीर्ण हो जाता है। उसी से वह इस पृथिवी के पेट को फाड़ देता है, स्थान-स्थान पर बिल बना देता है। जिससे पातालवासी दैत्य दानव सुख पूर्वक आ जा सकते हैं। ऐसे बिलो से निरन्तर जल निकलता रहता है। यदि वह दुष्ट ऐसा ही करता रहा तो यह पृथिवी जलमय बन जायगी। वह पृथिवी को जृम्भित अर्थात् छिद्रयुक्त कर देता है इसीलिये उस दुष्ट का नाम कु-अर्थात् पृथिवी को जृम्भित अर्थात् छिद्रयुक्त करने वाला कुजृम्भ पड़ गया है। महाराज! जब तक आप उस दुष्ट दानव का दलन न करेंगे, तब तक आप पूर्ण पृथिवी पति नहीं कहला सकते। आपका सर्वप्रथम कार्य यह है, कि उस दुष्ट को जैसे हो तैसे मारें।"

राजा ने विस्मय के साथ महामुनि सुव्रत से पूछा—"भगवन्! वह विश्वकर्मा विनिर्मित दिव्य अमोघ मूसल व्यर्थ कैसे हो, इसकी आप कोई युक्ति बताइये। जब तक उस दुष्ट पर वह मूसल है, तब तक तो उसे कोई परास्त कर ही नहीं सकता उस मूसल की शक्ति क्षीण कैसे हो?"

यह सुनकर सुव्रत मुनि बोले—"राजन् ! मैं तुम्हें एक ऐसी परम गुप्त रहस्यमयी बात बताता हूँ, जिसका पता औरों की तो बात ही क्या उस दुष्ट दानव कुजृम्भ को भी नहीं है। वह यह है, कि यदि कोई युवती स्त्री उस मूसल को अपनी सुख स्पर्श कोमल उँगलियों से छू दे तो वह मूसल उस दिन शक्तिहीन निर्बल बन जाता है, किन्तु दूसरे दिन फिर वह शक्ति नहीं रहती। दूसरे दिन फिर वह ज्यों का त्यों पूर्ववत् सबल बन जाता है। महाराज ! यदि आप उस दानव को न मारेंगे, तो अपने राज्यपाट से भी हाथ धो बैठेंगे। उसने तो आपकी राजधानी के समीप ही यह उपद्रव आरम्भ कर दिया है।"

महाराज विदूरथ ने हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन् ! आपने बड़ी कृपा की जो मुझे सचेष्ट कर दिया। अब मैं उस दुष्ट दानव को मारने का प्रयत्न शीघ्रातिशीघ्र करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राजा की ऐसी बात सुनकर तथा उनसे सत्कृत होकर महामुनि सुव्रत तो अपनी कुटी को चले गये और राजा कुजृम्भ के विषय में ही सोचते सोचते अपनी राजधानी में पहुँचे।

राजधानी में पहुँच कर राजा ने अपने मंत्रियों को तथा मुख्य मुख्य सेनापतियों को एकत्रित किया। यहां उन्होंने उस बिल की बात तथा सुव्रत मुनि के मुख से जो कुजृम्भ के मूसल की बात जैसे सुनी थी वैसी सब बताई, साथ ही यह भी बता दिया कि युवती स्त्री की उँगलियों से स्पर्श करने पर वह उस दिन व्यर्थ ही हो जाता है ?" उस दानव के ऐसे पराक्रम की

बात सुनकर सभी विस्मित हुए तथा उसे मारने के लिये उपाय सोचने लगे। ऐसे शूरवीर सैनिक तैयार किये जो पाताल में जाकर उस दुष्ट से युद्ध कर सकें।

इधर राजा तो ऐसी तैयारियाँ कर रहे थे उधर उस दानव कुजृम्भ ने एक और कुत्सित कार्य कर डाला। महाराज की मुदावती नामक रूपवती युवती कन्या एक दिन अपनी सखियों के सहित उद्यान में क्रीड़ा कर रही थी। इतने ही में वह दुष्ट कुजृम्भ आया और उसे हर कर पाताल में ले गया। अब तो मानों प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति पड़ गई हो। राजा ने अपने शूरवीर यशस्वी दोनों पुत्रों को बुलाया और उनसे बोला—"पुत्रों! उस दुष्ट दानव ने मेरा घोर अपमान किया है तुम रसातल में जाकर उस पापी को उसके इस क्रूरकर्म का फल चखाओ और उस दुष्ट को मार कर अपनी बहिन को उससे छुड़ा लाओ।

पिता की आज्ञा पाकर उनके सुनीति और सुमति नामक दोनों पुत्र क्रोध में भर कर सैन्य सजाकर रसातल में गये। इन मनुष्यों को आते हुए देखकर कुजृम्भ दनाव बहुत हँसा वह अस्त्र शस्त्र लेकर उनसे लड़ने आया। यद्यपि ये दोनों राजकुमार बड़े बली थे। अस्त्र विद्या के विशारद थे, फिर भी उस दानव से पार न पा सके। उस मायावी दैत्य ने उन्हें माया से बांध लिया और सैनिकों को मार कर भगा दिया।

राजा विदूरथ ने जब यह समाचार सुना, तो उन्हें अत्यंत दुःख हुआ। स्वयं उनका बिल में जाने का साहस न हुआ। उन्होंने घोषणा कर दी जो राजकुमार रसातल में जाकर उस

दुष्ट दानव को मार कर मेरे पुत्रों और पुत्री को छुड़ा लावेगा उसके साथ मैं अपनी कन्या का विवाह कर दूँगा।

मुदावती अत्यन्त सुन्दरी युवती थी। बड़े बड़े राजकुमार उसे पत्नी बनाने को उत्सुक थे किन्तु कुजृम्भ की शूरता और माया की बात सुनकर किसी का उसके समीप युद्ध करने के निमित्त जाने को साहस नहीं होता था। तब महापराक्रमी भलन्दन पुत्र वत्सप्रीति अपने पिता के मित्र महाराज विदूरथ के समीप गया और जाकर बोला—"महाराज! आप अपने अनुचर को आज्ञा दें। मैं उस दुष्ट दानव कुजृम्भ को मारकर आपका प्रिय कार्य करना चाहता हूँ।

अपने मित्र भलन्दन के पुत्र वत्सप्रीति के ऐसे वीरता पूर्ण वचन सुनकर महाराज बिदूरथ को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने वत्सप्रीति का प्रेम पूर्वक आलिंगन किया और सिर सूँघकर बड़े प्यार से बोले—"वत्स! तुम्हारा कल्याण हो, भगवान् तुम्हें तुम्हारे कार्य में सफलता प्रदान करे, तुम जाकर उस दैत्य को मार कर मेरा प्रिय कार्य करो।"

महाराज की आज्ञा और आशीर्वाद पाकर वत्सप्रीति पाताल गया। वहाँ जाकर उसने अपने धनुष की टंकार की। एक मनुष्य को फिर युद्ध के लिये आया देखकर यह रणरंग दुर्मद दानव बड़ा ही प्रसन्न हुआ और अस्त्र शस्त्र लेकर सेना सहित राजकुमार वत्सप्रीति से युद्ध करने आया। कुमार ने उस दानव के साथ घनघोर युद्ध किया। तीन दिन, तीन रात्रि निरन्तर लोमहर्षण भीषण युद्ध होता रहा। वह दैत्य उस दिव्य मूसल को तभी निकालता था जब कोई प्रबल शत्रु अन्त

अस्त्र शस्त्रों से न मारा जाय। उसने जब देखा कि यह राजकुमार तो बड़ा बली है, तो वह उस दिव्य मूसल को लेने अन्तःपुर में दौड़ा। कुमारी मुदावती वहीं पर उस दुष्ट ने कैद कर रक्खी थी। उसे जब पता चला कि मेरे उद्धार के लिये कुमार वत्सप्रीति युद्ध करने आये है और दानव तीन दिन, तीन रात्रि निरंतर युद्ध करके भी हरा नहीं सका है, तब तो उसके मन में आशा का संचार हुआ। उसने अपने घर पर ही कुमार वत्सप्रीति की प्रशंसा सुन रखी थी और मन ही मन उसके प्रति उसकी आत्मीयता भी हो गई थी। जब उसने देखा यह दानव तो उस राजकुमार को मारने के लिये दिव्य मूसल लेने आया है, तब तो उसे अपने पिता की कही हुई बात स्मरण हो आई। उसने दौड़कर उस मूसल को छू लिया। इतने में ही वह दैत्य भी आ पहुँचा। इसने प्रणाम करने के मिस से पुनः कई बार अपनी कमल की पतली पंखुड़ियों के समान लाल लाल उंगलियों से उस मूसल का स्पर्श किया।

वह दानव तो क्रोध में भरा ही हुआ था। अतः वह उस श्रद्धा से पूजित दिव्य मूसल को लेकर कुमार वत्सप्रीति की ओर दौड़ा, किन्तु आज वह दिव्य अस्त्र व्यर्थ हो रहा था। दैत्य ने समझा अब मेरी मृत्यु सन्निकट आ गई है फिर भी मरता क्या न करता उसने अन्य दिव्य अस्त्रों से युद्ध किया, किन्तु उसने उसके समस्त अस्त्र विफल बना दिये और अन्त में कुमार ने एक दिव्य आग्नेयास्त्र उसको छाती को लक्ष्य करके छोड़ा। जिस दिव्य अस्त्र के प्रहार को दैत्य न सह सका। उसका हृदय फट गया और विशाल वट वृक्ष के समान कट कर वह धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। गिरते ही उसके प्राण पखेरू परलोक

को प्रयाण कर गये । उसके मरने से पाताल निवासी सभी नाग आदि प्रसन्न हुये । सभी ने कुमार वत्सप्रीति का अभिनन्दन किया। उन सबसे सत्कृत होकर कुमार चारु हासिनी कृशोदरी परम सुन्दरी मुदावती के निकट गया। उसे स्वयं बन्धन से निर्मुक्त किया। महाराज विदूरथ के दोनों पुत्र सुनीति और सुमति को भी उसके कारावस से निकाला। उन सबको संग लेकर कुमार वत्सप्रीति चलने लगे। नागों ने उसके ऊपर पुष्प वृष्टि की, शेषनाग ने उसे आशीर्वाद दिया। और कुजृम्भ के मारे जाने पर वह सुनन्द नामक मूसल नाग-राज भगवान् अनन्त ने ले लिया। उस मूसल की ही स्मृति मे राजकुमारी मुदावती का नाम शेष भगवान् ने सुनन्दा रख दिया।

इस बार कुजृम्भ को मारकर पाताल को जीतकर महाराज विदूरथ की पुत्री और पुत्रों को बन्धन से छुड़ाकर वत्सप्रीति मुदावती के पिता के निकट आये। चिरकाल अनन्तर अपनी पुत्री और पुत्रों को देखकर महाराज के नेत्र से अश्रु बहने लगे। उन्होंने वत्सप्रीति को अत्यन्त स्नेह पूर्व छाती से लगाया और अत्यन्त ही प्रेमपूर्वक बोले—"बेटा तुमने मेरा अत्यन्त ही प्रिय कार्य किया है। मैं इस अप सर्वगुण सम्पन्ना पुत्री मुदावता को तुम्हें देता हूँ, तुम इसे पूर्वक अपनी पत्नी बनाओ और दोनों मिलकर गृह धर्म का पालन करो।" महाराज की ऐसी बात सुनकर व प्रीति ने सिर झुकाकर मौन भाषा में उनकी बात को स्वीकार किया। मुदावती का वैदिक विधि से वत्सप्रीति के विवाह हो गया। सुनन्दा पतिरूप मे वत्सप्रीति को पा

परम प्रमुदित हुई और परमात्मा बुद्धि से उसकी परिचर्या करने लगी। कालान्तर में मुदावती के गर्भ से वत्सप्रीति के बारह पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम प्रांशु, प्रवीर, शूर, सुचक्र, विक्रम, क्रम, बल, बालक, चण्ड, प्रचण्ड, सुविक्रम और स्वरूप थे। इन सबमें प्रांशु ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। वे अवस्था में ही बड़े नहीं थे। अपितु गुणों और सहनशीलता में भी अद्वितीय थे।

सूतजी ने कहा—"महाराज! अपने पिता वत्सप्रीति के परलोक पधारने के अनन्तर बड़े होने के कारण प्रांशु राजा हुए। प्रांशु के पुत्र प्रमति वा प्रजाति बड़े यशस्वी पुत्र हुए। प्रमति के खनिज, शौरि, उदावसु, सुनय, और महारथ ये पाँच पुत्र हुए। इन सबमें खनिज बड़े थे, अतः नियमानुसार वे ही राजा हुए वे अपने क्षत्रियोचित पराक्रम के लिये विश्व-विख्यात थे। वे बड़े शान्त, सत्यवादी, शूरवीर समस्त प्राणियों के हित में निरन्तर रहने वाले, स्वधर्म परायण वृद्ध जन सेवी, शास्त्रज्ञ, वक्ता, विनयशील, समस्त अस्त्र शस्त्रों के ज्ञाता, सर्व-प्रिय तथा ब्राह्मण भक्त थे। वे कभी किसी से द्रोह नहीं करते थे। उनसे छोटे जो चार भाई थे, वे सेवकों की भाँति उनके अधीन रहते। महाराज खनित्र ने अपने चारों भाइयों को चारों दिशा के पृथक् पृथक् राज्यों पर अभिषिक्त कर दिया था और आप सम्पूर्ण वसुन्धरा का धर्मपूर्वक पालन करते थे। चारों भाइयों में से पूर्व में शौरि को, दक्षिण में उदवासु को पश्चिम में सुनयन को, और उत्तर में महारथ को अभिषिक्त किया था। वे अपने भाइयों से बड़ा स्नेह रखते थे। सब प्राणियों में भगवद्बुद्धि रखकर सभी के साथ समान व्यव-हार करते थे इसीलिये ब्राह्मणों की छोड़ी हुई कृत्या उन पर निष्फल हुई।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! धर्मात्मा महाराज खनित्र के ऊपर ब्राह्मणों ने कृत्या क्यों छोड़ी ? और फिर अभिचार मंत्रों से भेजी हुई कृत्या राजा के ऊपर जाकर कैसे निष्फल हो गई कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! यह प्राणी अपने पापों से ही मारा जाता है, यदि हमारे मन में द्रोह न हो, तो दूसरे का द्रोह हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। महाराज खनित्र के चरित्र से यही सिद्ध होता है। मैं महाराज खनित्र के इस समत्व भाव पूर्ण वृत्तान्त को आपको सुनाता हूँ आप इसे समाहित चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

नृप खनित्र अति विनयशील सेवक वृद्धनि के।
शौरि, उदावसु, सुनय, महारथ, भ्राता उनि के॥
चारि दिशनि को राज दयो चारों भाइनि कूँ।
स्वयं बने सम्राट प्राण सम मानें तिनिकूँ॥
शौरि सचिव ने द्रोह वश, बन्धुनि महँ विग्रह करी।
शौरि सिखायो बन्धु हति, हरहु राज्य जड़मति हरी॥

खनिज चरित्र

(५९९)

अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा
बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात्पुनः।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

शौरि लोभवश भयो दुष्ट मंत्री मतिमानी।
अन्य बन्धुहू फेरि, पुरोहित सब अज्ञानी॥
चारों मिलि अभिचार भयंकर मारण कीन्हों।
प्रकटी कृत्या चारि सबनि कूं दरशन दीन्हों॥
बोले—जाइ खनित्र कूं, मारो प्रमुदित सब भई।
लै त्रिशूल गर्जन करति, नृप खनित्र के ढिग गई॥

विशुद्ध मन में किसी के दोष दिखाई देते ही नहीं वह तो सब में तीनों गुणों को वर्तते देखता है। हृदय में पाप होगा,

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यह कितने आश्चर्य की बात है, यह बालक राक्षस के द्वारा मृत्यु के मुख में जाते-जाते पुनः बच गया। जो

तभी दूसरा पापी दिखाई देगा। हृदयहीन हिंसक ही छिपकर दूसरे की हिंसा करेगा। शूरवीर तो शत्रु को सावधान करके समर में ललकारता है। असावधान पुरुष-पर जो प्रहार करता है, वह पापी है, पाषाण हृदय है। पापी पर द्वेषी पर तो उसका प्रहार भले ही सफल हो जाय किन्तु निरपराध भगवद् भक्त पर उसका प्रहार कभी सफल न होगा। करने वाले का स्वयं नाश हो जायगा। जो समस्त भूतों में आत्म बुद्धि रखकर बर्ताव करता है, सबको अपना सुहृद समझता है। ऐसे सम बुद्धि पुरुष का जो अनिष्ट सोचता है, उसका स्वयं ही अनिष्ट हो जाता है। अतः श्रेयार्थी पुरुष को कभी किसी का मन से भी अनिष्ट न सोचना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे प्रमति पुत्र खनित्र के चरित्र का परम पावन प्रश्न पूछा है उसे मैं आपके सम्मुख कहता हूँ।

प्रमति के सबसे बड़े पुत्र खनित्र थे और शौरि, उदावसु सुनय और महारथ ये छोटे थे। बड़े होने के कारण खनित्र सम्राट हुए और चारों छोटे भाई उनके आधीन मन्डलेश्वर भूमिपति हुए। शौरि का एक-बड़ा ही कुटिल कूटनीतिज्ञ विश्ववेर्द नाम का मन्त्री था। एक दिन उसने एकान्त में शौरि से कहा—"राजन्! आप राज पुत्र होकर भी खनित्र के आधीन क्यों रहते है?

मारना चाहता था, वह अपने आपसे स्वयं ही मारा गया। यह लोकोक्ति सत्य ही है, कि साधु पुरुष अपनी सत्यता के कारण भय से सदा बाल-बाल बच जाते हैं।

शौरि ने कहा—"मन्त्रिवर ! ऐसा सदा से सदाचार ही चला आया है कि जो बड़ा भाई होता है वह सम्राट होता है, शेष सब भाई उसके आधीन रहते हैं। भाई खनित्र हम सब से ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है। हमें उनके अधीन रहना ही चाहिये।"

विश्ववेदी ने कहा—"देखिये, महाराज ! जब अपने में बल सर्वत्र अधिकार का ही बोलबाला है, जिसके अधीन धन, संपत्ति तथा पृथिवी है उसका छोटे बड़े सभी आदर करते हैं। आप अपने बल पौरुष से पृथिवी के पूर्ण शासक बन बैठिये। किसी के अधीन रहने से तो मृत्यु ही श्रेष्ठ है। परतन्त्रता, दासता, अधीनता सबसे बड़ा अभिशाप है। अतः आप पराधीनता की बेड़ी को काट डालिये। स्वाधीन सम्राट बन जाइये।"

यह सुनकर शौरि ने कहा—"बड़ा भाई तो पिता के समान है। महाराज खनित्र तो हमें पुत्रों के समान प्यार दुलार करते है। व्यवहार में भी कुछ भेदभाव नहीं करते। उनसे युद्ध करना, उनके राज्य को छीनकर स्वयं सम्राट बन बैठना, यह तो न्याय के सदाचार के विरुद्ध है।"

यह सुनकर विश्ववेदी ने कहा—"राजन् ! न्याय और धर्म की दुहाई तो निर्बल पुरुष ही दिया करते है। स्वयं तो उनमें शक्ति नहीं, बल नहीं। कोई उन पर अन्याय करता है, तो स्वयं उसका प्रतिकार करने में समर्थ नहीं होते, तब चिल्लाते हैं—"हमारे साथ अन्याय हो रहा है, यह अधर्म है, पाप है।" ऐसे निर्बलों की कौन सुनता है। परमात्मा भी उसकी रक्षा नहीं करता जो अपनी रक्षा नहीं कर सकता। अतः राजन् इस न्याय धर्म के झगड़े को छोड़िये। राज्य में, अधिकार में, धन सम्पत्ति में, बड़े

छोटे का विचार नहीं। यह वसुन्धरा तो वीरभोग्या है, जिसकी बाहुओं में बल हो, वही शासक है वही राजा है। जिसके हाथ में लाठी है उसी की भैंस है। सो राजन्! हमारी बुद्धि से लाभ उठाइये। आप सम्राट बनकर इस लोक में भी आनन्द उड़ाइये और धर्म से बड़े-बड़े यज्ञ यागादि करके धर्म भी कमाइये, इस लोक में दिव्य सुखों का उपभोग कीजिये। रही भाई सेवा करने की बात, सो, जब धन हो जाय, तब यथेष्ट धन देकर भाई की पूजा भी कर लेना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! लोभ बड़ी बुरी वस्तु है। धन सम्पत्ति तथा अधिकार आदि की तृष्णा मनुष्य के विवेक को खो देती है। स्वार्थ धर्म बुद्धि को नष्ट कर देता है। शौरि अपने क्रूर मंत्री की बातों में आ गया वह अपने बड़े भाई के राज्य को लेने के लिये विश्ववेदी के कथनानुसार कार्य करने लगा, उसके संकेत पर नाचने लगा।

जब उसने शौरि को अपनी मुट्ठी मे कर लिया, तब शेष तीन भाइयों के भी कान भरने आरम्भ कर दिये। उन्हे भी खनित्र के विरुद्ध भड़का दिया। महाराज खनित्र इतने प्रतापी थे कि प्रत्यक्ष तो उनके साथ किसी का युद्ध करने का साहस ही नहीं होता था। विश्ववेदी ने तन्त्र मन्त्र अभिचार पुरश्चरण का आश्रय ग्रहण किया। उसने चारों कुमारों के पुरोहितों से पुरश्चरण कराये। वे चारों पृथक-पृथक मारण प्रयोग करने लगे। उनके अभिचारिक कृत्य से चार बड़ी भयंकर तीक्ष्ण दाढ़ों वाली कृत्या उत्पन्न हुईं। उन्होने पुरोहितों से पूछा—"हम क्या करे?"

पुरोहितों ने कहा—"तुम जाकर महाराज खनित्र को मार

डालो।" यह सुनकर वे कृत्यायें पृथक् पृथक् दिशाओं में खनित्र को मारने के लिये चली। महाराज धर्मात्मा थे समदर्शी थे; विष्णु भक्त थे, अतः कृत्याओं का उनके ऊपर जाने का साहस नहीं हुआ। आभिचारिक प्रयोगों का ऐसा नियम है कि जिसके ऊपर कृत्या छोड़ी जाती है, यदि वह किसी कारण से उसके पास न पहुँच सके तो उलट कर भेजने वाले को ही मार देती है। कृत्याओं का जब राजा के समीप जाने का साहस नहीं हुआ, तो वे लौटकर पुरोहितों के पास आईं और उन्हें मार डाला। तथा इस पुरश्चरण को कराने वाले शौरि के मंत्री विश्ववेदी को भी मार डाला।

महाराज खनित्र ने जब यह बात सुनी कि, एक ही समय भिन्न-भिन्न स्थानों मे चारों पुरोहित मारे गये और उसी समय कुमार शौरि का मंत्री विश्ववेदी भी मारा गया, तो उन्हें परम विस्मय हुआ। दैव योग से उसी समय उनके कुल पुरोहित भगवान् वशिष्ठजी भी वहाँ आ पहुँचे। महाराज खनित्र ने पूछा—"भगवन्! यह कैसी अद्भुत घटना हुई, मेरे चारों भाइयों के पुरोहित और शौरि का मन्त्री विश्ववेदी ये सब अकस्मात् बैठे ही बैठे एक ही समय कैसे मारे गये?"

यह सुनकर भगवान् वशिष्ठ ने बताया—"राजन्! आप तो साधु प्रकृति के हैं। आप तो अजात शत्रु हैं। संसार में आप किसी को अपना शत्रु समझते ही नहीं। किन्तु महाराज! दुष्ट लोग साधु पुरुषों से अकारण द्वेष करते हैं, उनके ऐश्वर्य और प्रभाव को देखकर जलते हैं। स्वयं तो उनकी पदवी को पा नहीं सकते। अतः ईर्ष्यावश उनका अनिष्ट ही सोचते रहते हैं। शौरि के मन्त्री विश्ववेदी के कहने से ये चारो पुरोहित आपके उद्देश से मारण प्रयोग कर रहे थे। उसी से कृत्यायें

उत्पन्न होकर आपको मारने आई, किन्तु आप धर्मात्मा समदर्शी के सम्मुख उन तामसिक कृत्याओं का साहस नहीं हुआ, अतः उन्होंने उलट कर पाँचों को ही मार डाला।"

इतना सुनते ही महाराज खनित्र मूर्छित हो गये, वे बार-बार यही कहते—"मैं बड़ा नीच हूँ बड़ा पापी हूँ, मेरे कारण ब्राह्मणों की हत्या हुई।"

भगवान् वशिष्ठ ने कहा—"राजन्! इसमें आपका क्या अपराध है, उन्होंने जैसे पाप किया उसका फल उन्होंने भोगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! उन पुरोहितों ने तो अपने स्वामी का हित ही किया था, अतः वे पापी कैसे हो सकते है। पापी तो मैं हूँ, जो मेरे पीछे चार ब्राह्मणों की हत्या हुई। मेरे ऐसे राजा को धिक्कार है, मेरी धन सम्पत्ति और राज्य को धिक्कार है। अब मैं इस राज्य सिंहासन पर कभी न बैठूंगा।" ऐसा कहकर राजा ने अपने पुत्र चाक्षुष या क्षुप को बुलाकर गद्दी पर बैठाया और आप अपनी रानियों सहित वनमे जाकर घोर तपस्या करने लगा। सैकड़ों वर्ष तपस्या करके उसने अपने शरीर को सुखा दिया। अन्त में वे तनु त्याग कर अक्षय लोकों को गये। उनकी पत्नियों ने भी उन्ही का अनुसरण किया और वे भी अपने पति के लोको को ही प्राप्त हुई।

महाराज चाक्षुष बड़े धर्मात्मा राजा हुए। उनका पुत्र विविंशति हुआ। यह विविंशति बड़ा ही शूरवीर, दानी और ब्राह्मण भक्त था। जब विविंशति राजा हुए तो प्रजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। इनके पुत्र रम्भ हुए और रम्भ के खनीनेत्र। ये खनी नेत्र इतने धर्मात्मा और यज्ञ शील हुए कि निरन्तर यज्ञ ही करते रहते थे। ऐसा सुना जाता है, कि इन्होंने सरसठ हजार सरसठ सौ सरसठ यज्ञ किये। अपुत्री होने पर इन धर्मात्मा

राजा ने गौतमी तट पर पुत्र की कामना से घोर तपस्या की शतक्रतु देवे का स्तवन किया। जिससे प्रसन्न होकर बड़ा तेजस्वी धर्मात्मा पुत्र हुआ जो जगत् में करन्धम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप तो शीघ्रता कर गये। महाराज खनिनेत्र तथा उनके पुत्र करन्धम के चरित्र को हमे भली भाँति सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! ऐसे मैं सबके चरित्र को विस्तार से सुनाने लगूँ तब तो इन राजवंशों का ही पार न लगेगा। अतः मैं इनका चरित्र संक्षेप में सुनाकर फिर अवतार चरित्र सुनाऊँगा।

छप्पय

निरखि नृपति अति तेज, डरीं, कृत्या घबराई।
नृपतनु परस्यो नहीं लौटि तिनही पै आई॥
[illegible]

॥

चाक्षुष पुत्र खानत्र क, चाक्षुप क सुत विवशात।
रम्भ विविंशति के भये, तिनि खनि नेत्रहु भूमि पति॥

खनिनेत्र और करन्धम चरित्र

(६००)

विविंशति सुतो रम्भः खनिनेत्रोऽस्य धार्मिकः।
करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

कौन नृपति खनिनेत्र सरिस मख करै करावैं।
कौन इन्द्र करि तुष्ट करन्धम सम सुत पावैं॥
शत्रु सैन्य करि दाह करन्धम भूप कहाये।
वीर्यचन्द्र नृप सुता स्वयम्बर तै वर लाये॥
पुत्र अवीक्षित सुता के, गर्भ माँहि पैदा भये।
सूर्यवंश महँ एक तै, एक ख्याति नृप ह्वै गये॥

यह शरीर नश्वर हैं, उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है, ८४ लाख योनियाँ बतलाई जाती हैं नित्य प्रति सभी योनियों कितने प्राणी जन्म लेते है, कितने मरते हैं। जो शरीर पं

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विविंशति का पुत्र हुआ, रम्भ का धार्मिक पुत्र खनिनेत्र हुआ। उन महाराज खनिनेत्र पुत्र करन्धम हुए।"

हुआ है उसका नाश अवश्यम्भावी है किन्तु शरीर न रहने पर भी जिनकी कीर्ति संसार में उनके पश्चात् भी गाई जाती है, जिनके पुण्यश्लोक चरित्र प्रेम पूर्वक पढ़े या सुने जाते हैं, वे ही सुकृति धन्य हैं। सुयश ही उनका शरीर है, उस शरीर से वे सदा अजर अमर हो जाते हैं। जो धन धर्म में व्यय होता है वही धन यथार्थ धन है वही यश को फैलाता है नहीं तो कितना भी सुवर्ण जोडो, कितनी भी चांदी एकत्रित करो, कितने भी भवन बनाओ ये सब यहीं के यहीं रह जाते हैं। मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है, उस कृपण को कोई मानता नही, जानता नहीं। जिनके चरित्रों को आज हम पढ़ते है, पढ़ कर रोते है, हँसते है, उत्साहित होते हैं, उनमें से एक गुण भी हमारे जीवन में आ जाय, तो हमारा पढ़ना सार्थक है नहीं तो केवल व्यसन मात्र ही है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियों! आपने मुझसे विविंशति पौत्र खनिनेत्र का चरित्र पूछा था। ये राजा अपने यश से इतने विख्यात हैं कि इनके समय मे ही सभाओं में जाकर गन्धर्व इनका यश गाया करते थे। सब पुरुषों की सभाओं में इनके सम्बन्ध की गाथायें प्रसिद्ध थीं। गन्धर्व सब को सुनाकर इस आशय के गीत गाया करते थे। महाराज खनिनेत्र के समान दूसरा राजा इस पृथिवी पर नही होगा, क्योंकि उन्होंने दशसहस्र यज्ञ पूर्ण करके यह समस्त वसुन्धरा दान दे दी थी। सीधे तपस्या के बल से द्रव्य एकत्रित करके इसे फिर से मूल्य देकर छुड़ाया था।" मैं पहिले ही बता चुका हूँ इन्होंने सरसठ हजार सरसठ सौ सरसठ यज्ञ किये थे। जिन यज्ञों में इन्होंने वित्तशाठ्य न करके ब्राह्मणों तथा अन्य याचकों को इच्छानुसार यथेष्ट द्रव्य दिया था। इसीलिये संसार में

इनकी कीर्ति आजतक अजर अमर बनी हुई है। ये यश शरीर से अभी तक ज्यो के त्यों विद्यमान है।

इन महाराज खनिनेत्र के कोई सन्तान नही थी। इसीलिये ये कुछ चिन्तित रहते थे कि मेरे पश्चात् पितरो का पिंड तर्पण कौन करेगा। अंत में इन्होने पुत्र प्राप्ति के लिये तप करने का निश्चय किया। ये पापनाशिनी गोमती गंगा के तट पर जाकर पुत्र की कामना से इन्द्र का स्तवन करने लगे।

इनकी तपस्या और स्तुति से संतुष्ट होकर सुरेश्वर शतक्रतु इनके सम्मुख प्रकट हुए और हँसते हुए महाराज खनिनेत्र से बोले—"राजन् ! मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझसे जो भी चाहो, वरदान मांगलो।"

यह सुनकर नम्रता से सिर नीचा करके, बार बार देवेन्द्र को प्रणाम करके विनय पूर्वक महाराज बोले—"हे देवेन्द्र ! यदि आप मुझपर प्रसन्न है तो मुझे एक सर्वगुण सम्पन्न वंशधर पुत्र दीजिये। जिसकी धर्म मे मति हो और धर्मपूर्वक प्रजा का पुत्र की भांति पालन कर सके।"

इन्द्र ने यह सुनकर कहा—"राजन् ! ऐसा ही होगा। आप के समस्त शास्त्रों का ज्ञाता अक्षय ऐश्वर्य से युक्त धर्मज्ञ सर्वश्रेष्ठ सत्यवादी, धर्मात्मा पुत्र होगा।" इतना कहकर शतक्रतु भगवान् इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा भी अपने मनोरथ को पूर्ण हुआ समझकर वन से पुनः अपनी रजधानी में लौट आये। समस्त प्रजा के जनों ने वन से लौटे हुये महारज का उन्मुक्त हृदय से स्वागत कीया और उन्हें कृतकार्य हुआ समझ कर हृदय से उनका अभिनन्दन किया।

कुछ काल के अनन्तर देवेन्द्र की कृपा और वर के प्रभाव से उनकी सौभाग्यवती राजमहिषी ने एक पुत्र रत्न को

उत्पन्न किया। राजा इस समाचार से परम प्रसन्न हुये। वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर पुत्र के विधिवत् जाति कर्म आदि संस्कार कराये। पिता ने उसका नाम बलाश्व रक्खा। कालान्तर मे महाराज खनिनेत्र परलोकगामी हुए। तब प्रजा के समस्त पुरुषों ने राजकुमार बलाश्व को राजगद्दी पर बिठाया। ये भी अपने पिता पितामह आदि के समान समस्त प्रजा का पिता के समान पालन करने लगे। महाराज अपने अद्भुत आश्चर्यजनक अलौकिक कर्म द्वारा ही बलाश्व से करन्धम कहलाये।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! महाराज बलाश्व ने ऐसा कौन सा अद्भुत कार्य किया, जिससे इनका नाम करन्धम पड़ा ? इस कथा को कृपा करके हमें अवश्य सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! ये खनिनेत्र के पुत्र महाराज बलाश्व भी अपने पिता के ही समान धर्मात्मा और दानी थे। ये निरन्तर दान ही देते रहते थे। इस कारण इनका राज कोष रिक्त प्रायः हो गया था। उसमें अधिक धन नहीं था, किन्तु इनका धर्म का कोष अक्षय था। धन की कमी होने से इनके पास सेना भी अल्प ही संख्या में रह गई थी। इसलिये धन बल तथा सैनिक बल दोनों की ही कमी थी।

जिन राजाओं को बलाश्व ने अपने बाहु बल से प्रथम जीत लिया था, वे अब सभी बहुत बली बन गये थे। सबके समीप समर की सभी सामग्रियाँ यथेष्ट थीं। बहुत साधन सम्पन्न बली राजाओं ने एकत्रित होकर राजा बलाश्व को निर्बल समझ कर उन पर चढ़ाई कर दी और उसकी राजधानी को चारों ओर से

दृढता पूर्वक घेर लिया। अब तो राजा को बड़ी चिन्ता हुई। इतने राजाओं की विशाल सेना के साथ उनकी स्वल्प सेना कैसे युद्ध कर सकती है, युद्ध सम्बन्धी साधन भी पर्याप्त नहीं थे। शत्रु सेना वाले राजधानी मे प्रवेश करके उसे लूटने के लिये समुत्सुक हो रहे थे। यह देखकर महाराज बलाश्व बड़े सङ्कट में पड़े। उन्हें और कुछ उपाय नही सूझा। अपने हाथो को मुख के सम्मुख करके धर्म स्मरण करते हुए मुख की वायु से उसे धमन किया अर्थात् फूंका। जब वह वायु उगलियों के छिद्रों से बाहर निकली, तो उससे बहुत से अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित सैनिक निकल पड़े अर्थात् उनकी धर्ममयी वाणी में ऐसा बल था कि मुख पर हाथ रख कर ज्यों ही उन्होने कहा त्यों ही परपक्ष के सैनिक उनके पक्ष के बन गये। अब तो राजा बड़े उत्साह के साथ युद्ध करने लगे। कुछ ही क्षणों में शत्रुओं की समस्त सेना को उन्होंने मार भगाया और वे समर में विजयी हुए।

संसार में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है, कि जो सावधानी के साथ धर्म की रक्षा करता है। तो समय आने पर स्वयं धर्म भी उसकी रक्षा किया करता है। इस विपत्ति काल में धर्म ने ही उसकी रक्षा की, धर्म ने ही उन्हें सैनिक बल प्रदान किया। अपने करों—हाथों—को धमन-फूंकने से वे महाराज करन्धम कहलाये।

महाराज करन्धम जैसे ही शूरवीर दानी और धर्मात्मा थे, वैसे ही सुन्दर भी थे। वे सुन्दरता में सर्वत्र विख्यात थे। उन्हीं दिनों एक वीर्यचन्द्र नामक बड़े प्रतापशाली राजा राज्य करते थे। उनकी एक वीरा नाम वाली सुन्दरी कन्या थी। वह इतनी अधिक सुन्दरी थी, कि राजा को उसके अनुरूप कोई वर

खोजने पर भी न मिला तब राजा ने उसका स्वयम्वर करने का निश्चय किया।

देश विदेश से सहस्रों राजकुमार उस सुन्दरी राजकुमार के रूप लावण्य की प्रशंसा सुन सुनकर महाराज वीर्यचन्द्र की राजधानी में आने लगे। नियत समय पर स्वयंम्वर की सभा लगी। कुमारी वीरा हाथ में जयमाला लिये अपनी सखियों से घिरकर अपने अनुरूप पति खोजने निकली। इन समस्त आगत राजकुमारों में से उसने अपने अनुरूप महाराज करन्धम को ही चुना। उन्हीं के कंठ में उसने कम्पितकरों से जयमाला पहिना दी। जिससे अन्य सभी राजकुमार हताश होकर अपने अपने घर को चले गये।

महाराज करन्धम स्वयंम्वर में सुन्दरी वीरा को पाकर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने शास्त्रीय विधि से वीरा के साथ विवाह किया और राजधानी लाकर उसके साथ गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे। राजा ने वीरा के साथ अनेक यज्ञ किये सभी वस्तुओं के दान दिये, याचकों को इच्छित वस्तु प्रदान करके सन्तुष्ट किया और प्रजा का पुत्रवत पालन किया। वीरा के गर्भ से उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिसका नाम महाराज ने अवीक्षित रखा।

ये अवीक्षित बड़े ही यशस्वी और दृढ़ प्रतिज्ञ हुए हैं। इन्होंने शुत्रुओं से पराजित होने के कारण विवाह न करने की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु अंत में धर्म संकट में पड़कर अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इतने यशस्वी धर्मात्मा करन्धम के पुत्र अवीक्षित ने ऐसी घोर प्रतिज्ञा क्यों की और अंत में किस कारण से उन्हें अपनी प्रतिज्ञा छोड़नी

पड़ी। इस कथा को आप उचित समझें तो हमें अवश्य सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवान् ! यह कथा अत्यन्त ही मनोरञ्जक है। इस अवीक्षित् की अद्भुत कथा को मैं आपको सुनाता हूँ। आप सब सावधान होकर इसे श्रवण करें।"

छप्पय

भयो करन्धम पुत्र नृपति दैवज्ञ बुलावें।
सप्तम गुरु अरु शुक्र चन्द्र चौथे बतलावें॥
सूर्य शनैश्चर सौम अवीक्षित् है यह बालक।
पारंगत परमार्थ पूर्ण पृथिवी को पालक॥
ग्रह फल सुनि नृप मुदित मन, विप्रनि को आदर करयो।
रवि शनि मंगल तें अलख, नाम अवीक्षित् नृप धरयो॥

करन्धम सुत अवीक्षित की कथा

(६०१)

तस्यावीक्षित् सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत् ।
संवर्तोऽयाजयद् यं वै महायोग्यङ्गिरः सुतः ॥

(श्री भा० ९ स्क० २ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

भये अवीक्षित् युवक करन्धम के सुत प्यारे ।
वैदिश नृप की सुता स्वयंवर मांहि सिधारे ॥
कन्या ले जयमाल कुमर के ढिग जब आई ।
बलपूर्वक सो पकरि अवीक्षित् रथ बैठाई ।
सब नृप मिलि पकरे कुमर, आइ छुड़ाये पिता जब ।
कन्या दई विशाल ने, नहिं स्वीकारी कुमर तब ॥

यह जीवन एक प्रकार का सतत संग्राम है । इसमें कभी जय है कभी पराजय । घोड़े से वही गिरेगा जो घोड़े पर

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन महाराज करन्धम के अवीक्षित् नामक पुत्र हुए । अवीक्षित् के पुत्र चक्रवर्ती महाराज मरुत्त हुए जिनको अङ्गिरा के पुत्र महायोगी संवर्तने यज्ञ कराया था ।"

चढ़ेगा। जो कभी घोडे पर चढता ही नही उनके गिरने का प्रश्न ही नही। जो पृथिवी से ऊँचे पलंग या तखत पर सो रहा है उसी के गिरने की संभावना है, जो पृथिवी पर ही सोता है, वह और नीचे कहाँ गिरेगा। जीवन में कभी-कभी ऐसे धर्म सकट के अवसर आते हैं, कि जिन कामों को हम कदापि करना नहीं चाहते, प्रारब्ध वश वे हमे हठ पूर्वक करने पड़ते हैं। कैसी यह विधि की विडम्बना है। जहाँ एक समान दो विरोधी धर्म आ जाते है और उनमें हम निर्णय नही कर सकते कौन सा कार्य करने से हम धर्मच्युत न होगे ऐसे अवसर को धर्म सकट कहते हैं। धर्म-संकट में दो प्रतिकूल प्रतिज्ञाओं में बलाबल देखना पड़ना है। कर्तव्य बुद्धि से किसे करने से अधिक धर्म सुरक्षित रह सकेगा। जिस ओर का पलड़ा भारी होता है उधर ही नवना पड़ता है, उसे ही स्वीकार करना पड़ता है। ऐसे ही अवसर पर धर्म की परीक्षा होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! चक्रवर्ती महाराज करन्धम के पुत्र अवीक्षित् बडे ही शूरवीर, वेद वेदांगों में पारंगत तथा दृढ़ प्रतिज्ञ हुए। उन्होने धनुर्वेद की शिक्षा कण्व मुनि के पुत्र से प्राप्त की थी। उनके सद्गुणों की, अनुपम सौन्दर्य की सर्वत्र ख्याति थी। वे विनयी, शूर, ब्राह्मण भक्त और सदाचारी थे। महाराज करन्धम ऐसे पुत्र को पाकर परम प्रसन्न थे। वे अब अपने युवक पुत्र को पुत्र वधू के साथ देखने को समुत्सुक थे। बहुत से राजाओं ने अपनी पुत्रियों से कुमार अवीक्षित् का विवाह करना चाहा, किन्तु कुमार ने इसे स्वीकार नही किया।

उन्ही दिनों वैदिश के राजा विशाल की वैशालिनी कन्या का स्वयम्वर हुआ। वैशालिनी के सौन्दर्य की सर्वत्र ख्याति थी। उन दिनों प्रायः ऐसी ही कन्या का स्वयम्वर होता था, जो

सौन्दर्य में अनुपम समझी जाती थी। वैशालिनी ने कुमार अवीक्षित् की शूर वीरता और दृढ़ता की चिरकाल से ख्याति सुन रखी थी। उसके गुणों को सुनते-सुनते उसके मन में अति अनुराग हो गया था। इधर अवीक्षित भी वैशालिनी से ही विवाह करना चाहते थे। स्वयम्बर का समाचार सुनकर कुमार अवीक्षित् सजधज कर उसे प्राप्त करने की इच्छा से महाराज विशाल की नगरी में पहुँचा। महाराज ने आगत सभी राजकुमारों का अत्यन्त सम्मान के साथ स्वागत सत्कार किया।

जिस दिन स्वयम्बर का दिन निश्चित था। उस दिन राजधानी में बड़ी चहल पहल थी। बड़े बड़े राजकुमार यौवन के मद में मदमाते, भाँति भाँति के वस्त्र भूषणों से सुसज्जित होकर उस कन्या को पाने की अभिलाषा से आये थे। कन्या एक थी, उसे पाने की इच्छा करने वाले राजकुमार अनेक थे। सभी चाहते थे कन्या हमें मिले। सभी को आशा थी कन्या हमारे ही कंठ मे जयमाला डालेगी, हमें ही अपना पति वरण करेगी। ऐसी आशा न होती तो वे सब इतनी दूर आते ही क्यों। कुमार अवीक्षित् को तो पूर्ण विश्वास था वैशालिनी मुझे ही वरण करेगी।

नियत तिथि आ गई। स्वयम्बर की सभा सजाई गई। नव वधू के समान उसे शिल्पियों ने सावधानी से सुसज्जित किया था। सहस्रों सुवर्णमय सिंहासन बिछाये गये थे। उन पर आगत राजकुमारों के क्रम पूर्वक नाम अङ्कित थे। सभी अपने-अपने निर्दिष्ट आसनों पर सजधज कर आ बैठे। चारों ओर सशस्त्र रक्षक पहरा दे रहे थे और जान पद लोग पृथक्-पृथक् मंचों पर बड़ी उत्सुकता से बैठे थे। स्त्रियों को बड़ा कुतूहल था, कुमारी किसे वरण करेगी। किसका भाग्य आज उदय

होगा, कौन इस स्वयम्वर समर में सर्वश्रेष्ठ विजयी समझा जायगा, किसके कंठ में कुमारी कम्पित करों से कमल की कमनीया माला को मेलेगी। कौन उसे पत्नी पाकर अपने भाग्य को भूरि भूरि सराहेगा।

उपस्थित राजकुमार बार - बार कनखियों से अन्तःपुर की ओर निहार रहे थे, कि वह त्रैलोक्य सुन्दरी सुकुमारी कब आवेगी। इतने में ही नूपुरों की ध्वनि और चुरियों की झंकार से सभी का ध्यान उसी ओर आकर्षित हो गया। सभी ने उत्सुकता के साथ देखा हाथ मे जयमाला लिये हुए पूर्ण चन्द्र के समान अपने मुख की कान्ति से दशों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई सखियों से घिरी राजकुमारी आ रही है। सबकी दृष्टियां उसी ओर केन्द्रित हो गई। हंसिनी के समान अपने कोमल पैरों से वह शनैः शनैः सभा की ओर आ रही थी। एक परिचय कराने वाली राजकुमारी के नाम गोत्र बताती जाती थी। कुमारी सुनती एक बार उसकी ओर देखती और फिर आगे बढ़ जाती। जिसके आगे से बढ़ जाती उसके लिये संसार शून्य हो जाता। निराशा और लज्जा के कारण उसका मुख म्लान हो जाता। कोई तो चुपके से उठ जाते कोई निरलज्ज की भांति सूखी हँसी हँसते कुछ व्यंग वचन बोलते हुए परिणाम की प्रतीक्षा मे बैठे रहते। इस प्रकार अनेक राजकुमारों को निराशित तथा अपमानित करती हुई वह राजकन्या कुमार अवीक्षित् के निकट पहुँची। उसका परिचय पाकर उसने अनुराग भरित हृदय से भली भांति कुमार को निहारा, हृदय ने हृदय को पहचाना, किन्तु परिचय के लोभ से या कुमार की उत्सुकता बढ़ाने को अथवा उसकी वीरता की परीक्षा करने के निमित्त कुमारी वैशालिनी ने कुमार के कण्ठ में जयमाला नहीं डाली वह आगे

बढ़ गई। कुमार ने इसे अपना घोर अपमान समझा। भरी सभा में सबके देखते - देखते वे आगे अपने सिंहासन से उठे और आगे बढ़कर राजकुमारी का हाथ पकड़ लिया और सबके देखते-देखते उसे पकड़ कर अपने रथ पर बिठा लिया और बोले—"मैं अपने पुरुषार्थ से इस कन्या को हर कर ले जाता हूँ, जिसमें शक्ति हो वह आकर मुझसे युद्ध करे।" यह कह वे कुमारी वैशालिनी को लेकर चल दिये।

स्वयम्बर में आये हुए समस्त राजा और राजकुमारों ने इस बात में अपना बड़ा अपमान समझा। वे परस्पर में कहने लगे—"हम लोगों के लिए यह बड़ी लज्जा की बात है, हम सबके देखते देखते एक साधारण राजकुमार बलपूर्वक बिना कन्या की इच्छा के—उसे हर ले जाय। यह नारी जाति का ही अपमान नहीं है। क्षत्रिय मात्र का अपमान है। क्षत से-दुःख से-जो प्राणियों का त्राण करे, रक्षा करे, वही क्षत्रिय कहाता है। हम इतने क्षत्रिय बैठे हैं और अकेला अवीक्षित् हम सबके सिर पर पैर रख कर राजपुत्री को ले जाय, यह तो हमारे लिये चुल्लू भर पानी में डूब जाने की बात है।"

इस प्रकार परस्पर में परामर्श करके वे सभी युद्धोन्मत्त राजा और राजकुमार अकेले अवीक्षित् पर टूट पड़े। वे अकेले थे ये सहस्रों थे। फिर भी करन्धनंदन कुमार अवीक्षित् बड़ी वीरता से उनका सामना करते रहे। उन्होंने पीछे पग नहीं रखा। दिव्य अस्त्र छोड़ कर एक साथ ही सबके कवच तोड़ दिये। किसी का सिर धड़ से उड़ा दिया, किसी के धनुष को काट दिया, किसी की भुजाओं को उन्मूल कर दिया, किसी को अङ्ग भङ्ग कर दिया। इतने राजकुमार अकेले अवीक्षित् के प्रहार को सहन करने में समर्थ नहीं हुए। वे सब के सब रण

से भाग खड़े हुए। अवीक्षित् विजयी सिंह की भाँति खड़ा-खड़ा गर्ज रहा था।

यह तो राजकुमारों ने अपना और अधिक अपमान समझा। एक राजकुमार हम सबको जीतकर कन्या को ले जाय, यह तो हम सब को मरण के समान है। फिर तो हमें क्षत्रिय कहलाना ही छोड़ देना चाहिये। ऐसा विचार करके ७०० युवक राजकुमार प्राणों का मोह छोड़ कर उससे पुनः लड़ने गये। जो सेना भाग रही थी, उसे उन्होंने रोका नहीं। उनकी प्रतिज्ञा थी या तो हम सब के सब रण में मर जायेंगे, या कन्या को छुड़ा कर अवीक्षित् को बन्दी बना लेंगे। एक भी जब तक जीवित रहेगा, तब तक युद्ध निरन्तर होता रहेगा।" ऐसा निश्चय करके वे बड़े उत्साह के साथ प्राणपण से लड़ने लगे। दोनों ओर से घनघोर युद्ध होने लगा। दोनों ओर से दिव्य अस्त्र शस्त्रों के प्रयोग होने लगे दोनों ओर से मारो, काटो, पकड़ लो, जाने न पावे ऐसे शब्द होने लगे घनघोर युद्ध हुआ, अभूत पूर्व समर हुआ। कुमार अवीक्षित् धर्म पूर्वक युद्ध करने लगे। इन ७०० ने धर्म का कुछ भी विचार नहीं किया। इनको तो यही लक्ष्य था, कि किसी प्रकार अवीक्षित् पकड़ा जाय। अतः सब ने एक साथ मिलकर उस अकेले कुमार पर अन्याय-पूर्वक प्रहार किया। अकेला ७०० वीरों के प्रहारों को किस प्रकार सहन कर सकता था। कुछ काल तक तो वीरतापूर्वक लड़ा। अन्त में घायल होकर पृथिवी पर गिर गया। उसके गिरते ही सर्वत्र कोलाहल मच गया। दो चार कुमारों ने जाकर उसे पकड़ लिया और धर्मपूर्वक बाँधकर उसे बन्दी बना लिया। कन्या के साथ लाकर वैदिश नगर के महाराज विशाल को उन दोनों को सौंप दिया।

यह समाचार सेवकों ने तुरन्त ही महाराज करन्धम को दिया। इस समाचार से सैनिक सचिव तथा मन्त्री सभी उत्तेजित हो उठे। कोई कहता—"यह हमारे वंश का अपमान है।" कोई कहता—"उन सात सौ राजकुमारों को तुरन्त बाँध लो" कोई कहता विशाल राजा पर चढ़ाई कर दो।" उन सबकी बात सुनकर करन्धम ने कहा—"भाइयो! केवल बातें बनाने से ही काम न चलेगा। कुमार ने कोई बुरा कार्य तो किया ही नहीं। उसने तो क्षत्रियोचित ही कार्य किया। उसने शत्रुओं को युद्ध में मारा भी। किन्तु जब एक से ७०० वीर एक साथ युद्ध करने लगे, तो वह अकेला कहाँ तक लड़ता? अब हम सबका कर्तव्य है; कि कुमार को तुरन्त छुड़ावें। अब विलम्ब करने का काम नहीं तुरन्त सेना को सजाओ, समर के बाजे बजाओ, सैनिकों को वैदिश नगर की ओर बढ़ाओ। मेरा भी रथ अविलम्ब मँगाओ मैं भी युद्ध करने चलूगा।"

राजा की आज्ञा पाते ही सेना सजने लगी। वीरों के हृदय में वीरता की लहरें उठने लगी। उनके ओठ फड़कने लगे अस्त्र शस्त्रों को घुमाते हुये, भुजाओं को घुमाने लगे। घोड़ों पर चढ़कर उन्हें नचाने लगे। क्षण भर में ही चतुरंगिनी सेना सज कर चल दी। महाराज विशाल ने जब करन्धम की सेना के आने का समाचार सुना, तो उनकी धमनियों में भी वीरता का रक्त प्रवाहित होने लगा। उन्होंने आगत सभी कुमारों और राजाओं से सहायता चाही। सभी महाराजा विशाल की ओर से लड़ने के लिये उद्यत हो गये। दोनों ओर से घमासान युद्ध आरम्भ हुआ। तीन दिन तक दोनों सेनाओं में निरन्तर घमासान युद्ध होता रहा। महाराज विशाल ने देखा मेरी सेना थक गई है। मेरे साथी भी हतोत्साह हो गये

हैं। महाराज करन्धम को हम किसी भी प्रकार नहीं जीत सकते। इनमें मानवी ही शक्ति नहीं है दैवी शक्ति है। इनसे युद्ध करना उचित नहीं।" यही सब सोचकर उन्होंने सन्धि की ध्वजा फहरा दी। उसी क्षण दोनों ओर के वीरों ने अस्त्र शस्त्र रख दिये। युद्ध बन्द हो गया। महाराज विशाल अर्घ्य लेकर महाराज करन्धम के समीप गये। वस्त्राभूषणों से उनकी विधिवत् पूजाकी और कहा—"महाराज! आपके पुत्र ने बड़ी वीरता का कार्य किया। अकेले ने असंख्यों सैनिकों को मार गिराया। आपने भी क्षत्रिय धर्म का ही पालन किया। बिना युद्ध किये आपको मैं कन्या दे देता तो इसमें न मेरी देने मे शोभा थी, न आपकी लेने में। अब आपने युद्ध में मुझे जीत लिया है, इसीलिये आप इस अपने पुत्र को लें और मेरी कन्या को पुत्र वधू के रूप में स्वीकार करें।"

महाराज विशाल की बातो का राजराजेश्वर करन्धम ने अभिनन्दन किया, उन्होंने राजा के आतिथ्य को स्वीकार किया एक रात्रि उनके यहाँ सुख पूर्वक रहे।

दूसरे दिन राजा विशाल अपनी कन्या को वस्त्राभूषणो से सुसज्जित करके महाराज करन्धम के समीप ले गये और जाकर बोले—"प्रभो! मेरी यह सर्व लक्षण सम्पन्न पुत्री है इसे आप अपने सर्वसमर्थ सुत के निमित्त स्वीकार कीजिये और इसे अपनी पुत्र वधू बनाइये।"

कन्या को देखकर महाराज करन्धम बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! यह सम्बन्ध हमारे अनुकूल ही है।" महाराज यह कह ही रहे थे कि बीच में ही कुमार अवीक्षित् बोल उठे—"पिताजी! मैं इस कन्या से विवाह न करूँगा। इसी से नहीं

किसी भी कन्या से विवाह न करके मै जीवन भर अविवाहित ही बना रहूँगा।"

पिता ने कहा—"भैया ! क्या बात है ?" अवीक्षित् बोले—"पिताजी ! मै क्षत्रिय कहलाने के योग्य नही। यह कुमारी अपना वीर और सर्वश्रेष्ठ पति चाहती थी। मुझ मे वीरता कहाँ रही, मुझे तो शत्रुओं ने परास्त करके वन्दी बना लिया ऐसे निर्बल की पत्नी बनकर यह क्या सुख पावेगा। इसके सम्मुख ही शत्रुओ ने शस्त्र मारकर मुझे पृथिवी पर गिरा दिया, तो मैं इसे अपना मुँह कैसे दिखाऊँगा। मै इस योग्य रहा ही नही कि किसी क्षत्रिय कन्या का पाणि ग्रहण करूँ। यहाँ इतने राजकुमार उपस्थित है। कुमारी अभी कन्या है, यह चाहे जिसे वरण कर ले, मैं इसके साथ विवाह नहीं कर सकता। यह मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा है।"

यह सुनकर विशाल ने अपनी युवती कन्या की ओर देखकर कहा—"बेटी ! राजकुमार की बातें तो तुमने सुन ही ली है। ये महात्मा अपने वचनों को बदल नही सकते। इसलिये तुम इन आये हुए अन्य कुमारों में से किसी को भी वरण कर लो, तुमने तो इन्हें स्वेच्छा से वरण किया नही था ये तुम्हे बलपूर्वक ले गये थे। अब तू स्वतन्त्र है, इन्हें छोड़कर फिर से किसी राजकुमार के कठ में जयमाला पहिना दे। अथवा अब तुझे फिर से ऐसा करने में संकोच हो, तो हम ही इनमें से किसी राजकुमार के साथ तेरा विधि पूर्वक विवाह करे देते है, उसी को तू स्वीकार कर ले।"

पिता के मुख से ऐसी बात सुनकर अत्यन्त ही लजाती हुई, अवनि की ओर निहारती हुई नीचा सिर करके कुमारी

वैशालिनी शनैः शनैः बोली—"पिताजी ! मुझे आप गुरुजनों के सम्मुख ऐसी बातें कहनी तो न चाहिये, किन्तु परिस्थिति ने कहने के लिये मुझे विवश ही कर दिया है। पिताजी ! इन कुमार की धीरता, वीरता, बल, वीर्य, पराक्रम तथा शूरता की बातें मैं चिरकाल से सुना करती थी। इनके अद्वितीय रूप लावण्य की भी सर्वत्र ख्याति थी। इनकी शूरता तो मैंने प्रत्यक्ष अपनी आंखों से ही देखी है। इनके ऊपर सहस्रों कुमारों ने अधर्म पूर्वक आक्रमण किया, किन्तु ये अकेले सिंह की भाँति धर्म पूर्वक युद्ध करते रहे। इन्होंने युद्ध मे जैसी वीरता दिखाई है, उससे मैंने मन ही मन इन्हें अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। मैं केवल इनके अद्वितीय रूप, लावण्य सौन्दर्य तथा युवावस्था के ऊपर ही अनुरक्त नही हुई हूँ, इनकी वीरता ने मुझे बाध्य कर दिया कि मैं इन्हे वर रूप से वरण करूँ। पिताजी ! क्षत्रिय कन्या एक बार ही पति को वरण करती है। मन से जिसे उसने आत्म समर्पण कर दिया, वही उसका सदा के लिये जीवन मरण का साथी हो गया। इन्होने मेरा हाथ पकड़ कर रथ में बिठाया था। मैंने भी इनके पाणि में अपना पाणि स्वेच्छा से दे दिया। एक प्रकार से इन्होंने मेरा पाणि-ग्रहण कर ही लिया। अब मैं जीते जी किसी दूसरे पुरुष की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देख सकती। यद्यपि युद्ध में इनके यश और पराक्रम के कुछ हानि अवश्य हुई है। बन्दी बना लेना इनके लिये लज्जा की बात अवश्य है, किन्तु ये पराजित नही हुए। अधर्म से राजाओं ने इन्हें पकड़ा है। मेरे पति तो ये ही हैं इनके अतिरिक्त दूसरा कोई भी कुमार मेरा पुनः पाणि-ग्रहण नहीं कर सकता।"

कन्या के ऐसे वीरोचित दृढ़ वचन सुनकर विशाल बड़े

प्रसन्न हुए उन्होंने विनय के साथ कुमार अवीक्षित् से कहा—"राजकुमार ! मेरी पुत्री ने धर्म पूर्वक वचन कहे हैं। आप पृथिवी पर अपनी वीरता शूरता के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। मेरी कन्या सर्वथा निर्दोष है। आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें और इस कन्या का पाणिग्रहण करके मुझे कृतार्थ करें, मेरे कुल की कीर्ति को उज्वल बनावें। मेरी चिन्ता को दूर करें, मेरे सिर के बोझ को हलका करें और इस कन्या के मनोरथ को पूर्ण करें।"

कुमार महाराज विशाल की ये बातें सुनकर चुप रहे। उन्हें कुछ भी उत्तर न देते देखकर महाराज करन्धम अपने पुत्र से बोले—"बेटा ! देखो, ये राजा कितने धर्मात्मा और विनयी हैं। यह कन्या कितनी सुशीला गुणवती तथा रूपवती है। इसका तुम्हारे प्रति कैसा सुदृढ़ अनुराग है। राजा भी इसका विवाह तुम्हारे साथ करने को उत्सुक हैं। हम सबकी भी बड़ी इच्छा है, कि तुम्हें पुत्र वधू के साथ देखें। अत तुम इनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लो और इस निर्दोषा कन्या को ग्रहण करो।"

पिता की बात सुनकर लजाते हुए कुमार ने कहा—"पिता जी ! मैं जानता हूँ, ये महाराज उच्च वंश के कुलीन नरपति हैं। मुझे यह भी विदित है कि यह कन्या सर्वगुण सम्पन्ना सुन्दरी तथा सुशीला है। यदि मैं अपनी योग्यता से इसे पत्नी रूप में पा सकता, तो मुझे परम प्रसन्नता होती। आपकी आज्ञा मुझे सर्वथा सब समय बिना विचार के मान्य है। मुझे स्मरण नहीं, कि मैंने कभी भी आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया हो, किन्तु मैं अपनी अयोग्यता के कारण सर्वथा इस सुन्दरी के पति बनने के अयोग्य हूँ। आप मोह वश ऐसी आज्ञा न दें,

जिसका पालन करने में मैं असमर्थ होऊँ। चाहे जो हो, मैं विवाह अब न करूँगा।"

कुमार के ऐसे दृढ वचनों को सुनकर वहाँ सभी के मुख पर उदासी छा गई। निराशा के स्वर में हाराज विशाल ने अपनी प्यारी पुत्री वैशालिनी से कहा—"बेटी ! कुमार अपनी प्रतिज्ञा छोड़ नहीं सकते। अतः अब तू अपना मन इनकी ओर से हटा ले। भाग्य को कौन अन्यथा कर सकता है। कुमारी कन्या के लिये सैकड़ों इच्छा करते हैं, वह भी सैकड़ों की ओर मन चलाती है, अन्त में जिसके साथ उसका भाग्यवश विवाह हो जाता है, वही उसका पति हो जाता है, फिर अन्य सब उसके लिये पर पुरुष हो जाते है। अतः तू अभी कन्या है। हठ मत करे आये हुए राजकुमारों में से किसी एक को तू अपना पति बना ले।"

कुमारी ने कहा—"पिताजी ! आप मुझ से अधिक आग्रह न करें। मेरे पति तो ये ही हैं। यदि ये मुझे पत्नी रूप से ग्रहण करना नहीं चाहते, तो न करें। मैं वन मे जाकर घोर तपस्या करूँगी, इन्ही के नाम की माला जपूँगी। इस जन्म में न सही, अग्रिम जन्म में मैं इन्हें पति रूप मे अवश्य ही वरण करूँगी। कुलवती कन्याओं का हृदय एक होता है, उसमे जिसने स्थान कर लिया वह परलोक तक उनके हृदय मे रहता है। यह तो कुलटाओं का कार्य है, कि एक को छोड़कर दूसरे को वरण किया। इस जन्म में क्या अन्य किसी भी जन्मों में इनके अतिरिक्त मेरा दूसरा कोई पति हो ही नही सकता। इस सम्बन्ध में अब आप अधिक आग्रह न करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! दोनों राजाओ को कुमार और कुमारी की ऐसी प्रतिज्ञाओं से दुःख हुआ। किन्तु युवावस्थापन्न सन्तानों से वे कह ही क्या सकते थे। दोनों ही निराश

हो गये। राजा विशाल की प्रसन्नता के लिये महाराज करन्धम तीन दिन तक उनके अतिथि और रहे। अन्त मे अपने नगर को चले गये।

इधर राजकुमारी वैशालिनी अपनी माता से तथा पूज्य पिता से आज्ञा लेकर तपस्या करने वन के लिये चलदी। अत्यन्त सुन्दरी परम सुकुमारी युवती कन्या को घोर वन में कठिन तपस्या के लिये जाते देख कर माता पिता की छाती फटने लगी। उन्होंने अपने अश्रुओं से पुत्री के सम्पूर्ण वालों को भिगो दिया। किन्तु कुमारी तो दृढ प्रतिज्ञ थी वह अपने माता पिता के पैर छूकर घोर वन में चली गई और वहाँ जाकर निराहार रहकर घोरतप करने लगी। उसने तीन महीने तक कुछ भी नही खाया। इससे उसका समस्त रक्त मांस सूख गया। शरीर में केवल अस्थि शेष रहीं। उसकी नस नस दिखाई देती थी, उसका मुख सूख गया था, आँखे भीतर घुस गईं थी दूर से देखने से वह अस्थि कंकाल के सदृश दिखाई देती थी।

एक तो वह राजा की पुत्री थी, दूसरे अत्यंत ही सुकुमारी थी अपनी माता की अत्यंत ही प्यारी दुलारी थी। उसने आज तक कभी एक समय उपवास भी नही किया था। खाली पृथिवी पर कभी पैर नही रखा था। अपने हाथ से कभी कोई कार्य नहीं किया था। अब उसे सभी कार्य स्वयं करने पड़ते, तीन महीने कुछ न खाने से उसे अत्यंत ही कष्ट प्रतीत होने लगा। भूख के कारण उसका उत्साह मंद पड़ गया। उसे यह जीवन भार सा प्रतीत होने लगा। अब उसने अत्यत दुखित होकर यह निश्चय कर लिया कि मैं आत्महत्या कर लूँगी।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! यह मानव जीवन एक पहेली

है। निर्धन समझते हैं, धनी सुखी हैं किन्तु धनियों के लि
धनअभिशाप बन जाता है, क्योंकि उनकी लालसा और अधि
बढ़ती जाती है। कुरूपा कन्यायें समझती हैं, सुन्दर कन्या
परम सुखी होंगी, किन्तु कभी कभी सुन्दरता अभिशाप के रूप
दुखदाई हो जाती है। सुन्दरी को अपने अनुरूप पति न मिले त
दुख और जिसे वह चाहती हो, वह न चाहे तो दुख। इस प्रका
ससार, में सुख नहीं। चिंता, ग्लानि, दुख इन्ही से मान
प्राणी सदा घिरा रहता है। वैशालिनी परम सुन्दरी थी। सभ
राजकुमारियाँ उसकी सुन्दरता से इर्ष्या करती थी। सहस्र
राजकुमारों की उस पर एक साथ आँख गड़ी थी। आज वह
मुरझाई हुई मालती के समान शून्यारण्य में पड़ी भख रही है।
कोई उसकी ओर देखने वाला भी नहीं, भाग्य की कैसी
विडंबना है।

वैशालिनी भूख के कारण दुखी थी। चित्त अवीक्षित
के रूप में फँसा था। उसकी प्राप्ति की कोई आशा नही
थी। उसे सम्पूर्ण संसार सूना सूना सा दिखाई देता था।
जीवन आशा के आधार पर टिक सकता है। निराशा में जीवन
नहीं, गति नही, संचलन नही, क्रिया नही वर्धन नहीं। कुमारी
ने निश्चय कर लिया इस शरीर का अन्त ही कर दूँगी। यही
सब सोचकर सम्मुख द्रुतगति से बहने वाली सरिता को देख कर
वह सोचने लगी—"इस सरिता की गति मे कितना उत्साह है,
कितनी उमंग से; कितनी प्रसन्नता के साथ यह दौड़ी जा रही है
उसके हृदय में कितनी अभिलाषायें है। इसे अपने पति समुद्र
से मिलने की आशा है, उसी आशा से यह बिना ठहरे दौड़ी चली
जा रही है। मुझे पति मिलन की आशा नहीं। प्राणवल्लभ के कंठ
में भुजा डालकर उनका मनोहर आनन निहारने की मेरी साध

री होने की कोई संभावना नही। मेरे जीवन में उत्साह नहीं, य में उमंग नही, फिर इस जीवन भार को ढोना व्यर्थ यह सरिता स्त्री है, नारी जाति की अभिलाषा को यह जानती नारी की पीड़ा को ये कठोर हृदय पुरुष क्या अनुभव कर कते हैं। मैं इस सरिता को ही अपना शरीर समर्पित कर गी। यही मुझे कभी मेरे प्राणवल्लभ से मिला देगी।" ऐसा श्चय करके वह एक ऊँचे पाषाण के चट्टान पर चढ़ गई ोर वहाँ से कूद कर प्राण देने के लिये ज्यों ही उद्यत हुई त्यों । उसे आकाश में एक दिव्य दूत दिखाई दिया। वह हाथ हिला-ुला कर कह रहा था—"देवि ! तुम ऐसा साहस मत करो मेरी ात सुनो।"

देवदूत के मुख से ऐसी बात सुनकर वैशालिनी ठिठक गई। ासने नदी में छलांग नहीं मारी। उसने श्रद्धा सहित देवदूत को ूमि में सिर रखकर प्रणाम किया और बड़ी ही करुणाभरी वाणी ें बोली—"हे देव ! आप कौन है ? मुझ अभागिनी के ऊपर ाप अकारण इतनी करुणा क्यों कर रहे है। मैं इस भार स्वरूप ीवन को रख कर क्या करूँगी। मैं किस आशा को लेकर ीवित रहूँ ? आप मुझे मरने क्यो नही देते ? क्यों मुझे रोक हे हैं ?"

देवदूत ने कहा—"देवि ! मैं देवदूत हूँ, मुझे देवताओं ने भेजा। । देखो, तुम ऐसा साहस मत करो। मानवजीवन बड़ा अमूल्य

है। इसे योंही न खो देना चाहिये। मनुष्य यदि जीता रहेगा, तो सैकड़ों कल्याणप्रद कार्यों को देखेगा। कभी न कभी तो उसका

भाग्य बदलेगा।"

कुमारी ने कहा—"अब मेरा क्या भाग्य बदलेगा देवदूत। मैं

किस आशा से जीवन को रखूं। मेरा आशा दीपक तो बुझ गया, जिसका मुख देखकर जीवित रह सकती थी, उसे तो मेरे भाग्य ने निष्ठुर बना दिया। तुम देवदूत हो, इस पर मैं अविश्वास नहीं करती। तुम्हारे पैर पृथिवी का स्पर्श नहीं करते, तुम आकाश में अधर स्थित होकर मुझ से बातें कर रहे हो, इसी से मैं अनुमान लगाती हूँ तुम अवश्य देवदूत हो। देवताओं ने मेरे लिये क्या संदेश भेजा है ?"

देवदूत ने कहा—"कुमारी ! तुम निराश मत होओ। देवताओं ने कहा है तुम आत्महत्या मत करो, तुम वीर प्रसविनी माता होओगी। तुम्हारे गर्भ से एक बड़ा ही तेजस्वी चक्रवर्ती राजा होगा। वह सम्पूर्ण पृथिवी पर अपना शासन जमावेगा। दुष्ट म्लेच्छों को मार भगावेगा, वह धर्म और सत्य का प्रचारक होगा। उसके समान शूरवीर, यशस्वी दूसरा कोई भी राजा न होगा।"

वैशालिनी ने कहा—"देवदूत ! तुम कैसी आश्चर्य भरी बातें कह रहे हो ? मेरा तो विवाह ही अभी नहीं हुआ है। जिसे मैंने मन से वर किया है, उसने तो आजन्म अविवाहित रहने की दृढ़ प्रतिज्ञा की है। वह कभी अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नही हो सकता। मैं उसके अतिरिक्त स्वप्न में भी दूसरे पति को वरण नहीं कर सकती। जब ऐसी बात है, तो बिना पति के मेरे गर्भ से चक्रवर्ती पुत्र कैसे होगा ? फिर देवताओं की बात पर अविश्वास भी नही किया जा सकता। वे सर्वज्ञ हैं, भूत, भविष्य, वर्तमान सभी की बातें जानते हैं। इन विपरीत बातों से मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।"

देवदूत ने कहा—"देवि ! भाग्य को मेंटने की शक्ति किसी में नही है। भाग्य के सन्मुख सबकी प्रतिज्ञायें व्यर्थ हो जाती है।

हमें ठग लिया। परिस्थिति ही प्राणी को जैसा चाहती है वैसा बना देती है। नहीं तो पुरुष-स्त्री को चाहता है, स्त्री पुरुष को, दोनों के ही हृदय में प्यार है, अनुराग है। मिलन की उत्कट इच्छा है किन्तु भाग्य मिलने नहीं देता। समय से पहिले किसी का संयोग हो नहीं सकता। अतः मैं यहाँ बैठी-बैठी समय की प्रतीक्षा करूँगी। जब मेरा उनके साथ मिलने का समय आ जायगा, तो अवश्य हमारा सम्मिलन होगा। उसे कोई मेंट नहीं सकता। इस प्रकार वह अवीक्षित् के ही रूप का ध्यान करती हुई काल यापन करने लगी।

इधर अब कुमार अवीक्षित् के पिता करन्धम और वीर प्रसविनी मानवीरा को अपने इकलौते पुत्र को अविवाहित अवस्था देखकर बड़ा ही दुःख होता। माताओं को इससे बड़ा कोई भी दुःख नहीं कि उनके सामने उनका युवक पुत्र अविवाहित रहे। वे पुत्रवधू के साथ पुत्र को देखकर प्रमुदित और परम प्रफुल्लित हो जाती हैं। वीरा चाहती थी मेरा पुत्र विवाह कर ले, किन्तु वे जानती थीं, वह बड़ा हठी है, जो प्रतिज्ञा वह कर लेता है उससे उसे ब्रह्मा भी विचलित नहीं कर सकते। इसीलिये वे उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह का कभी प्रस्ताव न रखती।

एक दिन माता ने कहा—"बेटा! देखो, तुम्हारे कारण मुझे सभी वीरप्रसविनी माँ कहते हैं। मेरी इच्छा एक व्रत करने की है। वह तुम्हारी सहायता से ही पूरा हो सकता है।"

अवीक्षित् ने कहा—"माताजी! मेरे लिये इससे बढ़ कर सौभाग्य की बात कौन सी होगी, जो मैं आपके व्रत में सहायता दे सकूँ। मैं अपने प्राणों को देकर भी आपके व्रत को पूर्ण करूँगा आप कौन सा व्रत करना चाहती हैं?"

माता ने कहा—"देखो, मैं किमिच्छक व्रत करना चाहती हूँ। इसमें मुझे उपवास पूर्वक धनाध्यक्ष कुबेर की, सम्पूर्ण निधियों की, निधिपालों की लक्ष्मी जी की पूजा करनी होगी। उपवास के अंत में जो याचक आकर मुझसे जो भी याचना करेगा, उसकी वही याचना पूरी करनी पड़ेगी।"

अवीक्षित् ने प्रसन्न होकर कहा—"माता जी, आप इस "किमिच्छक" व्रत को अवश्य करें। मेरे पिता जी ने यदि आपको व्रत करने की आज्ञा प्रदान कर दी है, तो आप विलम्ब न करें, हमारे यहाँ किसी वस्तु की कमी तो है ही नही। आपके आशीर्वाद से कोई भी याचक विमुख न जायगा सब की इच्छा पूरी की जायगी।

माता ने कहा—"बेटा! तुम्हारी बड़ी आयु हो, सावधानी के साथ याचकों की इच्छा पूरी करना। मैं तो अन्तःपुर में ही रहूँगी बाहर जो भी आवे उसी को इच्छित वस्तु देना।"

पुत्र ने हाथ जोड़ कर कहा—"माताजी! ऐसा ही होगा।" पुत्र से आश्वासन पाकर करन्धम की सौभाग्यवती पत्नी वीर-प्रसविनी वीरा शास्त्रीय विधि के साथ "किमिच्छक" व्रत का अनुष्ठान करने लगी। वह उपवास पूर्वक कुबेर आदि सभी का पुरोहित द्वारा पूजन कराती और नियम संयम पूर्वक रहती। नित्य ही द्वार पर आये हुए भिक्षुकों को धन धान्य वस्त्राभूषण लुटाती।"

एक दिन राजा राजसभा में बैठे थे। उनके वृद्ध मंत्रीगण उदास होकर उनके समीप आये, राजा ने उनसे उनकी उदासी का कारण पूछा। इस पर एक वृद्ध ने कहा—"प्रभो! आपका इतना बड़ा राज्य है। आपके एक ही पुत्र है। उसने भी विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर रखी है। अब इस वंश का विच्छेद

होना चाहता है, अब आपके पितरों को जल तथा पिंडदान कौन देगा। हमें इस बात की चिन्ता है।"

राजा ने कहा—"मंत्रीजी ! मंगलमय भगवान् सब मंगल ही करेंगे। इस पुत्र को मैंने बड़ी आराधना के अनन्तर प्राप्त किया था। भगवान् की इच्छा यदि हमारे वंश का विच्छेद करने को ही है, तो उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किस में है ?"

मंत्रीगण सभा में बैठे हुए राजा से बातें कर ही रहे थे, कि उन्हें राजद्वार पर एक शब्द सुनाई दिया। उनके पुरोहित द्वार पर खड़े हुए भिक्षुओं को सम्बोधन करके कह रहे थे—"महाराजाधिराज करन्धम की वीरप्रसविनी पत्नी परम सौभाग्यवती महारानी वीरा "किमिच्छक" व्रत का अनुष्ठान कर रही हैं। किसे किस वस्तु की आवश्यकता है ? कौन क्या चाहता है ? आज सबकी इच्छा पूरी की जायगी ? आज जो याचक जिस वस्तु की याचना करेगा उसे वही वस्तु मिलेगी ? पुरोहित इतना कहकर चुप हो गया। फिर राजकुमार ने भी मेघ गंभीर वाणी से भिक्षुकों की भीड़ को संबोधन करके कहा—"भिक्षुको ! आज तुम्हारी जो भी इच्छा हो मांग लो। मैं अपनी सौभाग्यवती माता का आज परम, प्रिय कार्य करना चाहता हूँ। मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ मेरे शरीर से जिस याचक का जो भी कार्य सिद्ध होगा, उसे अविलम्ब करूँगा; आप लोग संकोच न करें। मैं अपनी माता को प्रसन्न करने के निमित्त आज सबको इच्छित वस्तु दूँगा। आज किसी को भी निराश न जाने दूँगा।"

कुमार ने आश्चर्य के साथ देखा उन भिक्षुकों की भीड़ में मुकुट उतारे पल्ला पसारे उनके चक्रवर्ती पिता महाराज करन्धम भी खड़े हैं। उन्होंने चिल्लाकर कहा—"कुमार की जय हो, मैं भी भिक्षुक हूँ, मेरी भी इच्छा पूरी की जाय।"

यह सुनकर कुमार लज्जित हुए। वे शीघ्रता पूर्वक नंगे पैरों ही सीढ़ियों से नीचे उतर आये और पिता के पैर छूकर बोले—पिताजी ! आज्ञा कीजिये, मैं आपकी कौन सी इच्छा पूरी करूँ ? मैं अपनी माता के व्रत को सांगोपांग पूर्ण करने के निमित्त जो भी कोई मांगेगा उसे अवश्य दूँगा।"

राजा ने कहा—"देखो यदि तुम सत्यप्रतिज्ञ हो और माता के व्रत को यथार्थ मे पूर्ण करना चाहते हो, तो मेरी इच्छा पहिले पूर्ण करो। मै अपनी गोद में पौत्र का मुख देखना चाहता हूँ। अपने पौत्र का प्रेम से मुख चुम्बन करना चाहता हूँ।"

यह सुनकर कुमार तो भौचक्के रह गये और कुछ देर सोच कर बोले—"पिताजी ! यह तो असम्भव याचना आप कर रहे हैं, आपके मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा पुत्र नहीं। मैंने विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर ली है, अतः आपको मैं पौत्र का मुख कैसे दिखा सकता हूँ ?"

पिता ने कहा—"यदि तुम सत्यप्रतिज्ञ हो तो जैसे भी हो मेरी इच्छा को पूर्ण करो। यदि तुमने मेरी इच्छा पूर्ण न की तो तुम्हें दो पाप लगेंगे ?" माता के सामने तुमने प्रतिज्ञा की है, "मैं तुम्हारे व्रत को शरीर देकर भी पूर्ण करूँगा।" और हम याचकों से प्रतिज्ञा की है, "तुम्हे इच्छित वस्तु दूँगा।" विवाह करने से तो तुम्हारी एक ही प्रतिज्ञा टूटती है और न करने से दो-दो पाप तुम्हें लगते हैं। अतः विवाह न करने की झूठी व्यर्थ प्रतिज्ञा को छोड़ो। विवाह करके अपनी माता का प्रिय कार्य करो और मेरी भी इच्छा पूर्ण करो।"

यह सुनकर कुमार उदास हो गये। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, पिताजी ! मैं विवाह करूँगा। पौत्र का मुख दिखा-

कर अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करूँगा। किन्तु विवाह के लिये अभी मुझे कुछ अवसर दिया जाय।"

पिता ने प्रसन्न होकर कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा। विवाह जब चाहे करो, मुझे तो पौत्र का मुख देखना है।" इतना कह कर राजा राजसभा में चले गये। कुमार ने सभी याचकों की इच्छा पूर्ति की। माता से आकर निवेदन किया—"माँ! मैंने तुम्हारा व्रत तो पूर्ण कर दिया। तुमसे जो प्रतिज्ञा की थी, वह तो पूरी हो गई, किन्तु अब मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ेगी।"

माता ने प्यार से कहा—"बेटा, युवावस्था में सभी लड़के विवाह के लिये मान किया करते हैं। इसे प्रतिज्ञा तोड़ना नहीं कहते। तू सुन्दर सी बहू लाकर मुझे दे, तो मेरे किमिच्छक व्रत का यही सबसे बड़ा फल है। मेरी भी तो तुझे इच्छा पूरी करनी चाहिये। मुझ से अब अकेले काम नहीं होता, मैं एक बहू—चाहती हूँ।"

अवीक्षित् ने हँसकर कहा—"तुम सबके सब बहू के लिये ही यह सब व्रत उपवास कर रहे हो, तो अच्छी बात है, मैं तुम्हें बढ़ी सुन्दरी बहू लाकर दूँगा।" यह बात सुनकर माता वीरा को बड़ी प्रसन्नता हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तक प्रतिज्ञा रहती है, तब तक तो मनुष्य प्रतिज्ञा के बन्धन में बँधकर धैर्य धारण किये रहता है। जब प्रतिज्ञा शिथिल हो जाती है, तो उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है। अब तो कुमार को वैशालिनी की वह मनोहर मूर्ति स्मरण आने लगी। उसका चित्र उसके हृदय में अंकित था, किन्तु प्रतिज्ञा की रज से वह ढक गया था। अब जब प्रतिज्ञा शैथल्य रूपी वायु ने उस रज को उड़ा

दिया, तब तो रात्रि-दिन उन्हे उसी कुमारी का ध्यान रहने लगा। अब उन्हें विशाल महाराज की राजधानी में जाने में बड़ी लज्जा लगती थी। अब किस मुख से जाकर मैं उनसे कन्या की याचना करूँगा। वे सोचते थे मैं गया और कन्या ने कह दिया—"अब मैं इससे विवाह न करूँगी" तो मेरा मरण हो जायगा। मैंने सुना है, उस कन्या ने अभी तक विवाह नहीं किया है। जो मेरे लिए सब कुछ त्यागकर तप कर रही है। उस त्यागमयी देवी को छोड़कर मैं किसी दूसरी राजकन्या से विवाह करता हूँ, तो सभी मुझे पाषाण हृदय और क्रूर कहेंगे।" "इन्हीं सब बातों को सोचकर कुमार अपना कर्त्तव्य निर्णय न कर सके। उन्हें यह भी पता नहीं था कि राजकुमारी अभी वन ही मे तपस्या कर रही है या अपने घर लौट आई।

एक दिन कुमार अपने कुछ साथी सैनिकों को साथ लेकर आखेट के लिए वन में गये। वहाँ उन्होने बहुत से हिंसक जन्तुओं को मारा। सहसा उन्हें अरण्य मे किसी कामिनी के करुण कंठ से निकला हुआ चीत्कार सुनाई दिया। प्रतीत होता था किसी स्त्री को कोई दुष्ट पीड़ा दे रहा है। भारतीय क्षत्रिय युवक और चाहे सब कुछ सहन करले। किन्तु वह अबला का अपमान कभी सहन नहीं कर सकता। स्त्रियाँ सब काल में सर्वदा अवध्या मानी गई हैं। उनका जो कोई अपमान करता है, उन्हें त्रास देता है वह वध्य है दण्डनीय है। प्राण देकर भी युवक उसके दुःख को दूर करता है। कुमार उस स्त्री के चीत्कार को सुनकर उसी ओर चले। वे शीघ्रता से घोड़ा दौड़ाते हुए उस स्त्री के समीप जा पहुँचे। वह युवती अत्यन्त ही सुकुमारी और सुन्दरी थी। उसके मुख-मण्डल पर एक अपूर्व आभा छिटक रही थी। एक दुष्ट दानव डंडा लिये उसे डरा धमका रहा था

ा ध्यान दे उसके साथ बलात्कार करने को प्रस्तुत था। युवती कुररी
जाने से वह पक्षिणी के समान रुदन कर रही थी। वह कह रही थी—'अरे!
ी कन्या की कोई मेरी रक्षा करो। यह दुष्ट दानव मुझे बल-पूर्वक हर कर
ो कह दिया— ले जा रहा है आज मैं सनाथ होकर भी भाग्यवश अनाथ हो
हो जायगा। रही हूँ।,,
किया है। वे

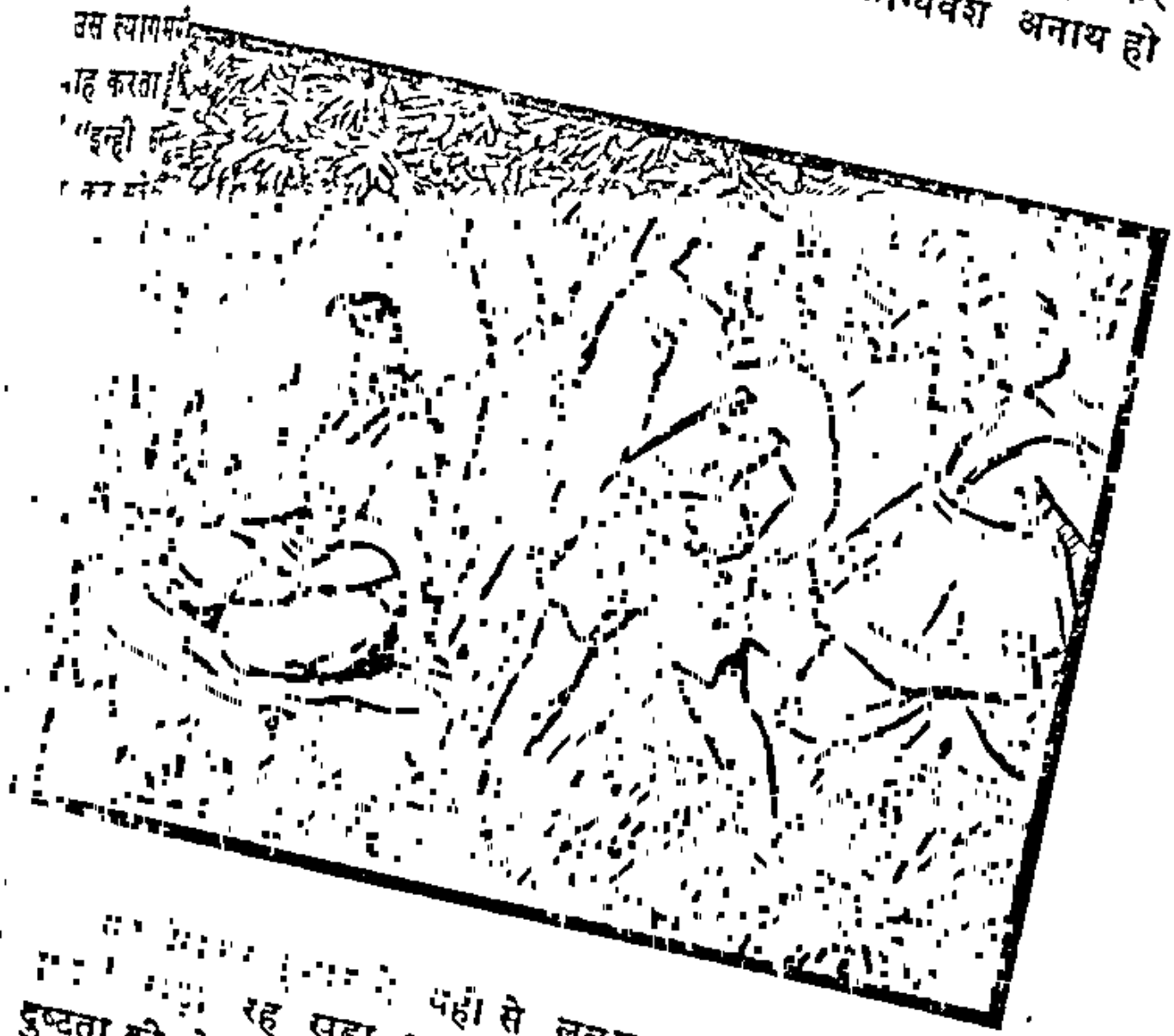

उस त्यागमयी
गह करता है
"इन्हीं

पहाँ से ललकार कर कहा—"अरे,
रह खड़ा रह। सावधान! यदि अब तैंने कुछ
दुष्टता की तो तुझे यमपुर पठा दूँगा।,,
कुमार को अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित अपनी ही ओर आते,

देखकर उस युवती ने कहा—"कुमार ! मुझे बचाओ। यह दुष्ट मुझे बलपूर्वक वन से हरकर लिये जाता है।"

कुमार ने कहा—"देवि ! तुम चिन्ता मत करो, मैं इस दुष्ट दैत्य को अभी इसकी दुष्टता का फल चखाता हूँ, अभी इसे यमसदन पठाता हूँ।"

उस दुष्ट दनुपुत्र दृढ़केतु ने जब राजकुमार को अस्त्र-शस्त्र लेकर अपनी ही ओर आते देखा, तो वह उस युवती को छोडकर डंडा लेकर कुमार की ओर दौड़ा। कुमार भी सन्नद्ध थे। वे भी दिव्य अस्त्र लेकर उसे मारने दौड़े। दोनों में घनघोर युद्ध होता रहा। दानव तो मायावी था, वह अनेकों अस्त्र राजकुमार पर चलाता रहा। कुमार भी धनुर्वेद विशारद थे। वे उसके सभी अस्त्रो को काटते गये। जब उसके सब अस्त्र शस्त्र समाप्त हो गये तो वह ताल ठोककर द्वन्द युद्ध करने के लिये ज्योही कुमार की ओर दौड़ा, त्योही एक बाण से कुमार ने उसका सिर काट दिया। सिर कटते ही वह धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।"

उस दैत्य के मरते ही स्वर्ग से बहुत से देवता अपने अपने विमानों में चढ़ कर आये और कुमार को साधुवाद देते हुये कहने लगे—"कुमार ! तुमने यह बड़े ही साहस का कार्य किया। यह दानव बड़ा दुष्ट था। देवताओं के लिये भी यह अवध्य था इसे मारकर आपने हम सब का अत्यन्त ही प्रिय कार्य किया। हम आपकी वीरता से बड़े सन्तुष्ट हैं। आपकी जो इच्छा हो, वह वर हमसे मांग लो।"

कुमार अवीक्षित् ने सिर झुकाकर देवताओं को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले—"देवताओ ! यदि आप मुझपर

प्रसन्न हैं, तो मेरी माता पिता के चरणों में भक्ति हो और पिता की इच्छानुसार मेरे एक पुत्र भी हो।"

देवताओं ने कहा—"कुमार तुम्हारा कल्याण हो। अभी तुमने जिस कन्या का उद्धार किया है, उसी से तुम्हारे एक बड़ा तेजस्वी, यशस्वी, चक्रवर्ती पुत्र होगा।"

कुमार ने कहा—"देवताओ! आप धर्म के साक्षी होकर कैसी अधर्म की बात कह रहे हो। शत्रुओं से स्त्री के सम्मुख ही परास्त होने के कारण मैंने विवाह न करने की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु पिता के गौरव से मैंने विवाह न करना स्वीकार तो कर लिया है, किन्तु जिस विशालपुत्री ने मेरे ही कारण अब तक विवाह नहीं किया है, उस परमतपस्विनी देवी को छोड़कर यदि मैं किसी अन्य स्त्री से विवाह करता हूँ, तो मुझे नरकों में भी स्थान न मिलेगा। अतः मैं उस त्यागमयी देवी को छोड़कर इसके साथ कभी विवाह नहीं कर सकता।"

देवताओं ने कहा—"महाभाग! आप चिन्ता न करें, जिसका आप सदा चिन्तन करते रहते हैं, जिसकी मूरति आपके हृदय पटल पर अंकित है, यह यही विशाल महाराज की पुत्री वैशालिनी है। वह तुम्हारे ही निमित्त तपस्या कर रही है। आज इसकी तपस्या पूर्ण हुई।"

इतना कहकर देवता तुरन्त अन्तर्धान हो गये। कुमार ने यह स्वप्न के समान समझा। तपस्या करने से कुमारी वैशालिनी बड़ी दुर्बल हो गई थी। किन्तु उसके मुख का तेज अत्यन्त बढ़ गया था। कुमार उसे पहचान न सके। तब देवताओं ने उसका परिचय कराया, तो लजाते हुए

कुमार उसके समीप गये और अत्यन्त ही स्नेह के साथ बोले—"प्रिये ! तुमने मुझ हृदयहीन के कारण बड़े क्लेश सहे।"

वैशालिनी भी प्राणनाथ कहकर दौड़ी और उसके पैरों में पड़कर फूट-फूट कर रोने लगी। कुमार के धैर्य का भी बांध टूट गया। उनके नेत्रों से भी प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहे थे।

कुमार ने पूछा—"देवि ! तुम यहाँ अरण्य में अकेली कैसे आई ?" यह सुनकर कुमारी ने आनन्दाश्रु बहाते हुए रुक-रुक कर सब वृत्तान्त सुना दिया। सब समाचार सुनकर कुमार का हृदय भर आया और बोले—"देवि ! तुम धन्य हो, तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं, तुम्हारा कुल धन्य है तुम्हारी तपस्या धन्य है। मुझ पापी के पीछे तुम्हें इतने इतने कष्ट सहन करने पड़े। देवि ! मैं तुम्हें भुला नहीं सका हूँ। मैं तुम्हें इष्ट देवी की भाँति सदा प्यार करता रहा हूँ, किन्तु शत्रुओं से पराजित होने के कारण मैं लज्जित हो गया था। इसीलिये मैंने विवाह न करने का सकल्प कर लिया था। अब दैव की ही इच्छा ऐसी जान पड़ती है। मेरे माता-पिता ने भी मुझसे विवाह करने की प्रतिज्ञा करा ली है। देवता भी ऐसा ही वरदान दे गये हैं। दैव की ही इच्छा पूर्ण हो। यह सब तुम्हारी तपस्या का प्रभाव है। अब आगे हम लोगों का क्या कर्तव्य है, इसका निर्णय करो।"

वे दोनों अनुराग भरित हृदय से इस प्रकार की बातें कर रहे थे, कि इतने में ही मय नामका गन्धर्व बहुत सी अप्सराओं तथा गन्धर्वों के साथ वहाँ आ उपस्थित हुआ। अरण्य में अप्सराओं से घिरे गन्धर्वराज मय को देख कर दोनों ने

उनका अभिनन्दन किया और उन्होंने बैठने को आसन दिया। गन्धर्वराज के बैठजाने पर कुमार ने उनसे पूछा—"हे गन्धर्व श्रेष्ठ ! आप के यहाँ पधारने का कोई विशेष प्रयोजन हो, तो आप कहें।"

गन्धर्वराज ने कहा—"राजकुमार ! मै अपनी पुत्री का आपके साथ विवाह करने आया हूँ।"

कुमार अवीक्षित् ने आश्चर्य के साथ कहा—"आप गन्धर्व हैं, उपदेव हैं। मैं मनुष्य जाति मे उत्पन्न हुआ हूँ, आप अपनी कन्या का मेरे साथ विवाह क्यों करना चाहते हैं, फिर मैंने तो विशाल-नन्दिनी इस राजकुमारी वैशालिनी से विवाह करने की प्रतिज्ञा की है। इसके अतिरिक्त मैं त्रैलोक्य सुन्दरी देव कन्या से भी विवाह नही करना चाहता।"

यह सुनकर मय गन्धर्व ने कहा—"कुमार ! यह लड़की ही मेरी पुत्री है।"

कुमार ने और भी आश्चर्य के साथ पूछा—"यह आपकी पुत्री कैसे हुई ? यह तो मानवी कन्या है यह तो वैदेशराज महाराज विशाल की औरस पुत्री है, आप इसे अपनी कन्या कैसे बता रहे है ?"

गन्धर्व ने कहा—"राजन् ! पूर्व जन्म में यह मेरी भामिनी नाम की कन्या थी। एक दिन जब यह बच्ची ही थी, तो खेल-खेल में अपने बाल चापल्य से महर्षि अगस्त्य को इसने कुपित कर दिया था। इसकी अशिष्टता से असन्तुष्ट होकर महर्षि ने इसे शाप दे दिया था कि तू मनुष्य योनि में उत्पन्न होगी।' जब मैंने यह बात सुनी तो विनय करके मुनि को प्रसन्न किया

और प्रार्थना की 'प्रभो ! यह अभी अबोध बालिका है, इसके अपराध की ओर ध्यान न दें।" तब प्रसन्न होकर मुनि ने कहा—"बच्ची समझ कर ही तो मैंने इसे ऐसा साधारण सा शाप दिया है। अस्तु, मैं तो कभी झूठ बोलता ही नहीं, अतः मेरा शाप तो अन्यथा होने का नहीं परन्तु यह राजरानी होगी और चक्रवर्ती पुत्र को उत्पन्न करने वाली वीर प्रसविनी होगी।" इतना कह कर मुनि चले गये। वह मेरी पुत्री राजा विशाल के यहाँ उत्पन्न हुई। गन्धर्व गण देवताओं में सब से सुन्दर होते हैं इसीलिये यह कन्या मानवी योनि में भी इतनी अधिक सुन्दरी हुई अब मैं इसका आपके साथ धर्मपूर्वक विवाह करना चाहता हूँ।"

कुमार ने कहा—"अच्छी बात है।" बस, फिर क्या था, विवाह के बाजे बजने लगे। उत्सव के साज सजने लगे, गन्धर्व गाने लगे, अप्सरायें नूपुरों की झनकार करती हुई नृत्य करने लगीं। जंगल में मंगल होने लगे। कुमार ने गन्धर्वों की विधि से कुमार के साथ गान्धर्व विवाह किया। मय ने वरकन्या को दिव्य दिव्य वस्त्राभूषण दिये फिर मय ने कहा—"कुमार ! कुछ काल तुम मेरे लोक में चल कर रहो।"

कुमार ने कहा—"मैं मनुष्य होकर आपके लोक में कैसे रह सकता हूँ ?"

मय ने कहा—"आप अपने तप और पराक्रम के प्रभाव से सर्वत्र जा सकते हैं, फिर भी मैं आपको विद्या दूँगा।" यह कह कर मय अपनी पुत्री और जामाता को लेकर गन्धर्वलोक मे गये। वहाँ कुमार अवीक्षित् अपनी प्रिया वैशालिनी के साथ देव-

ताओं के वनों और उपवनों में विहार करने लगे। वे ऐसे दुर्लभ भोगों को भोगते, जिनको प्राप्त करना पृथिवी के किसी भी प्राणी को दुर्लभ है। उन दोनो में बड़ा ही स्नेह था। वे एक दूसरे को हृदय से प्यार करते थे। एक प्राण दो शरीर की भांति रहते थे। गन्धर्व और किन्नरों के साथ वे पर्वतों की कन्दराओं में, रमणीय उपत्यकाओं में तथा मनोहर वन और उपवनों में स्वच्छन्द विहार करते।

कुछ काल के पश्चात् वैशालिनी ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। उस पुत्र के जन्म के उपलक्ष में मय ने बड़ा भारी उत्सव किया। देव, उपदेव, नाग, सर्प, सभी बुलाये गये। देवताओं के पुरोहित बृहस्पति जी ने बारबार मंत्र पढ़ा मरुत्तवशिवायस्तु अर्थात् मरुत्त तुम्हारा कल्याण करें। कई बार मरुत्तव, मरुत्तव, कहने से देवताओं ने उस पुत्र का नाम 'मरुत्त' रख दिया। ऐसे सुन्दर पुत्र को पाकर कुमार अवीक्षित् बडे प्रसन्न हुए। वे अपनी पत्नी और पुत्र को लिये हुये गन्धर्वों के साथ अपने पिता की राजधानी मे आये। उस समय महाराज करन्धम राज सभा में बैठे थे। कुमार अवीक्षित् ने अपनी पत्नी के सहित आकर महाराज के चरणों में प्रणाम किया और उनकी गोद में पुत्र देते हुए कहा—"महाराज! माता के किमिच्छक व्रत के समय जो वस्तु मैंने देने की प्रतिज्ञा की थी, उसे आप ग्रहण करें।"

राजा उस इतने सुन्दर पौत्र का मुख देखकर अवाक् रह गये, फिर उन्हें संशय हुआ कि मेरा पुत्र कहीं ऐसे वैसे वंश की लड़की से तो विवाह नहीं कर लाया है। राजा के भाव को समझ कर कुमार आदि से अन्त तक सम्पूर्ण वृत्तान्त यथा

वत् सत्य सत्य सुना दिया। सब बातें सुन कर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। आनन्द के कारण उनके नेत्रों में अश्रु छलकने लगे। वे बार बार अपने पौत्र के मुख को चूमने लगे। उन्होंने सेवकों को आज्ञा दी, मेरे राज्य भर में उत्सव मनाया जाय। पौत्र प्राप्ति के उपलक्ष में सम्पूर्ण नगर सजाया जाय भिक्षुकों और आश्रितों को यथेच्छ दान दिया जाय। जब रानी वीरा ने यह समाचार सुना तो वे आनन्द में विभोर हो गईं। अपनी पुत्र वधू को गोद में बिठाकर उसे बार बार प्यार किया। पौत्र के सिर को सूंघा उसके मुख को चूमकर उसने अपने जीवन को सार्थक समझा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप ने कुमार अवीक्षित् और वैशालिनी की कहानी कही। जैसा दुख वैशालिनी को हुआ वैसा किसी शत्रु को भी न हो और जैसे दिन अवीक्षित् और वैशालिनी के फिरे वैसे सब काहू के फिरें।

यह सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने बड़ा ही अद्भुत आख्यान सुनाया। अब हम अवीक्षित् के पुत्र महाराज मरुत्त का चरित्र और सुनना चाहते हैं। महाराज मरुत्त तो बड़े ही यशस्वी और धर्मात्मा हो गये हैं। हमने ऐसा सुना है, कि मरुत्तके समान वभवशाली यज्ञ आज तक किसी भी राजा ने नहीं किया।"

सूतजी कहते है—"भगवन्! आपका कथन यथार्थ है। अवीक्षित् सुत महाराज मरुत्त अपने पुण्यों के प्रभाव से संसार में अब तक विख्यात हैं। उनके यज्ञ की अब तक प्रशंसा की

जाती है। अब मैं महाराज मरुत का पवित्र चरित्र आपके सम्मुख कहूँगा, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

नहिं कन्या वर अपर-बस्यो तप महँ चित दीयो।
इत व्रत वीरा मातु 'किमिच्छक' सुतहित कीयो॥
पितु ने माँगी भीख पौत्र की सुत स्वीकारी।
तोरि प्रतिज्ञा वरी कुमर ने राज कुमारी॥
कुमर और वैशालिनी, धर्म सूत्र महँ बँधि गये।
गये लोक गन्धर्व महँ, सुत मरुत्त तिनके भये॥

मरुत्त चरित्र

(६०२)

मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्यस्य कश्चन ।
सर्वं हिरण्मयं त्वासीद्यत्किञ्चिदस्य शोभनम् ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभि र्द्विजातयः ।
मरुतः परिवेष्टारो विश्वेदेवाः सभासदः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

दयो करन्धम राज अवीक्षित् नहिं स्वीकारयो ।
राज्य करूँ नहिं कबहुँ समर शत्रुनि तें हारयो ॥
राजा करे मरुत्त करन्धम वनहिं सिधारे ।
नागनि मुनि गन डसे मरुत ने शस्त्र सम्हारे ॥
नाग अवीक्षित् शरन महँ, गये अभय तिनकूँ दई ।
सुत पितु महँ अहि विषय पै, तनातनी भारी भई ॥

आर्य शास्त्रों में कर्तव्य की बड़ी महिमा है, कर्तव्य के

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अवीक्षित सुत महाराज मरुत का जैसा यज्ञ हुआ वैसा आज तक किसी का नही हुआ । उस यज्ञ मे भी कुछ सामग्री थी सभी सुन्दर सुवर्ण की थी । उस यज्ञ में इन्द्र सोमपान से और ब्राह्मण आवश्यकता से भी अधिक दक्षिणा पाकर उन्मत्त हो गये थे । उस यज्ञ में भोजन स्वयं मरुद्गण परोसते थे और स्वयं विश्वेदेवा उस यज्ञ के सभासद् थे ।"

सम्मुख माता, पिता, स्वजन, बन्धु बान्धव तथा सुहृद् कोई कुछ नहीं जो हमें कर्तव्य से पराङ्मुख करे वह सगा सम्बन्धी भी त्याज्य है। जो हमें कर्तव्य सिखावे वह शत्रु भी माननीय है। शुकाचार्य बलि को कर्तव्य से डिगाना चाहते थे, उससे झूठ बुलवाना चाहते थे, गुरू होने पर भी बलि ने उन्हें त्याग दिया। उन्हें त्यागकर शाप और संताप सभी सहर्ष सहन किया! कैकेयी भरत की जननी थी, किन्तु वह अधर्म का पाठ पढ़ा रही थी, भरत को लोभ देकर फुसला रही थी। महामना भरत ने उनका त्याग कर दिया। प्रह्लाद का पिता अपने पुत्र को प्रभु से पराङ्मुख कर रहा था, उसे भगवत भजन से रोक रहा था। जीव के प्रधान कर्तव्य को करने से मना कर रहा था। प्रह्लाद जी ने उसकी बात नहीं मानी। कैकेयी अपने पति से अनुचित कार्य कराना चाहती थी। बड़े बेटे के रहते छोटे को सिंहासन पर बिठाना चाहती थी, राजा को धर्मपाश में बाँध लिया था, राजा ने सत्य का त्याग नहीं किया। स्त्री को त्याग दिया और प्राणों का भी परित्याग किया। माता को मारना; भाइयों को मारना पाप है, किन्तु पिता की आज्ञा श्रेष्ठ समझकर परशुराम ने यह भी किया। सारांश इतना ही है, कि जिसने जिसे अपना प्रधान कर्तव्य समझ रखा है, उसके सम्मुख वह अन्य गौण कर्तव्यों को छोड़ देता है। कर्तव्य पर सब कुछ निछावर कर देता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज करन्धम पौत्र का मुख देखकर बड़े प्रसन्न हुए, वे कुमार मरुत्त का बड़े स्नेह से लालन पालन करने लगे। जब यह समाचार वैशालिनी के पिता महाराज विशाल ने सुना तो वे बड़े प्रसन्न हुए। अपने जामाता, पुत्री तथा धेवते को देखने के निमित्त वे आये। आज

अपनी पुत्री को राजरानी पुत्रवती देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वैशालिनी रोते रोते अपना पिता से लिपट गई। पिता ने भी साश्रु नयनों से पुत्री का सिर सूंघा और गद्‌ कंठ से उसे धैर्य धराया। अपनी पुत्री के पुत्र कुमार मरुत्त को देखकर महाराज विशाल परम प्रसन्न हुए। मरुत्त देखने में देवताओं से भी अधिक सुन्दर थे। तेजस्विता में उनके सम्मुख सूर्य भी फीका लगता था। कुछ दिन अपनी पुत्री के यहाँ रह कर तथा सभी को बहुत से वस्त्राभूषण देकर महाराज विशाल अपनी राजधानी को चले गये।

इधर कुमार मरुत्त शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान नित्य प्रति बढने लगे। उनमें सभी गुण विद्यमान थे। वे मातृ-पितृ भक्त थे, अपने पितामह की सभी आज्ञाओं को वे श्रद्धा सहित सिर झुका कर पालन करते थे। उन्होंने विधिवत अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा पाई थी। वे सौभाग्यशाली, शूरवीर, सुन्दर, सुशील, सदाचारी, सर्व प्रिय, सर्व दर्शी, सरल, शान्त, विनयी, बुद्धिमान् तथा विवेकी थे। अपने पितामह की संरक्षता में कुमार मरुत्त अब युवक हो गये थे। वे पितामह राज काज में भी उनका हाथ बँटाते थे।

जब महाराज करन्धम वृद्ध हो गये तब एक दिन उन्होंने अपने पुत्र अवीक्षित को बुलाकर कहा—"बेटा! अब मैं बूढा हो चला हूँ। सहस्रो वर्षों तक मैंने धर्म पूर्वक इस आसमुद्रान्त वसुन्धरा का पालन किया, दान दिये, यज्ञ किये। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सांसारिक सुख भोगे। तुम जैसे धर्मात्मा पुत्र को पाया। दुर्लभ पौत्र का भी मुख देखा। वह भी अब युवक हो गया। अब मेरे लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा। हमारे

कुल का यह सनातन सदाचार है, कि वृद्धावस्था में कोई घर नहीं रहते। खाट पर पड़े पड़े प्राण नही त्यागते। हमारे पूर्वज सभी वृद्धावस्था में राज्य छोड़कर तप करने वन को चले जाते हैं। मैं भी अपने पूर्वजों के पद चिह्नों का अनुकरण करूँगा। अब इस विशाल राज्य को तुम सम्हालो। मेरी इच्छा है, कि आज ही मैं तुम्हारा राजतिलक करके तपस्वियो के आश्रमों की ओर प्रस्थान करूँ ?"

अवीक्षित् ने कहा—"पिताजी ! मैं आपकी सभी आज्ञाओं का पालन करता आया हूँ किन्तु मैं आपसे नम्रता पूवक निवेदन करता हूँ कि महाराज विशाल के यहाँ जो वैशालिनी के स्वयंवर में शत्रुओं ने मुझे परास्त कर दिया, उसकी लज्जा मेरे मन से अभी तक नही गई है। अतः मैं राज्य नही करूँगा।"

पिता ने बड़े स्नेह से कहा—"बेटा ! युद्ध में तो कभी जय होती है कभी पराजय। तुम विशुद्ध राज्य वश मे उत्पन्न हुए हो। एकमात्र तुम्हीं इस राज्य के अधिकारी हो, ऐसी दुर्बलता मत दिखाओ; धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो, क्षत्रिय धर्म को निभाओ।"

अत्यन्त ही नम्रता के साथ अवीक्षित् ने कहा—"पिताजी ! जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सका वह प्रजा की क्या रक्षा करेगा। मुझे तो आपने अपने बल पराक्रम से जाकर छुड़ाया था। मेरा अपना तो कोई बल रहा ही नहीं था। ऐसा अयोग्य राजा प्रजा का पालन कैसे कर सकता है।"

महाराज करधन्म ने बड़े स्नेह से कहा—"अरे ! तू तो बड़ा पगला है भैया ! पिता और पुत्र में कोई अन्तर होता है

क्या। पिता ही स्वयं पुत्र बनकर स्त्री के उदर से उत्पन्न होता है, इसीलिये पुत्रवती पत्नी को जाया कहते हैं। वेदों में पुत्र को पिता की आत्मा ही बताया है। अपने मन से ग्लानि को निकाल दो, राजसिंहासन पर बैठो और धर्मपूर्वक राजकाज सम्हालो।"

अवीक्षित् ने कहा—"पिताजी ! आपका कहना यथार्थ है। किन्तु जो पुत्र समर्थ हो गया है उसका स्वयं भी कुछ कर्तव्य होता है। समर्थ होकर भी जो पिता की कमाई हुई सम्पत्ति पर ही निर्भर रहता है स्वयं कुछ कमाता नहीं, वह सम्पत्तिशाली श्रेष्ठ पुत्र नही। जो पिता के बल से सकट से मुक्ति पाता है, वह बलवान् नही। जो पिता के नाम से ख्याति पाता है, वह प्रख्यात पुरुष नही।"

पिता ने कहा—"भैया ! अरे, इसमें लज्जा की कौन सी बात है, तुम स्वयं शूरवीर, विनयी और गुणी हो। राज्य को सम्हालो। पुत्र ही पिता की सम्पत्ति का दायभाक् होता है। उसे पिता की समस्त सम्पत्ति पर स्वत ही अधिकार प्राप्त है।"

अवीक्षित् ने कहा—"पिताजी ! योग्य पुत्र ही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता है। जो स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से धनोपार्जन मे समर्थ है, जो स्वयं ही अपने बल पौरुष से संकटों से विमुक्त हो सकता है, जो स्वयं ही अपने गुणों से ख्याति प्राप्त कर सकता है, वही सच्चा पुत्र है। मै तो समर मे हार गया था, शत्रुओ ने मुझे बांध लिया था, आप मुझे छुडाकर लाये। ऐसा अयोग्य पुत्र कभी राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता। मैं तो विवाह भी न करता, किन्तु आपने मुझे वचनों में बांध लिया मुझे किंकर्तव्य विमूढ़ बना दिया। प्रतिज्ञा पालन के

भय से मैंने आपको पौत्र लाकर दिया। अब आप मुझसे अधिक आग्रह न करें। मैं किसी भी प्रकार राज्य को ग्रहण न करूँगा। आप जिसे चाहें राजा बना दें, मैं राज्य सिंहासन पर कभी न बैठूँगा।"

महाराज करन्धम तो सब समझते ही थे, कि यह जिस बात की प्रतिज्ञा कर लेता है, फिर उसे पूरा ही करके छोड़ता है। कोई भी इसे अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं कर सकता। अतः उन्होंने फिर आग्रह न किया। अपने सर्वगुण सम्पन्न युवक पौत्र को उन्होंने विधि विधान पूर्वक राज्य तिलक देकर गद्दी पर बिठा दिया। पौत्र को राज्यभार सौंपकर महाराज करन्धम अपनी रानी वीरा के साथ वन को चले गये और और्वऋषि के आश्रम पर मुनियों के व्रतों का पालन करते हुए घोर तपस्या करने लगे। कालान्तर मे महाराज करन्धम इस शरीर को त्यागकर स्वर्ग में चले गये और वहाँ दिव्यदेह से दिव्य सुखों का उपभोग करते हुए अद्याविधि निवास कर रहे हैं। मुनियों के बहुत कहने और समझाने से महाराज करन्धम की पत्नी वीरा उनके साथ सती हुई। वे अपने सिर पर जटायें रखा कर केवल फलफूल खाकर घोर तपस्या करने लगीं। भार्गव मुनि के आश्रम पर विप्र पत्नियों के साथ रहकर तपस्विनियों का सा जीवन बिताने लगीं और विप्र पत्नियों की सेवा सुश्रूषा करते हुए काल यापन करने लगीं।

इधर महाराज मरुत्त धर्म पूर्वक पृथिवी का पालन करने लगे। वे बड़े प्रतापी हुए अपनी प्रजा में और पुत्रों मे वे कोई भेद भाव नहीं रखते थे। इन्होंने ऐसे ऐसे यज्ञ किये कि उनका यश दिग दिगन्तों में व्याप्त हो गया। पृथिवी के राजाओं

तो बात ही क्या स्वर्ग के राजा इन्द्र भी उनके ऐश्वर्य को देखकर उनसे ईर्ष्या करते थे। यहाँ तक की ईर्ष्यावश उन्होंने बृहस्पति को मरुत्त का यज्ञ करने से रोक दिया था। तब महाराज बृहस्पति के भाई अवधूत संवर्त के पास गए। संवर्त ने उनसे ऐसा अलौकिक यज्ञ कराया कि आजतक ऐसा यज्ञ किसी का हुआ हो नही। उनके यज्ञ के सम्बन्ध में सर्वत्र यह पौराणिकी गाथा गाई जाने लगी। गायक लोग जाकर कहते "महाराज मरुत्त के सदृश उदार यजमान इस अवनि पर अन्य कोई हुआ नही। जिनके यज्ञ में समस्त यज्ञ मंडप, महल तथा यज्ञादि पात्र शुद्ध सुवर्ण के ही बने थे। जिनके यज्ञ में ब्राह्मण पर्याप्त दक्षिणा पाकर पूर्ण तृप्त हो गये। मरुद्गण तथा इन्द्रादि देव सेवकों की भाँति जिनके यज्ञ में ब्राह्मणों को भोजन परोसते थे। राजा मरुत्त के यज्ञ में जैसा समारोह हुआ था, वैसा किसी राजा के यज्ञ में नहीं हुआ है, जहाँ रत्नो से भवन भरे रहने के कारण ब्राह्मणों ने दक्षिणा का द्रव्य त्याग दिया था। उस छोड़े हुए धन को पाकर कितने ही राजाओं का मनोरथ पूर्ण हुआ। उसी धन से अनेक राजाओं ने अपने अपने देशों में अनेक यज्ञ कराये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज मरुत्त के यज्ञ के अवशिष्ट धन से ही धर्मराज युधिष्ठिरने इतने भारी भारी तीन अश्वमेध यज्ञ किये जिसकी कथा मैं पीछे आप को सुना ही चुका हूँ। इन धर्मात्मा राजा का यश अभी तक तीनो लोको में व्याप्त है। ये इतने न्याय प्रिय और प्रजा वत्सल थे, कि प्रजा पालन के कर्तव्य वश होकर ये अपने पिता अवीक्षित् से भी युद्ध करने को उद्यत हो गये! और अस्त्र शस्त्र लेकर उनके सामने आ

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! धर्मात्मा महाराजा मरुत्त अपने पिता से किस कारण युद्ध करने को उद्यत हो गये। ऐसी कौन सी विचित्र घटना हो गई, कृपा करके इसे हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"मुनियो ! जिन दिनों प्रजावत्सल महाराज मरुत्त धर्मपूर्वक राज्य शासन कर रहे थे। उन्हीं दिनों जहाँ उनकी पितामही रहकर तपस्या करती थीं, वहाँ ऋषियों के आश्रम में पाताल लोक से कुछ नागों ने आकर दस मुनियों को डस लिया।

नागों की ऐसी धृष्टता देखकर स्वर्गीय महाराज करन्धम की पत्नी तपस्विनी वीरा को बड़ा दुःख हुआ। वे चक्रवर्ती की पत्नी थीं। तपस्या में निरत थी। अतः क्रोध तो कर ही नही सकती थीं। इसीलिये उन्होने एक मुनि से कहा—"तुम राजधानी में जाकर मेरे पौत्र मरुत्त से जाकर कहो, तेरा राज्य प्रबन्ध कुछ भी अच्छा नहीं। अरे, दस तपस्वियों को पाताल से आकर नागों ने डस लिया और उसे अभी तक इस घटना का पता तक नहीं है। राजा के नेत्र तो गुप्तचर होते हैं, जो इन्हें क्षण क्षण की बातें बताते रहते हैं। प्रतीत होता है ? मरुत्त के गुप्तचर अच्छे नहीं। वह विषय भोगों में फँस गया, तभी उसके राज्य में तपस्वियों के साथ ऐसा अन्याय हो रहा है। कृपा करके आप उसके पास जायें और उसे मेरा यह संदेश सुनावें, कि वह असावधानी को छोड़े और सावधानी से प्रजा पालन करे प्रजा को क्लेश देने वाले शत्रुओं से बदला ले।"

महारानी वीरा की बात सुनकर तपस्वी महाराज मरुत्त के समीप गये और उन्हें जाकर तपस्विनी वीरा का सब संदेश

सुना दिया। सुनकर महाराज मरुत्त बड़े व्याकुल हुये। उन्होंने डरते डरते पूछा—"मुनिवर! नाग तो बिना पूछे किसी को काटते नहीं। मुनियों को उन लोगों ने क्यों काट लिया?"

मुनि ने कहा—"हे पृथिवीपति! नाग दुष्ट तो होते ही हैं, एक दिन वे भेष बदल कर आये। दस मुनि एक स्थान पर बैठे शास्त्र चर्चा कर रहे थे। उनमें से एक ने आकर पूछा—"मुनियो! आप सब कितने हैं मुनियों ने कहा—'दश' दश का अर्थ दश सख्या भी है और 'दश' का अर्थ काटना भी है। अर्थात् काटो, यह सुनकर सबने उन्हें काट लिया। वे सब मर गये। तब आपकी पितामही ने मुझे आपके समीप भेजा है। आप जैसा उचित समझें वैसा करें।"

मुनि के मुख से नागों की ऐसी दुष्टता की बात सुनकर महाराज मरुत्त को बड़ा क्रोध आया। विशेष कर इसलिये भी वे डरे कि मेरी पितामही ने मुझे अयोग्य राजा सिद्ध कर दिया है वे तुरन्त दिव्य अस्त्र लेकर धनुष बाणों से सुसज्जित होकर भार्गव और्व मुनि के आश्रम पर पहुँचे। वहाँ पहुंच कर उन्होंने मुनियों और मुनिपत्नियो को श्रद्धा सहित प्रणाम किया, पुनः अपनी पितामही के लज्जा के साथ पैर छुए। आज बहुत दिन में अपने पौत्र को देखकर तपस्विनी वीरा का कंठ अवरुद्ध हो गया। उसने प्रेम पूर्वक मरुत्त का माथा सूंघा। तपस्वियों ने महाराज को आशीर्वाद दिये और उनका अभिनन्दन किया।

मरुत्त ने बाहर आकर देखा नागों से डसे मुनि मरे हुए पड़े हैं। तब क्रोध के कारण उनके नेत्र लाल हो गये। धनुष

पर उन्होंने संवर्तक नामक दिव्य अस्त्र चढ़ाते हुए कहा—"आज संसार मेरे पराक्रम को देखे। मैं आज नागों की दुष्टता का फल चखाऊँगा। उन्हें स्त्री बच्चे और परिवार के सहित मैं यमसदन पठाऊँगा। आप समस्त नागलोक के नागों का मैं संहार कर दूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा संकल्प करके ज्यों ही मरुत्त ने संवर्तक अस्त्र का प्रयोग करना चाहा, त्योंही पृथिवी काँपने लगी। नागलोक में हाहाकार मच गया। नाग अपना कोई भी रक्षक न देखकर इधर उधर भागने और चिल्लाने लगे।"

जिन दिनों मरुत्त के पिता अवीक्षित् अपनी पत्नी वैशालिनी के साथ गन्धर्व लोक में थे, और जब वायु सेवनार्थ नागलोक गये थे। तब नाग पत्नियों के साथ वैशालिनी का बड़ा स्नेह हो गया था।

नाग पत्नियों ने प्रेम में भर कर कहा था—"तुम जब राजरानी हो जाओगी, तब हमें काहे को पूछोगी?"

वैशालिनी ने कहा था—"बहिनो! ऐसी बात नहीं है तुम तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी हो। तुम्हें जब भी काम हो; मेरे महलों में चली आना। मेरा घर तुम्हारा ही घर है।"

आज जब नागों पर वैशालिनी के पुत्र के ही कारण घोर आपत्ति आई, तो वे अपने पतियों के साथ मनुष्य वेष बनाकर वैशालिनी के महलों में गईं और रो रो कर अपना सब दुःख सुनाया।

दयावती वैशालिनी नाग पत्नियों के दुःख तथा कुल के

विनाश की बात सुनकर बड़ी दुःखी हुई और उन्हें आश्वासन देती हुई बोली—"बहिनो ! तुम डरो मत। मैं तुम्हारी अवश्य रक्षा करूँगी। जो समर्थ होने पर भी शरणागत की रक्षा नहीं करते उन्हें निश्चय ही नरकों में जाना पड़ता है।"

यह सुनकर नागों को कुछ धैर्य हुआ, वैशालिनी तुरन्त अपने पति के समीप पहुँची और बोली—"प्राणनाथ ! आपके पुत्र ने नागों पर बड़ा कोप किया है। ये नाग पत्नियाँ रोती हुई मेरी शरण में आई हैं और मैंने इन्हें अभय दान भी दे दिया है। जो मेरी बात है, वह तुम्हारी भी बात है, जो मेरा शरणागत है, वह आपका भी शरणागत है, क्योंकि शास्त्रों में पत्नी को सहधर्मिणी और अर्धाङ्गिनी कहा है। मेरा धर्म आपसे पृथक् नहीं है। मैं स्वयं आपकी शरण में हूँ अतः जैसे बने तैसे आप इन सबकी मरुत्त के अस्त्र से रक्षा कीजिये।"

अपनी पत्नी की ऐसी बात सुनकर अवीक्षित् बोले—"प्रिये ! मरुत्त राजा है। वह प्रजा पालन में स्वतन्त्र है। मैं तो एक प्रकार से उसकी प्रजा हूँ। प्रजा पालन में मैं हस्तक्षेप कैसे कर सकता हूँ, मरुत्त अकारण क्रोध करने वाला तो है नहीं। अवश्य ही इन नागों ने कोई घोर अपराध किया होगा, तभी तो वह इनके नाश पर उतारू हो गया है।

वैशालिनी ने कहा—"कुछ भी हो, प्राणनाथ ! आपको मेरी यह हठ तो पूरी करनी ही पड़ेगी।"

अवीक्षित् ने कहा—"देखो, तुम मुझसे व्यर्थ हठ मत करो तुम्हारा पुत्र बड़ा हठी है। यदि उसने मेरी बात न मानी तो

मुझे उससे युद्ध करना पड़ेगा। वह राजा है, राजा की आज्ञा का भंग करना उसका अशस्त्र वध ही है।

राजा की यह बात सुनकर अत्यन्त दीनता के साथ नागों ने कहा—"देव! हम आपकी शरण में आकर भी अभय प्राप्त न कर सके, तो बड़े दुःख की बात है। क्षत्रिय का परम धर्म यही है, कि दीन दुखियों के दुखों को दूर करे, भय भीतों को अभय प्रदान करें और शरण में आये हुओं का प्रतिपालन करें। महाराज! आप हमारी रक्षा न करेंगे तो शरणागत को त्यागने में जो दोष लगता है, वह आपको लगेगा।"

नागों की ऐसी करुणा भरी वाणी सुनकर अवीक्षित् का हृदय भी पसीज गया। इधर अपनी प्राणप्रिया का भी अधिक आग्रह देखा। तब उन्होंने नागों को अभय दान देते हुए कहा—"अच्छी बात है, मैं अभी मरुत्त के निकट जाता हूँ और उससे संवर्तक नामक अस्त्र को लौटाने के लिये आग्रह करता हूँ। यदि उसने मेरे कहने से अस्त्र न लौटाये, तो मैं अपने दिव्य अस्त्रों से उसके अस्त्रों को व्यर्थ कर दूँगा और युद्ध के लिये उसे ललकारूँगा।" इतना कह कर वह अपनी पत्नी को साथ लिये हुये दिव्य रथ पर चढ़कर तुरन्त धनुष बाण लिये हुए और्वमुनि के आश्रम पर पहुँचे।

वहाँ जाकर देखा मरुत्त अपने हाथों में एक विशाल धनुष लिये हुए, एक पैर को आगे और एक को पीछे करके भौहों को ताने हुए, क्रोध से लाल लाल नेत्र किए, सुमेरू के शिखर के समान अविचल भाव से खड़ा है। उसने संवर्तक नामक दिव्यास्त्र को छोड़ दिया है। उसमें से प्रचंड लपटें निकल रहीं हैं, सम्पूर्ण आकाश मंडल प्रकाश से व्याप्त है, अग्नि की लपटें

पाताल तक पहुँची हुई हैं, दशों दिशायें प्रज्वलित हो रही हैं। पाताल लोक के प्राणियों का हाहाकार और चीत्कार यहाँ तक सुनाई दे रहा है।" इस अनर्थ को अपनी आँखों से देखकर अवीक्षित् ने शीघ्रता से कई बार कहा—"मरुत्त ! मरुत्त तुम अपने इस भयंकर दिव्यास्त्र को अभी तुरन्त लौटा लो, विलम्ब मत करो। नागों का संहार करना उचित नहीं।"

अपने पिता की इस बात को सुनकर मरुत्त ने गम्भीर हो कर पीछे देखा। उन्होंने अपने माता पिता को देखकर सहसा वहीं से प्रणाम किया और निर्भय होकर कहा—"पिता जी ! मेरे शासन में भी नागों का ऐसा साहस जो तप में निरत मुनियों को डस लें। मैं इन दुर्मद दुष्ट नागों को जीवित न छोड़ूँगा।"

अवीक्षित् ने कहा—"भैया ! राजा को इतना क्रोध न करना चाहिये। किसी नाग ने किया होगा उसे क्षमा कर दो।"

वीरता के साथ मरुत्त ने कहा—"पिताजी ! आपको पता नहीं इन दुष्टों की दुष्टता चरम सीमा पर पहुँच गई है। इन्होंने दश मुनि कुमारों को काट लिया है। मुनियों के हविष्यों को दूषित कर दिया है। इनके जलाशय को विषैला बना दिया है। ये सब के सब ब्रह्मघाती और दुष्ट हैं। इनका वध करना ही इनकी दुष्टता का एक मात्र दण्ड है।"

अवीक्षित् ने कहा—"जो हुआ सो हुआ ! उसे जाने दो। अब ये मेरी शरण में आ गये है। मैंने इन्हें अभय दान दे दिया है। अतः इनका मारना अब उचित नहीं, अपने दिव्य अस्त्र को तुम तुरन्त लौटा लो, नहीं तो बड़ा भारी अनर्थ हो जायगा।

दृढ़ता के स्वर में मरुत्त ने कहा—"देखिये, पिता जी ! आप मेरे शासन में हस्तक्षेप न करें। मैं इन दुष्टों को मारूँगा, अवश्य मारूँगा, आप इस सम्बन्ध में मुझ से कुछ भी न कहें।"

यह सुनकर क्रोध के स्वर में अवीक्षित् ने कहा—"देखिये राजन् ! ये सर्प मेरी शरण में आये हैं। मैंने इन्हें अभय दान दिया है। मैं तुम्हें इनके वध के लिये मना कर रहा हूँ। फिर भी तुम मेरी बात नहीं मानते, तुम अपने को बड़ा भारी शूरवीर योद्धा लगाते हो। मैं भी क्षत्रिय हूँ, मैंने भी विधिवत् अस्त्रों शस्त्रों की शिक्षा पाई है। यदि तुम सीधे से न मानोगे, तो टेढ़े से मानना पड़ेगा। मैं अपने शस्त्रों से तुम्हारे अस्त्रों को व्यर्थ बनाता हूँ ? तुम मेरी अस्त्र विद्या को देखो।"

इतना कहकर क्रोध में भर कर अवीक्षित् ने अपने दिव्य धनुष पर कालास्त्र चढ़ाया। यह कालास्त्र संवर्तास्त्र से भी भयंकर था। इसके संधान करते ही, समस्त शैल कानन और समुद्रों से पूर्ण पृथिवी काँप उठी। सभी प्राणी हाहाकार करने लगे।

कालास्त्र को देखकर मरुत्त तनिक भी भयभीत या विचलित नहीं हुए। वे हँसते हुए बोले—"पिता जी ! मैंने तो अपना संवर्तास्त्र दुष्ट नागों के ऊपर चलाया है। आपको तो मैं मारना नहीं चाहता, आप से तो मेरी शत्रुता नहीं है। फिर आप मुझे शत्रु समझ कर मारने के लिये मेरे ऊपर प्रहार क्यों कर रहे हैं। मुझे कालास्त्र छोड़कर क्यों मारना चाहते हैं ?"

अवीक्षित् ने कहा—"देखो, नाग मेरी शरण में आये हैं। क्षत्रिय का धर्म है, कि चाहे अपना शत्रु ही क्यों न हो, यदि वह

शरण में आ जाय, तो उसकी रक्षा करनी चाहिये। जो सामर्थ्य रहते शरणागत की रक्षी नहीं करता उसकी शूरवीरता, सामर्थ्य, बल, पौरुष, कुलीनता, सभी को धिक्कार है। अतः राजन्! इन नागों की रक्षा का मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है। तुम इस में विघ्न डाल रहे हो, अतः तुम मेरे शत्रु हो, मैं तुम्हें जीवित न छोड़ूँगा। अभी तुम्हें मार कर अपने शरणागतों की रक्षा करूँगा।"

मरुत्त ने दृढ़ता के साथ कहा—"पिताजी! जब कोई शत्रुभाव से क्षत्रिय पर प्रथम प्रहार करे और उसे युद्ध के लिये ललकारे तो फिर चाहे वह पिता, भ्राता, सुहृद, गुरु, अथवा सगा सम्बन्धी कोई भी क्यों न हो वीर क्षत्रिय को उसके साथ युद्ध करना ही चाहिये। यदि आप शत्रु समझ कर मुझ पर पहिले से प्रहार करते हैं, कीजिये, मैं भी आपके अस्त्रों का उत्तर अस्त्रों से दूँगा प्रहार करने पर उसके उत्तर में मैं भी आप पर प्रहार करूँगा। केवल धर्म की रक्षा के लिये, क्षत्रियत्व की मर्यादा के लिये, कर्तव्य पालन की दृष्टि से मैं ऐसा कार्य करूँगा। आपका गौरव मेरे हृदय में ज्यों का त्यों बना रहेगा।" यह कह कर मरुत्त भी धनुष तान कर खड़े हो गये।

ऋषियों ने देखा, यह तो बड़ा अनर्थ होना चाहता है। अतः वे सब के सब आकर पिता पुत्र के बीच में खड़े हो गये और अपनी भूरी भूरी जटाओं को हिलाते हुए, हाथों को ऊपर

उठाते हुये कहने लगे—"हमारा गौरव मान कर तुम आपस में युद्ध मत करो। मरुत्त से बोले—"राजन्! आपको अपने पिता के ऊपर प्रहार करना शोभा नहीं देता आप ऐसा अनर्थ न करें।"

हाथ जोड़कर मरुत ने कहा—"महर्षियो! आपने ही मुझे राज सिंहासन पर बिठाया है। आपने ही मुझे शिक्षा दी है कि मैं साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश करता रहूँ। मैं वही कर रहा था, पिता जी ने अकारण आकर मेरे कार्य में हस्तक्षेप किया। मैं क्षत्रिय धर्म से विचलित कैसे हो सकता

हूँ ? जब ये मेरा अस्त्र लेकर वध करने को ही उद्यत हो गं तो मैं भी क्षत्रिय धर्म का पालन करूँगा।"

महर्षियों ने अवीक्षित् से कहा—"राजन् ! आपकी अप इकलौते सिंहासनासीन पुत्र पर प्रहार करना शोभा नहीं देता राजन् ! ये धर्मात्मा मरुत्त अपने कर्त्तव्य का पालन मात्र क रहे हैं।"

अवीक्षित् ने कहा—"महर्षियो ! आप सब जानते हैं, शर णागत का परित्याग कितना बड़ा पाप है। क्षत्रिय को शरण आये हुए पुरुष की रक्षा प्राण देकर भी करनी चाहिये। अपने धर्म का पालन कर रहा हूँ। धर्म पालन में यदि पु विघ्न डाले, तो उसका वध करने में कोई दोष नहीं।"

महर्षियों ने कहा—"अच्छी बात है, हम एक बीच बचाव किये देते हैं। ये नाग कह रहे हैं कि हम सब के सब तो दुष्ट हैं नहीं। हमारी जाति के कुछ दुष्ट नागों ने आकर मुनियों को डस लिया है। हम उनके शरीर से विष खींचकर उन्हें जीवित किये देते है। आगे से हम ऐसी घटना फिर न हो, इसकी सतत चेष्टा करते रहेंगे।" जब ये ऐसा कहते हैं तब तो क्रोध करने की कोई बात नहीं रह जाती। मरे हुए मुनि जीवित हो जायँ, तो महाराजमरुत्त अपने अस्त्र का उपसंहार कर लें।" उसी समय अवीक्षित् की माता तपस्विनी वीरा जो वहाँ मुनि पत्नियों में खड़ी हुई सब सुन रही थी, आगे आकर अपने पुत्र से बोली—"बेटा ! मरुत को मैंने सन्देश भेजकर बुलाया था। मेरे ही कहने से वह यहाँ आया था। यदि नाग मुनियों को जीवित कर देते हैं। तब तो वाद विवाद के लिये कुछ रह ही नहीं जाता, मरुत्त का साधु रक्षण कार्य भी हो जायगा और तुम्हारा शरणागतवत्सल नाम भी

सार्थक हो जायगा। तुम दोनों युद्ध का विचार छोड़ दो।" तपस्विनी वीरा की ऐसी बात सुनकर पिता और पुत्र दोनो ने उसका अभिनन्दन किया। नागों ने मरे हुये मुनियों का विष खींचकर जीवित कर दिया। मरे हुए मुनियों को जीवित देख कर मुनिमंडली में आनन्द छा गया। मरुत्त ने अपना संवर्त-कास्त्र संवरण कर लिया। फिर उसने आकर अपनी पितामही के पैर छूए। माता पिता के चरणों में भक्ति पूर्वक प्रणाम किया। पुत्र को देखकर अवीक्षित् की आँखों में प्रेम के अश्रु आ गये। उन्होंने अत्यन्त स्नेह से मरुत्त को छाती से चिपकाते हुए कहा—"वत्स! तुम चिरंजीवी हो। इसी प्रकार धर्म पूर्वक प्रजा का शासन करते रहो। मैं तुम्हारी दृढ़ता शूरवीरता तथा साधु संरक्षण कार्य से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। तुम सदा शत्रुओं का मान मर्दन करते रहो। सप्तद्वीपा वसुन्धरा के तुम एक मात्र अधिपति हो।"

अपने पिता से ऐसे आशीर्वाद पाकर महाराज मरुत्त अत्यन्त प्रसन्न हुये। मुनियों ने मरुत्त और अवीक्षित् दोनों ही राजर्षियों का अभिनन्दन किया। ऋषि मुनियों से सत्कृत होकर तथा उनकी आज्ञा लेकर पिता माता के साथ मुनियों और तपस्विनी वीरा को प्रणाम करके महाराज मरुत्त रथ पर चढ़ कर अपनी राजधानी को चले गये।

इधर वीरा भी चिरकाल तक घोर तप कर के अन्त में तनु त्याग कर परलोक में जाकर अपने पति से मिल गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में महाराज मरुत्त का चरित्र कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी ! महाराज मरुत्त के पुत्र कौन हुए ? यदि उनका भी कोई उत्तम चरित्र हो तो हमें सुनाइये ।

सूतजी बोले—"मुनियो ! कोई कोई तो कहते है मरुत्त के नरिष्यन्त आदि १८ पुत्र हुए और नरिष्यन्त के पुत्र दम हुए किन्तु इस भागवती कथा के प्रसंग में तो मरुत्त के पौत्र नहीं पुत्र ही दम हुए। कल्प भेद से ऐसा हो जाता है। अब मैं आप को मरुत्त पुत्र दम का चरित्र सुनाऊँगा। आप सब इसे प्रेम पूर्वक श्रवण करें"

छप्पय

नृप नागनि के हेतु अस्त्र संवर्तक छोड़्यो।
पिता करयो अति कोप न सुत रन तें मुख मोरयो॥
परि के ऋषिगन बीच अहिनि मुनि फेरि जिवाये।
ऐसे सुत अरु पिता समर तें मुनिनि बचाये॥
द्रव्य दान महँ व्यय करयो, बल निर्बल दुख हरन महँ।
नृप मरुत्त यश अब तलक, छायो तीनों भुवन महँ॥

★★★

दम और राज्यवर्धन का चरित्र

(६०३)

मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्यासीद् राज्यवर्धनः ।
सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः ॥

(श्री भा० ९ स्क० २ आ० २९ श्लोक)

छप्पय

सुत मरुत्त के पुत्र भये दम भूपति भारी ।
नृप दशार्ण की सुता सुन्दरी सुमना प्यारी ॥
वरे स्वयंवर माँहि अन्य कामी ललचाये ।
सब मिलि कन्या हरी, कुमर दम नहिं घबड़ाये ॥
करयो युद्ध सब रिपु हने, निज बल तें बालाबरी ।
वैदिक विधि तें व्याह करि, सुमना प्रिय पत्नी करी ॥

यदि कदाचार अभिचार बीच में अन्तराय न हो जाय तो वंश परम्परा के गुण आगामी सन्तानों में अवश्य आते हैं। माता पिता के रज-वीर्य में जीवन कण ही नहीं

❀ श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन् ! मरुत्त का पुत्र दम हुआ। दम का सुत राज्यवर्धन हुआ। राज्यवर्धन के सुधृति नामक पुत्र हुआ और उसके पुत्र का नाम नर हुआ !"

होते, उनमें सद्गुणों के समस्त संस्कार भी निहित रहते हैं। जो पशु ऋतुगामी होते हैं सदाचार का पालन करते हैं, उनकी सन्तानें भी ऐसी ही होती हैं। ऐसा ही सुना है कि सिंह जीवन में सिंहनी के साथ एक ही बार समागम करता है। इसीलिये सिंह के सिंह ही होता है। यदि द्वितीय बार वह करता है, तो फिर सिंह नहीं होता। प्राचीन काल में रजवीर्य शुद्धि का सबसे अधिक ध्यान रखा जाता था। कुल मर्यादा बनी रहे, वंश का गौरव नष्ट न हो, स्त्रियों में कदाचार न फैलने पावे इसके लिये सतत प्रयत्न किया जाता था, इसीलिये शूरवीरों के शूरवीर ही पुत्र होते थे। सम्राट का पुत्र भी सम्राट ही होता था।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जैसे महाराज करन्धम यशस्वी, तेजस्वी और सुन्दर थे वैसे ही उनके पुत्र दृढ़ प्रतिज्ञ अवीक्षित् हुये, जिन्होंने एक बार शत्रु से पराजित होने के कारण जीवन भर राज्य नहीं किया। इस इतनी बड़ी वसुन्धरा के राज्य को तृणवत ठुकरा दिया। उनके पुत्र चक्रवर्ती महाराज मरुत्त हुये, जिनकी कीर्ति अभी तक तीनों भुवनों में ज्यों की त्यों व्याप्त है। मरुत्त के पुत्र दम हुये, जो पिता ही के समान शूरवीर रण विजयी तथा सुन्दर थे। इन्होंने अपने बल पौरुष से कुमारी सुमना को स्वयम्बर में धर्म पूर्वक पत्नी रूप में प्राप्त किया था।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! हमें महाराज दम का चरित्र सुनाइये। इन्होंने किस प्रकार सुमना के संग विवाह किया?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब मरुत्तनन्दन कुमार दम बड़े हुए तो इन्होने दैत्यराज वृषपर्वा से सम्पूर्ण धनुर्वेद की शिक्षा पायी। दैत्यराज दुन्दुभि ने प्रसन्न होकर इन्हे दिव्य अस्त्र दिये। वशिष्ठ पुत्र शक्ति से वेद वेदाङ्गों का इन्होने विधिवत् अध्ययन किया और राजर्षि आष्टिषेण से सम्पूर्ण योग विद्या प्राप्त की। इस प्रकार वे सभी विद्याओं मे पारंगत थे। सुन्दरता में इनके समान उस समय कोई भी राजकुमार नही था। वीरता तो इनकी सर्वत्र विख्यात ही थी।

उन्ही दिनों दशार्ण देश के बलवान् राजा चारुवर्मा धर्म पूर्वक पृथिवी का पालन करते थे। उनके एक सुमना नाम की परम सुन्दरी गुणवती, अद्वितीय रूप लावण्य युक्त सुकुमारी कन्या थी। जब वह विवाह योग्य हुई, तो पिता ने उसका स्वयम्बर किया। स्वयम्बर मे सुमना ने दम के कण्ठ में प्रसन्नता पूर्वक जयमाला डाल दी।

उस कन्या के रूप पर मद्रदेश के राजकुमार महानन्द पहिले से ही अनुरक्त थे, वे सभी उपायों से उसे प्राप्त करने पर कटिबद्ध थे। विदर्भ देश के राजकुमार वपुष्मान् भी हृदय से उसकी इच्छा रखते थे। एक महाधनु नामक राजा का चित्त भी कन्या के सौन्दर्य के कारण उसकी ओर अत्यन्त आकृष्ट हो गया था। इन तीनों का एक ही स्वार्थ था। तीनो ने ही कुमार दम को अपना शत्रु समझा। तीनों ने सम्मति की, कि इस कन्या को जैसे भी हो, तैसे हर लेना चाहिए। इससे तो इसे छीन ही ले चलो फिर यह हम तीनों में से जिसे भी वरण कर लेगी, उसी की पत्नी हो जायगी।"

ऐसी सम्मति करके वे तीनों उठे और कन्या को पकड़ कर रथ मे बैठा लिया। यह देखकर कुमार दम हँस पड़े। वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके मुख पर विषाद की एक रेखा भी किसी ने नही देखी। वे अपने मंच पर खड़े हो गये और ऊपर हाथ उठा कर मेघ गंभीर वाणी से बोले—"राजाओ! मै आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। क्या यह स्वयम्वर धर्म का कार्य है या अधर्म का। यदि यह धर्म कार्य है, तो 'धर्मानुसार राजकुमारी ने मेरे कण्ठ में जय माला डाल दी है।' यद्यपि अभी वैदिक मंत्रों से हमारा उसका विधिवत् विवाह नही हुआ है, फिर भी जब यह धर्म कार्य है, तो न्यायानुसार दशार्ण नन्दिनी मेरी पत्नी हो चुकी। यदि यह धर्म कार्य न होकर नाटक है, खेल है, अधर्म कार्य है, तब मुझ से और कन्या से कोई प्रयोजन नहीं आपलोग मेरी इस बात का उत्तर दें।"

इस बात को सुनकर कन्या के पिता महाराज चारुवर्मा भी मंच पर खड़े हो गये और बोले—"नृपतिगण! आप इन राजकुमार की बात का धर्म पूर्वक उत्तर दें।"

यह सुनकर धार्मिक राजा बोले—"महाराज! स्वयम्वर क्षत्रियों के लिये परम धर्म है। कन्या ने जिसे मन से वरण कर लिया, प्रसन्न होकर जिसके कण्ठ में जय माला डाल दी। वह उसी समय उसका पति हो गया। फिर चाहे वैदिक मन्त्र पढे जायें या न पढे जायें, स्वेच्छा से वरण करने वाला गान्धर्व विवाह केवल क्षत्रियों के ही लिये विहित है, अन्य वर्णों के लिये नहीं। कन्या ने जब कुमार दम के कण्ठ में सब के सम्मुख जयमाला डाल दी, तो न्याय पूर्वक यह इनकी पत्नी हो गई। अब जो ये राजा कन्या को हरे ले जाते हैं ये अधर्म

को आचरण कर रहे हैं। न्याय के विरुद्ध बात कर रहे हैं।"

कुमार दम ने कहा—"मैं आपसे यही पूछना चाहता था। अब मैं अपने प्राणों के रहते, अपनी पत्नी को किसी दूसरे को न ले जाने दूँगा। जिसके सम्मुख जिसकी पत्नी का अपमान हो, अन्य पुरुष उसे उसके सामने ही बुरी दृष्टि से देखें, तो उस पुरुष के जीवन को धिक्कार है। जो अपनी पत्नी की दस्युओं से रक्षा नहीं कर सकता उसे पति बनने का अधिकार नहीं।" यह कहकर कुमार धनुष बाण लेकर समर क्षेत्र में आ डटे। अब तो दोनों ओर से घमासान युद्ध होने लगा। कुमार दम ने कुमार महानन्द का मस्तक धड़ से पृथक् कर दिया। महानन्द के मरते ही समर क्षेत्र में भगदड़ मच गई। सब के सब राजकुमार भाग खड़े हुये। केवल कुण्डनपुर के राजा वपुष्मान् युद्ध करते रहे। अन्त में कुमार ने उन्हें भी परास्त कर दिया।

कुमार दम जब विजयी हो गये, तो दशार्ण देश के राजा चारु वर्मा ने प्रसन्न होकर अपनी सुन्दर लक्षणों वाली सुमना कन्या का विधि विधान पूर्वक उनके साथ विवाह कर दिया। सुमना को लेकर कुमार अपनी राजधानी आये। प्रजा ने उनका बड़ी धूम - धाम से स्वागत किया। कालान्तर में कुन्डनपुर नरेश वपुष्मान् ने दम के साथ पुनः दुष्टता की, इससे क्रुद्ध होकर दम ने उसको मार कर बीच से उसके दो टुकड़े कर दिये।

इन्हीं महाराज दम ने सुमना के गर्भ से राज्य वर्धक नामक बड़े तेजस्वी पुत्र हुए। इन्होंने एक ऐसा दुष्कर कर्म किया, जो किसी राजा के लिये सम्भव नहीं। ये राज्यवर्धन से भगवान् सूर्य की उपासना से आयुवर्धन हो गये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी महाराज ! राज्यवर्धन सूर्य नारायण की उपासना से आयुवर्धन कैसे हो गये इस सूर्य की भक्तिपूर्ण कथा को हमें अवश्य सुनाइये ।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! महाराज राज्यवर्धन के परम पावन मय चरित्र को मैं सुनाता हूँ आप ध्यान पूर्वक श्रवण करे । ये महाराज सुन्दर, शूरवीर, गुणाढ्य, भक्तवत्सल और प्रजाके अत्यन्त प्रिय थे । ये प्रजा का शासक बनकर पालन ही नही करते थे, किन्तु उन्हें अपना इष्ट मानकर उपासना करते थे । इनके राज में अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अकाल मृत्यु दुष्काल, चोर, सर्प, मूसक, दीमक, टिड्डी आदि के कुछ भी उत्पात नहीं थे । प्रजा के सभी पुरुष सुन्दर, स्वस्थ, पुत्र पौत्र-वान् दीर्घजीवी और हृष्ट पुष्ट थे । सभी की धर्म में मति थी, सभी देवता, ब्राह्मण, गौओं के पूजक थे, कोई भूखा, नङ्गा दीन दुखी नहीं था । पिता के सम्मुख कभी पुत्र मरता नही था, कोई स्त्री विधवा नही थी, ऐसे राजा को प्रजा अपने प्राणो से भी अधिक प्यार करती थी, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात ही नही थी । राजा के पुण्य प्रताप से ही प्रजा प्रसन्न होती है और राजा के पाप से ही दुष्काल और अकाल मृत्यु आदि के दुःख होते हैं ।

राजा जैसे ही प्रजावत्सल, धार्मिक थे वैसी ही उनकी महारानी थी । उनका विवाह दक्षिण देश के महाराज विदूरथ की परम सुन्दरी गुणवती मनस्विनी मानिनी के साथ हुआ था । मानिनी बड़ी ही सती साध्वी पतिव्रता थी, वह अपने पति को प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी । उनकी संपूर्ण सेवा सेवकों से न कराकर स्वयं ही किया करती राजा भी उन्हें प्राणों से

अधिक प्यार करते। उसके गर्भ से कई पुत्र हुए जिनमें सुधृत सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। महारानी पुत्रवती होने पर भी अपने पति की सदा स्वयं ही सेवा में संलग्न रहती।

एक दिन महाराज सुखपूर्वक पलङ्ग पर लेटे हुए थे। महारानी मानिनी शनैः शनैः उनके सिर में तैल लगा रही थी। उसी समय महारानी के नेत्रों से टप-टप करके बहुत से अश्रु निकल पड़े, वे उष्ण अश्रु जब महाराज के अङ्ग पर गिरे तो उनको आश्चर्य हुआ। ऊपर दृष्टि उठाकर उन्होंने महारानी का मुख देखा तो उन्हें ज्ञात हुआ रानी रो रही है और उसी के नेत्रों के उष्ण अश्रु मेरे शरीर पर गिरे हैं। महाराज राज्यवर्धन ने बड़े स्नेह से अपनी प्राण प्रिया का सिर अपनी अङ्क में रखकर उसके आँसुओं को पोंछते हुए कहा—"प्रिये! तुम रो क्यों रही हो? किस दुख के कारण तुम्हारे नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहे हैं। अपने दुख का कारण तुम मुझे बताओ।"

रानी ने अपने अंचल से अपना मुख पोंछते हुए राजा के सिर का एक पका बाल दिखाते हुए कहा—"प्राणनाथ! प्राणियों को अत्यन्त ही अप्रिय यह वृद्धावस्था आप पर आक्रमण करना चाहती है। यह मेरे लिये दुःख का विषय नहीं है तो और क्या है?"

राजा यह सुनकर हँस पड़े और रानी के मुख को ऊपर उठाते हुए बोले—"तुम तो बच्चों की सी बातें कर रही हो। जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा भी अवश्य। देह धारियों को बाल्य, कौमार, पौगण्ड, युवा और वृद्धावस्थायें होती ही हैं। वृद्धावस्था के लिए सोच उनको करना चाहिए जिन्होंने जन्म लेकर कोई सुन्दर कार्य न किया हो। अपने कर्तव्य का पालन

न किया हो मैंने धर्म पूर्वक प्रजा का पालन किया, बड़े बड़े सहस्रों यज्ञ किये, यथेष्ट दान दिया, विप्रों और गुरुजनों को अपनी सेवा से संतुष्ट किया। तुम्हारे साथ विधि पूर्वक विवाह किया। बहुत से योग्य पुत्रों को उत्पन्न किया। अब यदि वृद्धावस्था मेरे निकट आती है, तो मैं उसका स्वागत करता हूँ। उसकी यही चिकित्सा है, कि राज्य में अपने पुत्र को सौंपकर वन में जाऊँगा। और वहाँ तप करके इस शरीर का त्याग करूँगा। मैंने पूरे सात हजार वर्ष तक इस पृथिवी का पालन किया है, सभी राजा जिन सुखों का उपभोग नहीं कर सकते उनका मैंने उपभोग किया है। अब जरा से मुझे क्या भय? यह तो मुझे राज्य छोड़ने की सूचना है, मेरे अभ्युदय का चिह्न है, अब मैं अविलम्ब तपस्या करने वन में जाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा के इस निश्चय की बात सर्वत्र फैल गई। प्रजा के सभी पुरुष आ आकर राजा के समीप रोने लगे।"

राजा ने प्रेम पूर्वक कहा—"प्रजा के स्त्री पुरुषो! तुम भी मेरी रानी की भाँति रो रहे हो। देखो, सदा कोई साथ थोड़े रहता है। एक दिन वियोग तो अवश्यम्भावी है।"

प्रजा के पुरुषों ने कहा—"प्रभो! महारानी को रोने की क्या आवश्यकता है। वे तो छाया की भाँति आपके साथ रहेंगी। आप वन में जायेंगे, तो वे वन में आपकी सेवा करेंगी। परलोक पधारेंगे तो ये संग संग सती होंगी। रोना तो हमें चाहिये, जो सात हजार वर्ष हम सबका पुत्रों की भाँति पालन करके आप हमें छोड़े जा रहे हैं।"

राजा ने कहा—"देखो, तुम सब मोहवश ऐसी बातें कर रहे हो। जैसा प्रेम तुम मुझ में रखते रहे हो, वैसा ही मेरे पुत्र सुधृति में तुम सब रखना। वह बड़ा योग्य है ब्राह्मण भक्त है वह भी मेरी भाँति तुम सबका पालन करेगा। वन मे तपस्या करके मैं पुण्य संचय करूँगा।"

प्रजा के लोगों ने कहा—"राजन्! आप वन में जो पुण्य संचय करें, वह प्रजा पालन से बढ़कर कभी नहीं हो सकता। प्रभो! आपके शासन में हमें जो सुख मिल रहा है, वह दूसरे के शासन में संभव नहीं। आप हमारी प्रार्थना पर ध्यान दे और वन को न जायँ।"

राजा ने कहा—"तुम लोग मेरे इस कार्यमें विघ्न मत डालो। क्षत्रियों को घर मे मरना शोभा नही देता। मेरे पिता, पितामह प्रपितामह और उनके भी पिताओं ने ऐसा ही किया था। उसी पथ का मैं अनुसरण कर रहा हूँ। मैं कोई नवीन कार्य तो करता ही नहीं तुम्हें मेरे पुत्र के राज्य में कोई कष्ट न होगा।"

यह कहकर राजा ने ज्योतिषियों को बुलाया। पुत्र सुधृति को बुलाकर उन्हें राजकाज समझाया। सुधृति तो यह सुनकर रोने लगे और बोले—"महाराज! मैं अभी इस योग्य नहीं हूँ, आप मेरे निर्बल कंधों पर इतना भार क्यों रख रहे है। मैं आपके समान प्रजा का पालन किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। प्रभो! आप कृपा करें। वन न जायँ। इस रोती हुई प्रजा की आर्तवाणी पर ध्यान दें।"

कुमार की ऐसी करुणा भरी वाणी सुनकर ब्राह्मण भी रोने लगे। वे मुहूर्त तिथि नक्षत्र सब कुछ भूल गये। अन्य मांडलिक

देशों के भी बहुत से ब्राह्मण आ गये। बगुला के पंखों के समान सफेद चमरी गो की पूँछ के समान जिनके शुभ्र सफेद बाल थे, वे बूढ़े २ ब्राह्मण आकर महाराज से वन न जाने की प्रार्थना करने लगे। सब ने विनय की—"महाराज! हमारी प्रार्थना है अभी आप कुछ काल के लिये वन जाना स्थगित कर दें।"

सबका आग्रह देखकर राजा ने कुछ काल के लिये वन जाना स्थगित कर दिया। अब तो ब्राह्मणों का एक बड़ा भारी सम्मेलन हुआ। उसमें सर्व सम्मति से यह निर्णय हुआ कि हम सब ब्राह्मणों को राजा के दीर्घ जीवन के लिये जगत के समस्त कर्मों के साक्षी भगवान् सूर्य नारायण की उपासना करनी चाहिये। अवश्य ही ये प्रत्यक्ष देव हमारी मनोकामना को पूर्ण करेंगे।"

ऐसा निश्चय करके सभी प्रजा के लोग राजा की आयु वृद्धि के लिये घर-घर अनुष्ठान करने लगे। बहुत से ब्राह्मणों ने मिलकर सूर्य भगवान् की आराधना आरम्भ की। जिस स्थान पर ब्राह्मणगण सूर्य की आराधना कर रहे थे, उसी स्थान पर एक सुदामा नामक ब्राह्मण आया और सबसे बोला-"स्थान का आराधना अनुष्ठान पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। सिद्ध स्थान में अनुष्ठान शीघ्र सिद्ध होता है, अतः आप लोग सिद्ध स्थान में जाकर अनुष्ठान करें; तब आपको अल्प काल में ही सिद्धि प्राप्त हो सकेगी।"

ब्राह्मणों ने पूछा—"विप्रवर! आप हमें उस सिद्ध स्थान का पता बताइये, हम अवश्य ही वहाँ जाकर अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये आदित्य का अनुष्ठान करेंगे।"

सुदामा ब्राह्मण ने कहा—"ब्राह्मणो! काम रूप पर्वत पर

गुरुविशाल नामक एक बृहद् वन है। उस वन में सिद्ध लोग ही निवास करते हैं, वहाँ एक सूर्य भगवान् का मन्दिर है, यदि आप लोग वहाँ जाकर सूर्य भगवान् की आराधना करें, तो उस परम हितकारी सिद्ध क्षेत्र के प्रभाव से शीघ्र ही आपकी सभी कामनायें सिद्ध होंगी।"

यह सुनकर ब्राह्मण अत्यन्त हर्षित होकर गुरुविशाल वन गये। अन्य धर्मात्मा क्षत्रिय वैश्यों ने भी उनका अनुगमन किया। वहाँ उन सबने सूर्य भगवान् का एक पवित्र एवं अत्यन्त सुन्दर मन्दिर देखा। वही सब लोग मिताहारी होकर एकाग्र चित्त से विविध सामग्रियों से सूर्य देव की उपासना करने लगे।

इस प्रकार जब वे तीन महीने तक उपासना करते रहे, तो उनकी तपस्या से सन्तुष्ट हो सहस्रांशु भगवान् सूर्य अपने साक्षात् स्वरूप से सबके समीप आकर बोले—"हे द्विजाति के लोगो! मैं तुम पर सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझ से अभीष्ट वर माँगो।"

भगवान् सूर्यदेव के सशरीर प्रत्यक्ष दर्शन पाकर सभी को परम प्रसन्नता हुई। गद्गद कण्ठ से सबने कहा—"हे कर्मों के साक्षी स्वरूप! प्रकाश प्रदान करने वाले प्रभो! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं तो हमारे सर्व प्रिय धर्मात्मा राजा की आयु 10 सहस्र वर्ष और बढ़ जाय।"

सूर्यदेव ने कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। यह कहकर वे वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। अपना अभीष्ट वर पाकर प्रसन्नतापूर्वक सभी द्विजाति गण अपने राज्य मे लौट

आये वहाँ आकर उन्होंने सबसे वरदान की बात बताई। सभी प्रजा के स्त्री पुरुष परम प्रसन्न हुये। जब यह समाचार रानी मानिनी ने सुना तब तो उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह प्रेम भरित हृदय से अत्यन्त ही अनुराग पूर्वक बोली—"महाराज! मैं आज धन्य हो गई। कृतकृत्या हुई। जो आज फिर दश सहस्र वर्ष युवा और नीरोग रह कर पृथिवी का पालन करेंगे। मेरे लिये इससे बढ़कर सुखद समाचार दूसरा कौन होगा।"

यह सुनकर राजा प्रसन्न नहीं हुये। वे चिन्तित होकर बड़ी देर तक कुछ सोचते रहे। उनके मुख मण्डल पर विषाद की एक स्पष्ट रेखा दिखाई दे रही थी। इसे देखकर आश्चर्य के सहित रानी ने पूछा—"प्रभो! यह क्या बात है। आपका इतना अभूतपूर्व अभ्युदय हुआ है, फिर भी आप प्रसन्न नहीं है, मुझ से हँस कर बातें नहीं करते। इस आनन्द के अवसर पर विषाद का क्या कारण है?"

राजा ने कहा—"प्रिये! इसमे मेरा अभ्युदय क्या हुआ क्लेश बढ़ गया। जीवन क्या हुआ और भार बढ़ गया।"

रानी ने कहा—"क्यों प्रभो! सूर्य भगवान् के वरदान से आपको कोई रोग न होगा, आप सर्वदा स्वस्थ बने रहेंगे।"

राजा ने कहा—"यह सब तो सत्य है, किन्तु केवल मैं ही तो युवक बना रहूँगा। ये मेरे मन्त्री पुरोहित, सेवक, परिजन पुरजन और प्राणों से भी अधिक प्यारी तुम तो तब तक न रहोगी। ये सब लोग तो एक-एक करके मुझे छोड़कर चले जायेंगे। अपने स्नेहियों बन्धु-बान्धवों के साथ तो दुख भी सुख

के सदृश हो जाता है और स्नेहियों के विरह में सुख भी दुख समान प्रतीत होता है ? जब तुम ही न रहोगी, तो मैं इतनी बड़ी आयु को लेकर क्या करूँगा। मेरे स्नेही बन्धु-बान्धव जब मुझे छोड़कर चले जायेंगे, तो यह राज पाट मेरे लिये एक अभिशाप मात्र ही रह जायगा।"

यह सुनकर रानी ने कहा—"प्रभो ! मैंने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया था। हाँ यह तो अवश्य ही दुःख की बात है। अब क्या किया जाय ?"

इस पर राजा बोले—"प्रिये ! पुरवासियों ने मेरे प्रति परम प्रेम प्रदर्शित किया है, यदि मैं उसका प्रत्युपकार न करूँ तो कृतघ्न कहलाऊँगा। अतः मैं भी उसी काम पर्वत पर गुरुविशाल नामक वृहद् वन में जाऊँगा। मैं भी भगवान् विवस्वान् की विनय और वन्दना करूँगा। मैं भी उनसे अपनी समस्त प्रजा, भृत्य वर्ग, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, इष्ट, मित्र, बन्धु बान्धव तथा तुम्हारे लिये इतनी ही बड़ी आयु की याचना करूँगा। यदि भगवान् भुवन भास्कर मेरे ऊपर प्रसन्न होकर मुझे ऐसा वर देंगे, तब तो मैं राजधानी में आकर सबके साथ सुखपूर्वक राज्य शासन करूँगा, नहीं तो वहीं उपवास कर के अपने प्राणों का परित्याग करूँगा।"

राजा का ऐसा दृढ़ निश्चय समझकर मानिनी ने उनका अभिनन्दन किया और स्वयं भी उनके साथ चलने को प्रस्तुत हो गई। राजा रानी दोनों ही कामरूप पर्वत पर गये। वहाँ उन्होंने भक्ति भाव से भगवान् सविता का पूजन स्तवन किया इनकी उपासना से प्रसन्न होकर सूर्यदेव इन्हें इनका इच्छित वर

देकर अन्तर्हित हो गये। तब राजा बड़ी प्रसन्नता से अपनी राजधानी में लौट आये। उनके समस्त भृत्यों, सेवकों, पुरोहितों आमात्यों तथा पुत्रों, पौत्रों,प्रपौत्रों, सगे सम्बन्धियों तथा मंत्रियों की आयु उनके समान ही हो गई थी। उन सब के साथ वे धर्म पूर्वक शासन करने लगे। इसीलिये कहते हैं कि भगवान् सूर्य की उपासना से क्या प्राप्त नहीं हो सकता। महाराज के सामने ही पुत्र पौत्र, प्रपौत्र तथा प्रपौत्रों के भी पुत्र पौत्र हो चुके थे।

महाराज राज्यवर्धन जो कि अपने प्रजा पालन रूप परम धर्म से आयुवर्धन हो गये थे उनके पुत्र का नाम सुधृति था। सुधृति का नर नामक पुत्र हुआ। नर के पुत्र का नाम केवल था। केवल का बन्धुमान और बन्धुमान का वेगवान् हुआ। इन्हीं वेगवान के राजर्षि तृणविन्दु पुत्र हुए, जिनकी ख्याति अब तक सर्वत्र व्याप्त है। इन महाराज तृणविन्दु को स्वर्ग की अलम्बुषा नामक परम सुन्दरी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा ने अपना पति वरण किया था। उस अप्सरा से महाराज तृणविन्दु के विशाल, शून्यबन्धु और धूम्रकेतु ये पुत्र हुए और इडविडा नाम की एक परम सुन्दरी रूपवती कन्या हुई, जिसका विवाह पुलस्त्य महर्षि के पुत्र भगवान् विश्रवा के साथ हुआ, जिनसे कुबेर जी का जन्म हुआ।

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी! इडविडा का विवाह अगस्त्त पुत्र विश्रवा के साथ कैसे हुआ और उसके गर्भ

लोकपाल धनद भगवान् कुबेर का जन्म कैसे हुआ। कृपा करके इस कथा को पहिले सुनाकर तब आप तृणविन्दु के वंश का अग्रिम वर्णन करें।

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है मुनियो! मैं पहिले राजर्षि तृणविन्दु की पुत्री भगवती इडविडा के ही सम्बन्ध में बताता हूँ। आप इसे समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

नृप दम के सुत भये राज्यवर्धन तेजस्वी।
प्रजा पुत्रवत पालि भये अति भूप यशस्वी॥
श्वेत बाल लखि चले मानिनी सङ्ग बन नरपति।
प्रजा दुखित अति भई अराधे सब मिलि दिनपति॥
दरप सहस दश रवि दई, आयु भूप रवि पुनि भजे।
सबकी निज सम आयु करि, सबने ही सङ्ग तनु तजे॥

राजर्षि तृणबिन्दु का वंश

(६०४)

बन्धुस्तस्याभवद्यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः ।
तं भेजेऽलम्बुषा देवी भजनीयगुणालयम् ॥
वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेडविडाभवत् ।
तस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं सुतम् ॥
(श्री भा० ९ स्क० २ अ० ३०, ३१ श्लो०)

छप्पय

नृप मरुत्त नवम् ते भये पीढी महँ भूपति ।
पृथिवीपति तृणबिन्दु रूप गुण महँ सुन्दर अति ॥
अलम्बुसा अपसरा कामवश ह्वै कें आई ।
विधिवत् करयो विवाह इडविडा कन्या जाई ॥
सुत पुलस्त्य मुनि विश्रवा, ता दुहिता के पति बने ।
धनाध्यक्ष उत्तर अधिप, श्री कुबेर ताने जने ॥

वंश वृद्धि और कुल की कीर्ति बनाये रखने के निमित्त

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! महाराज बन्धु के पुत्र तृणबिन्दु राजा हुए । उन भजनीय गुणों के आलय भूपति को अलम्बुषा श्रेष्ठ अप्सरा ने वरण किया । उसमें उन्होंने बहुत से पुत्र और इडविडा नाम की एक कन्या उत्पन्न की । जिसमें भगवान् विश्रवा ने धनाध्यक्ष कुबेर को उत्पन्न किया ।"

गृहस्थी पुत्र की इच्छा करते है। पुत्री पर घर मे जाकर दूसरे गोत्रवाली हो जाती है किन्तु कोई पुत्री ऐसी यशस्विनी होती है, कि उसके कारण पतिकुल, पिताकुल दोनों ही कुलो की प्रसिद्धि होती है। भगवती इडविडा राजर्षि तृणबिन्दु की ऐसी ही पुत्री हुई, जिसके पुत्र धनाध्यक्ष कुबेर वैश्रवण और ऐडविड दोनो ही कहलाये।

श्रीसूतजी कहते हैं—"भगवन्! पुण्य प्रान्त हिमालय के अत्यन्त ही रमणीय स्थान में भगवान् पुलस्त्य तपस्या कर रहे थे। वह पार्वतीय प्रान्त परम शोभा सम्पन्न था। वहाँ के वृक्ष सभी फले फूले थे। लतायें सभी पुष्पों के भार से नमित थीं। वे वृक्षों से लिपटी हुई प्रेम का प्रदर्शन कर रही थी। स्थान-स्थान पर पर्वत शिखरों से स्वच्छ जल वाले झरने झर रहे थे। उसके समीप की भूमि समतल थी। उस पर हरी-हरी दूब उसी प्रकार उग रही थी मानों किसी ने हरि तरग का गुदगुदा गलीचा बिछा दिया हो। वहाँ पर विहार करने के लिये ऋषि मुनि, देव, गन्धर्व तथा विद्याधरों की बहुत सी कन्यायें आया करती थीं। महाराज! यह युवावस्था ऐसी अटपटी है, कि इसमें जिसे उच्छृङ्खलता न आवे, इसमें जो उन्माद से बचा रहे, वह कोई परम संस्कारी पुरुष है। नही तो भगवन्! युवावस्था के पदार्पण करते ही अङ्ग अङ्ग फड़कने लगता है। रोम रोम से उन्माद फूटने लगता है। एक स्थान पर बैठा नहीं जाता, चुलबुलापन बढ़ जाता है, हँसी का फुव्वारा सा छूटने लगता है। बूढ़े लोगों को देखकर चित्त प्रसन्न नहीं होता भगवान् से चाहते हैं, कब ये हमारे सामने से हट जायें। वे नही हटते तो, युवक ही बूढ़ों से दूर हट जाते हैं। बड़े बूढ़े अपने

कोई सगे सम्बन्धी हुए, तो उनका शील संकोच करना पड़ता है। यदि ऐसे वैसे ही हुए तो उनकी खिल्ली उड़ाने में बड़ा आनन्द आता है। यदि दो चार चढ़ती अवस्था के युवक एक साथ मिल जायँ, तब तो पूछना ही क्या? गिलोय और नीम चढ़ी। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में इस अवस्था में चचलता अधिक बढ़ जाती है। घर में तो माता, पिता, भाई आदि का सङ्कोच रहता है। जब ये लड़कियाँ अपनी एक अवस्था की हमजोली सखियों के साथ एकान्त में क्रीड़ा करती हैं, तब तो कुछ कहने की बात ही नहीं। ऐसा लगता है, मानों ककड़ियों की हाठ लग रही हो। हँसी के फुव्वारे छूटने लगते हैं। चहल-पहल, चुड़ियों की खनखनाहट पाइजेब और नूपुरों की छन-छनाहट पैनी और सुरीली वाणी से होने वाली प्रेम कलह, हँसी विनोद, सभी मिलकर एक प्रकार की विचित्र ध्वनि से वह प्रदेश गूजने लगता है।

पुलस्त्य मुनि यद्यपि एकान्त मे तपस्या करते थे फिर भ इन भुण्ड की भुण्ड कुमारी युवतियों के आ जाने से उनका ध्यान टूट जाता। कई बार लड़कियों से प्रेमपूर्वक कहा भी, कि तुम कही दूसरे स्थान पर जाकर क्रीड़ा करो। किन्तु लड़कियाँ जिस हठ पर अड़ जाती है उसे कोई डिगा नही सकता। सबने आपस में कहा—"वन्य प्रदेश सबका है। सभी स्वेच्छा से विचरण कर सकती है। किसी को विघ्न हो तो वह स्वयं चला जाय।" ऐसी बातें कहकर उन्होंने मुनिवर पुलस्त्य की बात पर ध्यान नहीं दिया। वे पूर्ववत् आकर वहाँ हा-हा हू-हू करके उस प्रदेश को अपने अट्टहास से गुंजाने लगी। एक दिन मुनि को उन पर क्रोध आ गया और बोले—"अच्छी बात

है, तुम सब वैसे नहीं मानोगी। मैं आज से शाप देता हूँ, कि आज से जो कुमारी यहाँ क्रीड़ा करने आवेगी वह आते ही गर्भवती हो जायगी।"

यह सुनते ही लड़कियाँ तो वहाँ से मुट्ठी बाँधकर भागी। कुमारी कन्याओं के लिए संसार में इससे बढ़कर लज्जा की दूसरी कोई बात नहीं कि वे अविवाहित अवस्था में ही गर्भवती बन जायँ। यह बात उनके लिए मरण से भी बढ़कर

कष्टकर है। उस दिन से किसी भी लड़की ने वहाँ जाने का साहस नहीं किया।

जिस दिन भगवान् पुलस्त्य ने शाप दिया था, उस दिन एक राजर्षि की कन्या वहाँ नहीं थी। नित्य वह भी आया करती थी। उसे शाप की बात विदित नहीं हुई। अतः वह दूसरे दिन उसी प्रदेश में क्रीड़ा करने गई, वहाँ जाकर उसने देखा—"आज तो यहाँ एक भी मेरी सखी सहेली नहीं आई।" वह यह सोच ही रही थी कि इतने में ही उसके अङ्ग में गर्भ के समस्त लक्षण उत्पन्न हो गये। मुनि के वचन मिथ्या कैसे हो सकते हैं? लड़की तो यह देखकर सकपका गई। लज्जा के कारण उसका मुख पीला पड़ गया। वह अपने अङ्गों को छिपाती हुई पिता के समीप पहुँची। पिता ने उसकी ऐसी दशा देखकर दिव्य दृष्टि से सभी बातें जान लीं। वे उस कन्या को लेकर भगवान् पुलस्त्य के आश्रम पर गये और बड़े विनीत भाव से बोले—"ब्रह्मन्! मेरी यह कन्या है, इससे आपका अनजान में अक्षम्य अपराध बन गया है। प्रभो! आप तो दया के सागर हैं। इस भोली बाला के अपराध को क्षमा कीजिये और इसे कृपा करके अपनाइये। इसे सदा के लिये अपनी दासी बना लीजिये।"

उन राजर्षि के ऐसे वचन सुनकर भगवान् पुलस्त्य बोले—"हे तपोधन! आपकी कन्या सुशीला है, सुन्दरी है, सर्वगुण-सम्पन्ना है। इसने जान बूझकर अपराध नहीं किया है। मैंने इसे ही लक्ष्य करके शाप नहीं दिया था। यह तो संयोग की बात थी। भगवान् की ऐसी ही इच्छा। अच्छी बात है आप इसे छोड़ जाइये। यह आश्रम की सेवा करती रहेगी।"

मुनि की आज्ञा पाकर वे राजर्षि अपनी प्यारी पुत्री को छोड़कर चले गये। वह वरांनना बड़ी श्रद्धा से भगवान् पुलस्त्य की सेवा करती। उनके विपरीत कोई भी आचरण न करती। ऋषि जब वेद पाठ करते तो वह गर्भस्थ बालक सब कुछ गर्भ में ही बैठा बैठा सुनता था और वहीं वह श्रुतियों को कंठस्थ कर लेता। कुछ काल के पश्चात् उसके गर्भ से एक पुत्र रत्न का जन्म हुआ। गर्भ मे ही वेदों को बालक ने विशेष रूप से श्रवण कर लिया था, इसीलिये मुनि ने बालक का नाम 'विश्रवा' रख दिया। विश्रवा बड़े ही सुन्दर तपस्वी और तेजस्वी थे। जब वे बड़े हो गये तो इनके साथ राजर्षि तृणबिन्दु ने अपनी पुत्री इडविडा का विवाह कर दिया। उसी से धनाध्यक्ष कुबेर का जन्म हुआ। वे उत्तर दिशा के लोकपाल और समस्त निधियों के स्वामी हुये। पिता की आज्ञा से वे लंका में रहते थे। एक दिन वे सुवर्ण के पुष्पक विमान पर चढ़कर अपने पिता विश्रवा को प्रणाम करने जा रहे थे, कि उन्हें सुमाली नामक राक्षस ने देखा। उसके मन में भी ऐसा पराक्रमी दौहित्र देखने की इच्छा हुई। अतः उसने अपनी पुत्री कैकसी को भगवान् पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा के समीप भेजा। उसका अभिप्राय समझ कर मुनि विश्रवा ने उसे स्वीकार कर लिया और उसी से रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषण ये तीनों पुत्र हुए। मातृवंश के कारण ये पुलस्त्य कुल में उत्पन्न होकर भी राक्षस ही हुए। इनका चरित्र आगे श्री रामचरित्र में प्रसंगवश वर्णन किया जायगा।

इस प्रकार तृणबिन्दु की पुत्री इडविडा का विवाह पुलस्त्य पुत्र विश्रवा के साथ हुआ। किसी किसी का मत है, तृण-

विन्दु की कन्या का विवाह तो पुलस्त्य मुनि के साथ हुआ, जिनसे विश्रवा मुनि उत्पन्न हुए और विश्रवा का विवाह भारद्वाज मुनि की कन्या के साथ हुआ, जिनसे कुबेरजी की उत्पत्ति हुई। ऐसा कल्पभेद के कारण हो जाता है। यहाँ भागवती कथा के प्रसङ्ग में तो राजर्षि तृणबिन्दु की सुकन्या इडविडा का ही विवाह विश्रवा के साथ हुआ और उसी के गर्भ से धनाध्यक्ष लोकपाल कुबेर का जन्म हुआ।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! यह मैंने आपके पूछने पर प्रसंगवश राजर्षि तृणविन्दु की कन्या इडविडा के सम्बन्ध की ये बातें बताई, अब आप तृणबिन्दु के वंश का विस्तार से श्रवण करें।

राजर्षि तृणविन्दु के विशाल, शून्यबन्धु और धूम्रकेतु ये तीन पुत्र हुए। इन सबमें विशाल बड़े थे। अतः वे ही सम्राट् हुए। उन्होंने अपनी यश वृद्धि के लिये वैशाली नाम की पुरी बसाई जिसके खंडहर अद्यावधि पृथिवी के गर्भ से पुरातत्व वेत्ता खोदकर निकालते हैं। विशाल के पुत्र हेमचन्द्र हुए। उनके धूम्राक्ष। धूम्राक्ष के संयम और संयम के दो पुत्र हुए कृशाश्व और देवज। बड़े कृशाश्व के सोमदत्त नामक पुत्र हुआ। जिसने बड़े अश्वमेध यज्ञ किये। और योगेश्वरों की उपासना करके योगविद्या को भी प्राप्त किया। सोमदत्त के पुत्र सुमति हुए। सुमति के जनमेजय (ये जनमेजय दूसरे सूर्यवंशी है।) इस प्रकार राजर्षि तृणविन्दु के वंश में बहुत से राजा हुए। उन सबका यहाँ वर्णन करना असम्भव है। मुख्य मुख्य राजाओं के नाम गिना दिये। सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में मनु पुत्र महाराज दिष्ट के वंश का वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! हम इतनी कथाओं को सुनकर भी कथा के मूल प्रवाह को भूले नहीं हैं। आप हमें विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन सुना रहे थे। आपने वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि ये दश पुत्र बताये थे। जिनमें से 'सूची कटाह' न्याय से आपने बड़े इक्ष्वाकु के वंश को छोड़ कर पृषध्र, कवि, नरिष्यन्त और दिष्ट इन चार मनु पुत्रों के सम्बन्ध के इतिहास तथा वंशों का संक्षिप्त वर्णन किया। पृषध्र और कवि तो अविवाहित रहकर ही परमपद को प्राप्त हुए। नरिष्यन्त के वंश वाले आगे चल कर अग्नि वैश्यायन गोत्र वाले ब्राह्मण ही कहलाये। दिष्ट के वंश के नाभाग, वत्सप्रीति, खनित्र, क्षुप, विविंशति, खनीनेत्र, करन्धम, अवीक्षित्, मरुत्त, दम तथा तृणबिन्दु आदि मुख्य मुख्य राजर्षियों के आपने चरित्र भी सुनाये। अब हम शेष मनु पुत्रों के वंश के मुख्य मुख्य राजाओं का चरित्र और सुनना चाहते हैं। कृपा करके उनके सम्बन्ध की कथा हमें और सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"मुनियो ! आपकी इतनी स्मरण शक्ति को देखकर ही तो मुझे कथा सुनाने में इतना उत्साह होता है। महाभाग ! मनु के बड़े पुत्र इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन तो मैं सबसे अन्त में करूँगा। अब आप शेष पाँच मनु पुत्रों के वंश का वर्णन सुनें। जिस प्रकार

मेरे गुरुदेव ने दिष्ट के वंश के अनन्तर मनु पुत्र शर्याति के वंश का वर्णन किया, उसे अब मैं आपके सम्मुख सुनाता हूँ। शर्याति वंश के सुप्रसिद्ध भगवद्भक्त राजाओं के भक्ति वर्धक अलौकिक चरित्रों का श्रवण करें।"

छप्पय

सुत विशाल तृणविन्दु नृपति वैशालि बसाई।
हेमचन्द्र सुत तासु भये जग कीरति छाई॥
सुत तिनके धूम्राक्ष तासु सुत सयम श्रीयुत।
तिन के पुत्र कृशाश्व सोमदत्तहु तिन के सुत॥
सोमदत्त के सुमति सुत, जनमेजय तिन के भये।
यश वर्धक तृणबिन्दु के, कुल महँ ये नृप ह्वै गये॥

शर्याति सुता सुकन्या चरित्र

(६०५)

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह ।
यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमह ऊचिवान् ॥
सुकन्या नाम तस्यासीत्कन्या कमललोचना ।
तया सार्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ३ अ० १ २ श्लो०)

छप्पय

मनसुत नृप शर्याति वेद शास्त्रनि के ज्ञाता ।
तिनकी कन्या भई सुकन्या जग विख्याता ॥
इक दिन कन्या सहित गये नृप घूमन वन महँ ।
कन्या सखियन संग फिरै वन प्रमुदित मन महँ ॥
च्यवनाश्रम के निकट इक, दीमक को टीलो निरखि ।
चकित भइ जुगनू सरिस, द्वै चमकिली वस्तु लखि ॥

अनर्थ सदा चांचल्य से ही होता है। चंचलता वैसे तो सभी अवस्था के लोग करते हैं, किन्तु युवावस्था तो चंचलता

---

*श्री शुकदेवजी जी कहते हैं—"राजन् ! वैवस्वत मनु के एक शर्याति नाम के वेदतत्वविज्ञाता पुत्र थे। जिन्होंने अङ्गिरा गोत्र वाले मुनियों के यज्ञ में द्वितीय दिवस का कृत्य बताया था, उन्हीं राजा की कमल नयनी एक सुकन्या नाम की कन्या थी। उसको साथ लेकर राजा एक बार च्यवनाश्रम में गये।

का घर है। युवास्था में प्रायः सभी युवक युवतियों के मन में अत्यधिक चंचलता आ जाती है। नूतन नूतन वस्तुओं की जानकारी के लिये कुतूहल होता है। चलन में, उठन में बैठन में, बोलने में, तथा सभी प्रकार के वार्ताओं में चंचलता का साम्राज्य छा जाता है। जिन युवकों के जीवन में चंचलता नहीं, वे या तो अलौकिक महापुरुष हैं या निर्वीय नपुन्सक हैं। कभी कभी युवावस्था की चंचलता से बड़ा अनर्थ हो जाता है। इसी लिये तो गुरुजन युवकों के प्रति बड़े सचेष्ट रहते हैं और उनका गति विधि को शङ्का और भय के साथ बड़ी सावधानी से निहारते रहते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अब मैं आपके सम्मुख मनुपुत्र शर्याति के वंश का वर्णन करता हूँ। महाराज शर्याति क्षत्रिय होने पर भी कर्मकांड में बड़े निष्णात थे। वे वेदों का तत्व जानने में उन दिनों विख्यात थे, वैदिक क्रियाकलाप में वे पारंगत थे प्राचीन काल में यज्ञों का बड़ा विस्तार था, महत्ता और बड़प्पन के प्रतीक यज्ञ ही थे। जो जितने ही अधिक वृहद् तथा धूमधाम से यज्ञ करते, वे उतने ही बड़े समझे जाते थे। राजसूय अश्वमेध आदि यज्ञों को सब नहीं कर सकते थे, जो अश्वमेध यज्ञ कर लेता उसे 'हयमेधराट्' की उपाधि मिल जाती, जो १०० अश्वमेध कर लेता, वह देवताओं का इन्द्र बनने का अधिकारी हो जाता, इन यज्ञों की विधि सब को कंठस्थ करनी पड़ती थीं। उन दिनों पुस्तकों का प्रचार नहीं था। सब मंत्र उनकी विधि, कौन किस काम में कब प्रयुक्त होगा, ये सब बातें विधिपूर्वक स्मरण करनी पड़ती थी। जहाँ विधि में तनिक भी गड़बड़ हुई, तहाँ यज्ञ विफल हो जाता था। यज्ञ का समस्त परि-

णाम विधि के ही ऊपर निर्भर था। अतः विधि के विषय में बड़े बड़े वेदज्ञ भ्रम में पड़ जाते थे।

एक बार अंगिरा गोत्र वाले बहुत से मुनि एकत्रित होकर स्वर्ग की कामना से यज्ञ कर रहे थे। वे प्रथम दिवस का कृत्य तो विधि विधान पूर्वक सम्पन्न कर चुके थे, किन्तु द्वितीय दिन के क्रम में वे विमोहित हो गये। उस समय महाराज शर्याति ने द्वितीय दिवस का कृत्य यथावत् बता दिया। इससे इनकी बड़ी ख्याति हुई, वेदज्ञ ब्राह्मण भी इनका सम्मान करने लगे और तभी से इन्हें "ब्रह्मनिष्ठ" कहने लगे। इन महाराज के शर्याति उत्तानबर्हि और आनर्त ये तीन पुत्र और सुकन्या नाम की एक कन्या थी। पहिले मैं सुकन्या के ही चरित्र का वर्णन करता हूँ।

एक दिन महाराज शर्याति अपनी स्त्रियों तथा सेना तथा मंत्रियों के साथ वन विहार के लिये नर्मदा के तटपर वैदूर्य पर्वत के समीपस्थ प्रान्त मे गये। उनके साथ उनकी प्यारी दुलारी पुत्री सुकन्या भी थी। उसी वन में महर्षि भृगु पुत्र च्यवन मुनि घोर तपस्या कर रहे थे। इसीलिये वह वन उन्ही के नाम से विख्यात था, वह सरोवर के निकट बड़ा ही हरा भरा रमणीय प्रदेश था, उस वन में विविध भाँति के पुष्पों और फलों वाले वृक्ष थे। स्थान स्थान पर लताओं की सघन कुंजें बन रही थी। जिन पर बैठे पक्षिगण कलरव कर रहे थे, सरोवर में कमल खिल रहे थे, जलकुक्कुट, राजहंस, सारस, बक आदि जलचर जन्तु इधर से उधर घूम रहे थे। उस सरोवर से कुछ दूर ऊँचे स्थान में एक सघन वृक्ष के नीचे सहस्रों वर्ष से बिना कुछ खाये पिये भृगु पुत्र भगवान् च्यवन तपस्या कर रहे थे।

तपस्या करते करते दीमकों ने उनके शरीर के ऊपर अपनी वामी बनाली थी। पैर से सिर तक दीमक की मिट्टी से वे ढक गये थे। दीमकों के बहुत से छिद्र थे जिसमें से वे आती जाती दिखाई देती थीं। छोटी छोटी लतायें उगकर समीप के पेड़ पर चढ़ गई थी सब अंग तो मुनि का दीमक की वामी से ढक गया था, किन्तु नेत्र नही ढके थे। भौहों तथा पलकों के बालो को दीमकें चाट गई थीं ध्यान से देखने से चमकीले नेत्र गोलक ही दिखाई देते थे। घोर जंगल में वह शून्य स्थान तपस्या के प्रभाव के कारण बड़ा ही शान्त प्रतीत होता था।

महाराज शर्याति ने उसी वन में अपना डेरा डाला, वे स्त्रियों के साथ विहार करने लगे। विविध जंगली जीवों का संहार करने लगे। सैनिक मत्त होकर इधर उधर मृगया करने लगे। सभी आनन्द में मग्न होकर स्वच्छन्द विहार करने लगे।

सुकन्या भी अपनी सखी सहेलियों से घिरकर जंगली युवती हरिणी के समान वन में स्वच्छन्द होकर विचरण करने लगी। सदा महलों के भीतर ही रहने वाली राजकन्या ने जब सुविस्तृत् आकाश को चारो ओर देखा और इतना रमणीक विशाल सघन वन निहारा, तो आनन्द के कारण उसका मन मयूर नृत्य करने लगा। उसकी प्रसन्नता का वारापार नही था। किसी संकीर्ण गड्ढे से निकल कर मछली को अगाध समुद्र में फेंक दिया जाय, उसमें किलोल करने से जो मछली को सुख होता है, वही सुख राजकुमारी को उस विशाल वन में हो रहा था। वह बड़ी उत्सुकता से प्रत्येक वृक्ष को देखती, अपनी सखी सहेलियों से उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा करती। जिस सुन्दर पुष्प को देखती उसे ही स्वयं तोड़ने दौड़ती। महल में तो परदा

भी रहता है, यहाँ शून्यारण्य में क्या परदा। वह रेशमी वस्त्र पहिले थी। सुवर्ण और बहुमूल्य मणियों के आभूषणों से उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग सुशोभित थे। स्वच्छन्दता के कारण उसके सिर का वस्त्र खिसक गया था। काली नागिनि के समान भागते समय ऐड़ी तक लटकने वाली उसकी चोटी हिल रही थी। वह चिड़िया के समान इधर से उधर फुदक रही थी। इस पेड़ से पुष्प तोड़, उस पेड़ से फल ले—यही वह कर रही थी। सखियों से घिरी हुई वह रानी शहद की मक्खी के समान दिखाई देती थी, वह राज कन्या युवती थी, परम सुन्दरी सुकुमारी थी, यौवन के मद से मदमाती, सबको अपनी विनोद की बातों से हँसाती, नाना प्रकार की गतियों को दिखाती, रमणीय पुष्पों से सुशोभित बहुत सी शाखाओं को झुकाती, उस रमणीय प्रदेश में इधर से उधर भ्रमण कर रही थी। सखियों के साथ वह ऐसी लगती थी मानों वन की अधिष्ठातृ देवियों के साथ साकार सुन्दरता सजीव होकर विचरण कर रही हो। अब उसे एक कुतूहल सूझा। उसने अपनी सखियों में से मुख्य मुख्य को सम्बोधन करके कहा—"ललिते! तुम अपनी कुछ सहेलियों के साथ पूर्व की ओर जाओ, कमले! तुम पश्चिम की ओर। सुभद्रे! तुम उत्तर की ओर। सौदामिनि! तुम दक्षिण की ओर जाकर बहुत से पुष्प चुन कर लाओ। मैं इस सामने के टीले पर अकेली ही जाऊँगी तुम सब इस वट वृक्ष के नीचे आकर एकत्रित हो जाना। देखें कौन कितने प्रकार के पुष्पों को लाती है।"

सुकन्या राजकुमारी ही ठहरी, उसकी आज्ञा टालने की सामर्थ्य किसमें थी। इस प्रदेश में भय की कोई बात ही नहीं थी। मुनि का आश्रम था, सर्वत्र सैनिकों का पहरा था। सभी उसकी निर्दिष्ट दिशाओं की ओर चली गईं। वह एकाकी उछलती

कूदती उस टीले के ऊपर चढ़ गई, वहाँ से उसे वन की शोभा बड़ी ही सुन्दर दिखाई देती थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि वन के वृक्षों को किसी ने पंक्तिबद्ध लगाया हो। वह इधर-उधर वन की शोभा निहार रही थी, कि उसे एक दीमक की ढाह दिखाई दी। वह मनुष्याकार का टीला सा था। उस पर घास जम रही थी। छोटी छोटी लतायें उगकर वृक्ष की डालियों से लिपटी हुई थीं। कुतूहलवश कन्या इस दीमकों की ढाह को निहारने लगी। पट बीजना-जुगनू की भाँति उसमें दो चमकीली वस्तुएँ चमक रही थी। कन्या बड़े ध्यान से उन गोल-गोल चमकीले छिद्रों को देखने लगी।

प्रारब्ध की बात उसी समय मुनि का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने एकान्त अरण्य मे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित परम सुन्दरी राजकुमारी को अनुराग भरी दृष्टि से अपनी ही ओर निहारते देखा। राजन्! समूह में दृष्टि पड़ती तो कोई बात नहीं। एकान्त मे विजन वन में एकाकी युवती को देखकर सभी का चित्त चंचल हो उठता है। सहस्रों वर्षों तक जो मुनि बिना खाये पीये समाधि लगाये घोर तपस्या करते रहे, जिन्हें अपने शरीर की भी सुधि नही रही। आज प्रारब्धवश उनके मन ने उनके साथ विश्वासघात किया। इस नीच, दुष्ट पापी, चोर, तस्कर मन का पता नहीं लगता, यह ठग कहाँ ले जाकर डुबा दे। मुनि का चित्त उस कन्या को पाने के लिये व्याकुल हो गया। शरीर क्षीण हो गया। रक्त मांस और चर्म को दीमक चाट गई किन्तु मन ने अपना स्वभाव नही छोड़ा। उसने असमय में आकर तपस्वी के साथ विश्वासघात किया। मुनि कुछ बोलना चाहते थे। किन्तु उनका शरीर तो मिट्टी का टीला बना हुआ था।"

इधर राजपुत्री सुकन्या का कुतूहल पराकाष्ठा को पार कर चुका था। उसे उत्कट जिज्ञासा हुई, कि इन दो चमकीली वस्तुओं के सम्बन्ध में निर्णय करूँ कि ये है क्या ? समीप में ही एक बबूर का वृक्ष खड़ा था। वहाँ से वह दो बड़े-बड़े मोटे-मोटे काँटे उठा लाई। और युवावस्था की चचलतावश उन दोनों में शीघ्रता के साथ दोनों काँटे भोंक दिये। और फिर उन्हें कुरेदने

गी। तभी उनसे टप-टप रक्त के बिन्दु गिरने लगे। रक्त को

देखकर राजकुमारी बड़ी भयभीत हुई। तुरन्त वह वहाँ से भागी। अत्यन्त शीघ्रता से वह हाँपती हुई उस वट वृक्ष के नीचे आई। अभी तक दूसरी कोई भी सखी नहीं लौटी थी। उसने पुकारा सभी आ गईं। सबको साथ लेकर वह सीधी अपने डेरे की ओर चली। इस घटना के सम्बन्ध में उसने किसी से एक शब्द भी नहीं कहा। उसे न जाने क्यों बड़ा भय लग रहा था। रक्त प्रवाह को देखकर उसका हृदय काँप रहा था, वह एक भावी शोक का अनुभव कर रही थी। जिस किसी प्रकार वह अपने घर आई। अब उसका चित्त चचल हो रहा था। आते ही वह पलङ्ग पर पड़ गई।

इधर राजा की सेना में एक विचित्र घटना घट गई। राजा के जितने साथी, सेवक, सैनिक तथा अन्य स्त्री पुरुष थे सभी के मलमूत्र बन्द हो गये। अपान वायु का निकलना बन्द हो गया, सबके पेट फूल गये। कोई हिंगाष्टक चूर्ण खोजने लगा, कोई हींग का फोहा नाभि पर रखने लगा। कोई उत्तान आसन करके वायु को निकालने लगा, कोई कुशा की जड़ को पीने लगा, कोई ऐरंड की जड़ का लेप करने लगा। कोई आक के फूल में अजवाइन काला नमक मिलाकर खाने लगा। कोई पोदीना के सत को धनिये के रस के साथ पीने लगा। कोई कपूर, पिपरमेंट अमाइन के सत्त को पानी में डाल कर पीने लगा। सारांश यह कि जिसे जो भी औषधि याद आई वह उसी का उपचार करने लगा। सब की एक सी दशा थी। सब के पेट फूलकर कुप्पा हो गये थे। मलमूत्र त्यागने की इच्छा हो रही थी, किन्तु किसी का मलमूत्र उतारता ही नहीं था। सभी व्याकुल होकर तड़फड़ाने लगे।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! बिना खाये तो मनुष्य बहुत दिनों तक रह सकता है, किन्तु अपान वायु रुक जाय, मल-मूत्र बन्द हो जाय, तो मनुष्य का जीवन असंभव ही हो जाता है, जब तक जीता है अत्यन्त ही कष्ट होता है। राजा बड़े घबड़ाये। वे समझ गये, यह दैवी प्रकोप है। यह च्यवनाश्रम है। हो न हो किसी ने असावधानी से उन वृद्ध तपस्वी मुनि का कुछ अपकार कर दिया है, वे सबसे एक-एक करके पूछने लगे, किन्तु किसी ने कुछ भी नहीं बताया। इससे राजा बड़े दुखी हुए और वे किंकर्तव्य विमूढ़ बने चिन्ता में मग्न हो गये। वे अपना कुछ कर्तव्य निर्णय ही न कर सके।

छप्पय

यौवन को उन्माद कुतूहल कन्या उर महँ।
उत्सुकता शमनार्थ लये द्वै कंटक कर महँ॥
आँखिनि दये चुभोइ बही धारा शोणित की।
डरी भगी लखि रक्त बढ़ी व्याकुलता चित की॥
इत मुनि वर के कोप तें, सैनिक सब व्याकुल भये।
वेग रुक्यो मल मूत्र को, मृतक सरिस ते ह्वै गये॥

*****

सुकन्या का च्यवन मुनि के साथ विवाह

(६०६)

तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद्दुहितरं मुनेः।
कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात्समाहितः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

लखि देवी उत्पात च्यवन को कोप समुझि मन।
सोचे हैं यह शान्त च्यवन मुनि को पावन बन॥
पूछें नृप उत्पात करयो जो मोहि बतावें।
जानि सुकन्या कृत्य नृपति मन महँ घबरावे॥
दुहिता लीन्हीं संग महँ, चले तुरत मुनि के निकट।
प्रकट करयो प्रस्ताव मुनि, ह्वै कें वामी तें प्रकट॥

भारतीय संस्कृति की एक बड़ी ही सुन्दर सूक्ति है "कन्या को, गौ को उसका पालक पिता जिसके साथ कर देता है, उसी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! च्यवन मुनि का अभिप्राय जानकर राजा शर्याति ने मुनि को अपनी दुहिता दे दी। इससे उस संकट से मुक्त होकर मुनि से आज्ञा लेकर स्वस्थ चित्त से अपने नगर में लौट आये।

के साथ चली जाती है।' यथार्थ में कन्या और गौ की एक सी ही स्थिति है। जो गौ मरखनी है, स्वच्छन्दचारिणी है, जो कन्या स्वैरिणी हो गई है, शील संकोच कुलोचित सदाचार को तजकर सबके साथ स्वच्छन्द सम्बन्ध करने लगी है जिस समाज में कदाचार और व्यभिचार के लिये प्रोत्साहन है इन सबको छोड़कर जो वास्तव में सीधी सादी गौ है, जो प्राचीन मर्यादा को मानने वाली, कुलवती लज्जावती कन्या है उनको पिता जिनके हाथ में पकड़ा देवे बिना ननु नच किये उनके पीछे वे चली जाती हैं। बहुत से दुष्ट पिता उन्हें अपनी आजीविका का साधन बनाकर वधिकों तथा नरपशुओं के हाथों बेच देते है, वे नरक के कीड़े अपने तनिक से स्वार्थ के लिये उनके सम्पूर्ण जीवन को दुखमय बना देते हैं। उन पापियों के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं, किन्तु सत्पात्र को दान दी हुई गौ और कन्या, दाता को तार देती है और कुल की कीर्ति को उज्वल बना देती है। वे अपनी पवित्रता पातिव्रत के प्रभाव से असभव बात को भी संभव कर देती हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—' राजन् ! जब महाराजा शर्याति के सैनिक और साथियों का मल मूत्र निरोध हो गया तो राजा बड़े घबड़ाये। समझ गये, यह महत्पुरुषों के अपराध का फल है। अवश्य ही किसी ने भगवान् च्यवन का कोई बड़ा अपराध कर दिया है, उसी के परिणाम स्वरूप यह सामूहिक विपत्ति हम सब पर आई है। अतः वे सबको एकान्त में बुला बुलाकर पूछने लगे—"भाई, देखो, सत्य सत्य बता दो, मैं किसी को दण्ड न दूंगा। किसी ने जान में अनजान में महामुनि च्यवन का कुछ अनिष्ट तो नहीं किया है ?"

सभी हाथ जोड़कर दीनता के साथ कहते—' देव ! हमें तो,

पता तक नहीं भगवान् च्यवन कहाँ रहते हैं। हमने तो अपनी जानकारी में उनका कोई भी अप्रिय कार्य नहीं किया।"

सुकन्या ने जब देखा, मेरे एक के कृत्य से सभी परम दुखी हो रहे है, तो वह डरती हुई काँपती हुई अपने पिता के समीप गई और नीचा सिर करके बोली—"पिताजी ! मुझसे एक बिना जाने अपराध अवश्य बन गया है।"

अत्यन्त ही उत्सुकता और ममत्व के साथ महाराज शर्याति ने पूछा—"बेटी ! तुझ से क्या अपराध बन सकता है। तू तो बड़ी भोली भाली सरल बच्ची है। तू तो कभी किसी से भूल में भी कटु वचन नहीं बोलती।"

सुकन्या ने लज्जित होकर कहा—"पिताजी ! यह अपराध मैंने जान बूझकर नहीं किया है। बाल सुलभ चंचलतावश अनजान में मुझसे यह भारी अपराध हो गया है। एक टीले पर दीमकों का मनुष्य के आकार का मैंने एक टीला देखा था, उसमें दो खद्योतों के सदृश चमकीली दो वस्तु चमक रही थीं। उन्हें जानने के लिये मैंने दो काँटों से उन्हें कोंच दिया, उसी समय उनमें से रक्त बहने लगा। प्रतीत होता है, वे उन महामुनि परम तपस्वी भगवान् च्यवन की आँखें होंगीं।

इतना सुनते ही राजा का मुख म्लान हो गया। वे मंत्रियों और पुत्री को साथ लेकर शीघ्रता पूर्वक मुनि के समीप पहुँचे। मुनि का शरीर दीमक की मिट्टी से ढका था। मानों वे दीमक के घर में बैठे हों। राजा ने मधुर वचनों से मुनि की स्तुति की। राजा की स्तुति सुनकर मुनि ने पूछा—"महानुभाव ! आप कौन हैं ? मेरी स्तुति क्यों कर रहे हैं ?"

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए राजा बोले—"ब्रह्मन् ! मैं मनु पुत्र शर्याति हूँ। महर्षे ! मेरी अबोधा पुत्री ने बिना जाने आपका अपमान किया है, आपको नेत्रहीन बना दिया है। प्रभो ! आप मुझ अपने अनुचर पर प्रसन्न हों, मेरे ऊपर अनुग्रह करें और अनजान में किये हुए इस अपराध के लिये आप मुझे क्षमा करें। मैं आपको सिर से प्रणाम करके प्रसन्न कर रहा हूँ और अपनी कन्या के लिये अत्यन्त लज्जित होकर दुख के साथ आपसे क्षमा याचना कर रहा हूँ। ब्रह्मन् ! आप जैसे सन्त तो दीन वत्सल होते हैं, वे अपकार करने वाले से भी प्यार करते हैं। उसका अणुमात्र भी अपकार नहीं करते।"

राजा ने मुनि की अनुमति से उनके ऊपर की दीमकों की मिट्टी हटवा दी थी, उनका रक्त मांस निराहार व्रत से सूख गया था। चर्म को कहीं कहीं से दीमकों ने खा लिया था। वृद्धावस्था के कारण उनका सम्पूर्ण शरीर जर्जर हो रहा था। उनकी सब हड्डियाँ गिनी जा सकती थी। शरीर क्या था, अस्थियों का एक मनुष्याकृति ढाँचा मात्र था। मुनि का मुख गंभीर हो रहा था। फूटे हुए नेत्रों से रक्त बहकर जम कर सूख गया था, वे बड़े कष्ट में थे। गंभीरता पूर्वक उन्होंने पूछा—"तुम्हारी पुत्री कितनी बड़ी है ?"

राजा ने दीनता के स्वर मे कहा—"प्रभो ! अब तो वह विवाह योग्य हो गई है। बाल्यावस्था को पार करके उसने युवावस्था में पदार्पण किया।"

मुनि ने पूछा—"तो उसका अभी तक विवाह नहीं हुआ ?"

राजा ने कहा—"नहीं भगवन् ! अभी कहाँ हुआ है, मैं इसी की चिन्ता में रहता हूँ, कि कोई योग्य वर मिले, तो तुरन्त इसके हाथ पीले कर दूँ।"

मुनि ने पूछा—"तो, अभी तक कहीं सगाई भी नहीं हुई।"

राजा ने कहा—"नहीं भगवन् ! अभी इसके अनुरूप कोई योग्य वर नही मिलता।"

मुनि ने कहा—"तो उसने मेरी आँखें क्यों फोड़ दीं ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! जान बूझकर तो उसने फोड़ी नही। बालचापल्य के कारण उसने जुगुनू समझकर उसमें काँटें छेद दिये थे।"

मुनि ने कहा—"ऐसा क्या बालचापल्य ? वह कोई दूध पीने वाली बच्ची तो है ही नहीं; तुम कहते हो वह विवाह योग्य हो गई है। तो फिर बालिका कहाँ रही ? मान लो, जुगुनू ही सही। तो क्या उनके प्राण नही होते, कांटा चुभने से वे नहीं मर सकते थे।"

राजा ने निरुत्तर होकर कहा—"हाँ, महाराज ! अपराध तो हुआ ही। इसने अकारण चपलता की।"

मुनि ने कहा—"की, तो उसका फल भोगे ! मुझ से तुम क्या चाहते हो ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! मेरी एक कन्या के पीछे सभी साथी दुखी हैं। सबके मल मूत्र का निरोध हो रहा है। सभी तड़प रहे हैं सभी के पेटों में पीड़ा हो रही है।"

मुनिने कहा—"मेरी आँखों में पीड़ा नही हो रही है क्या ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! आप तो सर्व समर्थ हैं। जो चाहें कर सकते हैं। आँख तो मैं लगा नहीं सकता और आप जो आज्ञा दें, वही करने को तैयार हूँ। कहे तो सैकड़ों दास दासियों को आपकी सेवा में लगा दूँ। समस्त सुख की सामग्रियाँ आपके समीप पहुँचा दूँ ?"

मुनि ने कहा—"सेवकों ने मेरा क्या अपराध किया है, जो मैं उनसे सेवा लूँ। तपस्वी तो स्वय ही सेवक है। वह सेवकों से कार्य नहीं कराता। जिसने अपराध किया है, उसी को सेवा करनी चाहिये। जिसने मुझे नेत्रहीन बनाया है उसे ही मुझे अपने नेत्रों का आलोक प्रदान करना चाहिये। यही न्याय है, यही धर्म है यही नीति है।"

राजा बुद्धिमान् थे, मुनि के अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अपनी पुत्री से कहा—"बेटी! ऋषि तुझे ही चाहते हैं, तेरी क्या सम्मति है?"

सुकन्या ने कहा—"पिताजी! यह मेरा अहोभाग्य है, जो इतने बड़े तेजस्वी तपस्वी महर्षि ने मुझे अपनी सेवा के लिये स्वीकार किया है। मैं अपना सर्वस्व समर्पण करके ऋषि की सदा सेवा करूँगी। आप चिन्ता न करें। मेरे पीछे सबको क्लेश न हो। आप मुझे मुनि को सहर्ष प्रदान कर दें। कन्या के ऐसे दृढ़ता पूर्ण वचन सुनकर राजा को सन्तोष हुआ। बूढ़े मुनि को अपनी परम सुकुमारी प्यारी कन्या देने मे उन्हें दु ख तो अवश्य हुआ, किन्तु क्या करते। एक कन्या के पीछे सहस्रों पुरुष संकट मे पड़े हुए थे। मुनि ने स्पष्ट प्रस्ताव नहीं किया था, किन्तु बुद्धिमान् राजा उनके सकेतों से ही समझ गये, कि मुनि कन्या को चाहते हैं। अपने मन में उन्होंने सतोष कर लिया कि कन्या तो मुझे किसी को देनी ही है। तपस्वी ब्राह्मण से बढकर श्रेष्ठ पात्र कौन होगा। यही त्रुटि है, कि मुनि बूढ़े हैं सो कोई बात नहीं। तपस्या में सब सामर्थ्य है। यही सब सोचकर राजा ने विधि विधान पूर्वक सुकन्या का विवाह च्यवन मुनि के साथ कर दिया।

जब सुकन्या को पत्नी रूप में मुनि ने पा लिया, तो वे परम प्रसन्न हुये। अब उनके नेत्रों तथा हृदय की पीड़ा जाती रही। उन्होंने राजा के ऊपर अनुग्रह की, उनके साथियों और सैनिकों का कष्ट दूर हुआ। सब की वायु यथावत् हो गई। सभी स्वस्थ हो गये। सब के स्वस्थ हो जाने पर राजा ने मुनि के चरणों की वन्दना की और उनकी अनुमति लेकर अपनी राजधानी को चलने के लिये प्रस्तुत हुए। राजा को जाते देखकर सुकन्या के धैर्य का बांध टूट गया। वह पिता से लिपट कर अबोध बालिका के समान फूट फूट कर रोने लगी। रानियां भी खड़ी खड़ी अश्रु बहा रहीं थीं। उस समय दृश्य बड़ा ही करुणा जनक था। राजा का हृदय भी भरा हुआ था। जिस कन्या को राजमहलों में छुई मुई की भांति अत्यन्त लाड़ प्यार पाला-पोसा था, आज उसे निर्जन वन में बूढ़े मुनि के साथ एकाकी छोड़ने में उनका चित्त चंचल हो रहा था। फिर भी सब भाग्य की विडम्बना समझ कर सह रहे थे। उन्होंने पहिले अपने आंसुओ को पोंछा, फिर कन्या के सिर पर हाथ रखकर बड़े स्नेह से बोले—"बेटी, अब तेरे स्वामी, इष्ट, सर्वस्व ही भगवान् च्यवन हैं तू प्रमाद को परित्याग करके निरालस होकर बड़ी सावधानी से इन सर्वज्ञ अपने स्वामी की श्रद्धा सहित सेवा करना। इनकी सेवा करने से तेरे सभी मनोरथ सिद्ध होंगे।"

अपने पिता के वचनों को सुकन्या ने मौन होकर स्वीकार किया। फिर वह अपनी माताओं से मिली। इस प्रकार माता पिता से मिल भेंट कर वह आश्रम के द्वार तक उनके पीछे पीछे गई। जब सभी लोग दूर निकल गये, तब वह लौट कर अपने बूढ़े पति के समीप आई। उसने राजसी वस्त्रों को उतार

कर फेंक दिया। मुनियों के जैसे वल्कल वस्त्र धारण कर दिये। वह शुभानना सुकन्या श्रद्धा सहित अपने स्वामी की, अग्नि की और आगत अतिथि अभ्यागतों की निरन्तर उदारता पूर्वक सेवा में संलग्न रहती थी। उसे यह अभिमान छू भी नहीं गया था, कि मैं राजपुत्री हूँ। तपस्वी ब्राह्मण एक तो स्वभाव से ही प्रायः क्रोधी होते है, तिसपर वृद्धावस्था में तो क्रोध अत्यन्त बढ़ जाता है। मुनि बात बात पर कुपित हो जाते, किन्तु सुकन्या कभी उलट कर उन्हें उत्तर न देती, उनकी सभी आज्ञाओं को सिरसा स्वीकार करती। बिना व्यग्रता प्रकट किये, वह उनकी सेवा करती रहती इस प्रकार अपने तपस्वी पति की सेवा करते करते सुकन्या को बहुत दिन बीत गये। उसकी तपस्या मुनि की तपस्या से बहुत बढ़ चढ़ कर थी। पतिव्रत पालन रूप ऐसा तप है, कि उसकी समता दूसरा कोई तप कर ही नही सकता।

श्री शुक कहते है—"राजन्! संतोष और सेवा का फल मीठा होता है अब सुकन्या की सेवा के सफल होने का सुन्दर समय उपस्थित हुआ। उसे मैं आपको अब आगे सुनाता हूँ। आप ध्यान पूर्वक इस पुण्य प्रसंग को श्रवण करें।

छप्पय

कन्या फोरी आँखि भयो हौं अन्धों भूपति।
नेत्रहीन नर जगत माँहि पावे दुख नित प्रति॥
धर्म कर्म कस करूँ पुण्य पथ कैसे पेखूँ।
कन्या करो प्रदान नेत्र जाके तैं देखूँ॥
सुनि नृप अति विचलित भये, परि कन्या सहमत भई।
समुझि बलाबल भूप ने, मुनि कूँ पुत्री दै दई॥

★★

च्यवन मुनि वृद्ध से तरुण हुए

(६०७)

कस्यचित्त्वथ कालस्य नासत्याश्रमा गतौ।
तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ ॥*

(श्री-भा० ९ स्क० ३ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

करि कें कन्या दान गये भूपति रजधानी।
पतिसेवा ही तरनि सुकन्या उत्तम मानी॥
अमर वैद्य इक दिवस च्यवन मुनि आश्रम आये।
करि सेवा सत्कार महामुनि वचन सुनाये॥
अति प्रसिद्ध सुर भिषक् तुम, तोऊ हो अति दुख सहूँ।
करो वृद्ध तें युवक यदि, जो माँगो सोई दऊँ॥

व्यवहार में आदान प्रदान है, तुम यह दो इसके बदले में हम यह देंगे। जहाँ देन लेन है वहाँ व्यवहार है। जहाँ व्यव-

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! किसी काल में एक समय च्यवन मुनि के आश्रम पर दोनों भाई अश्विनि कुमार पधारे। उन दोनों की पूजा करके मुनि उनसे कहने लगे—"आप दोनों समर्थ हैं, मुझे युवावस्था दे दीजिये।"

हार है वहाँ थोड़ा देकर अधिक पाने की कामना है, जहाँ कामना है, वहाँ क्रोध है। जहाँ दोनों ओर से क्रोधी हैं, वहाँ बलवान् क्रोधी की विजय है। निर्बल का मान मर्दन है। यह सम्पूर्ण जगत् व्यवहार से चल रहा है। मनुष्य देवताओं को बलि प्रदान करते हैं उसके उपलक्ष्य में देवता उनके सुख के साधन जुटाते हैं। पिता पुत्र का पालन पोषण करते है, पुनः उससे आशा रखते हैं वृद्धावस्था में वह हमारी सेवा करे। आजीविका आदान प्रदान पर ही अवलम्बित है। यदि आदान प्रदान न हो तो बुद्धिजीवी भूखों मर जायँ और श्रमजीवी जड हो जायँ। एक वृत्ति वाला दूसरे को सुख सम्बन्धी सामग्री देकर स्वयं उससे अपनी सुविधा की वस्तु लेता है। इसी से सब का जीवन-निर्वाह हो रहा है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! अंधे और बूढ़े च्यवन मुनि उस सुन्दरी सुकुमारी युवती राजकुमारी को पाकर जैसे चाहते थे, वैसे सुखी नहीं हुए। वृद्ध की लालसायें तो बड़ी बड़ी होती हैं, किन्तु इन्द्रियाँ तो अपनी गति से ही काम करती है। मन शिथिल नहीं होता, किन्तु कर्मेन्द्रियाँ तो शिथिल हो ही जाती हैं। वृद्ध के लिये युवती स्त्री एक प्रकार की विपत्ति ही बन जाती है। यद्यपि सुकन्या अपनी श्रद्धा और सेवा से सदा भृगुनन्दन तपस्वी च्यवन को प्रसन्न रखने की सर्वथा चेष्टा करती किन्तु वृद्ध मुनि उतने प्रसन्न नही रहते। वे चाहते तो अपनी तपस्या के बल से तरुण हो जाते, किन्तु कुछ सोच समझ कर वे इस काम में अपनी तपस्या को व्यय करना नहीं चाहते थे। संयोग की बात किसी समय देवताओं के वैद्य दोनों भाई अश्विनीकुमार मुनि के आश्रम पर आये। परिचय पाकर मुनि

ने दोनों का बड़ा आदर सत्कार किया। यद्यपि वैद्यों का दर्शन अशुभ समझा जाता है। यात्रा में, श्राद्ध में तथा अन्य शुभ कार्यों में वैद्य आ जायँ तो वे कर्म खंडित माने जाते हैं, किन्तु जो दुखी हैं, आतुर हैं, रुग्ण हैं उनके लिये तो वैद्य जीवनदाता है। उन्हीं लोगों के द्वार पर उन्हें सत्कार मिलता है। च्यवन मुनि तो अंधे और बूढ़े दोनों ही थे। अतः वैद्यों का आदर करना आवश्यक ही था, दूसरे वे अतिथि थे। अतिथि रूप में अपने यहाँ चांडाल भी आ जाय तो उसका भी भगवत् बुद्धि से सत्कार करना चाहिये। इसी लिये मुनि ने अमर वैद्यों का बड़े स्नेह से स्वागत सत्कार किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर हँसते हुए आश्विनी कुमारों ने पूछा—"मुनिवर! यह रूपवती युवती कौन है?

कुछ क्रीड़ा का सा भाव दिखाते हुए च्यवन मुनि बोले—'अजी महाराज! आप लोगों ने नहीं सुना हमने विवाह किया है। यह हमारी धर्मपत्नी है।"

हँसते हुए अश्विनीकुमारों ने कहा—"अच्छा, इस वृद्धावस्था में आपको विवाह की कैसे सूझी। राम राम रटते, इस किच्च पिच्च में क्यों पड़ गये?

च्यवन मुनि ने माथा ठोकते हुए कहा—"क्या करें वैद्यवर! यह भाग्य सब कुछ करा लेता है। हमें तो स्वप्न में भी आशा नहीं थी, कि फिर गृहस्थी में फँसना पड़ेगा। संस्कार बड़े बलवान् होते हैं।"

आश्वासन देते हुये अश्वनी कुमारों ने कहा—"कोई बात नहीं। अच्छा है आप जैसे सदाचारी ऋषि महर्षि ही गृहस्थ से पृथक हो जायेंगे, तो अच्छी सन्तानें कैसे उत्पन्न होंगी?

वास्तव में देखा जाय तो गृहस्थ के अधिकारी तो आप जैसे सदाचारी संयमी तपस्वी मुनि गण ही हैं। इन्द्रिय लोलुप किसी भी धर्म का पालन नहीं कर सकते। आनन्द से धर्मपूर्वक गृहस्थ धर्म का निर्वाह कीजिये पुत्र पौत्रों की वृद्धि कीजिये।

ममत्व के स्वर में मुनि ने कहा—"धर्म का पालन कैसे करें। आप लोग तो हमारी सहायता करते ही नहीं। हमने सुना है आप सर्व समर्थ हो। आयुर्वेद विद्या में पारगत हो। आप पतले को मोटा कर सकते हो रोगी को निरोग, मोटे को पतला, दुखी को सुखी और वृद्ध को तरुण बनाने में समर्थ हो, मेरे साथ तुम्हारी मैत्री किस काम आवेगी। मुझे भी कोई चूर्ण गुटिका, रसायन या अन्य अवलेह आदि औषधि देकर वृद्ध से तरुण बना दो। तुम्हें बड़ा पुण्य होगा। हम दोनों की एक सी जोड़ी हो जायगी।"

हँसते हुए अश्विनी कुमार बोले—"देखिये महाराज 'आहारे व्यवहारे त्यक्त लज्जा सुखी भवेत्' मित्रता मित्रता के स्थान पर है। व्यवहार में, आजीविका में, वृत्ति में केवल मित्रता से काम नहीं चलता। व्यवहार तो व्यवहार के ही ढङ्ग से होता है। और आप जानते ही हैं चाहे कोई मित्र भले ही हो जाय बनिया और वैद्य तो किसी का मित्र होता नहीं। "खरी मजूरी चोखा काम, इस हाथ देना उस हाथ लेना।" "गौ घास से ही मित्रता करेगी तो खायगी क्या?" हम अनेक वृद्ध से तरुण

बना सकते हैं। एक अङ्ग काट कर दूसरा जोड़ सकते हैं। अकाल में मरे हुए को जिला सकते हैं। रोगी को निरोग बना सकते है। आपको भी युवक बना देंगे, किन्तु इसके उपलक्ष्य में हमें क्या मिलेगा ? आप त्यागी विरागी होते, तो बिना मूल्य भी चिकित्सा कर देते। जब आप घर गृहस्थी वाले हो गये हैं तब निःशुल्क चिकित्सा करना हमारा भी अपमान है और आपके भी अनुरूप नहीं।"

च्यवन मुनि ने कहा—"इसकी आप लोग चिन्ता न करें आप लोग जो माँगेंगे वही मैं दूँगा। जो आपकी दक्षिणा होती होगी, वह मैं दूँगा। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।"

अश्विनीकुमारों ने कहा—"देखिये महाराज ! हमें रुपये पैसे की दक्षिणा तो चाहिए नहीं। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसे उसी को देना सब से बड़ी दक्षिणा है। हमें सम्मान चाहिये। देवताओं के राजा इन्द्र ने वैद्य वृत्ति को अधम बताकर हमें देवताओं की पंक्ति से बहिष्कृत कर दिया है। यज्ञ और उत्सवों में वे हमें अपनी पंक्ति में बिठाकर भोजन नहीं करने देते। वैद्य विद्या यद्यपि अधम है, रोते हुए रोगियों से रुपया लेना होता है। बड़ी निन्दित वृत्ति है। फिर भी हम उपकार कितना करते हैं। रोते हुओं को हँसाते हैं। दुखियों को सुखी बनाते हैं, रोगी हमें देखते ही खिल उठता है। इसलिये हम आपसे यही चाहते

हैं कि आप हमें देवताओं की पंक्ति में बैठने का अधिकार दिला दें। यज्ञ याग कराने वाले तो आप ही लोग हैं। आपके ही आवाहन से देवता दौड़े आते हैं। आप यदि हमे पंक्ति में बिठा कर खिलादें, तो फिर हमें उठाने की सामर्थ्य किसमे है?"

यह सुनकर अपनी बात पर बल देते हुए च्यवन मुनि बोले—"अच्छी बात है, यह बात पक्की रही। यह कौन सी बड़ी बात है। देवताओं की पंक्ति में नहीं हम आपको इन्द्र के साथ बिठाकर खिलायेंगे। सबके सम्मुख आपका भाग दिलावेंगे। मुझे सहर्ष स्वीकार है आप मुझे बूढ़े से युवक बना दें।"

मुनिकी बात सुनकर अश्विनीकुमार बड़े हर्षित हुए। उन्होंने एक कुण्ड बनाया। उसमें अनेक प्रकार की औषधियाँ छोड़ीं और बोले—"मुनिवर! चलिये, आपका कायाकल्प कर दे। आपको परम रमणीय सुकुमार तरुण युवक बना दें।"

यह कहकर एक भाई ने मुनि का एक हाथ पकड़ा दूसरे ने दूसरा हाथ पकड़ा। उन्हें साथ लेकर तीनों उस महौषधियों से निर्मित सिद्ध कुण्ड में प्रवेश कर गये। कुण्ड में प्रवेश करने के पूर्व मुनि का शरीर अत्यन्त ही क्षीण अस्थियों का पिंजर और नसों का जाल मात्र था। अश्विनीकुमार कुछ देर तक उन्हें उस कुण्ड में डुबाये रहे। कुछ काल के अनन्तर वे तीनों उछले। सुकन्या के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। तीनों पुरुषों की आकृति, प्रकृति रूप, रङ्ग, हँसी बोली एक सी ही

थी। तीनों ही परम रूपवान् थे, तीनों ही परम सुन्दर सुगन्धित कमलों की कमनीय मालायें धारण किये हुए थे, तीनों के ही कानों में कनक के कुण्डल दमदमा रहे थे, तीनों ही सुन्दर-सुन्दर वस्त्र आभूषणों से सुसज्जित थे। तीनों ही सूर्य के समान तेजस्वी और प्रभावान् थे। उन एक सी आकृति वाले परम प्रभावान् पुरुषों को देखकर सुमध्यमा सती साध्वी सुकन्या किंकर्तव्य विमूढ़ा सी बन गई। वह निर्णय ही न कर सकी, कि इन तीनों में मेरे पति कौन हैं।"

उन तीनों में से एक ने कहा—"सुमध्यमे! हम तीनों से तू जिसे चाहे वर ले।"

सुकन्या ने कहा—"महानुभावो! मैं कन्या तो हूँ नहीं, जो स्वयं वर को वर लूँ। मैं तो ऋषि पत्नी हूँ। मुझे वर वरण नहीं करना है। मेरे तो पति हैं ही कृपा कर मेरे पति को पृथक् कर दीजिये।"

उनमें से एक बोला—"तू स्वयं ही जिसे पति समझे उसका हाथ पकड़ ले।"

यह सुनते ही सुकन्या ने बड़े मधुर स्वर से पितारूप में अश्विनी कुमारों की स्तुति की। उसकी स्तुति से देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार प्रसन्न हुए और बोले—"सुकन्ये! हम तेरे पातिव्रत्य से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हैं। तेरे पति भगवान् च्यवन ये ही हैं। तेने अपनी सेवा सुश्रूषा तथा विनय के प्रभाव से अपने पति को सन्तुष्ट ही नहीं कर लिया है, उन्हें

वृद्ध से युवक बना लिया है। तेरा अक्षय सौभाग्य रहेगा और तू तपस्वी पुत्र की जननी होगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! इस प्रकार आशीर्वाद देकर अश्विनीकुमार तो अपने विमान पर चढ़कर स्वर्गलोक को चले गये और मुनि च्यवन अपनी पत्नी सुकन्या के साथ प्रेम-पूर्वक आनन्द विहार करते हुए काल यापन करने लगे।"

छप्पय

कहें अश्विनीकुमर हमें हू सोम पिआओ।
सोम मखनि महँ सदा देव पंगति बैठाओ॥
स्वीकारी यह बात कुण्ड महँ च्यवन न्हवाये।
आयुर्वेद प्रभाव वृद्ध तें युवक बनाये॥
भये एक से तीन नर, विनय सुकन्या ने करी।
अति प्रसन्न सुर भिषक ह्वै, च्यवन दये माया हरी॥

च्यवन मुनि द्वारा प्रतिज्ञा पालन

(६०८)

सोमेन याजयन्वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत् ।
असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ३ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

करिकें मुनि कूं तरुण गये रुजहा पुर जबही ।
आये नृप शर्याति च्यवन मुनि आश्रम तबहीं ॥
तरुण निकट निज सुता निरखि नृप अति दुख पायो ।
ह्वै प्रसन्न वृत्तान्त सुकन्या सब समुझायो ॥
सुता वचन शर्याति सुनि, मुनि तनु लखि प्रमुदित भये ।
मख हित कन्या सहित मुनि, वर कूं लै निज पुर गये ॥

व्यवहार में इसी का नाम सत्य है, जिससे जो कह दें, जिससे जिस बात के लिये प्रतिज्ञा कर दें, उसे शक्ति रहते अव-

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि च्यवन ने वीर शर्याति को सोम यज्ञ कराया । उस यज्ञ में उन अश्विनीकुमारों को अपने तेज से सोम का भाग दिया जो पहिले सोमपान में देवताओं के साथ अनाधिकारी माने जाते थे ।"

श्य पालन करना।' जो कार्य कराने के समय तो विनीत बन जाते हैं और कार्य हो जाने पर फिर बोलते भी नहीं। ऐसे स्वार्थी लोग व्यवहार में सफल नही होते। व्यवहार साख पर चलता है। जिसकी लोगों में साख बनी हुई है, वह बिना पैसा के भी धनी है, जिसकी साख बिगड़ गई है, वह धनी होकर भी निर्धन है। साख तभी बनती है, जब हम जिससे जो कह दें, उसका यथावत् पालन करें

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जब अश्विनीकुमार महामुनि को तरुण बनाकर देवलोक को चले गये, तब महर्षि अपनी प्यारी-दुलारी राजकुमारी सुकन्या के साथ देवताओं की भाँति विहार करने लगे। दोनों की ही तरुण अवस्था थी, दोनों का ही परस्पर में एक दूसरे के प्रति अनुराग था, तप के प्रभाव से उन्हें वैभव की कमी नही थी। उनके इस ऐश्वर्य से इन्द्र तक ईर्ष्या करने लगे। सुरलोक की रमणियाँ सुकन्या के भाग्य की भूरि २ प्रशंसा करने लगी और उसके सम्मुख अपने रूप सौंदर्य और शील को तृणवत् मानने लगीं।"

इधर महाराज शर्याति के मन में एक यज्ञ करने की इच्छा हुई, उन्होंने सोचा चिरकाल से सुकन्या को नहीं देखा। पता नही उसका क्या समाचार है, मैं उसे शून्यारण्य में उसके भाग्य के ऊपर एकाकी ही छोड़ आया था। युवावस्था बड़ी बुरी होती है। सुकन्या रजमहलों में सुख से पली है। पता नहीं वह वहां प्रसन्न होगी या नहीं। चल कर उसे अपनी आँखों से देख आऊँ और पुत्री तथा दामाद दोनों को यज्ञ में बुला भी लाऊँ। सुना है; च्यवन मुनि कर्म कांड में बड़े निपुण हैं, वे वेदज्ञ तपोनिधि तथा सर्व समर्थ हैं। न होगा तो उन्हे ही यज्ञ

का आचार्य बना देगें। वे यज्ञ बड़ी विधि पूर्वक करावेंगे। यही
सब सोच समझकर वे रानी के सहित मुनि को देखने के लिये
चले। मुनि के आश्रम की आज अद्भुत ही शोभा थी। पहिले
जैसे झाड़ झन्खाड़ वहाँ नहीं थे। आज उसमें पंक्ति बद्ध वृक्ष
लगे थे। पाटल, पारिजात, चंपा, गंधराज, आदि सुगंधित
पुष्पों के बहुत से वृक्ष पथों के उभय पार्श्वों में फूले हुए खड़े थे
उन पुष्पों की सुगन्धि से सम्पूर्ण आश्रम सुवासित हो रहा था
आम, जामुन, कटहल, संतरा, सेव आदि फलवान् वृक्ष यथ
स्थान फलों के भारों से नमित इस प्रकार खड़े थे मानों मुनि
विनयी शिष्य सर्वथा अतिथि सेवा के लिये समुत्सुक होक
उनके आगमन की प्रतिक्षा में नतकंधर होकर खड़े हों
आश्रम में ब्राह्मी श्री का साम्राज्य था। स्थान स्थान पर
ताम्रों के पीठ बने थे, यज्ञशाला में सुगंधि को साथ लिये
कपोतवण का धूम अठखेलियां करता हुआ . . .
जा रहा था और अपने पास की सुगंधनि
दिशाओं में बिखेरता भी जाता था। आज उस आश्रम
कर भूपति विस्मय आनन्द और शंका के सहित उसे निह
जाते थे। सम्मुख ही फूले वृक्षो के झुरमुट में लिपे पुते स्व
चबूतरे पर उटज के समीप ही, देवांगनाओं की भाँति व
भूषणों से सुसज्जित उन्होंने अपनी कन्या को देखा। उ
साथ एक तरुण देवकुमार के सदृश पुरुष बैठा हँसी वि
कर रहा था। सरसता का सागर उमड़ा हुआ था। स
दूर से ही अपने पिता को आते देखकर सुकन्या अ
पति के पास से उठ पड़ी। सिर झुकाकर वह अपने व
को ठीक ठाक करके आगे बढ़ी। डब डबाई आँखों
उसने अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया, किन्तु यहे

सुकन्या के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। प्रणाम करने पर भी आज पिता ने न तो मुख से कोई आशीर्वचन कहा और न सुकन्या को अपने हृदय से लगाकर उसका सिरसूघा और न उसके बालों पर हाथ फेरा। वे क्रुद्ध सर्प की भाँति सुकन्या को देखकर खड़े के खड़े ही रह गये। सुकन्या डर गई, वह लज्जा और दुख के कारण निरन्तर पृथिवी को ही निहार रही थी। पीछे खड़ी अपनी माता को प्रणाम करने का भी उसे साहस नहीं हुआ।

पिता ने बड़े दुःख से क्रोध भरे हुए शब्दों में कहना आरम्भ किया—"सुकन्या ! मैं तो समझता था, तू हमारे कुल की कीर्ति को उज्वल करेगी, ऋषिपत्नी होकर हमारे यश का विस्तार करेगी, किन्तु तैंने तो हमारे कुल में कलंक लगा दिया। तू इतनी कुलीन कुमारी होकर इतना संयम भी न कर सकी। तेरे पति बूढ़े थे, तो क्या हुआ' वे थे तो ऋषि ही। तपस्या के समुद्र थे, वे तपस्या के प्रभाव से जो चाहते वह कर सकते थे। यदि तू श्रद्धा से उनकी सेवा करती, तो तेरे सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाते, दोनों लोक बन जाते। इस लोक में सुख समृद्धि का उपभोग करती, परलोक में पुण्य की अधिकारिणी होती। उनकी सेवा करना तेरा परम धर्म था, सो तैंने उसे न करके लालच वश इस पर पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लिया ! उन अंधे तथा वृद्ध मुनि की वचना की। विषयों की अनुरक्ति के कारण तैंने उन देव सदृश मुनि का परित्याग कर दिया। छिः छिः यह बड़े दुख की बात है। अब तू आज से न मेरी पुत्री रही, न मैं तेरा पिता। तेरे मन में आवे सो कर।"

सुकन्या प्रथम तो अपने पिता के क्रोध के कारण को न

जानने के कारण अत्यंत दुखित थी, जब उसे विदित हो गया कि मेरे पिता इन महामुनि को बिना पहिचाने शंकावश मेरा तिरस्कार कर रहे हैं, तो उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। वह मुस्कराती हुई बोली—"पिताजी ! आप क्या कह रहे हैं। आप पहिचान नही रहे हैं क्या ? जिनके हाथ में आपने स्वयं मेरा हाथ दिया था, वे भृगुनन्दन भगवान् च्यवन ये ही आपके जामाता है।"

आश्चर्य के साथ राजा ने चौंकते हुए कहा—"हाँ ! भगवान् च्यवन मुनि ने ही अपना कायाकल्प कर लिया है। बेटी ! तू बड़ी भाग्यशालिनी है। यह कह कर उन्होंने प्रथम पुत्री का आलिंगन किया और फिर दौड़कर मुनि के पैर पकड़े। सुकन्या ने अपनी माता को प्रणाम किया। महामुनि च्यवन ने उठकर महाराज शर्याति का सत्कार किया। उन्हें अर्घ्य प्रदान किया। फल मूल से उनका सत्कार करके उन्हें सुन्दर आसन पर बिठाया। रानी भी उनके समीप बैठी।"

तब राजा ने कहा—"भगवन् ! यह कायाकल्प कैसे किया ?"

हँसते हुये मुनि ने कहा—'महाराज ! अपनी पुत्री से ही पूछिये।"

राजा के पूछने पर सुकन्या ने आदि से अन्त तक सब कथा सुना दी। कैसे अश्विनीकुमार आये, किस प्रकार आदान प्रदान का ठहराव हुआ। किस प्रकार औषधियों के कुण्ड में उन्होंने स्नान कराया, किस प्रकार उन्होंने मेरे पातिव्रत की परीक्षा ली।" अपनी पुत्री के मुख से सब वृत्तान्त सुनकर

शर्याति भूपति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। प्रेम के कारण उनकी आँखों से अश्रु बहने लगे। उन्होंने बार-बार अपनी पुत्री का आलिंगन किया और बोले—"पुत्रि! यथार्थ में तू मेरी पुत्री है। तैने मुझे पुंनामक नरक से तार दिया। मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ कि जब तक पृथिवी में सूर्य चन्द्रमा रहेंगे, तब तक तेरी कीर्ति व्याप्त रहेगी। तू पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ समझी जायगी। तेरी कथा अमर होगी और प्रलय पर्यन्त उसका गान होगा।"

यह कहकर वे अपने जामाता भगवान् च्यवन से बोले—"ब्रह्मन्! आप मुझ से ही सोमयाग कराइये और उसी यज्ञ में अश्विनीकुमारों को देवताओं के साथ यथेष्ट सोमपान करा कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। मै आपका सेवक उपस्थित ही हूँ। आप जैसा भी यज्ञ करायेंगे, वैसा ही मैं करूँगा। जितनी भी सामग्री कहेंगे, उतनी ही मैं एकत्रित करूँगा। अब विलम्ब करने का कोई कारण प्रतीत नही होता।"

भगवान् च्यवन ने कहा—"राजन्! मैं आपको अवश्य यज्ञ कराऊँगा। आपके यज्ञ से ही यह नूतन परिपाटी प्रारम्भ हो, इससे आपका भी यश दिग-दिगन्तों में व्याप्त रहेगा। यह भी एक परम स्मरणीय ऐतिहासिक घटना आपके यज्ञ में हो जाय। जिसकी सभी लोग कथा कहा करें।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! महाराज शर्याति ने सिर झुका कर मुनि की बात का अभिनन्दन किया। वे अपनी पुत्री और जामाता को बड़े सत्कार के सहित अपनी राजधानी को ले गये। वहाँ जाकर उन्होंने अविर काल में ही मुनि की

आज्ञानुसार यज्ञ की समस्त सामग्रियाँ जुटालीं। फिर मुनि ने अन्य बहुत से वेदविधि को जानने वाले वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाया और उन्हे पृथक् पृथक् कार्यों पर नियुक्त किया। देश देशान्तरो के राजा उस महायज्ञ को देखने आये। महाराज शर्याति ने उदारता की पराकाष्ठा कर दी। जिसने जो भी मांगा उसे वही वस्तु दी गई। जब सोमपान का दिवस आया तो इन्द्र के साथ महामुनि च्यवन चसक-पान में भर कर अश्विनी कुमारों को भी सोम प्रदान करने लगे।"

यह देखकर इन्द्र ने क्रोध के साथ कहा—"मुनिवर! आप अश्विनीकुमारों को 'सोम' क्यों दे रहे हैं? सोमलता तो एक परम पवित्र वल्ली है। शुक्ल पक्ष में उसमे एक एक पत्ता बढ़ता है। पूर्णिमा को १५ पत्ते हो जाते हैं। फिर कृष्ण पक्ष में एक एक पत्ता गिर कर अमावस्या को पत्र हीन हो जाती है। उसको कूटकर उसके रस को मंत्रो द्वारा यज्ञ में देवता ही पान कर सकते हैं। उनसे अवशिष्ट सोम को सोमयाजी पुरुष पान करते हैं। अश्विनीकुमारों को तो आज तक किसी भी सोम यज्ञ में देवताओं के साथ भाग नहीं मिला। आप यह नूतन प्रथा क्यों चलाते हैं?"

यह सुनकर दृढता के साथ च्यवन मुनि ने कहा—'क्या अश्विनीकुमार देवता नही हैं? ये सबसे अधिक सुन्दर तेजस्वी हैं। आयुर्वेद के ज्ञाता हैं। यज्ञ भाग के अधिकारी हैं, इन्हें अब तक यज्ञों में भाग नही मिलता था, तो इनके साथ अन्याय था। अब मैं इस अन्याय को न होने दूंगा, इन्हें देवताओं की पंक्ति में बैठाकर अवश्य सोमपान कराऊंगा।"

इन्द्र ने कहा—"देखो, मुनिवर ! हठ अच्छा नहीं होता। अश्विनीकुमार किसी भी प्रकार सोमपान के अधिकारी नहीं। वैद्यविद्या अधम है। ये स्वर्गलोक में चिकित्सा करते हैं। वैद्यों को किसी भी यज्ञ में भाग नहीं मिलता। शुभकर्मों में उनका आना भी निषेध है। फिर ये मर्त्यलोक में भी वेष बदल कर घूमते हैं। यहाँ के लोगों की भी चिकित्सा करते हैं। आप ही बताइये ऐसे पुरुषों को यज्ञ में भाग देना यज्ञ भाग के महत्व को घटाना है।"

दृढ़ता के स्वर में मुनि ने कहा—"देखिये, देवेन्द्र ! मैं व्यर्थ वाद विवाद बढ़ाना नही चाहता। अश्विनीकुमारो को यज्ञ भाग देकर यज्ञ भाग के महत्व को घटाना हो या बढ़ाना। मैं इन वैद्य प्रवरों से वचन हार चुका हूँ, मैं इन्हें यज्ञ में सोमपान कराऊँगा, अवश्य कराऊँगा, तुम सब देवों की पंक्ति में बिठा कर इन्हें सोमरस पिलाऊँगा। तुम्हें जो करना हो सो करो।"

इतना सुनते ही इन्द्र को बड़ा क्रोध आ गया। उन्होंने यज्ञ के यजमान शर्याति को मारने के लिये वज्र उठाया। राजा तो डर रहे थे कि यह मेरे जामाता ने क्या गड़बड़ घुटाला कर दिया, किन्तु च्यवन मुनि तो निश्चिन्त थे। उन्होंने एक हुँकार की। उसी समय इन्द्र की बाहु ज्यों की त्यों स्तम्भित हो गयी। इन्द्र तो किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये। वज्र चलाना तो पृथक् रहा वे अपनी बाहु को भी हिलाने में असमर्थ हुए। महामुनि इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होने अग्नि मे हवन करके उसमें से एक कृत्या उत्पन्न करने का विचार किया। उनके विचार करते ही एक बड़ा भारी असुर यज्ञ कुण्ड से उत्पन्न हुआ। पर्वत की कन्दरा के समान मुख, लपलप लपलप जिह्वा कर रही है।

सूप के समान कान, हल की फार के समान दाढ़े और गुफा के समान उसकी नासिका थी। तीन योजन लम्बा त्रिशूल लिये हुए वह 'मद' नामका असुर उत्पन्न हुआ उसे देखते ही देवता तो डरकर काँपने लगे। सबने समझा इस तुच्छ बात के पीछे तीनों लोकों का संहार होना चाहता है। तब सब देवता एक स्वर में बोले—"मुनिवर! हमें कोई आपत्ति नहीं। अश्विनी कुमार हमारे साथ बैठकर सदा सोमपान करें। हम सब आज से इन्हें यज्ञभाग का अधिकारी मान लेते हैं।"

मुनि ने कहा—"तुम सब तो कह रहे हो, तुम्हारा राजा तो कहता ही नहीं।"

तब इन्द्र ने लज्जित होकर कहा—"मुनिवर! आपकी तपस्या के सम्मुख किसकी मना करने की सामर्थ्य है। आप मन मे जो निश्चय कर लेंगे वह होकर ही रहेगा। महर्षे! मैं इन अश्विनीकुमारों को आज से सोमपान का अधिकारी मानता हूँ। ये स्वच्छन्दता पूर्वक यज्ञों मे हमारे साथ सोमरस का पान करें।"

यह सुनकर मुनि का क्रोध शान्त हुआ। उन्होंने इन्द्र के हाथ का स्तम्भन निवारण कर दिया। इन्द्र स्वस्थ हुए। अब वह बड़ा भयंकर असुर मुनि से बोला— भगवन्! मैं क्या करूँ? मुझे आपने क्यों उत्पन्न किया? मुझे भी कहीं रहने को स्थान दीजिये।"

तब मुनि ने इन्द्र से सम्मति करके उसे ५ स्थानों में रहने को आश्रय दिया। एक तो युवावस्था में सभी मदमाते हो जाया करेंगे, उन्हें विवेक न रहेगा। हाथियों के गंडों से यह मद फूट

फूट कर निकला करेगा। दूसरा स्थान स्त्री प्रसङ्ग में। उस समय मनुष्य मदान्ध होकर परवश हो जाया करेगा। मदन के साथ जहां मद का संयोग हो जायगा, तहाँ प्राणी आत्म विस्मृत सा बन जायगा। द्यूत—जूए मे। जहाँ १० जुआडी एकत्रित हुए कि फिर आगे पीछे का ध्यान नही रहेगा। सिर पर मद सवार हो जाया करेगा। चौथा स्थान सुरापान में जहाँ पियक्कड़ों में पहुँचे नहीं, तहाँ विवेक नष्ट हुआ नही। पाँचवा स्थान आखेट में प्राणी मदमाते बन जाया करेंगे। इस प्रकार मद को जब ५ स्थान मिल गये, तो वह इन्ही स्थानों में आकर रहने लगा। इसलिए विवेकवान् पुरुषों को इनसे सदा सचेष्ट सावधान रहना चाहिये।"

इन्द्र की स्वीकृति होने पर अश्विनीकुमारों ने आज सर्व-प्रथम सब सुरों के साथ यथेष्ट छककर सोमपान किया और मुनि च्यवन के यश का मुक्तकंठ से गान किया। महाराज शर्याति की कीर्ति भी सर्वत्र व्याप्त हो गई। उनका वह यज्ञ एक विशेष महत्वशाली समझा गया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् च्यवन ने शर्याति पुत्री सुकन्या के साथ विवाह करके एक अद्भुत कार्य किया। सुकन्या के गर्भ से महामुनि दधीचि का जन्म हुआ जिनकी कीर्ति तीनों लोक में अद्यावधि व्याप्त है।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! यह मैंने शर्याति

पुत्री सुकन्या का चरित्र प्रसंगवश संक्षेप में वर्णन किया। अब आप शर्याति के पुत्र पौत्रों के वंशों की कथा श्रवण कीजिये।"

छप्पय

सोम याग करवाइ भूप को मान बढ़ायो।
सुर वैद्यनि बुलवाइ सोमरस तिनहिं पिआयो॥
तान्यो सुरपति वज्र करयो मुनि स्तंभित कर जब।
सोमपान अधिकार सुरनि दीयो वैद्यनि तब॥

लखि प्रभाव मुनि च्यवन को, सबकूँ अति विस्मय भयो।
तनया नृप शर्याति की, को चरित्र पावन कह्यो॥

शर्याति के पुत्रों की कथा

(६०९)

उत्तानर्बहिरानर्तो भूरिषेण इति त्रयः ।
शर्यातेरभवन्पुत्रा आनर्ताद् रेवतोऽभवत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ३ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

अब मनसुत शर्याति वंश शुभ सुनहु भक्तियुत ।
भूरिषेण उत्तानर्बहि आनर्त भये सुत ॥
छोटे सुत आनर्त द्वारका जिननि बसाई ।
रेवत सुत तिन भये, तासु शत सुत सुखदाई ॥
ज्येष्ठ ककुद्मी सबनि तें, जनक रेवती के भये ।
सुता रेवती संग लै, वर खोजन विधि ढिंग गये ॥

जैसे समुद्र अथाह और अपार है, वैसे ही काल भी निरवधि है। जिस पर छोटा घड़ा है, वह समुद्र में से उसी में पानी भर लाता है। उसे एक घड़ा पानी कहता है, जिसका घड़ा

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मनुपुत्रशर्याति के उत्तानर्बहि आनर्त और भूरिषेण ये तीन पुत्र हुए। महाराज आनर्त के पुत्र का नाम रेवत हुआ।"

बड़ा है वह बड़ा घड़ा भर लेता है। स्वयं जल में कोई नाप नहीं कोई परिमाण नही। ऐसे ही काल का परिमाण है। सूर्योदय से सूर्योदय तक के समय को हम दिन कहते हैं। कोई उसे एक पक्ष कहता है, कोई उसे कल्प कहता है। दिन. रात्रि, वर्ष, कल्प, ये सब प्राणियों की कल्पना है। काल में ये सब कुछ नहीं। वह तो सदा एकरस रहने वाला अनादि, अविभक्त और नित्य है उसमें खंड नहीं, भाग नहीं। वह तो एकरस रहकर क्रीडा कर रहा है। प्राणी उसे लेकर मर रहे हैं कट रहे हैं। उस पर विजय पाना चाहते है, किन्तु भगवत् भक्तों तथा विज्ञानियों को छोड़कर उस पर आज तक किसी ने विजय प्राप्त नहीं की है वह सब को अपने गाल में डालकर निगल रहा है। सब को निर्दयता के साथ चर्वण कर रहा है। जिन्हें खाता है, रोते हैं। दूसरे हँसते हैं अब इतने बड़े हो गये। वे भूल जाते हैं हमारे सिर पर यह मुँह बाये विकराल काल खड़ा है, एक दिन हम को भी यह निगल जायगा। यह जानते हुए भी लोग अन्धे बने हुए है इस ओर ध्यान नही देते, काल की गति को नही निहारते। यही मायेश की माया है, यही देव की गुणमय विचित्र लीला है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मनु पुत्र शर्याति की पुत्री सुकन्या का चरित्र तो मैंने कह दिया। अब आप उनके पुत्रों के वंश का वर्णन सुने। महाराज शर्याति के तीन पुत्र हुए। जिनके नाम उत्तानबर्हि आनर्त और भूरिषेण थे। प्रतीत होता है, इन्हीं से आनर्त का ही वंश चला। महाराज आनर्त के रेवत नामक पुत्र हुआ। इन रेवत ने ही आनर्त देश की राजधानी द्वारका या कुशस्थली को बसाया। महाराज रेवत बड़े ही प्रतापशाली तेजस्वी और सामर्थ्यवान थे। उनके १०० पुत्र हुए उनमें ककुद्मी

सबसे बड़े थे, ककुद्मी के एक कन्या थी जिसका नाम रेवती था। उस रेवती का विवाह इस अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के बड़े भाई शेषावतार भगवान् बलराम के साथ हुआ।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कभी-कभी तो आप ऐसी बात कह देते है, जो बुद्धि से परे होती है। देखिये, आप इस समय वैवस्वत मन्वन्तर का वर्णन कर रहे हैं, विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव जिनको वैवस्वत मनु भी कहते हैं, वे इस मन्वन्तर के अधिपति हैं। उनके इक्ष्वाकु आदि १० पुत्र मन्वन्तर के प्रथम सत्ययुग में हुए होंगे। अब अट्ठाईसवाँ कलियुग है। इसका अर्थ यह हुआ कि तब से सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये चारों युग २८-२८ बार बीत गये। एक चौकरी देवताओं के वर्ष से १२००० वर्ष की होती है। अर्थात् मनुष्यों के वर्ष से चारों युग बीतने में ४३२०००० होते है। ये २८ बार बीतें तो ८४००००० वर्ष होते हैं। आठ करोड़ वर्ष पहिले पैदा हुई रेवती का विवाह इस द्वापर के अन्त में बलदेवजी के साथ कैसे हुआ, यह बात बुद्धि में धँसती नही। कृपा करके इसे हमें समझावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! काल की तो गणना होती नहीं, काल का विभाग भी नहीं, हम लोग अपनी सुविधा के लिये काल को विभक्त कर लेते हैं। यह एक दिन हुआ, यह पक्ष हुआ, यह महीना हुआ, यह अयन हुआ, यह वर्ष हुआ, यह युग हुआ, यह चौकड़ी, यह मन्वन्तर या कल्प हुआ। स्वयं काल में तो ये भेद हैं नहीं। अन्न की राशि पड़ी है। कोई किसी नाप से कोई किसी नाप से उसे तोलते हैं, नापते हैं। स्वयं कल्पना

लेते है यह सेर भर हुआ, यह मन भर हुआ, किन्तु अन्न में ऐसा कोई विभाग स्वयं नहीं है। हम मनुष्य जिसे एक दिन कहते है, उसमे बहुत से ऐसे सूक्ष्म जीव है जो अनेकों बार मर जाते है, अनेकों बार जन्म लेते हैं, हमारा एक दिन उनके लिये अनेक जन्मों के बराबर है। हम जिसे शुक्ल और कृष्ण पक्ष कहते है पितरों का वही एक दिन और रात्रि है। हम लोग जिस १२ महीने के समय को एक वर्ष कहते है। देवताओं का वह एक दिन है। ७१ बार से कुछ अधिक चारों युग बीत जायँ तो वह मनु की आयु अर्थात् १०० वर्ष के समान हैं। चारों युग सहस्र बार बीत जायँ, तो वह ब्रह्माजी का एक दिन है। भगवान् का वह एक निमेष भी नहीं है। इस प्रकार काल की सबने अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार कल्पना कर ली है। एक पक्षी १० बिन्दु पानी पीता है, उसका भी पेट भर जाता है, हाथी १० घड़ा पी जाता है, अगस्त्यजी पूरे समुद्र को ही सोख गये फिर भी उनका पेट नहीं भरा। जैसा पात्र होता है उसी के अनुसार वह वस्तु न्यून और अधिक की कल्पना करता है। ऋषियों के लिये अंशावतार, मनु और मनु पुत्रों के लिये १०।२० हजार वर्ष का समय कुछ नहीं है, किन्तु साधारण मनुष्य सत्ययुग में ४०० वर्ष जीते हैं, कलि में १०० वर्ष। ऐसे साधारण लोगों की प्रायः कथायें नहीं लिखी जातीं। जो विशिष्ट पुरुष हैं, जिनकी आयु साधारण मनुष्यों मे बहुत अधिक होती है, उन्हों का चरित्र पुराणों में होता है। यों-प्रसङ्गवश साधारण मनुष्यों का भी उल्लेख हो जाता है। काल बँधा नहीं है। अपनी-अपनी कल्पना से उसे हमने बांध लिया है, जैसे कुएँ का मेंढक कूएँ को ही संसार समझता है उसी प्रकार हम १०० वर्ष की आयु को ही बहुत समझते हैं। यही भगवान् की क्रीड़ा है। यही काल स्वरूप

श्रीहरि की मोहिनी माया है, इसी में भूल कर प्राणी मैं मेरा तू तेरा करता रहता है। इस विषय में आप एक दृष्टान्त सुनिये।

एक बार भगवान् गंगातट पर बैठे हुए थे, नारदजी उनके समीप गये और उनके चरणों में प्रणाम करके बोले—"प्रभो! ये जीव आपका भजन क्यों नहीं करते?"

भगवान् ने कहा—"नारदजी! ये सब मेरी माया में मोहित हो रहे हैं।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! मैंने सब कुछ देखा, किन्तु आपकी माया नहीं देखी। वह काली है या गोरी। सुरूपा है या कुरूपा। उस माया को मुझे और दिखा दीजिये।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"नारदजी! तुम ब्रह्मचारी ठहरे। माया तो घर द्वार, स्त्री परिवार पैसा प्रतिष्ठा वालों को घेरती है। तुम इस चटक मटक वाली ठगिनी को देखकर क्या करोगे। इसके देखने से ही तो उन्माद होता है। इसीलिये जहाँ तक हो इसे देखना नहीं चाहिये। इसकी ओर से आँखें फेर लेनी चाहिये। तुम राम राम रटो माया फाया के चक्कर में क्यों फँसते हो?

नारदजी ने कहा—"नहीं, महाराज! एक बार तो मुझे दिखा ही दो। बिना जाने इससे कैसे बचा जायगा। एक बार उसे देखने की मुझे बड़ी इच्छा है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, गङ्गाजी में स्नान करके आओ; मैं तुम्हें अपनी माया दिखाता हूँ।"

इतना सुनते ही नारद जी ने अपनी वीणा किनारे पर रख दी। रामनामी दुपट्टा उतारा और शिखा खोलकर गंगा जी में कूद पड़े। ज्योंही नारद जी ने एक डुबकी लगाई त्योंही वे क्या देखते हैं, कि वे एक बड़ी सुन्दरी स्त्री बन गये। अब उन्हें यह बात तो स्मरण थी, कि मैं नारद हूँ, किन्तु शरीर सर्वथा बदल गया। अंग अंग से यौवन और सौन्दर्य का मद फूट रहा था। इतने में ही एक राजा आ गया। वह इनसे हँस हँस कर बातें करने लगा। बहुत बात बढ़ाने की क्या प्रयोजन, दोनों की सांठ गांठ हो गई। राजा ने इनके साथ विवाह कर लिया। अब तो नारद जी रानी बन गये। बाल बच्चे होने आरम्भ हुए दश लड़के और बारह लड़कियाँ हुईं। लड़कों के विवाह किये। लड़कियों को योग्य वरों के साथ जोड़ी मिलाई, स्वयंवर रचाये। विवाह कराये। लड़कों के भी लडके हो गये। राजा मर गये। बाल सफेद हो गये। बुढ़िया के सम्मुख बेटा, नाती पोती, धीय धेवते, उनके भी लड़के बच्चे हो गये। एक दिन बुड्ढी भी लडकों को रोते बिलबिलाते छोड़कर मर गई। उनके सब नाती, पोते, बेटे कुटुम्ब परिवार के लोग बड़ी धूम धाम से बुढ़िया को गंगा किनारे फूँकने के लिये ले गये। वहाँ जाकर उन सब ने चिता बनाई। बुढ़िया को उस में रख दिया, आग लगा दी, धू धू करके चिता जलने लगी।

उसी समय नारद ने जो बुड़की मारे थे, वे तुरन्त उछले। उन्होंने बुड़की मार कर तीन बार अघमर्षण मंत्र पढ़ा था

इतनी ही देर में ये सब कांड हो गये। उन्होंने गंगा किनारे पर देखा कि सहस्रों राज घराने के मनुष्य खड़े हुए एक शव को जला रहे है।"

नारद जी उनके समीप गये और बोले—"क्यों भाई तुम किसे जला रहे हो ?"

इसपर उनमें से सब से बड़े राजा ने कहा—"हमारी एक बहुत वृद्धा माता थी। १००० वर्ष से भी उसकी बहुत अधिक आयु थी। हम सब उसी के नाती पोते और नगड़पोते हैं। इतना बड़ा परिवार छोड़कर वह आज ही मरी है। हमें महाराज ! उसका बड़ा सहारा था। सब की बड़ी देख रेख रखती थी। क्या करें भगवन् ! हमारे भाग्य फूट गये एक ही घर में बड़ी बूढ़ी थी, वह भी चल बसी।" यह सुनकर नारद जी हँस पड़े और भगवान् के समीप जाकर बोले—"धन्य है महाराज ! आपकी माया तो बड़ी विचित्र है। इसका पार पाना अत्यन्त ही कठिन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसी प्रकार भगवान् की माया वश रेवती उत्पन्न तो पूर्व सत्ययुग मे हुई और विवाह इस अट्ठाईसवें द्वापर के अंत में हुआ। उसके विवाह के सम्बन्ध में एक विचित्र घटना घटित हो गई।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! कृपी करके उस घटना को हमें भी सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! सुनिये मैं आपको उसे सुनाता हूँ । आप सावधानी से श्रवण करें ।"

छप्पय

तप प्रभाव तैं ब्रह्मलोक महँ पहुँचे भूपति ।
निरख्यो सरस समाज होहि संगीत मधुर अति ॥
गावें गुन गोविन्द चतुर गन्धर्व तहाँ सब ।
नृत्य अप्सरा करें अनवसर समझ्यो नृप तप ॥
कछुक देर ठाढ़े रहे, जब समाप्त गायन भयो ।
तब प्रणाम करि ककुद्मी, निज कारजविधि सन कह्यो ॥

*****

रेवती का बलराम जी से विवाह

(६१०)

सुतां दत्त्वानवद्याङ्गी बलाय बलशालिने ।
बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नरायणाश्रमम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ३ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

प्रभो ! रेवती सुता भई लम्बी अति भारी ।
किन्तु योग वर मिल्यो नही अबहीं यह क्वारी ॥
जिहि सँग आयसु करैं ताहि सँग जाहि विवाहूँ ।
हँसि कमलासन कहैं नृपति अब कहाँ बताऊँ ॥
चारों युग छब्बीस इक, बार बीति भूपति गये ।
पुत्र पौत्र पीढ़ी सहस, नष्ट भूप सुत सब भये ॥

समय के साथ स्वभाव, आकृति, प्रकृति, रूप, रंग, रहन, सहन, शील, सदाचार सभी बदल जाते हैं । इन गत पचास वर्षों मे ही कितना भारी परिवर्तन हुआ है । ५० वर्ष पहिले जितने

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! राजा ककुद्मी अपनी सर्वांग सुन्दरी कन्या को महाबलवान् बलराम जी को देकर भगवान् नारायण के आश्रम बद्री नामक पुरी में तप करने के लिये चले गये ।"

लम्बे चौड़े हृष्ट पुष्ट पुरुष होते थे, उतने अब नहीं होते हैं। पचास वर्ष पहिले जैसी लोगों की पाचन शक्ति और सहन शक्ति थी, वह अब देखने को भी नहीं मिलती। जैसी धर्म भावना आज से १० वर्ष पूर्व थी वैसी अब नहीं। तमोगुणी लोग उसे उन्नति कहते है, विकास बताते है। साधु स्वभाव के सतोगुणी पुरुष इसे अवनति कहते हैं, ह्रास बताते हैं। वास्तव में यह विकास नहीं ह्रास ही है, किन्तु अविद्या माया—का स्वभाव ही है, असत् में सत् बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि मानना। ज्यों ज्यों समय बीतता है, भोग लालसा,भोग सामग्रियों की प्रचुरता होती जाती है, भौतिक वाद बढ़ता जाता है, सत्य धर्म परमार्थ और बल पौरुष क्षीण होता जाता है। जब यह अवनति पराकाष्ठा को पहुँच जायगी, तो फिर एक साथ उन्नति हो जायगी। यही ससार चक्र है। जरा तो शनैः शनैः अवश्य आती है, किन्तु नूतनता सहसा आ जाती है। यह उत्थान-पतन का क्रम अनादि है, अनन्त काल तक बना रहेगा।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब मैं रेवत के ज्येष्ठ पुत्र ककुद्मी की रेवती नाम्नी पुत्री का चरित्र कहता हूँ। महाराज ककुद्मी के पुत्र तो १०० थे, कन्या एक ही थी, रेवती। महाराज अपनी इकलौती पुत्री को बड़ा प्यार करते थे। महाराज ! वह लड़की रेवती अपेक्षाकृत अधिक लम्बी थी। जैसे आजकल आदमी ३॥ हाथ के होते हैं। सत्ययुग में सब २८ हाथ के होते थे, त्रेता मे १४ हाथ के द्वापर में ७ हाथ के और कलियुग में घटते घटते ३॥ हाथ के आदमी हो गये। यह क्षीणता का क्रम अभी चल रहा है। पिता के सदृश पुत्र नहीं होते। रेवती का जन्म तो मन्वन्तर के प्रथम सत्ययुग में हुआ था। हमारे हाथों

से उसे नियमानुसार २८ हाथ लम्बा होना चाहिये था, किन्तु वह इससे भी ऊँची थी। अपने हाथों से तो सब काल में सभी पुरुष ३॥ हाथ के ही होते है। छोटा बच्चा भी, और बूढा भी। इसी प्रकार सत्ययुग में अपने हाथों से सब ३॥ ही हाथ के थे, जैसे हाथ बढता है, वैसे शरीर बढ़ता है। रेवती अपने समय की लड़कियों में बहुत लम्बी मानी जाती थी। बहुत सी लड़कियाँ बहुत ही शीघ्र खजूर की तरह लम्बी हो जाती है। जो लड़के ठिगने होते है, वे चाहे अवस्था मे दुगने ही क्यों न हों, खजूर सी लम्बी लड़की को देखते ही डर जाते है। रेवती की लम्बाई से सभी राजकुमार हिचकते थे। बहुत से राजकुमार रेवती को देखने आये, किन्तु उसे लम्बी देखकर लौट गये। किसी किसी ने तो यह कह दिया हमें अपने सभी महलों के द्वार तुड़वा कर लम्बे बनवाने पड़ेंगे। इतनी लम्बी वहू को हम कहाँ रखेंगे। कुछ लम्बे राजकुमार भी आये। राजा अपनी कन्या के लिये सर्वश्रेष्ठ वर चाहते थे। २—४ लडके उन्हें अच्छे योग्य प्रतीत हुए। किसी में कोई गुण विशेष था, किसी में कोई जैसे भोजन के समय कई प्रकार की सुन्दर सुन्दर वस्तुएँ आ जाती हैं, तो हम निर्णय नहीं कर सकते कि पहिले किसे खायँ, इसी प्रकार स्वय महाराज निर्णय न कर सके, कि किसके साथ अपनी कन्या का विवाह करें।

राजा बड़े प्रतापशाली धर्मात्मा और योगविद्या में निपुण थे। इच्छानुसार चाहें जिस लोक मे इसी शरीर से चले जाते। यही नहीं अपने प्रभाव से जिसे भी चाहते उसे साथ ले जा सकते थे।

एक दिन राजा ने सोचा—"चलो न हो तो ब्रह्मलोक में चलकर ब्रह्मा जी से ही इसका निर्णय करालें कि कन्या का

विवाह किसके साथ करें। वे सर्वज्ञ हैं, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों की बात जानते हैं। वे इसका भाग्य देखकर जिसके साथ विवाह करने को कह देंगे उसी के साथ इसका विवाह कर दूँगा।"

यही सब सोचकर रेवती को लिये हुए अपनी सामर्थ्य से ब्रह्मलोक मे पहुँच गये। उस समय उन्होंने देखा, ब्रह्माजी के यहाँ समाज लगा हुआ है संगीत का कोई विशेष समारोह है। बड़े बड़े गाने वाले गन्धर्व आये हैं। ऋषि, मुनि तथा देवताओं से सभामंडप भर रहा है। हू हू गन्धर्व बड़े तालस्वर के साथ गा रहा है। महाराज ककुद्मी ने इसे उपयुक्त अवसर न देखकर बीच में कुछ भी न कहा। दूर से ही लोक पितामह ब्रह्माजी को प्रणाम करके एक ओर शान्ति के साथ बैठ गये। कुछ देर तक गाना सुनते रहे। गन्धर्व गाने में बड़ा निपुण था, यह सभा का अन्तिम गाना था। हू हू के पश्चात् और कौन गा सकता है। हू हू एक एक कड़ी को लेकर अनेक लय और स्वरों में गाता। सब लोग तन्मय हो रहे थे। कुछ काल में गायन समाप्त हुआ। संगीत समाज भंग हुआ। ब्रह्माजी ने आगत लोगों से कुशल प्रश्न पूछे। महाराज ककुद्मी ने भी प्रणाम किया और अपनी पुत्री से भी प्रणाम कराया, फिर हाथ जोड़कर उनके सम्मुख खड़े हो गये।

हँसते हुये ब्रह्मा जी ने पूछा—"ओ हो! राजन्! आप कब आये?"

विनय के साथ राजा ने कहा—"प्रभो! मैं अभी आया था। आधा मुहूर्त भी न हुआ होगा। हू हू ने गाना आरम्भ ही किया था।"

ब्रह्माजी प्रसन्न होकर बोले—"अच्छी बात है। कहो सब कुशल तो है न ? किसी विशेष प्रयोजन से आना हुआ ?"

राजा ने सरलता के साथ कहा—"नहीं, भगवन् ! कोई विशेष बात नहीं। मैंने सोचा, चलो बहुत दिन हो गये हैं, आपके दर्शन भी कर आऊँ और इस लड़की के सम्बन्ध मे भी पूछ आऊँ ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, यह लड़की तुम्हारी ही है क्या ? यह तो भैया, बहुत लम्बी हो गई है, इसका अभी विवाह नहीं किया क्या ?"

ककुद्मी ने कहा—"यही तो महाराज ! मैं आप से आज्ञा लेना चाहता था। इस लड़की की अवस्था तो कुछ विशेष है नहीं, किन्तु खजूर की भाँति बढ ही बहुत गई है। अपेक्षा कृत अन्य लड़कियों से यह लम्बी है। राजकुमार इसे देखते हैं और अधिक लम्बी देखकर डर जाते हैं। दो चार से बातचीत चल भी रही है, उनमे से मैं निर्णय नही कर सका हूँ कि किसके साथ इसका विवाह करूँ। आप आज्ञा दे दें उसी के साथ इसका विवाह कर दूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, बताओ, किन किन के लिये तुमने सोचा है। कौन कौन राजकुमार तुम्हें उपयुक्त प्रतीत हुए ?"

इसपर महाराज ककुद्मी बोले—"भगवन् ! विदर्भ देश का राजकुमार अच्छा है अवस्था में तो इससे बहुत बड़ा है, किन्तु लम्बाई में इससे कम है, लड़का बड़ा सुन्दर है, किन्तु साँवला मन है। मैं चाहता हूँ वर गोरा हो। निषध देश का राजकुमार

वैसे लम्बा भी है, सुन्दर भी है, किन्तु उसकी एक आँख कुछ चढ़ी हुई सी है, उसके पिता का राज्य भी बहुत छोटा है। वैसे लड़का बड़ सुशील है। एक अनूप देश का राजकुमार है, वहा सुन्दर दर्शनीय है। लम्बाई में प्राय: बराबर ही है, मुझे तो लड़का अच्छा लगता है, किन्तु इसकी माँ कहती है कि लड़के की माता बड़ी लड़ाकू है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले—'राजन् ! आप ये कैसी बातें कह रहे है, जिनके आप नाम ले रहे है, उनके तो नाती-पती सतो क्या सहस्रो पीढियाँ बीत चुकी।"

आश्चर्य के साथ राजा ने पूछा—"क्यों महाराज ?"

ब्रह्माजी बोले—"क्यो क्या ? जितनी देर में आपने यहाँ बैठकर संगीत सुना, उतनी देर में पृथिवी पर २७ बार चारों युग बीत चुके। आपके पुत्र पौत्र सहस्रों पीढ़ियाँ हुई नष्ट हो गई। आपके कुल मे अब कोई नहीं रहा। आपके कुछ वशज रह गये थे, उन्हें यज्ञो ने आकर बहुत क्लेश दिया। वे डरकर कुरास्थली को छोडकर भाग गये। तुम्हारी नगरी बहुत दिन तक उजाड़ पड़ी रही। अब आकर बसी है।"

अत्यन्त आश्चर्य के साथ राजा ने पूछा—"महाराज ! हमारे वंश के लोग कहाँ गये ? अब हमारी पुरी पर किन्होने अधिकार जमा लिया ?"

हँसकर ब्रह्माजी बोले—"अजी, राजन् ! अब तुम्हारा क्या है। अब तो सब गुड़ गोबर हो गया। अब तुम अपने वंशजों के समीप जाओगे तो तुम्हें भूत प्रेत समझेंगे और डरकर भागेंगे। स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा नराकृति में अवनि पर अवतरित हुए हैं। वे लीला करने के लिये मथुरा से भाग

कर कुशस्थली में आकर रहने लगे हैं। तुम्हारे महलों की ईंटों की कौन कहे धूलि भी वहाँ शेष नहीं है। पृथिवी तब से बहुत अधिक ऊँची हो गई है। तब के रजकण न जाने कितने नीचे दब गये। अब तो वहाँ सुवर्ण की द्वारिका बन गई है। भगवान् श्रीमन्नारायण के अंशभूत महाबली सकर्षण भगवान् ने बलदेव के रूप में श्री हरि के अग्रज बनकर अवतार धारण किया है। राजन्! यह कन्यारत्न उन्हीं नररत्न को दे दो। यह कन्या उन्हीं के अनुरूप है। वे परम दर्शनीय शोभासम्पन्न और बलवान् है। उनकी पत्नी होकर ही यह सुख पावेगी।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्मा जी के वचन तो अलीक होते हैं। ब्रह्मवाक्य टल नहीं सकता। उसमें ननुनच के लिये स्थान नहीं। राजा ककुद्मी योग द्वारा क्षण भर में कुशस्थली आ गये। इतने लम्बे चौड़े पुरुष देखकर सभी लोग डर गये। कलियुगी छोटे पुरुष महाराज ककुद्मी के सम्मुख ऐसे लगते थे, मानों मिट्टी के छोटे छोटे खिलौने चल रहे हों। चूहे के बच्चों की तरह पुरुषों को देखकर राजा बड़े आश्चर्य में पड़े। फिर भी वे भगवान् के समीप पहुँचे। सभा में भगवान् विराजमान थे, बलदेव जी भी बैठे थे। सुधर्मा सभा में तो कितना भी बड़ा पुरुष आ जाय उतनी ही ऊँची हो जायगी करोड़ों पुरुष क्यों न आ जायँ उतनी ही चौड़ी हो जायगी, क्योंकि वह तो विश्वकर्मा की बनाई हुई दिव्य सभा थी।

राजा ककुद्मी ने भगवान् को और बलदेव जी को प्रणाम करके बलदेव जी से कहा—"प्रभो! आप मेरी इस कन्या को पत्नीरूप में स्वीकार कर लें।"

यह सुनकर सभी सभासद मुँह में कपड़े देकर हँसने

लगे। भगवान् भी पीछे मुख करके हँसने लगे। बलदेव जी ने कहा—"राजन् ! मैं तो इतनी लम्बी बहू को लेकर क्या करूँगा। आप कौन हैं, किस लोक के रहने वाले हैं। आप इस पहाड़ से भी ऊँची लड़की को मेरे कंठ मे क्यों बलपूर्वक बाँधना चाहते हैं ? यहाँ और भी तो राजा है।"

राजा ककुद्मी बोले—"प्रभो ! मैं भी मनुष्य लोक का ही प्राणी हूँ। जहाँ आजकल आप लोग राज्य कर रहे हैं, कभी यहाँ मेरी भी बड़ी समृद्धशालिनी राजधानी थी। महाराज मैं आज से अट्ठाईसवें सत्ययुग में पैदा हुआ था। वैवस्वत मनु के पुत्र, महाराज शर्याति का प्रपौत्र हूँ। मेरे पिता का नाम रेवत पितामह का नाम आनर्त और प्रपितामह का नाम शर्याति था। महाराज आनर्त के नाम से ही इन देशों का ही नाम अब तक आनर्त है। ब्रह्मलोक में मुझे क्षण भर गाना सुनने में लग गया। इतनी ही देर में यहाँ २७ बार चारो युग बीत गये। महाराज ! इस काल की गति अव्याहत है। यह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। प्राणी प्रमत्त होकर नाना कार्यों में लगे रहते है। किन्तु काल अप्रमत्त भाव से अपना कार्य करता रहता है। मुझे तो ब्रह्माजी ने आज्ञा दी है कि मैं अपनी इस कन्या का विवाह आप के साथ कर दूँ। अब जैसी आपकी आज्ञा हो।"

तब बलदेव जी ने कहा—"भाई, जब ब्रह्माजी की आज्ञा है, तब तो हम क्या कह सकते हैं। उनकी बात को टालने की किसमें सामर्थ्य है। अच्छी बात है, होवें विवाह की तैयारियाँ।"

इतना सुनते ही यादवों में बड़ा हर्ष फैल गया। द्वारिका में आने पर यही सर्व प्रथम विवाह था। श्रीकृष्ण भगवान् की

भी विवाह करने की बड़ी इच्छा थी, किन्तु जब तक बड़े भाई का विवाह न हो जाय, तब तक छोटा भाई विवाह कैसे कर सकता है। उसे परवेत्तापने का पाप लगता है। अब बलदेव जी के विवाह होने से मार्ग खुल जायगा। अब भगवान् विवाहों की झड़ी लगा देंगे। यही सब सोचकर विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। ४-४-५-५ लम्बे लम्बे बाँस जोड़कर मडप बनाया गया। क्योंकि यदि १२-१४ हाथ के बाँसों से बनाया जाता तो रेवती जी भाँवर में कैसे फिर सकती थी। ब्राह्मणों ने मत्र पढे। जब रेवती जी बलदेव जी के साथ भाँवर फिरने खड़ी हुई तो सभी हँसने लगे। कोई कहता बहू क्या है, लम्बी चौड़ी खजूर है। अब बलदेवजी को पख लगाने पड़ेंगे कि उड़कर उसके सिर पर पक्षी की भाँति बैठ जायँ। भगवान् तो विनोदी ही ठहरे। बोले—"भैयाजी, भाभी के सिर पर हाथ रखना चाहिये आशीर्वाद भी तो दें। बलराम जी को आया जो क्रोध सो उन्होंने अपना हल उठाकर रेवती के गले में फाँसा और बड़े वेग से एक झटका मारा सो रेवतीजी गोल मटोले हो गई। फिर मूसल से न जाने क्या ठोक पीट करदी, कि वे बलदेव जी के कंधे के बराबर बन गई। यह देखकर सभी साधु साधु कहने लगे। उसी दिन से रेवती जी ऐसी कुछ डर सी गई हैं कि वे बलदेवजी के साथ खड़ी नही होती। मन्दिरों में सर्वत्र लक्ष्मीनारायण, शिवपार्वती, राधाकृष्ण, को साथ साथ देखेंगे, किन्तु रेवती बलरामजी कही भी साथ न दिखाई देंगे। बल-

देवजी इस कोने में होंगे तो रेवती जी दूर दूसरे कोने खड़ी होंगी।

इस प्रकार जब रेवती का बलदेव जी के साथ विवाह हो गया, तो राजा ककुद्मी सुखी हुए। कलियुगी पुरुषों को निस्तेज निर्बल और चूहे बिल्ली के बच्चों की भाँति देखकर वे परम विस्मित हुए। अब उन्होंने पृथिवी पर ऐसे रहना उचित नहीं

समझा। वे अपनी कन्या को प्यार करके तथा भगवान् श्रीकृष्ण और बलदेवजी से सत्कृत होकर उन्हें प्रणाम करके गंधमादन पर्वत पर बद्रिकाश्रम में तपस्या करने चले गये, और अब तक वे दिव्य रूप से बद्रिकाश्रम से आगे कलापग्राम में रहकर तपस्या कर रहे हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने संक्षेप में मनु-पुत्र शर्याति के वंश का वर्णन किया अब आप मनुपुत्र नभग के वंश को श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

प्रकट भये भगवान् भक्त भय हरिबे बारे।
च्येष्ठ बन्धु बलराम भये तिनि के अति प्यारे॥
तिन संग करी विवाह ककुद्मी सुनि हरषाये।
लई रेवती संग द्वारका छिन महँ आये॥
हर्षि नृपति ने रेवती, बलदाऊ कूँ दै दई।
खेंची हल तें बल बहू, लम्बी ठिगनी कर लई॥

नभग के वंश का वर्णन

(६११)

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम् ।
यविष्ठं व्यभजन् दायं ब्रह्मचारिणमागतम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० १ श्लोक)

छप्पय

मनु के इक सुत नभग भये कैई तिनके सुत ।
तिन महँ इक नाभाग वेद विद् पंडित गुनयुत ॥
पढ़न गये धन बन्धु करयो पीछे बटवारो ।
लौटि कह्यो नाभाग कहाँ है भाग हमारो ॥
बन्धु कहे नाभाग तब, पिता भाग तुम्हरे रहे ।
करि प्रणाम नाभाग ने, बन्धु वचन पितु तें कहे ॥

बहुत से लोग सोचते हैं, कलियुग में ही अधर्म, अन्याय अनाचार, कलह, वैर, धूर्तता, वाक्छल, व्यभिचार, पाप, लोभ

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मनु के पुत्र नभग के एक नाभाग पुत्र हुए। उनके बड़े भाइयो ने पैतृक संपति के बँटवारे मे पड़कर लौटने पर उन विद्वान ब्रह्मचारी को दाय भाग मे केवल पिता को ही दिया था।"

तथा अन्य सभी दुर्गुण होते हैं। सत्ययुग में इनका अभाव था। सो बात नहीं है। यह सृष्टि गुण दोषों से ही मिलकर है। पाप पुण्य, धर्म अधर्म गुण अवगुण, भले बुरे आदि द्वंद सनातन हैं। अन्तर इतना ही है, सत्ययुग आदि धर्म प्रधान युगों में ये न्यून से भी न्यून नहीं के बराबर रहते थे, और कलि युग जैसे अधर्म प्रधान युगों में इन्ही का प्राबल्य रहता है। धर्म अधर्म दोनों को ही हम अपने पूर्वजों से ही सीखते हैं। पहिले भी लोग छल ले अपने भाइयों के भागों को हर लेते थे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मनुपुत्र नभग के कई पुत्र हुए। उनमें से एक का नाम नाभाग था। वह बड़ा ही बुद्धिमान्, ज्ञानी तथा पितृभक्त था। अन्य भाई सब ऐसे ही सांसारिक विचार के थे। और सब तो गुरुकुल में पढ़ने गये और कुछ काल पढ़कर चले आये, किन्तु नाभाग बहुत दिनों तक पढ़ते रहे। नाभाग के अन्य भाइयों ने आकर राज्य के सब देश धन धान्य, गृह आदि सब परस्पर में बांट लिये नाभाग के लिये कुछ भी शेष न रखा।

कुछ काल के पश्चात् नाभाग गुरुकुल से लौटे। लौटकर उन्होने अपने भाइयों को बड़े सुख से राज्य सुख भोगते हुए देखा। सभी के भवन वैभवशाली थे। पिता नभग एकान्त में भजन करते थे। नाभाग ने अपने भाइयों से कहा—"बन्धुओ! मैं भी आप लोगों का भाई हूँ, राज्य में, धन में मेरा भी भाग होना चाहिये। मेरा भाग कहाँ है, मेरे भाग में कौन सा देश आया है?"

उन सब भाइयों ने तो नाभाग का कोई भाग रखा ही नहीं था। अतः सोच समझकर बोले—"देखिये, भाई! सम्पत्ति अनेक प्रकार की होती है, धन, मणि, माणिक्य, धातु आदि

चल सम्पत्ति कहाती है पृथिवी, घर, बाग, बगीचे आदि अचल सम्पत्ति कहाती है। इनके अतिरिक्त चैतन्य सम्पत्ति भी होती है, माता पिता ये भी पुत्रों की सर्व श्रेष्ठ सम्पत्ति हैं। अत हमने तुम्हारे भाग में पिता जी को रखा है।

नाभाग ने कहा—"बडी अच्छी बात है। यह मेरा बडा सौभाग्य है कि पिताजी भाग में आये है। अब मैं उन्ही की शरण मे जाता हूं।" यह कहकर वे पिता जी के पास गये। पिता के चरणों मे प्रणाम करके वे बैठ गये। पिता ने कुशल प्रश्न पूछे। और यह भी पूछा कि विद्या समाप्त करके समावर्तन संस्कार कराके तुमने अभीतक विवाह किया या नही! तुम्हें किस देश का रज्य मिला है।"

नाभाग ने कहा—"पिताजी! अभी तक मैंने विवाह नही किया, मेरे भाइयों ने मुझसे कहा है कि हमने तुम्हारे भाग में पिता जी को रखा है, अतः मैं यही आपके चरणों में रहकर आपकी सेवा करूँगा।"

यह सुनकर महाराज नभग ने हँसकर कहा—"बेटा! उन धूर्तों ने तेरे साथ कपट व्यवहार किया है। तुझे ठगने के लिये उन्होंने ऐसी छल पूर्ण बात कही है। सम्पत्ति तो वह होती है जिससे जीविका का साधन हो सके। मैं तो बुड्ढा हूँ तुम्हारी आजीविका का क्या साधन हो सकता हूँ। उलटे तुम्हें ही मेरी सेवा करनी पड़ेगी। इधर उधर से परिश्रम करके मुझे खिलाना पिलाना पड़ेगा, इसलिये तुम उनके पास जाओ और डाँट डपट कर उनसे अपना भाग मांगो। सीधी उंगली से घी नहीं निकलता। टेढ़ी करने से घी निकल आता है। द्वितिया का चन्द्रमा टेढ़ा होता है, इसलिये उसे सभी नमस्कार करते हैं। तुम उन कपटियों की बातों में मत आओ।"

नाभाग ने कहा—"पिताजी! जब उन्होंने मुझे आपको दे दिया है, तो मैं तो आपको ही अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति समझता हूँ। इन कंकड़ पत्थर सोने चाँदी की ठीकरियो के पीछे मैं अपने सगे भाइयों से लड़ना नहीं चाहता, मेरे भाग्य में होगा तो बिना दिये मुझे बहुत मिल जायगा। मैं तो अब आप की ही सेवा करूँगा। आपसे बढ़कर ससार में कौन सम्पत्ति हो सकती है। मैं क्षत्रिय पुत्र हूँ, आजीवका तो सब भगवान् चलाते ही हैं।"

नाभाग की ऐसी सत्यधर्म में आस्था देखकर पिता उस पर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"देखो, भैया! मेरे पास धन, रत्न तो अब कुछ नही, राज्य मैने छोड़ ही दिया है, किन्तु तो भी मैं तुम्हें एक धन प्राप्ति का साधन बताता हूँ। यहाँ से समीप ही अङ्गिरस गोत्र के बहुत से ब्राह्मण बहुत द्रव्य लगाकर एक बड़ा भारी यज्ञ कर रहे है। उस यज्ञ में वे छठवे दिन के कृत्य को भूल जाते हैं। यज्ञ में जहाँ विधि की तनिक सी भी त्रुटि हुई, वही सब गुड़ गोबर हो जाता है। यदि उनका यज्ञ ऐसे ही होता रहा, तो सब यज्ञ निरर्थक हो जायगा। जितना द्रव्य लगा रहे है, वह सब व्यर्थ व्यय होगा। यही नहीं राक्षस लोग यज्ञ में छिद्र देखते रहते है। विधिहीन यज्ञ का कर्ता शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। वे भूल बहुत बड़ी-नही करते वैश्वदेव सम्बन्धी दो सूक्त उन्हें स्मरण नहीं आते। इसी से यज्ञ विधिहीन हो रहा है। तुम जाकर इन दो सूक्तों को उन्हें छटवें दिन बता देना। जिससे उनका यज्ञ पूर्ण हो जायगा। यज्ञ के पूर्ण होने पर उनके पास जितना अटूट धन है वे सब तुम्हें देकर स्वर्ग चले जायँगे। तुम उस अपार धन राशि को पाकर मालामाल हो जाओगे।"

नाभाग ने कहा—"पिताजी ! ब्राह्मणों के द्रव्य को दान में लेना यह तो बड़ा भारी दोष है।"

पिता ने कहा—"भैया, तुम दान कहाँ ले रहे हो। यह तो दक्षिणा है। वृत्तिहीन विद्वान क्षत्रिय के लिये यज्ञ करा के दक्षिणा लेने का अधिकार है। दक्षिणा दान नहीं, पारिश्रमिक है। यदि तुम उन्हें ये दो सूक्त न बताओगे, तो उनका सब यज्ञ व्यर्थ हो जायगा, और यदि तुम बता दोगे, तो तुम्हारे कारण उनका सब श्रम सफल होगा। धन लगाना सार्थक हो जायगा। अतः तुम इस विषय में कोई सन्देह मत करो।"

पिता के ऐसे वचन सुनकर नाभाग उन अङ्गिरा गोत्रीय ब्राह्मणों के निकट गये। वहाँ जाकर वे ब्राह्मणों के यज्ञ में सत्कार पूर्वक रहने लगे। जब छठवाँ दिन आया तब उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों ! आप इस छठे दिन के कर्म में मोह को प्राप्त हो जाते है। इसमें वैश्यदेव सम्बन्धी ये सूक्त पढ़े जाते हैं। इन्हें सस्वर विधिविधान पूर्वक पढ़ने से ही आपका यज्ञ पूर्ण होगा।"

ब्राह्मणों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ कहा—"राजन् ! आप ने हमारे साथ बड़ा उपकार किया। हम विधिरूप अगाध समुद्र में डूब रहे थे। आपने नौका रूप में उपस्थित होकर हमें तार दिया। विधि का दोष दूर होते ही हम सब इस यज्ञ को समाप्त करके सीधे स्वर्ग चले जायँगे। आपकी ही कृपा से हमारा यह यज्ञ पूर्ण होगा अतः यज्ञ में जो भी कुछ सामग्री अवशिष्ट रहे, वह सब तुम्हारी हुई। यह हमारा आग्रह है, क्योंकि जब तक यज्ञ पूर्ण कराने वाले को दक्षिणा नहीं दी

जाती, तब तक पूर्ण होने पर भी यज्ञ अपूर्ण ही समझा जाता है। अतः हम यज्ञ का सर्वस्व द्रव्य आपको समर्पित करते हैं।"

नाभाग ने कहा—"ब्राह्मणो! जैसे आप लोगों की आज्ञा होगी, वैसा ही मैं करूँगा। मेरे पूज्य पिताजी ने इसके लिये आज्ञा प्रदान कर दी है।"

श्रीशुकदेव जी कहते है—"राजन्! नाभाग की स्वीकृति पाकर वे सब के सब परम प्रसन्न हुए और अपने यज्ञ को पूर्ण करके सब के सब स्वर्ग को चले गये।

ब्राह्मणों का वह यज्ञ बड़ा भारी था। बड़े-बड़े सुवर्ण के पात्र, बहुत सा द्रव्य तथा अन्य भी बहुमूल्य सामग्रियाँ वहाँ थीं। जब नाभाग उन सब को लेने लगे, तो वहाँ, वे क्या देखते हैं कि एक बड़ा भारी तेजस्वी कृष्णवर्ण का पुरुष दशों दिशाओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता हुआ शीघ्रता से दौड़ा आ रहा है। नाभाग तो उन अलौकिक देव को देखकर सकपका गये। आते ही उस परम तेजस्वी पुरुष ने ललकार कर कहा—"सावधान-सावधान, यज्ञावशिष्ट किसी भी सामग्री में तुम हाथ मत लगाना। यह यज्ञ भूमि में बचा हुआ सम्पूर्ण द्रव्य मेरा है।"

उन कृष्णवर्ण पुरुष के ऐसे वचन सुनकर दृढ़ता के साथ नाभाग ने कहा—"आपका कैसे है जी, स्वर्ग जाते समय तो ऋषिगण मुझे ही यह सब द्रव्य दे गये हैं?"

उन कृष्णवर्ण पुरुष ने कहा—"किसी की वस्तु को कोई किसी अन्य व्यक्ति को दे जाय, तो वह दान अवैध है। इस द्रव्य का अधिकारी तो मैं हूँ, ब्राह्मण देने वाले कौन होते हैं?"

नाभाग ने कहा—"वैध अवैध का निर्णय राजा करता है। मेरे पिता ने मुझे आज्ञा दी थी, कि दो सूक्त बताने पर ब्राह्मण तुम्हें अपना धन देकर स्वर्ग चले जायेंगे। एक तो मेरे पिता ने यह व्यवस्था दी। फिर वेदज्ञ ब्राह्मण स्वयं मुझे दे गये। दोनों प्रकार से मैं द्रव्य का अधिकारी हूँ। फिर ऐसे समय आपका इस द्रव्य पर अधिकार बताना अनुचित है। आपकी अनाधिकार चेष्टा है।"

उस कृष्णवर्ण के तेजस्वी पुरुष ने कहा—"अच्छी बात है। हमारे तुम्हारे इस विवाद के निर्णय कर्त्ता तुम्हारे पिता ही हैं। तुम अपने पिता से जाकर पूछो, कि इस प्रकार का एक पुरुष यज्ञावशिष्ट द्रव्य पर अपना अधिकार बता रहा है। यह सुनकर तुम्हारे पिता जो भी निर्णय करदें वही हमें स्वीकार है।"

यह सुनकर नाभाग अपने पिता के समीप गये। उन्होंने आदि से अन्त तक सभी वृत्त कह सुनाया। सब कुछ सुनकर नाभाग ने कहा—"पुत्र! मुझसे बड़ी भूल हो गई। वे तो स्वयं साक्षात् रुद्र भगवान् हैं। दक्ष के यज्ञ में जब रुद्र का भाग नहीं निकला था, तो रुद्र के गणों ने आकर यज्ञ को विध्वंस कर दिया था। तभी देवताओं ने और ऋषियों ने यह निर्णय कर दिया था कि आज से यज्ञों में जो भी कुछ बचा करेगा, उस सबके स्वामी रुद्र भगवान् ही होंगे। अतः न्यायतः उस यज्ञावशिष्ट समस्त सामग्री के स्वामी सर्वेश्वर श्री शिव ही हैं। अवशिष्ट के ही नहीं, वे ही तो यज्ञों के अधीश्वर हैं, वे सबके ही एकमात्र स्वामी हैं। वे शिवनाथ चराचर के ईश्वर हैं। उनसे तुम वाद विवाद मत करो। उन्हें सर्वस्व समर्पित कर दो।

पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर नाभाग पुनः वहाँ गये और हाथ जोड़कर उन रुद्र भगवान् से बोले—"भगवन् ! मैं आपके चरणों में शिर से प्रणाम करता हूँ। मेरे अपराध को क्षमा करें। मेरे पिता ने कहा है ये सब वस्तुएँ शिव की ही है। प्रभो मैं इस सब को और अपने आपको भी आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। आप मेरे अनुचित आग्रह के अपराध को क्षमा करें और मुझे अपनावें।"

यह सुनकर आशुतोष भगवान् भवानीपति नाभाग के ऊपर परम प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स ! तुम धर्मात्मा हो। तुम्हारा धर्म है अविचल-मति है। तुम्हारे पिता ने भी पुत्र का पक्षपात न करके धर्म पूर्वक ही निर्णय कर दिया। तुमने भी लोभ न करके उसे मेरे सम्मुख सत्य सत्य कह दिया। अतः मैं तुम्हें सनातन ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता हूँ। इस ज्ञान को पाकर तुम कृतार्थ हो जाओगे। इस सम्पूर्ण धन को भी तुम मेरी आज्ञा से उठा ले जाओ।"

जब भगवान् रुद्र ने प्रसन्न होकर इस प्रकार कहा और उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर, तुरन्त वहाँ से अन्तर्धान हो गये, तब तो नाभाग को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उस धनराशि को लेकर पिता के समीप पहुँचे। वे अपने सभी भाइयों से धनी हो गये थे। उन्होंने उस धन से सेना एकत्रित की। बाहुबल से विशाल राज्य स्थापित किया और वे चक्रवर्ती सम्राट बन गये। इन्हीं नाभाग के पुत्र महाभागवत अम्बरीष हुए। इनके यश से अभी तक तीनों लोक व्याप्त हैं। जो बड़े ही शूर, वीर, दानी, यशस्वी, तेजस्वी, ब्राह्मणभक्त और एकादशी व्रत में निष्ठा रखने वाले थे। वे इतने तेजस्वी और भगवद् भक्त

थे, कि रुद्रावतार महामुनि दुर्वासा का कभी व्यर्थ न होने वाला शाप उनके ऊपर व्यर्थ हो गया।

यह सुनकर अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ महाराज परीक्षित ने पूछा—"प्रभो ! महर्षि दुर्वासा ने परम भागवत महाराज अम्बरीष को शाप क्यों दिया और वह अप्रतिहत शाप व्यर्थ कैसे हुआ ? कृपा कर इस प्रसंग को हमें और सुना दीजिये। उन परम प्रभावशाली महाबुद्धिमान् राजर्षि अम्बरीष के पावन चरित्र को सुनने को मेरी बड़ी उत्कट अभिलाषा है।"

यह सुनकर श्री शुकदेव जी बोले—"राजन् ! जिस प्रकार दुर्वासा का छोड़ा हुआ दुस्तर ब्रह्मदण्ड राजर्षि अम्बरीष के प्रति व्यर्थ हो गया, उस परम पावन उपाख्यान को मैं सुनाता हूँ, आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।

छप्पय

सुनि सुत वचन उपाय नभग ने नयो बतायो।
करे यज्ञ आङ्गिरस षष्ठ दिन कृत्य भुलायो॥
तिन्हें बताओ जाय सुनत नृप सुत तहँ आये।
कृत्य बताओं द्विजनि दयो धन स्वर्ग सिधाये॥
रुद्र द्रव्य अपनो कह्यो, नभग समर्थन हू करयो।
तब अर्पित सरबसु करयो, शिव प्रसन्न ह्वै वर दयो॥

★★★

अम्बरीष चरित्र

(६१२)

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम् ।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥
मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत्स्वप्नसंस्तुतम् ।
विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत्पुमान् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

हर वर तें नाभाग भयो जग महँ अति ज्ञानी ।
अम्बरीष सुत तासु यशस्वी दृढ़ व्रत दानी ॥
सप्तद्वीप को अधिप अतुल वैभव सब पायो ।
किन्तु स्वप्न सम समुझि कृष्ण चरननि चित लायो ॥
भयो चित्त चितचोर को, सरस माधुरी पान करि ।
भयो जीभ यश नाम को, नित्य निरन्तर गान करि ॥

जो इस जन्म में दरिद्री ही होकर जन्मे हैं और जिन्हें धन की संसारी भोगों की कभी स्पृहा ही नहीं हुई है जो जीवन-

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाभाग अम्बरीष इस सप्तद्वीपवती पृथिवी के राजा थे । इतनी बड़ी पृथिवी, अव्यया लक्ष्मी पृथिवी में अतुल वैभव मनुष्यों के लिये इन सब अति दुर्लभ वस्तुओं को पाकर भी वे इन को स्वप्न के पदार्थों के समान ही समझते थे ।"

भर धन और विषय भोगों से पृथक् ही रहे हैं। उनके विषय में तो कहना ही क्या है! वे तो पुण्य पाप से परे के प्राणी हैं, किसी विशेष कारण वश उन्होंने लोक में जन्म ग्रहण कर लिया है, वास्तव में तो वे अलौकिक महापुरुष हैं। उनकी बातें छोड दो, किन्तु जो धन वैभव, ससारी भोगों की समस्त सामग्रियों के रहते हुए भी, उनकी ओर आँख उठा कर नहीं देखते, उन्हें स्वप्न के समान, गन्धर्व नगर के सदृश समझकर सदा भगवत् परिचर्या में ही निमग्न रहते हैं, वे बड़े ही भाग्य शाली पुण्यात्मा और अद्वितीय महापुरुष हैं। वे भगवान् के परम अनुग्रह भाजन हैं। नही तो धन वैभव का मद तो प्राणियों को मदोन्मत्त बना देता है। वे स्वार्थ परमार्थ सभी को भूल कर विषयों के गहन वन में भटककर पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। पुण्यश्लोक, महाभाग अम्बरीष उन्ही प्रातः स्मरणीय भगवद् भक्तों में से एक आदरणीय राजर्षि भक्त हो गये है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् मैंने तुम्हें मनुपुत्र नभग के पुत्र नाभाग का शिवभक्ति पूर्ण परम रहस्यमय चरित्र सुनाया। अब आप उनके पुत्र परम भगवद्भक्त राजर्षि अम्बरीष के चरित्र को श्रवण करें।"

नाभाग तनय महाराज अम्बरीष की भक्ति संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है। वे इस सप्तद्वीपवती वसुन्धरा के एकमात्र अधिपति थे। उन्हें वे सब सुख की सामग्रियाँ सरलता और सुविधा के साथ प्राप्त थीं, जिनका प्राप्त करना पृथिवी के नरपतियों की तो बात ही क्या, अमरों के अधिप इन्द्र को भी दुर्लभ थीं। उनके यहाँ किसी वस्तु की कमी नही थी। समस्त धन, ऐश्वर्य रिद्धियाँ सिद्धियाँ तथा अन्य सामग्रियाँ उनके अधीन थीं।

इतना अतुल ऐश्वर्य होने पर भी वे उसमें रञ्चक मात्र भी आसक्त नहीं थे। वे उन सभी पदार्थों को अशाश्वत, मिथ्या और नाशवान् मानते थे। उन्होंने अनुभव के द्वारा निर्णय कर लिया था, कि सब कल्पनायें मिथ्या हैं इनके सेवन से तृप्ति नहीं, सुख नहीं, शान्ति नहीं।

राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! इन संसार के पदार्थों में तो बड़ा आकर्षण है। धन पाकर मद होना स्वाभाकि है, ऐश्वर्य पाकर अभिमान बढ़ ही जाता है, आकर्षक वस्तु सम्मुख आने पर मन फिसल ही जाता है। महाराज अम्बरीष युवक थे, उनके यहाँ धन सम्पति की कुछ कमी नहीं थी, सप्तदीपा वसुमति के वे एकछत्र शासक थे। फिर भी उनका चित्त विषयों में आकर्षित क्यों नहीं हुआ ?"

यह सुनकर श्री शुक ने कहा—"राजन् ! उन राजर्षि अम्बरीष की भगवान् वासुदेव में तथा भगवान् के भक्तों में सहज स्वाभाविक भक्ति थी। महाराज ! जिसने मिश्री का स्वाद चख लिया है वह चीनी के मैल सीरा को खाकर, प्रसन्न क्यों होने लगा। जिसकी मैत्री राजा से हो गई है; वह द्वारपाल की अनुनय विनय क्यों करने लगा ? इसी प्रकार जिन्हें प्रभु का प्रेम प्राप्त है, वे इस जगत् की सम्पत्ति को तृणवत् समझते हैं, उनकी दृष्टि, में पत्थर में और सुवर्ण में कोई अन्तर नहीं रह जाता। भगवद् भक्त चाहे चक्रवर्ती हो या भिखारी दोनों ही दिशा में वे परम संतुष्ट रहते हैं।

राजा परीक्षित ने पूछा—"भगवन् ! मन तो एक ही है, उसे राजा भगवान् में लगाते थे या राजकाज में ?"

इस पर श्री शुक ने कहा—"महाराज ! उन्होंने अपने मन को श्री कृष्णचरणारविन्दों में ही लगा रखा था। ऊपरी मन से वे राजकाज तथा अन्य व्यवहार करते थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ऊपरी और भीतरी मन कैसा यह बात हमारी समझ में नहीं आई।"

सूतजी कहने लगे—"महाराज ! आपने कभी व्रजमंडल की यात्रा की होगी। व्रजवासियों की स्त्रियाँ गाँव से दूर कुँए पर पानी भरने जाती हैं। एक-एक स्त्री ४-४, ५-५ घड़े एक साथ पानी भर कर लाती हैं। एक के ऊपर एक ऐसे २-२ ३-३ घड़े तो वे सिर पर रख लेतीं। एक घड़े को बगल में दबा लेती हैं और फिर रस्सी को भी कंधे पर डालकर चलती हैं। सिर के घड़े को हाथ से छूती भी नहीं। १०-१०, ५-५ साथ जाती हैं। जिसके घर में बड़ी बूढ़ी सास हैं, वह स्वयं ही पानी भरने जाती है। बड़ी बूढ़ियों को कुलवती बहुएँ न चक्की पीसने देतीं हैं, न पानी भरने जाने देती हैं। रोटी भी नहीं बनाने देती। घूँघट मार कर रोटी बनाती जाती हैं, बड़ी बूढ़ी परसती हैं। परसने का अधिकार बहुओं को नहीं होता। यदि वे सास के रहते अपने जेठ को या पति को भोजन परस दें तो घर भर में लड़ाई हो जायगी। सास मुँह फुलाकर बैठ जायगी। सब से कहेगी—"अब तो घर मे हमें कोई पूछता ही नहीं। बहुएँ आते ही बड़ी बूढ़ी बन गई हैं। अपने मालिक को स्वयं परसकर खिलाने लगी हैं। बहुएँ क्या करें, वे सब चुपचाप सुनती रहतीं हैं। जब अपनी सखी सहेलियों के साथ पनघट पर पानी भरने जाती हैं। तो देखो उनके ठाठ मेरी सास ने यह कहा—उस पर उन्होंने यह कहा—आने और जाने में पूरे दिन भर

की दैनन्दिनी कह डालती हैं। किन्तु सिर पर रखे हुए घड़ों को नहीं भूलतीं। ऊपर के मन से तो घर गृहस्थी की सब बात करेंगी। लड़का यदि रोता हुआ आवेगा तो उसे भी उठाकर गोद में ले लेंगी, किन्तु मन घड़े में ही रहेगा। जहाँ मन घड़े से पृथक हुआ कि घड़ा फड़ाक से फूट जायगा, गिर जायगा। घर में दिन भर लड़ाई होगी, सास ननद न जाने कितनी बार अंधी बतावेंगी। सो महाराज, जैसे उन व्रजवासिनी स्त्रियों का मार्ग में आते समय निरन्तर मन पानी के घड़े में रहता है और ऊपर से घर गृहस्थी की बातें करती हैं, वही दशा महाराजअम्बरीष की थी। ऊपर से राजकाज करते हुए, मनमधुप सदा माधव की माधुरी का पान करता रहता था।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! फिर भी तो इन इतने आकर्षक विषयों में राजा का मन कुछ न कुछ तो लगता ही होगा, ऐसा न होता तो वे छोड़कर चले क्यों न जाते?"

सूतजी ने कहा—"महाराज वे जायँ कहाँ। सर्वत्र तो ये ही पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाश तथा प्रकृति के निर्मित पदार्थ हैं। ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ माया का पसारा न हो, जहाँ भगवान् न हों। जब सर्वत्र भगवान् हैं, तो यह मन का भ्रम है कि यहाँ बन्धन है यहाँ स्वतन्त्रता है। जिसके मन में बन्धन है, उसके लिये सर्वत्र बन्धन है, जिसका मन वश में है उसके लिए सर्वत्र एक सा है। मन के हारे हार है मन के जीते जीत। विषय का बीज तो यह मन है। मन जहाँ मन मोहन की माधुरी पान करके मतवाला हुआ नहीं कि फिर सम्पूर्ण संसार फीका ही फीका दिखाई देता है उसके लिए घर और वन में कोई अन्तर नहीं। "मन हाथ भयो जिनके

तिनके बन ही घर है, घर ही बन है" इस विषय में मैं आपको एक दृष्टान्त सुनाता हूँ, सुनिये।

एक बार नारद जी ने सोचा—"महाराज जनक को सब लोग विदेह कहते हैं। इतने सब राज काज करते हुए वे विदेह कैसे बने रह सकते हैं।" यही सब सोचकर वे महाराज विदेह के समीप गये राजा ने उनका बड़ा सत्कार किया, राजा से सत्कृत होकर मुनि बैठ गये। कुशल प्रश्न के अनन्तर नारद जी ने पूछा—"राजन्! आप गृहस्थ में रहकर भी विदेह कैसे हैं। ऋषि मुनि आपके ज्ञान और तप की इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं? नाना राजकाज और झन्झटों में फँसे रहने पर भी आपका मन सुख दुखों से निर्लिप्त कैसे बना रहता है? इस विषय में मुझे बड़ा सन्देह है। मेरे सन्देह का आप निवारण करें।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! ऋषि, मुनि, तपस्वी, ब्राह्मण मेरे ऊपर अत्यन्त अनुग्रह करते हैं। मेरे प्रति उनका सहज स्नेह है, जिससे स्नेह होता है उसके प्रति पक्षपात हो ही जाता है। इसी लिये प्रेम वश ऋषि-मुनि मेरी बड़ाई करते हैं, नहीं तो कहाँ मैं घर गृहस्थ में फँसा प्राणी, कहाँ आप सर्वस्व त्यागी विरागी महापुरुष?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! यह तो आप शिष्टाचार की बात कह रहे हैं, ऐसी बातें कहकर ही मुझे टरकाना चाहते हैं। रहस्य की बातें बताने की आपकी इच्छा प्रतीत नहीं होती, जब समर्थ पुरुष किसी को किसी विषय का अनधिकारी समझते हैं, तो उसे इधर उधर की बातें पूछकर टाल देते हैं, उसकी प्रशंसा कर देते है। आप ऐसा न करें

राजा ने हँसकर कहा—"ब्रह्मन् ! आज मेरा आतिथ्य स्वीकार करें। प्रसाद पाने के अनन्तर फिर इस विषय में विचार विनिमय होगा।"

नारद जी ने स्वीकार कर लिया। ५६ प्रकार के भोजन बनाये गये। भगवान् का भोग लगाकर श्रद्धा पूर्वक मुनि को प्रसाद पवाने बैठाया गया। सुन्दर रंग बिरंगा आसन सुवर्ण की चौकी पर बिछाया गया। सोने चाँदी के बर्तनों में सुस्वाद पदार्थ परोसे गये। परोसते समय खीर में साग डाल दिया, साग में हलुआ मिला दिया। चटनी में कोई कटु वस्तु मिला दी। मुनिवर ज्यों ही आसन पर बैठे कि उन्होंने ऊपर देखा उनके सिर पर कच्चे धागे में नंगी करवाल (तलवार) लटक रही है। मुनि ने मन ही मन सोचा कि राजा ने संभव है मेरे साहस की परीक्षा के लिये ऐसा किया हो, अतः वे कुछ भी न बोले। फिर भी प्राणों का मोह तो सभी को होता है। मुनि के मन में खुटका तो लगा ही हुआ था। भय में, द्वेष में, प्रेम में, चित्त तन्मय हो जाता है। मुनि का ध्यान उस तलवार में तन्मय हो गया। राजा बार बार पूछें—"ब्रह्मन् ! खीर कैसी है ? साग कैसा है ?" नारद जी का मन तो तलवार में लगा था। हाँ, हूँ कर देते, जैसे तैसे खा पीकर उठे। राजा ने स्वयं हाथ धुलाये और बड़े आदर के साथ पूछा—"ब्रह्मन् ! कहिये भोजन कैसा रहा ?"

नारदजी ने कहा—"राजन् ! आपके भोजन का क्या कहना। आप तो परम भागवत है।"

राजा ने पूछा—"महाराज सत्य सत्य बतावें कौन सा पदार्थ आपको अधिक प्रिय लगा।"

यह सुनकर हँसते हुए नारद जी ने कहा—"राजन् ! यदि

आप सत्य पूछते हैं, तो मुझे पता भी नहीं कौन कौन सी वस्तु मेरे सम्मुख परोसी गई और क्या क्या मैंने खाये। स्वभाव-वश ग्रास को हाथ से मुखमें डालता जाता था वह कंठ के नीचे उतरता जाता था। खट्टे मीठे का मुझे कोई स्वाद नहीं था मेरा चित्त तो उस ऊपर लटकती हुई तलवार में फँसा था।"

राजा ने हँसकर कहा—"ब्रह्मन्! यही आपके प्रश्न का उत्तर है। मेरा मन तो भगवान् में फँसा रहता है। शरीर से राजकाज स्वभाव-वश होते रहते है। उनमें मेरी आसक्ति नही, स्पृहा नही जो हो रहा है सब भगवत इच्छा से होता है। यही भावना दृढ़ है। मैं पृथक् हूँ, देह मुझसे पृथक है यह निष्ठा मेरी दृढ़ है इसी-लिये "ऋषि मुनि मुझे विदेह कहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यही दशा महाराज अम्बरीष की थी। उनका मन सदा प्रभु के पाद पद्मों में तल्लीन रहता था। शरीर के स्वभाव-वश और कार्य होते रहते मन वहीं अटका रहता। इसी का वर्णन मेरे गुरुदेव श्री शुक महाराज परीक्षित् से कर रहे थे कि राजन्! राजर्षि अम्बरीष के समान भागवत दूसरा कौन भूपति होगा। उनके सभी अङ्ग प्रत्यंगों की समस्त क्रियायें कृष्ण कैंकर्य में ही काम आतीं। वे अपनी वाणी से निरंतर भगवान् के मधुमय मधुर नामों का स्वर सहित उच्चारण करते। भगवान् के त्रैलोक्य पावन यश का पदों द्वारा गायन करते वाद्यों में उन्ही को बजाते। गोविन्द गुन गा गाकर गोवर्धनधारी को ही रिझाते। अपने हाथों से ही वे भगवान् के मन्दिर का मार्जन करते। उसे स्वच्छ जल से धोते। भगवान् पर चढ़ाने के लिये वाटिका से स्वयं ही पुष्प और तुलसी दल लाकर चढाते भगवान् के पार्षदों को अमनियाँ करते। भगवत् सेवा की उपयोगी सामग्री को वे स्वयं जुटाते, स्वयं स्वच्छ करते

स्वयं ही निर्माल्य को हटाते और पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुगीफल दक्षिणा द्रव्य, आरती, स्तुति और प्रदक्षिणा करके विधिवत् पूजा करते। उनके कानों का उपभोग कृष्णकथा श्रवण में ही होता। वे परनिंदा, परचर्चा के समय बधिर बन जाते। सुनकर भी उन बातों को अनसुनी कर देते। जो भी उनके पास ऋषि मुनि, विद्वान, ब्राह्मण आते उन्हीं से हाथ जोड़कर प्रार्थना करते "महाराज कृष्णकथा सुनाइए। भगवत् चर्चा होने दीजिये। उनके श्रवणों को पुण्य श्रवण परात्पर-प्रभु के पावन यश के सुनने का व्यसन सा पड़ गया था। वे बिना कृष्ण कथा सुने व्याकुल से बने रहते थे, जैसे अफीमची अफीम के बिना व्याकुल बना रहता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! उन धर्मात्मा भगवद् भक्तराज की समस्त इन्द्रियों का उपभोग भगवान् के ही लिये होता था, उनकी भक्ति के सम्बन्ध में मैं आगे बताऊँगा। इस परम भागवत् राजर्षि के चरित्र को आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

करें कृष्ण कैंकर्य कमल कर नृप के नित प्रति।
कृष्ण कथा सुनि कान उभय होवें प्रमुदित अति।
माधव मन्दिर माँहि निरखि मन मोहन मूरति।
छल छल छलकें नयन कमल सम होवें विकसित॥
मिलें भक्त भगवान् के, गाढ़ालिङ्गन नृप करहिं।
पुलकित होवें अङ्ग अंग, पाप ताप जग के जरहिं॥

राजर्षि अम्बरीष की भगवद् भक्ति

(६१३)

मुकुन्द लिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० १९ श्लोक)

छप्पय

चरण चढी चितचोर मंजरी तुलसी जी की ।
घ्राणेन्द्रिय लै गन्ध जगावै सुधि निज पी की ॥
नंद नंदन नैवेद्य पाइ रसना हुलसावै ।
बिनु अर्पित यदि अमृत मिलै तोऊ नाहिं खावै ॥
निरखि नमित ह्वै जात सिर, निज प्रभुपद पंकजनिकूं ।
चरण चलैं अति हुलसिकै हरि क्षेत्रनि दरशननिकूं ॥

जिसकी जो वस्तु है, यदि वह उसके काम नहीं आती तो वह उसके लिये निरर्थक है। जो जिस कार्य के लिये है और वह

---

*श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन्! महाराज अम्बरीष के नेत्र भगवान् की मूर्ति और उनके मन्दिरों के दर्शन करने मे लगे रहते थे, उनके अङ्ग भगवान् के भक्तो का गाढालिंगन करने में सुख पाते थे, उनकी घ्राणेन्द्रिय का उपभोग भगवान् के चरणों में चढी तुलसी की गंध सूंघने में होता था और उनकी रसना भगवान् के भोग का ही स्वाद जानती थी।"

उस कार्य को नहीं करता तो वह चोर है। भगवान के बनाये हुए शरीर का प्रत्येक अङ्ग उनकी चल अथवा अचल किसी भी मूर्ति की सेवा में लगे यही उन अङ्गो की उन इन्द्रियों की सार्थकता है। केवल भोजन खाकर मांस को बनाते रहे और विषय वासना में लिप्त होकर पापों को बढ़ाते गये, तो यह तो अमूल्य मनुष्य जन्म का दुरुपयोग है। यह तो मणि देकर काँच लेना है। यह बुद्धिमत्ता नहीं। मनुष्य जीवन की सार्थकता तो सेवा में है। सेवा ही परम धर्म है सेवा ही सर्वश्रेष्ठ साधन है, सेवा ही स्वर्ग है, कहाँ तक कहे सेवा ही सब कुछ है। जो सेवा करना नहीं जानता वह कुछ नहीं जानता। सेवा दो प्रकार की है, एक चल सेवा एक अचल सेवा। माता-पिता गुरु, भगवद्भक्त अतिथि तथा प्राणिमात्र को भगवान् का स्वरूप समझ कर भगवद् बुद्धि से उनकी यथाशक्ति सेवा करते रहना यह चल सेवा है, और भगवान् के अर्चाविग्रह मूर्ति आदि में भगवान् की श्रद्धा सहित सेवा करना यह अचल सेवा है। जो दोनों ही करते हैं वे ही सच्चे भगवद् भक्त हैं। कोई ऐसा है कि दिनभर तो घंटी हिलाता है, भगवान् की प्रतिमा की पूजा करता है, किन्तु माता, पिता, गुरु, साधु वैष्णव तथा अन्य सभी प्राणियों से द्वेष करता है, वह पूजक नहीं वञ्चक है। इसी प्रकार जो जन सेवक बनने का तो मन में अहंकार करता है, किन्तु भगवद् भक्तों को देखकर जल जाता है। मूर्ति पूजा और धार्मिक कृत्यों को ढोंग दम्भ बताता है। वह भी यथार्थ में जन सेवक नहीं। वह एक प्रकार का व्यवसायी है। यथार्थ में ये दोनों एक ही हैं। जो अचल प्रतिमा अर्चाविग्रह में विराजमान हैं वे ही प्राणिमात्र में रम रहे हैं। यही सेवा का सर्वोत्तम सिद्धान्त है।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन्! राजर्षि अम्बरीष वैसे तो सम्पूर्ण वसुन्धरा के सम्राट थे, धर्म पूर्वक सब का शासन करते थे, प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे, सब में अपने सर्वेश्वर स्वामी को व्याप्त समझते थे, किन्तु उनकी समस्त इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की सेवा में ही होता था। मन से सर्वभूतों में भगवान् को समझ कर तन से उन्हीं का कैंकर्य किया करते थे।

वे अपने नेत्रों की सफलता उसी में समझते थे कि भगवान् की मनोहर मूर्ति को ये निगोड़े नयन अपलक निहारते ही रहें। राज्य के मंदिरों में वे नित्य प्रति नियम से दर्शनों के लिये जाया करते थे। वहाँ जाकर प्रसादी, चंदन, चरणामृत और प्रसादी नैवेद्य वे लेते। भगवान् के निर्माल्य को वे मस्तक पर चढ़ाते, प्रसादी माला को वे पहिनते और भगवान् के चरणों में चढ़ी मञ्जरी सहित तुलसी को वे बड़े उल्लास के साथ सूँघते।

उनके घर में भी निजकी सेवा पूजा थी, जिस प्रकार अत्यंत स्नेहमयी ममतामयी माता अपने इकलौते पुत्र को लाड़ लड़ाती है, प्रेम से प्रतिपल उसकी देख रेख रखती है उसी प्रकार वे भी अपने गोपाल जी की सेवा करते। उनके लिये चुन चुनकर सुन्दर से सुन्दर पुष्प लाते, मोटे मोटे रङ्ग-बिरंगे हार बनाते, सुन्दर हरी हरी मञ्जरी सहित तुलसी के दल लाते। भगवान् के एक एक नाम से एक एक दल चढ़ाते। विधिवत् षोड़शोपचार पूजा करते, पंडितों के मुख से भागवती कथा श्रवण करते, इस प्रकार मध्याह्न पर्यंत वे ठाकुर सेवा में ही लगे रहते। फिर भगवद् भक्तों को भगवान् का प्रसाद पवाकर

जो कुछ उच्छिष्ट अवशिष्ट रह जाता उसी भगवान् के महामहा प्रसाद को बड़ी रुचि के साथ पाते। उनके शिर को ऐसा अभ्यास हो गया था कि जहाँ भी कहीं भगवान् का मंदिर, भगवान् का श्री विग्रह दिखाई दे जाता, अपने आप ही नत हो जाता। गौ ब्राह्मण, साधुसन्त तथा गुरुजनों को देखते ही वह नीचे नव जाता था। पैरों को ऐसा अभ्यास हो गया था कि वे भगवान् के मंदिर और तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा के लिये बड़े चाव से अपने आप चलते। उनके जो भी कार्य होते वे अपने शरीर सुख के निमित्त नही, किन्तु प्रत्येक कार्य में उनका लक्ष्य यही रहता था कि मेरे इस कार्य से सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हों। जो भगवद् भक्ति भक्तों का ही आश्रय ग्रहण करके रहती है वह अनपायिनी विनयवाहिनी भक्ति मुझे प्राप्त हो। उनकी भगवद् भक्ति का ऐसा प्रभाव था कि घर घर में भगवान् की अर्चा पूजा होने लग गयी थी। इस सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है।

महाराज अम्बरीष की भगवद् भक्ति सम्पूर्ण सन्सार में फैल गई थी। किसी राजकुमारी ने उनके भक्ति भाव की प्रशंसा सुनकर मन ही मन उन्हें अपना पति वरण कर लिया था। उस राजकुमारी ने लजाते हुए एक दिन बड़ी नम्रता से ही अपने पिता से कहा—"पिता जी! मुझे आप के सम्मुख ऐसी बात कहनी तो न चाहिए, किन्तु बिना कहे काम भी नहीं चलता, अतः कहना ही पड़ता है!"

पिता ने बड़े स्नेह से कहा—'बेटी! तू ही तो मेरी सब से प्यारी पुत्री है। तू जो कहेगी, वही मैं करूँगा। तेरी जैसी भक्ति-भाव वाली पुत्री बड़े भाग्य से प्राप्त होती है।"

पुत्री ने कहा—"पिता जी! मेरी इच्छा है कि मैं राजर्षि

अम्बरीष की चेरी बनूँ। मैंने मन ही-मन उन्हें अपना पति वरण कर लिया है।"

राजा ने कहा—"बेटी ! कहाँ, वे चक्रवर्ती सम्राट् और कहाँ हम साधारण मंडलिक भूमिपति। वे हमारी इस प्रार्थना को क्यों स्वीकार करने लगे। यदि वे स्वीकार करलें, तो मेरे लिये इससे बढ़कर प्रसन्नता की कोई दूसरी बात हो ही नहीं सकती।"

राजकुमारी ने कहा—"पिताजी ! हमें उनके साम्राज्य से क्या करना है। मैंने कुछ उनके राज्य, धन, वैभव तथा सुख सामग्रियों के लालच से तो उन्हें वरण नहीं किया है। मैं तो उनकी भगवद् भक्ति पर ही रीझ गई हूँ। मैं तो उनके दर्शनों से ही कृतार्थ होना चाहती हूँ। आप उन्हें एक पत्र लिख दें, अपनी ओर से प्रार्थना करें। देखें, वे क्या कहते हैं।"

पुत्री की बात मानकर राजा ने एक विनय पत्र लिख दिया कि इस प्रकार मेरी परम भगवद् भक्ता पुत्री ने आप को पतिरूप से वरण किया है। अब आप की जो आज्ञा हो। पत्र लेकर एक वृद्ध ब्राह्मण महाराज अम्बरीष के निकट गये। महाराज ने पढकर कुछ सोचकर कहा—"रानी तो मेरे यहाँ और भी कई हैं, यदि वे मुझ से कोई वैसा सम्बन्ध न रख कर सदा प्रभु में ही संलग्न रहें तो मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

ब्राह्मण ने लौटकर ये सब बातें राजा और राजकुमारी से कहीं। सुनकर राजकुमारी ने फिर ब्राह्मण के हाथों सन्देश भेजा कि यह सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि महाराज के मन में

स्त्री का लोभ नहीं है। वे सांसरिक सुख के लिये नहीं भगवद् भक्ति के लिये ही सब कुछ करते है। यह मेरा बड़ा भारी सौभाग्य है कि महाराज ने मेरी विनती स्वीकार कर ली है। मुझे भी संसारिक विषयों की अभिलाषा नही है। मेरा मन तो उनके भक्ति भाव पर ही रीझ गया है, इसीलिये मैंने उन्हें मन ही मन अपना पति बना लिया है। अब मैं परपति का मुख भी देखना नही चाहती। यदि महाराज मुझे स्वीकार न करेंगे, तो शरीर से उनके समीप न पहुँच सकी तो मेरे प्राण वहाँ पहुँच ही जायँगे।"

ब्राह्मण ने फिर से जाकर राजकुमारी की ये सब बातें महाराज अम्बरीष से निवेदन कर दीं। अपने ऊपर राजकुमारी का इतना स्नेह समझकर महाराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने पालकी और कुछ सवारों के साथ अपना खड्ग भेज दिया। राजाओं का प्रथम विवाह तो साक्षात् वर कन्या के साथ होता था। और अन्य विवाह खड्ग से होते थे।

उन राजा ने बड़े हर्ष के साथ खड् के साथ कुमारी का लौकिक वैदिक कृत्य कराके दान दक्षिणा के साथ कुमारी को महाराज के यहां भेज दिया। महाराज ने अपनी नई बहू का बड़ा आदर किया। मन्दिर के समीप ही नये भवन में उसे वास दिया, और उसको समस्त आवश्यक भोग सामग्री और सुविधाओं का समुचित प्रबन्ध कर दिया।

दूसरे दिन बहुत तड़के प्रातः काल नई रानी उठ कर चुपके चुपके महाराज के पूजा मन्दिर में गई। नौकर चाकर कोई रोक नहीं सकते थे। चुपचाप भीतर गई। मन्दिर को भलीभाँति

धोया। पार्षदों को खटाई से मल कर स्वच्छ किया। सुन्दर सुन्दर हार बना कर रखे। पूजाकी सब सामग्री जुटाकर महाराज के उठने के पूर्व ही वे चली गईं

प्रातःकाल उठ कर नित्यकर्म से निवृत्त होकर राजा जब अपने पूजा गृह में गये, तो क्या देखते है कि पूजा की सभी सामग्री सुन्दर ढंग से सजाई हुई हैं। उन्हें इससे बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बार बार सोचने लगे—"किसने यह मेरी सेवा चुराई है। किन्तु वे कार्य इतनी स्वच्छता से किये गये थे कि राजा का मन रीझ गया, किसी से कुछ पूछा नहीं। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। तीसरे दिन भी। तब तो राजा की उत्सुकता बहुत बढ़ गई, वे सोचने लगे इस सेवा चोर को तो पकड़का चाहिये। यह सोच कर वे चौथे दिन जागते रहे। ज्यों ही रानी सेवा करके निकली त्यों ही राजा ने उनका हाथ पकड़ लिया और पूछा—"तुम कौन हो? यह सुन कर रानी सकपका गईं। उन्होंने तो महाराज के दर्शन किये थे किन्तु महाराज ने उन्हें नही देखा था। अत्यन्त लज्जित होकर डरते डरते नई रानी ने कहा—"प्रभो! मैं आपकी चरण किंकरी नई दासी हूँ। मेरे अपराध को क्षमा करें।"

अपनी नई रानी के भक्तिभाव को समझ कर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने स्नेह भरित हृदय से अपनी प्रिया का गाढ़ालिंगन किया और उनके बालों को

सम्हाल कर कान में कहा—' प्रिये ! यदि सेवा में तुम्हारी ऐसी ही रुचि है, तो अपने मन्दिर में भगवान् की सेवा स्थापित कर लो ।"

राजा ने स्नेहवश उनके कान में कहा था। किन्तु रानी ने इसे गुरु मंत्र मान लिया। मेरे गुरु पतिपरमेश्वर की यही आज्ञा है। अतः उन्होंने बड़े उल्लास से अपने यहां भगवान् की पूजा स्थापित कर दी। न जाने कितने सहस्र वर्षों के दान धर्म और पुण्य का यह फल था कि रानी के हृदय में ऐसी अलौकिक भगवद्भक्ति उत्पन्न हुई थी वे राजरानी थीं। किसी वस्तु की कमी नहीं थी, सम्राट् उनके अनुकूल थे, उदारता आदि गुण उनमें भगवद् भक्ति के साथ स्वाभाविक ही थे। अतः अब तो भगवान् की नित नूतन पूजा होने लगी। बड़े चाव से अत्यन्त उल्लास से वे भगवान् की पूजा करतीं। यही समझती मेरे पतिपरमेश्वर गुरु की यही सेवा है। सायंकाल को अत्यन्त प्रेम से भगवान् का सुन्दर शृंगार करके और स्वयं भी मंडनो से मंडित होकर वीणा लेकर भगवान् के सम्मुख बैठ जाती और वीणा बजाती हुई अपने कोकिल कूजित कंठ से भगवान् की विरुदावली गातीं। पद गा गाकर उन्हें रिझातीं। नेत्रों से निरन्तर श्रावण भादो की वर्षा के समान अश्रुओं की झड़ी लग जाती। तन्मय होकर वे अपने आप को भूल जाती मन्दिर में किसी तीसरे को प्रवेश करने की आज्ञा नहीं थी।

राजा को तो चटपटी लगी हुई थी। एक दिन सायंकाल को चुपके चुपके रानी के मन्दिर में गये। दूर से ही उन्होंने देखा, वह साकार सुन्दरता के समान, मूर्तिमती भक्ति के

समान, सजीव विनय के समान वीणा लिये हुए भगवान् के सम्मुख बैठी है, नेत्रों से झरझर अश्रु बह रहे हैं। कमल की पंखुड़ियों से भी कोमल उँगलियां स्वतः ही वीणा के तारों पर पड़ रही हैं, पद के शब्द स्पष्ट निकल रहे हैं,

शरीर की सुधि नहीं, उन्मादिनी की भांति ध्यान में तदाकार बनी स्वर लहरी की झंकार के साथ उसकी चित्त की वृत्ति तदनुरूप ही हुलसित हो रही है । क्षण क्षण में हृदय में नवीन नवीन हिलोरें उठ रही हैं, जिनमें वह डूबती उतराती आत्म-विस्मृत सी बनी गा रही है । अपने राम को रिझा रही है ।

कुछ काल तो महाराज बाहर खडे खडे सुनते रहे अब उनसे रहा न गया वे सहसा भीतर प्रवेश कर गये । महाराज के प्रवेश करते ही रानी का ध्यान भग हुआ । वह अपने सम्मुख अपने पतिपरमेश्वर को देख कर सहसा सकपका कर उठ खड़ी हुई । उनके वस्त्र अस्त व्यस्त हो रहे थे । बाल खुले हुए थे । उन्हें शीघ्रता मे सम्हलती हुई वे लज्जा के कारण घड़बड़ा उठीं । वीणा एक ओर लुढ़क गई । उँगलियां काँप गई । महाराज ने उन्हें हृदय से लगाते हुए कहा—"प्रिये ! तुम धन्य हो । अहा ! इतना अनुराग, ऐसा स्नेह, मेरे भी हृदय में कभी होगा क्या ?"

यह सुन कर लज्जा से नीचा सिर किये प्रेम के अश्रु बहाती अपने भाग्य को सराहतीं, धड़कते हुए हृदय से भार को कठिनता से सम्हालती हुई, महाराज के सहारे से वह खड़ी की खड़ी ही रह गई । उनके मुख से एक शब्द भी न निकला ।

तब महाराज ने कहा—"प्रिये ! जो पद गा रही थी, उसे ही मुझे फिर से उसी लय से सुनाओ मेरा अतृप्त हृदय व्याकुल हो रहा है । उस पद ने मेरे रोम रोम में आनन्द का बीजारोपण कर दिया है ।

अपने पति परमेश्वर की ऐसी आज्ञा पाकर रानी ने वीणा

उठाई और उसी मस्ती से उसी ध्वनि मे वैसी ही तन्मयता से उसी पद को पुनः गाना आरम्भ कर दिया। प्रकृति स्तब्ध थी। सब सो रहे थे। तीन ही जाग रहे थे। राजा और रानी तथा तीसरे उनके भगवान्। प्रेम की सुवर्ण वेला निशा में दो प्रेम के पगले प्रेमी एकान्त भवन में बैठे अपने इष्ट के ध्यान में तन्मय थे। दो शरीरों में एक मन सञ्चार कर रहा था। दो धड़कन एक हो कर साथ ही शब्द कर रही थीं। उस समय जो अनुपम रस की वृद्धि हो रही थी, उसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। इस प्रकार दोनों प्रेम में विभोर हुए हरि-अर्चा में निमग्न थे। उनका ध्यान तब टूटा जब प्राची दिशि से भगवान् भुवन-भास्कर ने आकर दोनों के अंगों पर अपना सुन-हरा प्रकाश डाला। सम्पूर्ण रात्रि क्षण के समान बीत गई। इस प्रकार नित्य ही हरिचर्चा में समय व्यतीत होने लगा। महाराज अब नई रानी के महल को छोड़ कर अन्य रानियों के यहाँ जाते ही नहीं थे। उन्हें अवकाश ही नहीं था।

जब यह बात अन्य रानियों को विदित हुई तो वे समझ गईं छोटी रानी ने अपनी भगवद् भक्ति से महाराज को वश में कर लिया है वे बाहरी रूप पर आसक्त होने वाले नहीं। भक्ति से ही वे वश में किये जा सकते है। अतः सभी ने अपने घर में भगवान् की अर्चा विग्रह की स्थापना कर ली। सभी रानियाँ पूजा करने लगीं। सभी नये नये उत्साह से सेवा करतीं। अब तो महाराज उनकी सेवा देखने भी आने लगे। यह बात समस्त नगर में फैल गयी और प्रजा के सभी लोगों के घरों में भग-वान् की पूजा होने लगी। जैसा राजा होता है वैसे ही प्रजा हो जाती हैं। इस प्रकार राजा की भगवद् भक्ति के प्रभाव से समस्त प्रजा में भगवद् भक्ति का प्रचार और प्रसार हो गया।

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन् ! इस प्रकार वे भगवद्-भक्त राजर्षि अम्बरीष अपने सम्पूर्ण कर्मो को चराचर के आत्मा यज्ञपुरुष भगवान् अधोक्षज में अर्पित कहके भगवद् भक्त ब्राह्मणों के आदेशानुसार राजकाज करते हुए समय यापन करने लगे।"

छप्पय

राजकुमरि इक सुनी भक्ति नृप पति वरि लीन्हें।
भगवद् भक्ति प्रभाव भूप निजवश महँ कीन्हें॥
अन्यहु रानिनि सुनी विष्णु पूजा स्वीकारी।
प्रजा भूप रुख निरखि भये सब भक्त पुजारी॥
भरी भक्ति सब देशमहँ, नृपहि सराहैं साधुगन।
सबहि कहैं जस होहि नृप, तस ही होवें प्रजाजन॥

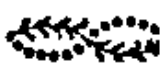

अम्बरीष की एकादशी व्रत निष्ठा

(६१४)

आरिराधायिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया।
युक्तःसांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥
(श्री भा० ९ स्क० ४ अ०, २९ श्लो०)

छप्पय

करहि भूप जो काज कृष्ण अर्पन करि देवै।
सेवा श्रद्धा सहित करहिं नित प्रति हरि सेवै ॥
धन-जन, सुत परिवार कबहुँ अपने नहिं जाने।
विषय भोग सब रत्न जगत के मिथ्या माने ॥
तन्मय नित हरि भक्ति महँ, रहैं सोच हरि कूँ भयो।
रिपु भय हेतु नियुक्त प्रभु, चक्र सुदर्शनि करि दयो ॥

मनुष्य के विश्वास की कमी है, नहीं तो जो जिसके आश्रय से रहता है, वह उसका पालन करता ही है, और के लिए अपवाद भले ही हो, किन्तु, जो अनन्यभाव से हरि की उपासना करते हैं, उन आवश्यक सामग्रियों को प्राप्त करना और जो

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक बार वीर राजर्षि अम्बरीष ने श्रीकृष्ण की आराधना के निमित्त, अपने ही समान शीलवाली रानी के सहित द्वादशी व्रत करने का संकल्प किया।"

वस्तु है उसकी रक्षा करने के कार्य को स्वयं साक्षात् श्री हरि करते हैं। उनके आश्रय मे रहने वाले को यदि वस्तु की कमी प्रतीत होती है, तो समझना चाहिये कि भगवान् उसका इसी में हित कर रहे है। भक्त तो सब मे भगवान् का हाथ देखता है। उसके लिये सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश आदि सभी समान हैं, ये सब उन श्री हरि की देन है। जिसमें वे हमारा कल्याण समझते हैं उसी को करते हैं। ऐसा जिसका स्वभाव हो गया, उसकी चिन्ता श्री हरि को सदा बनी रहती है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! मैं महाराज अम्बरीष का चरित्र कह रहा था, इन महाराज का सम्पूर्ण समय सर्वेश्वर की आराधना में ही व्यतीत होता था। ये बड़े-बड़े विशाल यज्ञों द्वारा भी अच्युत की आराधना करते थे। मारवाड़ के समीप जो कुछ जलवाला प्रदेश है उसे धन्व देश कहते हैं। उस धन्व देश में सरस्वती नदी जहाँ नीचे ही नीचे बहती है, जहाँ उसका प्रभाव सूख गया है वहाँ उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं वाले सैकड़ों अश्वमेध आदि यज्ञ किये थे, जिनमें वशिष्ठ, असित तथा गौतम आदि बडे-बड़े विख्यात ऋषि महर्षि आचार्य बने थे। जिनमें ब्राह्मणों को यथेष्ठ दान दक्षिणायें दी गई थी। उन महान् ऐश्वर्यशाली यज्ञों द्वारा उन्होंने सनातन यज्ञ पुरुष का वैदिक विधि के साथ श्रद्धा सहित यजन किया था। उनके यज्ञों में देवताओं ने प्रत्यक्ष सशरीर उपस्थित होकर यज्ञ के भागों को ग्रहण किया था। राजा के मन में उन देवताओं के वेष भूषा को देख कर ऐसी होड़ सी लग गई थी कि इस प्रकार से मैं अपने यज्ञ के ऋत्विक अध्वर्यु होता और सदस्यों को भी सजाऊँ। अतः उन्होने देवताओं के से वस्त्र भूषण पहिनाकर

ब्राह्मणों को देवताओं के समान ही बना दिया था। अन्तर इतना ही रह गया था, कि देवताओं के पैर पृथिवी पर नहीं पड़ते थे और विप्रगण पृथिवी का स्पर्श किये हुए उठते बैठते थे। यह नहीं, महाराज के सत्संगी जो निरन्तर उनके सानिध्य में रह कर पुण्य कीर्ति श्री हरि की श्रुत मधुर कथाओं को निरन्तर सुना करते। उस स्वर्ग को लेकर करना ही क्या, जहाँ भोग ही भोग है। जहाँ मुक्तिदाता महेश्वर के मनोहर चरित्र नहीं, त्रैलोक्य पावन प्रभु के पुण्यमय नामों का कीर्तन नहीं। चाहे कितने भी बड़े से बड़े योग्य पदार्थ क्यों न हो, किन्तु सेवा कथा, रस, रूप परमानन्द के सम्मुख तो वे तुच्छातितुच्छ ही है। अतः वे निरन्तर श्रवण कीर्तन में महाराज के साथ निमग्न रह कर यहीं वैकुण्ठ सुख का अनुभव करते थे।

महाराज अम्बरीष का सम्पूर्ण जीवन तपस्यामय था। उनका कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता था, जो भगवान् के निमित्त न किया गया हो। वर्णश्रम धर्म का पालन करते हुए भी उनके फलों की कभी इच्छा न करते थे। धर्मों का पालन वे पुण्य लोकों की प्राप्ति के निमित्त नहीं, किन्तु कर्त्तव्य बुद्धि से विष्णु प्रीत्यर्थ ही करते थे। उनकी संसार के किसी विषय में भी आसक्ति नहीं थी। घर को वे भगवान् का मन्दिर मानते थे, भगवान् की पूजा के निमित्त ही घर है। जैसे स्वामी के घर में उनके बहुत से दास दासी परिचारक रहते हैं, वैसे अपने को श्री हरिका एक किंकर समझ कर महलों में निवास करते थे। उन्हें यह आसक्ति नहीं, कि ये महल मेरे हैं। स्त्री पुत्र, बन्धु बान्धव तथा अन्य समस्त परिवार वालों को वे यही समझते थे जैसे एक स्वामी के कार्य को बहुत से सेवक हिल-मिल कर एक साथ करते है, कार्य समाप्त होने पर पृथक हो

जाते हैं उसी प्रकार भगवान् की सेवा के निमित्त हम सब एकत्रित हो गये है । सब वैष्णव है उन सर्वान्तर्यामी प्रभु के आश्रित हैं। हमारा इनसे जो सम्बन्ध है वह वैष्णवता का ही सम्बन्ध है। उनकी जो चतुरङ्गिणी सेना थी, अक्षयरत्न थे, विविध भाँति के बहुमूल्य वस्त्राभूषण थे, अक्षय धन राशि थी तथा अस्त्र, शस्त्र आदि जो भी राजसी सामग्री थी, उस सबको वे अपनी नहीं मानते थे । ये सब भगवान् की वस्तु हैं उन्होने मुझे इनकी देख रेख के लिये नियुक्त कर रखा है। इन नाशवान् अनित्य पदार्थो में उनकी स्वप्न में भी सद्बुद्धि नही होती थी। वे एक श्रीहरि को छोड़ कर सभी को नाशवान् क्षणभगुर और मिथ्या मानते थे।

वे भगवान् की पूजा कर रहे है, किसी ने आकर कहा—"शत्रु ने चढाई कर दी है, तो आप पूजा को छोड़ कर नही जाते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जिनकी मैं पूजा कर रहा हूँ, उनसे बढ़ कर तो वह होगा नहीं जिसने चढ़ाई की है। फिर मैं उनकी सेवा छोड़ कर क्यों जाऊँ।"

इसीलिये भगवान् को भी उनकी चिन्ता रहती थी। माता को उसी अबोध बच्चे को अधिक चिन्ता रहती है, जो स्वयं खा पी नही सकता, स्वयं उठ बैठ नहीं सकता। माता के ऊपर ही अवलम्बित रहता है। उसका ध्यान वह सदा रखती है। रात्रि में उसे हृदय से चिपटा कर सोती है, स्वयं गीले मे सो कर उसे सूखे में सुलाती है, जो अपने पैरों खड़ा हो सकता है, अपने हाथों भोजन कर सकता है। उसकी माता को उतनी चिन्ता नही रहती इसी प्रकार जो भक्त भगवान् को छोड़ कर अन्य कुछ जानते ही नहीं भगवान् हर समय उनके पीछे पीछे फिरते रहते है, इन्हें कही

कोई कष्ट न दे, कहीं भूखे न रह जायँ। इसीलिये भगवान् मुक्ति तो देते हैं, भक्ति नहीं देते, क्योंकि भक्ति देने से तो उनके योगक्षेम का ही निरन्तर प्रबन्ध नहीं करना पड़ता अपितु उनके पीछे पीछे फिरना पड़ता है। उनकी प्रत्येक आवश्यक सामग्री श्रीहरि को स्वयं ही लाकर जुटानी पड़ती है।

भगवान् ने जब देखा, अम्बरीष तो निरन्तर मेरी भक्ति में ही डुबा रहता है, शत्रुओं के निवारणार्थ वह कुछ भी चिन्ता नहीं करता, तब तो उन्होंने अपने चक्र सुदर्शन को आज्ञा दी कि तुम जाकर महाराज की सर्वभाव से रक्षा करो। तब से चक्र सुदर्शन भगवान् की आज्ञा से राजा के ऊपर मँडराता रहता था। राजा के ऊपर जो भी आपत्ति विपत्ति आती उसे चक्र सुदर्शन ही भस्म कर देता। राजा का कोई कुछ बिगाड़ ही नहीं सकता। जिसकी रक्षा भगवान् का चक्र करता है, उसका कोई कर ही क्या सकता है। इसीलिये वैष्णव सब शंख चक्राकित होते हैं। भगवान् के इन प्रियों आयुधों के चिन्हों को वे अपनीं भुजाओं में धारण करते है, स्वामी प्रदत्त चिन्हों के धारण करने से ही तो लोग जान सकते है, कि ये अमुक के सेवक हैं, अमुक के शरणागत हैं। इस प्रकार राजा तो निश्चिन्त होकर भगवत् स्मरण पूजन किया करते थे किन्तु भगवान् का चक्र सदा सचेष्ट होकर उनकी रक्षा में तत्पर रहता था।

वैष्णवता के मुख्य चिन्ह ये हैं, सदा नवधा भक्ति में लगे रहना, तिलक मुद्रा आदि वैष्णवोचित चिन्हों को धारना, भगवान् की पूजा करके नैवेद्य को ही प्रसादी रूप में पाना, श्री हरि के बिना अर्पण किये हुए किसी भी वस्तु का

उपभोग न करना, दिव्यदेशों और धामों की यात्रा करना, वैष्णव, गौ, तुलसी, गुरुजन ब्राह्मणों, की तथा प्राणिमात्र की भगवद् बुद्धि से सेवा करना और एकादशी व्रत का नियमपूर्वक पालन करना । सम्वत्सर में जितनी २४ एकादशी होती हैं सभी में उपवास भी रखना। महाराज अम्बरीप भी सदा एकादशी व्रत किया करते थे। एक बार उन्होंने अपनी भक्तिमती रानी के सहित एक वर्ष की समस्त एकादशीयों के व्रत का एक विशेष अनुष्ठान किया । जब वह अनुष्ठान पूर्ण हुआ, तो यमुना तट पर जाकर सम्वत्सर के अन्त में कातिक महीने में व्रत का उद्यापन करने का निश्चय किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सामर्थ्यवान् पुरुष को व्रत का उद्यापन अवश्य करना चाहिये। उद्यापन करने से व्रतसाङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो जाता है। एकादशी का व्रत जिसने नही किया, उसका जीवन तो निरर्थक ही है। समस्त पुराणों को पढ़ जाइये उनमें ५ बाते ही मिलेगी। भगवान् के अवतारों की कथा, तुलसी महात्म्य, गंगामाहात्म्य, शालिग्राममाहात्म्य, और एकादशी व्रत महात्म्य। सभी पुराणों में एकादशीव्रत की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है महाराज रुक्माङ्गद को तो एकादशी व्रत पर ऐसी निष्ठा थी, कि उन्होंने पुत्र का वध करना तो स्वीकार किया किन्तु एकादशी व्रत नही छोड़ा।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—',सूतजी ! यह एकादशी कौन है। इसकी उत्पत्ति कैसे हुई। महाराज रुक्मांगद कौन थे उन्होंने एकदशी व्रत के पीछे अपने पुत्र का वध क्यों किया, पहिले आप हमें एकादशीव्रत का महात्म्य सुनावे तब महाराज अम्बरीप के अग्रिम चरित्र को सुनावें।"

इस पर अत्यंत ही हर्षित होकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है मुनियो ! मैं आपको प्रथम एकादशी महात्म्य की ही कथा सुनाऊँगा, तब परम भागवत राजर्षि अम्बरीष के अग्रिम चरित्र को कहूँगा। आप इस परम पुण्यप्रद आख्यान को भक्ति भाव के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

काम क्रोध कूं जीति दुष्ट मन कूं नृप मारे।
हरिवासर उपवास करहिं वैष्णवव्रत धारे॥
पूछे शौनक सूत कह्यो हरिवासर काकूं।
करें मनुज उपवास अन्न खावें नहिं जाकूं॥
एकादशी महान् व्रत, सूत कहैं सब पाप हर।
करतहिं नियम तें व्रत, सदा, ते जावें बैकुंठ नर॥

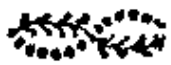

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(छब्बीसवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'॥

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, झूसी,
प्रयाग

संशोधित मूल्य २-

तृतीय संस्करण १००० } भाद्रपद सं० २०२७ { मूल्य : १.६५

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

॥ श्री हरिः ॥

भूमिका

(अशक्त और अजितेन्द्रियों की साधना)

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः ।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥
यैःस्व देहःस्मृतो नात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मसात् ।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ॥*

(श्री भा० ७ स्क० १५ अ० ३६, ३७ श्लो०)

छप्पय

वेष बनायो सुघर माँगि के खावें भिच्छा ।
परि न तजी सम्मान कनक कामिनि की इच्छा ॥
स्वारथ महँ रत रहे साधुता सब तज दीन्हीं ।
हरिके दास कहाइ आश धनिकनि की कीन्हीं ॥
घर के रहे न घाट के, हाय ! शाप वर नहिं सफल ।
निजव्रत तजि विषयनि निरत, सुमिरत नहिं प्रभुपद कमल ॥

नारदजी धर्मराज युधिष्ठिरजी से कह रहे हैं—"राजन् ! जो संन्यासी धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों की प्राप्ति कराने वाले गृहस्थाश्रम को छोड़कर फिर उन्हीं का सेवन करते हैं, वे निर्लज्ज निश्चय

भूमिका

मृत्यु का भय

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्-
लोकान्सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य-
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

मरन धरम यह जीव जगत कहँ इतउत भटकत ।
पाइ विषय सुख छनिक भूलि तिनहीमहँ अटकत ॥
समुझत विषयनि सत्य न कछु तिन महं सुख पावे ।
यों ही वितवत समय मृत्यु इक दिन चट आवे ॥
मृत्यु जनम के संग भई, जो जनम्यो सो मरेगो ।
हरि सुमिरन जो करेगो, मृत्यु मूड़ पग धरेगो ॥

---

*भगवान् की स्तुति करती हुई भगवती देवकी कह रही हैं—"हे आदि पुरुष प्रभो ! मरणधर्मा प्राणी मृत्यु रूप कराल व्याल से भयभीत होकर सम्पूर्ण लोको मे भटकता फिरता है, किन्तु इसे कही शान्ति प्राप्त नही होती । कही भी इसे ऐसा स्थान नही मिलता जहा मृत्यु का भय न हो । भाग्यवश यदि किसी प्रकार आपके चरणों की इसे शरण मिल जाय तो उसे पाकर यह सुख की नींद सोता है मृत्यु इससे दूर हट जाती है।"

का अनादर कर रहे है, इनका दुरुपयोग कर रहे हैं। संन्यास की विधिवत् दीक्षा ली जाय, या मन से ही काम्यकर्मों का न्यास किया जाय, दोनों ही विधियों में यह संकल्प करना होता है, कि पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा तीनों का ही त्याग करेंगे। सन्यास के समय सिर पर शालग्राम रख कर बीच गङ्गाजी में नाभि पर्यन्त जल में खड़े होकर शपथ करनी पड़ती है, कि हम धन का किसी प्रकार का संसर्ग न रखेंगे, स्त्री प्रतिमा के भी दर्शन न करेंगे और तीनों प्रकार की इच्छाओं का परित्याग करेंगे।"

यदि यथार्थ में हम इस असिधारा व्रत को पालन करने में समर्थ हो सकें, तो निश्चय ही हममें आत्मिक बल की वृद्धि हो। किन्तु हम त्यागियों का वेष बना कर भी विषयों का त्याग नहीं कर सकते। अपरिग्रही कहा कर भी परिग्रह का त्याग नहीं कर सकते। उस दिन हमारे प्रान्त के एक माननीय मन्त्री पधारे थे। हमारे ठाठ-बाठ को देखकर वह हँसते-हँसते बोले—तुलसीदासजी सत्य ही कह गये हैं—

तपसी धनवन्त दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही।

वास्तव में यही बात है, गृहस्थ तो कुछ परलोक से भी डरते हैं, दानपुण्य करते हैं, किन्तु परोपकार व्रत लेने वाले हम कितने संग्रही हो गये हैं, ये बातें कहने की नहीं। आज हमारा नैतिक चरित्र इतना गिर गया है, कि हम चोर डाकुओं से भी अधिक गिर गये है। मेरे बालकपन में मेरे ग्राम के समीप ही एक बड़ा नामी डाकू था। उसके नाम से सब लोग काँपते थे। उसकी बहुत सी कथायें हम सुनते थे। सुनते हैं—मार्ग में कोई स्त्री पुरुष जा रहे हैं। पुरुष को उसने लूट लिया। स्त्री ने कहा—"अरे, भैया! तुम क्या करते हो। हम पर दया करो।" बस, उसने "भैया" कह दिया तो वह बहिन हो गई। अब उसकी लड़की का जब भी

जाती हैं। फिर यह बात स्मरण नही रहती कि एक दिन मरना है। इतने मृतकों को नित्य देखते हैं, उनकी मृत्यु पर आश्चर्य नही होता, किन्तु जहाँ अपने किसी परिचित,सुहृद्, इष्ट मित्र की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो तुरन्त चौंक पड़ते हैं और कहते है—"हैं, उनकी मृत्यु हो गई, बड़े आश्चर्य की बात है। कल तक तो वे अच्छे थे।" अब बताइये जो बात अवश्यम्भावी है, उसमे आचार्य की कौन सी बात है। आश्चर्य की बात तो यही है कि नौ छिद्र वाले इस पात्र में प्राणरूपी पय ठहरा हुआ है। घडे में एक छिद्र होता है तो उसमें पानी नही ठहर सकता। इस देहरूपी घट में तो नौ दस छिद्र है। जितने दिन इसमें प्राण ठहरा रहता है, यही एक अद्भुत आश्चर्य है। मृत्यु में कुछ देर थोडे ही लगती है। हम प्रश्वास छोड़ते हैं, साँस लेते है। एक प्रश्वास छोड़ी वह लौटकर न आयी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के लिये पहिले से कोई विज्ञप्ति नहीं दी जाती, कि अमुक दिन सावधान रहना। आकाश, पाताल, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा नरक कही भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ मृत्यु न हो। छाया की भाँति सदा साथ रहती है, कब वह प्रत्यक्षहो जाय इसका कोई निश्चय नहीं। इसीलिए सन्त महात्मा बार-बार चेतावनी देते रहते हैं, कि माधव को और मृत्यु को भूलना मत। जिसे सदामृत्यु की स्मति बनी रहती है, उसे मत्यु समय पर दुःख नही होता। नही तो ऐसा सुनते हैं। सहस्रों बिच्छुओं के काटने पर जैसी पीडा होती है उससे भी अधिक पीड़ा मर्मस्थानों से प्राणों के निकलते समय होती है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही एक सबसे बडा अन्तर है। अज्ञानी तो सदा मत्यु से बचने के लिये प्रयत्नशील रहता है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है,मैं सुख पूर्वक जीता रहूँ। ज्ञानीकी इच्छा यह रहती

हम कहते तो अपने को भगवान् का भक्त हैं किन्तु इन विषयों के कीड़े धनवानों मे सदा आशा लगाये रहते हैं। इनके मुँह को जोहते रहते हैं। आशा लगाये रहते हैं कोई आ जाय हमें कुछ दे जाय, तो हमारा अमुक काम चले। हम मुख से तो कहते हैं—"हम भगवान् का काम करते हैं, भगवान-जो करा रहे हैं कर रहे हैं" किन्तु इसे केवल कहते हैं इसे हृदय में अनुभव नहीं करते। हृदय में यदि अनुभव हो जाय, तो फिर हमें चिन्ता हो सकती है? एक तुच्छ धनिक के झूठे आश्वासन पर हम निश्चिन्त हो जाते हैं, तो फिर साक्षात् लक्ष्मीपति डके की चोट पर कह रहे है—'कि जो मेरा अनन्य भाव से चिन्तन करता है उसके समस्त योग क्षेम के भार को मै अपने सिर पर स्वयं ढोता हूँ, किसी दूसरे से वहन नहीं कराता।"* तो फिर इतने आश्वासन पर भी जो चिन्ता करता है उसे भगवान् पर विश्वास कहाँ? भगवान् पर विश्वास न करने पर ही आज हमारी ऐसी दुर्दशा है। हममें शाप वर देने की शक्ति नहीं रही। पहिले मुनियों की प्रसन्नता तथा कोप दोनों ही सार्थक होते थे। बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा उनके सम्मुख थर-थर काँपते थे। क्या यह सम्भव था जिससे जो कह दिया उसे वह टाल सके? आज हमारे सामने लोग वचन दे जाते है घर जाकर मना कर देते है। हमें डाँट देते हैं हम चुपचाप बैठ जाते हैं क्योंकि हममें आत्मिक बल नहीं रहा, साहस नहीं रहा। धन, विषयसुख और प्रसिद्धि के दास बन

---

*अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
—गीता

तीनों दोष कुपित होकर वाणी को रोक लेते हैं उस समय उस हड़- बड़ाहट में आपका स्मरण होना असम्भव है। अतः इसी क्षण मेरा मन आपके चरण कमलों में रम जाय।" सारांश यह कि भगवद् भक्त अभी से भगवान् को हृदय में बिठा लेना चाहते है, जिन्हें देखकर मृत्यु भी दूर भाग जाय, जिनके सहारे मृत्यु के सिर पर भी पैर रखा जा सके। इसलिये साधकोंको सदा मृत्यु का स्मरण रखना चाहिये, हमें एक दिन मरना है। मैंने सुना था योरोप में पहिले कोई एक ऐसा छोटा सा राज्य था। उसके राजा के यहाँ हर समय दो आदमी रहते थे और वे कुछ देर ठहर ठहर कर राजा के सम्मुख यह शब्द उच्चारण करते रहते थे—"तुम्हें एक दिन मरना है। तुम्हें एक दिन मरना है।" सचमुच में यदि मनुष्य को अपनी मृत्यु स्मरण बनी रहे, तो वह बहुत से पापों से बच जाय। मनुष्य अधिकांश पाप मृत्यु को भूलकर ही करता है।

हमें और बातों पर चाहे विश्वास न भी हो, किन्तु जब किसी की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जाता। बहुत सी युक्तियाँ देते हैं, फिर अन्त में कह देते हैं—"अजी' मृत्यु का कोई समय निश्चित थोड़े ही है। जब चाहे श्वास निकल जाय। 'कोई रुग्ण हो, रोग ग्रस्त हो, उसकी मृत्यु का समाचार सुनते है, तो कह देते है, 'अजी वे तो बहुत दिन से रोगग्रस्त थे' किन्तु जब सहसा किसी की मृत्यु सुनते हैं, तो सगे सम्बन्धियों में एक विचित्र विस्मय हो जाती है, चित्त दुविधा में फँस जाता है। अविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि मृत्यु ध्रुव है औरविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि उसकी कोई सम्भावना पहिले से नहीं थी। यदि कोई झूठी ही मृत्यु

कल्याण के लिये ही करते हैं, वे हमारे सच्चे सुहृद् हैं। तब फिर हमे अशान्ति चिन्ता कभी हो ही नहीं ❀

भक्ति देवी जब अधिक चिन्तित होने लगी तब भगवान् नारदजी ने उसे बोध कराते हुए कहा था—"हे बाले! तू वृथा ही खेद करती है। इतनी चिन्ता करने की कौन सी बात है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों का चिन्तन कर, इससे तेरे सब दुःख दूर हो जायंगे। अरी, देख। जिन भगवान् ने द्रौपदी की कौरवों के कुकर्म से रक्षा की, जिन्होंने गोपाङ्गनाओं की कामनापूर्ण की वे श्री कृष्ण कहीं चले थोड़े ही गये हैं। वे तो सबकी चिन्ता करते हैं, इसी प्रकार की बात एक संस्कृत के दूसरे कवि ने कही है–कि जिन भगवान् ने माता के गर्भ में भोजन की व्यवस्था की, वे भगवान् न तो सो गये हैं न मर ही गये हैं। उन्हीं पर विश्वास रखकर निश्चिन्त हो जाओ।' इस विषय में एक पाश्चात्य संत की बड़ी ही मनोरंजक कहानी है।

पश्चिम में कोई भगवद्भक्त सन्त थे। उनकी पत्नी भी भगवद् परायणा और श्रद्धावती थीं। उनका भी भगवान् पर पूर्ण विश्वास था। किसी घरेलू झंझट से एक दिन उनके पति अत्यंत ही खिन्न होकर एकान्त में चिन्तामग्न बैठे थे। उनकी पत्नी ने सोचा—"आज मेरे पति का भगवान् पर विश्वास कम हो गया है। कोई ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे इनकी चिन्ता दूर हो।" यह सोचकर उसने शोक के वस्त्र धारण कर लिये। पश्चिम में जब किसी का कोई आत्मीय मर जाता है, तो उसके शोक में लोग काले वस्त्र पहिन लेते हैं।

❀ सुहृदं सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(गीता)

पं० नित्यानन्द जी भट्ट कथावाचक तथा और भी लोगों के पत्र मिले। सभी यही लिखते थे, हमने आपके विषय में बहुत ही बुरा समाचार सुना है, तुरन्त उत्तर दें, बड़ी चिन्ता है। किसी ने यह नही लिखा कि उन्होंने सुना क्या है। यहाँ से तार तो तुरन्त दिये गये, किन्तु न जाने क्यों वे दो दिन पश्चात् पहुँचे। तीन दिन तक हमारे वृन्दावन के कृपालु बन्धु चिन्ता हो में बने रहे।

यह तो मुझे विश्वास है, मेरा मृत्यु से किसी को दुःख तो क्या होने का। दुःख होता है प्रेम में। मरने को नित्य ही मरते हैं। जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं उनकी मृत्यु पर किसी को दुःख नहीं होता। जिनका जीव परोपकारमय है या जिनसे जिनको प्रेम होता है उनकी मृत्यु पर दुःख होता है। प्रेम मैंने किसी से किया नहीं। बहुत रूखी प्रकृति होनेसे सभी मेरा साथ छोड़कर चले गये और मुझसे घृणा करने लगे। जब मैं किसी से प्रेम नही करता तो मुझसे प्रेम कौन करने लगा, रही परोपकार की बात सो मैं तो अपनी वासनाओं की पूर्ति कर रहा हूँ। इस वासना पूर्ति में कुछ उपकार हो जाय, तो वह तो गाँव जाते हुए तिनका छूनेके समान है! इसलिये मेरी मृत्यु से कोई बड़ी भारी हलचल मचेगी ऐसा तो मानता नही, किन्तु फिर भी जिनसे अपार सम्बन्ध रहा है, जो सन्त स्वभावके कारण अहैतु की कृपा रखते है उनके मनमें चिन्ता होना स्वाभाविक ही है। हमें चार पाँच दिन तक कोई समाचार मिला नही कि बात क्या थी, वृन्दावनमें किसने यह निराधार समाचार उड़ा दिया। ४, ५ दिनके पश्चात् "भक्त-भारत" के सम्पादक प्रियवर रामदास शास्त्री का पत्र आया। उससे सब बातें विदित हुई। उनका पत्र यह था—

आज न हमारा शाप ही सफल होता है न वरदान ही। इसीलिये आज हम आध्यात्मिक शक्ति से हीन और आत्म बल से रहित है।

मैं किसी अन्य के ऊपर नहीं कहता, मैं तो अपने ही ऊपर कहता हूँ। किसी बड़े आदमी को देखते ही सर्वप्रथम हमारी दृष्टि इस बात पर जाती है कि सम्भव है यह हमें कुछ दे जाय जिस धन के दुख से दुखी होकर वह हमारे पास आया है, हम उससे उसी की इच्छा रखते, कैसी विडम्बना है, हमारे लिये कैसी लज्जा की बात है। हम मुख से तो त्याग, वैराग्य भगवत् विश्वास की बातें करेंगे, किन्तु हमारा उद्देश्य वही रहेगा, कि किसी प्रकार इसे वश मे करके इससे कुछ प्राप्त करें। हम कथा तो कहते है, संसार मिथ्या है, जगत् सपना है, धन तुच्छ है, किन्तु चढ़ावे के लिये लड़ते हैं। यह एक प्रकार का व्यापार है न स भक्त! स वै वणिक "व्यापार में तो झूठ सत्य दोनों ही बोलना पड़ता है।" सत्यानृत्ये वाणिज्यम्, यही व्यापार हम कर रहे हैं। अन्न की कपड़े की दुकान में और पुस्तकों की दुकान में कोई अन्तर नहीं।

जब हम भगवान् का आश्रय छोड़कर संसारी लोगों का आश्रय लेने लगेंगे, तो हमारा शाप तथा वर मोघ होगा ही। किसी भी मुनि ने जान में अनजान में, शाप दे दिया, दूसरे ने बताया महारज! मैं निरपराध हूँ। तो सभी मुनियो ने यही उत्तर दिया है—"हमने तो कभी हँसी मे भी—स्वप्न में भी—झूठ नही बोला अतः हमारा शाप तो पूरा होगा ही।" आज हम अजितेन्द्रिय होने से बात-बात पर झूठ बोलते हैं, फिर कैसे हमारे शाप वर सफल हों और कैसे हमारी अध्यात्मिक शक्ति बढ़े। इन सबका कारण हमारी अशक्तता तथा अजितेन्द्रि-

किस्सा बढ़ते-बढ़ते भयंकर रूप हो चला—परिणाम में जो हृदय की हालत थी—कही नही जा सकती। पर अब प्रार्थना श्री चरणों में यह है कि—आखिर यह क्या लीला है—कुछ संतों के अनुभव सुनिये—

—"ब्रह्मचारीजी के लिये एक ईश्वरीय सूचना है और प्रतिष्ठानपुर अब उनके अनुरूप नहीं रह गया है, अतः वह स्थान छोड़ देना चाहिये—भागवती कथा अन्यत्र भी लिखी जा सकती है।"

❀ ❀ ❀ ❀

—ब्रह्मचारीजी यद्यपि एक महान् कार्य में व्यस्त हैं और कार्य भी लोकातीत है—पर संसारियों की दृष्टि में एक प्रपंचमय दीख रहा है—इसी कारण लोगों की द्वेष-भावना होती जा रही है।

❀ ❀ ❀ ❀

—यह तो युग के स्वरूप का विस्तार है—अभी तो इससे भी अधिक भयकर घटनाएँ सुनने को मिलेंगी—पर इस पाप रूप युग का भी कल्याण करने वाले महात्मा ब्रह्मचारी जैसे मौजूद है। धर्म संरक्षकों पर ही इसका प्रहार होता है—जैसे राजा परीक्षित् पर।

❀ ❀ ❀ ❀

—इस तरह की घटनाएँ महापुरुषों के रूप के अनुकूल हैं, इससे महत्व चमकता है।

इस घटना से ब्रह्मचारीजी को अमरत्व प्राप्त हुआ है—भगवान् उनका कल्याण करें।

कृपया हस्तलिखित पत्र से भी सूचित कर कृतार्थ करें।

रामदास शास्त्री

एकादशी व्रत की उत्पत्ति कथा

[६१५]

व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः ।
स्नातः कदाचित् कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥ *

(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० ३०, श्लो०)

छप्पय

सुरनि कह्यो सुर करै पाप हरि चले हननकूँ ।
सोच्यो एक उपाय असुर खल के मारन कूँ ॥
बदरीवन की गुफा माँहिँ सोये खल आयो ।
तनुतैं कन्या निकरि असुर को मारि गिरायो ॥
सोई एकादशी तिथि, पावन अति जग महँ भई ।
पाप नाशिनी मुक्तिप्रद, श्रीहरि ने सो करि दई ॥

जो शास्त्र की विधि है, उसका पालन शास्त्राज्ञा समझकर करना चाहिये । कुछ लोग कहते हैं, एकादशीव्रत करने से पेट ठीक रहता है, पाचन शक्ति नहीं बिगडती, इसलिये पक्ष में एक

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! महाराज अम्बरीष ने सम्वत्सर एकादशी व्रत के अनन्तर कार्तिक महीने में तीन दिन उपवास किया और यमुना जी में स्नान करके मधुवन में भगवान् की पूजा की ।

भागवती कथा की बात सो वह कहने योग्य नहीं है। वर्ष के अन्त में पाँच छै सहस्त्र का घाटा होता है। उसे घाटा कहना भी उचित नही। उसकी दक्षिणा से जो कुछ आता है उसे सब लोग खा जाते है। अन्न आ जाता है ऊपरी कार्यों में व्यय हो जाता है। नित्य डाकघर की आशा लगाये लोग बैठे रहते है, आज कुछ आ जाय तो दाल आ जाय नमक आ जाय। वर्ष के अन्त मे जो घाटा हो जाता है, भगवान् किसी न किसी से पूरा करा ही देते है। प्रथम वर्ष में देहली के लाला सूरजनारायणजी ने अपने इष्ट मित्रों से कर करा के ५-७ हजार रुपये से उसे पूरा किया। दूसरे मे झरिया के बीरम बाबू ने पाँच हजार देकर गाड़ी चलायी। अब तीसरे वर्ष भी पस्टम चल रही है। रही मेरी बात सो, मेरे परिचित सभी जानते है मेरे कुछ कृपालु महानुभाव हैं, जिनसे मैं किसी से चार पैसे किसी से दो पैसे नित्य के भिक्षा ले लेता हूँ। ऐसे कुछ "भिक्षा सदस्य" हैं। पहिले लोग उत्साह और श्रद्धा से देते थे। जबसे "भागवती कथा' का व्यापार आरम्भ हुआ है। लोगों की श्रद्धा घट गयी है। सब सोचते हैं—"अब तो ये व्यापार करने लगे हैं। जैसे हम वैसे ये इन्हें भिक्षा देने से क्या लाभ ?" इसलिये बहुत से बन्द भी कर दिये है। फिर भी कुछ बगीचे में साग भाजी बो लेते हैं। लस्टम पस्टम काम चल ही जाता है। मेरा जो व्यापार है, उसमें या तो घाटा ही घाटा है या लाभ ही लाभ है। घाटा तो इसलिये कि कभी इसमें आर्थिक लाभ न होगा। दश आय होगी, तो बीस व्यय होंगे। लाभ इसलिये हैं, कि जो भी कमी पड़ेगी चाहे ऐं करके करें चाहें चें करके, लोगों को पूरी ही करनी होगी। इसलिये हमें तो लाभ ही लाभ है नदी में नौका डूबती है, तो मल्लाह की तो केवल लँगोटी ही भीगती है। ऐसी दशा में यहाँ डाका डालकर कोई क्या लेगा। जानते हुए भी सन्देह

एक बार वे सब मिलकर भूतभावन भगवान् भूतनाथ भवानीपति की शरण में गये। दंडवत् प्रणाम करने के अनन्तर उन्होंने उदास मन से शिवजी के समीप अपना दुख रोया। सब कुछ सुनने के अनन्तर भगवान् पशुपति ने कहा—"देखो, भैया! यह पालन और दुष्टनाशक सम्बन्धी कार्य विष्णु भगवान् के अधीन है, तुम सब उन्हीं के समीप जाओ; वे जो उचित समझेंगे वही करेंगे। यह उनके ही विभाग का काय है।

देवता यह सुनकर शिवजी को प्रणाम करके क्षीरसागर की ओर चले। वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् को शेष शैया पर सुख से शयन करते हुए देखा। भगवान् अपने कमल नयनों को मूँदे हुए थे। देवताओं ने गद्गद कंठ मे भगवान की स्तुति की। उनकी स्तुति सुनकर भगवान् ने अपने नयनो को कुछ कुछ खोला और पूछा—"देवताओं! तुम लोगों पर क्या क्लेश पड़ा है।"

देवताओं ने दीर्घ निःश्वास छोडते हुए कहा—"अजी महाराज! हम अपने दुःख के सम्बन्ध में क्या कहें। मुर नामक दुष्ट दैत्य ने हमें स्वर्ग से मार भगाया है। इन्द्रासन पर तथा समस्त लोकपालों की पुरियों पर उसने स्वयं ही अपना अधिकार जमा लिया है।" यह सुनकर भगवान् बोले—"देवताओं! तुम चिन्ता मत करो। मैं उस दुष्ट दैत्य को अवश्य मरवा डालूँगा। तुम आगे-आगे चलो, मुझे उसका स्थान बताओ।"

सूतजी कहते—"मुनियो! भगवान् का आश्वासन पाकर देवता गर्जना करते हुए उस चन्द्रावती पुरी में पहुँचे जहाँ वह मुर दैत्य रहता था। देवताओं ने उसे युद्ध के लिये ललकारा। देवताओं की ललकार सुनकर वह विश्वविजयी असुर अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर देवताओं से लड़ने आया। देवताओं ने भी डटकर युद्ध किया, किन्तु उसने अपने अस्त्रों से सभी को मार

शत्रुवत् बन जाते हैं। प्रपञ्चमें रागद्वेष तो रहता है। जो साथियों के सहारे काम करता है,उसे पछताना पड़ता है। कोई भी काम करने वाला हो उसे सर्वप्रथम अपने साथियों के विरोध के लिए उद्यत होकर हो उस कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिये।

आज का युग बड़ा भयंकर है। आज जो भी हो जाय,सोई थोड़ी। हम मुँह से तो धर्म कहते है। स्वयं हमारी धर्म में आस्था नही रही। हम अपने को ब्रह्मचारी कहते है, किन्तु शास्त्रों में जो सन्यासी ब्रह्मचारी के धर्म बताये हैं, उनमें से सौ अंशों में से एक अश का भी पालन नहीं करते। "यदापि युवती क्षिभर्नस्पृशेदार वीमपि" आदि जो धर्म हैं उनका पालन नहीं कर सकते। जिस क्षेत्र मे भी दृष्टि दौड़ाते है उधर ही दुराचार, कदाचार, दम्भ, कपट, पाखण्ड और अधर्म हो रहा है। इसमें दोष दे भी चाहें, तो किसी से एक हो तो उसे दोष दें यह तो कूप मे भाँग पड़ गया है। भीड़ मे हम चलते हैं, हम पीछे वालों पर क्यों बिगड़ते हैं, "अजी, हमें धक्का क्यों दे रहे हो किन्तु आगे वालोंको हम भी धक्का दे रहे है इस बातको हम भूल ही जाते हैं। आगे वाला जब हमसे बिगड़कर पूछता है "क्यों जी धक्का क्यों देते हो ?" तो हम उससे भी अधिक बिगड़कर कहते हैं— "भाई, अब कैसे करे पीछे वाले दे रहे है।" इसी प्रकार हम स्वय धर्म का आचरण नहीं करते। दूसरों को बुरा भला कहते है, अरे ! वे सर्वनाश कर रहे है, धर्म पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसमे दोष किसे दें। "अयन्तु युगधर्मोहि वर्तते कस्य दूषणम्।"

अन्त में पाठकों से मेरी प्रार्थना यही है, कि ये सभी घटनाएँ जीवके कल्याण के ही लिये होती हैं। भगवान् की इच्छा से ही होती हैं, इनमें उपदेश भरा रहता है। जीव के लिये चेतावनी होती है, पाठक ऐसा आशीर्वाद दें, कि मैं मृत्यु का

थे। बद्रीनारायण के समीप ही एक सिंहावती नाम की बारह योजन लम्बी चौड़ी गुफा थी। भगवान् उसी में जाकर छिप कर सो गये। योगनिद्रा में आँखें बन्द करके सोने का तो भगवान् को पुराना अभ्यास पड़ा ही है। वहाँ सोते ही खुराटे भरने लगे।

मुर ने सोचा—"अभी-अभी वे विष्णु यहीं थे। इतनी ही देर में कहाँ छिप गये।" यही सोचकर वह पहाड़ों की गुफाओं में खोजता हुआ सिंहावती गुफा में गया। वहाँ जब उसने भगवान् को शयन करते हुए देखा, तो बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—"हत्या की जड़ ये विष्णु ही हैं। ये असुरों के द्रोही और सुरों के पक्षपाती हैं। जब भी देवताओं पर कुछ संकट पड़ता है, ये तुरन्त दौड़े आते हैं। आज मैं इन्हें मारकर दैत्यों को निर्भय बना दूँगा। मुझसे छिपकर कहाँ जा सकते हैं।" यही सोचकर भगवान् को मारने के लिये उसने उस विशाल गुफा में प्रवेश किया। ज्यों ही उसने भगवान् पर प्रहार करने का विचार किया, त्यों ही उनके शरीर से एक परम सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई। उसका तेज अपरिमेय था, वह समस्त अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थी। उसने अपनी वीणा विनिन्दित मधुर किन्तु दृढ़ता से भरी वाणी में कहा—"असुरराज! तुम क्या करना चाहते हो?"

मुर ने कहा—"मैं अपने शत्रु इस माधव को मारूँगा।"

कन्या ने कहा—"हे दानवेन्द्र! तुम वीर हो। वीर पुरुष सोते हुए पर प्रहार नहीं करते।"

असुर ने कहा—"मैं सोते हुए पर प्रहार न करूँगा। इन्हें जगाकर युद्ध करूँगा और युद्ध में परास्त करके ही मारूँगा।"

कन्या ने कहा—"ये जब तक तनिक विश्राम करलें तब तक तुम मुझसे ही दो-दो हाथ कर लो।"

महाराज हरिश्चन्द्र का उत्तर चरित्र

(६३७)

सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ।
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ७ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

मुनि रोक्यो मग कह्यो साङ्गता धन अब दीजै ।
नृप बोले—मुनि ! एक मास धीरज अरु कीजै ॥
यों कहि काशी गये कपर्दी की रजधानी ।
अवधिपूर्ण लखि पहुँच गये कौशिक अभिमानी ॥
द्रव्य याचना करी सुनि, नृप रानी विक्रय करी ।
रोहित हूँ बेच्यो स्वय बिके दक्षिणा द्विज भरी ॥

धैर्य की परीक्षा विपत्ति में होती है, सहन शीलता की परीक्षा क्रोध और अपमान के समय होती है और त्याग की परीक्षा दरिद्रता के समय होती है। ये संसारी धन वैभव आते

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज हरिश्चन्द्र की अपनी स्त्री के सहित सत्य मे ऐसी निष्ठा और दृढ़ता देखकर विश्वामित्र जी परम प्रसन्न हुए और उन्हे तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया।"

हे सर्वेश्वर ! मुरारे ! हे भक्तवत्सल ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे ये ४ वर दीजिये। १—एक तो यह कि मैं सभी तीर्थों से श्रेष्ठ मानी जाऊं। २—दूसरा यह कि मुझमें समस्त पाप ताप और विघ्नों का विनाश करने की सामर्थ्य हो। ३—तीसरा यह कि मैं सभी प्रकार की सिद्धियों को देने में समर्थ होऊँ और ४—चौथा यह कि मै आपके नाम से प्रसिद्ध होऊँ। जो लोग मेरे दिन को आप में भक्ति रखते हुए श्रद्धासहित जागरण पूर्वक उपवास करें उन्हें सभी सिद्धियां प्राप्त हों। जो निराहार उपवास न रह सकें और एक समय भोजन या रात्रि में ही कुछ फलाहार आदि करें तो उन्हें भी आप धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष प्रदान करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वह देवी और कोई नहीं थी, साक्षात् एकादशी देवी ही थी। भगवान् ! उसके इन वरों से बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'हे शोभने ! ऐसा ही होगा। आज से तुम संसार में "हरिवासर" कहलाओगी। जो लोग तुम्हारा व्रत करेंगे उनके लिये संसार में कोई भी पदार्थ दुर्लभ न होगा प्रत्येक पक्ष में तुम्हारा एक दिन होगा। तुम एकादशी तिथि की अधिष्ठातृ देवी होगी। इसलिये संसार मे तुम एकादशी के नाम से विख्यात होगी और भुक्ति मुक्ति प्रदायिनी समझी जाओगी" मुनियों ! ऐसा वरदान देकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये। तभी से संसार में एकादशी व्रत का इतना माहात्म्य हुआ।

किसी-किसी का कहना है कि समुद्र मथन के समय जब अमृत निकला था, उस दिन एकादशी ही थी। उस दिन भगवान् की-आज्ञा से सभी ने उपवास किया, दूसरे दिन देवताओं ने अमृत पान किया। इसलिये भी एकादशी का बड़ा महात्म्य है।

राजा बोले—"प्रिये ! मैं धर्मपाश में बँधा हूं, मुझे किसी ने बाँध नही लिया है, सत्य ने मुझे बाँध रखा है। अब मेरे सामने सत्य रक्षा का प्रश्न है।"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ ! प्राण देकर भी सत्य की रक्षा करनी चाहिये। ब्राह्मण को वचन देकर उसका पालन करना चाहिये, जिस बात की प्रतिज्ञा की हो, उसे सामर्थ्य रहते पूरी करनी चाहिये।"

राजा बोले—"प्रिये ! यही तो मुझे चिन्ता है, कि किस प्रकार सत्य का पालन करूँ ?"

रानी बोली—हे जीवन धन ! मैं आपकी दासी हूँ, आज्ञा कारिणी हूँ, आपके अधीन हूँ, आप मुझे बेच दें और उसी द्रव्य से महामुनि को सन्तुष्ट करें।"

यह सुनते ही महाराज मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर गये, और बड़े ही आर्त स्वर मे बोले—"प्रिये ! तुम ऐसी बातें मुख से मत निकालो। अश्वमेध यज्ञों मे जो केश वेद के मंत्रों द्वारा दिव्यौषधि महौषधि के जलो द्वारा भिगोये गये हैं, उन्हें मैं अपने देखते दूसरो को कैसे छूने दूँगा।"

इस पर रानी बोली—"हे धर्मज्ञ ! धर्म के सम्मुख धन, धान्य बान्धव, स्त्री, बच्चे यहाँ तक कि प्राणों का भी कोई महत्व नही। मुझे पुत्र हो चुका है, आप धर्मतः पितृ ऋण से उऋण हो चुके है अतः आप कुछ द्रव्य लेकर मुझे किसी को दासी बना दें।" धर्म की रक्षा के लिये सब कुछ करना होता है।"

यह सुनकर राजा रो पड़े और रोते रोते बोले—"जिसकी दास दासियाँ भी सुवर्ण के कुण्डल पहिन कर आज्ञा चलाती थी, अपने हाथो कुछ काम नही करती थी, वही सम्राज्ञी शैव्या सेविका बन कर साधारण से साधारण सेवा कैसे कर सकेगी ?

श्री हरि समस्त वांछित फल देते हैं। उसके लिये भुक्ति मुक्ति कुछ दुर्लभ नहीं है। महाराज अम्बरीष ने इन सब एकादशियों का रानी के सहित विधि विधान पूर्वक १२ वर्ष तक व्रत किया था। इस व्रत का आरम्भ मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष में जो उत्पत्ति नाम की एकादशी होती है उसमे होता है। और कार्तिक शुक्ल पक्ष की प्रबोधिनी एकादशी को जिसे देवोत्थापिनी एकादशी भी कहते हैं उस दिन इसकी समाप्ति होती है। महाराज अम्बरीष इसी कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की एकादशी को मथुरा जी में यमुना तट पर उद्यापन कर रहे थे। राजा की एकादशी व्रत मे वैसी ही निष्ठा थी, जैसे महाराज रुक्माङ्गद की थी।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने एकादशी की उत्पत्ति और सभी एकादशियों के नाम तो हमें सुना दिये, किन्तु एकादशी व्रतनिष्ठ महाराज रुक्माङ्गद का चरित्र नही सुनाया। कृपा करके पहिले परम भागवत महाराज रुक्माङ्गद का चरित्र सुनावें तब राजर्षि अम्बरीष के अग्रिम चरित्रों को कहें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! पहिले मैं आपको महाराज रुक्माङ्गद का ही चरित्र सुनाता हूँ आप इसे श्रद्धा सहित सुनें।"

छप्पय

हरिवासर उपवास करै ते नरक न जावैं।
ऋद्धि सिद्धि सम्पत्ति सहज फल चारों पावैं॥
रुक्माङ्गद भूपाल राज्य महँ व्रत करवावैं।
सब राखैं उपवास दार, सुत सहित न खावैं॥
सप्तद्वीप के अधिप नृप, सबई आज्ञा सिर धरैं।
कछु भय वश कछु भक्ति तैं, हरवासर सब व्रत बरैं॥

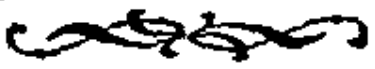

पत्नी भी किसी उच्चकुल में उत्पन्न परम सुन्दरी है, फिर तुम इसे बेचना क्यों चाहते हो ?"

रोते-रोते राजा बोले—"भाइयो ! तुम मेरा परिचय प्राप्त करना चाहते हो ? तो मेरा परिचय इतना ही पर्याप्त है, कि मैं परम क्रूर पुरुष हूँ। आकृति मेरी पुरुषों की सी है, किन्तु मैं हिंसक क्रूर कर्मा नर पशु हूँ। नहीं तो भला सदा अपने अनुकूल रहने वाली, मुझसे प्राणों से भी अधिक प्यार करने वाली अपनी पत्नी को भला कौन सज्जन पुरुष बेचेगा ?"

महाराज इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने में ही एक वाचाल ब्राह्मण वहाँ आ गया। उसके त्रिपुण्ड, दुपट्टे, डण्डे को देखकर सभी सहम गये। उसने आते ही पूछा – "क्या बात है ?"

लोगों में से कुछ ने कहा—"ये सज्जन अपनी इस परम सुकुमारी नारी को दासी कर्म के लिये बेचना चाहते है।"

ब्राह्मण ने पूछा—"क्या लोगे भाई ! तुम इसका ?"

यह सुनकर राजा का हृदय फटने ही वाला था कि वे सम्हल गये और अत्यन्त ही धैर्य के साथ बोले—"आप जो भी दे दें।"

ब्राह्मण बोला – "मेरी स्त्री अत्यन्त ही सुकुमारी है, उससे घर का काम काज होता ही नहीं। मैं बहुत दिनों से एक दासी की खोज में था, मेरे अनुरूप कोई मिली नहीं। अच्छी बात है, यह मेरे यहाँ काम किया करे। लो, इसके बदले इतना द्रव्य मैं आपको देता हूँ।"

यह कहकर ब्राह्मण ने कुछ सुवर्ण मुद्रायें राजा के वल्कल वस्त्रों में बाँधी और वे रानी का हाथ पकड़ कर ले चले।

मनुष्य अपने जीवन में किसी एक शुभ विषय में पूर्ण निष्ठा करले, तो उसी में उसका बेड़ा पार है। भक्तमाल आदि ग्रन्थों में ऐसी असंख्यों कहानियाँ है कि निष्ठावानों ने अपनी सच्ची निष्ठा के प्रभाव से असम्भव बात को सम्भव कर दिया है। जो चाहा है वही प्राप्त किया है। भगवान् निष्ठावानों की भाँति-भाँति से परीक्षा लेते हैं कि यह अपनी निष्ठा में दृढ़ है या नहीं। या दूसरे शब्दों में यों कह लीजिये कि विपत्ति का दान देकर भगवान् निष्ठा को पुष्ट करते हैं। निष्ठारूपी वृक्ष में विपत्ति रूप वारि न दिया जाय तो उसकी जड़ें दृढ़ होती नहीं। तनिक सा झोंका लगने से उसके गिर जाने का भय है। इसलिये निष्ठावान् पर जो विपत्तियाँ आती हैं, वे उसके हित के ही निमित्त होती हैं। सुवर्ण को जितना ही तपाया जाता है, वह उतना ही खरा निकलता है। निष्ठा के ऊपर जो स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, राज्य यहाँ तक कि सर्वस्व को निछावर कर देते हैं वही सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रकट हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे एकादशी व्रत-निष्ठ राजर्षि रुक्माङ्गद का चरित्र पूछा। उन धर्मात्मा विष्णु भक्त भूपति का वृत्तान्त मैं आप सबको सुनाता हूँ। महाराज रुक्माङ्गद इस सप्तद्वीपा वसुमति के एक मात्र अधिपति थे। उनकी एकादशी व्रत में ऐसी निष्ठा थी कि उस दिन वे किसी को भी अन्न नहीं खाने देते थे। यहाँ तक कि अपने हाथी घोड़ाओं को भी घास नहीं देते थे। एकादशी के एक दिन पहिले ही वे हाथी पर बड़ा नगाड़ा रखवा कर सुवर्ण के डंके से चोट कराते हुए सर्वत्र ढ्योढ़ी पिटवाते थे कि कल एकादशी है। ८ वर्ष से ऊपर के और ८५ वर्ष के नीचे तक के जो स्त्री पुरुष व्रत न करेंगे, वे मेरे दंड के भागी होंगे। बालक बूढ़े और रोगियों को छोड़कर

जा रहा है, तो उसने कसकर अपनी माँ का पल्ला पकड़ लिया और वह ढाह बाँधकर रोने लगा—माता का भी हृदय भर आया, उसने रोते-रोते कहा—'बेटा ! अब मुझे तुम क्यों छूते हो, अब तो मैं दासी हो गई तुम तो राजवंशोद्भव हो। आज तुम पेट भरके अपनी जननी को निहार लो। अब तुम्हारी माता दासी हो गई है।"

ब्राह्मण ने जब देखा कि करुणा का दृश्य अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है, तो उन्होंने डाँटकर रानी से कहा तू चलती है या मोह ममता करती है। यह कह कर उसने रानी को एक धक्का दिया। फिर भी रोहित ने अपनी माँ का पल्ला न छोड़ा वह किढिरता हुआ माँ के पीछे हो लिया। ब्राह्मण ने उस बालक को माँ से बलपूर्वक विलग करना चाहा, किन्तु बच्चा और भी अधिक रोने लगा। तब रानी ने अत्यन्त करुण स्वर में कहा—"पिताजी ! यदि आपकी कृपा हो तो आप इस बच्चे को भी मोल ले लें। मेरे बिना यह दुखी रहेगा और इसकी याद में मैं चिन्तित रहूँगी, जिससे आपके घर का काम भी भली भाति न कर सकूँगी यदि यह रहेगा, तो हम दोनों ही आपके घर के कामो को किया करेंगे।

ब्राह्मण की बुद्धि में यह बात धँस गई। तुरन्त ही कुछ सुवर्ण मुद्रा राजा के वल्कल उत्तरीय मे बाँध कर बोला—'अच्छा लो, इस बच्चे को भी मुझे दे दो।" यह कह कर वह माता और पुत्र को लेकर चल दिया। इधर महाराज हरिश्चन्द्र कटे वृक्ष की भाँति मूर्छित होकर गिर पड़े। रानी बार बार मुडकर महाराज की ओर निहारती जाती थी। राजा के नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। वे चिल्ला रहे थे हा प्रिये ! हा वत्स!

यमराज ने अत्यन्त दुःख के साथ कहा—'ब्रह्मन्! क्या बताऊँ आज कल पृथ्वी पर महाराज रुक्माङ्गद राजा हो गये हैं। उन्होंने सब गुड़ गोबर कर दिया। वे एकादशी के दिन किसी को अन्न खाने ही नही देते। सभी से उपवास कराते हैं। जिसने एकादशी को उपवास कर लिया, रात्रि जागरण किया, भगवान् की पूजा की, वह मेरे यहाँ आने ही क्यों लगा। इसीलिये मेरा लोक आज शून्य हो गया। जो पुराने पापी थे, उनके निमित्त उनके सम्बन्धियों ने व्रत किया कराया। इससे वे भी नरक से निकल गये। अब मैं यहाँ अकेला बैठा-बैठा मक्खी मारता रहता हूँ, ये लेखक चित्रगुप्त अपनी बहियों को आगे रखे कान में लेखनी लगाये ऊँघते रहते है। इनका मसीपात्र सूख गया लेखनी व्यर्थ बन गई। अब आप ही बताइये, मैं तो ब्रह्माजी के यहाँ त्यागपत्र देने के लिये जाने वाला हूँ।

नारदजी ने कहा—'ब्रह्माजी के अतिरिक्त इसका उपाय कौन कर सकता है, चलिये उन्हीं की शरण चलें।"

नारदजी की ऐसी सम्मति सुनकर यमराज ने अपना बाना पहिना, त्याग पत्र लिखा और ब्रह्मलोक को नारदजी के साथ चल दिये। उनके पीछे बही खाते को बगल में दबाये मसीपात्र और लेखनी को लिये चित्रगुप्तजी भी अपनी कमर को लचकाये हुए चले। जब ये तीनों ब्रह्माजी की सभा में पहुँचे, तो सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इन यमराज को तो एक क्षण भर का भी अवकाश नहीं मिलता था। रात्रि दिन पापियों को दण्ड देने में ही बीतता था। आज ये अपने मुनीम के सहित कैसे आये है।

वे सब लोग यह सोच ही रहे थे कि यमराज ने लोक पितामह के चरणो में प्रणाम किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर यम-

तब राजा ने कहा—"भगवन् ! मेरी स्त्री मेरा प्यारा पुत्र तो बिक गये अब मेरा शरीर शेष रह गया है। अतः आप उसे बेच कर जो मिले उसे लेकर सतुष्ट हो जायें।"

मुनि ने कहा—"चाहे जैसे हो, मुझे तो यथेष्ट धन मिलना चाहिये मैं जाता हूँ अब मैं सूर्यास्त के समय ही आऊँगा। यह मेरा अन्तिम आना होगा, उस समय तक आपने मुझे यथेष्ट दक्षिणा दे दी तब तो कोई बात ही नही। यदि न दे सके तो मै तुम्हे शाप देकर भस्म कर दूँगा।"

यह सुनकर राजा मूर्छित हो गये। उन्होने धर्म का स्मरण करके अपने को सम्हाला। उसी समय वहाँ धर्म चाँडाल आ उपस्थित हुआ। महामुनि ने दुर्वासा के शाप से धर्म को तीन स्थानों में जन्म लेना पड़ा। एक तो युधिष्ठिर के रूप में,एक दासी पुत्र विदुर के रूप मे और एक काशी में प्रवीर चाँडाल के रूप में।

महाराज हरिश्चन्द्र अपने को बेचने के लिये चिल्ला रहे थे कि वहाँ प्रवीर चाँडाल आ पहुँचा। उसका शरीर काला था। बाल कड़े और ताम्बे के वर्ण के थे,मुख भयकर और माथा छोटा था, नाक चिपटी हुई, आँखें गोल छोटी पीलापन लिये हुए रूखी और कठोर थी। छाती बड़ी और कड़ी थी, पेट लम्बा था, पैर छोटे थे, चर्म मोटा और भैंसे के समान था। झोली मे बहुत से मरे पक्षी भरे थे। मुर्दे के ऊपर के वस्त्रों को पहिने था तथा मुर्दों के ऊपर चढ़ी हुई मालाओं से उसने अलंकार कर रखा था। नरमुण्डों की माला पहिने और हाथ में नरकपाल लिये हुए वह कुत्तों से घिरा निर्भय चला आ रहा था। उसकी देह से दुर्गन्ध निकल रही थी। उसकी आकृति-प्रकृति क्रूर थी। आते ही उसने कहा—"मुझे एक दास की आवश्यकता है यदि

'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्माजी को प्रणाम कर मोहिनी वहाँ से चलदी और मन्दराचल पर्वत पर जाकर एक शिव मन्दिर में बड़े ही स्वर से वीणा बजाकर कामवर्धक गीत गाने लगी। तथा अपनी स्वर लहरी से उस वन्य प्रदेश को सरस रागमय बनाने लगी।"

इधर महाराज रुक्मागद अपने पुत्र धर्मांगद को राज्य का भार सौंपकर और अपनी पतिव्रता सती साध्वी पत्नी सन्ध्या वती से अनुमति लेकर एक दिव्य अश्व पर चढ़कर वन विहार के लिये मन्दराचल पर्वत की ओर चले। वे नाना वन उपवनों तथा सरिताओं के तटो पर घूमते फिरते मन्दराचल की शोभा निहारते हुए उस शिवालय के समीप पहुँच गये, जहाँ मोहिनी अपने मोहक राग से वीणा बजाकर गा रही थी। उस अत्यन्त सरस चित्ताकर्षक संगीत को सुनकर राजा अवश हुए, बिना प्रयत्न के उधर चले गये, वहाँ जाकर जो उन्होंने सुन्दरता की साकार मूर्ति उस मनोरमा मोहिनी को देखा, तो देखते ही वे काम बाणों से विद्ध हो गये, उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही। अचेतन से होकर वे मुर्च्छित होकर मन्दिर के प्रांगण में ही पड़ गये।

उस ललना ललाम ने जब मदन बाण से आहत उन भूपति को अचेतनावस्था में अस्त व्यस्त पड़े देखा, तो वह वीणा रखकर उनके समीप आई और वीणा विनिन्दित स्वर में कहने लगी—"हे पुरुष श्रेष्ठ! हे विरागमय! आप उठिये, उठिये! प्रभो! मैं आपको ही पाने के निमित्त आशुतोष भगवान् उमा-पति की उपासना कर रही थी। हे नरव्याघ्र! मैं स्वयं साक्षात् ब्रह्माजी की मानसी कन्या हूँ। बड़े-बड़े देवता, गन्धर्व, विद्याधर आदि मुझसे विवाह करना चाहते थे, किन्तु मैं आपकी पुण्य

इसीलिये अब मैं अपने को भी बेचना चाहता हूँ, यह चांडाल कहता है, मेरे हाथ बिक जाओ।"

मुनि ने कहा—"बिकना तो तुम्हें है ही, जब यह तुम्हें द्रव्य दे रहा है, तब क्यों नहीं बिक जाते ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! मृतकों के वस्त्रों से आजीविका करना परम निन्दनीय कर्म है। चांडाल कर्म परम निन्दनीय बताया है। आप मुझे चांडाल के हाथों क्यों बेचते है ? कहीं अन्यत्र मुझे बेचकर द्रव्य ले लें। या शेष द्रव्य के बदले आप ही जीवन भर मुझे अपना दास बना लें, मैं आपकी सदा सेवा करता रहूंगा।"

मुनि ने कहा—"मेरे पास तो सेवक बहुत है, मुझे सेवकों की कमी नहीं। मुझे तो यथेष्ट द्रव्य चाहिये।"

चांडाल ने कहा—"द्रव्य तो मैं चाहे जितना दे सकता हूं।"

मुनि बोले—"तब और क्या चाहिये। जाओ मैंने इन्हें तुम्हारे हाथों बेचा। इतनी लाख सुवर्ण मुद्रा तुम मुझे दो।"

चांडाल ने मुनि का मुहमांगा द्रव्य उन्हें दे दिया। राजा विवश थे, धर्मपाश में बंधे थे। अत. वे कुछ भी नहीं कह सके। चांडाल राजा को बांध कर अपने घर की ओर ले चला। महाराज पशु के समान मुख नीचा किये हुए चांडाल के साथ चले गये। उन्होंने राजा होकर भारी से भारी अपमान, बड़े से बड़ा कष्ट सहन करना तो स्वीकार किया, किन्तु सत्य धर्म को छोड़ने की बात उनके मन में भी नहीं आई। वे धर्मपाश में जकड़े हुए थे, चांडाल उन्हें अपने घर ले गया।

तो आप से यही प्रतीज्ञा करानी है, कि आप मुझे एक वर दे, जब भी मैं आप से जिस एक कार्य को करने को कहूँ उसे आप अवश्य कर दें।"

राजा ने उल्लास के साथ कहा—"प्रिये ! यह तुम क्या कह रही हो। मैं प्रतिक्षण तुम्हारी समस्त आज्ञाओं का पालन करता रहूँगा। मैं तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कार्य न करूँगा। मैंने आज तक कभी झूठ नहीं कहा है, मैं तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ, प्रीतज्ञा पूर्वक कहता हूँ।"

राजा के इस प्रकार कहने पर और दृढ़ प्रीतज्ञा कर लेने पर महाराज का मोहिनी के साथ विधि-विधान पूर्वक विवाह हो गया और वे दोनों आनन्द के साथ मन्दराचल की रमणीय उपत्यकाओं में आमोद प्रमोद और विहार करने लगे। उन्हें आनन्द के कारण यह भी नही होता था, कि कब दिन हुआ, कब रात्रि हुई।

दो चार दिनों के पश्चात् राजा ने सोचा कि मुझे अपनी नगरी की ओर चलना चाहिये। अब एकादशी आने वाली है चल कर घर पर व्रत करना है।" ऐसा सोचकर और वे मोहिनी को अनेक प्रकार से समझा बुझाकर घर के लिये चल दिये। दिव्य घोड़े के प्रभाव से वे कुछ ही देर में अपने नगर के समीप पहुँच गये।

पुत्र धर्माङ्गद ने जब देखा मेरे पिता आ रहे हैं, तब वे अपने अनुचरों के सहित शीघ्रता से उनकी अगवानी करने गये, दूर से ही उन्होंने पिता के चरणों में प्रणाम किया, अपने पुत्र को साष्टांग प्रणाम करते देखकर राजा शीघ्रता से घोड़े से उतर पड़े और पुत्र को बल पूर्वक पृथ्वी से उठा कर छाती से चिपटा लिया। संसार में पुत्र स्पर्श से बढ़कर कोई स्पर्श नही। आज

शवो की दुर्गन्ध से वह स्थान भरा रहता था। चारों ओर हड्डियाँ बिखरी रहती थी, बहुत सी खोपड़ियाँ इधर उधर टकराती रहती थी। बड़ेबड़े कछुए मृतक शरीरो के माँस को खाने के लिए किनारो पर मुँह निकाले पड़े रहते थे। आधे जले या वैसे ही पडे मृतको को सियार चौथते रहते थे। बहुत से मृतक शरीर सड जाते, उनमे से दुर्गन्ध निकलती रहती, उन्हें कुत्ते सियार गीदड भी नही खाते थे,उन्हे पास से महाराज को फेंकना पड़ता कुछ जले कुछ अधजले मृतकों को खीच कर मोटे मोटे कुत्ते खाते रहते। बहुत से गिद्ध काक अपने परों को फटफटाते भयकर शब्द करते इधर से उधर दौड़ते रहते। भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, डाकिनी, साकिनी, आदि वायु के आधार से रहने वाले सूक्ष्म शरीर के प्राणी वहां के वृक्षों पर रहकर हंसते खेलते और भयकर शब्द करते थे। वहाँ निरन्तर लोग आते जाते रहते थे। किसी का पुत्र मर गया है, तो उसके परिजन हा ! पुत्र ! हा ! मेरे लाल ! कह कर डकरा रहे है, कोई अपने मित्र का नाम लेकर रो रहा है, कोई माता पिता के लिए आँसू बहा रहा है, कोई स्त्री के वियोग मे तड़प रहा है, कोई सन्तान के मरने पर बिलबिला रहा है, चारो ओर करुण क्रन्दन ही क्रन्दन सुनाई पड़ता था। वहाँ निद्रा किसी प्रकार भी नही आ सकती थी। कभी कभी माँस भोजी पशु पक्षी महाराज को सोता देखकर उन्हें भी मृतक समझ कर काट लेते। महाराज तत्क्षण उठ बैठते कोई भी मृतक आता, किसी भी समय आता, महाराज तुरन्त उठकर जाते, उसे अग्नि देते, पैसा लेते और उसके ऊपर के वस्त्र को लेकर सुरक्षित रखते। उन्हें इस बात का सर्वदा ध्यान रहता था,कि मेरे स्वामी चांडाल का काम सावधानी से होना चाहिये। उसमें छल, कपट या प्रवञ्चना न होने पावे।

इस प्रकार उस अत्यंत भयंकर श्मशान भूमि मे जिस किसी

ब्रह्माजी की पुत्री हैं, त्रैलोक्य सुन्दरी हैं और सबसे बड़ी बात यह है, कि हमारे पूज्य पिताजी इनके अधीन हैं। अतः आप इनसे किसी प्रकार का डाह न करें। अपने बड़प्पन का अभिमान छोड़कर पिताजी की प्रसन्नता के लिये इसकी सेवा करें। स्वयं जाकर इन्हें अपने हाथों से भोजन करावें।"

पुत्र के ऐसे बचन सुनकर परम पतिव्रता सन्ध्यावली बोली—"बेटा! मैं पतिव्रताओं के धर्म को जानती हूँ, उस स्त्री को धिक्कार है जो अपने पति के विरुद्ध आचरण करती है। यह तो ब्रह्माजी की स्त्री है यदि मेरे पति सूकरी कूकरी से भी प्रेम करें तो मैं दासी की भाँति उसकी भी सेवा करने को तैयार हूँ। मैं अभी जाती हूँ और मोहिनी को प्रसन्न करके उसे अपने हाथों भोजन कराती हूँ।"

इतना कह कर यह अपने पुत्र को साथ लिये हुए मोहिनी के निकट गई और कोप भवन मे पड़ी हुई उससे अत्यन्त प्रेम से बोली - "बहिन! तुम ऐसी दुखी क्यो हो रही हो। देखो, महाराज तुम्हें कितना स्नेह करते है। जिस पर महाराज का इतना प्रेम है, उसके अधीन ही यह सप्तद्वीपा वसुमती तथा समस्त धन धान्य है। जब महाराज ही तुम्हारे वश में हैं, तो हम सब तो उनके आश्रित हैं, अवस्था से अथवा पहिले विवाह होने से ही कोई रानी बड़ी नही होती। बड़ी वही है जिसे पति सबसे अधिक प्यार करें। तुम मेरे स्वामी की प्राण प्रिया हो, अतः हम सब तुम्हारी सेविकायें है। आज से मैं दासी की भाँति तुम्हारी सेवा किया करूँगी। तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करूँगी। तुम महाराज के ऊपर प्रसन्न हो जाओ। मैं तुम्हें सिर से प्रणाम करती हूँ। तुम स्नान करो, मैं तुम्हें अपने हाथ से भोजन कराऊँगी।"

साथ ही मृतक के ऊपर का नवीन वस्त्र भी। यही सोचकर उन्हों ने अपना चाडालों का डड उठाया और उधर की ही ओर चले।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्राचीन काल में सभी के वेष-भूषा चिन्ह पृथक पृथक होते थे, उसे ही देखकर सब जान लेते

भगवान् को प्रसादी खीर लाकर महाराज को दी और कहा—'आज शरदुत्सव का यह प्रसाद है प्रभो !"

शरदुत्सव का शब्द सुनते ही महाराज रुक्माङ्गद ने पूछा—"क्या कल से परम पुण्यप्रद कार्तिक मास का आरम्भ है ?"

पुजारी ने कहा—"हाँ प्रभो ! आज शरदुत्सव हो गया कल से समस्त कल्मषहारक कार्तिक मास का स्नान आरम्भ होगा।"

इतना कह कर पुजारी चला गया, राजा ने मोहिनी से कहा—"प्रिये ! कल से कार्तिक मास का आरम्भ है जिसका कार्तिक मास बिना व्रत उपवास के बीत जाता है, उसका जीवन वृथा है, यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मै कल से एक महीने का व्रत आरम्भ करूँ। इसमे प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व स्नान करना पड़ता है, तुलसी, आमला शालग्राम की पूजा करनी पड़ती है, उपवास, फलाहार, एक समय भोजन अथवा दुग्धहार जैसा भी नियम हो, उसे लेकर महीने भर तक भगवान् की आराधना करनी पड़ती है। मैं चाहता हूँ, यह महीना उपवास पूर्वक बिताऊँ, तुम भी मेरे साथ व्रत करो। मेरे इतने कार्तिक बिना व्रत के व्यतीत हो गये। मेरे सभी नियम व्रत टूट गये, एक एकादशी व्रत ही जैसे तैसे निभ रहा है।"

मोहिनि ने कहा—"महाराज ! आप इतने बड़े ज्ञानी और बुद्धिमान् होकर इन व्रत उपवास के चक्कर मे क्यों पड़ते हैं। प्राणनाथ ! भूखा रहना, उपवास करना यह यतियों का अथवा विधवाओं का धर्म है। जिसे अनुकूल पत्नी प्राप्त है, भगवान् की दी हुई सब सम्पति है वह व्रत उपवास क्यों करे। आप तो महीने भर की कहते है, मैं तो आपके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती है।"

मेरे राजर्षि पति न जाने कहाँ भटक रहे होंगे, तू मुझे बीच में ही छोड़ गया। हाय मेरा हृदय न जाने किन किन धातुओं के मिश्रण से बना है, जो इतनी भारी विपत्तियों के आने पर भी फटता नहीं, इसके टुकड़े-टुकड़े नहीं होते।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! अब तो महाराज को कोई सन्देह रहा नही। वे धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़े। उनके चोट लगी, किन्तु इसका उन्हें कुछ पता नही। वे हा पुत्र हा पुत्र कह कर मुक्त कंठ से रुदन करने लगे।"

महारानी शैव्या रो रही थीं डर रही थी। वे पुत्र शोक से विह्वल बनी हुई थीं, उन्हें यह भी ध्यान नही था, यह मेरे पास कौन पुत्र, पुत्र चिल्ला रहा है। वे समझी ये भी कोई मेरे ही समान हतभागी होंगे, इनका भी पुत्र मर गया होगा। राजा बड़ी देर तक मूर्छित अवस्था मे पड़े रहे। कुछ काल में उन्हें चेतना हुई। उन्होंने दौड़ कर बच्चे को उठा लिया और कस-कर छाती से चिपटाते हुए कहने लगे—'मेरे लाल ! मेरे वत्स रोहित। भैया, सब ने मुझे छोड़ दिया। तू भी मुझे छोड़ कर परलोक जा रहा है क्या ? मुझे भी अपने साथ ले चल अब मैं तेरे बिना इस पृथिवी पर रह नही सकता।"

रानी ने जब महाराज की वाणी सुनीं तब तो उन्हें भी निश्चय हो गया, मेरे प्राणनाथ ही हैं। इतने देर से महाराज खड़े थे। रानी ने कई बार उन्हें देखा, किन्तु वे उन्हें पहिचान न सकीं। उन्होंने उनके मस्तक पर छत्र तना देखा था। काले—काले घुँघुराले बालों को फहराते मुखमंडल पर निहारा था। आज उनके मस्तक पर रूखी-रूखी भयंकर जटायें थीं, जो चिता के धूँए से या लपटों से सुनहली और धूमिल बन गई थीं। उनका

चल पर्वत पर आपने मेरे साथ विवाह किया था, तब आपने शपथ पूर्वक मुझे एक वर दिया था कि जो मैं मांगूगी वह आप देंगे।" आज उस वर का समय आ गया है। आप सत्य प्रतिज्ञ हैं, कहिये उस वर को आज मुझे देंगे?"

राजा ने हँस कर कहा—"स्त्रियों का हृदय बड़ा संकुचित होता है। मैं बार-बार कह चुका हूँ, मेरा धन, राज्य, शरीर सर्वस्व तुम्हारा है। तुम एक वर का कहती हो, मैं तुम्हें सहस्र वर देने को सदा उद्यत हूँ।"

मोहिनी ने प्रणयकोप के स्वर में आँखें मटकाते हुए कहा—"नहीं, महाराज! मुझे आपके धन, राज्य से क्या काम। मुझे सहस्र वर नहीं चाहिये। मैं एक ही चाहती हूँ। ऐसा न हो कि फिर आप मना कर दें।"

अत्यन्त ममत्व के स्वर में प्रेम पूर्वक राजा बोले—"प्रिये! तुम ऐसा अविश्वास मेरे ऊपर किस कारण से कर रही हो। ऐसा कभी मुझे स्मरण नहीं कि तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध मैंने कोई कार्य किया हो। मैंने जीवन में कभी झूठ बोला है ऐसी मुझे स्मृति नहीं। मैं सत्य प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ कि तुम जो मांगोगी वही दूँगा।"

मोहिनी ने प्रसन्नता के साथ कहा—"यदि ऐसा ही है, तो मैं चाहती हूँ कि आप एकादशी का व्रत न करें। एकादशी के दिन भोजन कर लें।"

राजा ने अत्यन्त ही दुःख के साथ कहा—"यह मेरे लिये असम्भव है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ, अपने प्राणों को दे सकता हूँ, किन्तु एकादशी व्रत नहीं छोड़ सकता।"

इस पर मोहिनी ने कहा—"तब जाइये, अपने वचनों को मिथ्या बनाकर अपयश कमाइये। आपको एकादशी प्यारी है,

नाथ को चांडाल वेष में देख कर मेरा हृदय फटता क्यों नहीं। इसके टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं होते।"

इतना कह कर महारानी दोनों हाथों से अपनी छाती को धुनने लगी, बालों को नोचने लगी और नखों से अपने अंगों को काटने लगी।

महाराज ने रानी को जब ऐसी विक्षिप्तावस्था देखी तो उन्होंने उन्हें पकड़ लिया। अब वे भूल गये कि मुझे रानी को छूना नहीं चाहिये। उन्होंने अपनी प्रियतमा शैव्या को हृदय से लगा लिया। रानी पुत्र शोक को भूल गई थीं। अब उन्हें रह रह कर पति के चांडाल होने की वेदना थी।

अर्ध रात्रि का समय था, सम्पूर्ण संसार सो रहा था। स्मशान भूमि की भयंकरता और भी बढ़ गई थी। कुत्ते सो रहे थे, सियार इधर-उधर मांस के लिये घूम रहे थे। कुछ काल पहिले जो लोगे मृतक को जलाने आये थे वे भी चले गये थे। चिताओं का धूआँ भरा हुआ था, स्मशान भूमि में तीन ही थे। राजा रानी और मृतक कुमार।

महाराज ने कुमार को गोद में लिटा लिया, महारानी के सिर पर हाथ रख कर उन्होंने उनके अपने मैले वस्त्र से आंसू पोंछे और कहा—"प्रिये! तुम अधीर मत होओ। हमने कोई पाप नहीं किया है, हमने जो भी कुछ किया है, धर्मरक्षा के ही निमित्त किया है?"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ! आपको यह चांडालपना कैसे प्राप्त हुआ?"

उनसे भी व्यवस्था दिखाई किन्तु पिताजी किसी भी प्रकार व्रत छोड़ने को तैयार नहीं हुए। फिर इस कार्तिक मास की परम पुण्यप्रदा प्रबोधिनी एकादशी को यों वे किसी भी प्रकार से नहीं छोड सकते। अतः एकादशी व्रत भंग को छोड़कर मेरी छोटी माता और जो भी माँगे, वही तुम उन्हें देकर प्रसन्न करो।

अपने पुत्र के ऐसे वचन सुनकर महारानी सन्ध्यावली मोहिनी के समीप गईं और उसके पैरों में पड़ कर बोली—"बहिन! यद्यपि तुम मुझसे छोटी हो, फिर भी मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम मेरे पति पर प्रसन्न हो जाओ। देवि! तुम उनसे एकादशी को अन्न खाने के लिये आग्रह मत करो, इसके अतिरिक्त तुम जो भी माँगोगी वही मैं दूँगी। बहिन! स्त्रियों के लिये पति ही देवता है, पति ही परमेश्वर हैं, उनकी प्रसन्नता के लिये पत्नी को सब कुछ करना चाहिये।"

मोहिनी ने कहा—"महाराज ने मुझसे विवाह के समय प्रतिज्ञा की थी। आज उसे पुनः शपथ पूर्वक दुहराया। अब वे कह कर अपने वचनों से हटना चाहते है। यदि वे ऐसा करते हैं, करें। मैं अपनी हठ को नहीं छोड सकती।"

अत्यन्त ही विनीत भाव से सन्ध्यावली ने कहा—"बहिन! मैं कहती तो हूँ तुम एकादशी व्रत त्याग वाली बात को छोड कर और जो भी कहोगी वही कार्य महाराज करेंगे।"

मोहिनी तो क्रोध में भरी ही हुई थी, उसे तो ब्रह्माजी ने भेजा ही इसलिये था। अतः उसने सोचा—"राजा के एक ही पुत्र है, वह भी शूरवीर, विजयी विनयी और पिता का प्राणों से भी अधिक प्यारा है। संसार में सभी को पुत्र प्यारे होते हैं, किन्तु गुणी, आज्ञाकारी, विनयी और अनुकूल पुत्र तो प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। अतः इससे यही माँगूँ।" यह

समय अग्नि की साक्षी देकर मेरा हाथ पकड़ा था। उसी प्रकार चिता पर भी मेरा हाथ पकड़े ही हुये चढें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, कल्याणि ! जब तुमने ऐसा ही निश्चय किया है, तो हम इस विश्वनाथ की पुरी से भी उसी प्रकार साथ चले जिस प्रकार अयोध्या पुरी से साथ चले थे। यह कह कर महाराज ने एक बड़ी सी चिता स्वयं बनाई। उसके ऊपर कुमार रोहित के मृतक शरीर को रखा।

रानी के सहित उन्होंने चिता की प्रदक्षिणा की और हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए गद्-गद् कण्ठ से कहने लगे—"हे अशरण शरण ! प्रभो ! मैंने जो भी कुछ किया है, धर्म की रक्षा के निमित्त किया है। हे चराचर के स्वामी विश्वम्भर ! आपके अनन्त नाम हैं, धर्म ही आपका नाम है सत्य ही आपका स्वरूप है। आप आनन्द घन तथा चैतन्यस्वरूप है। आपको हृदय में धारण करके ही मैं इस शरीर का अन्त करना चाहता हूँ।" इस प्रकार स्तुति करके महाराज ज्यों ही चिता पर चढ़ने को उद्यत हुए। त्योंही साक्षात् चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा वहाँ प्रकट हुए। उनके पीछे इन्द्र, वरुण, कुबेर, धर्म, साध्यगण, विश्वेदेवा, मरुद्गण, नाग, सिद्ध, गन्धर्व एकादशी दोनो अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य देवगण भी थे। आते ही देवताओ के राजा इन्द्र ने कहा—"राजन् ! आप ऐसा साहस न करे, आपने अपने सत्यधर्म के प्रभाव से अक्षय लोकों को जीत लिया है। ये सम्पूर्ण ब्रह्माड के अधीश्वर लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा जी समस्त देवताओं के सहित इन्हें दर्शन देने आये है। इनके समीप ही ये महर्षि विश्वामित्र भी खड़े हैं। इन्होने क्रोधवश लोभवश तुम्हारा सर्वस्व अपहरण नहीं किया था आप जैसा सत्यवादी

अनुभव कभी नहीं कर सकते। फिर भी मै पुत्र की अपेक्षा धर्म को श्रेष्ठ मानती हूँ। पुत्र का वध करके यदि आप अपने धर्म का पालन कर सकें, परलोक को बना सके, तो पुत्र तो बहुत हुए है, बहुत हो जायंगे। पुत्र की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है, अतः आप पुत्र का वध करके धर्म की रक्षा कीजिये।"

राजा ने रोते-रोते कहा—"प्रिये! मैं पापी इन हाथों से इतने कोमलाङ्ग पुत्र के सिर को खड्ग से कैसे काट सकूंगा। मै आत्मघात कर लूंगा, किन्तु न तो पुत्र का वध करूंगा न एकादशी व्रत ही छोड़ूंगा।"

यह सुन कर हाथ जोड़े हुए पुत्र ने विनीत भाव से कहा—"पिताजी! आप मोह न करें। मरने से आपकी अपकीर्ति होगी, एकादशी व्रत छोड़वे से धर्म का नाश होगा, जीवन भर दंड दे देकर आप सबसे एकादशी व्रत कराते रहे, अब आप ही जब एकादशी को अन्न खा लेंगे, तो लोग क्या कहेंगे, सर्वत्र आपकी निंदा होगी जो यमराज आपके नाम से डरता है, जिसके नरक को आपने रिक्त करा दिया है, वह हँसेगा। शत्रु के व्यङ्ग पूर्वक हास से बढ़कर दुःखद कोई कार्य नहीं। अतः आप मेरा बध करके अपने यश को उज्वल कीजिये, धर्म की रक्षा कीजिये। नश्वर देह देकर शाश्वत धर्म मिलता हो, तो कौन बुद्धिमान् इस हाड़ मांस के बने शरीर का मोह करेगा?"

सूतजी कहते है—"मुनियो! पुत्र के ऐसे विवेकपूर्ण वचन सुनकर तथा महारानी सन्ध्यावली के बार-बार आग्रह करने पर, महाराज अपने पुत्र का वध करने के लिये उद्यत हो गये।"

उस समय का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। एक ओर तो फूल से भी सुकुमार कुमार खड़ा था। अभी उसके दाढ़ी मूंछे

पूर्वक स्वर्ग जायें। धर्म की अधीनता अधीनता नहीं। धर्म के लिये उठाया जाने वाला कष्ट कष्ट नहीं है। धर्म के लिये होने वाला अपमान अपमान नहीं है। जो मुझ धर्म की रक्षा करता है, उसकी मैं भी सदा रक्षा करता हूँ। आप सुख पूर्वक स्वर्गादि लोकों को जाकर वहाँ दिव्य सुखों को भोगें।"

इस पर इन्द्र बोले—"हाँ, महाराज! चलिये अब तो आप जिनके अधीन थे, उन्होंने भी आपको आज्ञा दे दी।"

तब महाराज हरिश्चन्द्र बोले—"देवेन्द्र आपकी बड़ी कृपा है। मैं अकेले स्वर्ग नहीं चाहता। मैं स्वार्थी नहीं कि स्वयं ही स्वर्गीय सुखों को भोगूँ। मैं तो प्रजा का सेवक हूँ। अयोध्या की मेरी समस्त प्रजा मेरे वियोग में तड़प रही है, मैं उसे दुःखी छोड़कर अकेला स्वर्ग नहीं जा सकता। आप सबको स्वर्ग ले चलें तो मैं चलूँ।"

यह सुन कर शचीपति देवेन्द्र हँस पड़े और बोले—"महाराज अब भी आपके हृदय में प्रजा का अनुराग ज्यों का त्यों बना है इसीसे विदित होता है आप सच्चे नरपति हैं—आपका कल्याण हो। आइये मेरे साथ विमान पर विराजिये, ये बाबा विश्वामित्र भी यहीं विराजमान् हैं। ये आपके स्वामी धर्म भी साथ ही हैं। आइये मुझे कृतार्थ कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! देवेन्द्र के इतना कहते ही महाराज का शरीर दिव्य हो गया, वे वस्त्राभूषणों से अलंकृत दूसरे देवेन्द्र से प्रतीत होने लगे। महारानी शैब्या भी पहिली जैसी ही रूपवती हो गईं। वे महाराज की बगल में खड़ी हुईं, शची के समान दिखाई देती थीं। कुमार भी हँसते हुए महारानी

एकादशी में उसे रहने को स्थान दिया। फिर पुरोहित ने उसके पापों के प्रक्षालनार्थ तीर्थ यात्रा का विधान बताया। तीर्थ यात्रा के प्रभाव से मोहिनी को भी उत्तम लोकों की प्राप्ति हो गई। दशमीविद्धा एकादशी में मोहिनी का अवस्थान होने से दशमीविद्धा एकादशी का व्रत निषेध है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसीलिये वैष्णव लोग द्वादशी व्रत करते हैं। अष्टमी, एकादशी, षष्ठी, तृतीया और चतुर्दशी के जितने व्रत हैं वे पूर्व तिथि से विद्ध होने पर नहीं किये जाते। परवर्तिनी से युक्त होने पर ही इनमें उपवास का विधान है। स्मार्त और वैष्णव में यही अन्तर है। स्मार्त वैष्णव द्वादशी में पारण का आग्रह करते है। वे द्वादशी के समाप्त होने के पूर्व ही पारण कर लेना प्रशस्त समझते है और वैष्णव व्रत के दिवस द्वादशी आ जाय इसका आग्रह करते हैं। फिर पारण चाहे त्रयोदशी में हो। प्रथम दिवस दिन में और रात्रि में भी पूरा ६० दंड एकादशी रहे और दूसरे दिन केवल एक ही दंड एकादशी हो तो वैष्णव प्रथम एकादशी को छोड़कर दूसरी द्वादशी युक्त एकादशी का ही उपवास करते हैं।

महाराज अम्बरीष का आग्रह द्वदशी में पारण का ही था। इसलिये कार्तिक मास में ३ दिन का उपवास करके अन्त में द्वादशी के दिन यमुना जी में विधिवत् स्नान किया। फिर महाभिषेक की विधि से सब प्रकार के बहुमूल्य द्रव्यों के नाना उपहारों से उदारता पूर्वक भगवान् की अत्यन्त धूमधाम से पूजा की। वस्त्र, आभूषण, धूप, दीप तथा नाना प्रकार के ५६ व्यंजनों को भगवान् को अर्पण किया। फिर वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर अत्यन्त श्रद्धा भक्ति सहित उन्हें षड्रसों वाले भगवान् के प्रसादी व्यंजनों से जिनके ऊपर हरी-हरी तुलसी की मंजरी

बाहुक पुत्र महाराज सगर

(६३८)

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्माद्विनिर्मिता ।
चम्पापुरीं सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥
भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तयापि बाहुकः ।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० १,२ श्लोक)

छप्पय

तन धन सरवसु तज्यो धर्म हरिचन्द न छोरयो ।
परी विपति पै विपति नहीं सत तै मुख मोरयो ॥
गये नृपति बैकुण्ठ भये रोहित नृप श्रीयुत ।
रोहित के सुत हरित हरित के चम्प भये सुत ॥
चम्प नृपति चम्पापुरी रचीं वीरवर तिन तनय ।
नृप सुदेव है विदित जग, भये तासु सुत नृप विजय ॥

भगवान् जिसकी रक्षा करना चाहते हैं जिसका जीवन चाहते हैं, वह चाहे धधकती अग्नि में कूद पड़े, पर्वत से गिर

---

*श्रीशुकदेव जी कहते है–"राजन् ! हरिश्चन्द्र सुत रोहित हुए रोहित के हरित उसके चम्प हुए जिन्हों ने चम्पापुरी को बसाया । चम्प के सुत सुदेव हुए उनके आत्मज विजय हुए । विजय के भरुक और भरुक के वृक हुए । महाराज वृक के ही पुत्र बाहुक हुए जिनकी पृथिवी को शत्रुओं ने छीन लिया इसलिये वे अपने पत्नियों सहित वन में चले गये ।

अम्बरीष के अतिथि दुर्वासा

[६१७]

लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे ।
तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षाद् दुर्वासा भगवानभूत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

ताही व्रत को अम्बरीष उद्यापन कीन्हों ।
धेनु रत्न धन धान दान विप्रनिकूँ दीन्हों ॥
विधिवत विप्र जिमाइ पाइ पारण की अनुमति ।
जेवन बैठे जबहिं तबहिं आनन्द भयो अति ॥
दुर्वासा मुनिवर तहाँ, आये नृप ठाड़े भये ।
दयो निमन्त्रण भोजहित, हाँ, कहि सन्ध्या हित गये ॥

प्राचीन सदाचार यह था कि अपने घर पर भोजन के समय कोई भी अतिथि आ जाय, तो गृहस्वामी उसकी भगवद् बुद्धि से पूजा करता था। अतिथि किसी वर्ण अथवा किसी

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन ! जब ब्राह्मणों को इच्छित पदार्थ देकर और उनकी अनुमति लेकर महाराज अम्बरीष ज्योंही व्रत का पारण करने को उद्यत हुए, त्योंही भगवान् दुर्वासा उनके आकर अतिथि हुए ।

चलकर एक घोर अरण्य के दूसरे किले में निकलती थी। महाराज रात्रि भर चलकर उस किले में पहुँचे। वहाँ से समीप ही महर्षि और्व का सुन्दर आश्रम था। रानियों सहित महाराज मुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि ने पत्नियों सहित महाराज का स्वागत किया और सभी को ठहरने के लिये स्थान दिया।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ? शत्रुओं ने मेरी समस्त पृथिवी छीन ली है,अब मैं राज्य हीन होकर आपकी शरण में आया हूँ। मुनि ने कहा—राजन् पृथिवी कभी किसी की हुई भी है या आपकी ही होगी ? इस पृथिवी पर कितने कितने बड़े प्रतापी राजा हुए। मेरी मेरी कह कर न जाने वे कहाँ चले गये महाराज! आप जैसे साधु स्वभाव के राजा इस पृथिवी की रक्षा नही कर सकते। पृथिवी का पालन तो समरप्रिय शूरवीर भूप ही कर सकते है। आप यहाँ अरण्य में रहकर भगवान् का आराधन कीजिये, योग साधन कीजिये। आपके वंश में कोई ऐसा प्रतापी राजा होगा जो अपने पूर्वजों के गये हुए राज्य को लौटा लेगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! अब तो मैं आपकी शरण में आ गया हूँ, आप जो चाहें सो करें। जब तक मनुष्य को धनमद-राज्यमद या ऐश्वर्य का मद रहता है। तब तक वह अपने सामने किसी को कुछ नही समझता। जब उसका मद चूर हो जाता है, तब वह सब ओर से हताश होकर साधु शरण में जाता है, साधु के समीप सभी को आश्रय मिलता है, सभी को त्राण मिलता है। जिनके कोई बन्धु नही उनके साधु बन्धु हैं, जिनका कोई सहारा नही उनके साधु ही सहारे है, जिनका कोई रक्षक नहीं उनके साधु ही रक्षक हैं। साधु ही ईश्वर हैं साधु ही सबके सच्चे हितैषी है।"

नियम आज सफल हुआ। इस पुण्य पर्व पर पधार कर मुझ पतित को प्रभु ने परम पावन बना दिया। भगवन् आज मैंने द्वादशी व्रत

का उद्यापन किया है। आप बड़े सुन्दर अवसर पर पधारे। प्रसाद तैयार है। पधारें और प्रसाद पाकर मुझे कृतार्थ करें।"

दुर्वासा मुनि तो आये ही इसीलिये थे। बोले—"राजन्! प्रसाद तो पाना ही है अब इतने बड़े द्वार को छोड़ कर भूखे ही

उन्हें खुल कर द्वेष करने का अवसर मिल गया। इस बातसे उन्हें और भी दुःख हुआ, कि यह गर्भवती है, यदि इसके पुत्र हो गया, तो यह राजमाता हो जायगी, इसका बच्चा बड़ा होकर राजा हो गया, तो हम सब को दाइयो की भाँति रहना होगा।" यही सब सोच कर सब ने सम्मति की कि हत्या की जड़ यह गर्भस्थ बालक ही है, यदि किसी प्रकार रानी को विष दे दिया जाय, तो गर्भस्थ बच्चा भी मर जायगा और हमारी सौत यह रानी भी मर जायगी। यह सोचकर उन्होंने बड़ी युक्ति से किसी मोदक आदि मे रानी को विष दे दिया।

रानी तो भोली भाली थी, उसे अपने क्रूर कर्म करने वाली सौतों के षड्यन्त्र का कुछ भी पता नही था।

जब वह नित्य नियमानुसार भगवान् और्व को प्रणाम करने गई, तो मुनि ने आशिर्वाद दिया, पुत्रवती हो, सम्राट को जनने वाली हो।" फिर मुनि ने ध्यान से जो देखा तो उन्हे विष देने की बात विदित हो गई। इसलिये उन्होंने कहा—"कोई बात नहीं जो वस्तु पेट में है वह बिना जीर्ण हुए ज्यों की त्यों बनी रहेगी।"

शुकदेव जी कहते है—"राजन् ! कुछ कालके पश्चात् परलोक वासी महाराज बाहुक की पत्नी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र के साथ ही वह गर (विष) भी उत्पन्न हुआ जिसे रानी की सौतों ने उसे भोजन के साथ दे दिया था। पुत्र गर के साथ उत्पन्न हुआ इसलिये महामुनि और्व ने उसका नाम सगर रखा। मुनि ने बालक के सभी क्षत्रियोचित जातिकर्ण नाम कर्ण आदि संस्कार कराये। शनैःशनैः वह बालक मुनि आश्रम

ब्राह्मणों ने इस विषय पर विचार किया और सभी ने एक स्वर से यह निर्णय दिया कि महाराज ! आप केवल जल पीकर व्रत का पारण कर लो, जब दुर्वासा मुनि आ जायें तो उन्हें भोजन कराके प्रसाद ग्रहण कर लें।

राजा ने कहा—"ब्राह्मणो ! यदि जल आहार है और उससे पारण हो सकता है, तब धर्म लोप तो हो ही गया और यदि जल आहार नहीं है, तब फिर जल पीकर पारण कैसे हो सकता है।"

ब्राह्मणों ने कहा—"राजन् ! केवल जल पी लेना भोजन करने और न करने दोनों के ही समान हैं। वेद की एक श्रुति है। उसका यही अभिप्राय है जो केवल जल खा-पी लेता है वह न तो अशन ही कहा जा सकता है और न अनशन ही। इस दृष्टि से पारण तो हो ही जायगा। दुर्वासा मुनि कुछ पूछेंगे, तो हम सप्रमाण इस श्रुति को उनके सम्मुख उपस्थित कर देंगे।"

राजा ने ब्राह्मणों की बात मान ली और भगवान् का चरणामृत लेकर व्रत का पारण कर लिया। राजा ज्योंही प्रभु पादोदक पान करके उठ ही रहे थे, त्योंही लाल-लाल आँखें किये जटा बखेरे भ्रकुटी चढ़ाये तुनकते फुनकते दुर्वासा मुनि आ ही तो गये। अपने ध्यान से उन्होंने ये सब बातें पहिले से ही जान ली थी, वे आये ही इसीलिये थे, अतः वे दाँत पीसते हुए विकट मुख बनाये राजा के समीप उपस्थित हुए। राजा तो उनके ऐसे भयंकर रूप को देखकर डर गये, वे हाथ जोड़कर विनीत भाव से मुनि के सम्मुख खड़े हो गये।

अत्यन्त ही क्रोध के स्वर में मुनि कहने लगे—'क्यों बे राजा ! तू अपने को बड़ा भारी भगवद्भक्त मानता है ? तुझे इस बात

इसलिये महाराज सगर ने एक मर्यादा बाँधदी । ताल,जघ
यवन, शक, हैहय और बर्बर जाति के लोग वर्णाश्रम धर्म में न
रह सकेंगे । यद्यपि पहिले ये लोग क्षत्रिय ही थे, किन्तु अत्यन्त
धर्म विरुद्ध आचरण करने से उन्हें समाज से बहिष्कृत कर
दिया । महाराज ने उनको आज्ञा दी कि तुम एक विशेष चिन्ह
रखा करो जिससे लोग समझ जायें कि तुम समाज बहिष्कृत
हो । किन्हीं को तो कह दिया, तुम सम्पूर्ण सिर को मुड़ाया
करो । किन्ही से कहा—"सिर तो मुड़ा लिया करो, किन्तु दाढी
मूंछ रखा करो । शिखासूत्र मत धारण करो । किसी से कह
दिया तुम बालों को कभी बाँधा मत करो, सदा खुले बाल रखा
करो, आधे रखा करो । किन्ही से कहा तुम मुक्त कण्ठ होकर
एक कपड़ा लपेटे रहा करो । किसी से कहा—तुम केवल एक
कौपीन ही पहिना करो ।" इस प्रकार सब के पृथक् पृथक् चिह्न
बना दिये । तभी से ये समाज मे वर्णाश्रम धर्मविहीन पंचम
वर्ण के लोग बढ़ गये ।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार महाराज
बाहुक के पुत्र परम प्रतापी महाराज सगर हुए । जिन्होंने
अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके अपने वंश को संसार में स्थापित
किया । इन्ही पुत्रों ने पृथिवी को खना था, जिससे समुद्र का
नाम सागर पड़ गया ।"

इस पर राजा परीक्षत ने पूछा—"प्रभो ! सगर पुत्रों ने
पृथिवी को क्यों खना ? और किस कारण क्षार समुद्र का नाम
सागर पड़ा, कृपा करके इस कथा को मुझे सुनाइये ।"

यह सुनकर शौनक जी पूछा—"सूतजी ! उन वेदज्ञ ब्राह्मणों ने दुर्वासा जी को समझाया क्यों नहीं। आकर शास्त्रों का प्रमाण दिखाते वेद की संहिता उनके सम्मुख रखते। और भी स्मृति पुराणों के उद्धरण दे देकर राजा के कार्य का औचित्य सिद्ध करते। ब्राह्मण चुप क्यों रहे।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—'अजी, महाराज ! उस समय ब्राह्मणों को अपने प्राण बचाने की पड़ी थी, या प्रमाण खोजने की। दुर्वासा जी के सम्मुख बोलने का साहस किसका था। कोई कुछ बोलता, उसे उसी समय शाप-देकर भस्म कर देते। कोई पूछने पाछने वाला हो, तो उसे प्रमाण भी दिया जाय। जो आते ही दे दनादन मार ही आरम्भ कर दे, उसे प्रमाण कौन दिखावे ? इस विषय मे एक बड़ा मनोरंजक दृष्टान्त है, उसे सुनिये।"

एक सियार था। सियार बड़ा मोटा ताजा, बड़ा बुद्धिमान पढ़ा लिखा विद्वान था। जब किसान घर को रोटी खाने चले जाते तब वह अपी सियारनी को संग लिये हुए खेत में चला जाता और भर पेट भोजन करके किसानों के आने के पूर्व ही भाग जाता। उसकी सियारनी बार-बार कहती—"देखिये-पतिदेव ! ऐसा व्यवहार उचित नहीं। पीछे किसी के खेत को खाना न्याय संगत नहीं।"

सियार कह देता—"भूखा पुरुष यदि भर पेट भोजन करले और बांध कर कुछ न ले जाय, तो शास्त्र में उसका कोई दोष नहीं। प्राणों की रक्षा के लिये कुछ अनुचित भी किया जाय, तो पाप नहीं। हम बांधकर तो लाते नहीं, पेट में ही खाते हैं।"

सियारिनी कहती—"प्राणनाथ ! चोरी तो चोरी ही है।

महाराज सगर का अश्वमेध यज्ञ

(६३९)

श्रौर्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् ।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० ८ श्लो)

छप्पय

द्वै रानी तिन हतीं एकके सुत असमञ्जस ।
दूसरि साठिसहस्र जने सुत मानी नीरस ॥
अश्वमेध नृप सगर धूमते यज्ञ रचायो ।
भय वश सुरपति आइ यज्ञको अश्व चुरायो ॥
कपिलाश्रम महँ इन्द्रने, मख हय बाँध्यो कपट करि ।
साठिसहस सुत भूमि खनि, पहुँचे नाना रूप धरि ॥

सुनते हैं, सूकरी वर्ष में तीन चार बार प्रसव करती और एक साथ उसके कई बच्चे होते हैं। वे बुरी वस्तुएँ खाकर जीवन बिताते हैं। कोई उन्हें छूता नहीं सब उनसे घृणा करते

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज सगरने अपने गुरु और्व मुनि की बतायी हुई विधि से अश्वमेध यज्ञ द्वारा सर्वात्मस्वरूप ईश्वर का भजन किया। उनके छोड़े हुए अश्वमेध के घोड़े को पुरन्दर इन्द्र हर ले गये।"

देने। उन्होंने आते ही पूछना न बताना मारने के लिये कृत्या हो उत्पन्न कर डाली, तो ब्राह्मण डर कर ही भाग गये, वे प्रमाण क्रमाण नव भूल माल गये।"

शौनक जी ने पूछा—"हाँ तो सूतजी फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"अजी महाराज ! फिर क्या हुआ फिर तो बड़ा झगड़ा टंटा हुआ। राजा भी कुछ कम नहीं थे। वे बन्दर घुड़कियों में आने वाले जीव तो थे नहीं। वे डटे रहे अपने स्थान पर। कृत्या राजा को मारने के लिये उनके ऊपर दौड़ी, किन्तु जिनकी रक्षा भगवान् का चक्र सुदर्शन सदा करता रहता है, उसको कौन मार सकता है। उसका अनिष्ट करने का साहस किसका है। राजा जब न विचलित हुए न अपने स्थान से हटे तब तो भगवान् का दिव्यास्त्र चक्र सुदर्शन वहीं से उस कृत्या का अंत करने उसके ऊपर झपटा। जैसे लवा पक्षी के ऊपर बाज झपटता है, वैसे अपने ऊपर चक्रसुदर्शन को आते देख कर कृत्या तो हक्की-बक्की सी रह गई, उसकी सभी सिटिल्ली भूल गई। सुदर्शन चक्र ने आव गिना न ताव। मारा जो एक झाट्टा तो कृत्या को इस प्रकार जला दिया जैसे पतंग को अग्नि जला देती है। कृत्या को जलाकर सुदर्शन चक्र दुर्वासा की ओर झपटा। अब तो लेने के देने पड़ गये। चौबे जी गये थे छब्बेजी होने यहाँ दुब्बे जी बनने में भी लाले पड़ गये। कहीं दंड कहीं कमंडल। दुर्वासा मुट्ठी बाँधकर भागे। जटायें वायु में फर्र-फर्र उड़ रही थी। बार-बार दृष्टि को घुमाते सुदर्शन को निहारते वे पूरे वेग से भगे जा रहे थे, किन्तु सुदर्शन कब छोड़ने वाले थे, वे उनके पीछे लगे चले गये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! फिर क्या हुआ।

में प्रणाम किया और सन्तान की कामना से उनके पैर पकड़े।

महामुनि रानियों के मनोगत भावों को अपनी ज्ञान दृष्टि से समझ गये और बोले—"तुम दोनों में से जो चाहे वह एक तो वंश धर एक पुत्र माँगले और दूसरी साठ सहस्र पुत्र माँगले। बड़ी रानी केशिनी ने कहा—"प्रभो! मुझे तो एक ही वशधर पुत्र दे दें।'

दूसरी सुमतिने कहा—"महाराज! मुझे आप साठ सहस्र पुत्र दें, जिससे मैं बहुत से पुत्र की जननी कहलाऊँ।"

मुनिने कहा— 'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।' यह कह कर मुनि राजा से पूजित और सत्कृत होकर अपने आश्रम पर चले गये। कालान्तर में बड़ी रानी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही सिड़ी पागलों का सा व्यवहार करता था। बातें बोलता था, तो अंडबंड। कुछ पूछो, कुछ उत्तर दे। इसलिये सब ने उसका नाम असमञ्जस रख दिया।

दूसरी रानी सुमति के गर्भ से एक बड़ी भारी तूमी सी उत्पन्न हुई। मुनिकी आज्ञा से साठ हजार घृतके कलश मँगाये गये तब उस तूमीमे से धायने एक एक बीज निकाल निकालकर एक एक घड़ेमे रखा। कुछ काल में उन घड़ों में पुरुषों की भाँति बच्चे बन गये और वे हृष्ट पुष्ट होकर निकले। सगर के वे साठ सहस्र पुत्र-बड़े हो बली थे। वे बड़े लम्ब तड़ंगे और बृहद् डील डौल वाले थे। वे समुद्र के ऊपर विना रोकटोक के चल सकते थे। आकाश में उड़ सकते थे। पर्वतों को चूर्णकर सकते थे। उन्होंने अपने बाहुबल से सभी को भयभीत बना रखा था। समुद्र पर्वत, नदी, नद सभी उनके नाम से थरथर कांपते

मुनि दुर्वासा की दुर्दशा

(६१८)

दिशो नभः क्ष्मां विवरान् समुद्रान्—
लोकान् सपालांस्त्रिदिवं गतः सः ।
यतो यतो धावति तत्र तत्र
सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० ५१ श्लो०)

छप्पय

कृत्या तत्क्षण मारि सुदर्शन चक्र गिराई ।
निरपराध भूपाल भक्त की भीति भगाई ॥
कृत्या कूँ करि भस्म चक्र मुनिवर के आगे ।
झपटयो डरि कें तुरत तहाँ तें मुनिवर भागे ॥
पृथिवी, जल, आकाश महँ, सबहिं लोक दौरे गये ।
दई शरन काहू नहीं, दुर्वासा व्याकुल भये ॥

अनेक दैत्यों ने भगवान् का अपराध किया है उन्हें न

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि दुर्वासा दशों दिशाओं में, आकाश में, पृथ्वी और पृथ्वी के अतलादि विवरों में, समुद्र में लोकपालों के सहित सम्पूर्ण लोकों में, तथा स्वर्ग में भी गये, किन्तु वे जहाँ-जहाँ भी गये, वहीं उन्होंने दुष्प्रसह सुदर्शन चक्र को अपने पीछे लगा हुआ देखा।"

में फेंक देता। वे डूबने लगते, तब वह ताली बजा बजाकर हँसता रहता। इस पर प्रजा के लोग मिलकर महाराज के समीप गये और बोले—"राजन् ! या तो आप अपने पुत्र को ही रखिये या हमें ही। महाराज ! ऐसा राजकुमार तो हमने कोई देखा नहीं। यह अपनी प्रजा के बच्चों को वधिकों की भाँति जल में डुब देता है, ऐसा कुमार यदि राजा होगा, तो प्रजा की क्या रक्षा करेगा ?"

प्रजा के लोगों के ऐसे वचन सुनकर राजा को अत्यधिक दुःख हुआ। उन्हें असमञ्जस पर बड़ा क्रोध आया और उसे बुलाकर डाँटते हुए बोले—"तू बड़ा दुष्ट है रे ? मेरी प्रजा के बालकों की हत्या करता है। तू अभी मेरे राज्य से निकलजा। फिर कभी भी मुझे मुँह न दिखाना।"

कुमार असमञ्जस तो यह चाहते ही थे, अतः वे मन ही मन अत्यंत प्रसन्न होकर अयोध्यापुरी को छोड़कर चले गये। जाते समय उन्होंने अपने योग का अद्भुत चमत्कार दिखाया। जितने लड़को को उन्होंने सरयू जी के जल में फेंककर डुबा दिया था, उन सबको पुनः अपने योगबल से निकाल कर जिला दिया। जब वे सब बालक हँसते हुए अपने अपने घर पहुँचे, तब तो सभी लोग परम विस्मित हुए। वे सब मिलकर महाराज के समीप पहुँचे और बोले—"महाराज, हमसे बड़ी भूल हुई। कुमार तो कोई बड़े भारी पहुँचे हुए सिद्ध थे। देखिये, जितने हमारे लड़के डुबाये थे, वे सब तो ज्यों के त्यों जीवित होकर हमारे घरों में आगये।"

यह सुनकर राजा को भी बड़ा दुःख हुआ। किन्तु अब

किया होता तो मै कुछ करता भी तुमने भगवद् भक्त अम्बरीष का अपराध किया है, इसलिये मेरी सामर्थ्य के बाहर की बात है, तुम मेरे भी पिता अपने पितामह—"भगवान् ब्रह्माजी के पास जाओ सम्भव है, वे कुछ उपाय बता सकें।"

यह सुनकर आश्रम के पीछे से दुर्वासा जी योगबल से भागे। उन्होंने पीछे फिर कर देखा कि जिस प्रकार वन में दावाग्नि लगने पर उसके भय से सर्प भागता है और उसके पीछे जैसे अग्नि दौड़ी चली जाती है, वैसे ही मेरे पीछे जलता हुआ सुदर्शन आ रहा है यह देख कर वे पूरा बल लगाकर भागे। अन्य सब लोगों में उन्हें किसी का सहारा नहीं था, जहाँ भी जाते वे ही अपनी विवशता दिखाते, सुदर्शन उन्हें छोड़ता नहीं था, उसका दुःसह तेज और दुर्धर्ष था। क्या करते, किसी को भी अपना रक्षक न देखकर वे भागते-भागते ब्रह्मलोक में पहुँचे।

ब्रह्माजी ने इन्हें दूर से ही भयभीत और पीड़ित देखकर पूछा—"अरे अत्रिनंदन! तुम्हारा यह क्या हाल है?" दुर्वासा जी ने यह बात जाने सुनी या सुनी, वे आकर एक साथ ब्रह्माजी के आगे लाठी की भाँति पृथ्वी पर लेट गये और बड़े आर्त स्वर से कहने लगे—"हे प्रजापतियों के भी पति! हे पितामह! हे आत्मयोने! हे विधाता! आप मेरी रक्षा कीजिये; रक्षा कीजिये।"

ब्रह्माजी ने कहा—"क्यों क्या बात है?" दीनता के स्वर में भयभीत हुए दुर्वासा बोले—"प्रभो! इस प्रकार मैं महाराज अम्बरीष के यहाँ गया, मुझे बिना भोजन कराये उन्होंने पारण कर लिया। तब मैंने क्रोध में भर कर कृत्या को उत्पन्न किया। तभी तक न जाने कहाँ से भगवान् का सुदर्शन चक्र टूट पड़ा

जब राज पुत्रों को कहीं भी अश्व न मिला तो वे लौटकर अपने पिता के पास गये और हाथ जोड़ कर बोले—"पिताजी ! यज्ञीय अश्व को तो किसी ने चुरा लिया।"

महाराज सगर ने डांट कर कहा—"तुम लोग कहां चले गये थे ?"

सागर पुत्रों ने कहा—"पिताजी ! हम तो सब साथ ही थे, फिर भी पता नहीं कि कैसे किसने अश्व को चुरा लिया।"

राजा बोले—"तुम लोग बड़े मूर्ख हो, मैंने तुमको अश्व की रक्षा के लिये भेजा था। तुम साठ हजार होकर भी एक अश्व की रक्षा न कर सके, जाओ स्वर्ग में, पातल में, पृथिवी में तथा अन्य भी जिस लोक में घोड़ा हो उसे ढूंढ़कर लाओगे नहीं फिर अच्छी बात नही होगी। अश्व बिना यज्ञ समाप्त कैसे हो सकता है ?"

पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर वे सबके सब क्रोध करके चले, पहिले तो उन्होंने समस्त पृथिवी को खोजा। जब पृथिवी पर घोड़ा नहीं मिला, तो उन्होने पृथिवी को खोदना आरम्भ कर दिया। महाराज सगर से पहिले यह भारत वर्ष अन्य आठों वर्षों से मिला हुआ था। इलावृत वर्ष बीच में था और जैसे कमल की कर्णिका के चारो ओर पंखुड़ियाँ होती हैं, वैसे ही शेष आठों वर्ष उसके चारों ओर थे। तब जाने वाले पुरुष भारत से ही इलावृत हरिवर्ष आदि वर्षों में जा सकते थे। इन सगर के पुत्रों ने यज्ञीय अश्व के अन्वेषण के निमित्त भारतवर्ष के चारों ओर भूमि को खोद डाला जिससे इस वर्ष का इलावृत आदि सेभी वर्षों के सम्बन्ध विच्छेद होगया। खोदने से इस भारतवष

सबको समेटकर उदर में रखकर वे शेष की सुन्दर शैया पर सुख से सो जायँगे। उन काल स्वरूप श्रीहरि के भ्रूभङ्ग मात्र से यह सम्पूर्ण विश्व तथा सनातन कहलाने वाला मेरा यह ब्रह्म लोक भी उन्हीं में लीन हो जायगा। ऐसे उन सर्वसमर्थ सर्वेश्वर के सनातन सुदर्शन चक्र को मैं हटाने में कैसे समर्थ हो सकता हूँ, वे भक्तापराध से कुपित हैं, मेरा उनके सम्मुख जाने का भी साहस नहीं।

दुर्वासा जी ने कहा—"प्रभो! आप तो सर्वसमर्थ हैं सभी देवता, लोकपाल, श्रद्धासहित आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन करते हैं। आप निरन्तर लोकहित में ही लगे रहते हैं। मेरा भी कल्याण कीजिये, आप सभी को इच्छित वर देते हैं, मुझे भी अभय प्रदान कीजिये।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया! जो तुम कह रहे हो, वह सब सत्य है, किन्तु मैं भगवद्भक्त से द्रोह करने वाले की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। मेरी आज्ञा का कौन पालन करता है। हम स्वयं ही दक्ष तथा भृगु आदि प्रजापतियों और देवेश्वर गण लोकपाल तथा अन्य प्रजानाथों के सहित उन्हीं श्रीहरि की आज्ञा से अपने-अपने पदों पर कार्य करते रहते हैं। इसलिये भैया तुम और किसी समर्थ सुर के समीप जाओ। मैं तो तुम्हारी रक्षा करने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं।"

प्राणिमात्र के अधीश्वर लोक पितामह ब्रह्माजी के मुख से ऐसी बातें सुनकर दुर्वासाजी को बड़ी निराशा हुई। अब वे करते क्या ब्रह्माजी ने तो स्पष्ट उत्तर दे दिया। दो टूक बात कह दी, कुछ लगाव लपेट या आशा वाली बात न रखी, तब दुर्वासा जी ने सोचा—"सर्व समर्थ तो श्री शिव हैं। हलाहल विष को भी वे हँसते-हँसते पान कर गये। महापराक्रमी कामदेव को भी उन्होंने

सगर के साठ सहस्र सुतों का विनाश

(६४०)

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता ।
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि ।
कथं तमो रोषमयं विभाव्यते ।
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

कपिलाश्रम पै अश्व निरखि नृपसुत हरषाये ।
कोलाहल अति करयो कपिल मुनि चोर बताये ॥
इन्द्र रच्यो षडयन्त्र बुद्धि नृप सुतनि बिगारी ।
मुनि मारन हित चले देहिं गिनि गिनि कें गारी ॥
कोलाहल सुनि सहजही नेत्र कपिल के खुलि गये ।
दृष्टि परत निज पाप तें, सगरपुत्र सब मरि गये ॥

एक कहानी है, कोई बुद्धिमान् दुर्बल पुरुष लघुशंका कर रहे थे। उसी समय एक हृष्ट पुष्ट दुष्ट पुरुष आया। उसे एक

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो कहते हैं कि सगरपुत्र कपिल मुनि के कोप से नष्ट हो गये, यह बात उचित नहीं, क्योंकि जो जगत को पावन बनाने वाले हैं, ऐसे सत्यमूर्ति भगवान् कपिल में भला तमोगुण की संभावना कैसे हो सकती है ? क्या कभी पृथिवी रज का आकाश के साथ सबन्ध सम्भव है ?

में ही रहकर सब कुछ कर सकते हैं। मैं सनत् कुमार, नारद ब्रह्माजी, कपिलदेव, अपान्तरतम, देवल, धर्म, आसुरि तथा मरीच आदि जितने सिद्धेश्वर कहलाते हैं, सबकी सिद्धियों की सीमा है। हम उन महा मायेश महेश की मोहिनी माया से आवृत होने के कारण उनका यथार्थ तत्त्व तक नहीं जानते, फिर उनके नित्य पार्षद, दिव्यास्त्र सुदर्शन चक्र को शान्त करने की बात तो पृथक् रही। यह पूजनीय सनातन अस्त्र हमारे लिये सर्वथा असह्य है। हम इससे तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते। इस महत्तम अस्त्र को हम सिर से प्रणाम करते हैं।"

दुःख और विवशता के स्वर में दुर्वासा मुनि ने कहा—"प्रभो! जब आप सर्व समर्थ ईश्वर भी ऐसी बातें कहते हैं, तो अब हम कहाँ जाय, किसकी शरण लें। क्या अब जगत में कोई अशरण शरण है ही नहीं?"

शिव जी ने कहा—"है क्यों नहीं? जिसकी गाँठ उसी से खुलती है। यद्यपि हम तुम्हें शरण नहीं दे सकते, तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते फिर भी हम तुम्हें एक अमोघ उपाय बताते हैं। तुम इन भगवान् सुदर्शन चक्र के स्वामी सर्वेश्वर वैकुन्ठ नाथ श्रीहरि की शरण में जाओ। वे तुम्हें अवश्य ही अभय प्रदान करेंगे।"

दुर्वासा जी ने भयभीत होकर कहा—"अजी महाराज! आप तीनों ही देव एक से हो, एक स्वर में बोलते हो, यदि उन्होंने भी ऐसी बातें कह दी तो?"

शिवजी ने कहा—"अरे, भाई! वे ऐसी बातें कैसे कह सकते हैं, तुम भगवान् के ऊपर विश्वास करो। उनकी शरण में जाने से तुम्हारा कल्याण ही होगा।"

दुर्वासा जी ने कहा—"अजी महाराज! मेरा तो विश्वास

पड़ते ही सगर के साठ सहस्र पुत्र सब के सब जल कर भस्म

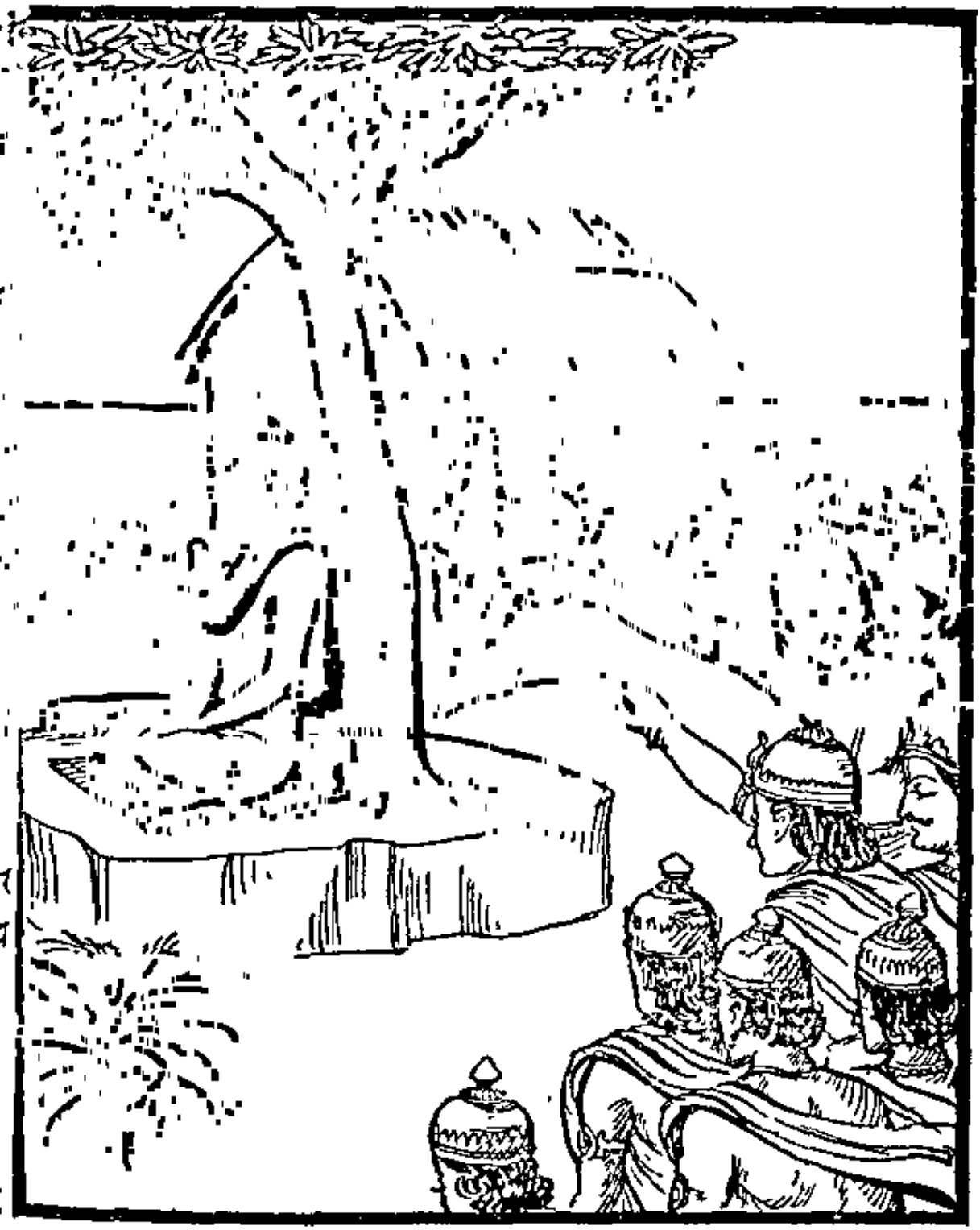

हो गये।"

दुर्वासाजी का हरि शरण में जाना

[६१९]

ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ ।
वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० ६० श्लोक)

छप्पय

हर आयसु सिर धारि गये हरिपुर दुर्वासा ।
शरनागत-प्रतिपाल करहिँ मुनि मन बड़ आसा ॥
त्राहि त्राहि कहि पैर परै प्रभु हौं अघ कीन्हौं ।
महिमा जाने बिना शाप बैष्णवकूँ दीन्हौं ॥
भक्ताधीन सदा रहौं, विश्वम्भर बोले गरजि ।
और बात हौं सब सहौं, निज जनको अपमान तजि ॥

लोक में यह देखा गया है कि मनुष्य अपने अपमान को तो चाहे सह ले, किन्तु अपने सगे सम्बन्धी और आश्रित के अपमान को नहीं सह सकता । हमें चाहे कोई मरने की, दुखी होने की, बुद्धिहीन होने की गाली दे, तो उसे मन मसोसकर एक बार सह भी लेते हैं, किन्तु जहाँ वह बहिन बेटी की गाली देने लगा

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् तदनन्तर निराश होकर दुर्वासाजी भगवान् श्रीहरि के उस वैकुण्ठ नामक लोक को गये जहाँ श्रीनिवास भगवान् लक्ष्मीजी के सहित नित्य निवास करते हैं ।"

जब बहुत दिनों तक प्रतिक्षा करते रहने पर भी वे साठ सहस्र पुत्र अश्व को लेकर नहीं आये, तब महाराज को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने पौत्र अंशुमान् से कहा—"वत्स ! तुम्हारे सब के सब चचा लोग अश्वमेध के घोड़े को खोजने गये हैं, किन्तु अभी तक लौटकर नही आये क्या बात है। वैसे तो सब के सब शूरवीर बली योद्धा और सर्वजित् थे। उन्हें कोई संग्राम में तो नही हरा सकता था। अन्य ही कोई अघटित घटना घट गई है। मैं स्वयं तो यज्ञ-दीक्षा में दीक्षित हूँ, अतः जा नहीं सकता। तुम जाओ और अपने चाचाओ का अन्वेषण करो।

अपने पितामह की आज्ञा मानकर अंशुमान् अश्वके अन्वेषण के निमित्त चले। पृथिवी पर सर्वत्र खोजने पर भी जब उन्हें अश्व का पता नही मिला, तो वे अपने चाचाओं के खोदे मार्ग से ही ढूंढ़ते ढूंढ़ते पाताल में पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा, कि भगवान् कपिल समाधि में निमग्न हैं, यज्ञीय अश्व वहाँ छूटा हुआ हरी हरी घास चर रहा है, साठ सहस्र भस्म की ढेरियाँ वहाँ पड़ी हैं।

अब तो अंशुमान् सब कुछ समझ गये। उन्होंने अत्यन्त ही करुण शब्दों में भगवान् की स्तुति की और कहा"—हे सर्व भूतात्मन! हे भगवन्! आज आपका दर्शन पाकर हमारी विषयों की उत्कट अभिलाषा समस्त कर्मों का बन्धन और इन्द्रियों का आश्रय रूप हमारा सुदृढ़ मोहपाश नष्ट हो गया है। हे प्रभो ! आप मुझ पर कृपा करें और मुझे अपनी करुणामयी दृष्टि से अवलोकन करें "

श्री शुकदेव जी कहते है—राजन् ! उस बालक अंशुमान्

प्रभाव को बिना जाने आपके शरणापन्न परम भागवत वैष्णव का घोर अपराध कर दिया है। उससे आपके अतिरिक्त मेरा कोई भी उद्धार नहीं कर सकता। आपके नाम का कीर्तन करके पापी से पापी प्राणी भी पावन बन जाता है। मैंने महाराज अम्बरीष को मारने के निमित्त कृत्या उत्पन्न की थी। उसे मारकर आपका यह असह्य अस्त्र सुदर्शन चक्र मेरे पीछे पड़ा है। इससे मुझे बचाइये। मेरे इस कष्ट को मिटाइये। सुदर्शन को मेरे पीछे से हटाइये।"

भगवान् विवशता के स्वर में बोले—भैया! मैं इस विषय में क्या कर सकता हूँ? मैं तो पराधीन हूँ।"

यह सुनकर दुर्वासाजी तो हक्के-बक्के होकर श्री हरि के मुख की ओर देखते के देखते ही रह गये। अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ कहने लगे—"प्रभो! आज कैसी बातें आप कह रहे हैं। आज मेरा कैसा भाग्य हो गया है जो जगत् के ईश्वर हैं, उत्पत्ति स्थिति और संहार के स्वामी हैं, सर्व समर्थ हैं वे आज इस प्रकार की बातें कर रहे हैं। स्वामिन्! हम तो सदा से सुनते आये हैं कि भगवान् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम समर्थ हैं, जो चाहें सो कर सकते हैं। वे परम स्वतन्त्र हैं, उन पर किसी का अंकुश नहीं। किन्तु आज आप अपने को भी अस्वतन्त्र बता रहे हैं। आप किसके अधीन हैं। आपसे बड़ा कौन है?"

भगवान् ने कहा—"देखो भैया! बड़े छोटे की बात तो मैं जानता नहीं, किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि मैं स्वतन्त्र नहीं पराधीन हूँ।"

दुर्वासा ने विस्मय स्फारित नेत्रों से श्रीहरि की ओर देखते हुए कहा—"महाराज! सुनें भी तो सही, आपके हृदय पर किसने अधिकार जमा लिया है। एक लक्ष्मी जी ही आपकी

नम्रता के साथ हाथ जोड़कर अंसुमान् ने कहा"—वह क्या उपाय है भगवन् ?

भगवान् बोले—"यदि किसी प्रकार तुम गङ्गा जी को यहां ले आओ तो उनके जल के स्पर्श से तो इनका उद्धार हो सकता है। मनुष्य चाहे कितना भी पापी क्यों न हो, कहीं भी उसकी मृत्यु क्यों न हुई हो, यदि उसके शरीर भस्म या अस्थि ही लाकर गङ्गा जी में डाल दी जायें, तो वह सर्व पापों से विमुक्त होकर स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। यदि तुम गङ्गा जी को यहां ला सको, तब तो इनका उद्धार हो सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं।"

यह सुनकर कुमार अंशुमान् ने भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य की और घोड़े को लेकर अपने पितामह के समीप गये। अश्व को पाकर महाराज सगर ने यज्ञ समाप्त किया, उन्हें पुत्रों के मरने पर कुछ शोक न हुआ। अन्त मे वे अपना सब राज पाट अंशुमान् को सौंप कर तपस्या करने वन को चले गये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज अंशुमान् अपने चाचाओं के उद्धार के लिये गङ्गा जी को लाने के लिये प्रयत्न करने लगे।"

छप्पय

सुत नहि आये सोचि सगर ने पौत्र पठाये।
अंशुमान् चलि दये कपिल मुनि आश्रम आये॥
कुमर विनय अति करी महामुनि अति हरषाये।
गङ्गा लाओ पितर हेतु ये वचन सुनाये॥
अश्व पाइ मख पूर्ण करि, सगर तपोवन चलि दये।
तदनन्तर मनु वंश के, अंशुमान् भूपति भये॥

भला मैं कभी उपेक्षा कर सकता हूँ। ब्रह्मन्! यह असम्भव है, मैं ऐसे भक्तों का क्रीतदास हूँ, उनके अधीन हूँ, वे मुझे जैसे नचाते हैं, वैसे नाचता हूँ, उन्हीं के लिये निर्गुण से सगुण और निराकार से साकार बन जाता हूँ, उनके विरुद्ध बर्ताव करने की मुझमें शक्ति नहीं, सामर्थ्य नहीं।"

दुर्वासाजी ने कहा—"भगवन्! छोड़ने वाली बात तो मैं कह नहीं रहा। मेरा निवेदन तो इतना ही है कि आप मुझे संकट से बचावें।"

भगवान् ने कहा—"आपको बचाना तो भक्त के विरुद्ध आचरण करना है, उसे छोटा समझना है। उस पर शासन करना है। प्रेम में शासन नहीं, विरुद्धाचरण नहीं, वहाँ तो अपनी इच्छा का प्रेमी की इच्छा में मिला देना होता है। जैसे सती साध्वी स्त्री सेवा के प्रभाव से पति को अपने वश में कर लेती है। जब वह अपनी निज की कुछ इच्छा रखती ही नहीं, तो पति की इच्छा का भी विघात कर देती है। पति भी अपनी इच्छा को उसकी इच्छा में मिला देता है। शरीर दो होने पर भी एक ही प्राण दो हृदयों में एक साथ स्वर में धड़कता है। एक ही मन दो देहों में काम करता है। द्वित्व मिटकर एकत्व में परिणित हो जाता है। जब कोई दूसरा हो उस पर शासन किया भी जाय। भक्तों का तो अपना हृदय होता ही नहीं। वे तो मेरे हृदय में ही अपने हृदय को मिला देते हैं। मेरे भक्त मेरी अनन्य भक्ति और प्रेमरूपा आसक्ति से प्रभाव के आप्त काम-हो जाते हैं। सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य ये चार प्रकार की मुक्ति बताई है। मुक्ति को ही परम पुरुषार्थ कहा गया है। मेरे भक्त मेरी सेवा के सम्मुख मुक्तियों को भी तुच्छ समझते हैं, मैं उन्हें मुक्ति देता हूँ, तो भी वे उन्हें नहीं चाहते,

पुत्र ही कर सकते है, इसीलिये पितर सदा ऐसी मनोकामना करते रहते है, कि हमारे वंश में ऐसे लोग उत्पन्न हों, जो कभी वंश विच्छेद न होने दें। वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखें। इसीलिये सभी सद्गृहस्थ सत्पुत्र की कामनाये करते हैं, और पुत्र प्राप्ति के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते रहते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज सगर जब राजपाट छोड़कर और अंशुमान् को समस्त पृथिवी का राज्य भार सौप कर वन को चले गये तब अंशुमान् को रात्रि दिन यही चिन्ता लगी रहती थी, कि कैसे गगाजी आवें और कैसे हमारे पितरों का उद्धार हो। वे सदा यही सोचा करते थे। उनके एक पुत्र भी हो गया, जिसका नाम दिलीप रखा गया। कुमार दिलीप बड़े ही तेजस्वी और होनहार थे, जब वे कुछ बड़े हुए, तो महाराज अंशुमान् पृथिवी का राज्य भार उन्हे सौपकर गङ्गाजी को लाने के लिये तप करने चले गये। वे हिमालय पर जाकर गंगा जी को प्रसन्न करने के निमित्त अत्यन्त घोर तप करने लगे, किन्तु गंगाजी का आना कोई सहज काम तो था, ही नही। गङ्गाजी उनकी तपस्या से प्रसन्न नही हुई। कुछ काल में वे इस लोक को त्याग कर स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी को लाने और अपने पितरों के उद्धार की बात उनके मन की मन में ही रह गई।

दिलीप ने जब सुना कि मेरे पिता अकृत कार्य होकर ही स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी के लाने की उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, तो वे अत्यन्त दुखी हुए। किन्तु वे करते क्या, उनके तब तक कोई सन्तान नहीं थी। कुछ काल के पश्चात उनके पुत्र उत्पन्न हो गया, जिसका नाम भगीरथ रखा गया। कुमार भगीरथ, बड़े ही भगवद् भक्त, शान्त, अध्यवसायी और साहसी

और माया मोह को क्या जानो। ब्रह्मन् ! सती साध्वी सुन्दरी अनुकूल आज्ञाकारिणी पतिपरायणा पत्नी में कितना आकर्षण है इसे सत्पति के अतिरिक्त कोई किसी भी प्रकार जान ही नहीं सकता। अपने शरीर के सार से उत्पन्न होने वाले अपने अनुरूप सुन्दर सुशील पुत्र के मुख में कितनी मोहकता है, इसे बिना पिता बने तुमसे शुष्क हृदय के बाबा जी कैसे जान सकते है। जो इतने आकर्षणों को तथा मोह ममता को त्याग कर मुझमें ही चित्त लगाते है उन्हे तृणवत् त्यागकर मुझे ही अपना सर्वस्व समझते है। मेरे अतिरिक्त उनके लिये ससार मे कुछ है ही नहीं। जिन्हें अपने भक्त होने का भी अभिमान नही। ऐसे निष्काम अनन्य भक्त संसार में थोड़े हैं। आप मेरे भक्त अवश्य हैं किन्तु ब्रह्मन् ! बुरा न मानें वह बात कुछ और ही है। अस्तु, अब आप मेरे समीप आये हैं तो निराश होकर लौटाना भी उचित नही। शरणागत प्रतिपालन करना मेरा बाना है। मेरा आश्रय ग्रहण करने वाला, मेरे समीप आने वाला कभी अकृतकार्य होकर नही लौटता। अतः मैं तुम्हें एक उपाय बताता हूँ।"

दुर्वासाजी ने उल्लास से साथ कहा—"हाँ महाराज ! उपाय ही बताइये। यह व्याधि मेरा पीछा भी छोड़े किसी भाँति।"

भगवान् बोले—"देखो ब्रह्मन् ! यदि कोई अपराधी हो, अल्पवीर्य हो, तो उस पर किया हुआ अभिचार आदि का प्रयोग उसका अनिष्ट कर देता है, किन्तु निरपराध साधु पुरुषों पर जो व्यर्थ प्रहार किया जाता है, वह उलटा प्रहारकर्ता पर ही पड़ता है। वस्तुएं पात्र पाकर अच्छी बुरी बन जाती हैं। दूध दही अमृत हैं उन्हें ही तांबे के पात्र में रख दो तो वे विष बन जायेंगे। गंगा जल को सुरा के घड़े में रख दो तो अपेय हो जायगा। इसी प्रकार तपस्या और विद्या सदाचारी ब्राह्मणों के

आभा से सामने का पर्वत शुभ्र होने पर भी अत्यन्त शुभ्र हो रहा था। पान की लालिमा से रंगे हुए अधरों की कांति जब हिमाच्छादित पर्वतों पर पड़ती तो ऐसा लगता था मानों आकाश का इन्द्रधनुष उतर कर हिमशृंगों पर घूम रहा है। उनके कंठ में मणिमुक्ताओं की मालायें शोभा दे रही थी। उनकी रेशमी नीली साड़ी आकाश की नीलम को तिरस्कृत कर रही थी। वे हरी कंचुकी से ढके उनके पीन पयोधर सन्तानों को अमृत पिलाने के निमित्त हिलते हुए व्यग्रता सी प्रकट कर रहे थे। क्षीणकटि के कारण वे मकर पर बैठी हुई सुवर्णलता के समान हिल सी रही थीं। लाल लहँगा पर जो सुवर्ण की चित्रकारी हो रही थी, उससे उनका सम्पूर्ण अंग दमक रहा था। वे अपने युगल उरुओं को मकर की पीठ से सटाये हुए थी। वे मंद मंद मुसकरा रही थी।"

महाराज भगीरथ नेत्र बन्द किये, त्रैलोक्य पावनी तरणि तारिणी जगदुद्धारिणी अघहारिणी विष्णुपादाब्ज संभूता भगवती सुरसरि का ध्यान कर रहे थे, सहसा उन्होंने अपने हृदय कमल पर खड़ी हुई माता की अद्भुतमूर्ति निहारी हृदय में जगज्जननी के दर्शन पाकर राजर्षि भगीरथ के रोम खिल गये। उन्होंने अपने परिश्रम को सफल समझा वे मन ही मन भगवती की स्तुति करने लगे। सहसा वह मनहारिणी चित्त कर्षिणी मनोहर मूर्ति हृदय प्रदेश से अन्तर्हित हो गई।

उस अलौकिक रूप राशि पूर्णा देवी के अन्तर्हित होते ही, महाराज का चित्त अत्यन्त व्याकुल हुआ, उनकी अभी दर्शनों से तृप्ति नहीं हुई थी। उसी हड़-बड़ाहट में उनके नेत्र खुल गये। अब वे सम्मुख क्या देखते हैं, त्रिभुवन तारिणी भगवती गंगा

अम्बरीष की शरण में दुर्वासा की दुःख निवृत्ति

[६२०]

एवं भगवताऽऽदिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः ।
अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ५ अ० १ श्लो०)

छप्पय

फिर हू एक उपाय बताऊँ तुमकूँ मुनिवर ।
अम्बरीष नृप निकट जाहु चूकौ नहिँ अवसर ॥
शान्त होइगो चक्र मिटैंगे दुस्सह दुख सब ।
प्रभु आज्ञा स्वीकारि चले मुनि नृप के ढिग तब ॥
दुःखित दुर्वासा तुरत, नृप पैरनि महँ परि गये ।
अस प्रयत्न मुनि को निरखि, अति लज्जित भूपति भये ॥

भगवान् के भक्त अत्यन्त ही नम्र होते हैं। भगवान् उन पर सम्मान के फल लादकर फलवान् वृक्ष की भाँति और भी

---

*श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार जब भगवान् ने दुर्वासा जी को अम्बरीष की शरण में जाने की आज्ञा दी तो वे चक्र के ताप से संतप्त हुए राजा के पास गये और उन्होंने जाकर अत्यन्त दुखित होकर उनके पैरों को पकड़ लिया।"

जगत में सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मरूप भवानी पति भगवान् भूतनाथ तुम्हारे वेग को धारण करेंगे।"

गंगाजी को यह सुन कर कुछ गर्वसा हुआ। वे सोचने लगीं रुद्र भला मेरे वेग को कैसे धारण कर सकते हैं। अस्तु उनसे तो मैं निबट लूँगी, वे तो मेरी बहिन के पति ही है। इस राजा पर अपने भाव को प्रकट क्यों करूँ।" यह सोच कर बोली—"अच्छी बात है, यदि भगवान् रुद्र मेरे वेग धारण कर भी सकें, तो भी मुझे एक आपत्ति और है।"

महाराज भगीरथ ने कहा—"वह और कौन सी आपत्ति है माताजी?"

माँ गगा बोली—"वह यहकि तुम मुझे पापियों के उद्धार के ही लिये ले चल रहे हो। तुम्हारे पितरों को तो मैं तार ही दूँगी। जब वे सब इतने क्रूर कर्मा घोर पापी तर जायेंगे, तो संसार के सभी पापी आ आ कर मुझमें स्नान करेंगे, अपने पापों को मुझमें छोड़ जायेंगे। वे लोग तो अपने पापों को मुझ में छोड़ कर निष्पाप हो जायेंगे, मैं उन इतने पापों को कहाँ जाकर धोऊँगी, इसका भी तुमने कोई उपाय सोचा है?" मैं तो पापों के भार से दब जाऊँगी, स्वच्छ से काली हो जाऊँगी।

शीघ्रता के साथ महाराज भगीरथ बोले—"माताजी। इसके लिये आप चिन्तित क्यों होती हैं, इसका उपाय तो बड़ा सरल है?"

गंगाजी ने उत्सुकता से कहा—"क्या उपाय है, भैया। इसका?"

दूर से ही उन्होंने अपनी ओर दौड़े आते हुए दुर्वासा मुनि को देखा। उनके पीछे सहस्त्रों सूर्यों के सदृश जाज्वल्यमान सुदर्शन चक्र भी अपने पूरे वेग से दौड़ा चला आ रहा था। मुनि

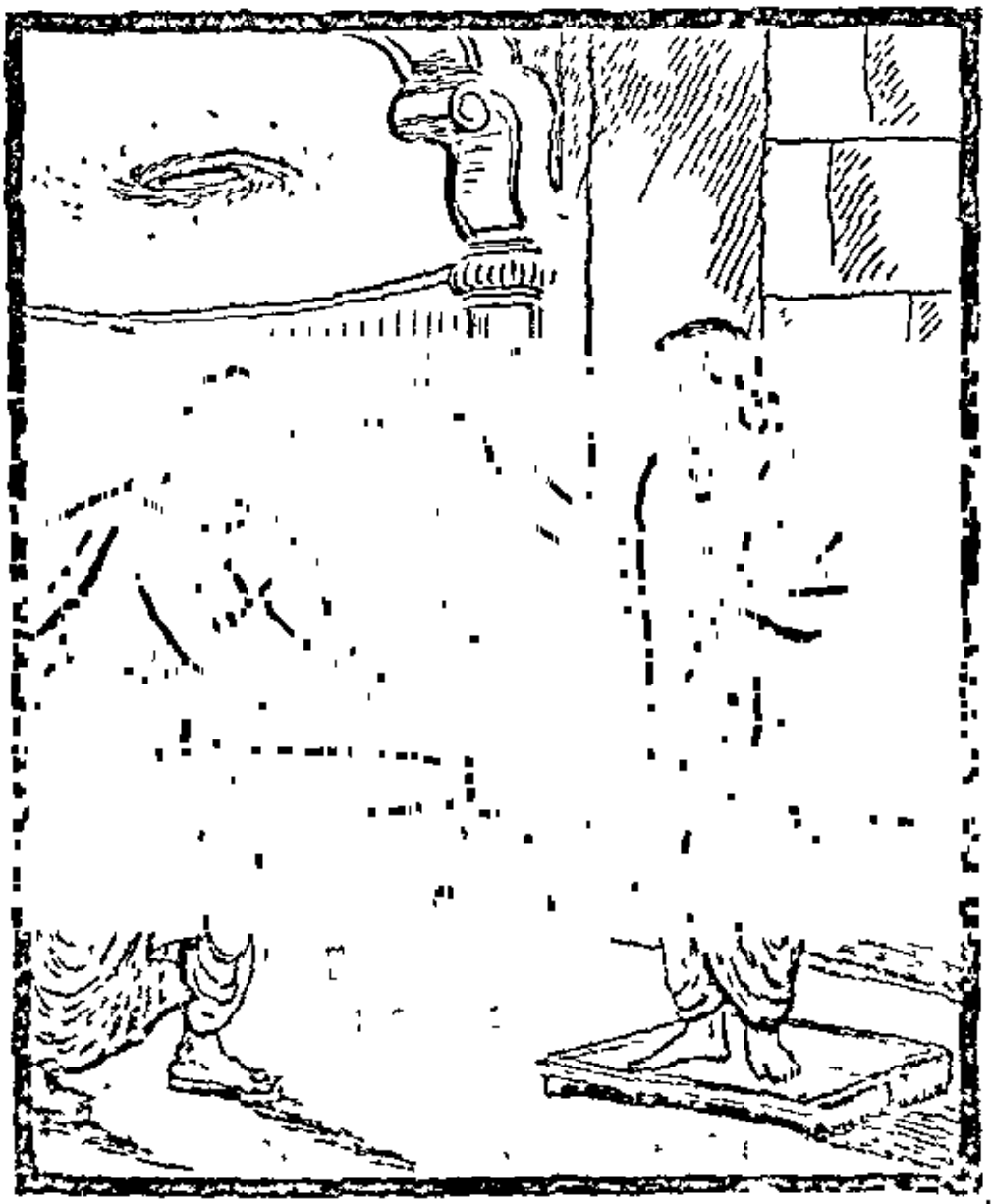

आते ही राजा के पैरों पर पड़ गये। जैसे अनजान में सर्प पैर से लिपट जाय और उस समय मनुष्य जिस प्रकार भयभीत होकर भागता है, उसी प्रकार महाराज मुनि के पैर पड़ते ही

सती प्रज्वलित अग्नि छुला दो, वह सब को तुरन्त जला ही न देगी, उसकी राख भी न रहेगी।"

गंगा जी ने कहा—"अच्छी बात है तुम मेरे वेग को धारण करने के निमित्त शङ्कर जी को प्रसन्न कर लो। वे स्वीकार कर लेंगे तो मैं आऊँगी।" ऐसा कह कर गङ्गा जी तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गईं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! गंगा जी के अन्तर्धान हो जाने पर महाराज ने भूमि में मस्तक टेक कर उस दिशा को नमस्कार किया, जिधर जगज्जननी अन्तर्हित हुई थीं। तदनन्तर वे श्री शङ्कर जी को प्रसन्न करनेके निमित्त घोर तप करने लगे।"

छप्पय

करत करत तप भूप दिलीपहु स्वर्ग सिधारे।
तिनके सुत नृप भये भगीरथ सबके प्यारे॥
पिता पितामह मरे नहीं श्रीगंगा आईं।
पितर मरे यम सदन दुःख तें ते बतलाईं॥
भूप भगीरथ राज जतीं गङ्गाजी लैवे गये।
अबके जननी तुष्ट ह्वै, नरपति कूँ दरशन दये॥

से भी अधिक है। आप अपने दिव्य तेज से अज्ञानियों के तमोमय अज्ञानान्धकार का नाश करने वाले हो। तुम्हारी महिमा अपरम्पार है। तुम भगवान् के परम प्रिय अस्त्र और उनकी संकल्प शक्ति के प्रतीक हो, जब वे तुम्हें संकल्प पूर्वक दैत्य दानवों की सेना में छोड़ते है, तब तुम प्रलयाग्नि के समान उन मदोमन्त्त असुरों का संहार कर डालते हो, उन्हें मुक्ति मार्ग दिखा देते हो। जिनके अंग से आपका स्पर्श हो जाता है, जो आपकी आकृति को ही अगों पर अंकित करते हैं वे फिर भय के दर्शन नहीं करते। सभी परम पद के अधिकारी बन जाते हैं।

भगवान् ने तुम्हें दुष्टों के दमन और शिष्टों के संरक्षण के निमित्त ही नियुक्त किया है। मैं आपके पादपद्मो में प्रणाम करता हूँ। सहस्रधाराओं वाले सर्वेश्वर के सर्वोत्कृष्ट अनुपम आयुध! हे सब को सुख देने वाले सुदर्शनचक्र! तुम्हें नमस्कार है।

सुदर्शन चक्र बोले—"राजन्! तुम क्यों नमस्कार कर रहे हो? मैं तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य करूँ? तुम मेरे कार्य में विघ्न क्यों डाल रहे हो?"

यह सुनकर महाराज अम्बरीरप बोले—"प्रभो! यदि आप मेरा कुछ प्रिय करना चाहते हैं, तो मेरा सबसे प्रिय कार्य यही है कि इन विप्रवर के ऊपर आप प्रसन्न हो जायं। इससे मेरा ही कल्याण न होगा मेरे सम्पूर्ण वंश का उद्धार होगा, मेरे कुल की कीर्ति स्थिर हो जायगी, हम घोर पाप ताप और अभिशाप से बच जायेंगे।

सुदर्शन चक्र ने कहा—"राजन! ये तो आपके अनिष्ट करने वाले हैं। ये तो आपका विनाश करने पर उतारू थे। तुम इनकी रक्षा क्यों चाहते हो?"

पड़ी।" इसका सारांश यह है, कि सब कार्य समय आने पर ही होते हैं। सबका काल निश्चित है। काल भगवान् का एक रूप है। प्रयत्न कोई भी कभी भी किसी का भी व्यर्थ नहीं जाता, किन्तु उसका परिणाम अवसर पर ही प्रगट होता है। आप चाहें अमावस्या के दिन पूर्ण चन्द्र उदित हो जाय तो नहीं हो सकता। किन्तु अमावस्या के अन्धकार में पूर्णिमा का प्रकाश निहित है, अमावस्या है, तो एक दिन पूर्णिमा भी आवेगी। आप चाहें कि नित्य पानी देते रहें और आम में शीघ्र फल आ जायें, तो यह असम्भव है। कितना भी पानी दें फल समय से ही आवेंगे। पानी देना व्यर्थ नही, पानी का फल होगा, सुन्दर फल लगेंगे, अच्छे लगेंगे। किन्तु लगेंगे, समय से ही। एक बड़ा भारी पत्थर है, कुछ आदमी उसे तोड़ना चाहते हैं बार-बार घन मारते हैं, वह टूटता नहीं। दिन भर उन्होंने परिश्रम किया, पत्थर नही टूटा। दूसरे दिन दूसरे तोड़ने वाले आये ज्योंहीं उन्होंने एक घन मारा फट से पाषाण फट गया. टूट गया। तो क्या कल जिन्होंने दिन भर श्रम किया था, वह व्यर्थ हो गया ? नहीं, सो बात नहीं है। उनका श्रम व्यर्थ नही गया। उनकी चोटों ने उसे जर्जरित बना दिया वह निर्बल निःसत्व हो गया, किन्तु उस दिन उसके टूटने का काल नही था, उन्हें तोड़ने का श्रेय प्राप्त होना नहीं था। वह तो दूसरे के ही भाग्य में था। इसीलिए दूसरे दिन वह टूट गया। एक आदमी सतत प्रयत्न करते हैं, उनको कोई जानता नही उनका नाम नहीं होता। दूसरा उसमें हाथ लगाता है, सर्वत्र उसका नाम होता है। कोयलों की खान के नीचे एक नीलम नाम का बहुमूल्य पाषाण निकलता है,जिस कोयलो की खान वालों को वह मिल जाता है, वे मालामाल हो जाते हैं। विशेषज्ञों ने भूगर्भ विद्या के अनुसार

भी स्नेह करे, वही वास्तव में धीर वीर भगवद् है। वही पुरुषों में सर्व श्रेष्ठ है। देखिये मैंने आपका कितना अपकार किया था। किन्तु आपने उसकी ओर ध्यान न देकर मेरी मङ्गल कामना ही की। मुझे भयंकर सन्ताप से बचाया। यह बर्ताव आपके महत्व के अनुकूल ही है।"

महाराज अम्बरीष ने कहा—"भगवन्! आप मुझे लज्जित क्यों करते हैं। मैं तो ब्राह्मणों के चरणों की धूलि हूँ, आप भला मेरा कभी अपकार कर सकते है। आपके सभी कार्य लोक कल्याणार्थ ही होते हैं मैं तो आपके दासों का दास होने योग्य भी नहीं।"

इस पर दुर्वासा जी बोले—"महाराज! ऐसी विनय आपको ही शोभा देती है। आपकी भगवद्भक्ति, विनय, शालीनता तथा नम्रता आपके अनुरूप ही है। जिन्होंने भक्तों के परमाराध्य प्रभु के पादपद्मों को दृढ़ता पूर्वक पकड लिया है। उनके लिये संसार में कोई भी वस्तु असम्भव नहीं है। कुछ भी दुस्साध्य नहीं है। राजन्! आपने जो मद, अहंकार और क्रोधादि दुर्गुणों का सर्वथा त्याग कर दिया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। भगवान् के भक्तों के लिये कुछ भी दुस्त्यज नहीं आप तो कृतकार्य हैं। आपके लिये तो कुछ कर्तव्य शेष रहा ही नहीं।"

महाराज, दुर्वासा जी की ऐसी विनय देखकर अत्यन्त ही लज्जित हुए और बोले—"प्रभो! आप मेरे ऊपर अपराध क्यों चढ़ा रहे हैं। मुझे प्रशंसा रूप विष क्यों पिला रहे हैं। भगवन्! हम तो सदा से आपके किंकर है।"

दुर्वासाजी ने कहा—"राजन्! तुम्हारी सहनशीलता देखकर मुझे ईर्षा होती है। आपने मेरे इतने बड़े अपराध की ओर ध्यान

अवनि पर अवतरित होने का वचन दिया है, कृपा करके आप उनके प्रबल वेग को धारण करें, यही मेरी आपके पुनीत पादपद्मों में विनीत प्रार्थना है।"

शिवजी ने कहा—"अच्छी बात है, गङ्गाजी से कह दो, वे चाहे जितने वेग से आवे मैं उन्हें अपनी जटाओं में धारण करूँगा।" मैं कैलाश के शिखर पर आसन लगाकर बैठता हूँ, गङ्गा आवें। यह सुनकर महाराज के हर्षका ठिकाना नही रहा। उन्होंने भगवती सुरसरि की प्रार्थना की।

माता तो चञ्चला चपला बालिका ही ठहरी उन्हें एक विनोद सूझा। वे सोचने लगी—"ये शङ्कर भोलेनाथ आक धतूरा खाकर सदा कैलाश की बरफ में ही लेट लगाते रहते हैं। जबसे इन्होंने विषपान किया है, तबसे इन्हें शीत स्थान, जल स्नान अत्यधिक प्रिय हो गया है। क्यों नही मैं अपने प्रबल वेग के सहित इन्हें और इनके प्रिय कैलाश पर्वत को साथ लिए हुए पाताल में घुस जाऊँ।" गङ्गाजीका शिवजी से ऐसा ही सम्बन्ध है जिसमें हँसी विनोद का पूर्ण अवसर है, बहिन के पति ही ठहरे। यह सोचकर भगवती अपने अत्यन्त प्रभावशाली तेज से हर-हर करती हुई स्वर्ग से अवतरित हुईं। उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर उस दृश्य को देखने के लिए अपने विमानों में बैठकर कैलाश के ऊपर उड़ रहे थे। कल कल निनादिनी पतित पावनी, भवभय हारिणी भगवती अपने अञ्चल को वायु मे उड़ाती, अनन्त जल राशि के रूप में शिवजी की जटाओं के ऊपर आकर गिरी। शिवजी को ऐसा लगा मानों कोई नन्हें-नन्हें जल कणों से उनका अभिसिंचन करने लगा है। आज उन्होंने भङ्ग कुछ अधिक चढ़ाली थी। गणों ने भङ्ग में धतूरे और तांबे की मात्रा अधिक कर दी थी। जब शीतल

छप्पय

चक्र विनय नृप करी लखे भययुत दुर्वासा।
शान्त सुदर्शन भयो भई मुनिवर कूँ आसा॥
बोले नृप तुम धन्य धन्य तुम्हारी है जननी।
धन्य नभग शुभ वंश प्रजा दारा धन धरनी॥
महिमा भक्तनि की लखी, गर्व खर्व मेरो भयो।
दुतकार्‍यो मोकूँ सबनि, शरन हेतु जहँ जहँ गयो॥

अपना वेग दिखाया, सम्पूर्ण बल पराक्रम लगाया, किन्तु उन्होंने जटाजूट धारी की जटाओं का पार नहीं पाया। वे उन्हीं में उलझ गईं, भटक गईं, मार्ग भूल गईं। अब तो वे बन्धन में पड़ गईं। शिवजी नेत्र बन्द किये ध्यान मग्न थे, गङ्गाजल का एक बिन्दु भी गिरि के ऊपर न गिरा। पत्नी की भगिनीके साथ भूतनाथ ने विचित्र विनोद कर दिया।

महाराज भगीरथ घबराये। इन दोनोंका तो विनोद हुआ मेरा मरण हो गया। जैसे तैसे तो गङ्गाजी को प्रसन्न किया, आकर भी शिवजटाओं में विलीन हो गईं। फिर उन्होंने शिवजी की स्तुति आरम्भ की। शिवजी ने नेत्र खोले और बोले—"राजन् मैंने गङ्गाजी को धारण कर तो लिया अब तुम मुझसे क्या चाहते हो, अब तुम मेरी विनय क्यो कर रहे हो ?"

विवशताके साथ राजा बोले—"अजी,महाराज धारण करने का अर्थ यह तो है ही नहीं कि आप उन्हें अपनी जटाओं में ही छिपाये रखें। मैंने तो अपने पितरों के उद्धार के लिए प्रार्थना की थी। जब आपको जटाओं में ही रखनी थी, तो मेरे जाने जैसी-ही ब्रह्मकमण्डलु में वैसी ही आपकी जटाओं में कृपा करके इन्हें अवनि पर आने दीजिए। समुद्र तक जाने दीजिये। मेरे पितरों की भस्म को बहाने दीजिये। तब मेरा श्रम सार्थक होगा।"

शिवजी बोले—" अजी राजन् ! मुझे तो कुछ निद्रा सी आगई थी। अच्छी बात है लो मैं तुमको गङ्गाजी देता हूँ। देखो, विष की उष्णता से मुझे गरमी कुछ अधिक कष्ट कर प्रतीत होती है, अतः सम्पूर्ण गङ्गा को तो मैं छोड़ूँगा नहीं। तुम्हारे काम भर के लिये एक धारा दिये देता हूँ।" यह कहकर शिवजी ने अपनी एक जटा से उनका प्रवाह पर्वत पर गिराया।

क्रीड़ायें करते हैं। श्रीमद्भागवत में उद्धव को ज्ञान देते हुए भगवान् ने कहा है—'उद्धव! मैं तुझे उस ज्ञान का उपदेश देता हूँ, जिसे मैंने पितामह भीष्म के मुखसे सुना है।" भला बताइये, जिनके संकल्प से संपूर्ण सृष्टि होती है, जिनकी निश्वास ही वेद हैं, वे भीष्म से सुनकर क्या उपदेश देंगे। जब धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् के बहुत समझाने पर भी राज्य करने को उद्यत न हुए तब भगवान् उन्हें पितामह भीष्म के निकट ले गये और उनसे उपदेश देने को कहा। भीष्म ने कहा—"हे वासुदेव! आप ही युधिष्ठिर को उपदेश क्यों नहीं देते। आप तो ज्ञान स्वरूप हैं। "भगवान् ने हंसकर कहा—"यह सब तो सत्य ही है, मुझे भक्त की महिमा जो बढ़ानी है, चौदहों भुवनों में आपकी कीर्ति जो स्थापित करनी है। इसीलिये तुम्हारे हृदय में प्रेरणा करके मैं तुम्हारे मुख से उपदेश दिलाना चाहता हूँ!" मुनि दुर्वासा कोई और तो थे नहीं। स्वयं साक्षात् शंकर ही ने दुर्वासा का वेष बना लिया है। चक्र भी कोई दूसरे का नहीं था। शिवजी ने ही विष्णु भगवान् को उसे दिया था। शिवजी का ही वह था। जैसे रामलीला में पिता को रावण बना देते हैं—पुत्र राम बन जाता है। परस्पर में दोनों क्रोध करके लड़ते हैं, एक दूसरे पर प्रहार करते हैं। खेल समाप्त होते ही फिर वही बातें। भगवान् ऐसी लीलायें क्यों करते हैं? इस क्यों का उत्तर यही है कि उन्हें कुछ काम धन्धा तो है नहीं। निष्काम है। बैठे ठाले यही सब करते रहते हैं—बैठा बनिया क्या करे, इस कोठी के धान उस कोठी में करे। इसलिये भक्तों में न कोई बड़ा, न छोटा सब भगवान् के स्वरूप ही हैं। क्रीड़ार्थ ऐसी लीलायें करते रहते हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! दुर्वासा जी ने अत्यन्त

कार सुर वधूटियों की कङ्कण किंकिणि और नूपुर चूड़ियो के झंकार,गायन की सुरीली सरल ताल,वाद्योंकी सङ्गीतमय ध्वनि गङ्गाजी का कलरव शब्द,पाषाणों की चपेटों की चट्ट पट्ट आकाश में उड़ते हुए पक्षियों का कलरव तथा भगीरथ के रथका गंभीर जल भरे मेघों के समान गंभीर घरघराहट ये शब्द एक ही लय में साथ ही हो रहे थे। जैसे मृदङ्ग, वीणा, पणव, मञ्जीरा आदि विविध वाद्य विविध भाँति के शब्द करने पर भी एक ताल में एक स्वर में बजते हैं। इस विश्वमय अलौकिक सङ्गीत की सुरीली सुखमयी ध्वनि से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मांड भर गया। चराचर प्राणी गङ्गा के अवतरण से प्रमुदित हुए।

महाराज भगीरथ का रथ ऐसा दिव्य अलौकिक था कि वह जल में थल में सममें विषम में नभ में तथा गिरिशिखरों पर समान रूप से चल सकता था,उसके पीछे हर-हर मन्त्र का अविच्छिन्न अखण्ड कीर्तन करती हुई, भगवती भागीरथी चल रही थीं। जैसा कि चञ्चला बालिकाओं का सहज स्वर होता है उसी स्वभावानुसार वे टेढ़ी मेढ़ी चल रही थीं। कभी किसी गिरि शिखर से टकरा जाती, तो तुरन्त वहाँ से लौटकर टेढी चलने लगतीं, कभी किसी ऊँची चट्टान से एक साथ ही कूद पड़ती, कभी मुड़ जाती, कभी बढ़ जाती, कही सिकुड़ जाती, कही फैल जातीं, कहीं दो पहाड़ों के बीच में पिच जाती और फिर शनैः शनैः करवट के बल चलकर उसे पार करती। कहीं शीघ्रता से दौड़ने लगती, कही थक कर गम्भीर हो जातीं। कहीं उछल जातीं,कहीं पाषाण खण्डों से क्रीड़ा ही करने लगतीं। कही किसी पहाड़ के नीचे ही नीचे बहने लगतीं, कही ऊपर बरफ है नीचे से सर्र से निकल जाती, कहीं गोल गोल रंग बिरंगे पाषाण खण्डों के साथ खिलवाड़ ही करने लगतीं। उन्हें एक दूसरे से

तुम्हारे पादस्पर्श से यह पूरी पृथ्वी पावन बन गई, तुम्हारे राजा होने से यह सम्पूर्ण प्रजा भगवान् की भक्ति में लग गई। मैं भी क्षण भर के संसर्ग से धन्य बन गया। भगवद् भक्त का महत्व समझ गया। अच्छी बात है अब मैं लोकपितामह ब्रह्माजी के दर्शन करने ब्रह्मलोक में जाऊँगा। मुझे जाने के लिये अनुमति दीजिये।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं तो भक्तों के दासों का दास होने योग्य नहीं। आपने अपनी महिमा से ही मुझे मान देने के लिये यह सब लीला रची है। इसे मैं भली भाँति जानता हूँ, नहीं तो आपका ही अस्त्र यह आपके प्रति ऐसा विरुद्धाचरण कर सकता है? मैं तो कृतार्थ ही हो गया, जो एक वर्ष पर्यन्त आपने मुझे अपने ध्यान का निरंतर अवसर दिया। मैं आपका भक्त हूँ, आपके अधीन हूँ इसी प्रकार सदा मेरे ऊपर कृपा करते रहे और समय-समय पर मुझे दर्शन देकर मेरे कर्तव्य को स्मरण कराते रहें।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार दोनों परस्पर प्रेम पूर्वक मिलकर एक दूसरे से सत्कृत होकर विदा हुए। महाराज उन्हें भवन के द्वार तक नंगे पैरों पहुँचाने गये। मुनि उसी समय योग द्वारा आकाश मार्ग से उड़ कर ब्रह्मलोक चले गये।

मुनि के चले जाने पर राजा धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। अब उनकी अवस्था अधिक हो गई थी। उनके विरूप, केतुमान् और शम्भु ये तीन पुत्र थे। उनकी भार्या सुशीला साध्वी और पतिपरायणा थी। प्रजा के लोग उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे, किन्तु अब उनका चित्त राज्यपाट में लगता नहीं था। पुत्र भी योग्य हो चले थे। वे

भागीरथी का नाम जाह्नवी पड़ा, उस कथा को मैं आपको सुनाता हूँ। आप इस परम पावन पुण्य प्रदायिनी कथा को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

गरजत तरजत चली वेगतें गङ्गा माता।
गिरीं जहाँ गिरिजेश विराजें भवभय त्राता॥
सोचें शिवकूं सङ्ग लिये पाताल पधारूँ।
जोजाजी की जटनि माहिं जलधारा डारूँ॥
भोले बाबा भङ्ग की, बैठे सहज तरङ्ग महँ।
जटनि माहिं गङ्गा गिरीं, परी भङ्ग तिन रङ्ग महँ॥

से युक्त क्षत्रोपेत द्विज हुए। क्षत्रियों से उच्च और ब्राह्मणों से कनिष्ट लोग हुए।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार मैंने यह अत्यन्त संक्षेप में राजर्षि अम्बरीष का और उनके वंशों का वर्णन किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।"

छप्पय

अम्बरीष के तनय तीन त्रिभुवन विख्याता।
भूपति बड़े विरूप प्रजा के भय दुख त्राता॥
केतुमान अरु शम्भु बन्धु अनुकूल रहें नित।
सुत विरूप पृषदश्व रथीतर तिन के शुभ सुत॥
नृपति रथीतर सुत रहित, भये आङ्गिरस क्षेत्रसुत।
वीर्य अङ्गिरा तें भये, क्षात्र कर्म द्विज तेज युत॥

हैं, युद्ध हो जाता है। क्षण भर में सब भूल जाते हैं, एक हो जाते हैं। कुट्टी हुई मित्रता पुनः मिल्ली के रूप में परिणित हो जाती है। इसीलिये क्रीड़ा में सभी संभव है। जैसे प्रेम क्रीड़ा का अंग है वैसे ही क्रोध कलह, मान भी उसका अङ्ग है। मान के विना प्रेम में स्वाद नहीं। कलह के विना क्रीड़ा में नूतनता नहीं। भगवान् नाना रूप रखकर इस जगत् नाट्यस्थली में क्रीड़ा कर रहे है। गङ्गा भी उन्हीं का द्रव रूप है, विष्णु,शिव,विरंचि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवता, पितर सभी उनके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। क्रीड़ा में शंका के लिये स्थान नही ऐसा क्यों हुआ ? क्रीड़ामे क्यों के लिये स्थान ही नहीं।

सूतजी कहते हैं–"मुनियो! आपने मुझसे गंगाजी के जाह्नवी नाम पड़ने का कारण पूछा था, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। भगवती भागीरथी चलते समय बड़ी इठला रही थीं, वे बड़ी उत्सुकता प्रकट कर रही थीं। अब वे निरी बालिका ही नहीं रही थीं। हिमालय की गोद से उतर कर वे सयानी हो गई थीं। छोटी से बड़ी हो गई थीं। चंचलता तो कुछ कम हो गई थी। वे ज्यों ज्यों बढती जाती थीं, त्यों त्यों गम्भीर होती जाती थी। अब उछलकर चलना उन्होंने छोड़ दिया। अब वे किलकारी भी नहीं मारती थीं, अब तो चुपचाप शांति के साथ गंभीर भाव से चल रही थी। अब वे पहाड़ों में जैसी रेख की भांति पतली थीं, वैसी नहीं रहीं। अब उनका पाट बढ़ गया था। अब वे पाषाण खण्डों से खिलवाड़ भी नहीं करती थी। अब वे अंचल से अपने सिर को ढककर चलती थीं। वे ज्यों-ज्यों पतिगृह के समीप पहुँचतीं त्यों-त्यों शान्त और गम्भीर होती जाती थीं, यद्यपि बाल्यकाल की चंचलता उनमें नहीं रही, फिर भी यौवन का अल्हड़पन और दूसरों को बनाने खिजाने और हँसने

पर सदा से अधिक ध्यान रखा जाता था। राज्य परम्परा विशुद्ध बनी रहने से पूर्वजों के वंश परम्परागत सद्गुण विलुप्त नहीं होते। जहाँ राज्यवंश में संकरता का दोष आ जाता है, वहीं क्रमशः राज्य वंश क्षीण हो जाता है। विशुद्ध भावना से शुद्ध रजवीय की सन्तान विशुद्ध होगा। जिस वंश में धर्म के भाव परम्परागत अक्षुण्ण चले आते है, वह वंश पुण्यश्लोक तथा धर्म वंश कहलाता है। उस वंश का वर्णन श्रवण, चिन्तन, पुण्य प्रद माना गया है, उसके संकीर्तन से, ध्यान से मनन से मनुष्यों के समस्त दुरित दूर होकर पुण्य की वृद्धि होती है। अतः पावन वंशों का चरित्र प्रतिदिन श्रवण करना चाहिये।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी आप हमें वर्तमान मनु विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु के वंश का विस्तार सुना रहे थे। आपने वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूप, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि ये १० पुत्र बताये थे। सूची कटाह न्याय से सबसे बड़े पुत्र इक्ष्वाकु के वंश को छोड़कर शेष ९ मनु पुत्रों के सम्बन्ध में आपने हमें संक्षेप से सुनाया। वह सब हमने बड़ी श्रद्धा के साथ श्रवण किया। अब हम मनु के ज्येष्ठ पुत्र पुण्यश्लोक महाराज इक्ष्वाकु के वंश का विस्तार से श्रवण करना चाहते हैं जिसमें रघु, ककुत्स, सगर, भगीरथ, तथा दशरथ ऐसे राजर्षि हो चुके हैं। जिस कुल में अवधकुलमंडन, कौशल्यानन्दवर्धन परात्पर प्रभु नराकृति में अवतरित हुए है। उस पुण्य वंश का वर्णन आप हमसे और करें। तब फिर चन्द्रवंश का चरित्र कहियेगा।"

यह सुन कर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूत जी बोले—"महाराज! आप लोगों का ही जीवन सार्थक है जो भगवान् और भागवतों के चरित्रों को इतने चाव से सुनते हैं। नौ मनु-

बल से अग्नि तत्व को प्रदीप्त कर दिया; सब जल कारण में विलीन हो गया। आदि प्रवाह को रोक दिया। यह तो कोई बहुत दिन पहिले की सत्ययुग की बात है। अभी कलियुग में कुछ ही वर्ष पूर्व एक विचित्र घटना घटित हो गई। एक योगीने योग का विचित्र चमत्कार दिखाया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमें भी तो सुनाइये क्या चमत्कार दिखाया।"

सूतजी बोले—"भगवन्! ग्वालियर नामक प्रयाग से दक्षिण में एक छोटा सा राज्य है। वहाँ महाराष्ट्र देश के राजा राज्य करते हैं। एक दिन एक योगी आये, वे अपनी मस्ती में नंगे ही राजमहल के भीतर जा रहे थे। प्रहरी ने उन्हे रोक दिया। वे रुक गये और एक वाटिका के चबूतरे पर खड़े होकर लघुशंका करने लगे। फिर क्या था उनका जो लघुशंका का प्रवाह आरम्भ हुआ, वह रुका ही नहीं। सम्पूर्ण बगीची भर गया। किलेके चारों ओर की खाई भर गई। राजमहल और नगर भी डूबने लगा रात्रि भर में प्रलय सी आ गई। लोगों ने दौड़ कर महाराज से निवेदन किया। महाराज दौड़े-दौड़े आये महात्मा के पैरों पड़े तब कही जाकर उनका प्रवाह रुका। उसी दिन से महाराज उन्हे बहुत मानने लगे। नित्य उनके लिए सुवर्णके थाल में भोजन जाता और वे खा कर थाल को फेंक देते। सारांश कहने का इतना ही है कि जिन्होंने इस प्रकृति के तत्व को समझ लिया है, उनके लिए जल का सोख लेना अग्नि को शीतल कर देना आदि भाँति-भाँति के व्यापार साधारण कार्य हैं। जो प्राकृतिक पदार्थों से ऊपर उठ गये है, उनके लिये गगाजी के प्रवाहको रोक देना कौनसी बड़ी बात है।"

के भक्तिवर्धक चरित्र को आप सबके सम्मुख सुनाता हूँ, आप दत्तचित होकर श्रवण करें।

मुनियो! पूर्वकाल में काशी के एक परम धर्मात्मा सदाचारी देवराज नाम के राजा थे। वे बड़े शूरवीर धर्म परायण तथा प्रजावत्सल भूपति थे। उनकी एक परम सुन्दरी, सदाचार-परायणा, सर्वगुणसम्पन्ना सुदेवा नाम की कन्या थी। उस कन्या के अंग प्रत्यंग में एक तिल भी ऐसा स्थान नहीं था जहाँ अपार सौन्दर्य न हो। उसके अंग-प्रत्यंगों की गठन ऐसी मनोहर थी कि बाल्यकाल में ही जो उसे देखता वही उसकी ओर देखता का देखता ही रह जाता। वह राजकुमारी ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यों-त्यों उसका सौन्दर्य निखरता ही गया। अधिक कहना व्यर्थ है पौराणिकों का कहना है, संसार में उन दिनों उस कुमारी के समान दूसरी सुन्दरी कुमारी नहीं थी। जब वह कन्या विवाह योग्य हो गई, तो उसकी माता ने महाराज से कहा—"पतिदेव! लड़की बड़ी स्यानी हो गई है इसका विवाह किसी योग्य वर के साथ करना चाहिये। महाराज की इच्छा थी, मेरी पुत्री का विवाह संसार में सर्व-श्रेष्ठ वर के साथ हो। उन दिनों वैवस्वत मनु के ज्येष्ठ पुत्र महाराज इक्ष्वाकु राज करते थे। अतः महाराज ने उनके पिता श्राद्धदेव से प्रार्थना की। उस कन्या के रूप और गुणों की ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी, अतः महाराज मनु ने सहर्ष इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया और सुदेवा का विवाह महाराज इक्ष्वाकु के साथ हुआ।

महाराज इक्ष्वाकु ऐसी सुन्दरी सती साध्वी पति परायणा पत्नी को पाकर परम प्रसन्न हुए। उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, वे सुदेवा को प्राणों से भी अधिक प्यार करते। उन्होंने

पकार में निरत रहती है, वही पितरो को तारने में समर्थ हो सकती है। वही सच्ची संतान है। तुम्हारे जल के स्पर्श से पापी भी तर जायँगे। ऐसी तरनतारिनी तुम मेरी तनया कहलाओगी, यह मेरे लिये सबसे बढ़कर गौरव की बात है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार गङ्गा महाराज जह्नु को अपना पिता मानकर उनकी परिक्रमा करके आगे बढ़ीं। महाराज जह्नु ने भी उनका सिर सूँघा और आशीर्वाद दिया—"तुम संसार में विश्ववन्दिता कहलाओगी।" इस प्रकार पिता जह्नु से आशीर्वाद पाकर भगवती जाह्नवी आगे बढ़ी।

छप्पय

उतरि हिमालय अंक अवनि पै नीचे आई।
सामग्री मुनि जह्नु यज्ञ की सबहिं बहाई॥
लखि अविनय मुनि कर्यो कोप गंगा पी लीन्हीं।
भूप भागीरथ विनय बहुत विधि मुनि की कीन्हीं॥
छोड़ी गंगा कान तें, तनया तिनकी ह्वै गईं।
तबई तें भागीरथी, ख्यात जाह्नवी जग भईं॥

स्थान से तिल भर भी न हटे, वे कोल भील व्याधों और कुत्तों को मारने लगे। बड़ी देर तक भयंकर युद्ध होता रहा। बहुत से सूअर मर गये, बहुत से घायल हुए, बहुत युद्ध छोड़कर अपनी गुहाओं में चले गये, किन्तु वह यूथपति बराह अपनी स्त्री और ५-७ पुत्र-पौत्रों के साथ संग्राम में डटा ही रहा। उसने अपने तीक्ष्ण दाढ़ों के प्रबल प्रहार से बहुत से व्याधों को मार डाला था, बहुतों को क्षतविक्षत बना दिया था बहुत से प्राण लेकर भाग गये।

महाराज इक्ष्वाकु ने जब उस सूकर का ऐसा साहस और तेज देखा तब तो वे विस्मित हुए। अपनी रानी से बोले—"प्रिये! यह सूकर कोई, साधारण सूकर नहीं है, यह तो कोई अत्यन्त अलौकिक सूकर है तुम देखती नहीं हो यह कितनी वीरता के साथ कैसा घनघोर युद्ध कर रहा है। इसने मेरे सभी साथियों को परास्त कर दिया है। अब मुझे इससे युद्ध करना चाहिये।"

यह कहकर महाराज ने धनुष पर बाण चढ़ाया और अपने घोड़े को उस सूअर की ओर बढ़ाया।

उस समय सूकरी ने अपने पति से कहा—'प्राणनाथ! आपके प्रेम के वश में होकर आपके सैकड़ों पुत्र-पौत्रों ने प्राण गँवा दिये। कुछ भागकर बच भी गये, युद्ध में आपकी विजय हुई, अब आप इन इतने बड़े राजर्षि के साथ युद्ध न करें। मेरे साथ भाग चलें और अपने प्राणों को बचावें।"

सूकर ने कहा—"प्रिये! तुम कैसी बात कह रही हो, मैं मृत्यु का ऐसा सुन्दर सुयोग पाकर भी यहाँ से प्राणों के मोह से भला भाग सकता हूँ। मेरे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं। यदि मैंने युद्ध में इन विश्व विजयी सम्राट को हरा दिया, तो लोक

के दिखा दो तब मैं सेवन करूँगा। तब तो सम्भव है उसका रोग कभी जाय ही नही। रोग जाने के लिये उसे चिकित्सक पर विश्वास करना पड़ेगा। वह जो औषधि दे उसे श्रद्धापूर्वक खाना होगा जैसा पथ्य सेवन को कहे उसे विश्वास पूर्वक सेवन करना होगा। पुत्र माता से आग्रह करे कि पहिले मुझे इस बात को प्रत्यक्ष करा दो कि यही मेरे पिता हैं, तो माँ कैसे प्रत्यक्ष करा सकती है। मैं ही माँ हूँ इसे भी वह तर्क से स्वय कैसे सिद्ध कर सकती है। पुत्र को माता-पिता और गुरुजनों के वचनों पर विश्वास ही करना होगा। जिसे माँ कहने को कहे वह माँ है जिनके माँ पिता कहलावे वे पिता हैं। गुरु अक्षरारंभ करता है। आरम्भ ही बताया है। यह "आ है, यह "इ" है यह 'उ" है। अब लड़का यह तर्क करे कि यही "आ" क्यों है। यह "उ" क्यों नही? तो गुरु इसे तर्क से कैसे सिद्ध कर सकता है। उस पर एक ही उत्तर है। मैं गुरु परम्परा से यही बात सुनता आया हूँ, कि इसे "आ" कहते हैं। उन आप्त पुरुषों के वचनों पर मुझे विश्वास है तुम्हें भी मेरी बात पर विश्वास करना चाहिये। मैं जिस अक्षर का जो नाम बताऊँगा तुम्हें उसे ही विश्वासपूर्वक मान लेना चाहिये। ऐसे एक नही अनेकों उदाहरण हैं, कि हम बड़े लोगों के विश्वासनीय आप्त पुरुषों के वचनो पर ही विश्वास करके संसार यात्रा मे अग्रसर हो सकते है। यदि पग-पग पर हम तर्क का ही अवलम्ब लेते रहे, तब तो हम एक पग भी नही बढ़ सकते। जो कहते है—"जैसे अन्य जल वैसे ही गङ्गाजल, गङ्गाजल में क्या रखा है। उसके दरस परस और पान से पाप कैसे कट सकते हैं, उसमे भस्म अस्थि डालने से मृतक व्यक्ति का उद्धार कैसे हो सकता है? "तो इस विषय में यही कहेंगे, कि हमारे

अपने पति को मृतक देखकर सूकरी को बड़ा दुःख हुआ। अब उसके सैकड़ों पुत्र पौत्रों में से ४। ५ पुत्र ही शेष रहे थे। अतः वह अपने बड़े पुत्र से बोली—"बेटा, तू अपने इन छोटे-तीनों भाइयों को लेकर भाग जा मैं तो तेरे पिता के मार्ग का अनुसरण करूँगी, मैं तो इन धर्मात्मा राजर्षि के बाणों से मर कर स्वर्ग में तेरे पिता के साथ सुख भोगूँगी, तू व्यर्थ प्राणों को क्यों गँवाता है।"

पुत्र ने कहा—"माता जी! ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जो पुत्र माता-पिता को संकट में छोड़कर प्राणों के भय से भाग जाता है, वह माता के रज वीर्य से उत्पन्न न होकर उनके मल मूत्र के समान है मेरे ये भाई भले ही चले जायँ मैं तो अन्त तक युद्ध करूँगा। तब सूकरी ने समझा बुझाकर अपने छोटे तीनों बच्चों को भगा दिया और स्वयं अपने पुत्र के साथ व्याधाओं से युद्ध करने खड़ी हो गई। उसके पुत्र ने सैकड़ों व्याधाओं को घायल किया। बहुतों को मारा। तब महाराज ने एक चन्द्राकार बाण छोड़कर उसका सिर धड़ से पृथक् कर दिया। पुत्र के मरते ही सूअरी मूर्छित सी हो गई और शोक से व्याकुल होकर धड़ाम से अपने सुत के शरीर पर गिर पड़ी। उस सूकरी को इस प्रकार अचेत पड़े देखकर व्याधे उसके ऊपर झपटे, किन्तु उसने अपने थूथुन से ऐसा प्रहार किया, कि बहुत से व्याधों को मार भगाया, वह क्रुद्धा सिंहनी के समान समर कर रही थी। क्रोध और प्रतिहिंसा की ज्वाला में जलती हुई वह सूकरी सैकड़ों पुरुषों का संहार करने लगी। राजा चुपचाप खड़े इस दृश्य को देख रहे थे।

इस पर महारानी सुदेवा ने कहा—"प्राणनाथ! इस सूकरी का साहस तो अलौकिक है, इसकी रणचातुरी तो बड़ा विलक्षण

चिपट जाओ। दोनों बहिन हृदय से हृदय सटाकर मिल लें। भर पेट प्रेम के अश्रु बहालें।"

गंगा ने विवशता के स्वर में कहा--"बहिन! देखो,मैं तुमसे डरती हूँ, तुम समस्त सरिताओं में सर्व श्रेष्ठ हो, तुम समुद्रगा सहित हो, तुमने पति के साथ संगम किया है, मैंने अभी अपने पति समुद्र के दर्शन तक नहीं किये। जहाँ मैं तुम से छाती से छाती सटाकर मिली, तहाँ मेरा अस्तित्व ही विलीन हो जायगा। मुझे फिर कौन पूछेगा। आगे तो तुम्हारा ही नाम होगा। इसलिये मैं तुम से डरती हूँ। मिलने में हिचकती हूँ,दूर से ही राम-राम करके मैं अपना मार्ग पकड़ती हूँ। तुम उधर जाओ मैं इधर से मुड़कर जाती हूँ।"

यह सुनकर यमुना उसी प्रकार हँस पड़ी जैसे बड़ी बहन छोटी बहिन की तोतली वाणी सुनकर हँस पड़ती है। यमुना बोली—"अरे, गंगे! तू इतनी बड़ी होगई, फिर भी तेरा भोलापन नहीं गया। भला यह कैसे हो सकता है, बहिन बहिन से मिले और दूर से ही नमस्कार करके चली जाय जब तक हृदय से हृदय नहीं सटता वह मिलन नहीं विडम्बना है। जब तक दो अंग एकीभूत नहीं होते, तब तक सरसता की धारा कैसे बह सकती है। पगली कहीं की। नाम की क्या बात है। बड़े तो हृदय से चाहा ही करते है छोटों का नाम हो। छोटे जब बड़े हो जाते हैं, तो बड़े लोग अवकाश ग्रहण करके अपने कार्य क्षेत्र से हट जाते हैं। तू सर्व समर्थ है, महान् शक्ति शालिनी है। आ मेरे हृदय से लगजा। तुझे मैं अपने में नहीं मिलाऊँगी, मैं ही तुझ मे मिल जाऊँगी। अब आगे मेरा नाम न होकर तेरा ही नाम रहेगा।"

से व्यथित होकर बुरी तरह तड़पने लगी, तो रानी को बड़ी दया आई। वे तुरन्त रथ पर से उतर पड़ी और शीघ्रतापूर्वक हाथ में जल की भारी लिये तुरन्त सूकरी के समीप पहुँच गई। बहुत सी सेविकायें भी महारानी के समीप गईं। महाराज को भय था, यह क्रुद्ध सूकरी कहीं रानी पर प्रहार न कर बैठे, किन्तु उन्होंने रानी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं किया। किसी की दयावृत्ति को दबाना-शुभ कर्म से हटाना-बड़ा पाप है, महाराज धनुष ताने बड़ी सावधानी से रानी और सूकरी के कार्यों का निरीक्षण करते रहे।

रानी ने सूकरी के समीप पहुँचकर शीतल जल से उसके शरीर पर शनः शनैः अभिसिंचन किया। उसके मुख को धोया, अंगों पर हाथ फेरा। सती साध्वी पतिव्रता के अङ्ग स्पर्श से सूकरी को चेत हुआ। आँख उठाकर उसने रानी की ओर देखा। तब तो वह अत्यन्त मधुर शुद्ध संस्कृत मानुषी भाषा में रानी से कहने लगी—"देवि! भगवान् आपका भला करें आप जुग जुग जीवें। आपका सुहाग सदा बना रहे। हे निष्पापे! तुमने मेरे ऊपर जल छिड़ककर मेरा स्पर्श करके बड़ा उपकार किया।"

सूकरी के मुख से शुद्ध संस्कृतमय मानुषी वाणी सुनकर रानी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने शीघ्रता के साथ अपने पति से कहा—"प्राणनाथ! प्राणनाथ! देखिये, यह कैसे आश्चर्य की बात है। यह सूकरी शुद्ध संस्कृत भाषा में बातें कर रही है।"

रानी को अत्यन्त कुतूहलयुक्त निरखकर महाराज इक्ष्वाकु उस सूकरी के निकट गये। जब राजा भी वहाँ आ गये तो रानी अत्यन्त स्नेह के साथ बोलीं—"बहिन! तुम कौन हो? तुमने

गङ्गा ने आग्रह पूर्वक कहा—"देखो बहिन! प्रथम मिलने में सङ्कोच होता है, कोई हाथ पकड कर उनके द्वार तक पहुँचादे। तुम दोनों बहिन मेरे साथ चलो।"

यमुना बोली—"तू तो है पगली! देख, भोजन, भजन और सङ्गम सदा एकान्त में होता है, दूसरे के रहने में निरसता होती है। चल तुझे वास तक हम दोनों पहुँचाये देती है, फिर हम अलग जाकर सङ्गम करेंगी,तू अलग जाकर सङ्गम करना। सौत-सौत साथ साथ जा कर पति से नहीं मिलती. तू अभी इन बातों को क्या जाने।"

सरस्वती यमुना की सिख सुनकर हँस पडी और बोली—"बहिन अभी यह गङ्गा बच्ची है सीखते सीखते सीखेगी। तो भरि भरि कुन्ना पीसेगी। अभी तो इसे चक्की चलाना भी नहीं आता।

तीनों ने कहा—"अच्छा चलो,किन्तु आगे तीनों धाराओं का नाम तेरे ही नाम गङ्गा रहेगा।"

गङ्गा की तो यह इच्छा ही थी। भगीरथ ने रथ हाँक दिया। गङ्गा वाराणसी की ओर बढ़ी। चम्पारुय आदि देशों को पवित्र करती हुई वे समुद्र के समीप पहुँची। यमुना ने दूर से ही उँगली के सकेत से बताया—"देख वही हम सब सरिताओ के पति समुद्र का निकेतन है। वही तेरा उनके साथ सङ्गम होगा। अच्छा राम राम हम अब दूसरे मार्ग से जायेंगी।"

गङ्गा का हृदय प्राणनाथ के दर्शनों से बाँसों उछल रहा था, वह ऊपर के मन से बोली—"मुझे अकेली छोड़कर तुम दोनो कहाँ जाती हो। मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूँगी।"

डाले उनके सम्मुख चली जाती, तो भी वे कुछ नहीं कहते मैं युवकों के साथ खुल कर बातें करती, हँसती खेलती, तो भी पिता जी उसकी उपेक्षा कर देते। वे मुझे भोली बच्ची ही समझकर प्यार करते थे। किन्तु मैं पूर्ण युवती हो चली थी। लाड प्यार से पलने के कारण यौवन मेरे अङ्ग-अङ्ग से फूटकर निकल रहा था। मेरे भोले पिता इधर ध्यान ही नहीं देते थे। एक दिन मैंने किवाड़ की आड में से सुना कि मेरी माँ मेरे पिता से अत्यन्त ही दुःख और चिन्ता के स्वर में कह रही हैं—"प्राणनाथ! देखिये सुदेवा कितनी बड़ी हो गई है। इतनी बड़ी कुमारी कन्या पिता के घर में रहे, यह बड़े कलंक की बात है, आप इधर ध्यान ही नहीं देते। सुदेवा स्वच्छन्द भी होता चली जा रही है। अब तक इसका कब का विवाह हो जाना चाहिए था किन्तु आपको इसके विवाह की कोई चिन्ता ही नहीं।"

मेरे पिता ने कहा—"देवि! तुम सत्य कहती हो सुदेवा अब अवश्य विवाह योग्य हो गई है, किन्तु मेरी वह इतनी प्यारी पुत्री है कि मैं उसे पल भर भी अपनी आँखों से ओझल नहीं करना चाहता। यदि मुझे कोई ऐसा वर मिल जाय जो घर जमाई बनकर मेरे ही यहाँ रहे, तो मैं उसके साथ सुदेवा का विवाह कर सकता हूँ।"

सूकरी, रानी सुदेवा से कह रही है—"देवि! ऐसा वर कोई मिला नहीं। मेरी अवस्था बहुत बड़ी हो गई। मेरी चढ़ती अवस्था थी। सौन्दर्य का मद मेरे रोम-रोम में व्याप्त हो गया था। जब मैंने बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था में पदार्पण किया तो मेरे हाव-भाव कटाक्ष तथा मंद मुस्कान में इतनी मोहकता बढ़ गई कि मैं अपने को सम्हाल न सकी। उसी समय एक बड़े सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण कुमार गुरुकुल से अध्ययन

सगर के साठ सहस्र पुत्र भूमि खोद कर जिस मार्ग से कपिलाश्रम में गये थे, उसी मार्ग से गङ्गाजी घुस गईं। वहाँ जाकर उन्होंने भस्म हुए साठ सहस्र सगर सुतों की राख को अपने पावन पय में डुबा दिया। गङ्गाजल का स्पर्श होते ही यम यात्रा भोगते हुए सगर सुत तुरन्त ही विमानों पर चढ़-चढ़ कर सीधे स्वर्ग को चले गये। देवताओं ने सुमनों की वृष्टि की गन्धर्व गाने लगे—अप्सरायें नृत्य करने लगीं। बोल दे, गङ्गा मैया की जय, बोल दे गङ्गाजी की जय। "श्री राधे, श्री राधे।"

गङ्गाजी की कथा सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने गङ्गाजी का अत्यधिक महात्म्य कह दिया। भस्म के स्पर्श से सहस्रों वर्षों से नरक में पड़े जीव तुरन्त तर जायँ, यह तो विचित्र बात है।"

सूतजी बोले—"अजी महाराज! इसमें विचित्र बात क्या है। १०० योजन से भी जो केवल गङ्गाजी का नाम लेता है—'गङ्गा' इन दो शब्दों का उच्चारण करता है, वह भी सभी पापों से विमुक्त हो जाता है, फिर जिनके शरीर के अस्थि को भस्म का गङ्गाजल से स्पर्श हो जायँ, तो उनका कहना ही क्या? एक दिन कोई राजा त्रिवेणी जी में स्नान करने आये। उनके साथ उनकी बहुत सी रानियाँ थीं। ज्यों ही उन्होंने गंगा में स्नान किया त्यों ही सहस्रों मृग विमानों पर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे रानियों ने पुरोहित से पूछा—"स्नान तो हमने किया है और ये मृग क्यों जा रहे है।"

पुरोहितने कहा—"आप लोगोने जो अपने कुचोंमें कुन्कुम मिश्रित कस्तूरी लगा रखी थी, उस कस्तूरी का गंगाजल से

वे इतने शांत, सरल तथा निर्मत्सर थे कि मैं चाहे जो करती वे कुछ न कहते। रोते-रोते सूकरी बोली—"रानी जी! मैं धन के घमंड में विवेकहीन हो गई। उसी समय एक ऐसी घटना हो गई, कि इससे मेरा रहा सहा शील-संकोच भी नष्ट हो गया। कुछ चरित्रहीना युवतियों से मेरा संसर्ग हो गया। उन्होंने भी मुझे अपने जैसा बना लिया। यह कामाग्नि ऐसी ज्वाला है कि इसमें जितना भी ईंधन डालते जाओ उतनी ही अधिक प्रज्वलित होती जाती है। अब मैं माता-पिता-पति किसी का भी शील-सङ्कोच न करती। पति की मैंने कभी सेवा नहीं की, उलटे उन्हें ही खरी-खोटी सुनाती रहती। मैं स्वच्छन्दता पूर्वक जहाँ-तहाँ घूमती थी। किसी का भी पुण्य-पाप जितना गुप्त रीति से किया गया हो, छिपता नहीं है, प्रकट हो ही जाता है। इसी नियमानुसार मेरा पाप भी सब पर विदित था। सब जानते थे। फिर मेरे पिता के शील, सदाचार तथा कुलीनता के संकोच-वश कोई कुछ सामने कहते नहीं थे।

जब मेरे वेदज्ञ सदाचारी पति ने मेरे ऐसे दुष्कर्म देखे, तब वे एक दिन रात्रि में ही उठकर हमारे यहाँ से चले गये। इस घटना से मेरे पिता को बड़ा दुःख हुआ। मेरे पिता को दुखी देखकर मेरी माता ने कहा—"प्राणनाथ! अब दुःख करने से क्या होता है, यह सब आपका ही अपराध है, आपने लड़की को इतना सिर चढ़ा लिया था कि वह स्वच्छन्द हो गई। उसने अपने कुल में कलंक लगा दिया। हमारी सम्पूर्ण कीर्ति का नाश कर दिया। हम किसी को मुख दिखाने योग्य नहीं रहे। अब यह भ्रूण हत्यायें करती है। जहाँ तहाँ स्वच्छन्द होकर विचरती है। घर की वस्तुओं को चुरा ले जाती है आपने इसे कभी डाँटा-डपटा नहीं। इसके पति शिवशर्मा जब घर में रहते थे, तब भी आपने इसे

सगर पुत्रों ने जो जम्बूद्वीप के चारों ओर की पृथिवी खोद डाली थी, उसे गंगाजी ने भर दिया और समुद्र से मिला दिया। इसी लिये समुद्र को सागर कहने की प्रथा चल पड़ी। गङ्गाजीके लाने का महान् यश दिलीप पुत्र महाराज भगीरथ को प्राप्त हुआ। इसी लिये गङ्गाजी भागीरथी कहाईं। गङ्गावतरण की कथा के अनन्तर अब आप लोग और क्या कहने के लिये मुझे आज्ञा देते हैं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! आपने इक्ष्वाकुवंश का वर्णन करते २ स्वायम्भुव मनुसे लेकर महाराज भगीरथ तक के राजाओं की कथा सुनाई। अब आगे के राजाओं की कथा और सुनाइये। इक्ष्वाकुवंश में भगीरथ के अनन्तर जो प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नरपति हो गये हैं, उनमें से विशिष्ट विशिष्ट राजाओं के शिक्षाप्रद मनोहर चरित्रों को सुनने की हमारी बडी इच्छा है। क्योंकि इसी वंश में नराकृति भगवान् कौशलेन्द्र श्री राम ने अवतार धारण किया है। महाराज भगीरथ के पुत्र कौन हुए और आगे का वश कहाँ तक चला। क्योंकि पुण्य श्लोक भूपतियों के चरित्रश्रवण मात्र से ही परम पुण्य की प्राप्ति होती है।"

यह सुन कर सूतजी बोले—"मुनियों ! मैं इक्ष्वाकु वंश के महाराज भगीरथ से आगे के राजाओं का वर्णन करता हूँ, आप उसे सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

गंगा गंगा कहें नित्य गंगाजल पीवैं।
सदा बसैं तट निकट गंग जलतें ई जीवैं॥
गंगा रज तन लाइ नहावैं गंगा जलमहँ।
बसैं गंग पय परसि अनिल बिहरैं जिहि थलमहँ॥
श्रीगंगा के नाम तें कोटि जन्म पातक नसहिँ।
भोगे भूप भोग बहु, अन्त जाहि सुरपुर बसहिँ॥

हत्यारी, कोई पापिनि और कोई पुत्र घातिनी बताता इस प्रकार जिस किसी प्रकार भीख माँगती हुई घूमती-फिरती मैं गुर्जर प्रदेश में पहुँच गई। जहाँ भगवान् सोमेश्वर का सुन्दर सुवर्णमय मंदिर था। उस प्रभासक्षेत्र में भूख की ज्वाला से संतप्त होकर मैं इधर-उधर भीख माँगती फिरती थी कि उसी समय मैंने एक वेदज्ञ ब्राह्मण का घर देखा। उनकी एक परम सुन्दरी पतिप्राणा पतिव्रता पत्नी थी, जो उनकी प्रत्येक आज्ञा का बड़ी नम्रता के साथ पालन करती थी। मैंने वहाँ जाकर बड़ी दीनता से भिक्षा माँगी मेरी वाणी को सुनकर उन ब्राह्मण ने मुझे देखा और अपनी पत्नी को बुलाकर कहा—"देखो, यह जो दुबली-पतली स्त्री खड़ी है, इसे बड़े सत्कार से बुलाकर भोजन कराओ और इसके रहने का प्रबन्ध करो।"

उस स्त्री ने पूछा—"प्राणनाथ! यह कौन है, इसका मुझे परिचय दीजिये।"

वे ब्राह्मण बोले—"देवि! यह मेरी पूर्व पत्नी है। इसका नाम सुदेवा है, इसके पिता कलिङ्ग देश के बड़े प्रसिद्ध धर्मात्मा ब्राह्मण हैं। उनका नाम वसुदत्त है। भाग्यवश यह भीख माँगती है।"

मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। हाय! ये तो मेरे वे ही पतिदेव हैं, जिसका मैंने कभी सत्कार नहीं किया था। सदा इनका अपमान ही करती रही। फिर भी ये मुझसे घृणा नहीं करते मुझे पत्नी की भाँति पुनः अपने घर में रखने को तत्पर हैं।

उस सती साध्वी पतिव्रता ने कहा—"प्राणनाथ! यह तो मेरे लिये अत्यंत ही प्रसन्नता की बात है। तो मेरी बड़ी बहिन हैं। मैं इनकी सदा सेवा करूँगी और हम दोनों मिलकर आपकी

स्वजन विजन बन जाते है, ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, प्रतिष्ठा धूलि में मिल जाती है, सब धन देने से घट जाता है, किन्तु विद्या धन ऐसा धन है, जो देने से बढ़ता है। विद्या प्राप्त करने के तीन ही उपाय बताये हैं। प्रथम तो विद्या गुरु सुश्रूषा से प्राप्त होती है,गुरु की सेवा करके जो विद्या मिलती है वह फलवती और सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। दूसरा विद्या प्राप्त करने का उपाय यह है कि गुरु को यथेष्ट विपुल धन दे दे। इतना पर्याप्त धन दे कि जिससे उनकी समस्त आवश्यकतायें पूर्ण हो जायँ, यह शारीरिक सेवा न होकर धन द्वारा सेवा है। एक तीसरा विद्या प्राप्ति करने का यह भी उपाय है, कि तुम हमें एक विद्या दो उसके परिवर्तन मे हम तुम्हें दूसरी विद्या सिखावें। इस प्रकार आदान प्रदान से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है। इन तीनों के अतिरिक्त विद्या प्राप्त करने का कोई साधन नही। छल से प्राप्त की हुई विद्या सफल नही होती।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! आपने मुझसे महाराज भगीरथ के आगे के इक्ष्वाकुवंशों के राजाओं का वृत्तांत पूछा। दिलीप के पुत्र महाराज भगीरथ ने गङ्गाजी के लाने के कारण विश्व में बड़ी ख्याति प्राप्त की उन्हीं के नाम से गङ्गाजी अभी तक भगीरथी कहलाती है। उन्हीं पुण्यश्लोक राजर्षि भगीरथ के पुत्र श्रुत हुए, जो पिता के ही समान पराक्रमी थे। श्रुत के पुत्र नाभ हुए। नाभ के पुत्र सिन्धुद्वीप हुए। इन सिन्धुद्वीप के सुत अयुतायु हुए जो दीर्घ जीवी और धर्मात्मा थे। इन्हीं अयुतायु के पुत्र परम तेजस्वी विश्व विख्यात् महाराज ऋतुपर्ण हुए ये द्यूत विद्या में इतने निपुण थे कि इनसे कोई द्यूत में

कितने सदाचारी युवकों का जीवन नष्ट किया कितनों के साथ विश्वास घात किया। कितनी कन्याओं को मैंने दूषित कराया। हाय! मुझसे कोई भी पाप और दुराचार ता नहीं छूटा था। मैंने विश्वास कराकर युवकों को हत्यायें कराईं। धन के लोभ से धनिकों को विष पिलाया। इन्हीं सब पापों के कारण मुझे नाना नरकों में जा जाकर असह्य वेदनायें सहन करनी पड़ीं। अनेकों वर्षों तक नरकयातना सहने के अनन्तर मुझे यह लोक विनिन्दित सूकरी योनि प्राप्त हुई। मेरा यही एक पुण्य था कि पतिव्रता स्त्री ने मुझे अपने हाथ से स्नान कराया था, उसने मेरी चोटी गूंथी थी और अपने हाथ से मेरे मुख में ग्रास दिया था। मरते समय मैं अपने पति का प्रेम पूर्वक मुख देखती हुई मरी थी। इसी पुण्य के प्रभाव से मुझे इस सूकरी योनि में ऐसे धर्मात्मा शूरवीर पति प्राप्त हुए जो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे।

यह सुन कर सूकरी बोली—"देवी! तुम्हारे स्पर्श के प्रभाव से सभी कुछ जानती हूँ मुझे भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान है। ये मेरे पति पूर्व काल में रङ्गविद्याधर नामक बड़े ही संगीत कुशल थे। एक बार ये सुमेरु पर्वत की सुन्दर कन्दराओं के समीप बड़े ही ताल स्वर के सहित गा रहे थे। वहाँ महमुनि पुलस्य जी तपस्या कर रहे थे। उन्होंने आकर इनसे कहा—"हे गन्धर्व श्रेष्ठ! तुम कहीं अन्यत्र जाकर गीत गाओ। तुम्हारे सुन्दर सुरेले चित्ताकर्षक संगीत को सुनकर मेरी समाधि भङ्ग हो जाती है। शास्त्रकारों ने कहा है कि मुनियों को ऐसे स्थान से दूर रहकर तपस्या करनी चाहिये जहाँ संगीत हो, एकाकी सुन्दर रमणी हो तथा चित्ताकर्षक शृंगार के और सामान हों।"

बात यह थी कि विदर्भराज भीम के कोई सन्तान नही थी, इसलिये वे रानी के सहित बड़े दुखी रहते थे। एक दिन दमन नामक महर्षि ने आकर राजा का आतिथ्य ग्रहण किया। राजा ने अत्यन्त ही श्रद्धा भक्ति सहित मुनि की सेवा की। राजन की सेवा से सन्तुष्ट हुए मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप का कौन सा प्रिय कार्य करूँ। किस कार्य से आपकी चिन्ता दूर हो सकती है ?"

राजा ने कहा--"ब्रह्मन् ! आप सर्वज्ञ है,सबके बाहर भीतर की बात जानते है, फिर भी आप मुझसे पूछते ही है, तो मै कहता हूँ। मेरे यहाँ कोई सन्तान नहीं है। आप कृपा करके मुझे कोई सन्तान दें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुनि बोले–"राजन् ! तुम्हारे एक ऐसी त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या होगी, जिसकी बराबरी मृत्यु लोक में तो क्या तीनों लोक की कोई ललना नही कर सकती। उसके अतिरिक्त तुम्हारे तीन पुत्र भी होगे।"

एक साथ चार सन्तानों का वरदान पाकर राजा परम प्रमुदित हुए और बोले—"ब्रह्मन् ! मै आपके अनुग्रह का अत्यन्त ही आभारी हूँ। इस प्रकार राजा के द्वारा सत्कृत होकर दमन मुनि चले गये। कालान्तर में राजा से सर्व लक्षण लक्षणा, संसार में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी एक कन्या उत्पन्न हुई। राजा ने दमन मुनि की स्मृति में उस कन्या का नाम दमयन्ती रखा। इसके अनंतर उनके तीन पुत्र भी हुए जिनके नाम दमदान्त और दमन, रखे।

दमयन्ती कुसुम की कलिका के समान शुक्ल पक्ष के चंद्र की

व्रत पुण्य का मेरे निमित्त दान कर दें तो मेरा समस्त पापों से उद्धार हो जाय। क्या आप मेरे ऊपर इतनी कृपा करेंगी।"

सूकरी के मुख से ऐसी बात सुनकर रानी ने अपने पति महाराज इक्ष्वाकु से सम्मति लेकर उस सूकरी के निमित्त एक वर्ष के पातिव्रत पुण्य का संकल्प किया। रानी ने ज्यों ही संकल्प का जल सूकरी के ऊपर छोड़ा त्यों ही वह दिव्य रूप रखकर दिव्य विमान पर चढ़कर रानी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हुई, अपने पति के समीप वैकुण्ठ धाम को चली गई। रानी को उसका भाँति-भाँति के रत्न-आभूषण से युक्त दिव्य रूप देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा के साथ वे लौटकर अपने पुर में आईं।

कालान्तर में महाराज के वीर्य से महारानी ने १०० पुत्रों को उत्पन्न किया। वे सबके सब धर्मात्मा शूरवीर तेजस्वी और माता-पिता के भक्त थे। उन सबमें विकुक्षि बड़े थे। वे राज्य के अधिकारी थे। शशक के खा लेने से उनका नाम शशाद भी पड़ गया था। पिता के पश्चात् शशाद ही इस सप्तद्वीपा वसुन्धरा के राजा हुए।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र का नाम शशाद क्यों पड़ा, उन्होंने शशक को क्यों खाया? यदि उचित समझें तो इस कथा को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—'मुनियो! जिस प्रकार महाराज विकुक्षि का नाम शशाद पड़ा, उस कथा को मैं आपको सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

को छोड़ते हुए कहा—"हे मराल! यदि तुम मेरा यह प्रिय कार्य करदो, तो मैं तुम्हारी चोंच सुवर्ण से मढ़वा दूँगा, नित्य ही तुम्हें घर बैठे दूध भात पहुँचा दिया करूँगा। तुम मुझे दमयन्ती से मिला दो।" राजा की ऐसी अधीरता देखकर हंस उड़ा और दमयन्ती की पुष्प वाटिका में जा बैठा।

जब सखी सहेलियों से घिरी दमयन्ती वायुसेवनार्थ पुष्प वाटिका में आई, तो वहाँ उसने एक विचित्र अलौकिक हंस को देखा। राजकुमारी ने स्वयं दौड़ कर पकड़ लिया। उसने देखा हंस के कण्ठ में एक पत्र बँधा है। कुमारी ने कुतूहलवश पत्र खोल दिया। जब उसने पत्र पढा तो उसमें नल का नाम था पत्र पढ़ते ही राजकुमारी मूर्छित हो गई। तब हंस ने मानवीय भाषा में कहा—"देवि! तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हें महाराज नल से मिलाऊँगा। जैसा अनुराग तुम्हारा उनके प्रति है, उससे भी अधिक अनुराग उनका तुम्हारे प्रति है।"

लजाते हुए दमयन्ती ने कहा—"तुम मेरा सन्देश उनसे जाकर कहो। मैं उनके बिना अन्य किसी पुरुष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती।"

हंस ने राजा से आकर सब समाचार कह दिया। अब राजा रात्रि दिन दमयन्ती के ही विषय में सोचते रहते थे।" कस्तूरी और प्रीति छिपाने से नहीं छिपती, सखियों द्वारा रानी को और रानी द्वारा राजा को यह समाचार मिला। महाराज भीम ने तुरन्त ही दमयन्ती के स्वयंवर की तैयारियां की देश-देश के राजा दमयन्तीके रूपकी ख्याति सुनकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा से विदर्भ देश में आने लगे। राजा ने सभी का समुचित स्वागत सत्कार किया। महाराज नल भी दमयन्ती के प्रेम से चुम्बक

इक्ष्वाकु पुत्र शशाद चरित्र

[६२३]

पितर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम् ।
शासदीजे हरिं यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

पृथिवीपति इक्ष्वाकु तनय शत शूर भये अति ।
सब तैं बड़े शशाद विकुक्षी भये भूमिपति ॥
पिता श्राद्धहित मेध्य जन्तु पठये लेवैकुँ ।
लाये बहु मृग मारि पिंड पितरनि देवैकुँ ॥
मग महँ खायो शशक इक, मुनि नृप क्रोधित ह्वै गये ।
देशनिकास्यो दयो पितु, ते शशाद नरपति भये ॥

प्राचीन काल का ऐसा सदाचार है कि किसी को उच्छिष्ट वस्तु देना बहुत बड़ा पाप है । साथ-साथ खाने से तत्काल दूसरों के गुण दोष अपने में आ जाते हैं । बहुत सी छूत की बिमारियाँ होती हैं, जो संसर्ग दोष से ही फैल जाती हैं, साथ बैठकर

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पिता इक्ष्वाकु के देहावसान हो जाने पर विकुक्षि पुनः अपने देश को लौट आये । और इस पृथ्वी का शासन करने लगे । अनेक यज्ञों द्वारा श्रीहरि का उन्होंने भजन किया और शशाद इस नाम से विख्यात हुए ।"

दमयन्ती ने कहा–'देवि ! मैं निर्लज्ज होकर यह कहती हूँ, कि मेरे हृदय पर तो निषाद नरेश ने अपना अधिकार जमा लिया है। हे वीर ! मैं तुम्हें छोड़ विष्णु को भी वरण नहीं कर सकती। हृदय तो एक होता है, वह तो महाराज नल के हाथो बिक गया। अब मेरे पास लोकपालों के लिए कुछ नहीं है। आप मेरा सन्देश लोकपालों से कह दें, वे भी स्वयम्वर में आवें सबके सम्मुख मैं आपको वरण करूँगी।"

अपने ऊपर दमयन्ती का ऐसा अनुपम अनुराग निहारकर राजा के रोम-रोम खिल उठे उन्होंने लोकपालों से सब वृत्तान्त जाकर कह दिया। लोकपाल भी स्वयवर सभा में पहुँचे। महाराज नल भी पहुँचे। विदर्भराज ने सबका स्वागत सत्कार किया। नियत तिथि को सभी देशों के राजा और राजकुमार सजधजकर स्वयम्वर सभा में बैठे। उसी समय नूपुरों को बजाती सबके मन को लुभाती, हृदय को हुलसाती, राजकुमारी दमयन्ती सीधी सभा में आई और आते ही महाराज नल के कंठ में जयमाला पहिनाकर नीचा सिर करके खड़ी हो गई।

सभी के मुख फक पड गये। दमयन्ती को पाकर नल परम प्रसन्न हुये। देवताओं ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया। इन्द्र ने कहा—"तुम अपने यज्ञों में देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन करोगे और उत्तम गति को प्राप्त करोगे।"

अग्नि ने कहा—"तुम जहां चाहोगे, वही मै तुरन्त प्रकट हो जाऊँगा और अन्त समय में तुम्हे मेरे समान प्रकाशवान् तेजस्वी लोकों की प्राप्ति होगी।"

धर्मराज ने कहा—"तुम्हारे हाथ के बनाये सभी भोज्य

पूर्व ही उसमें से पृथक् निकालकर किसी को दे दिया, तो वह सब उच्छिष्ट हो गया। उसे देवता ग्रहण न करेंगे। इसीलिये आर्य संस्कृति में देह दोष, भावदोष तथा दृष्टिदोष की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! आपने विकुक्षि के शशाद नाम पड़ने का कारण पूछा था, उसे मैं उसी प्रकार आपको सुनाऊँगा, जिस प्रकार मेरे गुरुदेव ने गंगा तट पर महाराज परीक्षित को सुनाया था।"

श्रीशुक बोले—"राजन्! इक्ष्वाकु के सबसे बड़े पुत्र विकुक्षि हुए उनसे छोटे निमि हुए जिनके वंशज मिथिला के राजा बने। उनके छोटे दण्डक हुए जो शुक्राचार्य के शाप से भस्म हो गये। इन सबके चरित्र मैं पीछे सुनाऊँगा। ये तीनों इक्ष्वाकु पुत्र आर्यावर्त की परम पावन भूमि के राजा हुए। शेष जो ९७ बचे उनमें से २५ तो पूर्व के देशों के राजा हुए। २५ पश्चिमीय भाग के और ४७ दक्षिणादि अन्य देशों के अधिपति हुए। अब आप सर्व प्रथम ज्येष्ठ विकुक्षि के शशाद नाम होने का कारण सुनिए।

एक बार महाराज इक्ष्वाकु ने अष्टका श्राद्ध के समय अपने बड़े पुत्र विकुक्षि को बुलाकर कहा—"बेटा! देखो आज मुझे अष्टका श्राद्ध करना है तुम वन में जाओ और श्राद्धयोग्य मेध्य-पवित्र मृगों को मारकर श्राद्ध के निमित्त ले आओ। उनसे मैं श्राद्ध करूँगा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! धर्मात्मा राजा इक्ष्वाकु ने श्राद्ध में मांस का प्रयोग क्यों करना चाहा? पितर गण तो जैसे मुनि अन्न से-फलाहार से-तृप्त होते हैं वैसे किसी वस्तु से तृप्त नहीं होते। फिर राजा ने फलाहारी वस्तुओं से पितरों का अष्टका श्राद्ध क्यों नहीं किया।"

इस पर कलि को क्रोध आ गया। उसने कहा—"अच्छी बात है दमयन्ती को और उसके पति नल को देख लूँगा।" यह कहकर वह सूक्ष्म रूप से राजा के शरीर में घुसने का अवसर देखने लगा। एक दिन महाराज नल शीघ्रता में लघुशंका गये, लघुशंका जाकर उन्होंने आचमन तो किया, किन्तु पैर नहीं धोये। कलियुग तो सदा अशुद्धि में बसता है, उसे ही सुअवसर पाकर कलियुग राजा के शरीर में प्रवेश कर गया। जब कलियुग शरीर मे घुस जाता है, तो प्राणी अधर्म को ही धर्म समझने लगता है। उसे सदाचार ढोंग प्रतीत होता है, सत् असत् का विवेक नष्ट हो जाता है, वह परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाता है। कलियुग के प्रवेश करते ही राजा के शरीर में हठ ने प्रवेश किया। राजा का छोटा भाई पुष्कर आया और उसने इनसे जुआ खेलने का आग्रह किया। राजा ने तुरन्त इसे स्वीकार कर लिया। जब यह बात प्रजा के लोगों को मालूम हुई, तब वे सब मिलकर राजा के पास गये और उनसे प्रार्थना की—"महाराज! जुए का व्यसन अच्छा नहीं होता, इसके कारण बहुत से लोग निर्धन और गृह विहीन हो गये है, आप सबके स्वामी हैं, आपको इस निन्दित कर्म को कभी भी न करना चाहिए।" राजा ने प्रजा के लोगों की बातें अनसुनी कर दीं और वे पुष्कर के साथ जुआ खेलने लगे। कलियुग के भाई द्वापर ने जुए के पासों मे प्रवे। करके पुष्कर का पक्ष लिया। अब जो भी दाव पड़ता उसमें पुष्कर की जीत होती, नल की हार होती। महारानी दमयन्ती ने जब सुना कि मेरे पति जुए में व्यस्त है, तो उसने मन्त्री, पुरोहित, पुरजन तथा सभी सम्बन्धियों को बुलवा बुलवा कर सब राजा को भाँति-भाँति से जुए के अवगुण कहलाये, स्वयं भी उसने धात्री के द्वारा राजा को अन्तःपुर में बुलवाया किन्तु राजा ज्यों-ज्यों हारते त्यों-त्यों वे और भी जुए में लिप्त

इस पर गुरु वशिष्ठ ने कहा—'राजन् ! यह वस्तु श्राद्ध के अयोग्य है, उच्छिष्ट है।"

इक्ष्वाकु ने कहा—"महाराज ! इसे तो अभी विकुक्षि वन से लेकर चला आ रहा है। आप इसे उच्छिष्ट क्यों बता रहे हैं ?"

इस पर वशिष्ठ जी बोले—"महाराज ! मैं सत्य कह रहा हूँ, यदि आप को मेरी बात पर विश्वास नहीं तो इस विकुक्षि से ही पूछिये।"

राजा ने पूछा—'कुमार ! तुम सत्य-सत्य कहो क्या बात है ?"

तब विकुक्षि ने कहा—'पिताजी ! मैं घोड़े पर दौड़ते-दौड़ते अत्यन्त श्रान्त हो गया था। लौटते समय मुझे अत्यन्त भूख लगी, मैं इस नियम को तो भूल गया, कि श्राद्ध के निमित्त मारे हुए पशुओं में से श्राद्ध के पूर्व न खाना चाहिये। भूख के कारण एक शशक को मैंने भक्षण कर लिया।"

श्रीशुक कह रहे है—"राजन् ! एक तो बड़ी देर तक प्रतीक्षा करते-करते राजा झुंझला गये थे, दूसरे श्राद्ध को देर हो गई थी, तीसरे उन्हें भी अत्यन्त भूख लग रही थी। गुरु भी पुत्र के इस व्यवहार से दुखी थे। अतः राजा को विकुक्षि पर क्रोध आ गया। उन्होंने क्रोध में भर कर कहा—"अरे, मूर्ख ! तैने यह धर्म विरुद्ध शास्त्र विरुद्ध कार्य किया है, अतः तू मेरे राज्य में रहने योग्य नहीं शीघ्र ही तू मेरे राज्य को छोड़कर वन में चला जा।

एक तो महाराज पिता थे, दूसरे राजा थे, अतः उनकी आज्ञा का पालन करना विकुक्षि ने अपना परम धर्म समझा। वे बिना पिता को कुछ उत्तर दिये राजधानी को छोड़कर वन में चले गये।

भ्रष्ट राजा पर इतना अनुराग करती है। वह मुझ में अनुराग कैसे करेगी। अतः उसने घोषणा कर दी, कि जो भी पुरुष मेरे राज्य में नल के प्रति सहानुभूति दिखावेगा, उनका स्वागत सत्कार करेगा, उन्हें अपने घरों में ठहरावेगा, उसे कड़े से कड़ा दंड दिया जायगा।"

इस राजाज्ञा के उद्घोषित होते ही सभी डर गये। भयवश कोई भी महाराज नल के निकट नही आये। राज कर्मचारियो ने अस्त्र-शस्त्रों से जाती हुई भीड़ को तितिर-बितिर कर दिया। महाराज रानी को साथ लिये अकेले ही नगर से बाहर निकले।

राजा को पैदल चलने का अभ्यास नहीं था। रानी भी अत्यन्त सुकुमारी थी दोनों ही नंगे पैरो जा रहे थे। प्रातःकाल ही वे नगर से बाहर हुए थे। चलते चलते उनके पैरों मे छाले पड़ गये। रानी के अरुण कमल के दलो के समान सुकुमार पैरों से रक्त बहने लगा। उनका मुख कमल राज भवन रूपी पुष्करिणी से बाहर आने से मुरझा गया था। प्यास के कारण उनके ओठ सूख गये थे। ओठों पर पपड़ी जम गई थी। धूल से उनके काली काली अलकावली तथा पलकें धूमिल हो गई थी। वे बड़े कष्ट से पग पग पर स्खलित सी होती हुई चल रही थीं। जब उनसे न चला गया तब अपने पति के कधे से कपोल सटाती हुई भर्राई वाणी से बोलीं—"प्राणनाथ! अब तो एक पग भी चलने की सामर्थ्य नहीं।

जिस रानी को स्वेच्छा से सूर्य भी नही देख सकते थे, जिन्होने जीवन में कभी भी खुली भूमि पर पग नही रखे थे। जिन्हें पैदल चलने का कभी अवसर ही प्राप्त नही हुआ था, उन्ही सुख में पली रानी की ऐसी दुर्दशा देखकर महाराज नल

छप्पय

पालन सुत सम कर्‍यो प्रजा को रञ्जन कीन्हों।
यज्ञ याग बहु करे दान बहु विप्रनि दीन्हों॥
भये पुरञ्जय पुत्र बने जिन बाहन सुरपति।
भये ककुत्स्थ प्रसिद्ध इन्द्रबाहहु ते नरपति॥
दैत्यनि के संग सुरनि को, रण अतिहि भीषण भयो।
वीर पुरञ्जय के निकट, आइ देव निज दुख कह्यो॥

भोग्या बताई गई है, स्वर्ग के देवता भी वसुन्धरा के वीरों की अपेक्षा रखते हैं, समय-समय पर इनसे सहायता प्राप्त करते है। बहुत से पृथ्वी के ऐसे शूर, वीर राजा हुए हैं जिन्होंने देवताओं के शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिये और देवताओं के हाथ के गये हुए स्वर्ग को पुनः दिला दिया है। ऐसे बहुत से राजर्षियों में से पुरञ्जय ककुत्स्थ भी एक हैं। ककुत्स्थ की कीर्ति अब तक त्रिभुवन में विख्यात है। इन्हीं के वंश में भगवान् कोशलेन्द्र श्रीराघव हुए हैं, जो ककुत्स्थ के वंशज होने से काकुत्स्थ भी कहलाते थे।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! अब मै आप को वह प्रसग सुनाता हूँ, जिस कारण महाराज शशाद के सुत धर्मात्मा पुरञ्जय 'इन्द्रवाह' और 'ककुत्स्थ' कहलाये।

एक बार जब सत्ययुग का अन्त हो रहा था और त्रेतायुग का आरम्भ होने वाला था, ऐसे सन्धिकाल में देवता और असुरों में बड़ा भारी घनघोर युद्ध हुआ। दोनो ही अपने प्राणों का मोह छोड़कर लड़े। अन्त में असुरों की विजय हुई। देवता पराजित होकर रण छोड़कर भाग गये।

यह सुनकर शौनकजी बोले—'सूतजी! ये देवता सदा पराजित क्यों हो जाते है?

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! जय-पराजय ये तो सब मन के मानने मे है। देवता असुर सभी उन सर्वात्मा प्रभु की इच्छा से ही उत्पन्न हुए हैं। दोनों ही कश्यप मुनि की सन्तान हैं। असुरों में शारीरिक बल अधिक होता है और सुरों में श्रद्धा का बल अधिक। जब सुरों को अपने ऐश्वर्य का अभिमान हो जता है और अपने को ही सब कुछ समझने लगते हैं, भगवान्

राजा ने कहा—"प्रिये! जो भाग्य में वदा होगा वही होगा तुम चिन्ता न करो। यह कहकर राजा आगे चले। चलते चलते उन्हें एक पथिक निवास मिला। उसमें वे धूलि में ही पड़ गये रानी उनकी गोद में सिर रखकर सो गई, कि कही ये मुझे छोड़ न जायँ। रानी बहुत थक गई थी वे तो पड़ते ही सो गईं। किन्तु नल के नयनों में नीद कहाँ? वे तो रानी को दुखी देख कर परम व्याकुल हो रहे थे। शनैः शनैः उठकर उन्होंने सोती हुई रानी के मुख को निहारा। मुरझाई हुई कुसुम कलिका के समान, ग्रहण लगे चन्द्र के समान, कुहरे से ढके सूर्य के समान, विषादग्रस्त प्रोषित भर्तृका के समान, उसका सुन्दर मुख म्लान हो रहा था। उसके काले काले घुंघराले बाल केशपाश चिपटकर सिमटकर बावाजियों की जटाओ के समान बन गये थे। रानी की ऐसी दशा देखकर राजा रोने लगे। शनैः शनैः उन्होंने उस के सिर को उठाकर भूमि पर रखा। रानी थकने के कारण इतनी अचेत हो गई थी, कि उन्हें कुछ मालूम ही न हुआ।

दमयन्ती को भूमि पर लिटाकर महाराज उस निर्जन वन की पथिकशाला में इधर-उधर घूमने लगे। कभी तो मन में आता इसे छोड़कर चला जाऊँ, कभी फिर सोचते यह इस निर्जन वन में अकेली कहाँ भटकती फिरेगी। राजा बड़ी देर तक चिन्ता ग्रस्त बने रहे, वे कुछ निर्णय न कर सके। अन्त में वे रानी को छोड़कर चल दिये। एक बार उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के मुख कमल को समीप जाकर निहारा उनका हृदय फटने लगा। चित्त ऐठने लगा। अन्तःकरण धक् धक् करने लगा। वे अपनी ऐसी दशा देख तुरन्त वहाँ से चल दिये। कुछ दूर जाकर उन्हें फिर रानी की याद आई। वे लौट आये। रानी अचेत पड़ी थी। कभी तो वे सोचते—"अच्छा है मेरे बिना यह अपने पिता के

से असुरों से युद्ध करे, तो दैत्य अवश्य ही पराजित हो सकते हैं। तुम उनसे ही जाकर प्रार्थना करो।"

इन्द्र अब क्या करते देवताओं के राजा होकर वे एक पृथ्वी के राजा से प्रार्थना करने में अपना अपमान समझते थे, किन्तु करते क्या विजय का कोई दूसरा उपाय ही नहीं था। भगवान् की आज्ञा मानकर वे देवताओं के साथ महाराज पुरञ्जय के समीप गये। राजा ने देवताओं सहित देवेन्द्र का स्वागत सत्कार किया और आने का कारण पूछा। तब इन्द्र ने कहा—"राजन्! हमें असुरों ने पराजित कर दिया है। आप हमारी सहायता के लिये चलिये और हमारे शत्रु असुरों से युद्ध कीजिये।"

राजा ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"देवेन्द्र! मैं युद्ध करने के लिये तत्पर हूँ किन्तु आपको मेरा वाहन बनना पड़ेगा। यदि आपको मेरा वाहन बनना स्वीकार हो, तो मैं आपके साथ युद्ध करने चल सकता हूँ।"

यह सुनकर इन्द्र बड़े लज्जित हुए। इसमें उन्होंने अपना घोर अपमान समझा। मैं देवताओं का राजा होकर एक मनुष्य का वाहन कैसे बन सकता हूँ। उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया। वे लौटकर भगवान् के समीप गये और बोले—"अजी महाराज! राजा को हमारी सहायता करनी नहीं है। वह व्यर्थ ही अड़ंगा लगाता है, कहता है—"मेरे वाहन बनो तो मैं युद्ध करने चलूँ।" आप ही सोचें मैं देवताओं का इन्द्र होकर मनुष्य का वाहन कैसे बन सकता हूँ।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"अरे भैया! स्वार्थ सिद्धि के लिये गदहे को बाप बनाना पड़ता है। तुम्हारा इसी में कल्याण है कि राजा जो भी कहे उसे बिना ननु-नच किये स्वीकार-

आते। ऐसे वे कई वार गये आये। अन्त मे कड़ा हृदय करके वे दमयन्ती का परित्याग करके चले गये।

प्रातःकाल हुआ। दमयन्ती ने उठते ही शङ्कित भावसे इधर उधर दृष्टि डाली, किन्तु उसे अपने पति दिखाई न दिये। अब तो वह सब रहस्य समझ गई। कुररी पक्षी की भाँति वह रो रो कर बड़े आर्त स्वरमें अपने पति को पुकारने लगी—"हा!प्राण नाथ! मुझ दुखियाको आप इस घोर वनमे छोड़कर एकाकी कहाँ चले गये।" इस प्रकार दमयन्ती रोती जाती थी, विलाप करती थी और भागती जाती थी। पता नही आज उसमे इतनी शक्ति कहाँ से आ गई। आगे चलकर उसे एक भयङ्कर अजगर मिला उसने दमयन्ती को पकड़ लिया और उसे निगलने का उपक्रम करने लगा। इससे वह बहुत डरी और अपने पति को पुकारने लगी दैवयोग से उसी समय एक बहेलिया वहाँ आ गया। दमयन्ती का करुण क्रन्दन सुनकर वह उसी ओर दौड़ा उसने एक शस्त्र से अजगर का मुख फाड़ दिया। दमयन्ती सकुशल अजगर के मुख से मुक्त हो गई।

बहेलिये ने कहा—"देवि!तुम समीप के ही स्वच्छ सलिल वाले सरोवर में स्नान करके स्वस्थ हो जाओ, ये कन्द मूल फल है इन्हें खा लो। अब चिन्ता की कोई बात नहीं।

रोते-रोते रानी के आँसू सूख गयेथे, भागते-भागते पैरों में पीड़ा हो रही थी,भूख के कारण उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई थीं। अतः उन्होंने समीप के सरोवर में स्नान किया स्नान करने से चित्त स्वस्थ हुआ। कुछ फलमूल भी खाये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुन्दरता कहीं कही अभिशाप

राजा ने कहा —"अच्छी बात है बनिये मेरा वाहन।"

इन्द्र ने सोचा—"और किसी अन्य पशु का रूप बनाना तो उचित नहीं। वृषभ का रूप बना लें यह देवस्वरूप है धर्म वृषभ रूप में ही रहते हैं। यही सब सोचकर इन्द्र एक बड़े भारी डीलडौल के साँड बन गये। राजा उनके डील टाट (ककुद्) पर स्थित हो गये। इसीलिये उनका नाम ककुत्स्थ हो गया। इन्द्र उनके वाहन बने थे इसलिये इन्द्रवाह भी कहलाये।

इन्द्र को अपना वाहन बनाकर महाराज ककुत्स्थ असुरों से युद्ध करने गये। असुर भी मदोन्मत्त होकर महाराज से लड़ने के लिये आये। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ बहुत से दैत्य गण उनकी प्रलयकालीन अग्नि के समान प्रचण्ड बाणवर्षा के सम्मुख हताहत होकर युद्धस्थल छोड़कर भाग गये। असुरों के पराजित होते ही सुरसेना में सर्वत्र प्रसन्नता छा गयी। सभी महाराज को साधुवाद देने लगे। राजा ने असुरों के पुर को जीत कर उनकी धन सम्पत्ति सहित देवताओं को दे दिया। इसी से वे संसार में पुरञ्जय नाम से विख्यात हुए।

इस प्रकार शत्रु के पुर को जीतने से पुरञ्जय, इन्द्र को वाहन बनाने से इन्द्रवाह और वृषभ बने इन्द्र के ककुद पर स्थित होने से महाराज ककुत्स्थ कहलाये। इन धर्मात्मा राजा के पुत्र का नाम अनेना था। ये भी अपने पिता के ही समान शूरवीर और पराक्रमी थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में महाराज पुरञ्जय का चरित्र सुनाया अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप बार-बार यह

समीप ठहरे हुए उस वणिक समूह पर जङ्गली हाथियों ने आक्रमण किया और दावानल भी लग गई, लोगों ने इस अनिष्ट का कारण दमयन्ती को ही समझा। वे उसे मारने की सोचने लगे। दमयन्ती उनके मनोगत भावों को समझ कर अकेली ही रात्रि में वन से चलदी। चलते-चलते उसे किसी राजा की बड़ी भारी राजधानी दिखाई दी। आधी धोती पहिने हुए दमयन्ती ने उस राजधानी में प्रवेश किया।

वह राजधानी धर्मात्मा सुबाहु राजा की थी उनकी राजमाता बड़ी दयावती पतिव्रता और सती थीं। संयोग की बात है, कि जब दमयन्ती ने नगर में प्रवेश किया तब वह अपनी चित्रसारी की छत पर खड़ी झरोखे से राजपथ की ओर देख रही थीं दमयन्ती के बाल बिखरे थे,आधी धोती में से उसका सौंदर्य खान से निकली मणि के समान फूट-फूट कर निकल रहा था। नगर के लड़कों ने उसे पगली समझा वे उसे चिढ़ाने लगे और ढेले मारने लगे दमयन्ती विवशता के साथ अपने को उनसे बचाने लगी। सुबाहु महाराजकी राजमाताको दमयन्तीकी दशा देखकर बड़ी दया आई और उसने तुरन्त अपनी दासी को बुलाकर कहा "देखो यह कौन विपत्ति की मारी स्त्री है? देखने से तो यह कोई राजवंश की प्रतीत होती है। इसके अङ्गों में आभूषण नहीं तन पर वस्त्र नहीं। ऐसी सुन्दरी स्त्री को इतना क्लेश! यह दैव की विडम्बना है। इसे तुरन्त मेरे पास लाओ। मैं शक्ति भर इसके दुख को दूर करने का प्रयत्न करूँगी।"

रानीकी ऐसी आज्ञा सुनकर दासी तुरन्त गई और लड़कों को हटाकर वह दमयन्ती को रानी के पास ले आई। रानी ने

धुन्धुमार इति ख्यातस्तत्सुतास्ते च जज्वलुः ।
धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवाशेषिताः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

पुत्र पुरंजय भये अनेना तिनके पृथुसुत ।
विश्वरन्धि तिन तनय चन्द्र तिनके सुत श्रीयुत ॥
चन्द्र तनय युवनाश्व कीर्ति जिन विपुल कमायी ।
तिनके सुत शावस्त जिननि शावस्ति बसायी ॥
भये पुत्र बृहदश्व तिन, कुवलयाश्व तिनके तनय ।
मुनि उतङ्क वध धुन्धु हित जिनहिँ लै गये करि विनय ॥

जिस राजा के राज्य में असुरों का—आततायियों का—उत्पात है, उस राजा का किया हुआ जप तप सब वृथा है। राजा का

---

* शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज कुवलयाश्व का नाम धुन्धु असुर को मारने से धुन्धुमार पड़ गया। धुन्धु के मुख की अग्नि निकलने से उस युद्ध में उन राजर्षि के सभी पुत्र मर गये। केवल तीन शेष रह गये।"

हुआ और वह राजकुमारी सुनन्दा की सहेलियों के साथ रहने लगी। सुनन्दा उसे बहिन की तरह प्यार करती, किन्तु दमयन्ती को तो अपने प्राणनाथ की चिन्ता थी।

इधर महाराज नल दमयन्ती को छोड़कर आगे चले। मार्गमें कर्कोटक नाग ने उन्हें डस लिया, इससे उनका सम्पूर्ण शरीर काला पड़ गया, कोई भी उन्हें देखकर पहचान नहीं सकता था कि ये निषाद देश के नरेश महाराज नल हैं। तब महाराज नल चलते-चलते अयोध्या पुरी में आये और उन्होंने महाराज ऋतुपर्ण के यहाँ रथ हाँकने की नौकरी ठीक करली। राजा इनके गुणों से विमुग्ध हो गये और कहा—"तुम मुझे अश्वहृदय विद्या सिखादो, मैं तुम्हें अक्षहृदय विद्या पाँसा फेंकने की विद्या सिखा दूँगा। महाराज नल तो यह चाहते ही थे अतः वे महाराज ऋतुपर्ण से अक्षहृदय सीखने लगे और उन्हें अश्व सञ्चालन विद्या सिखाने लगे। महाराज के हाथ के भोजन मे ऐसा स्वाद था कि राजा उनके अधीन से हो गये।

इधर दमयन्ती के पिता महाराज भीमको जब नल को जुएमें हारने का और दमयन्ती को वन में छोड़ कर कहीं चले जाने का समाचार मिला यो उन्होंने सहस्रों ब्राह्मणों को सभी देशों में अपनी पुत्री और दामाद का पता लगाने के लिये भेजा। एक सुदेव नामक परम बुद्धिमान ब्राह्मण खोजता खोजता चेदिराज आया जहाँ दमयन्ती महाराज सुबाहु के महलों में रहती थी। कुमारी सुनन्दा की दासियों में मलीन वसन पहिने दमयन्ती को देख कर विप्रवर सुदेव को हर्ष और दुःख दोनों ही हुए। हर्ष तो इस बात से हुआ कि मैंने दमयन्ती का पता लगा लिया और दुःख उसकी दयनीय दशा देख कर हुआ। सुदेव शीघ्रता से भीतर गया। एकान्त में उसने दमयन्ती से कहा—"बेटी! तू मुझे

के पुत्र शावस्त हुए, जिन्होंने शावस्ती नगरी का निर्माण करके उसमें अपनी राजधानी बनाई। इन यशस्वी शावस्त के पुत्र बृहदश्व हुए।

महाराज बृहदश्व धर्मात्मा यशस्वी और शूरवीर थे। इनके पुत्र का नाम कुवलया था। महाराज बृहदश्व अपने योग्य और सर्वगुण सम्पन्न पुत्र कुवलया को राज भार सौंपकर तपस्या के निमित्त वन के लिये चलने लगे, तो महर्षि उतङ्क ने आकर राजा का मार्ग रोका।

वन में जाते हुए राजा ने जब देखा कि तपस्या के तेज से अग्नि के समान जाज्वल्यमान महर्षि मेरा मार्ग रोके हुए हैं, तो वे मुनि के पैरों पर अपना सिर रखकर बोले--"ब्रह्मन्! मैं कोई खोटा कार्य तो कर ही नहीं रहा हूँ और न कोई नूतन प्रथा का ही अविष्कार कर रहा हूँ। हमारे पूर्वज जिस कार्य को करते आये हैं, उसे ही मैं धर्म समझ कर रहा हूँ। वृद्धावस्था में, सभी राजर्षि राज्य को सुयोग्य पुत्र के कन्धों पर रखकर स्वयं वन में जाते रहे हैं। उसी कार्य को जब मैं वंश परम्परा का धर्म समझ कर रहा हूँ, तो आप मुझे रोकते क्यों हैं?"

यह सुनकर मुनि ने दृढ़ता के स्वर में कहा--"राजन्! ब्राह्मण के लिये वेदाध्ययन करना तथा क्षत्रिय के लिये प्रजा पालन करना पेट के लिये नहीं है। ये उनके परम धर्म हैं जो क्षत्रिय होकर-प्रजा पालन में समर्थ होकर-भी प्रजा का पालन नहीं करता वह नरक को जाता है। राजन्! तुम्हारे राज्य में मैं बड़ा दुखी हूँ।"

महाराज बृहदश्व, मुनि की ऐसी बात सुनकर बोले--"भगवन्! मुझसे ऐसा कौन सा अपराध हो गया है? आपको कौन कष्ट देता है?"

प्यारी पुत्री दमयन्ती है। निषध देश के महाराज नल की ये पत्नी हैं,इनके पति जूए में सर्वस्व त्याग कर इन्हें वन में छोड़कर कहीं चले गये। मैं इनके पिता के यहाँ का ब्राह्मण हूँ, सहस्रों ब्राह्मण महाराज ने इन्हें खोजने भेजे हैं। सौभाग्य की बात है, कि यह मुझे यहाँ मिल गई।"

इतना सुनते ही राजमाता ने दौड़कर दमयन्ती को छातीसे चिपटा लिया और रोते रोते कहा—"बेटी! अरे तेरी ऐसी दुर्दशा। तैंने मुझे अपना परिचय तक नही दिया। मैंने तो जब तू छोटी थी, बहुत दिन तुझे गोद में खिलाया है। मैं तेरी छोटी मौसी हूँ, तेरी माँ मेरी सगी बहिन है। हम दोनों ही दशार्ण देशाधिप महाराज सुदामा की पुत्रियाँ है,तेरे माथे पर एक मस्सा था। अब तो मलावृत्त होने के कारण वह दीखता ही नही। सुनदा ने जब सुना यह तो मेरी मौसी की लड़की है, तब तो वह उसके पैरों पर पड़ गई और रोती रोती बोली—"बहिन! अज्ञान में ऐश्वर्य के मद में दासी समझ कर मैंने तुम्हारा बहुत अपमान किया होगा, उसे तुम क्षमा कर देना।"

कसकर सुनन्दा को अपनी छाती से चिपटाते हुए दमयन्ती ने उसके सम्पूर्ण वस्त्रों को अपने अश्रुओं से भिगोते हुए कहा—"बहिन! इस विपत्ति में तुमने ही मुझे आश्रय दिया, नही तो मैं अब तक कभी भी जीवित न रहती।"

राजमाता ने कहा—"बेटी! यह तेरा घर है, तू यहीं रह।"
दमयन्ती ने कहा—"मौसी जी! मेरा घर तो है ही, किन्तु मेरे दो बच्चे मेरे पिता के यहाँ है पिताजी भी मेरे लिये चिन्तित होंगे अतः तुम मुझे विदर्भ ही पहुँचा दो।"

मारिये या अपने पुत्र से मरवाइये। इस विषय में मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

श्री शुकदेव कहते हैं—"राजन्! तब महाराज बृहदश्व अपने पुत्र कुवलयाश्व को धुन्धु के मारने की आज्ञा देकर वन को चले गये। महाराज कुवलयाश्व के बहुत पुत्र थे। वे उन सभी के पुत्रों को साथ लेकर महामुनि उत्तङ्क के साथ धुन्धु को मारने के लिये चल दिये।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—'सूतजी! इन उत्तङ्क मुनि के आश्रम के निकट धुन्धु क्यों रहता था, और ये धुन्धुमार कौन थे: कृपया इस कथा को हमें और सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो। मैं आपको धुन्धुमार की कथा सुनाता हूँ, उसे आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

असुर धुन्धु अति बली बालु के भीतर सोवै।
छोड़े जब फुफकार प्रजा सब दुखतैं रोवै॥
मुनि उतङ्क बृहदश्व बली भूपति ढिँग आये।
कह्यो वृत्त सुनि भूप तुरन्त निज पुत्र पठाये॥
कुवलयाश्व पुत्रनि सहित, सुनि प्रसन्न अतिई भये।
मुनि उतङ्क कूँ संग लै, धुन्धु मारिबे चलि दये॥

नहीं देतीं। उसके पति ने उसे विवश होकर छोड़ा है किन्तु वह प्रति पल उसका हृदय से स्मरण करता रहता है, शरीर से पृथक् होने पर मन से वह मिला है। योजन और कोशों का व्यवधान हार्दिक मिलन में विघ्न नहीं डाल सकता। समय आने पर उसके पति का पुनः मिलन होगा।" इतना संदेश कह कर नल चले गये। ब्राह्मण ने विदर्भ में जाकर दमयन्ती से ये सब बातें कहीं यह सुनकर दमयन्ती को बड़ा हर्ष हुआ। उसने अपनी माता से सम्मति करके पिता को बिना जताये सुदेव नामक उसी बुद्धिमान् ब्राह्मण को अयोध्या भेजा। महाराज ऋतुपर्ण पहिले ही दमयन्ती के रंगरूप पर आसक्त थे। उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया था, कि किसी प्रकार दमयन्ती मुझे प्राप्त हो जाय, किन्तु जब दमयन्ती ने लोकपालों को भी परित्याग करके नल को पति रूप में वरण कर लिया तो वे निराश हुए। फिर भी दमयन्ती के प्रति जो उनका अत्यधिक अनुराग हो गया था वह कम नहीं हुआ। दमयन्ती को यह बात विदित थी। अतः राजा नल को यहाँ बुलाने के लिये उसने एक षड्यन्त्र रचा। सुदेव से उसने कहा—"तुम जितने भी शीघ्र जा सकते हो, अयोध्या पुरी में जाओ और वहाँ के राजा ऋतुपर्ण से कहना—"दमयन्ती फिर से स्वयम्वर करना चाहती है, उसके पति उसे छोड़कर चले गये उनका कोई पता नहीं। किन्तु स्वयम्वर कल ही होगा। यदि आप एक रात्रि में अयोध्या से विदर्भ (बरार) पहुँच सके तो स्वयम्वर में सम्मिलित हों।"

सुदेव दमयन्ती की बात सुनकर शीघ्रता से अवध पुरी में गये और वहाँ एकांत में जाकर राजा से सब बातें कहीं। सुनकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, उसने अपने बाहुक नामक प्रधान सारथी को बुलाकर कहा—"बाहुक। यदि आज दिन

पालन करने में यदि पुत्र परिवार और प्राणों का भी उत्सर्ग करना पड़े, तो मनस्वी पुरुष तनिक भी संकोच नहीं करते। वे हँसते-हँसते प्राणों का परित्याग करते हैं। जिस एक के कारण अनेकों को कष्ट होता है, उस एक का वध करने वाले पुरुष को अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है। और संसार में उसका नाम अजर अमर हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको धुन्धु के वध की कथा सुनाता हूँ। जब महाराज बृहदश्व अपने पुत्र कुवलयाश्व को धुन्धु वध की आज्ञा देकर वन चले गये, तब कुवलयाश्व ने मुनि उत्तङ्क का बहुत सम्मान किया और पूछा—"ब्रह्मन्! धुन्धु इतना बली क्यों हुआ? और किस कारण आप के आश्रम के समीप उपद्रव करता है?"

इस पर उत्तङ्क मुनि बोले—"राजन्! यह दुष्ट मधु नामक दैत्य का पुत्र है। इसके पिता को भगवान् सनातन विष्णु ने मार डाला। यह पापात्मा बड़ा खल है, जो समुद्र सूख गया है, उसकी बालू के नीचे यह छिपा हुआ पड़ा रहता है। असुरों का स्वभाव ही होता है, साधु पुरुषों को पीड़ा पहुँचाना इसीलिये यह सब प्रजा जनों को क्लेश देता रहता है। मेरा आश्रम समीप ही है अतः धूलि से वह ढक जाता है, मेरे जप तप में बड़ा विघ्न पड़ता है। वह साधारण दैत्य नहीं है परम प्रतापी है आप योगी है, आप संभव है उसका बध कर सकें। अकेले आदमी से वह कभी न मरेगा, आप सेना सजाकर उसे मारने चलें।

यह सुनकर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरे इक्कीस सहस्र पुत्र हैं, मैं इन सबको साथ लेकर उस पापी असुर को मारने चलूँगा। आप सन्देह न करें मैं उस दुष्ट को अवश्य ही यमपुर पठाऊँगा।" यह सुनकर मुनि ने कहा—"महाराज! यदि ऐसी

माप सब ही परिवर्तित हो गये थे, किन्तु उनकी अंग संचालन की गतिविधि को देखकर वार्ष्णेय को बार-बार संदेह होने लगा।

इतने ही में रथ से अत्यन्त शीघ्र चलने के कारण महाराज ऋतुपर्ण का दुपट्टा गिर गया। उसी क्षण राजा ने शीघ्रता से कहा—"बाहुक ! तनिक रथ को रोक दे, मेरा दुपट्टा गिर गया, वार्ष्णेय दौड़कर उसे उठा लावें।" इतने शब्दों को सुनते ही हँसकर नल बोले—"राजन् ! आपने जितनी देर में ये शब्द कहे है उतनी देर में रथ दो कोश दूर निकल आया। अब आप दुपट्टे की आशा न रखें।'

राजा को नल की इस अश्वविद्या तथा रथ-संचालन चातुरी पर बड़ा आश्चर्य हुआ। रथ में बैठे ही बैठे राजा बोले—"बाहुक जैसे तुम अश्वविद्या में निपुण हो, वैसे ही मैं गणना करने में निपुण हूँ, देखो सामने जो यह बहेड़े का वृक्ष है इसकी दोनों डालियों पर और टहनियों पर पाँच करोड़ पत्ते और दो हजार पिचानवे फल लगे हैं।"

इतना सुनते ही नल के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा उसने रथ को लौटाकर बहेड़े के सम्मुख खड़ा कर दिया और रथ से उतर कर बोले—"राजन् ! जब तक मैं इस पेड़ के सब पत्ते और फलों को गिनकर अपने कुतूहल को शांत न कर लूँगा, तब तक आगे न बढ़ूगा।"

इस पर विनती करते हुए राजा ऋतुपर्ण ने कहा—'भैया, देखो ! विलम्ब हो रहा है, तुम हठ मत करो पीछे आकर मैं स्वयं अपनी परीक्षा दे दूँगा।"

राजा नल ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"राजन् ! आप चाहें

बड़े सौभाग्य की बात है कि आपके आशीर्वाद से वह दुष्ट दैत्य मारा गया। अब प्रजाओं को भय की कोई बात नहीं रही, अब आप निश्चिन्त होकर तप करें।"

राजा के ऐसे विनीत वचन सुनकर महामुनि उत्तङ्क ने कहा—"राजन्! आपने बहुत बड़ा कार्य किया, आपने सम्पूर्ण लोकों को निष्कंटक और दुख हीन बना दिया। मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ, कि आपकी धर्म में बुद्धि हो युद्ध में आप सदा अपराजित रहें आपका धन धान्य अक्षय हो और आप के मरे हुए सभी पुत्रों को अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति हो।"

सूतजी कहते हैं—'राजन्! इस प्रकार उत्तङ्क मुनि से आशीर्वाद पाकर राजा अपनी राजधानी को लौट आये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये महामुनि उत्तङ्क कौन थे? किसके पुत्र थे? उनमें ऐसा तेज और तप किस व्रत के प्रभाव से हुआ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! ये उत्तङ्क मुनि भगवान् भृगु के पुत्र थे और महर्षि गौतम के शिष्य थे। गुरु सुश्रूषा के प्रभाव से ही इनमें इतना तेज हुआ। ये निरन्तर श्रद्धा पूर्वक अपने गुरु गौतम की सेवा किया करते थे और तो विद्यार्थी आते थे और विद्या पढ़कर चले जाते थे, किन्तु ये सदा गुरु सेवा में ही लगे रहते थे, इन्होंने कभी घर जाने का नाम ही नहीं लिया। सेवा करते-करते ये बूढ़े हो गये। ये घर जाना भी चाहते हो गुरु स्नेह वश इन्हें आज्ञा न देते, इससे ये गुरुकुल में रहकर बूढ़े हो गये। इनकी दाढ़ी सफेद हो गई। एक दिन समिधाओं का गट्ठर लेकर आ रहे थे, कोई लकड़ी इनकी सफेद दाढ़ी में उलझ गई, बोझा गिर पड़ा। ये बड़े दुखी हुए। महर्षि गौतम की पुत्री युवती थी, इन ऋषि की गुरु सेवा का उसके हृदय पर बड़ा प्रभाव

रथ को हांक दिया और सूर्यास्त से पूर्व ही वे राजा को लेकर विदर्भ देश की नगरी कुन्डिनपुर में पहुंच गये। राजा नल के रथ की घड़घड़ाहट सुनकर उनके कुन्डिनपुर में रहने वाले घोड़े हिनहिनाने लगे। दमयन्ती ने जब रथ की घड़घड़ाहट सुनी तो उसे विश्वास हो गया, कि इस रथ को मेरे पति ही हांक रहे है, ऐसा शब्द उनके रथ चलने से ही होता है।

कुन्डिनपुर में स्वयंवर की किसी प्रकार भी कोई तैयारी नहीं थी न कोई राजा तथा राजकुमार ही आये थे, न पुरी ही सजाई गई थी। महाराज ऋतुपर्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ। महाराज भीम ने जब सुना कि अयोध्या के महाराज ऋतुपर्ण मेरे यहाँ पधारे हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। अत्यन्त आह्लाद के सहित उनका स्वागत सत्कार किया कुशल प्रश्न के अनन्तर महाराज प्रसंग वश पधारने का कारण जानना चाहा। महाराज ऋतुपर्ण ने स्वयंवर की कुछ भी तैयारियाँ न देखकर बात को टालते हुए कहा—"आप के दर्शन हुए बहुत दिन हो गये थे इसीलिये मिलने मिलाने चला आया।"

महाराज भीम ने कहा—"यह मेरा अहोभाग्य आप यहाँ विराजें। मेरा राज्यपाट आपका ही है, मैं भी आप का ही हूँ। महाराज ऋतुपर्ण बड़े चक्कर में पड़े। मुझे ऐसी सूचना किसने और क्यों दे दी। राजा से पूछने को भी उन्हें साहस नही हुआ। कन्यादान जीवन में एक बार ही होता है, कुलवती कन्या एक ही बार पतिवरण करती है। अतः वे तुरन्त लौटने के लिये आग्रह करने लगे। राजा भीम ने कहा—"महाराज। आप सौ योजन से भी अधिक यात्रा करके आये हैं। आप हमें अपना नहीं समझते। यहाँ सुखपूर्वक निवास करें।"

पर पहुँचे, तो इन्होंने उनका विधिवत् स्वागत सत्कार किया। जब इन्हें विदित हुआ कि भगवान् महाभारत युद्ध कराकर आ रहे हैं, तब ये भगवान् पर बड़े क्रुद्ध हुए और बोले—"हे वासुदेव! आपने समर्थ होते हुए भी कौरवों और पांडवों के युद्ध को नहीं रोका। इसलिये मैं आप को शाप दूँगा।"

तब भगवान् ने मुनि को अपना यथार्थ स्वरूप बताया—"विश्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन कराया और समझाया कि यह सब भाग्यवश होता है आप मुझे शाप देने में समर्थ नही हैं।"

तब इन्होंने भगवान् का यथार्थ रूप समझकर उनकी स्तुति की। इनकी स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् ने इनसे वरदान माँगने को कहा तब इन्होंने भगवान् से यही वर मांगा कि—"इस मरु भूमि में मुझे जहाँ भी जल की आवश्यकता हो वहीं जल निकल आवे।"

भगवान् ने 'तथास्तु' कहकर ऐसा वरदान दिया और रथ पर चढ़कर द्वारका पुरी को चले गये। कुछ काल के पश्चात् इन्होंने एक स्थान पर जल की इच्छा की। वहीं जल उत्पन्न हो गया, किन्तु उस जल में एक चांडाल कुत्तों को लिये हुए खड़ा था। वह मुनि से कह रहा था—"मुनिवर! आप यहाँ से जल ले जाइये।"

मुनि ने सोचा—"मैं चांडाल के पैरों के नीचे का जल कैसे ले सकता हूँ।" यह सोचकर उन्होंने उस चांडाल को डाँटा और जल लेना स्वीकार नहीं किया। तब वह कुत्तों सहित चांडाल वहीं अन्तर्धान हो गया। अब तो मुनि ने सोचा—"हो न हो यह भगवान् श्रीकृष्ण की ही महिमा है।" इतने में ही चतुर्भुज भगवान् वहीं उत्पन्न हुए और बोले—"मुनिवर! आपने जल की इच्छा की थी मैंने सोचा—"जल आपको क्या दूँ, एक अमृत

केशिनी ने ये सब बातें जाकर दमयन्ती से कहीं, सुनकर दमयन्ती का हृदय बाँसों उछलने लगा, फिर भी उसे नल के रूप के कारण सन्देह ही बना रहा। अबके उसने केशिनी से कहा—"तू गुप्त रूप से जाकर उसकी सब क्रियाओं को देखकर मुझे बताना।"

केशिनी गई और सब देखकर उसने बताया वह तो आलौकिक पुरुष हैं, बिना अग्नि के अग्नि उत्पन्न कर लेता है, रीते घड़ों को संकल्प के पानी से भर लेता है, वह पाक विद्या में बड़ा निपुण है, उसमें अनेक अलौकिक गुण हैं।"

दमयन्ती ने कहा—'उसके हाथ के बने कुछ पदार्थ तू माँग ला।"

केशिनी किसी प्रकार उससे कुछ भोजन की वस्तुएँ माँग लाई, दमयन्ती ने उन्हें चखकर निश्चय कर लिया, ये मेरे पति के बनाये हुए पदार्थ है।"

फिर भी उसे नल के रूप और छोटे आकार को देखकर संदेह बना रहा। अबके दमयन्ती ने केशिन के साथ अपने दोनों बच्चों को नल के पास भेज दिया। उन देव सदृश बच्चों को देखकर नल ने दौड़कर उन्हें छाती से चिपटा लिया और बार-बार प्यार करके उनका मुख चूमने लगे। वे आत्म-विस्मृति होकर बालकों की भाँति रुदन करने लगे। बार-बार बच्चों का सिर सूंघने लगे। उनके ऐसे वात्सल्य प्रेम को देखकर केशिनी को निश्चय हो गया, कि ये पुण्यश्लोक महाराज नल ही हैं।"

कुछ काल के पश्चात् बाह्य ज्ञान होने पर आँसुओं को पोंछते हुए नल बोले—"केशिनी! देख, तू बार-बार मेरे पास मत

नदी हुई। कृशाश्व का पुत्र सेनाजित या प्रसेनजित हुआ उनकी पत्नी का नाम गौरी था जो आगे चलके पति के शापवश बाहुदा नाम की नदी हो गई। सेनजित के पुत्र युवनाश्व हुए। इन युवनाश्व के ही पुत्र विश्व विख्यात चक्रवर्ती महाराज मान्धाता हुए।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! मान्धाता की माता का क्या नाम था?"

हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज! मान्धाता के तो माता थी ही नहीं, इन्हें तो इनके पिता महाराज युवनाश्व ने ही गर्भ में धारण किया था। इसीलिये उन्हें चाहे आप माता समझ लें या पिता, या माता-पिता दोनों ही।"

इस पर अत्यन्त आश्चर्य करते हुए शौनक जी ने कहा—"सूतजी! स्त्रियों को गर्भ धारण करते हुए तो हमने सदा से सुना है। पुरुषों के तो गर्भाशय होता ही नहीं। पुरुष तो कभी गर्भ धारण नहीं करते, फिर महाराज युवनाश्व ने राजर्षि मान्धाता को कैसे गर्भ में धारण किया। इस विषय में तो हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है। इसका पूरा वृत्तान्त हमें सुनाइये।

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! माया में सब कुछ सम्भव है। सब कुछ हो सकता है। अच्छी बात है इस कथा को जैसे मैंने गुरु मुख से सुना है उसे वैसे ही सुनाता हूँ सुनिये।"

छप्पय

सुत हर्यश्व निकुम्भ भये तिनि वर्ण हाश्व सुत।
तिनिके भये कृशाश्व सेनजित तिन सुत बलयुत॥
नृपति सेनजित् पुत्र भये युवनाश्व यशस्वी।
मान्धाता तिन पुत्र चक्रवर्ती तेजस्वी॥
माता बिनु पैदा भये, पिता गर्भ मह वास कर।
सुनहु कथा आश्चर्य युत, पुण्य प्रदायिनि मनोहर॥

में प्रवेश करके मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। उसी ने मुझसे राज्यपाट छुड़वाया, तुमसे विलग कराया अब जो हुआ सो हुआ। अब कलियुग मेरे शरीर से निकल गया है। अब फिर हमारे दिन फिरेंगे। फिर हम पूर्ववत् सुख और ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे। इस प्रकार चौथे वर्ष में पति और पत्नी का पुनः आकर मिलन हुआ। रात्रि भर दोनों पति पत्नी अपने सुख दुख की बातें कहते सुनते रहे। प्रातः काल नल और दमयन्ती ने स्नान किया वस्त्र भूषणों से सुसज्जित होकर उन दोनों ने महाराज भीम को प्रणाम किया। अपनी पुत्री के साथ जामाता को देखकर राजा को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने इसके उपलक्ष्य में बड़ा भारी उत्सव कराया और ब्राह्मणों को विविध दान दिये।

महाराज ऋतुपर्ण को जब ज्ञात हुआ, ये महाराज नल है, तब तो उन्होंने इनसे क्षमा याचना की। नल ने उन्हें अश्वहृदय विद्या सिखा दी। नल ने भी राजा से अक्ष विद्या भली भाँति सीख ली। कर्कोटक ने अपना विष भी आकर उतार लिया। इससे महाराज पूर्ववत् सुन्दर हो गये। कलियुग उनके शरीर से पहिले ही निकल चुका था अतः अब वे चन्द्रमा के समान सुशोभित हुए। महाराज ऋतुपर्ण भीम और नल से अनुमति लेकर अयोध्या चले गये। कुछ काल कुण्डिनापुर में रह कर नल अपनी प्यारी पत्नी दमयन्ती के साथ कुछ धन और सैनिक लेकर अपनी राजधानी में गये। उन्होंने फिर अपने भाई पुष्कर के साथ जूआ खेला। अबके पुष्कर अपना राज पाट सर्वस्व हार गये। उसने दमयन्ती का अपमान किया था, अतः वह डर रहा था, कि महाराज मुझे मार डालेंगे, किन्तु महाराज नल तो धर्मात्मा थे। उन्होंने कहा—"भैया! पुष्कर! देखो भाग्य ही सब सुख दुख देता है। कौन किसे सुखी दुखी बना सकता है।

हो जाती है। इसीलिये दैवबल को ही प्रधान बल कहा है। अल्पज्ञ पुरुष का बल तुच्छ है व्यर्थ है। जिस बात को सभी लोग असम्भव बताते हैं, दैवेच्छा से वह सम्भव हो जाती है जिसे स्वाभाविक और असम्भव बताते हैं, वह क्षण भर में ही बदल जाती है। इसीलिये तत्परता के साथ कर्म करते हुए, उनके फलों को भगवान् के ऊपर छोड़ देना चाहिये। क्योंकि प्रभु प्रेरणा से कर्म करने में ही हमारा अधिकार है, उसका फल क्या होगा इसे फल दाता ही जाने।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—'राजन्! अब मैं आपको चक्रवर्ती राजर्षि मान्धाता के जन्म की कथा सुनाता हूँ, उसे आप दत्त-चित्त होकर श्रवण करें।"

महाराज युवनाश्व की प्रथम पत्नी से कोई सन्तति नहीं हुई। तब राजा ने पुत्र की कामना से एक के पश्चात् एक इस प्रकार १०० विवाह किये किन्तु भाग्यवश सब रानियाँ वन्ध्या निकलीं। किसी के भी पुत्र नहीं हुआ। राजा ने पुत्र प्राप्ति के लिये बहुत यत्न किये, किन्तु पुत्र के मुख के दर्शन राजा को न हो सके। इस दुख से दुखी होकर वे रानियों को साथ लिये हुए वन को चले गये। वन में जाकर वे ऋषियों के आश्रम में रहने लगे। राजा बड़े धर्मात्मा थे, अतः ऋषियों ने एक सभा की। सब ने विचार किया, कि धर्मात्मा राजा राज्य छोड़कर यहाँ रहते हैं, प्रजा की रक्षा कौन करेगा। फिर इनके पश्चात् राज्य सिंहासन पर कौन बैठेगा। इक्ष्वाकु वंश का विच्छेद तो होना न चाहिये। यही सब सोचकर ऋषियों ने राजा के पुत्र हो इस कामना से एक पुत्रेष्टि यज्ञ आरम्भ किया। ऋषियों के मन्त्रों में तो अमोघ शक्ति होती है। ये मन्त्र बल से जो चाहें सो कर सकते हैं। इसीलिये उन्होंने यज्ञ के अन्त में एक कोरे

यन्ती का तथा अयोध्याधिप महाराज ऋतुपर्ण के नाम का नित्य कीर्तन करते है, उन्हें कलि कृत दोष दुःख नही दे सकते* इसके अनतर आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी। महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र कौन हुए। कृपा करके ऋतुपर्ण से आगे के मुख्य इक्ष्वाकु वंश के राजाओ का चरित्र हमें सुनाइये।"

इसपर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! मै महाराज ऋतुपर्ण से आगे के राजाओं का वृत्तान्त सुनाता हूँ, आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

दमयन्ती पति तजी भाग्यवश आई पितु घर।
पति खोजन हित रच्यौ दुवारा नृपा स्वयम्बर॥
नल ऋतुपर्ण समेत ससुर गृह रथलै आये।
नल दमयन्ती मिले सुनत सब जन हरषाये॥
कायातै कलियुग भग्यो, जब नृप के दिन फिरि गये।
गयो राज फिरि तै मिल्यो, जग यश भागी नल भये॥

*कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्यच।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्

कभी गर्भ धारण नहीं किया। गर्भ धारण करना तो स्त्रियों का ही काम है।"

ऋषियों ने कहा—"राजन्! काम किसी का भी क्यों न हो। हमारे मंत्र तो अमोघ होते हैं, उनकी शक्ति कहीं भी व्यर्थ नहीं होती। उस मन्त्रपूत जल में ऐसी शक्ति थी, कि यदि आप उसे पत्थर के पात्र में भी रख देते, तो उससे भी पुत्र पैदा हो जाता, सो वह तो आप के पेट ही में पहुँच गया है।

राजा तो बड़े घबराये हुए थे बोले—"मुनियो! यह तो बड़ी विचित्र बात हो जायगी। पेट में पुत्र बढ़ तो जायगा, किन्तु वह उत्पन्न कैसे होगा?"

मुनियों ने कहा—"अब आप ही देख लें १० महीने के पश्चात् पेट का बालक स्वयं ही अपने उत्पन्न होने का मार्ग बना लेगा।

रानियाँ हँसने लगीं। राजा लज्जित हुए। मुनिगण बड़ी सावधानी से राजा की रेख देख करने लगे। जब ९ मास पूरे हो गये, तो दशवें मास में राजा की दक्षिण कुक्षि को फोड़कर एक बड़ा ही सुन्दर प्रतापशाली तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। मुनि के आशीर्वाद और चिकित्सा से राजा को तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। फटी हुई कुक्षी फिर ज्यों की त्यों ही जुड़ गई।

अब राजा को एक चिन्ता हुई। रानी यदि पुत्र को उत्पन्न करती तो बच्चे को अपना दूध पिलाती! राजा अब उसे क्या पिलावें वे बार-बार कहने लगे 'कंधाता-कंधाता" यह किसका दूध पियेगा, किसका दूध पियेगा। जिस यज्ञ से ये उत्पन्न हुए थे, उसके देवता इन्द्र थे। इसीलिये वह ऐन्द्री इष्टि कहलाती थी। इसीलिये इन्द्र ने आकर कहा 'मां धाता, मां धाता' यह मेरा दूध पीवेगा, मेरा दूध पीवेगा।' बालक अपने बाल स्वभाव के कारण रुदन करने लगा। तब उसे पुचकार कर धैर्य बँधाते हुए

प्रकार के सर्वज्ञ होते हैं, एक तो ऐसे होते हैं, जिन्हें सर्वदा ही अखण्ड ज्ञान बना रहता है। दूसरे ऐसे होते है जो जब वे वाह्य व्यवहार में लगे रहते है, तो उनका ज्ञान सर्व साधारण पुरुषों के समान होता है, किन्तु जब वे चित्त को समाहित करके ध्यान मग्न होते है,तब होने वाले भूत, भविष्य तथा वर्तमान का समस्त ज्ञान हस्तामलकवत् होने लगता है। यह जो शापाशापी होती है ऐसे ही सर्वज्ञ मुनियों द्वारा होती है, जैसा होन हार होता है, वैसे ही बुद्धि बन जाती है, वैसे ही उनके मुख से अकस्मात् शाप निकल जाता है पीछे ध्यानस्थ होकर उसके विषय में विचार करते हैं, तो उसके प्रतीकार की अवधि या उपाय भी वता देते हैं। कोई न किसी को शाप दे सकता है, न असमय पर अनुग्रह ही कर सकता है। जिसका जैसा समय होता है,उसके वैसे ही सब संयोग जुट जाते हैं। भविष्यता चलकर स्वयं नहीं जाती, उसे ही घेर बटोर कर ले आती है।

श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन् ! यह तो मैं बता ही चुका हूँ, कि इक्ष्वाकुवंश में अयुतायु के सुत नल के सखा ऋतुपर्ण हुए। धर्मात्मा महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र सर्वकाम हुए। सर्वकाम के सुत सुदास हुए जो कल्माषपाद और मित्रसह के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जो वशिष्ठ जी के शाप से नर भक्षी राक्षस हो गये थे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा—"प्रभो ! धर्मात्मा राजा सुदास राक्षस किस अपराध से हो गये ? सर्वज्ञ महर्षि वशिष्ठ ने अपने प्रिय शिष्य सुदास को ऐसा कठिन शाप किस कारण दिया ?"

इस पर श्री शुकदेवजी बोले—"कोई किसी को दुख सुख

अपने मणिमय मुकुटों की किरणों से उनके चरणों की उँगलियों को प्रकाशमान बनाये रहते थे। महारानी बिन्दुमती के गर्भ से महाराज के तीन बड़े ही प्रतापशाली पुत्र उत्पन्न हुए। जिनके नाम पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचुकुन्द हैं। पुरुकुत्स सब में बड़े थे। अम्बरीष को मान्धाता के पिता युवनाश्व न गोद ले लिया अर्थात् पौत्र न मानकर उसे पुत्र माना। इसलिये वह यौवनाश्व कहलाया। उस यौवनाश्व के हारीत आदि कई पुत्र हुए। ये लोग मान्धातृ गोत्र में अवान्तर गोत्र प्रवर्त्तक हुए अर्थात् गोत्र एक होने पर भी प्रवर पृथक् हुए।

महाराज मान्धाता के पुरुकुत्स, अम्बरीष और योगी मुचुकुन्द इन तीन पुत्रों के अतिरिक्त ५० कन्यायें भी हुईं। जिनका विवाह भगवान् सौभरि ऋषि के साथ हुआ।

यह सुनकर राजा परीक्षित ने पूछा—'भगवन्! भगवान् सौभरि ऋषि के साथ महाराज मान्धाता ने अपनी प्यारी दुलारी राजकुमारियों का विवाह क्यों कर दिया। ऋषि की विवाह करने की इच्छा क्यों उत्पन्न हुई और महर्षि ने एक साथ ५० राजकुमारियों से विवाह क्यों किया? कृपा करके इस आख्यान को मुझे सुनाइये। सौभरि ऋषि कोई साधारण महर्षि तो हैं नहीं। इनके सूक्त तो ऋग्वेद में भी आते हैं। इसीलिये ये महर्षिब्रह्म कहलाते हैं इनके परम पावन चरित्र को मुझे अवश्य सुनाइये।"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! यह तुमने बड़ा ही पुण्य प्रद प्रश्न किया। मैं आपको अब महर्षि सौभरि का चरित्र सुनाता हूँ तदनन्तर मान्धाता के वंश का वर्णन करूँगा आप इसे श्रद्धासहित श्रवण करें।"

मुनि ने कहा—"झूठ बोलता है, मैंने तुझे कब ऐसी आज्ञा दी।"

राजा ने कहा—"प्रातःकाल ही आपने आकर मुझ से कहा था, कि मेरे लिये नरमास बनाना।"

मुनि ने कहा—"मैं प्रातःकाल यहाँ आया भी नहीं।"

राजाने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, आप आये थे और स्वयं मुझ से आपने कहा था।"

राजा की दृढ़ता और निर्भीकता से प्रभावित होकर मुनि ने ध्यान लगाया और ध्यान में सभी बातें जानकर नम्रता के साथ बोले—"राजन्! भूल हो गई राक्षस की यह सब करतूत है। जिस राक्षस के भाई को आपने मारा था,उसी ने मेरा रूप बना लिया था, और उसी ने रसोइये का रूप रखकर इस अभक्ष्य पदार्थ को बनाया है, किन्तु मैंने कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला, अतः आपको नर भक्षी राक्षस तो बनना ही पड़ेगा, किन्तु जीवन भर नहीं। १२ वर्ष के पश्चात् आपका राक्षसपना छूट जायगा आप फिर राजा हो जायँगे।"

राजा को इस बात पर बड़ा क्रोध आया। गुरु अकारण ही बात को बिना जाने मुझे शाप दे रहे हैं यह इनका कार्य अनुचित है। राजा भी सामर्थ्यवान् थे,अतः वे भी हाथ में जल लेकर गुरु वशिष्ठ को शाप देने को उद्यत हो गये।

गुरु को शाप देते देखकर महाराज की पत्नी मदयन्ती ने राजा को रोकते हुए कहा—"प्राणनाथ! आप यह क्या कर रहे हैं। यह कार्य आपके अनुरूप नहीं है। गुरु को कभी भी शाप न देना चाहिये।"

सौभरि चरित्र

[६२८]

पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दं च योगिनम् ।
तेषां स्वसारः पञ्चाशत् सौभरिं वव्रिरे पतिम् ॥
यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः परन्तपः ।
निर्वृतिं मीनराजस्य वीक्ष्य मैथुनधर्मिणः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० ३८, ३९ श्लो०)

छप्पय

कन्या जनी पचास सुन्दरी अति सुकुमारी ।
बड़ी भई सब संग कमल नयनी पितु प्यारी ॥
ब्रज मंडल महँ परम तपस्वी सौभरि मुनिवर ।
यमुना जल महँ बैठि तपस्या करैं उमगार ॥
बाल ब्रह्मचारी रहे, भये वृद्ध तनु छीन अति ।
बरस सहसदश तप करयो, नहिं निरखी संसार गति ॥

महर्षियों ने बहुत समझ-बूझ कर [illegible]

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज [illegible] पुरुकुत्स अम्बरीष और योगी मुचुकुन्द ये तीन पुत्र हुए। [illegible] की ५० बहिनों ने सौभरि ऋषि को पति रूप में वरण [illegible] तपस्वी सौभरि ऋषि यमुना के जल के भीतर रहकर [illegible] रहे थे वहीं उन्होंने, एक मैथुन धर्म में तत्पर मीनराज को [illegible]

यह सुन कर श्री शुक बोले—"राजन् ! अपनी प्यारी पत्नी मदयन्ती जो मित्र के समान है उसकी बात को सहने मानने के कारण ही महाराज का नाम मित्रसह पड़ा। उन्होंने स्त्री के कहने से गुरु को शाप नहीं दिया। अब वे राक्षस हो गये। हो क्या गये, आकृति तो उनकी मनुष्यों जैसी ही रही, किन्तु जङ्गलो में घूम-घूम कर मनुस्यों को खाने लगे और राक्षसों जैसी चेष्टायें करने लगे। सुनते हैं, भगवान् वशिष्ठ के पुत्र शक्ति को भी विश्वामित्र जी की प्रेरणा से ये ही राजा खा गये थे। विश्वामित्र जी की वशिष्ठ जी से पुरानी लाग डाँट थी। जब वशिष्ठजी के ही शाप से राजा राक्षस हो गये, तो उन्होंने इन्हें प्रेरणा करके शक्ति के पास भेजा और ये शक्ति को खा गये। शक्ति की पत्नी गर्भवती थी उसी से पराशर जी का जन्म हुआ। जिन्होंने पिता का वदला लेने के लिये एक राक्षस यज्ञ आरम्भ किया। जिसमें बहुत से राक्षस आ आकर जल ने लगे। यह देख कर राक्षसों के जनक भगवान् पुलस्त्य आये और उन्होने वशिष्ठ के साथ इन्हें समझाया बुझाया। तब कही जाकर वे इस अभिचार यज्ञ से उपरत हुए। राजा ने राक्षस भावापन्न होकर बहुत से पाप किये। ब्रह्म हत्याएँ कीं। इसी समय महाराज को अनपत्य होने का शाप भी मिला, जिससे वे स्वय सतति उत्पन्न करने में असमर्थ हो गये।"

यह सुन कर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! महाराज कल्माप पाद को किसने अनपत्य हाने का शाप दिया। महाराज ने उसका ऐसा कौन सा अपराध किया था, इस कथा को श्रवण करने की मेरी बड़ी उत्कट अभिलाषा है, यदि आप मुझे अधिकारी समझते हों और कोई न कहने योग्य बात न हो, तो कृपा करके इसके कारण को मुझे अवश्य सुनाइये।"

घोर महर्षि के पौत्र तथा अंगिरा महर्षि के प्रपौत्र थे। उन्होंने बाल्य काल से ही तपस्या आरम्भ कर दी थी। जीवन में कभी न तो गृहस्थियों का संग किया और न कभी सांसारिक सुखों की ओर दृष्टि उठाकर ही देखा। अपने आश्रम में एकान्त में रहकर ये भगवान् की आराधना करते हुए कालक्षेप करते थे। कभी-कभी आश्रम के निकट से स्त्री-पुरुष निकल जाते, कभी कभी बातें भी सुनाई दे जाती। इससे मुनि को आन्तरिक दुःख होता। उन्हें संसारिक बातें विष के समान लगती थीं।

उन्होंने सोचा—"यहाँ बाहर रहेंगे, तो इन संसारी लोगों की बातें सुनाई देंगी ही इसलिये जल के भीतर रहकर तपस्या करें।" जहाँ मुनि का आश्रम था, उसके समीप ही एक कुन्ड था। उसमें मुनि निवास करते। जल मे बुड़की लगाकर समाधि लगा लेते और भजन करते रहते। मछलियाँ आ-आकर मुनि के शरीर पर किलोलें करती रहतीं। मुनि को कुछ पता ही नहीं चलता किन्तु जब समाधि खोलते तो उन छोटी बड़ी चमकीली मछलियों को इधर से उधर फुदकते देखकर मुनि का चित्त बड़ा प्रसन्न हो जाता।

प्राणिमात्र के हृदय में प्रेम करने की एक स्वाभाविक शक्ति होती है। वह किसी से बिना प्रेम किये रह नहीं सकता। जिनसे प्रेम हो जाता है, उनमें अपनापन हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः मुनि की विरक्ति स्त्री पुरुष तक ही सीमित रही। उनका प्रेम मछलियों में व्यक्त हुआ। उन मछलियों को वे अपना सगा सम्बन्धी समझने लगे। सुनते हैं एक बार कुछ धीवरों ने उस कुन्ड में जाल डाला बहुत सी मछलियों के साथ मुनि भी जाल में फंस गये। धीवरों ने बड़ा मत्स्य समझकर उन्हें खींच लिया। जब मुनि को देखा तब डर गये।

सौदाससुत अश्मक

(६४६)

तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥
सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ९ अ० ३८,३९ श्लोक)

छप्पय

बोले नृप सौदास—प्रभो! अब रक्षा कीजै।
चलै जासु मनु वंश पुत्र इक गुरुवर कीजै॥
कीयो गर्भाधान भई अति हर्षित रानी।
नष्ट वंश नहिं होय बात जिह सबने जानी॥
सात बरष तक उदरतें, नहीं पुत्र पैदा भयो॥
मदयन्ती अति दुखित ह्वै, वचन पुरोहितते कह्यो॥
दोष भावना से होता है, भाव शुद्धि होने पर शुद्ध भावना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्राह्मणों के शाप के अनन्तर महाराज सौदास ने स्त्री सुख का परित्याग कर दिया। इस प्रकार अपने ही किये कर्म द्वारा सन्तान हीन हो गये। राजा की अनुमति से वशिष्ठ जी ने गर्भ स्थापित किया। उस गर्भ को रानी सात वर्षों तक धारण करे रही। किन्तु बच्चा नहीं हुआ। तदनन्तर वशिष्ठ ने पाषाण के आघात द्वारा बच्चे को पैदा किया। इसलिये उनका नाम अश्मक हुआ।"

गरुड़जी भी कुछ कम नहीं थे, वे बोले—"मुनिवर ! मैं आपके ब्राह्मणपने का आदर करता हूँ और आप अपने आपे से बाहर

हो हुए जा रहे हैं। मैं कहता हूँ, मैं तो यहीं आकर मत्स्यों को खाया करूँगा।" यह कहकर वे एक बड़े भारी मत्स्य को अपनी चोंच से पकड़ कर निगल गये। मत्स्य के मारे जाने पर अन्य मछलियाँ दीन होकर विलाप करने लगीं। सभी अपने स्वामी

मन्त्रियों की सहायता से राज्य की रेख-देख करती थी। अब जब उनके पति विशुद्ध बन गये, तब उन्हें परम हर्ष हुआ। जब वे ऋतु स्नान करके निवृत्ति हुई तब महाराज ने सन्तान की इच्छा से वैदिक विधि पूर्वक उनके गर्भाधान करना चाहा। उस समय पतिव्रता मदयन्ती बड़े स्नेह भरे स्वर मे राजा से बोली–"प्राण-नाथ। आप को स्मरण न होगा। आप जब राक्षस भावापन्न थे, तब आपने एक गर्भाधान कराती हुई ब्राह्मण पत्नी के पति को बल पूर्वक उससे पृथक् करके भक्षण कर लिया था। उसने आप को शाप दिया था कि जब तुम गर्भाधान सस्कार करने को उद्यत होगे, तभी तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।" सो प्राणनाथ। आप उस पतिव्रता के शाप को स्मरण कीजिये। इस समय आप गर्भाधान करेंगे, तो मेरा भी मनोरथ पूर्ण न होगा। आप गर्भाधान भी न कर सकेंगे। यदि आप का कुछ हुआ, तो मै एक क्षण भी आप के बिना जीवित न रह सकूँगी इस लिये आप गर्भाधान का विचार छोड़ दें।"

राजा ने कहा—"प्रिये। तुम सत्य कहती हो। यदि मेरी मृत्यु हो गई, तो यह इक्ष्वाकुवंश सदा के लिये विलुप्त हो जायगा। उस पतिव्रता का शाप अन्यथा तो हो नही सकता। इसलिये आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा। स्त्री सुख से सदा पृथक् रहूँगा, किन्तु फिर वंश परम्परा कैसे चलेगी।"

महारानी ने कहा—"हमारे कुल देव भगवान् वशिष्ठ ही है। आप उनकी शरण में जायें, वे जो करेंगे वह धर्मानुकूल ही करेंगे।"

यह सुन कर राजा महर्षि वशिष्ठ के समीप गये और बोले–"ब्रह्मन्! मेरा वंश विच्छेद न हो, ऐसा कोई उपाय करें।

हो जाता है। एकाग्र चित्त जिस विषय में लग जाता है, वही तन्मय हो जाता है। बहुधा देखा गया है कि जो ऋषि जीवन भर सदाचारी संयमी रहे हैं, वृद्धावस्था में किसी कारण से किसी स्त्री आदि से प्रेम करने लगे हैं तो इस तन्मय हुए हैं कि संसार को भूल गये हैं। इतनी तन्मयता नित्य विषयियों को कभी हो नहीं सकती। केवल एकान्त समाहित मन ही इतना से एक विषय में तन्मय हो सकता है।

मुनि की समाधि जब हो गई तो उन्होंने सम्मुख बैठे भारी एक मत्स्य को देखा। उसकी लम्बाई ५-६ फुट थी, ३५-३० पौंड थी। उसकी स्त्री बड़ी पीन परायणा थी। अपनी पत्नी और पुत्र पौत्रों के साथ वह मत्स्यराज परम प्रमोदित हो रहा था। पत्नी उसकी स्नेह भरित हृदय से सेवा कर रही थी। पुत्र पौत्र प्रसन्नता से इधर-उधर फुदक रहे थे। नाना प्रकार की क्रीड़ायें कर रहे थे। उन सबके साथ इस प्रकार सुख से विलास करते देखकर मुनि का चित्त बड़ी स्थिर हो गया। वे सोचने लगे—"देखो, मैंने इतने वर्षों तक भाँति भाँति के व्रत-नियमों का पालन करते हुए घोर तप किया किन्तु इतनी प्रसन्नता, इतनी आत्म तुष्टि मुझे कभी नहीं हुई। यह जल चर जीव होकर भी अपनी प्रिया के साथ कितना सुखी है। इसीलिये मनुष्य घर द्वार को नहीं छोड़ सकते। मैंने अपना जीवन इन कठोर नियमों में ही बिताया, कभी गृहस्थ सुख का अनुभव नहीं किया। गृहस्थ में इतना सुख न होता, इतनी मादकता न होती तो अधिकांश लोग सब कुछ छोड़कर वन को क्यों न चले जाते। निश्चय ही गृहस्थ में इतना सुख है, तभी तो यह मत्स्य अपनी पत्नी और परिवार के साथ इतना प्रसन्न और प्रमुदित हो रहा है। मैं भी गृहस्थ बनकर उस सुख को अनुभव क्यों न करूँ।

मे आनन्द मनाया गया। अश्मक (पत्थर) से आघात करने के कारण उनकी उत्पत्ति हुई अतः मुनि ने उसका नाम अश्मक रखा।

कुमार अश्मक अपने पिता के समान ही सुन्दर और गुणी थे। शनैः शनैः वे बडे हुए। युवा होने पर महाराज सौदास ने उनका विवाह कर दिया। अन्त में उन्हें राज पाट सौप कर वे महारानी मदयन्ती के साथ वन में चले गये और वहाँ तपस्या करके स्वर्गगामी हुए।

श्री शुक कहते है—"राजन्! पिता के बन चले जाने के अनन्तर अश्मक धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। इनके एक पुत्र हुआ जो क्षत्रिय कुल का मूल होने से मूलक कहलाया।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"क्षत्रिय कुल के मूल तो महाराज मनु हैं, ये अश्मक पुत्र मूलक क्षत्रिय कुल के मूलक क्यों कहाये। हमारी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

श्री शुक बोले—"अच्छी बात है सुनिये राजन्! मैं इसका कारण बताता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

भगवन्! का भरि दयो उदरमहँ जो नहिँ निकसत।
अटक्यो एकहि ठौर तनिक तहँ तें नहिँ खिसकत॥
मुनि हँसि लियो अश्म मन्त्र पढ़ि उदर छुवायो।
मदयन्ती ने तुरत सुघर सुत श्रम बिनु जायो॥
प्रमुदित सबही जन भये, राजा रानी पुरोहित।
तेई अश्मक नामतं, भये भूप जग महँ विदित॥

सौभरि ऋषि का विवाह

[६२९]

जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेकामयाचत ।
सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन् कामं कन्या स्वयंवरे ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० ४० श्लोक)

छप्पय

ब्याह करन अभिलाष भई सब नियम भुलाये ।
मान्धाता ढिँग पुरी अयोध्या महँ मुनि आये ॥
बोले—पुत्री हैं पचास तुमरे हे भूपति ।
करूँ याचना एक ब्याह की इच्छा चित अति ॥
सुनि नृप अति विस्मित भये, घबराये सब अँग थके ।
वृद्ध देह तप अमित लखि, हाँ ना कछु नहिँ करि सके ॥

जिसने भगवान् को प्रसन्न कर लिया है, उसके लिये संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती। पहिले तो उसके मन में कोई सांसारिक इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं। कदाचित् पूर्व

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब सौभरि ऋषि के मन मे विवाह करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गई, तो उन्होने महाराज मान्धाता से जाकर एक कन्या की याचना की—इस पर वे राजा बोले—"ब्रह्मन् ! भीतर चले जाइये, जो कन्या आपको स्वेच्छा से वरण करले—उसे आप प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लें।"

स्वभावतः शुद्ध कार्य होते है और अशुद्ध भाव होने से अशुद्ध कार्य होते है। सात्विक भावों का जब प्राबल्य होता है तब सात्विक कार्य होते है, तमोगुण की प्रबलता में तामसी कार्य इसीलिये मुनियों ने भाव शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया है। अन्य शरीरों में अन्य जाति के प्राणियों का आवेश हो जाता है। मनुष्य के शरीर मे भूत, प्रेत, पिशाच, बैताल, ब्रह्मराक्षस आदि घुस जाते है, तब उसका शरीर तो वैसा ही रहता है, चेष्टा सब उन आवेश वाले प्राणियों की सी हो जाती है। जिसने जीवन में कभी सुरापान न किया हो, यदि उसके शरीर में कोई सुरापी जीव घुस जाता है, तो वह यथेष्ट सुरापान कर लेता है। उस समय वह जो कार्य करता है, स्वयं नहीं करता। उसके शरीर मे जिसका आवेश होता है, वही सब करता है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! वसिष्ठजी के शाप से महाराज सौदास के शरीर में राक्षस घुस गया। अब वे सभी चेष्टायें राक्षसों की सी करने लगे। जगलों में घूमने लगे। जहाँ भी किसी पुरुष को देखते, वही उसे पकड़कर खाजाते। एक दिन राजा राक्षसभावापन्न होकर भूखे इधर-उधर आहार की खोज में रात्रि के समय घूम रहे थे उसी समय उन्होंने देखा एक ऋषि अपनी पत्नी में गर्भाधान संस्कार कर रहे है। संतति की कामना से द्विज पत्नी अपने पति के साथ सहवास कर रही है। महाराज की ऐसी चेष्टा देखकर द्विज पत्नी डर गई। राजा ने बल पूर्वक जाकर मुनि को पकड़ लिया। अभी तक मुनि पत्नी का मनोरथ पूर्ण नही हुआ था, उस समय में राक्षस के प्रहार करने से पत्नी पति दोनो को मर्मान्तिक क्लेश हुआ। राजाने बल पूर्वक पति पत्नी को एक दूसरे से पृथक कर दिया और उनमें से पुरुष को पकड़ लिया स्त्री को, छोड़ दिया। राक्षस भी सहसा स्त्री पर

पुण्यश्लोक राजर्षि सौदास हैं। आपके द्वारा यह क्रूर कर्म कभी भी न होना चाहिये। आपका साधु समाज में सर्वत्र सम्मान है। आप तो दीनों पर सदा दया करते रहते हैं, फिर गौ और ब्राह्मणों के तो आप भक्त हैं। ये वेदवादी धर्मज्ञ श्रोतिय ब्राह्मण है। आप इन्हें क्यों खा जाना चाहते है ? यदि आपने इन्हें खाने का निश्चय कर लिया है, तो पहिले मुझे खा लीजिये। इनके विना मै एक क्षण भी जीवित नही रह सकती।"

श्री शुकदेवजी कहते है–"राजन् ! इस प्रकार वह विप्र पत्नी विविध भाँति से विलाप करती रही, अनेक प्रकार से राजा को समझाती रही, किन्तु महाराज सौदास तो शाप से विमोहित थे, उन्होने ब्राह्मणी की एक बात भी न सुनी। वे उसके पति को खा गये। यह देखकर मुनिपत्नी को बड़ा दु:ख हुआ। उसने राजा को शाप देते हुए क्रोध में भरकर कहा–'अरे पापी ! अरे क्रूर ! तैंने मुझ अबला पर तनिक भी दया न की। मैं सतान की इच्छा से पति का सहवास कर रही थी, तैंने बलात् मेरे पति से मुझे पृथक् कर दिया। मेरी इच्छा पूरी न होने दी, अत: मैं तुझे शाप देती हूँ, कि तू भी जब स्त्री समागम करेगा, तब तेरी भी इसी प्रकार मृत्यु हो जायगी, तू सन्तानोत्पत्ति करने में कभी समर्थ न हो सकेगा।"

महाराज तो शाप विमोहित थे, उन्होने ब्राह्मणी के शाप पर कुछ भी ध्यान नही दिया। वे ब्राह्मण को खा कर चले गये। वह पति परायण विप्र पत्नी अपने पति की अस्थियों को लेकर चिता चुनकर सती हो गई। वह परलोक में जाकर अपने पति के साथ मिल गई। इस प्रकार राक्षस भावापन्न राजा को मुनि पत्नी का अनपत्य होने का शाप हुआ था।

उन कन्याओं में से ही एक कन्या हमें दे दो। हम याचक हैं। आशा लगाकर तुम्हारे द्वार पर याचना करने आये हैं। आप धर्मात्मा हैं, प्रजा के लिये कल्पवृक्ष के समान है। आपके यहाँ से कोई अर्थी निराश होकर नहीं लौटता। आप अपनी प्रतिज्ञा को पूरी कीजिये और एक कन्या देकर मेरी मनोकामना पूर्ण कर दीजिये।"

राजा के ऊपर तो मानों वज्र गिर गया हो, उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं थी, मुनि ऐसा प्रस्ताव कर सकते हैं क्या? कहाँ तो मेरी प्यारी, दुलारी, परम सुकुमारी राजकुमारी और कहाँ ये वृद्धावस्था से जर्जरित कठोर चर्म वाले बूढ़े मुनि। इन्हें अपनी कन्या देना तो कन्या के जीवन को व्यर्थ बनाना है कन्या मुझे जीवन भर कोसेगी, कि पिता ने कैसे वर के हाथों मुझे बिना सोचे समझे दे दिया। एक ओर तो यह कठिनाई थी, दूसरी ओर मुनि के कोप का भी भय था। राजा मुनि के तप-तेज को जानते थे, उन्हें यह भी विश्वास था, मुनि चाहें तो शाप देकर क्षण भर में मेरे राज्यपाट को भस्म कर सकते हैं। अतः वे न तो नहीं ही कर सकते थे और न हाँ ही कह सकते थे। वे धर्मसंकट में पड़ गये। फिर भी राजा ही ठहरे उन्होंने एक युक्ति सोची और बड़ी नम्रता से बोले—"ब्रह्मन् आपका कहना यथार्थ है। ब्राह्मण संसार में सबसे श्रेष्ठ वर है, फिर वह तपस्वी तेजस्वी यशस्वी और महर्षि हो तब तो कहना ही क्या। आप सर्वथा मुझसे कन्या पाने के अधिकारी हैं किन्तु मुनिवर! शास्त्रकारों ने ८-१० वर्ष की लड़की को ही कन्या कहा है। उसे योग्य वर को दान करने का पिता को स्वयं अधिकार है। यदि कन्या की इससे बड़ी अवस्था हो जाय, वह बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था में प्रवेश कर जाय तब

गौतम मुनि बोले—"अच्छी बात है, यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है, तो मुझे तो कुछ इच्छा है नही, अपनी गुरु माता के पास जाओ, वह जो वस्तु लाने को कहे, वह उसे लाकर दे दो"

यह सुनकर उत्तङ्क अपनी गुरु माता अहल्या के निकट गये और बोले—"माता जी! अब मै विद्या समाप्त करके जा रहा हूँ, मैं कुछ गुरु दक्षिणा देना चाहता हूँ, गुरु जी ने मुझे आपके पास भेजा है, आपकी जो भी इच्छा हो, उसे मै पूर्ण करूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे है—"ऋषियो! स्त्रियों से कोई मन की बात पूछे, तो वे कोई न कोई आभूषण की ही इच्छा करेगी। विवाह में-त्योहार पर्व में-जायँगी, तो सबसे पहिले उनकी दृष्टि आभूषणों पर ही पड़ेगी, किसके कर्णफूल सुन्दर हैं, किसका हार चमकीला है, किसका कौन सा आभूषण कैसा है, किसकी अँगूठी में कैसा नग है, जो वस्तु उनके मन पर चढ़ जायगी, उसे बार-बार देखेंगी उसका मूल्य, मिलने का पता पूछेगी और अवसर पड़ने पर उसके लिये पति से आग्रह करेंगी। चाहे आभूषण पेटी में ही बन्द रहें कभी भी न पहिने, किन्तु आग्रह अवश्य करेंगी। गौतम पत्नी अहल्या कभी यज्ञ में अपने पति के साथ अयोध्या गई होंगी। वहाँ महलों मे उन्होंने कभी सौदास की पतिव्रता पत्नी मदयन्ती को दिव्य कुण्डल पहिने देखा होगा। वे कुंडल उसके मन पर चढ़ गये होगे। पति से तो कैसे कहती। जब शिष्य ने आकर पूछा—"तब बड़े स्नेह से बोली—"बेटा? यदि तुम मेरी इच्छा पूरी करना चाहते हो, तो मेरी एक इच्छा है,उसे यदि पूरी कर सको तो मैं परम प्रसन्न होऊँगी।"

उत्तङ्क मुनि बोले—'माताजी। आप अपनी इच्छा मुझे बताइये। असम्भव बात भी होगी, तो भी मैं उसे पूर्ण करूँगा।

सब कन्याओं से कह देना—"जो इन महर्षि को स्वेच्छा से वरण करेगी, उसका विवाह मैं इनके साथ कर दूंगा।"

प्रतिहारी ने सिर झुकाकर राजा की आज्ञा शिरोधार्य की मुनि के आगे होकर कन्याओं के अन्तःपुर का मार्ग दिखाने लगा। अन्तःपुर रक्षक प्रधान प्रतिहारी आगे-आगे चल रहा था, उसके पीछे-पीछे मुनि चल रहे थे, उन्होंने अपने योग बल से इतना सुन्दर रूप धारण कर लिया था कि कोटि कामदेव भी उनके रूप के सम्मुख लज्जित हो जाते। वे देखने में १७-१८ वर्ष के परम सुन्दर सुकुमार युवक से प्रतीत होते थे। उनके अङ्ग-अङ्ग से सौन्दर्य और यौवन फूट-फूटकर निकल रहा था। विकसित कमल के समान बड़ी-बड़ी विशाल आंखों में अनुराग की झलक स्पष्ट प्रतीत होती थी। उनकी चितवन में जादू था। मन्द-मन्द मुस्कराते हुए और कामिनियों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करते हुए वे कन्याओं के अन्तःपुर में पहुँचे। ऐसे सुन्दर सुकुमार युवक को देखकर सभी कन्यायें अपने आपे को भूल गईं। वे उनके सौन्दर्य माधुर्य के जाल में ऐसी फँस गईं कि स्त्री सुलभ स्वाभाविकी लज्जा को भी भूल गईं। अपलक दृष्टि से मुनि के मनोहर रूप को निहारती की निहारती ही रह गईं। बूढ़े प्रतिहारी ने हाथ उठाकर कहा—"पुत्रियो! मुझे महाराज ने आज्ञा दी है कि इन मुनिवर को आप सबके समीप ले जाऊँ। आपमें से जो इन्हें स्वेच्छा से पतिरूप में वरण करेगी, उसी का विवाह महाराज इनके साथ कर देंगे।"

यह सुनकर सबके मुखकमल उसी प्रकार खिल गये जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर कुमुदिनी खिल जाती है। उनमें से कई एक साथ ही बोल उठीं "मैं इन्हें वरण करती हूँ।" इस पर जो बड़ी थी वे बोली—"तुम्हें ऐसी बात कहने में लज्जा नहीं

गुरुदक्षिणा के लिये जो प्रयत्न कर रहा हो, इन्हें अवध्य बताया है। अत. आप मुझे मार कर खाने का विचार छोड़ दें।"

राजा सौदास बोले—"ब्रह्मन्! मैं तो राक्षस हूँ। दिन का छठा भाग बीत चुका, मुझे भूख लग रही है आप दे रहे हैं धर्म की सीख। यह उसी प्रकार की शिक्षा है जैसे प्रज्वलित अग्नि को घृत डालकर शान्त करना। द्विजवर? अबतो मैं आपको बिना खाये छोड नहीं सकता।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"ब्रह्मन्! मुझे मरने से तो भय है नही, किन्तु मुझे गुरुदक्षिणा की चिन्ता है। यदि आपने मुझे खाने का ही दृढ़ संकल्प कर लिया है, तो पहिले मुझे मेरी मनमानी वस्तु दे दीजिये। उसे देकर तथा गुरु ऋण से उऋण होकर मै पुन: आपके समीप आ जाऊँगा, तब आप मुझे खालें।"

राजा सौदास बोले—"अजी, महाराज? मैं कोई बच्चा तो हूँ नही, जो आप मुझे फुसला लें। राक्षस के मुख से निकल कर फिर कौन प्राण गवाँने आता है।"

उत्तङ्क मुनि ने उत्तेजित होकर कहा—"राजन्! आप मुझे झूठा समझते है? मैं अवश्य आऊँगा।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, मांगिये, क्या आपको माँगना है। यदि वह वस्तु मेरे अधीन हुई तो उसके मिलने में आप तनिक भी सन्देह न करें।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"मुझे अपनी गुरुपत्नी को देने के लिये आपकी पतिव्रता पत्नी के कानों के दिव्य कुण्डल चाहिये।"

राजा ने कहा—"वह तो मेरी रानी के पास है, उससे जाकर आप माँगे।"

मुनि ने रानी से जाकर ज्यों ही यह बात कही त्यों ही रानी ने अपने कानों में से दिव्यकुंडल उतार कर मुनि को दे दिये और कह दिया—"ब्रह्मन् ! ऐसे दिव्य कुण्डल तीनों लोकों में भी कहीं नहीं है। इन्हें आप पृथिवी पर भूल कर भी न रखना नहीं तो कोई नाग, देव, दानव इन्हें तुरन्त उठा ले जायगा।"

रानी की यह बात सुन कर उसे आशीर्वाद देकर मृग चर्म में कुंडलों को लपेट कर मुनि उत्तंक चल दिये। वे एक बार राजा के पास मित्र भाव से फिर आये और बोले—"राजन् ! आप का कल्याण हो, आप ने जो रानी को संकेत वचन कहा था, उसका अभिप्राय क्या है ?"

राजा बोले—"ब्रह्मन् ! जीवन भर मैंने ब्राह्मणों की सेवा की इसका फल यह हुआ, कि मुझे राक्षसी योनि प्राप्त हुई। फिर भी जैसे अबोध बालक को माँ के अतिरिक्त कोई गति नहीं, वैसे ही ब्राह्मणों के अतिरिक्त मेरी भी कोई गति नहीं। इसीलिये मैंने आप को राक्षस भाव में भी मुहमांगा दान दिया। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। अब तुम्हें देखना है कि तुम कुंडल देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हो या नहीं। लौट कर मेरा आहार बनते हो या नहीं।"

यह सुन कर उत्तंग मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप से मित्र भाव से एक प्रश्न पूछता हूँ, उसका उत्तर आप मैत्री धर्म समझ कर दें। क्योंकि सज्जन पुरुष जिससे वार्तालाप कर लेते हैं, वे उनके मित्र बन जाते हैं। अतः आप मेरे मित्र हुए। राक्षस भाव से नहीं मित्रभाव से आप मेरी बात का उत्तर दें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, पूछिये ! मैं मित्रभाव से ही यथार्थ उत्तर दूँगा।"

उसने कहा—"भगवन्! वे दुष्ट उस युवती से बलत्कार करने का आयोजन कर रहे थे, वह कुररी की भाँति डकरा रही थी, मुझे उस पर दया आई। मुझसे न रहा गया और सोचा—"जैसे ही ७० वैसे ही ८०" यह सोचकर मैंने उन्हें मार डाला। उस स्त्री को सकट से छुड़ाया। उसके देखते ही यह झन्डा काले से सफेद हो गया।"

यह सुनकर गुरु बोले—"भैया तुम्हारी इन हत्याओं ने ही तुम्हारे सब पापो को धो दिया। किसी को मार देना ही हिंसा नहीं है और किसी को जीवित छोड़ देना ही अहिंसा नहीं है। यदि किसी को धर्म भ्रष्ट करके उसे जीवित छोड़ भी दिया, तो वह मरण से भी अधिक दुखदायी है वह अहिंसा सबसे बड़ी हिंसा है। और कोई गाँव में आग दे रहा है, कूओं में विष डाल रहा है, शस्त्र लेकर मारने आ रहा है या स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट कर रहा है, तो शक्ति रहते इन पापो का बिना विरोध के चुपचाप सहन करते रहना, उसे इन पापों को करते देखना सबसे बड़ी हिंसा है, उसे बिना विचारे मार देना ही परम धर्म है। ऐसे दुष्टों का वध कर देना अधर्म नहीं परम धर्म है। पाप पुण्य का सम्बन्ध भावना से है। वे ७० हिंसायें तुमने स्वार्थवश की थीं इसलिये उनसे तुम्हें घोर पाप लगा। ये हिंसायें तुमने परमार्थ भावना से की, इसलिये तुम्हारे सब पाप धुल गये, तुम्हें परम पुण्य की प्राप्ति हुई। दया ने तुम्हें शुद्ध बना दिया। उस सती की करुणा भरी दृष्टि ने तुम्हारे काले झन्डे को शुभ्र बना दिया। देखो, तप करना कोई पाप नहीं है। अध्ययन करना पाप नहीं है, किसी के धन को बल पूर्वक छीन लेना भी पाप नहीं है। यदि ये ही काम स्वार्थ से प्रेरित होकर अधर्म भावना से किये जायें तो पाप हैं। इसलिये तुम अब भजन करो।"

का शाप हो गया, तो उनका आगे का वंश कैसे चला, इसे कृपा कर हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो! अब मैं आप को सौदास अश्मक का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप इसे श्रद्धा सहित सुनें।"

(छप्पय)

बीते बारह बरस शाप उद्धार भयो जब।
करिबे गर्भाधान भये उद्यत भूपति तब॥
बरजे रानी नृपति शापकी याद दिलाई।
महिषी सतति बिना बहुत रोई घबराई॥
वंशनाशको भय समुझि, लख्यो न अन्य उपाय जब।
गुरु वशिष्ठतें बिनय करि, भूप प्रार्थना करी तब॥

सौभरि मुनि का गार्हस्थ्य जीवन

[६३०]

स बह्वृचस्ताभिरपारणीय-
तपःश्रियानर्घ्यपरिच्छदेषु ।
गृहेषु नानोपवनामलाम्भः-
सरस्सु सौगन्धिककाननेषु ॥❀

(श्री भा. ९ स्क० ६ अ०, ४५ श्लो०)

छप्पय

विधिवत् कर्यो विवाह फेरि सुनरख मुनि आये ।
सबकूँ सुन्दर महल पृथक् सौभरि बनवाये ॥
सबकूँ भूषण वसन सुखद शैयादिक दीन्हीं ।
सबकी इच्छा पूर्ण तपस्या तैं मुनि कीन्हीं ॥
सब महलनि महँ सरोवर, स्वच्छ नीर नीरज सहित ।
असन वसन उबटन सतत, रहहिँ पवन सुखप्रद बहत ॥

यदि गृहस्थ में रहकर गृहस्थ सम्बन्धी सभी सुख हैं, अर्थात् धन की कमी नहीं, नित्य किसी न किसी व्यवसाय से धन आता

❀ शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् तदन्तर वे ऋग्वेदीय ऋषि अपने अपार तप के प्रभाव से बहुमूल्य परिच्छेदों वाले घरों में, नाना उपवनों मे अमल जल वाले सरोवरो मे सौगन्धिक नामक कमल वाले कमल के कानने में अपनी स्त्रियों के संग विहार करने लगे।"

दिखाई देने वाला कार्य अधर्म माना जाता है। जो सर्वज्ञ हैं वे ही धर्म के मर्म को भली भाँति जान सकते है।

श्रीशुकदेजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज अश्मक के पुत्र मनुकुल के मूलक क्यों हुए इस प्रसङ्ग को मैं आपको सुनाता हूँ। महाराज अश्मक ने बहुत दिनों तक पृथिवी का पालन किया। बहुत से यज्ञ याग किये और अन्त में अपने पुत्र मूलक को राज-पाट सौपकर वन में तपस्या करने चले गये।

जिन दिनों महाराज मूलक पृथिवी का राज्य करते थे,उन्ही दिनों जमदग्नि के सुत भगवान् के अंशावतार श्रीपरशुरामजी का प्राकट्य हुआ। उनके पिता को हैहय कुल के क्षत्रियों ने मार डाला था, अतः महर्षि परशुराम ने हाथ मे फरसा लेकर प्रतिज्ञा की थी कि मैं 'पृथिवी पर एक भी क्षत्रिय को न छोड़ूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके उन्होने क्षत्रिय कुल का संहार करना आरम्भ कर दिया। जहाँ भी बूढ़े, बच्चे, युवक क्षत्रिय को देखते वहीं वे उसका संहार कर देते। इस प्रकार क्षत्रियो का संहार करते करते वे अयोध्या पुरी में भी आये।

महाराज मूलक ने जब सुना कि क्षत्रिय कुल नाशक महर्षि परशुराम आरहे है, तो उन्होंने सोचा—"वे तो भगवान् के अशावतार है, उनसे मैं युद्ध में तो किसी प्रकार जीत नहीं सकता अतः वे महल में जाकर रानियों में छिप गये। रानियो ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और चूड़ियाँ पहिना दीं। महाराज परशुराम जी आये उन्होंने चारो ओर राजा को खोजा, राजा का कही पता ही न लगा। अन्तःपुर में उन्होने देखा तो सब रानी ही रानी बैठी है, स्त्रियाँ तो सदा अवध्या बताई है, अतः महर्षि देख भाल कर लौट आये। उन्होंने समझा राजा भाग गया।

के साथ विवाह किया तो उनमें परस्पर सौतिया डाह नहीं होता था क्या ?"

इस पर श्री शुकदेव बोले—"राजन् ! सौतिया डाह तब होता है जब पति एक पत्नी के साथ कुछ और व्यवहार करे, दूसरी के साथ कुछ और। जब सबके साथ समान व्यवहार किया जाय तब सौतिया डाह कैसे होगा ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! मुनि तो एक थे, स्त्रियाँ थीं ५०। कभी किसी के यहाँ रहे तो दूसरी स्वाभाविक ही बुरा मनेगी। ऐसी दशा में सौतिया डाह होना स्वाभाविक ही है।"

श्री शुक बोले—"महाराज ! मुनि तो सर्व समर्थ थे वे अपनी तपस्या के प्रभाव से सब कुछ जानते थे और सब कुछ करने में समर्थ थे। उन्होंने कहने सुनने के लिये किसी को अवसर ही नहीं दिया जब वे विवाह करके आये तो उन्होंने सर्व प्रथम देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा को बुलाया। सुनते ही विश्वकर्मा दौड़े आये और हाथ जोड़ कर बोले—"मुनिवर ! सेवक के लिये क्या आज्ञा होती है ?"

सौभरि ऋषि ने कहा—"देखो भैया ! तुम समस्त शिल्पियों में श्रेष्ठतम हो। हमने ५० राजकन्याओं के साथ विवाह किया है। तुम इन पचासों के लिये पचास महल पृथक् पृथक् बनाओ व ऐसे हों कि तनिक भी न्यूनाधिक्य न हो, सब समान हों, सबके आकार-प्रकार साज सामान, रूप-रंग एक से हों। सबमें स्वर्गीय सुखों की समस्त सामग्रियाँ समुपस्थित रहें। किसी में किसी वस्तु की कमी न रहे।'

हाथ जोड़े हुए विश्वकर्मा ने कहा—"बहुत अच्छी बात है भगवन् ! मैं ऐसे ही ५० महल तुरन्त बनाता हूँ। तब तक आप

बात यह थी, कि दैत्यों ने देवताओं पर चढ़ाई कर दी। देवता बहुत दिनों तक लड़ते रहे किन्तु वे दैत्यों को पराजित न कर सके। जब वे सब प्रकार से थक गये, तब वे पृथिवी पर आये। उन दिनों महाराज खटवाङ्ग इस सम्पूर्ण भूमंडल का शासन करते थे। वे पराक्रम में इन्द्र के समान थे। देवताओं ने प्रार्थना की–"राजन् ! आप हमारी ओर से चलकर असुरों से युद्ध करें।' देवतओं की प्रार्थना से महाराज अपने दिव्य रथ पर चढ़ कर स्वर्ग गये और उन्होंने युद्ध में असुरों का संहार किया। देवताओं की विजय हुई।"

विजय के अनन्तर देवताओं ने कहा–"राजन् ! आपने बड़ा श्रम किया, आप मुक्ति को छोड़ कर हमसे और जो भी चाहें वरदान माँग लें, क्यों कि मुक्ति के दाता तो मधुसूदन ही है।"

राजा ने कहा–"देवताओ ! मैं सर्वप्रथम यह जानना चाहता हूँ, कि मेरी अब आयु कितनी और शेष है ?"

देवताओ ने कहा—"अजी, राजन् ! आयु की क्या पूछते है, आपकी आयु तो अब केवल मुहूर्त भर और शेष है।"

यह सुन शीघ्रता के साथ राजा बोले—"तो अब रहने दीजिये मुझे कुछ भी वर न चाहिये अब तो मैं इस एक मुहूर्त का सदुपयोग करना चाहता हूँ, इस एक मुहूर्त में ही मन माधव के पाद पद्मों में लगाकर परम गति प्राप्त करना चाहता हूँ। मुझे मेरे नगर मे ब्राह्मणों के बीच में जाने दीजिये। यद्यपि आप सब सत्व प्रधान है, किन्तु स्वर्ग के दिव्य विषय भोगों में आसक्त होने के कारण अपने अन्तः करण में स्थित परम प्रिय सनातन आत्मा श्री हरि को नहीं जान पाते।"

ऐसा कह कर महाराज तुरन्त स्वर्ग से अवनि पर आये, मन को श्रीहरि के चरणों में लगाकर उन्होंने मर्मान्तिक वाणी में यह

महीने फूलती रहती थीं। जिनकी सुवास से सम्पूर्ण भवन सुगन्धित बना रहता था। इधर-उधर की क्यारियों में बड़े-बड़े फलों वाले वृक्ष लगे थे। जिनकी शाखायें भूमि पर लोट रही थीं, जिन पर सुन्दर कच्चे-पक्के फल लगे हुए थे। प्रत्येक परकोटा के भवन के भीतर एक सुन्दर स्वच्छ जल वाला सरोवर था, जिसका नीर कांच के समान चमकता था। जिसमें नाना भांति के कमल खिल रहे थे। रंग बिरंगी मछलियां इधर से उधर उनमें फुदककर कमल की डालो को हिला रही थीं। हंस, सारस, कारंडवा, जलकुक्कुट तथा अन्य जल-जन्तु जिनके किनारे स्वच्छ होकर क्रीडा कर रहे थे। स्थान-स्थान पर मणिमय वेदियां बनी थीं। जो मालती माधवी तथा मल्लिकाओं की कुन्जो से आवृत थीं। मध्य में एक-एक भ०. भवन बना हुआ था जिसके चारों ओर दालान थे। वे उतने न बहुत बड़े थे न छोटे। वे भवन कई विभागो में विभक्त थे। सब में एक बैठने उठने का बडा गृह था। जिसमें नाना प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र थे। सुवर्ण के सिंहासन रखे हुए थे, जिन पर गुद-गुदे बिछौने बिछे हुए थे। शृङ्गार की सभी सामिग्रियां यथा स्थान रखी थी। उससे सटा ही हुआ शयनगृह था। जिसमें हाथीदांत के पायों वाले पलंग पडे हुए थे, जिसमें अत्यन्त मृदु गद्दे बिछे हुए थे, जो दुग्ध के फेन के समान स्वच्छ सफेद चादर से ढके थे। जिन पर छोटे बड़े गोल चौकोन बहुत से ऐसे तकिये रखे हुए थे जिनका स्पर्श अत्यन्त ही सुखद था। समीप ही थूकने और कुल्ला करने के थूके हुए पात्र रखे थे, छोटे बड़े भांति-भांति के पंखे रखे रहते थे। वह गृह ऐसा था कि ठंडी में गरम रहता था और गरमी में शीतल रहता था। विविध प्रकार के सुगन्धित और स्निग्ध द्रव्य रखे थे। उसमें से एक प्रकार की दिव्य गन्ध

भली भाँति भगवान् में तन्मय हो जाय तो उसका बेड़ा पार ही समझो। जब महाराज को यह दृश्य प्रपञ्च मिथ्या और स्वप्न वत् प्रतीत होने लगा तब देहादि में आत्मबुद्धि रूप अज्ञान को परित्याग करके अपने आप में ही स्थित हो गये। अर्थात् वे भगवान् वासुदेवमय हो गये जो सत्य स्वरूप परब्रह्म और अति-सूक्ष्म तथा अति स्थूल है जो इस सम्पूर्ण ससार में सर्वत्र व्याप्त हैं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज खडवाङ्ग परम पद को प्राप्त हुए तो उनके पुत्र महाराज दीर्घबाहु राजा हुए। इन दीर्घबाहु का ही दूसरा नाम दिलीप है, इन दिलीप ही के पुत्र राजर्षि रघु हुए। ये इतने प्रतापी हुए कि इक्ष्वाकु वंश इनके अनन्तर रघुवशी कहलाने लगे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन् ! मुझे महा-राज रघु और उनके वश के मुख्य मुख्य राजाओं का चरित्र सुनाइये।"

यह सुनकर आँखों में आँसू भरकर श्रीशुक बोले—"राजन् ! अब मैं तुम्हें रघुवंश चरित्र सुनाता हूँ। आप श्रद्धा से सुने।"

छप्पय

जानी एक मुहूर्त आयु सब जग बिसरायो।
करिकें ध्यान अखण्ड परम पद नृप ने पायो॥
तिनके पुत्र दिलीप यशस्वी दीर्घबाहु वर।
सन्तनि बिनु अति दुखित गये निबसें जहँ गुरुवर॥
महिषी संग सुदक्षिणा, लिये जाय गुरु पद गहे।
आशिष दै निज शिष्यतें, वचन मुदित मन गुरु कहे॥

रुचिपूर्वक किया जा सकता था।

गृह के सम्मुख ही दूर परकोटे के भीतर कामधेनु के वंश की सुन्दर लक्षण वाली, बड़े बड़े ऐन वाली मोटी ताजी निरोग गौवें बंधी थी, जो जब चाहें तभी जितना चाहें उतना दूध दे दें। उनके छोटे-छोटे बच्चे इधर से उधर फुदक रहे थे, किलोलें कर रहे थे। गौएँ बैठी जुगार कर रही थी, उनके स्तनों के दूध से पृथ्वी भीगी हुई थी फल और पुष्पों से नवे हुए वृक्षों पर विविध भाँति के पक्षी बैठे हुए कलरव कर रहे थे, पिंजड़ों में पाले हुए सारिका आदि पालतू पक्षी मुनि के यश का गान कर रहे थे। प्रत्येक भवन में १००-१०० दास दासी सुन्दर स्वच्छ वस्त्र पहिने सोने के कुन्डलों से जिनके कपोल दमक रहे थे, इधर से उधर फिर रहे थे। सेविकायें सभी श्यामा थी, उनका वर्ण-सुवर्ण के समान पीत था, उनके शरीरों से सदा कमल की गन्ध निकलती रहती थी। सभी यौवन के मद में इठलाती, नितम्ब और पीनपयोधरों के भार से नमित हुई मथरगति से चलती थीं। वे सभी विनयवती और रूपवती थी। द्वाररक्षक और अन्तपुर रक्षकों के वेषभूषा सब पृथक् थे। वृक्षों और लताओं की देख-रेख करने वाले माली बड़ी सावधानी से सभी वृक्ष पौधों को देख रहे थे। सब भवनों में एक-एक पृथक् पूजागृह था। जिसके समीप की क्यारियों में हरी-हरी मंजरी सहित हरिप्रिया तुलसी लहरा रही थी। सभी में भगवान् की सेवा थी और सेवा के उपयोगी सभी सामग्रियाँ विपुल मात्रा में विद्यमान थीं। आमोद प्रमोद और विनोद के लिये भवन और परिष्कृत प्राङ्गण थे। जिनमें गुदगुदे गद्दे के समान हरी दूर्वा उगी थी। जिस पर पैर रखते ही सुख का अनुभव होता था। वहाँ बैठकर गायन, वाद्य और नृत्य का आनन्द लिया जा सकता था। अधिक क्या कहें इतने ही में

जिस कुल के पुरुषों को उन्होंने पिता पितामह प्रपितामह, पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्र आदि कहा है। प्रभु के कौन पिता पितामह, वे तो चराचर जगत् के पिता है, सबके जनक है, किन्तु वे सम्बन्ध स्थापित न करें तो संसार में सरसता कैसे आवे। संसार का अस्तित्व न मानकर एक निर्गुण निराकार ध्यान यह देहवाला प्राणी कैसे कर सकता है। देहधारी देहधारी से ही प्रेम करेगा। प्रेम प्राय: एक योनिवालों में ही होता है, सम्बन्ध प्राय: सब जाति में ही होता है। जब तक भगवान् से सम्बन्ध न होगा—ब्रह्म सम्बन्ध संस्कार की दीक्षा न ली जायगी—तब तक भक्ति का प्राकट्य कैसे हो सकता है। सम्बन्ध तभी संभव है, जब सर्वेश्वर सर्वात्मा हमारे बीच में अवतरित हों। भगवान् का अवतार उसी कुल में होगा, जिसकी वंश परम्परा विशुद्ध हो, जिस वंश के लोग धर्म रक्षा के लिये सदा प्राण देने को उद्यत रहते हों, ऐसा विशुद्ध वंश सूर्यवंश ही है। जो पुण्य श्लोक परम प्रतापी महाराजाधिराज श्री रघु के उत्पन्न होने से रघुवंश कहाया जिसके कारण हमारे जानकी जीवन धन रघुवर, रघुनाथ रघुनन्दन, राघव, रघुकुलतिलक, रघुकुलकेतु, राघवेन्दु आदि कहलाये।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! पुण्य श्लोक राजर्षि खट्वांग के पुत्र परम यशस्वी दीर्घबाहु हुए जिनका दूसरा नाम दिलीप भी था। महाराज दिलीप का विवाह मगधनन्दिनी सुदक्षिणा देवी के साथ हुआ सुदक्षिणा को पाकर राजा उसी प्रकार प्रमुदित हुए जैसे छोटे यज्ञ में भूरि दक्षिणा पाकर ब्राह्मण प्रमुदित होते हैं। महारानी सुदक्षिणा जितनी ही सुन्दरी सुकुमारी थी उतनी ही साध्वी तथा सरल हृदय थीं। वे अपने पति को प्राणों से भी अधिक

कुमारियों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। यथार्थ में ऐसी दिव्य वस्तुएं उन्होंने आज तक आँखों से भी न देखी थी। पृथ्वी पर ही स्वर्ग की समस्त सामग्रियों को पाकर के मुनि पत्नियाँ परम प्रमुदित हुईं। मुनि ने योगबल से अपने ५० रूप धारण कर लिये और सबके घरों में सदा रहने लगे। सभी को यही प्रतीत होता था कि मुनि मुझसे ही अत्यधिक अनुराग करते हैं, तभी तो मेरे घर को छोडकर मेरी अन्य बहिनों के घर नहीं जाते।"

एक दिन राजा मान्धाता ने सोचा—"मैंने अपनी ५० कन्याओं का विवाह महर्षि के साथ कर दिया। चलकर देखूं तो सही कन्यायें सुखी हैं या दुखी। यदि उन्हें धन आदि की आवश्यकता हो तो मैं यहाँ से पहुँचाया करूँगा।" यही सोचकर महाराज अपने सेवकों के सहित वृन्दावन पहुँचे। सर्वप्रथम वे अपनी बडी पुत्री के घर में गये। सेवकों ने समाचार दिया—"अयोध्याधिप चक्रवर्ती महाराज पधारे हैं।"

सुनते ही पत्नी के सहित मुनि ने अपने ससुर का स्वागत किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर मुनि दूसरे घर में चले गये। राजा ने अपनी पुत्री से पूछा—"बेटी! कहो, किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं, किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं।"

पुत्री ने कहा पिताजी! आपने तो हमें जीवित ही इस पृथ्वी पर ही स्वर्गीय सुखों को प्रदान कर दिया है। कोई भी मर्त्य लोक का प्राणी इतने सुखों का उपभोग नहीं कर सकता। आप के आशीर्वाद से मुझे सभी प्रकार के सुख हैं। केवल एक ही दुख है।"

पिता ने उत्सुकता के साथ पूछा—"वह कौन सा दुख है बेटी?"

राजकुमारी ने कहा—"पिता जी! जब से मैं यहाँ आई,

नाथ ! मैं भी बहुत दिनों से यही सोच रही थी, किन्तु सङ्कोच-वश कुछ कह न सकी।"

अपनी पत्नी की भी इच्छा समझ कर महाराज ने तुरन्त अपना रथ मगाया और वे रानी के सहित रथ में बैठ कर चलने लगे। उनके चलते ही आगे पीछे रक्षा के लिये विशाल सेना चली राजा ने कहा—"मेरे साथ सेना की आज कोई आवश्यकता नही। आज मैं अपने गुरुदेव के आश्रम पर जा रहा हूँ। वहाँ मैं अकेले ही जाऊँगा।"

राजा की आज्ञा पाकर सेवक लौट गये। रानी के साथ हंसते खेलते, उन्हें भाँति-भाँति के वृक्ष, फल, फूलों को दिखाते उनका परिचय कराते हुए राजा वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर पहुँचे। रथ की घरघराहट सुन कर छोटे-छोटे मुनि कुमारो ने दौड़ कर रथ को घेर लिया। कोई उछलने लगे, कोई कूकने लगे। मयूर मेघ की गड़-गड़ाहट समझ कर चिल्लाने लगे। आश्रम के मृग चकित दृष्टि से निहारने लगे, वृक्षों पर बैठे पंछी कलरव करने लगे। राजा ने प्रथम उतर कर रानी को उतारा और वे आश्रम की उटजों को निहारते हुए यज्ञ के धूएं को लक्ष करके जा रहे थे, उनके पीछे अपने वस्त्रों को सम्हालती, घूँघट में से एक आँख से निहारती हुई सुदक्षिणा उसी प्रकार चल रही थीं जिस प्रकार सायंकाल मे पुरुष के पीछे पीछे छाया चलती है।

गुरु अग्निहोत्र करके अपने शिष्यों से घिरे यज्ञ वेदी के समीप एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे थे। राजा ने अपने बड़े बड़े विशाल हाथों की कोमल गद्दियों से जिनमें धनुष की ठेक पड़ी हुई थी उनसे—मुनि के पैर पकड़े और अपने चमचमाते हुए मणिमय मुकुट की प्रभा को उनके नख की ज्योति में मिला

अपनी प्रियाओं को प्रसन्न करते रहे। उनकी ५० पत्नियों के सब के गर्भ से १००, १०० पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार मुनि के ५ हजार पुत्र हुए। जिस कुन्ड में बैठकर मुनि तपस्या करते थे। उसका नाम अहिवास हुआ। कालिय नाम के अहि के वास करने से उसे अहिवास या कालियह्रद लोग कहने लगे।

इस पर श्री शौनक जी ने पूछा— सूतजी यह कालिय अहि कौन था, जिसके कारण उस सौभरि कुन्ड का नाम अहिवास या कालियह्रद पड़ा ? कृपा करके इस कथा को आप हमें और सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—' मुनियो ! यह परम पवित्र कथा है। मैं उस कथा को आपको सुनाता हूँ, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

मुनि पचास धरि वेष रमण नित सब सँग करहीं।
तप प्रभाव तें ताप व्यथा तन मन की हरहीं॥
आये नृप इक दिवस देखि वैभव विस्मित अति।
भये, सबनि ढिंग गये कहें नित इतहिँ बसहिँ पति॥
सुरपुर को सुख अवनि पै, लखि प्रमुदित नृप ह्वै गयो।
सब सुख भोगे तृप्ति हित, किन्तु तृप्ति मुनि नहिँ भये॥

उधर ही उसके पीछे-पीछे वे जाते। जहाँ खड़ी हो जाती, खड़े हो जाते। बैठ जाती तो स्वयं भी बैठकर उसे खुजाने लगते। हरी-हरी कोमल दूब उसे उखाड़-उखाड़ कर खिलाते। जब वह चर कर सायंकाल को आश्रम को लौटती तो उसके साथ-साथ लौट आते। वे एक वस्त्र से उसके मक्खी मच्छरों को उड़ाते रहते।

एक दिन नन्दिनी चरती हुई एक गहरी गुफा में चली गई वहाँ एक सिंह ने उसे पकड़ लिया। राजा ने धनुष पर बाण चलाया, किन्तु सब व्यर्थ। राजा का हाथ स्तम्भित हो गया। सिंह ने हँसते हुए राजा को मानवीय भाषा में अपना परिचय दिया कि मैं गौरीजी का मानसपुत्र हूँ, उनके वृक्ष की रक्षा के लिये यहाँ नियुक्त हूँ, जो यहाँ आ जाता है मेरा आहार हो जाता है, अब मैं इस गौ को छोड़ूँगा नहीं।" राजा ने सिंह की बहुत अनुनय विनय की, किन्तु वह माना नहीं। तब राजा ने कहा—"अच्छी बात है, तुम गौ को छोड़ दो, मुझे खा लो।" सिंह ने इस बात को स्वीकार किया। महाराज ज्यों ही सिंह के सम्मुख लेटे त्यों ही नन्दिनी हँस पड़ी। वहाँ न सिंह था न गुफा। नन्दिनी सुख से अरण्य में खड़ी थी। राजा को जब आश्चर्य चकित देखा, तब नन्दिनी बोली—"राजन् ! आज आप शापमुक्त हुए। एक बार आप स्वर्ग से अपनी राजधानी को आ रहे थे। मेरी माँ कामधेनु कल्पवृक्ष के नीचे बैठी जुगार कर रही थी, तुम्हें अपनी पत्नी के ऋतुकाल की चिन्ता थी। सुदक्षिणा का ऋतुस्नान व्यर्थ न हो यही आप सोचते जाते थे। मेरी माँ को आपने न तो प्रदक्षिणा की न उन्हें प्रणाम किया। इसीलिये उन्होंने तुम्हें शाप दिया था, कि जब तक मेरे वंश की सेवा न करोगे तब तक तुम्हारे कोई सन्तान न होगी

लिये विवश हैं और दुष्ट लोग दुष्टता किये बिना नहीं रह सकते इसीलिये स्वभाव को संसार में दुस्त्यज बताया है। मुनिगण हिंसक क्रूर प्राणियों के साथ भी दया का बर्ताव करते हैं और साधुगण दुष्टों के साथ भी दया का बर्ताव करते हैं। इस विषय में एक कहानी है। कोई महात्मा गंगा स्नान कर रहे थे। स्नान करते समय उन्होंने देखा एक बिच्छू चला जा रहा है। महात्मा ने सोचा यदि यह इसी प्रकार बहता रहा और प्रवाह में पड़ गया, तो अवश्य मर जायगा। इसका उद्धार करना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने हाथ की अंजुलि में उसे जल सहित उठा लिया। ज्यों ही वह स्वस्थ हुआ कि फट से उसने महात्मा की उँगली में डंक मार दिया। उन्होंने पीड़ा से ज्योंही हाथ को हिलाया त्योंही वह पुनः प्रवाह में गिर पड़ा। अब मुनि अपना दुख तो भूल गये उसे बहते देखकर पुनः दयावश उठा लिया फिर उसने काट लिया। इस प्रकार कई बार उन्होंने उठाया और कई बार उसने काट लिया। उसी समय एक व्याधा वहाँ पानी पीने आया था। यह देखकर उसने कहा—"महात्माजी! आप यह क्या कर रहे हैं। कहीं दुष्टों पर भी दया की जाती है। देखिये आप तो उसे दया वश बार-बार निकालते हैं और यह दुष्ट बार-बार आपको काट लेता है। वह जान दीजिये दुष्ट को। बाहर रहेगा तो किसी यात्री को काटेगा।"

महात्मा जी ने कहा—"भैया! देखो यह बिच्छू मेरा गुरु है। यह मुझे शिक्षा दे रहा है कि जब मैं अपने दुष्टता के स्वभाव को नहीं छोड़ता, तो तुम अपने साधुता के स्वभाव को भी मत छोड़ो। वह अपने स्वभाव से विवश है, मैं अपने स्वभाव से।"

व्याधा ने कहा—"अच्छी बात है अबके आप जल सहित शीघ्रता से किनारे पर रख दीजिये।" साधु ने ऐसा ही किया।

न दिखाते। वे इतने यशस्वी थे, कि उनके यश के सम्मुख समस्त रंग फीके पड़ गये। तीनों भुवन इनकी यश की शुभ्रता से शुभ्र हो गये। वे इतने तेजस्वी थे, कि सूर्यदेव उनके महल के मार्ग को बचाकर ही खिसक जाते। उनकी दृष्टि को बचा कर ही अस्ताचल की ओर चल जाते। वे इतने धर्मात्मा थे कि बड़े बड़े धर्म प्राण मुनि भी उनकी धर्म निष्ठा के सम्मुख नत मस्तक हो जाते। वे इतने उदार थे, कि कुबेर भी उनसे भयभीत हो जाते, वे इतने यज्ञप्रिय थे, कि हवि-खाते खाते अग्नि को भी अजीर्ण हो गया। अश्विनी कुमारों की सम्पूर्ण पाचन की औषधियाँ समाप्त प्रायः हो गईं। वे इतने दानी थे, कि अपना सर्वस्व दान करके भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। तभी तो आज रघुवंश संसार में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। उनके दान के सम्बन्ध की पुराणों में एक बड़ी प्रसिद्ध कथा है।

जिन दिनों महाराज रघु अयोध्या पुरी में राज्य करते थे, उन्हीं दिनों वरतन्तु नामक महर्षि अरण्य में रहकर यज्ञयागादि पुण्य कर्म किया करते थे। महर्षि के समीप बहुत से शिष्य अध्ययन करने आया करते थे। उन्हीं शिष्यों में से एक कौत्स नामक शिष्य थे। कौत्स मुनि बड़े ही सदाचारी गुरुभक्त तथा शील सम्पन्न थे। उनकी गुरु सेवा से महर्षि वरतन्तु अत्यन्त ही सन्तुष्ट थे। जब वे अपनी विद्या समाप्त कर चुके तब उन्होंने गुरु से गुरु दक्षिणा के लिए प्रार्थना की।

गुरु ने कहा—"भैया, तैने हमारी मन लगा कर सेवा की है, यही तेरी गुरु दक्षिणा पर्याप्त है तू एक गौ देकर नियमानुसार विवाह करके गृहस्थी हो जा और गुरु दक्षिणा की आवश्यकता नहीं।"

उनमें से मुख्य-मुख्य नाग ब्रह्माजी के समीप गये और अपना सब दुख कह सुनाया।

नागों की सब बात सुनकर ब्रह्माजी ने गरुड जी को बुलाया और कहा—"हे विनतानन्दन! तुम इन नागो को व्यर्थ ही क्यों मारते हो?"

गरुड़जी ने कहा—"महाराज! आपने ही मुझे यह आहार प्रदान किया है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भाई! जितने से काम चल सके जिनसे शरीर निर्वाह हो सके उतने में दोष नही तुम नित्य बहुतों को खा जाते हो, बहुतों को मार कर वैसे ही फेंक आते हो, इस प्रकार अपव्यय करने से इनके वंश का भी नाश हो जायगा और आगे से तुम्हे आहार भी न मिलेगा। प्राणियो को मितव्ययता से कार्य करना चाहिये।"

गरुड़जी ने कहा—"महाराज! जैसे आप कहें वैसे करूं। जब मैं पकड़ने जाता हूँ तो कुछ नाग डर कर भागते हैं, कुछ पंजों से बचते हैं, दोनों ओर से प्रहार होता है, कुछ मरते हैं, कुछ के अङ्ग क्षत विक्षत होते है, कुछ व्यर्थ ही मर जाते हैं। मेरा इसमें क्या दोष?"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो भाई! नित्य का यह झगडा-टंटा उचित नही। तुम लोग आपस में, सन्धि कर लो।"

नागों ने कहा—"महाराज! आप ही हमारे पंच हैं, आप जो निर्णय कर देंगे, वही हम सबको सहर्ष स्वीकार होगा।"

ब्रह्माजी बोले—"अच्छा, देखो भाई! नित्य की मार-काट उचित नहीं, अमावस्या के दिन आप लोगों में से एक परिवार एक निर्दिष्ट पेड़ के नीचे आकर बैठ जाया करे, गरुड़जी उन्हें ही खाकर चले आया करेंगे। अन्य नागों से छेड़-छाड़ न

उन्हीं दिनों महाराज रघु ने विश्वजित नाम का यज्ञ किया था। उसमें उन्होंने अपना सर्वस्व दानकर दिया था। यहाँ तक कि अपने वस्त्र आभूषण, धातुओं के पात्र भी ब्राह्मणों को दे दिये थे। अब वे मिट्टी के पात्रों में ही खाते थे। भूमि पर सोते थे। जब कौत्स मुनि गये तब राजा ने मिट्टी के पात्र से उनके पैर धोये और कुशासन पर बिठाकर सत्कार किया।

राजा ने बड़े आदर से कहा—"ब्रह्मन् ! आप कहाँ से पधारे?"

कौत्स बोले—"राजन् ! मैं भगवान् वरतन्तु के आश्रम से आ रहा हूँ, उन्हीं का मैं शिष्य हूँ।"

अत्यन्त ही आह्लाद के साथ राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरा अहोभाग्य ! धन्यवाद ! धन्यवाद ? जो आपने मेरे ऊपर कृपा की। भगवान् वरतन्तु मेरे ऊपर बड़ी कृपा रखते हैं। कहिये, आश्रम में सब कुशल है न ? आपके आसपास निम्नी के चावल श्रेष्ठ होते हैं न ? मुनियों को वह अन्न बड़ा मीठा होता है। बिना जोते बोये वे चावल आपसे आप उत्पन्न होते हैं, हल बैलों से पृथिवी जोती नहीं जाती, जल के समीप यह मुनि अन्न स्वतः होता है। जिन मुनियों के पुत्र नहीं होते,वे वृक्षों का पालन पुत्रों के समान करते हैं। मैंने भगवान् वरतन्तु का आश्रम देखा था उन्होंने थालें बना बनाकर बहुत से वृक्ष लगाये थे। अब तो वे बड़े हो गये होंगे ? उन पर फल भी आने लगे होंगे। मुनियों के आश्रम में मृग स्वच्छन्द विहार करते हैं। आपके मृगों को कोई बाधा तो नहीं देता। आपके आश्रम में बड़े बड़े सघन वृक्ष हैं न ? जिनके नीचे पथिक बैठकर अपना श्रम दूर कर सकें। आपके आश्रम में जल की कमी तो नहीं ? गंगाजी की धारा दूर तो नहीं चली गई ? लतायें यथेष्ट फूल देती है न ? अतिथियों

भरे ही हुए थे उन्होंने उस अविनीत अहि को मारने के निमित्त उस पर बड़े वेग से आक्रमण किया।

कालिय भी सावधान था, उसने भी गरुणजी को अपनी

ओर वेग से आते हुए देखकर अपने विष भरे दांतों से उन पर प्रकार किया। उसके सहस्रफण थे। वह यौवन के मद में मदोन्मत्त हुआ गरुड़जी को कुछ समझता ही नहीं था। अपनी दो सहस्र

सकता। रघु के सम्मुख याचना करने वालों को फिर अन्यके यहां याचना करने की आवश्यकता नहीं।"

कौत्स ने आश्चर्य के साथ कहा—"राजन्! आप इतना द्रव्य कहाँ से देंगे?"

राजाने कहा—"जहाँ से भी शीघ्र मिल सकेगा वहीं से दूँगा।"

कौत्सने कहा—"शीघ्र तो कुबेर के भंडार से इतना सुवर्ण मिल सकता है।"

राजा बोले—"अच्छी बात है, कुबेर पर ही चढ़ाई करूँगा। आप एक दिन विश्राम तो करें।"

राजा के आग्रह को मुनि टाल न सके। वे अग्नि होत्रशाला में चतुर्थ अग्नि के समान पूजित होकर सुख पूर्वक रहे। राजा ने कुबेर पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। धन कुबेर रघु के यश पराक्रम से पहिले से ही शंकित थे। जब उन्होंने उनके संकल्पको जाना, तब तो वे डर गये। चुपके से रात्रि में वे उनके कोष को सुवर्ण से भर गये। प्रातःकाल ज्यों ही उन्होंने अपना रथ तैयार किया, त्यों ही सचिवों ने सूचना दी, कि सुवर्ण से सम्पूर्ण कोष भरा पड़ा है। राजा यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"समस्त सुवर्ण को ऊँटों पर, छकड़ों में लदवाकर मुनि के साथ भिजवा दो।"

कौत्स उस अटूट सुवर्ण की राशि को देखकर डर गये और आग्रह पूर्वक बोले—"राजन्! मैं इतने धन को कभी न लूँगा। इतना सुवर्ण लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे तो १४ करोड़ सुवर्ण-मुद्रायें ही चाहिए।"

वंशज विशेष यात्रा करते हैं और वहाँ जाकर पूजन करते हैं। कई युगों तक कालियनाग वहाँ रहा, अंत में तो उसके अत्याचार इतने बढ़ गये, कि वह ह्रद जीवों के लिये अगम्य बन गया, वहाँ एक कदम्ब को छोड़कर अन्य कोई वृक्ष भी शेष नहीं रहा। उस जल के समीप कोई जीव जाता ही नहीं था। इस अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में जब साक्षात् पुराण पुरुष श्रीकृष्ण अवनि पर अवतरित हुए और गोचारण के निमित्त वहाँ गये, तब उन्होंने उस कुन्ड से उस नाग को निर्वासित किया। उसकी कथा दशम स्कन्ध के प्रसंग में श्रीकृष्ण लीला के अवसर पर यथास्थ न वर्णन की जायगी।

इस प्रकार सौभरि ऋषि की कृपा से कालियनाग गरुड़जी का अहार होते-होते बचा। पीछे श्रीकृष्ण की चरण धूलि मस्तक पर पड़ने से तो वह अजर अमर हो ही गया। और फिर उनके चरण चिन्हों को अपने फणों पर धारण करके पुनः रमणक द्वीप में लौट गया। भगवान् के चरण चिन्हों को चीन्हकर गरुड़जी का पुनः उसके ऊपर प्रहार करने का साहस नहीं हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् सौभरि उन राजकुमारियों के साथ ५० रूप रखकर बड़े आनन्द के साथ गृहस्थ सुख का अनुभव करते रहे। उन्हें तपस्या के प्रभाव से किसी वस्तु की कमी नहीं थी।

मुनि के निवास से उस स्थान का नाम सौभरि स्थान भी हुआ। वहाँ सौभरेश्वर शिवजी भी हैं। जहाँ अकेले मुनि तपस्या करते थे, वहाँ अब नगर बस गया। जहाँ एक स्त्री पुरुष से मुनि घबराते थे, वहाँ पाँच हजार तो उनके पुत्र ही हो गये। अब तो परिवार बढ़ने लगा। किच्च-पिच्च आरम्भ हुई। दस बर्तन जहाँ

समझा। उसके निर्णय को निन्दित माना किन्तु अज के सम्मुख वे कुछ कह न सके। अज और इन्दुमती उसी प्रकार मिल गये जैसे हिमालय के घर शिवपार्वती मिल गये थे।

दूर्वा के धागे मे महुए के पुष्पों की गुथी माला के साथ अपना हृदय भी इन्दुमती ने अज को अर्पित किया। अज के वक्षस्थल में पड़ी वह जयमाल उसी प्रकार हिल रही थी, जिस प्रकार नववर का हृदय प्रथम मिलन में हिलता है। उस समय लजाती हुई इन्दुमती के साथ जाते हुये कुमार उसी प्रकार शोभित होते थे मानो लज्जा के साथ कामदेव कहीं जा रहा हो। इन्दुमती इतनी सुन्दर थी कि अज ने अपना सर्वस्व उन्हें अर्पित कर दिया था। उसके सौंदर्य को देखकर सुर सुन्दरियाँ भी सकुचा जाती थीं। वह अपने पति को इतना प्यार करती थी, कि उनके बिना एक क्षण भी उसे असह्य हो उठता।

जब अज ने आकर इन्दुमती के सहित अपने पिता को प्रणाम किया, तो इन्दुमती को महाराज ने पुत्रवती होने का वर दिया और मुँह दिखाई में अपना सम्पूर्ण राज पाट और कोष उसे दे दिया। इस प्रकार मानों अपनी पुत्रवधू को ही पृथिवी देकर रघु तपस्या करने वन मे चले गये।

इन्दुमती ने कहा—"भरण करने से पति का नाम भर्ता भी है। आप जैसे मेरा भरण पोषण करते हैं। वैसे ही मेरी सखी इस पृथिवी का भी पालन कीजिये। मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं। मेरे तो एकमात्र धन आप ही हैं।"

अज ने कहा—"प्रिये! मुझे पृथिवी पालने में कोई रस नहीं

सौभरि ऋषि का वैराग्य

[६३२]

अहो इमं पश्यत मे विनाशम्,
अन्तर्जले तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।
वारिचरप्रसङ्गात्-
प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० ५० श्लो०)

छप्पय

स्वस्थ चित्त इक दिवस बैठि मुनि सोचें मन महँ ।
हाय पतन मम भयो रहूँ मुनि है महलनि महँ ॥
तजि के सब जन संग सलिल महँ ध्यान लगायो ।
ठग्यो तहाँ हू देव मत्स्य संभोग दिखायो ॥
मिथुन धर्म महँ निरत नर-नारी को जे संग करैं ।
ते पुनि जनमें पुनि मरैं, स्वरग जाहिं नरकनि परैं ॥

एक कहावत है, प्रातः का भूला सायंकाल तक घर में लौट

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गृहस्थी के चक्र में फँसे महर्षि सौभरि सोचने लगे—"हाय ! मेरा अधःपतन तो देखिये । कहाँ तो मैं सदाचार व्रत का पालन करने वाला तपस्वी था, कहाँ मैं जल-चर जन्तु का आसक्तिपूर्वक संग करने से इतना च्युत हो गया कि चिर-काल से धारण किये ब्रह्म तेज को भूल गया ।"

का अन्तर नहीं पड़ा। यही नहीं वह उसी प्रकार और भी अधिक बढ़ गया, जिस प्रकार विदेश मे गये पति के लौटने पर पतिप्राणा का प्रेम और भी अधिक बढ़ जाता है। महाराज रात्रि दिन इन्दुमती को ही सोचते रहते थे। एक दिन वे अपनी प्रिया के साथ उपवनो में विहार कर रहे थे वे एक सुन्दर रमणीक स्थान मे सुख पूर्वक बैठकर अपनी प्रिया के साथ मधु से भी मधुर स्नेह से सिक्त आनन्द में पगी, अनुराग में भीगी, सरसता में सनी बातें कर रहे थे, कि उसी समय रामकृष्ण गुण गाते, संसारी जीवों को सुख का पाठ पढ़ाते, अपनी स्वर ब्रह्म विभूषिता वीणा को बजाते देवर्षि नारद वहाँ जा पहुँचे। उनकी वीणा के ऊपर कल्प वृक्ष के पुष्पों की माला टँगी हुई थी। राजा ने उठकर मुनि के पैर छूए, रानी ने मुनि की चरण वन्दना की। सहसा वीणाकी माला इन्दुमती के कमल से भी कोमल वदन से छू गई, ज्यों ही उसने दृष्टि उठा कर उस माला को देखा त्यों ही वह प्राणहीन होकर धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़ी, अपनी प्राणप्रिया की ऐसी दशा देख कर महाराज अज भी मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ काल में मूर्छा भङ्ग होने पर उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के अङ्ग को प्राणहीनावस्था में देखा, वह ऐसी लगती थी, मानों कमलिनी को किसी ने मसल दिया हो। राजा उसे मृतक देख कर पुनः मूर्छित हो गये और भाँति-भाँति से विलाप करने लगे। उसके मृतक शरीर को गोद में रख कर राजा बच्चों की भाँति फूट फूट कर रोने लगे। सभी सेवक, सचिव, सामन्त तथा सगे सम्बन्धी एकत्रित हो गये। रानी को मृत्यु से सब को बड़ा दुःख हुआ। किन्तु कोई कर ही क्या सकता था। काल के आगे किसकी चलती है। अन्त में सब ने रानी का दाह संस्कार किया। राजा इन्दुमती के वियोग में सदा दुखी बने रहते थे।

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पुष्प के छू जाने

पुनः मिश्री प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करेगा। निस्सङ्गता यतियों के लिये मुक्ति देने वाली बताई गई है। संसारी लोगों का संग करने से उन्हीं की सी बुद्धि हो जाती है, उन्हीं के से आचरण करने की इच्छा हो जाती है। विषयासक्ति ऐसी प्रबल है कि योगारूढ़ पुरुष भी इनमें फंस जाता है, फिर साधारण लोगों की तो बात ही पृथक् है। देखिये, महर्षि सौभरि विषयों से कितना दूर रहकर एकान्त में तप करते थे। जल के भीतर समाधि लगाते थे। उस दाम्पत्य धर्म में निरत मत्स्यराज की क्रीड़ा को आसक्ति पूर्वक देखने से ही मुनि के चित्त में चंचलता उत्पन्न हुई विषयों के रसस्वाद की इच्छा उत्पन्न हुई और वे एक से पाँच हजार पुत्रों वाले बन गये। कैसा भी जितेन्द्रिय हो, कामियों की कामक्रीड़ाओं को देखकर कामिनियों के कमलमुख को कामनासहित निहारकर उसके भी चित्त में विकृति उत्पन्न हो जाती है। अपने उत्पत्ति स्थान में अधिकाधिक आसक्ति होना, यह जीव का स्वभाव है, जो आसक्तिरहित होकर स्त्री-पुरुष जन्य भेद-भाव को भूलकर सर्वत्र भगवान् को ही देखता है, वह इस भव बन्धन से छूट जाता है।

जब महामुनि सौभरि ने देखा, मेरा तप नित्यप्रति विषयों के उपभोग से क्षीण हो रहा है, और अब पहिले जैसा तप, तेज प्रभाव नहीं रहा, तो उनको विषयों से विरति हुई एक दिन वे अपनी पत्नियों के अन्तपुर को छोड़कर यमुना के पुण्य पुलिन में कदम्ब की सघन छाया में सुनसान वन में जाकर बैठ गये। प्रकृति स्तब्ध थी पक्षियों ने कलरव करना बन्द कर दिया, यमुना अपनी मन्थर गति से बह रही थी। मुनि ने बिखरी हुई चित्त की वृत्तियों को स्थिर किया और फिर वे अपनी पूर्व की बातों को सोचने लगे। चित्त के समाहित होते ही वे इस कोलाहलपूर्ण

सूतजी कहते है—"मुनियों ! उसी हरिणीने शाप वश विदर्भ वंश मे जन्म लिया, वही महाराज अजकी पत्नी इन्दुमती थी। आज नारद जी की वीणा के ऊपर कल्पवृक्ष के पुष्पो की माला देखते ही वह मानवीय शरीर को त्यागकर स्वर्ग सिधार गई। रानी के मरने से राजा को जीने की तनिक भी इच्छा नही रही। फिर लोकलाज वंश कर्तव्य पालन की दृष्टि से वे जीते रहे। अब वे सदा उदास ही बने रहते थे। दशरथ के मुखको देख-देखकर वे निरन्तर इन्दुमती की स्मृति में रोते रहते। स्वप्न में उसका साक्षात्कार करके बडे प्रसन्न होते। इस प्रकार पिता के सरक्षण मे दशरथ बढ़ने लगे। कुछ काल मे ही बाल्यावस्था त्यागकर चली गई। अब युवावस्था ने उनके शरीर पर अधिकार स्थापित कर लिया पुत्र को युवावस्था में पदार्पण करते देख कर जो राजभार उन्हे यथार्थ में भार प्रतीत हो रहा था, उसे कुमार दशरथ के कोमल कंधोंपर शीघ्रता से डालकर वे सरयू के किनारे किनारे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ जाकर सरयू भगवती भागीरथी मे मिलती हैं। वही रहकर और अनशन व्रत करके महाराज अजने अपने इस पाँचभौतिक शरीर को त्याग दिया।"

पिता के परलोक पधारने के अनंतर महाराज दशरथ समस्त प्रजा का पुत्रवद् पालन करने लगे। उनकी कीर्ति दशों दिशाओं में व्याप्त हो गई। उन्होंने दिग्विजय करके समस्त जीती हुई पृथिवी को पुनः जीत लिया। उन्हे राजा पाकर प्रजा पहिले राजाओं को भूल गई।

सूतजी कहते हैं—'मुनियों ! इन्ही पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ श्री राम अवतरित हुए। अब आप श्रीराम चरित्र को श्रद्धा भक्ति के साथ श्रवण करें।"

जाय। मल द्वारों से जो अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त विष्ठा मूत्र निकलता है उसे देखकर स्वयं अपने आपको भी घृणा होती है। स्त्री या पुरुष के अंग में रक्त और मांस आदि अशुद्ध अपवित्र वस्तुओं के अतिरिक्त है ही क्या। जिस रज वीर्य से यह देह बनता है, यदि वह देह से पृथक् हो जाय तो उनकी ओर देखा भी न जाय, जिस वस्त्र में लग जाय उसे पहिनने वाले को छूना भी महापाप है। उसी शरीर के साथ संग करके जो सुख का अनुभव करता है, उसमें और घाव के कीड़े में क्या अन्तर है। घाव का कीड़ा तो रक्त पीव और मांस में कुल बुलाता रहता है, उसमें रमण करता है।

मेरा प्रारब्ध तो देखो, जिस ब्रह्म तेज को मैंने कठोर-कठोर व्रत उपवास तथा नियमादि से बड़ी कठिनता से प्राप्त किया था वह एक मैथुन धर्मी मत्स्य के संग से विनष्ट हो गया। मैं योगी से भोगी बन गया, विरागी से रागी हो गया, त्यागी से गृही हो गया। मेरा सर्वस्व लुट गया। मैं अपने लक्ष्य से च्युत हो गया।

मुनि सोचने लगे—"मेरे पतन का कारण क्या था। वही दाम्पत्यधर्म में निरत मत्स्यराज का आशक्ति पूर्वक दर्शन। यदि मैं उसे उसकी स्त्री के साथ आमोद करते हुए ध्यान पूर्वक चिरकाल तक न देखता तो मेरी यह दुर्दशा कभी न होती इसीलिये ऋषि महर्षि ने पूर्वाचार्यों ने इस बात पर बार-बार बल दिया है कि कामियों और कामिनियों का सहवास सर्वथा त्याज्य है, इनसे तो उतना ही प्रयोजन रखना चाहिये, जितने के बिना जीवन निर्वाह हो सके। नहीं तो मौन व्रत धारण करके सदा भगवद् भजन में सत्कर्मों में लगे रहना चाहिये। अपनी इन्द्रियों को भूलकर भी बहिर्मुख न होने देना चाहिये। सदा

श्रीराघवेन्दु का प्रादुर्भाव

(६५०)

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशांशेन चतुर्धागात्पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ०, २ श्लोक)

छप्पय

सब सुख नृपके निकट पुत्र बिनु परि अति चिंतित ।
रानी सब सुत रहित वंशधर बिनु अतिदुःखित ॥
विनती गुरु तें करी रचायो मख सुतके हित ॥
ऋष्य ऋङ्ग पुत्रेष्टि यज्ञ करवायो प्रमुदित ॥
बढ्यो भूमि को भार बहु,सुर सब मिलि हरिढिंग गये ।
सेतु करन भव उदधि पै, अज अच्युत प्रकटित भये ॥

यह संसार सागर अगाध है, इसकी थाह नहीं । पार जाने का कोई निश्चित एक मार्ग नहीं । जीवका पुरुषार्थ स्वल्प है । इसका सर्वज्ञ स्वामी उसपार बैठा बैठा हँस रहा है ।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन महाराज दशरथ के यहाँ देवताओं की प्रार्थनापर साक्षात् ब्रह्ममय श्रीहरि अंशांश से चार रूपों से अवतरित हुए ।"

छप्पय

रहै सदा निस्संग चित्त श्रीहरि महँ राखै।
बाणी संयम करै व्यर्थ तनिकहु नहिं भाखै॥
साधु संग ही करै कथा कीर्तन महँ जावै।
नहिं तो है चुपचाप ध्यान एकान्त लगावै॥
नर फँसि के निकसत नहीं, मायिक गुण हैं प्रबल अति।
इत उत भटकै लोभ वश, होवै नहिं जग विमल मति॥

होगा। वे ऐसा करने को विवश थे, क्योंकि उन्हें ७ दिनों में ही सब कथा सुनानी थी। सब शास्त्रों का सार सार निकाल कर उन्होंने सबकी बानगी राजा को चखाई और सबका पर्यवसान अन्त में कृष्ण कथा में कर दिया। किन्तु सूतजी ! हमें तो कोई समय का बन्धन नहीं। हमतो दीर्घजीवी हैं। अवतार कथा ही हमारा आहार है। उसे ही खाकर हम जीते हैं। सूर्यवंश के राजाओं की नीरस कथायें हमने चुपचाप इसीलिये सुनली कि इनका सार अन्त में निकलेगा। नही तो सूतजी ! उस राजा को यह रानी हुई वह राजा उस राजकुमारी पर आसक्त हो गया। उसने स्वयम्बर में उसे माला पहिना दी, उसने युद्ध में उसे मार दिया। वह अप्सरा इतनी सुन्दर थी। उस मुनिने यह गड़बड़ सड़बड़ कर दी। उस राजा का यह पुत्र हुआ, यह पौत्र हुआ इन व्यर्थ की बातों से हम त्यागी विरागी साधुओं को क्या प्रयोजन? अजी हमतो भगवान् का प्रेम पूर्वक प्रसाद पाते हैं और भगवान् के नाम तथा यश का श्रवण और गायन करते हैं। हमारा तो मूल मन्त्र है।

"भगवद् भजन पेट को धंधो। और करै सो पूरो अंधो।' मनु से लेकर दशरथ तक के राजाओं की कथा हमने इसी आशा से सुनी कि आगे इसी वंश में मर्यादा पालक जन सुखदायक रविकुल नायक भगवान् कौशल किशोर उत्पन्न होंगे। उनके चरित्र को हम श्रद्धा सहित सुनेंगे। सो, सूतजी ! राम चरित्र कहने में आप कृपणता न करें। रामचरित्र को हमें विस्तार के साथ सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी के रोम रोम खिल गये। उनका गला भर आया। "राम" इन दो शब्दों में कितनी मिठास है, कितनी

वस्त्र स्वभाव से स्वच्छ है उसमें मल शनैः-शनैः प्रवेश करता है। मल आता हुआ दिखाई नहीं देता। किन्तु इन वस्तुओं के संग और स्पर्श से वस्त्र मैला हो ही जाता है। यदि उसे मल-नाशक द्रव्यों से धो दिया जाय, तो वह फिर ज्यों का त्यों स्वच्छ हो जाय। इसी प्रकार जीव तो ब्रह्म का अंश ही है। अंश में और अंशी में कोई भेद नहीं। विषयों के संसर्ग से इस

जीव पर माया का पर्दा-सा पड़ जाता है। अविद्या के कारण वह अपने को माया के गुणों से आबद्ध-सा अनुभव करने लगता है। जहाँ विवेक वैराग्य के द्वारा इन गुणों की अनित्यता प्रतीत होने लगी, तहाँ वह शुद्ध का शुद्ध ही है। पैर में यदि कीचड़ लग जाय

अच्छी बात है, तो अब श्रीराम के प्रादुर्भाव की आप कथा श्रवण करें ।"

अज पुत्र महाराज दशरथ इतने पराक्रमी थे, वे देवासुर संग्राम मे अमरों ने आकर उनके पैर पकडे और असुरो से युद्ध करने की याचना की। रघुवंश विभूषण महाराज दशरथ ने देवों की प्रार्थना पर असुरों से युद्ध किया, उन्हें परास्त किया उनकी स्त्रियों की माँग मे भरे सिंदूर को पोंछ दिया, उनके बालों को खुलवा दिया और उनके ऐश्वर्य को फीका बना दिया।

महाराज का विवाह दक्षिण कोशल देश के राजा की कन्या कौशल्या के साथ हुआ। दूसरा विवाह कैकय देश के राजा की पुत्री कैकयी से हुआ। तीसरी उनकी पत्नी सुमित्रा थी। इस प्रकार महाराज के तीन प्रधान रानी तथा अनेक उपरानियाँ भी थी महाराज पृथिवी पर दूसरे इन्द्र के समान निवास करते थे। उनके अवध के वैभव को देखकर शतक्रतु इन्द्र भी लज्जित हो जाते। उनके अन्तःपुर की शोभा को देखकर सुर ललनायें भी सकुचा जाती। उनकी सेना को देखकर स्वामिकार्तिकेय भी चकित हो जाते, उनके कोष को निहार कर कुबेर भी कंपित हो जाते। वे कल्प वृक्ष के समान सबके मनोरथो को पूर्ण करते कामधेनु के समान सभी को समस्त सामग्रियाँ देते, लोकपालों के समान प्रजा का पालन करते, प्रजापति के समान सबको प्यार करते। उनका जैसा ही ऐश्वर्य था वैसा ही तेज और पराक्रम भी था। उन्होंने अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मणों और याचकों को यथेष्ट दान दिये। इस प्रकार महाराज सहस्रों वर्षों तक पृथिवी का पालन करते रहे।

प्रजा का पालन करते-करते महाराज की युवावस्था प्रस्थान

मन के मानने के ऊपर है। जो स्त्री अब तक प्राणों से भी अधिक प्रिय प्रतीत होती थी, वही यदि अपने प्रतिकूल हो जाय, अनुचित हठ पर अड़ जाय, तो डाइन-सी लगने लगती है। जो विषय मुनि को कल तक परम सुखकर प्रतीत होते थे, वे आज उन्हें काटने को दौड़ रहे थे। गुदगुदा गद्दा जलता हुआ प्रतीत होता था, सुख वैभव की समग्र सामग्रियां मुनि की दृष्टि में विष उगलने वाली दिखाई दे रही थीं। जैसे तैसे उन्होंने रात्रि काटी। प्रातः काल हुआ। उन्होंने अपनी सभी पत्नियों और पुत्रों को बुलाया सबको गृहस्थ का धर्म समझाया। फिर अपना पुराना कमण्डलु उठाया और बोले—"अब तुम लोग जानों और तुम्हारा काम जानें। मेरा तो सांसारिक विषयों से पेट भर गया। अब तुम सुख से रहना, मै तो अब बन में जाता हूँ।"

मुनि पत्नियों ने कहा—"प्राणनाथ! हमारी तो एकमात्र गति आप ही हैं, हमें आप अपने से पृथक् क्यों समझ रहे हैं?"

मुनि ने कहा—"तुम सब अपने पुत्रों के साथ रहो। मैं तो अकेला ही अरण्य को जाऊँगा।"

रोते-रोते मुनिपत्नियों ने कहा—"हे जीवन धन! हमारा पुत्रों से क्या सम्बन्ध! स्त्रियों के पति ही देवता हैं, पति ही इष्ट हैं, पति सर्वस्व है। आपके जो भी भगवान् हों, उनसे हमें कोई प्रयोजन नहीं। हमारे तो आप ही प्रत्यक्ष परमेश्वर हैं। जैसे छाया शरीर से पृथक् नहीं रह सकती, वैसे ही हम आपके बिना यहाँ सुनरख में एक क्षण भी नहीं रह सकतीं।"

मुनि ने कहा—"देखो, तुम राज पुत्री हो, तुमने पिता के घर में भी सुख भोगे हैं, सुख में ही तुम पली पोसी हो, यहाँ भी आते ही तुमने स्वर्गीय दिव्य सुखों का उपभोग किया है। अरण्य में तो बड़े-बड़े कष्ट हैं, वल्कल वस्त्र पहिनने पड़ेंगे। कड़वे कसैले

फिर अपने समीप ही चरण सेवा करती हुई आद्याशक्ति महामाया महालक्ष्मीजी से महाविष्णु सनातन पुराण पुरुष बोले—"प्रिये ! मेरी इच्छा अब कुछ काल नर लीला करने की है, तुम यहीं तब तक अपने पिता समुद्र के घर रहो।"

महालक्ष्मी आद्याशक्ति भगवती जगदम्बिका बोलीं–"अजी महाराज ! आप नर बनेंगे तो मैं नारी बनूँगी। बताइये ! मनुष्य योनि तो सभी योनियों में श्रेष्ठ है। आप उसमें लीला करें और मैं देखूँ ? नहीं यह कैसे होगा। छाया कभी शरीर से पृथक् हो सकती है।"

प्रभु बोले–"अच्छी बात है,तुम मिथिला में जाकर अवतरित हो। मैं अवध में पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ उनकी भाग्यवती पत्नी कौशिल्या के गर्भ से उत्पन्न हूँगा। वे धर्मात्मा राजा आजकल पुत्र की कामना से एक पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहे हैं, मैं उनकी इच्छा पूरी करूँगा। स्वयं यज्ञ पुरुष मैं उनके यहाँ पुत्र बनकर प्रकटित हूँगा।"

भगवती जगदम्बिका बोली–"मैं तो पृथिवी की पुत्री बनूँगी अयोनिजा होकर अवनिपर अवतरित होऊँगी।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, पहिले मैं चलता हूँ पीछे तुम आ जाना।"

उसी समय चक्रवर्ती महाराज दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ। समाप्ति के समय साक्षात् हव्य वाहन अग्निदेव एक सुवर्ण पात्र में पायस लेकर प्रकट हुए। उन्होंने उस खीर पात्र को राजा को देते हुए कहा—'इसे अपनी पत्नियों में यथायोग्य बाँट दो। तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।"

ग्रहण किया इसका उपभोग किया। अब जब आप इन्हें त्याग कर जा रहे हैं, तो हमारे लिये ये विष के समान हैं। हम इनका स्पर्श न करेंगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपनी पत्नियों का ऐसा दृढ़ निश्चय देखकर मुनि ने उन्हें साथ चलने की अनुमति दे दी।

महाराज मान्धाता की उन पुत्रियों ने पति की आज्ञा पाते ही अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये और वल्कल वस्त्र पहिनकर मुनि के पीछे-पीछे उसी प्रकार चलीं जैसे वन में यूथपति के पीछे हथिनियाँ चलती हैं। वन में जाकर मुनि ने घोर तपस्या आरम्भ कर दी। विषयों के भोग से अपने पुष्ट शरीर को निराहार या स्वल्पाहार से सुख दिया। अब वे आत्मचिन्तन में ही निरन्तर निमग्न रहने लगे। उनकी सब पत्नियाँ भी पति की सेवाशुश्रूषा करती हुईं उनकी आज्ञा से तप करने लगीं। मुनि तो आत्मज्ञानी पहले ही से थे, उन्हें कुछ करना तो था ही नहीं। केवल स्मृति मात्र करनी थी। इसलिये कुछ ही काल में उनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया। अब उन्होंने आहवनीय आदि वैदिक अग्नियों को अपने आप में लीन कर लिया। अर्थात् अब वे निरग्नि हो गये। तदनतर उन्होंने अपने आप को परमात्मा में लीन कर दिया।"

अपने पति को ब्रह्मलीन हुआ समझकर उन मुनि पत्नियों ने भी उनके पदचिन्हों का अनुसरण किया। वे भी उनके पथ की अनुगामिनी हुईं।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् यह मैंने यौवनाश्व महाराज मान्धाता की पचास पुत्रियों के प्रसंग में परमर्षि भगवान् सौभरि के चरित्र को आप से कहा, अब आप महाराज मान्धाता के वंश का वर्णन सुनिये।"

उन्ही से दिलवाने की उनकी इच्छा थी। कौशल्या ने अपने भाग से सुमित्राजी को दिया। कैकेयी ने भी उन्हे दिया। इस प्रकार तीनों रानियो ने उस दिव्य अमृतोपम पायस को पति की आज्ञासे प्रेम पूर्वक पा लिया। उसे पाते ही तीनो रानियाँ गर्भवती हो गईं। उन तीनो का गर्भ शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। समस्त प्रजा मे आनन्द छा गया। भूमि शस्यश्यामला हो गई। देवता परम प्रमुदित हुए। असुरो का तेज क्षीण हो गया। राक्षस भयभीत से प्रतीत होने लगे। सभी के मन में एक अव्यक्त आह्लाद उत्पन्न हो गया। इस प्रकार नौ मास पूर्ण होने पर शुभ मास, शुभ पक्ष, शुभ तिथि, शुभ वार, शुभ कर्ण शुभ मुहूर्त, शुभ ग्रहनक्षत्र सबके एक साथ शुभ हो जाने पर दिन के मध्य भाग मे जब सूर्यदेव सिर पर आ गये थे तब कौशल्या रूपी प्राचीदिशि से दूसरे सूर्य का प्राकट्य हुआ। मानो सूर्यदेव फिर से अपने कुल मे बालक बनकर उत्पन्न हुए। कौशल्या ने एक रत्न को उत्पन्न किया। पुत्रोत्पत्ति सुनकर सर्वत्र बाधायें बजने लगे। स्त्रियाँ मंगलगान करने लगी, देवता स्वर्ग से पुष्पों की वृष्टि करने लगे। चैत्र शुक्लानवमी को श्रीराम का प्राकट्य हुआ।

छप्पय

अगिनि कुंड तें प्रकट भये पायस नृप दीन्हों।
तीनों रानिनि दियो भाग न्यायोचित कीन्हों॥
गर्भवती सब भई सबनिके हिय हुलसाये।
शुभ मुहूर्त शुभ समय राम कौशल्या जाये॥
शुक्लपक्ष मधुमास की, नवमी अति पावन परम।
प्रकटे रघुकुल चन्द्र शुभ, भयो अजन्मा को जनम॥

मान्धाता के वंश में त्रिशङ्कु

[६३४]

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशंकुरिति विश्रुतः ।
प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद् गुरोः कौशिकतेजसा ॥
सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ७ अ० ५ ६ श्लो०)

छप्पय

त्रसददस्यु सुत तासु भये अनरण्य पुत्र तिन ।
तिनके सुत हर्यश्व अरुण तिन तिनहिं त्रिबन्धन ॥
भूप त्रिबन्धन तनय सत्यव्रत भये कुमति अति ।
शंकु तीनि जिन करे, त्रिशङ्कु ख्याति भूमिपति ॥
गुरु वशिष्ठ के शाप तें, श्वपच भये अति दुख सहे ।
चांडालनि के बीच महं, पितु आयसु तें ते रहे ॥

राजर्षियों के वंश में राजर्षि ही उत्पन्न होते हैं किन्तु कभी-

---

* श्री शुकदेवजी मान्धाता के वंश का वर्णन करते हुए कहते हैं—"राजन्! महाराज त्रिबन्धन का पुत्र सत्यव्रत हुआ, जो त्रिशङ्कु के नाम से विख्यात हुआ। वह अपने गुरु वशिष्ठ के शाप से चांडाल हो गया था, किन्तु विश्वामित्रजी के तेज से सशरीर स्वर्ग चला गया, जो अब भी आकाश में दिखाई देता है।"

है,क्योंकि आप के पुत्रने समुद्र पर सेतु बाँध दिया।" माता ने श्री राम को बुला कर पूछा—"राम, ये मुनि कह रहे हैं, कि मैं सबसे बड़ी हूँ, क्योंकि तुमने समुद्र पर सेतु बाँध दिया और मैं तुम्हारी जननी हूँ, ।"

श्रीराम ने कहा—"जननी तो बड़ी हैं, किन्तु सेतु बाँधना कोई बड़ी बात नहीं। अगस्त्यजी तो समस्त समुद्र के सलिल को एक चुल्लू में ही पी गये थे, अतः उनकी जननी आप से भी बड़ी हुईं। सब मुनि मिलकर अगस्त्य के पास गये और कहा-आप सबसे बड़े हैं। अगस्त्य मुनि हंसपड़े और कहा—"न अंजना बड़ी न हनुमान बड़े। न कौशल्या बड़ी न उनके सुत राम बड़े। न मैं बड़ा न मेरे माता-पिता बड़े। सबसे बड़ा तो राम का नाम है, जिसके प्रभाव से समुद्र पर सेतु बना जिसके प्रभाव से शङ्कर जी विष को पचा गये और जिसके प्रभाव से मैं सम्पूर्ण समुद्र के सलिल को पान कर गया।" राम से भी बड़ा राम का पवित्र मधुमय नाम है।

सूतजी कहते हैं—' मुनियो ! चैत्र शुक्ला राम नवमी के दिन श्रीरामचन्द्र का जन्म हुआ। दूसरे दिन दशमी को कैकेयी के गर्भ से राम प्रेम के साकार स्वरूप जगत् पावन श्री भरतजी का प्राकट्य हुआ और चैत्र शुक्ला एकादशी को सती सुमित्रा से अश्विनी कुमारों के समान, नर नारायण के समान, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समान वे चारों कुमार अपने कमल मुखों से उस रनिवास को शोभायमान करने लगे। राजा की सैकड़ों रानियों के नेत्र उन अन्तःपुरी स्थित बालकों को उसी प्रकार निहारने लगे जैसे चार चन्द्रों को असंख्यों कुमुद कुसुम निहारते रहते हैं। वे चारों सब के सुखदाता थे।

था। नाग लोक में उससे सुन्दरी कोई कन्या नहीं थी। जब यह मानवीरूप रखकर शृंगार करती तब स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरायें भी उसके सम्मुख तुच्छ दिखाई देतीं। नागराज ने सोचा— "क्यों न मैं अपनी इस बहिन का विवाह राजर्षि पुरुकुत्स के साथ कर दूं। इस सम्बन्ध से राजा भी परमसन्तुष्ट होंगे और हमारी प्रार्थना पर गन्धर्वों का वध भी कर देंगे।" यह सोचकर नागराज अपनी बहिन लेकर अयोध्याधिपति महाराज पुरुकुत्स के समीप गये। उस ललना ललाम के अनवद्य सौंदर्य को देखकर महाराज का मन तो लट्टू की तरह नृत्य करने लगा। जब नागराज ने महाराज से प्रार्थना की तो उन्होंने सहर्ष नर्मदा के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया। वेद की विधि से राजा का नर्मदा के साथ विवाह हो गया और वे उसके साथ आनन्द विहार करने लगे। नर्मदा के सौन्दर्य के कारण महाराज उसके ऐसे वश में हो गये थे, कि वह जो भी कहती महाराज वही करते।

नर्मदा ने जब देखा कि महाराज मेरे सर्वथा अधीन हो गये हैं, तो उसने एक दिन अपने भाई की प्रेरणा से पृथ्वीपाल से प्रार्थना की, कि प्रभो! आप नागलोक में एक बार मेरे साथ पधारें।"

रानी के कहने से महाराज पाताल में गये और नागों के कहने से वध करने योग्य गन्धर्वों का उन्होंने वध किया। इससे प्रसन्न होकर नागराज ने उन्हें वर दिया कि—"आपके इस आख्यान को जो श्रद्धापूर्वक स्मरण करेंगे उन्हें सर्पों से किसी प्रकार का भय न होगा।" तभी से सर्पनाशक पुण्य श्लोक पुरुषों में महाराज पुरुकुत्स का स्मरण किया जाता है, क्योंकि ये नाग जाति के उद्धारक हैं।

और भरत शत्रुघ्न ये दो दो साथ होने पर भी राम में इन सबका अन्तर्भाव होगा।"

अपने पुत्रों की ऐसी प्रशंसा सुन कर पृथिवीपति दशरथ परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपने कुल पुरोहित भगवान् वशिष्ठ का पूजन सत्कार किया। फिर उन्होंने बहुत से ब्राह्मणों को भोजन कराया याचको को दान दिया। सभी ने हृदय से बालकों के अभ्युदय के लिये मनोकामना की और उन्हें भाँति भाँति के आशीर्वाद दिये। अब चारों कुमार बड़े लाड़ प्यार से बढ़ने लगे।

लक्ष्मण बाल्य काल से ही श्रीराम के अनुगत थे और शत्रुघ्न भरत के। पहिले-पहिले लक्ष्मण बहुत रोया करते थे, सुमित्रा ने गुरु वशिष्ठ को बुला कर उनसे प्रार्थना की—"प्रभो! यह बच्चा रोता बहुत है। इसे किसी की दृष्टि तो नहीं लग गई, किसी ने टोटका तो नहीं कर दिया। कोई यन्त्र मन्त्र कर दीजिये। झाड़ फूंक कर दीजिये या कोई और उपाय बताइये।"

वशिष्ठजी ने ध्यान से देख कर कहा—"रानी जी! इसका एक उपाय है, तुम इन्हें श्रीराम के पालने में सुला दिया करो। सुमित्रा जी ने ऐसा ही किया। रामजी के पालने में जाते ही लक्ष्मण किलकारियाँ मारने लगे वे उसी प्रकार प्रसन्न हुए जैसे अगाध समुद्र में जाकर मत्स्यराज का शिशु प्रमुदित होता है। अब तो माता को सरल उपाय मिल गया। लक्ष्मण को राम के पालने पर और शत्रुघ्न को भरत के पालने पर सुला कर वे निश्चिंत हो जातीं। कौशल्या जी की सेवा करती रहतीं। मानों उन्होंने लक्ष्मण को कौशल्या को दे दिया और शत्रुघ्न को कैकेयी के लिये सौंप दिया। स्वयं सेविका बन कर दोनों बहिनों की

लगे। राजा की सेना का राक्षस संहार करने लगे। जैसे कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा अंधकार को नाश करने लगता है वैसे ही राक्षसों की सेना महाराज की सेना का नाश करने लगी। राजा की सेना में भगदड़ मच गई। तब तो स्वयं महाराज बड़ा भारी धनुष लेकर राक्षसराज रावण से लड़ने आये। बहुत देर तक बड़ी वीरता के साथ महाराज उस राक्षसराज से युद्ध करते रहे, किन्तु उसे तो अपराजित होने का वरदान था, अतः उसने युद्ध में महाराज के एक ऐसा बाण मारा कि महाराज रथ से उसी प्रकार पृथ्वी पर गिर पड़े जिस प्रकार आकाश से नक्षत्र टूट कर गिर पड़ता है।

महाराज के मर्म स्थान में रावण का बाण लगा। उन्होंने प्राणों को छोड़ते समय रावण को शाप देते हुए कहा—"अरे दुष्ट! तेंने काल की कुटिल गति के कारण अपराजित इक्ष्वाकु कुल का अपमान किया है, अतः मैं तुझे शाप देता हूँ कि मेरे ही वंश में, एक दशरथ नाम के राजा होंगे, उनके पुत्र श्रीराम चन्द्र तेरा वध करेंगे।" रावण ने इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया। उसे तो इस बात का अभिमान था, कि ब्रह्माजी की रची हुई सृष्टि में मुझे कोई मार नहीं सकता। मनुष्य तो मेरे भक्ष्य हैं, भला गौ को घास कैसे मार सकती है। इसीलिये वह इस बात को अनसुनी करके विजय का डङ्का बजाकर लंका के लिये चला गया।

महाराज अनरन्य के परलोक वासी होने पर उनके धर्मात्मा पुत्र हर्यश्व राजगद्दी पर बैठे। ये भी पिता के समान बली और पराक्रमी थे। इनके पुत्र अरुण हुए। और अरुण के पुत्र त्रिबन्धन के ही पुत्र सत्यव्रत हुए जो त्रिशंकु के नाम से जगत में विख्यात हुए। ये इक्ष्वाकु कुल में कलंक के समान हुए।

मातायें उनके मनोहर मुख को देखकर अपने अङ्गों में फूली नही समाती। उन्हें बारबार छाती से चिपटाती। कई बार स्तनों का दूध पिलातीं लोरियाँ दे देकर पालने पर सुलातीं, गोदी में ले लेकर बड़े प्यार से खिलातीं, इधर उधर टहलाती, बोलना-चलना सिखाती, वस्तुओं के नाम बतातीं खिसकते खिसकते जब गिरने लगते तब उठाती प्रेम से ह्लिलाती। आँखों में मोटा-मोटा काजल लगाती। सुन्दर से सुन्दर वस्त्राभूषण मँगाकर पहिनाती। इस प्रकार सभी प्रकार से एकाग्रचित्त होकर वे श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न की देखरेख सेवा सुश्रूषा करती। ऐसा करने मे उन्हे हार्दिक प्रसन्नता होती।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जिनके घर में साक्षात् आनन्द-घन परब्रह्म ही प्रकटित हो गये है, उनके भाग्य और सुख के सम्बन्ध मे कुछ कहना तो व्यर्थ ही है। यही तो जीवका परम लक्ष्य है। यही तो मानव शरीर की सार्थकता है। जब राम कुछ बड़े हुए तो अपने भाइयों के साथ भाँति २ के खेल खेलने लगे।"

छप्पय

अब कुछ घुटुअन चलत फिरत इत उत महलनि महँ।
बलिबलि जावें मातु बुलावत हँसि सैननि महँ॥
छोटी छोटी लटें लटकि आनन पै बिथुरें।
चमकीली लखि वस्तु दौरि ताहीकूँ पकरें॥
पानी कूँ पप्पा कहैं, हप्पा माँगे मातुतें।
बप्पा भूपति कूँ कहत, धूलि मलत निज गात तें॥

हो जाय, वही वध करने को उद्यत हो जाय, तो प्रजा फिर किसकी शरण में जाय, यह राजकुमार हैं, मेरी लड़की को उड़ा ले गया, तो क्या होगा। यद्यपि राजा धर्मात्मा हैं फिर भी पुत्र तो पुत्र ही ठहरा उसके विरुद्ध वे क्या कर सकते हैं। यह सोच कर उसने शीघ्रता से एक वर खोज कर उसके साथ कन्या का विवाह कर दिया।

विवाह संस्कार हो रहा था, तभी राजकुमार का पता चला। वह शीघ्र ही उस स्थान पर पहुँचा जहाँ वर वधू मंडप में बैठे थे और वैदिक मन्त्रों से ब्राह्मण विवाह करा रहे थे। कुमार ने सबकी अवज्ञा करके वेद मन्त्रों का तिरस्कार करके विधि में विघ्न डाला और कन्या को बलपूर्वक उठाकर ले गया। ब्राह्मणों ने बहुत कहा—"कुमार ! वेद की विधि का लोप करना वैदिक संस्कारों में विघ्न डालना यह बहुत बड़ा पाप है। राक्षसों को छोड़कर अन्य कोई ऐसा कर नहीं सकता।" किन्तु कुमार ने एक भी बात न सुनी। वह कन्या को बल पूर्वक उठा ले गया।

ब्राह्मण को बड़ा दुख हुआ। वह रोते-रोते राजा के पास गया और बोला—'महाराज ! कुमार सत्यव्रत ने जैसा पाप किया है, वैसा पाप इक्ष्वाकु वंश के किसी राजा ने मन से भी न किया होगा। इसने चांडालों का सा कार्य किया है, विवाह होती हुई मेरी कन्या को वेद मन्त्रों का तिरस्कार करके वैवाहिक विधि को लोप करके, मेरी कन्या को बल पूर्वक कुमार ले गया है।"

राजा को यह सुनकर बड़ा क्रोध आया। गुरु वशिष्ठ जी भी बैठे थे। उनसे राजा ने सम्मति पूछी। गुरु ने कहा—"राजन् ! ऐसे पुत्र का तो परित्याग ही श्रेयकर है।" राजा ने चरों के द्वारा

विविध रूप रखकर व्यक्त होता है। यदि करुण रस न हो, तो साहित्य मे कुछ रह ही न जाय। मिठाइयों मे माधुर्य को निकाल लिया जाय, तो वे किस काम की होगीं। कोई भी रस करुण के बिना चमकता नही। करुण सभी रसों में अनुस्यूत है। करुण रस के बिना काव्य नीरस है। श्रीराम ने अवनि पर अवतरित होकर करुण रस की अविच्छिन्न धारा बहाई है,जो अभी तक बह कर भक्तों के हृदय को शीतलता प्रदान कर रही है और अनन्तकाल तक इसी प्रकार अविरल बह कर प्राणियो को कृतार्थ करती रहेगी। करुणा वियोग में, उत्कण्ठा में उत्पन्न होती है। कृष्णचरित्र संयोग चरित्र है, उसमें वियोग की एक झलक है, किन्तु वह बनावटी है, कृष्ण अपने हृदयेश्वरी से पृथक अवश्य होते है, किन्तु वह पृथकत्व कल्पित सा है। उसमे श्री कृष्ण अधिक दुखित नही होते वियोग तो वह है, कि दोनों ही रोवें दोनों ही छटपटावे दोनों ही बिलबिलावें, दो वियोग की धारायें समान रूप से बहें। करुणा का जैसा साकार स्वरूप राम चरित्र में मिलता है, वैसा संसार में कोई नहीं। राम का सम्पूर्ण जीवन रोते रोते बीता। बाल्यकाल मे वे माता की गोद में, पालने में, खेल मे रोते रहे। बड़े हुए तो रूखी जटा वाले बाबाजी के पल्ले पड़े। वहाँ माता पिता की स्मृति में रोते रहे। अरण्य मे भी विपत्ति के ऊपर विपत्ति पड़ी। अपनी प्राण प्रिया का वियोग हुआ वह तो पराकाष्ठा की करुणा थी। जैसे तैसे मिली कि फिर वियोग। जीवन भर रो रोकर ही उन्होंने करुणा की सरिता के पाट को बढ़ाया।

जिस हृदय में करुणा नहीं, स्निग्धता नहीं। वियोग कथा अनुभव करने की शक्ति नही वह राम चरित्र को पढ़े भी तो क्या समझ सकता है। कारुणिक हृदय ही राम चरित्र को

गुरु के शाप से राजा चांडाल हो गये और इधर-उधर वनों में मारे-मारे फिरने लगे। राजा की इच्छा हुई कि मैं एक ऐसा भारी यज्ञ करूं जिससे मैं अपने इस सुन्दर शरीर के सहित ही स्वर्ग चला जाऊं। वहाँ जाकर अपने सौन्दर्य से सुरों को लज्जित करूं।"

यह सोच कर वे गुरु के निकट गये और हाथ जोड़कर बोले—'प्रभो! गृहस्थियों की एकमात्र कुल पुरोहित ही गति हैं, वे ही धर्म-कर्म के अधिकारी हैं। गुरु ही भयत्राता और ज्ञानदाता हैं। आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो जायें और मुझे प्रायश्चित्त कराकर एक बड़ा भारी यज्ञ करावें, जिससे मैं इस शरीर के सहित स्वर्ग चला जाऊं।"

वसिष्ठजी ने कहा—"तैंने तीन बड़े भारी-भारी (शंकु) पाप किये हैं। वैदिक विधि में विघ्न डाला है, ब्राह्मण की कन्या का अपहरण किया है और मेरी यज्ञधेनु का वध किया है, इसीलिये तेरा नाम आज से त्रिशंकु विख्यात होगा। तू अपने कर्मों से चांडाल हो गया है। मैं तुझे यज्ञ नहीं करा सकता।"

राजा ने गुरु की बहुत अनुनय विनय की। उसके यहाँ बिना खाये पड़ा रहा गुरु ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"तू चाहे भूखो मर जा मैं तुझे यज्ञ नहीं करा सकता।"

यह सुनकर राजा उदास होकर गुरु वसिष्ठ के १०० पुत्रों के समीप गये और विनीत भाव से बोले—"गुरुपुत्रों! मेरे गुरु ने मुझे त्याग दिया है, अब आपका ही मुझे सहारा है, जैसे ही गुरु वैसे ही गुरुपुत्र। मैं गुरुघराने के पुरुषों के रहते, अन्य किसी से यज्ञ कराना नहीं चाहता, आप मुझसे मेरे पापों का प्रायश्चित कराके यज्ञ कराइये जिससे मैं सशरीर स्वर्ग चला जाऊं।"

गुरुपुत्रों ने कहा—"अरे नीच राजा! जब तेरा गुरु ने परि-

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न अब लड़खड़ाते हुए माताओं की उङ्गलियों को पकड़ कर चलने लगे। तोतली वाणी में कुछ बोलने भी लगे। वे अपनी बाल लीला से पिता माताओं को सन्तुष्ट करने लगे। माताओं का सम्पूर्ण समय उनके लाड़ प्यार और देखरेख में बीत जाता। प्रातःकाल उठते ही वे सोते हुए बालकों को लोरिया देकर उठाती। उनका मुँह धुलातीं कुछ बालभोग खिलातीं। फिर नित्यकर्मों से निवृत्ति करा कर भाँति-भाँति के सुगन्धित तेल लगा कर उबटन लगा कर सुन्दर सुगन्धित सरयू जल से स्नान करातीं, बालों को सुलझातीं, आभूषणों को यथा स्थान सुन्दर चटकीली सुहावने रेशमी वस्त्रों को पहिनाती, फिर इधर उधर घुमाती, टहलातीं। महाराज उन्हें गोदी में लेकर चूमते पिता से कुमार भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते उनके दाढ़ी मोंछ के बालो को पकड़ लेते, चमकते हुए मुकुट को उतारने दौड़ते। महाराज प्यार से अपना मुकुट उतार कर श्रीराम को पहिनाते। जिससे उनका सब मुख ढक जाता मुकुट गले तक चला जाता। तब ऊब कर राम उसे उतारने का प्रयत्न करते, सभी हँस जाते। महाराज साथ साथ अपने थाल में बिठा कर सब को खिलाते महाराज मुख में कौर देते तो श्रीराम भी अपने छोटे छोटे हाथों में कोई मीठी वस्तु लेकर महाराज के मुख मे देना चाहते, किन्तु हाथ न पहुँचने के कारण वे विवश से हो जाते, तब तुरन्त महाराज उन्हें गोद में उठाकर उनके हाथ की वस्तु को खा लेते साथ ही उनके मुख को चूम लेते। चूमते समय कपोलों पर दाल भात, दही, कढ़ी लग जाती। जिसे देख कर रानियाँ हँस जातीं। महाराज स्वयं पोंछते तब आप भी कोई कढ़ी, दही, खीर आदि पतली वस्तु लेकर महाराज के मुख पर पोत देते, इससे सभी हँसने लगते। रानियाँ हँसते हँसते लोट पोट हो जातीं

यज्ञ का यजमान चांडाल हो, आचार्य क्षत्रिय हो उस यज्ञ में हम नहीं जा सकते।" इतना सुनते ही विश्वामित्र ने उन्हें शाप दे दिया—"तुम सबके सब चांडाल हो जाओ।" मुनि का शाप व्यर्थ जाने वाला तो था ही नहीं। वसिष्ठ के पुत्र चांडाल हो गये।

तब फिर मुनि ने अन्य ऋषियों को बुलाया। ऋषियों ने आपस में मन्त्रणा की, वे सब डरे हुए थे। उनमें से एक बूढ़े महर्षि ने कहा—"देखो, भाई यह गाधि का पुत्र विश्वामित्र बड़ा क्रोधी है यदि हम लोग इसके बुलाने से न गये, तो यह हम सबको भी शाप दे देगा। इसलिये कल्याण इसी में है चुपचाप चले चलो, और वह जो कहे उसकी हाँ में हाँ मिलाते जाओ।" यह बात सबने स्वीकार की, क्या करते, कहावत है "बलवान मारे और रोने न दे।" विश्वामित्रजी ने सभी ऋषियों को कार्य सौंपे। सभी बड़ी सावधानी से कार्य करने लगे। यज्ञ के अन्त में मुनि ने मंत्र पढ़े और राजा से कहा—"राजन्! अब आप सम्हल जायँ, मैं सशरीर आपको स्वर्ग भेजता हूँ।" यह कहकर उन्होंने मंत्र पढ़े। राजा अपने शरीर सहित ऊपर उड़ने लगे। उड़ते-उड़ते वे इसी शरीर से इन्द्र की दिव्य अमरावती पुरी में पहुँच गये। देवताओं ने जब देखा कि यह चांडाल तो सशरीर स्वर्ग में आ गया तो वे परम विस्मित हुए। उनके लिये यह अभूतपूर्व बात थी। क्रोध में भरकर उन्होंने राजा को नीचे ढकेल दिया। अब तो राजा सिर नीचा किये स्वर्ग से उसी प्रकार गिरे, जिस प्रकार क्षीण पुण्य होने से पुरुष सुरपुर से गिराये जाते हैं। गिरते समय त्रिशंकु चिल्लाने लगा—"गुरुदेव! महाभाग! मुनिवर विश्वामित्र जी! मुझे बचाइये। देवता मुझे गिरा रहे हैं।"

छप्पय

सखनि संग मिलि करैं खेल अब चारो भैया।
चरित निरखि नृप सहित मुदित हों तीनों मैया॥
बड़े भये उपनयन करचो गुरु गृह भिजवाये।
मुनि वशिष्ठ प्रभु-शिष्य पाइ अति हिय हरषाये॥
गुरु सुश्रूषा करहिं सब. पढ़हिं पाठ एकाग्र चित।
समय शील संकोच युत, सुनहिं शास्त्र श्रुति तन्त्र नित॥

त्रिशंकु को गुरु का शाप है। उसे तीन महा पाप लगे हैं, वह सशरीर स्वर्ग कैसे जा सकता है ?"

विश्वामित्र जी ने कहा—"कुछ भी क्यों न हो। मैंने तो राजा को सशरीर स्वर्ग भेजने का वचन दे दिया है, अब मैं मान नहीं सकता। या तो स्वर्ग को बिना इन्द्र का कर दूँगा, या नये इन्द्र का निर्माण करूँगा।"

इन्द्र ने कहा—"मुनिवर! यदि आपका ऐसा ही हठ है, तो हम त्रिशंकु के लिये जहाँ लटका है वहीं नये स्वर्ग को स्वीकार किये लेते हैं। वह संसार में त्रिशंकुव स्वर्ग कहलायेगा। महाराज त्रिशंकु वहीं सुख से रहेंगे आपके बनाये हुए ग्रह और सप्तर्षियों को भी हम स्वीकार किये लेते हैं। अब बात को बहुत न बढ़ाइये। हमारा अधिक अपमान न कराइये। अब तो आपकी ही बात रही।"

विश्वामित्रजी ने सोचा—"चलो, देवताओं ने त्रिशंकु को स्वर्गीय मान तो लिया। अपनी बात रह तो गई, अब अधिक आग्रह अनुचित है।" यह सोचकर उन्होंने कहा—"अच्छी बात है। ऐसा ही हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तभी से आकाश में दो सप्तर्षि मंडल हो गये हैं। विश्वामित्रजी के निर्माण किये ग्रह भी अद्यावधि आकाश मंडल में विद्यमान हैं। महाराज त्रिशंकु अब भी आकाश में अधर में लटके हुए तारा रूप में दिखाई देते हैं। कहते हैं, उनके मुख की लार से ही कर्मनाशा नदी उत्पन्न हुई है। इसी लिये कर्मनाशा नदी का कोई पानी नहीं पीते जो कर्मनाशा नदी का जल पी लेते हैं उनके समस्त शुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

पृथ्वी पर भी विश्वामित्रजी के बनाये क्षुद्र अन्न अब तक विद्यमान हैं। कोदों, महुआ, मकई, आदि उन्हीं के रचित अन्न

है। प्रभु की लीलायें प्राकृत सी दिखाई देने पर भी अप्राकृत हैं। वे मानवीय सी लगने पर भी दिव्य है,उनमें विश्व को विमोहित करने की शक्ति निहित है। जो श्रद्धा से उनकी इन लीलाओ को सुनेंगे वे तो लाभ में रहेगे, जो मानवीय भाव से इन्हें समझेंगे मानव ही बने रहेगे।

सूतजी कहते है—"मुनियो! श्रीराम अपने तीनों भाइयों के साथ साथ गुरु के घर मे पढ़ने गये। अब वे माताओं से पृथक गुरु घर में रहने लगे। अब वे राजसी वस्त्राभूषण नहीं धारण करते थे। मूंज की मेखला धारण करके रुरु नामक मृग का चर्म धारण करते। खदिर का दण्ड धारण करके कोपीन लगाते और गुरुगृह मे भिक्षा पाकर विद्याध्ययन करते। ब्रह्मचारी वेष में श्रीराम मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य ही दिखाते। गुरु जो भी एक बार पढ़ा देते, उसे वे तत्काल याद कर लेते। याद क्या कर लेते, उन्हें तो सब वेदशास्त्र पहिले से ही याद थे। वेद तो उनकी स्वांस से ही उत्पन्न हुए है। शास्त्र तो उनका निर्मित शासन है उनकी सर्ग की स्मृति ही अनेकों स्मृतियाँ हैं। प्रथम तो भगवान् वशिष्ठ को उनकी ऐसी कुशाग्र बुद्धि पर आश्चर्य हुआ। फिर यह समझ कर कि ये तो साक्षात् परब्रह्म पुराण पुरुष है, उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। उनके रोम-रोम खिल गये, उन्होंने अपने जीवन को सार्थक समझा।

इस प्रकार स्वल्पकाल में ही श्रीराम ने सभी वेद, समस्त शास्त्र, सभी विद्यायें पढ़ ली। गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ से कहा-"राजन्! आपके सब पुत्र समस्त विद्याओं में पारङ्गत हो गये। वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता हो गये।" यह सुनकर महाराज दशरथ परम प्रमुदित हुए। वे गुरु की आज्ञा से अपने प्राणों से

था, उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त होकर इसे श्रवण करें।"

छप्पय

दारा विश्वामित्र भरण पोषण नृप कीन्हों।
है प्रसन्न मुनि नृपहिं मनो वांछित वर दीन्हों॥
इच्छा राजा केरी सहित तनु स्वर्ग सिधाऊँ।
बोले विश्वामित्र यज्ञ करि तुरत पठाऊँ॥
तपतें भेजे स्वर्ग नृप, सुरनि ढकेले गिरे नभ।
लटके अधर त्रिशंकु तब, मध्यहिं डाँट मुनि ऋषभ॥

महामुनि विश्वामित्र का आगमन सुनकर राजा सहसा सकपका गये। वे शीघ्रता से सिंहासन पर से उठ कर नंगे पैरों ही वशिष्ठ जी को आगे करके मुनि के स्वागत के निमित्त चले। द्वार पर पहुँच कर राजा ने मुनि के पादपद्मों मे प्रणाम किया, शास्त्रीय विधि से उनकी पूजा की। कपिल गौ उनको भेट की और बड़े सत्कार से उन्हें अपने यहाँ ले आये।

मुनि की पूजा होने के अनन्तर दोनों ओर से कुशल प्रश्न हो जाने के उपरान्त हाथ जोड़ कर स्नेह भरी वाणी में राजा दशरथ बोले–"ब्रह्मन् ! आज मेरे यज्ञादि समस्त शुभ कर्म सफल हो गये, आज मेरा घर पावन बन गया, आज मेरे पितर तर गये जो आप जैसे परमार्थियो की पादरज मेरे गृह में पड़ गई, ब्रह्मन् ! आपने मुझे दर्शन देकर अत्यन्त ही अनुग्रहीत किया। अब मेरी यह जानने की अत्युत्कट अभिलाषा है, कि भगवान् मुझे केवल कृतार्थ करने दर्शन देने ही पधारे हैं, या मेरे लिये कोई विशेष आज्ञा है।"

गम्भीर होकर विश्वामित्र बोले—"राजन् ! मैं एक आवश्यक कार्य से आपके समीप आया हूँ, यदि आप मेरी याचित वस्तु को देने का वचन दें, तब मैं कहूँ ?"

यह सुनकर अत्यन्त अधीरता प्रकट करते हुए दीन वाणी में राजा बोले—"प्रभो ! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं। ऐसा प्रश्न तो दूसरों से किया जाता है। मैं तो आपका अनुगत, अनुचर, शिष्य, सेवक, सुत तथा आज्ञाकारी भृत्य हूँ। स्वामिन् ! मेरा राज्यपाट, कोष, सुत, परिवार सर्वस्व आपका है। आप आज्ञा करें, यदि प्राण देकर भी मैं आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँगा तो करूँगा, यदि आप इन्द्र का सिंहासन चाहेंगे, तो उसे

पुत्र के प्रति पिता का कितना प्रेम होता है। इसे पिता के प्रतिरिक्त अन्य पुरुष अनुभव कर ही नहीं सकते। जो गृहस्थ होकर भी पुत्र-पौत्रवान् नही है उसका गृहस्थी होना व्यर्थ है। और पुत्रवान् होकर भी जिनके पुत्र का जीवन सन्देहास्पद है उसका भी जीवन व्यथ है। पुत्र हो, स्वस्थ हो, निरोग हो, तथा गुणी और सुशील हो, तभी पिता अपने को कृतकृत्य समझता है तभी उसे पुत्रवान् होने का सुख प्राप्त होता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! त्रिशंकु के पुत्र पुण्यश्लोक महाराज हरिश्चन्द्र हुए। उनके कोई पुत्र नहीं था। निःसन्तान होने से राजा नित्य ही खिन्न रहा करते थे। उनकी रानी शैव्या भी संतान न होने से चिन्तित रहती थीं। एक दिन घूमते-फिरते देवर्षि नारद महाराज हरिश्चन्द्र के यहाँ पधारे मुनि को आया हुआ देखकर राजा ने उनका स्वागत सत्कार किया। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर नारद जी ने पूछा—"राजन्! प्रतीत होता है, आपको कोई मानसिक चिन्ता है, तभी तो आपका मुख म्लान हो रहा है, आप अपने चिन्ता का कारण मुझे बताइये।"

राजा ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—'प्रभो! आप सर्वज्ञ है। भूत भविष्य और वर्तमान की समस्त बातें आपको हस्तामलकवत् विदित है। आप घटघट की जानने वाले हैं आप से क्या छिपा है, आप सब जानते हुए भी अनजान की भाँति मुझसे पूछ रहे हैं, तो मै बताता हूँ—"स्वामिन मेरा इतना विस्तृत राज्य है, इतनी बडी सप्तद्वीपवती वसुन्धरा का मैं एक मात्र सम्राट हूँ, फिर भी मैं तथा मेरे पितृगण सदा दुखी रहते हैं। मै तो इसलिये दुखी रहता हूँ, कि मेरे वंश का विच्छेद हो जायगा, मेरे इतने वैभव को मेरे पश्चात् भोगने वाला कोई न

मुनि बोले—"राजन् ! यह काम आपके मान का नही। आप उन राक्षसों को नहीं मार सकते। आपकी सेना कुछ काम न देगी।" राजा ने पूछा—"प्रभो ! ऐसे वे कौन से राक्षस हैं,मैं नहीं मार सकता।"

मुनि बोले—' राक्षसों का राजा रावण है उसकी प्रेरणा से सुन्द, उपसुन्द मारीच, सुबाहु आदि बहुत से राक्षस आकर मेरे मख में विघ्न डालते है। उन्हीं से मुझे भय है। उन्हें मैं राम के द्वारा मरवाऊँगा।

रावण नाम सुनते ही राजा परम भयभीत हो गये, बोले—"ब्रह्मन् ! उस दुष्ट रावण ने तो तीनों लोको को जीत लिया है हमारे पूर्वज महाराज अरण्य को मार दिया है। ब्रह्मन् मैं उससे युद्ध नही कर सकता। सुन्द उपसुन्द का भी पराक्रम मैंने सुना है। मैं मेरी सेना समस्त भूपतिगण रावण से युद्ध नहीं कर सकते। इनके साथ युद्ध करने मै अपने पुत्रों को कभी न दूँगा। किसी प्रकार न दूँगा। आप चाहें शाप देकर मुझे भस्म हो क्यो न कर दे।"

यह सुनकर मुनि कुपित हुए। उन्होंने राजा को डराया धमकाया। साम दाम, दण्ड-भेद आदि सभी उपायो से विवश किया। राजा थर-थर कांप रहे थे, डर रहे थे, भयभीत हो रहे थे, किंतु राम लक्ष्मण को देने को उद्यत नही थे। मुनि ने राम का प्रभाव बहुत समझाया, ये साक्षात् विष्णु हैं अनेक प्रमाणो से सिद्ध किया अपने तप तेज का प्रभाव बताया, रक्षा करने का आश्वासन दिया। किन्तु राजा किसी प्रकार मानते ही नही थे। मुनि का आग्रह था कि मैं राम लक्ष्मण को लेकर जाऊँगा। राजा का प्रतिज्ञा थी चाहे पृथिवी उलट पलट हो जाय, इधर का सूर्य

वरुणजी ने पुत्र स्नेह की परीक्षा के निमित्त उसी दिन आकर राजा से कहा—"राजन ! आपके पुत्र हो गया है, इसी के द्वारा अब अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार मेरा यजन कीजिये।"

राजा ने कहा—"महाराज ! पुत्र को दस दिन का हो जाने दीजिये, सूतक तो छूट जाय तब यजन करूँगा।"

दसवें दिन वरुण ने आकर कहा—"अब तो दस दिन भी हो गये, यजन कब करोगे ?"

राजा बोले—"भगवन् ! बच्चे के दाँत तो निकल आने दीजिये, तब देखा जायगा।"

दाँत निकलने पर वरुण ने आकर फिर कहा—"राजन् ! आपके पुत्र के दाँत भी निकल आये, मेरा यजन भूल गये क्या ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! मुझे ध्यान है बच्चे के जो दाँत निकले हैं, ये दूध के दाँत हैं जब ये दूध के दाँत गिर जायँगे तब यजन करूँगा।"

जब दूध के दाँत गिर गये तब फिर आकर वरुण ने कहा—"अजी राजन् ! यज्ञ पशु के दूध के दाँत तो गिर गये। अब मेरा यजन कब करोगे ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! फिर से दाँत तो निकल आने दीजिये।"

फिर से दाँत निकल आने पर वरुण आये और बोले—"महाराज और कब तक मैं प्रतीक्षा करूँ।"

राजा ने कहा—"महाराज ! बच्चे को कुछ सयाना होने दीजिये। धनुष कवच धारण करने योग्य हो जाय, तब देखा जायगा।"

कुछ दिनों के बाद कुमार रोहित धनुषबाण और कवच

सरल स्वभाव से राजीव लोचन बोले—"भगवन् ! जब समस्त भयों को नाश करने वाले आपका वरद हस्त हमारे ऊपर है तब हमें भय किस बात का । भगवान् की जैसी आज्ञा होगी उसका अक्षरशः पालन करेंगे ।"

श्रीराम के ऐसे सारगर्भित वचन सुनकर विश्वामित्रजी वहीं रह गये और नित्य कृत्य करके उन्होंने वह रात्रि वहीं बिताई ।

प्रातःकाल मुनि ने भोर में दोनों भाइयों को अत्यन्त स्नेह से जगाया । नित्यकर्मों से निवृत्ति होकर वे आगे बढ़े ।

मार्ग में उन्हें बड़े मुख वाली, लम्बी लम्बी दाँतों वाली ताड़का नाम की राक्षसी मिली । उसका मुख पर्वत की कन्दरा के समान था । हल की फार से भी बड़े उसके दाँत थे। खुटेके समान उसकी दाढ़ें थीं । सूप से भी बड़े उसके कान थे । उसके स्तन ऐसे लगते थे मानों दो पर्वत शिखर उसकी छाती पर रखें हों, उसके बाल बिखरे हुए थे । बड़े बड़े हाथ थे, उसके उस विकराल रूप को देखकर श्रीराम तनिक भी विचलित नहीं हुए उन्होंने विश्वामित्र जी से पूछा—"प्रभो ! यह विकराल भेष वाली राक्षसी कौन है ?"

विश्वामित्र जी बोले—"यह सुकेतु नामक यक्ष की पुत्री है और सुन्द नामक राक्षस की पत्नी है, यह बड़ी क्रूरकर्मा है, रामचन्द्र इसे तुम मार डालो ।"

श्रीराम बोले—महाराज ! पहिले ही पहिले तो मुझे मारना आरम्भ करना है । श्री गणेश इससे ही करूँ ? स्त्री को तो अवध्या बताया है ।"

विश्वामित्र जी बोले—"भाई ! वेद शास्त्र को प्रकट करने वाले हम ऋषिगण ही तो हैं । जो सबको क्लेश देता हो, जिसके

राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! क्या शुनःशेपकी उस यज्ञ में बलि दी गई।"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"अजी राजन् ! इतने बड़े-बड़े ऋषि महर्षि, ब्राह्मणकुमार की बलि कैसे दे सकते हैं। उसे तो विश्वामित्रजी ने अपने प्रभाव से देवताओं से छुड़ा लिया और अपना पुत्र मान लिया। वह विश्वामित्रजी के पुत्रों में बड़ा प्रसिद्ध हुआ कौशिक गोत्र में आजीगर्त से प्रवरान्तर से गोत्र-प्रवर्तक भी हुआ। इसकी कथा आगे विश्वामित्र के प्रसंग में मैं कहूँगा। राजन् ! ये महाराज हरिश्चन्द्र ऐसे धर्मनिष्ठ थे कि इनसे प्रतिज्ञा करके विश्वामित्रजी ने इन्हें, भाँति-भाँति के क्लेश दिये, पगपग पर इनका अपमान किया राज्य से भ्रष्ट कर दिया, फिर भी इन्होंने अपने सत्य को नहीं छोड़ा। इसीलिए संसार में सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र की कीर्ति अब तक व्याप्त है। विश्वामित्र के इस व्यवहार से असन्तुष्ट होकर उनके कुल गुरुवसिष्ठजी ने विश्ववामित्रजी को पक्षी होने का शाप दिया था ! इस पर विश्वामित्रजी ने भी वसिष्ठजी को पक्षी होने का शाप दिया। तब दोनों पक्षी बनकर अनेकों वर्षों तक लड़ते रहे।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! विश्वामित्रजी ने महाराज हरिश्चन्द्र को क्लेश क्यों दिये ? जिसके कारण इतने बड़े-बड़े ऋषियों को पक्षी होना पड़ा। महाराज हरिश्चन्द्र ने क्या प्रतीज्ञा की थी। कृपा करके इस कथा को मुझे विस्तार से सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! मैं सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्रजी के पुण्यप्रद चरित को आपको सुनाता हूँ। आप इसे सावधानी के साथ श्रद्धासहित श्रवण करें।"

लोग यही निवास करें। तुम्हारे रहने से यह वन परम पावन तीर्थवन जायगा।"

यह सुनकर लजाते हुए श्रीराम ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और एक सघन वृक्ष की छाया में जहाँ जल का सुपास था, अपना आसन जमाया। सन्ध्या वन्दनादि नित्य कृत्यों से निवृत्त होकर मुनि सो गये। श्रीरामचन्द्र भाई लक्ष्मण के सहित उनके पैर दबाते दबाते अनेक कथाओं को पूछते रहे और विश्वामित्र जी श्रीराघव के पूछने पर प्राचीन कथायें सुनाते रहे। इस प्रकार वह रात्रि उन्होंने वहीं बिताई।

ताड़का वध की बात सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! श्रीरामचन्द्र जी ने स्त्रीवध क्यों किया? स्त्री को तो सर्वत्र अवध्या बताया गया है। हम देखते हैं राम कृष्ण दोनों ही अवतारों ने वध कार्य स्त्री से ही आरम्भ किया श्रीराम ने आरम्भ में ताड़का बध किया और श्रीकृष्ण ने पूतना वध से मार धाड़ संहार आरम्भ किया। इसका क्या रहस्य है?"

यह सुनकर सूतजी बोले "महाराज? श्रीकृष्ण की बात तो आप मुझसे अभी पूछें नहीं। इन टेढ़े टाँग वाले काले देवता की मथुरा तो तीनों लोक से न्यारी ही है। हाँ मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की बात मैं बता सकता हूँ। ये पुरुषोत्तमतो मर्यादा के साकार स्वरूप हैं। अतः ये मर्यादा विरुद्ध तो कोई कार्य कर नहीं सकते।"

ताड़का वध का प्रथम कारण तो यह है, कि अयोध्या से चलते समय ही विश्वामित्र जी ने श्रीराम को दिव्य विद्यायें

हरिश्चन्द्र चरित्र

[६३६]

त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
यन्निमित्तमभूद् युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ७ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

मृगया हित इक दिवस गये नृप क्रंदन धुनि सुनि ।
गये लक्ष्य करि नारि लखी तहँ अरु कौशिक मुनि ॥
अबला सुनत विलाप धनुष पै बान चढ़ायो ।
अन्तर्हित ते भई क्रोध कौशिक कूं आयो ॥
बोले—तू दाता बड़ो, हौं सुपात्र हूँ योग्य अति ।
करो दान सर्वस्व तुम, दयो तुरत सब भूमिपति ॥

दान सबसे श्रेष्ठ धर्म है, दान के सहारे ही पृथ्वी अवस्थित है। जिस समाज में दानियों का अभाव हो जाता है सभी स्वार्थी और विषयलोलुप हो जाते हैं। पर पीड़ा को अनुभव करके जिनमें अपने स्वार्थ त्याग की भावना नहीं, वे तो पशुओं से भी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! त्रिशङ्कु के पुत्र महाराज हरिश्चन्द्र हुए जिनके निमित्त परस्पर शाप से दोनों पक्षी बने विश्वामित्र वशिष्ठ में बहुत वर्षों तक बड़ा युद्ध होता रहा।"

भगवान् ने डाँटकर कहा—"मेरे शासन को पुरस्कृत करके तुम उस बच्चे को दे दो।" यह तो नियम के विरुद्ध विशेष आज्ञा थी। यम ने दे दिया। इसी प्रकार ताड़का वध की गुरु आज्ञा सुनकर पहिले तो श्रीराम हिचके किन्तु जब गुरु ने बल देकर कहा—"इसे मेरी आज्ञा से मारो।" तब राम क्या करते गुरो राज्ञा गरीयसी" ताड़का को गुरु आज्ञा समझकर मारा।

दूसरी बात यह है, कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ओर है। जो मनुष्य सर्व प्रथम अपने वैषयिक प्रकृति को मार नही लेता तब तक वह कोई भी महत्व पूर्ण कार्य कर नही सकता। अतः प्रकृति पर विजय पाना यह पुरुष का प्रथम कर्तव्य है।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है, एक प्राचीन कहावत है कि 'चोर को न मारकर पहिले चोर की माँ को मार डालो जिससे चोर पैदा हो ही नही।" विश्वामित्र मुनिके मखमें मारीच सुबाहु ही बहुत विघ्न किया करते थे। रामजीने सोचा चोरोंको मारने के प्रथम इनकी माँ को मार दो। बाँध तभी बँधेगा जब उसकी मूल धारा रोकी जाय। हमने मारीच सुबाहु को मार डाला यह फिर ऐसे ही राक्षस पैदा करती रही तो मुनियों को कष्ट होगा, अतः पहिले मूल को ही निर्मूल करो इसलिये पहिले ताड़का को मारा तब मारीच सुबाहु को।

चौथा कारण यह भी हो सकता है, कि मनुष्य धन लुटने से उतना क्रोधित नही होता, अपने अपमान से उतना क्रोधित नहीं होता जितना स्त्रियो के वध से, उनके अपमान से क्रोधित होता है अतः उन्होने ताड़का को मारकर राक्षसों को मानों चुनौती दी कि अब तुम युद्ध के लिये तत्पर होजाओ। मैं समस्त राक्षसों का संहार करूँगा।"

थे। सारांश यह है, कि उनके राज्य में प्रजा को सभी प्रकार के सुख थे।

एक बार महाराज अपने कुछ सैनिक और साथियों को लेकर वन में मृगया के निमित्त गये। राजा ने एक बड़े भारी मृग के पीछे अपना घोड़ा दौड़ा दिया। महाराज घोड़े को पूर्ण वेग के साथ दौड़ाये जा रहे थे, कि उसी समय उन्हें कुछ स्त्रियों के रुदन का आर्तस्वर सुनाई दिया। अब राजा ने घोड़े को रोक दिया। हरिन अपनी इच्छित दिशा में भाग गया। राजा को हरिन की चिन्ता नहीं थी, उनका चित्त तो उस करुणक्रन्दन के श्रवण से द्रवित हो गया था। महाराज ने सोचा—'मृगया तो व्यसन है। क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य तो दीनदुखियों को दुःख से बचाना है, जो क्षत से त्राण करता है वही क्षत्रिय है मेरे राज्य में ऐसा किसका साहस है, जो एकांत अरण्य में अबलाओं को सतावे। स्त्रियों को कष्ट दे।' ऐसा सोचकर महाराज ने उस करुणध्वनि का अनुसरण करके उसी ओर अपना अश्व दौड़ाया। वह ध्वनि अधिकाधिक करुण होती जाती था, महाराज ने दूर से ही ललकार कर कहा—"सावधान! सावधान! यह कौन दुष्ट पापाचारी मेरे राज्य में ऐसा अन्याय कर रहा है, कौन मेरे शासन का अपमान कर रहा है। किसे मेरे विशाल धनुष से निकलने वाले बाणों का भय नहीं। कौन अग्नि के साथ खिलवाड़ करना चाहता है, किसके धड पर दो सिर हैं, कौन अपनी अकाल में ही मृत्यु चाहता है। मेरे शासन काल में अबलाओं पर अत्याचार करने का साहस किसे हुआ है। कोई भी दुष्ट क्यों न हो, मैं उसे अभी यमपुर पठाऊंगा, उसके कुकृत्य का फल चखाऊंगा। उसे अपने बाण का लक्ष्य बनाऊंगा इन रोती हुई

स्नेही पुत्र की भाँति निर्भय होकर मुनि से भाँति भाँति के प्रश्न करने लगे। विश्वामित्र जी भी उनके सभी प्रश्नों का अत्यन्त प्यार दुलार के साथ समझा समझा कर उत्तर देने लगे। श्रीराम के लिये ऐसे बीहड़ वन में एकाकी पैदल आना यह प्रथम अवसर था। अतः वे जिस वस्तु को भी देखते, उसी के सम्बन्ध में पूछने लगते। उन्हें विश्वामित्र का आश्रम देखने की बड़ी चटपटी लगी हुई थी। वे राक्षसों से युद्ध करने को बडे ही लालायित थे, आज प्रातः काल ही विश्वामित्र जी ने उन्हें बहुत से दिव्य अस्त्र संधान उपसंहार विधि के सहित प्रदान किये थे। उनकी परीक्षा करने को श्रीराम अत्यन्त ही समुत्सुक प्रतीत होते थे। उन्होने मुनिसे पूछा—"प्रभो! आपका आश्रम अब कितनी दूर है? हम कै दिन में वहाँ पहुँचेंगे?"

विश्वामित्र ने श्रीराम की ठोढी में हाथ लगाते हुए उनके कपोल को छूकर कहा—"अरे बेटा! अब कहाँ दूर है? अब तो हम आ गये। देखो, यह तो ताड़का वन है, इससे आगे एक मुनियो का छोटा सा वन और है। उसी के आगे मेरा सिद्धाश्रम है।"

राम ने उत्सुकता से पूछा—"भगवन्! आपके आश्रम का नाम सिद्धाश्रम क्यो पड़ा?"

विश्वामित्र बोले—"रामभद्र तुमने सुना होगा, पुराण पुरुष विष्णुने इन्द्रको त्रिभुवन का राज्य देने के लिये वामनावतार धारण किया था. वे कश्यप अदिति के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे। उन्होने यही आकर तप किया था और यही वे सिद्ध हुए थे। इसीलिए इसका नाम सिद्धाश्रम है। मैं विष्णु का भक्त हूँ इसी आशा से इस सिद्धाश्रम पर तप कर रहा था, कि कभी साक्षात् विष्णु को यहाँ ले आऊँगा, सो आज मेरा

का अभिमान था, उन्होंने विघ्न विनायक की पूजा नहीं की। विघ्नेश ने सोचा—"ये साहसी मुनि तपस्या के प्रभाव से इन विद्याओं को वश में तो कर लेंगे, किन्तु अभिमान में क्रोध छिपा रहता है। जहाँ इन्हें क्रोध आया, तहाँ ये सब विद्यायें अन्तर्हित हो जायँगी।" यही सोचकर विघ्न विनायक सूक्ष्म रूप से राजा के शरीर में प्रवेश कर गये।

राजा के ऐसे वीरता पूर्ण बचन सुनते ही, पूर्व के क्षत्रिय होने के संस्कारों के कारण मुनि को क्रोध आ गया। क्रोध आते ही वे सभी विद्यायें विलुप्त हो गईं। मुनि का साधन व्यर्थ हो गया। क्रोध तो पाप का मूल है। मुनि ने राजा को डाँटा और कहा—"दिखा तू अपना बल। तेरा क्षात्र बल मेरी तपस्या के आगे तुच्छ है।"

मुनि के मुख से ऐसा सुनते ही महाराज शीघ्रता पूर्वक अश्व के ऊपर से उतर पड़े और तुरन्त मुनि के पैरों में पड़कर बोले—"प्रभो मैंने आपके लिये ये शब्द नहीं कहे थे। मैं तो आपके चरणों का दास हूँ, आपका शिष्य सेवक और आज्ञाकारी हूँ। भगवन्! मैंने आपके धर्म के पालन के निमित्त ये शब्द कहे थे। जो राजा दुखियों के दुख दूर नहीं करता आर्तो की रक्षा नहीं करता, वह धर्म भ्रष्ट माना जाता है। राजा के तीन ही तो धर्म हैं, दान देना, प्रजा की रक्षा करना और प्रतिपक्षियों से रण में युद्ध करना। मैंने जो कुछ कहा था दुखियों के दुःख दूर करने की भावना से कहा था। आपका अपमान करना मेरा उद्देश्य नहीं था, आप मेरे ऊपर क्रोध न करें।"

मुनि ने क्रोध में भर कर कहा—"क्या तुम धर्म का मर्म जानते हो?"

दिखाते हुए कहा—"राघव ! सामने जो तुम्हें हरा-भरा आश्रम दिखाई दे रहा है, वही सिद्धाश्रम है। यहीं मैं रहता हूँ, इसे तुम अपना ही समझो।" श्रीराम दूर से ही आश्रम को देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से युक्त था। उसमें स्थान-स्थान पर सुन्दर सघन वृक्ष लगे हुए थे। जिन पर बैठे भांति-भांति से पक्षी कलरव कर रहे थे। मोर, चकोर, हंस, सारस, कारंडव समीप से सरोवरों के निकट किलोलें कर रहे थे। बहुत से वृक्ष फलों से लदे हुए थे। बहुतों पर पुष्प लगे थे। उन सबके थाले बने थे। वल्कल वस्त्र पहिने मुनिगण उनमे पानी दे रहे थे। बड़ी-बड़ी लताओं की स्थान स्थान पर कुंजें बनी थीं। विविध पुष्पों की दिव्य सुगन्धि से सम्पूर्ण आश्रम सुगन्धित हो रहा था। यज्ञ के धर्म की सुरभि आकाश मण्डल में व्याप्त होकर वायु को सुवासित कर रही थी। हरी-हरी मंजरी युक्त तुलसी स्थान-स्थान पर लगी हुई थी। केले के फलयुक्त वृक्ष हिल-हिल कर अतिथियों का स्वागत कर रहे थे। मृग इधर से उधर स्वच्छन्द फिर रहे थे। कहीं समाके चावल सूख रहे थे। कहीं वल्कल वस्त्र फैलाये हुए थे। कहीं समिधाएँ पड़ी थीं, कहीं कुशाओं के गठ्ठर रखे थे। उस आश्रम को देखकर श्रीराम का मन मयूर नृत्य करने लगा। आश्रम के मुनियों ने जब श्रीराम लक्ष्मण के साथ आते हुए श्री विश्वामित्र जी को देखा तो वे सभी अपने-अपने कार्यों को छोड़ कर उनके स्वागत के लिये दौड़े। सभी ने मुनि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। मुनि ने आश्रम की कुशल पूछी। सबने मुनि का तिथिगत किया और श्रीराम लक्ष्मण का भी अतिथि सत्कार किया।

हाथ पैर धोकर श्रीराम लक्ष्मण ने आचमन किया

यह सुनकर विश्वामित्र ने कहा—"राजन् ! यदि आप सत्य प्रतिज्ञ हैं, तो मुझे अपना सम्पूर्ण राज्य दे दो। यह समुद्रों से घिरी जितनी तुम्हारी पृथ्वी है, उस पर तुम अपना अधिकार मत समझो। इसमे जितने नगर हैं, ग्राम हैं, पुर, पत्तन, वन, उपवन, तुम्हारे रथ, हाथी, घोड़े, कोठार, कोष, धन जो भी कुछ है सर्वस्व मुझे दे दो। अपने स्त्री बच्चे शरीर और धर्म को तुम अपने पास रखो। धर्म ही एक ऐसा बन्धु है, कि सबके छोड़ देने पर भी साथ नहीं छोड़ता, वह परलोक में भी कर्ता के साथ जाता है।"

यह सुनकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। राजा तो डर रहे थे, मुनि क्रुद्ध होकर न जाने क्या शाप दे डालें। अब जब राज्य लेकर ही वे सन्तुष्ट हैं तब तो राजा परम प्रमुदित हुए। मुझसे बड़ा भाग्यशाली कौन होगा, जो इतने बड़े महर्षि मेरे सर्वस्व दान को स्वीकार करेंगे। अत्यन्त आह्लाद के साथ राजा ने कहा—"भगवन् ! यह मुझे सहर्ष स्वीकार है। मैं अपना सर्वस्व आपको समर्पित करता हूँ। आप मेरे सर्वस्व के स्वामी हैं।"

इस पर विश्वामित्र जी बोले—"अब यह सप्तद्वीपा वसुन्धरा किसके आधीन में है ?"

राजा ने नम्रता के साथ कहा—"यह समस्त धन धान्य से पूर्ण पृथ्वी आपके अधीन है और मैं भी सपरिवार आपका किंकर हूँ। अब आप जो भी उचित समझें मुझे आज्ञा दें।"

विश्वामित्र जी बोले—"राजन् ! यदि आप यथार्थ में मन से मुझे अपना सर्वस्व दान कर चुके हैं, तो अपने राज मुकुट को, वस्त्राभूषणों को, तथा अपनी पत्नी और पुत्र के वस्त्राभूषणों को यहीं छोड़कर मेरे राज्य से बाहर हो जायें। आपको मेरी पृथ्वी

प्रथम दिन शकुशल समाप्त हुआ। द्वितीय दिन राम बड़ी उत्सुकता से राक्षसों की प्रतीक्षा करते रहे कोई नहीं आया। तृतीय दिन उन्होने बड़ी सावधानी रखी, चतुर्थ दिन भी जब कोई राक्षस नही आया तो वे निराश होगये। पचम दिन उन्होने समझा अब कोई राक्षस न आवेगा। छठे दिन ज्यो ही पूर्णाहुति अवसर आया, त्योही आकाश मे जल भरे मेघो के समान आते हुए राक्षस दिखाई दिये। शीघ्रता से सावधान होकर श्रीराम ने लक्ष्मल से कहा–लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! देखो, देखो, वे दुष्ट राक्षस आकाश में मंडराने लगे। अवश्य ही ये मुनि के मख मे विघ्न करने आये है, इन्हें मारना हमारा परम धर्म है। तुम सावधान हो जाओ।

यह सुनकर लक्ष्मण बाण तानकर सम्हल कर खड़े हो गये। इतने मे ही यज्ञ कुंड के समीप राक्षसो ने रुधिर की वर्षा की। उसी समय मारीच को लक्ष्य करके बिना फर का बाण राम ने उसको मारा, बाण के लगते ही वह सैकड़ों योजन समुद्र के उस पार लंका में जा पड़ा। राम जी ने उसके प्राण इसलिये नहीं लिये कि उसके द्वारा आगे भी असुर संहारका बहुत कार्य कराना था। दूसरा एक बाण फर सहित मारा, वह सुबाहु की छाती में जाकर लगा, उससे वह मरकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। एक बाण और भी छोड़ा, जिससे बहुत से राक्षस मर गये, बहुत से डरकर भाग गये, बहुत से घायल हुये।

राक्षस के मारे जाने पर विधिवत यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। मुनियों ने विश्वामित्र का अभिनन्दन किया। सभी ने श्रीराम के बल, वीर्य, पराक्रम, ओज, तेज और शूरवीरता की प्रशंसा की। दोनों भाइयों ने तप से सिद्ध हुए मुनि के पाद पद्मों में उसी प्रकार प्रणाम किया, जिस प्रकार अश्विनी कुमारों ने अपने पिता सूर्य के पाद पद्मों में प्रणाम किया था। मुनि ने दोनो राजकुमारों

विश्वामित्र बोले—"तुम्हारे पास कुछ हो, या न हो तुम्हें मुझको दान की सङ्गता तो देनी ही चाहिये।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! मैं सब कुछ छोड़ सकता हूँ, धर्म को नहीं छोड़ सकता, जैसे भी हो आपको दान की साङ्गता मैं अवश्य दूँगा।"

मुनि ने कहा—"कुछ अवधि बताओ, कितने दिन तक मैं प्रतीक्षा करूँ।"

राजा बोले—भगवन् एक महीने आप प्रतीक्षा करें।"

विश्वामित्र ने सन्तोष के स्वर में कहा—"अच्छी बात है, महाराज ! आपकी बुद्धि सदा धर्म में बनी रहे। आप भूलें नहीं। मेरे राज्य से बाहर हो जायें।"

राजा वल्कल वस्त्रों को लपेटे पैदल ही जा रहे थे। उनके पीछे रोती हुई बच्चे की उँगली पकड़े महारानी शैव्या भी चल रहीं थीं। इसी समय हजारों लाखों स्त्री पुरुषों ने चारों ओर से आ-आकर राजा रानी को घेर लिया था। वे सब नेत्रों से निरंतर आँसू बहा रहे थे। उनके अश्रुओं से वहाँ की धूलि कीचड़ हो गई थी वे बिलखते हुए कह रहे थे—"हे प्रजावत्सल महाराज ! आप हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं। आप तो हमारा पुत्रों के समान पालन करते थे, अब आप हमें निराश्रित छोड़कर अकेले ही क्यों जा रहे हैं। हा ! विधाता की इस अत्यन्त क्रूर गति को धिक्कार है, जो महाराज सुवर्ण की पालकी में सदा चलते थे, जिनके आगे पीछे सहस्रों मंडलीक भूपति हाथ बाँधे चला करते थे, जिनके सेवक, सुवर्ण के आसन वाले हाथियों पर चढ़कर चलते थे, वे ही महाराज आज पैदल जा रहे हैं ! जिन महारानी शैव्या के दर्शन सूर्य को भी दुर्लभ थे, आज वे बच्चे को गोद में लिये हुए स्वयं पैदल जा रहीं हैं। विधाता को धिक्कार है।

राजा ने दीनता के स्वर में कहा—"नहीं, प्रभो ! मुझसे भूल हुई। मैं अविलम्ब जाता हूँ।"

यह कहकर राजा आगे बढ़े और अपनी पत्नी को भी शीघ्र चलने को कहने लगे। महारानी शैव्या को पैदल चलने का अभ्यास ही नहीं था। वे कभी महलों से बाहर पैदल निकली ही नहीं थी। पृथुल नितम्ब और उत्तुङ्ग पीन पयोधरों के भार से उनकी क्षीण कटि बार-बार लचजाती, उनके पैर बालू में धँस जाते और वे आगे बढ़ने में अपने को असमर्थ पातीं राजा उन्हें हाथ पकड़कर खींच रहे थे, वे कटी लता के समान मूर्तिमती क्लेश वेदना के समान-पति के हाथ के सहारे खिंची चली जा रही थीं। विश्वामित्र जी ने समझा रानी जाना नहीं चाहती। अतः उन्होंने पीछे से आकर रानी की पीठ में दो डंडे जमाये। सुकुमारी महारानी उस आघात को न सह सकीं वे तिलमिलाकर पृथ्वी पर गिरना ही चाहती थी कि राजा ने उन्हे पकड लिया। कुमार रोहित रोने लगे। उस समय आकाश में पाँच विश्वदेव इस करुण दृश्य को देख रहे थे वे आपस में कहने लगे—"यह विश्वामित्र तो बड़ा क्रूर है, इन इतने बड़े धर्मात्मा राजा को राज्यच्युत करके इतना क्लेश दे रहा है। इसे किन नरकों की यातनायें सहनी पड़ेगी ?"

विश्वामित्रजी ने विश्वेदेवो की बातें अपने योग बल से सुन ली और क्रोध में भरकर शाप दिया—"कि तुम लोगो का जन्म मनुष्य लोक में हो, तुम देवत्व से भ्रष्ट हो जाओ।"

यह सुनकर विश्वेदेवों के तो मुख फक्क पड़ गये, आकर ऋषि को अनुनय विनय करने लगे। ऋषि ने कहा—"अच्छी बात है, मनुष्य तो होगे ही, किन्तु तुम शीघ्र ही मनुष्य योनि से छूट जाओगे, तुम्हारा विवाह न होगा। तुम अविवाहित रहकर ही

कर रहे हैं। धर्म का पालन दुःख उठा कर ही तो किया जाता है।" यह सोचकर राजा ने धैर्य धारण किया। कुमार और रानी को पानी पिलाया। फिर स्वयं सरोवर में गये स्नान करके पानी पिया।

अब राजा ने सोचा—"सम्पूर्ण पृथ्वी तो हमने महामुनि विश्वामित्र को दान में दे दी। अब हम कहाँ चलें। सोचते-सोचते महाराज के मन में यह बात आई कि दिव्य वाराणसी-पुरी भगवान् विश्वनाथ के त्रिशूल पर अवस्थित है। इसकी गणना मनुष्यों की रहने योग्य अन्य पृथ्वी में नहीं। इस पर केवल शूलपाणि भगवान् शङ्कर का ही अधिकार है। यह तो मेरे राज्य के बाहर ही है। अतः मैं वाराणसी में ही जाकर चलूँ। वहीं कुछ उद्योग करके विश्वामित्र जी के दान की सांगता का प्रबन्ध करूँगा।" यही सोचकर महाराज वाराणसी को ही लक्ष्य करके चल पड़े।

राजा रानी तथा कुमार किसी को नंगे पैर पैदल चलने का अभ्यास नहीं था। जैसे तैसे कन्द मूल खाते हुए राजा अपनी पत्नी और पुत्र के सहित अयोध्या से एक महीने में काशी पहुँचे।

जिस दिन राजा काशी पहुँचे उसी दिन महा क्रोधी विश्वामित्र भी वहाँ पहुँच गये और राजा को डाँटते हुए बोले—"राजन्! एक मास तो हो गया, तुम सत्यवादी होकर झूठ क्यों बोलते हो, मेरी दक्षिणा की सांगता दो।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आज ही तो महीना पूरा हुआ है, अभी पूरा दिन शेष है, मैं कुछ उद्योग करूँगा।"

विश्वामित्र जी ने कहा—"देखिये राजन्! हँसी खेल की बात नहीं है। जैसे भी हो, तैसे तुम मुझे आज दक्षिणा दे दो, यदि आज तुमने नहीं दी, तो मैं शाप देकर भस्म कर दूँगा।"

श्री भागवत-दर्शन :—

भागवती कथा

सताईसवाँ खण्ड

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी प्रयाग

तृतीय संस्करण] माघ सम्वत् २०११ वि[illegible] [illegible] मूल्य :

मुद्रक—राजाराम शुक्ल सङ्कीर्तन प्रेस, वंशीवट वृन्दावन।

विषय सूची

भूमिका "मृत्यु का भय"		१
१—महाराज हरिश्चन्द्र का उत्तर चरित्र	...	१६
२—बाहुक पुत्र महाराज सगर	...	४१
३—महाराज सगर का अश्वमेध यज्ञ	...	४९
४—सगर के साठ सहस्र सुतों का विनाश	...	५७
५—अंशुमान् सुत दिलीप	...	६४
६—गङ्गावतरण	...	७२
७—जाह्नवी भागीरथी	...	८२
८—गङ्गाजी से भागीरथ के पितरों का उद्धार	...	८८
९—नलसखा महाराज ऋतुपर्ण	...	९८
१०—महाराज सौदास की कथा	...	१३४
११—सौदास सुत अश्मक	...	१४१
१२—राक्षस भावापन्न महाराज कल्माषपाद	...	१४६
१३—मूलक से आगे के सूर्यवंशी भूपति	...	१५८
१४—महाराज रघु के वंश की कथा	...	१६५
१५—श्री राघवेन्दु का प्रादुर्भाव	...	१८३
१६—राम का नामकरण	...	१९२
१७—कारुणिक राम	...	१९८
१८—विश्वामित्र मख रक्षक राम	...	२०४

माता कौशल्या का राम को दूध पिलाना

भूमिका

मृत्यु का भय

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्-
लोकान्सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य-
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

मरन धरम यह जीव जगत कहँ इतउत भटकत ।
पाइ विषय सुख छनिक भूलि तिनहीमहँ अटकत ॥
समुझत विषयनि सत्य न कछु तिन महं सुख पावे ।
यों ही वितवत समय मृत्यु इक दिन चट आवे ॥
मृत्यु जनम के संग भई, जो जनम्यो सो मरेगो ।
हरि सुमिरन जो करेगो, मृत्यु मूड़ पग धरेगो ॥

---

*भगवान् की स्तुति करती हुई भगवती देवकी कह रही हैं—"हे आदि पुरुष प्रभो ! मरणधर्मा प्राणी मृत्यु रूप कराल व्याल से भयभीत होकर सम्पूर्ण लोकों में भटकता फिरता है, किन्तु इसे कहीं शान्ति प्राप्त नहीं होती । कहीं भी इसे ऐसा स्थान नहीं मिलता जहां मृत्यु का भय न हो । भाग्यवश यदि किसी प्रकार आपके चरणों की इसे शरण मिल जाय तो उसे पाकर यह सुख की नींद सोता है मृत्यु इससे दूर हट जाती है।"

जिसने जन्म लिया है वह मरेगा–जातस्यहि ध्रुवोमृत्युः– यह सिद्धान्त अटल है, अपरिहार्य है, इसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता, मेट नही सकता, टाल नही सकता और असत्य भी नही बना सकता। आज मरो या सौ वर्ष पश्चात् जन्मधारी को मरना अवश्य पड़ेगा—अद्यावाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः—इसे सभी शास्त्र एक स्वर से कह रहे है।

ऐसी ध्रुव वस्तु से ही प्राणी सबसे अधिक डरता है। जहाँ मैं रहता हूँ, मेरे समीप ही स्मशान घाट है। दस-दस बीस-बीस कोस के मृतक पुरुष यहाँ दाह संस्कार के निमित्त आते है। ऐसा एक भी दिन नही होता, जिस दिन २-४-१०-२० शव यहाँ न आते होगे। बहुत से निर्धन पुरुष ऐसे होते है जिन पर जलाने को पैसा नही होते,वे वैसे ही गंगाजी मे मृतक को छोड़ जाते हैं। स्मशान घाटके बडे भारी-भारी कछुए कुछ ही क्षणोंमें उसे समाप्त कर जाते है। कभी-कभी कुत्ते शव को तीर पर खींच लाते हैं एक ओर तो उन्हें कुत्ते चीथते है, दूसरी ओर बडे बड़े कछुए अपने मोटे मोटे थूथनों से उसके मर्म स्थानों से मांस नोंचते है। वह दृश्य विचित्र होता है। मैं नित्य ही त्रिवेणी स्नान करने जाता हूँ और जाते-आते समय ऐसा दृश्य देखने को प्रायः मिल ही जाता है। स्त्री का शव हो या पुरुष का शव हो नंगा किनारे पर पडा रहता है। जब कुत्ते गृद्ध कछुए उसके मर्म स्थानों से मांस निकालते हैं उस समय फुरहुरी आ जाती है और हठात् मुख से निकल जाता है, एक-दिन हमारे इस शरीर की भी यही दशा होगी। यह विचार क्षण भर रहता है। आश्रम में आने पर कथा, पूजा, पाठ,डाक, प्रूफ कागज, छपाई की बातें जहां सामने आई वे सब बातें भूल

जाती हैं। फिर यह बात स्मरण नही रहती कि एक दिन मरना है। इतने मृतकों को नित्य देखते हैं, उनकी मृत्यु पर आश्चर्य नही होता, किन्तु जहाँ अपने किसी परिचित,सुहृद्, इष्ट मित्र की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो तुरन्त चौंक पड़ते हैं और कहते है—"हैं, उनकी मृत्यु हो गई, बड़े आश्चर्य की बात है। कल तक तो वे अच्छे थे।" अब बताइये जो बात अवश्यम्भावी है, उसमे आचार्य की कौन सी बात है। आश्चर्य की बात तो यही है कि नौ छिद्र वाले इस पात्र में प्राणरूपी पय ठहरा हुआ है। घडे में एक छिद्र होता है तो उसमें पानी नही ठहर सकता। इस देहरूपी घट में तो नौ दस छिद्र है। जितने दिन इसमें प्राण ठहरा रहता है, यही एक अद्भुत आश्चर्य है। मृत्यु में कुछ देर थोडे ही लगती है। हम प्रश्वास छोड़ते हैं, साँस लेते है। एक प्रश्वास छोड़ी वह लौटकर न आयी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के लिये पहिले से कोई विज्ञप्ति नहीं दी जाती, कि अमुक दिन सावधान रहना। आकाश, पाताल, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा नरक कही भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ मृत्यु न हो। छाया की भाँति सदा साथ रहती है, कब वह प्रत्यक्षहो जाय इसका कोई निश्चय नहीं। इसीलिए सन्त महात्मा बार-बार चेतावनी देते रहते हैं, कि माधव को और मृत्यु को भूलना मत। जिसे सदामृत्यु की स्मति बनी रहती है, उसे मत्यु समय पर दुःख नही होता। नही तो ऐसा सुनते हैं। सहस्रों बिच्छुओं के काटने पर जैसी पीडा होती है उससे भी अधिक पीड़ा मर्मस्थानों से प्राणों के निकलते समय होती है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही एक सबसे बडा अन्तर है। अज्ञानी तो सदा मत्यु से बचने के लिये प्रयत्नशील रहता है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है,मैं सुख पूर्वक जीता रहूँ। ज्ञानीकी इच्छा यह रहती

है, मेरी मृत्यु निश्चिन्तता में सुख पूर्वक हो। अर्थात् अज्ञानी मृत्यु से बचने के प्रयत्न करता है। ज्ञानी मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ उसके स्वागत के लिये सर्वदा सन्नद्ध रहता है। उसकी यह हार्दिक इच्छा रहती है, मृत्यु समय मुझे इस दृश्य प्रपञ्च की विस्मृति होकर भगवान् की स्मृति बनी रहे। एक भक्त ने बड़ी दीनता के साथ भगवान् से प्रार्थना की है—

हे प्रभो ! मेरा मन रूपी हँस इसी क्षण आपके चरणरूपी कमलों में घुस जाय।"

भगवान् ने कहा—"ऐसी शीघ्रता क्यों कर रहे हो। सब साधन, भजन, जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान, दान, धर्म तथा पुण्यादि कर्म तो मरने के समय के लिये है। मृत्यु समय जैसी मति होती है, वैसी गति प्राप्त होती है। जब तुम मरने लगो, तब मेरा चिन्तन कर लेना, मेरे नाम का स्मरण कर लेना। इसी क्षण के लिए क्यों आग्रह कर रहे हो ?"

भक्त ने कहा—"महाराज ! है तो यही बात समस्त साधनों का उद्देश्य यही है, कि मृत्यु के समय की स्मृति बनी रहे। किन्तु मृत्यु का कोई निश्चित समय है नहीं। न जाने कब श्वास निकल जाय।"

भगवान् ने कहा—"जब प्राण निकलने लगे, तुरन्त मेरा नाम लेना। मेरा स्मरण कर लेना।"

भक्तने कहा—"अजी, महाराज ! जब अपना धन खो जाता है, तभी शरीर की सुधि बुधि नहीं रहती। मरते समय तो कंठ में कफ घुर घुराने लगता है। सन्निपात हो जाता है,

तीनों दोष कुपित होकर वाणी को रोक लेते हैं उस समय उस हड़- बड़ाहट में आपका स्मरण होना असम्भव है। अतः इसी क्षण मेरा मन आपके चरण कमलों में रम जाय।" सारांश यह कि भगवद् भक्त अभी से भगवान् को हृदय में बिठा लेना चाहते है, जिन्हें देखकर मृत्यु भी दूर भाग जाय, जिनके सहारे मृत्यु के सिर पर भी पैर रखा जा सके। इसलिये साधकोंको सदा मृत्यु का स्मरण रखना चाहिये, हमें एक दिन मरना है। मैंने सुना था योरोप में पहिले कोई एक ऐसा छोटा सा राज्य था। उसके राजा के यहाँ हर समय दो आदमी रहते थे और वे कुछ देर ठहर ठहर कर राजा के सम्मुख यह शब्द उच्चारण करते रहते थे—"तुम्हें एक दिन मरना है। तुम्हें एक दिन मरना है।" सचमुच में यदि मनुष्य को अपनी मृत्यु स्मरण बनी रहे, तो वह बहुत से पापों से बच जाय। मनुष्य अधिकांश पाप मृत्यु को भूलकर ही करता है।

हमें और बातों पर चाहे विश्वास न भी हो, किन्तु जब किसी की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जाता। बहुत सी युक्तियाँ देते हैं, फिर अन्त में कह देते हैं—"अजी' मृत्यु का कोई समय निश्चित थोड़े ही है। जब चाहे श्वास निकल जाय। 'कोई रुग्ण हो, रोग ग्रस्त हो, उसकी मृत्यु का समाचार सुनते है, तो कह देते है, 'अजी वे तो बहुत दिन से रोगग्रस्त थे' किन्तु जब सहसा किसी की मृत्यु सुनते हैं, तो सगे सम्बन्धियों में एक विचित्र विस्मय हो जाती है, चित्त दुविधा में फँस जाता है। अविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि मृत्यु ध्रुव है औरविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि उसकी कोई सम्भावना पहिले से नहीं थी। यदि कोई झूठी ही मृत्यु

की बात उड़ा देता है, उससे जितना ही पहिले शोक होता है, उतना ही अन्त में हर्ष भी होता है।

उस दिन संभवतया भाद्रकृष्णा प्रतिपदा थी। श्रावणीका उत्सव मनाकर दूसरे दिन नित्य नियमानुसार कथा सुन रहे थे कि पन्तजी (भागवती कथा के व्यवस्थापक पं० गोविन्दवल्लभ पन्त) ने मुझे आकर एक तार सुनाया। तार श्री वृन्दावन धाम से आया था, पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजी ने दिया था। उसका भाव था—"मैंने आपके सम्बन्ध में एक बहुत ही अशुभ समाचार सुना है, अपने स्वास्थ के विषय में तुरन्त तार दीजिये।"

तार सुनकर हम सब बड़े आश्चर्य में पड़ गये, किसने मेरे सम्बन्ध में क्या कह दिया। बहुत विचार किया। अन्त में एक बात समझ में आई। इसके दो चार दिन पहले ही प्रयाग के दैनिक "भारत" पत्र में एक समाचार छपा था, किन्हीं सुप्रसिद्ध काश्मीरी ब्रह्मचारी जी का देहान्त हो गया। उनका अमुक दिन भंडारा है।" हम लोगों ने अनुमान लगाया कोई आदमी पूरा नाम न जानता होगा। उसने किसी से कहा होगा—"ब्रह्मचारीजी का देहान्त हो गया।" उसने किसी और से कहा होगा, उसने श्रीहरिबाबाजी से कह दिया हो। वे समाचार पत्र तो कभी पढ़ते नहीं। इसलिये उन्होने तुरन्त तार दिला दिया होगा, कि झूठ सत्य का निर्णय हो जाय। तार घर तो आश्रम के भीतर ही है, तुरन्त तार दे दिया गया। "आपके चरणों की कृपा से मैं कुशल हूँ।"

दूसरे दिन आचार्य चक्रपाणिजी का जवाबी तार मिला। फिर आनन्दजी ब्रह्मचारी, स्वामी कृष्णानन्दजी बम्बई वाले,

पं० नित्यानन्द जी भट्ट कथावाचक तथा और भी लोगों के पत्र मिले। सभी यही लिखते थे, हमने आपके विषय में बहुत ही बुरा समाचार सुना है, तुरन्त उत्तर दें, बड़ी चिन्ता है। किसी ने यह नहीं लिखा कि उन्होंने सुना क्या है। यहाँ से तार तो तुरन्त दिये गये, किन्तु न जाने क्यों वे दो दिन पश्चात् पहुँचे। तीन दिन तक हमारे वृन्दावन के कृपालु बन्धु चिन्ता ही में बने रहे।

यह तो मुझे विश्वास है, मेरा मृत्यु से किसी को दुःख तो क्या होने का। दुःख होता है प्रेम में। मरने को नित्य ही मरते हैं। जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं उनकी मृत्यु पर किसी को दुःख नहीं होता। जिनका जीव परोपकारमय है या जिनसे जिनको प्रेम होता है उनकी मृत्यु पर दुःख होता है। प्रेम मैंने किसी से किया नहीं। बहुत रूखी प्रकृति होनेसे सभी मेरा साथ छोड़कर चले गये और मुझसे घृणा करने लगे। जब मैं किसी से प्रेम नहीं करता तो मुझसे प्रेम कौन करने लगा, रही परोपकार की बात सो मैं तो अपनी वासनाओं की पूर्ति कर रहा हूँ। इस वासना पूर्ति में कुछ उपकार हो जाय, तो वह तो गाँव जाते हुए तिनका छूनेके समान है! इसलिये मेरी मृत्यु से कोई बड़ी भारी हलचल मचेगी ऐसा तो मानता नहीं, किन्तु फिर भी जिनसे अपार सम्बन्ध रहा है, जो सन्त स्वभावके कारण अहैतु की कृपा रखते है उनके मनमें चिन्ता होना स्वाभाविक ही है। हमें चार पाँच दिन तक कोई समाचार मिला नहीं कि बात क्या थी, वृन्दावनमें किसने यह निराधार समाचार उड़ा दिया। ४, ५ दिनके पश्चात् "भक्त-भारत" के सम्पादक प्रियवर रामदास शास्त्री का पत्र आया। उससे सब बातें विदित हुईं। उनका पत्र यह था—

श्री चरणों में अभिवन्दन।

प्रभु बड़े ही नटखट हैं—"उनकी लीला का दर्शन भी उनके ही कृपा पोषित पुरुष ही कर सकते है। जब उनके पास कोई खेल खेलनेको नहीं रहता है—"तब ये झूँठ-मूँठ की क्रीड़ा के द्वारा ही विमोहित करने लगते हैं। यह भी एक रस है, इसमें भी कुछ आनन्द है और अधिक कुछ नही तो भक्तोंके नाम पर की गई इस क्रीड़ा द्वारा भावों के उच्चावच स्वरूप का पता तो लग ही जाता है।

कल शाम तक तो ३ दिनसे बड़ी बेचैनी-परेशानी और उलझन थी, रात को जब श्री आनन्दजी से तारका समाचार सुना हृदय ठण्डा हुआ और आज सुबह फिर एक तार द्वारा समाचार पुष्ट हुआ तो शान्ति मिली, जब तक इन तारों का समाचार नही मिला था—"तब तक तो सच समझिये—अपनी अज्ञानता से ही कभी तो भगवान् पर और कभी भागवतों पर और कभी भंगियों (टेढी नजर वालों) पर बड़ी गुस्सा उठती थी कि क्या इन हृदयविदारक समाचारोंको देखने-सुननेके लिये इस युग मे हम ही पैदा करने के योग्य थे—दूसरा कोई नही मिला था। कई एकोंने लिखकर आपको सूचित तो कर ही दिया होगा—और भी सुन लीजिये—

"हरे रामजी महाराज वृन्दावन आये थे—सुनते हैं किसी भूतने उनसे जाकर कहा कि मैं देखकर आया हूँ—भूसी में बड़ा भारी डाका पड़ा है और ब्रह्मचारी—हस्तचरण—दग्ध इत्यादि। उन्होंने किसी और से कहा—उसने दूसरे से कहा और उसने मनोहर (पार्षद हरिबाबा) से कहा—बस अब तो कान से कान

किस्सा बढ़ते-बढ़ते भयंकर रूप हो चला—परिणाम में जो हृदय की हालत थी—कही नही जा सकती। पर अब प्रार्थना श्री चरणों में यह है कि—आखिर यह क्या लीला है—कुछ संतों के अनुभव सुनिये—

—"ब्रह्मचारीजी के लिये एक ईश्वरीय सूचना है और प्रतिष्ठानपुर अब उनके अनुरूप नहीं रह गया है, अतः वह स्थान छोड़ देना चाहिये—भागवती कथा अन्यत्र भी लिखी जा सकती है।"

❀ ❀ ❀ ❀

—ब्रह्मचारीजी यद्यपि एक महान् कार्य में व्यस्त हैं और कार्य भी लोकातीत है—पर संसारियों की दृष्टि में एक प्रपंचमय दीख रहा है—इसी कारण लोगों की द्वेष-भावना होती जा रही है।

❀ ❀ ❀ ❀

—यह तो युग के स्वरूप का विस्तार है—अभी तो इससे भी अधिक भयकर घटनाएँ सुनने को मिलेंगी—पर इस पाप रूप युग का भी कल्याण करने वाले महात्मा ब्रह्मचारी जैसे मौजूद है। धर्म संरक्षकों पर ही इसका प्रहार होता है—जैसे राजा परीक्षित् पर।

❀ ❀ ❀ ❀

—इस तरह की घटनाएँ महापुरुषों के रूप के अनुकूल हैं, इससे महत्व चमकता है।

इस घटना से ब्रह्मचारीजी को अमरत्व प्राप्त हुआ है—भगवान् उनका कल्याण करें।

कृपया हस्तलिखित पत्र से भी सूचित कर कृतार्थ करें।

रामदास काठी

पत्र को पढ़कर मुझे बड़ी हँसी आई। लोग कैसी-कैसी बातें उड़ा देते हैं। जिसकी जड़ नहीं मूल नहीं। जिस समय मैं कुम्भ के अवसर पर एक दिन रात्रि में हंसतीर्थ की कुटी को छोड़ कर चला गया था—तो उसके सम्बन्ध में लोगों ने विचित्र विचित्र बातें उड़ाईं। किसी ने कहा—"ब्रह्मचारी जी ने पृथिवी से कहा—"फट जा।" वह फट गयी उससे एक जल का स्रोत उनकी कुटी के पास निकली, वे उसी में घुस गये। स्रोत अभी तक बह रहा है। हम अपनी आँखों देखकर आये हैं।" किसी ने कहा—"रात्रि में ब्रह्मचारीजी त्रिवेणी स्नान करने गये। उनकी नौका संगम पर चक्कर खाती रही फिर तुरन्त जल में डूब गयी। उस पर तीन आदमी थे, हमने अपनी आँखों से देखा है।" किसी ने कहा—"अमुक स्थान से लाख रुपया आया था, उसे लेकर भाग गये।" इस प्रकार की न जाने कितनी आँखों देखी बातें उड़ी। सार उनमें कुछ नहीं था। बात यह थी, मैंने अनुभव किया कुटिया वाले नहीं चाहते मैं यहाँ रहूँ, रहने से द्वेष भाव बढ़ता है, मैंने संकल्प किया था, अमुक दिन चला जाऊँगा उसी दिन उसे छोड़कर चला गया। फिर उसमें अब तक लौटकर नहीं गया। परन्तु इस डाके वाली बातने तो विचित्र ही वातावरण उत्पन्न कर दिया। अब जो आदमी कह रहा है—"मैं आँखों से देखकर आया हूँ। उस पर कौन अविश्वास कर सकता है। किन्तु गढ़ने वालेने जो यह समाचार गढ़ा उसने बुद्धिमानी से काम नहीं किया। जल में डूब मरे, सर्प ने काट लिया, हृदय की गति रुक गयी, ऐसी बातें कहता तो विश्वास भी होता। संकीर्तन भवन में रखा ही क्या है जिसके लिये डाकू आवेंगे। यहाँ जो कल्पोल में १५ दिन का अन्न मिलता है, वह कभी दस दिनों में कभी बारह दिन में समाप्त हो जाता है। अन्तिम तीन चार दिन बड़े कष्ट से इधर उधर से लाकर दिलाये जाते हैं। रही

भागवती कथा की बात सो वह कहने योग्य नहीं है। वर्ष के अन्त में पाँच छै सहस्त्र का घाटा होता है। उसे घाटा कहना भी उचित नही। उसकी दक्षिणा से जो कुछ आता है उसे सब लोग खा जाते है। अन्न आ जाता है ऊपरी कार्यों में व्यय हो जाता है। नित्य डाकघर की आशा लगाये लोग बैठे रहते है, आज कुछ आ जाय तो दाल आ जाय नमक आ जाय। वर्ष के अन्त मे जो घाटा हो जाता है, भगवान् किसी न किसी से पूरा करा ही देते है। प्रथम वर्ष में देहली के लाला सूरजनारायणजी ने अपने इष्ट मित्रों से कर करा के ५-७ हजार रुपये से उसे पूरा किया। दूसरे मे झरिया के बीरम बाबू ने पाँच हजार देकर गाड़ी चलायी। अब तीसरे वर्ष भी पस्टम चल रही है। रही मेरी बात सो, मेरे परिचित सभी जानते है मेरे कुछ कृपालु महानुभाव हैं, जिनसे मैं किसी से चार पैसे किसी से दो पैसे नित्य के भिक्षा ले लेता हूँ। ऐसे कुछ "भिक्षा सदस्य" हैं। पहिले लोग उत्साह और श्रद्धा से देते थे। जबसे "भागवती कथा' का व्यापार आरम्भ हुआ है। लोगों की श्रद्धा घट गयी है। सब सोचते हैं—"अब तो ये व्यापार करने लगे हैं। जैसे हम वैसे ये इन्हें भिक्षा देने से क्या लाभ ?" इसलिये बहुत से बन्द भी कर दिये है। फिर भी कुछ बगीचे में साग भाजी बो लेते हैं। लस्टम पस्टम काम चल ही जाता है। मेरा जो व्यापार है, उसमें या तो घाटा ही घाटा है या लाभ ही लाभ है। घाटा तो इसलिये कि कभी इसमें आर्थिक लाभ न होगा। दश आय होगी, तो बीस व्यय होंगे। लाभ इसलिये हैं, कि जो भी कमी पड़ेगी चाहे ऐं करके करें चाहें चें करके, लोगों को पूरी ही करनी होगी। इसलिये हमें तो लाभ ही लाभ है नदी में नौका डूबती है, तो मल्लाह की तो केवल लँगोटी ही भीगती है। ऐसी दशा में यहाँ डाका डालकर कोई क्या लेगा। जानते हुए भी सन्देह

तो सबको हो ही जाता है, इस प्रारब्ध का तो पता नहीं चलता किसको मृत्यु किस ढंग से लिखी है।

वृन्दावन के संतों ने जो इस किम्वदन्ती के सम्बन्ध में अपने अनुभव लिखे हैं, उस पर मैंने विशेष रूप से विचार किया।

किन्हीं सन्त ने मुझे प्रतिष्ठानपुन छोड़ देने की सम्मति दी है। यहाँ मेरा रक्खा ही क्या है, किन्तु मेरी भागवती कथा लिखने की वासना मुझे यहाँ अभी कुछ दिन और रहने को विवश कर रही है। अष्टादश पुराण श्रवण का भी कार्य चल रहा है। जिसमें १०-११ पुराण हो चुके है। किन्तु यह अन्यत्र भी हो सकता है। भागवती कथा लेखन कार्य एक संकल्प द्वारा हो रहा है। एक प्रकार का यह भी चित्तवृत्ति निरोध योग है, जैसा वायुमण्डल बन गया है, दूसरे स्थान पर उसे फिर से बनाने मे समय लगेगा। संभव है वह बने भी नही अधूरा ही रह जाय। जैसे कई पुस्तकें ऐसे ही अधूरी रह गई है। इन सब खंडों को मै स्वयं छपा सकूँ ऐसी तो आशा भी नही विश्वास भी नही, परन्तु न सही १०८ खण्डों में किसी प्रकार यह पूरी लिख तोजाय। पाठकों ने संभवतया ध्यान न दिया हो। भागवती-कथा केप्रत्येक अध्याय के आदि अन्त में एक छप्पय रहता है छप्पय परस्पर में सम्बन्धित होते हैं। पूरे खण्ड के केवल छप्पयों को ही आप पढ़ते जायें, तो खण्ड की पूरी कथा उनमें क्रमबद्ध आ जायगी इसे एक "श्रीभागवत चरित" के नाम से पृथक छपवा दिया है। छप्पयों के अतिरिक्त बीच-बीच मे कथा प्रसङ्ग मिलाने के लिये दोहा, सोरठा, छन्द तथा पद आदि भी जोड़ते जाते है। इसके सात विभाग रहेंगे। प्रथमाह, द्वितीयाह, तृतीय, चतुर्थाह, पंचमाह, षष्ठाह, और सप्ताह। इसमें संक्षेप और

शत्रुवत् बन जाते हैं। प्रपञ्चमें रागद्वेष तो रहता है। जो साथियों के सहारे काम करता है,उसे पछताना पड़ता है। कोई भी काम करने वाला हो उसे सर्वप्रथम अपने साथियों के विरोध के लिए उद्यत होकर हो उस कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिये।

आज का युग बड़ा भयंकर है। आज जो भी हो जाय,सोई थोड़ी। हम मुँह से तो धर्म कहते है। स्वयं हमारी धर्म में आस्था नही रही। हम अपने को ब्रह्मचारी कहते है, किन्तु शास्त्रों में जो सन्यासी ब्रह्मचारी के धर्म बताये हैं, उनमें से सौ अंशों में से एक अश का भी पालन नहीं करते। "यदापि युवती क्षिभर्नस्पृशेदार वीमपि" आदि जो धर्म हैं उनका पालन नहीं कर सकते। जिस क्षेत्र मे भी दृष्टि दौड़ाते है उधर ही दुराचार, कदाचार, दम्भ, कपट, पाखण्ड और अधर्म हो रहा है। इसमें दोष दे भी चाहें, तो किसी से एक हो तो उसे दोष दें यह तो कूप मे भाँग पड़ गया है। भीड़ मे हम चलते हैं, हम पीछे वालों पर क्यों बिगड़ते हैं, "अजी, हमें धक्का क्यों दे रहे हो किन्तु आगे वालोंको हम भी धक्का दे रहे है इस बातको हम भूल ही जाते हैं। आगे वाला जब हमसे बिगड़कर पूछता है "क्यों जी धक्का क्यों देते हो ?" तो हम उससे भी अधिक बिगड़कर कहते हैं— "भाई, अब कैसे करे पीछे वाले दे रहे है।" इसी प्रकार हम स्वय धर्म का आचरण नहीं करते। दूसरों को बुरा भला कहते है, अरे ! वे सर्वनाश कर रहे है, धर्म पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसमे दोष किसे दें। "अयन्तु युगधर्मोहि वर्तते कस्य दूषणम्।"

अन्त में पाठकों से मेरी प्रार्थना यही है, कि ये सभी घटनाएँ जीवके कल्याण के ही लिये होती हैं। भगवान् की इच्छा से ही होती हैं, इनमें उपदेश भरा रहता है। जीव के लिये चेतावनी होती है, पाठक ऐसा आशीर्वाद दें, कि मैं मृत्यु का

नाम सुनकर डरूं नहीं, बाहरी वस्तुओं में रागद्वेष न रहे। राग हो तो श्री श्याम सुन्दर के चरणारविन्दों में ही हो। उन्हीं के चरित्रों में राग हो। शुभं भूयात्—

छप्पय

हे वृन्दावनचन्द्र ! दुबकि मेरे चित आओ।
रागद्वेष मन द्रव्य ताहि हे चोर ! चुराओ॥
अच्युत ! है यह आस स्वास जब तनतें निकसे।
तब चरननि चित रहे नाम तब मुख तें निकसे॥
मृत्यु समय हे मन हरन ! मनमहँ तुम ही तुम रहो।
"मेरी है तू" मति डरे, एक बार हँसिकै कहो॥

झूसी प्रयाग
आश्विन-कृ०-१२-२००६

प्रभुदत्त

महाराज हरिश्चन्द्र का उत्तर चरित्र

(६३७)

सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ।
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ७ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

मुनि रोक्यो मग कह्यो साङ्गता धन अब दीजै ।
नृप बोले—मुनि ! एक मास धीरज अरु कीजै ॥
यों कहि काशी गये कपर्दी की रजधानी ।
अवधिपूर्ण लखि पहुँच गये कौशिक अभिमानी ॥
द्रव्य याचना करी सुनि, नृप रानी विक्रय करी ।
रोहित हूँ बेच्यो स्वय बिके दक्षिणा द्विज भरी ॥

धैर्य की परीक्षा विपत्ति में होती है, सहन शीलता की परीक्षा क्रोध और अपमान के समय होती है और त्याग की परीक्षा दरिद्रता के समय होती है। ये संसारी धन वैभव आते

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज हरिश्चन्द्र को अपनी स्त्री के सहित सत्य मे ऐसी निष्ठा और दृढ़ता देखकर विश्वामित्र जी परम प्रसन्न हुए और उन्हे तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया।"

जाते रहते है, जिनकी दृष्टि में इन धातुओं के ठीकरों का धर्म की अपेक्षा कुछ भी महत्व नहीं, जो धर्म के लिये सब कुछ त्यागने को तैयार रहते है. संसार में उनकी ही कीर्ति अक्षय रहती है, जो नाना प्रकार के अन्यायों द्वारा इस शरीर का ही पालन पोषण करते करते मर जाते है, उनके जीवन का क्या महत्व जसे ककड, पत्थर, कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी पैदा होते है मरते हैं वैसे ही वे है। धर्म रक्षा के लिये जो दुःख सहा जाता है वह दुःख होते हुए भी सुख है। उस वेदना में भी मिठास है और सर्व अभाव मे भी आत्मतोष है।

सूतजी कहते है—"मुनियों! आपने मुझ से महाराज हरिश्चन्द्र का उससे आगे का चरित्र पूछा जब वे सर्वस्व त्याग कर काशी चले गये थे। महाराज अपनी पत्नी शैव्या और पुत्र रोहिताश्व के साथ गिरते, पड़ते नाना क्लेस सहते एक महीने में अयोध्या जी से वाराणसी पहुँचे। वे इस बात को भूल ही गये, कि मुझे आज नगर से निकले एक महीना हो गया है और एक महीने पश्चात् ही मैंने विश्वामित्र मुनि को दक्षिणा देने का वचन दिया है। उन्होंने ज्यों ही पुरी में प्रवेश किया त्यों ही उन्हें सम्मुख द्वार पर खड़े महामुनि विश्वामित्र दिखाई दिये। आते ही मुनि ने कहा—"राजन्! आज एक मास पूर्ण हो गया, आप मुझे अपनी प्रतिज्ञानुसार दक्षिणा दीजिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आज तो अभी पूरा दिन शेष है, मैं सायकाल तक यत्न करूँगा।"

यह सुनकर मुनि चले गये। राजा बड़ी चिन्ता में पड़ गये। कि कैसे मैं मुनि को दक्षिणा दूँ।"

राजा को चिन्तित देखकर उनकी सती साध्वी पत्नी शैव्या बोली—"महाराज! आप क्या चिन्ता कर रहे है?"

राजा बोले—"प्रिये ! मैं धर्मपाश में बँधा हूं, मुझे किसी ने बाँध नही लिया है, सत्य ने मुझे बाँध रखा है। अब मेरे सामने सत्य रक्षा का प्रश्न है।"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ ! प्राण देकर भी सत्य की रक्षा करनी चाहिये। ब्राह्मण को वचन देकर उसका पालन करना चाहिये, जिस बात की प्रतिज्ञा की हो, उसे सामर्थ्य रहते पूरी करनी चाहिये।"

राजा बोले—"प्रिये ! यही तो मुझे चिन्ता है, कि किस प्रकार सत्य का पालन करूँ ?"

रानी बोली—हे जीवन धन ! मै आपकी दासी हूँ, आज्ञा कारिणी हूँ, आपके अधीन हूँ, आप मुझे बेच दें और उसी द्रव्य से महामुनि को सन्तुष्ट करे।"

यह सुनते ही महाराज मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर गये, और बड़े ही आर्त स्वर मे बोले—"प्रिये ! तुम ऐसी बातें मुख से मत निकालो। अश्वमेध यज्ञों मे जो केश वेद के मंत्रों द्वारा दिव्यौषधि महौषधि के जलो द्वारा भिगोये गये हैं, उन्हें मैं अपने देखते दूसरो को कैसे छूने दूँगा।"

इस पर रानी बोली—"हे धर्मज्ञ ! धर्म के सम्मुख धन, धान्य बान्धव, स्त्री, बच्चे यहाँ तक कि प्राणों का भी कोई महत्व नही। मुझे पुत्र हो चुका है, आप धर्मतः पितृ ऋण से उऋण हो चुके है अतः आप कुछ द्रव्य लेकर मुझे किसी को दासी बना दें।" धर्म की रक्षा के लिये सब कुछ करना होता है।"

यह सुनकर राजा रो पड़े और रोते रोते बोले—"जिसकी दास दासियाँ भी सुवर्ण के कुण्डल पहिन कर आज्ञा चलाती थी, अपने हाथो कुछ काम नही करती थी, वही सम्राज्ञी शैव्या सेविका बन कर साधारण से साधारण सेवा कैसे कर सकेगी ?

हाय ! जिसने कभी दु ख देखे नही, वह राजरानी दासी बन कर दु:खो को किस प्रकार सहेगी ?" इतना कहते कहते महाराज मूर्छित हो गये, रानी अपने वस्त्र से उनको वायु करने लगी किन्तु महाराज को चेतना नही हुई। इसी बीच में विश्वामित्र जी आये। राजा को मूर्छित देखकर उन्होंने शीतल जल आदि छिड़क कर राजा को सचेत किया और फिर बोले—"देखिये राजन् ! आप सत्यवादी है, धर्मात्मा हैं, आपने मुझसे दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा की है, अतः आपको आज सूर्यास्त तक मुझे दक्षिणा देनी होगी। यदि आप आज दक्षिणा न देंगे, तो निश्चय ही मैं आपको शाप दूँगा।" इतना कहकर विश्वामित्र जी चले गये।

अब तो राजा के दु:ख का पारावार नही रहा। उन्हे सम्पूर्ण संसार सूना ही सूना दिखाई देने लगा। तब रानी ने राजा से कहा—"प्रभो ! आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें, सकोच न करें।"

अब राजा क्या करते वे तो धर्मपाश में आबद्ध थे, अतः वे अपनी प्यारी सुकुमारी पत्नी को लेकर काशी के उस चौक में आये, जहाँ पुरुषो की सदा भीड़ बनी रहती है। राजा ने गद्गद् कंठ से अश्रु बहाते हुए कहा "ओ नागरिको ! यदि आप लोगों में से किसी को अपने घर का चौका, बर्तन, झाड़ बुहारी के लिये दासी की आवश्यकता हो, तो मुझे दाम देकर मेरी इस प्यारी पत्नी को ले जाओ। मै आज इस परम सुकुमारी पुत्रवती सती को बेचना चाहता हूँ।"

राजा के ऐसे दीनता भरे वचनो को सुनकर बहुत से दयालु पुरुष एकत्रित हो गये और पूछने लगे—"भाई ! तुम कौन हो ? देखने मे तो तुम किसी कुलीन वंश के जान पड़ते हो, यह तुम्हारी

पत्नी भी किसी उच्चकुल में उत्पन्न परम सुन्दरी है, फिर तुम इसे बेचना क्यों चाहते हो ?"

रोते-रोते राजा बोले—"भाइयो ! तुम मेरा परिचय प्राप्त करना चाहते हो ? तो मेरा परिचय इतना ही पर्याप्त है, कि मैं परम क्रूर पुरुष हूँ। आकृति मेरी पुरुषों की सी है, किन्तु मैं हिंसक क्रूर कर्मा नर पशु हूँ। नहीं तो भला सदा अपने अनुकूल रहने वाली, मुझसे प्राणों से भी अधिक प्यार करने वाली अपनी पत्नी को भला कौन सज्जन पुरुष बेचेगा ?"

महाराज इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने में ही एक वाचाल ब्राह्मण वहाँ आ गया। उसके त्रिपुण्ड, दुपट्टे, डण्डे को देखकर सभी सहम गये। उसने आते ही पूछा – "क्या बात है ?"

लोगों में से कुछ ने कहा—"ये सज्जन अपनी इस परम सुकुमारी नारी को दासी कर्म के लिये बेचना चाहते हैं।"

ब्राह्मण ने पूछा—"क्या लोगे भाई ! तुम इसका ?"

यह सुनकर राजा का हृदय फटने ही वाला था कि वे सम्हल गये और अत्यन्त ही धैर्य के साथ बोले—"आप जो भी दे दें।"

ब्राह्मण बोला – "मेरी स्त्री अत्यन्त ही सुकुमारी है, उससे घर का काम काज होता ही नहीं। मैं बहुत दिनों से एक दासी की खोज में था, मेरे अनुरूप कोई मिली नहीं। अच्छी बात है, यह मेरे यहाँ काम किया करे। लो, इसके बदले इतना द्रव्य मैं आपको देता हूँ।"

यह कहकर ब्राह्मण ने कुछ सुवर्ण मुद्रायें राजा के वल्कल वस्त्रों में बाँधी और वे रानी का हाथ पकड़ कर ले चले।

उस समय का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। बालक

रोहित ने जब देखा एक निष्ठुर हृदय पुरुष मेरी माँ को पकड़े

जा रहा है, तो उसने कसकर अपनी माँ का पल्ला पकड लिया और वह ढाह बाँधकर रोने लगा–माता का भी हृदय भर आया, उसने रोते-रोते कहा–' बेटा ! अब मुझे तुम क्यों छूते हो, अब तो मैं दासी हो गई तुम तो राजवंशोद्भव हो। आज तुम पेट भरके अपनी जननी को निहार लो। अब तुम्हारी माता दासी हो गई है।"

ब्राह्मण ने जब देखा कि करुणा का दृश्य अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है, तो उन्होंने डाँटकर रानी से कहा तू चलती है या मोह ममता करती है। यह कह कर उसने रानी को एक धक्का दिया। फिर भी रोहित ने अपनी माँ का पल्ला न छोड़ा वह किढिरता हुआ माँ के पीछे हो लिया। ब्राह्मण ने उस बालक को माँ से बलपूर्वक विलग करना चाहा, किन्तु बच्चा और भी अधिक रोने लगा। तब रानी ने अत्यन्त करुण स्वर में कहा— "पिताजी ! यदि आपकी कृपा हो तो आप इस बच्चे को भी मोल ले लें। मेरे बिना यह दुखी रहेगा और इसकी याद में मैं चिन्तित रहूँगी, जिससे आपके घर का काम भी भली भाति न कर सकूँगी यदि यह रहेगा, तो हम दोनों ही आपके घर के कामो को किया करेंगे।

ब्राह्मण की बुद्धि में यह बात धँस गई। तुरन्त ही कुछ सुवर्ण मुद्रा राजा के वल्कल उत्तरीय मे बाँध कर बोला–' अच्छा लो, इस बच्चे को भी मुझे दे दो।" यह कह कर वह माता और पुत्र को लेकर चल दिया। इधर महाराज हरिश्चन्द्र कटे वृक्ष की भाँति मूर्छित होकर गिर पड़े। रानी बार बार मुडकर महाराज की ओर निहारती जाती थी। राजा के नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। वे चिल्ला रहे थे हा प्रिये ! हा वत्स!

मुझ क्रूरकर्मा नीच के अन्याय के कारण तुम्हें कैसे कैसे क्लेश सहन करने पड़ रहे है, मुझ पापात्मा को धिक्कार है।

रानी की दृष्टि राजा पर लगी थी। रोहित माँ के पल्ले को कसकर पकडे हुए था। ब्राह्मण उन्हे शीघ्र चलने के लिये विवश कर रहा था। रानी के पैर किढ़िर रहे थे। कुछ ही क्षण मे राजा रानी एक दूसरे की दृष्टि से विलीन हो गये। ब्राह्मण रानी को लेकर अपने घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने सांत्वना देते हुए कहा—"बेटी ! तू इसे अपना घर ही समझ और सुख पूवक यहाँ रहना।" रानी ब्राह्मण के घर में रहकर अपने दिन काटने लगी।

इधर महाराज पुत्र और पत्नी के बिक जाने से बड़े ही व्याकुल हो रहे थे कि उसी समय विश्वामित्र मुनि आ पहुँचे और बोले—"राजन् ! अब तो सूर्यास्त होने मे कुछ ही समय शेष है, मेरी दक्षिणा का कुछ प्रबन्ध किया ?"

राजाने कहा—"ब्रह्मन् ! मैंने अपनी पत्नी तथा पुत्र को बेच दिया है, उन दोनों की बिक्री से जो द्रव्य प्राप्त हुआ है, उसे आप ग्रहण कीजिए और मेरे ऊपर प्रसन्न होइये।" यह कह कर राजाने वल्कल वस्त्रों मे बँधे द्रव्य की ओर सकेत कर दिया। मुनि ने द्रव्यको खोला और गिन कर कहने लगे—"क्यों महाराज क्या इतने बड़े दानकी सांगता में इतना स्वल्प द्रव्य उचित है ?

दीनता के साथ राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं विवश हूँ, मेरे पास इसके अतिरिक्त और कुछ द्रव्य है ही नहीं।"

मुनि बोले—"नही राजन् ! मेरी सतुष्टि तो इतने द्रव्य से नहीं नहीं।"

तब राजा ने कहा—"भगवन् ! मेरी स्त्री मेरा प्यारा पुत्र तो बिक गये अब मेरा शरीर शेष रह गया है। अतः आप उसे बेच कर जो मिले उसे लेकर सतुष्ट हो जायें।"

मुनि ने कहा—"चाहे जैसे हो, मुझे तो यथेष्ट धन मिलना चाहिये मैं जाता हूँ अब मैं सूर्यास्त के समय ही आऊँगा। यह मेरा अन्तिम आना होगा, उस समय तक आपने मुझे यथेष्ट दक्षिणा दे दी तब तो कोई बात ही नहीं। यदि न दे सके तो मै तुम्हे शाप देकर भस्म कर दूँगा।"

यह सुनकर राजा मूर्छित हो गये। उन्होने धर्म का स्मरण करके अपने को सम्हाला। उसी समय वहाँ धर्म चाँडाल आ उपस्थित हुआ। महामुनि ने दुर्वासा के शाप से धर्म को तीन स्थानों में जन्म लेना पड़ा। एक तो युधिष्ठिर के रूप में,एक दासी पुत्र विदुर के रूप मे और एक काशी में प्रवीर चाँडाल के रूप में।

महाराज हरिश्चन्द्र अपने को बेचने के लिये चिल्ला रहे थे कि वहाँ प्रवीर चाँडाल आ पहुँचा। उसका शरीर काला था। बाल कड़े और ताम्बे के वर्ण के थे,मुख भयकर और माथा छोटा था, नाक चिपटी हुई, आँखें गोल छोटी पीलापन लिये हुए रूखी और कठोर थी। छाती बड़ी और कड़ी थी, पेट लम्बा था, पैर छोटे थे, चर्म मोटा और भैंसे के समान था। झोली मे बहुत से मरे पक्षी भरे थे। मुर्दे के ऊपर के वस्त्रों को पहिने था तथा मुर्दों के ऊपर चढ़ी हुई मालाओं से उसने अलंकार कर रखा था। नरमुण्डों की माला पहिने और हाथ में नरकपाल लिये हुए वह कुत्तों से घिरा निर्भय चला आ रहा था। उसकी देह से दुर्गन्ध निकल रही थी। उसकी आकृति-प्रकृति क्रूर थी। आते ही उसने कहा—"मुझे एक दास की आवश्यकता है यदि

तुम मेरे दास बनो तो तुम जितना भी द्रव्य चाहो उतना मैं दूँ। मेरे द्रव्य की कमी नहीं। महा स्मशान का मैं प्रधान चांडाल हूँ। बड़े से बड़े राजे-महाराजे यहाँ फूंकने आते हैं उनके ऊपर का दुशाला और द्रव्य सभी मैं लेता हूं। मैं तुम्हें मुहमांगा दाम दूंगा।"

राजा ने कहा—'तुम कौन हो ? मुझसे क्या काम कराओगे ?"

चांडाल ने कहा—'मैंने बता दिया मैं प्रवीर नामक चांडाल हूँ। तुम्हें स्मशान मे रहना पड़ेगा। जो भी मृतक पुरुष आवेगा, उसके ऊपर का वस्त्र तुम्हें लेना पड़ेगा।"

राजा ने कहा—"अरे, भाई ! मृतकों से आजीविका करना तो अत्यन्त ही निन्दित है, मृतकों के हाथ से दान लेने वाला ब्राह्मण भी पतित और अस्पर्श समझा जाता है। फिर जो चांडाल जलाई हुई राख में से द्रव्य निकालते है, उनके ऊपर का वस्त्र लेते है, मृतक के ऊपर चढ़ी वस्तुओं को लेते है, उनसे नीच कौन होगा। अतः मैं चांडाल का दास बनना नहीं चाहता।"

चांडाल ने कहा—"भाई, जैसी तुम्हारी इच्छा। द्रव्य देने में तो मुझे कुछ आपत्ति है नहीं। द्रव्य तो तुम्हें मैं मनमाना दे सकता हूँ।"

चांडाल यह कह ही रहा था, कि इतने में ही लाल-लाल आखें किये महामुनि विश्वामित्र वहाँ आ पहुंचे। आकर उन्होंने पूछा—"तुम लोगों में क्या बातें हो रही है ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! आपकी दक्षिणा पूरी नहीं

इसीलिये अब मैं अपने को भी बेचना चाहता हूँ, यह चांडाल कहता है, मेरे हाथ बिक जाओ।"

मुनि ने कहा—"बिकना तो तुम्हें है ही, जब यह तुम्हें द्रव्य दे रहा है, तब क्यों नहीं बिक जाते ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! मृतकों के वस्त्रों से आजीविका करना परम निन्दनीय कर्म है। चांडाल कर्म परम निन्दनीय बताया है। आप मुझे चांडाल के हाथों क्यों बेचते है ? कहीं अन्यत्र मुझे बेचकर द्रव्य ले लें। या शेष द्रव्य के बदले आप ही जीवन भर मुझे अपना दास बना लें, मैं आपकी सदा सेवा करता रहूंगा।"

मुनि ने कहा—"मेरे पास तो सेवक बहुत है, मुझे सेवकों की कमी नहीं। मुझे तो यथेष्ट द्रव्य चाहिये।"

चांडाल ने कहा—"द्रव्य तो मैं चाहे जितना दे सकता हूं।"

मुनि बोले—"तब और क्या चाहिये। जाओ मैंने इन्हे तुम्हारे हाथो बेचा। इतनी लाख सुवर्ण मुद्रा तुम मुझे दो।"

चांडाल ने मुनि का मुहमांगा द्रव्य उन्हे दे दिया। राजा विवश थे, धर्मपाश में बंधे थे। अत. वे कुछ भी नही कह सके। चाडाल राजा को बांध कर अपने घर की ओर ले चला। महाराज पशु के समान मुख नीचा किये हुए चांडाल के साथ चले गये। उन्होंने राजा होकर भारी से भारी अपमान, बडे से बड़ा कष्ट सहन करना तो स्वीकार किया, किन्तु सत्य धर्म को छोड़ने की बात उनके मन में भी नही आई। वे धर्मपाश मे जकड़े हुए थे, चांडाल उन्हें अपने घर ले गया।

काल की कैसी क्रूर गति है कल तक जो सप्तद्वीपा वसुमति के राजा थे, जिनके आगे पीछे सहस्रों सेवक सैनिक चलते थे, आज वे चाडाल के घर के एक कोने में पड़े रो रहे है,कोई उनकी ओर निहारता तक नही। उन्हें राज्य जाने का सोच नही था। ऐश्वर्य भ्रष्ट होने का दुःख नही था। चाँडाल दास होने का भी उन्हें उतना क्लेश नही था, किन्तु रात्रि दिन उन्हें अपनी प्राण-प्रिया पत्नी को और फूल से भी सुकुमार कुमार रोहित की चिन्ता बनी रहती। हाय ! उनकी क्या दुर्दशा हो रही होगी ! सदा सुख में पली शैव्या सेविका कार्य कैसे करती होगी, कुमार किस प्रकार अपने जीवन को बिता रहा होगा, वे इस लोक में हैं भी या नही। प्रारब्ध ने मेरे साथ यह कैसा खेल खेला, राज्य से च्युत हुआ, प्रजाओं से पृथक् हुआ, पत्नी पुत्र को अपने ही हाथों विक्रय किया और स्वयं भी द्विजत्व से भ्रष्ट होकर चाँडालता को प्राप्त हुआ। आज मुझे कोई पूछने वाला नही। क्या करूँ कहाँ जाऊँ" इस प्रकार वे सोच करते हुए अपने दिन व्यतीत करने लगे।

चाँडाल ने देखा, यह कोई भले घर का आदमी है, मेरे यहाँ रहने मे इसे संकोच है, सत्यवादी धर्मात्मा है, अतः उसने महाराज को मणिकर्णिका घाट के श्मशान पर उन्हें नियुक्त कर दिया। वहाँ एक टूटा फूटा मैला कुचैला पुराना सा घर पड़ा था, वहाँ ले जाकर महाराज से कह दिया,'तू यही रात्रिदिन रहा कर जो भी दाह के लिए मृतक आया करे उन्हें अग्नि दिया करना, उनके ऊपर के वस्त्र को और दक्षिणा को एकत्रित रखना। महाराज तो उसके दास ही ठहरे, उन्होंने उसकी बात को स्वीकार कर लिया। अब महाराज उस महाश्मशान में रहने लगे। निरन्तर धू धू करती हुई चितायें जलती रहतीं थी।

शवो की दुर्गन्ध से वह स्थान भरा रहता था। चारों ओर हड्डियाँ बिखरी रहती थी, बहुत सी खोपड़ियाँ इधर उधर टकराती रहती थी। बड़ेबड़े कछुए मृतक शरीरो के माँस को खाने के लिए किनारो पर मुँह निकाले पड़े रहते थे। आधे जले या वैसे ही पड़े मृतको को सियार चौथते रहते थे। बहुत से मृतक शरीर सड़ जाते, उनमे से दुर्गन्ध निकलती रहती, उन्हें कुत्ते सियार गीदड़ भी नही खाते थे, उन्हे पास से महाराज को फेकना पड़ता कुछ जले कुछ अधजले मृतकों को खीच कर मोटे मोटे कुत्ते खाते रहते। बहुत से गिद्ध काक अपने परों को फटफटाते भयकर शब्द करते इधर से उधर दौड़ते रहते। भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, डाकिनी, साकिनी, आदि वायु के आधार से रहने वाले सूक्ष्म शरीर के प्राणी वहां के वृक्षों पर रहकर हँसते खेलते और भयकर शब्द करते थे। वहाँ निरन्तर लोग आते जाते रहते थे। किसी का पुत्र मर गया है, तो उसके परिजन हा ! पुत्र ! हा ! मेरे लाल ! कह कर डकरा रहे है, कोई अपने मित्र का नाम लेकर रो रहा है, कोई माता पिता के लिए आँसू बहा रहा है, कोई स्त्री के वियोग मे तड़प रहा है, कोई सन्तान के मरने पर बिलबिला रहा है, चारो ओर करुण क्रन्दन ही क्रन्दन सुनाई पड़ता था। वहाँ निद्रा किसी प्रकार भी नही आ सकती थी। कभी कभी माँस भोजी पशु पक्षी महाराज को सोता देखकर उन्हें भी मृतक समझ कर काट लेते। महाराज तत्क्षण उठ बैठते कोई भी मृतक आता, किसी भी समय आता, महाराज तुरन्त उठकर जाते, उसे अग्नि देते, पैसा लेते और उसके ऊपर के वस्त्र को लेकर सुरक्षित रखते। उन्हें इस बात का सर्वदा ध्यान रहता था, कि मेरे स्वामी चांडाल का काम सावधानी से होना चाहिये। उसमें छल, कपट या प्रवञ्चना न होने पावे।

इस प्रकार उस अत्यंत भयंकर श्मशान भूमि मे जिस किसी

प्रकार दिन व्यतीत करते हुए महाराज को पूरा एक वर्ष हो गया। वह एक वर्ष महाराज ने कैसे व्यतीत किया, इसे उनके अतिरिक्त कोई अनुभव नही कर सकता। उनका क्षण-क्षण युग के समान बीतता। वे कुछ खाते पीते नही थे। उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया, आँखे भीतर धँस गई। कोई भी परिचत उन्हे देखकर नही पहचान सकता था कि ये अयोध्याधिप महाराज हरिश्चन्द्र हैं। उन्हें रात्रि दिन अपनी पत्नी तथा पुत्र की ही चिन्ता बनी रहती।

इधर महारानी शैव्या बडी भक्ति भाव से ब्राह्मण की सेवा करती।दिन भर काम मे जुटी रहती। उनके काय से ब्राह्मण और ब्राह्मण पत्नी परम सन्तुष्ट थे। वे उसके सुन्दर स्वभाव और शील संकोच के कारण आत्मीय पुरुष की भाँति बर्ताव करते, किन्तु महारानी को अपने प्राणनाथ की निरन्तर चिन्ता बनी रहती।

एक दिन कुमार रोहिताश्व कही बाहर खेल रहा था, कि इतने में ही एक काला विषधर सर्प आया और उसने इसे डस लिया। सप के डसते ही कुमार मर गया। बालकों ने जाकर यह समाचार महारानी शैव्या को सुनाया। सुनते ही महारानी तो अचेत हो गईं वे बार बार दैव को धिक्कारने लगी। वे कहतीं– 'हमारे कब के पाप उदय हुए हैं, मेरे पति ने कभी भूल से भी अधर्माचरण नही किया, कभी किसी को कष्ट नही दिया। फिर हमे इतना कष्ट क्यों मिल रहा है, क्यों हम पर विपत्ति के ऊपर विपत्तियाँ आ रही है। प्रतीत होता है, मैंने कभी किसी माता को बच्चे से विलग किया होगा, तभी तो यह मेरे जीवन का एकमात्र आश्रय बालक भी मुझ से विलग हो गया। हाय! मरने मे भी स्वतन्त्र नहीं। दासी को स्वेच्छा से मरने

साथ ही मृतक के ऊपर का नवीन वस्त्र भी। यही सोचकर उन्हों ने अपना चाडालों का डड उठाया और उधर की ही ओर चले।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्राचीन काल में सभी के वेष-भूषा चिन्ह पृथक पृथक होते थे, उसे ही देखकर सब जान लेते

थे, कि यह कौन है, किस जाति का है। चांडाल लोग चरों से लपेटा एक डंड रखते थे। महाराज हरिश्चन्द्र को भी वह दंड अपने स्वामी प्रवीर चांडाल से प्राप्त हुआ था। उसे लेकर महाराज महारानी शैव्या के निकट पहुँचे। वहाँ जलती चिताओं के प्रकार में जब उन्होंने उस अत्यन्त सुन्दर सुकुमार बच्चे का मुख देखा, तो उनका हृदय द्रवित हो उठा। उन्हे तुरन्त अपने प्यारे पुत्र रोहित का स्मरण हो आया। वे सोचने लगे—"देखो, काल की कैसी क्रूर क्रीडा है। यह बच्चा कितना सुन्दर है कितना सुकुमार है, निर्दयी काल ने इसे ग्रस लिया। हाय! इसके घरवाले कितने दुःखी होंगे। मेरा रोहित भी यदि कहीं सकुशल जीवित होगा, तो इतना ही बड़ा हो गया होगा। इसके अंगो मे भी रजोचित चिह्न है?"

महाराज इस प्रकार दंड लिये हुए रो रहे थे, कि उसी समय डर कर महारानी शैव्य चिल्ला उठी—"हा पुत्र! बेटा! तू अकेला कहाँ जा रहा है।"

महाराज को रानी के स्वरों को सुनकर सन्देह हुआ। है! यह तो मेरी प्राण प्रिया शैव्या प्रतीत होती है, किन्तु उन्हे निश्चय नही हुआ।

महारानी फिर बच्चे का मुख चूमती हुई बोली—"बेटा रोहित। तुम राजकुमार हो, चक्रवर्ती के पुत्र हो, दैव ने मुझे ठग लिया। पति से मेरा वियोग कर दिया। आज मैं राजरानी होकर दासी का कार्य कर रही हूँ। मुझे दासी होने मे भी सुख ही था, तू यदि मेरे साथ रहता, तो जैसे तैसे तेरा मुख देखकर मैं अपने दिनों को काट भी लेती किन्तु पति ने तो साथ छोड़ा ही तू भी मेरा साथ छोड़ गया। मैं अभागिनी कहीं की भी न रही,

मेरे राजर्षि पति न जाने कहाँ भटक रहे होंगे, तू मुझे बीच में ही छोड़ गया। हाय मेरा हृदय न जाने किन किन धातुओं के मिश्रण से बना है, जो इतनी भारी विपत्तियों के आने पर भी फटता नहीं, इसके टुकड़े-टुकड़े नहीं होते।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! अब तो महाराज को कोई सन्देह रहा नही। वे धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़े। उनके चोट लगी, किन्तु इसका उन्हें कुछ पता नही। वे हा पुत्र हा पुत्र कह कर मुक्त कंठ से रुदन करने लगे।"

महारानी शैव्या रो रही थीं डर रही थी। वे पुत्र शोक से विह्वल बनी हुई थीं, उन्हें यह भी ध्यान नही था, यह मेरे पास कौन पुत्र, पुत्र चिल्ला रहा है। वे समझी ये भी कोई मेरे ही समान हतभागी होंगे, इनका भी पुत्र मर गया होगा। राजा बड़ी देर तक मूर्छित अवस्था मे पड़े रहे। कुछ काल में उन्हें चेतना हुई। उन्होंने दौड़ कर बच्चे को उठा लिया और कस-कर छाती से चिपटाते हुए कहने लगे—'मेरे लाल! मेरे वत्स रोहित। भैया, सब ने मुझे छोड़ दिया। तू भी मुझे छोड़ कर परलोक जा रहा है क्या? मुझे भी अपने साथ ले चल अब मैं तेरे बिना इस पृथिवी पर रह नही सकता।"

रानी ने जब महाराज की वाणी सुनीं तब तो उन्हें भी निश्चय हो गया, मेरे प्राणनाथ ही हैं। इतने देर से महाराज खड़े थे। रानी ने कई बार उन्हें देखा, किन्तु वे उन्हें पहिचान न सकीं। उन्होने उनके मस्तक पर छत्र तना देखा था। काले—काले घुँघुराले बालों को फहराते मुखमंडल पर निहारा था। आज उनके मस्तक पर रूखी-रूखी भयंकर जटायें थीं, जो चिता के धूँए से या लपटों से सुनहली और धूमिल बन गई थीं। उनका

अंग काला पड़ गया था वे चिथड़े लपेटे हुए थे,सम्पर्ण शरीर पर मैल जमा था। शरीर सूख कर काँटा हो गया था। उनके वस्त्रों से दुर्गन्ध आ रही थी। वे मृतक पुत्र का बार-बार मुख चूमते और चेतना शून्य हो जाते। रानी ने जब उनके हाथ में चांडालों के योग्य दंड देखा, तो वे समझ गईं, मेरे प्राणनाथ को दुर्दैव ने चाँडाल बना दिया हैं।

इतना स्मरण आते ही वे प्राणनाथ कह कर चीत्कार मार कर दौड़ी, किन्तु बीच में ही मूर्छित हो कर गिर गईं। राजा ने आगे बढ़ कर रानी को सम्हाला।

उस समय के दृश्य को करुणा भी नहीं निहार सकती थी। एक ओर मृतक पुत्र महाराज के गोद में था, दूसरी ओर मुरझाई हुई कमलिनी की भाँति महारानी चेतना शून्य पड़ी लम्बी लम्बी सांस ले रही थी महाराज ने धैर्य धारण किया। वे गंगाजी से जल लाये। इन्होने महारानी के मुख पर गंगाजल के छींटे दिये। कुछ समय में रानी को चेतना हुई। महाराज को देख कर वे फिर ढाह भर कर रो पड़ी। "हा महाराज! आप की यह कैसी दशा है, आपको यह चांडालपना कैसे प्राप्त हुआ। हा दैव! हमारा राजपाट नष्ट करके ही तुझे संतोष नहीं हुआ। जिन राजर्षि की देवता भी आकर वन्दना करते थे, आज वे चांडालों का सा दंड लिये हुए श्मशान की रक्षा कर रहे हैं। राजन्! आपकी यह दुर्दशा किस पाप के फलस्वरूप हुई। महाराज आप तो सदा छत्र-चँवरों के नीचे रहते थे, आपके तो सदा आगे पीछे सहस्त्रों सैनिक चला करते थे। आप इस कंक, गृद्ध, कुत्ता, सियार, भूत, प्रेत, पिशाचों से भरे श्मशान के रक्षक कैसे हुए। हाय! आज आप जैसे धर्मात्मा राजर्षि अपने प्राण-

नाथ को चांडाल वेष में देख कर मेरा हृदय फटता क्यों नहीं। इसके टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं होते।"

इतना कह कर महारानी दोनों हाथों से अपनी छाती को धुनने लगी, बालों को नोचने लगी और नखों से अपने अंगों को काटने लगी।

महाराज ने रानी की जब ऐसी विक्षिप्तावस्था देखी तो उन्होंने उन्हें पकड़ लिया। अब वे भूल गये कि मुझे रानी को छूना नहीं चाहिये। उन्होंने अपनी प्रियतमा शैव्या को हृदय से लगा लिया। रानी पुत्र शोक को भूल गई थीं। अब उन्हें रह रह कर पति के चांडाल होने की वेदना थी।

अर्ध रात्रि का समय था, सम्पूर्ण संसार सो रहा था। स्मशान भूमि की भयंकरता और भी बढ़ गई थी। कुत्ते सो रहे थे, सियार इधर-उधर मांस के लिये घूम रहे थे। कुछ काल पहिले जो लोगे मृतक को जलाने आये थे वे भी चले गये थे। चिताओं का धूआँ भरा हुआ था, स्मशान भूमि में तीन ही थे। राजा रानी और मृतक कुमार।

महाराज ने कुमार को गोद में लिटा लिया, महारानी के सिर पर हाथ रख कर उन्होंने उनके अपने मैले वस्त्र से आंसू पोंछे और कहा—"प्रिये! तुम अधीर मत होओ। हमने कोई पाप नहीं किया है, हमने जो भी कुछ किया है, धर्मरक्षा के ही निमित्त किया है?"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ! आपको यह चांडालपना कैसे प्राप्त हुआ?"

इसपर महाराज ने आदि से अन्त तक सभी कथा कह सुनाई। महाराज कह रहे थे, रानी रोते-रोते सब सुन रही थी। पेड़ों पर बैठे गिद्ध, कर्कश शब्द करके बीच में हुँकारी दे रहे थे। जब महाराज अपनी सब कथा सुना चुके, तब राजा ने पूछा—"प्रिये ! कुमार रोहित की मृत्यु कैसे हुई ?"

इसपर रानी ने जिस प्रकार सर्पने उसे काटा था, उसका वृत्तान्त सुना दिया।

सब सुनकर महाराज रो पड़े। वे बड़ी देर तक रोते रहे। राजाको रोते देखकर रानी भी चिल्ला-चिल्लाकर रोती रही। रोते-रोते जब आंसू समाप्त हो गये, तब दोनों ही का हृदय कुछ हलका हुआ।

राजा बोले—"प्रिये ! अब तुम लौटकर अपने स्वामी उसी ब्राह्मण के घर जाओ। देखो, उनकी सावधानी से सेवा करना। इस बात का कभी अभिमान न करना कि मैं राजरानी हूँ। जो अपना स्वामी है, उसकी सेवा करना ही सेवक का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। यही शास्त्रों का सार सिद्धान्त है। तुम लौट जाओ। मैं तो इस रोहित के साथ ही आज अपने शरीर को भस्म कर दूँगा। अब अधिक सहन नहीं कर सकता। अब मुझे पृथिवी पर रहना रुचिकर नहीं।"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ। आप तो पुरुष हैं,मैं तो स्त्री हूँ। स्त्रियों को पुत्र शोक कितना अधिक होता है, इसे पुरुष क्या जानें जब आप कुमार के साथ परलोक जा रहे हैं, तब मैं यहाँ रहकर क्या करूँगी। मैं अब लौटकर न जाऊँगी। मैं भी आपके साथ ही चिता पर चढ़ूँगी। जैसे अपने विवाह के

समय अग्नि की साक्षी देकर मेरा हाथ पकड़ा था। उसी प्रकार चिता पर भी मेरा हाथ पकड़े ही हुये चढें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, कल्याणि ! जब तुमने ऐसा ही निश्चय किया है, तो हम इस विश्वनाथ की पुरी से भी उसी प्रकार साथ चले जिस प्रकार अयोध्या पुरी से साथ चले थे। यह कह कर महाराज ने एक बड़ी सी चिता स्वयं बनाई। उसके ऊपर कुमार रोहित के मृतक शरीर को रखा।

रानी के सहित उन्होंने चिता की प्रदक्षिणा की और हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए गद्-गद् कण्ठ से कहने लगे—"हे अशरण शरण ! प्रभो ! मैंने जो भी कुछ किया है, धर्म की रक्षा के निमित्त किया है। हे चराचर के स्वामी बिश्वम्भर ! आपके अनन्त नाम हैं, धर्म ही आपका नाम है सत्य ही आपका स्वरूप है। आप आनन्द घन तथा चैतन्यस्वरूप है। आपको हृदय में धारण करके ही मैं इस शरीर का अन्त करना चाहता हूँ।" इस प्रकार स्तुति करके महाराज ज्यों ही चिता पर चढ़ने को उद्यत हुए। त्योंही साक्षात् चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा वहाँ प्रकट हुए। उनके पीछे इन्द्र, वरुण, कुबेर, धर्म, साध्यगण, विश्वेदेवा, मरुद्गण, नाग, सिद्ध, गन्धर्व एकादशी दोनो अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य देवगण भी थे। आते ही देवताओ के राजा इन्द्र ने कहा—"राजन् ! आप ऐसा साहस न करे, आपने अपने सत्यधर्म के प्रभाव से अक्षय लोकों को जीत लिया है। ये सम्पूर्ण ब्रह्माड के अधीश्वर लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा जी समस्त देवताओं के सहित इन्हें दर्शन देने आये है। इनके समीप ही ये महर्षि विश्वामित्र भी खड़े हैं। इन्होने क्रोधवश लोभवश तुम्हारा सर्वस्व अपहरण नहीं किया था आप जैसा सत्यवादी

धर्मात्मा पुरुष दूसरा कोई भी संसारमें नहीं है। इसको प्रभावित करने को भगवान् की आज्ञा से यह लीला रची गई है। आपने स्वर्स्व त्याग दिया, किन्तु धर्म को नही छोड़ा। इसीलिये आजसे आप पुण्यश्लोक हो गये, जब तक सूर्य चन्द्र संसार मे रहेंगे, तब तक आपकी विमल कीर्ति भी अक्षुण्ण बनी रहेगी।

देवेन्द्र की बातों को महाराज ने सिर झुकाकर श्रवण किया, तथा समस्त देवताओं को उन्होंने भूमि में सिर लगाकर प्रणाम किया। तदन्तर धर्म बोले—"राजन्! आपसे बढ़कर धर्मात्मा इस पृथिवी पर कोई नही है। आप प्राणों का परित्याग न करें। यह सब तो मैंने ही स्वांग बनाया है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! महाराज हरिश्चन्द्र चुपचाप खडे देवताओं की सब बातें सुन रहे थे। उसी समय ऊपर से देवेन्द्र ने चिता पर अमृत की वृष्टि की, जिससे मरे हुए कुमार रोहित उठकर बैठ गये। देवताओं ने असंख्यों कल्प वृक्ष के पुष्प महाराज हरिश्चन्द्र के ऊपर वर्षाये। फिर इन्द्रने कहा—"राजन् आप मेरे साथ अपनी स्त्री और बच्चे को लेकर स्वर्ग चलिये, वहाँ इन्द्रासन का आनन्द से उपभोग करें।"

राजा ने कहा—"देवराज! मैं आपकी इस कृपा के लिये आभारी हूँ, किन्तु मैं तो पराधीन हूँ, दास हूँ, जब तक मेरा स्वामी चांडाल मुझे आज्ञा न देगा तब तक मै कहीं भी नहीं चल सकता।"

इतना सुनते ही धर्म हँस पडे और बोले—"राजन्! वह चांडाल और कोई नही। मैने ही स्वयं चाडाल का वेष बना लिया था। आपने तो मेरा भी उद्धार कर दिया। आप सुख-

पूर्वक स्वर्ग जायें। धर्म की अधीनता अधीनता नहीं। धर्म के लिये उठाया जाने वाला कष्ट कष्ट नहीं है। धर्म के लिये होने वाला अपमान अपमान नहीं है। जो मुझ धर्म की रक्षा करता है, उसकी मैं भी सदा रक्षा करता हूँ। आप सुख पूर्वक स्वर्गादि लोकों को जाकर वहाँ दिव्य सुखों को भोगें।"

इस पर इन्द्र बोले—"हाँ, महाराज! चलिये अब तो आप जिनके अधीन थे, उन्होंने भी आपको आज्ञा दे दी।"

तब महाराज हरिश्चन्द्र बोले—"देवेन्द्र आपकी बड़ी कृपा है। मैं अकेले स्वर्ग नहीं चाहता। मैं स्वार्थी नहीं कि स्वयं ही स्वर्गीय सुखों को भोगूँ। मैं तो प्रजा का सेवक हूँ। अयोध्या की मेरी समस्त प्रजा मेरे वियोग में तड़प रही है, मैं उसे दुःखी छोड़कर अकेला स्वर्ग नहीं जा सकता। आप सबको स्वर्ग ले चलें तो मैं चलूँ।"

यह सुन कर शचीपति देवेन्द्र हँस पड़े और बोले—"महाराज अब भी आपके हृदय में प्रजा का अनुराग ज्यों का त्यों बना है इसीसे विदित होता है आप सच्चे नरपति है—आपका कल्याण हो। आइये मेरे साथ विमान पर विराजिये, ये बाबा विश्वामित्र भी वहीं विराजमान् हैं। ये आपके स्वामी धर्म भी साथ ही हैं। आइये मुझे कृतार्थ कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! देवेन्द्र के इतना कहते ही महाराज का शरीर दिव्य हो गया, वे वस्त्राभूषणों से अलंकृत दूसरे देवेन्द्र से प्रतीत होने लगे। महारानी शैब्या भी पहिली जैसी ही रूपवती हो गईं। वे महाराज की बगल में खड़ी हुईं, शची के समान दिखाई देती थीं। कुमार भी हँसते हुए महारानी

का अञ्चल पकड़े थे। देवराज ने उन्हें सम्मान सहित विमान में बिठाया और अयोध्या पुरी में लाकर उतार दिया।

विश्वामित्र जी ने प्रसन्नता पूर्वक महाराज को पुनः राजगद्दी पर बिठाया। देवताओं ने मृदङ्ग दुंदुभी आदि स्वर्गीय बाजे बजाये अप्सराओं ने नृत्य किया। महाराज पार्थिव और स्वर्गीय पुष्पों से ढँक गये। विश्वामित्र जी ने उन्हें परम-तत्व का उपदेश दिया।

सूतजी कहते है—"मुनियो! कालान्तर में महाराज अयोध्या वासी जनता को साथ लेकर वैकुण्ठवासी हुए। तदनन्तर उनके पुत्र रोहित अयोध्या की राजगद्दी पर बैठे।"

छप्पय

श्वपच दास बनि मृतकवस्त्र धरि मरघट माहीं।
लेवै नृप तहँ बसहिं दार सुधि बिसरत नाही॥
डस्यो सर्प सुत गोद लिये शैब्या तहँ आई।
पहिचानी पुनि कथा भूप दुख सहित सुनाई॥
मृत सुत सङ्ग नृप नारिलै, जरिवै कूँ उद्यत भये।
त्यों ही देवनि सहित विधि, धर्म इन्द्र दरसन दये॥

बाहुक पुत्र महाराज सगर

(६३८)

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्माद्विर्निमिता ।
चम्पापुरीं सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥
भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तयापि बाहुकः ।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० १,२ श्लोक)

छप्पय

तन धन सरवसु तज्यो धर्म हरिचन्द न छोरयो ।
परी विपति पै विपति नहीं सत तै मुख मोरयो ॥
गये नृपति बैकुण्ठ भये रोहित नृप श्रीयुत ।
रोहित के सुत हरित हरित के चम्प भये सुत ॥
चम्प नृपति चम्पापुरी रचीं वीरवर तिन तनय ।
नृप सुदेव है विदित जग, भये तासु सुत नृप विजय ॥

भगवान् जिसकी रक्षा करना चाहते हैं जिसका जीवन चाहते हैं, वह चाहे धधकती अग्नि में कूद पड़े, पर्वत से गिर

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! हरिश्चन्द्र सुत रोहित हुए रोहित के हरित उसके चम्प हुए जिन्हों ने चम्पापुरी को बसाया । चम्प के सुत सुदेव हुए उनके आत्मज विजय हुए । विजय के भरुक और भरुक के वृक हुए । महाराज वृक के ही पुत्र बाहुक हुए जिनकी पृथिवी को शत्रुओं ने छीन लिया इसलिये वे अपने पत्नियों सहित वन में चले गये ।

जाय, अगाध जल मे बह जाय, अमोघ से अमोघ अस्त्र का लक्ष्य बन जाय,तीक्ष्ण से तीक्ष्ण विप का पान कर ले। फिर भी उसका बाल बाँका न होगा, फिर भी वह जीवित ही बच जायगा और जिसकी मृत्यु आ गई है, वह घर में बैठे बैठे शैय्या पर लेटे-लेटे मर जायगा। जो जीवन को जिला नही सकता उसे मारने का भी अधिकार माधव ने नही दिया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित हुए जो अपने पिता के पश्चात् राज-सिंहासन पर बैठे। रोहित से धर्मात्मा यशस्वी पुत्र चम्प हुए, जिन्होने चम्पापुरी को बसाया। (जो कि चम्पारण के नाम से विख्यात है) महाराज चम्प के पुत्र सुदेव हुए। सुदेव के पुत्र विजय हुए जो शूरवीर और साहसी थे। उनके पुत्र भरुक हुए और भरुक के पुत्र वृक हुए। इन्हीं धर्मात्मा वृक के पुत्र राजर्षि बाहुक हुए।

महाराज बाहुक बड़े ही धर्मात्मा और प्रभु परायण थे। वे राजाओं की ओर विशेप ध्यान नही देते थे सदा पूजा पाठ और भगवच्चिन्तन में लगे रहते थे। पड़ोसी राजा तो सदा छिद्र ही देखते रहते है। उन्होने जब राजाको युद्ध से उदासीन देखा तो कई राजाओं ने एक साथ मिलकर उन पर सहसा चढ़ाई कर दी। महाराज युद्ध के लिये तैयार नहीं थे। बहुत से शत्रुओ ने चारों ओर से महाराज को घेर लिया। तब महाराज एक अपने परम विश्वसनीय सेवक के सहित अपनी सभी रानियों को लेकर एक सुरंग से बाहर निकल गये।

किले के भीतर ही एक सुरंग जाती थी, जो कई योजन

चलकर एक घोर अरण्य के दूसरे किले में निकलती थी। महाराज रात्रि भर चलकर उस किले में पहुँचे। वहाँ से समीप ही महर्षि और्व का सुन्दर आश्रम था। रानियों सहित महाराज मुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि ने पत्नियों सहित महाराज का स्वागत किया और सभी को ठहरने के लिये स्थान दिया।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ? शत्रुओं ने मेरी समस्त पृथिवी छीन ली है,अब मैं राज्य हीन होकर आपकी शरण में आया हूँ। मुनि ने कहा—राजन् पृथिवी कभी किसी की हुई भी है या आपकी ही होगी ? इस पृथिवी पर कितने कितने बड़े प्रतापी राजा हुए। मेरी मेरी कह कर न जाने वे कहाँ चले गये महाराज! आप जैसे साधु स्वभाव के राजा इस पृथिवी की रक्षा नही कर सकते। पृथिवी का पालन तो समरप्रिय शूरवीर भूप ही कर सकते है। आप यहाँ अरण्य में रहकर भगवान् का आराधन कीजिये, योग साधन कीजिये। आपके वंश में कोई ऐसा प्रतापी राजा होगा जो अपने पूर्वजों के गये हुए राज्य को लौटा लेगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! अब तो मैं आपकी शरण में आ गया हूँ, आप जो चाहें सो करें। जब तक मनुष्य को धनमद-राज्यमद या ऐश्वर्य का मद रहता है। तब तक वह अपने सामने किसी को कुछ नही समझता। जब उसका मद चूर हो जाता है, तब वह सब ओर से हताश होकर साधु शरण में जाता है, साधु के समीप सभी को आश्रय मिलता है, सभी को त्राण मिलता है। जिनके कोई बन्धु नही उनके साधु बन्धु हैं, जिनका कोई सहारा नही उनके साधु ही सहारे है, जिनका कोई रक्षक नहीं उनके साधु ही रक्षक हैं। साधु ही ईश्वर हैं साधु ही सबके सच्चे हितैषी है।"

श्रीशुकदेवी जी कहते है--"राजन् ! ऐसा कह कर महाराज बाहुक वही रह कर भजन करने लगे। एक तो महाराज वृद्ध थे, दूसरे शत्रुओं द्वारा पराजित थे इसलिये वे अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। कुछ ही काल में इस असार संसार को सदा के लिये परित्याग करके परलोक चले गये।

महाराज की बहुत सी रानियां थी। उनमे जो सबसे बड़ी पट्टमहिषी थी जिसे राजा भी अत्यधिक प्यार करते थे, उसे अपने पति के मृत्यु पर बड़ा दु.ख हुआ। उसने अपने पति के साथ सती होने का निश्चय कर लिया।

जिस समय रानी सोलहों श्रृंगार करके अपने पति की चिता पर चढ़ने को उद्यत हुई उस समय महर्षि और्व ने ध्यान से जान लिया कि रानी गर्भवती है। तब उन्होंने कहा—"बेटी ! तू धैर्य धारण कर। तुझे सती होने का अधिकार नहीं है। तेरे गर्भ मे चक्रवर्ती पुत्र है। तू इस गर्भ की सावधानी से रक्षा कर।"

रानी वास्तव में गर्भवती थी, यह बात उसके अंगों को देख कर ही विदित होती थी। मुनि के कहने से उसने सती होने का विचार त्याग दिया और बडे कष्ट से गर्भ की रक्षा करने लगी।"

इधर राजा की विधिवत् समस्त और्ध्व दैहिक क्रियायें की गई। राजा की रानी वही मुनि के आश्रम के समीप रहने लगी। छोटी रानिया बड़ी रानी से पहिले से ही द्वेष रखती थी। राजा भी बड़ी रानी को ही अधिक प्यार करते थे। उस समय तो सब राजा के शील संकोच से कुछ कह नहीं सकती थी, भीतर ही भीतर जलती रहती थीं। अब राजा तो रहे नहीं

उन्हें खुल कर द्वेष करने का अवसर मिल गया। इस बातसे उन्हें और भी दुःख हुआ, कि यह गर्भवती है, यदि इसके पुत्र हो गया, तो यह राजमाता हो जायगी, इसका बच्चा बड़ा होकर राजा हो गया, तो हम सब को दाइयो की भाँति रहना होगा।" यही सब सोच कर सब ने सम्मति की कि हत्या की जड़ यह गर्भस्थ बालक ही है, यदि किसी प्रकार रानी को विष दे दिया जाय, तो गर्भस्थ बच्चा भी मर जायगा और हमारी सौत यह रानी भी मर जायगी। यह सोचकर उन्होंने बड़ी युक्ति से किसी मोदक आदि मे रानी को विष दे दिया।

रानी तो भोली भाली थी, उसे अपने क्रूर कर्म करने वाली सौतों के षड्यन्त्र का कुछ भी पता नही था।

जब वह नित्य नियमानुसार भगवान् और्व को प्रणाम करने गई, तो मुनि ने आशिर्वाद दिया, पुत्रवती हो, सम्राट को जनने वाली हो।" फिर मुनि ने ध्यान से जो देखा तो उन्हे विष देने की बात विदित हो गई। इसलिये उन्होंने कहा—"कोई बात नहीं जो वस्तु पेट में है वह बिना जीर्ण हुए ज्यों की त्यों बनी रहेगी।"

शुकदेव जी कहते है—"राजन्! कुछ कालके पश्चात् परलोक वासी महाराज बाहुक की पत्नी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र के साथ ही वह गर (विष) भी उत्पन्न हुआ जिसे रानी की सौतों ने उसे भोजन के साथ दे दिया था। पुत्र गर के साथ उत्पन्न हुआ इसलिये महामुनि और्व ने उसका नाम सगर रखा। मुनि ने बालक के सभी क्षत्रियोचित जातिकर्ण नाम कर्ण आदि संस्कार कराये। शनैःशनैः वह बालक मुनि आश्रम

में बड़ा हुआ। महर्षि और्व ने उसे सम्पूर्ण अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा दी। धनुर्वेद विद्या में वह राजकुमार अद्वितीय हुआ। जब उसे विदित हुआ कि मेरे पिता के राज्य को शत्रुओं ने अप हरण कर लिया है तो उसने सैन्य संग्रह की और शत्रु पर चढ़ाई की। अपने पिता के गये हुए राज्य को फिर से लौटा लिया। जिन शत्रुओं ने मिलकर महाराज को राज्यच्युत किया था, उन सब को मार देने का महाराज सगर का संकल्प था। वे बड़े प्रतापी थे, अतः शत्रु बड़े घबड़ाये। जब उन्होंने अपने प्राण रक्षा का कोई अन्य उपाय नही देखा तो वे सब के सब मिलकर और्व मुनि के पास गये। वहा जाकर उन्होंने बड़ी दीनता के साथ मुनि के पैर पकड़ कर प्रार्थना की, कि प्रभो! हमें आप अपने शिष्य से बचाइये। जैसे भी हो तैसे हमें प्राणदान दिलाइये।

मुनि तो दयालु ही ठहरे, उन्होने कहा–"अच्छी बात है, तुम लोग चिन्ता मत करो मै उससे कह कर तुम्हें प्राणदान दिला दूँगा। यह सुन कर वे लोग बहुत प्रसन्न हुए। मुनि ने सगर से कह दिया—'भैया इन्हें मारना मत। अब सगर क्या करते, उन्हें क्रोध तो बहुत अधिक आ रहा था। ये सब के सब धर्म से विमुख क्रूर कर्मी और कपटी थे।"

गुरु की आज्ञा से राजा ने उन्हें मारा तो नहीं, किन्तु उन्हें वर्णाश्रम धर्म से बहिष्कृत कर दिया। क्योंकि ऐसे दुष्ट और विश्वासघाती लोग समाज मे स्वतन्त्रता के साथ रहेंगे, तो सम्पूर्ण समाज को भ्रष्ट कर देंगे। ऐसे लोगों में कोई ऐसा चिन्ह बना देना चाहिये जिससे लोग समझ लें, कि ये विश्वासघाती और देशद्रोही हैं।

इसलिये महाराज सगर ने एक मर्यादा बाँधदी । ताल,जघ यवन, शक, हैहय और बर्बर जाति के लोग वर्णाश्रम धर्म में न रह सकेंगे । यद्यपि पहिले ये लोग क्षत्रिय ही थे, किन्तु अत्यन्त धर्म विरुद्ध आचरण करने से उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया । महाराज ने उनको आज्ञा दी कि तुम एक विशेष चिन्ह रखा करो जिससे लोग समझ जायँ कि तुम समाज बहिष्कृत हो । किन्हीं को तो कह दिया, तुम सम्पूर्ण सिर को मुड़ाया करो । किन्ही से कहा—"सिर तो मुड़ा लिया करो, किन्तु दाढी मूंछ रखा करो । शिखासूत्र मत धारण करो । किसी से कह दिया तुम बालों को कभी बाँधा मत करो, सदा खुले बाल रखा करो, आधे रखा करो । किन्ही से कहा तुम मुक्त कण्ठ होकर एक कपड़ा लपेटे रहा करो । किसी से कहा—तुम केवल एक कौपीन ही पहिना करो ।" इस प्रकार सब के पृथक् पृथक् चिह्न बना दिये । तभी से ये समाज मे वर्णाश्रम धर्मविहीन पंचम वर्ण के लोग बढ़ गये ।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार महाराज बाहुक के पुत्र परम प्रतापी महाराज सगर हुए । जिन्होंने अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके अपने वंश को संसार में स्थापित किया । इन्ही पुत्रों ने पृथिवी को खना था, जिससे समुद्र का नाम सागर पड़ गया ।"

इस पर राजा परीक्षत ने पूछा—"प्रभो ! सगर पुत्रों ने पृथिवी को क्यों खना ? और किस कारण क्षार समुद्र का नाम सागर पड़ा, कृपा करके इस कथा को मुझे सुनाइये ।"

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन् ! मैं महाराज सगर के पुत्रों की परम पावन और प्रसिद्ध कथा को सुनाता हूँ, आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भये विजय के भरुक भरुक के वृक तिन वाहुक।
शत्रुनि छीन्यो राज्य गये वन पृथिवी पालक॥
वनमहँ नृप तनु तज्यो गर्भिनी तिनकी रानी।
सौतिनि गर दै दयो सगर सुत जनम्यो मानी॥
भये सगर अति ही बली, शत्रुनि को शासन कर्‌यो।
दान पुण्य मख अधिक लखि, सुरपति हूँ तिन ते डर्‌यो॥

महाराज सगर का अश्वमेध यज्ञ

(६३९)

श्रौर्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् ।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० ८ श्लो)

छप्पय

द्वै रानी तिन हतीं एकके सुत असमञ्जस ।
दूसरि साठिसहस्र जने सुत मानी नीरस ॥
अश्वमेध नृप सगर धूमते यज्ञ रचायो ।
भय वश सुरपति आइ यज्ञको अश्व चुरायो ॥
कपिलाश्रम महँ इन्द्रने, मख हय बाँध्यो कपट करि ।
साठिसहस सुत भूमि खनि, पहुँचे नाना रूप धरि ॥

सुनते हैं, सूकरी वर्ष में तीन चार बार प्रसव करती और एक साथ उसके कई बच्चे होते हैं। वे बुरी वस्तुएँ खाकर जीवन बिताते हैं। कोई उन्हें छूता नहीं सब उनसे घृणा करते

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज सगरने अपने गुरु और्व मुनि की बतायी हुई विधि से अश्वमेध यज्ञ द्वारा सर्वात्मस्वरूप ईश्वर का भजन किया। उनके छोड़े हुए अश्वमेध के घोड़े को पुरन्दर इन्द्र हर ले गये।"

हैं। पैदा होते हैं मर जाते है या मार दिये जाते हैं। इसके विरुद्ध सुनते हैं, सिंहनी सम्पूर्ण आयु में एक ही सिंह पुत्र को जनती है, जो जन्मते ही बड़े-बड़े मत्त गजराजों के मस्तकों को विदीर्ण करने का साहस करता है, बिना बनाये वन का राजा बन जाता है। सभी का शिरोमणि बनकर रहता है। आकाश में कितने तारे होते है, टिमि टिमाते रहते है, इतने अधिक होने पर भी वे अंधकार को दूर करने में समर्थ नही होते। जहाँ एक चन्द्रमा उदय हुआ, कि सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है, समस्त तारे फीके पड़ जाते है। इसलिये चाहे माता एक ही पुत्र को उत्पन्न करे, किन्तु वह दानवीर, ज्ञानवीर, धर्म वीर शूरवीर या प्रेमवीर, हो यदि इनमें से कोई नही है और जो पशु पक्षी कीट पतंगों की भाँति ही आहार निद्रादि में ही जीवन बिताने वाला हो, तो ऐसे सहस्रों पुत्रों को जनने वाली मानव माता में तथा शूकरी कूकरी में क्या अंतर है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! मैंने बाहुकपुत्र महाराज सगर के जन्म का चरित्र सुनाया, अब मैं उत्तर चरित्र को कहता हूँ। आप इस पावन चरित्र को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

महाराज सगर ने अपने पिता के खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया। जब वे चक्रवर्ती सम्राट् हो गये, तब उन्होंने अपना विधिवत् विवाह किया। महाराज के दो रानियाँ थीं एक का नाम केशिनी और दूसरी का नाम सुमति था। दोनों रानियों में से किसी के भी कोई सन्तान नही थी, इससे राजा रानी दोनों ही चिन्तित रहते थे। एक बार महाराज के गुरु भगवान् और्व पधारे, दोनों हीं रानियों ने आकर मुनिके चरणों

में प्रणाम किया और सन्तान की कामना से उनके पैर पकड़े।

महामुनि रानियों के मनोगत भावों को अपनी ज्ञान दृष्टि से समझ गये और बोले—"तुम दोनों में से जो चाहे वह एक तो वंश धर एक पुत्र माँगले और दूसरी साठ सहस्र पुत्र माँगले। बड़ी रानी केशिनी ने कहा—"प्रभो ! मुझे तो एक ही वशधर पुत्र दे दें।'

दूसरी सुमतिने कहा—"महाराज ! मुझे आप साठ सहस्र पुत्र दें, जिससे मैं बहुत से पुत्र की जननी कहलाऊँ।"

मुनिने कहा— 'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।' यह कह कर मुनि राजा से पूजित और सत्कृत होकर अपने आश्रम पर चले गये। कालान्तर में बड़ी रानी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही सिड़ी पागलों का सा व्यवहार करता था। बातें बोलता था, तो अंडबंड। कुछ पूछो, कुछ उत्तर दे। इसलिये सब ने उसका नाम असमञ्जस रख दिया।

दूसरी रानी सुमति के गर्भ से एक बड़ी भारी तूमी सी उत्पन्न हुई। मुनिकी आज्ञा से साठ हजार घृतके कलश मँगाये गये तब उस तूमीमे से धायने एक एक बीज निकाल निकालकर एक एक घड़ेमे रखा। कुछ काल में उन घड़ों में पुरुषों की भाँति बच्चे बन गये और वे हृष्ट पुष्ट होकर निकले। सगर के वे साठ सहस्र पुत्र-बड़े हो बली थे। वे बड़े लम्ब तड़ंगे और बृहद् डील डौल वाले थे। वे समुद्र के ऊपर विना रोकटोक के चल सकते थे। आकाश में उड़ सकते थे। पर्वतों को चूर्णकर सकते थे। उन्होंने अपने बाहुबल से सभी को भयभीत बना रखा था। समुद्र पर्वत, नदी, नद सभी उनके नाम से थरथर कांपते,

थे। जब वे पृथिवी पर चलते थे, तो पृथिवी उसी प्रकार डगमग डगमग करती थी, जिस प्रकार हाथी के चढ़ने पर नौका डग मगाती है। उनके कारण सभी प्रजा के लोग दुखी थे। किन्तु राजा क्या करते। वे सब के सब इतने बली थे, कि देवता भी उनसे डरते थे, उनके साथ युद्ध करने का साहस किसी को नहीं था।

महाराज सगर का जो पुत्र असमञ्जस था, वह तो सब व्यवहार पागलों का सा ही करता था। वह सबमें बड़ा था। युवकभी होगया था, फिर भी वह बुद्धिहीनो की भाँति व्यवहार करता था। महाराज ने उसका विवाह भी कर दिया था कि विवाह होने से सम्भव है, इसकी बुद्धि सुधर जाय। जब मनुष्य पर गृहस्थ का भार पड़ जाता है तो सब पागलपन भूल जाता है, बुद्धि ठीक ठिकाने आजाती है, किन्तु सोते को जगाया जा सकता है जो जागता हुआ भी सोने का स्वाँग रचे हुए है, उसे कौन जगा सकता है। वह यथार्थ में पागल तो था नहीं। वह पूर्वजन्म का कोई योगभ्रष्ट योगी था। किसी कारण से उसे जन्म ग्रहण करना पड़ा। अब उसने देखा यदि मैं बुद्धिमान बनकर रहूँगा, तो मुझे राजा बना देंगे, राजकाज में फँसकर सम्भव है, मेरा फिर पतन हो जाय। इसलिये उसने अपने को इस प्रकार बनावटी पागल प्रसिद्ध कर दिया। जब विवाह हो गया और एक अंशुमान् नाम का बच्चा भी हो गया। तब तो उसकी व्यग्रता और भी बढ़ी। उसने सोचा—"ऐसा न हो अब मैं फँस जाऊँ। बिना पिता की आज्ञा लिये जाना उचित नहीं, माँगने पर पिता आज्ञा देंगे नहीं।" इसलिये उसने अपने पागलपन को और भी अत्यधिक बढ़ा दिया। अब वह क्या करता, कि जो लड़के सरयू किनारे खेलते रहते, उन्हें उठा उठाकर सरयू जी के जल

में फेंक देता। वे डूबने लगते, तब वह ताली बजा बजाकर हँसता रहता। इस पर प्रजा के लोग मिलकर महाराज के समीप गये और बोले—"राजन् ! या तो आप अपने पुत्र को ही रखिये या हमें ही। महाराज ! ऐसा राजकुमार तो हमने कोई देखा नहीं। यह अपनी प्रजा के बच्चों को वधिकों की भाँति जल में डुब देता है, ऐसा कुमार यदि राजा होगा, तो प्रजा की क्या रक्षा करेगा ?"

प्रजा के लोगों के ऐसे वचन सुनकर राजा को अत्यधिक दुःख हुआ। उन्हें असमञ्जस पर बड़ा क्रोध आया और उसे बुलाकर डाँटते हुए बोले—"तू बड़ा दुष्ट है रे ? मेरी प्रजा के बालकों की हत्या करता है। तू अभी मेरे राज्य से निकलजा। फिर कभी भी मुझे मुँह न दिखाना।"

कुमार असमञ्जस तो यह चाहते ही थे, अतः वे मन ही मन अत्यंत प्रसन्न होकर अयोध्यापुरी को छोड़कर चले गये। जाते समय उन्होंने अपने योग का अद्भुत चमत्कार दिखाया। जितने लड़को को उन्होंने सरयू जी के जल में फेंककर डुबा दिया था, उन सबको पुनः अपने योगबल से निकाल कर जिला दिया। जब वे सब बालक हँसते हुए अपने अपने घर पहुँचे, तब तो सभी लोग परम विस्मित हुए। वे सब मिलकर महाराज के समीप पहुँचे और बोले—"महाराज, हमसे बड़ी भूल हुई। कुमार तो कोई बड़े भारी पहुँचे हुए सिद्ध थे। देखिये, जितने हमारे लड़के डुबाये थे, वे सब तो ज्यों के त्यों जीवित होकर हमारे घरों में आगये।"

यह सुनकर राजा को भी बड़ा दुःख हुआ। किन्तु अब

पछताने और दुःख करने से होता ही क्या था, असमञ्जस तो चले गये। महाराज सगर उनके पुत्र अंशुमान् को ही पुत्र मानकर पालन करने लगे। अंशुमान् भी महाराज की आज्ञा में सदा तत्पर रहते और सर्वात्म भाव से उनकी सेवा में ही सदा लगे रहते।

अब महाराज ने एक बड़ा भारी अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया। पूजन करके विधिवत् सर्वलक्षण सम्पन्न यज्ञीय अश्व छोड़ा गया। महाराज सगर ने अपने साठ हजार पुत्रों को आज्ञा दी, कि वे घोड़े की रक्षा के लिये उसके पीछे पीछे जायँ और जो राजा घोड़े को पकड़े उससे युद्ध करें।

राजा की आज्ञा पाकर वे सब के सब गरजते तरजते और भयंकर शब्द करते हुए घोड़े के पीछे पीछे चले, घोड़ा भी अपनी इच्छानुसार अनेक प्रदेशों में घूमने लगा। सगर पुत्रों के सम्मुख किसका साहस था, जो घोड़े को पकड़े। इसलिये कहीं भी युद्ध का अवसर नहीं आया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इन्द्र का तो स्वभाव ही है, किसी की बढ़ी हुई कीर्ति को देखकर उससे ईर्ष्या करना। इसलिये इन्द्र ने महाराज के अद्वितीय यज्ञ में विघ्न डालने का निश्चय किया। वे गुप्त रूप रखकर महाराज के यज्ञीय अश्व को चुरा ले गये। सगर पुत्रों ने सर्वत्र अश्व को खोजा किन्तु उन्हें कहीं भी अश्व न मिला। पृथिवी पर यदि कहीं होता तो मिलता भी। इन्द्र तो समुद्र के भीतर से उसे पाताल में ले गये और जहाँ सत्वावतार भगवान् कपिल तपस्या कर रहे थे, उस स्थान में ले जाकर उसे बाँध दिया और वे स्वर्ग को चले गये।

जब राज पुत्रों को कहीं भी अश्व न मिला तो वे लौटकर अपने पिता के पास गये और हाथ जोड़ कर बोले—"पिताजी ! यज्ञीय अश्व को तो किसी ने चुरा लिया।"

महाराज सगर ने डाँट कर कहा—"तुम लोग कहाँ चले गये थे ?"

सागर पुत्रों ने कहा—"पिताजी ! हम तो सब साथ ही थे, फिर भी पता नहीं कि कैसे किसने अश्व को चुरा लिया।"

राजा बोले—"तुम लोग बड़े मूर्ख हो, मैंने तुमको अश्व की रक्षा के लिये भेजा था। तुम साठ हजार होकर भी एक अश्व की रक्षा न कर सके, जाओ स्वर्ग में, पातल में, पृथिवी में तथा अन्य भी जिस लोक में घोड़ा हो उसे ढूँढ़कर लाओगे नहीं फिर अच्छी बात नही होगी। अश्व बिना यज्ञ समाप्त कैसे हो सकता है ?"

पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर वे सबके सब क्रोध करके चले, पहिले तो उन्होंने समस्त पृथिवी को खोजा। जब पृथिवी पर घोड़ा नहीं मिला, तो उन्होने पृथिवी को खोदना आरम्भ कर दिया। महाराज सगर से पहिले यह भारत वर्ष अन्य आठों वर्षों से मिला हुआ था। इलावृत वर्ष बीच में था और जैसे कमल की कर्णिका के चारो ओर पंखुड़ियाँ होती हैं, वैसे ही शेष आठों वर्ष उसके चारों ओर थे। तब जाने वाले पुरुष भारत से ही इलावृत हरिवर्ष आदि वर्षों में जा सकते थे। इन सगर के पुत्रों ने यज्ञीय अश्व के अन्वेषण के निमित्त भारतवर्ष के चारों ओर भूमि को खोद डाला जिससे इस वर्ष का इलावृत आदि सेभी वर्षों के सम्बन्ध विच्छेद होगया। खोदने से इस भारतवर्ष

के भी आठ उपद्वीप हो गये। कन्या कुमारी से हिमालय तक वर्णाश्रमी आर्यों के रहने की भूमि हो गई। इसलिये इतनी ही भूमि को भारत कहने का चलन पड़ गया।शेष सात उपद्वीप तथा अन्य छोटे-छोटे द्वीपों में अवर्णाश्रमी अनार्य निवास करते हैं यह सब भूमिका उलट पुलट सगर के ६० हजार पुत्रों ने ही किया। पृथिवी को खोदते-खोदते, वे पूर्वोत्तर दिशा में कपिल मुनि के आश्रम पर पहुँच गये वहाँ उन्होंने घोड़े को बँधा देखा।

छप्पय

सप्तद्वीपके मध्य द्वीप जम्बू अति पावन।
तामें है नव, वर्ष इलावृत मध्य सुहावन॥
कमल कर्णिका सरिस इलावृतकूँ पहिचानो।
अन्य-आठ जो वर्ष कमलदल सम तुम मानो॥
पहिले नौऊ एक रहे सगर सुतनि खोदी मही।
तातें भारत भूमि चहुँ, दिशितें ह्वै गइ जलमई॥

सगर के साठ सहस्र सुतों का विनाश

(६४०)

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता ।
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि ।
कथं तमो रोपमयं विभाव्यते ।
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

कपिलाश्रम पै अश्व निरखि नृपसुत हरषाये ।
कोलाहल अति करयो कपिल मुनि चोर बताये ॥
इन्द्र रच्यो षडयन्त्र बुद्धि नृप सुतनि बिगारी ।
मुनि मारन हित चले देहिं गिनि गिनि कैं गारी ॥
कोलाहल सुनि सहजही नेत्र कपिल के खुलि गये ।
दृष्टि परत निज पाप तें, सगरपुत्र सब मरि गये ॥

एक कहानी है, कोई बुद्धिमान् दुर्बल पुरुष लघुशंका कर रहे थे। उसी समय एक हृष्ट पुष्ट दुष्ट पुरुष आया। उसे एक

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो कहते हैं कि सगरपुत्र कपिल मुनि के कोप से नष्ट हो गये, यह बात उचित नहीं, क्योंकि जो जगत को पावन बनाने वाले हैं, ऐसे सत्यमूर्ति भगवान् कपिल में भला तमोगुण की संभावना कैसे हो सकती है ? क्या कभी पृथिवी रज का आकाश के साथ सबन्ध सम्भव है ?

विनोद सूझा उसने सोचा—"यह कितना दुर्बल पुरुष है इससे खिलवाड़ करूँ। यह सोचकर उसने उस दुर्बल पुरुष को धक्का दिया। धक्का लगते ही वह औंधे मुंह गिर पड़ा। यह देखकर बहुत हँसा। दुर्बल आदमी ने सोचा—"इससे क्रोध करने से तो मैं जीत न सकूँगा।" इसलिये उसने दो रुपये निकाल कर उसे दिये और प्रणाम करके चला गया।"

इस बात से वह दुष्ट अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उसने सोचा-"यह तो आय का अच्छा उपाय हाथ लगा।" अब वह जिसे लघुशंका करते देखे उसे ही ढकेल दे और कहे—"लाओ दो रुपये। कोई डर कर दे देता कोई भाग जाता। एक दिन उसने किसी अपने से बड़े बली को ऐसे ही ढकेल दिया। उसने मारी जो चपत, सो पूरी बत्तीसी झड़ गई। सब किये का फल मिल गया। सारांश यही है, कि दुर्बलों के ऊपर अत्याचार कुछ ही दिनों चल सकता है। जहाँ कोई अपने से बली मिल गया, कि सब अभिमान नष्ट हो जायगा। क्योंकि संसार में बली को बली कहीं न कहीं मिल ही जाता है।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! सगर के साठ हजार पुत्रों ने कपिल मुनि के आश्रम पर जब अपने पिता के यज्ञीय अश्व को देखा, तब तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। इन्द्र की माता के कारण उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, उनका विवेक नष्ट हो गया था, उन्होंने समझा अश्व को चुराने वाला चोर यही है, हमें देखकर मिथ्या समाधि लगाकर यहाँ बैठ गया है। अतः वे सबके सब अस्त्र शस्त्र लेकर भगवान् कपिल को "चोर है चोर है, मारो काटो, ऐसा कहते हुए उनके ऊपर दौड़े। हल्ला गुल्ला होने से भगवान् की समाधि खुल गई। उनकी दृष्टि

पड़ते ही सगर के साठ सहस्र पुत्र सब के सब जल कर भस्म

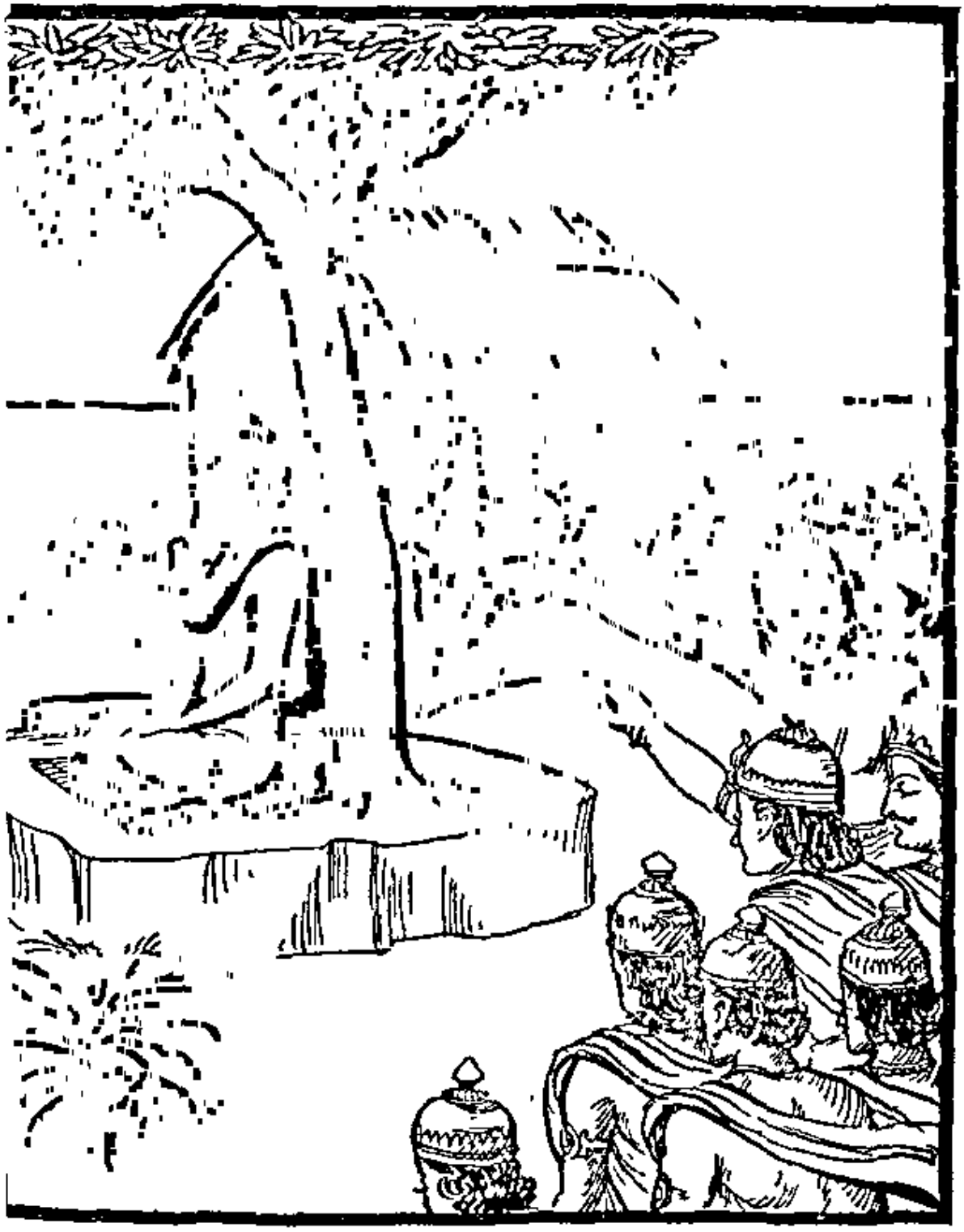

हो गये।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! भगवान् कपिल तो ज्ञानावतार हैं, उन्होंने क्रोध करके तनिक से अपराध पर साठ सहस्र सगर सुतों को शाप देकर दग्ध क्यों कर दिया?"

यह सुनकर भगवान् शुक बोले—"राजन्! ये सगर पुत्र मुनि शाप से दग्ध नहीं हुए। अपने पाप से ही ये सब के सब भस्म हो गये। आप ही सोचिये, जो साक्षात् सत्व के स्वरूप हैं ज्ञान के अवतार है, उनको क्रोध कैसे आ सकता है? वे तो अपने पापों से ही मरे हुए थे। भगवान् की दृष्टि पड़ने पर तो उनका पाप से भरा घड़ा फूट गया।"

इस पर महाराज ने कहा—"प्रभो! जो अपने प्रतिकूल आचरण करता है, ऐसे अपने प्रतिपक्षी पर क्रोध आना स्वाभाविक ही है। ऐसा सम्भव है कि वे लोग क्रोध करके दौड़े हों और भगवान को क्रोध आ गया हो।"

यह सुनकर श्री शुक हँस पड़े और बोले—"राजन्! क्रोध होता है अज्ञान से। जो सांख्यमयी सुनौका के निर्माण कर्ता है, उन परमात्म स्वरूप सर्वज्ञ भगवान् कपिल को यह पराया है यह अनुकूल है यह प्रतिकूल है, यह शत्रु है, यह मित्र है ऐसी भेद बुद्धि कैसे हो सकती है? इसलिये यह कहना उचित नहीं, वे सब कपिल मुनि के कोप से भस्म हुए। वे तो अपने पापों के कारण उपयुक्त अवसर आने पर अपने शरीर से ही प्रकट होने वाली अग्नि से ही जल कर भस्म हो गये।

सगर पुत्रोंके जलकर भस्म हो जाने पर घोड़ा वहीं रहने लगा। महामुनि अपने ध्यान में निमग्न हो गये। महाराज सगर को कुछ पता ही नहीं था, क्या हुआ।

जब बहुत दिनों तक प्रतिक्षा करते रहने पर भी वे साठ सहस्र पुत्र अश्व को लेकर नहीं आये, तब महाराज को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने पौत्र अंशुमान् से कहा—"वत्स ! तुम्हारे सब के सब चचा लोग अश्वमेध के घोड़े को खोजने गये हैं, किन्तु अभी तक लौटकर नही आये क्या बात है। वैसे तो सब के सब शूरवीर बली योद्धा और सर्वजित् थे। उन्हें कोई संग्राम में तो नही हरा सकता था। अन्य ही कोई अघटित घटना घट गई है। मैं स्वयं तो यज्ञ-दीक्षा में दीक्षित हूँ, अतः जा नहीं सकता। तुम जाओ और अपने चाचाओ का अन्वेषण करो।

अपने पितामह की आज्ञा मानकर अंशुमान् अश्वके अन्वेषण के निमित्त चले। पृथिवी पर सर्वत्र खोजने पर भी जब उन्हें अश्व का पता नही मिला, तो वे अपने चाचाओं के खोदे मार्ग से ही ढूंढ़ते ढूंढ़ते पाताल में पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा, कि भगवान् कपिल समाधि में निमग्न हैं, यज्ञीय अश्व वहाँ छूटा हुआ हरी हरी घास चर रहा है, साठ सहस्र भस्म की ढेरियाँ वहाँ पड़ी हैं।

अब तो अंशुमान् सब कुछ समझ गये। उन्होंने अत्यन्त ही करुण शब्दों में भगवान् की स्तुति की और कहा"—हे सर्व भूतात्मन! हे भगवन्! आज आपका दर्शन पाकर हमारी विषयों की उत्कट अभिलाषा समस्त कर्मों का बन्धन और इन्द्रियों का आश्रय रूप हमारा सुदृढ़ मोहपाश नष्ट हो गया है। हे प्रभो ! आप मुझ पर कृपा करें और मुझे अपनी करुणामयी दृष्टि से अवलोकन करें "

श्री शुकदेव जी कहते है—राजन् ! उस बालक अंशुमान्

की ऐसी अद्भुत विनय और विशुद्ध भक्ति को देखकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स ! तुम मुझसे क्या चाहते हो ?"

हाथ जोड़कर अंशुमान् ने कहा—"हे अशरण शरण ! मैं यह चाहता हू, कि अपने पितामह की आज्ञा का मैं पालन कर सकूँ उनके यज्ञीय पशु को मैं आपकी कृपा से प्राप्त कर सकूँ और उसे ले जाकर उन्हें दे दूँ, जिससे वे अपने यज्ञ को समाप्त कर सकें। दूसरी प्रार्थना मेरी यह है, कि ये मेरे सब के सब चाचा जो यहाँ भस्म हुए पड़े हैं, इनका किसी प्रकार से उद्धार हो सके। इन्हें चिरकाल तक ब्रह्मद्रोही आदि पापो के कारण अधिक नरक यातनाये न सहनी पड़े।"

यह सुन कर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान कपिल बोले—"देखो बेटा ! तुम्हारे पितामह के यज्ञ का अश्व यह सम्मुख चर रहा है, इसे तुम ले जाओ जिससे तुम्हारे पितामह-यज्ञ को पूर्ण कर सकें, रही तुम्हारे चाचाओ की बात, सो भैया इनका उद्धार तो असम्भव है।"

हाथ जोड़कर अंशुमान् ने कहा—"प्रभो! सम्भव असम्भव को बनाने वाले तो आप ही है। आपके लिये क्या सम्भव क्या असम्भव ? फिर भी आप हमें इनके उद्धार का जो उपाय बतावेंगे,उसे आपही की कृपासे हम पूर्ण करनेका प्रयत्न करेंगे।"

यह सुन कर कुछ सोच कर भगवान् बोले—"देखो, एक उपाय तो है। इनके न तो दाह संस्कार हुए हैं, न इनका जल तर्पण पिण्ड दान आदि ही हुआ है। ये अपने प्रबल पापों के कारण ही नष्ट हुए है। इनका उद्धार असम्भव होते हुए भी एक उपाय है।

नम्रता के साथ हाथ जोड़कर अंसुमान् ने कहा"—वह क्या उपाय है भगवन् ?

भगवान् बोले—"यदि किसी प्रकार तुम गङ्गा जी को यहां ले आओ तो उनके जल के स्पर्श से तो इनका उद्धार हो सकता है। मनुष्य चाहे कितना भी पापी क्यों न हो, कहीं भी उसकी मृत्यु क्यों न हुई हो, यदि उसके शरीर भस्म या अस्थि ही लाकर गङ्गा जी में डाल दी जायें, तो वह सर्व पापों से विमुक्त होकर स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। यदि तुम गङ्गा जी को यहां ला सको, तब तो इनका उद्धार हो सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं।"

यह सुनकर कुमार अंशुमान् ने भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य की और घोड़े को लेकर अपने पितामह के समीप गये। अश्व को पाकर महाराज सगर ने यज्ञ समाप्त किया, उन्हें पुत्रों के मरने पर कुछ शोक न हुआ। अन्त मे वे अपना सब राज पाट अंशुमान् को सौंप कर तपस्या करने वन को चले गये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज अंशुमान् अपने चाचाओं के उद्धार के लिये गङ्गा जी को लाने के लिये प्रयत्न करने लगे।"

छप्पय

सुत नहिं आये सोचि सगर ने पौत्र पठाये।
अंशुमान् चलि दये कपिल मुनि आश्रम आये॥
कुमर विनय अति करी महामुनि अति हरषाये।
गङ्गा लाओ पितर हेतु ये वचन सुनाये॥
अश्व पाइ मख पूर्ण करि, सगर तपोवन चलि दये।
तदनन्तर मनु वंश के, अंशुमान् भूपति भये॥

अंशुमान् सुत दिलीप

(६४१)

अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया ।
कालं महान्तं नाशक्नोत्ततः कलेन संस्थितः ॥
दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान् ।
भगीरथस्तस्य पुत्रस्तेपे स सुमहत्तपः ॥ *

(श्री भा ९ स्क० ९ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

अंशुमान् तप कर्‌यो अवनि पै गङ्गा आवैं ।
मृतक पितर पय परसि नरक तजि सुरपुर जावैं ॥
भये कुमार दिलीप राज तजि जाइ बसे बन ।
गङ्गा आईं नहीं स्वर्ग नृप गये त्यागि तन ॥
कुमर दिलीप पराक्रमी, पितु पीछे भूपति भये ।
गङ्गा हित तप करन कूँ, हिम गिरि पै तेहू गये ॥

यथार्थ पुत्र वही है जो पिता के प्रारम्भ किये कार्य को पूर्ण करने का सतत प्रयत्न करे। पुन्नामक नरक से पितरों का उद्धार

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! गंगा जी के लाने के निमित्त महाराज अंशुमान् ने बहुत वर्षों तक तप किया, किन्तु वे गंगा को लाने में समर्थ न हो सके और काल के गाल मे चले गये। उनके पुत्र दिलीप ने भी उन्हीं की भांति तप करते करते तनु त्यागा। दिलीप के पुत्र महाराज भगीरथ हुए उन्होंने भी गंगा जी को लाने के लिये घोर तप किया।

पुत्र ही कर सकते है, इसीलिये पितर सदा ऐसी मनोकामना करते रहते है, कि हमारे वंश में ऐसे लोग उत्पन्न हों, जो कभी वंश विच्छेद न होने दें। वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखें। इसीलिये सभी सद्गृहस्थ सत्पुत्र की कामनाये करते हैं, और पुत्र प्राप्ति के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते रहते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज सगर जब राजपाट छोड़कर और अंशुमान् को समस्त पृथिवी का राज्य भार सौप कर वन को चले गये तब अंशुमान् को रात्रि दिन यही चिन्ता लगी रहती थी, कि कैसे गगाजी आवें और कैसे हमारे पितरों का उद्धार हो। वे सदा यही सोचा करते थे। उनके एक पुत्र भी हो गया,जिसका नाम दिलीप रखा गया। कुमार दिलीप बड़े ही तेजस्वी और होनहार थे, जब वे कुछ बड़े हुए, तो महाराज अंशुमान् पृथिवी का राज्य भार उन्हे सौपकर गङ्गाजी को लाने के लिये तप करने चले गये। वे हिमालय पर जाकर गंगा जी को प्रसन्न करने के निमित्त अत्यन्त घोर तप करने लगे,किन्तु गंगाजी का आना कोई सहज काम तो था, ही नही। गङ्गाजी उनकी तपस्या से प्रसन्न नही हुई। कुछ काल में वे इस लोक को त्याग कर स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी को लाने और अपने पितरों के उद्धार की बात उनके मन की मन में ही रह गई।

दिलीप ने जब सुना कि मेरे पिता अकृत कार्य होकर ही स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी के लाने की उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, तो वे अत्यन्त दुखी हुए। किन्तु वे करते क्या, उनके तब तक कोई सन्तान नहीं थी। कुछ काल के पश्चात उनके पुत्र उत्पन्न हो गया,जिसका नाम भगीरथ रखा गया। कुमार भगीरथ, बड़े ही भगवद् भक्त, शान्त, अध्यवसायी और साहसी

यं में लग जाते; करके ही छोड़ते थे। दिलीप के पुत्र हुए। जब महाराज दिलीप भी तपस्या करते हुए पंचत्व हो गये और गङ्गाजी को न ला सके, तब तो भगीरथ चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा---"मेरे पितामह ने प्रबल कया, पिता ने किया, किन्तु वे पितरों के उद्धार के त गङ्गाजी को न ला सके, तो मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जी मुझ पर प्रसन्न हो जायँ, अब मैं सब कुछ छोड़ छाड़ जी के लाने के उपाय में ही लग जाऊँगा" ऐसा सोच- राज राज्यपाट योग्य मन्त्रियों को सौंप कर हिमालय र चले गये। वे एक के पश्चात् दूसरे और दूसरे के सरे ऐसे सहस्रों पर्वतों को लाँघते हुए गोमुख के समीप वहाँ एक सुन्दर शिला देखकर उसपर खड़े होकर बिना ये वे सहस्रों वर्षों तक तपस्या करते रहे। वे निरन्तर रूपा भगवती गङ्गाजी का ही ध्यान करते थे। मुख से गा' इन शब्दों के अतिरिक्त कुछ भी न बोलते। कुछ दिनों वे कभी कभी कंद मूल फल खा लेते थे, फिर उन्होंने ोड़ दिये, केवल वायु पी कर ही वे वृक्ष के ठूँठ के समान ते। कुछ दिनों के अनन्तर उन्होंने वायु पान करना ना भी छोड़ दिया। अब वे प्राणों का निरोध करके खड़े रहते। उनका चित गङ्गाजी में तन्मय हो गया।

नकी ऐसी घोर तपस्या से ब्रह्मद्रव भगवती सुरसरि प्रसन्न उन्होंने आकर महाराज भगीरथ को दर्शन दिया। माँ र के ऊपर चढ़ी हुई थी। उनके माथे पर मणिमय मुकुट झलमल कर रहा था। कानों के कुण्डलों और कर्ण प्रभा से उनका मुखमंडल प्रदीप्त हो रहा था। नाक में पहिने हुए थी। उनके दाँतो की युगल पंक्तियों को

आभा से सामने का पर्वत शुभ्र होने पर भी अत्यन्त शुभ्र हो रहा था। पान की लालिमा से रंगे हुए अधरों की कांति जब हिमाच्छादित पर्वतों पर पड़ती तो ऐसा लगता था मानों आकाश का इन्द्रधनुष उतर कर हिमशृंगों पर घूम रहा है। उनके कंठ में मणिमुक्ताओं की मालायें शोभा दे रही थी। उनकी रेशमी नीली साड़ी आकाश की नीलम को तिरस्कृत कर रही थी। वे हरी कंचुकी से ढके उनके पीन पयोधर सन्तानों को अमृत पिलाने के निमित्त हिलते हुए व्यग्रता सी प्रकट कर रहे थे। क्षीणकटि के कारण वे मकर पर बैठी हुई सुवर्णलता के समान हिल सी रही थीं। लाल लहँगा पर जो सुवर्ण की चित्रकारी हो रही थी, उससे उनका सम्पूर्ण अंग दमक रहा था। वे अपने युगल उरुओं को मकर की पीठ से सटाये हुए थी। वे मंद मंद मुसकरा रही थी।"

महाराज भगीरथ नेत्र बन्द किये, त्रैलोक्य पावनी तरणि तारिणी जगदुद्धारिणी अघहारिणी विष्णुपादाब्ज संभूता भगवती सुरसरि का ध्यान कर रहे थे, सहसा उन्होंने अपने हृदय कमल पर खड़ी हुई माता की अद्भुतमूर्ति निहारी हृदय में जगज्जननी के दर्शन पाकर राजर्षि भगीरथ के रोम खिल गये। उन्होंने अपने परिश्रम को सफल समझा वे मन ही मन भगवती की स्तुति करने लगे। सहसा वह मनहारिणी चित्त कार्षिणी मनोहर मूर्ति हृदय प्रदेश से अन्तर्हित हो गई।

उस अलौकिक रूप राशि पूर्णा देवी के अन्तर्हित होते ही, महाराज का चित्त अत्यन्त व्याकुल हुआ, उनकी अभी दर्शनों से तृप्ति नहीं हुई थी। उसी हड़-बड़ाहट में उनके नेत्र खुल गये। अब वे सम्मुख क्या देखते हैं, त्रिभुवन तारिणी भगवती गंगा

प्रत्यक्ष रूप में उनके सम्मुख खड़ी हैं। महाराज ने भूमि में लोट कर भगवती के अरुण कमल से भी मृदुल उनके पुनीत पाद पद्मों मे साष्टाँग प्रणाम किया। जगज्जननी माता ने अपना अभय वरद हस्त उनके मस्तक पर रखते हुए कहा वत्स ! मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे इच्छित वर माँगो।" हाथ जोड़ कर महाराज भगीरथ बोले—"माँ, यदि आप मुझ पर प्रसन्न है और यथार्थ में वर देना चाहती हैं, तो मेरी प्रार्थना यही है, कि आप मेरे पितरों का उद्धार करें।"

माँ गंगा बोली—"तब तो भैया मुझे स्वर्ग से पृथिवी पर उतरना होगा।"

भगीरथ बोले—"अब इस बात को तो मैं माताजी, क्या जानूँ। कपिल मुनि की दृष्टि पड़ने से मेरे पितामह के भी पितृव्य यमयातनायें भोग रहे हैं। उनकी भस्म का आपके जल से संसर्ग हो जाय, यही मेरी इच्छा है।"

माँ गंगा बोली— 'हाँ भैया। मैं सब समझ रही हूँ, किन्तु मेरा अभिप्राय यह है, कि बिना मेरे अवतरण के यह काम हो नही सकता। मैं ऊपर से उतरूंगी तो मेरा वेग बहुत भारी होगा। पृथिवी तो मेरे वेग को धारण कर नही सकती। मैं उतरी और पृथिवी को भेद कर पाताल में चली गई तो तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। इसलिये मेरे वेग को कोई धारण कर सके, ऐसे किसी व्यक्ति की खोज करो।"

भगीरथ ने कहा—"माताजी। आप इसकी चिन्ता न करें। इस चराचर विश्व को उत्पन्न करने वाले और वस्त्र में जिस प्रकार तन्तु ओतप्रोत रहते हैं उसी प्रकार अपने उत्पन्न किये

जगत में सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मरूप भवानी पति भगवान् भूतनाथ तुम्हारे वेग को धारण करेंगे।"

गंगाजी को यह सुन कर कुछ गर्वसा हुआ। वे सोचने लगीं रुद्र भला मेरे वेग को कैसे धारण कर सकते हैं। अस्तु उनसे तो मैं निबट लूँगी, वे तो मेरी बहिन के पति ही है। इस राजा पर अपने भाव को प्रकट क्यों करूँ।" यह सोच कर बोली—"अच्छी बात है, यदि भगवान् रुद्र मेरे वेग धारण कर भी सकें, तो भी मुझे एक आपत्ति और है।"

महाराज भगीरथ ने कहा—"वह और कौन सी आपत्ति है माताजी?"

माँ गगा बोली—"यह यहकि तुम मुझे पापियों के उद्धार के ही लिये ले चल रहे हो। तुम्हारे पितरों को तो मैं तार ही दूँगी। जब वे सब इतने क्रूर कर्मा घोर पापी तर जायेंगे, तो संसार के सभी पापी आ आ कर मुझमें स्नान करेंगे, अपने पापों को मुझमें छोड़ जायेंगे। वे लोग तो अपने पापों को मुझ में छोड़ कर निष्पाप हो जायेंगे, मैं उन इतने पापों को कहाँ जाकर धोऊँगी, इसका भी तुमने कोई उपाय सोचा है?" मैं तो पापों के भार से दब जाऊँगी, स्वच्छ से काली हो जाऊँगी।

शीघ्रता के साथ महाराज भगीरथ बोले—"माताजी। इसके लिये आप चिन्तित क्यों होती हैं, इसका उपाय तो बड़ा सरल है?"

गंगाजी ने उत्सुकता से कहा—"क्या उपाय है, भैया। इसका?"

भगीरथ बोले—"देखिये, माता जी ! आपमें पापी स्नान करके और अपने पापों को धोवेंगे, यह बात सत्य है, किन्तु केवल पापी ही तो आप में स्नान न करेंगे। कुछ साधु महात्मा शान्तचित्त ब्रह्मनिष्ठ लोकेष्णा वित्तेषणा तथा पुत्रेषणाको त्यागने वाले महात्मा भी तो स्नान करेंगे।"

गंगाजी ने कहा—"तो इससे क्या हुआ ! वे तो निष्पाप हैं, उनका पाप मुझ में न आवेगा किन्तु ऐसे सन्त संसार में कितने हैं ? अधिकांश तो पापी ही मुझ में स्नान करेंगे।

महाराज भगीरथ ने कहा—"नहीं माता जी। यह बात नहीं है। निष्पाप साधु--महात्मा पापों को ही न छोड़ेंगे इतना ही नहीं, उनके ध्यान करते ही आप में जितने भी पाप होंगे, वे सब उसी प्रकार भस्म हो जायेंगे, जैसे एक अग्नि की चिनगारी से कितना भी बड़ा रुई का ढेर क्यों न हो, वह भस्म हो जाता है, अथवा एक ही सूर्य के उदय होने से समस्त अन्धकार मिट जाता है अथवा एक ही सिंह के आने से समस्त जन्तु भाग जाते हैं, अथवा एक ही चन्द्र के उदय होने से समस्त तारागण फीके पड़ जाते हैं। एक सन्त ने भी आपमें स्नान कर लिया, तो आप के सब पाप कट जायँगे। इसलिये परोपकारी कृपालु सन्त तीर्थों में घूम-घूम कर उनमें तीर्थत्व स्थापित करते है उसी प्रकार आपके उभय तटों पर रह कर तथा घूम-घूम कर सन्त आपको पावन बना देंगे आपके समस्त पापों को काट देंगे।"

गंगा जी ने पूछा—"यह कैसे होगा ?'

महाराज बोले—"देखिये, माताजी ! उन लोगों के हृदय में साक्षात् अघहारी भगवान् विष्णु वास करते है। जहाँ उन्होंने आप में डुबकी लगाई, कि अघहारी मुरारी बनवारी समस्त पापों को क्षण भर में नाश कर देंगे। जैसे कपूर के ढेर में तनिक

सती प्रज्वलित अग्नि छुला दो, वह सब को तुरन्त जला ही न देगी, उसकी राख भी न रहेगी।"

गंगा जी ने कहा—"अच्छी बात है तुम मेरे वेग को धारण करने के निमित्त शङ्कर जी को प्रसन्न कर लो। वे स्वीकार कर लेंगे तो मैं आऊँगी।" ऐसा कह कर गङ्गा जी तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गई।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! गंगा जी के अन्तर्धान हो जाने पर महाराज ने भूमि में मस्तक टेक कर उस दिशा को नमस्कार किया, जिधर जगज्जननी अन्तर्हित हुई थीं। तदनन्तर वे श्री शङ्कर जी को प्रसन्न करनेके निमित्त घोर तप करने लगे।"

छप्पय

करत करत तप भूप दिलीपहु स्वर्ग सिधारे।
तिनके सुत नृप भये भगीरथ सबके प्यारे॥
पिता पितामह मरे नहीं श्रीगंगा आईं।
पितर मरे यम सदन दुःख तें ते बतलाईं॥
भूप भगीरथ राज जतीं गङ्गाजी लेवे गये।
अबके जननी तुष्ट ह्वै, नरपति कूँ दरशन दये॥

गंगावतरण

(६४२)

यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि ।
सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः ॥
भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्याताः सगरात्मजाः ।
किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ९ अ० १२,१३ श्लोक)

छप्पय

गंगा बोली वेग बड़ो रोकै को मेरो ।
औरहु चिन्ता एक करूँ हौं कारज तेरो ॥
हौं सब के अघ हरूँ हरै मेरे को अघनर ।
कहै नृपति तब वेग सहेंगे शिव हर शङ्कर ॥
अघहारी हियमें बसहिं, साधु पाप काटैं सबहिं ।
ह्वै प्रसन्न अवतरण हित, गङ्गाजी गमनी तबहिं ॥

एक कहावत है, "गङ्गाजी आने वाली थीं भगीरथ के सिर

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन गंगाजी के जल का ब्रह्म दंड से आहत हुए सगर पुत्रों के शरीर की भस्म से ही स्पर्श होने मात्र से वे सबके सब स्वर्ग चले गये । जब वे सगर के पुत्र भस्मीभूत शरीर के स्वर्ग होने से ही सीधे स्वर्ग सिधार गये, तो फिर जो व्रत को धारण करने वाले श्रद्धा पूर्वक नित्य ही श्री गंगाजी का सेवन करते हैं तो फिर उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ।"

पड़ी।" इसका सारांश यह है, कि सब कार्य समय आने पर ही होते हैं। सबका काल निश्चित है। काल भगवान् का एक रूप है। प्रयत्न कोई भी कभी भी किसी का भी व्यर्थ नहीं जाता, किन्तु उसका परिणाम अवसर पर ही प्रगट होता है। आप चाहें अमावस्या के दिन पूर्ण चन्द्र उदित हो जाय तो नहीं हो सकता। किन्तु अमावस्या के अन्धकार में पूर्णिमा का प्रकाश निहित है, अमावस्या है, तो एक दिन पूर्णिमा भी आवेगी। आप चाहें कि नित्य पानी देते रहें और आम में शीघ्र फल आ जायें, तो यह असम्भव है। कितना भी पानी दें फल समय से ही आवेंगे। पानी देना व्यर्थ नही, पानी का फल होगा, सुन्दर फल लगेंगे, अच्छे लगेंगे। किन्तु लगेंगे, समय से ही। एक बड़ा भारी पत्थर है, कुछ आदमी उसे तोड़ना चाहते हैं बार-बार घन मारते हैं, वह टूटता नहीं। दिन भर उन्होंने परिश्रम किया, पत्थर नही टूटा। दूसरे दिन दूसरे तोड़ने वाले आये ज्योंहीं उन्होंने एक घन मारा फट से पाषाण फट गया. टूट गया। तो क्या कल जिन्होंने दिन भर श्रम किया था, वह व्यर्थ हो गया ? नहीं, सो बात नहीं है। उनका श्रम व्यर्थ नही गया। उनकी चोटों ने उसे जर्जरित बना दिया वह निर्बल निःसत्व हो गया, किन्तु उस दिन उसके टूटने का काल नही था, उन्हें तोड़ने का श्रेय प्राप्त होना नहीं था। वह तो दूसरे के ही भाग्य में था। इसीलिए दूसरे दिन वह टूट गया। एक आदमी सतत प्रयत्न करते हैं, उनको कोई जानता नही उनका नाम नहीं होता। दूसरा उसमें हाथ लगाता है, सर्वत्र उसका नाम होता है। कोयलों की खान के नीचे एक नीलम नाम का बहुमूल्य पाषाण निकलता है,जिस कोयलो की खान वालों को वह मिल जाता है, वे मालामाल हो जाते हैं। विशेषज्ञों ने भूगर्भ विद्या के अनुसार

बताया इस भूमि में नीलम है। एक व्यापारी ने उसको ले लिया। बहुत वर्षों तक कोयले निकलवाता रहा, नीलम नहीं निकला। तब उसने निराश होकर एक दूसरे आदमी के हाथ खान को विक्रय कर दिया। खान पर अधिकार प्राप्त करके दूसरे दिन ज्योंही उसने कार्य आरम्भ किया, कि नीलम के बहुत बड़े बड़े पाषाण मिल गये। वह अरबपति हो गया। पहिले पुरुष ने जो प्रयत्न किया वह व्यर्थ हो गया नहीं, किन्तु फल को वह न भोग सका। यश उसे प्राप्त न हो सका। इसी प्रकार अंशुमान् दिलीपने जो तपस्याकी उससे गङ्गाजीका हृदयतो द्रवित हुआ ही, किन्तु यश भगीरथ के हाथ लगा। इसीलिये भगवती सुरसरि भागीरथी कहलाईं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब गङ्गाजी वरदान देकर अन्तर्हित हो गईं, तब महाराज भगीरथको भगवान् भूतनाथ को प्रसन्न करने की चिन्ता हुई। अब वे सब कुछ छोड़ कर सतीपति सदाशिव शङ्करके ध्यान में निमग्न हो गये। शङ्कर तो आशुतोष ही ठहरे। अल्पकाल में ही वे प्रसन्न हो गये। आक धतूरा चढ़ा कर जहाँ चुल्लू भर जल उनकी पिंडी पर डाल दिया और गाल बजा दिये, कि भोले बाबा सन्तुष्ट हो गये। राजा की सच्ची लगन और दृढ़ प्रतिज्ञा को देखकर पशुपति भगवान् त्रिपुरारी महाराज के सम्मुख प्रकट हुए और बोले—"मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ?"

हाथ जोड़े हुए विनीत भावसे भूमिमें लोटकर प्रणाम करने के अनन्तर गद्गद् वाणी में महाराज भगीरथ बोले—"हे विश्वनाथ! हे आशुतोष! मेरे पितर ब्रह्मदण्ड से आहत हुए यम यातनायें भोग रहे हैं, उनके उद्धार के लिये भगवती सुरसरि से

अवनि पर अवतरित होने का वचन दिया है, कृपा करके आप उनके प्रबल वेग को धारण करें, यही मेरी आपके पुनीत पादपद्मों में विनीत प्रार्थना है।"

शिवजी ने कहा—"अच्छी बात है, गङ्गाजी से कह दो, वे चाहे जितने वेग से आवे मैं उन्हें अपनी जटाओं में धारण करूँगा।" मैं कैलाश के शिखर पर आसन लगाकर बैठता हूँ, गङ्गा आवें। यह सुनकर महाराज के हर्षका ठिकाना नही रहा। उन्होंने भगवती सुरसरि की प्रार्थना की।

माता तो चञ्चला चपला बालिका ही ठहरी उन्हें एक विनोद सूझा। वे सोचने लगी—"ये शङ्कर भोलेनाथ आक धतूरा खाकर सदा कैलाश की बरफ में ही लेट लगाते रहते हैं। जबसे इन्होंने विषपान किया है, तबसे इन्हें शीत स्थान, जल स्नान अत्यधिक प्रिय हो गया है। क्यों नही मैं अपने प्रबल वेग के सहित इन्हें और इनके प्रिय कैलाश पर्वत को साथ लिए हुए पाताल में घुस जाऊँ।" गङ्गाजीका शिवजी से ऐसा ही सम्बन्ध है जिसमें हँसी विनोद का पूर्ण अवसर है, बहिन के पति ही ठहरे। यह सोचकर भगवती अपने अत्यन्त प्रभावशाली तेज से हर-हर करती हुई स्वर्ग से अवतरित हुईं। उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर उस दृश्य को देखने के लिए अपने विमानों में बैठकर कैलाश के ऊपर उड़ रहे थे। कल कल निनादिनी पतित पावनी, भवभय हारिणी भगवती अपने अञ्चल को वायु में उड़ाती, अनन्त जल राशि के रूप में शिवजी की जटाओं के ऊपर आकर गिरी। शिवजी को ऐसा लगा मानों कोई नन्हें-नन्हें जल कणों से उनका अभिसिंचन करने लगा है। आज उन्होंने भङ्ग कुछ अधिक चढ़ाली थी। गणों ने भङ्ग में धतूरे और ताँबे की मात्रा अधिक कर दी थी। जब शीतल

गंगाजी के जल कण पड़े, तो उन्हें झपकियाँ आने लगीं। गंगा

जी बहुत गरजीं तरजीं, बहुत बिलबिलाईं छटपटाईं, बहुत

अपना वेग दिखाया, सम्पूर्ण बल पराक्रम लगाया, किन्तु उन्होंने जटाजूट धारी की जटाओं का पार नहीं पाया। वे उन्हीं में उलझ गईं, भटक गईं, मार्ग भूल गईं। अब तो वे बन्धन में पड़ गईं। शिवजी नेत्र बन्द किये ध्यान मग्न थे, गङ्गाजल का एक बिन्दु भी गिरि के ऊपर न गिरा। पत्नी की भगिनीके साथ भूतनाथ ने विचित्र विनोद कर दिया।

महाराज भगीरथ घबराये। इन दोनोंका तो विनोद हुआ मेरा मरण हो गया। जैसे तैसे तो गङ्गाजी को प्रसन्न किया, आकर भी शिवजटाओं में विलीन हो गईं। फिर उन्होंने शिवजी की स्तुति आरम्भ की। शिवजी ने नेत्र खोले और बोले—"राजन् मैंने गङ्गाजी को धारण कर तो लिया अब तुम मुझसे क्या चाहते हो, अब तुम मेरी विनय क्यो कर रहे हो ?"

विवशताके साथ राजा बोले—"अजी,महाराज धारण करने का अर्थ यह तो है ही नहीं कि आप उन्हें अपनी जटाओं में ही छिपाये रखें। मैंने तो अपने पितरों के उद्धार के लिए प्रार्थना की थी। जब आपको जटाओं में ही रखनी थी, तो मेरे जाने जैसी-ही ब्रह्मकमण्डलु में वैसी ही आपकी जटाओं में कृपा करके इन्हें अवनि पर आने दीजिए। समुद्र तक जाने दीजिये। मेरे पितरों की भस्म को बहाने दीजिये। तब मेरा श्रम सार्थक होगा।"

शिवजी बोले—" अजी राजन् ! मुझे तो कुछ निद्रा सी आगई थी। अच्छी बात है लो मैं तुमको गङ्गाजी देता हूँ। देखो, विष की उष्णता से मुझे गरमी कुछ अधिक कष्ट कर प्रतीत होती है, अतः सम्पूर्ण गङ्गा को तो मैं छोड़ूँगा नहीं। तुम्हारे काम भर के लिये एक धारा दिये देता हूँ।" यह कहकर शिवजी ने अपनी एक जटा से उनका प्रवाह पर्वत पर गिराया।

गिरते ही गङ्गा बोलीं—राजन् ! किधर चलना होगा, तुम मुझे मार्ग दिखाओ। अपने पितरों के समीप पहुँचने का पथ बताओ।"

भगीरथ बोले—"देवि ! मैं अपने दिव्य रथ पर चढ़कर आगे-आगे चलता हूं आप मेरे पीछे पीछे आवें।"

गङ्गाजी हँस पड़ीं बच्ची ही तो ठहरीं। बोलीं—"अच्छी बात है, आज से तुम मेरे पिता हुए। जैसे पिता के पीछे पीछे बच्ची दौड़ती हैं, वैसे ही मैं तुम्हारे रथ के पीछे दौड़ूंगी। आज से मैं संसार में भागीरथी के नाम से विख्यात होऊंगी।"

यह सुनकर महाराज भगीरथ अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे रथ पर चढ़कर आगे-आगे चल दिये। उनके पीछे, पर्वतों को तोड़ती फोड़ती, लताओं को मरोड़ती वृक्षों को उखाड़ती, पाषाणों से टकराती, गिरि खण्डों को सहाती हुई भागीरथी बहने लगीं, वेग से चलने लगीं, उनके पीछे कच्छ, मत्स्य, नक्र, सर्प, उरग, भेषज आदि आदि जलजन्तु भी माता की जय-जयकार करते हुए चलने लगे। नीचे पर्वतों पर जलजन्तु चल रहे थे, ऊपर आकाश में देव उपदेव विमानों पर साथ-साथ उड़ रहे थे। गन्धर्व गा रहे थे, अप्सरायें नूपुरों की ध्वनि की ताल में ताल मिलाकर नृत्य करती जाती थीं। देवता पुष्प बरसाते जाते थे, वे पुष्प भागीरथी के पावन पय में हिल हिलकर मिल मिलकर ठुमुक-ठुमुक कर नाच रहे थे, हाव भाव दिखा रहे थे, पाषाण खण्डों को कण्ठसे लगा रहे थे और साथ ही माँ के पास दौड़ रहे थे।

उस समय अनेक शब्द एक ताल लयमें मिलकर एक नूतन सङ्गीत की सृष्टि कर रहे थे। आकाशस्थित देवों के जय जय-

कार सुर वधूटियों की कङ्कण किंकिणि और नूपुर चूड़ियों के झंकार, गायन की सुरीली सरल ताल, वाद्यों की सङ्गीतमय ध्वनि गङ्गाजी का कलरव शब्द, पाषाणों की चपेटों की चट्ट पट्ट आकाश में उड़ते हुए पक्षियों का कलरव तथा भगीरथ के रथका गंभीर जल भरे मेघों के समान गंभीर घरघराहट ये शब्द एक ही लय में साथ ही हो रहे थे। जैसे मृदङ्ग, वीणा, पणव, मञ्जीरा आदि विविध वाद्य विविध भाँति के शब्द करने पर भी एक ताल में एक स्वर में बजते हैं। इस विश्वमय अलौकिक सङ्गीत की सुरीली सुखमयी ध्वनि से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मांड भर गया। चराचर प्राणी गङ्गा के अवतरण से प्रमुदित हुए।

महाराज भगीरथ का रथ ऐसा दिव्य अलौकिक था कि वह जल में थल में सममें विषम में नभ में तथा गिरिशिखरों पर समान रूप से चल सकता था, उसके पीछे हर-हर मन्त्र का अविच्छिन्न अखण्ड कीर्तन करती हुई, भगवती भागीरथी चल रही थीं। जैसा कि चञ्चला बालिकाओं का सहज स्वर होता है उसी स्वभावानुसार वे टेढ़ी मेढ़ी चल रही थीं। कभी किसी गिरि शिखर से टकरा जाती, तो तुरन्त वहाँ से लौटकर टेढी चलने लगतीं, कभी किसी ऊँची चट्टान से एक साथ ही कूद पड़ती, कभी मुड़ जाती, कभी बढ़ जाती, कहीं सिकुड़ जाती, कहीं फैल जातीं, कहीं दो पहाड़ों के बीच में पिच जाती और फिर शनैः शनैः करवट के बल चलकर उसे पार करती। कहीं शीघ्रता से दौड़ने लगती, कहीं थक कर गम्भीर हो जातीं। कहीं उछल जातीं, कहीं पाषाण खण्डों से क्रीड़ा ही करने लगतीं। कहीं किसी पहाड़ के नीचे ही नीचे बहने लगतीं, कहीं ऊपर बरफ है नीचे से सर्र से निकल जाती, कहीं गोल गोल रंग बिरंगे पाषाण खण्डों के साथ खिलवाड़ ही करने लगतीं। उन्हें एक दूसरे से

टकराकर बजातीं कहीं किसी को तोड़कर ऊपर उछालतीं, कहीं नीचे से किसी ऊपर के हिम उपलों पर पानी उलीचतीं, कहीं किसी सरिता से गले मिलतीं। कहीं किसी को साथ-साथ लेकर दौड़तीं कहीं किसी से सन्धि करतीं, कहीं विग्रहसा भाव भी प्रकट करतीं। कहीं किसी प्रपात का आतिथ्य स्वीकार करतीं, कहीं किसी निर्झरिणी का सुखद सङ्गीत सुनातीं। कहीं किसी लताको हिलातीं, कहीं किसी वृक्ष की डाली को डुबातीं, कहीं किसी वनस्पति को जीवन दान देतीं।

इस प्रकार नाना क्रीड़ा करती हुई गङ्गाजी रथके पीछे पीछे स्वेच्छा से अठखेलियां करती हुई स्वच्छन्द मालिका के समान फुदकती हुई चल रही थीं। अनेकानेक वन पर्वत और गिरि शिखरों को अपने संसर्ग से पावन बनाती हुई माता वहाँ आईं जहाँ पर्वतों का अन्त है। जहाँ तक की भूमि में महाराज पृथु ने इधर उधर के सब पर्वतों को उठा-उठाकर एकत्रित किया है। उन पार्वतीय प्रदेशों को पार करके पृथिवी के उस प्रान्त की ओर बढ़ी जहाँ की भूमि समतल है। जहाँ ऊबड़ खाबड़ धरा नहीं है। जहाँ से पर्वतों को फोड़कर भूमि पर जाने का द्वार किया उसे गङ्गाद्वार या हरिद्वार कहते हैं। उस कुशावर्त प्रान्त से चल कर परम पावन महर्षियों द्वारा सेवित ब्रह्मावर्त प्रदेश में माता भगवती ने पदार्पण किया। वहाँ जाकर वे भागीरथी से जाह्नवी हो गईं। वे राजर्षि जन्हु की दुहिता कहाईं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजर्षि जन्हु कौन थे? गङ्गाजी उनकी पुत्री क्यों कहाईं? कृपा करके इस कथा को सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! जिस प्रकार भागवती

भागीरथी का नाम जाह्नवी पड़ा, उस कथा को मैं आपको सुनाता हूँ। आप इस परम पावन पुण्य प्रदायिनी कथा को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

गरजत तरजत चली वेगतें गङ्गा माता।
गिरीं जहाँ गिरिजेश विराजें भवभय त्राता॥
सोचें शिवकूं सङ्ग लिये पाताल पधारूँ।
जोजाजी की जटनि माहिं जलधारा डारूँ॥
भोले बाबा भङ्ग की, बैठे सहज तरङ्ग महँ।
जटनि माहिं गङ्गा गिरीं, परी भङ्ग तिन रङ्ग महँ॥

जाह्नवी भागीरथी

(६४३)

भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः ।
तस्य जह्नुः सुतो गंगां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत् ॥

(श्री भा०, ९ स्कं० १५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

इतउत सुरसरि फिरहिं जटनिमहँ मग नहिं पावैं ।
भूप भगीरथ निरख खेल अतिशय घबरावैं ॥
शिव सन विनती करी जटनि तें छोड़ी गङ्गा ।
ह्वै के चंवल चली अवनिपै तरल तरंगा ॥
हिम, गिरि नग, तोरति ब्रह्हि, सुरमुनि मिलि जयजय करहिं ।
रथ पीछे पीछे फिरहिं, चलत दरश तें अघ हरहिं ॥

चंचलता में कभी कभी क्रोध उत्पन्न हो आता है । हँसी में खँसी हो जाती है । किन्तु बालकों मे चंचलता स्वाभाविक है । इसीलिये वे परस्पर में खेलते-खेलते लड़ पड़ते हैं, रोने लगते

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् चन्द्रवंश मे महाराज भीम हुए उनके पुत्र विजय हुए । विजय के काञ्चन और काञ्चन के होत्र इनके होत्र पुत्र जह्नु थे । गंगाजी को चुल्लू में भरकर पी गये ।"

हैं, युद्ध हो जाता है। क्षण भर में सब भूल जाते हैं, एक हो जाते हैं। कुट्टी हुई मित्रता पुनः मिल्ली के रूप में परिणित हो जाती है। इसीलिये क्रीड़ा में सभी संभव है। जैसे प्रेम क्रीड़ा का अंग है वैसे ही क्रोध कलह, मान भी उसका अङ्ग है। मान के विना प्रेम में स्वाद नहीं। कलह के विना क्रीड़ा में नूतनता नहीं। भगवान् नाना रूप रखकर इस जगत् नाट्यस्थली में क्रीड़ा कर रहे है। गङ्गा भी उन्हीं का द्रव रूप है, विष्णु,शिव,विरंचि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवता, पितर सभी उनके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। क्रीड़ा में शंका के लिये स्थान नही ऐसा क्यों हुआ ? क्रीड़ामे क्यों के लिये स्थान ही नहीं।

सूतजी कहते हैं–"मुनियो! आपने मुझसे गंगाजी के जाह्नवी नाम पड़ने का कारण पूछा था, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। भगवती भागीरथी चलते समय बड़ी इठला रही थीं, वे बड़ी उत्सुकता प्रकट कर रही थीं। अब वे निरी बालिका ही नहीं रही थीं। हिमालय की गोद से उतर कर वे सयानी हो गई थीं। छोटी से बड़ी हो गई थीं। चंचलता तो कुछ कम हो गई थी। वे ज्यों ज्यों बढती जाती थीं, त्यों त्यों गम्भीर होती जाती थी। अब उछलकर चलना उन्होंने छोड़ दिया। अब वे किलकारी भी नहीं मारती थीं, अब तो चुपचाप शांति के साथ गंभीर भाव से चल रही थी। अब वे पहाड़ों में जैसी रेख की भाँति पतली थीं, वैसी नहीं रहीं। अब उनका पाट बढ़ गया था। अब वे पाषाण खण्डों से खिलवाड़ भी नहीं करती थी। अब वे अंचल से अपने सिर को ढककर चलती थीं। वे ज्यों-ज्यों पतिगृह के समीप पहुँचतीं त्यों-त्यों शान्त और गम्भीर होती जाती थीं, यद्यपि बाल्यकाल की चंचलता उनमें नहीं रही, फिर भी यौवन का अल्हड़पन और दूसरों को बनाने खिजाने और हँसने

प्रवृत्ति तो उनकी थी ही। लड़के-लड़कियों को बुड्ढों को खिजाने में उनके कार्यों में विघ्न डालने में बड़ा आनन्द आता है। न जाने क्यों बूढ़ो की गालियां अच्छी लगती हैं।

ब्रह्मावर्त में चलते चलते गङ्गा ने देखा चन्द्रवंशी महाराज होत्र के पुत्र राजर्षि जन्हु गंगा तट पर एक बड़ा भारी यज्ञ कर रहे थे। गंगाजी को एक विनोद सूझा। उन्होंने अपना वेग तीक्ष्ण कर दिया, वे फैल गईं, जिससे राजर्षि जन्हु के यज्ञ की समस्त सामग्री जल में बह गई उनके यज्ञ में बड़ा भारी विघ्न हुआ। इससे उन्हें गंगा के ऊपर बड़ा क्रोध आया। वे सोचने लगे—"अब यह निरी लड़की तो रही नहीं। सयानी हो गई है, फिर भी मुझसे खिलवाड़ करती है,मुझे चिढ़ाती है। भला,बताइये मैंने इसका क्या बिगाड़ा था, अकारण इसने मेरे यज्ञ को नष्ट कर दिया। अच्छी बात है इसे भी मैं अपने तप का बल दिखाऊँगा।" यह सोचकर मुनि ने गङ्गा के जल को स्तब्ध कर दिया। फिर उस समस्त जल को एक चुल्लू में ही पान कर गये। अब तो गङ्गाजी में एक बूँद भी जल नहीं रहा।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! हमें तो यह गप्प सी लगती है। आप ही सोचिये इतने अधिक जल को एक चुल्लू में एक मनुष्य कैसे पी जायगा।"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले–"महाराज ! इसमें कौन सी बात है। कार्य कारण में विलीन हो ही जाता है। कितनी भी बरफ क्यों न हो उसे पानीमें डालिये पानी ही हो जायगी।कितना बड़ा वट वृक्ष है अग्नि मे जला दीजिये एक मुट्ठी राख हो जायगी। हजार मन कपूर जला दीजिये राख भी न होगी। वह अदृश्य हो जायगा। जल की उत्पत्ति अग्नि से है, मुनि ने अपने योग

बल से अग्नि तत्व को प्रदीप्त कर दिया; सब जल कारण में विलीन हो गया। आदि प्रवाह को रोक दिया। यह तो कोई बहुत दिन पहिले की सत्ययुग की बात है। अभी कलियुग में कुछ ही वर्ष पूर्व एक विचित्र घटना घटित हो गई। एक योगीने योग का विचित्र चमत्कार दिखाया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमें भी तो सुनाइये क्या चमत्कार दिखाया।"

सूतजी बोले—"भगवन्! ग्वालियर नामक प्रयाग से दक्षिण में एक छोटा सा राज्य है। वहाँ महाराष्ट्र देश के राजा राज्य करते हैं। एक दिन एक योगी आये, वे अपनी मस्ती में नंगे ही राजमहल के भीतर जा रहे थे। प्रहरी ने उन्हे रोक दिया। वे रुक गये और एक वाटिका के चबूतरे पर खड़े होकर लघुशंका करने लगे। फिर क्या था उनका जो लघुशंका का प्रवाह आरम्भ हुआ, वह रुका ही नहीं। सम्पूर्ण बगीची भर गया। किलेके चारों ओर की खाई भर गई। राजमहल और नगर भी डूबने लगा रात्रि भर में प्रलय सी आ गई। लोगों ने दौड़ कर महाराज से निवेदन किया। महाराज दौड़े-दौड़े आये महात्मा के पैरों पड़े तब कही जाकर उनका प्रवाह रुका। उसी दिन से महाराज उन्हे बहुत मानने लगे। नित्य उनके लिए सुवर्णके थाल में भोजन जाता और वे खा कर थाल को फेंक देते। सारांश कहने का इतना ही है कि जिन्होंने इस प्रकृति के तत्व को समझ लिया है, उनके लिए जल का सोख लेना अग्नि को शीतल कर देना आदि भाँति-भाँति के व्यापार साधारण कार्य हैं। जो प्राकृतिक पदार्थों से ऊपर उठ गये है, उनके लिये गगाजी के प्रवाहको रोक देना कौनसी बड़ी बात है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"हां, तो सूतजी ! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"फिर महाराज हुआ क्या गङ्गाजी के सोख लेने से भागीरथीजी के तो छक्के छूट गये। वे सोचने लगे—"गंगाजी के लाने में तो मेरे ऊपर एक से एक विघ्न आते है अब क्या करूं।"

गंगाजी का प्रवाह रुकने से वे रथ से उतर गये और बड़ी नम्रता से राजर्षि जह्नु की प्रार्थना करने लगे। भागीरथ की विनय से महाराज जह्नु प्रसन्न हुए और बोले—"राजन् ! आप क्या चाहते हैं, मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ।"

महाराज भागीरथ बोले—"भगवान् ! मुझे अपने पितरों के उद्धार के निमित्त गंगाजी को ले जाना है, कृपा करके आप गङ्गाजी को छोड़ दें।"

यह सुन कर राजर्षि जह्नु बोले—"राजन् ! गङ्गा तो मेरे पेट में पहुँच गई। अस्तु आप कह रहे हैं, तो मैं इन्हें निकाले देता हूँ, यह कह कर राजर्षि ने अपने कान के छिद्र से गङ्गाजी को निकाल दिया। महाराज जह्नु के शरीरसे निकल कर गङ्गा ने कहा—"पिताजी ! आपने मुझे अपने तन से उत्पन्न किया है, अतः आजसे जगत में मैं आपकी तनया कहलाऊँगी। लोग मुझे जाह्नवी या जह्नु सुता कहा करेंगे। आज से आप मेरे पिता हुए।

राजर्षि बोले—"अच्छी बात है, यह मेरा सौभाग्य है कि समस्त विश्वब्रह्मांडको तारने वाली तुम मेरी पुत्री कहलाओगी। अपने वीर्य से न उत्पन्न होने पर भी जो धर्म की सन्तान परोप-

पकार में निरत रहती है, वही पितरो को तारने में समर्थ हो सकती है। वही सच्ची संतान है। तुम्हारे जल के स्पर्श से पापी भी तर जायँगे। ऐसी तरनतारिनी तुम मेरी तनया कहलाओगी, यह मेरे लिये सबसे बढ़कर गौरव की बात है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार गङ्गा महाराज जह्नु को अपना पिता मानकर उनकी परिक्रमा करके आगे बढ़ीं। महाराज जह्नु ने भी उनका सिर सूँघा और आशीर्वाद दिया—"तुम संसार में विश्ववन्दिता कहलाओगी।" इस प्रकार पिता जह्नु से आशीर्वाद पाकर भगवती जाह्नवी आगे बढ़ी।

छप्पय

उतरि हिमालय अंक अवनि पै नीचे आई।
सामग्री मुनि जह्नु यज्ञ की सबहिं बहाई॥
लखि अविनय मुनि कर्यों कोप गंगा पी लीन्हीं।
भूप भागीरथ विनय बहुत विधि मुनि की कीन्हीं॥
छोड़ी गंगा कान तें, तनया तिनकी ह्वै गईं।
तबई तें भागीरथी, ख्यात जाह्नवी जग भईं॥

गंगाजी से भगीरथके पितरोंका उद्धार

(६३९)

रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती ।
देशान् पुनन्ती निर्दग्धानाषिंचत्सगरात्मजान् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० ११ श्लो)

छप्पय

अवनि उतरि अब बढ़ी रही नहिं गंगा छोटी ।
चंचलता छुटि गई भई अब कृशतै मोटी ॥
संग भगीरथ लिये कपिल निज आश्रम आये ।
गंगा जल कूँ परसि पितर सब स्वर्ग सिधाये ॥
भस्म भूत माँ पय परसि, सगर सुतनि छूटी व्यथा ।
तट निवसैं नित पय पिये तिन सुकृतिनि की का कथा ॥

हम सब बातों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते । विश्वास पर श्रद्धापर ही संसारका कार्य अवलम्बित है । रोगी पग-पग पर यहाँ तक कि पहिले औषधि के गुणों को मुझे प्रत्यक्ष कर

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज भागीरथ वायुके समान वेग वाले अपने रथपर चढे हुए थे । गंगाजी उनका अनुगमनकर रही थी, इस प्रकार अनेक देशो को पावन बनायी हुई उन्होंने उस प्रदेश का सिंचन किया जहाँ दग्ध हुए सगर सुतोकी भस्मकी ढेरियां पड़ी हुई थी ।"

के दिखा दो तब मै सेवन करूँगा। तब तो सम्भव है उसका रोग कभी जाय ही नही। रोग जाने के लिये उसे चिकित्सक पर विश्वास करना पड़ेगा। वह जो औषधि दे उसे श्रद्धापूर्वक खाना होगा जैसा पथ्य सेवन को कहे उसे विश्वास पूर्वक सेवन करना होगा। पुत्र माता से आग्रह करे कि पहिले मुझे इस बात को प्रत्यक्ष करा दो कि यही मेरे पिता हैं, तो माँ कैसे प्रत्यक्ष करा सकती है। मैं ही माँ हूँ इसे भी वह तर्क से स्वय कैसे सिद्ध कर सकती है। पुत्र को माता-पिता और गुरुजनों के वचनों पर विश्वास ही करना होगा। जिसे माँ कहने को कहे वह माँ है जिनके माँ पिता कहलावे वे पिता हैं। गुरु अक्षरारंभ करता है। आरम्भ ही बताया है। यह "आ है, यह "इ" है यह 'उ" है। अब लड़का यह तर्क करे कि यही "आ" क्यों है। यह "उ" क्यों नही? तो गुरु इसे तर्क से कैसे सिद्ध कर सकता है। उस पर एक ही उत्तर है। मैं गुरु परम्परा से यही बात सुनता आया हूँ, कि इसे "आ" कहते हैं। उन आप्त पुरुषों के वचनों पर मुझे विश्वास है तुम्हें भी मेरी बात पर विश्वास करना चाहिये। मैं जिस अक्षर का जो नाम बताऊँगा तुम्हें उसे ही विश्वासपूर्वक मान लेना चाहिये। ऐसे एक नही अनेकों उदाहरण हैं, कि हम बड़े लोगों के विश्वासनीय आप्त पुरुषों के वचनो पर ही विश्वास करके संसार यात्रा मे अग्रसर हो सकते है। यदि पग-पग पर हम तर्क का ही अवलम्ब लेते रहे, तब तो हम एक पग भी नही बढ़ सकते। जो कहते है—"जैसे अन्य जल वैसे ही गङ्गाजल, गङ्गाजल में क्या रखा है। उसके दरस परस और पान से पाप कैसे कट सकते हैं, उसमे भस्म अस्थि डालने से मृतक व्यक्ति का उद्धार कैसे हो सकता है? "तो इस विषय मैं यही कहेंगे, कि हमारे

सभी शास्त्रकारों ने यही कहा है, कि गङ्गा का जल साधारण जल नही गङ्गा अन्य साधारण सरिताओं के समान नही हैं। वह स्वर्ग की नसैनी हैं पाप काटने की छैनी हैं उसमें ज्ञान से अज्ञान से श्रद्धा से अश्रद्धा से कैसे भी कोई स्नान करेगा, उसका उद्धार होगा। इसी बात को वेद पुराण अनादि काल से चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं और अब शास्त्रो को सत्य मानने वाले, उन पर विश्वास रखने वाले इन बातों पर विश्वास करते है। इन वचनों की प्रामाणकिता के लिये हमे तर्क का सहारा नही लेना पड़ता जो स्वतः सिद्ध है, उसमें तर्क की क्या आवश्यकता ?"

श्री शुकदेव जी कहते—"राजन् ! भगवती जाह्नवी अब आगे के देशों को अपने पुण्य पय से पवित्र बनाती हुई आगे बढीं। उनका वेग विशाल था वे टीलों से टकराती विषम भूमि को सम बनातीं, अलकनन्द को अपने मे मिलाती, प्राणियो के हृदयो को हुलसाती गोविन्द के गुनगाती, प्रयाग में पहुँचीं उनकी बड़ी बहिन यमुना रानी वहाँ युग युगान्तरों से बह रही थीं। उन्होने जब भागीरथी को अपने यहाँ अतिथि रूप में देखा तो वे अर्घ्य लेकर आगे बढ़ी। यमुना का अर्घ्य देखकर गङ्गा पीछे हट गईं। भगीरथ का माथा ठनका कहीं यहाँ तो गड़बड़ नही होने वाली है। यमुना ने अपना सम्पूर्ण स्नेह बटोर कर मधु से भी मीठी वाणी मे दुलार के साथ पुचकारते हुए कहा—"गंगा ! मुझ से कौन अपराध बन गया है, बहिन बहुत दिनों मे तो तुम मेरे घर आई हो। फिर तुम मेरे प्यार के प्रतीक इस अर्घ्य को स्वीकार क्यों नहीं करती ? तुम रूठ क्यों गई हो, मुझ से मिलने में सकुचाती क्यों हो। आओ, मेरे हृदय से

चिपट जाओ। दोनों बहिन हृदय से हृदय सटाकर मिल लें। भर पेट प्रेम के अश्रु बहालें।"

गंगा ने विवशता के स्वर में कहा--"बहिन! देखो,मैं तुमसे डरती हूँ, तुम समस्त सरिताओं में सर्व श्रेष्ठ हो, तुम समुद्रगा सहित हो, तुमने पति के साथ संगम किया है, मैंने अभी अपने पति समुद्र के दर्शन तक नहीं किये। जहाँ मैं तुम से छाती से छाती सटाकर मिली, तहाँ मेरा अस्तित्व ही विलीन हो जायगा। मुझे फिर कौन पूछेगा। आगे तो तुम्हारा ही नाम होगा। इसलिये मैं तुम से डरती हूँ। मिलने में हिचकती हूँ,दूर से ही राम-राम करके मैं अपना मार्ग पकड़ती हूँ। तुम उधर जाओ मैं इधर से मुड़कर जाती हूँ।"

यह सुनकर यमुना उसी प्रकार हँस पड़ी जैसे बड़ी बहन छोटी बहिन की तोतली वाणी सुनकर हँस पड़ती है। यमुना बोली—"अरे, गंगे! तू इतनी बड़ी होगई, फिर भी तेरा भोलापन नहीं गया। भला यह कैसे हो सकता है, बहिन बहिन से मिले और दूर से ही नमस्कार करके चली जाय जब तक हृदय से हृदय नहीं सटता वह मिलन नहीं विडम्बना है। जब तक दो अंग एकीभूत नहीं होते, तब तक सरसता की धारा कैसे बह सकती है। पगली कहीं की। नाम की क्या बात है। बड़े तो हृदय से चाहा ही करते है छोटों का नाम हो। छोटे जब बड़े हो जाते हैं, तो बड़े लोग अवकाश ग्रहण करके अपने कार्य क्षेत्र से हट जाते हैं। तू सर्व समर्थ है, महान् शक्ति शालिनी है। आ मेरे हृदय से लगजा। तुझे मैं अपने में नहीं मिलाऊँगी, मैं ही तुझ मे मिल जाऊँगी। अब आगे मेरा नाम न होकर तेरा ही नाम रहेगा।"

गङ्गा निरुत्तर हो गई। दौड़कर वह यमुना के हृदयसे चिपक गई। यमुना ने प्यार से गंगा का मुँह चूमा उसके बालों को अपनी उँगलियों से सुलझाते हुए अपनी नीली साड़ी में उसे छुपाते हुए बोली--"देख अब मुझ से अलग न होना। अनन्तकाल तक हमारा संगम ऐसा ही होता रहे। ये विघटन वाले वज्र हृदय पुरुष देखें, कि सच्चा संगम ऐसा होता है। तू अपनी धूमिल साड़ी में मेरी नीली साड़ी को सटा दे। आगे तेरा ही नाम होगा, किन्तु यह संगम सनातन होगा। आज से प्रयाग का नाम गंगा यमुना का संगम होगा। नीचे से उछल कर सरस्वती बोली—"क्यों बहिनो! मुझे भूल ही गईं क्या?"

अत्यन्त प्यार दुलार से यमुना बोली—"ओ, अरे बहिन! भला तुझे भूल कैसे सकते हैं। तू तो हम सब से बड़ी है। हम तीनों मिलकर त्रिवेणी कहावेंगी। इस तीर्थराज प्रयाग का नाम 'संगम' त्रिवेणी सभी होगा। तू छिपी ही रह। देवता परोक्ष प्रिय होते हैं। वाणी छिपी ही रहती है। वाणी का कोई आकार नहीं। उसके नाम से ही विश्व के व्यापार चल रहे हैं।

गंगा ने बड़ी बहिन को ठेलते हुए कहा—"बहिन! अकेले तो मुझे उनके समीप जाने में बड़ी लज्जा लगती है, तुम भी मेरे साथ साथ चलो।"

यमुना ने बड़प्पन से स्नेह पूर्वक पुचकारते हुए कहा—"अरे गंगे! तू बड़ी पगली है। तू इतनी सयानी हो गई, फिर भी तुझे इतनी लज्जा आती है। अपने प्राणनाथ से किस बात की लज्जा संगम सुख हो तो सर्वश्रेष्ठ सुख है। जैसे तू मुझ से लिपटकर मिली है वैसे ही प्राणनाथ से मिलना।

गङ्गा ने आग्रह पूर्वक कहा—"देखो बहिन! प्रथम मिलने में सङ्कोच होता है, कोई हाथ पकड कर उनके द्वार तक पहुँचादे। तुम दोनों बहिन मेरे साथ चलो।"

यमुना बोली—"तू तो है पगली! देख, भोजन, भजन और सङ्गम सदा एकान्त में होता है, दूसरे के रहने में निरसता होती है। चल तुझे वास तक हम दोनों पहुँचाये देती है, फिर हम अलग जाकर सङ्गम करेंगी,तू अलग जाकर सङ्गम करना। सौत-सौत साथ साथ जा कर पति से नहीं मिलती. तू अभी इन बातों को क्या जाने।"

सरस्वती यमुना की सिख सुनकर हँस पडी और बोली—"बहिन अभी यह गङ्गा बच्ची है सीखते सीखते सीखेगी। तो भरि भरि कुन्ना पीसेगी। अभी तो इसे चक्की चलाना भी नहीं आता।

तीनों ने कहा—"अच्छा चलो,किन्तु आगे तीनों धाराओं का नाम तेरे ही नाम गङ्गा रहेगा।"

गङ्गा की तो यह इच्छा ही थी। भगीरथ ने रथ हाँक दिया। गङ्गा वाराणसी की ओर बढ़ी। चम्पारण्य आदि देशों को पवित्र करती हुई वे समुद्र के समीप पहुँची। यमुना ने दूर से ही उँगली के संकेत से बताया—"देख वही हम सब सरिताओं के पति समुद्र का निकेतन है। वही तेरा उनके साथ सङ्गम होगा। अच्छा राम राम हम अब दूसरे मार्ग से जायेंगी।"

गङ्गा का हृदय प्राणनाथ के दर्शनों से बाँसों उछल रहा था, वह ऊपर के मन से बोलीं—"मुझे अकेली छोड़कर तुम दोनो कहाँ जाती हो। मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूँगी।"

यमुना ने डाँट कर कहा—"दुर, पगली! अब भी कुछ कसर रह गई। जैसे हम प्रयागराज में युक्त हुईं थीं, वैसे ही यहाँ से मुक्त होंगी। प्रयागराज में जहां हम तीनों युक्त हुईं थीं। तीनों एक दूसरे से मिली थीं वह तो युक्त त्रिवेणी होंगी, जहाँ से अब हम वियुक्त हो रही हैं यह वङ्ग प्रदेश में आज से मुक्त त्रिवेणी प्रसिद्ध होगी।"

गङ्गाजी से इतना कह कर यमुना सरस्वती से बोलीं—"बहिन सरस्वती! अब तू भी अपने प्रच्छन्न रूप को छोड़ दे। यहाँ से तू भी प्रत्यक्ष प्रकट होकर अपने प्राणनाथ के पास जा।"

इतना कह कर गङ्गा, यमुना, सरस्वती की तीनों धारायें फिर पृथक् प्रथक् हो गईं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! वङ्ग देश में अब भी मुक्त त्रिवेणी में ये तीनों धारायें प्रत्यक्ष हैं और वे तीनों ही गङ्गा, यमुना, सरस्वती के नाम से विख्यात् हैं।"

अब भागीरथी गङ्गा अपनी दोनों बहिनों से पृथक होकर सागर की ओर बढ़ीं। सगर के पुत्रों ने जितनी भूमि को खोद डाला था उसे गङ्गा जी ने अपने पावन जल से भर दिया। वही सागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ गङ्गा जी ने जहाँ सागर के साथ सङ्गम किया है, वह गङ्गासागर सङ्गम संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है। मकर की संक्रान्ति को वहां अद्यावधि बड़ा भारी मेला लगता है। उस दिन समुद्र वहाँ मेला के लिये स्थान छोड़ देता है। मेला समाप्त-होते ही बढ़ कर सागर पुनः उस भूमि को डुबा देता है।

सगर के साठ सहस्र पुत्र भूमि खोद कर जिस मार्ग से कपिलाश्रम में गये थे, उसी मार्ग से गङ्गाजी घुस गईं। वहाँ जाकर उन्होंने भस्म हुए साठ सहस्र सगर सुतों की राख को अपने पावन पय में डुबा दिया। गङ्गाजल का स्पर्श होते ही यम यात्रा भोगते हुए सगर सुत तुरन्त ही विमानों पर चढ़-चढ़ कर सीधे स्वर्ग को चले गये। देवताओं ने सुमनों की वृष्टि की गन्धर्व गाने लगे—अप्सरायें नृत्य करने लगीं। बोल दे, गङ्गा मैया की जय, बोल दे गङ्गाजी की जय। "श्री राधे, श्री राधे।"

गङ्गाजी की कथा सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने गङ्गाजी का अत्यधिक महात्म्य कह दिया। भस्म के स्पर्श से सहस्रों वर्षों से नरक में पड़े जीव तुरन्त तर जायँ, यह तो विचित्र बात है।"

सूतजी बोले—"अजी महाराज! इसमें विचित्र बात क्या है। १०० योजन से भी जो केवल गङ्गाजी का नाम लेता है—'गङ्गा' इन दो शब्दों का उच्चारण करता है, वह भी सभी पापों से विमुक्त हो जाता है, फिर जिनके शरीर के अस्थि को भस्म का गङ्गाजल से स्पर्श हो जायँ, तो उनका कहना ही क्या? एक दिन कोई राजा त्रिवेणी जी में स्नान करने आये। उनके साथ उनकी बहुत सी रानियाँ थीं। ज्यों ही उन्होंने गंगा में स्नान किया त्यों ही सहस्रों मृग विमानों पर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे रानियों ने पुरोहित से पूछा—"स्नान तो हमने किया है और ये मृग क्यों जा रहे है।"

पुरोहितने कहा—"आप लोगोने जो अपने कुचोंमें कुन्कुम मिश्रित कस्तूरी लगा रखी थी, उस कस्तूरी का गंगाजल से

स्पर्श हो गया, जिन जिन मृगों को मार कर यह कस्तूरी लाई गई थी, वे सब के सब मृग स्वर्ग को जा रहे हैं। जब परम्परा से स्पर्श होने का यह फल है, तब तो प्रत्यक्ष गंगा में जो स्नान करते है, उनके पुण्य का तो कहना ही क्या ?

सूत जी कह रहे है—मुनियो ! गगाजी के माहात्म्य को वर्णन करने की ब्रह्माजी में सहस्र फण वाले शेष जी में भी शक्ति नही। फिर मैं एक मुख वाला उनके माहात्म्यको कैसे कह सकता हूँ। एक दिन की बात है कि गरुड़जी गंगाजी में बहते हुए एक सर्प को खाने के लिये लपके। सर्प दौड़ा, किन्तु गरुड़जी से भाग कर वह कहाँ जा सकता था, गरुड़जी उसे पकड़ कर ज्यों ही निगलने लगे, त्यों ही वह चतुर्भुज होकर पीताम्बर पहिन कर गरुड़जी के ऊपर सवार हो गया। अब तक तो वे उसके भक्षक थे, अब वे वाहन बन गये। भला जिसने बीच गंगा में गंगाजल भीगे शरीर से प्राणों का परित्याग किया है, उसके लिये वैकुण्ठ के अतिरिक्त और स्थान ही कहाँ है। गरुड़जी क्या करते। गंगाजी के प्रभाव को तो कम कर नही सकते थे। उन्हें इस सर्प को सादर सवार कराके वैकुण्ठ को पहुँचाना पड़ा। सो मुनियो! महाराज भगीरथ को निमित्त बना कर भगवती भागीरथी इस पृथिवी पर पापियों के उद्धार के ही निमित्त आई हैं। गंगाजी न होती तो दीन दुखियों और पापी तापियो के पाप तापों को कौन हटाता, कौन पथभ्रष्ट लोगों को अपनाता। कौन संसार में पापो से बच पाता। गंगाजी ने भूले भटको को पार लगाया, असंख्यों पापियों को स्वर्ग पठाया और अगणित राजर्षि ब्रह्मर्षियों को मोक्ष का मार्ग दिखाया।

सूतजी कहते है—मुनियो ! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप सगर पुत्रों के प्रसंग मे गंगाजी के अवतरण की कथा कही।

सगर पुत्रों ने जो जम्बूद्वीप के चारों ओर की पृथिवी खोद डाली थी, उसे गंगाजी ने भर दिया और समुद्र से मिला दिया। इसी लिये समुद्र को सागर कहने की प्रथा चल पड़ी। गङ्गाजीके लाने का महान् यश दिलीप पुत्र महाराज भगीरथ को प्राप्त हुआ। इसी लिये गङ्गाजी भागीरथी कहाईं। गङ्गावतरण की कथा के अनन्तर अब आप लोग और क्या कहने के लिये मुझे आज्ञा देते हैं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आपने इक्ष्वाकुवंश का वर्णन करते २ स्वायम्भुव मनुसे लेकर महाराज भगीरथ तक के राजाओं की कथा सुनाई। अब आगे के राजाओं की कथा और सुनाइये। इक्ष्वाकुवंश में भगीरथ के अनन्तर जो प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नरपति हो गये हैं, उनमें से विशिष्ट विशिष्ट राजाओं के शिक्षाप्रद मनोहर चरित्रों को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है। क्योंकि इसी वंश में नराकृति भगवान् कौशलेन्द्र श्री राम ने अवतार धारण किया है। महाराज भगीरथ के पुत्र कौन हुए और आगे का वंश कहाँ तक चला। क्योंकि पुण्य श्लोक भूपतियों के चरित्रश्रवण मात्र से ही परम पुण्य की प्राप्ति होती है।"

यह सुन कर सूतजी बोले—"मुनियों! मैं इक्ष्वाकु वंश के महाराज भगीरथ से आगे के राजाओं का वर्णन करता हूँ, आप उसे सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

गंगा गंगा कहें नित्य गंगाजल पीवैं।
सदा बसैं तट निकट गंग जलतें ई जीवैं॥
गंगा रज तन लाइ नहावैं गंगा जलमहँ।
बसैं गंग पय परसि अनिल बिहरैं जिहि थलमहँ॥
श्रीगंगा के नाम तें कोटि जन्म पातक नसहिँ।
भोगे भूपैं भोग बहु, अन्त जाहि सुरपुर बसहिँ॥

नलसखा महाराज ऋतुपर्ण

(६४५)

ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात् ।
दत्त्वाक्षहृदयं चास्मै सर्वकामस्तु तत्सुतः ॥*

(श्री भा०, ९ स्क० ९ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

धन्य भगीरथ गङ्ग लाइ जग कीन्हों पावन ।
तिनके सुत 'श्रुत' भये तासु सुत 'नाभ' सुहावन ॥
सिन्धु द्वीप तिनि तनय भये तिनिके अयुतायू ।
तिनके सुत ऋतुपर्ण सखानलके परमायू ॥
दमयन्ती पति नल भये, तिनि कलि दीये दुःख अति ।
ह्वै विरूप ऋतु पर्णके, बने सारथी भूमिपति ॥

विद्या एक ऐसी वस्तु है, जो सबके छोड़ने पर भी नहीं छोडती । धन साथ छोड़ देता है, स्त्री भी छोडकर चली जाती है,

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! महाराज अयुतायु के पुत्र ऋतुपर्ण हुए । जो महाराज नल के सखा थे । जिन्होंने नल को द्यूत विद्या का रहस्य सिखाकर उनसे अश्वविद्या सीखी थी । उन्ही महाराज ऋतुपर्ण के सर्वकाम नामक पुत्र हुए ।

स्वजन विजन बन जाते है, ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, प्रतिष्ठा धूलि में मिल जाती है, सब धन देने से घट जाता है, किन्तु विद्या धन ऐसा धन है, जो देने से बढ़ता है। विद्या प्राप्त करने के तीन ही उपाय बताये हैं। प्रथम तो विद्या गुरु सुश्रुषा से प्राप्त होती है,गुरु की सेवा करके जो विद्या मिलती है वह फलवती और सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। दूसरा विद्या प्राप्त करने का उपाय यह है कि गुरु को यथेष्ट विपुल धन दे दे। इतना पर्याप्त धन दे कि जिससे उनकी समस्त आवश्यकतायें पूर्ण हो जायँ, यह शारीरिक सेवा न होकर धन द्वारा सेवा है। एक तीसरा विद्या प्राप्ति करने का यह भी उपाय है, कि तुम हमें एक विद्या दो उसके परिवर्तन मे हम तुम्हें दूसरी विद्या सिखावें। इस प्रकार आदान प्रदान से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है। इन तीनों के अतिरिक्त विद्या प्राप्त करने का कोई साधन नही। छल से प्राप्त की हुई विद्या सफल नही होती।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! आपने मुझसे महाराज भगीरथ के आगे के इक्ष्वाकुवंशों के राजाओं का वृत्तांत पूछा। दिलीप के पुत्र महाराज भगीरथ ने गङ्गाजी के लाने के कारण विश्व में बड़ी ख्याति प्राप्त की उन्हीं के नाम से गङ्गाजी अभी तक भगीरथी कहलाती है। उन्हीं पुण्यश्लोक राजर्षि भगीरथ के पुत्र श्रुत हुए, जो पिता के ही समान पराक्रमी थे। श्रुत के पुत्र नाभ हुए। नाभ के पुत्र सिन्धुद्वीप हुए। इन सिन्धुद्वीप के सुत अयुतायु हुए जो दीर्घ जीवी और धर्मात्मा थे। इन्हीं अयुतायु के पुत्र परम तेजस्वी विश्व विख्यात् महाराज ऋतुपर्ण हुए ये द्यूत विद्या में इतने निपुण थे कि इनसे कोई द्यूत में

जीत नहीं सकता था। अयोध्याधिप महाराज ऋतुपर्णकी सर्वत्र ख्याति थी। इन्हीं यशस्वी राजा के यहाँ पुण्यश्लोक प्रातः स्मरणीय महाराज नल सारथी बनकर रहे थे।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये महाराज नल कौन थे, क्यों ये अयोध्या में आकर महाराज ऋतुपर्ण के सारथी बने। राजा होकर यह राजा नल ने वेतन भोगी सारथी का काम क्यों किया ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवन् ! पुण्यलोक राजर्षि नल निषाद देश के राजा थे। वे बड़े ही धर्मात्मा और प्रजा पालक थे। ये महाराज युधिष्ठिर की भाँति जूए में हार गये थे। परम रूपवती दमयन्ती के कारण कलियुग इनसे क्रुद्ध होगया था। इसीलिये इन्हें नाना क्लेश सहन करने पड़े।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! राजर्षि नल का हमें पूर्ण वृत्तान्त सुनाइये।"

सूतजी बोले—"मुनियो ! नल चरित्र तो बहुत बड़ा है,यहाँ तो मैं इक्ष्वाकु वंशीय महाराज ऋतुपर्ण का वर्णन कर रहा हूँ, उनके यहाँ नल सारथी बनकर रहे, इस सम्बन्ध से मैं नल का अत्यन्त संक्षेप में चरित्र सुनाता हूँ, आप ध्यान पूर्वक सुनें।"

महर्षियो ! प्रयाग के समीप जो निषाद देश है, उसमें पूर्व काल में वीरसेन नामक राजा राज्य करते थे। उनके दो पुत्र हुए। बड़े का नाम नल था और छोटे का नाम पुष्कर था। बड़े होने के कारण नल ही राजा हुए। इन महाराज नल को त्रैलोक्य सुन्दरी विदर्भाधिप महाराज भीम की पुत्री दमयन्ती ने स्वयम्वर में देवताओं को छोड़कर स्वेच्छा से वरण किया था।

बात यह थी कि विदर्भराज भीम के कोई सन्तान नही थी, इसलिये वे रानी के सहित बड़े दुखी रहते थे। एक दिन दमन नामक महर्षि ने आकर राजा का आतिथ्य ग्रहण किया। राजा ने अत्यन्त ही श्रद्धा भक्ति सहित मुनि की सेवा की। राजन की सेवा से सन्तुष्ट हुए मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप का कौन सा प्रिय कार्य करूँ। किस कार्य से आपकी चिन्ता दूर हो सकती है ?"

राजा ने कहा--"ब्रह्मन् ! आप सर्वज्ञ है,सबके बाहर भीतर की बात जानते है, फिर भी आप मुझसे पूछते ही है, तो मै कहता हूँ। मेरे यहाँ कोई सन्तान नहीं है। आप कृपा करके मुझे कोई सन्तान दें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुनि बोले–"राजन् ! तुम्हारे एक ऐसी त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या होगी, जिसकी बराबरी मृत्यु लोक में तो क्या तीनों लोक की कोई ललना नही कर सकती। उसके अतिरिक्त तुम्हारे तीन पुत्र भी होगे।"

एक साथ चार सन्तानों का वरदान पाकर राजा परम प्रमुदित हुए और बोले—"ब्रह्मन् ! मै आपके अनुग्रह का अत्यन्त ही आभारी हूँ। इस प्रकार राजा के द्वारा सत्कृत होकर दमन मुनि चले गये। कालान्तर में राजा से सर्व लक्षण लक्षणा, संसार में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी एक कन्या उत्पन्न हुई। राजा ने दमन मुनि की स्मृति में उस कन्या का नाम दमयन्ती रखा। इसके अनंतर उनके तीन पुत्र भी हुए जिनके नाम दमदान्त और दमन, रखे।

दमयन्ती कुसुम की कलिका के समान शुक्ल पक्ष के चंद्र की

किरणों के समान, दिव्य माधवी लता के समान नित्य नित्य बढ़ने लगी। अब उसने बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था में प्रवेश किया। राजा को कन्या के विवाह की चिन्ता हुई।

जैसे सुन्दरी दमयन्ती थी, वैसे ही सुन्दर निषादाधिप महाराज नल थे। नल देवताओं से भी सुन्दर थे। लोग उन्हें भूमि का आश्विनी कुमार कहते थे। जो भी उन्हें एक बार देख लेता, वह अपने नयनों को उनकी ओर से हटाने में असमर्थ हो जाता बहुत से साधु ब्राह्मण अभ्यागत इधर से उधर एक राज्य से दूसरे राज्य में घूमा ही करते थे। राज्य घरानों में उनका सत्कार होता था, अतः वे इधर उधर के वृत्तांत सुनाया करते थे। जो भी कोई साधु [illegible] नल के पास आता, वही उनसे कहता—"राजन् [illegible] तो विदर्भराज कुमारी दमयन्ती है और जो यहाँ से जाता वह दमयन्ती से कहता—"संसार में नल को छोड़कर तुम्हारे योग्य कोई पति नहीं है।"

एक नियम है, जिस बात को हम १०० बार सुनते हैं, कहते हैं स्मृति पर लिख जाता है। निरन्तर नल और दमयन्ती एक दूसरे की प्रशंसा सुनते-सुनते परस्पर में अनुरक्त हो गये बिना देखे ही एक दूसरे को प्यार करने लगे। संयोग की बात एक दिन बहुत से हंस राजा के बाग में आये। उनमें से एक हंस के पङ्ख सुवर्ण के थे। वास्तव में वह हंस नहीं थे। किसी मुनि ने ही हंस का रूप रख लिया था। राजा ने उस हंस को पकड़ लिया। हंस ने कहा—"राजन्! मुझे पकड़कर तुम क्या पाओगे यदि तुम मुझे मुक्त कर दो, तो मैं तुम्हारा विवाह दमयन्ती के साथ करा दूँगा।" राजा तो यह चाहते ही थे। उन्होंने हंस

को छोड़ते हुए कहा—"हे मराल! यदि तुम मेरा यह प्रिय कार्य करदो, तो मैं तुम्हारी चोंच सुवर्ण से मढ़वा दूँगा, नित्य ही तुम्हें घर बैठे दूध भात पहुँचा दिया करूँगा। तुम मुझे दमयन्ती से मिला दो।" राजा की ऐसी अधीरता देखकर हंस उड़ा और दमयन्ती की पुष्प वाटिका में जा बैठा।

जब सखी सहेलियों से घिरी दमयन्ती वायुसेवनार्थ पुष्प वाटिका में आई, तो वहाँ उसने एक विचित्र अलौकिक हंस को देखा। राजकुमारी ने स्वयं दौड़ कर पकड़ लिया। उसने देखा हंस के कण्ठ में एक पत्र बँधा है। कुमारी ने कुतूहलवश पत्र खोल दिया। जब उसने पत्र पढा तो उसमें नल का नाम था पत्र पढ़ते ही राजकुमारी मूर्छित हो गई। तब हंस ने मानवीय भाषा में कहा—"देवि! तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हें महाराज नल से मिलाऊँगा। जैसा अनुराग तुम्हारा उनके प्रति है, उससे भी अधिक अनुराग उनका तुम्हारे प्रति है।"

लजाते हुए दमयन्ती ने कहा—"तुम मेरा सन्देश उनसे जाकर कहो। मैं उनके बिना अन्य किसी पुरुष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती।"

हंस ने राजा से आकर सब समाचार कह दिया। अब राजा रात्रि दिन दमयन्ती के ही विषय में सोचते रहते थे।" कस्तूरी और प्रीति छिपाने से नही छिपती, सखियों द्वारा रानी को और रानी द्वारा राजा को यह समाचार मिला। महाराज भीम ने तुरन्त ही दमयन्ती के स्वयंवर की तैयारियां की देश-देश के राजा दमयन्तीके रूपकी ख्याति सुनकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा से विदर्भ देश में आने लगे। राजा ने सभी का समुचित स्वागत सत्कार किया। महाराज नल भी दमयन्ती के प्रेम से चुम्बक

की भाँति आकृष्ट हुए चल पड़े। नारदजी से सुनकर इन्द्रादि अष्टलोकपाल भी दमयन्ती को प्राप्त करने के लिये आये। मार्गमें नल से उनकी भेंट हुई। नल से देवताओं ने कहा—"तुम हमारे दूत बनकर दमयन्ती के पास जाओ और उससे कहो, वह किसी पृथिवी के मनुष्यको वरण न करके हम लोकपालों में से किसी को वरण कर ले।"

नल ने पहिले तो मना किया किन्तु लोकपालोंके आग्रहसे और उनसे अन्तर्धान विद्या प्राप्त करके वह कुमारी दमयन्ती के अंतःपुर मे प्रहरियों के सम्मुख ही चला गया, किन्तु देवताओं के वर प्रभाव से उसे किसी ने देखा नहीं।

सहसा अपने अन्तःपुर में एक अपरिचित अनुपम रूप लावण्य युक्त पुरुष को पाकर राजकुमारी सहम गई! उसने मन्द मन्द मुसकुराते हुए कहा—"हे पुरुष सिंह! आप कौन हैं? आपको प्रहरियों ने रोका क्यों नहीं, आप निर्भीक होकर स्त्रियों के आवास अन्तःपुरमें कैसे चले आये? यद्यपि आपने अपराध किया है, किन्तु आपकी मनमोहिनी मूरति को देखकर मुझे मोह हो रहा है मुझे ऐसा लगता है, तुम मेरे जन्मजन्मान्तरों के साथी हो, मेरे आत्मीय हो, सर्वस्व हो, तुम यहाँ कैसे और किस काज से आये ये सब बातें मुझे सच सच बता दो।"

नल ने कहा—"हे सुन्दरि! मेरा नाम नल है, मैं निषाद देश का नरेश हूँ, लोकपालोंने मुझे दूत बनाकर तुम्हारे लिये मेरे द्वारा यह सन्देश भेजा है, कि तुम त्रैलोक्य सुन्दरी हो। इसलिये मर्त्यधर्मा मनुष्यको स्वयम्वर में वरण न करके तुम हम लोकपालों में से किसी एक को वरण कर लेना।"

दमयन्ती ने कहा–'देवि ! मैं निर्लज्ज होकर यह कहती हूँ, कि मेरे हृदय पर तो निषाद नरेश ने अपना अधिकार जमा लिया है। हे वीर ! मैं तुम्हें छोड़ विष्णु को भी वरण नहीं कर सकती। हृदय तो एक होता है, वह तो महाराज नल के हाथों बिक गया। अब मेरे पास लोकपालों के लिए कुछ नहीं है। आप मेरा सन्देश लोकपालों से कह दें, वे भी स्वयम्वर में आवें सबके सम्मुख मैं आपको वरण करूँगी।"

अपने ऊपर दमयन्ती का ऐसा अनुपम अनुराग निहारकर राजा के रोम-रोम खिल उठे उन्होंने लोकपालों से सब वृत्तान्त जाकर कह दिया। लोकपाल भी स्वयवर सभा में पहुँचे। महाराज नल भी पहुँचे। विदर्भराज ने सबका स्वागत सत्कार किया। नियत तिथि को सभी देशों के राजा और राजकुमार सजधजकर स्वयम्वर सभा में बैठे। उसी समय नूपुरों को बजाती सबके मन को लुभाती, हृदय को हुलसाती, राजकुमारी दमयन्ती सीधी सभा में आई और आते ही महाराज नल के कंठ में जयमाला पहिनाकर नीचा सिर करके खड़ी हो गई।

सभी के मुख फक पड गये। दमयन्ती को पाकर नल परम प्रसन्न हुये। देवताओं ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया। इन्द्र ने कहा—"तुम अपने यज्ञों में देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन करोगे और उत्तम गति को प्राप्त करोगे।"

अग्नि ने कहा—"तुम जहां चाहोगे, वहीं मै तुरन्त प्रकट हो जाऊँगा और अन्त समय में तुम्हे मेरे समान प्रकाशवान् तेजस्वी लोकों की प्राप्ति होगी।"

धर्मराज ने कहा—"तुम्हारे हाथ के बनाये सभी भोज्य

पदार्थ परम स्वादिष्ट होंगे और तुम्हारी मति सदा धर्म में बनी रहेगी।"

वरुण ने दिव्य माला देते हुए कहा—"यह माला कभी कुम्हिलावेगी नहीं और तुम जहाँ चाहोगे वहीं जल उत्पन्न हो जायगा।"

इस प्रकार चार लोकपालों से ८ वर पाकर महाराज नल-दमयन्ती विवाह कर अपनी राजधानी में चले गये और वहाँ जाकर सतीसाध्वी परम पतिव्रता दमयन्ती के साथ रहकर सुख से संसारी भोगों को भोगते रहे।"

कलियुग दमयन्ती को चाहता था। रूपवती स्त्रियों के मन में कलियुग चंचलता उत्पन्न करके उन्हें सदा पथभ्रष्ट करना चाहता है। जो स्त्री सुन्दरी युवती रूप होकर भी कलियुग की बात नहीं मानती अपने धर्म में अडिग बनी रहती है, कलियुग उन्हें भाँति-भाँति के क्लेश देकर उनके पतिव्रत की परीक्षा करता है।

द्वापर के साथ कलियुग जा रहा था, उसी समय देवता मार्ग में मिले। देवताओं ने पूछा—"कलिदेव कहाँ जा रहे हो?'

कलि ने कहा—"मैं दमयन्ती को अपने अधीन करना चाहता हूँ, उसी के स्वयंवर में जा रहा हूँ।"

देवताओं ने कहा—"अरे, तुम बड़े पगले हो, दमयन्ती के ऊपर तो नल का अधिकार हो गया। वह नल को छोड़कर अन्य किसी की ओर नहीं देख सकती।"

इस पर कलि को क्रोध आ गया। उसने कहा—"अच्छी बात है दमयन्ती को और उसके पति नल को देख लूँगा।" यह कहकर वह सूक्ष्म रूप से राजा के शरीर में घुसने का अवसर देखने लगा। एक दिन महाराज नल शीघ्रता में लघुशंका गये, लघुशंका जाकर उन्होंने आचमन तो किया, किन्तु पैर नहीं धोये। कलियुग तो सदा अशुद्धि में बसता है, उसे ही सुअवसर पाकर कलियुग राजा के शरीर में प्रवेश कर गया। जब कलियुग शरीर मे घुस जाता है, तो प्राणी अधर्म को ही धर्म समझने लगता है। उसे सदाचार ढोंग प्रतीत होता है, सत् असत् का विवेक नष्ट हो जाता है, वह परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाता है। कलियुग के प्रवेश करते ही राजा के शरीर में हठ ने प्रवेश किया। राजा का छोटा भाई पुष्कर आया और उसने इनसे जुआ खेलने का आग्रह किया। राजा ने तुरन्त इसे स्वीकार कर लिया। जब यह बात प्रजा के लोगों को मालूम हुई, तब वे सब मिलकर राजा के पास गये और उनसे प्रार्थना की—"महाराज! जुए का व्यसन अच्छा नहीं होता, इसके कारण बहुत से लोग निर्धन और गृह विहीन हो गये है, आप सबके स्वामी हैं, आपको इस निन्दित कर्म को कभी भी न करना चाहिए।" राजा ने प्रजा के लोगों की बातें अनसुनी कर दीं और वे पुष्कर के साथ जुआ खेलने लगे। कलियुग के भाई द्वापर ने जुए के पासों मे प्रवे। करके पुष्कर का पक्ष लिया। अब जो भी दाव पड़ता उसमें पुष्कर की जीत होती, नल की हार होती। महारानी दमयन्ती ने जब सुना कि मेरे पति जुए में व्यस्त है, तो उसने मन्त्री, पुरोहित, पुरजन तथा सभी सम्बन्धियों को बुलवा बुलवा कर सब राजा को भाँति-भाँति से जुए के अवगुण कहलाये, स्वयं भी उसने धात्री के द्वारा राजा को अन्तःपुर में बुलवाया किन्तु राजा ज्यों-ज्यों हारते त्यों-त्यों वे और भी जुए में लिप्त

होते जाते। रानी ने समझ लिया, ये लक्षण अच्छे नहीं हैं, उसने सारथी को बुलाकर अपने पुत्र इन्द्रसेन और पुत्री इन्द्रसेना को अपने पिता के घर भेज दिया। सारथी दोनों बच्चों को विदर्भाधिप महाराज भीम के यहाँ रथ सहित छोड़ आया और उसने अयोध्या के महाराज ऋतुपर्ण के यहाँ, रथ हाँकने की नौकरी कर ली।

इधर महाराज नल जुए में अपना सर्वस्व हार गये। पुष्कर प्रसन्न हुए। एक प्राचीन कहावत है, शत्रु बाहर नहीं होता, वह माता के पेट से साथ ही उत्पन्न होता है, सहोदर भाई ही धन और राज्य के लोभ से शत्रु बन जाता है। जब नल सर्वस्व हार गये, तो पुष्कर ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"भाई जी! आप अपना राजपाट, धन वैभव यहाँ तक कि अपने शरीर के वस्त्राभूषणों को भी हार गये अब आपके पास आपकी त्रैलोक्य सुन्दरी पत्नी और है। आप चाहें तो एक बार इसे भी दाँव पर लगाकर एक हाथ और खेल लें।"

यह सुनकर नल को मर्मान्तिक दुःख हुआ किन्तु उन्होंने लज्जावश इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। जुए में सर्वस्व हारने पर भी उन्होंने धर्म को नहीं छोड़ा। वे चुपचाप अपने समस्त राजवस्त्राभूषणों को त्याग कर केवल एक धोती पहिन कर प्रसन्नतापूर्वक अपने राज महल से निकल पड़े। उनके पीछे-पीछे उनकी पत्नी भी सर्वस्व त्याग कर एक धोती पहिन कर चल दी। नगरवासी राजा की ऐसी दशा देखकर हाय-हाय करने लगे। चारों वर्ण के स्त्री-पुरुष बालक युवा वृद्ध झुण्ड के झुण्ड रोते बिलबिलाते राजा के पीछे दौड़ रहे थे। नल के भाई पुष्कर ने जब प्रजा का नल के ऊपर ऐसा अनुराग देखा तब तो उसे बड़ा डाह हुआ। वह सोचने लगा जो प्रजा अपने राज-

भ्रष्ट राजा पर इतना अनुराग करती है। वह मुझ में अनुराग कैसे करेगी। अतः उसने घोषणा कर दी, कि जो भी पुरुष मेरे राज्य में नल के प्रति सहानुभूति दिखावेगा, उनका स्वागत सत्कार करेगा, उन्हें अपने घरों में ठहरावेगा, उसे कड़े से कड़ा दंड दिया जायगा।"

इस राजाज्ञा के उद्घोषित होते ही सभी डर गये। भयवश कोई भी महाराज नल के निकट नही आये। राज कर्मचारियो ने अस्त्र-शस्त्रों से जाती हुई भीड़ को तितिर-बितिर कर दिया। महाराज रानी को साथ लिये अकेले ही नगर से बाहर निकले।

राजा को पैदल चलने का अभ्यास नहीं था। रानी भी अत्यन्त सुकुमारी थी दोनों ही नंगे पैरो जा रहे थे। प्रातःकाल ही वे नगर से बाहर हुए थे। चलते चलते उनके पैरों मे छाले पड़ गये। रानी के अरुण कमल के दलो के समान सुकुमार पैरों से रक्त बहने लगा। उनका मुख कमल राज भवन रूपी पुष्करिणी से बाहर आने से मुरझा गया था। प्यास के कारण उनके ओठ सूख गये थे। ओठों पर पपड़ी जम गई थी। धूल से उनके काली काली अलकावली तथा पलकें धूमिल हो गई थी। वे बड़े कष्ट से पग पग पर स्खलित सी होती हुई चल रही थीं। जब उनसे न चला गया तब अपने पति के कंधे से कपोल सटाती हुई भर्राई वाणी से बोलीं—"प्राणनाथ! अब तो एक पग भी चलने की सामर्थ्य नहीं।

जिस रानी को स्वेच्छा से सूर्य भी नही देख सकते थे, जिन्होने जीवन में कभी भी खुली भूमि पर पग नही रखे थे। जिन्हें पैदल चलने का कभी अवसर ही प्राप्त नही हुआ था, उन्ही सुख में पली रानी की ऐसी दुर्दशा देखकर महाराज नल

का हृदय द्रवीभूत हो गया वे रोने लगे। उन्होंने अपने वस्त्र से अपनी प्यारी पत्नी के मुख को पोंछा और अत्यन्त ही स्नेह से रुंधे हुए कंठ से बोले—"देवि ! भाग्य ने मुझे ठग लिया मेरे पीछे तुम्हें भी कितने क्लेश सहने पड़ रहे हैं हाय ! मेरे जीवन को धिक्कार है। राजा को बिलखते देखकर रानी का हृदय फूट पड़ा। जिन अश्रुओं को कृपण के धन की भाँति छिपाये हुए वे अब तक चल रही थीं, उनका बाँध टूट गया। महारानी बिलखने लगी। रोती रोतीं वे बोलीं—"प्राणनाथ। मुझे राजपाट की चिंता नहीं। दुख सुख तो जीवन में लगे ही रहते है। आप मेरे साथ है यही मेरे लिये सबसे श्रेष्ठ सुख है।"

इस प्रकार दोनो ने परस्पर में अपने हृदय को हलका किया। एक सघन वृक्ष की छाया मे वे दोनों पड़ गये। पुष्कर के भय से प्रजा का कोई भी मनुष्य उनके समीप नही आया। नगर से दो कोस दूर पर वे बिना खाये भूखे पड़े थे। सरिता से जल ले आते। उसे ही पीकर निर्वाह करते। रानी को चलने से ज्वर आ गया था, वे पग भर भी नही चल सकती थी। अतः राजा तीन दिन उस वृक्ष के नीचे ही बिना कुछ खाये पड़े रहे।

चौथे दिन रानी को कुछ चेत हुआ। तब राजा नल उसे सहारा देते हुए आगे चले। भूख के कारण वे व्याकुल हो रहे थे। मार्ग मे कन्दमूल फलों को बीनते हुए वे चले। सहसा उनकी दृष्टि चार सुवर्ण के पंखवाले पक्षियों पर पड़ी। राजा ने सोचा यदि किसी प्रकार ये पक्षी पकड़ लिये जायँ, तो इन्हें बेचने पर बहुत द्रव्य मिलेगा, उससे मेरा कुछ दिन निर्वाह होगा ? यह सोचकर राजा ने अपने पहिनने के वस्त्र में लकड़ियाँ बाँध कर पीछे से उसे पक्षियों पर फेंका। सब पक्षी दब गये। राजा को बड़ी

राजाने कहा--"प्रिये ! तुम जैसी पतिप्राणा पतिव्रता को मैं छोडकर कैसे जा सकता हूँ, प्रिये तुम कोई भी चिन्ता मत करो। मेरे ऊपर सन्देह न करो।"

दमयन्ती ने कहा—"जीवनधन ! मैं आपके प्रेम से सन्देह नही करती। आप मुझे हृदय से प्यार करते हैं किन्तु मेरे दुख से आप अत्यन्त दुखी हो रहे हैं। आप चाहते हैं, मैं अपने पिता के घर सुख से रहूँ, मुझे पिता के घर चलने में कोई आपत्ति नही। किन्तु मैं अकेली वहाँ नहीं जाऊँगी, आप भी मेरे साथ चलें। मेरे पिता इसमें अत्यंत प्रसन्न होंगे।

नल ने डबडबाई आँखों से भर्राई वाणी में कहा—"प्रिये! तुम सत्य कहती हो। तुम्हारे पिता का राज्य मेरा ही राज्य है। हमारा वे पुत्र की तरह पालन पोषण करेंगे, किन्तु प्रिये ? जहाँ मैं पहिले इतने ठाट बाट से जाता था, वहाँ मुझे इस भिक्षुक वेष में जाने में बड़ी लज्जा लगेगी। विपत्ति में सभी भार हो जाते है, यदि वहाँ मेरा किसी प्रकार भी अपमान हुआ, तो तुम प्राण दे दोगी। मैं इस विपत्ति की दशा में अपने सास ससुर के यहाँ नहीं जा सकता। कोई भी आत्माभिमानी इस बात को स्वीकार न करेगा।"

दमयन्ती ने कहा—"मैं आपसे आग्रह तो कर नही रही हूँ, मेरा तो प्रस्ताव मात्र है, कि यदि मैं जा सकती हूँ तो आप के साथ ही जा सकती हूँ। अन्यथा जो आपकी गति वह मेरी गति।"

राजा ने कहा—"प्रिये! जो भाग्य में वदा होगा वही होगा तुम चिन्ता न करो। यह कहकर राजा आगे चले। चलते चलते उन्हें एक पथिक निवास मिला। उसमें वे धूलि में ही पड़ गये रानी उनकी गोद में सिर रखकर सो गई, कि कही ये मुझे छोड़ न जायँ। रानी बहुत थक गई थी वे तो पड़ते ही सो गईं। किन्तु नल के नयनों में नीद कहाँ? वे तो रानी को दुखी देख कर परम व्याकुल हो रहे थे। शनैः शनैः उठकर उन्होंने सोती हुई रानी के मुख को निहारा। मुरझाई हुई कुसुम कलिका के समान, ग्रहण लगे चन्द्र के समान, कुहरे से ढके सूर्य के समान, विषादग्रस्त प्रोषित भर्तृका के समान, उसका सुन्दर मुख म्लान हो रहा था। उसके काले काले घुंघराले बाल केशपाश चिपटकर सिमटकर बावाजियों की जटाओ के समान बन गये थे। रानी की ऐसी दशा देखकर राजा रोने लगे। शनैः शनैः उन्होंने उस के सिर को उठाकर भूमि पर रखा। रानी थकने के कारण इतनी अचेत हो गई थी, कि उन्हें कुछ मालूम ही न हुआ।

दमयन्ती को भूमि पर लिटाकर महाराज उस निर्जन वन की पथिकशाला में इधर-उधर घूमने लगे। कभी तो मन में आता इसे छोड़कर चला जाऊँ, कभी फिर सोचते यह इस निर्जन वन में अकेली कहाँ भटकती फिरेगी। राजा बड़ी देर तक चिन्ता ग्रस्त बने रहे, वे कुछ निर्णय न कर सके। अन्त में वे रानी को छोड़कर चल दिये। एक बार उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के मुख कमल को समीप जाकर निहारा उनका हृदय फटने लगा। चित्त ऐठने लगा। अन्तःकरण धक् धक् करने लगा। वे अपनी ऐसी दशा देख तुरन्त वहाँ से चल दिये। कुछ दूर जाकर उन्हें फिर रानी की याद आई। वे लौट आये। रानी अचेत पड़ी थी। कभी तो वे सोचते—"अच्छा है मेरे बिना यह अपने पिता के

घर में तो सुख से रहेगी। कभी सोचते यहाँ इसे घोर अरण्य में

एकाकी छोड़ना उचित नहीं। कभी राजा चले जाते फिर लौट

आते। ऐसे वे कई वार गये आये। अन्त मे कड़ा हृदय करके वे दमयन्ती का परित्याग करके चले गये।

प्रातःकाल हुआ। दमयन्ती ने उठते ही शङ्कित भावसे इधर उधर दृष्टि डाली, किन्तु उसे अपने पति दिखाई न दिये। अब तो वह सब रहस्य समझ गई। कुररी पक्षी की भाँति वह रो रो कर बड़े आर्त स्वरमें अपने पति को पुकारने लगी—"हा!प्राण नाथ! मुझ दुखियाको आप इस घोर वनमे छोड़कर एकाकी कहाँ चले गये।" इस प्रकार दमयन्ती रोती जाती थी, विलाप करती थी और भागती जाती थी। पता नही आज उसमे इतनी शक्ति कहाँ से आ गई। आगे चलकर उसे एक भयङ्कर अजगर मिला उसने दमयन्ती को पकड़ लिया और उसे निगलने का उपक्रम करने लगा। इससे वह बहुत डरी और अपने पति को पुकारने लगी दैवयोग से उसी समय एक बहेलिया वहाँ आ गया। दमयन्ती का करुण क्रन्दन सुनकर वह उसी ओर दौड़ा उसने एक शस्त्र से अजगर का मुख फाड़ दिया। दमयन्ती सकुशल अजगर के मुख से मुक्त हो गई।

बहेलिये ने कहा—"देवि!तुम समीप के ही स्वच्छ सलिल वाले सरोवर में स्नान करके स्वस्थ हो जाओ, ये कन्द मूल फल है इन्हें खा लो। अब चिन्ता की कोई बात नहीं।

रोते-रोते रानी के आँसू सूख गयेथे, भागते-भागते पैरों में पीड़ा हो रही थी,भूख के कारण उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई थीं। अतः उन्होंने समीप के सरोवर में स्नान किया स्नान करने से चित्त स्वस्थ हुआ। कुछ फलमूल भी खाये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुन्दरता कहीं कही अभिशाप

भी बन जाती है अब तक तो उस बहेलिये ने कुछ ध्यान नहीं दिया। रानी जब स्नान करके स्वस्थ हो गई तब उस दुष्ट की दृष्टि उन देवी पर पड़ी। उनके अनुपम रूप लावण्य तथा सौंदर्य माधुर्य को देखकर व्याध काम के बाणोंसे विद्ध हो गया। उसने देवी दमयन्ती के साथ बलात्कार करने का निश्चय किया। पतिव्रता उसके मनोगत भावों को ताड़ गई। वह समीप आकर बड़ी चिकनी चुपड़ी बातें करने लगा। पतिव्रता ने क्रोध करके कहा—'यदि मैंने नंपथ नाथ के अतिरिक्त किसी पर पुरुष को मन से भी न चाहा हो, तो यह दुष्ट व्याधा अभी भस्म हो जाय।" इतना कहते ही वह बहेलिया जड़ कटे वृक्ष की भाँति निर्जीव होकर भूमि पर गिर पड़ा।

बहेलियाके मरते ही रानी वहाँसे अकेली ही रोती बिलखती तथा अपने करुण क्रन्दन से दशा दिशाओं को भरती हुई अपने पिता की राजधानी की ओर चलने लगी। उन्होंने घर से निकल कर नगर भी नहीं देखा था। आज वे घोर जङ्गलों में अकेली ही दौड़ी जा रही थी। मार्ग में उसे ऋषियों के आश्रम मिले, ऋषियों ने उसे सांत्वना और आशीर्वाद दिये। दमयन्ती ऋषियों को प्रणाम करके रोती हुई आगे चली। आगे उसे एक व्यापारियों का समूह मिला जो बैलों हाथी, घोड़ों पर सामान लादकर बेचने जा रहे थे। समूहपति की आज्ञा से दमयन्ती उनके सघ के साथ हो ली। अपने पति के मिलने की आशा से महीनों वह वणिक समूह के साथ चलती रही। उस सघ का स्वामी वृद्ध और धर्मात्मा था। अतः यात्रा में कोई दुर्घटना घटित न हुई। रानी को अब चलने का अभ्यास हो गया था। परिस्थिति ने उनके शरीर को अनुकूल बना लिया था। एक राजधानी के

समीप ठहरे हुए उस वणिक समूह पर जङ्गली हाथियों ने आक्रमण किया और दावानल भी लग गई, लोगों ने इस अनिष्ट का कारण दमयन्ती को ही समझा। वे उसे मारने की सोचने लगे। दमयन्ती उनके मनोगत भावों को समझ कर अकेली ही रात्रि में वन से चलदी। चलते-चलते उसे किसी राजा की बड़ी भारी राजधानी दिखाई दी। आधी धोती पहिने हुए दमयन्ती ने उस राजधानी में प्रवेश किया।

वह राजधानी धर्मात्मा सुबाहु राजा की थी उनकी राजमाता बड़ी दयावती पतिव्रता और सती थीं। संयोग की बात है, कि जब दमयन्ती ने नगर में प्रवेश किया तब वह अपनी चित्रसारी की छत पर खड़ी झरोखे से राजपथ की ओर देख रही थीं दमयन्ती के बाल बिखरे थे,आधी धोती में से उसका सौंदर्य खान से निकली मणि के समान फूट-फूट कर निकल रहा था। नगर के लड़कों ने उसे पगली समझा वे उसे चिढ़ाने लगे और ढेले मारने लगे दमयन्ती विवशता के साथ अपने को उनसे बचाने लगी। सुबाहु महाराजकी राजमाताको दमयन्तीकी दशा देखकर बड़ी दया आई और उसने तुरन्त अपनी दासी को बुलाकर कहा "देखो यह कौन विपत्ति की मारी स्त्री है? देखने से तो यह कोई राजवंश की प्रतीत होती है। इसके अङ्गों में आभूषण नहीं तन पर वस्त्र नहीं। ऐसी सुन्दरी स्त्री को इतना क्लेश! यह दैव की विडम्बना है। इसे तुरन्त मेरे पास लाओ। मैं शक्ति भर इसके दुख को दूर करने का प्रयत्न करूँगी।"

रानीकी ऐसी आज्ञा सुनकर दासी तुरन्त गई और लड़कों को हटाकर वह दमयन्ती को रानी के पास ले आई। रानी ने

बड़े स्नेह से पूछा—"तू कौन है? और इस प्रकार अकेली क्यों फिर रही है?"

दमयन्ती ने कहा—"मैं रानियों की सेवा करने वाली सैरन्ध्री हूँ। मेरे पति बड़े गुणी थे, उन्हें जूए का व्यसन था। सर्वस्व हार कर वे मुझे लेकर वन को निकल पड़े। वन में मुझे सोती छोड़ कहीं चले गये। मैं पतिव्रता हूँ। रात्रि दिन मैं अपने पति की ही खोज में घूम रही हूँ।"

रानी ने कहा—"बेटी तू यहीं मेरे महलों में रह मैं अनेक देशों में ब्राह्मण भेजकर तेरे पति की खोज कराऊँगी। मेरे यहाँ भी देश विदेशों से बहुत ब्राह्मण आते रहते हैं। उनसे तेरे पति का समाचार मिल जायगा, या कभी भूलता भटकता तेरा पति भी आ जायगा।"

दमयन्ती ने कहा—"माताजी! मुझे आपकी छत्रछाया में रहने से कोई भय नहीं। किन्तु फिर भी आप मेरी ये बातें स्वीकार करें तो मैं आपके चरणों में रह कर अपनी विपत्ति के दिन काट सकती हूं। (१) मैं किसी का जूठा न खाऊंगी (२) किसी के पैर न धोऊँगी (३) किसी पुरुष से बातें न करूंगी (४)परदेशी विशुद्ध ब्राह्मणों से पति के खोजने की बातें करूँगी (५) मुझसे कोई छेड़छाड़ करे तो उसे दण्ड देना होगा (६) यदि कोई निरन्तर छेड़छाड़ करे तो प्राणदण्ड देना होगा।"

रानी ने कहा—"बेटी! मैं दया के वश होकर सब कुछ कर सकती हूँ। मैं प्राण देकर भी तेरे दुख को दूर करूंगी तू मेरी लड़की के साथ रह। तू भी मेरी धर्म की पुत्री ही है।"

रानीके ऐसे दया भरे वचनोंको सुनकर दमयन्तीको सन्तोष

हुआ और वह राजकुमारी सुनन्दा की सहेलियों के साथ रहने लगी। सुनन्दा उसे बहिन की तरह प्यार करती, किन्तु दमयन्ती को तो अपने प्राणनाथ की चिन्ता थी।

इधर महाराज नल दमयन्ती को छोड़कर आगे चले। मार्गमें कर्कोटक नाग ने उन्हें डस लिया, इससे उनका सम्पूर्ण शरीर काला पड़ गया, कोई भी उन्हें देखकर पहचान नहीं सकता था कि ये निषाद देश के नरेश महाराज नल हैं। तब महाराज नल चलते-चलते अयोध्या पुरी में आये और उन्होंने महाराज ऋतुपर्ण के यहाँ रथ हाँकने की नौकरी ठीक करली। राजा इनके गुणों से विमुग्ध हो गये और कहा—"तुम मुझे अश्वहृदय विद्या सिखादो, मैं तुम्हें अक्षहृदय विद्या पाँसा फेंकने की विद्या सिखा दूँगा। महाराज नल तो यह चाहते ही थे अतः वे महाराज ऋतुपर्ण से अक्षहृदय सीखने लगे और उन्हें अश्व सञ्चालन विद्या सिखाने लगे। महाराज के हाथ के भोजन मे ऐसा स्वाद था कि राजा उनके अधीन से हो गये।

इधर दमयन्ती के पिता महाराज भीमको जब नल को जुएमें हारने का और दमयन्ती को वन में छोड़ कर कहीं चले जाने का समाचार मिला यो उन्होंने सहस्रों ब्राह्मणों को सभी देशों में अपनी पुत्री और दामाद का पता लगाने के लिये भेजा। एक सुदेव नामक परम बुद्धिमान ब्राह्मण खोजता खोजता चेदिराज आया जहाँ दमयन्ती महाराज सुबाहु के महलों में रहती थी। कुमारी सुनन्दा की दासियों में मलीन वसन पहिने दमयन्ती को देख कर विप्रवर सुदेव को हर्ष और दुःख दोनों ही हुए। हर्ष तो इस बात से हुआ कि मैंने दमयन्ती का पता लगा लिया और दुःख उसकी दयनीय दशा देख कर हुआ। सुदेव शीघ्रता से भीतर गया। एकान्त में उसने दमयन्ती से कहा—"बेटी! तू मुझे

पहिचानती है ? मैं तेरे पिता के यहाँ का विश्वसनीय ब्राह्मण हूँ, मैंने तुझे गोदी में खिलाया है। मेरा नाम सुदेव है, तेरे पिता ने तुझे और तेरे पति को ढूँढ़ने देश देशान्तरों में सहस्रों ब्राह्मण भेजे है। तेरे घर में सब कुशल है। तेरे लिये तथा तेरे पति के लिये सपरिवार महाराज बड़े चिन्तित हैं।"

दमयन्ती ने सुदेव को पहिचान लिया, वह कुछ कहना चाहती थी, किन्तु कुछ कह न सकी, उसका हृदय भर आया। भूमि में सिर टेक कर उसने ब्राह्मण को प्रणाम किया। और रोते रोते कहा—"ब्राह्मण देव! आज आपके दर्शनों से मैं अपना पुनर्जन्म समझ रही हूँ। मेरे पिता मेरे लिये चिन्तित है,मेरे पति देव की वे खोज करा रहे है, यही मेरे लिये सन्तोष की बात है। हाय ! विधाता ने हमे कैसे कैसे दिन दिखाये।" इतना कहते-कहते दमयन्ती के धैर्य का बाँध टूट गया। वह ढाह मार कर रोने लगी। आज उसके चिरकाल से सञ्चित अश्रु श्रावण भादों की वर्षा के समान बहने लगे। समीप में ही खड़ी सुनन्दा ने जब दमयन्ती का करुण क्रन्दन सुना तो वह शीघ्रता से दौड़ कर अपनी जननी के समीप गई और सब वृत्तान्त सुना कर बोली—"सैरन्ध्री किसी अपरिचित ब्राह्मण के समीप रो रही है, अम्मा ! तुम चलकर उससे इसका कारण पूछो। अवश्य ही उसे उसके पति का समाचार मिला होगा।

राजमाता यह सुनते ही दमयन्ती के समीप आई। सुदेव को बुलाकर उसने पूछा—"यह लड़की कौन है?किसकी पत्नी है, यह क्यों रो रही है ? आपसे इसका परिचय कैसे है, ये सब सत्य सत्य बातें मुझे सुनाओ।"

ब्राह्मण ने कहा—"देवि! ये विदर्भाधिप महाराज भीम की

प्यारी पुत्री दमयन्ती है। निषध देश के महाराज नल की ये पत्नी हैं,इनके पति जूए में सर्वस्व त्याग कर इन्हें वन में छोड़कर कहीं चले गये। मैं इनके पिता के यहाँ का ब्राह्मण हूँ, सहस्रों ब्राह्मण महाराज ने इन्हें खोजने भेजे हैं। सौभाग्य की बात है, कि यह मुझे यहाँ मिल गई।"

इतना सुनते ही राजमाता ने दौड़कर दमयन्ती को छातीसे चिपटा लिया और रोते रोते कहा—"बेटी! अरे तेरी ऐसी दुर्दशा। तैंने मुझे अपना परिचय तक नही दिया। मैंने तो जब तू छोटी थी, बहुत दिन तुझे गोद में खिलाया है। मैं तेरी छोटी मौसी हूँ, तेरी माँ मेरी सगी बहिन है। हम दोनों ही दशार्ण देशाधिप महाराज सुदामा की पुत्रियाँ है,तेरे माथे पर एक मस्सा था। अब तो मलावृत्त होने के कारण वह दीखता ही नही। सुनदा ने जब सुना यह तो मेरी मौसी की लड़की है, तब तो वह उसके पैरों पर पड़ गई और रोती रोती बोली—"बहिन! अज्ञान में ऐश्वर्य के मद में दासी समझ कर मैंने तुम्हारा बहुत अपमान किया होगा, उसे तुम क्षमा कर देना।"

कसकर सुनन्दा को अपनी छाती से चिपटाते हुए दमयन्ती ने उसके सम्पूर्ण वस्त्रों को अपने अश्रुओं से भिगोते हुए कहा—"बहिन! इस विपत्ति में तुमने ही मुझे आश्रय दिया, नही तो मैं अब तक कभी भी जीवित न रहती।"

राजमाता ने कहा—"बेटी! यह तेरा घर है, तू यहीं रह।"
दमयन्ती ने कहा—"मौसी जी! मेरा घर तो है ही, किन्तु मेरे दो बच्चे मेरे पिता के यहाँ है पिताजी भी मेरे लिये चिन्तित होंगे अतः तुम मुझे विदर्भ ही पहुँचा दो।"

दमयन्ती की ऐसी बात सुनकर रानी ने अपने पुत्र सुदेव से कह कर यात्रा का सब प्रबन्ध कर दिया, पालकी में बिठाकर रक्षक सेना के साथ रानी और सुनन्दा ने रोते रोते दमयन्ती को विदा किया। दमयन्ती भी सबसे मिल भेंट कर अपने पिता के नगर को चल दी, कुछ काल में विदर्भ देश में पहुँच गई। अपनी पुत्री को पाकर राजा को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने उसका सिर सूंघा। दमयन्ती अपनी माता, पिता, पुत्र, पुत्री तथा भाइयों से मिली, सबसे मिल भेंट कर उसने अपनी माता से कहा—"माँ! जैसे भी हो तैसे उनका पता लगवावें। उनके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती।"

रानी के द्वारा राजा को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने नल के अन्वेषण के लिये बहुत से चतुर ब्राह्मणों को नियुक्त किया। दमयन्ती ने उन्हें संकेत बता दिया था, कि वे सबसे कहें, "आधी धोती फाड़ कर जो जंगल में अपनी पतिव्रता पत्नी को त्यागकर छिपा है, उसकी विरह में उसकी प्राणप्रिया जल रही है।" इस संदेश को पा कर ब्राह्मण चारों दिशाओं को चल दिये और सभी राजधानियों में जाकर नल की खोज करने लगे, किन्तु किसी को भी नल का पता न लगा।

एक पर्णाद ब्राह्मण घूमता फिरता अयोध्या में महाराज ऋतुपर्ण की राजसभा में पहुँचा। वहाँ उसने दमयन्ती की बताई हुई पहेली सुनाई। सुनकर कोई कुछ भी न बोला। जब वह राजा से सत्कृत होकर चलने लगा, तो मार्ग में महाराज के बाहुक नामक सारथी (महाराज नल) ने उस ब्राह्मण को बुला कर कहा—"विप्रदेव! जो पहेली आपने सुनाई, उस पहेली कहने वाली से कह देना, 'आर्य ललनायें पति के अपराधों की ओर ध्यान

नहीं देतीं। उसके पति ने उसे विवश होकर छोड़ा है किन्तु वह प्रति पल उसका हृदय से स्मरण करता रहता है, शरीर से पृथक् होने पर मन से वह मिला है। योजन और कोशों का व्यवधान हार्दिक मिलन में विघ्न नहीं डाल सकता। समय आने पर उसके पति का पुनः मिलन होगा।" इतना संदेश कह कर नल चले गये। ब्राह्मण ने विदर्भ में जाकर दमयन्ती से ये सब बातें कहीं यह सुनकर दमयन्ती को बड़ा हर्ष हुआ। उसने अपनी माता से सम्मति करके पिता को बिना जताये सुदेव नामक उसी बुद्धिमान् ब्राह्मण को अयोध्या भेजा। महाराज ऋतुपर्ण पहिले ही दमयन्ती के रंगरूप पर आसक्त थे। उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया था, कि किसी प्रकार दमयन्ती मुझे प्राप्त हो जाय, किन्तु जब दमयन्ती ने लोकपालों को भी परित्याग करके नल को पति रूप में वरण कर लिया तो वे निराश हुए। फिर भी दमयन्ती के प्रति जो उनका अत्यधिक अनुराग हो गया था वह कम नहीं हुआ। दमयन्ती को यह बात विदित थी। अतः राजा नल को यहाँ बुलाने के लिये उसने एक षड्यन्त्र रचा। सुदेव से उसने कहा—"तुम जितने भी शीघ्र जा सकते हो, अयोध्यापुरी में जाओ और वहाँ के राजा ऋतुपर्ण से कहना—"दमयन्ती फिर से स्वयम्वर करना चाहती है, उसके पति उसे छोड़कर चले गये उनका कोई पता नहीं। किन्तु स्वयम्वर कल ही होगा। यदि आप एक रात्रि में अयोध्या से विदर्भ (बरार) पहुँच सके तो स्वयम्वर में सम्मिलित हों।"

सुदेव दमयन्ती की बात सुनकर शीघ्रता से अवध पुरी में गये और वहाँ एकांत में जाकर राजा से सब बातें कहीं। सुनकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, उसने अपने बाहुक नामक प्रधान सारथी को बुलाकर कहा—"बाहुक। यदि आज दिन

भर में तू मुझे विदर्भ पहुंचा दो तो मैं तुझे मन माना पारितोषिक दूं। सुना है भीम नन्दिनी दमयन्ती कल प्रातः दूसरा स्वयम्वर करना चाहती है। मैं उसमें पहुंचना चाहता हूँ।"

यह सुनकर नल का हृदय विदीर्ण हो गया। उसे विश्वास तो नहीं हुआ, उसने समझ लिया, दमयन्ती ने मुझे बुलाने के लिये ही यह उपाय रचा है, उसने कहा—"अच्छी बात है महाराज! मैं आप को सायंकाल तक विदर्भ पहुंचा दूंगा।"

राजा नल का सारथी जो दमयन्ती के पुत्र को पहुंचाकर रथ को विदर्भ ही छोड़कर अयोध्या पुरी मे ऋतुपर्ण का सारथी बन गया था, वह भी नल के साथ रहता था। किन्तु नल को तो कर्कोटकने डस लिया था, इसलिये वे काले कुरूप और ठिगने बन गये थे। इसलिये वह उन्हें पहिचान न सका। विदर्भ जाते हुए राजा ने वार्ष्णेय को भी रथ के साथ लिया। वार्ष्णेयने शीघ्रता से रथ हाँका तो घोड़े बैठ गये। इस पर महाराज ऋतुपर्णको बड़ा दुःख हुआ ये घोड़े कैसे मुझे दिन भर में विदर्भ पहुंचावेंगे। राजा की विकलता देखकर नल स्वयं रथ हाँकने बैठे। नल के बैठेते ही घोड़े पक्षियों की भाँति पृथ्वी पर उड़ने लगे। रथ की ऐसी तीव्र गति देखकर राजा को विश्वास हो गया कि सायं काल होते ही यह अवश्य मुझे कुन्डिनपुर पहुँचा देगा। रथ की घड़घड़ाहट और अश्वचालन की ऐसी चातुरी देखकर वार्ष्णेय जो नलका पूर्व सारथी था, उसे संदेह होने लगा कि यह व्यक्ति या तो इन्द्र का सारथी मालती है या निषाधिपति महाराज नल ही हैं क्योंकि नलके अतिरिक्त पृथिवी पर कोई भी ऐसी विद्या नहीं जानता। किन्तु कर्कोटक के काटने और काया में कलि के प्रवेश करने से उनके रूप रंग

माप सब ही परिवर्तित हो गये थे, किन्तु उनकी अंग संचालन की गतिविधि को देखकर वार्ष्णेय को बार-बार संदेह होने लगा।

इतने ही में रथ से अत्यन्त शीघ्र चलने के कारण महाराज ऋतुपर्ण का दुपट्टा गिर गया। उसी क्षण राजा ने शीघ्रता से कहा—"बाहुक ! तनिक रथ को रोक दे, मेरा दुपट्टा गिर गया, वार्ष्णेय दौड़कर उसे उठा लावें।" इतने शब्दों को सुनते ही हँसकर नल बोले—"राजन्। आपने जितनी देर में ये शब्द कहे है उतनी देर में रथ दो कोश दूर निकल आया। अब आप दुपट्टे की आशा न रखें।'

राजा को नल की इस अश्वविद्या तथा रथ-संचालन चातुरी पर बड़ा आश्चर्य हुआ। रथ में बैठे ही बैठे राजा बोले—"बाहुक जैसे तुम अश्वविद्या में निपुण हो, वैसे ही मैं गणना करने में निपुण हूँ, देखो सामने जो यह बहेड़े का वृक्ष है इसकी दोनों डालियों पर और टहनियों पर पाँच करोड़ पत्ते और दो हजार पिचानवे फल लगे हैं।"

इतना सुनते ही नल के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा उसने रथ को लौटाकर बहेड़े के सम्मुख खड़ा कर दिया और रथ से उतर कर बोले—"राजन् ! जब तक मैं इस पेड़ के सब पत्ते और फलों को गिनकर अपने कुतूहल को शांत न कर लूँगा, तब तक आगे न बढ़ूगा।"

इस पर विनती करते हुए राजा ऋतुपर्ण ने कहा—'भैया, देखो ! विलम्ब हो रहा है, तुम हठ मत करो पीछे आकर मैं स्वयं अपनी परीक्षा दे दूँगा।"

राजा नल ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"राजन् ! आप चाहें

ऐं करें चाहें चें करें। मैं इस पेड़ के पत्ते फलों को गिने बिना यहाँ से कभी टल नहीं सकता। आप को शीघ्रता हो तो वार्ष्णेय से रथ हँकवाकर चले जाइये। विदर्भ देश का यह मार्ग सीधा पड़ा है।"

विवशता के स्वर में राजा ने कहा—"बाहुक। वार्ष्णेय की सामर्थ्य के बाहर बात है अश्वविद्या में तो तू ही निपुण है। अच्छी बात है भैया। अच्छी बात है भैया। मैं तेरे अधीन हूँ, तू अपना कुतूहल शांत कर ले।" अब तो महाराज नल ने उस बहेड़े के पेड़ को काटकर उन्होंने उसके पत्ते और फलों को तोड़ कर गिना। जितने राजा ने बताये थे, उतने ही हुए। यह देखकर नल को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—"महाराज। जिस विद्या के प्रभाव से आप इतनी शीघ्रता से गणनाकर सकते हैं, उसे मुझे भी बतावें, तब मैं रथ आगे बढ़ाऊँगा।"

राजा ने कहा—"बाहुक। जितना मैं गणना करने मे निपुण हूँ, उतना ही अक्ष-पासे खेलने में भी निपुण हूँ, तुम मुझे अश्वहृदय विद्या सिखा दो, मैं तुम्हें अक्षहृदय विद्या सिखाता हूँ। मैं तो अक्षहृदयविद्या तुम्हें अभी देता हूँ, तुम मुझे अश्वविद्या पीछे सिखाना।" इतना कहकर ऋतुपर्ण ने नल को विधिवत् अक्षविद्या सिखाई। उस विद्या के सीखते ही राजाकी काया से कलियुग निकलकर भाग गया। राजा ने उसे शाप देना चाहा किन्तु कलियुग ने वरदान दिया, कि महाराज! जो आपके चरित्र को श्रद्धा से सुनेंगे उन्हें मैं कभी क्लेश न दूंगा।"

कलियुग के शरीर से निकलते ही राजा नल का मुखमण्डल दमकने लगा। कलियुग बहेड़े के पेड़ मे घुस गया। उसके घुसते ही वह बड़ा वृक्ष छोटा ठिगना हो गया। अब बाहुक बने नल ने

रथ को हांक दिया और सूर्यास्त से पूर्व ही वे राजा को लेकर विदर्भ देश की नगरी कुन्डिनपुर में पहुंच गये। राजा नल के रथ की घड़घड़ाहट सुनकर उनके कुन्डिनपुर में रहने वाले घोड़े हिनहिनाने लगे। दमयन्ती ने जब रथ की घड़घड़ाहट सुनी तो उसे विश्वास हो गया, कि इस रथ को मेरे पति ही हांक रहे है, ऐसा शब्द उनके रथ चलने से ही होता है।

कुन्डिनपुर में स्वयंवर की किसी प्रकार भी कोई तैयारी नहीं थी न कोई राजा तथा राजकुमार ही आये थे, न पुरी ही सजाई गई थी। महाराज ऋतुपर्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ। महाराज भीम ने जब सुना कि अयोध्या के महाराज ऋतुपर्ण मेरे यहाँ पधारे हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। अत्यन्त आह्लाद के सहित उनका स्वागत सत्कार किया कुशल प्रश्न के अनन्तर महाराज प्रसंग वश पधारने का कारण जानना चाहा। महाराज ऋतुपर्ण ने स्वयंवर की कुछ भी तैयारियाँ न देखकर बात को टालते हुए कहा—"आप के दर्शन हुए बहुत दिन हो गये थे इसीलिये मिलने मिलाने चला आया।"

महाराज भीम ने कहा—"यह मेरा अहोभाग्य आप यहाँ विराजें। मेरा राज्यपाट आपका ही है, मैं भी आप का ही हूँ। महाराज ऋतुपर्ण बड़े चक्कर में पड़े। मुझे ऐसी सूचना किसने और क्यों दे दी। राजा से पूछने को भी उन्हें साहस नही हुआ। कन्यादान जीवन में एक बार ही होता है, कुलवती कन्या एक ही बार पतिवरण करती है। अतः वे तुरन्त लौटने के लिये आग्रह करने लगे। राजा भीम ने कहा—"महाराज। आप सौ योजन से भी अधिक यात्रा करके आये हैं। आप हमें अपना नहीं समझते। यहाँ सुखपूर्वक निवास करें।"

महाराज भीम के आग्रह को ऋतुपर्ण टाल न सके। राजा के महलों में वे अतिथि हुए। बाहुक ने अश्वशाला में जाकर घोड़े को खोल और उनकी यथायोग्य परिचर्या की।

राजा का भोजन भी बाहुक ही बनाते थे, क्योंकि लोकपालों के आठ वरदानों में उन्हें भोजन में अलौकिक स्वाद होने का भी वर था। दमयन्ती ने दूर से बाहुक बने राजा को देखा, उसकी चेष्टायें तो सब नल की सी थीं, किन्तु रूप रंग और आकार बदल जाने से उसको शंका हुई। उसने अपनी सखी केशिनी को नल के पास भेजा। केशिनी ने बड़े प्यार से उसका समाचार पूछा। नल ने कहा—"महाराज ऋतुपर्ण दमयन्ती का स्वयंवर सुनकर दौड़े आये हैं। मेरे साथ जो दूसरा सारथी है वह महाराज नल का वार्ष्णेय नामक सारथी है, मैं महाराज का प्रधान सारथी हूँ।"

केशिनी ने पूछा—"आपको या वार्ष्णेय को महाराज नल का कुछ पता है, वे आज कल कहाँ हैं?"

नल ने कहा—"वार्ष्णेय तो उनके पुत्र पुत्रियों को यहाँ पहुंचा कर अयोध्या चला गया वहाँ उसने नौकरी कर ली और महाराज नल तो अपना वेश बदले इधर उधर घूमते रहते हैं, उन्हें कोई पहिचान नहीं सकता।"

केशिनी ने कहा—"यहाँ के एक गुंदेवने कोई पहेली कही थी, उसका आपने क्या उत्तर दिया था।"

राजा ने कहा—"मैंने पतिव्रता सतीशाध्वी आर्य ललनाओं का धर्म समझाया था, कि पति के ऊपर वे किसी दशा में भी क्रुद्ध नहीं होती।"

केशिनी ने ये सब बातें जाकर दमयन्ती से कहीं, सुनकर दमयन्ती का हृदय बाँसों उछलने लगा, फिर भी उसे नल के रूप के कारण सन्देह ही बना रहा। अबके उसने केशिनी से कहा—"तू गुप्त रूप से जाकर उसकी सब क्रियाओं को देखकर मुझे बताना।"

केशिनी गई और सब देखकर उसने बताया वह तो आलौकिक पुरुष हैं, बिना अग्नि के अग्नि उत्पन्न कर लेता है, रीते घड़ों को संकल्प के पानी से भर लेता है, वह पाक विद्या में बड़ा निपुण है, उसमें अनेक अलौकिक गुण हैं।"

दमयन्ती ने कहा—'उसके हाथ के बने कुछ पदार्थ तू माँग ला।"

केशिनी किसी प्रकार उससे कुछ भोजन की वस्तुएँ माँग लाई, दमयन्ती ने उन्हें चखकर निश्चय कर लिया, ये मेरे पति के बनाये हुए पदार्थ है।"

फिर भी उसे नल के रूप और छोटे आकार को देखकर संदेह बना रहा। अबके दमयन्ती ने केशिन के साथ अपने दोनों बच्चों को नल के पास भेज दिया। उन देव सदृश बच्चों को देखकर नल ने दौड़कर उन्हें छाती से चिपटा लिया और बार-बार प्यार करके उनका मुख चूमने लगे। वे आत्म-विस्मृति होकर बालकों की भाँति रुदन करने लगे। बार-बार बच्चों का सिर सूंघने लगे। उनके ऐसे वात्सल्य प्रेम को देखकर केशिनी को निश्चय हो गया, कि ये पुण्यश्लोक महाराज नल ही हैं।"

कुछ काल के पश्चात् बाह्य ज्ञान होने पर आँसुओं को पोंछते हुए नल बोले—"केशिनी! देख, तू बार-बार मेरे पास मत

आया कर। तेरे एकान्त में बार-बार आने से लोग तेरे और मेरे चरित्र पर संदेह करने लगेंगे।" हे भामिनी! जैसे ये बच्चे हैं वैसे ही मेरे बच्चे थे,उनकी स्मृति आने से मेरी यह दशा हो गई। तू कुछ और बात मन में न सोचना।"

यह कहकर नल ने अपने पुत्र पुत्री को विदा किया। उनका हृदय फट रहा था, वे विकल हो रहे थे। केशिनी ने जब सब समाचार दमयन्ती को सुनाया, तो उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा। उसने अपनी माँ से कहकर राजा के द्वारा बाहुक को अन्तःपुर में बुलाया। राजाज्ञा पाकर बाहुक सारथी के वेश में अन्तःपुर में गये। दमयन्ती ने उठकर बाहुक सारथी का सत्कार किया और डबडबाई आँखों से उसने नल की ओर निहारा अपनी प्यारी पत्नी को मुखे वस्त्र पहिने रूखी जटा के भार को लादे देखकर महाराज नल ढाँह बाँधकर रोने लगे। उनके कृश शरीर और मुरझाये मुख को देखकर उनका धैर्य छूट गया। वे अपने को सम्हालने में समर्थ नहीं हुए। नल को रोते देखकर रानी का भी हृदय फटने लगा। वे भी रो पड़ी और मूर्छित होकर गिर पड़ी। फिर भी नल ने उनका स्पर्श नहीं किया।

कुछ काल में चेत होने पर दमयन्ती ने शीतल जल से मुख धोकर कहा—"बाहुक! तुम किसी ऐसे निर्दय पुरुष को जानते हो, जो अपने प्राणों से भी प्यारी पत्नी को घोर अरण्य में अर्ध रात्रि मे एकाकी छोड़कर भाग गया हो। जो स्वयं सुख से रहता हो और जिसकी पत्नी वियोग में तड़प रही हो।"

यह सुनकर महाराज नल ने दौड़कर दमयन्ती को हृदय से लगा लिया और कहा—"प्रिये! मैंने तुम्हें निर्दयता से नहीं छोड़ा राज्यपाट मैंने स्वेच्छा से नहीं छोड़ा कलियुग ने मेरे शरीर

में प्रवेश करके मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। उसी ने मुझसे राज्यपाट छुड़वाया, तुमसे विलग कराया अब जो हुआ सो हुआ। अब कलियुग मेरे शरीर से निकल गया है। अब फिर हमारे दिन फिरेंगे। फिर हम पूर्ववत् सुख और ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे। इस प्रकार चौथे वर्ष में पति और पत्नी का पुनः आकर मिलन हुआ। रात्रि भर दोनों पति पत्नी अपने सुख दुख की बातें कहते सुनते रहे। प्रातः काल नल और दमयन्ती ने स्नान किया वस्त्र भूषणों से सुसज्जित होकर उन दोनों ने महाराज भीम को प्रणाम किया। अपनी पुत्री के साथ जामाता को देखकर राजा को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने इसके उपलक्ष्य में बड़ा भारी उत्सव कराया और ब्राह्मणों को विविध दान दिये।

महाराज ऋतुपर्ण को जब ज्ञात हुआ, ये महाराज नल है, तब तो उन्होंने इनसे क्षमा याचना की। नल ने उन्हें अश्वहृदय विद्या सिखा दी। नल ने भी राजा से अक्ष विद्या भली भाँति सीख ली। कर्कोटक ने अपना विष भी आकर उतार लिया। इससे महाराज पूर्ववत् सुन्दर हो गये। कलियुग उनके शरीर से पहिले ही निकल चुका था अतः अब वे चन्द्रमा के समान सुशोभित हुए। महाराज ऋतुपर्ण भीम और नल से अनुमति लेकर अयोध्या चले गये। कुछ काल कुण्डिनापुर में रह कर नल अपनी प्यारी पत्नी दमयन्ती के साथ कुछ धन और सैनिक लेकर अपनी राजधानी में गये। उन्होंने फिर अपने भाई पुष्कर के साथ जूआ खेला। अबके पुष्कर अपना राज पाट सर्वस्व हार गये। उसने दमयन्ती का अपमान किया था, अतः वह डर रहा था, कि महाराज मुझे मार डालेंगे, किन्तु महाराज नल तो धर्मात्मा थे। उन्होंने कहा—"भैया! पुष्कर! देखो भाग्य ही सब सुख दुख देता है। कौन किसे सुखी दुखी बना सकता है।

कलियुग ने ही मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी। इसमें तुम्हारा अपराध नही। तुम मेरे सहोदर छोटे भाई हो शत्रु नही। मैं तुम्हे मारूँगा नहीं मेरा तुम्हारे ऊपर पूर्ववत् अनुराग है। तुम्हारा जितना पहिले राज्य तथा धन था, उसे मैं तुम्हें लौटाये देता हूँ तुम्हारा भगवान् भला करें, अपने नगर में जाकर सुख पूर्वक राज्य सुख भोगो। तुम्हें जब भी किसी वस्तु की आवश्यकता हो, मुझ से कहो।"

यह सुनकर पुष्कर अपने बड़े भाई के पैरों पड़ गया और रोते रोते बोला--"भाई जी ! मैं बड़ा नीच हूँ,मेरे कारण आपको अत्यन्त क्लेश सहने पड़े किन्तु आज से संसार में सर्वत्र आप का यश फैल जायगा। आपके पुण्य पवित्र चरित्र का लोग श्रद्धा सहित गान करेंगे उनका कलिकाल कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता।"

पुष्कर की ऐसी बात सुनकर महाराज नल ने उसे बार-बार हृदय से लगाया और अत्यन्त प्यार के साथ उसे विदा किया। फिर प्रजा के लोगों ने महाराज नल के आगमन पर बड़े बड़े उत्सव किये। महाराज ने भी सब का यथोचित सत्कार किया और वे दमयन्ती के साथ सुख पूर्वक अपने राज्य मे उसी प्रकार रहने लगे जैसे स्वर्ग में शची के साथ शतक्रतु रहते हैं। महाराज ने बड़े बड़े यज्ञ किये और अन्त में पुण्य लोकों को प्राप्त किये।

सूतजी कहते है -"मुनियो ! जैसे महाराज नल के दिन फिरे वैसे सबके फिरें। जैसी विपत्ति महाराज नल पर पड़ी वैसी किसी शत्रुओं पर भी न पड़े। इस प्रकार मैंने संक्षेप मे महाराज ऋतुपर्ण के प्रसङ्ग मे पुण्य श्लोक महाराज नल का पावन चरित्र कहा। जो लोग कर्कोटक नाग का, नल और दम-

यन्ती का तथा अयोध्याधिप महाराज ऋतुपर्ण के नाम का नित्य कीर्तन करते है, उन्हें कलि कृत दोष दुःख नही दे सकते* इसके अनतर आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी। महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र कौन हुए। कृपा करके ऋतुपर्ण से आगे के मुख्य इक्ष्वाकु वंश के राजाओ का चरित्र हमें सुनाइये।"

इसपर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! मै महाराज ऋतुपर्ण से आगे के राजाओं का वृत्तान्त सुनाता हूँ, आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

दमयन्ती पति तजी भाग्यवश आई पितु घर।
पति खोजन हित रच्यौ दुवारा नृपा स्वयम्बर॥
नल ऋतुपर्ण समेत ससुर गृह रथलै आये।
नल दमयन्ती मिले सुनत सब जन हरषाये॥
कायातै कलियुग भग्यो, जब नृप के दिन फिरि गये।
गयो राज फिरि तै मिल्यो, जग यश भागी नल भये॥

*कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्यच।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्

महाराज सौदास की कथा

(६४५)

ततः सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृप ।
आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित् ॥
वसिष्ठशापाद् रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा ॥*॥

(श्री भा० ९ स्क० ९ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

हय विद्या ऋतुपर्ण नृपतिवर नलतें लीन्हीं ।
पासो फेंकन कला तिनहिं बदलेमहँ दीन्हीं ॥
सर्वकाम ऋतुपर्ण पुत्र बलवान् शूर अति ।
सुत सुदास तिन भये सुरानी दमयन्तीपति ॥
मृगया हित बन महँ गये, हन्यो राक्षस भूप तहँ ।
तिहि भ्राता धरि सूद वपु, करै रसोई महलमहँ ॥
कभी-कभी सर्वज्ञ मुनियों को भी भ्रम हो जाता है दो

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! ऋतुपर्ण के पुत्र सर्वकाम के सुत सुदास हुए । जिनकी पत्नी का नाम दमयन्ती था । जिनका नाम मित्र सह और कहीं कल्माषपाद भी मिलता है । वे महर्षि वशिष्ठ के शाप से राक्षस हो गये थे और अपने ही कर्म के कारण पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थ हुए ।"

प्रकार के सर्वज्ञ होते हैं, एक तो ऐसे होते हैं, जिन्हें सर्वदा ही अखण्ड ज्ञान बना रहता है। दूसरे ऐसे होते है जो जब वे बाह्य व्यवहार में लगे रहते है, तो उनका ज्ञान सर्व साधारण पुरुषों के समान होता है, किन्तु जब वे चित्त को समाहित करके ध्यान मग्न होते है,तब होने वाले भूत, भविष्य तथा वर्तमान का समस्त ज्ञान हस्तामलकवत् होने लगता है। यह जो शापाशापी होती है ऐसे ही सर्वज्ञ मुनियों द्वारा होती है, जैसा होन हार होता है वैसे ही बुद्धि बन जाती है, वैसे ही उनके मुख से अकस्मात शाप निकल जाता है पीछे ध्यानस्थ होकर उसके विषय में विचार करते हैं, तो उसके प्रतीकार की अवधि या उपाय भी बता देते हैं। कोई न किसी को शाप दे सकता है, न असमय पर अनुग्रह ही कर सकता है। जिसका जैसा समय होता है,उसके वैसे ही सब संयोग जुट जाते हैं। भविष्यता चलकर स्वयं नहीं जाती, उसे ही घेर बटोर कर ले आती है।

श्री शुकदेवजी कहते है–"राजन् ! यह तो मैं बता ही चुका हूँ, कि इक्ष्वाकुवंश में अयुतायु के सुत नल के सखा ऋतुपर्ण हुए धर्मात्मा महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र सर्वकाम हुए। सर्वकाम के सुत सुदास हुए जो कल्माषपाद और मित्रसह के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जो वशिष्ठ जी के शाप से नर भक्षी राक्षस हो गये थे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा–"प्रभो ! धर्मात्मा राजा सुदास राक्षस किस अपराध से हो गये ? सर्वज्ञ महर्षि वशिष्ठ ने अपने प्रिय शिष्य सुदास को ऐसा कठिन शाप किस कारण दिया ?"

इस पर श्री शुकदेवजी बोले—"कोई किसी को दुख सुख

नहीं दे सकता। जो कहता है मुझे अमुक ने सुख दिया अमुक ने दुःख पहुँचाया, वह कुबुद्धि है। सर्वप्राणी कर्मसूत्रों में बंध कर विवश होकर कार्य कर रहे है। एक दिन की बात है, कि परम यशस्वी धर्मात्मा महाराज सुदास मृगया के निमित्त वन को गये। वहाँ दो राक्षस भाई सिंह का रूप रखकर घूम रहे थे। उनमें से राजा ने एक को तो मार दिया और एक को छोड़ दिया। अपने भाई के मरने से उस राक्षस को बड़ा क्लेश हुआ। उसने जैसे हो तैसे राजा से बदला लेने का निश्चय किया।

एक दिन वह राक्षस राजा के रसोइया को उठा ले गया और स्वयं वशिष्ठ का रूप रखकर राजा के पास गया और बोला—"राजन् ! आज हम नर मांस खाना चाहते है।"

अपने गुरु के मुख से ऐसी अधर्मपूर्ण बात सुन कर राजा को परम विस्मय हुआ, कि गुरुजी आज कैसी बातें कह रहे है। फिर भी उसने तुरन्त रसोइयों को मांस बनाने की आज्ञा दे दी। अब उस राक्षस ने वशिष्ठ का रूप तो छोड़ दिया। रसोइये का रूप रख लिया। वह वधशाला से एक मृतक पुरुष को उठा लाया और उसके मांस को बनाया। जब यथार्थ में वशिष्ठ भोजन करने आये तो राजा ने सुवर्ण के थाल में मांस के सहित अन्य पदार्थ मुनि को परोसे। जब वशिष्ठ ने देखा, कि राजा ने मुझे नर मांस परोसा है, तब तो वे बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होने बिना कारण जाने क्रोध मे भर कर कहा—"अरे दुष्ट ! नर मांस तो राक्षसों का आहार है, तेने मेरे सम्मुख राक्षसों के खाने योग्य पदार्थ परोसे इसलिये तू राक्षस हो जा।"

राजा ने क्रोध करके कहा—"आप ने ही तो मुझे आज्ञा दी थी।"

मुनि ने कहा—"झूठ बोलता है, मैंने तुझे कब ऐसी आज्ञा दी।"

राजा ने कहा—"प्रातःकाल ही आपने आकर मुझ से कहा था, कि मेरे लिये नरमास बनाना।"

मुनि ने कहा—"मैं प्रातःकाल यहाँ आया भी नहीं।"

राजाने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, आप आये थे और स्वयं मुझ से आपने कहा था।"

राजा की दृढ़ता और निर्भीकता से प्रभावित होकर मुनि ने ध्यान लगाया और ध्यान में सभी बातें जानकर नम्रता के साथ बोले—"राजन् ! भूल हो गई राक्षस की यह सब करतूत है। जिस राक्षस के भाई को आपने मारा था,उसी ने मेरा रूप बना लिया था, और उसी ने रसोइये का रूप रखकर इस अभक्ष्य पदार्थ को बनाया है, किन्तु मैंने कभी हँसी में भी झूठ नही बोला, अतः आपको नर भक्षी राक्षस तो बनना ही पड़ेगा, किन्तु जीवन भर नहीं। १२ वर्ष के पश्चात् आपका राक्षसपना छूट जायगा आप फिर राजा हो जायँगे।"

राजा को इस बात पर बड़ा क्रोध आया। गुरु अकारण ही बात को बिना जाने मुझे शाप दे रहे हैं यह इनका कार्य अनुचित है। राजा भी सामर्थ्यवान् थे,अतः वे भी हाथ में जल लेकर गुरु वशिष्ठ को शाप देने को उद्यत हो गये।

गुरु को शाप देते देखकर महाराज की पत्नी मदयन्ती ने राजा को रोकते हुए कहा—"प्राणनाथ ! आप यह क्या कर रहे हैं। यह कार्य आपके अनुरूप नहीं है। गुरु को कभी भी शाप न देना चाहिये।"

क्रोध में भरकर राजा ने कहा—"प्रिये ? तुम समझती तो हो नही। मेरा कोई अपराध होता, तब तो शाप देना उचित ही था। बिना अपराध के भी जो मुझे राक्षस बना रहे हैं, उन्हें मैं शाप भी न दूँ ?"

मदयन्ती ने धैर्य के साथ अत्यन्त मधुरवाणी में कहा—"प्राणनाथ ! मैं सब कुछ समझती हूँ। गुरु चाहें मारें चाहें ताड़ना दें। शाप दें या अनुग्रह करे सभी दशाओं मे वे पूजनीय है वन्दनीय है। आप किसी भी दशा मे गुरु को शाप देकर अपने समस्त वंश का विनाश ना करावावें।"

महारानी की यह युक्तियुक्त बात महाराज के हृदय में बैठ गई। वे शान्त होकर बोले—प्रिये ! क्रोध करके जो मैंने हाथ मे जल उठाया है, वह तो अमोघ है, इसे कहाँ फेकूँ ?"

रानी ने कहा—"किसी दिशा में उसे छोड़ दो।"

राजा ने कहा—"कहाँ छोड़ूँ ! मैं तो ऐसा अणुभर भी स्थान नही देखता जहाँ असंख्यों जीव न हों। जिधर ही छोड़ूगा उधर ही जीव मरेंगे। अतः इसे मैं अपने पैरो पर ही छोड़ लेता हूँ।" यह कह कर राजा ने उस शाप के जल को अपने पैरों पर छोड़ लिया। उस पापमय पय के पड़ते ही महाराज के पैर काले पड़ गये। उसी दिन से महाराज का नाम कल्माषपाद पड़ गया।

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! महाराज सुदास के कल्माषपाद नाम पड़ने का कारण तो आपने बताया, किन्तु उनका 'मित्र सह' नाम क्यों पड़ा। इस विषय में भी कोई इतिहास हो और यदि वह गोपनीय न हो, तो मुझे बताइये।"

यह सुन कर श्री शुक बोले—"राजन् ! अपनी प्यारी पत्नी मदयन्ती जो मित्र के समान है उसकी बात को सहने मानने के कारण ही महाराज का नाम मित्रसह पड़ा। उन्होंने स्त्री के कहने से गुरु को शाप नहीं दिया। अब वे राक्षस हो गये। हो क्या गये, आकृति तो उनकी मनुष्यों जैसी ही रही, किन्तु जङ्गलो में घूम-घूम कर मनुस्यों को खाने लगे और राक्षसों जैसी चेष्टायें करने लगे। सुनते हैं, भगवान् वशिष्ठ के पुत्र शक्ति को भी विश्वामित्र जी की प्रेरणा से ये ही राजा खा गये थे। विश्वामित्र जी की वशिष्ठ जी से पुरानी लाग डाँट थी। जब वशिष्ठजी के ही शाप से राजा राक्षस हो गये, तो उन्होने इन्हें प्रेरणा करके शक्ति के पास भेजा और ये शक्ति को खा गये। शक्ति की पत्नी गर्भवती थी उसी से पराशर जी का जन्म हुआ। जिन्होंने पिता का वदला लेने के लिये एक राक्षस यज्ञ आरम्भ किया। जिसमें वहुत से राक्षस आ आकर जल ने लगे। यह देख कर राक्षसों के जनक भगवान् पुलस्त्य आये और उन्होने वशिष्ठ के साथ इन्हें समझाया बुझाया। तब कही जाकर वे इस अभिचार यज्ञ से उपरत हुए। राजा ने राक्षस भावापन्न होकर बहुत से पाप किये। ब्रह्म हत्याएँ कीं। इसी समय महाराज को अनपत्य होने का शाप भी मिला, जिससे वे स्वय सतति उत्पन्न करने में असमर्थ हो गये।"

यह सुन कर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! महाराज कल्माप पाद को किसने अनपत्य हाने का शाप दिया। महाराज ने उसका ऐसा कौन सा अपराध किया था, इस कथा को श्रवण करने की मेरी बड़ी उत्कट अभिलाषा है, यदि आप मुझे अधिकारी समझते हों और कोई न कहने योग्य बात न हो, तो कृपा करके इसके कारण को मुझे अवश्य सुनाइये।"

राजा के मुख से ऐसी बात सुन कर श्री शुक कहने लगे—"राजन् ! मैं आप को महाराज कल्माषपाद के राक्षस भाव में किये हुए चरित्रों के प्रसङ्ग में उन्हें जिस प्रकार अनपत्य होने का शाप मिला उसे सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें !

छप्पय

रांध्यो नरको मांस परोस्यो नृपति पुरोहित।
देखि अमेध्य पदार्थ भये गुरुवर अति कोपित॥
दयो शाप पुरुपाद बने भूपति अति कोप्यो।
दैवे गुरुकूं शाप चल्यो मदयन्ती रोक्यो॥
शाप नीर पैरनि धरयो, भये भूप कल्माष पग।
नर भक्षी नृप मित्रसह, भये ख्यात सौदास जग॥

सौदाससुत अश्मक

(६४६)

तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥
सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ९ अ० ३८,३९ श्लोक)

छप्पय

बोले नृप सौदास—प्रभो! अब रक्षा कीजै।
चलै जासु मनु वंश पुत्र इक गुरुवर कीजै॥
कीयो गर्भाधान भई अति हर्षित रानी।
नष्ट वंश नहिं होय बात जिह सबने जानी॥
सात वरष तक उदरतें, नहीं पुत्र पैदा भयो॥
मदयन्ती अति दुखित ह्वै, वचन पुरोहिततें कह्यो॥
दोष भावना से होता है, भाव शुद्धि होने पर शुद्ध भावना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्राह्मणों के शाप के अनन्तर महाराज सौदास ने स्त्री सुख का परित्याग कर दिया। इस प्रकार अपने ही किये कर्म द्वारा सन्तान हीन हो गये। राजा की अनुमति से वशिष्ठ जी ने गर्भ स्थापित किया। उस गर्भ को रानी सात वर्षों तक धारण करे रही। किन्तु बच्चा नही हुआ। तदनन्तर वशिष्ठ ने पाषाण के आघात द्वारा बच्चे को पैदा किया। इसलिये उनका नाम अश्मक हुआ।"

से काम किया जाय वह शुद्ध ही है। पुराणों में एक कथा आती है कि कोई बडे शुद्ध कामजित् विप्र थे। कोई धर्मात्मा पुरुष उनका विश्वास करके अपनी पतिव्रता पत्नी को उनके यहाँ छोड गये। उन्होंने कहा, यह मेरे समीप ही शयन करेगी। पति ने उन पर विश्वास किया और उन ब्राह्मण के समीप अपनी युवती पत्नी को छोड़ कर चले गये। वह उनके समीप शयन करती। कभी कभी उसके अंगों का स्पर्श भी हो जाता, किन्तु वे इसी प्रकार समझते जैसे मेरी अबोध लड़की हो। प्राचीन काल मे अश्वमेधादि यज्ञों में पशुहिंसा होती थी। पति के अयोग्य होने पर देवर से आपत्ति काल में संतति उत्पन्न करा लेते थे। क्षत्रियों के नाश के अनन्तर वेदज्ञ विशुद्ध ब्राह्मणों ने गर्भाधान किया क्षत्रिय वंश की परम्परा पुनः स्थापित की। उस समय उनके मन में काम वासना नही होती थी। केवल सन्तानोत्पत्ति की भावना मे वे अपने अमोघवीर्य को स्थापित करते थे, फिर उनसे कोई सम्बन्ध नहीं। मुनियों ने देखा कि कलियुग में लोग इसका दुरुपयोग करेंगे। काम से प्रेरित हो कर इसे धर्म बतावेंगे। इसीलिये कलियुग में अश्वमेध, गौमेध आदि बलि प्रदान यज्ञ, सन्यास, देवर से सन्तानोत्पत्ति आदि कार्य वर्जित बताये गये हैं। किन्तु प्राचीन काल में ऐसी प्रथा थी, कि वंशलोप का अवसर आने पर पति विशुद्ध ब्राह्मणोंद्वारा अपनी परम्परा को बनाये रखने के लिये, अपनी पत्नी में सन्तानोत्पत्ति कर लेते थे।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! महाराज सौदास १२ वर्ष तक शापवश राक्षसी भाव में बने रहे। १२ वर्ष के पश्चात् उनके शाप का अन्त हो गया। ब्राह्मणों ने संस्कार करा के उन्हें पुनः राजगद्दी पर बिठाया। अब तक पतिव्रता मदयन्ती

मन्त्रियों की सहायता से राज्य की रेख-देख करती थी। अब जब उनके पति विशुद्ध बन गये, तब उन्हें परम हर्ष हुआ। जब वे ऋतु स्नान करके निवृत्ति हुई तब महाराज ने सन्तान की इच्छा से वैदिक विधि पूर्वक उनके गर्भाधान करना चाहा। उस समय पतिव्रता मदयन्ती बड़े स्नेह भरे स्वर मे राजा से बोली–"प्राण-नाथ। आप को स्मरण न होगा। आप जब राक्षस भावापन्न थे, तब आपने एक गर्भाधान कराती हुई ब्राह्मण पत्नी के पति को बल पूर्वक उससे पृथक् करके भक्षण कर लिया था। उसने आप को शाप दिया था कि जब तुम गर्भाधान सस्कार करने को उद्यत होगे, तभी तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।" सो प्राणनाथ। आप उस पतिव्रता के शाप को स्मरण कीजिये। इस समय आप गर्भाधान करेंगे, तो मेरा भी मनोरथ पूर्ण न होगा। आप गर्भाधान भी न कर सकेंगे। यदि आप का कुछ हुआ, तो मै एक क्षण भी आप के बिना जीवित न रह सकूँगी इस लिये आप गर्भाधान का विचार छोड़ दें।"

राजा ने कहा—"प्रिये। तुम सत्य कहती हो। यदि मेरी मृत्यु हो गई, तो यह इक्ष्वाकुवंश सदा के लिये विलुप्त हो जायगा। उस पतिव्रता का शाप अन्यथा तो हो नही सकता। इसलिये आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा। स्त्री सुख से सदा पृथक् रहूँगा, किन्तु फिर वंश परम्परा कैसे चलेगी।"

महारानी ने कहा—"हमारे कुल देव भगवान् वशिष्ठ ही है। आप उनकी शरण में जायें, वे जो करेंगे वह धर्मानुकूल ही करेंगे।"

यह सुन कर राजा महर्षि वशिष्ठ के समीप गये और बोले–"ब्रह्मन्! मेरा वंश विच्छेद न हो, ऐसा कोई उपाय करें।

हमारे कुल के रक्षक पालक सब आप ही है। आप धर्मपूर्वक मेरी पतिव्रता पत्नी में गर्भाधान संस्कार करें।"

राजा की प्रार्थना सुनकर और कुलपरम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के निमित्त कुलपुरोहित ने इसे स्वीकार किया तथा रानी में विधिवत् गर्भाधान संस्कार किया। महारानी गर्भवती हो गईं। उनका गर्भ दिन दिन बढ़ने लगा। दश महीने हो गये। प्रसव का कोई लक्षण नहीं। एक साल हुआ दो साल हो गये। रानी बड़ी घबड़ाईं। उन्होंने वशिष्ठ जी को बुला कर पूछा—"भगवन्! गर्भस्थ बालक बाहर नहीं होता। क्या कारण है?"

वशिष्ठजी ने कहा—"समय पर सब हो जायगा, तुम चिन्ता क्यों करती हो तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं?"

मदयन्ती ने कहा—"अजी महाराज! कष्ट तो कुछ नहीं, किन्तु पुत्र का मुख दिखाई न देना यही सबसे बड़ा कष्ट है।"

वशिष्ठ जी ने कहा—"अच्छी बात है और प्रतीक्षा करो। यह सुन कर रानी चुप हो गईं। वर्ष पर वर्ष बीतने लगे। सात वर्ष हो गये, प्रसव के कोई लक्षण नहीं। प्रजनन वायु का संचार नहीं प्रसव सम्बन्धी वेदना नहीं। तब तो ऊब कर रानी ने वशिष्ठ जी से कहा—"महाराज यह पेट में क्या ईंट पत्थर रख दिया। बच्चा पैदा ही नहीं होता। देखिये तो अब यह जीवन भर पेट में ही बैठा रहेगा क्या?"

अब वशिष्ठ जी क्या कहते। उन्होंने एक गोल चिकना पत्थर लेकर मन्त्र पढ़ कर शनैः शनैः उससे रानी के उदर पर आघात किया। उस पाषाण के लगते ही मन्त्र के प्रभाव से बच्चा प्रजनन स्थान पर आ गया और उत्पन्न हो गया। राजा रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। सर्वत्र मङ्गल गान होने लगे राज्य भर

मे आनन्द मनाया गया। अश्मक (पत्थर) से आघात करने के कारण उनकी उत्पत्ति हुई अतः मुनि ने उसका नाम अश्मक रखा।

कुमार अश्मक अपने पिता के समान ही सुन्दर और गुणी थे। शनैः शनैः वे बडे हुए। युवा होने पर महाराज सौदास ने उनका विवाह कर दिया। अन्त में उन्हें राज पाट सौप कर वे महारानी मदयन्ती के साथ वन में चले गये और वहाँ तपस्या करके स्वर्गगामी हुए।

श्री शुक कहते है—"राजन्! पिता के बन चले जाने के अनन्तर अश्मक धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। इनके एक पुत्र हुआ जो क्षत्रिय कुल का मूल होने से मूलक कहलाया।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"क्षत्रिय कुल के मूल तो महाराज मनु हैं, ये अश्मक पुत्र मूलक क्षत्रिय कुल के मूलक क्यों कहाये। हमारी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

श्री शुक बोले—"अच्छी बात है सुनिये राजन्! मैं इसका कारण बताता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

भगवन्! का भरि दयो उदरमहँ जो नहिँ निकसत।
अटक्यो एकहि ठौर तनिक तहँ तें नहिँ खिसकत॥
मुनि हँसि लियो अश्म मन्त्र पढ़ि उदर छुवायो।
मदयन्ती ने तुरत सुघर सुत श्रम बिनु जायो॥
प्रमुदित सबही जन भये, राजा रानी पुरोहित।
तेई अश्मक नामतं, भये भूप जग महँ विदित॥

राक्षस भावापन्न महाराज कल्माषपाद

(५४७)

यस्मान्मे भक्षितः पापकामार्तायाः पतिस्त्वया ।
तवापि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञ दर्शितः ॥*॥

(श्री भा० ९ स्क० ९ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

मुनि वशिष्ठ को शाप नृपति राक्षस बिन बिचरै ।
द्विज दम्पति वन माँहि सुघर संतति हित बिहरै ॥
लगी बुभुक्षा भूप पकरि द्विज खायो जबहीं ।
द्विज पत्नी अकृताथ शाप नृप दीन्हों तबही ॥
गर्भाधान करो जबहि, तबहिं होइगी मृत्यु तव ।
वंश नाशको शाप सुनि, भये दुखित अति सचिव सब ॥

भावही भवका कारण है । मनुष्य जैसे भाव से भावित हो आता है वैसे ही कार्य करने लगता है । शुद्ध भाव होने से

---

* राक्षसभावापन्न राजा को शाप देती हुई ब्राह्मणी कह रही है—"हे पापी ! तूने अतृप्त कामार्ता मुझ स्त्री के पति को भक्षण कर लिया है । अतः हे मन्दमते ! तेरी भी मृत्यु गर्भाधान करने के अवसर पर ही हो जायगी ।"

स्वभावतः शुद्ध कार्य होते है और अशुद्ध भाव होने से अशुद्ध कार्य होते है। सात्विक भावों का जब प्राबल्य होता है तब सात्विक कार्य होते है, तमोगुण की प्रबलता में तामसी कार्य इसीलिये मुनियों ने भाव शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया है। अन्य शरीरों में अन्य जाति के प्राणियों का आवेश हो जाता है। मनुष्य के शरीर मे भूत, प्रेत, पिशाच, बैताल, ब्रह्मराक्षस आदि घुस जाते है, तब उसका शरीर तो वैसा ही रहता है, चेष्टा सब उन आवेश वाले प्राणियों की सी हो जाती है। जिसने जीवन में कभी सुरापान न किया हो, यदि उसके शरीर में कोई सुरापी जीव घुस जाता है, तो वह यथेष्ट सुरापान कर लेता है। उस समय वह जो कार्य करता है, स्वयं नहीं करता। उसके शरीर मे जिसका आवेश होता है, वही सब करता है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! वसिष्ठजी के शाप से महाराज सौदास के शरीर में राक्षस घुस गया। अब वे सभी चेष्टायें राक्षसों की सी करने लगे। जगलों में घूमने लगे। जहाँ भी किसी पुरुष को देखते, वही उसे पकड़कर खाजाते। एक दिन राजा राक्षसभावापन्न होकर भूखे इधर-उधर आहार की खोज में रात्रि के समय घूम रहे थे उसी समय उन्होंने देखा एक ऋषि अपनी पत्नी में गर्भाधान संस्कार कर रहे है। संतति की कामना से द्विज पत्नी अपने पति के साथ सहवास कर रही है। महाराज की ऐसी चेष्टा देखकर द्विज पत्नी डर गई। राजा ने बल पूर्वक जाकर मुनि को पकड़ लिया। अभी तक मुनि पत्नी का मनोरथ पूर्ण नही हुआ था, उस समय में राक्षस के प्रहार करने से पत्नी पति दोनो को मर्मान्तिक क्लेश हुआ। राजाने बल पूर्वक पति पत्नी को एक दूसरे से पृथक कर दिया और उनमें से पुरुष को पकड़ लिया स्त्री को, छोड़ दिया। राक्षस भी सहसा स्त्री पर

आक्रमण नहीं करते। स्त्री सदा अवध्या बताई गई है। किन्तु जिसका आधा अंग काट लिया हो, वह जीवित रहना भी चाहे तो उसके जीवन से लाभ ही क्या ?

द्विज पत्नी ने दीनता के साथ कहा—"राजेन्द्र ! आप यह कैसा व्यवहार कर रहे हैं। महाराज यह कार्य आपकी पदप्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं। हे प्रजानाथ ! आप राक्षस नहीं है। आप तो मनुवंश में उत्पन्न हुए, इक्ष्वाकुवंश भूषण हैं। राजन् ! मैं सन्तान की कामना से अपने पति के साथ समागम कर रही थी। मेरा मनोरथ अभी पूर्ण नहीं हुआ। कृपा करके आप मेरे पति को मुझे लौटा दें। ऐसा अधर्म न करें।"

राजा ने कहा—"पेट भरने पर धर्माचरण सूझता है। भूखा पुरुष धर्म कर्म सब भूल जाता है।"

द्विज पत्नी ने कहा—"महाराज ! ये तो राक्षसी विचार हैं, धर्मात्मा पुरुष तो प्राणों का पण लगा कर भी धर्म की रक्षा करते है। महाराज ! नर हत्या करना सबसे बड़ा पाप है। मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिलता। जिसे जिलाने की सामर्थ्य नहीं, उसे किसी को मारने का भी अधिकार नहीं। फिर महाराज ! वेदज्ञ ब्राह्मण की हत्या तो महापाप है। आप तो राजा हैं। जैसे जल का पिता अग्नि है वैसे ही क्षत्रिय का पिता ब्राह्मण है। क्या सत्पुत्र अपने पिता की हत्या कर सकता है ?"

द्विज पत्नी ने कहा—"राक्षसों का यह धर्म भले हो, किन्तु हे क्षत्रियर्षभ ! आप तो राक्षस नहीं है। आप तो महाराज सर्वकाम के सुत महारानी मदयन्ती के पति और अयोध्या के स्वामी

पुण्यश्लोक राजर्षि सौदास हैं। आपके द्वारा यह क्रूर कर्म कभी भी न होना चाहिये। आपका साधु समाज में सर्वत्र सम्मान है। आप तो दीनों पर सदा दया करते रहते हैं, फिर गौ और ब्राह्मणों के तो आप भक्त हैं। ये वेदवादी धर्मज्ञ श्रोतिय ब्राह्मण है। आप इन्हें क्यों खा जाना चाहते है ? यदि आपने इन्हें खाने का निश्चय कर लिया है, तो पहिले मुझे खा लीजिये। इनके बिना मैं एक क्षण भी जीवित नही रह सकती।"

श्री शुकदेवजी कहते है–"राजन् ! इस प्रकार वह विप्र पत्नी विविध भाँति से विलाप करती रही, अनेक प्रकार से राजा को समझाती रही, किन्तु महाराज सौदास तो शाप से विमोहित थे, उन्होने ब्राह्मणी की एक बात भी न सुनी। वे उसके पति को खा गये। यह देखकर मुनिपत्नी को बड़ा दु:ख हुआ। उसने राजा को शाप देते हुए क्रोध में भरकर कहा–'अरे पापी ! अरे क्रूर ! तैंने मुझ अबला पर तनिक भी दया न की। मैं सतान की इच्छा से पति का सहवास कर रही थी, तैंने बलात् मेरे पति से मुझे पृथक् कर दिया। मेरी इच्छा पूरी न होने दी, अत: मैं तुझे शाप देती हूँ, कि तू भी जब स्त्री समागम करेगा, तब तेरी भी इसी प्रकार मृत्यु हो जायगी, तू सन्तानोत्पत्ति करने में कभी समर्थ न हो सकेगा।"

महाराज तो शाप विमोहित थे, उन्होने ब्राह्मणी के शाप पर कुछ भी ध्यान नही दिया। वे ब्राह्मण को खा कर चले गये। वह पति परायण विप्र पत्नी अपने पति की अस्थियों को लेकर चिता चुनकर सती हो गई। वह परलोक में जाकर अपने पति के साथ मिल गई। इस प्रकार राक्षस भावापन्न राजा को मुनि पत्नी का अनपत्य होने का शाप हुआ था।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! क्या राजा सौदास जो भी ब्राह्मण मिला उसे ही खा जाते थे, तब वे अपनी रानी पुरजन परिजनों से कैसे मिलते थे ?"

सूतजी ने कहा—"नही, महाराज ! दिनके छटे भाग में जो उनके सामने पड़ जाता, उसे ही खाते थे। अन्य समय में किसी को नही सताते थे। राक्षस होने पर भी उनकी ब्राह्मण भक्ति न्यून नही हुई थी। आहार के लिये तो ब्राह्मणों को खा जाते थे, क्योंकि ब्राह्मण के शाप से ही वे नर भक्षी हुए थे। शेष समय मे सबसे शिष्टता से मिलते, कोई कुछ मांगता उसे देते। प्रातः वे जंगल मे रहते थे। जब वे भोजन कर चुकते, तब रानी तथा अन्य सचिव पुरोहित उनसे मिलने अरण्य में आते। राक्षस होने पर भी इन्होंने महर्षि उत्तङ्क को दान दिया और उन्हें मित्रतापूर्ण उपदेश दिया ?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! महामुनि उत्तङ्क ने महाराज सौदास से क्या याचना की थी और राजाने उन्हें क्या उपदेश दिया था, कृपा करके इस चरित्र को हमें सुनाइये।'

सूतजी बोले—"मुनियो ? मुनिवर उतङ्क महर्षि गौतम के शिष्य थे, जब ये विद्या समाप्त कर चुके, तो इन्होने गुरु से गुरु दक्षिणा देने का आग्रह किया।"

महर्षि गौतम ने कहा--"भैया ? तुमने इतनी लगन से हमारी सेवा सुश्रूषा की है, यही गुरुदक्षिणा पर्याप्त है, मैं तुमसे वैसे ही प्रसन्न हूँ तुम्हारा मगल हो, तुम जाओ।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"नही, भगवान् ? कुछ तो आज्ञा मिले ही।"

गौतम मुनि बोले—"अच्छी बात है, यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है, तो मुझे तो कुछ इच्छा है नही, अपनी गुरु माता के पास जाओ, वह जो वस्तु लाने को कहे, वह उसे लाकर दे दो"

यह सुनकर उत्तङ्क अपनी गुरु माता अहल्या के निकट गये और बोले—"माता जी! अब मै विद्या समाप्त करके जा रहा हूँ, मैं कुछ गुरु दक्षिणा देना चाहता हूँ, गुरु जी ने मुझे आपके पास भेजा है, आपकी जो भी इच्छा हो, उसे मै पूर्ण करूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे है—"ऋषियो! स्त्रियों से कोई मन की बात पूछे, तो वे कोई न कोई आभूषण की ही इच्छा करेगी। विवाह में-त्योहार पर्व में-जायँगी, तो सबसे पहिले उनकी दृष्टि आभूषणों पर ही पड़ेगी, किसके कर्णफूल सुन्दर हैं, किसका हार चमकीला है, किसका कौन सा आभूषण कैसा है, किसकी अँगूठी में कैसा नग है, जो वस्तु उनके मन पर चढ़ जायगी, उसे बार-बार देखेंगी उसका मूल्य, मिलने का पता पूछेगी और अवसर पड़ने पर उसके लिये पति से आग्रह करेंगी। चाहे आभूषण पेटी में ही बन्द रहें कभी भी न पहिने, किन्तु आग्रह अवश्य करेंगी। गौतम पत्नी अहल्या कभी यज्ञ में अपने पति के साथ अयोध्या गई होंगी। वहाँ महलों मे उन्होंने कभी सौदास की पतिव्रता पत्नी मदयन्ती को दिव्य कुण्डल पहिने देखा होगा। वे कुंडल उसके मन पर चढ़ गये होगे। पति से तो कैसे कहती। जब शिष्य ने आकर पूछा—"तब बड़े स्नेह से बोली—"बेटा? यदि तुम मेरी इच्छा पूरी करना चाहते हो, तो मेरी एक इच्छा है,उसे यदि पूरी कर सको तो मैं परम प्रसन्न होऊँगी।"

उत्तङ्क मुनि बोले—'माताजी। आप अपनी इच्छा मुझे बताइये। असम्भव बात भी होगी, तो भी मैं उसे पूर्ण करूँगा।

अहल्या बोली—"देखो, भैया ! राजा सौदास की पतिव्रता पत्नी महाराज मदयन्ती है,उनके कानों में दिव्य कुण्डल है। रात्रि मे उन कुंडलों से सुवर्ण झरता है आकाश के समस्त नक्षत्र और तारों की प्रभा उनकी प्रभा के सम्मुख फीकी पड़ जाती है, उन्हे पहिनने पर भूख प्यास कभी नहीं सताती। तो उन्हे धारण करते है, विष,अग्नि तथा अन्यान्य भयप्रद जन्तुओं और वस्तुओं से कोई भय नहीं। यदि बालक उन्हें पहिने तो छोटे हो जाते है बड़ा पहिने तो बड़े हो जाते है। यदि तुम किसी प्रकार सौदास पत्नी के उन कुंडलो को ला सको तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

उत्तङ्क ने कहा—"माताजी ! मैं जैसे भी होगा, तैसे सौदास पत्नी महारानी मदयन्ती के दिव्य कुंडलों को आपके लिये लाऊँगा।' यह कह कर मुनि उत्तंक महाराज के समीप चल दिये।

महाराज सौदास जङ्गल में रहते थे,दिन के छटे भाग मे जो पुरुष उन्हे मिल जाता, उसे ही वे खा जाते, संयोग की बात कि महामुनि उत्तक दिन के छठे भाग में ही जाकर महाराज सौदास से मिले उनका विकृति मुख और लाल लाल दाढ़ी मूँछों को देखकर सेवा के प्रभाव से मुनि तनिक भी न घबराये वे राजा के पास जाकर बोले—"राजन् ? मैं स्नातक हूँ आपसे कुछ याचना करने आया हूँ।"

राजा ने कहा--"धन्यवाद ब्रह्मन् ! आप आये दिन के छटे भाग में जो मेरे सम्मुख आता है, वह मेरा आहार बन जाता है। अब मैं आपको खाकर अपनी भूख शान्त करूँगा।"

उत्तंक मुनि ने कहा--"राजन् ? देखिये स्त्री को, दूत को और

गुरुदक्षिणा के लिये जो प्रयत्न कर रहा हो, इन्हें अवध्य बताया है। अत. आप मुझे मार कर खाने का विचार छोड़ दें।"

राजा सौदास बोले—"ब्रह्मन्! मैं तो राक्षस हूँ। दिन का छठा भाग बीत चुका, मुझे भूख लग रही है आप दे रहे हैं धर्म की सीख। यह उसी प्रकार की शिक्षा है जैसे प्रज्वलित अग्नि को घृत डालकर शान्त करना। द्विजवर? अबतो मैं आपको बिना खाये छोड नहीं सकता।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"ब्रह्मन्! मुझे मरने से तो भय है नही, किन्तु मुझे गुरुदक्षिणा की चिन्ता है। यदि आपने मुझे खाने का ही दृढ़ संकल्प कर लिया है, तो पहिले मुझे मेरी मनमानी वस्तु दे दीजिये। उसे देकर तथा गुरु ऋण से उऋण होकर मै पुन: आपके समीप आ जाऊँगा, तब आप मुझे खालें।"

राजा सौदास बोले—"अजी, महाराज? मैं कोई बच्चा तो हूँ नही, जो आप मुझे फुसला लें। राक्षस के मुख से निकल कर फिर कौन प्राण गवाँने आता है।"

उत्तङ्क मुनि ने उत्तेजित होकर कहा—"राजन्! आप मुझे झूठा समझते है? मैं अवश्य आऊँगा।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, मांगिये, क्या आपको माँगना है। यदि वह वस्तु मेरे अधीन हुई तो उसके मिलने में आप तनिक भी सन्देह न करें।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"मुझे अपनी गुरुपत्नी को देने के लिये आपकी पतिव्रता पत्नी के कानों के दिव्य कुण्डल चाहिये।"

राजा ने कहा—"वह तो मेरी रानी के पास है, उससे जाकर आप माँगे।"

उत्तंक मुनि बोले—"राजन् ! पति और पत्नी दो थोड़े ही होते है पत्नी का अपना तो कुछ भी नहीं। वह तो अपना शरीर वस्त्र, आभूषण यहां तक कि कुछ गोत्र भी पति को अर्पण कर देती है। इसलिये आप की आज्ञा के बिना रानी मुझे कैसे दे सकती है।"

राजा बोले—"ब्रह्मन् ! आप सत्य कहते हैं पतिव्रतायें अपनी निज की कुछ वस्तु समझती ही नहीं, वे अपना सर्वस्व पति को ही समर्पित कर देती है, मेरी पत्नी पतिव्रता है। वह दिन के छटे के अनन्तर इस वन मे मेरे दर्शनों के लिये आती हैं, अतः आप जायँ, अमुक निर्झरिणी के किनारे आप की उससे भेंट होगी।"

यह सुन कर उत्तंक मुनि राजा की बताई निर्झरिणी के समीप गये। वहा पतिव्रता मदयन्ती उपस्थित थी। उत्तंक मुनि ने रानी को आशीर्वाद देकर कुंडलों की याचना की और राजा की भी आज्ञा सुना दी।"

यह सुन कर रानी ब्राह्मण को प्रणाम करके कहा—"ब्रह्मन्! आप योग्य पात्र है, मुझे भी कुण्डलों के देने में कोई आपत्ति नही, किन्तु मुझे यह विश्वास कैसे हो, कि राजा ने मुझे देने की आज्ञा दी है। आप उनकी कोई चिन्हानी लावें तो मैं दे दूं।"

मुनि पुनः लौट कर सौदास के पास गये और बोले—"राजन् कोई चिन्हानी रानी चाहती है।"

राजा ने कहा—"यह राक्षस योनि रूप गति मुझे कल्याण-दायिनी नही है मेरे इस अभिप्राय को समझ कर इन्हें कुण्डल दे देना।"

मुनि ने रानी से जाकर ज्यों ही यह बात कही त्यों ही रानी ने अपने कानों में से दिव्यकुंडल उतार कर मुनि को दे दिये और कह दिया—"ब्रह्मन् ! ऐसे दिव्य कुण्डल तीनों लोकों में भी कहीं नहीं है। इन्हें आप पृथिवी पर भूल कर भी न रखना नहीं तो कोई नाग, देव, दानव इन्हें तुरन्त उठा ले जायगा।"

रानी की यह बात सुन कर उसे आशीर्वाद देकर मृग चर्म में कुंडलों को लपेट कर मुनि उत्तंक चल दिये। वे एक बार राजा के पास मित्र भाव से फिर आये और बोले—"राजन् ! आप का कल्याण हो, आप ने जो रानी को संकेत वचन कहा था, उसका अभिप्राय क्या है ?"

राजा बोले—"ब्रह्मन् ! जीवन भर मैंने ब्राह्मणों की सेवा की इसका फल यह हुआ, कि मुझे राक्षसी योनि प्राप्त हुई। फिर भी जैसे अबोध बालक को माँ के अतिरिक्त कोई गति नही, वैसे ही ब्राह्मणों के अतिरिक्त मेरी भी कोई गति नही। इसीलिये मैंने आप को राक्षस भाव में भी मुहमांगा दान दिया। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। अब तुम्हें देखना है कि तुम कुंडल देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हो या नही। लौट कर मेरा आहार बनते हो या नहीं।"

यह सुन कर उत्तंग मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप से मित्र भाव से एक प्रश्न पूछता हूँ, उसका उत्तर आप मैत्री धर्म समझ कर दें। क्योंकि सज्जन पुरुष जिससे वार्तालाप कर लेते हैं, वे उनके मित्र बन जाते हैं। अतः आप मेरे मित्र हुए। राक्षस भाव से नहीं मित्रभाव से आप मेरी बात का उत्तर दें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, पूछिये ! मैं मित्रभाव से ही यथार्थ उत्तर दूँगा।"

उत्तङ्कमुनि ने कहा—"मैं यह पूछता हूं, कि मैंने जो आप से लौटकर आने की प्रतिज्ञा की है अब मुझे लौटकर आप के पास आना चाहिए या नहीं ?"

यह सुनकर राक्षसी भाव में भावित महाराज सौदास अपने विकराल और भयंकर मुख को फाडकर खिल खिला कर हँस पडे और हँसते-हँसते बोले—"ब्रह्मन् ! आपने तो मुझे बाँध लिया अच्छी बात है, मैत्री भाव से मैं आपको आपका कर्तव्य बताता हूँ। अब आपको कदापि मेरे पास लौटकर नहीं आना चाहिये। क्योंकि आप लौटकर आवेंगे,तो मैं निश्चय ही आपको खा जाऊँगा। अतः आपका कार्य हो गया। सुख पूर्वक जाइये आनन्द कीजिये। कामी और राक्षसो के सामने की हुई प्रतिज्ञा का कोई महत्व नही।"

राजा की यह युक्तियुक्त बात सुनकर कुंडल लेकर उत्तङ्क मुनि अपनी गुरु माता अहल्या के समीप गये। मार्ग में उन्हे बडे-बडे विघ्न हुए। गुरुमाता को कुंडल देकर उनके आशीर्वाद लेकर और गुरु से अनुमति पाकर गुरु की कन्या के साथ विवाह करके उत्तङ्क मुनि सुख पूर्वक रहने लगे।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! इस प्रकार राक्षस भाव में रहने पर भी महाराज सौदास ने दान देना, ब्राह्मणों का स्वागत सत्कार करना, तथा मित्रों के साथ द्रोह न करना ये विशुद्ध गुण नही छोड़े थे। प्रारब्ध वश उन्हे राक्षसी योनि की भयंकर यातनायें सहनी पड़ी १२ वर्ष के पश्चात् उनका राक्षसी भाव दूर हो गया। फिर वे ज्यों के त्यों परम यशस्वी धर्मात्मा राजा बन गये महर्षि वसिष्ठ पुनः उनसे यज्ञादि कर्म कराने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब राजा को अनपत्य होने

का शाप हो गया, तो उनका आगे का वंश कैसे चला, इसे कृपा कर हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो! अब मैं आप को सौदास अश्मक का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप इसे श्रद्धा सहित सुनें।"

(छप्पय)

बीते बारह बरस शाप उद्धार भयो जब।
करिबे गर्भाधान भये उद्यत भूपति तब॥
बरजे रानी नृपति शापको याद दिलाई।
महिषी सतति बिना बहुत रोई घबराई॥
वंशनाशको भय समुझि, लख्यो न अन्य उपाय जब।
गुरु वशिष्ठतें विनय करि, भूप प्रार्थना करी तब॥

मूलक से आगे के सूर्यवंशी भूपति

(६४८)

अश्मकान्मूलको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः।
नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ९ अ० ४० श्लोक)

छप्पय

अश्मक के सुत भये राजकुलके जो मूलक।
तबई प्रकटे परशुराम क्षत्रियकुल शूलक॥
नारिनि कवच बनाइ बचाये मनुकुल त्राता।
नारीकवच कहाय भये जगमहँ विख्याता॥
मूलक सुत दशरथ भये, एडविडहू सुत तासुके।
पुत्र एडविड विश्वसह, खड्वाङ्गहु नृप जासु के॥

अपने कुल की रक्षा के लिये, धनहीन कच्ची गृहस्थी के पालन के लिये विवश होकर कुछ अनुचित भी कार्य किया जाय, तो वह क्षम्य ही समझा जाता है। धर्म की बड़ी सूक्ष्म गति है कहीं अधर्मसा दिखाई देने वाला धर्म हो जाता है, कहीं धर्मसा

* श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! अश्मक का पुत्र मूलक हुआ जिसकी स्त्रियों ने रक्षा की। इसीलिये उसका नाम नारी कवच भी हुआ पृथिवी पर क्षत्रिय न रहने के अनन्तर वह क्षत्रियकुल का मूल पुरुष हुआ।"

दिखाई देने वाला कार्य अधर्म माना जाता है। जो सर्वज्ञ हैं वे ही धर्म के मर्म को भली भाँति जान सकते है।

श्रीशुकदेजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज अश्मक के पुत्र मनुकुल के मूलक क्यों हुए इस प्रसङ्ग को मैं आपको सुनाता हूँ। महाराज अश्मक ने बहुत दिनों तक पृथिवी का पालन किया। बहुत से यज्ञ याग किये और अन्त में अपने पुत्र मूलक को राज-पाट सौपकर वन में तपस्या करने चले गये।

जिन दिनों महाराज मूलक पृथिवी का राज्य करते थे,उन्ही दिनों जमदग्नि के सुत भगवान् के अंशावतार श्रीपरशुरामजी का प्राकट्य हुआ। उनके पिता को हैहय कुल के क्षत्रियों ने मार डाला था, अतः महर्षि परशुराम ने हाथ मे फरसा लेकर प्रतिज्ञा की थी कि मैं 'पृथिवी पर एक भी क्षत्रिय को न छोड़ूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके उन्होने क्षत्रिय कुल का संहार करना आरम्भ कर दिया। जहाँ भी बूढ़े, बच्चे, युवक क्षत्रिय को देखते वहीं वे उसका संहार कर देते। इस प्रकार क्षत्रियो का संहार करते करते वे अयोध्या पुरी में भी आये।

महाराज मूलक ने जब सुना कि क्षत्रिय कुल नाशक महर्षि परशुराम आरहे है, तो उन्होंने सोचा—"वे तो भगवान् के अशावतार है, उनसे मैं युद्ध में तो किसी प्रकार जीत नहीं सकता अतः वे महल में जाकर रानियों में छिप गये। रानियो ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और चूड़ियाँ पहिना दीं। महाराज परशुराम जी आये उन्होंने चारो ओर राजा को खोजा, राजा का कही पता ही न लगा। अन्तःपुर में उन्होने देखा तो सब रानी ही रानी बैठी है, स्त्रियाँ तो सदा अवध्या बताई है, अतः महर्षि देख भाल कर लौट आये। उन्होंने समझा राजा भाग गया।

मुनि के चले जाने पर राजा बहुत दिनों तक स्त्रियों में ही छिपे रहे। परशुराम जी ने २१ बार सम्पूर्ण पृथिवी पर घूम-घूम कर क्षत्रियो का नाश किया। जब सब क्षत्रिय कुलों का उन्होंने नाश कर दिया तो वे युद्ध से उपरत हो गये। उन्होने अस्त्र शस्त्रों को छोड़ कर तपस्या मे चित्त लगाया।

उस समय समस्त क्षत्रिय कुल का संहार हो चका था अश्मक पुत्र महाराज मूलक ही मनु वंश में शेष रहे थे। इसीलिए वे इस कुल के मूल होने से मूलक कहलाये। स्त्रियों ने कवच बना कर इनकी रक्षा की,इसलिये इनका नाम नारी कवच भी पड़ा।

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा-"ब्रह्मन्! परशुरामजी ने ऐसा क्रूर कर्म क्यों किया? क्यों उन्होंने क्षत्रिय कुल का विनाश किया।"

इस पर श्री शुक बोले—"राजन्! इन सब बातों का उत्तर आगे मैं परशुराम चरित्र में दूँगा। आगे मैं विस्तार के साथ परशुराम जी की कथा सुनाऊँगा। इस समय तो आप इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं की कथा सुनें।"

महाराज परीक्षित ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्? आप मनु वंश के महाराज मूलक से आगे के राजाओं का चरित्र सुनावें। मूलक के पुत्र कौन हुए?"

श्री शुक बोले—"राजन्? मूलक के पुत्र महाराज दशरथ हुए (ये प्रथम दशरथ हैं) जिनके यहाँ अवधकुल मंडन जानकी जीवन धन श्री साकेत विहारी श्रीहरि अवतरित हुए। वे दशरथ दूसरे हैं। महाराज दशरथ के पुत्र ऐडविड हुए उनके पुत्र विश्वसह नाम से विख्यात हुए। इन विश्वसह के पुत्र पुण्यश्लोक राजर्षि खट्वाङ्ग हुए।" जिन्होंने देवासुर संग्राम में देवताओं का पक्ष लेकर दैत्यों को हराया था।"

बात यह थी, कि दैत्यों ने देवताओं पर चढ़ाई कर दी। देवता बहुत दिनों तक लड़ते रहे किन्तु वे दैत्यों को पराजित न कर सके। जब वे सब प्रकार से थक गये, तब वे पृथिवी पर आये। उन दिनों महाराज खटवाङ्ग इस सम्पूर्ण भूमंडल का शासन करते थे। वे पराक्रम में इन्द्र के समान थे। देवताओं ने प्रार्थना की-"राजन् ! आप हमारी ओर से चलकर असुरों से युद्ध करें।' देवतओं की प्रार्थना से महाराज अपने दिव्य रथ पर चढ़ कर स्वर्ग गये और उन्होंने युद्ध में असुरों का संहार किया। देवताओं की विजय हुई।"

विजय के अनन्तर देवताओं ने कहा—"राजन् ! आपने बड़ा श्रम किया, आप मुक्ति को छोड़ कर हमसे और जो भी चाहें वरदान माँग लें, क्यों कि मुक्ति के दाता तो मधुसूदन ही है।"

राजा ने कहा—"देवताओ ! मैं सर्वप्रथम यह जानना चाहता हूँ, कि मेरी अब आयु कितनी और शेष है ?"

देवताओ ने कहा—"अजी, राजन् ! आयु की क्या पूछते है, आपकी आयु तो अब केवल मुहूर्त भर और शेष है।"

यह सुन शीघ्रता के साथ राजा बोले—"तो अब रहने दीजिये मुझे कुछ भी वर न चाहिये अब तो मैं इस एक मुहूर्त का सदुपयोग करना चाहता हूँ, इस एक मुहूर्त में ही मन माधव के पाद पद्मों में लगाकर परम गति प्राप्त करना चाहता हूँ। मुझे मेरे नगर मे ब्राह्मणों के बीच में जाने दीजिये। यद्यपि आप सब सत्व प्रधान है, किन्तु स्वर्ग के दिव्य विषय भोगों में आसक्त होने के कारण अपने अन्तः करण में स्थित परम प्रिय सनातन आत्मा श्री हरि को नही जान पाते।"

ऐसा कह कर महाराज तुरन्त स्वर्ग से अवनि पर आये, मन को श्रीहरि के चरणों में लगाकर उन्होंने मर्मान्तिक वाणी में यह

बात कही थी—"मेरे कुलदेव ये विप्रवृन्द ही हैं, ये ही मेरे गुरु ज्ञानदाता, भयत्राता और सत्शिक्षा देने वाले है, इनसे बढ़ कर न मुझे राज्य प्यारा है न पत्नी, पुत्र, परिजन तथा अपने प्राण ही। मैं ब्राह्मणों की शरण हूँ उन्हीं के अनुग्रह से अच्युत के चरणों में मेरी अहैतुकी भक्ति उत्पन्न हो सकती है। मैंने जब से सुधि सम्हाली है, तब से जगत् में भगवान् को छोड़ कर अन्य किसी को नहीं निहारा। सर्वत्र उनको ही देखा है। मेरा मन कभी अधर्म में प्रवृत्त नहीं हुआ। मैंने सदा श्री हरि का ही सहारा लिया है।

मुझसे देवताओं ने आग्रह पूर्वक कहा था, आप जो भी चाहें वह दुर्लभ से दुर्लभ वर माँग लें, इच्छित भोगों की याचना करलें किन्तु मैंने उनसे कुछ भी याचना नहीं की। करता भी क्यों? इन क्षयिष्णु भोगों की प्राप्ति में लाभ ही क्या है। मन तथा ये समस्त इन्द्रियाँ अत्यन्त चञ्चल है। भोगों से इनकी कभी तृप्ति नहीं होती। अतः मैं इन भोगों की अब इच्छा न करूँगा। मैं माया जाल में न फसूँगा। मैं गन्धर्व-नगर तुल्य इन विषयों के चाकचिक्य मे प्रभावित न हूँगा। मैं त्याग का आश्रय लेकर जगत्कर्ता जगदीश की भावना से मन को उन्हीं में लगाऊँगा। उन्ही के शरण मे जाऊँगा।

श्री महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन्! एक मुहूर्त में ही महाराज खडवाङ्ग ने परम पद कैसे प्राप्त कर लिया। इस विषय मे मुझे बड़ा सन्देह है?"

अत्यन्त आवेश के साथ श्री शुक ने कहा—"राजन्! इसमे आश्चर्य की कौन सी बात है, मैंने तो आपसे आरम्भ में कहा था कि महाराज खटवाङ्ग तो मुहूर्त मात्र में तर गये, तुम्हारी तो अभी सात दिन की अवधि है। अन्त समय क्षणमात्र भी मन

भली भाँति भगवान् में तन्मय हो जाय तो उसका बेड़ा पार ही समझो। जब महाराज को यह दृश्य प्रपञ्च मिथ्या और स्वप्न वत् प्रतीत होने लगा तब देहादि में आत्मबुद्धि रूप अज्ञान को परित्याग करके अपने आप में ही स्थित हो गये। अर्थात् वे भगवान् वासुदेवमय हो गये जो सत्य स्वरूप परब्रह्म और अति-सूक्ष्म तथा अति स्थूल है जो इस सम्पूर्ण ससार में सर्वत्र व्याप्त हैं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज खडवाङ्ग परम पद को प्राप्त हुए तो उनके पुत्र महाराज दीर्घबाहु राजा हुए। इन दीर्घबाहु का ही दूसरा नाम दिलीप है, इन दिलीप ही के पुत्र राजर्षि रघु हुए। ये इतने प्रतापी हुए कि इक्ष्वाकु वंश इनके अनन्तर रघुवशी कहलाने लगे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन् ! मुझे महा-राज रघु और उनके वश के मुख्य मुख्य राजाओं का चरित्र सुनाइये।"

यह सुनकर आँखों में आँसू भरकर श्रीशुक बोले—"राजन् ! अब मैं तुम्हें रघुवंश चरित्र सुनाता हूँ। आप श्रद्धा से सुने।"

छप्पय

जानी एक मुहूर्त आयु सब जग बिसरायो।
करिकें ध्यान अखण्ड परम पद नृप ने पायो॥
तिनके पुत्र दिलीप यशस्वी दीर्घबाहु वर।
सन्तनि बिनु अति दुखित गये निबसें जहँ गुरुवर॥
महिषी संग सुदक्षिणा, लिये जाय गुरु पद गहे।
आशिष दै निज शिष्यतें, वचन मुदित मन गुरु कहे॥

महाराज रघु के वंश की कथा

(६४६)

खट्वाङ्गाद्दीर्घ बाहुश्च रघुस्तस्मात्पृथुश्रवाः ।
अजस्ततो महाराजस्तस्माद्दशरथोऽभवत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ०, १ श्लोक)

छप्पय

गौ सेवा ते पुत्र होहिं यह मैंने जानी ।
करि सादर स्वीकार नन्दिनी सेवा ठानी ॥
कृपा नन्दिनी करी भये रघु विकुल भूपन ।
रघु के अज सुतभये तनिक जियमहँ नहिं दूपन॥
अज अति अनुपम नृप भये, इन्दु मती ने जो वरै ।
एक छत्र जग महँ नृपति,अगणित मख जितने करै॥

कितने वंश इस पृथिवी पर होते है, कितने नष्ट हो जाते हैं, किन्तु वह कुल प्रशंसनीय पूजनीय और वन्दनीय हैं जिसमें पुराण पुरुष ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर मानवीय क्रीड़ायें की हैं।

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! खट्वाङ्ग के पुत्र दीर्घबाहु (दिलीप) हुए उन महायशस्वी के रघु, उनके अज और अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए।"

जिस कुल के पुरुषों को उन्होंने पिता पितामह प्रपितामह, पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्र आदि कहा है। प्रभु के कौन पिता पितामह, वे तो चराचर जगत् के पिता है, सबके जनक है, किन्तु वे सम्बन्ध स्थापित न करें तो संसार में सरसता कैसे आवे। संसार का अस्तित्व न मानकर एक निर्गुण निराकार ध्यान यह देहवाला प्राणी कैसे कर सकता है। देहधारी देहधारी से ही प्रेम करेगा। प्रेम प्राय: एक योनिवालों में ही होता है, सम्बन्ध प्राय: सब जाति में ही होता है। जब तक भगवान् से सम्बन्ध न होगा—ब्रह्म सम्बन्ध संस्कार की दीक्षा न ली जायगी—तब तक भक्ति का प्राकट्य कैसे हो सकता है। सम्बन्ध तभी संभव है, जब सर्वेश्वर सर्वात्मा हमारे बीच में अवतरित हों। भगवान् का अवतार उसी कुल में होगा, जिसकी वंश परम्परा विशुद्ध हो, जिस वंश के लोग धर्म रक्षा के लिये सदा प्राण देने को उद्यत रहते हों, ऐसा विशुद्ध वंश सूर्यवंश ही है। जो पुण्य श्लोक परम प्रतापी महाराजाधिराज श्री रघु के उत्पन्न होने से रघुवंश कहाया जिसके कारण हमारे जानकी जीवन धन रघुवर, रघुनाथ रघुनन्दन, राघव, रघुकुलतिलक, रघुकुलकेतु, राघवेन्दु आदि कहलाये।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! पुण्य श्लोक राजर्षि खट्वांग के पुत्र परम यशस्वी दीर्घबाहु हुए जिनका दूसरा नाम दिलीप भी था। महाराज दिलीप का विवाह मगधनन्दिनी सुदक्षिणा देवी के साथ हुआ सुदक्षिणा को पाकर राजा उसी प्रकार प्रमुदित हुए जैसे छोटे यज्ञ में भूरि दक्षिणा पाकर ब्राह्मण प्रमुदित होते हैं। महारानी सुदक्षिणा जितनी ही सुन्दरी सुकुमारी थी उतनी ही साध्वी तथा सरल हृदय थीं। वे अपने पति को प्राणों से भी अधिक

प्यार करतीं। अपने अनुकूल पति प्राणपत्नी को पाकर पृथिवी पति दिलीप परम प्रसन्न थे। वे सप्तद्वीपा वसुमति के स्वामी थे, उनके राज्य मे समय से वर्षा होती थी, ब्राह्मण सब विधि-पूर्वक अग्नि में हवन करते थे। चारों वर्ण के लोग स्वधर्म पालन में निरत थे। गौएँ यथेष्ट दूध देती थी, स्त्रियाँ अपने पतियों से प्रेम करती थी। कोई भूल कर मन से भी पर पुरुष का चिन्तन नही करती थी। पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करते, शिष्य आचार्य की शिक्षा शिरोधार्य करते। असमय में किसी की मृत्यु नही होती थी, विधवाओं के दर्शन भी दुर्लभ थे। राजा के सभी सेवक चतुर और स्वामिभक्त थे। उनके सचिव सदा राज्य का कल्याण चाहते थे, महाराज का कोष अटूट था, उनका कोई शत्रु नही था, सभी ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, इतना सब होने पर भी महाराज सुखी नहीं थे। उनके कोई सन्तान नही थी। अब आगे मनुवंश कैसे चलेगा। इक्ष्वाकुकुल का प्रभाव कैसे होगा। यही चिन्ता उन्हे सदा लगी रहती थी। उनकी पत्नी सुदक्षिणा सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त थी, वन्ध्यापने के कोई भी चिन्ह उसमें नही थे, फिर भी आज तक उसके कोई सन्तान नही हुई, इसलिये उसका भी कमल मुख सदा म्लान बना रहता था।

पती पत्नी ने परस्पर में एक दूसरे की चिन्ता का अनुभव किया। एक दिन राजा ने कहा—"प्रिये! अभी तक हमारे कोई वंशधर पुत्र उत्पन्न नही हुआ। हम अपने कुल गुरु भगवान् वसिष्ठ के समीप चलकर इसका कारण पूछें और वे जो इसके लिये उपाय बतावें वही करें।

रानी ने राजा की बात का अनुमोदन करते हुए कहा—"प्राण

नाथ ! मैं भी बहुत दिनों से यही सोच रही थी, किन्तु सङ्कोच-वश कुछ कह न सकी।"

अपनी पत्नी की भी इच्छा समझ कर महाराज ने तुरन्त अपना रथ मगाया और वे रानी के सहित रथ में बैठ कर चलने लगे। उनके चलते ही आगे पीछे रक्षा के लिये विशाल सेना चली राजा ने कहा—"मेरे साथ सेना की आज कोई आवश्यकता नही। आज मैं अपने गुरुदेव के आश्रम पर जा रहा हूँ। वहाँ मैं अकेले ही जाऊँगा।"

राजा की आज्ञा पाकर सेवक लौट गये। रानी के साथ हंसते खेलते, उन्हें भाँति-भाँति के वृक्ष, फल, फूलों को दिखाते उनका परिचय कराते हुए राजा वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर पहुँचे। रथ की घरघराहट सुन कर छोटे-छोटे मुनि कुमारो ने दौड़ कर रथ को घेर लिया। कोई उछलने लगे, कोई कूकने लगे। मयूर मेघ की गड़-गड़ाहट समझ कर चिल्लाने लगे। आश्रम के मृग चकित दृष्टि से निहारने लगे, वृक्षो पर बैठे पंछी कलरव करने लगे। राजा ने प्रथम उतर कर रानी को उतारा और वे आश्रम की उटजों को निहारते हुए यज्ञ के धूएं को लक्ष करके जा रहे थे, उनके पीछे अपने वस्त्रों को सम्हालती, घूँघट में से एक आँख से निहारती हुई सुदक्षिणा उसी प्रकार चल रही थीं जिस प्रकार सायंकाल मे पुरुष के पीछे पीछे छाया चलती है।

गुरु अग्निहोत्र करके अपने शिष्यों से घिरे यज्ञ वेदी के समीप एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे थे। राजा ने अपने बड़े बड़े विशाल हाथों की कोमल गद्दियों से जिनमें धनुष की ठेक पड़ी हुई थी उनसे—मुनि के पैर पकड़े और अपने चमचमाते हुए मणिमय मुकुट की प्रभा को उनके नख की ज्योति में मिला

दिया। भगवान् वशिष्ठ ने उठ कर महाराज दिलीप का आलिङ्गन किया, उनका सिर सूंघा और कुशल पूछी। तब राजा ने भगवती अरुन्धती के चरण छुए। तदनन्तर लजाते हुए रानी ने मुनि के चरणों में प्रणाम किया और वे देवी अरुंधती की वन्दना करके उनके समीप बैठ गईं।

कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ ने पहिले तो राजा के राज्य, कोष, मन्त्री पुरोहित तथा प्रजा की कुशल पूछी तदनन्तर राजा के आगमन का कारण जानना चाहा।

राजा ने अपनी कुशल बता कर मुनि के तप, आश्रम, मृग, पक्षी, अग्नि वृक्ष तथा पौधों की कुशल पूंछकर अपने आने का यथार्थ कारण बताया।

मुनि ने सब सुन कर कुछ देर ध्यान किया और बोले—"राजन्! मैं तुम्हें पुत्र नहीं दे सकता। हाँ, यदि मेरी अग्निहोत्र की गौ-नन्दिनी चाहे तो पुत्र दे सकती है।" राजा यह सुन कर उदास हुए। इतने में ही नन्दिनी वन से चर कर लौटी राजा ने उठ कर नन्दिनी को प्रणाम किया और वह अपने बच्चे के पास दौड़ कर चली गई।"

मुनि ने कहा—"राजन्! आप धेनु व्रत करें। निरन्तर धेनु का ही अनुगमन करें, उसी की इच्छा मे अपनी इच्छा सम्मिलित कर दे उसी की चर्या में अपनी चर्या मिला दें, तो वह तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण कर सकती है।"

गुरु आज्ञा स्वीकार करके राजा ने रानी सहित नन्दिनी की सेवा आरम्भ कर दी। वे प्रातः काल दुही जाने पर गौ को लेकर अरण्य में जाते। उसके मार्ग में बाधा न देते। जिधर वह जाती

उधर ही उसके पीछे-पीछे वे जाते। जहाँ खड़ी हो जाती, खड़े हो जाते। बैठ जाती तो स्वयं भी बैठकर उसे खुजाने लगते। हरी-हरी कोमल दूब उसे उखाड़-उखाड़ कर खिलाते। जब वह चर कर सायंकाल को आश्रम को लौटती तो उसके साथ-साथ लौट आते। वे एक वस्त्र से उसके मक्खी मच्छरों को उड़ाते रहते।

एक दिन नन्दिनी चरती हुई एक गहरी गुफा में चली गई वहाँ एक सिंह ने उसे पकड़ लिया। राजा ने धनुष पर बाण चलाया, किन्तु सब व्यर्थ। राजा का हाथ स्तम्भित हो गया। सिंह ने हँसते हुए राजा को मानवीय भाषा में अपना परिचय दिया कि मैं गौरीजी का मानसपुत्र हूँ, उनके वृक्ष की रक्षा के लिये यहाँ नियुक्त हूँ, जो यहाँ आ जाता है मेरा आहार हो जाता है, अब मैं इस गौ को छोड़ूँगा नहीं।" राजा ने सिंह की बहुत अनुनय विनय की, किन्तु वह माना नहीं। तब राजा ने कहा—"अच्छी बात है, तुम गौ को छोड़ दो, मुझे खा लो।" सिंह ने इस बात को स्वीकार किया। महाराज ज्यों ही सिंह के सम्मुख लेटे त्यों ही नन्दिनी हँस पड़ी। वहाँ न सिंह था न गुफा। नन्दिनी सुख से अरण्य में खड़ी थी। राजा को जब आश्चर्य चकित देखा, तब नन्दिनी बोली—"राजन् ! आज आप शापमुक्त हुए। एक बार आप स्वर्ग से अपनी राजधानी को आ रहे थे, मेरी माँ कामधेनु कल्पवृक्ष के नीचे बैठी जुगार कर रही थी, तुम्हें अपनी पत्नी के ऋतुकाल की चिन्ता थी। सुदक्षिणा का ऋतुस्नान व्यर्थ न हो यही आप सोचते जाते थे। मेरी माँ को आपने न तो प्रदक्षिणा की न उन्हें प्रणाम किया। इसीलिये उन्होंने तुम्हें शाप दिया था, कि जब तक मेरे वंश की सेवा न करोगे तब तक तुम्हारे कोई सन्तान न होगी

तुमने प्राणों का पण लगाकर मेरी रक्षा की। अतः अब मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ, तुम्हारे विश्वविजयी धर्मात्मा तीनों लोकों में विख्यात कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाला बलवान् पुत्र उत्पन्न हो।"

नन्दिनी को ऐसा आशीर्वाद पाकर प्रजानाथ परम प्रमुदित हुए। जब वे नन्दिनी को लेकर लौटकर गुरु आश्रम में आये। गुरु उनकी आकृति से ही समझ गये। कार्य पूरा हो गया। राजा-रानी परम प्रसन्न हुए। उन्होंने विधिवत् हवन करके समस्त आश्रम वासियों का भण्डारा किया और गुरु से आज्ञा लेकर गुरु,अग्नि,अरुन्धती तथा नन्दिनी को प्रणाम करके वे अपनी राजधानी में लौट आये। समय पर सुदक्षिणा गर्भवती हुई और दशवें महीने में उन्होने एक पुत्र रत्न का प्रसव किया, जिसका गुरु वसिष्ठ ने रघु ऐसा नाम रखा आगे चलकर इन्ही महाराज के नाम से इक्ष्वाकुवंश रघुवंश के नाम से विख्यात हुआ।

महाराज दिलीप ने बड़े-बड़े यज्ञ किये। सभी प्रकार के दान दिये, गुरुजनों का सम्मान किया। अन्त में राजभार महाराज रघु को सौंप कर वन के लिये चले गये।

महाराज रघु ने अपने गुणों से समस्त प्रजा को उसी प्रकार अपने प्रेमपाश में बांध लिया जैसे पति अपनी पत्नी को अत्यन्त सत्कार और प्रेम के द्वार अपने अधीन कर लेता है, उसके हृदय पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। महाराज रघु इतने परोपकारी थे, कि परोपकारव्रती साधु भी उनके सम्मुख लज्जित हो जाते। वे इतने बड़े विद्वान् थे, कि वेदवाद विप्रगण भी उनसे गूढ़ विषयों में परामर्श करने आते। वे इतने सुन्दर थे, कि कामदेव भी उनके सम्मुख संकोच वश मुंह

न दिखाते। वे इतने यशस्वी थे, कि उनके यश के सम्मुख समस्त रंग फीके पड़ गये। तीनों भुवन इनकी यश की शुभ्रता से शुभ्र हो गये। वे इतने तेजस्वी थे, कि सूर्यदेव उनके महल के मार्ग को बचाकर ही खिसक जाते। उनकी दृष्टि को बचा कर ही अस्ताचल की ओर चल जाते। वे इतने धर्मात्मा थे कि बड़े बड़े धर्म प्राण मुनि भी उनकी धर्म निष्ठा के सम्मुख नत मस्तक हो जाते। वे इतने उदार थे, कि कुबेर भी उनसे भयभीत हो जाते, वे इतने यज्ञप्रिय थे, कि हवि-खाते खाते अग्नि को भी अजीर्ण हो गया। अश्विनी कुमारों की सम्पूर्ण पाचन की औषधियाँ समाप्त प्राय: हो गईं। वे इतने दानी थे, कि अपना सर्वस्व दान करके भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। तभी तो आज रघुवंश संसार में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। उनके दान के सम्बन्ध की पुराणों में एक बड़ी प्रसिद्ध कथा है।

जिन दिनों महाराज रघु अयोध्या पुरी में राज्य करते थे, उन्हीं दिनों वरतन्तु नामक महर्षि अरण्य में रहकर यज्ञयागादि पुण्य कर्म किया करते थे। महर्षि के समीप बहुत से शिष्य अध्ययन करने आया करते थे। उन्हीं शिष्यों में से एक कौत्स नामक शिष्य थे। कौत्स मुनि बड़े ही सदाचारी गुरुभक्त तथा शील सम्पन्न थे। उनकी गुरु सेवा से महर्षि वरतन्तु अत्यन्त ही सन्तुष्ट थे। जब वे अपनी विद्या समाप्त कर चुके तब उन्होंने गुरु से गुरु दक्षिणा के लिए प्रार्थना की।

गुरु ने कहा—"भैया, तैने हमारी मन लगा कर सेवा की है, यही तेरी गुरु दक्षिणा पर्याप्त है तू एक गौ देकर नियमानुसार विवाह करके गृहस्थी हो जा और गुरु दक्षिणा की आवश्यकता नहीं।"

कौत्स ने कहा—"नहीं, गुरुदेव ! ऐसे कैसे हो सकता है। मैं तो आप की कोई श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सेवा करना चाहता हूँ। मैंने आप से १४ विद्यायें पढ़ी है अतः मुझे कोई उत्तम गुरु दक्षिणा देनी चाहिये। आप आज्ञा करें।"

गुरु ने कहा—"भैया ! सेवा से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं। धन आदि तो अत्यन्त तुच्छ और नश्वर पदार्थ हैं। गुरु-दक्षिणा का अर्थ यही है, कि विद्यादाता गुरु संतुष्ट होकर हृदय से आशीर्वाद-दे, कि विद्या फलवती हो। सो, मैं तुम्हारी सेवा से ही सन्तुष्ट होकर तुम्हें आशीर्वाद दे रहा हूँ।"

कौत्स को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा—"नहीं गुरुदेव ! आप मुझे कोई सेवा अवश्य बतावें।"

अब तो गुरु को क्रोध आ गया वे बोले—"अच्छी बात है। तुम ने मुझ से १४ विद्यायें पढ़ी हैं। अतः १४ करोड़ सुवर्ण मुद्रायें लाकर मुझे दो।"

गुरु की ऐसी आज्ञा सुनकर कौत्स ने उनके पादपद्म में प्रणाम किया और वे धन की खोज मे चल दिये।

सूतजी कहते है--"मुनियो ! जिन दिनों की मैं बात कह रहा हूँ, उन दिनो गुरु के निमित्त दक्षिणा देने वाले स्नातक ब्रह्मचारी और कन्या को दान देने वाले पिता जहाँ भी जिससे याचना करने जाते वहाँ से विमुख नहीं लौटते थे। सभी लोग शक्ति भर उनका सम्मान करते थे। कौत्स मुनिने देखा १४ करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ मुझे अयोध्याधिपति महाराज रघु के अतिरिक्त कोई राजा नहीं दे सकता। यही सोचकर वे अयोध्या की ओर चले।"

उन्हीं दिनों महाराज रघु ने विश्वजित नाम का यज्ञ किया था। उसमें उन्होंने अपना सर्वस्व दानकर दिया था। यहाँ तक कि अपने वस्त्र आभूषण, धातुओं के पात्र भी ब्राह्मणों को दे दिये थे। अब वे मिट्टी के पात्रों में ही खाते थे। भूमि पर सोते थे। जब कौत्स मुनि गये तब राजा ने मिट्टी के पात्र से उनके पैर धोये और कुशासन पर बिठाकर सत्कार किया।

राजा ने बड़े आदर से कहा—"ब्रह्मन् ! आप कहाँ से पधारे?"

कौत्स बोले—"राजन् ! मैं भगवान् वरतन्तु के आश्रम से आ रहा हूँ, उन्हीं का मैं शिष्य हूँ।"

अत्यन्त ही आह्लाद के साथ राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरा अहोभाग्य ! धन्यवाद ! धन्यवाद ? जो आपने मेरे ऊपर कृपा की। भगवान् वरतन्तु मेरे ऊपर बड़ी कृपा रखते हैं। कहिये, आश्रम में सब कुशल है न ? आपके आसपास निम्नी के चावल श्रेष्ठ होते हैं न ? मुनियों को वह अन्न बड़ा मीठा होता है। बिना जोते बोये वे चावल आपसे आप उत्पन्न होते हैं, हल बैलों से पृथिवी जोती नहीं जाती, जल के समीप यह मुनि अन्न स्वतः होता है। जिन मुनियों के पुत्र नहीं होते,वे वृक्षों का पालन पुत्रों के समान करते हैं। मैंने भगवान् वरतन्तु का आश्रम देखा था उन्होंने थालें बना बनाकर बहुत से वृक्ष लगाये थे। अब तो वे बड़े हो गये होंगे ? उन पर फल भी आने लगे होंगे। मुनियों के आश्रम में मृग स्वच्छन्द विहार करते हैं। आपके मृगों को कोई बाधा तो नहीं देता। आपके आश्रम में बड़े बड़े सघन वृक्ष हैं न ? जिनके नीचे पथिक बैठकर अपना श्रम दूर कर सकें। आपके आश्रम में जल की कमी तो नहीं ? गंगाजी की धारा दूर तो नहीं चली गई ? लतायें यथेष्ट फूल देती है न ? अतिथियों

का भली भाँति सत्कार तो होता है ? अन्न की याचना करने वाले कोई विमुख क्यों लौटते होंगे, जब भगवान् वरतन्तु वहाँ उपस्थित हैं। कहिये, भगवान् ने मेरे लिये कोई आदेश तो नहीं दिया है। आप उनका सन्देश लेकर आये हैं, या वैसे ही मुझे कृतार्थ करने चले आये हैं ? यदि आप मुझे दर्शन ही देने आये हैं, तब तो कोई बात नहीं। यदि आप किसी प्रयोजन से आये हों, तब आप उसे मुझे बताइये।"

कौत्स बोले—"राजन् ! मुझे मेरे गुरुदेव ने आप के पास नहीं भेजा है। मैं स्वयं ही आया हूँ। अब मैंने विद्या समाप्त करली है, अब मैं स्नातक बनकर गृहस्थी होना चाहता हूँ।"

राजा ने उल्लास के साथ कहा—"हाँ ब्रह्मन् ! अब तो आपकी गृहस्थी बनने की अवस्था ही है। जिस आश्रम से प्राणि मात्र का उपकार होता है, उस गृहस्थाश्रम को जब आप जैसे योग्य विद्वान् ही न स्वीकार करेंगे, तब तो यह आश्रम विषय वासना का क्रीड़ास्थल ही बन जायगा। गुरु ने आप को आज्ञा दे दी यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। मैं आप का कौन सा प्रिय कार्य करूँ ?"

कुछ सकुचाते हुए कौत्स बोले—"राजन् ! मुझे गुरु दक्षिणा देनी थी। मैं कुछ द्रव्य की इच्छा से आप के समीप आया था। किन्तु दुर्भाग्य से मैं पीछे पहुंचा आप तो अब अपना सर्वस्व दान कर चुके। स्वयं ही आप मिट्टी के पात्रों का प्रयोग कर रहे हैं। फिर सुवर्ण कहाँ से देंगे। अब मैं किसी दूसरे धनी का द्वार खटखटाऊँगा। दूसरे से याचना करूँगा। यह कह कर कौत्स उठ खड़े हुए।"

यह देखकर राजा ने मुनि का मार्ग रोकते हुए कहा—"ब्रह्मन्! ऐसा न होगा, रघु के द्वार से कोई निराश नहीं लौट

सकता। रघु के सम्मुख याचना करने वालों को फिर अन्यके यहां याचना करने की आवश्यकता नहीं।"

कौत्स ने आश्चर्य के साथ कहा—"राजन्! आप इतना द्रव्य कहाँ से देंगे?"

राजाने कहा—"जहाँ से भी शीघ्र मिल सकेगा वहीं से दूँगा।"

कौत्सने कहा—"शीघ्र तो कुबेर के भंडार से इतना सुवर्ण मिल सकता है।"

राजा बोले—"अच्छी बात है, कुबेर पर ही चढ़ाई करूँगा। आप एक दिन विश्राम तो करें।"

राजा के आग्रह को मुनि टाल न सके। वे अग्नि होत्रशाला में चतुर्थ अग्नि के समान पूजित होकर सुख पूर्वक रहे। राजा ने कुबेर पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। धन कुबेर रघु के यश पराक्रम से पहिले से ही शंकित थे। जब उन्होंने उनके संकल्पको जाना, तब तो वे डर गये। चुपके से रात्रि में वे उनके कोष को सुवर्ण से भर गये। प्रातःकाल ज्यों ही उन्होंने अपना रथ तैयार किया, त्यों ही सचिवों ने सूचना दी, कि सुवर्ण से सम्पूर्ण कोष भरा पड़ा है। राजा यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"समस्त सुवर्ण को ऊँटों पर, छकड़ों में लदवाकर मुनि के साथ भिजवा दो।"

कौत्स उस अटूट सुवर्ण की राशि को देखकर डर गये और आग्रह पूर्वक बोले—"राजन्! मैं इतने धन को कभी न लूँगा। इतना सुवर्ण लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे तो १४ करोड़ सुवर्ण-मुद्रायें ही चाहिए।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन ! यह तो आप के ही निमित्त है, इस में से मैं धेला भर भी अन्य किसी काम में व्यय न करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसका नाम है उदारता। रघु जैसे दाता धन्य है जो याचक की याचना से असंख्यों गुना धन देने का आग्रह करते है और कौत्स जैसे संतोषी ब्राह्मण धन्य हैं जो आवश्यकता से अधिक लेना ही नहीं चाहते।"

धन लेकर कौत्स मुनि ने राजा को आशीर्वाद दिया, कि आप के लोकपितामह ब्रह्मा के समान पुत्र हों।"

मुनि का हार्दिक आशीर्वाद तुरन्त सफल हुआ दसवें महीने में रघु की रानी ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया, जिसका नाम अज रखा गया।"

कुमार अज बड़े ही सुन्दर थे। ऐसा लगता था मानों सौन्दर्य, स्वयं साकार होकर रघु के यहाँ उत्पन्न हुए है। कुमार अज जब बड़े हुए तब विदर्भ देश के राजा भोज की बहिन इन्दुमती के स्वयम्बर में गये। तब सभी राजकुमार उसी प्रकार निराश हो गये। जिस प्रकार धनी को किसी मनोनुकूल वस्तु को क्रय करते देखकर दूसरे साधारण ग्राहक निराश हो जाते हैं। स्वयम्बर की सभा में जब वरको खोजती खोजती इन्दुमती इनके सम्मुख आई, तो वह इनके सम्मुख उसी प्रकार अड़कर खड़ी हो गई, जैसे चकोरी चन्द्रमा के सामने अड़ जाती हैं, भ्रमरी आम के मौर से जाना नही चाहती, मछली अगाध जल से निकलना नहीं चाहती। जैसे कृपण धन को नही छोड़ना चाहता, जैसे कथा वाचक की दृष्टि चढ़ावे पर लगी रहती हैं,वैसे ही उसकी दृष्टि अज के रूप में लग गई। उसके आग्रह को देखकर उपस्थित राजाओं में से एक अज को छोड़कर सभी को दुःख हुआ। सभी ने उसे पगली

समझा। उसके निर्णय को निन्दित माना किन्तु अज के सम्मुख वे कुछ कह न सके। अज और इन्दुमती उसी प्रकार मिल गये जैसे हिमालय के घर शिवपार्वती मिल गये थे।

दूर्वा के धागे मे महुए के पुष्पों की गुथी माला के साथ अपना हृदय भी इन्दुमती ने अज को अर्पित किया। अज के वक्षस्थल में पड़ी वह जयमाल उसी प्रकार हिल रही थी, जिस प्रकार नववर का हृदय प्रथम मिलन में हिलता है। उस समय लजाती हुई इन्दुमती के साथ जाते हुये कुमार उसी प्रकार शोभित होते थे मानो लज्जा के साथ कामदेव कहीं जा रहा हो। इन्दुमती इतनी सुन्दर थी कि अज ने अपना सर्वस्व उन्हें अर्पित कर दिया था। उसके सौंदर्य को देखकर सुर सुन्दरियाँ भी सकुचा जाती थीं। वह अपने पति को इतना प्यार करती थी, कि उनके बिना एक क्षण भी उसे असह्य हो उठता।

जब अज ने आकर इन्दुमती के सहित अपने पिता को प्रणाम किया, तो इन्दुमती को महाराज ने पुत्रवती होने का वर दिया और मुँह दिखाई में अपना सम्पूर्ण राज पाट और कोष उसे दे दिया। इस प्रकार मानों अपनी पुत्रवधू को ही पृथिवी देकर रघु तपस्या करने वन मे चले गये।

इन्दुमती ने कहा—"भरण करने से पति का नाम भर्ता भी है। आप जैसे मेरा भरण पोषण करते हैं। वैसे ही मेरी सखी इस पृथिवी का भी पालन कीजिये। मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं। मेरे तो एकमात्र धन आप ही हैं।"

अज ने कहा—"प्रिये! मुझे पृथिवी पालने में कोई रस नहीं

ससारी सुखों में किसी प्रकार का अनुराग नहीं। मुझे तो एक मात्र तुम ही प्यारी हो पृथिवी का पालन मैं तुम्हारी ही प्रसन्नता के निमित्त कर सकता हूँ। तुम्हारी प्रसन्नता के लिये सब कुछ करने को तत्पर हूँ। इस प्रकार इन्दुमती को सिंहासन पर साथ विठा कर ही महाराज समस्त राज काज करते। वे उसे लेकर वनों में, उपवनों में, उपत्यकाओं तथा पर्वत कन्दराओं में घूमते। भाँति-भाँति से उसका मनोरञ्जन करते।

जब वह अपने शरीर को शिथिल करके सिर को अज की गोद में रख कर प्रेम से नेत्र बन्द कर लेती तब अज आत्मविस्मृत हो जाते, उन्हें तीनों लोकों के सुख तुच्छ दिखाई देते। इन्दुमती के अग से सौंदर्य फूट-फूट कर निकलता रहता। उसकी स्वाँस को सूँघ कर महाराज मदोन्मत्त से हो जाते। उसके कमल मुख को निहार कर सौदर्य को भी तुच्छ समझते। कालान्तर मे पिता का अशीर्वाद सफल हुआ। इन्दुमती गर्भवती हो गई, अब तो महाराज निरन्तर उसके मन को ही जोहते रहते। मेरी प्रिया को किस वस्तु से प्रसन्नता होगी, क्या करने से उसे सुख होगा। अब वह चलने में भी लड़खड़ाने लगी, मुख पर पीलिमा छा गई। उदर और स्तनों के भार से उसे उठने में भी कष्ट होने लगा। दसवें महीने में उसने एक पुत्र को जन्म दिया। जिसका गुरु वशिष्ठ ने "दशरथ" नाम रखा। इन्हीं दशरथ को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री राघवेन्द्र के पिता होने का देवदुर्लभ पद प्राप्त हुआ।

दशरथ के उत्पन्न होते ही अज, इन्दुमती तथा समस्त प्रजा के लोगों को परम प्रसन्नता हुई। यद्यपि रानी राजा का प्रेम पुत्र में बँट गया था, फिर भी अज और इन्दुमती के प्रेम में किसी प्रकार

का अन्तर नहीं पड़ा। यही नहीं वह उसी प्रकार और भी अधिक बढ़ गया, जिस प्रकार विदेश मे गये पति के लौटने पर पतिप्राणा का प्रेम और भी अधिक बढ़ जाता है। महाराज रात्रि दिन इन्दुमती को ही सोचते रहते थे। एक दिन वे अपनी प्रिया के साथ उपवनो में विहार कर रहे थे वे एक सुन्दर रमणीक स्थान मे सुख पूर्वक बैठकर अपनी प्रिया के साथ मधु से भी मधुर स्नेह से सिक्त आनन्द में पगी, अनुराग में भीगी, सरसता में सनी बातें कर रहे थे, कि उसी समय रामकृष्ण गुण गाते, संसारी जीवों को सुख का पाठ पढ़ाते, अपनी स्वर ब्रह्म विभूषिता वीणा को बजाते देवर्षि नारद वहाँ जा पहुँचे। उनकी वीणा के ऊपर कल्प वृक्ष के पुष्पों की माला टँगी हुई थी। राजा ने उठकर मुनि के पैर छूए, रानी ने मुनि की चरण वन्दना की। सहसा वीणाकी माला इन्दुमती के कमल से भी कोमल वदन से छू गई, ज्यों ही उसने दृष्टि उठा कर उस माला को देखा त्यों ही वह प्राणहीन होकर धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़ी, अपनी प्राणप्रिया की ऐसी दशा देख कर महाराज अज भी मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ काल में मूर्छा भङ्ग होने पर उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के अङ्ग को प्राणहीनावस्था में देखा, वह ऐसी लगती थी, मानों कमलिनी को किसी ने मसल दिया हो। राजा उसे मृतक देख कर पुनः मूर्छित हो गये और भाँति-भाँति से विलाप करने लगे। उसके मृतक शरीर को गोद में रख कर राजा बच्चों की भाँति फूट फूट कर रोने लगे। सभी सेवक, सचिव, सामन्त तथा सगे सम्बन्धी एकत्रित हो गये। रानी को मृत्यु से सब को बड़ा दुःख हुआ। किन्तु कोई कर ही क्या सकता था। काल के आगे किसकी चलती है। अन्त में सब ने रानी का दाह संस्कार किया। राजा इन्दुमती के वियोग में सदा दुखी बने रहते थे।

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पुष्प के छू जाने

से रानी की मृत्यु कैसे हो गई। यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।"

हँसते हुए सूत जी ने कहा—"महाराज! मृत्यु के लिये क्या आश्चर्य की बात। जब, जिसके द्वारा, जहाँ पर जिसकी जैसे मृत्यु बदी रहती है, तब वहाँ उसी के द्वारा वैसे ही मृत्यु हो जाती है। सबका समय और कारण पहिले ही निश्चित है। सहसा कोई काम नहीं होता। सहसा पत्ता भी नहीं हिलता। कार्य के गर्भ मे काल निहित रहता है। महाराज पूर्वकाल में तृण—विन्दु नामक एक राजर्षि घोर तप कर रहे थे, उनके तप से भयभीत होकर इन्द्र ने उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये हरिणी नामक अप्सरा को भेजा। वह मुनि के निकट आकर अपने हाव भावो को प्रदर्शित करती हुई मुनि के मन को मोहने का प्रयत्न करने लगी। मुनि उसके दूषित भाव को समझ गये। मुनि ने उसे क्रोध मे भर कर शाप दिया—"दुष्टे! तू स्वर्गीय अप्सरा होने योग्य नही, तू मनुष्य लोक में जाकर मानवी स्त्री बन जा।"

यह सुन कर हरिणी बड़ी घबड़ाई। डरते डरते उसने दोनों हाथों की अजलि बाँध कर मुनि से कहा—"प्रभो! मैं तो इन्द्र के द्वारा भेजी गई हूँ, मेरा इसमे क्या अपराध? आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये, मुझे स्वर्ग से भ्रष्ट न कीजिये।"

मुनि ने कहा—"मेरा वचन कभी भी अन्यथा नहीं हो सकता। हाँ, यह बात है, तुम्हारा जन्म मानवी योनि में अवश्य होगा, किन्तु फिर भी तुम्हारा सौंदर्य स्वर्गीय ललनाओं से भी बढ चढ़ कर होगा, जब तुम स्वर्गीय पुष्पों को देख लोगी, तभी पृथिवी छोड़कर स्वर्ग चली जाओगी और फिर तुम अप्सरा हो जाओगी।"

सूतजी कहते है – "मुनियों ! उसी हरिणीने शाप वश विदर्भ वंश मे जन्म लिया, वही महाराज अजकी पत्नी इन्दुमती थी। आज नारद जी की वीणा के ऊपर कल्पवृक्ष के पुष्पो की माला देखते ही वह मानवीय शरीर को त्यागकर स्वर्ग सिधार गई। रानी के मरने से राजा को जीने की तनिक भी इच्छा नही रही। फिर लोकलाज वंश कर्तव्य पालन की दृष्टि से वे जीते रहे। अब वे सदा उदास ही बने रहते थे। दशरथ के मुखको देख-देखकर वे निरन्तर इन्दुमती की स्मृति में रोते रहते। स्वप्न में उसका साक्षात्कार करके बडे प्रसन्न होते। इस प्रकार पिता के सरक्षण मे दशरथ बढ़ने लगे। कुछ काल मे ही बाल्यावस्था त्यागकर चली गई। अब युवावस्था ने उनके शरीर पर अधिकार स्थापित कर लिया पुत्र को युवावस्था में पदार्पण करते देख कर जो राजभार उन्हे यथार्थ में भार प्रतीत हो रहा था, उसे कुमार दशरथ के कोमल कंधोंपर शीघ्रता से डालकर वे सरयू के किनारे किनारे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ जाकर सरयू भगवती भागीरथी मे मिलती हैं। वही रहकर और अनशन व्रत करके महाराज अजने अपने इस पाँचभौतिक शरीर को त्याग दिया।"

पिता के परलोक पधारने के अनंतर महाराज दशरथ समस्त प्रजा का पुत्रवद् पालन करने लगे। उनकी कीर्ति दशों दिशाओं में व्याप्त हो गई। उन्होंने दिग्विजय करके समस्त जीती हुई पृथिवी को पुनः जीत लिया। उन्हे राजा पाकर प्रजा पहिले राजाओं को भूल गई।

सूतजी कहते हैं—' मुनियों ! इन्ही पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ श्री राम अवतरित हुए। अब आप श्रीराम चरित्र को श्रद्धा भक्ति के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

अजके दशरथ पुत्र यशस्वी अति ई पावन।
जिनके यशतें विमल धवल अब तक यह त्रिभुवन ॥
भूपति परम उदार दान बहु विप्रनि दीन्हे।
भूरि दक्षिणा युक्त विपद मख जिन बहु कीन्हें ॥
देवासुर संग्राम महँ, असुर पराजित जिन करे।
दिव्य अस्त्र आघातते, अगनित सुर कटक मरे ॥

श्रीराघवेन्दु का प्रादुर्भाव

(६५०)

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशांशेन चतुर्धागात्पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ०, २ श्लोक)

छप्पय

सब सुख नृपके निकट पुत्र बिनु परि अति चिंतित ।
रानी सब सुत रहित वंशधर बिनु अतिदुःखित ॥
विनती गुरु तें करी रचायो मख सुतके हित ॥
ऋष्य ऋङ्ग पुत्रेष्टि यज्ञ करवायो प्रमुदित ॥
बढ्यो भूमि को भार बहु,सुर सब मिलि हरिढिंग गये ।
सेतु करन भव उदधि पै, अज अच्युत प्रकटित भये ॥

यह संसार सागर अगाध है, इसकी थाह नहीं । पार जाने का कोई निश्चित एक मार्ग नहीं । जीवका पुरुषार्थ स्वल्प है । इसका सर्वज्ञ स्वामी उसपार बैठा बैठा हँस रहा है ।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन महाराज दशरथ के यहाँ देवताओं की प्रार्थनापर साक्षात् ब्रह्ममय श्रीहरि अंशांश से चार रूपों से अवतरित हुए ।"

जीव पार जाना चाहता है, क्योंकि आधी शक्ति उसी पार है यदि इसका स्वामी जीव के पुरुषार्थ से नहीं अपनी ही अहैतुकी कृपा से इस पार आकर जीवों जैसा ही बन जाय। हममें ही घुल मिल जाय और फिर उस पार के लिये सेतुबांध दे। हमें भी साथ लेकर उत्साह देता रहे, तो उन्हीं की कृपा से हम उस पार जा सकते हैं। भगवान् के अवनि पर अवतरित होने के अन्य हेतु गौण है। उनके अवतार का मुख्य प्रयोजन अपनी लीला रूपी सामग्रियों से संसार का सेतु बाँधना है जिससे सर्वसाधारण पुरुष भी सुख सहित उस पार पहुँच जायँ। उनका जन्म कर्म बन्धनों से बँधकर नहीं, वह तो क्रीड़ा के लिये, कृपा के लिये, मर्यादा स्थापना के लिये, लोक संग्रह के लिये संसार के उद्धार के लिये, तथा करुणा मैत्री आदि सद्गुणों के प्रसार के लिये होता है। भगवद्चरित्रों को मानवीय कसौटी पर कसने वाले के हाथ कुछ भी न लगेगा। उन्हें तो सर्वज्ञ सर्व समर्थ सर्वेश्वर के ही चरित्र मान कर पढ़ना सुनना और मनन करना चाहिये।

जब सूतजी ने श्रीरामचरित्र का नाम लिया तब तो शौनकादि ८८ हजार ऋषियों के शरीर में रोमाञ्च होने लगे और उनके नेत्रों में जल भर आया और गद्गद् वाणी से आँसुओं को पोंछते हुए बोले–"सूतजी ! हमने भगवान् वाल्मीक के मुख से श्रीराम चरित्र एक बार नहीं कई बार सुना है। महाभाग! जब श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ किया था और लव तथा कुश ने आकर श्रीराम जी के सम्मुख रामायण का गान किया था, वह भी हमने श्रीराम के साथ बैठ कर सुना था, किन्तु सच्ची बात यह है कि हमारी रामचरित्र से तृप्ति नहीं हुई। भगवान् शुक ने तो महाराज परीक्षित् को श्रीराम चरित्र संक्षेप में सुनाया

होगा। वे ऐसा करने को विवश थे, क्योंकि उन्हें ७ दिनों में ही सब कथा सुनानी थी। सब शास्त्रों का सार सार निकाल कर उन्होंने सबकी बानगी राजा को चखाई और सबका पर्यवसान अन्त में कृष्ण कथा में कर दिया। किन्तु सूतजी ! हमें तो कोई समय का बन्धन नहीं। हमतो दीर्घजीवी हैं। अवतार कथा ही हमारा आहार है। उसे ही खाकर हम जीते हैं। सूर्यवंश के राजाओं की नीरस कथायें हमने चुपचाप इसीलिये सुनली कि इनका सार अन्त में निकलेगा। नही तो सूतजी ! उस राजा को यह रानी हुई वह राजा उस राजकुमारी पर आसक्त हो गया। उसने स्वयम्बर में उसे माला पहिना दी, उसने युद्ध में उसे मार दिया। वह अप्सरा इतनी सुन्दर थी। उस मुनिने यह गड़बड़ सड़बड़ कर दी। उस राजा का यह पुत्र हुआ, यह पौत्र हुआ इन व्यर्थ की बातों से हम त्यागी विरागी साधुओं को क्या प्रयोजन? अजी हमतो भगवान् का प्रेम पूर्वक प्रसाद पाते हैं और भगवान् के नाम तथा यश का श्रवण और गायन करते हैं। हमारा तो मूल मन्त्र है।

"भगवद् भजन पेट को धंधो। और करै सो पूरो अंधो।' मनु से लेकर दशरथ तक के राजाओं की कथा हमने इसी आशा से सुनी कि आगे इसी वंश में मर्यादा पालक जन सुखदायक रविकुल नायक भगवान् कौशल किशोर उत्पन्न होंगे। उनके चरित्र को हम श्रद्धा सहित सुनेंगे। सो, सूतजी ! राम चरित्र कहने में आप कृपणता न करें। रामचरित्र को हमें विस्तार के साथ सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी के रोम रोम खिल गये। उनका गला भर आया। "राम" इन दो शब्दों में कितनी मिठास है, कितनी

सरलता है, कितनी मोहकता है, कितनी गंभीरता और सरसता है। वे "रा" इतना ही कह सके कि उनका कंठ रुँध गया। नेत्रो से टप टप अश्रु प्रवाहित होने लगे। उन्होंने कठिनता से अपने को सम्हाला और आचमन करके बोले—"मुनियो! आप धन्य है, जो आपकी अवतार चरित्र श्रवण में ऐसी निश्चल निष्ठा है। महाभाग! मेरे गुरुदेव ने रामचरित्र अवश्य ही सक्षेप में कहा है, किन्तु उस संक्षेप में उन्होने इतना कहा है, कि कहने योग्य सब कुछ कह दिया है। मेरे गुरुदेव जब राम चरित्र कहते है, तो वे इतने तन्मय और स्नेह सिक्त हो जाते हैं, कि अधिक कह नहीं सकते। सब अवतारो से अधिक सरसता उन्होने राम चरित्र कथन मे प्रदर्शित की है। मैं तो उनके केवल एक शब्द की व्याख्या ही करने लगूँ तो कोटि कल्प तक एक शब्द की ही व्याख्या नहीं कर सकता। आप कहते है, राम चरित्र को विस्तार के साथ कहो! राम चरित्र को तो मैं संक्षेप मे भी नहीं कह सकता। शत कोटि प्रविस्तर राम चरित्र का कथन तो केवल वाल्मीक मुनि ने ही किया है, ऐसे असंख्यों मुनियों ने रामचरित्र कहे है, रामचरित्र अगाध है, अपरिमेय है, अनन्त है, अनादि है, अपार है। आपको सुनाने की मुझ मे शक्ति नहीं। आप सब तो बहुश्रुत हैं। रामचरित्र कहने से मेरी वाणी पावन होगी। इसको बोलने की शक्ति सार्थक हो जायगी। इसलिये मैं रामचरित्र को यथा मति आपके सम्मुख कहूँगा। मेरे गुरुदेव ने जो कुछ कहा है, उसीका मैं विस्तार करूँगा। मुनियो! मेरी वाणी में इतनी शक्ति नहीं कि राम के पवित्र चरित्र का सरसता के साथ वर्णन कर सकूँ, किन्तु घर का लड्डू टेढ़ा मेढ़ा भी मधुर लगता है, इसी न्याय से राम चरित्र कैसे भी कहा जाय वह पाप नाशक पुण्य वर्धक है ही।

अच्छी बात है, तो अब श्रीराम के प्रादुर्भाव की आप कथा श्रवण करें।"

अज पुत्र महाराज दशरथ इतने पराक्रमी थे, वे देवासुर संग्राम मे अमरों ने आकर उनके पैर पकडे और असुरो से युद्ध करने की याचना की। रघुवंश विभूषण महाराज दशरथ ने देवों की प्रार्थना पर असुरों से युद्ध किया, उन्हें परास्त किया उनकी स्त्रियों की माँग मे भरे सिंदूर को पोंछ दिया, उनके बालों को खुलवा दिया और उनके ऐश्वर्य को फीका बना दिया।

महाराज का विवाह दक्षिण कोशल देश के राजा की कन्या कौशल्या के साथ हुआ। दूसरा विवाह कैकय देश के राजा की पुत्री कैकयी से हुआ। तीसरी उनकी पत्नी सुमित्रा थी। इस प्रकार महाराज के तीन प्रधान रानी तथा अनेक उपरानियाँ भी थीं महाराज पृथिवी पर दूसरे इन्द्र के समान निवास करते थे। उनके अवध के वैभव को देखकर शतक्रतु इन्द्र भी लज्जित हो जाते। उनके अन्तःपुर की शोभा को देखकर सुर ललनायें भी सकुचा जाती। उनकी सेना को देखकर स्वामिकार्तिकेय भी चकित हो जाते, उनके कोष को निहार कर कुबेर भी कंपित हो जाते। वे कल्प वृक्ष के समान सबके मनोरथो को पूर्ण करते कामधेनु के समान सभी को समस्त सामग्रियाँ देते, लोकपालों के समान प्रजा का पालन करते, प्रजापति के समान सबको प्यार करते। उनका जैसा ही ऐश्वर्य था वैसा ही तेज और पराक्रम भी था। उन्होंने अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मणों और याचकों को यथेष्ट दान दिये। इस प्रकार महाराज सहस्रों वर्षों तक पृथिवी का पालन करते रहे।

प्रजा का पालन करते-करते महाराज की युवावस्था प्रस्थान

कर गई। वृद्धावस्थाने आकर विना सूचना दिये राजा के शरीर पर आधिपत्य जमा लिया।

अब महाराज को चिन्ता हुई, मेरे पश्चात् अब इस सप्तद्वीपा वसुमती का पालन कौन करेगा। अपनी चिन्ता उन्होंने अपने कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ के सम्मुख उपस्थित की वशिष्ठ जी ने ध्यान से देखकर कहा—"राजन् ! आप चिन्ता करें आपके पुत्र एक नहीं चार होंगे। वे साधारण पुत्र नहीं। पुराण पुरुष पुरुषोत्तम ही पुरुष देह में अवतरित होंगे। आप महामुनि विभाण्डक के पुत्र ऋष्यश्रृंङ्ग को बुलाकर एक पुत्रेष्टि यज्ञ करावें तब आपका मनोरथ सफल होगा।"

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके महाराज ने तुरन्त अपने जामाता शांता के पति भगवान् ऋष्यश्रृंङ्ग को आदर सहित बुलाया। पुत्रेष्टि यज्ञ कराने मे निष्णात महामुनि ऋष्यश्रृङ्ग ने भगवान् वशिष्ठ की सम्मति से विधिवत् पुत्र की कामना से यज्ञ आरम्भ किया।

उन्ही दिनों रावण आदि दस्युओं के कारण दुखी देवगण गौ रूप पृथिवी को लेकर ब्रह्माजी को आगे करके क्षीर सागर में भगवान् के निकट गये। वहाँ उन्होंने मधुर वाणी से भगवान् की स्तुति की।

भगवान् शेष शैय्या पर पड़े ही पड़े ब्रह्माजी से कहा—"तुम लोग चिन्ता मत करो, मैं अवनिपर अवतरित होकर असुरों का संहार करूँगा।" धर्म की मर्यादा को स्थापित करूँगा और अपनी मधुमयी करुणा रस से भरी कथा का प्रचार करके संसार दुःख से संतप्त प्राणियों का उद्धार करूँगा।" भगवान् का ऐसा आदेश पाकर देवता अपने-अपने स्थानों को लौट गये।

फिर अपने समीप ही चरण सेवा करती हुई आद्याशक्ति महामाया महालक्ष्मीजी से महाविष्णु सनातन पुराण पुरुष बोले—"प्रिये ! मेरी इच्छा अब कुछ काल नर लीला करने की है, तुम यहीं तब तक अपने पिता समुद्र के घर रहो।"

महालक्ष्मी आद्याशक्ति भगवती जगदम्बिका बोलीं-"अजी महाराज ! आप नर बनेंगे तो मैं नारी बनूँगी। बताइये ! मनुष्य योनि तो सभी योनियों में श्रेष्ठ है। आप उसमें लीला करें और मैं देखूँ ? नहीं यह कैसे होगा। छाया कभी शरीर से पृथक् हो सकती है।"

प्रभु बोले-"अच्छी बात है,तुम मिथिला में जाकर अवतरित हो। मैं अवध में पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ उनकी भाग्यवती पत्नी कौशिल्या के गर्भ से उत्पन्न हूँगा। वे धर्मात्मा राजा आजकल पुत्र की कामना से एक पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहे हैं, मैं उनकी इच्छा पूरी करूँगा। स्वयं यज्ञ पुरुष मैं उनके यहाँ पुत्र बनकर प्रकटित हूँगा।"

भगवती जगदम्बिका बोली—"मैं तो पृथिवी की पुत्री बनूँगी अयोनिजा होकर अवनिपर अवतरित होऊँगी।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, पहिले मैं चलता हूँ पीछे तुम आ जाना।"

उसी समय चक्रवर्ती महाराज दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ। समाप्ति के समय साक्षात् हव्य वाहन अग्निदेव एक सुवर्ण पात्र में पायस लेकर प्रकट हुए। उन्होंने उस खीर पात्र को राजा को देते हुए कहा—'इसे अपनी पत्नियों में यथायोग्य बाँट दो। तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।"

राजा ने बड़े आदर सत्कार से उस पायस पात्र को ग्रहण किया, श्रद्धा सहित सिर पर चढ़ाया और गुरु की आज्ञा से

सूंघकर उसके दो भाग कर दिये। एक कौशल्या को दिया दूसरा भाग कैकेयी को। महाराज सुमित्रा को भी देना चाहते थे, किन्तु बड़ी रानियोंको गौरव देने के ध्यान से स्वयं न देकर

उन्ही से दिलवाने की उनकी इच्छा थी। कौशल्या ने अपने भाग से सुमित्राजी को दिया। कैकेयी ने भी उन्हे दिया। इस प्रकार तीनों रानियो ने उस दिव्य अमृतोपम पायस को पति की आज्ञासे प्रेम पूर्वक पा लिया। उसे पाते ही तीनो रानियाँ गर्भवती हो गईं। उन तीनो का गर्भ शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। समस्त प्रजा मे आनन्द छा गया। भूमि शस्यश्यामला हो गई। देवता परम प्रमुदित हुए। असुरो का तेज क्षीण हो गया। राक्षस भयभीत से प्रतीत होने लगे। सभी के मन में एक अव्यक्त आह्लाद उत्पन्न हो गया। इस प्रकार नौ मास पूर्ण होने पर शुभ मास, शुभ पक्ष, शुभ तिथि, शुभ वार, शुभ कर्ण शुभ मुहूर्त, शुभ ग्रहनक्षत्र सबके एक साथ शुभ हो जाने पर दिन के मध्य भाग मे जब सूर्यदेव सिर पर आ गये थे तब कौशल्या रूपी प्राचीदिशि से दूसरे सूर्य का प्राकट्य हुआ। मानो सूर्यदेव फिर से अपने कुल मे बालक बनकर उत्पन्न हुए। कौशल्या ने एक रत्न को उत्पन्न किया। पुत्रोत्पत्ति सुनकर सर्वत्र बाधायें बजने लगे। स्त्रियाँ मंगलगान करने लगी, देवता स्वर्ग से पुष्पों की वृष्टि करने लगे। चैत्र शुक्लानवमी को श्रीराम का प्राकट्य हुआ।

छप्पय

अगिनि कुंड तें प्रकट भये पायस नृप दीन्हों।
तीनों रानिनि दियो भाग न्यायोचित कीन्हों॥
गर्भवती सब भई सबनिके हिय हुलसाये।
शुभ मुहूर्त शुभ समय राम कौशल्या जाये॥
शुक्लपक्ष मधुमास की, नवमी अति पावन परम।
प्रकटे रघुकुल चन्द्र शुभ, भयो अजन्मा को जनम॥

राम का नामकरण

(६५१)

रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया ॥

(श्री भा० ९ स्कं० १० अ० २ श्लोक)

छप्पय

कैकेयी ने कुमर भरत कुलदीपक जाये।
जनम सुतनि को सुनत अवनि पै बजत बधाये ॥
सती सुमित्रा जने सङ्ग लक्ष्मण रिपुसूदन।
चार पुत्र मुख निरखि भूप को अति प्रमुदित मन॥
नाम करण संस्कार गुरु, सबके कीन्हें नेम तें।
ह्वै हर्षित महिपी सबहिं, पुत्रनि पालें प्रेम तें ॥

एक कथा है, कि अंजना देवी के पास मिलकर कुछ ऋषि गये कि देवी तुम संसार में सबसे बड़ी हो, क्यों कि तुम्हारा पुत्र इतने भारी समुद्र को लाँघ गया था। अंजना ने कहा-"इसमें कौन सी बड़ी बात है। श्रीराम की कृपा से ही मैंने ऐसा किया। मैंने तो एक ही बार समुद्र को पार किया, श्रीराम ने तो समुद्र पर पुल बांध दिया अतः उनकी माता सबसे बड़ी हैं।" सब मिलकर कौशल्या के पास गये, कि माता जी आप सबसे बड़ी

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! श्री दशरथ जी के उन चार पुत्रों के नाम राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ये हुए।"

है,क्योंकि आप के पुत्रने समुद्र पर सेतु बाँध दिया।" माता ने श्री राम को बुला कर पूछा—"राम, ये मुनि कह रहे हैं, कि मैं सबसे बड़ी हूँ, क्योंकि तुमने समुद्र पर सेतु बाँध दिया और मैं तुम्हारी जननी हूँ, ।"

श्रीराम ने कहा—"जननी तो बड़ी हैं, किन्तु सेतु बाँधना कोई बड़ी बात नहीं। अगस्त्यजी तो समस्त समुद्र के सलिल को एक चुल्लू में ही पी गये थे, अतः उनकी जननी आप से भी बड़ी हुईं। सब मुनि मिलकर अगस्त्य के पास गये और कहा-आप सबसे बड़े हैं। अगस्त्य मुनि हंसपड़े और कहा—"न अंजना बड़ी न हनुमान बड़े। न कौशल्या बड़ी न उनके सुत राम बड़े। न मैं बड़ा न मेरे माता-पिता बड़े। सबसे बड़ा तो राम का नाम है, जिसके प्रभाव से समुद्र पर सेतु बना जिसके प्रभाव से शङ्कर जी विष को पचा गये और जिसके प्रभाव से मैं सम्पूर्ण समुद्र के सलिल को पान कर गया।" राम से भी बड़ा राम का पवित्र मधुमय नाम है।

सूतजी कहते हैं—' मुनियो ! चैत्र शुक्ला राम नवमी के दिन श्रीरामचन्द्र का जन्म हुआ। दूसरे दिन दशमी को कैकेयी के गर्भ से राम प्रेम के साकार स्वरूप जगत् पावन श्री भरतजी का प्राकट्य हुआ और चैत्र शुक्ला एकादशी को सती सुमित्रा से अश्विनी कुमारों के समान, नर नारायण के समान, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समान वे चारों कुमार अपने कमल मुखों से उस रनिवास को शोभायमान करने लगे। राजा की सैकड़ों रानियों के नेत्र उन अन्तःपुरी स्थित बालकों को उसी प्रकार निहारने लगे जैसे चार चन्द्रों को असंख्यों कुमुद कुसुम निहारते रहते हैं। वे चारों सब के सुखदाता थे।

जब वे दश दिन के हो गये, तो गुरु वशिष्ठ ने आकर चारों बालकों का नामकरण संस्कार किया। जब कौशल्या अपनी गोदी मे राम को लेकर आयीं तब महामुनि वशिष्ठ अत्यन्त ही प्रमुदित हुए ! समीप ही पत्नियों के अंचल में अपने दुपट्टे के छोर को बाँध कर बूढ़े राजा दशरथ बैठे थे। इनसे गुरु वशिष्ठ कौशल्या को सुनाते हुए बोले—"ये कौशल्या नन्द वर्धन सब को आह्लादित करेंगे। सब इनके नाम, गुण, रूप में क्रीड़ा करेंगे योगी लोग इनमें रमण करेंगे अतः ये "राम" इस नामसे संसार में प्रसिद्ध होगे। इनके बहुत नाम होंगे, किन्तु राम, यह श्रुति, मधुर पावन नाम पाप के पहाड़ों को भी ढहाने में समर्थ होगा। "राम राम" ऐसा मुख से कहेंगे, उनके समीप पाप रह ही नहीं सकते। राम के नाम की बड़ी महिमा है, इसे मैं तो क्या मेरे बाप चतुरानन भी कहने में समर्थ न होंगे। ये दूसरे कैकेयी आनन्द वर्धन समस्त प्रजा का भरण पोषण करेंगे, ये सब के अन्तःकरण को प्रेम और आनन्द से भर देंगे ये अपने सद्गुणों से त्रिभुवन को पावन कर देंगे। अतः इनका नाम "भरत" ऐसा विख्यात होगा।

ये सुमित्रा के सौभाग्य को बढ़ाने वाले संसार में शौर्य वीर्य को प्रदर्शित करने वाले लक्ष्मि सपन्न होने से लक्ष्मण कहायेंगे। ये राम के बाह्य प्राणो के समान होंगे इनका यश विश्व में व्याप्त होगा और ये सत्य मार्ग के आचार्य होंगे। इनके छोटे भाई अपने बल पराक्रम और तेज से अरियों के दाँत खट्टे करने वाले, रिपुओं को हनन करने वाले, शत्रुओं को हनन करने वाले होने से शत्रुघ्न कहायेंगे ये भरत के अनुगत होंगे। इस प्रकार ये चार होकर भी दो और दो होकर भी एक ही होंगे। रामलक्ष्मण

और भरत शत्रुघ्न ये दो दो साथ होने पर भी राम में इन सबका अन्तर्भाव होगा।"

अपने पुत्रों की ऐसी प्रशंसा सुन कर पृथिवीपति दशरथ परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपने कुल पुरोहित भगवान् वशिष्ठ का पूजन सत्कार किया। फिर उन्होंने बहुत से ब्राह्मणों को भोजन कराया याचकों को दान दिया। सभी ने हृदय से बालकों के अभ्युदय के लिये मनोकामना की और उन्हें भाँति भाँति के आशीर्वाद दिये। अब चारों कुमार बड़े लाड़ प्यार से बढ़ने लगे।

लक्ष्मण बाल्य काल से ही श्रीराम के अनुगत थे और शत्रुघ्न भरत के। पहिले-पहिले लक्ष्मण बहुत रोया करते थे, सुमित्रा ने गुरु वशिष्ठ को बुला कर उनसे प्रार्थना की—"प्रभो! यह बच्चा रोता बहुत है। इसे किसी की दृष्टि तो नहीं लग गई, किसी ने टोटका तो नहीं कर दिया। कोई यन्त्र मन्त्र कर दीजिये। झाड़ फूंक कर दीजिये या कोई और उपाय बताइये।"

वशिष्ठजी ने ध्यान से देख कर कहा—"रानी जी! इसका एक उपाय है, तुम इन्हें श्रीराम के पालने में सुला दिया करो। सुमित्रा जी ने ऐसा ही किया। रामजी के पालने में जाते ही लक्ष्मण किलकारियाँ मारने लगे वे उसी प्रकार प्रसन्न हुए जैसे अगाध समुद्र में जाकर मत्स्यराज का शिशु प्रमुदित होता है। अब तो माता को सरल उपाय मिल गया। लक्ष्मण को राम के पालने पर और शत्रुघ्न को भरत के पालने पर सुला कर वे निश्चित हो जातीं। कौशल्या जी की सेवा करती रहतीं। मानों उन्होंने लक्ष्मण को कौशल्या को दे दिया और शत्रुघ्न को कैकेयी के लिये सौंप दिया। स्वयं सेविका बन कर दोनों बहिनों की

सेवा करने लगीं। सेवा का इतना उत्कृष्ट उदाहरण और कहाँ मिलेगा।

राजा के और भी रानियाँ थीं, वे सब श्रीराम को सगे पुत्र के समान प्यार करतीं। सबने अपने अपने महलों में पालने बना रखे थे। सभी ने भाँति भाँति के खिलौने मँगा रखे थे। माता पालने में सुला गई है, दूसरी रानी आयी, उठा ले गयी। दुसरों से तीसरी तीसरी से चौथी ऐसे ही वे बड़े प्यार दुलार से इधर से उधर घुमाये जाते। माता जब दूध पिलाने को खोज करतीं तो खोजते-खोजते बहुत समय बीत जाता। सब उनकी ऐसे ही रक्षा करती है, वे उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती। राम सदा अनुराग में भीगे रहते। उनकी बड़ी बड़ी सुन्दर मनोहर आँखे थीं। कमल के समान नयन होने से उन्हे कमलनयन भी कहते। राजीवलोचन उनका दुलार का नाम था। कमल की पंखुड़ियों से भी कोमल उनके चरणतल थे। वे जब नेत्रों को मून्द कर हँस जाते तो ऐसा लगता मानों शरद कालीन चन्द्रकांत में दो बड़े कमल लगाये हँस रहा हो। वे जब किलकारियाँ मार कर अपने नन्हें नन्हें हाथों से माताओं के वस्त्रों को पकड़ कर उनकी छाती से लिपट जाते तो उनके स्तनों से स्वतः ही दूध बहने लगता उनकी काली काली घुँघराली, अत्यन्त ही सटकारी प्यारी लटें लटक कर उनके कमल मुख पर बिथुर जाती तो ऐसा लगता कि चन्द्रका अमृत पान करने नागों के छौना आये हों और वह कमल के सम्मुख क्रीड़ा कर रहे हों।

इस प्रकार वे शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान नित्य नित्य बढ़ने लगे। अब कुछ घूंटुओं के बल रेङ्गने लगे, अब धूलि में वे अपने वस्त्रों को मैला करने लगे।

मातायें उनके मनोहर मुख को देखकर अपने अङ्गों में फूली नही समाती। उन्हें बारबार छाती से चिपटाती। कई बार स्तनों का दूध पिलातीं लोरियाँ दे देकर पालने पर सुलातीं, गोदी में ले लेकर बड़े प्यार से खिलातीं, इधर उधर टहलाती, बोलना-चलना सिखाती, वस्तुओं के नाम बतातीं खिसकते खिसकते जब गिरने लगते तब उठाती प्रेम से हिलाती। आँखों में मोटा-मोटा काजल लगाती। सुन्दर से सुन्दर वस्त्राभूषण मँगाकर पहिनाती। इस प्रकार सभी प्रकार से एकाग्रचित्त होकर वे श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न की देखरेख सेवा सुश्रूषा करती। ऐसा करने मे उन्हे हार्दिक प्रसन्नता होती।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जिनके घर में साक्षात् आनन्द-घन परब्रह्म ही प्रकटित हो गये है, उनके भाग्य और सुख के सम्बन्ध मे कुछ कहना तो व्यर्थ ही है। यही तो जीवका परम लक्ष्य है। यही तो मानव शरीर की सार्थकता है। जब राम कुछ बड़े हुए तो अपने भाइयों के साथ भाँति २ के खेल खेलने लगे।"

छप्पय

अब कुछ घुटुअन चलत फिरत इत उत महलनि महँ।
बलिबलि जावें मातु बुलावत हँसि सैननि महँ॥
छोटी छोटी लटें लटकि आनन पै बिथुरें।
चमकीली लखि वस्तु दौरि ताहीकूँ पकरें॥
पानी कूँ पप्पा कहैं, हप्पा माँगे मातुतें।
बप्पा भूपति कूँ कहत, धूलि मलत निज गात तें॥

कारुणिक राम

तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ।
श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० ३ श्लोक)

छप्पय

चलिवे सिखवन हेतु मातु पग घूँघुर बाँधे ।
पाँ पाँ पैयाँ चलें मातुकी उँगली साधे ॥
कुत्ता बिल्ली काक पकरिवे हाथ बढ़ावें ।
जब नहिं आवें हाथ रोइ जननी ढिग जावें ॥
सम्मुख निरखत वस्तु जो, कर उठाय मुख महँ धरत ।
तोरत फोरत हँसत सब, मनहर शिशुक्रीड़ा करत ॥

कृष्ण चरित्र सरस शृङ्गारमय चरित्र है और रामचरित अत्यंत करुणामय है। वैसे तो कोई ९ रस बताते है कोई १० किन्तु यथार्थ बात यह है, रस दो ही है एक करुणा दूसरा शृंगार, किसी किसी का मत तो यह है, कि करुणा ही एक रस है। वही

*श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! सीता के पति उन श्रीरामका चरित्र तुमने बहुत बार सुना होगा। क्योंकि तत्वज्ञानी मुनियो ने श्रीराम के ही चरित्र का बहुत वर्णन किया है।"

विविध रूप रखकर व्यक्त होता है। यदि करुण रस न हो, तो साहित्य मे कुछ रह ही न जाय। मिठाइयों मे माधुर्य को निकाल लिया जाय, तो वे किस काम की होगीं। कोई भी रस करुण के बिना चमकता नही। करुण सभी रसों में अनुस्यूत है। करुण रस के बिना काव्य नीरस है। श्रीराम ने अवनि पर अवतरित होकर करुण रस की अविच्छिन्न धारा बहाई है,जो अभी तक बह कर भक्तों के हृदय को शीतलता प्रदान कर रही है और अनन्तकाल तक इसी प्रकार अविरल बह कर प्राणियो को कृतार्थ करती रहेगी। करुणा वियोग में, उत्कण्ठा में उत्पन्न होती है। कृष्णचरित्र संयोग चरित्र है, उसमें वियोग की एक झलक है, किन्तु वह बनावटी है, कृष्ण अपने हृदयेश्वरी से पृथक अवश्य होते है, किन्तु वह पृथकत्व कल्पित सा है। उसमे श्री कृष्ण अधिक दुखित नही होते वियोग तो वह है, कि दोनों ही रोवें दोनों ही छटपटावे दोनों ही बिलबिलावें, दो वियोग की धारायें समान रूप से बहें। करुणा का जैसा साकार स्वरूप राम चरित्र में मिलता है, वैसा संसार में कोई नहीं। राम का सम्पूर्ण जीवन रोते रोते बीता। बाल्यकाल मे वे माता की गोद में, पालने में, खेल मे रोते रहे। बड़े हुए तो रूखी जटा वाले बाबाजी के पल्ले पड़े। वहाँ माता पिता की स्मृति में रोते रहे। अरण्य मे भी विपत्ति के ऊपर विपत्ति पड़ी। अपनी प्राण प्रिया का वियोग हुआ वह तो पराकाष्ठा की करुणा थी। जैसे तैसे मिली कि फिर वियोग। जीवन भर रो रोकर ही उन्होंने करुणा की सरिता के पाट को बढ़ाया।

जिस हृदय में करुणा नहीं, स्निग्धता नहीं। वियोग कथा अनुभव करने की शक्ति नही वह राम चरित्र को पढ़े भी तो क्या समझ सकता है। कारुणिक हृदय ही राम चरित्र को

समझ सकता है। राम चरित का जन्म भी करुणा की ही कोख से हुआ वियोग की वेदना से ही उसका प्रादुर्भाव हुआ। भगवान् वाल्मीक तमसा के तट पर स्नान करने गये थे। वहाँ एक क्रौंच पक्षी के जोड़े में से नर पक्षी को व्याध ने मार दिया। इससे वह क्रौंची चीख मार कर रोने लगी। पति वियोग की व्यथा से व्यथित होकर उसका हृदय द्रवित हो गया। मुनि ने भी देखा उनके हृदय से भी करुणा का श्रोत फूट पड़ा। वे अत्यन्त दुखित हुए। आत्मविस्मृति से हो गये। सहसा उनके मुख से एक प्राकृत छन्द बिना संकल्प के स्वतः ही निकल पड़ा। *वह श्लोक ही रामचरित्र रचना में प्रधान कारण हुआ। इस प्रकार रामचरित्र का जन्म करुणा से ही हुआ। करुणा के द्वारा ही वह पला, करुणा में ही वह रहा और अन्त में करुणा में ही उसका पर्यवसान हुआ। अतः रामचरित्र को जितना ही सुनो उतनी ही उत्कण्ठा बढ़ेगी वह कभी पुराना नही होगा। रामचरित्र सुनने में जिन्हें नूतनता प्रतीत नहीं होती उन्होंने रामचरित्र का स्वारस्य नहीं समझा। जिनके नेत्रों से रामचरित्र सुनकर अश्रु प्रवाहित नहीं होते,उनका हृदय वज्र का बना है। रामचरित्र- कारुणिक चरित्र है। पाठक हृदय को सम्हाल कर नेत्रों को धोकर चित्त को एकाग्र करके राम का चरित्र सुनें उनका बाल चरित्र अत्यन्त ही सुखद है। सहस्रों वर्षों से जो मातायें बालकों के मुख देखने को लालायित हो रही थीं। उन्हें राम ने चार रूपों में ऐसी मनोहर झांकी दी। कि वे निहाल हो गईं अब तक प्रेम न होने की सम्पूर्ण व्यथा को भूल गईं।

---

*मा निषाद प्रतिष्ठा त्वम गमः शाश्वती समाः
यत् क्रौंच मिथुना देक मवधीः काम मोहितम्

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न अब लड़खड़ाते हुए माताओं की उङ्गलियों को पकड़ कर चलने लगे। तोतली वाणी में कुछ बोलने भी लगे। वे अपनी बाल लीला से पिता माताओं को सन्तुष्ट करने लगे। माताओं का सम्पूर्ण समय उनके लाड़ प्यार और देखरेख में बीत जाता। प्रातःकाल उठते ही वे सोते हुए बालकों को लोरिया देकर उठाती। उनका मुँह धुलातीं कुछ बालभोग खिलातीं। फिर नित्यकर्मों से निवृत्ति करा कर भाँति-भाँति के सुगन्धित तेल लगा कर उबटन लगा कर सुन्दर सुगन्धित सरयू जल से स्नान करातीं, बालों को सुलझातीं, आभूषणों को यथा स्थान सुन्दर चटकीली सुहावने रेशमी वस्त्रों को पहिनाती, फिर इधर उधर घुमाती, टहलातीं। महाराज उन्हें गोदी में लेकर चूमते पिता से कुमार भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते उनके दाढ़ी मोंछ के बालो को पकड़ लेते, चमकते हुए मुकुट को उतारने दौड़ते। महाराज प्यार से अपना मुकुट उतार कर श्रीराम को पहिनाते। जिससे उनका सब मुख ढक जाता मुकुट गले तक चला जाता। तब ऊब कर राम उसे उतारने का प्रयत्न करते, सभी हँस जाते। महाराज साथ साथ अपने थाल में बिठा कर सब को खिलाते महाराज मुख में कौर देते तो श्रीराम भी अपने छोटे छोटे हाथों में कोई मीठी वस्तु लेकर महाराज के मुख मे देना चाहते, किन्तु हाथ न पहुँचने के कारण वे विवश से हो जाते, तब तुरन्त महाराज उन्हें गोद में उठाकर उनके हाथ की वस्तु को खा लेते साथ ही उनके मुख को चूम लेते। चूमते समय कपोलों पर दाल भात, दही, कढ़ी लग जाती। जिसे देख कर रानियाँ हँस जातीं। महाराज स्वयं पोंछते तब आप भी कोई कढ़ी, दही, खीर आदि पतली वस्तु लेकर महाराज के मुख पर पोत देते, इससे सभी हँसने लगते। रानियाँ हँसते हँसते लोट पोट हो जातीं

कभी कभी खाते खाते ही बाहर भाग जाते, कभी खाते-खाते पिता की गोद में सो जाते। कभी पिता के बुलाने पर भी भोजन को न आते। सचिव सामन्तों के समवयस्क बच्चे खेलने आते उनके साथ चारों भाई भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते। छोटे छोटे धनुष बाण बना लेते। एक बनावटी किला बना देते। सभी धनुष बाण धारण करके उस पर चढाई करते,सब मिलकर श्रीराम का राज्याभिषेक करते। कभी कभी भरत जी अपने यहाँ से आद्याशक्ति देवी की सुवर्णमयी मूर्ति को उठा लाते। उसे सुन्दर चमकीले वस्त्र पहिना कर घूँघट मार कर दुलहिन बनाते। श्रीराम का उनके साथ विवाह करते सब बराती बनते। बरात सजाकर ले जाते माता से कुछ वस्तुयें माँग लाते उससे सबको प्रीति भोज करते। माता आकर हँसती हुई डाँटती। भरत से कहतीं—"अरे, तुमने यह क्या खेल किया ? पूजा घर से भगवती देवी की प्रतिमा क्यों उठा लाये। ये तो जगन्माता हैं।"

तब हँसते हुए भरत कहते—"ये जगन्माता हैं तो श्री राघव जगद्-पिता हैं ?"

यह सुनकर रानियाँ हँस जातीं और कहतीं अभी ये बच्चे ही तो हैं, समझते नहीं। इस प्रकार बच्चों के जितने खेल हैं उन सब खेलों को खेलते हुए वे सब को सुख देने लगे। इस प्रकार वे कुछ बड़े हुए। पिता ने गुरु वशिष्ठ को बुलाकर सब का उपनयन संस्कार कराया, मन्त्र दीक्षा दिलाई। उपनयन के पश्चात् वे अन्तःपुर को छोड़कर गुरु गृह में जाकर रहने लगे और सभी शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।"

छप्पय

सखनि संग मिलि करैं खेल अब चारो भैया।
चरित निरखि नृप सहित मुदित हों तीनों मैया॥
बड़े भये उपनयन करयो गुरु गृह भिजवाये।
मुनि वशिष्ठ प्रभु-शिष्य पाइ अति हिय हरषाये॥
गुरु सुश्रूषा करहिं सब. पढ़हिं पाठ एकाग्र चित।
समय शील संकोच युत, सुनहिं शास्त्र श्रुति तन्त्र नित॥

विश्वामित्र मखरक्षक राम

(६५३)

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः ।
पाश्चयतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुङ्गवाः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० ५ श्लोक)

छप्पय

सीखे साखे राम लोक व्योहार दिखावें ।
गुरु महिमा को मर्म शिष्य बनि सबहिं सुनावें ॥
स्वल्प समय महँ शास्त्र पढ़े गुरु चकित भये अति ।
स्वय सच्चिदानन्द समुझि अति विमल भई मति॥
वय किशोरने वरे जनु, ओठनि छाई कालिमा ।
पदतल अधर कपोलनिहिं, बढ़ी सवन की लालिमा ॥

प्रभु जब मर्यादा स्थापना के लिये अवतरित होते है, तब सभी प्राकृत लीलायें सर्व साधारण की ही भाँति करते हैं। लीलायें सर्व साधारण होने पर भी उनमें आकर्षण अत्यधिक होता है। उनमे सरसता सौदर्य का ऐसा पुट लगा रहता है, कि जिनका भी चित्त उस ओर खिचता है, वही विमुग्ध बन जाता

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जिन्होने विश्वामित्र जी के यज्ञ मे उनके रक्षा के निमित्त लक्ष्मण के देखते देखते मारीच आदि निशाचरों का नाश कर दिया ।"

है। प्रभु की लीलायें प्राकृत सी दिखाई देने पर भी अप्राकृत हैं। वे मानवीय सी लगने पर भी दिव्य है,उनमें विश्व को विमोहित करने की शक्ति निहित है। जो श्रद्धा से उनकी इन लीलाओ को सुनेंगे वे तो लाभ में रहेगे, जो मानवीय भाव से इन्हें समझेंगे मानव ही बने रहेगे।

सूतजी कहते है—"मुनियो! श्रीराम अपने तीनों भाइयों के साथ साथ गुरु के घर मे पढ़ने गये। अब वे माताओं से पृथक गुरु घर में रहने लगे। अब वे राजसी वस्त्राभूषण नहीं धारण करते थे। मूंज की मेखला धारण करके रुरु नामक मृग का चर्म धारण करते। खदिर का दण्ड धारण करके कोपीन लगाते और गुरुगृह मे भिक्षा पाकर विद्याध्ययन करते। ब्रह्मचारी वेष में श्रीराम मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य ही दिखाते। गुरु जो भी एक बार पढ़ा देते, उसे वे तत्काल याद कर लेते। याद क्या कर लेते, उन्हें तो सब वेदशास्त्र पहिले से ही याद थे। वेद तो उनकी स्वांस से ही उत्पन्न हुए है। शास्त्र तो उनका निर्मित शासन है उनकी सर्ग की स्मृति ही अनेकों स्मृतियाँ हैं। प्रथम तो भगवान् वशिष्ठ को उनकी ऐसी कुशाग्र बुद्धि पर आश्चर्य हुआ। फिर यह समझ कर कि ये तो साक्षात् परब्रह्म पुराण पुरुष है, उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। उनके रोम-रोम खिल गये, उन्होंने अपने जीवन को सार्थक समझा।

इस प्रकार स्वल्पकाल में ही श्रीराम ने सभी वेद, समस्त शास्त्र, सभी विद्यायें पढ़ ली। गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ से कहा-"राजन्! आपके सब पुत्र समस्त विद्याओं में पारङ्गत हो गये। वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता हो गये।" यह सुनकर महाराज दशरथ परम प्रमुदित हुए। वे, गुरु की आज्ञा से अपने प्राणों से

भी प्यारे प्रिय पुत्रों को बड़ी धूमधाम और वैदिक विधि से घर ले आये।

उन्हीं दिनों महर्षि विश्वामित्र पूर्व दिशा के अरण्यों में रहकर घोर तपस्या कर रहे थे। राक्षस असुर उनके यज्ञों में आ आकर विघ्न करते। वे चाहते तो अपने तप के प्रभाव से राक्षसों को क्रोध करके नष्ट कर सकते थे, किन्तु उन्होने सोचा–"मैंने जब जब क्रोध किया, तब तब मेरा सहस्रों वर्ष का तप नष्ट हो गया। एक बार वशिष्ठ जी पर क्रोध किया, उर्वशी पर क्रोध किया, मैनका पर क्रोध किया, सभी से तप की हानि हुई। तपस्या में क्रोध ही बड़ा शत्रु है, जिस तपस्वी को क्रोध है, उसका तप सफल नहीं हो सकता। अतः अब असुरों पर भी क्रोध न करेंगे।" किन्तु क्रोध न करें तो काम कैसे चले? ये असुर राक्षस तो बड़ा उत्पात करते हैं। जब उन्होंने ध्यान से देखा तो उन्हें विदित हुआ कि अवधपुरी में देवताओं की प्रार्थना पर अनादि अज अच्युत अखिलेश भूमि का भार दूर करने, असुरों का संहार करने, महाराज दशरथ के पुत्र बनकर अवनि पर अवतरित हुए हैं। यदि मैं उन्हें किसी प्रकार अनुनय विनय करके यहाँ ले आऊँ, तो मेरा यज्ञ भी पूर्ण हो जाय और असुरों का भी विनाश हो जाय। एक साथ दो कार्य हो जायँ। मुझे स्वयं क्रोध भी न करना पड़े और असुरों का भी विनाश हो जाय।"

यह सोचकर वे श्रीराम को लेने अवधपुरी की ओर चले। राम को लाना अत्यन्त कठिन कार्य था। दशरथ उन्हें प्राणों से भी अधिक चाहते हैं, वे शक्ति भर देंगे नहीं। उनके आये बिना कार्य होगा नहीं, यही सब सोचते विचारते वे अयोध्यापुरी के निकट पहुंच गये और राजा के महलों की ड्योढ़ियों पर पहुँचे प्रहरी से उन्होंने अपने आने का सन्देश राजा तक पहुँचाया।

महामुनि विश्वामित्र का आगमन सुनकर राजा सहसा सकपका गये। वे शीघ्रता से सिंहासन पर से उठ कर नंगे पैरों ही वशिष्ठ जी को आगे करके मुनि के स्वागत के निमित्त चले। द्वार पर पहुँच कर राजा ने मुनि के पादपद्मों मे प्रणाम किया, शास्त्रीय विधि से उनकी पूजा की। कपिल गौ उनको भेट की और बड़े सत्कार से उन्हें अपने यहाँ ले आये।

मुनि की पूजा होने के अनन्तर दोनों ओर से कुशल प्रश्न हो जाने के उपरान्त हाथ जोड़ कर स्नेह भरी वाणी में राजा दशरथ बोले–"ब्रह्मन् ! आज मेरे यज्ञादि समस्त शुभ कर्म सफल हो गये, आज मेरा घर पावन बन गया, आज मेरे पितर तर गये जो आप जैसे परमार्थियो की पादरज मेरे गृह में पड़ गई, ब्रह्मन् ! आपने मुझे दर्शन देकर अत्यन्त ही अनुग्रहीत किया। अब मेरी यह जानने की अत्युत्कट अभिलाषा है, कि भगवान् मुझे केवल कृतार्थ करने दर्शन देने ही पधारे हैं, या मेरे लिये कोई विशेष आज्ञा है।"

गम्भीर होकर विश्वामित्र बोले—"राजन् ! मैं एक आवश्यक कार्य से आपके समीप आया हूँ, यदि आप मेरी याचित वस्तु को देने का वचन दें, तब मैं कहूँ ?"

यह सुनकर अत्यन्त अधीरता प्रकट करते हुए दीन वाणी में राजा बोले—"प्रभो ! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं। ऐसा प्रश्न तो दूसरों से किया जाता है। मैं तो आपका अनुगत, अनुचर, शिष्य, सेवक, सुत तथा आज्ञाकारी भृत्य हूँ। स्वामिन् ! मेरा राज्यपाट, कोष, सुत, परिवार सर्वस्व आपका है। आप आज्ञा करें, यदि प्राण देकर भी मैं आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँगा तो करूँगा, यदि आप इन्द्र का सिंहासन चाहेंगे, तो उसे

भी मैं युद्ध में इन्द्र को परास्त करके ला सकूँगा। आज्ञा दीजिये मैं आपकी कौन सी आज्ञा का पालन करूँ।"

यह सुनकर मुनि बोले—"राजन् ! मुझे और कुछ नहीं चाहिये। मैं तो आपसे आपके दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण को चाहता हूँ।"

इतना सुनना था, कि महाराज दशरथ तो मूर्छित हो गये। सभा में हाहाकार मच गया। कोई पङ्खा लेकर दौड़ा, किसी ने सलिल सुगन्धित जल छिड़का सभी के मुख पर व्यग्रता छा गई। किन्तु विश्वामित्र गम्भीर ही बने बैठे रहे।"

कुछ चेत होने पर मुनि ने अधिकार के स्वर में कहा—"राजन् ! बोलो, क्या कहते हो ? पुत्रों को देते हो या झूठे बनते हो ?"

राजा ने दीन होकर कहा—"प्रभो ! आप मेरे सुकुमार भोले भाले फूलसे सुतों को लेकर क्या करेंगे? साधुओं का शुष्क जीवन वे राजकुमार कैसे व्यतीत कर सकेंगे ?"

मुनि बोले—"मैं जब जब यज्ञ करता हूँ, तब तब असुर राक्षस आकर उसमें विघ्न करते है, उन असुरों से अपने मख की रखवाली राम लक्ष्मण से कराऊँगा। इनके द्वारा उन दुष्टों को मरवाऊँगा। पृथिवी को निष्कण्टक बनाऊँगा और साधुओं के दुख को दूर कराऊंगा।"

दीनता के साथ राजा बोले—"तब ब्रह्मन् ! इस कार्य को तो मैं ही कर सकता हूँ। मैं अपनी चतुरङ्गिनी सेना लेकर आप के साथ चलूँगा। सब ओर से आपके मख स्थल को घेर लूँगा। राक्षसों को आने भी न दूँगा। ये सुकुमार बच्चे अभी युद्ध कला को क्या जाने ये राक्षसों को भला कैसे मार सकते हैं ?"

मुनि बोले—"राजन् ! यह काम आपके मान का नही। आप उन राक्षसों को नहीं मार सकते। आपकी सेना कुछ काम न देगी।" राजा ने पूछा—"प्रभो ! ऐसे वे कौन से राक्षस है,मैं नहीं मार सकता।"

मुनि बोले—' राक्षसों का राजा रावण है उसकी प्रेरणा से सुन्द, उपसुन्द मारीच, सुबाहु आदि बहुत से राक्षस आकर मेरे मख में विघ्न डालते है। उन्हीं से मुझे भय है। उन्हें मैं राम के द्वारा मरवाऊँगा।

रावण नाम सुनते ही राजा परम भयभीत हो गये, बोले—"ब्रह्मन् ! उस दुष्ट रावण ने तो तीनों लोको को जीत लिया है हमारे पूर्वज महाराज अरण्य को मार दिया है। ब्रह्मन् मैं उससे युद्ध नही कर सकता। सुन्द उपसुन्द का भी पराक्रम मैंने सुना है। मैं मेरी सेना समस्त भूपतिगण रावण से युद्ध नहीं कर सकते। इनके साथ युद्ध करने मै अपने पुत्रों को कभी न दूँगा। किसी प्रकार न दूँगा। आप चाहें शाप देकर मुझे भस्म हो क्यो न कर दे।"

यह सुनकर मुनि कुपित हुए। उन्होंने राजा को डराया धमकाया। साम दाम, दण्ड-भेद आदि सभी उपायो से विवश किया। राजा थर-थर कांप रहे थे, डर रहे थे, भयभीत हो रहे थे, किंतु राम लक्ष्मण को देने को उद्यत नही थे। मुनि ने राम का प्रभाव बहुत समझाया, ये साक्षात् विष्णु हैं अनेक प्रमाणो से सिद्ध किया अपने तप तेज का प्रभाव बताया, रक्षा करने का आश्वासन दिया। किन्तु राजा किसी प्रकार मानते ही नही थे। मुनि का आग्रह था कि मैं राम लक्ष्मण को लेकर जाऊँगा। राजा का प्रतिज्ञा थी चाहे पृथिवी उलट पलट हो जाय, इधर का सूर्य

उधर से उदय होने लगे अग्नि सशीत हो जाय, चन्द्रमा टूट कर पृथिवी पर गिर जाय मेरा राज्य पाट नष्ट हो जाय, किन्तु मैं अपने पुत्रों को बाबाजी के साथ न भेजूँगा।"

बात को बढ़ते देखकर वशिष्ठजी बीच में पड़े। उन्होंने राजा को भाँति २ से समझाया। मुनि के तप तेज का महत्व जताया। राम का प्रभाव बताया। अब राजा क्या करते उन्होंने राम-लक्ष्मण को देना स्वीकर किया। दोनों पुत्रों को बुलाया और रोते-रोते विश्वामित्र वशिष्ठ का आदेश सुनाया। सुनकर राम-लक्ष्मण परम हर्षित हुए। माता पिता को प्रणाम करके वे बिना हर्ष विस्मय के मुनि के पीछे पीछे चले। उस समय महाराज की बुरी दशा थी, वे रो रहे थे। उनके सिर के बाल बिखर गये थे और अत्यन्त अधीर होकर लम्बी लम्बी साँसे ले रहे थे। तब तक वे उन्हें एकटक भाव से देखते रहे, जब वे आँखों से ओझल हो गये तब मूर्छित होकर गिर पड़े। भगवान् वशिष्ठ ने राजा को भाँति भाँति के इतिहास सुनाकर समझाया अनेक प्रकार से धैर्य बंधाया और बताया कि मुनि के साथ जाने से राम लक्ष्मण का सभी प्रकार से कल्याण ही है। संसार का भला इसी से होगा। मुनि के समझाने से राजा ने जैसे तैसे धैर्य धारण किया।

सरयू के किनारे किनारे चलते हुए मुनि को सूर्यास्त हो गया। तब महर्षि विश्वामित्र ने कहा—"रामभद्र ! तुम्हारा कल्याण हो। वत्स ! तुम डरते तो नहीं। देखो, भगवान् भुवन भास्कर अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर गये। पक्षी अपने अपने घोंसलों में घुस गये। सन्ध्या का समय बीत रहा है। आज हम इसी वृक्ष के नीचे रहेंगे।"

सरल स्वभाव से राजीव लोचन बोले—"भगवन् ! जब समस्त भयों को नाश करने वाले आपका वरद हस्त हमारे ऊपर है तब हमें भय किस बात का । भगवान् की जैसी आज्ञा होगी उसका अक्षरशः पालन करेंगे ।"

श्रीराम के ऐसे सारगर्भित वचन सुनकर विश्वामित्रजी वहीं रह गये और नित्य कृत्य करके उन्होंने वह रात्रि वहीं बिताई ।

प्रातःकाल मुनि ने भोर में दोनों भाइयों को अत्यन्त स्नेह से जगाया । नित्यकर्मों से निवृत्ति होकर वे आगे बढ़े ।

मार्ग में उन्हें बड़े मुख वाली, लम्बी लम्बी दाँतों वाली ताड़का नाम की राक्षसी मिली । उसका मुख पर्वत की कन्दरा के समान था । हल की फार से भी बड़े उसके दाँत थे। खुटेके समान उसकी दाढ़ें थीं । सूप से भी बड़े उसके कान थे । उसके स्तन ऐसे लगते थे मानों दो पर्वत शिखर उसकी छाती पर रखें हों, उसके बाल बिखरे हुए थे । बड़े बड़े हाथ थे, उसके उस विकराल रूप को देखकर श्रीराम तनिक भी विचलित नहीं हुए उन्होंने विश्वामित्र जी से पूछा—"प्रभो ! यह विकराल भेष वाली राक्षसी कौन है ?"

विश्वामित्र जी बोले—"यह सुकेतु नामक यक्ष की पुत्री है और सुन्द नामक राक्षस की पत्नी है, यह बड़ी क्रूरकर्मा है, रामचन्द्र इसे तुम मार डालो ।"

श्रीराम बोले—महाराज ! पहिले ही पहिले तो मुझे मारना आरम्भ करना है । श्री गणेश इससे ही करूँ ? स्त्री को तो अवध्या बताया है ।"

विश्वामित्र जी बोले—"भाई ! वेद शास्त्र को प्रकट करने वाले हम ऋषिगण ही तो हैं । जो सबको क्लेश देता हो, जिसके

कारण प्राणीमात्र दुखी होते हों, जो हिंसक क्रूर सर्व द्वेषी हो, वह स्त्री हो या पुरुष अथवा नपुंसक प्रजा के हित मे तत्पर नर पति को उसे अविलम्ब मार देना चाहिये। इसलिये तुम कारण पीछे पूछना इस समय तो तुम इसे अभी मार डालो।"

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीराम जी धनुष पर बाण चढाकर उसकी ओर दौड़े। श्रीराम को अपनी ओर आते देख कर अट्टहास करती हुई मुँह फाड़ कर वह राक्षसी श्रीराम को खाने के लिये दौड़ी। लक्ष्मण उसके ऐसे विकराल रूप को देखकर कुछ भयभीत हुए। किन्तु श्रीराम को कुछ भी भय नही हुआ। उन्होंने एक पैर को आगे रखकर कान तक धनुष की ज्या को खींचकर उसके गर्भस्थान को लक्ष्य करके एक अत्यन्त पैना बाण उसकी छाती में मारा। बाण के लगते ही वह बड़ी भारी पहाड़ी के समान धड़ाम से धरती पर गिर गई, उसकी आँखे निकल आईं, मुँह फट गया और प्राणहीन होकर निश्चेष्ट हो गई।

उस समय श्रीराम के ऊपर देवताओं ने पुष्पों की वृष्टि की मुनियों ने जय जयकार किया। विश्वामित्र जी ने उनका सिर सूँघा। बला और अति बला नामकी उन्हें विद्यायें प्रदान की तथा उनकी प्रशंसा करते हुए आगे बढ़े। उस समय सूर्य पश्चिम दिशा की ओर अत्यन्त शीघ्रता से बढ़ रहे थे। मुनि विश्वामित्र बोले—"रामभद्र ! बेटा ! तुमने आज ऐसा कार्य किया है, जिसे देवता, यक्ष, राक्षस कोई नही कर सकते। यह यक्ष की पुत्री राक्षस की पत्नी ब्रह्माजी के वरदान से सहस्र हाथियों के समान बल वाली थी। इसे कोई मार नहीं सकता था। यह सबको क्लेश देती थी, आज तुमने इसे मारकर संसार का बड़ा कल्याण किया। अब यह वन निष्कन्टक हो गया। आज रात्रि मे हम

लोग यही निवास करें। तुम्हारे रहने से यह वन परम पावन तीर्थवन जायगा।"

यह सुनकर लजाते हुए श्रीराम ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और एक सघन वृक्ष की छाया में जहाँ जल का सुपास था, अपना आसन जमाया। सन्ध्या वन्दनादि नित्य कृत्यों से निवृत्त होकर मुनि सो गये। श्रीरामचन्द्र भाई लक्ष्मण के सहित उनके पैर दबाते दबाते अनेक कथाओं को पूछते रहे और विश्वामित्र जी श्रीराघव के पूछने पर प्राचीन कथायें सुनाते रहे। इस प्रकार वह रात्रि उन्होंने वहीं बिताई।

ताड़का वध की बात सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! श्रीरामचन्द्र जी ने स्त्रीवध क्यों किया? स्त्री को तो सर्वत्र अवध्या बताया गया है। हम देखते हैं राम कृष्ण दोनों ही अवतारों ने वध कार्य स्त्री से ही आरम्भ किया श्रीराम ने आरम्भ में ताड़का बध किया और श्रीकृष्ण ने पूतना वध से मार धाड़ संहार आरम्भ किया। इसका क्या रहस्य है?"

यह सुनकर सूतजी बोले "महाराज? श्रीकृष्ण की बात तो आप मुझसे अभी पूछें नहीं। इन टेढ़े टाँग वाले काले देवता की मथुरा तो तीनों लोक से न्यारी ही है। हाँ मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की बात मैं बता सकता हूँ। ये पुरुषोत्तमतो मर्यादा के साकार स्वरूप हैं। अतः ये मर्यादा विरुद्ध तो कोई कार्य कर नहीं सकते।"

ताड़का वध का प्रथम कारण तो यह है, कि अयोध्या से चलते समय ही विश्वामित्र जी ने श्रीराम को दिव्य विद्यायें

सिखाई। विद्या सिखाने के अनन्तर गुरु जो भी दक्षिणा मांगे वह देनी ही चाहिए। सम्भव हो या असम्भव। सांदीपिनी मुनिने

श्रीकृष्ण से १२ वर्ष पूर्व मरे लड़के को गुरु दक्षिणा में मांगा। बात असंभव थी। यमराजकी शक्ति के बाहर थी, किन्तु श्रीकृष्ण तो यमराज के भी बनाने वाले है। यम ने आना कानी की।

भगवान् ने डाँटकर कहा—"मेरे शासन को पुरुस्कृत करके तुम उस बच्चे को दे दो।" यह तो नियम के विरुद्ध विशेष आज्ञा थी। यम ने दे दिया। इसी प्रकार ताड़का वध की गुरु आज्ञा सुनकर पहिले तो श्रीराम हिचके किन्तु जब गुरु ने बल देकर कहा—"इसे मेरी आज्ञा से मारो।" तब राम क्या करते गुरो राज्ञा गरीयसी" ताड़का को गुरु आज्ञा समझकर मारा।

दूसरी बात यह है, कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ओर है। जो मनुष्य सर्व प्रथम अपने वैषयिक प्रकृति को मार नही लेता तब तक वह कोई भी महत्व पूर्ण कार्य कर नही सकता। अतः प्रकृति पर विजय पाना यह पुरुष का प्रथम कर्तव्य है।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है, एक प्राचीन कहावत है कि 'चोर को न मारकर पहिले चोर की माँ को मार डालो जिससे चोर पैदा हो ही नही।" विश्वामित्र मुनिके मखमें मारीच सुबाहु ही बहुत विघ्न किया करते थे। रामजीने सोचा चोरोंको मारने के प्रथम इनकी माँ को मार दो। बाँध तभी बँधेगा जब उसकी मूल धारा रोकी जाय। हमने मारीच सुबाहु को मार डाला यह फिर ऐसे ही राक्षस पैदा करती रही तो मुनियों को कष्ट होगा, अतः पहिले मूल को ही निर्मूल करो इसलिये पहिले ताड़का को मारा तब मारीच सुबाहु को।

चौथा कारण यह भी हो सकता है, कि मनुष्य धन लुटने से उतना क्रोधित नही होता, अपने अपमान से उतना क्रोधित नहीं होता जितना स्त्रियो के वध से, उनके अपमान से क्रोधित होता है अतः उन्होने ताड़का को मारकर राक्षसों को मानों चुनौती दी कि अब तुम युद्ध के लिये तत्पर होजाओ। मैं समस्त राक्षसों का संहार करूँगा।"

पाँचवाँ कारण यह भी हो सकता है, कि स्त्री तो अत्यन्त सुकुमारी दयावती होती है। किन्तु जब वह स्त्रीत्व का परित्याग करके राक्षसी बन जाती है, अपनी ही सन्तानों को खाने लगती है, तब वह अवध्या नहीं रह जाती। सर्पिणी अपने बच्चों को खाजाती है, अतः कोई दूसरा सर्पिणी को मार दे, तो साधु लोग मन से प्रसन्न होते है। ताड़का सदा नरो का भक्षण करती थी।

छटा सबसे बड़ा कारण यह भी है, कि भगवान् का अवतार साधुओं के परित्राण के लिये होता है, जिसकार्य से भी साधुओं का सज्जनों का भला हो, भगवान् उसीको करते हैं उचित अनुचित को बनाने वाले वे ही हैं, अतः भागवान् जो करते है अच्छा ही करते हैं। इसलिये भगवान् राम के लिये तो कोई कुछ कह ही नहीं सकता। राजाराम के लिए तो यह बात खटकने का है ही नहीं।

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी ! आप सत्य कहते हैं। भगवान् की लीला तो भक्तों को सुख देने के ही लिये हैं रुधिरको पीने वाली राक्षसी को मार देना राम की क्रीड़ा ही है, हाँ तो आगे की कथा कहिये।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियों ! अब आप आगे की कथा श्रवण करें। वह रात्रि विश्वामित्रजी ने ताड़का वन में बिताई। जब प्रातः काल हुआ नित्यकर्मों से निवृत्त होकर राम लक्ष्मण को लिए हुए मुनि आगे बढ़े। पहिले-पहिले तो रामजी को विश्वामित्र जी से बोलने में बड़ा सकोच होता था। जब वे उन्हें पुत्र की भाँति प्यार करने लगे और घुलकर अत्यत ही स्नेह से कथायें सुनाने लगे, तब श्रीराम का भय खुल गया वे

स्नेही पुत्र की भाँति निर्भय होकर मुनि से भाँति भाँति के प्रश्न करने लगे। विश्वामित्र जी भी उनके सभी प्रश्नों का अत्यन्त प्यार दुलार के साथ समझा समझा कर उत्तर देने लगे। श्रीराम के लिये ऐसे बीहड़ वन में एकाकी पैदल आना यह प्रथम अवसर था। अतः वे जिस वस्तु को भी देखते, उसी के सम्बन्ध में पूछने लगते। उन्हें विश्वामित्र का आश्रम देखने की बड़ी चटपटी लगी हुई थी। वे राक्षसों से युद्ध करने को बडे ही लालायित थे, आज प्रातः काल ही विश्वामित्र जी ने उन्हें बहुत से दिव्य अस्त्र संधान उपसंहार विधि के सहित प्रदान किये थे। उनकी परीक्षा करने को श्रीराम अत्यन्त ही समुत्सुक प्रतीत होते थे। उन्होने मुनिसे पूछा—"प्रभो! आपका आश्रम अब कितनी दूर है? हम कै दिन में वहाँ पहुँचेंगे?"

विश्वामित्र ने श्रीराम की ठोढी में हाथ लगाते हुए उनके कपोल को छूकर कहा—"अरे बेटा! अब कहाँ दूर है? अब तो हम आ गये। देखो, यह तो ताड़का वन है, इससे आगे एक मुनियो का छोटा सा वन और है। उसी के आगे मेरा सिद्धाश्रम है।"

राम ने उत्सुकता से पूछा—"भगवन्! आपके आश्रम का नाम सिद्धाश्रम क्यो पड़ा?"

विश्वामित्र बोले—"रामभद्र तुमने सुना होगा, पुराण पुरुष विष्णुने इन्द्रको त्रिभुवन का राज्य देने के लिये वामनावतार धारण किया था. वे कश्यप अदिति के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे। उन्होने यही आकर तप किया था और यही वे सिद्ध हुए थे। इसीलिए इसका नाम सिद्धाश्रम है। मैं विष्णु का भक्त हूँ इसी आशा से इस सिद्धाश्रम पर तप कर रहा था, कि कभी साक्षात् विष्णु को यहाँ ले आऊँगा, सो आज मेरा

मनोरथ पूर्ण हो जायगा। आपके पधारनेसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा, यथार्थ मे सिद्ध हो जाऊँगा।"

राम ने मन ही मन लजाते हुए इस प्रसंग को तुरन्त बदल दिया। और बोले—"भगवन्? आपके यज्ञ में विघ्न कौन करता है?"

विश्वामित्र बोले–"बेटा! आकाशचारी, रुधिर को पीनेवाले बड़े-बड़े राक्षस ही आकार विघ्न करते हैं?"

राम बोले—"भगवन्! मैं उन्हें आपकी कृपा से आपके आशीर्वाद से तुरन्त सर से बाण चलाकर मार डालूँगा क्यों मर जायंगे न?"

विश्वामित्र बोले–"राम! वे मर ही न जायँगे तुम्हारे बाण लगते ही संसार सागर से सदा के लिये विमुक्त बन जायंगे।"

श्रीराम ने पुनः बात बदली और बोले—"भगवन्! उन राक्षसों का नाम क्या है? वे इतने बली क्यों हुए?"

विश्वामित्र बोले—"बेटा! अभी जो तुमने ताड़का मारी है उसके दो पुत्र है,मारीच सुबाहु ये दोनों अन्य बहुत से राक्षसों के साथ आकर मेरी यज्ञ मे विघ्न करते है। मैं जब-जब यज्ञकी दीक्षा लेता हूँ, तब-तब आकर मांस शोणित की वर्षा करते हैं, भाँति-भाँति के उपद्रव करते है।"

श्रीराम—"बोले ब्रह्मन्! अब ऐसा न होगा, उन दुष्टों को मैं यथेष्ट दण्ड दूँगा। उनको अशिष्टता का फल चखाऊँगा।"

सूतजी कहते है—"मुनियो? इस प्रकार अनेक बातें करते हुए विश्वामित्रजी ने दूर से ही श्रीराम लक्ष्मण को अपना आश्रम

दिखाते हुए कहा—"राघव ! सामने जो तुम्हें हरा-भरा आश्रम दिखाई दे रहा है, वही सिद्धाश्रम है। यहीं मैं रहता हूँ, इसे तुम अपना ही समझो।" श्रीराम दूर से ही आश्रम को देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से युक्त था। उसमें स्थान-स्थान पर सुन्दर सघन वृक्ष लगे हुए थे। जिन पर बैठे भांति-भांति से पक्षी कलरव कर रहे थे। मोर, चकोर, हंस, सारस, कारंडव समीप से सरोवरों के निकट किलोलें कर रहे थे। बहुत से वृक्ष फलो से लदे हुए थे। बहुतों पर पुष्प लगे थे। उन सबके थाले बने थे। वल्कल वस्त्र पहिने मुनिगण उनमे पानी दे रहे थे। बड़ी-बड़ी लताओं की स्थान स्थान पर कुंजें बनी थीं। विविध पुष्पों की दिव्य सुगन्धि से सम्पूर्ण आश्रम सुगन्धित हो रहा था। यज्ञ के धर्म की सुरभि आकाश मण्डल में व्याप्त होकर वायु को सुवासित कर रही थी। हरी-हरी मंजरी युक्त तुलसी स्थान-स्थान पर लगी हुई थी। केले के फलयुक्त वृक्ष हिल-हिल कर अतिथियो का स्वागत कर रहे थे। मृग इधर से उधर स्वच्छन्द फिर रहे थे। कहीं समाके चावल सूख रहे थे। कहीं वल्कल वस्त्र फैलाये हुए थे। कही समिधाएँ पड़ी थीं, कही कुशाओं के गठ्ठर रखे थे। उस आश्रम को देखकर श्रीराम का मन मयूर नृत्य करने लगा। आश्रम के मुनियों ने जब श्रीराम लक्षमण के साथ आते हुए श्री विश्वामित्र जी को देखा तो वे सभी अपने-अपने कार्यों को छोड़ कर उनके स्वागत के लिये दौड़े। सभी ने मुनि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। मुनि ने आश्रम की कुशल पूछी। सबने मुनि का तिथिगत किया और श्रीराम लक्षणम का भी अतिथि सत्कार किया।

हाथ पैर धोकर श्रीराम लक्ष्मण ने आचमन किया

स्वस्थ होकर समस्त मुनियों को पुन: प्रणाम करके हाथ जोड़कर विश्वामित्र जी से बोले—"भगवन् ! आप आज ही यज्ञ की दीक्षा लीजिये। हम उन राक्षसों को देखना चाहते हैं।"

विश्वामित्र जी ने श्रीराम को बलात् खींचकर अपनी गोद मे बिठाते हुए कहा—"अरे राघव ! तुम इतने बड़े होकर भी अभी भोले-भाले ही बने रहे। बेटा ! यज्ञ की दीक्षा प्रात:काल ली जाती है। आज हम चलकर आये है। आज विश्राम करेंगे, कल मैं यज्ञ की दीक्षा लूँगा। दो दिन तक मैं मौन व्रत धारण करके यज्ञ करूँगा। कुछ भी अन्य बातें न बोलूँगा। तुम भी ६ दिनों तक बिना सोये यज्ञ की रक्षा करते रहना भला, असावधानी मत करना अच्छा।"

श्रीराम ने कहा—"नही, भगवन् ! आप निश्चिन्त रहें,हम आपके यज्ञ में विघ्न करने वालों को मार भगावेंगे। हम उन्हे यज्ञ मन्डल के पास भी न फटकने देंगे।"

इस प्रकार बातें होते सांयकाल होगया। दूसरे दिन महामुनि बिश्वामित्र ने यज्ञ की दीक्षा ली। दूर-दूर से बहुत से ऋषि मुनि आये। भाँति-भाँति के रंगों से वेदियाँ सजाई गईं। स्थान-स्थान पर जल भरे कल शरखे गये। कुशा,समिधा,यज्ञ पात्र, हवन सामग्री, पत्र, पुष्प, फल तथा अन्य यज्ञीय वस्तुओं से यज्ञ मंडप भर गया। वह एक सजे हुए उपवन के समान प्रीतत होता था। कुशा और समिधाओं की भरमार थी। जब प्रज्वलित अग्नि में आहुतियाँ दी जाने लगी तो धूमकेतु अग्नि अपनी पताका को फहराते हुए स्वर्ग मे देवताओं को भाग बाँटने जाते हुए से दिखाई देने लगे। श्रीराम लक्ष्मण सर संधाने धनुष पर बाण चढ़ाये। सावधानी के साथ मख की रक्षा कर रहे थे।

प्रथम दिन शकुशल समाप्त हुआ। द्वितीय दिन राम बड़ी उत्सुकता से राक्षसों की प्रतीक्षा करते रहे कोई नहीं आया। तृतीय दिन उन्होने बड़ी सावधानी रखी, चतुर्थ दिन भी जब कोई राक्षस नही आया तो वे निराश होगये। पचम दिन उन्होने समझा अब कोई राक्षस न आवेगा। छठे दिन ज्यो ही पूर्णाहुति अवसर आया, त्योही आकाश मे जल भरे मेघो के समान आते हुए राक्षस दिखाई दिये। शीघ्रता से सावधान होकर श्रीराम ने लक्ष्मल से कहा–लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! देखो, देखो, वे दुष्ट राक्षस आकाश में मंडराने लगे। अवश्य ही ये मुनि के मख मे विघ्न करने आये है, इन्हें मारना हमारा परम धर्म है। तुम सावधान हो जाओ।

यह सुनकर लक्ष्मण बाण तानकर सम्हल कर खड़े हो गये। इतने मे ही यज्ञ कुंड के समीप राक्षसो ने रुधिर की वर्षा की। उसी समय मारीच को लक्ष्य करके बिना फर का बाण राम ने उसको मारा, बाण के लगते ही वह सैकड़ों योजन समुद्र के उस पार लंका में जा पड़ा। राम जी ने उसके प्राण इसलिये नहीं लिये कि उसके द्वारा आगे भी असुर संहारका बहुत कार्य कराना था। दूसरा एक बाण फर सहित मारा, वह सुबाहु की छाती में जाकर लगा, उससे वह मरकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। एक बाण और भी छोड़ा, जिससे बहुत से राक्षस मर गये, बहुत से डरकर भाग गये, बहुत से घायल हुये।

राक्षस के मारे जाने पर विधिवत यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। मुनियों ने विश्वामित्र का अभिनन्दन किया। सभी ने श्रीराम के बल, वीर्य, पराक्रम, ओज, तेज और शूरवीरता की प्रशंसा की। दोनों भाइयों ने तप से सिद्ध हुए मुनि के पाद पद्मों में उसी प्रकार प्रणाम किया, जिस प्रकार अश्विनी कुमारों ने अपने पिता सूर्य के पाद पद्मों में प्रणाम किया था। मुनि ने दोनो राजकुमारों

का सिर सूँघा और स्नेह के साथ कहा–"श्रीराम ! तुम दोनों का कल्याण हो, संसार में सर्वत्र तुम्हारे यश का गान हो। मैंने तुम्हारे ही तेज से इस यज्ञ को पूर्ण किया।"

श्रीराम ने मुनि के पैर पकड़े ही पकड़े कहा–"प्रभो ! हम तो आपके अनुचर हैं, शिष्य है, सब आप अपने तप तेज से ही करते कराते हैं दूसरों का सम्मान बढ़ाते है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मारीच सुबाहु आदि के मारे जाने पर स्वर्ग में देवताओं ने अत्यन्त ही हर्ष प्रकट किया। श्रीराम के ऊपर दिव्य पुष्पों की वर्षा की। इस प्रकार विश्वामित्र जी का यज्ञ बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ, बोल दे विश्वामित्र मखरक्षक श्रीराम की जय।"

छप्पय

आये विश्वामित्र राम लछिमन तिनि माँगे।
वचन शूलसम नृपति हिये महँ मुनि के लागे॥
गुरु वसिष्ठ समुझाइ दये मुनिकूँ दोनों सुत।
मुनि के पीछे चले राम लछिमन अति प्रमुदित॥
मिली ताड़का पन्थ महँ, "मारो" गुरु आज्ञा दई।
प्रभु छोड़यो-शर सर तें, लग्यो हिये महँ मरि गई॥

श्री सीताराम जी

श्री भागवत-दर्शन :—

भागवती कथा

सताईसवाँ खण्ड

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी प्रयाग

तृतीय संस्करण] माघ सम्वत् २०११ वि[illegible] [illegible] मूल्य २-

मुद्रक—राजाराम शुक्ल सङ्कीर्तन प्रेस, वंशीवट वृन्दावन।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
भूमिका—मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम	३
६५४—मिथिला पथके पथिक राम	१८
६५५—श्री सीतारामजी का विवाह	४७
६५६—श्री परशुराम दपदलन	५६
६५७—मातृपितृभक्त राम	६८
६५८—निर्मम राम	९५
६५९—रामविरही भरत	१२१
६६०—वनविहारी राम	१४४
६६१—मायामृग बने मारीच के पीछे राम	१७९
६६२—मारीचोद्धारक श्रीराम	१९४
६६३—वैदेही हरण	२०४
६६४—विरही राम	२१६

नाम लेने का रस मिल जाता है, वे एक दिन अन्न पानी के बिना तो रह भी सकते हैं, किन्तु तुम्हारे नाम को बिना लिये नहीं रह सकते। और चाहे जीवनोपयोगी वस्तुओं से मन हट भी जाय, किन्तु तुम्हारे नाम से नाम व्यसनियों का चित्त कभी नहीं हटता। वे चाहते हैं, जब तक जीवें तब तक तुम्हारे नामामृत को निरंतर पावें। प्राण जिस समय निकलने लगें, तब हमारे मुख में एकमात्र तुम्हारा ही नाम हो। तुम्हारे नाम में इतनी मोहकता, मादकता क्यों है, क्यों इतना प्रिय है? इसे हम नाम विमुख अज्ञप्राणी क्या जाने?

जैसे तुम्हारे "राम" इन दो सरल सीधे शब्दों में अत्यधिक आकर्षण है, उतना ही तुम्हारे चारुचरितों में आवश्यकता से अधिक आकर्षण है। जो भी कवि कविता करने चला है, उसने आपके ही चरितों के गान में अपनी कविता की सार्थकता समझी है। आपके चरितों के गान में कविता के गुण न भी हों, वह पद्य असम्बद्ध भी हो, तो भी मनीषियों ने उनकी प्रशंसा की है। जिन को आपके चरित्रोंके सुननेका व्यसन पड़ गया है, उनके कर्ण कुहर कभी सुनते सुनते भरते नहीं, जिन्हें आपके गुणगान का रोग हो गया है, उनकी वाणी आपके गुण गाते गाते कभी थकती नहीं। जिनकी लेखनी को आपके चरित लिखने का व्यसन पड़ गया है, उनकी लेखनी-लिखते लिखते कभी घिसती नहीं

रहे। जिनके पथ-श्रम को कठिन कर वाले हनुमानजी तथा लक्ष्मण दूर करते थे। सूर्पणखा को विरूप करने के कारण प्रिया हरण की विरहव्यथा से कुपित तथा कुटिल भ्रुकुटियों से सागर भयभीत हो गया था, उस पर जो पुल बाँधकर दुष्ट दलरूप वन के लिये दावानल हुए, वे कोशल किशोर हमारी रक्षा करें।"

भूमिका

मृत्यु का भय

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्-
लोकान्सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य-
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

मरन धरम यह जीव जगत कहँ इतउत भटकत ।
पाइ विषय सुख छनिक भूलि तिनहीमहँ अटकत ॥
समुझत विषयनि सत्य न कछु तिन महं सुख पावे ।
यों ही वितवत समय मृत्यु इक दिन चट आवे ॥
मृत्यु जनम के संग भई, जो जनम्यो सो मरेगो ।
हरि सुमिरन जो करेगो, मृत्यु मूड़ पग धरेगो ॥

---

*भगवान् की स्तुति करती हुई भगवती देवकी कह रही हैं—"हे आदि पुरुष प्रभो ! मरणधर्मा प्राणी मृत्यु रूप कराल व्याल से भयभीत होकर सम्पूर्ण लोको मे भटकता फिरता है, किन्तु इसे कही शान्ति प्राप्त नही होती । कही भी इसे ऐसा स्थान नही मिलता जहा मृत्यु का भय न हो । भाग्यवश यदि किसी प्रकार आपके चरणों की इसे शरण मिल जाय तो उसे पाकर यह सुख की नींद सोता है मृत्यु इससे दूर हट जाती है।"

अवतार साधन सिखाने के निमित्त होता है, क्योंकि मनुष्य साधक है।

कर्म मात्र दोषमय, अपूर्ण और बन्धन का हेतु है। इसलिये नैष्कर्म्य स्थिति को सर्व श्रेष्ठ कहा है। नैष्कर्म्य स्थिति कर्म करके ही प्राप्त की जा सकती है, अतः धर्म पूर्वक कर्म करना ही उत्तम साधन है। इन्द्रियों के अनुकूल विषयों के भोगने में स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इन्द्रियाँ इतनी अतृप्त हैं इतनी भूखी हैं, कि विषयों को भोगते भोगते ये तृप्त नहीं होतीं। उनको नियम में रखना यही धर्म का कार्य है। रति सुख की इच्छा है, तो उसे पत्नी में पूर्ण करो। पत्नी भी धर्मपत्नि हो,सब समय नहीं, नियमित समय में। धर्म यही शिक्षा देता है। यहाँ उद्देश्य भोग में प्रवृत्ति कराना नहीं है, किन्तु प्रधान लक्ष्य है, त्याग। एक मात्र त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है। भगवती श्रुति कहती है—"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ" भोग करो, त्याग भाव से करो—मागृध कस्य-विद् धनम्—किसी दूसरे के धन पर मन मत चलाओ। अधर्म पूर्वक जो दूसरे के उपभोग की वस्तु है, उसका उपभोग करने का विचार मत करो। त्याग ही प्रधान उद्देश्य है। त्याग द्वारा ही तुम परम पद को प्राप्त कर सकोगे। अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति कर सकोगे। राम ने अपने जीवन में एक मात्र त्याग को ही प्रधानता दी है, त्याग से ही उन्होंने सबके मन पर अपना अधिकार जमा लिया है। त्याग की मर्यादा स्थापित करके वे मर्यादा पुरुषोत्तम के नाम से विख्यात हुए हैं। उनका जीवन सार्वजनिक होने से सबके उपयोगी है, क्योंकि उसमें नियम की दृढ़ता और त्याग की प्रबलता है, कृष्णावतार में प्रेम की प्रबलता और त्याग की दृढ़ता है। यही इन दोनों अवतारों में अन्तर है। इसलिये कृष्ण उपासना वैयक्तिक है और राम

जाती हैं। फिर यह बात स्मरण नही रहती कि एक दिन मरना है। इतने मृतकों को नित्य देखते हैं, उनकी मृत्यु पर आश्चर्य नही होता, किन्तु जहाँ अपने किसी परिचित,सुहृद्, इष्ट मित्र की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो तुरन्त चौंक पड़ते हैं और कहते है—"हैं, उनकी मृत्यु हो गई, बड़े आश्चर्य की बात है। कल तक तो वे अच्छे थे।" अब बताइये जो बात अवश्यम्भावी है, उसमे आचार्य की कौन सी बात है। आश्चर्य की बात तो यही है कि नौ छिद्र वाले इस पात्र में प्राणरूपी पय ठहरा हुआ है। घडे में एक छिद्र होता है तो उसमें पानी नही ठहर सकता। इस देहरूपी घट में तो नौ दस छिद्र है। जितने दिन इसमें प्राण ठहरा रहता है, यही एक अद्भुत आश्चर्य है। मृत्यु में कुछ देर थोडे ही लगती है। हम प्रश्वास छोड़ते हैं, साँस लेते है। एक प्रश्वास छोड़ी वह लौटकर न आयी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के लिये पहिले से कोई विज्ञप्ति नहीं दी जाती, कि अमुक दिन सावधान रहना। आकाश, पाताल, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा नरक कही भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ मृत्यु न हो। छाया की भाँति सदा साथ रहती है, कब वह प्रत्यक्षहो जाय इसका कोई निश्चय नहीं। इसीलिए सन्त महात्मा बार-बार चेतावनी देते रहते हैं, कि माधव को और मृत्यु को भूलना मत। जिसे सदामृत्यु की स्मति बनी रहती है, उसे मत्यु समय पर दुःख नही होता। नही तो ऐसा सुनते हैं। सहस्रों बिच्छुओं के काटने पर जैसी पीडा होती है उससे भी अधिक पीड़ा मर्मस्थानों से प्राणों के निकलते समय होती है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही एक सबसे बडा अन्तर है। अज्ञानी तो सदा मत्यु से बचने के लिये प्रयत्नशील रहता है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है,मैं सुख पूर्वक जीता रहूँ। ज्ञानीकी इच्छा यह रहती

है, उसके विषय में तो वेदों ने भी नेति-नेति कहा है। उसका अनुभव तो योगिजन समाधि में करते हैं, वह विचार का विषय नहीं, उस विषय में तर्क वितर्क से काम चलने का नहीं। वह तो अनुभवगम्य है।

विचारणीय विषय तो उनका पुरुषोत्तम रूप है। नररूप धारण करके जो उन्होंने मानवीय लीलायें की हैं। उन्होंने जो एक मनुष्य चरित का सर्वोत्तम आदर्श उपस्थित किया है, उसके विषय में मानवता के नाते हम विचार कर सकते हैं। राम अपने सब भाइयों में बड़े थे, अतः छोटों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसका आदर्श उन्होंने बाल्यकाल से ही उपस्थित किया। भरतजी जब खेल में हारने लगते, तब आप ढीले पड़ जाते, भरत को जिता देते और स्वयं प्रसन्न होते।

राजा ने राम को युवराज बनाना चाहा। गुरु ने आज्ञा दी। राम पिता तथा गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कैसे करते? वे राज्याभिषेक के लिए प्रस्तुत हो गये। नगर सजाया गया। उन्हें दुःख था, उनके भाई भरत शत्रुघ्न इस समय उपस्थित न थे, कारण जो भी रहा हो, लग्न उसी दिन की निकली थी। राज्याभिषेक होते-होते रुक गया। कुबरी की प्रेरणा से कैकेयी ने राजा को मोह कर राम का वनवास और भरत का राज्याभिषेक ये दो वर माँग लिये। धर्म पाश में बँधे दुखित राजा ने ये वर दे दिये। राम को सूचना हुई। राम उसी उत्साह से लक्ष्मण सीता सहित चले गये। राजा ने बहुत रोका, राम नहीं रुके राजा सुरपुर पधार गये, भरत ने राज्य नहीं ग्रहण किया। राम को लौटाने चित्रकूट गये। राम लौटे नहीं। भरत उनकी चरणपादुका लेकर लौट आये।

इस विषय में लोग ये तर्क करते हैं—

तीनों दोष कुपित होकर वाणी को रोक लेते हैं उस समय उस हड़- बड़ाहट में आपका स्मरण होना असम्भव है। अतः इसी क्षण मेरा मन आपके चरण कमलों में रम जाय।" सारांश यह कि भगवद् भक्त अभी से भगवान् को हृदय में बिठा लेना चाहते है, जिन्हें देखकर मृत्यु भी दूर भाग जाय, जिनके सहारे मृत्यु के सिर पर भी पैर रखा जा सके। इसलिये साधकोंको सदा मृत्यु का स्मरण रखना चाहिये, हमें एक दिन मरना है। मैंने सुना था योरोप में पहिले कोई एक ऐसा छोटा सा राज्य था। उसके राजा के यहाँ हर समय दो आदमी रहते थे और वे कुछ देर ठहर ठहर कर राजा के सम्मुख यह शब्द उच्चारण करते रहते थे—"तुम्हें एक दिन मरना है। तुम्हें एक दिन मरना है।" सचमुच में यदि मनुष्य को अपनी मृत्यु स्मरण बनी रहे, तो वह बहुत से पापों से बच जाय। मनुष्य अधिकांश पाप मृत्यु को भूलकर ही करता है।

हमें और बातों पर चाहे विश्वास न भी हो, किन्तु जब किसी की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जाता। बहुत सी युक्तियाँ देते हैं, फिर अन्त में कह देते हैं—"अजी' मृत्यु का कोई समय निश्चित थोड़े ही है। जब चाहे श्वास निकल जाय। 'कोई रुग्ण हो, रोग ग्रस्त हो, उसकी मृत्यु का समाचार सुनते है, तो कह देते है, 'अजी वे तो बहुत दिन से रोगग्रस्त थे' किन्तु जब सहसा किसी की मृत्यु सुनते हैं, तो सगे सम्बन्धियों में एक विचित्र विस्मय हो जाती है, चित्त दुविधा में फंस जाता है। अविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि मृत्यु ध्रुव है औरविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि उसकी कोई सम्भावना पहिले से नहीं थी। यदि कोई झूठी ही मृत्यु

लालच करना। बड़े लोगों का काम है लालची की उपेक्षा करना। उसके प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करना, उसके लिये अपने अधिकार को त्याग देना। माता पिता बच्चों को थाली में साथ बिठाकर खिलाते हैं। बच्चों का स्वभाव होता है, थाली में जो भी अच्छी वस्तु देखेंगे, उसे शीघ्रता से पहिले खा जायँगे। माता पिता उनकी इस चातुरी को देखकर हँस जायँगे। वे उनसे लड़ेंगे नहीं अधिकार नहीं जतावेंगे, कि इस मिठाई में आधा भाग हमारा भी है तुम इस सबको क्यों खाये जाते हो? इसी प्रकार छोटे यदि लालच भी करें, तो बड़ों को त्याग वृत्ति से ही उन पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। लड़कर उन्हें परास्त करके जो प्राप्त होता है वह उत्तम मार्ग नहीं।

१—श्रीराम ने बन जाकर अत्यन्त बुद्धिमानी की, उनका चरित्र उसी कारण परम पावन और त्रिभुवन में गान करने योग्य बन गया।

२—राजा स्त्री के वश में थे, इसे राम भी जानते थे, किन्तु राजा जो विवश थे, धर्मके कारण थे। कैकेयी ने उनसे शपथ करा ली थी। राजा को कैकेयी के प्रति तो तनिक भी ममत्व न था। वह मरे या जीवे। उन्हें चिन्ता थी अपने प्रणकी। मेरे कुल में आज तक कोई ऐसा नहीं हुआ जिसने प्रतिज्ञा करके उसे पूरी न किया हो। इस लिये राम पिता के वचन को पूरा करने वन गये थे, न कि कैकेयी को प्रसन्न करने के निमित्त। वन जाने से कैकेयी की प्रसन्नता स्वाभाविक थी, यही उसका अभीष्ट था।

३—रामने कोइ गृहस्थ धर्म का त्याग नहीं किया, विधिवत् वानप्रस्थ नहीं लिया। वन में चौदह वर्ष मुनिवेष बनाकर रहना ही था, इसलिये उनका वनवास नैमित्तिक था। वहाँ उनका जो स्वधर्म था, उसका उन्होंने पालन किया।

पं० नित्यानन्द जी भट्ट कथावाचक तथा और भी लोगों के पत्र मिले। सभी यही लिखते थे, हमने आपके विषय में बहुत ही बुरा समाचार सुना है, तुरन्त उत्तर दें, बड़ी चिन्ता है। किसी ने यह नहीं लिखा कि उन्होंने सुना क्या है। यहाँ से तार तो तुरन्त दिये गये, किन्तु न जाने क्यों वे दो दिन पश्चात् पहुँचे। तीन दिन तक हमारे वृन्दावन के कृपालु बन्धु चिन्ता हो में बने रहे।

यह तो मुझे विश्वास है, मेरा मृत्यु से किसी को दुःख तो क्या होने का। दुःख होता है प्रेम में। मरने को नित्य ही मरते हैं। जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं उनकी मृत्यु पर किसी को दुःख नहीं होता। जिनका जीव परोपकारमय है या जिनसे जिनको प्रेम होता है उनकी मृत्यु पर दुःख होता है। प्रेम मैंने किसी से किया नहीं। बहुत रूखी प्रकृति होनेसे सभी मेरा साथ छोड़कर चले गये और मुझसे घृणा करने लगे। जब मैं किसी से प्रेम नहीं करता तो मुझसे प्रेम कौन करने लगा, रही परोपकार की बात सो मैं तो अपनी वासनाओं की पूर्ति कर रहा हूँ। इस वासना पूर्ति में कुछ उपकार हो जाय, तो वह तो गाँव जाते हुए तिनका छूनेके समान है! इसलिये मेरी मृत्यु से कोई बड़ी भारी हलचल मचेगी ऐसा तो मानता नहीं, किन्तु फिर भी जिनसे अपार सम्बन्ध रहा है, जो सन्त स्वभावके कारण अहैतु की कृपा रखते है उनके मनमें चिन्ता होना स्वाभाविक ही है। हमें चार पाँच दिन तक कोई समाचार मिला नहीं कि बात क्या थी, वृन्दावनमें किसने यह निराधार समाचार उड़ा दिया। ४, ५ दिनके पश्चात् "भक्त-भारत" के सम्पादक प्रियवर रामदास शास्त्री का पत्र आया। उससे सब बातें विदित हुईं। उनका पत्र यह था—

कुछ कहने का साहस ही न पड़ा। राम राज्य के भूखे नहीं थे, राम कलह नहीं चाहते थे, उन्हें तो प्रेम पूर्वक आत्मीयों के ऊपर विजय पानी थी, त्याग और तपस्या द्वारा कुल के गौरव की रक्षा करनी थी। यदि राम राज्य के अधिकार में फँस जाते, तो उनका चरित्र कैसे बढ़ता, कैसे लोग उस पावन चरित्र को पढ़-पढ़ कर पार होते।

राम चरित्र में जो मुख्य प्रसंग हैं वह राज्य त्याग कर वन जाने का ही है। अर्थात् त्याग का ही आदर्श है। पन्द्रह वर्ष तक विवाह चरित्र है १४ वर्ष तक बनका चरित्र है २९ वर्षों का ही वर्णन है। उसके पश्चात् उन्होंने ग्यारह सहस्र वर्ष राज्य किया उसका कुछ वर्णन नहीं। उसमें वर्णन वाली कोई बात नहीं। राम राजा थे, राजाके कर्त्तव्य का उन्होंने उत्तमता से पालन किया। सन्ध्या करना द्विजमात्र का धर्म है, कर्त्तव्य है इसके करने से कोई विशेष पुण्य नहीं। हाँ, न करने से पाप अवश्य लगता है। सन्ध्या वन्दन के अतिरिक्त जो विशेष दान, धर्म तथा तप आदि किये जाते हैं उनसे यश होता है प्रशंसा होती है। राम ने राजकुमार होकर—राज्य का अधिकार मिलते मिलते प्रसन्नता पूर्वक उसे त्याग दिया और सर्वस्व त्याग कर क्षण भर में वनवासी बन गये। यही उनका महान आदर्श था। त्यागी वैरागी राम के उसी रूप के उपासक हैं। वे जटा बढ़ाकर भस्म रमा कर आपके उसी रूप को बनाते हैं और वनवासी राम का ध्यान करते हैं।

वनवास का भी राम ने कितना उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित किया। तेरह वर्षों तक वे वनों में विचरते रहे। कहीं कुटी मठ बनाकर नहीं रहे। त्यागी जहाँ कुटी मठ बनाकर रहने लगता है, वहाँ रागद्वेष हो ही जाता है, फिर उसके जीवन में

किस्सा बढ़ते-बढ़ते भयंकर रूप हो चला—परिणाम में जो हृदय की हालत थी—कही नही जा सकती। पर अब प्रार्थना श्री चरणों में यह है कि—आखिर यह क्या लीला है—कुछ संतों के अनुभव सुनिये—

—"ब्रह्मचारीजी के लिये एक ईश्वरीय सूचना है और प्रतिष्ठानपुर अब उनके अनुरूप नहीं रह गया है, अतः वह स्थान छोड़ देना चाहिये—भागवती कथा अन्यत्र भी लिखी जा सकती है।"

❀ ❀ ❀ ❀

—ब्रह्मचारीजी यद्यपि एक महान् कार्य में व्यस्त हैं और कार्य भी लोकातीत है—पर संसारियों की दृष्टि में एक प्रपंचमय दीख रहा है—इसी कारण लोगों की द्वेष-भावना होती जा रही है।

❀ ❀ ❀ ❀

—यह तो युग के स्वरूप का विस्तार है—अभी तो इससे भी अधिक भयकर घटनाएँ सुनने को मिलेंगी—पर इस पाप रूप युग का भी कल्याण करने वाले महात्मा ब्रह्मचारी जैसे मौजूद है। धर्म संरक्षकों पर ही इसका प्रहार होता है—जैसे राजा परीक्षित् पर।

❀ ❀ ❀ ❀

—इस तरह की घटनाएँ महापुरुषों के रूप के अनुकूल हैं, इससे महत्व चमकता है।

इस घटना से ब्रह्मचारीजी को अमरत्व प्राप्त हुआ है—भगवान् उनका कल्याण करें।

कृपया हस्तलिखित पत्र से भी सूचित कर कृतार्थ करें।

रामदास शास्त्री

में काम वासना ने घर कर लिया है, वहाँ राम अपने राम रूप से रह नहीं सकते। "जहाँ काम तहँ राम नहीं।"

राक्षसी राम के त्रिभुवन विमोहित अनूप रूप को देखकर आसक्त हो गयी। राम से छूटते ही उसने कहा—"मेरे साथ तुम विवाह कर लो।"

राम ने शान्ति के साथ कहा—"देवीजी! मेरे पास तो वहू हैं। मैं दो विवाह नहीं करता।"

वह बोली—"इसे मैं खाये जाती हूँ।"

राम ने साम से काम न होते देखकर दाम का आश्रय लिया। कह दिया—"अच्छा, मैं अपने भाई को कह देता हूँ, उसे दूलहा बना लो।"

लक्ष्मण ने उसे नहीं स्वीकारा। सेवा धर्म के विरुद्ध था। सेवा धर्म में शारीरिक सुख को कोई स्थान नहीं। दाम से भी काम न चला, तो राम ने भेद डाला। कह दिया—"लक्ष्मण ऊपर से ही कहता है तुम उसकी अनुनय विनय करो।" राक्षसी फिर लक्ष्मण के समीप गयी। यथार्थ बात यह थी, कि राम समय को टाल रहे थे, काम का वेग, ज्वर का वेग तथा वैराग्यका वेग सदा एकसा नहीं रहता। राम समय टाल रहे थे, राक्षसी का रंग गाढ़ा होता जाता था। 'कामात्क्रोधोऽभिजायते।" काम वासना की इच्छानुसार पूर्ति नहीं होती, तो क्रोध आही जाता है। राक्षसी ने देखा राम काम के वशीभूत नहीं होते। ये निर्विकार बने हुए हैं। तब उसे क्रोध आया। जब दोनों ही ओर से विकार हो तभी सम्बन्ध होता है। राम निर्विकार, राक्षसी काम के अधीन; सम्बन्ध न हो सका। वह सीताजी को खाने को दौड़ी। अब हम पूछते हैं नाक कान काटने के अतिरिक्त दूसरा कौनसा साधन था। अब तो वह आततायिनी बन गयी थी।

भागवती कथा की बात सो वह कहने योग्य नहीं है। वर्ष के अन्त में पाँच छै सहस्त्र का घाटा होता है। उसे घाटा कहना भी उचित नही। उसकी दक्षिणा से जो कुछ आता है उसे सब लोग खा जाते है। अन्न आ जाता है ऊपरी कार्यों में व्यय हो जाता है। नित्य डाकघर की आशा लगाये लोग बैठे रहते है, आज कुछ आ जाय तो दाल आ जाय नमक आ जाय। वर्ष के अन्त मे जो घाटा हो जाता है, भगवान् किसी न किसी से पूरा करा ही देते है। प्रथम वर्ष में देहली के लाला सूरजनारायणजी ने अपने इष्ट मित्रों से कर करा के ५-७ हजार रुपये से उसे पूरा किया। दूसरे मे झरिया के बीरम बाबू ने पाँच हजार देकर गाड़ी चलायी। अब तीसरे वर्ष भी पस्टम चल रही है। रही मेरी बात सो, मेरे परिचित सभी जानते है मेरे कुछ कृपालु महानुभाव हैं, जिनसे मैं किसी से चार पैसे किसी से दो पैसे नित्य के भिक्षा ले लेता हूँ। ऐसे कुछ "भिक्षा सदस्य" हैं। पहिले लोग उत्साह और श्रद्धा से देते थे। जबसे "भागवती कथा' का व्यापार आरम्भ हुआ है। लोगों की श्रद्धा घट गयी है। सब सोचते हैं—"अब तो ये व्यापार करने लगे हैं। जैसे हम वैसे ये इन्हें भिक्षा देने से क्या लाभ ?" इसलिये बहुत से बन्द भी कर दिये है। फिर भी कुछ बगीचे में साग भाजी बो लेते हैं। लस्टम पस्टम काम चल ही जाता है। मेरा जो व्यापार है, उसमें या तो घाटा ही घाटा है या लाभ ही लाभ है। घाटा तो इसलिये कि कभी इसमें आर्थिक लाभ न होगा। दश आय होगी, तो बीस व्यय होंगे। लाभ इसलिये हैं, कि जो भी कमी पड़ेगी चाहे ऐं करके करें चाहें चें करके, लोगों को पूरी ही करनी होगी। इसलिये हमें तो लाभ ही लाभ है नदी में नौका डूबती है, तो मल्लाह की तो केवल लँगोटी ही भीगती है। ऐसी दशा में यहाँ डाका डालकर कोई क्या लेगा। जानते हुए भी सन्देह

सब बातों का प्रसङ्गानुसार अगले अङ्कोंमें उल्लेख किया जायगा। 'भागवत चरित' के राम चरित्र में यदि कोई नवीनता पाठकों को दिखायी दे, तो उसे लेखक की मनगढ़न्त न समझें। राम चरित तो शतकोटि प्रविस्तर है। सौ करोड़ राम चरित में सब घटनायें हैं। अन्त में पाठकों से यही प्रार्थना है, कि वे राम के सरल नाम का जप करें, राम के सुमधुर नामों का कीर्तन करें राम के अनुपम रूप का ध्यान करें, राम की सुन्दर शिक्षाओं को धारण करें राम की सुमधुर कथा को नियम पूर्वक श्रवण करें। राम के अनुपम आदर्श को आगे रखकर व्यवहार करें और राम की भक्ति मे अपने को निमग्न कर दें। राम के सच्चे भक्तों का आश्रय लें और मुझे आशीर्वाद दें, कि काम के फन्दे से छूट-कर राम की चरण धूलि में लोटने का अधिकार पा सकूँ? उपासना के लिये रामसा सरल, सीधा स्वामी कहाँ मिलेगा? किन्तु किसी चोर जोर ने किसी को बल पूर्वक बन्द कर दिया हो, तो वह सरल स्वामी का मन से ही चिन्तन कर सकता है। मन भी यदि भययुक्त हो तो मन से भी चिन्तन करना असम्भव है। यह तो सरल स्वामी का काम है, कि स्वयं जाकर छुड़ाले और अपने चरणों का सेवक बना ले। किन्तु स्वामी को क्या पड़ी, उसके पास सेवकों की कमी तो है नहीं। सेवकों की कमी न भी हो तो भी यदि वह बन्दियों के बन्धन को नहीं छुड़ाता, तो वह स्वामी कह-लाने का अधिकारी नहीं। क्यों राम स्वामी! कुछ करोगे? अपने चरणों की शरण में लोगे? विचार करना।

शत्रुवत् बन जाते हैं। प्रपञ्चमें रागद्वेष तो रहता है। जो साथियों के सहारे काम करता है,उसे पछताना पड़ता है। कोई भी काम करने वाला हो उसे सर्वप्रथम अपने साथियों के विरोध के लिए उद्यत होकर ही उस कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिये।

आज का युग बड़ा भयंकर है। आज जो भी हो जाय,सोई थोड़ी। हम मुँह से तो धर्म कहते है। स्वयं हमारी धर्म में आस्था नही रही। हम अपने को ब्रह्मचारी कहते है, किन्तु शास्त्रों में जो सन्यासी ब्रह्मचारी के धर्म बताये हैं, उनमें से सौ अंशों में से एक अश का भी पालन नहीं करते। "यदापि युवती क्षिभर्नस्पृशेदार वीमपि" आदि जो धर्म हैं उनका पालन नहीं कर सकते। जिस क्षेत्र मे भी दृष्टि दौड़ाते है उधर ही दुराचार, कदाचार, दम्भ, कपट, पाखण्ड और अधर्म हो रहा है। इसमें दोष दे भी चाहें, तो किसी से एक हो तो उसे दोष दें यह तो कूप मे भाँग पड़ गया है। भीड़ मे हम चलते हैं, हम पीछे वालों पर क्यों बिगड़ते हैं, "अजी, हमें धक्का क्यों दे रहे हो किन्तु आगे वालोंको हम भी धक्का दे रहे है इस बातको हम भूल ही जाते हैं। आगे वाला जब हमसे बिगड़कर पूछता है "क्यों जी धक्का क्यों देते हो ?" तो हम उससे भी अधिक बिगड़कर कहते हैं— "भाई, अब कैसे करे पीछे वाले दे रहे है।" इसी प्रकार हम स्वय धर्म का आचरण नहीं करते। दूसरों को बुरा भला कहते है, अरे ! वे सर्वनाश कर रहे है, धर्म पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसमे दोष किसे दें। "अयन्तु युगधर्मोहि वतते कस्य दूषणम्।"

अन्त में पाठकों से मेरी प्रार्थना यही है, कि ये सभी घटनाएँ जीवके कल्याण के ही लिये होती हैं। भगवान् की इच्छा से ही होती हैं, इनमें उपदेश भरा रहता है। जीव के लिये चेतावनी होती है, पाठक ऐसा आशीर्वाद दें, कि मैं मृत्यु का

मिथिला पथ के पथिक राम

(६५४)

यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रम् ।
सीतास्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम् ॥
आदाय बालगजलील इवेक्षुयष्टिम् ।
सञ्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये ॥ ❀
(श्री भा० ९ स्क० १० अ० ६ श्लो०)

छप्पय

मारि ताड़का चले फेरि सिद्धाश्रम आये ।
गुरु मख दीक्षित भये राम रक्षक कहलाये ॥
पूर्णाहुतिके दिवस निशाचर दल इक आयो ।
मारयो राम सुबाहु लंक मारीच पठायो ॥
मख रक्षक श्रीराम पै, अति प्रसन्न मुनिवर भये ।
आशिष दुलहिन देनहित, धनुष यज्ञ महँ लै गये ॥

शक्ति बिना शक्तिमान की शोभा नहीं शरीर में शक्ति न

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्री राम ने सीता के स्वयम्वर गृह में लोक के विख्यात वीरों के समाज में जिसे तीन सौ आदमी खींच-कर लाये थे उस शिवजी के उग्र धनुष को जैसे हाथी का बच्चा ईख के गन्ने को लीला से तोड़ देता है वैसे ही उन्होंने उसे चढ़ाकर तड़ से बीच से तोड़ डाला ।"

महाराज हरिश्चन्द्र का उत्तर चरित्र

(६३७)

सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ।
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ७ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

मुनि रोक्यो मग कह्यो साङ्गता धन अब दीजै ।
नृप बोले—मुनि ! एक मास धीरज अरु कीजै ॥
यों कहि काशी गये कपर्दी की रजधानी ।
अवधिपूर्ण लखि पहुँच गये कौशिक अभिमानी ॥
द्रव्य याचना करी सुनि, नृप रानी विक्रय करी ।
रोहित हूँ बेच्यो स्वय बिके दक्षिणा द्विज भरी ॥

धैर्य की परीक्षा विपत्ति में होती है, सहन शीलता की परीक्षा क्रोध और अपमान के समय होती है और त्याग की परीक्षा दरिद्रता के समय होती है। ये संसारी धन वैभव आते

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज हरिश्चन्द्र को अपनी स्त्री के सहित सत्य मे ऐसी निष्ठा और दृढ़ता देखकर विश्वामित्र जी परम प्रसन्न हुए और उन्हे तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया।"

हुई सकुचाती हुई, मृगी के समान विस्फारित नेत्रों से तरुपल्लवों को निहारती हुई सीता चलती हैं, वे ही राम सर्वसाधारण के राम हैं। उनके पीछे रहने पर भी सीता आगे ही हैं। तभी तो सब कहते हैं—"सीताराम सीताराम सीताराम।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् विश्वामित्र का यज्ञ समाप्त हो गया, तब विश्वामित्र ने कहा—"राम! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ, मैं तुम्हें आशीर्वाद देना चाहता हूँ।"

लजाते हुए हाथ जोड़कर श्रीराम ने कहा—"प्रभो! मैं आपके आशिष के लिये तो सदा ही समुत्सुक बना रहता हूँ।"

विश्वामित्रजी ने मुस्कुराते हुए कहा—"देखो भैया! मैं तुम्हें आशिष यहाँ न दूँगा। महाराज जनक की राजधानी मिथिला में चलकर आशिष दूँगा।"

रामजी ने अनजान की भाँति पूछा—"महाराज! मिथिला में क्या है? वहाँ आप क्यों जायेंगे।"

मुनि विश्वामित्र बोले—"देखो, बेटा! महाराज जनक एक बड़े प्रतापी धर्मात्मा ज्ञानी राजा हैं। उनके वंश के सभी विदेह कहलाते हैं, सभी आत्म ज्ञानी होते हैं। वे एक बड़ा भारी यज्ञ कर रहे हैं, उन्होंने चारों दिशाओं से ऋषि मुनियों, वेदज्ञब्राह्मणों तथा अपने सगे सम्बन्धियों को बुलाया है मेरे लिये भी निमंत्रण आया है, मुझे भी वहाँ जाना है। यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो तुम भी मेरे साथ चल सकते हो। वहीं मैं तुम्हें आशिष दूँगा।"

रामजी ने सोचा—"यज्ञों में निमंत्रण खाते फिरना यह तो साधु ब्राह्मणों का काम है, मुनि मुझे वहाँ क्यों ले जा रहे हैं। यज्ञ तो मैंने बहुत देखे हैं। मेरे ही यहाँ अवधपुरी में कितने बड़े यज्ञ होते हैं। पिताजी ने मुझे मुनि के यज्ञ की रक्षा के लिये

राजा बोले—"प्रिये ! मैं धर्मपाश में बँधा हूं, मुझे किसी ने बाँध नही लिया है, सत्य ने मुझे बाँध रखा है। अब मेरे सामने सत्य रक्षा का प्रश्न है।"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ ! प्राण देकर भी सत्य की रक्षा करनी चाहिये। ब्राह्मण को वचन देकर उसका पालन करना चाहिये, जिस बात की प्रतिज्ञा की हो, उसे सामर्थ्य रहते पूरी करनी चाहिये।"

राजा बोले—"प्रिये ! यही तो मुझे चिन्ता है, कि किस प्रकार सत्य का पालन करूँ ?"

रानी बोली—हे जीवन धन ! मैं आपकी दासी हूँ, आज्ञा कारिणी हूँ, आपके अधीन हूँ, आप मुझे बेच दें और उसी द्रव्य से महामुनि को सन्तुष्ट करें।"

यह सुनते ही महाराज मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर गये, और बड़े ही आर्त स्वर मे बोले—"प्रिये ! तुम ऐसी बातें मुख से मत निकालो। अश्वमेध यज्ञों मे जो केश वेद के मंत्रों द्वारा दिव्यौषधि महौषधि के जलो द्वारा भिगोये गये हैं, उन्हें मैं अपने देखते दूसरो को कैसे छूने दूँगा।"

इस पर रानी बोली—"हे धर्मज्ञ ! धर्म के सम्मुख धन, धान्य बान्धव, स्त्री, बच्चे यहाँ तक कि प्राणों का भी कोई महत्व नही। मुझे पुत्र हो चुका है, आप धर्मतः पितृ ऋण से उऋण हो चुके है अतः आप कुछ द्रव्य लेकर मुझे किसी को दासी बना दें।" धर्म की रक्षा के लिये सब कुछ करना होता है।"

यह सुनकर राजा रो पड़े और रोते रोते बोले—"जिसकी दास दासियाँ भी सुवर्ण के कुण्डल पहिन कर आज्ञा चलाती थी, अपने हाथो कुछ काम नही करती थी, वही सम्राज्ञी शैव्या सेविका बन कर साधारण से साधारण सेवा कैसे कर सकेगी ?

चढ़ाना तो कौन कहे, वह भूमि पर से टससे मस भी नहीं हुआ। यह देखकर वे सब अपना सा मुँह लिये भाग गये। यदि तुम मेरे साथ जनक के यज्ञ में चलो, तो मैं तुम्हें वह धनुष दिखाऊँगा।। मेरा विश्वास है कि तुम उस पर अवश्य ही बाण चढ़ालोगे।"

यह सुनकर श्रीराम ने उत्सुकता प्रकट करते हुए कहा—"प्रभो! हम उस दिव्य धनुष को अवश्य ही देखना चाहते हैं। धनुष कितना बड़ा होगा। यह तो हमारे लिये बड़े आश्चर्य की बात होगी।"

मुनिने जब श्रीराम लक्ष्मण को मिथिला चलने को उत्सुक देखा, तब उन्होंने अपनी हवन की सामग्री छकड़ों में लदवाई, सबके बिस्तर छकड़ों मे लादे गये। सहस्रों मुनि सैकड़ों छकड़ों में अपना अपना सामान लादकर मुनि के साथ चलने को उद्यत हुए। मुनि ने कहा—"अब मैंने यहाँ सिद्धि प्राप्त कर ली, अब मैं यहाँ लौटकर न आऊँगा हिमवान् पर्वत पर तप करने चला जाऊँगा। मुनि के ऐसे निश्चय से आश्रम के वृक्ष मुरझा गये, लताएँ लटक गयीं। पक्षी रोने लगे। मृग, मयूर आदि पशुपक्षी मुनि के पीछे पीछे चलने लगे।

कुछ दूर चलकर मुनिने मृगोंको पुचकारा उन्हें थपथपी दी और बड़े स्नेह से कहा—"अब तुम लोग लौट जाओ।" यह सुनकर समस्त पशुपक्षी रोते-रोते वहीं खड़े रहे। मुनि आगे बढ़ गये सामग्रियों से लदे छकड़े पीछे पीछे आ रहे थे। चलते २ उन्हें शोणभद्र नद दिखायी दिया। उस विशाल नदको देखकर श्रीराम परमविस्मित हुए। रात्रि मुनिने वहीं शोण तट पर बितायी। प्रातः वे शोणनद के किनारे २ चले। जहाँ शोण जाकर श्रीगंगाजी में मिलते हैं, वहाँ दूसरे दिन उन्होंने डेरा

पत्नी भी किसी उच्चकुल में उत्पन्न परम सुन्दरी है, फिर तुम इसे बेचना क्यों चाहते हो ?"

रोते-रोते राजा बोले—"भाइयो ! तुम मेरा परिचय प्राप्त करना चाहते हो ? तो मेरा परिचय इतना ही पर्याप्त है, कि मैं परम क्रूर पुरुष हूँ। आकृति मेरी पुरुषों की सी है, किन्तु मैं हिंसक क्रूर कर्मा नर पशु हूँ। नहीं तो भला सदा अपने अनुकूल रहने वाली, मुझसे प्राणों से भी अधिक प्यार करने वाली अपनी पत्नी को भला कौन सज्जन पुरुष बेचेगा ?"

महाराज इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने में ही एक वाचाल ब्राह्मण वहाँ आ गया। उसके त्रिपुण्ड, दुपट्टे, डण्डे को देखकर सभी सहम गये। उसने आते ही पूछा – "क्या बात है ?"

लोगों में से कुछ ने कहा—"ये सज्जन अपनी इस परम सुकुमारी नारी को दासी कर्म के लिये बेचना चाहते हैं।"

ब्राह्मण ने पूछा—"क्या लोगे भाई ! तुम इसका ?"

यह सुनकर राजा का हृदय फटने ही वाला था कि वे सम्हल गये और अत्यन्त ही धैर्य के साथ बोले—"आप जो भी दे दें।"

ब्राह्मण बोला – "मेरी स्त्री अत्यन्त ही सुकुमारी है, उससे घर का काम काज होता ही नहीं। मैं बहुत दिनों से एक दासी की खोज में था, मेरे अनुरूप कोई मिली नहीं। अच्छी बात है, यह मेरे यहाँ काम किया करे। लो, इसके बदले इतना द्रव्य मैं आपको देता हूँ।"

यह कहकर ब्राह्मण ने कुछ सुवर्ण मुद्रायें राजा के वल्कल वस्त्रों में बाँधी और वे रानी का हाथ पकड़ कर ले चले।

हुआ। सहस्रों वर्षों के अनन्तर वे उसे लेकर ब्रह्माजी के समीप गये और बोले—"ब्रह्मन्! यह आपकी न्यास भूता नारी है, इसे आप चाहे जिसे दें।"

उनके शील, सदाचार, संयम से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, इसे हम तुम्हें ही देते हैं; अब इसे तुम अपनी धर्मपूर्वक पत्नी बना लो।" पितामह की आज्ञा शिरोधार्य करके मुनि ने वेद की विधि से अहल्या से विवाह कर लिया और सुख पूर्वक रहने लगे। उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम शतानन्द हुआ। ये ही शतानन्द महाराज जनक के पुरोहित हैं।

अहल्या को जब ब्रह्माजी ने गौतम को दे दिया, तो इससे इन्द्र को बड़ा दुःख हुआ। वह अहल्या के रूप पर अनुरक्त हो गया था। एक दिन जब मुनि जी स्नान करने गये थे, तब इन्द्र गौतम का रूप बनाकर आया और उसने अहल्या के साथ गड़बड़ सड़बड़ की। अहल्या तो समझ गई थी, कि यह मुनि वेषधारी शतक्रतु हैं, किन्तु कुछ बोली नहीं। इतने ही में महामुनि गौतम लौटकर आ गये। उन्होंने योग बल से सब कुछ जान लिया। इन्द्र को उन्होंने शाप दिया कि तुम्हारे शरीर में सहस्र छेद हो जाँय तुम्हारे कोष गिर पड़ें और तुम्हारा इन्द्र पद अस्थायी हो जाय जो बली हो वही इन्द्र पद पर अधिकार जमा ले।" फिर अहल्या को शाप दिया—"तू सहस्रों वर्षों तक बिना अन्न जल के आहार के पाषाणवत् पृथिवी पर पड़ी रहे।"

जब अहल्या ने मुनि की बहुत अनुनय विनय की तब मुनि ने कहा—"मेरा वचन मिथ्या तो हो नहीं सकता। तू वायु का आहार करती हुई सहस्रों वर्षों तक निश्चेष्ट यहाँ पड़ी तो रहेगी, किन्तु जब त्रेता में श्रीराम इस वन में पधारेंगे तब तेरा उद्धार हो जायगा। जब तू उनका स्वागत सत्कार करेगी, तब शुद्ध होकर

जा रहा है, तो उसने कसकर अपनी माँ का पल्ला पकड लिया और वह ढाह बाँधकर रोने लगा–माता का भी हृदय भर आया, उसने रोते-रोते कहा–'बेटा ! अब मुझे तुम क्यों छूते हो, अब तो मैं दासी हो गई तुम तो राजवंशोद्भव हो। आज तुम पेट भरके अपनी जननी को निहार लो। अब तुम्हारी माता दासी हो गई है।"

ब्राह्मण ने जब देखा कि करुणा का दृश्य अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है, तो उन्होंने डाँटकर रानी से कहा तू चलती है या मोह ममता करती है। यह कह कर उसने रानी को एक धक्का दिया। फिर भी रोहित ने अपनी माँ का पल्ला न छोड़ा वह किढिरता हुआ माँ के पीछे हो लिया। ब्राह्मण ने उस बालक को माँ से बलपूर्वक विलग करना चाहा, किन्तु बच्चा और भी अधिक रोने लगा। तब रानी ने अत्यन्त करुण स्वर में कहा—"पिताजी ! यदि आपकी कृपा हो तो आप इस बच्चे को भी मोल ले लें। मेरे बिना यह दुखी रहेगा और इसकी याद में मैं चिन्तित रहूँगी, जिससे आपके घर का काम भी भली भाति न कर सकूँगी यदि यह रहेगा, तो हम दोनों ही आपके घर के कामो को किया करेंगे।

ब्राह्मण की बुद्धि में यह बात धँस गई। तुरन्त ही कुछ सुवर्ण मुद्रा राजा के वल्कल उत्तरीय मे बाँध कर बोला–'अच्छा लो, इस बच्चे को भी मुझे दे दो।" यह कह कर वह माता और पुत्र को लेकर चल दिया। इधर महाराज हरिश्चन्द्र कटे वृक्ष की भाँति मूर्छित होकर गिर पड़े। रानी बार बार मुडकर महाराज की ओर निहारती जाती थी। राजा के नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। वे चिल्ला रहे थे हा प्रिये ! हा वत्स!

श्रीराम को गाढ़ालिङ्गन करते हुए मुनि गौतम बोले—"महाभाग राम ! तुमने आज मेरे आश्रम पर पधार कर अपना भक्त वत्सल नाम सार्थक सिद्ध कर दिया। प्रभो ! आपने मेरी पत्नी पर तथा मेरे ऊपर बड़ी कृपा की। हम पति पत्नी को पुनः मिला दिया। मैं तुम्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि जैसे तुमने त्रैलोक्य सुन्दरी मेरी पत्नीको मुझे मिला दिया है, वैसे ही तुम्हें संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी पत्नी अति शीघ्र मिले।"

यह सुनकर विश्वामित्र और लक्ष्मण हँसने लगे, राम लज्जित हुए। अहल्या ने अपने पति की पूजा की। जब वे पति पत्नी पुनः मिल गये तब श्रीराम उन दोनों से अनुमति लेकर विश्वामित्रजी को आगे करके मिथिला की ओर चले।

चलते समय उन्हें दूर से ही यज्ञ का धूम्र दिखाई देने लगा। बड़े बड़े वन उपवन तथा महल दिखाई देने लगे। श्रीराम ने उत्सुकता के साथ पूछा—"प्रभो ! इन्द्र की अमरावती के समान अत्यन्त ही रमणीक परम सुहावन यह कौनसा नगर है ?"

यह सुनकर अत्यन्त ही प्यार से विश्वामित्र जी ने कहा—"राम ! यही मिथिलापुरी है। महाराज जनक इसी के राजा हैं। उनका राज्य धनधान्य से पूर्ण है। यहाँ भूमि अत्यन्त ही कोमल है। क्यों न हो सीता की जननी ही ठहरी अपनी पुत्री के स्नेह से भूमि अत्यन्त ही मृदु बन गई है, 'कि मेरी दुलारी सुकुमारी प्राणों से भी प्यारी पुत्री को चलने में कोई कष्ट न हो। अब हम कुछ ही काल में जनक के यज्ञ को देखेंगे।" यह सुनकर श्रीराम को परम हर्ष हुआ।

कुछ काल में महामुनि विश्वामित्र जनक के यज्ञ मंडप में पहुँचे। नगर बाहर बड़ा भारी पंडाल बनाया गया था। उसके चारों ओर सुन्दर सजे हुए परिष्कृत पथ थे, किनारे

तब राजा ने कहा—"भगवन् ! मेरी स्त्री मेरा प्यारा पुत्र तो बिक गये अब मेरा शरीर शेष रह गया है। अतः आप उसे बेच कर जो मिले उसे लेकर सतुष्ट हो जायें।"

मुनि ने कहा—"चाहे जैसे हो, मुझे तो यथेष्ट धन मिलना चाहिये मैं जाता हूँ अब मैं सूर्यास्त के समय ही आऊँगा। यह मेरा अन्तिम आना होगा, उस समय तक आपने मुझे यथेष्ट दक्षिणा दे दी तब तो कोई बात ही नहीं। यदि न दे सके तो मै तुम्हे शाप देकर भस्म कर दूँगा।"

यह सुनकर राजा मूर्छित हो गये। उन्होंने धर्म का स्मरण करके अपने को सम्हाला। उसी समय वहाँ धर्म चाँडाल आ उपस्थित हुआ। महामुनि ने दुर्वासा के शाप से धर्म को तीन स्थानों में जन्म लेना पड़ा। एक तो युधिष्ठिर के रूप में,एक दासी पुत्र विदुर के रूप मे और एक काशी में प्रवीर चाँडाल के रूप में।

महाराज हरिश्चन्द्र अपने को बेचने के लिये चिल्ला रहे थे कि वहाँ प्रवीर चाँडाल आ पहुँचा। उसका शरीर काला था। बाल कड़े और ताम्बे के वर्ण के थे,मुख भयकर और माथा छोटा था, नाक चिपटी हुई, आँखें गोल छोटी पीलापन लिये हुए रूखी और कठोर थी। छाती बड़ी और कड़ी थी, पेट लम्बा था, पैर छोटे थे, चर्म मोटा और भैंसे के समान था। झोली मे बहुत से मरे पक्षी भरे थे। मुर्दे के ऊपर के वस्त्रों को पहिने था तथा मुर्दों के ऊपर चढ़ी हुई मालाओं से उसने अलंकार कर रखा था। नरमुण्डों की माला पहिने और हाथ में नरकपाल लिये हुए वह कुत्तों से घिरा निर्भय चला आ रहा था। उसकी देह से दुर्गन्ध निकल रही थी। उसकी आकृति-प्रकृति क्रूर थी। आते ही उसने कहा—"मुझे एक दास की आवश्यकता है यदि

महाराज जनक का वैभव विशाल है। भगवन! विदेह का यज्ञ तो आश्चर्यजनक है।"

यह सुनकर प्यार से विश्वामित्रजी बोले—"राम भद्र! मुझे भीड़ भाड़ में आनन्द नहीं आता। हम तो एकान्त में सरिता तट पर अपना डेरा डालेंगे। बोलो, तुम्हारी क्या सम्मति है?"

हँस कर श्रीराम बोले—"भगवान के सम्मुख मैं क्या सम्मति दे सकता हूँ। हाँ एकान्त में ही अच्छा रहेगा।" यह सुनकर मुनि बिना किसी से मिले एक सघन वाटिका में चले गये। वहाँ जल का सुपास था यज्ञ मंडप से न बहुत दूर था न समीप ही। वहीं विश्वामित्रजी बैठ गये। उसी समय अन्य मुनि भी छकड़ों को लेकर आ गये। बहुत से छकड़ों को देखकर मुनि तथा राज कर्मचारी पूछने लगे—"ये किनके छकड़े हैं। कौन मुनि आये हैं? उनके साथ कितने महर्षि हैं!"

मुनियों ने बताया—"हम सब भगवान् विश्वामित्र के साथ हैं, वे आगे गये हैं।" यह बात क्षण भर में सम्पूर्ण यज्ञ के मंडप में फैल गई। ऋषिमुनि विश्वामित्रजी का नाम सुनकर दौड़े। यज्ञ के स्वागत सचिव ने जब कौशिक का आगमन सुना तो वह स्वागताध्यक्ष के साथ पैदल ही दौड़े, रथवाला पीछे ही रह गया। सैकड़ों सेवक विविध वस्तुओं को लिये हुए चले। महामुनि विश्वामित्र ने मुनि मंडली को अपनी ओर आते देखकर उठकर उन सबका सत्कार किया। श्रीराम लक्ष्मण दोनों भाइयों ने सबकी चरणवन्दना की। इतने ही में राजकर्मचारियों ने आकर भूमि में लोटकर मुनि के पादपद्मों में प्रणाम किया। स्वागताध्यक्ष ने डरते-डरते हाथ जोड़कर कहा—"इधर ४, ५ दिन से भगवान् की नित्य ही प्रतीक्षा हो रही थी। महाराज बार-बार पूछते थे,

इसीलिये अब मैं अपने को भी बेचना चाहता हूँ, यह चाँडाल कहता है, मेरे हाथ बिक जाओ।"

मुनि ने कहा—"बिकना तो तुम्हें है ही, जब यह तुम्हें द्रव्य दे रहा है, तब क्यों नहीं बिक जाते ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! मृतकों के वस्त्रों से आजीविका करना परम निन्दनीय कर्म है। चाँडाल कर्म परम निन्दनीय बताया है। आप मुझे चाँडाल के हाथों क्यों बेचते है ? कहीं अन्यत्र मुझे बेचकर द्रव्य ले लें। या शेष द्रव्य के बदले आप ही जीवन भर मुझे अपना दास बना लें, मैं आपकी सदा सेवा करता रहूंगा।"

मुनि ने कहा—"मेरे पास तो सेवक बहुत है, मुझे सेवकों की कमी नहीं। मुझे तो यथेष्ट द्रव्य चाहिये।"

चाँडाल ने कहा—"द्रव्य तो मैं चाहे जितना दे सकता हूं।"

मुनि बोले—"तब और क्या चाहिये। जाओ मैंने इन्हें तुम्हारे हाथों बेचा। इतनी लाख सुवर्ण मुद्रा तुम मुझे दो।"

चाँडाल ने मुनि का मुहमाँगा द्रव्य उन्हें दे दिया। राजा विवश थे, धर्मपाश में बंधे थे। अत. वे कुछ भी नहीं कह सके। चाडाल राजा को बाँध कर अपने घर की ओर ले चला। महाराज पशु के समान मुख नीचा किये हुए चाँडाल के साथ चले गये। उन्होंने राजा होकर भारी से भारी अपमान, बड़े से बड़ा कष्ट सहन करना तो स्वीकार किया, किन्तु सत्य धर्म को छोड़ने की बात उनके मन में भी नहीं आई। वे धर्मपाश में जकड़े हुए थे, चाँडाल उन्हें अपने घर ले गया।

सामान लिये हुए व्यग्रता के साथ महाराज आ रहे थे। शतानन्द जी के साथ महाराज को देखकर विश्वामित्र जी खड़े हो गये। शतानन्दजी ने ज्योंही आगे बढ़कर मुनि के पैर छूने चाहे त्योंही मुनि ने उन्हें गले से लगा लिया। राजा ने भूमि में लोटकर मुनि को प्रणाम किया। फिर मुनि के लिये तथा समस्त मुनियों के लिये सुन्दर आसन दिये। राजा ने मुनि की विधिवत् पूजा की। विशेष अर्घ्य दिया। मुनि ने राजा के परिवार राज्य, सचिव सेना आदि की कुशल पूछी। दोनों से कुशल प्रश्न और शिष्टाचार हो जाने के अनन्तर राजा जनक ने हाथ जोड़कर पूछा—"ब्रह्मन्! ये जो आपके समीप कामदेव के समान अश्विनी कुमारों से भी सुन्दर दो किशोर वय वाले विलक्षण बालक बैठे हैं ये कौन हैं? ये कोई देवकुमार हैं या विद्याधरों के बालक हैं। मनुष्यों में तो मैंने ऐसा सौंदर्य देखा नहीं। इनके बाल तो राजकुमारों के से कटे हैं। वस्त्र भी ये मनुष्यों के पहिने हैं। विशाल धनुष को देखकर ये क्षत्रिय कुमार प्रतीत होते हैं, इनकी विनय, उठन-बैठन सब ऋषिकुमारों की सी है। शील संकोच में से ये परम कुलीन जान पड़ते हैं। मैं इनका परिचय पाने को बड़ा उत्सुक हूँ। मेरे मन में ऐसा लगता है ये मेरे इष्ट हैं। मेरा मन स्वतः ही इनकी ओर आकर्षित हो रहा है?"

यह सुनकर विश्वामित्र जी हँस पड़े। राम सकुचा गये। उनके नेत्र नीचे हो गये। मुनि ने राम की ठोढ़ी में हाथ रखकर कहा—"बताओ भाई, तुम कौन हो? अपना परिचय दो।"

राम और भी अधिक संकोच में पड़ गये। उनकी संकोचमयी अति सुहावनी परम मनभावनी मूर्ति को निरखकर जनक आत्मविस्मृत हो गये। राम का वह संकोचयुक्त स्वरूप त्रैलोक्य को मोहने वाला था।

शवो की दुर्गन्ध से वह स्थान भरा रहता था। चारों ओर हड्डियां बिखरी रहती थी, बहुत सी खोपड़ियां इधर उधर टकराती रहती थी। बड़ेबड़े कछुए मृतक शरीरो के मांस को खाने के लिए किनारो पर मुँह निकाले पड़े रहते थे। आधे जले या वैसे ही पड़े मृतको को सियार चौथते रहते थे। बहुत से मृतक शरीर सड़ जाते, उनमे से दुर्गन्ध निकलती रहती, उन्हें कुत्ते सियार गीदड़ भी नही खाते थे, उन्हे पास से महाराज को फेंकना पड़ता कुछ जले कुछ अधजले मृतकों को खीच कर मोटे मोटे कुत्ते खाते रहते। बहुत से गिद्ध काक अपने परों को फटफटाते भयकर शब्द करते इधर से उधर दौड़ते रहते। भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, डाकिनी, साकिनी, आदि वायु के आधार से रहने वाले सूक्ष्म शरीर के प्राणी वहां के वृक्षों पर रहकर हंसते खेलते और भयकर शब्द करते थे। वहाँ निरन्तर लोग आते जाते रहते थे। किसी का पुत्र मर गया है, तो उसके परिजन हा ! पुत्र ! हा ! मेरे लाल ! कह कर डकरा रहे है, कोई अपने मित्र का नाम लेकर रो रहा है, कोई माता पिता के लिए आँसू बहा रहा है, कोई स्त्री के वियोग मे तड़प रहा है, कोई सन्तान के मरने पर बिलबिला रहा है, चारो ओर करुण क्रन्दन ही क्रन्दन सुनाई पड़ता था। वहां निद्रा किसी प्रकार भी नही आ सकती थी। कभी कभी मांस भोजी पशु पक्षी महाराज को सोता देखकर उन्हें भी मृतक समझ कर काट लेते। महाराज तत्क्षण उठ बैठते कोई भी मृतक आता, किसी भी समय आता, महाराज तुरन्त उठकर जाते, उसे अग्नि देते, पैसा लेते और उसके ऊपर के वस्त्र को लेकर सुरक्षित रखते। उन्हें इस बात का सर्वदा ध्यान रहता था, कि मेरे स्वामी चांडाल का काम सावधानी से होना चाहिये। उसमें छल, कपट या प्रवञ्चना न होने पावे।

इस प्रकार उस अत्यंत भयंकर श्मशान भूमि मे जिस किसी

हैं, वे क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये। एक ही जन्म में घोर तपस्या के द्वारा वर्ण का विपर्यय होना यह तो असम्भव कार्य है। मेरी भी उन मुनि के दर्शनों की बड़ी इच्छा है और साथ ही मैं उनके साथ इसी मिससे श्रीराम के भी भली भाँति दर्शन कर लूँगी। यदि आप उन्हें किसी प्रकार अतःपुर में बुला सकें तब तो मेरी मनोकामना पूर्ण हो सके।"

राजा बोले—प्रिये! वे बहुत बड़े महर्षि हैं, मेरा साहस तो होता नहीं। तुम शतानन्दजी को उनके समीप भेजो। यदि वे इस प्रार्थना को स्वीकार कर लें, तब तो मेरा महल पवित्र हो जायगा। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।"

रानी ने तुरन्त अपने कुलपुरोहित गौतमजी के पुत्र शतानन्द जी को बुलाया और उनसे विश्वामित्र को श्रीराम लक्ष्मणके सहित महलों में पधारने की प्रार्थना करने को कहा। रानी के कहने से शतानन्दजी तुरन्त फिर वहाँ गये।

जनकनन्दिनी सीता ने भी पिता के मुख से श्रीराम के अपार सौंदर्य और लोकाभिराम रूप की बात सुनी, तो उसके मन में भी राम के प्रति स्वाभाविक अनुराग हो गया। वह भी उस रूपराशि को देखने के लिए व्याकुल हो उठी। उसे ऐसा लगा मानों मुझे कोई खोई वस्तु मिलनेवाली है, मुझे मेरे हृदय का धन प्राप्त होने वाला है।

इधर शतानन्दजी को पुनः आये हुए देखकर विश्वामित्रजी ने श्रीराम से उनका विशेष परिचय कराया और बोले "राम! तुमने जिस अहल्या देवी का उद्धार किया है, उन्हीं के ये शतानन्द जी पुत्र हैं। भगवन् गौतम ऐसे योग्य पुत्र से यथार्थ पुत्रवान् हुए हैं।"

अपनी माता के उद्धार की बात सुनकर शतानन्दजी परम

साथ ही मृतक के ऊपर का नवीन वस्त्र भी। यही सोचकर उन्हों ने अपना चाडालों का डड उठाया और उधर की ही ओर चले।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्राचीन काल में सभी के वेष-भूषा चिन्ह पृथक पृथक होते थे, उसे ही देखकर सब जान लेते

प्रातःकाल हुआ। महारानी ने आज अपनी प्यारी दुलारी सीता को उबटन लगाकर विधिवत् महौषधि दिव्योषधियों के जलों से स्नान कराया। विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों से उसे सजाया मुनि के स्वागत के लिये भाँति भाँति के कुरुकुरे मुरुमुरे लुचलुचे खट्टे-मीठे चरपरे आदि षट्रस युक्त छप्पन व्यंजन बनवाये और मुनि को लाने के लिए महाराज ने दिव्य रथ भेजा।

उस समय सीता की दशा विचित्र थी उसको कोई भी कवि अंकित करने में असमर्थ है, उसका हृदय धक् धक कर रहा था। आशा, निराशा, अभिलाषा, प्रतीक्षा, उत्सुकता, मिलन, भय, संकोच सभी भाव आते चले जाते। चल चित्रों की भाँति उनके हृदय पटल पर भाव रेखाओं के विविध चित्रण होते और पुनः विलीन हो जाते। प्रतीक्षा में पल पल भारी हो जाता है, रानी बार बार दासी को चित्रसारी पर भेजती और रथ आता है या नहीं इसके सम्बन्ध में पूछतीं।

सहसा उन्हें रथ की घरघराहट सुनाई दी। उसका हृदय धड़कने लगा। द्वार पर महाराज ने मुनि का स्वागत किया और वे रामलक्ष्मण के सहित मुनि को भीतर ले गये। राजा आगे-आगे मार्ग दिखा रहे थे मुनि के दायें बायें राम लक्ष्मण चल रहे थे। कभी-कभी मुनि राम के कन्धे पर हाथ रख देते और हँसकर कुछ बात कह देते। आज मुनि का मुख चमक रहा था वे बात बात पर हँस जाते। इसके विपरीत राम आज गम्भीर हो गये थे। उनका सकोची स्वभाव न जाने क्यों आज पराकाष्ठा पर पहुँच गया था आज वे बोलते ही नहीं थे। मुनि के कुछ पूछने पर सिर हिलाकर हाँ ना का संकेत कर देते।

महाराज जनक के ऐसे वैभव को देखकर राम पग पग पर

मेरे राजर्षि पति न जाने कहाँ भटक रहे होंगे, तू मुझे बीच में ही छोड़ गया। हाय मेरा हृदय न जाने किन किन धातुओं के मिश्रण से बना है, जो इतनी भारी विपत्तियों के आने पर भी फटता नहीं, इसके टुकड़े-टुकड़े नहीं होते।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! अब तो महाराज को कोई सन्देह रहा नही। वे धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़े। उनके चोट लगी, किन्तु इसका उन्हें कुछ पता नही। वे हा पुत्र हा पुत्र कह कर मुक्त कंठ से रुदन करने लगे।"

महारानी शैव्या रो रही थीं डर रही थी। वे पुत्र शोक से विह्वल बनी हुई थीं, उन्हें यह भी ध्यान नही था, यह मेरे पास कौन पुत्र, पुत्र चिल्ला रहा है। वे समझी ये भी कोई मेरे ही समान हतभागी होंगे, इनका भी पुत्र मर गया होगा। राजा बड़ी देर तक मूर्छित अवस्था मे पड़े रहे। कुछ काल में उन्हें चेतना हुई। उन्होंने दौड़ कर बच्चे को उठा लिया और कस-कर छाती से चिपटाते हुए कहने लगे—'मेरे लाल! मेरे वत्स रोहित। भैया, सब ने मुझे छोड़ दिया। तू भी मुझे छोड़ कर परलोक जा रहा है क्या? मुझे भी अपने साथ ले चल अब मैं तेरे बिना इस पृथिवी पर रह नही सकता।"

रानी ने जब महाराज की वाणी सुनीं तब तो उन्हें भी निश्चय हो गया, मेरे प्राणनाथ ही हैं। इतने देर से महाराज खड़े थे। रानी ने कई बार उन्हें देखा, किन्तु वे उन्हें पहिचान न सकीं। उन्होने उनके मस्तक पर छत्र तना देखा था। काले—काले घुँघुराले बालों को फहराते मुखमंडल पर निहारा था। आज उनके मस्तक पर रूखी-रूखी भयंकर जटायें थीं, जो चिता के धूँए से या लपटों से सुनहली और धूमिल बन गई थीं। उनका

ने दोनों को गोद में लिया उनका सिर सूंघा और आशीर्वाद दिया तुम चिरजीवी हो। विवाह हो, वहू आवे बच्चे हों।" मुनि हँसने लगे। राम लक्ष्मण लज्जित हुए।

रानी ने पूछा—"तुम लोग अवध नरेश के पुत्र हो न ?"

श्रीरामने कहा—"हाँ, माता जी !" इतना कहकर दोनों फिर मुनि के समीप आ बैठे। सीताजी ने साहस करके एक बार फिर श्रीराम को देखा। वे अपलक उनके मुख चन्द्रकी सुधाका पान कर रहीं थीं कि रामने भी दृष्टि बचाकर उनकी ओर देखा। सहसा आँखें चार हो गईं। सीताजी ने अपनी दृष्टि नीची करली। राम भी डरे हुए से मुनिकी ओर देखने लगे मानों कोई चोर शंका से निहार रहा है।

रानी ने कहा—"भगवन् ! आप इन इतने सुकुमार बच्चों को इनके माता पिता के समीप से क्यों ले आये हैं।"

मुनिने कहा—"मैं इन्हें शक्तिमान् बनाने के लिये लाया हूँ। विना कष्ट सहे शक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। सहिष्णुही सिद्धि को प्राप्तकर सकता है।" यह सुनकर रानी ने कुछ भी नहीं कहा। सेविका ने कहा प्रसाद तैयार है।

रानी ने कहा—"भगवन् पधारें और प्रसाद पावें।" यह सुनकर विश्वामित्रजी उठे। रानी ने मुनिके चरण धोये रानी ने श्रीराम लक्ष्मण के भी चरण धोने चाहे किन्तु उन्होंने धोने ही नहीं दिये स्वयं ही पात्र लेकर पाद प्रक्षालन कर लिये। तीन दिव्य आसन विछाये गये, जिन पर राम लक्ष्मण और श्री विश्वामित्र बैठ गये। रानी ने स्वयं लाकर सोने चाँदियों के थालों और कटोरियों में भाँति-भाँति के व्यंजन परसे। सीताजी अपने सिर को सावधानी थे ढककर दासियों की सहायता से वस्तुओं को लाकर अपनी माता को देती जाती थीं। माता उन्हें

नाथ को चांडाल वेष में देख कर मेरा हृदय फटता क्यों नहीं। इसके टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं होते।"

इतना कह कर महारानी दोनों हाथों से अपनी छाती को धुनने लगी, बालों को नोचने लगी और नखों से अपने अंगों को काटने लगी।

महाराज ने रानी को जब ऐसी विक्षिप्तावस्था देखी तो उन्होंने उन्हें पकड़ लिया। अब वे भूल गये कि मुझे रानी को छूना नहीं चाहिये। उन्होंने अपनी प्रियतमा शैव्या को हृदय से लगा लिया। रानी पुत्र शोक को भूल गई थीं। अब उन्हें रह रह कर पति के चांडाल होने की वेदना थी।

अर्ध रात्रि का समय था, सम्पूर्ण संसार सो रहा था। स्मशान भूमि की भयंकरता और भी बढ़ गई थी। कुत्ते सो रहे थे, सियार इधर-उधर मांस के लिये घूम रहे थे। कुछ काल पहिले जो लोगे मृतक को जलाने आये थे वे भी चले गये थे। चिताओं का धूआँ भरा हुआ था, स्मशान भूमि में तीन ही थे। राजा रानी और मृतक कुमार।

महाराज ने कुमार को गोद में लिटा लिया, महारानी के सिर पर हाथ रख कर उन्होंने उनके अपने मैले वस्त्र से आंसू पोंछे और कहा—"प्रिये! तुम अधीर मत होओ। हमने कोई पाप नहीं किया है, हमने जो भी कुछ किया है, धर्मरक्षा के ही निमित्त किया है?"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ! आपको यह चांडालपना कैसे प्राप्त हुआ?"

कुमारों को तो ऐसा भोजन रुचिकर क्यों होगा। ये चक्रवर्ती महाराज के कुमार हैं, हम लोग साधारण व्यक्ति हैं।"

इस पर लक्ष्मण बोले—"यदि साधारण व्यक्ति ऐसे ही होते हैं तो ऐसी साधारणता तो सभी चाहेंगे।" यह सुनकर मुनि हँस पड़े। रानी भी हँस पड़ीं हँसी की ध्वनि सुनकर राम चौंक पड़े। उन्होंने कुछ सुना ही नहीं। उन्हें संदेह हुआ मुनि मेरे मनो भावों को देखकर हँस रहे हैं। उसी समय सीताजी आईं। शीघ्रता से श्रीराम ने अपनी दृष्टि हटाई। सिर नीचा करके प्रसाद पाने लगे।

रानी विश्वामित्र से धनुष के सम्बन्ध में बातें कर रहीं थीं। उसी समय उन्होंने सीताजीजी से कहा—"बेटी! जा पूड़ी परोस दे।"

सीताजी सकपकाईं। उन्होंने जाने में आनाकानी की, किन्तु माता ने प्रेमपूर्वक घुड़कते हुए कहा—"तू बड़ी पागल है री सीता जा, परस।" अब क्या करतीं सीताजी। पूड़ियों का छोटा सा पात्र लेकर उसने दो पूड़ी मुनि के सम्मुख डालीं। मना करते रहने पर भी शीघ्रता से दो लक्ष्मणजी के थाल में डाल गई। श्रीराम के सम्मुख जहाँ पहुँचीं। रामने जहाँ दृष्टि उठाकर देखा, जहाँ दृष्टि से दृष्टि मिलीं, जनकनन्दिनी तो स्तब्धसी हो गईं, तदाकार अचल प्रतिमा के समान बन गईं, हाथ से पूड़ियों का पात्र गिरना ही चाहता था, कि दौड़कर रानी ने पकड़ लिया और मीठी घुड़की देते हुए बोली—"सीता! तू इतनी बड़ी हो गई तुझे तनिक भी बुद्धि नहीं आई। चल, हट तुझसे कुछ भी न होगा।" यह सुनकर बड़प्पन के स्वर में दाढ़ी हिलाते हुए मुनिने कहा—"कोई बात नहीं, अभी बच्ची ही तो है। सकुचाती है।" सीताजी यह सुनकर खोईसी कुछ गँवाईसी शीघ्रता से भाग गईं।

समय अग्नि की साक्षी देकर मेरा हाथ पकड़ा था। उसी प्रकार चिता पर भी मेरा हाथ पकड़े ही हुये चढें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, कल्याणि ! जब तुमने ऐसा ही निश्चय किया है, तो हम इस विश्वनाथ की पुरी से भी उसी प्रकार साथ चले जिस प्रकार अयोध्या पुरी से साथ चले थे। यह कह कर महाराज ने एक बड़ी सी चिता स्वयं बनाई। उसके ऊपर कुमार रोहित के मृतक शरीर को रखा।

रानी के सहित उन्होंने चिता की प्रदक्षिणा की और हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए गद्-गद् कण्ठ से कहने लगे—"हे अशरण शरण ! प्रभो ! मैंने जो भी कुछ किया है, धर्म की रक्षा के निमित्त किया है। हे चराचर के स्वामी विश्वम्भर ! आपके अनन्त नाम हैं, धर्म ही आपका नाम है सत्य ही आपका स्वरूप है। आप आनन्द घन तथा चैतन्यस्वरूप है। आपको हृदय में धारण करके ही मैं इस शरीर का अन्त करना चाहता हूँ।" इस प्रकार स्तुति करके महाराज ज्यों ही चिता पर चढ़ने को उद्यत हुए। त्योंही साक्षात् चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा वहाँ प्रकट हुए। उनके पीछे इन्द्र, वरुण, कुबेर, धर्म, साध्यगण, विश्वेदेवा, मरुद्गण, नाग, सिद्ध, गन्धर्व एकादशी दोनो अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य देवगण भी थे। आते ही देवताओ के राजा इन्द्र ने कहा—"राजन् ! आप ऐसा साहस न करे, आपने अपने सत्यधर्म के प्रभाव से अक्षय लोकों को जीत लिया है। ये सम्पूर्ण ब्रह्माड के अधीश्वर लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा जी समस्त देवताओं के सहित इन्हें दर्शन देने आये है। इनके समीप ही ये महर्षि विश्वामित्र भी खड़े हैं। इन्होने क्रोधवश लोभवश तुम्हारा सर्वस्व अपहरण नहीं किया था आप जैसा सत्यवादी

धनुष तो वे ही चढ़ावेंगे, सीता के साथ वे ही विवाह करेंगे। यह बात तो मुझसे अनेकों ऋषि मुनि तथा ज्योतिषियों ने बताई है। फिर भी लोक दिखावे को, अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने को, मुझे स्वयम्वर रचना ही होगा। ऐसा न करूँगा तो मेरी मर्यादा नष्ट होगी।"

रानी ने कहा—"आप चाहे जो करें, सीता का विवाह तो मैं राम के ही साथ करूँगी, यदि ऐसा न हुआ, तो मैं सीता को लेकर या तो जल में डूब मरूँगी या विष खा लूँगी। मेरे मन में तो राम बस गये हैं। मेरे रोम रोम में तो राम रम गये हैं। मेरी प्यारी दुलारी पुत्री किसी की ओर आँख उठाकर भी न देखेगी।"

किवाड़ की आड़ में से माता पिता की बातों को सीता सुन रही थीं। उनका हृदय धक् धक् कर रहा था, वह बाँसों उछल रहा था। राम का प्रेम रोम रोम से उमड़ रहा था राम के मिलने के लिये हृदय तड़प रहा था। राम के नाम से उनका हृदय कमल खिल रहा था। वे संज्ञा शून्य हुई माता को कोटि कोटि धन्यवाद दे रही थीं और पिता के हठ पर खीझ रही थीं।

महर्षि विश्वामित्र की सम्मति से स्वयम्वर निश्चय हो गया। तुरन्त शीघ्रगामी दूत इधर उधर पठाये गये। यज्ञ का कार्य बड़ी धूम से आरम्भ हुआ महाराज पत्नी के सहित मृग का चर्म ओढ़ कर मृग के सींग को हाथ में लेकर यज्ञ में दीक्षित हुए। स्वाहा स्वाहा की सुमधुर ध्वनि से आकाश मंडल गूँज उठा।

इधर श्रीराम की दशा विचित्र थी। वे गुरु के सम्मुख अपने भावों को बहुत छिपाते थे, किन्तु प्रेम छिपाये से नहीं छिपता। राम बार बार लक्ष्मण से पूछते—"भैया! उस शिव धनुष को

पूर्वक स्वर्ग जायें। धर्म की अधीनता अधीनता नहीं। धर्म के लिये उठाया जाने वाला कष्ट कष्ट नहीं है। धर्म के लिये होने वाला अपमान अपमान नहीं है। जो मुझ धर्म की रक्षा करता है, उसकी मैं भी सदा रक्षा करता हूँ। आप सुख पूर्वक स्वर्गादि लोकों को जाकर वहाँ दिव्य सुखों को भोगें।"

इस पर इन्द्र बोले—"हाँ, महाराज! चलिये अब तो आप जिनके अधीन थे, उन्होंने भी आपको आज्ञा दे दी।"

तब महाराज हरिश्चन्द्र बोले—"देवेन्द्र आपकी बड़ी कृपा है। मैं अकेले स्वर्ग नहीं चाहता। मैं स्वार्थी नहीं कि स्वय ही स्वर्गीय सुखों को भोगूँ। मैं तो प्रजा का सेवक हूँ। अयोध्या की मेरी समस्त प्रजा मेरे वियोग में तड़प रही है, मैं उसे दुःखी छोड़कर अकेला स्वर्ग नहीं जा सकता। आप सबको स्वर्ग ले चलें तो मैं चलूँ।"

यह सुन कर शचीपति देवेन्द्र हँस पड़े और बोले—"महाराज अब भी आपके हृदय में प्रजा का अनुराग ज्यों का त्यों बना है इसीसे विदित होता है आप सच्चे नरपति है—आपका कल्याण हो। आइये मेरे साथ विमान पर विराजिये, ये बाबा विश्वामित्र भी यहीं विराजमान् हैं। ये आपके स्वामी धर्म भी साथ ही हैं। आइये मुझे कृतार्थ कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! देवेन्द्र के इतना कहते ही महाराज का शरीर दिव्य हो गया, वे वस्त्राभूषणों से अलंकृत दूसरे देवेन्द्र से प्रतीत होने लगे। महारानी शैब्या भी पहिली जैसी ही रूपवती हो गईं। वे महाराज की बगल में खड़ी हुईं, शची के समान दिखाई देती थीं। कुमार भी हँसते हुए महारानी

चमकीले सुन्दर सजे हुए मंचों पर विचित्र वेष बनाये, नाना

भाँति के शृंगार किये हुए सीता की अभिलाषा से राजा और

बाहुक पुत्र महाराज सगर

(६३८)

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्माद्विर्निमिता ।
चम्पापुरीं सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥
भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तयापि बाहुकः ।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० १,२ श्लोक)

छप्पय

तन धन सरवसु तज्यो धर्म हरिचन्द न छोरयो ।
परी विपति पै विपति नहीं सत तैं मुख मोरयो ॥
गये नृपति बैकुण्ठ भये रोहित नृप श्रीयुत ।
रोहित के सुत हरित हरित के चम्प भये सुत ॥
चम्प नृपति चम्पापुरी रचीं वीरवर तिन तनय ।
नृप सुदेव है विदित जग, भये तासु सुत नृप विजय ॥

भगवान् जिसकी रक्षा करना चाहते हैं जिसका जीवन चाहते हैं, वह चाहे धधकती अग्नि में कूद पड़े, पर्वत से गिर

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! हरिश्चन्द्र सुत रोहित हुए रोहित के हरित उसके चम्प हुए जिन्हों ने चम्पापुरी को बसाया । चम्प के सुत सुदेव हुए उनके आत्मज विजय हुए । विजय के भरुक और भरुक के वृक हुए । महाराज वृक के ही पुत्र बाहुक हुए जिनकी पृथिवी को शत्रुओं ने छीन लिया इसलिये वे अपने पत्नियों सहित वन में चले गये ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब सभी अपने अपने बल पराक्रम की परीक्षा कर चुके तब गुरु की आज्ञा से सहज स्वभाव श्रीराम उठे। उन्होंने गुरु चरणों में प्रणाम किया। मुनि मंडली की ओर सिर झुकाया। वे आगे बढ़े। गुरु ने कहा—"रामभद्र ! भैया ! फेंट तो बाँध लो। तुम उस धनुष को उठाने जा रहे हो जिसे अभी तुम्हारे सम्मुख ३०० आदमी हू हू शब्द करते हुए बड़ी कठिनता से लाये थे।"

गुरु की आज्ञा समझकर श्रीराम ने फेंट बाँधी वे सिंह शावक की भाँति महागजराज के सदृश बढ़े उस धनुष के निकट पहुँचे। अटारियों और छज्जों पर बैठी हुई स्त्रियाँ हा हा करके चिल्ला उठीं—"हाय ! ये कितने सुकुमार कुमार है, इस कठिन धनुष को ये कैसे तोड़ सकेंगे ! राम ने एक सूक्ष्म की दृष्टि उधर निहारी उन्हें माता की बगल में हरी साड़ी पहिने जनक नन्दिनी दिखाई दीं। वे अपने बड़े २ नेत्रों से भयभीत हुई मृगी की भाँति धनुष को देखकर घबरा सी रही थीं। प्रणत भय भंजन भक्त वत्सल राम को जनक दुलारी की दयनीय दशा पर दया आई। उन्होंने बिना प्रयास के सरलता के साथ शिव धनुष को छुआ, पकड़ा, उठाया, खींचा, डोरी चढ़ाया और पड़ाक से बीच से उसके दो टुकड़े कर दिया। सहस्रों बाजे एक साथ बजने लगे। आकाश से देवता पुष्प वर्षाने लगे दुन्दुभि बजने लगी। अप्सरायें नाचने लगीं। गन्धर्व गाने लगे ऋषि मुनि जयघोष करने लगे बन्दी गण विरुदावली बखान करने लगे। सर्वत्र आनन्द का समुद्र उमड़ने लगा। द्वेषी राजाओं का हृदय फटने लगा। वे डाह से जलने लगे। जनक की निन्दा करने लगे। राम ने धनुष के टूटे हुए दोनों टुकड़ों को सीता की ओर देखकर उधर घुमाकर धड़ाम से धरती पर डाल दिया। और वे सरलता के गुरु से समीप जा बैठे।

चलकर एक घोर अरण्य के दूसरे किले में निकलती थी। महाराज रात्रि भर चलकर उस किले में पहुँचे। वहाँ से समीप ही महर्षि और्व का सुन्दर आश्रम था। रानियों सहित महाराज मुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि ने पत्नियों सहित महाराज का स्वागत किया और सभी को ठहरने के लिये स्थान दिया।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ? शत्रुओं ने मेरी समस्त पृथिवी छीन ली है,अब मैं राज्य हीन होकर आपकी शरण में आया हूँ। मुनि ने कहा—राजन् पृथिवी कभी किसी की हुई भी है या आपकी ही होगी ? इस पृथिवी पर कितने कितने बड़े प्रतापी राजा हुए। मेरी मेरी कह कर न जाने वे कहाँ चले गये महाराज! आप जैसे साधु स्वभाव के राजा इस पृथिवी की रक्षा नही कर सकते। पृथिवी का पालन तो समरप्रिय शूरवीर भूप ही कर सकते है। आप यहाँ अरण्य में रहकर भगवान् का आराधन कीजिये, योग साधन कीजिये। आपके वंश में कोई ऐसा प्रतापी राजा होगा जो अपने पूर्वजों के गये हुए राज्य को लौटा लेगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! अब तो मैं आपकी शरण में आ गया हूँ, आप जो चाहें सो करें। जब तक मनुष्य को धनमद-राज्यमद या ऐश्वर्य का मद रहता है। तब तक वह अपने सामने किसी को कुछ नही समझता। जब उसका मद चूर हो जाता है, तब वह सब ओर से हताश होकर साधु शरण में जाता है, साधु के समीप सभी को आश्रय मिलता है, सभी को त्राण मिलता है। जिनके कोई बन्धु नही उनके साधु बन्धु हैं, जिनका कोई सहारा नही उनके साधु ही सहारे है, जिनका कोई रक्षक नहीं उनके साधु ही रक्षक हैं। साधु ही ईश्वर हैं साधु ही सबके सच्चे हितैषी है।"

तिनका मानकर तोड़ कर जनक नन्दिनी के ऊपर वार कर फेंक दिया।

पाँचवाँ कारण यह भी हो सकता है। सीता सोच रही थी, जैसे मैं श्रीराम के लिये व्याकुल हूँ, वैसे वे मेरे लिये व्याकुल हैं क्या! उनके इस संदेह को दूर करने के लिये राम ने धनुष के बराबर दो खण्ड करके जता दिया था, जितनी ही तुम मेरे लिये समुत्सुक हो उतना ही मैं भी तुम्हारे लिये उत्सुक हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उसके अतिरिक्त भी धनुष तोड़ने के बहुत से कारण हो सकते हैं, जिनके कहने से कथा बढ़ जायगी और आगे का रामचरित रुक जायगा। इस प्रकार धनुष के तोड़ने पर सब को बड़ी प्रसन्नता हुई। सबके सन्मुख निश्चय हो गया कि सीताजी का विवाह श्रीराम के साथ होगा। रनिवास में सूचना दी गई। हाथ में जयमाला लिये हुए सखियों से घिरी जनक नन्दिनी आईं और उन्होंने लजाते हुए हृदय में हरषाते हुए कम्पित करों से श्रीराम के कंठ में जयमाला डाल दी। बाजों की ध्वनि से और कोई शब्द सुनाई न देता था। "सियावर रामचन्द्र की जय।"

छप्पय

मग महँ गौतमनारि तारि मिथिलापुर आये।
राम सहित मुनि पूजि जनक निज महलनि लाये॥
राम निहारी सीय दियेमहँ तुरत छिपाई।
निरखे सीता राम मनहुँ खोई निधि पाई॥
भूप स्वयम्बर सीय हित, रच्यो शम्भु धनु धरि दयो।
खैंचि धनुष सिय वर बनें, शतानंद नृपप्रन कह्यो॥

उन्हें खुल कर द्वेष करने का अवसर मिल गया। इस बातसे उन्हें और भी दुःख हुआ, कि यह गर्भवती है, यदि इसके पुत्र हो गया, तो यह राजमाता हो जायगी, इसका बच्चा बड़ा होकर राजा हो गया, तो हम सब को दाइयो की भाँति रहना होगा।" यही सब सोच कर सब ने सम्मति की कि हत्या की जड़ यह गर्भस्थ बालक ही है, यदि किसी प्रकार रानी को विष दे दिया जाय, तो गर्भस्थ बच्चा भी मर जायगा और हमारी सौत यह रानी भी मर जायगी। यह सोचकर उन्होंने बड़ी युक्ति से किसी मोदक आदि मे रानी को विष दे दिया।

रानी तो भोली भाली थी, उसे अपने क्रूर कर्म करने वाली सौतों के षड्यन्त्र का कुछ भी पता नही था।

जब वह नित्य नियमानुसार भगवान् और्व को प्रणाम करने गई, तो मुनि ने आशिर्वाद दिया, पुत्रवती हो, सम्राट को जनने वाली हो।" फिर मुनि ने ध्यान से जो देखा तो उन्हे विष देने की बात विदित हो गई। इसलिये उन्होंने कहा—"कोई बात नहीं जो वस्तु पेट में है वह बिना जीर्ण हुए ज्यों की त्यों बनी रहेगी।"

शुकदेव जी कहते है—"राजन्! कुछ कालके पश्चात् परलोक वासी महाराज बाहुक की पत्नी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र के साथ ही वह गर (विष) भी उत्पन्न हुआ जिसे रानी की सौतों ने उसे भोजन के साथ दे दिया था। पुत्र गर के साथ उत्पन्न हुआ इसलिये महामुनि और्व ने उसका नाम सगर रखा। मुनि ने बालक के सभी क्षत्रियोचित जातिकर्ण नाम कर्ण आदि संस्कार कराये। शनैःशनैः वह बालक मुनि आश्रम

निराश ही होता है। आशा निराशा के बीच में वह गोता लगाता रहता है। जब अपना प्रेमी प्राप्त हो जाता है, प्रतीक्षा सम्मिलन में परिणित हो जाती है तब तो फिर कहना ही क्या तिनका तिनके तैं मिला, तिनका तिनके पास।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धनुष भङ्ग हो जाने पर महाराज जनक सपरिवार बड़े ही प्रसन्न हुए। जानकी की प्रसन्नता तो अवर्णनीय ही थी। जनक ने सब भूपतियों के सम्मुख हाथ जोड़ कर भरी सभा में महर्षि विश्वामित्र की चरण वन्दना करके कहा-"प्रभो! श्रीराम के धनुष चढ़ाकर तोड़ते ही न्यायानुसार मेरी पुत्री जानकी उनकी पत्नी हो गई फिर भी भगवान्! लौकाचार और वेदाचर करना ही है। आपकी आज्ञा हो, तो चक्रवर्ती महाराज दशरथ को मैं दूतों को भेजकर यहाँ बुलवालूँ; जिससे वैदिक विधि से सीता का विवाह श्रीराघव के साथ हो जाय।"

मुनि बोले—"राजन्! आपका विचार बहुत उत्तम है। अभी अविलम्ब शीघ्रगामी दूत अवधपुरी पठाइये और जितनी भी शीघ्रता से महाराज दशरथ आ सकें उन्हें बुलवाइये।"

मुनि की आज्ञा पाकर राजा ने शीघ्रगामी दूतों को बुलाया। वे वायु के वेग के समान दौड़ने वाले अश्वोंपर सवार होकर अवधपुरी को चले तीन दिन में वे मिथिला से अयोध्यापुरी पहुँच गये। वहाँ जाकर उन्होंने नियमानुसार अभिवादन प्रणाम करके महाराज की ओर से कुशल पूछी और श्रीराम के जनकपुर पधारने से धनुषभंग तक की सब कथा सुनाकर राजा का सन्देश कह सुनाया।

अपने पुत्रों का कुशल समाचार सुनकर तथा उनकी वीरता शूरता की बात सुनकर महाराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। प्रेम के कारण उनका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो गया और

इसलिये महाराज सगर ने एक मर्यादा बाँधदी । ताल,जघ
यवन, शक, हैहय और बर्बर जाति के लोग वर्णाश्रम धर्म में न
रह सकेंगे । यद्यपि पहिले ये लोग क्षत्रिय ही थे, किन्तु अत्यन्त
धर्म विरुद्ध आचरण करने से उन्हें समाज से बहिष्कृत कर
दिया । महाराज ने उनको आज्ञा दी कि तुम एक विशेष चिन्ह
रखा करो जिससे लोग समझ जायें कि तुम समाज बहिष्कृत
हो । किन्हीं को तो कह दिया, तुम सम्पूर्ण सिर को मुड़ाया
करो । किन्ही से कहा—"सिर तो मुड़ा लिया करो, किन्तु दाढी
मूंछ रखा करो । शिखासूत्र मत धारण करो । किसी से कह
दिया तुम बालों को कभी बाँधा मत करो, सदा खुले बाल रखा
करो, आधे रखा करो । किन्ही से कहा तुम मुक्त कण्ठ होकर
एक कपड़ा लपेटे रहा करो । किसी से कहा—तुम केवल एक
कौपीन ही पहिना करो ।" इस प्रकार सब के पृथक् पृथक् चिह्न
बना दिये । तभी से ये समाज मे वर्णाश्रम धर्मविहीन पंचम
वर्ण के लोग बढ़ गये ।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार महाराज
बाहुक के पुत्र परम प्रतापी महाराज सगर हुए । जिन्होंने
अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके अपने वंश को संसार में स्थापित
किया । इन्ही पुत्रों ने पृथिवी को खना था, जिससे समुद्र का
नाम सागर पड़ गया ।"

इस पर राजा परीक्षत ने पूछा—"प्रभो ! सगर पुत्रों ने
पृथिवी को क्यों खना ? और किस कारण क्षार समुद्र का नाम
सागर पड़ा, कृपा करके इस कथा को मुझे सुनाइये ।"

चन्द्र की बारात में चलने की तैयारियाँ करने लगे। जाने आने वाले नये वस्त्र पेटियों से निकाले गये। वाहन सजाये गये। रथ छकड़े वहली आदि औंगी गईं। प्रातःकाल बरात चलेगी इसीलिये रात्रिभर सब लोग सामान सम्हालते रहे। सड़क को बनाने वाले मिस्त्री आगे-आगे गये। आगे के पड़ाव के प्रबन्धक अति शीघ्र-गामी घोड़ों पर चढ़कर गये। प्रातःकाल बरात चली। आगे-आगे हाथी जा रहे थे। उनके पीछे दौड़ने वाले ऊट थे। फिर घोड़ों की पंक्तियाँ थी। रथों की धूलि से आकाश भर गया। सामान बैल-गाड़ियों और छकड़ों पर थे। कई योजनों तक लम्बी बरात मार्ग में चार दिन ठहर कर पाँचवें दिन महाराज जनक की मिथिलापुरी में पहुँची।

राजा जनक ने जब महाराज के शुभागमन का समाचार सुना तो वे स्वयं ही अगवानी करने अपने मंत्री पुरोहितों के साथ गये। बूढ़े महाराज दशरथ से जनक जी उसी प्रकार मिले जैसे कुबेर इन्द्र से मिलते हैं। वशिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप तथा मार्कण्डेय आदि मुनियों से घिरे महाराज ऐसे लगते थे मानों शतक्रतु इन्द्र ऋषियों से घिरकर चल रहे हों। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर महाराज जनक सभी को जनवासा में ले आये। जनवासेमें श्रीरामलक्ष्मण को साथ लेकर विश्वामित्र जी वसिष्ठ तथा महाराज दशरथ के समीप आये। मुनि को आते देखकर शीघ्रता से महाराज उठे और दौड़कर महर्षि के पैरों में पड़ गये। बलपूर्वक राजा को हृदय से लगाकर मुनि ने उन्हें आशीर्वाद दिया। फिर वसिष्ठ और विश्वामित्र परस्पर मिले। श्रीरामलक्ष्मण ने पहिले गुरु वसिष्ठ के चरणों में प्रणाम किया फिर पिता की चरण वन्दना की। भरत शत्रुघ्न ने श्रीराम के चरण छुए तथा सभी भाई यथायोग्य मिले प्रेम के कारण

महाराज सगर का अश्वमेध यज्ञ

(६३९)

श्रौर्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् ।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० ८ श्लो)

छप्पय

द्वै रानी तिन हतीं एकके सुत असमञ्जस ।
दूसरि साठिसहस्र जने सुत मानी नीरस ॥
अश्वमेध नृप सगर धूमते यज्ञ रचायो ।
भय वश सुरपति आइ यज्ञको अश्व चुरायो ॥
कपिलाश्रम महँ इन्द्रने, मख हय बाँध्यो कपट करि ।
साठिसहस सुत भूमि खनि, पहुँचे नाना रूप धरि ॥

सुनते हैं, सूकरी वर्ष में तीन चार बार प्रसव करती और एक साथ उसके कई बच्चे होते हैं। वे बुरी वस्तुएँ खाकर जीवन बिताते हैं। कोई उन्हें छूता नहीं सब उनसे घृणा करते

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज सगरने अपने गुरु और्व मुनि की बतायी हुई विधि से अश्वमेध यज्ञ द्वारा सर्वात्मस्वरूप ईश्वर का भजन किया। उनके छोड़े हुए अश्वमेध के घोड़े को पुरन्दर इन्द्र हर ले गये।"

उधर चारों बहिन।" फिर राजा की ओर देखकर बोले—"क्यों राजन! आपकी क्या सम्मति।"

राजा ने विनय के साथ कहा—"महाराज मेरी सम्मति लड़कियाँ आपकी, लड़के आपके दोनों ओर से करने कराने वाले आप। हम तो बराती हैं। चार विवाह होंगे हम तो लाभ में ही रहेंगे।"

यह सुनकर सब लोग हँसने लगे। श्रीराम ने एक रहस्य भरी दृष्टि से अपने तीनों भाइयों की ओर देखा। तीनों ने लज्जित होकर मुख नीचे कर लिये। अब क्या था, चारों के विवाह के कृत्य होने लगे। महाराज दशरथ ने विवाह के पूर्व जो नान्दीमुखादि श्राद्ध कृत्य होते हैं वे सब कराये। अब तक चारों कुमार एक प्रकार से ब्रह्मचर्याश्रम में ही थे। उनके मुंडन समावर्तन आदि संस्कार कराके महाराज ने गौदान कराये। सुवर्ण के सींगों से मढ़ी चाँदी के खुरोंवाली, जिनकी पूँछों में मोती पिरोये हुए थे। ऐसी सवत्सा लाखों कपिल गौयें राजा ने दान दे दीं। बड़ी धूमधाम से गौदान करके राजा ने बहुत सा धन लुटाया। फिर द्वार पूजा आदि होकर विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

शुभ लग्न, शुभ मुहूर्त में और मंडप बनाकर चारों दुलहाओं के साथ चारों राजकुमारियों का शास्त्रीय विधि से बड़े समारोह के साथ विवाह संस्कार हुआ। चारों दुलहा दुलहिन वैवाहिक वेष में सजे सजाये नाना वस्तुओं से शोभायमान वेदियों के समीप बैठे थे। हवन की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। चित्र विचित्र रंगों से रंगे कलश रखे थे। धूप, दीप, नैवेद्य गन्ध, पुष्प, माला, समिधा, आज्य, तिल, जव, अक्षत, मिष्ठान शहद, गोबर, लावा बताशे, जव के अंकुर, धान्य हरिद्रा, कुंकुम, शङ्ख, स्रुक स्रुवा आदि यज्ञपात्र तथा पत्र, पुष्प और फलों से आवृत

में प्रणाम किया और सन्तान की कामना से उनके पैर पकड़े।

महामुनि रानियों के मनोगत भावों को अपनी ज्ञान दृष्टि से समझ गये और बोले—"तुम दोनों में से जो चाहे वह एक तो वंश धर एक पुत्र माँगले और दूसरी साठ सहस्र पुत्र माँगले। बड़ी रानी केशिनी ने कहा—"प्रभो! मुझे तो एक ही वशधर पुत्र दे दें।'

दूसरी सुमतिने कहा—"महाराज! मुझे आप साठ सहस्र पुत्र दें, जिससे मैं बहुत से पुत्र की जननी कहलाऊँ।"

मुनिने कहा— 'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।' यह कह कर मुनि राजा से पूजित और सत्कृत होकर अपने आश्रम पर चले गये। कालान्तर में बड़ी रानी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही सिड़ी पागलों का सा व्यवहार करता था। बातें बोलता था, तो अंडबंड। कुछ पूछो, कुछ उत्तर दे। इसलिये सब ने उसका नाम असमञ्जस रख दिया।

दूसरी रानी सुमति के गर्भ से एक बड़ी भारी तूमी सी उत्पन्न हुई। मुनिकी आज्ञा से साठ हजार घृतके कलश मँगाये गये तब उस तूमीमे से धायने एक एक बीज निकाल निकालकर एक एक घड़ेमे रखा। कुछ काल में उन घड़ों में पुरुषों की भाँति बच्चे बन गये और वे हृष्ट पुष्ट होकर निकले। सगर के वे साठ सहस्र पुत्र-बड़े हो बली थे। वे बड़े लम्ब तड़ंगे और बृहद् डील डौल वाले थे। वे समुद्र के ऊपर विना रोकटोक के चल सकते थे। आकाश में उड़ सकते थे। पर्वतों को चूर्णकर सकते थे। उन्होंने अपने बाहुबल से सभी को भयभीत बना रखा था। समुद्र पर्वत, नदी, नद सभी उनके नाम से थरथर कांपते

गुरुजनों की प्रदक्षिणा की। मुनियों को सबने प्रणाम किया। सभी ने हार्दिक आशीर्वाद दिये सब की मंगल कामना की देवताओं ने दुंदुभि बजाई पुष्पों की वृष्टि की। इस प्रकार समस्त वैवाहिक कृत्य बड़े ही आनन्द और अत्यधिक समारोह के साथ सम्पन्न किया। विवाह करके अपनी अपनी दुलहिनों को लेकर दुलहा जनवासा में गये। परमहर्ष से बहुत-सा धन लुटाते और सुवर्ण की वर्षा करते हुए राजा भी उनके पीछे पीछे गये। जब विवाह हो गया, तब विश्वामित्रजी ने कहा—"रामचन्द्र! तुम्हारा कल्याण हो अब हम तो जाते हैं।

आश्चर्य से चकित हुए श्रीरामचन्द्रकी का हृदय धक् धक् करने लगा। वे व्याकुल से होकर बोले—"कहाँ जायँगे भगवन्! अब आप?"

विश्वामित्रजी बोले—"अब मैं उत्तर पर्वत की ओर जाऊँगा।"

श्रीराम बोले—"तब, महाराज! मैं भी चलूँगा आपके साथ।"

हँसकर कौशिक बोले—"अजी राघवेन्द्र! अब तुम बाबाजियों के साथ कैसे जा सकते हो, अब तो आपके पैरों में बेड़ियाँ पड़ गई है। अब आप अकेले कहीं नहीं रह सकते। जहाँ रहोगे युगल बनकर रहोगे। द्वैत के बिना आपका अस्तित्व नहीं। मैं ठहरा वेदान्ती। अब हृदय से तुम्हें स्मरण करूँगा। मेरी इच्छा आद्याशक्ति के साथ तुम्हारे दर्शन करने की थी। आज वह इच्छा पूर्ण हुई, मैं कृतार्थ हुआ मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ। अब मुझे जाने की अनुमति दो।"

श्रीराम ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"नहीं भगवन्! ऐसा नहीं होगा। आप चाहे मुझे छोड़ दें मैं आपको कभी छोड़ नहीं सकता। मैं किसी तरह भी आपको न जाने दूँगा।"

में फेंक देता। वे डूबने लगते, तब वह ताली बजा बजाकर हँसता रहता। इस पर प्रजा के लोग मिलकर महाराज के समीप गये और बोले—"राजन् ! या तो आप अपने पुत्र को ही रखिये या हमें ही। महाराज ! ऐसा राजकुमार तो हमने कोई देखा नहीं। यह अपनी प्रजा के बच्चों को वधिकों की भाँति जल में डुब देता है, ऐसा कुमार यदि राजा होगा, तो प्रजा की क्या रक्षा करेगा ?"

प्रजा के लोगों के ऐसे वचन सुनकर राजा को अत्यधिक दुःख हुआ। उन्हें असमञ्जस पर बड़ा क्रोध आया और उसे बुलाकर डाँटते हुए बोले—"तू बड़ा दुष्ट है रे ? मेरी प्रजा के बालकों की हत्या करता है। तू अभी मेरे राज्य से निकलजा। फिर कभी भी मुझे मुँह न दिखाना।"

कुमार असमञ्जस तो यह चाहते ही थे, अतः वे मन ही मन अत्यंत प्रसन्न होकर अयोध्यापुरी को छोड़कर चले गये। जाते समय उन्होंने अपने योग का अद्भुत चमत्कार दिखाया। जितने लड़को को उन्होंने सरयू जी के जल में फेंककर डुबा दिया था, उन सबको पुनः अपने योगबल से निकाल कर जिला दिया। जब वे सब बालक हँसते हुए अपने अपने घर पहुँचे, तब तो सभी लोग परम विस्मित हुए। वे सब मिलकर महाराज के समीप पहुँचे और बोले—"महाराज, हमसे बड़ी भूल हुई। कुमार तो कोई बड़े भारी पहुँचे हुए सिद्ध थे। देखिये, जितने हमारे लड़के डुबाये थे, वे सब तो ज्यों के त्यों जीवित होकर हमारे घरों में आगये।"

यह सुनकर राजा को भी बड़ा दुःख हुआ। किन्तु अब

श्री परशुराम दर्पदलन

(६५६)

मार्गे व्रजन् भृगुपतेर्व्यनयत् प्ररूढम् ।
दर्पं महीकृत यस्त्रिरराजबीजाम् ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० ७ श्लो०)

छप्पय

बिदा करन वर वधुनि सकुचि महलनि महँ आये ।
माता पुत्रिनि परम पतिव्रत धरम सिखाये ॥
जनक जननि तैं मिलीं बिलखि चारों सुकुमारी ।
पुत्रिनि रोवत निरखि जनक सुधि देह बिसारी ॥
करि विवाह हैं कै विदा, वधुनि सहित नृप पुर चले ।
क्षत्रिय कुल नाशक परशु राम, कुपित मग महँ मिले ॥

संसार में कभी प्रिय घटनायें सम्मुख आती हैं कभी अप्रिय। द्वन्द से ही संसार चल रहा है, दो पंखों से पक्षी आकाश मे उड़ सकता है, दो पहियों से ही रथ चलता है द्वैत में ही सृष्टि है,

---

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विवाह करके मार्ग में जाते हुए श्रीराम ने उन परशुरामजी के प्रवृद्ध गर्व का खर्व किया, जिन्होंने इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रिय शून्य किया था।"

जब राज पुत्रों को कहीं भी अश्व न मिला तो वे लौटकर अपने पिता के पास गये और हाथ जोड़ कर बोले—"पिताजी ! यज्ञीय अश्व को तो किसी ने चुरा लिया।"

महाराज सगर ने डाँट कर कहा—"तुम लोग कहाँ चले गये थे ?"

सागर पुत्रों ने कहा—"पिताजी ! हम तो सब साथ ही थे, फिर भी पता नहीं कि कैसे किसने अश्व को चुरा लिया।"

राजा बोले—"तुम लोग बड़े मूर्ख हो, मैंने तुमको अश्व की रक्षा के लिये भेजा था। तुम साठ हजार होकर भी एक अश्व की रक्षा न कर सके, जाओ स्वर्ग में, पातल में, पृथिवी में तथा अन्य भी जिस लोक में घोड़ा हो उसे ढूँढ़कर लाओगे नहीं फिर अच्छी बात नही होगी। अश्व बिना यज्ञ समाप्त कैसे हो सकता है ?"

पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर वे सबके सब क्रोध करके चले, पहिले तो उन्होंने समस्त पृथिवी को खोजा। जब पृथिवी पर घोड़ा नहीं मिला, तो उन्होने पृथिवी को खोदना आरम्भ कर दिया। महाराज सगर से पहिले यह भारत वर्ष अन्य आठों वर्षों से मिला हुआ था। इलावृत वर्ष बीच में था और जैसे कमल की कर्णिका के चारो ओर पंखुड़ियाँ होती हैं, वैसे ही शेष आठों वर्ष उसके चारों ओर थे। तब जाने वाले पुरुष भारत से ही इलावृत हरिवर्ष आदि वर्षों में जा सकते थे। इन सगर के पुत्रों ने यज्ञीय अश्व के अन्वेषण के निमित्त भारतवर्ष के चारों ओर भूमि को खोद डाला जिससे इस वर्ष का इलावृत आदि सेभी वर्षों के सम्बन्ध विच्छेद होगया। खोदने से इस भारतवर्ष

बार-बार जल भर आता। जिसकी ओर भी देख लेती उसकी आँखें भर आतीं। वैदेही के नेत्रों की कोर से टप-टप मोती के समान अश्रु निकलकर नीचे गिर पड़ते। माँ पृथिवी उन्हें तुरन्त पोंछ देतीं। सोख लेतीं। जानकी को रोती देखकर सखियाँ उनको जेट भर लेतीं और छाती से चिपटाकर कहतीं—"सीता ! बहन ऐसी अधीर क्यों होती है। तेरा सुहाग फूले फले, भगवान् ने चाहा तो फिर मिलेंगे। इतना सुनते ही सीता का हृदय फूट पड़ता। वे बिलख बिलख कर रोने लगतीं। उन्हें ऐसा लगता मानों मैं सदा के लिये जा रही हूँ। बड़े-बड़े नेत्र रोते-रोते सूज गये माता बार बार मना करतीं—"बेटी ! रोते नहीं ओ" माता यह मुँह से बार बार कहती तो थीं; किन्तु स्वयं रो पड़तीं। इस प्रकार पूरा दिन पूरी रात्रि ही बीती।

दूसरे दिन विदा की तैयारियाँ होने लगीं। रथ जोड़े गये। हाथी सजाये गये घोड़े कसे गये। सवार इधर उधर घोड़ों को दौड़ाने लगे। रथ अपने-अपने स्थानों से हटाकर पंक्ति बद्ध खड़े किये गये। डेरे तम्बू उखड़ गये। सामान बँधने लगा। बिस्तरे छकड़ों पर लदने लगे सभी व्यस्त थे सभी शीघ्रता कर रहे थे। राजा की आज्ञा से चारों कुमार रथों में बैठकर महलों में विदा कराने गये। दुलहिनों को वस्त्र पहिनाये गये। पैरों में महावर लगाया गया। माता ने रूँधे हुए कंठ से पुत्रियों को पतिव्रत धर्म सिखाया। चारों कुमारों ने अपने सासों के आकर पैर छुए। उनके सिर पर हाथ फेर कर रानियों ने उन्हें अनेक-अनेक आशीर्वाद दिये। विदा के समय के सब लौकिक वैदिक कृत्य कराये। माता पिता पृथक् होने के कारण पुत्रियों का हृदय फट रहा था, वह वियोग की उष्णता से पिघल-पिघल कर नेत्रों द्वारा बह रहा था। सास ने प्रेमपूर्वक राम के सिर को सूँघकर

सगर के साठ सहस्र सुतों का विनाश

(६४०)

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता ।
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि ।
कथं तमो रोपमयं विभाव्यते ।
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

कपिलाश्रम पै अश्व निरखि नृपसुत हरषाये ।
कोलाहल अति करयो कपिल मुनि चोर बताये ॥
इन्द्र रच्यो षडयन्त्र बुद्धि नृप सुतनि बिगारी ।
मुनि मारन हित चले देहिं गिनि गिनि कें गारी॥
कोलाहल सुनि सहजही नेत्र कपिल के खुलि गये ।
दृष्टि परत निज पाप तें, सगरपुत्र सब मरि गये ॥

एक कहानी है, कोई बुद्धिमान् दुर्बल पुरुष लघुशंका कर रहे थे। उसी समय एक हृष्ट पुष्ट दुष्ट पुरुष आया। उसे एक

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो कहते हैं कि सगरपुत्र कपिल मुनि के कोप से नष्ट हो गये, यह बात उचित नहीं, क्योंकि जो जगत को पावन बनाने वाले हैं, ऐसे सत्यमूर्ति भगवान् कपिल मे, भला तमोगुण की संभावना कैसे हो सकती है ? क्या कभी पृथिवी रज का आकाश के साथ सबन्ध सम्भव है ?

महाराज जनक ने बहुत अधिक दहेज दिया। हाथी, घोड़ा, रथ, दास, दासी कम्बल, बर्तन रेशमी तथा सूती वस्त्र, कन्याओं के लिये भाँति-भाँति के बहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा दास दासी, मणि मुक्ता दिये। लाखों गौएँ दीं। इन सब दहेज की वस्तुओं को लेकर महाराज जनक से विदा होकर महाराज दशरथ चले। मंत्रियों और ब्राह्मणों से घिर कर महाराज विदेह नगर के बाहर तक पहुँचाने गये। नगर के बाहर सबसे पुनः मिल भेंट कर तथा कन्याओं को आश्वासन देकर महाराज खिन्न चित्त से लुटे हुए व्यापारी की भाँति दान से निर्धन हुए दानी की भाँति ऋण से उऋण हुए व्यक्ति की भाँति अपनी नगरी में लौट आये कई दिन नगर में बड़ी उदासी रही।

इधर बहुओं को लिये हुए पुत्रों के साथ महाराज दशरथ बड़ी प्रसन्नता के साथ जा रहे थे कि आगे उन्हें कई प्रकार के अपशकुन दिखाई दिये। इससे उनका मन संकित होने लगा। उसी समय बहुत से पशुपक्षी इधर उधर भागने लगे उन्होंने सम्मुख देखा मानों सुमेरु का शिखर सामने से दौड़ा चला आ रहा है। महाराज दशरथ उस इतने बड़े भयानक डील डौल वाले पुरुष को देखकर काँप उठे।

वशिष्ठजी दूर से देखकर ही समझ गये थे क्षत्रिय कुल नाशक जमदग्नि के पुत्र भगवान परशुराम हैं। उन्हें आश्चर्य हुआ, कि ये क्रोध करके हमारी ओर क्यों दौड़े आ रहे हैं। वे सोचने लगे—"अपने पिता के वध से क्षत्रियों पर कुपित इन मुनि ने घूम घूम कर सम्पूर्ण पृथिवी को २१ बार क्षत्रिय हीन बना दिया था। और सम्पूर्ण पृथिवी को अपने अधीन कर लिया था। पीछे यज्ञ करके दक्षिणा में इस सम्पूर्ण वसुन्धरा को भगवान् कश्यप को दे दिया था और स्वयं क्रोध रहित होकर

पड़ते ही सगर के साठ सहस्र पुत्र सब के सब जल कर भस्म

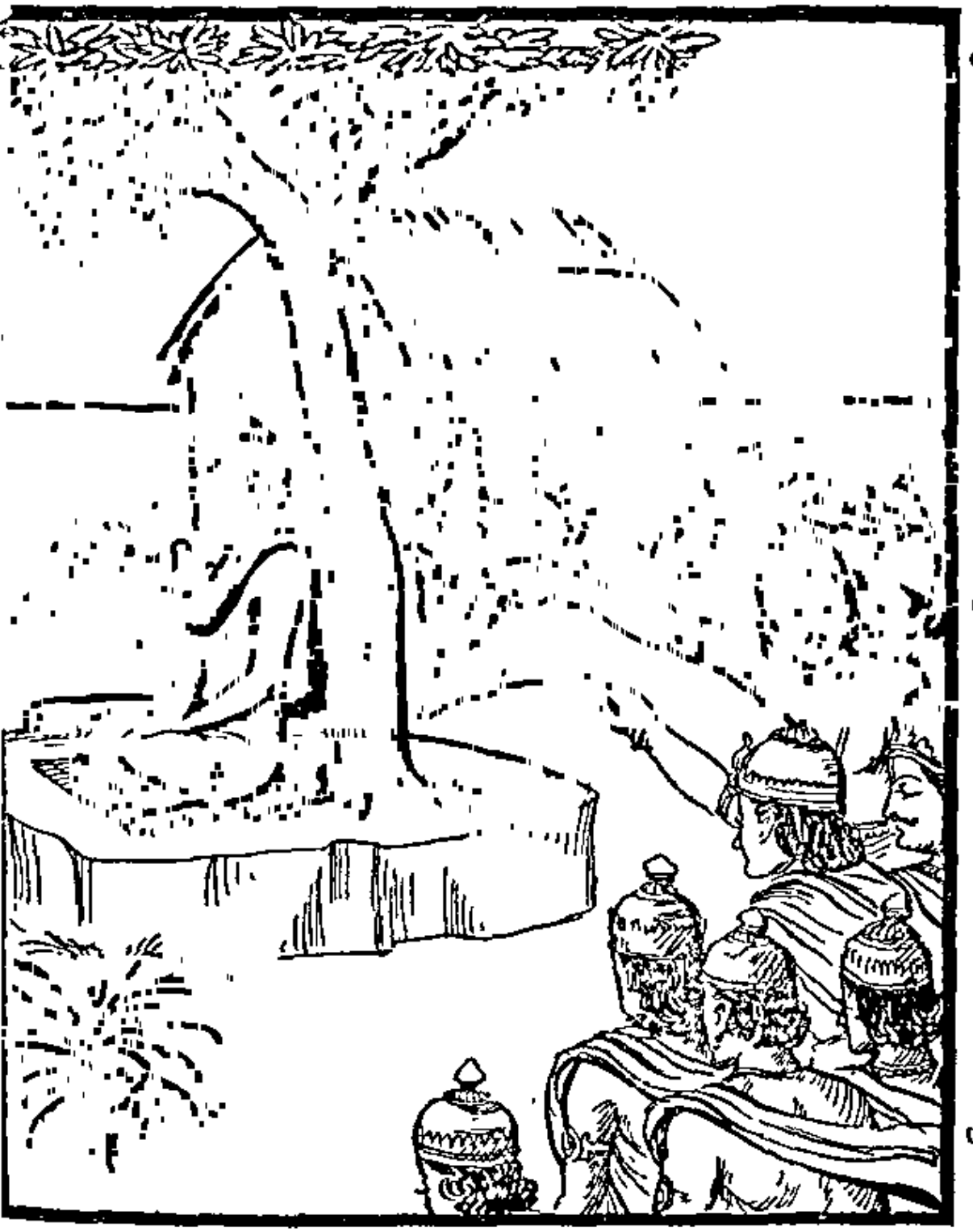

हो गये।"

विश्व विजयी वीर की पदवी भी प्राप्त की है, यह समाचार भी मुझे मिल चुका है। विश्व को जीतने वाला तो मैं ही अकेला हूँ। मैंने २१ बार पृथिवी को क्षत्रिय हीन कर दिया है। फिर भी लुके छिपे क्षत्रिय रह ही गये। उन्हीं से पुनः क्षत्रिय वंश चला है। मैंने अस्त्र-शस्त्रों का परित्याग कर दिया है। मैं सोच रहा था। इन निर्वीर्य क्षत्रियों पर क्या शस्त्र चलाऊँ कोई मेरी बराबरी का हो, उससे युद्ध करूँ। तुमने भगवान् चन्द्र मौलिके दिव्य धनुष को तोड़ दिया है, अतः तुम्हारे पराक्रम से मुझे पुनः ईर्ष्या उत्पन्न हो गई है। मैं तुमसे युद्ध करने आया हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! परशुरामजी एक ही स्वर में इतनी सब बातें कह गये, किन्तु श्रीरामजी ने पिता के गौरव से परशुरामजी की एक भी बात का उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप खड़े-खड़े परशुरामजी की बातें सुनते रहे। तब अत्यन्त ही दीनता के स्वर में महाराज दशरथ ने थर-थर काँपते हुए हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन्! आपने तो देवताओं के सम्मुख अस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी। फिर आप मेरा सर्वनाश क्यों करना चाहते हैं। भगवन्! राम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। युद्ध में यदि आप राम को मार डालेंगे, तो हममें से कोई भी जीवित न बचेगा। हे मुनीश्वर! आप मुझ दीन पर प्रसन्न हों, मेरे पुत्रों को अभय दान दें।"

राजा के वचनों को बिना ही सुने परशुरामजी ने श्रीराम को लक्ष्य करके कहा—"राम! तुम बोलते क्यों नहीं?"

श्रीराम ने सरलता से कहा—"क्या बोलूँ भगवन्!"

कुपित हुए परशुराम ने कहा—'यही बताओ तुमने शिव धनुष तोड़ा है?"

जब बहुत दिनों तक प्रतिक्षा करते रहने पर भी वे साठ सहस्र पुत्र अश्व को लेकर नहीं आये, तब महाराज को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने पौत्र अंशुमान् से कहा—"वत्स ! तुम्हारे सब के सब चचा लोग अश्वमेध के घोड़े को खोजने गये हैं, किन्तु अभी तक लौटकर नही आये क्या बात है। वैसे तो सब के सब शूरवीर बली योद्धा और सर्वजित् थे। उन्हें कोई संग्राम में तो नही हरा सकता था। अन्य ही कोई अघटित घटना घट गई है। मैं स्वयं तो यज्ञ-दीक्षा में दीक्षित हूँ, अतः जा नहीं सकता। तुम जाओ और अपने चाचाओ का अन्वेषण करो।

अपने पितामह की आज्ञा मानकर अंशुमान् अश्वके अन्वेषण के निमित्त चले। पृथिवी पर सर्वत्र खोजने पर भी जब उन्हें अश्व का पता नही मिला, तो वे अपने चाचाओं के खोदे मार्ग से ही ढूंढ़ते ढूंढ़ते पाताल में पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा, कि भगवान् कपिल समाधि में निमग्न हैं, यज्ञीय अश्व वहाँ छूटा हुआ हरी हरी घास चर रहा है, साठ सहस्र भस्म की ढेरियाँ वहाँ पड़ी हैं।

अब तो अंशुमान् सब कुछ समझ गये। उन्होंने अत्यन्त ही करुण शब्दों में भगवान् की स्तुति की और कहा"—हे सर्व भूतात्मन! हे भगवन्! आज आपका दर्शन पाकर हमारी विषयों की उत्कट अभिलाषा समस्त कर्मों का बन्धन और इन्द्रियों का आश्रय रूप हमारा सुदृढ़ मोहपाश नष्ट हो गया है। हे प्रभो ! आप मुझ पर कृपा करें और मुझे अपनी करुणामयी दृष्टि से अवलोकन करें "

श्री शुकदेव जी कहते है—राजन् ! उस बालक अंशुमान्

"प्रतीत होता है, तुम्हें अपने बल का बड़ा अभिमान है, शिव धनुष को तोड़ने से तुम्हारा दुस्साहस अत्यधिक बढ़ गया है। अच्छी बात है, मैं यह एक इससे भी बढ़कर दिव्य वैष्णव धनुष तुम्हे देता हूँ। यदि इसे भी तुमने चढ़ा लिया, तो तुम्हारे बल की परीक्षा हो जायगी। फिर मैं तुमसे युद्ध करूँगा।"

यह कहकर परशुरामजी ने उसी के समान एक दूसरा वैष्णव धनुष राम को देते हुए कहा—"पूर्वकाल में शिव और विष्णु में युद्ध हुआ था। उस समय शिव ने जिस धनुष से युद्ध किया था जनक के पूर्वज महाराज देव रात को दे दिया था और श्रीविष्णु ने महर्षि ऋचीक को दिया। उनसे मेरे पिता ने पाया और पिता ने मुझे दिया। राजा जनक के यहाँ रखे धनुष को तो तुम तोड़ आये। यदि इसकी भी तुम ज्या चढ़ाकर इसपर बाण चढ़ा दो, तो मैं तुम्हारे बल को जानूँ।"

परशुरामजी की यह बात सुनकर श्रीरामजी ने सरल स्वभाव से उस धनुष को उठा लिया और उसे नवाकर उसकी ज्याको चढ़ाकर उस पर बाण चढ़ा लिया और परशुराम से बोले—"महाभाग! मेरा बाण अमोघ है। वह चढ़कर व्यर्थ नहीं जाता। आपको तो मैं मारूँगा नहीं क्यों कि आप तो मेरे गुरु विश्वामित्रजी के भानजे हैं। यह बाण आपके क्रोध के कारण चढ़ा है। क्रोध से तपस्या से प्राप्त पुण्य लोक नष्ट होते हैं और प्रगति नष्ट होती है। कहो तो मैं इस बाण को छोड़कर आपकी गति नष्ट कर दूँ या आपके अत्यन्त कठिन परिश्रम से प्राप्त पुण्य लोकों को नष्ट कर दूँ।"

श्रीराम का ऐसा प्रबल पराक्रम देखकर परशुरामजी किंकर्तव्य विमूढ़ से बन गये। उन्हें ऐसा लगा मानों मेरा सम्पूर्ण बल, पराक्रम, तेज निकल कर श्रीराम के शरीर में प्रविष्ट हो गया है।

नम्रता के साथ हाथ जोड़कर अंसुमान् ने कहा"—वह क्या उपाय है भगवन् ?

भगवान् बोले—"यदि किसी प्रकार तुम गङ्गा जी को यहां ले आओ तो उनके जल के स्पर्श से तो इनका उद्धार हो सकता है। मनुष्य चाहे कितना भी पापी क्यों न हो, कहीं भी उसकी मृत्यु क्यों न हुई हो, यदि उसके शरीर भस्म या अस्थि ही लाकर गङ्गा जी में डाल दी जायें, तो वह सर्व पापों से विमुक्त होकर स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। यदि तुम गङ्गा जी को यहां ला सको, तब तो इनका उद्धार हो सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं।"

यह सुनकर कुमार अंशुमान् ने भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य की और घोड़े को लेकर अपने पितामह के समीप गये। अश्व को पाकर महाराज सगर ने यज्ञ समाप्त किया, उन्हें पुत्रों के मरने पर कुछ शोक न हुआ। अन्त मे वे अपना सब राज पाट अंशुमान् को सौंप कर तपस्या करने वन को चले गये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज अंशुमान् अपने चाचाओं के उद्धार के लिये गङ्गा जी को लाने के लिये प्रयत्न करने लगे।"

छप्पय

सुत नहिं आये सोचि सगर ने पौत्र पठाये।
अंशुमान् चलि दये कपिल मुनि आश्रम आये॥
कुमर विनय अति करी महामुनि अति हरषाये।
गङ्गा लाओ पितर हेतु ये वचन सुनाये॥
अश्व पाइ मख पूर्ण करि, सगर तपोवन चलि दये।
तदनन्तर मनु वंश के, अंशुमान् भूपति भये॥

पूर्णावतार हैं। अंश अंशी में मिल ही जाता है। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक बहुत निर्धन था। उसे सदा इच्छा रहती थी किसी तरह मुझे धन मिले। जैसे तैसे उसे कहीं से एक रुपया मिला। उस रुपये को वह बड़े यत्न से रखता और सोचता कैसे एक के एक लाख हों। वह व्यापारियों के पास गया और उनसे धन बढ़ने के उपाय पूछे। लोगों ने बताया "रुपया रुपये को खींचता है।"

यह सुनकर वह एक रुपयों के भरे घर में गया उसमें ताला लगा था। एक खिड़की से उसने उसमें देखा लाखों रुपये भरे हैं। वह अपने रुपयेको खिड़कीके पास ले जाकर बार-बार कहने लगा—"खींच ले रुपयों को खींच ले।" दो चार बार ऐसे कह रहा था कि झट उसके हाथ से रुपया गिर पड़ा। तब तो वह बहुत रोने लगा और कहने लगा—"लोग झूठ मूठ ही कहते थे रुपये को रुपया खींचता है। मेरे रुपये ने तो रुपयों को नहीं खींचा एक रुपया था वह भी हाथ से गया।"

यह सुनकर किसी बुद्धिमान् ने कहा—"इसमें असत्य बात क्या है। तेरा एक रुपया था। कोषागार में बहुत रुपये थे। उन बहुतों का बल अधिक था उन्होंने तेरे एक रुपये को खींच लिया।"

सूतजी कहते हैं—"सो, मुनियो। श्रीराम अंशी हैं। परशुराम अंश हैं। अंशी के सम्मुख आते ही उनका बल श्रीराम में आ गया। निर्बल निस्तेज तो बली तेजस्वी के सम्मुख नत होही जाता है। यह पृथिवी तो वीर भोग्या है वैसे श्रीराम तो परात् पर हैं, परशुरामजी भी उन्हीं के रूप हैं। यह सब उनकी

पुत्र ही कर सकते है, इसीलिये पितर सदा ऐसी मनोकामना करते रहते है, कि हमारे वंश में ऐसे लोग उत्पन्न हों, जो कभी वंश विच्छेद न होने दें। वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखें। इसीलिये सभी सद्गृहस्थ सत्पुत्र की कामनाये करते हैं, और पुत्र प्राप्ति के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते रहते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज सगर जब राजपाट छोड़कर और अंशुमान् को समस्त पृथिवी का राज्य भार सौप कर वन को चले गये तब अंशुमान् को रात्रि दिन यही चिन्ता लगी रहती थी, कि कैसे गगाजी आवें और कैसे हमारे पितरों का उद्धार हो। वे सदा यही सोचा करते थे। उनके एक पुत्र भी हो गया, जिसका नाम दिलीप रखा गया। कुमार दिलीप बड़े ही तेजस्वी और होनहार थे, जब वे कुछ बड़े हुए, तो महाराज अंशुमान् पृथिवी का राज्य भार उन्हे सौपकर गङ्गाजी को लाने के लिये तप करने चले गये। वे हिमालय पर जाकर गंगा जी को प्रसन्न करने के निमित्त अत्यन्त घोर तप करने लगे, किन्तु गंगाजी का आना कोई सहज काम तो था, ही नही। गङ्गाजी उनकी तपस्या से प्रसन्न नही हुई। कुछ काल में वे इस लोक को त्याग कर स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी को लाने और अपने पितरों के उद्धार की बात उनके मन की मन में ही रह गई।

दिलीप ने जब सुना कि मेरे पिता अकृत कार्य होकर ही स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी के लाने की उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, तो वे अत्यन्त दुखी हुए। किन्तु वे करते क्या, उनके तब तक कोई सन्तान नहीं थी। कुछ काल के पश्चात उनके पुत्र उत्पन्न हो गया, जिसका नाम भगीरथ रखा गया। कुमार भगीरथ, बड़े ही भगवद् भक्त, शान्त, अध्यवसायी और साहसी

मातृ पितृ भक्त राम

(६५७)

यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशम् ।
स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० ८ श्लो०)

छप्पय

भरत शत्रुहन गये मातुगृह कैकय पुर महँ।
राम होहिँ युवराज भई इच्छा नृप उर महँ॥
सचिव समरथन करयो तिलक की भई तयारी।
किन्तु कूबरी कुटिल बीच मह बात बिगारी॥
कान केकयी के भरे, मँगवाये द्वै बर तुरत।
बसैं चतुरदश बरस बन, राम राज्य पावहिं भरत॥

राम चरित विश्व चरित है। वह व्यक्ति चरित नहीं समा
चरित है, वह अनित्य नहीं नित्य है। जो चरित हो र
है वह सब राम चरित है। राम की इच्छा के बिना पत्ता भ

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन श्रीराम ने स्त्री
वशीभूत हुए और सत्य की पाश में बँधे हुए अपने पिता के
को अपनी भार्या सीताजी के सहित शिर से धारण किया वे
हमारा मंगल करें।"

आभा से सामने का पर्वत शुभ्र होने पर भी अत्यन्त शुभ्र हो रहा था। पान की लालिमा से रगे हुए अधरों की कांति जब हिमाच्छादित पर्वतों पर पड़ती तो ऐसा लगता था मानों आकाश का इन्द्रधनुष उतर कर हिमशृंगों पर घूम रहा है। उनके कंठ में मणिमुक्ताओं की मालायें शोभा दे रही थी। उनकी रेशमी नीली साड़ी आकाश की नीलम को तिरस्कृत कर रही थी। वे हरी कंचुकी से ढके उनके पीन पयोधर सन्तानों को अमृत पिलाने के निमित्त हिलते हुए व्यग्रता सी प्रकट कर रहे थे। क्षीणकटि के कारण वे मकर पर बैठी हुई सुवर्णलता के समान हिल सी रही थीं। लाल लहँगा पर जो सुवर्ण की चित्रकारी हो रही थी, उससे उनका सम्पूर्ण अंग दमक रहा था। वे अपने युगल उरुओं को मकर की पीठ से सटाये हुए थी। वे मंद मंद मुसकरा रही थी।"

महाराज भगीरथ नेत्र बन्द किये, त्रैलोक्य पावनी तरणि तारिणी जगदुद्धारिणी अघहारिणी विष्णुपादाब्ज संभूता भगवती सुरसरि का ध्यान कर रहे थे, सहसा उन्होंने अपने हृदय कमल पर खड़ी हुई माता की अद्भुतमूर्ति निहारी हृदय में जगज्जननी के दर्शन पाकर राजर्षि भगीरथ के रोम खिल गये। उन्होंने अपने परिश्रम को सफल समझा वे मन ही मन भगवती की स्तुति करने लगे। सहसा वह मनहारिणी चित्त कर्षिणी मनोहर मूर्ति हृदय प्रदेश से अन्तर्हित हो गई।

उस अलौकिक रूप राशि पूर्णा देवी के अन्तर्हित होते ही, महाराज का चित्त अत्यन्त व्याकुल हुआ, उनकी अभी दर्शनों से तृप्ति नहीं हुई थी। उसी हड़-बड़ाहट में उनके नेत्र खुल गये। अब वे सम्मुख क्या देखते हैं, त्रिभुवन तारिणी भगवती गंगा

कर कोई प्रिय वस्तु नहीं। अतः उन्होंने राम का हाथ पकड़कर सीताजी से कहा—"बहू ! मुँह दिखाई में तुझे किसी ने कुछ दिया है। किसी ने कुछ मेरा तो सर्वस्व यह राम ही है। मैं इसे ही तुझे मुँह दिखाई में देती हूँ।"

यह सुनकर सभी हँसने लगे। सभी बहुओं के पास बहुत द्रव्य एकत्रित हो गया सबने अपनी सासों के पैर छुए। कौशल्या आदि रानियाँ बहुओं को प्राणों से भी अधिक प्यार करतीं। सदा उनके सुख की चिन्ता करती रहतीं। इस प्रकार बड़े ही आनन्द से सबके दिन व्यतीत होने लगे।

भरतजी के मामा युधाजित विवाह में सम्मिलित होने आये थे। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि भरत शत्रुघ्न कुछ काल के लिये अपने ननहाल में चलें पिताजी उन्हें देखना चाहते हैं।" यद्यपि भरत श्रीरामचन्द्रजी को छोड़कर जाना तो नहीं चाहते थे; किन्तु पिता की आज्ञा मानकर तथा नाना के अत्यधिक आग्रह को देखकर जाने को विवश हुए। शत्रुघ्नको साथ लेकर वे पिता माता तथा श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में प्रणाम करके अपने मामा के साथ कैकेय देश में गये और वहाँ नाना नानी की प्रसन्नता के निमित्त सुखपूर्वक निवास करने लगे।

इधर श्रीरामचन्द्रजी माता पिता की सेवा करते हुए, उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करते हुए आनन्द के सहित सीता के साथ विहार करने लगे। वे सीताजी के रूप गुण सौन्दर्य और अनुराग के कारण इतने अधिक आकर्षित थे, कि उन्हें नित्य ही सीताजी नूतन ही दिखाई देतीं। उनका अनुराग उनके प्रति नित्य बढ़ता ही जाता था। सीताजी ने भी अपना सर्वस्व श्रीराम के चरणों में समर्पित कर दिया था। उन्होंने अपने हृदय को

जगत में सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मरूप भवानी पति भगवान् भूतनाथ तुम्हारे वेग को धारण करेंगे।"

गंगाजी को यह सुन कर कुछ गर्वसा हुआ। वे सोचने लगीं रुद्र भला मेरे वेग को कैसे धारण कर सकते हैं। अस्तु उनसे तो मैं निबट लूँगी, वे तो मेरी बहिन के पति ही है। इस राजा पर अपने भाव को प्रकट क्यों करूँ।" यह सोच कर बोली—"अच्छी बात है, यदि भगवान् रुद्र मेरे वेग धारण कर भी सकें, तो भी मुझे एक आपत्ति और है।"

महाराज भगीरथ ने कहा—"वह और कौन सी आपत्ति है माताजी?"

माँ गगा बोली—"यह यहकि तुम मुझे पापियों के उद्धार के ही लिये ले चल रहे हो। तुम्हारे पितरों को तो मैं तार ही दूँगी। जब वे सब इतने क्रूर कर्मा घोर पापी तर जायेंगे, तो संसार के सभी पापी आ आ कर मुझमें स्नान करेंगे, अपने पापों को मुझमें छोड़ जायेंगे। वे लोग तो अपने पापों को मुझ में छोड़ कर निष्पाप हो जायेंगे, मैं उन इतने पापों को कहाँ जाकर धोऊँगी, इसका भी तुमने कोई उपाय सोचा है?" मैं तो पापों के भार से दब जाऊँगी, स्वच्छ से काली हो जाऊँगी।

शीघ्रता के साथ महाराज भगीरथ बोले—"माताजी। इसके लिये आप चिन्तित क्यों होती हैं, इसका उपाय तो बड़ा सरल है?"

गंगाजी ने उत्सुकता से कहा—"क्या उपाय है, भैया। इसका?"

सभा भर गई तब राजा ने अपने भूरे बालों को देखते हुए कहा—"नृपतिगण ! और सामन्तो मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ श्रीराम अब वयस्क हो गये हैं, वे राज्यभार वहन करने में समर्थ हैं यदि आप सबकी सम्मति हो, तो मैं राम का राज्याभिषेक करदूँ, उन्हें युवराज बना दूँ। जब वे सब सम्हाल लेंगे तो मैं भगवान् के भजन में अपना समय बिताऊँगा।" इस विषय में आप सबकी क्या सम्मति है ?"

यह सुनते ही सर्वत्र आनन्द छा गया। सभी चाहते थे सीता के सहित श्रीराम को हम सिंहासनासीन देखें। श्रीराम के ऊपर छत्र चँवर होते हुए निहारें। सीता के साथ विशाल छत्र के नीचे बैठे युगल इष्ट की छवि निहारें। आज अपने मन की बात महीपति के मुख से निकली देखकर सब उसी प्रकार प्रमुदित हुए मानो पपीहा को स्वाति की बिन्दु मिल गई हो। सबने साधु-साधु कहकर सम्राट् की सम्मति का समर्थन किया और ऐसा करने के लिये सबने शीघ्रता की।

एक साथ सबको परम प्रमुदित देखकर राजा ने स्थूना खनन न्याय से फिर कहना आरम्भ किया—"महानुभावो ! आप मेरे शासन में क्या त्रुटि देखते हैं ? मुझे स्मरण नहीं है, कि मैंने कभी प्रजापालन में प्रमाद किया हो। मैं धर्मपूर्वक न्याय करता हूँ अभी तक मेरे शरीर में पूर्ण बल है। मैं शत्रुओं से पराजित नहीं हुआ हूँ, फिर आप मुझे राज सिंहासन से उतारने में इतने प्रसन्न क्यों हो रहे हैं ? मेरे शासन में कोई त्रुटि हो तो बताइये।"

यह सुन कर सभी डर से गये, कि राजा का क्या अभिप्राय है ? इस पर एक बुद्धिमान विप्र बोले—"राजन् हम आपको उतारना नहीं चाहते। हमतो आपको पुनः एक बार नूतन वेष में राज्यसिंहासन पर प्रतिष्ठित होते देखना चाहते हैं। ६०, ७०

सती प्रज्वलित अग्नि छुला दो, वह सब को तुरन्त जला ही न देगी, उसकी राख भी न रहेगी।"

गंगा जी ने कहा—"अच्छी बात है तुम मेरे वेग को धारण करने के निमित्त शङ्कर जी को प्रसन्न कर लो। वे स्वीकार कर लेंगे तो मैं आऊँगी।" ऐसा कह कर गङ्गा जी तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गई।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! गंगा जी के अन्तर्धान हो जाने पर महाराज ने भूमि में मस्तक टेक कर उस दिशा को नमस्कार किया, जिधर जगज्जननी अन्तर्हित हुई थीं। तदनन्तर वे श्री शङ्कर जी को प्रसन्न करनेके निमित्त घोर तप करने लगे।"

छप्पय

करत करत तप भूप दिलीपहु स्वर्ग सिधारे।
तिनके सुत नृप भये भगीरथ सबके प्यारे॥
पिता पितामह मरे नहीं श्रीगंगा आईं।
पितर मरे यम सदन दुःख तैं ते बतलाईं॥
भूप भगीरथ राज जतीं गङ्गाजी लेवे गये।
अबके जननी तुष्ट ह्वै, नरपति कूँ दरशन दये॥

यह बात राजा को भी अच्छी लगी। उन्होंने सोचा—"अच्छी बात है यह कृत्य शुभ मुहूर्त में हो जाय, तभी उत्तम है। नहीं तो श्रेय कार्यों में बड़े-बड़े विघ्न होते हैं। जब कैकेयी के साथ मेरा विवाह हुआ था, तब उसके पिता ने मुझसे प्रतिज्ञा करा ली थी कि मेरी कन्या से जो पुत्र होगा वही सिंहासन का अधिकारी होगा। मैंने इसे स्वीकार भी कर लिया था। बात तो अब पुरानी हो गई। राम के गुणों के कारण सभी इसके औचित्य को भूल गये। भरत राम में अधिक श्रद्धा रखता है। वह बड़े भाई के रहते कभी सिंहासन पर न बैठेगा। प्रजा भी राम को ही चाहती है। राम जब सिंहासन पर बैठ जायँगे, तब किसी का कुछ कहने का साहस भी न होगा। अच्छी बात है यह कार्य अविलम्ब हो जाय।"

यह सोचकर राजा ने अनुमति देदी। राज्य भर में बधाइयाँ बजने लगीं सभी अपने घर का शाही उत्सव समझकर तैयारियाँ करने लगे। सर्वत्र आनन्द का सागर उमड़ने लगा। राम-राज्याभिषेक के महोत्सव में मूर्तिमान आह्लाद आकार सब कृत्य सबसे कराने लगा। बूढ़े, बालक, वयस्क, नर-नारी तथा सभी वर्ण और आश्रम के लोग परम प्रमुदित थे। वशिष्ठ जी ने श्रीरामचन्द्रजी तथा सीताजी से व्रत कराया। उन्हें नियम से रहने का आदेश दिया। श्रीराम ने दीक्षा ग्रहण की। जानकी अत्यन्त ही प्रसन्न थीं। वे बार-बार कहतीं—"प्राणनाथ! कल तो आप राजा हो जायँगे। सहस्र तानों वाले श्वेत छत्र के नीचे आप बैठा करेंगे दोनों ओर से चँवर चला करेंगे।"

श्रीराम कहते—"प्रिये! कल तो होने दो। देखो कल क्या होता है। कल के विषय में कौन कह सकता है क्या होगा।"

जानकी अपनी बात पर बल देती हुई कहतीं—"महाराज

पड़ी।" इसका सारांश यह है, कि सब कार्य समय आने पर ही होते हैं। सबका काल निश्चित है। काल भगवान् का एक रूप है। प्रयत्न कोई भी कभी भी किसी का भी व्यर्थ नहीं जाता, किन्तु उसका परिणाम अवसर पर ही प्रगट होता है। आप चाहें अमावस्या के दिन पूर्ण चन्द्र उदित हो जाय तो नहीं हो सकता। किन्तु अमावस्या के अन्धकार में पूर्णिमा का प्रकाश निहित है, अमावस्या है, तो एक दिन पूर्णिमा भी आवेगी। आप चाहें कि नित्य पानी देते रहें और आम में शीघ्र फल आ जायें, तो यह असम्भव है। कितना भी पानी दें फल समय से ही आवेंगे। पानी देना व्यर्थ नही, पानी का फल होगा, सुन्दर फल लगेंगे, अच्छे लगेंगे। किन्तु लगेंगे, समय से ही। एक बड़ा भारी पत्थर है, कुछ आदमी उसे तोड़ना चाहते हैं बार-बार घन मारते हैं, वह टूटता नहीं। दिन भर उन्होंने परिश्रम किया, पत्थर नही टूटा। दूसरे दिन दूसरे तोड़ने वाले आये ज्योंहीं उन्होंने एक घन मारा फट से पाषाण फट गया. टूट गया। तो क्या कल जिन्होंने दिन भर श्रम किया था, वह व्यर्थ हो गया ? नहीं, सो बात नहीं है। उनका श्रम व्यर्थ नही गया। उनकी चोटों ने उसे जर्जरित बना दिया वह निर्बल निःसत्व हो गया, किन्तु उस दिन उसके टूटने का काल नही था, उन्हें तोड़ने का श्रेय प्राप्त होना नहीं था। वह तो दूसरे के ही भाग्य में था। इसीलिए दूसरे दिन वह टूट गया। एक आदमी सतत प्रयत्न करते है, उनको कोई जानता नही उनका नाम नहीं होता। दूसरा उसमें हाथ लगाता है, सर्वत्र उसका नाम होता है। कोयलों की खान के नीचे एक नीलम नाम का बहुमूल्य पाषाण निकलता है,जिस कोयलो की खान वालों को वह मिल जाता है, वे मालामाल हो जाते हैं। विशेषज्ञों ने भूगर्भ विद्या के अनुसार

दिये। रामचन्द्र के ऊपर विपुल धन न्यौछावर करके भृत्य और सेवकों को दिया।

उसी समय कैकेयीकी दासी मंथरा महलकी छत पर किसी कार्य से चढ़ी। उसने सम्पूर्ण नगरी को एक दिनमें ही नववधू की भाँति सजी बजी देखकर बड़ा विस्मय प्रकट किया। उसने देखा श्रीराम की माता याचकों और ब्राह्मणों को निरन्तर द्रव्य बाँट रही हैं। उसे बड़ा कुतूहल हुआ। उसी समय श्रीराम की धात्री उसे दिखाई दी।

कुबड़ी मंथरा ने पूछा—"दाई माँ! आज भला कौन सा पर्व है। यह नगरी इतनी क्यों सजाई गई है। श्रीरामचन्द्र की माँ आज इतना धन क्यों बाँट रही हैं? पुरी में इतनी भीड़-भाड़ चहल पहल क्यों है?"

बूढ़ी दाई ने मन्थरा को घुड़ककर कहा—"हट जल मुहीं। तुझे इतना भी पता नहीं। तू निरी बुड़बकही रही। अरे, कुबड़ी कल श्रीराम राजा होंगे। ये सब रामराज्याभिषेक की तैयारियाँ हैं। उसी का यह महोत्सव है। तुझे अभी तक पता नहीं।"

मुँह फुलाकर कुबड़ी ने कहा—"हमें पता कौन दे। राजा तो स्वामिनी के अनुकूल हैं। हमें तो जब तुमही बताओ तब पता लग सकता है।" यह कहकर वह जल भुनकर भस्म सी हो गई और मुँह लटकाये हुए नीचे गयी।

उतरते ही उसने एक व्यंगभरी वाणी में कैकेयी से कहा—"महारानीजी! आपने कुछ और भी सुना है?"

कैकेयी ने उत्सुकता पूर्वक पूछा—"क्या बात है?"

अवहेलना के स्वर में कुबड़ी बोली—"सुना है, कल राम का राज्याभिषेक होने वाला है?"

अवनि पर अवतरित होने का वचन दिया है, कृपा करके आप उनके प्रबल वेग को धारण करें, यही मेरी आपके पुनीत पादपद्मों में विनीत प्रार्थना है।"

शिवजी ने कहा—"अच्छी बात है, गङ्गाजी से कह दो, वे चाहे जितने वेग से आवे मैं उन्हें अपनी जटाओं में धारण करूँगा।" मैं कैलाश के शिखर पर आसन लगाकर बैठता हूँ, गङ्गा आवें। यह सुनकर महाराज के हर्षका ठिकाना नही रहा। उन्होंने भगवती सुरसरि की प्रार्थना की।

माता तो चञ्चला चपला बालिका ही ठहरी उन्हें एक विनोद सूझा। वे सोचने लगी—"ये शङ्कर भोलेनाथ आक धतूरा खाकर सदा कैलाश की बरफ में ही लेट लगाते रहते हैं। जबसे इन्होंने विषपान किया है, तबसे इन्हें शीत स्थान, जल स्नान अत्यधिक प्रिय हो गया है। क्यों नही मैं अपने प्रबल वेग के सहित इन्हें और इनके प्रिय कैलाश पर्वत को साथ लिए हुए पाताल में घुस जाऊँ।" गङ्गाजीका शिवजी से ऐसा ही सम्बन्ध है जिसमें हँसी विनोद का पूर्ण अवसर है, बहिन के पति ही ठहरे। यह सोचकर भगवती अपने अत्यन्त प्रभावशाली तेज से हर-हर करती हुई स्वर्ग से अवतरित हुई। उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर उस दृश्य को देखने के लिए अपने विमानों में बैठकर कैलाश के ऊपर उड़ रहे थे। कल कल निनादिनी पतित पावनी, भवभय हारिणी भगवती अपने अञ्चल को वायु मे उड़ाती, अनन्त जल राशि के रूप में शिवजी की जटाओं के ऊपर आकर गिरी। शिवजी को ऐसा लगा मानों कोई नन्हें-नन्हें जल कणों से उनका अभिसिंचन करने लगा है। आज उन्होंने भङ्ग कुछ अधिक चढ़ाली थी। गणों ने भङ्ग में धतूरे और ताँबे की मात्रा अधिक कर दी थी। जब शीतल

ओर से उदासीन बने रहते हैं। भीतर ही भीतर साँठ गाँठ है। तू तो मानिनी है। साज शृङ्गार के अतिरिक्त तुझे कुछ सूझता ही नहीं। तू राजाओं की कुटिल नीति को क्या जाने। तुझे तो भड़कीले वस्त्र मिल गये। चमकीले आभूषण मिल गये। फूलकर कुप्पा हो गई। तुझे पता नहीं तेरे साथ कैसा षड्यन्त्र रचा जा रहा है।"

कैकेयी भी यह सुनकर सर्पिणी की भाँति और भी कुपित हुई और गरजकर बोली—"मन्थरा तू मेरी अब आवश्यकता से अधिक मुँह लग गई है। तू मेरी माँ की पुरानी दासी है, इससे मैं तेरा आदर करती हूँ। अब तू मेरे पति पर भी सन्देह करने लगी। बस, बहुत हुआ। अब कुछ बोली तो तेरी जीभ निकलवा लूँगी।"

मन्थरा रुकी नहीं कहती ही गई—"मेरी जीभ निकलवा लो चाहे आँखें निकलवा लो। सत्य बात तो मैं कहूँगी ही। राज्य के अधिकारी भरत है। महाराज ने विवाह के समय तुम्हारे पिता से प्रतिज्ञा की थी। सभी जानते हैं। अब कौशल्या के प्रेम से वे अपनी प्रतिज्ञा को झूठ करना चाहते हैं। तिस पर भी तू मेरी जीभ निकलवाने की धमकी देती है। तेरे साथ पग पग पर अन्याय हो रहा है। विवाह करके राम लक्ष्मण आनन्द विहार कर रहे हैं। सुख भोग रहे हैं। भरत को उसकी ननिहाल भेज दिया। उसकी नई बहू रो रही है। अभी ननिहाल भेजने की क्या आवश्यकता थी। इसीलिये उसे हटा दिया कि वह राज्य के अधिकार से वञ्चित रहे। घर में छोटा मोटा त्योहार पर्व होता है, विदेशों से अपने कुटुम्ब-परिवार के लोगों को बुलाते हैं। इतना बड़ा राज्याभिषेक का महोत्सव हो रहा है, भरत को शत्रु की भाँति विदेश भेज दिया। तिस पर

अपना वेग दिखाया, सम्पूर्ण बल पराक्रम लगाया, किन्तु उन्होने जटाजूट धारी की जटाओं का पार नहीं पाया। वे उन्हीं में उलझ गईं, भटक गईं, मार्ग भूल गईं। अब तो वे बन्धन में पड़ गईं। शिवजी नेत्र बन्द किये ध्यान मग्न थे, गङ्गाजल का एक बिन्दु भी गिरि के ऊपर न गिरा। पत्नी की भगिनीके साथ भूतनाथ ने विचित्र विनोद कर दिया।

महाराज भगीरथ घबराये। इन दोनोंका तो विनोद हुआ मेरा मरण हो गया। जैसे तैसे तो गङ्गाजी को प्रसन्न किया, आकर भी शिवजटाओं में विलीन हो गईं। फिर उन्होने शिवजी की स्तुति आरम्भ की। शिवजी ने नेत्र खोले और बोले—"राजन् मैंने गङ्गाजी को धारण कर तो लिया अब तुम मुझसे क्या चाहते हो, अब तुम मेरी विनय क्यो कर रहे हो ?"

विवशताके साथ राजा बोले—"अजी,महाराज धारण करने का अर्थ यह तो है ही नहीं कि आप उन्हें अपनी जटाओं में ही छिपाये रखें। मैंने तो अपने पितरों के उद्धार के लिए प्रार्थना की थी। जब आपको जटाओं में ही रखनी थी, तो मेरे जाने जैसी-ही ब्रह्मकमण्डलु में वैसी ही आपकी जटाओं में कृपा करके इन्हें अवनि पर आने दीजिए। समुद्र तक जाने दीजिये। मेरे पितरों की भस्म को बहाने दीजिये। तब मेरा श्रम सार्थक होगा।"

शिवजी बोले—" अजी राजन् ! मुझे तो कुछ निद्रा सी आगई थी। अच्छी बात है लो मैं तुमको गङ्गाजी देता हूँ। देखो, विष की उष्णता से मुझे गरमी कुछ अधिक कष्ट कर प्रतीत होती है, अतः सम्पूर्ण गङ्गा को तो मैं छोड़ूँगा नहीं। तुम्हारे काम भर के लिये एक धारा दिये देता हूँ।" यह कहकर शिवजी ने अपनी एक जटा से उनका प्रवाह पर्वत पर गिराया।

गई और कैकयी के मुख की ओर देखने लगी। उसने अनुभव किया, मेरा लक्ष्य उपयुक्त स्थान पर लगा है। कैकेयी के मन में संदेह हो गया।"

कैकेयी के स्वर में अब मृदुता थी। वह खिसककर मन्थरा के पास आ गई और बोली—"हाय! मन्थरा तू बड़ी दूर की सोचती है। मुझे तो अब भी तेरी बातों पर विश्वास नहीं होता।"

मन्थरा ने प्रेमपूर्वक डाँटते हुए कहा—"तुझे काहे को होगा, विश्वास तो कौशल्या को होगा। ऊपर चढ़ कर देख तो सही कौशल्या कितनी उदारता से धन लुटा रही है। उसे वर्षों पहिले से इन सब बातों का पता था। उसने सब वस्तुएँ दान पुण्य के लिये आज के दिन को जोड़ जोड़कर रखी थीं। कब से सामग्री सजा रही थी और तुझे आज भी पता नहीं। कल राज्याभिषेक होगा। कौशल्या ने तुझे बुलाया तक नहीं। राजा ने तुझे सूचना तक नहीं दी। मैंने तुझे गोद में खिलाया। जन्म से लेकर अब तक तेरे साथ हूँ। सगी पुत्री की भाँति तुझे प्यार करती हूँ। मेरी बात पर विश्वास नहीं। सौतों की बात पर विश्वास है। शास्त्रों में सत्य कहा है, जिसके बुरे दिन आने को होते हैं, उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है। अच्छी बात बुरी लगती है। हित की बातें अहितकर जान पड़ती हैं।

अब तो कैकेयी को निश्चय हो गया। हाँ, यह अवश्य मेरे साथ विश्वासघात किया गया है। वह मंथरा के साथ ऊपर चढ़ी। उसने देखा सहस्रों वेदपाठी ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, याचक कौशल्या के महलों के सामने बैठे हैं। माँ उन्हें दान दे रही हैं। सब एक स्वर से आशीर्वाद दे रहे हैं। कैकेयी का हृदय सौत के ऐसे अभ्युदय से जलभुनकर भस्म हो गया। उसने वहीं खड़े

कार सुर वधूटियों की कङ्कण किंकिणि और नूपुर चूड़ियो के झंकार,गायन की सुरीली सरल ताल,वाद्योंकी सङ्गीतमय ध्वनि गङ्गाजी का कलरव शब्द,पाषाणों की चपेटों की चट्ट पट्ट आकाश में उड़ते हुए पक्षियों का कलरव तथा भगीरथ के रथका गंभीर जल भरे मेघों के समान गंभीर घरघराहट ये शब्द एक ही लय में साथ ही हो रहे थे। जैसे मृदङ्ग, वीणा, पणव, मञ्जीरा आदि विविध वाद्य विविध भाँति के शब्द करने पर भी एक ताल में एक स्वर में बजते हैं। इस विश्वमय अलौकिक सङ्गीत की सुरीली सुखमयी ध्वनि से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मांड भर गया। चराचर प्राणी गङ्गा के अवतरण से प्रमुदित हुए।

महाराज भगीरथ का रथ ऐसा दिव्य अलौकिक था कि वह जल में थल में सममें विषम में नभ में तथा गिरिशिखरों पर समान रूप से चल सकता था,उसके पीछे हर-हर मन्त्र का अविच्छिन्न अखण्ड कीर्तन करती हुई, भगवती भागीरथी चल रही थीं। जैसा कि चञ्चला बालिकाओं का सहज स्वर होता है उसी स्वभावानुसार वे टेढ़ी मेढ़ी चल रही थीं। कभी किसी गिरि शिखर से टकरा जाती, तो तुरन्त वहाँ से लौटकर टेढी चलने लगतीं, कभी किसी ऊँची चट्टान से एक साथ ही कूद पड़ती, कभी मुड़ जाती, कभी बढ़ जाती, कहीं सिकुड़ जाती, कहीं फैल जातीं, कहीं दो पहाड़ों के बीच में पिच जाती और फिर शनैः शनैः करवट के बल चलकर उसे पार करती। कहीं शीघ्रता से दौड़ने लगती, कहीं थक कर गम्भीर हो जातीं। कहीं उछल जातीं,कहीं पाषाण खण्डों से क्रीड़ा ही करने लगतीं। कहीं किसी पहाड़ के नीचे ही नीचे बहने लगतीं, कहीं ऊपर बरफ है नीचे से सर्र से निकल जाती, कहीं गोल गोल रंग बिरंगे पाषाण खण्डों के साथ खिलवाड़ ही करने लगतीं। उन्हें एक दूसरे से

मन्थरा ने दृढ़तापूर्वक कहा—"सुनेगा क्या चिल्लाने से युक्ति से सब काम होता है। बुद्धिपूर्वक किये हुए सब काम सफल होते हैं।"

कैकेयी ने दीनता के स्वर में कहा—"मन्थरे! तू ही आ मुझे युक्ति बता। तू ही विपत्ति सागर में डूबती हुई मुझे बचा अब मुझे क्या करना चाहिये।"

मन्थरा सम्हल कर बोली—"उसका मुख प्रसन्नता से चमक रहा था। कैकेयी को अपने अधीन समझकर उसे अपनी सफलता पर गर्व था। वह कहने लगी—"देखा, अब एक ही उपाय है। तुझे तो याद नहीं होगा, क्योंकि तू है बड़ी भुलक्कड़। किन्तु मुझे तेरे हित की सब बातें याद हैं। राजा जब देवताओं की ओर से असुरों से युद्ध करने गये थे, तब वे तुझे भी साथ ले गये थे। उस समय उनके रथ की कील निकल गई थी। तू उसे हाथ से रोके रही। राजा की विजय हुई। तब तेरे साहस से प्रसन्न होकर राजा ने तुझसे दो वर माँगने को कहा था। तूने कह दिया था—"कभी अवसर आने पर फिर माँग लूँगी। अब उन वरों का अवसर है। एक वर में तो तू भरत को राज्य माँग ले, दूसरे में राम को १४ वर्ष के लिये वनवास। १४ वर्ष में जब तेरे पुत्र का प्रभाव स्थापित हो जायगा, फिर तेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। राम सदा के लिये राज्य से वञ्चित रह जायँगे कौशल्या तेरी दासी बनकर रहेगी। राजा भी तेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। तू ही सबकी स्वामिनी बन जायगी। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं।

यह सुनकर कैकेयी अत्यन्त प्रसन्न हुई, उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, उसने समझा मैंने खोया हुआ त्रैलोक्य का राज्य कूबरी के कौशल से पुनः प्राप्त कर लिया। वह मन्थरा को

भागीरथी का नाम जाह्नवी पड़ा, उस कथा को मैं आपको सुनाता हूँ। आप इस परम पावन पुण्य प्रदायिनी कथा को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

गरजत तरजत चली वेगतें गङ्गा माता।
गिरीं जहाँ गिरिजेश विराजें भवभय त्राता॥
सोचें शिवकूं सङ्ग लिये पाताल पधारूँ।
जीजाजी की जटनि माहिं जलधारा डारूँ॥
भोले बाबा भङ्ग की, बैठे सहज तरङ्ग महँ।
जटनि माहिं गङ्गा गिरीं, परी भङ्ग तिन रङ्ग महँ॥

पम सौन्दर्य के कारण उन्हें अपने वशमें कर रखा था। राजा अन्य किसी रानी के महलमें जाते ही नहीं थे। कैकेयी के ही यहाँ खाते थे वहीं सोते थे। कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये वे सब कुछ कर सकते थे। उसे दुखी देखकर उनका मुख मलिन हो जाता और भाँति भाँति के उपायों से उसे प्रसन्न करते। जब तक वह हँस न जाती तब तक उनकी चिन्ता दूर न होती। बहुत रात्रि गये राजा जब कैकेयी के महलों में आये तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। आज कैकेयी ने आगे बढ़कर उनका स्वागत नहीं किया। सभी वस्तुएँ इधर-उधर अस्त व्यस्त पड़ी थीं। राजा बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने व्यग्रता के साथ सेविकाओं से पूछा—"तुम्हारी स्वामिनी आज कहाँ हैं?"

सेविकाओं ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! आज वे दोपहर से ही कोपभवन में भूमि पर लेट रही हैं। आज उन्होंने न अङ्गराग लगवाया न शृंङ्गार ही किया। वे वस्त्राभूषण का परित्याग करके उदास मनसे लेटी हुई हैं। यह सुनकर राजा का हृदय तो धक-धक करने लगा। उनके पैर अस्त व्यस्त पड़ रहे थे। वे शीघ्रता के साथ कोपभवन की ओर गये। यह उनके लिये अभूतपूर्व घटना थी। इसके पूर्व कैकेयी ने कभी ऐसा आचरण नहीं किया था। ये प्रेमकोप के अतिरिक्त वे ऐसे कुपित होकर कभी कोपभवन में नहीं गई थीं। बूढ़े राजा डरते-डरते कोपभवनमें पहुँचे। उन्होंने हँसकर कैकेयी का हाथ पकड़ा। एक झटका मारकर कैकेयी ने अपना हाथ छुड़ा लिया। राजा भूमि पर ही बैठ गये। उन्होंने कैकेयी का सिर अपनी गोद में रखकर उसके बालों को सुलझाते हुए कहा—"प्रिये! मुझ सेवक से ऐसा कौन सा अपराध बन गया, मैं तो सदा तुम्हारी आज्ञा की ही बाट जोहता रहता हूँ। मैं तुम्हारे मुख को म्लान नहीं देख

हैं, युद्ध हो जाता है। क्षण भर में सब भूल जाते हैं, एक हो जाते हैं। कुट्टी हुई मित्रता पुनः मिल्ली के रूप में परिणित हो जाती है। इसीलिये क्रीड़ा में सभी संभव है। जैसे प्रेम क्रीड़ा का अंग है वैसे ही क्रोध कलह, मान भी उसका अङ्ग है। मान के विना प्रेम में स्वाद नहीं। कलह के विना क्रीड़ा में नूतनता नहीं। भगवान् नाना रूप रखकर इस जगत् नाट्यस्थली में क्रीड़ा कर रहे है। गङ्गा भी उन्हीं का द्रव रूप है, विष्णु,शिव,विरंचि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवता, पितर सभी उनके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। क्रीड़ा में शंका के लिये स्थान नही ऐसा क्यों हुआ ? क्रीड़ामे क्यों के लिये स्थान ही नहीं।

सूतजी कहते हैं–"मुनियो! आपने मुझसे गंगाजी के जाह्नवी नाम पड़ने का कारण पूछा था, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। भगवती भागीरथी चलते समय बड़ी इठला रही थीं, वे बड़ी उत्सुकता प्रकट कर रही थीं। अब वे निरी बालिका ही नहीं रही थीं। हिमालय की गोद से उतर कर वे सयानी हो गई थीं। छोटी से बड़ी हो गई थीं। चंचलता तो कुछ कम हो गई थी। वे ज्यों ज्यों बढती जाती थीं, त्यों त्यों गम्भीर होती जाती थी। अब उछलकर चलना उन्होंने छोड़ दिया। अब वे किलकारी भी नहीं मारती थीं, अब तो चुपचाप शांति के साथ गंभीर भाव से चल रही थी। अब वे पहाड़ों में जैसी रेख की भांति पतली थीं, वैसी नहीं रहीं। अब उनका पाट बढ़ गया था। अब वे पाषाण खण्डों से खिलवाड़ भी नहीं करती थी। अब वे अंचल से अपने सिर को ढककर चलती थीं। वे ज्यों-ज्यों पतिगृह के समीप पहुँचतीं त्यों-त्यों शान्त और गम्भीर होती जाती थीं, यद्यपि बाल्यकाल की चंचलता उनमें नहीं रही, फिर भी यौवन का अल्हड़पन और दूसरों को बनाने खिजाने और हँसने

राज्य, पाट, धन कोष मेरा सर्वस्व तुम्हारे अधीन है। माँगो। माँगती हो ?"

कैकेयी ने कहा—"ऐसे नहीं महाराज ! शपथ पूर्वक त्रिवाचा भरिये। तीन बार कहिये 'मैं जो भी माँगूँगी उसी को दूँगा।"

राजा ने दृढ़ता के साथ शपथपूर्वक कहा—"तुम जो भी संभव असंभव माँगोगी उसे दूंगा, दूँगा अवश्य दूँगा। बोलो, अब तो प्रसन्न हो। माँगो क्या माँगती हो।"

कैकेयी ने कहा—"देखिये, महाराज ! आपका जन्म मनु-वंश में हुआ। इक्ष्वाकुकुल के सभी भूपति सत्यावादी और धर्मात्मा हुए हैं, उन्होंने प्राणों का पण लगाकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की है। कभी अपने वचन से डिगे नहीं। मैं जो माँगूँगी वही देना पड़ेगा।"

राजा हँसे और बोले—"और कैसे कहूँ, प्रतिज्ञा पूर्वक तो कह रहा हूँ, तुम माँगो क्यों नहीं।" अब कैकेयी भी सम्हली। उठकर बैठ गई दृढ़ता के स्वर में बोली—"देखिये, महाराज ! पहिला वरदान तो मेरा यह है, कि भरत का राज्याभिषेक हो और दूसरा वर यह है कि राम तपस्वियों का सा वेष बनाकर १४ वर्षों तक वनों में निवास करें, कंद मूल फल खाकर मुनि व्रत का पालन करें। यदि आप सत्य प्रतिज्ञ हैं तो मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण कीजिये। कल राम का राज्याभिषेक रुकवाइये, कल ही राम को वन पठाइये, भरत को ननिहाल से बुलाइये उसे राज्य सिंहासन पर बिठाइये। अपना प्रण पूर्ण करके धर्म निभाइये।"

इतना सुनते ही महाराज मूर्छित हो गये। वे अचेत होकर धड़ाम से धरती पर गिर गये। उन्हें अपने शरीर की भी सुधि-बुधि नहीं रही।

बल से अग्नि तत्व को प्रदीप्त कर दिया; सब जल कारण में विलीन हो गया। आदि प्रवाह को रोक दिया। यह तो कोई बहुत दिन पहिले की सत्ययुग की बात है। अभी कलियुग में कुछ ही वर्ष पूर्व एक विचित्र घटना घटित हो गई। एक योगीने योग का विचित्र चमत्कार दिखाया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमें भी तो सुनाइये क्या चमत्कार दिखाया।"

सूतजी बोले—"भगवन्! ग्वालियर नामक प्रयाग से दक्षिण में एक छोटा सा राज्य है। वहाँ महाराष्ट्र देश के राजा राज्य करते हैं। एक दिन एक योगी आये, वे अपनी मस्ती में नंगे ही राजमहल के भीतर जा रहे थे। प्रहरी ने उन्हे रोक दिया। वे रुक गये और एक वाटिका के चबूतरे पर खड़े होकर लघुशंका करने लगे। फिर क्या था उनका जो लघुशंका का प्रवाह आरम्भ हुआ, वह रुका ही नहीं। सम्पूर्ण बगीची भर गया। किलेके चारों ओर की खाई भर गई। राजमहल और नगर भी डूबने लगा रात्रि भर में प्रलय सी आ गई। लोगों ने दौड़ कर महाराज से निवेदन किया। महाराज दौड़े-दौड़े आये महात्मा के पैरों पड़े तब कही जाकर उनका प्रवाह रुका। उसी दिन से महाराज उन्हे बहुत मानने लगे। नित्य उनके लिए सुवर्णके थाल में भोजन जाता और वे खा कर थाल को फेंक देते। सारांश कहने का इतना ही है कि जिन्होंने इस प्रकृति के तत्व को समझ लिया है, उनके लिए जल का सोख लेना अग्नि को शीतल कर देना आदि भाँति-भाँति के व्यापार साधारण कार्य हैं। जो प्राकृतिक पदार्थों से ऊपर उठ गये है, उनके लिये गगाजी के प्रवाहको रोक देना कौनसी बड़ी बात है।"

कैकेयी बोली—"देखिये, महाराज! मैं लगाव लपेट की बात नहीं जानती। आपको चाहे भला लगे या बुरा। सीधी और सच्ची बात यह है, कि एक म्यान में दो तलवार नहीं रहती। एक जंगल में दो सिंह नहीं रह सकते। एक राज्य में दो राजाओं का निर्वाह नहीं। राम अवस्था में बड़े हैं, न्यायानुकूल वे राज्य के अधिकारी हैं। भरत आपकी प्रतिज्ञानुसार अधिकारी हैं। दो अधिकारी एक साथ रहेंगे तो कुछ लोग इनकी ओर हो जायँगे, कुछ उनकी ओर। राज्य में विद्रोह फैल जायगा। मैं आरम्भ में ही वह सब बखेड़ा नहीं चाहती। १४ वर्ष में मेरे पुत्र का प्रभाव जम जायगा। फिर चाहें तो राम जैसे और प्रजा के लोग रहते हैं, वैसे आकर रह सकते हैं। तब मुझे आपत्ति न होगी। अब तो मेरे वरों में कोई परिवर्तन होगा नहीं, अब तो रामको वन जाना ही होगा। बहुत वाद विवाद की आवश्यकता नहीं। या तो कल राम वन जायँगे, या आप राम के राज्य के पहिले मुझे मरी पावेंगे, चिता में जलावेंगे। मैं नहीं मानूँगी, नहीं मानूँगी मुझे समझाना व्यर्थ है निरर्थक है या तो आप अपनी प्रतिज्ञा भंग करके असत्यवादी बनिये, या भरत को राज्य और राम को वनवास दीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कह कर वह क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति चुप हो गई। राजा ने भाँति भाँति से उसकी अनुनय विनय की। उसके पैरों में अपना सिर रखा। रोये-गाये अपनी विवशता बताई, राम के विरह में अपनी निश्चित मृत्यु भी जताई, किन्तु वह वज्रहृदया नारी तनिक भी न विचलित हुई, टस से मस भी न हुई। कुबरी की मति उसकी नस-नस में व्याप्त हो गई थी। कोई मन्त्र तन्त्र औषधि उपचार उसे व्यर्थ बनाने में सफल न हो सका। राजा हार गये उन्होंने अपने जीवन की आशा छोड़

पकार में निरत रहती है, वही पितरो को तारने में समर्थ हो सकती है। वही सच्ची संतान है। तुम्हारे जल के स्पर्श से पापी भी तर जायँगे। ऐसी तरनतारिनी तुम मेरी तनया कहलाओगी, यह मेरे लिये सबसे बढ़कर गौरव की बात है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार गङ्गा महाराज जह्नु को अपना पिता मानकर उनकी परिक्रमा करके आगे बढ़ीं। महाराज जह्नु ने भी उनका सिर सूँघा और आशीर्वाद दिया—"तुम संसार में विश्ववन्दिता कहलाओगी।" इस प्रकार पिता जह्नु से आशीर्वाद पाकर भगवती जाह्नवी आगे बढ़ी।

छप्पय

उतरि हिमालय अंक अवनि पै नीचे आई।
सामग्री मुनि जह्नु यज्ञ की सबहिं बहाई॥
लखि अविनय मुनि कर्यो कोप गंगा पी लीन्हीं।
भूप भागीरथ विनय बहुत विधि मुनि की कीन्हीं॥
छोड़ी गंगा कान तें, तनया तिनकी ह्वै गईं।
तबई तें भागीरथी, ख्यात जाह्नवी जग भईं॥

ने आकर द्वार पर कहा—"महाराज की जय-जयकार हो महाराज के दर्शनों को राज द्वार पर अपार भीड़ खड़ी है। राज्याभिषेक की समस्त सामग्रियों के सहित सहस्रों वेदपाठी विप्रों को लिये भगवान्‌वशिष्ठ महाराज की प्रतीक्षा कर रहे हैं। भगवान् भुवन भास्कर उदित हो गये। पुष्य नक्षत्र लग चुका है। महाराज सबको दर्शन देकर कृतार्थ करें और राज्याभिषेक के समस्त कृत्य करावें।"

अब राजा को चेत हुआ। उन्होंने सुना, बन्दीगण वंश की विरुदावली गा रहे हैं। सूत, मागध बन्दी खड़े स्तुति कर रहे थे। अत्यन्त मधुरस्वर में वीणा आदि बाजे-बज रहे हैं। राजा को ऐसा लगा मानों ये सब मेरा परिहास कर रहे हैं। उन्होंने क्षीण स्वर में कहा—"बाजे बन्द करो। सूत! मैं श्रीराम को देखना चाहता हूँ। तुम अविलम्ब राम को यहाँ ले आओ।"

सूत ने कहा—"भगवान् वशिष्ठ से क्या कह दूँ?" डाँटकर राजा ने कहा—"कह तो दिया, तुम राम को अभी लाओ।"

सूत डर गया और अत्यन्त ही शीघ्र वहाँ से रथ में बैठा। सूत को देखकर सभी ने उनका रथ घेर लिया और वे उनसे भाँति भाँति के प्रश्न करने लगे। घोड़ों को हाँकते हुए सूतने इतना ही कहा—"मुझे जाने दो, मैं श्रीराम को लेने जाता हूँ।" सबने रास्ता दे दिया सूत ने जाकर श्रीराम का जय-जयकार किया और कहा—"ककुत्स्थ! आपको जनकर कौशल्या यथार्थ पुत्रवती हुई हैं कुमार! आपका कल्याण हो, महाराज आपको अभी देखना चाहते हैं। वे मँझली रानी के महलों में हैं।"

इतना सुनते ही संकोची राम बिना बालों को झाड़े एक वस्त्र पहिनकर सूत के समीप रथ में जा बैठे। दौड़कर लक्ष्मण छत्र चँवर लेकर भाई के पीछे बैठ गये। अन्य सेवकों को साथ आने

के दिखा दो तब मै सेवन करूँगा। तब तो सम्भव है उसका रोग कभी जाय ही नही। रोग जाने के लिये उसे चिकित्सक पर विश्वास करना पड़ेगा। वह जो औषधि दे उसे श्रद्धापूर्वक खाना होगा जैसा पथ्य सेवन को कहे उसे विश्वास पूर्वक सेवन करना होगा। पुत्र माता से आग्रह करे कि पहिले मुझे इस बात को प्रत्यक्ष करा दो कि यही मेरे पिता हैं, तो माँ कैसे प्रत्यक्ष करा सकती है। मैं ही माँ हूँ इसे भी वह तर्क से स्वय कैसे सिद्ध कर सकती है। पुत्र को माता-पिता और गुरुजनों के वचनों पर विश्वास ही करना होगा। जिसे माँ कहने को कहे वह माँ है जिनके माँ पिता कहलावे वे पिता हैं। गुरु अक्षरारंभ करता है। आरम्भ ही बताया है। यह "आ है, यह "इ" है यह 'उ" है। अब लड़का यह तर्क करे कि यही "आ" क्यों है। यह "उ" क्यों नही? तो गुरु इसे तर्क से कैसे सिद्ध कर सकता है। उस पर एक ही उत्तर है। मैं गुरु परम्परा से यही बात सुनता आया हूँ, कि इसे "आ" कहते हैं। उन आप्त पुरुषों के वचनों पर मुझे विश्वास है तुम्हें भी मेरी बात पर विश्वास करना चाहिये। मैं जिस अक्षर का जो नाम बताऊँगा तुम्हें उसे ही विश्वासपूर्वक मान लेना चाहिये। ऐसे एक नही अनेकों उदाहरण हैं, कि हम बड़े लोगों के विश्वासनीय आप्त पुरुषों के वचनो पर ही विश्वास करके संसार यात्रा मे अग्रसर हो सकते है। यदि पग-पग पर हम तर्क का ही अवलम्ब लेते रहे, तब तो हम एक पग भी नही बढ़ सकते। जो कहते है—"जैसे अन्य जल वैसे ही गङ्गाजल, गङ्गाजल में क्या रखा है। उसके दरस परस और पान से पाप कैसे कट सकते हैं, उसमे भस्म अस्थि डालने से मृतक व्यक्ति का उद्धार कैसे हो सकता है? "तो इस विषय मैं यही कहेंगे, कि हमारे

साथ बोले—"माँ ! मेरे पिता को आज क्या हो गया है ? ये किस कारण दुखी हैं।"

ऊपर से सरलता दिखाती हुई कैकेयी बोली—"राम तुम्हारे पिता के दुःख का कारण तुम्हीं हो।"

यह सुनकर राम के पैरों तले से तो मानों पृथिवी खिसक गई। उनका हृदय धक् से कर उठा। वे बोले—"माँ मुझसे ऐसा कौन सा अपराध बन गया है।"

विषघुली मिश्री सी वाणी में कैकेयी बोली—"तुमसे कोई अपराध नहीं बना है भैया। मेरे राजा पर दो वरदान रखे थे। आज मैंने वे दोनों माँगे। एक में भरत को राज्य दूसरे में तुम्हें १४ वर्ष के लिए वनवास। राजा तुम्हें वन जाने को कहना भी नहीं चाहते और अपनी प्रतिज्ञा भी नहीं तोड़ना चाहते। तुम पिता का प्रिय करना चाहते हो, तो आज ही राज्य-पाट त्याग कर वल्कल वस्त्र पहिन कर वन चले जाओ। राजा बड़े लज्जित हैं इसीलिए तुमसे बोलते नहीं।"

राजा पड़े-पड़े यह सब सुन रहे थे। उन्होंने इतना ही कहा—"धिक्कार है, धिक्कार तुझे'! इतना कहकर फिर वे करवट बदल कर मूर्छित हो गये।

राम अब सब रहस्य समझ गये। उन्हें रोष आया और दुखी होकर अपनी विमाता से बोले—"माँ ! तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। इस क्षुद्र कार्य के लिये तुमने मेरे पिता को इतना क्लेश दिया। पिता की बात तो पृथक् है, मैं केवल तुम्हारे कहने से ही धधकती हुई अग्नि में कूद सकता हूँ। भरत के लिये मैं पृथिवीके राज्यकी बात तो पृथक् रही त्रिभुवनका राज्यछोड़ सकता हूँ। वन में जाने के लिये तुम्हें पिता के द्वारा मुझसे कहलाने की क्या आवश्यकता थी, तुमही कह देती। मैं राज्यपाट-धन धान्य

चिपट जाओ। दोनों बहिन हृदय से हृदय सटाकर मिल लें। भर पेट प्रेम के अश्रु बहालें।"

गंगा ने विवशता के स्वर में कहा--"बहिन! देखो,मैं तुमसे डरती हूँ, तुम समस्त सरिताओं में सर्व श्रेष्ठ हो, तुम समुद्रगा सहित हो, तुमने पति के साथ संगम किया है, मैंने अभी अपने पति समुद्र के दर्शन तक नहीं किये। जहाँ मैं तुम से छाती से छाती सटाकर मिली, तहाँ मेरा अस्तित्व ही विलीन हो जायगा। मुझे फिर कौन पूछेगा। आगे तो तुम्हारा ही नाम होगा। इसलिये मैं तुम से डरती हूँ। मिलने में हिचकती हूँ,दूर से ही राम-राम करके मैं अपना मार्ग पकड़ती हूँ। तुम उधर जाओ मैं इधर से मुड़कर जाती हूँ।"

यह सुनकर यमुना उसी प्रकार हँस पड़ी जैसे बड़ी बहन छोटी बहिन की तोतली वाणी सुनकर हँस पड़ती है। यमुना बोली—"अरे, गंगे! तू इतनी बड़ी होगई, फिर भी तेरा भोलापन नहीं गया। भला यह कैसे हो सकता है, बहिन बहिन से मिले और दूर से ही नमस्कार करके चली जाय जब तक हृदय से हृदय नही सटता वह मिलन नहीं विडम्बना है। जब तक दो अंग एकीभूत नहीं होते, तब तक सरसता की धारा कैसे बह सकती है। पगली कहीं की। नाम की क्या बात है। बड़े तो हृदय से चाहा ही करते है छोटों का नाम हो। छोटे जब बड़े हो जाते हैं, तो बड़े लोग अवकाश ग्रहण करके अपने कार्य क्षेत्र से हट जाते हैं। तू सर्व समर्थ है, महान् शक्ति शालिनी है। आ मेरे हृदय से लगजा। तुझे मै अपने में नही मिलाऊँगी, मैं ही तुझ मे मिल जाऊँगी। अब आगे मेरा नाम न होकर तेरा ही नाम रहेगा।"

के पादपद्मों में उपस्थित होऊँगा। तब तुम से वल्कल वस्त्र लेकर वन को चला जाऊँगा। तुम निश्चित हो जाओ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर श्रीराम कुपित हुए लक्ष्मण को साथ लेकार माता कौशल्या के महलों की ओर पैदल ही चल दिये। सुमन्त वहाँ किकर्तव्य विमूढ़ सा बना खड़ा का खड़ा ही रह गया। वह स्थिर ही न कर सका मैं क्या करूँ। सुमन्त को कुपित देखकर राम ने उन्हें बुलाया और साथ चलने को कहा—"वह भी बिना बोले राम के पीछे हो लिया।"

छप्पय

दशरथ अनुनय बिनय करी रानी न पसीजी।
बज्र हृदय बनि गई मन्थरा विषमहँ भीजी॥
प्रात सूत तैं तुरत भूप रघुवर बुलवाये।
मातु पिताकी दशा देखि रघुपति घबराये॥
जब नहिं बोले नृपति कछु, कथा केकयी सब कही।
उठे बिलखि नृप राम कहि, परि पापिनि बैठी रही॥

गङ्गा ने आग्रह पूर्वक कहा—"देखो बहिन! प्रथम मिलने में सङ्कोच होता है, कोई हाथ पकड कर उनके द्वार तक पहुँचादे। तुम दोनों बहिन मेरे साथ चलो।"

यमुना बोली—"तू तो है पगली! देख, भोजन, भजन और सङ्गम सदा एकान्त में होता है, दूसरे के रहने में निरसता होती है। चल तुझे वास तक हम दोनों पहुँचाये देती है, फिर हम अलग जाकर सङ्गम करेंगी,तू अलग जाकर सङ्गम करना। सौत-सौत साथ साथ जा कर पति से नहीं मिलती. तू अभी इन बातों को क्या जाने।"

सरस्वती यमुना की सिख सुनकर हँस पडी और बोली—"बहिन अभी यह गङ्गा बच्ची है सीखते सीखते सीखेगी। तो भरि भरि कुन्ना पीसेगी। अभी तो इसे चक्की चलाना भी नहीं आता।

तीनों ने कहा—"अच्छा चलो,किन्तु आगे तीनों धाराओं का नाम तेरे ही नाम. गङ्गा रहेगा।"

गङ्गा की तो यह इच्छा ही थी। भगीरथ ने रथ हाँक दिया। गङ्गा वाराणसी की ओर बढ़ी। चम्पारण्य आदि देशों को पवित्र करती हुई वे समुद्र के समीप पहुँची। यमुना ने दूर से ही उँगली के सकेत से बताया—"देख वही हम सब सरिताओ के पति समुद्र का निकेतन है। वही तेरा उनके साथ सङ्गम होगा। अच्छा राम राम हम अब दूसरे मार्ग से जायेंगी।"

गङ्गा का हृदय प्राणनाथ के दर्शनों से बाँसों उछल रहा था, वह ऊपर के मन से बोली—"मुझे अकेली छोड़कर तुम दोनो कहाँ जाती हो। मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूँगी।"

मरण है, अमर कीर्ति के लिये प्रयत्न करना जीवन है। नश्वरकी अपेक्षा अविनाशी को ग्रहण करना ही अमरता है। राम के चरित में काम की गन्ध नहीं, विषयों की अभिलाषा नहीं, भोगों की आकांक्षा नहीं, स्वादकी इच्छा नहीं, दुःखकी चिन्ता नहीं, राम तो स्वच्छन्द हैं। उनके लिये घर और वन समान हैं। यही नहीं वन उन्हें घरसे भी प्रिय है। राम के लिये राजसी भोग और कंद मूल फल सभी समान हैं। यही नहीं राजसी भोगों की अपेक्षा वे वन्य कंद मूल फलों का विशेष आदर करते हैं। राम भोग के भूखे नहीं, वे भाव के भूखे हैं। राम हठ से झुँझलाते नहीं। हठी पर आज्ञा उल्लंघन का आरोप नहीं करते, किन्तु वह हठ शुष्क न हो प्रेमका हठ हो, अनुराग का आग्रह हो, अपनेपन में सना हठ हो। राम हठ के आगे नत जाते हैं, नत मस्तक हो जाते हैं। आश्रित के प्रण को पूरा करते हैं। अपनी बात भूल जाते हैं, यही उनकी भक्तवत्सलता है।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने पिता के समीप से श्रीराम सीधे अपनी जननी कौशल्या के महलों में आये। माता आज बहुत तड़के ही उठी थीं। आज उसे शरीरकी सुधि नहीं थी। रामकी मङ्गलकामना के लिये न जाने आज उसने क्या क्या किया, कौन कौनसी वस्तुयें जुटाई थीं। कितने कितने देवताओं की मनौती मनाई थी। रामने सहज स्वभाव से जाकर माता के चरण पकड़े। माताने पुत्र को सिर झुकाकर सूँघा और अत्यन्त प्यार से राजसी आसन उन्हें बैठने को दिया। दूसरा आसन लक्ष्मण को भी दिया।

माता के आसन को सिर पर चढ़ाकर राम पृथिवी में ही माता से सटकर बैठ गये। माता के हाथ को अपने हाथ में लेकर

सगर के साठ सहस्र पुत्र भूमि खोद कर जिस मार्ग से कपिलाश्रम में गये थे, उसी मार्ग से गङ्गाजी घुस गईं। वहाँ जाकर उन्होंने भस्म हुए साठ सहस्र सगर सुतों की राख को अपने पावन पय में डुबा दिया। गङ्गाजल का स्पर्श होते ही यम यात्रा भोगते हुए सगर सुत तुरन्त ही विमानों पर चढ़-चढ़ कर सीधे स्वर्ग को चले गये। देवताओं ने सुमनों की वृष्टि की गन्धर्व गाने लगे—अप्सरायें नृत्य करने लगीं। बोल दे, गङ्गा मैया की जय, बोल दे गङ्गाजी की जय। "श्री राधे, श्री राधे।"

गङ्गाजी की कथा सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने गङ्गाजी का अत्यधिक महात्म्य कह दिया। भस्म के स्पर्श से सहस्रों वर्षों से नरक में पड़े जीव तुरन्त तर जायें, यह तो विचित्र बात है।"

सूतजी बोले—"अजी महाराज! इसमें विचित्र बात क्या है। १०० योजन से भी जो केवल गङ्गाजी का नाम लेता है—'गङ्गा' इन दो शब्दों का उच्चारण करता है, वह भी सभी पापों से विमुक्त हो जाता है, फिर जिनके शरीर के अस्थि को भस्म का गङ्गाजल से स्पर्श हो जायँ, तो उनका कहना ही क्या? एक दिन कोई राजा त्रिवेणी जी में स्नान करने आये। उनके साथ उनकी बहुत सी रानियाँ थीं। ज्यों ही उन्होंने गंगा में स्नान किया त्यों ही सहस्रों मृग विमानों पर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे रानियों ने पुरोहित से पूछा—"स्नान तो हमने किया है और ये मृग क्यों जा रहे है।"

पुरोहितने कहा—"आप लोगोने जो अपने कुचोंमें कुन्कुम मिश्रित कस्तूरी लगा रखी थी, उस कस्तूरी का गंगाजल से

माता ने अधीरता प्रकट करते हुए लक्ष्मण से कहा—"तू वाद विवाद करता है, कि मुझे बात बताता है। बता तो सही बात क्या है ?"

रोष के स्वर में लक्ष्मण ने कहा—"बात है पत्थर ! माँ तुम जानती ही हो। राजा बूढ़े हो गये हैं। उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। वे कैकेयी के अधीन हैं। उसके हाथ की कठपुतली हैं। उस डाँइन ने राजा से दो वर माँगे हैं। एक में राम को १४ वर्ष का वनवास दूसरे में भरत के लिये राज्य। श्रीराम ने कैकेयी के सम्मुख सिर झुका दिया है। राम भले ही सिर झुका दें मैं कभी भी सिर न झुकाऊँगा। मैं आज अपने बाहुबल से श्रीराम को गद्दी पर बिठाऊँगा। कैकेयी को क्या अधिकार है, कि वह राम को राज्य से वञ्चित कर दे ? भरत के साथी आवेंगे उन्हें भी मैं समझ लूँगा ?. राजा कुछ कहेंगे, तो उन्हें भी कैद कर लूँगा। माँ तुम राम को इसके लिये मना लो कि वे राजगद्दी पर बैठें। मैं सब कुछ कर लूँगा। शत्रुओं के दाँत खट्टे कर सकता हूँ, उन्हें परलोक पठा सकता हूँ, राम के राज्य में जो भी विघ्न डालेगा वह मेरा शत्रु है, उसे मैं यमसदन पठाऊँगा। आज राम मेरा बल देखें। संसार समझ ले कि राम के छोटे भाई का धनुष पूजा करने के ही लिये नहीं है, वह शत्रुओं का संहार करने में समर्थ है।" लक्ष्मण रोष में आकर और न जाने क्या-क्या कह गये।

तब श्री राम ने उन्हें शान्त करते हुए कहा—"लक्ष्मण ! आवेश बुरी वस्तु है। तुम अब अपने आपे में नहीं हो। तुम यह नहीं सोचते कि पितामाता का अपमान मेरा ही अपमान है। मैं किसी से डरकर वन नहीं जा रहा हूँ। मैं भाग्यवश या अकर्मण्य होकर राज्य का परित्याग नहीं कर रहा हूँ। माता पिता की

सगर पुत्रों ने जो जम्बूद्वीप के चारों ओर की पृथिवी खोद डाली थी, उसे गंगाजी ने भर दिया और समुद्र से मिला दिया। इसी लिये समुद्र को सागर कहने की प्रथा चल पड़ी। गङ्गाजीके लाने का महान् यश दिलीप पुत्र महाराज भगीरथ को प्राप्त हुआ। इसी लिये गङ्गाजी भागीरथी कहाईं। गङ्गावतरण की कथा के अनन्तर अब आप लोग और क्या कहने के लिये मुझे आज्ञा देते हैं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आपने इक्ष्वाकुवंश का वर्णन करते २ स्वायम्भुव मनुसे लेकर महाराज भगीरथ तक के राजाओं की कथा सुनाई। अब आगे के राजाओं की कथा और सुनाइये। इक्ष्वाकुवंश में भगीरथ के अनन्तर जो प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नरपति हो गये हैं, उनमें से विशिष्ट विशिष्ट राजाओं के शिक्षाप्रद मनोहर चरित्रों को सुनने की हमारी बडी इच्छा है। क्योंकि इसी वंश में नराकृति भगवान् कौशलेन्द्र श्री राम ने अवतार धारण किया है। महाराज भगीरथ के पुत्र कौन हुए और आगे का वश कहाँ तक चला। क्योंकि पुण्य श्लोक भूपतियों के चरित्रश्रवण मात्र से ही परम पुण्य की प्राप्ति होती है।"

यह सुन कर सूतजी बोले—"मुनियों! मैं इक्ष्वाकु वंश के महाराज भगीरथ से आगे के राजाओं का वर्णन करता हूँ, आप उसे सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

गंगा गंगा कहें नित्य गंगाजल पीवैं।
सदा वसैं तट निकट गंग जलतें ई जीवैं॥
गंगा रज तन लाइ नहावैं गंगा जलमहँ।
वसैं गंग पय परसि अनिल बिहरैं जिहि थलमहँ॥
श्रीगंगा के नाम तें कोटि जन्म पातक नसहिँ।
भोगे भूपैं भोग बहु, अन्त जाहि सुरपुर वसहिँ॥

मेरे ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा, मेरा प्यारा दुलारा बच्चा वन जायगा। हाय! राम के नौकर भी बहुमूल्य चाँवल खाते हैं, फिर राम वन में कसैले फल खाकर कैसे रहेगा। मेरा राम! मेरा बच्चा! मेरा छौना! कंटीले पेड़ों के नीचे कैसे सोवेगा। कंकरीली पथरीली भूमि पर पैदल कैसे चलेगा। राम! तुम मानोगे नहीं। बेटा! मैं तुम्हारी पितृ भक्ति जानती हूँ, तुम वन जाओगे। अवश्य जाओगे। रोकना भी चाहूँ तो न रुकोगे। इसलिये मैं तुम्हें वन जानेसे मना तो करती नहीं, किन्तु मेरे वत्स! इस वृद्ध जननी की एक प्रार्थना है। मैंने तुमसे कभी कुछ माँगा नहीं। मैंने तुम्हें ९ महीने पेट में रखा है। मैंने तुम्हें पाला पोसा है स्वयं गीले में सोकर तुम्हें सूखे मे सुलाया है। मेरा कुछ भी उपकार तुम समझते हो तो मुझे एक भीख दे दो। मैं पल्ला पसार कर बेटा! तुमसे याचना करती हूँ; बूढ़ी को विमुख न करना, मेरे लाल! तुम जहाँ वन में जाओ अपनी माँ को भी साथ ले जाना। जैसे बछड़े के पीछे बूढ़ी गौ चलती है, ऐसे ही मैं तुम्हारे पीछे पीछे चलूँगी, मुझे महल नहीं चाहिए, सुख नहीं चाहिए राज्य नहीं चाहिये, ऐश्वर्य नहीं चाहिये। मुझे तो राम चाहिये मेरा राम जहाँ है वहीं मुझे राज्य है, वहीं सुख है, जहाँ राम नहीं वह मेरे लिये कुछ नहीं।" यह कहकर माँ फूट-फूटकर रोने लगी।

राम ने भूमि पर लेटी हुई और करुणा के साथ रोती अपनी माँ को उठाया। उनके शरीर की धूलि पोंछी और स्नेह से बोले—"माँ! यह तुम्हारे अनुरूप नहीं। राम की माँ को ऐसी अधीरता शोभा नहीं देती। भरत राजा होगा, वह तुम्हारा मेरी ही भाँति आदर करेगा। १४ वर्ष के पश्चात् आकर मैं तुम्हारी पूजा करूँगा। तुम्हारे चरणों की धूल को सिर पर

स्वजन विजन बन जाते है, ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, प्रतिष्ठा धूलि में मिल जाती है, सब धन देने से घट जाता है, किन्तु विद्या धन ऐसा धन है, जो देने से बढ़ता है। विद्या प्राप्त करने के तीन ही उपाय बताये हैं। प्रथम तो विद्या गुरु सुश्रूषा से प्राप्त होती है,गुरु की सेवा करके जो विद्या मिलती है वह फलवती और सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। दूसरा विद्या प्राप्त करने का उपाय यह है कि गुरु को यथेष्ट विपुल धन दे दे। इतना पर्याप्त धन दे कि जिससे उनकी समस्त आवश्यकतायें पूर्ण हो जायँ, यह शारीरिक सेवा न होकर धन द्वारा सेवा है। एक तीसरा विद्या प्राप्ति करने का यह भी उपाय है, कि तुम हमें एक विद्या दो उसके परिवर्तन मे हम तुम्हें दूसरी विद्या सिखावें। इस प्रकार आदान प्रदान से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है। इन तीनों के अतिरिक्त विद्या प्राप्त करने का कोई साधन नही। छल से प्राप्त की हुई विद्या सफल नही होती।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! आपने मुझसे महाराज भगीरथ के आगे के इक्ष्वाकुवंशों के राजाओं का वृत्तांत पूछा। दिलीप के पुत्र महाराज भगीरथ ने गङ्गाजी के लाने के कारण विश्व में बड़ी ख्याति प्राप्त की उन्हीं के नाम से गङ्गाजी अभी तक भगीरथी कहलाती है। उन्हीं पुण्यश्लोक राजर्षि भगीरथ के पुत्र श्रुत हुए, जो पिता के ही समान पराक्रमी थे। श्रुत के पुत्र नाभ हुए। नाभ के पुत्र सिन्धुद्वीप हुए। इन सिन्धुद्वीप के सुत अयुतायु हुए जो दीर्घ जीवी और धर्मात्मा थे। इन्हीं अयुतायु के पुत्र परम तेजस्वी विश्व विख्यात् महाराज ऋतुपर्ण हुए ये द्यूत विद्या में इतने निपुण थे कि इनसे कोई द्यूत में

तेरी रक्षा करें। राम मैं तेरे लिये व्रत करती रहूँगी। तेरी मंगल कामना के लिये उपवास करूँगी। तुझे वन में कोई कष्ट न हो! राम! तुम जा रहे हो। बेटा! इस अभागिन को भूल मत जाना। मुझ अधजली को बिसार मत देना। मेरे लाल! हाय! वह कौनसा शुभ दिन होगा, तुझे मैं वन से सकुशल लौटते हुए देखूँगी। यदि तब तक मैं जीवित बनी रही तो तेरा फिर माथा सूँघूँगी। जा बेटा! धर्म की रक्षा के लिये। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये, पिता की आज्ञा के लिये, कुल की मंगल कामना के लिये तू वन को जा। वन के देवी और देवता तेरी सदा रक्षा करें।" यह कहते कहते माँ ने राम का ज्यों ही सिर सूँघने को सिर झुकाया त्यों ही वह बीच में धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी, दौड़कर राम ने उन्हें उठाया, लक्ष्मण ने भी राम की सहायता की। उन्हें उसी प्रकार अचेतनावस्था में छोड़ कर श्रीराम उनके पैरों को छूकर सीताजी के समीप चले गये।

सीताजी ने देखा राम के सिर पर श्वेत छत्र नहीं है। उनके ऊपर चँवर नहीं डुल रहे हैं। सूत मागधबन्दी उनकी स्तुति नहीं कर रहे हैं। वे रथ पर भी नहीं आये हैं। उनके बाल अस्त व्यस्त हो रहे हैं। उनके पीछे लक्ष्मण भी उदास, मन से चल रहे हैं। श्रीराम के मुखमण्डल पर उदासी छाई हुई है। यह देखकर सती साध्वी सीता सहम गईं। उन्होंने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"प्राणनाथ! मंगल के समय अमंगल क्यों? हर्ष के समय शोक का क्या काम? आनन्द के समय निरानन्द की छटा आपके मुख पर क्यों छिटक रही है। उत्सव के दिन निरुत्सव सा मुझे क्यों प्रतीत होता है? ब्राह्मण तो कह रहे थे, आज ही पुष्य नक्षत्र है, आज ही आपका राज्या-

बात यह थी कि विदर्भराज भीम के कोई सन्तान नही थी, इसलिये वे रानी के सहित बड़े दुखी रहते थे। एक दिन दमन नामक महर्षि ने आकर राजा का आतिथ्य ग्रहण किया। राजा ने अत्यन्त ही श्रद्धा भक्ति सहित मुनि की सेवा की। राजन की सेवा से सन्तुष्ट हुए मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप का कौन सा प्रिय कार्य करूँ। किस कार्य से आपकी चिन्ता दूर हो सकती है ?"

राजा ने कहा--"ब्रह्मन् ! आप सर्वज्ञ है,सबके बाहर भीतर की बात जानते है, फिर भी आप मुझसे पूछते ही है, तो मै कहता हूँ। मेरे यहाँ कोई सन्तान नहीं है। आप कृपा करके मुझे कोई सन्तान दें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुनि बोले–"राजन् ! तुम्हारे एक ऐसी त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या होगी, जिसकी बराबरी मृत्यु लोक में तो क्या तीनों लोक की कोई ललना नही कर सकती। उसके अतिरिक्त तुम्हारे तीन पुत्र भी होगे।"

एक साथ चार सन्तानों का वरदान पाकर राजा परम प्रमुदित हुए और बोले—"ब्रह्मन् ! मै आपके अनुग्रह का अत्यन्त ही आभारी हूँ। इस प्रकार राजा के द्वारा सत्कृत होकर दमन मुनि चले गये। कालान्तर में राजा से सर्व लक्षण लक्षणा, संसार में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी एक कन्या उत्पन्न हुई। राजा ने दमन मुनि की स्मृति में उस कन्या का नाम दमयन्ती रखा। इसके अनंतर उनके तीन पुत्र भी हुए जिनके नाम दमदान्त और दमन, रखे।

दमयन्ती कुसुम की कलिका के समान शुक्ल पक्ष के चंद्र की

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"प्रिये ! तुमने कभी दुख देखे नहीं हैं। तुम सदा सुख में पली हो। बड़े घर की बेटी हो, चक्रवर्ती महाराज की पतोहू हो। तुम वन के क्लेशों को न सह सकोगी। हठ मत करो तुम्हारा वन जाना किसी प्रकार भी उचित नहीं।

जानकी ने कहा—"मैं वन कहाँ जाती हूँ, मैं तो अपने प्राणनाथ के साथ जाती हूँ, छाया कभी बिम्ब से पृथक् रह सकती है ? प्राणों के बिना देह का क्या अस्तित्व ? चन्द्रमा के बिना प्रभा कैसे रह सकती है। जहाँ आप रहेंगे वहीं मेरा भी स्थान है।"

अत्यन्त स्नेह से श्रीराम ने कहा—"देखो, वन बड़ा भयंकर है, वहाँ पग-पग पर कंटक है, पृथिवी कठिन और पथरीली कँकरीली है।"

सीताजी ने कहा—"मैं आगे-आगे आपके कँटकों को बचाती चलूँगी। कंकड़ियों को फेंकती चलूँगी।"

राम बोले—"तुम तो व्यर्थ हठ करती हो, वन में बड़ी तीव्र वायु चलती है।"

सीता बोलीं—"मैं अपनी ओढ़नी से उसे रोकती चलूँगी।"

राम प्रेम के रोष में बोले—"तुम तो लड़कपन कर रही हो देखो, वहाँ बड़े-बड़े सिंह व्याघ्र हैं, उनकी दहाड़ सुनते ही हृदय फटने लगता है।"

सीता बोलीं—"तुम भी तो पुरुषसिंह हो। पुरुषसिंह के सम्मुख पशुसिंह कर ही क्या सकता है ?"

श्रीराम बोले—"प्रिये ! हठ अच्छा नहीं होता। यह कोई खेल नहीं है। खड्ग की धार पर चलना है। मान लो तुम सब कष्ट भी मेरे साथ सह लो, किन्तु तुम जानती नहीं, जंगलों में बड़े-बड़े राक्षस रहते हैं। वे मनुष्यों को कच्चा खा जाते हैं स्त्रियों

को छोड़ते हुए कहा—"हे मराल! यदि तुम मेरा यह प्रिय कार्य करदो, तो मैं तुम्हारी चोंच सुवर्ण से मढ़वा दूँगा, नित्य ही तुम्हें घर बैठे दूध भात पहुँचा दिया करूँगा। तुम मुझे दमयन्ती से मिला दो।" राजा की ऐसी अधीरता देखकर हंस उड़ा और दमयन्ती की पुष्प वाटिका में जा बैठा।

जब सखी सहेलियों से घिरी दमयन्ती वायुसेवनार्थ पुष्प वाटिका में आई, तो वहाँ उसने एक विचित्र अलौकिक हंस को देखा। राजकुमारी ने स्वयं दौड़ कर पकड़ लिया। उसने देखा हंस के कण्ठ में एक पत्र बँधा है। कुमारी ने कुतूहलवश पत्र खोल दिया। जब उसने पत्र पढा तो उसमें नल का नाम था पत्र पढ़ते ही राजकुमारी मूर्छित हो गई। तब हंस ने मानवीय भाषा में कहा—"देवि! तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हें महाराज नल से मिलाऊँगा। जैसा अनुराग तुम्हारा उनके प्रति है, उससे भी अधिक अनुराग उनका तुम्हारे प्रति है।"

लजाते हुए दमयन्ती ने कहा—"तुम मेरा सन्देश उनसे जाकर कहो। मैं उनके बिना अन्य किसी पुरुष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती।"

हंस ने राजा से आकर सब समाचार कह दिया। अब राजा रात्रि दिन दमयन्ती के ही विषय में सोचते रहते थे।" कस्तूरी और प्रीति छिपाने से नही छिपती, सखियों द्वारा रानी को और रानी द्वारा राजा को यह समाचार मिला। महाराज भीम ने तुरन्त ही दमयन्ती के स्वयंवर की तैयारियां की देश-देश के राजा दमयन्तीके रूपकी ख्याति सुनकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा से विदर्भ देश में आने लगे। राजा ने सभी का समुचित स्वागत सत्कार किया। महाराज नल भी दमयन्ती के प्रेम से चुम्बक

साहस है, कि वह उसकी स्त्री की ओर आँख उठाकर दे सके। रघुनन्दन! आप मुझे डराकर यहाँ रखना चाहते हैं सो आप मुझे न रख सकेंगे। १४ वर्षकी तो कौन कहे पल भर भी मैं आपसे पृथक् नहीं रह सकती। प्राणनाथ मैं आपके बिना अवध में न रहूँगी। आपका आग्रह व्यर्थ है, मैं आपका साथ किसी दशा में भी नहीं छोड़ सकती।"

श्री राम समझ गये, सीताजी मानेंगी नहीं, अतः वे बोले—"अच्छी बात है, यदि तुमने ऐसा ही निश्चय कर लिया है, तो तैयार हो जाओ।"

उल्लास के साथ विदेहतनया ने कहा—"मुझे तैयारी ही—क्या करनी है। चलिये चलती हूँ, यह कह कर वे जैसे बैठी थीं वैसे ही उठ खड़ी हुईं।

अब श्री राम ने लक्ष्मणजी कहा—"लक्ष्मण! देखना, मेरी माँ को कोई कष्ट न हो सीता के महलों की भी रक्षा करना। मेरा जो भी कुछ धन है, उसे सत्पात्रों को दान दे देना।"

यह सुनते ही आँखों में आँसू भरकर अत्यन्त ही प्रेम भरे रोष के स्वर में लक्ष्मण ने कहा—"राघव! आप मुझसे ऐसी बातें न कहें? प्रभो! मैं अवध में आपके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता।"

श्रीरामने अत्यन्त ही प्यार से लक्ष्मण की ठोढ़ी को ऊपर उठा कर उनके बालों को सुलझाते हुए कहा—'भैया! लक्ष्मण! मैं जानता हूँ, तुम्हारा मेरे ऊपर कितना अनुराग है। मैं यह भी जानता हूँ, मेरे बिना तुम्हें कितना क्लेश होगा, किन्तु भैया! कर्तव्य के सम्मुख सबका बलिदान करना होता है। अधीर नहीं होते हैं भैया! अरे, हम तो समझते थे तू बड़ा कर्तव्य-परायण है। ऐसा हृदय दौर्बल्य तुम्हारे अनुरूप नहीं। देखो,

दमयन्ती ने कहा–'देवि ! मैं निर्लज्ज होकर यह कहती हूँ, कि मेरे हृदय पर तो निषाद नरेश ने अपना अधिकार जमा लिया है। हे वीर ! मैं तुम्हें छोड़ विष्णु को भी वरण नहीं कर सकती। हृदय तो एक होता है, वह तो महाराज नल के हाथो बिक गया। अब मेरे पास लोकपालों के लिए कुछ नहीं है। आप मेरा सन्देश लोकपालों से कह दें, वे भी स्वयम्वर में आवें सबके सम्मुख मैं आपको वरण करूँगी।"

अपने ऊपर दमयन्ती का ऐसा अनुपम अनुराग निहारकर राजा के रोम-रोम खिल उठे उन्होंने लोकपालों से सब वृत्तान्त जाकर कह दिया। लोकपाल भी स्वयवर सभा में पहुँचे। महाराज नल भी पहुँचे। विदर्भराज ने सबका स्वागत सत्कार किया। नियत तिथि को सभी देशों के राजा और राजकुमार सजधजकर स्वयम्वर सभा में बैठे। उसी समय नूपुरों को बजाती सबके मन को लुभाती, हृदय को हुलसाती, राजकुमारी दमयन्ती सीधी सभा में आई और आते ही महाराज नल के कंठ में जयमाला पहिनाकर नीचा सिर करके खड़ी हो गई।

सभी के मुख फक पड गये। दमयन्ती को पाकर नल परम प्रसन्न हुये। देवताओं ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया। इन्द्र ने कहा—"तुम अपने यज्ञों में देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन करोगे और उत्तम गति को प्राप्त करोगे।"

अग्नि ने कहा—"तुम जहां चाहोगे, वही मै तुरन्त प्रकट हो जाऊँगा और अन्त समय में तुम्हे मेरे समान प्रकाशवान् तेजस्वी लोकों की प्राप्ति होगी।"

धर्मराज ने कहा—"तुम्हारे हाथ के बनाये सभी भोज्य

करना। उनकी आज्ञा का कभी मन से भी निरादर न करना। मैं यहाँ बैठी बैठी रोऊँगी। अपने भाग्य को कोसूँगी यह कहकर भगवती सुमित्रा रोने लगी। लक्ष्मण ने देखा किवाड़ की आड़ में से दो भीगी हुई आँखें सतृष्ण भाव से उनकी ही ओर देख रही हैं। लक्ष्मण ने एक दृष्टि डाली वे विचलित नहीं हुए तुरन्त माता के पैर छूकर बाहर आये और देखा राम के पीछे सीता खड़ी हैं और राम सुमित्रा देवी के घर की ही ओर आ रहे हैं श्रीराम ने आकर देवी के पैर छूए और इतना ही कहा—"माँ! मैं वन जा रहा हूँ।"

रोते रोते सुमित्रा ने श्रीराम का सिर सूँघा और बिलखते हुए कहा—"बेटा अपने धर्मात्मा पिता को सत्यवादी सिद्ध करते हुए तुम वन जा रहे हो, जाओ बेटा भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें किन्तु हमारे जीवन का अवलम्ब क्या रहेगा।"

श्रीराम ने गीली आँखों को पोंछते हुए कहा—"माँ! तुम्हारा अवलम्ब पिताजी हैं। यही आर्य ललनाओं का प्राचीन सदाचार है।" सुमित्रा यह सुनकर रो पड़ीं। सीता ने अपनी सास के पैर छुए। अपनी अत्यन्त सुकुमारी बहू को राम के साथ छाया की भाँति जाते देखकर सुमित्रा का हृदय फटने लगा। वह बिलख बिलख कर रोने लगीं और बार बार विधाता को धिक्कार देने लगीं। उन्होंने सीता को कसकर हृदय से चिपटा लिया और आँसुओं से उनके बालों को भिगो दिया। बड़ी कठिनता से रोते रोते सीता ने सुमित्रा से विदा ली। उसी समय श्रीराम क्या देखते हैं कि बाल बखेरे पगली की भाँति रोती हुई कौशल्या सुमित्रा के महलों की ओर दौड़ी चली आ रही है। अपनी माँ की ऐसी दशा देखकर श्रीराम के धैर्य का भी बाँध टूट गया। उनका भी हृदय भर आया, किन्तु वे कर्तव्य पाश में बुरी तरह

इस पर कलि को क्रोध आ गया। उसने कहा—"अच्छी बात है दमयन्ती को और उसके पति नल को देख लूँगा।" यह कहकर वह सूक्ष्म रूप से राजा के शरीर में घुसने का अवसर देखने लगा। एक दिन महाराज नल शीघ्रता में लघुशंका गये, लघुशंका जाकर उन्होंने आचमन तो किया, किन्तु पैर नहीं धोये। कलियुग तो सदा अशुद्धि में बसता है, उसे ही सुअवसर पाकर कलियुग राजा के शरीर में प्रवेश कर गया। जब कलियुग शरीर मे घुस जाता है, तो प्राणी अधर्म को ही धर्म समझने लगता है। उसे सदाचार ढोंग प्रतीत होता है, सत् असत् का विवेक नष्ट हो जाता है, वह परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाता है। कलियुग के प्रवेश करते ही राजा के शरीर में हठ ने प्रवेश किया। राजा का छोटा भाई पुष्कर आया और उसने इनसे जुआ खेलने का आग्रह किया। राजा ने तुरन्त इसे स्वीकार कर लिया। जब यह बात प्रजा के लोगों को मालूम हुई, तब वे सब मिलकर राजा के पास गये और उनसे प्रार्थना की—"महाराज! जुए का व्यसन अच्छा नहीं होता, इसके कारण बहुत से लोग निर्धन और गृह विहीन हो गये है, आप सबके स्वामी हैं, आपको इस निन्दित कर्म को कभी भी न करना चाहिए।" राजा ने प्रजा के लोगों की बातें अनसुनी कर दीं और वे पुष्कर के साथ जुआ खेलने लगे। कलियुग के भाई द्वापर ने जुए के पासों मे प्रवे। करके पुष्कर का पक्ष लिया। अब जो भी दाव पड़ता उसमें पुष्कर की जीत होती, नल की हार होती। महारानी दमयन्ती ने जब सुना कि मेरे पति जुए में व्यस्त है, तो उसने मन्त्री, पुरोहित, पुरजन तथा सभी सम्बन्धियों को बुलवा बुलवा कर सब राजा को भाँति-भाँति से जुए के अवगुण कहलाये, स्वयं भी उसने धात्री के द्वारा राजा को अन्तःपुर में बुलवाया किन्तु राजा ज्यों-ज्यों हारते त्यों-त्यों वे और भी जुए में लिप्त

छा गया। सभी रोने लगे चिल्लाने लगे, डकराने लगे। कैकेयी की निन्दा करने लगे। श्रीराम को देखकर सबके नेत्रों से जल बह रहा था। कैकेयी के द्वार पर खड़े होकर उन्होंने सूत से कहा—"सुमन्तजी! तुम जाकर पिताजी से कह दो जानकी और लक्ष्मण के सहित मैं बन जाने को उद्यत खड़ा हूँ। एक बार आपके अन्तिम दर्शन करके आज ही मैं बन को चला जाना चाहता हूँ।" यह सुनकर सुमन्त दौड़कर भीतर गये।

श्रीराम ने देखा—"कुल गुरु भगवान् वशिष्ठ ब्राह्मणों के सहित उदास बैठे हैं। श्रीराम ने दौड़कर उनके चरण छुए। राम को देखकर मुनि रो पड़े। और बोले—"बेटा, राम! भाग्य को कोई मेंट नहीं सकता। क्या जानकी और लक्ष्मण भी तुम्हारे साथ बन जा रहे हैं?" श्रीराम ने सिर हिलाकर हाँ का संकेत किया। मुँह से कुछ भी न कह सके।

सूत ने श्रीराम के आने का समाचार महाराज दशरथ को दिया। सुनकर राजा मूर्छित हो गये। फिर बोले—"सुमन्त! अपनी सम्पूर्ण स्त्रियों के साथ ही राम को देखना चाहता हूँ, मेरी सब पत्नियों को यहाँ बुला लाओ।"

बूढ़े सूत यह सुनकर तुरन्त लौटे। राम ने उनसे पूछा—"क्या हम चलें।" सुमन्त ने शीघ्रता से कहा—"रामभद्र! अभी आप रुकें मैं आपकी सम्पूर्ण माताओं को ले आऊँ, राजा तुम्हें सबके साथ देखना चाहते हैं।" राम को यह बात अच्छी नहीं लगी, किन्तु करते क्या? वे पिता की आज्ञा के विरुद्ध आचरण नहीं कर सकते थे। क्षण भर में सभी रानियाँ एकत्रित हो गयीं, श्रीराम गुरु को आगे करके राजा के समीप गये। राम को देखकर कैकेयी को छोड़कर सभी रानियाँ रो पड़ीं। महाराज दशरथ को पता भी नहीं था, कब गुरु आये कब अपने आसन पर आकर

भ्रष्ट राजा पर इतना अनुराग करती है। वह मुझ में अनुराग कैसे करेगी। अतः उसने घोषणा कर दी, कि जो भी पुरुष मेरे राज्य में नल के प्रति सहानुभूति दिखावेगा, उनका स्वागत सत्कार करेगा, उन्हें अपने घरों में ठहरावेगा, उसे कड़े से कड़ा दंड दिया जायगा।"

इस राजाज्ञा के उद्घोषित होते ही सभी डर गये। भयवश कोई भी महाराज नल के निकट नही आये। राज कर्मचारियो ने अस्त्र-शस्त्रों से जाती हुई भीड़ को तितिर-बितिर कर दिया। महाराज रानी को साथ लिये अकेले ही नगर से बाहर निकले।

राजा को पैदल चलने का अभ्यास नहीं था। रानी भी अत्यन्त सुकुमारी थी दोनों ही नंगे पैरो जा रहे थे। प्रातःकाल ही वे नगर से बाहर हुए थे। चलते चलते उनके पैरों मे छाले पड़ गये। रानी के अरुण कमल के दलो के समान सुकुमार पैरों से रक्त बहने लगा। उनका मुख कमल राज भवन रूपी पुष्करिणी से बाहर आने से मुरझा गया था। प्यास के कारण उनके ओठ सूख गये थे। ओठों पर पपड़ी जम गई थी। धूल से उनके काली काली अलकावली तथा पलकें धूमिल हो गई थी। वे बड़े कष्ट से पग पग पर स्खलित सी होती हुई चल रही थीं। जब उनसे न चला गया तब अपने पति के कंधे से कपोल सटाती हुई भर्राई वाणी से बोलीं—"प्राणनाथ! अब तो एक पग भी चलने की सामर्थ्य नहीं।

जिस रानी को स्वेच्छा से सूर्य भी नही देख सकते थे, जिन्होने जीवन में कभी भी खुली भूमि पर पग नही रखे थे। जिन्हें पैदल चलने का कभी अवसर ही प्राप्त नही हुआ था, उन्ही सुख में पली रानी की ऐसी दुर्दशा देखकर महाराज नल

ठहर सकता। सब रो रहे थे, वह मन ही मन हँस रही थी सब चाह रहे थे, राम जैसे हो तैसे न जायँ। वह चाह रही थी राम शीघ्र से शीघ्र नगर से निकल जायँ। सब राम को रो रहे थे, वह जाने को शीघ्रता कर रही थी। राम उसके हृद गत भावों को पढ़ते जाते थे और शीघ्रता करने का प्रयत्न करते, किन्तु सबके प्रेम पाश में ऐसे फँसे थे, कि सहसा न नहीं सकते थे।

वशिष्ठजी, सुमन्तजी तथा अन्य ब्राह्मणों और मन्त्रि के कहने का जब कैकेयी पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा तब विव होकर राजा ने अत्यन्त ही ममता के साथ श्रीराम से कहा— राम! मैं समझ गया तुम रुकोगे नहीं। सीता भी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ सकती किन्तु बेटा! मेरी एक अन्तिम प्रार्थना है तुम मुझे कैद कर लो क्योंकि मैं स्त्री के वश में हो गया हूँ राज्य के अयोग्य सिद्ध हुआ हूँ, अपने कर्तव्य से च्युत हो गया हूँ। ऐसे राजा को कैद कर लेना योग्य राजकुमार के लिये न्याय धर्म संगत है। किन्तु मैं तुम्हारी पितृ भक्ति जानता हूँ। तुम मुझे कभी कैद न करोगे। मेरी उचित अनुचित सभी आज्ञाओं को मानोगे। यदि ऐसा न करो तो इतना तो अवश्य करो—तुम आज मत जाओ आज मैं स्नान करूँगा। तुम्हारे साथ बैठ कर एक थाल में भोजन करूँगा। मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो जायँगे। आज सुखपूर्वक तुम्हारे साथ भर पेट भोजन करूँगा कल तुम आनन्द पूर्वक भले ही वन चले जाना, फिर तुम्हें रोकूँगा।"

श्रीराम अब तक चुप थे। पिता को इतना अधीर देखकर बोले—"पिता जी! आप संसार में सर्वत्र सत्यवादी और धर्मात्मा के नाम से प्रसिद्ध हैं। आप सहस्रों वर्षों तक इस भूमि पर राज

इतना सुनना था कि वज्र हृदया कैकेयी तुरंत तीन जोड़ी वस्त्र निकाल लाई। मानों उसकी मंत्राणी मंथरा ने सब प्रबन्ध पहिले

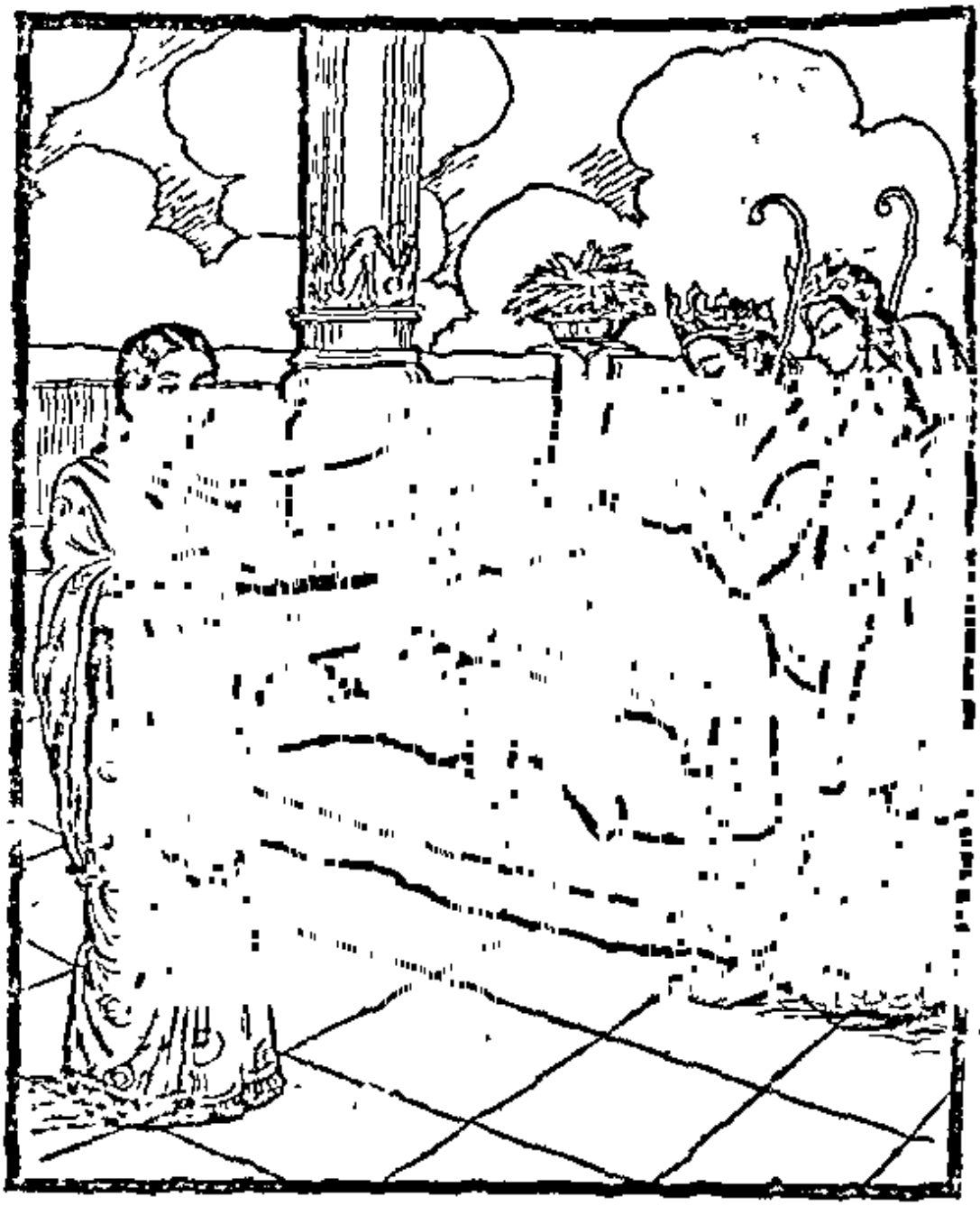

से ही कर रखे हों। कैकेयी ने शीघ्रता से दो वस्त्र श्रीराम को दो लक्ष्मण को और दो सीता जी को दिये। श्रीराम ने वहाँ सब के

राजा ने कहा—"प्रिये! जो भाग्य में वदा होगा वही होगा तुम चिन्ता न करो। यह कहकर राजा आगे चले। चलते चलते उन्हें एक पथिक निवास मिला। उसमें वे धूलि में ही पड़ गये रानी उनकी गोद में सिर रखकर सो गई, कि कही ये मुझे छोड़ न जायँ। रानी बहुत थक गई थी वे तो पड़ते ही सो गईं। किन्तु नल के नयनों में नीद कहाँ? वे तो रानी को दुखी देख कर परम व्याकुल हो रहे थे। शनैः शनैः उठकर उन्होंने सोती हुई रानी के मुख को निहारा। मुरझाई हुई कुसुम कलिका के समान, ग्रहण लगे चन्द्र के समान, कुहरे से ढके सूर्य के समान, विषादग्रस्त प्रोषित भर्तृका के समान, उसका सुन्दर मुख म्लान हो रहा था। उसके काले काले घुंघराले बाल केशपाश चिपटकर सिमटकर बावाजियों की जटाओ के समान बन गये थे। रानी की ऐसी दशा देखकर राजा रोने लगे। शनैः शनैः उन्होंने उस के सिर को उठाकर भूमि पर रखा। रानी थकने के कारण इतनी अचेत हो गई थी, कि उन्हें कुछ मालूम ही न हुआ।

दमयन्ती को भूमि पर लिटाकर महाराज उस निर्जन वन की पथिकशाला में इधर-उधर घूमने लगे। कभी तो मन में आता इसे छोड़कर चला जाऊँ, कभी फिर सोचते यह इस निर्जन वन में अकेली कहाँ भटकती फिरेगी। राजा वड़ी देर तक चिन्ता ग्रस्त वने रहे, वे कुछ निर्णय न कर सके। अन्त में वे रानी को छोड़कर चल दिये। एक वार उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के मुख कमल को समीप जाकर निहारा उनका हृदय फटने लगा। चित्त ऐठने लगा। अन्तःकरण धक् धक् करने लगा। वे अपनी ऐसी दशा देख तुरन्त वहाँ से चल दिये। कुछ दूर जाकर उन्हें फिर रानी की याद आई। वे लौट आये। रानी अचेत पड़ी थी। कभी तो वे सोचते—"अच्छा है मेरे बिना यह अपने पिता के

मे सीता के वन में जाने की बात तो नहीं है। फिर तू सीता को वल्कल वस्त्र क्यों पहिना रही है। पापिनी मैं तेरा मनोरथ कभी पूर्ण न होने दूँगा। मैं जानकी को वन न जाने दूँगा। रामवन के लौटने तक जानकी गद्दी पर बैठेगी। उससे मैं राज्य कराऊँगा। तू मुझे देखना कैसे रोक सकती है?"

भगवान् वशिष्ठ की बातें सुनकर सभी को संतोष हुआ। श्रीराम घबरा रहे थे, कहीं कोई नूतन काण्ड न हो जाय। राजा ने जानकी को बुलाकर उनके वल्कल छीन लिये और कोषाध्यक्ष से कहा—"मेरी पुत्र वधू के लिये रेशमी वस्त्र और दिव्य आभूषण ले आओ।" कोषाध्यक्ष ने तुरन्त राजा की आज्ञा का पालन किया। सीताजी ने ससुर की दी हुई सम्पूर्ण सामग्री सादर स्वीकार की। श्रीराम यह सब नहीं चाहते थे, किन्तु वे कुछ बोलते नहीं थे। उन्हें तो पल पल भारी हो रहा था, वे सोच रहे थे, जैसे भी हो तैसे शीघ्र यहाँ से छुटकारा हो। अतः वे किसी भी काम में न तो हस्तक्षेप ही करते थे और न किसी के प्रश्न का उत्तर देते थे। वे सोचते थे, कैसे भी मैं नगर से बाहर हो जाऊँ, तब तो सब कुछ कर लूँगा।

राजा ने सुमन्त से कहा—"सूत! मेरा निजी रथ जोड़ लाओ। मेरे बच्चे नगर से पैदल न जायँ इन्हें रथ में बिठाकर नगर के बाहर पहुँचा आओ।" यह सुनते ही सूत राजा के रथ को तुरन्त जोड़ लाया। सेवकों ने रोते-रोते श्रीराम के धनुष बाण रखे। लोहे की पेटी, कुदाली और तरकश लक्ष्मणजी ने रथ में स्वयं चढ़ाये। जानकी को सहारा दे कर श्रीराम ने रथ पर चढ़ाया। श्रीरामजी उनके बराबर वल्कल पहिने उसी प्रकार बैठ गये जैसे साधु वेष में काम देव रति के साथ रथ में बैठा हो। लक्ष्मण हाथ जोड़े हुए उनके पीछे बैठे। सूत ने कड़ा हृदय करके

आते। ऐसे वे कई वार गये आये। अन्त मे कड़ा हृदय करके वे दमयन्ती का परित्याग करके चले गये।

प्रातःकाल हुआ। दमयन्ती ने उठते ही शङ्कित भावसे इधर उधर दृष्टि डाली, किन्तु उसे अपने पति दिखाई न दिये। अब तो वह सब रहस्य समझ गई। कुररी पक्षी की भाँति वह रो रो कर बड़े आर्त स्वरमें अपने पति को पुकारने लगी–"हा!प्राण नाथ! मुझ दुखियाको आप इस घोर वनमे छोड़कर एकाकी कहाँ चले गये।" इस प्रकार दमयन्ती रोती जाती थी, विलाप करती थी और भागती जाती थी। पता नही आज उसमे इतनी शक्ति कहाँ से आ गई। आगे चलकर उसे एक भयङ्कर अजगर मिला उसने दमयन्ती को पकड़ लिया और उसे निगलने का उपक्रम करने लगा। इससे वह बहुत डरी और अपने पति को पुकारने लगी दैवयोग से उसी समय एक बहेलिया वहाँ आ गया। दमयन्ती का करुण क्रन्दन सुनकर वह उसी ओर दौड़ा उसने एक शस्त्र से अजगर का मुख फाड़ दिया। दमयन्ती सकुशल अजगर के मुख से मुक्त हो गई।

बहेलिये ने कहा—"देवि!तुम समीप के ही स्वच्छ सलिल वाले सरोवर में स्नान करके स्वस्थ हो जाओ, ये कन्द मूल फल है इन्हें खा लो। अब चिन्ता की कोई बात नहीं।

रोते-रोते रानी के आँसू सूख गयेथे, भागते-भागते पैरों में पीड़ा हो रही थी,भूख के कारण उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई थीं। अतः उन्होंने समीप के सरोवर में स्नान किया स्नान करने से चित्त स्वस्थ हुआ। कुछ फलमूल भी खाये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुन्दरता कहीं कही अभिशाप

मेरी आज्ञा से।" यह सुनकर राजा पुनः मूर्छित हो गये। वे हाथ फटफटाने लगे और नेत्रों से अश्रु बहाने लगे।

छप्पय

बिना वत्स के धेनु सरिस माता रथ घेरयो।
रोवत लखि नर नारि राम मुख रथ में फेरयो॥
बिहरै बाल बखेरि राम कहि रोवै जननी।
बहैं नयन जल धार भई गीली सब धरती॥
राम कहाँ लक्ष्मण कहाँ, बड़ भागी सीया कहाँ।
मैं हू जाऊँ संग मैंह, जाइँ लाल मेरे जहाँ॥

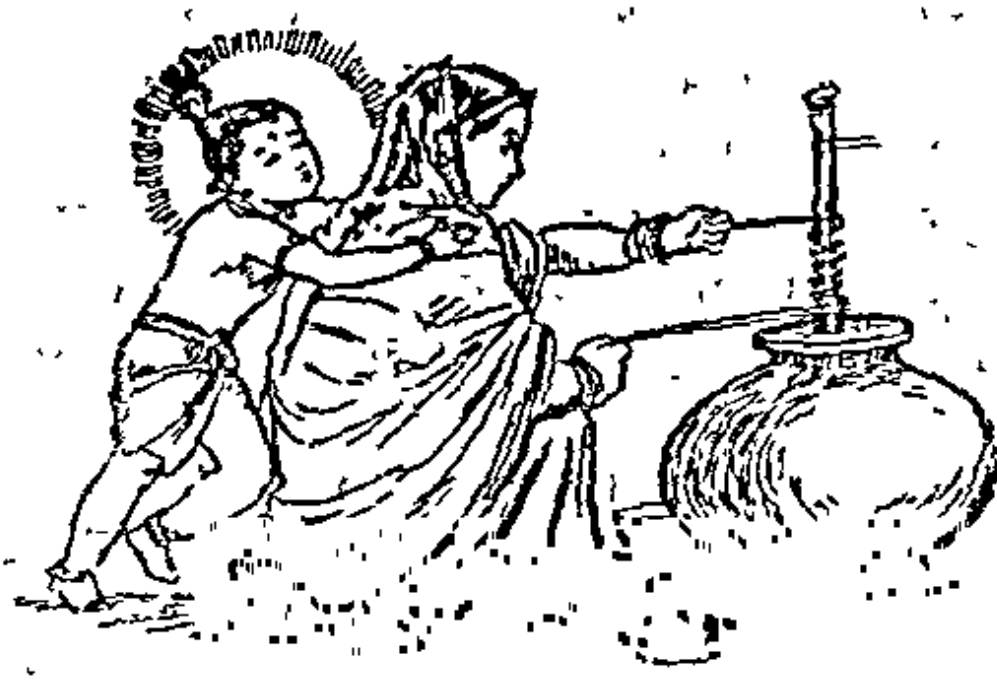

समीप ठहरे हुए उस वणिक समूह पर जङ्गली हाथियों ने आक्रमण किया और दावानल भी लग गई, लोगों ने इस अनिष्ट का कारण दमयन्ती को ही समझा। वे उसे मारने की सोचने लगे। दमयन्ती उनके मनोगत भावों को समझ कर अकेली ही रात्रि में वन से चलदी। चलते-चलते उसे किसी राजा की बड़ी भारी राजधानी दिखाई दी। आधी धोती पहिने हुए दमयन्ती ने उस राजधानी में प्रवेश किया।

वह राजधानी धर्मात्मा सुबाहु राजा की थी उनकी राजमाता बड़ी दयावती पतिव्रता और सती थीं। संयोग की बात है, कि जब दमयन्ती ने नगर में प्रवेश किया तब वह अपनी चित्रसारी की छत पर खड़ी झरोखे से राजपथ की ओर देख रही थीं दमयन्ती के बाल बिखरे थे,आधी धोती में से उसका सौंदर्य खान से निकली मणि के समान फूट-फूट कर निकल रहा था। नगर के लड़कों ने उसे पगली समझा वे उसे चिढ़ाने लगे और ढेले मारने लगे दमयन्ती विवशता के साथ अपने को उनसे बचाने लगी। सुबाहु महाराजकी राजमाताको दमयन्तीकी दशा देखकर बड़ी दया आई और उसने तुरन्त अपनी दासी को बुलाकर कहा "देखो यह कौन विपत्ति की मारी स्त्री है? देखने से तो यह कोई राजवंश की प्रतीत होती है। इसके अङ्गो में आभूषण नही तन पर वस्त्र नहीं। ऐसी सुन्दरी स्त्री को इतना क्लेश! यह दैव की विडम्बना है। इसे तुरन्त मेरे पास लाओ। मैं शक्ति भर इसके दुख को दूर करने का प्रयत्न करूँगी।"

रानीकी ऐसी आज्ञा सुनकर दासी तुरन्त गई और लड़कों को हटाकर वह दमयन्ती को रानी के पास ले आई। रानी ने

हैं, भरत उसे जीवन में चरितार्थ करके दर्शाने वाले हैं। राम शरीर हैं, दशरथ प्राण रूप में उसमें संचार करते हैं। सीता उसकी छाया हैं, भरत उसमें प्रेम हैं, लक्ष्मण उसके ओज हैं, कौशल्या उसे उत्पन्न करने वाली हैं, शत्रुघ्न अनुराग हैं। धनुष बाण हाथों के स्थानीय हैं, राक्षस मृगया करने के पशु हैं। भालु कपि उस शरीर के अन्य अङ्ग उपाङ्ग हैं। प्रेम के बिना देह किस काम की है, शरीर में मुख्य वस्तु है प्रेम। इसी प्रकार राम के चरित्र में मुख्य है भरत का चरित। विरह की सजीव मूर्ति के दर्शन करने हों, राम के प्रेम का साकार स्वरूप देखना हो, तो वह भरत के पावन चरित में मिलेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नगर से निकल कर श्रीराम वन की ओर चले। बूढ़े-बूढ़े ब्राह्मण बगुला के पंखों के समान अपने श्वेत बालों को बखेरे पैदल ही श्रीराम के रथ के पीछे दौड़ रहे थे। जिन वृद्ध ब्राह्मणों का महाराज दशरथ भी अत्यधिक आदर करते थे, उन्हीं ब्राह्मणों को आज नंगे पैरों पैदल ही रथ के पीछे पीछे दौड़ते देखकर श्रीराम शीघ्रता से रथ के नीचे उतर पड़े और बोले—"ब्राह्मणो! मैं आपकी अनुकम्पा का अत्यधिक आभारी हूँ। आपने मेरे प्रति अत्यन्त अनुराग प्रदर्शित किया। अब आप लोग लौट जायँ। भरत आपका आदर करेगा, वह आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन करेगा। चौदह वर्ष के पश्चात् मैं आकर आप के पाद पद्मों में पुनः प्रणाम करूँगा। आप पैदल चल रहे हैं, इसमें मुझे बहुत कष्ट हो रहा है।"

ब्राह्मणों ने कहा—"राघव! तुम धर्मात्मा हो, शरणा रक्षक हो, गौ, ब्राह्मणों के प्रतिपालक हो। आपने हमारी समस्त इच्छाएँ सदा पूर्ण की हैं। आप हमारी इस इच्छा को भी पूर्ण कीजिये। हम किसी भी प्रकार कैकेयी के अधीन न रहेंगे हम

हुआ और वह राजकुमारी सुनन्दा की सहेलियों के साथ रहने लगी। सुनन्दा उसे बहिन की तरह प्यार करती, किन्तु दमयन्ती को तो अपने प्राणनाथ की चिन्ता थी।

इधर महाराज नल दमयन्ती को छोड़कर आगे चले। मार्गमें कर्कोटक नाग ने उन्हें डस लिया, इससे उनका सम्पूर्ण शरीर काला पड़ गया, कोई भी उन्हें देखकर पहचान नहीं सकता था कि ये निषाद देश के नरेश महाराज नल हैं। तब महाराज नल चलते-चलते अयोध्या पुरी में आये और उन्होंने महाराज ऋतुपर्ण के यहाँ रथ हाँकने की नौकरी ठीक करली। राजा इनके गुणों से विमुग्ध हो गये और कहा—"तुम मुझे अश्वहृदय विद्या सिखादो, मैं तुम्हें अक्षहृदय विद्या पाँसा फेंकने की विद्या सिखा दूँगा। महाराज नल तो यह चाहते ही थे अतः वे महाराज ऋतुपर्ण से अक्षहृदय सीखने लगे और उन्हें अश्व सञ्चालन विद्या सिखाने लगे। महाराज के हाथ के भोजन मे ऐसा स्वाद था कि राजा उनके अधीन से हो गये।

इधर दमयन्ती के पिता महाराज भीमको जब नल को जुएमें हारने का और दमयन्ती को वन में छोड़ कर कहीं चले जाने का समाचार मिला यो उन्होंने सहस्रों ब्राह्मणों को सभी देशों में अपनी पुत्री और दामाद का पता लगाने के लिये भेजा। एक सुदेव नामक परम बुद्धिमान ब्राह्मण खोजता खोजता चेदिराज आया जहाँ दमयन्ती महाराज सुबाहु के महलों में रहती थी। कुमारी सुनन्दा की दासियों में मलीन वसन पहिने दमयन्ती को देख कर विप्रवर सुदेव को हर्ष और दुःख दोनों ही हुए। हर्ष तो इस बात से हुआ कि मैंने दमयन्ती का पता लगा लिया और दुःख उसकी दयनीय दशा देख कर हुआ। सुदेव शीघ्रता से भीतर गया। एकान्त में उसने दमयन्ती से कहा—"बेटी! तू मुझे

कर गये। राजा के परलोक पधारने पर इक्ष्वाकुवंश रक्षक भगवान वशिष्ठ ने उनके मृतक शरीर को एक तैल के कढ़ाह में रखवा कर तुरन्त दूतों द्वारा भरत शत्रुघ्न को कैकेय देश से बुलवाया। भरतजी ने आते ही अयोध्या पुरीको विधवा स्त्री की भाँति श्रीहीन, कान्तिहीन तथा आनन्द उत्सव विहीन देखा। उन्हें सम्पूर्ण नगरी सूनी सूनी दिखाई दी। सभी प्राणियों के मुख मलीन दिखाई दिये। सभी के ऊपर उदासी छाई हुई थी। वे प्रथम कैकेयी के भवन में गये। कैकेयी ने ललककर अपने लाल को गोद में बिठाया। अपने पीहर की परिवारवालों की कुशल पूछी। और भरत से राज्य करने को कहा। भरत ने जब पितृ मरण बन्धु वियोग की बात सुनी तो वे मूर्छित हो गये। उन्होंने कैकेयी को बहुत भला बुरा सुनाया। शत्रुघ्न ने मंदमति मंथरा की मनमानी मरम्मत की। भरत अपनी माता कौशल्या के समीप आये। उन्होंने रो रो कर सैकड़ों शपथ खाकर यह सिद्ध करना चाहा कि माता के मत में मेरी तनिक भी सम्मति नहीं। भरत को दुखी देखकर कौशल्या ने उनका सिर सूँघा और बार बार उन्हें पुचकार कर प्यार पूर्वक धैर्य बँधाते हुए माँ ने कहा—"भरत! मैं स्वप्न में भी यह नहीं सोच सकती हूँ, कि भरत कभी भूल में भी अपने भाई राम के विरुद्ध आचरण करेगा। राम को संसार में यदि कोई प्यारा है, तो वह भरत ही है। वह वन जाते समय बार बार सब से यही कहता था। मेरा प्राणों से भी प्यारा भरत राजा होगा। इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात मेरे लिये दूसरी हो ही नहीं सकती। तुम सब भरत के अनुकूल रहना। कभी भूल से भी उनके विपरीत आचरण न करना।" भरत का नाम लेते ही राम के रोमाञ्च हो जाते थे। बेटा! तुम मेरी ओर से तथा

प्यारी पुत्री दमयन्ती है। निषध देश के महाराज नल की ये पत्नी हैं,इनके पति जूए में सर्वस्व त्याग कर इन्हें वन में छोड़कर कहीं चले गये। मैं इनके पिता के यहाँ का ब्राह्मण हूँ, सहस्रों ब्राह्मण महाराज ने इन्हें खोजने भेजे हैं। सौभाग्य की बात है, कि यह मुझे यहाँ मिल गई।"

इतना सुनते ही राजमाता ने दौड़कर दमयन्ती को छातीसे चिपटा लिया और रोते रोते कहा—"बेटी! अरे तेरी ऐसी दुर्दशा। तैंने मुझे अपना परिचय तक नही दिया। मैंने तो जब तू छोटी थी, बहुत दिन तुझे गोद में खिलाया है। मैं तेरी छोटी मौसी हूँ, तेरी माँ मेरी सगी बहिन है। हम दोनों ही दशार्ण देशाधिप महाराज सुदामा की पुत्रियाँ है,तेरे माथे पर एक मस्सा था। अब तो मलावृत्त होने के कारण वह दीखता ही नही। सुनदा ने जब सुना यह तो मेरी मौसी की लड़की है, तब तो वह उसके पैरों पर पड़ गई और रोती रोती बोली—"बहिन! अज्ञान में ऐश्वर्य के मद में दासी समझ कर मैंने तुम्हारा बहुत अपमान किया होगा, उसे तुम क्षमा कर देना।"

कसकर सुनन्दा को अपनी छाती से चिपटाते हुए दमयन्ती ने उसके सम्पूर्ण वस्त्रों को अपने अश्रुओं से भिगोते हुए कहा—"बहिन! इस विपत्ति में तुमने ही मुझे आश्रय दिया, नही तो मैं अब तक कभी भी जीवित न रहती।"

राजमाता ने कहा—"बेटी! यह तेरा घर है, तू यहीं रह।"
दमयन्ती ने कहा—"मौसी जी! मेरा घर तो है ही, किन्तु मेरे दो बच्चे मेरे पिता के यहाँ है पिताजी भी मेरे लिये चिन्तित होंगे अतः तुम मुझे विदर्भ ही पहुँचा दो।"

महाराज दशरथ के समस्त और्ध्व दैहिक कृत्य कराये। तेरहवें दिन समस्त कृत्यों का समाप्त करके भरतजी सेना सजाकर राज्याभिषेक की समस्त सामग्री लेकर ब्राह्मणों और गुरुओं को आगे करके माताओं के साथ श्रीराम-दर्शन की लालसा से पैदल ही चल दिये। सुकुमार भरत के पैरों में पैदल चलने के कारण छाले पड़ गये थे। वे रामप्रेम में भीगे हुए, अनुराग में पग-पग पर स्नान करते, जिह्वा से राम राम रटते, कानों से राम की कमनीय कथा सुनते और हृदय में राम की मनोहर मूर्ति का ध्यान करते हुए राम के समीप जा रहे थे। प्रयाग पहुँचकर भगवान् भरद्वाज से उन्होंने श्रीराम का पता पूछा—भरद्वाजजी ने बताया वे चित्रकूट पर पर्णकुटी बनाकर लक्ष्मण सीता के सहित सुख पूर्वक निवास कर रहे हैं। राम का निश्चित पता पाकर भरत को परम प्रसन्नता हुई, उन्होंने मुनि के आग्रह से उनका आतिथ्य ग्रहण किया और प्रातः तरणि तनूजा भानुनन्दिनी यमुना को पार करके वे चित्रकूट की ओर चल दिये। दूर से ही लक्ष्मण ने चतुरंगिणी सेना सहित भरत को आते देखकर उन पर संदेह किया। श्रीराम ने उनके सन्देह का निवारण करते हुए कहा—"भरत के हृदय में भी यदि राज्य के प्रति लोभ और मेरे प्रति वैर का भाव हो जाय, तब तो यह पृथिवी रसातल को ही चली जाय। भरत वे कमलपत्र हैं जो जल में रहते हुए भी उससे सर्वथा पृथक् रहते हैं। भरत यद्यपि इक्ष्वाकुवंशरूप पयसे ही पैदा हुए हैं, किन्तु वे ऐसे घृत हैं जो पय से पृथक् ही अपनी सत्ता रखते हैं। भरत मेरे हृदय हैं वे मेरे प्राण हैं, वे जीवन हैं। मैं सबके बिना रह सकता हूँ, भरत के बिना मेरा अस्तित्व नहीं। भरत ऐसे रत्न हैं, कि जिनकी समता का संसार में दूसरा रत्न नहीं। भरत यद्यपि वय में मुझसे

नहीं देतीं। उसके पति ने उसे विवश होकर छोड़ा है किन्तु वह प्रति पल उसका हृदय से स्मरण करता रहता है, शरीर से पृथक् होने पर मन से वह मिला है। योजन और कोशों का व्यवधान हार्दिक मिलन में विघ्न नहीं डाल सकता। समय आने पर उसके पति का पुनः मिलन होगा।" इतना संदेश कह कर नल चले गये। ब्राह्मण ने विदर्भ में जाकर दमयन्ती से ये सब बातें कहीं यह सुनकर दमयन्ती को बड़ा हर्ष हुआ। उसने अपनी माता से सम्मति करके पिता को बिना जताये सुदेव नामक उसी बुद्धिमान् ब्राह्मण को अयोध्या भेजा। महाराज ऋतुपर्ण पहिले ही दमयन्ती के रंगरूप पर आसक्त थे। उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया था, कि किसी प्रकार दमयन्ती मुझे प्राप्त हो जाय, किन्तु जब दमयन्ती ने लोकपालों को भी परित्याग करके नल को पति रूप में वरण कर लिया तो वे निराश हुए। फिर भी दमयन्ती के प्रति जो उनका अत्यधिक अनुराग हो गया था वह कम नहीं हुआ। दमयन्ती को यह बात विदित थी। अतः राजा नल को यहाँ बुलाने के लिये उसने एक षड्यन्त्र रचा। सुदेव से उसने कहा—"तुम जितने भी शीघ्र जा सकते हो, अयोध्या पुरी में जाओ और वहाँ के राजा ऋतुपर्ण से कहना—"दमयन्ती फिर से स्वयम्वर करना चाहती है, उसके पति उसे छोड़कर चले गये उनका कोई पता नहीं। किन्तु स्वयम्वर कल ही होगा। यदि आप एक रात्रि में अयोध्या से विदर्भ (बरार) पहुँच सके तो स्वयम्वर में सम्मिलित हों।"

सुदेव दमयन्ती की बात सुनकर शीघ्रता से अवध पुरी में गये और वहाँ एकांत में जाकर राजा से सब बातें कहीं। सुनकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, उसने अपने बाहुक नामक प्रधान सारथी को बुलाकर कहा—"बाहुक। यदि आज दिन

की शारदा में भी शक्ति नहीं। वह अनुपम मिलन था। श्री राम बड़ी देर तक अपने छोटे भाई को छाती से छिपटाये रहे। भरत ने आँसुओं से श्रीराम के समस्त वस्त्र भिगो दिये। उन्होंने सम्पूर्ण शरीर को शिथिल कर दिया था, श्री राम उन्हें साधे थे। श्रीराम ने ज्यों ही उन्हें पृथक् करना चाहा त्योंही वे कटे वृक्ष की भाँति मूर्छित होकर गिर पड़े। श्रीराम ने शीघ्रता से उन्हें उठाया। शत्रुघ्न ने भी श्रीराम की सहायता की। श्रीराम ने भरत की धूलि झाड़ी उन्हें गोदी में बिठाकर उनके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"भरत! तुमने ये बाबा-जियों की सी जटायें क्यों बना ली हैं, तुम वल्कल वस्त्र पहिन कर कृष्ण मृगचर्म क्यों ओढ़े हो? तुम इतने दुर्बल क्यों हो गये हो? तुम्हारे ओठ सूख क्यों रहे हैं? तुम इस बीहड़ वन में अकेले कैसे आ गये? तुम्हारे सेवक कहाँ हैं! पिताजी के बिना तुम यहाँ कैसे आये? मेरे पूजनीय पिता कहाँ हैं? वे अकेले तो तुम्हें आने की अनुमति दे ही नहीं सकते! वे भी अवश्य ही आये होंगे? यदि वे नीचे हैं तो, चलो पहिले हम उन्हें ले आवें। तुम बताते क्यों नहीं? तुम निरन्तर रो क्यों रहे हो? तुम्हारे रोने से मेरा हृदय शंकित हो रहा है, शीघ्र ही मुझे पिता की कुशल सुनाओ।"

पिताजी के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भरत और भी अधिक रोने लगे। शत्रुघ्न भी बालकों की भाँति बिलखने लगे।

श्रीराम ने शंकित चित्त से कहा—"भरत! मुझे बड़ी व्याकुलता हो रही है। तुम्हारे रुदन से मेरे हृदय के टुकड़े टुकड़े हो रहे। कहीं मेरे पूजनीय वृद्ध पिता परलोक प्रयाण तो नहीं कर गये! कहीं वे मेरे विरह में सुरलोक तो नहीं सिधार गये तुम मुझे सच सच बता दो।"

माप सब ही परिवर्तित हो गये थे, किन्तु उनकी अंग संचालन की गतिविधि को देखकर वार्ष्णेय को बार-बार संदेह होने लगा।

इतने ही में रथ से अत्यन्त शीघ्र चलने के कारण महाराज ऋतुपर्ण का दुपट्टा गिर गया। उसी क्षण राजा ने शीघ्रता से कहा—"बाहुक ! तनिक रथ को रोक दे, मेरा दुपट्टा गिर गया, वार्ष्णेय दौड़कर उसे उठा लावें।" इतने शब्दों को सुनते ही हँसकर नल बोले—"राजन्। आपने जितनी देर में ये शब्द कहे है उतनी देर में रथ दो कोश दूर निकल आया। अब आप दुपट्टे की आशा न रखें।'

राजा को नल की इस अश्वविद्या तथा रथ-संचालन चातुरी पर बड़ा आश्चर्य हुआ। रथ में बैठे ही बैठे राजा बोले—"बाहुक जैसे तुम अश्वविद्या में निपुण हो, वैसे ही मैं गणना करने में निपुण हूँ, देखो सामने जो यह बहेड़े का वृक्ष है इसकी दोनों डालियों पर और टहनियों पर पाँच करोड़ पत्ते और दो हजार पिचानवे फल लगे हैं।"

इतना सुनते ही नल के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा उसने रथ को लौटाकर बहेड़े के सम्मुख खड़ा कर दिया और रथ से उतर कर बोले—"राजन् ! जब तक मैं इस पेड़ के सब पत्ते और फलों को गिनकर अपने कुतूहल को शांत न कर लूँगा, तब तक आगे न बढ़ूगा।"

इस पर विनती करते हुए राजा ऋतुपर्ण ने कहा—'भैया, देखो ! विलम्ब हो रहा है, तुम हठ मत करो पीछे आकर मैं स्वयं अपनी परीक्षा दे दूँगा।"

राजा नल ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"राजन् ! आप चाहें

अब तो मेरा अवध में जाना ही व्यर्थ है, पिता से विहीन पुरी में कैसे मैं पैर रखूँगा। देखो, मैं कितना अभागा हूँ, मेरे ही कारण पिताजी परलोक वासी हुए, मेरे वियोग में ही उन्होंने प्राणों का परित्याग किया, मैं ऐसा अभागा निकला कि उनके मृतक संस्कार भी न कर सका। भरत! तुम ही धन्य हो, तुम ही बड़ भागी हो पिता के वास्तविक पुत्र तुम ही हो, जो तुमने स्वर्गीय महाराज के समस्त संस्कार स्वयं ही किये। हाय! मुझे क्या पता था, पिताजी मुझे छोड़कर परलोक पधार जायँगे—"इस प्रकार श्रीराम जी पिता के लिये चिरकाल तक विलाप करते रहे। अन्त में वे उठे भरत और शत्रुघ्न को साथ लिये हुए वे कुटी की ओर चले। दूर से ही उन्होंने लक्ष्मण और सीताजी को बुलाकर कहा—"लक्ष्मण! तुम पितृहीन हो गये। वैदेही! तुम्हारे पूजनीय श्वसुर परलोक वासी बन गये। यह सुनकर लक्ष्मण रोने लगे। सीताजी भी विलाप करने लगीं। तब श्रीराम ने कहा—"लक्ष्मण! मेरे बल्कल उठा लो, कुशा ले लो चलो भगवती मंदाकिनी पर चलकर अपने पूजनीय पिता को जल दे आवें। सीता तुम आगे आगे चलो। मंगल कार्यों में स्त्रियाँ पीछे चलती हैं और मृतक कार्यों में आगे आगे। यही सनातन परिपाटी है। यह सुनकर सीता आगे आगे चलीं। उनके पीछे बल्कल लिये लक्ष्मण जी थे। श्रीराम के साथ भरत शत्रुघ्न भी चले।

पयस्विनी मन्दाकिनी के उस पंक रहित घाट पर जहाँ श्रीराम नित्य स्नान को जाते थे जानकी के सहित चारों भाई गये। रोते रोते श्रीराम लक्ष्मण आदि ने अपने पिता के उद्देश से जल तर्पण किया; फिर इंगुदी और बेर के फलों को लेकर आँख में आँसू भरकर श्रीराम ने कहा—"पिताजी! हम वनवासियों

रथ को हांक दिया और सूर्यास्त से पूर्व ही वे राजा को लेकर विदर्भ देश की नगरी कुन्डिनपुर में पहुंच गये। राजा नल के रथ की घड़घड़ाहट सुनकर उनके कुन्डिनपुर में रहने वाले घोड़े हिनहिनाने लगे। दमयन्ती ने जब रथ की घड़घड़ाहट सुनी तो उसे विश्वास हो गया, कि इस रथ को मेरे पति ही हांक रहे है, ऐसा शब्द उनके रथ चलने से ही होता है।

कुन्डिनपुर में स्वयंवर की किसी प्रकार भी कोई तैयारी नहीं थी न कोई राजा तथा राजकुमार ही आये थे, न पुरी ही सजाई गई थी। महाराज ऋतुपर्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ। महाराज भीम ने जब सुना कि अयोध्या के महाराज ऋतुपर्ण मेरे यहाँ पधारे हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। अत्यन्त आह्लाद के सहित उनका स्वागत सत्कार किया कुशल प्रश्न के अनन्तर महाराज प्रसंग वश पधारने का कारण जानना चाहा। महाराज ऋतुपर्ण ने स्वयंवर की कुछ भी तैयारियाँ न देखकर बात को टालते हुए कहा—"आप के दर्शन हुए बहुत दिन हो गये थे इसीलिये मिलने मिलाने चला आया।"

महाराज भीम ने कहा—"यह मेरा अहोभाग्य आप यहाँ विराजें। मेरा राज्यपाट आपका ही है, मैं भी आप का ही हूँ। महाराज ऋतुपर्ण बड़े चक्कर में पड़े। मुझे ऐसी सूचना किसने और क्यों दे दी। राजा से पूछने को भी उन्हें साहस नही हुआ। कन्यादान जीवन में एक बार ही होता है, कुलवती कन्या एक ही बार पतिवरण करती है। अतः वे तुरन्त लौटने के लिये आग्रह करने लगे। राजा भीम ने कहा—"महाराज। आप सौ योजन से भी अधिक यात्रा करके आये हैं। आप हमें अपना नहीं समझते। यहाँ सुखपूर्वक निवास करें।"

यह कहते कहते कौशल्या रोने लगी। उस घाट को प्रथम तीर्थ समझकर कौशल्या ने प्रणाम किया और वहाँ का जल अपने मस्तक पर चढ़ाया। वे कष्ट से ऊपर चढ़ रही थीं।

दूर से ही श्रीराम ने माताओं को अपनी ओर आते देखा। वे भरत के समीप से उठे और आगे आकर उन्होंने कौशल्या के पीछे सिकुड़ी सिमिटी अपने समस्त अंगों को छिपाये उदास मन कैकेयी के पैर छुए, फिर सुमित्रा तथा कौशल्या की चरण वन्दना की। राम को तपस्वी वेष में देखकर कौशल्या रो पड़ीं। उसने पुत्र को तपस्वी वेषमें देखकर आलिंगन भी नहीं किया। उस समय लक्ष्मण ने तीनों माताओं को प्रणाम किया। लक्ष्मण को देखकर माता के धैर्य का बाँध टूट गया। उसने लक्ष्मण को गोदी में बिठाया उसका सिर सूंघा और आँसुओं से उनके मुख और बालों को भिगो दिया। उन्होंने लक्ष्मण के उन हाथों को सुहलाया जिसमें पानी भरने और लकड़ी काटने से ठेक पड़ गयी थी। सुमित्रा राम को देखकर रो रही थीं। उसी समय एक अत्यन्त ही करुण दृश्य उपस्थित हुआ। समीप ही उटज में से सुकुमारी विदेह नन्दिनी निकली। उनके शरीर में अंगराग नहीं लगा था। शरीर धूप और वायु के लगने से रूखा-रूखा हो रहा था। उनका मुख सूखा हुआ था। आँखें रोने से सूज गई थीं। ओठों पर पपड़ी पड़ रही थी। ऐसी जानकी ने तीनों सासों के पैर छुए और वे भोली बालिका के समान सिर नीचा करके खड़ी हो गयीं। कौशल्या ने रोते-रोते जानकी को बल पूर्वक खींचकर अपनी छाती से उसी प्रकार चिपटा लिया जिस प्रकार अत्यन्त प्रेममयी माँ अपनी इकलौती पुत्री को चिपटाती है। जानकी की ऐसी दशा देखकर तीनों सासें रोने लगीं। श्रीराम ने उसी समय आगे जाकर वसिष्ठजी के पैर छुए। पीछे से लक्ष्मण ने

केशिनी ने ये सब बातें जाकर दमयन्ती से कहीं, सुनकर दमयन्ती का हृदय बाँसों उछलने लगा, फिर भी उसे नल के रूप के कारण सन्देह ही बना रहा। अबके उसने केशिनी से कहा—"तू गुप्त रूप से जाकर उसकी सब क्रियाओं को देखकर मुझे बताना।"

केशिनी गई और सब देखकर उसने बताया वह तो आलौकिक पुरुष हैं, बिना अग्नि के अग्नि उत्पन्न कर लेता है, रीते घड़ों को संकल्प के पानी से भर लेता है, वह पाक विद्या में बड़ा निपुण है, उसमें अनेक अलौकिक गुण हैं।"

दमयन्ती ने कहा—'उसके हाथ के बने कुछ पदार्थ तू माँग ला।"

केशिनी किसी प्रकार उससे कुछ भोजन की वस्तुएँ माँग लाई, दमयन्ती ने उन्हें चखकर निश्चय कर लिया, ये मेरे पति के बनाये हुए पदार्थ है।"

फिर भी उसे नल के रूप और छोटे आकार को देखकर संदेह बना रहा। अबके दमयन्ती ने केशिन के साथ अपने दोनों बच्चों को नल के पास भेज दिया। उन देव सदृश बच्चों को देखकर नल ने दौड़कर उन्हें छाती से चिपटा लिया और बार-बार प्यार करके उनका मुख चूमने लगे। वे आत्म-विस्मृति होकर बालकों की भाँति रुदन करने लगे। बार-बार बच्चों का सिर सूंघने लगे। उनके ऐसे वात्सल्य प्रेम को देखकर केशिनी को निश्चय हो गया, कि ये पुण्यश्लोक महाराज नल ही हैं।"

कुछ काल के पश्चात् बाह्य ज्ञान होने पर आँसुओं को पोंछते हुए नल बोले—"केशिनी! देख, तू बार-बार मेरे पास मत

रोते-रोते भरत बोले—"महाराज ! मुझे तो कुछ भी अधिकार नहीं। मुझे बल पूर्वक अधिकार दिया जा रहा है, मुझे जो आपके चरणों का ही अधिकार था, वह मेरा अधिकार छीना जा रहा है, मुझे अधिकार हीनकर दिया है। प्रभो ! मैं अपने मनकी क्या कहूँ, आप अन्तर्यामी हैं, घट-घट की जानते हैं। मैं किसे दोष दूँ, सब मेरे भाग्य का ही दोष है। राघव ! मुझे संसार में और कोई सहारा नहीं। आपकी कृपा का आपकी करुणा का आपकी दया का ही सहारा है। मुझ दीन हीन मति मलीन कैकेयी के कुपूत पर कृपा करो, अवध लौट चलो, सबको सनाथ बनाओ। मुझे सेवा का सुअवसर दो मेरी भीख यही है पल्ला पसारकर हाथ जोड़कर पैरों में पड़कर यही मैं आपसे माँगता हूँ। राघव तुमने कभी मुझे निराश नहीं किया, अब भी निराश मत करना तुमने सदा मेरी बात बड़ी की है। हारे हुए खेल को जिताया है, गिरते हुए मुझे उठाया है, रोते हुए मुझे हँसाया है, पहिले मुझे खिलाकर तब खाया है, संयम सदाचार सभी आपने ही सिखाया है। संसार में मेरा कोई भी सहारा नहीं राम ही मेरे सहारे हैं। राम मुझे अब निराश न करेंगे, वे मेरी प्रार्थना पर अवश्य अवधपुरी लौट चलेंगे।"

श्रीरामचन्द्रजी भरतजी की बात सुनकर कुछ भी न बोले, वे गुरु के मुख की ओर देखने लगे। गुरु वशिष्ठ ने कहा—"राम ! तुम अपने छोटे भाई भरत की बातों पर विचार करो। भरत स्वयं नहीं कह रहे हैं, वे सबके भावों को प्रकट कर रहे हैं। अब तो सन्ध्या का समय हो गया। कल इस विषय पर विचार होना चाहिए, गुरु की आज्ञा से उस दिन का समाज भंग हुआ। सभी सन्ध्या वन्दन नित्य कृत्य करने मन्दाकिनि के किनारे चले गये। भरत रात्रिभर श्रीराम को अवधपुरी लौटाने

में प्रवेश करके मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। उसी ने मुझसे राज्यपाट छुड़वाया, तुमसे विलग कराया अब जो हुआ सो हुआ। अब कलियुग मेरे शरीर से निकल गया है। अब फिर हमारे दिन फिरेंगे। फिर हम पूर्ववत् सुख और ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे। इस प्रकार चौथे वर्ष में पति और पत्नी का पुनः आकर मिलन हुआ। रात्रि भर दोनों पति पत्नी अपने सुख दुख की बातें कहते सुनते रहे। प्रातः काल नल और दमयन्ती ने स्नान किया वस्त्र भूषणों से सुसज्जित होकर उन दोनों ने महाराज भीम को प्रणाम किया। अपनी पुत्री के साथ जामाता को देखकर राजा को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने इसके उपलक्ष्य में बड़ा भारी उत्सव कराया और ब्राह्मणों को विविध दान दिये।

महाराज ऋतुपर्ण को जब ज्ञात हुआ, ये महाराज नल है, तब तो उन्होंने इनसे क्षमा याचना की। नल ने उन्हें अश्वहृदय विद्या सिखा दी। नल ने भी राजा से अक्ष विद्या भली भाँति सीख ली। कर्कोटक ने अपना विष भी आकर उतार लिया। इससे महाराज पूर्ववत् सुन्दर हो गये। कलियुग उनके शरीर से पहिले ही निकल चुका था अतः अब वे चन्द्रमा के समान सुशोभित हुए। महाराज ऋतुपर्ण भीम और नल से अनुमति लेकर अयोध्या चले गये। कुछ काल कुण्डिनापुर में रह कर नल अपनी प्यारी पत्नी दमयन्ती के साथ कुछ धन और सैनिक लेकर अपनी राजधानी में गये। उन्होंने फिर अपने भाई पुष्कर के साथ जूआ खेला। अबके पुष्कर अपना राज पाट सर्वस्व हार गये। उसने दमयन्ती का अपमान किया था, अतः वह डर रहा था, कि महाराज मुझे मार डालेंगे, किन्तु महाराज नल तो धर्मात्मा थे। उन्होंने कहा—"भैया! पुष्कर! देखो भाग्य ही सब सुख दुख देता है। कौन किसे सुखी दुखी बना सकता है।

का पालन करते हैं। पिता ने मुझे १४ वर्ष के लिए वन दिया है, तुम्हें राज्य दिया है। धर्मपूर्वक तुम प्रजाका पालन करो, मैं वनों में विचरूँ, यही धर्म है यही कर्तव्य है।"

भरत ने रोते रोते कहा—"पिता ने स्वेच्छा से आपको वनवास नहीं दिया है। यह मेरी माँ की कुटिलता का फल है, वह अब अत्यन्त लज्जित है और आपको लौटाने के लिये आई है, वह लज्जावश बोलती नहीं।"

श्रीराम ने कहा—"भरत! मैं तुमसे कहता हूँ, माता को दोष मत दो। जो माता मुझे तुमसे भी अधिक प्यार करती थी, वह मुझे वन कैसे भेज सकती थी। यह सब दैवकी विडम्बना है, प्रारब्ध के खेल हैं, भवितव्यता के कुतूहल हैं। ऐसा ही होने वाला था, जो हो गया सो हो गया। तुम्हें राज्य मिलने वाला था मिल गया, मुझे वन में आना था वन में आगया। पिता के आदेशसे तुम राज्य करने में स्वतन्त्र हो मैं वनों में विचरण करने को स्वतन्त्र हूँ।"

भरत ने कहा—"मैं यदि राज्य करने में स्वतन्त्र हूँ तो उसे दान देने में भी स्वतन्त्र हूँ। माता ने पिता से कहकर राज्य मुझे दिलाया। अब राज्य मेरा हुआ, मैं उसे आपके चरणों पर चढ़ाता हूँ मैं अर्घ्य के सहित राज्य आपको अर्पित करता हूँ, आप मेरी दी हुई भेंट को ग्रहण करें।"

श्रीराम यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"अरे, भैया! ऐसे थोड़े ही होता है। जब मुझे राज्य का अधिकार ही नहीं तो उसे ग्रहण कैसे कर सकता हूँ। सन्यासी को कोई स्त्रीदान करे, तो तो वह कैसे ले सकता है। मैंने पिता के सम्मुख प्रतिज्ञा की है, मैं १४ वर्ष वनों में रहूँगा।" फिर तुम्हारे दिये राज्य को बिना वनवास के अवधि समाप्त हुए कैसे ग्रहण कर सकता हूँ।"

यन्ती का तथा अयोध्याधिप महाराज ऋतुपर्ण के नाम का नित्य कीर्तन करते है, उन्हें कलि कृत दोष दुःख नहीं दे सकते* इसके अनतर आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी। महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र कौन हुए। कृपा करके ऋतुपर्ण से आगे के मुख्य इक्ष्वाकु वंश के राजाओं का चरित्र हमें सुनाइये।"

इसपर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! मैं महाराज ऋतुपर्ण से आगे के राजाओं का वृत्तान्त सुनाता हूँ, आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

दमयन्ती पति तजी भाग्यवश आई पितु घर।
पति खोजन हित रच्यौ दुवारा नृपा स्वयम्बर॥
नल ऋतुपर्ण समेत ससुर गृह रथलै आये।
नल दमयन्ती मिले सुनत सब जन हरषाये॥
कायातैं कलियुग भग्यो, जब नृप के दिन फिरि गये।
गयो राज फिरि तैं मिल्यो, जग यश भागी नल भये॥

*कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्यच।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्

आखें सदा खुली की खुली रह जायँगी।"-इतना कह कर कुशकी चटाई लेकर भरत लेट गये।"

भरत के ऐसे अनुराग को देखकर सभी अश्रु बहाने लगे। माताओं को हर्ष भी हुआ, दुःख भी। हर्ष तो भरत के भ्रातृ प्रेम के कारण था और दुःख था भरत के अनशन के दृढ़ निश्चय पर भरत को भूमि पर कुशकी चटाई बिछाये एक करवट लेटते देखकर कारुणिक राम उनके समीप गये। उनके सिर को गोदी में रखकर उनकी जटाओं को उंगलियों से शनैः शनैः सुलझाते हुए वे बोलें—"भरत! यह तुम धर्म विरुद्ध हठ कर रहे हो। देखो ब्राह्मण शस्त्र नहीं उठा सकता। जब वह किसी क्षत्रिय को या धर्म जानने वाले बलवान् को अन्याय करते देखता है तो उसके अन्याय के विरोध में अनशन करके एक करवट लेटे रह कर उसे अन्याय से रोकता है। प्राणों का प्रण लगाकर वह उस बलवान् के विचारों को या तो बदल देता है या स्वयं प्राणों की आहुति दे देता है। ऐसा करने का अधिकार निःशस्त्र ब्राह्मण के लिए ही है। क्षत्रिय तो जिसे अन्याय करते देखे उसे शस्त्र लेकर युद्ध में मार डाले। देखो मैं कोई अन्याय नहीं कर रहा हूँ जो तुम मेरे ऊपर प्रायोपवेशन कर रहे हो। तुम निःशस्त्र ब्राह्मण नहीं जो भूखे रहकर एक करवट से सो रहे हो। यदि तुम्हें मैं अन्याय करता हुआ प्रतीत होता हूँ तो क्षत्रिय धर्म के अनुसार तुम मेरा वध कर दो।"

यह सुनकर रोते रोते भरत जी उठ पड़े और बोले—"राघव! आप जैसे मानोगे वैसे मैं आपको मनाऊँगा, जैसे भी आप अवध लौटोगे वैसे लौटाऊँगा। जो भी आप प्रतिज्ञा कराओगे वह प्रतिज्ञा करूँगा, किन्तु आपको अवध लौटा कर ले

प्रकार के सर्वज्ञ होते हैं, एक तो ऐसे होते हैं, जिन्हें सर्वदा ही अखण्ड ज्ञान बना रहता है। दूसरे ऐसे होते है जो जब वे वाह्य व्यवहार में लगे रहते है, तो उनका ज्ञान सर्व साधारण पुरुषों के समान होता है, किन्तु जब वे चित्त को समाहित करके ध्यान मग्न होते है,तब होने वाले भूत, भविष्य तथा वर्तमान का समस्त ज्ञान हस्तामलकवत् होने लगता है। यह जो शापाशापी होती है ऐसे ही सर्वज्ञ मुनियों द्वारा होती है, जैसा होन हार होता है, वैसे ही बुद्धि बन जाती है, वैसे ही उनके मुख से अकस्मात् शाप निकल जाता है पीछे ध्यानस्थ होकर उसके विषय में विचार करते हैं, तो उसके प्रतीकार की अवधि या उपाय भी बता देते हैं। कोई न किसी को शाप दे सकता है, न असमय पर अनुग्रह ही कर सकता है। जिसका जैसा समय होता है,उसके वैसे ही सब संयोग जुट जाते हैं। भविष्यता चलकर स्वयं नहीं जाती, उसे ही घेर बटोर कर ले आती है।

श्री शुकदेवजी कहते है–"राजन् ! यह तो मैं बता ही चुका हूँ, कि इक्ष्वाकुवंश में अयुतायु के सुत नल के सखा ऋतुपर्ण हुए। धर्मात्मा महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र सर्वकाम हुए। सर्वकाम के सुत सुदास हुए जो कल्माषपाद और मित्रसह के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जो वशिष्ठ जी के शाप से नर भक्षी राक्षस हो गये थे।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा–"प्रभो ! धर्मात्मा राजा सुदास राक्षस किस अपराध से हो गये ? सर्वज्ञ महर्षि वशिष्ठ ने अपने प्रिय शिष्य सुदास को ऐसा कठिन शाप किस कारण दिया ?"

इस पर श्री शुकदेवजी बोले—"कोई किसी को दुख सुख

यह निन्दनीय धर्म होगा। स्वयं सम्मान का उपभोग करने की अपेक्षा सम्मान देना सबसे श्रेष्ठ है। जो दूसरे को सम्मान नहीं दे सकता वह सच्चा सम्माननीय नहीं। हम भाइयों को चाहिये, कि परस्पर में एक दूसरे का सम्मान करें। मैं जो कह रहा हूँ उस बात को तुम्हें मानना चाहिये। प्रेम समीप में रहने से भी होता है और दूर रहने पर भी। प्रेम का सम्बन्ध शरीर से उतना नहीं है जितना हृदय से। शरीर की दूरी से प्रेम में व्यवधान नहीं पड़ता। यही नहीं, शरीर दूर रहने से प्रेम और बढ़ता है। परदेश में स्थित प्रियतम के प्रति जो प्रेम होता है, वह सामीप्य में नहीं। परदेशी प्रियतम से तो मन प्रति पल मिला रहता है। तुम्हारा मेरे प्रति कैसा अनन्य अनुराग है इसे मैं तो जानता था, जनता इसका अनुभव भी नहीं कर सकती थी। गुरुदेव ने बार बार प्रेरणा करके उसे सबके सम्मुख प्रकट करा दिया। तुम मेरे ऊपर विश्वास रखो; १४ वर्ष के पश्चात् सकुशल लौटकर मैं अपने राज्य को सम्हाल लूँगा। तब तक तुम्हारे पास वह धरोहर के रूप में रहेगा। भरतजी राम के ऐसे वचनों से प्रसन्न हुए। वे बोले—"मैं पहिले ही कह चुका हूँ, आपकी आज्ञा तो मुझे सभी भाँति माननी ही होगी, किन्तु मैं दिन गिनता रहूँगा। १४ वर्ष होने के दूसरे दिन आप न आये, तो मैं धधकती हुई अग्निमें अविलम्ब प्रवेश कर जाऊँगा, तब आप मुझे दोष न दें।"

श्रीराम ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, ऐसा न होगा, मैं अवश्य ही अवधि समाप्त होते, तुम्हारे समीप आ जाऊँगा।"

श्रीराम के ऐसा आश्वासन देने पर भरत ने सुवर्ण की चरण पादुकाएँ निकालीं। और श्रीराम से बोले आप इन्हें चरणों में धारण करके मुझे प्रदान कर दें। राजगद्दी पर ये ही चरण

मुनि ने कहा—"झूठ बोलता है, मैंने तुझे कब ऐसी आज्ञा दी।"

राजा ने कहा—"प्रातःकाल ही आपने आकर मुझ से कहा था, कि मेरे लिये नरमास बनाना।"

मुनि ने कहा—"मैं प्रातःकाल यहाँ आया भी नहीं।"

राजाने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, आप आये थे और स्वयं मुझ से आपने कहा था।"

राजा की दृढ़ता और निर्भीकता से प्रभावित होकर मुनि ने ध्यान लगाया और ध्यान में सभी बातें जानकर नम्रता के साथ बोले—"राजन्! भूल हो गई राक्षस की यह सब करतूत है। जिस राक्षस के भाई को आपने मारा था,उसी ने मेरा रूप बना लिया था, और उसी ने रसोइये का रूप रखकर इस अभक्ष्य पदार्थ को बनाया है, किन्तु मैंने कभी हँसी में भी झूठ नही बोला, अतः आपको नर भक्षी राक्षस तो बनना ही पड़ेगा, किन्तु जीवन भर नहीं। १२ वर्ष के पश्चात् आपका राक्षसपना छूट जायगा आप फिर राजा हो जायँगे।"

राजा को इस बात पर बड़ा क्रोध आया। गुरु अकारण ही बात को बिना जाने मुझे शाप दे रहे हैं यह इनका कार्य अनुचित है। राजा भी सामर्थ्यवान् थे,अतः वे भी हाथ में जल लेकर गुरु वशिष्ठ को शाप देने को उद्यत हो गये।

गुरु को शाप देते देखकर महाराज की पत्नी मदयन्ती ने राजा को रोकते हुए कहा—"प्राणनाथ! आप यह क्या कर रहे हैं। यह कार्य आपके अनुरूप नहीं है। गुरु को कभी भी शाप न देना चाहिये।"

जीवन को राममय बना लिया था। वे 'राम' सुनते ही चौंक पड़ते, राम कहते ही रो पड़ते। 'राम' स्मरण करते ही उनका

शरीर रोमाञ्चित हो उठता। राम ही उनके जीवन के आधार थे, राम ही उनके इष्ट थे, राम ही आराध्य थे और राम के आगमन की प्रतीक्षा में पल पल को गिन रहे थे। चित्त में राम मिलन की

यह सुन कर श्री शुक बोले—"राजन् ! अपनी प्यारी पत्नी मदयन्ती जो मित्र के समान है उसकी बात को सहने मानने के कारण ही महाराज का नाम मित्रसह पड़ा। उन्होंने स्त्री के कहने से गुरु को शाप नहीं दिया। अब वे राक्षस हो गये। हो क्या गये, आकृति तो उनकी मनुष्यों जैसी ही रही, किन्तु जङ्गलो में घूम-घूम कर मनुस्यों को खाने लगे और राक्षसों जैसी चेष्टायें करने लगे। सुनते हैं, भगवान् वशिष्ठ के पुत्र शक्ति को भी विश्वामित्र जी की प्रेरणा से ये ही राजा खा गये थे। विश्वामित्र जी की वशिष्ठ जी से पुरानी लाग डाँट थी। जब वशिष्ठजी के ही शाप से राजा राक्षस हो गये, तो उन्होंने इन्हें प्रेरणा करके शक्ति के पास भेजा और ये शक्ति को खा गये। शक्ति की पत्नी गर्भवती थी उसी से पराशर जी का जन्म हुआ। जिन्होंने पिता का वदला लेने के लिये एक राक्षस यज्ञ आरम्भ किया। जिसमें वहुत से राक्षस आ आकर जल ने लगे। यह देख कर राक्षसों के जनक भगवान् पुलस्त्य आये और उन्होंने वशिष्ठ के साथ इन्हें समझाया बुझाया। तब कहीं जाकर वे इस अभिचार यज्ञ से उपरत हुए। राजा ने राक्षस भावापन्न होकर बहुत से पाप किये। ब्रह्म हत्याएँ कीं। इसी समय महाराज को अनपत्य होने का शाप भी मिला, जिससे वे स्वय सतति उत्पन्न करने में असमर्थ हो गये।"

यह सुन कर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! महाराज कल्माष पाद को किसने अनपत्य होने का शाप दिया। महाराज ने उसका ऐसा कौन सा अपराध किया था, इस कथा को श्रवण करने की मेरी बड़ी उत्कट अभिलाषा है, यदि आप मुझे अधिकारी समझते हों और कोई न कहने योग्य बात न हो, तो कृपा करके इसके कारण को मुझे अवश्य सुनाइये।"

वनविहारी राम

(६६०)

रक्षः स्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धे-
स्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून् ।
जघ्ने चतुर्दशसहस्रमपारणीय
कोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम् ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० ९ श्लो०)

छप्पय

चित्रकूट तैं चले राम इत दंडक बन महँ ।
निरखि राम सिय लखन होहिं मुनि प्रमुदित मन महँ ॥
अत्रि अगस्त्य सुतीक्ष्ण आइ मुनि पावन कीन्हें ।
भये कृतारथ सबहिं स्वयं हरि दरशन दीन्हें ॥
बसहिँ राम सिय संग महँ, पंचवटी महँ करि कुटी ।
रामरूप फँसि भई जहँ, रावण भगिनी नककटी ॥

यह संसार आकर्षण से ही चल रहा है आकर्षण नहीं तो संसार नहीं । सूर्य पृथ्वी को अपनी ओर खींचते हैं । पृथ्वी सूर्य

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! दंडकारण्य में श्रीरामचन्द्रजी हाथ में दुर्जय धनुष बाण धारण किये बड़ी कठिनता से रहे । वहाँ उन्होंने रावण की बुरे विचार वाली बहिन सुर्पणखा के रूप को विकृत कराया, उसके खर, दूषण और त्रिशिरा आदि भाइयों को मारा तथा अकेले ही चौदह सहस्र राक्षसों को मारा ।"

सौदाससुत अश्मक

(६४६)

तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥
सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ९ अ० ३८,३९ श्लोक)

छप्पय

बोले नृप सौदास—प्रभो! अब रक्षा कीजै।
चलै जासु मनु वंश पुत्र इक गुरुवर कीजै॥
कीयो गर्भाधान भई अति हर्षित रानी।
नष्ट वंश नहिं होय बात जिह सबने जानी॥
सात वरष तक उदरतें, नहीं पुत्र पैदा भयो॥
मदयन्ती अति दुखित ह्वै, वचन पुरोहिततें कह्यो॥

दोष भावना से होता है, भाव शुद्धि होने पर शुद्ध भावना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्राह्मणों के शाप के अनन्तर महाराज सौदास ने स्त्री सुख का परित्याग कर दिया। इस प्रकार अपने ही किये कर्म द्वारा सन्तान हीन हो गये। राजा की अनुमति से वशिष्ठ जी ने गर्भ स्थापित किया। उस गर्भ को रानी सात वर्षों तक धारण करे रही। किन्तु बच्चा नहीं हुआ। तदनन्तर वशिष्ठ ने पाषाण के आघात द्वारा बच्चे को पैदा किया। इसलिये उनका नाम अश्मक हुआ।"

के सौंदर्यको देखकर अचर प्राणी सचर से होकर रोमाञ्चित हो जाते, अश्रु बहाने लगते और सचर प्राणी अचर से होकर स्तब्ध हो जाते। पशु-पक्षी भी उस सौंदर्य पर रीझ गये। यहाँ तक कि मनुष्यों को खाने वाले राक्षसों ने भी इस सौंदर्य के सम्मुख मस्तक नवा दिया और स्पष्ट कह दिया—"यद्यपि ये हमारे शत्रु हैं, भक्ष्य हैं, फिर भी ये इतने सुन्दर हैं, कि मारने को चित्त नहीं चाहता।" ये उन शुष्कहृदय वाले कठोर राक्षस पुरुषों के विचार हैं। स्त्रियाँ सौन्दर्य को देखकर पिघल जाती हैं। कुछ पतिपरायण-आदर्श सतियों को छोड़कर स्त्री मात्र सुन्दर सुवेष पुरुष को देखकर अपने आपेको खो बैठती हैं, फिर चाहे वह सुन्दर पुरुष कोई भी क्यों न हो। विधाता ने स्त्रियों में पुरुषों के सौंदर्य के प्रति, पुरुषों में स्त्रियों के सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होने का दोष अथवा गुण स्वाभाविक भर दिया है, उसे कोई मेंट नहीं सकता अन्यथा नहीं कर सकता। इससे बचना नर का काम नहीं है केवल नारायण ऋषिको छोड़कर। भगवान् अपने राम रूप में इतने सुन्दर थे, कि लाखों वर्षों तक निराहार रहकर घोर तपस्या करने वाले शुष्क मुनि भी उनके रूप पर मोहित हो गये, उन्होंने भी इच्छाकी राम का कसकर आलिंगन करें, इन्हें बार बार छाती से चिपटावें और अपने तनकी तपन बुझावें। सर्वान्तर्यामी वांछाकल्पतरु रघुनन्दन मुनियों के भाव को समझ गये और बोले—"मुनियो! पुरुष-पुरुष आलिंगन करे इसमें पूर्ण रसका संचालन नहीं होता। अब तुम स्त्री बनने के लिये तप करो। इस तपस्या से, यह रूखा हुआ मोटे चर्मवाला शरीर ये रूखी रूखी दाढ़ी जटायें तुम्हें क्या सुख देंगी। तुम सब अबके गोपी बन जाओ, साधु से साध्वी बन जाओ मैं भी राजा के आचार-विचार शिष्टाचार मर्यादा को छोड़कर गोप

मन्त्रियों की सहायता से राज्य की रेख-देख करती थी। अब जब उनके पति विशुद्ध बन गये, तब उन्हें परम हर्ष हुआ। जब वे ऋतु स्नान करके निवृत्ति हुई तब महाराज ने सन्तान की इच्छा से वैदिक विधि पूर्वक उनके गर्भाधान करना चाहा। उस समय पतिव्रता मदयन्ती बड़े स्नेह भरे स्वर मे राजा से बोली–"प्राण-नाथ। आप को स्मरण न होगा। आप जब राक्षस भावापन्न थे, तब आपने एक गर्भाधान कराती हुई ब्राह्मण पत्नी के पति को बल पूर्वक उससे पृथक् करके भक्षण कर लिया था। उसने आप को शाप दिया था कि जब तुम गर्भाधान सस्कार करने को उद्यत होगे, तभी तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।" सो प्राणनाथ। आप उस पतिव्रता के शाप को स्मरण कीजिये। इस समय आप गर्भाधान करेंगे, तो मेरा भी मनोरथ पूर्ण न होगा। आप गर्भाधान भी न कर सकेंगे। यदि आप का कुछ हुआ, तो मै एक क्षण भी आप के बिना जीवित न रह सकूँगी इस लिये आप गर्भाधान का विचार छोड़ दें।"

राजा ने कहा—"प्रिये। तुम सत्य कहती हो। यदि मेरी मृत्यु हो गई, तो यह इक्ष्वाकुवंश सदा के लिये विलुप्त हो जायगा। उस पतिव्रता का शाप अन्यथा तो हो नही सकता। इसलिये आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा। स्त्री सुख से सदा पृथक् रहूँगा, किन्तु फिर वंश परम्परा कैसे चलेगी।"

महारानी ने कहा—"हमारे कुल देव भगवान् वशिष्ठ ही है। आप उनकी शरण में जायें, वे जो करेंगे वह धर्मानुकूल ही करेंगे।"

यह सुन कर राजा महर्षि वशिष्ठ के समीप गये और बोले–"ब्रह्मन्! मेरा वंश विच्छेद न हो, ऐसा कोई उपाय करें।

मिला। वह राम लक्ष्मण को दोनों कंधों पर रखकर भागा। वैदेही चल्लाने लगी, छटपटाने लगी, रोने लगी और राक्षस के हाथ जोड़ने लगी। श्रीराम हँस पड़े। उन्होंने विराध के एक बाहु को काट डाला, लक्ष्मण ने दूसरी को। फिर लात घूंसों से मार कर उसे शाप मुक्त कर दिया। वह पूर्व जन्म में सुप्रसिद्ध तुम्बुरु नामक गन्धर्व था। कुबेर के शाप से वह राक्षस हो गया था। श्रीराम के हाथ से मरने से वह राक्षसी योनि से छूटकर पुनः गन्धर्व हो गया। विराध का उद्धार करके उसी से महामुनि शरभंग का पता पाकर श्रीराम सीता और लक्ष्मण सहित शरभंग मुनि के आश्रम पर आये।

शरभंग मुनि के आश्रम पर श्रीराम ने देवेन्द्र को रथ सहित देखा, किन्तु इन्द्र श्रीराम को देखते ही चले गये। शरभंग महामुनि अपने आराध्य को अतिथि रूप में पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपने तप की सार्थकता समझी। भगवान् की पूजा सत्कार करके शरभंग महामुनि अग्नि में प्रवेश कर गये, श्रीराम उनके तप की प्रशंसा करते हुए दण्डकारण्य में आगे बढ़े।

श्रीराम का आगमन सुनकर समस्त ऋषि-मुनि राक्षसों के उत्पातों से दुखी होकर श्रीराम की शरण गये। उन ऋषियों को शरणार्थी समझकर भगवान् ने उन्हें अभय दान दिया और पृथ्वी को राक्षस रहित करने की दृढ़ प्रतिज्ञा की। इससे वनवासी तपस्वी, ऋषि मुनि बड़े ही प्रसन्न हुए। इसके अनन्तर श्रीराम अन्य एक तपस्वी मुनि के आश्रम पर गये। वहाँ मुनि के साथ श्रीराम का सुखद सम्वाद हुआ, वहाँ से चलकर भाई और पत्नी के सहित श्रीराघव धर्मभृत मुनि के आश्रम पर गये। इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरे और दूसरे के पश्चात् तीसरे मुनि के आश्रम पर रघुनन्दन जाते। कहीं एक दिन निवास करते; कहीं दो दिन;

मे आनन्द मनाया गया। अश्मक (पत्थर) से आघात करने के कारण उनकी उत्पत्ति हुई अतः मुनि ने उसका नाम अश्मक रखा।

कुमार अश्मक अपने पिता के समान ही सुन्दर और गुणी थे। शनैः शनैः वे बडे हुए। युवा होने पर महाराज सौदास ने उनका विवाह कर दिया। अन्त में उन्हें राज पाट सौप कर वे महारानी मदयन्ती के साथ वन में चले गये और वहाँ तपस्या करके स्वर्गगामी हुए।

श्री शुक कहते है—"राजन् ! पिता के बन चले जाने के अनन्तर अश्मक धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। इनके एक पुत्र हुआ जो क्षत्रिय कुल का मूल होने से मूलक कहलाया।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"क्षत्रिय कुल के मूल तो महाराज मनु हैं, ये अश्मक पुत्र मूलक क्षत्रिय कुल के मूलक क्यों कहाये। हमारी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

श्री शुक बोले—"अच्छी बात है सुनिये राजन् ! मैं इसका कारण बताता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

भगवन् ! का भरि दयो उदरमहँ जो नहिँ निकसत।
अटक्यो एकहि ठौर तनिक तहँ तें नहिँ खिसकत॥
मुनि हँसि लियो अश्म मन्त्र पढ़ि उदर छुवायो।
मदयन्ती ने तुरत सुघर सुत श्रम बिनु जायो॥
प्रमुदित सबही जन भये, राजा रानी पुरोहित।
तेई अश्मक नामतं, भये भूप जग महँ विदित॥

आपके मुझे दर्शन हो गये। राघव! मैं चिरकाल से आपके दर्शनों की प्रतीक्षा कर रहा था, कि आप कब कृपा करते हैं, कब अपने दर्शनों से मेरे आश्रम को परम पावन बनाते हैं। मुझमें तो इतनी शक्ति नहीं, सामर्थ्य नहीं जो अपने पुरुषार्थ के सहारे आपके दर्शन कर सकूँ। आप ही जब कृपा करो, आप ही जब देना चाहो तभी दर्शन हो सकते हैं।"

श्रीराम ने अत्यन्त ही नम्रता के साथ कहा—"भगवान् के दर्शनों की मुझे भी बड़ी उत्कट अभिलाषा थी। अब मेरी इच्छा है वनवास की शेष अवधि भगवान् के चरणों में ही व्यतीत करूँ। अतः अब मुझे आप अपने चरणों के ही सान्निध्य में रखें।"

अगस्त्य मुनि ने कहा—"श्रीराम! यह आश्रम तुम्हारा ही है। इसमें सुख पूर्वक निवास करो।" यह कहकर मुनि ने श्रीराम को विधिपूर्वक अर्घ्य दिया खाने को कन्द मूल फल दिये और सीता को श्रमित देखकर रहने को एक पर्णकुटी दी, जिसके आस-पास सुगन्धित पुष्प लगे हुए थे। श्रीराम मुनि के सुन्दर स्वच्छ फल पुष्पों के वृक्षों से युक्त उस अनुपम आश्रम को देखकर परम प्रसन्न हुए और वह रात्रि उन्होंने सुखपूर्वक वहाँ बिताई।

दूसरे दिन मुनि ने कई दिव्य अस्त्र श्रीराम को दिये, जो कभी भी व्यर्थ होने वाले नहीं थे, जिससे राक्षसों को वध किया जा सकता था। मुनि की प्रसन्नता के लिये उनका गौरव बढ़ाने के निमित्त वे सब अस्त्र श्रीराम ने सादर ग्रहण किये। अस्त्र आदि ग्रहण करके श्रीराम ने कहा—"भगवन्? मैं चाहता यह हूँ, कि आप अपने समीप ही कुछ दूरी पर पृथक् मुझे ऐसा स्थान बतावें जिसमें मैं सुखपूर्वक स्वतन्त्रता से रह सकूँ। आप सब अहिंसा व्रतधारी ब्राह्मण हैं। मैं ठहरा अस्त्र शस्त्रधारी क्षत्रिय। मैं दुष्टों

स्वभावतः शुद्ध कार्य होते है और अशुद्ध भाव होने से अशुद्ध कार्य होते है। सात्विक भावों का जब प्राबल्य होता है तब सात्विक कार्य होते है, तमोगुण की प्रबलता में तामसी कार्य इसीलिये मुनियों ने भाव शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया है। अन्य शरीरों में अन्य जाति के प्राणियों का आवेश हो जाता है। मनुष्य के शरीर मे भूत, प्रेत, पिशाच, बैताल, ब्रह्मराक्षस आदि घुस जाते है, तब उसका शरीर तो वैसा ही रहता है, चेष्टा सब उन आवेश वाले प्राणियों की सी हो जाती है। जिसने जीवन में कभी सुरापान न किया हो, यदि उसके शरीर में कोई सुरापी जीव घुस जाता है, तो वह यथेष्ट सुरापान कर लेता है। उस समय वह जो कार्य करता है, स्वयं नहीं करता। उसके शरीर मे जिसका आवेश होता है, वही सब करता है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! वसिष्ठजी के शाप से महाराज सौदास के शरीर में राक्षस घुस गया। अब वे सभी चेष्टायें राक्षसों की सी करने लगे। जगलों में घूमने लगे। जहाँ भी किसी पुरुष को देखते, वही उसे पकड़कर खाजाते। एक दिन राजा राक्षसभावापन्न होकर भूखे इधर-उधर आहार की खोज में रात्रि के समय घूम रहे थे उसी समय उन्होंने देखा एक ऋषि अपनी पत्नी में गर्भाधान संस्कार कर रहे है। संतति की कामना से द्विज पत्नी अपने पति के साथ सहवास कर रही है। महाराज की ऐसी चेष्टा देखकर द्विज पत्नी डर गई। राजा ने बल पूर्वक जाकर मुनि को पकड़ लिया। अभी तक मुनि पत्नी का मनोरथ पूर्ण नही हुआ था, उस समय में राक्षस के प्रहार करने से पत्नी पति दोनो को मर्मान्तिक क्लेश हुआ। राजाने बल पूर्वक पति पत्नी को एक दूसरे से पृथक कर दिया और उनमें से पुरुष को पकड़ लिया स्त्री को, छोड़ दिया। राक्षस भी सहसा स्त्री पर

की ओर के विद्युज्जिह्व भी, रावण से लड़ने आया था। उसने अपनी जिह्वा से रावण की पीठ को चाटना प्रारम्भ कर दिया। पहले तो रावण को कुछ भान ही न हुआ जब उसमें कष्ट होने लगा तो खड्ग से उसकी जिह्वा काट ली और उसे मार डाला। दानवों को जीतकर वह लंकापुरी आया। तब रोती चिल्लाती विलाप करती सूर्पणखा उसके समीप आई और बोली—"तू मेरा बड़ा भाई है, फिर भी तैंने मुझे विधवा बना दिया। जान बूझकर मेरे पति को युद्ध में मार डाला, अब मैं कैसे अपने दिन बिताऊँ ?"

रावण ने अपनी छोटी बहिन को पुचकारा और कहा—"बहिन ! युद्ध में मैं उन्मत्त हो गया था। मुझे अपने पराये का ध्यान ही नहीं रहा। तेरा पति भूल से मेरे हाथ से मारा गया। अब जो हो गया सो हो गया। मरा हुआ व्यक्ति लौट तो सकता नहीं। अब तू मान सम्मान के साथ यहीं मेरे समीप रहे। ये तेरी बुआ के लड़के खर चौदह सहस्र राक्षसी सेना सहित तेरी रक्षा के लिए जन स्थान में रहेंगे। वहाँ ये अपना एक राज्य स्थापित करेंगे, किन्तु रहेंगे मेरे अधीन ही। दूषण त्रिशिरा इसके सहायक होंगे। तू इनके संरक्षण में सुख पूर्वक अपने वैधव्य के जीवन को व्यतीत करे।"

अगस्त्य मुनि श्रीरामचन्द्र से कह रहे हैं—"सो राघव ! तब से १४ सहस्र राक्षसों के सहित खर इस दंडकारण्य के जन स्थान नामक भाग में रहता है। राघवेन्द्र ! राक्षस बड़ा उपद्रव करते हैं। वे मुनियों को बहुत कष्ट देते हैं। जो मुनि अशुचि रहते हैं, उन्हें खा जाते हैं। आप वहाँ रहेंगे तो यह स्थान मुनियों के लिये निरापद हो जायगा। वह स्थान पास ही है। वह बड़ा रमणीक स्थान है। पुण्यतोया गोदावरी वहाँ बहती

पुण्यश्लोक राजर्षि सौदास हैं। आपके द्वारा यह क्रूर कर्म कभी भी न होना चाहिये। आपका साधु समाज में सर्वत्र सम्मान है। आप तो दीनों पर सदा दया करते रहते हैं, फिर गौ और ब्राह्मणों के तो आप भक्त हैं। ये वेदवादी धर्मज्ञ श्रोतिय ब्राह्मण है। आप इन्हें क्यों खा जाना चाहते है ? यदि आपने इन्हें खाने का निश्चय कर लिया है, तो पहिले मुझे खा लीजिये। इनके बिना मैं एक क्षण भी जीवित नही रह सकती।"

श्री शुकदेवजी कहते है–"राजन् ! इस प्रकार वह विप्र पत्नी विविध भाँति से विलाप करती रही, अनेक प्रकार से राजा को समझाती रही, किन्तु महाराज सौदास तो शाप से विमोहित थे, उन्होने ब्राह्मणी की एक बात भी न सुनी। वे उसके पति को खा गये। यह देखकर मुनिपत्नी को बड़ा दु:ख हुआ। उसने राजा को शाप देते हुए क्रोध में भरकर कहा–'अरे पापी ! अरे क्रूर ! तैंने मुझ अबला पर तनिक भी दया न की। मैं सतान की इच्छा से पति का सहवास कर रही थी, तैंने बलात् मेरे पति से मुझे पृथक् कर दिया। मेरी इच्छा पूरी न होने दी, अत: मैं तुझे शाप देती हूँ, कि तू भी जब स्त्री समागम करेगा, तब तेरी भी इसी प्रकार मृत्यु हो जायगी, तू सन्तानोत्पत्ति करने में कभी समर्थ न हो सकेगा।"

महाराज तो शाप विमोहित थे, उन्होने ब्राह्मणी के शाप पर कुछ भी ध्यान नही दिया। वे ब्राह्मण को खा कर चले गये। वह पति परायण विप्र पत्नी अपने पति की अस्थियों को लेकर चिता चुनकर सती हो गई। वह परलोक में जाकर अपने पति के साथ मिल गई। इस प्रकार राक्षस भावापन्न राजा को मुनि पत्नी का अनपत्य होने का शाप हुआ था।

शोभा को देखकर विमुग्ध हो गये। प्रसन्नता प्रकट करते हुए लक्ष्मण से बोले—"लक्ष्मण! मुनि ने जैसा बताया वैसा ही सुन्दर यह स्थान है। यहाँ जल का भी सुपास है, ईंधन भी यथेष्ट है कन्दमूल फलों का भी बाहुल्य है। यहाँ हरिन भी बहुत हैं। सुन्दर बोली बोलने वाले पक्षियों के झुंड भी इन वृक्षों के आश्रय में रहते हैं। यहीं तुम कोई सुन्दर सा स्थान देखकर अपनी इच्छानुसार कुटिया बनाओ।"

यह सुनते ही लक्ष्मण तो विह्वल हो गये, उनकी आँखों में आँसू भर आये और रोते हुए श्रीराम के चरणों में गिरकर सिसकियाँ भरने लगे और पूछने लगे—राघव! मुझसे ऐसा कौनसा अपराध बन गया है?"

श्रीरामचन्द्र अपने प्रिय भाई लक्ष्मण की इस विकलता का कुछ भी कारण न समझे। वे बड़े स्नेह से बोले—लक्ष्मण! भैया! मैंने तो कोई ऐसी बात कही नहीं। तुमसे भूल में भी मेरा कोई अपराध नहीं बना। तुम इतने विकल क्यों हो रहे हो?"

रोते रोते लक्ष्मणबोले—"राघव! मेरी अपनी इच्छा कहाँ है, मैंने तो अपनी इच्छा आपकी इच्छामें मिला दी है, उसमें घोलकर एक कर दी है। फिर मैं अपनी इच्छा से कुटी कैसे बना सकता हूँ। मुझे आप आज्ञा करें, वहीं मैं कुटी बनाऊँ। मेरी अपनी तो कोई इच्छा ही नहीं। मैं तो दास हूँ, आज्ञा का पालक हूँ। आप जहाँ आज्ञा करें वहीं मैं कार्यारम्भ करूँ।"

श्रीराम को अपनी भूल मालूम हुई। उन्होंने बड़े स्नेह से लक्ष्मण के कन्धे पर हाथ रखा और उन्हें एक समतल भूमि के समीप ले गये और बोले—"भैया! यहाँ उत्तम रहेगा। यहीं बनाओ।"

गौतम मुनि बोले—"अच्छी बात है, यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है, तो मुझे तो कुछ इच्छा है नही, अपनी गुरु माता के पास जाओ, वह जो वस्तु लाने को कहे, वह उसे लाकर दे दो"

यह सुनकर उत्तङ्क अपनी गुरु माता अहल्या के निकट गये और बोले—"माता जी! अब मै विद्या समाप्त करके जा रहा हूँ, मैं कुछ गुरु दक्षिणा देना चाहता हूँ, गुरु जी ने मुझे आपके पास भेजा है, आपकी जो भी इच्छा हो, उसे मै पूर्ण करूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे है—"ऋषियो! स्त्रियों से कोई मन की बात पूछे, तो वे कोई न कोई आभूषण की ही इच्छा करेगी। विवाह में-त्योहार पर्व में-जायँगी, तो सबसे पहिले उनकी दृष्टि आभूषणों पर ही पड़ेगी, किसके कर्णफूल सुन्दर हैं, किसका हार चमकीला है, किसका कौन सा आभूषण कैसा है, किसकी अँगूठी में कैसा नग है, जो वस्तु उनके मन पर चढ़ जायगी, उसे बार-बार देखेंगी उसका मूल्य, मिलने का पता पूछेगी और अवसर पड़ने पर उसके लिये पति से आग्रह करेंगी। चाहे आभूषण पेटी में ही बन्द रहें कभी भी न पहिने, किन्तु आग्रह अवश्य करेंगी। गौतम पत्नी अहल्या कभी यज्ञ में अपने पति के साथ अयोध्या गई होंगी। वहाँ महलों मे उन्होंने कभी सौदास की पतिव्रता पत्नी मदयन्ती को दिव्य कुण्डल पहिने देखा होगा। वे कुंडल उसके मन पर चढ़ गये होगे। पति से तो कैसे कहती। जब शिष्य ने आकर पूछा—"तब बड़े स्नेह से बोली—"बेटा? यदि तुम मेरी इच्छा पूरी करना चाहते हो, तो मेरी एक इच्छा है,उसे यदि पूरी कर सको तो मैं परम प्रसन्न होऊँगी।"

उत्तङ्क मुनि बोले—'माताजी। आप अपनी इच्छा मुझे बताइये। असम्भव बात भी होगी, तो भी मैं उसे पूर्ण करूँगा।

रहे। लक्ष्मण कभी भी अपने भाई राम से पृथक् न हों।" यह सुनते ही लक्ष्मण ने दौड़कर जानकी के चरण पकड़े। जानकी ने अपने चरणों की ओर नमित उनके सिर को उठाकर उस पर हाथ फेरा।"

इस प्रकार अपने परिश्रम का पूर्ण परितोषिक पाकर लक्ष्मण पुष्प तोड़ लाये। फिर उन्होंने देवताओं के निमित्त से पुष्पों की की बलि दी। तब श्रीराम ने कुटी में प्रवेश किया। जानकी के सहित सुख पूर्वक श्रीराम उसमें निवास करने लगे। लक्ष्मणजी उस आश्रम को सजाने और सुन्दर बनाने के लिये सतत अथक परिश्रम करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मन बहलाने के लिये एकान्त में वृक्षों से बढ़ कर कोई सुन्दर सरस सुगम साधन नहीं। लोग पुत्रों से प्यार करके उन्हें खिलापिला के उनके साथ हँसी विनोद करके सुख का अनुभव करते हैं। बच्चों के सुख हँसने खेलने में अपूर्व सुख होता ही है, किन्तु वृक्ष पौधों के साथ समय बिताने में जो सुख होता है वह पुत्रों के साथ भी नहीं होता। वे लोग बड़भागी हैं, जिन्हें वृक्षों, लताओं और पौधों के साथ खेलने में आनन्द आता है। बच्चे तो खेलते-खेलते रो पड़ते हैं, कभी ऐसे आचरण कर बैठते हैं, कि उन क्रोध आ जाती है, कभी बीमार पड़ जात, हैं तो दुःख भी होता है, कुपूत निकल गये तो गाली भी देते हैं, मार देते हैं, किन्तु वृक्षों में यह बात नहीं। वे कभी गाली नहीं देते, कुवाच्य नहीं बोलते। रोते नहीं, सदा हँसते रहते हैं, कोई ध्यान से सुने तो वे बोलते भी हैं बातें भी करते हैं। पानी न पाने से मुरझा जाते हैं, पानी पाते ही तुरन्त हरे हो जाते हैं। समय आते ही खिल जाते हैं, सुगन्ध बखेर देते हैं। फल देते हैं स्वयं उन्हें नहीं खाते पास में रहने वाले अपने

गुरुदक्षिणा के लिये जो प्रयत्न कर रहा हो, इन्हें अवध्य बताया है। अत. आप मुझे मार कर खाने का विचार छोड़ दें।"

राजा सौदास बोले—"ब्रह्मन्! मैं तो राक्षस हूँ। दिन का छठा भाग बीत चुका, मुझे भूख लग रही है आप दे रहे हैं धर्म की सीख। यह उसी प्रकार की शिक्षा है जैसे प्रज्वलित अग्नि को घृत डालकर शान्त करना। द्विजवर? अबतो मैं आपको बिना खाये छोड नहीं सकता।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"ब्रह्मन्! मुझे मरने से तो भय है नही, किन्तु मुझे गुरुदक्षिणा की चिन्ता है। यदि आपने मुझे खाने का ही दृढ़ संकल्प कर लिया है, तो पहिले मुझे मेरी मनमानी वस्तु दे दीजिये। उसे देकर तथा गुरु ऋण से उऋण होकर मै पुनः आपके समीप आ जाऊँगा, तब आप मुझे खालें।"

राजा सौदास बोले—"अजी, महाराज? मैं कोई बच्चा तो हूँ नही, जो आप मुझे फुसला लें। राक्षस के मुख से निकल कर फिर कौन प्राण गवाँने आता है।"

उत्तङ्क मुनि ने उत्तेजित होकर कहा—"राजन्! आप मुझे झूठा समझते है? मैं अवश्य आऊँगा।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, मांगिये, क्या आपको माँगना है। यदि वह वस्तु मेरे अधीन हुई तो उसके मिलने में आप तनिक भी सन्देह न करें।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"मुझे अपनी गुरुपत्नी को देने के लिये आपकी पतिव्रता पत्नी के कानों के दिव्य कुण्डल चाहिये।"

राजा ने कहा—"वह तो मेरी रानी के पास है, उससे जाकर आप माँगे।"

का प्रसन्नता होती। वे सीताजी के गले में गलबैयाँ डालकर इधर से उधर लक्ष्मण की लगाई वाटिका में परिभ्रमण करते। जानकी

का सब गुण समझाते। छोटे-छोटे हरिनों के बच्चों को पकड़ लाते। जानकी उन्हें पालतीं नीवार खिलातीं। थपथपातीं और उनके मुख को चूमतीं, वे भी जानकी के पीछे-पीछे वाटिका में

मुनि ने रानी से जाकर ज्यों ही यह बात कही त्यों ही रानी ने अपने कानों में से दिव्यकुंडल उतार कर मुनि को दे दिये और कह दिया—"ब्रह्मन् ! ऐसे दिव्य कुण्डल तीनों लोकों में भी कहीं नहीं है। इन्हें आप पृथिवी पर भूल कर भी न रखना नहीं तो कोई नाग, देव, दानव इन्हें तुरन्त उठा ले जायगा।"

रानी की यह बात सुन कर उसे आशीर्वाद देकर मृग चर्म में कुंडलों को लपेट कर मुनि उत्तंक चल दिये। वे एक बार राजा के पास मित्र भाव से फिर आये और बोले—"राजन् ! आप का कल्याण हो, आप ने जो रानी को संकेत वचन कहा था, उसका अभिप्राय क्या है ?"

राजा बोले—"ब्रह्मन् ! जीवन भर मैंने ब्राह्मणों की सेवा की इसका फल यह हुआ, कि मुझे राक्षसी योनि प्राप्त हुई। फिर भी जैसे अबोध बालक को माँ के अतिरिक्त कोई गति नही, वैसे ही ब्राह्मणों के अतिरिक्त मेरी भी कोई गति नही। इसीलिये मैंने आप को राक्षस भाव में भी मुहमांगा दान दिया। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। अब तुम्हें देखना है कि तुम कुंडल देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हो या नही। लौट कर मेरा आहार बनते हो या नहीं।"

यह सुन कर उत्तंग मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप से मित्र भाव से एक प्रश्न पूछता हूँ, उसका उत्तर आप मैत्री धर्म समझ कर दें। क्योंकि सज्जन पुरुष जिससे वार्तालाप कर लेते हैं, वे उनके मित्र बन जाते हैं। अतः आप मेरे मित्र हुए। राक्षस भाव से नहीं मित्रभाव से आप मेरी बात का उत्तर दें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, पूछिये ! मैं मित्रभाव से ही यथार्थ उत्तर दूँगा।"

है उसी तरह अरण्य में अपने जीवन के साथ जानकी का अंग-अंग खिल जाता। वे आनन्दातिरेक में अपने आपको भूल जातीं।

एक दिन की बात है, कि अपनी प्रियतमा से सटे हुए—उसके अंगों में अपने अंगों को सटाये हुए श्रीराघव सुखपूर्वक पुष्पवाटिका की वेदी पर बैठे हुए थे। दूर पर लक्ष्मणजी कुदाल से भूमि को खोद रहे थे। आज उन्हें एक नई धुन सवार हुई। कहीं वे छोटे से नीबू के वृक्ष को फला फूला देख आये थे। उसके फल देखने में बड़े ही सुन्दर लगते थे। उन्होंने सोचा—आज एक बड़ा सा गड्ढा खोदकर फलों सहित उस वृक्षको रात्रि में लगा दूँगा। प्रातः उठते ही फलों फूलों से लदे उस वृक्ष को देखकर जानकी चकित रह जायँगीं और परम विस्मय के साथ श्रीराघव से पूछेंगी—"प्राणनाथ! रात्रि ही रात्रि में इस वृक्ष में फल-फूल कैसे लग गये। वे फले वृक्ष को देखकर कितनी प्रसन्न होंगी। जब राघव कहेंगे यह लक्ष्मण का पुरुषार्थ है, तो जगदम्बा मेरे सिरको सूँघेगी, मैं निहाल हो जाऊँगा उनकेचरण जल को सिर पर चढ़ाऊँगा। इन्हीं विचारों में वे वे गड्ढा खोदते-खोदते अपने आपको भूल रहे थे। उनके सम्पूर्ण शरीर से पसीना चू रहा था। उन्हें पता भी नहीं था श्रीराम वैदेही को लेकर गोदावरी तट पर गये हैं या कुटी में ही बैठे हैं।

उसी समय रावण की छोटी विधवा बहिन स्वेच्छाचारिणी अकेली ही घूमती उधर आ निकली। पंचवटी के समीप ऐसे सुन्दर सजे हुए आश्रम को देखकर उसे कुतूहल हुआ कि यह नया आश्रम किस ऋषि ने बना लिया। अपने कुतूहल को शान्त करने के लिये तथा आश्रम की सुन्दरता को देखने के लिये यह आश्रम की ओर शीघ्रता से आई। दूर से ही उसने सीता के

का शाप हो गया, तो उनका आगे का वंश कैसे चला, इसे कृपा कर हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो! अब मैं आप को सौदास अश्मक का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप इसे श्रद्धा सहित सुनें।"

(छप्पय)

बीते बारह बरस शाप उद्धार भयो जब।
करिबे गर्भाधान भये उद्यत भूपति तब॥
बरजे रानी नृपति शापको याद दिलाई।
महिषी सतति बिना बहुत रोई घबराई॥
वंशनाशको भय समुझि, लख्यो न अन्य उपाय जब।
गुरु वशिष्ठते बिनय करि, भूप प्रार्थना करी तब॥

तन्मय है। यदि मैं इस स्त्री से भी सुन्दरी स्त्री बन जाऊँ तो निश्चय है यह इसे छोड़कर मुझे अपना लेगा वरण कर लेगा।

इस विचार के आते ही उसे बड़ा हर्ष हुआ। उसने समझा मार ली बाजी। अब तो यह मेरा हो चुका।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भाग्य इसका नाम है। काम भाव में फँसे राक्षसी का मन भाग्यवश भगवान् में अनुरक्त हो गया यद्यपि वह जानती नहीं थी ये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा सनातन सच्चिदानन्द आनन्दघन श्रीराम हैं, किन्तु इससे क्या हुआ? बिना जाने भी अमृत को पी लो, तो अमर तो हो ही जाओगे, बिना जाने भी अग्नि को छू लो, तो जल तो जाओगे ही। प्रेमास्पद में किसी भी प्रकार प्रेम हो गया। उसे रिझाने की बात मन में आ गई, तो बेड़ा पार हो गया। आज नहीं कल, कल नहीं परसों। प्यारे तो मिलेंगे ही, उनके बाहुपाश में तो फँसना पड़ेगा। जिसका जिस पर सत्य स्नेह होता है वह उसे निस्संदेह मिल जाता है। धैर्य चाहिये। कामिनी सूर्पणखा ने अपनी बुद्धि से अत्यन्त सुन्दर स्त्री का रूप रख लिया और छम्म-छम्म करती हुई मन ही मन मुस्कराती हुई श्रीराम के सम्मुख खड़ी हुई।

दूर से ही कड़े छड़े नूपुर और चूड़ियों की खनखनाहट और झनझनाहट सुनकर सीता जी चौंक पड़ीं। अपने पति से सटी हुई उनके अंगों में अंगों को मिलाये जो बैठी थीं किसी अपरिचित स्त्री को आते देखकर शीघ्रता से पृथक् हो गईं। उन्होंने अपने वस्त्रों को सम्हाला और वे चकित चकित नेत्रों से उस कामरूपिणी अबला को शंका की दृष्टि से निहारने लगीं।

दिखाई देने वाला कार्य अधर्म माना जाता है। जो सर्वज्ञ हैं वे ही धर्म के मर्म को भली भाँति जान सकते है।

श्रीशुकदेजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज अश्मक के पुत्र मनुकुल के मूलक क्यों हुए इस प्रसङ्ग को मैं आपको सुनाता हूँ। महाराज अश्मक ने बहुत दिनों तक पृथिवी का पालन किया। बहुत से यज्ञ याग किये और अन्त में अपने पुत्र मूलक को राज-पाट सौपकर वन में तपस्या करने चले गये।

जिन दिनों महाराज मूलक पृथिवी का राज्य करते थे,उन्ही दिनों जमदग्नि के सुत भगवान् के अंशावतार श्रीपरशुरामजी का प्राकट्य हुआ। उनके पिता को हैहय कुल के क्षत्रियों ने मार डाला था, अतः महर्षि परशुराम ने हाथ मे फरसा लेकर प्रतिज्ञा की थी कि मैं 'पृथिवी पर एक भी क्षत्रिय को न छोड़ूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके उन्होने क्षत्रिय कुल का संहार करना आरम्भ कर दिया। जहाँ भी बूढ़े, बच्चे, युवक क्षत्रिय को देखते वहीं वे उसका संहार कर देते। इस प्रकार क्षत्रियो का संहार करते करते वे अयोध्या पुरी में भी आये।

महाराज मूलक ने जब सुना कि क्षत्रिय कुल नाशक महर्षि परशुराम आरहे है, तो उन्होने सोचा—"वे तो भगवान् के अशावतार है, उनसे मैं युद्ध में तो किसी प्रकार जीत नहीं सकता अतः वे महल में जाकर रानियों में छिप गये। रानियो ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और चूड़ियाँ पहिना दीं। महाराज परशुराम जी आये उन्होंने चारो ओर राजा को खोजा, राजा का कही पता ही न लगा। अन्तःपुर में उन्होने देखा तो सब रानी ही रानी बैठी है, स्त्रियाँ तो सदा अवध्या बताई है, अतः महर्षि देख भाल कर लौट आये। उन्होंने समझा राजा भाग गया।

श्रीजानकी भी हँस पड़ीं। अपनी हँसी को रोककर बनावटी क्रोध के भाव से वे श्रीराम की ओर कड़ी दृष्टि से देखने लगीं। वे नेत्रों में ही कह रही थीं तुम इस कुलटा स्त्री से क्यों व्यर्थ की बातें कर रहे हो।" एकान्त में यदि कोई स्त्री ऐसी बात कहती तो श्रीराम उससे बात करना तो पृथक् रहा उसकी ओर देखते भी नहीं, किन्तु जानकी के समीप रहने से केवल उनके मनोरंजन के लिये श्रीराम उससे गम्भीर होकर बोले—"अब मैं क्या बताऊँ, तुम हो बड़ी सुन्दरी, किन्तु जिसका एक बार हाथ पकड़ लिया है उसे कैसे छोड़ूँ? जिसके साथ तुमने विवाह किया हो, वह यदि तुम्हें छोड़ना चाहे, तो तुम इसे अच्छा न समझोगी। यही बात मेरे लिये सोच लो।"

यह सुनकर सूर्पणखा बोली—"अजी नहीं, प्रेम में कोई नियम नहीं होता। देखो, मैं तुमसे कितना प्रेम करती हूँ, मैं इस कुरूपा बुढ़िया से सुन्दरी भी अधिक हूँ, तुम मुझे अपनी दुलहिन बना लो। जैसे अद्वितीय सुन्दर तुम हो, वैसे ही अद्वितीया सुन्दरी मैं हूँ। क्यों हूँ न?"

श्रीराम बोले—"भला इसमें भी कुछ पूछना है? वैसे कुछ संदेह भी हो सकता था, किन्तु तुम तो स्वयं ही अपने मुख से अपने रूप सौन्दर्यका वर्णन कर रही हो, किन्तु करूँ क्या मैं एक विशेष नियम में हूँ। इसलिए एक ही पत्नी रख सकता हूँ।"

उस काम रूपिणी मानुषी स्त्री बनी राक्षसी ने कहा—"अरे, तुम कैसे पुराने विचार के दकियानूसी आदमी हो। मैंने तुमसे पहिले ही कह दिया प्रेम में नेम नहीं चलता। कैसे नेम फेम, ये सब तो बाबाजियों और स्वार्थी ब्राह्मणों के पेट भरने के जाल हैं। ऐसा सुन्दर शरीर पाकर भी व्रत उपवास, नियम अनुष्ठान मूर्ख लोग करते हैं। विषय भोगों के रहते हुए भी उनका त्याग

बात यह थी, कि दैत्यों ने देवताओं पर चढ़ाई कर दी। देवता बहुत दिनों तक लड़ते रहे किन्तु वे दैत्यों को पराजित न कर सके। जब वे सब प्रकार से थक गये, तब वे पृथिवी पर आये। उन दिनों महाराज खटवाङ्ग इस सम्पूर्ण भूमंडल का शासन करते थे। वे पराक्रम में इन्द्र के समान थे। देवताओं ने प्रार्थना की–"राजन् ! आप हमारी ओर से चलकर असुरों से युद्ध करें।' देवतओं की प्रार्थना से महाराज अपने दिव्य रथ पर चढ़ कर स्वर्ग गये और उन्होंने युद्ध में असुरों का संहार किया। देवताओं की विजय हुई।"

विजय के अनन्तर देवताओं ने कहा–"राजन् ! आपने बड़ा श्रम किया, आप मुक्ति को छोड़ कर हमसे और जो भी चाहें वरदान माँग लें, क्यों कि मुक्ति के दाता तो मधुसूदन ही है।"

राजा ने कहा–"देवताओ ! मैं सर्वप्रथम यह जानना चाहता हूँ, कि मेरी अब आयु कितनी और शेष है ?"

देवताओ ने कहा—"अजी, राजन् ! आयु की क्या पूछते है, आपकी आयु तो अब केवल मुहूर्त भर और शेष है।"

यह सुन शीघ्रता के साथ राजा बोले—"तो अब रहने दीजिये मुझे कुछ भी वर न चाहिये अब तो मैं इस एक मुहूर्त का सदुपयोग करना चाहता हूँ, इस एक मुहूर्त में ही मन माधव के पाद पद्मों में लगाकर परम गति प्राप्त करना चाहता हूँ। मुझे मेरे नगर मे ब्राह्मणों के बीच में जाने दीजिये। यद्यपि आप सब सत्व प्रधान है, किन्तु स्वर्ग के दिव्य विषय भोगों में आसक्त होने के कारण अपने अन्तः करण में स्थित परम प्रिय सनातन आत्मा श्री हरि को नही जान पाते।"

ऐसा कह कर महाराज तुरन्त स्वर्ग से अवनि पर आये, मन को श्रीहरि के चरणों में लगाकर उन्होंने मर्मान्तिक वाणी में यह

भी हँसी करने लग गये। सीताजी सब समझ रही थीं कि भगवान इस स्त्री से हँसी विनोद कर रहे हैं, इसीलिये वे रहस्यमयी दृष्टि से प्रणयकोप की मुद्रा दिखाती हुई बीच-बीच में श्री राघव की ओर देख लेतीं, किन्तु कुछ बोलती नहीं थीं। इससे श्रीराम को और भी उत्साह मिलता। उसे और भी बनाने का प्रयत्न करते। जब उसने बार-बार प्रेम और नेह की दुहाई देकर श्रीरामजी से अपनाने की प्रार्थना की, तब श्रीराम ने सोचा—यह लक्ष्मण हमारे हँसी विनोद में कभी सम्मिलित नहीं होता, सदा काम में ही लगा रहता है। कुछ इसका भी तो मनोरंजन होना चाहिये। यह सोचकर बड़ी गम्भीरता से उस राक्षसी से बोले—"हे सुन्दरी! हे चन्द्रमुखी! हे वरोरु! तुम एक काम करो। अब मेरे पास तो जैसी बूढ़ी टेढ़ी यह मेरी दुलहिन है इसका निर्वाह करना ही है। मैं तुम्हें एक उपाय बताता हूँ।"

उत्सुकता प्रकट करते हुए राक्षसी ने पूछा—"वह क्या?"

श्रीराम और गम्भीर होकर बोले—"देखो, मेरा एक छोटा भाई है। वह मुझसे कुछ कम सुन्दर नहीं है। मेरे पास तो एक स्त्री है। तुम उसके पास जाओ। वह यदि तुमसे विवाह कर ले तो उसका भी काम चलेगा, तुम्हारा भी मनोरथ पूर्ण हो जायगा। फिर तुम दोनों देवरानी जिठानी आनन्द से साथ-साथ रहना।"

राक्षसी के मन में यह बात बैठ गई, वह समीप में ही काम करने वाले लक्ष्मण के पास गई। श्रीरामचन्द्रजी उसके जाते ही एक रहस्य भरी दृष्टि जानकी के ऊपर डालकर हँस पड़े। तब जानकीजी ने प्रेमकोप के स्वर में उन्हें ठेलते हुए कहा—"चलो, रहने भी दो, तुम्हें बात बनाना बहुत आता है, अब उस

भली भाँति भगवान् में तन्मय हो जाय तो उसका बेड़ा पार ही समझो। जब महाराज को यह दृश्य प्रपञ्च मिथ्या और स्वप्न वत् प्रतीत होने लगा तब देहादि में आत्मबुद्धि रूप अज्ञान को परित्याग करके अपने आप में ही स्थित हो गये। अर्थात् वे भगवान् वासुदेवमय हो गये जो सत्य स्वरूप परब्रह्म और अति-सूक्ष्म तथा अति स्थूल है जो इस सम्पूर्ण ससार में सर्वत्र व्याप्त हैं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज खडवाङ्ग परम पद को प्राप्त हुए तो उनके पुत्र महाराज दीर्घबाहु राजा हुए। इन दीर्घबाहु का ही दूसरा नाम दिलीप है, इन दिलीप ही के पुत्र राजर्षि रघु हुए। ये इतने प्रतापी हुए कि इक्ष्वाकु वंश इनके अनन्तर रघुवशी कहलाने लगे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन् ! मुझे महा-राज रघु और उनके वश के मुख्य मुख्य राजाओं का चरित्र सुनाइये।"

यह सुनकर आँखों में आँसू भरकर श्रीशुक बोले—"राजन् ! अब मैं तुम्हें रघुवंश चरित्र सुनाता हूँ। आप श्रद्धा से सुने।"

छप्पय

जानी एक मुहूर्त आयु सब जग बिसरायो।
करिकें ध्यान अखण्ड परम पद नृप ने पायो॥
तिनके पुत्र दिलीप यशस्वी दीर्घबाहु वर।
सन्तनि बिनु अति दुखित गये निबसें जहँ गुरुवर॥
महिषी संग सुदक्षिणा, लिये जाय गुरु पद गहे।
आशिष दे निज शिष्यतें, वचन मुदित मन गुरु कहे॥

लक्ष्मण गड्ढा खोदने में तन्मय थे उसी समय छम्म छम्म करती राक्षसी पहुँची। लक्ष्मण के भी अपार अनवद्य सौन्दर्य को देखकर राक्षसी विमुग्ध हो गई। उनकी गोल गोल लम्बी लम्बी भुजाओं तथा विशाल और चौड़ी छाती को देखकर वह उनके समीप जाकर बोली—"राम के भाई लक्ष्मण तुम ही हो ?"

लक्ष्मणजी ने ज्यों ही सिर ऊपर उठाया, तो देखा एक बड़ी सुन्दरी स्त्री खड़ी है। बनावट तो बनावट ही है। लक्ष्मणजी उसे देखते ही समझ गये यह कामचारिणी कुलटा राक्षसी है। बनावटी रूप रखकर किसी बुरे अभिप्राय से आई है। उन्होंने कुदाल रख दिया, सुवर्ण के समान तपे हुए गौरवर्ण के शरीर पर मोतियों की भाँति जो बूँदें झलक रही थी, टपक रही थीं उन्हें अपने वल्कल वस्त्र से पूछते हुए कहा—"हाँ जी, मेरा ही नाम लक्ष्मण है कहिये क्या आज्ञा है ?" राक्षसी उनकी ऐसी मधुर और आदर से सनी वाणी सुनकर उल्लासके साथ बोली—"देखो जी, तुम्हारे बड़े भाई ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। उन्होंने कहा है तुम मेरे साथ विवाह कर लो। देखो, राम के साथ एक स्त्री है, कितना आनन्द कर रहे हैं। तुम्हारे साथ स्त्री नहीं है, तुम गड्ढा खोद रहे हो, कितना परिश्रम कर रहे हो। जिसके पास स्त्री नहीं उसके सब काम व्यर्थ हैं। पुरुष खान खोदकर हीरा मोती निकालता है किसके लिये ? स्त्री को प्रसन्न करने के लिये। अगाध समुद्र में डुबकी लगाकर मोतियों को निकालता है किसके लिये ? स्त्रीको सजानेके लिये, उसके कंठमें पहिनानेके लिये। बड़े भारी हाथी को मारकर उसके मस्तक से मुक्ता निकालता है, किस लिये ? अपनी प्रियतमा प्राणप्रियाको रिझानेके लिये। सारांश यह है कि मनुष्य जो भी भोजन, शृंगार, परिश्रम, विचार करता है स्त्री के लिये उसे प्रसन्न रखने के लिये करता है। स्त्री भी इसके

जिस कुल के पुरुषों को उन्होंने पिता पितामह प्रपितामह, पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्र आदि कहा है। प्रभु के कौन पिता पितामह, वे तो चराचर जगत् के पिता है, सबके जनक है, किन्तु वे सम्बन्ध स्थापित न करें तो संसार में सरसता कैसे आवे। संसार का अस्तित्व न मानकर एक निर्गुण निराकार ध्यान यह देहवाला प्राणी कैसे कर सकता है। देहधारी देहधारी से ही प्रेम करेगा। प्रेम प्राय: एक योनिवालों में ही होता है, सम्बन्ध प्राय: सब जाति में ही होता है। जब तक भगवान् से सम्बन्ध न होगा—ब्रह्म सम्बन्ध संस्कार की दीक्षा न ली जायगी—तब तक भक्ति का प्राकट्य कैसे हो सकता है। सम्बन्ध तभी संभव है, जब सर्वेश्वर सर्वात्मा हमारे बीच में अवतरित हों। भगवान् का अवतार उसी कुल में होगा, जिसकी वंश परम्परा विशुद्ध हो, जिस वंश के लोग धर्म रक्षा के लिये सदा प्राण देने को उद्यत रहते हों, ऐसा विशुद्ध वंश सूर्यवंश ही है। जो पुण्य श्लोक परम प्रतापी महाराजाधिराज श्री रघु के उत्पन्न होने से रघुवंश कहाया जिसके कारण हमारे जानकी जीवन धन रघुवर, रघुनाथ रघुनन्दन, राघव, रघुकुलतिलक, रघुकुलकेतु, राघवेन्दु आदि कहलाये।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! पुण्य श्लोक राजर्षि खट्वांग के पुत्र परम यशस्वी दीर्घबाहु हुए जिनका दूसरा नाम दिलीप भी था। महाराज दिलीप का विवाह मगध-नन्दिनी सुदक्षिणा देवी के साथ हुआ सुदक्षिणा को पाकर राजा उसी प्रकार प्रमुदित हुए जैसे छोटे यज्ञ में भूरि दक्षिणा पाकर ब्राह्मण प्रमुदित होते हैं। महारानी सुदक्षिणा जितनी ही सुन्दरी सुकुमारी थी उतनी ही साध्वी तथा सरल हृदय थीं। वे अपने पति को प्राणों से भी अधिक

भामिनि ! उन्होंने मुझे मेरी माँ से खरीद लिया है। मैं उनका क्रीतदास हूँ। मैं भागना भी चाहूँ, तो जीवन भर भाग भी नहीं सकता। दास तो मुझे रहना ही पड़ेगा। मेरे साथ विवाह कर तुम्हें भी दासी ही बनना पड़ेगा। सब काम तुम्हें भी करने पड़ेंगे। सेवकों को कभी शारीरिक सुख नहीं होता, दासों की अपनी निजी कोई इच्छा ही नहीं रहती। मेरे साथ विवाह करके तुम्हें बड़ा कष्ट होगा। मैं राम को छोड़कर एक क्षण भी कहीं जा नहीं सकता। तुम जैसी परम सुन्दरी कामिनी स्त्री दासी का काम कर नहीं सकती। अतः तुम मेरे साथ विवाह करने के विचार को तो दो छोड़। श्रीराम सब समर्थ हैं। वे राजाधिराज हैं चक्रवर्ती हैं, वे चाहें तो हजारों विवाह कर सकते हैं। उनके साथ विवाह कर लेने पर मैं तो तुम्हारा वैसे ही सेवक-बिना पैसे के दास बन जाऊँगा। जैसे अब जनक नन्दिनी की सेवा करता हूँ वैसे ही तुम्हारी किया करूँगा। तुम्हारे चरणों में प्रणाम किया करूँगा। अतः तुम्हारी जैसी सुन्दरी के योग्य पति तो श्रीराम ही हैं। तुम उनसे आग्रह करो। लोग मन से चाहते तो हैं, ऊपर से झूठ झूठ को सिरहिला हिला कर मना करते रहते हैं, जिससे प्रार्थी का और अनुराग बढ़े। नहीं, भला तुम्हारी जैसी सुन्दरी को कौन पुरुष न चाहेगा ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राक्षसी तो राक्षसी ही ठहरी। वह लक्ष्मण की गूढ़ विनोद की बात को न समझ सकी और फिर लौट कर श्रीराम के समीप गई और बोली—"राजकुमार ! तुम मुझे व्यर्थ चक्कर में क्यों डाल रहे हो। तुम मुझे अपना लो लक्ष्मण कहते हैं, तुम सब कर सकते हो।"

श्रीराम ने हँसकर कहा—"सुन्दरि ! मेरा भाई बड़ा बुद्धिमान है। वह मेरी इस स्त्री से बहुत डरता है। वह उससे बहुत काम

नाथ ! मैं भी बहुत दिनों से यही सोच रही थी, किन्तु सङ्कोच-वश कुछ कह न सकी।"

अपनी पत्नी की भी इच्छा समझ कर महाराज ने तुरन्त अपना रथ मगाया और वे रानी के सहित रथ में बैठ कर चलने लगे। उनके चलते ही आगे पीछे रक्षा के लिये विशाल सेना चली राजा ने कहा—"मेरे साथ सेना की आज कोई आवश्यकता नही। आज मैं अपने गुरुदेव के आश्रम पर जा रहा हूँ। वहाँ मैं अकेले हो जाऊँगा।"

राजा की आज्ञा पाकर सेवक लौट गये। रानी के साथ हंसते खेलते, उन्हें भाँति-भाँति के वृक्ष, फल, फूलों को दिखाते उनका परिचय कराते हुए राजा वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर पहुँचे। रथ की घरघराहट सुन कर छोटे-छोटे मुनि कुमारो ने दौड़ कर रथ को घेर लिया। कोई उछलने लगे, कोई कूकने लगे। मयूर मेघ की गड़-गड़ाहट समझ कर चिल्लाने लगे। आश्रम के मृग चकित दृष्टि से निहारने लगे, वृक्षों पर बैठे पंछी कलरव करने लगे। राजा ने प्रथम उतर कर रानी को उतारा और वे आश्रम की उटजों को निहारते हुए यज्ञ के धूएं को लक्ष करके जा रहे थे, उनके पीछे अपने वस्त्रों को सम्हालती, घूँघट में से एक आँख से निहारती हुई सुदक्षिणा उसी प्रकार चल रही थीं जिस प्रकार सायंकाल मे पुरुष के पीछे पीछे छाया चलती है।

गुरु अग्निहोत्र करके अपने शिष्यों से घिरे यज्ञ वेदी के समीप एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे थे। राजा ने अपने बड़े बड़े विशाल हाथों की कोमल गद्दियों से जिनमें धनुष की ठेक पड़ी हुई थी उनसे—मुनि के पैर पकड़े और अपने चमचमाते हुए मणिमय मुकुट की प्रभा को उनके नख की ज्योति में मिला

श्रीराम ने कहा—"प्रिये और करूँ भी क्या ? इसी का नाम तो क्रीड़ा है। आज तुम्हारे साथ रहते बीसों वर्ष हो गये। एकान्त में जो हम बैठकर घुल घुल कर प्रेम की बातें करते रहते हैं, उन सबका क्या अर्थ ? सब व्यर्थ की ही बातें तो होती हैं। किन्तु उनसे मनोरंजन होता है प्रेम की वृद्धि होती है। संसार क्रीड़ा स्थली है, विनोद का स्थान है। आनन्द का आलय है। कुछ धूम-धाम खेल माल होता रहे। इसमें सत्य का आरोप न करना चाहिये। जो कुछ हो रहा है खेल हो रहा है। तुम्हारे साथ हँसी विनोद करता था तब तो तुम बड़ी प्रसन्न होती थीं। अब कह रही हो उस बेचारी को चक्कर में डाले हो। देखना अब क्या होता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीराम सीताजी से यह कह ही रहे थे, कि इतने में लक्ष्मण को लिये हुए सूर्पणखा श्रीराम के समीप आई। वह कुछ उदास हो रही थी। उसका उत्साह शिथिल हो गया था। प्रतीत होता है, लक्ष्मण ने उससे कोई कड़ी बात कह दी है, इससे उसके सम्मान को ठेस लगी है, उसके मुख पर प्रतिहिंसा के भावों की स्पष्ट झलक दिखाई देती थी।"

श्रीरामचन्द्रजी हँसकर बोले—"कहो जी ! कुछ काम धाम बना। लक्ष्मण सहमत हुआ या नहीं ?"

क्रोध करके वह राक्षसी बोली—"मैं सब बात समझ गई। जब तक यह मेरी सौत कलमुँही तुम्हारी बगल में बैठी रहेगी तब तक मेरा मनोरथ पूर्ण न होगा। तुम मुझे अबला समझे बैठे हो ? अच्छी बात है देखो मेरे बल को, अभी मैं इस कुरूप स्त्री को तुम्हारे सामने कच्ची ही चबा जाऊँगी। यदि फिर भी तुमने मुझे न अपनाया, तो मैं अपनी रोना के बल से तुम्हें पकड़

उधर ही उसके पीछे-पीछे वे जाते। जहाँ खड़ी हो जाती, खड़े हो जाते। बैठ जाती तो स्वयं भी बैठकर उसे खुजाने लगते। हरी-हरी कोमल दूब उसे उखाड़-उखाड़ कर खिलाते। जब वह चर कर सायंकाल को आश्रम को लौटती तो उसके साथ-साथ लौट आते। वे एक वस्त्र से उसके मक्खी मच्छरों को उड़ाते रहते।

एक दिन नन्दिनी चरती हुई एक गहरी गुफा में चली गई वहाँ एक सिंह ने उसे पकड़ लिया। राजा ने धनुष पर बाण चलाया, किन्तु सब व्यर्थ। राजा का हाथ स्तम्भित हो गया। सिंह ने हँसते हुए राजा को मानवीय भाषा में अपना परिचय दिया कि मैं गौरीजी का मानसपुत्र हूँ, उनके वृक्ष की रक्षा के लिये यहाँ नियुक्त हूँ, जो यहाँ आ जाता है मेरा आहार हो जाता है, अब मैं इस गौ को छोड़ूँगा नहीं।" राजा ने सिंह की बहुत अनुनय विनय की, किन्तु वह माना नहीं। तब राजा ने कहा—"अच्छी बात है, तुम गौ को छोड़ दो, मुझे खा लो।" सिंह ने इस बात को स्वीकार किया। महाराज ज्यों ही सिंह के सम्मुख लेटे त्यों ही नन्दिनी हँस पड़ी। वहाँ न सिंह था न गुफा। नन्दिनी सुख से अरण्य में खड़ी थी। राजा को जब आश्चर्य चकित देखा, तब नन्दिनी बोली—"राजन् ! आज आप शापमुक्त हुए। एक बार आप स्वर्ग से अपनी राजधानी को आ रहे थे। मेरी माँ कामधेनु कल्पवृक्ष के नीचे बैठी जुगार कर रही थी, तुम्हें अपनी पत्नी के ऋतुकाल की चिन्ता थी। सुदक्षिणा का ऋतुस्नान व्यर्थ न हो यही आप सोचते जाते थे। मेरी माँ को आपने न तो प्रदक्षिणा की न उन्हें प्रणाम किया। इसीलिये उन्होंने तुम्हें शाप दिया था, कि जब तक मेरे वंश की सेवा न करोगे तब तक तुम्हारे कोई सन्तान न होगी

सूर्पणखा मुट्ठी बाँधकर भगी और हाँपती हुई रोती चिल्लाती हुई अपने शिविर में आई। उसने कटी नाकपर कपड़ा रख लिया था। सैनिक सोचने लगे बूआजी ने आज घूँघट क्यों मार लिया है, कहीं फिर से पुनर्विवाह की बातचीत तो पक्की नहीं हो गई। उसने खर को बुलाकर कहा—"तुम लोग यहाँ खाकर पड़कर सोने को ही रहते हो या कुछ करते हो। देखो पंचवटी में दो राजकुमार आये हैं उन्होंने मेरी कैसी दुर्दशा कर दी है। उन्हें तुम लोग न तो मारना न खा ही जाना। पकड़ कर मेरे पास ले आओ। उन्हें मैं उनकी अशिष्टता का फल चखाऊँगी। कल प्रातःकाल उन्हीं का कलेवा करके अपनी भूख को बुझाऊँगी।"

अपनी बहिन सूर्पनखा के ऐसे वचन सुनकर खर को अत्यंत क्रोध आया। उसने बहिन को धैर्य बँधाते हुए कहा—"दीदी! तुम घबड़ाओ मत, तुम्हारे अपमान करने वाले मनुष्यों को मैं अभी बंधाकर मंगवाता हूँ, उन्हें उनके किये का फल अभी चखाता हूँ।" यह कहकर उसने अपनी चतुर्दश सहस्र सेना के विजयी वीरों से कहा—"वीरो! आज ही तुम्हारी वीरता प्रदर्शित करने का समय आया है। पंचवटी में रहने वाले उन मनुष्यों को तुम जीवित पकड़ लाओ शीघ्रता में उन्हें खा मत जाना। जीवित ही जीजी के पास ले आना।" अपने सेनापति के ऐसे वचन सुनकर राक्षस हल्ला मचाते चिल्लाते पुकारते श्रीराम के समीप पहुँचे। श्रीराम ने जब राक्षसों को युद्ध के लिये आते देखा, तो वे जटाओं को मुकुट के समान बाँधकर धनुष बाण लेकर एक टीले पर चढ़ गये। राक्षसों ने ज्योंही प्रहार प्रारम्भ किया, कि राघव ने भी अपने अमोघ बाणों को छोड़ना आरम्भ किया। राम के बाणों के सम्मुख ठहरनेका साहस

न दिखाते। वे इतने यशस्वी थे, कि उनके यश के सम्मुख समस्त रंग फीके पड़ गये। तीनों भुवन इनकी यश की शुभ्रता से शुभ्र हो गये। वे इतने तेजस्वी थे, कि सूर्यदेव उनके महल के मार्ग को बचाकर ही खिसक जाते। उनकी दृष्टि को बचा कर ही अस्ताचल की ओर चल जाते। वे इतने धर्मात्मा थे कि बड़े बड़े धर्म प्राण मुनि भी उनकी धर्म निष्ठा के सम्मुख नत मस्तक हो जाते। वे इतने उदार थे, कि कुबेर भी उनसे भयभीत हो जाते, वे इतने यज्ञप्रिय थे, कि हवि-खाते खाते अग्नि को भी अजीर्ण हो गया। अश्विनी कुमारों की सम्पूर्ण पाचन की औषधियाँ समाप्त प्रायः हो गईं। वे इतने दानी थे, कि अपना सर्वस्व दान करके भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। तभी तो आज रघुवंश संसार में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। उनके दान के सम्बन्ध की पुराणों में एक बड़ी प्रसिद्ध कथा है।

जिन दिनों महाराज रघु अयोध्या पुरी में राज्य करते थे, उन्हीं दिनों वरतन्तु नामक महर्षि अरण्य में रहकर यज्ञयागादि पुण्य कर्म किया करते थे। महर्षि के समीप बहुत से शिष्य अध्ययन करने आया करते थे। उन्हीं शिष्यों में से एक कौत्स नामक शिष्य थे। कौत्स मुनि बड़े ही सदाचारी गुरुभक्त तथा शील सम्पन्न थे। उनकी गुरु सेवा से महर्षि वरतन्तु अत्यन्त ही सन्तुष्ट थे। जब वे अपनी विद्या समाप्त कर चुके तब उन्होंने गुरु से गुरु दक्षिणा के लिए प्रार्थना की।

गुरु ने कहा—"भैया, तेने हमारी मन लगा कर सेवा की है, यही तेरी गुरु दक्षिणा पर्याप्त है तू एक गौ देकर नियमानुसार विवाह करके गृहस्थी हो जा और गुरु दक्षिणा की आवश्यकता नहीं।"

जानकी और लक्ष्मण के चले जाने के अनन्तर श्रीराम ने जटाओं को बाँधा, धनुष बाणों को ठीक किया, कमर पर फेंटा कसा और वे मत्त सिंहशावक के समान राक्षसों की ओर चल दिये। वे एक ऊँचे टीले पर बाँये पैर को पीछे करके, दायें को कुछ मोड़कर धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर, उसपर शर सन्धान करके खड़े हो गये। उनके ज्या की टंकारसे दशों दिशायें गूंजने लगीं। राक्षसों के अन्तः करण में भावीभय उत्पन्न हुआ। आगे के पैर को मोड़े, धनुष पर बाण चढ़ाये जटा जूटों को बाँधे श्रीराम उस लघुशैल शिखर पर ऐसे शोभित होते थे, मानों साकार शरीर धारण करके वीर रस खड़ा हो। अथवा क्रोध किये अपने विश्वविजयी आयुध को ताने कामदेव खड़ा हो, अथवा साक्षात् युद्ध ही रूप बनाकर राक्षस वंश का संहार करने को उद्यत हुआ हो।

दूर से ही राक्षसोंने श्रीरामको देखा। वे राम के ऐसे मनोहर रूपको देखकर आत्म विस्मृत से हो गये। उनका चित्त राम के रमणीय रूप में उलझ गया। फिर भी युद्ध तो करना ही था, दोनों ओर से सर्र सर्र बाण चलने लगे। राक्षसों के सिर कट कट कर गेंदों के समान उछलने लगे। कोई हा मैया! कहकर भागता, कोई हा बप्पा! कहकर विकल होकर बैठ जाता, कोई बाण लगते ही मर जाता, कोई वाहन के नीचे दुबक जाता। कोई अवसर देखकर बाण चलाता। घोड़े हिन-हिनाने लगे, हाथियाँ चिंगाड़ने लगे। रथ टूटने लगे। दो प्रहर तक बड़ा ही घनघोर युद्ध हुआ। एक ओर तो अकेले श्रीराम थे और दूसरी ओर समस्त समर सामग्री से सुसज्जित चतुर्दश सहस्र रजनी चर राक्षस थे, राक्षस प्राणों का पण लगाकर बड़ी वीरता से लड़ रहे थे, वे रामके भवबन्धनछेदक कमल मुखको देखते देखते

उन्हीं दिनों महाराज रघु ने विश्वजित नाम का यज्ञ किया था। उसमें उन्होंने अपना सर्वस्व दानकर दिया था। यहाँ तक कि अपने वस्त्र आभूषण, धातुओं के पात्र भी ब्राह्मणों को दे दिये थे। अब वे मिट्टी के पात्रों में ही खाते थे। भूमि पर सोते थे। जब कौत्स मुनि गये तब राजा ने मिट्टी के पात्र से उनके पैर धोये और कुशासन पर बिठाकर सत्कार किया।

राजा ने बड़े आदर से कहा—"ब्रह्मन् ! आप कहाँ से पधारे?"

कौत्स बोले—"राजन् ! मैं भगवान् वरतन्तु के आश्रम से आ रहा हूँ, उन्हीं का मैं शिष्य हूँ।"

अत्यन्त ही आह्लाद के साथ राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरा अहोभाग्य ! धन्यवाद ! धन्यवाद ? जो आपने मेरे ऊपर कृपा की। भगवान् वरतन्तु मेरे ऊपर बड़ी कृपा रखते हैं। कहिये, आश्रम में सब कुशल है न ? आपके आसपास निम्नी के चावल श्रेष्ठ होते हैं न ? मुनियों को वह अन्न बड़ा मीठा होता है। बिना जोते बोये वे चावल आपसे आप उत्पन्न होते हैं, हल बैलों से पृथिवी जोती नहीं जाती, जल के समीप यह मुनि अन्न स्वतः होता है। जिन मुनियों के पुत्र नहीं होते,वे वृक्षों का पालन पुत्रों के समान करते हैं। मैंने भगवान् वरतन्तु का आश्रम देखा था उन्होंने थालें बना बनाकर बहुत से वृक्ष लगाये थे। अब तो वे बड़े हो गये होंगे ? उन पर फल भी आने लगे होंगे। मुनियों के आश्रम में मृग स्वच्छन्द विहार करते हैं। आपके मृगों को कोई बाधा तो नहीं देता। आपके आश्रम में बड़े बड़े सघन वृक्ष हैं न ? जिनके नीचे पथिक बैठकर अपना श्रम दूर कर सकें। आपके आश्रम में जल की कमी तो नहीं ? गंगाजी की धारा दूर तो नहीं चली गई ? लतायें यथेष्ट फूल देती है न ? अतिथियों

उसी समय जन स्थान के अगस्त्य प्रभृति जितने ब्रह्मर्षि राजर्षि आदि महर्षि थे वे जुट आये। श्रीराम का अभिनन्दन करके उन सबने कहा—"श्रीराम! खर, दूषण और त्रिशिरा के सहित चौदह सहस्र राक्षसों को मारकर आपने संसार का बड़ा उपकार किया। अब यह जनस्थान निरापद हो गया। अब इसमें राक्षसों का भय नहीं रहा। अब इस वन में रहकर ऋषि मुनि निर्विघ्न होकर जप-तप यज्ञानुष्ठान करेंगे। राघव! इन राक्षसों को मरवाने के निमित्त ही तो हम आपको यहाँ लाये थे। सौभाग्य की बात है, कि आपने इन इतने बली राक्षसों को बात की बात में मार डाला और आप सकुशल विजयी होकर लौट आये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दण्डकारण्य में रहने वाले ऋषियों के ऐसे वचन सुनकर श्रीराम ने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की उनका सत्कार किया। श्रीराम से सत्कृत होकर सभी मुनि अपने अपने आश्रमों को चले गये। उसी समय गिरिगुहा से सीताजी को साथ लिये हुए लक्ष्मणजी लौट आये उन्होंने अपने विजयी भ्राता की पूजा की। जानकी ने अपने प्राणनाथ को युद्ध से सकुशल अक्षत लौटा हुआ देखकर अत्यन्त हर्ष प्रकट किया और बड़े उल्लास के साथ उनका गाढ़ालिङ्गन करके परम प्रमुदित हुईं।

छप्पय

दूषण खर अरु त्रिशिर रामतैं लड़िवे आये।
निशिचर चौदह सहस राम यमसदन पठाये॥
निशिचर कीट पतंग राम लौ महँ जरि जावैं।
गूलर सम गिरि जायँ राम जब बान चलावैं॥
यातुधान जब सब मरे, चली लंक कूँ नककटी।
मरहिं निशाचर बेगि कब, लगी राम कूँ चटपटी॥

सकता। रघु के सम्मुख याचना करने वालों को फिर अन्यके यहां याचना करने की आवश्यकता नहीं।"

कौत्स ने आश्चर्य के साथ कहा—"राजन्! आप इतना द्रव्य कहाँ से देंगे?"

राजाने कहा—"जहाँ से भी शीघ्र मिल सकेगा वहीं से दूँगा।"

कौत्सने कहा—"शीघ्र तो कुबेर के भंडार से इतना सुवर्ण मिल सकता है।"

राजा बोले—"अच्छी बात है, कुबेर पर ही चढ़ाई करूँगा। आप एक दिन विश्राम तो करें।"

राजा के आग्रह को मुनि टाल न सके। वे अग्नि होत्रशाला में चतुर्थ अग्नि के समान पूजित होकर सुख पूर्वक रहे। राजा ने कुबेर पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। धन कुबेर रघु के यश पराक्रम से पहिले से ही शंकित थे। जब उन्होंने उनके संकल्पको जाना, तब तो वे डर गये। चुपके से रात्रि में वे उनके कोष को सुवर्ण से भर गये। प्रातःकाल ज्यों ही उन्होंने अपना रथ तैयार किया, त्यों ही सचिवों ने सूचना दी, कि सुवर्ण से सम्पूर्ण कोष भरा पड़ा है। राजा यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"समस्त सुवर्ण को ऊँटों पर, छकड़ों में लदवाकर मुनि के साथ भिजवा दो।"

कौत्स उस अटूट सुवर्ण की राशि को देखकर डर गये और आग्रह पूर्वक बोले—"राजन्! मैं इतने धन को कभी न लूँगा। इतना सुवर्ण लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे तो १४ करोड़ सुवर्ण-मुद्रायें ही चाहिए।"

कभी जल नहीं दिखाई दिया, फिर आज जल कैसे होगा ? यह सत्य होने पर भी वह मृग मरीचिका को सत्य सलिल समझकर उसके पीछे दौड़ता है, उस पानी को पीकर अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न करता है। मनुष्य सब समझता है, यह बात संभव नहीं असंभव है, फिर भी वह भावी वश होकर असंभव को संभव समझ कर उसे पाने के लिये पुरुषार्थ करता है। यही गुणमयी दैवी माया है, इसी को सिद्ध करने भगवान् असंभव सुवर्ण के मृग को पकड़ने के निमित्त दौड़े। वे क्या दौड़े उन्होंने मारीच को दौड़ाया और दौड़ाते दौड़ाते संसार सागर के परली पार पहुँचा दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! खर, दूषण, और त्रिशिरा मारे गये। उनकी सेना का संहार हुआ। राक्षसों को मार कर श्रीराम अपने आश्रम पर लौट आये। जब खर जैसा बली वीर मर गया, तब राक्षसों का गुप्तचर अकम्पन वहाँ से अत्यन्त ही शीघ्र लंका में रावण के समीप आया और हाँपता हुआ बड़े कष्ट से अपने दुःख को प्रकट करने लगा।

रावण ने अकम्पन को दुखी और भयभीत देखकर पूछा—"अकम्पन ! कहो, कुशल तो है ? जनस्थान में कुछ गड़बड़ तो नहीं। सब सैनिक आनन्दपूर्वक तो हैं ? तुम इतने दुखी निराश भयभीत तथा उदास क्यों हो ? अपने कष्ट का कारण मुझे बताओ।"

अकम्पन ने कहा—"हे राक्षसराज ! जनस्थान में कुशल कहाँ ? दूषण, और त्रिशिरा परलोक पधार गये। खर भी इसलोक से चल बसे। आपकी चतुर्दश सहस्र सुसंगठित सेना समरमें शत्रुके सरों से सुरपुर सिधार गई। जैसे तैसे सौभाग्य या दुर्भाग्य से मैं

समझा। उसके निर्णय को निन्दित माना किन्तु अज के सम्मुख वे कुछ कह न सके। अज और इन्दुमती उसी प्रकार मिल गये जैसे हिमालय के घर शिवपार्वती मिल गये थे।

दूर्वा के धागे मे महुए के पुष्पों की गुथी माला के साथ अपना हृदय भी इन्दुमती ने अज को अर्पित किया। अज के वक्षस्थल में पड़ी वह जयमाल उसी प्रकार हिल रही थी, जिस प्रकार नववर का हृदय प्रथम मिलन में हिलता है। उस समय लजाती हुई इन्दुमती के साथ जाते हुये कुमार उसी प्रकार शोभित होते थे मानो लज्जा के साथ कामदेव कहीं जा रहा हो। इन्दुमती इतनी सुन्दर थी कि अज ने अपना सर्वस्व उन्हें अर्पित कर दिया था। उसके सौंदर्य को देखकर सुर सुन्दरियाँ भी सकुचा जाती थीं। वह अपने पति को इतना प्यार करती थी, कि उनके बिना एक क्षण भी उसे असह्य हो उठता।

जब अज ने आकर इन्दुमती के सहित अपने पिता को प्रणाम किया, तो इन्दुमती को महाराज ने पुत्रवती होने का वर दिया और मुँह दिखाई में अपना सम्पूर्ण राज पाट और कोष उसे दे दिया। इस प्रकार मानों अपनी पुत्रवधू को ही पृथिवी देकर रघु तपस्या करने वन मे चले गये।

इन्दुमती ने कहा—"भरण करने से पति का नाम भर्ता भी है। आप जैसे मेरा भरण पोषण करते हैं। वैसे ही मेरी सखी इस पृथिवी का भी पालन कीजिये। मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं। मेरे तो एकमात्र धन आप ही हैं।"

अज ने कहा—"प्रिये! मुझे पृथिवी पालने में कोई रस नहीं

विचार तो दें छोड़। मैं जो कहूँ उसे आप करें। मुझ साधारण व्यक्ति की सम्मति पर विचार करें छल से आप राम को जीत सकते हैं। मैं आपको ऐसी युक्ति बताऊँगा कि न साँप मरे न लाठी टूटे।

यह सुनकर रावण गम्भीर होकर बोला—"वह, ऐसी कौन सी युक्ति है, भाई अकम्पन! उसे भी तुम मुझे बताओ, उस पर भी मैं विचार कर सकता हूँ।"

अकम्पन बोला—"अन्नदाता! आप जैसे प्रतिष्ठित विश्व-विजयी सम्राट को एक साधारण व्यक्ति के सम्मुख युद्ध करना उचित नहीं। आप एक काम करें। रामकी पत्नी बड़ी ही सुन्दरी है। तीनों लोकों में उसके समान सुन्दर स्त्री मैंने तो आज तक देखी नहीं। हो ही नहीं सकती। प्रतीत होता है, बूढ़े ब्रह्मा ने बनाते समय विश्वब्रह्माण्ड का समस्त सौन्दर्य उसके शरीर में ही भर दिया है। ऐसी स्त्री बनाकर ब्रह्मा फिर दूसरी वैसी बना ही न सका होगा। वह राममें अत्यधिक अनुराग रखती है। हरिणियों के साथ किलोल करती हुई वह दो पैर की हरिणी सी ही दिखायी देती है। उसका अंग प्रत्यङ्ग सुन्दर है। राम उसके अधीन हैं। उसके बिना राम रह नहीं सकते। रामकी वह जीवनी शक्ति है। राम उसमें घुल मिलकर एक हो गये। किसी प्रकार कौशल से यदि उन दोनों को पृथक कर दो। सीता को छल बल से हर लाओ, तो राम तो उसके विरह में ही मर जायँगे। बिना शस्त्रके ही निर्जीव हो जायँगे। जो गुड़की गोली से ही मर सकता है, उसे विष देना व्यर्थ है। आप ऐसा प्रयत्न करें कि जानकी को किसी प्रकार ले आवें। एक पन्थ दो काज हो जायंगे, आपका शत्रु भी स्वयं मर जायगा और त्रैलोक्य सुन्दरी नारी भी तुम्हें मिल जायगी।"

का अन्तर नहीं पड़ा। यही नहीं वह उसी प्रकार और भी अधिक बढ़ गया, जिस प्रकार विदेश मे गये पति के लौटने पर पतिप्राणा का प्रेम और भी अधिक बढ़ जाता है। महाराज रात्रि दिन इन्दुमती को ही सोचते रहते थे। एक दिन वे अपनी प्रिया के साथ उपवनो में विहार कर रहे थे वे एक सुन्दर रमणीक स्थान मे सुख पूर्वक बैठकर अपनी प्रिया के साथ मधु से भी मधुर स्नेह से सिक्त आनन्द में पगी, अनुराग में भीगी, सरसता में सनी बातें कर रहे थे, कि उसी समय रामकृष्ण गुण गाते, संसारी जीवों को सुख का पाठ पढ़ाते, अपनी स्वर ब्रह्म विभूषिता वीणा को बजाते देवर्षि नारद वहाँ जा पहुँचे। उनकी वीणा के ऊपर कल्प वृक्ष के पुष्पों की माला टँगी हुई थी। राजा ने उठकर मुनि के पैर छूए, रानी ने मुनि की चरण वन्दना की। सहसा वीणाकी माला इन्दुमती के कमल से भी कोमल वदन से छू गई, ज्यों ही उसने दृष्टि उठा कर उस माला को देखा त्यों ही वह प्राणहीन होकर धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़ी, अपनी प्राणप्रिया की ऐसी दशा देख कर महाराज अज भी मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ काल में मूर्छा भङ्ग होने पर उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के अङ्ग को प्राणहीनावस्था में देखा, वह ऐसी लगती थी, मानों कमलिनी को किसी ने मसल दिया हो। राजा उसे मृतक देख कर पुनः मूर्छित हो गये और भाँति-भाँति से विलाप करने लगे। उसके मृतक शरीर को गोद में रख कर राजा बच्चों की भाँति फूट फूट कर रोने लगे। सभी सेवक, सचिव, सामन्त तथा सगे सम्बन्धी एकत्रित हो गये। रानी को मृत्यु से सब को बड़ा दुःख हुआ। किन्तु कोई कर ही क्या सकता था। काल के आगे किसकी चलती है। अन्त में सब ने रानी का दाह संस्कार किया। राजा इन्दुमती के वियोग में सदा दुखी बने रहते थे।

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा-"सूतजी! पुष्प के छू जाने

देती; ओढ़नी से मुँह को ढाँके सूर्पणखा वहाँ आई और रावण को बुरी भली बातें कहती हुई बोली—"तुझे लज्जा नहीं आती, तेरा अपमान हो रहा है, तू सुख से सो रहा है। शत्रु तेरे सिर पर सवार है, तू अचेत पड़ा है। शत्रु नामी है तू कामी है। तुझे अपने अधीनों की कोई चिन्ता नहीं। एक मिथ्या तपस्वी बालक ने तेरे भाई खर को मारा दूषण तथा त्रिशिरा को पछाड़ा और तेरा समस्त सैन्यबल संहारा। किन्तु तेरे कान पर जूँ भी नहीं रेंगती। तू सुरापान कर रहा है, रमणियों के साथ काम क्रीड़ा कर रहा है। देख तो सही मेरी कैसी दुर्गति कर दी है?"

रावण ने कहा—"लल्ली! तेरी यह नाक किसने काट ली? तेरे कान कहाँ गये? तू मुख क्यों ढाँके हुए है?"

सूर्पणखा बोली—"मेरी नाक नहीं कटी है तेरी नाक कटी है, मेरा अपमान नहीं हुआ तेरा हुआ है। मैं तेरे अपमान के कारण दुखी हूँ। मेरी नाक की कोई बात नहीं बाँस की बनवा लूँगी, किन्तु तेरी कीर्ति धूलि में मिल जायगी।"

रावण ने कहा—"कुछ बताती तो है नहीं, व्यर्थ की बातें बना रही है। तेरी नाक पर प्रहार किसने कर दिया। इसे किसने जड़ से कतर ली?"

सूर्पणखा बोली—"राम के छोटे भाई ने मेरी नाक काटी है?"

रावण बोला—"बात क्या थी?"

सूर्पणखा क्रोध में बोली—"बात क्या थी, पत्थर! हवन करते हाथ जलते हैं। मैं सदा तेरे उपकार में लगी रहती हूँ, तू सुरापान करके तान दुपट्टा सोता रहता है, राग रंग में फँसा रहता है। राम लक्ष्मण दोनों राजकुमार हैं दोनों ही बड़े सुन्दर बलवान दर्शनीय और बली हैं। उनके साथ एक प्यारी प्यारी

सूतजी कहते है – "मुनियों ! उसी हरिणीने शाप वश विदर्भ वंश मे जन्म लिया, वही महाराज अजकी पत्नी इन्दुमती थी। आज नारद जी की वीणा के ऊपर कल्पवृक्ष के पुष्पो की माला देखते ही वह मानवीय शरीर को त्यागकर स्वर्ग सिधार गई। रानी के मरने से राजा को जीने की तनिक भी इच्छा नही रही। फिर लोकलाज वंश कर्तव्य पालन की दृष्टि से वे जीते रहे। अब वे सदा उदास ही बने रहते थे। दशरथ के मुखको देख-देखकर वे निरन्तर इन्दुमती की स्मृति में रोते रहते। स्वप्न में उसका साक्षात्कार करके बडे प्रसन्न होते। इस प्रकार पिता के सरक्षण मे दशरथ बढ़ने लगे। कुछ काल मे ही बाल्यावस्था त्यागकर चली गई। अब युवावस्था ने उनके शरीर पर अधिकार स्थापित कर लिया पुत्र को युवावस्था में पदार्पण करते देख कर जो राजभार उन्हे यथार्थ में भार प्रतीत हो रहा था, उसे कुमार दशरथ के कोमल कंधोंपर शीघ्रता से डालकर वे सरयू के किनारे किनारे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ जाकर सरयू भगवती भागीरथी मे मिलती हैं। वही रहकर और अनशन व्रत करके महाराज अजने अपने इस पाँचभौतिक शरीर को त्याग दिया।"

पिता के परलोक पधारने के अनंतर महाराज दशरथ समस्त प्रजा का पुत्रवद् पालन करने लगे। उनकी कीर्ति दशों दिशाओं में व्याप्त हो गई। उन्होंने दिग्विजय करके समस्त जीती हुई पृथिवी को पुनः जीत लिया। उन्हे राजा पाकर प्रजा पहिले राजाओं को भूल गई।

सूतजी कहते हैं—' मुनियों ! इन्ही पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ श्री राम अवतरित हुए। अब आप श्रीराम चरित्र को श्रद्धा भक्ति के साथ श्रवण करें।"

होगा। ननुनचका नाम नहीं। आन्दोलंघन का काम नहीं। सौ बात की एक बात है। चलो मेरे साथ।"

मारीच बोला—"राक्षसेश्वर! तुम्हें हो क्या गया है? राम को क्या मैं जानता नहीं। मुझे एक बिना फरके बाण से उन्होंने समुद्र पार फेंक दिया। मेरी माँ को मार डाला। भाई को परलोक पठा दिया। राम से मैं डर रहा हूँ।"

रावण बोला—"डरने की कौन सी बात है मैं तो तुम्हारे साथ हूँ ही।"

मारीच बोला—"तुम से ३६० घूमते हैं। राम के सम्मुख तुम किस खेत की मूली हो। एक दिन मैं हरिन बनकर राम के समीप गया। तीन राक्षस और भी थे। श्रीराम ने तीन बाण मारे वे तीनों मर गये। तब से मुझे सोते, जागते, चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते पीते सर्वत्र राम ही राम दिखाई देते हैं। मैं संसार को राममय देखता हूँ। तुम्हें अपना जीवन प्रिय है तो अपने घर लौट जाओ। राम से डर कर ही तो मैं बाबा जी बन कर यहाँ योगाभ्यास कर रहा हूँ, जटा बढ़ाकर मौन रहकर फलाहार करके राम का चिन्तन कर रहा हूँ, उनके नाम से डर रहा हूँ।"

रावण बोला—"राम मेरे रहते तेरा कुछ भी नहीं कर सकता।"

मारीच बोला—"तब तू रह भी नहीं सकता।"

क्रोध करके रावण बोला—"बहुत बकबक मत कर। मैं तुझसे उपदेश लेने नहीं आया हूँ, तुझे आज्ञा देने आया हूँ। बोल, चलता है या नहीं?"

मारीच बोला—"मैं नहीं चलूँगा, नहीं चलूँगा, एक बार कहला लो सहस्र बार कहला लो।"

श्रीराघवेन्दु का प्रादुर्भाव

(६५०)

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशांशेन चतुर्धागात्पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ०, २ श्लोक)

छप्पय

सब सुख नृपके निकट पुत्र बिनु परि अति चिंतित ।
रानी सब सुत रहित वंशधर बिनु अतिदुःखित ॥
विनती गुरु तें करी रचायो मख सुतके हित ॥
ऋष्य ऋङ्ग पुत्रेष्टि यज्ञ करवायो प्रमुदित ॥
बढ्यो भूमि को भार बहु,सुर सब मिलि हरिढिंग गये ।
सेतु करन भव उदधि पै, अज अच्युत प्रकटित भये ॥

यह संसार सागर अगाध है, इसकी थाह नहीं । पार जाने का कोई निश्चित एक मार्ग नहीं । जीवका पुरुषार्थ स्वल्प है । इसका सर्वज्ञ स्वामी उसपार बैठा बैठा हँस रहा है ।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन महाराज दशरथ के यहाँ देवताओं की प्रार्थनापर साक्षात् ब्रह्ममय श्रीहरि अंशांश से चार रूपों से अवतरित हुए ।"

वृक्षों की आड़ में दुबक गया। मारीच सुवर्ण का मृग बन गया और वैदेही के सम्मुख इधर से उधर लीला पूर्वक घूमने लगा।

उस सुवर्ण के सुन्दर हिरण को देखकर वैदेही अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उन्होंने अत्यन्त उल्लास के साथ श्रीराम लक्ष्मण को पुकारा सीता की अत्यन्त प्रसन्नता को देखकर धनुष बाण लिये श्रीराम लक्ष्मण उनके समीप गये। अपने पति के समीप आकर वैदेही आश्चर्य संभ्रम और उल्लास के साथ बोलीं—"प्राणनाथ! इस मृग की पीठ कमल के शरके समान है इसका सम्पूर्ण चर्म सुवर्ण का है। वैदूर्य मणि के समान इसके सुन्दर सींग हैं। यह मणि-मय मृग मेरे मन को मथितसा कर रहा है। यह देखने में बड़ा भला मालूम पड़ता है। यह सरल है सुन्दर है स्वच्छ है सुघड़ है, सुवर्ण वर्ण है, सुखद और आश्रम के समीप ही घूम रहा है। यदि यह किसी प्रकार जीवित ही पकड़ा जा सके तो इसे पकड़ लाइये। इसे मैं आश्रम में रखकर पालूँगी। इससे मेरा आपका बड़ा मनोरंजन होगा। वन की अवधि समाप्त होने पर भी मैं इसे साथ ले चलूँगी। अपनी सास को भेंट करूँगी। यह महलों में स्वच्छन्द घूमा करेगा। माताजी इससे बड़ा प्यार करेंगी। यदि यह किसी प्रकार जीवित न पकड़ा जा सके, तो इसे मार कर इसकी छाल ही ले आइये। इसकी मृग छाला बड़ी सुन्दर रहेगी। उस पर मैं आपके साथ बैठा करूँगी।

सीता को बालकों की भाँति अत्यन्त उत्सुक देखकर श्रीराम हँसते हुए बोले—"सचमुच यह मृग तो अद्भुत है। ऐसा विचित्र मृग तो मैंने आज तक न कभी देखा न सुना। इसके तो अंग-अंग में मणि मुक्ता ग्रथित हैं। यह तो अति सुन्दर अति मनोहर अति अद्भुत और अत्यन्त दर्शनीय है। तुम्हारे मनोरंजन के निमित्त

होगा। वे ऐसा करने को विवश थे, क्योंकि उन्हें ७ दिनों में ही सब कथा सुनानी थी। सब शास्त्रों का सार सार निकाल कर उन्होंने सबकी बानगी राजा को चखाई और सबका पर्यवसान अन्त में कृष्ण कथा में कर दिया। किन्तु सूतजी ! हमें तो कोई समय का बन्धन नहीं। हमतो दीर्घजीवी हैं। अवतार कथा ही हमारा आहार है। उसे ही खाकर हम जीते हैं। सूर्यवंश के राजाओं की नीरस कथायें हमने चुपचाप इसीलिये सुनली कि इनका सार अन्त में निकलेगा। नही तो सूतजी ! उस राजा को यह रानी हुई वह राजा उस राजकुमारी पर आसक्त हो गया। उसने स्वयम्बर में उसे माला पहिना दी, उसने युद्ध में उसे मार दिया। वह अप्सरा इतनी सुन्दर थी। उस मुनिने यह गड़बड़ सड़बड़ कर दी। उस राजा का यह पुत्र हुआ, यह पौत्र हुआ इन व्यर्थ की बातों से हम त्यागी विरागी साधुओं को क्या प्रयोजन? अजी हमतो भगवान् का प्रेम पूर्वक प्रसाद पाते हैं और भगवान् के नाम तथा यश का श्रवण और गायन करते हैं। हमारा तो मूल मन्त्र है।

"भगवद् भजन पेट को धंधो। और करै सो पूरो अंधो।' मनु से लेकर दशरथ तक के राजाओं की कथा हमने इसी आशा से सुनी कि आगे इसी वंश में मर्यादा पालक जन सुखदायक रविकुल नायक भगवान् कौशल किशोर उत्पन्न होंगे। उनके चरित्र को हम श्रद्धा सहित सुनेंगे। सो, सूतजी ! राम चरित्र कहने में आप कृपणता न करें। रामचरित्र को हमें विस्तार के साथ सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी के रोम रोम खिल गये। उनका गला भर आया। "राम" इन दो शब्दों में कितनी मिठास है, कितनी

लिया था। यह सुकुमारी सीता सर्व सुखों और सम्बन्धियों को त्याग कर मेरे साथ वन में आई है, तो मैं भी सब कुछ समर्पण

करके इसे सुखी बनाऊँगा। इसकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करूँगा, इसीलिये श्रीराम ने इस विषय पर व्यर्थ विचार करना उचित

अच्छी बात है, तो अब श्रीराम के प्रादुर्भाव की आप कथा श्रवण करें।"

अज पुत्र महाराज दशरथ इतने पराक्रमी थे, वे देवासुर संग्राम मे अमरों ने आकर उनके पैर पकडे और असुरो से युद्ध करने की याचना की। रघुवंश विभूषण महाराज दशरथ ने देवों की प्रार्थना पर असुरों से युद्ध किया, उन्हें परास्त किया उनकी स्त्रियों की माँग मे भरे सिंदूर को पोंछ दिया, उनके बालों को खुलवा दिया और उनके ऐश्वर्य को फीका बना दिया।

महाराज का विवाह दक्षिण कोशल देश के राजा की कन्या कौशल्या के साथ हुआ। दूसरा विवाह कैकय देश के राजा की पुत्री कैययी से हुआ। तीसरी उनकी पत्नी सुमित्रा थी। इस प्रकार महाराज के तीन प्रधान रानी तथा अनेक उपरानियां भी थी महाराज पृथिवी पर दूसरे इन्द्र के समान निवास करते थे। उनके अवध के वैभव को देखकर शतक्रतु इन्द्र भी लज्जित हो जाते। उनके अन्तःपुर की शोभा को देखकर सुर ललनायें भी सकुचा जाती। उनकी सेना को देखकर स्वामिकार्तिकेय भी चकित हो जाते, उनके कोष को निहार कर कुवेर भी कंपित हो जाते। वे कल्प वृक्ष के समान सबके मनोरथो को पूर्ण करते कामधेनु के समान सभी को समस्त सामग्रियां देते, लोकपालों के समान प्रजा का पालन करते, प्रजापति के समान सबको प्यार करते। उनका जैसा ही ऐश्वर्य था वैसा ही तेज और पराक्रम भी था। उन्होंने अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मणों और याचकों को यथेष्ट दान दिये। इस प्रकार महाराज सहस्रों वर्षों तक पृथिवी का पालन करते रहे।

प्रजा का पालन करते-करते महाराज की युवावस्था प्रस्थान

से उधर घूमूँगा। यही सोचकर वे विपत्ति को अवसर देने तथा जानकी को कुछ दिन के लिए शरीर से पृथक् करने जान बूझकर मायामृग के पीछे दौड़े। वह मृग भी यथार्थ नहीं था राम का उस पर लुभाना भी यथार्थ नहीं था। पंचवटी में हरण होने के निमित्त बैठी सीता भी यथार्थ नहीं थी। या सभी यथार्थ राम की लीलायें ही थीं। सरांश यह कि जो कुछ हो रहा था। राम जी की इच्छा से हो रहा था, मायामृग आगे आगे दौड़ रहा था। धनुष बाण धारण किये राम पीछे पीछे दौड़ रहे थे। राम उसे जीवित ही पकड़ना चाहते थे, इसीलिये, वे बाण नहीं छोड़ते थे। राम रूप के दर्शन करके ऐसा कौन दुर्मति होगा जो इस पाप पूर्ण संसार में शरीर सुख के लिये जीवित रहना चाहेगा। माया-मृग बना मारीच राम के बाणों से राम राम रटते हुए शरीर त्यागना चाहता था। इसीलिये वह राम को दौड़ा रहा था। राम अपने विरुद की ओर देखकर अपने शरणागतवत्सल नाम को सार्थक करने के निमित्त विवश हुए उसके पीछे दौड़ रहे थे। वह कभी तो आगे से छिप जाता कभी लुक जाता, कभी पुनः सम्मुख प्रकट हो जाता कभी दौड़ लगाने लगता, कभी शनैःशनैः पीछे फिर फिरकर बड़े-बड़े नेत्रों से चकित चकित दृष्टि से देखने लगता, कभी चौकड़ियाँ भरने लगता, कभी उछलता, कभी कूदता, कभी केलि करता कभी राम की दृष्टि से ओझल हो जाता, कभी हरी हरी दुर्वा चरने लगता। राम चुपके से उसे पकड़ते, तो मुँह को दूब को मुँह में ही लिए फिर चौकड़ियाँ भरने लगता। इस प्रकार उसने दौड़ते दौड़ते कभी भी क्लान्त न होने वाले राम को क्लान्त बना दिया। श्रीरामअब थककर हरी हरी दूबपर बैठगये। विचारने लगे यह हाथतो आता ही नहीं लाओ इसे मार ही दें।

सूतीजी कहते हैं—"मुनियो! राम की भक्तवत्सलता तो

फिर अपने समीप ही चरण सेवा करती हुई आद्याशक्ति महामाया महालक्ष्मीजी से महाविष्णु सनातन पुराण पुरुष बोले—"प्रिये ! मेरी इच्छा अब कुछ काल नर लीला करने की है, तुम यहीं तब तक अपने पिता समुद्र के घर रहो।"

महालक्ष्मी आद्याशक्ति भगवती जगदम्बिका बोलीं–"अजी महाराज ! आप नर बनेंगे तो मैं नारी बनूँगी। बताइये ! मनुष्य योनि तो सभी योनियों में श्रेष्ठ है। आप उसमें लीला करें और मैं देखूँ ? नहीं यह कैसे होगा। छाया कभी शरीर से पृथक् हो सकती है।"

प्रभु बोले–"अच्छी बात है,तुम मिथिला में जाकर अवतरित हो। मैं अवध में पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ उनकी भाग्यवती पत्नी कौशिल्या के गर्भ से उत्पन्न हूँगा। वे धर्मात्मा राजा आजकल पुत्र की कामना से एक पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहे हैं, मैं उनकी इच्छा पूरी करूँगा। स्वयं यज्ञ पुरुष मैं उनके यहाँ पुत्र बनकर प्रकटित हूँगा।"

भगवती जगदम्बिका बोली–"मैं तो पृथिवी की पुत्री बनूँगी अयोनिजा होकर अवनिपर अवतरित होऊँगी।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, पहिले मैं चलता हूँ पीछे तुम आ जाना।"

उसी समय चक्रवर्ती महाराज दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ। समाप्ति के समय साक्षात् हव्य वाहन अग्निदेव एक सुवर्ण पात्र में पायस लेकर प्रकट हुए। उन्होंने उस खीर पात्र को राजा को देते हुए कहा—'इसे अपनी पत्नियों में यथायोग्य बाँट दो। तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।"

मारीचोद्धारक श्रीराम

(६६२)

सीताकथा श्रवणदीपित हृच्छयेन,
सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण ।
जग्मेऽद्भुतैणवपुषाश्रऽऽमतोऽपकृष्टो
मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १० अ० १० श्लो०)

छप्पय

बोली पति तैं लिपटि हरिन जिह अद्भुत प्रियतम ।
पकरो जाकूँ खेल करयो करि हैं मिलि हम तुम ॥
सीताकूँ सुख दैन चले शर धनु लै रघुवर ।
अति उत्सुकता बढ़ी कनकमृग को हित हरिउर ॥
धनुधारी रघुनाथ कूँ, लखि पीछे भाग्यो असुर ।
मारहिं नहिं पकरयो चहैं, सोचहिं प्रभु मृग अति सुघर ॥

राम के सर्व काम जगत् के उद्धार के ही निमित्त हैं। राम का प्यार दुलार, उनका क्रोध, स्पर्श, सत्संग, चिन्तन मनन सभी

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इसके पश्चात् सीता के सौन्दर्य की सराहना सुनकर कामातुर रावण ने मृग बने मारीच को पंचवटी भेजा। वह श्रीराम को लुभाकर आश्रम से दूर ले गया। श्रीराम ने उसे शीघ्र ही एक बाण में उसी प्रकार मार दिया जिस प्रकार दक्ष को उसके यज्ञ में वीरभद्र ने मार डाला था।"

उन्ही से दिलवाने की उनकी इच्छा थी। कौशल्या ने अपने भाग से सुमित्राजी को दिया। कैकेयी ने भी उन्हे दिया। इस प्रकार तीनों रानियो ने उस दिव्य अमृतोपम पायस को पति की आज्ञासे प्रेम पूर्वक पा लिया। उसे पाते ही तीनो रानियाँ गर्भवती हो गईं। उन तीनो का गर्भ शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। समस्त प्रजा मे आनन्द छा गया। भूमि शस्यश्यामला हो गई। देवता परम प्रमुदित हुए। असुरो का तेज क्षीण हो गया। राक्षस भयभीत से प्रतीत होने लगे। सभी के मन में एक अव्यक्त आह्लाद उत्पन्न हो गया। इस प्रकार नौ मास पूर्ण होने पर शुभ मास, शुभ पक्ष, शुभ तिथि, शुभ वार, शुभ कर्ण शुभ मुहूर्त, शुभ ग्रहनक्षत्र सबके एक साथ शुभ हो जाने पर दिन के मध्य भाग मे जब सूर्यदेव सिर पर आ गये थे तब कौशल्या रूपी प्राचीदिशि से दूसरे सूर्य का प्राकट्य हुआ। मानो सूर्यदेव फिर से अपने कुल मे बालक बनकर उत्पन्न हुए। कौशल्या ने एक रत्न को उत्पन्न किया। पुत्रोत्पत्ति सुनकर सर्वत्र बाधायें बजने लगे। स्त्रियाँ मंगलगान करने लगी, देवता स्वर्ग से पुष्पों की वृष्टि करने लगे। चैत्र शुक्लानवमी को श्रीराम का प्राकट्य हुआ।

छप्पय

अगिनि कुंड तें प्रकट भये पायस नृप दीन्हों।
तीनों रानिनि दियो भाग न्यायोचित कीन्हों॥
गर्भवती सब भई सबनिके हिय हुलसाये।
शुभ मुहूर्त शुभ समय राम कौशल्या जाये॥
शुक्लपक्ष मधुमास की, नवमी अति पावन परम।
प्रकटे रघुकुल चन्द्र शुभ, भयो अजन्मा को जनम॥

सम्पूर्ण बल से श्रीराम के स्वर का अनुकरण करके, अत्यन्त ही करुण वाणी में "हा ! सीते ! हा ! लक्ष्मण !" पुकारा। मन में रामस्वरूप का ध्यान किया। दृष्टि को राम के चरणों में लगाते लगाते, उनके सौन्दर्यामृत रस का पान करते करते उसने इस नश्वर शरीर को त्याग दिया। उसके प्राण परलोक को प्रयाण कर गये। वह राक्षस प्राणहीन हो गया।

श्रीराम ने जब देखा, कि यह तो मृग नहीं राक्षस है, तब तो उन्हें अपने छोटे भाई परम बुद्धिमान लक्ष्मी संपन्न लक्ष्मण की बात याद आई। वे सोचने लगे—"लक्ष्मण का कहना सत्य ही निकला। यह तो यथार्थ में माया से ही मृग बना हुआ था। यह तो दुष्ट कपटी राक्षस निकला। लक्ष्मण ने बार बार कहा था, यह नीच प्रकृति का कपटी मारीच नामक राक्षस है, यद्यपि किसी बुरे अभिप्राय से यहाँ आया है। अवश्य ही इसका विचार खोटा रहा होगा। तभी तो मरते समय इसने मेरे स्वर में "हा ! सीते हा ! लक्ष्मण। कहकर पुकारा। इस आर्त स्वर को सुनकर स्वभाव से ही सुकुमारी जानकी की क्या दशा हुई होगी। वह मुझसे कितना स्नेह करती है। जो भी कुछ कार्य करती है, मेरी ही प्रसन्नता के निमित्त करती है। उसे मृग से क्या प्रयोजन था ? उसकी तो यही उत्कट इच्छा रही होगी इसे सजा बजाकर खिला पिलाकर मेरा मनोरंजन करती, मुझे सुख पहुँचाती। उसकी समस्त चेष्टायें, समस्त क्रियायें मेरी सेवा के ही निमित्त होती हैं। प्रेम में पग पग पर अनिष्ट की आशंका बनी रहती है। मेरी आर्त वाणी सुनकर विह्वल हो गई होगी। इस समय उसके मन की क्या दशा हुई होगी, अवश्य ही उसने तुरन्त लक्ष्मण को भेजा होगा। यदि लक्ष्मण उसे छोड़कर चला आया तो कुशल नहीं।" इन विचारों के

है,क्योंकि आप के पुत्रने समुद्र पर सेतु बाँध दिया।" माता ने श्री राम को बुला कर पूछा—"राम, ये मुनि कह रहे हैं, कि मैं सबसे बड़ी हूँ, क्योंकि तुमने समुद्र पर सेतु बाँध दिया और मैं तुम्हारी जननी हूँ, ।"

श्रीराम ने कहा—"जननी तो बड़ी हैं, किन्तु सेतु बाँधना कोई बड़ी बात नहीं। अगस्त्यजी तो समस्त समुद्र के सलिल को एक चुल्लू में ही पी गये थे, अतः उनकी जननी आप से भी बड़ी हुईं। सब मुनि मिलकर अगस्त्य के पास गये और कहा-आप सबसे बड़े हैं। अगस्त्य मुनि हंसपड़े और कहा—"न अंजना बड़ी न हनुमान बड़े। न कौशल्या बड़ी न उनके सुत राम बड़े। न मैं बड़ा न मेरे माता-पिता बड़े। सबसे बड़ा तो राम का नाम है, जिसके प्रभाव से समुद्र पर सेतु बना जिसके प्रभाव से शङ्कर जी विष को पचा गये और जिसके प्रभाव से मैं सम्पूर्ण समुद्र के सलिल को पान कर गया।" राम से भी बड़ा राम का पवित्र मधुमय नाम है।

सूतजी कहते हैं—' मुनियो ! चैत्र शुक्ला राम नवमी के दिन श्रीरामचन्द्र का जन्म हुआ। दूसरे दिन दशमी को कैकेयी के गर्भ से राम प्रेम के साकार स्वरूप जगत् पावन श्री भरतजी का प्राकट्य हुआ और चैत्र शुक्ला एकादशी को सती सुमित्रा से अश्विनी कुमारों के समान, नर नारायण के समान, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समान वे चारों कुमार अपने कमल मुखों से उस रनिवास को शोभायमान करने लगे। राजा की सैकड़ों रानियों के नेत्र उन अन्तःपुरी स्थित बालकों को उसी प्रकार निहारने लगे जैसे चार चन्द्रों को असंख्यों कुमुद कुसुम निहारते रहते हैं। वे चारों सब के सुखदाता थे।

जानकी ने कहा—"मैं तेरी कुछ भी नहीं हूँ। मेरे कहने का कुछ भी महत्व नहीं? कहती हूँ तू अभी जा। यदि तू अब भी न जायगा, तो मैं समझूँगी तेरा विचार खोटा है, तेरे मन मे पाप है। तू राम का अनिष्ट चाहता है, तब मैं जीवित रहते तुझे अङ्ग स्पर्श न करने दूँगी। अभी यहीं आत्महत्या कर लूँगी।"

यह सुनकर लक्ष्मणजी को बड़ा क्रोध आ गया। भक्त के हृदय को महान् ठेस लगी। सेवक अपनी सेवा का इतना घृणित पुरस्कार पाकर विचलित हो गया। उसका हृदय छलनी हो गया। अत्यन्त कष्ट के साथ लक्ष्मण ने कहा—"देवि! तुम्हें धिक्कार है। तुम्हारी बुद्धि इस समय विपरीत हो गई। तुम यथार्थ सीता नहीं हो। तुम अब कामिनी बन गई हो। निश्चय ही तुम्हारा अपमान होगा। लो, मैं तो जा ही रहा हूँ किन्तु तुम्हारी भी कुशल नहीं।" यह कहकर लक्ष्मणजी ने रोते-रोते भूमि में लेटकर जानकी को दूर से ही साष्टांग प्रणाम किया और वे धनुष पर बाण चढ़ाकर शीघ्रतापूर्वक श्रीराम के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए उनकी पदरज को बचाते, उसे मस्तक पर चढ़ाते, दुखित, लज्जित, चिन्तित तथा खिन्न हुए चल दिये।

लक्ष्मण का चित्त चञ्चल हो रहा था। जानकी का प्रत्येक शब्द उनके हृदय में शूल की भाँति चुभ रहा था, वे बार बार सोचते थे, जनकनन्दिनी ने ये सब बातें श्रीराम के अत्यन्त स्नेह के आवेश कहीं हैं। फिर सोचते किन्तु उन्हें मेरे ऊपर ऐसा सन्देह कभी भी न करना चाहिए। मैं तुम्हें सुमित्रा से बढ़कर देवी कौशल्या से भी अधिक मानता हूँ। मैंने कभी दृष्टि उठाकर उनकी ओर देखा तक नहीं उन्होंने जो बातें कहीं हैं उचित ही

और भरत शत्रुघ्न ये दो दो साथ होने पर भी राम में इन सबका अन्तर्भाव होगा।"

अपने पुत्रों की ऐसी प्रशंसा सुन कर पृथिवीपति दशरथ परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपने कुल पुरोहित भगवान् वशिष्ठ का पूजन सत्कार किया। फिर उन्होंने बहुत से ब्राह्मणों को भोजन कराया याचकों को दान दिया। सभी ने हृदय से बालकों के अभ्युदय के लिये मनोकामना की और उन्हें भाँति भाँति के आशीर्वाद दिये। अब चारों कुमार बड़े लाड़ प्यार से बढ़ने लगे।

लक्ष्मण बाल्य काल से ही श्रीराम के अनुगत थे और शत्रुघ्न भरत के। पहिले-पहिले लक्ष्मण बहुत रोया करते थे, सुमित्रा ने गुरु वशिष्ठ को बुला कर उनसे प्रार्थना की—"प्रभो! यह बच्चा रोता बहुत है। इसे किसी की दृष्टि तो नहीं लग गई, किसी ने टोटका तो नहीं कर दिया। कोई यन्त्र मन्त्र कर दीजिये। झाड़ फूंक कर दीजिये या कोई और उपाय बताइये।"

वशिष्ठजी ने ध्यान से देख कर कहा—"रानी जी! इसका एक उपाय है, तुम इन्हें श्रीराम के पालने में सुला दिया करो। सुमित्रा जी ने ऐसा ही किया। रामजी के पालने में जाते ही लक्ष्मण किलकारियाँ मारने लगे वे उसी प्रकार प्रसन्न हुए जैसे अगाध समुद्र में जाकर मत्स्यराज का शिशु प्रमुदित होता है। अब तो माता को सरल उपाय मिल गया। लक्ष्मण को राम के पालने पर और शत्रुघ्न को भरत के पालने पर सुला कर वे निश्चिंत हो जातीं। कौशल्या जी की सेवा करती रहतीं। मानों उन्होंने लक्ष्मण को कौशल्या को दे दिया और शत्रुघ्न को कैकेयी के लिये सौंप दिया। स्वयं सेविका बन कर दोनों बहिनों की

जानकी को एकाकी छोड़कर चले आये हो, यह तुमने उचित कार्य नहीं किये ?"

रोते-रोते लक्ष्मण बोले—"प्रभो ! मैं स्वेच्छा से जानकी को छोड़कर नहीं आया हूँ। आपके आर्तवचनों को सुनकर स्नेह वश अत्यन्त भयभीत हुई सीताजी ने मुझे यहाँ आने के लिये बलात् प्रेरित किया है।"

श्रीराम बोले—"तुमने मेरी आज्ञा का उल्लंघन क्यों किया ? मैं तो तुम्हें वहीं रहने को कह आया था।"

लक्ष्मण ने सिसकियाँ भरते हुए कहा—"मैं क्या करता। जानकी ने तो मुझसे ऐसी क्षुद्रतापूर्ण कठोर-कठोर बातें कहीं कि मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसने मेरे और आर्य भरतजी के चरित्र पर भी सन्देह किया।"

श्रीराम ने कहा—"भैया ! स्त्री जब आपे से बाहर हो जाती है, तो न कहने योग्य बातों को भी कह डालती है। स्त्री अपने मनोगत भावों को क्रोध में छिपा नहीं सकती। क्रोधित स्त्री के सामने से हट जाना चाहिये। उसे उत्तर न देना चाहिये। और उसकी बुरी बातों का बुरा भी न मानना चाहिये।"

लक्ष्मण ने रोते रोते कहा—"प्रभो ! जिन्हें मैं देवता समझता हूँ जिनके चरणों की पूजा करता हूँ, जिनको कभी स्त्री भाव से निहारा नहीं उनका मेरे ऊपर ऐसा सन्देह करना मेरे लिये अत्यंत असह्य है तात ! उन्होंने कहा था—'तू अभी राम के समीप न जायगा तो मैं गोदावरी में कूद पड़ूँगी। विष पी लूँगी मर जाऊँगी।" इन्हीं बातों से क्रोधित होकर मैं बिना इच्छा के आपके समीप आ गया।

श्रीराम अत्यन्त स्नेह के साथ बोले—"भैया, तुम मेरे बल पराक्रम को जानते थे, यह भी जानते थे, कितने भी राक्षस

मातायें उनके मनोहर मुख को देखकर अपने अङ्गों में फूली नही समाती। उन्हें बारबार छाती से चिपटाती। कई बार स्तनों का दूध पिलातीं लोरियाँ दे देकर पालने पर सुलातीं, गोदी में ले लेकर बड़े प्यार से खिलातीं, इधर उधर टहलाती, बोलना-चलना सिखाती, वस्तुओं के नाम बतातीं खिसकते खिसकते जब गिरने लगते तब उठाती प्रेम से झिलाती। आँखों में मोटा-मोटा काजल लगाती। सुन्दर से सुन्दर वस्त्राभूषण मँगाकर पहिनाती। इस प्रकार सभी प्रकार से एकाग्रचित्त होकर वे श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न की देखरेख सेवा सुश्रूषा करती। ऐसा करने मे उन्हे हार्दिक प्रसन्नता होती।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जिनके घर में साक्षात् आनन्द-घन परब्रह्म ही प्रकटित हो गये है, उनके भाग्य और सुख के सम्बन्ध मे कुछ कहना तो व्यर्थ ही है। यही तो जीवका परम लक्ष्य है। यही तो मानव शरीर की सार्थकता है। जब राम कुछ बड़े हुए तो अपने भाइयों के साथ भाँति २ के खेल खेलने लगे।"

छप्पय

अब कुछ घुटुअन चलत फिरत इत उत महलनि महँ।
बलिबलि जावें मातु बुलावत हँसि सैननि महँ॥
छोटी छोटी लटें लटकि आनन पै बिथुरें।
चमकीली लखि वस्तु दौरि ताहीकूँ पकरें॥
पानी कूँ पप्पा कहैं, हप्पा माँगे मातुतें।
बप्पा भूपति कूँ कहत, धूलि मलत निज गात तें॥

वैदेही हरण

(६६३)

रक्षोऽधमेन वृकवद् विपिनेऽसमक्षम् ।
वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् ॥
भ्रात्रा वने कृपणवत्प्रियया वियुक्तः
स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार ॥*

(श्री० भा० ९ स्क० १० अ० ११ श्लो०)

छप्पय

बोले लछिमन त्रियाचरित मत मातु दिखाओ ।
कहैं जानकी मरूँ राम ढिँग यदि नहिं जाओ ॥
लखन दुखित ह्वै चले दशानन तब तहँ आयो ।
साधु समुझिकें सीय सहमि सादर बैठायो ॥
दुष्ट सीय लै चलि दयो, धेनु बधिक फँदे परी ।
दुखित गीध स्वर सुनि भयो, जानि दशानन सिय हरी ॥

प्रेम एक अमृत मय दिव्य तरु है, अनुराग उसकी जड़ें हैं। प्रेम सम्बन्धी अन्य व्यवहार उसकी शाखायें हैं, मिलन

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इधर राक्षसाधम रावणद्वारा श्रीरामके परोक्ष में विदेहराज कन्या श्रीसीताजीके हर लिये जाने पर "स्त्री सङ्गियों की" इसी प्रकार की गति होती है। इसे दर्शाने के लिये, अपनी प्रियतमा से वियुक्त होने पर अपने भाई लक्ष्मण के सहित श्रीराम दीन होकर वन-वन विचरते रहे।"

विविध रूप रखकर व्यक्त होता है। यदि करुण रस न हो, तो साहित्य मे कुछ रह ही न जाय। मिठाइयों मे माधुर्य को निकाल लिया जाय, तो वे किस काम की होंगी। कोई भी रस करुण के बिना चमकता नही। करुण सभी रसों में अनुस्यूत है। करुण रस के बिना काव्य नीरस है। श्रीराम ने अवनि पर अवतरित होकर करुण रस की अविच्छिन्न धारा बहाई है,जो अभी तक बह कर भक्तों के हृदय को शीतलता प्रदान कर रही है और अनन्तकाल तक इसी प्रकार अविरल बह कर प्राणियो को कृतार्थ करती रहेगी। करुणा वियोग में, उत्कण्ठा में उत्पन्न होती है। कृष्णचरित्र संयोग चरित्र है, उसमें वियोग की एक झलक है, किन्तु वह बनावटी है, कृष्ण अपने हृदयेश्वरी से पृथक अवश्य होते है, किन्तु वह पृथकत्व कल्पित सा है। उसमे श्री कृष्ण अधिक दुखित नही होते वियोग तो वह है, कि दोनों ही रोवें दोनों ही छटपटावे दोनों ही बिलबिलावें, दो वियोग की धारायें समान रूप से बहें। करुणा का जैसा साकार स्वरूप राम चरित्र में मिलता है, वैसा संसार में कोई नहीं। राम का सम्पूर्ण जीवन रोते रोते बीता। बाल्यकाल मे वे माता की गोद में, पालने में, खेल मे रोते रहे। बड़े हुए तो रूखी जटा वाले बाबाजी के पल्ले पड़े। वहाँ माता पिता की स्मृति में रोते रहे। अरण्य मे भी विपत्ति के ऊपर विपत्ति पड़ी। अपनी प्राण प्रिया का वियोग हुआ वह तो पराकाष्ठा की करुणा थी। जैसे तैसे मिली कि फिर वियोग। जीवन भर रो रोकर ही उन्होंने करुणा की सरिता के पाट को बढ़ाया।

जिस हृदय में करुणा नहीं, स्निग्धता नहीं। वियोग कथा अनुभव करने की शक्ति नही वह राम चरित्र को पढ़े भी तो क्या समझ सकता है। कारुणिक हृदय ही राम चरित्र को

दिशाओं को आलोकित कर रही हो। तुम सूर्य की प्रभा चन्द्रमा की चाँदनी अथवा मूर्तिमती द्युति तो नहीं हो। तुम सौन्दर्य की साकार प्रतिमा हो? इस मांसाहारियों से सेवित घोरबीहड़ वन में एकाकी तुम यहाँ क्यों निवास कर रही हो? तुम्हारे योग्य तो उत्तम से उत्तम सजे सजाये अन्तः पुर होने चाहिये, फिर तुम श्मशान की अग्नि के समान प्रदीप्त होने पर भी इस अयोग्य दुःखप्रद भयानक वन में क्यों खड़ी हुई हो? मुझे अपना परिचय दो।"

कपट वेष बनाये रावण की बातें सुनकर श्री सीताजी ने सोचा, यह साधु है, मेरा अतिथि है, धर्मपूर्वक मुझसे प्रश्न कर रहा है, इसलिये इसकी बातों का उत्तर देना आवश्यक है, यह सोचकर अत्यन्त संक्षेप में उन्होंने अपना परिचय दे दिया और अन्त में कहा—"यह मैंने संक्षेप में आपको अपना परिचय दे दिया। अब आप भी बताइये आप कौन हैं, किस निमित्त यहाँ पधारे हैं? मेरे पतिदेव मृगया के निमित्त वन में गये हैं। आप मेरा आतिथ्य ग्रहण कीजिये। यह फल मूल पाइये। तब तक मेरे प्राणनाथ अपने भाई लक्ष्मण के सहित लौट आवेंगे। तब आप उनके द्वारा सत्कृत होकर प्रेमपूर्वक प्रसाद पावें।

यह सुनकर दुष्ट विचार वाला वह बनावटी सन्यासी राक्षसाधम बोला—"सुन्दरि! मुझे आतिथ्य की आवश्यकता नहीं। मैं आतिथ्य करने वाली पर अनुरक्त हूँ। मेरी तृप्ति फल मूलों से न होगी मैं फल फूल देने वाली को चाहता हूँ। हे भामिनि! मैं तुम्हारे क्षणमात्र के सत्कार से सन्तुष्ट होने वाला नहीं मैं तुम्हें अपने हृदय का हार बनाना चाहता हूँ, तुम्हें अपनी प्रियतमा पत्नी बनाना चाहता हूँ।"

रावण के ये शब्द सती साध्वी सीताके हृदय में तीर के समान

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न अब लड़खड़ाते हुए माताओं की उङ्गलियों को पकड़ कर चलने लगे। तोतली वाणी में कुछ बोलने भी लगे। वे अपनी बाल लीला से पिता माताओं को सन्तुष्ट करने लगे। माताओं का सम्पूर्ण समय उनके लाड़ प्यार और देखरेख में बीत जाता। प्रातःकाल उठते ही वे सोते हुए बालकों को लोरिया देकर उठाती। उनका मुँह धुलातीं कुछ बालभोग खिलातीं। फिर नित्यकर्मों से निवृत्ति करा कर भाँति-भाँति के सुगन्धित तेल लगा कर उबटन लगा कर सुन्दर सुगन्धित सरयू जल से स्नान करातीं, बालों को सुलझातीं, आभूषणों को यथा स्थान सुन्दर चटकीली सुहावने रेशमी वस्त्रों को पहिनाती, फिर इधर उधर घुमाती, टहलातीं। महाराज उन्हें गोदी में लेकर चूमते पिता से कुमार भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते उनके दाढ़ी मोंछ के बालो को पकड़ लेते, चमकते हुए मुकुट को उतारने दौड़ते। महाराज प्यार से अपना मुकुट उतार कर श्रीराम को पहिनाते। जिससे उनका सब मुख ढक जाता मुकुट गले तक चला जाता। तब ऊब कर राम उसे उतारने का प्रयत्न करते, सभी हँस जाते। महाराज साथ साथ अपने थाल में बिठा कर सब को खिलाते महाराज मुख में कौर देते तो श्रीराम भी अपने छोटे छोटे हाथों में कोई मीठी वस्तु लेकर महाराज के मुख मे देना चाहते, किन्तु हाथ न पहुँचने के कारण वे विवश से हो जाते, तब तुरन्त महाराज उन्हें गोद में उठाकर उनके हाथ की वस्तु को खा लेते साथ ही उनके मुख को चूम लेते। चूमते समय कपोलों पर दाल भात, दही, कढ़ी लग जाती। जिसे देख कर रानियाँ हँस जातीं। महाराज स्वयं पोंछते तब आप भी कोई कढ़ी, दही, खीर आदि पतली वस्तु लेकर महाराज के मुख पर पोत देते, इससे सभी हँसने लगते। रानियाँ हँसते हँसते लोट पोट हो जातीं

यम आदि समस्त लोकपालों को वश में करने वाला लोक को रुलाने वाला रावण तुम्हारे अधीन है। तुम्हारे सम्मुख घुटने टेककर प्रणयकी याचना कर रहा है।"

जानकी ने कड़क कर कहा—"अरे, हट। नीच, कुत्ते, मैं तुमसे बातें करना भी नहीं चाहती। निश्चय तेरा काल तेरे सिर पर नाच रहा है, तभी तो तू रामकी पत्नी के प्रति ऐसे अशिष्ट वचन कह रहा, है जैसे मछली भूल से कांटों को निगल कर अपनी मृत्यु, स्वयं बुलाती है। जैसे मक्खी घृत को पीकर, पक्षी जाल के दाने खाकर, भूखा विष मिश्रित अन्न भक्षण करके पतंग दीपकी ज्योति पर मुग्ध होकर, हरिणी सुन्दर गायन सुनकर अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं उसी प्रकार तू अपनी मृत्यु स्वयं चाहता है। यदि तुझे जीवन प्रिय है, तो तभी तक इस वन से भागजा जब तक धनुर्धारी रघुनन्दन नहीं आते, उनके आते ही निश्चय ही तू मारा जायगा। अपने पापका फल पायेगा।"

रावण ने गम्भीर होकर कहा—"हे वरानने ! मैं तुम्हारे बिना जा नहीं सकता। मैं तुम्हारे रूप पर अनुरक्त हूँ, तुम्हें चाहता हूँ, मेरा जीवन तुम्हारे अधीन है। यदि तुम प्रसन्नता पूर्वक न जाओगी तो मैं तुम्हें बलपूर्वक हर कर लेजाऊँगा। इसलिये तुम अब व्यर्थ की बातें न बनाओ, मेरे समीप आओ, रामको भुलाओ। चलो, तुम मेरे साथ रथ में बैठ जाओ।"

जानकी का यह सुनने ही मुख लाल पड़ गया। वे क्रोध के कारण थर थर कॉपने लगीं। अब रावण ने छद्म वेष को छोड़ दिया। वह बड़ा भयानक दशमुख वाला लम्बा तड़ङ्गा राक्षस बन गया। उसके ऐसे विकराल वेष को देखकर वैदेही डर गईं। उन्होंने आँखें मीच लीं। रावण ने उनके सिर और नितम्बों में

छप्पय

सखनि संग मिलि करैं खेल अब चारो भैया।
चरित निरखि नृप सहित मुदित हों तीनों मैया॥
बड़े भये उपनयन करचो गुरु गृह भिजवाये।
मुनि वशिष्ठ प्रभु-शिष्य पाइ अति हिय हरषाये॥
गुरु सुश्रूषा करहिं सब. पढ़हिं पाठ एकाग्र चित।
समय शील संकोच युत, सुनहिं शास्त्र श्रुति तन्त्र नित॥

रुदन कर रही थी। वह अपने पति का बार बार नाम लेकर पुकार रही थी। अश्रु बहा रही थी, बिलबिला रही थी, छटपटा रही थी, हाथों से सिर और छाती को धुन रही थी, काँप रही थी सुवर्णलता के समान हिल रही थी, चीख रही थी और स्पष्ट स्वर में हिचकियाँ भरते भरते विलाप कर रही थी। वे रोते-रोते कभी तो कहतीं—"हा प्राणवल्लभ! आपकी प्राणों से से भी अधिक प्यारी पत्नी को यह अधम निशाचर आपके परोक्ष में हरकर लिये जा रहा है आपको पता नहीं। कभी कहतीं-यतिवर लक्ष्मण! मैंने स्त्री स्वभाववश तुमसे कटूक्तियाँ कहीं, क्रोध में भरकर तुम पर व्यर्थलांछन लगाया उसी का प्रतिफल मैं तत्काल प्रत्यक्ष भोग रही हूँ। इस नीच राक्षस द्वारा सताई जा रही हूँ। कभी वे वनदेवी देवताओं को प्रणाम करतीं और श्री राम से अपने हरे जाने का संदेश कहने की प्रार्थना करतीं। गोदावरी को अपनी दुर्दशा बतातीं। खग, मृग, तरु तथा वन में विचरने वाले सभी जीवों को सम्बोधन करके वे श्रीराम से समाचार देने की विनती करतीं। वे दुखी थीं, दीन हो रही थीं, करुण क्रंदन कर रही थीं। रावण उन्हें पकड़े हुए लिए जा रहा था। उसी समय वैदेही को वृक्ष पर ऊँघता हुआ गृद्धराज जटायु दिखाई दिया। उन्होंने बड़े आर्त स्वर में कहा—"आर्य! देखो, देखो, यह राक्षसाधम मुझे बलपूर्वक पकड़े ले जा रहा है। तुम वृद्ध हो, पक्षी हो, इस दुष्ट की बराबरी नहीं कर सकते, इससे मुझे छुड़ा नहीं सकते, किन्तु मेरे स्वामी से संदेश तो कह ही सकते हो कि राक्षसराज रावण मुझे हरकर ले गया है। मेरे स्वामी केवल सुन भर पावें, वे मुझे स्वर्ग से भी लौटा ला सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सोते हुए गृद्ध ने जानकी की ये बातें सुनीं। वे अपने विशाल पंखों को फड़फड़ाते हुए उठे। रावण

है। प्रभु की लीलायें प्राकृत सी दिखाई देने पर भी अप्राकृत हैं। वे मानवीय सी लगने पर भी दिव्य है,उनमें विश्व को विमोहित करने की शक्ति निहित है। जो श्रद्धा से उनकी इन लीलाओ को सुनेंगे वे तो लाभ में रहेगे, जो मानवीय भाव से इन्हें समझेंगे मानव ही बने रहेगे।

सूतजी कहते है—"मुनियो! श्रीराम अपने तीनों भाइयों के साथ साथ गुरु के घर मे पढ़ने गये। अब वे माताओं से पृथक गुरु घर में रहने लगे। अब वे राजसी वस्त्राभूषण नहीं धारण करते थे। मूंज की मेखला धारण करके रुरु नामक मृग का चर्म धारण करते। खदिर का दण्ड धारण करके कोपीन लगाते और गुरुगृह मे भिक्षा पाकर विद्याध्ययन करते। ब्रह्मचारी वेप में श्रीराम मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य ही दिखाते। गुरु जो भी एक बार पढ़ा देते, उसे वे तत्काल याद कर लेते। याद क्या कर लेते, उन्हें तो सब वेदशास्त्र पहिले से ही याद थे। वेद तो उनकी स्वांस से ही उत्पन्न हुए है। शास्त्र तो उनका निर्मित शासन है उनकी सर्ग की स्मृति ही अनेकों स्मृतियाँ हैं। प्रथम तो भगवान् वशिष्ठ को उनकी ऐसी कुशाग्र बुद्धि पर आश्चर्य हुआ। फिर यह समझ कर कि ये तो साक्षात् परब्रह्म पुराण पुरुप है, उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। उनके रोम-रोम खिल गये, उन्होंने अपने जीवन को सार्थक समझा।

इस प्रकार स्वल्पकाल में ही श्रीराम ने सभी वेद, समस्त शास्त्र, सभी विद्यायें पढ़ ली। गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ से कहा-"राजन्! आपके सब पुत्र समस्त विद्याओं में पारङ्गत हो गये। वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता हो गये।" यह सुनकर महाराज दशरथ परम प्रमुदित हुए। वे गुरु की आज्ञा से अपने प्राणों से

जटायु मृतक के समान पृथिवी पर गिर कर रक्त उगलते हुए लम्बी-लम्बी सांस लेने लगे।

अपने धर्म के ससुर और रक्षक पक्षिराज को मृतक दशा में देखकर वैदेही और भी अधिक विलाप करने लगीं। वे बार-बार विधाता को धिक्कार दे रही थीं। अपने भाग्य कोसती हुई करुण वाणी से कह रही थीं—"न जाने मैंने पूर्वजन्म में कौन-कौन से पाप किये हैं, जिनके परिणाम स्वरूप मेरे ऊपर विपत्ति के पहाड़ टूट रहे हैं। एक के ऊपर एक आपत्तियों के ऊपर आपत्तियाँ आ रही हैं। मेरे पति राज्य से भ्रष्ट हुए, परिजनों से पृथक् हुए। मुझे यही संतोष था, कि मेरे जीवन धन मेरे साथ हैं, किन्तु कुटिल काल ने आज मुझे उनसे भी दूर हटादिया। मेरी रक्षा के लिए ये पक्षिराज लड़े थे, ये भी प्राणहीन होकर पृथिवी पर पड़े सदा के लिये सो रहे हैं। हाय! मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, कैसे जाऊँ?" ऐसा कह कर जानकी इधर उधर बाण से विधी हरिनी के समान दौड़ने लगी। भागते समय उनकी ऐड़ी तक लटकने वाली चोटी हिल रही थी। मानों काली नागिनी उनके पीछे दौड़ रही हो और उसी के भय से वे भाग रही हों। वे कभी वृक्षों से लिपट जातीं, कभी किसी गुफा में घुस जातीं, कभी भूमि पर लोट जातीं। कभी खड़ी होकर हा प्राणनाथ! हा प्राणवल्लभ! कहकर चिल्लाने लगतीं। रावण उनके पीछे दौड़ता हुआ कहता—"रोओ मत, धैर्य धारण करो। राम तुम्हें अब नहीं मिल सकते। अब तो तुम्हें मेरे ही अधीन रहना पड़ेगा।' जब जानकी अत्यंत ही रोती हुईं एक अशोक वृक्ष से लिपट गईं, तो रावण ने बलपूर्वक उनकी लटकती हुई चोटी पकड़ी। उसमें गुँथे पुष्प नीचे गिर पड़े जिन्हें श्रीराम ने बड़े अनुराग से उनके बालों में लगाया था। उनका पीताम्बर

महामुनि विश्वामित्र का आगमन सुनकर राजा सहसा सकपका गये। वे शीघ्रता से सिंहासन पर से उठ कर नंगे पैरों ही वशिष्ठ जी को आगे करके मुनि के स्वागत के निमित्त चले। द्वार पर पहुँच कर राजा ने मुनि के पादपद्मों मे प्रणाम किया, शास्त्रीय विधि से उनकी पूजा की। कपिल गौ उनको भेट की और बड़े सत्कार से उन्हें अपने यहाँ ले आये।

मुनि की पूजा होने के अनन्तर दोनों ओर से कुशल प्रश्न हो जाने के उपरान्त हाथ जोड़ कर स्नेह भरी वाणी में राजा दशरथ बोले—"ब्रह्मन् ! आज मेरे यज्ञादि समस्त शुभ कर्म सफल हो गये, आज मेरा घर पावन बन गया, आज मेरे पितर तर गये जो आप जैसे परमार्थियो की पादरज मेरे गृह में पड़ गई, ब्रह्मन् ! आपने मुझे दर्शन देकर अत्यन्त ही अनुग्रहीत किया। अब मेरी यह जानने की अत्युत्कट अभिलाषा है, कि भगवान् मुझे केवल कृतार्थ करने दर्शन देने ही पधारे हैं, या मेरे लिये कोई विशेष आज्ञा है।"

गम्भीर होकर विश्वामित्र बोले—"राजन् ! मैं एक आवश्यक कार्य से आपके समीप आया हूँ, यदि आप मेरी याचित वस्तु को देने का वचन दें, तब मैं कहूँ ?"

यह सुनकर अत्यन्त अधीरता प्रकट करते हुए दीन वाणी में राजा बोले—"प्रभो ! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं। ऐसा प्रश्न तो दूसरों से किया जाता है। मैं तो आपका अनुगत, अनुचर, शिष्य, सेवक, सुत तथा आज्ञाकारी भृत्य हूँ। स्वामिन् ! मेरा राज्यपाट, कोष, सुत, परिवार सर्वस्व आपका है। आप आज्ञा करें, यदि प्राण देकर भी मैं आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँगा तो करूँगा, यदि आप इन्द्र का सिंहासन चाहेंगे, तो उसे

से उन्होंने वे आभूषण डाले थे। रावण उस समय अपने आप में मस्त था। अतः जानकी का यह कृत्य वह देख न सका। रावण समुद्र के ऊपर ही ऊपर उड़ता हुआ अपनी सुवर्ण से बनी लंका पुरी में पहुँच गया। वहाँ पहुँच कर उसने एक अत्यंत ही सजे सजाये महल में सीता जी को ले जाकर रख दिया। और सबको चेतावनी दे दी—"कोई भी इससे मेरी आज्ञा के बिना नहीं मिल सकता।" इस प्रकार वह आज्ञा देकर प्रसन्न हुआ। उसने जन स्थान की रक्षा के लिये बहुत से राक्षसों को भेजा और फिर वह सीता के समीप जाकर उन्हें अपने वश में करने के लिये उनसे विविध भाँति से प्रार्थना करने लगा। पहिले तो उसने जानकी को बड़े बड़े प्रलोभन दिये। अपना ऐश्वर्य दिखलाया, अपना महत्व प्रभाव प्रताप जतलाया। फिर भाँति भाँति से डराया धमकाया। राक्षसियों का विकराल भयंकर रूप दिखाया। जब जानकी किसी प्रकार सहमत नहीं हुई और उसे निर्भय होकर खरी खोटी बातें ही सुनाती रहीं, तो वह चिंतित हुआ। उसे शाप था, कि वह किसी स्त्री से उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार करेगा, तो निश्चय ही उसकी मृत्यु हो जायगी। इसलिये वह सीता जी से बलात्कार तो कर नहीं सकता था, उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी इसे नगरी से बाहर अशोकवाटिका में ले जाओ। मैं इसे १२ महीने की अवधि देता हूँ, इस बीच में यदि यह मेरे अनुकूल बन गई, तब तो ठीक ही है। नहीं तो मैं इसे काटकर कच्चा ही खा जाऊँगा। एक दिन का जलपान इसी को खाकर करूँगा।" ऐसा कहकर रावण चला गया। राक्षसियों ने सीताजी को अशोकवाटिका में ले जाकर रख दिया। वहाँ भयंकर भयंकर मुखों वाली राक्षसियों का ही पहरा था। वे जानकी को विविध प्रकार से डराती धमकाती रहती थीं।

मुनि बोले—"राजन् ! यह काम आपके मान का नही। आप उन राक्षसों को नहीं मार सकते। आपकी सेना कुछ काम न देगी।" राजा ने पूछा—"प्रभो ! ऐसे वे कौन से राक्षस है,मैं नहीं मार सकता।"

मुनि बोले—' राक्षसों का राजा रावण है उसकी प्रेरणा से सुन्द, उपसुन्द मारीच, सुबाहु आदि बहुत से राक्षस आकर मेरे मख में विघ्न डालते है। उन्हीं से मुझे भय है। उन्हें मैं राम के द्वारा मरवाऊँगा।

रावण नाम सुनते ही राजा परम भयभीत हो गये, बोले—"ब्रह्मन् ! उस दुष्ट रावण ने तो तीनों लोको को जीत लिया है हमारे पूर्वज महाराज अरण्य को मार दिया है। ब्रह्मन् मैं उससे युद्ध नही कर सकता। सुन्द उपसुन्द का भी पराक्रम मैंने सुना है। मैं मेरी सेना समस्त भूपतिगण रावण से युद्ध नहीं कर सकते। इनके साथ युद्ध करने मै अपने पुत्रों को कभी न दूँगा। किसी प्रकार न दूँगा। आप चाहें शाप देकर मुझे भस्म हो क्यो न कर दे।"

यह सुनकर मुनि कुपित हुए। उन्होंने राजा को डराया धमकाया। साम दाम, दण्ड-भेद आदि सभी उपायो से विवश किया। राजा थर-थर कांप रहे थे, डर रहे थे, भयभीत हो रहे थे, किंतु राम लक्ष्मण को देने को उद्यत नही थे। मुनि ने राम का प्रभाव बहुत समझाया, ये साक्षात् विष्णु हैं अनेक प्रमाणो से सिद्ध किया अपने तप तेज का प्रभाव बताया, रक्षा करने का आश्वासन दिया। किन्तु राजा किसी प्रकार मानते ही नही थे। मुनि का आग्रह था कि मैं राम लक्ष्मण को लेकर जाऊँगा। राजा का प्रतिज्ञा थी चाहे पृथिवी उलट पलट हो जाय, इधर का सूर्य

विरही राम

(६६४)

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्।
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः॥
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः।
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥*

(श्री भा० ५ स्क १९ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

इत मारीचहि मारि लखन लखि राम रिस्यावत।
कुटी सीयबिनु निरखि बिलखि रोवत पछितावत॥
जड़ चेतनको भेद भूलि भामिनि हित भटकैं।
खग मृग तैं सिय पतो पूछि सिर धुनि कर पटकैं॥
इत उत चितवत चकित है, नयन नीर धारा बहत।
तात धीर धारन करो, रामअनुज पुनि पुनि कहत॥

प्रिय विरह में जड़ चेतन का बोध रहता ही नहीं। जिस विरह में शरीर की सुधि है, वह विरह विरह ही नहीं। विरह

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् कौशलकिशोर का यह मनुष्यावतार केवल रावणादि राक्षसों के मारने के लिये ही नहीं हुआ था, किन्तु लोगोंको शिक्षा देनेके निमित्तही यह अवतार हुआ था। नहीं तो आप ही सोचिये जो साक्षात् ईश्वर हैं अपनी ही आत्मामें सदा रमण करने वाले हैं, उन्हें सीताके हरण पर इतना भारी दुःख किसी प्रकार हो सकता था?"

सरल स्वभाव से राजीव लोचन बोले—"भगवन् ! जब समस्त भयों को नाश करने वाले आपका वरद हस्त हमारे ऊपर है तब हमें भय किस बात का । भगवान् की जैसी आज्ञा होगी उसका अक्षरशः पालन करेंगे ।"

श्रीराम के ऐसे सारगर्भित वचन सुनकर विश्वामित्रजी वही रह गये और नित्य कृत्य करके उन्होंने वह रात्रि वही बिताई ।

प्रातःकाल मुनि ने भोर में दोनों भाइयों को अत्यन्त स्नेह से जगाया । नित्यकर्मों से निवृत्ति होकर वे आगे बढ़े ।

मार्ग में उन्हें बडे मुख वाली, लम्बी लम्बी दाँतों वाली ताड़का नाम की राक्षसी मिली । उसका मुख पर्वत की कन्दरा के समान था । हल की फार से भी बड़े उसके दाँत थे। खुटेके समान उसकी दाढें थीं । सूप से भी बड़े उसके कान थे । उसके स्तन ऐसे लगते थे मानों दो पर्वत शिखर उसकी छाती पर रखें हों, उसके बाल बिखरे हुए थे । बड़े बडे हाथ थे, उसके उस विकराल रूप को देखकर श्रीराम तनिक भी विचलित नही हुए उन्होंने विश्वामित्र जी से पूछा—"प्रभो ! यह विकराल भेप वाली राक्षसी कौन है ?"

विश्वामित्र जी बोले—"यह सुकेतु नामक यक्ष की पुत्री है और सुन्द नामक राक्षस की पत्नी है, यह बड़ी क्रूरकर्मा है, रामचन्द्र इसे तुम मार डालो ।"

श्रीराम बोले—महाराज ! पहिले ही पहिले तो मुझे मारना आरम्भ करना है । श्री गणेश इससे ही करूँ ? स्त्री को तो अवध्या बताया है ।"

विश्वामित्र जी बोले—"भाई ! वेद शास्त्र को प्रकट करने वाले हम ऋषिगण ही तो हैं । जो सबको क्लेश देता हो, जिसके

लाई न हँसती हुई आगे आईं। राघव का हृदय फक पड़ गया उनकी बाँई आँख के नीचे का पलक बार बार फरकने लगा। हरिनोंने मार्ग काट दिया। बाईं बाहु फरकने लगीं। सम्मुख स्यारियाँ आकर रोने लगीं। श्रीराम डर गये। उन्होंने दुःख संभ्रम शंका के स्वर में पुकारा—"जानकी! सीते! प्रिये! कहाँ हो?"

कुछ भी उत्तर न पाकर श्रीराम शीघ्रता पूर्वक कुटी में घुस गये। वहाँ जानकी नहीं थीं। वे घबराये, तुरन्त द्वार पर आये और हा प्रिये! हा सीते। कहकर कटे वृक्ष के समान धड़ाम से धरती पर गिर गये। लक्ष्मण ने शीघ्रता से आँसू पोंछते हुए राघव को उठाया। उनकी धूलि पोंछी और मधुर वाणी में कहने लगे—"रघुनन्दन! आप इतने अधीर न हों। जानकी मिल जायँगी। कहीं जल लेने या पुष्प तोड़ने गोदावरी के निकट गई होंगी।"

"जानकी मिल जायँगी, वे गोदावरी तट पर होंगी" इन शब्दों को सुनते ही राघव के रोम रोम खिल उठे। ऐसा लगा मानों किसी ने उनके शरीर में जीवनी शक्ति का संचार कर दिया हो। वे तुरन्त उठकर दौड़े। क्षण भर में वे गोदावरी के समीप आये। किनारे पर खड़े होकर उन्होंने पुकारा—"प्रिये! सीते! तुम कहाँ हो? समीप की गुफा से अपने ही शब्द की प्रतिध्वनि सुनकर राम हर्षित हुए वे पुनः पूरी शक्ति लगाकर बोले—"जानकी! मैं मृगया करके लौट आया हूँ तुम आजाओ।" इतना कहकर वे चकित चकित दृष्टि से इधर उधर निहारने लगे। फिर सीता को आते न देखकर समीप के ही कुंजोंमें जाकर कहने लगे—"जानकी! तुम बहुत हँसी विनोद करती हो। देखो, इतनी हँसी अच्छी नहीं। मैं जान गया तुम मुझे देखकर छिप

लोग यही निवास करें। तुम्हारे रहने से यह वन परम पावन तीर्थवन जायगा।"

यह सुनकर लजाते हुए श्रीराम ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और एक सघन वृक्ष की छाया में जहाँ जल का सुपास था, अपना आसन जमाया। सन्ध्या वन्दनादि नित्य कृत्यों से निवृत्त होकर मुनि सो गये। श्रीरामचन्द्र भाई लक्ष्मण के सहित उनके पैर दबाते दबाते अनेक कथाओं को पूछते रहे और विश्वामित्र जी श्रीराघव के पूछने पर प्राचीन कथायें सुनाते रहे। इस प्रकार वह रात्रि उन्होने वही बिताई।

ताड़का वध की बात सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! श्रीरामचन्द्र जी ने स्त्रीवध क्यों किया? स्त्री को तो सर्वत्र अवध्या बताया गया है। हम देखते हैं राम कृष्ण दोनों ही अवतारों ने वध कार्य स्त्री से ही आरम्भ किया श्रीराम ने आरम्भ में ताड़का बध किया और श्रीकृष्ण ने पूतना वध से मार धाड़ संहार आरम्भ किया। इसका क्या रहस्य है?"

यह सुनकर सूतजी बोले "महाराज? श्रीकृष्ण की बात तो आप मुझसे अभी पूछें नही। इन टेढ़े टाँग वाले काले देवता की मथुरा तो तीनों लोक से न्यारी ही है। हाँ मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की बात मैं बता सकता हूँ। ये पुरुषोत्तमतो मर्यादा के साकार स्वरूप हैं। अतः ये मर्यादा विरुद्ध तो कोई कार्य कर नहीं सकते।"

ताड़का वध का प्रथम कारण तो यह है, कि अयोध्या से चलते समय ही विश्वामित्र जी ने श्रीराम को दिव्य विद्यायें

लटकती लटें तुम्हारी पंक्तियों के समान दिखाई देती थीं। सीता के मुख को कमल समझकर कभी तुम उस ओर बढ़ते थे, तो व्रीड़ा सहित अपने कर कमलों से तुम्हें बरजती थी, मेरे शरीर से आकर लिपट जाती और मेरे वल्कलों में अपने मुख को छिपा लेती। उस विदेहराज की प्यारी पुत्री को तुमने देखा हो तो मुझे बता दो। तुम्हारा यह गुन-गुन शब्द मेरी समझ में नहीं आता। मुझे स्पष्ट उसका पता बता दो। इतने में ही एक काली सर्पिणी उधर से जाती हुई दिखाई दी। श्रीराम उसके पीछे दौड़े और बोले—"नागिनि मेरी प्रिया की ऐड़ी तक लटकने वाली वैंणी तुम्हारे ही समान थी जब वह बालों को सम्हाल कर वैंणी बाँध कर व्रीड़ा के साथ मेरे समीप आती तो पीछे टेढ़ी मेढ़ी हिलती हुई उसकी वैंणी मुझे तुम्हारे चिकने शरीर के सदृश ही लगती थी। तुम तो जानकी को जानती ही होगी। मेरे ऊपर दया करो कहाँ गई है, इतना ही मुझे बता दो। वह स्वर्ग में, पाताल में, कहीं भी होगी वहीं से मैं उसे खोज लाऊँगा। सर्पिणी सर्र से श्रीराम के आगे से निकल कर एक बिल में घुस गई। उसी समय एक यूथ भ्रष्टा मृगी ने अपने बड़े बड़े नेत्रों को फाड़कर श्रीराम को देखा। मृगी को देखते ही राम रो पड़े और बोले—"हे मृगी! तुम मेरे धनुष बाणों को देखकर डरो मत। मैं तुम्हें क्यों मारूँगा। तुम तो अबला हो। मैं तो सुवर्ण का मृग मारता हूँ, मेरी प्रियाको सुवर्ण का ही मृग प्रिय था। उसे प्रसन्न करने, मैं कनक मृग मारने गया था। उसे कैसे पता चल गया, कि मैं सुवर्ण मृग मारकर न ला सकूँगा। संभवतया इसीलिये वह रूठकर कहीं छिप गई है। तुम तो उसका पता जानती ही होगी। स्त्री अपने मन की बात स्त्री से ही कह देती है। देखो मेरी प्रिया की आँखें तुम्हारे ही समान थीं, वह ऐसे ही डहडही दृष्टि से देखा करती थी। तुम्हारे

भगवान् ने डाँटकर कहा—"मेरे शासन को पुरस्कृत करके तुम उस बच्चे को दे दो।" यह तो नियम के विरुद्ध विशेष आज्ञा थी। यम ने दे दिया। इसी प्रकार ताड़का वध की गुरु आज्ञा सुनकर पहिले तो श्रीराम हिचके किन्तु जब गुरु ने बल देकर कहा—"इसे मेरी आज्ञा से मारो।" तब राम क्या करते गुरो राज्ञा गरीयसी" ताड़का को गुरु आज्ञा समझकर मारा।

दूसरी बात यह है, कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ओर है। जो मनुष्य सर्व प्रथम अपने वैषयिक प्रकृति को मार नही लेता तब तक वह कोई भी महत्व पूर्ण कार्य कर नही सकता। अतः प्रकृति पर विजय पाना यह पुरुष का प्रथम कर्तव्य है।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है, एक प्राचीन कहावत है कि 'चार को न मारकर पहिले चोर की माँ को मार डालो जिससे चोर पैदा हो ही नही।" विश्वामित्र मुनिके मखमें मारीच सुबाहु ही बहुत विघ्न किया करते थे। रामजीने सोचा चोरोंको मारने के प्रथम इनकी माँ को मार दो। बाँध तभी बँधेगा जब उसकी मूल धारा रोकी जाय। हमने मारीच सुबाहु को मार डाला यह फिर ऐसे ही राक्षस पैदा करती रही तो मुनियों को कष्ट होगा, अतः पहिले मूल को ही निर्मूल करो इसलिये पहिले ताड़का को मारा तब मारीच सुबाहु को।

चौथा कारण यह भी हो सकता है, कि मनुष्य धन लुटने से उतना क्रोधित नही होता, अपने अपमान से उतना क्रोधित नहीं होता जितना स्त्रियो के वध से, उनके अपमान से क्रोधित होता है अतः उन्होने ताड़का को मारकर राक्षसों को मानों चुनौती दी कि अब तुम युद्ध के लिये तत्पर होजाओ। मैं समस्त राक्षसों का संहार करूँगा।"

और कठोर हैं। तुमने इधर से जाती हुई या राक्षसों के द्वारा हरण की हुई उसको देखा हो तो मुझे बता दो। फिर पीपल से कहने लगे—"हे अश्वत्थ! तुम्हारी छाया में बैठकर मेरी प्रिया अपने श्रम को मिटाया करती थी। उसका उदर तुम्हारे पत्तों के सदृश था। तुम्हारे नीचे जाते हुए उसे परम सुख होता था, तुम जानकी के सम्बन्ध में कुछ जाते हो तो बता दो।" फिर केले को देखकर श्रीराम उससे लिपट कर कहते—"हे कदली! तुम्हारे चिकने खम्भों के सदृश उसकी चिकनी जंघायें थीं। वह जब कभी काँपती तो तुम्हारे ही सदृश दिखाई देती थी सीता का तुमसे बड़ा स्नेह था। उसका कुछ ऋण तो चुकाओ।" फिर सम्मुख हाथी को आते देखकर उससे राघव कहते—"हे गजेन्द्र! ठहरो-ठहरो! मेरी बात तो सुनो। तुम्हारी सूँड़ के सदृश ही जिसके जघन हैं उस मेरी प्राणप्रिया पत्नी का पता तुम जानते हो क्या? यदि जानते हो तो अपनी पीठ पर चढ़ाकर मुझे उसके पास पहुँचा दो।" फिर हँसिनी को देखकर कहते—"हे मन्द मन्द गामिनी! मेरी प्रिया भी तुम्हारे समान इठला कर क्रीड़ा के साथ चलती थी। कहीं तुम्हारी चाल से होड़ लगाती-लगाती वह दूर निकल गई हो और तुम उसे छोड़कर मुझे उसका पता बताने आई हो तो मुझे बता दो। मैं तुम्हें जिता दूँगा। उसके सम्मुख कह दूँगा—"तुम्हारी चाल से इस हंसिनी की चाल अच्छी है।" यद्यपि यह बात झूठ होगी किन्तु मुझे तो तुमसे अपना प्रयोजन निकालना है। अर्थी दोष को नहीं देखता। आगे कुन्दरू की बेल पर लाल-लाल कुन्दरुओं को लगे देखकर भगवान् उस लता से कहने लगे—"हे लते! देखो जैसे तुम्हारे सुन्दर रक्त वर्ण के फल हैं वैसे ही मेरी प्रिया के चरण तल, करतल, जिह्वा, ओठ, कपोल और नेत्र के नीचे के

स्नेही पुत्र की भाँति निर्भय होकर मुनि से भाँति भाँति के प्रश्न करने लगे। विश्वामित्र जी भी उनके सभी प्रश्नों का अत्यन्त प्यार दुलार के साथ समझा समझा कर उत्तर देने लगे। श्रीराम के लिये ऐसे बीहड़ वन में एकाकी पैदल आना यह प्रथम अवसर था। अतः वे जिस वस्तु को भी देखते, उसी के सम्बन्ध में पूछने लगते। उन्हें विश्वामित्र का आश्रम देखने की बड़ी चटपटी लगी हुई थी। वे राक्षसों से युद्ध करने को बड़े ही लालायित थे, आज प्रातः काल ही विश्वामित्र जी ने उन्हें बहुत से दिव्य अस्त्र संधान उपसंहार विधि के सहित प्रदान किये थे। उनकी परीक्षा करने को श्रीराम अत्यन्त ही समुत्सुक प्रतीत होते थे। उन्होने मुनिसे पूछा—"प्रभो! आपका आश्रम अब कितनी दूर है? हम कै दिन में वहाँ पहुँचेंगे?"

विश्वामित्र ने श्रीराम की ठोढी में हाथ लगाते हुए उनके कपोल को छूकर कहा—"अरे बेटा! अब कहाँ दूर है? अब तो हम आ गये। देखो, यह तो ताड़का वन है, इससे आगे एक मुनियो का छोटा सा वन और है। उसी के आगे मेरा सिद्धाश्रम है।"

राम ने उत्सुकता से पूछा—"भगवन्! आपके आश्रम का नाम सिद्धाश्रम क्यो पड़ा?"

विश्वामित्र बोले—"रामभद्र तुमने सुना होगा, पुराण पुरुष विष्णुने इन्द्रको त्रिभुवन का राज्य देने के लिये वामनावतार धारण किया था. वे कश्यप अदिति के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने यही आकर तप किया था और यही वे सिद्ध हुए थे। इसीलिए इसका नाम सिद्धाश्रम है। मैं विष्णु का भक्त हूँ इसी आशा से इस सिद्धाश्रम पर तप कर रहा था, कि कभी साक्षात् विष्णु को यहाँ ले आऊँगा, सो आज मेरा

लक्ष्मण के वचन सुनकर श्रीराम बोले—"अच्छा, लक्ष्मण! तुम फिर गोदावरी तट पर जाओ, कमलों के ह्रद को तो हम अभी देखकर आये हैं, तुम फिर उसे देखना। उनके भीतर घुस जाना। सभी कमलों की नाल को हिलाना। सघन वन में दूर तक जाना। वृक्षों पर चढ़ जाना कंदराओं में खोजना। पूर्ण शक्ति लगाकर सीता का नाम लेकर पुकारना।"

अपने बड़े भाई की ऐसी आज्ञा सुनकर लक्ष्मण शीघ्रता से गोदावरी तट तक गये। किन्तु जब उन्हें कहीं भी सीता का पता न मिला, तो वे खिन्न होकर उदास मन से आकर श्रीराम के सम्मुख खड़े हो गये।

अत्यन्त ही उत्सुकता से श्रीराम ने पूछा—"लक्ष्मण! लक्ष्मण! क्या सीता का कुछ पता मिला। वह कहाँ छिपी थी? क्या तुमने मेरी प्राण प्रिया को देखा?"

लक्ष्मण बोले—"तात! सबत्र ढूँढ़ने पर भी मैथिली नहीं मिलीं।"

श्रीराम दुखित होकर बोले—"तुमने वृक्ष पर चढ़कर उसे पुकारा नहीं?"

लक्ष्मण बोले—"प्रभो! सबसे ऊँचे शाल पर चढ़कर मैंने पूरी शक्ति लगाकर सीता को पुकारा किन्तु मुझे कुछ भी उत्तर नहीं मिला।"

इतना सुनते ही श्रीराम अपने हाथों से अपना सिर धुनने लगे। छाती पीटने लगे। ढाह मार कर रोने लगे। रोते रोते वे संज्ञा शून्य से हो गये। तब भाई के दुख में दुखी लक्ष्मण ने उन्हें उठाया। धैर्य बँधाया और पुरुषार्थ का महत्व समझाया। श्रीराम का सीता के बिना सम्पूर्ण संसार सूना सूना सा दिखाई दे रहा था। उनके हृदय में रह रह कर आशंका उठ रही थी।

दिखाते हुए कहा—"राघव ! सामने जो तुम्हें हरा-भरा आश्रम दिखाई दे रहा है, वही सिद्धाश्रम है। यहीं मैं रहता हूँ, इसे तुम अपना ही समझो।" श्रीराम दूर से ही आश्रम को देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से युक्त था। उसमें स्थान-स्थान पर सुन्दर सघन वृक्ष लगे हुए थे। जिन पर बैठे भांति-भांति से पक्षी कलरव कर रहे थे। मोर, चकोर, हंस, सारस, कारंडव समीप से सरोवरों के निकट किलोलें कर रहे थे। बहुत से वृक्ष फलो से लदे हुए थे। बहुतों पर पुष्प लगे थे। उन सबके थाले बने थे। वल्कल वस्त्र पहिने मुनिगण उनमे पानी दे रहे थे। बड़ी-बड़ी लताओं की स्थान स्थान पर कुंजें बनी थीं। विविध पुष्पों की दिव्य सुगन्धि से सम्पूर्ण आश्रम सुगन्धित हो रहा था। यज्ञ के धर्म की सुरभि आकाश मण्डल में व्याप्त होकर वायु को सुवासित कर रही थी। हरी-हरी मंजरी युक्त तुलसी स्थान-स्थान पर लगी हुई थी। केले के फलयुक्त वृक्ष हिल-हिल कर अतिथियो का स्वागत कर रहे थे। मृग इधर से उधर स्वच्छन्द फिर रहे थे। कहीं समाके चावल सूख रहे थे। कहीं वल्कल वस्त्र फैलाये हुए थे। कही समिधाएँ पड़ी थीं, कही कुशाओं के गठ्ठर रखे थे। उस आश्रम को देखकर श्रीराम का मन मयूर नृत्य करने लगा। आश्रम के मुनियों ने जब श्रीराम लक्ष्मण के साथ आते हुए श्री विश्वामित्र जी को देखा तो वे सभी अपने-अपने कार्यों को छोड़ कर उनके स्वागत के लिये दौड़े। सभी ने मुनि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। मुनि ने आश्रम की कुशल पूछी। सबने मुनि का तिथिगत किया और श्रीराम लक्षणम का भी अतिथि सत्कार किया।

हाथ पैर धोकर श्रीराम लक्ष्मण ने आचमन किया

तुमने मेरी बड़ी सेवा की। अब तुम पुरी लौट जाओ। सबसे मेरा यथायोग्य कहना। भरत से कहना वह मेरी आज्ञा से राज्य करे। मेरे और्ध्वदैहिक कर्म कर दे। मैं अब सीता के वियोग में अधिक जीवित रह नहीं सकता।"

श्रीरामचन्द्रजी का ऐसा करुणा भरा विलाप सुनकर लक्ष्मण ने उन्हें धैर्य बँधाया और अत्यंत ही मधुर वाणी में बोले—"प्रभो! मनुष्यों जैसी अधीरता आपके अनुरूप नहीं। तात! जानकी का बाल भी बाँका नहीं हो सकता। उन्हें कोई मार कैसे सकता है वे अपने सतीत्व के तेज के प्रभाव से जहाँ रहेंगी सुरक्षित रहेंगी। स्वामिन्! बुद्धिमान् पुरुष घोर से घोर विपत्ति में भी धैर्य को नहीं छोड़ते। वे पुरुषार्थ के द्वारा विपत्ति को निर्मूल कर देते हैं। आप भी उद्योग का आश्रय लीजिये। आपका सेवक जब मैं धनुष बाण लिये आपके साथ हूँ, तो आप चिन्ता क्यों करते है। मुझे साथ लेकर जनस्थान के समस्त वनों में, गोदावरी के तट और पुलिनों में, प्रस्रवण पर्वत के समस्त शिखरों और कंदराओं में आप भगवती सीता-देवी की खोज करें। पहिले हम समस्त पृथिवी को छान डालेंगे, फिर पाताल में चलेंगे। फिर सातों लोकों में ढूँढ़ेंगे। सारांश जहाँ भी जानकी मिलेगी, वहीं हम उसका पता लगावेंगे। यम भी यदि ले गया होगा, तो उससे भी युद्ध करके मैथिली को लौटा लावेंगे। प्रभो! पुरुषार्थ का अवलम्बन लीजिये। अधीरता को छोड़िये। साहस करके खड़े हो जाइये। देखिये, वायु दक्षिण की ओर बह रही है। खग-वृन्द कल कल करते हुए दक्षिण की ओर उड़े जा रहे हैं। मृग भागते हुए दक्षिण की ही ओर जा रहे हैं। दक्षिण में ही राक्षसों का निवास है। अतः आप मुझे साथ लेकर दक्षिण दिशा की ओर चलिये।

प्रथम दिन शकुशल समाप्त हुआ। द्वितीय दिन राम बड़ी उत्सुकता से राक्षसों की प्रतीक्षा करते रहे कोई नहीं आया। तृतीय दिन उन्होने बड़ी सावधानी रखी, चतुर्थ दिन भी जब कोई राक्षस नही आया तो वे निराश होगये। पचम दिन उन्होने समझा अब कोई राक्षस न आवेगा। छठे दिन ज्यो ही पूर्णाहुति अवसर आया, त्योही आकाश मे जल भरे मेघो के समान आते हुए राक्षस दिखाई दिये। शीघ्रता से सावधान होकर श्रीराम ने लक्ष्मल से कहा–लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! देखो, देखो, वे दुष्ट राक्षस आकाश में मंडराने लगे। अवश्य ही ये मुनि के मख मे विघ्न करने आये है, इन्हें मारना हमारा परम धर्म है। तुम सावधान हो जाओ।

यह सुनकर लक्ष्मण बाण तानकर सम्हल कर खड़े हो गये। इतने मे ही यज्ञ कुंड के समीप राक्षसो ने रुधिर की वर्षा की। उसी समय मारीच को लक्ष्य करके बिना फर का बाण राम ने उसको मारा, बाण के लगते ही वह सैकड़ों योजन समुद्र के उस पार लंका में जा पड़ा। राम जी ने उसके प्राण इसलिये नहीं लिये कि उसके द्वारा आगे भी असुर संहारका बहुत कार्य कराना था। दूसरा एक बाण फर सहित मारा, वह सुबाहु की छाती में जाकर लगा, उससे वह मरकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। एक बाण और भी छोड़ा, जिससे बहुत से राक्षस मर गये, बहुत से डरकर भाग गये, बहुत से घायल हुये।

राक्षस के मारे जाने पर विधिवत यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। मुनियों ने विश्वामित्र का अभिनन्दन किया। सभी ने श्रीराम के बल, वीर्य, पराक्रम, ओज, तेज और शूरवीरता की प्रशंसा की। दोनों भाइयों ने तप से सिद्ध हुए मुनि के पाद पद्मों में उसी प्रकार प्रणाम किया, जिस प्रकार अश्विनी कुमारों ने अपने पिता सूर्य के पाद पद्मों में प्रणाम किया था। मुनि ने दोनो राजकुमारों

से बोले—"लक्ष्मण ! मैं इन पुष्पों को भली भाँति पहिचानता हूँ। मैं बड़े प्रयत्न से इन पुष्पों को तोड़ कर लाया था। मैंने इन्हें अपनी प्राणप्रिया सीता को दिया था, उसने अत्यन्त ही उल्लास के साथ इन्हें अपनी चोटी में लगाया था। निश्चय ही यहाँ राक्षसों ने उसे काटकर बाँटकर खाया है। देखो, देखो ये रक्त के बिन्दु पड़े हैं। बड़े बड़े पद चिन्ह ये राक्षसों के हैं। लक्ष्मण ! मैं अपनी प्रिया के पद चिन्हों को पहिचानता हूँ। उसका उदर कृश है, उसके नितंब भारी हैं इसलिये उसकी एड़ियाँ अधिक धूलि में धँस जाती हैं। ये ध्वज, अंकुश, वज्र आदि समस्त शुभ चिन्हों से चिन्हित मेरी प्राणप्रिया के ही हैं। वह यहाँ दौड़ी है। इसलिये उसके केशपाशों से सुमन पदचिन्ह गिर पड़े हैं। प्रतीत होता है दो राक्षसों ने सीता को हरा है। फिर उन दोनों में सीता को भक्षण करने के निमित्त परस्पर में युद्ध हुआ है। सामने यह टूटा धनुष पड़ा है। देखो, यह कैसा विशाल धनुष है। रथ टूटा हुआ पड़ा है, खच्चर मरे पड़े हैं, निश्चय ही यहाँ दो राक्षसों का भीषण युद्ध हुआ है। इसे चल कर देखें यहाँ मेरी प्रिया के बाल ही मिल जायँगे। संभव है अस्थियाँ मिल जायँ, उन्हें ही मैं हृदय से लगा कर सुखी हूँगा। लक्ष्मण ! मैं अब राक्षसों का नाश निश्चय ही कर डालूँगा। अपनी प्रिया के भक्षण करने वाले राक्षसों को मार कर ही मरूँगा। बिना वैदेही का बदला लिये मैं मान नहीं सकता। राक्षसों ने मुझसे खर, दूषण, त्रिशिरा आदि के वध का बदला लिया है। किन्तु जैसे भूल से खा लेने पर कोई मक्खी को पचा नहीं सकता, इसी प्रकार राक्षस मेरी पत्नी को नहीं पचा सकते। मैं समस्त राक्षसों को मार डालूँगा कदाचित् मेरी प्रिया जीवित होगी, तो मैं जैसे भी होगा तैसे युद्ध में राक्षसों का संहार

हिन्दू धर्म और हिन्दी-साहित्यमें युगान्तकारी
धार्मिक प्रकाशन

"भागवती कथा"

देश के विभिन्न विद्वानों, नेताओं पत्रकारों द्वारा
भूरि भूरि प्रसंशित। इसके लेखक हैं।
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

इसे पढ़कर आप

१—श्रीमद्भागवत तथा अन्यान्य पुराणों की कथाओं का रहस्य सरलता, सरसता और घरेलू ढँग से समझेंगे।

२—दैनिक जीवन को सात्विक धार्मिक और राष्ट्रीय जीवन को सार्थकता में परिणित करेंगे।

३—व्यावहारिक या गार्हस्थ्य जीवनको जीने के लिये नहीं, जीवन के लिये उच्च और धार्मिक बनायेंगे।

४—श्रेय और प्रेय, योग और भोग एक साथ सम्पादन करने—प्राप्त करने—की शिक्षा घर बैठे प्राप्त करेंगे।

५—जननी जन्मभूमि की महत्ताको समझकर स्वधर्म, स्ववर्ण तथा स्वदेश के प्रति निष्ठावान् बनेंगे।

इस अभूतपूर्व ग्रन्थमें १०८ भाग होंगे।

प्रति मास एक भाग प्रकाशित करने की योजना चल रही है। अब तक ६९ भाग छप चुके हैं। २५० पृष्ठों के प्रत्येक सचित्र भाग की दक्षिणा १.२५ पैसा है १ से १२ खण्ड तक कई बार छप चुके हैं। प्रथम खण्ड के चार ही वर्ष में चार संस्करणों में १८ हजार ग्रन्थ छप चुके हैं।

१७ रुपया ३० पैसा वार्षिक प्रदान करने पर १२ भाग बिना डाकव्यय के आपके घर रजिष्ट्री से पहुँच जायँगे।

प्राप्तिस्थान—संकीर्तन भवन झूसी, (प्रयाग)
संकीर्तन भवन, वंशीवट, श्रीवृन्दावन

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६९ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.२५ पै० डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५.२५

३—सटीक भागवत चरित—बारह बारह सौ पृष्ठ के सजिल्द दोनों खण्डों का मू० १३.००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४.००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० सं० ३५० मू० २.७५

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.००

७—कृष्ण चरित—मू० २.००

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.००

१०—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें। प्रथम खंड का मू० १.००

११—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.५०

१२—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.५०

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखदसस्मरण पृ०सं०१३० मू०.२५

१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७—प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१२

१८—राघवेन्दु चरित—मू० ०.३१

१९—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५

२०—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछंदोंमें) मू० ०.१५

२१—आलवन्दार स्तोत्र—छप्पयछन्दों सहित मू० ०.२५

२२—प्रभुपूजा पद्धति मू० ०.२५

२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२

२४—गोपीगीत—अमूल्य।

मुद्रक—पं० बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ५२ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद।

द जोशी
ान्म : 21 मई 1931, उज्जैन (म० प्र०).

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६६ खण्ड छप चुके हैं। खण्ड का मू० १.२५ पै० डाकव्यय पृथक्।
२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५.२५
३—सटीक भागवत चरित—बारह बारह सौ पृष्ठ के सजिल्द दोनों ख का मू० १३.००
४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४.००
५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० सं० ३५० मू० २.७५
६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.००
७—कृष्ण चरित—मू० २.००
८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०
९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.००
१०—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें। प्रथम खंड का मू० १.००
११—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.५०
१२—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.५०
१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५
१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१
१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखदसस्मरण पृ०सं०१३० मू०
१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१
१७—प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१२
१८—राघवेन्दु चरित—मू० ०.३१
१९—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५
२०—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछंदोंमें) मू० ०.१५
२१—आलवन्दार स्तोत्र—छप्पयछन्दों सहित मू० ०.२५
२२—प्रभुपूजा पद्धति मू० ०.२५
२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२
२४—गोपीगीत—अमूल्य।

मुद्रक—पं० बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ५२ मुट्ठीगञ्ज इलाहाबाद।

श्री मीनाराम जी

❀ श्रीहरिः ❀

श्रीभागवत-दर्शन—

भागवती-कथा

(उन्तीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनोसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

—:❀:—

तृतीय संस्करण १००० प्रति] भाद्रपद सं० २०२३ विक्र० [संशोधित मूल्य २.०० मू० १-२५ पै०

मुद्रक—पं० वंशीधर शर्मा भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगञ्ज इलाहाबाद ।

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ सं०
भूमिका जनमनरञ्जन राम		३
६६५—सर्वभूत सुहृद् श्रीराम	....	२०
६६६—सुग्रीवसखा श्रीराम	...	३७
६६७—मैत्री निर्वाहक श्रीराम	...	५४
६६८—लङ्का-दहन	...	७१
६६९—समुद्र तीरपर श्रीराम	...	१०६
६७०—शरणागत प्रतिपालक श्रीराम	....	११९
६७१—समुद्रकी शरणागति	...	१३३
६७२—समुद्र पर पुल बाँधने का प्रस्ताव	...	१४१
६७३—सेतु-बन्ध	...	१४७
६७४—क्षतविक्षत लङ्का	...	१५८
६७५—राक्षसों और वानरों का भीषण युद्ध	...	१६८
६७६—रावण के मुख्य-मुख्य वीरों का संहार	...	१८५
६७७—कुम्भकर्ण गतिदाता राम	...	२००
६७८—इन्द्रजित्वध और रावण का युद्धार्थ आगमन		२१३

भूमिका

जनमनरञ्जन राम

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्,
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्वआत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥*
(श्री भा० ५ स्क० १९ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

राम कामनाहीन करैं क्रीड़ा करुणाकर ।
नीरस जग कूँ सरस करन प्रकटैं प्रभु दुखहर ॥
मनुज सरिस शुभ चरित दिखावहिं जनमनरञ्जन ।
सुखी करन निज जननि करहिं हरि करुणा क्रन्दन ॥
करैं कामना भक्त जब, तब तैसे बनि जात हैं ।
ह्वैकें सर्वसमर्थ प्रभु, भक्तनि हाथ बिकात हैं ॥

भगवान् के अवतार का कारण खोजते हैं, तो क्रीड़ा करके अपने जनों को सुख देने के अतिरिक्त कुछ पाते ही नहीं । जो

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! संसार में श्री रामचन्द्रजी का अवतार केवल राक्षसों को मारने के ही निमित्त नहीं हुआ । उनका अवतार तो लोकशिक्षण के लिये हुआ है । सबको सुख देने के लिये हुआ है । नहीं तो आप ही सोचें जो अपने आत्मा में ही रमण करने वाले हैं, उन साक्षात् षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् को सीताजी के लिये इतना दुःख कैसे हो सकता है ?"

गम्भीर बना बैठा बैठा आदेश देता रहे, उससे काम तो भले ही हो जाय जनमनरंजन नहीं हो सकता। भगवान् को काम तो करना नहीं काम को तो और छुड़ाना है। उन्हें तो हँसना है, हँसाना है, सरसता का प्रभाव बढ़ाना है। इसलिये वे नानावतार लेकर लोगों को शिक्षा देते हैं तुम सदा हँसते रहो, सुखी रहो, निश्चिन्त रहो, घर को वन को एक-सा समझो। अपनी मुसकान की रक्षा करो। विषाद को अपने पास फटकने मत दो। रोने की ही इच्छा हो तो प्रेम के लिये रोओ।" इन्हीं बातों को अवतार लेकर भगवान् प्रत्यक्ष दिखाते हैं। भगवान् की एक पत्नी हैं भूदेवी। असुर उन्हें पाताल में पकड़ ले गये और ऐसे मल भरे स्थान में रख दिया, जहाँ कोई जीव प्रवेश ही न कर सके। भगवान् भूदेवी के लिये सूकर बन गये। घुस गये मल के परकोटे में। अपना आदमी कैसा भी वेष बना ले घर वाली उसके शरीर को सूँघकर पहिचान लेती है। भूदेवी ने कहा, "सूकर क्यों बन आये हो प्राणनाथ!" आप बोले—'अरे, घरवाली को सुखी बनाने को सब कुछ बनना पड़ता है, तेरा उद्धार जो करना था, दैत्य को हँसाना भी था ब्रह्मा को वेद बताना भी था। चल मेरी दाढ़पर बैठ जा।" भूदेवी बैठ गयीं, उसका उद्धार करके असुर को मार कर सूकर भगवान् तप करने चले गये।

भृगुपुत्री कमला से विवाह किया। ससुर से कुछ लेनदेन के सम्बन्ध में झगड़ा हो गया। ससुर ने शाप दिया—"जाओ तुम्हें भूमि पर दश बार जन्म लेना पड़े।" आप हँस गये, बोले यही तो हमें अभीष्ट था।

देवताओं ने कहा—"महाराज! हम असुरों से बल में न्यून पड़ते हैं। हमारा पक्ष ले लोगे क्या?"

भगवान् बोले—"तुम अपनी निर्बलता स्वीकार करते हो तो मैं तुम्हारा पक्ष लिये लेता हूँ।"

देवता बोले—"महाराज! कोई पक्षपाती न कह दे?"

भगवान् गरज कर बोले—"मैं किसी के सम्बन्ध में नहीं हूँ जी! लोग बकते हैं बकते रहें। जो मेरी शरण में आ जाते हैं, जो अपनी निर्बलता का अनुभव कर लेते हैं, जो अपने दोषों को स्वीकार कर लेते हैं। उनका मैं पक्ष करूगा, करूँगा, एक बार नहीं लाख बार करूँगा। मेरा नाम शरणागतवत्सल है। मेरे भक्त मुझे पक्षपाती न कहें औरों को बकने दो। तुम मेरी शरण आये हो तुम्हारा पक्ष लेकर लड़ूँगा।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! असुर भी आपकी शरण में आ गये तो!"

भगवान् बोले—"तब फिर शेष ही क्या रह गया, युद्ध ही समाप्त हो गया। अरे, भाई! लड़ाई तो तभी होती है जब दोनों अभिमान में भर कर अड़ जाते हैं। वे भी मेरी शरण में आ गये तो फिर युद्ध ही न होगा?"

देवताओं ने कहा—"क्या करें अब हम।"

भगवान् बोले—"बैठे ठाले क्या करोगे। हाथ पर हाथ धरे, आलसियों की भाँति बैठे रहने से पतन होता है। समुद्र को मथ डालो।"

देवता बोले—'समुद्र तो अगाध है।'

भगवान् बोले—'मैं उसे गाध कर दूँगा। मथुआ बन जाऊँगा। मेरी पीठ पर मंदराचल को रखकर मथ लेना।'

देवता बोले—'महाराज! हम पर तो वह, पर्वत उठेगा नहीं।"

भगवान् बोले—"मैं उसे गरुड़ पर रखकर समुद्र तक पहुँचा दूँगा।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! हमसे वह घुमाया भी न जायगा। हमारे हाथों में बल नहीं।"

भगवान् बोले—"मैं तुम्हारे साथ मथूँगा भी। अमृत निकाल दूँगा।"

देवता बोले—"सागर में से अमृत निकलेगा कैसे?"

भगवान् बोले—"मैं घड़े में भरकर ले आऊँगा।"

देवता बोले—"दीनानाथ! ले तो आओगे, असुर उसे लेकर भाग गये तब? हम निर्बल जो ठहरे?"

भगवान् बोले—"मैं उनसे छीन लाऊँगा।"

देवता बोले—"छीना झपटी में घड़ा ही टूट गया, अमृत ही बिखर गया, तो सब परिश्रम ही व्यर्थ हो जायगा।"

हँस पड़े भगवान् देवताओं की बात सुनकर और बोले—"अरे देवताओं? तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं होता। देखो, मैं लुगाई बनकर केवल अपनी दृष्टि फेंककर ही उनसे घड़े को झपट लूँगा, एक बूँद भी न गिरने दूँगा। तुम्हें सब पिला दूँगा। वे सब देखते के देखते ही रह जायँगे।" देवताओं ने बात मान ली। इसी लिये समुद्र मंथन के समय अजित, कच्छप, धन्वतरि और मोहिनी ये चार अवतार श्रीहरि ने धारण किये।

एक बार सब ऋषि मुनि भगवान् के पास गये और स्तुति विनय कुछ भी नहीं की। रोष में भरकर बोले—"महाराज? देखो हमारे पतन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आपके ऊपर है।"

भगवान् तो हक्के बक्के रह गये ऋषियों के क्रोध भरे

मुख की ओर देखकर बोले—"मुनियो! आप मुझ पर क्यों क्रुद्ध हैं, मुझसे जो अपराध बन गया हो उसे क्षमा कर दो और मुझे मेरी भूल बता दो, मैं उसे स्वीकार कर लूँगा।"

क्रोध में भरकर ऋषियों ने कहा—"क्या बता दें महाराज! आप तो मनमानी करते हो और फिर दोष मढ़ते हो हमारे सिर पर। हमसे तो कहते हो—"स्त्री का स्पर्श मत करो। काठ की बनी स्त्री की मूर्ति को पैर से भी मत छूओ।" स्वयं दो दो तीन तीन सहस्र स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं। लक्ष्मीजी को सदा अपनी छाती में ही दुबकाये रहते हो। जैसा हम तुम्हें करते देखेंगे वैसे ही हमारी भी इच्छा होगी। तुम तो क्षण भर को लक्ष्मी का साथ नहीं छोड़ते। समुद्र मथा उसमें से लक्ष्मी निकली, तुरन्त उसे हथिया लिया। सुअर बन के भी वहू के बिना न रह सके, पाताल में से उसे ले आये कृष्णावतार में जो तुमने किया उसमें तो आपने पराकाष्ठा ही कर दी। रामावतार में आपकी पत्नी को रावण ले गया था। रोते रोते आपने अपने कमल नयनों को सुजा लिये। कितनी आसक्ति प्रकट की। जब ऐसी ही बात है तो हमें 'तप करो, तप करो, यह क्यों कहते हो। तप में जब गड़बड़ हो जाती है विघ्न हो जाते हैं, तो आप हमें दंड देते हो। हम तप करें और आप लक्ष्मीजी के साथ आनन्द उड़ावें।"

भगवान् ने हाथ जोड़कर कहा—'हाँ मुनियो! बड़ी भारी भूल हो गयी। मैंने इधर ध्यान ही नहीं दिया। कहने वाले तो संसार में बहुत हैं। दूसरों को उपदेश देने वालों की कमी नहीं है। गला फाड़ फाड़कर उपदेश तो बहुत लोग देते हैं किन्तु उसका आचरण नहीं करते। जो आचरण नहीं

मुनियों को सन्तोष हुआ कि चलो हम
मिल जायगा। मुनिगण अपने अपने आश्रमों
भगवान् ने एक नहीं—नर नारायण—दो रूप
बदरीवन में जाकर घोर तप करने लगे। तप
वेष बना लिया और दिन रात्रि तपस्या
रहने लगे।

महालक्ष्मीजी ने सोचा—"कहाँ चले गये
छोड़कर, चलो उनकी खोज करूँ। नमक
लक्ष्मीजी निकलीं खोज करने के लिये। खोजते
वन में पहुँची। दूर से देखकर ही पहचान
कोई वहाँ था नहीं, लपकीं आगे बढ़कर मिलने
ने दूर से ही डाँटकर कहा—"देखो, सावधान
मत करना।"

लक्ष्मीजी हक्की बक्की रह गयीं, क्या बात है
नहीं हूँ, स्नान भी कर चुकी हूँ। ये क्यों मुझे छू

विनय के साथ लक्ष्मीजी बोलीं—"क्यों
निष्ठुर बन गये हो ? पैरों में पड़कर प्रण
करने देते ?"

आप सिर हिलाकर बोले—"नहीं नहीं, मेरे
काम नहीं, दूर रहो।"

लक्ष्मीजी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"
है ? कारण बताओ मुझसे ऐसी घृणा क्यों हो गयी

भगवान् बोले—"मैंने तपस्वी का वेष बनाया है। स्त्री स्पर्श न करने का व्रत ले रखा है।"

लक्ष्मीजी ने रोष में भरकर कहा—"अजी महाराज! तुम्हारी मति मारी गयी है क्या? दूसरों की स्त्री का स्पर्श निषेध है। अपनी पत्नी तो अपना आधा अंग ही है।"

भगवान् ने डाँटकर कहा—"मैं पढ़ा पढ़ाया हूँ श्रीमतीजी! मुझे आप पाठ न पढ़ावें। कृपया लौटकर अपने घर जावें। मैंने आपसे निवेदन कर दिया। तपस्वी के लिये अपनी कोई पत्नी ही नहीं उसके लिये स्त्री जाति माता के समान है। इस रूप में आप कभी भी मेरे साथ नहीं रह सकतीं। तपस्वी को स्त्रियों से बहुत बातें भी न करनी चाहिये केवल प्रयोजन की बात कह देनी चाहिये। अब चली जाओ।" यह कह कर भगवान् समाधि में मग्न हो गये। महालक्ष्मी जी तो भगवान् समाधि में मग्न हो गये। महालक्ष्मी जी तो भगवान् के बिना रह नहीं सकतीं। उन्होंने सोचा—"मुझे तो इनकी सेवा करनी है। स्त्री रूप में तो सेवा लेंगे नहीं। लाओ जिस पेड़ के नीचे ये बैठे हैं उसी में घुस जाऊँ।" यह सोच कर वे बदरीवृक्ष में घुस गयीं। तभी से ऋषि-मुनियों के सम्मुख तपस्या का आदर्श स्थापित करते हुए भगवान् नर नारायण अब तक बदरीवन में तपस्या कर रहे हैं और कल्प के अन्त तक करते रहेंगे। एक यही ऐसा अवतार है जिसने अखण्ड ब्रह्मचर्य के व्रत का सर्वोत्कृष्ट आदर उपस्थित किया है।

कावेरी नदी की इच्छा थी भगवान् अर्चाविग्रह से मेरे बीचमें मेरे घर में निवास करें। किन्तु भगवान् के सब अवतार हुए उत्तर भारत में। कावेरी थी दक्षिण भारत में, वह दक्षिण से आना नहीं चाहती थी। उस समय भगवान् का श्रीरंगम् अर्चा-

विग्रह अयोध्याजी में था। इक्ष्वाकु वंश के राजा उनकी परम्परा से पूजा करते थे। वह पूजा कौशलेन्द्र भगवान् रामचन्द्र को भी दशरथजी के पश्चात् प्राप्त हुई। कालान्तर में विभीषणजी आये। उस सुन्दर मूर्ति पर उनकी आँख लग गयी, उनकी दृष्टि पर वह मूर्ति चढ़ गयी। भक्तवत्सल भगवान् तो घट घट की जानने वाले हैं। विभीषणजीके अभिप्राय को समझकर बोले—"विभीषणजी! बोलो तुम क्या माँगना चाहते हो, तुम जो माँगोगे वही हम तुम्हें देंगे।"

विभीषणजी ने कहा—"महाराज! आप देना ही चाहते हैं, तो मुझे भगवान् की इस मूर्ति को दे दें।"

भगवान तो वचनबद्ध थे। श्रीरङ्गजी की मूर्ति उन्हें दे दी। अब श्रीरंगजी तो रसिया ठहरे। उन्हें तो लक्ष्मणजी के सुकोमल करों से पैर दबवाने का अभ्यास पड़ा है, यह राक्षस न जाने कहाँ लंका में ले जायगा, किन्तु करते क्या? पूजा करनेवाले ने दे दिया है, तो मना भी कैसे करें। वे बोले—"विभीषणजी! देखो, सुन लो हमारी बात। आप हमें लिये चलते हो, हम चलने को तैयार हैं, किन्तु एक प्रतिज्ञा आपको करनी पड़ेगी।"

विभीषणजी ने कहा—"यह कौनसी प्रतिज्ञा है महाराज?"

श्रीरंग भगवान् अर्चाविग्रह रूप से बोले—"देखो, तुम हमें ले चलो किन्तु पृथिवी पर मत रखना। जहाँ तुम हमें पृथिवी पर रख दोगे, वहीं हम रह जायँगे।"

विभीषणजी को अपने बल पराक्रम का भरोसा था, वे बोले—"नहीं महाराज! पृथिवी पर रखने का क्या काम। हम आपको अपने सिर पर ले जायँगे और अपने भवन में ही उतारेंगे।"

श्रीरंग भगवान् बोले—"अच्छी बात है चलो।"

यह सुनकर विभीषणजी ने सिर पर भगवान् को रखा और बड़े वेग से दक्षिण की ओर चले। जहाँ वे कावेरी नदी के समीप पहुँचे कि कावेरी के नेत्र भगवान् को देखकर खिल उठे। भगवान् ने भी देखा। चार नेत्र होते ही संकेत से बहुत सी बातें हो गयीं। अब भगवान् उपाय सोचने लगे। कावेरी रोने लगीं, उनका हृदय धड़कने लगा। वे सोचने लगीं राक्षस इन्हें ले गया, तो मेरी इच्छा पूरी न होगी।" कावेरी के बीच में एक छोटा सा टापू सा था। विभीषणजी ने उसमें ज्योंही पैर रखा त्योंही उन्हें लघु शंका का अत्यन्त ही वेग हुआ। उन्होंने बहुत चाहा कि मैं इसे रोकूँ किन्तु वह रुका ही नहीं। इतने में ही भगवान् एक छोटे बालक का रूप रखकर उनके सम्मुख प्रकट हुए और बोले—"विभीषणजी! किस चिन्ता में हो? क्या सोच रहे हो?"

विभीषणजी ने कहा—"अरे भैया! तुम अच्छे आ गये। ये हमारे भगवान् हैं, तनिक देर तुम इन्हें लिये रहो तो मैं लघु शंका कर लूँ।"

बालक ने कहा—"महाराज! मैं लिये तो रहूँगा, किन्तु एक तो मैं बालक हूँ, दूसरे मुझे आवश्यक काम से शीघ्र ही जाना है। आप शीघ्र ही आ जायँ तो मैं ले सकता हूँ।"

विभीषणजी ने कहा—"अरे, भाई! लघुशंका में कितना समय लगता है। यहाँ कोई और है नहीं मुझसे रुका नहीं जाता तुम लिये रहो।" यह कहकर शीघ्रता के साथ तुरन्त उस बालक को श्रीविग्रह देकर वहीं विभीषणजी लघुशंका को बैठ गये। अपने आप लघु शंका लगती तो दूसरी बात थी, अनन्त भगवान् की लगायी लघु शंका थी। वह समाप्त न हो, एक छोटी सी नदी ही बन गयी। कावेरी वहाँ से भागी, कि राक्षस की

लघुशंका मुझसे आकर न मिले। एक धार तो पीछे रह गयी। जिधर लघुशंका का जल बह रहा था, उधर कावेरी भागती जाती थीं।

अब ये बालक बोले—"विभीषणजी! क्या कर रहे हो तुम? लघुशंका में इतनी देर थोड़े ही लगती है। मैं तो थक गया। आइये।"

विभीषणजी बड़े चक्कर में पड़े। लघुशंका करते करते बोले कैसे, वे हूँ हूँ करने लगे।

बालक ने खीजकर कहा—"अब तुम चाहे हूँ हूँ करो चाहे कूँ कूँ मैं तो जाता हूँ।"

यह कहकर वह भूमि पर भगवान् के श्रीविग्रह को रखकर चला गया। चला क्या गया, वह तो वे ही थे, वहीं अन्तर्धान हो गये। भगवान् ने देखा अब तो कावेरी के बीच में बैठ गये। अयोध्या जी से इतनी दूर आये थे, कुछ थक भी गये थे, इसलिये वहीं लेट गये, उनका जो आसन था उसने शेषजी का रूप रख लिया। अब विभीषणजी की लघुशंका शान्त हुई, उन्होंने उठकर हाथ पैर मुख धोये कुल्ला किया स्नान किया, फिर भगवान् के समीप आये और बोले—"चलो महाराज।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"विभीषण जी! हमने तो आपको प्रथम ही वचनबद्ध करा लिया था। अब तो हम भूमि पर बैठ गये, अब हम यहाँ से नहीं हट सकते।"

रोष में भरकर विभीषणजी ने कहा—"यह तो महाराज! आपने हमारे साथ छल कपट किया।"

हँसकर भगवान बोले—"अरे, भाई काहे का छल कपट।

इस अबला कावेरीका भी मन रख दो। इसका भी मान बढ़ाओ। तुम तो पुरुष हो। लंका से नित्य आकर दर्शन कर जाया करना। यहीं मेरा मन्दिर बना दो। तभी विभीषण जी ने कावेरी के बीच में श्रीरंगम्‌जी का मन्दिर बनवा दिया। वह आद्यावधि वर्तमान है।

इन सब उद्धरणों का एक मात्र सारांश यह है, कि भगवान् जो भी कुछ करते हैं भक्तों की प्रसन्नता के लिये करते हैं। उनके सब काम निर्दोष होते हैं। क्योंकि वे कामनाहीन होते हैं क्रीड़ा के लिये होते हैं। नाटकों में जो भी होता है सब अनुकरण हो तो होता है।

भगवान् पंचवटी में रहते थे। सीताजी के साथ सुख से समय बिता रहे थे। रावण सीताजी को हर ले गया। श्रीराम अपनी प्रिया को ढूँढ़ते हुए चले। आगे मरणासन्न गृद्धराज को देखा। रामजी ने पूछा—"चाचाजी! क्या हाल है?"

उसने कहा—"राघव! रावण जनकनन्दिनी को हर ले गया है, मुझे मरणासन्न बनाकर चला गया है। अब मैं मरना चाहता हूँ।"

राम बोले—"मरो मत, मेरे चाचा! मैं तुम्हारी सहायता चाहता हूँ।"

चाचा बोले—"राघव! तुम्हारी गोद में मरना कौन न चाहेगा, मुझे मरकर अमर हो जाने दो। यह कहकर राम की गोद में गीधराज मर गये। राम ने उनकी चिता बनायी कपाल क्रिया की, तर्पण किया श्राद्ध किया। जिसकी आशा दशरथजी करते थे, वह सब सम्मान मिला [illegible] मांस भोजी पक्षियों में अत्यन्त अधम गीध को। [illegible] को वह क्यों नहीं मिलीजी? राम ने उनका [illegible] संस्कार [illegible]

किया ? गीध पिता न होने पर भी पिता का सम्मान पा गया, दशरथजी पिता होते हुए भी उस सम्मान से वञ्चित क्यों रहे।" इसलिये कि दशरथ स्वयं पिता बने थे, उन्होंने अपनी ओर से याचना की थी। गीध को भगवान् ने पिता बनाया था। दशरथजी को पिता बनाने में भगवान् ने सम्मति दी थी, गीध को स्वयं उन्होंने वरण किया था। भगवान् जिसे वरण कर लेते हैं, वही उन्हें प्राप्त करता है। भगवान् तो विशुद्ध भाव से रीझते हैं। जप, तप, संयम सदाचार तो परिश्रम हैं, जो जितना परिश्रम करेगा उसे उतना फल मिलेगा।

गीध को गति देकर गति दाता राम आगे बढ़े शबरी का पता पूछकर वे उसकी कुटी पर गये। ऋषि मुनियों के आश्रम पर पहिले क्यों नहीं गये जी ? अब तुम्हें बार बार तो बता चुके राम जप, तप के तो भूखे हैं नहीं। जो बड़ाई चाहते हैं, उन्हें वे बड़ा बना देते हैं, जो उन्हें चाहते हैं, उनके घर वे स्वयं चले जाते हैं। शबरी कायक्लेश के लिये जप तप नहीं करती थी, वह तो केवल कालक्षेप के निमित्त माला ले लेती थी। उसका मन तो राम की ओर लगा रहता उसके नेत्र राम के पथ को ही निरन्तर निहारते रहते। मुनियों के राम ने पैर छूए, शबरी के जूठे बेर खाये। नियम से प्रेम बड़ा है यह शिक्षा राम ने दी।

फिर हनुमान्जी ने सुग्रीव से उनकी मित्रता करा दी। राम ने बालिका को छिपकर मार दिया। छिपकर क्यों मारा जी ? इसका निर्दोषता के सम्बन्ध में राम ने बहुत कुछ कहा। वे बातें तो हमारी बुद्धि में विशेष बैठती नहीं, किन्तु एक बात हम सोचते हैं, मान लो बालि को छिपकर मारकर राम ने नीति के विरुद्ध ही किया, किन्तु किया तो मित्र के ही लिये। अपने मित्र चन्द्रमा

के लिये क्या सूर्य जल की चोरी नहीं करता है। मैत्री का निर्वाह करना अत्यन्त कठिन है। प्रथम उपकार करके तब मित्र से आशा रखे। राम को अपनी पत्नी प्राप्त करनी थी। वालि को न मारते तो सुग्रीव को एक ही पत्नी मिलती। एक पत्नी की ढुँढ़वाई में सुग्रीव को एक ही पत्नी देते तो राम और सुग्रीव में अन्तर ही क्या रहता। राम ने वालि को मारकर सुग्रीव को दो पत्नियाँ दीं तब उनसे अपनी पत्नी ढुँढ़वाई, यहाँ राम ने मैत्री निर्वाह का आदर्श उपस्थित किया। मित्र का दुगुना उपकार कर दे, सो भी प्रथम, तब उससे कुछ आशा रखे।

सुग्रीव दो पत्नियों को पाकर राम के काज को भूल गया। अब राम निरन्तर रोते रहते थे। कभी सीता के लिये रोते कभी अवधकी याद आती। एक दिन वे अपने भाई लक्ष्मण से बोले—"सुमित्रानन्दनवर्धन! लक्ष्मण! कितनी सरदी पड़ रही है। हाथ ठिठुर रहे हैं। अवध में तो इससे भी अधिक सरदी पड़ती होगी। यहाँ वन में मेरी पत्नी हर गयीं, अकेले रहते रहते मुझे ये जाड़े के दिन काटने को दौड़ रहे हैं, मुझे अवध की याद आ रही है।"

लक्ष्मण ने आज खुलकर कहा—"महाराज! बड़ों की बात बड़े ही जानें। आज आप जाड़े के कारण दुःख प्रकट कर रहे हैं, पश्चात्ताप कर रहे हैं। मैंने आपसे तभी कहा था आप राज्य न छोड़ें। मैं पिता को पकड़कर बन्द कर देता आप सिंहासन पर बैठ जाते। ये सब इतने क्लेश क्यों सहने पड़ते, तब तो आप बड़े पितृभक्त बन गये, बड़ा त्याग दिखाया। अब आप पश्चात्ताप कर रहे हैं।"

अत्यन्त प्यार से श्रीराम लक्ष्मण से बोले—"अरे, लक्ष्मण! तू इतने दिन मेरे साथ रहकर भी मेरे भाव को नहीं समझा।

भैया, राज्य के लिये चिन्ता नहीं कर रहा हूँ, न मुझे अपनी ही चिन्ता है, मैं तो सोच रहा हूँ, कि भरत अत्यन्त सुकुमार है, वह राजकुमार है। सदा सुख में पला, दुख उसने देखा भी नहीं। अब वह मेरे वियोग में वनवासियों का वेश बनाकर बस्ती के बाहर वल्कल वसन पहिनकर वास करता है। सरयू का जल अत्यन्त शीतल होता है। प्रातः ऊषाकाल में उठकर वह वल्कल पहिनकर कैसे स्नान करता होगा, मुझे उसी की चिन्ता है आज की सरदी को देखकर मुझे भरत की याद आ रही है। यह कहते कहते राघव को भरत की वह तापसी मूर्ति याद आ गयी और वे हा भरत ! हा भरत ! कहकर रुदन करने लगे। उस समय वे सीता की सुधि भूल गये थे। शरणागत वत्सलता का इससे उत्कृष्ट उदाहरण और कहाँ मिलेगा।

वानरी सेना के सहित राम समुद्र के समीप पहुँचे। विभीषण वहीं शरणापन्न हुआ। सब साथी उस पर सन्देह करते रहे। राम ने सबको डाँटकर कहा—"शरणागत की परीक्षा नहीं की जाती। एक बार जिसने कह दिया—"मैं शरण में हूँ" वह मेरा हो गया। रावण भी कह दे, तो मैं उससे भी युद्ध न करूँगा। भय तो निर्बल करता है। विभीषण जैसा भी हो, मैं उसका परित्याग न करूँगा यह कहकर विभीषण को तुरन्त लंकेश्वर के पद पर प्रतिष्ठित करके उसे अपना निजी मन्त्री भी बना लिया। उससे पूछा—"समुद्र के पार कैसे जायँ ?"

विभीषण ने कहा—"महाराज ! आप समुद्र की शरण जायं उसकी प्रार्थना करें।"

राम ने कहा—"अच्छी बात है ऐसा ही करेंगे।

इतना सुनते ही लक्ष्मण की आँखें लाल हो गयीं वे बोले—"राघव ! तुम्हारी यही दुर्बलता तो मुझे अच्छी नहीं लगती।

भला जड़, समुद्र से क्या प्रार्थना करना। पानी की शरण जाने से लाभ क्या ?"

राम ने धैर्य के साथ कहा—"अरे, भैया ! यह दुर्बलता नहीं, तू समझता तो है नहीं बीच में कूद पड़ता है। अब विभीषण ने कितना सोचकर तो सम्मति दी है। उसे न मानेंगे तो उसका मन खट्टा हो जायगा। तू देखता तो जा भक्तों का मन रखने को मैं सब कुछ कर सकता हूँ। तीन दिन हम बैठे ही रहे, तो हमारा बिगड़ता ही क्या है।"

इसका लक्ष्मणजी के पास चुप होने के अतिरिक्त कोई उत्तर ही नहीं था। वे चुप हो गये राम कुशासन बिछाकर समुद्र की शरण में गये उसका पूजन करने लगे। तीन दिन तक पूजा किया समुद्र प्रकट नहीं हुआ। राम को क्रोध आ गया, समुद्र बड़ा जड़ है ? मेरी प्रार्थना नहीं सुनता। शरणागत प्रतिपालक प्रभु धनुष पर बाण तानकर खड़े हो गये। अब समुद्र आया उपहार लेकर।"

राम ने कहा—"क्यों जी, लात के देवता, तुम बातों से न माने।"

समुद्र ने कहा—"महाराज ! भूल आपकी थी या मेरी ?"

राम ने कहा—"मेरी क्या भूल थी भाई ! मैं तो भैया ! तुम्हारी शरण गया था।"

हाथ जोड़कर समुद्र ने कहा—"कृपानाथ ! अपराध क्षमा हो यही तो आपने भूल की। संसार को शरण देने वाले तो आप हैं, सबको आप शरण देते हैं और फिर आप मेरी शरण गहते हैं, यह उल्टी गंगा बहाना नहीं तो और क्या है। किसी बच्चे के कोई वृद्ध पैर पकड़े तो क्या बच्चा वृद्ध को आशीर्वाद देगा। स्वामी यदि सेवक की शरण ग्रहण करे, तो क्या सेवक

उन्हें मुख दिखा सकता, है ? जब तक आपने उल्टा काम किया मैं तब तक दुबका रहा। जब आपने स्वामी का काम किया मेरे ऊपर शासन किया तब मैं प्रकट हुआ। अब आप आज्ञा दें क्या मैं सूख जाऊँ ? अथवा उतना हट जाऊँ अथवा लंका को बहा लाऊँ ?"

भगवान् ने कहा—"समुद्र देव ! मेरी ही भूल थी, मैं आप पर शासन नहीं करता। मैं आपको आज्ञा देना नहीं चाहता। आप मुझे उचित सम्मति दें।"

समुद्र ने कहा—"नाथ ! जैसे आप मर्यादा सेतु बाँध रहे हैं। वैसे ही मेरे ऊपर सौ योजन लम्बा सेतु बाँध दें। इससे सभी पार जा सकेंगे।"

राम ने नल नील से कह सागर पर पुल बँधवा दिया। जिससे सब भालु वानर पार हो गये।"

संसार सागर से पार करने वाले राम ! हमारी ओर भी कृपा की कोर करो। हमारे भी सम्मुख हो जाओ नाथ ! आप तो सदा सर्वदा तीर कमान लिये रहते हो। यह तीर कमान हमारे किस काम की ? काम हमें व्यथित करता रहे और तुम तीर कमान लिये घूमते रहो। यह क्या अच्छी बात है राघव ! अच्छा तुम ही बताओ यह उचित है ? आप यह न कहें कि तुम पापी हो। कहाँ हैं पापी हम, अवधकुल कुमुदकलाधर ! पापी ही होते तो आप तार देते। न हम पुण्यात्मा ही हैं न पापी ही। हम तो उभय भ्रष्ट हैं। अपने पापियों को तारा पुण्यात्माओं को तारा हम अधकचरों की भी कहीं गति है क्या तुम्हारी सभा में नाथ ! यह तो निश्चय हो गया, हम अपने पुरुषार्थ से—साधनों द्वारा—नहीं तर सकते। अब क्या करें। तुम्हारी कथाओं को पढ़ते हैं सुनते हैं लिखते

हैं। धर्म की बात यह है, कि हृदय पसीजता है नहीं, तुम प्यारे नहीं लगते हो जिस लक्ष्मी को निकालने के दिये देवता और असुरों ने समुद्र को मथा वह भी उन्हें छोड़कर तुम्हारे हृदय का हार बन गयी। उस लक्ष्मी की छाया-जो धन है उसी को हम सब कुछ समझते हैं, कोई धनी आता है, तो उससे आशा रखते हैं। हाय! जिस धन से दुखी होकर शान्ति पाने वाले हमारे पास आते हैं उससे ही हम आशा रखते हैं, कैसी हमारी मति मारी गयी है। राम! हमारी ओर कृपा भरी दृष्टि से एक बार निहार लो। तुम्हारा बड़प्पन हमारे हृदय में बैठ जाय, तुम्हें ही हम सब कुछ समझें। राम इस काम शत्रु पर एक बाण छोड़ दो। देखो, तुम तो सोने के मृग को मारने गये थे। यह काम तो मलका मृग है। नाक बन्द करके एक बाण इसपर छोड़ दो मेरे स्वामी! हम अपना कोई अधिकार नहीं जताते कि हम पापी हैं, पुण्यात्मा हैं, दीन हैं, दुखी हैं, निराश्रित हैं, तुम्हारे हैं, जैसे भी कुछ हैं तैसे ही हैं, माँगना भी हम पर नहीं आता। तुम अपनी ही ओर से कृपा करो। जहाँ भी कहीं इस संसार का ओर छोर हो, पार हो, वहीं हमें पटक दो राम! तुम ही पार लगा सकते हो? कब तक प्रतीक्षा करें हे रावणारि!

विनीत—

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)
माघ, कृ० ९, २०१२

तुम्हारा ही दत्त
प्रभुदत्त

सर्वभूतसुहृद् श्रीराम

(६६५)

दग्ध्वाऽऽत्मकृत्यहतकृत्यमहन्कबन्धम् ।
सख्यंविधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः ।
बुद्ध्वाथ वालिनि हते प्लवगेन्द्रसैन्यै—
र्वेलामगात् स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः ।❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० १२ श्लो०)

छप्पय

निरखि सीयपद चिन्ह पुष्प मृत हय टूट्यो धनु ।
सिय सिर सेवित सुमन भये लखि मृत अम्मृत जनु ॥
गृद्ध राजकी दशा देख भूले सिय बिछुरन ।
चाचा कहि कहि चरम पकरि प्रभु लागे रोवन ॥
जनम मरन तैं छूटि तनु तज्यो गीधभरि मोदमहँ ।
रामरूप हिय राम मुख, देह राम की गोद महँ ॥

शरीर पाने का यथार्थ फल यही है, कि वह राम के काज में लगे। जो शरीर राम काज में नहीं आता वह व्यर्थ है। उस

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विचित्र कृत्य करने के कारण जिनके समस्त कृत्य नष्ट हो गये हैं। उन जटायु का दाह संस्कार करके, कबन्धको मार कर, कपियों से मित्रता करके बाली को मारकर वानरों से श्रीराम ने अपनी प्रियतमा का पता लगाया। फिर वे भगवान् वानर राज की सेना के सहित समुद्र के समीप आये जिनके पादपद्मों की प्रजापति तथा पशुपति भी पूजा करते हैं।"

शरीर से कोई लाभ नहीं। बहुत से लोग कहते हैं, हम बड़े कुलीन हैं, हमारा जन्म उच्च वर्ण में हुआ है। हम धनवान, रूपवान, विद्यावान्, तेजस्वी, यशस्वी ऐश्वर्यशाली, सात्विक आहार करने वाले तथा नियम से रहने वाले श्रेष्ठ हैं। अमुक-नीच कुल में उत्पन्न व्यक्ति हमारी बराबर कैसे कर सकता है।' अरे भाई! तुम्हारी कुलीनता, शालीनता, धन, विद्या, वय, रूप तेज, यश, ऐश्वर्य व्रत तथा नियम आदि तभी सार्थक हैं, जब इनके द्वारा रामकी सेवा का सुयोग प्राप्त हो। यदि इन सब वस्तुओं को पाकर भी इस सुन्दर शरीर से राम का भजन न बना तो ये सब किसी काम के नहीं। ये केवल विडम्बना हैं! अहंकार की ओर बढ़ाने वाले हैं। इसके विपरीत जिनके मन में राम के प्रति भक्ति है, प्रभु पाद पद्मों में प्रेम है, तो फिर वह चाहे पशुपक्षी ही क्यों न हो। लोकनिन्दित अधम, घृणित आहार करने वाला अस्पृश्य और अशुभ ही क्यों न हो, प्रभु प्रेम के कारण वह विश्ववन्दित और जगत् पूज्य बन जाता है। भक्तराज महाभाग जटायु इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जटायु का जन्म अंडज योनि में हुआ। वे पक्षी थे। पक्षी भी शुक, सारिका, स्यामा के सदृश शोभनीय तथा पूजनीय नहीं थे। वे घृणित मृतक मांस भोजी गिद्ध थे। शास्त्रों में गृद्ध को इतना अशुभ बताया है, कि जिस भवन की छत पर वह बैठ जाय, उस भवन का पुनः संस्कार कराना चाहिये। गृद्ध की दृष्टि, गृद्ध का दर्शन, गृद्ध का स्पर्श परम अमंगलप्रद-अशुभ-माना जाता है। वे ही गृद्धराज जटायु राम भक्ति के कारण-शक्ति स्वरूपा सीता के निमित्तकार्य करने और तनुत्यागने के कारण विश्ववन्द्य तथा लोक पूज्य बन गये। राम भक्ति के सम्मुख सभी व्यर्थ हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सीताजी का अन्वेषण करते

हुए लक्ष्मण सहित श्रीराम जब उस स्थान पर आये जहाँ जटायु जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था, तब श्रीराम ने दूर से उसे कोई राक्षस ही समझा। क्योंकि उसके दोनों ही पङ्ख कट गये थे। रावण ने उसकी चोंच और पंजों को नष्ट कर दिया था। रक्त में सने वे एक मांसकी की लोथके समान दिखाई देते थे। वे तड़प रहे थे गले में खड्ग घुस जाने से वे बोल नहीं सकते थे। वे बार-बार रक्त उगल रहे थे और साँस-साँस पर राम राम रट रहे थे। श्रीराम लक्ष्मण से बोले—"लक्ष्मण! अवश्य ही इस राक्षस ने मेरी पत्नी को खाया है। आज मैं इसे मारे बिना न छोड़ूँगा।" यह कहकर श्रीराम सर सन्धान करने को उद्यत हुये। उस समय गृद्धराज ने बड़े कष्ट के साथ कहा "राम?"

राम का नाम सुनकर लक्ष्मण दौड़कर जटायु के समीप गये और चिल्लाकर बोले—"रघुनन्दन! ये तो हमारे पितृव्य महाभाग जटायु हैं। इन हमारे चाचा गृद्धराज की दुर्दशा किसने कर दी। ये तो जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं। तात! इन्हें आकर अवलोकन करें।"

चाचा जटायु का नाम सुनते ही सर्वभूत सुहृद श्रीराम दौड़कर गृद्धराज के समीप आये। वे गृद्ध के क्षत विक्षत शरीर को देखकर सीता के वियोग दुःख को भूल गये। जटायु पङ्ख कटे पर्वत शिखर के समान पृथिवी पर पड़े थे। रक्त से भीगा शरीर धूल में लिपटा हुआ था। श्रीराम ने उनकी मुड़ी हुई रक्त से लथपथ चोंच सावधानी से उठाकर अपनी गोद में रखी और उनके सिर पर शनैः शनैः अपना कोमल कर फेरते हुए लक्ष्मण से बोले—"लक्ष्मण! देखो, इस पक्षी ने हमारा कितना उपकार किया है। निश्चय ही यह सीता हरण करने वाले से लड़ा होगा।

उसीने इसे घायल किया है। देखो, इसने सीताकी रक्षा के निमित्त कितना दुष्कर कार्य किया है। यह धर्मात्मा और यशस्वी है।' इस प्रकार लक्ष्मण से कहकर श्रीराम रोते रोते बोले—"पक्षिराज! यदि तुम बोल सकते हो, तो मुझे इतना ही बता दो, मेरी प्राणप्रिया को कौन हर कर ले गया है। किसने यह क्रूरकर्म किया है। कौन मक्खी को खाकर पचाने का साहस करे सकता है। तुम्हारी यह दुर्दशा किसने कर दी है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीराम के इस प्रकार बार बार पूछने पर दुखी और मरणासन्न गृद्ध प्रसन्न हुए। श्रीराम के दर्शन पाकर मानों उनके शरीर में पुनः जीवन और उत्साह आ गया हो। बड़े कष्ट से वे कहने लगे—"राम! राक्षसों का राजा रावण राजकुमारी सीता का बल पूर्वक हरण करले गया है। मैंने उससे छुड़ाने का प्रयत्न किया। हम दोनो में घनघोर युद्ध हुआ। अन्त में उस दुष्टने मेरी चोंच, पंजे और पङ्ख काट दिये और वह सीता को लेकर दक्षिण दिशा की ओर चला गया। राघव! आप चिन्ता न करें। मैं ज्योतिष विद्या में निष्णात हूँ जिस योग में वह सीता को ले गया है, उस योग में वह उसके पास रह नहीं सकती। सीता आपको अवश्य मिलेगी। आप चिन्ता न करें मुझे बोलने में बड़ा कष्ट हो रहा है। अब मेरे प्राण पखेरु उड़ना ही चाहते हैं, राम!" इतना कहते ही उसके मुख से फिर रक्त निकल पड़ा। जटायु की लाल लाल आँखें फट गयीं। उसने श्रीराम की गोदी में ही सिर रखे रखे अपने शरीर को त्याग दिया। जो गति बड़े बड़े ज्ञानियों योगियों और विरागियों को भी प्राप्त नहीं होती वह गति उस मृतक मांस भक्षी गृद्ध ने रामभक्ति के प्रभाव से प्राप्त कर ली। उसका पाञ्च-भौतिक नश्वर शरीर श्रीराघव की गोदी में पड़ा रह गया। उसके

प्राण पखेरू परलोक को प्रयाण कर गये। उस जटायु की मृत्यु से श्रीराघव अत्यन्त दुखी हुये, समीप में ही बैठे लक्ष्मणजी से वे बोले—"लक्ष्मण! ये गृद्धराज हमारे पिता के मित्र थे। जैसे हमारे चक्रवर्ती पिता पृथ्वी के समस्त पुरुषों के सम्राट थे वैसे ही ये जटायु समस्त गृद्धों के राजा थे। ये कुलीन और धर्मात्मा थे। हमारे लिये तो ये पिता दशरथ के समान ही माननीय पूजनीय और वन्दनीय थे। देखो, जानकी की रक्षा के निमित्त इन्होंने अपने प्रिय प्राणों का प्रसन्नता पूर्वक परित्याग किया है। ये हमारे आत्मीय स्वजन थे। इस अरण्य में ये ही एक मात्र हमारे शुभ-चिन्तक हितेच्छु बन्धु थे। लक्ष्मण! मैं इनका आत्मीय पुरुष की भाँति दाह संस्कार करना चाहता हूँ। तुम अरण्य से सूखी सूखी लकड़ियाँ बीन लाओ। विलम्ब करने का काम नहीं है। इनका दाह संस्कार करके इन्हें विधिवत् पिंड देकर गोदावरी में हम इनके निमित्त तर्पण करेंगे।"

अपने बड़े भाई के वचन सुनकर लक्ष्मण तुरन्त वन से बहुत सी सूखी सूखी लकड़ियाँ चुन लाये। उन लकड़ियों से श्रीराम ने स्वयं ही विधिवत चिता बनाकर, उस पर मृतक गृद्ध राजा के शरीर रखकर रोते-रोते उसमें अग्नि लगा दी। जटायु के जर्जरित शरीर जलकर भस्म हो गया। तब श्रीराम ने जटायु का आहार की वस्तुओं से गोल गोल पिंड से बनाकर मन्त्र पढ़कर उनके उद्देश से पक्षियों को दिये। अन्त में गोदावरी के तट पर जाकर साश्रुनेत्रों से दोनों भाइयों ने अपने पितृव्य सदृश गीधराज को जलाञ्जलि दी और कहा—"हे चाचा जी! आप हमारे दिये हुए इस जल को ग्रहण कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियों! जिनके चरणों की रज के लिये ब्रह्मादिक बड़े बड़े देवता तरसते रहते हैं, वे ही सर्वलोकनाथ

रघुनाथ अपने हाथों से एक माँसभोजी पक्षी का पिता के सदृश और्ध्वदैहिक कार्य कर रहे हैं, यह उनकी कैसी भक्तवत्सलता, कैसी शरणागत प्रतिपालकता है। इस प्रकार गृद्धराज की क्रिया करके लक्ष्मण को साथ लिए हुए सीताजी की खोज में श्रीराम निकले। अब उन्हें यह तो विदित हो गया कि सीता मरी नहीं जीवित है, उसे राक्षसों ने खाया नहीं किन्तु काम पीड़ित राक्षस राज ने उन्हें हरा है। वह हरकर जानकी को दक्षिण दिशा में ले गया है, किन्तु वह कामचारी राक्षस रहता कहाँ है, इस समय सीता को लेकर उसने कहाँ किस दिशा में छिपा दिया है, यही बात श्रीराम को जाननी थी। वे राक्षसों की माया से अनभिज्ञ थे अथवा उनके लिये विज्ञता अनविज्ञता, क्या वे तो भीतर बाहर की सब जानते हैं, घट घट की जानते हैं, केवल लोक शिक्षार्थ नर नाट्य कर रहे हैं। क्रीड़ा के निमित्त ये कारुणिक कौतूहल कर रहे हैं।

सीताजी को ढूँढ़ते हुये श्रीराम अपनी धुन में चले जा रहे थे, लक्ष्मण उनके पीछे थे उसी समय दूर से ही लक्ष्मण ने एक विकराल वेष वाली राक्षसी को देखा। वह देखने में बड़ी मोटी थी, सिर के बाल उसके खुले थे। आँखें चमकीली भयानक थीं। ओंठ मोटे और काले थे। दाँत बड़े और भयानक थे। सूप के समान उसके दोनों कान थे। पर्वत की कन्दरा के समान उसका मुख था, उसमें बिजली के समान उसकी चमकीली जिह्वा लपलप कर रही थी। उसका कंठ कठोर था, शरीर का चर्म रूखा और मोटा था। स्तन पर्वत के शिखर के समान थे। पेट फूला हुआ लम्बा और मोटा था। उसके नितम्ब स्थूल थे। वह लक्ष्मण के रूप पर आसक्त हुई उनकी ओर दौड़ी आ रही थी। आते ही उसने न पूछा न जाँचा लक्ष्मण से आकर लिपट गयी और गाढ़ा-

लिंगन करती हुई बोली—"हा प्राणनाथ! मुझे तुम अपनी अनुचरी बना लो, मुझ काम पीड़िता अनुरक्ता को अपना लो इस अपने भाई को छोड़ दो, मेरे साथ वन वन उपवनों में विहार करो।" यद्यपि राम दुखी थे, किन्तु राक्षसी की बातें सुनकर उन्हें हँसी आ गयी। लक्ष्मण जी तो सूर्पणखा की हँसी से सम्हल गये थे। उन्होंने देखा अब बात मत बढ़ाओ, उसी प्रयोग को काम में लाओ इस कामिनी को अपने किये का फल चखाओ. इसे भी सूर्पणखा की बहिन नकटी बूची बनाओ।" ऐसा सोचकर उन्होंने तीक्ष्ण तलवार से निशाचरी की नाक जड़ मूल से उखाड़ दी। कानों का अस्तित्व मिटा दिया और स्तनों को छाँट कर सम कर दिया और कह दिया—"भाग जाओ, आनन्द से इस वन में स्वच्छन्द विहार करो।" नाक कटने पर वह राक्षसी रक्त बरसाती रोती चिल्लाती वहाँ से भाग गयी। उसके चले जाने पर दोनों आगे बढ़े।

आगे उन्होंने एकत्रित एक विचित्र खेल देखा। एक चार कोश लम्बा हाथ मृग, पशु पक्षी, भैंसा हाथी सभी को पकड़ रहा है। राम लक्ष्मण भी उसके पीछे झपट्टे में आ गये। लक्ष्मण ने देखा एक बिना सिर पैर का राक्षस पृथिवी पर पड़ा है। उसके पेट में दाँत हैं उन्हीं में एक आँख चमक रही है। जाँघें पेट में घुस गयी हैं दो बड़ी बड़ी बाहें वन में विचरण करने वाले जीवों को समेट लाती हैं और वह पेट वाले मुख में रखकर सबको निगल जाता है। दोनों भाइयों को उस राक्षस ने कसकर अपने बाहु पाश में बाँध लिया और अट्टहास करते हुए बोला—"आज सुन्दर आहार मिला। इन वृषभों के समान दोनों चिकने और मोटे पुरुषों को खाकर मैं तृप्त हो जाऊँगा। मनुष्य का मांस मुझे अत्यधिक प्रिय है।"

भयङ्कर राक्षस की ऐसी आकृति, ऐसा बल पुरुषार्थ और साहस देखकर लक्ष्मण तो डर गये। बालकपन के कारण वे घबरा से गये। शीघ्रता के साथ वे बोले—"राम! अवश्य ही हम मृत्यु के मुख में पहुँच गये हैं। आप एक काम करें, इसी प्रकार मुझे इसके मुख में छोड़कर आप किसी प्रकार बचकर भाग जायँ। आप मेरी चिन्ता न करें। उद्योग करके आप सीता को खोजें और अवधपुरी जाकर सुखपूर्वक राज्य भोगें।"

यह सुनकर वीरता के स्वर में श्रीराम ने कहा—"क्षत्रियर्षभ लक्ष्मण! तुम्हें ऐसे वचन शोभा नहीं देते। वीर, तुम इस अधम राक्षस के एक हाथ को काट दो दूसरे को मैं काटता हूँ, इस पहाड़ के समान मायावी राक्षस को मार कर पृथिवी में गाड़ दो।"

श्रीराम के ऐसा कहने पर लक्ष्मणजी ने उस कबन्ध राक्षस की भुजा काट दी। दूसरी भुजा श्रीराम ने जड़ मूल से उड़ा दी। भुजाओं के कट जाने पर उसने प्रसन्नता प्रकट करते हुए बड़ी नम्रता के साथ पूछा—"वीरो! तुम दोनों कौन हो और इस भयंकर बीहड़ वन में किस कारण से विचरण कर रहे हो। यदि अनुचित न समझो तो मुझे अपना यथार्थ परिचय दो।"

यह सुनकर लक्ष्मण बोले—"ये अवध के चक्रवर्ती महाराज दशरथ के सबसे बड़े पुत्र श्रीराम हैं, मैं इनका आज्ञाकारी छोटा भाई लक्ष्मण हूँ। पिता की आज्ञा से श्रीराम अपनी प्रिया सीता के साथ वन आये थे वन में राक्षसों ने इनकी पत्नी को हर लिया हम उन्हीं देवी का अन्वेषण करते हुए घूम रहे हैं। तुम कौन हो क्या तुमने देवी सीता को राक्षसराज रावण के रथ में बैठी इधर से जाती हुई देखा है?"

कबन्ध ने कहा—"धन्य भाग आये लक्ष्मण! राम! हे

ही प्रतीक्षा कर रहा था। मैं राक्षस नहीं दनु नामक दानव का पुत्र हूँ। पहिले मैं ऐसा भयंकर राक्षस वेष बनाकर प्राणियों को भयभीत किया करता था। इसीलिये स्थूलशिरा मुनि ने मुझे शाप दिया तुम ऐसे ही भयंकर हो जाओ। मुनि के शाप से मेरा सुन्दर स्वरूप नष्ट हो गया मैं भयानक कुरूप राक्षस हो गया। इस शरीर से भी मैंने घोर तप करके लोक पितामह ब्रह्माजी को प्रसन्न किया। उन्होंने मुझे दीर्घ जीवी होने का वर दिया। इससे मुझे बड़ा दर्प हो गया मैं देवराज इन्द्र से भिड़ गया। वज्रपाणि शतक्रतु ने अपने अमोघ वज्र से मेरा सिर तथा जंघायें पेट में घुसेड़ दीं। मेरे हाथ लम्बे-लम्बे हो गये। योजनभर में जो जीव आ जाता है, उसे ही मैं पकड़ कर खा जाता हूँ। मुनि ने मुझे बता दिया था, जिस दिन श्रीरघुकुलतिलक श्रीराघव आकर तेरी बाहु को काट देंगे और तेरे शरीर को जला देंगे उसी दिन तू शाप से विमुक्त हो जायगा। सो राघव आपने अनुग्रह करके मेरा उद्धार कर दिया, मुझे शाप से छुड़ा दिया अब आप मुझे जला और दीजिये। मैं आपका उपकार करूँगा। जानकी के पाने का अव्यर्थ उपाय बताऊँगा मेरे बताये उपाय से आप जनक-नन्दिनी को अवश्य प्राप्त कर लेंगे।

कबन्ध के इन वचनों से श्रीराम को बड़ी प्रसन्नता हुई लक्ष्मण की सहायता से एक बड़े भारी गड्ढे में सूखी-सूखी लकड़ियाँ एकत्रित कीं। चारों ओर से कबन्ध के शरीर को ढककर उसमें आग लगा दी। आग लगते ही वह दिव्य देह बनाकर दमकते हुए दिव्य रथ पर सवार होकर अग्नि शिखा से दूसरी अग्नि के समान निकला। उसने कृतज्ञता पूर्वक प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम किया और बोला—"राघव! अब मेरी दिव्य दृष्टि हो गई है। अब मैं सब देख और समझ सकता हूँ। यहाँ से समीप ही

पम्पा नामक सुन्दर स्वच्छ सलिल वाला सुखद सरोवर है। उसके पास में ही ऋष्यमूक नामक पर्वत है। उससे सटा हुआ है। मतंगवन में है। महर्षि मतंग ने वहाँ बहुत वर्षों तक कठोर तप किया था। उन्हीं के नाम से वह वन विख्यात है। मुनि तो वैकुंठ वासी बन चुके उनकी शिष्या परम तपस्विनी शबरी वहाँ रहती है। वह रात्रि दिन आपके आगमन की प्रतीक्षा में बैठी रहती है! महाभाग! जब आप चित्रकूट पधारे थे, तभी मतंग मुनि स्वर्ग चले गये। जाते समय अपनी शिष्या से कह गये थे, कि कुछ काल में श्रीराम इस आश्रम पर आवेंगे। उनका आतिथ्य सत्कार करके ही तू स्वर्ग में हमारे समीप आना। गुरु के बिना उस भामिनी की इस दुःख पूर्ण जगत् में रहने की इच्छा नहीं थी, किन्तु राम दरश की प्यासी प्रभु के सत्कार करने के लोभ से उसने गुरु आज्ञा शिरोधार्य की। राघव! उसी दिन से वह तपस्विनी बहुत प्रातःकाल उठती है। आश्रम को लीपती है, बहुत दूर तक पथ को परिष्कृत करती है। नीची भूमि में कोमल मृत्तिका बिछाती है। जल भरकर घड़ा लाती है समीप ही से सुन्दर-सुन्दर चख-चख कर स्वादिष्ट फल लाती है। फल तोड़ते समय भी देखती जाती है, मेरे जीवन धन, सर्व श्रेष्ठ अतिथि आ तो नहीं गये हैं। फलों को धोकर रखती है। माला लेकर एक टक भाव से वह आपकी पथ की ओर निहारती रहती है। पत्तों की तनिक भी खड़खड़ाहट हुई कि वह संभ्रम के साथ उठकर खड़ी हो जाती है। कहने लगती है—"मेरे अच्युत आ गये अपने राम को आते न देखकर पुनः बैठ जाती है। आपके श्रुतमधुर परम पावन नामों का जप करती रहती है। सायंकाल तक जब आप नहीं आते तो सोचती है, आज किसी मुनि के आश्रम पर रह गये होंगे। काल अवश्य आ जायँगे।" यही सोचते-सोचते सो जाती है।

स्वप्न में भी वह आपकी साँवरी सूरत को निहार कर संभ्रम के साथ उठ पड़ती है। पाद्य अर्घ्य लेने दौड़ती है। आपको न पाकर पुनः आपके लोक वन्दित सुमधुर नामों का कीर्तन करने लगती है। इस प्रकार उसकी नित्य की चर्या है। हे पतितोद्धारक राम! आपके दर्शनों की प्रतीक्षा में बैठी हुई उस शबरी की इच्छा पूर्ति कीजिये। उसे दर्शन देकर कृतकृत्य कीजिये। पुनः ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर सुग्रीव से मित्रता कीजिये। वह बड़ा बली, विद्वान् और विवेकी वानर है। वह कृतज्ञ और कृपालु है। वह जानकी का पता अवश्य लगा सकेगा।"

यह सुनकर श्रीराम उल्लास के साथ बोले—"दानव! सुग्रीव कौन है, वह हमसे मित्रता क्यों करेगा? हम तो राज्यभ्रष्ट हैं, हमारी स्त्री हरी गई हैं, हम दुखी घर बार विहीन होकर वन वन भटक रहे हैं। ऐसे ऐश्वर्यहीन व्यक्ति से वानरों का राजा मैत्री क्यों करने लगा?"

यह सुनकर दिव्य दानव बोला—"राघव! मैत्री सदा समान शील वालों में होती है। निःस्वार्थ मैत्री करने वाले तो सर्वश्रेष्ठ होते है, ऐसे मित्र संसार में विरले होते हैं बड़े बड़े भाग्य से मिलते हैं। जिनसे हमारा कार्य निकले और हमसे जिनका कार्य निकले ऐसे परस्पर भाव भावित मित्र मिलने भी दुर्लभ हैं। जिस प्रकार आप राज्यभ्रष्ट हैं, उसी प्रकार वह भी राज्यभ्रष्ट है, जिस प्रकार आपकी पत्नी हरी गई है, उसी प्रकार उसकी भी पत्नी हरी गई है, जिस प्रकार घर द्वार छोड़कर आप वन-वन भटक रहे हैं, उसी प्रकार वह भी अपना नगर छोड़कर वन में काल यापन कर रहा है। जिस प्रकार आपके सहायक लक्ष्मण हैं उसी प्रकार उसके सहायक पवनतनय हनुमान हैं। जिस प्रकार आप भक्त की खोज कर रहे हैं उसी प्रकार वह

भी किसी स्वामी का अन्वेषण कर रहा है जिसके अधीन रहकर वह अपनी गई हुई श्री को पुनः प्राप्त कर सके। प्रभो! आप अग्नि को साक्षी देकर सुग्रीव से मैत्री करें आपका कल्याण होगा।"

श्रीराम ने कहा—"दानव! प्रतीत होता है, तुम सर्वज्ञ हो। कृपा करके मुझे यह बताओ कि सुग्रीव किसका पुत्र है। उसे नगर से किसने निकाल दिया? उसकी स्त्री क्यों हरी गई? इन बातों को सुनकर मैं निश्चय करूँगा, कि सुग्रीव से मैत्री उचित होगा या नहीं?

यह सुनकर दानव बोले—"प्रभो! ब्रह्माजी के एक मानसिक पुत्र ऋक्षराज हुए। एक सरोवर में स्नान करने के कारण वे सुन्दर स्त्री हो गये और सूर्य की दृष्टि उस पर पड़ने से उसके बालि और सुग्रीव दो पुत्र हो गये। उन दोनों पुत्रों को लेकर वह ऋक्षराज या ऋक्षराजी ब्रह्माजी के पास गया। ब्रह्माजी की कृपा से उसे पुंसत्व प्राप्त हुआ और समस्त वानर भालुओं का वह राजा हुआ। सहस्रों लक्षों वर्षों तक वह धर्म पूर्वक राज्य करके पञ्चत्व को प्राप्त हुआ। तदनन्तर मंत्री पुरोहित और प्रजाके लोगोंने बालिको राजा बनाया। उन दोनों भाइयों में बड़ा स्नेह था। एक साथ खाते थे, एक साथ उठते बैठते थे। उसी समय दुन्दुभि का बड़ा भाई मायावी नामक दानव बालि से लड़ने आया। बालि उसके पीछे लड़ने दौड़ा। सुग्रीव भी भ्रातृ स्नेह वश उसके पीछे-पीछे गया। मायावी एक गुफा में घुस गया। बालि भी सुग्रीव को गुफा के द्वार पर बिठाकर भीतर गया। सुग्रीव द्वार पर बैठा-बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। एक वर्ष पर्यन्त बालि नहीं निकला। अंत में बहुत सा रक्त आदि निकला। जिससे सुग्रीव ने समझा मेरे भाई को राक्षस ने मार डाला। अतः वह

बड़ी भारी शिला से द्वार बंद करके अपने घर चला आया। प्रजा के लोगों ने उसे राजा बना दिया।

कुछ काल के अनंतर बालि आया। अपने भाई को राज्य सिंहासन पर बैठा देखकर और रानियों के साथ सुखोपभोग करते देख उसे क्रोध आया। उसने समझा राज्य पाने को ही यह मुझे बिल में बंद करके चला आया था। अतः उसने सुग्रीव को मार पीट कर घर से निकाल दिया। उसकी स्त्री को अपनी स्त्री बना लिया। बालि के डर से सुग्रीव समस्त पृथिवी पर घूमा है। उसे सप्तद्वीपा वसुमती के कोने कोने का ज्ञान है। ऋष्यमूक पर्वत पर बालि को मतंग मुनि का शाप है, अतः वह वहाँ आ नहीं सकता। इसीलिये सुग्रीव अपने हनुमान आदि चार सचिवों के सहित उस पर्वत पर निर्भय होकर रहते हैं। राघवेन्द्र आप उस सुग्रीव से मैत्री करें। आप दोनों ही समान दुखी हैं। दोनों ही परस्पर में सहायक के इच्छुक हैं। सुग्रीव से सौहार्द्र होने पर सीता आपको अवश्य मिल जायगी। अच्छा, अब मुझे तो आज्ञा दीजिये।" यह कहकर वह दानव दिव्य देह रखकर सुर लोक सिधार गया। श्रीराम अपने भाई लक्ष्मण के सहित पम्पा पुरी की शोभा निहारते हुए आगे बढ़े। वे तपस्विनी शबरी का आश्रम पूछते-पूछते चले। पम्पासर के समीप ही मतंगवन में तपस्विनी शबरी रहती थी। दूर से ही उसने श्रीराम को आते देखा। उसके नेत्र आनंद के कारण खिल उठे। वह परम प्रमुदित हुई उसकी चिरकाल की अभिलाषा पूरी हुई। वह प्रेम में विभोर होकर अपने आपे को भूल गई। उसने नयनों के नीर से प्रभु को पाद्य प्रदान किया। पलकों के पावड़े बिछाकर उन्हीं से उनके चरणों की धूलि झाड़ी। गद्-गद् वाणी से वह भक्त वत्सल भगवान् की स्तुति करने लगी, किन्तु कुछ कह न सकी। श्रीराम

उसके प्रेम को समझ गये, क्योंकि वे ही सबके हृदय के यथार्थ भाव को जान सकते हैं। अत्यंत ही स्नेह से राघव ने कहा—"माताजी ! बड़ी भूख लगी है, कुछ प्रसाद तो खिलाओ।"

"हाय ! मेरे राम को भूख लगी है, वे तो सदा प्रेम के भूखे ही रहते हैं। उनके अनुरूप मेरे पास भोजन कहाँ है। जो भी रूखे सूखे कुछ फल हैं। जैसे भी मीठे खट्टे ये जंगली बेर हैं उन्हीं का मैं अपने जीवन सर्वस्व को भोग लगाऊँगा। उन्हीं का नैवेद्य चढ़ाऊँगी। उन्हीं को खिलाकर अपनी चिर अभिलषित आशा को फलवती बनाऊँगी।" ऐसा सोचकर वह भीतर से बेर आदि फल ले आयी श्रीराम ने अत्यन्त ही सराहना करते हुए, स्वयं बार-बार माँग-माँगकर बड़ी रुचि और आह्लाद के सहित उन फलों को खाया। शबरी को कृतकृत्य बनाया।

समीप में रहने वाले मुनियों ने भी श्रीराम के पधारने की सूचना सुनी थी। वे अपने तेज, तप, प्रभाव, विद्या, वय तथा व्रतनियमादि के अभिमान में निश्चिन्त थे, कि राम स्वयं ही हमारे यहाँ आवेंगे। किसी ने सोचा हम यहाँ के तेजस्वी मुनि हैं। राम जिससे भी पूछेंगे यहाँ सर्व श्रेष्ठ मुनि कौन हैं ? तो सब हमारा ही नाम बतावेंगे, अतः वे हमारे ही आश्रम में सर्व प्रथम आवेंगे। किसी ने सोचा—"सर्वत्र हमारे उग्र तप की ख्याति है। राम तपस्या से ही प्रसन्न हैं। स्वयं भी तपस्वी वेष बनाये हुए हैं। अतः प्रथम हमारा ही दर्शन करेंगे, हमें ही कृतार्थ करेंगे। कुछ सोचते थे, हम ही यहाँ सब से अधिक प्रभाव शाली हैं, हमारे समान विद्वान् कोई दूसरा नहीं है, हम ही सबसे अवस्था में बड़े हैं हम कुलीन हैं। हमारे नियम, व्रत सदाचार आदि की सर्वत्र ख्याति है। श्रीराम हमारे ही निकट सर्वप्रथम आवेंगे। किन्तु सबकी आशा पर पानी फिर गया। राम,

प्रथम पहुँचे एक शूद्रा की कुटी पर। जो शबर जाति की भिल्लि

थी। जिससे कुलीन कहलाने वाले घृणा करते थे। सबका आ

मान चूर हो गया। राम उसी की कुटी पर जमकर बैठ गये। अब मुनि क्या करते सबके सब मिलकर शबरी की कुटी पर गये। आज समस्त मुनियों को अपनी कुटी पर आते देखकर शबरी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने बड़ी ही श्रद्धा भक्ति के सहित भूमि में सिर टेककर सभी ऋषि मुनियों को प्रणाम किया और उनका यथोचित स्वागत सत्कार किया।

कुशल प्रश्न के अनन्तर मुनियों ने कहा—"भगवन्! आप हमारे यहाँ नहीं पधारे?"

भगवान् ने कहा—"कोई बात नहीं सब आपका ही है। यहाँ आप सबके एक ही स्थान पर दर्शन हो गये मेरे योग्य कोई सेवा बताइये।"

मुनियों ने कहा—"प्रभो! और तो आपकी कृपा से सब ठीक ही कार्य चल रहा है। हमें यहाँ जल का बड़ा कष्ट है। पम्पा सरोवर यहाँ से दूर है। पहिले हमारे यहाँ एक सुन्दर सरोवर था। उसमें आजकल कीड़े पड़ गये हैं।"

घट घट की बात जानने वाले श्रीराम समझ गये, कि इन सब ने अभिमान में भर कर मेरी परम भक्ता शबरी का अपमान किया है, इसीलिये ये जल के कष्ट का दुख भोग रहे हैं। जल ही जीवन है। जो भक्त का अपमान करता है उसका जीवन सुखमय कैसे हो सकता है। उन्होंने सरलता के साथ कहा—"मुनियो! मेरी परम भक्ता शबरी यदि उस जल में स्नान करले तो इसके अङ्ग स्पर्श मात्र से वह जल स्वच्छ हो जाय।"

यह सुनकर शबरी तो थर थर काँपने लगी। उसे महान् आश्चर्य हुआ। मुझ भक्ति शून्या पतिता अबला को राघव परम भक्ता बता रहे हैं। मुझमें तो भक्ति की गंध भी नहीं। प्रेम का लेश भी नहीं है। अनुराग का अंकुर भी नहीं। मुनियों ने अब

भक्ति का महत्व समझा। जो अपने को तृण से भी नीच समझते हैं जो वृक्ष से भी अधिक अपमान सहन में सहिष्णु है। जो स्वयं अमानी रहकर सदा दूसरों को मान देता रहता है, वही यथार्थ भक्त है। सभी महर्षि शबरी को सादर सरोवर के समीप ले गये उसके स्नान करते ही जल दुग्ध के समान सुन्दर स्वच्छ सुस्वादु बन गया। अब महर्षियों ने भक्ति की महिमा जानी। शबरी ने अपने गुरु का सम्पूर्ण आश्रम दिखाया, उनके अभी तक वृक्षों पर सूखते हुए वल्कल दिखाये। उनकी अग्निहोत्र की प्रज्वलित अग्नि के भी दर्शन कराये। शबरी राम दर्शनों से कृतार्थ हो गयी थी, उसकी सभी इच्छायें पूरी हो गयी थीं। उसने राम को पा लिया। उनका आतिथ्य करके मानव शरीर का यथार्थ फल पा लिया। उसकी समस्त इच्छाओं की पूर्ति हो गयी। उसके हृदय की अज्ञानमयी ग्रन्थि खुल गयी, उसके समस्त संशय दूर हो गये। उसके समस्त पाप पुण्य क्षीण हो गये। वह राम के नाम का उच्चारण करती हुई, राम के रमणीय रूप का हृदय में चिन्तन करती हुई, इस शरीर को त्याग कर परम पद को प्राप्त हुई। गुरुओं के मार्ग का उसने भी अनुसरण किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! इस प्रकार कबन्ध का उद्धार करके, शबरी को अपने अमोघ दर्शन देकर श्रीराम पम्पासर की शोभा देखते हुए सुग्रीव से मैत्री करने के निमित्त ऋष्यमूक पर्वत को लक्ष्य करके आगे बढ़े।"

छप्पय

गीध कर्म सब करे परम गति ताहि दिखाई।
कियो कबन्ध कृतार्थ सुरति शबरीकी आई॥
शबरी निरखे राम धाम शोभा सुखखानी।
समुझि साधना सफल सकल फल कर्म भुलानी॥
आतिथ करि रघुनाथ को, भगतिनि अति प्रमुदित भई।
राम नाम मुख हृदय छवि, धरि तनु तजि हरिपुर गई॥

सुग्रीवसखा श्रीराम

(६६६)

नेदंयशो रघुपतेःसुरयाञ्चयाऽऽत्त
लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः ।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः
किं तस्य शत्रु हनने कपयः सहायाः ॥❀

(श्री भा० ९ स्क ११ अ० २० श्लोक०)

छप्पय

प्रेम बेर चखि चले सोच सीता हित भारी ।
कपि कस होवै मित्र मिलै कस जनकदुलारी ॥
अगनित जे छिन माहिँ विश्व ब्रह्माण्ड बनावैं ।
ते कपि मैत्री चहैं करुण नरनाट्य दिखावैं ॥
राम लखन सुग्रीव लखि, पवनतनय पठये तहाँ ।
सिर चढ़ाइ लाये तुरत, धरि कपिवर बैठे जहाँ ॥

एक लोकोक्ति है संसार में कोई भी ऐसा अक्षर नहीं जो मंत्र

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं "राजन् जिन्होंने देवताओं की याचना पर लीला से ही नर तनु धारण किया है, जिनसे बढ़कर या जिनके बराबर भी प्रभावशाली कोई नहीं है, उन रघुनन्दन के लिये बहुत से राक्षसों को मार डालना या समुद्र के ऊपर पुल बँधवा देना यह कोई बहुत यश वाली बात नहीं है। उन सर्वसमर्थ लीलाधारी के लिये राक्षसों के वध में वानर भला क्या सहायता दे सकते हैं। यह सब उनकी वीर क्रीड़ा है, लीला है।"

न हो, कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो औषधि न हो। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसमें कुछ न कुछ योग्यता न हो, किन्तु इन सबको नियमन करना सबसे योग्यतानुसार काम लेना यही कठिन कार्य है। संसार में सब सुलभ है, एक मात्र योजक ही दुर्लभ है। कुछ न कुछ काम तो सभी कर सकते हैं। काम कर लेना यह कोई महत्व की बात नहीं है। दूसरों से प्रसन्नता पूर्वक उनकी रुचि रखते हुए काम करना यही कठिन कार्य है। वानर एक तो स्वभाव से ही चंचल होते हैं, फिर वे एक नियम में निबद्ध होकर कार्य नहीं कर सकते। एक स्थान में स्थिर नहीं रह सकते, स्वेच्छानुसार उछलते हैं, कूदते हैं, किलकारियाँ मारते हैं। उनको सैनिक विधानुसार संगठित करके काम लेना नियम में आबद्ध करके युद्ध करना यह भगवान् का ही कार्य है। भगवान् जानते थे चंचल और अस्थिर स्वभाव के वानरों को नियमन करना सरल नहीं है। श्रीराम तो सरल हैं। वे तो बड़े भोले हैं। सबका मन रखकर काम करते हैं। सबको प्रोत्साहित करते हैं, स्वयं अर्थी बनकर उनके द्वार पर जाते हैं। स्वयं अनाथ से होकर उन्हें सनाथ करने स्वयं जाते हैं। यह तो उनकी भगवत्ता है। यही तो उनकी अपने आश्रित अनुचरों के प्रति असीम अनुकम्पा है। प्रभु सर्वसमर्थ होकर भी वानरों के सम्मुख रोते हैं, गिड़गिड़ाते हैं उनसे सहायता करने की प्रार्थना करते हैं, उनकी कृपा के इच्छुक होते हैं। राम का कैसा जनम रंजन करने का सुन्दर स्वभाव है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राम शबरी के आश्रम से पम्पा की ओर जा रहे हैं। पम्पासर परम सुखद है, उसमें भाँति-भाँति के सुन्दर सुगन्धियुक्त कमल खिल रहे हैं। उनमें विविध रंग की मछलियाँ इधर से उधर फुदक रही हैं, उनके फुदकने से कमल

के नाल हिल रहे हैं। विविध जातियों के वृक्षों पर नाना प्रकार के पुष्प लग रहे हैं। कोई फलों से लदा है कोई फूलों से फूल रहा है। भ्रमर इधर से उधर गुञ्जार करते हुए मँडरा रहे हैं। खगवृन्द अपनी अपनी भाषा में कलरव कर रहे हैं। श्रीराम सर की शोभा को देखकर सुखी के स्थान में दुखी हुए। वे कहने लगे—"यह सरोवर कितना सुन्दर है, इसका सलिल कितना सुखद सुगन्धित और स्वच्छ है, किन्तु जानकी के बिना यह मुझे अग्निकुंड से भी अधिक दाहक प्रतीत होता है। मेरी प्रिया होती, तो वह इस रमणीक सरोवर को देखकर कितनी प्रमुदित होती। इसके शीतल जल में वह मेरे साथ स्नान करती। हाय। आज मैं इसके अमृतोपम जल को स्पर्श करने में भी असमर्थ हूँ। मेरी प्रिया को कमल अत्यन्त ही प्रिय थे। वह नील कमल को हाथ में लेकर बार-बार कहती—"प्राण नाथ! आप नीलाम्बुज श्यामल हैं। आप नील सरोरुह श्याम हैं। आपका नीलवर्ण तो इस कमल को तिरस्कृत कर रहा है। जल भरे मेघ से भी सरस आपका स्वरूप है। तब मैं कहता तुम कमलनयनी हो। तुम्हारे पाद कमल के सदृश कोमल हैं। तुम कमल वन में क्रीड़ा-कमल लिये साक्षात् कमल के सदृश दिखाई देती हो। सचमुच उस तन्वङ्गी को कमल से उपमा देना उसका अनादर करना है। हाय! उसके बिना ये कमल मुझे काटने दौड़ते हैं। मैं कमल की जड़ को तोड़कर लाता तो वह उसका साग बनाती। कमल गट्टा की मिगी निकालकर उसके विविध व्यंजन बनाती। उसके बिना इन कमलगट्टों को तोड़कर मैं क्या करूँगा। लक्ष्मण! क्या जानकी हमें फिर मिलेगी? मैं उसके मिलने की आशा से ही जी रहा हूँ। मैं उसे पुनः पालूँ, इसीलिये अपने हृदय में उठे क्रोध को पी रहा हूँ। संसार में इतना भीषण दुःख सहने

को मैं ही रहा हूँ। लक्ष्मण! क्या वानरराज सुग्रीव मेरे ऊपर कृपा करेंगे! क्या वे मेरी प्रियतमा का पता लगावेंगे? क्या वे हमें अपनावेंगे। सौमित्र यदि मुझे जानकी न मिली तो मैं निश्चय ही मर जाऊँगा! जानकी के बिना अवध न जाऊँगा, वहाँ जाकर मैं कैसे अपने परिजन और पुरजनों को मुँह दिखाऊँगा। हाय! भैया! पूर्वजन्म में हमने कौन-कौन से पाप किये हैं, जिनके परिणाम स्वरूप हमें इतने क्लेश सहन करने पड़ रहे हैं।"

श्रीराम को इस प्रकार अधीर होते देखकर शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण बोले—"प्रभो! आपको इस प्रकार प्राकृत पुरुषों की भाँति शोक करना शोभा नहीं देता। आप धैर्य धारण करें, मोह को त्याग दें, पुरुषार्थ का सहारा लें। पुरुषार्थ से सभी संभव है। उद्योग के आगे कोई बात कठिन नहीं। जब धनुष धारण किये हुए आपका सेवक मैं आपके साथ हूँ, तब आपको क्या चिन्ता। सीता यदि पृथिवी के भीतर होंगी, तो मैं पृथिवी को फोड़कर उन्हें ला सकता हूँ, यदि वे स्वर्ग में होंगी तो मैं स्वर्ग जा सकता हूँ। रावण को जीवित पकड़ ला सकता हूँ। आप सोच को छोड़ दें। दीनता धारण न करें।"

लक्ष्मण की वीरतापूर्ण वाली बात सुनकर रघुवर स्वस्थ हुए। उन्होंने कहा—"लक्ष्मण! अब मैं स्वस्थ हुआ। अब तुम वही उद्योग करो, जिससे जनकनन्दिनी मिल सके, सुग्रीव से जिस प्रकार मैत्री हो, वह उपाय सोचो। चलो ऋष्यमूक पर्वत को ही लक्ष्य करके सीधे चलें।" यह कहकर श्रीराम लक्ष्मण के साथ ऋष्यमूक पर्वत की ओर चल दिये।

ऋष्यमूक शैल के एक सुन्दर सुहावने शिखर पर अपने सचिवों सहित सुग्रीव जी बैठे सम्मति कर रहे थे। उसी समय

सामने से सूर्य के सदृश तेजस्वी श्रीराम लक्ष्मण को देखकर वे डर गये। उन दोनों के विशाल धनुष और अक्षयतूणीर तथा बड़ी-बड़ी विशाल बाहुओं को देखकर वानरों के छक्के छूट गये। व्यग्रता प्रगट करते हुए सुग्रीव बोले—"ये दोनों कौन हैं, क्यों ये हमारी ही ओर आ रहे हैं? इनकी आकृति प्राकृति चाल ढाल को देखने से तो ये कोई वीर शिरोमणि दिखाई देते हैं। इन दोनों के कन्धे वृषभ के समान हैं, ये मत्त मातंग के समान निर्भय होकर चले आ रहे हैं। इनके धनुष विशाल हैं। बाण विचित्र नुकीले और अव्यर्थ हैं। ये शूरवीर विजयी और यशस्वी प्रतीत होते हैं। कहीं वालि ने मुझे मारने के निमित्त तो इन्हें नहीं भेजा है। वह स्वयं तो शाप के कारण यहाँ आ नहीं सकता। यदि उसने इसीलिये इन्हें भेजा है, तो ये अवश्य मुझे मार डालेंगे। अवश्य ही ये बनावटी वेष बनाकर घूम रहे हैं नहीं तो इनके वस्त्र तो मुनियों जैसे हैं और धनुषबाण शूरवीरों जैसे। ये साधारण मुनि नहीं हैं। ये हमारी ही ओर बढ़े चले आ रहे हैं अब हमें क्या करना चाहिये। इनके सम्मुख जाना चाहिये या छिप जाना चाहिये। इनसे बातें करनी चाहिये या मौन होकर गुहाओं में घुस जाना चाहिये। छिपकर हम इनसे कहाँ जा सकेंगे। जहाँ हम जायँगे वहीं ये भी पहुँच जायँगे।"

सूतजी कहते हैं—"राजन्! सचिवों सहित सुग्रीव बहुत ही भयभीत हो गये थे। वे शैल शिखर से उतर कर नीचे आ गये। वानर वृक्षों पर चढ़ गये, कोई इधर से उधर जाने लगे, कोई उछलने कूदने लगे, कोई दुखी होकर रोने लगे। सभी वानर ऋष्यमूक को छोड़कर उसके समीप के मलय नामक पर्वत पर चले गये। वे सब भयभीत थे। सुग्रीव किसी बड़ी गुफा में छिपने की बात सोच रहे थे। उन सब वानरों को भयभीत

देखकर सुग्रीव के सर्वश्रेष्ठ सचिव- अंजनानन्दवर्धन पवनतनय, श्री हनुमान्‌जी बोले—"आप लोग इस प्रकार क्यों डर रहे हैं आप साधारण शाखावृन्द जंगली वानर तो हैं नहीं। आप देव पुत्र हैं। आप सब सभ्य और सुशिक्षित हैं। ये जो दो धनुषधारी वीर सिंह के समान चले आ रहे हैं, इन्हें मैं बालि का भेजा हुआ नहीं समझता। ये तो कोई दिव्य पुरुष हैं। आप सब भय का परित्याग करें, मैं अभी जाकर पता लगाता हूँ, ये कौन हैं? और किस कारण इस गहन निर्जन वन में पैदल ही भ्रमण कर रहे हैं।"

हनुमान जी के पास ऐसे सुन्दर सरल धीरता और वीरता युक्त वचन सुनकर सुग्रीव बोले—"हनुमान! तुम बड़े ही वीर, विवेकी, बुद्धिमान और बली हो। तुम जाकर बुद्धिमानी के सहित इनके अंतःकरण की बात को जानो, ये किस उद्देश्य से हमारे समीप आ रहे हैं।"

सुग्रीव की आज्ञा पाकर महाबली हनुमान्‌जी साधु का वेष बनाकर शीघ्रता पूर्वक श्रीराम और लक्ष्मण के समीप आये, उनका अभिनन्दन और जयजयकार करके हनुमान्‌जी ने पूछा—"आप लोग कौन हैं? यहाँ क्यों विचरण कर रहे?"

श्रीराम जी यह सुनकर लक्ष्मण की ओर देखने लगे। बुद्धिमान लक्ष्मण भी भगवान् के भाव को समझकर हनुमान् जी से पूछने लगे—"साधुवर्य! आप कौन हैं? पहिले आप अपना परिचय दें।"

लक्ष्मण जी के प्रश्न को सुनकर और उनकी चेष्टा आकृति और प्रश्न करने के ढंग से उनके मनोगत भावों को समझकर हनुमानजी निर्भय होकर बोले—"मैं वानर राज सुग्रीव का सचिव हूँ, पवन का तनय हूँ, हनुमान् मेरा नाम है। अपने

स्वामी की आज्ञा से आपका परिचय पाने के निमित्त मैं आया हूँ।"

लक्ष्मणजी ने आश्चर्य के साथ कहा—"वानर का सचिव साधु कैसे हुआ? तुम तो मनुष्य हो, शुद्ध संस्कृत में बातें कर रहे हो। आपकी वाणी विशुद्ध है, इसमें व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी नहीं। इस विषय में हमें संदेह है।"

यह सुनकर हँसते हुए हनुमान् बोले—"देव! मैं पवन का पुत्र हूँ, साधारण वानर नहीं। हम सब इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ हैं, जब जिसका चाहें रूप बना सकते हैं। आपका भेद जानने के लिये मैंने साधु वेष बना रखा है, मैं साधु नहीं वानर हूँ, मेरे स्वामी सुग्रीव को उसके भाई बालि ने घर से निकाल दिया है, उसकी स्त्री को हर लिया है। राज्य से भ्रष्ट स्त्री के हरे जाने से दुखी मेरे स्वामी आपका पूर्ण परिचय जानना चाहते हैं।"

हनुमान् सुग्रीव के सचिव हैं। सचिव से सचिव ही बातें करें, इस भाव से श्रीराम अपने सुहृद् सखा सचिव तथा अनुज लक्ष्मण की ओर देखने लगे। श्रीराम के मनोगत भावों को चेष्टा से ही समझने वाले सुमित्रानन्दवर्धन समस्त शुभ लक्षणों से लक्षित लक्ष्मि सम्पन्न लक्ष्मण बोले—"अवध के चक्रवर्ती महाराज दशरथ के ये बड़े पुत्र कौशल्यानन्द वर्धन श्रीराम हैं। मैं इसका अनुज भृत्य और सेवक हूँ। मुझे सब लोग लक्ष्मण कहते हैं। मैं अपने भाई और भाभी के साथ उनकी सेवा के निमित्त पिता की आज्ञा से वन में आया था। यहाँ राक्षसों ने मेरी भाभी श्रीसीताजी को हर लिया है। उसी का अन्वेषण करते हुए हम यहाँ आये हैं। हम वानरराज सुग्रीव की सहायता चाहते हैं।"

हनुमानजी ने कहा—"आपको वानरराज सुग्रीव का पता किसने बताया ?"

लक्ष्मणजी बोले—"समीप ही हमें शाप युक्त कबन्ध मिला था। जब मरकर उसने दिव्य देह धारण कर ली, तो उसी ने हमें सब बातें बताईं। उसने कहा—"आप सुग्रीव की सहायता से सीताजी को अवश्य प्राप्त कर लेंगे।"

हनुमान जी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"प्रभो ! हम सब प्रकार से आपकी सेवा करेंगे। हम दशों दिशाओं में जगज्जननी जानकी का अन्वेषण करेंगे। वानरराज सुग्रीव भी अपने भाई के कारण दुखी हैं, उनकी भी भार्या हरली गई है. वे भी राज्यच्युत होकर वन में निवास कर रहे हैं। वे भी आप वीरों को पाकर परम प्रमुदित होंगे। वे भी आपसे मैत्री करने को इच्छुक हैं। चलिये, मैं आपको वानरराज सुग्रीव के समीप ले चलूँ।" इतना कहकर हनुमान् जी ने साधु वेष त्याग दिया। वे अपने यथार्थ रूप में आ गये। उन्होंने एक कंधे पर श्रीराम को और दूसरे कंधे पर श्रीलक्ष्मण जी को चढ़ा लिया और वायु वेग से क्षण भर में ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँच गये। दोनों भाइयों को शिला खम्भों पर सत्कार पूर्वक बिठाकर वे मलय पर्वत पर गये और सुग्रीव से बोले—"राजन ! ये शूरवीर पराक्रमी क्षत्रिय कुमार हैं। दोनों चक्रवर्ती महाराज दशरथ के पुत्र हैं। आप मैत्री करने को समुत्सुक हैं, आप उनसे चलकर वार्तालाप करें।"

हनुमानजी के ऐसे वचन सुनकर सुग्रीव को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने वानर वेष छोड़कर मनुष्य रूप धारण किया और हनुमानजी के साथ श्रीराम लक्ष्मण के समीप आये। सुग्रीव से मिलकर श्रीराम परम सन्तुष्ट हुए। सुग्रीव ने भी सहर्ष श्रीराम की चरण वन्दना की और अपना दुःख उन्हें सुनाया। सुग्रीव

का दुख श्रवण करके श्रीराम का हृदय करुणा से भर गया। वे वानर राज सुग्रीव को धैर्य बधाते हुए बोले—"सुग्रीव तुम चिन्ता मत करो, मैं तुम्हारा दुःख दूर करूँगा। तुम्हारे समस्त शत्रुओं का शीघ्र ही संहार करूँगा। तुम्हें राज्य सिंहासन पर बिठाऊँगा।"

सुग्रीव ने कहा—"राघव! मैं आपसे मैत्री चाहता हूँ। आप को मित्र पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। आपकी मैत्री अमोघ है। आप मुझे अपना लेंगे तो मैं अनाथ से सनाथ हो जाऊँगा। मैं अपने गये हुए गौरव को पुनः प्राप्त कर लूँगा। यदि आप मुझे अपना मित्र बनाना स्वीकार करते हों, तो देखिये, यह मेरा हाथ फैला हुआ है। इसे आप अपने वरदहस्त में ग्रहण करें। अग्नि को साक्षी देकर आप मुझसे प्रतिज्ञा पूर्वक मैत्री करें।"

सुग्रीव के ऐसे सुन्दर सुखद कोमल और करुणा पूर्ण वचन सुनकर भक्त वत्सल श्रीराम परम प्रमुदित हुए। उन्होंने सुग्रीव के हाथ को अपने हाथ में लिया। उसी समय हनुमान्‌जी ने दो लकड़ियों को जलाकर अग्नि पैदा की। दोनों मित्रों ने अग्नि को साक्षी देकर प्रतिज्ञा की तथा अग्नि की प्रदक्षिणा की। मित्रता हो जाने पर परस्पर एक दूसरे को स्नेह भरी दृष्टि से देखने लगे। सुग्रीव श्रीराम के रूप रस का पान करते-करते अघाते ही नहीं थे। कमल दल लोचन श्रीराम दूर्वादल द्युति श्रीदशरथ तनय के दर्शनीय रूप को निहारते-निहारते वानरराज की तृप्ति ही नहीं होती थी। तब बड़े स्नेह से श्रीराम ने कहा—"सखे! तुम्हारा भाई वालि तुमसे शत्रुता क्यों करता है? उसने तुम्हें नगर से क्यों निकाल दिया? क्यों तुम्हारी प्यारी पत्नी का अपहरण कर लिया?"

श्रीराम के वचन सुनकर सुग्रीव आदि से अन्त तक सब

कथा सुना दी। पिता के परलोक वास के अनन्तर भाई-भाई में प्रेम, दैत्य का आगमन, उसके पीछे दोनों का जाना, बालि का गुफा में उसे मारने को घुसना, एक साल तक न निकलना, रक्त के निकलने से बालि वध का संदेह होने पर गुफा से लौटकर राज गद्दी पर बैठना, पीछे बालि के आने पर उसका क्रुद्ध होना, उसे नगर से निकाल कर स्त्री का अपहरण कर लेना, ये सब बातें बतायीं। उन्हें सुनकर श्रीराम बोले मित्र! तुम धैर्य धारण करो, मैं तुम्हारे सभी दुःखों को दूर कर दूँगा। तुम्हारे शत्रु रूप भाई को मैं यमसदन पठाऊँगा, तुम्हें पुनः राज्य दिलाऊँगा, तुम्हारी पत्नी से तुम्हें मिलाऊँगा। मित्रवर! अपने अनुकूल आचरण करने वाली पति प्राणा पत्नी के बिना पुरुष को कितनी मार्मिक वेदना होती है, कितना अधिक क्लेश होता है, इसका अनुभव मैं पग-पग पर कर रहा हूँ। भैया, मैं भी अपनी प्राण प्रिया के हरे जाने से दुखी हूँ। मैं भी सीता के वियोग जन्य क्लेश से क्लेशित हूँ।"

यह सुनकर सुग्रीव बोला—"राघव! मेरे सचिव हनुमान् ने मुझे सब बातें बताई हैं। वैदेही को दुष्ट रावण हर ले गया है, यह बात मैंने सुन ली है। मैंने जानकी को भली प्रकार देखा तो नहीं, किन्तु आकाश में एक स्त्री पीली साड़ी पहिने हा राम! हा लक्ष्मण! चिल्लाती हुई जा रही थी। उसे कोई राक्षस लिये जाता था। अब मैं अनुमान करता हूँ, कि वह अवश्य ही आप की प्यारी पत्नी रही होगी, निश्चय ही वह राक्षसराज रावण रहा होगा। वह कोमलाङ्गी तड़प रही थी विलाप कर रही थी। हमें देखकर उसने अपने वस्त्र में लपेट कर कुछ आभूषण डाल दिये थे। आप उस वस्त्र और आभूषणों को पहिचानें।"

इतना सुनते ही मानों श्रीराम के कर्णों में किसी ने अमृत

उड़ेल दिया हो। वे अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ बोले—"वानर राज ! लाओ, लाओ, उन आभूषणों को अविलम्ब लाओ, शीघ्र लाओ मेरे तन की तपन बुझाओ। वैदेही के वस्त्राभूषणों को मैं अवश्य पहिचान लूँगा। उनमें से मेरी प्रिया के श्रीअङ्ग की गंध आती होगी, उसे सूँघने से मुझे सुख होगा। अब देरी करने का काम नहीं।"

श्रीराम को इस प्रकार अत्यधिक उत्सुक देखकर सुग्रीव तुरन्त उठे और एक गहन गुफा में घुस गये। वहाँ वस्त्र में बँधे आभूषणों को लेकर वे तुरन्त लौट आये और आकर बोले—"रघुनन्दन ! देखिये, ये वे ही आभूषण हैं, वेही वस्त्र है, ऊपर से विलाप करती हुई देवी ने ये सब वस्तुएँ डाली थीं।"

श्रीराम ने लपक कर बड़ी उत्कंठा से वे वस्तुएँ लीं। वस्त्र को लेकर वे बार-बार सूँघने लगे। उस समय उन्हें ऐसा सुख हो रहा था, मानों वैदेही मिल गई। उनके नयनों से निरन्तर नीर निस्रत हो रहा था, जिससे वह वस्त्र गीला हो गया था। एक-एक करके वे आभूषणों को देखने लगे। 'यही मेरी प्रिया की चद्दर का टुकड़ा है। जब मैं माया मृग के पीछे गया था तब वह इसी पीली रेशमी चद्दर को धोती के ऊपर ओढ़े हुए थी। ये मेरी प्रिया के कुंडल हैं, जब ये उसके कानों में बार बार हिलते थे, तब उसके कपोलों की कैसी आभा होती थी। ये मेरी कालान्तर के कमनीय कंकण हैं। इसके नग और मणि माणिक्य उसके पतले पतले कोमल करों में उसी प्रकार दमका करते थे, मानों सुवर्ण लता पर रंग बिरंगे सुन्दर पुष्प खिले हों। इन कंकणों से विभूषित उसकी सुन्दर बाहुएँ बड़ी ही सुन्दर प्रतीत होती थीं।

चूड़ियों से जब वे लड़ जाते तो उनसे विचित्र झनकार निकलती। ये मेरी प्राणवल्लभा के नूपुर हैं। अरुण चरण के अत्यंत गुद-

गुदे, जिनके तल देश सम थे, ऐसे मेरी हृदयेश्वरी के कमलों

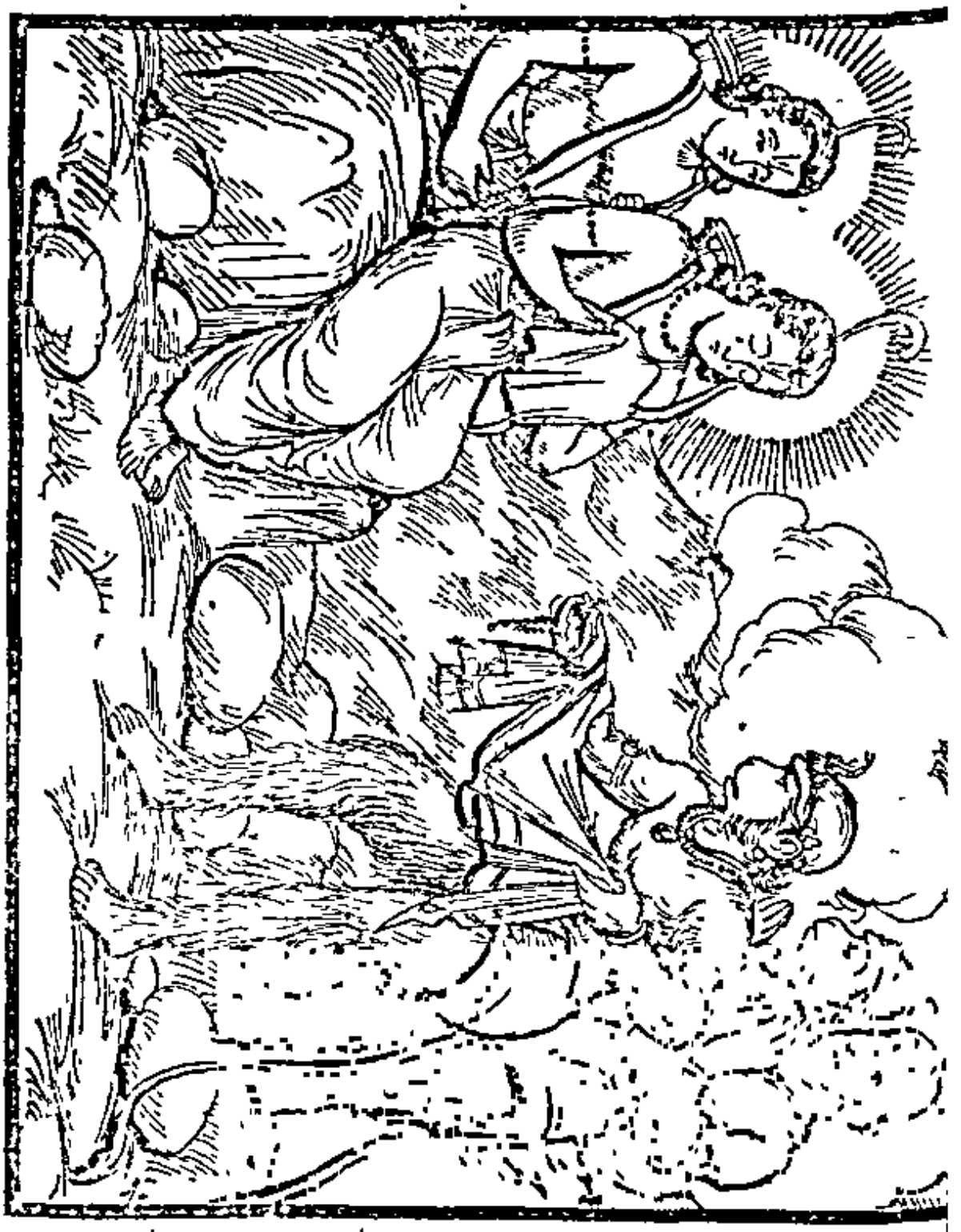

भी तिरस्कृत करने वाले पैरों में जब ये नूपुर बजते थे, तो ऐस

लगता था, मानों कोई मधुर-मधुर वाद्य बज रहा हो, हंसिनि के समान वह इधर से उधर घूमती। दूर से ही इन नूपुरों की ध्वनि सुनकर मेरे हृदय में गुदगुदी होने लगती। इन कंकणों में लग जाने से जब ये शब्द करने लगते हैं, तब मुझे ऐसा प्रतीत होता है, मानों मेरी प्रिया आ रही है। सौमित्र! तुम इन आभूषणों को देखो, शोक के कारण मुझे बुद्धिभ्रम तो नहीं हो गया है? ये कुंडल सीता के ही हैं न? ये कंकण मेरी कान्ता के करों को ही सुशोभित करने वाले हैं न? इन नूपुरों की ध्वनि से तुम परिचित हो न? बताते क्यों नहीं? तुम इन्हें पहिचानते हो न?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्रीराम ने बार बार अपने छोटे भाई लक्ष्मण से आभूषणों के सम्बन्ध में प्रश्न के ऊपर प्रश्न किये, तब हाथ जोड़कर अत्यंत ही नम्रता के साथ लक्ष्मण ने कहा—"प्रभो! देवी सीता के मुख को मैंने कभी स्वेच्छा से देखा नहीं। इसलिये मैं उनके कुंडलों को नहीं पहिचानता। मैं तो सदा उनके सम्मुख नत मस्तक होकर खड़ा होता था इसलिये मैं उनके करों के कंकणों को भी पहिचानने में असमर्थ हूँ। हाँ, जगज्जननी के पादों के इन नूपुरों को मैं भली भाँति जानता हूँ। नित्य ही मैं सायं प्रातः उनके पाद पद्मों में प्रणाम किया करता था। अतः इनसे मैं भली भाँति परिचित हूँ। ये जगज्जननी जानकी के ही चरणों के आभूषण हैं।"

इतना सुनते ही श्रीराम ने लक्ष्मण को कसकर हृदय से लगा लिया और बार-बार अश्रु विमोचन करते हुए कहने लगे—"लक्ष्मण! तुम धन्य हो! ऐसे भाई को पाकर मैं धन्य हुआ, कृतार्थ हुआ। लक्ष्मण! मैं इन आभूषणों को भली भाँति जानता हूँ। देवी के अंग स्पर्श के साथ न जाने मैंने इन्हें कितनी बार छुआ है, इनकी प्रशंसा की है। इन आभूषणों को वपन

बनाकर न जाने कितनी बार मेरी सीता से प्रेम कलह हुई है। हाय ! मुझे मेरी प्रिया कभी फिर मिलेगी ? कभी फिर मैं उसके सुकुमार कोमल अंगों में इन्हें पहिनाऊँगा। आज प्रिया से विहीन ये आभूषण रोते हुए से दुखी दिखाई देते हैं। जैसे सरोवर से कमल पृथक होने से म्लान हो जाते हैं वैसे ही ये आभूषण श्रीहीन से दिखाई देते हैं। फिर भी ये मेरे लिये सुखकर ही हैं ये मुझे मेरी प्रिया की याद दिला रहे हैं।" इस प्रकार प्रलाप करते हुए श्रीराम उन आभूषणों को बार बार देखने लगे। बार बार हृदय से लगाने लगे। बार बार उनकी प्रशंसा करने लगे। वे कभी रोते कभी चिल्लाते। कभी कभी हा ! प्रिये ! कहकर रुदन करने लगते। उनकी ऐसी दशा देखकर सुग्रीव उन्हें धैर्य बँधाते हुए बोले—"राघव ! आप इतने अधीर न हों। देखिये, मैं तो वानर हूँ, वानरों की कामुकता सर्व विदित है। स्त्री मेरी भी हरी गई है, किन्तु मैं तो इतना अधीर कभी होता नहीं। आप पुरुष नहीं पुरुषोत्तम हैं नर नहीं नारायण हैं, मानव नहीं सनातन पुराण पुरुष हैं। फिर भी आप ऐसे अधीर हो रहे हैं ! रामचन्द्र आप शोक का परित्याग कीजिये। मन में दीनता न लाइये अधीरता धारण न कीजिये। हृदय दौर्बल्य को छोड़िये। मैं प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ, कि मैं आपकी प्रिया को खोजकर लाऊँगा। वह कहीं भी हो मैं उसे अपने वानरों के सहित ढूँढकर आपसे मिला दूँगा। जानकी को कोई भी उसी प्रकार नहीं पचा सकता जिस प्रकार विष मिले अन्न को, कच्चे पारे को, ग्रास के साथ गयी मक्खी को तथा भूल से निगले हुए काँच को कोई पचा नहीं सकता। रघुनन्दन ! आप मेरे ऊपर विश्वास करें, मैं जैसे होगा तैसे जानकी को रावण से छुड़ाकर लाऊँगा। आपकी कृपा से ही मैं यह कार्य कर

सकता हूँ। मैं मित्र के नाते आपके शत्रु का संहार कर दूँगा।"

मित्र शब्द सुनते ही श्रीराम बोल उठे—"वानरराज! मैंने अग्नि को साक्षी देकर तुमसे मित्रता की है, आर्य कुलीन पुरुषों को ऐसा सदाचार है, कि वे मित्र का उपकार प्रथम करते हैं और उसका कभी प्रत्युपकार नहीं चाहते। मैं सर्वप्रथम तुम्हारे बन्धुरूप में उत्पन्न शत्रु का संहार करूँगा। पहिले तुम्हें क्लेश देने वाले, तुम्हारी स्त्री और राज्य को अपहरण करने वाले बालि को अपने बाण का लक्ष्य बनाऊँगा। पहिले उसे यम सदन पठाऊँगा। तुम मुझे बालि के समीप ले चलो।"

सुग्रीव ने कहा—"नरनाथ! मैं समझता हूँ आपका बालि के समीप चलना उचित नहीं। बालि के बल को मैं भली-भाँति जानता हूँ, आप यद्यपि शूरवीर, तेजस्वी और धनुर्धर हैं, किन्तु मैंने आज तक आपके बल को कभी देखा नहीं। बालि इतना बली है कि उसने इतने बलवान् इस दुंदुभी असुर को मारकर यहाँ पर्वत पर योजनों दूर फेंक दिया था। देखिये, सम्मुख ये दुंदुभि की हड्डियाँ पड़ी हुई हैं।"

श्रीरामचन्द्रजी ने उस विशाल दैत्य की अस्थियों को पैर के अँगूठे से दश योजन फेंक दिया और हँसकर बोले—"कहो, तुम्हें विश्वास हुआ या नहीं।"

सुग्रीव बोला—"विश्वास तो प्रभो! मुझे आपके वचनों पर ही है। मैं आप पर अविश्वास नहीं करता, न मैं आपकी परीक्षा ही करता हूँ, किन्तु इस बात से मैं यह निर्णय नहीं कर सकता कि मेरे विश्वविजयी भाई को आप मार सकेंगे। जिस समय मेरे भाई ने ये अस्थियाँ फेंकी थीं उस समय दुंदुभि तुरन्त मरा था। उसके शरीर में मांस, मेदा सभी थे। [illegible] गीले में बहुत अन्तर है। अब तो ये अस्थियाँ [illegible]

सूख गई हैं। यद्यपि आपने दूसरों के न करने योग्य दुष्कर कर्म किया है, फिर भी मुझे अभी वालि के वध होने में संदेह हो रहा है।"

भगवान बोले—"तुम्हें जिस कार्य से विश्वास हो जाय वही मैं करके दिखा दूँ।"

सुग्रीव बोले—"महाराज यह तो परीक्षा हुई। आपकी परीक्षा लेने योग्य मेरी योग्यता नहीं है।

भगवान् बोले—"परीक्षा की क्या बात है भैया! तुम विश्वास के लिये संतोष के लिये जो भी कहो वही मैं कर सकता हूँ। तुम संकोच मत करो। बताओ।"

अत्यंत संकोच के साथ दीन वाणी में सुग्रीव ने कहा—"प्रभो सम्मुख ये सात ताल के वृक्ष हैं। वालि की बाहु इन्हीं तालों के समान है, यदि आप एक ही बाण में एक ताल को वेध दें तो मैं समझ लूँगा आप वालि को मार सकते हैं।" इतना सुनते ही भगवान् ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाया। वह बाण उन आकाश चुम्बी विशाल सातों तालों को एक साथ ही वेधकर पाताल में होकर तुरन्त श्रीराम के तूणीर में लौट आया। इस अद्भुत आश्चर्य को देखकर सुग्रीव के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने गद्गद् वाणी से कहा—"राघव! मैंने आपका बल जान लिया। मेरे सब संशयों का छेदन हुआ। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया, कि एक वालि की तो बात ही क्या है आप सहस्र वालियों को एक साथ मार सकते हैं। हिमालय को जड़ से उखाड़ सकते हैं, पृथिवी को फाड़ सकते हैं। आप विश्व ब्रह्माण्ड का बात की बात में विनाश कर सकते हैं आप सर्व समर्थ हैं। आप जैसे मित्र को पाकर मैं सनाथ हुआ। कृतकृत्य हुआ। राघव अब आप जो भी उचित समझें करें।"

श्रीराम ने कहा—"सुग्रीव ! सर्व प्रथम तो मुझे तुम्हारे शत्रु वालि को मारना है, तुम्हें वानरों के राज्य सिंहासन पर बैठाना है, तुम्हें तुम्हारी स्त्रियों को दिलाना है। जब तुम सुखी हो जाओ तो मित्रता के नाते जो भी उचित समझना करना। मैं सीता के बिना जी नहीं सकता। ये मेरी प्राण प्रिया मेरे बिना न जाने कैसे कैसे क्लेश सह रही होगी।"

सुग्रीव ने कहा—"हे राघव ! आप चिन्ता न करें, मैं दशों दिशाओं में सहस्रों वानर भेजकर आपकी पत्नी का पता अवश्य लगाऊँगा। जैसे होगा तैसे सीताजी को मैं राक्षसों से छीन लाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सुग्रीव के वचन सुनकर श्री राम को महान् हर्ष हुआ। प्रेम के कारण उनकी आँखों में आँसू आ गये। वे बोले—"सुग्रीव ! इस बीहड़ वन में तुम्हें मित्र पाकर मैं अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। अब मैं अपने को सनाथ पाता हूँ। अब तुम मेरे साथ किष्किंधा चलो अपने भाई को मुझे दिखाओ जब तुम दोनों लड़ोगे तो मैं वालि को मार डालूँगा। तुम इस विषय में निश्चित हो जाओ।" इतना कहकर श्रीराम ने अपने सखा सुग्रीव के साथ वालि वध के लिये किष्किन्धा की ओर प्रस्थान किया।"

छप्पय

रघुवर परिचय पाइ आइ बैठे सब बानर।
करे सखा सुग्रीव, राम करुना के सागर॥
रोइ रोइ सुग्रीव दुखद निज कथा सुनाई।
दशा देखि अति दीन दया [illegible] आई॥
भुज उठाइ प्रभु प्रन [illegible], [illegible] हौं करहुँ [illegible]।
सिय पट भूषन कपि [illegible], [illegible] [illegible]।

मैत्रीनिर्वाहक श्रीराम

[६६७]

न जन्म नूनं महतो न सौभगम्
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोपहेतुः ।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस—
श्चकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १९ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

एक बान तैं सात ताल बेधे जब रघुपति ।
भइ प्रतीति कपि हृदय हर्ष मनमहँ बाढ़्यो अति ॥
सँग लिये सुग्रीव बालि बध हित हरिआये ।
समर हेतु सुग्रीव बालि दिँग तुरत पठाये ॥
बालि भिड़्यो सुग्रीव तैं, गुत्थम गुत्था ह्वै गई ।
भग्यो दुखित लघु बन्धु जब, पुनि, पठये उर लग दई ॥

इस संसार की स्थिति सहयोग पर मैत्री पर परस्पर के स्नेह पर ही निर्भर है। संसार में सभी सबका सहयोग चाहते हैं।

---

* श्रीहनुमानजी अपने स्वामी श्रीसीतापतिकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"भगवान्‌को प्रसन्न करनेके निमित्त उच्च कुल में जन्म सुन्दरता चतुरता, बुद्धि की तीक्ष्णता, आकृति और इनमें से कोई भी कारण नहीं है। देखिये, हम वानरों में इनमें से कोई भी गुण नहीं हैं फिर भी इन लक्ष्मण के भाई ने हम लोगों से मित्रता की।"

सब काम को सभी नहीं कर सकते। श्रम जीवी श्रम करें, अन्न वस्त्र तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं को उत्पन्न करें, बुद्धि जीवी उन्हें सदुपयोग की शिक्षा दें। उन्हें व्यवहार में सुचारु रीति से वर्तने की शिक्षा दें, इस प्रकार परस्पर के सहयोग से ही समाज का कार्य चल सकता है। यदि समाज में मैत्री भाव न हो, परस्पर में एक दूसरे की सहायता न करें। तो सृष्टि का कार्य ही रुक जाय। सबल दुर्बलों को रहने ही न दें। यदि कोई अपने से अधिक बलवान् है, तो पहिले उसे समझावें, ऊँच नीच परिस्थिति का ज्ञान करावें। जब वह अपने से बली की सम्मति को भी न माने तो फिर उसका भेद नीति से भी वध करा देना अन्याय नहीं। क्योंकि ऐसे अभिमानी हठी का वध के अतिरिक्त और कोई उपाय है ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुग्रीव को साथ लिये श्रीराम चन्द्रजी किष्किन्धा की ओर चले। समीप के ही एक गहन वन में वृक्षों की आड़ में श्रीरामचन्द्रजी छिपकर बैठ गये और अपने सखा सुग्रीव से बोले—"वानरश्रेष्ठ! तुम किष्किन्धा जाओ। शत्रुरूप में उत्पन्न अपने बड़े भाई को बुलाओ। उसे युद्ध के लिये ललकारो। वह वीराभिमानी तुम्हारी ललकार को कभी सहन न करेगा। तुरन्त युद्ध के लिये आ जायगा। उसे तुम यहाँ समतल भूमि में ले आना। मैं उसका एक ही बाण में संहार करा दूँगा उसे यमपुर का प्रवेशपत्र पकड़ा दूँगा।"

भगवान् श्रीराम के ऐसे आश्वासन पूर्ण वचनों को सुनकर सुग्रीव निर्भय होकर किष्किन्धा में गया। वह बार बार बालिका नाम लेकर उसका तिरस्कार करने लगा। उसे युद्ध के लिये कारने लगा और भयंकर दहाड़ मारने लगा! उसकी सुनकर बालि परम क्रुद्ध हुआ। वह सुग्रीव को

सहन करनेमें समर्थ नहीं हुआ, वह रणके निमंत्रणकी अवहेलना न कर सका, लँगोट बाँधकर नगर से निकल पड़ा और सुग्रीव के ऊपर झपटा। सुग्रीव उसे कौशल से कौशलकिशोर के समीप ले गया। अब दोनों में घनघोर युद्ध होने लगा। घूँसों का शब्द थप्पड़ों की तड़तड़ाहट मुक्कों के घोर रव से आकाश मंडल भर गया। दोनों वीर आकृति-प्रकृति-लंबाई-चौड़ाई में समान थे। दोनों ही बली वीर थे, किन्तु बाल के बल की थाह नहीं थी। सुग्रीव कुछ काल तो उत्साह के साथ युद्ध करता रहा। अन्त में उसके पैर उखड़ गये, वह रक्त से लथ पथ हो गया। उनके विचित्र युद्ध को श्रीराघव मन्त्र मुग्ध की भाँति देखते। युद्ध देखने में उन्हें इतना अधिक आनन्द आया, कि वे वालि सुग्रीव का भेद ही भूल गये। दोनों भाई परस्पर में लड़ते हुए ऐसे लगते थे मानों दो साँड़ लड़ रहे हों। अथवा दो मदोन्मत्त हस्ती युद्ध कर रहे थे। अब राम यह निर्णय न कर सके, कि इनमें कौन सा सुग्रीव है कौनसा वालि है। दोनों के मुख एक से थे। दोनों की उठन बैठन आकृति, लम्बाई, चौड़ाई, वस्त्र, आभूषण तथा युद्ध कला समान थी। श्रीराम ने बाण नहीं छोड़ा। वे सोचने लगे कहीं वालिके भ्रममें मेरा बाण सुग्रीव के लग गया, तब तो महान् अनर्थ हो जायगा, मेरा सर्वस्व लुट जायगा।" यही सोचकर वे चुपचाप युद्ध को देखते ही रहे। वालिने एक कसकर घूँसा सुग्रीव की नाक पर मारा। उसके लगते ही सुग्रीवकी नाक से मुखसे रक्त की धारा निकलने लगी। वह युद्ध को छोड़कर रक्त उगलता हुआ ऋष्यमूक पर्वत की ओर भागा। उसे श्रीराम पर बड़ा क्रोध आ रहा था। वालि ने कुछ दूर तो उसका पीछा किया, फिर शापके भय से यह कहता हुआ कि—"जा आज तो मैं तुझे छोड़ देता हूँ, फिर कभी ऐसा दुस्साहस न करना" वह अपनी नगरी को लौट गया।

बालि के लौट जाने पर और सुग्रीव के ऋष्यमूक की ओर भागने पर श्रीराम भी हनुमान् और लक्ष्मण को साथ लिये हुए सुग्रीव के समीप आये। श्रीराम को देखते ही खिसियाकर सुग्रीव ने कहा—"रहने भी दो महाराज! आपने तो मुझे अच्छा उल्लू बनाया। उत्साहित करके मुझे मेरे बन्धुरूप शत्रु के समीप भेज दिया और पीछे आप हँसते रहे। मारा तक नहीं। देखिये, उसने मेरी कैसी दुर्दशा की है। आपने अच्छी मेरी कुटाई कराई।"

मुख से रक्त उगलते हुए रोते हुए सुग्रीव को देखकर भगवान् को हँसी आ गयी। अपनी हँसी को छिपाकर बोले—"वानरेश! तुम मेरी निन्दा क्यों कर रहे हो। मैंने बाण क्यों नहीं छोड़ा पहिले इसका कारण जान लो तब मुझे दोष देना।"

सुग्रीव ने कहा—"हाँ, बताइये आपने क्यों नहीं बाण छोड़ा?"

श्रीराम बोले—"देखो, तुम दोनों भाई आकृति, प्रकृति में सर्वथा समान थे। मैं अनुमान भी नहीं कर सकता था, तुम दोनों भाइयों में ऐसा साम्य होगा। युद्ध देखते-देखते मैं इस बात को भूल ही गया, कि तुम दोनोंमें कौन बालि है कौन सुग्रीव है। मैं बड़े चक्कर में पड़ गया। मेरा बाण तो अमोघ है, कभी व्यर्थ जाता नहीं। यदि बालि के भ्रम से तुम्हारे शरीर में बाण लग जाता, तब तो सब अनर्थ ही हो जाता। तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रह सकता था। मैं मर जाता तो लक्ष्मण भी प्राण त्याग देता, सीता भी शरीर त्याग देतीं। भरत भी मेरा मरण सुनकर जीवित न रहता। भैया, मैंने जान बूझकर तुम्हारे साथ विश्वासघात नहीं किया। रूप सादृश्य के ही कारण

मुझे भ्रम हो गया, तुम कोई दूसरी शंका मेरे सम्बन्ध में न करना।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सुग्रीव ने कहा—"रघुनन्दन! मैं आप पर कोई शंका नहीं करता। संदेह होने पर आपने बाण न छोड़कर उचित ही किया। यथार्थ में हम दोनों भाई एकसे ही हैं। साधारण परिचय होने वाले को तो भ्रम होना स्वाभाविक ही है। कभी कभी विशेष परिचय वालों को सदा समीप रहने वालों को भी हमारे रूप सादृश्य से भ्रम हो जाता है। तारा जब नई ही नई विवाह होकर आई थी, तब बालि के भ्रम से कई बार मेरे समीप आयी। मैंने उसे बालिका स्थान बता दिया था। अब ऐसे कीजिये कि आप हम दोनों भाइयों को पहिचान सकें इसके लिये शरीर में कोई चिन्ह बना दें।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्रीराघव लक्ष्मणजी से बोले—"लक्ष्मण! श्वेत पुष्पों से फूली हुई इस नागवल्ली लता की माला बनाकर वानर राज सुग्रीव को पहिना दो, जिससे मैं इन्हें पहिचान सकूँ।"

भगवान् की आज्ञा पाकर लक्ष्मण ने अत्यन्त फूली हुई गज-पुष्पी लता को उखाड़कर उसकी सुन्दर माला बनाकर सुग्रीव के कंठ में पहिना दी, मानों उन्हें अभी से विजय माल पहिना दी हो। उस सुन्दर फूली हुई लतासे सुग्रीवकी शोभा अत्यन्त ही बढ़ गयी। अब श्रीराम और लक्ष्मण को आगे कर सुग्रीव किष्किन्धा की ओर चले। भगवान् वन, उपवन, नदी, नद और सघन वृक्षों की शोभा निहारते हुए आगे-आगे चल रहे थे; उनके पीछे लक्ष्मण सुग्रीव और उनके सचिव हनुमान्, नल, नील और तार चल रहे थे। चलते-चलते वे सब बालि की राजधानी

किष्किन्धा के निकट पहुँचे। वह नगरी परम रमणीक थी। युद्धोपयोगी सभी सामग्रियाँ उसमें विद्यमान थीं। उपवनों के बाहुल्य से वह नगरी परम रमणीक शोभा युक्त और सुन्दर दिखायी देती थी। सुग्रीव ने कहा—"राघव! यही मेरे भाई वालि की राजधानी है।"

श्रीरामचन्द्रजी ने अत्यन्त ही स्नेह से कहा—"अच्छा भैया! तुम जाओ। अबके फिर तुम वालि को युद्ध के लिये ललकारो, अबके मैं उसे अवश्य मार दूँगा।"

सुग्रीवने कहा—"हाँ, महाराज! मैं जाता तो हूँ, किन्तु पहिले की भाँति भूल न जायँ।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अरे, भैया! अब भूलने की कौन सी बात है। अब तो लक्ष्मण नें तुम्हें शुभ चिह्नों से चिह्नित कर दिया है, अब तो उन्होंने तुम्हारे गले में विजयमाला पहिना दी है। अब तुम किसी प्रकार की शंका मत करो। अबके तुम्हारा भाई बच नहीं सकता। उसे इस लोक में कोई रख नहीं सकता। अबके मैं उसे अवश्य ही इस लोकसे सदा के लिये विदा कर दूँगा।"

श्रीराम का ऐसा आश्वासन पाकर सुग्रीव किष्किन्धा की ओर चले। उनका वर्ण सुवर्ण के समान था, गले में श्वेत पुष्पों की माला से वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानों सायंकालीन आकाश में बगुलों की पंक्ति उड़ रही हो उन्होंने जाते ही आकाश को गुंजाते हुए भयानक गर्जना की। ताल ठोककर उन्होंने बार बार वालि को युद्ध के लिये ललकारा। उस समय वालि अन्तःपुर में अपनी स्त्री तारा के साथ आनन्द विहार कर रहा था। अपने भाई की ऐसी ललकार को सुनकर उसे अत्यन्त क्रोध आया। वह शत्रु की दहाड़ ललकार तथा गर्जना को सहन न कर सका; उसने अपने

समीप में बैठी हुई तारा से कहा—"प्रिये ! मैं सुग्रीवसे युद्ध करने जाता हूँ ।"

अत्यन्त स्नेह से अपने पति से लिपटकर तारा बोली—"प्राणनाथ ! आप इस समय युद्ध करने न जायँ ।"

बालि ने कहा—"प्रिये ! यह बात वीर की वीरता के अनुरूप नहीं । वीर को शत्रु जब भी युद्ध के लिये ललकारे, तभी उसके समीप सब काम छोड़कर जाना चाहिये और शत्रु की इच्छा पूर्ति करनी चाहिये ।"

तारा ने कहा—"प्राण वल्लभ ! इस समय आपका जाना वहाँ उचित नहीं ।"

बालि ने पूछा—"क्यों उचित नहीं ?"

तारा ने कहा—"देखिये, अङ्गद कल वन में गया था । उसने मुझे बताया कि चाचा सुग्रीव के समीप अवध के दो राजकुमार आये हुए हैं । वे परम तेजस्वी, तपस्वी, यशस्वी, शूरवीर, बली तथा दर्शनीय हैं । उनकी सुग्रीव से मैत्री हो गयी है ।"

बालि ने कहा—"मैत्री हो गयी है, तो इससे क्या हुआ । संसार में किसी से मैत्री हो जाती है, किसी से शत्रुता ।"

तारा ने कहा—"सुग्रीव उन्हीं के बल पर उछल कूद कर रहा है नहीं तो उसमें इतना साहस कहाँ, वह तो अभी-अभी आपसे पराजित होकर भागा है । मैंने ऐसा सुना है, राम रण में अजेय हैं । उन्हें कोई भी जीत नहीं सकता ।"

बालिने कहा—"मैंने रामचन्द्र का कुछ बिगाड़ा तो है नहीं वे मुझसे शत्रुता क्यों करेंगे ? राम धर्मात्मा हैं, वे हम दो भाइयों के बीच में क्यों पड़ेंगे ? वे सुग्रीवका पक्ष लेकर मुझसे क्यों लड़ेंगे ?

तुम रामचन्द्र की ओर से निश्चिन्त हो जाओ, तुम्हीं सोचो; मैं वीर होकर शत्रु की ललकार कैसे सह सकता हूँ।"

तारा ने कहा—"प्राणनाथ! सुग्रीव ने आपका क्या बिगाड़ा है, वे तो आपसे कितना प्रेम करते थे। वे धर्मात्मा हैं, आपके सगे भाई हैं। पिताजी ने उन्हें युवराज बनाया था, आप उन्हें स्नेह से बुलाकर पुनः युवराज बनावें। कैसा भी हो, भाई-भाई ही हैं। आप सुग्रीव पर कृपा करें, उन्हें अपना शत्रु न समझें।"

वालि ने कहा—"प्रिये! शत्रु तो शत्रु है। फिर वह चाहे सगा भाई ही क्यों न हो। सुग्रीव सिंह के समान दहाड़ रहा है, मुझे युद्ध के लिये ललकार रहा है। इस समय उससे युद्ध में करना मेरी वीरता के लिये कलंक की बात होगी। तुम विश्वास रखो, मैं सुग्रीव के प्राण न लूँगा, उसे पराजित करके भगा दूँगा। तुम चिन्ता मत करो, उस डरपोक को पराजित करके मैं अभी लौटकर आता हूँ।"

तारा ने अपने पति को कसकर पकड़ लिया, वह उससे उसी प्रकार लिपट गई, जिस प्रकार वृक्ष से लता लिपट जाती है, उसने रोते रोते कहा—"प्राणनाथ! मेरा हृदय धक् धक् कर रहा है। इस समय आपका जाना भय से रहित नहीं। मुझे अशुभ चिन्ह दिखायी दे रहे हैं। हृदय फटा सा जा रहा है। आप इस समय युद्ध करने न जायँ।"

वालिने अत्यंत प्यारसे कहा—"स्त्रियोंका हृदय ऐसा ही होता है। प्रेम में पग पग पर अनिष्ट की शंका दिखाई देने लगती है। तुम प्रेमवश मुझसे ऐसा कह रही हो। स्नेह के कारण तुम्हारा हृदय खिंच रहा है। तुम चिंता मत करो। मैं तुम्हें

अपनी शपथ दिलाता हूँ, तुम लौट जाओ और मेरे आने की प्रतीक्षा करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब बालि ने बार बार ... दिलाकर तारा को लौटने को कहा, तो वह रोते २ खड़ी हो गयी युद्ध के लिये उद्यत अपने पति का उसने स्वस्त्ययन किया ... शंकित चित्त से वह खड़ी की खड़ी ही रह गयी। बालि ... हुआ तथा सुग्रीव को बुरी भली बातें कहता हुआ, उससे युद्ध करने नगर से बाहर अकेला ही निकल पड़ा।"

सुग्रीव ने जब बालि को अपनी ओर आते देखा तो वह दौड़कर वहाँ गया जहाँ श्रीराम थे। अब वे दोनों परस्पर में भिड़ गये। वह उसे मारता वह उसके ऊपर प्रहार करता। एक दूसरे को गिराने और मारने का प्रयत्न करने लगे। मुक्का बाँधकर, थप्पड़, और घूँसों से वे लड़ने लगे। उस समय पृथ्वी डगमगा रही थी। आकाश से दिन में उल्कापात होने लगे। दोनों एक दूसरे के रक्त के प्यासे बने हुये थे। वे आपस में प्राणों का मोह परित्याग करके लड़ रहे थे। श्रीरामजी ने देखा, सुग्रीव ढीला पड़ गया है, उसके अङ्ग शिथिल हो गये हैं, उसका बल घट गया है, तब श्रीराम ने अपना सुन्दर सुवर्ण मंडित अमोघ बाण छोड़ा। कभी व्यर्थ न होने वाले उस रामबाण ने बालि के हृदय को वेध दिया। बाण के लगते ही वह कटे वृक्ष के समान धरती पर गिर पड़ा। मरते समय वह श्रीराम से बहुत कटु शब्द कहने लगा। क्रोध में भरकर श्रीराम की निन्दा करते हुये उसने कहा—"श्रीराम तुम्हारा संसार में बड़ा यश है। तुम तो सज्जनों में पुण्य श्लोक कहलाते हो। तुम तो सर्वत्र परम धार्मिक यशस्वी करके प्रसिद्ध हो, फिर तुमने यह धर्म विरुद्ध यश को नाश करने वाला कार्य क्यों किया?"।

श्रीराम ने सरलता के साथ पूछा—"मैंने कौन सा अधर्म का

य किया है ?"

वालि ने कहा—"इससे बड़ा अधर्म और क्या हो हैं। मैंने तुम्हारा तो कुछ बिगाड़ा नहीं था। अकारण तुमने मार डाला। मैंने तुमसे युद्ध नहीं कर रहा था। तुमने छि युद्ध धर्म के विरुद्ध मेरे ऊपर बाण छोड़ दिया। धर्म को वाले मत्त, प्रमत्त असावधान शस्त्रहीन, युद्ध में भगने शरण में आये हुए शत्रु को भी नहीं मारते। मैं अपने भाई युद्ध कर रहा था, असावधान था। आपने मेरे ऊपर अकारण अस्त्र क्यों छोड़ दिया! मेरी पत्नी तारा ने मुझे मना किया था, सुग्रीव के सहायक श्रीराम हैं, आप उनसे युद्ध करने न जायँ. किन्तु मुझे तुम्हारी धार्मिकता पर विश्वास था। मैं सोचता था, तुम मुझे क्यों मारोगे। मैंने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया, किन्तु तुमने तो अधर्माचरण किया। मुझे मारने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं था।"

श्रीराम ने कहा—"देखो, भाई! हम क्षत्रिय हैं। यह समस्त वन, उपवन सहित सप्तद्वीपा वसुमती इक्ष्वाकुवंशियों की है भरत इसके सम्राट् हैं, हम उनकी ही आज्ञा से दुष्टों को दंड देते हैं, शिष्टों का पालन करते हैं। तुम भी भरत की प्रजा हो, अतः मुझे तुम्हें दंड देने का अधिकार है।"

वालि ने कहा—तुमने मेरी कौन सी दुष्टता देखी?"

श्रीराम बोले—"देखो, छोटे भाई की स्त्री पुत्री के समान होती हैं, उससे जो काम सम्बन्ध रखता है वह पापी है। तुमने अपने छोटे भाई सुग्रीव की स्त्री रुमा को अपनी स्त्री बना लिया है। उसके साथ काम सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, इसलिये तुम पापी हो, कामी हो, तुम्हारा वध धर्म संगत ही है।"

यह सुनकर वालि बोला—"राघव! स्वार्थी लोग अपनी बात को सिद्ध करने के लिये भाँति भाँति के व्यर्थ तर्क देते हैं। मैं

मनुष्य तो हूँ, नहीं, वानर हूँ वानरों में छोटे बड़े भाई की स्त्री का भेद होता ही नहीं। जब मैं दुन्दुभि के पीछे गया था, तो सुग्रीव ने मेरी स्त्री को रख लिया था। यह तो हमारे यहाँ का वानर जाति का सदाचार है, इसमें आप हस्तक्षेप करने वाले कौन होते हैं।"

श्रीराम ने कहा—"वास्तव में तुम पशु तो हो नहीं, साधारण शाखा मृग नहीं हो। तुम्हारी सभ्यता मनुष्यों की जैसी है। तुम्हारे घर हैं राजधानी है पंडित हैं पुरोहित हैं, अस्त्र शस्त्र है। अच्छा मान लो तुम वानर ही सही जंगली पशु ही सही, तो क्षत्रियों का मृगया करना जन्म सिद्ध अधिकार है। आखेट में यह नहीं देखा जाता, कि यह पशु बैठा है या चर रहा है या दौड़ रहा है अथवा खा पी रहा है। जैसे भी होता है मृगया करने वाले अपने वध्य पशु को मारते हैं। यह भी नियम नहीं पशु को सामने ही पड़ कर मारा जाय। कुत्तों से मरवाते हैं, पेड़ पर चढ़कर उन पर प्रहार करते हैं मृगया के पशु को जैसे भी हो तैसे मारा जाता है।"

बालि ने कहा—"मैं पाँच नख वाला पशु हूँ। शास्त्रकारों ने पाँच नख वाले ५ पशुओं को छोड़कर सभी अवध्य बताये हैं। मृगया करने वाले वानरों को कभी नहीं मारते। मृगों की तरह वानरों की छाल न पहिनी जाती है, न ओढ़ी जाती है। वानरों के बाल निन्दित समझे जाते हैं। उनका मांस भी कुत्ते की तरह अभक्ष्य होता है। फिर आपने मृगया धर्म के विरुद्ध भी मुझे क्यों मारा?"

भगवान् ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"तुम बार बार मुझे दोष क्यों दे रहे हो? अपने को निरपराध क्यों बता रहे हो? मान लो तुम अभक्ष्य ही सही, किन्तु प्राणियों

पीड़ा पहुँचाने वाले पापी पशु तो हो ही अपकारी पुरुष या पशु कैसा भी क्यों न हो, राजा को उसका वध बिना विचारे करना चाहिये। सुग्रीव से मेरी मित्रता हुई है। हमारी उसकी यह प्रतिज्ञा हो चुकी है, कि वह सीता का पता लगावेगा, मैं वालि का वध करूँगा। इसलिये मैंने प्रतिज्ञा का पालन किया है, तुम्हें मारकर अपना प्रण पूरा किया है।"

वालि ने कहा—"तुम बल पराक्रम हीन क्षत्रिय हो। यदि तुम में कुछ बल होता, तो तुम मेरे सामने आकर युद्ध करते। तब तुम्हें दाल आटे का भाव मालूम पड़ता। तब मैं तुम्हें युद्ध में सन्तुष्ट करता। तुमने तो डरपोक की भाँति अधर्म पूर्वक छिप कर मेरे ऊपर प्रहार किया। रही सीता अन्वेषण की बात, सो इस छोटी सी बात के लिये तुमने ऐसा घोर पाप क्यों किया। अरे, जैसे तुम इस निर्बल भयभीत आश्रय हीन सुग्रीव की शरण में आये वैसे मेरी भी शरण में आते तो मैं तुम्हारी बहू को ला ही देता साथ ही उस दुष्ट रावण को जो चोर की भाँति तुम्हारी स्त्री को हर ले गया है, उसे बाँध कर तुम्हारे सम्मुख खड़ा कर देता। तुम्हें आत्म विश्वास नहीं। तुम निर्बल हो।"

इस पर श्रीराम ने कहा—"देखो भैया! बलवान् निर्बल की बात नहीं। सीधी और सच्ची बात यह है, कि मुझे मित्रता का निर्वाह करना था। मुझे अपने मित्र के दुख को दूर करना था। अपने सुहृद् सुग्रीव को सुखी और निर्भय बनाना था। सुग्रीव को सबसे अधिक दुख तुमसे था, तुम उसके सहोदर बन्धु होते हुए भी शत्रु थे। तुम्हारे मरने पर ही मेरे मित्र का सुखी होना सम्भव था। अब चाहे धर्म हो या अधर्म, मुझे अपनी मैत्री का निर्वाह करना था। जिसका मैंने अग्नि को साक्षी देकर

हाथ पकड़ा है, उसे प्रसन्न और सुखी बनाना मेरा परम धर्म है। अब चाहें धर्म समझो या अधर्म सुग्रीव को मुझे राजगद्दी पर बिठाकर सुखी बनाना है। देखो, चन्द्रमा को प्रसन्न करने के लिये तीनों लोकों के प्रकाशदाता, तेज के राशि जगत् के पति, सभी शुभाशुभ कर्मों के साक्षी श्रीसूर्यनारायण जल की चोरी करते हैं। नद, नदी, कूप, तालाब तथा समस्त प्राणियों के शरीरों से पानी को चुरा लेते हैं इसीलिये उनका एक नाम वारितस्कर भी है। सो भैया ! मुझे दोष मत दो, धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है, वेदों से स्मृतियों से, बड़े बड़े ऋषियों के आचरण से और अपने शुद्ध अन्तःकरण से धर्म का निर्णय किया जाता है। मैं सब प्राणियों का सुहृद् हूँ। मेरे बाण से तुम्हारी भी सद्गति होगी। तुम्हारा भी कल्याण होगा। सुग्रीव को भी सुख होगा। मैं कभी अकल्याणप्रद कार्य नहीं करता। मेरे सभी अनुकूल से दीखने वाले या प्रतिकूल से प्रतीत होने वाले कार्यों में विश्व का कल्याण ही निहित है। तुम मरना चाहो, तो सुख पूर्वक मरो। जीना चाहते हो, तो अभी अपना बाण निकाल कर तुम्हें जीवित कर सकता हूँ।"

अब बालि की बुद्धि ठिकाने आयी। उसने भगवान का यथार्थ मर्म समझा। भगवान् को तो वही जान सकता है, जिसे वे जनाना चाहें। बालि के अन्तःकरण में भक्ति उत्पन्न हुई। उसने श्रद्धा सहित श्रीराम की मनोहर मूर्ति के दर्शन करते हुए कहा—"राघव ! आप ईश्वर हैं। मैं चंचल स्वभाव का वानर जाति में उत्पन्न हुआ अज्ञ पशु क्या जानूँ ? आप कभी अनुचित करते ही नहीं। प्रभो ! आप तो पतित-पावन हैं। मुझसे अधिक पतित और धर्महीन कौन होगा। हे रघुकुल तिलक मैं आप के उदार द्वार पर शरण पाने की अभिलाषा से आया हूँ। आप

मेरा। उद्धार करें मुझे अपनावें।" इतना कहते कहते वालि हाँपने लगा। वह अपलक होकर श्रीराम के रमणीय रूप रस का पान कर रहा था। वह श्रीराम के दर्शन करते करते अघाता ही नहीं था।

करुणा वरुणालय श्रीराम ने अपना वरद हस्त उसके मस्तक पर फेरा और बड़े ही स्नेह से बोले—"वानरराज! तुम्हारी अंतिम इच्छा क्या है? संसार छोड़ते समय तुम्हें किसकी चिन्ता व्यथित कर रही है? तुम्हारी जो भी इच्छा हो, उसे मुझसे कहो मैं उसे पूरी करूँगा।"

वालि ने बड़े कष्ट से कहा—"राघव! मेरे मरने के पश्चात सुग्रीव का राजा होना तो उचित ही है। मेरे पिता ने ही उसे युवराज बना दिया था। राजा होने पर वह जैसे सभी का पालन करेगा वैसे ही तारा का भी पालन करेगा। इसलिये मुझे तारा के लिये भी सोच नहीं। सबसे अधिक सोच मुझे अपने इस प्यारे पुत्र अंगद के लिये है। यह मेरा इकलौता पुत्र है। यह अत्यन्त ही लाड़ प्यार के साथ पाला पोसा गया है। इससे कभी दुःख सहा नहीं। आप इससे शत्रु पुत्र का-सा व्यवहार न करें। उसे अपना अनुचर बनावें। इसका हाथ मेरे सम्मुख पकड़ें।"

श्रीराम ने अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए वालि से कहा—"वानरराज! मुझे लोग सर्वभूत सुहृद कहते हैं। अंगद को मैं अपने पुत्र के समान रखूँगा। सुग्रीव के पश्चात् वानर और भालुओं का वही राजा होगा। तुम्हारे सम्मुख ही मैं इसे युवराज पद पर अभिषिक्त किये देता हूँ।" यह कहकर श्रीराम ने तुरन्त अंगद को युवराज घोषित कर दिया।"

अब तो वालि की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा, उसने श्रीराम के रूप को हृदय में रखा। मुख से राम राम उच्चारण करते

हुए उसने परमपद पाया। जो गति ज्ञानियों और योगियों को भी दुर्लभ थी, वह उस वानरराज ने राम के बाण से मरकर सहज में ही प्राप्त कर ली। मरने समय बालि ने अंगद का हाथ श्रीराम के हाथ में दिया। सुग्रीव को स्नेह पूर्वक छाती से लगाकर उसने अपने कृत्यों के लिये पश्चात्ताप किया। बालि की स्त्री तारा ने अपने पति के लिये अत्यन्त शोक प्रकट किया। श्रीराम ने उसे समझाया सुग्रीव ने बालि का यथोचित संस्कार किया। मंत्री और सचिवों ने मिलकर सुग्रीव का राज्यतिलक किया। उन्हें समस्त वानर और भालुओं का राजा बनाया। श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मण जी ने सुग्रीव का राज्याभिषेक किया। चिरकाल के पश्चात् अपनी प्यारी पत्नी रुमा और तारा को पाकर वानरराज सुग्रीव अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। आज बहुत वर्षों से वह वन वन भटकता फिरता था। कहीं रहने का स्थान नहीं, खाने पीने का ठिकाना नहीं ओढ़ने पहिनने को उचित वस्त्राभूषण नहीं, जैसे तैसे जीवन के दिन व्यतीत कर रहा था। श्रीराम के दर्शनों का प्रत्यक्ष फल यह हुआ, कि उसके दुख दूर हो गये। श्रीराम को मित्र मानते ही उसके सब संकट टल गये। राज्यलक्ष्मी ने उसके वरण कर लिया। विजयश्री ने उसके कंठ में जयमाल पहिना दी। सर्वसुन्दरी तारा और रुमा को पाकर सुग्रीव श्रीराम को भूल गया। काम के फँदे में फँसकर प्राणी राम को भुला ही देता है। जहाँ काम है, वहाँ राम रहते नहीं। अतः सुग्रीव तो किष्किन्धा में रहकर इन्द्रियों के विषयों में फँस गया। उसी समय चतुर्मास आ गया। प्रस्रवण पर्वत पर एक सुन्दर गुफा थी। उसी में रहकर श्रीराम सीताजी के विरह दुख में दुखी हुए समय की प्रतीक्षा करने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जो सबके सहायक हैं, सबके

स्वामी हैं, वे ही श्रीराम वानरों के राजा सुग्रीव से सहायता पाने के लिये कष्ट से दिन व्यतीत करने लगे। उन्हें आशा थी, सुग्रीव स्वयं ही सोचेगा, किन्तु काम के फँदे में फँसा राम की याद किसी के करने से करता है, अतः सुग्रीव के भूल जाने पर राम और राम के दूत हनुमान् नहीं भूले। श्रीराम ने भी सोचा चिरकाल में इसे सुख प्राप्त हुए हैं, उसका उपभोग करने दो, फिर तो जीवन भर हमारी सेवा इसे करनी ही है। यही सोचकर श्रीराम चार महीने कुछ भी नहीं बोले।

छप्पय

मालातैं पहिचान बालि उर शर हरि मारयो।
राम बानतैं मरत तुरत हरिलोक सिधारयो॥
सुत अङ्गदकूँ सौंपि परमपद पायो कपिपति।
राज पाइ सुग्रीव काम महँ फँसी तासु मति॥
चारि मास गिरि गुहामहँ, बसे राम कपि काम महँ।
फँस्यो किन्तु हनुमान मन, सदा बसै श्रीराम महँ॥

लङ्का—दहन

(६६८)

चद्ध्वोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः
सेतुं कपीन्द्रकरकम्पित भूरुहाङ्गैः ।
सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकै
र्लङ्कां विभीषणदृशाऽऽविशदग्रदग्धाम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० १६ श्लो०)

छप्पय

हनुमत् सिखतें सीय खोजिबे दूत पठाये ।
राम रजायसु पाइ लखन कपिपत धमकाये ॥
त्यागि काम सुग्रीव काम रघुपति के आये ।
इत उत भेजे और पवन सुत लंक पठाये ॥
अंगदादि कपि सँग चले, दई मुद्रिका सीयपति ।
सिन्धु लाँघि लंका गये, हनुमत हिय उत्साह अति ॥

जो काम राम नहीं कर सकते उसे उनकी कृपा से उनके

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उस शैल शिखरों से जिन पर वृक्ष उग रहे थे और जिन वृक्षों की शाखाएँ वानर वीरों के कर द्वारा कम्पित हो रही थीं उनसे श्रीरामचन्द्रजी ने समुद्र पर पुल बँधवाया । विभीषण ने जिस लंकापुरी का मार्ग दिखलाया है उसे जिसे हनुमान् जी ने पहिले ही जला दिया था, उसमें सुग्रीव नील तथा हनुमान् आदि वानरों के सहित भगवान् ने प्रवेश किया ।"

अनुचर दास कर लेते हैं। राम तो भक्तों के अधीन हैं। सेवक के सम्मुख लघु बन जाते हैं। सेवक के पद की प्रतिष्ठा बढ़ाने के निमित्त वे उनसे दुष्कर कार्य करा लेते हैं। इसीलिए राम से बढ़कर राम के दास को बताया है। भगवान् की जितनी अवतार लीलाएँ हैं वे सब भक्तों के उत्कर्ष को बढ़ाने के निमित्त ही हैं। नहीं तो उन सर्वान्तर्यामी प्रभु को किसी की सहायता की क्या आवश्यकता है। वे तो भक्तों को सुख देने के लिये ही विविध क्रीड़ाएँ किया करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इधर सुग्रीव तो किष्किन्धा पुरी में रहकर विविध प्रकार के संसारी भोगों को भोग रहे थे। उधर प्रभु माल्यवान पर्वत की गुहा में निवास कर वर्षा के अन्त की प्रतीक्षा करने लगे। वर्षा के वे चार मास श्रीराम ने अपनी प्रिया के विरह में बड़े कष्ट के साथ बिताये। वे जानकी के लिए अत्यन्त ही अधीर हो रहे थे। जिधर भी उनकी दृष्टि जाती उधर ही उन्हें सीता की स्मृति व्यथित बनाती। वे अपने दुःख को अपने लघुबन्धु लक्ष्मण से कहते और बात बात पर रुदन करते। इस प्रकार शनैः शनैः वर्षा के चार मास व्यतीत हो गये। श्रीरामचन्द्रजी को आशा थी, सुग्रीव शीघ्र ही सीता के अन्वेषण के लिये प्रयत्न करेगा, किन्तु भगवान् तो उससे दूसरी लीला करा रहे थे। सुग्रीव काम के वशीभूत होकर राम को ही नहीं भूल गये, अपने आपे को भी भूल गये थे, किन्तु सदा सचेष्ट रहने वाले हनुमान्जी भला कैसे भूल सकते थे। उन्होंने एक दिन सुग्रीव से कहा—"राजन् ! आपने जिनकी कृपा से यह राज्यवैभव प्राप्त किया है, उनको सर्वथा भूल ही गये। वालिवध के पूर्व जो आपने प्रतिज्ञा की थी, उसका स्मरण आपको नहीं रहा क्या ? देव ? अब वर्षा बीतना ही चाहती है। श्रीराम

अपनी प्रिया के वियोग में अत्यन्त ही दुखी हैं। आप उसके लिये अभी कोई उद्योग नहीं कर रहे हैं।"

सुग्रीव ने कहा—"हे हनुमान्! मुझसे कहने की क्या आवश्यकता है। देखो मुझे बहुत दिनों के पश्चात् मेरी प्यारी पत्नी प्राप्त हुई है। इस समय मुझे और कुछ सूझता ही नहीं। श्रीराम के कार्य के लिये तुम जो भी उचित समझो वह करो। मैंने तो तुम्हें सब अधिकार दे ही रखे हैं।"

सुग्रीव का इतना संकेत पाते ही हनुमान्जी ने दशों दिशाओं में रहने वाले वानर भालुओं को एकत्रित करने के लिये सहस्रों दूत भेजे। सबको चेतावनी दे दी गयी थी, कि जो सुग्रीव के शासन को मानकर न आवेंगे वे दन्डनीय समझे जायँगे। दूतों ने जा कर वानर भालुओं के अध्यक्षों से सुग्रीव का सम्वाद सुनाया। सुनते ही सबके सब रामकाज समझकर बड़े उत्साह से गरजते तरजते किष्किन्धा की ओर चले।

इधर वर्षा का अवसान हो गया था। शरद्ऋतु के निर्मल चन्द्रमा आकाश में अपनी शीतल सुखद किरणें छिटकाकर सभी के मन को प्रफुल्लित बना रहे थे। शरदकालीन कमल सरोवरों में खिल रहे थे हिल रहे थे। नदियों के जल का [illegible] दूर हो गया था। कीच नीचे बैठने से सलिल स्वच्छ हो गया था। शरद की शोभा देखकर सीता से [illegible] हो दुखित हुए। वे अत्यन्त ही करुणा भरी [illegible] अनुज लक्ष्मण से कहने लगे—"भाई [illegible]! [illegible] गई। शरद्ऋतु में जो व्यापारी चार महीने [illegible] अपने दलों के टांडों को लाद कर व्यापार के लिये निकल पड़े। जो साधु चार महीने चातुर्मास्य [illegible] के लिये एक स्थान में थे, वे भी अपने [illegible] के लिये

जिन राजाओं ने वर्षा के कारण चार महीने युद्ध स्थगित कर दिया था, अब उन्होंने भी अपने शत्रुओं पर चढ़ाई करने के लिये अपनी सेना की भी यात्रा आरम्भ कर दी। सभी अपने २ आवश्यक कार्यों में लगे हैं। एक मैं ही ऐसा हूँ जो कुछ भी उद्योग नहीं करता, मेरी प्रिया न जाने कहाँ कष्ट सहन कर रही होगी, मैं उसे ढूँढ़ने के लिये कुछ भी उद्योग नहीं कर रहा हूँ। सौमित्र! मुझे सुग्रीव से बड़ी बड़ी आशाएँ थीं। मुझे विश्वास था, वह समस्त वानरों की सहायता से सीता को खोजेगा। किन्तु उसने तो कुछ भी नहीं किया। जब से उसे राज्य प्राप्त हो गया है, तब से उसने हमारी सुधि भी नहीं ली। यह भी पूछने कभी नहीं आया, कि आपको कोई कष्ट तो नहीं है। भैया! चञ्चलचित्त वाले प्राणियों की मैत्री अस्थिर होती है। वे किये हुए उपकार को भूल जाते हैं। देखो, सीता के बिना मैं कितना दुखी हूँ, कितना दीन हो गया हूँ। खोजते २ मैंने सुग्रीव की सहायता चाही, प्रथम उसका कार्य कर दिया, किन्तु उसने मेरे ऊपर कृपा नहीं की। कृतज्ञता नहीं की। अतः मुझे उस पर क्रोध आ रहा है। अब मैं उसे उसकी अशिष्टता का फल चखाऊँगा। जिस बाण से बालि का वध किया, उसी से उसे यमसदन पठाऊँगा।"

अपने भाई श्रीराम को दुखित और कुपित देखकर भ्रातृभक्त लक्ष्मण बोले—"राघव! मक्खी को मारने के लिये भुसुंडी नहीं चलाई जाती। उस वानर सुग्रीव को मैं अभी किष्किन्धा में जा कर मारे आता हूँ। मैं आज ही वानरों के सिंहासन पर बालि के पुत्र अंगद का अभिषेक करूँगा, अंगद सीता की खोज लगन से करेगा। सुग्रीव कृतघ्न है, शठ है उसे मैं ही बालि का मार्ग दिखाऊँगा, बड़े को आपने मारा अब छोटे को उसकी कृतघ्नता का फल मैं चखाऊँगा।" इतना कहकर लक्ष्मण धनुष बाण लेकर

शीघ्रता के साथ किष्किन्धा की ओर लपके। अपने छोटे भाई को क्रुद्ध होकर जाते देखकर श्री रामचन्द्र जी ने उन्हें अपने समीप बुलाया और अत्यंत ही प्यार दुलार के साथ बोले—"लक्ष्मण! मैंने जो कुछ सुग्रीव के सम्बन्ध में कहा है वह दुःख में सीता के वियोग में कहा है। तुम वानर राज पर न तो प्रहार ही करना न उन्हें कटु वचन ही कहना। भैया, उन्हें हमने अग्नि को साक्षी देकर मित्र बनाया है। मित्र का कभी स्वप्न में मन से भी अपकार न करना चाहिये। तुम किष्किन्धा जाकर मधुर वाणी में सुग्रीव को समझाकर यहाँ बुला लाओ। अब वर्षा बीत गयी है। वैदेही के अन्वेषण के लिये उद्योग करना चाहिये। यही बात सुग्रीव से कहना।"

श्रीरामचन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य करके लक्ष्मण वायु वेग के सदृश किष्किन्धा में पहुँचे। वे नव वधू के समान सजी सजाई वासंती वाटिका के समान फली फूली, किष्किन्धा पुरी को देखकर विस्मित हुए। वहाँ चारों ओर रंग राग दिखाई देता था। सब ओर से वीणा पणव भेरी के मधुर मधुर शब्द सुनाई दे रहे थे, ताल, स्वर और लय के साथ शास्त्रीय संगीत उपवनों में और भवनों में हो रहा था। जाते ही लक्ष्मण को महल द्वार पर बालि पुत्र अंगद मिले। अंगद तो लक्ष्मण के ऐसे क्रुद्ध रूप को देखकर डर गये। वे हाथ जोड़े हुए लक्ष्मण के सम्मुख थर थर काँप रहे थे। उन्हें बालक समझ कर लक्ष्मण ने कहा—"बेटा, देखो जाओ अपने चाचा से कहना लक्ष्मण आये हैं और तुमसे मिलने को द्वार पर खड़े हैं। इस संवाद को सुनकर वह जो भी कुछ कहे उसे शीघ्र आकर मुझसे कहना भूल मत जाना भला! तुरन्त लौट आना अच्छा!" लक्ष्मण के ऐसे मधुर प्रेम युक्त वचन सुनकर अंगद का भय कुछ कम हुआ। उसने कहा—"मैं

अभी चाचीजी को समाचार देकर आता हूँ।" यह कहकर वह दौड़ा दौड़ा सुग्रीव के समीप गया। सुग्रीव सुरा के मद में विह्वल हो रहा था। अंगद ने क्रुद्ध हुए लक्ष्मण का आगमन सुनाया। सुनते ही उसका मद उतर गया। उसने शीघ्रता से कहा—"उन्हें यहाँ ले आओ।" लक्ष्मण के क्रोध की बात सुनकर अपराधी सुग्रीव अत्यन्त ही भयभीत हो रहा था। उसने मंत्रियों को बुला कर सम्मति की। हनुमानजी ने कहा—"तुमने बड़ा अपराध किया है। अब जैसे हो तैसे लक्ष्मण की अनुनय विनय करके, उन्हें प्रसन्न करो। ये सब बातें ही हो रही थी कि लक्ष्मण जी ने अपने धनुष की टंकार की। जिसे सुनकर अन्तःपुर के स्त्री पुरुष सभी भयभीत हुए। सुग्रीव के छक्के छूट गये। उसने समीप में ही बैठी अत्यन्त सुन्दरी सुमुखी तारा से कहा—"प्रिये लक्ष्मण के क्रोध का कारण जान नहीं पड़ता। वैसे मुझे राम लक्ष्मण से कोई भय तो नहीं है, किन्तु राम से मैंने अग्नि को साक्षी देकर मैत्री की है। मेरे द्वारा मित्र का कोई अपकार न होना चाहिये। क्रुद्ध आदमी न जाने क्या अनर्थ कर बैठे। अतः तुम आगे जाकर लक्ष्मण का स्वागत करो, विनय के साथ मधुर वचन कहो, सलज्ज हास के द्वारा उन्हें प्रसन्न करो। कैसा भी क्रुद्ध पुरुष क्यों न हो अत्यन्त सुन्दरी स्त्री को विनय और नम्रता के साथ सम्मुख देखकर उसका क्रोध कपूर के समान उड़ जाता है। जब वे तुम्हारे स्वागत सत्कार से प्रसन्न हो जायँ, तब तुम उन्हें मेरे समीप लाना।"

अपने पति की ऐसी बात सुनकर लजाती और इठलाती हुई तारा लक्ष्मण के समीप गयी। उसके कमर की कर्धनी हिल रही थी, पैरों के नूपुर रुनु झुनु रुनु झुनु करके बज रहे थे। उसने मंद मंद मुस्कराते हुए लक्ष्मण से कहा—"राजपुत्र! आप इतने

क्रुद्ध क्यों हैं ? मुझे अपने क्रोध का कारण बताओ। किसने आपका अपकार किया है। किसने आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया है।"

तारा को सम्मुख देखकर लजीले लक्ष्मण और भी अधिक लज्जित हुए। उनका क्रोध जाता रहा। तारा की बात का उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया तब तारा बोली—"राजकुमार ! वानर राज सुग्रीव तथा हम सब आपके आश्रित हैं, अनुचर हैं, यदि सेवकों से कुछ अपराध हो भी जाता है, तो स्वामी उसे क्षमा कर देते हैं।"

श्री लक्ष्मण ने कहा—"भामिनि ! मैं सुग्रीव से मिलना चाहता हूँ, तुम मुझे उसके पास ले चलो।"

लक्ष्मण को शान्त और क्रोध रहित समझकर तारा उन्हें सुग्रीव के समीप ले गयी।" लक्ष्मण जी ने सुग्रीव को पहिले तो बहुत डाँटा फटकारा। फिर मैत्री धर्म का मर्म बताया कृतघ्नता के दोष बताये।

इस पर सुग्रीव लज्जित हुआ। तारा ने लक्ष्मण को समझाते हुए हँसी हँसी में कहा—"कुमार ! अब मैं तुम्हें क्या समझाऊँ तुमने तो बाबाजियों का सा वेष बना लिया है। देखो, सुग्रीव को बहुत दिनों के पश्चात् राज्य सुख मिला है। एक साथ ही उन्हें अपनी प्यारी पत्नी के साथ मैं भी प्राप्त हुई हूँ। महाराज ! आप जैसे यतियों को छोड़कर संसार में ऐसा कौन होगा, कि सम्मुख सुन्दर चित्तार्षक सांसारिक विषय भोग उपस्थित हो और उन्हें पाकर भी निर्विकार बना रहे। उसके चित्त में चंचलता न आ जाय। हे उर्मिला हृदय धन ! सुग्रीव तो वानर है। कण्डु मुनि एक अप्सरा के साथ सहस्रों वर्षों तक रमण करते हुए यह भी न समझ सके कि कब दिन हुआ कब रात्रि। सहस्रों वर्षों के अनन्तर

वे जब सायं सन्ध्या के लिये निकले तो उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ। मानों यह अप्सरा आज प्रातः काल ही आई है और अब मैं सायंकाल की सन्ध्या करने जा रहा हूँ। सो, कुमार! तुम इनके अपराध को क्षमा करो। अब ये प्रमाद न करेंगे। सीता के अन्वेषण के लिये उद्योग करेंगे।"

तारा की बात सुनकर लक्ष्मण प्रसन्न हुए। उन्होंने सुग्रीव का अभिनन्दन किया। उन्हें प्रेमपूर्वक समझाया। उसी समय हनुमानजी द्वारा भेजे हुए दूतों से सम्वाद पाकर सहस्रों लक्षों वानर आ गये। उनके किलकिला शब्दों से सम्पूर्ण किष्किन्धापुरी गूँजने लगी। उन सबने सुग्रीव को नाना उपहार लाकर समर्पित किये। उन सबके उपहारों को स्वीकार करके लक्ष्मण के साथ पालकी में बैठकर सुग्रीव श्रीराम के समीप आये। उनके पीछे पीछे जय जयकार करते हुए असंख्यों वानर चल रहे थे। सुग्रीव अपराधी की भाँति हाथ जोड़कर श्रीराम के सम्मुख गये और दीन होकर श्रीराम के चरणों में गिर पड़े। करुणा वरुणालय प्रणत प्रतिपालक दीन वत्सल श्रीराम ने अपने सखा सुग्रीव को सादर उठाकर हृदय से लगाया। उनके शरीर की धूलि स्वयं झाड़ी और उनके संकोच को दूर करते हुए बोले—"वानरराज! कोई बात नहीं। अभी तो चातुर्मास बीता ही है। लक्ष्मणने तुमसे कोई कड़ी बात तो नहीं कह दी। जानकी के अन्वेषण के लिये तुमने क्या उद्योग किया?"

सुग्रीव ने गद्गद् वाणी में कहा—"प्रभो! आपकी माया विचित्र है। आप जिसे जैसा नाच नचाना चाहते हैं, वह वैसा नाच विवश होकर नाचता है। दशों दिशाओं से वे बड़े बलवान् वानर आ रहे हैं। कुछ आ गये हैं, कुछ मार्ग में आ रहे हैं और कुछ आने वाले हैं। वे सब मिलकर जानकी का पता

लगायेंगे। ये वन, उपवन, नगर, खेट, खर्वट, गौशाला, व्रज पहाड़ की कन्दराएँ खोजेंगे। पृथिवी में तिल भी स्थान ऐसा न रहेगा, जहाँ वानर न जायँगे। जानकी जहाँ भी होंगी वहीं से वानर उनका पता लगा लेंगे। पहिले पता लग जाय, तब उन्हें लड़कर लाने का उद्योग करेंगे।"

सुग्रीव की सम्मति सबको सुन्दर प्रतीत हुई। सभी दिशाओं में बलवान् विद्वान् कार्यपटु वानर भेजे गये। दक्षिण दिशा में चुनकर अत्यन्त बुद्धिमान् हनुमान्जी, जाम्बन्त, अङ्गद आदि वानरों को भेजा। श्रीराम को विश्वास था, हनुमान्जी ही सीता का पता लगाकर आवेंगे, इसलिये चलते समय उन्हीं को उन्होंने राम नाम अङ्कित अपनी मुद्रिका दी और शीघ्र ही सीता का समाचार लेकर लौटने के लिये कहा। अंगद के नेतृत्व में जिसके प्राण हनुमान थे यह दल दक्षिण के सभी वन उपवन में खोजता हुआ समुद्र तट पर पहुँचा। गृद्धराज जटायु का भाई संपाति मिला वानर सीता का पता न लगने से अनशन कर रहे थे उन्होंने प्राणों का परित्याग करने का संकल्प कर लिया था। संपाति उन्हें खाने के लिये आया। वानर बात कर रहे थे, कि एक जटायु भी गृद्ध था, जो श्रीराम के काम आया। राम की सेवा करते करते तनु त्याग कर दिया।"

जटायु की मृत्यु की बात सुनकर संपाति ने अपना परिचय दिया और वानरों से परिचय देने के लिये आग्रह करने लगा। जब उसने आद्यान्त श्रीरामचरित्र सुना, तब तो उसने सीताजी का सब पता बताया और यह भी कहा—"उसे मैं यहीं से लंका में बैठी हुई देख रहा हूँ। जो १०० योजन सागर को पारकर जाय वही लंका जाकर सीता का पता लगा सकता है।" इस पर सभी ने अपनी अपनी सामर्थ्य बतायी। हनुमान्जी को वृद्ध जामवंत ने

उनके बल का स्मरण दिलाया। तब वे सबसे मिल भेंटकर समुद्र को पार कर गये और रात्रि में घुसकर वे रावण के महलोंमें पहुँच गये।

सुमेरु के शिखर के समान जिस रावण के भवन का शिखर है, कैलाश के समान जो ऊँचा है। समुद्र के समान जो गंभीर है। मूर्तिमान् सौन्दर्य के समान जो सुन्दर है, गहन वन के समान जो अगम्य है, उस रावण के सुहावने भवनों में वानर श्रेष्ठ हनुमान् पहुँच गये। पहरे वालों की दृष्टि बचाकर वह रावण के अन्तःपुर में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने विशाल काय दशानन को सुवर्ण के पलंग पर पड़े देखा, जिसके पाये हाथी दाँत के थे और जिस पर सुन्दर गुदगुदे गद्दे अस्तर बिछे थे। जिस पर छोटे बड़े सुन्दर दुग्ध फेन के समान स्वच्छ खोल वाले उपबर्हण (तकिये) रखे हुए थे। जिसके आस पास सैकड़ों सुन्दरियाँ सो रहीं थीं। उनमें कोई गोरी थीं कोई काली, कोई लम्बी थी और ठिगनी, किन्हीं की नाक लम्बी था, किन्हीं की गोल, किन्हीं के बाल घुंघराले थे, किन्हीं के सीधे। कोई तपाये सुवर्ण के समान थीं कोई काले कमलके समान। उन सबकी यद्यपि आकृति प्रकृति भिन्न भिन्न थीं, किन्तु वे सबकी सब सुन्दरी थीं। उनमें कुरूपा कोई भी नहीं थी। वे सबकी सब सुरापान करके उसके मद में चूर हुई सो रही थी, कोई गाते गाते सो गई थी, कोई किसी के ऊपर पड़ी थीं, किसी के बाल खुल रहे थे, किसी के मुख से लार बह रही थी। कोई स्वप्न देख रही थीं, कोई कुछ बड़बड़ा रही थी। हनुमान् एक साथ इतनी सुन्दरी स्त्रियों को देखकर यह निर्णय न कर सके, कि इनमें सीता कौनसी है। वे जिसे ही देखते उसे ही सीता समझने लगते। फिर उन्होंने अपने मन से सोचा—"सीताजी श्रीराम से विलग होकर न तो सुरापान ही

र सकती हैं और न ऐसा सुख का नींद ही सो सकती हैं। अतः समें से कोई भी सीता नहीं हैं। फिर उन्हें संदेह हुआ, रावणके मीप ही जो अत्यन्त सुन्दरी स्त्री सो रही है जो देखने में बड़ी ंभीर और प्रभावशालिनी प्रतीत होती है, सम्भव है वही सीता ो। फिर उन्होंने सोचा—"सीता इस प्रकार रावण के समीप हीं सो सकतीं। वह राम से रहित होकर शृङ्गार भी नहीं कर सकती अंगराग भी नहीं लगा सकती। पान भी नहीं खा सकती और सुन्दर सुखद शैयापर सुखसे सो भी नहीं सकती। वे स्वेच्छा से रावण का स्पर्श भी नहीं कर सकतीं। संभव से जैसा मैंने सुना है यह रावण की पटरानी मन्दोदरी हो। हाँ, अब समझ यह वही मन्दोदरी है, इसका उदर भी कृश है और यह रावण में पतिभाव माने सो रही है। तब फिर सीता कहाँ गयी। होना तो उसे लंका में ही चाहिये। जटायु का भाई संपाति झूठ नहीं बोल सकता। उसने बतलाया था रावण मेरे सामने सीता को ले गया है और मैं उसे लंका में देख रहा हूँ। अच्छी बात है लंका तो बहुत बड़ी है इस सब लंका को खोज डालूँ।" इतना सोच-कर हनुमानजी अति सूक्ष्मरूप बनाकर लंका के घरों में गये मन्दिरों में गये, क्रीड़ा और उद्यानों में गये। उपवनों के सजाये भवनों में गये। जब उन्हें कहीं सीता न मिली तो वे लंका की तिलतिल भूमि को खोजने लगे। अश्वशाला, गजशाला रथशाला तथा गौशाला आदि में जानकी को खोजने लगे। फिर सोचने लगे। मैं पागल तो नहीं हो गया हूँ गजशाला में सीता क्यों रखी जायगी। रावण तो काम भाव से उन्हें हरकर लाया है। अवश्य ही उसके अन्तःपुर में ही सीता होनी चाहिये।" यह सोचकर वे फिर रावण के शयन गृह में गये। वहाँ मद की गंध से उनके सिर में चक्कर आने लगे। अर्ध-नग्न अस्त-व्यस्त सोती

हुई स्त्रियों को देखकर उन्हें घृणा भी हुई। फिर उन्होंने अपने आप ही कहा—"सीता यहाँ नहीं हो सकती। फिर वह गयी कहाँ, कहाँ खोजूँ, कैसे करूँ, न हो तो लौट ही चलूँ; किन्तु लौटने से लाभ क्या? सब की आशा टूट जायगी, श्रीराम सुनते ही प्राण छोड़ देंगे। कितनी आशा से उन्होंने मुझे मुद्रिका दी थी। उनकी आशा निराशा में परिणित हो जायगी। वे प्राण हीन होकर पृथिवी पर गिर पड़ेंगे; उनके बिना लक्ष्मण भी जीवित न रहेंगे। अवधि पर श्रीराम के लौटने पर भरत भी मर जायँगे, फिर शत्रुघ्न कैसे जीवित रह सकते हैं। माताएँ भी मर जायँगी। वह सब अनर्थ मेरे लौटने से हो सकते हैं। अतः मुझे बिना सीता का पता लगाये लौटना न चाहिये। अच्छा न लौटूँगा, तो करूँगा क्या? सीता का पता न लगा तो मैं उपवास से शरीर को कृश करके मर जाऊँगा। उपवास में देर लगेगी तो न होगा तो समुद्र में ही डूब जाऊँगा। संभव है समुद्र में न डूब सकूँ, तो सूखे-सूखे काष्ठों को एकत्रित करके चिता बनाऊँगा। उसमें अग्नि लगाऊँगा, उसी में जलकर मर जाऊँगा। फिर सोचा—"मरने से क्या लाभ? आदमी यदि जीता रहे तो कभी न कभी उसके दिन फिर जाते हैं उसे सुख मिलता है। न हो तो मैं बाबा जी बन जाऊँगा। शिलोञ्छ-वृत्ति करके निर्वाह किया करूँगा। अजी, क्यों शिलोञ्छ-वृत्ति के झगड़े में पड़ूँ, मैं तो वानर हूँ, जहाँ बहुत से फलों के वृक्ष होंगे, जल का भी सुपास होगा, वहाँ रहकर एक समय फलाहार करके "राम राम" रटा करूँगा। यदि किसी ने देख लिया तो राक्षस का रूप रख लिया करूँगा। फिर सोचा—"अजी, राक्षस क्यों बनना; पेड़ों पर सर्वत्र वानर रहते ही हैं। विशुद्ध वानर बनकर कालयापन करूँगा। फिर सोचा—"श्रीराम चन्द्रजी किसी प्रकार आ जायँ और मुझे मिथ्या बाबाजी बने

देखकर क्रुद्ध हों और कहें कि तू यहाँ आकर क्यों बैठ गया ? मेरी मुद्रिका भी पचाली, तब मैं क्या कहूँगा। वे मेरे स्वामी सुग्रीव को मार देंगे, सब वानरों को एक बाण में भस्म कर देंगे। अच्छा, तो एक काम करूँ इस रावण को ही पकड़ कर ले चलूँ। राम को दे दूँगा कि इसी ने आपकी पत्नी को चुराया है। परन्तु सीता के बिना रावण को लेकर श्रीराम क्या करेंगे। उन्हें तो सीता चाहिये, किन्तु सीता, जीवित न हो तो संभव है आकाश में लाते समय रावण के हाथ से छूट पड़ी हो, या इतने भारी समुद्र को देखकर उसका हृदय फट गया हो।" फिर सोचा—"सीता मर नहीं सकती। वह तो श्रीराम की अर्धाङ्गिनी हैं। अच्छा, चलो फिर से खोजूँ। अब रात्रि का अवसान भी होना चाहता है लोग जागने लगेंगे। फिर खोजना कठिन हो जायगा। नगर में तो जनक कुमारी है नहीं, यह तो निश्चय है। अब चलूँ नगर के बाहर वन उपवन और वाटिकाओं में उन्हें फिर से खोजूँ।" यह सोचकर हनुमानजी उछले और नगर के पर कोटे को फाँद-कर बाहर की ओर गये। बाहर किनारे किनारे बड़ी बड़ी मनोरम वाटिकाएँ थीं। उनमें एक अत्यन्त ही सुन्दर और विस्तृत वाटिका थी जिसमें अशोक के वृक्षों का बाहुल्य था। हनुमान्जी ने सोचा—"अरे, मैंने यह वाटिका तो अभी देखी ही नहीं। संभव है सीता इसी में हो। यह देखने में बड़ी ही मनोरम है। यहाँ के सब वृक्ष अत्यन्त ही सघन सुन्दर और सजे सजाये हैं। इसमें सर्वत्र सुखद सुगंध फैल रही है। चलूँ, इसमें विदेह तनया का अन्वेषण करूँ, निश्चय ही रामप्रिया जानकी इसी में होगी।" यह सोचकर हनुमान् जी उस वाटिका में गये। उस वाटिका की शोभा देखकर वे ऐसे मुग्ध हुए कि पूँछ फटफटाने लगे, वृक्षों को हिलाने लगे, फल और पुष्पों को गिराने लगे, अपनी वानरी

चंचलता प्रकट करने लगे। फिर उन्होंने सोचा—"मैं भी कैसा पागल हूँ, सीतान्वेषण जो मेरा मुख्य कार्य है, उसे भूलकर मैं यह क्या कर रहा हूँ, अभी मुझे सती सीता के दर्शन कहाँ हुए हैं, जो मैं इतना प्रसन्न हो रहा हूँ। मुझे सीताजी का भली भाँति अन्वेषण करना चाहिए। यह वाटिका सुन्दर है, राज सीय है, यहाँ जल प्रपात हैं, कृत्रिम सरिता है, यहाँ के सरोवरों में विविधि भाँति के कमल खिल रहे हैं। वृक्ष परस्पर में हिल हिलकर मिल जुल रहे हैं। यहाँ पालतू मृग भी हैं, सुमधुर बोलने वाले पालतू पक्षी भी हैं। सीता अरण्य प्रिया हैं, उसे सर सरिताओं के समीप सुख मिलता है, वह मृगी के समान वन में विहार करने से अत्यंत ही प्रमुदित होती है। यदि वह लंका में होगी तो अवश्य ही इस वाटिका में भ्रमण करने आती होगी, मैं इन वृक्षों की आड़ में छिपकर देखूँ; अब तो प्रातःकाल होने में कुछ ही देर है। कुक्कुट बोलने लगे। ब्राह्मणों के घर से वेद ध्वनि सुनायी पड़ने लगी, मंदिरों में शंख घंटे बजने लगे। मैं भी यहाँ वृक्ष पर बैठकर सीता की प्रतीक्षा करूँ। मुझे भी एकान्त में रहना ही है। इससे सुन्दर स्थान कहाँ मिलेगा।" यह सोचकर हनुमान् जी एक सुन्दर सघन वृक्षों वाले सिंसिपा वृक्ष के पत्तों में छिपकर बैठ गये।"

उसी समय उन्हें व्रत उपवास से कृश बनी मलिनवसना जानकी जी दिखायी दीं। उनका चन्द्रमा के समान मनोहर मुख म्लान था। वे एक ही बहुत जीर्ण शीर्ण पीला मलिन वस्त्र पहिने हुए थीं। इनके आभूषण मलिन हो गये थे। यद्यपि उनके पर मैल जम गया था, वस्त्र मैले कुचैले थे, आभूषण काले पड़ गये थे। बाल चिपटकर लट बन गये थे। फिर भी उनका सौंदर्य राख से ढकी अग्नि के समान दमक रहा था। हनुमान्जीने

आज तक मनुष्यों की, देवताओं तथा गन्धर्व आदि उपदेवताओं की किसी की स्त्री में ऐसा अनवद्य सौन्दर्य नहीं देखा था। उनके अनुपम रूप लावण्यको देखकर हनुमान्‌जी ने निश्चयकर लिया कि ये ही श्रीराम प्रिया सीता हैं। जिस प्रकार कुतियों से घिरी मृगी भयभीत और डरीसी दिखायी देती है उसी प्रकार वे राक्षसियों के भय से कुछ डर रही थीं। इनकी दृष्टि निरंतर नीचे की ओर थी। पृथ्वी को अपने नखों से कुरेद रही थीं, मानों अपने प्रवेश के लिए बिल बनाने का प्रयत्न कर रही हों। हनुमान्‌जी ने अपने मनमें कहा—"हों न हों सीता ये ही हैं। ये महाराज जनक की पुत्री हैं, राजकुमारी के सभी चिह्न इनके शरीर में विद्यमान् हैं। श्रीराम ने जिन जिन आभूषणों को बताया था। वे सभी इनके अंगों में यथा स्थान विद्यमान् हैं। जो आभूषण आते समय इन्होंने किष्किन्धा पर गिरा दिये थे। जिन्हें हमने उठाकर रखा था। उनमें से कोई भी आभूषण अपने स्थान में नहीं है जिस पीले रेशमी वस्त्र में बाँधकर वे आभूषण डाले गये थे वह वस्त्र और इनके पहिनने का वस्त्र एकही रंग रूप का है। यद्यपि यह मलिन हो गया है, फिर भी उसके रंग रूप में कोई अन्तर नहीं। यह राम वियोग में वियोगिनी बनी हुई हैं। ये अपने प्राणनाथ की विरह-व्यथा में व्याप्त विरहिनी हैं। इनके सीता होने में कोई संदेह नहीं। अवश्य ही राक्षसराज रावण ने मनोविनोदार्थ इन्हें यहाँ रख दिया होगा। ये राक्षसियाँ इनकी रक्षिका हैं। जनकतनया ये ही हैं। अहा! मैं कृतार्थ हो गया, मेरा लंका आना सफल हुआ। समुद्र का लंघन मेरा सार्थक हो गया। मैंने वैदेही का पता लगा लिया। रामपत्नी के दर्शन से मैं कृत कृत्य हो गया। श्रीराम संसार में सचमुच बड़े साहसी हैं। वे अपनी ऐसी प्यारी भक्ता अनुरक्ता सती साध्वी अद्वितीय

रूप लावण्य वाली पत्नी के बिना जीवित हैं यह उनकी महत्ता है। श्रीराम यथार्थ में बड़ा दुष्कर कार्य कर रहे हैं। जब वे अपनी प्रिया के लिये विलाप करते थे, तो हम सोचते थे, श्रीराम इतने अधीर क्यों होते हैं। अब जगज्जननी जानकी के दर्शनों से तो मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि राम कुछ भी शोक नहीं करते। वे इनके बिना जी रहे हैं यही उनकी महानता है। अब इन्हें मैं अपना परिचय कैसे दूँ ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जगन्माता मैथिली के मिल जाने से महावीर पवनतनय परम प्रमुदित हो रहे थे। उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो रहा था। वे एक शाखा से दूसरी शाखा पर बार-बार जाते बार-बार शरीर को हिलाते, पुष्पों को गिराते, पूँछ को फटफटाते और बार-बार सीता के पाद पद्मों में प्रणाम करते।"

उसी समय हनुमान्जी को बड़ा हो हल्ला सुनायी दिया। रक्षा करने वाली राक्षसियाँ उठकर खड़ी हो गयीं। उन्होंने अपने अपने वस्त्राभूषणों को सम्हाला। हाथ में वेत्र धारण किये। वे पंक्ति बद्ध खड़ी हो गयीं। सम्मुख सहस्रों जलती हुई मशालें दीखने लगीं। प्रतिहारी आगे-आगे मार्ग दिखाते जाते थे। हनुमान्जी ने देखा दशमुख रावण सुमेरु के दश शिखाओं के समान मुकुट पहिने चला आ रहा है। उसके पीछे हजारों, देवता, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, किन्नर तथा गुह्यकों की सुन्दरी स्त्रियाँ चली आ रही हैं, जिन्हें रावण बलपूर्वक हर लाया था। सूर्य के समान उसका तेज था। वह अपनी स्त्रियों के साथ प्रमत्त यूथपति हाथी के समान मदिरा के मद में मदान्ध हुआ चला आ रहा था। हनुमान्जी उसके ऐसे तेज प्रभाव प्रताप और ऐश्वर्य को देखकर सहम गये। वे शीघ्रता से और

ऊँची सघन डाली पर चढ़ गये। पत्तों वाली डालियों में अपने शरीरको छिपाये वे चुपचाप इस प्रतीक्षा में बैठे रहे, कि अब देखें क्या होता है।

रावण को देखते ही सीता डर गयीं। वे भयभीत मृगी के समान काँपने लगीं। उन्होंने अपने घुटनों से उदर तथा हृदय को छिपा लिया। वे बिना आसन के भूमि पर ही बैठी थीं। आते ही रावण ने कहा—"सीते! देखो, बहुत हो गया। तुमने राम के प्रति बहुत भक्ति दिखायी। इससे मैं प्रसन्न ही हूँ, किन्तु जहाँ वश न चले वहाँ मनुष्य को हठ छोड़ देना चाहिये। देखो, तुम समुद्र के इस पार आ गयी हो। पक्षी भी उस पार से उड़कर इस पार नहीं आ सकता। मनुष्य की तो बात ही क्या? राम का मिलना अब तो असम्भव है। राम सम्भव है अब तक जीवित भी न हों। जीवित भी होंगे तो न जाने कहाँ भटकते होंगे देखो, यौवन अस्थिर होता है। तुम इसे शोक में चिंता में दुख में मत बिताओ। जो हुआ सो हुआ उसे भुलाओ मुझे अपनाओ अच्छा यह तो बताओ तुम मुझमें दोष क्या देखती हो। मैं यशस्वी हूँ, तेजस्वी हूँ, शूरवीर हूँ, सुन्दर हूँ, गुणवान् हूँ, त्रैलोक्यविजयी हूँ। इन्द्रादि लोकपाल मेरे नाम से थर थर काँपते हैं। सहस्रों स्त्रियाँ मुझे चाहती हैं, मेरी कृपा दृष्टि के लिये लालायित बनी रहती हैं। कोई मेरे सम्मुख बोल नहीं सकता। मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। ऐसा मैं तुम्हारे सामने दीन बना प्रार्थना कर रहा हूँ। सुमुखि! तुम्हारे समान सुन्दर संसार में मैंने आज तक नहीं देखी। तुम्हें बना कर ब्रह्मा भी बनाना भूल गया। तभी तो उसने तुम्हारे सदृश कोई दूसरी सुन्दरी और नहीं बनायी। राम राज्यभ्रष्ट ऐश्वर्य हीन है। वह वन वन में भटकता रहता है। भूमि

सोता है वन के कसैले कन्द मूल फलों पर निर्वाह करता है। वह समस्त सुख की सामग्रियों से हीन है, उसका मिलना भी अब असंभव है। अतः अब तुम उसे भूल जाओ मुझे अपना पति बनाओ। ये जितनी स्त्रियाँ सभी तुम्हारी दासी बन जाँयगी। मैं भी तुम्हारे अधीन हो जाऊँगा। मेरा राज, पाट, धन वैभव सब तुम्हारा है। उठो, अब शोक को छोड़ो सुन्दर सुन्दर वस्त्र आभूषण धारण करो। शरीर पर उबटन कराओ, अंग राग कराओ, और मुझे अपनी कृपा का अधिकारी बनाओ।"

राक्षसराज रावण की बातें सुनकर सीताजी क्रोध से थरथर काँपने लगीं। वे अपने इस अपमान से अत्यन्त ही क्षुभित हुईं पर पुरुष से प्रत्यक्ष बात करने के दोष को बचाने के लिये बीच में तृण रखकर बोलीं—"रावण तेरा जन्म उत्तम पुलस्त मुनि के वंश में हुआ है। अपने को तू विश्रवा का पुत्र बताता है। त्रैलोक्य वन्दित लोकपाल कुबेर तेरे भाई हैं। फिर भी तुझे ऐसी धर्म विहीन बातें कहने में लज्जा नहीं लगती। क्या मैं धन ऐश्वर्य की भूखी हूँ, हृदय दो बार नहीं दिया जाता। जिस हृदय को मैं कौशलकिशोर को समर्पित कर चुकी हूँ। वह फिर लौटाया कैसे जा सकता है जो उनके चरणों पर लोट चुकी हूँ, वह स्वेच्छा से पर पुरुष के अङ्ग का स्पर्श कैसे कर सकती है। तू नीच है कामी विषय लम्पट है। मुझे मेरे पति के परोक्ष में चोर की तरह तू हर लाया है। अभी मेरे पति को ज्ञात न हुआ होगा, तू कहाँ है नहीं तो तू स्वर्ग में पाताल में कहीं भी क्यों न रहे वे तुझे ढूँढ़ डालेंगे और मेरा उद्धार करेंगे। उनके बाणों से तू बच नहीं सकता यदि तू अपना कल्याण चाहता है अपनी मृत्यु को शीघ्र ही बुलाना नहीं चाहता तो तू अभी मुझे श्रीराम के समीप पहुँचा दे।"

सीताजी के ऐसे वचन सुनकर रावण बोला—"वैदेही ! तू मेरा अपमान करती है। तुझे विदित नहीं कि मेरे अपमान करने वाले की क्या दुर्दशा होती है। मैंने न कोई अधर्म किया है न पाप। पर स्त्री का अपहरण करना हम राक्षसों का जाति धर्म है। ये सब मेरी स्त्रियाँ इसी प्रकार हरकर बलपूर्वक लायी हुई हैं मैं चाहूँ तो तुझसे बलात्कार कर सकता हूँ। किन्तु मैं करना नहीं चाहता। मैंने तुझे एक वर्ष की अवधि दी है। उसमें अब केवल दो मास ही शेष रहे हैं यदि इस बीच में तैंने हठ नहीं छोड़ी मुझे पति रूप में स्वीकार न किया तो मेरे रसोइये तेरी बोट-बोटी काटकर अग्नि में पका कर मिर्च मसाले डालकर मेरे लिये जलपान देंगे। अब सम्हल जा। उस वनवासी तापस राम को भूल जा। नहीं तो तेरा कल्याण नहीं।" ऐसा कहकर रावण राक्षसियों को आदेश देकर अपनी स्त्रियों से घिरकर चला गया। अब तो वे राक्षसियाँ सीताजी को डराने धमकाने लगीं। वे सब बड़ी ही क्रूर स्वभाव वाली थीं उनकी आकृति अत्यन्त ही भयावनी थी। उनमें से किसी का मुँह सूकर के समान था। कोई गौ के समान, कोई सिंह के समान भयंकर मुख वाली थीं, तो किसी की नासिका पनाल के समान थी तो किसी की नासिका थी ही नहीं। किसी के हाथों में लम्बे नख थे। तो कोई छोटी मिचमिची आँखों वाली थीं, किसी की एक आँख थी तो किसी के पेट में आँखें थीं। किसी के पतले पैर थे तो कोई मोटे पैर वाली थीं। कोई कृशोदरी थीं तो किसी का पेट कुप्पा के समान फूला था। किसी के एक कान था तो किसी के एक हाथ, कोई लंबी तड़ङ्गी थी तो कोई गुड़िया के समान ठिगनी थीं। किसी के दाँत हाथी के समान थे तो किसी के चुहिया के समान इस प्रकार वे वेष वाली राक्षसियाँ सीता को डराने धमकाने और खिजाने

लगीं। उनकी बातें सुनकर विशालाक्षी जानकी रोने लगीं। जानकी को रोते देखकर एक सरल स्वभाव की वृद्धा राक्षसी ने उन सबको डाँटा और उसके समीप से चले जाने को कहा। उसकी बात मानकर सब राक्षसियाँ इधर उधर चली गयीं। जानकी अकेली ही रह गयीं। हनुमान जी ने अपने परिचय देने का यही उपयुक्त समय समझा। अब वे सोचने लगे—"मैं जानकी के आगे कैसे जाऊँ। यदि मैं वानर रूप से इसके सम्मुख जाऊँगा तो यह तन्वङ्गी डर जायगी, मुझे भी राक्षस ही समझेगी उसे संदेह होगा, कि रावण ही मुझे छलने को ऐसा रूप रखकर आया है। जब तक इनके मन में उत्सुकता न होगी तब तक ये न मेरी ओर देखेगी न मेरी बात ही सुनेगी। अतः सर्व प्रथम मुझे इसके मन में उत्कंठा उत्पन्न करनी चाहिये।" यह सोचकर वे पेड़ की सबसे ऊँची शाखा से नीचे की शाखा पर उतर आये। अपने शरीर को पत्तों से ढाँककर वे बोले—"अवध पुरी के महाराज दशरथ के पुत्र श्रीराम पिता की आज्ञा से अपनी भार्या सीता और भाई लक्ष्मण के साथ बन में आये थे। वहाँ मायामृग बने मारीच के पीछे जब श्रीराम गये और पीछे से सीता जी के कहने पर लक्ष्मण जी भी गये तो अकेली देखकर राक्षसराज रावण सीता-जी को हर लाया। श्रीराम अपनी प्रिया के वियोग से अत्यन्त ही व्याकुल हुए। सुग्रीव से मैत्री करके बालि को मारकर उन्होंने दशों दिशाओं में अपनी प्राण प्रिया को खोजने के निमित्त बहुत से वानर भेजे हैं। उनमें से मैं एक हूँ। पवन का मैं पुत्र हूँ, हनुमान मेरा नाम है। १०० योजन वाले समुद्र को मैं लाँघकर आया हूँ। यह मेरा सौभाग्य है, कि मैंने जानकी का पता लगा लिया। उन्हें यहाँ अशोक वाटिका में पा लिया। मुझे यह सबसे श्रेष्ठ यश प्राप्त हुआ, कि श्रीराम की प्राण प्रिया सती साध्वी पत्नी का पता सर्व प्रथम मैंने लगा लिया।"

हनुमान्‌जी की ये अमृति से भी श्रेष्ठ श्रुत मधुर बातें सुनकर सीताजी ने अपनी दृष्टि उठायी। वे सिंसपा वृक्ष पर बैठे हनुमान्‌जी को देखकर परम विस्मित हुईं। वे निर्णय ही न कर सकीं, कि यह सत्य है या स्वप्न अथवा मेरे मन का भ्रम। वे बार-बार हनुमानजी को देखतीं और फिर अपने नेत्रों को हथेलियों से मलतीं। रोते-रोते उनके कमल के समान नेत्र सूज रहे थे। वे उन्हें निर्दयता पूर्वक मसल रही थीं। हनुमानजी के नेत्रों में आँसू आ गये। वे दुःखिनी वियोगिनी सीता के मनस्ताप का अनुभव करते हुए शनैः-शनैः वे पेड़ से नीचे उतरने लगे। अब सीताजी को एक शंका उत्पन्न हुई, संभव है वेष बदलकर राक्षसराज रावण ही मुझे वश में करने को ये बातें कर रहा हो। किन्तु यह रावण हो नहीं सकता क्योंकि इसकी विनम्रता बनावटी नहीं है, इसकी मुखाकृति निर्दोष है इसकी बातों में छल कपट नहीं। फिर सबसे बड़ी बात यह है, कि इसे देखने से मेरे अन्तःकरण में सुख उत्पन्न होता है। आनन्द की वृद्धि होती है। हृदय में अपनेपन का भाव उदय होता है। फिर भी सहसा किसी पर पुरुष पर स्त्री को विश्वास न कर लेना चाहिए। यह सोचकर सीता जी बोलीं—"वानर तुम सचमुच में मेरे प्राण राम के दूत हो, तो तुम्हारा स्वागत है, मैं तुम्हारा अभिनन्दन करती हूँ और यदि तुम मायावी रावण हो, तो मैं तुम्हारे इस कार्य की निंदा करती हूँ, तुमसे प्रार्थना करती हूँ मुझे अधिक कष्ट मत दो। मेरे हृदय में राम रम रहे हैं। श्रीराम के अतिरिक्त मैं किसी का चिन्तन नहीं कर सकती स्वेच्छा से मैं [illegible] कर सकती।"

यह सुनकर हनुमानजी के नेत्रों से टप-टप करके [illegible] अश्रु भूमि पर गिर पड़े। वे [illegible] आकर हाथ जोड़े भाव से खड़े हो गये और [illegible] माताजी! [illegible]

करें। मैं रावण नहीं। वानरराज केशरी की पत्नी अञ्जनी के उदर से वायु के द्वारा मेरा जन्म हुआ है। हनुमान मेरा नाम है। सुग्रीव का मैं सचिव हूँ, श्रीराम ने मुझे आपको खोजने भेजा है। मेरे जैसे असंख्यों वानर श्रीराम की आज्ञा से आपको भूमण्डल पर खोज रहे हैं। देवि! आप मेरे विषय में संदेह न करें। माँ मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ, कि मैं वायु का पुत्र, सुग्रीव का सचिव हनुमान हूँ।"

हनुमानजी की ऐसी मधुर सत्य से सनी सुन्दर उक्तियों वाली वाणी सुनकर वैदेही को विश्वास हो गया, कि यह रावण नहीं श्रीराम का दूत है। मेरे प्राणाधार ने मुझे खोजने इसे भेजा है। यह स्मरण करके सीता जी को परम हर्ष हुआ। कि राघव मुझे भूले नहीं वे मेरे पाने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं! प्रसन्नता प्रकट करती हुई पतिव्रता सीता बोलीं—"वानर श्रेष्ठ! मुझे विश्वास हो गया, तुम मेरे प्राणनाथ के प्रिय पार्षद हो। तुम दया दाक्षिण्य युक्त राघव के विश्वसनीय दूत हो। श्रीराघव ने मेरे लिए क्या कहा है। मुझे मेरे हृदयधन के सभी समाचार सुनाओ—"इतना कहकर जानकी अत्यन्त स्नेह से ममता भरी दृष्टि से हनुमानजी को देखने लगीं।"

वैदेही का मेरे ऊपर पूर्ण विश्वास हो गया है, वे मुझे आ मायावी राक्षस नहीं समझतीं, इस बात से केशरी नन्दन महावीर हनुमान को परम प्रसन्नता हुई। वे और भी अधिक विश्वास दिलाने के निमित्त मधुर वाणी में बोले—"माताजी! मुझे दीन वत्सल लक्ष्मणजी के बड़े भाई श्रीराघव ने आपके समाचार लेने भेजा है। उन्होंने अपनी कुशल कही है और आपकी कुशल पूछी है। चलते समय चिह्नारी के लिये उन्होंने अपनी राम नामाङ्कित मुद्रिका मेरे हाथों आपको देने के निमित्त भेजी है। आप

इस मुद्रिका को देखें और मुझ पर विश्वास करें।" यह कहकर हनुमानजी ने वह चमकती हुई राम नामाङ्कित मुद्रिका सीताजी को दी। उस मुद्रिका को पाकर सीताजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्हें ऐसा लगा मानों साक्षात् श्रीराम ही मिल गये हों। उन्होंने अत्यन्त स्नेह और आनन्द के साथ उस मुद्रिका को बार बार हृदय से लगाया और अतृप्त नेत्रों से उस पर अंकित किये अक्षरों को अपलक निहारती रहीं। कुछ काल के लिये वे इस बात को भूल ही गयीं कि मैं लंका में हूँ। उन्हें श्रीराम के सम्मिलन का सा सुख प्राप्त हुआ।

कुछ काल के पश्चात् वैदेही बोलीं—"हनुमान! तुमने मुझे इतना सुखद सम्वाद सुनाया, मुझे इतनी प्रियवस्तु लाकर दी, इस उपकार का बदला मैं सहस्रों जन्मों में भी न दे सकूँगी। मुझे तुम्हारे राम भक्त होने में अब कोई संदेह नहीं। मेरे सब संदेह निवृत्त हो गये। अब तुम मुझे मेरे प्राणधन के समाचार सुनाओ? वे कभी मेरी याद करते हैं क्या? कथा प्रसंग में कभी मेरा नाम लेते हैं? मेरे सम्बन्ध की कोई कथा तुमने सुनी हो तो मुझे बताओ। मुझे खोजने के लिए वे कुछ प्रयत्न कर रहे हैं क्या? उन्हें पता चल गया है न कि मैं रावण के यहाँ बन्दिनी बनी पड़ी हूँ क्या उन्होंने मेरे बड़े देवर भरत के समीप मेरे हरे जाने का किसी के हाथों समाचार भेजा है? क्या भरत मुझे छुड़ाने को अपनी सेना भेजेंगे। वानर राज सुग्रीव से श्रीराम की मित्रता हो गयी है। क्या सुग्रीव मित्रता का निर्वाह करने अपने वानरों को लंका भेजेंगे? वे क्या मेरे ऊपर कृपा करेंगे। हनुमान्! क्या मैं अपने प्राणनाथ से जीवन में कभी मिल सकूँगी? क्या मैं उनकी साँवरी मूरत को इन

से निहार सकूँगी ?" यह कहते कहते सीता जी सिसकने लगीं। वे मुँह ढककर रोने लगीं।

सीताजी को देखकर हनुमान् जी के आँखों में भी आँसू आ गये। वे कष्ट के साथ कहने लगे—"माँ तुम धन्य हो। यथार्थ में तुम ही श्रीराम की प्रिया होने योग्य हो। जननी! मैं क्या बताऊँ मेरी वाणी में शक्ति नहीं। श्रीराम एक पल भी तुम्हें नहीं भूलते। वे निरन्तर तुम्हारी ही स्मृति में विह्वल बने रहते हैं। तुम्हारा नाम ले लेकर रोते रहते हैं। उन्होंने खाना पीना सब छोड़ दिया है। लक्ष्मण बहुत आग्रह करते हैं तो दिवस के तीसरे भाग में कुछ कंद मूल-फल ले लेते हैं। वे सोते नहीं, तुम्हारी स्मृति में रात्रि भर जागते रहते हैं। उन्हें अपने शरीर की सुधि नहीं। शरीर पर दंश-मशक आकर बैठ जाते हैं, तो उन्हें उड़ाते नहीं। सामने की वस्तुओं को पहिचानते नहीं। वे हा प्रिये! हा प्रिये! कहकर दीर्घ निश्वास छोड़ते रहते हैं। तुम्हारी खोज करने के लिये उन्होंने सुग्रीव से मित्रता की। बालिका वध किया, सुग्रीव ने दशों दिशाओं से वानरों को बुलाकर सर्वत्र भेजा है। मुझे यहाँ भेजा है। मैं कूदने वालों में श्रेष्ठ हूँ। मैं तुम्हें दुखी नहीं देख सकता। तुम मुझे आज्ञा करो मैं क्या करूँ। मुझ मे सब सामर्थ्य है। मैं नीच रावण को जीवित ही पकड़ कर श्रीराम के सम्मुख ले जा सकता हूँ, कहो तो सम्पूर्ण लंका को उठाकर समुद्र में बोर सकता हूँ; समस्त राक्षसों को मार सकता हूँ। आप इतनी अधीर न हों। आपकी आज्ञा हो तो मैं अभी आज ही आपको अपनी पीठ पर बिठाकर किन्किन्धा के पर्वत पर बैठे श्रीराम से मिला सकता हूँ। तुम्हें चढ़ाकर मैं वायु वेग के समान समुद्र के ऊपर से जाऊँगा। इस सौ योजन लम्बे समुद्र को गोखुर के समान बात की बात में पार कर जाऊँगा।"

यह सुनकर सीता जी ने कहा—"अरे, भैया ! हनुमान् ! यह तो तैंने बन्दर पने की बात कह दी। अपना इतना पराक्रम जताकर तो तैंने अपनी कपि स्वभाव की चंचलता प्रकट कर दी। तू इतना छोटा है, मैं इतनी बड़ी हूँ तू मुझे लेकर इतने भारी समुद्र को पार कैसे कर सकता है ?"

सीताजी की ऐसी बात सुनकर हनुमान् जी को दुःख हुआ उन्होंने इसे अपना अपमान समझा। वे सोचने लगे—"सीता जी मेरा पराक्रम नहीं जानतीं, तभी ऐसा कह रही हैं। यह सोच कर उन्होंने अपने शरीर को बढ़ाया। वे विशाल पर्वत के समान बढ़ गये थे। उनके इस प्रकार बढ़े हुए रूप को देखकर सीता जी परम विस्मित हुईं और बोलीं—"हनुमान् ! मैं तेरी शक्ति को जानती हूँ। तू इतना बली, विद्वान्, विचार शील, विवेकी, विजयी, विनयशील, तथा वानराग्रगण्य न होता, तो देश काल और बलाबल के ज्ञाता श्रीराम तुझे इस कार्य को भेजते ही क्यों ? किन्तु भैया ! मेरा तेरी पीठ पर जाना उचित नहीं। इसमें कई दोष हैं। तू वेग से चलेगा, मैं इतने बड़े समुद्र को देखकर डर जाऊँगी। कहीं शीघ्रता में मैं तेरी पीठ से खिसक गई तो गिरकर मर जाऊँगी, राक्षसों को विदित हो गया तो वे तुझसे लड़ने आवेंगे, उस समय तू मेरी रक्षा करेगा, या राक्षसों से लड़ेगा ; यदि उन्होंने मुझे पुनः पकड़ लिया तो अपने [illegible] देंगे। और फिर भैया ! देख, सबसे बड़ी बात यह है, कि मैं स्वेच्छा से किसी पर पुरुष का स्पर्श कर नहीं सकती। रावण ने मुझे बलपूर्वक मेरी इच्छा के विरुद्ध [illegible] मैं विवश थी। तू मुझे ले जाकर [illegible] किन्तु यह न मेरे अनुरूप होगा [illegible]

युद्ध करके राक्षसों को रण में पराजित करके मुझे ले जायँगे। इसी में उनकी प्रशंसा है।"

यह सुनते ही हनुमानजी का हृदय भर आया। वे बोले—"माता! य वचन श्रीराम की पत्नी के ही योग्य हैं, दूसरी किसी स्त्री में ऐसा धैर्य नहीं। माँ! आज मैं आपके दर्शनों से कृतार्थ हो गया, मैंने अपने जीवन का फल पा लिया। मेरा जन्म लेना सार्थक हुआ। देवी! श्रीरामचन्द्र की तुम आह्लादिनी शक्ति हो, तुम प्रेरिका हो, जगज्जननी और जगदीश्वरी हो मुझे अब जाने की आज्ञा दीजिये। मैं तुरन्त ही श्रीराम के समीप जाऊँगा और अपने वानर भालुओं के सहित पुनः यहाँ श्रीराम और लक्ष्मण के साथ आऊँगा।"

हनुमान जी की बात सुनकर सीता जी बोलीं—"वत्स! तुम्हें देखकर मैं अपना दुःख भूल गयी थी। अब तुम भी जाने को कह रहे हो। पता नहीं अब तुम लौटकर आवोगे भी या नहीं। इतने भारी समुद्र को बिना किसी सहारे के तीन ही पार कर सकते हैं। या तो गरुड़ या पवन अथवा पवन के तनय तुम। सब भालु वानर समुद्र को कैसे पार करेंगे श्रीराम लक्ष्मण यहाँ तक कैसे आवेंगे। यही मुझे संदेह हो रहा है भैया! मुझे यहाँ पल-पल भारी हो रहा है क्षण क्षण युग के समान बीत रहा है। यहाँ सभी राक्षस हैं, सभी की खोटी बुद्धि है। एक मात्र रावण के छोटे भाई महात्मा विभीषण साधु स्वभाव के धर्मात्मा हैं। उनकी एक बड़ी सुन्दरी सीधी लड़की है, उनका नाम कला है, वह कभी कभी मेरे पास आती है और मुझे सान्त्वना देती है। नहीं तो रात्रि दिन रोते ही बीतता है।"

विभीषण की प्रशंसा सुनकर हनुमान जी ने सोचा—"लंका में भी विभीषण जैसे भगवद्भक्त महात्मा रहते हैं, यह बड़े

आश्चर्य की बात है। यात्रा वहीं सफल समझी जाती है जिसमें किसी भगवद्भक्त महात्मा का दर्शन हो जाता है। जगज्जननी का समाचार तो मैंने पा लिया। अब किसी प्रकार विभीषण के दर्शन हो जायँ, ऐसा उपाय मुझे करना चाहिये।" यह सोचकर वे जानकी जी से बोले—"माताजी! देखिए, मुझे बड़ी भूख लगी है, आज्ञा दो तो मैं इन वृक्षों से फल तोड़ कर खा लूँ। मेरे हाथों में खुजली सी हो रही है, आप कहें तो कुछ घर फोड़ दूँ, कुछ वृक्ष और पर्वतों को तोड़ दूँ। अब मैं जाना चाहता हूँ। मुझे जाने की आज्ञा भी दीजिये, अपना कोई चिन्ह भी दीजिये और कुछ मनोरंजक-वानरी चंचलता-प्रकट करने की भी अनुमति दीजिये। क्योंकि हम वानरों का यह स्वभाव ही है, इसके बिना हम रह नहीं सकते।"

जिस प्रकार श्रीराम जी ने अपनी अंगूठी दी थी, उसी प्रकार रोते रोते जानकी जी ने अपना चूड़ामणि नाम का शिरका आभूषण दिया और कहा—"आर्य पुत्र से मेरा प्रणाम कहना पवन तनय! उनसे कहना मेरे अपमान करने वाले कौए पर तो आपने ब्रह्मास्त्र छोड़ा था। अब जो मुझे बलपूर्वक हर लाया है, उस पर आप क्रोध क्यों नहीं करते? केशरीनन्दन! तुम सुमित्रानन्द वर्धन श्रीलक्ष्मण जी से मेरी ओर से कुशल पूछना। कपिराज सुग्रीव को मेरी दयनीय दशा बताना, क्या वे अपने नख और दाढ़ वाले वानरों को भेज कर मेरा उद्धार करायेंगे। बेटा! मैं नहीं चाहती तुम मेरे समीप से जाओ। तुम्हें देखकर मुझे सुख हो रहा है, डूबती हुई मुझे तुम्हारा बड़ा सहारा है, किन्तु जाना ही होगा। मैं देवी देवताओं को मनाती रहूँगी, तुम सकुशल लौटकर चले जाओ और श्रीराम को लेकर फिर आओ। परन्तु तुम तो कूद कर आ गये हो। श्रीराम तथा लक्ष्मण तो इतना कूद नहीं सकते।

तुम्हारे वानर भी नहीं कूद सकते, तुम, तुम्हारे पिता और हरिवाहन गरुड़ के अतिरिक्त इस १०० योजन वाले समुद्र को कौन लाँघ सकता है। देखो जैसे प्रारब्ध हो। तुम समुद्र पार करते करते थक गये होगे उचित समझो तो कहीं छिप कर विश्राम कर लो।"

हनुमान् जी ने सीताजी की दी हुई चूड़ामणि अपनी उँगली में पहिन ली और हाथ की अंजलियों को सिरपर रख करके बोले—"माता जी! आप चिन्ता न करें, श्रीराम समाचार पाते ही सुग्रीव के सहित सेना सजाकर शीघ्रातिशीघ्र यहाँ आवेंगे। जननी! आप सन्देह को त्याग दें सुग्रीव के वानर एकसे एक बली हैं, उनके लिए समुद्र लाँघना एक खेल है। मैं तो उन सब वानरों से छोटा हूँ, इसी से समझ लो मुझे धावक बनाकर भेजा गया है। धावक कोई बहुत बड़ा आदमी नहीं होता। साधारण बल बुद्धि के लोग ही सन्देह ले आने ले जाने को रखे जाते हैं। वानर सब कूदकर यहाँ आवेंगे। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को मैं अपनी पीठ पर चढ़ाकर लाऊँगा। मुझे आज्ञा दीजिये।"

इतना कहकर हनुमानजी ने भूमि में सिर रखकर जगज्जननी जानकी के पादपद्मों में प्रणाम किया और फिर वे एक सघन वृक्ष पर चढ़ गये। अब तो वे पूरे बन्दर बन गये। एक वृक्ष को तोड़, उस वृक्ष को उजाड़, इस फुलवारी को उखाड़, उस मन्दिरों को फोड़ इस प्रकार की तोड़ फोड़ करने लगे। उन्होंने अशोक वाटिका को क्षत विक्षत कर डाला। बहुत से वृक्ष जड़ से उखाड़ दिये, बहुतों को फल पत्तों से रहित कर दिया। क्रीड़ा भवनों के कँगूरे तोड़ दिये। इस प्रकार वे अकारण वानरी चंचलता करने लगे।

वाटिका के सेवकों ने दौड़कर यह समाचार दशानन को

दिया। क्रुद्ध होकर उसने कुछ सैनिकों को भेजा। हनुमान जी ने आते ही उन्हें यमसदन पठा दिया, फिर बड़ी सेना आई, उसने कुछ देर तो वीरता दिखायी अन्त में उसे, भी हनुमानजी ने मार भगाया। अब तो रावण घबराया। उसने अपने पुत्र अक्षको कपि से लड़ने पठाया। वह अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर सुग्रीव सचिव के समीप समर के निमित्त आया। हनुमान जी ने कुछ काल तो उसे खिलाया,, पुनः तुरन्त उसे भी यमराज का द्वार दिखाया।

अक्षय कुमार की मृत्यु सुनकर रावण के कान खड़े हो गये, उसने अपने सर्व श्रेष्ठ पुत्र इन्द्रजीत को कपि से युद्ध करने भेजा। इन्द्रजीत गर्जता-तर्जता अपने बल पराक्रम को प्रकट करता हुआ हनुमान् जी के समीप आया। उसने पूरी शक्ति लगाकर पवन-तनय से समर किया। किन्तु वह महावीर के बल की थाह न पा सका। जब उसने देखा यह वानर तो अजेय है इसे समर में जीतना दुष्कर कार्य है, तब तो उसने नागपाश में हनुमान जी को बाँध लिया। वरुण देव का यह अस्त्र है, अतः उसके सम्मानार्थ हनुमान्जी स्वेच्छा से बँध गये। इन्द्रजीत बड़े गर्व से उन्हें बाध कर दशानन के समीप ले गया।

इतन भीम पराक्रमी वानर को देखकर दशानन दाँत पीसते हुए बोला—"क्यों रे वानर तू कौन है?"

हनुमानजी ने कहा—"मैं सुग्रीव का सचिव हूँ, पवन का तनय हूँ, हनुमान् मेरा नाम है। श्रीराम का मैं दूत हूँ, सीताजी का पता लगाने आया हूँ।"

रावण ने कहा—"फिर तैंने वृक्षों को क्यों उखाड़ा, वाटिका को क्यों उजाड़ा?"

हनुमान्जीबोले—"भूख लगने पर हम लोग हलुआ पूड़ी तो

बनाते नहीं वृक्षों के फल तोड़ तोड़कर खाते हैं। मीठे-मीठे पके-पके खा लेते हैं। कड़वे, खट्टे, कच्चे फेंक देते हैं। फल खाने के लिये फल तोड़े।"

रावण—"वृक्षों के उखाड़ने से क्या प्रयोजन था?"

हनुमान्जी—"यह हम वानरों का सहज स्वभाव है। सहज स्वभाव का त्याग कठिन है।"

रावण—"तैंने मेरे सैनिकों को क्यों मारा?"

हनुमान्—"लड़ाई में मार धाड़ होती ही है। उन्होंने मुझे मारा मैंने उन्हें मारा।"

दाँत किटकिटाकर दशानन बोला—"अच्छी बात है, बन्दर को मार डालो।"

इतना सुनते ही दशानन के छोटे भाई विभीषण "राजन्! आप नीति के ज्ञाता हैं। वेद शास्त्रों के पंडित हैं। आप यह न्याय विरुद्ध आज्ञा क्यों दे रहे हैं। दूत सदा से देशों में अवध्य माने गये हैं। दूत को कभी कोई नहीं मारता। यदि आप में बल है, तो आप इसके स्वामी को मारिये। यह जो भी कुछ कह रहा है कर रहा है, सब अपने स्वामी के संकेत को पाकर कर रहा है। यह व्यक्तिगत रूप से तो निर्दोष ही है।"

रावण ने कहा—"दूत को युद्ध करने का भी तो विधान नहीं है। इसने दूत धर्म के विरुद्ध युद्ध किया है अतः यह अवश्य दण्डनीय है।"

विभीषण ने कहा—"राजन्! आत्म रक्षा के लिये युद्ध करना दोष नहीं। फिर भी यदि आप इसे दोषी समझते हैं, तो इसे अन्य कोई दंड दे सकते हैं। प्राणदंड देना दूतों को अत्यन्त पाप है। दूतों को दोषी होने पर अंग भंग कर सकते हैं, दाग सकते हैं और

भी कोई ऐसा कार्य कर सकते हैं, जिसमें दूत का स्वामी अपना अपमान समझे।

यह सुनकर रावण ने कहा—"विभीषण का मत सुन्दर है। वानरों को अपनी पूँछ बहुत प्रिय होती है, अतः इसकी पूँछ को जला दो। जब यह बिना पूँछ के पहुँचेगा तो सभी इसे देखकर हँसेंगे बड़ा आनन्द रहेगा। उन्हें भी पता चलेगा, लंका जाने में कल्याण नहीं।"

सबने इस बात का समर्थन किया। हनुमान् जी बड़े ध्यान से विभीषण की ओर देखते रहे। उनके हृदय में ऐसा प्रेम उमड़ रहा था कि इन संतशिरोमणि को हृदय से लिपटालूँ इन्हें आँखों में बिठालूँ, सिर पर चढ़ालूँ, इनके पैरों को पकड़ लूँ, इनसे लिपट जाऊँ, किन्तु वे अपने भावों को दबाये रहे। हृदय की बातों को हृदय जान ही लेता है। दो शुद्ध मन मिलकर एक हो जाते हैं। विभीषण ने भी मन ही मन पवन पुत्र के पुनीत पाद-पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम किया। उसकी सुन्दर सुखकर मूर्ति को हृदय में धारण किया। दृष्टि से दृष्टि मिलने पर ही प्रगाढ़ मैत्री हो गई। सीताजी पहिले ही विभीषणजीकी प्रशंसा कर चुकी थीं। हनुमानजी इनसे मिलने को लालायित भी हो रहे थे। जिसका जिस पर सत्य स्नेह होता है, वह उसे निश्चय ही कभी न कभी मिल ही जाता है।

इधर तो दोनों रामभक्त परस्पर में एक दूसरे का मानसिक स्पर्श और आलिङ्गन कर रहे थे, उधर राक्षस पवन पुत्र की पूँछ में पुराने वस्त्र रुई और सन लपेट रहे थे। तेल में डुबो डुबोकर वे उन सबको गीला करते जाते थे। स्वेच्छानुसार रूप रख लेने वाले हनुमानजी शनैः शनैः पूँछ को बढ़ाते जाते थे। बढ़ते बढ़ते वह पूँछ वासुकी नाग से भी बड़ी हो गयी। लंका भर की

रूई, तेल, सन और पुराने कपड़े समाप्त हो गये। अब राक्षसों ने उसमें आग लगा दी। हनुमानजी ने जब देखा पूँछ में आग लग गयी है तो वे उसे उठा उठाकर राक्षसों के मुख में मारने लगे। सभी हाय हाय चिल्लाने लगे। हनुमानजी हँसने लगे। कूदने लगे, उछलने लगे, पूँछ पटकने लगे, किलकिला शब्द करने लगे तथा अन्य भी विविध भाँतिकी वानरी चंचलता प्रकट करने लगे। रावण ने देखा यह वानर तो बड़ा विचित्र है, उसने आज्ञा दी इसे पकड़ लो और सम्पूर्ण लंका में इसे घुमाकर समुद्र के तीर पर छोड़ आओ।"

हनुमानजी ने सोचा—अच्छा है; इसी मिससे मैं सम्पूर्ण लंका को देख आऊँगा। रात्रि में देख भी नहीं सका था। कोई पथप्रदर्शक भी नहीं था, अतः वे बिना आनाकानी किये बँध गये, राक्षस उन्हें बाँधकर गली-गली, द्वार द्वार घुमाने लगे लंकापुरी में सर्वत्र कुतूहल मच गया। छोटे छोटे बच्चे दौड़ने लगे। राक्षस हँसने लगे। स्त्रियाँ मुँह मटकाने लगीं। लड़कियाँ वानर को खिजाने लगीं। हनुमानजी सबकी सहते थे—अभी सब देख लूँ; तब इन सबको फल चखाऊँगा।

राक्षसियों ने जाकर सीताजी से कहा—"सीते! सुनती है? तू जिस वानर से घुल घुलकर बातें कर रही थी, उसकी पूँछ में आग लगाकर उसे नगर में घुमाया जा रहा है।" इतना सुनते ही सीताजी ने अग्नि की स्तुति की वे हनुमानजी के लिये हिमसे भी शीतल हो गये, उनके पिता पवन तो उनके अनुकूल समस्त चेष्टायें कर ही रहे थे। हनुमानजी बार बार सोचते—मुझे जाड़ा क्यों लग रहा है। यह अग्नि मुझे जलाती क्यों नहीं। मेरे शरीर में उष्णता क्यों नहीं आती।

जब राक्षसों ने हनुमानजी को इधर-उधर घुमाया और

उन्होंने सब सड़क गली, कूँचे, छज्जे, अटा, अटारी, महल द्वार देख लिये तब उन राक्षसों के ही मुँह पर पूँछ मारी पूँछ के लगते ही उनकी दाढ़ी और मूछ फुर्र से जल गई। वे हनुमानजी को छोड़कर भागे। अब तो हनुमानजी स्वच्छन्द हो गये वे एक ऊँचे से भवन पर चढ़ गये। वहाँ से वे लगे सबमें आग देने। जिधर भी जाते पूँछ फिरा देते। घर जलने लगे, सामग्री स्वाहा होने लगी। राक्षसियाँ चिल्लाने लगीं। लड़की लड़के रोने लगे, स्त्री पुरुष घर छोड़कर भागने लगे, सर्वत्र भगदड़ मच गई, कोई हाथ मलने लगे। कोई घरों में जलने लगे, धातुओं के बर्तन गलने लगे; चन्दन के बने भवन जलने लगे, कोई रोते कोई चिल्लाते। कोई किसीको बुलाते कोई धैर्य बँधाते, कोई अंगों को हिलाते हुए इधर से उधर दौड़ने लगे। हनुमानजी को एक खेल हो गया। कभी वे इधर आते कभी उधर चले जाते पुनः लौट आते। इस प्रकार उन्होंने पूरी लंका जला दी लंका के घाट, महल, भवन, मन्दिर; बाग, बगीचे सबके सब जल गये।

अब हनुमान जी को एक बड़ा भारी संदेह हुआ, कहीं अशोक वाटिका में आग लगने से सीता जी भी तो साथ में नहीं जल गयीं। इस विचार के आते ही वे समुद्र में कूद पड़े। अपनी पूँछ बुझाकर वे दौड़े दौड़े अशोक वाटिका में आये। उन्होंने सीता जी को प्रणाम करके कहा—"माता जी! अब मुझे जाने की आप अनुमति दीजिये। अब मेरा सब काम हो गया। मैंने राक्षसों के बलाबल का पता लगा लिया। अब मैं सेना सहित श्रीराम के साथ शीघ्रातिशीघ्र लौटकर आऊँगा तथा तुम्हें प्राणनाथ से मिलाऊँगा।"

इतना सुनते ही सीता जी परम प्रमुदित हुईं। उनका हृद

और कंठ भरा हुआ था। वे बड़े कष्ट से अस्पष्ट अक्षरों में बोलीं—"हनुमान्! तू सचमुच में बड़ा वीर है। तेरी वीरता, बुद्धिमत्ता, निर्भयता, कार्य-कुशलता, सुशीलता, शालीनता महत्त्व तथा कष्ट सहिष्णुता आज मैंने देखी। पुत्र! मैं तुझे आशीर्वाद देती हूँ, तू सदा अजर अमर हो। कोई तुझे युद्ध में पराजित न कर सके। तू अपने समान अद्वितीय योद्धा हो, तेरे शरीर पर शस्त्रों का प्रहार न हो सके। तेरी कीर्ति संसारमें तब तक अक्षुण्ण बनी रहे, जब तक सूर्य चन्द्रमा विद्यमान हैं। बेटा! तेरा पथ मंगल मय हो, तू सर्वत्र विजयी हो, राम लक्ष्मण को लेकर तू दो महीने के भीतर ही आ जाना। तब तक मैं जैसे होगा तैसे कष्ट पूर्वक राम राम रटती हुई अपने जीवन को धारण करती रहूँगी यदि दो मास तक तुम न आये तो मुझे जीवित न पाओगे। या तो ये राक्षसही मुझे मार डालेंगे या मैं स्वयं ही आत्महत्या कर लूँगी श्रीरामजी से लक्ष्मण, सुग्रीव तथा समस्त वानरों से मेरी ओर से कुशल पूछना। मेरे प्राण नाथ को मेरी बार-बार याद दिलाना। हा! वह कब स्वर्ण अवसर होगा, जब मैं अपने हृदय धन के दर्शन कर सकूँगी, उनकी गोद में सिर रखकर फूट फूट कर रोऊँगी। वे अपने कमल से भी कोमल श्रीहस्तों से मेरे अश्रु पोछेंगे। हनुमान! मैंने पूर्व जन्म में ऐसे कौन से पाप किये हैं, जिसके परिणाम स्वरूप मैं अपने प्राणनाथ से पृथक् की गई हूँ। तू मेरे सब समाचार राजीव लोचन से कहना।" इतना कहते २ सीता जी फूट फूट कर रोने लगीं। हनुमान् जी ने पुनः पुनः उनकी चरण वन्दना की। आने का आश्वासन दिया और फिर उनकी प्रदक्षिणा करके वे चल दिये। हनुमान् जी को जाते देखकर सीता जी मूर्छित हो गयीं। हनुमान् जी छलांग मारकर कानों को चिपटे करके बाण के समान समुद्र के ऊपर ही ऊपर

जा रहे थे। पार के पास पहुँचकर उन्होंने भयंकर गर्जना की। उनकी गर्जना को सुनकर अंगद, जामवन्त आदि वानर भालू किल किला शब्द करने लगे। हनुमान जी की गर्जना सुनकर सब को विश्वास हो गया, हनुमान् जी सीताजी का पता लगाकर आ रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो जैसे मृतक शरीर में प्राण आने पर देह चैतन्य होकर उठ पड़ता है, उसी प्रकार समस्त भालू वानर हनुमानजी का आगमन सुनकर उठ पड़े और उनके स्वागतार्थ पुष्पों की वृष्टि करने लगे।"

छप्पय

विरह व्यथामहँ विकल जानकी निरखी कपिवर।
राम-कथा कहि दई मुद्रिका दुखहर सुखकर॥
वैदेही पुनि पलटि दई चूड़ामनि कपिकूँ।
लै, कपि क्रीड़ा करैं उखाड़े बहु वृक्षनिकूँ॥
आये लड़िवे निशाचर, मारि पठाये यमसदन।
नाग-पाशमें गये बँधि, कुपित कहे लखि दशानन॥

समुद्रतीरपर श्रीराम

(६६९)

यद्रोषविभ्रमविवृत्तकटाक्षपात-
सम्भ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोषः ।
सिन्धुः शिरस्यर्हणं परिगृह्यरूपी
पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतत् ॥❀

(श्री० भा० ९ स्क० १० अ० १३ श्लो०)

छप्पय

'मारौ कपिकूँ 'तुरत' विभीषण नीति बताई ।
कपड़ा तेल लपेटि पूँछ महँ आगि लगाई ॥
कपि हित शीतल अनल भये सब पुरकूँ जारैं ।
पकरन आवैं निकट पूँछ कसि मुँह पै मारैं ॥
यों जराइ लंका पुरी, कूदि पार सागर भये ।
निरखे विजयी पवनसुत, अंगदादि प्रमुदित भये ॥

सुनते हैं अमृत स्वर्गमें है, उसका पान स्वर्गीय लोगही करते हैं। फिर भी पृथिवीपर कुछ वस्तुओं को अमृत कहा जाता है।

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अनुनय विनय करने पर भी समुद्र जब प्रसन्न न हुआ तब श्रीरामजी कुपित हुए। उनके कोप के कारण विस्फारित कटाक्षभङ्गी से समुद्र में रहने वाले नक्र, मगर आदि विचलित होकर तड़फड़ाने लगे। जिसका भयके कारण गर्जन स्तम्भित हो गया था, वह सिन्धु सिरपर रत्नादिकोंके उपहार लेकर श्रीरामके चरणारविन्दोंमें उपस्थित होकर इस प्रकार कहने लगा।"

दूध, दही, घृत, शर्करा और मधु इन पाँचों को पंचामृत कहते हैं। गंगाजल तो श्रीहरि का चरणामृत प्रसिद्ध ही है। कान्ता के अधरामृत की बात भी काव्यों में पढ़ी है उसे अनुभवी ही जानें। जाड़े के दिनों में अग्नि को भी अमृत कहा है। सुनते हैं शरद पूर्णिमा के दिनकी चन्द्रमा से अमृत झरता है, खीर को चाँदनी में रख दो तो उसमें अमृत उतर आता है। ये सब सत्य ही होंगे, किन्तु प्रिय दर्शन रूप जो अमृत है, वह तो रोम रोम में जीवन का संचार कर देता है अपने प्रेमी के प्रेमियों से भी मिलने में बड़ा सुख होता है। अपने प्रेमी की कहीं पाती मिल जाय प्रेमी का जो संदेश लेकर आता है, उससे बढ़कर संसार में उपकारी कौन होगा। श्रीरुक्मिणीजी के समीप जब उनका भेजा ब्राह्मण श्रीकृष्ण का संदेश लेकर पहुँचा तो प्रेम के आवेगमें श्रीजी उसके लिये कुछ पारितोषिक खोजने लगीं। कोई भी उन्हें उपयुक्त पारितोषिक न सूझा। अरे, जो इतना सुखद सम्वाद लेकर आया है उसे तीनों लोकों का राज्य या ब्रह्माण्ड का आधिपत्य दे देना उसके महत्व को घटा देना है। अतः श्रीजीने इस विप्र के चरणों में केवल सिरमात्र ही झुका दिया। अर्थात् देने को मेरे समीप कोई उपयुक्त वस्तु नहीं। कुछ देकर इस उपकार का बदला चुकाने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। सदा तुम्हारी ऋणी बनी रहूँगी। यथार्थ में जो हमारे प्यारे से मिलाता है या उनका संदेश लाकर देता है वह समस्त उपकारियों में श्रेष्ठ है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! सीताजी के सब समाचार लेकर उन्हें भाँति भाँति से धैर्य बँधाकर लंका को जलाकर भस्म बनाकर हनुमानजी फिर उछले। अथवा वे एक ही सपट्टे में उस पार पहुँच गये। पारपर प्रतीक्षा में बैठे अंगदादि वानरों ने जब रामबाण के समान, वायु के समान तथा हरिवाहन गरुड़ के समान हुए

हनुमान्‌जी को देखा तो वे किलकिला शब्द करने लगे। पूँछ फटकारने लगे। वृक्षों पर चढ़ने और उतरने लगे। फूली फूली डालियों को तोड़ने लगे। फलों के ढेर लगाने लगे। वृक्षों को हिलाने लगे। जय जयकार के शब्दों से उन्होंने दशों दिशाओं को गुँजा दिया।

हनुमान्‌जी ने आते ही जाम्बवान् आदि बड़े बूढ़े वानर रीछों के पैर छुए। राजकुमार अंगद को प्रणाम किया। छोटे छोटे वानरों ने हनुमान्‌जी की चरणवन्दना की बहुतों को गले से लगाया। सभी ने एक स्वर में पूछा—"क्या जनक सुता का पता लगा ?"

"देख आया मैं सीताजीको—" बिना किसी भूमिकाके हनुमान् जी ने मेघ गंभीर वाणी में ये शब्द कहे। इन शब्दों के सुनते ही सभी प्रसन्नता के कारण नाचने लगे, उछलने लगे, एक दूसरे का आलिंगन करने लगे, कबड्डी भरने लगे, समुद्र में एक दूसरे को ढकेलने लगे। वृक्षों से नीचे जल में कूदने लगे परस्पर में एक दूसरे के जूँए बीनने लगे। उन सबको वानरी चंचलता करते देखकर बूढ़े जाम्बवान् ने सबको डाँटा। जाम्बवान् की डाँट सुनकर सब आकर चुपचाप बैठ गये। तब अंगदजी के पूछने पर हनुमान्‌जी ने अपनी यात्रा का आदि से अन्त तक समस्त वृत्तान्त बड़ी ही रोचक भाषा में सुनाया। उसे सभी ने मुग्ध की भाँति शान्ति के साथ श्रवण किया। सीताजी के सौन्दर्य और उनकी दयनीय दशा की बातें सुनकर सभी रोने लगे। सभी को उनके दर्शनों की उत्कट इच्छा हुई।

अब वानर आपस में कहने लगे—"कपिराज ! सुग्रीव ने जो अवधि हमें दी थी, वह तो बीत गयी। अवधि के अनंतर आने से वे हमें दण्ड तो न देंगे।"

इसपर बूढ़े जाम्बवान ने कहा—"हमलोग तो कार्यसिद्ध करके चल रहे हैं। हम तो पारितोषिक के अधिकारी हैं। तुमलोग कोई सन्देह मत करो। निर्भय होकर मधुपान करते, फलों को खाते बागों को उजाड़ते हुए श्रीराम के समीप चलो। इतना सुनते ही सब स्वच्छन्द होकर चलने लगे। वानर ही ठहरे पहुँचते ही उन्होंने सुग्रीवकी सुन्दर वाटिका को उजाड़ना आरम्भ कर दिया। उसके मीठे मीठे फलों को भरपेट खाने लगे। मधु के छत्तों में छेदकरके उनसे निकली मधुधार को मुँह ऊपर करके पान करने लगे। उनकी इस अविनय को देखकर रक्षकों ने सुग्रीव को समाचार दिया। सुनते ही सुग्रीव परम प्रमुदित हुए। उन्हें निश्चय हो गया, कि ये लोग श्रीसीताजीका पता लगा लाये हैं, बिना पता लगाये ऐसी धृष्टता करने का साहस कोई भी न करता। उन्होंने आज्ञा दी—"सभी वानरों को बाजे गाजे के सहित सम्मानपूर्वक मेरे समीप ले आओ।"

सुग्रीव की आज्ञा से बहुत से वानर उछलते कूदते आकाश मार्ग से चले। स्वागत के लिये आये हुए वानरों को देखकर अंगद आदि बंदर पूँछ हिलाते हुए आकाशमें उड़ने लगे। उन्हें आकाश मार्ग से आते देखकर मारे प्रसन्नता से सुग्रीव खड़े हो गये। सब वानरों ने उतरकर कपिराज सुग्रीव को प्रणाम किया। सुग्रीव शीघ्रता सहित सबको श्रीराम के समीप ले गये। उत्सुकता से जिसके कमलनयन चंचल हो रहे हैं, जो अपनी प्रिया के शुभ समाचारों को सुनने के लिये अत्यधिक उत्कण्ठित हो रहे हैं, वे श्रीरामचन्द्रजी वानरों से बोले—"क्या वैदेहीजी का कुछ पता चला।"

इतना सुनते ही, नम्रता पूर्वक हनुमान् जी ने अत्यंत शीघ्रता के साथ कहा—"दर्शन किये मैंने देवी के" देवी को देखा है

मैंने" इन वचनों को सुनते ही श्रीराम के रोमरोम खिल उठे उनके मुरझाये हुए मुखपर प्रसन्नता छा गई। वे इतने सुखी हुए मानों किसी ने उनके कानों में अमृत उड़ेल दिया हो? वे बार बार कहने लगे—"हनुमान् क्या तुमने सचमुच मेरी प्रिया को देखा है? तुमने उसे कहाँ देखा? कैसे देखा? कब देखा? किस दशा में देखा? वह कैसे थी? कैसे रहती थी? मेरी याद करती थी न? तुमसे क्या क्या बातें हुईं? मेरे सम्बन्ध में क्या पूछती थी? वह अत्यन्त कृश तो नहीं हुई है? उसने क्या सन्देश भेजा है?"

एक साथ इतने प्रश्न सुनकर हनुमान् जी घबरा गये। उन्होंने देवी सीता को तथा उस दिशा को जिसमें देवी रहती हैं पहिले श्रद्धासहित प्रणाम किया फिर वे रुककर चूड़ामणि को निकाल कर बोले—"देव! मैं शतयोजन समुद्र को लाँघकर लंका पहुँचा। बड़े कष्ट से मैंने देवी का पता लगाया। वे अशोकवाटिका में मिलीं थीं वे व्रत उपवासों से अत्यन्त कृश हो गई हैं। उनका उत्तरीय कौशेय पीतवस्त्र अत्यन्त मलिन हो गया है, उनके कुंचित केशों की जटायें बन गई हैं, वे निरन्तर आपके नामों को रटती रहती हैं। आपकी मधुर मूर्ति के ध्यान में निमग्न रहती हैं। रोते रोते उनके कमल के समान नेत्र सूज गये हैं। वे शोक संतप्त होकर आपका ही चिंतन करती रहती हैं। पहिले तो उन्होंने मेरे ऊपर सन्देह किया। पुनः विश्वास दिलाने पर आपकी मुद्रिका को पाकर मेरा विश्वास किया। रोते रोते सब समाचार सुनाये और चित्रकूट में काककी कथा स्मरण कराते हुए यह चूड़ामणि चिन्हारी के रूप में मुझे दी। यह कहकर हनुमान्जी ने आदर सहित वह चूड़ामणि श्रीराघव को समर्पित की।

चूड़ामणि लेकर श्रीराम ने उसे हृदय से लगाया और नेत्रों से

अश्रु बहाते हुए बार-बार उसे निहारने लगे। वे सुग्रीव से कहने लगे—"कपिवर! इस चूड़ामणि के मिलने से मुझे ऐसा सुख हो रहा है, मानों मुझे जानकी मिल गयीं। यह समुद्र से उत्पन्न देवताओं की मणि है। देवताओं ने मिथिलाधिप महाराज जनक को इसे दिया था। जनक ने विवाह के अवसर पर अपनी पुत्री जानकी को इसे दिया था। जानकी ने इसे पहिनकर मेरे पिता को प्रणाम किया था। कितनी बार मैंने इस मणिको सम्हाला है, इसे हृदय से लगाया है। जब इसे सीता के सिर के सहित मैं स्पर्श करता था, तब मेरे रोमांच हो जाते थे। हाय! इसे मैं आज सीता से इसी प्रकार विलग देख रहा हूँ, जैसे सीता मुझसे विलग हो गयी है। सीता राक्षसों के बीच में कैसे रहती होगी। कैसे उसके दिन कटते होंगे, पवनतनय तुम मुझे सीता के और समाचार सुनाओ। तुम रुको मत सुनाते ही जाओ सीता कैसी थी मेरे सम्बन्ध में क्या पूछती थी? मेरे प्रति उसके क्या भाव थे?"

यह सुनते ही हनुमान्‌जी ने कहा—"प्रभो! मेरी वाणी में शक्ति नहीं जो उस देवी के सम्बन्ध में कुछ कह सकूँ। वे मूर्तिमती तपस्या साकार करुणा विरह की छाया मूर्ति बनी हुई हैं। उन्हें जगत् राममय दिखाई दे रहा है। वे मुझसे जब तक बातें करती रहीं रोती ही रहीं। उनके आँसू क्षण भर को भी न रुके। नाथ! जब मैंने जगज्जननी को अत्यन्त दुखी देखा, तो मेरा हृदय भर आया। मैंने उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—"माताजी आप चिन्ता न करें। आप मेरी पीठ पर चढ़कर चलें मैं अभी आज ही आपको आपके प्राणनाथ से मिला दूँगा। राघव! यह सुनकर उन्होंने जो उत्तर दिया, वह उनके अनुरूप ही है। जब से मैंने देवी को देखा है, जब से मैंने उनके दर्शन

किये हैं तबसे मैं उनकी चरणरज का अकिंचन अनुचर बन गया हूँ, उनके पतिव्रत धर्मका प्रशंसक हो गया हूँ, उनके गुणोंका गायक और उनके रामानुराग का भक्त हो गया हूँ। देवी ने कहा था—"मैं स्वेच्छा से परपुरुष की पीठ पर नहीं बैठ सकती। मेरे प्राणनाथ ही आकर मुझे छुड़ावेंगे तभी छूट सकती हूँ, वे ही आकर अपनावें तो मैं उनसे लिपट सकती हूँ।" राघव! माताजी ने कहा है—"मैं महीने भर जीऊँगी, तब तक प्रतीक्षा करूँगी। यदि हृदयेश्वर ने तब तकभी मेरी सुधि न ली तो मैं मर जाऊँगी। स्वेच्छा से या परेच्छा से।"

इतना सुनते ही श्रीराम मूर्छित हो गये। उनके दोनों नेत्र बहने लगे। लक्ष्मणजी ने उन्हें उठाया। उनकी धूलि झाड़ी और वे बोले—"राघव! आप सोच न करें। देवी अवश्य हमें मिलेंगी। अब तो सन्देह की कोई बात नहीं। पता लगाने पर मैं पाताल से ब्रह्मलोक से उन्हें लौटा ला सकता हूँ।"

श्रीराम प्रलाप करते हुए कहने लगे—"मेरी प्रिया उन क्रूर राक्षसों में कैसे रहती होगी, कैसे वह अपने समय को बिताती होगी। हाय! मैं कैसा मूढ़ हूँ, कैसा मन्दमति हूँ, मैं अपनी पत्नी की भी रक्षा नहीं कर सकता उसके भी दुख को दूर नहीं कर सकता। अब मैं उसके पास कैसे जाऊँगा, कैसे मैं इस १०० योजन वाले समुद्रको पार कर सकूँगा। कैसे तुम्हारे वानर इसके उस ओर जा सकेंगे।"

यह सुनकर सुग्रीव बोले—"राघव! आप चिन्ता न करें। जब तक जानकी के जीवित रहने का समाचार नहीं मिला था, जब तक रावण के घर का उसके यहाँ सीताजी के रहने का निश्चित वृत्त विदित नहीं हुआ था, तभी तक चिन्ता की बात थी। अब तो सब बातें विदित हो गयीं। अब हम सब उद्यत

कर कूदकर नौकाओं से, घड़ों की घिटनियों से तथा हाथोंसे समुद्र को पार कर सकते हैं। आप विश्वास करें, अब हम शीघ्र ही आपकी प्रिया से आपको मिला देंगे।"

यह सुनकर श्रीरामजी पुनः हनुमानजी को लक्ष्य करके प्रलाप-सा करने लगे। पवन-पुत्र! तुमने समुद्र कैसे पार किया? सीताजी ने क्या क्या कहा? मेरी अभी तृप्ति नहीं हुई है। तुम मुझे इस अनुपम अमृतमयी रसमयी कमनीय कथा को सुनाते जाओ रुको मत। हाँ, तो सीता जी ने और क्या कहा?"

बार बार एक ही प्रश्न को करने से लक्ष्मणजी लज्जित हुए। हनुमानजी पुनः पुनः देवी सीता को लक्ष्य करके प्रणाम करके उनके समाचार सुनाने लगे। श्रीराघव सुनते सुनते विह्वल हो जाते। इस पर लक्ष्मणजी ने कहा—"आर्य! आप यह कैसी प्राकृत पुरुषों की सी लीला कर रहे हैं। आपके सम्मुख राक्षस क्या वस्तु है? आप चाहें, तो एक बाण में समुद्र को सोख सकते हैं। देखिये केशरी नन्दन आपके अनुचर हनुमान ने आपकी ही कृपा से कैसा दुष्कर कार्य किया। वे अकेले ही सौ योजन समुद्र को लाँघ गये, जानकीजी का पता लगा लाये, राक्षसों के सिर पर लात रखकर रावण के लड़के को मारकर, सुवर्ण की लंका को जलाकर बिना किसी विघ्न बाधा के लौट आये। आप इनके ऊपर कृपा करें। इन्हें अनुराग भरी दृष्टि से देखें।

इतना सुनते ही श्रीराम चैतन्य हुए। उन्होंने बहते हुए अपने अश्रुओं को रोका। वे बार बार हनुमानजी की ओर देखते हुए बोले—"पवनतनय! तुमने मेरा बड़ा उपकार किया। मैं तुम्हारे उपकार का जीवन भर प्रत्युपकार नहीं कर सकता।

तुम्हारे पारितोषिक देने योग्य कोई वस्तु नहीं देखता। मैं अपना प्रेमालिंगन रूप पारितोषिक तुम्हें देता हूँ।" यह कहकर श्रीराघव ने हनुमानजी का गाढ़ालिङ्गन किया। श्रीराम के प्रेमालिंगन को पाकर पवनपुत्र कृतकृत्य हो गये! उनका सब श्रम सार्थक हो गया। इस अमूल्य पारितोषिक को पाकर प्रमुदित हुए। प्रभु की इस भक्तवत्सलता को स्मरण करके वे प्रेमाश्रु बहाने लगे।

सुग्रीव ने कहा—"राघव! अब शीघ्रता करनी चाहिए। समुद्र पार करके श्री जानकीजी को अविलम्ब लाना चाहिये।"

श्रीराम ने कहा—"हे वानरेन्द्र! तुमने यह बहुत ही उत्तम बात कही। कल उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र है, मेरा चित्त उत्साहित हो रहा है, मैं रावण को अवश्य ही मार सकूँगा। तुम यात्रा की तैयारियाँ करो।"

श्रीराम की आज्ञा पाते ही समस्त वानर परम प्रसन्न हुए। चारों ओर ठहरे हुए वानरों के यूथपतियों ने यात्रा की घोषणा की। सबके कार्य बाँटे गये, पदाधिकारियों का चुनाव हुआ। प्रत्येक टोली के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और सहकारी अध्यक्ष बनाये गये वानरों के मन में अपार उत्साह था। कोई कहता मैं लंका को समुद्र में डुबो दूँगा, कोई कहता मैं रावण को जीवित ही पकड़ लाऊँगा, कोई कहता मैं अगस्त्य की तरह समुद्र को सोख जाऊँगा। कोई कहता इतनी बड़ी सेना की आवश्यकता क्या है, मैं अकेला ही जाता हूँ राक्षसों को मारकर आता हूँ, सीता माता को छुड़ाकर लाता हूँ—"कोई कहता—"तुम सब समुद्र पार जाने का कष्ट क्यों करते हो, मैं समूची लंका को ही उखाड़कर ले आता हूँ। उसमें से जानकीजी को श्रीराम ले लें। राक्षसों को

हम समुद्र में डुबो दें, कुमार अंगद उसके समृद्धिशाली नगर में रहें।"

उन सबको इस प्रकार कहते चिल्लाते देखकर सेनापतियों ने रोका। नल, नील, मयंद, द्विविद तथा अन्यान्य सेनानायक अपनी टोलियों को लेकर आगे बढ़े। वे चाहते थे वानर अनुशासन मानकर क्रमबद्ध नियम से पंक्ति बनाकर चलें, किन्तु वानर तो वानर ही ठहरे। वे अनुशासन को क्या जानें। कोई दौड़कर चलने लगे, कोई कबड्डी मचाने लगे, कोई एक दूसरे पर दूसरे को ढकेलने लगे, कोई पेड़ों पर चढ़कर उन्हें हिलाते, कोई ढाई सेर मधु पीकर मौज मनाते, कोई किसी के शरीर को कर नहाते, कोई फलों को ही खाते, कोई नदी तट देखकर मल-मल किसी का बदन सुहलाते, कोई किसी को पकड़कर उसे ही सुखाते, कोई वन पर्वतों में आग ही लगाते जाते, कोई सम्पूर्ण अंग लगाकर चिल्लाते।

सेनानायक इन सबको बहुत रोकते, डाँटते फटकारते किन्तु वे क्यों किसी की सुनने लगे। वानर चारों ओर थे। उनकी संख्या करना असम्भव था। सम्पूर्ण पृथ्वी वानरों से ही पटी हुई प्रतीत होती थी। रामके काज करने के लिये वानरोंका साहस अपूर्व था। श्रीरामचन्द्रजी हनुमानजीकी पीठपर चढ़कर बैठे थे और लक्ष्मण अंगद की पीठ पर। वे दोनों दूसरों से, वानर दिखायी देते थे ऐसे मानो पीठ पर चढ़ाकर वानरों के लिये मार्ग राह ले जा रहा हो और पीछे पीछे बहुत से वानरों का दल चलते चलते श्रीराम सेतुबन्ध पर्वत पर पहुँचे। वहाँ ऊँची चोटी पर चढ़कर श्रीराम ने चारों ओर दृष्टि डाली मानों वानरी सेना को देखकर उनकी भूख मिटाने के

कर रहा हो। समुद्र को देखकर श्रीराम के नेत्रों से भी जल बहने लगा। वे लक्ष्मण से कहने लगे—"सौमित्रे! देखो, यह कितना अगाध समुद्र है, इसके पार ही मेरी प्रिया है। मैं इस पार हूँ मेरी प्रिया उस पार है, यह समुद्र ही हमारे बीच में व्यवधान है। यही मुझे मेरी प्रिया से मिलने में रोकता है। लक्ष्मण! मैं जानकी के बिना जीवित नहीं रह सकता। मेरी प्रिया न जाने क्या सोच रही होगी।"

लक्ष्मण ने श्रीराम को धैर्य बँधाते हुए कहा—"प्रभो! अधीर होने की कोई बात नहीं है। आप सेना सहित समुद्र के तीर पर चलें वहाँ उसे पार करने का कोई उपाय सोचेंगे।"

लक्ष्मणजी की बातें सुनकर श्रीराम पर्वत से नीचे उतरे। वे सह्य मलय आदि पर्वतों को पार करते हुए समुद्र के तट पर पहुँचे। उन्होंने सुग्रीव को बुलाकर कहा—"वानरराज! सेना को यहीं ठहराओ। समुद्र पार जाने के लिये कोई युक्ति सोचनी होगी। इतना भारी समुद्र हाथों से पार नहीं किया जा सकता। साधारण नौका भी इसमें नहीं चल सकती। बड़ी नौकाएँ जा सकती हैं, पर इतने वानरोंके लिये इतनी नौकायें कहाँसे आवेंगी। नौकाओं को जुटाने में ही बहुत समय लग जायगा तब तक अवधि निकल जायगी; जानकी मर जायगी। फिर मेरा पार जाना सेना एकत्रित करना सब व्यर्थ हो जायगा। अभी तुम सेना को टिका दो। पहरे का कड़ा प्रबन्ध कर दो। राक्षस बड़े मायावी होते हैं। उनके गुप्तचर सर्वत्र होंगे, वे हममें फूट डालने का प्रयत्न कर सकते हैं। जल तथा भोजन की वस्तुओं में विष प्रयोग कर सकते हैं, आग लगा सकते हैं, आकाश से अस्त्रों की वर्षा कर सकते हैं। छिपकर प्रहार कर सकते हैं। इसलिये बड़ी सावधानी से सचेष्ट होकर शिविर की रक्षा की जाय।"

श्रीराम की आज्ञा पाकर सुग्रीव ने सेना के पृथक् पृथक् पड़ाव डाले। सम्पूर्ण सेना तीन भागों में विभक्त कर दी। उनमें भी सबकी टोलियाँ पृथक् पृथक् थीं। सभी सुख-पूर्वक अपने-अपने शिविरों में किलोल करने लगे। श्रीरामचन्द्र जी समुद्र के पार जाने के उपाय सोचने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर तो श्रीरामचन्द्र जी समुद्र के तट पर ठहरे हुए लंका-जाने की बात सोच रहे थे। उधर लंका सर्वत्र बड़ा आतंक-सा छा गया! रावण के मन में शंका उत्पन्न हो गई थी। वह हनुमान् जी के बल, पराक्रम, उत्साह और साहस को देखकर आश्चर्य चकित हो गया था, किन्तु उसने अपना भय किसी दूसरे पर प्रकट नहीं किया। वह बड़ा अभिमानी और हठी था। अपनी दुर्बलता को वह कैसे स्वीकार कर सकता था। अतः हनुमान् जी के आगमन को वह बहुत ही साधारण सी घटना बताता और उनके पराक्रम की सदा उपेक्षा करता रहता।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! हनुमान जी के चले आने के पश्चात् रावण ने लंका में क्या किया। उसने युद्ध के लिए किन-किन की सम्मति ली। अत्यन्त संक्षेप में पहिले आप हमें लंका के समाचार सुना दें। तदनन्तर सेतुबन्ध की कथा सुनावें।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी बोले—"महाभाग! यह आपने अत्यंत ही सुन्दर प्रश्न किया। मुझे केवल राक्षसों की कथा में आनन्द नहीं आता क्योंकि वे श्रीराम में द्वेष भक्ति रखते थे, इसीलिये उनकी कथा कहानी ही पड़ती है। उन विद्वेषी भक्तों के बीच में एक प्रेमी रामानुरागी प्रपन्न भक्त ही नहीं भक्त शिरोमणि थे, उनका नाम था विभीषण। वे दशानन के

में छोटे भाई थे। राम-भक्त होने के कारण अब मैं उनकी शरणागति की कथा कहूँगा। आप सब इस परमपावन पुण्यप्रद प्रसङ्ग को प्रसन्नता-पूर्वक प्रेम के सहित श्रवण करें।"

छप्पय

है प्रसन्न सब चले राम ढिँग मिलि कपि आये।
सुखद सीय सम्वाद आइ सियपतिहिँ सुनाये॥
चूणामणि हनु दई पाइ प्रभु हिये लगाई।
उर अस बाढ्यौ प्रेम मनहु वैदेही पाई॥
कपिपति सेना बानरी, साजि समर हित चलि दये।
लाँघि नदी गिरि नीरनिधि, तीर पहुँच विस्मित भये॥

शरणागत प्रतिपालक श्रीराम

[६७०]

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिम्
य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति ।❀
(श्री भा० ५ स्क० १९ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

इत जारी कपि लंक शंक रावण हिय पैठी ।
देहुँ जानकी नहीं बात खलके मन बैठी ॥
सब सुत सचिव बुलाइ समर हित सम्मति पाई ।
किन्तु न सहमत भये बिभीषण छोटे भाई ।
नीति बिभीषन की सुनी, भयो कुपित अति दशानन ।
नाश समय लखि भक्तवर, तुरत गये तब हरिशरन ॥

जीव को जब तक धन का, विद्या का, परिवार का, प्रभाव का ऐश्वर्य का, कला का तथा सदाचार और तप का भरोसा रहता है

❀ हनुमानजी भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—"चाहे देवता हों, असुर हों, वानर हों अथवा नर हों, सबके लिये यही श्रेयस्कर है कि वह उन नररूपधारी श्रीरामचन्द्रजी का अनन्य भाव से भजन करे जो समस्त कोशल वासियों को अंत समय विमान में चढ़ाकर अपने साथ ले गये थे।"

तब तक हरिशरण में नहीं जाता। जब सब का भरोसा छूट जाता है, जब सबसे नाता टूट जाता है, जब अभिमान का भरा घड़ा फूट जाता है, तब उसे भगवान् की याद आती है। जब तक संसारी लोग उसका सम्मान करते हैं, तब तक वह फूला फूला डोलता है, सबको अपने सम्मुख तुच्छ समझता है। जब भगवान् उसका सर्वस्व नाश कर देते हैं, पुरजन परिजन तथा जातिबन्धु जब उसे निर्धन असहाय समझकर त्याग देते हैं, तब कहीं शरण न देखकर जीव अशरण शरण श्री जानकी रमण की शरण जाता है, उन्हें अपना सुहृद् समझकर उनके आश्रय में रहता है। जहाँ उसने सर्व-भूत सुहृद् सच्चिदानन्द श्रीहरि की शरण ली नहीं, तहाँ वह सभी दुःखों से छूटकर परम शान्ति का अधिकारी बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हनुमान् जी लंका को जाकर जानकी के समाचार लेकर जब सकुशल श्रीराम के समीप लौट गये, तब राक्षसराज दशानन को बड़ी चिन्ता हुई। उसने अपने सभी सामन्त सचिव सेनाध्यक्ष और सगे सम्बन्धियों को बुलाकर उनसे सम्मति की—कि ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिये। राजसभा में तो प्रायः लोग राजा को प्रसन्न करने के निमित्त ठकुरसुहाती की ही बात करते हैं। रावण के रुख को देखकर कोई कहने लगा—"हम सब वानरों को बीन बीन कर खा जायँगे" कोई कहने लगा—"मैं अकेले ही सबको मार सकता हूँ, कोई कहने लगा—"आपने जब देवता तथा समस्त लोकपालों को जीत लिया तो फिर ये राम लक्ष्मण दो राजकुमार क्या वस्तु हैं।" कोई कहता—"हम अभी उस पार जाकर सबको मार आते हैं। कोई कहता—"मारने की क्या आवश्यकता, वे समुद्र पार आ ही नहीं सकते आपसे आप लौट जायँगे।"

उन सबकी बातें सुनकर बुद्धिमान् विभीषण बोले—"तुम सब तो वेतन भोगी हो, राजा को प्रसन्न करने की बातें बनाते हो। राजा ने कहा बैंगन अच्छा है तो उसी की प्रसंशा करने लगे, बड़ा अच्छा है, वायु नाशक है, उसके सिर पर छत्र है, स्वादिष्ट है, साकराज है।" राजा ने कहा बैंगन बुरा है, तो तुम तुरन्त अपनी बात पलट दोगे, कहोगे—"बहुत बुरा है, इसका छूना भी शास्त्रों में निषेध है। एकादशी को जितने बीज पेट में रह जायँ उतने ही सहस्र वर्ष नरक भोगना पड़ता है। तभी तो इसका नाम बेगुन बिना गुणवाला रखा है। सो भैया! तुम लोगों की बात पर राजा चले तो उसका तो सर्वनाश ही हो जाय।"

मेघनाद ने कहा—"अच्छा, चाचाजी! आप ही बतावें शत्रु के साथ अब कैसा व्यवहार करना चाहिये।"

विभीषण ने कहा—"अरे, भाई! शत्रुता किसी कारण से होती है, श्रीरामचन्द्रजी ने हमारा क्या बिगाड़ा है। उनसे शत्रुता होने का तो मुझे कोई कारण दिखायी नहीं देता। उलटे हमने ही अन्याय किया है, परोक्ष में उनकी स्त्री को हर लाये हैं। जानकी श्रीरामचन्द्रजी को सत्कार पूर्वक लौटा दो, सब झगड़ा ही समाप्त हो जायगा। रामचन्द्र से लड़ने का तो मुझे कोई कारण दीखता नहीं।"

मेघनाद ने कहा—"उन्होंने जो चाचा खर आदि को मारा है, यह शत्रुता नहीं है।"

विभीषण ने रोष के स्वर में कहा—"तुम तो हो, अभी बच्चे बुद्धि के हो कच्चे। लड़कपन के कारण तुम ऐसी मूर्खता की बातें कर रहे हो। अरे भाई, खर तो सेना सजाकर श्रीराम से युद्ध करने गया था, उन्हें मारने पहुँचा था। अपनी प्राण की रक्षा के लिये श्रीराम ने भी युद्ध किया। इसमें शत्रुता की कौन सी बात है।

"अब राम अपनी पत्नी को लेने आ रहे हैं, उन्हें लौटा दो, युद्ध की नौबत ही न आवेगी।"

मेघनाद ने कहा—"चाचाजी! आपकी बुद्धि तो प्रतीत होता है सठिया गयी है, आपके शरीर में वीरता का रक्त रहा ही नहीं। भला, शत्रु के सम्मुख ऐसे सिर टेका जा सकता है? यह तो भय-भीत होकर शरण में जाना हुआ। आत्माभिमानी वीर पुरुष कभी ऐसा कर सकता है।"

विभीषणजी ने रोष के स्वर में कहा—"यह वीरता नहीं मूर्खता है। ऐसी वीरता को मैं जाति देश धर्म के लिये घातक समझता हूँ।"

रावण ने देखा बात बढ़ रही है। अतः उसने बिना अपना मत दिये ही उस दिन की सभा भंग कर दी। विभीषण से रहा नहीं गया। भोजनोपरान्त अपने ज्येष्ठ भाई रावण के समीप एकान्त में गये। जाकर प्रणाम करके उसका संकेत पाकर बैठ गये। वहाँ भी उन्होंने रावण को बहुत समझाया। किन्तु वह माना नहीं। अन्त में निराश होकर चले आये।

दूसरे दिन पुनः राजसभा में यह प्रस्ताव छिड़ा कि शत्रु पर कैसे चढ़ाई की जाय। उस समय भी विभीषण ने कहा—"अरे भाई! तुम प्राणिमात्र के सुहृद् श्रीरामचन्द्र को शत्रु क्यों कह रहे हो शत्रुता का काम तो तुमने किया है, उनकी प्राणप्यारी पत्नी को ही। बल पूर्वक तुमने उनसे पृथक् करके उसे अधर्म पूर्वक रोक रखा है।"

मेघनाद ने कहा—"चाचाजी तुम बैठकर माला खटखटाया करो। राजनीतिक बातों में हस्तक्षेप करना उचित नहीं। हम राक्षसों का तो धर्म ही पर स्त्री का अपहरण करना है। हमने कोई अधर्म नहीं किया।"

इतना सुनते ही विभीषण ने मेघनाद को बड़े कड़े शब्दों में डाँटते हुए कहा—"तू बड़ा मूर्ख है रे लड़के! तुझमें इतनी बुद्धि नहीं कि तू किसी मंत्रणा सभा में बुलाया जा सके। तेरी बुद्धि कच्ची है। तू लड़कपन करता है, तुझमें विनय नहीं, शिष्टता नहीं, विवेक नहीं। तू उद्धत क्रूर, अविनयी, ढीठ और निर्लज्ज है। तुझे तो यहाँ से कान पकड़ के निकाल देना चाहिये। तेरी बुद्धि को मानकर काम किया जाय, तो सब चौपट हो जाय। तुझे यहाँ बुलाया किसने। जो तुझे यहाँ लाया हो, मैं कहता हूँ वह भी दंडनीय है।"

विभीषण की रोषपूर्ण बातें सुनकर इन्द्रजीत अत्यन्त ही कुपित हुआ—वह बोला—"हमारे कुल में तुमसे नीच और कायर तो कोई दूसरा राक्षस हो नहीं सकता, जो शत्रु के सिर पर चढ़ आने पर भी आप उसकी प्रशंसा कर रहे हैं, उसके गुण गा रहे हैं, उसे निर्दोष बता रहे हैं। फिर जाओ, तुम उनमें ही मिल जाओ। दो ही तो संसार में निर्दोष हैं। राम और विभीषण। फिर उन्हीं की जाकर लल्लो चप्पो क्यों नहीं करते। यहाँ हमारे ही दिये टुकड़े खाते हो और हमारे ही ऊपर गुर्राते हो। तुम्हारा ही यहाँ बोलने का क्या अधिकार है। मैं युवराज हूँ, तुम किस खेत की मूली हो। तुम्हारा बोलना तो हमारी कृपा के ही ऊपर निर्भर है।"

इन्द्रजीत के ऐसे क्रोधपूर्ण वचन सुनकर विभीषण अपने बड़े भाई रावण से रोष के स्वर में बोले—"राजन्! आप सुन रहे हैं, इस नीच लड़के की बातें। क्या आपकी भी इनमें सम्मति है? आप इसे दंड क्यों नहीं देते? मैं कौन सी अनुचित बात कह रहा हूँ। राम की पतिव्रता प्यारी पत्नी को अकारण रोके रहना कहाँ का न्याय है आप उसे ले जाकर उसके पति से मिला

क्यों नहीं देते। क्यों आप अकारण युद्ध की तैयारियाँ कर रहे हैं? क्यों अपने समस्त कुल का संहार कराने पर उतारू हो रहे हैं। जिस सीता के हाथ को आप पकड़ना चाहते हैं, वह पाँच फणों वाला विषधर सर्प है। राक्षसराज! आप जान बूझकर मृत्यु का आलिङ्गन क्यों करना चाहते हैं। राम के सम्मुख आप ठहर नहीं सकते।"

इतना सुनते ही रावण गर्जकर बोला—"बस, बहुत हो गया। यदि इससे आगे कुछ कहा तो मैं तेरी जीभ खिंचवा लूँगा, निर्लज्ज कहीं का। तुझे अपने पिता तुल्य बड़े भाई के सम्मुख ऐसी कायरतापूर्ण बातें कहने में लज्जा भी नहीं आती। तू जिन घर द्वार हीन असहाय तपस्वियों की बार बार प्रशंसा कर रहा है, उनके पास ही क्यों नहीं चला जाता। कहावत है, एक कायर लाखों को कायर बना देता है, एक वीर लाखों के मन में वीरता के भाव भर देता है। तेरा जन्म राजवंश में हुआ है, मेरा छोटा भाई है, अतः तेरी बात का प्रभाव भी पड़ सकता है। एक मछली समस्त ताल को दुर्गन्धमय बना देती है। तेरे यहाँ रहने से हमें बड़ी हानि है। तू नीच है, शत्रु का गुप्तचर है, उससे वेतन पाता है, तभी तो हमें बार-बार निरुत्साह करने की चेष्टा कर रहा है। अब तैंने मुझे अपना काला मुँह दिखाया तो उसे कटवा लूँगा, अब तैंने जीभ हिलाई तो उसे मुख से निकलवा लूँगा! भाग जा, जहाँ तेरी इच्छा हो चला जा।" भरी सभा में अपने बड़े भाई द्वारा ऐसा अपमान होते देख कर विभीषण अत्यन्त ही लज्जित हुए, वे अपने चार मंत्रियों के सहित तुरन्त सभा भवन से उड़कर आकाश में पहुँचे और वहीं से चिल्लाकर बोले—"मैं समझता हूँ, राक्षसों के विनाश का समय उपस्थित हो गया है। तभी तो ये अन्याय पर अन्याय करते

जाते हैं। मैं प्राण रहते अन्याय का समर्थन नहीं कर सकता। अतः सर्वभूत सुहृद्-प्राणिमात्र के रक्षक, शरणागत प्रतिपालक श्रीराम की मैं शरण जा रहा हूँ। वे ही मेरी गति हैं, वे ही मेरी मति हैं, वे ही मेरे सर्वस्व हैं। शरण में गये हुए का वे उद्धार अवश्य करते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर विभीषण जी आकाश मार्ग से उड़े और कुछ ही काल में वे समुद्र के उत्तर तीर पर जहाँ श्रीरामजी वानरी सेना के सहित पड़ाव डाले पड़े थे। वहाँ आये। आकाश से ही उन्होंने आर्त स्वर में कहा—"मैं अन्यायी दुष्ट रावण का छोटा भाई हूँ। उसके अन्याय का समर्थन न करने के कारण उसने मेरा परित्याग कर दिया है, अब मैं शरणागतों के प्रतिपालक, प्राणिमात्र के रक्षक, सबके त्राता, सबके अभयदाता श्रीरामचन्द्र की शरण में आया हूँ।"

रावण का छोटा भाई और युद्ध के समय श्रीराम की शरण आया है, इस बात पर सुग्रीव जी को संदेह हुआ। वे स्वयं शिविर से उठकर श्रीराम के समीप बोले—"राघव! रावण का छोटा भाई आया है। वह आपकी शरण चाहता है। मेरा तो अनुमान है, उसकी शरणागति बनावटी है, स्वार्थ की है। या तो वह रावण का गुप्तचर है, हमारा भेद लेने आया है, या हम पर प्रहार करेगा। उसके साथ चार सचिव और हैं। मेरा अनुमान है उन सबकी इच्छा मुझे आपको लक्ष्मण को तथा हनुमान और अङ्गद को मारने की है। मैं उसे निर्दोष नहीं समझता। आपकी क्या आज्ञा है, उन सबको मार डालें या पकड़ कर कैद कर लें।"

लीलाधारी श्रीराघव को तो लीला करने में ही आनन्द आता है। अतः वे बोले—"भाई, विषय तो बड़ा गम्भीर है, इसके रहस्य

को तो मैं भली भाँति समझ नहीं सकता। सभी सचिव बैठकर इस विषय में मंत्रणा करें।"

श्रीराम की आज्ञा पाते ही अङ्गद, हनुमान्, नल नील, मयंद द्विविद, जामवन्त तथा अन्यान्य श्रेष्ठ वानर एकत्रित हुए। श्रीराम के पूछने पर सभी ने अपनी अपनी सम्मति दी। किसी ने कहा—"उन्हें मार देना चाहिये, किसी ने कहा—"पकड़ कर कैद कर लेना चाहिये, किसी ने कहा—"उनके पीछे दूत लगा देने चाहिये।" किसी ने कहा—"पहिले भेद जानकर तब मित्रता शत्रुता का निर्णय करना चाहिये।" सब का बातें सुनकर हनुमान् जी ने कहा—"देखो भाई! मैं व्यर्थ बोलना नहीं चाहता, किन्तु श्रीराम के पूछने पर उत्तर न देना भी मूर्खता है। अतः मेरा तो मत है कि विभीषण के साथ ऐसा कोई भी व्यवहार न किया जाय, जिससे उसे हमारे ऊपर संदेह हो, कि ये हमारे ऊपर विश्वास नहीं करते। जब वह स्पष्ट शब्दों में शरण चाह रहा है, अपना सर्वस्व छोड़ कर ऐसे समय में यहाँ आया है तो ऐसे उदार द्वार से भी वह निराश होकर लौटे, यहाँ भी उसका तिरस्कार हो, यह उचित नहीं। ये चरण तो प्राणी मात्र के विश्राम स्थान हैं। कहीं भी जिसे शरण न हो, कोई भी जिसे न अपनावे, वह यहाँ आवे। यहाँ सब का निर्वाह है, सबके लिये खुला द्वार है। मेरा मत तो ऐसा है, भक्त पर सन्देह करना ही पाप है।"

अपने मन की बात महावीर के मुख से सुनकर हँसते हुए श्रीराघव बोले—"देखो, भाई केशरी नन्दन हनुमान् ने मेरे मन की बात कही है। जो मित्र भाव से मेरे समीप आता है, उसका मैं त्याग करना भी चाहूँ, तो मैं स्वयं ऐसा करने में असमर्थ हूँ। शरणागत को मैं कभी ठुकरा नहीं सकता।"

सुग्रीव बोले—"हाँ, प्रभो यह तो उचित ही है, किन्तु कोई

शुद्ध चित्त वाला निर्दोष पुरुष शरण में आवे, तब तो उसे अपनाना ही चाहिये। किन्तु जो सदोष हो, जिसके चरित्र के सम्बन्ध में सन्देह हो उसे कैसे सहसा स्थान दिया जा सकता है ?"

श्रीरामचन्द्र जी गम्भीरता के साथ कहा—"भैया ! अपने हृदय पर हाथ रखकर देखो। संसार में सर्वथा निर्दोष कौन है। दोषी ही तो शरण में आवेगा। निर्दोष तो निर्दोष है ही। दोषी के दोषों को दूर करना यही तो समर्थ शरणागत प्रतिपालक का कार्य है। अतः दोषी हो निर्दोषी हो मैं विभीषण का त्याग न कर सकूँगा।"

यह सुनकर विभीषण बोला—"अब महाराज ! आप सब समर्थ हैं, आपसे कहे कौन ? आप स्वयं ही सोचें रावण इसका सगा भाई है। आज उस पर विपत्ति पड़ रही है। जो ऐसी घोर विपत्ति के समय अपने भाई को छोड़ सकता है उसे क्या आशा की जाय कि वह हमारा साथ देगा ही।"

यह सुनकर श्रीरामचन्द्र जी हँस पड़े भगवान् के हँसने का भाव यह था कि जो दोष वानर राज ! विभीषण पर लगा रहे हैं, उस दोष के दोषी तो वे स्वयं भी हैं, किन्तु इस बात को स्पष्ट न कहकर ये लक्ष्मण को लक्ष्य करके बोले—"लक्ष्मण ! सुग्रीव जी ने कैसे रहस्य की भीतरी बात पकड़ी। इसे अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि वाले विद्वान् पुरुष के अतिरिक्त कौन समझ सकता है। फिर सुग्रीवजी की ओर देखकर बोले—"वानरेन्द्र ! मैं तो विभीषण को भक्त समझता हूँ, अब तक उसे कोई ऐसा दिखाई नहीं दिया था, जिसकी शरण जाता। अब उसका ध्यान मेरी ओर गया। रावण का और मेरा उसने बलाबल देखा। मुझमें रावण की अपेक्षा उसे अधिक गुण दिखाई दिये, अतः रावण का परित्याग

करके वह मेरी शरण में आया। जीव सर्वगुण सम्पन्न से मैत्री करना चाहता है, जिससे उसका मन मिल जाय। विभीषण का मन मुझसे मिल गया है, अपने भाई से उसका चित्त फिर गया है।"

सुग्रीव ने कहा—"राघव! आप तो हैं सरल। यह साधारण राक्षस नहीं रावण का भाई है, राजा का पुत्र है। ऐसे संकट के समय यह किसी भारी स्वार्थ को लेकर आपकी शरण में आया है। इस समय इसके आने से मुझे संदेह हो रहा है।"

श्रीरामचन्द्र जी ने गम्भीर होकर कहा—"भैया! इसमें संदेह की कोई बात नहीं। मान लो, स्वार्थ से ही आया, आया तो मेरी शरण में। मैं उसके स्वार्थ को भी सिद्ध करूँगा। रही असमय की बात, सो भैया! देखो, ये जाति के लोग समीप में रहने वाले लोग समर्थ प्रभावशाली व्यक्ति से मन ही मन जलते रहते हैं। भीतर ही भीतर उसके पराभव को चाहते रहते हैं। अपनी जाति का निर्दोष भी पुरुष हो तो राजा उस पर संदेह करते हैं। संभव है जब विभीषण ने सच्चे हृदय से बार बार सीता को लौटाने का आग्रह किया होगा, तब रावण का उस पर हमारा गुप्तचर होने का संदेह हो गया हो उसने इसे त्याग दिया हो। प्राणी बिना आश्रय के रह नहीं सकता। अतः वह रावण को छोड़कर राम के समीप आया हो।"

सुग्रीव ने कहा—"यह सब तो ठीक है, किन्तु प्रभो! ऐसा व्यवहार भ्रातृ-धर्म के विरुद्ध है।"

इस पर श्रीराम अत्यन्त ही करुणापूर्ण वाणी में बोले—"भैया! सुग्रीव! देखो माता के पेट से ही कभी कभी शत्रु पैदा हो जाता है। संसार में सभी भाई भरत के समान नहीं होते। मित्र रूप में भी बहुत से शत्रु हो जाते हैं। सभी मित्र तुम्हारी

भाँति उपकारी नहीं होते। पुत्र रूप में भी शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं, जो राज्य तथा धन के लोभ से पिता तक की हत्या कर देते हैं। आत्म प्रशंसा न समझो तो भैया! सब पुत्र राम की भाँति पितृ भक्त नहीं होते। विभीषण ने यदि राज्य के लोभ से अपने भाई को छोड़ा है तो मैं उसे राजा बनाऊँगा। लंका के राज सिंहासन पर उसका अभी अभिषेक करूँगा।"

यह सुनकर सुग्रीव बोले—"महाबाहो! मैं आपकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता, किन्तु आप यह और ध्यान रखें कि यह राक्षस है। राक्षस स्वभाव से ही क्रूर होते हैं। पहिले तो यह विश्वास उत्पन्न करा लेगा, पीछे यह आप पर लक्ष्मण पर या मुझ पर प्रहार कर सकता है। इसलिये मैं तो इसे किसी प्रकार अपने में मिलाने के पक्ष में नहीं।

श्रीराम ने कहा—"सुग्रीव! तुम गम्भीरतापूर्वक विचार करो। यह ठीक है, कि राक्षस क्रूर होते हैं, किन्तु सभी जाति के लोग एक से नहीं होते, अपवाद सभी में रहता है। राक्षसों में भी भले आदमी हो सकते हैं। ब्राह्मणों में भी क्रूर हो सकते हैं। अतः कपिराज! आप केवल राक्षस होने से ही इसे त्याज्य न समझें। रही प्रहार की बात, सो मुझ पर यह क्या प्रहार करेगा। यह तो रावण का छोटा ही भाई है चाहे वह स्वयं साक्षात् मेरी शरण में आ जाय तो मैं उसको भी अपना लूँगा। देखो चाहे कैसा भी दुराचारी क्यों न हो, यदि वह मेरी शरण आता है तो मैं उसे अपना ही लेता हूँ। यह मेरा व्रत है, नियम है, सदाचार है। मेरी प्रतिज्ञा है कि शरणागत का मैं त्याग नहीं करता। निर्बल आदमी भयभीत होता है। मुझे अपने बल का भरो[illegible] विश्वास है, आत्म विश्वास के सहारे ही मैं [illegible] में आये हुए का मैं परित्याग नहीं कर सकता।

भगवान् के ऐसे वीरता पूर्ण वत्सलतायुक्त दृढ़ वचन सुनकर सुग्रीव के सभी संशय छिन्न-भिन्न हो गये। वे गद्गद् वाणी में बोले—"प्रभो! ऐसे वचन आपके ही अनुकूल हैं। क्यों न हो आप तो दीनबन्धु हैं। अशरण शरण हैं। प्रणत दुःख भंजन हैं। यदि आप विभीषण को शरण में लेना चाहते हैं, तो हम सहर्ष उन्हें स्वागत सहित आपके समीप लाते हैं।"

यह कहकर सुग्रीवजी ने संकेत से विभीषण को नीचे बुलाया। श्रीरामानुचर का संकेत पाते ही भक्तवर विभीषण अपने सचिवों सहित भूमि पर उतर आये। आते ही वे प्रभु के पावन पादपद्मों में प्रेमपूर्वक पड़ गये। अपने पैरों में सचिवों सहित विभीषण को पड़ा देखकर श्रीराम ने उन्हें बलपूर्वक उठाया, प्रेम के सहित छाती से चिपटाया और उन्हें अभय दान दिया।"

प्रेमाश्रुओं से प्रभुके पादपद्मों को पखारते हुए विभीषण बोले—"मैं अपने पुत्रों को पत्नियों को राजवैभव को त्याग कर राघव की शरण आया हूँ। प्रभो! मैं उस पापी भाई के समीप रहना नहीं चाहता जो शक्ति स्वरूपा भगवती सीता का अपमान कर रहा है। उनका दुरुपयोग करना चाहता है। मैं उनके उद्धार में आपको योगदान दूँगा। अपनी बुद्धि का उपयोग उत्तम कार्य में करूँगा मैं लंका का सब भेद आपको बताऊँगा।"

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—"सखे! यह तो तुम्हारा कर्तव्य है। मेरा कर्तव्य तो अपनाना है। जिसे मैं अपना लेता हूँ, उसे अपने ही काम में लगा लेता हूँ। उसे सर्वात्म भाव से अपना बना लेता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीराम के ऐसे सुन्दर सुखद शान्तिदायक वचनों को सुनकर विभीषण के रोम रोम खिल उठे। उन्होंने रावण का बल पराक्रम सैन्यबल मंत्री सचिवों की बुद्धि

तथा सभी भेद श्रीराम को बता दिये। विभीषण की ऐसी निष्कपट सरल बातें सुनकर श्रीराम परम प्रसन्न हुए। उन्होंने विभीषण का हाथ अपने हाथ में पकड़ कर दृढ़ प्रतिज्ञा करते हुए ये वचन कहे—"राक्षस राज! मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ कि दुराचारी रावण का मैं वध करूँगा। उसे बन्धु बान्धवों और सचिवों सहित परलोक पठाऊँगा। तुम्हें लंकापुरी का राजा बनाऊँगा।"

इतना कहकर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मण जी से कहा—"लक्ष्मण! तुम अभी जाकर समुद्र से जल ले आओ मैं इन महात्मा विभीषण का लंका के राज्य पर अभिषेक करना चाहता हूँ।"

यह सुनकर विभीषण जी बोले—"प्रभो! राज्यपाट की क्या आवश्यकता है। आपके दर्शन हो गये। आपने अपने चरणों में शरण दी, इससे बढ़कर राज्यपाट थोड़े ही है। अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। आपके चरणों में अनुराग हो ऐसा ही आशिर्वाद दें।"

भगवान् ने कहा—"यह ठीक है, कि मेरे भक्त को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, किन्तु गन्धी की दुकान पर जाकर कोई सुगन्धि से जैसे वंचित नहीं रह सकता, वैसे ही मेरा भक्त सांसारिक प्रसाद से भी वञ्चित नहीं रह सकता। मेरे भक्त के हृदय में जो अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है उसे मैं कभी न कभी किसी न किसी रूप में पूरी करता ही हूँ। तुम लंका के राज्य को मेरा प्रसाद समझकर स्वीकार करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की आज्ञा से विभीषण जीने अभिषेक कराया। श्रीरामचन्द्रजीने रावणको मृतक समझकर विभीषण को लंकेश घोषित कर दिया। विभीषण भी सदा सब प्रकार से श्रीराम की सेवा में तत्पर रहने लगे।"

छप्पय

आयो तुमरी शरन दीनवत्सल सुनि स्वामी।
सुनत शरन हरि लये कृपानिधि अन्तर्यामी॥
सचिवनि करी कुतर्क राम एकहु नहिं मानी।
तनिक न शंका करी भक्त हियकी सब जानी॥
बन्धु तिरस्कृत विभीषण, लखे राम दुःखित भये।
तुरत मँगायो सिन्धुजल, झट लंकापति करि दये॥

समुद्र की शरणागति

(६७१)

न त्वां वयं, जडधियो नु विदाम भूमन्
कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम् ।
यत्सत्त्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा
मन्योश्च भूतपतयः स भवान् गुणेशः ॥*

(श्री भा० ९ स्क १० अ० १४ श्लो०)

छप्पय

पार जान हित सिन्धु विनय रघुपति अति कीन्हीं ।
किन्तु जलधि जड़ गैल नहीं रघुवरकूँ दीन्हीं ॥
कर्यो कोप करुणेश धनुषपै सर सन्धान्यो ।
लख्यो वेष विकराल नाश निज जलनिधि जान्यो ॥
तुरत रूप रखि भेंट लै, आयो राघव की शरन ।
हाथ जोरि गद्-गद् गिरा, लग्यो विनय इस्तुति करन ॥

प्रियमिलन में जो विघ्न डालता है, उस पर क्रोध आना स्वाभाविक है। इष्ट की प्राप्ति के लिये किया हुआ क्रोध अत्य-

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शरण में आया समुद्र श्रीरामचन्द्रजी की इस प्रकार विनय करने लगा। वह बोला—"हे भूमन्! हम जड़ बुद्धि वाले आपके यथार्थ रूप को नहीं जान सकते। आप तो कूटस्थ, आदि पुरुष तथा सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं। आपके सत्वगुण से देवता रजोगुण से प्रजापति और तमोगुण से भूतपति उत्पन्न होते हैं। आप ही सम्पूर्ण गुणों के स्वामी हैं।"

धिक प्रेम का द्योतक है। मनोविकार नहीं। वह स्थाई भी नहीं होता, उसमें हठ भी नहीं द्वेष भी नहीं। वह एक दूधका सा उबाल है। जहाँ प्रिय मिलन की आशा दिखायी दी तहाँ वह आवेश समाप्त हो जाता है। श्रीराम की समस्त चेष्टाएँ जीवों को अपने समीप बुलाने की हैं। जीव संसार में भुलाये हुए हैं। वे काम के समीप तो प्रसन्नता से दौड़-दौड़ कर जाते हैं, किन्तु राम के समीप बुलाने से भी नहीं आते। करुणावरुणालय राम जब आग्रह करते हैं, अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। तब जीव विवश होकर उनकी शरण लेता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विभीषण को श्रीरामजी ने शरण दी। उन्हें सर्वात्मभाव से स्वीकार कर लिया। लक्ष्मण और सुग्रीव के सदृश बना लिया क्षण भर में ही उसे अनाथ से सनाथ और दरिद्र से सम्राट् कर दिया। राक्षसेन्द्रपर इतनी अपार कृपा देखकर सभी वानर किलकिला शब्द करने लगे। सभी विभीषण को साधुवाद देने लगे। सभी उसके भाग्य की प्रशंसा करने लगे। सभी के हृदय में अपार हर्ष हो रहा था। भगवान् कितने उदार हैं, आते ही विभीषण को लंका का राजा बना दिया, उसे अपने प्रधान सचिवों में मिला लिया। अब वे विभीषण को सम्मान देने के निमित्त उनसे पूछने लगे—"राक्षसराज! इस इतने भारी सागर को पार कैसे किया जाय। मेरी प्रिया उस पार पड़ी है। शत्रु की नगरी समुद्र पार है। मेरी वानरी सेना इस अगाध सागर को पार कैसे कर सकेगी?"

हाथ जोड़कर विभीषण बोले—"प्रभो! आपके लिये क्या कठिन है? आपके संकल्प से सृष्टि होती है। आप चाहें तो अपने धनुष को रख दें उसी के ऊपर से समस्त सेना चली जाय अथवा आप बाणों से समुद्र को ढँक सकते हैं। एक बाणमें सागर

को सुखा सकते हैं। किन्तु ये सब बातें आपके इस रूप के अनुरूप नहीं। आप तो नरलीला कर रहे हैं अतः मनुष्योचित ही उपाय कीजिये। आज्ञा हो तो निवेदन करूँ।"

श्रीरामजी ने उत्सुकता के साथ कहा—"हाँ, हाँ, बताइये। कौन-सा उपाय काम में लाना चाहिये।"

विभीषण बोले—"सब कार्यों में सर्वप्रथम साम का प्रयोग करना चाहिये। जो काम शान्ति से न हो सके तब दान, भेद और दंड का प्रयोग करना चाहिये। इस सागर को आपके पूर्वज सगर के पुत्रोंने खोदा है, उसी समय लंका भारत से पृथक होकर उसका उपद्वीप हो गयी। इस नाते से सागर भी इक्ष्वाकुवंशी है और आप भी इक्ष्वाकुवंशी हैं। भाई चारे का सम्बन्ध है। अतः पहिले आप शान्ति के साथ समुद्र तीरपर जाकर उसके सम्मानार्थ उससे मार्ग देने की प्रार्थना करें। यदि शान्ति से न माने, तब दंड का प्रयोग किया जाय। यद्यपि मैं आपको सम्मति देने के योग्य नहीं, किन्तु आपकी आज्ञा का पालन करना मेरा परम कर्त्तव्य है। आपने मुझसे पूछा, तो मैंने अपने विचार प्रकट कर दिये अब आप जो उचित समझें वह करें।"

श्रीराम ने लक्ष्मण और सुग्रीव को सम्बोधित करके कहा—"भाई, तुम दोनों भी परम बुद्धिमान् हो। तुम भी अपनी-अपनी सम्मति दो।"

इसपर लक्ष्मण और सुग्रीव ने कहा—"राक्षसराजविभीषण का मत धर्मानुकूल है, अभी समुद्र से सरलता पूर्वक प्रार्थना की जाय, यदि वह न माने तो पीछे जैसा हो तैसा किया जाय।"

सबकी सम्मति समझकर सर्वभूतसुहृद् श्रीराम समुद्र के समीप गये। वहाँ उन्होंने एक वेदी बनवायी, उसपर कुशासन बछवाया। उस कुशासन पर श्रीराम हाथ जोड़कर बैठ गये। वे समुद्र को प्रसन्न करने के निमित्त दृढ़ आसन से बाहुपर सिर रख कर लेट गये। वे मुनिव्रत धारण करके समुद्र के द्वारपर बिना कुछ खाये पीये धरना देने लगे।

इधर वानरी सेना में रावण का एक दूत शार्दूल आया। इतनी अपार सेना को देखकर वह शीघ्रता पूर्वक लंका गया। वहाँ उसने रावण को सभी समाचार सुनाये। अब रावण ने भेद नीतिका आश्रय लिया। उसने अपने चतुर दूत शुक को बुलाया और उसको समझाते हुए कहने लगे—"देखो, तुम अभी सुग्रीव की सेना में जाओ। सुग्रीव से मेरी ओर से कुशल पूछना और उससे कहना—"इन तपस्वियों के पीछे आप हमसे लड़ने का विचार क्यों करते हैं। आपसे तो हमारी कोई शत्रुता नहीं। हमारे ऊपर चढ़ाई करने से आपका कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हो सकता। फिर हमारा आपका तो अब तक मैत्रीका ही सम्बंध रहा है। तुम भी राजपुत्र हो, मैं भी राजपुत्र हूँ। मैं तो तुम्हें अपना भाई ही समझता हूँ। मैंने आपका कोई अपकार नहीं किया। मेरे किसी सैनिक ने आपके राज्य में कोई अनुचित बर्ताव नहीं किया, फिर आप मुझसे क्यों लड़ना चाहते हैं? आप अपने घर लौट जावें। इन तपस्वियों से हम समझ लेंगे दूसरी बात यह है, कि शत योजन वाले समुद्र को आपके वानर सैनिक पार भी नहीं कर सकते।" रावण अपने दूत शुक को समझाते हुए कह रहा है। तुम मेरी इन बातों को कोमल वचनों में सुग्रीव से कहना। कहने में दीनता भी प्रदर्शित न हो। सुनने वालों को यह भान न हो, कि मैं भयभीत हो गया हूँ। ओजस्वी

भाषा में धीरता के साथ ये सब बातें कहना। फिर उसका सुग्रीव जो उत्तर दे उसे आकर मुझसे कहना।"

रावण की आज्ञा मानकर शुकनामक राक्षस शुकका रूप रखकर आकाश मार्ग से उड़ता हुआ वानरी सेना के समीप पहुँचा। उसने आकश में स्थित होकर सुग्रीव को लक्ष्य करके वे सब बातें सुनाई। वानर तो उद्धत होते ही हैं उन्होंने लपककर आकाश में स्थित शुक को पकड़ लिया। अब वे उसे मसलने लगे, उसके पंखों को नोंचने लगे उसकी आँखें फोड़ने लगे। इस पर उसने श्रीरामचन्द्र की दुहाई दी। दूतधर्म को बताया। दूत सदा अवध्य होता है, यह भी सुझाया। उसकी करुणाभरी वाणी सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने उसे छुड़वा दिया। वह प्राण लेकर भागा, किन्तु सुग्रीवजी से उसे उत्तर तो मिला ही नहीं, अतः उसने रावण का संदेश पुनः दुहराया और उत्तर देने की प्रार्थना की। इस पर सुग्रीवजी ने कहा—"तुम उस दुष्ट रावण से कह देना कि मेरी तुम्हारी तो न कभी मित्रता थी न शत्रुता। तुमने शत्रुता का काम किया शत्रु हो गये। राम मेरे स्वामी हैं, सखा हैं। सेवक अथवा मित्र स्वामी के मित्र को मित्र और शत्रुओं को शत्रु समझते हैं। पक्षियों के राजा जटायु से तुम्हारी क्या शत्रुता थी। तुम राक्षसों के राजा थे। वह पृथ्वीके गिद्धोंका राजा था। यदि राजपुत्र होने से ही भाईचारा हो जाता हो, तो वह तुम्हारा भाई ही था। तुमने उनके स्वामी का अपकार किया, उन्होंने उसमें हस्तक्षेप किया इसलिये तुमने उन्हें मार डाला। इसी प्रकार मैं तुम्हें मार डालूँगा। तुम सीताजी को आदर—पूर्वक लौटा दो। श्रीराम की शरण में आओ तो तुम बच सकते हो, अन्यथा तुम्हारे बचने का कोई उपाय नहीं।"

सुग्रीव के इस सन्देश को लेकर शुक रावण के समीप गया।

उसने अपनी दुर्दशा सुनाई, राम की शरणागतवत्सलता बताई और अन्त में सुग्रीवजी ने जो—जो बातें कहीं थीं वे भी सुनायीं। यह सुनकर रावण क्रोधित हुआ और वह युद्ध की तैयारियाँ करने लगा।

इधर श्रीरामचन्द्रजी बिना कुछ खाये, पिये तीन दिन तक समुद्र के तीरपर पड़े रहे, किन्तु समुद्र ने दर्शन न दिये। कोई दुर्बल आदमी होता तो गिड़गिड़ाता और भी प्रार्थना करता, किन्तु राम तो वीरशिरोमणि थे। इस जड़ समुद्र की मैं विनती कर रहा हूँ, तो भी यह मुझे मार्ग नहीं देता। अच्छी बात है, इसे मैं इसके अभिमान का फल चखाऊँगा। अपनी प्रियाके बिना मुझे पलपल भारी हो रहा है और समुद्र मुझे इसी पार रोके पड़ा है। प्राण-प्रिया के मिलन में मुझे बाधा पहुँचा रहा है। इसे मैं देखूँगा। इसको एक बाण में सुखा दूँगा। इसमें के जलजन्तु मर जायँगे। यह सूख जायगा। इसमें धूलि उड़ने लगेगी। वानर इसे पैरों से ही पारकर जायँगे। यह कहकर क्रोध से लाल लाल आँखें करते हुए श्रीरामजी ने अपने विशाल धनुष की टंकोर की। उस भयंकर टंकोर के सुनते ही सभी जलजन्तु डर गये। मकर, उरग, मीन, कच्छप तथा अन्य जल में रहने वाले जीव बिलबिलाने लगे। दशों दिशाएँ गूँज गयीं। श्रीराम का वह रौद्ररूप देखकर देव, गन्धर्व, ऋषि मुनि सभी डर गये। सबको ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो आजही असमय में प्रलय हो जायगी। सर्वत्र हा-हाकार मच गया। लक्ष्मणजी ने आकर श्रीराम के चरण पकड़ लिये। मुख्य मुख्य वानर भी आकर प्रेम से प्रार्थना करने लगे। उसी समय मूर्तिमान समुद्र भी अपना सुन्दर दिव्य शरीर धरकर बहुत से मणि मुक्ता उपहार में लेकर जल से बाहर निकला। उस समय समुद्र की शोभा

अवर्णनीय थी। उसके शरीर की कान्ति चिकनी वैदूर्य मणिके समान थी। कमल के समान उसके नेत्र थे। लाल कमल की मालाओं से उसका कंठ सुशोभित था। अंग प्रत्यंगों में सुन्दर बहुमूल्य चमकीले आभूषण अङ्गों की शोभा बढ़ा रहे थे। उसने आकर बड़ी नम्रता के साथ प्रभुके पादपद्मों में प्रणाम किया

और हाथ जोड़कर स्तुति करने लगा। गद्गद् वाणी से वह बोला—"प्रभो! आपही ने तो इस चराचर ब्रह्माण्ड को बनाया है, आपने ही सबके स्वभाव बना दिये हैं। मुझे आपने अगाध और अपार बनाया है। अब आप ही मेरी मर्यादा न रखेंगे, तो दूसरा कौन रखेगा। जो भी बली आवेगा वही डरा धमकाकर मुझे मार्ग देने को विवश करेगा। मेरे उदर में असंख्यों जलजन्तु निवास करते हैं। मेरे सूखने पर वे सब कहाँ जायँगे। अतः देव!

अविनय को क्षमा करें। मेरी मर्यादा बनाये रखें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! समुद्र के ऐसे विनीत वचन सुनकर श्रीराम प्रसन्न हुए। उनका क्रोध जाता रहा, अब वे पार जाने के निमित्त समुद्र से परामर्श करने लगे।"

छप्पय

हे अनाथ के नाथ दीन दुखियन दुख त्राता।
हे कृपालु करुणेश शान्ति सत सुख के दाता॥
हे अनादि अखिलेश मनामय अज अघहारी।
हे अच्युत अवधेश अमरपति लीलाधारी॥
जीवविवश गुण प्रकृतिर्तें, करै कर्म ह्वैकें अवस।
मोइ अगाध अपार तुम, रच्यो तजौ मर्याद कस॥

समुद्र पर पुल बाँधने का प्रस्ताव

(६७२)

कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहम्,
त्रैलोक्यरावणमवाप्नुहि वीर पत्नीम्।
बध्नीहि सेतुमिहि ते यशसो वितत्यै,
गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः ॥❀

(श्री भा० ९ स्क १० अ० १५ श्लोक०)

छप्पय

हौ हरि सर्व समर्थ विश्व छिन माँहि बनाओ।
मोपै बाँधौ सेतु पार प्रभुवर पुनि जाओ॥
बालमीक मुनि चरित सेतु करि जगकूँ तारें।
सिन्धुसेतु कपि करैं सैन्य सब पार उतारें॥
रामचरित मुनि सेतु करि, स्वयं अवसि तरि जाइँगे।
बने रहैं पुनि जगतमहँ. सब सेवैं सुख पाइँगे॥

संसार में सभी कृतज्ञ हों सभी दूसरों के सुख दुख को अपना

❀ शुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन्! मूर्तिमान समुद्र प्रकट होकर श्रीराम से कहने लगा—"हे वीर! आप सुखपूर्वक मेरे ऊपर से जाइये। विश्रवा मुनि के मल रूप इस तीनों लोकों को रुलाने वाले रावण को मारकर अपनी पत्नी को प्राप्त कीजिये। यहाँ मेरे ऊपर आप अपने सुयश के विस्तार के निमित्त पुल बनाइये। जिससे यहाँ आकर दिग्विजयी भूपतिगण आपके यश का गान किया करें।

सुख दुख समझकर यथाशक्ति सहायता करने की चेष्टा करते रहें, तो ये लड़ाई झगड़े, कलह तथा दण्डादि के व्यापार क्यों हों। जब घर में रहकर भी मनुष्य घर वालों से विरोध रखता है। जाति में रहकर भी जाति वालों की उन्नति नहीं चाहता। देश में रहकर भी जो देश के साथ द्रोह करता है, स्वदेश को अपना देश न समझ कर उसकी उन्नति में बाधा डालता है। विश्व में रहकर भी जो विश्व का कल्याण नहीं चाहता ऐसे पुरुषों को समर्थ पुरुष दण्ड देते हैं। उसे बलपूर्वक विवश करके अपना कार्य सिद्ध करा लेते हैं। यह पृथिवी वीर भोग्या है, जो निर्बल हैं, शक्तिहीन हैं ऐसे पुरुषों के लिये कोई गति नहीं। दुर्बल पुरुष पृथिवी के भार हैं। दुर्बलों की क्षमा नपुन्सकता है। दुर्बल कभी क्षमा कर ही नहीं सकता। जो प्रहार करने वाले से डरता है वह उसे क्षमा क्या करेगा। क्षमा समर्थ पुरुष ही कर सकते हैं। जिसको दंड देने की हममें शक्ति है, उसी को क्षमा किया जा सकता है। अतः संसार मे निर्बलों के लिये स्थान नहीं। बली अपनी बात विनय से, नीति से, रोष से, भय दिखाकर तथा डरा धमका कर जैसे चाहता है करा लेता है। बली के सामने सभी सिर देते हैं सभी उसे उपाय बता देते हैं, सभी उसकी कर्म सिद्धि में सहायक बन जाते हैं। अकृतज्ञों से प्रीति बिना भय के होती ही नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्रीरामचन्द्रजी ने समुद्र पर क्रोध किया, तब वह मूर्तिमान् होकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। उसने अपनी विवशता बताई, कि आपने ही मुझे अगाध और अपार बनाया है। अब यदि मैं आपको रास्ता दे दूँ, तो मेरी मर्यादा नष्ट हो जायगी। सभी मुझे मार्ग देने को विवश करेंगे। मेरे भीतर रहने वाले जल जन्तुओं को कष्ट होगा. अतः आप मुझसे मार्ग देने का आग्रह न करें।"

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"तब, भाई ! हम उस पार लङ्का में कैसे जायँ ? मेरी प्रिया तो उस पार है, मैं इस पार हूँ, बीचमें तू विघ्न बना मार्ग रोके खड़ा है। हम दोनों में मिलन कैसे हो ? एक शत्रु मेरा लङ्का में बैठा है। दूसरा शत्रु तू मेरे कार्य में विघ्न कर रहा है तुझे बिना सोखे मेरा काम कैसे चलेगा ?"

समुद्र ने कहा—"देखिये, भगवन् ! आप जो अपने इस अमोघ बाण को ताने खड़े हैं पहिले इसे उतारिये। रोष का त्याग कीजिये, मुझसे मित्रतापूर्ण व्यवहार कीजिये। मैं आपको सब बताऊँगा। ऐसी सम्मति आपको दूँगा कि जिससे मेरी मर्यादा भी बनी रहे और आपका कार्य भी सिद्ध हो जाय।"

इस पर श्रीराम बोले—"देखो, भैया नीरनिधि ! मेरा बाण अमोघ है, वह धनुष पर व्यर्थ नहीं चढ़ता। वह चढ़कर बिना छोड़े तूणीर में नहीं आता। अतः मुझे बताओ इस बाण को कहाँ छोड़ूँ ?"

समुद्र ने कहा—"प्रभो ! यदि आपको इस बाण को सार्थक करना ही है तो इसे उत्तर दिशा में छोड़िये। उधर द्रुमकुल्य नामक एक देश है। वहाँ मेरे किनारे पर बहुत से अनार्य दस्यु रहते हैं। वे मेरे जल का दुरुपयोग करते हैं, वे बड़े क्रूर हैं। इस बाण को मारकर उस देश को आप मरुभूमि बना दें।"

समुद्र की ऐसी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने अपना अमोघ बाण उत्तर की ओर छोड़ा। उसके छोड़ते ही उस देश का समस्त पृथिवीतल का जल सूख गया। समुद्र के स्थान पर वह एक देश हो गया, जो मरुभूमि (बद्रीनाथ के आगे तिब्बत) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वहाँ पृथिवी में एक छिद्र हो गया जिससे सदैव मधुर जल निकलता रहता है।

उस देश को भगवान् ने वरदान दिया—"इस देश में पशु

बहुत हों पशुओं के लिये यह देश अत्यन्त ही हितकारी हो। यह देश अल्प रोग वाला और रस से युक्त हो। घृत, दूध आदि रसीले पदार्थ यहाँ बहुत हों और नाना प्रकारकी औषधियाँ यहाँ उत्पन्न हुआ करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तक तिब्बत की सम्पूर्ण भूमि मरुभूमि है वहाँ अन्न उत्पन्न नहीं होता। सैकड़ों योजन मैदान ही मैदान दिखाई देता है। समुद्र के सोखने के चिन्ह अभी तक वहाँ मिलते हैं। भूमि खोदने पर उसके नीचे से सीपी शङ्ख आदि निकला करते हैं। वहाँ के लोग बड़े हृष्ट, पुष्ट निरोग रहते हैं वहाँ बकरी चमरी गौएँ ही परमधन हैं। वहाँ के लोग शपथ भी पशुओं की ही खाते हैं और पत्र में भी पशुओं के कुशल समाचार लिखते हैं। वहाँ औषधियाँ भी बहुत होती हैं। किन्तु वृक्ष नहीं होते। इस प्रकार अपने अमोघ बाण का समुद्र के कहने से उपयोग करके श्रीराम ने समुद्र से पूछा—"अब बताओ, हम लोग कैसे उस पार जायँ? कैसे हम सब सेनासहित लङ्का पहुँच सकें?"

समुद्र ने कहा—"प्रभो! आप एक काम करें, आपकी सेनामें एक नल नाम का सेनापति वानर है। वह देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा का पुत्र है, जैसे विश्वकर्मा क्षणभर में बड़े-बड़े भवन बना सकता है उसी प्रकार उसमें भी बनाने की शक्ति है। आप उसे आज्ञा दें। वह मेरे ऊपर पुल बना देगा। उस पुल से आप पार जा सकते हैं। इसमें मेरी मर्यादा भी बनी रहेगी। आपकी कीर्ति भी दिगदिगन्तों में व्याप्त हो जायगी। जो भी राजा दिग्विजय के निमित्त तेरे तीर पर आयेंगे, वे ही इस अद्भुत सेतु को देखकर आपके गुणों का गान करने लगेंगे। आपकी कीर्ति के गायन से वे संसार सागर से भी पार हो जायँगे। आपका यह

सेतु प्राणियों को सागर पार ही न पहुँचायेगा, अपितु संसार सागर से भी पार कर देगा।"

समुद्र की बात सुनकर श्रीराम जी ने वानर श्रेष्ठ नल को बुलाया और उससे बोले—"क्यों भाई नल! तुम समुद्र पर १०० योजन पुल बाँध सकते हो?"

नल ने कहा—"प्रभो! मैं सुरशिल्पी श्रीविश्वकर्मा के वीर्य से उत्पन्न हुआ हूँ। पिता के सदृश मुझ में बल है, शक्ति है। महेन्द्र पर्वत पर मेरी माता को मेरे पिता ने वरदान दिया था कि तुम्हारा पुत्र मेरे ही समान शक्तिशाली होगा। अतः पिता के वरदान से मैं समुद्र पर सुन्दर सौ योजन वाला सेतु बाँध सकता हूँ।"

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अरे, भाई! यह बात पहिले तुमने मुझे क्यों नहीं बतायी। पहिले से मालूम हो जाने पर ये सब उपद्रव क्यों होते?"

नल ने कहा—"प्रभो! मैं बिना पूछे अपने गुण अपने आप ही कभी प्रकाशित नहीं कर सकता। अब जब समुद्र ने यह बात याद दिलायी और आपने पूछी, तब विवश होकर मुझे सब सचसच बात बतानी पड़ी।"

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा—"तब भाई! तुम कैसे समुद्र पर सेतु बाँधोगे। जो पत्थर तुम डालोगे वे तो समुद्र में डूब जायँगे।"

इस पर नल बोले—"प्रभो! आपके नाम में ऐसी शक्ति है, कि पर्वत जल पर तैर सकते हैं। समुद्र सूख सकता है। गरल अमृत बन सकता है। हम एक पाषाण पर "रा" लिखेंगे, दूसरे पर "म" लिखेंगे, दोनों को जोड़ देंगे। वे वज्रलेप हो जायँगे। मुझे महात्माओं का वरदान या शाप भी है।"

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा—"कैसा वरदान या शाप ?"

नल बोले—जब मैं मन्दराचल पर्वत पर पैदा हुआ तो वहीं अपनी माता के साथ रहने लगा। बालकपन में मैं बहुत अधिक चंचल था। वहाँ बहुत से ऋषि मुनि रहकर जप तप किया करते थे। मैं बाल सुलभ चंचलता वश उनके शालिग्रामों को उठाकर जल में डुबो देता था। जब वे आते तो बहुत घबड़ाते। शालिग्रामजी को जल में ढूँढ़ते रहते। इससे मुझे बड़ी हँसी आती। वैसे वे सब मुझसे बड़ा स्नेह करते थे, किन्तु मेरी इस चंचलता से वे दुखी हो जाते।

एक दिन मुनियों ने मिलकर मुझे शाप दिया, कि "तेरे हाथ से डाला हुआ पाषाण जल में न डूबेगा।" इसीलिये प्रभो! मैं बिना आधार के समुद्र पर सुन्दर पुल बना दूँगा।"

नल की यह बात सुनकर श्रीरामजी परम प्रमुदित हुए। उन्होंने नल का अभिनन्दन किया। भगवान की आज्ञा लेकर और उनकी प्रदक्षिणा करके समुद्र अन्तर्धान हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! समुद्र के अन्तर्धान हो जाने के अनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने समस्त वानर भालुओं को समुद्र पर सेतु बाँधने की आज्ञा दी। श्रीराम की आज्ञा पाते ही वानर किलकिला शब्द करते हुए पयोनिधि पर पुल बाँधने के लिये प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

नल सुरशिल्पीतनय सेतु सुखकर बाँधै वर।
सुघर सेतु बनिजाइ ताहितें जावैं वानर॥
मम मर्यादा रहै रहै यश तुमरो जगमहँ।
नरलीला हरि करहु नहीं नाप्यो जग पगमहँ॥
राम बुलाये नल तुरत, अन्तर्हित सागर भयो।
बाँधो वानर सिन्धुपै, सेतु बिहँसि राघव कह्यो॥

सेतुबन्ध

[६७३]

नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥*
(श्री भा० १ स्क० ३ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

राम रजायसु पाइ सेतु सब बाँधन लागे ।
लैंन वृक्ष अरु उपल वीरवर वानर भागे ॥
उपल उठाइ उठाइ सलिलमहँ फेंके सबई ।
देहिं सबहिं उत्साह बँध्यो पुल बीरों ! अबई ॥
धम्म धम्म पत्थर गिरैं, धूम धड़ाको मचि गयो ।
आर पारतैं सूधि महँ, सूत सामने खिँचि गयो ॥

राम का कार्य समझकर एक मन के बहुत से लोग मिलकर जिस कार्य को करते है उसके करने में अत्यधिक आनन्द आता है । उन कार्यों में क्लेश का अनुभव होता है, जो ममत्व से अहंकार पूर्वक व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के निमित्त किये जाते हैं ।

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! देवताओं के कार्य करने के निमित्त नर देवों राजाराम के रूप में उत्पन्न होकर भगवान् ने समुद्र पर पुल बाँधना आदि अनेक पुरुषार्थ वाले कार्य किये ।"

उनके करने में चिन्ता, अविश्वास, चंचलता, क्षोभ और सन्देह बना रहता है। जो राम का कार्य समझकर किया जाता है उसमें प्रतिक्षण उत्साह बढ़ता है। सभी हँसते खेलते गाते बजाते आनन्द करते जयजयकार बोलते हुए काम करते हैं। वे लोग धन्य हैं, जो राम के निमित्त उत्सव पर्व और धूमधाम में सम्मिलित होते हैं और वे उनमें से भी धन्यतम हैं जो ऐसे कार्यों की योजना करते हैं। ऐसे कार्यों में लोगों को लगाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब निश्चय हो गया कि इस सौ योजन वाले समुद्र पर एक सुन्दर सुदृढ़ सेतु बाँधा जायगा, तो वानरों के हृदय में प्रसन्नता की हिलोरें मारने लगीं। वानर तो खेल कूद हुल्लड़ से प्रसन्न ही रहते हैं। तीन चार दिन से बैठे-बैठे उनका मन भी उदास हो रहा था। बिना काम के बैठना निर्वीर्य आलसी लोगों का काम है। जिसके हृदय में कार्य करने का उत्साह है उसे यदि बिना कार्य के बिठा दिया जाय, तो यह मृत्यु से भी बढ़कर है। राम का काम करते-करते ही जीवन व्यतीत हो यही भगवद्भक्तों का ध्येय होता है। प्रथम तो सेतु-बन्धन समिति का चुनाव हुआ। सब सम्मति से नल को उसका प्रधान शिल्पी नियुक्त किया गया। उनके सहायक शिल्पी नील, गवय, गवाक्ष आदि बनाये गये। जामवन्त कार्य-निरीक्षक अधिकारी हुए। हनुमानजी को श्रम विभाग का सर्वोच्च अधिकारी बनाया गया। वानर भालुओं से पत्थर, काष्ठ, वज्रलेप, चूना और बालू आदि जोड़ने के पदार्थ एकत्रित करना, उनका काम था। पहिले लक्ष्मणजी, हनुमानजी और नल नील ने यह निर्णय किया, कि पुल किस स्थल से आरम्भ किया जाय और कहाँ तक बँधे। हनुमानजी उड़कर मुख में सूत दबाकर उस पार पहुँच गये। इधर के सूत को नल पकड़े रहे। मापयन्त्र से

ठीक करके एक सूत्र इधर से हनुमानजी ने छोड़ दिया। उसे नील ने नाप लिया। नापकर उन्होंने अपना हिसाब ठीक बैठाया। यदि १०० योजन लम्बा पुल बाँधना है, तो चौड़ा १० योजन तो अवश्य होना चाहिये। इसलिये इधर भी १० योजन चौड़ा किनारा नाप-जोख कर ठीक होने पर पुल बाँधना आरम्भ हुआ।

नील ने हनुमानजी से कहा—"देखो महावीर! एक काम करो, पहिले पत्थरों के बड़े-बड़े टुकड़े लाओ। फिर वृक्षोंको तोड़-तोड़ कर उन्हें पाट दो। उनके ऊपर मैं पत्थर जोड़ता जाऊँगा। कुछ वानर जोड़ने में, चूना, गारा लगाने में, सामान को यथा क्रम पहुँचाने में रहें। कुछ वानर बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ कर लावें। कुछ पर्वतों को तोड़कर पाषाणों को फोड़ कर लावें। अब देर करने का काम नहीं।"

हनुमानजी ने कहा—"अच्छी बात है, बनाने का कार्य तुम्हारे अधिकार में है। वृक्ष, पाषाण चूना, गारा, लाना मेरे अधिकार में रहा।" यह कहकर वे वानरों को उत्साहित करते हुए कहा—"वीरो! तुम्हारे लिये इस गौ के खुर के सदृश १०० योजन वाले समुद्र पर पुल बाँधना कौन सी बात है, तुम तो एक छलाँग में उस पार जा सकते हो, सम्पूर्ण समुद्र को पी सकते हो। चाहो तो पूरे समुद्र को पाट सकते हो। हाँ, तो बलवानो! उठो और समुद्र पर पुल बाँध दो। अब देरी करने से काम न चलेगा।"

इतना सुनते ही वानर उछलने लगे, कूदने लगे, किलकिला शब्द करने लगे। दौड़-दौड़कर वृक्षों पर चढ़ने लगे। शाल, ताल, तमाल, तिलक, तिनिस, आम, अनार, अशोक, अश्वकर्ण, नारियल, नीम तथा बकुल बहेड़ा आदि अनेक वृक्षों को जड़

उखाड़ने लगे, उन्हें खींच खींचकर समुद्र में डालने लगे। कोई बड़े-बड़े पर्वतों के शिखरों को तोड़ते, ऊँचे-ऊँचे चट्टानों को फोड़ते कोई कंधों पर रख रखकर समुद्र की ओर दौड़ते, कोई नल के कथनानुसार एक पाषाण से दूसरे पाषाण को जोड़ते। कोई चिल्लाता—"अरे, भाई! खिलवाड़ कर रहे हो। देखो, यहाँ सामग्री कम हो रही है। इतना सुनते ही वानर किलकिला शब्द करते। यन्त्रों से बड़े-बड़े पाषाणों को उठा लाते और उन्हें धम्म से समुद्र में फेंक देते, जिससे समुद्र का पानी योजनों ऊपर उछल जाता। वानरों का तो कुतूहल हो गया। वे आपस में होड़ लगाते देखें कौन के फेंकने से समुद्र का जल अधिक उछलता है। बस, अब यही खेल हो गया। बड़े से बड़े पर्वत को सब मिलकर उठा लाते और उसे पटककर मारते जितनाही जल उछलता उतने ही वानर भी उछल जाते, हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते, एक दूसरे को चिढ़ाते कम लाने वालों को निर्बल बताते। इस प्रकार बड़े आनन्द से पुल बँधने लगा। वानर मदमत्त हाथियों के समान इधर से उधर दहाड़ मारते हुए भागते, बहुत से क्लान्त होकर वृक्षों के नीचे पड़कर सो जाते, बहुत से आकर हनुमान्‌जी को बताते। देखिये, महाराज अमुक वानर सो रहे हैं। तब पवन तनय वहाँ जाकर उन्हें डाँटते और कहते—"तुम लोग बड़े काम चोर हो रे! यह सोने का समय है। दो दिन में पुल बँध जाने दो, फिर तान दुपट्टा सोना।" इतना सुनते ही सोते हुए वानर उठकर भाग जाते, फिर वे दूने उत्साह से श्रीरामचन्द्र जी की जय बोलते हुए पत्थरों को लाते। इस प्रकार पहिले दिन १४ योजन समुद्र पर पुल बँध गया। वानर उस पर उछल-उछलकर देखने लगे, कि सुदृढ़ बना है या नहीं। हमारे आघात से यह टूट तो न जायगा।

श्रीरामचन्द्रजी बड़े कुतूहल से समुद्र के बन्धन को देख रहे थे। उन्हें बड़ा आश्चर्य हो रहा था, कि इतने भारी समुद्र पर ये वानर इतना लम्बा चौड़ा पुल कैसे बना रहे हैं—उन्होंने अत्यन्त आश्चर्य के साथ नल को बुलाकर पूछा—"भैया, नल! तुम किस बुद्धिमानी से किस युक्ति से ऐसा सुदृढ़ पुल बना रहे हो?"

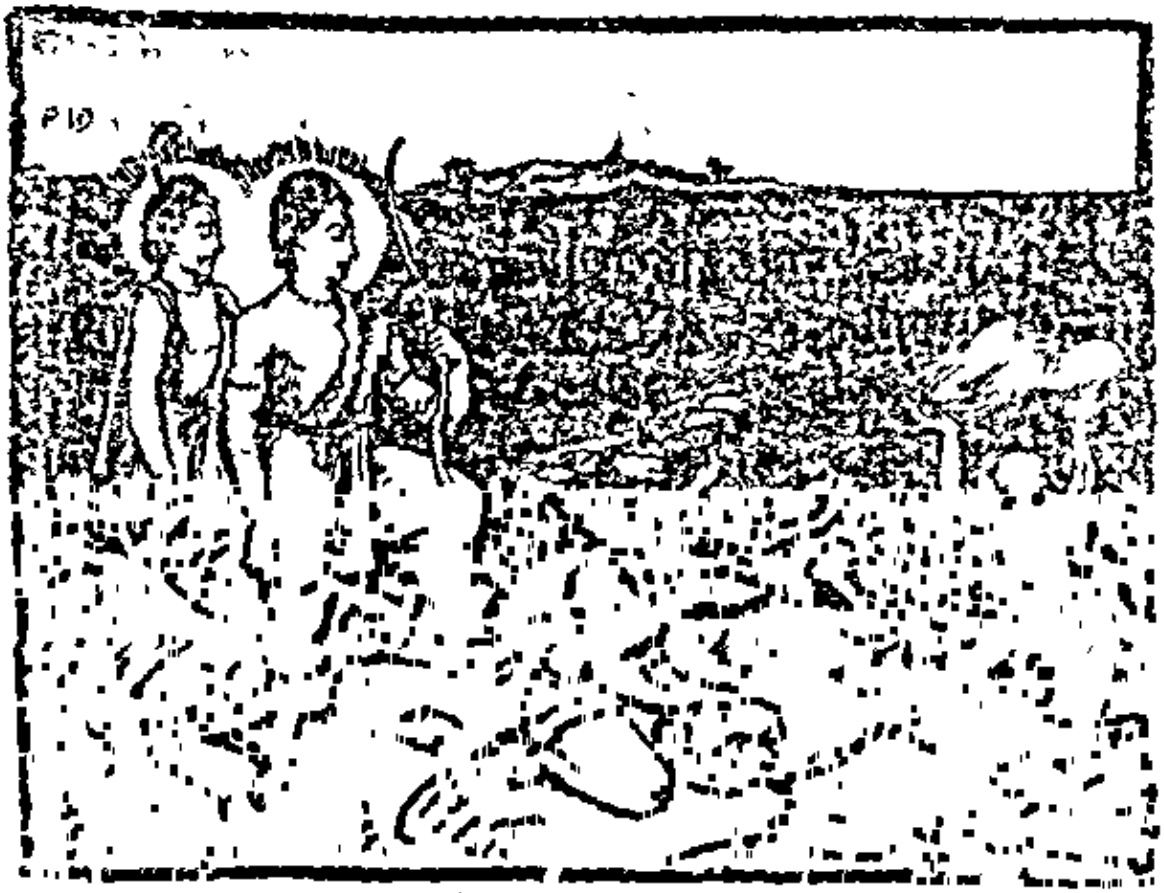

हाथ जोड़कर नल ने कहा—"कृपानाथ! यह सब आपके नाम का ही प्रभाव है।"

श्रीराम ने कहा—"अरे, भाई! यह तो तुम शिष्टाचार की बातें कहने लगे। मेरा अभिप्राय यह है कि पाषाण होता है भारी यह तो जल में डूब ही जायगा। तुम्हें ऋषियों का वरदान है, कि तुम्हारे हाथ से पाषाण न डूबें; किन्तु यह तो बताओ ये आपस में जुड़े कैसे रहते हैं।"

नल ने कहा—"दीनबन्धो ! हम आपके नाम का मसाला लगा देते हैं; इससे तैरते भी रहते हैं और परस्पर जुड़ भी जाते हैं।"

श्रीरामचन्द्रजी को बड़ा कुतूहल हुआ। वे बोले—"अच्छा, भैया ! हम भी अपने हाथ से पाषाण छोड़कर देखते हैं, वह जल पर उतराता है या नहीं।"

यह सुनकर सबको बड़ी उत्सुकता हुई। श्रीरामचन्द्रजी समुद्र के किनारे गये। उन्होंने एक बहुत देखदाखकर हलका सा पाषाण उठाया। उठाकर ज्यों ही उसे जल में छोड़ा कि वह डूब गया। सब वानर तालियाँ बजाकर हँसने लगे। इस पर हनुमान्‌जी ने कहा—"प्रभो ! जिसे आप छोड़ दें जिसे अपने कर का अवलम्बन न दें, उसे संसार सागर में डूबने के अतिरिक्त और कौनसा स्थान है। इस अगाध संसार सागर में डूबते हुए प्राणी को उबारने वाले तो ये श्रीहस्त ही हैं, अतः प्रभो ! आप जिसे अपना लें, अपने हाथ का सहारा दें, उसे फिर कभी भी न छोड़ें। उसे सदा अपनाये रहें। करावलम्ब देते ही रहें।" यह सुनकर सभी सुखी हुए। रात्रि में सबने विश्राम किया।

दूसरे दिन पुनः हुड़ल्ला मचा। सबकी उपस्थिति ली गयी। बूढ़े जामवन्त अपने बड़े बड़े बालों में से लेखनी निकाल कर पाषाणों पर सबकी उपस्थिति भरने लगे। सबको यथायोग्य कामों पर भेजने लगे वानर चाहते थे, कि आज पूरा पुल बँध जाय, किन्तु दूसरे दिन प्रयत्न करने पर भी बीस योजन ही पुल बँध सका। तब तक सायंकालीन संध्या का समय हो गया। कार्य स्थगित कर दिया गया।

तीसरे दिन हनुमानजी बड़े भोर में उठे नलसे बोले—"देखो,

भाई आज काम सवेरे ही लगाना चाहिये। पुल बँधने में बड़ी देरी हो रही है।"

नल ने कहा—"देखिये, महाराज! मैं अपनी शक्ति भर तो कुछ उठा नहीं रखता। फिर आप समझते ही हैं, साधारण काम तो है नहीं। १० योजन चौड़ा १०० योजन लम्बा समुद्र पर पुल बाँधना कोई हँसी खेल तो है ही नहीं। मुझे आप जैसी आज्ञा दें करने को तत्पर हूँ। आज्ञा हो तो मैं रात्रि में न सोया करूँ।"

हनुमानजी ने कहा—"अरे, भाई! सोने को कौन मना करता है, मेरा अभिप्राय यह है, कि काम शीघ्रातिशीघ्र होना चाहिये। तुम देखते नहीं समय कितना न्यून है। चलो अपना मापदंड और कन्नी बसूली लेकर काम लगाओ। फिर क्या था, तीसरे दिन बहुत तत्परता से काम हुआ किन्तु इक्कीस योजन से अधिक न बन सका। अभी तीन दिन में ५५ ही योजन पुल बँधा है इससे हनुमानजी अप्रसन्न हुए। सबको डाँटते हुए कहने लगे—"तुम लोग पुल बाँधते हो या खिलवाड़ करते हो। अभी तो ४५ योजन और बाँधना है। कल सब तत्परता से काम करना।" यह कहकर उस दिन का काम बन्द कर दिया गया।

चौथे दिन वानर २० योजन बाँध सके। इस पर हनुमानजी ने कहा—"तुम लोगों से इतना बहते हैं, फिर भी तुम एक दो योजन ही बढ़ते हो। मैं चेतावनी देता हूँ कल जैसे भी हो तैगे पुल बँधकर तैयार हो जाय। कल जब तक पुल न बनेगा, तब तक काम बन्द न होगा।"

वानरों ने एक स्वर में कहा—"महाराज! चाहे जो हो, कल

हम पुल को पूरा करके ही विश्राम लेंगे चाहे रात्रि भर ही काम क्यों न करना पड़े।"

पाँचवे दिन सब बड़े उत्साह से काम कर रहे थे, अब २२ योजन ही तो रह गया था, वानरों ने वीरता पूर्वक दिन ढलते-ढलते समुद्र के सेतु को पूरा कर दिया। पूरा सेतु बँध जाने पर सभी किलकिला शब्द करने लगे। सभी एक दूसरे के गले से गला मिलाकर मिलने लगे। सभी आनन्द से उछलने कूदने लगे—

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"भाई! भगवान् शंकर की कृपा से यह पुल बना है, अतः मेरी इच्छा है! यहाँ एक शिव लिङ्ग स्थापित किया जाय। हनुमानजी! तुम जाओ उत्तराखंड से एक सुन्दर सा शिव लिङ्ग ले आओ।"

यह सुनकर हनुमान्जी शिवलिङ्ग लेने चले। इधर श्रीरामचन्द्रजी ने ऋषियों से पूछा—"शिवजी की प्रतिष्ठा कब करनी चाहिये और किनसे करानी चाहिये।"

ऋषियों ने कहा—"महाराज! मुहूर्त तो अब ही है। रही प्रतिष्ठा करने की बात सो महाराज! कराने को तो हम सब ही करा सकते हैं; किन्तु कर्मकाण्ड में जैसा रावण निष्णात है वैसा कोई भी नहीं। वह शिव भक्त भी है। यदि वह आपकी प्रतिष्ठा करा सके तो अति उत्तम है।"

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"मुनियो! रावण से तो मेरा वैर हो चुका है, वह मेरे कहने से प्रतिष्ठा कराने क्यों आने लगा।"

इस पर मुनियों ने कहा—"देखिये, राघव! आप से तो किसी का वैर हो ही नहीं सकता। मान लीजिये वैर हो भी तो इसमें और प्रतिष्ठा में क्या सम्बन्ध। वैद्य अगर रोगी के बुलानेपर नहीं जाता तो उसे पाप लगता है, इसी प्रकार कर्मकांडी

ब्राह्मण को योग्य यजमान बुलावे और वह खाली हो फिर भी न आये तो उसे पाप लगता है। शिवप्रतिष्ठा तो ऐसा महान् कार्य है, कि इसमें तो बिना बुलाये आना चाहिये। जो शैव शिवप्रतिष्ठा सुनकर भी उसमें सम्मिलित न हो, तो वह सच्चा शैव नहीं। आप राक्षसराज रावण को बुलावें वह अवश्य ही आपके बुलाने से प्रतिष्ठा कराने आवेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं।"

मुनियों की सम्मति सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने विभीषण के एक मन्त्री को तुरन्त लङ्का भेजा। शिवप्रतिष्ठा का समाचार सुनते ही रावण गद्गद् हो उठा। वह तुरन्त अपनी प्रतिष्ठा पद्धति और आचार्यपने की सब सामग्री लेकर समुद्र के इस पार उपस्थित हुआ। उसने विनियत श्रीराम को प्रायश्चित्तादि कराये। श्रीराम ने उन्हें आचार्य रूप में वरण किया। आचार्य ने कहा—"राघव! अब प्रतिष्ठा का समय आ गया है, शिवजी की प्रतिष्ठा कीजिये।"

श्रीराम ने कहा—"आचार्य प्रवर! पवनसुत शिवलिङ्ग लेने उत्तराखंड गये हैं, अभी तक वे लौटे ही नहीं। प्रतिष्ठा मैं किस की करूँ?"

रावण ने कहा—"महाराज! प्रतिष्ठा का मुहूर्त न निकलना चाहिये। तब तक आप बालू के ही शिवजी की प्रतिष्ठा कर दें।"

श्रीरामचन्द्रजी को तो आचार्य की आज्ञा का पालन करना ही था। बालू का शिवलिङ्ग बनाकर उसकी प्राणप्रतिष्ठा कर दी। प्रतिष्ठा कार्य सकुशल निर्विघ्न समाप्त हुआ। समुद्र तो श्रीराम के अनुकूल ही था। असंख्यों मणि मुक्ता लाकर समुद्र ने दिये। श्रीराम ने आचार्यदक्षिणा में बहुतसा धन, अनेक

के रत्न दिये। उन्होंने कार्य कराने वाले आचार्य के चरणों में प्रणाम किया।

आशीर्वाद देते हुए आचार्य ने पूछा—"राघव ! तुम्हारी मनोकामना क्या है ? किस बात के लिये मैं तुम्हें आशीर्वाद दूँ।"

श्रीराम बोले—"आचार्यप्रवर ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिये, कि मैं अपने शत्रु रावण को रण में मार सकूँ, जिसने मेरी प्यारी पत्नी को बन्दी बनाकर अपने यहाँ रख रखा है।"

यह सुनकर आचार्य धर्म के अनुसार रावण ने कहा—"राघव ! आपकी मनोकामना अवश्य पूरी होगी, मैं आशीर्वाद देता हूँ कि आप अपने शत्रु को अवश्य मार सकेंगे। इतना कहकर शिवजी को प्रणाम करके और सबके द्वारा सत्कृत होकर रावण आकाश मार्ग से लंका चला गया।

इधर तब तक श्रीहनुमान्‌जी एक सुन्दर शिव लिङ्ग लेकर आये। बालू के शिवलिङ्ग को देखकर उन्हें बड़ा क्रोध आया। वे श्रीरामचन्द्रजी से बोले—"राघव ! यह आपने क्या किया, मैं कितने परिश्रम से कितना सुन्दर शिवलिङ्ग लाया हूँ, आपने बालू के शिवलिङ्ग की स्थापना कर दी।"

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"भाई, दुःखी क्यों होते हो, तुम इन्हें हटाकर अपने शिवजी की स्थापना कर दो। तुम भी तो पंडित हो, कर्मकाण्डी हो, साक्षात् शिव ही हो।"

इतना सुनते ही हनुमानजी ने अपनी पूँछ में लपेटकर पूरी शक्ति लगाकर बालुका की बनी शिवलिंग को उखाड़ना चाहा, किन्तु वह टस से मस न हुई। तब तो हनुमान्‌जी बड़े लज्जित हुए। इस पर श्रीरामजी हँसकर बोले—"पवनतनय ! लज्जा की कौन सी बात है, भैया ! शिवलिंग की स्थापना तो जितनी ही

हो जायँ उतनी ही उत्तम हैं। तुम भी अपने शिवजी की स्थापना करदो। मेरे स्थापित शिवजी श्रीरामेश्वर के नाम से विख्यात होंगे और तुम्हारे शिवजी हनुमदीश्वर के नाम से।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा मान कर हनुमान्जी ने शिवजी की स्थापना कर दी। इसलिये श्रीरामेश्वर धाम में श्रीरामेश्वर के समीप श्रीहनुमदीश्वर शिव अद्यावधि विद्यमान् हैं। श्रीरामेश्वरजी के दर्शनों के पूर्व उनके दर्शन करते हैं, जो हनुमान्जी के स्थापित शिवजी के दर्शन नहीं करता, उसकी रामेश्वर यात्रा पूर्ण सफल नहीं मानी जाती। इस प्रकार पुल बँध जाने पर श्रीरामचन्द्रजी समस्त वानरी सेना के सहित उससे पार जाने की तैयारियाँ करने लगे।"

छप्पय

मापदण्डतें नापि बनायो, चौदह योजन।
द्वितिय दिवस जब बीस बन्यो तब कीयो भोजन॥
तृतिय दिवस इकीस बँध्यो बाइस चौथे दिन।
पहुँचे पंचम दिवस पार रचि तेइस योजन॥
सिन्धु सेतु पूरो भयो, रामेश्वर थापित करे।
आशुतोषके दरश करि, नयन नीर सबके भरे॥

सावानरेन्द्रबलरुद्धविहारकोष्ठ—
श्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटङ्का।
निर्भज्यमानधिपणध्वजहेमकुम्भ—
शृङ्गाटका गजकुलैर्ह्रदिनीवघूर्णा ।❀
(श्री भा० ९ स्क० १० अ० १५ श्लो०)

छप्पय

पार पहुँचि सुग्रीव निशाचरपति समुझायो ।
मूढ़ न मानी बात राम अंगदहुँ पठायो ॥
रण के बाजे बजे घुसे लंकामहँ वानर ।
तोड़ें फोड़ें उछरि कूदि सब घूमे घर घर ॥
वन उपवन सब नगर महँ, वानर ही वानर भरे ।
क्षत विक्षित नगरी भई, घर टूटे निशिचर मरे ॥

सैनिक धर्म बड़ा कठोर और निर्दय धर्म है। सैनिक जब शत्रु पर चढ़ाई करते हैं, तो उन्हें दया नहीं रहती। वे उन्मत्त हो जाते हैं, उनके सामने शत्रु की कैसी भी सुन्दर से सुन्दर वस्तु

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिस पुरी के क्रीड़ा स्थल, कोष्ठ, गृहद्वार, प्रधान द्वार सभा स्थल, छज्जे, पक्षियों के स्थान सुग्रीव की वानरी सेना से रुद्ध हो गये हैं। वह लङ्कापुरी, वेदी, ध्वज, सुवर्ण कलश तथा चतुष्पथों के टूटने फूटने के कारण गज यूथपों द्वारा विमर्दित सरोवर के समान हो गयी थी।

आ जाती है। उसे ही नष्ट कर डालते हैं। उस समय उन्हें शत्रु की किसी वस्तु पर दया नहीं आती। यदि युद्ध धर्म इतना कठोर न होता तो यह बढ़ी हुई सृष्टि कहाँ समाती। जैसे उत्पन्न हुई सृष्टि के लिये संहार अनिवार्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! समुद्र पर सेतु बँध गया। वानर बड़ी प्रसन्नता से उस पर कूदने लगे, दौड़ने लगे। सेनापतियों ने सेना को पार होने की व्यवस्था कर दी अब वे सब वानर एक दूसरे को रौंदते, कूदते फाँदते, किलकिला शब्द करते हुए उस पार चले। श्रीरामचन्द्र हनुमामान्जी की पीठपर चढ़कर तथा लक्ष्मण जी अंगद की पीठपर चढ़कर आगे-आगे चले। वानरों का कुतूहल बढ़ रहा था। उनमें से बहुत से पुल से न चलकर तैर कर ही चले, बहुत से नौकाओं से चले बहुत से आकाश मार्ग से उड़कर चले और बहुत से एक दूसरे के ऊपर चढ़कर ही चले।

इस प्रकार वानरी सेना ने समुद्र को पार कर लिया। पार पहुँचकर सुग्रीव ने सुवेल शैल के समीप फल मूल बाहुल्य स्थानमें सेना को टिकाया। उस फले फूले स्थान को पाकर वानर अत्यन्त ही प्रमुदित हुए। वे वृक्षों से तोड़-तोड़कर भल खाते और आनन्द की वंशी बजाते। उन्हें न रावण का भय था, न पराजित होने का आशंका। जिसके सिर पर राम हैं उसको चिन्ता हो ही नहीं सकती।

इधर रावण ने वानरी सेना का पता लगाने के लिये शुक, सारन नामक दूत भेजे। वानरों ने उन्हें पकड़ लिया, किन्तु कृपालु श्रीराम ने उन्हें छुड़ा दिया। उन्होंने जाकर विस्तार के साथ दशानन को राम सेना का समाचार सुनाया और वानरों को अजेय बताया। इस पर रावण ने अपने दुर्ग की सबसे ऊँची

छत पर चढ़कर वानरी सेना को यन्त्र के द्वारा देखा। जैसे छत्ते में चारों ओर मधु मक्खियाँ चिपटी रहती हैं वैसे दशों दिशाओं में, वानरी सेना देखकर रावण भयभीत हुआ। उसने शुक, सारण शार्दूल आदि जितने दूत भेजे सभी ने श्रीराम की सेना को बलवती बताया और रावण को सन्धि करने की सम्मति दी। किन्तु रावण ने स्पष्ट कह दिया, कि शरीर में प्राण रहते मैं सन्धि नहीं कर सकता। अब उसने सोचा किसी प्रकार छल बल से वैदेही को वश में किया जाय। अब उसने राक्षसी माया का आश्रय लिया। वह सीता के समीप जाकर बोला—"वैदेही अब तुम्हारा हठ करना व्यर्थ है। जिसके लिये तुम हठ कर रही थीं, वह राम तो मारा गया। बात यह थी, कि समुद्र पार करके जब वे अपनी सेना सहित इस पार आकर सो रहे थे, तब मेरे सैनिकों ने जाकर राम का सिर काट डाला, सुग्रीव को भी स्वर्ग का रास्ता दिखा दिया, विभीषण पकड़ा गया, अंगद मारा गया। हाँ लक्ष्मण वानरी सेना की सहायता से भाग गया।" यह कह कर उसने समीप में खड़े सेवक से कहा—"वीर विद्युल जिह्व को अभी बुलाओ वह रण से राम का जो सिर काट कर लाया है और राम का धनुष तूणीर छीन लाया है उन सब वस्तुओं को भी लेता आवे।"

रावण ने तो विद्युल जिह्व को पहिले से ही सिखा पढ़ा रखा था। वह माया से रचित श्रीराम का सिर लेकर आया। उसे देखकर जानकी मूर्छित हो गयीं और भाँति-भाँति से विलाप करने लगीं। रावण किसी आवश्यकीय राम-काज से चला गया। उस समय माया से मोहित वैदेही को समझाते हुए सरमा नाम की राक्षसी ने रावण का सब रहस्य समझा दिया उसने कहा "अभी तक तो वानरों और राक्षसों का युद्ध ही आरम्भ नहीं

हुआ है। श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव, अंगद, हनुमान, नलनील तथा अन्यान्य सभी वानर सकुशल हैं। यह श्रीराम का सिर सत्य नहीं, झूठा है, माया से बनाया गया है।" इस प्रकार सरमा द्वारा राक्षस के छल का उद्घाटन होने से सीता परम प्रमुदित हुईं, फिर सरमा ने और भी सब बातें बताईं। सरमा की बातों पर विश्वास करके सीताजी निश्चिन्त हुईं और अपने पति की मंगल कामना करती हुई उन्हीं के ध्यान में मग्न हो गईं।

इधर रावण को उसके नाना माल्यवान् ने बहुत समझाया श्रीराम का बल पराक्रम बताया, सीताजी को छलपूर्वक हर लाने की निंदा की और अविलम्ब जानकी को लौटा देने की सम्मति दी, किन्तु उस हठी दुष्ट राक्षस को भला कौन समझा सकता था, जो अपने को ही सर्व श्रेष्ठ पंडित माने बैठा था।

इधर तो लंका में सर्वत्र रावण की आज्ञा से युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं, उधर श्रीरामचन्द्रजी की सेना में यह परामर्श हो रहा था, कि युद्ध किसी प्रकार किया जाय। श्रीरामचन्द्र जी के सम्मतिदाता भेद बताने वाले प्रधान मंत्री विभीषणजी थे, उनसे उन्होंने सम्मति ली। रावण की कितनी सेना है, कितने सेनापति हैं, कितने वाहन हैं, ये सब बातें पूछीं। फिर सुवेल शैल के शिखर पर चढ़कर श्राराम ने दूर से ही समस्त लंकापुरी को देखा। विभीषण ने एक-एक करके लंका के सभी प्रधान-प्रधान स्थान भगवान् को दिखाये श्रीरामचन्द्र के समीप ही खड़े-खड़े सुग्रीव तथा प्रधान-प्रधान वानर भी लंका के वर्णन को श्रवण कर रहे थे। उस समय रावण अकेला ही अपने भवन को सबसे ऊँची छत पर बैठा था। उसके साथ न कोई मन्त्री था न सेवक। चिन्ता में बैठा कुछ सोच रहा था। विभीषण ने रामको

प्रभो ! यह जो सुमेरु शिखरके समान मुकुट पहिने नीचा सिर किये बैठा है, यही मेरा दुष्ट भाई रावण है। यह एकान्त में बैठकर युद्ध के विषय में सोच रहा है यह संसार में सर्वश्रेष्ठ वीर है। आज तक इसका न किसी ने सामना किया, न इसे कोई युद्धमें पराजित ही कर सका है। इन्द्र से जब युद्ध हुआ तो उनके ऐरावत हाथी ने इसकी छाती में अपने वज्र के समान दाँत मारे थे। उस समय ऐरावत के दाँत चूर-चूर हो गये थे, किन्तु उसकी छाती में खुरसट भी नहीं लगी थी। इसके बलकी थाह नहीं। इसे अपने बल पौरुष का बड़ा गर्व है।"

विभीषण तो श्रीरामचन्द्रजी को वे सब बातें सुना रहे थे किन्तु पीछे खड़े सुग्रीव इन सब बातों को सुनकर अत्यंत ही उत्तेजित हो गये। उनसे रहा न गया। वे अत्यन्त ही शीघ्रता के साथ उड़कर रावण के समीप पहुँच गये। रावण का सिर नीचा था। वह तन्मय होकर कुछ सोच रहा था, इन्होंने जाते ही उसके सुवर्णमंडित दिव्य मुकुट को गिरा दिया और गरजकर बोले—"अरे, दुष्ट तू क्यों अन्याय कर रहा है। मुझे जानता नहीं मैं बालिका भाई सुग्रीव हूँ। श्रीरामचन्द्र मुझे अपना मित्र कहते हैं, किन्तु मैं उनका सेवक, अनुचर तथा दास हूँ। यदि तू अपना कल्याण चाहता है, तो जानकी को लौटा दे, नहीं तो तेरा सम्पूर्ण गर्व चकनाचूर हो जायगा। तेरा सर्वनाश हो जायगा।"

वीराभिमानी रावण ने जब देखा, कि वानर तो बड़ी अशिष्टता कर रहा है, तब उसे बड़ा क्रोध आया उसने सुग्रीव को पकड़कर पृथ्वी में पटक दिया और उनके ऊपर चढ़ गया। सुग्रीव भी दाँव पेंच जानते थे, उन्होंने जो पेंतरा बदला, कि रावण नीचे वे ऊपर। अब तो दोनों क्रोधित हो गये। वह उसे पकड़ता। वह उसे कसता। एक दूसरे को थप्पड़, मुक्का, घूँसा,

लात और तमाचे मारने लगे। चटा-चट शब्द होने लगे एक दूसरे को घुटनों से रगड़ने लगे। सुग्रीवजीने उसे कसकर पकड़ लिया, रावण ने उन्हें नीचे डालकर मसलना आरम्भ किया। सुग्रीवजी ने देखा यह पहाड़ के समान डील डौल वाला जब मेरी छातीपर चढ़ जाता है, तो चकनाचूर कर देता है इसलिये उन्होंने उसे कसकर पकड़ लिया और नीचे खाई में कूद पड़े। दोनों ही कीच में लथ पथ हो गये। यह देखकर रावण सुग्रीव को लिये हुये उड़कर फिर छत पर आया। अब उसने आसुरी मायाका प्रयोग करना चाहा। सुग्रीवजी उसके मनोगत भाव को समझ गये। तुरन्त वे उससे अपने शरीर को छुड़ाकर आकाश मार्ग से उड़कर सुबेल शैलपर पहुँचे। उन्होंने इस प्रकार क्षत विक्षत और श्रमित देखकर श्रीरामजी सब समझ गये और मीठी घुड़की देते हुए बोले—"देखो, भाई! ऐसा साहस अच्छा नहीं होता। यदि तुम्हारा कुछ अनिष्ट हो जाता, तो मेरा तो सब कार्य क्रम ही चौपट हो जाता। मैं जीवित भी न रहता। तुम्हें मेरी शपथ है जो फिर कभी ऐसा साहस किया तो।" इस प्रकार सुग्रीव को समझाकर सब सेवक सचिवों के सहित शरणागतवत्सल श्रीराम शैल शिखर से नीचे आये।

नीचे आकर श्रीरामचन्द्रजी ने विभीषण से पूछा—"हे राक्षसेश्वर! अब बताओ हमें क्या करना चाहिये।"

यह सुनकर सम्मति दाताओं में श्रेष्ठ राक्षसेश्वर विभीषण बोले—"प्रभो! सर्वप्रथम तो आप अपना एक दूत रावण के पास पठावें। वह निर्भीक बली और बोलने में चतुर हो, उसकी वाणी में दीनता भी न हो और साथ ही अत्यधिक उद्धत भी न हो। वह जाकर आपका संदेश रावण से कहे और सीताजी को लौटाने का आग्रह करे। यदि दूत की बात मानकर वह

सत्कार पूर्वक सीताजी को लौटा दे, तब तो युद्ध करना उचित नहीं। यदि वह न माने तब तो युद्ध अवश्यम्भावी है। अतः सर्व प्रथम दूत का भेजना अत्यावश्यक है।"

विभीषण की सम्मति का श्रीराम ने अभिनन्दन किया तथा वालितनय अंगद में दूत के सब गुण समझकर उन्हें ही रावण के समीप पठाया। अंदगजी ने जाकर श्रीराम का संदेश बड़ी ओजस्वी भाषा में निर्भीक होकर भरी सभा में राक्षसराज रावण को सुनाया। अंगद ने कहा—"मैं वालि का पुत्र हूँ, अंगद मेरा नाम है श्रीराम ने मुझे दूत बनाकर तेरे पास पठाया है, तू नीच है, निर्लज्ज है, चोर है। श्रीराम के पीछे तू जगज्जननी जानकी को हर लाया है। तू कामी है, वध करने के सर्वथा योग्य है। तैंने आततायीपने का कार्य किया है। श्रीरामचन्द्र जी तुझे तेरे बन्धु बा धवों सहित मार डालना चाहते हैं। फिर भी वे कृपालु है क्षमा के सागर हैं। यदि तू दाँतों में तृण दबाकर सीताजी को आगे करके दीनता पूर्वक श्रीराम के समीप जायगा, और अपने अपराधों के लिये क्षमा याचना करेगा, तो वे तुझे अवश्य क्षमा कर देंगे। यदि तू अपना कल्याण चाहता हो, तो श्रीराम की शरण में जा।"

इतना सुनते ही अभिमानी रावण परम कुपित हुआ, उसकी भौंहे चढ़ गयीं, आँखें लाल हो गयीं, क्रोध के कारण मुख रक्त वर्ण हो गया। दाँतों को पीसते हुए वह बोला—"इस दुष्ट वानर को पकड़ लो, यह अशिष्ट है अविनयी है, नीच है। पकड़कर इसे मार डालो। यह जीवित न जाने पावे।"

जब कई बार रावण ने मंत्रियों से पकड़ने को कहा, तो चार बली राक्षसों ने अंगदजी को पकड़ लिया। अंगदजी अपना बल कौशल दिखाने के लिये उन चार राक्षसों को लिये हुए ही उड़े।

वेग से उड़ने के कारण वे चारों राक्षस रावण के देखते-देखते उसके सामने ही उसी प्रकार गिर पड़े, जिस प्रकार पेड़ से पके फल गिर पड़ते हैं। अंगदजी उछलकर रावण के महल की छत पर बैठ गये। वहाँ वे पैरों को पटकने लगे, हाथों से प्रहार करने लगे। उनके पैर पटकते ही वह इतनी बड़ी छत टूटकर उसी प्रकार गिर गई जिस प्रकार इन्द्र के वज्र लगने से पर्वत के शिखर गिर जाते हैं। इस प्रकार रावण को श्रीराम का संदेश सुनाकर अपना बल पराक्रम जताकर तथा अपना नाम सुनाकर अंगद जी अपनी सेना में लौट आये। उन्होंने रावण का सब समाचार सचिवों सहित श्रीरामचन्द्र को सुनाया। अब तो कोई बात रही ही नहीं। युद्ध होना अनिवार्य हो गया। सुग्रीवजी ने लंका पर चढ़ाई करने की घोषणा कर दी। सर्वत्र उत्साह छा गया। वानर उछलने कूदने और कबड्डी मारने लगे। वे गर्जते तर्जते और सिंहनाद करते हुए लंका की ओर दौड़े। वे आपस में धक्का मुक्की कर रहे थे। एक दूसरे को पीछे ढकेल रहे थे, सभी सर्वप्रथम जाकर लंका को विदीर्ण करने के लिये लालायित हो रहे थे। उनमें बहुत से काले मुँह वाले थे, बहुतों के मुख रक्तवर्ण थे। बहुत से सुवर्ण के वर्ण के तो बहुत से पीत वर्ण के थे। सबके सब रामकाज में प्राणों को समर्पित करने के लिये तत्पर थे। सभी युद्ध की बलिवेदी पर प्राणों की आहुति देने के लिये उद्यत थे। वे उछलते कूदते हुए वृक्षों और पत्थरों को लिये हुए लंका की ओर बढ़े। वे पाषाणों और नखों से परिधि और तोरणों को तोड़ने लगे। गोपुरों तथा मुख्य-मुख्य द्वारों को ढहाने लगे। वेदियों को विध्वंस करने लगे, क्रीड़ा स्थलों को धूलि में मिलाने लगे, सभास्थलों को गिराकर सम बनाने लगे, तालाबों को तोड़कर जल बहाने लगे, कोई-कोई कूद-कूद कर

नहाने लगे, ध्वजाओं को उखाड़ने लगे, पताकाओंको फाड़ने लगे, सुवर्ण कलशों को उखाड़ कर पृथ्वी पर पटकने लगे। बात की बात में उन्होंने लंकापुरी को उसी प्रकार विमर्दित कर दिया, जिस प्रकार बहुत से हाथी मदमत्त कमलों से फूले सरोवर को विमर्दित कर देते हैं। उस समय लंका वानरों के द्वारा नखों और दांतों के द्वारा क्षत विक्षत की हुई सुन्दरी नायिका के समान प्रतीत होती थी। उन वानरों के आयुध नख और दाँत ही थे वे सबके सब बली थे। सब शूरवीर और उत्साही थे। उन्हें राम का आश्रय प्राप्त था, अतः सभी निर्भय और निडर थे, सबके सब उत्साह में भरे थे। "राजा रामचन्द्र की जय" लक्ष्मणपति की जय, वानरेंद्र सुग्रीव की जय" इस प्रकार सब मिलकर जय जयकार करते। उनके भीषण शब्द से दिशायें गूँजने लगीं। राक्षसों के हृदय फटने लगे। सर्वत्र आतंक छा गया। बहुत से घरों में छिपने लगे। वानर लंका के चारों कोनों पर अपने अपने शिविर स्थापित करने लगे। चारों कोनों पर सेना के पड़ाव पड़ गये। सब ओर से लंका को घेर लिया। लुटेरों से घिरी अबला के समान लंका रोती हुई सी प्रतीत होने लगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वानरों ने लंका को घेर लिया तब रावण ने भी राक्षसों को युद्ध करने की आज्ञा दे दी। अब राक्षस भी सेना सजाकर वानरों से भिड़ गये। दोनों ओर से मार काट आरंभ हो गयी। दोनों ओर से प्रहार होने लगे। युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया।"

छप्पय

नख दाँतनितैं काटि करी क्षत लंका नगरी।
मनुमथली नर करिनि नायिका सरिता सगरी॥
इत उत वानर फिरहिं करहिं मिलि धक्कम धक्के।
निरखि कपिन उत्साह छुटे रावनके छक्के॥
उत निशिचर इत भालु कपि, दोनों सेना सजि गईं।
दोनों विजयी बनन हित, करि रव भीषण भिड़ गईं॥

राक्षसों और वानरों का भीषण युद्ध

(६७५)

रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भ,
धूम्राक्षदुर्मुखसुरान्तनरान्तकादीन् ॥
पुत्रं प्रहस्तमतिकायविम्पनादीन्,
सर्वानुगान्समहिनोदथ कुम्भकर्णम् ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० १८ श्लो०)

छप्पय

पठये कुम्भ निकुम्भ इन्द्रजित् निशिचरपति जब।
समर करन सब चले विभीषण भेद कह्यो सब॥
मेघनाद रण छोड़ि भग्यो माया फैलाई।
नरलीला प्रभु करी गिरे रन दोनो भाई॥
निशिचर दलमहँ हर्ष अति, कपिदल महँ चिन्ता भई।
राम जगे कपि लखन हित, लाये सञ्जीवनि दई॥

जीवन में युद्ध न हो, तो वह जीवन जीवन नहीं। प्राणी किसी से प्रेम भी करना चाहता है, किसी से लड़ना भी चाहता

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लङ्का पर वानरी सेना का प्रहार देखकर राक्षसराज रावण ने निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक, अपने पुत्र इन्द्रजीत, प्रहस्त, अतिकाय और विकम्पन आदि सब अपने अधीन राक्षसों को भेजकर फिर कुम्भकरण को भी भेजा।"

है। जैसे हम बिना प्रेम किये नहीं रह सकते, वैसे ही बिना लड़े भी नहीं रह सकते, जो शुद्ध सात्विक प्रकृति के ब्राह्मण हैं, वे सद्गुणों से प्रेम करते हैं और दुर्गुणों से निरन्तर युद्ध करते रहते हैं। जो राजसी क्षत्रिय हैं वे समान और अनुकूल राजाओं से प्रेम करते हैं तथा शत्रु राजाओं को परास्त करने के लिए उनसे युद्ध करते रहते हैं। जो राजा युद्ध का अवसर आने पर भी युद्ध नहीं करता वह राजा नहीं या तो निर्वीर्य है या व्यापारी वैश्य, नहीं तो अपने पदप्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये राजाओं का युद्ध आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है। युद्ध न हो तो पृथ्वी उर्वरा न हो, जन संख्या बढ़ जाय; मनुष्यों में आलस्य प्रमाद छा जाय। शरीर के प्रति ममत्व हो जाय, वीरता नष्ट हो जाय, इस प्रकार राष्ट्र में बहुत से दुर्गुण आ जायँ। इसके विरुद्ध जो राजा निरन्तर युद्ध में ही लगे रहते हैं उनकी प्रजा भी सुखी नहीं रहती। अतः राजा को अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने को तथा प्रजा के हित के ही लिये युद्ध करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब लडन्त भिड़न्त आरम्भ हुई। प्रथम राक्षसों ने वानरों पर प्रहार किया। वानरों ने भी अपनी अपनी पूँछें उठा उठाकर राक्षसों का विध्वंस करना आरम्भ कर दिया। वे बड़े-बड़े पहाड़ों को उखाड़ लाते और उन्हें लाकर राक्षसों के ऊपर डाल देते, जिससे बहुत से राक्षस चकनाचूर हो जाते, बहुतों के ऊपर वानर चढ़ जाते। बहुत वानर नखों से युद्ध कर रहे थे बहुत से दाँतों से काट रहे थे, बहुत से वृक्ष उखाड़ उखाड़ कर उन्हीं से मार रहे थे। साधारण वानर राक्षस तो इस प्रकार लड़ने लगे। विशिष्टविशिष्ट सेनानायक परस्पर में अपनी अपनी जोड़ी खोजने लगे। दोनों ओर से युद्ध का अपूर्व उत्साह था। एक दूसरे को अपना-अपना

नाम बताते और जब दोनों सहमत हो जाते तो आँख मूँदकर भिड़ जाते, परस्पर प्रहार करने लगते। परस्पर एक दूसरे को पराजित करने का प्रबल प्रयत्न करते इस प्रकार अनेकों वीर परस्पर में द्वंद युद्ध करने लगे। अंगद का इन्द्रजित् के साथ, लक्ष्मणजी का वीरुपाक्ष के साथ, सुग्रीव का प्रघस के साथ, नील का निकुम्भ के साथ, विभीषणका शत्रुघ्न राक्षस के साथ, हनुमान जी का जम्बुमाली के साथ, और विभीषण के मन्त्री सम्पातिका प्रजंघ के साथ घनघोर युद्ध होने लगा। कुछ ही काल में युद्ध ने भीषण रूप धारण कर लिया। राक्षसी सेना—"रावण की जय बोल रही थी और वानरी राम, लक्ष्मण और सुग्रीव के जय-घोष से दिशाओं को गुँजा रही थी। दोनों ओर के वीर परम कुपित थे। दोनों ही ओर वाले विजय के लिये लालायित थे दोनों ही ओर के सैनिक प्राणों का मोह छोड़ कर लड़ रहे थे। दोनों ओर के परस्पर में प्रहार कर रहे थे। चट्ट पट्ट के शब्दों से आकाश मण्डल गूँजने लगा। सायंकाल हो गयी, किन्तु किसी ने विश्राम का नाम तक नहीं लिया। रात्रि में भी घनघोर युद्ध होता रहा।

बालि पुत्र अङ्गद रावण पुत्र इन्द्रजित् से प्राणों का प्रणलगा कर युद्ध कर रहे थे। उन्होंने इन्द्रजित् के रथ को तोड़ दिया सारथी और घोड़ों को मार कर उन्होंने भयङ्कर गर्जना की। बालिपुत्र की गर्जना सुनकर राक्षस डर गये वे इधर-उधर भागने लगे, वानरी सेना को प्रसन्न करते हुए अङ्गदजी ने किलकिला शब्द किया, उत्तर में वानरों ने हर्ष ध्वनि की। इन्द्रजीत क्रोध के कारण काँपने लगा। वह इन्द्र को जीतकर अपने को विश्व-विजयी अजेय वीर मान बैठा था। आज बालिपुत्र से परास्त होकर वह अत्यन्त दुखी हुआ। सम्मुख युद्ध में कुछ भी वश न

चलता देखकर उसने राक्षसी माया का आश्रय लिया। वह तुरन्त आकाश में अन्तर्ध्यान हो गया। वहीं से छिपकर प्रहार करने लगा। उसने सोचा—"इन अल्पवीर्य वानरों को मारने से क्या लाभ सर्वप्रथम मैं राम लक्ष्मण इन दोनों को ही परलोक पठाऊँ इनको ही यमसदन पहुँचाऊँ। इनके मरते ही वानर भाग जायँगे। भागते हुए वानरों को राक्षस खा जायँगे। मूल के नष्ट होते ही शाखा प्रशाखा तो स्वयं ही नष्ट हो जाती हैं।" यही सब सोचकर श्रीराम लक्ष्मण को लक्ष्य करके वह अंधेरे में सर्व बाणों को छोड़ने लगा। ये अमोघ बाण आ आकर श्रीराम के श्री अंगों में विधने लगे मर्म स्थानों में पीड़ा करने लगे, लक्ष्मणजी भी उनसे विचलित से हो गये। सम्हलकर श्रीराम ने मुख्य मुख्य वानरों से कहा—"तुम लोग सावधानी से जाकर इस बात का पता लगाओ कि ये बाण आते कहाँ से हैं।"

श्रीराम की आज्ञा पाकर दश प्रधान-प्रधान कपिसेनापति इधर उधर अंधेरे में दौड़े, किन्तु वे निर्णय ही न कर सके, कि बाण आते कहाँ से हैं। बाण लगते हुए तो दिखाई देते थे, किन्तु उनका उद्गम स्थान और छोड़ने वाले व्यक्ति का पता नहीं चलता, वानर हताश होकर लौट आये। उन माया के द्वारा छोड़े हुए अमोघ बाणों ने श्रीराम लक्ष्मण के अङ्गों को तिल तिल वेध दिया। शरीर में कोई स्थान ऐसा न बचा जहाँ पर बाण न लगे हों श्रीअंग से रक्त निरन्तर बह रहा था उससे रक्त की धारायें उसी प्रकार निकल रहीं थीं जैसे वर्षा में गेरू के पहाड़ के चारों ओर से लाल लाल धारायें बह रही हों। कुछ काल में श्रीरामजी संज्ञा शून्य के समान हो गये। श्रीलक्ष्मणजी चेत रहित से हो गये। उन्हें इस दशा में देखकर इन्द्रजित् ने प्रसन्नता के साथ गर्जना की। उसने छिपे ही छिपे कहा—"मैंने अपने

पिता के शत्रुओं को मार डाला। राक्षस जिनके कारण उद्विग्न बने रहते थे, उन दोनों भाइयों को मार कर मैंने राक्षसों को चिन्ता शून्य बना दिया। अब ये नागपाश में दोनों बँधे हैं। इन्हें देवराज इन्द्र भी छुड़ाने में समर्थ नहीं। कुछ ही काल में ये प्राण शून्य होकर यमसदन सिधार जायँगे। भालु बन्दर भाग जायँगे, राक्षस इन सब को खाकर तृप्त हो जायँगे, मेरे पूजनीय पिता परम प्रसन्न हो जायँगे।"

छिपे छिपे ये सब बातें रावण के पुत्र मेघनाद इन्द्रजित् ने कहीं। उसकी बातों को सुनकर तथा श्रीराम को लक्ष्मण सहित ऐसी दुर्दशा देखकर वानर अत्यन्त ही दुखी हुए। चारों ओर से युद्ध छोड़ छोड़ कर वानर वीर श्रीराम के चारों ओर एकत्रित होने लगे। सुनते ही सुग्रीव, अंगद तुरन्त वहाँ आ गये। हनुमान्, नील, द्विविद, मयन्द, सुषेण, कुमाद आदि मुख्य मुख्य वानर श्रीरामचन्द्र जी को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये। सभी के मुख लाल हो रहे थे। सभी रो रहे थे। सभी चिन्तित थे। श्रीराम को लक्ष्मण सहित सर शैयापर सोते देखा सब का साहस शिथिल पड़ गया था। सभी परस्पर में कानाफूसी करने लगे. सभी का धैर्य छूट गया, विजय की आशा विलीन हो गई। सभी अपने को अनाथ सा अनुभव करने लगे। वानरराज सुग्रीव तक रुदन करने लगे, अन्य वानरों की तो बात ही क्या थी।"

उसी समय अंजन पर्वत के समान, काले मेघ के समान राक्षसराज विभीषण गदा लिये हुये वहाँ आ पहुँचे। आते ही उन्होंने श्रीराम लक्ष्मण को इस दशा में देखा। वानरों को रोते देखकर वे चिन्तित हुये। आते ही उन्होंने सब को धैर्य बँधाया सामने ही सुग्रीव रो रहे थे। आते ही विभीषण ने कहा—"कपि-राज! यह आप क्या कर रहे हैं। आपकी ऐसी अधीरता

शोभा नहीं देती। आप ही इस प्रकार अनाथों की भाँति रुदन करेंगे तो अन्य सैनिकों की क्या दशा होगी। सोचिये, सब आपके ही अधीन हैं आपके मुख को देखकर तो सब कार्य करते हैं। श्रीराम लक्ष्मण मरे नहीं हैं। न मर ही सकते हैं इनके ऊपर राक्षसी माया से प्रहार किया गया है। मैं राक्षस हूँ। मेरे दुष्ट भतीजे रावण के बड़े पुत्र इन्द्रजीत ने यह प्रहार किया है। उसे माया के बल से देख रहा हूँ। आप उसे देख नहीं सकते, आप धैर्य धारण करें। चिन्ता को छोड़ें, मैं सब उपाय बताऊँगा, कुछ ही काल में आप देखेंगे श्रीराम लक्ष्मण दोनों भाई उठकर खड़े हो जायँगे, वे समर में शत्रु सैन्य का संहार करके हम सब को हर्षित करेंगे। देखिये, मेरे तो एकमात्र स्वामी श्रीराम ही हैं। मेरा तो धन, वैभव, राज्य, सुख, ऐश्वर्य सब श्रीराम के ही ऊपर निर्भर है। आप चिन्ता छोड़ें। मैं गर्जता हुआ शत्रु सेना में अभी प्रवेश करता हूँ। जिससे डरे हुए वानरों में पुन उत्साह आ जाय।" यह कह कर विभीषण जी ने एक भयंकर गर्जना की और अपनी गदा को घुमाते हुए शत्रु सैन्य का संहार करने लगे।

इधर जब इन्द्रजीत ने समझा कि राम लक्ष्मण दोनों मर गये, तब वह विजय के उल्लास में, गर्जना करता हुआ लंकापुरी में पहुँचा। वहाँ जाकर उसने रावण से कहा—"पिताजी! मैं आपके शत्रु उन दोनों राजकुमारों को मार आया। वे मृतक प्रायः ही हो गये हैं। अभी न भी मरे होंगे तो प्रातःकाल तक अवश्य मर जायँगे क्योंकि नागपाश से उन्हें छुड़ाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। अब उन्हें मरने से कोई भी नहीं बचा सकता।"

इस समाचार के सुनते ही रावण के हर्ष का ठिकाना नहीं

रहा। उसने अपने पुत्र को प्रेमपूर्वक आलिंगन किया तथा उसकी भाँति भाँति से प्रशंसा करके विदा किया। अब तो रावण को विश्वास हो गया, कि सीता मुझे अवश्य वरण कर लेगी। इसीलिये उसने सीताजी की रक्षिका राक्षसियों के बुलाया। सुनते ही त्रिजटा आदि राक्षसियाँ आईं। उनसे रावण बोला—"देखो, सीता जिनके पीछे अकड़ रही थी, उन रामलक्ष्मण को मेरे पुत्र मेघनाद ने मार डाला तुम अभी पुष्पक विमान में वैदेही को बिठाकर आकाश से विफल हुई वानरी सेना का दृश्य दिखाओ मृतक पड़े हुए रामलक्ष्मण के शवों को भी दिखाओ। सीता भली भाँति देख ले, कि इसमें छल नहीं, कपट नहीं, बनावट नहीं। ध्रुवसत्य है अब रामलक्ष्मण को संसार में कोई जिला नहीं सकता।" राक्षसराज रावण की आज्ञा पाकर राक्षसियाँ पुष्पक विमान को अशोक वाटिका में ले गईं और जाकर बोलीं—"जानकी! चल तुझे युद्ध में तेरे पति के दर्शन करा लावें।"

इतना सुनते ही सीताजी प्रसन्नता पूर्वक पुष्पक विमान पर बैठ गयीं पुष्पक उड़ा और वहाँ पहुँचा जहाँ श्रीराम लक्ष्मण मृतक सदृश मूर्छितावस्था में पड़े थे। उनकी ऐसी दुर्दशा देखकर जानकी अत्यन्त ही दुखित हुईं। वे भाँति भाँति से विलाप करने लगीं अपनी छाती को पीट पीटकर रोने लगीं। राम लक्ष्मण के रक्त से सने बाणों से क्षत विक्षत हुए शरीर को देखकर वे अत्यन्त अधीर हुईं। वे पुष्पक विमान से कूदना ही चाहती थीं कि राक्षसियों ने उन्हें पड़क लिया वे मारे शोक के मूर्छित होगईं। उसी मूर्छिता वस्था में राक्षसियों ने उन्हें अशोक वाटिका में ले आईं और नाना उपचारों से उन्हें चैतन्य करने के लिये प्रयत्न करने लगीं।

इधर वीर वानर श्रीराम लक्ष्मण को बड़ी सावधानी से घेर

बैठे थे। मुख्य मुख्य सेनापति वानर दशों दिशाओं में खड़े हुए बड़ी तत्परता से वानरी सेना की रक्षा कर रहे थे। उसी समय सदा चैतन्य सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीराम चैतन्य हो गये। वे अपनी इच्छा से ही अचैतन्यवत् बनाये और स्वेच्छा से ही चैतन्य के समान हो गये। उन्होंने सम्मुख रक्त से सने बाणों से विद्ध अपने अनुज लक्ष्मण को मूर्छितावस्था में देखा। लक्ष्मण की ऐसी दुर्दशा देखकर सदा प्रसन्न श्रीराम परम दुखी हुए। वे भाँति भाँति से विलाप करने लगे—"हाय! लक्ष्मण को गँवाकर यदि मैंने सीता को पाया, तो क्या पाया। लक्ष्मण के बिना सीता मुझे मिली हो तो उससे मुझे प्रसन्नता न होगी। लक्ष्मण के बिना मैं अवध लौटकर कैसे जा सकता हूँ। लक्ष्मण के रहित जब मुझे मेरी माँ कौशल्या देखेगी तो उसका पहिला प्रश्न यही होगा, मेरा प्यारा लक्ष्मण कहाँ है? तब मैं उसे क्या उत्तर दूँगा। माता सुमित्रा जब मेरा आकर सिर सूँघेगी और चकित दृष्टि से मेरे पीछे अपने प्यारे पुत्र लक्ष्मण को निहारेंगी, तो उस समय मैं जीवित कैसे रहूँगा। जो मेरे सम्मुख आने में लजाती है, जिसका मैंने मुँह तक नहीं देखा है, वह लक्ष्मण की प्यारी पत्नी उर्मिला मेरे सम्मुख आवेगी और सीता से संकेत द्वारा अपने पति की बात पूँछेगी तो सीता उसे क्या उत्तर देगी। फूल के समान सुकुमारी राजकुमारी को मैं किन शब्दों में सान्त्वना दूँगा। शत्रुघ्न जब मेरे पैर छूकर अपने भाई के पैर छूने बढ़ेगा और मेरे पीछे लक्ष्मण को न देखेगा, तो मैं किस मुख से उससे कहूँगा, कि स्त्री के पीछे मैं अपने सखा, सचिव, सेवक, सहायक, सर्वस्व सौमित्र की बलि चढ़ा आया। हाय! लक्ष्मण के बिना मैं भरत का आलिंगन कैसे कर सकूँगा। भरत जब मेरा आलिंगन पाकर अपने पैरों में लक्ष्मण को पड़ा न देखेगा तब तुरन्त यही

पूछेगा—"मेरा गुणों में श्रेष्ठ भाई कहाँ है ? तब मैं क्या कहूँगा, कैसे उसे समझाऊँगा ? इसलिये अब मैं न तो युद्ध करूँगा, न जानकी के छुड़ाने का ही प्रयत्न करूँगा। रावण को तो मुझे मारना ही है, क्योंकि लंका का राज्य मैं विभीषण को दे चुका हूँ। रावण को मारकर मैं स्वयं भी मर जाऊँगा। चिता बनाकर यहीं लंका में अपने भाई के शव के साथ जल जाऊँगा। लक्ष्मण के बिना मैं जीवित रह नहीं सकता। उसके बिना मेरा अस्तित्व नहीं, निर्वाह नहीं। वह मेरा बाहरी प्राण है।" इस प्रकार श्रीराम जी अत्यन्त ही अधीर होकर बालकों की भाँति फूट फूटकर रोने लगे, बड़े करुण शब्दों में विलाप करने लगे।

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा हृदयद्रावी विलाप सुनकर सुषेण नामक वानर बोला—"राघव ! आप इतने चिन्तित क्यों होते हैं, जब हम आपके सेवक समुपस्थित हैं, तब चिन्ता करने की कौन सी बात है। मैंने देवासुर संग्राम देखा था। उस समय देवता जब घायल हो जाते थे, तब बृहस्पति जी विशल्यकरणी ओषधि लगाकर सबको शल्यरहित निरोग कर देते थे। सञ्जीवनी बूटी से मृतकों को जिला देते थे। यदि सूर्योदय से पूर्व वे दोनों दिव्योषधियाँ आ जायँ और उनका प्रयोग लक्ष्मण जी के अंगों पर किया जाय तो वे निश्चय निरोग हो सकते हैं। कोई ऐसा बली हो जो मंदराचल पर्वत के उस शिखर से इन दोनों औषधियों को उखाड़ लाये।"

यह सुनकर सुग्रीवजी बोले—"पवन तनय हनुमान् के अतिरिक्त इतने साहस के कार्य को कौन कर सकता है। वे ही इन दोनों महौषधियों को लाकर हमें संकट से बचा सकते हैं।"

हनुमान् जी ने कहा—"मेरे लिये कोई बात तो बड़ी है नहीं। मैं क्षण भर में औषधियों को ला सकता हूँ, किन्तु मैं उन्हें पहिचानता नहीं।"

सुषेण ने कहा—"अजी, इसमें पहिचानने की कौन सी बात है। हीरा तो अपनी प्रभा से ही पहिचाना जा सकता है। वे औषधियाँ अग्नि की शिखा की भाँति जलती रहती हैं। पापी दुराचारी को देखकर वे छिप जाती हैं। तुम पवन के पुत्र हो, राम भक्त हो, धर्मात्मा और यशस्वी हो। तुम्हें देखकर तो वे स्वयं ही प्रसन्न हो जायँगी।"

हनुमान् जी ने कहा—"अच्छी बात है, यदि ऐसा है, तो मैं जाता हूँ और जाकर अभी उन औषधियों को लाता हूँ।" यह कहकर पवन कुमार उड़े और क्षण भर में मंदराचल के उस शिखर पर पहुँच गये, जिसका पता वैद्यराज सुषेण ने बताया था। वहाँ हनुमान् जी ने देखा बहुत सी औषधियाँ जल रही हैं। कोई सुवर्ण के समान, कोई रजत के समान, कोई ताँबे के समान और कोई अग्नि शिखा के समान प्रज्वलित हो रही हैं। उन्हें देखकर अञ्जन्यानन्दवर्धन हनुमान् जी चक्कर में पड़ गये। वे सोचने लगे—"मैंने बड़ी भूल की सुषेण को भी अपनी पीठ पर चढ़ा लाता तो वह यहाँ खोजकर औषधि चुन लेता। अब यदि मैं १०।५ ऊखाड़ कर ले भी गया और सुषेण वैद्य ने कह दिया—"ये नहीं हैं, तब तो मेरा आना ही व्यर्थ हो जायगा। इस आने जाने में संभव है सूर्योदय हो जाय, फिर लक्ष्मण जी चैतन्य न हो सकें। अब क्या करना चाहिये।" कुछ देर सोचकर हनुमान् जी ने निश्चय किया—"अब सोचने विचारने का अवसर नहीं है। एक काम करूँ इस पूरे पर्वत को ही उखाड़ ले चलूँ। इसमें जो भी औषधियाँ होंगी सुषेण स्वयं उखाड़ लेगा।" ऐसा निश्चय करके हनुमान् जी ने सम्पूर्ण पर्वत ही उसी प्रकार जड़ से उखाड़ लिया जिस प्रकार बालक वर्षा में उत्पन्न होने वाले छत्रक (कुकुरमुत्ता) को उखाड़ लेते हैं। पर्वत को लेकर पवन पुत्र आकाश में उड़े।

अर्धरात्रि बीत चुकी थी। अरुणोदय होने में अभी विलम्ब था, हनुमान् जी ने अयोध्यापुरी के ऊपर होकर उमड़ते हुए जा रहे थे। वेग से उड़ने के कारण उन्हें यह भान भी नहीं होता था, कि मैं कहाँ होकर उड़ रहा हूँ। रामानुज श्रीभरत राम विरह में सोते नहीं थे। वे राम राम रटते हुए सम्पूर्ण रात्रि को ऐसे ही बैठे बैठे बिता देते थे। कभी बैठे बैठे ही झपकियाँ ले लेते थे। अर्धरात्रि के अनन्तर वे उठ जाते और चरण पादुकाओं की परिचर्या में लग जाते। उन्होंने सुन लिया था, सीताजी को रावण हर ले गया है और श्रीराम बानर भालुओं को एकत्रित करके राक्षसों पर चढ़ाई कर रहे हैं। उनकी उत्कट इच्छा थी श्रीराम की आज्ञा हो तो सेना सजाकर मैं भी समर में सम्मिलित होऊँ, किन्तु राम की आज्ञा नहीं थी। सेवक धर्म अत्यन्त ही कठिन होता है सेवक को मरने तक की स्वतंत्रता नहीं। वह स्वेच्छा से प्राणों का उत्सर्ग भी नहीं कर सकता। भरतजी ने सोचा मैं श्रीराम की इच्छा के बिना गया और उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम मेरे अवध के राज्य को मेरी आज्ञा से बिना छोड़कर क्यों चले आये। तो मैं क्या उत्तर दूँगा।" इन्हीं सब बातों को सोचकर भरतजी मन मसोस कर रह गये। इच्छा होने पर भी लंका नहीं गये। उन्हें विश्वास था, श्रीराम के सम्मुख रावण क्या वस्तु है। नरनाट्य दिखाने के लिये उन्होंने वानरी सेना एकत्रित की है, नहीं तो उन सर्वसमर्थ सच्चिदानन्द की वानर क्या सहायता कर सकते हैं। इसी लिये वे निश्चिन्त थे। आज सहसा लंका की ओर किसी व्यक्ति को पहाड़ ले जाते देखकर उन्हें शंका हुई, कहीं यह राक्षस तो नहीं है। वानरों को मारने के लिये तो पहाड़ नहीं ले जा रहा है। इस शंका के उत्पन्न होते ही उन्होंने कुतूहलवश समीप में रखे एक बिना फर के बाण को मारा। बाण के लगते ही हनुमान् जी

सीताराम सीताराम कहकर भूमि पर गिर पड़े। उनके हाथ से पर्वत छूटना ही चाहता था, कि उन्होंने झटके से उसे सम्हाल लिया।"

सीताराम सीताराम की कर्ण प्रिय श्रुतमधुर ध्वनि सुनकर चौंक पड़े। वे डर गये, अरे, यह तो कोई रामभक्त है। शाघ्रता से वे तुरन्त दौड़कर हनुमान्‌जी के समीप आये बोले—"महानुभाव! आप कौन हैं?"

हनुमान्‌जी ने कहा—"मैं पवन का पुत्र हूँ। हनुमान् मेरा नाम है। श्रीराम का मैं अनुचर हूँ। राम की सेवा के निमित्त मैं पर्वत लिये जा रहा हूँ।

राम के सेवक का शब्द सुनते ही रामानुरागी भरत रो पड़े वे पवन तनय के पैरों की ओर दौड़े। हनुमान्‌जी ने उन्हें प्रेम से छाती से चिपटा लिया। भरत जी रोते रोते बोले—"हाय! भैया तुम ही बड़भागी हो, जो राम के काज कर रहे हो। मैं तो इतना अधम भाग्यहीन हूँ कि सेवा से तो वञ्चित रह ही रहा हूँ। उलटे मैंने राम सेवा में विघ्न उपस्थित किया। राम के सेवक का अपराध किया।"

इन सुन्दर वीणा विनिन्दित शब्दों को सुनकर हनुमान्‌जी चौंक पड़े। वे सोचने लगे अकृत प्रकृतिशील स्वभाव में ये मेरे स्वामी के सदृश हैं। हो न हो ये रामानुज श्रीभरत जी हैं।"

हनुमान् जी ने कहा—"प्रभो! आप रामानुज भरत तो नहीं हैं?"

भरत जी ने कहा—"भैया, मैं ही भाग्यहीन भरत हूँ। क्या श्रीराम कभी मुझे याद करते हैं। तुम मेरा नाम कैसे जानते हो भैया?"

यह सुनकर हनुमान् जी रो पड़े। वे बोले—"धन्य हैं आपको, मैंने जैसे शील आपका सुना था, उससे सहस्रों गुणा देखा। प्रभो! अब मैं क्या बताऊँ श्रीराम आपको किस प्रकार स्मरण करते हैं। वे सोते समय भी आपका नाम लेकर चौंक पड़ते हैं। वे स्वाँस स्वाँस पर आपका नाम जपते रहते हैं। वे आपके गुणों का गान करते करते अघाते नहीं प्रसंग हो न हो आपकी चर्चा वे अवश्य करेंगे। उन्हें न सीताहरण का शोक है न बनवास का दुःख, उन्हें एक मात्र आपकी चिन्ता है।"

भरत जी ने गद्गद् वाणी से कहा—"केशरीनन्दन मुझे से भूल हो गई, क्षमा करना भैया! मैंने अनजान में बिना फरका बाण चला दिया, किन्तु मुझे संदेह हो रहा है, कि राम सेवक का तो कभी पराभव हो नहीं सकता उस पर किसी के प्रहार का प्रभाव नहीं पड़ता। तुम गिर कैसे गये?"

हनुमान्जी ने कहा—"प्रभो! स्वामी के द्वारा सेवक का पराभव होना कोई पराभव नहीं। वह उसके लिये परम सौभाग्य की बात है। प्रभुओं की प्रत्येक चेष्टा में सेवकों का हित निहित रहता है। यह मेरा अभिमान और पाप का फल है। समर में जब निशाचर पूरी शक्ति लगाकर हम पर प्रहार करते तो श्रीराम बार बार कहते, न हुआ मेरा भैया भरत। वह होता तो इन राक्षसों के दाँत खट्टे कर देता। एक बार सुना, दो बार सुना, बार बार ये ही बातें सुनकर मेरे मन में संदेह हुआ—"हम कितना पुरुषार्थ करते हैं, प्रण से युद्ध करते हैं फिर भी श्रीराम हमारी प्रशंसा नहीं करते, भरत के ही गुण गाते रहते हैं। भरत क्या मुझसे भी अधिक बली होंगे, मैं पवन का पुत्र हूँ समर में अजय हूँ। सब कुछ करने में समर्थ हूँ क्या भरत मेरे समान हो सकते हैं।" बस प्रभो! मेरे उसी पाप का यह फल है सर्वान्तर्यामी

प्रभु ने मेरे उसी अभिमान को चकना चूर करने यहाँ भेजा था। आज आपकी शक्ति देखकर मैं विस्मित हुआ। इसीलिए श्रीराम बार बार आपकी प्रशंसा करते रहते हैं।"

इतने में समाचार सुनते ही कौशल्या-सुमित्रा और कैकेयी वहाँ आ गयीं कौशल्या ने पूछा—"हनुमान! कहो मेरे बच्चे कुशल से हैं न? मेरे लक्ष्मण के क्या समाचार हैं।"

हनुमानजी ने हाथ जोड़कर कहा—"माताजी! श्रीराम कुशल हैं। लक्ष्मण शरशैया पर मूर्छित पड़े हैं उन्हीं के लिए मैं यह ओषधि लिये जा रहा हूँ।"

लक्ष्मण मूर्छित हैं यह सुनते ही माता चौंक पड़ीं। वे बोलीं "हनुमान! देख, राम से कह देना यदि लक्ष्मण अच्छा न हो तो उसकी अयोध्या आने की कोई आवश्यकता नहीं। लक्ष्मण के बिना मैं राम को नहीं देखना चाहती।"

इतना सुनते ही सुमित्रा ने कहा—"हनुमान देखो भैया! मैं तेरे पैर पड़ती हूँ। तू इस बात को कभी मत कहना। महारानी ने यह बात स्नेह के वश में होकर कही है। राम युग युग जीवें। राम राजा हैं लक्ष्मण सेवक है। युद्ध में असंख्यों सैनिक सेवक मरते हैं। राम के काज में लक्ष्मण का शरीर जाय इससे बढ़कर उसका और क्या सौभाग्य होगा। सेवक के पीछे स्वामी थोड़े ही मरते हैं।"

यह सुनकर हनुमानजी का हृदय हरा हो गया, वे गद् गद् कंठ से बोले—"ये वचन श्रीराम और लक्ष्मण की माताओं के अनुरूप ही है, माँ! आप चिन्ता न करें। श्रीराम के साथ लक्ष्मणजी को आप शीघ्र ही निरोग देखेंगी। श्रीराम तो नर-लीला कर रहे हैं। वे अपने सेवकों का सम्मान बढ़ा रहे हैं। उन्हें

सेवा का महत्व बता रहे हैं। इस समय देर हो रही है मुझे जाने की आज्ञा दो।"

हनुमानजी के ऐसे वचन सुनकर भरतजी ने कहा—"हनुमान! यदि देर हो गई हो, तो तुम मेरे बाण पर बैठ जाओ मैं तुम्हें अभी लंका पहुँचाता हूँ। मैं पर्वत सहित तुम्हें क्षण भर में समुद्र पार पहुँचा दूँगा।"

हनुमानजी तो भरतजी के बल को देख ही चुके थे, अतः विनीत भाव से बोले—"प्रभो! आप आशीर्वाद दें, मैं आपके बाण के समान ही वेग से जाऊँगा।" यह कहकर सबको प्रणाम करके हनुमानजी चल दिये।

हनुमानजी वायु वेग के समान उड़े जा रहे थे कि मार्ग में उन्हें गरुड़जी उड़ते हुए मिले। गरुड़जी ने देखा यह मेरे समान वेग से उड़ने वाला कौन पक्षी है। लाओ, मैं इसे अपने पंजों में दबाकर खा लूँ।" यह सोचकर गरुड़जी हनुमानजी पर झपटे। हनुमानजी तो पहिचान ही गये, कि ये गरुड़जी हैं, अतः उन्होंने चिल्लाकर कहा—"जय जय श्रीसीताराम, जय जय श्रीसीताराम" श्रीसीताराम का नाम सुनकर गरुड़जी ने कहा—"कौन हनुमान! अरे, भैया तुम यह पहाड़ सा क्या लिये जा रहे हो?"

हनुमानजी ने कहा—"पक्षिराज! युद्ध में रावण सुत इन्द्रजीत ने रामानुज लक्ष्मण को नागबाणों से वेध दिया। कटु के क्रूर कुमारों ने बाण का रूप रख कर लक्ष्मण को कस रक्खा है। वे विमूर्छित बने हुये हैं। उन्हीं के लिये सुषेण के कहने से मैं औषधियों वाले इस पर्वत को लिये जा रहा हूँ।"

गरुड़जी ने कहा—"अरे नागों का इतना साहस! चलो, मैं

भी चलता हूँ। नाग तो मेरे नाम को सुनकर भाग जाते हैं। मैं लक्ष्मण को नागपाश से मुक्त करके यश लाभ करूँगा। राम सर्वसमर्थ हैं। वे जो चाहें सो कर सकते हैं, किन्तु फिर भी वे नरलीला कर रहे हैं। चलो, मैं भी अपने जीवन को रामकाज करके सार्थक बनाऊँगा।" यह कहकर गरुड़जी भी हनुमानजी के साथ चल दिये। दोनों आकाश में साथ ही साथ उड़ते हुए सूर्य चन्द्र के समान शोभित हुए।

गरुड़जी और हनुमानजी क्षण भर में लंका पुरी में उस स्थान पर पहुँचे जहाँ लक्ष्मणजी चेतना शून्य हुए पड़े थे और वानर उन्हें घेरे हुए रुदन कर रहे थे। गरुड़जी को देखकर जितने नाग बाण का रूप रखकर लक्ष्मण तथा श्रीराम के अंगों में लिपटे हुए थे, तुरन्त भाग गये। उनके भागते ही सुषेण ने विशल्प करणी संजीवनी का प्रयोग किया। उसके स्पर्श मात्र से श्रीराम लक्ष्मण निरोग स्वस्थ हृष्ट पुष्ट और पहिले से भी अधिक सुन्दर और बली बन गये। दोनों भाइयों को स्वस्थ देखकर वानरी सेना में प्रसन्नता की लहर फैल गयी। सभी आनन्द के साथ नृत्य करने लगे। एक दूसरे का आलिङ्गन करने लगे। भाँति-भाँति से प्रसन्नता प्रकट करने लगे।

जब रावण ने श्रीराम लक्ष्मण के स्वस्थ होने का समाचार सुना, तो वह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसने अब वानरी सेना पर प्रहार करने के लिये प्रमुख-प्रमुख वीरों को भेजना आरम्भ किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जानकीजी ने जब त्रिजटा के द्वारा श्रीराम लक्ष्मणजी की मूर्छाभंग होने की बात सुनी तो वे अत्यन्त सुखी हुईं। उन्हें आशा बँध गई श्रीराम अवश्य ही रावण को मार कर मेरा उद्धार करेंगे।"

छप्पय

आये विनतातनय नाग सब तनुतें भागे।
सूँघि सँजीवनि लखन उठे जनु सोवत जागे॥
राम लखन लखि स्वस्थ भये कपिप्रमुदित भारी।
सोचैं माया व्यर्थ राम पै भई हमारी॥
मायापति पै निशाचर करिकैं माया नहिं डरत।
जनु नानीके व्याह की, सुता पुत्र बातें करत॥

रावण के मुख्य-मुख्य वीरों का संहार

तां यातुधानपृतनामसिशूलचाप—
प्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखड्गदुर्गाम् ।
सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमाद
नीलाङ्गदर्क्षपनसादिभिरन्वितोऽगात् ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० १९ श्लो०)

छप्पय

चले राम रनमाँहि सङ्ग सुग्रीव सहायक ।
जाम्बवान्, नल, नील, पनस अङ्गद सब नायक ॥
धनुष, प्रास, शर, शक्तियुक्त रावन की सैना ।
पकरि पकरि कपि भालु चबावैं मनहुँ चबैना ॥
सर सर शर समर महँ, चलैं चपत हूँ चटाचट ।
जहँ देखो तहँ है रही, पटका पटकी खटापट ॥

सेवक का धर्म है, स्वामी के निमित्त अपने शरीर का उत्सर्ग कर दे। जिस सेवक को शरीर का मोह है वह सेवा क्या करेगा,

---

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! राक्षसों की वह सेना तलवार शूल, धनुष, प्रास, ऋष्टि, बाण, तोमर और खड्ग आदि आयुधों के कारण दुर्गम थी, उसने लड़ने के लिये श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव, लक्ष्मण, हनुमान् गन्धमादन, नील, अङ्गद, जाम्बवान् और पानस आदि वीरों के सहित चले।

जिस स्वामी को सेवकों के सुख और निर्वाह की चिन्ता नहीं उस स्वामी के सेवक सेवा ही क्या करेंगे। स्वामी और सेवक का सम्बन्ध सनातन है। अपवाद तो सभी में होते हैं, किन्तु जैसे पति पत्नी का सम्बन्ध पूर्वकाल में कभी नहीं छूटता था, उसी प्रकार स्वामी सेवक का सम्बन्ध भी स्थायी समझा जाता था। सैनिक अपने स्वामी की विजय के लिए सभी कुछ करते हैं। वे अत्यन्त उल्लास के साथ शरीर की तनिक भी चिन्ता न करके युद्ध में जाते और सिर कटाने पर भी केवल धड़ से युद्ध करते रहते। इसी का नाम वीरता है। जितनी वीरता वानरों में थी उतनी ही राक्षसों में थी। उत्साह, पराक्रम युद्धोल्लास दोनों दलों में समान ही था। अन्तर इतना ही था। इधर न्याय था उधर अन्याय, उधर काम था, इधर राम। जिधर राम हैं उधर ही विश्राम है, जिधर धर्म है उधर ही विजय।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीराम और लक्ष्मण मेघनाद की निर्मित माया से मुक्त होकर नीरोग और स्वस्थ बन गये, तो वानर हर्ष में भर कर किलकिला शब्द करने लगे। एक दूसरे से मिलने लगे। श्रीराम लक्ष्मण और सुग्रीव की जय बोलने लगे। उनके हर्षयुक्त कोलाहल से दशों दिशायें गूँज उठीं। रावण ने भी जब कपियों का आनन्दवर्धक शब्द सुना तो वह अपने सैनिक तथा सचिवों से कहने लगा—"वानर! इतना अधिक कोलाहल क्यों कर रहे हैं। इस शब्द में तो प्रसन्नता भरी हुई है। यह तो आनन्द का उत्साहपूर्ण कलरव है। वानर तो श्रीराम लक्ष्मण के मूर्छित होने से दुखी थे, सहसा इन्हें किसी बात से इतनी प्रसन्नता हो गई है।" ऐसा सोचकर उसने चारों से कहा—"तुम जाकर राम की सेना में पता लगाओ क्या बात है।"

रावण की आज्ञा पाकर गुप्तचर परकोटों को लाँघकर श्रीरामचन्द्रजी के दल में पहुँचे जिसका पालन सुग्रीव कर रहे थे। उन्होंने जब सिंह के समान स्वस्थ और नीरोग श्रीराम लक्ष्मण को देखा, तो वे परम विस्मित हुए। चुपके से वहाँ से लौटकर उन्होंने सब समाचार राक्षसराज रावण को सुनाया। सुनते ही रावण का मुख फक्क पड़ गया। उसके मन में दुःख हुआ। चिन्ता, ग्लानि, मनस्ताप के कारण उसका मुख मुरझा गया। उसे वरदान से प्राप्त नागास्त्रों पर बड़ा विश्वास था, किन्तु आज असमय में वे सब अस्त्र असफल हो गये, अतः उसकी आशा पर पानी फिर गया। फिर भी उसने साहस को नहीं छोड़ा। अपने ख्यातनामा वीर योद्धा धूम्राक्ष से बोला—"मंत्रिप्रवर! तुम संसार में महाबली नाम से प्रसिद्ध हो। बल में तुम मुझसे किसी प्रकार न्यून नहीं हो। तुम अभी समर में सेना सहित जाओ। सुग्रीव और उनके साथी सैनिकों को मार आओ। राम लक्ष्मण को भी यमपुर पठा दो। इन लंका के कंटकों को मारकर समुद्र में डुबा दो। जो क्षमा याचना करें उन्हें छोड़ दो, समुद्र के ऊपर बँधे सेतु को तोड़ दो।"

अपने स्वामी से सम्मान पाकर धूम्राक्ष सेना सजाकर समरभूमि की ओर चला। वानर तो प्रतीक्षा में ही बैठे थे। निशाचरों की बलवती सेना को आते देखकर सभी उसकी ओर दौड़े। कोई वृक्ष उखाड़ने लगा कोई मुक्का तानने लगा, कोई दाँतों को किटकिटाने लगा, कोई नखों को पैनाने लगा। कोई पर्वतों को फोड़ने लगा। रक्षसों ने आते ही अस्त्र शस्त्रों से वानरों पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया। वानर तो वानर ही ठहरे। बड़े-बड़े पत्थरों को उठाकर लाये और रक्षसों के ऊपर फेंक दे। राक्षस उनके नीचे दबकर तड़पने लगते। इतने में ही धूम्राक्ष ने

कहा—"मैं लंका में महावीर के नाम से प्रसिद्ध हूँ, आज मैं राम लक्ष्मण को मार दूँगा, सुग्रीव को यमपुर पठा दूँगा। मुझे तो उन लोगों से युद्ध करना है, तुम साधारण वानर भालु अपने प्राणों को क्यों गँवाते हो। मुझे तुम क्षुद्रों पर बाण छोड़ने में दया आती है।"

यह सुनकर हनुमान् जी बोले—"तुझे राक्षसों के अनुचर महावीर कहते हैं, मुझे भी श्रीराम के अनुचर महावीर के ही नाम से पुकारते हैं। आज हमारे तेरे दो दो हाथ हो जायँ।" इतना सुनते ही धूम्राक्ष ने हनुमान् पर कई बाण छोड़े। पवन तनय भी सावधान थे। उनके हाथ में बड़े से पहाड़ का एक शिखर था उसे उठाकर उन्होंने जो धूम्राक्ष की ओर मारा तो भाग्य से धूम्राक्ष तो बच गया। किन्तु उसका रथ टूट गया, सारथी और घोड़े मर गये। वह रथ से कूद कर पृथिवी में आ गया। अब तो दोनों में होने लगी गुत्थमगुत्था। एक कँटीली गदा धूम्राक्ष ने हनुमानजी के सिर पर मारी। हनुमानजी भी कुछ घाटेमें नहीं थे। उन्होंने जो एक पहाड़ उठा कर धूम्राक्ष की छाती पर मारा तो वह उसी प्रकार पिच गया जिस प्रकार पकापेंचू पत्थर के गिरने से पिच जाता है। उसकी आँखें निकल आईं और वह उसी क्षण मर गया

धूम्राक्ष के मरते ही वानर किलकिला शब्द करने लगे। चारों ओर से पवनतनय को घेरकर उनका अभिनन्दन करने लगे। कोई उन्हें गले लगाने लगे। कोई उन्हें पीठपर चढ़ाने लगे, कोई उनकी पूँछ को सूँघने लगे। हनुमान् जी क्लान्त हो गये थे अतः अपने पसीने को पोंछते हुए इधर उधर घूमने लगे।

इधर जब रावण ने धूम्राक्ष के मरने का समाचर सुना, तो वह अत्यन्त ही दुखित हुआ। उसे विश्वास होने लगा, कि अब

सम्भव है मैं वानरों से जीत न सकूँ।" किन्तु शत्रु के सम्मुख सिर झुकाना तो दशानन सीखा नहीं। इसलिए उसने अपने एक दूसरे महामन्त्री वज्रदंष्ट्र से कहा—"वीरवर! तुम जाओ और इन वानरों को उनकी अविनय का फल चखाओ, महाबली धूम्राक्ष के वध का बदला तुम ही लेने में समर्थ हो।"

इतना सुनते ही क्रोधी वज्रदंष्ट्र अपने बड़े बड़े तीखे दाँतों को पीसता हुआ सेना सजा कर वानरी सेना में घुसा। उसे आता देखकर हनुमानजी उसकी ओर झपटे। हनुमानजी को झपटते देखकर अंगद जी बोले—"देखिये, हनुमानजी जोड़ी न्यायानुकूल होनी चाहिये। धूम्राक्ष तो आपके बराबर था। यह वज्रदंष्ट्र अभी बच्चा है मेरी जोड़ी का है। कुछ हमें भी तो करने दीजिये। सबको आप ही मार डालेंगे, तो हम यहाँ क्या युद्ध देखने आये हैं। आप थके हुए हैं, तनिक विश्राम कीजिये। इस पतंगे को मैं पीस डालूँगा।"

अंगदजी की बात सुनकर हँसते हुए हनुमानजी बोले—"अच्छी बात है कुमार! तुम ही अपने हाथों की खुजली मिटा लो। तुम ही इसे यमसदन पठा दो। तब तक मैं दंड बैठक ही लगा लूँ।"

इतना सुनते ही अंगदजी वज्रदंष्ट्र के सामने आये। दोनों ही युवक थे दोनों के शरीर में नया रक्त था, दोनों ही बलवान् थे दोनों ही स्वामिभक्त थे, दोनों ही विजय के इच्छुक थे। अब क्या था होने लगी भिड़न्त। वह उसको मारता वह उसको पछाड़ता। वह उसे गिराना चाहता था वह उसके ऊपर चढ़ना चाहता था। राक्षस के पास तो भाँति-भाँतिके वैज्ञानिक अस्त्र शस्त्र थे, किन्तु अंगदजी के अस्त्र तो पादप और पर्व खण्ड थे। उन्होंने एक वृक्ष को उखाड़ वज्रदंष्ट्रपर प्रहार किया,

उसके वह घायल तो हो गया, किन्तु मरा नहीं। इस पर वालि पुत्र अत्यन्त कुपित हुए। बड़े वेग से उस पर पत्थर फेंककर उसके हाथ से उसकी तलवार छीन ली। तलवार के छिनते ही वह गदा लेकर कुमार अंगद की ओर दौड़ा ज्योंही उसने गदा का प्रहार किया, त्योंही अंगदजी ने उसके सिर को धड़से काट दिया। उसका धड़से पृथक सिर पृथिवी पर ऐसा ही प्रतीत होता था मानों काला हिनमाना (तरबूजा) टूटा हुआ पड़ा हो।

रावण ने जब वज्रदंष्ट्र के मारने का समाचार सुना तो बहुत से अपराजित सैनिकों के साथ अकम्पन को भेजा। अकम्पन कैसा भी कष्ट क्यों न आ जाय कभी काँपता ही नहीं था, किन्तु कपियों के आगे उसकी भी सिटिल्ली भूल गई। उसे भी वानरों ने बुद्ध बना लिया। अंगदजी उसे भी मारना चाहते थे। वे वज्र दंष्ट्र से भिड़ने के कारण थक गये थे, किन्तु उनका उत्साह कम नहीं हुआ था। हनुमानजी ने कहा—"कुमार! अपनी बात स्मरण करो। तुम वज्रदंष्ट्र को मार चुके, अब मेरी पारी है। तुम तनिक विश्राम कर लो। इसे मैं यमसदन का प्रवेश पत्र थमाये देता हूँ इसमें विलम्ब न होगा।"

पवनतनय की यह बात सुनकर कुमार अंगद हँस पड़े। वे हनुमानजी के कहने से दूसरी ओर हट गये। महाबली हनुमान एक अत्यन्त पुष्पित पादप को जड़ से उखाड़ लाये उसे घुमाकर अकम्पन के सिर में तड़ाक से मारा। उसके लगते ही अकम्पन मूर्छित हो गया। उसे उसी दशा में छोड़कर हनुमानजी अन्य राक्षसों का भी संहार करने लगे। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने लगा। उसी समय अकम्पन की मूर्छा जागी, वह पुनः आकर पवन पुत्र से भिड़ गया। तो हनुमान्जी अत्यन्त कुपित

हुए। एक पहाड़ लाकर उसके सिर पर पटक दिया वह उसके नीचे दब कर मर गया। यह देखकर राक्षसी सेना सिर पर पैर रखकर भागी। राक्षसों को भागते देखकर वानर हँसने लगे और किलकिला शब्द करने लगे।"

रावण ने जब अकम्पनका भी वीरगति का समाचार सुना तो वह परम-कुपित हुआ! अबके उसने अपने प्रधान सेनापति प्रहस्त को युद्ध करने भेजा विशालकाय प्रहस्त को देखकर सभी वानर विस्मित हुए। श्रीरामचन्द्रजी ने भी विभीषण से उसका परिचय पूछा। विभीषण ने बताया यह रावण का बाँया हाथ है। इसी के बलपर लंका का सैन्य संचालन होता है। इसके मारे जाने से रावण का एक हाथ कट जायगा। इतना सुनते ही वानर प्रहस्त के ऊपर टूट पड़े। प्रहस्त तनिक भी विचलित नहीं हुआ। वह बहुत देर तक वीरतापूर्वक युद्ध करता रहा। उसके युद्ध को देखकर वानर घबरा गये महाशिल्पी नील ने जब देखा यह दुष्ट तो वानरों का नाश ही कर डालेगा, तो वे उसके आगे आये अपने सम्मुख महाबली नीलको देखकर प्रहस्त ने गर्जना की और उन्हें बाणों से वेधा। नील के शरीर से रक्त उसी प्रकार बह रहा था जिस प्रकार गेरूके पर्वत से पानी बहता है। बाणों से विधे नील फूली हुई लाल कन्नेर के सदृश दिखाई देते थे। वे सम्पूर्ण रक्त से लथपथ हो गये थे। उनका सुवर्ण वर्ण के बाल रक्तवर्ण के बन गये थे। रक्त को देख कर उनका क्रोध अत्याधिक बढ़ गया था। उन्होंने रोष में भरकर एक बड़ा भारी वृक्ष उखाड़कर प्रहस्त के सिर में मारा और घोर गर्जना की। वृक्ष की चोट से प्रहस्त का सिर फट गया, वह कटे वृक्ष के समान पृथिवी पर गिर पड़ा और कुछ ही क्षणों में चेतना शून्य हो गया। सेनापति के मरते ही राक्षसी सेना भाग खड़ी हुई दशों-

दिशाओं में बिना गड़रिया के भेड़ों के समान सैनिक इधर उधर दौड़ रहे थे। वानर उनका संहार करते थे और हँसते थे।

रावण ने जब अपने प्रधान सेनापति प्रहस्त की मृत्यु की बात सुनी, तो वह अत्यन्त कुपित हुआ। दुःख के कारण उसके ओठ फड़क रहे थे, वह दाँतों से अधरों को काट रहा था लाल लाल आँखों को फाड़कर वह उत्तर की ही ओर देख रहा था। मानों समस्त वानरी सेना को वह अपने क्रोध से जला देगा। उसने गर्जकर कहा—"अब तक मैं इन भालु वानरों को निर्वीर्य समझता था, इसीलिये उनकी उपेक्षा करता रहा। अब जब इन्होंने मेरे प्रधान प्रधान सचिव और सेनापतियों को मार डाला है, तो मैं इनको क्षमा नहीं कर सकता। अब मैं स्वयं ही शस्त्र लेकर समर में जाऊँगा। इन उद्धतों का इनकी अविनय और उद्धत्ताका फल चखाऊँगा। मेरा रथ तैयार किया जाय, हाथी पर सिंहासन सजाया जाय, साथ चलने की चतुरंगिनी सेना सुसज्जित हो। मेरे प्रधान अङ्ग रक्षक साथ चलें। यह कहकर राक्षस ने सेनानायक की ओर निहारा। हाथ जोड़कर सामने खड़े हुए सेनानायक ने विनीत भाव से कहा—"देव! सेना समर के लिये सदा सुसज्जित ही रहती है। फिर भी मैं जाता हूँ, सबको सावधानी पूर्वक स्वामी के सम्मुख लाता हूँ। यह कहकर और सैनिक अभिवादन करके सेनानायक तुरन्त चला गया। रावण ने राजसभा के वस्त्रोंको उतारकर सैनिक वस्त्र पहिने, अपने अस्त्र शस्त्रों को रथ में लदवाकर वह सेना के आगे आगे चला समर के बाजे बज रहे थे, घोड़े उछल रहे थे, हाथी चिघाड़ रहे थे, सैनिक राक्षसराज रावण की जय जयकार बोल रहे थे। दूसरी ओर वानरी सेना ने राक्षसों की सेना को आते देखा। आज निशिचरों में अपूर्व उत्साह था। पृथ्वी को

कँपाते हुये वे वानरों के विनाश के विचार से वीरतापूर्वक बढ़े चले आ रहे थे। श्रीरामचन्द्रजी ने दूर से ही सूर्य के समान रावण को देखकर विभीषण से पूछा—"राक्षसराज! सुमेरु के समान डील डौलवाला विकराल व्यक्ति कौन है। यह तो अपनी शोभा से सूर्य को भी निस्तेज बना रहा है।"

विभीषण ने कहा—"प्रभो! यह समस्त लोकों को रुलाने वाला मेरा ज्येष्ठ भाई दुष्ट रावण है। इसी ने आपके परोक्ष में आपकी प्यारी पत्नी को हरा है। संसार में इसका सामना करने में कोई समर्थ नहीं, इसने अपने बाहुबल से तीनों लोकों को जीत लिया है। इसे अपने विश्वविजयी होने का बड़ा अभिमान है।"

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"वीर! बड़े सौभाग्य की बात है, कि यह दुष्ट मेरे सामने आया आज इसे मैं इसके पापों का फल चखाऊँगा। आज तीखे बाणों से इसके अंगों को क्षत विक्षत बनाऊँगा। जबसे इसने मेरी प्राणों से भी प्यारी प्रिया को हरा है तब से मैं इसके ऊपर अत्यन्त ही कुपित हूँ। मैं इसकी प्रतीक्षा ही कर रहा था।"

इतना कहकर श्रीराम कुपित हुए। समीप में ही बैठे सुग्रीव रावण को देखते ही उसकी ओर दौड़े और भी बहुत से वानर हूँ हल्ला मचाते, पत्थरों को बरसाते आगे बढ़े। राक्षसों ने आते हुए वानरों पर प्रहार किया, कुछ देर तो वानर वीरतापूर्वक लड़ते रहे अन्त में उनके पैर उखड़ गये। राक्षसों के प्रहारों को न सह सकने के कारण वे भाग खड़े हुये। वानरों को भागते देखकर सुग्रीव ने ललकार कर रावण से कहा—"अरे राक्षसाधम! इन अल्पवीर्य वानरों को व्यर्थ में क्यों मार रहा है, मुझसे युद्ध कर।"

इतना सुनते ही रावण सुग्रीव के सम्मुख आया। सुग्री-

एक पर्वतशिखर उठाकर रावण के ऊपर फेंका, किन्तु उसने बीच में ही बाण मारकर उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये। सुग्रीव ज्योंही एक फले फूले विशाल वृक्षको उखाड़ने को दौड़े त्योंही रावण ने उनके सिर में ऐसी घुमाकर गदा मारी कि वे भिन्न भिनाते हुए बहुत दूर जाकर गिर गये और मूर्छित हो गये।

वानरराज सुग्रीव को रण में मूर्छित देखकर हनुमानजी आगे आये। अब राक्षसराज रावण का और पवनतनय हनुमानजी का भयंकर रोमहर्षण युद्ध होने लगा। आकाश में देवता ऋषि तथा सिद्ध आदि उन दोनों के भयंकर युद्ध को कुतूहल के साथ देख रहे थे। सुग्रीव को मूर्छित देखकर पवन तनय हनुमानजी को अत्यन्त क्रोध आया। वे रावण के समीप जाकर बोले—"तू मुझे जानता है?"

रावण ने कहा—"मैं तेरी पूँछ को ही देखकर जानता हूँ, कि तू बन्दर है।"

हनुमानजी बोले—"मैं साधारण बन्दर नहीं हूँ। तेरे पुत्र अक्षको मारने वाला लंका को जलाने वाला हनुमान हूँ स्मरण है कुछ?"

रावण ने कहा—"अच्छी बात है, यदि तुझमें कुछ पुरुषार्थ है, तो मेरे सामने आ।"

हनुमानजी ने कहा—"मैं भी तेरा बल देखना चाहता हूँ। पहिले तू मेरे ऊपर प्रहार कर, तब मैं तुझपर प्रहार करूँगा। हमारी तेरी थप्पड़ों से लड़ाई हो।"

इतना सुनते ही रावण ने हनुमानजी को एक थप्पड़ जमाया। रावण के थप्पड़ लगते ही हनुमानजी का शरीर सन्न हो गया वे बहुत देर तक स्तब्ध बने खड़े रहे। कुछ काल में उन्हें चेत हुआ। वे बोले—"अच्छी बात है बच्चूजी! अब तुम भी सम्हल

जाओ।" यह कहकर हनुमानजी ने पूरी शक्ति लगाकर रावण के एक थप्पड़ मारा इससे वह मूर्छित हो गया। रावण को मूर्छित देखकर सभी हनुमानजी की प्रशंसा करने लगे। कुछ काल में रावण को चेत हुआ उसने उल्लास के साथ कहा—धन्यवाद, धन्यवाद पवनतनय तुम सचमुच में वीर हो तुम श्लाघनीय शंभु हो, तुम्हारे बल पराक्रम की मैं प्रशंसा करता हूँ।"

हनुमानजी ने कहा—"मेरे ऐसे पराक्रम को धिक्कार है जो मेरा थप्पड़ लगने पर भी तू जीवित है। आ, एक बार फिर तू मेरे ऊपर प्रहार कर तब मैं तुझे मारूंगा।" इतना सुनते ही रावण ने फिर एक थप्पड़ पवनतनय को मारा। उस थप्पड़ के लगते ही हनुमानजी अचेत हो गये। रावण गर्जता हुआ नील से युद्ध करने लगा। महाशिल्पी नील कुछ काल तो लड़े किन्तु रावण के सम्मुख वे ठहर न सके। तब हनुमानजी की भी मूर्छा भंग हुई। रावण का प्रहार अव्यर्थ होता था उसने वानरों के दांत खट्टे कर दिये। वानर उसके बल, पराक्रम, तेज, युद्ध चातुरी से घबरा गये। वे युद्धस्थल छोड़कर इधर उधर भागने लगे।

वानरों को भागते देखकर रामानुज श्रीलक्ष्मण अपने बड़े भाई से बोले—"प्रभो! आप मुझे इस राक्षस से युद्ध करने की आज्ञा दें। मैं इसे रण में मारूंगा।"

यह सुनकर श्रीराम बोले—"भैया, लक्ष्मण! यह निशाचर बड़ा बली है इसे युद्ध में देवता, असुर, गन्धर्व, राक्षस कोई भी नहीं जीत सकते। तुम बड़ी सावधानी से युद्ध करना।"

यह कहकर श्रीराम ने अपने लघुबन्धु का स्वस्त्ययन किया और प्रेम पूर्वक छाती से लगाकर उन्हें युद्ध के लिये विदा किया लक्ष्मणजी ने जाते ही रावण पर प्रहार किया। लक्ष्मण को

अपनी ओर आते देखकर हँसकर रावण बोला—"अरे, बच्चे तू मेरे साथ क्या युद्ध करेगा। भाग जा भाग जा अपने भाई को भेजना।"

लक्ष्मणजी इतना सुनते ही क्रोध करके बोले—"अरे गीदड़! तू मेरे सामने क्या वस्तु है। सिंह का शावक कितना भी छोटा क्यों न हो वह हाथी से कभी भय नहीं खाता। तेरे लिये तो मैं ही पर्याप्त हूँ।" यह कहकर वे रावण से युद्ध करने लगे। कुछ देर तक तो लक्ष्मणजी बड़ी वीरता से लड़ते रहे। अन्त में उसने एक अमोघ शक्ति रामानुज के ऊपर छोड़ी। मन्त्रों से अभिमंत्रित कभी भी व्यर्थ न जाने वाली उस शक्ति के लगते ही लक्ष्मणजी अचेत होकर धड़ाम से धरती पर गिर गये। लक्ष्मणजी को मूर्छित देखकर हनुमानजी बड़ी शीघ्रता के साथ उनके समीप गये और उन्हें युद्ध भूमि से उठाकर श्रीरामचन्द्रजी के समीप ले गये। अपने छोटे भाई को मूर्छित देखकर श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त ही दुखित हुए। उन्हें रावण के ऊपर और भी अधिक क्रोध आ गया। लक्ष्मणजी को गोद में बिठाकर वे कुछ देर विलाप करते रहे। अंत में लक्ष्मणजी को स्वतः ही कुछ कुछ चेतना हुई। तब श्रीरामचन्द्र जी हनुमान्‌जी से बोले—"पवनतनय! तुम मुझे उस राक्षसाधम के समीप ले चलो मैं उसे दंड दूँगा। मैं उसके गर्व को खर्व करूँगा।"

इस पर हनुमान्‌जीने कहा—"प्रभो! आप मेरी पीठ पर चढ़ लें। वह राक्षस रथ पर चढ़कर युद्ध कर रहा है। आप मेरे कंधों पर बैठकर युद्ध करें।"

हनुमान्‌जी की यह बात श्रीरामचन्द्रजी ने मान ली। वे उनके कन्धों पर चढ़कर युद्ध के लिये निकले। उस समय आकाश विमानों से भर गया था। राम और रावण के युद्ध

को देखने असंख्यों देव, असुर, गन्धर्व और सिद्ध चारण आये हुए थे।

श्रीराम को युद्ध के निमित्त आते देखकर दशानन भयभीत हुआ, किन्तु उसने साहस नहीं छोड़ा। बड़ी वीरता के साथ बोला—"धन्यवाद! जिस राम को मैं खोज रहा था, वह मेरे सामने ही आ गया। आज मैं इसे रण में मारकर अपना क्रोध शान्त करूँगा।"

श्रीरामचन्द्रजी उस राक्षसराजको डाँटते हुये बोले—"अरे, नीच! बहुत बढ़ बढ़कर व्यर्थ बातें क्यों बनाता है, शूरवीर बहुत बड़बड़ाते नहीं। वे करके दिखाते हैं। यदि तुझ में कुछ पुरुषार्थ है, तो समाने आजा। मेरे बाण के प्रहारको सह।"

रावणने कहा—"मैं रामके ही लिये तो समस्त चेष्टाएँ कर रहा था। राम मेरे सम्मुख आवें मुझे अपना पुरुषार्थ दिखावें, इसी निमित्त तो मैं सीता को हरकर लाया हूँ। मैं बहुत दिनों से सुनता था, राम बड़े वीर हैं बड़े वीर हैं। आज राम की वीरता देखी जायगी। देखें, वे हारते हैं या मैं हारता हूँ। विजय तो मेरी ही होगी। यह कहकर वह तीक्ष्ण बाण छोड़कर युद्ध करने लगा। श्रीरामचन्द्रजी भी अपने तीखे अमोघ बाण छोड़कर उसके मर्म स्थानों को वेधने लगे। किन्तु वह इतना भारी बली था कि श्रीराम के प्रहारों को भी वह उसी प्रकार सहता रहा जिस प्रकार मन्दराचल पर्वत वर्षा के प्रबल वेग को बिना विचलित हुए सहता रहता है।"

रावण ने जब देखा, कि श्रीराम तो हनुमानजी के ऊपर चढ़े हैं, तब तो उसे हनुमान्‌जी पर क्रोध आया। हनुमानजी ने पहिले उसे घायल भी किया था, अतः उसने उन पर ही प्रथम प्रहार करना आरंभ किया। अपने वाहन और सेवक श्रीहनुमान्

जी को घायल देखकर श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त ही कुपित हुए उन्होंने एक अर्ध चन्द्राकार बाण छोड़कर रावण के मुकुट गिरा दिये और उसकी छाती में बाण मारके उसे मूर्छित बना दिया।

रावण बहुत देर से युद्ध कर रहा था। वह अत्यन्त ही थक गया था। युद्ध करने में अब उसे उत्साह नहीं रहा। श्रीराम के बाणों ने उसके सम्पूर्ण अंगों को क्षतविक्षत बना दिया था। अब वह बिना मन के वैसे ही युद्ध कर रहा था। उसे अत्यन्त श्रमित देखकर श्रीरामचन्द्रजी बोले—"राक्षसराज! मैं अधर्म से युद्ध करना नहीं चाहता। मैं जानता हूँ, तुम बहुत समय से युद्ध कर रहे हो। युद्ध करते करते अत्यन्त ही क्लान्त हो गये हो, इस लिये अब तुम जाओ, जाकर लंका में विश्राम करो, कल फिर युद्ध के लिये आना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी बात सुनकर रावण अत्यन्त ही लज्जित हुआ, यथार्थ में वह अत्यन्त थक गया था, इसलिये श्रीराम के धर्मभाव की मन ही मन प्रशंसा करता हुआ वह युद्ध भूमि से हट गया। लंका में पहुँच कर अत्यन्त ही दुखी हुआ। उसका मुख क्लान्ति और ग्लानि से मुरझा गया था। वह एकान्त में बैठकर सोचने लगा कि अब मुझे क्या करना चाहिये। उसे सम्पूर्ण संसार राममय ही दिखाई देने लगा। राम के बल, वीर्य, पराक्रम, ओज, तेज, राजपटुता हस्तलाघवता तथा शूरवीरता, आदि गुणों को देखकर वह भय के कारण तन्मय हो गया था।

छप्पय

अङ्गद मारयो वज्रदंष्ट्र धूम्राक्ष पवनसुत।
आयो लड़न प्रहस्त भये नहिं बानर बिचलित॥
मरे मुख्य सब वीर दशानन अति खिसियायो।
स्वयं साजि सब सेन रामतें लड़िबे आयो॥
हनूमान् अरु बालिसुत, नील लखन मूर्छित करे।
पवनतनय की पीठ चढ़ि, रावणतें राघव लरे॥

कुम्भकरण गतिदाता राम

(६७७)

तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे
द्वन्द्वं वरुथमिभपत्तिरथाश्वयौघैः ।
जघ्नुर्द्रुमैर्गिरिगदेषुभिरङ्गदाद्याः
सीताभिमर्शहतमङ्गलरावणेशान् ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० २० श्लो०)

छप्पय

राम बान तैं बिकल दशानन लंका आयो ।
कुम्भकरण लघुबन्धु नींद तें तुरत जगायो ॥
जगिकें बोल्यो वीर रामतैं, रनमहँ लरिहौं ।
लहूँ विजय करि कीर्ति नहीं हरि सम्मुख मरिहौं ॥
यों कहि अञ्जन गिरि सरिस, चल्यो देखि बानर भगे ।
भगदड़ कपिदलमहँ निरखि, अङ्गद समुझावन लगे ॥

वीर पुरुष अपने शत्रु वीर का भी सम्मान करते हैं। वीरता ऐसा महान गुण है, कि वह शत्रु मित्र की अपेक्षा ही नहीं

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! राक्षसों की हय, गज, रथ और सवारों वाली चतुरङ्गिनी सेना से श्रीरामजी के अङ्गदादि सेनापति द्वंद युद्ध करने लगे। जिन राक्षसों का स्वामी वही रावण था जिसका मङ्गल सीताजी के स्पर्श से नष्ट हो गया है उसे वे वृक्षों, पर्वत शिखरों गदाओं और बाणों से मारने लगे।"

रखता। वीरता में जो बड़ा है वह छोटा होने पर भी बड़ा है और वीरता में जो छोटा है, वह बड़ा होने पर भी छोटा है। वीर को जो जीत ले वह तो विजित है ही, किन्तु वीर से पराजित होने में भी अप्रतिष्ठा नहीं। एक वीरता का गुण सभी अवगुणों को ढक लेता है और एक कायरता का अवगुण सभी गुणों पर पानी फेर देता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीरामचन्द्रजी से पराजित होकर रावण अत्यन्त दुखी हुआ, उसे चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता था, उसके मुख्य-मुख्य वीर मारे गये थे प्रायः समस्त सेना समाप्त हो चली थी, कोष भी चुक गया था, स्वयं भी शत्रु सेना से पराजित हो चुका था, अतः उसे सर्वत्र भय दिखाई देने लगा। अब उसे अपने भाई कुम्भकर्ण की याद आयी। उसने सोचा—"कुम्भकर्ण विश्वविजयी है, उसने देवासुर संग्राम में असुरों का पक्ष लेकर सुरों को अनेकों बार परास्त किया है, वह वीर अत्यन्त बली है, संसार में उसका सामना करने वाला कोई नहीं है, किन्तु वह ऐसा मूढ़ है कि सदा सोता ही रहता है। ६ महीने में एक दिन के लिये जागता है उस समय भी वह भूख के कारण दुखी बना रहता है कितना भी खा ले उसकी तृप्ति ही नहीं होती। यदि वह आज किसी प्रकार जग जाय तो इन समस्त वानरों को खा जाय। इतने भालु वानरों को खाने से उसकी तृप्ति भी हो जायगी, शत्रुओं का नाश भी हो जायगा और मेरी विजय भी हो जायगी।" इस विचार के आते ही रावण को परम शान्ति हुई, तुरन्त अपने प्रधान-प्रधान विश्वसनीय राक्षसों को बुलाया और बोला—"तुम लोग तुरन्त मेरे छोटे भाई कुम्भकर्ण की उस गुहा में जाओ जहाँ वह सो रहा है। सहस्रों बकरे भैंसे उसके लिये आहार के

निमित्त ले जाओ। हजारों घड़े सुरा उसके पान के निमित्त ले जाओ। अभी उसके जगने का समय नहीं है। अभी वह बीच में उठा था और खा पीकर सो गया था। असमय में वह बिना प्रबल प्रयत्न के उठ नहीं सकता, इसलिये भाँति भाँति के प्रयत्न करके उसे जगाओ। उसे जगाकर स्तुति विनय से मनाओ, सुन्दर सुन्दर जीवों के स्वादिष्ट मांसों को खिलाओ, मनमानी सुरा पिलाओ, तब आदरपूर्वक उसे मेरे समीप ले आओ।"

राक्षसराज रावण का ऐसा आदेश सुनकर सेवकों ने सिर झुकाकर उसे स्वीकार किया और कहा—"बहुत अच्छा हम जाते हैं" ऐसा कहकर कुम्भकर्ण के शयनागार की ओर वे चले। दूर से ही उन्होंने कुम्भकर्ण की शयनगुहा को देखा। वह भूमि खोदकर बनाई गई थी। क्योंकि वह कुम्भकर्ण कई योजन लम्बा था किन्तु उसका शयनगृह लंका के राजमहलों के समान ही ऊँचा था, किन्तु भूमि में बहुत खुदा हुआ था। उसका द्वार बहुत बड़ा सबसे ऊँचा था जिससे वह विभीषण सुखपूर्वक निकल सके। दस योजन लम्बा और पाँच योजन चौड़ा उसका शयन-गृह था। उसमें चन्दन के खम्भे लगे हुये थे। वज्रलेप से उस पर पक्का लेप किया था। स्थान स्थान पर उसमें सुन्दर सुनहले चित्र बने हुए थे, उसमें वायु के आने जाने को बहुत से झरोखे मोखे मरोखे थे। उसमें सुन्दर सुगन्धि व धूप जल रही थी। दिव्य पुष्पों की मालायें लटक रही थीं। बड़े बड़े सैनिक राक्षस उसके चारों ओर पहरा दे रहे थे। वह बड़े सुन्दर ढंग से सजाई थी वहाँ के राक्षसों को रावण के सेवकों ने राजाज्ञा दिखाई। राजाज्ञा पाते ही उन्होंने द्वार खोल दिया। कुछ राक्षस भीतर घुसने लगे, किन्तु कुम्भकर्ण की नासिका से इतनी वेग से वायु निकल रही थी, कि उसके प्रश्वास लेने पर तो वे लोग भीतर

चले जाते, किन्तु स्वाँस लेते ही सब उड़कर बाहर आ जाते। उसकी स्वाँस के सम्मुख कोई ठहर ही नहीं सकता था। तब राक्षसों ने कहा—"आप लोग व्यर्थ श्रम करते हैं। छोटे राक्षसेश्वर की स्वाँस के सम्मुख आप लोग ठहर नहीं सकते। एक काम करो पीछे से एक द्वार है छोटा सा उससे प्रवेश करो। प्रधान द्वार से आप लोग घुस नहीं सकते, क्योंकि उनकी स्वाँस का वेग इधर ही आता है।" इस बात को सुनकर सबने पीछे के द्वार से उस शयनागार में प्रवेश किया कुम्भकरण एक बहुत ही बहुमूल्य सुन्दर सजी सजाई सुखद शैया पर स्वच्छन्द होकर सो रहा था। वह शैया बड़ी बुद्धिमानी से बनाई गयी थी। उस पर उसका सिर सुमेरु के शिखर के समान था। पर्वत की कन्दराओं के समान उसकी नाकों के छिद्र थे जिनसे वेगपूर्वक वायु निकल रही थी, मुख से सुरा की गन्ध आ रही थी। शरीर के स्वेद से मांस, रुधिर और मज्जा की दुर्गन्ध सी निकल रही थी। उसके हाथ पैर योजनों लम्बे थे। वह नेत्र बन्द किये सो रहा था। राक्षसों ने प्रथम उसे झकझोरा किन्तु उसको कुछ मालूम ही न पड़ा। फिर कुछ राक्षस उसकी छाती पर चढ़ गये। ज्योंही उसने स्वाँस ली कि बस उड़कर इधर उधर गिर पड़े। नासिका की वायु के वेग को कम करने के लिए राक्षसों ने उसकी नासिका में बड़ी बड़ी चौड़ी कीलें ठोंकीं, किन्तु वे भी न रह सकीं। तब उन्होंने बहुत से बकरे उसके शरीर पर चलाये, किन्तु वह टस से मस भी न हुआ। यह देखकर राक्षस बड़े चिन्तित हुये। उन्होंने सैकड़ों घोड़े उसके ऊपर दौड़ाये, बड़े बड़े पत्थरों को रखकर कुटवाया बहुत से अस्त्र शस्त्रों का प्रहार किया, किन्तु कुम्भकरण की निद्रा साधारण थोड़ी ही थी राक्षस ने करवट भी नहीं बदली तब तो राक्षस क्रोध में भरकर दाँतों से उसके कानों को काटने

लगे, नखों से नोचने लगे, खड्गों से प्रहार करने लगे किन्तु कुम्भकर्ण को तो कुछ प्रतीत ही नहीं होता था। तब राक्षसों ने गरम गरम लाल लाल लोहा उसके शरीर से छुआया, कानों में सहस्रों घड़े पानी भरवाया बड़े बड़े नगाड़ों का शब्द कराया, सबने मिलकर हू हल्ला मचाया किन्तु राक्षसराज के कानों पर जूँ भी नहीं रेंगी।

तब तो राक्षसों ने विवश होकर बड़े बड़े मदोन्मत्त सैकड़ों हाथियों को बुलाया। उसकी छाती पर हाथियों की दाँय चलाई। तब उसने कुछ करवट बदली। हाथी इधर उधर गिर पड़े। अब तो राक्षसों ने उसके अंग अंग पर हाथियों को खड़ा कर दिया। तब कहीं कुम्भकर्ण को ऐसा लगा मानों मेरे शरीर पर चीटियाँ रेंग रही हैं। उसने जम्हाई ली और वह उठकर बैठ गया। उसके बैठते ही राक्षस भयभीत हुए वे भवन से भागने लगे। कुछ ने शीघ्रता से बहुत सा मांस दिया। मद्य की बोतलें उसके सामने की। पहिले ही झपट्टे में वह सहस्रों भैंसों बकरों और मृगों के मांस को खा गया सहस्रों बोतलें सुरा चढ़ा गया। तब उसने चकित चकित दृष्टि से निहारते हुए पूछा—"सेवको! आज तुम लोगों ने इतने आदर के साथ मुझे असमय में क्यों जगाया है? कहो लंका में सब कुशल तो है न? मेरे ज्येष्ठ भाई राक्षसराज रावण सुख पूर्वक तो हैं न? लंका पर किसी ने चढ़ाई तो नहीं कर दी? राक्षसों को देवताओं से तो भय नहीं हुआ? इन्द्र ने तो फिर सिर नहीं उठाया? मेरा भाई मुझे साधारण कार्य के लिये असमय में नहीं उठा सकता अवश्य ही कोई भीषण कांड हो गया। मुझे सत्य सत्य बताओ राक्षसों के भय को मैं दूर करूँगा। अपने बड़े भाई के संकट को हरूँगा।"

इतना सुनते ही हाथ जोड़कर रावण के सेवक बोले—"प्रभो! देवताओं से नहीं मनुष्यों से राक्षसों को भय हुआ है। राम नाम का एक राजकुमार वानरी सेना लेकर लंका पर चढ़ आया है। उसी के कारण राजाधिराज दुखी हैं। उसी निमित्त आपको असमय में जगाया गया है।"

इतना सुनते ही अहंकार युक्त उपेक्षा के स्वर में कुम्भकर्ण बोला—"इस इतनी सी छोटी बात के लिये मुझे जगाने की क्या आवश्यकता थी। अस्तु, अब मेरे भाई से जाकर पूछो कि मैं पहिले राम लक्ष्मण को मारकर वानरी सेना को खाकर तब उनके दरशन करूँ अथवा पहिले उनके दर्शन करके तब समर भूमि में जाऊँगा?"

इतना सुनते ही सेवक राक्षसराज रावण के समीप दौड़े गये और बोले—"देव! छोटे महाराज ने पूछा है वे आपके दर्शन करके समर भूमि में जायँ या वहाँ से सीधे ही समर भूमि में चले जायँ।"

रावण ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"मैं अपने छोटे भाई को देखना चाहता हूँ। उसे सत्कार पूर्वक यहाँ ले आओ।" रावण की आज्ञा पाते ही सेवक कुम्भकर्ण के समीप गये और हाथ जोड़कर नम्रता के साथ बोले—"महाराज आपको देखने के लिये अत्यन्त ही उत्सुक हैं। उनका आदेश है, कि पहिले आप उनसे मिल लें तब समर भूमि में जायँ।" इतना सुनते ही कुम्भकर्ण उठा उसके उठते ही पृथ्वी डगमगाने लगी। जीव जन्तु डरकर इधर उधर भागने लगे। वह इन्द्रध्वजा के समान योजनों दूर से दिखाई देता था। लंका के भवनों से भी ऊँचा उसका सिर था। वह सीधा रावण के पास गया। अपने बड़े भाई के चरणों में

प्रणाम करके वह उसके बताये आसन पर बैठ गया। रावण ने उसे हृदय से लगाया और उसकी कुशल पूछी।

कुम्भकर्ण ने कहा—"भाई जी, मुझे क्यों जगाया गया। ऐसा कौनसा आवश्यक कार्य आ गया।"

रावण ने प्रेमपूर्वक घुड़की देते हुए कहा—"कुम्भकर्ण! तू इतना बली है, कि संसार में तेरे समान दूसरा कोई बली नहीं। किन्तु तुझमें यह सोने का दोष बहुत भारी है। यदि सोने का दोष न होता तो संसार में तेरे सम्मुख कोई खड़ा भी नहीं हो सकता था। तू भैंसे की भाँति पड़ा पड़ा सोता रहता है। तुझे पता नहीं मैं कितना दुखी हूँ। मेरे प्रधान प्रधान सैनिक मारे गये। लंका में बच्चे, बूढ़े और स्त्रियोंको छोड़कर कोई युवक रहा ही नहीं। वानरों ने सबका संहार कर दिया। इतने पर भी वे अजेय बने बैठे हैं। जब मुझे कोई उपाय न सूझा तब मैंने तुझे जगाया है मुझे तेरा बहुत सहारा है, तेरे बलवीर्यका बड़ा भरोसा है। भैया, तू मेरे संकट को दूर कर सकता है। इन वानरों को भगा सकता है।"

कुम्भकर्ण ने कहा—"राजन! आपने रामकी पत्नी सीता का हरकर बहुत बुरा कार्य किया। उसी का यह फल है। सीता के शोक के उद्गार व्यर्थ नहीं जाते, तू कभी सुखी नहीं हो सकता। अधम के कार्य से सदा सद्विपन्नता बढ़ती है, पाप का फल दुःख है। रामने आपका क्या बिगाड़ा था, आप उनकी स्त्रीको जिनस्थान से क्यों हर लाये?"

बीच में ही टोककर क्रोधपूर्वक रावण बोला—"कुम्भकर्ण तू बड़ा मूर्ख है। अरे, तेरा भाई हूँ पिता और गुरु के समान हूँ, तू मुझे इस प्रकार डाट रहा है। मान ले मैंने बुरा ही काम किया, तो अब आलोचना प्रत्यालोचना का समय थोड़े ही है।

बुरा-भला जो हो गया सो हो गया। घर के आदमियों से कोई बुरा भी काम हो जाता है, तो बुद्धिमान लोग उसे सम्हाल लेते हैं। संकट के समय आपस में ही वाद विवाद न करना चाहिये। क्या हुआ उसका विचार न करके अब क्या करना चाहिये इसी का विचार करना है। तुझे लंका को बचाना है या फिर पड़कर सोना है। एक छोटा भाई विभीषण था वह मुझे धोखा देकर शत्रु से मिल गया तू भी मेरी वंचना करेगा क्या ?"

कुम्भकर्ण ने नम्रतापूर्वक कहा—"राजन ! आप क्रोध न करें। मैंने भ्रातृस्नेह के कारण ये शब्द कहे। मेरा भाव आप को उपदेश देने का नहीं था। मैं अभी अकेला ही समर में जाऊँगा। सब वानरों को पकड़कर खा जाऊँगा। रामलक्ष्मण दोनों भाइयों को मारकर आपके दुःख को दूर करूँगा। आप चिन्ता को छोड़िये, दुःख को दूर कीजिये। आनन्द से स्वादिष्ट भोजन कीजिये। भरपेट सुरापान कीजिये। जानकी आपको सदा के लिये मिल जायगी। लंका शत्रुशून्य हो जायगी। वानरी सेना नष्ट हो जायगी। लीजिये मैं अभी समर को जाता हूँ।"

रावण ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छी बात है, जाओ, किन्तु तनिक जलपान कर जाओ। भोजन तो रण में जाकर वानरों का ही करना। यह कहकर रावण ने भैंसों बकरों और हरिनों का सहस्रों मन मांस मँगाया। मद्य के असंख्यों घड़े मंगाये। जैसे पाताल के बिवर में कूड़ा डालने से वह क्षण भर में अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार सम्पूर्ण मांस कुम्भकर्ण के मुख में पड़ते ही अदृश्य हो गया। जैसे वडवानल के मुख में समुद्र का जल पड़ते ही स्वाहा हो जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण सुरा उसके मुख में पड़ते ही विलीन हो गई। खा पीकर बोला—"महाराज ! अब मैं युद्ध भूमि तक चलने योग्य हो गया। इतना

जलपान मुझे ऐसा लगा मानों मैंने मुख शुद्धि के लिये इलायची खाई हो, किन्तु अब मैं वानरों का ही खाकर अपनी भूख को शान्त करूँगा। इतना कहकर वह सिंहनाद करता हुआ समर की ओर चला। बहुत से राक्षस अस्त्र शस्त्र लिये उसके पीछे पीछे चल रहे थे। सम्पूर्ण लंका नगरी उसके स्वागत के निमित्त सजाई गई थी। स्थान स्थान पर उसके ऊपर फूल बरसाये गये। राक्षस कन्याओं ने दधि, अक्षत, कुंकुम अंकुर और मालाओं से उसकी पूजा की। वह अपने पैरों से पृथ्वी कँपाता हुआ, अपने भयंकर डील डौल से प्राणियों को भयभीत बनाता हुआ वानरी सेना को लक्ष्य करके चला।

वानरों ने जब इतने लम्बे तडंगे विचित्र जन्तु को देखा तो वे भयभीत होकर भागने लगे, कोई चिल्लाने लगे, कोई वृक्षों पर चढ़ने लगे, कोई उछलकर पर्वत शिखरों को तोड़ने लगे। श्री रामचन्द्रजी ने जब सजीव सुमेरु के समान समरभूमि में आते हुए कुम्भकर्ण को देखा, तो परम विस्मय के साथ विभीषण से पूछने लगे—"सखे! यह विचित्र जन्तु कौन है। यह कोई प्राण-वाला जन्तु है या यन्त्र है?"

तब विभीषण ने कहा—"प्रभो! यह मेरा भाई कुम्भकर्ण है। यह मुझसे बड़ा और रावण से छोटा है। जब यह उत्पन्न हुआ, तो मारे भूख के चराचर प्राणियों को खाने लगा। सभी दुखित होकर ब्रह्माजी के पास गये और बोले—"प्रभो! यदि यह इसी प्रकार भोजन करेगा, तो कुछ ही दिनों में सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड को खा जायगा। आप इसका कुछ उपाय सोचें।" सबकी बात सुनकर ब्रह्माजी ने इसकी मति फेर दी। इससे वर माँगने को कहा। इसने छा महीने की निद्रा माँगी। उसी वर के प्रभाव से यह ६ महीने तक सोता है। एक दिन जागक आहार

करता है। उस दिन लंका में न कहीं मांस बचता है न एक बूँद मद्य सभी को खा पीकर यह फिर सो जाता है। प्रतीत होता है संकट समझकर रावण ने इसे असमय में जगाया है। तभी तो यह इतना कुपित हो रहा है। इसके सामने कोई भी प्राणी ठहर नहीं सकता। निश्चय ही यह वानरी सेना को भक्षण कर जायगा। इसी को देखकर वानर भाग रहे हैं।"

श्रीराम ने कहा—"तुम सबसे कह दो यह कोई जन्तु थोड़े ही है। रावण ने डराने को लोहे का ऐसा यन्त्र बनाकर भेजा है। तुम इस पर निर्भय होकर चढ़ जाओ।"

विभीषण ने यही किया। अब तो वानर कुम्भकरण के सिर पर चढ़ने लगे। वह दोनों हाथों से समेट समेट कर वानरों को मुख में डालने लगा। वानरों ने तो स्वेच्छा से छोटा रूप रख लिया था, अतः वे उसके कानों में से नाक के छिद्रों में से तुरन्त निकल आते। जब तक वह योजनों लम्बे हाथों को फैलाकर औरों को पकड़ता तब तक वानर उसके शरीर में घाव कर देते। कोई नखों से नोंचता, कोई दाँतों से कान ही काट लेता, कोई पत्थर ही उठाकर सिर में मार देता। किन्तु उसका चर्म भी न छिलता वानरों का प्रहार उसे प्रतीत ही न होता। वह जिसे देखता उसे ही मार देता। उसने चारों ओर हाहाकार मचा दिया। वानर उसके भय से भागने लगे। तब वानरराज सुग्रीव लड़ने के लिए उसके सम्मुख आये। सुग्रीव ने उस पर वृक्षों, पर्वतों खड्गों के अनेकों प्रहार किये, किन्तु जैसे मदोन्मत्त हाथी वर्षा की बूँदों को सहता रहता है। वैसे ही सबके शस्त्र प्रहारों को सहता रहता था। उसे न भय था न चिन्ता। निर्भय होकर सुग्रीव के सम्मुख सुमेरु के समान अविचल खड़ा था। प्रहार करते करते जब सुग्रीव थक गये तब उसने एक तान कर गदा

मारी। राक्षस की गदा लगते ही सुग्रीवजी मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े। उन्हें शरीर की सुधि भी नहीं रही। सुग्रीव को मूर्छित देखकर कुम्भकर्ण ने उन्हें उठाकर काँख मे दबा लिया और लेकर लंका की ओर चला। कुछ काल मे सुग्रीवजी को चेतना हुई। उन्होंने अपने को राक्षस की काँख में दबा देखकर आश्चर्य प्रकट किया। लंका के मार्गों को देखकर वे समझ गये कि राक्षस मुझे पकड़ लाया है। अब वे कुम्भकर्ण की कांख में से ही उसे नोचने लगे। उन्होंने दाँतों से उसके कान कतर लिये, नाक काट ली। कान और नाक के काटने से कुम्भकर्ण घबरा गया उसने उन्हें उठाकर पृथ्वी पर फेंक दिया और ज्यों ही उन्हें पकड़ने दौड़ा त्यों ही वे आकाश में उड़कर श्रीरामचन्द्रजी के समीप पहुँच गये।

कुम्भकर्ण ने जब देखा कि सुग्रीव तो छल करके मुझसे छूट गया, तब तो वह फिर एक मुद्गर लेकर वानरी सेना में घुसा। अबके वह वानरों को मुख में रखता और समूचा निगल जाता। इस प्रकार उसने हजारों लाखों वानर खा लिये। अब तो वानरी सेना में भगदड़ मच गई। सब भागकर श्रीरामचन्द्र जी की शरण में गये। श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मण से कहा—"वीर! तुम इन वानरों के दुखको दूर करो" इतना सुनते ही लक्ष्मणजी अपना धनुषबाण लेकर कुम्भकर्ण के समीप गये। लक्ष्मण को देखकर देवशत्रु कुम्भकर्ण हँसा और उन पर एक पहाड फेंका। लक्ष्मणजी ने बीच मे ही टुकड़े टुकड़े कर दिये। फिर उन्होंने बहुत बाण चलाये, किन्तु उसकी त्वचा भी नहीं छिली। इस पर लक्ष्मणजी क्रुद्ध हुए। अत्यन्त तीखे तीखे बाण छोड़कर उन्होंने राक्षस को घायल किया। श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण और कुम्भकर्ण के युद्ध को देख रहे थे। समीप में ही श्रीराम बैठे हैं,

यह देखकर कुम्भकर्ण लक्ष्मणजी की अवज्ञा करके श्रीरामचन्द्र जी से लड़ने उनके सामने आया। भगवान् तो इसके लिये कटिबद्ध ही बने बैठे थे। वे शत्रु के सम्मुख धनुषबाण लेकर खड़े हुए। अब वानरों ने युद्ध बन्द कर दिया। सभी खड़े हो कर कुम्भकर्ण और श्रीराम के युद्ध को देखने लगे कुम्भकर्ण भगवान् पर जितने भी प्रहार करता, उन सबको भगवान् व्यर्थ बना देते। वह सजीव पर्वत के समान प्रहार कर रहा था। उसने घुमाकर एक बड़ी भारी गदा भगवान्की ओर चलाई। भगवान्ने एक बाण मारकर गदा को भी काट दिया और उसके हाथ को भी। अब वह एक हाथ से ही लड़ने लगा। अवसर पाकर प्रभु ने उसका दूसरा हाथ भी काट दिया। अब बिना हाथों के वह पंख कटे पर्वत के समान शोभित होने लगा। पीड़ा के कारण वह पृथिवी पर लेट गया। अब भगवान् ने उसके दोनों पैर भी काट दिये। अब वह बिना हाथ पैरों के ही मुँह फाड़कर श्रीराम की ओर दौड़ा भगवान ने बाणों से उसके मुँह को भर दिया। फिर एक बाण मारकर उसके सिर को भी काट दिया। सिर कटने पर वह चीत्कार करके मर गया। श्रीराम के हाथों से मरने पर उसकी सद्गति हो गयी। वह संसार बन्धन से विमुक्त हो गया। जो गति योगियों और महात्माओं को भी दुर्लभ है वह गति उसे प्राप्त हुई।"

कुम्भकर्ण के मरते ही राक्षसी सेना में भगदड़ मच गई। राक्षसों ने शीघ्रता पूर्वक यह समाचार रावण को दिया। सुनते ही राक्षसराज अचेत हो गया। वह फूट फूटकर रोने लगा। रोते-रोते वह कहने लगा—'मेरा सबसे प्यारा बली भाई कुम्भकर्ण मारा गया, तो मैं अब सीता को लेकर क्या करूँगा। हाय! मेरे छोटे भाई महात्मा विभीषण ने मुझे कितना समझाया किन्तु उस

समय मैंने उसकी बात नहीं मानी। मेरी करनी मेरे सम्मुख आ रही है। अब मैं क्या करूँ।"

कुम्भकर्ण के लिये इस प्रकार विलाप करते देखकर रावण के पुत्रों ने उसे धैर्य बँधाया और स्वयं युद्ध में जाने की इच्छा की। रावण की अनुमति लेकर सुरान्तक-नरान्तक-देवान्तक आदि बहुत से वीर गये, किन्तु वे सबके सब युद्ध में वानरों द्वारा मारे गये। तब फिर अन्त में इन्द्रजित् गया। सम्मुख युद्ध में दाल गलते न देखकर उसने पुनः माया का प्रयोग किया और श्रीराम लक्ष्मण को घायल किया। पीछे भगवान् स्वस्थ हुए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महान बल पराक्रम वाले वीर इन्द्रजित् को मरते न देखकर भगवान् विभीषण से उसकी मृत्यु का उपाय पूछने लगे।"

छप्पय

अंगद की सुनि सीख रुके कपि लड़िवे लागे।
कुम्भकर्ण सुग्रीव लखन सेना के आगे॥
भयो भयानक समर लखन रन अद्भुत कीन्हों।
पुनि राघवतें भिड्यो असुरकूँ अवसर दीन्हों॥
रामवानतैं कर कटे, पग मस्तकहू कटि गये।
कुम्भकर्ण खल मरि गयो, सुनि हर्षित सुर मुनि भये॥

———

इन्द्रजित्वध और रावण युद्धार्थ आगमन

रक्षःपतिः स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट
आरुह्य यानकमथाभिससार रामम् ।
स्वःस्यन्दने द्युमति मातलिनोपनीते
विभ्राजमानमहनन्निशितैः क्षुरप्रैः ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० २१ श्लो०)

छप्पय

कुम्भकर्ण सुनि निधन दशानन दुखअति पायो ।
तबहि तनय अति सूर युद्ध कूँ तुरत पठायो ॥
देवान्तक अतिकाय गये पुनि आये नहि फिरि ।
इन्द्रजीत पुनि छले राम सौमित्र गये गिरि ॥
है चेतन लक्ष्मण चले, सुनत सबनि अति सुखभयो ।
यतिवर लक्ष्मण हाथतैं, इन्द्रजीत मारयो गयो ॥

प्राणी का पुरुषार्थ तभी तक सफल होता है, जब तक उसका भाग्य साथ देता है। भाग्य के विपरीत हो जाने पर सभी

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! राक्षसराज रावण ने अपनी सेना को नष्ट होते देखा तो वह रुष्ट होकर विमान पर चढ़कर श्रीराम के सम्मुख आया। उसने उन श्रीरामचन्द्रजी पर तीखे बाणोंसे आक्रमण किया जो द्युतिमान सुन्दर स्वर्गीय विमान पर बैठे हुए थे और जिसे इन्द्रसारथी मातलि हाँक रहे थे।"

पुरुषार्थ विफल हो जाते हैं फिर जिस कार्यको भी करते हैं, वही व्यर्थ जाता है। भाग्य के अनुकूल होने पर जो समुद्र को पार कर जाते थे, भाग्य के विपरीत होने पर वे गौखुर के सदृश गड्ढे में गिर जाते हैं। अनुकूल परिस्थिति में जो सुमेरु के आघात को सहन करने में समर्थ थे, वे ही परिस्थिति के प्रतिकूल हो जाने पर एक कंकरी में मर जाते हैं। बल और अबल को बनाने वाला काल ही है। जब तक जिसका विजय का समय होता है, तब तक वह विजयी होता है, समय समाप्त हो जाने से वही पराजित हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुम्भकर्ण की मृत्यु से रावण को अत्यन्त दुःख हुआ। वह दीन हीन के समान सबके सम्मुख शोक प्रकट करने लगा और आँखों से अश्रु बहाने लगा। रावण को दुखी देखकर उसका पुत्र त्रिशिरा बोला—"पिताजी! यह सत्य है कि हमारे मँझले चाचाजी बड़े बली थे। उनकी मृत्यु से हम सबको बड़ा धक्का लगा, किन्तु जो होना था सो गया भाग्य को कौन मेंट सकता है। प्रारब्ध को कौन अन्यथा कर सकता है। आप शोक न करें, चिन्ता को छोड़ें मैं अभी समर में जाता हूँ। मैं निश्चय ही राम लक्ष्मण दोनों भाइयों को समर में मारकर आपको सुखी बनाऊँगा।" इतना कहकर अपने पिता की प्रदक्षिणा करके त्रिशिरा युद्ध के लिये चल दिया। उसके साथ उसके भाई देवान्तक नरान्तक तथा अतिकाय आदि भी चले। वे सब राजपुत्र सेना सजाकर बड़े उत्साह के साथ जा रहे थे उन्होंने वानरों के साथ घनघोर युद्ध किया। अङ्गद और नरान्तक का बड़ी देर तक युद्ध होता रहा, अन्त में दोनों में द्वन्द युद्ध होने लगा। नरान्तक ने अङ्गद जी की छाती में तान कर मुट्ठी मारी जिससे वे अचेत हो गये। मूर्छा भंग होने पर उन्होंने भी

सम्पूर्ण बल लगाकर नरान्तक की छाती में एक घूँसा मारा। घूसे के लगते ही उसका हृदय फट गया और वह मर गया।

नरान्तक के प्रणान्त होने से उसके देवान्तक महोदर आदि भाई परम दुखी हुए और वे भी वानरों से प्राणों का पण लगा कर युद्ध करने लगे। अतिकाय लक्ष्मणजी से युद्ध करने लगा। उसने ऐसी वीरतापूर्वक घनघोर युद्ध किया कि लक्ष्मणजी उसकी वीरता से परम सन्तुष्ट हुए। अन्त में वह श्री लक्ष्मणजी के हाथों मारा गया। फिर एक एक करके देवान्तक, महोदर, अतिकाय आदि प्रधान प्रधान वीर मारे गये। उनके साथ जो राक्षस सैनिक आये थे वे डर कर भाग गये।

जब यह समाचार रावण ने सुना तो अत्यन्त ही दुखी हुआ। शोक के कारण वह मूर्छित सा हो गया। अपने पिता को शोकमग्न देखकर महाबली इन्द्रजित उसे धैर्य बँधाते हुए कहने लगा—"पिताजी! आप शोक का परित्याग कीजिये। आप इस प्रकार अनाथोंकी भाँति दुःख न करें जबतक हम हैं आपको शोक करने की कौन सी बात है। पिताजी! मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ, युद्ध में श्रीराम लक्ष्मण को अवश्य मारूँगा। यदि ऐसा न कर सका तो मैं भी अपने भाइयों के पथ का अनुसरण करूँगा। आप मुझे युद्ध में जाने की आज्ञा दें।" यह कह कर उसने रावण की प्रदक्षिणा की। रावण ने भी प्रेम पूर्वक उसे छाती से लगाया, उसका सिर सूँघा, स्वस्त्ययन करके प्रेम सहित हृदय से आशीर्वाद देकर उसे विदा किया। उसने जाते ही आसुरीमाया का आश्रय लिया। उसने छिपकर ऐसा मोहनास्त्र छोड़ा कि प्रधान प्रधान वानर और श्रीराम लक्ष्मण सभी उसकी माया में मोहित हो गये। वानर और भालू तो अब ओषधि जान ही

गये थे अतः ओषधि लाकर उन सबको स्वस्थ कर लिया था।

जब श्रीराम ने देखा कि अब तो रावण के प्रायः सभी प्रधान प्रधान सैनिक वीर मारे गये। अब वह लंका की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ है, तो उन्होंने वीरों को लंका लूटने की अनुमति दे दी चंचल प्रकृति के वानर तो यह चाहते ही थे, उन्होंने रात्रि के समय लंकापर धावा बोल दिया। सैनिक शिविरों में, महलों में घरों में तथा अन्य मुख्य मुख्य स्थानों में उन्होंने आग लगा दी। सर्वत्र हाहाकार मच गया। स्त्रियाँ चिल्लाने लगीं, बच्चे भागने लगे, राक्षस मदिरा के मद में इधर उधर उन्मत्तों की भाँति फिरते हुए अंड बंड बकने लगे। सर्वत्र हलचल मच गई।

इस प्रकार लंकाको रुईके ढेरके समान जलते देखकर रावण अत्यन्त दुखी हुआ उसने कुम्भकर्ण पुत्र कुम्भ निकुम्भ को युद्ध करने भेजा। ये परम बली राक्षस बहुत समय तक वानरी सेना का संहार करते रहे। अन्त में कुम्भ अंगदजी से भिड़ गया मानों उसने जानबूझकर मृत्यु से आलिङ्गन किया हो। अंगद ने उसकी छाती में ऐसा परिघ मारा कि वह मृतक होकर भूमि पर गिर गया। कुम्भ के मर जाने पर निकुम्भ अत्यन्त ही कुपित हुआ। वह अब प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध करने लगा। उसके वेग को न सह सकने के कारण वानर इधर-उधर रणस्थल छोड़कर भागने लगे। यह देखकर पवनतनय को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने वानरों को उत्साह दिलाते हुए कहा—"तुम लोग प्राणों का इतना मोह क्यों करते हो रे? अरे इससे बढ़कर सुन्दर मृत्यु और कहाँ मिलेगी। राम काज करते हुए उनके श्रीमुख को निहारते हुए सम्मुख समर में प्राणों का परित्याग कर दो। ऐसी मृत्यु के लिये तो देवता भी तरसते रहते हैं।"

हनुमानजी के ऐसे वीरता पूर्ण उद्गारों को सुनकर सभी भागने से रुक गये। अब पवनतनय कुम्भकरण के पुत्र निकुम्भ भिड़ गये। उन्होंने निश्चय कर लिया कि बिना इस अधम राक्षस को मारे मैं पीछे न हटूँगा इसीलिये उस पर निरन्तर पाषणों की वृष्टि करने लगे। किन्तु वह भी बड़ा बली था, हनुमानजी के सभी प्रहारों को वीरता पूर्वक सहता रहा अन्त में अत्यन्त क्रुद्ध होकर केशरीनन्दन कपीन्द्र ने एक बड़ा भारी वृक्ष उखाड़कर निकुम्भ के सिर पर ऐसा मारा कि वह फिर जीवित बच ही न सका।

कुम्भनिकुम्भ की मृत्यु सुनकर खर पुत्र मकराक्ष युद्ध करने आया। वह बड़ा वीर था। उसका युद्ध कौशल प्रशंसनीय था। लक्ष्मण युद्ध करते करते क्लान्त हो गये थे, फिर भी मकराक्ष को आते देखकर वे उसकी ओर झपटे। तब श्रीराम ने कहा—"देखो, भाई लक्ष्मण! इस मकराक्ष के बाप खर को भी मैंने मारा है अतः इसे भी मैं ही मारना चाहता हूँ, तुम उस पर प्रहार न करो।"

श्रीराम की आज्ञा पाकर लक्ष्मण मकराक्ष के वध से विरत हो गये। अब श्रीराम हँसते हुए मकराक्ष से बोले—"देखो भाई! हमारा तुम्हारा द्वंद युद्ध हो। यह सुनकर मकराक्ष क्रोध करके भगवान की ओर दौड़ा। उस समय की शोभा अकथनीय थी। एक ओर तो कुपित राक्षस और दूसरी ओर दयालु श्रीराघव उस राक्षस पर कृपा करके प्रभुने अपने अङ्ग स्पर्श का देवदुर्लभ अवसर प्रदान किया। भगवान् जो बाण छोड़ते उन अमोघ बाणों को भी राक्षस मोघ बना देता था। जब उसके सभी बाणों को रामचन्द्रजी ने व्यर्थ बना दिया, धनुष को काट दिया, शक्ति को नष्ट कर दिया तो वह भगवान् की ओर घूँसा तानकर

झपटा। अपनी ओर राक्षस को आते देखकर राम ने उसे अपना लिया। मृत्यु लोक से उसे सदा के लिये विदा करके अपने परम पद को पठा दिया। मकराक्ष के मरने से वानर हर्ष ध्वनि करने लगे। किलकिला शब्द करते हुए वे इधर उधर आनन्द से दौड़ने लगे।

इन्द्रजित ने जब देखा कि मेरी माया तो व्यर्थ हो गई। तब उसने एक दूसरी माया रची। एक मायामयी सीता बनाई। उसे रथ पर बिठाकर वह रणभूमि में ले गया। माया निर्मित जानकी रो रही थी, करुणा स्वर में चिल्ला रही थी। वानर यह देखकर डर गये।" हनुमानजी ने रोती हुई मायामयी मैथिली को निहारा वे सीताजी को इन्द्रजित् के रथ पर देखकर परम दुखित और विस्मित हुए। हनुमानजी को देखकर रावणतनय इन्द्रजित बोला—"वानरो! जिसके लिये तुम लोग समुद्र पुल बाँधकर आये हो, जिसे पाने के निमित्त तुम प्राणपण से युद्ध कर रहे हो, उस जानकी को मैं अभी तुम्हारे सम्मुख मारे देता हूँ। कलह के बीज को नष्ट कर देने से कलह आप से आप शान्त हो जायगी। यह कहकर उसने माया की मैथिली के खुले हुए केशों को पकड़ा और उसके सिर को धड़ से पृथक कर दिया। भगवान् की लीला तो देखिये सम्पूर्ण विद्याओं के विशारद श्रीहनुमानजी भी राक्षस की माया से विचलित हो गये वे सीता के मरण से अत्यन्त दुखित हुए। मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े। उन्होंने युद्ध करना छोड़ दिया। उत्साहहीन होकर लम्बी लम्बी साँस लेने लगे। अन्य वानर भी हनुमानजी की ऐसी दशा देखकर विचलित हो गये। वे इधर उधर दशों दिशाओं में भागने लगे। सबका उत्साह जाता रहा, सब अनाथ के समान हाय हाय करने लगे।

यह देखकर इन्द्रजित् अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राक्षस उसकी जय जयकार करने लगे।

हनुमान्‌जी कुछ चेत होने पर बड़े कष्ट से उठे। उन्होंने जाकर श्रीराम से कहा—"प्रभो! अब युद्ध करना व्यर्थ है। जिन देवी के लिये हम यह सब कर रहे थे, उन देवी को तो इन्द्रजित् ने मेरे सम्मुख ही रण में मार डाला।" इतना सुनते ही श्रीराम मूर्छित हो गये। उनके नयनों से निरन्तर नीर निकल रहा था। वे चेतनाशून्य हुए लम्बी लम्बी साँसे ले रहे थे। श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी दशा देखकर सभी व्याकुल हुए। वानरी सेना का उत्साह जाता रहा। सुग्रीव की गोदी में श्रीराम मूर्छित पड़े थे। लक्ष्मण जी उन्हें मधुर वाणी से समझा रहे थे। सहसा वानरी सेना को इस प्रकार निरुत्साह देखकर विभीषण विचलित हुए वे दौड़कर उस स्थान पर आये जहाँ श्रीराम थे। आते ही उन्होंने श्रीराम के मूर्छित होने का कारण पूछा। सीतावध की बात सुनकर वे विस्मित होकर भगवान् को समझाने लगे।" प्रभो! आप यह कैसी मानवीय लीला कर रहे हैं। भला, कहीं सीता माता को कोई मार सकता है? भगवन्! यह सब राक्षसों की आसुरी माया है। रावण का सीताजी के प्रति कितना अनुराग है इसे मैं जानता हूँ। वह सीताजी को कभी भी नहीं मार सकता। मैंने अनेकों बार सीताजी को लौटाने को कहा, किन्तु वह प्राण रहते सीताजी को लौटा नहीं सकता। फिर उन्हें मारेगा ही क्यों?" श्रीरामजी मूर्छित हुए पड़े थे, उन्होंने विभीषणजी की बातें सुनी ही नहीं, कुछ कुछ शब्द सुनाई दिये। सीता जीवित हैं, यह सुनते ही उन्होंने आँखें खोलीं और बोले—"विभीषण! तुमने क्या कहा, फिर से कहो मैं शोक के कारण सुन न सका।" इस पर विभीषण ने फिर सभी बातें विस्तार से

सुनायी ! इस समाचार को सुनते ही श्रीराम परम प्रसन्न हुए। वानरी सेना में भी सर्वत्र उत्साह छा गया।

श्रीराम ने कहा—"विभीषण ! तुम राक्षसी माया का सब रहस्य जानते हो। यह इन्द्रजित् तो मुझे बड़ा मायावी प्रतीत होता है। इसका वध कैसे हो सकेगा इसे मुझे बताओ।"

इस पर विभीषण बोले—"प्रभो ! इन्द्रजित् देवता, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, गुह्यक तथा समस्त प्राणियों से अजेय है। वरदान से यह प्रबल बना हुआ है। इस समय वह निकुम्भिला देवी के स्थान में एक आभिचारिक यज्ञ कर रहा है। यदि उसका यह सकुशल समाप्त हो गया, तो वह सबसे अजेय हो जायगा। फिर उसका जीतना असंभव है जब तक उसके यज्ञ की पूर्णाहुति नहीं होती, तभी तक यह जीता जा सकता है। आप लक्ष्मणजी को मुझे दे दें। मैं इन्द्रजित् का वध अवश्य करा दूँगा।"

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"विभीषण ! भैया हमें तुम्हारा ही तो सहारा है। तुम्हारी सहायता न होती, तो हम यहाँ तक आ भी पाते इसी में संदेह है।"

यह सुनकर विभीषणजी ने प्रभु के पैर पकड़ लिये और प्रेमाश्रु बहाते हुए बोले—"प्रभो ! यह तो आपकी सनातन रीति है। आप अपने भक्तों को सदा सम्मान देते रहते हैं। मैं तो आपका यन्त्रमात्र हूँ, आप मुझसे जो कराना चाहेंगे, वही मैं करूँगा, जहाँ रखना चाहेंगे, वहीं रहूँगा, जहाँ बिठालना चाहेंगे, वहीं बैठूँगा। अब मैं लक्ष्मणजी के साथ निकुम्भिला स्थान पर जाता हूँ। इन्द्रजित् जब तक आभिचारिक यज्ञ समाप्त न करले, तभी तक हमें उस पर प्रहार करना है। यज्ञ समाप्ति के अनन्तर तो उसका जीतना अत्यन्त दुस्तर है।"

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मण को हृदय से लगाया, उनका स्वस्त्ययन करके और सिर सूँघकर इन्द्रजित् के वध के लिए विदा किया। विभीषण, हनुमान् तथा लक्ष्मण आदि वीरों ने भगवान् की प्रदक्षिणा की और वे सब इन्द्रजित् के मारने के निमित्त चले। निकुम्भिला स्थान में पहुँचते ही रक्षकों ने लक्ष्मण जी को रोका। चारों ओर से अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित वानरी सेना को देखकर विभीषण ने श्रीलक्ष्मणजी से कहा—"पहिले आप वानरों से इस सेना का संहार कराइये, तब आपको रावण पुत्र इन्द्रजित दिखाई देगा। इतना सुनते ही वानर राक्षसी सेना पर प्रहार करने लगे। उन्होंने वृक्षों पर्वतों दाँतों और नखों से राक्षसों पर प्रहार किया। वानरों के भीषण प्रहार के न सह सकने के कारण राक्षसी सेना में भगदड़ मच गई। तब इन्द्रजित् यज्ञ करता हुआ स्पष्ट दिखाई दिया। वह नीलाञ्जन पर्वत के समान काला था, लाल वस्त्र पहिने था। लाल ही पुष्पों की माला उसने धारण कर रखी थी, वह भूतों को बलि दे रहा था। आभिचारिक तामस यज्ञ कर रहा था। हनुमान्जी ने उसे युद्ध के लिये ललकारा और कहा—"अरे, नीच! तू अब प्राणों के भय से यहाँ आकर छिप गया है। आज मैं तेरे सिर को खड्ग से काटे बिना न रहूँगा। तू नपुंसक है डरपोक है। तभी तो तू युद्ध स्थल से दूर भागकर यहाँ छिप हुआ है।"

हनुमान्जी के इन कटु वचनों को सुनकर इन्द्रजित् यज्ञ छोड़कर रथपर बैठकर उन्हें मारने दौड़ा इसपर प्रसन्नता प्रकट करते हुए विभीषण ने लक्ष्मणजी से कहा—"महाबाहो! सौभाग्य की बात है, कि रावण पुत्र बिना यज्ञ पूर्ण किये ही युद्ध के लिये उठ खड़ा हुआ है, अब आप इसे पुनः यज्ञ स्थल पर न आने

दें। इसके इस मारण यज्ञ को समाप्त न होने दें। यह हनुमान्‌जी को मारना ही चाहता है।"

विभीषण की बात सुनकर लक्ष्मणजी ने दूर से ही ललकार कर रावण पुत्र इन्द्रजित् से कहा—"हे वीराभिमानी! यदि तुम सचमुच में वीर हो और तुममें कुछ बल पुरुषार्थ है तो मुझसे लड़ने आओ मैं तुम्हें युद्ध के लिये आह्वान करता हूँ।" इतना सुनते ही इन्द्रजित् के रोम रोम में क्रोध छा गया। इन्द्रको जीतने के कारण उसका अभिमान अत्यधिक बढ़ गया था वह वीराभिमानी अपने इतने बड़े अपमान को कैसे सह सकता था। इसलिये वह लक्ष्मणजी के सम्मुख आया। लक्ष्मणजी के समीप ही अपने सगे चाचा विभीषण को खड़ा देखकर वह सब रहस्य समझ गया। उसने सोचा—'अवश्य ही चाचा ने इनको मेरी दुर्बलता बता दी है। मेरे यज्ञ का रहस्य समझा दिया है तभी तो ये यज्ञ के बीच में यहाँ आ गये हैं। अतः अपने क्रोध को प्रकट करते हुये वह विभीषण से बोला—चाचा! तुम हो तो मेरे पिता के सगे भाई किन्तु तुम बड़े नीच हो। अरे, एक नगर का व्यक्ति भाई के नाते नगर निवासी की रक्षा करता है, किन्तु तुम ऐसे अधम हो कि अपने सगे भाई के पुत्र को मरवाना चाहते हो। तुम्हें लज्जा नहीं आती। तुम्हें तो मुँह न दिखाना चाहिये। एक चुल्लू पानी में डूब मरना चाहिये। कुलकलङ्क शत्रुओं से मिलकर तुम घर का भेद दे रहे हो? क्षुद्र लङ्का के राज्य के लिये तुम कुल का नाश करा रहे हो। अरे इस सुवर्ण की लङ्का को क्या तुम छाती पर रखकर ले जाओगे। मान लो तुम राजा भी हो गये, तो इसी तरह मर जाओगे। इस लङ्का को मेरी मेरी कहकर कितने मर गये। नीच! तुम्हें राज्य का ही लोभ था, तो मुझसे कहते। पृथिवी का राज्य

तो बहुत अच्छा है। इन्द्र को हटाकर मैं तुम्हें देवेन्द्र बना देता। तुम्हें सोचना चाहिये तुम्हारा भाई राजा है तो तुम ही राजा हो। रक्त तो एक है तुम्हें गौरव करना चाहिये, कि हम राक्षसराज वंश के हैं। तुम युद्ध के समय शत्रु के भेदिया बन अपने हाथों को अपने कुल वालों के रक्त से रंग रहे हो, घर में सभी से मतभेद हो जाता है। भाई भाई में, पति पत्नी में पिता पुत्र में तथा सुहृद् सुहृद् में छोटी छोटी बात पर मतभेद सदा से होते रहते हैं, मतभेद होना आश्चर्य नहीं, न होना ही आश्चर्य है किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं, कि मतभेद होने पर हम कुल का परित्याग कर दें। जब तुम अपने सगे भाई के नहीं हुए तो किसके होगे। इसलिये आज मैं तुम्हें ही मारकर अपने पथ के कण्टक को दूर करूंगा। कुल्हाड़ी को देखकर वृक्षों ने कहा था—कुल्हाड़ी। तू हमें क्या काट सकती है। किन्तु करें क्या तेरे में बेंट तो हमारे कुलकी लकड़ी का ही लगा है। कुल वाले ही नीचता पर उतर आते हैं तो कुलका नाश करा देते हैं। हाथी तब तक नहीं पकड़ा जाता जब तक पालतू हाथी उनमें मिलकर उनके साथ छल नहीं करता। या बनावटी हथिनी खड़ा नहीं होती। कुल कलङ्क तुम मेरे सामने से हट जाओ मैं तुम्हारा मुँह देखना भी पाप समझता हूँ। तुम कृतघ्न हो नीच हो, जातिद्रोही हो, लोभी हो, पापी हो, दुष्ट हो। पहिले तुम्हें मारकर तब लक्ष्मण को मारूंगा।"

इन्द्रजित् की बातें सुनकर विभीषण ने कहा—"नीचों से बातें करना भी पाप है, फिर उनके साथ रहना उनके कार्यों में सहयोग देना यह तो महापाप हुआ ही। मैं लज्जित हूँ कि तुम जैसे नीचों का और मेरा कुल एक है। मुझे भगवान् पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न होने का गर्व है, किन्तु तुम पापियों को अपना

कहलाने में मुझे लज्जा का अनुभव होता है। मनुष्य शील से ही पहिचाना जाता है। मेरा शील स्वभाव सर्वदा राक्षसों से भिन्न रहा है। अन्य शरण न होने के कारण मैं तुम लोगों में रहकर दिन काटता रहा। जब मुझे प्राणिमात्र को शरण देने वाले परम शरण्य श्रीराघव मिल गये, तब मैं तुम निर्लज्ज और नीचों के साथ रहकर क्या करता। तुम निरंतर अधर्म में निरत रहते हो, मुझे अधर्म प्रिय नहीं। तुम सब क्रूर हो, मुझे क्रूरता से घृणा है। जिस अपने घरमें सर्प रहते हों उसमें क्या कोई अपने घरके लोभ से रह सकता है। जिस अपने घरके कूएँ में विष पड़ा हो, तो यह अपना ही कूआ है यह जान बूझकर कोई उसका पानी पी सकता है। अपने ही खेत में विष के वृक्ष उत्पन्न हो गये हों तो उनके फलों को अपने खेत के हैं इस सम्बन्धसे कोई खा सकता है। कुल सम्बन्ध से तुम सब अपने अवश्य हो, किन्तु नीचता दुराचरण पापाचरण के कारण तुम मुझसे भिन्न हो। संसारमें तीन ही सबसे बड़े पाप हैं, अपने भोजन के लिये परधन और पर स्त्रीका छल बल पूर्वक अपहरण और मित्रों के साथ विश्वासघात। तुम इन पापों को निरंतर करते रहते हो। इसलिये तुम लोगों को जैसे भी हो सके मरवा डालना तुम्हारे लिये ही हितकर नहीं लोक कल्याण के लिये भी परम हितकर और अत्यावश्यक है। अतः मैंने शरणागतवत्सल श्रीरामचन्द्रजी की शरण ली है। शरणागतवत्सल प्रभु का जो भी कार्य होगा उसे करूँगा। मैं राज्य लोभ से नहीं प्रभु की आज्ञा मानकर उन्हीं का कार्य कर रहा हूँ। उन्हें यह अभीष्ट है, नीच, दस्यु, आततायी, परस्त्रियों पर बलात्कार करने वाले उन्हें अपहरण करने वाले जितने भी नीच हों उन्हें मार डालना चाहिये। इसीलिये मैं तुम्हें मरवाने का उद्योग कर रहा हूँ तुम अब जीवित नहीं जा सकते।

इतना सुनते ही इन्द्रजित विभीषण की ओर दौड़ा। विभीषण भी तैयार ही थे। उन दोनों को लड़ते देखकर लक्ष्मणजी ने इन्द्रजित् को कठोर वचन कहे और उसे युद्ध के लिये ललकारा तब इन्द्रजित् और लक्ष्मणजी का भीषण युद्ध होने लगा। दोनों ही वीर थे, दोनों ही बली थे, दोनों में ही यथेष्ट उत्साह था, दोनों ही अस्त्र शस्त्रों के मर्मज्ञ थे। दोनों ही युद्ध में अपराजित थे। बहुत देर तक युद्ध होता रहा। लक्ष्मणजी हनुमान्जी की पीठ पर चढ़े हुए थे, इन्द्रजित् दिव्य रथ पर चढ़ा हुआ था। लक्ष्मण ने उसका रथ तोड़ दिया, घोड़े मार दिये, सारथी को घायल कर दिया धनुष काट दिया और इन्द्रजित् की छाती में बाण मारकर गर्जना की। इन्द्रजित् पुनः रथ ले आया। अब तो हनुमान्जी भी राक्षसों का संहार करने लगे।

लक्ष्मणजी ने देखा इन्द्रजित् बड़ा वीर है, यह वैसे मरेगा नहीं। तब उन्होंने श्रीराम का स्मरण करके एक अत्यत ही तीक्ष्ण दिव्य बाण इन्द्रजित् पर छोड़ा। उसके लगते ही उसका सिर धड़ से पृथक् होकर पृथिवी पर लोटने लगा। वानर यह देखकर किलकिला शब्द करने लगे। आकाश में स्थित ऋषि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व और देवतागण साधु साधु कहने लगे। गन्धर्व लक्ष्मण जी के गुणों का गायन करने लगे। वानरी सेना में हर्ष छा गया। राक्षस भागने लगे। लक्ष्मणजी ने आकर अपने बड़े भाई के पैर छुए। इन्द्रजित् को मारकर विजयी लौटे हुए अपने लघु भाई का श्रीराम ने आलिङ्गन किया। विनय से मस्तक झुकाये, लक्ष्मणजी का उन्होंने स्नेह से सिर सूँघा।

इधर जब राक्षसों ने इन्द्रजित् की मृत्युका समाचार रावणको दिया, तो वह अत्यन्त ही दुखी हुआ शोक से मूर्छित होकर

रुदन करने लगा। इन्द्रजित् के गुणों को स्मरण करके उसका हृदय फटने लगा। उसे जितना दुःख आज हुआ था इतना पहले कभी नहीं हुआ आज सीताजी के ऊपर क्रोध आया। उसने सोचा—"हत्या की जड़ यह सीता ही है, आज मैं इसे मार डालूँगा। ऐसा निश्चय करके वह खड्ग लेकर अशोक वाटिका में गया और सीताजी का वध करने को ज्यों ही आगे बढ़ा, त्यों ही उसके एक विद्वान् बूढ़े मन्त्री ने विनयपूर्वक उसे रोक दिया। मन्त्री की बात मानकर वह लौटकर अपने भवन में आ गया। उसे जब अपनी पराजय प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। फिर भी उस बली शूरवीर अभिमानी व्यक्ति ने साहस नहीं छोड़ा। स्वयं शस्त्रों से सुसज्जित होकर श्रीरामचन्द्रजी से लड़ने समरभूमि में गया।

श्रीराम ने भी जब अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित शत्रु को सम्मुख निहारा, तब वे भी युद्ध करनेको आगे आये। इन्द्र ने देखा रावण तो रथपर है, भगवान् बिना रथके हैं, यह युद्ध उचित न होगा, इसलिए उन्होंने अपने दिव्य रथ को—जिसे उनका सारथी हाँक रहा था श्रीरामचन्द्रजी के सम्मुख भेजा। श्रीरामचन्द्रजी ने इन्द्र की इच्छा पूर्ण की। रथ को स्वीकार करके वे उस पर चढ़ गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राम और रावण दोनों ही दिव्य रथों पर चढ़े हुए युद्ध के लिये सम्मुख आये और एक दूसरे को देखकर कठोर वचन कहने लगे।"

छप्पय

इन्द्रजीत रन मरन दशानन सुनि घबरायो।
वैदेही वध हेतु खड्ग लै निशिचर धायो॥
अनुचित कहिके सचिव निवारयो सम्मति मानी।
मारूँ या मरि जाउँ लङ्कपति मनमहँ ठानी।
समर हेतु रथ चढ़ि चल्यो, राम विरथ लखि अमरपति।
पठयो रथ मातलि सहित, चढ़े राम कपि मुदित अति॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६६ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.२५ पै० डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५.२५

३—सटीक भागवत चरित—बारह बारह सौ पृष्ठ के सजिल्द दोनों खण्ड का मू० १३.००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४.००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० सं० ३५० मू० २.७५

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.००

७—कृष्ण चरित—मू० २.००

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.००

१०—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें। प्रथम खंड का मू० १.००

११—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.५०

१२—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.५०

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखदसस्मरण पृ०सं०१३० मू०.२५

१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७—प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१२

१८—राघवेन्दु चरित—मू० ०.३१

१९—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५

२०—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछंदोंमें) मू० ०.१५

२१—आलवन्दार स्तोत्र—छप्पयछन्दों सहित मू० ०.२५

२२—प्रभुपूजा पद्धति मू० ०.२५

२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू०

२४—गोपीगीत—अमूल्य।

मुद्रक—पं० बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ९५२ मुट्ठीगञ्ज इलाहाबाद।

श्रीराम पचायतन

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(तीसवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, झूसी,
प्रयाग

तृतीय संस्करण १०००] संयोजित मूल्य २-० रुपया।
माघ, सं० २०२६ [मूल्य १.६५

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

विषय-सूची

(तीसवाँ खण्ड)

अध्याय	विषय	पृष्ठांक
	सीतायाश्चरितं महत् (भूमिका)	१ से १६ तक
६७९	—राम-रावण युद्ध	१७
६८०	—रावण-वध	२८
६८१	—राक्षसियों का विलाप	३१
६८२	—मन्दोदरी का विलाप	३६
६८३	—रावण की अन्त्येष्टि क्रिया	४५
६८४	—सीताराम का सुखद मिलन	५१
६८५	—विजयी राम का अवध गमन	६३
६८६	—विरही भरत को परम सुखद सम्वाद	७६
६८७	—श्रीराम और भरत का मिलाप	८६
६८८	—पुष्पकारूढ़ श्रीराम	९५
६८९	—अन्तःपुर में श्रीराम	१०१
६९०	—राम-राज्याभिषेक	१११
६९१	—राजाराम	१२३
६९२	—यज्ञकर्ता भोक्ता श्रीराम	१३०
६९३	—सर्वस्वदानी राम	१३६
६९४	—प्रजापालक राम	१४२
६९५	—निन्दकों द्वारा सीताजी की निन्दा	१५२
६९६	—जानकी निर्वासन	१७२
६९७	—सीतासुत लवकुश	२००
६९८	—श्री शत्रुघ्न द्वारा लवणवध	२१५
६९९	—भरतजी की गन्धर्वों पर विजय	२२८
७००	—लक्ष्मणजी के पुत्रों को राज्य	२४३

सीतायाश्चरितं महत्

(भूमिका)

इति लोकाद् बहुमुखाद् दुराराध्यादसंविदः ।
पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम् ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० १० श्लो०)

छप्पय

जननि जानकी ! जड जीवनि ढिंग तुम च्यों आयीं ।
च्यौं अति करुनामयीं दुखद लीला दरसायीं ॥
तव करुना के पात्र अज्ञ जड जीव नहीं मों ।
करुनावश ह्वै जगत हेतु अति विपति सहीं मों ॥
हाय ! कहाँ अति मृदुल पद, कहँ कंकड युत पथ विकट ।
ह्वै के अति प्रिय राम कीं, रहि न सकीं तन तैं निकट ॥

माता जानकी ! तुम इस परम घृणित, महान् निंदित, अत्यन्त कुत्सित, निन्दा प्रिय ससार मे आयी क्या ? माँ ! यह विकर्म निरत ससार तुम्हारे आने योग्य नही था । इतनी पवित्रता की परख ये पाखण्डी पुरुष कर ही क्या सकते हैं, इतनी दया के भार को ये अज्ञ ससारी जीव उठा ही कैसे सकते हैं, इतनी

❀ श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं— 'राजन् ! यह ससार बडा ही बहिर्मुख है, हठी है और इसमे रहने वाले लोग नाना प्रकार की अट-सट बातें बनाते रहते हैं, ऐसे ही मूर्ख लोगों से भयभीत हुए भर्ता श्री भरताग्रज ने भगवती सीता का परित्याग कर दिया, तब वे अयोनिजा वैदेही महामुनि वाल्मीकि के आश्रम पर चली आयीं ।"

कृपाके वहन करने की शक्ति इन वहिमुख प्राणियों में आ ही कैसे सकती है ? माँ ! तुम इतनी करुणा, ऐसा वात्सल्य लेकर इस जगत् मे न आती, तो यह जड जगत् जड ही बना रहता; इसमे चैतन्यता का सचार होना ही नही। राम में रामत्व स्थापित करने वाली आद्याशक्ति ! हे विदेहनन्दिनी ! आप ही हो; जगज्जननी ! तुम्हारे बिना सब शून्य हैं। संसार में दया के वशीभूत होकर तुम न आती, तो आज सभी राक्षस बन जाते, पशुओ मे और पुरुषों मे कोई भी भेद भाव न होता, सभी पशुचर्या मे प्रवृत्त हो जाते। गंगा जल से भी पवित्र, सुमेरु से भी अधिक, आकाश से भी अधिक विस्तृत और समुद्र से भी अधिक गंभीर तुम्हारे पातिव्रत धर्म के बिना दर्शन किये, यह ससार जड से भी जड बना रहता। माँ ! सब मे शक्ति संचार करने वाली जननी ! हे जगद्धात्री ! हे विश्वप्रसविनी ! हे परम वात्सल्यमयी मैया ! राम की भी कीर्ति जब तुम्हारे ही कारण है, तो अब हम और क्या कहे ? किन शब्दो मे तुम्हारी महती महिमा का बखान कर सकें। जगदम्बे ! एक निष्फल प्रयास करने की अभिलाषा मन मे जागृत हो उठी है। तुम्हारी महिमा के महार्णव मे से कुछ जल कण लेकर मै अपने नयनो को आर्द्र करना चाहता हूँ ! हे माता ! यह सब तुम्हारी ही कृपा से सभव हो सकेगा। तुम सर्वेश्वरी हो, आद्याशक्ति हो, सच्चिदानन्दमयी हो, सब कुछ हो।

जैसे कोई अपने को छिपाने के लिये अपनी कृति को किसी दूसरे ही नाम से प्रसिद्ध कर देते हैं, ऐसे ही अपने पावन चारु चरित्र को माँ मैथिली ने रामायण के नाम से प्रसिद्ध कर दिया वास्तव मे देखा जाय, तो रामायण मे तो श्री-सीताजी का ही महान् चरित्र है। रामायण में से भगवती सीता के चरित्र को निकाल दो, तो उसमे रह ही क्या जायगा ? सीता से रहित राम-

चरित वैसा ही हो जायगा, जैसा प्राणों से हीन शरीर। सीता ही रामायण की प्राण हैं। उन्हीं के महान् चरित के कारण रामायण का महत्व है। सीता के बिना राम मर्यादा पालन भले ही करते रहे, किन्तु उन्हे कोई पूज नहीं सकता। कोई कल्पना ही नहीं कर सकता।

जब समाज अमर्यादित हो गया, तो राम मर्यादा को लेकर आये। कठोरातिकठोर मर्यादा राम के गले में पड़ गयी। राम गुम सुम रहने लगे। राजपुत्र ही ठहरे मर्यादा मे रहना होगा। माताओं ने देखा, बच्चा बड़ा गम्भीर है, इसमे सरसता न हुई तो आनन्द कैसे आवेगा, सुख का सचार कैसे होगा। वे राम को खिलाने लगी और कहने लगी— मेरे बच्चे की मुनमुना सी बहुआ सी वह आवेगी। रुनझुन रुनझुन करती हुई घूमेगी। इन शब्दो ने विद्युत का सा काम किया। गम्भीर राम का मुख मडल पूर्ण चन्द्रमा के समान विकसित हो उठा। उस पर मद मद मुसकान की रेखाय खिच गयी। छोटे छोटे गोल कपोल रक्ताभ बन गये। माताओं को एक मत्र मिल गया रामने भी देखा इन शब्दो के श्रवण मात्र से ही मेरे तन मे स्फूर्ति आने लगी है शरीर मे शक्ति का सचार होने लगा है, तो उन्होने ध्यान किया। ध्यान करते ही उनके रिक्त हृदय मन्दिर मे एक मनमोहिनी मूर्ति स्वय ही प्रादुर्भूत हुई। वह किसी को दीखती नही थी, राम ही एक उसका एकान्त मे ध्यान करते और सुखी होते। वह अव्यक्त प्रतिमा थी। राम के लिये वह सजीव साकार थी किन्तु दूसरो के दृष्टिगोचर वह होती नही थी। राम उसकी आराधना करने लगे। मिथिला के राजा जनक भी उस परमा शक्ति के उपासक थे। राम की शक्ति साकार मूर्तिमती हुई, किन्तु वह अयोध्या मे नही हुई, जनकपुर के पावन क्षेत्र मे हुई, पृथ्वी फोडकर निकल आई।

कृतार्थ हो गये, उन्होने मनमानी निधि पाई। राम उस मनमोहनी मूर्ति का ध्यान निरन्तर करते, अब वे उसे साकार मूर्तिमत अपने सग देखने को व्याकुल हो उठे। पडितो को पत्रा दिखाया। ज्योतिषियो को हस्तरेखायें दिखायी,-जन्म पत्री बनवायी, किन्तु प्रयोजन सिद्ध हुआ नही। किसी ने कहा—"कुमार ! पुण्य करो पुण्य। पुण्य के बिना मनोरथ सिद्ध होता नही।" राम ने सोचा—"क्या पुण्य करें? सबसे बडा पुण्य तो साधु सन्तो की सेवा है। महात्माओ की परिचर्या है। अपने यहाँ वशिष्ठजी महात्मा है वे सेवा लेने से ही रहे। कभी पैदल देखते है, तो डाँट देते है—"राघव ! रथ कहाँ गया ?" कभी पैरो मे मृदुल उपानह न देखें तो चौंक पडे। जिन्हे रात्रि-दिन हमारे ही सुख की चिन्ता है, वे सेवा क्या लेंगे।" राम की आशा निराशा मे परिणित होने लगी। सहसा एक दिन रूखी रूखी जटावाले भैंसे के से चर्मवाले लाल लाल आँख किये, विश्वामित्र महा मुनि आ धमके। न जिनके हृदय मे कृपा न मृदुता कठोरतप करते करते जिनका भीतर बाहर सभी कठोर ही कठोर हो गया है। आते ही दशरथजी से बोले—'मुझे अपने दोनो छोहरो को दे दो।"

दशरथजी पर तो मानो किसी ने वज्र गिरा दिया हो। किसी ने राम के कान मे कह दिया—"इस बाबाजी का पल्ला पकड लो तुम्हे तुम्हारी आराध्य देवी हृदय मदिर की अव्यक्त प्रतिमा को व्यक्त कर देगा। यह अभिलाषा को सजीव साकार बना देगा।'

हाय रे स्वार्थ ! तेरा सत्यानाश हो। मृदुल से भी मृदुल कोमल से भी कोमल राम उस कठिन तपस्वी के पीछे अपने प्राण ही ही लिये। पिताजी से तो लज्जावश कुछ कह न सके गुरु जी के कान मे सब कुछ कह दिया। गुरुजी ने बात बना

ली। राजकुमार राम सेवक बन गये। बिना सेवक बने शक्ति मिलती भी तो नही।

ये दाढी जटा वाले साधु देखने मे ही भीतर बाहर से कठोर होते हैं, यदि कोई इनके हृदय के भीतर घुस जाय, तो उसे बडा स्निग्ध सरस स्रोत मिल जाता है, छिद्र करके उसमे उगली घुसा दो-मीठा-मीठा पदार्थ मिल जायगा।

राम भी विश्वामित्र के हृदय मे घुस गये। मुनि हँस पडे और बोले—'शक्ति प्राप्त करने के लिय तुम मेरी सेवा कर रहे हो न ?'

राम सहम गये। कैसे कहते, बोले—'नही महाराज ? मै अपना कर्तव्य पालन कर रहा हूँ, मुझे कुछ इच्छा नही।'

खिल खिलाकर मुनि हँस पडे और बोले —'अच्छा यही सही, तुम अपना कर्तव्य पालन करो, मै अपना कर्तव्य पालन करता हूँ। चलो, मेरे साथ जनक पुर।"

राम के रोम रोम खिल उठे। जनकपुर जनकपुर कितना श्रुत मधुर शब्द है। मिथिला कितना मृदुल स्निग्ध पद है। राम ने सिर झुका लिया वे बोले नही। बोलने से बात बिगड जाती है, उसका स्वास्थ्य चला जाता है चल दिये मुनि के पीछे पीछे जनकपुर।

जनकपुर की सभा में प्रवेश करते ही राम शक्तिमान् हो गये। उनके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा, उनकी चरण की धूलि से एक पत्थर की शिला रूपी नारी बन गई। अवध मे नित्य कितने पाषाणो को छूते थे; आज तक एक भी स्त्री नही बनी। इस मिथिलापुरी की मृदुल मृत्तिका मे ही कोई मनोहर मन्त्र है कि राम परम शक्तिशाली हो गये। मिथिला देश मे काटे युक्त वृक्ष नही, मृत्तिका इतनी कोमल कि पैर रखते ही धरती धँस जाय, ऐसा अनुभव हो मानो, हम टटके तुरन्त निकाले नवनीत

पर चल रहे हो। राम के रोम-रोम मे रसिकता छा गई, राम के नयन अलसाने लगे। मनमयूर नृत्य करने लगा। वे एक अनिर्वचनीय आनन्द मे मग्न हुए आगे बढ़ते जाते थे।

अरे, हमने यह क्या किया ? हम तो सीता के महत्व को गाना चाहते थे, गाने लगे रामचरित। राम कुछ करते हो राम किसी की उपासना करते हो, हमे तो जगज्जननी जानकी जी का ध्यान करना है उनकी पावन मूर्ति के चारू चित्रो का दर्शन करना है। उनकी आनन्द दायिनी झाँकी करके निहाल होना है। अच्छा तो हम आपको जगज्जननी की पाँच झाँकी करावेंगे। ये पाँच झाँकी पृथक् नही एक ही है। केवल वस्त्राभूषणो के वेष से वे झाँकी एक से एक उत्कृष्ट होती गयी है।

अच्छा, तो अब आप चटपट जनकपुर चलिये, देर करने का काम नही। देखना वहाँ अशिष्टता मत करना। राजद्वार है, कैसा भी मन चले किसी बालक बालिका को छूना मत। दूर से झाँकी कर लेना भला। महाराज जनक ने जन्म जन्मान्तरों की तपस्याओ का जो मूर्तिमान् फल पाया है, वही जानकी जी हैं। माता पिता तथा परिजन पुरजनो के प्यार मे ये इतनी लदी हुई हैं, कि न तो कभी पृथ्वी पर पैर रख सकती हैं, न कभी सिर ऊँचा करके किसी को देख सकती है। पलग पर हँसती रहती हैं, या माता पिता की गोदी मे क्रीडा करती रहती है अथवा सखी सहेलियो के साथ हिंडोले पर झोटा खाती रहती हैं। इतना प्यार ससार मे किस बालिका ने पाया। ये तो प्रेम का प्रसार करने के लिये ही पृथ्वी के पेट से पैदा हुई हैं। इन्हे जो देखता है वही प्यार करने लगते है, कैसी भोली भाली, प्यारी-प्यारी सुकुमारी बालिका। सुकुमारता ने जब देखा ससार मे मेरा कोई नाम भी न लेगा, तो उसने आकर सीता जी की शरण ली। इन्होने भी कृपा करके उसे अपने चरणो मे स्थान दिया तब से

सुकुमारता इनके चरणो में लिपटी ही रहती है कमल पखुडियों का नीचे का भाग कठोर होता है। जनकनन्दनी के चरण उन पर भी पड जाते तो अत्यत रक्तवर्ण के हो जाते, कोमलता उन्हे सुहलाने लगती। सुकुमारी राज कुमारी की कोमलता का प्रभाव समस्त मिथिलावासी नर नारियो पर पडा। उन सब के हृदयो से कठोरता निकल निकल कर कही आश्रय ढूंढने लगी। सबसे कठोर रुद्र है, जिन्होने काम देव को ही भस्म कर दिया। उनका धनुष तो जड हो ठहरा, वह शिव धनुष दैवयोग से मिथिलावासी नर नारियो की समस्त कठोरता उसमे आकर घुस गयी। धनुष बडा कठोर हो गया।

यह बात महाराज जनक को प्रतीत हुई, तो वे घबराये। उन्होने सोचा—'मेरी पुत्री के रहते और कठोर मिथिला मे रहे यह उचित नही। इस धनुष को तुडवा दो ' किन्तु तुडवावें किससे मिथिलावासी तो सब परम मृदुल हैं। दूर दूर से राजे महाराजे बुलाये। दाँत दिखा दिये, दवयोग से विश्वामित्र जा आ गये। राजा बोले—'महाराज! तुम्हारे बाल भी कठोर, चर्म भी कठोर नियम भी कठोर किसी कठोर को बताओ जो इसे तोड दे।"

बाबा जी आँख मूंद कर झूठ मूठ सोचते रहे, माना इन्हे कुछ पता ही नहो। मानो बडी गम्भीर गुत्थी है। सोच सोचकर बोले—"राजन्! एक है तो सही जो इसे तोड दे, परन्तु उसे तुम तुडवायी क्या दोगे?'

राजा ने कहा—"महाराज! जो तुम कहो वही देंगे।"

मुनिने कहा—"पक्की बात है, फिर आना-कानी तो न करोगे। भरो त्रिवाचा।"

ये मुनि बडे चतुर होते हैं। बिना त्रिवाचा भराय तो

ही नहीं करते।' राजा ने त्रिवाचा भरी। तब मुनि बोले—"तोडने वाले को तुम्हे अपनी छोहरी देनी होगी।"

राजा वचन हार चुके थे। प्राण चले जायं, परन्तु वचन न जायं। बोले— अच्छा तोडने वाले को दिखाओ तो सही।"

विश्वामित्रजी ने श्रीराम को आगे खडा कर दिया। न जाने राम मे मिथिला मे प्रवेश करते ही कहाँ से जादू आ गया। महाराज विदेह विमोहित हो गये। राम का हृदय धक धक कर रहा था। राम के पीछे न जाने लाज कहाँ से लग गई थी, उससे राम चिढ रहे थे, किन्तु करते क्या। मुनि ने कहा—"राम पहिले उस वस्तु को देखना चाहते है। जिसे वह धनुष को तोडकर पारितोषिक मे पावेंगे ?"

- राम पर तो मानो किसी ने सौ घडे जल डाल दिया हो, उनका हृदय तो बाँसो उछल रहा था, किन्तु आँखें भूमि मे धँसने के लिए व्यग्रता कर रही थी।

ओह! हम फिर बहक गये राम से हमे क्या प्रयोजन ? हम तो किशोरी जी की दूसरी झाँकी करने के लिए समुत्सुक है।

अच्छा तो अब धनुष यज्ञ मे चलो, अब जनक नन्दिनी सयानी हो गयी है। उनके पिता उन्हे किसी दूसरे के हाथो सौंप देंगे। इससे उन्हे एक अपूर्व सुख है। सुख क्या है जी ? भगवान् जाने। आराधक की लगन के सन्मुख सभी को आत्म समर्पण करना पडता है।

मधुरातिमधुर परम मृदुल अत्यन्त सुकुमार राम कठोराति कठोर शिव धनुष को तोडने के लिए प्रस्तुत है, एक ही लोभ से कि उनके मन मन्दिर की मूर्ति साकार प्रकट होकर उनके कठ मे लिपट जायगी और वे उसे देख सकेंगे, छू सकेंगे, उससे बात कर सकेंगे, उसे पाकर सनाथ हो जायंगे, राम रगमच मे उतर आये। अब विदेहनन्दिनी की दूसरी झाँकी करो।

अपनी आभा से दिशा विदिशाओ को आलोकित करती हुई, नूपुरो की झंकार से दशो दिशाओ को मुखरित करती हुई अपनी बडी बडी कजरारी अँखियाओ से निरन्तर श्रीराम को ही निहार रही है। दया का कृपा का स्नेह का अनुराग का स्रोत फूट फूट कर धनुष को मृदुल बना रहा है। राम मेरे लिये यह सब कर रहे है, परम मृदुल से परम कठिन बन रहे हैं। अच्छा मै भी राम मे रम जाऊँगी, अपना पृथक अस्तित्व ही न रखूँगी। धनुष टूट गया, सीताजी ने आत्म समर्पण कर दिया, अब उनका पृथक अस्तित्व नही। वे राम की सहधर्मिणी अनुगामिनी बन गयी। यह उनकी दूसरी आत्म समर्पण की परम मृदुल झाँकी है। जानकी जी को पाकर राम भी राम बन गये, नही तो अकेले अयोध्या जी मे सत्तू फाँकते रहते। आज्ञापत्रो पर हस्ताक्षर करते रहते।

भगवती जनकनन्दिनी दुलहिन बन कर दूल्हा श्रीराम के सग अवधपुरी मे आईं। घर मे एक दो सास तो थी नही, पूरी ३६० सासें थी उनके ही प्यार का इतना बोझ उनके सिर पर लद गया कि वे दृष्टि भरकर अपने प्राणनाथ को भली भाँति देख भी न सकी। प्रेम की दो बातें भी न कर सकी। एक बार कौशल्या मैया जल पान करा गयी है, तब तक सुमित्रा मैया भी ले आयी। आज एक रोटी कम खायी महल भर मे हल्ला मच गया।

तब तक ही राज्य भार श्री राघव के सिर पर लाद कर राजा ने तप करने का निश्चय किया। साश्रु नयनो से राम ने कहा—"प्रिये! पिताजी, मेरे सिर पर राज्य भार देना चाहते हैं।"

जगन्माता बोली—"हानि ही क्या है, भार वहन करने ही तो हम संसार मे आये हैं, उठा क्यो नही लेते।"

'किन्तु प्रिये ! फिर तो मुझे लोक के रंजन में ही निरत रहना पड़ेगा। तुम्हारे प्रेम का आस्वादन तो मैंने अभी किया ही नहीं। यहाँ रह कर मैं व्यवस्था के मर्यादा के अधीन हो जाऊँगा, मैं तो तुम्हें मुक्त, कंठ से खुले हृदयसे प्यार करना चाहता हूँ। परस्पर में एक दूसरे के हृदय में तो प्यार है ही, किन्तु यह प्रेम शून्य जगत् भी तो देखे प्रेम कैसा होता है।" राम एक साँस में ही कह गये।

माँ वैदेही ने कहा—"दूसरों को दिखाने से क्या लाभ ?"

हँसकर राम बोले—"यहाँ तो दिखाने ही आये है ! यों प्यार करने को तो साकेत ही बहुत था। प्रेम का आदर्श भी तो रखना है।"

जगज्जननी बोली—"मुक्त प्रेम तो वन में होगा; सास ससुर और गुरुजनों के सम्मुख खुलकर प्रेम थोड़े ही किया जाता है।"

राम सहम गये—"हाय ! तुम इतनी सुकुमारी, चलना भी तो जानती नहीं, इन परम मृदुल चरणों से ककरीली पथरीली भूमि पर कैसे चलोगी, हाय ! हृदय फट जायगा।" राम रो पड़े।

दयामयी माँ बोली—"जीवों पर कृपा करने को सब कुछ करना होता है। बिना स्वय कष्ट सहे दूसरों के कष्ट को निवारण नहीं किया जा सकता। मैं तुम्हारे साथ वन में चलूँगी। तुम्हारे पीछे छाया की भाँति विचरूँगी, तुम्हारा प्रेम स्पर्श पाकर मैं पुलकित हो जाऊँगी, मुझे कुछ भी कष्ट न होगा। नहीं तो त्रितापों से संतप्त यह स्वार्थी संसार प्रेम से शून्य हो जायगा। चलो चलें।"

पाठको ! तीनरी झाँकी करलो। वन में आगे आगे राम जा रहे है, उनके पीछे अत्यन्त सुकुमारी जनक दुलारी है, सब से

पीछे देवर लक्ष्मण हैं। कृपा से ओत-प्रोत हृदय को लेकर सब पर कृपा अनुकम्पा की वृष्टि करती हुई जगन्माता आज वन वन मे भटक रही हैं। क्या उनके मृदुलातिमृदुल परम सुकुमार चरण कुश कटकाकीर्ण अवनि पर पैदल भ्रमण करने योग्य है? हम कब कहते है, योग्य हैं, जो कमल दल की पखुडियो से भी मृदुल हैं, उन्हे खाली अवनि पर घसीटना अन्याय हैं, अनुचित हैं, सर्वथा असगत है, किन्तु उन्हे रोक कौन सकता है वे सबकी स्वामिनी जो ठहरी। वनवासी नर नारियो और तपस्वियो को कृतार्थ करती हुई वे तेरह वर्ष तक पति के पीछे सघन वनो मे भटकती रही। जिस समय अपने प्रियतम के अङ्ग मे अलसाती हुई वे गिर जाती और वनवासी राम उनके मस्तक पर अपना वरद हस्त फिराते उस समय दोनो ही आत्मविस्मृत होकर तन्मय हो जाते। आनन्द सागर मे निमग्न हो जाते, कैसी सजीव झाँकी है।

सहसा स्वामिनी जी को अपने पुराने प्रहरी जय विजय की याद आ गयी। वे राक्षस बने हुए हैं। कृपा से उनका हृदय उमडने लगा वे सोचने लगी उनका उद्धार हो।

"क्यों जी! अपराध किया जय विजय ने, शाप दिया सनकादिको ने, माता जी को उनकी इतनी चिन्ता क्यो हुई?"

इसलिये हुई कि वे जगन्मता ही ठहरी। बच्चा कही भूल से हाथ पैर तोडलावे, तो भी उसकी सार सम्हाल माता को ही करनी होगी। यह सत्य है, वे अपनी करनी का फल भोग रहे हैं, किन्तु मातृ हृदय को तो इतने से सन्तोष नही होता। उनकी कृपा तो अहैतुकी होती है। उन्होने सोचा—"मैं आगे चली जाऊँगी, तो राघव को वहाँ विवश होकर आना पडेगा। यही सोच कर वे रावण के सग चली गयी राम भला कैसे रह सकते थे, वे भी वानर भालुओ की सेना को लेकर चले गये।

लंका की राक्षसियो ने सीता के यथार्थ स्वरूप को नह पहिचाना। वे उन्हे डराने धमकाने लगी, भाँति भाँति के त्रा देने लगी कच्चा ही खाजाने की धमकियाँ देने लगी। हनुमान ऊपर से सुन रहे थे रावण का उद्धार हो जाने पर हनुमान् जी ने माता जी से पूछा—"माँ! इन राक्षसियो ने तुम्हे बहुत क दिया है कहो तो इनकी कुटाई कर दूँ।"

यह सुनकर दयामयी माँ डर गयी और बोली—"अरे! हनुमान् भैया! देखो ऐसा भूलकर भी मत करना, सब अपने स्वभाव से विवश हैं ये सब अज्ञ-जन कृपा के पात्र हैं।"

यथार्थ मे माँ तुम ने दया के वशीभूत होकर ही तो इतने कष्ट उठाये, नही तो जय विजय ने अपराध किया और उसे सहने के लिये तुम राक्षसो के बीच मे रही। लका मे ही राक्षस नही थे, सर्वत्र राक्षस थे, अवध मे भी तो राक्षस वास करते थे, उनके ही कारण तो तुम जीवन भर कष्ट उठाती रही।

अब चौथी झाँकी कीजिये। भावुक भक्तो को इसी झाँकी से सन्तोष होता है, वे तो तुम्हारी इसी छवि का ध्यान करते हैं। उनकी आराधना की तो यही शोभा है। रत्न जटित सिंहासन पर अपने स्वामी के सहित तुम विराजमान् हो। भरत जी चमर कर रहे हैं लक्ष्मण और शत्रुघ्न दाय बायें सेवा मे समुपस्थित है, हनुमान् जी चरणो मे सिर रखे नीचे बैठे हैं। यह पचायतन झाँकी अत्यन्त मधुर है तुम अपनी कृपामयी दृष्टि मे सब पर अनुग्रह की वृष्टि कर रही हो राम के रोम रोम खिल रहे हैं, सभासद अपने को कृत कृत्य अनुभव कर रहे हैं। तुम बिना भेदभाव के दया को लुटा रही हो, कैसी है यह तुम्हारी भक्त मन हारिणी छवि! चाहते है जन्म जन्मान्तरो तक एक तुम्हारी इस छवि का ध्यान करते रहे, आप सिंहासनासीन होकर इसी

प्रकार त्रिनापो से तापित प्राणिया को अपने कृपा कटाक्षो की कोर से कृत कृत्य करती रहे।

यह ससार आज है माँ! मुझे क्रोध आ रहा है, यदि उस समय मैं होता, राम मुझे धनुष बाण दे देते, तो इन समस्त निंदको का नाश कर देता। ये निंदक कितने क्रूर होते हैं? हाय! झूठी बाते कहते हुए इन्हे लज्जा भी नही लगती, इनकी जिह्वा भी नही गिरती। अच्छा सत्य ही सही; किसी ने पाप किया, तो तुम्हारे बाप का क्या बिगडा। तुम अपनी छाती पर हाथ रख-कर देखो, तुमने कभी पाप नही किया? तुमसे कोई अनुचित कार्य नही बना? तुम सर्वथा दूध के धुले ही हो, तुम्हारे मन मे कभी पाप नही आया? यदि आया है, तो भले मनुष्यो! तुम उसे ससार के सामने क्यो नही प्रकट करते। उस पहाड जैसे पाप को तो कृपणके धनके सदृश छिपाते हो और दूसरो मे दोष न रहने पर भी उनमे अनुमान से दोष लगाते हो। यह नही देखते की हमे उनकी अलोचना करने का क्या अधिकार है।

अयोध्या मे बसने वाला धोबी अपनी मेहरारू से कहता है—'तू रात्रि मे किसके घर रही? अब मैं तुझे अपने यहाँ न रखूंगा, क्या मुझे राम समझती है, राम तो स्त्री लोभी है जो नौ महीना रावण के घर मे रही सीता को फिर से रख लिया। मैं ऐसा अधर्म न करूंगा।"

लीजिये, ये चौधरी जी राम से भी दो हाथ ऊपर बढ गये। क्या कहे इस कुटिल ससार की ऐसे लोगो की बातो पर भी ध्यान दिया जाता है, तो हम तो यही समझते हैं, ये महापुरुष दया कृपा के वशीभूत होकर सिर्री हो, जाते है। सनक जाते है, इन पर पागलपन सवार हो जाता है।-अयोध्या मे एक भी ऐसा धोबी नही था प्राय सभी धोबी ऐसे हो गये थे जो सीताजी सहित श्रीराम को सिंहासन पर बैठा देखकर जलने लगे थे।

जहाँ देखो तहाँ सीता के सतीत्व की चर्चा होती। कोई उन्हें निर्दोष बताता कोई सदोष कहता। राम अब कर्तव्य परायणता के अधीन हो गये थे। उन्हे राजा की मर्यादा का पालन करना था। हृदय पर पत्थर रखकर उन्होने प्राणो से भी प्रिय अपनी सती साध्वी पति परायण पत्नीका त्याग कर दिया। ससार तेरे सिर पर बिजली पडे। निन्दको! तुम्हारे ऊपर वज्र भी नही गिरता। इतने कोमल रामको तुम्हारे पीछे वज्रका बनना पडा। जिन सीताके बिना एक पल भी राम रह नही सकते थे कर्तव्य के वशीभूत होकर उनके बिना ग्यारह सहस्रवर्ष रहना पडा ऊपर से वे हँसते प्रजा का न्याय करते, कठोर से कठोर कार्य करते किन्तु हृदय उनका रो रहा था। सीताजी का निर्वासन हुआ नही कि राम चरित का अवसान हुआ नही। अब राम के चरित्रमे रखा क्या है ये ही नीरस बातें हैं। कुत्ता मारने वाले को उसकी प्रार्थना पर मठका महन्त बना दिया। तपस्या करते हुए शूद्र सम्बूक मुनिका सिरकाट लिया। जब तक सीताजी थी तब तक राम चरित था सीता गयी, ग्यारह सहस्रवर्ष का कुछ भी चरित्र नहीं राम गद्दी पर बैठे रहे। उसे पकड, उस दड दे उसे पारितोषिक दे ये ही बातें होती रही, इन म क्या आत्म तृप्ति होती है।

वल्कल वस्त्र पहिने तापसी वेष मे सहमी सिकुडी रोती हुई उन जगज्जननी जानकी की पाँचवी झाँकी का दृश्य दिखाने की सामर्थ्य अब लेखनी मे रही नही। हाय! जिस समय भरी सभा मे लडखडाती हुई रोती हुई माताजी, नानीजी मे—अपनी माता पृथ्वी से—प्रार्थना करती हैं और उनकी प्रार्थना पर पृथ्वी फट जाती है यह अत्यन्त ही करुणापूर्ण प्रसङ्ग है। जब जब मैंने इस प्रसङ्ग को पढा, तब तब फूट फूट कर रोया हूँ, इस प्रसङ्ग को मैंने किसने कष्ट मे लिखा है इसे पाठक अनुमान न

कर सकेंगे। लिखते लिखते मेरी आँखें बह रही हैं। इकत्तीसवे खण्ड मे आरम्भ का ५५ पृष्ठो का सबसे बडा यही अध्याय है। पाँचवी झाँकी उसी अध्याय मे मिल जायगी।

साराश यह है कि रामायण मे रामचरित की प्रधानता नही है, श्रीसीताजी का ही चारु चरित है उसी की मुख्यता है। हिन्दु सस्कृति की मुझसे कोई अत्यन्त सक्षेप मे व्याख्या पूछे, तो मै दो शब्द कह दूँगा "सीता"। इन दो शब्दो मे कितने उच्च भाव हैं, कितनी कृपा निहित है, कितनी अनुकम्पा और सरसता भरी है, वह व्यक्त करने की वस्तु नही। इतने निन्दा प्रिय बहिर्मुख ससार के सम्मुख ऐसी निधि प्रकट हो गयी और लोगो ने उसका महत्व नही समझा, उन्हे नाना क्लेश दिये। इससे अत्यन्त दुखित होकर किसी भक्त कवि ने बडे ही मार्मिक शब्दो मे कहा है—"हे माँ! मैथिली! आप अखिल जगन्नियन्ता अखिलेश अच्युत की आद्याशक्ति हो आप इस सार हीन ससार मे हमारे रक्षण और शिक्षण के ही निमित्त प्रकट हुई। किन्तु माँ! तुमने बीन भी बजाया तो भैंस के सामने। अरे, यह निन्दा प्रिय स सार क्या आपकी महती महिमा को सुन सकता है, माँ! यह स सार तो बधिर है बधिर! इस बहरे ससार को अपना महत्व जताने को आपने व्यर्थ प्रयास किया। इसीलिए तो आपको इतना कष्ट सहना पडा। ऊसर खेत मे बीज बोने का यही तो परिणाम होता है। अब आप से कहे भी तो क्या कहे, शिक्षा तो देने का अधिकार नही। दें भी तो आप मानोगी नही, क्योकि आपका हृदय करुणा से भरा है, आप करे बिना मानोगी नही। नही तो आप ही सोचो —"आप अपने परम प्रियतम श्री राघव से कभी पृथक होने वाली हो क्या? आप तो नित्य सभोगिनी हो। पल भर की पृथक्ता सहन करने मे भी आप समर्थ न होने पर भी सदा आपको अपने हृदयेश्वर से

पृथक रहकर वनमे—मुनियो के बीच—समय बिताना पडा। मालती कलिका से भी मृदुल अपने चरणारविन्दों मे कंकरीली पथरीली भूमि वाले वनो मे भटकना पडा। अपनी स्वतन्त्रता और करुणा को जननि आपने अनुपयुक्त स्थान में लगाया। इसलिए आपसे तो हम कुछ कहते नहीं। किन्तु इतना अवश्य कहेंगे, कि आप की इस करुणा को धिक्कार है और करुणा करने मे जो आप सर्व स्वतन्त्र हो, उस स्वतन्त्रता को धिक्कार है।*

छप्पय

बालकपन महँ लाड प्यार तैं पली कुमारी।
आई पुनि ससुराल-राम सँग वनहिँ सिधारी॥
नित पथ श्रम सहि करी कृपा जड़ सठ अपनाये।
युगल रूप दरसाय भक्त कृतकृत्य बनाये॥
अन्धो बहिरो जग भयो, अभिनिवेस करि असत् महँ।
कौन करि सकै कृपा माँ! तुम बिनु ऐसी जगत् महँ॥

सकीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर, } कृपा का अभिलाषी—
वैशाख शु० १४, २००३ वि० } प्रभुदत्त

---

* ने तुनित्यगहामनी त्वमनि नस्त्रातु त्वमत्रागता।
लोके त्वन्महिमावबोधवधिरे प्राप्ता विमर्दं बहु॥
क्लिष्ट ग्रावसु मालतीमृदु पद विश्लिष्य वासो वने।
जात धिक्करुणा धिगस्तु युवयो स्वातन्त्र्यमत्यकुशम्॥

★

राम-रावण-युद्ध

(३७९)

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः
कान्तासमक्षसतापहृता भवत् ते।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य
यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः॥

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० २२ श्लो०)

छप्पय

समर निशाचरनाथ लख्यो प्रभु कोप दिखायो।
नयन अरुन करि कहैं नीच सम्मुख अब आयो॥
चोर भीरु निरलज्ज निशाचर पामर कामी।
पीठ-पिछारी प्रिया हरी तू है खल नामी॥
अति सुकुमारी जानकी, दयिता दुःख दुसह दयो।
पृथक करहुँ धडतैं शिरनि, उदय पाप खल तव भयो॥

मैत्री समान गुण वालो मे ही होती है। शत्रुता तो सभी कर सकते हैं, छोटे लोग भी बडो से शत्रुता कर लेते हैं किन्तु अपने समान शत्रु को देखकर बडी प्रसन्नता होती है। वही शत्रु श्लाघनीय है जो युद्ध मे समान बलवीर्य वाला हो। भगवान् के समान संसार मे हो ही कौन सकता है। जब उनके समान कोई है ही नही तब वे लडे किससे ? भगवान् ने अपने भक्तों को अनुचरो को—अत्यधिक आदर दे रखा है। वे अपने भक्तो को अपने समान ही नही मानते, अपने से बडा भी समझते हैं। जब शेष शय्या पर पडे पडे ऊब जाते हैं, युद्ध के लिये हाथ खुजाने लगते है, तब वे अपने भक्तो से लडने को कहते हैं। भक्त और भगवान् का स्वामी और सेवक का युद्ध कैसा ! जब वे भक्त रूप मे—सेवक-

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! अपने सामने रावण को देखकर श्रीरामजी क्रोध करके बोले—"ओ, राक्षसो के मलरूप रावण ! जब हम लोग पचवटी मे नही थे तब तू पापी कुत्ते की भाँति छिपकर मेरी प्राण प्रिया सीता को हर लाया था आज मैं तुझ निर्लज्ज को तेरे पाप का फल उसी प्रकार दूँगा जिस प्रकार अमोघवीर्य काल पापी पुरुष के पाप का फल देता है।"

रूप मे—समर स्वीकार नही करते, तब भगवान् उनका वेष बदल देते हैं। जब भगवान् की ही इच्छा लड़ने की है, तो उसे कौन अन्यथा कर सकता है। भक्त और भगवान् की अद्भुत अनुपम लडाई भिडाई होती है। अन्त मे प्रभु उनके सब अपराधो को क्षमा कर अपना लेते हैं, अपने मे मिला लेते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब युद्ध मे रावण के मुख्य-मुख्य वीर तथा कुम्भकरण, कुम्भ निकुम्भ धूम्राक्ष, दुर्मुख सुरान्तक, नरान्तक मेघनाद, प्रहस्त, अतिकाय विकम्पन आदि सेनानायक मारे गये तब वह स्वय रथ पर चढ कर श्रीरामजी से युद्ध करने आया। देवताओ के राजा इन्द्र ने भी अपना दिव्य रथ भेज कर अपनी सेवा समर्पित की। देवेन्द्र के सारथी मातलि ने आकर भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् मातलिकी आज्ञा से रथ पर चढे। भगवान् को रथ पर धनुषबाण धारणकिये युद्ध के लिये उद्यत देख कर रावण ने अपने सारथी से कहा—'सारथी! तू मेरे रथ को राम के समीप ले चल। आज मैं अपने कटक को सदा के लिये निकाल फेकूंगा। आज मै शत्रु रहित होकर निश्चिन्त हो जाऊंगा।"

अपने स्वामी की आज्ञा पाकर सारथी ने श्रीराम की ओर रथ बढाया। रावण को अपनी ही ओर आते देखकर भगवान् मातलि से बोले—"मातलि! तुम बाईं ओर से मेरे रथ को ले चलो। देखो, जब वह रावण मेरे ऊपर आक्रमण करे, तो तुम टेढे मेढे होकर उसके प्रहारो को बचाना।"

मातलि ने कहा—"प्रभो! देवासुर सग्राम मे मैंने अनेक बार असुरो के साथ युद्ध करते समय देवेन्द्र का रथ हाँका है। भर-सक मैं आप पर शत्रु का प्रहार होने ही न दूंगा।"

यह सुनकर भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"महाभाग इन्द्र-

सारथि ! मैं आपकी रणचातुरी से परिचित हूँ। मुझे यह भी पता है कि तुम समस्त रथ हाँकने वालों में श्रेष्ठ हो। मेरा अभिप्राय आपको शिक्षा देने का नहीं था। न आपके सुयोग्य सारथी होने में अविश्वास करना ही है। मैंने तो युद्ध के अवसर पर आप को केवल स्मरण दिलाया है। आप अपनी इच्छानुसार जैसे उचित समझें वैसे ही रथ हाँकें।"

भगवान् के इन वचनों को सुनकर इन्द्रसारथि अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने बड़े उत्साह के साथ रथ को आगे बढ़ाया। उधर से रावण भी अपना रथ बढ़ाकर श्रीरामचन्द्र जी के समीप आया अब दोनों ओर से बाणों की वृष्टि होने लगी। दोनों ही मंडलाकार घूमकर बाणों की वर्षा करते। दोनों ही परस्पर एक दूसरे को जीतना चाहते थे। दोनों ही युद्ध के भाँति-भाँति पैंतरे दिखा रहे थे। दोनों ही एक दूसरे को खिजा रहे थे, दोनों ही दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर रहे थे। दोनों ही आकाशमंडल को बाणों से भर रहे थे। रावण क्रोध करके श्रीरामचन्द्र जी के सिर को लक्ष्य करके सहस्रों लक्षों बाण छोड़ता। उन्हें भगवान् अपने सिर पर उसी प्रकार धारण करते जिस प्रकार शिव जी कमल के पुष्पों को सिर पर धारण करते हैं। रणरूप महायज्ञ में भक्त रावण अपने इष्ट पर बाण रूप पुष्पों की बलि चढ़ा रहा था। वे बाण भगवान् को पुष्प के समान प्रतीत होते थे। रावण जिन-जिन अस्त्रों को चलाता उनके निवारणार्थ श्रीरामजी उसके विपरीत अस्त्र चलाकर उन्हें विफल बना देते। इस प्रकार राम-रावण का युद्ध संसार में अनुपम हुआ। राम-रावण के युद्ध की कोई उपमा ही संसार में नहीं। जैसे सागर के समान गम्भीर सागर ही है, जैसे आकाश के समान विस्तृत आकाश ही है, जैसे कामधुरा के समान चित्त को आकर्षित करने वाली कामधुरा ही है, जैसे वायु के

समान व्यापक वायु ही है, जैसे सुमेरु के समान सुमेरु ही है, जैसे त्याग वैराग्य के समान शांति का साधन त्याग वैराग्य ही है, उसी प्रकार राम-रावण के युद्ध के समान राम-रावण का युद्ध ही है उस युद्ध को देखकर सभी प्राणी भयभीत हो गये, आकाश मे देवता यक्ष नाग, गुह्यक, किंपुरुष, सिद्ध, विद्याधर तथा अन्यान्य देव उपदेव उस भीषण युद्ध को देखने के निमित्त एकत्रित हुए थे।

जब रावण ने देखा श्रीरामजी के अव्यथ बाण तो मेरे शरीर मे लगते है और मेरे सभी अस्त्र शस्त्र विफल बनते जाते है, तब उसने अपने सारथी से कहा—"सारथि! क्या तू प्रमाद कर रहा है, मेरे रथ को राम के सर्वथा निकट क्यो नही ले चलता। आज मैं राम को युद्ध मे सन्तुष्ट करूँगा।"

इस पर सारथि शीघ्र ही रथ को घुमा फिरा कर श्रीराम के समीप ले गया। श्रीराम को देखकर रावण गरज कर बोला—राघव, मैंने तुम्हारे बाणो की बडी प्रशसा सुनी है, आज मैं तुम्हारा बल पराक्रम देखूंगा। आज मैं तुम्हे युद्ध मे सन्तुष्ट करूंगा। अब तुम मेरे सामने से बचकर जा नही सकते।"

रावण के ऐसे कठोर वचन सुनकर श्रीराम ने उसे ललकारा और बडी ओजस्वी वाणी मे कहने लगे—"अरे, राक्षसाधम! तू क्यों बढकर व्यथ की बातें बना रहा है। तेरी वीरता तो उसी दिन प्रकट हो गयी जिस दिन हमारे परोक्ष मे तू सती साध्वी पतिव्रता सीता को बलपूर्वक उसी प्रकार उठा लाया, जिस प्रकार कुत्ता परोक्ष मे भोजन की वस्तु को उठाले जाता है। क्या स्त्री की चोरी करना ही वीरता है? क्या कुबेर के भाई को यह कुकृत्य शोभा देता है? क्या अधर्म कार्य करके तू विजयी बनना चाहता है? मैं आज तुझे तेरी नीचता का फल चखाऊँगा।"

इस पर रावण बोला—"राम, तू बहुत बढ़-बढ़ कर बातें

करता है, और बहुत बोलते नही, करके दिखाते हैं। अच्छी बात है, सम्हल जा।" यह कह कर उसने श्रीरामजी के ऊपर असख्यो बाण छोडे उसी बीच मे विभीषण जी आ गये। सम्मुख विभीषण को देखकर क्रोध से रावण का रोम रोम जल उठा। उसने कहा—"अरे, कुलकलक। तैने ही इन तपस्वियो को इतना बढा-दिया है, तैने लका का समस्त भेद इन्हे बता दिया है। तू अधम है, नीच है जातिद्रोही, कुलद्रोही तथा भातृद्रोही है। तेरे जैसे नीच इस पृथ्वी पर रहेंगे, तो यह पृथ्वी रसातल को चली जायगी। अत. आज प्रथम तुझे ही मारकर पृथ्वी का भार उतारूंगा। राम से पहिले तुझे ही मारूंगा।" यह कर उसने विभीषण पर एक महान् शक्तिशालिनी अमोघ शक्ति चलाई। समीप में ही खडे लक्ष्मण जी ने जब देखा, कि विभीषण इससे बच नही सकते, तो उन्होने तुरन्त एक बाण छोडकर उस शक्ति के टुकडे २ कर दिय साथ ही रावण के घोडो को मार दिया, सारथी को घायल कर दिया। इस पर भी रावण तनिक भी नही घबराया। पृथ्वी पर आकर बाणवर्षा करने लगा। तुरन्त उसका दूसरा रथ आ गया। उसके अस्त्र शस्त्रो के प्रहार से वानर दशों दिशाओ मे भागने लगे श्रीलक्ष्मण जी को भी उसने शक्ति मार कर अचेत बना दिया। किन्तु हनुमान जी तो अब सजीवनी बूटी का पहिचान गये थे, तुरन्त लाकर उन्हे चैतन्य बना दिया।

रावण ने प्राणो का पण लगाकर युद्ध किया। वानरो सेना मे कोई भी ऐसा वीर नही था, जो उसके सम्मुख ठहर सके। यह देखकर श्रीरामचन्द्रजी परम कुपित हुए उन्होने उसके शरीर मे इतने बाण मारे कि उसके शरीर मे तिल भर भी स्थान नही रहा। अब वह श्रीराम के बाणो का प्रतिकार भी नही कर सकता था। उसके अग शिथिल हो गये वह सज्ञा शून्य सा प्रतीत होता था।

उसके बुद्धिमान सारथी ने जब देखा कि अब राक्षसराज युद्ध करने मे सर्वथा असमर्थ है, तो वह बड़ी बुद्धिमानी से रथ को टेढा मेढा हाँकता हुआ समर भूमि से बाहर ले गया। वहाँ जाकर उसने अनेक उपचारो से रावण को स्वस्थ किया। चेतन्यता आने पर जब उसने अपने को समरभूमि से बाहर देखा, तो सारथी पर परम कुपित होकर कहने लगा—"मुझे युद्धस्थल के बीच से यहाँ क्यो ले आया? युद्ध से भाग कर आना शूरवीर के लिये मृत्यु से भी बढकर दु ख की बात है। इससे ससार मे मेरी बडी अपकीर्ति होगी। रामके पक्ष के लोग प्रसन्न होगे। राक्षसो के सिर नीचे हो जायंगे। यह तेने मेरे साथ विश्वासघात किया। प्रतीत होता है तू शत्रु से मिल गया है। छिपे छिपे शत्रुपक्ष से वेतन पाता है। अथवा तू प्रमत्त है, बुद्धि हीन है, समर के नियमो से अनभिज्ञ है। तभी तो तेने ऐसा हृदय दौर्बल्य प्रकट किया।

सारथी ने हाथ जोडकर कहा—"देव! मैं शत्रुपक्ष से न तो मिला ही हुआ हूँ, न मैं उन्मत्त तथा बुद्धिहीन ही हूँ। जब मैंने आप को अचेतन देखा तो युद्ध के नियमानुसार सारथी धर्म का केवलमात्र पालन किया। युद्ध मे रथी सारथी की ओर अवसर आने पर सारथी रथी की रक्षा करता है। उस समय चेतनाशून्य दशामे आपका समर मे रहना अनुचित था। अब आप चैतन्य हो गये, अब जैसी भी आप आज्ञा देंगे, उसका पालन करूंगा।"

इस पर रावण ने कहा—"अच्छी बात है। अब तो मुझे राम के सम्मुख ले चल।" इतना सुनते ही सारथी रावण को श्रीराम के रथ के सम्मुख ले गया। श्रीरामचन्द्रजी युद्ध से थके हुए प्रतीत होते थे। वे कुछ चिन्तित से जान पडते थे। अतः अगस्त्य जी ने तुरन्त आकाशमार्ग से आकर उन्हें आदित्य-हृदय-स्तोत्र

की शिक्षा दी और कहा—"राघव ! यदि आप इस स्तोत्र का विधिवत् पाठ करके युद्ध करेंगे, तो आप की विजय अवश्य होगी। यह सुनकर श्रीराम ने श्रद्धाभक्तिपूर्वक मुनि से उस दिव्य स्तोत्र को ग्रहण किया। आचमन करके स्वस्थचित्तसे उसका पाठ किया। पाठ करते ही उन्हें अपने शरीर मे एक नई स्फूर्ति दिखाई दी। वे अनुभव करने लगे, कि मै रावण को अवश्य मारूँगा।

रावण को सन्मुख देखकर श्रीराम कुपित हुए। रावण भी अब प्राणो का मोह परित्याग करके युद्ध करने लगा। उस समय समस्त प्राणी भयभीत हुए। पृथ्वी कांपने लगी, दिन मे उल्कापात होने लगा। श्रीराम को शुभ दिखाई देने लगे, इसके विपरीत रावण को अपशकुन दिखाई दिये। राम-रावण का वह अपूर्व युद्ध देवासुर सग्राम से भी बढकर हुआ। इन्द्र और वृत्रासुर का युद्ध भी उसके सम्मुख तुच्छ हो गया। रावण अपनी सम्पूर्ण युद्धचातुरी प्रकट करने लगा। वह विश्वविजयी वीर था। एक मात्र श्रीराम ही ऐसे थे जो उसके सम्मुख युद्ध कर सकते थे। दोनो ही एक दूसरे पर प्रहार करते। दोनो ही के घोडे उछलते कूदते। दोनो ही एक दूसरे के रथ को तोडना चाहते थे, सारथी को मारना चाहते थे और ध्वजा को काटना चाहते थे। दोनो के रथ कभी आगे दौडते, कभी गोलाकार चक्कर काटते, कभी सीधे दौडते, कभी पीछे हटते कभी दाय जाते, कभी बायें लौटते। इस पर दोना ही अपनी-अपनी घातें लगा रहे थे। दोनो ही एक दूसरे का वध करना चाहते थे। दोनो ही सम्पूर्ण शक्ति के साथ समर कर रहे थे।

रावण ने बहुत से बाण मार कर इन्द्रसारथि मातलि को घायल किया। उसके रथ के घोडे दिव्य थे। अत उनकी न तो शक्ति ही क्षीण हुई और न वे बाणवर्षा से विचलित ही हुए

मातलि ने श्रीराम जी से सावधान होकर युद्ध करने की प्रार्थना की अब तो श्रीराम सम्हल कर बैठ गये। वे अनुभव करने लगे, कि रावण साधारण शत्रु नहीं है। इसे मारने के लिये मुझे प्रबल प्रयत्न करना पड़ेगा। इसीलिये अब वे फेंट बाँधकर अत्यन्त क्रोध करके रावण की ओर झपटे।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! राम-रावण के युद्ध का मैं सजीव चित्र खड़ा नहीं कर सकता। यह कार्य मेरी शक्ति के बाहर है। युद्धादि के वर्णन में मेरी विशेष रुचि भी नहीं है। इतना ही समझलें कि वह युद्ध संसार में अपूर्व था। उसको न तो किसी से उपमा ही दी जा सकती है, न समानता ही की जा सकती है। वह श्रीराम की एक अनुपम लीला थी क्योंकि वे स्वयं अनुपम हैं।"

छप्पय

सुनत रामके वचन क्रोध करि रावण धायो।
धनुषबानकूँ तानि समर महँ सम्मुख आयो॥
उभय ओर तैं बान चलैं सुर मुनि सुख पावहिँ।
भयो रूपर अति कठिन उभय शर दिव्य चलावहिँ॥
ज्यों सागर, नभ, चन्द्र, रवि, की उपमा अनुपम कही।
त्यों रावन अरु राम की, रन-समता जग महँ नहीं॥

रावण वध

(६८०)

एव क्षिपन् धनुषि सधितमुत्ससर्ज
बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेदः ।
सोऽसृग् वमन् दशमुखैर्न्यपतद् विमानात्,
हा हेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० २३ श्लो०)

छप्पय

लीला रघुपति करहिँ लरहिँ जातें अरु हारें ।
श्रमित होहिँ जय करहिँ सहहिँ शर पुनि पुनि मारें ॥
कबहूँ आगें बढहिँ फिरहिँ घूमे मुरि जावहिँ ।
कबहूँ उछरे दुबकि कुदकि झट सम्मुख आवहिँ ॥
भक्तनि हित अवतार धरि, नरलीला रघुवर करहिँ ।
बँधहि सेतु प्रभु चरित का, जाते सब भवनिधि तरहिँ ॥

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं— राजन् ! इस प्रकार दशानन का तिरस्कार करते हुए श्रीराम ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर उसके ऊपर छोड़ा जिसके द्वारा उसके वज्र के समान हृदय को वेध दिया । उस बाण के लगते ही वह अपने दशों मुखों से रक्त उगलता हुआ पुष्पक विमान से उसी प्रकार गिरा जिस प्रकार पुण्य क्षीण होने पर पुण्यात्मा स्वर्ग से गिरते हैं । इस दृश्य को देख कर वहाँ के उपस्थित पुरुष हाहाकार करने लगे ।

ससार मे जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। मृत्यु के लिये चिन्ता करना मूर्खता है। चिन्ता इस बात को करनी है कि हमारी मृत्यु उचित हो। जितने भजन जप, अनुष्ठान, पूजा पाठ-आसन, प्राणायाम आदि साधन है, सबका एकमात्र लक्ष्य यही है, कि मृत्यु समय हमे हरिस्मृति बनी रहे। अन्त मे जिसकी बन गई उसकी सब बन गई। अन्त मे जिसकी बिगड गई उसकी सब बिगड गई। सब परिश्रम अन्त के लिये ही है। अन्त मे जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है। उन राक्षस असुरो के भाग्य का क्या कहना है, जिन्हे स्वय साक्षात् श्रीहरि अवतार लकर अपने दिव्य अस्त्रो से मारते है। वे अधम योनि के असुर राक्षस मरत समय अपने चित्त को क्रोध से ही सही राम मे लगाते है नेत्रो स जगत्पावन श्रीराम के रूप का निहारते निहारते तनुका त्याग करते है। इसीलिये वे ससार के आवागमन से सदा के लिये मुक्त हो जाते है। उनके समस्त कर्मबन्धन कट जाते है। उनका चरित्र रामचरित्र मे घुलमिल जाता है। रावणके बिना राम का क्या अस्तित्व। कस के बिना कृष्ण को कौन असुरोद्धारक कहेगा। ससार से सम्बन्ध छूटकर राम से सम्बन्ध हो जाय। वह सम्बन्ध प्रेम का हो, तब तो कहना ही क्या, सोने मे सुगन्ध है किन्तु प्रेमसम्बन्ध न भी हो, काम से, क्रोध से, भय लोभ से, तथा द्वेष से कैसे भी भगवान् से सम्बन्ध हो जाय बेडा पार ही है। आज हम अनुष्ठान पारायणो मे रावण के नाम कीतन क्यो करत है। इसलिय कि उसने श्रीराम से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। शत्रुबुद्धि से ही सही, निरन्तर उनका चिन्तन करता रहा। अन्त मे उनके ही हाथो मारा गया, उन्ही का था और पुन उन्ही का प्रिय पापद बन गया। अत. श्रीहरि स यही प्राथना करनी चाहिय कि

हमारी मृत्यु हो तो श्रीहरि से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित होने के अनन्तर हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राम और रावण का युद्ध पराकाष्ठा पर पहुँच गया। राम रावण को मारना चाहते थे, रावण बचना चाहता था। दोनो मे ही घनघोर युद्ध होता रहा। जब श्रीरामने देखा, यह शत्रु तो परम प्रबल है, तब उन्हे बडा क्रोध आया। उन्होने अपने धनुष पर एक अत्यन्त तीक्ष्ण चन्द्राकर बाण चढाया। रावण को लक्ष्य करके श्रीराम ने उसके मस्तक मे वह बाण मारा। बाण के लगते ही उसका सिर धड से पृथक होकर धडाम से धरती पर गिर गया। रावण का सिर कट जाने पर सभी चराचर प्राणी सुखी हुए साधु-साधु कहकर श्रीराम की प्रशसा करने लगे, किन्तु इस बात को देखकर सब आश्चर्यचकित हो गये कि जिस स्थान से रावण का सिर कटा था, वही से उसके धड मे तुरन्त एक ऐसा सिर पुन: उत्पन्न हो गया। उसे भी श्रीरामने तत्काल काट दिया। उसके कटने पर पुन. तीसरा सिर प्रकट हो गया इस प्रकार सक्डो सिर उत्पन्न हुए और उन्हें श्रीराम ने तुरन्त काट डाला, किन्तु रावण मरा नही। उसके सिर निरन्तर उत्पन्न होते रहे। यह देखकर श्रीराम अत्यन्त चिन्तित हुए। वे साधारण मनुष्यो की भाँति कुछ स्थिर न कर सके कि अब मुझे क्या करना चहिये।"

श्रीराम की ऐसी दशा देखकर इन्द्र का सारथी मातलि उनसे बोला—"प्रभो! आप यह कैसी प्राकृत लीला कर रहे हैं। इस नरनाट्य को दिखाकर जीवो को क्यो मोह मे डाल रहे हैं। यह रावण साधारण बाणो से नही मरेगा। अब इसके ऊपर सावधानी से मन्त्रो द्वारा अभिमन्त्रित करके ब्रह्मास्त्र छोडें। इसके मरने का एक निश्चित समय है। मै अपनी दिव्य दृष्टि से देख

रहा हूँ कि इसके मरने का समय अब उपस्थित हो गया है। आपको भगवान् अगस्त्यने जो ब्रह्मास्त्र प्रदान किया है, वह अमोघ है उसका प्रयोग इस पर कीजिये। यह राक्षस साधारण अस्त्र शस्त्र से मरने वाला नहीं है।'

मातलि की बात सुनकर श्रीरामने उसका अभिनन्दन किया और बोले—"इन्द्रसारथि! तुम बडे बुद्धिमान हो, तुमने ब्रह्मास्त्र का स्मरण कराके बडा ही उत्तम कार्य किया, अब मैं कभी भी व्यर्थ न जाने वाले ब्रह्मास्त्र को विधिवत छोडता हूँ, उससे यह राक्षस अवश्य ही मर जायगा।' यह कहकर श्रीरामचन्द्रजी ने विधिपूर्वक आचमन किया और मन्त्रो से अभिमन्त्रित करके ब्रह्मास्त्र को धनुष पर चढाया। तदनन्तर रावण को लक्ष्य करके उसकी छाती म बाण मारा। उस बाण के लगते ही रावण मूर्छित होकर रथ स उसी प्रकार गिर गया, जिस प्रकार पकने पर फल वृक्षसे गिर पडता है। अथवा पुण्यक्षीण होने पर सुकृती स्वर्ग से गिर पडता है अथवा वेग कम होने पर ऊपर फका हुआ पत्थर नीचे गिर पडता है, अथवा अस्त्रविद्या का अनभिज्ञ दौडते हुए घोडे स गिर पडता है, अथवा जड कटने पर नदी के तीर का वृक्ष गिर पडता है। अथवा बालू को ढाह तीक्ष्णधार से कट कर गिर पडती है। रावण के गिरते ही सिद्ध चारण, गन्धर्व सभी साधु साधु कहकर श्रीरामका अभिनन्दन करने लगे। राक्षसी सेना मे भगदड मच गई। रावण का वह मृतक शरीर पृथ्वी पर पडा हुआ ऐसा ही प्रतीत होता था, मानो सुमेरु का शिखर टूट कर गिर पडा हो। उसकी आँखें फट गई थी। राम के बाण से हृदय विध जाने से वह रक्त मे लथपथ हो रहा था। रक्त से सना उसका शरीर ऐसा शोभित होता था मानो गेरुपर्वत का कोई शिखर टूट पडा हो। रावण को मृतक देखकर वानरी सेना मे

हर्ष छा गया। वानर भालु किलकारियाँ मारने लगे। फल और पुष्पों को उछालने लगे। वृक्षों की पुष्पित पल्लवित शाखाओं को तोडने लगे, वे इधर से उधर दौडने लगे, एक दूसरे का आलिंगन करने लगे। लक्ष्मण, सुग्रीव अगद नल नील, विभीषण, जाम वन्तादि तथा अन्यान्य वडे वडे वानरो ने आकर विजयी रामका अभिनन्दन किया उनकी पूजाकी और शत्रुवध पर वधाई दी। सवकी पूजा स्वीकार करके लोकाभिराम श्रीराम परम सुखी हुए। जो शत्रु चिरकाल से उनके हृदय म खटक रहा था उसका आज अन्त हुआ।

सूतजी कहते है— मुनियो! रावण को मरा हुआ देखकर अव विभीषण के हृदयमे भ्रातृप्रेम उमडा। अव वे पुरानी वात को भुलाकर मृतक रावणके शरीर के समीप जाकर भाँति-भाँति से विलाप करने लगे। विभीषण के करुण विलाप को सुनकर करुणासागर श्रीराम को आखो म आँसू आ गये।

छप्पय

खैंचि कान तक वान राम रावनके मार्‍यो।
काट्यो घडतैं शीश धम्म धरतीपै डार्‍यो॥
उदित भयो पुनि शीश तुरत पुनि काट्यो रघुपति।
ज्यों ज्यों काटहिं उगहिं नये लखि प्रभु विस्मित अति॥
मोहित सम चेष्टा करहिं मातलि बाल्यो बचन तब।
ज्यौं नरलीला करहु हरि, ब्रह्म अस्त्र कूँ लहु अब॥

राक्षसियों का मिलाप

ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्यः सहस्रशः ।
मन्दोदर्या समं तस्मिन् प्ररुदत्य उपाद्रवन् ॥
स्वान् स्वान् बन्धून् परिष्वज्य लक्ष्मणेषु भिरर्दितान् ।
रुरुदुः सुस्वर दीना घ्नन्त्य आत्मानमात्मना ॥❀
(श्री भा० ९ स्क० १० अ० २४,२५ श्लो०)

छप्पय —

मातलि सम्मति मान ब्रह्मसर धनु पै धारयो ।
करि अभिमन्त्रित तुरत निशाचरपति तब मारयो ॥
मरत निशाचर देव विप्र ऋषि मुनि सुख पायो ।
सुन रावन-वध बन्धु विभीषन ढिग तब आयो ॥
लङ्कापति को निधन सुनि, आई तहाँ निशाचरी ।
शिर पटकहिं छाती धुनहिं, मृतक पतिहिं लखिगिरि परीं ॥
जिनके साथ जीवन भर रहे, जिस अंग से अंग सटाकर

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन ! लंका से बाहर निकल कर मन्दोदरी आदि सहस्रों रानियां रोती रोती समरभूमि में आईं । जो लक्ष्मणजी के बाणों से मारे गये ऐसे अपने बंधुबान्धवों के मृतक शरीरों का आलिङ्गन करती हुई दीन होकर उच्चस्वर से रुदन करने लगीं और अपने आप अपने ही शरीरों को कूटने लगीं ।'

विहार, शैया, आसन, भोजन तथा शयन आदि में साथ-साथ रहे थे ही जब प्राणहीन होकर मृतक दशा मे हमारे सम्मुख आते है तो हृदय फटने लगता है, चित्त चाहता है अब हम भी मर जायें। हम भी किसी प्रकार शरीर को त्याग दें। उस समय अपने स्नेही बन्धु बान्धवो और प्रियजनो के मृतक शरीर को देखकर वैराग्य उत्पन्न होता है। किन्तु वह वैराग्य स्थायी नही होता। कुछ काल म उतर जाता है। भगवान् की माया ऐसी प्रबल है कि प्राणियो का शोक सदा एक सा नही रहने पाता। ससारी व्यवहार मे फँस कर पुरानी बात भूल जाता है, फिर भी प्रियजन का सयोग ससार म सबसे श्रेष्ठ सुख है और उनका सदा क लिय वियोग सबसे बडा दुख है।

श्रीसूतजी कहत है— 'मुनियो! रावण मारा गया। विभीषण ने जब उसकी मृत्यु का समाचार सुना तो वे अत्यन्त दुखित होकर अपने ज्येष्ठश्रेष्ठ भाई के लिय विलाप करने लगे। अपन सर्वसमर्थ विश्वविजयी बन्धु का रक्त मे सना तथा भूमि मे पडा देखकर विभीषण बालका की भाँति फूट-फूट कर रोने लगे। रोत रोत वे कह रहे थे— राजन्! आप सदा सुखद शया पर शयन करते थे। आप के सोन के स्थान का दासियाँ भाँति भाँति स सुन्दरता पूर्वक सजाती थी। आज आप बिना शैया के भूमि पर क्या सो रहे हैं। भयाजी, आपके समान ससार मे काई शूर वीर नहीं था। आपने इन्द्रादिक समस्त लोकपालो पर विजय प्राप्त की था फिर आप आज कैसे पराजित हो गये। आप तो ऐस महान् और विशाल वृक्ष के समान थे जिसकी जड अत्यन्त दृढ थी। फिर आपको रामरूप प्रबल पवन ने कैस उखाड दिया? आप तो उस कुबडवाले बल के समान थे, जिसके सीग अत्यन्त पैने थे। आपको देखकर तो सभी भयभीत हो जाते थे। आज रामरूप-व्याघ्र ने

आपका भी अन्त कर दिया। आप तो उस मदोन्मत्त हाथी के समान थे, जिस पर अकुश भी काम नही देता, फिर भी रघुकुल-सिंह ने आपको प्राणहीन बना दिया। भैया जी! मैने आपको कितना समझाया। सभी ऊँची-नीची बातें बताई। हाथ जोडे पैरो पडा किन्तु आपने मेरी एक भी बात न मानी। आप के सचिवो ने भी मेरी सम्मति का विरोध किया आपने भी उनकी हाँ मे हाँ मिलाई। मेरा तिरस्कार किया, इसमे आपके भी कुछ दोष नही। काल को जिससे जो कराना होता है, बलपूर्वक उससे वही करा लेता है। जिस समय जैसा होना होता है वैसी ही बुद्धि बन जाती है। विनाशकाल मे सभी बातें विपरीत हो जाती हैं। राजन् लका आपके बिना विधवा बन गई। आपकी उदारता परोपकारिता सहनशीलता, तेजस्विता, दृढता, तपस्या तथा शूरवीरता ससार मे सर्वत्र प्रसिद्ध है। आप अपने गुणो से ही विश्वविजयी बने थे। आपके बिना ये इतनी रानियाँ यूथभ्रष्ट मृगियो के समान विलाप करगी। आज मै बन्धुविहीन बन गया। अपने समथ बन्धु की मृत्यु का मैं कुलकलक हो कारण बना।"

विभीषण को इस प्रकार विलाप करते देखकर श्रीरामचन्द्र जी उसके समीप गये। उनके दुख मे दुखी से बने श्रीराम उन्हे समझाने लगे— भैया विभीषण, अब जो बात तो गई उसके लिये शोक करना व्यर्थ है। वीरो की कभी मृत्यु नही होती वीर तो सदा अजर अमर बने रहते हैं। वीर की मृत्यु का सोच भी न करना चाहिये। सोचनीय तो वे पामर हैं, जो कायरता पूर्वक खाट पर पडे पडे कष्ट से मरते हैं। जिन्होंने शत्रु का सामना करते हुए वीरता पूर्वक युद्ध करते करते प्राणो का परित्याग किया है वे तो श्लाघनीय हैं। तुम्हारे भाई ने अपने बाहुबल से राज्य प्राप्त किया, लोकपाल सहित देवताओ को जीता विश्व

को विजय किया, यथेष्ट दान दिया, बडो का सम्मान किया, शिव जी की आराधना की, प्रबल तपस्या की, परिवार वालो को सुख दिया, जाति मे श्रेष्ठता प्राप्त की विपत्ति पडने पर भी शत्रु के सम्मुख सिर नही झुकाया, किसी के सम्मुख दीन वचन नही कहे अपनी प्रतिज्ञा का प्राण रहते रहते पालन किया। जो कह दिया उसका अत तक पालन किया। ऐसे श्रेष्ठ भाई की मृत्यु पर तुम्हे शोक न करना चाहिये। वैर का अत प्राण के अत होने पर हो जाता है। अत. यह अब जैसा ही तुम्हारा भाई है वैसा ही मेरा। अब तुम विधि पूर्वक इसका मृतक सस्कार करो। सम्राटो के योग्य इसकी अत्यन्त धूमधाम से क्रिया करो।"

श्रीरामचन्द्र विभीषण को इस प्रकार समझा ही रहे थे कि उसी समय विलाप करती हुई बहुत सी राक्षसियाँ लका से आती हुई दिखाई दी। भगवान् उनके सम्मानार्थ एक ओर हट गये। युद्ध क्षेत्र का उस समय का दृश्य बडा ही वीभत्स था। स्थान स्थान पर मरे हुए राक्षसो के कटे हुए सिर और धड पडे थे। बहुत से मर गये थे। बहुत से अधमरे बिलबिला रहे थे। किसी के हाथ कट गये थे। कोई बिना पैरो के बिलबिला रहे थे, बहुतो के शरीर रक्त से लथपथ हो रहे थे, रक्त की नदियाँ बह रही थी, मृतक शरीरो को कक गृद्ध सियार तथा अन्य माँस भोजी जन्तु नोच रहे थे। सर्वत्र दुर्गन्ध आ रही थी। राक्षसियाँ चिल्लाती और छाती पीटती इधर से उधर दौड रही थी। वे अपने पतियो के शरीरो को खोज रही थी जिनको अपने पति मिल जाते वे उनसे लिपट जाती। गोद मे रखकर भाँति भाँति से विलाप करती। कोई अपने पति के कटे सिर को लेकर मूर्छित हो जाती, कोई अपने पति के पैरों मे ही पड जाती। कोई ल्हासो पर पैर रख कर नीचे दबे अपने पति के शव को बलपूर्वक निकालती और न निकलने पर

गिर जाती। वहाँ का दृश्य परम कारुणिक था। श्रीरामचन्द्र जी का हृदय भी उस समय भरा हुआ था। राक्षसियो के सिर खुल गये थे, बाल बिखर गये थे। रोते-रोते कंठ बैठ गये थे। आँखें सूज गई थी। वे उच्चस्वर से निःश्वास छोड़ती हुई विलाप कर रही थी। अपने पतियो के गुणो का बखान करती करती रो रही थी। उनके करुण क्रन्दन से दशो दिशायें भर गई। कुछ तो पृथक-पृथक अपने अपने पतियो मृतक शरीर से लिपट कर रो रही थी। जिस समय सब राक्षसियाँ विलाप कर रही थी, उसी समय रावण की प्रधान-पत्नी मन्दोदरी अन्य बहुत सी स्त्रियो से घिरी हुई रोती रोती अपने पति के समीप आई।

सूत जी कहते है—"मुनियो! जिस मन्दोदरी ने दुःख कभी देखा ही नही था, जो सदा सुख मे पली थी, आज वह नगे ही पैरो पैदल अपनी छाती को पीटती हुई आ रही थी। उस समय मन्दोदरी की दशा को देखकर पत्थर भी पिघल जाते थे।"

छप्पय

बार बार पति देह अङ्कमहँ धरि धरि रोवैं।
मृतक बदन लखि दुखित होहिँ धीरजकूँ खोवैं॥
दृढ आलिंगन करहिँ शीश धरनी में मारैं।
पटतैं पौंछैं रक्त धूरि पति शव की झारैं॥
निशाचरी रोवैं सतत, क्रन्दन-ध्वनि नभमहँ भरी।
तबई रानिनि तैं घिरी, आई तहँ मन्दोदरी॥

मन्दोदरी का विलाप

कृतैषा विधवा लङ्का वयं च कुलनन्दन ।
देहः कृतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० २८ श्लो०)

छप्पय

प्राणनाथ कूँ निरखि मृतक मन्दोदरि रोई ।
ह्वैकें व्याकुल गिरी विरह महँ तनु सुधि खोई ॥
प्राणनाथ ! हृदयेश प्राणपति कहि डकरावै ।
क्रंदन कुररी सरिस करै दुख तैं बिललावै ॥
रामबवंडर वायुतैं, पति-पादप जडतैं कट्यो ।
विधवा लङ्का ह्वै गई, मम सिँदूर सिरको मिट्यो ॥

भरणपोषण करने से पति को भर्ता कहा गया है । जिसके भर्ता का देहान्त हो जाय, उस नारी के दुःख के विषय मे जो भी कुछ कहा जाय वही थोड़ा है । पति ही स्त्रियो का सर्वस्व है । विधवा स्त्री उसी प्रकार शोभा नही पाती जैसे बिना जल की नदी ।

❀ श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! रावण के मरने पर मन्दोदरी विलाप कर रही है—"हे कुल नन्दन ! तुमने हम सबको और इस लङ्का को भी विधवा बना दिया । देह को गीधो का आहार बना दिया और अपने आपको नरक का अधिकारी बना दिया ।"

पतिव्रता पत्नी के करुणाक्रन्दन मे करुणा की ऐसी धारा बहती है की उसमे आस-पास के सभी आर्द्र हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो पति की मृत्यु से दुखी मन्दोदरी अपने पति के अग मे लिपटकर भाँति-भाँति से विलाप करने लगी। करुणाक्रन्दन करती हुई वह कहने लगी—'हे प्राणनाथ ? युद्ध मे जब आपकी भी मृत्यु हो सकती है तब तो ससारमे मैं किसी को भी निश्चित विजयी नही कह सकती। आप ससार मे सबसे श्रेष्ठ योद्धा थे। इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम तथा अन्याय लोकपाल कोई भी आपको जीत नही सके। आपने अपने बाहुबल से तीनो लोको को जीत लिया था। सूर्य आपके प्रभाव के सम्मुख निस्तेज होकर लङ्का मे उदित होते थे। पृथ्वी आपके भय से बिना जोते बोये सब ओषधियो को उत्पन्न करती थी। ससार मे कोई भी प्राणी आपका सामना करने मे समर्थ नही था। आपके नाम से समस्त लोक भयभीत होते थे। देवता भी आपके सम्मुख ऊँचा सिर करके नही खडे हो सकते थे। ऐसे आप आज श्रीराम के बाण से आहत होकर अवनिपर बिना बिस्तर के सो रहे हैं। आप एक महान् पादप थे। ऐश्वर्य, बल, पराक्रम तथा धैर्य आपकी जड थी कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि आपकी मोटी-मोटी शाखायें थी। प्रधान-प्रधान सेनापति छोटी-छोटी शाखायें थे। सैनिक पल्लव थे। तीनो लोको के समस्त रत्न उसके फल थे। यश कीर्ति उसके फूल थे। ऐसे महान् पादप को रामरूप आँधी ने आज जड से उखाड कर फेंक दिया प्रणनाथ ? आप अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नही थे। आपने काम के वश होकर सतीसाध्वी सीता का अपहरण किया। आप सीता को हर कर नही लाये, अपितु अपनी मृत्यु को ही स्वेच्छा से ले आये। स्वामिन्! मैने आपको सब प्रकार से सम-

झाया। सीता से भी सुन्दरी स्त्रियाँ आप मे अनुराग रखती थी, किन्तु भाग्यने मेरा सुहाग लूट लिया। प्रारब्ध ने आपकी मति विपरीत करदी। भवितव्यता ने आपके मन मे ऐसी धर्महीन इच्छा उत्पन्न कर दी। आपने सती सीता को उसके पति से कुछ काल के लिए पृथक् कर दिया था। उसके परिणाम-स्वरूप मै आपसे सदाके लिये पृथक् हो रही हूँ। सती की आह ने आज मुझे विधवा बना दिया। हे हृदयेश! आप बिना मै तथा ये अन्य सभी रानियाँ ही विधवा नही हुई अपितु यह लङ्का भी विधवा हो गई। आपने अपने धर्मात्मा भाई विभीषण की बात नही मानी। मेरे वृद्ध पिता ने आपको कितना समझाया। पर पकड कर, रोकर, दीन होकर, मैने आपसे कितनी-कितनी विनती की। किन्तु आपका तो काल समीप आ गया था। आपने काम के वश होकर किसी की बात न मानी। हाय! मै लुट गई। अब ये ये राक्षस किसके बल पर देवताओ से लड सकेंगे। किसके अधीन होकर स्वर्गीय सुखो का अनुभव करेंगे। हे प्राणधन! आप मुझसे बोलते क्यो नही। मैं कितनी देर से आप से बातें कर रही हूँ, क्या आप मुझसे अप्रसन्न हो गये है। इतनी कठोरता तो आपने पहिले कभी नही की। आप तो मेरा सबसे अधिक आदर करते थे आज आप धरती के ऊपर बिना बिस्तर के शयन कर रहे है। वह आपको पद-प्रतिष्ठा के अनुकूल नही। आपकी विशाल बाहुओ मे सुगन्धित अंगराग लगाया जाता था, रक्त चंदन मे ये चर्चित होती थी, आज वे रक्त से सनी भूमि पर पडी है! मै कबसे रुदन कर रही हूँ। आप मेरे सिर पर हाथ रखें। सीता जब लङ्का मे आई तभी मैंने अपने कुल का विनाश समझ लिया था। सीता के कारण ही आज मै रानी से भिखारिनी बन गई। मैं कभी स्वप्न मे भी नही सोच सकती थी कि आपको कोई युद्ध में जीत

सकता है। आपको भी इस बात का विश्वास नही था, कि तीनो लोक मे मेरा कोई सामना कर सकेगा। तीनो लोको को जीतकर आप अपने को विश्वविजयी माने बैठे थे। जो बात असम्भव समझ जाती थी वह आज सभव हो गयी। जिसका स्वप्न मे भी भान नही था वह प्रत्यक्ष सम्मुख आ गई। हे नाथ! आप हमे किसके ऊपर छोड रहे है। आप हमारे किस अपराध पर उदासीन बन गये है। मैं तो सदा आपके अनुकूल आचरण करती थी मैंने जीवन मे एक ही बार आपका विरोध किया था, वह सीता-हरण के अवसर पर किया था। इसलिय विरोध नही किया था, कि सीता मेरी सौत बन जायगी। सौत तो मेरा सहस्रो हैं। द्वेष से नही, ईर्ष्या से नही मैंने तो आपको हितबुद्धि से विरोध किया था। मै जानती थी सीता सती है। सती चाहे तो अपनी दृष्टि से तीना लोका का भस्म कर सकती है। देवी सीता न अपनी दृष्टि से हमारे कुलका नाश नही किया। यह उसकी महत्ता ही ह। उस देवी ने इतने कष्टो को भी धर्य के साथ सहन किया। किन्तु पाप का फल तो मिलता ही है। देर मे सवेर मे, पाप तो जड मूल से नाश कर ही देता है। हे राक्षसेन्द्र, मैं अब कहाँ जाऊँ। क्या करू? कौन मुझे धीर बंधावेगा।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार रावण की प्रधान पत्नी मन्दोदरी भाँति-भाँति से विलाप करने लगी। ढाह बाँधकर रोने लगी। मन्दोदरी का इस प्रकार रोत देखकर, लोकाभिराम श्रीराम के भी नेत्रो मे आँसू आ गये। कारुणिक श्री राघवेन्द्र न विभीषण से कहा— विभीषण! तुम अपनी भाभा मन्दोदरी का धैर्य बंधाओ। विधि के विधान को कोई अन्यथा नहीं कर स— जिसके भाग्य मे जिसके द्वारा जिस प्रकार जब मृत्यु बदी ह।

उसकी उसके द्वारा उसी प्रकार उसी समय अवश्य हो जाती है। उसे कोई टाल नही सकता।"

भगवान् की यह बात सुनकर विभीषण ने कहा—"प्रभो! मेरी भाभी मन्दोदरी बडी साध्वी है, यह धर्म के मर्म को भली भाँति जानती है। यह अयोनिजा है, आप के मत्री अंगद इनके ही कानीन पुत्र हैं।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो सुना है, मन्दोदरी दिति के पुत्र मय की पुत्री थी। हेमा नामक अप्सरा के गर्भ से यह उत्पन्न हुई थी। रावण जब मृगया के निमित्त वन मे गया था तब मय ने इसका विवाह रावण के साथ कर दिया था। अब आप कहते हैं यह अयोनिजा है। यह सुनकर हमे बडा ही आश्चर्य हुआ है कि अगद मन्दोदरी का पुत्र है। कृपया हमारे इस सदेह को दूर करें।"

शौनकजी के इस प्रकार पूछने पर सूतजी बोले—"महाराज! आपने जो सुना है वह भी सत्य है। किन्तु कल्पभेद से उत्पत्ति मे भी भेद हो जाता है। इस सम्बन्ध मे एक पौराणिक कथा है उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

प्राचीनकाल मे एक बडे भारी तपस्वी मुनि थे। मुनि एकान्त मे रहकर घोर तप कर करते थे। आठ पहर मे एक बार दुग्ध पान करते थे। कोई सेवक दूध लाकर एक बरोसी मे अग्नि जलाकर उस पर दूध रख जाता। शनैः शनैः दूध गरम होता रहता। तीसरे पहर मुनि उठकर नेत्र मूंदे मूंदे ही दुग्ध का पान कर लेते पुनः ध्यान मे मग्न हो जाते। एक दिन दूध गरम हो रहा था। उसमे उबाल आ रहा था। उसी समय एक सर्प का बच्चा नीचे उतर रहा था। वह अकस्मात् उस दूध मे गिर पडा और मर गया। एक मूसिका इसको देख रही थी। मूसिका ने

सोचा—"मुनि यदि इस दूध को पी लेंगे तो उनके प्राणो का अन्त हो जायगा। सर्प तो दूध के नीचे बैठ जायगा। मुनि को ध्यान भी न रहेगा। यदि मै इसमे गिर जाऊँ, तो ऊपर तैरती रहूँगी। मेरे मरने से मुनि बच जायं तो मेरी देह किसी काम मे आ जाय। इस अधम शरीर का कुछ उपयोग हो जाय।" यह सोचकर मूसिका दूध मे गिर पडी। नियत समय पर मुनि उठकर ज्योही दूध पीने लगे त्योही उन्हे ऊपर तैरती हुई मूसिका दिखाई दी। मुनि रुक गये। वे सोचने लगे—' मूसिका इस दूध मे कैसे गिरी। ध्यान से जब मुनिने सब बातें जान ली, तब उन्हे दया आई। तुरन्त उन्होने अपनी योगशक्ति से उस मूसिका को जीवित कर दिया। और साथ ही उसे एक बडी सुन्दरी बालिका बना दिया। वह कन्या मुनि के आश्रम पर रहकर मुनि की सेवा करने लगी। प्रातः उठकर स्नान के लिये जल ले आती आश्रम को झाड बुहार कर स्वच्छ रखती, पूजास्थान को लीप देती। दूध गरम कर देती। उनके वस्त्रो को धो लाती। मुनि उसकी सेवा से बडे सन्तुष्ट रहते। कुछ काल मे वह युवती हो गई। मुनिको उसके विवाह की चिन्ता हुई। उसका उदर बडा मद, पतला था, इसलिये मुनि उसे मदोदरी कहा करते थे।

एक दिन मुनिको आहार के व्यतिक्रम से रात्रि मे स्वप्नदोष हो गया। प्रात उठकर उन्होने स्नान किया, गायत्री का जप किया, और ध्यान मे मग्न हो गये। उस कन्याने आश्रम को स्वच्छ किया और मुनि की लगोटी को लेकर नदी-तट पर गई। मुनि का वीर्य अमोघ था। जल से धोने पर भी जब वह न छूटा तो कन्या ने अनजान मे उसे स्वच्छ करने के निमित्त दाँतों से उसे छुडाया। इससे वह उसके पेट मे चला गया और वह गर्भवती हो गई। अपनी ऐसी दशा देखकर वह बहुत भयभीत हुई। उसने

डरते-डरते मुनिके सामने सब निवेदन किया। मुनि ने ध्यान से सब बातें जान ली और बोले—"कोई बात नही, इससे तेरा कन्यापन नष्ट न होगा।"

समय आने पर उस कन्या ने एक पुत्र रत्न उत्पन्न किया। उस पुत्र के साथ आश्रम पर रहने लगी। उन महात्मा के आश्रम पर राक्षसराज रावण आया करता था। एक दिन रावण ने उस कन्या को एकान्त में बैठे देखा। उसके अनवद्य सौन्दर्य को देखकर राक्षसराज उस पर आसक्त हो गया। उसने जाकर मुनि को प्रणाम किया और पूछा—"भगवन्, आपके आश्रम पर यह कन्या कहाँ से आ गई। यह तो स्त्री-रत्न है, महलों मे रहने योग्य है। इस निजनवन के योग्य यह नारी-रत्न नही है।"

मुनि रावण के भावको समझ गये। उन्होंने सोचा "हमे तो किसी न किसी को इसे देना ही है। अच्छा ही है त्रैलोक्य-विजयी सम्राट हैं।" यह सोचकर वे बोले—"राजन्! यदि आप चाहे तो इस कन्या-रत्न को ग्रहण कर करते हैं, किन्तु आप इसे अपनी प्रधान पत्नी बनावें।'

रावण ने प्रसन्नता-पूर्वक इस प्रस्ताव को स्वीकार किया और वह मन्दोदरी को ले गया। अब वह लडका ही रह गया। एक दिन वालि मुनि के आश्रम पर आया। उसने कहा—"भगवन्! मेरे कोई पुत्र नही है, आप ऐसा आशीर्वाद द, कि मेरे एक पुत्र हो जाय।"

हँसते हुए मुनिने कहा—"राजन्! आशीर्वाद क्या दें, हम आपको साक्षात् पुत्र ही दिये देते हैं।" यह कह कर उन्होंने मन्दोदरी के कानीन पुत्र को वानरराज वालि को दे दिया। वालि उसे प्रसन्नता-पूर्वक ले गया। ताराने उसे सगे पुत्र की भाँति पाला पाया।" इस प्रकार यह कल्प-भेद की कथा है। मन्दोदरी बड़ी

ही सुन्दरी और बुद्धिमती थी। रावण जब से सीता को चुरा लाया था तभी से मन्दोदरीने इसका विरोध किया था। किन्तु रावण उसकी सब बातों को हँसकर टाल देता था।

इस प्रकार यह मदोदरी अयोनिजा हुई। यह बडी पतिव्रता थी।

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—'सूतजी! फिर क्या हुआ?

सूतजी बोले—"जब मन्दोदरी, की कथा श्रीरामजीने सुनी, तो उन्होंने उसके प्रति आदर किया और विभीषण से बोले—'विभीषण! जो हो गया हो गया। अब तुम इस मन्दोदरी महारानी को धैर्य धराओ और रावण का शास्त्रीय विधि से प्रेत-संस्कार कराओ।"

विभीषण ने कहा—"प्रभो! यह मेरा भाई बडा दुष्ट था इसने सदा आपका विरोध किया। सज्जनों को दुःख दिया। सीता माता को बडी बडी यातनायें दीं। इसीलिये मैं ऐसे अधम बन्धु का प्रेत कर्म न करूँगा।"

यह सुनकर अत्यन्त ही मधुर वाणी मे भगवान् बोले—'देखो, भैया! तुम्हारा कहना ठीक है शरीर के अन्त होने के साथ वैर का भी अन्त हो जाता है। विरोध तभी तक रहता है जब तक देह रहता है। देह का जहाँ अन्त हुआ, तहाँ तभी बातें भुला दी जाती है। इसीलिये अब पुरानी बातों को भूल जाओ। रावण के कुल मे तुमही अब ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो नियमानुसार तुमही इसकी अन्त्येष्टि क्रिया करने के अधिकारी हो। इसके समस्त संस्कार बडी धूम धामसे सम्राट् के अनुरूप ही करने चाहिये।

सूतजी कहते है—"मुनियो! भगवान् की आज्ञा पाकर विभीषण जी ने रोती हुई मन्दोदरी को भाँति-भाँति से समझाया

और फिर मृतक की अन्त्येष्टि क्रिया करने का प्रबन्ध करने लगे।"

छप्पय

परे धरनिपै प्रभो ! न दासिनि तैं बोले अब।
लागे जिनकूँ जीति प्रिया रोवैं ठाढी सब॥
रावन के सब कर्म विभीषण ने सोचे अब।
घृणा हृदय महँ भई मृतक नहिं कर्म करे जब॥
रघुनन्दन अति प्रेम तैं, प्रेत कर्म आयसु दई।
समुझाई मन्दोदरी, पृथक् देह पतितैं भई॥

रावण की अन्त्येष्टि क्रिया

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोशलेन्द्रानुमोदितः ।
पितृमेधविधानेन यदुक्तं साम्परायिकम् ॥*
(श्रीभा० ९ स्क० १० अ० २८ श्लो०)

छप्पय

राम-रजायसु पाइ विभीषण अनुमति दीन्ही ।
सामग्री सब पितृकर्म एकत्रित कीन्ही ॥
चन्दन चिता बनाइ ताहि पै धरयो बन्धुतन ।
निरखत मृतक शरीर सबनि को दुखित भयो मन ॥
धू धू करि के चिता जब, जरी निशाचर नाथ की ।
एक सग फूटी तबहिँ, चूड़ी रानिनि हाथ की ॥

जिस देह के अभिमान से पुरुष अत्यन्त अभिमानी बन जाता है । मैं सुन्दर हूँ, स्वरूपवान् हूँ, धनी हूँ, विद्वान् हूँ, गुणी हूँ, ईश्वर हूँ, सिद्ध भाग्यवान् हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है, अमुक ने मेरा अपमान क्यो किया ? क्या वह मेरे प्रभाव को जानता नही । मैने अमुक शत्रु को मार डाला, अमुक को उसके कुकृत्य का फल चखा दिया । इस प्रकार के देह ही कारण मिथ्याभिनिवेश

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इसके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी के कहने से विभीषण जी ने अपने कुटुम्बियो की पितृमेधविधान द्वा॰ शास्त्रीय विधि से अन्त्येष्टि क्रिया की ।"

हो जाते हैं। उस देह का अंतिम परिणाम क्या है। यदि बन्धु बन्धवो ने उसे अग्नि मे जला दिया तो दो मुट्ठी राख हो जाती है, यदि भूमि मे गाड दिया तो सडकर कीडे पड जाते है यदि जल मे या वन मे फेक दिया तो मासभोजी जीव खाकर विष्ठा बना देते है। ऐसे अनित्य शरीर के पीछे मनुष्य कैसे कैसे घोर पाप करता है, कितने प्राणियो को क्लेश देता है, कितने प्राणियो से वैरभाव कर लेता है। यदि इस शरीर के परिणाम की ओर जीव का ध्यान बना रहे, तो फिर वह ऐसे जघन्य पाप न करे।

सूतजी कहते है—"मुनियो! श्रीरामचन्द्रजी ने विभीषण जी को रावण की अन्त्येष्टि क्रिया करने की आज्ञा दी, तब भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके उन्होने सामग्री एकत्रित करनी आरम्भ कर दी। रावण अग्निहोत्री था, अग्निहोत्री का दाह-सस्कार उसकी अग्निहोत्र की अग्नि से ही किया जाता है। अत विभीषण ने प्रथम जाकर रावण के अग्निहोत्र को समाप्त करा दिया। अग्निहोत्र के पात्रो और अग्नियो को लेकर ब्राह्मण निशाचर आगे चले। सबसे पहिले उसके मृतक शरीर को विधिवत् गंगाजल से स्नान कराया गया। सुगन्धित चन्दन उसके शरीर पर लपेटा गया बहुमूल्य रेशमी वस्त्र उसे पहिनाये गये सुगन्धित पुष्पो की माला पहिना कर सुवर्ण की पालकी पर उसका मृतक शरीर रखा गया। बहुमूल्य दुशाले से ढंक दिया गया। जितने अग्निहोत्री राक्षस थे उन्होने स्वय कधा लगा कर उस पालकी को उठाया आगे आगे बाजे बजते जाते थे। अग्निहोत्र की तीनो अग्नियां तथा अग्निहोत्र के समस्त पात्रो को लेकर ब्राह्मण आगे चल रहे थे। उसके पीछे रोते हुये वृद्ध बालक राक्षस पालकी के पीछे चल रहे थे। सबसे पीछे रोती हुई राक्षसियां चल रही

थी। वे सब की सब सुकुमार थी। रावण के सामने वे कभी महल के बाहर भी नही निकलती थी। स्वेच्छा से उन्हे सूर्य भी नही देख सकते थे। पैदल चलने का उन्हे कभी काम ही नही पडा था। वे लडखडाती हुई कष्ट से चल रही थी। नितम्बो के भार से उनकी एडियाँ बालू मे घुस जाती जिन्हे वे कष्ट से निकालती हुई मथर गति से चल रही थी। निरन्तर रोने के कारण उनकी आँखे सूज गई थी, वे विलाप करती हुई रावण की अरथी के पीछे दु खपूर्वक चल रही थी। उनके बाल खुले हुये थे, सभी उन्हे देख सकते थे। आज वे सब बिना परदा के जा रही थी।

लंका से दक्षिण की ओर समुद्र के तट पर पवित्र स्थान मे रावण का शव रखा गया। चन्दन काष्ठ, और खस की सुन्दर चिता बनाई गई। दुखित विभीषण ने बडे कष्ट से रावण के मृतक शरीर को चिता पर रखा। उसके अग्निहोत्र के पात्र भी उसके साथ ही चिता मे रखे गये। उसकी चिता-वेदी दक्षिण और पूर्व की ओर बनाई गई थी। स्रुवा नाम के यज्ञपात्र को दधि और घृत से भर कर उसके कधे पर रखा। शकट नामक यज्ञपात्र पैरो पर रखा गया। जघाओ पर ओखल तथा अन्य काष्ठपात्र रखे। अग्नि उत्पन्न करने की उत्तरारणि और अधरारणि भी उस के ऊपरी अगो के समीप रखी। इस पर सब पात्रो को चिता मे रखकर पिड और बलि देकर विधि पूर्वक उसे वस्त्राभूषणो से अलकृत किया। अनेक प्रकार के वस्त्र और आभूषणो से सुसज्जित रावण जीवित के समान प्रतीत होता था। रोते-रोते विभीषण ने शास्त्रीय विधि से चिता मे अग्नि दी। धूधूकरके चिता जलने लगी। दशो दिशाओ मे चदन और खस की सुगन्धि भर गई। जिस देह के अभिमान से रावण तीना लोको के प्राणियो

को तुच्छ समझना था, उसे अग्नि ने जला कर दो मुठ्ठी भस्म कर दी। जिस देह को सुखी बनाने के लिये भाँति-भाँति के पाप किये थे आज वह पाँचा भूता मे विलीन हो गई।

देह के जल जाने पर विभीषण आदि सभी राक्षसो ने समुद्र मे स्नान किया। उन सबो ने तिल-कुश युक्त जल रावण आदि समस्त बन्धुओ के निमित्त भीगे वस्त्रो से दिया। रावण के सस्कार के अनन्तर विभीषणजी ने सभी के पद प्रतिष्ठा के अनुरूप सस्कार कराये। सब का तिल मिश्रित जल से तर्पण किया। स्त्रियाँ ढाह मार कर रुदन करने लगी उनके करुणा क्रन्दन से दशो दिशायें भर गईं। तब विभीषण जी ने सब स्त्रियो से कहा—"अब तुम सब महलो मे चली जाओ।"

विभीषण की आज्ञा पाकर सभी राक्षसियाँ विलाप करती हुई अपने अपने महलो को चली गई। स्त्रियो के चले जाने पर विभीषण जी श्रीरामचन्द्रजी के समीप गये और हाथ जोडकर बोले—"प्रभो! आपकी आज्ञा से मैंने अपने बडे भाई की अन्त्येष्टि क्रिया कर दी। और भी यथायोग्य सबके सस्कार करा दिये। अब मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

सूत जी कहते है—"मुनियो! विभीषण के ऐसे विनीत वचन सुनकर श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए। आज वे अपने बली पराक्रमी तथा सबसमर्थ शत्रु को मार निश्चिन्त से हुए। वे ऐसी चेष्टा करने लगे मानो मेरा मनोरथ सफल हुआ। अब तक उनकी मुद्रा क्रोधयुक्त थी, अब उन्होंने क्रोध का परित्याग कर दिया। वे बडे स्नेह से विभीषण जी से बोले—"राक्षसराज! मै नही चाहता था कि रावण का वध करूँ। मैंने युद्ध को रोकने की बहुत चेष्टा की अङ्गद को भेजा। सन्धि का प्रस्ताव किया, किन्तु उसने

मेरे प्रस्ताव को ठुकरा दिया, किसी भी प्रकार वह सीता को लौटाने के लिये उद्यत नही हुआ। तब मैने विवश होकर उसका वध किया।"

यह सुनकर विभीषण ने कहा—"प्रभो! मेरा भाई बडा दुष्ट था। वह अत्यन्त ही हठी था। जिस बात को वह निश्चय कर लेता उसे वह करके ही छोडता था। किसी की भी सम्मति वह नही मानता था। मैंने तथा मन्त्रियो ने उसे बहुत समझाया। मन्दोदरी ने भी विनयपूर्वक प्रार्थना की। किन्तु उसकी तो मृत्यु निकट आ गई थी। किसी भी प्रकार उसने सीताजी को लौटाना स्वीकार नही किया। इसलिये उसे ये दिन देखने पडे। फिर भी प्रभो! मेरा भाई बडा भाग्यशाली था। जो गति ज्ञानी ध्यानी तथा योगियो को भी प्राप्त नही वह उसने प्राप्त की। मरते समय आपका नाम जिनकी जिह्वा पर आ जाता है वह मुक्त हो जाता है, सो इसने तो आपके लोकाभिराम सुन्दर स्वरूप को देखते-देखते तनु त्याग किया। आपसे किसी प्रकार भी सम्बन्ध हो जाय उसी का बेडा पार है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार विभीषण जी ने अनेक भाँति से भगवान् की स्तुति की। प्रसन्न होकर भगवान् ने लक्ष्मणजी को आज्ञा दी कि विभीषण का राज्याभिषेक किया जाय इतना सुनते ही सब लोग बडे प्रसन्न हुए और विभीषण जी के राज्याभिषेक की तैयारियाँ होने लगी। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी ने रावण का उद्धार किया। देवताओ का दुःख दूर किया, पृथ्वी का भार उतारा। रावण के मरने पर युद्ध देखने के लिये जो देवता सिद्ध गन्धर्व आये थे वे अपने-अपने विमानो पर चढकर अपने-अपने लोको को चले गये।

छप्पय

डकरावें सब नारि दृश्य अति ई दुखदायक।
दाह करम करि दई तिलाञ्जलि निशिचर-नायक॥
धूम-धाम के सहित विभीषण किया कराई।
भस्म देह की भई परम गति रावन पाई॥
सब सौतिनि कूँ संग ले, मंदोदरि महलनि गई।
सब बानर प्रमुदित भये, विजय रामदल की भई॥

श्री सीताराम का सुखद सम्मिलन

ततो ददर्श भगवानशोकवनिकाश्रमे
क्षामां स्वविरहव्याधिं शिंशपामूलमास्थिताम् ।

रामः प्रियतमां भार्यां दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत ।
आत्मसंदर्शनाह्लादविकसन्मुखपङ्कजाम् ॥*
(श्री भा० ९ स्क०, १० अ०, ३०-३१ श्लोक)

छप्पय

आइ विभीषण रामचरनमहँ शीश नवायो ।
पूँछे राघव सीय कहाँ तब पतो बतायो ॥
जानि नगर तैं दूर गये रघुनायक नेही ।
विरह व्यथातैं व्यथित लखी बैठी वैदेही ॥
मलिन बसन कच जटा बनि, बिथुरे इतउत म्लानमुख ।
पति दरशन तैं भयो अति, सीय हृदयमहँ परम सुख ॥

विरह प्रेम को निर्मल बना देता है। जैसे एक स्थान मे रखे बर्तन मे काई लग जाती है, जब उसे खटाई से रगड देते हैं तो चमकने लगता है। मीठी वस्तुओ को खाते-खाते जब मुँह भर जाता है तो तनिक सी चटपटी चटनी चाट लेने से स्वाद बदल जाता है कडवी मिरच खा लेने से मिठाई और भी स्वादिष्ट लगने लगती है। वियोग मे जिसे जितना ही दुख होगा, सम्मिलन मे उसे उतना ही सुख होगा। विरह मे जितनी ही अधिक उत्कठा होगी, संयोग मे उसे उतना ही सुखानुभव होगा। जिस प्रेम मे विरह नही वह अधूरा है, अपूर्ण विरह प्रेम के स्वारस्य अभिवृद्धि का कारण है।

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तदनन्तर श्री रामचन्द्र ने अपने ही विरह की व्याधि व्यथिता अत्यन्त दुर्बला श्री सीताजी को अशोकवन के एक आश्रम मे शिंशपातर के तले बैठे हुए देखा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अशोकवाटिका में बैठी वैदेही अपने प्राणनाथ की बडी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रही थी। यदि पतिमिलन की आशा न होती, तो उनका जीवन पल भर भी न रहता। उनके प्राण-पखेरू कबके उड जाते। वे एक मात्र इसी आशा से जीवित रही, कि कभी न कभी मेरे हृदयधन समुद्र को पार करके आवेंगे और मुझे राक्षसो के बन्धन से छुडावेंगे। जब उन्होने सुना कि समुद्र का सेतु बांधकर शरणागतवत्सल श्रीराम लका मे आ गये तब से उनकी उत्कठा अत्यधिक बढ गई थी। उन्हे पल-पल भारी हो रहा था। वे सोचती थी—"हाय ! मैं कैसी हतभागिनी हूँ, कि प्राणनाथ के समीप रहने पर भी मैं उनके दर्शन नही कर सकती। उन्हे न दिनमे कल थी न रात्रि मे। वे रात्रिदिन जाग कर रोते-रोते श्रीराम की ही प्रतीक्षा करती रहती थी। युद्ध के समय चित्त मे अनेक प्रकार के विचार उठते थे। राक्षस भांति-भांति की माया रचकर मयापति को भुलाना चाहते थे जगज्जननी को भी वे भुलावा देने का षडयन्त्र रचते थे। जगदम्बा भी मानवीय लीला का अनुसरण करती। कभी रोती कभी दुखित होती। अब जब उन्होने सुना कि मेरे अपमान करने वाले रावण को मेरे प्राणनाथ ने पछाड़ दिया, रावण के सिर को धड से पृथक कर दिया, तब उनके हर्ष का ठिकाना नही रहा। रावण के मरने पर उन्हें हर्ष नही हुआ, उनको तो इसी बात का हर्ष था, कि मैं अपने हृदय-धन राजीवलोचन रघुनन्दन का दर्शन कर सकूँगी। चिरकाल की प्यासी अपनी आँखो को उनकी छविरूपी सुधा से तृप्त कर सकूँगी वे टकटकी लगाये द्वार की ही ओर देख रही थी कि प्राणनाथ किसी को मुझे बुलाने के लिये भेजेंगे। तनिक भी पत्तो की खडखडाहट होती उनकी उत्सुकता बढ जाती।

सोचती कोई आ रहा है। जब कोई दिखाई न देता, तो उन्हें बडी निराशा होती। इसी प्रकार वे बडी देर तक प्रतीक्षा रूपी अगाध सागर मे डूबती रही। प्रेम मे सदा सदेह बना रहता है। प्रतीक्षा के पल बहुत बड़े बन जाते है। जब बहुत देर तक कोई नही आया, तो वे सोचने लगी—"प्राणनाथ ने मुझे अभी तक बुलाया क्यो नही। कही उन्हे मेरे चरित्र पर सदेह तो नही हो गया ? उन्होने यह नही सोच लिया कि नौ महीने जो राक्षस के घर मे रह चुकी है, जिसे रावण पकडकर ले गया है, उसे मैं कैसे अपना सकता हूँ। फिर सोचने लगी—"नही यह बात नही, वे तो अन्तर्यामी है। घट-घट की बात जानते है। उनसे मेरे भाव अविदित नही हैं। मेरे मनमन्दिर मे तो उन्ही की मनमोहनी मूरत सदा समाई रहती है। मैं भूल से भी किसी भी दशा मे, परपुरुष का चिंतन नही कर सकती। फिर अभी तक उन्होने मुझे बुलाया क्यो नही। सभव है किसी काम मे फँस गये हो। अभी-अभी तो रावण का वध हुआ है। सभी प्रबन्ध तो उन्ही को करना है। तो भी मैं तो उनकी अनन्य उपासिका हूँ। मेरी तो उन्हे सुधि लेनी ही चाहिये। उन्हे स्मरण न भी रहे तो लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव तथा विभीषण इत्यादि सभी मुझे भूल गये। विभीषण यहाँ होते तो मैं उनको सवाद भेज देती किन्तु वे तो युद्धस्थल पर है। इस प्रकार सीताजी अनेक प्रकार की बातें सोचती हुई राम दर्शन के लिये उत्सुक हुई घडियो को गिनने लगी।

इधर रावण की अन्त्येष्टि क्रिया होने के अनतर श्रीराम चन्द्रजी ने अपने सुहृद सखा सेवक तथा अनन्योपासक विभीषण जी से पूछा—"विभीषण मेरी प्राणप्रिया वैदेही कहाँ है ?—

हाथ जोड़े हुए विभीषण ने कहा—"प्रभो ! जनकनन्दनी

जगज्जननी भगवती सीता लङ्का मे ही हैं। आप पधारें। अपनी चरणधूलि से मेरे गृह को कृतार्थ करें।"

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"विभीषण! मेरी वस्तु तुम्हारी है। तुम्हारी वस्तु मेरी है। तुममे और हममे कोई भेद भाव नही। मैं तुम्हारे घर अवश्य चलता, किन्तु वनवास के पूर्व मैंने प्रतिज्ञा की थी मैं नगर मे न जाऊँगा। अतः मैं तुम्हारे घर नही जा सकता। यदि सीता नगर मे है तो मैं उसके भी समीप नही जा सकूँगा।"

यह सुनकर विभीषण ने कहा—"नही, प्रभो! सीता मात तो अशोकवन मे रखी गई हैं वह तो नगर से बहुत दूर सुन्दर उपवन है। यदि आप नगर मे न जाना चाहे तो अशोकवाटिका मे तो चल ही सकते है।"

भगवान् ने कहा—"विभीषण! मेरा मनमधुप सीता के मुख-कमल के दर्शनो के लिये अत्यन्त उत्कंठित हो रहा है, किन्तु नियम क कारण मे बँधा हुआ हूँ। यदि नगर के बाहर-बाहर अशोक उपवन के लिए कोई मार्ग हो, तो मैं अपनी प्राण प्रिया के पास चल सकता हूँ।'

विभीषण ने कहा—"दीनबन्धो! नगर के बाहर ही बाहर अशोक उपवन के लिए सुन्दर सुविस्तृत राजपथ है। चतुरगिनी सेना आगे-आगे चले। सीता जी के मैले कुचैले वस्त्र उतारे जायं। उनको सुकुमारी सुन्दरी राक्षसियाँ उबटन लगा कर स्नान करावें। सोलहो शृङ्गार करके सीता जी आपके सम्मुख आवें।"

श्रीराम चन्द्र जी ने कहा—"विभीषण! चतुरगिनी सेना की क्या आवश्यकता है। सीता को मैं उसी दशा मे देखना चाहता हूँ। उसके स्नान शृ गार की अभी आवश्यकता नही। मेरी प्रिया

ने मेरे वियोग मे इतने दिन किस प्रकार, किस वेष से काटे है इसे मैं स्वय जाकर देखना चाहता हूँ। हनुमान, अंगद, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण मेरे साथ चलें।'

भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर विभीषण परम प्रसन्न हुए। जिन जिनका नाम निर्देश कर दिया गया था, उन्हे साथ लेकर श्रीरामचन्द्रजी चले। आगे-आगे विभीषण मार्ग दिखाते जाते थे राजपथ के दोनो ओर लका के राक्षस हाथ जोडे खडे थे, अत्यन्त उत्कंठा के साथ प्रेम भरित हृदय से श्रीराम पैदल ही अपनी प्राण प्रिया से मिलने चले। कुछ दूर चल कर विभीषणजी ने एक अत्यन्त ही सुन्दर वाटिका मे प्रवेश किया। उस वाटिका की शोभा को देख कर अखिल ब्रह्माण्ड-नायक श्रीरामचन्द्रजी परम विस्मित हुए। रावण के ऐसे अपार ऐश्वर्य को निहार कर वे चकित दृष्टि से इधर-उधर निहारने लगे। उसी समय हाथ जोडकर विभीषण ने कहा—"प्रभो! सम्मुख जो अशोक के अनेकवृक्ष हैं उनके समीप ही एक शिशपा का वृक्ष है। उसी के नीचे जगदम्बिका अधिक बैठती हैं। देखिये वे सम्मुख बैठी दिखाई देती हैं।"

इतना सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी आगे बढे। शेष सब लोग ठिठक गये। भगवान् ने दूर से ही देखा—एक मैले रग की साडी ओढे शिशपा वृक्ष के नीचे एक पाषाणप्रतिमा के सदृश देवी भूमि पर बिना आसन के बैठी है। मानो माता की गोद मे आसन की अनावश्यकता दिखा रही हो। उनके कारे-कारे घुंघराले बाल बिना धोये चिकट कर जटा बन गये है। अधिक उपवास करने से उनका तन कृश हो गया है। नेत्र बन्द करके अपने इष्ट का ध्यान कर रही हैं। सीता जी की ऐसी दशा देख कर परम कारुणिक श्रीराम का हृदय भर आया। प्रेम के अश्रुओं

से उनका मुख भीग रहा था। अस्खलित वाणी में उन्होंने कहा—"सीते ! मैं आ गया।"

अत्यंत मधुर चिरपरिचित हृदय में गुदगुदी पैदा करने वाले न शब्दों को सुनते ही विस्मय के साथ सीताजी ने अपने नयनों को खोला। मानों सूर्य के उदय होने पर दो कमल खिल गये हों। सामने ही अपने हृदयधन को देखकर संभ्रम और विस्मय के साथ सीता जी उठ खड़ी हुईं। वे निर्णय ही न कर सकी कि यह स्वप्न है या यथार्थ। कई बार उन्होंने अपने नेत्रों को मीडा। अब तो उन्हे कोई संदेह ही न रहा। वे कटी लता के समान श्रीभगवान् के चरणों पर गिर पडी। भगवान् ने उन्हे उठाकर उनके सिर को अपने गोद में रख लिया। सीताजी की ऐसी दशा देखकर भगवान् का हृदय भर रहा था, उनके नेत्रो से अविरल अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। श्री सीताजी ने अश्रुओं से अपने प्राणनाथ को पाद्य अर्घ्य दिये। भगवान् के वस्त्र भीग गये। वे बार-बार स्तुत करने का प्रयत्न करती किन्तु कंठ के अवरुद्ध हो जाने से वे एक शब्द भी न बोल सकी। बड़ी देर तक दोनों मौन रहे। भीतर का प्रेम पिघल कर नेत्रो द्वारा निकल रहा था। जब हृदय हलका हो गया, तब भगवान् ने कहा—"सीते ! मेरे पीछे तुम्हे बडे कष्ट उठाने पड़े।"

अत्यंत ही कष्ट के साथ सीताजी ने कहा—'प्राणनाथ ! आज मेरे सब कष्टो का अन्त हो गया। आपने अपनी इस दासी को भुलाया नही। इससे बढकर मेरे सुख की और कौन सी बात हो सकती है।"

इतने मे ही विभीषण की स्त्री अपनी लड़की को लिये हुए आती हुई दिखाई दी। उसे देखते ही सीता पति के अक से उठ पड़ी। श्रीरामचन्द्र भी संकोच के साथ हट गये। विभीषण-

पत्नी ने आकर जगज्जननी के पैर छुए और कहा—"देवि ! बड़े भाग्य की बात है कि आज आप अपने प्राणनाथ से पुनः मिल सकी। मैं चाहिती हूँ कि आज आपको अपने हाथों से मंगल-स्नान कराऊँ।"

सीताजी ने कहा—"बहिन ! पति के दर्शनों से ही मेरे सब स्नान हो चुके। पहिले मैं अपने देवर के डेरे पर चल कर उनसे क्षमा याचना करूँगी। तब स्नान करूँगी। मैंने अपने देवर के प्रति बड़ा अपराध किया है। उन पर क्रोध में भर कर लांछन लगाया था। न कहने योग्य बातें कही थी उसके परिणाम स्वरूप मुझे ये क्लेश उठाने पड़े।" इतने में ही विभीषण आगये। विभीषण ने सीता जी के चरणों मे प्रणाम किया और कहा—"देवि ! आप मेरे घर को अपनी चरण धूलि से पावन बनावें।"

इतना सुनते ही जानकीजी रो पड़ी और रोते-रोते बोली—"राक्षसराज ! मैं तुम्हारे उपकारों को जन्म-जन्मों तक न भूलूँगी। तुम्हारी ही कृपा से आज मैं अपने प्राणनाथ से मिल सकी हूँ। किन्तु विभीषण जी, मैं स्वेच्छा से अपने पति के बिना कहीं नही जा सकती। अब तक तो मैं पराधीन होकर उनसे पृथक् रही हूँ।"

उसी समय लक्ष्मण जी ने आकर सीता जी के चरणों में प्रणाम किया। लक्ष्मण जी को देख कर सीता माता रो पड़ी। वे मुर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। दौड़कर श्रीराम ने उन्हें उठाया। लक्ष्मण जी ने भी पैर पकड़े। रोते-रोते सीता जी ने कहा—"सुमित्रानन्दवर्धन, लक्ष्मी-सम्पन्न लक्ष्मण ! मेरा अपराध तो ऐसा है, कि वह किसी प्रकार भुलाया नही जा सकता, किन्तु तुम उदार हो, अपनी उदारता से क्या तुम मुझे क्षमा कर दोगे।"

यह सुन कर लक्ष्मण जी ने रोते-रोते कहा—"माँ ! आप कैसी बातें कह रही है। माता कभी पुत्र से क्षमा याचना भी करती है क्या ? माता को सब कुछ कहने का, मारने का, दड देने का अधिकार है। माता की सभी चेष्टाये पुत्र के कल्याण के ही निमित्त होती हैं।"

उसी समय हनुमान् जी ने आकर माता जी की चरण वन्दना की। हनुमान् जी को देखकर माता का हृदय भर आया और स्खलिय वाणी मे बोली—"हनुमान् ! तैंने अपनी प्रतीज्ञा पालन की। तेरे लिये अब क्या कहूँ, मेरे पास उतने शब्द नही।"

पीछे खड़े सुग्रीव जी भी आये। सुग्रीव को देखकर वैदेही ने अपना अचल सम्हाल लिया। दूर-से ही सुग्रीव जी ने प्रणाम किया। हनुमान् जी ने कहा—"माता जी ये मेरे स्वामी वानर-राज सुग्रीव जी है।" सकोच के साथ सीता जी ने कहा—"वानर राज ने तो हमे सपरिवार खरीद लिया। हम इनके उपकारो के बोझ से सदा दबे ही रहेगे।"

उसी समय हाथ जोड कर हनुमान् जी ने भगवान् से कहा—"प्रभो ! सभी वानर जगज्जननी के दर्शनो के लिये समुत्सुक हो रहे है।"

भगवान् ने विभीषण से कहा—"राक्षसराज, तुम इसका प्रबन्ध करो।"

विभीषण ने कहा—'मै अभी शिविका मँगाता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"भैया ! इस समय बन्द शिविका की आवश्यकता नही। ऐसे समय पर्दा नही किया जाता। खुले रथ पर जानकी को बिठा कर ले चलो, जिससे सभी सुखपूर्वक इन्हे देख सकें।"

भगवान् की आज्ञा पाते ही सुन्दर विशाल रथ मँगाया गया जो ऊपर से खुला था। १०८ सुन्दर सफेद घोड़े उसमे जुते हुए थे। विभीषण की पत्नी अपनी लडकी कला के द्वारा विभीषण से कहलाया कि सीता जी वस्त्राभूषणो से अलकृत होकर रथ पर बैठे।"

हाथ जोडकर विभीषण ने भगवान् से पूछा—"प्रभो! यह बच्ची कला कह रही है कि सीता माता का प्रथम मङ्गल स्नान हो। वे वस्त्राभूषणो से अलकृत होकर आपके साथ रथ मे विराजें।"

करुणासागर भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो।"

भगवान् की आज्ञा पाकर विभीषण-पत्नी परम प्रसन्न हुई! उन्होने तुरन्त सुन्दरी सुकुमारी स्त्रियो को बुलाया। महौषधियो और दिव्यौषधियो के पवित्र सुगधित जल से उन्हे स्नान कराया। उबटन लगा कर उनके अगो के मल को छुडाया। दिव्य वस्त्राभूषणो से उन्हे अलकृत किया। सोलहो शृगार कराके उन्हे आदर पूर्वक रथ के समीप ले आई। श्री रामचन्द्र जी ने अपने हाथो से जानकी जी को रथ पर चढाया। विभीषण और सुग्रीव सारथियो को हटा कर स्वय रथ को हाँकन बैठे। लक्ष्मण और हनुमान् चमर लेकर खडे हुए। श्री सीताराम जी की मनोहर जोडी दिव्य रथ पर विराज मान अत्यत ही शोभित होती थी। सडक के दोनो ओर बन्दनवारें बंधी हुई थी। दोनो ओर राक्षस और वानर खडे हुए थे। बीच मे मद-मद गति से रथ चल रहा था। अस्त्र शस्त्रो से सुसज्जित राक्षस पक्तिवद्ध दोनो ओर खडे थे। दोनो ओर की अपार भीड जय जय श्री सीताराम की गगनभेदी ध्वनि लगा रही थी। वानर

श्रीसीता जी के साथ श्री रामचन्द्र जी के दर्शन करके कृतार्थ हो गये। जो वानर मर गये थे उनके साथी सम्बन्धी सोचने लगे—'हाय! हमारे ये मृतक बन्धु इन दर्शनो से वंचित ही रह गये। उनके मन मे ऐसा सकल्प ज्यो ही उठा त्यो ही इन्द्र ने आकाश से अमृत की वर्षा की। अमृत पडते ही सभी मृतक वानर जीवित हो उठे और दौडकर श्री सीताराम जी के दर्शनो के लिये राज पथ पर आ गये। वानर परस्पर मे कह रहे थे—"श्री सीता जी के सम्बन्ध मे हमने जैसा अनुमान किया था, ये तो उससे असख्यो गुनी उत्तम हैं। श्रीराम जी के धैर्य को धन्य है जो इतने दिन के वियोग को साहस के साथ सहन करते रहे।" इस प्रकार वानर राक्षस परस्पर मे भाँति-भाँति की बाते करते थे।

श्री सीताजी को साथ लेकर भगवान् अपने शिविर के समीप आये। एक वृक्ष के नीचे सीता जी को उतारा गया। चारो ओर वानरों की भीड लग गई। तब श्री रामचन्द्र जी ने अपने भाई लक्ष्मण जी से कहा—"लक्ष्मण! विभीषण ने हमारा बडा उपकार किया है। मैं इसे लका के सिंहासन पर बैठा हुआ देखना चाहता हूँ। तुम जाकर अभी लका मे विभीषण का राज्याभिषेक करो।"

भगवान् की आज्ञा पाकर लक्ष्मण जी प्रधान-प्रधान वानरो को साथ लेकर लका मे गये। तुरन्त सुवर्ण के घडो मे समुद्र का जल मंगाया गया। ब्रह्मण राक्षसो ने वेद मन्त्रो से विभीषण को स्नान कराया। विधिवत उनका राज्याभिषेक किया। विभीषण को राज्यसिंहासन पर बैठा देखकर सभी परम प्रमुदित हुए। देवताओ ने उनके ऊपर नन्दनकानन के पुष्पो की वर्षा की। गन्धर्वों ने मगल गान गाये। अप्सरायें सुन्दर-सुन्दर गीत गाती हुई नृत्य करने लगी। चारो ओर बाजे बज रहे थे।

सजाई गई थी। स्थान-स्थान पर सुगन्धित धूप जलाई गई थी। सुन्दर सुगन्धित पुष्पों की मालायें सर्वत्र लटकी हुई थी। घर-घर केले के फलयुक्त खम्भे गाडे गये थे। कन्याओं ने दधि अक्षत, लावा अकुर आदि मगल द्रव्यों से राक्षसराज विभीषण का पूजन किया। सभी प्रकार दान दिये गये। सेवक तथा भृत्यों को पुरस्कार बाँटे गये। इस प्रकार बड़े विधि विधान पूर्वक राज्याभिषेक का कार्य सम्पन्न हुआ।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब राज्याभिषेक का कार्य सुख-पूर्वक सम्पन्न हो चुका, तब हाथ जोड़े हुए राक्षसराज श्रीराम चन्द्र जी के समीप आये और विनीत भाव बोले—"प्रभो! मैंने आप की आज्ञा शिरोधार्य की। अब मेरे लिये और क्या आज्ञा है।"

यह सुनकर भगवान् परम प्रसन्न हुए और आगे का कर्तव्य सोचने लगे।

छप्पय

पवन-तनय सुग्रीव विभीषण लछिमन आये।
वैदेही पद-पदुम आइ सब शीश नवाये॥
लज्जित देवी भई अधिक आभार जनायो।
राम-रजायसु पाइ विभीषण यान मँगायो॥
रथ चढि वैदेही सहित, उपवनमहँ राघव गये।
जग जगनी, जग जनककूँ, लखि बानर प्रमुदित भये॥

विजयी राम का अवध गमन

आरोप्यारुरुहे यानं भ्रातृभ्यां हनुमद्युतः ।
विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम् ॥
लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम् ।
अवकीर्यमाणः कुसुमैर्लोकपालार्पितैः पथि ॥*
(श्रीभा०, ९ स्क० १० अ० ३२, ३३ श्लो०)

छप्पय

लंका महँ अभिषेक विभीषण को करवायो ।
जानि अवधि को अन्त यान पुष्पक मँगवायो ॥
पवन-तनय सुग्रीव लखन अंगद बैठाये ।
बैठे सियासहित स्वयं रघुपति हरषाये ॥
प्रान प्रिया कूँ सबहि थल, लीला के दिखरावते ।
यानमाँहि नभमँह चले, प्रेम सहित बतरावते ॥

काल अनादि है अनन्त है । आप काल की कितनी भी बड़ी

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् भगवान् श्री कोशलकिशोर रावण को मारकर, विभीषण जी को राक्षस राज्य एक कल्प की आयु तथा लङ्कापुरी देकर लक्ष्मण तथा विभीषण के सहित सीता को पुष्पक विमान पर चढ़ाकर, वनवास की १४ वर्ष की अवधि को समाप्त करके अयोध्यापुरी को चले । मार्ग में लोकपाल उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा करते जाते थे ।"

सीमा क्यो न बांध लें एक न एक दिन वह अवधि अवश्य हो जायगी। इसीलिये एक बार काल ने कहा था—तुम मेरी सीमा करो, मै आ ही रहा हूँ। नियत अवधि का एक-एक दिन बडे ही महत्व का होता है, नित्य ही यह स्मृति बनी रहती है, आज इतने दिन बीत गये, इतने दिन और शेष हैं। जब अवधि पूरी हो जाती है, तब शिर से एक प्रकार का भार सा उतर जाता है। मनुष्य अपने को स्वतन्त्र अनुभव करने लगता है।

चौदह वर्ष की अवधि बाँध कर कौशिल्यानन्दवर्धन रघुनन्दन वन को गये थे वे चौदह वर्ष बात की बात में बीत गये। वे ५१०६ दिन यो ही बीत गये। अवधि मे एक दिन शेष रह गया। वह एक दिन काटना उन्हे अत्यन्त ही भारी हो गया। जिस इतने बडे दण्डक वन को नगे पैरो ही कई बार पार किया आज वे अवध जाने को अत्यत ही उत्कठित हो उठे, क्योकि अब कोई बन्धन तो रहा ही नही, अवधि तो बीत गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! रावण मारा गया विभीषण जी लंका के अधीश्वर हुये। सीता जी का अपने प्राणनाथ के साथ सम्मिलन हुआ। चौदह वर्ष की अवधि मे अब केवल एक दिन ही शेष रह गया। विभीषण जी ने कहा—"प्रभो! यह राज्य आपका है, मै भी सपरिवार आपका किंकर हूँ। अब कुछ दिन यहाँ निवास करके मुझे कृतार्थ करें।"

यह सुनकर राजीवलोचन रघुनन्दन बोले—"भैया! विभीषण, तुम्हारा कहना यथार्थ है, मुझे अवध जाने की इतनी उत्सुकता नही और न मुझे राज्याभिषेक की ही उत्कण्ठा है। मुझे तो अपने छोटे भाई भरत की चिन्ता है। उसने चित्रकूट मे सब के सम्मुख यह प्रतिज्ञा की थी, कि यदि राम चौदहवें वर्ष के अन्त होते ही अवध मे न आ जायंगे, तो मै प्राणो का परित्याग

कर दूँगा।" आज मेरे १४ वर्ष पूरे होते हैं, यदि कल मैं अयोध्या न पहुँच सका, तो अपने प्राणों से प्यारे भाई को न पा सकूँगा। उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। अतः यदि तुम भरत का, मेरा, तथा मेरे समस्त परिवार वालों का जीवन बचाना चाहते हो, तो ऐसा कोई प्रबन्ध करो, जिससे मैं कल प्रात काल अयोध्यापुरी पहुँच सकूँ।"

यह सुन कर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुये विभीषण जी बोले—"प्रभो! आप किसी प्रकार की भी चिन्ता न करें। आप तो कल की कह रहे हैं, मैं तो आप को आज ही, अभी ही, अवध पहुँचा सकता हूँ। आपको कोई क्या पहुँचा सकता है। जहाँ आप न हो वहाँ पहुँचाये भी जा सकते है। आप तो सर्वत्र व्याप्त हैं। फिर भी आप अपने सेवकों को बड़ाई देने के लिये ऐसी मानवीय लीला कर रहे हैं। लंका में एक पुष्पक नामक दिव्य विमान है। मेरे बड़े भाई लोक-पाल धनद कुबेर को वह ब्रह्मा जी से प्राप्त हुआ था। वह संकल्प के अनुसार उड़ने वाला है। मन से भी अधिक उसका वेग है। रावण उसे कुबेर से छीन लाया था। उस पुष्पक विमान से आप अयोध्या पधारें। वह यान परम सुखद है। उसमें शीत, ऊष्ण, आधि, व्याधि किसी की भी शंका नहीं है। वह सर्वकाल से सदा सुखद ही रहता है।"

यह सुनकर बड़े उल्लास के साथ श्री रामचन्द्र जी ने कहा—"भैया! तुमने यह बड़ी सुन्दर बात बताई। अब देर करने का काम नहीं। शीघ्र से शीघ्र तुम पुष्पक विमान को लाओ। मैं अपने मुख्य-मुख्य बन्धुओं को साथ लेकर सीता सहित अयोध्यापुरी जाऊँगा।"

इतना सुनते ही विभीषण जी ने तुरन्त ही पुष्पक विमान को मँगाया।

पुष्पक को सम्मुख उपस्थित करके विभीषण जी हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से बोले —"प्रभो ! लोकपाल कुबेर जी का दिव्य पुष्पक विमान उपस्थित है। अब मेरा जो कुछ कर्तव्य हो उसका आदेश करें।"

यह सुनकर भगवान् बोले—'देखो, भैया विभीषण ! तुमने जो लंका पर विजय प्राप्त की है उसमे वानरो ने भी तुम्हारी सहायता की है। अत, मैं चाहता हूँ, तुम्हारी ओर से वानरो को धन-रत्न द्वारा सत्कार किया जाय। यद्यपि मेरे आश्रित भक्त धन-रत्न की इच्छा नही करते, फिर भी उनके सम्मान के लिए पुरुष उनकी पूजा करते है। इसलिये तुम भी इन सब सहयोगियो की पूजा करो।"

अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए विभीषण जी ने कहा—"प्रभो ! आप तो अन्तर्यामी हैं। सब के घट-घट की बात जानते हैं सबकी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं मेरे मन मे यह बात बार-बार उठ रही थी, किन्तु सकोचवश प्रकट नही कर सका। मैंने सोचा—"इन धातुओ और पाषाणो के ठीकरो से मैं सब की पूजा करूँ तो कही अपमान न समझा जाय। अब जब आपने मेरी इच्छा पूर्ण करने के लिये मुझे आज्ञा ही दी है, तो इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। जिन्होंने आपके चरणो का आश्रय ले लिया है उन्हें इच्छा तो हो ही क्या सकती है। दूसरो पर कृपा करने के निमित्त ही उनकी पूजा को स्वीकार करते हैं।' इतना कहकर विभीषणजी ने बहुत से रत्न, वस्त्र आभूषण तथा सुवर्ण मुद्रायें मँगाई। उन सबको पुष्पक विमान मे भर कर ऊपर से ऋक्ष वानरो के ऊपर वर्षाया। जिसे जो वस्तु प्रिय थी उसने ले ली बहुत देर तक वे रत्न आभूषण वर्षाते रहे। इस प्रकार सब का धन रत्न से सत्कार करके विभीषणजी नीचे

उतर आये और भगवान् से बोले—"प्रभो! मेरी मनोकामना आपने पूर्ण की। अब मुझे क्या आज्ञा होती है?"

भगवान् ने कहा— भैया, अब सब कुछ हो चुका। तुम सब ने प्राणो का पण लगाकर मेरी सहायता की है। यदि तुम सब मेरी सहायता न करते तो लका जीतने मे सदह हो रहता अब मैं अयोध्या जाना चाहता हूँ। तुम लका मे कल्पपर्यन्त सुखपूर्वक रहकर राज्य सुख भोगो। सुग्रीव किष्किन्धा जायँ और भी रिक्ष-वानर जहाँ-जहाँ से आये है वहाँ सुखपूर्वक लौट जायँ। तुम सब मुझे प्राणो से भी अधिक प्रिय हो। मैं नही चाहता कि तुम सबसे पृथक होऊँ, किन्तु कर्तव्य मुझे ऐसा करने के लिए विवश कर रहा है।'

श्रीरामचन्द्रजी के ऐसे वचन सुनकर सब रुदन करने लगे। उस समय सभी दुखित थे। भगवान् के भावी वियोग को स्मरण करके सबके हृदय भरे हुए थे। नेत्रो से अश्रुबिन्दु गिर रहे थे। तब रोते रोते सुग्रीव ने कहा—"प्रभो! हम नही चाहते कि आप से पल भर भी पृथक रहे। राज्य सुख में क्या रखा है आपके चरणो की सन्निधि के सम्मुख सभी सुख तुच्छातितुच्छ है। यदि हमे जाने की ही आज्ञा है, तो उसे टाल तो कसे सकत है किन्तु हमारी भी अवधदर्शनो की बडी लालसा है। उस परम पावन पुण्यपुरी के दर्शन करके हम भी कृतार्थ होना चाहते है। आपके वनवासी रूप के दर्शन तो हमने किये, अब हम आप को राजरूप मे और देखना चाहते हैं। हम सौभाग्यवती जगज्जनी कौशल्या देवी के चरणो मे प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लेना चाहते है। आपका राज्यभिषेक देखकर माता को प्रणाम करके तथा अयोध्यापुरी के वन उपवनो मे विहार करके आपकी आज्ञा होगी तो पुन. लौट आवेंगे।'

सुग्रीव जी के ऐसे वचन सुनकर लोकाभिराम श्रीराम बोले—"संसार में मित्रों का मिलन, उनका सहवास बड़े भाग्य से मिलता है। तुम लोगों के साथ अवधपुरी चलने में मुझे परम सुख होगा। अच्छी बात है, तुम लोग इस विमान में चढ़ जाओ।'

भगवान् की आज्ञा पाते ही अंगद, हनूमान, नल नील, गवय गवाक्ष जामवंत तथा अन्यान्य अपने मुख्य-मुख्य साथी वानरों के सहित सुग्रीव जी विमान पर चढ़ गये। विभीषण जी भी अपने आज्ञाकारी सचिवों सहित दिव्ययान पर विराजमान हुए। श्री सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित रघुकुलतिलक जानकी-जीवन-धन श्रीरामचन्द्र जी मध्य में विराजे। सबके बैठ जाने पर वह पुष्पों से विभूषित चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाओं से युक्त विमान आकाश में उड़ा। उस समय उसकी शोभा अपूर्व थी। ऊपर से नीचे की वस्तुएँ बड़ी ही सुन्दर छोटी-छोटी दिखाई देती थीं। सीताजी अत्यन्त कुतूहल के साथ जिस वस्तु को भी देखतीं उसी के सम्बन्ध में श्रीरामचन्द्र जी से पूछतीं। भगवान् भी सीता जी को प्रसन्न करने के निमित्त सभी स्थानों का परिचय कराते जाते। यह त्रिकूट पर्वत है, यह युद्ध क्षेत्र है। यहाँ मैंने रावण को मारा, यहाँ कुम्भकर्ण संहारा, यहाँ देवनाक, नरातक, अतिकाय, त्रिशिरा, अकम्पन, प्रहस्त विरूपाक्ष, महोदर आदि रावण के बड़े बड़े बलवान वीरों को मैंने रण में पछाड़ा। यहाँ लक्ष्मण ने इन्द्रजित् का अंत किया, यहाँ हनुमान् ने धूम्राक्ष को यम-सदन पठाया। देखो, यह समुद्र है। इसी पर पुल बाँधकर हम समस्त सेनासहित इस पार आये थे। नल-नील की सहायता से सभी वानरों ने १०० योजन लम्बे इस सुदृढ़ सेतु को चार दिन में बाँधा था देखो, यहाँ हमने अपना पड़ाव डाला था। यहीं सर्वप्रथम

हमे राक्षसराज विभीषण के दर्शन हुए। सम्मुख जो तुम्हें हरी भरी मनहोर पुरी दिखाई देती है यही वानरराज सुग्रीव की राजधानी है। तुम्हारे विरह में दुखी होकर यही बडे कष्ट से मैंने ऋष्यमूक पर्वत पर वर्षा के चार माह व्यतीत किये थे। यही पर मैंने अपने मित्र सुग्रीव के प्रिय करने के निमित्त उसके दुष्ट भाई वालि का वध किया था। उसकी पतिव्रता पत्नी तारा को यही मैंने सान्त्वना दी थी।

यह सुनकर सीताजी अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ बोली—'प्राणनाथ! मैं वानरराज सुग्रीव की पत्नियो से मिलना चाहती हूँ आप कृपा करके विमान को यहाँ उतरवा दें।"

सीताजी की उत्सुकता देखकर भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही हो।" यह कह कर भगवान् ने पुष्पक को नीचे उतरने की आज्ञा दी। पुष्पक के उतरते ही सुग्रीव ने कहा—'जगज्जननी सीता माता मेरे अन्त पुर मे पधार।'

भगवान् ने कहा— देखो भैया! अब शिष्टाचार का समय नही है। हम पल-पल भारी हो रहा है, तुम अपनी तथा सभी मुख्य-मुख्य वानरो की पत्नियों को यही ले आओ। वे सब भी सीता के साथ अवधपुरी चलें। भीतर जाने से देर हो जायगी। स्त्रियाँ जब आपस मे मिलकर घर गृहस्थी की बातें करने लगती है, तो वे समय को भूल जाती हैं। कितना भी बुलाओ कितनी भी शीघ्रता करो उनकी पचायत समाप्त नही होती सो भैया! तुम यही सबको बुला लाओ। उन सबके बैठने का प्रबन्ध हम सीता के समीप ही कर देंगे।"

भगवान् की आज्ञा पाकर सुग्रीव शीघ्रता के साथ अन्त पुर मे गये। वहाँ जाकर तारा से बोले—"तारे! देखो हम रावण को मार कर लका विजय करके जानकी जी को लेकर आ गये

अब हम सब अयोध्यापुरी को जा रहे हैं। तुम्हे भी हमारे साथ चलना होगा। सीताजी की प्रसन्नता के निमित्त तुम भी अवध चलो। मुख्य मुख्य वानरो की जिन-जिन स्त्रियो को तुम साथ लेना चाहती हो। उन्हे भी ले लो। शीघ्रता करो। विलम्ब का काम नही। श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त शीघ्रता कर रहे हैं।"

अपने पति की ऐसी बात सुनकर तारा के हर्ष का ठिकाना नही रहा स्त्रियो को वैसे ही मेले ठेले मे जाने की बडी उत्सुकता रहती है, फिर तिस पर भी आज विमान मे चढकर जाना है। सर्वश्रेष्ठ अयोध्यापुरीको देखना है। इससे उनकी उत्सुकता अत्यधिक बढ गई। सभी ने शीघ्रता के सहित शृगार किया। सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण को धारण किया। पूँछ को सजाया और पैरो से पाइजेबो को खनखनाती हुई तथा नूपुरो को बजाती हुई पुष्पक विमान के समीप आई। वे सोच रही थी हम चलकर सीताजी के दर्शन करेंगी। न जाने वे कितनी सुन्दरी होगी जिनके पीछे इतना घनघोर युद्ध हुआ। असख्यो प्राणियो का सहार हुआ। उनके साथ हम भी विमान मे चढकर अवधपुरी जायेंगी। वहाँ महाराज दशरथ की पत्नियो के दर्शन करेंगी। लोकपालो से भी बढकर उनके ऐश्वर्य को देखेंगी। श्रीरामचन्द्रजी के राज्याभिषेक के दर्शन करेंगी। आज हमारा जीवन सफल हो गया। इस प्रकार के मनोरथो को करती हुई वे पुष्पक विमान की प्रदक्षिणा करने लगी। सीता सहित भगवान् का आगमन सुनते ही बहुत सी वानरियाँ सीताजी के दर्शनो के लिये आई। सब बडी उत्सुकता और कुतूहल के सहित जानकी को निहार रही थी। उनके अनवद्य सौंदर्य को देखकर अत्यन्त आह्लादित हो रही थीं। चकित-चकित दृष्टि से उन्हे पुन पुन देख रही थीं।

उनम से एक बोली—"सीताजी की जैसी प्रशसा सुनते थे

हैं तो उससे भी बढकर, किन्तु इनके सौन्दर्य मे एक बडा भारी दोष है।"

दूसरी ने पूछा—"वह क्या दोष है ?"

शीघ्रता के साथ उसने कहा—"यही कि और अग तो सब अच्छे ही है, किन्तु इनके पूँछ नही। पूँछ के बिना भला क्या सौन्दर्य।"

यह सुनकर श्रीरामचन्द्र जी हँसने लगे और बार-बार हनुमान् तथा लक्ष्मण जी की ओर निहारने लगे।

तारा अपनी सभी सहेलियो के साथ पुष्पक की प्रदक्षिणा करके उस पर चढी। जानकी जी ने सत्कार पूर्वक उन्हे अपने समीप बिठाया। उनको कुशल पूछी और इधर-उधर की भी दो चार बातें हुई। इतनी ही देर मे विमान ऊपर उडने लगा।

उसी समय हनुमान् जी ने कहा—"प्रभो! मुझे आज्ञा हो तो समीप के ही पर्वत पर मेरी माता जो रहती हैं, उनके दर्शन कर आऊँ।"

उनकी यह बात सुनकर भगवान् ने कहा—"अरे भाई! अकेले ही अकेले क्यो, माता जी के दर्शनो को तो हम भी चलेंगे। चलो, पुष्पक विमान वहाँ भी उतरे।"

यह सुनकर हनुमान् जी के हर्ष का ठिकाना नही रहा। वे भगवान् की भक्तवत्सलता को स्मरण करके गद्गद हो उठे। विमान से उतर कर सीतालक्ष्मण सहित श्रीरामजी माता अंजनी के दर्शनो को स्वयं गये। माता के चरणों में प्रणाम करके वे बैठ गये। हनुमान् जी ने कहा—"माँ! भगवान् पधारे।"

भगवान् का आगमन सुनकर माता अधीर हो उठी। वे बार-बार भगवान् को प्रणाम करने लगी।

हनुमान् जी को गोद में लेकर वे प्यार करने लगी। बार-

बार कहती— 'बेटा, तैने मेरी कोख को कृतार्थ कर दिया। मेरा जीवन सफल बना दिया, जो घर बैठे ही भगवान् का दर्शन करा दिया। भगवान् के साथ ये इतने कारे मुखवारे भालू बन्दर कहाँ गये थे ?'

हनुमान् जी ने कहा—"माता जी! राक्षसराज रावण जगज्जननी जानकी को पचवटी से हर ले गया था। भगवान् उन्हें खोजते-खोजते किष्किन्धा आये। वहाँ पर मेरे स्वामी सुग्रीव से भगवान् ने मैत्री की, वालि का मारा। वानरों की असख्य सेना एकत्रित की, समुद्र पर सेतु बांधा और रावण को उसके परिवार सहित मारा विभीषण को राज्य देकर सीता जी को लेकर पुष्पक विमान से भगवान् अयोध्यापुरी जा रहे हैं। मार्ग मे आपको कृतार्थ करने उतर पड़े है।"

भगवान् को सीता जी को खोजने और रावण को मारने के लिये इतना श्रम करना पडा। इसे सुनते ही माता की आँखें लाल हो गईं। उन्होने हनुमान् जी को गोद से उठाकर दूर फेंक दिया और अत्यन्त क्रोध के साथ बोली—"तुझे बार-बार धिक्कार है तैने मेरी दूध को लजा दिया। तू मेरा बेटा कहलाने योग्य नही अरे इस तनिक सी बात के लिये भगवान् को इतना कष्ट करना पडा। तू स्वयं जाकर लंका को उठा लाता। या रावण को जीवित पकड कर भगवान् के सम्मुख उपस्थित कर देता। या लका को समुद्र मे डुबा देता। समुद्र को ही सोख जाता। तैने तो मेरा दूध पिया है। फिर ऐसी कायरता की।"

माता जी की ऐसी डाँट सुनकर हनुमान् जी कुछ भी नही बोले। लक्ष्मण जी को सन्देह हुआ कि माता बार-बार अपने दूध की प्रशंसा कर रही है। इनके दूध मे ऐसी क्या शक्ति है यह सत्य है कि हनुमान जी प्रबल पराक्रमी महान् शूर वीर हैं,

फिर भी माँ अपने दुग्ध के सम्बन्ध से जैसे प्रशंसा कर रही हैं, वह तो अत्युक्ति मात्र ही है।"

माता लक्ष्मण जी के भाव को ताड़ गईं। उनके मुख-मंडल पर गम्भीरता छा गयी। वे भगवान् को लक्ष्य करके बोलीं—"भगवन्! प्रतीत होता है छोटे कुमार को मेरी बातों पर विश्वास नहीं हो रहा है। अच्छी बात है, मैं अपने दुग्ध का प्रभाव दिखाती हूँ।" यह कह कर माँ ने अपने दुग्ध की एक धार सामने के पर्वत पर छोड़ी। धार के पड़ते ही पर्वत फट गया। यह देख कर लक्ष्मण जी की शङ्का दूर हो गयी। उन्हें परम आश्चर्य हुआ। यह देखकर हँसते हुये भगवान् ने कहा—"माता जी! आपके पुत्र सब कुछ करने में समर्थ है। वे अकेले लंका को उठा लाने में समर्थ है। इस बात को मैं जानता था। फिर भी मैंने उन्हें ऐसा करने की आज्ञा नहीं दी। यदि वे ही रावण को मारकर सीता को ले आते तो मेरे लोकपावन चरित्रों का विस्तार न होता। इसलिये अपने चरित्रों के विस्तार के निमित्त जान बूझकर यह लीला मैंने स्वयं ही की। आप हनुमान् जी पर प्रसन्न हों, इन पर पूर्ववत् वात्सल्यभाव प्रकट करें।"

भगवान् की ऐसी मधुर वाणी सुनकर माता अंजना देवी ने हनुमान् जी को गोद में बिठाकर प्यार किया। उन्हें अजर अमर तथा अनन्य भगवद्भक्त होने का आशीर्वाद दिया। तदन्तर भगवती अंजना देवी ने भगवान् की पूजा की। भगवान् भी माता से आज्ञा लेकर सबको साथ लेकर विमान पर आ बैठे।

भगवान् की आज्ञा पाकर पुष्पक पुनः आकाश में उड़ा। भगवान् सीता जी को पुनः स्थानों को दिखाने लगे—"देखो सीते! यह पम्पा सरोवर है इसके समीप ही मुझे तपस्विनी शबरी

मिली थी। उसी ने मुझे सुग्रीव से मैत्री करने को सम्मति दी थी। यहाँ मैंने मारीच का वध किया था। यह पंचवटी है जहाँ से तुम्हें दुष्ट रावण हर ले गया था। देखो, यह वही विशाल वृक्ष है जहाँ हमारे पिता के समान गृद्धराज जटायु रहते थे जिन्होंने तुम्हारी रक्षा के लिये प्राणों का परित्याग किया था। यह कबन्ध के मरने का स्थान है। यह भगवान् अत्रि का स्थान है। यहीं पर उनकी तपस्विनी धर्मपत्नी अनसूया ने तुम्हें पतिव्रत धर्म का उपदेश दिया था। यह देखो परम पावन तीर्थ चित्रकूट है। यहीं हम पहिले पहिल पर्णकुटी बना कर रहे थे। यहीं भरत मुझे लौटाने के लिये आया था। यह सुन्दर-जल वाली पयस्विनी नदी है जो गङ्गा जी की एक धारा ही है जिसे अत्रि पत्नी भगवती अनसूया ने अपने तप प्रभाव से प्रकट किया था। यह वही घाट है जहाँ से नित्य लक्ष्मण जल लाया करता था। यहीं पर मैंने अपने स्वर्गीय पिता जी को इंगुदी फल के पिंड दिये थे। सीते! सम्मुख देखो हम तीर्थराज प्रयाग में आ गये। सम्मुख पिघले हुए नीले रंग के काँच के समान भानुतनया यमुना जी गम्भीरता के साथ बह रही है। उनसे शीघ्रता के साथ चंचल बालिका के समान दौड़ कर गङ्गा जी मिल रही हैं, लिपट रही है। गङ्गा जी का जल शीतल है, क्योंकि ये हिमालय की पुत्री हैं। सूर्य की पुत्री होने के कारण यमुना का जल उष्ण है। माता पिता का गुण सन्तानों में आ ही जाता है। जम्बू फल के नीले-नीले रस के कारण यमुना जी का जल नीला है। गङ्गाजी बहुत दिनों तक जटाश कर भगवान् भूतनाथ की जटाओं में घूमती रहीं। धूएं से मटमैली हुई जटाओं के संसर्ग से गङ्गा जी के जल का रंग भी मटमैला हो गया है। सरस्वती देवी यहाँ गुप्त रूप से निवास करती हैं। यह दिव्य अक्षयवट है।

इसे साधारण दृष्टि वाले पुरुष देख नहीं सकते। सामने भरद्वाज मुनि का आश्रम है। ये तीर्थराज प्रयाग के चैतन्य देव है, यहाँ के अधिष्ठाता कुलपति हैं। बहुत से ऋषि मुनि इनकी सन्निधि मे निवास करते है। पहले भगवान् भरद्वाज के हम दर्शन करले। आज की रात्रि यहीं निवास करके प्रात. अवधपुरी चलेंगे।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इतना कह कर भगवान् ने पुष्पक विमान का भरद्वाज-आश्रम मे उतरने का आदेश दिया। भगवान् के सकल्प होते ही, पुष्पक भरद्वाज आश्रम मे उतर गया।"

छप्पय

जनक सुतातैं कहैं प्रिये! देखो लीला थल।
यह त्रिकूट गिरि समर भूमि यह सागर को जल॥
है यह सुन्दर सेतु नील नल ने बनवायो।
यह रामेश्वर धाम विभीषण यहि थल आयो॥
किष्किन्धा पम्पापुरी, पंचवटी गोदावरी।
चित्रकूट सीते! लखो, यह तिरवैनी सुख करी॥

विरही भरत को परम सुखद सम्वाद

भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः ।
पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १० अ० ३५, ३६ श्लो०)

छप्पय

भरद्वाज मुनि लखे राम सौमित्र सीय सग ।
निरखि सबनि कूँ कुशल भये मुनि के पुलकित अग ॥
करि बहु विधि अतिथ्य सबनि की कुशल बताई ।
भरत तपस्या सुनी दया हरि उरमहँ आई ॥
पवनतनय पठये तुरत, भरत जहा विरही बसहि ।
स्वाँस स्वाँस रघुपति जपहिँ, तप करिके तनकूँ कसहिँ ॥

जिस वस्तु की अपने को उत्कट अभिलाषा हो वह वस्तु प्राप्त हो जाय, तो यही सुख है। मनुष्य अनेक वस्तुओ को अभिलाषा करता है, उनमे से अधिकाश असफल होती है। बहुत सी वस्तुओ को इच्छा होती है। कुछ दिनो मे वह इच्छा निवृत्त हो जाती है। फिर हम सोचते हैं अच्छा हुआ वह वस्तु हमे नही

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब भरत जी ने सुना कि श्री रामचन्द्र जी वन से लौटकर आ रहे हैं, तो वे नगर निवासी, अमात्य तथा पुरोहित के सहित भगवान् की पादुका को शिर पर रख कर उनकी अगवानी करने चले।"

मिली, नही तो उससे बडा अनर्थ हो जाता इस प्रकार बहुत सी वस्तुओ की इच्छा होती है, कालान्तर मे वह निवृत्त हो जाती है, किन्तु जो इच्छा निवृत्त न हो कर दिनो दिन बढती ही जाती हो जिसकी प्राप्ति की अधिकाधिक अभिलाषा उत्कट ही होती जाती हो, वही इष्ट है। उसी की प्राप्ति के लिये किये हुये प्रयत्न को साधन कहते है। साधक को साध्य वस्तु की प्राप्ति की आशा ही परम सुखकर है, फिर उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या ?

सूतजी कहते हैं—" मुनियो ! तीर्थराज प्रयाग मे पहुँचकर श्री रामचन्द्र जी ने सितासित के सुन्दर सगम मे शास्त्रीय रीति से स्नान पूजन किया और वे भरद्वाज मुनि के आश्रम पर पहुँचे। आगे आगे रघुकुल तिलक श्री राघव चल रहे थे, उनके पीछे उनके चरणचिन्हो के सहारे-सहारे श्री विदेहनन्दिनी जानकी चल रही थी। दोनो के चरणो को बचाते हुये लक्ष्मण जी चल रहे थे। उनके पीछे विभीषण, सुग्रीव, अगद तथा अन्यान्य निशाचर और वानर चल रहे थे। आश्रम के द्वार पर पहुँच कर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनि के एक शिष्य से कहा—"महात्मन् ! भगवान् से कहो मैं दाशरथि राम अपने भाई पत्नी और सुहृदो के साथ द्वार पर दर्शन के लिये खडा हूँ।"

भगवान् की बात सुनकर मुनि का विनयी शिष्य दौडा हुआ भगवान् भरद्वाज के समीप गया और जो भगवान् ने कहा था उसे ज्यो का त्यो निवेदन कर दिया। भगवान् का आगमन सुनकर मुनि सभ्रम के साथ सहसा अपने आसन से उठ पडे और शीघ्रता पूर्वक कहने लगे—'अरे, राम के पधारने पर पूछने की क्या आवश्यकता थी, उन्हे तू साथ क्यो नही लाया।' यह कह

भगवान् भरद्वाज स्वय ही नगे पैरो द्वार की ओर चले। बहुत स शिष्य भी मुनि के पीछे-पीछे दौडे।

मुनि को अपनी ओर आते देखकर भगवान् विभीषण जी से बोल—"विभीषण! देखो, शिष्य म डली से घिरे हुए जो सूर्य के समान तेजस्वी मुनि आगे-आगे आ रहे हैं ये ही भगवान् भरद्वाज हैं, मुनि का हमारे ऊपर कितना वात्सल्य स्नेह है, स्वय ही हमे लेने आ रहे हैं। तुम सब लोग श्रद्धा सहित मुनि के चरणो मे प्रणाम करना।'

श्रीरामचन्द्रजी ऐसा कह ही रहे थे, कि मुनि और भी अधिक समीप आ गये। आगे बढ कर श्री रामचन्द्र जी ने मुनि की पैर छुये। सीता जी भी मुनि को प्रणाम करके श्रीराम के पीछे एक ओर खडी हो गई। तदनन्तर लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, अगद तथा अन्यान्य वानर निशाचरो ने मुनि की चरण वन्दना की। अत्यन्त ही स्नेह से श्री राम चन्द्र जी के कन्धे पर हाथ रखे हुए मुनि ने कहा—"राम! यह बडे सौभाग्य की बात है, कि तुम अपने भाई और पत्नी के सहित सकुशल वन से लौट आये हो। पहिले ही पहल जब तुम अयोध्या जी से चल कर मेरे आश्रम पर आये थे, तब मैं सीता की सुकुमारता और तुम्हारी कोमलता को देखकर भयभीत हो रहा था, कि तुम वन में कैसे चौदह वर्ष रहोगे, किन्तु आज-तुम्हे अवधि समाप्त करके लौटते देखकर मैं अत्यत ही हर्षित हूँ। वन मे तुम पर जो-जो विपत्तियाँ आईं जिस प्रकार सीताजी का हरण हुआ, जिस प्रकार तुमने बन्धुबान्धओ सहित रावणको मारा, ये सब बातें मैंने योग समाधि द्वारा पहिले ही जान ली हैं। राघव तुम्हारी कीर्ति ससार मे बनी रहेगी। असख्यओ जीव तुम्हारे वनवास

के चरित्र को सुनकर इस भवाटवी से सदा के लिये पार हो जायेंगे। इस समय तुम कहाँ से आ रहे हो ?'

मुनि के इतने स्नेह को देखकर सकोचा राम और भी अधिक सकुचित हो गये। वे नीचे सिर किये हुए हाथ जोड कर विनय के साथ बोले—"भगवन् ! मैं पुष्पक विमान द्वारा आज ही अभी लका से चला आ रहा हूँ। ये सब मेरे साथी, सुहृद तथा अतरङ्ग मित्र हैं। इनकी सहायता से ही मैं लका को जीत सका। ये वानराज सुग्रीव हैं ये ही वानरी सेना लेकर लका पर चढ गये थे। ये राक्षसराज विभीषण है। सग्राम मे इनकी सहायता न मिलती तो शत्रु पर विजय प्राप्त करना अत्यत ही कठिन था। ये पवन-तनय हनुमान् है। इनके सम्बन्ध मे अब मैं क्या कहूँ ये नल, नील, गवय, गवाक्ष आदि वानरी सेना के प्रधान-प्रधान यूथपति हैं आप इन सब पर कृपा करें, अनुग्रह की दृष्टि से इनकी ओर देखें।"

श्री राम के ऐसा कहने पर सभी ने पुन मुनि के पाद-पद्मो मे प्रणाम किया। मुनि ने सभी के प्रति वात्सल्य स्नेह प्रकट किया, सभी की कुशल पूछी। सब के सहित श्रीरामजी को यज्ञवेदी के समीप लाये। वहाँ आकर मुनिवर ने श्रीरामचन्द्रजी को विधिपूर्वक अर्घ्य दिया। श्रीरामचन्द्रजी ने अयोध्यावासियों की कुशल पूछी। भरत के समाचार जानना चाहे।

श्रीरामचन्द्रजी के पूछने पर गद्गद कठ से मुनि बोले—"राम ! भरत की बात मत पूछो। वे तो तुम्हारे स्नेह के साकार स्वरूप हैं, वे मूर्तिमान् तप है। साक्षात् धैर्य है। तितिक्षा की मूर्ति हैं, जैसा तप घर मे रहते हुए भरत ने किया है वैसा कोई कर ही नही सकता। वे राजधानी मे नही रहते। अयोध्या से दो कोश दूर नन्दिग्राम मे वे निवास करते है। आप भूमि पर

सोते है, इसलिए वे भूमि खोदकर गुफा मे रहते है। आपकी भाँति उन्होने भी वल्कल वस्त्र धारण कर रखे है। उनके सचिव अमात्य भी गैरिक वस्त्र पहिन कर उनके समीप रहते है। वे आपकी चरण-पादुकाओको सिंहासन पर रखते हैं उनसे निवेदन करके सब कार्य करते हैं। राज्य मे उन्ही की छाप चलती है। छत्रचँवर वे पादुकाओ पर ही धारण कराते हैं। उन्होंने एक गौ रखी है। उसे व जौ खिलाते है। उसके गोबर म से जा जौ साबित निकलते है, उन्हें वे स्वय बीनते हैं। उन बीने हुए जौ के दानो को सुखाकर उनकी दलिया बनाते है, उसे गोमूत्र मे पकाकर तीसरे पहर खाते हैं। वे शुक्ल पक्ष म एक-एक ग्रास बढाते है, कृष्ण पक्ष मे एक-एक ग्रास घटाते है। इस प्रकार वे चान्द्रायण व्रत करते रहते हैं निरन्तर आपके ही नामो को रटते रहते है।'

भरत तो भरतखण्ड के भूषण हैं। भरत की कीर्ति के सम्मुख सूर्य-चन्द्र फीके-फीके से प्रतीत होते है।'

मुनि के मुख से अपने भाई भरत की प्रशसा सुनकर भगवान् का हृदय भर आया। वे भाई की तपश्चर्या की बात सुनकर करुणा से अत्यन्त ही द्रवित हुए। उनके कमल-नयन से नेह का नीर बहने लगा। श्रीराम का ऐसी दशा देखकर प्रसग बदलने के लिये मुनि कहने लगे—"राघव! अब मेरी इच्छा है, कि तुम कुछ दिन मेरे आश्रम पर रहो।"

यह सुनकर आँसू पोछते हुए श्री राघव बोले—'प्रभो! यह तो मेरा सौभाग्य है, जो भगवान् मेरे प्रति इतना वात्सल्य प्रकट कर रहे हैं। भगवान् की सेवा का सौभाग्य बडे पुण्यो से प्राप्त हो सकता है। यदि मैं कुछ दिन भगवान् की सन्निधि मे रह सकता तो अपने को बडभागी समझता, किन्तु मैं विवश हूँ।

वनवास की अवधि आज ही समाप्त होती है यदि मैं कल अयोध्या में न पहुँचूंगा, तो मेरा भाई भरत अवश्य ही अपने शरीर को त्याग देगा। भगवान् की आज्ञा को तो मैं टाल नहीं सकता। आज की रात्रि मैं यहां भगवान् के आश्रम मे निवास करूंगा। अभी मैं महावीर हनुमान् को भरत के समीप भेजता हूँ। मेरे आगमन का समाचार सुनकर भरत को सन्ताप होगा। वह प्राण त्यागने का विचार छोड देगा। कल प्रात मैं भगवान् की आज्ञा लेकर अवध पुरी को जाऊंगा।'

मुनि ने श्री राम की बात का अनुमोदन किया। मुनि की सम्मति पाकर भगवान् ने हनुमान जी से कहा पवनतनय! तुम अभी अवध पुरी जाओ और भरत को मेरे आने की सूचना दो उसे धैर्य बंधाओ। उसके सब समाचार लेकर तुरन्त पुन मेरे पास लौट आओ। गङ्गा पार करते हुए उस पार तुम्हें शृंगवेरपुर मिलेगा। वहाँ का राजा निषादराज गुह है। वह मेरा परम मित्र है। मुझमे बडा अनुराग रखता है। उसे भी मेरी कुशल कहना। मेरी ओर से उसकी कुशल पूछना और मेरे आने का समाचार देना।"

भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके हनुमान् जी वायु वेग के समान आकाश मार्ग से चले। गङ्गा पार करके उन्होने शृंगवेरपुर मे निषाद राज को भगवान् का सन्देश सुनाया। गुह से सत्कृत होकर हनुमान् जी अयोध्या की ओर उडे। अयोध्या से इधर ही नन्दिग्राम के समीप वे उतरे। वहाँ उन्होने मुनि वेष मे ध्यान लगाये भरत जी को देखा।

जब से श्रीराम जी वन को गये थे तभी से भरतजी एक एक दिन गिनते रहे। गिनते गिनते आज चौदह वर्ष पुरे हो गये। आज उनकी दशा विचित्र थी, उनके हृदय मे विचारो का

बवडर सा उठ रहा था। वे बार-बार दक्षिण दिशा की ओर देखते। श्रीरामचन्द्रजी को आज सूर्यास्त तक आ जाना चाहिये। चित्रकूट मे उन्होने यही आश्वासन मुझे दिया था, किन्तु अभी तक उनके आने का मुझे कोई समाचार नही मिला। मैंने यहाँ से गङ्गा तक बहुत से अश्वारोही नियुक्त कर रखे हैं, उन्हे आज्ञा दे रखी है, कि राघव के आगमन का ज्योही समाचार मिले त्यो ही मुझे अविलम्ब समाचार दिया जाय, किन्तु अभी तक कोई अश्वारोही दौडकर आता हुआ दिखाई नही देता। देखते-देखते मेरी आखें पथरा गईं। 'श्रीराम आ रहे हैं' इन श्रुति मधुर शब्दो को सुनने को श्रोत्र अत्यन्त ही समुत्सुक हो रहे हैं, किन्तु कोई मुझे इन सुखद शब्दो को सुनाता नही। इस शुभ सवाद को कोई आकर कहता नही, यदि अभी श्रीराम शृंगवेरपुर तक नही आये, तो अब आवेंगे नही क्या? निश्चय ही उन्होने मुझे माता के सम्बन्ध से कुटिल समझा होगा। उन्होने मेरा मन से परित्याग कर दिया होगा। राम से रहित होकर मैं जीवित नही रह सकता। अब मैं कल प्रातःकाल होते ही अपने शरीर को प्रज्वलित अग्नि मे भस्म कर दूँगा।"

भरत जी इन्ही विचारो मे निमग्न थे, उसी समय पवन-तनय हनुमान् जी ने उनके समीप आकर जय जय श्री सीताराम का सुमधुर शब्द कहा। इस श्रुतमधुर शब्द को सुनकर भरत जी के रोम-रोम मे बिजली सी दौड गई। इन शब्दो मे न जाने कितनी मोहकता थी, कितना आकर्षण था, कि भरत जी चौक पड़े। सम्मुख उन्होने एक ब्राह्मण को खडा हुआ देखा। अत्यत ही स्नेह के साथ उसे देखने लगे।"

ब्राह्मण-वेष बनाये वानर-श्रेष्ठ हनुमान् जी बोले—"महा-भाग, आप जिन श्रीराम का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, वे

रावण को मारकर लक्ष्मण और सीता के सहित सकुशल तीर्थ-राज प्रयाग में भगवान् भरद्वाज मुनि के आश्रम पर ठहरे हुए हैं। आप कल प्रातः उन्हें प्रसन्नता पूर्वक यहाँ देखेंगे।"

इतना सुनते ही शीघ्रता के साथ भरत जी उठे। उन्होंने दौड़कर हनुमान् जी को हृदय से लगा लिया। नयनों के नीर से उन्हें अर्घ्य दिया और गद्गद कण्ठ से रुक-रुक कर कहने लगे—"महाभाग! आप कौन हैं? आप देवता हैं या यक्ष हैं? गन्धर्व हैं अथवा मनुष्य हैं। आप कोई भी क्या न हों, इस सुखद संवाद के सुनने से आप मेरे माननीय है, पूजनीय हैं। मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे मैं इस उपकार के बदले में आपको अर्पित कर सकूँ। फिर भी मैं ग्राम, धन, धान्य, वस्त्र, आभूषण और सुन्दरी सुकुमारी कन्यायें आपको अर्पित करता हूँ।"

यह सुनकर हनुमान् जी बोले—"प्रभो! मेरा नाम हनुमान् है। मैं अंजना के गर्भ से वायु के वीर्य द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ। मैं न देवता हूँ, न यक्ष, न गन्धर्व, न किंपुरुष तथा मनुष्य ही हूँ। मैं जाति का वानर हूँ। इसके पूर्व मैंने एक बार आपके और भी दर्शन किये थे, जब मैं संजीवनी बूटी वाले पर्वत को लेकर आ रहा था।"

यह सुनते ही भरत जी ने पुनः पवन-तनय का गाढ़ालिंगन किया और अत्यन्त ही स्नेह पूर्वक बोले—"अरे भैया हनुमान्! तुमने तो वेष ही बदल लिया। तुम तो भगवान् के अनन्य उपासक हो। जीवन तो तुम्हारा ही सार्थक है, तुमने अपना समस्त जीवन श्री राघव की सेवा में ही समर्पित कर दिया है। भगवान् लंका से कब पधारे? वे माता जानकी के सहित कुशल पूर्वक तो हैं ना? मेरे भाग्यशाली भाई जो अवस्था में छोटे होने

पर भी गुणों में मुझसे बड़े हैं, वे लक्ष्मण तो कुशल पूर्वक है न ? विजयी राम को अधिक श्रम तो नहीं उठाना पड़ा ? वे इस समय कहाँ है ? उन्होंने आपको क्या मेरी परीक्षा लेने भेजा है ? वे पधारे क्यों नहीं ? वे मुझे अपराधी तो समझते ही होंगे ? अपराधी तो मैं हूँ ही, किन्तु कृपा के सागर राम अपनी भक्त वत्सलता के कारण मेरा कभी स्मरण करते है क्या ?"

भरत जी के ऐसे प्रश्नों को सुनकर गद्गद कंठ से हनुमान्‌जी ने कहा—"प्रभो ! ये प्रश्न आपकी विनय के अनुरूप ही हैं। श्रीराम का न तो जानकी हरण की चिन्ता थी और न विजय की अभिलाषा, वे तो निरन्तर आपका ही चिन्तन करते रहते हैं। आपके लिये आज ही लंका से विमान में उड़कर तीर्थराज प्रयाग में पधारे हैं ! वे तो आज ही आ रहे थे, किन्तु भगवान् भरद्वाज के अत्यधिक आग्रह के कारण आज वे उनके आश्रम पर रह गये हैं। कल प्रातःकाल आप उनके दर्शन करेंगे। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। जिस प्रकार आप निरन्तर श्रीराम का चिन्तन करते रहते हैं उस प्रकार वे भी आपका सदा चिन्तन करते रहते है। संसार में श्रीराम को आप से अधिक कोई प्रिय है, इसका पता मुझे नहीं।"

यह सुनकर रूंधे हुये कन्ठ से भरत जी ने कहा—"पवन-तनय तुमने यह मुझे बड़ा ही सुखद संवाद सुनाया। संवाद क्या सुनाया है, मेरे जीवन को बचाया है, यदि आप आज यह संवाद न देते तो कल प्रात मैं निश्चय ही प्रज्वलित अग्नि में कूद कर अपने प्राणों को गँवा देता।"

हनुमान् जी ने कहा—"प्रभो ! इस बात को भगवान् ने बार-बार दुहराया था। इसीलिये आज उन्होंने मुझे यहाँ भेजा है अब आप मुझे आज्ञा दें। अब जाकर भगवान् को आपके

समाचार सुनाऊँगा और कल प्रात उन्हे साथ लेकर आपके समीप पुनः आऊँगा।

भरत ने ममता भरी वाणी मे कहा—"पवनतनय! मैं तुम्हें जाने को तो कैसे कहूँ, किन्तु पुन आने की अभिलाषा से तथा श्री रामचन्द्र जी के दर्शनों के लोभ मे मैं तुम्हे जाने को कह सकता हूँ, किन्तु तुम्हे स्मरण दिलाये देता हूँ, यदि कल प्रातः तुम भगवान् को साथ लेकर न आये तो फिर मुझे जीवित न पाओगे।"

हनुमान् जी ने कहा—"प्रभो! आप निश्चिन्त रहे। प्रातः भगवान् आपको अपने सभी साथियो सहित प्रेम पूर्वक देखेंगे स्नेह पूर्वक कन्ठ से लगायेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार आश्वासन देकर हनुमान् जी आकाश मार्ग द्वारा उडकर भगवान् के समीप चले गये। भरत जी भगवान् के स्वागत की तैयारियाँ करने लगे। प्रातःकाल होते ही अपने सचिव, मन्त्री, पुरोहित तथा पुरवासियो को साथ लेकर भगवान् की चरणपादुका को शिर पर रखकर अगवानी के लिये चले।"

छप्पय

निरखि भरत की दशा वायु सुत अति हरषाये।
बोले—"हे नरदेव! अवधिपति अब ई आये॥
सुनत सुखद शुभ बचन सुधा रसमहँ साने जनु।
व्यापो अङ्ग अङ्ग हरष भेयो पुलकित सबरो तनु॥
सुनि रघुपति को आगमन, भरत मुदित मन महँ भये।
समाधान सब भाति करि, पवनतनय प्रभुढिँग गये॥

श्रीराम और भरत का मिलाप

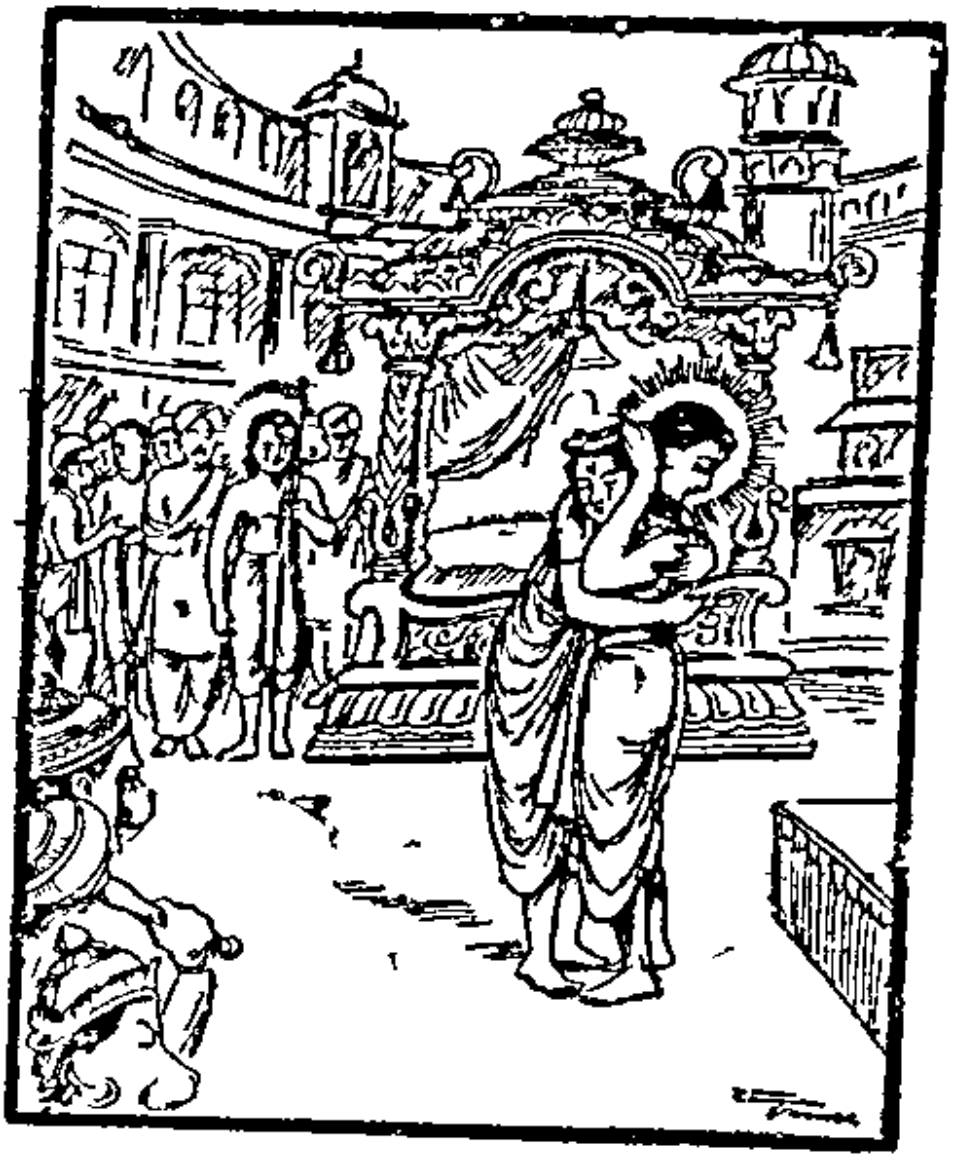

पारमेष्ठ्यान्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च ।
पादयोर्न्यपतत् प्रेम्णा प्रक्लिन्नहृदयेक्षणः ॥

पादुके न्यस्य पुरतः प्राञ्जलिर्बाष्पलोचनः ।
तमाश्लिष्य चिरं दोर्भ्यां स्नापयन् नेत्रजैर्जलैः ॥*
(श्री भाग० ९ स्क० १० अ०, ३९ ४० श्लो०)

छप्पय

इत सजिकें सब साज भरत स्वागत हित धाये ।
बाल वृद्ध नर नारि चले उठि सुनि प्रभु आये ॥
चले पढ़त द्विज वेद गीत ललना शुभ गावत ।
वाहन चढ़ि-चढ़ि चले हरषि हय वीर नचावत ॥
रामपादुका शीश धरि, राम चरन महँ रोवते ।
परे लकुट सम भरतजी, अँसुअनि भूमि भिगोवते ॥

प्रिय स्मरण, प्रिय दर्शन, प्रिय मिलन, प्यारे के साथ सम्भाषण प्रिय की सन्निधि में निवास और प्रिय की पल-पल की प्रतीक्षा इन सब में प्रतीक्षा ही श्रेष्ठ है। मिलन तो उसका फल है। प्रतीक्षा बीज है। उत्कंठा से वह सींची जा सकती है। चिरकाल तक सींचते-सींचते जब उसमें मिलन का मधुर फल लग जाता है तो तृप्ति होती है। जिस जीवन में प्रतीक्षा नहीं उत्कंठा नहीं, मिलन के लिये व्याकुलता नहीं, दर्शनों के लिये

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! महाराजों के योग्य छोटी बड़ी सभी सामग्री लेकर भरतजी रामजी की ओर चले और प्रेम से गद्-गद हृदय होकर नीर-भरे नयनों से भगवान् के पैरों में पड़ गये भगवान् की चरण पादुका उनके सम्मुख रखकर अञ्जलि बाँधे हुए बाष्पपूर्ण लोचनों से उनके सम्मुख खड़े हो गये। भगवान् ने भी उन्हें चिरकाल तक गाढ़ालिंगन करके अपने नेत्रों के जल से भिगो दिया।"

छटपटाहट नही। हृदय से हृदय सटाकर बाहुपाश मे बाँधने के लिये सिहरन नही, वह जीवन-जीवन नहीं। वह तो जडता है उत्कंठा ही साधन है, प्रतीक्षा मे ही समय की सार्थकता है। प्रतीक्षा मे स्फूर्ति है, मिलन मे शिथिलता है।'

सूतजी कहते है— 'मुनियो! भगवान् का सदेश सुनाकर समीरसुत हनुमान्जी भगवान् के समीप प्रयागस्थ भरद्वाज आश्रम मे लौट गये। अब भरत की दशा कुछ न पूछिये नेत्रो से निद्रा निकल कर बिना पूछे ही राम दर्शनो के लिये भाग गई उन्होने अपने सचिव, सैनिक तथा साथियो को इस शुभ समाचार की सूचना दे दी। सभी इस सुखद सवाद को सुनकर परम प्रमुदित हुए। सभी स्वामी के स्वागत के लिये तैयारियाँ करने लगे। भरतजी तो अपने आपे को ही भूल गये। कुछ करना चाहते थे, कुछ करने लगते थे। कुछ कहना चाहते थे, कुछ मुँह मे निकल जाता था। निरन्तर राम-राम रटते रहने से तथा श्रीराम का ही चिंतन स्मरण करने से उनकी दृष्टि राम रूप मे रग गई थी। स्नान करके उन्होने अरुणोदय के पूर्व ही समस्त चतुरगिणी सेना को तैयार होने की आज्ञा दे दी। जिस मार्ग से श्रीराम आने वाले थे, उसे विविध भाँति से सजाया। सुगधित जल से पवित्र छिडकन कराया गया। किनारे-किनारे तोरण वन्दनवार बाँधे गये। सुन्दर सुगन्धित खिले हुए पुष्पो की मालायें लटकाई गई स्थान-स्थान पर सुन्दर फाटक बनवाये गये जिनमे मोतियो की झालरे बाँधी गई। रग बिरगे रेशमी वस्त्रो से वे ढँके गये। राजपथ के दोनो ओर सुन्दर सुसज्जित सभ्य कुलीन तथा आज्ञाकारी स्वामि-भक्त प्रहरी खड़े हुए थे। अरुणोदय की लालिमा जभी नभ मंडल मे दिखाई दी, तभी भ्रातृस्नेही भरत, श्रीरामचन्द्रजी की चरण-पादुकाओ को सिर

पर रख कर उनके स्वागत के निमित्त चले। उनके इधर-उधर तथा पीछे वेदज्ञ ब्राह्मण ब्रह्मघोष करते जाते थे। गुरु वशिष्ठ उनके आगे-आगे चल रहे थे। सभी हित के कार्यों मे पुरस्सर रहना आगे-आगे चलना यही तो पुरोहित का कार्य है। वेद-ध्वनि से दशो दिशायें गूज रही थी। नन्दिग्राम से वे उस ओर चले जिस ओर से राघव आने वाले थे। उनके मत्री पुरोहित तथा अन्यान्य प्रधान-प्रधान कर्मचारी उनका अनुगमन कर रहे थे। रग विरंगे ध्वजा पताकाओ को लिये हुए सेवक साथ चल रहे थे। वे ध्वजायें सुन्दर चटकीले रग की बनी हुई थी। उन पर सुनहरे तारो से बेल बूटे बनाये गये थे। वेदपाठी ब्राह्मणो के पीछे विविध भाँति के बाजे बजाने वाले बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलकृत होकर ताल स्वर से वाद्यो को बजाते हुए चल रहे थे। उनके साथ पैदल सैनिक थे। उनके पीछे सुनहरी साजो से सजे हुए, सुन्दर घोडो पर चढे हुए अश्वारोही सैनिक चल रहे थे। उनके पीछे गजारोही और तदनतर रथो की पक्तियाँ थी। सभी उच्च स्वर से "राजारामचन्द्र की जय" बोल रहे थे। बहुत से सेवक महाराजाओ की पूजा के योग्य समस्त सामग्रियो के थाल लिये हुए थे। हाथो मे सुन्दर सुगन्धित पुष्प थे, कोई सुन्दर सुहावने हार लिये हुए थे। कोई दधि, अक्षत, लावा, अकुर, सरसो, दूध, घृत, शर्करा, मधु लिये हुए थे। कोई इक्षुदंड, सुन्दर स्वादिष्ट फल, चन्दन, अगुरु, कपूर, रेशमी वस्त्र, विविध भाँति के आभूषण लिये थे कुमारी कन्यायें पूजा आरती की थाली लिये हुए आगे चल रही थी। भरतजी आगे-आगे लडखडाते हुए चल रहे थे। उन्हे अपनी शरीर की सुधि-बुधि नही थी। सिर पर चरणपादुका रखे यन्त्र की भाँति अस्त-व्यस्त भाव से स्खलित गति से गमन कर रहे थे। निरन्तर अश्रु बहने के कारण

नयनो से कपोलो तक एक काली नाली-सी बन गई थी। श्रीराम के वन गमन का उनके उपर अत्यधिक प्रभाव पडा था। वे सूख-कर कांटा हो गये थे। उन्हे यह दुख क्षण-क्षण मे पीड़ा दिया करता था कि श्रीराम मेरे ही कारण वनवासी बने है। जब वे सोचते—"नंगे पैरो सुकुमार शरीर वाले श्रीराघव कटकाकीर्ण अवनि पर पैदल ही एक वन से दूसरे वन मे डोल रहे होंगे, तो उनका हृदय फटने लगता। वे सोचते थे जिस कोमलांगी सुकुमारी सीता के सुन्दर शरीर मे सुमनो की पंखुडियाँ तक गडती थी, आज वे मेरे ही कारण कठिन भूमि पर सो रही होगी। इन बातो के स्मरण होते ही उनकी आँखें भर आती और वे रोते रहते। उनके कपोल पिचक गये थे, नेत्र निकल आये थे। प्रातः-काल उठते ही वे हाथ जोडकर सूर्य की प्रार्थना करते—"हे पाप पुण्यो के साक्षी सविता देवता! मेरे पापो को हर लो। तुम मेरे पूर्वज हो। मेरे कुल के आदि देवता हो, मुझे राम से मिला दो मुझे मेरे भाई के चरणो क दर्शन करा दो।"

भरतजी से कोई कुछ पूछता, कोई कुछ कहता, तो वे नेत्रों मे जल भर दीनता के स्वर मे रोते-रोते कहते—'मुझ अभागे से यह क्यो पूछते हो, मैं तो ससार को मुख दिखाने के भी योग्य नही।" इस प्रकार निरन्तर आत्मग्लानि-युक्त जीवन बिताने के कारण उनके शरीर मे केवल अस्थिमात्र ही शेष रह गई थी। आज न जाने उन सूखी मुट्ठी भर हड्डियो मे इतना बल कहाँ से आया। वे लडखडाते हुए दौड रहे थे। नन्दिग्राम के समीप वे सुन्दर सर के समीप खडे हो गये और बार-बार दक्षिण दिशा की ओर देखते। जब बहुत देर हो गई तो उनकी अधीरता बढने लगी। कही हनुमान ने वानरी चचलता तो नही की। मुझे मरने से बचाने के लिये तो षडयन्त्र नही रचा। क्या, राघव मुझ जैसे

पापी को दर्शन देंगे। मेरे कारण उन्हे वनो मे भाँति-भाँति के क्लेश उठाने पडे, जिस सीता माता को स्वेच्छा से सूर्य भी नही देख सकते थे, जिसके कारण वनवासी कोल भीलो के सम्मुख उन्हे घूमना पडा, माँग-माँग कर कसैले, तिक्त, नीरस कन्दमूल फलो पर निर्वाह करना पडा, उस पापात्मा को प्रभु राम के दर्शन कैसे हो सकते है। अवश्य ही हनुमान ने मुझे फँसाये रखने को यह समाचार दिया है अथवा सत्य भी हो, क्योकि राम तो पतित पावन है, शरणागतवत्सल हैं, वे अपने सेवको के अवगुणो की ओर ध्यान नही देते, वे करुणा के सागर प्रणत प्रतिपालक हैं आते ही होंगे, भरद्वाज मुनि ने उन्हे देर में आज्ञा दी होगी।'

भरतजी इस प्रकार सकल्प विकल्प कर ही रहे थे, कि इतने मे ही प्राची दिशा से ससार के तिमिर को नाश करते हुए भगवान् भुवन भास्कर उदित हुए। जहाँ उसकी प्रथम किरण पृथ्वी के पदार्थो पर पडी वही भरतजी ऊपर क्या देखते हैं, कि दक्षिण दिशा से भी एक नवीन सूर्य उदित हो रहा है। रविकुल तिलक श्रीरघुनन्दन को पुष्पक विमान पर आते हुए सभी ने निहारा। पुष्पक विमान को देखकर सभी आनन्द से जय जयकार करने लगे। जन-समूह रूप समुद्र मे मानो ज्वार भाटा आ गया हो। बाजे तुमुल ध्वनि से बजने लगे, जयजयकारो के शब्द से दिशायें गूजने लगी। पारिजात के पुष्प सभी के ऊपर गिरने लगे। शनै शनैः पुष्पक नन्दिग्राम के सर के समीप उतरा। दूर से ही श्रीराम ने कृशतनु क्षीणकाय भरत जी को वल्कल और कोपीन धारण किये हुये पैदल ही अपनी ओर आते देखा। उनके काले-काले अति मनोहर घु घराले बालो को बिना तेल डाले जटायें बन गयी थी, निरन्तर उनके नयनो से नेह का नीर बह रहा था। उन्ही के समान उनके सभी मन्त्री

भी दुखित थे। सभी जटा वल्कल धारण किये हुये तपस्वियों के समान प्रतीत होते थे। चक्रवर्ती महाराज दशरथ के पुत्र श्रीराम अपने छोटे भाई भरत की ऐसी दशा देखकर रोने लगे। वे बार-बार लम्बी साँसें लेकर समीप में बैठे हुये विभीषण, सुग्रीव तथा हनुमान् आदि समस्त सुहृदों से कहने लगे—"भाइयो! तुम मेरे तपस्वी छोटे भाई भरत को देख रहे हो। यह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। मैंने तो वन में कुछ भी क्लेश नहीं उठाये। तुम सुहृदों की सहायता से मुझे तो सभी सुविधा प्राप्त थी, किन्तु राज्य पाट करते हुए मेरे भाई भरत ने जैसे क्लेश उठाए वैसे अन्य कोई राजा नहीं उठा सकता। तुम देखते नहीं हो, इसका तनु कितना कृश हो गया है। मुझमें इसका कितना अनुराग है, मेरे आगमन का समाचार सुनते ही अपने मन्त्रियों सैनिक और सेवकों के सहित मुझे लेने आगे आ रहा है।" भगवान् की ऐसी बातें सुनकर और भरत जी की ऐसी दशा देखकर सभी रोने लगे। सीताजी भरत की ओर देख न सकी। वे श्रीराम के वस्त्र से मुख ढाँक कर रोने लगी। लक्ष्मण आँसू बारम्बार पोछ रहे थे। उसी समय पुष्पक पृथ्वी के समीप आ गया। भरत को निकट देख कर भगवान् का हृदय विरह से कातर हो उठा। वे शीघ्रता से विमान से कूद पड़े और भैया! भैया! भरत! तुम कहाँ हो? कहाँ हो? कहते हुए भरत का आलिंगन करने दौड़े। श्री रामचन्द्र जी के पीछे-पीछे उनके साथी सहायक भी उतर पड़े। वेग से श्रीराम को अपनी ओर आते देख कर भरत जी दंड के समान भूमि पर पड़ गये।"

भरत को भूमि पर पड़ा देखकर श्री रामचन्द्र उन्हें बार-बार उठाने लगे, किन्तु वे प्रयत्न करने पर भी नहीं उठते थे। दोनों हाथों से उन्होंने अपने भाई के चरण पकड़ लिये थे, वे उन्हें नेत्रों

के जल से धो रहे थे और पलकों से उनकी धूल को पोछ रहे थे। वे सिसक-सिसक कर करुणा भरी वाणी में रुदन कर रहे थे। वे बार-बार कहते थे—"जब इन कोमल चरणों को सीता माता अपने कमल से भी कोमल करों से दबाती थी, तो ये और अधिक रक्तवर्ण के बन जाते थे, आज ही ये चरण कठोर अवनि पर मुझ दुष्ट पापी के कारण पैदल ही परिभ्रमण कर रहे है। मुझसे अधिक हतभाग्य इस संसार में कौन होगा। कृपा के सागर प्रभो! मुझ हीन मति मलीन अधम पर कृपा करो।"

इस प्रकार भरत जी ने अपनी मर्मान्तिक वेदना और वाणी अश्रुओं द्वारा भगवान् के चरणों में निवेदन की। भगवान् की चरण-पादुकाओं को सम्मुख रखकर वे नयनों से नीर बहाते हुए खड़े हो गये। करुणाकर श्री रामचन्द्रजी ने उन्हें अपने हृदय से चिपटा लिया। जैसे रोता हुआ अबोध बालक शरीर को शिथिल करके माँ की छाती से चिपट जाता है, उसी प्रकार भरतजी बड़ी देर तक भगवान् की छाती से चिपटे रहे। प्रेम का वेग कम होने पर श्री रामचन्द्र जी ने सम्मुख खड़े हुए अपने कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ को देखा। वे तुरन्त आगे बढ़ कर उनके पैरों में पड़ गये। वशिष्ठ जी ने अपने पैरों में पड़े श्री राघव को उठाकर उनका आलिंगन किया। फिर क्रमशः सभी पूजनीय ब्राह्मणों को भगवान् ने प्रणाम किया। समस्त पुरवासी सेवक सचिवों ने आकर भगवान् की चरण-वन्दना की। इधर भरत जी ने भी जाकर सीता माता के पैर पकड़े। लक्ष्मण जी ने भरत जी को प्रणाम किया। अपने छोटे भाई को प्रणाम करते देख दौड़ कर भरत जी ने उन्हें उठा लिया और रोते-रोते बोले "हैं हैं भैया! तुम यह क्या करते हो, तुम तो मेरे ही नहीं के प्रणम्य हो, जीवन का लाभ तो तुमने ही लिया। जन

तो माता सुमित्रा ने ही सार्थक किया। पुत्रवती कहलाने योग्य तो भगवती सुमित्रा ही है। भैया! तुम तो मेरे ऊपर कृपा करो। कभी जन्म जन्मातर मे मुझे भी तुम्हारी जैसी भक्ति प्राप्त हो।" लक्ष्मण अपने दुबले पतले भाई भरत की ऐसी वाणी सुन कर कुछ भी न बोले। वे रोते-रोते उनके पैरो को सुहलाने लगे। विभीषण, सुग्रीव अगद, हनुमान् तथा अन्यान्य बानर रो रहे थे। रोते-रोते इन सब ने भरत जी को प्रणाम किया। भरत जी ने उन सब का लक्ष्मण की भाँति आदर किया और प्रेम पूर्वक आलिगन किया।"

प्रजा के लोगो के हर्ष का पारावार नही था। वे जय-जयकार बोल रहे थे। खील बतासो और पुष्पो की वर्षा कर रहे थे। आनन्द से नाचते हुए अपने-अपने दुपट्टों को हिला रहे थे। श्रीराम के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित कर रहे थे, अपनी हार्दिक भक्ति जता रहे थे। श्रीरामचन्द्र के प्रणाम करने के अनन्तर सीताजी और लक्ष्मण ने भी पूजनीय विप्रो की चरण-वन्दना की।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार चिरकाल के अनन्तर भरत जी अपने भाई के दर्शनो से परम प्रमुदित हुए। जब सभी आपस मे मिल भेंट लिये तो श्री रामचन्द्र जी भरत जी को साथ लेकर पुष्पक विमान पर चढे।"

छप्पय

लखे भरत कृशगात राम रघुनायक रोये।
आलिंगन करि नयन नीर तैं चीर भिगोये॥
भरत राम को मिलन निरखि उपमा सकुचावे।
करुणा-हू है द्रवित नयन तैं नीर बहावे॥
सीता लछिमन सहित प्रभु, मिलि सब तैं पुष्पक चढ़े।
हँके सत्वत सबनि तैं, विनय सुनत आगे बढ़े॥

पुष्पकारूढ़ श्रीराम

पुष्पकस्थोऽन्वितः स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ।
विरेजे भगवान् राजन् ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः ॥
(श्री भा० ९ स्क०, १० अ०, ४५ श्लो०)

छप्पय

नर नारिनि तँ घिरे राम पुष्पक महँ भ्राजें ।
मनहु ग्रहनि के बीच पूर्ण शशि नभ महँ राजें ॥
भरत पादुका लिये विभीषण चँवर ढुलावें ।
श्वेतछत्र हनुमान व्यजन सुग्रीव हिलावें ॥
धनु रिपुसूदन तीर्थजल, सीय लिये अगद खड्ग ।
ढाल भालुपति ले खड़े, जनुशोभित शचिपति स्वरग ॥

इष्ट की पृथक्-पृथक् क्रीडाओ की पृथक्-पृथक् मुद्रायें होती हैं। उन सबको दर्शन अत्यन्त ही अन्तरग और सर्वथा सन्निकट रहने वाले ही कर सकते हैं। सर्वसाधारण पर कृपा करने के निमित्त, सबको झाँकी कराने के लिये जो छटा बनाई

---

* श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"हे राजन् ! भरत मिलाप के अनन्तर पुष्पक विमान मे विराजमान तथा सुन्दरी स्त्रियो से घिरे हुए तथा बन्दियो द्वारा जिनकी विरुदावली गाई जा रही है ऐसे श्रीराम आकाश में उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार नक्षत्र मडल के मध्य म उदित हुए चन्द्रमा सुशोभित होते हैं।"

जाती है उससे सब को तृप्ति होती है। ध्यान करने की झाँकी अपूर्व होती है। अपने अयुधों से युक्त पार्षदों से घिरे हुये इष्टदेव की अलौकिक दर्शनीय छटा को निहार कर किस सहृदय पुरुष का मनमुकुर न खिल उठेगा। चिरकाल में दिव्य झाँकी प्राप्त हो तो उससे किसको तृप्ति न होगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रयाग से प्रभु अपने भरत की तपोभूमि नन्दिग्राम की कुटी पर उतरे। वहाँ भरत ने उनकी चरण-वन्दना की। श्रीराम चिरकाल में अपने भाई भरत को पाकर परम प्रमुदित हुए। श्रीराम को तो अपने पिता की पावन पुरी में जाना है। १४ वर्ष पूरे होने पर आज ही अन्त पुर में प्रवेश करना है। अतः उन्होंने अपने दोनों भाइयों भरत और शत्रुघ्न को पुष्पक विमान पर चढ़ा लिया। रात्रि में ही बुद्धिमान मन्त्रियों ने पहुँच कर अयोध्यापुरी को विविध भाँति से सजाया था। प्रोषितभर्तृका नायिका का पति के आगमन पर सखियाँ सजाती हैं, वैसे ही अवधपति के आगमन पर अवध की राजधानी सजाई गयी थी। ऐसी सजी सजाई नगरी की ओर श्रीरामजी दिव्य पुष्पक विमान में अपने प्रिय पार्षदों और सेवक अनुचरों के सहित बैठ कर आकाश मार्ग से चले। उस समय की उनकी झाँकी दर्शनीय थी। ध्यान करने योग्य थी। रामरूप के अनुरागी उस पुष्कारूढ राम की मनोहर मूर्ति का ध्यान करें।

सजे सजाये दिव्य पुष्पकविमान के बीच में रत्नजटित मणि माणिक्यों से युक्त दिव्य सुवर्ण का सिंहासन विराजमान है। उस पर वैदेही के सहित श्रीरामजी विराजमान हैं। अभी राघव ने वही वनवासी वेष बना रखा है। छोटी-छोटी जटायें वायुवेग से कमल के समान सदा प्रसन्न मुख पर झुककर झूमकर बिथुर रही

हैं। बडी-बडी जटाओ को एकत्रित करके उनका मुकुट-सा बनाया गया है। वह जटाओ का मुकुट नील कमल के सदृश मुख पर ऐसा ही प्रतीत होता है मानों बहुत से भ्रमर एक साथ ही कमल पर बैठे हो। बड़े-बडे नरस विकसित नेत्रो से चकित-चकित दृष्टि से विस्मय और अनुराग भरी चितवन से, भगवान् इधर-उधर निहार रहे हैं। सुन्दर गोल-गोल लोल कपोल मद-मद मुसकराहट के कारण कुछ उभरे हुए उठे से ऐसे प्रतीत होते हैं मानो दो मकरन्द भरे अरविन्दो के नीचे अक्षय सुधा की भरी दो दिव्य डिबियाँ चमक रही हो। नुकीली नासिकाओ के छिद्रो से निकली हुई दिव्य सुगधित हुई वायु विश्व मे शातिका प्रसार कर रही है। कानो के कुसुम कपोलो की आभा से फीके-फीके से प्रतीत होते हैं। अधर और ओष्ठ की लालिमा से स्वच्छ और शुभ्र दाँतो की पक्तियाँ दाडिम के दानो के सदृश कुछ लालिमा-सी लिये प्रतीत होती हैं। कम्बुकण्ठ मे पुष्पो की माला स्वय ही शोभित हो रही हैं। एक विशाल बाहु जनकनदिनी के कन्धे पर रखा है। चीर वसन कुछ अस्त व्यस्त भाव से इधर-उधर हो रहे है। वाम चरण को दक्षिण चरण की जघा पर रखे हुए हैं। श्री सीता जी सुंदर पीले रगकी रेशमी साडी पहिने हुए है। वे दिव्यवस्त्राभूषणों से सुशोभित हैं। सिर पर की चन्द्रिका चचल सी हो रही है। कर मे क्रीडा कमल अपनी स्वभाविकी गति से स्वत ही हिल रहा है, वे अपने प्राणनाथ प्रियतम से सटी हुई बैठी है। भगवान् की चरण पादुकाओ को लिये हुये भरत जो भगवान् से अत्यन्त आग्रह से उनके चरणो के समीप बैठे-बैठे अनिमेष दृष्टि से रामचन्द्र के मनोहर मुख को निरन्तर निहार रहे है। सिंहासन के पीछे मनुष्य रूप रखकर राक्षसराज विभीषण और वानरराज सुग्रीव खड़े है। विभीषणजी के हाथ मे सुदर मृगराज की मूंछ

वाला दिव्य चँवर है। सुग्रीव जी व्यजन लिये हुए उसे सावधानी के सहित हिला रहे हैं। सौ सुवर्ण की तानो वाले श्वेत छत्र को पवन तनय महावीर हनुमान ताने हुए हैं, जिसमे लटकती हुई मोतियो की झालरें हिल-हिल कर सगुण सच्चिदानन्द के सौन्दर्य का समर्थन-सा कर रही हैं। शत्रुघ्नजी भगवान् के दिव्य आयुध धनुष और तरकश लिये हुये पार्श्व मे खड़े हैं। जगज्जननी भगवती सीता जी के एक कर मे तो कमनीय क्रीड़ा कमल है, दूसरे मे वे विविध तीर्थो के जलो से पूर्ण कमडल थामे हुए हैं, जो कन्यायें स्वागत् सत्कार के लिये लाई गईं थी वे रामरूप मे पगी हुई इधर-उधर बैठी हुई है। वानरो की स्त्रियाँ मनुष्य वेश बनाये पुरजन परिजनो के अलौकिक प्रेम से अत्यन्त ही प्रभावित बनी चुपचाप श्रीराम की रूपमाधुरी का पान कर रही हैं। सम्मुख बदीजन स्तुति कर रहे है। वे वैदेही हृदयधन, भरताग्रज राघव की विरुदावली का गान कर रहे हैं। पुष्पक विमान बिना हिले डुले आकाश मे उड रहा है। उसके ऊपर आकाश से देवता पुष्प वृष्टि कर रहे है। ऐसी मनोहर झाँकी को देख कर सभी पुरवासी नगरवासी नर नारी परम प्रमुदित हो रहे हैं। पुष्पक शनः-शनैः इस प्रकार उड़ रहा है, कि नीचे वाले सभी नर नारी चिरकाल से लौटते हुए कौशल्यानन्दनवर्धन, जानकी जीवन, प्रजा के प्राण श्रीराम के दर्शन कर लें। जहाँ-जहाँ से विमान उड़कर जाता, वहाँ-वहाँ के पथ पुष्पो से भर जाते। नीचे खड़े हुए सभी स्त्री पुरुष मुक्तकठ से कह रहे थे—"रघुनदन आपकी जय हो! कौशल्यानन्दवर्धन राघव, आपकी जय हो! दशरथनन्दन प्रभो, आप की जय हो! सूर्य कुलभूषण श्रीराम, आपकी जय हो!"

इस प्रकार जनता के जयजयकारो को सुनते हुए, सभी को प्रेम-भरी दृष्टि से निहारते हुए, सभी के नेत्रो को सफल करते हुए

श्रीरामचन्द्रजी अपने प्रिय पार्षदो से घिरे हुए अवध की ओर जा रहे थे। कुछ ही काल के अनन्तर उन्हे नववधू के समान सजी सजाई अपने पिता की राजधानी दिखाई दी। शत्रुघ्न की आज्ञा से आज पुरी विविध प्रकार से सजाई गई थी। नगरवासियों को स्वय ही राम आगमन के कारण अत्यधिक उत्साह था। अत बिना कहे ही सभी ने सर्वत्र सजावट की थी। ऐसा कोई घर नही था जहाँ केले के खम्भे न गडे हो। जहाँ सुगन्धित धूप न जलाई गई हो चौराहो पर पुष्प बखेरे गये थे। मालायें लटकाई गई थी। सभी सडकें स्वच्छ करके सुदरता के साथ सजाई गई थी। सभी आबाल वृद्ध नर-नारी राम दर्शनो की अभिलाषा से राज-पथ के दोनो ओर खडे थे। कुलवन्ती स्त्रियाँ अपनी-अपनी अटारियो पर चढी झरोखा और गवाक्षो से झाँक रही थी। उससे ऐसा प्रतीत होता था मानो सभी भवन सजीव होकर सहस्र-सहस्र नेत्रो से भगवान् के दर्शन कर रहे हो। राम दर्शनो के लिए समुत्सुक जनता के उत्साह का वर्णन असम्भव है। बच्चे उचक-उचक कर बार बार आकाश की ओर निहार रहे थे जहाँ से भी पुष्पक विमान निकल जाता वही के लोग पीछे पीछे दौडने लगते। इस प्रकार पुरी के समीप पहुँचते-पहुँचते भीड मर्यादा का उल्लङ्घन कर गई। उस अपार भीड मे किसी का कुछ सूझता ही नही था। छोटे-छोटे बच्चो को भली-भाँति भगवान् के दर्शन नही होते थे। भक्तवत्सल भगवान् सबकी विवशता समझ गये। उन्होने विमान को उतरने की आज्ञा दी। तुरन्त विमान नीचे उतारा गया। अब वे सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित खुली पालकी मे विराज, जिससे सभी को भली भाँति दर्शन हो सकें समस्त वानर मनुष्य वेष बनाकर बडे-बडे हाथियो पर बैठे। वे अयोध्या की शोभा और जनता के प्रेम को देखकर चकित-चकित नेत्रो से इधर-उ

निहार रहे थे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार पुष्पकारूढ राम अब शिविकारूढ होकर नगर के राजपथ से अन्तःपुर की ओर बढने लगे।"

छप्पय

बोलें नर अरु नारि मुदित मन जय जय मिलि सब।
सबकूँ दरशन देत चले पुष्पक तैं राघव॥
अटा अटारी चढी सुमन सब तिय बरसावैं।
राम दरश हित बाल वृद्ध इत तैं उत धावैं॥
तजि पुष्पक शिविका चढे, जन-समूह अति राम लखि।
नयन नीर सबके भरे, मुनि—व्रत युत रामहिं निरखि॥

अन्तः पुर में श्रीराम

भ्रातृभिर्नन्दितः सोऽपि सोत्सवां प्राविशत् पुरीम् ।
प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः स्वमातरम् ॥
गुरून् वयस्यावरजान् पूजितः प्रत्यपूजयत् ।
वैदेही लक्ष्मणश्चैव यथावत् समुपेयतुः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ० ४६, ४७ श्लो०)

छप्पय

करि सबको सम्मान मातु महलनि प्रभु आये ।
सबतें पहिले भरत मातु चरननि सिर नाये ॥
झेंप छुडाइ हँसाय सुमित्रा के पद पकरे ।
कौशल्या रघुनाथ मिलन लखि रोये सबरे ॥
चूमे चाटें प्रेम तें, धेनुवत्स अति लघुहि लखि ।
कौशल्या प्रमुदित भई, त्यों रघुनन्दन कू निरखि ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन ! इस प्रकार अपने भाइयों से सत्कृत हुए भगवान् उत्सवपूर्ण अयोध्या पुरी में प्रविष्ट हुए । राजभवन में पहुँचकर उन्होंने माता का तथा गुरु पत्नियों का गुरुओं तथा बराबर वालों का स्वागत सत्कार किया । छोटों के द्वारा स्वयं सम्मानित हुए । इसी प्रकार उनके ही समान सबसे व्यवहार करते हुए लक्ष्मण और सीताजी ने भी उनके साथ प्रवेश किया ।"

जो हमारे साथ उपकार करे, उसके प्रति कृतज्ञ होना तो स्वाभाविक ही है। जो उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट नहीं करते वे तो कृतघ्न तथा अधम कहलाते हैं, किन्तु जो अधिकारियों के प्रति भी प्रेम प्रदर्शित करें और उनके अपकारों की ओर ध्यान ही न दें वे ही महान है। महापुरुष सदा अपकारी का सम्मान करते हैं। वे सोचते हैं, मेरे कारण इसे दुख न हो। इसलिये वे उसका अधिक ध्यान रखते हैं। वास्तव में देखा जाय तो कौन किसका अपकार या उपकार कर सकता है। जैसे अपकारी अपकार करने को विवश है वैसे ही उपकारी उपकार करने के लिये बाध्य है। साधुओं से किसी का दुख सहा ही नहीं जाता। अपने कारण कोई सकुचित न हो इस कारण वे हँस कर प्रेम प्रदर्शित करके उसके संकोच को छुड़ा देते हैं।

सूतजी कहते है—मुनियो! वन से लौटे हुए श्री राम पुष्पक से उतर कर शिविका पर आ विराजे जिससे सभी भली भाँति उनके दर्शन कर ले। भगवान् की भोली भाली मधुर मूर्ति के दर्शन करके सभी नर नारी अपने आप को भूल गये। सती सीता अपने पति के समीप बैठी थी। उन्हे देखकर स्त्रियाँ परस्पर कहने लगी—"देखो स्त्री होने का परम लाभ तो इन विदेह-नन्दनी को ही प्राप्त हुआ है जो लोकाभिराम श्रीराम के मनोहर मुख चन्द्र को चातकी की भाँति निरन्तर निहारती रहती हैं ये परम सौभाग्यवती भगवती कितनी भाग्यशालिनी है कि जिनकी कृपा कटाक्ष के लिये बड़े-बड़े ब्रह्मादिक देवता तरसते है। उनकी ये कठमाल हैं। कौशल्यानन्दवर्धन रघुनन्दन इन्हे प्राणो से भी अधिक प्यार करते हैं इनके बिना वे जीवित रहना नही चाहते तुमने सुना नही, जानकी के हरण पर ये कितने दुखित हुये थे।

भालु वानरों की सेना सजाकर ये लका पर चढ गये और रावण को मारकर जानकी को छुडाकर ही लौटे।

दूसरी कहती—"सखि! सीता के सौभाग्य के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या। हम तो कोल-भील तथा जगली जाति वन-वासिनी कन्याओ को भी अत्यन्त बडभागिनी समझती है, जिन्होने शारदीयचन्द्र के समान विकसित रामचन्द्र के मुखारविन्द मकरन्द का निर्निमेष दृष्टि से अपने बडे-बडे लजीले भ्रमर के समान लोचनो की कोरो से तृप्त होकर पान किया है। कमल की सुषमा को भी तिरस्कृत करने वाला इनका मधुर मुख मन्द-मन्द हास्य से सदायुक्त ही रहता है। नेत्रो की सार्थकता इस अद्भुत अनुपम आनन को निहारने मे ही है। बन्धूक पुष्प की आभा को भी तिरस्कृत करने वाले इनके रस-भरे कोमल अधर जिस आनन पर भी प्रेम चिन्ह अंकित करने होगे उस आनन के भाग्य की तुलना त्रैलोक्य मे कहाँ मिल सकती है। आज हम सब भी भाग्यवती बन गई जो १४ वर्ष के अनन्तर वनवास से लौटे हुए जानकीजीवन सौमित्र-सर्वस्व कौशल्यानन्दन भरताग्रज श्रीराम का स्नेह दर्शन कर रही हैं।" इस प्रकार-स्नेह मे पगली-सी हुई आत्मविस्मृत हुई, अवध की रमणियाँ परस्पर मे श्रीरामचन्द्र की प्रशंसा करने लगी। कोई ऊपर पुष्प बरसाती, कोई धूप जलाती, कोई मगल द्रव्य चढाती। राजपथ के उभयपार्श्वों मे खडे हुए आबालवृद्ध पुरुष जयजयकार करते। उन सबके स्वागत् सत्कार के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए सदा प्रसन्न राम शिविका मे विराजे अन्तःपुर की ओर बढ रहे थे। राम-दर्शनो के लिये पुरुष अत्यन्त ही पिपासित प्रतीत होते थे। श्रीराम उन सबको अपनी स्नेहमयी मधुमयी दृष्टि से ही सन्तुष्ट करते हुए जा रहे थे।

शिविकावाहक अपने भाग्य की सराहना करते हुए उन्हें जीवन की अमूल्य निधि समझकर ले जा रहे थे। वे माता कौशल्या के महलो की ओर ज्योही बढे–त्योही राजीव–लोचन रघुनन्दन ने अपने कोकिल-कूजित कमनीयकठ मे स्नेह-पूर्वक कहा—"बन्धुओ! सर्वप्रथम मैं अपनी मझली माता भगवती कैकेयी देवी के दर्शन करना चाहता हूँ। तुम सब उनके ही महलों मे मुझे ले चलो।"

भगवान् का सकेत पाकर शिविका वाहक सेवक उसी ओर बढे। सभी नर नारी अन्त.पुर के द्वार के बाहर ही रुक गये। लक्ष्मण सीता सहित श्रीरामजी और भरत शत्रुघ्न ये ही उस ओर बढे माता के महल के द्वार पर दीन बन्धु राघव उतर पडे। पैदल ही उन्होने भीतर प्रवेश किया। दूर से ही दयासागर श्रीराम को देखकर कैकेयी के ऊपर तो मानो सहस्रो घडे पानी पड गया। वे लज्जा सकोच के कारण सम्मुख प्रणाम करते हुए श्रीरामचन्द्रजी को देखकर भी कुछ न बोल सकी। आत्मग्लानि दुख और श्रीराम की उदारता के भार से वह भूमि मे गडी जाती थी। लज्जा के कारण सिर उन्नत करने का भी उसका साहस नही होता था।

भरत की माता को इस प्रकार लज्जित देखकर ममता भरी मधुरवाणी में श्रीराघव बोले—"माँ! तुम मुझसे बोलती क्यो नही, मै वन से अवधि पूर्ण करके लौट आया हूँ। क्या माताजी आप मुझसे प्रसन्न नही है।"

कैकेयी ने आँसू पोछते हुए कहा—"राम! तुम निष्पाप हो। मैं अपने कुकृत्य के कारण लज्जित हूँ, मैं तुम्हे मुख दिखाने योग्य नही।"

अत्यन्त स्नेह से सनी वाणी से भरताग्रज बोले—"माँ! तुम

उन बातो को भूल जाओ। यह सब तो प्रारब्ध का खेल है। भाग्य की विडम्बना है, दैव की लीला है। उसमे आपका दोष नही है। इतना कहते-कहते राम माता से सट से गये। माता ने पश्चात्ताप के अश्रुओ से वनवासी वेषधारी राम की सम्पूर्ण जटा भिगो दी। गाढालिंगन करके उन्होने राम के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया। पुन. सीता और लक्ष्मण को भी हृदय से लगा कर आशीर्वाद दिये।"

भगवान् राघवेन्द्र कैकेई के भवन से भगवती सुमित्रा के यहाँ गये। रामागमन को सुनकर पगली सी बनी माता द्वार की ओर दौडी और पैरो मे पडे हुए अपने पुत्रो को उठाकर उन्होने उनका आलिंगन किया। स्नेह से सिर सूँघा और सीता को सदा सौभाग्यवती रहने का आशीर्वाद दिया। श्री रामचन्द्र जी ने स्नेह भरित वाणी मे कहा—"माँ, लक्ष्मण के कारण ही मेरे वनवास की अवधि पूर्ण हुई। यदि लक्ष्मण न होता, तो मेरे लिए तो ऐसे बीहड वनो मे सीता-सहित एक दिन भी रहना सम्भव नही था। लक्ष्मण ने जैसे सेवा की है, वैसी निष्कपट निर्व्यलीक सेवा कोई कर ही नहीं सकता। पग-पग पर इसने मुझे विपत्तियो से बचाया। वनो मे भी सभी प्रकार का सुख पहुँचाया। स्वय जाग-जाग कर मुझे सुख स सुलाया। मेरे सकल्पो को साकार बनाया। जब दुष्ट रावण अकेली पाकर जानकी को हर ले गया था, तो लक्ष्मण की ही सहायता से मैं उसे मारकर सीता को ला सका। लक्ष्मण के बिना मैं सीता को प्राप्त कर ही नही सकता था। लक्ष्मण के गुणो को प्रकट करने की मेरी शक्ति नही। देवी, तुम ऐसे पुत्ररत्न को प्रसव करके यथार्थ मे जननी बन गई। तुम ही वसुन्धरा हो। तुम ही रत्नगर्भा हो। तुम ही धारण पोषण करने वाली वास्तविक शक्ति हो" इन वचनो को

सुनकर सुमित्रा लज्जित हुई। उन्होंने अपने पुत्रों और पुत्र-वधुओं को आशीर्वाद दिये उन्हें आगे करके वे कौशल्या जी के भवन की ओर बढ़ी। श्रीराम अपनी जननी के दर्शन के लिये उत्कन्ठित हो रहे थे। माता के भवन की ओर आते हुए उनका हृदय भर रहा था।

माता ने जब राम का आगमन सुना तो वे लड़खड़ाती हुई आगे बढ़ी। अस्त व्यस्त भाव से माता को अपनी ओर आते देखकर वेग से दौड़कर श्री रामचन्द्र जी माता के चरणों मे गिर गये। चिरकाल के अनन्तर अपने लाल को पाकर माता की प्रसन्नता का ठिकाना नही रहा। वे प्रेम के अश्रुओं से श्रीराम के बालों को भिगोती हुई बार-बार उनका सिर सूंघने लगी। गोदी मे बिठाकर अबोध शिशु की भाँति प्यार करने लगी। कंठ गद्गद हो जाने से वे न कुछ बोल सकी और न कुछ समाचार ही पूछ सकी।

श्री रामचन्द्र जी ने देखा, माता मेरे वियोग से अत्यन्त कृश हो गई है, ता व बड़े स्नेह से कहन लगे—"माँ! हमारे जीवन के ये १४ वर्ष आपकी बिना सेवा किये हुए व्यर्थ ही व्यतीत हुए। पुत्रों का प्रथम कर्तव्य यह है, कि माता-पिता की सेवा करें। जो पुत्र माता-पिता की सेवा नही करते, वे तो उदर मे उत्पन्न हुए अथवा वीर्य से उत्पन्न हुए कीड़े के समान है। पहिले तो मैं बच्चा ही था। तुम्हारे द्वारा ही पोष्य था, जब कुछ बड़ा हुआ, सेवा के योग्य हुआ तो पिता के आदेश से वन जाना पड़ा। जननी हमारे अपराधों की ओर ध्यान न देना। हम तो सदा आपके अपराधी हैं, यह सुकुमारी सीता तुम्हारे पादपद्मों मे प्रणाम कर रही है। इसने वन मे बड़े-बड़े क्लेश उठाये हैं।

अपनी पुत्रवधू को पैरो मे पड़ी देखकर माता ने उसे बल-

पूर्वक उठाया और अपने हृदय से बड़ी देर तक चिपकाये रही। फिर अत्यन्त स्नेह से कहने लगी—"अनिन्दिते सीते ! तैने अपने जीवन को धन्य बना लिया। मेरी पवित्र स्वभाव वाली बहू ! तुमने अपने चरित्र से पतिव्रत का परमोत्कृष्ट आदर्श उपस्थित कर दिया। जिस समय तू राम के पीछे-पीछे छाया की भाँति वन को जाने के लिए उद्यत हो रही थी, उस समय मेरी छाती फटी जा रही थी। मैं सोच रही थी, राम के लिये तो वन जाने की पिता की आज्ञा है, यह सुकुमारी सीता व्यर्थ वन क्यो जा रही है। यह रह जाती तो मेरे लिये एक अवलम्ब हो जाता। इसलिये मैंने तुझे बहुत समझाया, किन्तु तू नही मानी। पति का पीछा तैने नही छोडा। पति का पल्ला पकड कर प्रसन्नता-पूर्वक तू पैदल ही चल पडी। उस समय मुझे अच्छा नही लगा था। अब सोचती हूँ तैने अच्छा किया। यदि उस समय तू मेरी बात मानकर मोह वश ठहर जाती, तो शरीर को कुछ दिन का यत्किंचित् सुख भले ही मिल जाता, किन्तु इस प्रकार तेरा यश दिग्दिगन्तो मे व्याप्त न होता। तू इस प्रकार पतिव्रताओं में मुकुटमणि न समझी जाती। आज तैने अपनी कीर्ति से तीनो लोको को भर दिया बेटी ! तैने अपने शीलस्वभाव से पितृ-वश तथा पति-वश दोनो ही वशो को पावन बना दिया। वैदेही ! तैने अपने पिता के नाम को अमर कर दिया। भगवान् करे तेरी कीर्ति सूर्य, गङ्गा, यमुना तथा हिमाचल की भाँति सदा व्याप्त रहे। जैसी तू वीर पत्नी है वैसी ही वीरप्रसविनी भी हो।" सिर झुकाये लज्जा मे सिकुडी अपनी सास के बाहुपाश मे आबद्ध सीता इन बातों को सुन कर सकुचित हो गई। उसने नेह के नीर से अपनी सास के सूखे कोमल कमल के समान पैरो को भिगो दिया।

तदनन्तर श्री रामचन्द्र जी ने कहा—"माँ तू सब आशीर्वादों

को अपनी बहू को ही दे डालेगी या कुछ मेरे लिये या इस भाई लक्ष्मण के लिए भी छोड़ेगी। देखो, यह राजसुख छोड़कर मेरे पीछे-पीछे वन गया था। पलक जैसे आँखों की रक्षा करते है, वैसे वन में रहकर इसने मेरी और सीता की सदा रक्षा की है। इसने कभी आलस्य नही किया, कभी अश्रद्धा के भाव प्रकट नही किये। जैसे प्राण शरीर का पोषण करते हैं वैसे यह हमारा पोषण करता रहा। यह कब से तुम्हारे पैरों मे पड़ा है।" इतना सुनते ही माता ने शीघ्रता पूर्वक लक्ष्मण को छाती से लगा लिया और बिलखती हुई बोली—"बेटा लक्ष्मण! मैं तुम्हे क्या आशीर्वाद दूँ। मैं सुनती हूँ भगवान् इस विश्व का भरण पोषण करते हैं किन्तु तुम भगवान् का भी भरण पोषण करने वाली हो इस सम्पूर्ण जगत को पृथ्वी ने धारण कर रखा है, उस पृथ्वी को भी धारण करने वाले तुम हो तुम्हें मैं क्या आशीर्वाद दूँ। बेटा! राम के ही समान ससार मे तुम्हारा चरित्र गाया जाय तुम राम के बिना न रह सको, राम तुम्हारे बिना न रहे। राम तुम्हारे रोम-रोम में रम जायँ, सुम राममय बन जाओ।" माता के इन हार्दिक आशीर्वादो को पाकर लक्ष्मण कृतार्थ हो गये। उन्होने पुनः पुनः भगवती कौशल्या की चरण धूलि अपने मस्तक पर चढाई।

सबके स्वस्थ्य होकर बैठ जाने पर चीर वसन पहिने, हाथ जोड़े हुए कृश गात्र भरतजी खड़े हुए। वे नेत्रों से अश्रु बरसाते हुए गद्गद कंठ से बोले—"राघव? मुझे अयोध्या का राज्य मेरे पिता ने नही दिया था। पिताजी तो मेरे पीछे ही परलोक प्रयाण कर गये थे। केवल माता को राज्य देने का अधिकार ही नही। मुझे आपने ही चित्रकूट मे अवध का राज्य दिया था। आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके १४ वर्षों तक न्यास की भाँति मैंने इसकी

रक्षा की। चरणपादुकाओ को सिर पर रखकर उसके सम्मुख सब निवेदन करता रहा। अब आप आ गये है। अपनी धरोहर को सम्हालिये। प्रभो! मशक जैसे सुमेरु को नही सम्हाल सकता काक जसे हंस की चाल, नही चल सकता, उसी प्रकार मै इतने बडे राज्य का पालन नहीं कर सकता तथा इक्ष्वाकु, भरत भगीरथ ककुत्स्थ आदि अपने कुल के कीर्तिमान राजर्षियो के पथ का अनुसरण नही कर सकता। राज्य के अधिकारी तो आप हैं। इस भूमडल की तो बात ही क्या आप चराचर का पालन करने मे समर्थ है।'

भरतजी की बात सुनकर सभी परम प्रमुदित हुए। भरत के शील, स्वभाव, सदाचार की सभी भूरि भूरि प्रशसा करने लगे। माता कौशल्या न स्नेह भरी वाणी मे कहा—'राम! मुझे तेरी उतनी चिन्ता नही थी। मुझे तो रात दिन अपने बेटे भरत की ही चिन्ता लगी रहती थी। मै तो इसकी ओर देख भी नही सकती थी इसने जैसी तपस्या की वैसी तो कोई कर ही नही सकता। भैया! अब तुम इसकी इच्छा को पूर्ण करो। मै भरत को प्रसन्न देखना चाहती हूँ इन गत १४ वर्षो मे मैंने भरत को कभी हँसते हुए नही देखा। तेरे वियोग मे सदा रोना ही रहा। इसके कारण हम सब तेरी चिन्ता भूल गये। भरत की ही चिन्ता हमे लगी रही। अब यह जो भी कहे, उसे बिना ननु नच के तू मान ले।"

माता के इन वचनो को सुनकर रुक रुक कर अवरुद्ध कठ से श्रीराम बोले—"माँ! भरत के सम्मुख अब मैं उसके सम्बन्ध में क्या कहूँ छोटो की उनके मुख पर प्रशसा करने से उनकी आयु क्षीण होती है, ऐसा 'शास्त्रो का मत है, किन्तु मै प्रशसा के लिये नही, यथार्थ बात कह रहा हूँ। भरत के समान भाई ससार में मिलना दुर्लभ है। मै भरत के ही कारण इतनी दूर से दौड

कर पुष्पक विमान से उडकर—यहाँ आया हूँ। भरत जिस कार्य से भी प्रसन्न हो, उसे ही करने को तैयार हूँ।"

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! श्रीरामचन्द्रजी की यह बात सुनकर सभी को अत्यन्त हर्ष हुआ भगवान् वशिष्ठ तथा अन्यान्य ज्योतिष विद्या के पारगत ब्राह्मण गण बुलाये गये। उसी समय रामराज्याभिषेक का मुहूर्त पूछा गया। सबने बताया शुभकार्य का हृदय का उत्साह देखकर शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहिए। इसलिय कल ही शुभ मुहूर्त है, कल ही यह कार्य सम्पन्न हो।" दैवज्ञो के मुख से यह बात सुनकर सब बडे प्रसन्न हुए और राज्याभिषेक की तैयारियाँ करने लगे।"

छप्पय

राम मातु कृश गात निरखि बालक सम रोये।
सिकुड़े अति सुकुमार चरन अँसुअनि तैं धोये॥
सीय लखन प्रति प्यार कर्‍यो मो आशिष दीन्हीं।
तबहिँ सुअवसर पाइ भरत यह विनती कीन्हीं॥
राम सम्हारें राजकूँ, हम सब मिलि सेवा करहिँ।
पावें प्राणी परमपद, बिनु प्रयास सब भव तरहिँ॥

रामराज्याभिषेक

[६९०]

जटा निर्मुच्य विधिवत् कुलवृद्धैः समं गुरुः ।
अभ्यषिञ्चद् यथैवेन्द्रं चतुःसिन्धुजलादिभिः ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० १० अ० ४९ श्लो)

छप्पय

भरत विनय सुनि सचिव सहित सब जन हरषाये ।
निरखि राम रुख तुरत पुरोहित विप्र बुलाये ॥
विधिवत् क्षौर कराइ वस्त्र आभूषन पहिने ।
सासुनि सीय न्हवाइ दिव्य पहिनाये गहने ॥
सप्तद्वीप अंकित करे, बाघम्बर पै विप्रगन ।
शुभ सिंहासन सजि गयो, आइ विराजे सुखसदन ॥

वृक्षों की सार्थकता फल-फूलों से है, स्त्रियो की सार्थकता पुत्रो से है, धन की सार्थकता दान से है, विद्या की सार्थकता विनय से है, औषधि की सार्थकता रोग-निवृत्ति से है, इसी प्रकार ज्येष्ठ युवराज की सार्थकता राज्याभिषेक है। राज्य का उत्तराधिकारी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! रघुकुल के गुरु भगवान् वशिष्ठजी ने अन्य कुलवृद्धों के सहित भगवान् की जटाओं को उतरवाकर उनका चारो समुद्रो के जल से उसी प्रकार अभिषेक किया जिस प्रकार देव गुरु बृहस्पति शतक्रतु इन्द्र का अभिषेक करते हैं।"

तथा सुयोग्य होने पर भी जिस राजकुमार का राज्याभिषेक नहीं होता, जो छत्र चंवर धारण करके राज्यसिंहासन पर नही बैठता, वह उसी प्रकार है जैसे बडी आशा से फलवान् वृक्ष की सेवा करते रहने पर भी फल के समय उसकी कलियाँ गिर जायं, फूल की पतियाँ नष्ट हो जायं। वृक्ष से सबन्ध रखने वालो को जिस प्रकार उस वृक्ष के लिये दु.ख होता है, उसी प्रकार अयोध्यावासियो का श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक टल जाने और बन जाने से हुआ था। जब श्रीरामचन्द्रजी १४ वर्ष के पश्चात् वन से लौटकर पुरी मे आ गये और सबको विश्वास हो गया कि अब उनका पुन. अवध के सिहासन पर अभिषेक होगा, तो नर नारियो के हर्ष का ठिकाना नही रहा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवी कौशल्या के भवन मे भरत-जी न श्रीराम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव किया। सभी पुरजन परिजन मन्त्री, अमात्य पुरोहित तथा वेदज्ञ ब्राह्मणो ने सहर्ष इस बात का अनुमोदन समर्थन किया। गुरुदेव तथा माताओ की आज्ञा से श्रीरामचन्द्रजी ने भी इसे स्वीकार कर लिया। श्रीराम-चन्द्रजी ने साथ मे आये हुए भालु वानरो को यथास्थान टिकाया। विभीषणजी तथा सुग्रीव को स्नेह-वश भगवान् ने अपने भवन मे रहने की आज्ञा दी। भरत जी की आज्ञा से क्षौर कर्म मे अत्यन्त निपुण नापित बुलाये गये, जो इस काम मे परम चतुर थे, जिनके हाथ हलके थे, जो अत्यन्त ही सुखपूर्वक बाल बनाते थे। यहाँ तक कि वे बाल बनाने-बनाते बनवाने वाल का सुला देते थे। भगवान् की जटाय उतार कर सम्हाली गई। अन्य लोगा की भी दाढी मूछें तथा जटायें बनाई गई।

सुग्रीव की आज्ञा से अत्यन्त शीघ्र वायु के समान उडने वाले जाम्बवान्, हनुमान, वेगदर्शी तथा ऋषभ ये चार वानर चारा

दिशाओं के समुद्रों का जल लेने भेजे गये। ये चारों ही अपनी-अपनी दिशा के समुद्र से जल लेकर तुरन्त लौट आये। समस्त तीर्थों का जल तो भगवती सीता के कमण्डलु ही में था। विधि पूर्वक श्रीरामचन्द्रजी का महौषधि दिव्यौषधि समुद्र नदी, तीर्थ तथा अन्यान्य पवित्र जलों में स्नान कराया गया। पहिले वेद मन्त्रों से ऋत्विजों ने स्नान कराया। तदनन्तर अन्य वेदज्ञ ब्राह्मणों ने फिर कुमारी कन्याओं ने मन्त्रियों ने, सैनिकों ने तथा विविध जाति के मुख्य मुख्य गणनायकों ने श्रीराम का अभिषेक कराया। श्रीरामचन्द्रजी के स्नान के अनन्तर सभी ने स्नान किये। भरतजी ने श्रीराम लक्ष्मण के शृङ्गार कराये। वस्त्राभूषण पहिनाकर विविध भाँति की सुगन्धित मालायें पहिनाईं वशिष्ठ, विजय जाबालि कश्यप कात्यायन गौतम तथा वामदेव आदि बड़े बड़े ऋषि महर्षि वेद मन्त्र पढ़ रहे थे राज्याभिषेक के समस्त कार्य को कर रहे थे। एक रत्न मय दिव्य पीठ पर सुवर्णमय रत्न-जटित दिव्य किरीट रखा गया यह वही किरीट था जिससे लोक पितामह ब्रह्माजी ने भगवान् मनु का अभिषेक किया था। तत्पश्चात् मनुवंश में जितने भी राजा होते आये थे सभी का राज्याभिषेक इसी किरीट के द्वारा होता था। भरतजी ने इस दिव्य किरीट को धारण नहीं किया। आज उसको भगवान् वशिष्ठ ने ऋत्विजों और ब्राह्मणों के साथ विधिवत् पूजा की। फिर वह वेद मन्त्रों के साथ विविध भाँति के वाद्यों की तुमुल ध्वनि के बीच में कुलपुरोहित वशिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी के सिर पर पहिनाया उसे पहिन कर श्रीरामचन्द्रजी की अपार शोभा हुई। महाराज दशरथ की रानियों ने सीताजी का शृङ्गार किया था। आज वस्त्राभूषणों से सजी पति के पार्श्व में बैठी भगवती जानकी साक्षात् लक्ष्मी के समान प्रतीत होती थीं।

सीता के सहित श्रीरामचन्द्रजी उस सुदर सिंहासन पर बैठ गये जिस पर बडा व्याघ्रचर्म बिछा था। उसके ऊपर सप्तद्वीपवती वसुमती का मान चित्र बनाया गया था। जो विविध भाँति के मणिमुक्ता तथा रत्नो से सजाया गया था। कुलपुरोहित के किरीट मुकुट पहिनाने के अनन्तर शत्रुघ्नजी सफेद छत्र लेकर उनके पीछे खडे हो गये। इधर-उधर दोनो पार्श्वो मे गगा यमुनी चँवर लेकर राक्षसराज विभीषण तथा वानर-राज सुग्रीव खडे हो गयेवायुदेव ने सुवर्ण की एक दिव्य माला स्वय लाकर रघुनन्दन के कंठ मे पहिनाई। उस समय देवता आकाश से पुष्पो की वर्षा कर रहे थे, गन्धर्व गीत गा रहे थे, अप्सरायें विविध भाँति के हाव-भाव कटाक्ष दिखाकर नृत्य कर रही थी। वीणा, पणव, शख, तूर्य, मृदग तथा अन्यान्य बाजे बज रहे थे। सर्वत्र जयघोष हो रहा था। आनन्द का सागर ही उमड रहा था।

भगवती सीता के कन्धे पर रखे, हाथ सिंहासनारूढ श्रीरामचन्द्रजी की उस समय की शोभा दर्शनीय थी। ससार मे उन्ही लोगो का जन्म सार्थक है, जिन्होने सिंहासनारूढ राम के दर्शन किये हैं। नेत्र उन्हीं के सफल हैं, जिन्होने सीता सहित श्रीराम को राज्याभिषेक के समय निहारा है। अहा! उस समय की झाँकी कैसी अद्भुत है। पाठक चित्त को एकाग्र करके मनोयोग के सहित उस दिव्य झाँकी का ध्यान करें। भगवान् के कारे-कारे घुँघराले सुगधित तैलादिक डालकर काढे गये बालो के ऊपर रघुवश का वश-परम्परागत प्राचीन मुकुट शोभा दे रहा है। उसमे लगे हुए मणिमाणिक्य झलमल-झलमल करके चमक रहे हैं कानो के कमनीय कुण्डल अपनी आभा से कपोलो की द्युति बढा रहे हैं। नासिका मेका बुलाक हिलने से मोटा गा रहा है। कठ मे गोप, चिबुक, तगडी, मोतियो का हार, चन्द्रहार तथा आपाद

लंबिनी वनमाला शोभा दे रही है। नील वदन के ऊपर सुवर्ण के वर्ण को भी तिरस्कृत करने वाला पीताबर वायु के कारण फहरा रहा है। व्यजन और चमरों के हिलने से वह चंचल-सा प्रतीत होता है, उसमें से छन-छन कर श्रीरामतन की आभा दशों दिशाओं में छिटक रही है, बाहुओं में बाजू-बन्द शोभित हो रहे हैं। करों में कंकण और उंगलियो में अगुलीय सुशोभित हैं। कटि देश में पीताम्बर के ऊपर कर्धनी अत्यन्त ही भली मालूम पडती है। भगवान् की सुदर सुचिक्कण जंघायें पीताम्बर से ढकी हैं। चरणों में कड़े और नूपुर हैं। धनुषबाण धारण किये वाम हस्त को जगज्जननी जानकी अंगदेश में रखे हैं।

आज माता कौशल्या ने १४ वर्ष के पश्चात् अपनी प्यारी दुलारी बहू को स्वयं अपने हाथों स्नान कराके उसका शृङ्गार किया है। यद्यपि सुकुमारी सीता को स्त्रियों के पहिनने योग्य इतने आभूषण रुचिकर नही और वे इतने आभूषणों के भार सहन करने में समर्थ नही, फिर भी सास के सम्मुख कह ही क्या सकती थी। आज उन्हे सर्व-प्रथम ही तो पति के साथ राज-सिंहासन पर बैठना था। राजसिंहासन पर जो वस्त्राभूषण पहिन कर साम्राज्ञी बैठती होगी वे सब उन्हे आज विवश होकर पहिनने ही पड़ेंगे। महारानी कौशल्या जिन वस्त्र और आभूषणों को पहिन कर महाराज दशरथ के साथ सिंहासन पर बैठती थी वे सब ही स्वच्छ करके उन्होने अपनी पुत्र-वधू को पहिनाये थे। माता जानकी के चरण स्वय ही प्रवाल के समान रक्तवर्ण के थे। उस पर महावर लगाया गया था, जिसमे चरणों की लालिमा मे महावर की लालिमा दब गई थी। उनके छोटे-छोटे गोल गोल मेहदी से रचे हुए चरणों के नख लाल मणि के समान चमक रहे थे। अँगूठे मे अनवट और तीनों उंगलियो मे बजने बिछुए

शोभित हो रहे थे। छोटी उंगलियों में छल्लों और ऊपर में कमांड सुकड़-सी रही थी। प्रपद पर पगपान की लड़ियाँ इधर-उधर बिखर रही थी और पान के समान सुवर्ण के उस आभूषण से, उतार चढ़ाव के कारण चरण पराक्रम कभी-कभी वह खिसक जाता था। गुल्फ अथवा टखनो के ऊपर कड़े, छड़े, झांझन, पाइल पाइजेब, रमझोल, रेशमपट्टी, अनोखे, छैलचूड़ी, लच्छे आदि आभूषण एक दूसरे को अपनी आभा से म्लान बना रहे थे। वंशपरम्परा से प्राप्त सैकड़ो गज के घूम घुमारे लहंगे को पहिनने मे यद्यपि माता को कष्ट होता होगा, क्योंकि वे तो एक साड़ी पहिनकर वन-वन मे घूमने वाली है। पर सम्राज्ञी होने का दंड भी तो भोगना ही है। इसलिये तपे हुए सुवर्ण के समान, चम्पाकी कली के समान शरीर पर लाल रंग का लहंगा अत्यंत ही खिल रहा था। उस पर सर्वत्र सुवर्ण का सच्चा कामी हो रहा था। उसमे लगे हुए हीरे अंधेरे भवन को भी प्रकाशित कर देते थे। उसके ऊपर मेखला चमक रही थी। कौशल्या देवी ने जानकी जी को एक नीले रंग की चोली पहिनाकर उसके ऊपर नीले रंग का दूसरा वस्त्र पहिना दिया था जिसमे से सुवर्ण-बिन्दु दमदमा रहे थे। कंठ मे हंसली हार हमेल, मोहन-माला, जौमाला, ठुमी चम्पाकली, पचलड़ी तथा चन्द्रहार आदि शोभा दे रहे थे। कमल की कलियों के समान करो की चिकनी सुकोमल पंकज पखड़ियों के समान पतली-पतली उंगलियाँ आभूषणो से भरी रहने के कारण चित्र-विचित्र सुवर्ण कमल के समान प्रतीत होती थी। अंगूठे की आरसी मणिमाणिक्यो की दीवालो पर अपना प्रतिबिम्ब जब डालती तो ऐसा प्रतीत होता था, मानो भीत से चन्द्र उदित हो रहा है। छोटे छोटे छल्ला से पतली पतली उंगलियाँ शोभित होने पर भी सकुचित-सी दिखाई देती थी। कनी उंगली की अंगूठा

का नग अपनी किरणों को श्रीरामचन्द्रजी के आनन पर डाल रहा था जो मुकुट की मणियों में मिलकर इन्द्रधनुष की आभा को उदित कर रहा था। हथफूलों में लगी सुवर्ण की लड़ियाँ उँगलियों के छल्लों में उसी प्रकार मिल रही थीं जैसे नदियाँ गंगाजी में आकर मिलती है। जनकनन्दिनी की कोमल कलाई पर सुवर्ण गोलियों से बना हुआ गजरा उनके अङ्ग के रङ्ग में मिलकर फीका सा दिखाई देता था। गजरे के पश्चात् कड़े और कड़े के पश्चात् चार चूड़ियाँ चम-चम करती हुई चमक रही थीं। चार चूड़ियों के पश्चात् बगली और फिर चार-चार चूड़ी। उन चमकदार चार-चार चूड़ियों के बीच में गोल गोल मिलकों की बनी बगली ऐसी ही शोभित होती थी मानो चार-चार सखियों के बीच में नायिका बैठी हो। बगली के आगे अप्सराबन्द तब कंगन और अन्त में इन सब आभूषणों को व्यवस्था में रखने के लिये माता कौशल्या ने दुए पहिना दिये थे। कोहनी पर बेराया टड़े पहिने हुए थे जिन्हें बीच बीच में सीताजी अपने कोमल करों से कभी-कभी खिसकाती जाती थीं। उनके ऊपर बाजूबंद चमक रहे थे। जिनकी गुठी में लटके नूपुर हाथ हिलाते ही छम्म-छम्म करके बज जाते थे ठोढ़ी पर चिपकाया गया हरा हीरा किरण की एक लम्बी लकीर बनाये हुए था। कपोलों पर सुन्दर पत्रावली बनाई गई थी नासिका में नकबेसर बुलाक हिल रहा था। नथ पतली जंजीर से बाँधकर कपोल की ओर इस प्रकार कस दी गई थी कि वह स्वयं तो हिलती नहीं थी पर उसमें के बड़े मोती निरन्तर हिल रहे थे। कानों के कर्ण फूल अपनी आभा में चुन्दरी में ढँके रहने पर भी स्पष्ट प्रतीत होते थे। बारी, बिचकन्नी झुमके ये सभी कानों को कुछ नत किये हुए थे। भाल का तिलक और खौर दोनों ही युक्तिपूर्वक बाँधे गये थे। सिर में झूमर, बार दानों की

ओढनी मे ढ'के थे। पचरगी महीन साडी मे से ये सब शिरोभूषण स्पष्ट तो दिखाई नही देते थे किन्तु अपनी आभा के कारण अपने अस्तित्व को प्रकट कर रहे थे उत्सुकता को बढा रहे थे। अङ्गो की शोभा उनके कारण नही बढी थी किन्तु अङ्गो के सौन्दर्य से वे ही सुन्दर बन गये थे।

जगज्जनी का एक कोमल कर भगवान् के श्री अङ्ग से सटा हुआ था। द्वितीय कर से वे क्रीडाकमल को घुमाती हुई ससार पदार्थो की अनित्यता जता रही थी और जीवो को अपनी शरण मे आने का सकेत कर रही थी।

राज्याभिषेक हो चुका। विप्रो ने वेद घोष बन्द कर दिया अन्य बाजे भी बजने बद हो गये। राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में अन्न, वस्त्र आभूषण, सुवर्णमुद्रायें हीरा-मोती मणिमणिक्य हाथी, घोडा, रथ तथा विविध वाहन, ब्राह्मणो, याचको और आश्रितो को दिये गये। उस समय जिसने जो माँगा, उसे वही वस्तु दी गई। भगवान् रामचन्द्रजी ने सूर्य-किरण के समान अत्यत चमकीली मणियो की बनी एक दिव्य सुवर्ण की माला स्वय अपने कर कमलो से उठाकर वानरराज सुग्रीव को दी। एक ऐसा दिव्य अङ्गद जिस मे वैदूर्य मणि जडी हुई थी और जो चन्द्रमा की किरणो के समान प्रतीत होता था। उसे उठाकर भगवान् ने अङ्गदजी के बाजू मे स्वय पहिना दिया। उस बाजूबन्द को पहिन कर अङ्गद को ऐसी ही शोभा हुई मानो पर्वत प्रान्त से चतुर्थी का चन्द्र उदित हुआ हो।

– एक अत्यत मूल्यवान् हार लेकर श्रीरामचन्द्रजी ने जगज्जननी भगवती सीताजी को देकर कहा—'देवि, तुम इस हार को जिसे चाहो दे दो।'

लजाते हुए भगवती सीता ने कहा—"प्राणनाथ, मेरे तो सभी

पुत्र समान हैं। इस एक को मै किस-किस को दूँ।"

भगवान् ने कहा—"समान तो सब हैं ही, किन्तु गुणो के कारण, श्रद्धा-भक्ति के कारण, एक से पुत्र होने पर भी उनमे तारतम्य तो हो जाता है। जिसे तुम सबसे गुणी, सबसे अधिक भक्त समझती हो, उसे दे दो। सकोच मत करो।"

भगवान् की ऐसी बात सुनकर सभी को बडी उत्सुकता हुई। विभीषण चाहते थे माताजी इस उपहार को हमे दे। सुग्रीव उसे पाने को लालायित थे, अङ्गदजी को भी इच्छा थी। साराश, सभी को उस पर दृष्टि लगी थी। उन मणियो के लोभ से नहीं। सम्मान और स्नेह के कारण सब चाहते थे। वस्तु मे गुण नही होता, उसके द्वारा जो ख्याति और प्रसिद्धि होती है उसी का मूल्य है। इसीलिये तो कहावत है—"मान का पान भी भला।"

जनकनन्दनी उस हार को लिए कुछ देर इधर-उधर देखती रही। उन्होंने देखा हनुमान् निर्निमेष दृष्टि से श्री राघव की ही ओर देख रहे हैं। उनके मन मे किसी प्रकार की स्पृहा ही नही। भगवती सीता ने सोचा—"इस हनुमान् मे तेज धैर्य, यश, दक्षता सामर्थ, विनय, नय, पौरुष विक्रम और बुद्धि ये दश गुण सदा विद्यमान रहते हैं। श्री रामचन्द्र जी ने गुणी और भक्त के लिये देने को कहा है। इनके गुण तो प्रसिद्ध ही है। इनकी भक्ति भी विश्व विख्यात है। फिर भी इनकी भक्ति का महत्व लोग समझें—इसलिए यह हार मैं इन्ही को दूँ।" ऐसा सोचकर माता जी ने हनुमान् जी को बुलाया और हाथ बढ़ाकर उन्हे वह हार दिया। भिक्षुक जैसे आदर से लेता है, वैसे ही बड़े सत्कार से माता जी का दिया हुआ वह हार हनुमान् जी ने ग्रहण किया। उस चन्द्र किरणों के समान उज्वल चन्द्रहार को पहिन कर हनुमान् जी उसी प्रकार शोभित हुए जैसे सुमेरु

स्वच्छ मेघ से शोभित होता है।।

उस हार को पहिन कर वे श्री रामचन्द्र जी के चरणों के निकट जा बैठे। हार बहुत चमक रहा। इसलिए उसकी एक मणि लेकर हनुमान् जी ने दाढ़ के नीचे दबाई और फट्ट से उसके दो टुकड़े कर दिए। फिर उन दोनों टुकड़ों को बड़े ध्यान से देखते रहे। देखकर उन्हें फेंक दिया। फिर दूसरी तोड़ी और उसी प्रकार देखकर फेंक दिया। तीसरी ज्यों ही फिर तोड़ने लगे तो विभीषण जी से नहीं रहा गया। वे कड़क कर बोले—हनुमान् जी, लोग कहते हैं लोकोक्ति सत्य ही है, कि बन्दर क्या जाने अदरख का स्वाद। कैसा बहुमूल्य हार है इसकी कैसी दिव्य-दिव्य मणियाँ हैं। फिर जगज्जननी भगवती जननी का दिया हुआ उपहार है। तुम इस बहुमूल्य हार को ऐसे नष्ट क्यों कर रहे हो।"

हनुमान् जी ने सरलता से कहा—'भैया! मैं यही तो देख रहा हूँ कि माता जी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर जो मुझे यह दिव्य माला दी है इसकी मणियों का मूल्य क्या है?"

हँसकर विभीषण जी बोले—'मूल्य ऐसे देखा जाता है? तुम तो नष्ट कर रहे हो। इन्हें तोड़ ताड़ कर क्या देख रहे हो?'

हनुमान जी ने कहा—'मैं यह देख रहा हूँ कि मेरे इष्ट श्री सीताराम जी की मधुर मूर्ति इन मणियों में है या नहीं। जिन वस्तुओं में सीताराम जी की मूर्ति नहीं वे सब दो कौड़ी की भी वस्तु नहीं।"

हँसकर व्यङ्ग के स्वर में विभीषण जी ने कहा—"इन मणियों में तो तुम अपने इष्ट की मूर्ति खोज रहे हो और जो इस हाड़ मांस के इतने बड़े शरीर को लिए फिरते हो क्या इसमें

तुम्हारे इष्ट श्री सीताराम जी की मूर्ति खिच रही है क्या ?"

यह सुनते ही हनुमान् जी की आँखें लाल हो गई। वे बोले— 'राक्षस राज ! तुम मेरे ऊपर व्यङ्ग करते हो। जिस शरीर मे श्रीराम की मूर्ति न हो मैं उसे एक क्षण भी नही रख सकता। देखो, मेरे भीतर राम की मूर्ति है या नही।"

यह कहकर हनुमान् जी न अपने बडे-बडे नखो से अपना हृदय फाड डाला। सभी ने देखा कि उनके रोम-रोम मे श्री-सीताराम की मूर्ति अंकित है। उनके हृदय पटल पर प्रत्यक्ष श्री जानकी-जीवन धन का चित्र अंकित है। सभी अनुपम भक्ति की प्रशसा करने लग। सभी को उनका महत्व मालूम हो गया। सीतारामजी को यही तो इष्ट था। श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हे हृदय से लगाया। भगवान् के स्पर्श मात्र से हनुमान जी का शरीर पुन ज्यो का त्यो हो गया।

सूतजी कहते है— 'मुनियो ! इस प्रकार बडी ही धूम धाम से श्रीरामचन्द्रजी का राज्याभिषेक हुआ। श्रीराम के राजा होने पर देवता, यक्ष गन्धर्व, राक्षस, गुह्यक, विद्याधर, किंपुरुष, नाग, किन्नर, भूत प्रेत पिशाच मनुष्य पशु पक्षी, जड चेतन सभी प्रसन्न हुए। ब्राह्मणो को इतनी दक्षिणा मिली कि उठा न सके। इतनी गौओ का दान हुआ कि जिनकी गणना भी नही की जा सकती। याचक-अयाचक धन गये। दरिद्र धनी हो गये। रोगियो के रोग दूर हो गये। निर्बल सबल हो गये दुखी जीव सुखी हुए। साराश सभी के दुख दूर हो गये। सभी की चिन्तायें मिट गई। सभी निश्चिन्त होकर रामरूप का निरन्तर चिन्तन करने लगे। नदियो के जल स्वच्छ हो गये। ससार मे सुख शाति का साम्राज्य हो गया। बोल दे रामचन्द्रजी की जय।"

छप्पय

सीय सहित रघुनाथ राजसिंहासन राजें।
शोभा अमित अपार काम रति सँग लखि लाजें॥
करि नख शिख शृङ्गार विराजें सिय निज पियसँग।
झोकी करि नर नारि समावें नहिं फूले अँग॥
गुरु वशिष्ठ मन्त्री सचिव, प्रजा सहित प्रमुदित भये।
धन आभूषन अश्व, गज, हय पट पुर विप्रनि दये॥

राजा राम

[६९१]

प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ।
जुगोप पितृवद् रामो मेनिरे पितर च तम् ॥
त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत् ।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० १० अ०, ५१, ५२ श्लोक)

छप्पय

जब तें राजा राम भये सब सुख जग माहीं ।
आधि, व्याधि, भय, शोक जरा, दुख, श्रम कछु नाहीं ॥
जोते बोये बिना अवनि ओषधि देवे अब ।
वन, पर्वत, नद, नदी, द्वीप सागर सुखकर सब ॥
भये विटप सुर द्रुम सरिस, चिन्तामनि सम भूमिकन ।
भई अवनि पावन परम, परहिँ जहाँ रघुवर चरन ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! राज्याभिषेक होने पर श्रीरामचन्द्र जी अपने धर्म में निरत वर्णाश्रमी समस्त प्रजा का पुत्र की भाँति पालन करने लगे और प्रजा के लोग भी उन्हें पिता की भाँति मानने लगे । यद्यपि उस समय त्रेता युग वर्तमान था, किन्तु रामराज्य के प्रभाव से त्रेतायुग सत्ययुग के समान हो गया ।"

प्रजा का रजन करने से तथा स्वय अपनी कीर्ति द्वारा शोभित होने से नृपति अथवा भूपति को राजा कहा गया है राजा प्रजा के पाप पुण्य का प्रतीक है। जैसा राजा होगा वैसी ही प्रजा हो जायगी। कलि के आरम्भ म सदा राजाओ की नष्ट हो जाती है। वे साधारण मनुष्यो की भाँति परमुखापेक्षी बन जाते हैं। कलि की वृद्धि होन पर शनै शनै राजा नष्ट हो जाते हैं। जो अधिक वाकदूक कूटनीतिज्ञ तथा प्रपची होता है वही अधिपति बन जाता है। कुछ काल मे कोई उससे भी बढ़ धूर्त आ जाता है। वह जन-मत की आड लेकर उसे हटा कर स्वय अधिनायक बन जाता है। इसमे धर्म भावना नही है ग्राहकता नही, परमार्थ का भय नही, कर्तव्य के प्रति निष्ठा नहीं केवल पद प्रतिष्ठा तथा विषयो की लोलुपता से यह सब कर हैं। प्राचीन काल मे तो जैसे माता को पुत्र के पालन पोषण करने का व्यसन होता है वैसे ही राजाओ को अपनी प्रजा रजन का व्यसन होता था प्रजा की प्रसन्नता के निमित्त व सब करने को तत्पर रहते थे। प्रजा को सुखी बनाने के लिये सब बलिदान करने को उद्यत रहते थे। तभी तो राजा को नर नरपति, भूपति प्रजेश तथा पालक कहते थे। त्रिदेवो में पालन करना विष्णु का कार्य है। इसीलिये सभी राजाओं हम विष्णु का अश मानते थे। भगवान् की भाँति उनकी प्रतिष्ठा करते थे, तथा उनके सुख के लिये सर्वस्व समर्पित क को उत्सुक रहते थे। प्रजा के ये भाव तो सर्वसाधारण र के प्रति थे। फिर जब साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही राजा कर अवनि पर अवतरित हो अपनी महालक्ष्मी के सहित ही सिंहासन पर विराजमान होकर प्रजा का रजन करता तो, उसके न्याय, धर्म सदाचार तथा प्रभाव आदि के विषय

तो कहा ही क्या जा सकता है। राम-राज्य तथा राजा राम इन शब्दो मे कितनी पवित्रता, कितनी लोकप्रियता कितनी धार्मिकता सन्निहित है। इसे राम विमुख प्राणी कभी अनुभव कर ही नही सकते। ये शब्द अपने अर्थों को पूर्णतया प्रकट करने मे सर्वथा असमर्थ है। इनका भाव तो भावना से ही अनुभव किया जा सकता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब से वन से लौटकर मनुवंश राजसिंहासन पर राजाधिराज महाराज अवधकुल-मंडन लोकल्याण-दर्वन भरताग्रज जानकी-जीवन श्री रामचन्द्र जी सीता सहित विराजमान हुए, तब से सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा गया। प्रजा के सभी लोग सुखी हुए। किसी को न शारीरिक पीडा होती थी, न मानसिक। क्योकि सभी पीडाओं को हरने वाले प्रणत वत्सल श्रीराम उनके राजा थे। जैसे चोरो को चाँदनी रात्रि प्रिय नही वैसे ही दम्भी धर्महीन दस्युओं को राम राज्य प्रिय नहीं था। क्योंकि राम के राज्य में दम्भियों की दाल नही गलती थी। राम-राज्य मे चोरो के दर्शन दुर्लभ थे। कोई किसी की वस्तु को मन से भी उठाने का सकल्प नहीं करता था। मनुष्यो की तो बात ही क्या, वायुदेव भी किसी वस्तु को अस्त-व्यस्त नही कर सकते थे। मनुष्य छिप कर अधर्म करता है, किन्तु तब ना राम की सत्ता सभी सर्वत्र सर्वदा सत्य भाव से स्वीकार करते थे। इसीलिये रामराज्य में सभी धार्मिक थे। सभी वर्णाश्रम धर्म में निरत होकर अपने अपने अधिकार के अनुसार श्रद्धासहित कर्म करते थे। पिता जैसे पुत्रो का प्रेम पूर्वक पालन पोषण करते हैं, उसी प्रकार सुपुत्र की भाँति श्री रामचन्द्र जी समस्त प्रजा का पालन करते थे। सब के वे पालक थे, प्रभु थे, स्वामी थे, सखा थे सुहृद थे। कहाँ तक कहे वे

सर्वस्व थे। समस्त प्रजा भी पिता की भाँति प्रभु से प्यार करती थी। उस समय जडो ने जडता छोड दी। वे चैतन्यो की भाँति आचरण करने लगे। वनो मे यथेष्ट कन्द, मूल फल स्वत ही होते थे। उन स्वेच्छा से उत्पन्न होने वाले स्वभाविक पदार्थों को खाकर ऋषि मुनि अपने जीवन को सुखपूर्वक बिताते तथा निश्शक होकर भजन पूजन करते। नदियाँ अमृतोपम जल को बहाती, सभी को सुख पहुँचाती-दुग्ध की धारायें प्रकट करती। पर्वत अपनी कन्दराओ मे नाना प्रकार के मणिमुक्ता उत्पन्न करते, अपने वृक्षा को पल्लवित पुष्पित तथा फलवान् रखते। प्रपात तथा स्रोत स्वच्छ, सुन्दर स्वादिष्ट सलिल बहाते। स्थान स्थान पर सोने चांदी की खाने निकलती। वृक्ष इच्छित पदार्थों को देते। सकल्प मात्र से वे वस्त्र आभूषण तथा भोज्य पदार्थों को प्रदान करते। वसुन्धरा के सातो द्वीप सुखी थे। उन द्वीपो मे रहने वाली प्रजा परम सन्तुष्ट थी। सभी द्वीपो के सभी वर्ष समृद्धशाली तथा उन्नत थे। कभी किसी को ज्वर, श्लेष्मा तथा अन्यान्य शारीरिक रोग नही होते। मानसिक चिन्ता करने का तो कोई काम ही नही था।

प्राणियो को सबसे अधिक दुखदायी वृद्धावस्था है वृद्धावस्था मे सभी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं भोग की इच्छा तो प्रबल हो जाती है। किन्तु भोग्य वस्तुओ के भोगने की शक्ति क्षीण हो जाती है। जीवन की आशा बलवती बन जाती है। इसलिये वृद्धावस्था प्राणियो के लिये कष्ट कर है। राम-राज्य मे कभी कोई वृद्ध होता ही नही था। सभी सदा युवावस्था सम्पन्न बने रहते थे जब तक चाहते तब तक पृथ्वी पर रह कर भी दिव्य भोगो को भोगते। जब इच्छा होता यहाँ, से स्वर्ग को चले जाते। बिना इच्छा के कभी किसी की मृत्यु होती ही नही थी।

सभी इच्छानुसार जीते थे। सभी वस्तुएँ सुन्दर सुखकर थी। सभी सब से स्नेह करते थे। इसलिये किसी के मन मे किसी वस्तु के प्रति कभी ग्लानि की भावना उदित नही होती थी। दुख का तो केवल पुस्तको मे ही अस्तित्व था। उस समय कोई जानता ही नही था दु ख क्या वस्त होती है।'

प्राणियो को मृत्यु पर शोक सन्ताप होता है। राम-राज्य मे तो कोई मरता ही नही था। सभी देवताओ की भाँति अमर से थे। जब मृत्यु ही नही तब शोक सन्ताप का क्या काम। इसलिये कोई कही शोक मग्न दिखाई नहीं देता था। जब परस्पर मे किसी का किसी से द्वेष होता है या लोभ बढ जाता है तो उसे दूसरे से भय हो जाता है। राम-राज्य मे तो सभी एक दूसरे को अपना सगा, सम्बन्धी सुहृद समझते थे। जब सब अपने ही हैं, दूसरा कोई है ही नही, तो फिर भय किससे हो, द्वैधीभाव मे भय होता है एकत्व मे अद्वैत मे—भय कहाँ राजा राम की प्रजा के समस्त प्राणी निर्भय थे। लोभ, अविश्वास तथा मिथ्या मान मर्यादा के लिये प्राणी प्राणो का पण लगाकर परिश्रम करता है, उससे उसे श्रम होता है, श्रम से स्वेद विन्दु निकलते हैं, देह मे पीडा होती है, चित्त उदासीन होता है, राम-राज्य मे श्रम का अभाव था। सभी पत्नियाँ पतियो से प्रेम करती। कोई किसी भी दशा मे परपुरुष की मन से इच्छा न करती। पुरुष अपनी ही पत्नियो से सन्तुष्ट रहते। रामराज्य मे चोरी जारी केवल शब्द ही शेष थे व्यवहार मे इनका अभाव था।

राजाधिराज श्री रामचन्द्र जी स्वय ही पवित्र चरित्र वाले थे। वे राजर्षियो के समान आचरण करने वाले एक पत्निव्रत धारी थे। वे जो कहते थे, उसका आचरण स्वय करते थे।

केवल पर-उपदेश-कुशल ही नहीं थे। ऐसी ही उनकी अर्धांगिनी नित्य शक्ति जगज्जननी जानकी जी भी थीं। वे पति के भावों को, उनकी चेष्टाओं और इंगितों को भली भाँति समझती थीं। श्रीराम के विरुद्ध आचरण वे स्वप्न में भी नहीं करती थीं। वे विनय से सदा अवनत रहतीं। अपनी माता पृथ्वी की भाँति वे सहनशील और क्षमावती थीं। सती-शिरोमणि सीता जी अपने सुन्दर स्वभाव, सराहनीय शील, अनुपम प्रेम और अकथनीय सेवा के द्वारा पति को सदा प्रसन्न रखतीं। उन्होंने अपने मन्द मन्द लज्जायुक्त स्मित हास्य द्वारा श्री रामचन्द्र जी के चित्त को चुरा लिया था।

लक्ष्मण जी एक साधारण सेवक की भाँति सदा सेवा में संलग्न बने रहते। वे अपने शारीरिक सुखों को भूल कर सदा राम की आज्ञा में तत्पर रहते। श्रीराम उनके द्वारा प्रजाओं के सभी दुखों को दूर कराते रहते। भरत जी तो विनय के अवतार ही थे। शत्रुघ्न के सहित वे राम के रुख को देखते रहते। श्रीराम की इच्छा को वे बिना कहे ही जान लेते।

सारांश यह है कि घर में बाहर नगर में, राज्य में, सर्वत्र सुख ही सुख था। कोई किसी से द्वेष नहीं करता, सभी हिल मिल कर रहते। गौएँ यथेष्ट दूध देतीं, बैल पुष्ट होते। ब्राह्मण सब संयमी तथा वेदपाठी होते, क्षत्रिय शूर वीरता में प्रसिद्धि प्राप्त करते वैश्य सदा सत्यता से व्यापार करके उस धन को दान धर्म में लगाते। सभी शरीर से सुन्दर होते, सभी सदा शृंगार किये सजे सजाये बाहर निकलते और सुन्दर उपवनों में स्त्रियों के सहित विहार करते। वृक्षों की जड़ें दृढ़ होतीं। वे सदा फूलते फलते रहते जिस समय जो चाहो वही फूल ले लो। सभी फल खाने में स्वादिष्ट-मधुर तथा अमृतोपम होते। पृथ्वी बिना

जोते बोये अन्न देती। जल सर्वत्र मधुर होते, सूर्य की किरणें कभी तीक्ष्ण नहीं होती वे सदा सुखकर ही प्रतीत होती। वायु सदा मन्द-मन्द सुन्दर सुगन्धियों को लिये हुए सब ऋतुओं में अनुकूल बहती। आकाश में ताराग्रह सभी अनुकूल और शुभ ही विचरण करते। उस समय सभी सुलक्षण थे, सभी सुन्दर थे, सभी सुखी थे, सभी सज्जन थे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! रामराज्य के विषय में जो भी कुछ कहा जाय थोड़ा है। जब साक्षात् राम ही राजा थे तब तो सुख की सीमा नापी नहीं जा सकती। असीम सुख था अनुपम आनन्द था। इसी प्रकार दश सहस्र वर्षों तक राजाराम ने राज्य किया।

छप्पय

क्षमा दया विश्वास शील-तप-संयम शम दम।
ब्रह्मचर्य नय विनय राम महँ राज ऋषिनि सम॥
भरत शत्रुहन लखत सदा सेवा महँ तत्पर।
रहे प्रजा सब सुखी करे नहिं कोई मत्सर॥
हरहिं चित्त रघुनाथ को, नारी सुलभ विलास तें।
सती सिरोमनि जानकी, विनय हास परिहास तें॥

यज्ञकर्ता भोक्ता श्रीराम

[६९२]

भगवानात्मनाऽऽत्मानं राम उत्तमकल्पकैः ।
सर्वदेवमयं देवमीज आचार्यवान् मखैः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० १ श्लोक)

छप्पय

रामराजमहँ परम मुदित जड़ चेतन प्रानी ।
लखि तृन तोरें मातु राम राजा सिय रानी ॥
लौकिक गति दरसाइ राम ने यज्ञ रचाये ।
वेदविज्ञ आचार्य, विप्र, ऋषि मुनि बुलवाये ॥
उत्तम सामग्री सहित, सहस यज्ञ रघुपति करे ।
सरबसु दीन्हों दानमहँ, धन रत्ननि द्विज घर भरे ॥

श्री भगवान् जब जैसा रूप बनाते हैं, तब तैसी ही लीला करते है । जब वे देवशरीर में अवतरित होते है तो देवताओ के से कार्य करते हैं और मनुष्यशरीर मे मनुष्यो जैसे । पशु-पक्षी किसी भी शरीर को धारण क्यो न करें, उसी शरीर के अनुरूप

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन ! सर्वदेवमय तथा प्रकाश स्वरूप भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने अपने आचार्य भगवान् वशिष्ठ के अधीन होकर उत्तम कल्पो वाले यज्ञो द्वारा स्वयं अपना ही यजन किया अर्थात् अपने आप अपनी ही यज्ञरूप से पूजा की ॥

आचरण करते हैं। फिर भी उनकी भगवत्ता छिपी नही रहती। अपने लोकोत्तर आलौकिक कार्यों से वे प्रकट हो ही जाते हैं। जिस शरीर को भी धारण करते हैं उसमे एक आदर्श उपस्थित कर देते हैं। भूपवेष मे अवतरित होकर भगवान् ने राजाओ के लिये एक आदर्श उपस्थित कर दिया कि राज्यकाज करते हुए लोक रजन कैसे करन चाहिये। धर्म की मर्यादा को बनाये रखने के लिये कैसे-कैसे प्रयत्न करने चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीराम के राजा होने से समस्त भूमडल पर शान्ति का साम्राज्य छा गया। सभी चराचर प्राणी सुखी हुए। श्री रामचन्द्र जी कर्तव्य बुद्धि से समस्त राज्य के कार्यों को देखते। वे धर्मानुकूल काम भी उपभोग करते और धर्मानुसार अर्थ भी सचय करते। रामराज्य मे मोक्ष तो अत्यन्त सुलभ था। भगवान् अपने सरस प्रेम युक्त व्यवहार से जानकी जी को सदा प्रसन्न रखते। उनके साथ सुख पूर्वक आनन्द-विहार करते।

एक दिन भगवान् राज सभा मे विराजमान थे। समीप सुवर्ण के उस सिंहासन पर कुल गुरु भगवान् विराजमान थे। भरत, लखन तथा शत्रुघ्न सेवा मे समुपस्थित थे। सुग्रीव हनुमान् विभीषण तथा अगदादि श्रेष्ठ वानर मनुष्यरूप रखकर रघुनाथ जी की उपासना कर रहे थे, कि उस समय प्रहरी ने हाथ जोड कर, मस्तक झुका कर निवेदन किया— 'प्रभो! बाहर द्वार पर भगवान् अगस्त्य को आगे करके विश्वामित्र, यवक्रीत, गाव्य, मालव, कण्व, आत्रेय अत्रि, सुमुख, धौम्य, कौशेय, कश्यप, जमदग्नि तथा भरद्वाज आदि बहुत से राजर्षि द्वार पर रघुनन्दन के दर्शनो के लिये खडे है। उनके लिये क्या आज्ञा होती है।'

एक साथ महर्षियो का आगमन सुनकर रघुकुल-तिलक श्री-

रामजी के हर्ष का ठिकाना नही रहा। शीघ्रता के साथ सिंहासन से उतर पड़े और पुरोहित तथा वेदज्ञ विप्रो को आगे करके ऋषियो के स्वागत के लिये द्वार पर आये। द्वार पर आकर भगवान् ने यथायोग्य सब मुनियों की पूजन की। अर्घ्य देकर गोदान करके सत्कार पूर्वक उन्हे राज सभा मे लाये। सभी के बैठने को सुन्दर-सुन्दर आसन दिय गये। जब सभी सुख पूर्वक सुन्दर आसनो पर बैठ गये तब श्री राम ने अत्यन्त ही मधुर वाणी मे पूछा— 'मुनियो! आप का तप निर्विघ्न होता है न? आप के यज्ञ की अग्नि सावधानी स सुरक्षित तो है? आप के आश्रम के खग मृग, वृक्ष तथा शिष्य प्रशिष्य सुखपूर्वक तो हैं न? आज आपन अपन देव दुर्लभ दर्शन देकर मुझ दीन-हीन को कृतार्थ कर दिया। ऋषियो! एक ही साधु के दर्शनों से सभी पाप कट जाते हैं, सो आप तो समस्त विश्व के वन्दनीय इतने-इतने बडे ब्रह्मर्षि और राजर्षि एक साथ ही मुझे दर्शन देने पधारे हैं। आज मेरा जन्म सफल हुआ! मेरे पितर तर गये मेरे जप, तप, अग्नि होत्र तथा अन्यान्य धर्मकार्यों की सार्थकता आज ही हुई। कृपा करके मेरे उद्धार का उपाय आप बतावें।"

यह सुनकर महामुनि अगस्त बोले—"रघुनन्दन! आप तो जगदुद्धारक है। आप तो साक्षात् नारायण हैं, य आपकी बगल म बैठी हुई भगवती जानकी जगदम्बा लक्ष्मी हैं। आप तो हम सब का कृतार्थ करन के निमित्त ही अवनि पर अवतरित हुए हैं। प्रभो! हम सब ऋषियो को रावण तथा अन्यान्य राक्षसों के कारण अत्यन्त ही क्लेश था। रावण कुम्भकर्ण तथा उसके अन्यान्य वीर राक्षसो को मारकर आपन बडा पुण्य काम किया। समस्त भूमण्डल का भार आपने उतार दिया। हमारे तप को निष्कंटक बना दिया। लक्ष्मण जी ने इन्द्र जीत को मार

कर बडा ही अद्भुत कार्य किया। रावण कुम्भकर्ण का मारना बहुत महत्व का नही है। इन्द्रजीत को मारना अत्यन्त कठिन था। उसे कोई मार ही नही सकता था। आपके छोटे भाई लक्ष्मण ने अत्यन्त ही प्रशसनीय कार्य किया। इसके लिये हम सुमित्रानन्दवर्धन लक्ष्मण को कोटि-कोटि धन्यवाद देते है और उनकी भूरि भूरि प्रशसा करते हैं।'

श्री रामचन्द्र जी ने कहा—'भगवन् आप रावण कुम्भकर्ण को छोडकर इन्द्रजीत की ही इतनी प्रशसा क्यो करते हैं? उसमे ऐसी क्या विशेषता थी?"

इस पर अगस्त्य जी बोले—"राघव, रावणपुत्र मेघनाद का बल, ऐसा ही था। प्रभो, वह वरदान प्राप्त राक्षस अवध्य था। रावण जब स्वर्ग मे इन्द्र से युद्ध करने गया था तब इन्द्र ने रावण को हरा दिया था। उस समय पराजित रावण श्रीहीन और अत्यन्त घबराया हुआ प्रतीत होता था। तत्काल ही मेघनाद ने जाकर इन्द्र को परास्त किया अपने पिता को उसने देवराज के पजे से छुडाया और इन्द्र को बन्दी बनाकर लका मे ले आया। उसी समय ब्रह्मा जी ने लका मे जाकर मेघनाद को "इन्द्रजित" की उपाधि दी और उसे युद्ध के उपयुक्त जय होम कर लेने पर अपराजित होने का वरदान भी दिया। इसी से उसका मारा जाना अत्यन्त असम्भव था। वह ऐसा मायावी था कि वह युद्ध मे सब को देखता था पर उसे कोई भी नही देख सकता था। लक्ष्मण ने अपने तप तेज और आपके आशीर्वाद से उसे मारकर ससार का बडा भारी कल्याण किया। अब आप निष्कटक राज्य करें और समस्त प्राणियो को अपने श्रीमुख-पावन दर्शनो से कृतार्थ करें।"

श्री रामचन्द्र जी ने कहा—'ब्राह्मन्!' मेरे कुल मे सदा

ब्राह्मणो की पूजा होती आई है। रावण कैसा भी क्यों नहीं था तो भी ब्राह्मण ही था। उसके मारने से मुझे पाप तो लगा ही है। इसके प्रायश्चित का आप कोई उपाय बतायें।"

हँसकर अगस्त मुनि ने कहा—"राघव आप का नाम ही समस्त पापो का क्षय करने मे समर्थ है। फिर भला आपको पाप कैसे लग सकता है। आप तो लोकवत् लीला कर रहे हैं। जनता का उद्वेग पहुँचाने वाले प्राणियो को पीडा देने वाला पापी कोई भी क्यो न हो, उसे मारने मे पाप नही, परम पुण्य है। फिर भी आप लोकसंग्रह के लिये कुछ करना ही चाहते है तो अश्वमेध द्वारा आप अपना ही पूजन करें। विधिवत् किया हुआ अश्वमेधयज्ञ चराचर के वध के पाप को भी नाश करने मे समर्थ है, फिर इस पापात्मा के वध की तो बात ही क्या है।"

यह सुनकर श्रीराम जी ने उन सभी ऋषियो को अपने यज्ञ के लिये वरण किया। सीताजी के सहित भगवान् ने यज्ञ की दीक्षा ली मृग का शृंग हाथ मे लेकर सीता सहित यज्ञ में दीक्षित भगवान् साक्षात् तप के ही समान प्रतीत होते थे। विधि पूर्वक यज्ञीय घोडा छोडा गया। शत्रुघ्न उसकी रक्षा के लिये चतुरंगिनी सेना लकर पीछे-पीछे चले। स्वच्छन्द गति से घोडा सम्पूर्ण पृथ्वी पर पर्यटन करने लगा। श्रीराम के यज्ञ का घोडा है, इस बात को सुनकर किसी का भी उस घोडे को पकडने का साहस नही हुआ जिन्होने उस घोडे को पकडा भी उसके साथ शत्रुघ्न जी ने युद्ध किया और उससे घोडा छुडा कर पूजा लेकर आगे बढे। इस प्रकार घोडा सम्पूर्ण भूमण्डल पर घूमकर पुन. अवधपुरी मे आ गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो, इस प्रकार यज्ञ याग करके श्री रामचन्द्र जी ने वैदिक वर्णाश्रम धर्म की पृथ्वी पर स्थापना की

और आगे के राजाओं के लिये मर्यादा बांध दी। श्री रामचन्द्र जी ने दान धर्म तथा यज्ञ यागों का एक अपूर्व आदर्श उपस्थित किया।"

छप्पय

हैके अति सन्तुष्ट द्विजनि आशिष मिलि दीन्हीं।
इष्ट देव सम राम सबनि की पूजा कीन्हीं॥
यों महत्व तप योग यज्ञ को राम जतायो।
गृही धर्म करि स्वयं लोक कूँ पाठ पढ़ायो॥
श्रेष्ठ करें जिहि कर्म कूँ, अनुवर्तन सब नर करें।
जावें जा पथ महत् जन, तिहि पथ सब रज सिर धरें॥

सर्वस्वदानी राम

(६९३)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥*

(श्रीभा० ९ स्क० ११ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

भूमि दान सब करी कोप धन धान लुटाये ।
चारिहुँ दिशि दै दई दान करि परम सिहाये ॥
विप्र वासना हीन परा विद्या जे जानें ।
दानपात्र तें श्रेष्ठ राम यह मनमहँ मानें ॥
त्याग प्रेम, अरु दान लखि, गद्गद ह्वै के विप्रगन ।
राजपाट लौटाइ के, प्रेम सहित बोले बचन ॥

दान धर्म का अग है । दान और दक्षिणा दोनो मे प्रधान कारण श्रद्धा है । श्रद्धाहीन होकर कोई भी काम क्यो न करो, वह निष्फल ही होगा । श्रद्धा प्रेम के बिना चाहे कोई कितनी ही

---

* भगवान् की ब्रह्मण्यता से सन्तुष्ट विप्रगण कह रहे हैं—'हे, प्रभो आप ब्राह्मणो को ही देवता मानने वाले हैं, आप सब मे रमण करने वाले हैं । आपकी बुद्धि अकुन्ठित है आप पुण्यश्लोकशिरोमणि हैं । आपने अपने चरण कमलो को त्यागियो के लिये अर्पित कर रखा है, आपको नमस्कार है ।"

स्तु दे दे, अमृत तक पिला दे सब व्यर्थ है, सब निष्फल है। किन्तु मानपूर्वक चाहें पान ही क्यों न दिया, श्रद्धा के साथ जो भी कुछ दिया जाय, राम उसे बहुत मान लेते हैं। राम बड़े उदार हैं। जिस पर प्रसन्न हो जायँ उसे स्वर्ग अपवर्ग यहाँ तक कि अपने आपे को भी वे देते हैं। राम दानियों में श्रेष्ठ हैं। जो भी देते हैं प्रेम सहित देते हैं। उनके यहाँ दुराव नहीं, छल नहीं, कपट नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्री रामचन्द्र जी के यज्ञ का घोड़ा दशों दिशाओं में घूमकर पुनः अयोध्या पुरी में आ गया। शुभ्र वर्ण के समान उस शुभ्र अश्व को देख कर सभी प्रमुदित हुए, सभी ने उसका स्वागत सत्कार किया। वसिष्ठ जी ने श्री रामचन्द्र जी से कहा—"राघव अश्व को स्नान कराने के लिये, सरयू जी से पवित्र जल लाओ। अपने सगे सम्बन्धियों के सहित वेदमन्त्र से अभिमन्त्रित सरयू जल को आप सीता सहित स्वयं जाकर लावें।"

गुरु की आज्ञा पाकर सीताजी सहित श्रीरामचन्द्र सुवर्ण का कलश लेकर स्वयं ब्राह्मणों से घिरकर उनके पीछे ६४ अन्य नृपति गण अपनी पत्नियों सहित चल रहे थे। सरयू जी में पहुँचकर ब्राह्मणों की आज्ञा से वेदमन्त्रों के सहित पवित्र जल घड़ों में भरा गया। उसे बड़ी धूमधाम के सहित लेकर श्री रामचन्द्र यज्ञ स्थल में पधारे। वहाँ आकर उन्होंने वेद की विधि से यज्ञीय अश्व को स्नान कराया। श्री रामचन्द्र जी ने विनय की कि—"हे अश्व तुम मुझे पवित्र करो।" इसे सुनकर सभी ऋषि मुनि परस्पर कहने लगे—"देखो, श्रीराम कैसा नरनाट्य कर रहे हैं। जिनका सुमधुर परम पावन नाम त्रैलोक्य को पावन करने वाला है उन्हें भला यज्ञीय पशु क्या पावन करेगा। फिर

भी मर्यादा पुरुषोत्तम प्राकृत पुरुषो की भाँति व्यवहार क
रहे हैं।

ऋषि महर्षि परस्पर मे ऐसी बातें कर ही रहे थे कि भगवा
के करकमल का स्पर्श पाते ही अश्व, पशुयोनि को त्यागक
स्वर्गीय दिव्य पुरुष बन गया। श्री रामचन्द्र जी ने सभी
सम्मुख उसका वृत्त पूछा—तुम पशु से दिव्य पुरुष क्यो हुए ?"

उस दिव्य पुरुष ने कहा—"प्रभो, आप तो सर्वज्ञ हैं, सबके
घट-घट को जानने वाले हैं। फिर भी आप लोकदृष्टि से मुझ
अनजान की भाँति प्रश्न कर रहे हैं तो मैं आपकी आज्ञा से
आपके प्रश्न का उत्तर देता हूँ। प्रभो, पूर्वकाल मे मैं सरयू पा
रहने वाला बडा दम्भी विप्र था। दूसरो को ठगने को मौन
रखता, भाँति-भाँति के ढोग रचता। एक दिन दुर्वाशा मुनि
मुझे शाप दिया—"तू पशु हो जायगा। जब मैंने बहुत अनुन
विनय की। तब उन्होने कहा—"अच्छी बात है, पशु तो तू होग
ही, किन्तु श्री रामचन्द्र जी के करकमलो के स्पर्श होते ही
संसार बन्धन से विमुक्त हो जायगा। आज मुनि का वह शाप
वरदान के तुल्य हुआ। मेरे सब बन्धन कट गये। मैं ससार से
विमुक्त हो गया।

यज्ञीय, हय की ऐसी बातें सुन कर सभी परम विस्मित हुए।
तदन्तर भगवान् ने यज्ञ मे पधारे हुए देवताओ को उनका भाग
दिया। ब्राह्मणों को दक्षिणायें दी। उन्होने यज्ञ मे होता का
काम करने वाले ब्राह्मण को पूर्व दिशा का राज्य दे दिया।
ब्रह्मा का कार्य करने वाले को दक्षिण दिशा का, अध्वर्यु का कार्य
कराने वालो को पश्चिम दिशा का और उद्गाता का कार्य
कराने वाले को उत्तर दिशा का राज्य अर्पण कर दिया।
चारो दिशाओ की मध्य की जितनी भूमि शेष थी, वह

यज मे आचार्य का काम कराने वाले भगवान् अगस्त्य को दे डाली। भूमि देने के अनन्तर उन्होने अपने कोपाध्यक्ष को बुलाया और पूछा—"तुम्हारे कोप मे कितना धन है ?"

हाथ जोडकर कोपाध्यक्ष ने कहा—"प्रभो ! कोप तो अनन्त है, उसकी गणना नही।"

तब भगवान् बोले—"अच्छी बात है, कोपागार को खोल दो और सब को मुँह माँगा इच्छित धन दो जब तक कोप खाली न हो तब तक देते ही रहो।

भगवान् की आज्ञा पालन की गई और सम्पूर्ण कोप का धन लुटा दिया गया। भगवान् ने अपने तथा सीता जी के शरीर के आभूषण भी दिये। केवल अपने राज चिह्न और सीता जी के सुहाग के चिह्न ही अवशेष रह गये।

भगवान् की ऐसी ब्रह्मण्यता देख कर ब्राह्मण गद्गद हो गये उन्होने प्रेमार्द्र हृदय से स्नेह प्रकट करते हुए कहा—"हे ब्राह्मण देव आपकी प्रशसा हम किन शब्दो से कर सकते हैं। हे सर्व लोकेश्वर भगवान् आप ने हमे क्या नही दिया। यह धन रत्न तो साधारण वस्तुएँ हैं। आप तो हमारे अन्त.करण मे विराज कर हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। प्रभो हम तो अरण्य मे रहने वाले मुनि है। पृथ्वी पालन रूपी कार्य तो क्षत्रिय ही कर सकते हैं। हमारे वश की यह बात नही है। आपकी प्रसन्नता के लिये हमने भूमि की दक्षिणा स्वीकार कर ली है। अब हम प्रसाद रूप से आपको देते हैं। इस पृथ्वी को हमारी दी हुई समझ कर आप इसका पालन करें।

भगवान् ने कहा—विप्रो ! दान दी हुई वस्तु को फिर लेना बडा दोष है, अतः अब, आप ही इस पृथ्वी के रज्य का उपभोग करें।

इस पर ब्राह्मणो ने कहा—"हे लोकनाथ, दान दी हुई वस्तु को निष्क देकर क्रय किया जा सकता है। आप हमे कुश, मृगचम समिधा और अन्न देकर इस भूमि को ले लें। क्योंकि दान वही सार्थक है जिसकी पाने वाले को आवश्यकता होती है। हम भूमि लेकर क्या करेंगे। समिधा, अन्न तथा कुशाओ से तो हम अपने यज्ञ के कार्यों को पूर्ण करेंगे। इन जटाओ के ऊपर राज मुकुट क्या शोभा देगा। हमारा राज्य होने से लोक मे अराजकता फैल जायगी। इसलिये इस दान से पुण्य न होकर, दोष ही लगेगा। इसलिये भूमि का पालन आप ही करें।

ब्राह्मणो की ऐसी बातें सुनकर भगवान् ने उनकी आज्ञा सिर से स्वीकार की। उनको इच्छित पदार्थ दिये तदनन्तर पूर्णाहुति की। ब्राह्मणो और अभ्यागतो को सुन्दर स्वादिष्ट व्यजनों से भोजन कराया। तदनन्तर सीता जी को तथा समस्त राजाओं को साथ लेकर सरयू जी मे अवभृथ स्नान के लिये चले। उस समय समस्त प्रजा उनके साथ चल रही थी। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न अन्यान्य समस्त राजा अपनी-अपनी पत्नियो के साथ भगवान् के पीछे-पीछे चले। नट नर्तक तथा नाना खेल के करने वाले भी साथ चले। सब लोग श्री रामचन्द्र जी की जय बोल रहे थे, भाँति-भाँति के बाजे बज रहे थे। सरयू मे पहुँच कर सभी नर नारी विविध प्रकार की जल क्रीडा करने लगे, श्रीराम चन्द्र जी जगज्जननी जानकी के साथ सरयू मे तैरते रहे और जल उछाल-उछाल कर उन्हे भिगोते रहे।

इस प्रकार बड़ी देर तक जल क्रीडा होती रही। तदनन्तर दान पुण्य करके घर लौट आये। यज्ञ करके भगवान् परम प्रमुदित हुए। ऐसे-ऐसे हजारो अश्वमेध यज्ञ भगवान् ने किये। इस यज्ञ के अनन्तर जो यज्ञ भगवान् ने किये वह सुवर्णमयी सीता

के सीता के साथ किये, क्योंकि पत्नी के बिना यज्ञ होता ही नहीं।"

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—सूतजी, साक्षात् सीता जी कहाँ चली गयी क्यों भगवान् को सुवर्ण की सीता बनानी पड़ी।

इस पर सूतजी बोले—मुनियो, इस लोकोत्तर महापुरुषों की लीला बड़ी विचित्र है। ये जितने ही सहृदय और कोमल हृदय के होते हैं उतने ही कठोर भी होते हैं। प्रजा को प्रसन्न करने के लिये निरापराध सीताजी को श्री रामचन्द्र जी ने त्याग दिया था। इस कथा को मैं आगे कहूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।'

छप्पय

प्रभो! कहा नहिँ दियो हमें तुम सरबसु दाता।
करहु मोह तम नाश तिमिरहर भवभयत्राता॥
हम नित तप महँ निरत राज को काज न जानें।
तुमहि विश्वपति सकल जगत को पालक मानें॥
पुण्यश्लोक शिरोमणे, हे विश्म्भर जगतपति।
देहिँ दया करि दान यह, तव चरननि महँ होहिँ रति॥

प्रजापालक राम

[६९४]

कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः ।
चरन् वाचोऽशृणोद् रामो भार्यामुद्दिश्य कस्यचित् ॥*

(श्री भा० ९ स्क ११ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

बन्धु पुरोहित सचिव प्रभुहिँ श्रद्धायुत सेवे ।
राजधर्म महँ निरत राम सबकूँ सुख देवे ॥
दुख सुख सबको सुनहि सतत सतोष सिखावे ।
सदाचार करि स्व सबनिते नित करावे ॥
पिता करहिँ जस सुतनि की, त चिन्ता रघुपति करहिँ ।
वेष बदलि के निशामहँ, गुप्तरूप पुरमहँ फिरहिँ ॥

जिनके प्रति हमारा प्रेम होता है उनकी सुविधाओ के लिये हमें सदा चिन्ता बनी रहती है। इसी स माता पिता अपने पुत्र पुत्रियो से अत्यधिक प्यार करत है उन्हे अत्यन्त लाड चाव से पालते पोसते हैं उनकी सुविधाओ और मनोगत भावो को जानने के लिय सदा समुत्सुक रहते हैं। बहुत सा बातें हैं जिन्हें

---

* श्री शुकदेवजी कहत हैं— राजन ! श्रीरामचन्द्र जी ने यह जानन के लिय कि लोग मरे सम्बन्ध मे क्या विचार रखते हैं किसी समय गुप्त रूप स वेष बदल कर घूमते हुए सीताजी के सम्बन्ध मे अपनी भार्या स कहते हुए किसी के मुख स ऐसी शकायुक्त बाते सुनी।'

ज्जा तथा सकोच के कारण हम अपने गुरुजनो तथा पूज्य रुपो के सम्मुख साक्षात् प्रकट नही कर सकते। वयस्क पुत्र त्रियो के विवाह के लिये माता-पिता स्वय तो चिन्तित रहते ही , साथ ही वे उनके स्नेहियो साथी-सगियो, सखी सहेलियो के ारा यह जानने की चेष्टा भी करते हैं, कि इनका झुकाव किस ोर है। हमारे मत स सहमत है या नही। इस प्रकार वे अपने ाश्रितो को सुख भी पहुँचाते हैं और आत्मसमीक्षा भी करते हते हैं।

राजाओ के पास प्रजा क मनोगत भावो को जानने का एक-ात्र साधन चर ही हैं। सेवको और गुप्तचरों के द्वारा ही वे ाजा के भावो को जानकर कार्य करते है। किन्तु जो सदाचारी ज्जन राजा प्रजा के प्रति अत्यधिक अनुराग रखते हैं उन्हें केवल रों की बातो से सतोष नही होता। वे स्वय भी छिपकर, वेष दल कर, प्रजा के लोगो मे घुल मिलकर उनके मनोगत भावो को जान लेते है। उनके भावा को जानकर वे उनकी समीक्षा करत है और उसके अनुसार अपने कार्यो मे सशोधन परिवर्तन था परिवर्धन करत है। ऐसे राजा विरले ही होते हैं वे ही प्रजा के सच्चे पिता हैं वे ही यथार्थ पालक हैं वे ही प्रजावत्सल हैं। जिस के हाथ मे अनेक का सुख दुख जीवन मरण निर्भर है, उसे इस बात की चिन्ता रखनी चाहिये, कि लोगो के मेरे प्रति क्या भाव हैं। लोग मेरे किन कामो को अच्छा समझते हैं। किन कार्यो के कारण उनकी मेरे प्रति अश्रद्धा है। उन्हे सुनकर समझ कर आग्रह और मोह छोडकर जो अपना सुधार करते हैं, अपने सुख का छोडकर दूसरो को सुखी करने मे प्रयत्नशील रहते हैं वे ही आदर्श हैं वे ही वन्दनीय, पूजनीय, तथा अमर यश वाले पुण्य-श्लोक पुरुष हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! आपने जगज्जननी जा
परित्याग को कथा पूछी। उसे मैं आप सब को सुनाता हूँ
त्माओ, यह कथा इतनी करुणापूर्ण है, कि बिना हृदय क
से थामे आप इसे सुन न सकेंगे। मै भी बीच मे कंठ भर ज
कारण रुक जाया करूँ तो आप धैर्य धारण किये रहें।"

, हाँ तो वन से लौट कर रघुनन्दन राजा हो गये। वे
सिंहासन पर बैठकर राज-काज करने लगे। वे सदा इसी बा
चेष्टा करते रहते थे, कि मेरे कारण किसी प्राणी को कष्ट
मेरे किसी भी आचरण का जनता पर बुरा प्रभाव न पडे
किसी भी व्यवहार मे लोग कदाचार मे प्रवृत्त न हो।"

राजाओ के यहाँ सदा से गुप्तचर रहते आये हैं। रा
के गुप्तचर ही कान है उनके द्वारा वे प्रजा के मनोगत भाव
जानते हैं। श्री रामचन्द्र ने गुप्तचरो की सख्या और भी बढ
सब को आदेश कर दिया, कि जनता के मनोगत भावो को
आकर मुझसे कहो। विशेषकर लोग मेरे सम्बन्ध मे क्या कहते
मेरे प्रति उनके क्या भाव हैं इन बातो को बताओ।"

भगवान् की आज्ञा पाकर गुप्तचर विविध रूप बना
राज्य मे विचरण करने लगे। कोई ज्योतिषी का वेष बना
प्रजाओ के भावो को जानता, कोई वैद्य बनकर जनता मे
मिल जाता, कोई साधु महात्मा का वेष बनाकर लोगो
अपना विश्वास जमाता, कोई पागल बनकर इधर-उधर घूमता
कोई यात्री बनकर गाँव-गाँव मे लोगो के घर ठहरता। कोई
मदारी बनकर भालुओ को नचाता, कोई नट बनकर खेल करता
कोई प्रहरी बनकर रात्रि मे घूमता कोई, भिक्षुक बनकर घर घर
भिक्षा माँगता। कोई कन्या के विवाह का बहाना बनाकर लोगो
के यहाँ वर देखने जाता। कोई मण्डली बनाकर नाटक कर

फिरता। कोई रसायन बनाने वाला बनकर लोगो को सुवर्ण बनाने का प्रलोभन देता। कोई साग-भाजी बेचना, कोई बच्चो के छोटे-छोटे खिलौने लेकर घर-घर बेचने जाता। कोई चूडी बेचने वाला बनकर घर-घर चूडी पहिनाने के बहाने सब का पता लगा आता। कोई सुरमा बेंदी मिस्सी बेचता। कोई सुनार की दुकान लगाकर घर-घर आभूषण बनाने और बेचने जाता। साराश यह कि जीवनोपयोगी जितने कार्य है जिनके द्वारा जनता मे अधिकाधिक ससर्ग हो सकता है, उन सभी कामो को सत्यता से करते हुए वे चर श्रीरामचन्द्रजी को जनता के मनोगत भावो से परिचित कराते रहते। उनके द्वारा श्रीरामचन्द्रजी सुधार और परिवर्तन किया करते।

भगवान् ने एक समय नियुक्त कर रखा था जिस समय वे सभी गुप्तचरो की बातें सुना करत थे। राज्य मे चोरी जारी व्यभिचार, पापाचार, परनिन्दा परद्रव्यापहरण ये सब बातें तो थी ही नही। सभी सुखी थे सभी समृद्ध थे। राजद्वार मे मिथ्या अभियोग भी नही चलते थे। राज सभा मे धर्म की चर्चा होती थी। गुप्तचर केवल इसी बात का पता लगाया करते थे कि श्रीराम के सम्बन्ध मे लोगो के क्या विचार हैं।"

कोई गुप्तचर आकर कहता— प्रभा! कल रात्रि मे छिपकर एक घर मे गया। वहाँ एक सुन्दरी अपने फूल से सुदर सुकुमार मनोहर शिशु को दूध पिलाता हुई कह रही थी—'बेटा! तुझे मेरा मधुर दूध जितना पीना हो पेट भर के पीले। यह तेरे जीवन में माता का अन्तिम पय पान है। जो श्रीरामचन्द्रजी के मुखकमल का दर्शन कर लेता है, उस फिर इस ससार के दर्शन नही करने पडते। जिस सरयू मे श्रीरामजी अपने चरण कमलो से प्रवेश करते हैं, उस सरयू पय को जो प्रेम से पान करते है उसे माता के पय का

पुनः पान नहीं करना पडता। तू लोकाभिराम श्रीराम के दर्शन करके संसार-सागर से सदा के लिये पार हो जायगा। न जाने तैने कितने जन्मों तक तप, योग, समाधि का अभ्यास किया है, जिसके फलस्वरूप तुझे अवधपुरी में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जहाँ के राजा श्रीराम हैं जो स्वयं साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं। प्रभो! वह माता आपके गुणों का गान करती हुई गद्गद होकर अश्रु बहा रही थी। आपकी कीर्ति का कीर्तन करते करते वह अघाती नहीं थी।"

कोई आकर कहता—"कृपानाथ! कल मै रात्रि को छिपकर एक धनी के घर में गया। पत्नी स्वर्गीय अप्सराओ से भी सुन्दरी थी। वह पलंग पर अपने पति के साथ बैठी हुई अत्यन्त ही स्नेह से उसके गले मे अपनी बाहु डालकर कह रही थी—"हे प्राण नाथ! आप मुझे देखने मे ऐसे लगते हैं। जैसे साक्षात् रघुनाथजी। आप गुणो मे, सौन्दर्य मे, स्नेह मे, उदारता मे, श्रीराम के ही सदृश हैं।"

यह सुनकर उसका पति आँखो में आँसू भरकर कहता—"प्रिये! तुम्हारे यह वचन सती-साध्वी स्त्रियो के अनुरूप ही हैं। पति चाहे मूर्ख हो, दीन, गुणहीन, कुरूप तथा जड ही क्यो न हो धर्म को जानने वाली पतिव्रता उसका परमेश्वर बुद्धि से ही पूजन करती है और उसी को सर्वस्व समझती है। उसी भाव से तुम कहती हो। नही तो कहाँ सर्वेश्वर श्रीराम, कहाँ अल्पमति क्षुद्र तिक्षुद्र मैं। कहाँ महा भाग्यशाली षडैश्वर्य सम्पन्न श्रीरघुनाथ जी कहाँ मन्दभागी मै। कहाँ ब्रह्मादिक देवताओ से भी वंदित श्रीराम कहाँ एक तुच्छ जीव मैं। कहाँ सूर्य के समान प्रकाशमान श्रीराम और कहाँ जुगनू के समान चमकने वाला मैं अधम कीट। कहाँ भुनगा और कहाँ गरुड। कहाँ अमृत और कहाँ विष। कहाँ मोरियों

का सड़ा पानी और कहाँ संसार-बन्धन को काटने वाला भगवती भागीरथी का जल। कहाँ गुड़ का सड़ा मल और कहाँ सुन्दर स्वादिष्ट ताजे रसगुल्ले। कहाँ सड़ा हुआ मांस और कहाँ अत्यन्त सुगन्धित इत्र। कहाँ आक का दूध और कहाँ कामधेनु का अमृतोपम स्वादिष्ट मधुर पय। कहाँ एरंड का वृक्ष और कहाँ सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाला स्वर्गीय कल्पवृक्ष कहाँ श्वित्र और कुष्ट से दुखित श्वान और कहाँ देवताओं का राजा इन्द्र। कहाँ भूत भविष्य वर्तमान तीनों काल को जानने वाले निष्पाप ऋषि और कहाँ ब्रह्महत्यारा। कहाँ साक्षात् वृषभ का रूप धारण हुए धर्म और कहाँ बोझ से पीड़ित गदहा। कहाँ वेदज्ञ ब्राह्मण और कहाँ परनिन्दा परापवाद में निरत पुल्कस। प्रिये! श्री रघुनन्दन की मेरे साथ बराबरी कैसे हो सकती है। उन्होंने अपने चरणों की धूलि से पाषाणमयी अहिल्या को क्षण भर में भुवन-मोहन सौन्दर्य से युक्त परम सुन्दरी ऋषि पत्नी बना दिया। जो अपने संकल्प-मात्र से ही इस चराचर विश्व को बना देते हैं, जिनके भ्रुकुटिविलास से यह सम्पूर्ण विश्व विलीन हो जाता है उनके सम्मुख मेरा अस्तित्व तो गूलर के वृक्ष में लगे हुए असंख्य गूलरों में से एक गूलर में रहने वाले अगणित भुनगों में से एक भुनगे के बराबर भी नहीं। राम सर्वज्ञ हैं, मैं अल्पज्ञ हूँ। राम ईश्वर हैं, मैं क्षुद्रातिक्षुद्र हूँ। इस प्रकार वे रात्रि भर प्रेम में विभोर हुए आपका गुणगान करते रहे। एक दिन नहीं जब-जब मैं उनके घर गया दोनों में इसी की चर्चा होती मिली।

कोई आकर कहता—'प्रभो! कल मैं एक कलाकार के घर गया। उसकी स्त्री का स्वर बड़ा ही मधुर था। वह गाने बजाने में बड़ी ही प्रवीण थी। वह अपने काकिल कूजित कंठ से एक भजन गा रही थी। उसका स्वभाव यही था, कि अवधपुर में जन्म लेने

वाले नर नारी धन्य हैं जो श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करते हैं। रामचन्द्र जी जैसे-जैसे अलौकिक कार्य किये हैं ऐसे कार्यों को अन्य कौन कर सकता है। उन्होंने इतने समृद्धिशाली अवध का राज्य त्याग दिया। लाखों राक्षसों को एक ही बाण से मार गिराया। खर-दूषण त्रिशिरा, कबन्ध, रावण, कुम्भकर्ण को मार दिया। बालि को मार कर सुग्रीव को राजा बनाया। समुद्र पर [illegible] योजन लम्बा सेतु बना दिया। विभीषण को लंका का राज्य दिया। भरी सभा मे किसी से भी न उठने वाले धनुष के टुकड़े टुकड़े कर दिये।"

इस पर उसका पति बोला—"प्रिय! तुम जो कुछ कह रही हो सब सत्य ही है। किन्तु रावण को मारना, समुद्र पर पुल बाँधना, राज्य त्याग देना, राक्षसों का संहार करना, ये सब श्रीरामचन्द्र जी के लिये कोई महत्व के कार्य नहीं है। जैसे किसी धनी से कहे कि तुम्हारे घर मे दस पैसे हैं, तो यह उसके लिये कोई महत्व की बात नहीं। जैसे शूरवीर के लिये चीटी को मार देना कोई वीरता का काम नहीं है, वैसे ही ब्रह्मादि देवों द्वारा जिनके चरण पूजित हैं उन प्रभु के लिये दुष्टों का संहार तथा शिष्टों का पालन कोई प्रशसनीय कार्य नहीं है। वे तो देवताओं की प्रार्थना से भूमि का भार उतारने के निमित्त नर रूप मे अवनि पर अवतरित हुए हैं। पृथ्वी-उद्धार उनका मुख्य कार्य नहीं है। यह तो गौण प्रासगिक कार्य है। उनके अवतार का मुख्य हेतु तो भक्तों को सुख पहुँचाना ही है। हम संसार मे परम सौभाग्यशाली हैं जो श्रीरामचन्द्र के मुखचन्द्र को सदा सतृष्ण भाव से निहारते हैं और अपलक भाव से उनके दर्शन करते हैं। श्रीराम नराकृति परब्रह्म हैं। इस प्रकार गाते-गाते वे आपका गुणगान कर रहे थे।"

कोई कहता है—"प्रभो, मैं एक उत्सव में गया। वहाँ एक वारांगना नृत्य कर रही थी। वह नृत्य करते समय आपके ही गुणों का गान करती थी। उसके पद का सारांश यही था कि स्त्रियों में जानकी ही परम सौभाग्यशालिनी हैं जो चकवी की भाँति श्रीरामचन्द्र के मुखचन्द्र की शोभा का निरन्तर अपलक भाव से पान करती रहती हैं। सीताजी के सौभाग्य की समता संसार में कौन कर सकता है जिनका मान-सम्मान जगत्पति करते हैं। उन्हें प्रसन्न रखने को भाँति-भाँति की क्रीडा करते हैं और एकान्त में घुल-घुल कर बातें करते हैं। इस प्रकार उसने जितने भी गीत गाये सब आपके ही यश मे भरे हुए थे।"

कोई कहता—'मैं एक पंचायत में गया। वहाँ किसी बात का निर्णय हो रहा था। एक पंच चुप था। वह न हाँ करता था न ना। इस पर एक कह रहा था कि श्रीराम के राज्य में कोई अन्याय करने की मन से भी नहीं सोच सकता। सभा में जो पंच असत्य भाषण करता है, या युक्ति से बात करता है अथवा जान बूझकर भी कुछ नही बोलता, वह नरक का भागी होता है। सत्य बात को श्रीराम के राज्य में कोई छिपा ही नही सकता। इस प्रकार वहाँ न्याय में भी सब आपके शील स्वभाव और सदाचार की ही प्रशंसा कर रहे थे।"

कोई कहता—"प्रभो! लोग भरतजी की भक्ति की लक्ष्मण जी की अनुरक्ति की शत्रुघ्नजी की प्रशंसा करते थे। कोई कहता—"कौशल्या के भाग्य की, कैकेयी की कुमति की, सुमित्रा के सौभाग्य की लोग प्रशंसा करते थे। कोई आपके न्याय की कोई आपकी लोकप्रियता के गुण गान कर रहे थे।"

श्री रामचन्द्रजी सबकी बात सुनते और उन्हें अनसुनी कर देते। उन्हें अपनी प्रशंसा-प्रिय नही लगती थीं। फिर भी उनमें

से सम्भव है कोई प्रजा के हित की बात निकल आवे इसलि खोद खोद कर पूछा करते थे।

इस बीच मे भगवती सीताजी ने गर्भ धारण किया। गर्भिणी होने मे अब सीताजी के समीप अधिक रहने, उन्हे प्रसन्न करने को वे भाँति भाँति के उपाय करने लगे। वे जिस वस्तु की इच्छा करती उसे श्रीराम तुरन्त मँगवा देते। वे सीताजी की सखी सहेलियो और दासियो से सदा उनकी इच्छित वस्तुओं के लिये स्वय पूछते रहते तथा पता लगाते रहते। अधिक ससर्ग रहने से उनका सीताजी के प्रति अत्यधिक अनुराग बढ गया। वे नही चाहते थे, सीताजी को छोडकर एक क्षण भी बाहर जावें। किन्तु राज-काज के प्रति अपना कर्तव्य समझकर उन्हे जाना ही पडता। जानकी जी को गर्भिणी होने से श्रीरामचन्द्रजी का क्षण भर का भी वियोग असह्य हो जाता। वे सतृष्ण नेत्रों से श्रीरामचन्द्रजी की बाट जोहती रहती।

एक दिन श्रीरामचन्द्रजी ने सोचा—"ये गुप्तचर मेरी प्रशंसा तो अत्यधिक सुनते हैं। सीता के सम्बन्ध में लोगों का क्या मत है, इसका विशेष विवरण नही बताते यह क्या बात है।" ऐसा सोचकर अब श्रीराम चरो से बाहर यही पूछते—"लोग सीता के सम्बन्ध मे क्या कहते हैं?" गुप्तचर भी कह देते—"प्रभो! सब भगवती सीता देवी के भाग्य की सराहना करते हैं। यह सुनकर भी श्रीराम को संतोष न होता, वे अनुभव करने लगे कि गुप्तचर किसी बात को छिपाते हैं। उन्होने अधिकार के स्वर में गुप्तचरों से कहा—"तुम लोग किसी सत्य बात को छिपाते हो ऐसा मैं अनुभव करता हूँ। तुम्हें मेरी शपथ है, तुम सत्य-सत्य बतलाओ। जानकी के सम्बन्ध मे जनता के क्या भाव हैं।

गुप्तचर बात को बदल कर कहते—"कृपासिन्धो! देवी

कोई बात नहीं, किन्तु जनता में तो भिन्न रुचि के लोग होते हैं। कभी कोई अज्ञ इसी बात पर शंका करता है कि सीताजी रावण के घर में अकेली कैसी रहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस बात के सुनते ही श्रीराम के के हृदय में एक प्रकार की चोट सी लगी। अब उन्होंने स्वयं ही जनता के भावों को जानने का निश्चय किया। वे रात्रि में वेष बदल कर स्वयं ही घूमने लगे।

छप्पय

जिनमहँ योगी रमें ज्ञानतें ज्ञानी जानें।
अन्तर्यामी राम भाव सबके पहिचानें॥
मीते को है दुखी उठी उतकंठा उर महँ।
नरलीला के हेतु फिरैं छिपि छिपिके पुरमहँ॥
रजक एक दिन राति में, निज नारी के कच पकरि।
रही राति में कहाँ तू, पुनि-पुनि पूछे क्रोध करि॥

निन्दकों द्वारा सीताजी की निन्दा

[६९५]

नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतीं परवेश्मगाम् ।
स्त्रीलोभी बिभृयात् सीतां रामो नाहं भजे पुनः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ०, ९ श्लोक)

छप्पय

दाँत पीसि यों कहें लाज कुलटा कहिँ तोकूँ ।
पर घर कैसे रही राम तू समुझे मोकूँ ॥
सीयरूपमहँ फँसे राम ने वही लुगाई ।
रावण घर दस मास रही फिर तें अपनाई ॥
बड़े करें सो सत्य सब, छाजै सब ई राम कूँ ।
करूँ दूसरा ब्याह मैं, जा तू अपने गाम कूँ ॥

जगत् मे दुष्ट पुरुष न हो तो सज्जन पुरुषो का सज्जनता प्रकट ही न हो । दुष्ट पुरुषो का उसी प्रकार आवश्यकता है। जिस प्रकार परीक्षार्थियो के लिये परीक्षक की । जैसे कितना भी

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! निन्दक अपनी स्त्री को लक्ष्य करके कह रहा है—"अरी, पराये घर मे रहने वाली तुझ दुष्ट स्वभाव की स्त्री को अब मैं अपने घर मे नही रखूँगा । स्त्रीलोभी राम ने सीता को स्वीकार कर लिया है तो करें । मैं राम नहीं हूँ । मैं तुझे अब कभी स्वीकार न करूँगा ।"

सुन्दर शरीर क्यो न हो, उसमे कितने भी सुगन्धित पदार्थ क्यो न लेप किये गये हो, मक्खी पहले उसी स्थान पर बैठेगी जहाँ घाव होगा, मवाद लगा होगा। मक्खी को दुर्गन्ध नही आती विष्ठा का कीडा विष्ठा मे ही रमण करता है। उसी प्रकार दुष्ट पुरुष सदा दूसरो के गुणो मे भी दोष ही देखा करते हैं। सन्त-पुरुषो की बात तो छोड दीजिये। नही तो जैसे लोक मे व्यवाय आमिष तथा इन्द्रिय सुखजन्य पदार्थो के प्रति स्वाभाविक झुकाव होता है, उसी प्रकार दूसरो के दोष देखने की प्रवृत्ति मनुष्यो मे स्वाभाविक है। यद्यपि हमे परचर्चा मे कुछ मिलता नही फिर भी न जाने क्यो वह ऐसा है, वह वैसा है, उसने ऐसा काम क्यो किया, उसे ऐसा न करना चाहिये इन बातो के करने मे मनुष्यो को रस आता है। जो नौकर स्वामी के सम्मुख झुक-झुक कर प्रणाम करता है, बात-बात पर श्रीमान्! अन्नदाता, माई बाप कहता है उसे ही पीछे देखिये, अपने स्वामी की कैसी आलोचना करेगा—"वे बडे होगे तो अपने घर के होगे। हमे उनके बडप्पन से क्या लेना। वे समझते हैं हमने इसे खरीद लिया है। पैसा-पैसा पर धर्म गंवाते फिरते है? मैं तो लाखो रुपयो पर पेशाब कर दूंगा। लोग कपडे तो सफेद पहिनते हैं, किन्तु उनका हृदय काला होता है, पैसे-पैसे को मरते हैं। दया-धर्म तो उनमे है ही नही।" इत्यादि-इत्यादि बहुत सी बुराई अपने स्वामी के पीठ पीछे करते हैं और सुख का गर्व का अनुभव करते हैं। बुद्धिमान पुरुष इन साधारण लोगो की बातें सुनकर हंसी मे टाल देते हैं, उपेक्षा कर देते हैं। इनकी बातो मे भी कोई ग्रहण करने योग्य बात होती है, तो उसे ग्रहण कर लेते हैं। गुणग्राही सर्वत्र गुण ही देखते हैं, और दोषदर्शियो को सब बातो मे दोष ही दोष दिखाई देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! एक दिन श्रीराम प्रहरी का वेष बनाकर नगर मे घूम रहे थे। उन्होंने किसी धनिक के घर मे अपने ही सम्बन्ध की कुछ बातें सुनी। श्रीराम वहाँ ठहर गये। उस श्रीमान् की पत्नी अपने पति से आग्रह कर रही थी—"प्राणनाथ, मेरी बहिन का विवाह है आप मुझे साथ लेकर चलें !"

पति कह रहा था—"प्रिये ! मुझे बहुत काम है, तू अकेली दास-दासियो को साथ लेकर चली जा।"

स्त्री आश्चर्य-चकित होकर कह रही थी—"आप यह कैसी बात कह रहे हैं। पति के बिना पत्नी का धर्म नही कि अकेली कही जाय।"

पति ने उत्तर दिया—"अपने पिता का घर पराया घर थोड़े ही है। स्त्री के लिये स्वतन्त्र रहने मे दोष बताया है। परन्तु पिता का घर और पति का घर एक ही है। यह तो जो लोग शंकाशील होते हैं वे ऐसी बात सोचते हैं। देखो, सीता जी रावण के घर १० महीने अकेली ही रही। श्रीराम का उनके प्रति अनुराग था, उन पर विश्वास था, इसलिये उन्होने कुछ नही कहा। उन्हे फिर अपनी पटरानी बना लिया।"

स्त्री ने उत्तर दिया—"हम लोग श्रीराम की बराबरी थोड़े ही कर सकते है। श्रीराम तो सर्वज्ञ हैं। जगत्-पिता हैं। जानकी जी जगज्जननी हैं। उनके लिये तो कोई दोष ही नही। यों स्त्रियों को पति के बिना स्वतन्त्र कही जाना दोष की बात है। जानकी जी तो विवश होकर-पराधीनता के कारण-रावण के घर रही। स्वेच्छा से वे कभी अपने प्राणनाथ से पृथक नही रह सकती।" यह सुनकर श्रीराम कुछ चिन्ता में पड़ गये। वे आगे बढे।

आगे उन्होने देखा कुछ लोग आपस मे उन्ही के सम्बन्ध में बातें कर रहे हैं। भगवान् वहाँ ठिठक गये। कोई कह रहा था—"देखो, लोग गुणो की ओर तो ध्यान देते नही। दूसरो के छिद्र देखते रहते हैं। वे पडित बूढे हो गये, किन्तु उनके नास्तिक-पने के भाव नही गये। कल कह रहे थे—अब श्रीराम चन्द्र जी ने मार्ग खोल दिया। स्त्रियाँ स्वछन्द होकर घूमेगी। उनके पति पूछेंगे—कहाँ गई थी, तो कह दे गी श्रीराम जी ने दश महीन पर घर मे रही सीता जी पर अविश्वास नही किया, आप हमे घर मे ही बन्द रखना चाहते है। राजा जो करता है प्रजा उसका अनुसरण करती है।" इस बात को सुनकर श्रीराम का बडा दुख हुआ। वे और भी आगे बढे।

कुछ दूर चलकर उन्हे कुछ कलह सी सुनाई दी। कोई पुरुष किसी पर क्रोध करके डाट रहा है। प्रहरी के भेष मे भगवान् उधर ही बढे जहाँ से लडाई की बात सुनाई दे रही थी। वह एक धोबी का घर था। भगवान् न खिडकी से देखा कि धोबी अपनी स्त्री को डाँट रहा है। वह क्रोध में भरकर उसके जूडे को पकड कर पूछ रहा है—"तू कल रात में कहाँ रही थी।"

स्त्री रोते रोते कह रही थी—"आप वस्त्र लेकर गये थे, मेरी एक सहेली आई। उसके घर विवाह था। मुझे हठ पूर्वक अपने यहाँ ले गई। उसके यहाँ बहुत काम था। मैंने उससे बार-बार कहा—'मुझे जाने दो, जाने दो,, किन्तु वह मानी ही नही। मुझे विवश होकर रहना ही पडा। प्रात. जब मे लौट कर आई तब तक आप घाट पर कपड़े धोने चले गये थे।"

उसका पति क्रोध करके बोला—"दुष्टे! अब तू इतनी स्वतन्त्र हो गई है, तब तेरा मेरे घर मे क्या काम। उसी के घर

चली जा जिसके घर रात्रि मे रही थी, या अपने बाप के घर चली जा मैं तुझे अपने घर मे कभी नही रख सकता।"

वह हाथ जोडकर दीन वाणी मे कह रहा थी—"प्राणनाथ, मुझसे अपराध तो अवश्य हो गया, किन्तु आप तो दयालु हैं, मैं आपकी दासी हूँ। अब के क्षमा कर दीजिये। फिर कभी आप की आज्ञा के बिना कभी न जाऊँगी।"

धोबी क्रोध करके उसे बाल पकड कर ढकेलते हुए कह रहा था—"चल, हट कुलटा कही की। दूसरे घर मे रात्रि बिताकर मुझसे क्षमा चाहती है। पर घर मे रहने वाली स्त्री को तो मैं तब रखूँ जब मुझे दूसरी स्त्री न मिलती हो। तेरी जैसी ३६० स्त्रियाँ मुझे मिल सकती हैं। मेरे नख-नख के विवाह हो सकते हैं।"

स्त्री कह रही थी—'मैं मना कब करती हूँ, आप भले ही दूसरा विवाह कर लें। दश विवाह कर लें मैं भी एक कोने मे रहूँगी। झाड़ू बुहारू देती रहूँगी। मेरा परित्याग न करें।"

क्रोध मे भर कर धोबी कह रहा था—'तू एक बार कह, चाहे लाख बार कह मैं तुझे नही रखूँगा। चाहे सूर्य पश्चिम में उदय हो जायँ चन्द्रमा अमावस्या को उदित हो जायँ किन्तु मैं तुझे अपने घर मैं नही रख सकता। मै राम थोडे ही हूँ जिन्होने १० महीने तक रावण के घर मे रही हुई सीता को फिर से अपनी पटरानी बना लिया। वे सीता के रूप पर आसक्त थे उन्हें वैसी दूसरी स्त्री न मिलती होगी, इसी लोभ से उन्होने बिना विचार किये सीता को रख लिया। मैं तो प्राण रहते ऐसा नही कर सकता। 'तू अभी मेरे घर से निकल जा।' यह कह कर उसने धक्का मार कर स्त्री को घर से बाहर कर दिया।

धोबी की ये बातें सुनकर श्रीरामचन्द्र को बडी आत्मग्लानि

हुई। वे सोचने लगे—"मेरे राजा होने को धिक्कार जो मेरी प्यारी प्रजा के लोग ही मेरे सम्बन्ध मे ऐसे शकायुक्त विचार रखते हैं। संसार में सबका रजन करना बडा कठिन है। वास्तव मे सीता निर्दोष है। उनने अग्नि मे प्रवेश करके अपनी निर्दोषता सिद्ध की है। फिर भी यह धोबी लका मे तो देखने गया ही नही था। अयोध्यापुरी का कोई भी वहाँ नही था। इसीलिये लोग मेरे चरित्र मे सन्देह कर रहे हैं। मुझे विष का घूंट पीना होगा, सीता का परित्याग करना होगा। बिना सीता के परित्याग किये गति नहीं, कल्याण नही।" ऐसा सोचकर श्रीराम ने सीताजी के त्याग का दृढ निश्चय कर लिया। खिन्नमन से घर लौट आये। इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्रीराम ने जगज्जननी सीताजी के त्याग का निश्चय क्यो किया? सीता तो सर्वथा दोषरहित थी।"

सूतजी बोले—"महाराज! सीताजी शुद्ध हैं। वे सर्वथा निर्दोष हैं, इस बात को श्रीरामचन्द्रजी जानते थे, किन्तु प्रजा के रजन के लिये, अपकीर्ति के भय से, श्रीरामचन्द्रजी ने सीता का त्याग करने का निश्चय किया।"

इस पर शौनकजी ने कहा—'नही, महाराज! ये बात उचित नही। एक अनपढ मूर्ख धोबी के कहने से अपनी प्राणो से भी प्यारी पत्नी का परित्याग करना मैं तो सर्वथा अनुचित ही समझता हूँ। श्रीराम के इस कार्य का समर्थन कोई भी बुद्धिमान् पुरुष न करेगा। यो एक-एक के कहने से राजा परित्याग करता फिरे तब तो वह एक दिन भी राज्य नही कर सकता। धर्मपूर्वक व्यवहार करने वाले राज कर्मचारियो और मत्री अमात्यो से प्राय. बहुत से लोग जलते रहते है। उनकी झूठी सच्ची शिकायते भी करते है। ऐसे राजा साधारण लोगो के कहने से उन्हें

दिया करे तब तो कोई भी उसके यहाँ काम करने में उत्साह न दिखायेगा, कोई स्थाई न रहेगा।"

इतना सुनते ही सूतजी गम्भीर हो गये और बोले—"मुनियो! इस बात को गम्भीरता के साथ सोचें। जहाँ सिद्धान्त को लेकर झगडा है, वहाँ तो जो सत्य हो उसी पर अडे रहना चाहिये। जिसका सम्बध सबसे हो, जो सार्वजनिक वस्तु हो वहाँ न्याय का और सभी के सुख का ध्यान रखना चाहिये, किन्तु व्यक्तिगत बातो मे तो त्याग में सुख है। निन्दकों का मुख त्याग द्वारा ही बन्द किया जा सकता है। श्रीरामचन्द्रजी ने उसी आदर्श को उपस्थित किया। श्रीरामचन्द्रजी अवध के राज्य के पूर्ण अधिकारी थे। यदि दूसरा कोई राजा आकर अपना अधिकार उस पर बनाता, तो वह राज्य पाट को त्यागकर कभी वन न जाते। उससे युद्ध करते उसे परास्त करके अधिकार के साथ सिंहासन पर बठते। किन्तु ऐसा नही हुआ। कैकेयी ने भरतजी को बीच में डालकर राजा से राज्याधिकार ले लिया। श्रीराम को १४ वर्ष के लिये वनवास दे दिया। यह अत्यन्त अनुचित तथा सभी को बुरा लगने वाली बात थी। उस समय जनता श्रीराम के अनुकूल थी चाहते तो बलपूर्वक राज्यसिंहासन पर बैठ जाते। राजा कुछ कहते तो उन्हे कैद कर सकते थे। महाराज दशरथ ने अत्यन्त दीनता से श्रीराम के सम्मुख यह सुझाव रखा भी था कि मैं लज्जित हूँ, बूढा हूँ, राज्य करने योग्य नही हूँ। धर्मपूर्वक तुम मुझे बाँधकर राजा बन जाओ। राम के राजा होने पर भरतजी भी प्रसन्न ही होते, न प्रसन्न होते तो भी लक्ष्मण उन्हे परास्त करने को कटिबद्ध थे ही। श्री राम का यह कार्य न्यायानुकूल भले ही होता, कुछ देर के लिये प्रजा के लोग प्रसन्न भले ही हो जाते किन्तु इससे श्रीराम की कीर्ति न होती, इसमे उनकी महत्ता न बढती। ऐसा तो सभी करते

हैं अधिकारो के लिये तो सभी लडते हैं। प्रतिष्ठित बनने की, सुखी रहने की अकाक्षा सभी को है। जो कुल के कलह को मिटाने के लिये शारीरिक सुखो के ठुकराने के लिये महान् से महान् त्याग कर सकता है, वही महा पुरुष कहलाता है। श्रीराम यदि समझते कि भरत राज्य के सर्वथा अयोग्य है, भरत के राजा होने से समस्त प्रजा को क्लेश होगा, राज्य मे अराजकता फैल जायगी यज्ञ याग, दान धर्म आदि कार्य नष्ट हो जायंगे तब वे कभी वन को न जाते किन्तु जब उन्होने समझ लिया कि प्रजा का पालन तो भरत भी कर ही सकते है, मेरे राजा न होने से इतना ही होगा, कि मैं राज्यसुखो से वचित रहूँगा, इसलिये माता-पिता धर्मरक्षा के लिये, कुल की कलह को शान्त करने के लिये मुझे राज्य का परित्याग ही कर देना चाहिये। लोग दुखी अवश्य होगे, किन्तु वह मेरे स्नेह से मेरे वियोग मे दुखी होगे। प्रेम के वियोग का दुख तो प्रेम को और बढाने वाला ही होता है। प्रतीक्षा से उत्कंठा से स्नेह और भी अभिवृद्धि को प्राप्त होता है। इसलिये राम राज्य को छोडकर चले गये। उस त्याग से उनकी कीर्ति अमर हो गई। उनकी कथा स्थाई हो गई। करुणा की धारा मे वह त्रैलोक्य पावनी सुरसरि के समान बन गई। जो व्यक्तिगत स्वार्थों को आत्मसुखो को सदा त्यागने को उद्यत होता है वही महान् है, वही पूजनीय, वन्दनीय और अनुकरणीय है। उसी का यश अमर होता है। उसी की कीर्ति ससार मे सदा के लिये छा जाती है त्याग ही चरित्र का महान् बनाता है।

यदि वशिष्ठजी की अज्ञ लोग झूठी निन्दा करते तो श्रीराम उसकी न केवल उपेक्षा ही करते अपितु निन्दक पर अभियोग चलाते और उन दड देत। क्योंकि उनक बिना राज-काज धर्म-कम सब ही नष्ट हो, जायंगे। सीताजी ससार मे उनकी सबसे प्रिय वस्तु

थी। सीता का पृथक् अस्तित्व समझते ही नहीं थे। वे भली भाँति जानते थे, सीताजी मे कोई दोष नही, गगाजल के समान शुद्ध हैं, पतिव्रताओ मे शिरोमणि हैं, साथ ही ससार में सबसे श्रेष्ठ सुन्दरी और मेरी प्राणो से भी प्यारी है। उसके सानिध्य से मुझे स्वर्गीय सुख मिलता है। किन्तु ईर्ष्यालु लोग उस सुख को देखकर जलते हैं। जनता मे अपवाद फैलाकर एक बुरा आदर्श उपस्थित कर रहे है। मेरे विशुद्ध आचरण की आड मे सदाचार और पापाचार का प्रचार कर रहे है। ऐसी दशा मे मुझे अपने श्रेष्ठ से श्रेष्ठ व्यक्तिगत सुख का परित्याग कर देना चाहिये। सीता मेरे हृदय मे बसी है। वन मे रहे या महल मे, मैं उसका हूँ, वह मेरी है। मेरा उसका सम्बन्ध ऐसा अटल है, कि वह देश काल के व्यवधान से शिथिल नही हो सकता। मुझे इस विषके घूंट को पीना ही होगा। सीता का साथ छोडना ही होगा। यदि मैं निंदकों को दड देता हूँ, इस बात को वधानिक रूप देकर दबाने की चेष्टा करता हूँ, तो ऐसी बातें दबाने से और भी महत्वपूर्ण बन जाती हैं और दबन के स्थान मे उनका और भी अधिक प्रचार होता है। दमन से उनके प्रचार तथा प्रसार मे बल आ जाता है। सत्य बात तो कभी छिपती नही, वह तो कभी न कभी प्रकट हो ही जाती है। किन्तु त्याग से उसका गौरव और बढ जाता है। सीता के निर्वासित करने से राज्यकाज मे तो कोई बाधा आती नही। धर्मकार्यों मे पत्नी की आवश्यकता अवश्य है, उसका निर्वाह कुशा की या सुवर्ण की पत्नी बनाकर अभाव मे हो सकता है। मुझे प्रतिक्षण मर्मान्तिक कष्ट अवश्य होगा। उसे लोकरजन के लिये उत्तम आदर्श के लिय सहना पडेगा। इन्हीं सब बातो को सोचकर श्रीराम ने सीताजी के त्याग का निश्चय किया। उन्होने किसी अपराध पर सीताजी को नही निकाला। उन्होन तो जान बूझ

र त्याग का आदर्श उपस्थित किया। इसलिये मेरी बुद्धि मे
सीता का परित्याग श्रीराम की सबसे बड़ी महत्ता है। सीताहरण
पर जब हम श्रीराम की दशा देखते हैं तो हमे ऐसा लगता है, कि
सीताजी के प्रति राम का प्राणो से भी अधिक अनुराग है। वे
सीता के पीछे चौदभुवनो को चराचर विश्व को, नष्ट करने के
लिये उद्यत हो जाते हैं। रोते-चिल्लाते पागलो की भाँति एक वन
से दूसरे वन मे भटकते फिरते हैं। वृक्षो से मृगों से फूल पत्तो से
सीता का पता पूछते हैं। निर्वासित वानर के सामने घुटने टेककर
गिडगिडाते हैं। हम सुग्रीव की शरण मे आये हैं। हमारी पत्नी
का पता लगवा दो। सीता को किसी तरह खुजवा दो। उस समय
हम ऐसा लगता है कि राम सीता के लिये सब कुछ कर सकते हैं।
प्राणो को छोड सकते हैं किन्तु सीता को नही छोड सकते। छोटे
भाई लक्ष्मण से सीता के वियोग मे ऐसी सरसशृंगारपूर्ण बातें
निर्भय होकर पागलो की भाँति कहते हैं कि छोटा भाई लज्जा के
कारण सिर नीचा कर लेता है। किन्तु राम को तो उस समय
उन्माद था। सीता के वियोग के कारण उनका हृदय छलनी हो
रहा था, उसमे से निरन्तर शोक बह रहा था। उन्ही राम को जब
देखते हैं कि सीता के बिना १० हजार वर्षो तक दृढता के साथ
राज काज करते रहते हैं तब उनके धैर्य का, त्याग का महत्ता का
अनुमान लगाया जा सकता है। महापुरुषो की यही तो महत्ता है।
वे जितनी ही दृढता से ग्रहण करने की शक्ति रखते है उतनी
ही दृढता से छोड भी सकते हैं। वे कुसुम कलिका से भी अधिक
कोमल हृदय के होते हैं और समय आने पर वज्र से भी अधिक
कठोर बन जाते हैं जिस दृढता से 'हाँ' करते है उसी दृढता से
'ना' भी कर सकते हैं। इसलिये उनके बालि वध आदि कार्यो के
सम्बन्ध मे तो मतभेद हो भी सकता है, किन्तु सीता निर्वासन के

सम्बन्ध में तो वैमत्य को स्थान ही नहीं। यह उनका महान त्याग है। अत्यधिक सहिष्णुता का आदर्श है। प्रजारंजन का अनूठा दृष्टान्त है। संसार में इतना बड़ा त्याग कौन कर सकता है। जो करता है वह राम है या रामका है।"

यह सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! हाँ, श्रीरामका यह कार्य यथार्थ मे सर्वश्रेष्ठ त्याग है। सीता जैसी सती साध्वी पति परायणा प्राणो से भी अधिक प्रिय पत्नी का साधारण-सी बात पर सदा के लिये त्याग या तो राम के ही अनुरूप है या जड़ के। साधारण पुरुष ऐसा त्याग कभी नही कर सकते, किन्तु हमें एक बात का संदेह बना ही रहा। अयोध्या मे रहने वाले एक साधारण से धोबी को ऐसी बात कहने का साहस ही कैसे हुआ जिस राम-राज्य में सभी धर्मात्मा, क्रोधरहित, अमानी सर्वप्रिय मनुष्य थे उसमे ऐसा दुष्ट आ कहाँ से गया? उसकी जिह्वा सड़कर गलकर उसी समय गिर क्यो नही गई। जगज्जननी जानकी के सम्बन्ध मे ऐसी बात उसके मन मे आई कैसे? कैसे उससे यह बात कही गई? फिर सर्वज्ञ श्रीराम भी उसी समय वहाँ पहुँच कैसे गये?"

यह सुनकर सूतजी सूखी हँसी हँसकर बोले—'मुनिवर! आप सर्वज्ञ होकर ऐसा प्रश्न कर रहे हैं। कौन किसकी निन्दा कर सकता है और कौन प्रशंसा। यह प्राणी सभी क्रियायें स्वकर्म सूत्र मे बंधकर करता है। पूर्वजन्मो के संस्कार ही कहने करने को विवश करते है। जिससे पूर्वजन्म मे हमने प्यार किया होगा वह इस जन्म मे हमसे स्वतः ही प्यार करेगा। जिससे पूर्व जन्म में मनोमालिन्य रहा होगा, वह बिना परिचय के ही देखते द्वेष करने लगेगा। जिसका हमने पूर्वजन्म मे उपकार किया होगा वह इस जन्म मे हमारा भी उपकार करेगा। जिसका जान में

नजान मे हमसे कोई अपकार हो गया होगा वह इस जन्म मे
का बदला आकर लेगा ही। बाल्यावस्था मे जनकनन्दिनी के
रा इस इस जीव को मर्मान्तिक क्लेश पहुँचा था। उसी का
दला लेने के लिये इसके मुख मे बिना जाने बूझे ऐसी बात निकल
ई। विधि का ऐसा विधान ही था, ऐसा निश्चित था। इसीलिये
ोराम वहाँ पहुँच गये। ऐसा हो गया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! जगज्जननी जनक
न्दिनी से बाल्य-काल मे ऐसा कौन सा अपराध बन गया था,
सके कारण निपराध उन्हे पति से पृथक् रह कर जीवन
ताने के लिये विवश होना पडा। यह रजक पूर्व जन्म में कौन
ा? पहिले इस बात को सुनाइये तब आगे प्रसग कहिए।'

यह सुनकर सूतजी बोले— मुनियो! जगज्जननी भागवती
ता से अपराध ही क्या होना था। वे तो आदिशक्ति जगन्माता
। जब उन्हें क्रीडा करनी होती है, जीवो के उद्धार के लिये
रुण कथा रूपा सरिता बहानी होती है तो वे ऐसी लीलायें
चती हैं, जिन्हे पढ-पढ कर प्राणी रोव जिससे उनके हृदय का
ाल अश्रु बनकर नेत्रो द्वारा निकल जाय। इन करुणा कथाओ को
नकर जिनकी आँखो मे आँसू नही आते, हृदय फटने नही लगता
ा परमार्थ पथ के अधिकारी नही। उन्हे तो अभी चिरकाल तक
इसी प्रकार ससार मे भटकना पडेगा। जगदम्बा की सभी चेष्टायें
न्तानो के हित के ही निमित्त होती है।

हाँ, तो जब जानकी छोटी ही थी तब बडी चचल थी। पिता
की अत्यन्त प्यारी थी। माता का उन पर अपार प्यार था। यद्यपि
वे हल की फाल से खोदी भूमि से निकली थी। अयोनिजा थीं—
फिर भी माता का इनके प्रति अत्यधिक अनुराग था। वे उन्हें

का मन उनमे फँस जायगा। बाल क्या होगे जीवरूपी मछलियों के फँसाने के जाल होगे। उन पर बाँधा हुआ मुकुट मन को मत्त बना देने वाला होगा। राम का भाल विशाल और तिलक-युक्त होगा। उनका मुख कमल कली के समान कोमल, कमनीय और मनहर होगा। उनके नेत्र बडे-बडे विशाल, कानो तक लम्बे तथा खिल हुए कमल के समान डहडहे, सरस और सुन्दर होंगे। वे शान्त, गम्भीर लजीले कटीले तथा चुभने वाले होंगे। उनकी नासिका पतली, नुकीली उन्नत तथा मनोहारिणी होगी। भौं धनुष के समान टेढी, चढाव उतार की, मटी हुई सुन्दर और चित्ताकर्षक होगी। कान बडे और कुण्डलो से युक्त होंगे। दाँत कान्ति युक्त, शुभ्र, घन छोटे और उज्वल होगे। ओष्ठ कुंदरू के समान लाल गुदगुदे, पतले, सरस और मृदु होगे। ठोडी मनोहर, उठी हुई और गोल होगी। गरदन छोटी सुहावनी और शख के समान होगी। बाहुएं विशाल, पुष्ट, बलवती और उतार चढाव की होगी। छाती विशाल, स्पर्श मे परम सुखद, शोभा सम्पन्न और श्रीवत्स के चिह्न से चिह्नित होगी। उनका कटि प्रदेश कुछ भारी मासल, सुखद और दर्शनीय होगी। जाँघे चिकनी, गोल, पुष्ट और मनहर होगी। रघुनाथजी के चरणो की शोभा का वर्णन ससार मे कौन कर सकता है। वे तो भक्तो के सर्वस्व, जीवो के एकमात्र आश्रयदाता और मुक्ति के स्थान होगे। श्रीराम का रूप कोटिकन्दर्पों से भी असख्यो गुणा श्रेष्ठ होगा। सहस्रो जिह्वा वाले शेषजी भी श्रीरामचन्द्र जी के रूप का वर्णन नही कर सकते। फिर मैं पक्षिजाति मे उत्पन्न हुई अधम स्त्री उनके रूप का वर्णन कैसे कर सकती हूँ।"

इतना सुनते ही, जनकनन्दिनी का मुखचन्द्र खिल उठा। उनके कमल के समान बडे-बड़े नेत्रो से प्रेम के अश्रु निकल पड़े। वे

बार-बार कहने लगीं—"श्रीराम के रूप का वर्णन करो। उनके गौरव युक्त गुणों का गान करो। अपनी सुमधुर वाणी से राम कथा सुनाओ।"

शुकी ने अत्यन्त ही प्रेम-पूर्वक पूछा— सुन्दरि! तुम कौन हो? तुम तो देवकन्या के समान प्रतीत होती हो। तुम अत्यत ही स्नेह, आदर, अनुराग और उत्कंठा के साथ श्रीराम के सबन्ध मे पूछ रही हो। तुम्हारे भावो से ऐसा प्रतीत होता है, कि श्रीराम के प्रति तुम्हारा सहज स्नेह है, नैसर्गिक अनुराग है? यदि अनुचित न हो, तो तुम हमे अपना परिचय दो।'

सीताजी ने अत्यन्त स्नेह के साथ कहा—'शुकी! जिन सीता के सम्बन्ध मे तुम कह रही हो मैं वही सीता हूँ। मेरे पिता मिथिलाधिप महाराज जनक मुझे प्राणो से भी अधिक प्यार करते है। तुमने मुझे अत्यन्त सुखद सम्वाद सुनाया है। इस कथा को सुनकर मेरा रोम-रोम खिल उठा। अब मैं तुम्हे छोड नही सकती। जब श्रीराम दूल्हा वेष मे आकर मेरा पाणिग्रहण करेंगे तभी मे तुम्हे छोड सकती हूँ।"

शुकी ने कहा—'देवि! हमारा बडा सौभाग्य है, जो हमे आपके दर्शन हो गये। आपने अत्यन्त स्नेह से हमारे वचन सुने। अब आप हमे आज्ञा दें हम दोनो सुख से प्रेमपूर्वक विचरण करेंगे।"

सीताजी ने कहा—'शुकी! जगलो मे भटकने से क्या लाभ। तुम्हारा कठ बडा मधुर है। तुमने अपनी सुन्दर सरस कथा से मेरा चित्त अपनी ओर खीच लिया है, तुम्हे छोड नहीं सकती मेरे महलो मे सुख से तुम निवास करो। तुम्हे सुवर्ण के पिजडे में रखूँगी। तुम जो भी वस्तु खाने को माँगोगी उसे ही मँगाकर

खिलाऊँगी, अपने हाथों तुम्हे हिलाऊँगी सेवा करूँगी, तुम मेरे पास ही रहो।"

शुकी ने कहा—'राजकुमारी! हम वन मे विचरण करने वाले अरण्य के पक्षी हैं हमे स्वच्छद घूमना अत्यन्त ही सुखकर प्रतीत होता है। यह मैं जानती हूँ। तुम सब कुछ मुझे दे सकती हो किन्तु बन्धन तो बन्धन ही है। स्वतन्त्रता के समान कोई वस्तु नही। स्वतन्त्रतापूर्वक रूखा-सूखा आधा पेट भी आहार मिले तो वह अति उत्तम है और दासता मे रहकर चिकनी चुपडी भी मिले, ५६ प्रकार के व्यञ्जन ही क्यो न हो, तो भी वे सुखकर नही। हमे स्वच्छन्द होकर पेडो पर रहना जितना सुखकर है महलो का रहना प्रिय नही। तुम लोभ मत करो देखो, सौन्दर्य को देखकर ही सुखी होना चाहिये। जो सौन्दर्य को सीमा मे बाँधकर हठपूर्वक उसे अपनाना चाहता है, उसे सबकी दृष्टि से ओझल करके एकमात्र अपनी ही स्वत्व उस पर जमाना चाहता है, वह लोभी है। लोभ पाप का मूल है। प्रेम मे सुख है, मोह मे दुख है। तुम मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध बन्धन मे मत डालो। मेरे पति के साथ मुझे जाने दो। फिर मैं आऊँगा। फिर तुम्हें सुमधुर कथायें सुनाऊँगी।"

जानकीजी ने कहा—'देखो मेरा अनुराग तुम मे अत्यधिक हो गया। तुमने मेरे चित्त को फँसा दिया है। श्रीराम जब तक मुझे न मिलेंगे तब तक मै तुम्हारे द्वारा उनकी कथा ही सुनकर सन्तोष करूँगी। जब वे मुझे पत्नी-रूप मे वरण करलें, तब तुम भले ही चले जाना।"

शुकी बोली—'देवि! तुम अभी निरी बच्ची ही हो। पति के साथ पत्नी को एकान्त मे कितना सुख होता है उसे तुम नहीं जानती। मुझे तुम्हारे यहाँ सुख न होगा, प्रत्युत महान् क्लेश ही

होगा। फिर देखो, मैं गर्भिणी हूँ। शीघ्र मेरे प्रसव होने वाला है। मैं अपने पति के साथ जाऊँगी। मैंने एक सुंदर-सा घोसला बनाया है उसमे अंडे दूँगी। बच्चे जब बडे हो जायंगे तब मैं फिर तुम्हारे पास आऊँगी।"

सीता जी ने दृढता के स्वर मे कहा—'शुकी तू चाहे एक बार कह या लाख बार कह। मै तुझे न छोड़ूँगी, न छोड़ूँगी, किसी प्रकार भी न छोड़ूँगी। हाँ, तेरे पति को छोड सकती हूँ।" यह कहकर जानकीजी ने शुक को छोड दिया। वह उडकर पास के पेड पर जा बैठा और रोता हुआ बोला—'राजकुमारी, यह बात अच्छी नहीं। किसी के जोडे को नष्ट करना उचित नही। यह पत्नी मुझे प्राणो से भी अधिक प्रिय है, तुम इसे छोड दो।"

सीता जी राजकन्या ठहरी। उन्होने डाँटकर कहा—"उड जाओ यहाँ से। मै इसे नही छोड सकती अथवा बैठे रहो मैं ही इसे लेकर महलो मे जाती हूँ।" यह कहकर वे पिंजडे को स्वय उठाकर चलने को उद्यत हुई।

शुकी ने जब समझ लिया, यह हठीली राजकुमारी मुझे छोड़ेगी नही, मेरे पति से मुझे पृथक् कर ही देगी तो उसने क्रोध मे भरकर जानकी को शाप दिया—"अरी राजकुमारी! जिस प्रकार तू मुझे गर्भावस्था मे अपने पति से पृथक् कर रही है, उसी प्रकार तू भी अपने पति से गर्भावस्था मे पृथक् हो जायगी।" इस प्रकार कहकर दुःख और शोक के कारण उसने वहीं अपने शरीर को त्याग दिया।

अपनी पत्नी की शोक सताप से मृत्यु होते देखकर शुक को परम दुःख हुआ। उसने भी प्रिया के दुःख से दुखी होकर जानकी को लक्ष्य करके कहा—"देवि! तुम्हारा विवाह श्री रामचन्द्र के साथ तो हो ही जायगा। अयोध्याधिपकी रानी तो तुम बन ही

जाओगी। किन्तु मैं तुम्हे अधिक दिन तुम्हारे पति के समीप न रहने दूँगा। उस धन जन से भरी पूरी समृद्धशालिनी अयोध्या पुरी मे मै जन्म ग्रहण करके ऐसी-ऐसी बातें कहूँगा जिससे विवश होकर श्रीराम को तुम्हे त्यागना पडे।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कह कर उस पक्षी ने प्रतिहिंसा तथा क्रोध मे भर कर अत्यन्त दुख से वही प्राण त्याग दिये। जानकी जी दुखित होकर घर चली गई।"

'कालान्तर मे वही शुक आकर' आयोध्या मे रजक हुआ। क्रोध और हिंसा के भावो से अन्त मे इसने प्राणो का परित्याग किया, इसी से उसे ऐसी योनि मे जन्म लेना पडा। उसी पुराने बैर के कारण उसके मुख से सस्कारवश ऐसी बातें निकल पडी जिससे श्रीराम को अपनी प्राण प्रिया को छोडने के लिये विवश होना पडा।

शौनक जी ने पूछा—"हाँ तो सूतजी! फिर क्या हुआ।'

अत्यन्त ही करुणा के स्वर मे सूतजी ने कहा—"फिर महाराज जो होना था वही हुआ। श्रीराम लौटकर महलो मे आये। सयोग की बात कि इसके एक दिन पूर्व ही श्री रामचन्द्र जी ने सीता से पूछा था—"तुम क्या चाहती हो। शास्त्रकारो का कथन है, गर्भवती जो जो इच्छा करे, पति को चाहिये यथाशक्ति धर्म और सदाचार को रखते हुए उसी की इच्छाओ की पूर्ति करे। तुम्हारी क्या करने की इच्छा है? किस कार्य के करने से तुम्हें सन्तोष होगा?"

सीता जी ने अत्यन्त ही स्नेह से कहा—"प्राणनाथ, मेरी तो सभी इच्छाओ की आप पूर्ति करते ही हैं। फिर भी मेरी इच्छा ऐसी है कि जिन सती साध्वी ऋषि पत्नियो ने मुझे सौभाग्य शालिनी तथा पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया है। जिनकी

आशिष से मैं आपके साथ सम्राज्ञी होने का सुख उपभोग कर रही हूँ। उनका वन मे जाकर पूजन करूँ। वन देखे मुझे बहुत दिन हो गये। अब मैं जाकर भगवती लोपमुद्रा, अनसूया तथा अन्यान्य तपस्वी ऋषि पत्नियो की चरण वन्दना करूँ। उन्हे बहु-मूल्य सुन्दर वस्त्र आभूषण भेंट करूँ।

श्री रामचन्द्र जी ने उनकी बातो का अनुमोदन करते हुए कहा—"प्रिये! ऐसा ही होगा। मैं तुम्हे शीघ्र ही वन देखने भेजूँगा। तुम यथेष्ठ वस्त्राभूषण ले जाना, मनमाना दान देना, विधि पूर्वक मुनि पत्नियो की सेवा करना।"

श्रीरामचन्द्र जी के अनुमोदन से जानकी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

जब यह घटना घट गई तब तो श्री रामचन्द्र जी सोच मे पड गये। उन्होने सोचा मैं प्रत्यक्ष जानकी से कैसे कहूँ, कि मैंने तुम्हारा परित्याग किया। यदि वह मुझसे रोकर पूछे कि मेरा क्या अपराध है, तो मैं उसे क्या कहूँगा। यह लोकरजन का ऐसा कार्य है कि इसमे हृदय के विरुद्ध कार्य करना पडता है। मैं अपने कर्तव्य पालन मे इतना बँधा हूँ कि स्वय राज्य छोड कर सीता के साथ वन मे भी नही जा सकता। राज्यपाट का परित्याग भी नही कर सकता। प्राणो को भी छोडना चाहूँ, तो यह भी अधर्म होगा। मेरे पीछे कितनो का सहार होगा। अब तो मुझे हृदय को पत्थर बना कर इस राजकाज को करना ही होगा। मर जीवा बनकर न तो मरना ही होगा, न भली-भाँति जीना ही होगा जानकी का विरह भीतर ही भीतर मेरे हृदय को नित्य उसी प्रकार खोखला करता रहेगा। जिस प्रकार घुन का कीडा भीतर ही भीतर लकडी को खोखला करता है। अन्त मे भगवान् ने निश्चय किया कि तपोवन दिखाने के बहाने से जानकी को

अपने राज्य से पृथक कर दूँगा। वन में उसका पातिव्रत्य ही उसकी रक्षा करेगा। चरित्र सर्वत्र प्राणी की रक्षा करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो, ऐसा सोचकर भगवान् ने सीता जी के परित्याग का दृढ निश्चय कर लिया।"

छप्पय

सुनि अपयश अति विकल भये रघुवर मन मोंहीं।
सोचें-सेवा सरल सुखद यहि जग महँ नाहीं॥
कठिन हृदय करि त्यागि सती सीता को करिहौं।
मन ही निशि दिवस विरह ज्वाला महँ जरिहौं॥
दृढ़ निश्चय करि बात प्रभु, भरत शत्रुहन तें कही।
तुरत सुनत विष सरिस बच, मूर्छा दोउनि कूँ भई॥

जानकी निर्वासन

[६९६]

इति लोकाद् बहुमुखाद् दुराराध्यादसविदः ।
पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम् ॥

(श्री भाग० ९ स्क० ११ अ०, १० श्लो०)

छप्पय

तब निज तन की शपथ दई लछिमन समुझाये।
प्रभु आयसु सिर धारि सीय सँग वनहिँ सिधाये॥
सीय सिहावत जाइ तापसिनि के बन्दौं पद।
करिके सुरसरि पार लखन रोये हैं गद्गद॥
सुनि निर्वासन सहमि सिय, पति प्रति श्रद्धा प्रकट करि।
शून्य सरिस ससार लखि, बोलीं नयननि नीर भरि॥

हाय ! यह ससार कैसा विचित्र है। इसमे विष और अमृत का अद्भुत ढङ्ग मे सम्मिश्रण है। बहुत से अपने प्रेम से हमे खरीद लेते हैं। आत्म-समर्पण करके मन से मन और तन से तन मिलाकर एक हो जाते हैं। हमे अपने मे अन्तर्भूत कर लेते हैं। दो तन होने पर भी उनमे एक ही प्राण सचार करते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी मिल जाते है, जिन्हे हमारा यह प्रेम अखरने लगता है। वे दो हृदयो को एक म मिलने देना नही चाहते। वे पयपानी के सदृश मिले हुए हमारे मन को कपट खटाई डालकर फाडने के प्रयत्न मे रहते हैं। हमारे सयोग-सुख को सहन न करके वियोग कराने का उद्योग करत रहते है। उन्हे पता नही वियोग मे समीपता और बढ जाती है। विरह मे अपना प्रियतम और भी निकट आ जाता है। विरह को स्वेच्छा से कौन चाहेगा ? पर चाहे भलेही न चाहे किंतु जो प्रेम करेगा उसे

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भाँति-भाँति की व्यर्थ की बातें बनाने वाले बकवादी, हठी, अज्ञ पुरुषो म भयभीत हुए अपने पति द्वारा परित्यक्ता जनकनन्दिनी भगवान वाल्मीकि के आश्रम पर आकर रहने लगी।"

विरह वेदना सहनी ही पडेगी। सयोग वियोग के ही लिये है। गर्भ धारण करने पर प्रसव-पीडा न उठानी पडे, यह असभव है। काजर की कोठरी मे प्रवेश करने पर कुछ कालिमा तो लगेगी ही। इसलिय प्रेम के पन्थ को छुरे की धार के समान बताया है। मोम के तुरग पर चढ कर अनल मे होकर जाने के समान है। जिस ससार मे परनिंदा, पर-चर्चा ईर्ष्या, द्वेष घृणा, कलह दम्भ तथा पर पीडा पहुँचाने का ही प्राबल्य है उसमे किसी से क्या आशा की जाय। कौन प्रेम के रहस्य को समझेगा। ससार तो सबको अपने ही समान समझता है। आज तक ससार मे ऐसा कोई नही हुआ, जिसकी ससारी लोगो ने निन्दा न की हो, जिस पर झूठे सच्चे लाछन न लगाय हो। किन्तु प्रेमी इन बातो से डरते नही। वे तो निन्दा लाछन को अपने प्रेम मे सहायक समझते हैं। सत्य तो छिपता नही। वह तो कभी न कभी प्रकट हो ही जाता है। निंदक निन्दा न करें, दुर्जन लोग लाछन न लगावें, तो सत्य प्रेम की परीक्षा कैसे हो। सुवर्ण तो खरा तपाने से ही होता है। हीरे की चमक तो खराद पर रेतने से ही बढती है। पर-सुख असहिष्णु ईर्ष्यालु तथा निन्दक ससार मे न हो तो करुणरस की अभिव्यक्ति कैसे हो। नवो रसो मे करुणरस ही तो प्रधान है। उसी रस से तो अन्य रस जीवन-स्फूर्ति पाते हैं। करुणा-रस का प्राकट्य दुख मे वियोग मे होता है। राम-चरित तो सुखद है, किन्तु सीय चरित तो करुण रस का जनक है। इसीलिये करुणरस के अमर कवि भगवान् वाल्मीकि जी ने रामचरित को प्राधान्य न देकर सीता के महत् चरित्र को ही प्रधानता दी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धोबी के मुख से सीता के सम्बन्ध की निन्दा पूर्ण बातें सुनकर श्रीराम तुरन्त ही लौट पडे।

एक गुप्तचर प्रहरी ने प्रभु को प्रहरी के वेष मे भी पहिचान लिया किन्तु वह सम्मुख नही आया। जिन गुप्तचरो को सकेत था वह सकेत के निर्दिष्ट स्थान पर उपस्थित हुए। खिन्न मन से उन्होंने अपने राजसी वस्त्राभूषणो को धारण किया। वे रथ मे बैठकर अन्त पुर को ओर चले। वहाँ उन्होने देखा—'पलंग पर अस्त व्यस्त भाव से जानकी जी पडी है। उनके काले-काले घुंघराले बाल इधर-उधर टेढे मेढे अनियमित भाव से हिल रहे है, कुछ मुड रहे कुछ दब रहे हैं। केशपाशो मे लगी हुई मालती की माला म्लान-सी हो रही है। उनका मुखचन्द्र एक स्वाभाविक आभा के कारण सम्पूर्ण भवन को आलोकित कर रहा है। श्रीराम ने अनेको बार जानकी को देखा था, किन्तु आज उनका अनवद्य सौन्दर्य अद्भुत प्रतीत हुआ। इस समय उनका स्वाभाविक सौन्दर्य विकसित हो रहा था, उसमे कृत्रिमता की गध नही थी। उनकी स्वास से एक प्रकार की गध निकल रही थी, जो भगवान् के चित्त मे मादकता तथा चचलता उत्पन्न कर रही थी। सीताजी स्वप्न मे भी हा प्राणनाथ! हृदयधन ये ही शब्द कह रही थी और पति के कठ मे अपनी भुजायें डालने को बार-बार कोमल कर को बढा रही थी।

श्रीराम सीता के इस अद्भुत, अलौकिक, अनुपम अनवद्य सौन्दर्य को देख कर किंकर्तव्यमिमूढ से बन गय। वे सोचने लगे—'हाय! इसी प्रतिप्राणा प्रियतमा का मुझे परित्याग करना होगा। निष्पाप जनकनन्दिना का निर्दयतापूर्वक निर्वासन करना होगा। हाय! मेरा हृदय फट नही जाता। इस वियोग के पूर्व ही मेरी मृत्यु क्यो नही हो जाती। कैसा वीभत्स कार्य है, लोकरजन कितना क्रूर कठिन कार्य है। इसमे आत्मा का ही हनन नही करना पडता अपितु सर्वस्व बलिदान करना होता है। जो मोह

जागते, उठते बैठते सदा मेरा ही चिन्तन करती रहती है उस अनन्य प्राणा पतिव्रता पत्नी का, पापरहित होने पर भी, मुझे पामर को परित्याग करना होगा। ऐसी कीर्ति को ऐसे अमर यश को धिक्कार है। लोकापवाद करने वाले नहीं सोचते, जिनकी हम निन्दा कर रहे है उनके हृदय में इन बातो को सुनकर कितनी ठेस लगेगी।" श्रीराम मणिमय भित्ति के सहारे खडे-खडे यह सब सोच रहे थे, मणियों के प्रकाश में सीताजी का मुख अत्यत ही भला मालूम पडता था। उसी समय सीताजी की अंतरग परिचारिकाने आकर प्रभु को प्रणाम किया और अत्यन्त ही मद स्वर मे हाथ जोडे हुए द्वार के समीप आकर कहा—'देव! महारानी जी प्रतीक्षा करते-करते अभी ही सोई हैं। कुछ क्षण पूर्व ही उनकी आँखें झपी हैं।"

भगवान् मुख पर उँगली रखते हुए कौशल से अश्रु पोछकर द्वार के बाहर निकल आये और शनैः-शनैः दासी से कहने लगे—"तुम्हारी स्वामिनी जब भी जागे, तभी कहना। आज मै राजकार्य में अत्यन्त ही व्यस्त हूँ। मै कुछ एकान्त मे विश्राम चाहता हूँ। जब तक मै स्वयं न जागूँ, तब तक मुझे न जगाया जाय।"

"जो आज्ञा" कह कर दासी ने सिर झुकाया। श्रीराम सीधे ही अपने ऐकान्तिक सदन में चले गये। वह भवन कलाकारो ने अत्यन्त ही सुन्दरता के साथ सजाया था। वह भवन न बहुत बड़ा था, न अत्यंत छोटा। उसमें की बातें कोई दूसरा सुन नहीं सकता था। उसके आस-पास सुदर पुष्प और फलो से युक्त वृक्ष थे। दूर-दूर पर सावधानी के साथ संगीन लिये हुए प्रहरी घूम रहे थे। श्रीराम के अत्यन्त ही अन्तरङ्ग विश्वास पात्र स्वामी-भक्त सेवक वहाँ नियुक्त थे। भगवान् को उधर आते देखकर सेवक उनका

अनुगमन करने लगे। सब को लौट जाने की आज्ञा देकर भगवान् ने एकाकी ही भवन मे प्रवेश किया। वह परम प्रकाशवान् भवन आज प्रभु को अधकारमय प्रतीत हुआ। आज से सब वस्तुओ मे शून्यता का सा अनुभव करने लगे, उनका चित्त चचल हो रहा था। व लबी-लबी सासें ले रहे थे। वे इधर से उधर बिना प्रयोजन के ही टहल रहे थे। फिर बिना सोचे ही सहसा पलँग पर पड गये। निद्रा का नाम नही। भावो के ववडर उठ उठ कर श्रीराम के चित्त को चचल कर रहे थे। भगवान् ने अपनी साकेतिक ध्वनि की। सहसा हाथ जोडे हुए प्रहरी ने प्रवेश किया। सम्मुख प्रणाम करते हुए प्रहरी को देखकर प्रभु बोले—"मेरे सखा प्रीतिवर्धन को बुला लाओ।"

जो आज्ञा—"कहकर प्रहरी तुरन्त गया और कुछ ही काल मे प्रतिवर्धन के सहित उसने पुनः प्रवेश किया। प्रीतिवर्धन भगवान् के अत्यन्त मुँह लगा हुआ था, वह उनका सखा था मत्री था, विदूषक था। आते ही उसने हँसकर कहा—"क्या आज मान-लीला हो रही है। देवी से खट-पट हो जाने के कारण यहाँ एकान्त मे खट पाटी लिए पडे हैं क्या महाराज!"

गभीरता पूर्वक श्रीराम ने कहा—"प्रतिवर्धन, हँसी विनोद छोडो। आज मैं अत्यन्त दुखी हूँ, तुम मेरे अन्तरङ्ग हो। आज मुझे बडी आन्तरिक अशान्ति है। तुम मुझे उचित सम्मति दो।"

श्रीराम के मुख से सहसा गभीर और अत्यन्त ही करुणा पूर्ण दुख-भरी वाणी सुनकर प्रीतिवर्धन सहम गया। वह भगवान् के अत्यन्त निकट पहुँचकर बोला—"प्रभो! आज यह अनहोनी बात कैसी? सदा प्रसन्न राम के मुख पर विषाद की रेखा किस लिए आपके नेत्रो से निरन्तर नीर क्यो निकल रहा है?"

भगवान् ने गद्गद कठ से कहा—"सखे! क्या बताऊँ।

आज मैं वेष बदलकर नगर में लोगों के आन्तरिक भावों को जानने के लिये गया था। वहाँ मैंने लोगों के मुख से सीता के सम्बन्ध में विलक्षण ही बातें सुनी ?'

"क्या सुनी प्रभो !" प्रीतिवर्धन ने ममता भरी वाणी में पूछा। श्रीराम ने कहा—'धोबी अपनी स्त्री से कह रहा था, तू रात्रि में अन्यत्र क्यों रही। मैं राम नहीं हूँ, जो रावण के घर में रही सीता को फिर से रख लिया, मैं ऐसा धर्म और सदाचार-विरुद्ध आचरण न करूँगा।"

प्रीतिवर्धन ने कहा—'प्रभो ! अज्ञ पुरुषों की बातों पर ध्यान न देना चाहिये। निन्दकों के मुख में तो जो भी बात आ जाती है, बक देते हैं।"

श्रीराम ने कहा—"अकेले धोबी की ही बात नहीं और भी लोगों के मुख से मैंने सुना। अन्तर इतना ही था साक्षर लोग शिष्टता तथा कला कौशल के सहित निन्दा करते हैं। मूर्ख लोग बिना लगाव लपेट के सीधी बात कह देते हैं।"

सरलता के साथ प्रीतिवर्धन ने कहा—"महाराज ! यह कोई नई बात थोड़े ही है। यह चर्चा तो प्राय लोगों में होती रहती है। मैंने भी बहुत सुनी थी, किन्तु महाराज से इसलिये नहीं कहा, कि मूर्खों की बातों को क्या कहना।"

चौंककर भगवान् ने पूछा—"तुमने क्या सुना। तुम भी सच-सच बताओ।"

प्रीतिवर्धन ने गम्भीर होकर कहा—"अजी महाराज ! एक बात हो तो बतावें। जितने मुख उतनी बातें। टकासो जिह्वा हिलाने में लगता ही क्या। सत्य बात की छान बीन कौन करता है। मूर्ख लोग तो सुनी सुनाई बातों में अपनी ओर से नमक मिरच लगाकर बढ़ा-चढ़ा कर कह देते हैं।"

श्रीरामचन्द्र जी ने उत्सुकता के साथ कहा—"सुनें भी तो तुमने सीता के सम्बन्ध मे क्या सुना ?"

प्रीतिवर्धन बोला—"अब महाराज ! क्या बताऊँ ? कोई कहते हैं कि सीताजी को राम ने मोहवश रख लिया, कोई कहता है जिसे कभी रावण गोद में उठाकर ले गया और इतने दिन तक अपने वश मे रखा, उस जानकी का चरित्र पवित्र होने मे सदेह है। कोई कहता है, अब श्रीरामजी ने मार्ग खोल दिया अब स्त्रियाँ जहाँ चाहेगी वहाँ घूमेगी। जहाँ चाहेगी वहाँ स्वच्छन्द होकर रात्रि मे रहेगी। श्रीरामचन्द्रजी ने आदर्श ऐसा उपस्थित कर दिया। 'यथा राजा तथा प्रजा।" इस प्रकार लोग भाँति-भाँति की बातें कहते हैं।"

अब तो श्रीरामचन्द्र जी की आँखें खुली। उन्हे ने सोचा—"अरे यह नई बात नही है। गुप्तचरो ने शील सकोच वश अनावश्यक समझकर मुझे इन बातो की सूचना नही दी। इससे तो प्रतीत होता है कि नगर मे राज्य मे, देश विदेशो मे, चिरकाल से यह चर्चा है। उचित भी है, लोगो को तो दोष देखने मे ही आनन्द आता है। लका मे अवधपुरी का तो कोई था ही नहीं जहाँ सीताजी की शुद्धि हुई थी। अग्नि मे तपाने पर भी वे विशुद्ध ही सिद्ध हुई। अब तो मुझे सीता का त्याग अवश्य ही करना होगा। इस कलक को त्याग द्वारा धोना होगा। इस अपयश का वियोग के दुख से माजन करना होगा।" ससार मे जिसकी अपकीर्ति फैली है वह जीवित ही मृतक के समान है। सत्य बात तो प्रकट हो ही जायगी। तब लोग सीता का महत्व समझेंगे। फोडे के पकने पर ही उत्तमता से चिकित्सा हो सकती है। कच्चे को काटने से या दबाने से कोई लाभ नही। इस समय तो मुझे हृदय

कठोर करके सीता को छोडना ही पडेगा।' इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी रात्रि भर चिन्ता मे ही मग्न रहे।

अरुणोदय के पूर्व ही श्रीराम ने अपने निजी दूत को बुलाकर कहा—"मेरे भरत को अभी तुरन्त मेरे समीप ले आओ।"

भगवान् की आज्ञा पाते ही दूत शीघ्रता के साथ राजकुमार भरत के भवन मे पहुँचा। प्रथम उसने भरतजी का जय जयकार किया और फिर महाराज रामचन्द्र की आज्ञा, सुनाते हुए कहा—'महाराज आपको अभी इसी समय देखना चाहते है।'

आज आह्निक कृत्य किये ही बिना महाराज मुझे किस काम के लिये बुला रहे है ऐसी उत्कठा के साथ भरत जी पैदल ही श्रीरामचन्द्र जी के समीप पहुँचे श्रीराम के चरणो मे प्रणाम करके उनकी आज्ञा से बैठ गये और हाथ जोडकर विनीत भाव बोले—"आर्य ने मुझे किस कार्य के लिये बुलाया है। आपका मुख कमल आज मुरझाया हुआ क्यो है। आपके नेत्रो से निरन्तर नीर क्यो बह रहा है? आपकी आँखें आज सूज क्यो रही है।"

भरत जी के इन ममता भरे वचनो को सुनकर आँसू पोछते हुए श्रीराम बोले—'भरत! तुम मुझे प्राणो से भी अधिक प्यारे हो। तुमसे मैं अपनी मानसिक व्यथा कहता हूँ। अयोध्यापुरी मे रहने वाले रजक के मुख मे जनकनन्दिनी के सम्बन्ध मे जो बातें आज मैंने सुनी है उनके कारण मै दो ही कार्य कर सकता हूँ। या तो जानकी का त्याग, अथवा अपने प्राणो का परित्याग।"

भरतजी ने कहा—"विभो! वह रजक कौन है? उसने ऐसी बात क्यो कही?"

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—"भैया! एक रजक की ही बात नही। इसकी तो राज्य भर मे चर्चा है। अब जानकी के परित्याग

के अतिरिक्त अपवाद के मार्जन का अन्य उपाय नही ।"

दीनता के साथ भरतजी ने कहा—"प्रभो ! जानकी ज
नन्दिनी मनसावाचा कर्मणातिशुद्धा हैं । वे आपकी सहधर्मि
है अयोनिजा है उनमे कोई दोष नही । लोगों को बकने दें।
उनका परित्याग न करें । हा ! भगवती सीता आपके बिना
जीवित रह सकेंगी । कैसे वे पति से परित्यक्त होने पर
धारण कर सकेंगी । देव ! अपने निश्चय पर पुनः विचार क
ऐसी कठोर आज्ञा कभी न दे ।"

श्रीरामचन्द्र जी ने दृढता के साथ कहा—"मेरा नि
अटल है । उसमें कोई परिवर्तन नही । परिवर्धन न
सशोधन नही । छूट नही । तुम अभी जाओ और जानकी
जंगल में ले जाकर छोड आओ ।"

इतना सुनते ही भरत जी अचेतन होकर भूमि पर गिर प
उन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही तब तो श्रीरामचन्द्र
सोचा । बात बिगडना चाहती है । तुरन्त उन्होने सेवक के
शत्रुघ्नजी को बुलाया । उनको भी यही आज्ञा दी वे भी सु
ही मूर्छित हो गये ।

अब श्रीराम ने सोचा लक्ष्मण के अतिरिक्त इस कठिन
को करने में कोई भी समर्थ नही हो सकता । अतः उन्होने तु
सुमित्रानन्दवर्धन लक्ष्मीसम्पन्न लक्ष्मण जी को बुलाया । भग
की आज्ञा पाकर तुरन्त लक्ष्मण जी उनके समीप आये श्रीरा
चन्द्रजी को अत्यन्त उदास रोते देखकर तथा भरत शत्रुघ्न
मूर्छित देखकर लक्ष्मण जी दुखी हुये । वे इस महान् दुख का
कारण ही न समझ सके । उन्होने विनीत भाव से अपने बडे
श्रीरामचन्द्र जी से पूछा—"आर्य ! आज इतने उदास क्यों हैं
आपकी कान्ति मन्द क्यो पड़ रही है ? आपका मुख कमल कुम्

लाया हुआ क्यो है ? ये मेरे दोनो भाई भरत शत्रुघ्न मूर्छित क्यो पडे हैं ? मुझे अपने शोक का कारण बताइये।"

अत्यन्त क्षीण स्वर विषण्णवदन श्रीरामचन्द्रजी ने आदि से अन्त तक अपवाद का वृत्तान्त बताया और अन्त मे कहा—'भैया, यश ही जीवन है। समार मे जिसका अपयश है जिसे सब लोग धिक्कारते हैं जिसको सब निन्दा करते हैं, जिस पर सब थूकते हैं उसका जीवन धिक्कार है। आज पृथ्वी पर मेरा अपयश हो रहा है। सभी मेरे चरित्र के सम्बन्ध म सन्देह करने लगे है। सभी को सीता के सती न होने मे शका है सदाचार से कलंकित मै जीकर क्या करूंगा। आज विधाता मेरे विपरीत हो गया है। मेरा दुर्भाग्य तो देखो।'

जो भाई सदा मेरे अनुकूल रहते थे, आज वे मेरे प्रतिकूल आचरण कर रहे हैं। जो मेरी आज्ञा को कभी नही टालते थे वे आज मेरी बात नही मान रहे हैं। जब मनुष्य पर विपत्ति आती है तो अकेली नही आती। सभी बातें उसके विरुद्ध हो जाती हैं। अपने पराये बन जाते हैं।

यह सुनकर साहस के स्वर मे लक्ष्मणजी ने कहा—'स्वामिन्! आप चिन्ता का परित्याग करें, धैर्य को धारण करें। समार तो बहुमुख है। सबको कोई प्रसन्न नही रख सकता। मै आपका सेवक उपस्थित हूँ ही, फिर आप चिन्ता क्यो करते है। मै उस धोबी को अभी बुलाता हूँ। प्रेमपूर्वक उससे अभी बातें पूछता हूँ। उसकी ऐसी धारणा हो कैसे गई। आपके राज्य मे तो छोटे से छोटे व्यक्ति को भी किसी प्रकार का कष्ट नही पहुँचाया जाता। आप तो सर्वप्रिय है। आपके सम्बन्ध मे उस रजक को ऐसी शका कैसे हुई ? जगज्जननी जानकी के सम्बन्ध मे कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति सन्देह नहीं कर सकता। उनके पातिव्रत के प्रभाव को

देवता तक स्वीकार करते है। मधुर वचनो से उस रजक को समझाऊँगा, उससे सब बातें पूछूँगा।"

श्रीराम ने दुखित चित्त से कहा—"भैया! रजक को बुलाना व्यर्थ है। यदि तुम्हारा मेरे प्रति अनुराग है, यदि तुम मुझसे प्रेम करते हो। तो मेरी आज्ञा मानो। तुम्हे मेरी शरीर की शपथ है। तुम मेरी आज्ञा मे ननुनच मत करो। मैं लोकापवाद के पीछे अपने प्राणो का परित्याग कर सकता हूँ।' प्राणो से भी प्यारे तुम भाइयो को छोड सकता हूँ, फिर सीता का छोडना तो कोई बात ही नही। तुमने यदि मेरी बात न मानी तो मैं तुम पर रुष्ट हूँगा। तुम्हे मेरे चरणो की शपथ है। मुझे समझाने की चेष्टा मत करो मेरी आज्ञा का पालन करो। आज ही, अभी ही, सीता को रथ पर चढाकर ले जाओ। गगाजी के उस पार भगवान् वाल्मीकि मुनि का आश्रम है। उधर ही अरण्य मे अकेली सीता को छोड आओ। किसी से कहना भी मत।"

श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर लक्ष्मणजी दुखी हुए। उन्होने हाथ जोडकर रुंधे हुए कठ से कहा—'प्रभो! मैने तो सदा के लिये आपको समर्पित कर दिया है। आपकी आज्ञा मे मुझे उचित अनुचित का विचार करना ही नही है आप जो भी करेंगे, उचित ही करेंगे। मैं आपकी आज्ञानुसार देवी को वन मे ले जाऊँगा।"

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"लक्ष्मण! मुझे तुमसे ऐसे ही उत्तर की आशा थी। अब देर करने का काम नही। सुमन्त से कहकर शीघ्र ही मेरा सुन्दर रथ मँगवाओ, जिसमे अच्छी जाति के शीघ्र चलने वाले घोडे जुते हो। देखो, सीता को अभी मालूम न हो। परसो उसने मुझसे कहा था—"मैं,पुन. वन मे जाकर मुनियो के आश्रम देखना चाहती हूँ। वहाँ मे मुनि-पत्नियो की सुन्दर-

सुन्दर वस्त्राभूषणों से पूजा करूँगी। तुम उसे मुनि आश्रम दिखाने के ही व्याज से ले जाओ।'

'जो आज्ञा' कहकर लक्ष्मण खिन्न मन से चल दिये वे मार्ग में सोचते जाते थे—'यह सेवक धर्म भी कैसा कठोर धर्म है इसमें कैसे-कैसे करुणापूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। इन्हीं हाथों ने लंका में सीताजी को अग्नि में तपाने के लिये आग दी थी। अब ये ही हाथ भगवती सीता को हिंसक जन्तुओं से भरे अरण्य में छोड़ने जा रहे हैं। हाय! सेवक स्वेच्छा से मर भी नहीं सकता। स्वामी की आज्ञा कैसे टाली जा सकती है। परशुराम जी को पिता की आज्ञा से भाइयों तथा माता का वध करना पड़ा। मुझे भी निरपराध सीता का जंगलों में छोड़ना होगा। इसी प्रकार की बातें सोचते-सोचते वे भगवती सीता के भवन में पहुँच गये। और उन्हें सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले— देवि! महाराज ने मुझे आज्ञा दी है कि आपको मैं ऋषि मुनियों के आश्रमों में गंगा पार ले चलूँ। आप शीघ्र ही तैयार हो जायँ।"

सीताजी ने अत्यन्त ही उल्लास के साथ कहा—"लक्ष्मण! मैं बड़ी भाग्यशालिनी हूँ, जो महाराज मेरी छोटी छोटी बातों का भी इतना ध्यान रखते हैं। उस दिन तो महाराज के भी साथ चलने की बात थी।"

कौशल से आँसू पोंछते हुए लक्ष्मण ने कहा—"भाभी! महाराज को लोकरंजन में इतना अवकाश कहाँ? आजकल तो वे प्रजा को प्रसन्न करने पर ही कटिबद्ध हैं। मुझे आपको वन ले जाने की आज्ञा हुई है।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए जानकी जी ने कहा—"कोई बात नहीं है, राजकाज ऐसा ही होता है। प्रजा की प्रसन्नता के लिये राजाओं को सब कुछ करना होता है। अच्छी बात है, मैं

ऋषि-पत्नियों को देने के लिये बहुत से बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को भी साथ लेकर चलूंगी। तुम्हारे रथ में इतना स्थान है न?"

लक्ष्मणजी ने कहा—"देवि! आपको ले जाने के लिये महाराज ने अपना निजी रथ भेजा है। उसमें आपको तनिक भी कष्ट न होगा। हाल न लगेगा। उसके पीछे स्थान है जिसमें आप चाहे जितनी सामग्री रख सकती हैं।"

यह सुनकर मिथिलेश-कुमारी बड़ी प्रसन्न हुई और बोली—'मुझ दासी का महाराज इतना सम्मान करते हैं। यह मेरा सौभाग्य है। लक्ष्मण! वह तुम्हारा रथ कहाँ खड़ा है, इन दासियों को उसे दिखाओ। मुनिपत्नियों की पूजा के लिये ये पेटियों भरे बहुमूल्य रेशमी वस्त्र, भाँति-भाँति के आभूषण, मोतियों की मालाओं के पिटारे चन्दन, कपूर, धूप आदि ये सब पूजन की वस्तुएं ये ले जाकर रथ में रखें। मैं भी वस्त्र बदल कर अभी आ रही हूँ।"

लक्ष्मण जी ने सीता जी की आज्ञा का पालन किया। उन्होंने सब वस्तुओं को यथास्थान रख दिया। सीताजी को बिठाकर स्वयं भी रथ में बैठ गये। सूत ने रथ हाँक दिया। जानकी जी ने कहा—"लक्ष्मण मैं अपनी सासों की चरण वन्दना करलूं।' लक्ष्मण जी यह सुनकर माताओं के महलों में मैथिली को ले गये। सबसे मिल भेंट कर सबकी वन्दना और प्रदक्षिणा करके सीताजी ने कहा—'तुम्हारे भाई कहाँ हैं?"

लक्ष्मणजी ने कहा—'देवि! वे आज किसी अत्यन्त गम्भीर राजकाज में इतने व्यस्त हैं कि इस समय उनका दर्शन अत्यन्त ही कठिन है। रथ में ही बिठाकर तुम्हें उनके भवन की प्रदक्षिणा कराये देता हूँ।"

सीताजी ने कहा—"हाँ ठीक है। आर्यपुत्र के कार्यों में हमें

विक्षेप न करना चाहिये। शीघ्र ही तो हमे लौटना है। अच्छी बात है, उनके भवन की प्रदक्षिणा करते हुए चलो। लक्ष्मण जी ने ऐसा ही किया। सीताजी ने पति के पादपद्मो मे मनसे ही प्रणाम किया। तपस्विनियो के दर्शनो की प्रसन्नता मे इतनी आनन्द विभोर थी कि लक्ष्मण जी के भावो को न समझ सकी। लक्ष्मण जी अत्यत दुखी थे वे दृष्टि बचाकर अपने उमडते हुए अश्रुओ को पोछ लेते थे। सीताजी सोच रही थी। शीघ्र ही लौटकर मैं अयोध्या के वन उपवनो को पुन देखूँगी। लक्ष्मण सोच रहे थे कि देवी का यह अवध का अन्तिम दर्शन है। घोडे बडे कष्ट से चल रहे थे। गोमती नदी के समीप पहुँचत-पहुँचते भगवान् भुवन भास्कर ने दु ख और शोक के कारण अपना मुँह छिपा लिया। लक्ष्मण जी ने कहा— देखो! यही हम आज विश्राम करेंगे। यह कहकर वे अपन राजकीय भवन मे रथ को ल गये। सेवको ने सभी प्रबन्ध कर दिया। लक्ष्मण ने जब देखा जानकी जी बहु-मूल्य वस्त्रो के भार से सम्राज्ञी के वेष मे अपने विश्राम भवन मे जा रही है तो वे ढाह मार कर रोने लगे। सीता जी ने अत्यन्त ही प्यार से कहा—'वत्स लक्ष्मण! तुम इतने अधीर क्या हो रहे हो। मैं देखती हूँ अवध से ही तुम अत्यधिक अनमने से दिखाई देते हो। प्रतीत होता है, तुम अपने भाई के वियोग को सहन नही कर सकत। कोई बात नही। दो चार दिन मे लौटकर चलेंगे ही देखो मैं ता नही रोगी हूँ। तुम्हारी भाँति मैं भी तो श्रीराम को प्यार करती हूँ। मेरा भी ता उनके प्रति अनुराग है।" इतना सुनते ही लक्ष्मण जी की हिचकियाँ बँध गई वे बालको की भाँति फूट पडे। वात्सल्यमया जनकनन्दिनी ने उन्हे प्यार किया, पुचकारा, और शयन करने का आदेश देकर स्वय भी सो गई।

प्रातःकाल होते ही लक्ष्मण जी ने सारथी से कहा—रथ को शीघ्र जोतो। आज मैं भगवती भागीरथी में ही स्नान करूंगा। पतित-पावनी सुरसरिता के सलिल को सादर सिर पर चढ़ाकर ही मैं प्रा. मध्याह्न दोनो समय की सन्ध्याओं को साथ-साथ करूंगा।" लक्ष्मण जी के ऐसे वचन सुनकर सारथी ने शीघ्रता के साथ घोडे खोले उन्हे इधर-उधर टहलाया, थपथपाया और फिर उनके दाने खाने के तोवडाओ को खोलकर रथ में जोत दिया। वायुवेग के समान रथ जा रहा था। सीता जी बालकों की भाँति रथ में से नद नदी, पर्वत झरने तथा वृक्षो को देखती जाती थी। और प्रसन्न होती जाती थी। कुछ दिन चढते-चढते वे कलिमलहारिणी भगवती भागीरथी के तट पर पहुँच गये। गङ्गाजी के दर्शन करके जानकी जी का हृदय खिल उठा। उन्हों ने श्रद्धा भक्ति सहित सरिता प्रवरा जान्हवी के जल को सिर पर चढ़ाया। लक्ष्मणजी ने स्नान करके नित्य कृत्य किया। तब सीता जी ने कहा—'वत्स! लक्ष्मण! देखो मैं अयोध्या से तुम्हारे लिये प्रसाद बना कर लाई हूँ। तुम यहाँ गङ्गा जी के किनारे बैठकर जल पान कर लो। तब उस पार मुनियों के आश्रम में चलेंगे।"

रुंधे हुए कठ से लक्ष्मणजी ने कहा—"देवि! मुझे अभी भूख नही। उस पार चल कर देखा जायगा। हमें शीघ्र उस पार चलना चाहिये। रथ इसी पार रहे। यह सुन्दर नौका पार करने को तैयार है।"

सीता जी ने कहा—"फिर ये वस्त्राभूषण कैसे चलेंगे?"

लक्ष्मण जी ने कहा—"आप चलें भी इन सब की व्यवस्था हो जायगी।"

सीता जी के मन में तो मुनि पत्नियों के दर्शनों की अत्यधिक

डरती है। वह भी राजाराम के शासन को मानती है देवि! आप मुझ पर अप्रसन्न न हो। अभी इस अभागे के अपराधों की ओर ध्यान दे। माँ अपनी सन्तान समझ कर मेरे ऊपर कृपा रख।

लक्ष्मण की इन हृदय हिला देने वाली बातों को सुनकर जानकी का भी हृदय फटने लगा। वे अक-बका कर बोलीं—"लक्ष्मण! तुम्हें मेरी शपथ है, तुम मुझे सच-सच बात बता दो। तुम मृत्यु क्यों चाहते हो, तुमने तो कभी स्वप्न में भी मेरा कोई अपराध नहीं किया है, फिर तुम मुझसे किस कारण क्षमा-याचना कर रहे हो? देखो, मेरा भी तुम पर अधिकार है। उसी अधिकार के नाते मैं तुमसे आग्रह करती हूँ। तुम सत्य बात को छिपाओ मत। अपनी आन्तरिक वेदना का कारण मुझे बता दो। तुम्हें महाराज की शपथ है?"

इतना सुनते ही लक्ष्मण मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। वे हाथ जोड़े हुए जल से निकली मछली के समान तड़प रहे थे। जानकी उनके दुःख का कुछ भी कारण न समझ सकीं। उन्होंने अत्यन्त स्नेह से लक्ष्मण को उठाया। उनकी धूलि झाड़ी और अत्यन्त ही ममता-भरी वाणी में बोलीं—"वत्स! तुम इतने अधीर क्यों हो रहे हो? तुम पुरुष होकर भी अपने को नहीं सम्हाल सकते। बात तो बताओ। तुम्हारे भाई का तो कल्याण है न? राज्य में किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका तो नहीं है?"

लक्ष्मण जी ने रोते-रोते कहा—"देवि? तुम्हें महाराज ने त्याग दिया है।"

लक्ष्मण के मुख से ऐसी अभूतपूर्व बात सुनकर सीताजी अवाक् रह गईं। वे स्वप्न में भी ऐसी बात सुनने की आशा

नही रखती थी। उन्होंने चौककर पूछा—'क्या आर्य पुत्र ने मुझे त्याग दिया है? क्या ऋषि आश्रम दिखाने के बहाने से तुम मुझे यहाँ बीहड वन मे अकेली छोडने ही के लिये लाये हो?"

लक्ष्मणजी की हिचकियाँ बंध गई थी। वे बालका का भाँति रुदन कर रहे थे। रोते-रोते उन्होने कहा—'हाँ देवि! यही बात है। इसमे मेरा कोई अपराध नही।'

इस बात को सुनत ही जानकी मुर्छित हो गई। लक्ष्मण घबडा गए। समीप के ही सर वे कमल के पत्ते तोड लाये। वे उनसे सीताजी को वायु करन लग। कुछ काल मे चेतना होने पर जानकीजी ने आँखें खोली और बोली—"देवर! तुम मुझसे हँसी तो नही कर रहे हो? आर्यपुत्र ने मुझ मे ऐसा क्या दोष देखा? किस अपराध पर उन्होन मेरा परित्याग किया?"

लक्ष्मणजी ने आँसू पोछते हुए कहा—"माँ मैं क्या बताऊँ। यह राज्य सिंहासन ऐसी दूषित वस्तु है कि इसकी रक्षा के लिए मनुष्य को सबको छोडना पडता है। किसी रजक ने आपकी निन्दाकी। आप इतन दिन रावण के घर मे रही इसकी आलोचना की, इसी पर महाराज ने मुझे आज्ञा दे दी कि सीता को जगल मे छोड आओ।"

इतना सुनते ही सीताजी बिलखने लगी। वे रोते-रोते बोली—"लक्ष्मण! मैंने मन से भी कभी पर-पुरुष का चिंतन किया हो तो यह पृथ्वी अभी फट जाय। सूर्य अभी गिर कर मुझे नष्ट कर दे। मैं तो मनसा वाचा कर्मणा सदा श्रीराम की ही दासी रही हूँ और सदा रहूँगी। तुमने ता लका मे मुझे जलने को आग दी थी। तुम्हारे सामने देवताओ ने क्या कहा था। तुम्हे तो मेरे चरित्र पर सदेह नही है?"

लक्ष्मणजी के मानो पके हुये हृदय पर किसी ने बाण मार

दिया हो। अकबका उठे और बोले—"माँ! तुम कैसी बात रही हो। संसार में तुम्हारी शुद्धि पर जो संदेह करेगा किसी भी लोक में स्थान न मिलेगा। जगज्जननी, तुम गंगा की भाँति विशुद्ध हो मैंने कभी मन से भी तुम्हारे चरित्र संदेह किया हो तो यह आकाश मेरे ऊपर टूट पड़े। पृथ्वी जाय। देवी! श्रीरामचन्द्रजी भी आपके चरित्र पर संदेह न करते। वे भी तुम्हे प्राणो से भी अधिक प्यार करते हैं। तुम्ह परित्याग के कारण उन्हे भी अत्यन्त ही आन्तरिक दु.ख किन्तु लोकापवाद से बचने के लिये उन्हे यह कठिन काय करन पड़ा। माताजी! समीप ही भगवान् वाल्मीकि मुनि का आश्र है, आप वही अपने शेष जीवन को बितावें।"

इतना सुनने ही सीताजी पुनः मुर्छित हो गईं। लक्ष्मणजी किंकर्तव्य-विमूढ बने हुए थे। वहाँ रहने मे उनका हृदय फट रहा था। मूर्छित अवस्था मे मिथिलेशकुमारी को छोड़कर जाने का भी उनका साहस नही होता था। अतः वे पुनः अपने वस्त्र से उनको वायु करने लगे। कुछ काल मे जानकीजी ने पुनः नेत्र खोले और बिलबिलाती हुई बोली—देवर! दिन तो अपने काट ही लूँगी किन्तु श्रीरामचन्द्र के मुख को बिना देखे मैं कैसे जीवित रह सकूँगी आश्रम की तपस्विनी जब मुझसे पूछेगी—तुम्हारे पति ने तुम्हारा किस अपराध पर परित्याग किया, तो मैं उनसे क्या कहूँगी। स्त्रियों के लिए चरित्र-सम्बन्धी दोष अत्यन्त ही लज्जा जनक और असह्य है। मैं किस मुख से कहूँगी, कि मेरे पति ने मेरे चरित्र मे दोष देखकर मुझे घर से निकाल दिया है। हाय! मैं स्वेच्छा से मर भी नही सकती। मेरे उदर मे रघुवंश की थाती है। श्री राम के वंश को चलाने वाला बीज रखा है। उसे नष्ट करने का मुझे अधिकार नही है। पति से परित्यक्ता नारी का क्या महत्व

है। नारी की शोभा पति से ही है। अपनी कीर्तिकी रक्षा के लिये श्रीराम ने मुझे त्यागा है, तो संसार में उनकी कीर्ति अमर रहे। यदि मुझ निर्दोष का उन्होंने प्रजा की प्रीति के लिये परित्याग किया है तो वे सदा प्रजा के प्रीति-भाजन हों। वे मुझे भले ही त्याग दें। मैं तो उन्हें अपने हृदय से पल भर के लिये भी नहीं त्याग सकती। वे मुझे चाहे महलों में रखें या वन में। मेरे तो सर्वस्व वे ही हैं किन्तु देवर, तुम जाकर कुलगुरु वशिष्ठ जी महाराज से पूछना, कि आपने मुझ पापरहित निर्दोष अपनी आश्रिता दासी का परित्याग किया है। क्या यह आपके कुल की कीर्ति के अनुरूप है। क्या मनसा वाचा तथा कर्मणा पति में ही अनुरक्त चक्रवर्ती महाराज दशरथ की पुत्रवधू अनाथिनी की भाँति बीहड़ वन में अकेली भटकती फिरे? क्या इससे रघुकुल की कीर्ति बढ़ेगी? क्या यह कार्य शास्त्रसम्मत है?' फिर कुछ देर ठहर कर बोली—'अच्छा लक्ष्मण! रहने दो। अब इन बातों के पूछने से लाभ क्या? तुम आर्य-पुत्र के चरणों में मेरा प्रणाम निवेदन कर देना और कह देना शरीर से आपने मुझे पृथक् कर दिया है, किन्तु मेरा मन तो सदा आपके चरणों के समीप ही मँडराता रहेगा। सुमित्रानन्दवर्धन मेरे प्यारे देवर! तुम मेरी सब सासों को बिना भेदभाव के प्रणाम कहना और कह देना तुम्हारी बहू जंगली जन्तुओं के साथ वन में सुख पूर्वक विचरण कर रही है। लक्ष्मण! देखो। मुझसे कोई भूल में अपराध हो गया हो तो उसे भूल जाना। अब मैं सदा के लिये तुमसे विदा होती हूँ। इतना कहते सीताजी पुनः मूर्छित होकर गिर पड़ीं।"

लक्ष्मणजी अब और अधिक न सह सके। उन्हें वहाँ ठहरना कठिन हो गया। वे मूर्छित पड़ी हुई जानकी की प्रदक्षिणा करके

और उनकी पदधूलि को मस्तक पर चढाकर रोते-रोते चल दिये। इतने मे ही जानकीजी को पुनः चेत हुआ। जाते हुए लक्ष्मण को देखकर उन्होने अत्यन्त करुणा-भरी वाणी मे पुकारा। सौमित्र, मेरे प्यारे देवर ? मेरी एक बात और सुनते जाओ।"

अब तक जो राजरानी थी, सहस्त्रो दास-दासी जिसकी सेवा मे सदा सलग्न रहते थे, आज वह बीहड़ वन मे अकेली कुररी पक्षी की भाँति रो रही है और दीन होकर अपने देवर को पुकार रही है। लक्ष्मणजी इसे सहन न कर सके। वे पुनः लौटकर सीताजी के समीप आ गये।

सीताजी ने सम्मुख लक्ष्मण को देखकर कहा—देवर, अब तुम जा ही रहे हो, अच्छा जाओ, किन्तु जाते समय तुम मेरे पेट को देखते जाओ। मैं गभवती हूँ, इस ससार का मुंह काला हो। पीछे कोई यह न कहे—गर्भस्थ बालक श्रीराम के नही हैं।"

इतना सुनते ही लक्ष्मण मूर्छित होकर गिर पड़े और रोते-रोते बोले— 'माँ, तुम मुझे लज्जित क्यो कर रही हो। देवि ! श्रीराम के सम्मुख भी मैंने कभी आपके मुख को नही देखा है। मैं सदा आपके चरणो की ही ओर देखता रहा हूँ, फिर यहाँ एकान्त स्थान मे मैं आपके उदर को कैसे देख सकता हूँ। ससार जानता है कि आप गर्भिणी है। श्रीराम का अमोघ वीर्य आपके उदर मे है। देवि ! सब दिन एक से नही रहते। कभी श्रीराम को भी अपने कृत्यपर पश्चात्ताप होगा। तुम पुनः राजरानी बनोगी। तुम्हारे बच्चे इस रघुवश के सिंहासन् पर बैठेंगे। इन दुखो के दिनो को किसी प्रकार काट लो। भगवान् वाल्मीकि बड़े दयालु है। वे त्रिकालज्ञ ऋषि मुनि की भाँति तुम्हारा पालन करेंगे। अब मुझे जाने की आज्ञा दो।"

जानकीजी ने लक्ष्मण से कहा—"वीरवर, तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो श्रीराम के तुम सच्चे सेवक हो। तुमने उनकी आज्ञा का पालन करके अत्यन्त ही उचित कार्य किया। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ। संसार में तुम्हारी कीर्ति सदा बनी रहे। मेरा अपवाद संसार में बना रहे इसकी मुझे चिन्ता नहीं, किन्तु मेरे त्याग से आर्यपुत्र का यश निर्मल हो उनकी कीर्ति विशुद्ध बनी रहे, तो मुझे इस त्याग से भी संतोष है। अच्छा तुम जाओ किन्तु इस अभागिनी को भूल मत जाना। प्राणनाथ को कभी प्रसंग उठने पर मेरी स्मृति दिलाते रहना।

इतना कहकर जानकी जी चुप हो गईं। भूमि मे लोटकर लक्ष्मणजी ने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और वे रोते हुए चल दिये। जानकीजी निर्निमेष दृष्टि से लक्ष्मण की ही ओर देखती रही। कभी वे सोचती कि लक्ष्मण मेरे देवर हैं, उन्होंने कहीं मेरे साथ हँसी तो नहीं करी। फिर सोचती—"लक्ष्मण ने तो आज तक मुझसे हँसी नहीं की। वे तो सगी जननी की भाँति सदा मेरा आदर कर रहे हैं। कभी उन्हें आशा होती कि सम्भव है लक्ष्मण फिर लौटकर आवें और मुझे लिवा ले जायें। जब उन्होंने देखा लक्ष्मण नौका में बैठकर चले गये और उस पार भी पहुँच गये, तब उन्हें विश्वास हो गया कि मैं पति द्वारा अवश्य ही त्याग दी गई। इस बात का स्मरण होते ही वे उच्चस्वर से रुदन करने लगी। उनके करुणा क्रन्दन की ध्वनि सम्पूर्ण वायुमंडल में गूँजने लगी। पशु पक्षी एकत्रित हो गये। हंस अपने अपने पंखों से उनको वायु करने लगे। सारस अपनी चोंचों में जल भरकर उनके ऊपर डालने लगे।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! लक्ष्मण सीताजी को छोड़कर चले तो गये किन्तु वे फिर एक छोटी सी नौका पर चढ़कर

इस पार आ गये और एक पेड़ की आड़ में छिपकर देखते रहे अब क्या होता है।"

जानकी निरतर रो रही थी। उन्हे कुछ सूझता ही नही था। भगवान् वाल्मीकि मुनि का आश्रम वहाँ से समीप ही था। आश्रम के छोटे-छोटे ऋषि-कुमारो ने जब सीताजी का रुदन सुना तो वे दौडकर सीताजी के समीप गये। वे सीताजी के रूप को देखकर आश्चर्य चकित हो गये। उन्होने पृथ्वी पर ऐसा सौंदर्य आज से पहले कभी नही देखा था। दुखित जानकी को कुररी की भाँति रुदन करते देखकर बालको का हृदय भर आया। वे दौड़ते हुए भगवान् वाल्मीकिजी के समीप गये और शीघ्रता के साथ हाथ जोडकर बोले—"भगवन्! भगवन्! यहाँ समीप मे ही एक सुन्दरी रमणी अत्यन्त करुणापूर्ण वाणी मे रुदन कर रही है। वह मृत्युलोक की महिला तो प्रतीत होती नही। सम्भव है स्वर्ग से उतर आई हो। आप चलकर उसे सान्त्वना दीजिये। उसके कष्ट को दूर कीजिये।"

दया के सागर मुनि छोटे-छोटे भोले-भोले ऋषि कुमारो के मुख से यह समाचार सुनकर उनके साथ चल दिये। उन्होने देखा, कटी हुई सुवर्ण लतिका के समान स्वर्गलोक से गिरी, देवाङ्गना के समान, नारायण से रहित लक्ष्मी के समान सीताजी भूमि पर पडी है और मुक्त कठ से रुदन कर रही हैं। कुमारो से घिरे वृद्ध ऋषि को अपनी ओर आते देखकर वे उठकर खडी हो गई और उन्होने हाथ जोडकर सिर झुकाकर मुनि के पदाम्बुजो मे प्रणाम किया। मुनि ने अत्यन्त स्नेह से जानकीजी को आशीर्वाद दिया—"पुत्री! तुम अपने पति की अत्यन्त ही प्यारी हो, तुम वीर पुत्रो को प्रसव करके वीर माता हो।"

जानकीजी लज्जा के कारण गड़ी-सी जा रही थी। उन्हें

मुनि की ओर देखने का भी साहस नही होता था, वे सोच रही थीं—"मुनि ने मेरा परिचय पूछा, तो मै क्या कहूँगी। कही मुनि को भी मेरे चरित्र पर सदेह न हो।"

अत्यन्त लज्जा और सकोच के कारण सिकुडी लजाती तथा हरिणी के समान भयभीत हुई सीताजी के सकोच को दूर करते हुए मुनि बोले—"बेटी! तुम अपने मन मे किसी प्रकार का संकोच मत करो। मैंने अपने योगबल से सब बातें जान ली है। तुम महाराज दशरथ की पुत्रवधू श्रीरामजी की पत्नी तथा मिथिला-धिप महाराज जनक की अयोनिजा प्यारी पुत्री हो तुम्हारे पति ने लोकापवाद के भय से तुझ पापरहित का परित्याग कर दिया है। तुम पतिव्रताओ मे मुकुटमणि हो। तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। भगवान् जो भी करते है अच्छा ही करते है। (शिव का कोई कार्य अशिव नही होता।) इससे तुम्हारी कीर्ति संसार में व्याप्त होगी। महाराज दशरथ मेरे परम मित्र थे। तुम्हारे पिता जनक तो मेरे शिष्य ही हैं। जैसे तुम जनक को पिता मानती हो उसी प्रकार मुझे भी अपना पिता समझो। तुम मेरी धर्म की पुत्री हो। मेरे आश्रम मे तुम अपने पिता के भवन के समान सुखपूर्वक रहो। आश्रम की तपस्विनी तुम्हारी सब प्रकार से देख रेख करेंगी। तुम्हे कोई कष्ट न होगा।"

भगवान् वाल्मीकि की बातो को सीता जी ने सिर झुका कर स्वीकार किया। वे बिना कुछ उत्तर दिये चुपचाप हाथ जोड़े हुए मुनि के पीछे-पीछे चल दी। आश्रम मे पहुँचकर मुनि ने सीताजी को अर्घ्य दिया। आश्रम से थोडी दूर पर ही तपस्विनी मुनि पत्नियो के रहने का आश्रम था। उनमे बहुत सी तपस्विनी तपस्या करती थी। मुनि सीताजी को लेकर तपस्विनियों के समीप गये। बहुत दिनो मे मुनिको अपने यहाँ आये देखकर सभी

तापसियो ने आकर मुनि के चरणो मे प्रणाम किया और हाथ जोडकर बोली— 'प्रभो बहुत दिनो के पश्चात् आपने कृपा की। हमारे योग्य कोई सेवा हो तो आज्ञा कीजिये।"

मुनि ने कहा—"तपस्विनियो! यह महाराज दशरथ की पुत्र-वधू महाराजाधिराज श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी और मिथिलाधिप महाराज जनक की पुत्री है। इसके पति ने बिना अपराध ही लोक अपवाद के भय से इसका परित्याग कर दिया है। यह परमपतिव्रता और सती शिरोमणि है। यह सदा से सुख मे पली है। मुझे इसका विशेषरूप से पालन करना है। यह मेरी पुत्री के समान है। तुम सब इसका सावधानी के साथ लालन पालन करो। इसे किसी प्रकार का कष्ट न हो, यह इस बात का अनुभव न करे कि मै परदेश मे हूँ।"

मुनि पत्नियो ने हाथ जोडकर कहा—"प्रभो! हम आपकी आज्ञा का श्रद्धासहित पालन करेगी। सीता को कोई भी कष्ट न होन पावेगा। हम इनकी सावधानी से देख रेख करेंगी।" मुनि पत्नियो के आश्वासन से मुनि का प्रसन्नता हुई। उन्होने शिष्यो द्वारा तुरन्त ही एक सुन्दर सुहावनी पर्णकुटी सीताजी के लिये बनवा दी सीताजी उस कुटी मे रहकर भगवान् वाल्मीकिजी की सेवा करने लगी। उनके स्थान को लीप देती। उनके पूजा के बर्तन मल देती। आश्रम मे झाड़ू बुहारू दे देती। वे एक बार फलाहार करके ही रहती और निरन्तर राममन्त्र का जप करती रहती। मनसे सदा रामरूप का चिन्तन करती रहती। भगवान् वाल्मीकि उनका सदा बड़ा ध्यान रखते। किसी भी व्यवहार से सीता को यह अनुभव न होने पावे कि मै किसी दूसरे के यहा रह रही हूँ। कुछ ही काल मे सीताजी आश्रम मे सर्वप्रिय बन गईं। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी स्त्री पुरुष उनसे प्रेम करने लगे। वे सभी

ऋषि कुमारों को अपने पुत्र की भाँति मानती। सभी की सेवा में सदा संलग्न रहती। इस प्रकार आश्रम में रहकर वे एक सच्ची तपस्विनी का जीवन व्यतीत करने लगीं।

इधर वृक्ष की आड़ में छिपे हुए लक्ष्मणजी ने देखा कि भगवान् वाल्मीकि जी स्वयं ही आकर सीताजी को अपने साथ आश्रम में ले गये हैं, तो उन्हें सन्तोष हुआ। वे पुनः इस पार आये और रथ में बैठकर रोते हुए अयोध्या की ओर चल दिये।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! लक्ष्मणजी ने वे सभी वस्त्राभूषण निषादों के हाथ मुनियों के आश्रमों में पहुँचा दिये। वे सीताजी के ही सम्बन्ध में सूतजी से बातें करते हुए अयोध्या की ओर जा रहे थे। उसी दिन शीघ्रता से चलकर वे अयोध्यापुरी में पहुँचे। श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में रोते रोते उन्होंने निवेदन किया—'प्रभो! मैं आपकी आज्ञा का पालन कर आया।' इतना सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी माताजी का स्मरण करके उनके वियोग में मूर्छित हो गये। सीताजी के परित्याग के कारण समस्त नगर में तथा राज्य में शोक छा गया। सभी सीताजी का स्मरण करके फूट-फूट कर रोने लगे। माताओं की तो बुरी दशा थी, जानकी के बिना महल उन्हें काटने दौड़ता था। वह श्रीहीन राजमहल जगदम्बा जानकी के बिना सूना-सूना प्रतीत होता था।

छप्पय

पति यश जग महँ अमर होहि तुम सब सुख पाओ।
देवर! मेरो उदर-निरखि नृपके ढिंग जाओ॥
गर्भवती हूँ दोष फेरि मोकूँ मत दइयो।
पति परमेश्वर चरन कमल महँ वन्दन कहियो॥
लखन सुनत मूर्छित भये, गिरे भूमि पै है विकल।
लखि प्रसंग अति ही करुण, भये दुखित खग मृग सकल॥

सीता-सुत लव-कुश

[६९७]

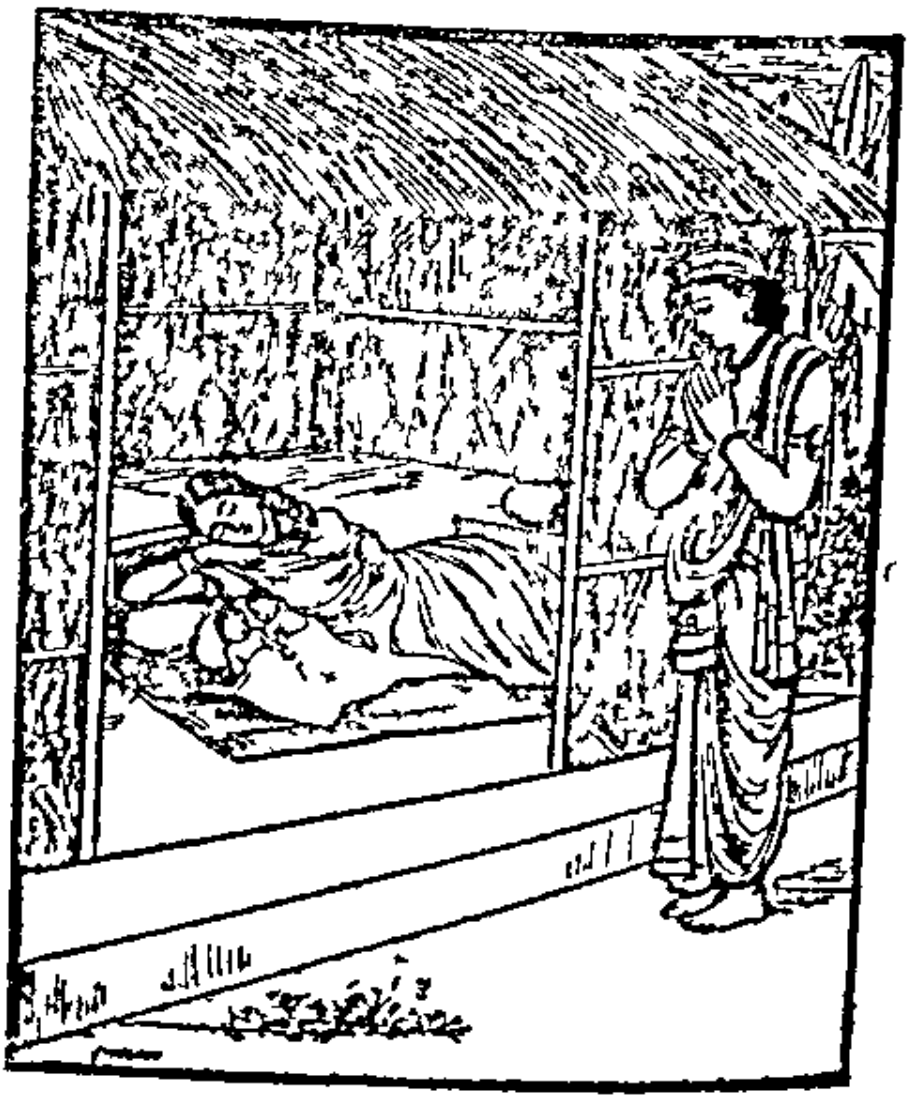

अन्तर्वत्न्यागते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ।
कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया मुनिः ॥

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

चरन धूरि सिर धरि लखन लौटे इत जबहीं।
सुनि सब मुनि वाल्मीकि ले गये सियकूँ तबहीं॥
मुनि पत्निनि सग रखी सुता सम जनक दुलारी।
सेवा मुनि की करै सबनि की भई पियारी॥
समय पाइ दै सुत जने, सुनि सब अति हर्षित भये।
करन जात सस्कार मुनि, तुरत जानकी ढिग गये॥

एक कथा है। कोई महात्मा थे। बडे सुख से रहते थे उनके आवास के आस पास पहरे भी लगते थे। किसी दूसरे सत ने कहा— तुम किस चक्कर म फंस गय। कूए मे म निकले खाई मे गिर गय। साधु को इन बाहरी दिखावटी कार्यों स क्या काम? चलो मेरे साथ इन सबको छोड दो।" महात्मा विरक्त सब कुछ छोड छाडकर उन सतजी के साथ चल दिये। रात्रि भर चलत रहे। प्रात काल गगा तट पर किसी सुदर आश्रम पर पहुँचे। नित्य कर्मों न निवृत्त होकर वे राजर्षि एक ओर शान्त चित्त म बैठ गय। उनके साथी सत एक प्रकार क गर्व का अनुभव कर रहे थे कि मैने इनका प्रपच छुडा दिया। इन्ह विरक्त बना दिया। भिक्षा का समय हुआ। सतजो ने उन राजर्षि न कहा— 'तुम यही बैठे रहना मैं गाँव स मधुकरी माँगकर लाता हूँ। बहुत दिनो तक चिकनी चुपडी उडाई है। आज भिक्षान्न का स्वाद देखा।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! गर्भवती सीता न समय आने पर दो यमज (जुडवे पुत्र) पैदा किये। वे ससार मे लव कुश इन नामों से विख्यात हुए। महामुनि वाल्मीकिजी ने उनके सभी जात कर्म आदि संस्कार किये।"

राजर्षि ने कहा—"जो आज्ञा, मै यहीं बैठा हूँ" यह सुनकर सन्त भिक्षा के लिये चले गये। सयोग की बात उसी समय कोई राज-पुत्र वहाँ आया। उसके साथ सेना थी। जब ये महात्मा राजा थे तब उसके पिता की और इनकी मैत्री थी। राजकुमार ने साधु होने पर भी एक बार महात्मा के दर्शन किये थे और उनके ठाठ देखे थे। जब उसने इन महात्मा को आज इस प्रकार बैठे देखा तो वह उनके पैरों मे पड गया। वहीं डेरे तम्बू लगा दिये। पहरे लगने लगे। इसी बीच सन्तजी भिक्षा लेकर लौट आये। वे भीतर जाना चाहते थे, पहरे वालो ने उन्हें रोक दिया। महात्मा की आज्ञा मिलने पर उनका भीतर प्रवेश हुआ। वहाँ उन्होंने देखा राजकुमार भाँति-भाँति के स्वादिष्ट पदार्थों से सुन्दर थाल सजाये महात्मा के सामने उपस्थित है और उनसे भगवान् के प्रसाद पाने की प्रार्थना कर रहा है। इतने मे ही सन्त पहुँच गये। राजर्षि ने उन्हें प्रणाम किया और बोले—"भगवन्! मै आपकी प्रतीक्षा ही कर रहा था। यह बच्चा मुझसे बडी देर से प्रसाद पाने की प्रार्थना कर रहा है, आपकी आज्ञा हो तो प्रसाद पाऊँ, आपकी आज्ञा न हो तो न पाऊँ।"

सत ने हाथ जोड़कर कहा—"महात्मन्! आप प्रेमपूर्वक प्रसाद पावें। यह लोकोक्ति सर्वदा सत्य है, कि मनुष्य के चलने के पहिले ही उसका भाग्य उसके आगे-आगे चलता है। भाग्यशाली जगल मे भी जा बैठे तो वहाँ भी मंगल हो जाता है। भाग्यहीन को देखकर उदार भी अनुदार हो जाते है। सौभाग्यशाली जहाँ भी रहेंगे सुख से रहेंगे, प्रेमियो को सर्वत्र प्रेमी मिल जायँगे और दुष्ट दुष्टो मे ही घुल मिल जायँगे। अतः भाग्य पर भरोसा करके सभी परिस्थितियो में प्रसन्न रहना चाहिये। भाग्य

मे जितना सुख-दुख बदा होगा वह कहो भी चले जाओ वही मिलेगा।'

इसी प्रकार एक दूसरी भी कहानी है। एक आदमी अत्यन्त दरिद्र था। उसे कभी न तन ढकने को वस्त्र मिलता था, न खाने को भर पेट अन्न। एक दिन उसने विचार किया। यहाँ से १००-२०० कोस दूर चला जाऊँ। वहाँ मेरा दरिद्र नष्ट हो जायगा। उसके पैरो मे बडी-बडी बिवाइयाँ फट रही थी। इतनी दूर की यात्रा करनी थी, अत. कही से घी मोम लाकर वह बिवाइयो में भरने लगा। उसी समय उसने देखा उससे दो हाथ आगे एक दूसरा पुरुष भी अपनी बिवाइयो मे मोम घी भर रहा है। उस आदमी ने पूछा—'भैया, तुम कौन हो? तुम क्यो बिवाइयो मे मोम घी भर रहे हो, तुम्हे कहाँ जाना है।"

उस व्यक्ति ने कहा—'मैं दरिद्र हूँ।"

इस आदमी ने चौंककर पूछा—'तुम किसके दरिद्र हो? कहाँ जाना चाहते हो?'

उसने कहा—'मै तुम्हारा ही दरिद्र हूँ। मैंने सुना है तुम १००-२०० कोस दूर जा रहे हो, इसलिये मैं तुमसे दो हाथ आगे आगे चलूंगा।'

इस आदमी ने कहा—'अरे, जब तू वहाँ भी मेरा पीछा न छोड़ेगा, तो मेरा जाना ही व्यर्थ है। यह लोकोक्ति सत्य है—भाग्य सबके साथ जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सौभाग्यवती सीता को एकाकी वन मे छोड़ते समय लक्ष्मण का हृदय फटने लगा। वे सोचने लगे—"सदा सुख मे रहने वाली मिथिलेशकुमारी इस बीहड वन मे कैसे रहेगी। वनवास के समय तो इनके प्राणनाथ इनके साथ थे। वे पल-पल पर इनकी चिन्ता रखते थे। इन्हे प्रसन्न करने

की सदा चेष्टा करते रहते थे। फिर भी इनका मुख-कमल मुरझा जाता था। समस्त ऋषि मुनि श्रीराम का बड़ा आदर करते थे। सीता की सुकुमारता देखकर सभी का हृदय फटने लगता था। सभी इन्हें सुखी बनाने का प्रयत्न करते। फिर वह १४ वर्ष की बात थी। जैसे तैसे वनवास की अवधि कट गई। अब तो जानकी जी को जीवन भर वन में ही रहना है। कैसे वे रहेंगी, कौन उनकी देख रेख करेगा। इन बातों को स्मरण करके उनका चित्त चञ्चल सा हो रहा था। जब उन्होंने लाल्मीकि जी की बातें सुनी और वे उन्हें अपनी सगी पुत्री के समान मानकर आश्रम ले गये, तब उन्हें सन्तोष हुआ। वे सोचने लगे—"मुनि की छत्र छाया में मैथिली को क्या कष्ट हो सकता है। महाराज जनक तो एक देश के राजा हैं, ये तो संसार के स्वामी हैं। बड़े-बड़े राजे महाराजे इनके चरणों में आकर मस्तक झुकाते हैं। घंटो प्रतीक्षा करते रहते हैं। इनकी कृपा-कटाक्ष के लिये बड़े-बड़े सम्राट् लालायित रहते हैं। महाराज जनक तो इन्हें अपना गुरु ही मानते हैं। हम सबके तो ये कुल-देवता ही हैं। इनके सान्निध्य में सीता जी को कष्ट न होगा। इनका भाग्य इनके साथ है। इनकी रक्षा इनका पातिव्रत ही करेगा। इनका सुन्दर शील स्वभाव सब को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेगा। मुनि पत्नियों में रहकर पति-प्राणा सीता जी को अधिक कष्ट न होगा। यही सोचकर वे अपने मन को सन्तोष देते हुए अवध-पुरी लौट गये।

लक्ष्मणजी ने देखा श्रीरामचन्द्र जी अपने भवन से निकलते नहीं। वे बिना खाये पिये उदास बैठे हुए हैं, उनके नेत्रों से निरंतर अश्रु प्रवाहित हो रहे हैं। लक्ष्मणजी श्रीराम की ऐसी दयनीय दशा देखकर अत्यन्त दुखी हुए। उन्होंने अपने भाई के चरण

छूकर कहा—"प्रभो ! आप जगज्जननी जानकी के लिये चिन्ता न करें। प्रभो ! दुख सुख सब भाग्य से मिलता है। आप जैसे धर्मात्मा को भी इतना क्लेश मिल रहा है, यह सब भाग्य की विडम्बना है। स्वामिन् ! आप अपने को सम्हाले। जिस अपवाद के कारण अपने निर्दोष सती सीता का परित्याग किया है वह अपवाद और भी अधिक होगा। लोग कहेंगे—"पर घर मे रही सीता के लिय श्रीरामचन्द्र इतने दुखी हो रहे है। जो हुआ सो हुआ। आप धैर्य धारण करें, शोक को त्याग दें। राज-काज करें। प्रजा के लोगो को दु:ख न हो। राजा का काम ही है प्रजा का रजन करना।"

अपने छोटे भाई लक्ष्मण की बाते सुन कर लीला-मनुष्य श्रीराम बोले—'लक्ष्मण ! ससार मे तुम्हारे समान हितैषी कोई भी नही। भैया ! तुमने बहुत ही सुन्दर सम्मति मुझे दी। अब मै शोक का परित्याग करता हूँ। अब मैं तत्परता से प्रजा का पालन करूंगा।" यह कह कर वे राज-सभा मे गये और सभी कार्यों की देखभाल करने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्री रामचन्द्र जी ने कह तो दिया, किन्तु वे मन से सीता जी को भुला न सके। सीता जी की याद करके वे सदा दुखी रहते थे।"

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् को चिरकाल तक अपनी प्रियतमा का इतना अधिक वियोग जन्य दु:ख क्यो सहना पड़ा ?"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान् को क्या सुख और क्या दुःख। भगवान् तो सुख दुख से परे हैं। वे तो प्राणियो के कल्याणार्थ नर लीला करते है। फिर भी जब नर-

नाट्य करते हैं तो उसे पूरा उतारते है। अपने किये का फल भोगते है।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! जब नर-नाट्य ही है बनावटी लीला है तो भगवान् इतना करुणा का स्रोत क्यो बहाते हैं? क्यो उसे सत्य की भाँति दर्शाते है।"

इस पर हँसते हुये सूतजी बोले—"महाराज! जो सत्य सा प्रतीत न हो वह नाटक ही क्या। बनावटी होन पर भी जो पूरा उतरे वही तो यथार्थ खेल। एक राजा था, उसके यहाँ एक बहुरूपिया था। वह अनेक रूप रखकर राजा को आश्चर्य मे डालता था। एक दिन राजा ने कहा—'हमे त्यागी का खेल दिखाओ। हम तुम्हे एक सुन्दर सा घोडा देंगे।"

उसने राजा से कुछ काल का अवसर माँगा। एक बडे भारी त्यागी तपसी मौनी महात्मा का वेप बनाकर बडी-बडी दाढी और जटा बढा कर बैठ गया। बहुत से लोग दर्शनो के आने लगे। वह किसी से न बोलता, न किसी से कुछ लेता। उसकी प्रशसा सुनकर राजा भी गये। मोतियो का थाल भरकर ले गये। बहुत सा धन भट के लिये ले गये। महात्मा के सम्मुख सारा धन रख कर हाथ जोड कर बैठ गये। महात्मा ने उस धन का स्पर्श तक नही किया। कहला दिया कि या तो इसे उठाकर दूसरो को बाँट दो या उसे नदी मे फेंक दो। यहाँ एक पैसा भी न रखना। राजा ने सेवको को आज्ञा दी कि इसे गरीबो को बाँट दो। ऐसा ही हुआ राजा प्रणाम करके चल दिया। वह बनावटी त्यागी अपना साधु पने का वेप छोडकर राजा के सम्मुख जय जयकार करके नट वेप मे आकर बोला—"अन्नदाता मुझे अब घोडा मिलना चाहिये।" राजा ने आश्चर्य चकित होकर देखा यह तो वही बहुरूपिया है। हँसकर बोले—"भैया! स्वाग तो तैन बडा

सुन्दर दिखाया, किन्तु हम पूछते हैं, जब हमने तुझे लाखो की सम्पत्ति दे ही दी थी, तो तूने उसे ले क्यो नहीं लिया। उससे तो हजारो घोडे आ जाते। अब तू एक घोडे के लिये गिडगिडा रहा है।"

उस बहुरूपिया ने कहा—'प्रभो! उस समय यदि मैं एक पैसा भी ले लेता तो वह त्यागी का खेल ठीक न उतरता। त्यागी वेष मे यदि मैं कुछ ले लेता तो वह त्यागी का खेल न होकर बनावटी त्यागी का खेल हो जाता। मैंने वेष की रक्षा की। अब मैं नट के वेष मे हूँ। इसलिये आप एक पैसा भी दे दें तो उसे मैं प्रसन्नता पूर्वक माथे चढाऊंगा।"

राजा ने कहा—अच्छा हम तुम पर बडे प्रसन्न हैं। अब के तुम हमे ऐसा खेल दिखाओ जो हमने कभी न देखा हो।"

उसने कहा—"बहुत अच्छा महाराज, दिखाऊंगा।" यह कह कर उसने कुछ समय मांगा। उसने एक बहुत ही सुन्दरी का रूप धारण किया। एक आटे का आदमी बनाया। वह इतनी चतुरता से बनाया गया था कि कोई उसे पहिचान नही सकता था। एक दिन उसने हल्ला कर दिया कि मेरे पति का देहान्त हो गया, मैं सती हो जाऊंगी। बहुत से लोग जुट आये। उसके पति को लेकर श्मशान की ओर चले। वह सोलह श्रृगार करके पति के पीछे पीछे रुपय वर्षाती हर्षाती हुई चली। मांग म सिन्दूर भर कर नेत्रो मे काजल लगाकर वह बिना विषाद के पति क साथ जा रही थी। श्मशान मे पहुँचकर चिता बनाई गई पति का शव रख उसमे आग लगाई और स्वय भी चिता मे बैठ गई। राजा भी सती होने का समाचार सुनकर देखन आये। हँसते हुय सती को जलते देखकर राजा को बडा आश्चर्य हुआ। सती जब आधी

जल गई तब उसने राजा से कहा—"महाराज, ऐसा खेल कभी आपने देखा है ?"

उसकी वाणी पहिचान कर राजा बोले—"अरे ! तू तो भैया बहुरूपिया है। शीघ्रता से चिता मे से निकल आ। क्यों खेल मे व्यर्थ अपने शरीर को जला रहा है ?"

वह सती का वेष बनाये बहुरूपिया बोला—"देखिये, महाराज ! इस समय मैने सती का वेष बना रखा है। सती चिता से नीचे पैर रख दे या रो पडे तो वह सती नही। अब यदि मैं चिता मे से निकलता हूँ, तो सती का खेल पूरा न उतरेगा। सती धर्म को लाछन लग जायगा। अतः मुझे इसी मे भस्म हो जाने दीजिये।"

राजा ने ऐसा ही किया, उसकी स्मृति मे वहाँ उन्होने एक स्तम्भ बनवा दिया। वे प्रायः कहा करते थे—'हमे सच्चा खेल उस नट ने ही दिखाया था।" सो ये भगवान्-तो नटवर हैं, ये जैसा स्वाँग बनाते है, उसका यथावत् पालन करते है। इस बात को दिखाने के लिए कि—"अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्" इन्होने भृगुजी का शाप स्वीकार किया और उसका फल भी भोगा।"

इधर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ? भगवान् को भृगुजी ने शाप क्यो दिया ?- कृपा करके उसका कारण हमे सुनाइये। तब आगे बढिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज, यह तो बहुत लम्बी कथा है। सक्षेप मे मै आपको सुनाता हूँ। पूर्वकाल मे देवता और असुरो का बडा भारी घनघोर युद्ध हुआ। उसमे देवताओ ने असुरो को परास्त किया। देवताओ से पीड़ित असुर भृगुजी के आश्रम पर गये। उस समय भृगुजी आश्रम पर नहीं थे।

भृगुपत्नी ने उन असुरो को आश्रय दिया। वह तत्परता के साथ उनकी रक्षा करने लगी। असुरो को जब अवसर मिलता तो देवताओ पर प्रहार करते, फिर भृगुजी के आश्रम पर आकर सुरक्षित हो जाते। देवता भृगुजी के तप तेज से डरते थे। अत कुछ कर भी नही सकते थे। उनके एकमात्र आश्रय तो भगवान् विष्णु ही थे। उन्होने जाकर भगवान् से निवेदन किया—'प्रभो! भृगुपत्नी हमारे शत्रु को आश्रय दे रही है। उनके कारण सभी लोक अत्यन्त दुखी हो रहे है। धर्म का ह्रास हो रहा है। आप सर्वज्ञ तथा सर्व समर्थ है। इस सकट से हमारी रक्षा करे।"

भगवान् ने कुछ सोचकर कहा—'देवताओ, यद्यपि स्त्री को सर्वथा अवध्य बताया है फिर भी जिसके कारण सभी लोगो को त्रास हो, जिससे धर्म की तथा सदाचार की हानि होती हो वह प्राणी चाहे पुरुष हो या स्त्री उसका वध करना ही श्रेयस्कर है। मै भृगुपत्नी का अपने चक्र से वध करके तुम्हारे भय को दूर करूंगा। तुम लोग चिन्ता मत करो।' देवताओ को इस प्रकार आश्वासन देकर भगवान् महर्षि भृगु के आश्रम पर गये और उन्होने भृगुपत्नी का सिर चक्र से काट दिया। इससे असुर निस्सहाय होकर भाग गये।

जब यह समाचार भगवान् भृगुजी ने सुना तो उन्हे अत्यन्त दुख हुआ। उन्होने हाथ मे जल लेकर भगवान् को शाप दिया—"विष्णो! तुमने मेरी अवध्या पत्नी का वध किया है। इसलिये आपको शाप देता हूँ कि आप को मर्त्यलोक मे मनुष्य देह धारण करनी पडेगी। वहाँ चिरकाल तक तुम्हे स्त्री का वियोगजन्य दुख सहना पडेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की प्रेरणा से भृगुजी ने शाप दे तो डाला किन्तु उन्हे मन से बडा दुख हुआ वे

सोचने लगे—"मैंने सर्वज्ञ विष्णु को शाप देकर बड़ा बुरा किया। इस पाप से मेरा छुटकारा कैसे हो।" यह सोचकर वे घोर तप करने लगे। उनके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हुए और बोले—"मुनिवर! आप कोई चिन्ता न करें। यह सब मेरी प्रेरणा से ही हुआ। मै मर्त्यलोक मे अवतार लेकर अत्यन्त करुणापूर्ण लीला करूंगा।" भगवान् के इस आश्वासन से भृगु जी को सतोष हुआ

सूतजी कहते है—"मुनियो! इसीलिये भगवान् को सीताजी के वियोग मे इतना दुख सहना पड़ा। या यों कहिये कि भृगुजी के शाप को सत्य करने के लिये ही भगवान् ने ऐसी लीला रची।"

यह सुन कर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह सब भगवान् की इच्छा से ही होता है, वे कर्म बन्धन मे तो बँधे ही नही। उन्हे शाप कौन दे सकते है। अपनी इच्छा से ही लोगो को सुख देते और भाँति-भाँति की क्रीड़ा करते हैं। हाँ, तो अब हमे सीता जी की अग्रिम कथा सुनाइये। वाल्मीकि मुनि के आश्रम पर रहकर जगज्जनी जानकी ने क्या किया?"

इस पर सूतजी बोले—"सुनिये महाराज, अब मैं आपको भगवती सीता का समाचार सुनाता हूँ। हाँ, तो सीताजी वाल्मीकि मुनि के आश्रम पर सुखपूर्वक रहती थी। मुनि उनका पुत्री की भाँति पालन पोषण करते थे। सीताजी भी राजरानीका अभिमान छोड़कर दासी की भाँति प्रसन्न चित्त से मुनि की सेवा मे सलग्न रहती। वे सदा मन से श्रीराम रूप का चिन्तन करती रहती। वाणी से राम-मत्र का जप करती रहती, मुनि उनकी सेवा से बड़े प्रसन्न रहते। आश्रम की सभी तापसी उन्हे प्राणो से भी अधिक प्यार करती थी। सीता जी को वन मे सब सुख थे, एक

ही दुख था, कि वे अपने प्राणनाथ से पृथक रह कर जीवन धारण कर रही थी वह भी अपने स्वार्थ के निमित्त नही उनकी धरोहर की रक्षा के निमित्त रघुवश की वश परम्परा को अक्षुण्ण बनाने के स्वार्थ से वे जीवित थी। शनैः शनैः काल बीतता गया। सीता जी के गर्भ के दिन पूरे हो गय। एक दिन अध-रात्रि के समय ऋषि कुमार दौड़ते हुए आय और शीघ्रता क साथ बोले—"भगवन्! भगवन्! भगवती सीता देवी न दो यमजपुत्र उत्पन्न किये हैं। वे देखने मे दो चन्द्रमाओ के समान प्रतीत होते है। कृपा करके आप वहाँ पधार और उन बालको की बालग्रह की बाधा को दूर करें।"

सीता के दो पुत्र उत्पन्न हुए है यह सुनकर महामुनि वाल्मीकि को अत्यन्त ही हर्ष हुआ। वे उसी समय सीता की पर्णकुटी के समीप गये वहाँ जाकर उन्होने बालको की रक्षा के मन्त्र पढे। उन्हें कोई बालग्रह कष्ट न दे सके इस निमित्त पवित्र कुश लेकर उन्होने रक्षा-विधि की। बालक दो थे, अतः उन्होने कुश के बीच से दो टुकडे किये। आधा तो कुशा के नीचे के जड का भाग रहा जो कुश कहलाता है। उससे जिस बालक का मार्जन किया उसका नाम तो 'कुश' हुआ और ऊपर के भाग–लव–से जिसका मार्जन किया उसका नाम 'लव' हुआ। इस प्रकार से कुश और लव इस नाम से विख्यात हुए।

मुनि ने उन बच्चो के जात कर्म आदि सस्कार किये। उनके गोत्र तथा पिता के नाम का उच्चारण करते हुए उन्होने श्रीरामचन्द्र के नाम का उच्चारण किया। सयोग की बात, कि उसी दिन शत्रुघ्न जो भी बाल्मीकि मुनि के आश्रम पर ठहरे हुए थे। उन्होने जब सकल्प मे श्रीरामचन्द्र जी का नाम सुना और सीताजी के दो पुत्र हुए है यह बात सुनी, तब तो उनके हर्ष का

ठिकाना नही रहा। मुनि के लौटने पर उन्होने पूछा—"भगवन्! क्या भगवती सीता देवी यही है, क्या हमारी कुल की कीर्ति बढाने वाली जगज्जननी जानकी जी ने दो यमज तनय उत्पन्न किये हैं ?"

मुनि ने कहा—"सौमित्रे! भगवती सीता मेरे ही आश्रम मे यहा तापसियो के बीच मे निवास करती हैं। मैं उन्हे पुत्री के समान मानता हूँ। आज उनके अश्विनी-कुमारो के समान परम रूपवान्, नर-नारायण के समान परम तेजस्वी, सूर्य चन्द्र के समान कान्तिवाले दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं, किन्तु इस समाचार को न तो तुम श्रीरामचन्द्र जी से ही कहना और न किसी अन्य से ही। समय आने पर मैं स्वय ही इन बालको को श्रीरामचन्द्र के सम्मुख उपस्थित करूँगा।"

शत्रुघ्नजी ने कहा—"भगवान् की जो आज्ञा, मैं किसी से न कहूँगा, किन्तु माता जानकी जी को जाकर मैं प्रणाम तो कर आऊँ।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, जाओ तुम अपनी कुलदेवी को प्रणाम कर आओ।'

मुनि की आज्ञा पर शत्रुघ्नजी एक वृद्धा तापसी के साथ सीताजी की पर्णकुटी पर गये। सोहर के घर मे शत्रुघ्नजी भीतर तो जा नही सकते थे, जानकी जी भी कुटी से बाहर नही निकल सकती थी। वे प्रसव-पीडा के कारण पृथ्वी की गोद मे पडी थी। दूर से ही रोकर शत्रुघ्नजी ने कहा—"माताजी! मैं शत्रुघ्न प्रणाम कर रहा हूँ। हाय! अवध की सम्राज्ञी आज एक पर्ण-कुटी मे प्रसव कर रही है। जिसकी सेवा मे सदा सहस्रों सेविकायें रहती थी आज प्रसव के समय वे पृथ्वी पर पडी हैं।

काल की कैसी कठोर क्रीडा है। देवी! सौभाग्य की बात है कि श्रीराम सपरिवार कुशल है।"

सीताजी ने भीतर से अवरुद्ध कंठ से रुक-रुककर कहा—"मेरे छोटे देवर! सौभाग्य की बात है कि तुम इस समय साक्षी रूप मे यहाँ आगये हो। तात! सब भाग्य का खेल है, किसी का दोष नही। भगवान् जो भी करते हैं अच्छा ही करते हैं। मैं आशीर्वाद देती हूँ कि तुम्हारे भी सबके इसी प्रकार दो-दो पुत्र उत्पन्न हो।"

सीताजी का ऐसा आशीर्वाद पाकर लज्जित और दुखित शत्रुघ्नजी सीताजी को दूर से ही प्रणाम करके लौट आये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! शत्रुघ्नजी यहाँ वाल्मीकि मुनि के आश्रम पर क्या आये? क्या श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हे सीताजी का समाचार लेने भेजा था?"

इस पर शीघ्रता के साथ सूतजी बोले—'नही, महाराज! श्रीरामचन्द्रजी कैसे भेज सकते है? शत्रुघ्नजी तो लवणासुर दैत्य को मारने मधुवन जा रहे थे। मार्ग मे सन्ध्या होने से एक दिन के लिये वाल्मीकि मुनि के आश्रम पर ठहर गये। वह सयोग की बात थी कि उसी दिन सीता ने पुत्रो को जन्म दिया।"

तब शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! यह लवणसुर कौन था? किसका पुत्र था? यह मधुवन मे क्यो रहता था? शत्रुघ्नजी ने उसे क्या और कैसे मारा? इन सब बातो को सुनाइये। आपने सबका चरित्र तो सुनाया, किन्तु शत्रुघ्नजी का तो कोई विशेष चरित्र सुनाया ही नही।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! शत्रुघ्न का चरित्र बडा ही आदर्श है। ये अपने सभी भाइयो मे छोटे थे। भारतीय सस्कृति मे छोटो के लिये बड़ी मर्यादा होती है। रामजी और भरतजी

दोनो हो तो भरतजी रामजी की धोती धोवेंगे। यदि श्रीराम भरतजी, और लक्ष्मणजी तीना होगे तो श्रीराम तथा भरत दोना की ही धोती लक्ष्मणजी को धोनी पडेगी और यदि श्रीराम, भरत जी, लक्ष्मण और शत्रुघ्नजी चारा होगे तो चारो की धोती शत्रुघ्न जी का ही धोनी होगी। शत्रुघ्नजी सबसे छोटे थे, इसलिय ये कभी बोलते हा नही थे। बडे क सम्मुख छोटे को बोलना, हँस विनाद करना यह मर्यादा ही नही। य एक ही बार बाल और उसी बोलन पर फंस गय। श्रीरामजी तुरन्त इन्ह मधुवन भेज दिया। वहाँ इन्होने बडी वीरता दिखाई किन्तु इन्हे श्रीरामचन्द्र स पृथक् रहना पडा।'

शौनकजी ने कहा—'सूतजी! तब आप हमे यह सब कथा विस्तार स सुनाइये।"

सूतजी शीघ्रता के साथ बोल—'अजी, महाराज! विस्तार से सुनाने का समय कहाँ है। अत्यन्त ही सक्षेप मे इस चरित को सुनाकर मैं आगे की कथा सुनाऊंगा। ता अच्छी बात है। पहिले आप लवणवध की कथा सुन।

छप्पय

रिपुसूदन तिहि समय लवण वध हित मधुवनमहँ।
जात रहे विश्राम करन उतरे आश्रममहँ॥
तहाँ सुन्यो सुत जनम सीयके ढिंग तब आये।
गुप्त रहे यह बात शत्रुहन मुनि समुझाये॥
सुनि शौनक शका करी, कौन लवण जिहि हनन हित।
पठये रघुपति शत्रुहन, बल प्रभाव जिनिको अमित॥

बड़े लोग अपने छोटों पर वात्सल्य स्नेह रखते हैं और शक्ति भर उनकी इच्छा को रखते है। बडों का बडप्पन इसी मे है, कि छोटो की इच्छाओ को पूर्ति करें और छोटो का कर्तव्य यही है, कि बडो की बातो को बिना वाद-विवाद के माने। तभी संसार का कार्य सुचारुरीति से चल सकता है। तभी आर्य मर्यादा का पालन हो सकता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! आपने मुझसे लवणासुर की कथा पूछी। उसे ही मै सुनाता हूँ। प्राचीन काल मे मधु नामक एक राक्षस था। वह बडा बली, शूरवीर, ब्राह्मण भक्त प्रजा पालक और सच्चरित्र था। उसने सहस्रो वर्षो तक शिवजी की घोर आराधना की। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् शूलपाणि ने उसे एक अमोघ त्रिशूल दिया और कहा—देखो, यह अत्यन्त ही चमकीला परम प्रभाव युक्त मेरा यह अमोघ त्रिशूल है। जब तक यह तुम्हारे पास रहेगा, तब तक तुम्हे कोई भी परास्त न कर सकेगा। इसमे यह विशेषता होगी कि शत्रु का वध करके यह पुनः तुम्हारे पास लौट आया करेगा, किन्तु इसका प्रभाव तभी तक रहगा जब तक तुम देवताओ से विरोध न करोगे। जब तुम देवताओ से विरोध करने लगोगे, तब इसका प्रभाव नष्ट हो जायगा और लौटकर पुनः मेरे पास आ जायगा।"

मधु ने कहा—'भगवन्! यह त्रिशूल मेरे वशजो को भी प्राप्त हो।"

शिवजी ने कहा—'देखो, भैया! तपस्या तुमने की है। उसी के फलस्वरूप तुम्हे यह दिव्य त्रिशूल मैं देता हूँ। यह कोई उपाधि या सम्पत्ति तो नही जो तुम्हारे वंशजो को भी प्राप्त हो। फिर भी तुमने याचना की है, तो तुम्हारी याचना सर्वथा विफल न हो, इसलिये मै आशीर्वाद देता हूं कि तुम्हारे पुत्र को भी यह

त्रिशूल प्राप्त हो। जब तक उसके हाथ मे यह त्रिशूल रहेगा, तब तक संसार मे उसे कोई जीत न सकेगा।"

'इस बात से उसे बडी प्रसन्नता हुई। शिवजी अन्तर्धान हो गये और मधु शूरसेन देशो का पालन करने लगा। वैसे वह था तो असुर किन्तु बडा धर्मात्मा था। चारो वर्ण के लोग उससे सन्तुष्ट रहते थे। जिस वन में उसका निवास था, वह उसी के नाम से "मधुवन" प्रसिद्ध हुआ। उसकी राजधानी भी उसी के नाम से मथुरा प्रसिद्ध हुई। उसका विवाह रावण की मौसी कुम्भीनसी के साथ हुआ। उसके गर्भ से एक बडा ही पराक्रमी पुत्र हुआ। मधु ने उसका नाम लवण रखा। लवण नित्य प्रति बढने लगा और कुछ ही काल मे वह युवा हो गया। वह बडा ही क्रूर स्वभाव का था। वह असुरो का-सा सबके साथ व्यवहार करता। हिंसा उसे अत्यन्त प्रिय थी। मास का वह अत्यन्त ही प्रेमी था सैकडो हजारो जीवो को वह स्वय ही मारकर लाता और उन सबको खा जाता, यहाँ तक कि वह ऋषि-मुनियो को भी मारकर खा जाता। इससे प्रजा के लोग उससे अत्यन्त ही दुखी थे। मधु ने उसे भाँति-भाँति से समझाया, किन्तु वह किसी भी प्रकार नही माना। मधु ने देखा, यह किसी प्रकार मानेगा नही। पिता पुत्र का विरोध उचित नही। इसीलिये वह राज्य पाट छोड कर शिवजी के त्रिशूल को उसे सौंपकर समुद्र के किनारे चला गया। अब तो लवण सर्वथा स्वतन्त्र हो गया। वह ऋषि मुनियो को कष्ट देने लगा। वर्णाश्रम धर्म मे विघ्न डालने लगा और प्रजा के लोगो को भाँति-भाँति के कष्ट देने लगा। बहुत से राजा उससे लडने आये, किन्तु शिवजी के त्रिशूल के प्रभाव से उसे कोई जीत न सका। बहुत से तो वही मर गये, बहुत से रण से

प्राण लेकर भाग गये। इससे उसका गर्व और भी बढ़ गया। वह स्वच्छन्द होकर पापाचरण करने लगा।

यमुना किनारे पर उन दिनो वहाँ बहुत से तपस्वी तपस्या किया करते थे। उस देश का नाम ही ब्रह्मर्षि देश था। उन सब ऋषियो मे भृगुपुत्र भगवान् च्यवन मुख्य थे। उन्ही दिनो ऋषियों ने सुना श्रीरामचन्द्र जो अमित-बल पराक्रम-युक्त रावण का वध करके अयोध्या पुरी मे आ गये हैं और यज्ञ याग कर रहे हैं। तब तो सभी ऋषियो ने सोचा कि श्रीरामचन्द्रजी ही इस दुष्ट की दुष्टता को नष्ट कर सकेंगे। हम सब उनकी सेवा मे चलकर सब बातें उनसे निवेदन करें।"

सभी ने इस बात का समर्थन किया। मुख्य-मुख्य एक सौ ऋषियो का एक शिष्ट-मडल अवधपुरी के लिये चला। भृगुपुत्र भगवान् च्यवन उस मडल के अग्रणी थे। कुछ दिनो मे वे अयोध्या के राजभवन के द्वार पर पहुँच गये भगवान् नित्य कर्मों से निवृत्त होकर राजसभा मे पधारे हो थे, कि उसी समय द्वार पाल ने आकर निवेदन किया— 'प्रभो! यमुना तटवासी बहुत से ऋषि द्वार पर खडे हैं, वे महाराज से मिलन के लिय अत्यन्त लालायित है। उनके लिये जो आज्ञा हो।"

भगवान् ने कहा—' उन तपोधन महर्षियो को सत्कारपूर्वक तुरन्त यहाँ ले आओ। भागवान् की आज्ञा पाकर द्वारपाल सभी ऋषियो को सादर ले आया। भगवान् न उठकर उन सबकी अभ्यर्चना की। पाद्य, अर्घ्य, फल, मूल भेंट करके तथा गोदान के द्वारा उनका सत्कार करके उन सबको सुन्दर-सुन्दर सुवर्ण के आसनो पर बिठाया। ऋषियो ने विविध तीर्थों के जलो स भरे घडे, फल फूल, श्रीरामचन्द्रजी को भेंट किये। तीर्थों के पवित्र जलो से भरे घडो को तथा मुनियो के दिये फूलो को भगवान् ने

सहर्ष स्वीकार किया। दोनो ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर भगवान् बोले—"मुनियो! आपने बडी कृपा की जो मुझ दीन हीन को दर्शन देकर कृतार्थ किया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका पधारना किसी कारण को लेकर हुआ या वैसे ही मुझे कृतार्थ करने ही आप पधारे हैं। यदि किसी कारण से आपने कृपा की है, यदि आप मुझे कोई सेवा का सुयोग प्रदान करना चाहते हैं तो उसे नि.सकोच होकर कहे। मुझे आज्ञा दें। मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ। आप जिस कार्य के लिये भी आये हो, उसे हुआ ही समझें।"

भगवान् का ऐसा आश्वासन पाकर भार्गव मुनि च्यवन बोले—राघव! ये वचन आपके अनुकूल ही हैं। क्यो न हो, आप रघुकुल के भूषण हैं, इक्ष्वाकुवशावतस हैं। आपके जितने भी पूर्वज हुए हैं सभी शरणागतप्रतिपालक तथा ब्राह्मण भक्त हुए हैं। उनके यहाँ से कोई भी याचक कभी भी निराश होकर नही लौटा। उन्होने सर्वस्व समर्पित करके ब्राह्मणो की सेवा की है। प्रभो! हम मधु के पुत्र लवण नामक असुर के दु खो से अत्यन्त दु खी हैं। वह मधुवन मे रहकर प्राणियो की हिंसा करता है। ऋषि मुनियो को पकड कर खा जाता है और भाँति-भाँति के उपद्रव करता है। आपने प्रबल पराक्रमी विश्वविजयी रावण को मारकर दक्षिण दिशा को निष्कटक बना दिया। अब इस लवणासुर को और मारकर ब्रह्मर्षि देश को सुखी कीजिये। हम सब इसीलिये मिलकर आपकी सेवा मे उपस्थित हुए हैं।"

मुनियो की बात सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् ने कहा—"मुनियो! आप निश्चित रहे। आप अब लवणासुर को मरा ही हुआ समझें।"

यह कहकर भगवान् ने सभा मे बैठे हुए अपने भाइयो से

कहा—"कहो भाई ! लवणासुर किसके भाग में आता है। कौन उस अधम असुर को मारने के लिये उद्यत होता है ?"

यह सुनकर भरत जी अपने सिंहासन से उठकर खड़े हुए और हाथ जोडकर बोले—"प्रभो मुझे आज्ञा दी जाय, मैं लवणासुर का वध करूंगा।"

भरत जी जब कहकर बैठ गये तो छोटे भाई शत्रुघ्नजी खड़े हुए और हाथ जोडकर बोले—"प्रभो ! लक्ष्मण जी ने आपके साथ वन में रहकर भाँति भांति के क्लेश सहे, बहुत से दुष्ट असुरों को मारा। भरतजी यहाँ अवध में रहकर घोर तपस्या करते रहे। अवध के राज्य पाट की रक्षा करते रहे उन्होने बड़े-बडे क्लेश सहे हैं। मैंने अभी तक कुछ नही किया। अतः लवण को मारने की आज्ञा मुझे प्रदान की जाय।'

भगवान् ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"सुमित्रानंदवर्धन शत्रुघ्न, तुम सर्वथा उस दुष्ट को मारने को अनुकूल हो। तुम उसे अवश्य ही मार दोगे। मै आज ही तुम्हारा शूरसेन देशों के राज्य पर अभिषेक करूंगा। तुम उस दुष्ट लवण को मारकर वहीं अपनी राजधानी बनाकर रहो और धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो।"

यह सुनकर शत्रुघ्नजी तो भौचक्के से रह गये। उनकी आँखों मे आँसू आ गये। वे रोते-रोते बोले—"प्रभो ! मुझे यह दंड किस अपराध के कारण दिया गया है, मै आपके चरणों को छोडकर बाहर कैसे रहूँगा। ऋषियो ने सत्य ही कहा है—"छोटों को बड़ों के बीच में नही बोलना चाहिये।" मैने भरतजी के अनन्तर बोल कर बड़ी भारी भूल की। उसी के परिणाम स्वरूप तो मैं श्रीराम के चरणों से पृथक् किया जा रहा हूँ। हे धर्म के मर्म को जानने वाले प्रभो ! आप अधर्म न करें। बड़े भाइयो के रहते छोटों का

अभिषेक शोभा नही देता। मुझे केवल लवण के वध की ही आज्ञा मिलनी चाहिये। उसे मारकर फिर मैं आपके चरणो के समीप लौट आऊँगा।"

भगवान् ने अत्यत ही स्नेहपूर्वक शत्रुघ्नजी को गोदी मे बिठा कर कहा—"महाबाहो! इस प्रकार अधीर नही होते। क्षत्रिय के लिये ऐसी कातरता शोभा नही देती। राजा लोग प्रवास से डरते नही। जो राजा अन्यायी राजा को मारकर उस राज्य पर दूसरा राजा नही बिठाता उसे पाप लगता है। इसलिये लवण को मार कर उसके राज्य की रक्षा तुम्हे ही धर्मपूर्वक करनी चाहिये। मैं आज ही तुम्हारा राज्याभिषेक करूंगा।"

यह सुनकर उदास मन से शत्रुघ्नजी बोले—"प्रभो! अब मैं आपके सम्मुख कैसे उत्तर दूं। एक बार जो मैने भूल की बडे भाई के बीच मे बोला उसके परिणाम के स्वरूप तो मैं प्रभु-पादपद्मो से पृथक् किया जा रहा हूँ। अब यदि कुछ कहा, तो न जाने क्या दड मिलेगा, किन्तु स्वामिन् मुझे आपके चरणो को छोडकर अन्यत्र कही सुख न मिलेगा।"

शत्रुघ्नजी की इन बातो को सुनकर श्रीरामचन्द्रजी अत्यत ही प्रसन्न हुए। उन्होने मन्त्रियो तथा पुरोहित को बुलाकर विधि-विधान पूर्वक शत्रुघ्नजी का शूरसेन देश के राज्य पर अभिषेक किया। अब शत्रुघ्नजी कुमार न रहकर राजा बन गये। वे राज-सिंहासन पर छत्र चंवर धारण किये हुए अत्यत ही शोभा को प्राप्त हुए। श्रीरामचन्द्रजी ने अभिषेक के जल से भीगे हुए अपने भाई का प्रेमपूर्वक सिर सूंघा और उन्हे उपदेश करते हुए बोले—"देखो, भैया! धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करना। अपने से किसी को भी कष्ट न हो। तुम उस लवण से सावधानी के साथ युद्ध करना उसके पास शिवजी का दिया हुआ एक त्रिशूल है। जब

तक वह त्रिशूल उसके हाथ में रहता है, तब तक उसे कोई जीत नहीं सकता। अहंकार के कारण जब वह आखेट के लिये वन में जाता है, तो उस त्रिशूल को साथ नहीं ले जाता। घर के भीतर रखकर वह उसकी पूजा करता है। तुम ऐसे समय पर उसके पास जाना जिस समय वह त्रिशूल न लिये हो, आखेट के लिये वन में गया हो। जब वह लौटे तो उससे युद्ध करना। वह लाख प्रयत्न करे, तुम उसे त्रिशूल लेने भीतर मत जाने देना। देखो, यह मेरा एक अमोघ बाण तुम ग्रहण करो। यह साक्षात् भगवान् विष्णु का बाण है। इसी से उन्होंने मधु कैटभ नामक असुरों को मारा था। यह कभी भी निष्फल न जाने वाला बाण अमोघ है, इससे तुम अवश्य ही लवण को मार सकोगे। मैंने इस बाण को अत्यन्त भयंकर रावण के ऊपर भी नहीं छोड़ा था। निश्चय ही यह लवणासुर को धराशायी बना देगा।"

यह कहकर श्री रामचन्द्रजी ने शत्रुघ्न का सिर सूँघा नेह के नीर से उनका सिर भिगो दिया और वह बाण उन्हें दिया। शत्रुघ्न जी ने भी सिर झुका कर बड़े आदर के साथ उस दिव्य शर को ग्रहण किया।

श्री रामचन्द्रजी की आज्ञा से बहुत सी चतुरंगिनी सेना ऋषियों के साथ मधुवन को भेज दी। शत्रुघ्नजी स्वयं सबसे मिल भेंटकर एक महीने के पश्चात् १०-२० सैनिकों को साथ लेकर एकाकी ही मधुवन की ओर चले। मार्ग में वे भगवान् वाल्मीकि के आश्रम पर ठहरे थे। तभी सीताजी ने लव-कुश को जन्म दिया। भगवान् वाल्मीकि की आज्ञा लेकर शत्रुघ्नजी आगे बढ़े और कुछ ही दिनों में वे मधुवन के समीप पहुँच गये। अपनी सब सेना को इसी पार छोड़कर शत्रुघ्नजी एकाकी ही धनुष बाण लेकर लवण के द्वार पर जा बैठे। उस समय वह आखेट के लिये

वन मे गया था। जब वह हजारो पशु-पक्षियों तथा जंगली जीवों को मार कर आया तो द्वार पर उसने धनुष बाण ताने शत्रुघ्नजी को देखा। उन्हे देखकर वह बहुत हँसा और हँसते हुए बोला—"आज मेरा आहार कुछ कम था। सो दैव ने घर बैठे ही भेज दिया। इसकी मृत्यु इसे अपने आप यहाँ ले आई।'

शत्रुघ्नजी ने गरज कर कहा—"अरे, दुष्ट बहुत बक-बक क्यो करता है। मै तेरा आहार नहीं काल हूँ। मेरा नाम शत्रुघ्न है। मैं शत्रु को मारने वाला हूँ। तू मेरा शत्रु है। तुझे मार कर मैं आज राज्य निर्भय बनाऊँगा। तुझे यम-सदन पठाऊँगा। तू मरने के लिये तैयार हो जा।"

शत्रुघ्न की ऐसी वीरता पूर्ण बातें सुनकर असुर कुछ सहम गया। उसने पूछा—"तू कौन है, कहाँ रहता है? किसके कहने से यहाँ मरने आया है?"

शत्रुघ्नजी ने कहा—"मैं अयोध्याधिपति महाराज रामचन्द्र जी का छोटा भाई हूँ। शत्रुघ्न मेरा नाम है, श्रीरामचन्द्रजी ने तुझे मारने के निमित्त ही मुझे यहाँ भेजा है। अब मैं तुझे मारे बिना यहाँ से नही जा सकता।"

यह सुनकर लवणासुर क्रोध मे भर गया। वह गरजकर बोला—"राम का नाम मैंने सुना है, उसने मेरे मौसेरे भाई रावण को स्त्री के निमित्त मारा है। यह सुनकर भी मैंने राम को क्षमा कर दिया, किन्तु तुझे क्षमा नही कर सकता। तुझे तो आज मैं अभी यम-सदन पठाऊँगा। तनिक देर ठहर जा, मैं अपना त्रिशूल भीतर से ले आऊँ।"

यह सुनकर हँसते हुए शत्रुघ्न बोले—"मैं तेरी भाँति मूर्ख तो हूँ नही, जो सम्मुख आये हुए शत्रु को अवसर दूँ। अब तू

भीतर बाहर कहीं भी नहीं जा सकता। यहीं तुझे मुझसे युद्ध करना पड़ेगा।"

यह सुनकर असुर को बड़ा क्रोध आया। उसने समीप से एक बड़ा वृक्ष उखाड़ कर शत्रुघ्नजी के सिर पर मारा। सिर के समीप पहुँचने के पूर्व ही शत्रुतापी शत्रुघ्न ने उसके टुकड़े टुकड़े करके फेंक दिये। उससे लवणासुर को अत्यन्त ही रोष आ गया। वह बहुत से वृक्षों को फेंकने लगा। शत्रुघ्नजी बड़ी वीरता से शत्रु के फेंके वृक्षों और पत्थरों को बाणों द्वारा टुकड़े-टुकड़े करके फेंक देते और बाणों से प्रहार भी करते। किन्तु उसके शरीर में एक भी बाण न लगता। वह हँसते हुए बाणों को फूल के समान सहन करता। अवसर पाकर उसने शत्रुघ्नजी पर प्रहार किया, इससे रामानुज रिपुसूदन मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। असुर ने समझा यह मर गया है इसलिये वह न तो भीतर त्रिशूल लेने ही गया न उसने उनकी ओर ध्यान ही दिया। उसे तो अपने बल का अभिमान था। भूख का वह कच्चा था अतः मारे हुए जीवों को उठाकर अपने भोजन की व्यवस्था में जुट गया। कुछ ही देर में शत्रुघ्नजी को चेत हुआ। उन्होंने देखा असुर तो आहार की चिन्ता में लगा है। उन्होंने उसे पुनः युद्ध के लिये ललकारा वह ज्योंही शत्रुघ्नजी के समीप आया त्योंही उन्होंने श्रीरामप्रदत्त बाण को धनुष पर चढ़ाया। श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करके मन्त्र पढ़कर ज्योंही शत्रुघ्नजी ने उस दिव्य अमोघ बाण को छोड़ा त्योंही वह दैत्य कटे वृक्ष के समान बाण लगते ही पृथ्वी पर गिर पड़ा। देवतागण यह देखकर साधु-साधु कहने लगे। ऋषि मुनि रामानुज शत्रुघ्न की प्रशंसा करने लगे, उन्हें भाँति भाँति के आशीर्वाद देने लगे। गन्धर्व गाने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। सभी लोग लवणासुर के मारे जाने से सुखी हुए।

उसी समय सबके देखते-देखते वह शिवजी का त्रिशूल उड कर भगवान् शूलपाणि के समीप चला गया। देवताओ ने शत्रुघ्नजी से वर माँगने को कहा। शत्रुघ्नजी ने कहा— मेरी यह पुरी परम पावन मोक्षदा हो।"

देवताओ ने तथास्तु कहकर उनकी बात का अनुमोदन किया। उसी समय शत्रुघ्नजी ने देवताओ के वरदान से दिव्य मथुरापुरी मे प्रवेश किया। उन्होने मधु के बनाये महलो को फिर से बनवाया, उनमे रग बिरगे श्रीराम के सम्बन्ध के चित्र बनवाये। वन उपवनो की रचना की। बडे बडे राज-पथ बनवाये सभा-भवन क्रीडास्थल आमोद-प्रमोद के आवास, देव-मन्दिर, अखाडे और मनोरजन के स्थानो का निर्माण कराया। वह पुरी परम रमणीय हुई। शत्रुघ्नजी धर्मपूर्वक उन देशो का राज्य करते हुए प्रजा का पालन करने लगे। शत्रुघ्नजी के राजा होने से ऋषि-मुनियो को बडा हर्ष हुआ। नित्य खोर घुटने लगी। चकाचक माल उडने लगे। नित्य ही ब्राह्मण-भोज होते। नित्य ही उत्सव मनाये जाते।

इस प्रकार १२ वर्षों मे वहाँ रामराज्य स्थापित करके शत्रुघ्न जी अपने कुछ सेवको को लेकर अयोध्याजी श्रीरामचन्द्रजी के दर्शनो के लिये चल दिये। मार्ग मे वे भगवान् वाल्मीकि मुनि के आश्रम पर ठहरे। वहाँ उन्होने रात्रि मे प्रसाद पाकर जब विश्राम किया, तो उन्हे ताल-स्वर सहित राम-चरित सुनने को मिला। दूर से सुन्दर सगीत-मय रामचरित को सुनकर वे परम विस्मित हुए। भूत की घटनाओ को भविष्य के समान सुनकर उनके रोमाच हो गये। वे बार-बार इस सम्बन्ध मे भगवान् वाल्मीकि से पूछने की सोचते, किन्तु सकोच के कारण उनका साहस न होता। तब तक कुश लव दोनो भाई ११।१२ वर्ष के हो चुके थे। किन्तु मुनि ने

उन्हें शत्रुघ्न से न तो मिलने ही दिया और न सीताजी के सम्बन्ध मे ही कोई चर्चा की।

प्रातःकाल होते ही वे मुनि की आज्ञा लेकर अयोध्या की ओर चल पडे। नगर में पहुँचकर शत्रुघ्नजी ने प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम किया। भरत तथा लक्ष्मण की चरणवन्दना की श्रीराम चन्द्रजी ने उनका सिर सूंघा और कुशल पूछी शत्रुघ्नजी ने सभी वृत्तान्त सुना दिया और अन्त में कहा—"प्रभो! मैंने आपकी आज्ञा का बड़े कष्ट से पालन किया। पापी लवणासुर मर गया। मथुरापुरी समृद्धिशालिनी बन गई सभी प्रजा के लोग प्रसन्न हैं। अब आप मुझे अपने चरण-कमलो से पृथक् न करें मैं तो सदा श्रीचरणो की सन्निधि में ही रहना चाहता हूँ।'

भगवान् ने कहा—"भैया! मुझे भी तुम्हारे बिना अच्छा नही लगता, किन्तु किया क्या जाय। कर्तव्य पालन सबसे श्रेष्ठ धर्म है। तुम्हारा कर्तव्य प्रजा का पालन है। तुम मुझे देखने आये। यह बड़े सौभाग्य की बात है, किन्तु तुम्हें वही जाकर राज्य का भार सम्हालना होगा। बीच-बीच मे मेरे पास आ सकते हो। अब तुम केवल ७ दिन यहाँ रहकर लौट जाओ।"

भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर शत्रुघ्नजी को दुःख हुआ किन्तु वे करते ही क्या? बड़ों की आज्ञा तो माननी ही पड़ती है। वे सात दिन रहकर अपनी माताओं से मिल भेंट कर फिर सात दिन पश्चात् मथुरापुरी में चले गये और वहाँ राज्य करने लगे। कालान्तर में उनके दो पुत्र पैदा हुए जिनका नाम सुबाहु और श्रुतसेन हुआ। इसी प्रकार लक्ष्मणजी के भी दो पुत्र हुए जिनका नाम अङ्गद और चित्रकेतु था। भरतजी के भी तक्ष और पुष्कल नामक दो पुत्र हुए जिन्होने गन्धर्वों को जीतकर पंचनद प्रदेश में राज्य बनाया।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भरतजी ने गंधर्वों को कैसे जीता ? गन्धर्वों ने क्या अन्याय किया था। कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो ! यह कथा बहुत बड़ी है। पुराणों मे इसका विस्तार के साथ वर्णन आया है। यहाँ मै आपको अत्यन्त संक्षेप मे ही सुनाऊँगा आप दत्तचित्त होकर इस परम पावन आख्यान को श्रवण करें।"

छप्पय

जाइ लवण के द्वार शत्रुहन बैठे जबहीं।
करिकें खल आखेट द्वारपै आयो तबहीं॥
दौरयौ लैन त्रिशूल शत्रुहन जान न दीन्हों।
गुत्थम गुत्था भई शत्रु मरमाहित कीन्हों॥
राम दत्त शर तानिकें, मारयो तकि उर शत्रुहन।
मरयौ शत्रु शिव शूल हू, गयो तुरत शिव की शरन॥

भरतजी की गन्धर्वों पर विजय

[६९९]

सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नश्च बभूवतुः।
गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम्।
तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत्॥*

(श्री भाग० ९ स्क० ११ अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

यों लवणासुर मारि करी मथुरा रजधानी।
रहें शत्रुहन तहाँ रामकी आयसु मानी॥
वृद्ध पुराहित भेजि युधाजित भरत बुलाये।
करन विजय गन्धर्व तत्त पुष्कल सँग धाये॥
कोटि पुत्र शैलूश के, अति दुर्मद रनमहँ निपुन।
आये लडिबे भरतहूँ, भिड़े धारि हिय हरिचरन॥

भगवान् का जिनके ऊपर हाथ है उनकी सर्वत्र विजय है वे जहाँ जायंगे वहीं उन्हे लाभ होगा, उनकी पराजय तो कभी हो

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् स कहते हैं—'राजन ! सुबाहु और श्रुतसन ये दो पुत्र शत्रुघ्नजी के हुए। भरतजी ने दिग्विजय करते हुए कराडो गन्धर्वों का युद्ध मे सहार किया और उन्ह परास्त करके तथा उनका धन छीनकर सबका सब लाकर उन्होने महाराज रामचन्द्र जी को अर्पण किया।'

ही नहीं सकती। भगवान् तो अपराजित हैं जब भगवान् की कभी पराजय नही होती तो उनके आश्रितो की पराजय कैसे हो सकती है ? वे तो जहाँ भी जायँगे, विजय करके ही आयेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आपने मुझसे यह पूछा था, कि भरतजी ने गन्धर्वों पर विजय क्यो की ? गन्धर्वों ने उनका क्या अनिष्ट किया था ? अब मै आपके इसी प्रश्न का उत्तर दूँगा, आप इस पुण्य प्रसग को समाहित चित्त से श्रवण करें।

एक दिन अवधकुल मडन जानकी जीवन रघुवश विभूषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजी राजसभा मे सिंहासन पर विराजमान थे। सौ सुवर्ण की डडियो वाला श्वेत छत्र लगा हुआ था। चँवर ढुल रहे थे भरतजी, लक्ष्मणजी तथा शत्रुघ्नजी सेवा मे सलग्न थे, हनुमानजी चरण दबा रहे थे। उसी समय सेवको ने महाराज रामचन्द्रजी का जय जयकार किया और हाथ जोडकर अत्यन्त ही नम्रता के साथ कहने लगे—"प्रभो ! कैकय नरेश महाराज युधाजित जी के राजपुरोहित-भगवान् गर्ग्य आपके यहाँ आये हैं। वे आपके लिये सुन्दर काबुली घोडे, वस्त्र, आभूषण तथा नाना प्रकार के बहुमूल्य उपहार लेकर आ रहे है। वे यहाँ से एक कोश की दूरी पर होगे। हमारे मामा के पुरोहित भगवान् गर्ग्य आ रहे हैं। इतना सुनते ही भगवान तुरन्त उनके स्वागत के लिये समस्त सामग्री लेकर चले। एक कोश आगे पहुँचकर सभी ने मुनिवर गर्ग्य का स्वागत सत्कार किया। उन्हे अत्यन्त ही आदर के साथ श्रीरामचन्द्रजी अपने नगर मे लिवा लाये। मुनि के स्वागत के लिये सम्पूर्ण पुरी सजाई गई थी। सडको पर सुगन्धित जल के छिडकाव कराये गये थे और स्थान-स्थान पर धूप जलाई गई थी।

श्रीरामचन्द्रजी के स्वागत सत्कार से वृद्ध गर्ग्य मुनि अत्यन्त

ही सन्तुष्ट हुए। उन्होंने श्रीरामजी के समस्त परिवार की कुशल पूछी। अपने यहाँ की कुशल बताई, और भरत के मामा ने जो-जो उपहार की वस्तुएँ दी थी, उन्हें श्रीराम को अर्पित किया। श्रीरामचन्द्रजी ने मामा की भेजी हुई, उन सब वस्तुओं को स्वीकार किया और मुनि की पूजा करने के अनन्तर पूछने लगे—'मुनिवर! आपका स्वागत है आप तो ब्राह्मण होने के नाते ही जगत्पूज्य है, फिर मेरे नाना के पूज्य पुरोहित हैं। मामा ने आपको हमारे पास भेजा है, आप हमारे नाना से भी बढ़कर हैं। अब मैं यह जानना चाहता हूँ, कि मामाजी ने आपको किसी विशेष कार्य से भेजा है, या यों ही हमारे समाचार लेने तथा मिलने भेंटने को भेजा है। यदि कोई उनकी हमारे लिये विशेष आज्ञा हो तो बताइये।"

यह सुनकर वृद्ध गर्ग्य अपनी भूरी-भूरी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए गम्भीरता के साथ बोले—"रामभद्र! तुम सब भाइयों को देखे कैकय राजा को बहुत दिन हो गये थे। इधर आपके कोई समाचार भी नहीं मिले थे। इसीलिये कुशल समाचार लेने स्नेह वश तुम्हारे मामा ने मुझे यहाँ भेजा है। एक छोटा सा सन्देश भी है?"

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"हाँ सन्देश ही सुनाइये। मामा ने हमारे लिये क्या सन्देश भेजा है।"

वृद्ध गर्ग्य बोले—"राघव! सिन्धु नदी के इस पार उस पार केकय देश से सटे दो देश है वे बड़े समृद्धिशाली हैं। उनमें फल फूल तथा मेवा प्रचुर मात्रा मे होती है। वहाँ के स्त्री पुरुष हृष्ट पुष्ट निरोग तथा गोरे होते हैं। वे देखने मे स्वस्थ और सुन्दर दिखाई देते हैं। उन देशों का राज्य पहिले क्षत्रिय वंश के राजा ही करते थे। वहाँ के राजघरानों की लड़कियाँ अत्यन्त ही

सुन्दरी होती थी। शैलूप नामक एक गन्धर्व ने आकर अपने बल पुरुषार्थ से उन राजाओं को जीत लिया और उन लडकियों के साथ विवाह भी कर लिया, और गन्धर्वों ने भी मानवीय कन्याओं से विवाह कर लिये। इससे वहाँ एक नई गन्धर्व जाति उत्पन्न हो गई। शैलूप के तीस पुत्रो के अनेक परिवार हैं, उनसे बढते-बढते अब एक करोड हो गये है। गन्धर्व वैसे उपदेव हैं, वे मदराचल की उपत्यकाओं मे तथा स्वर्ग मे रहने वाले है, किन्तु मानवीय ललनाओं से ससर्ग होने के कारण अब वे मत्यलोक में रहने लगे हैं। फिर भी वे अपने को मनुष्यो मे श्रेष्ठ समझते हैं। अपने को देवता बताकर चातुर्वर्ण वालो का तिरस्कार भी करते हैं। वे सबके सब बली, शूरवीर, लडाकू और साहसी हमारे पड़ोसी राजा हैं। हम उन्हे जीतने मे समर्थ नही हैं। यदि आपकी सहायता पावें, तो हम इन अभिमानी गन्धर्वों को जीत लें। इसलिय आपकी सम्मति हो, तो लक्ष्मण को शत्रुघ्न को अथवा भरत को सेना सहित यहाँ भेजकर इन्हे परास्त कर और इन देशो को अपने राज्य मे मिला लें।"

भगवान् ने पूछा—'इन देशो मे कौन-कौन सी वस्तुयें होती हैं?"

वृद्ध पुरोहित बोले—"प्रभो! आपने देखे ही होगे काबुल देश के घोडे बडे सुन्दर हैं। गान्धार (कन्धार) के फल बडे मीठे होते हैं, वहाँ का अनार तो सर्वत्र प्रसिद्ध है। प्यास लगने पर लोग अनार का रस पीते हैं, इसी से वहाँ के लोग हृष्ट-पुष्ट तथा लाल होते हैं। उन देशो को जीतने मे बहुत लाभ हैं। सबसे अधिक बात तो यह है, कि वहाँ के लोग इन गन्धर्वों के अन्याय से मुक्त हो जायंगे।"

वृद्ध पुरोहित की बात सुनकर भगवान् ने कहा—"देखो

भाई, लक्ष्मण ने मेघनाद-वध के समय बडा परिश्रम किया है। शत्रुघ्न ने भी लवणासुर के वध के समय अपना पुरुषार्थ दिखाया है। अभी तक भरत को ऐसा अवसर नही आया। हमारी सम्मति है भरत अपने दोनो सुयोग्य सुतो के साथ गन्धर्वों मे लडने जायँ और मामाजी की सहायता मे उन देशो को जीतकर अपने राज्य मे मिलालें। जीते हुए राज्य को दो भागो मे विभक्त करके एक का राजा तक्ष को बना दे, दूसरे का पुष्कल को। हमारी तो यही सम्मति है, यदि सब पचो की यही सम्मति हो, तो भरतजी को शीघ्र ही यात्रा का प्रबन्ध करना चाहिये।"

भगवान् की बात सुनकर सभी ने एक स्वर स साधु-साधु कहा। अब तो भरतजी की यात्रा की तैयारियाँ होने लगी। हाथी, घोडे, रथ तथा पैदल सवार युद्ध के लिये चलन लगे। चारो ओर कोलाहल होने लगा। मार्ग मे विविध वस्तु बेचन वाले व्यापारी वाहना मे वस्तुएं भर भर कर चलने लगे। हजारो लाखों हाथी घोडे चीखते चिङ्घडाते दौडने लगे। सडक बनाने वालो ने जितनी बडी सडक बनाई थी, वह पर्याप्त न थी, अत खेतो मे रौंदते, वृक्षो को तोडते, मतवाले हाथी चलने लगे। भरतजी के एक पुत्र आगे चल रहे थे, एक मध्य मे और सबसे पीछे भरतजी थे। श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण और शत्रुघ्न के सहित, सेना सहित भरत जी को पहुँचाने पुरी से एक कोश दूर तक आय। उन्होने भरतजी को तथा उनके पुत्रो को सावधानी के साथ युद्ध करन का उपदेश दिया। भाँति-भाँति की राजनीति सिखाई इस प्रकार युद्धोपयोगी सभी बाते बताकर उनका सिर सूंघा प्यार किया और जाने की आज्ञा दी। भरतजी भी पुत्रो सहित प्रभु के पादपद्मो मे प्रणाम करके आगे बढे। श्रीरामचन्द्रजी भाइयो सहित बडी देर तक भरतजी को देखते रहे। भरतजी मुड मुड कर भगवान् के दर्शन

करते जाते थे। जब वे आँखो से ओझल हो गये, तब भगवान् दुखित चित्त से अयोध्यापुरी मे लौट आये और पूर्ववत राज-काज करने लगे।

इधर भरतजी बीच मे अनेक स्थानो मे विश्राम करते हुए कैकय देश मे पहुँच गये। उनके मामा ने जब पुत्रो सहित भरत के आगमन का समाचार सुना तो वे उन्हे आगे लेने गये और अत्यन्त सत्कारपूर्वक उन्हे अपने नगर मे ले आये। भरतजी के स्वागत के लिये सम्पूर्ण नगर सजाया गया था। कैकय देश की स्त्रियो को अपने सौन्दर्य का बडा गर्व था, जब उन्होने भरत जी के सौन्दर्य की प्रशसा सुनी, तो वे सभी काम छोडकर भरतजी के दर्शनो के लिये अपने महलो की छता पर तथा अटा अटारियो मे से भरतजी को देखने लगी। भरतजी की मनमोहनी मूरति को देखकर सबने पलक मारने बन्द कर दिये। वे सबकी सब चित्र लिखित नारियाँ सी प्रतीत होने लगी। कुमारी कन्यायें उनके ऊपर पुष्प तथा खीलो की वर्षा कर रही थी। इस प्रकार सभी नर नारियो ने भरतजी का हृदय से स्वागत किया। भरतजी अपने मामा के घर मे पहुँचे। उनकी मामियो ने आरती उतारी। हँसते हुए सबकी कुशल पूछी और उनका सिर सूँघा। मामियो ने उन्हे बडे प्रेम से पुत्रो सहित भोजन कराया। महाराज के सेवको ने सेना के ठहरने का पहिले से ही समुचित प्रबन्ध कर रखा था इसलिये सैनिको को कोई कष्ट न हुआ उन्हे वहाँ परदेश-सा प्रतीत ही नही हुआ। सभी ऐसा अनुभव करने लगे, मानो हम सब अयोध्या मे ही निवास कर रहे है।

भोजनोपरान्त भरतजी ने सुख-पूर्वक शयन किया। प्रात काल वे सूत मागधो की स्तुति और वीणा पणव की सुमधुर ध्वनि के साथ जागे। नित्यकर्मो से निवृत्त होकर वे ज्यो ही राज सभा मे

आये, त्यों ही बहुत से नगर निवासी उनके दर्शनों को आ गये। भरतजी ने सब का यथोचित सम्मान किया। आस पास के हजारों पर्वतीय राजे उनसे मिलने आये और सभी ने कहा—'आप गन्धर्वों से युद्ध करें, हम आपका साथ देंगे।"

सबकी सम्मति समझकर भरतजी ने एक सभा की। उसमें सभी मुख्य-मुख्य राजाओं तथा बुद्धिमान मन्त्रियों और ब्राह्मणों को बुलाया। उसमें भरतजी ने यही प्रस्ताव रखा कि हमें गन्धर्वों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये।"

इस पर सभी ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सम्मति दी। किसी ने कहा—"उनसे छिप कर युद्ध करना चाहिये, किसी ने कहा—उनसे युद्ध करना ही न चाहिये।" कोई बोले—"जब तक उन्हें भरतजी के आने के अभिप्राय का पता न चले, तभी तक असावधानी की अवस्था में ही उन पर चढ़ाई कर देनी चाहिये।"

इन सबकी बात सुनकर वृद्ध गर्ग्य बोले—'देखो, भाई! मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त असावधान, विरथ, रण से भागते हुए सोते हुए, शस्त्रविहीन तथा, दूसरों के साथ समर में संलग्न एवं सैनिकों के साथ शूरवीर समर नहीं करते। यह छल युद्ध है आर्य लोग ऐसे युद्ध की निन्दा करते हैं। अधर्म से युद्ध करना बहुत निन्दनीय कार्य है।"

वृद्ध गर्ग्य की बात सुनकर भरतजी ने भी कहा—'पूज्य पुरोहित जी सत्य ही कह रहे हैं। कूटयुद्ध करना रघुवंशियों की कीर्ति को कलङ्कित करने वाला है। रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी ने मुझे अधर्म युद्ध सिखाया ही नहीं। रण भूमि में सुसज्जित शत्रु से सम्मुख युद्ध करना यही रघुवंशियों का धर्म है। इसलिये मैं तो उन सावधान करके धर्मानुसार युद्ध करना चाहता हूँ।"

यह सुनकर वृद्ध गर्ग्य बोले—"देखिये रघुनन्दन! युद्ध की

विद्वानो ने प्रशंसा नही की है। साम, दान, भेद और दण्ड चार बातें होती हैं। जब तक शान्ति से काम निकल जाय, तब तक युद्ध न करना चाहिये। यदि कुछ लेकर भी युद्ध टल जाय, तो बुद्धिमान राजा को चाहिये, सैनिको को मन्त्रियो को तथा राजा के अन्य प्रेमी समीपवर्ती सेवको और अनुचरो को कुछ दे लेकर युद्ध को टाल देना चाहिये। यदि इससे भी काम न चले तो राजा के मन्त्रियो मे सैनिको मे ही परस्पर मे फूट डाल दे। या शत्रु को किसी उसके प्रधान शत्रु से भिडा दे अथवा अपने गुप्तचर भेज कर प्रजा को राजा के विरुद्ध भडका दे। इन सब उपायो से काम न चले तब कही जाकर युद्ध की बात सोचनी चाहिये। इसलिये मेरी सम्मति तो यही है, कि गन्धर्वराज शैलूश के समीप प्रथम सन्देश भेजना चाहिये। उनसे कहना चाहिये यह समृद्धशाली देश तुम लोगो के रहने के लिये नही है। यद्यपि तुम्हारी उत्पत्ति उपदेवा स हुई है, फिर भी तुम मानवीय स्त्रियो स पैदा होने के कारण भारतवर्ष मे ही रहोगे। इसलिये हिमालय के प्रान्तो मे तुम लोग जाकर सुख से रहो। गन्धमादन पर्वत के आस-पास अपनी बस्तियाँ बनाओ। इन देशो को छोड दो; यहाँ भरतजी राज्य करेंगे।" यदि इस सन्देश का उन्होने सहर्ष स्वागत किया और वे हिमालय के गधमादन प्रान्त मे चले गये, तब तो युद्ध की आवश्यकता ही न रहेगी। यदि उन्होने इसे स्वीकार न किया, तब तो युद्ध अवश्यम्भावी है ही। फिर हम लोग दोष के भागी न होगे।"

वृद्ध गर्ग्य की बात सुनकर उनकी प्रशसा करते हुए भरतजी बोले—"मुनिवर! आपने बडी ही धर्मयुक्त युक्ति-युक्त सम्मति दी। इसीलिये तो सभाओ मे वृद्धो का सम्मान किया जाता है। वह सभा, सभा ही नही मानी जाती, जिसमे वृद्धपुरुष न हो और वे वृद्ध, वृद्ध ही नही माने जाते जो सभा मे आकर भी लोभ

मोह अथवा सकोच वश सत्य बात को नही कहते। मुनिवर! आपकी सम्मति अति उत्तम है। आप ही इस कार्य के सर्वथा उपयुक्त है। आप ही इस कार्य को भली-भाँति कर सकते हैं। राजदूत जहाँ तक हो, वृद्ध हो, दूरदर्शी हो, अनुभवी हो, चिड़चिड़ा न हो, तनिक सी बात पर उत्तेजित न हो जाता हो। सभ्य हो, कुलीन हो और ओजस्वी हो। आप मे ये सभी गुण विद्यमान् हैं, अत आप आज ही गन्धर्वराज शैलूप के समीप जाइये और जिन उपायो से भी युद्ध रुक सके उन सब उपायों को कीजिये। आप जो भी कर आवगे वह सब मुझे स्वीकार है।"

भरतजी की अनुमति पाकर वृद्ध गर्ग्य गधर्वों के नगर मे गये। गन्धर्वराज शैलूप न जब केकय देश के पुरोहित भगवान् वृद्ध गर्ग्य का आगमन सुना, तो उसने इनका विधिवत् स्वागत सत्कार किया। अर्घ्य, पत्र, पुष्प, फल, मूल तथा पूजा की अन्यान्य सामग्रियो के द्वारा पुरोहित की पूजा करके शैलूप ने उनको कुशल पूछी और आने का कारण जानना चाहा।

पुरोहित गर्ग्य ने अत्यन्त ही सक्षेप मे सभी बातें सुनाईं—"भरत श्रीरामचन्द्रजी के छोटे भाई है। उनके मामा केकय-राज ने उन्हे यहाँ बुलाया है; वे यहाँ अपना राज्य स्थापित करना चाहते है। यह स्थान आप लोगों के योग्य तो है नही। आप लोग न खेती करते हैं न व्यापार। इसलिये आप हिमालय पुण्यप्रान्त में जाकर निवास करें, वह भी पृथ्वी का स्वर्ग ही है। वहाँ गन्धमादन पर्वत के आस-पास आप आनन्द से रहे, विहार करें, क्रीडा करें, सुखो का उपभोग करें। भरत के पुत्र यहाँ राजधानी बनाकर वर्णाश्रमी प्रजा का पालन करेंगे। आप लोगो को भी कोई कष्ट न होगा, प्रजा भी सुख से रहेगी और युद्ध भी न करना पड़ेगा।"

यह सुनकर हंसते हुए शैलूष ने कहा—"ब्रह्मन् ! हमने अपने पुरुषार्थ से इन देशो को जीता है। हम इन देशो के स्वामी है। यहाँ हमारा घर है, हमारी यहाँ पैतृक सम्पत्ति है। हमे यहाँ से निकालने वाले भरत कौन होते है ? हिमालय की उपत्यकाओ मे जाकर वे स्वय ही राज्य स्थापित क्यो नही कर लेते। हम उनसे डरते होते, या युद्ध करना न जानते होत, तो सभव है भाग भी जाते, किन्तु हम तो शूरवीर है। युद्ध करना हमारा काम ही है। भरत को हम तृण की बराबर भी नही समझते। भरत जैसे यहाँ नित्य ३६० आते हैं। आप उनसे कह दे, ऐसा सन्देश फिर कभी मत भेजना। हम युद्ध करने के लिये सर्वथा तैयार हैं। कह देना—'वे अपनी पूरी शक्ति लगाकर हम पर चढाई करे, हम उनके दांत खट्टे कर देंगे।

शैलूष का उत्तर पाकर तथा उसके द्वारा सत्कृत होकर वृद्ध गर्ग्य भरतजी के पास आये और सब बातें सुना कर बोले—"रघुनन्दन ! युद्ध रुक नही सकता। ग धर्व बडे दुर्मद हो रहे है। वे अपने समान ससार मे किसी को शूर वीर समझते ही नही।" आप युद्ध के लिये तैयारी करें, कल प्रात ही गन्धर्वो के नगर पर चढाई कर दें।"

वृद्ध गर्ग्य की बातो का अभिनन्दन करके भरतजी ने सैनिको को तैयार होने की आज्ञा दे दी। अब क्या था, वीरो की बोटी-बोटी फडकने लगी। वे प्रसन्नता के कारण उछलने कूदने लगे, गाने लगे, नाचने लगे, कोई व्यायाम करने लगा, कोई ताल ठोकने लगे, बहुत से घोडो के गद्दो को ठीक करने लगे, बहुत से वाहना को सम्हालने लगे। सराश यह कि सभी प्रसन्नता-पूर्वक युद्ध करने की तैयारियाँ कर रहे थे।

इधर शैलूष के पुत्रो ने जब युद्ध की बातें सुनी, तो वे बडे

प्रसन्न हुए। वे तो युद्ध के लिये उधार खाये बैठे रहते थे। वे सबके सब शूर वीर, बली, लडाकू, योद्धा, पराक्रमी, साहसी तथा अपने को अपराजित मानने वाले थे। वैसे तो वे सभी बली थे, किन्तु उनमे नमुचि, कामपाल, गवेषण, सुदर्शन, वीरबाहु सुबाहु, वायुवेग, सुवर्चस निकुम्भ कुम्भनामा, बलाक बलक, हरिकेश, मदौजा, सूर्यराशी, प्रभङ्कर, वृन्दारक, ज्योतिषिक, दृढस्यु अपराजित, कुमुद कुमुदापीड, वसुनाथ, सुलोचन, चन्द्रपीड, गदी, मौली, किन्नर अजगर, रुह, केशरी, वरवाणभानु आगावाह, रार्य, एकलव्य, विशाल, कलविङ्क, कलाप्रिय, भीम—नाद महानाद वसुकी, पनस, गद, चन्द्रवर्मा, महावर्मा, वसुषेण, तथा अग्रजारक, ये अत्यन्त ही बली थे। जहाँ युद्ध का नगाडा बजा, तहाँ ये सबके सब एकत्रित हो गये और अपने-अपने अस्त्रो को ठीक करके युद्ध के लिये उत्साह दिखाने लगे।

इधर प्रात काल होते ही भरतजी नित्य कर्मों से निवृत्त हुए उन्होन अपने पुत्रो को शीघ्र ही युद्ध के लिये चलने की आज्ञा दी। तक्ष और पुष्कल दोनो ही रण के लिये सुसज्जित होकर चले। उधर से गन्धर्व भी तैयार होकर आये थे। दोनो सेनाये परस्पर मे भिड गयी घुडसवारो का घुडसवारो के साथ, रथियो का रथिया के साथ और पैदलो का पैदला के साथ युद्ध होन लगा। गन्धर्व लडने मे प्रसिद्ध थे वे बडे बली शूरवीर और रणरङ्ग-दुर्मद थे। इधर भरतजी के सैनिक भी कम नही थे। वे सुप्रसिद्ध लडाकू थे। दोनो ही एक दूसरे पक्ष को पराजित करने के निमित्त प्राणोका पण लगाकर भिड गये। उस युद्ध के सम्मुख लङ्का का युद्ध छोटा प्रतीत होता था। विमानो मे चढे देवता भी देखकर चकित रह गये, कि ऐसा युद्ध तो देवासुर-सग्राम के समय भी नहीं हुआ था। रक्त की नदियाँ बहने लगी। उनमे सैनिको के सिर कट-कट

कर कछुओं की भाँति तैरने लगे। वीरों की बाहुएँ सर्पों के समान दिखाई देने लगीं। कटे हुए हाथी तिमिङ्गिलों की भाँति दीखने लगे। सैनियों के सिर के बाल सिवार की भाँति प्रतीत होते थे। योद्धाओं के धड़ ग्राह की भाँति तैर रहे थे। वह युद्ध सात दिनों तक होता रहा, प्रतिदिन भयंकर होता जाता था। वीर सब कुछ भूलकर प्राणों का मोह छोड़कर लड़ रहे थे। दोनों पक्षों में से न तो कोई अपनी पराजय ही मानता था और न युद्ध से भागता ही था। गन्धर्वों के पुरोहित नाडायन ने शैलूष को बहुत समझाया कि भरत साधारण राजा नहीं, वे भगवान् के अंशावतार हैं। साक्षात् परब्रह्म परमात्मा नराकृति में रामरूप से अवनि पर अवतरित हुए हैं, किन्तु शैलूष ने उनकी एक भी बात न मानी। उसने स्पष्ट कह दिया— या तो मैं भरत के हाथों मरकर स्वर्ग जाऊँगा, या भरत को मार कर निष्कण्टक राज्य करूँगा। डर कर रण से विमुख होना तो मैंने सीखा ही नहीं।" उस वीर ने ऐसा ही किया। जो कहा उसे प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। उसकी बहुत सी सेना का संहार हो गया, किन्तु उसने साहस नहीं छोड़ा। सात दिन तक घनघोर युद्ध होता रहा।

भरतजी के भी बहुत से सैनिक काम आये, तब उन्होंने शैलूष से कहा—"गन्धर्वराज! सैनिकों के संहार से क्या लाभ? हमारा तुम्हारा युद्ध हो जाय, या तो तुम मुझे जीत लो, या मैं तुम्हें जीत लूँ।"

शैलूषने कहा—"राजन्! मैं युद्ध से डरने वाला नहीं। रक्त को देखकर मेरा रक्त खौलता है, आप चाहे जैसे मुझसे युद्ध कर लें। अच्छी बात है, हमारा आपका ही युद्ध हो, हमारे तुम्हारे युद्ध से ही जय पराजय का निर्णय हो जाय।" यह सुनकर अकेले भरतजी युद्ध करने के लिये उद्यत हुए।

भरतजी को अकेले युद्ध के लिये उद्यत देखकर उनके समस्त सेनापति उनके समीप आये, और हाथ जोडकर बोले—"प्रभो! आप यह नीति विरुद्ध कार्य क्या कर रहे है। स्वामी तो केवल आज्ञा दिया करते हैं। युद्ध सेवक करते है और उसके फल-भोगी स्वामी होत हैं। सेना-रूपी विशाल वृक्ष की राजा जड है, सेनापति स्कन्ध हैं छोटे सेनापति छोटी डालियाँ हैं और सैनिक फूल पत्ते है। विजय उसका फल है, जड भूमि मे छिपी रहती है, उसे कोई नही देख सकता। भूमि मे छिपी छिपी ही उसके द्वारा समस्त वृक्षका पालन पोषण होता है। स्कन्ध-शाखा तथा फूल पत्तो के कट जाने पर उसमे से दूसरी नई निकल आती हैं और सघन बन जाता है, किन्तु जडके कटने से तो सम्पूर्ण वृक्ष ही नष्ट हो जाता है। आप स्वय युद्ध करने अकेले न जायें हमे आज्ञा द। हम आपके शत्रु शैलूप को उसके पुत्र पौत्र तथा परिवार के पुरुषो के साथ निश्चय ही नष्ट कर देंगे।"

भरतजी ने उन्हे धैय बँधाते हुए कहा—"वीरो! क्षत्रिय युद्ध से कभी डरते नही। सम्मुख शत्रु युद्ध के लिये ललकार रहा हो, तो कौन सा क्षत्राणी के उदर से क्षत्रिय के वीर्य से उत्पन्न हुआ वीर युद्ध से मुख मोड सकता है। मैं शैलूप से अवश्य लडूँगा। तुम सब तटस्थ रह कर तमाशा देखा। देखते चलो क्या होता है। मेरे हृदय मे श्रीराम का रूप विराजमान् है। राम को हृदय मे रखकर जो भी कार्य किया जाय, उसमे सफलता ही सफलता है। आप लोग न तो विजय के होने के सम्बन्ध मे शका ही करें, न मेरे सम्बन्ध मे चिन्ता ही करें। आज मैं शैलूप को निश्चय ही यमपुर पठा दूँगा।"

इस प्रकार भरतजी के बहुत समझाने पर सेनानायको ने उनकी बात मान ली। अब भरतजी और शैलूप का युद्ध होने

लगा। दोनो ही वीर थे, दोनो को ही अपने बल, पराक्रम, युद्ध-कौशल का अभिमान था, दोनो ही दो मत्त हाथियो के समान, दो बडे ककुद्मवाले साडो के समान भिड गये। वह उसके बाण मारता, वह उनके ऊपर शरो की वर्षा करता। वह उस पर प्रहार करता, वह उस पर। एक अग्नि अस्त्र चलाता तो दूसरा वरुणास्त्र छोडकर अग्नि को बुझा देता। इस प्रकार दिव्य-अस्त्रो से वे दोनो लडने लगे। शैलूष के जब सब अस्त्र विफल हो गये, तब उसने अन्त मे अमोघ ब्रह्मास्त्र छोडा, भरतजी ने तुरन्त ही दूसरा ब्रह्मास्त्र छोडकर उसे शान्त कर दिया। अन्त मे एक बाण से उसका सिर धडसे पृथक् कर दिया।

शैलूष के मरते ही सभी गन्धर्व डर गये, वे भरतजी की शरण गये। भरतजी ने उन्हे अभय दान दिया, और कह दिया—'तुम सब अपने स्त्री बाल-बच्चो को लेकर हिमालय पहाड के आस-पास गन्धमादन पर्वत की पुण्य भूमि पर चले जाओ, जहाँ भगवान् नर-नारायण तपस्या करते हैं।"

सूतजी कहते है—'मुनियो! भरतजी की आज्ञा शिरोधार्य करके वे शैलूष गन्धर्व के वशज सब गन्धमादन पर्वत पर जाकर रहने लगे। मुनियो! अभी उनके वशज बद्रीनाथ से आगे मणि-पुर (माणा) नामक ग्राम में निवास करते हैं बहुत से तिब्बत मे रहते हैं।"

जब सब गन्धर्व चले गये तो भरतजी ने सिन्धु नदी के दोनों ओर दो अति सुन्दर नगर बसाये। वे नगर अत्यन्त ही सुन्दर थे। एक का नाम तक्षशिला रखा, जिसमे तक्ष को अभिषिक्त किया। दूसरी गान्धार देश (काबुल कन्धार) मे पुष्कलवती पुरी बसाई जिसके सिंहासन पर पुष्कलजी को बिठाया। इस प्रकार ५ वर्षो मे सम्पूर्ण राज्य की व्यवस्था करके भरतजी पुन अपने

कुछ सैनिकों के साथ अयोध्यापुरी में लौट आये। विजयी भरत का आगमन सुनकर सभी लोग परम प्रसन्न हुए। लक्ष्मणजी तथा शत्रुघ्नजी उन्हें कोश भर पहिले ही लेने आये। भरतजी ने अपने बड़े भाई भगवान् रामचन्द्रजी के पादपद्मों में प्रणाम किया। भगवान् ने भी उठकर उनका दृढ़ आलिंगन किया। सिर सूंघ कर उनकी कुशल पूछी और तक्ष तथा पुष्कल के राजा होने की बात सुनकर प्रसन्नता प्रकट की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसे भरतजी के पुत्र राजा हुए वैसे ही लक्ष्मणजी के भी दोनों पुत्र राजा हो गये?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! लक्ष्मणजी के दो पुत्र कौन थे, वे किस देश के राजा हुए, कृपया इस कथा को भी आप हमें सुना दें।"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! लक्ष्मणजी के पुत्रों का भी वृत्तान्त सुनिये।"

छप्पय

सात दिवस तक युद्ध उभय दल कीयो डटिकै।
लड़े वीर गन्धर्व गये नहिं कोई हटिकै॥
भरत और शैलूष भिड़े लखि सब घबराये।
विजय भरतकी भई शत्रु सुरसदन सिधाये॥
तक्षशिला सुत तक्षकूँ, पुष्कल कूँ पुष्कलवती।
चले सुतनि दै द्वै पुरी, रखि सेना तहँ बलवती॥

लक्ष्मण जी के पुत्रों को राज्य

[७००]

अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ।
तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

भरत अवधमहँ आइ राम चरननि सिर नायो।
बोले प्रभु नहिँ लखन कहूँ को भूप बनायो॥
लछिमन के सुत चन्द्रकेतु अङ्गद नृप होवें।
तब हम है निश्चिन्त नींद फिर सुख की सोवें॥
देश कारुपथ सुघर अति, भूमि उरवरा विपुल जल।
कही भरत सुनि विजय हित, चले लखन सँग विपुल बल॥

जो परिवार का श्रेष्ठ पुरुष होता है, वह परिवार के सभी छो पुरुषों का समान रूप से ध्यान रखता है। मुखिया होकर जो विषम बर्ताव करता है, न्यायाधीश होकर जो भेदभाव करता है, वह श्रेष्ठ नहीं, सर्वमान्य नहीं। जैसे मुख खाता तो अकेला है, किन्तु पालन समस्त अङ्गों प्रत्यङ्गों का करता है इसी प्रकार

* श्री शुकदेव जी कहते कहते हैं—"राजन्! अङ्गद और चित्रकेतु ये दो लक्ष्मण जी के पुत्र हुए और तक्ष, पुष्कल ये दो श्री भरतजी के सुत थे।"—

परिवार का प्रधान लोक दृष्टि मे तो सभी सम्मान का वह स्वतः ही उपभोग करता है, किन्तु वह वास्तव मे अपने लिये कुछ भी नही रखता। सभी परिवार वालो को उचित ढङ्ग से सब,बाँटकर स्वय उससे पृथक रहता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! शत्रुघ्न जी के दोना पुत्र माथुर-मडल तथा शूसेन देशो क राजा हो गय। भरतजी के दोनो पुत्र पञ्चनद और गन्धार देश के राजा हो गय, अब लक्ष्मण के दो पुत्र और रह गये। उनको राजा बनाने की भगवान् को बडी चिन्ता थी।"

एक दिन उन्होने सभा मे कहा—'लक्ष्मण! शत्रुघ्न भरत तो राजा हो गये अब मै तुम्ह और राजा बनाना चाहता हूँ।"

लक्ष्मण जी ने कहा— प्रभो! मेरी यही भीख है, मुझे आप अपने पादपद्मो से पृथक न करें। मैं आपका दास हूँ, अनुचर हूँ, किंकर हूँ, भृत्य हूँ, अनन्य हूँ, मेरे तो आपही गति हैं, आपही मति हैं, मेरा सर्वस्व आपही है, अखिल ब्रह्माण्ड के राज्य को मैं आपके दर्शनो के सम्मुख तृण समान समझता हूँ, मुझे राज्य से क्या काम?'

भगवान् ने बात को बदलते हुए कहा—'नहीं तुममे मेरा अभिप्राय तुम्हारे अङ्गद और चित्रकेतु इन दोनों पुत्रो से है। ये सब आठ भाई हैं, मेरे लिये सब समान ही हैं, इसलिये ये सबके सब राजा बन जायें यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा है।"

लक्ष्मण जी ने कहा—'हाँ, इसके लिये मुझे जो सेवा आप बतावें उसे मैं करूँगा, आपकी आज्ञा पालन करना यही तो हमारा धर्म है।"

भगवान ने कहा—"कोई ऐसा समृद्धिशाली देश खोजो जहाँ

की भूमि उर्वरा हो जल की कमी न हो। जहाँ वर्णाश्रमी लोग रहते हों और जो यहाँ से दूर भी न हो।

यह सुनकर भरतजी ने कहा—"समीप में ही कारुपथ और मल्ल (गोरखपुर के आस-पास) ये दो देश हैं। ये देश देखने में भी रमणीक हैं; इनमें वन भी बहुत हैं, हिमालय की तराई तक फैले हुए हैं। आजकल ये राज्य बिना राजा के पड़े हुए हैं; इन देशों में राजधानियाँ बनाकर लक्ष्मण के दोनों पुत्रों का वहाँ अभिषेक किया जाय। मेरी तो यही सम्मति है।"

भगवान् ने कहा—'यह देख लो, वहाँ राजधानी बनाने से अन्य राजा तो संघर्ष न करेंगे अथवा आश्रमवासी मुनियों को तो कोई कष्ट न होगा।"

भरतजी बोले—'राजाओं से संघर्ष होने की तो कोई बात ही नहीं। आजकल वहाँ कोई राजा है ही नहीं। बिना राजा के प्रजा मनमानी करने लगती है। आश्रम वासियों के कार्यों में हम कोई विघ्न न डालेंगे। उनके वन तो राज्य से पृथक् ही समझे जाते हैं। वनों में वे भजन, पूजन, जप, तप, तथा यज्ञादि पुण्य कार्य करते रहें, हम उनके कार्यों में शक्तिभर सहायता ही देंगे। कुछ स्वार्थी लोग उन देशों पर अपना अधिकार करने को उत्सुक हैं, उन्हें हम घर भगावेंगे।'

भरतजी की बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। सभी को यह बात रुचिकर प्रतीत हुई। दूसरे दिन, बड़ी भारी सेना सजाकर लक्ष्मणजी को उनके पुत्र अङ्गद और चन्द्रकेतु के साथ कारुपथ देश की ओर श्रीरामचन्द्रजी ने विदा किया। स्नेह वश श्रीरामचन्द्रजी नगर के बाहर तक पुत्रों सहित लक्ष्मण जी को विदा करने आये। अन्त में सबका सिर सूँघकर तथा आशीर्वाद देकर भगवान् ने उन्हें विदा किया।

लक्ष्मणजी ने श्रीराम की आज्ञा शिरोधार्य करके सहज में ही उन देशो पर अपना अधिकार जमा लिया। जिन स्वार्थियों ने स्वार्थ वश उनका विरोध किया उनके कार्यों मे विघ्न डाला। उन्हे उचित दंड देकर ठीक किया गया। श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मणजी ने कारुपथ देश मे एक सुन्दर नगरी बनवाई; जिसका नाम अङ्गदीया रखा। वह अत्यन्त ही सुन्दर ढग से बनाई गई थी। उसमे बडे-बडे चौडे राज-पथ थे। विविध वस्तुओ के व्यापारी वहाँ क्रय-विक्रय करते थे। चातुर्वर्ण के लोग उसमे निवास करते थे। उसका किला दृढ और अजेय था। नगर के चारो ओर परिखा थी। उस भरी पूरी समृद्धिशालिनी पुरी में लक्ष्मण पुत्र अङ्गद का राज्याभिषेक किया गया। अङ्गद भी श्रीरामचन्द्रजी के शासन मे रहते हुए उनकी आज्ञा से उन देशो का धर्मपूर्वक पालन करने लगे।

दूसरे पुत्र चन्द्रकेतु के लिये भी मल्ल देश मे एक चन्द्रकान्त नामक नगर बसाया गया। श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से भरतजी ने सम्पूर्ण मल्ल देश को अपने वश मे कर लिया। नगर का निर्माण योग्य शिल्पियो से उन्होने कराया। वह नगर इतना सुन्दर बना, कि दूसरा अवध सा ही प्रतीत होता था। भरतजी ने उस नगरी के राजसिंहासन पर चन्द्रकेतु का विधिवत् राज्याभिषेक किया। चन्द्रकेतु भी श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा मानकर उस देश का पालन करने लगे।

इस प्रकार लक्ष्मणजी और भरतजी एक-एक वर्ष तक इन नई राजधानियों के प्रबन्ध में वहाँ रहे। जब दोनों ने देखा राज्य शासन ढंग से चलने लगा। राज्य में कोई विरोधी शक्ति शेष नही रही। सभी ने श्रीरामचन्द्रजी का शासन स्वीकार कर लिया, तो वे दोनों अङ्गद और चन्द्रकेतु को भाँति-भाँति की राज-

नीति की शिक्षा देकर अयवपुरी में श्री रामचन्द्रजी के समीप लौट आये। श्री रामचन्द्र जी के वियोग में ये दिन लक्ष्मणजी तथा भरत जी के बड़े ही कष्ट से बीते। लक्ष्मण जी ने विनय की—"प्रभो! मुझे कभी भी पद पद्मों से पृथक् न किया जाय।" श्री रामचन्द्र जी ने अपने दोनों विजयी बन्धुओं का सिर सूंघा और अत्यन्त प्यार के साथ कहा—"भैया! मैं कब चाहता हूँ, तुम मुझसे पल भर भी पृथक् हो; किन्तु यह कर्तव्य इतना कठोर कार्य है; कि इच्छा न रहने पर भी बहुत से कार्य करने पड़ते हैं।

इस प्रकार श्री रामचन्द्रजी का प्रेम पाकर भरत जी तथा लक्ष्मण जी आनन्द पूर्वक अयोध्या में निवास करने लगे। श्री रामचन्द्र जी के चरणों में दृढ़ अनुराग होने के कारण उन्हें समय का बीतना प्रतीत ही नहीं होता था।

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! आपने भरतजी के पुत्र तक्ष और पुष्कल, लक्ष्मण जी के पुत्र अंगद और चित्रकेतु तथा शत्रुघ्न जी के पुत्र सुबाहु और श्रुतसेन इन सब का तो वृतान्त बताया, किन्तु श्री रामचन्द्र जी के जो दो पुत्र लव और कुश जो भगवान् वाल्मीकि के आश्रम में हुए, उनका क्या हुआ। वे राजा हुए या नहीं? श्री रामचन्द्र जी ने उन्हें स्वीकार किया या नहीं? सीताजी को पुनः बुलाया या नहीं? इन सब बातों को कृपा करके हमें और सुनाइये।"

इस बात को सुनकर सूतजी के नेत्रों में जल भर आया। वे बोले—"मुनियो! कथा कहने का कार्य बड़ा ही क्रूर है। कहने वाले की अपेक्षा लिखने वाले लेखक का हृदय तो पाषाण से भी कठोर होता होगा, जो इन करुण प्रसंगों को लोह की लेखनी से निर्भय होकर लिखता जाता है। आपने मुझसे अत्यन्त ही कारुणिक प्रश्न कर डाले, उनका जितना उत्तर दे सकूंगा दूंगा।

आप अपने हृदय को हाथ से थाम कर इस रोमाच कारी वृत्ता
को सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

पुरी कारुपथमोहिँ अङ्गदीया रचवाई।
अङ्गद राजा करे प्रजा सुनि अति हरषाई॥
चन्द्रकेतु हित चन्द्रकान्त शुभ पुर बनवायो।
लखन तनय नृप भये हृदय हरि को भरि आयो॥
सब बन्धुनि के पुत्र नृप, भये सुनो अब सिय कथा।
अति करुनामय अति दुखद, सुनत होहिँ हियमहँ व्यथा॥

०००, इसके आगे की कथा अगले अक मे पढिये ! ०००

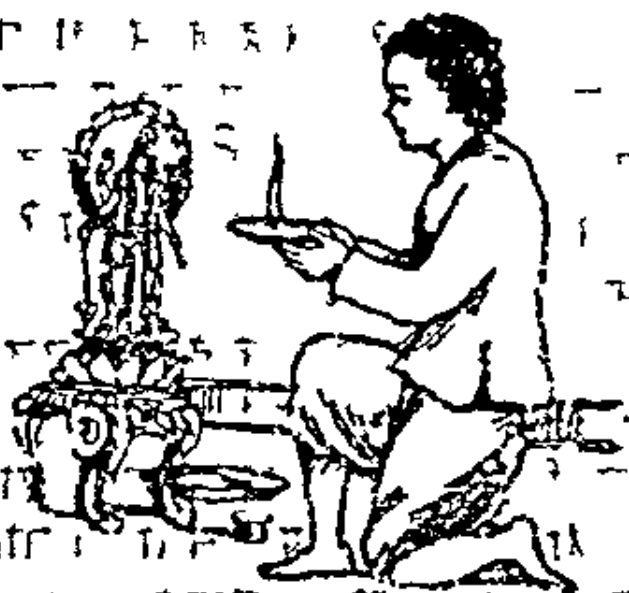

॥ श्री हरि ॥

सकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) मे प्रकाशित

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित

पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

हिन्दुत्व की रक्षा के निमित्त प्रत्येक हिन्दु के लिये
नित्य अवश्य पालनीय चार नियम

१. शिखाधारण—प्रत्येक हिन्दु को सिर पर शिखा अवश्य रखनी चाहिये।

२. प्रात स्मरण—प्रात काल उठकर अपनी निष्ठा के अनुसार भगवान् के किन्हीं नामो का स्मरण अवश्य करना चाहिये।

३. देवदर्शन—नित्य नियम से आस-पास के किसी देवालय या मन्दिर मे—दिन मे एक बार—किसी भी समय देवता को प्रणाम अवश्य करना चाहिये।

४. धर्मग्रन्थ पाठ—किसी भी धार्मिक ग्रथ का एक श्लोक अथवा एक छद ही नित्य नियम से पाठ अवश्य करें अथवा सुने ही।

इससे अधिक जितना भी धार्मिक कृत्य करें, उतना ही उत्तम है।

"अधिकस्याधिकंफलम्"

१. भागवती कथा (१०८ खडो में)—अब तक ७० खण्ड छप चुके हैं। प्रत्येक खड की न्योछावर १ रु० ६५ पैसे।

श्रीमद्भागवत को उपलक्ष्य बनाकर इसमें अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रों का सार सरल, सुगम, सरस भाषा मे वर्णित हैं। पढते-पढते आपकी तृप्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा अपने आप ही पढने लगेंगे। सर्वथा औपन्यासिक शैली मे लिखी है, भाषा इतनी सरल ओज पूर्ण है कि थोडे पढे बालक मातायें तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। अध्याय के आरम्भ मे एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छप्पय, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका। तदनन्तर प्रतिपादित विषय, दृष्टान्त और सरल कथाओ तथा कथोपकथन के रूप मे वर्णित है, अन्त मे एक छप्पय देकर अध्याय की समाप्ति की है। प्रत्येक खड मे १५-२० अध्याय होते हैं, लगभग २५० पृष्ठो का एक खड होता है। प्रत्येक खड का मूल्य १) रुपया ६५ पैसे। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत सी जिला परिषदो के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है। ६८ खडों म तो श्रीमद्भागवत के आधार पर विवेचन है ६९ वें खड से गीतावार्ता नाम से श्रीमद्भगवत्-गीता का विवेचन हो रहा है। २०) भेजकर स्थायी ग्राहक बनें। वर्ष के १२ खड आपको घर बैठे रजिष्ट्री से मिल जाया करेंगे।

६० खडा मे तो कथा भाग समाप्त हो गया है। शेष खडो में से प्रत्येक में किसी एक विषय का विवेचन होता है। सभी खड प्रायः स्वतन्त्र हैं। विद्वानो नेताओ तथा प्रतिष्ठित पुरुषो ने इसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है। हमारा बडा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर बहुत से विद्वानो की सम्मतियाँ पढें। यह ग्रन्थ किसी का अक्षरश अनुवाद नही स्वतन्त्र विवेचन है। हम यहाँ ७० वें खड पर केवल एक सम्मति राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ के सर सघचालक श्री गुरुजी की ही देते हैं—

पता—सकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक
परम पूज्य श्री माधव सदाशिव गोलवलकर
(श्री गुरुजी)
की

भागवती कथा

पर

शुभ-सम्मति

लगभग एक वर्ष पूर्व की बात है। श्री बदरीनारायण क्षेत्र में श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज ने सकीर्तन भवन का निर्माण कराया था और उसका उद्घाटन मैंने ही करना चाहिए ऐसी उनकी इच्छा थी। श्री महाराज जी की इच्छा को आदेश मानकर मैंने श्री बदरीनाथ की यात्रा करने का निश्चय किया। सोचा कि वर्षों की उत्कट इच्छा पूर्ण करने के लिए परम कृपालु श्री बदरीनाथ ने ही यह संयोग बनवाया और अपने अन्तरग भक्त श्री ब्रह्मचारी जी महाराज को मुझे भवन के उद्घाटन करने के हेतु निमन्त्रित करने की प्रेरणा दी होगी। इस कार्यक्रम का निमित्त बनाकर मुझपर श्री भगवान् ने दया कर मुझे अपने पास खींचकर ले जाने का मेरे लिए भाग्य का सुयोग प्राप्त कर दिया। अकारण करुणा करने का यह पवित्र खेल, खेल कर मुझ पर अपना वरदहस्त मानो रख दिया।

श्री महाराज जी की सन्निधि में यात्रा करने के आनन्द का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। श्री बदरीनाथ पहुँच कर पांच रात्रि वहाँ भगवद्चरणो मे रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ। और श्री महाराज जी के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत के कुछ अंश का विवरण सुनने का असीम सुख प्राप्त कर सका। भगवान् श्रीकृष्ण जी के मथुरा चले जाने के कारण शोक विह्वल गोप गोपियों और विशेष कर नन्द बाबा और यशोदा मैया की भाव विभोर अवस्था का उनके द्वारा किया हुआ वर्णन पत्थर को पिघला सकने वाला करुण रस का उत्कट

आविष्कार था। उनको सात्वना देने के लिए श्री भगवान् के द्वारा प्रेषित उद्धव जी के आगमन पर गोप, गोपी, यशोदा माई, आदि की स्थिति, उनकी भावनाएँ, उनका उद्धव जी के साथ हुआ सभाषण श्री ब्रह्मचारी जी के श्री मुख मे सुनते-सुनते मन एक सुखद वेदना का अनुभव कर द्रवित हो जाता था। इस अनुभव का वर्णन किस प्रकार करूँ ?

यह मगल अनुभव सब लोगों को प्राप्त होना कितना अच्छा होगा ऐसा विचार मन मे उठता रहा, और इसका समाधान भी प्राप्त हुआ है। पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी ने अपनी मधुर भावनी भाषा मे श्री मद् भागवत को सरल हिन्दी मे प्रसिद्ध करने का सकल्प किया था और उसके अनेक खड प्रकाशित भी हो चुके थे इसका पुन स्मरण हुआ जब श्रद्धेय श्री महाराज जी का कृपा पत्र मुझे प्राप्त हुआ कि श्री मद्भागवती कथा लेखन का कार्य जो बीच मे रुक-सा गया था, उन्होंने फिर करना प्रारम्भ कर दिया है और अब ७० वाँ खण्ड छप रहा है। श्री महाराज जी ने उसकी प्रस्तावना के रूप मे मुझे कुछ लिखने का आदेश दिया। मुझे मेरी अयोग्यता का कुछ ज्ञान तो अवश्य है। अतः मैं निश्चय नही कर सका कि मुझे क्या करना उचित होगा। किन्तु श्री महाराज जी का आग्रहपूर्ण और एक पत्र आने पर यह धृष्टता करने बैठा हूँ।

इसमे मेरा एक ही काम है। सब बन्धुओ स माताओ से मैं नम्रता पूर्वक प्रार्थना करता हू कि श्री ब्रह्मचारी जी की यह "श्रीमद्भागवती कथा" अपन पास रखें, उसका अध्ययन मनन करें। मूल श्री भागवत महापुराण समझना सबक लिए सभव नही है। पडितो की विद्वता की "भागवते परीक्षा" होती है, यानी जो श्रीमद्भागवत रहस्य समझ सके वही विद्वान्, वही पडित कहलाने योग्य माना जा सकता है, ऐसा परम्परा से अपने यहाँ विश्वास है। श्रीमभद्भागवत की रहस्य की गूढता इससे अभिव्यक्त होती है। जहाँ पडितो की बुद्धि कुठित होती है वहाँ सामान्य श्रद्धालु वाचक की क्या स्थिति होगी यह समझना सरल है। फिर आज कल देववाणी सस्कृत के अध्ययन की उपेक्षा होने के कारण और भी

कठिनाई उत्पन्न हुई है। ऐसे सब बन्धु क्या श्रीमद्भागवत को समझने से वंचित ही रहे? यह होना उचित नहीं। श्रीमद्भागवत तो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के परिपाक पर उत्पन्न होने वाली अद्वैत भक्ति का आधार है। श्री भगवान् की वह शब्दवपु ही है। उसके ज्ञान से वंचित रहने के समान मनुष्य का अन्य दुर्भाग्य हो नही सकता। इस दुर्भाग्य से रक्षण कर सर्वमान्य मनुष्य को श्रीमद्भागवत का रहस्य सुगम भाषा मे बनाना, श्रीमद्भागवत मे अभिव्यक्त ज्ञान भगवत्स्वरूप तथा विशुद्ध पराभक्ति का बोध सब को अपनी बोली के माध्यम से प्राप्त कर देना आवश्यक है। और यह केवल सूक्ष्म भाषानुवाद के रूप मे न होकर उत्कट भक्ति भाव से होना आवश्यक है।

श्री ब्रह्मचारी जी भगवद् भक्ति म नित्य लीन रहते हैं। अतः उनके मुख से निकलने वाली सहजवाणी विशुद्ध भक्ति के मधुर रस से आर्द्र रहती है। ऐसी मृदु मधुर सरस भाषा मे श्रीमद्भागवत महा पुराण रहस्य सबको अवगत करा देने के लिए वे कृत सकल्प हैं। अष्टोत्तरशत खण्डों में ग्रन्थ पूर्ण करने की उनकी योजना है। उसमे से यह ७० वाँ खड है। शीघ्र ही शेष खंड भी प्रकाशित होंगे और सामान्य सीधे-साधे भोले किन्तु भक्ति की चाह रखने वाले असख्य श्रद्धालु बन्धुओं की अभिलाषा पूर्ण होगी ऐसा मुझे विश्वास है।

परम मंगल अकारण करुणामय दया घन श्री भगवान् की असीम कृपा से उनकी साक्षात् मूर्ति ही श्रीभगवती कथा के शब्द देह को धारण कर प्रकट हो और ससार तप्त जन को शांति प्रदान करे इस हेतु उनके चरण कमलों में मैं विनम्र प्रार्थना करता हूँ।

केवल प्रस्ताविक के नाते अधिक लिखना मेरे लिए अशोभनीय होगा। वस्तुतः मेरा यह लिखना भी सामान्य छोटे से दीपक से सहस्र राशि सूर्य नारायण को प्रकाशित करने की चेष्टा के समान हास्यास्पद है। श्री महाराज जी की आज्ञा का पालन करना इसी एक उद्देश्य से यह धृष्टता की है जिसके लिए सब श्रेष्ठ भक्त वाचक वृन्द से क्षमा-याचना करता हूँ।

—मा० स० गोलवकर

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

२ भागवत चरित सप्ताह (पद्यो मे)—यह भागवत का सप्ता है। छप्पय छन्दों मे लिखा है। सैकडो सादे चित्र ५-६ बहुरगे चित्र कपडे की सुन्दर जिल्द है, लगभग हजार पृष्ठो की पुस्तक का मूल्य ६ रु ५० पैसे, पाँच सस्करणो मे अब तक २३ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालयो के लिये स्वीकृत है।

३ भागवत चरित (सटीक दो भागो मे)—अनुवादक—प रामानुज पाडेय, बी० ए० विशारद भागवत चरित व्यास भागव चरित की सरल हिन्दी म सुन्दर टीका है प्रथम खड छप चुका है। जिस १२२५ पृष्ठ हैं मूल्य ८ रुपया। द्वितीय खड शीघ्र ही छपने वाला है।

४ बद्रीनाथ दर्शन—श्रीबद्रीनाथ यात्रा पर यह बडा ही खाजपूर ग्रन्थ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातो का तथा समस उत्तराखड के तीर्थों का इसम वर्णन है। लगभग सवाचार सौ पृष्ठो व सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपया। भारत सरकार द्वार अहिन्दी प्रान्तो के लिये स्वीकृत है।

५ महात्मा कर्ण—महाभारत क प्राण महात्मा कर्ण का यह अत्यन्त ही रोचक शिक्षाप्रद तथा आलोचनात्मक जीवन चरित्र है। ३५६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ३ रु० ४५ पैसे।

६ मतवाली मीरा—मीराबाइ के दिव्य जीवन की सजीव झाँकी तथा उनके पदो की रोचक भाषा म व्याख्या। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २ रु० ५० पैसे है। यह इसका छठा सस्करण है।

७ नाम सकीर्तन महिमा—नाम सकीतन के ऊपर जितनी भी शकायें उठ सकती हैं उनका शास्त्रीय ढङ्ग से युक्तियुक्त विवेचन है। मूल्य ६० पैसे।

८ श्रीशुक (नाटक)—श्रीशुकदेव मुनि क जीवन की दिव्य झाँकी। पृष्ठ स० १०० मूल्य ६५ पैस

९ भागवती कथा की बानगी—भागवती कथा के खडो के कुछ अध्याय बानगी के रूप म इसम दिय गये हैं। इसे पढकर आप भागवती कथा की शैली समझ सकेंगे। पृष्ठ १०० मू० ३१ पैस।

१० शोक शान्ति—अपने प्रिय स्वजनो के परलोक प्रयाण पर सान्त्वना देने वाला मार्मिक पत्र। शोक सतप्तो को सजीवनी बूटी है। पृष्ठ ६४, मूल्य ३१ पैस। पचम सस्करण।

११ मेरे महामना मालवीयजी—महामना मालवीयजी के सुख

सस्मरण १३५ पृष्ठ की छोटी पुस्तक, मूल्य ३१ पैसे।

१२. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु पुनः हिन्दु बन सकते हैं, इस प्रश्न का शास्त्रीय ढङ्ग म प्रमाणों सहित विवेचन बडी ही मार्मिक भाषा मे किया गया है वर्तमान समय में जब विधर्मी अपनी सख्या बढा रहे हैं यह पुस्तक बडी उपयोगी है। पृष्ठ ७६ मूल्य ३१ पैसे।

१३. प्रयाग माहात्म्य—तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य पर ३२ पृष्ठ की छोटी सी पुस्तक मूल्य २० पैसे।

१४. वृन्दावन माहात्म्य—श्रीवृन्दावन के माहात्म्य पर लघु पुस्तिका। मूल्य १२ पैसे।

१५. राघवेन्द्र चरित (छप्पय छन्दो म)—श्रीरामचन्द्र जी की कथा के ९ अध्याय भागवत चरित से पृथक् छापे हैं। रामभक्तों को नित्य पाठ के लिय बडी उपयोगी है। पृष्ठस० १६०। मूल्य ४० पैसे।

१६ प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि इसमें श्लोको सहित बताई है। श्लोकों का भाव दोहाओं में भी वर्णित है। मूल्य २५ पैसे।

१७. चैतन्य चरितावली—महाप्रभु चैतन्यदेव की जीवनी। प्रथम खण्ड का मूल्य १ रु० ६० पैसे। अन्य खण्ड भी छपने वाले हैं।

१८. भागवत चरित की बानगी—इससे भागवत चरित के पद्यो की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसे।

१९ गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दो मे) दोनो स्तोत्र हैं। मूल स्तोत्र भी दिये हैं। मूल्य २० पैसे।

२० श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरित से यह पद्यो में श्रीकृष्ण चरित पृथक् छापा गया है। पृष्ठ २०४ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

२१. गोपालन शिक्षा—गौ कैसे पालनी चाहिये। गौओ की कितनी जाति हैं, गौओ को कैसा आहार देना चाहिये। बीमार होने पर कैसे चिकित्सा की जाय। कौन कौन देशी दवाएँ दी जाय, इन सब बातों का इसमे विशद वर्णन है। पृष्ठ २०४ मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२२. मुक्तिनाथ दर्शन—नेपाल मे सुप्रसिद्ध मुक्तिनाथ तीर्थ है। यात्रा का बहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन है। नेपाल राज्य तथा नेपाल के समस्त तीर्थों का इसमे विपद वर्णन है, मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२३. आलवन्दार स्तोत्र मूल तथा छप्पय छन्दो मे अनूदित—

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के महामुनीन्द्र श्रीमत् यामुनाचार्य कृत यह स
सर्वमान्य तथा बहुत प्रसिद्ध है।

२४ रास पचाध्यायी—भागवत चरित से रास पचाध्यायी
छापी गयी है। बिना मूल्य वितरित की जाती है।

२५ गोपी गीत—श्रीमद्भागवत के गोपी गीत का उसी छ
ब्रजभाषा अनुवाद है। वह भी बिना मूल्य वितरित है।

२६ श्रीप्रभु पदावली—श्रीब्रह्मचारीजी के स्फुट पदो का सु
सग्रह है। पृष्ठ सख्या १२२ अमूल्य।

२७ परमसाहसी बालक ध्रुव—१०० पृष्ठकी पुस्तक मू० ९० पै

२८ सार्थ छप्पय गीता—गीता के श्लोक एक ओर मूल
अर्थ सहित छाप हैं। उनके सामने अर्थ की छप्पय हैं। सचित्र पु
का मूल्य ३ रु० है।

२९. हनुमत् शतक—नित्य पाठ करने योग्य यह पुस्तक बहुत
सुन्दर है। इसम १०८ छप्पय हैं, सुन्दर हनुमान जी का एक बहु
तथा २१ सादे चित्र हैं। मूल्य ५० पैसे।

३०. महावीर हनुमान्—श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने श्रीहनु
जी का यह विस्तृत जीवन चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, इ
२१ अध्याय है। पृष्ठ सख्या २०६ मूल्य २) ५० पैसे।

३१ भक्त चरितावली (दो भागो मे) - यदि आप चाहते हैं
हम भी प्रभु के भक्तो की गाथा पढकर, भक्ति म आत्मविभोर होकर,
की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त चरिताव
के दोनो भाग मँगाकर पढें। भक्त चरितावली भाग (१) पृष्ठ ४
मूल्य ४) रु०। भाग (२) पृष्ठ ३०३ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

३२, छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय—श्री भर्तृहरि के नीति, शृग
और वैराग्य तीनों शतको का छप्पय छन्दो म भावानुवाद। पुस्तक व
ओजस्वी कविता म है। (प्रेस म)।

३३ श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दा
श्लोक सहित भाष्य ही पूजा पद्धति भी सदोप म दी गई है। अभी छ
है। पृष्ठ सख्या ७८ पैसे।

३४. छप्पय विष्णु सहस्र नाम तथा दोहा—भाष्य सहित सहस्र
नामों के सहस्र दोहे। शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज (प्रयाग)

जानकी की पवित्रता के लिये वाल्मीक जी की शपथ

जानकी की पवित्रता के लिये वाल्मीक जी की शपथ

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(इकतीसवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'।

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●

तृतीय संस्करण १००० } आश्विन सं० २०२७ { मूल्य : [illegible]

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

विषय-सूची

इकतीसवाँ खण्ड

विषय		पृष्ठाङ्क
१. जगज्जननी जानकीजी का भू-प्रवेश	...	१
२. सीताजी के लिये भगवान् का शोक	...	४९
३. प्रभुलीला संवरण की प्रस्तावना	...	६०
४. लक्ष्मणजी का श्रीराम द्वारा परित्याग	...	७२
५. भगवान् का परमधाम गमन	...	८१
६. भगवान् के साथ अन्य सभी जीवों की परम गति		९०
७. सुखान्त रामचरित	...	९५
८. रामचरित-माहात्म्य	...	१०७
९. इक्ष्वाकु-वंश के शेष राजा	—	११९
१०. निमि-वंश वर्णन	..	१३२
११. आदि विदेह महाराज जनक	...	१३९
१२. सीतापिता महाराज सीरध्वज	....	१४६
१३. महाराज धर्मध्वज और योगिनी सुलभा	..	१५९
१४. महाराज केशिध्वज और खाण्डिक्य	...	१७४
१५. केशिध्वज द्वारा खाण्डिक्य को ज्ञानदान	...	१८४
१६. जनक वंशीय शेष राजा	...	१९५
१७. महाराज दण्डक की कथा	...	२१८

—०—

जगज्जननी जानकी जी का भू प्रवेश

[७०१]

मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता ।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेशह ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

अश्वमेघ को अश्व पकरि लव कुश ने लीन्हों ।
नहिँ छोड़्यो नहिँ डरे समर डटि के तिन कीन्हों ॥
पुनि मुनि सँग मख गये राम की कथा सुनाई ।
जानि तनय निज राम जनक तनया बुलवाई ॥
सब्भी सिकुड़ी लाजतें, मुनि पाछे श्रुति सरिस सिय ।
जनु करुणा सँग शान्तरस, चलहिँ रामपद धारि हिय ॥

हे भगवन् ! तुमने संसार में प्रेम की सृष्टि क्यों की । यदि प्रेम के बिना तुम्हारा काम नहीं चलता था, तो फिर व्यर्थ में वियोग का विष, बीच में क्यों बो दिया । वियोग आवश्यक ही था, तो फिर संयोग क्यों कराया, जीने की इच्छा क्यों रहने दी । ये सब ही आवश्यक थे, तो फिर लोकलाज, मर्यादा, कर्तव्य-परायणता आदि के पचड़े क्यों उपस्थित किये । प्रेमी को पग-

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पति से निर्वासिता सीता अपने दोनों पुत्रों को भगवान् वाल्मीकि जी को सौंपकर श्री रामचन्द्रजी के युगलचरणों का ध्यान करती हुई पृथ्वी के विवर में समा गईं ।

पग पर इनके द्वारा पिसना पड़ता है। प्रेम ऐसा राजयोग है, कि वह जीवन भर छूटता नहीं, नेह का नाता टूटता नहीं, प्राण निकलते नहीं घुट-घुट कर मरना पड़ता है। तड़प-तड़प कर जीवन बिताना पड़ता है, मान अपमान लोकापवाद सभी कुछ प्रेमास्पद की प्रसन्नता के लिये सहन करने पड़ते हैं। छुई-मुई से सुकुमार हृदय मे जब अपना ही प्रेमास्पद पाषाणों से निर्दयता पूर्वक प्रहार करता है, तो हाय! उन्हे भी सहना पड़ता है। दैवकी कैसी विडम्बना है। कैसा यह कंटकाकीर्ण पथ है, कैसी इसकी वक्र गति है कैसी प्रेम की अटपटी चाल है। रोने मे भी सुख और हँसने मे भी उल्लास है। इसमे दुःख होता है या सुख कुछ कह नहीं सकते। सुख होता तो सब आँसू क्यों बहाते, निरन्तर रोते क्यो रहते। दुख होता, तो सभी करुण प्रसगो को इतने उल्लास से बार-बार क्यो सुनते। कवि इसी का बार-बार वर्णन क्यो करते। अतः कह नहीं सकते प्रेमजन्य विरह मे सुख होता है या दुःख।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् वाल्मीकि के आश्रम में कुश लव का जन्म हुआ। मुनि ने शास्त्रीय विधि से उनके सब सस्कार किये। वे अश्विनी कुमारो के समान सुन्दर थे शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान सभी आश्रमवासियो को सुख पहुँचाते हुए प्रतिदिन बढ़ने लगे। महामुनि वाल्मीकि ने उन्हे समस्त धनुर्वेद पढ़ा दिया। समस्त दिव्यास्त्रो का प्रयोग उपसहार आदि उन्हें विधिवत सिखा दिया। उन्हें दिव्य धनुष, अक्षय तूणीर, ढाल तलवार तथा कवच मुनि ने दिये। जिस समय कवच पहिन कर, ढाल तलवार बाँधकर धनुषबाण धारण करके पीठ पीछे तूणीरों को लटका कर दोनों भाई साथ-साथ चलते, तो ऐसे प्रतीत होते मानों वीररस ने ही दो रूप धारण कर लिये हो। सीताजी उन्हें

देखती तो उन्हें भ्रम हो जाता मानों साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी ही आ रहे हों। दोनों बच्चों को देखते ही माँ को धनुषयज्ञ की याद आ जाती। धनुष भंग के समय श्रीराम भी ऐसे ही थे। ऐसी ही उनकी उठन-बैठन बोल चाल और चितवन थी। दोनों बच्चे आकर माता से लिपट जाते और बड़े प्यार से माँ कह कर पुकारते। तब सीताजी का हृदय भर आता और वे उनके मुख को चूम लेतीं। बच्चे पूछते—"माँ! हमारे पिता कौन हैं?"

जानकी आँखों में आँसू भर कर कहतीं—"बेटा! तुम्हारे माता-पिता दोनों ही भगवान वाल्मीकि हैं। मैं तो तुम लोगों की धाय हूँ। दयालु मुनि ने मुझे भोजन पर तुम लोगों के लालन-पालन के लिये रख लिया है।"

बच्चे कहते—"नहीं माँ! तुम झूठ बोलती हो। तुम ही हमारी प्यारी माँ हो। तुम ही हमारी सच्ची जननी हो। किन्तु माँ! अमुक ऋषिकुमार कहते थे—"तुम्हारे पिता बड़े निर्दयी हैं, उन्होंने तुम्हारी माँ को घर से निकाल दिया है? क्या हमारे पिता यथार्थ में निर्दयी हैं, क्या उन्होंने यथार्थ में तुम्हें घर से निकाल दिया है?"

यह सुन कर माता के धैर्य का बाँध टूटा जाता, किन्तु अपने को सम्हाल कर कहतीं—"ना बेटा ऐसे नहीं कहते हैं। तुम्हारे पिता निर्दयी नहीं हैं। वे मनुष्य तो हैं नहीं। वे तो देवता हैं। कभी तुम पर दया करेंगे।"

फिर बच्चे पूछते हैं—"माँ! तू पिताजी की चर्चा करते ही दुखी हो जाती है, रोने लगती है, तुझे कोई मानसिक पीड़ा होती है, अतः हम तुमसे कभी भी पिताजी के सम्बन्ध में न पूछा करेंगे।"

इस प्रकार बच्चे अत्यन्त ही लाड़ चाव से बढ़ने लगे।

जानकीजी उन दोनों सुंदर सुकुमार, तेजस्वी पराक्रमी बालकों को क्षत्रिय वेष में निहार कर प्रसन्न रहतीं, किन्तु उनके मनमें तो सदा श्रीरामचन्द्रजी की मन मोहनी मूर्ति नृत्य करती रहती। वे सदा उन्हीं की चिन्ता में निमग्न बनी रहतीं।"

इधर श्रीरामचन्द्रजी सीताजी के विरह में दुखी हुए, यज्ञ याग करके काल यापन करने लगे। मुनियों की आज्ञा से भगवान् ने बहुत से अश्वमेध यज्ञ किये थे। शत्रुघ्नजी ने लवणासुर को मार कर जब मथुरा में अपनी राजधानी बना ली। इसके उपरान्त भगवान की इच्छा राजसूय यज्ञ करने की हुई। उन्होंने अपनी इच्छा सभा में समस्त सभासद तथा छोटे भाइयों के सम्मुख प्रकट की। इसे सुनकर हाथ जोड कर भरतजी बोले—"प्रभो! आप हमारे स्वामी हैं, हम आपके आज्ञाकारी अनुचर हैं, आप जो आज्ञा देंगे उसका पालन तो हमें करना ही है, किन्तु मेरी क्षुद्र बुद्धि में राजसूय जैसा अति हिंसात्मक यज्ञ आप को न करना चाहिये। सब राजाओं को मार काट अथवा अधीन करके तभी राजसूय यज्ञ किया जाता है। राजा तो सब प्रेम से ही आपके वश में है। फिर क्यों अकारण युद्ध किया जाय। राजसूय का नाम सुनते ही मानो राजा चिढ जाते हैं, वे सोचते हैं—"हमारे सम्मुख अमुक राजा सम्राट कैसे बने। आप तो बिना राजसूय के ही सबके हृदय सम्राट हैं, फिर राजाओं को भडकाना उचित नहीं। और भी तो बहुत से पुण्य प्रद यज्ञ याग हैं।"

यह सुनकर भरत जी की बडाई करते हुए श्री रामचन्द्रजी बोले—"भरत! तुम बडे ही बुद्धिमान तथा मेरे परम प्रिय हो। तुम्हारा कहना यथार्थ है। अच्छी बात है, मैं तुम्हारे कहने से राजसूय का विचार छोडता हूँ। क्योंकि उचित बात बालक भी कहे, तो उसे मान लेना चाहिये। किन्तु अश्वमेध यज्ञ में तो कोई

दोष नहीं। इससे तो बडे २ पापों से मनुष्य छूट जाते हैं। ब्रह्महत्या लगने पर इन्द्र भी अश्वमेध करके पाप से विमुक्त हो गये थे। और भी सहस्रों राजे महाराजे अश्वमेध के द्वारा यशस्वी होकर परम पुण्य के भागी बने हैं।"

भरतजी ने कहा—"हाँ महाराज! अश्वमेध करे। राजाओं के लिये यह तो गौरव की बात है। इस यज्ञ मे यथेष्ट दान धर्म कीजिये ब्राह्मणों तथा अतिथि अभ्यागतों का सत्कार कीजिये सब को सुख दीजिये।"

यह सुनकर भगवान् ने अश्वमेध यज्ञ करने की आज्ञा दी। स्थान-स्थान से वेदज्ञ ब्राह्मण बुलाये गये। सरयू के तट पर एक विस्तृत मैदान मे यज्ञशाला का निर्माण होने लगा। अश्वशाला मे से एक उत्तम लक्षणों वाला अश्व चुना गया। उसकी विधिवत् पूजा करके श्रीरामचन्द्रजी ने उसे छोडा। उसकी रक्षा के लिये शत्रुघ्नजी को नियुक्त किया तथा भरतजी के पुत्र पुष्पकल, हनुमान जी तथा सुग्रीवजी को भी उनके साथ किया। चतुरंगिणी सेना को साथ लिए हुए शत्रुघ्नजी घोडे के पीछे-पीछे चले। घोडा स्वच्छन्द गति से जिधर जाता, उधर ही शत्रुघ्नजी सेना सहित उसका अनुगमन करते। वह घोडा अङ्ग, वङ्ग कलिङ्ग, सौराष्ट्र, मगध, पौंड, उत्कल गुर्जर, पाञ्च, द्रविड, महाराष्ट्र, मत्स्य, सूरसेन, कुरु, जागल आदि अनेका देशो मे भ्रमण करता ब्रह्मावर्त प्रदेश मे आया। स्वेच्छा से विचरण करता हुआ अश्व जब गङ्गातट पर भगवान् वाल्मीकि मुनिके आश्रम के समीप पहुँचा तो उसे कुश के छोटे भाई लव ने देखा। लव बहुत से ऋषिकुमारों के साथ वन में अग्निहोत्र के लिये समिधा लेने को आये हुए थे। उन्होने जब सुंदर घोडे को स्वच्छन्द घूमते देखा तो वे ऋषिकुमारो से बोले—"भाइयों! देखो, यह कैसा सुंदर घोडा है। इसके माथे पर यह

कैसा सुन्दर सुवर्ण पत्र टँगा है। चलो, इस घोड़े को पकड़ कर पढ़ें। इस पत्र मे क्या लिखा है। तुम लोग डरना मत।"

यह कह कर ऋषिकुमारो को वहीं छोड़कर लव धनुष बाण धारण किये हुए निर्भय होकर उस घोड़े के समीप गये। उन्होंने बकरी के बच्चे के समान घोड़े का कान पकड कर उसका सिर झुकाया और सुवर्णपत्र पर स्पष्ट अक्षरो मे लिखे हुए वाक्यों को पढ़ा। पत्र मे लिखा था—यह अयोध्याधिप श्रीरामचन्द्रजी के अश्वमेध का अश्व है। जो सच्चे क्षत्रिय हो वे इस घोड़े को पकडें, अन्यथा मेरे सम्मुख मस्तक झुकावें इस बात को पढ़ कर लव की भ्रुकुटियाँ चढ़ गईं। वे क्रोध से दाँतो को काटते हुए अपने आप ही कहने लगे—"यह ऐसा घमंडी कौन राजा है जो संसार में अपने को ही सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय समझता है। क्या हम क्षत्रिय नहीं हैं। क्या हमने अपने गुरुदेव भगवान् बाल्मीकि से दिव्य अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त नहीं की है। यह राजा तो वस्तु ही क्या है यदि स्वर्गाधिप इन्द्र भी आजाय, तो रण मे वह भी हमसे नहीं जीत सकता। मैं इस घोड़े को पकडता हूँ। इसके रक्षक शत्रुघ्न देखें मेरा क्या करते हैं। अयोध्याधिप श्रीरामचन्द्र को भी विदित हो जाय कि संसार मे और भी कोई क्षत्रिय है।" यह कहकर लव ने उस घोडे को पकड लिया और एक वृक्ष से कस कर बाँध दिया।"

घोड़े को अपहरण करते देख कर मुनि बालक लव से कहने लगे—'अरे, कुमार! तुम ऐसा दुस्साहस क्यों कर रहे हो। तुम्हे पता नहीं यह अयोध्याधिप श्रीराम के अश्वमेध का घोड़ा है। वे बड़े बलवान् हैं। इन्द्र भी उनके घोड़े को पकड़ने का साहस नहीं कर सकता। तुम बालसुलभ चञ्चलता छोड़ो। अभी घोड़े को

छोडकर इसके पीछे-पीछे आने वाले रक्षकों से क्षमा माँग लो नहीं तो बडा अनर्थ हो जायेगा।"

लवने ऋषिकुमारों को घुडकते हुए कहा—"चलो हटो, तुम लोग डर पोक हो। यह तो भइया, क्षत्रियों ही का काम है। तुम ठहरे ब्राह्मण, ब्राह्मण को तो लड्डू पूड़ी हलुआ चाहिये। सो तुम जाओ आश्रम में जाकर माल उडाओ। मैं तो इस घोडे को पकड़ूँगा, अवश्य पकड़ूँगा। जो मुझसे लडने आवेगा उसे मैं अपने दिव्य अस्त्रों से परास्त करूँगा। मुझे भी तो भगवान् वाल्मीकि ने धनुर्वेद की शिक्षा दी है। मैं युद्ध के अवसर को कैसे जाने दूँ।" लवकी बात सुनकर ऋषिकुमार चुप हो गये। इतने मे ही अश्व के रक्षक सैनिक आ गये। ऋषियों के बालक चुप चाप एक ओर खड़े हो गये। उनके मन मे कुतूहल हो रहा था, कि देखें अब क्या होता है।

उसी समय सैनिकों ने गरज कर कहा—"किसके सिर पर मौत नाच रही है, कौन बिना मृत्यु के मरना चाहता है, श्रीरामचन्द्रजी के यज्ञीय अश्व को किसने बाँध रखा है?"

यह सुनकर लव ने क्रोध करके कहा—"हमने घोड़े को पकडा है। राम हो या शत्रुघ्न हम किसी को तृण के समान भी नहीं समझते क्या ससार में एक रामचन्द्रजी ही क्षत्रिय हैं, क्या शत्रुघ्न ही लडना जानते हैं। यदि उनमे शक्ति हो, तो हमसे लड़कर अश्व को छुडा ले जायँ।"

छोटे से बच्चे के मुख से ऐसी वीरता पूर्ण बाते सुनकर सभी सैनिक हँसने लगे। वे आपस मे कहने लगे—देखो, इसे ही "छोटे मुँह बड़ी बात कहते हैं" यह बालक है-तो ऋषि आश्रम में किन्तु कोई क्षत्रिय जान पडता है। एक वृद्ध सा सैनिक बोला—"बालक क्या है साक्षात् वीर रस प्रतीत होता है। इसकी आकृति

प्रकृति सब श्रीरामचन्द्रजी की सी ही दिखाई देती है। ऐसे ही कमल दलों के समान लुभावने लोचन हैं। वैसा ही वृषभ के समान स्कन्ध है। कैसी विशाल छाती है, धनुष बाण लिये यह साक्षात् इन्द्र पुत्र जयन्त के समान प्रतीत होता है। बालक ही जो ठहरा, बालकों में स्वाभाविक ही चंचलता होती है। उसी बालसुलभ चांचल्य से इसने अश्व को पकड़ कर बाँध लिया है। इसकी बातों पर ध्यान मत दो। घोड़े को खोलकर चल दो बालकों के तो सभी अपराध क्षमा ही कर दिये जाते हैं।"

वृद्ध की बात सुनकर बहुत से वीर वृक्ष में बँधे उस वाजि को विमुक्त कराने का उद्योग करने लगे। लव ने जब देखा, ये सैनिक तो मेरा तिरस्कार करके घोड़े को ले जाना चाहते हैं, तब तो वे

लाल-लाल आँखें निकाल कर धनुष पर क्षुरप्रनामक बाण चढ़ा

कर, क्रोध मे भर कर बोले—"सेवको सावधान ! सेनिको साहस मत करो। जो मेरे अश्व को छूएगा उसके मैं हाथ काट दूँगा।"

सनिको ने लव की बात पर ध्यान ही नहीं दिया। हँसकर टाल दिया और वे घोडे को खोलने लगे। अब तो लव से नहीं रहा गया उन्होने क्षुरप्र बाणो द्वारा सब सनिकों के बात की बात मे हाथ काट दिये। हाथों के कट जाने से वे सब योद्धा रोते चिल्लात शत्रुघ्नजी के समीप गये और बोले, "प्रभो ! एक छोटे से बालक ने घोडे को पकड लिया है, जब हम घोड़े को खोलने चले, तो उसने हमारी यह दशा कर दी। प्रभो ! या तो वह साक्षात् वीररस है, या यज्ञ में विघ्न करने इन्द्र ही बालक का वेष बनाकर आया हुआ है। सौन्दर्य मे वह श्रीराम के समान है। बल पराक्रम मे उसकी समानता किसी से की ही नहीं जा सकती। आप शीघ्र ही कोई प्रबन्ध करे अथवा स्वय ही लडने जायँ। वह बालक उपेक्षणीय नहीं है।"

यह सुनकर शत्रुघ्नजी चिन्ता में पड गये। एक बालक म इतना साहस कैसे हो सकता है। सम्भव है इन्द्र ही हो, किन्तु इन्द्र का भी श्रीराम के घोड़े को पकडने का साहस नहीं। जो भी कोई हो मैं अपने विश्वविजयी सेनापति वीरवर कालजित् को उस बालक को पकडने के लिये भेज रहा हूँ।"

सेना सहित सेनापति कालजित् ने देखा बालक अविचल भाव से धनुष पर बाण चढ़ाये खडा है और सनिकों के आगमन की बाट जोह रहा है। उसे युद्ध के लिये उद्यत देखकर सेनापति कालजित् ने कहा—"बच्चे ! तुम कौन हो ? देखने म तो तुम बडे वीर प्रतीत होते हो। तुम्हारी आकृति तो हमारे महाराज के समान है, किन्तु तुममे बुद्धि नहीं। कैसे भी वीरपुत्र क्यों न हो, वह बालकपने की चचलता कहाँ जाय। श्रीरामचन्द्रजी के अश्व

को पकड़कर तुमने लड़कपन ही किया है। तिस पर भी दूसरा यह अपराध कि सैनिकों के हाथ काट लिये हैं। अस्तु कोई बात नहीं। बालक जानकर मैं तुम्हें क्षमा किये देता हूँ। तुम घोड़े को छोड़ दो और शीघ्र ही भाग जाओ। यदि हमारे स्वामी शत्रुघ्न आ गये तो तुम्हें पकड़कर अयोध्यापुरी ले जायँगे। मैं उनका प्रधान सेनापति कालजित् हूँ।"

यह सुनकर सूरजी हँसी हँसते हुए दृढता के स्वर में लव बोले—"सुनिये सेनापति महोदय मेरी बात, वीरों की अवस्था नहीं देखी जाती। उनमें तो वीरता की ही प्रधानता है। तुम्हारे स्वामी शत्रुघ्न को मैं तृण के समान भी नहीं समझता। तुम्हारा नाम काल जित् है, तो मेरा नाम लव है। तुम्हारा काल तो मैं सम्मुख खड़ा हूँ। मुझे यदि तुमने जीत लिया, तब तो तुम्हारा कालजित् नाम यथार्थ है। यदि मुझे न जीत पाये तो तुम्हारा नाम व्यर्थ ही है। मैं यदि लव मे तुम्हें न जीत लूँ तो लव नहीं। आजाओ हमारे तुमारे दो-दो हाथ हो जायँ।"

बच्चे की ऐसी साहस पूर्ण बातें सुनकर कालजित् सहम गया। बात टालते हुये उसने कहा—"तुम किस कुल के हो, क्या तुम्हारा गोत्र है? तुम्हारे पिता का नाम क्या है। तुम मरना क्यों चाहते हो? क्यों इतनी बड़ी सेना से समर करने का साहस कर रहे हो?"

लव ने कहा—"तुम्हें मेरे कुल गोत्र से क्या लेना। मुझे विवाह तो करना नहीं जो अपने कुल गोत्र का परिचय दूँ। मुझे तो युद्ध करना है। युद्ध मे वीरता ही वीर का प्रत्यक्ष परिचय करा देती है।"

कालजित् ने कहा—"भाई! हमारा तुम्हारा युद्ध उपयुक्त नहीं। तुम पैदल हो मैं रथ पर हूँ।"

उपेक्षा के स्वर मे लव ने कहा—"कोई बात नहीं क्षण भर में मैं तुम्हारे रथ को छिन्न-भिन्न किये देता हूँ। फिर हम तुम दोनों ही पैदल हो जायँगे। मैं पृथ्वी पर खडा रहूँगा, तुम धराशायी हो जाओगे। अच्छी बात है सम्हलो। देखो यह बाण आया।" यह कहकर लव ने एक तीखा बाण कालजित् के ऊपर छोड ही तो दिया। बाण जाकर कालजित् की कनपुटी पर लगा। उसके लगते ही वह व्याकुल हो गया। उसे बडा क्रोध आया। क्रोध में भर कर वह भी लव को लक्ष्य करके लक्षों बाण छोडने लगा। लवका तूणीर तो अक्षय था। वह भगवान् वाल्मीकि का दिया हुआ था। उसके बाण कभी चुकते ही न थे। लव बाणों की वर्षा करके सेनिकों को आहत करने लगे। उन्होंने क्षण भर मे कालजित् के रथ को तोड दिया। अब तो कालजित् घबड़ाया उसने तुरन्त एक बड़ा मदमत्त हाथी मगाया। हाथी पर चढ़कर वह युद्ध करने लगा। लव ने देखा यह तो बहुत ऊँचा हो गया। इसलिये दौड़कर उन्होंने अपनी तलवार से हाथी की सूँड काट दी, सूँड़ के कटने से हाथी चिङ्घाड़ मार कर भागने लगा। लव ने उसके बडे-बडे दाँतों को कसकर पकड़ लिया और अत्यन्त ही लाघव से बड़े कौशल के साथ दाँतों पर पैर रख कर वे हाथी के उपर चढ़ गये। वहाँ मूर्छित पड़े कालजित् के मुकुट को उन्होंने तोड़ दिया और धड़ाम से धरती पर फेंक दिया। पृथ्वी मे गिरते ही वह संज्ञा शून्य हो गया। सभी सेनिक भागने लगे। अब लव हाथी से नीचे उतर कर अन्य सैनिकों का संहार करने लगे। इतने में ही कालजित् पुनः खडा हो गया और वह युद्ध के लिये उद्यत हुआ, कालजित को युद्ध के लिये देखकर लव उसके समीप आये और दो बाण मार कर उसे प्राण शून्य बना दिया। सेनापति के मरते ही सम्पूर्ण सेना मे भगधड़ मच गई। वे सब दौड़कर शत्रुघ्नजी के समीप आये

कालजित् की मृत्यु का समाचार सुनाया।

कालजित् का मरण सुनकर शत्रुघ्न को परम विस्मय हुआ। वे निर्णय न कर सके कि यह बालक कौन है। अब के उन्होंने भरत पुत्र पुष्कल को हनुमानजी के सहित बालक से लड़ने भेजा। पुष्कलजी ने देखा, बालक मेरी ही अवस्था का है, बड़ा तेजस्वी और सुन्दर है। उनका स्वाभाविक ही बालक के प्रति आकर्षण हुआ। उनके मन में बार-बार यह बात आती, कि दौड़ कर इसके चरण चूम लूँ। किन्तु जो शत्रुरूप में युद्ध करने सम्मुख खड़ा है, उसके सम्मुख सिर झुकाना क्षत्रिय के लिये कायरता है। यही सोचकर वे बोले—"वीरवर! मेरा नाम पुष्पकल है मैं महाराजा श्रीरामचन्द्रजी के अनुज भरतजी का पुत्र हूँ। आपसे युद्ध करने आया हूँ, किन्तु आप भूमि पर खड़े हैं, मैं रथ में बैठा हूँ, इस प्रकार युद्ध शोभा नहीं देता। मैं आपको एक सुन्दर सुसज्जित रथ देता हूँ। उस पर बैठकर आप मुझसे युद्ध करें।"

यह सुनकर लव बोले—"पुष्पकल! देखो, हम क्षत्रिय हैं। हम दान किया करते हैं। लेते नहीं शत्रु के दिये रथ पर चढ़ कर युद्ध करना वीर को शोभा नहीं देता। तुम चिन्ता मत करो। क्षण भर में तुम्हें भी मैं रथ हीन किये देता हूँ। सम्हलो।" यह कह कर लव ने पुष्कल पर बाण छोड़े। पुष्कल बड़ी देर तक वीरता पूर्वक युद्ध करते रहे, किन्तु वे लव के प्रहारों को सहन न कर सके। कुछ ही काल में हृदय में बाण लगने से वे मूर्छित होकर भूमि में गिर पड़े। हनुमान्‌जी उन्हें तुरन्त उठा कर शत्रुघ्नजी के समीप ले गये।"

पुष्कल को भी मूर्छित देख कर शत्रुघ्नजी के आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने सोचा—"बालक रूप में कहीं काल ही तो नहीं आ गया है। ये बली हनुमान तो काल को भी जीतने वाले हैं।

अतः वे पवन तनय से बोले—अजनीनन्दवर्द्धन हनुमानजी! आप उस बच्चे पर दया न करें। वह तो बड़ा भयानक प्रतीत होता है। आप उसे अपनी गदा से मार डालें।"

शत्रुघ्नजी की आज्ञा पाकर हनुमान्‌जी बडे वेग से उछलते कूदते किल-किल शब्द करते हुए लव के समीप गये। जाते ही उन्होंने पर्वत के शिखरों से बडे २ वृक्षों से लव पर प्रहार करना आरम्भ किया। वे ऊँचे-ऊँचे फल फूले वृक्षों को जड से उखाडते और लव के सिर मे दे मारते। लव भी उन्हें लव मात्र मे अपने दिव्य बाणों से काट कर गिरा देते। इस प्रकार बहुत देर तक भीषण युद्ध होता रहा। अन्त में हनुमान् जी भी उसके दुस्सह प्रहारों को न सह सकने के कारण मूर्छित होकर भूमि पर गिर गये।

शत्रुघ्नजी ने जब पवन तनय के मूर्छित होने का वृत्तान्त सुना, तो उनका धैर्य छूट गया। वे तुरन्त ही अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर समर भूमि मे आये। उन्होंने देखा सिंह सावक के समान सैनिक वेष मे वीरवर लव खडे है और सेना के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, तो शत्रुघ्नजी को परम विस्मय हुआ। बच्चे को देखकर वे समझ गये यह श्रीरामचन्द्रजी का ही पुत्र है। जिस समय में लवण को मारने जा रहा था, उस समय भगवती सीता ने दो पुत्रों को प्रसव किया था। अब तक उनको इतना बडा हो जाना चाहिए। इसकी आकृति, प्रकृति, चलन चितवन सब श्रीरामचन्द्रजी के ही समान हैं, किन्तु यह तो अकेला ही है। शत्रु बनकर समर मे सम्मुख खडा है। इस पर दया कैसे की जा सकती है। चाहे अपना पिता सगा पिता ही क्यों न हो क्षत्रिय युद्ध मे उसके सम्मुख भी सिर नहीं झुकाता। पिता पुत्र के साथ, भाई भाई के साथ युद्ध करता है। यही सब सोचकर वे बडे स्नेह से बोले—वीरवर! तुम कौन हो? किस वंश में तुम्हारा जन्म हुआ है।

तुम्हारे माता-पिता को धन्य है जिन्हे तुम्हारे जैसा पुत्र प्राप्त हुआ। तुम सचमुच में सौभाग्यशाली हो जो समर मे विजय श्रीने तुम्हारा वरण किया। किन्तु मेरा नाम शत्रुघ्न है, मेरे सम्मुख तुम विजयी नही हो सकते।"

लव ने गभीरता से कहा—"राजन्! व्यर्थ बकवाद करने से कोई लाभ नहीं। शूरवीर कहा नहीं करते, वे करके दिखाते हैं मेरे समर से ही आप मेरा सम्पूर्ण परिचय पाजायेंगे। अच्छी बात है सम्हल जाइये।"

इतना कहकर लव ने शत्रुघ्नजी पर प्रहार किया। शत्रुघ्नजी इसके लिये तेयार ही थे। उन्होंने भी लव पर बाण छोडे। वे लव की युद्ध चातुरी को देखकर परम विस्मित हो रहे थे। लव निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहे थे। वे कब तूणीर से बाण निकालते, कब धनुष पर चढाते और कब उसे छोडते इसे कोई जान ही नहीं सकता था। इतना ही सब देखते थे कि लव के धनुष से निरन्तर बाण निकल रहे हैं। उन्होंने अपने बाणो से समस्त सेना को ढक लिया। शत्रुघ्नजी का रथ तोड दिया, धनुष की डोरी काट दी उन्होंने जो-जो नया रथ लिया, नया धनुष धारण किया, सभी को लव मात्र में छिन्न-भिन्न करते गये। अन्त में एक चोखा बाण शत्रुघ्नजी की छाती मे मार कर उन्हे मूर्छित कर दिया।

शत्रुघ्नजी के मूर्छित होते ही, उनके समस्त साथी राजा धर्माधर्म का कुछ भी विचार न करके सब एक साथ लव पर टूट पडे। इससे लव तनिक भी विचलित न हुए। उन्होंने दश-दश बाण मारकर सभी को रण मे भगा दिया, मूर्छित बना दिया। सब पर विजय प्राप्त करके लव ने समर भयकर गर्जना की। उसी समय शत्रुघ्नजी की मूर्छा जाती रही। वे सावधान होकर युद्ध के लिये पुनः लव के सम्मुख आये। इस समय उन्हें बडा क्रोध आ रहा

था, एक बालक से परास्त होने के कारण उन्हे महान् आत्म-ग्लानि हो रही थी। अतः उन्होंने वही वैष्णव शर-जिसके द्वारा लवण का वध किया था—धनुष पर चढ़ाया। उसके चढते ही तीनों लोको में हा-हा कार मच गया। वह आकर लव की छाती मे घुस गया। महामुनि वाल्मीकि की विद्या और आशीर्वाद के प्रभाव से वह लव के प्राणो को तो न ले सका किन्तु उससे वे मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर गये। शत्रु को मूर्छित देख कर शत्रुघ्नजी परम प्रसन्न हुए। उन्होंने शीघ्रता पूर्वक रथ से उतर कर लव को उठा लिया और रथ मे बाँध दिया।"

मुनि बालक जो समीप मे खडे-खड़े युद्ध देख रहे थे। लव को बँधा देखकर वे दौडते हुए आश्रम में गये। भगवान् वाल्मीकि उस समय आश्रम मे थे नहीं। वे गङ्गाजी की किसी निभृत निकुंज मे ध्यान मग्न थे। बालकों ने शीघ्रता पूर्वक जानकीजी के समीप जाकर हाँपते हुए कहना आरम्भ किया—"माँ ! माँ ! देखो, तुम्हारे पुत्र लव को एक राजा ने बाँध लिया।"

चकित-चकित दृष्टि से जानकी ऋषि कुमारो की ओर देखती हुई बोली—"भैया ! लव ने उस राजा का क्या बिगडा था।

बच्चो ने अपनी जानकारी दिखाते हुए कहा—"सीता माता ! यह कोई बहुत बडा राजा है। उसके सग बहुत बडी सेना है। बहुत से घोड़े हैं, बडे-बड़े पहाड़ से हाथी हैं। रथों की तो लगार बँधी हुई है। उसका मान सम्मान भी बहुत है उसी के घोडे को तुम्हारे पुत्र लव ने पकड़ लिया। फिर बहुत मे लोग उससे लडने आये। लव ने वीरता पूर्वक उन सब का सामना किया बहुतो को मार गिराया। फिर वह राजा आया। राजा को भी घायल कर दिया। फिर उसने उठकर एक बाण मार कर लव

को मूर्छित करके अपने रथ में बाँध लिया। भगवान् वाल्मीकि भी आश्रम में नहीं हैं।"

सुनकर सती सीता परम दुखित हुई। वे रोती हुई कहने लगी—"हाय! यह कैसा निर्दयी राजा है जिसने मेरे फूल जैसे बच्चे को बाँध लिया। बच्चों पर इतना क्रोध करना चाहिये? मेरा पुत्र कुश भी यहाँ नहीं हैं। नहीं तो वही अपने छोटे भाई लव को छुड़ा लाता।"

माता इस प्रकार रुदन कर रही थी कि उसी समय कुश भी कहीं से आ गये अपनी जननी को रोते देख कर कुश को अत्यत ही दुःख हुआ। उन्होंने माता को प्रणाम करके पूछा—"माँ तुम इतनी अधीर क्यों हो तुम अपने दुखः का कारण मुझे बताओ। जननी! मैं सब कुछ देख सकता हूँ किन्तु तुम्हे दुखी नहीं देख सकता। अम्मा! किसने तुम्हारे हृदय को पीड़ा पहुँचाई है!

कुश की बात सुनकर सीता माता ने कहा—"बेटा तुम्हारे छोटे भाई लव को किसी राजा ने बाँध रखा है। तुम शीघ्र ही जाकर उस राजा से अपने भाई की रक्षा करो।"

इतना सुनते ही कुश का क्रोध सीमा को पार कर गया। वे अपनी माता को धैर्य बँधाते हुए बोले—"जननी! तुम चिंता मत करो। मैं अभी जाता हूँ। उस राजा को उसके किये का फल चखाता हूँ अपने भाई लव को उसके बन्धन से छुड़ाता हूँ और भाई के सहित शीघ्र ही तुम्हारी सेवा में लौट कर आता हूँ।"

इतना कहकर कुश अपना धनुष बाण तथा अक्षयतूणीर लेकर क्रुद्ध सिंह की भाँति कुपित हुए ऋषि पुत्रा के बताये मार्ग से समर भूमी मे गये। वहाँ उन्होंने सहस्रों सैनिकों को धराशायी देखा। किसी के हाथ कट गये थे, किसी के सिर फट गये थे। किसी के सिर धड़ से पृथक् हो गये थे. कोई मर गये थे। कोई

अधमरे पृथ्वी पर पड़े-पडे बिल-बिला रहे थे। कुमार लव शत्रुघ्न जी के रथ मे बँधे हुए थे। जिस समय कुश समरभूमि मे पहुँचे उसी समय लव की मूर्छा दूर हुई। अपने को शत्रुघ्न के रथ पर बँधा देखकर तथा युद्ध भूमि मे अपने बडे भाई कुश को देख कर लव के क्रोध और उत्साह का ठिकाना नहीं रहा। वे बन्धनो को बल पूर्वक काट कर तुरन्त रथ से नीचे कूद पडे और अपने बडे भाई के चरणो मे आकर पड गये। कुश ने अपने छोटे भाई लव को उठा कर छाती से लगाया। वे दोनो एक से ही प्रतीत होते थे। शत्रुघ्नजी दोनों को देख कर समझ गये, अवश्य ही ये श्री रामचन्द्रजी के पुत्र हैं। बिना भगवान् के वीर्य के ऐसा दुर्धर्ष युद्ध और कौन कर सकता है। इन्हे युद्ध में कोई पराजित नहीं कर सकता, ये बड़े ही बुद्धिमान्, वीर और उत्साही हैं। ये अपने अमोघ बाणो से किसी भी मुख्य वीर को मारते नहीं। मूर्छित करके छोड़ देते हैं। इनके साथ युद्ध करने मे मुझे बडा सुख मिलता है। इनकी रणचातुरी को देख कर मेरे रोम रोम खिल जाते हैं। मैं इन दोनों से युद्ध अवश्य करूँगा।

"क्षत्रिय युद्ध से किसी भी दशा मे पराङ्मुख नहीं होता।" यह सोच कर शत्रुघ्न जी उन दोनो भाइयो से समर करने लगे। इन दोनो वीरों ने शत्रुघ्न की सम्पूर्ण सेना के छक्के छुडा दिये जितने मुख्य मुख्य वीर थे, सभी को बाण मार कर मूर्छित कर दिया। शत्रुघ्न पुष्कल, सुग्रीव, हनुमान, सुदेव तथा अन्यान्य वीराग्र गणियों को अचेतन बनाकर पृथ्वी पर सुला दिया। मोहनास्त्र छोड़कर सभी को मोहित कर दिया।

जब सभी मूर्छित हो गये तो लव ने बड़ी उत्सुकता से कहा भैया देखो! माता जी को दिखाने के लिये कुछ चिन्ह तो लेते चले कुश ने लव की बात का अनुमोदन किया। बाल सिंहों की भाँति

यह सुनकर जानकी जी की आँखों में आँसू आ गये और पुत्रों को डाँटती हुई बोलीं—"हाय! तुम लोगों ने यह क्या अनर्थ कर डाला। जिनका तुम नाम ले रहे हो, वे ही तो तुम्हारे पिता हैं

राघुप्त तुम्हारे सबसे छोटे भाई हैं। यह तुमने अत्यन्त घोर पाप किया। अब मैं तुम्हें शीघ्र ही उन्हें दिखाओ।"

यह सुनकर सब भाई गये व अपनी माता को [illegible] आये। सुमन्त और हनुमान जी भी [illegible] में [illegible] थे।

भूमि मे किढ़रने के कारण उनका शरीर छिल गया था। यह देखकर माता शीघ्रता से बोलीं—"तुम दोनो बड़े चचल हो। अरे, पागलों! तुम इन दोनों को जानते नहीं। ये दोनों विश्वविजयी वीर हैं। ये बड़े वानरराज सुग्रीव हैं। दूसरे पवनतनय हनुमान् हैं जिनका यश तुम नित्य ही रामायण मे गाया करते हो। इनके मेरे ऊपर बड़े-बड़े उपकार हैं। इनके सम्मुख तो मैं सिर भी ऊँचा नहीं कर सकती। तुम इन्हे साधारण वानरो की भाँति बाँध लाये हो। छिः छिः तुमने यह बड़ा बुरा काम किया। छोड़ो-छोड़ो इन्हे तुरन्त खोलदो।"

यह कहकर जगदम्बा जानकी सूर्य नारायण की ओर देखकर बोलीं—हे चराचर जगत् के साक्षी! सूर्य देव! यदि मैं मनसा, वाचा, कर्मणा से श्री रामचन्द्र जी की ही अनुगामिनी होऊँ मैंने मन से भी कभी परपुरुष का चिंतन न किया हो, तो शत्रुघ्न की समस्त सेना मूर्छित और मृतक व्यक्ति जीवित हो जायँ।"

सीताजी का इतना सोचना था, कि सब के सब सैनिक निद्रित पुरुषो की भाँति सोते से उठ खड़े हो गये। जिनके जो अग कट गये थे, वे पुनः उनमे जुड़ गये। हनुमान जी तथा सुग्रीव जी भी मूर्छा भग होने से उठकर खड़े हो गये। हाथ जोड़कर उन्होंने सम्मुख खडी सीता माता को प्रणाम किया।

सीताजी ने कहा—देखो भैया! इन बालको की चचलता पर मे तुम लोग ध्यान न देना। बड़ी प्रसन्नता की बात है, कि यहाँ वन में भी मैं तुम दोनों को कुशलपूर्वक देख रही हूँ आज कल भैया, मैं तो परित्यक्ता हूँ। मेरे स्वामी ने ही मुझे छोड रखा है। जिसमे उन्हें प्रसन्नता हो उसी में मुझे प्रसन्नता है। हनुमान तुम मुझे लंका से छुडाकर क्यों लाये वहीं मर जाने देते। फिर ये दुख तो न देखने पडते। अब भैया! मैं मर भी नहीं सकती। इस बन मे भगवान वाल्मीकि की कृपा के सहारे ही मैं

अपने दिन काट रही हूँ। इन नन्हे-नन्हे बच्चों का मुख देखकर ही जी रही हूँ। यही सोचती हूँ मेरे बिना ये तड़फेंगे। नहीं तो अब तक मैं कब की मर गई होती।"

सीताजी को इस प्रकार दुखित देखकर सुग्रीव और हनुमान् रोने लगे। हनुमान् बोले—"माताजी! यह सब भाग्य की विडम्बना है। आप के हृदय में श्रीरामचन्द्रजी सदा निवास करते हैं और रामचन्द्रजी के चित्र में आप सदा चढ़ी रहती हैं। आप दोनों में पल भर का भी वियोग नहीं। यह आप लोक को दिखाने के लिये, ससार मे करुणा की सरिता बहाने के लिये ऐसी लीलायें कर रही हैं। सौभाग्य की बात है कि आज हम आपको पुत्रवती देख रहे हैं। लव और कुश से पराजित होने पर हमे प्रसन्नता ही है। स्वामी से तो सेवक सदा पराजित ही रहता है। ये हमारे स्वामी के स्वरूप हैं, उनकी प्रतिकृति हैं, राम की प्रत्यक्ष आत्मा हैं। ऐसे वीर पुत्रों को प्रसव करके आप यथार्थ मे वीर प्रसविनी माता हुई। शीघ्र ही ये हमारे स्वामी होंगे। अब हमें आप आज्ञा दें। शत्रुघ्नजी हमारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। वे दिन दूर नहीं जब हम आपको पुनः श्री रामचन्द्रजी के साथ देखेंगे।" यह कहकर दोनों ने माता जानकी की प्रदक्षिणा की और लवकुश के दिये हुए यज्ञीय अश्व को लेकर वे सेना में आ ये।

तब तक शत्रुघ्न जी तथा समस्त सैनिकों की मूर्छा दूर हो चुकी थी। अश्वसहित सुग्रीव और हनुमान् को देखकर शत्रुघ्न लज्जित हुए और सकुचाते हुए बोले—"ये दोनों बालक बड़े शूर वीर हैं। इन्होंने तो हम सब को परास्त कर दिया। तुमको यह अश्व कैसे मिला?"

इस पर सब वृत्तान्त सुनाते हुए सुग्रीव बोले—"राजन्! इसमें लज्जा की कोई बात नहीं। इन बालकों में ऐसा बल होना ही

चाहिये। क्योंकि ये भगवान् श्रीरामचन्द्र के वीर्य से सीता माता के उदर से उत्पन्न हुए हैं ये हमारे स्वामी हैं। स्वामी से तो सेवक सदा हारा ही हुआ होता है।"

यह सुनकर शत्रुघ्नजी मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। वे फिर आश्रम में नहीं गये। वहीं से यज्ञ के घोड़े को लेकर अयोध्यापुरी को लौट आये। घोड़े को सकुशल लौटा देखकर श्रीरामचन्द्रजी परम प्रसन्न हुए। उन्होंने विधिवत यज्ञ को पूर्ण किया। ब्राह्मणों और याचकों को मन माने दान दिये। विशाल यज्ञ अत्यंत ही धूमधाम के साथ समाप्त हुआ। यज्ञ की समाप्ति पर सबने अवभृथस्नान किया और सब अपने-अपने घर लौट गये।

भगवान् का कोई शत्रु राजा तो रह ही नहीं गया था। सभी उनके अधीन थे। युद्ध का अवसर ही नहीं आता था। सीताजी के वियोग के कारण श्रीरामचन्द्रजी के दिन कटते ही नहीं थे। उन्हे पल-पल काटना भारी हो जाता। सीता जी के प्रेम को वे प्रयत्न करने पर भी न भुला सके जितना ही वे भुलाने का प्रयत्न करते उतना ही उनका अधिक स्मरण होता। अयोध्या के वे समस्त समल सीता जी की स्मृति दिलाते। इस भावना मे पहिले ही पहिले विवाह के उपरान्त विदेह कुमारी मिली थी। यहाँ उसके साथ ऐसी-ऐसी बातें हुई थी। इन सब प्रसंगो को याद करके श्री रामचन्द्रजी अत्यंत ही दुखित होते। उन्होने सोचा कुछ दिन अयोध्या छोड़कर अन्यत्र रहें।" नैमिषारण्य पुण्य भूमि है, वहाँ ८८ हजार मुनि निरन्तर तपस्या करते रहते हैं और सहस्रो मुनि सदा आते जाते रहते हैं। वह "यज्ञ का प्रधान स्थल है। वहाँ चलकर अश्वमेध यज्ञ करें। इससे मन भी बहलता रहेगा। समय भी कट जायगा।" यह सोचकर भगवान् ने नैमिषारण्य में अश्वमेध यज्ञ करने की आज्ञा देदी। अब क्या था वहाँ गोमती नदी

के तट पर यज्ञ की धूमधाम के साथ तैयारियां होने लगी। सेवकों ने पहिले जाकर १० योजन लम्बी भूमी यज्ञ के लिये एक सी की। गड्ढो को भरा, ऊँची भूमि को काटकर समतल किया। जब भूमि एक सीहो गई तो वहाँ हजारों लाखों फूस की कुटियाँ बनाई गईं। बहुत सुन्दर-सुन्दर डेरे तरे लगाये गये उनके चारों ओर कनात लगाकर उनकी परिधि बनाई गई। देश-देश के राजा महाराजाओं को निमत्रण भेजे गये। अयोध्याजी से अन्नादि सब सामग्री गाड़ी घोड़ा, ऊँट तथा बैलों मे लदा कर भेजी जाने लगी लाख बोरों मे सुंदर बासमती चावल, भरकर चले लाख बोरे गेहूँ, दस हजार बोरे जो, चावल तिल लेकर घोड़े खच्चर बैल चले। बड़े-बड़े कुप्पी मे घन भर कर लाख ऊँटों पर लद कर चले। इसी प्रकार मूँग उड़द, अरहर, नमक, मिर्च, धनिया, जीरा, राई, हलदी, खटाई, मेथी, हींग, काली मिरच, सौंठ, अजमोद, तेजपात, जावित्री, छोटी बड़ी इलायची, पीपल, सौंफ, आदि मसाले बोरों मे भरकर चले। गुड़, शक्कर, चीनी, बूरा, खांड़ मिश्री आदि गुड के बने पदार्थ लाखों बोरो मे भरकर गाड़ियो मे लदकर चले। सुवर्ण की लाखों मुहर, सोना, चाँदी, मोती मूँगा, माणिक आदि सुंदर रेशमी थैलियों मे भरकर लोहे की गाड़ियो में लद कर सैनिकों की रेख देख मे चले। यज्ञ के उपयोगी सभी सामग्री विपुल मात्रा मे भेजी जाने लगी। पक्के कुए बनाकर उनमे घृत भरा जाने लगा। उन पर लोहे के ढक्कन लगे थे। बड़े-बड़े काठ के कोठे पर लाकर उनमें दही दूध भरा गया। उनमे काठ के पनाले लगे हुए थे। उनके नीचे पात्र रख दो स्वतः ही भर जायँ, चावल डाल दो स्वयं खीर तैयार हो जाय। सहस्र भोजनालय बनाये गये। सभी लोगों को यज्ञ के लिये निमत्रित किया गया। यज्ञ कराने वाले ऋषि मुनियो को निमंत्रण भेजा गया। जो जीविकार्थ पर देश चले गये

थे, ऐसे लोगों को भी समाचार भेज कर बुलाया गया। सपत्नीक ब्राह्मणों को आह्वान किया। बाजा बजाकर जीविका चलाने वालों को खेल दिखाने वाले नटनर्तकों को स्तुति करने वाले सूत, मागध वन्दियों को, नाटक करने वालों मडलियों को गीत गाने वाले गायकों को, मल्लों और योद्धाओं को, कथावाचक और उपदेशकों को नामकीर्तन और भजन कीर्तन करने वाले कीर्तनकारों को तथा अन्यान्य मनोरंजन करने वाले भॉड तथा बहुरूपियों को बुलाया गया। यज्ञ का समाचार सुनकर दूर-दूर से ऋषि मुनि, ब्राह्मण, अभ्यागत, याचक तथा सभी वर्ण के लोग नैमिषारण्य की ओर जाने लगे।

भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नजी की स्त्रियॉ भी पालकियों में बैठकर चलीं सुवर्णमयी सीता भी सजाकर सत्कार पूर्वक ले जाई गई। ब्राह्मण गण यज्ञ की सामग्री तथा पूजन की सामग्री सम्हलवा कर ले जाने लगे। धूप, कपूर, चदन, गुग्गुल, खस, नागरमोथा, छार, छबीला केशर कस्तूरी आदि बोरे के बोरे ब्राह्मणों के साथ गाडियों पर भेजे गये। सुवर्ण चॉदी, तॉबा, कॉसा, लोहा, लकडी तथा मिट्टी के छोटे बडे सहस्रों बर्तन ऊँटों और खच्चरों पर लद कर चले। रेशमी, सूती उनी सहस्रों थान के थान कपडे यज्ञ सम्बन्धी कार्यों के लिये भेजे गये। साराश यह है कि जीवनोपयोगी सभी सामग्रियॉ जो यहॉ से जा सकती थीं, वह वाहनों पर भेजी गईं। जो नित्य मॅगाने की वस्तु थी जैसे दूध, दही, फल, फूल माला साक भाजी कुशा समिधा तुलसी बिल्वपत्र।

पञ्चगव्य आदि का प्रबन्ध नहीं किया गया। पक्ति बद्ध शिविर बनाये गये। व्यापारियों की दुकाने अलग बसाई गई। आगत राजाओं के आवास स्थान अलग बनाये गये इन सब में भोजन की सामग्री जल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का पृथक्-

पृथक् प्रबन्ध था। प्रकाश का प्रबन्ध अति उत्तम था। रात्रि मे दिन सा प्रतीत होता था। सफाई और स्वच्छता का वहाँ अत्यधिक ध्यान रखा जाता था। अयोध्या जी से बहुत से झाड़ू लगाने वाले सफाई करने वाले वहाँ आये थे। थोड़े ही दिनों मे नैमिषारण्य मे अयोध्या के ही समान पुरी बस गयी। चाहे जो आवश्यक वस्तु ले लो जीवनोपयोगी किसी वस्तु का वहाँ अभाव नहीं था वसिष्ठ वामदेव जावालि तथा कश्यप आदि बड़े-बड़े ऋषि महर्षि जो अश्वमेधादि यज्ञों के विशेषज्ञ माने जाते थे जिन्होंने बड़े-बड़े राजाओं के अनेकों अश्वमेधादि यज्ञ कराये हैं, उन्होंने विधिवत् यज्ञ मंडप आदि की रचना की। शुभ लक्षणों वाला परम सुन्दर अश्व छोड़ा गया। अबके लक्ष्मण जी उसके रक्षक बन कर गये। घोड़ा छोड़कर श्रीराम जी नैमिषारण्य मे आकर निवास करने लगे। यज्ञ सम्बन्धी और कार्य होते रहे। श्रीराम चन्द्र जी बड़े-बड़े गायकों के सभा मे बैठकर गान सुनते, शास्त्र चर्चा होती, कथावाचक आ आकर पुरानी कथायें कहते। इस प्रकार यज्ञ का कार्य बड़ी धूम धाम से होने लगा। उस यज्ञ में कोई ऐसा नहीं था, जिसका श्री रामचन्द्र जी के सेवकों ने सत्कार न किया हो।

सुग्रीव, हनुमान्, विभीषण, भरत, शत्रुघ्न तथा अन्यान्य राजे महाराजे स्वयं अपने हाथो से सभी की सेवा करते थे। श्री रामचन्द्र जी की आज्ञा थी, जो भी आकर जिस वस्तु की याचना करे, उसे उस वस्तु को तत्काल दो। यथेष्ट परिमाण में दो जब तक वह नहीं न करे, तब तक देते ही रहो। कोई हमारे यहाँ विमुख होकर न जाये।"

भगवान् के सेवक ऐसा ही करते थे। वे निरन्तर कहते रहते थे—"जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो कह दो! जिसे जो

लेना हो ले जाओ जिसे जो खाना हो यहीं खाओ कच्ची, पकी, फलाहारी जैसी रसोई रुचिकर हो वैसी पाओ। जिसे सूखी सीधा सामग्री चाहिये वह सेवकों से जितना चाहो उठवा ले जाओ। सारांश यह कि वहाँ कोई भी किसी वस्तु के अभाव का अनुभव नहीं करता था। कल्पवृक्ष के समान इच्छित पदार्थ श्रीराम के यज्ञ मे सब को मिल रहे थे। लाखों वर्षों की आयु वाले ऋषि महर्षि कहते थे, हमने बहुत से यज्ञ देखे हैं, किन्तु अतिथियों का इतना आगत स्वागत इतना सत्कार इतना अधिक दान हमने किसी भी यज्ञ मे नहीं देखा सभी अपने को यहाँ दिव्य लोक मे अवस्थित अनुभव करते थे।

ऋषि मुनि के लिये ऐसा प्रबन्ध था कि जो भी किसी नये आये हुए ऋषि मुनि को देखता! वही उनके सत्कार के लिये दौड़ पड़ता है। स्वागताध्यक्ष को पता भी न चलता तब तक उनके ठहरने, खाने पीने का सभी प्रबन्ध हो जाता मुनियों के रहने की कुटियाँ एकान्त मे बनाई गई थीं। उनमे तपस्वियों के योग सभी सामग्रियाँ एकत्रित कर दी थी।

यज्ञ बड़ी धूम धाम से हो रहा था। उस यज्ञ की बड़ी भारी प्रशंसा सुनकर भगवान् वाल्मीकि जी अपने शिष्य प्रशिष्य तथा साथी साधुओं के सहित यज्ञ देखने के लिये पधारे। उनके साथ छकड़े थे, जिनमे अग्नि होत्र की अग्नियाँ तथा आवश्यक सामग्री थी। महामुनि वाल्मीकि के साथ उनके दोनों प्रिय शिष्य कुश और लव भी थे। उन दोनों को मुनि ने समस्त रामायण काव्य संगीत सहित याद करा दिया था। वे ताल, मूर्छना, लय तथा स्वर के साथ रामायण का गान करने मे परम निपुण थे। वह पूरा महाकाव्य उन्हे कंठस्थ था। मुनि एक एकान्त कुटी मे आकर चुप चाप उतर गये। सेवकों ने तुरंत उनके रहने का

सब प्रबन्ध कर दिया भोजन की समस्त सामग्रियाँ उनके समीप पहुँचा दीं। मुनि ने अग्निहोत्रादि नित्य कर्म किया और रात्रि मे यज्ञ की बातें सुनते हुए सुख पूर्वक विश्राम किया !

प्रातः काल नित्य कर्मों से निवृत्त होकर महामुनि वाल्मीकि जी ने अपने दोनों प्रिय शिष्य कुश और लव को बुलाया वे विनयी बालक हाथ जोड़े हुए गुरु के सम्मुख उपस्थित हुए। मुनि ने अत्यंत ही प्यार से कहा—पुत्रो। तुम इस महायज्ञ मे अपना सुंदर काव्य सभी को सुनाओ। यहाँ बड़े-बड़े राजे तथा प्रतिष्ठित पुरुष आये हुए हैं। संसार के कोने-कोने से दशों दिशाओं से राजा महाराजा गुण ग्रहितव्या कलाकार यहाँ एकत्रित हुए हैं। तुम सुन्दर स्वर से ताल और लय के साथ इस महाकाव्य को सुनाओ। जहाँ ब्राह्मण ठहरे हैं, जहाँ बाजार लगा है, जहाँ पर कारीगर काम करते हैं, जहाँ राजा लोग ठहरे हुए हैं सब स्थानो में जा-जाकर मेरे रचे इस महाकाव्य को सुनाना सुनाने मे प्रमाद मत करना। सुनाते-सुनाते थक जाओ तो बैठकर तनिक विश्राम लेना रसीले फलो को खाकर अपने श्रम को मिटाना। भूख लगने पर ही फलो को खाना। खा-खा कर गान करना। सरस, सुगंधित फलों को खाने से तुम्हारे कंठ पुनः सुंदर हो जाया करेंगे। गाते समय संकोच मत करना ऋषियो के यहाँ अधिक देर तक ठहर कर गाना। श्री रामचन्द्रजी के निवास स्थान पर भी जाना। वहाँ अत्यंत मधुर कंठ से गान करना। राजा रामचन्द्र तुम्हे गाने को बुलावें तो शिष्टता के साथ उनके समीप जाना। वे तुम्हारे पिता हैं। इसलिये उनसे कोई अशिष्टता का व्यवहार मत करना। उन्हें यह भी मत बताना कि हम आपके पुत्र हैं वे तुम्हारा परिचय पूछें तो इतना ही कह देना हम वाल्मीकि जी के शिष्य हैं। श्रीराम तुम्हे कुछ धन दें तो कभी

मत लेना। नम्रता के साथ कह देना हम वन में रहने वाले मुनि हैं हमें धन से क्या प्रयोजन! नित्य २० सर्ग गाना। यह सुन्दर स्वर वाली दो वीणायें हैं इन्हें बजाकर स्वरों मे स्वर मिलाकर गाना। गाते समय भूल मत जाना।

इस प्रकार मुनि ने अपने प्यारे शिष्य कुश और और लव को भाँति-भाँति की शिक्षायें दी। गुरु की शिक्षाओं को शिरोधार्य करके वे बच्चे गाते हुए आगे बढे। उस समय उनकी शोभा बडी ही अपूर्व थी। दोनों का रूप रंग स्वभाव व्यवहार, शील संकोच एक समान था दोनो की सुन्दर छोटी-छोटी सुनहरी जटायें थीं। वे वायु में बिखर कर उनके मुख मंडल पर हिलती हुई अत्यंत ही शोभा दे रहीं थी। दोनो ही पीले-पीले वस्त्र पहिने थे। दोनों के ही हाथ मे वीणा थीं, दोनों के ही कठ सुरीले थे, दोनो ही एक स्वर मे मिलकर गा रहे थे, उनके स्वर इस प्रकार मिले हुए थे, दूर से सुन कर कोई यह नहीं कह सकता था कि दो कुमार गा रहे हैं। उनकी चाल ढाल बडी ही सुन्दर थी, उनकी वीणा मे, चितवन मे, गायन में, उठन बेठन मे आकर्षण था उन दोनो के पेर एक साथ ही उठते थे। वे कभी ताल स्वर से बाहर नहीं जाते थे। सहस्रों नर नारी बालक, युवा, वृद्ध उन्हे चारो ओर से घेर लेते। वे सब उनका गायन सुनकर धन्य धन्य कहते। वे एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाते। लोग वहीं उनके पीछे लगे चले जाते उनके गान की सर्वत्र धूम मच गई। गायक आश्चर्य चकित रह गए। ब्राह्मण विस्मित हुए, राजाओं की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा रामचन्द्र जी की बीती हुई घटना प्रत्यक्ष सी प्रतीत होने लगीं। दोनों कुमार गाते-गाते श्रीरामचन्द्र के द्वार पर पहुँचे।

श्री रामचन्द्र जी ने इन बालकों को देखा देखते ही उनका

हृदय भर आया इनका गायन सुनकर तो वे आत्म विस्मृत हो गये। इतनी छोटी अवस्था में संगीत के समस्त नियमों का सावधानी से पालन करते हुए तालस्वर के साथ ये बालक गानकर रहे हैं, यह देखकर श्रीरामचन्द्र जी परम प्रसन्न हुए। लक्ष्मणजी के द्वारा उन बालकों को बुलाकर भगवान् ने पूछा - "क्या तुम लोग हमें गाना सुनाओगे।"

कुश ने विनीत भाव से कहा—"क्यों नहीं, महाराज की आज्ञा होगी तो अवश्य सुनावेंगे।"

यह सुनकर भगवान् ने राजसभा में सभी को बुलवाया। पुराण जानने वाले पंडितों को व्याकरण के ज्ञाता बड़े-बड़े वैया-करणों को, ज्योतिष विद्या के आचार्य ज्योतिषियों को, गणितज्ञों को वृद्ध ब्राह्मणों को, संगीत मर्मज्ञों को रसशास्त्र के ज्ञाता रसिकों को ललित कलाओं के कलाकारों को वाचकों को ऋषि मुनियों को चातुर्वर्ण के लोगों को यहाँ तक कि बालकों और स्त्रियों को भी उस काव्य श्रवणार्थ बुलाया गया। सभी को यथायोग्य बैठने के लिये आसन दिया गया। सब के बैठ जाने पर दोनों भाइयों ने निर्भय होकर अत्यंत ही सुरीली वाणी से गायन आरंभ किया। गाते-गाते वे तन्मय हो गये। श्रोताओं के नेत्र भर-भर-भर रहे थे। ये आनन्द में विभोर हुए आत्म विस्मृत से बने जा रहे थे। गाते-गाते विखिर जाते आनन्द के उद्रेक में तैरने और उतरने से लगते। श्रोता चित्र लिखे के समान चुपचाप होकर सुन रहे थे।

उस समय सभा में ऐसी शान्ति थी, कि कोई वेग से साँस भी लेता तो वह सुनाई देती। सभी के चित्त को उन बालकों ने आकर्षित कर लिये। आदि से लेकर उन्होंने २० सर्ग गाये। गुरु की आज्ञा नित्य २० सर्ग ही गाने की थी, अतः २० सर्ग गाकर

वे चुप हो गये। उनके गायन से श्री रामचन्द्रजी अत्यंत प्रभावित हुए। नगर निवासी तथा दर्शक कहने लगे—"ये तो रामजी की प्रतिकृति ही हैं। यदि ये मुनियों के वस्त्र न पहिने होते तो इनमें और श्रीरामजी मे कोई अंतर ही नहीं। श्रीरामजी का भी इनके प्रति कैसा सहज स्नेह है।

बालक जब रामायण गाकर चुप हो गये तब श्रीरामजी ने अपने छोटे भाई भरत से कहा—"भरत! इन परम गुणी ऋषि कुमारों को ९-९ सहस्र के सुवर्ण के सिक्के शीघ्र ही दे दो। इनके अतिरिक्त भी जो ये वस्तुएँ माँगें वे भी इन्हें दे दो।"

श्री रामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर भरत जी १८ हजार सुवर्ण मुद्रायें ले आये और इन बालकों को देने लगे। बालकों ने विनीत भाव से कहा—"राजन्! हम वनवासी मुनि हैं, इन सुवर्ण मुद्राओं को लेकर क्या करेंगे! हमें कुछ भी नहीं चाहिये।"

त्याग से पुरुष का आदर बढ़ता है। ग्रहण की अपेक्षा त्याग मे अधिक आकर्षण है। इतने छोटे बच्चों की ऐसी निस्पृहता देखकर श्री रामचन्द्र जी को मन ही मन बड़ी शांति हुई। उन्होंने अत्यंत ही स्नेह से सम्पूर्ण ममता बटोर कर उन बालकों से कहा—"बच्चों! यह अत्यंत सुंदर काव्य तुमने किससे पढ़ा? किसने इसकी रचना की। तुम किनके शिष्य हो? यह काव्य कितना बड़ा है? जिनसे तुमने यह काव्य पढ़ा है वे मुनि कहाँ रहते हैं, इस समय कहाँ हैं?"

कुश ने कहा—"प्रभो! इस महाकाव्य की रचना भगवान् वाल्मीकि ने की है। यह सबसे पहिला लौकिक छन्दों मे काव्य है, इसीलिये इसका नाम आदिकाव्य है। इसमें आपका चरित है इसीलिए इसका नाम रामायण है मुनि ने इसे ६ काण्डों मे समाप्त किया है। सातवाँ उत्तर काण्ड पीछे बनना है। इसमे २४

हजार श्लोक हैं। इसके पढ़ने से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसके रचयिता भगवान् वाल्मीकि आपके यज्ञ मे आये हुए हैं। वे ऋषियों की कुटियों के समीप एकान्त में ठहरे हुए हैं।"

लव-कुश की बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजी परम प्रसन्न हुए वे महातेजस्वी तपोधन महात्मा वाल्मीकि मुनि के समीप बधो के साथ गये। उनकी विधिवत् पूजा करके श्रीराम ने उनके तप की, शिष्यो की आश्रम के पशु पक्षी और वृक्षो की कुशल पूछी। मुनि ने भी महाराज रामचन्द्र के राज्य परिवार कोष सेना अमात्य तथा भाइयो की कुशल पूछी। तदनन्तर श्रीरामजी ने हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन ! आप पधारे यह मेरा अहो भाग्य। आपकी पद धूलि से यह पंडाल परम पावन बन गया। महात्मन् ! आपने जो यह काव्य बनाया है यह बड़ा ही अलौकिक है। इसकी रचना अलौकिक ढंग से की है। यह तो समाधि भाषा मे आपने सब घटनाओं को प्रत्यक्ष देखकर लिखा है। इन बचो का कंठ भी बड़ा मधुर है। मैं आपके साथ तथा समस्त ऋषि मुनियो के साथ इस सम्पूर्ण महाकाव्य को आपके इन सुयोग्य शिष्यो के मुख से सुनना चाहता हूँ। कल से आप भी सभा में कष्ट किया करें।"

यह सुनकर भगवान् वाल्मीकि प्रसन्न हुए और बोले—"रघुनन्दन ! आज मेरा श्रम सफल हुआ। जो रचना राम को प्रिय है, वही तो वास्तव मे रचना है। जिस रचना मे राम का महत्व वर्णित है उसी रचना को रसग्राही रसिक महानुभाव प्रशसा करते हैं। लेखक की अपने कृति का सर्वश्रेष्ठ पारिश्रमिक यही है कि उसकी कृति की विद्वान् लोग प्रशंसा करें। कलाकार की कला की कलामर्मज्ञ यदि बड़ाई करें तो उसका परिश्रम सफल जो जाता है। कल मै आपकी सभा मे अवश्य आऊँगा। बच्चे सबके सम्मुख नित्य २० सर्गों का गायन करेंगे।"

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न हुए। वे मुनि को प्रणाम करके तथा सेवकों को सभी प्रकार की सेवा करने का आदेश देकर अपने निवास स्थान को चले गये।

दूसरे दिन फिर सभा लगी। कुश-लव के संगीत की सर्वत्र प्रशंसा फैल गई थी। अब यज्ञ में जितने खेल तमाशे होते थे, सभी बंद हो गये। सभी सब कार्यों को छोड़कर कुश-लव का संगीत सुनने राजा राम की सभा में आने लगे। श्रीरामचन्द्र जी भी राज सिंहासन छोड़ कर मुनियों के बीच में साधारण पुरुषों की भाँति संगीत सुनते। लव और कुश छोटे होने के कारण ऊँचे मंच पर बिठाये जाते जिससे सभी उन्हें देख सकें दूर-दूर तक बैठे लोग सुन सकें। इससे यह दिखाया, कि पुत्रों के योग्य होने पर बुद्धिमान् राजा स्वयं ही उनके लिये सिंहासन छोड़कर पृथक हो जाते हैं।

इस प्रकार नित्य ही रामायण का गान होता सभी श्रोता उस श्रुति मधुर, सुंदर काव्य को बड़ी उत्कंठा से श्रवण करते। उसमें नवों रसों का वर्णन था। उसके पद सुंदर थे, अर्थ गांभीर्य अलौकिक था। सुनते ही श्रोता समझ जाते थे। सम्पूर्ण रामायण को सुनकर श्री रामचन्द्रजी तथा समस्त श्रोता समझ गये, कि ये लव-कुश सीता के पुत्र हैं। रामायण में इन सबका भी वर्णन आया था। इस अश्वमेध तक का वृतान्त उसमें गाया गया था। आगे मुनि ने सुनाने को मना कर दिया।

अंतिम दिन भगवान् वाल्मीकि सभा में नहीं आये। तब भगवान् ने सब सभासदों के सम्मुख अपने छोटे भाई लक्ष्मण से कहा—"सौमित्रे! तुमने रामायण में सुना है, ये दोनों सुंदर कुमार बच्चे तो सीता के ही हैं। इस काव्य के श्रवण करने से तो प्रतीत होता है, सीता सर्वथा शुद्ध है।"

यह सुनकर सभी श्रोता एक स्वर मे बोल उठे—"ये दोनों हमारे स्वामी हैं। ये रघुवंश की कीर्ति बढ़ाने वाले हैं। ये भगवती सीता के पुत्र हैं। सीता माता सर्वथा शुद्ध हैं। उनका निष्कासन घोर अन्याय है। हम इस यज्ञ मे जगज्जननी जानकी का दर्शन करना चाहते हैं।"

यह सुनकर शत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हुए और बोले—"जब मैं मधुवन लवण को मारने जा रहा था, तब एक रात्रि के लिये मुनिवर भगवान् वाल्मीकि जी के आश्रम पर ठहरा था। उस दिन सीता माता ने मेरे रहते ही इन दोनों यमज पुत्रो को उत्पन्न किया था। ये सीताजी के ही पुत्र हैं। सभी देख रहे हैं।

श्री रामजी और इनके रूप में कोई अंतर नहीं। मुझे भगवान् वाल्मीकि ने मना कर दिया था कि तुम इस बात को किसी से कहना मत समय स्वयं ही इन बातो को प्रकट करा लेगा।"

इस पर रोते-रोते लक्ष्मण ने कहा—मैं आपकी आज्ञा से माता जी को छोडने जब गया था, तब उन्होंने रोते-रोते कहा था—"लक्ष्मण! तुम मेरा उदर देखते जाओ। मैं गर्भिणी हूँ पीछे मुझे लांछन न लगावे यह ससार बहुमुख है।"

इतना सुनते ही सब लोग रोने लगे। सभी ने एक स्वर मे कहा—"सीताजी गंगाजल के समान शुद्ध हैं। जिन्होंने उनके सम्बन्ध मे बुरी बात कही हो उनकी जिह्वा गिर जाय।"

फिर हनुमान् जी खड़े हुए। उन्होंने कहा—"रघुनन्दन! ये अवश्य आपके पुत्र हैं। ससार मे आज तक कोई मुझे पराजित नहीं कर सका। किन्तु इन दोनों बच्चों ने हमारी समस्त सेना का सहार कर दिया। हम सबको मूर्छित बना दिया हमे साधारण वानरों की भाँति घोड़े की पूछ से बाँध कर ये आश्रम मे ले गये। वहाँ सीता माता ने हमे छुड़ाया उन्होंने रोते-रोते हमसे कहा—"मेरे

स्वामी ने मुझे अपनी कीर्ति की रक्षा के लिये बिना अपराध छोड़ दिया है। मैं तो उन्हीं की हूँ, यदि उनकी कीर्ति रक्षा में मेरा उपयोग हो, तो इससे बढ़कर मेरे लिये सौभाग्य की क्या बात है अपने पति के लिये मैं सभी प्रकार की विडम्बना सहन करने को तैयार हूँ।" सुग्रीवजी ने भी हनुमान्‌जी की बातों का खड़े होकर समर्थन किया।

सबकी बात सुनकर रुँधे हुए कंठ से भगवान श्रीराम लक्ष्मणजी से बोले—"सुमित्रानन्दवर्धन लक्ष्मण! भाई सभी की सम्मति हैं, तो तुम भगवान् वाल्मीकि के समीप जाओ यदि वे उचित समझें तो सीता को यहाँ बुलावें। सीता सबके सम्मुख अपनी शुद्धता की शपथ दे।"

यह सुनकर सभी हाय! हाय! करने लगे। आपस में कहने लगे। श्रीरामचन्द्रजी वैसे तो अत्यंत ही कोमल स्वभाव के हैं, किन्तु न जाने सीता के लिये इतने कठोर क्यों हो गये हैं। जो गंगाजल के समान विशुद्ध हैं वे सबके सम्मुख अपनी विशुद्धता की शपथ कैसे देंगी, सभी लोग सीताजी की प्रशंसा करने लगे और लव-कुश के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने लगे।

लक्ष्मणजी भगवान की आज्ञा शिरोधार्य करके भगवान् वाल्मीकि के निवास स्थान पर आये और आकर बोले प्रभो! सभी प्रजा के लोगों की इच्छा से श्रीरामजी सीता को भरी सभा में सब के सम्मुख देखना चाहते हैं, यदि आप उचित समझें और आज्ञा दें तो जानकी यहाँ आवें आप अपने किसी शिष्य को भेज कर सीताजी को अपने समीप बुलालें।"

भगवान् वाल्मीकि ने कहा—"सीता तो शुद्ध है। श्रीराम तो नरलीला कर रहे हैं। अच्छी बात है जैसी उनकी इच्छा। जिसमें उन्हें प्रसन्नता हो। यह सीता की विडम्बना है, उसका सबसे

बड़ा अपमान है। किन्तु पतिव्रता स्त्री, पति की प्रसन्नता के लिये सब कुछ सहन करती है। राम की इच्छा है तो सीता बुलाई जाय, किन्तु शिष्य के द्वारा नहीं। सीता को तुम छोड़ आये हो तुम ही राम के उसी रथ को लेकर जाओ और उसे बुला लाओ। वह आ जायेगी मेरा ऐसा ही विश्वास है।"

मुनि की आज्ञा शिरोधार्य करके लक्ष्मण रथ लेकर स्वयं ही महामुनि वाल्मीकि के आश्रम पर गये। वहाँ तपसियों से घिरी हुई वल्कलवस्त्र पहिने राम विरह मे दुबली हुई सीताजी बैठी थीं। लक्ष्मणजी ने दूर से ही भूमि में लोटकर उन्हें प्रणाम किया।

लक्ष्मणजी को देखकर सीताजी ने कहा—"रामानुज लक्ष्मण! कहो भैया! तुम कुशल हो न? तुम्हारे स्वामी तो अच्छी तरह से हैं न? तुम्हारा यज्ञ तो भली भाँति हो रहा है न! कुलपति भगवान् वाल्मीकि भी अपने शिष्यों सहित तुम्हारे यज्ञ को देखने गये हैं वे तो सब मुनियों के सहित कुशल हैं न? तुम रथ मे चढ़कर कहाँ जा रहे हो? मुझ अभागिनि की तुम्हें कैसे याद आगई तुम मार्ग भूल कर तो इधर नहीं चले आये?"

लक्ष्मणजी ने रोते-रोते कहा—"माँ! तुम मुझे लज्जित मत करो! सेवक का धर्म बड़ा कठोर होता है। मै राजाराम के कठोर शासन के कारण आपके दर्शन भी नहीं कर सकता। श्री रामचन्द्र आपको देखना चाहते हैं। वे देश देशान्तरों के सम्मुख समस्त ऋषि मुनियों के सम्मुख तथा प्रजा के आबाल वृद्ध नर नारियों के सम्मुख आपको विशुद्ध सिद्ध करना चाहते हैं?

यह सुनकर आँसू पोंछती हुई सीताजी बोलीं—"सुमित्रानन्द-वर्धन लक्ष्मण! अब मुझे तुम्हारे स्वामी क्या देखेंगे। अब तो मैं धर्म अर्थ तथा काम से हीन होकर भिक्षुकी बनकर इस वन मे अपना जीवन बिता रही हूँ। मेरे द्वारा उनकी कौन सी सेवा

होगी। सोने की सीता से वे अपना यज्ञ पूर्ण करें मैं अब कैसे यज्ञ मडप मे उनकी बगल बैठ सकती हूँ। बाहर से आये हुए राजाओं के सम्मुख मैं कैसे मुँह दिखाऊँगी। मेरे पिता भी यज्ञ मे आये होंगे, उनके सामने मैं कैसे जा सकूँगी। लक्ष्मण मुझे लज्जित करने वहाँ क्यों ले चलते हो। विवाह के समय श्रीरामचन्द्रजी की जो मनमोहनी मूरति हृदय पटल पर अकित हो गई है, वह मरणपर्यन्त मिट नहीं सकती। उसी का निरन्तर चिंतन करती हुई राम नाम का जप करती हुई तपस्या के द्वारा अपने शरीर को त्याग दूँगी। अब मुझे क्यों खिलौना बनाते हो क्या महाराज ने मेरे लिये आज्ञा दी है ?"

लक्ष्मणजी ने कहा—"देवि ! मुझे श्रीरामचन्द्र ने आपके लिये तो आज्ञा दी नहीं। भगवान् वाल्मीकि के लिये कहा था—"वे उचित समझें तो सीताजी को बुला ले।" मुनि ने मुझ से कहा—"तुम जाओ और सीता आना चाहे तो ले आओ।" उनकी आज्ञा से मैं यहाँ आया हूँ। अब आप जो आज्ञा देंगी वह करूँगा मेरा काम तो सबकी आज्ञा पालन करना है। सब भाइयो मे मैं ही ऐसा अभागा हूँ जो ऐसे कठिन कार्य मुझे ही करने ही पडते हैं।"

यह सुनकर अत्यत ही दीनता के स्वरो मे जानकी जी बोलीं—"मेरे प्यारे देवर ! देखो, मैं तुम्हारे पैरो पडती हूँ। महाराज की आज्ञा होती तो मुझे सिर के बल आना ही पड़ता। अपनी इच्छा से मै वहाँ जाना नहीं चाहती। वहाँ मुझे अब मत ले चलो। स्त्री का मुख्य प्रयोजन पुत्रोत्पत्ति ही है। सो श्रीराम का यह प्रयोजन सिद्ध हो ही चुका उनके तेज से दो पुत्र हो ही चुके। वे तुम्हारे यज्ञ मे हैं ही। उन्हे यदि वे विशुद्ध समझें तो अपने समीप रख लें। मैंने धाय की भाँति लालन पालन करके उन्हें

इतना बडा कर दिया है। अब वे राज काज के योग्य बन गये हैं महाराज के कार्यों मे सहायता देंगे। अब मुझे तो यहीं पडी रहने दो। कभी सुन लेना सीता मर गई तब तुम दो आँसू बहा लेना। अब मेरी यह अतिम भेंट समझो। देवर! मैं तुम्हे दोष नही देती। मेरे भाग्य का दोष है। जैसे मैं श्रीराम की आज्ञा के अधीन हूँ वैसे ही तुम हो। तुम जाकर महाराज के चरणो मे मेरा प्रणाम कहना यज्ञ में पधारे हुए पूज्य जनो की मेरी ओर से चरणवन्दना करना मेरी देवरानियो से कुशल पूछना। अपने बच्चो से मेरा प्रेम आशीर्वाद कहना। कुश से लव से कह देना, अपने बाप के पास रहे। मेरी वे याद न करें। मैं तो उनकी धाय थी।"

इतना सुनते ही लक्ष्मण रोने लगे। उनकी हिचकियाँ बँध गई। वे बालकों की भाँति फूट-फूट कर रूदन कर रहे थे। उन्हें सान्त्वना देते हुए सीताजी कहने लगीं "लक्ष्मण! तुम पुरुष होकर भी इतने अधीर होते हो। देखो, मे अबला होकर भी अपने हृदय को पत्थर बना कर अपने पति के वियोग को इतने दिनों से सहन कर रही हूँ। जाओ, भगवान तुम्हारा भला करें। सबसे मेरा सदेश अवश्य कह देना।"

यह सुनकर लक्ष्मण जी ने जानकी को प्रणाम किया, उनकी प्रदक्षिणा करके रथ पर चढ कर वे श्रीराम के समीप आये। वहाँ आकर उन्होंने सब वृतान्त सुना दिया सुनकर श्रीरामजी स्तम्भित हो गये कुछ देर तक गभीरता पूर्वक सोचते रहे और अन्त में बोले—"लक्ष्मण! तुम फिर से जाओ। अबके सीता को मेरा सदेश सुनाना। कहना "देवि! वन में रहकर तपस्या के द्वारा तुम मुझे ही तो पाना चाहती हो। मेरे अतिरिक्त तुम्हारी और कोई अन्य गति है क्या? गर्भावस्था मे वन जाने की

इच्छा प्रकट की थी। तुमने ही कहा था मैं वन में तपसियों की मुनिपत्नियों की पूजा करूँगी। मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही तुम्हे वन मे भेजा था अब बहुत दिनो तक तुमने मुनि पत्नियों की सेवा की। वन मे निवास करके वहाँ का आनन्द भी लिया अब मै ही तुम्हे पुनः बुला रहा हूँ तुम आओ। मै मन से तो तुमसे सदा सन्तुष्ट ही हूँ। मेरा तुम्हारे प्रति पूर्ववत् ही प्रेम है यही नहीं। तुम्हारी तपस्या व्रत, तीर्थसेवन दान, धर्म, दया दाक्षिण्य तथा त्याग के कारण वह प्रेम और भी अधिक बढ़ गया है। पतिव्रता पत्नियो की पति ही गति हैं पति ही उनके सर्वस्व हैं, वे घर मे रहे या वन मे पति ही उनके आराधनीय हैं। अब तुम्हें मैं बुला रहा हूँ। भगवान् वाल्मीकि के साथ तुम निःसकोच मेरे समीप आओ।"

लक्ष्मणजी ने श्रीराम की बातो को ध्यानपूर्वक सुना। उन्हें धारण किया और उनकी आज्ञा से पुनः ज्यों के त्यों रथ पर बैठकर भगवान् वाल्मीकि के आश्रम पर आये। पुनः लक्ष्मण को आया देखकर सीताजी समझ गईं अब तो चलना ही होगा। लक्ष्मणजी ने हाथ जोड़कर स्खलित वाणी से डरते-डरते श्रीरामचन्द्रजी का सम्पूर्ण सदेश सुनाया उनका शरीर काँप रहा था, नेत्रो से निरन्तर जल बह रहा था, सीताजी उनकी विवशता तथा आत्मग्लानि का अनुभव कर रही थीं। उन्होने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, इतना ही कहा—"अच्छा चलती हूँ।"

कुटी मे जाकर उन्होने कुटी के अधिष्ठातृ देव को प्रणाम किया आश्रम के पालतू मृगो को प्यार किया वृक्षो की ओर सतृष्ण नयन से देखा बड़ी बूढ़ी तापसियों की चरणवन्दना की बराबर वाली मुनि पत्नियो से मिल भेंटकर वे चलने को उद्यत हुई उनका हृदय भर रहा था।

तपस्विनी मुनिपत्नी उन्हे पहुँचाने दूर तक गईं। वे बार-बार कहतीं-"सीते! अब कब तुमसे भेंट होगी। अब तो तुम फिर राज-रानी बनोगी अब फिर इस वन मे काहे को आओगी फिर तो तुम हमे भूल ही जाओगी। जानकी सब की बात सुनतीं और रो देतीं उनकी वाणी रुक गई थी, वे एक शब्द भी नही बोल सकती थीं। आश्रम के बाहर आकर उन्होने फिर एक बार समस्त आश्रम को अतिम प्रणाम किया और रथ पर चढ़ गईं। लक्ष्मणजी ने रथ लाकर भगवान् वाल्मीकि मुनि के आवास पर खड़ा कर दिया। कुश लव अपनी माता को आई देखकर दौड़ कर रथ के समीप पहुँच गये और माँ-माँ कहकर उनसे लिपट गये।

सीताजी ने लजाते हुए पहिले भगवान वाल्मीकि को प्रणाम किया, फिर समस्त मुनियों की चरणवन्दना करके एक ओर सिकुड़ी सिमटी सी बैठ गईं। लक्ष्मण सीताजी को उतार कर मुनि की आज्ञा लेकर चले गये। श्रीरामचन्द्रजी से जाकर उन्हे सब समाचार निवेदन किया श्रीरामचन्द्रजी ने आज्ञा दी। सीता कल मुनि के साथ भरी सभा मे आवे और अपनी शुद्धता के सम्बन्ध मे सब के सम्मुख धर्मपूर्वक शपथ दे, सेवको ने वह संदेश भगवान् वाल्मीकि के समीप पहुँचा दिया। तपोधन महर्षि ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। आज लव कुश ने बडे उल्लास के साथ माताजी को यज्ञ के सब समाचार सुनाये और यह भी कहा—"पिताजी ने हमारा गायन बड़े प्रेम से सुना और हमें बहुत-बहुत प्यार किया।"

यह सुनकर सीताजी को परमसंतोष हुआ। प्रातःकाल हुआ। ऋषि नित्यकर्मों से निवृत्त हुए, इधर श्रीरामचन्द्रजी ने भी आज सभी ऋषि मुनि, राजामहाराजाओ और प्रजा के सभी वर्गों के लोगों को विशेष रूप से बुलाया सभा

खचाखच भर गई था। उसमें किसी को आने की रोकटोक नहीं था। सबके स्थान बने हुए थे, सभी उत्सुकता पूर्वक सीताजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सहसा जनसमूह में एक बड़ा भारी कोलाहल सा मच गया। माना अगाध समुद्र में ज्वारभाटा आया हो, कुछ लोग उचक-उचक कर देखने लगे कुछ खड़े हो गये, कुछ चिल्लाने लगे बैठ जाओ बैठ जाओ राजसिंहासन के समीप वशिष्ठ, वामदेव, जाबालि, काश्यप विश्वामित्र, दीर्घतपा, दुर्वासा, पुलस्त्य, शक्ति, भार्गव, वामन मार्कंडेय, मौद्गल्य, च्यवन, शतानन्द, भरद्वाज, गोतम, सुप्रभ, नारद पर्वत, तथा अन्यान्य ऋषि महर्षि देवर्षि राजर्षित था मुनि पुत्रों शिष्यप्रशिष्यों से घिरे हुए बैठे थे, उन सबने सम्मुख देखा प्रचेता के परम तेजस्वी पुत्र भगवान वाल्मीकि गम्भीरता के साथ राजसभा में प्रवेश कर रहे हैं, उनके आगे-आगे कुश और लव दोनों बच्चे हाथ में वीणा लिये हुए रामायण का गान कर रहे हैं वे उत्तरकाड के उसी प्रसग का गान कर रहे हैं, जिसमें सीताजी का परित्याग किया गया था, लक्ष्मण उन्हें निर्जन वन में छोड रहे हैं और जानकीजी रोकर पतिदेव के प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर रही हैं, मुनि के शात गभीर मुखमडल पर एक अपूर्व आभा छिटक रही है। वे अपने तेज के कारण सूर्य समान प्रकाशित हो रहे हैं। कुश और लव तन्मयता के साथ वीणा की ध्वनि में अपना स्वर मिलाकर निर्भय होकर गा रहे हैं, मुनि के पीछे पीछे लज्जा से सहमी सिकुडी सीताजी हाथ जोडे हुए आ रही हैं। वे किसी की ओर दृष्टि उठाकर देखती नहीं। हृदय में रामरूप का चिंतन करता हुई, मुख से शनैः शनैः राममत्र का जप करती हुई तथा नेत्रों से अविरल अश्रु बहाती हुई सीताजी मुनि का अनुगमन कर रहीं थीं। वे ऐसी लगती थीं

मानो ब्रह्माजी के पीछे श्रुति जा रही है, अथवा बृहस्पति के पीछे पतिवियोग से दुखी शची देवी जा रही हो अथवा साक्षात् सजीव शान्तरस के पीछे करुणा जा रही हो। सीताजी को देख

कर सभी साधु-साधु कहने लगे, सभी रोने लगे, कोई राम के धैर्य की प्रशंसा करने लगे, कोई दोनों के प्रेम का गुणगान करने लगे चिकों में से भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की पत्नियाँ अपनी जिठानी को तापसी वेष में देखकर फूट-फूटकर रोने लगीं। राजमहल की स्त्रियाँ ढाह मार कर रोने लगीं, उस सभा में कोई भी ऐसा नहीं

था, जिसका धैर्य न छूट गया हो, केवल एक श्रीरामचन्द्र ही ऐसे थे, अत्यत गम्भीरता के साथ निर्विकार चुप चाप बैठे थे, मुनि के आदर मे तथा जगज्जननी के सत्कार के लिये सभी उठकर खडे हो गये। श्रीरामचन्द्रजी ने सिहासन से उठ कर मुनि का स्वागत किया उन्हे बैठने को सुंदर आसन दिया। मुनि दोनो बालकों को सम्मुख बिठाकर सब मुनियो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके बैठ गये। सीताजी मुख ढाकें रोती हुई कुछ टेढ़ी होकर मुनि के सिहासन को पकड़े हुए पीछे खड़ी थीं उन्होने मन ही मन अपने आराध्यदेव के चरण कमलो मे प्रणाम किया वे घूँघट मे से श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करना चाहती थीं, किन्तु निरतर आँसुओं से भरे रहने के कारण वे भली भाँति श्रीरामचन्द्रजी को देख न सकीं। मुनि ने दोनो बच्चो से कहा—"पुत्रो! तुम अपने पिता को जाकर प्रणाम करो।" मुनि की आज्ञा पाकर दोनों बच्चे सिंहासन के समीप गये। और सिर झुकाकर श्रीरामचन्द्रजी के चरणों मे प्रणाम किया। मर्यादा पुरुषोत्तम ने उन बच्चो को स्पर्श नही किया बच्चे आकर पुनः मुनि के चरणों में बैठ गये।

पीछे रोती हुई खडी सीता को देखकर मुनि ने भर्राई हुई हुई वाणी मे कहा—"बेटी! बैठ जाओ।

मुनि की आज्ञा पाकर बच्चो के नीचे ही मुनि के चरणों मे सीताजी बैठ गईं। वे निरतर भूमि की ही ओर निहार रही थी। अपने अँगूठे के नख से पृथ्वी को कुरेद रही थीं। मानो अपने लिये बिवर खोज रही हों। कोलाहल के शान्त हो जाने पर तथा सबके यथायोग्य बैठ जाने पर वृद्ध मुनि अपने सिंहासन पर ही उठ कर खड़े हो गये। मुनि को खडा देखकर कोलाहल सर्वथा शांत हो गया। उस समय यदि एक सुई भी गिर पड़े तो उसका भी शब्द सुनाई दे। सभी बडी उत्सुकता से महामुनि भगवान्

वाल्मीकि के मुख की ओर निहार रहे थे, सभी उनके मुख से सीताजी के सम्बन्ध मे सुनने को अत्यधिक लालायित थे। मुनि ने श्रीरामचन्द्रजी को सम्बोधित करके मेघ गर्भार वाणी मे अपना अभिप्राय व्यक्त करना आरभ किया।

मुनि बोले—"राघव! यह तुम्हारी धर्मपत्नी सीता है। यह पवित्र है निर्दोष है। यह धर्म चारिणी तथा तपस्विनी है इसने बड़े-बड़े व्रतो का पालन किया है आपने लोकापवाद के भय से इसका परित्याग किया है। यद्यपि आपको भी इसकी पवित्रता मे किसी प्रकार का सदेह नहीं, फिर भी लोक दृष्टि से आपने इसका परित्याग किया है। जब यह गर्भिणी थी, तभी इसका लक्ष्मण द्वारा मेरे आश्रम के समीप त्याग किया गया था। इसने मेरे आश्रम मे रहकर धर्म पूर्वक जीवन व्यतीत किया है, इन दोनो बालकों को जन्म दिया है ये धर्म पूर्वक आपके पुत्र हैं। सीता विशुद्ध है इसमें कोई दोष नहीं। मेरा नाम वाल्मीकि है, मैं गंगातट पर रहता हूँ। प्रचेता का दशवाँ पुत्र हूँ। मैंने अपनी स्मृति मे कभी हँसी में भी झूठ बोला हो, इस बात का मुझे स्मरण नहीं है। मैंने सहस्रों वर्षों तक घोर तपस्या की है। मुझे मेरी तपस्या का फल न मिले यदि सीता की पवित्रता मे कोई सन्देह हो। मुझे उन नरको की प्राप्ति हो जो झूठ बोलने वालो को मिलते हैं यदि सीता में कोई दोष हो तो। मैंने मनसा, वचसा तथा कर्मणा कभी कोई पाप नहीं किया है। इस धर्माचरण का मुझे कुछ भी फल प्राप्त न हो यदि सीता पापिनी हो तो। मैंने बड़े-बड़े यज्ञ और अनुष्ठानों को किया है। वे सब निष्फल हो जायँ यदि सीतानिष्पाप न हो तो, मैं भूत भविष्य तथा वर्तमान की सभी बातो को अपनी तपस्या के प्रभाव से जानने मे समर्थ हूँ। सीता को जब पहिले ही पहिले मैंने अपने आश्रम के निकट

देखा था, तभी मैंने इसे अपने आश्रम में आश्रय दिया। राघव! सीता धर्मचारिणी है। दशरथपुत्र! तुम्हारे पिता मेरा बड़ा सम्मान करते थे। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, सीता गंगाजल के समान पवित्र है। यह आपको ही अपना इष्टदेव तथा सर्वस्व समझती है। यह स्वयं भी आपको सबके सम्मुख अपनी पवित्रता का विश्वास दिलावेगी।"

इतना कहकर मुनि आसन पर बैठ गये। मुनि के बैठ जाने पर हाथ जोड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी सिंहासन से उठे। वे डर रहे थे। उनका शरीर काँप रहा था, उनके शब्द स्पष्ट नहीं निकलते थे। वे भगवान वाल्मीकि को सम्बोधन करके सीताजी की ओर देखते हुए बोले—"प्रभो! आप जो कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य है। आपके वचनों पर मुझे पूर्ण विश्वास है। चाहे सूर्य पश्चिम में उदय हो जाय, चन्द्रमा अग्नि उगलने लगे जल अपनी शीतलता के गुण को छोड़ दे यह सब संभव भी हो सकता है, किन्तु आप असत्य भाषण करें यह संभव नहीं। मुनिवर! मैं अत्यन्त अभागा हूँ, जो आप जैसे तपोधन सीता की शुद्धता के सम्बन्ध में मेरे सम्मुख इतनी बड़ी-बड़ी शपथें कर रहे हैं। स्वामिन्! मैं यह भली-भाँति जानता हूँ मेरी पत्नी पतिव्रता है, इसमें कभी कोई दोष नहीं आया है। लंका में वैदेही ने देवताओं के सम्मुख अग्नि में प्रवेश करके अपनी पवित्रता प्रकट की थी। देवताओं के कहने से मैं अपनी पाप रहित पत्नी को घर ले आया था। फिर भी अपनी निर्बलता के कारण लोकापवाद के भय से मैंने इसका परित्याग कर दिया। आप चाहते तो इस अपराध के कारण मुझे शाप देकर भस्म कर देते, किन्तु आपने मेरे इस अपराध की ओर ध्यान नहीं दिया। मुझे क्षमा कर दिया और धर्मचारिणी जनकनंदिनी को आश्रय प्रदान किया। यह आपकी ही

चरणछाया मे रहकर धर्मपूर्वक रहती रही। आप तो इसके पिता हैं ही। मेरे तो आप पिता से भी बढ़कर हैं। प्रभो अपने पिताजी की गोद मे बैठ कर हमने आपके उपदेश सुने हैं। पिताजी जब हमें आपके चरणों मे डाल देते थे तब आप हमे स्नेहपूर्वक गोदी मे उठा लेते थे। हमारा मुख चूमकर हमे प्यार करते थे। आप तो मेरे पिता के भी पूजनीय हैं। मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ। लोकापवाद से डर कर ही मैंने पतिप्राणा अयोनिजा जानकी का परित्याग किया है। ये दोनों मेरे पुत्र हैं इसे मै भली-भाँति जानता हूँ। मैंने सीता को न कभी अशुद्ध समझा है न अब ही समझता हूँ। फिर भी मैं उसी सीता को ग्रहण कर सकता हूँ, जिसे सभी शुद्ध कहे। एक के मन मे भी इसके प्रति सदेह रह जायगा, तो मैं इसे ग्रहण न करूँगा। सीता सबके सम्मुख अपनी शुद्धता की शपथ दे। सब इसे शुद्ध मानलें तो यह मेरी पुनः वैसी ही धर्मपत्नी हो सकती है।"

श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी कठोर बातें सुनकर सभी हाय-हाय करने लगे। सभी का चित्त दुखित हुआ। सभी रोने लगे। तब वाल्मीकिजी ने सामने गुड़िया की भाँति सिमिटी सुकुड़ी सीता से सरलतापूर्वक कहा—"बेटी! तुम सबके सामने अपनी पवित्रता के सम्बन्ध में शपथ लो। संसार समझ जाय तुम सर्वथा शुद्ध हो।"

लज्जा के कारण जिनका सिर ऊपर उठता ही नहीं था, जो आत्मग्लानि के कारण किसी को अपना मुख दिखाना नही चाहती थी सकोच के कारण जो गडी सी जा रही थी, विवशता के कारण जो अपने अंगो मे ही विलीन होने का प्रयास कर रही थीं वे भूमिनंदिनी वैदेही उठीं। वे काषाय वस्त्र पहिने थीं। जो बड़े कष्ट से उठ सकीं थीं। मुनि के चरणों मे प्रणाम करके वे श्रीराम-चन्द्रजी की ओर बढ़ी। दर्शक अपलक नेत्रो से सीताजी को ही

बच्चों को सम्हाले। रोते हुए मुनि ने बच्चों को पकडा आकाश से सेनिरतर पुष्पो की वर्षा हो रही थी। भगवती सीता उन पुष्पों से ढक गई। सब लोग साधु-साधु, धन्य-धन्य कहने लगे। बहुत से मूर्छित होकर गिर पड़े। बहुत से विकल होकर रोने लगे। आकाश मे देवता दु दुभि बजाते हुए कह रहे थे—"देवि! तुम धन्य हो, तुम्हारा शील और पातिव्रत अनुकरणीय है। सबके देखते-देखते सिंहासन पृथ्वी मे समाने लगा। सबके धैर्य का बाँध टूट गया। श्रीरामचन्द्रजी सीताजी को पकड़ने दौड़े तब तक सीताजी पृथ्वी मे प्रवेश कर चुकी थीं। उनकी चोटी के कुछ बाल थे।

भगवान् ने उन्हे ही पकडा। उससे अलसी का वृक्ष उत्पन्न हो गया, जो ससार मे सीताजी के भू प्रवेश का प्रतीक है। आज सीताजी प्रकट रूप से पृथ्वी पर नही हैं किन्तु उस सीता के वृक्ष को पाकर पशुओं के लिये हरा चारा लाने वाले पशुपालक बडे प्रसन्न होते हैं और कहते हैं।

सीता माता मोहनी। करदे मेरी बौहनी।

छप्पय

राम सभामहँ शपथ प्रचेता सुत ने कीन्हीं।
सुर नर ऋषि मुनि सबनि विशुद्धा सीता चीन्हीं॥
पाइ राम रुख सीय धरा तें बोली बानी।
पतिपरायण मोइ जननि! यदि तुमने जानी॥
तो अपने ई उदर महँ, करहु लीन अपनाउ अब।
सुनत भूमि फाटी तुरत, धँसन लगीं सिय दुखित सब॥

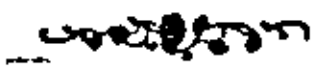

सीताजी के लिये भगवान् का शोक

[७०२]

तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नापि धिया शुचः।
स्मरस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद् रोद्धुमीश्वरः ॥
स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासमावहः।
अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० ६, १७ श्लो०)

छप्पय

निरखि निकल रघुनाथ भये साहस सब छूट्यो।
पुरुषारथ अब घट्यो धैर्य को दृढ पुल टूट्यो ॥
प्रेम सहित ढिँग बैठि मातु सम कौन सवावै।
हाय ! प्रिये ! कहँ गई कौन अब सीस सिसावै ॥
को रम्भा के सरिस सुख, देहि बात केहि सँग करूँ।
जीऊँ काको मुख निरखि, कीड़ बदन काको धरूँ ॥

हमारा प्रेमी हमारे साथ रहे तो नित्य साथ रहने से उसका महत्व मालूम नहीं पडता, वह हमें साधारण व्यक्ति ही प्रतीत होता है। उससे जब वियोग हो जाता है, तो पीठ पीछे उसके गुणों का स्मरण होता है। उसकी स्मृति में हृदय रोता है। स्नेह का स्रोत उमडने लगता है।

* श्री शुकदेव जी कहते हैं— राजन ! सीताजी के विरह

मिलन की उत्कट इच्छा होती है। मिलने पर प्रथम कैसे मिलेंगे क्या-क्या बातें कहेंगे, किस प्रकार उलाहने देंगे कैसे उससे हृदय से हृदय सटा कर मिलेंगे इसी प्रकार की धुनाधुनी होती है। मिलने पर वे सभी बातें भूल जाती हैं। मुख से वाणी नहीं निकलती, अंग शिथिल हो जाते हैं, केवल हृदय से घनीभूत भाव पिघल कर जल बनकर नयनों के द्वारा बहने लगता है यदि उससे सदा के लिये वियोग हो जाय, तब तो साहस छूट जाता है। धैर्य का सुदृढ़ सेतु टूट जाता है। जिसके मिलन में जितना ही अधिक सुख होता है, उससे बिछुरन में उतना ही दुख होता है इस संयोग वियोग की शृंखला के ही कारण संसार चक्र घूम रहा है। संयोग के सुख में राग और वियोग के दुःख में द्वेष न हो तो सभी मुक्त ही न हो जायँ, फिर संसार के आवागमन में फँस कर प्राणी पग-पग पर त्रास का सामना क्यों करें। क्यों ये फिर-फिर जन्म लें, फिर जन्म लें, फिर-फिर काल के कवल बनें। स्त्री पुरुष सम्मिलन की इच्छा से ही मिथुनधर्म में अनुरक्ति होने के कारण ही संसृति है क्लेश है, आवागमन जन्म मरण का दुःख है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सीताजी सहसा भूविवर में

समाचार सुनकर भगवान् रामचन्द्र जी दुखित हुए। उन्होंने अपने शोक को बुद्धि के द्वारा रोकना चाहा किन्तु ईश्वर होने पर भी वे रोकने में समर्थ न हुए। सीताजी में बहुत से गुण थे उनके सब गुणों का जब स्मरण हो आता तब वे विकल हो जाते। यह स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध ऐसा ही सर्वत्र दुख देने वाला ही है। जब इतने बड़े बड़े ईश्वर भी इस चक्कर में पड़ कर विकल हो जाते हैं तब अन्य गृहासक्त विषयी पुरुषों की तो कथा ही क्या है।

समागई । श्रीराम मुनि के सिहासन के डडे को पकडे काष्ठ की मूर्ति के समान खडे थे। वे कुछ निर्णय ही न कर सके। सीता के वियोग के कारण उनके अन्तःकरण मे तूफान सा उठ रहा था। वे क्रोध और रोष के कारण कॉप रहे थे। प्रियतमा के अन्तर्हित हो जाने के कारण निरतर रो रहे थे। अपनी विवेक बुद्धि के द्वारा बढे हुए कोप को रोकने का प्रबल प्रयत्न कर रहे थे, किन्तु वे अपने को रोक न सके। जानकी के प्रेम के बाहुल्य के कारण वे अपने भाव को पचाने मे समर्थ न हुए। ईश्वर होकर भी वे अपने आप पर नियन्त्रण न कर सके। वे क्रोध मे भर कर बाण तानकर, पृथ्वी को सम्बोधन करके बोले—"धरा! तुम सबको धारण करने वाली कहाती हो, मेदिनी! तुम्हारा निर्माण अशुद्ध मेद के द्वारा हुआ है, वसुन्धरे! तुमने बहुत से धन को अपने भीतर धारण कर रखा है। मेरा धन तो मेरी प्रिया ही थी। तुमने मेरी प्रिया को अपने मे क्यो छिपा लिया है तुम जानती नहीं मैं उसे कितना प्यार करता हूँ। राक्षसराज रावण उसे लका मे ले गया था, उसे परिवार सहित मार कर मैं वहाँ से सीता को ले आया। फिर पाताल से लाना मेरे लिये कौन कठिन है। मैं सीता के बिना रह नहीं सकता या तो तुम मेरी सीता को मुझे दे दो, नहीं तो मुझे भी ले चलो जहाँ मेरी प्राणवल्लभा है। भूदेवी! मैं तुम्हें क्षमा नहीं कर सकता। तुमने यदि मेरी बात न मानी तो मैं वन, पर्वत, नद, नदी, नगर तथा सम्पूर्ण प्राणियो सहित तुम्हें पलट दूँगा। टुकडे टुकडे करके तुम्हे बखेर दूँगा सीता तुम्हारे ही उदर से उत्पन्न हुई थी, वह तुम्हारी पुत्री थी, किन्तु उसके पालक पिता जनक ने धर्म पूर्वक उसे मुझे दे दिया था। अब तुम्हारा उस पर कोई अधिकार नहीं। वह मेरी है, उसके नाते से ही तुम मेरी माता के समान हो। सास

ही में तुम्हारा सम्मान करता हूँ, तुम्हारे ऊपर बाण नहीं छोडता, किन्तु तुम मेरा अपमान कर रही हो, मेरी बात पर ध्यान नहीं दे रही हो मैं तुम्हे बिना मारे छोड नहीं सकता तुम्हें रसातल पहुँचा दूँगा। प्रलय के समान ससार में जल ही जल कर दूँगा। मैं अपने रोष को रोकने मे सर्वथा असमर्थ हूँ। मैं अपने भावो का सवरण नहीं कर सकता सीता को पाने के लिये सब कुछ कर सकता हूँ। तुम्हें मेरी बातो की उपेक्षा न करनी चाहिये अविलम्ब मेरी सहधर्मिणी को लौटा देना चाहिये। मेरे बाण अमोघ हैं, मेरी शक्ति अपार है मेरे बल की थाह नहीं। मै सब कुछ करने में समर्थ हूँ। सीता जहाँ भी होगी, वहीं से मैं उसे लौटा लाऊँगा। मेरे बाणो का वेग कोई नही सह सकता। मेरे सम्मुख समर मे कोई खडा नहीं रह सकता। मैं सीता के लिये पागल हो रहा हूँ। मैं किसी की न सूनूँगा। सीता को प्राप्त करके ही विश्राम लूँगा। इस प्रकार क्रोध में भरकर श्री रामचन्द्रजी पृथ्वी की भर्त्सना करने लगे और वे धनुष पर बाण चडा कर पृथ्वी को रसातल में भेजने को उद्यत हो गये।

श्रीरामचन्द्रजी को क्रोध करते देख, लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मलोक से उतर कर तुरत ही नमिपारण्य मे आये। वे हस पर बठे ही बैठे आकाश मे से कहने लगे—"राम! राम! महाबाहो! आप यह क्या कर रहे हैं आप यह कैसा अलौकिक नरनाट्य कर रहे हैं। प्रभो! आप अपने सत्सरूप का स्मरण करें। आपने ही तो सूकरावतार धारण करके रसातल में गई इस पृथ्वी का उद्धार किया था, अब आप इसे पुनः रसातल मे क्यो भेजना चाहते हैं। प्रभो! आप तो रक्षक हैं, प्रतिपालक हैं। सहार का काम तो आपने शकर को दे रखा है। उत्पत्ति का काम आपने मुझे सोप रखा है। आप सनातन सच्चिदानद घन

सर्वेश्वर हैं ! सीता सदा आपके साथ हैं। उनसे भला कभी पल भर को भी आपका वियोग हो सकता है। अभी प्रलय का समय नहीं है। आप क्रोध को छोड़ दें। जानकी नाग लोक में सुखी है। वे स्वर्ग में पुनः आपको प्राप्त होंगी। आप इन कुश-लव का प्रेमपूर्वक पालन करें। इनसे अपना आगे का वृत्त सुनें, प्रभो ! अब आपकी लीला संवरण करने का भी समय सन्निकट ही आ चुका है।"

इतना कहकर भगवान् ब्रह्मा अपने सत्यलोक को चले गये। श्रीरामचन्द्रजी अत्यंत दुखी हुए। उन्होंने अपने रोष को रोका। वे निरंतर रोते ही रहे। यज्ञ समाप्त करके वे अवध पुरी में आये। सीता के बिना उनका चित्त सदा उदास रहता था, वे बड़े कष्ट से अपनी प्रिया के बिना समय को काटते थे।

यह सुनकर आँसू पोछते हुए शौनक जी बोले—"सूतजी ! भगवान् ने ऐसी करुणा पूर्ण लीला क्यों की। भगवान् होकर भी उन्हें अपनी प्राणप्रिया पत्नी का इस प्रकार वियोग सहना पड़ा। भगवान् को कर्म बन्धन तो है नहीं। फिर वे जीवन भर दुखी क्यों रहे। क्यों एक तुच्छ धोबी के पीछे उन्होंने अपने आनन्द को किरकिरा बना दिया। अज्ञानी लोग तो अटसट बकते ही रहते हैं उन्हें बकने देते। आनन्द से सीताजी के साथ विहार करते। जब इच्छा होती उनके साथ स्वधाम को सुख से पधारते। इस प्रकार स्वयं भी सदा दुखी रहे और श्रोता वक्ता पाठक और लेखकों को भी दुखी बना गये।"

यह सुनकर गंभीरता पूर्वक सूतजी बोले—"महाराज, भगवान् को क्या सुख दुखः वे तो कर्मबन्धन दुख सुख सभी से परे है। सीता तो उनकी नित्य शक्ति हैं। उनका उनसे कभी क्षणभर के लिये भी वियोग सम्भव नहीं। यह तो वे प्राणियों का अन्तः

करण शुद्ध करने के निमित्त हृदय की कालिख को करुणा के वारि से धोने के निमित्त ऐसी करुणा पूर्ण लीलायें किया करते हैं। जिससे हृदय का मैल पानी बनकर नेत्रों से निकल जाय। वे अपने प्रत्येक चरित्र से जीवों को शिक्षा देते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इस करुणा पूर्ण कथानक से क्या शिक्षा मिल सकती है।"

सूतजी बोले—"महाराज! यही शिक्षा कि मनुष्य विवाह के लिये कितने उतावले बने रहते हैं। वह का नाम सुनते ही उनके हृदय मे गुद गुदी होने लगती है। आज तक इतने विवाह हुए कोई कहदे कि विवाह करके, हमें सदा सुख ही मिला। क्षण भर का सुख सा प्रतीत होता है, नहीं तो दुख ही दुख है। इस कारे मूँड़ वाली के साथ रह कर किस पुरुष ने सुख पाया है। इस दाढ़ी मूँछों वाले दो पैर के जन्तु के साथ रह कर कौन स्त्री सर्वथा सुखी हुई है। मुनियो! आप लोग इस विवाह के चक्कर से भले बचे। भगवान् की आप पर बड़ी कृपा है। यदि बहूरूपी बेड़ी आपके भी पैरों मे पड़ी होती तो यहाँ आनन्द से इस प्रकार सहस्रों वर्षों तक निश्चिन्त होकर भगवान की रसीली कथायें न सुनते रहते। फिर तो तेल ला, नमक ला, हल्दी ला, लकड़ी ला, चुरी ला, बीछिया ला, बेंदी ला, सुरमा ला, साड़ी ला, और न जाने क्या-क्या लाला जी जी होते रहते। कथा के लिये अवकाश ही न मिलता। कथा में बैठते भी तो चिन्ता लगी रहती, कल घर वाली कह रही थी मेरी साड़ी फट गई है, मुझे एक हार बनवा दो मेरे सिर में दर्द रहता है कोई दवा मँगा दो मुझे वाराणसी दिखा दो।" शरीर कथा में रहता मनीराम इधर-उधर वह की चिन्ता में लगे रहते। मुनियो। स्त्रियों के साथ में यदि कुछ सुख भी है तो क्षण भर के लिये जिह्वोपस्थ का सुख है और नहीं तो

चिन्ता ही चिन्ता है। लड़की लड़के हुए तो उनके लालन पालन की चिन्ता। महाराज! आप लोग कभी उस चिन्ता का अनुभव कर ही नहीं सकते जो सयानी लड़की के पिता को होती है। लड़की बोलती नहीं। वह संकोच के कारण सम्मुख भी कम आती है। किन्तु पिता भीतर घुरता रहता है। रात्रि में उसे नींद नहीं आती। भोजन उसे अच्छा नहीं लगता किसी प्रकार योग्य वर लड़की के लिये मिले। यही दुःख उसे पीड़ा देता रहता है, जिनसे बातें करना पाप है, उनसे विनय करनी पड़ती है, उनकी १० बातें सुननी पड़ती हैं। बेटी का बाप होने से सबके सम्मुख सिर नीचा रखना पड़ता है। घर में घुसते ही घरवाली कहती—"तुम कुछ चिन्ता नहीं करते लड़की कितनी सियानी हो गई है। पास पड़ोसी मुझे थूकते हैं। न कहने के योग्य बातें कहते हैं। तुम विचार ही नहीं करते।" क्या कहें उस समय स्त्री पर बड़ा क्रोध आता है, यह कहती है तुम्हें चिन्ता नहीं मैं चिन्ता में घुला जाता हूँ घर मिट्टी का तो बनाया नहीं जाता। अहरे गहरे पच कल्यानी के हाथों तो लड़की दी ही नहीं जा सकती अच्छा घर हो, कुलीन वर हो। वह मिले तो विवाह हो। विवाह को चाहिये धन। धन मेरे पास है नहीं। माँगने से धन कौन देता है। धन देने की वस्तु भी नहीं। जिसे प्राणों की बाजी लगाकर बड़े-बड़े कष्ट से पैदा किया जाता है, उसे यों ही स्वेच्छा से कौन दे सकता है। धन तो दबने से ही दिया जाता है। मुझमें बल नहीं, तेज नहीं प्रभाव नहीं लोगों को प्रसन्न करने की कला नहीं फिर मुझे धन कौन दे।" इस प्रकार विवाह के पहिले ही माता-पिता को कितनी चिन्ता होती है। विवाह होते ही माता-पिता को भूल जाते हैं। एक दूसरे को सुखी करने की स्वयं सुखी रहने की चेष्टा करते हैं, किन्तु सुख कहाँ। स्त्री अत्यंत सुंदरी हुई तो उसकी रक्षा

की चिन्ता कुरूपा हुई तो स्वयं भी निराशा और लोगों की विडम्बना सहनी पड़ती है वह अलग गुणवती हुई तो उसके संकेत पर नाचना पड़ता है। निर्गुण हुई तो रात्रि दिन झींकना पड़ता है, आज्ञा कारणी हुई तो उसके मोह में फँसना पड़ता है, लड़ाकू हुई तो नित्य झगड़ा झंझट, मारपीट का सामना करना पड़ता है। साराश कि सुख किसी प्रकार नहीं। रोगिणी हुई तो रात्रि दिन उसकी सेवा सुश्रूषा में लगा रहना पड़ता है। मदन प्रिया हुई तो वस्त्राभूषणों के जुटाने की ही चिन्ता बनी रहती है। कर्कशा हुई तो उसका वियोग खलने लगता है। इस लोक में रहने से लोक लाज का भी ध्यान रखना ही पड़ता है। सारांश यह कि यह स्त्री पुंप्रसग ऐसा है, कि सर्वत्र त्रास है, स्त्री से किसको सुख मिला। साधारण लोगों की बात छोड़ दीजिये ईश्वर की ही बात लीजिये। शिवजी ने सोचा सती के साथ सुख से समय बितावेंगे। सती आई कुछ दिन रहीं उन्होंने आते ही शिव जी की स्वतन्त्रता में विघ्न डाला बोलीं—"मुझे मेरे बाप के घर ले चलें।" लाख मना किन्तु त्रिया हठ ही जो ठहरी नहीं मानी। भोले बाबा कुछ कड़े पड़ गये। सती रानी तुनक कर अकेली ही भाग गईं वहाँ बाप ने बात भी न पूछी क्रोध में जल मरीं। अब तो शिवजी की बुरी दशा हो गई। मृतक सती के शव को पीठ पर लाद कर पागलों की भाँति नाचने गाने और रोने लगे। तीनों लोक काँप उठे। विष्णु भगवान ने बीच बिचाव करके उस सती शव के टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिये। कुछ जलादिये भोले बाबा नंगे हो गये सती की चिता भस्म को लगाकर शोक में रोते रहे।

विष्णु भगवान को लक्ष्मीजी से कुछ कम दुःख नहीं हुआ है। जालधर भी समुद्र में से उत्पन्न हुआ था और लक्ष्मीजी भी उसी में से निकली थीं। जलधर सबको पीड़ा देने लगा। विष्णु

भगवान् उसे मारने चले। लक्ष्मीजी मार्ग रोककर खड़ी हो गईं। देखो, महाराज! तुमने मेरे भाई पर हाथ छोड़ा तो फिर या तो मैं ही हूँ या तुम ही हो।"

क्या करते विचारे बोले—"अच्छी बात है नहीं मारूँगा! बहू के पीछे साले से हारना पड़ा। फँस गये।" बोले—"वर माँग भैया।" वह बोला—"तुम मेरे घर में ही रहो। पहिले घर जमाई बनकर समुद्र में रहते थे, अब साले की राजधानी में रहना पड़ा। बहूरानी जैसे नचावे वैसे नाचना ही पड़ता है। फिर वृन्दा के कारण जो कुछ हुआ भगवान को जैसा-जैसा क्लेश सहना पड़ा सभी जानते हैं। बात बढ़ाने से क्या लाभ, लक्ष्मी जी अब गले बँध गई, तो भगवान् को निभाना ही पड़ता है, नहीं तो उस चंचल महिला से उन्हें कोई सुख नहीं। उलटे नित नई बातें सुननी पड़ती हैं। अहल्या के साथ गौतमजी की जैसी दुर्दशा हुई सभी जानते हैं। कश्यपजी की इन दश पुत्रियों द्वारा कैसी छीछालेदर हुई। चन्द्रमा को बहूरानी के पीछे ही कोढ़ी होना पड़ा। कोई कह दे बहू से किसी को सुख हुआ है ब्रह्माजी को अपना शरीर ही वाणी देवी के पीछे छोड़ना पड़ा। किन्तु ऐसी अन्ध परम्परा चल गई है, कि इतना सब होते हुए भी कोई मानता नहीं विवाह किये बिना।

यही दशा स्त्रियों की है। इन पुरुषों ने स्त्रियों के साथ कौन सा अच्छा बर्ताव किया है। अपने स्वार्थ के लिये ये स्त्रियों से सब काम लेते हैं, यहाँ तक की उन्हें अवसर आने पर गिरवी रख देते हैं। जिस सीता ने अपना सर्वस्व श्री राम के चरणों में समर्पित कर दिया। उसे श्रीराम ने एक धोबी की बात पर घर से उसी प्रकार निकाल फेंका जिस प्रकार दूध में से मक्खी निकाल दी जाती है। अहल्या पर भूल से अपराध बन गया, उसे पत्थर

ही बना दिया। हजारों वर्ष पाषाण प्रतिमा बनी पड़ी रही। सूर्पणखा ने प्रेम का प्रस्ताव किया था उसके बदले उसे नकटी बूची बना दिया। इसलिये न स्त्री मे पुरुष को कभी सुख मिला न पुरुष को स्त्री से। मिले भी कैसे ? सुख तो चैतन्य मे है। जिस रूप को देखकर स्त्री पुरुष पर पुरुष स्त्री पर परस्पर मे आसक्त होते है वह रूप तो बाह्य है, मास, मेदा, रक्त हाडमास के कारण हैं। जिन नेत्रो पर मनुष्य मरते हैं उनमें है क्या बाल, हाड, मास, रक्त, स्तन मास के पिंड हैं। इनमें जो सुख का अनुभव करते हैं वे भूल करते हैं बालू में घी खोजते हैं। इसीलिये पुरुषो के प्रसग मे सुख नहीं दुख ही दुख है। जो इस शरीर को अनित्य क्षणभगुर समझकर आत्मा से प्रेम करते हैं वे सुखी होते हैं।

श्रीरामचन्द्र जी का सीताजी से आत्मिक सम्बन्ध था। उसमें वियोग का सभावना ही नहीं। शरीर का सम्बन्ध तो अनित्य है, क्षण भगुर है दु.खदायी है। इसी बात की शिक्षा देने के लिये श्रीरामचन्द्रजी ने यह विरहनाट्य किया, नहीं तो वास्तव मे देखा जाय, तो उन सुख स्वरूप भूमा पुरुष को क्या दुख क्या सुख ? कैसा वियोग कैसा सयोग। वे तो सच्चिदानद घन नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त तथा आनद की राशि हैं। सीता तो सूर्य और प्रभा के समान सदा उनके साथ ही हैं।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"हाँ सूतजी ! यह सब भगवान् की लीला है, क्रीडा है अब आगे क्या हुआ उस कथा को सुनाइये।"

सूतजी आह भर कर बोले—"अब महाराज ! आगे क्या हुआ। आगे तो सब खेल ही समाप्त हो गया। अच्छा सुनिये आगे की कथा कहता हूँ।

छप्पय

सुनि बिधि रघुवर शोक लाक अपनेतैं आये।
करि बिनती बहु भाँति सीय सर्वस्व मनाये॥
त्यागि तुरत सब शोक बात ब्रह्माकी मानी।
यज्ञ पूर्ण करि गये दुखित रोवत रजधानी॥
सिय वियोग हिय धारि कें, राज काज सबई करत।
भूले भटके से रहत, नयन नीर झर झर झरत॥

प्रभु लीला संवरण की प्रस्तावना

[७०३]

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः ।
त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ १८ श्लो०)

छप्पय

बरष सहसदश तीनि राजकरि राम बिताये ।
एक दिवस मुनि बिकट निकट रघुवर के आये ॥
लखन आगमन कह्यो राम मुनि तुरत बुलाये ।
इत उत शंकित चकित निरखि मुनि वचन सुनाये ॥
अति रहस्य मय बात इक, कहहुँ ताहि प्रभु चित धरहिँ ।
बीच आइ कोई सुनहि, ताको निश्चय बध करहिँ ॥

कालस्वरूप भगवान का विधान पहिले से बना रहता है। कब तक इस प्राणी को पृथ्वी पर रहना है, कब इसका किस स्थान में, किसके द्वारा, कैसे किस समय पर अंत होना है। ये बातें सहसा नहीं हो जाती। जन्म से पहिले प्रारब्ध बन जाता है। प्रभु भी अवतार लेने के पूर्व ही निश्चय कर लेते हैं, कितने दिन

* शुकदेवजी कहते हैं—'राजन इसके अनन्तर भगवान् ने तेरह हजार वर्षों तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए निरन्तर अग्निहोत्र किया।'

अवनि पर रहना है कहाँ-कहाँ पर क्या कार्य करना है। कब अपनी लीला को संवरण करना है। ये सब तो उनकी सुनिश्चित योजनायें हैं। जैसे बड़े आदमियों का भोजन का, शयन का, भजन पूजन का सब समय बँधा रहता है। उन्हे स्मरण रहता है, फिर भी सेवकों का यह कर्तव्य होता है, वे स्वामी को स्मरण दिलाते रहे। क्योंकि सेवा करना ही तो सेवक का धर्म है। सेवक आज्ञा नहीं देता, शिक्षा नहीं देता आग्रह नहीं करता। नम्रता पूर्वक जता देता है। स्वामी इससे सेवक पर प्रसन्न ही होता है। भगवान को जो करना होता है, उसकी भूमिका पहिले ही बाँधते है। जो नाच नाचना होता है, उसके अनुसार रूप पहिले ही बना लेते हैं। इसी को कार्य की प्रस्तावना कहते हैं।

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो! सीता जी भूविवर में समा गईं। स्वयं भूब्रह्माजी के कहने से सच्चिदानन्दघन श्रीराम शान्त हुए वे अवधपुरी मे आकर राज्य करने लगे। शत्रुघ्नजी तो मथुरा मे ही रहते थे। उनके लिये भगवान की ऐसी ही आज्ञा थी शेष लक्ष्मण और भरत जी अयोध्या मे ही रहकर उत्तम श्लोक श्री रामचन्द्र जी की उपासना में निरतर लगे रहते थे। भगवान् नित्य ही सावधानी के साथ अग्निहोत्र करते थे। उनकी अग्निहोत्र की अग्नियाँ सदा पूजित और सुसज्जित रहती थीं। प्रजा के साथ वे न्याय किया करते थे। प्रजा की प्रसन्नता के लिये वे सब कुछ करने को तत्पर थे। त्रेतायुग मे वर्णाश्रम धर्म का ही प्राधान्य था। उस समय घोर तप करना ब्राह्मण और क्षत्रियो के ही लिये विहित समझा जाता था। सत्युग में केवल ब्राह्मण ही तप कर सकते थे। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र स्वधर्म पालन करते हुए अपने-अपने कर्मों में लगे रहे। त्रेता मे ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों को ही तप का अधिकार प्राप्त था। द्वापर

मे वैश्यों को भी तप करने की छूट थी, कलियुग में सभी वर्णों के लोग तप कर सकते हैं। यों सदाचार पूर्वक रहकर भगवान् की भक्ति तो सभी काल मे सभी युगो मे सभी वर्ण, सभी आश्रम के स्त्री पुरुष कर सकते हैं। ये विधान ऐसे-ऐसे तप के लिये ही हैं। जिनके द्वारा मनुष्य प्राकृत नियमो का लल्लङ्घन करके सशरीर स्वर्गादि लोको को जा सकते हैं। युग के विरुद्ध आचरण करना युगावतार के विरुद्ध आचरण करना है। अवतारो के अनेक भेद हैं। कोई कल्पावतार होते है, कोई मन्वतरावतार, कोई युगावतार कोई-कोई अंशावतार, कलावतार आवेशावतार तथा बहुत से करुणावतार होते है। चारो युगो मे सदा उन-उन युगो के अवतार होते हैं। जैसे कपिलजी सत्ययुग के युगावतार हैं। जब-जब सत्य युग आवेगा कपिल भगवान् अवतरित होकर ज्ञान का प्रसार प्रचार करेंगे। श्रीराम त्रेता के युगावतार है। जब-जब त्रेतायुग आवेगा तब-तब श्रीराम अवतरित होकर अवनि पर वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को स्थापित करेगे। सत्ययुग मे धर्म अपने चारो पैरों से पूर्ण स्वस्थ रहता है। तप, शौच, दया और दान ये ही धर्म के चार पैर हैं। त्रेता मे धर्म के तीन ही पैर रह जाते हैं। तप कम हो जाता है। द्वापर मे दया और दान दो ही पैर अवशिष्ट रहते हैं। कलियुग में केवल दान या सत्य एक ही पैर रह जाता है वह भी अंत मे नष्ट हो जाता है। इसी के अनुसार अवतार भी होते हैं। सत्ययुग मे तप की प्रधानता होती है, तप ही उस युग का प्रधान धर्म है अतः भगवान् तपस्वी कपिल के रूप मे अवतार लेकर तप का प्रसार करते हैं। त्रेतायुग मे वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा पवित्रता की आवश्यकता होती हैं। इसीलिये मर्यादा पुरुषोत्तम राम अवतार लेकर दृढ़ता के साथ मर्यादा का पालन करते हैं। मर्यादा भङ्ग न हो, इसके लिये न करने योग्य कार्यों को

भी करते हैं। सीताजी के त्याग में केवल मर्यादा का ही तो प्रधान कारण है। नहीं तो वे क्या जानते नहीं थे सती सीता परम पवित्र हैं, किन्तु मेरे आचरण से अन्य स्त्रियों के सम्मुख बुरा आदर्श उपस्थित न हो, इसी डर से शुद्ध होने पर भी सीता को त्याग दिया और उसके लिये कठोर बन गये। द्वापर मे धर्म के तप और शौच ये दो पाद निर्बल बन जाते है, केवल दया दान दो पैर ही सबल होते हैं। उस समय वैदिक यज्ञ यागों का विस्तार कम हो जाता है। तांत्रिक पूजा पद्धति का प्रचार अधिक होता है। लोगों की बुद्धि अल्प हो जाती है वे अधिक ज्ञान को धारण करने मे असमर्थ हो जाते हैं, इसलिये भगवान् व्यास बन कर वेदों का विभाग करते है, पुराणों का प्रचार करते हैं। व्यास देव द्वापर युग के अवतार हैं। प्रत्येक द्वापर मे व्यासजी का अवतार होता है। कलयुग मे तप, शौच तथा दया ये धर्म के तीनो पाद नष्ट प्रायः हो जाते हैं। केवल सत्य या दान के ही सहारे धर्म खड़ा रहता है। अन्त मे वह भी नष्ट हो जाता है, तब भगवान् कल्कि अवतार लेकर दुष्टो का सहार करते है, धर्म की पुनः स्थापना करते हैं। फिर से सत्ययुग आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार यह युग क्रम अनादि काल से चला आ रहा है अनन्त काल तक चला जायगा। इसमे कोई परिवर्तन नहीं, कोई नूतनता नहीं, कुछ घटना बढ़ना नहीं। उनकी माया है, लीला है, क्रीड़ा है, विनोद है। बैठे ठाले का मनोरञ्जन है।

भगवान् मर्यादा की रक्षा के लिये ही इतने कठोर कार्य करते है। उनमे सीताजी का परित्याग अत्यन्त ही कठोर है। ऐसा ही एक निर्दयतापूर्ण कार्य श्री राम ने एक शूद्र तपस्वी की हत्या करके किया था।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् ने शूद्र तापस की हत्या क्यों की ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! सुनिये मैं इस कथा को संक्षेप मे सुनाता हूँ। एक दिन एक तेजस्वी वृद्ध ब्राह्मण अपने एक मृतक पुत्र को लेकर श्री रामचन्द्रजी के द्वार पर आया और रोता-रोता बोला—"राघव ! मेरा यह छोटा सा बच्चा मेरे सामने ही अकाल मे काल कवलित कैसे हो गया। बाप के सम्मुख बेटा का मरना तो पाप का फल है। मैंने तो अपनी स्मृति मे कभी कोई पाप किया नहीं। निश्चय ही यह राजा के पाप का परिणाम है जिस राजा के राज्य मे अधर्म अन्याय होता है, उसी के राज्य मे अकाल मृत्यु आदि मर्यादा हीन कार्य होते है। इसलिये आप या तो मेरे पुत्र को जिला दें, नहीं तो मैं अपनी स्त्री के साथ आपके द्वार पर अनशन करके प्राणों का परित्याग कर दूँगा। तब तुम ब्रह्महत्या को लेकर सुखी होना।"

इतना सुनते ही भगवान् घबरा गये। उन्होंने तुरन्त आठ वेदज्ञ विधान वेत्ता विद्वानों की एक निर्णय समिति बनाई। मार्कण्डेय, मोद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यान, जाबालि, गौतम और नारद ये आठ उस समिति के सदस्य थे। भगवान् ने तुरन्त ही उनसे अपना सहेतुक निर्णय देने की प्रार्थना की। उस समिति के संभवतया नारद जी ही सभापति थे। अतः सबसे पूँछ ताँछ कर उन्होंने निर्णय दिया—"राघव ! आपके राज्य मे युग धर्म के विरुद्ध एक शूद्र सशरीर स्वर्ग जाने के लिये उग्र तपस्या कर रहा है। उसी की घोर तपस्या के कारण वातावरण अशांत हो गया है। वह शूद्र तपस्वी कलियुग में ऐसी तपस्या करता तो न्याय युक्त था। जैसी तपस्या वह अब कर रहा है वैसी यदि सत्ययुग मे क्षत्रिय भी करता तो वह दंडनीय समझा जाता। रामचन्द्र !

समय-समय की रागिनी ही शोभा देती है। जाड़े में ही कम्बल और ऊनी कपड़े सुखकर होते हैं। जेष्ठ वैशाख की कड़ी धूप में इन्हें पहिने तो कष्ट होगा। देखने वालों को भी बुरा लगेगा। राजा प्रजा से कर लेता है, अतः उसके पुण्य पाप का भी भागी होता है। इसलिये यह आपका ही दोष समझा जायगा। उस शूद्र को घोर तप से निवृत्त करें न माने तो उसे मार दें। तभी यह बालक जीवित हो जायगा।"

इतना सुनते ही भगवान् ने तुरंत अपना वायुयान पुष्पक-विमान मँगाया और उस पर चढ़ कर शीघ्र से सम्बूक के समीप पहुँच गये। वह एक सुंदर सरोवर के समीप उलटा लटक कर घोर तप कर रहा था। रामचन्द्रजी ने उसका परिचय पूछा उसने सब बात सच-सच बता दी श्रीरामने कहा—"भैया! यह युगधर्म के विरुद्ध है।" उसने कहा—"राघव! मैं सत्य प्रतिज्ञ हूँ, झूठ नहीं बोलता मेरी हठ है, मैं बिना मरे इसी शरीर से सीधा स्वर्ग जाना चाहता हूँ।" रामचन्द्र अब क्या करते। तुरन्त उन्होंने चमचमाता खड्ग निकाला। हाथ काँपने लगे। भगवान् ने कहा—"अरे हाथ! जब तैंने दोष रहित सीता को लोकरंजन के लिये सदा को निकाल दिया तब फिर तू इस तपस्वी पर क्यों दया करता है, तू तो अत्यन्त कठोर है।" इस प्रकार मन को समझा कर भगवान् मन में सोचने लगे—"ये लोग इसे तपस्या करके स्वर्ग जाने के विरुद्ध हैं तो तपसी को सशरीर स्वर्ग न जाने दें। मैं इसे स्वर्ग से भी बढ़ कर मोक्ष देता हूँ। मेरे अस्त्र से मर कर सभी मेरे परम धाम को ही जाते हैं। इसे मैं तुरन्त ही अपने धाम को भेजता हूँ। यह सोचकर खड्ग से उसका सिर धड़ से पृथक् कर दिया। शम्बूक भगवान् के भुवन मोहन रूप के दर्शन करते-करते तनु त्याग कर भगवद्धाम को चला गया।" —

हैं। बहुतों के प्राण ले लेते हैं। जिसने दीनता धारण कर ली है, अपने को चराचर का सेवक माने बैठा है, उससे कौन विरोध करेगा। इसीलिये भगवद्भक्ति में सभी का अधिकार है। सब काल में सब दशाओं में सभी लोग सदा भगवद्भक्ति कर सकते हैं। स्वर्ग तो एक प्रकार की प्रतिष्ठा है। वह भी बन्धन है। भगवान् तो बन्धन को काटने वाले हैं। अतः सम्बूक को मारकर उस ब्राह्मण को भी प्रसन्न कर दिया और उसका भी कल्याण कर दिया। भगवान के सभी कार्यों में सभी का हित छिपा रहता है। हम अपने अज्ञान वश उसे अनुभव नहीं करते।"

भगवान में पक्षपात तो है नहीं। वे सबकी सुनते हैं। जैसे उन्होंने ब्राह्मण की सुनी, वैसे ही कुत्ते की भी बात ब्राह्मण के विरुद्ध सुनी।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कुत्ते ने ब्राह्मण के विरुद्ध क्या अभियोग चलाया था उसमें भगवान् ने क्या निर्णय दिया। कृपा करके इस कथा को भी सुनाइये।"

सूतजी बोले—"सुनिये महाराज! एक दिन लक्ष्मणजी ने देखा, एक कुत्ता रोता चिल्लाता राजा रामचन्द्रजी के द्वार पर खड़ा है, वह श्रीरामचन्द्रजी से मिलने के लिये उत्सुकता प्रकट कर रहा है।" लक्ष्मणजी ने जाकर श्रीरामचन्द्रजी से निवेदन किया—"प्रभो! एक कुत्ता आपके दर्शन करना चाहता है। उसका एक अभियोग है।"

भगवान् ने कहा—"लक्ष्मण! तुरन्त उस कुत्ते को बुला लाओ जो राजा दुखियों के दुःख नहीं सुनता, उसे नरक जाना पड़ता है।"

यह सुनकर लक्ष्मण तुरन्त गये और उस कुत्ते को साथ लेकर आये। कुत्ते ने रोते-रोते मानवी भाषा में कहा—"प्रभो!

उस ब्राह्मण ने मुझे बुरी तरह से मारा है। मारते-मारते मेरी कमर तोड दी है। मैंने न उसका कोई अपराध किया, न उसकी किसी वस्तु मे मुँह ही डाला।"

भगवान् ने उसे बुलवाया और उससे पूछा। उसने सच-सच कह दिया—"प्रभो इसने मेरा कोई अपराध तो किया नहीं था, यह मेरे सामने जीभ निकाल कर साँस ले रहा था। मुझे किसी बात पर क्रोध आ रहा था, वह मैंने इसके ऊपर निकाला। एक लाठी मार दी, कमर टूट गई होगी। इसके लिये आप मुझे जो दड दें वह स्वीकार है।"

यह सुनकर भगवान एक निर्णय समिति बनाने लगे, कि यह समिति जो दड निश्चय करे वह इस ब्राह्मण को दिया जाय। इतने मे ही कुत्ता बोला—"प्रभो आप मेरी प्रथम सम्मति सुन लीजिये, तब निर्णय समिति नियुक्त कीजिये। मैं इसके लिये एक दड बताये देता हूँ।"

भगवान् ने उत्सुकता के साथ कहा—"हाँ, हाँ, अच्छा तुम ही बताओ इसे क्या दड दिया जाय?"

कुत्ता बोला—"प्रभो! इन्हे अमुक मठ का मठाधीश महन्त बना दिया जाय।"

यह सुनकर सभी हँसने लगे और बोले—"यह दड हुआ या पुरस्कार। उस मठ मे लाखो की सम्पत्ति है। सहस्रो रुपयो की आय है उसका महन्त बनकर तो यह सुखोपभोग करेगा।"

कुत्ते ने कहा—"यही तो महाराज मैं-चाहता हूँ। पूर्व जन्म मे मैं भी एक मठका मठाधीश महन्त था। बडे सुंदर-सुंदर माल उडाता था। चेले चेलियो से कमर दबाता था। घर-घर खाता फिरता था और छिप कर पाप करता था। उसी के परिणाम स्वरूप मेरी कमर तोडी गई। टुकड़े-टुकडे को तरसता हूँ। महन्त

बनने में सुख कहाँ। बडा बनना बहुत बुरा है। बडे बनने मे बडा कष्ट है। पहिले पानी मे भिगोते है फिर फूलते हैं, फिर उनकी चमडी उधेडी जाती है, शिल बट्टे से पीसे जाते हैं। गरम तेल में तले जाते हैं, तब जाकर बडे बनते हैं। लोग उन्हे गप्प से खाजाते हैं। देखने में इन बडे पेट वालो को सुख है। वास्तव में ये बडे दुखी हैं। आप इन्हे मठाधीश बना दें।"

भगवान् ने कुत्ते का निर्णय स्वीकार किया और उसे बडी धूमधाम से हाथी पर चढाकर एक बडे मठका मठाधीश बना दिया। इस प्रकार भगवान् नित्य नई-नई लीलायें करते रहते थे।

एक दिन की बात है, एक महर्षि राजद्वार पर आया। वह बडा ही तेजस्वी, प्रकाशमान, प्रभावशाली तथा गम्भीर था। आते ही उसने गम्भीरता के साथ लक्ष्मण से कहा—"कुमार! मै महामहिम परम तेजस्वी महर्षि अतिबल का दूत हूँ। श्रीरामचन्द्र जी से मिलना चाहता हूँ। महाराज की मेरे लिये क्या आज्ञा है आप ही उनसे जाकर निवेदन करें।"

"बहुत अच्छा, ब्रह्मन्! मैं अभी जाता हूँ" इतना कह कर लक्ष्मण तुरन्त राजारामचन्द्रजी के निकट गये और बोले—"प्रभो! महर्षि अतिबल के दूत एक परम तेजस्वी तपस्वी आपसे मिलने आये हैं, उनके लिये क्या आज्ञा होनी है?"

महर्षि का आगमन सुनकर श्रीराम ने कहा—"तुरन्त ही उन ऋषि को मेरे समीप ले आओ।"

आज्ञा पाते ही लक्ष्मणजी पुनः आये और आदर सहित बोले—"पधारिये महाराज आपको बुला रहे हैं।"

लक्ष्मण की बात सुनकर अतिबल महर्षि के शिष्य उनके पीछे-पीछे राजमहल मे गये। श्रीरामचन्द्रजी ने उठकर उनका आदर किया। पाद्य अर्घ्य देकर उनकी पूजा की। सुवर्ण के

सिंहासन पर सादर बिठाकर सरलता के साथ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आपका स्वागत है। मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। मेरी यह जानने की उत्कट इच्छा है, कि महर्षि अतिबलजी ने मेरे लिये क्या सन्देश भेजा है। आप जैसे तेजस्वी तपस्वी को उन्होंने दूत बनाकर भेजा है, इससे तो प्रतीत होता है कार्य कोई बड़ा ही महत्वपूर्ण है।"

महाराज रामचन्द्र की बातें सुनकर महर्षि ने कहा—"हाँ, प्रभो! मैं एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण आवश्यक कार्य से आया हूँ आप यदि सुनने को उद्यत हों तो कहूँ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ कहिये।"

महर्षि ने रहस्यभरी दृष्टि से इधर-उधर देखकर कहा—"बात बहुत ही गुप्त है। वह सर्वथा एकान्त में ही कही जा सकती है। आप प्रतिज्ञा करें कि हमारी आपकी बात को कोई न सुनेगा और हमारे आपके वार्ता करते समय कोई बीच में आवेगा यदि कोई हमारी बात सुने या हमारे आपके बीच में आ जाये, तो आप उसका वध करेंगे। इतना आश्वासन मिलने पर ही मैं निवेदन करूँगा।"

यह सुनकर भगवान् ने लक्ष्मण से कहा—"लक्ष्मण! द्वार पर से द्वारपाल को हटा दो। तुम स्वयं द्वारपाल का काम करो। देखो, सावधानी से काम करना। जब तक हम और मुनि बात करते रहें तब तक भीतर कोई आने न पावे। यदि कोई भीतर आगया, तो मैं उसका निश्चय ही वध कर दूँगा। मैं मुनि के सम्मुख सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।"

लक्ष्मणजी ने सिर झुकाकर भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य की। वे भगवान् को प्रणाम करके चले गये। द्वार पर जाकर

द्वारपाल को हटा दिया और स्वयं धनुष बाण धारण करके बड़ी तत्परता से द्वार की रक्षा करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वह मुनि और कोई नहीं था, स्वयं साक्षात् काल ही मुनि का वेष बनाकर श्रीराम को परमधाम पधारने की स्मृति दिलाने आया था। एकान्त समझकर कालदेव ने अपना अभिप्राय प्रकट करना आरम्भ किया।

छप्पय

पण प्रभु करि स्वीकार द्वारपै लखन बिठाये।
पुनि मुनि सन प्रभु कह्यो काल किहि कारन आये॥
समय समुझि के काल वेष मुनि को धरि आयो।
प्रभु आयसु सिर धारि ब्रह्म सन्देश सुनायो॥
अंशनियुत अवतार धरि, भार उतार्‌यो अवनिको।
नियत काल जितनो कर्‌यो, भयो पूर्ण सो सबनको॥

लक्ष्मणजी का श्रीराम द्वारा परित्याग

[७०४]

न वै स आत्माऽऽत्मवतां सुहृत्तमः
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः ।
न स्त्रीकृत कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १९ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

अब इच्छा यदि होइ नाथ ! निज धाम पधारें ।
करि नरतनु सबरन नित्यलीला विस्तारें ॥
कृपायतन सुनि काल कथन बोले मृदु बानी ।
तिरोभाव तिथि काल प्रथम हम सबने जानी ॥
कही कालतें प्रभु-करहुँ, होनै जातें जगत हित ।
तबई आये द्वारपैं, कोधी दुर्वासा कुपित ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! आत्मवान् धीर पुरुषों के आत्मस्वरूप परम प्रियतम भगवान् वासुदेव तीनों की किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं हैं । अतः न तो उन्हें जानकी के वियोग का दुख ही हो सकता था और न वे अपने भाई लक्ष्मणजी का परित्याग ही कर सकते थे ॥६॥

और चाहे कोई प्रमाद भले ही करे, किन्तु काल कभी प्रमाद नहीं करता। वह अप्रमत्त भाव से अपना कार्य करता रहता है। सब संसार काल के अधीन है, काल के विरुद्ध कोई भी कुछ करने मे किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता। काल समस्त बलवानो से श्रेष्ठ बलवान् है। सब शासको से श्रेष्ठ शासक है। उसकी आज्ञा का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। काल भगवान् का ही स्वरूप है। भगवान् की इच्छा का ही पालन करता है। भगवान् के रुख को ही देखकर व्यवहार करता है। भक्त और भगवान् दो को छोड़कर सम्पूर्ण संसार काल के अधीन हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एकान्त पाकर मुनि रूप मे आया हुआ काल भगवान् से कहने लगा। लक्ष्मणजी द्वार पर बैठे पहरा दे रहे थे, कि काल और भगवान् की गुप्त बात को कोई सुनने न पावे न इन दोनों की वार्ता के बीच मे उनके समीप जाने पावे।

काल ने कहा—"प्रभो! मैं काल हूँ। ब्रह्माजी की आज्ञा से आपकी सेवा में आया हूँ। ब्रह्माजी ने कहा है—"आपने मुझे सृष्टि कार्य में नियुक्त किया है, अतः मै आपकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। आप रावणादि राक्षसों के अन्यायों से पीड़ित पृथ्वी का भार उतारने कुछ समय का संकेत करके अवनि पर अवतरित हुए थे। जितने समय का आपका संकेत था, वह पूरा हो रहा है। हम आपसे आग्रह नहीं करते। न आज्ञा ही देते हैं। आप तो काल के भी काल हैं, केवल स्मरण मात्र दिलाते हैं। यदि आपकी इच्छा हो, अपनी नरलीला को संवरण करके नित्य सनातन धाम मे स्थित होकर नित्य क्रीड़ा करें। यदि कुछ दिन आपकी और इच्छा हो, तो आप और प्रजा को सुख दें।"

भगवान् ने कहा—"कालदेव! मुझे स्मरण है। ब्रह्माजी जैसा

चाहते हैं, वैसा ही होगा मैं अब अपनी लीला को संवरण करने करने ही वाला हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर तो काल और भगवान् के बीच में ये बातें हो रहीं थीं, उधर द्वार पर महा क्रोधी रुद्रावतार भगवान् दुर्वासाजी अपनी जटाओं को बखेरे हुए आये। उन्हें देखकर लक्ष्मणजी ने उठकर श्रद्धा भक्ति सहित उनके चरणों में प्रणाम किया।"

अधिकार के स्वर में मुनि दुर्वासा बोले—"सौमित्रे! मैं राजा राम से मिलना चाहता हूँ। तुम उन्हें तुरन्त जाकर मेरे आने की सूचना दो।"

लक्ष्मणजी ने अत्यन्त ही विनीत भाव से मधुर वाणी में कहा—"भगवन्! श्रीराम इस समय किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य में व्यस्त हैं। जो भी आज्ञा हो आप मुझसे कहें। मैं सब सेवा करने को प्रस्तुत हूँ।"

डाँट कर दुर्वासामुनि ने कहा—"तुम बड़ी अशिष्टता कर रहे हो। मैंने कह तो दिया। मुझे राम से ही काम है। तुमसे मैं नहीं कह सकता। जाओ! राम को मेरा आगमन जताओ।"

काँपते हुए लक्ष्मण बोले—"प्रभो! आप क्षणभर ठहर जायँ। महाराज एक अत्यन्त निजी कार्य में एकान्त में हैं।"

ओठ काट कर दाँत कटकटाते हुए, लाल-लाल आँखें निकाल कर अत्यन्त क्रोध के साथ बोले—"क्षत्रिय के छोकरे! प्रतीत होता है, तू मेरे तप, तेज से सर्वथा अनभिज्ञ है। तभी तू ऐसी धृष्टता कर रहा है। याद रख मेरा नाम दुर्वासा है। शाप ही मेरा अस्त्र है। मेरी तनिक सी अवहेलना करने पर इन्द्र को श्रीहीन होकर मारे-मारे फिरना पड़ा था। तू मेरे सामने उत्तर दे रहा है। यदि तू अभी राम के पास न गया तो तेरे राज्य को तेरी समस्त

पुरी को तेरे बाल बच्चों को, तुझे और राम को सभी को मैं शाप देकर भस्म करता हूँ।"

यह सुनकर लक्ष्मणजी डर गये। उन्होंने बलाबल पर विचार किया। वे सोचने लगे—"इन क्रोधी मुनि के लिये कुछ भी असम्भव नहीं। ये चाहें सो कर सकते हैं। यदि मैं नहीं जाता, तो ये सम्पूर्ण राज्य को भस्म कर देंगे। जाता हूँ तो केवल मेरा ही श्रीरामचन्द्रजी वध करेंगे। एक के मरने से बहुतों का जीवन बचे, तो एक को मर जाना चाहिये। इसलिये मैं जाकर श्रीराम को सूचना दे दूँ।"

यह सोचकर उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—"अच्छा भगवन्! जैसी आज्ञा। मैं महाराज के समीप जाकर आपके आगमन की सूचना देता हूँ।"

यह कहकर वे भीतर गये। मुनि के वेष में काल, भगवान् से बातें कर रहा था। सहसा लक्ष्मणजी को बीच में आते देखकर काल चुप हो गया और रहस्य भरी दृष्टि से लक्ष्मणजी की ओर देखने लगा। लक्ष्मणजी पर काल की दृष्टि पड़ गई, किन्तु उन्होंने उसकी ओर देखा भी नहीं, वे श्रीरामचन्द्रजी से बोले—"प्रभो महामुनि दुर्वासा द्वार पर खड़े आप से मिलने के लिये अत्यन्त उत्सुक हैं।"

दुर्वासा का नाम सुनते ही काल प्रसन्न हुआ। उसने मनही मन सोचा—"मेरा तो काम हो गया।" भगवान् भी दुर्वासा मुनि का नाम सुनते ही घबरा से गये। उन्होंने कहा—"महामुनि को तुरन्त मेरे पास लाओ।"

आज्ञा पाते ही लक्ष्मण दुर्वासाजी को लेने चले। इधर भगवान् ने शीघ्रता पूर्वक काल को विदा किया। भगवान् की आज्ञा पाकर मुनि वेषधारी काल चला गया। लक्ष्मणजी ने

दुर्वासामुनि से कहा—"प्रभो ! पधारें महाराज आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

यह सुनते ही रोष मे भरे दुर्वासाजी चले। हाथ जोडे हुए लक्ष्मणजी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्हे बडी उत्सुकता थी, मुनि का ऐसा क्या आवश्यक कार्य है, जो क्षणभर भी रुकने को उद्यत नहीं। कोई बहुत ही आवश्यक कार्य होगा, तभी तो उन्होंने मुझे बताया नहीं।

इस प्रकार सोचते हुए लक्ष्मणजी मुनि को लिये हुए श्रीराम चन्द्रजी के निकट पहुँचे। मुनि को आये देखकर भगवान् ने उनके पर धोये पूजा की और कुशल प्रश्न पूछ कर उनके आने का कारण जानना चाहा।

भगवान् की पूजा को विधिवत् स्वीकार करके महामुनि दुर्वासा बोले--"राघव ! मैंने सहस्र वर्ष का उपवास व्रत किया था आज उस व्रत की समाप्ती है। अतः मैं आपसे भोजन माँगने आया हूँ। कुछ विशेष प्रबन्ध करने की आवश्यता नहीं। तुम्हारे चोके मे जो तत्काल तेयार हो उसे ही खिलाकर मुझे तृप्त करो।"

यह सुनकर लक्ष्मण जी को हँसी आई। उन्होने माथा ठोका और सोचा—"मुनि की कैसी विचित्र बुद्धि है। भोजन ही माँगना था, तो मुझसे ही कह देते। मैं भोजन नहीं करा सकता था क्या। इस छोटी सी बात के लिये मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग कराई। मुनि की इस बात पर लक्ष्मणजी को एक कहानी याद आई। किसी ने उन्हे सुनाई थी। सरयू के इस पार एक गडरिया भेड चरा रहा था। दूसरा गडरिया उस पार था। श्रावण भादों की सरयू बढी हुई थीं। अथाह जल था। इस पार के गडरिया ने उस पार के गडरिया को पुकारा—"अरे, भाई ! यहाँ आओ तुमसे एक बहुत

ही आवश्यक बात पूछनी है।"

उसने कहा—"भाई! आऊँ कैसे बीच मे तो सरयू की धारा है। तुम्हे जो पूछना हो, वही से पूछो।"

इस पार के गड़रिया ने कहा—"नहीं, भाई! कार्य बडा आवश्यक है। तुम जैसे हो तैसे मेरे समीप आओ। कान मे ही पूछने की बात है। बिचारा गड़रिया क्या करता। जैसे तैसे वह सरयू को पार करके उसके पास पहुँचा और बोला—"कहो, क्या पूछना है?"

वह उसके कान में पूछता है—"यह पूछना है, कि कल भेड़ किस ओर चराने ले जाओगे।"

उस गडरिये को बडा क्रोध आया। वह बोला—"धत्तेरे की! यह कौन सी रहस्य की बात थी, वही से पूछ लेता। मुझे व्यर्थ इतना कष्ट दिया।"

लक्ष्मणजी सोच रहे है, मुनि के लिये क्या कहे, भोजन माँगने के लिये इतना बखेड़ा खड़ा कर दिया। भगवान् ने तुरन्त ही मुनि को अत्यन्त आदर से षटरस भोजन कराया। तृप्ति पूर्वक भगवान् के प्रसाद को पाकर प्रसन्नता पूर्वक मुनि प्रभु से अनुमति लेकर अपने आश्रम मे चले गये।

मुनि के चले जाने पर भगवान् को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हुआ। उन्हे काल की भयङ्कर मूर्ति स्मरण हो आई। जगत् उन्हें सूना ही सूना दिखाई देने लगा। वे सोचने लगे—"इन हाथो ने सीता का निर्वासन किया तपस्वी सम्बूक का सिर धड़ से पृथक् किया, अब अपने प्राणों से भी प्यारे बन्धु का वध इन्हीं हाथो से करना होगा। हाय! काल कैसा निर्दयी है। न करने योग्य कार्यों को मुझसे कराना चाहता है। जो छाया की भाँति सदा दुख मे साथ रहा। जिसने कभी सुख देखा नहीं।

जीवन भर मेरी आलस्य छोड़कर सेवा की आज उसे उनकी सेवा का पुरस्कार यह देना है कि उसके सिर को धड़ से पृथक् करना है। यह क्रूर कार्य मुझसे न होगा। प्रतिज्ञा जाती है तो जाओ।" ऐसी अनेकों बातें सोचते-सोचते श्रीरामचन्द्र अत्यन्त ही दुखित हुए।

उन्हें दुखित देखकर हँसते हुए लक्ष्मणजी बोले—"प्रभो! आप अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करें। जो अनार्य अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता वह पापी रौरवादि नरकों की अग्नि में निरन्तर पचाया जाता है, प्रभो! आप निःशंक होकर मेरा अपने हाथों से वध करें मुझे प्रसन्नता है, कि मेरे वध से सम्पूर्ण कुल बच जायगा।"

यह सुनकर भगवान् और भी दुखी हुए। उन्होंने अपने जाबाल, कश्यप तथा वशिष्ठादि वेदज्ञ मन्त्री ऋषियों को बुलाया। सभी समाचार सुनकर सबके सब सन्न हो गये। किसी के मुख से एक भी शब्द न निकला। उस निस्तब्धता को भङ्ग करते हुए भगवान् वशिष्ठ बोले—"राम! प्रतिज्ञा पालन ही धर्म है। आप सत्य प्रतिज्ञ हैं, आप अपनी प्रतिज्ञा को न तोड़े। आज तक आपके द्वारा कभी मर्यादा के विरुद्ध कार्य नहीं हुआ है। आपने कभी अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी है। अब तो काल सन्निकट आ गया है। मैं दिव्य दृष्टि से उसे देख रहा हूँ।"

श्रीरामचन्द्रजी ने रोते-रोते कहा—"प्रभो मैं प्राणों से भी प्यारे अपने भाई लक्ष्मण का वध कैसे कर सकता हूँ।"

इस पर वशिष्ठजी बोले—"राम भद्र! सुनिये। शत्रु का वध ही वध नहीं कहलाता। राजा की आज्ञा को भङ्ग करदो, राजा का वध हो गया। स्त्री को शैय्या से पृथक् कर दो उसका वध हो गया। ब्राह्मण का मूड़ मुड़ाकर धन छीन कर देश से निकाल दो।

यह उसका वध ही है। इसी प्रकार अपने भाई का सुहृद् का परित्याग कर देना उसके वध के ही समान है। आप लक्ष्मण का परित्याग कर दें। आप से पृथक् रह कर लक्ष्मण जीवित ही नहीं रह सकते।"

यह सुनकर रोते-रोते कड़ा हृदय करके श्रीरामचन्द्रजी अपने छोटे भाई सुमित्रानन्दवर्धन लक्ष्मण बोले—"सौमित्रे! मैंने अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के निमित्त तुम्हारा परित्याग कर दिया। तुम अब जहाँ चाहो जा सकते हो।"

इतना सुनते ही लक्ष्मणजी के नेत्रों से अश्रुओं की दो धारायें बहने लगीं। रोते-रोते उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी की प्रदक्षिणा की और वे हाथ जोड़कर भूमि में प्रणाम करके महल से निकल पड़े। वे सीधे सरयू तट आये। अपने घर भी किसी से मिलने नहीं गये। सरयू तट पर आकर बिना अन्न जल ग्रहण किये वे सरयू के जल में समाधि लगाकर बैठ गये। उन्होंने साँस लेना सर्वथा बन्द कर दिया था। वे रामरूप का चिन्तन करते हुए तन्मय हो गये इन्द्र उन्हें सशरीर विमान पर चढ़ाकर स्वर्ग ले गया। अयोध्यावासी किसी भी स्त्री पुरुषों ने न तो इन्द्र को ले जाते ही देखा और न बहुत ढूँढने पर सरयू जी में उनका शरीर ही मिला। मिले कहाँ से वह तो चिन्मय हो गया था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के परित्याग करने पर लक्ष्मणजी सशरीर परलोक पधार गये। श्री लक्ष्मणजी का तिरोभाव सुनकर श्री रामचन्द्रजी अत्यंत ही दुखित हुए और वे लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगे। उनका धैर्य टूट गया था। सम्पूर्ण संसार उन्हें सूना दिखाई देता था।

छप्पय

रामचन्द्रतैं मिलहुँ कहै पुनि पुनि दुर्वासा।
मुनि नहिं माने लखन गये तजि जीवन आशा॥
बुलवाये मुनि विदा काल रघुवर ने कीन्हों।
करि आदर सतकार स्वाद युत भोजन दीन्हों॥
पूर्ण प्रतिज्ञा करन हित, रघुपति लक्ष्मन तजि दये।
राम विरह में तनु सहित, दुखित लखन सुरपुर गये॥

भगवान् का परम धाम गमन

[७०५]

स्मरता हृदि विन्यस्य विद्ध दण्डकण्टकैः ।
स्वपादपल्लव राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

लखन विरह अति दुसह राम तेहि सहि न सके जब ।
लव कुश कीन्हें नृपति चले वन धन जन तजि सब ॥
भरत शत्रुहन संग चले पुर के नरनारी ।
खग, मृग, बानर, वृक्ष भीर लागी सँग भारी ॥
राम प्रेम के पाश महँ, बँधे चले सब हरषिकें ।
अति प्रमुदित सुरपति भये, हरष जतावें बरषिकें ॥

जीव के सहज सुहृद श्रीराम हैं। राम को छोड़कर जो काम के वशीभूत हो जाते हैं, विषयों के संग रम जाते हैं वे ८४ के चक्कर में फँस जाते हैं। योगी लोग आँख कान आदि इन्द्रियों को

श्री शुकदेवजी कहते हैं— राजन ! समस्त नरनाट्य करने के अनन्तर स्मरण करने वाले अपने भक्तों के हृदय में उन पाद पल्लवों को स्थापित करके जो अति कोमल होने पर भी दण्डकारण्य के काँटों से विद्ध है— श्रीरामचन्द्रजी अपने परम धाम को पधार गये ।

मूँद कर, एकान्त मे बिना कुछ देखे, बिना कुछ सुने, बिना खाये पाये इसीलिये बैठे रहते हैं, कि हम पुनः संसार के आवागमन में न फँसे। हमारा इस जनम मरन से सदा के लिये छुटकारा हो जाय। इसके लिये वे घोर तप करते हैं। संसृति का कारण शरीर ही है, शरीर सुख के लिये ही संसार में फँसना पड़ता है।

इन्द्रियों का जहाँ विषयों से सम्बन्ध हुआ, वहाँ उनकी उनमें आसक्ति हुई। आसक्ति ही बन्धन का प्रधान कारण है, इसलिये वे योगी गण मन के विरुद्ध व्यवहार करते हैं, इन्द्रियों को विषय आहार न देकर उन्हे निर्बल बनाते हैं, इस प्रकार बड़े कष्ट से वे साधना करते करते बहुत जन्मों मे परम पद के अधिकारी होते है। इसके अतिरिक्त भक्तों का मार्ग निराला ही है। वे जंगलों मे नहीं जाते आहार नहीं छोड़ते। केवल अपने सब काम श्रीराम के चरणों मे अर्पण कर देते हैं। जो भी करेंगे राम की प्रसन्नता के लिये करेंगे। भोजन बनायेंगे, राम के लिये, फूल लायेंगे राम के लिये। यहाँ तक की राम का ही मुख देखकर जीयेंगे राम के रूप का स्मरण करते-करते ही मरेंगे। वे सब विषयों को छोड़ते नहीं। विषयों के उत्पादक एक को कस कर पकड़ लेते हैं। उसके साथ बँध जाते हैं। जो उसकी गति सो हमारी गति। वह तो गति दाता ही है, उसकी गति क्या? इनकी गति होती है जो बड़े बड़े योगियों की होती है। इन्हें वही स्थान प्राप्त होता है जो जहाँ तपस्वी योगी जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! लक्ष्मणजी परम धाम पधार गये। अब श्रीराम को कुछ भी नहीं सुहाता था। वे लक्ष्मण के सहारे ही जी रहे थे, वे ही उनके आधार थे, उनके वियोग से श्री राम अपने को आश्रयविहीन समझने लगे। वे सीताजी के वियोग को भूल गये। उन्हे लक्ष्मण की स्मृति क्षण-क्षण में दुख

देने लगी। तुरत उन्होंने मन्त्रियो पुरोहितों तथा नगर निवासियों को बुलाया और रोते-रोते बोले—"भाइयो! लक्ष्मण के बिना यह पुरी ये महल तथा यह सम्पूर्ण ससार मुझे काटने दौड़ता है। अपने भाई लक्ष्मण के बिना मै राज महल में क्षण भर भी नहीं रह सकता। लक्ष्मण मेरे साथ-साथ वन गया था, मैं भी उसके साथ-साथ उसी लोक जाऊँगा, जहाँ वह गया है। आज भरत का अयोध्या के राज्य पर राज्याभिषेक करो। इस कार्य मे देरी न होनी चाहिये। मेरी आज्ञा का अविलम्ब पालन होना चाहिये। मैं अपने बन्धु के पथ का अनुसरण करूँगा। मुझे अधिक अवकाश नहीं। समस्त सामग्रियाँ शीघ्रता के साथ मँगाई जायँ कुमारी कन्यायें बुलाई जायँ, सडकें सजाई जायँ और तुरत राज्याभिषेक की तैयारियाँ की जायँ।"

श्री रामचन्द्रजी के ऐसे दृढ वचन सुनकर सभी को हार्दिक दुःख हुआ सभी रोने लगे, किसी के मुख मे भी एक शब्द न निकला। भरतजी तो सुनते ही मूर्छित हो गये। तुरंत कुश लव ने उठकर अपने चाचा को उठाया उनके ऊपर सुगंधित जल छिडका, वायु की। कुछ-कुछ चेतना होने पर रोते-रोते भरत जी बोले—"ससार मे मैं ही सबसे अभागा हूँ। भैया लक्ष्मण ही भाग्यशाली हैं, वे वन में भी श्रीराम के छाया की भाँति आगे-आगे उनके पथ को परिष्कृत करते हुए गये और अब परलोक मे भी प्रभु से प्रथम ही पहुँच गये। मैंने न जाने पूर्व जन्म मे कौन से पाप किये है जो यह राज्यसिंहासन मेरा पिंड नहीं छोड़ता। श्रीराम के विहीन अवधपुरी का १४ वर्षों तक मुझे कितने कष्टो से राजकाज देखना पडा, इसे मेरे अतिरिक्त कौन जान सकता है। अब भी श्रीराम मुझे ही सौंप कर परलोक जा रहे हैं। 'हे राघव'! चाहे मुझे आज्ञा उल्लघन का महापाप ही क्या न लगे

चाहे मुझे महारोरवादि नरकों मे अनत काल तक पचना ही क्यों न पडे। मैं इस आज्ञा का पालन करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। प्रभो! मेरे ऊपर कृपा करें। मुझे ऐसी कठोर आज्ञा न दें। हे अशरण शरण! मैं सत्य शपथ खाकर कहता हूँ, मैं आपके बिना अब क्षण भर भी पृथ्वी पर नहीं रह सकता। मेरे अभिषेक का आप विचार छोड दें। मुझे राजा बनना धर्म न्याय दोनों के ही प्रतिकूल है। मेरे साथ तो यह घोर अन्याय होगा। चिरजीव कुश और लव दोनों योग्य है शूर वीर हैं, न्यायतः ये दोनों ही राज्य के अधिकारी हैं, अतः कोशल मे कुश का और उत्तर कोशल मे लव का आप राज्याभिषेक करें। मैं तो आपके साथ ही साथ चलूँगा।"

भरत जी की दृढ प्रतिज्ञा देखकर भगवान ने उनकी बात मान ली। लव कुश के राज्याभिषेक की तयारियाँ होने लगीं। उसी समय समस्त प्रजा रोती चिल्लाती हा राम! हा राम! पुकारती श्रीराम के समीप आई। वे सब डकरा रहे थे, बुरी तरह रो रहे थे, बहुत से मूर्छित होकर पड़े थे, उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर दयालु भगवान् वशिष्ठ श्री रामचन्द्रजी से बोले—"प्रभो आप अपनी प्रजा के स्त्री पुरुषों की विनती सुनें इनके दुःखों को दूर करें। इनकी हार्दिक इच्छा को जान कर उसके अनुकूल आचरण करो। तुम सदा से इनके दुःख को दूर करते आ रहे हो।"

अपने गुरुदेव की बात सुनकर भगवान् बोले—"हाँ! प्रभो जैसी आप आज्ञा देंगे उसी का मैं पालन करूँगा। मैं अपनी प्रजा को दुखी नहीं देख सकता। इनकी अन्तिम अभिलाषा अवश्य पूर्ण की जायगी।" ऐसा कह कर भगवान् ने रोते हुए भूमि पर पड प्रजा के लोगों को स्वयं उठाया, उनकी धूलि झाड़ा

और अत्यन्त ही स्नेह के साथ बोले—"तुम लोग मुझ से क्या चाहते हो ?"

प्रजा के लोगों ने कहा—"प्रभो ! आप हमारे स्वामी हैं, सर्वस्व हैं। आप वन में सरिता तट पर ऋषि आश्रमों में जहाँ भी पधारेंगे हम आपके साथ चलेंगे। हे कृपा सिन्धो ! आप हमारा परित्याग न करें। हमें अपने चरणों की शरण में ले चलें।"

पुरवासियों का अत्यन्त आग्रह देखकर भगवान् ने उनकी विनती स्वीकार की। वे सब के सब परम हर्ष के सहित भगवान् के साथ चलने को उद्यत हो गये। इतने में ही अभिषेक की समस्त सामग्रियाँ जुट गईं। भगवान् ने वेदज्ञ ब्राह्मणों के सहित कुश को कोशल पुरी में और लव का उत्तर कोशल में विधिवत् अभिषेक किया। शत्रुघ्न जी को बुलाने के लिये शीघ्र गामी घोड़ों पर बुद्धिमान् दूत भेजे गये। भगवान् ने आज्ञा दी—"शत्रुघ्न से कहो, हम लीला संवरण कर रहे हैं। वह तुरन्त आवे।"

दूतों के मुख से भगवान् के परम धाम पधारने की बात सुन कर शत्रुघ्न जी ने अपने पुरोहित तथा मन्त्रियों को बुलाया, अपने बड़े पुत्र सुबाहु को मथुरा के राज्य पर अभिसिक्त किया और दूसरे पुत्र शत्रुघाती श्रुतसेन को वैदिश देश का राज्य दिया। धन सेना आदि दोनों को बराबर बाँट कर वे अति शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी के दर्शनों के लिये अयोध्यापुरी की ओर चले। उन्होंने मार्ग में कहीं विश्राम नहीं किया। वे अपने भयंकर कुल क्षय के सम्वाद से चिंतित थे। कुछ ही दिनों में अयोध्या पुरी में पहुँच कर श्री रामचन्द्र जी के पादपद्मों में उन्होंने प्रणाम किया तथा भरतजी के चरण छुए। लक्ष्मण जी के परमधाम पधारने के समाचार से वे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे। उन्हें धैर्य बँधाते हुए

भगवान् ने उनसे कहा—"शत्रु तापी शत्रुघ्न ! तुम चिंता मत करो काल की तो ऐसी दुरत्य गति है।"

यह सुनकर शत्रुघ्न जी ने अत्यन्त ही दुःख के साथ कहा—"प्रभो ! मैंने आपकी आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं किया है, न मैं कभी आपके सम्मुख बोला ही हूँ। सदा सिर झुका कर मैंने आपकी सब आज्ञाओं का पालन किया है। एक बार अपनी अज्ञता के कारण बोला था। उसका दंड मुझे तत्काल मिल गया प्रभुपाद पद्मों से पृथक कर दिया गया। किन्तु आज मैं धृष्टता कर रहा हूँ। प्रभु से विनय कर रहा हूँ कि मुझे कोई दूसरी आज्ञा न दी जाय। मैं पुत्रों को राज्य देकर सब कार्यों से निवृत्त होकर आपके साथ चलने के लिये ही आया हूँ। आप जहाँ भी चलेंगे साथ चलूँगा। जहाँ भी आप रहेंगे साथ रहूँगा। अब मैं आपको छोड़ नहीं सकता।" शत्रुघ्न जी की ऐसी दृढ़ता देखकर श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें भी साथ चलने की अनुमति दे दी।

भगवान् के स्वधाम पधारने की प्रकट लीला संवरण करने का समाचार सर्वत्र फैल गया। सुनते हैं, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान् मयन्द, द्विविद आदि वीर वानर तुरन्त ही अयोध्यापुरी आये। राक्षसराज विभीषण भी आये। सुग्रीव ने हाथ जोड़ कर कहा—"प्रभो ! मैं वीरवर अंगद का राज्याभिषेक करके सब कार्यों से निश्चिन्त होकर ही यहाँ आया हूँ। आपके साथ ही चलूँगा यह मेरा दृढ़ निश्चय है।" भगवान् ने उन्हें भी साथ चलने की अनुमति दे दी।"

हनुमान् जी को अत्यन्त उदासीन होते हुए देखकर श्रीरामचन्द्र जी उनसे बोले—"पवनतनय ! तुम उदास क्यों हो रहे हो ! तुम तो मेरी लीला और रूप को एक ही समझते हो, संसार में जब तक मेरी लीला का प्रचार रहे-मेरी कथा रहे-तब तक तुम आनंद

से मेरे गुणों को श्रवण करते हुए पृथ्वी पर निवास करो। जहाँ भी मेरी कथा हो वहाँ तुम अनेक रूप रख कर अवश्य पहुँच जाना।

फिर विभीषण जी से बोले—"राक्षस राज ! मैंने तुम्हें एक कल्प की आयु दी है, अतः तुम कल्प पर्यन्त राक्षसों का शासन करो, मेरा स्मरण करो। ये जाम्बवान्, मयन्द, द्विविद भी कलियुग पर्यन्त रहेंगे। शेष सब वानर मेरे साथ चलें।"

सभी ने श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा शिरोधार्य की। इन सब बातों में उस दिन रात्रि हो गई। सभी को श्रीराम के साथ चलने की अत्यन्त प्रसन्नता थी। कोई दुखी नहीं था, किसी का चित्त उदास नहीं था, कोई घबरा नहीं रहा था। इस प्रकार उन सब नगर निवासियों ने वह रात्रि सुख पूर्वक बिताई।

प्रातःकाल होते ही नित्य कर्म से निवृत्त होकर भगवान् ने पुरोहितों के द्वारा अपने अग्नि होत्र की तीनों अग्नियाँ मँगवाईं। वेदज्ञ ब्राह्मण उन्हें बड़े-बड़े पात्रों में लेकर चले। भगवान् वशिष्ठ जी ने वैदिक मंत्रों द्वारा महाप्रस्थान की सम्पूर्ण क्रियायें कीं। सब क्रियायें पूर्ण होने पर श्रीरामजी ने ब्राह्मणों के पाद पद्मों में प्रणाम किया। उन सब की अनुमति लेकर वे महाप्रस्थान के लिये महलों से निकल पड़े।

श्रीरामचन्द्र जी सुन्दर पीतवस्त्र पहिने हुए थे। उनके आगे-आगे वेद मंत्रों को पढ़ते हुए ब्राह्मण चल रहे थे। पीछे प्रसन्न चित्त समस्त प्रजायें आबाल वृद्ध नर नारी वानर, तथा अन्यान्य प्राणी चल रहे थे। श्रीरामचन्द्र अत्यन्त गम्भीर भाव से जा रहे थे, वे अपने चरण कमलों में पादत्राणों को भी धारण नहीं किये हुए थे। उन्होंने मौन धारण कर लिया था। उस समय उनका तेज असह्य था वे सांसारिक कोई चेष्टा नहीं कर रहे थे। भगवान्

के दाईं ओर मूर्तिमान् श्री तथा पद्म चल रहे थे। बाईं ओर भूदेवी मूर्तिमती चल रही थीं। उनकी सहारशक्ति सम्मुख आगे आगे जा रही थी भगवान् के समस्त अस्त्र शस्त्र मूर्तिमान होकर मनुष्य शरीर धारण करके आगे आगे चल रहे थे। वेद माता गायत्री देवी ओङ्कार वषट्कार ये सब के सब विप्र वेष मे भगवान् का अनुगमन कर रहे थे। उस समय मानो स्वर्ग का द्वार सभी के लिये खुला हो। इसीलिये सभी अत्यन्त उत्कठा के साथ श्रीराम चन्द्र जी के चरणो का अनुसरण कर रहे थे। ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, शूद्र, बालक, वृद्ध, युवा, दास, दासी, अन्त. पुर के सेवक, राजकर्मचारी तथा अन्यान्य सभी लोग श्रीरामचन्द्र जी के साथ प्रसन्नता पूर्वक चल रहे थे, अग्नि होत्री ब्राह्मणों की पूजित अग्नियाँ उनके साथ थी। मनुष्यो की तो बात ही क्या पशु, पक्षी, कीट पतंग भी श्रीरामचन्द्र के साथ स्नेह पूर्वक चलें। साराश उस समय अयोध्या में ऐसा एक भी साँस लेने वाला प्राणी शेष नहीं रहा जो श्रीरामचन्द्र जी के साथ न चला हो, जो दर्शन करने आये थे, वे भी साथ हो लिये। जो जिस काम को जा रहा था, वह उसी काम को छोड कर श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करते-करते उनके पीछे हो लिया। जाते हुए सभी प्राणी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। सब के मुखमडल कमल की भाँति खिल रहे थे।

इस प्रकार शनै: शनै: अवधपुरी से आधे योजन से अधिक चल कर भगवान् गोप्रतार घाट (गुप्ती घाट) के निकट पहुँचे। वहाँ उन्होने पवित्र सलिला सरित् श्रेष्ठा सरयू को देखा। वह बडी गम्भीर थीं उसमें हिलोरे उठ रही थीं। उसका जल अमृतोपम था। वह श्रीरामचन्द्र जी के स्वागत में उछलती हुई सी दिखाई दे रही थी। शनै: शनै: श्रीरामचन्द्र जी ने सब के साथ सरयू के सुन्दर स्वच्छ सलिल में श्रद्धा सहित प्रवेश किया।

उसी समय लोकपितामह ब्रह्माजी लाखों करोड़ों दिव्य विमानों को लेकर भगवान् के स्वागत के निमित्त आये। उन्होंने दूर से ही प्रार्थना की—"हे सनातन। प्रभो! आपने अत्यन्त ही अनुग्रह की। अब आप ऐसी कृपा करें, कि हमें कौतूहल न हो। आप नरनाट्य अब छोड़ दें। स्वेच्छा से जिन लोकों में आप की जाने की इच्छा हो, उन लोकों को कृतार्थ करते हुए चलें।"

भगवान ने कहा—"ब्रह्मदेव! आप जैसा कहेंगे वैसा ही होगा।" यह कह कर भगवान् अपने भाइयों के साथ दिव्य विमान पर बैठकर अपने सनातन वैष्णव धाम को चले गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् को सशरीर दिव्य विमान से जाते देखकर साध्य, मरुत, चारण, इन्द्र, अग्नि आदि सभी भगवान् की स्तुति करने लगे। गन्धर्व गाने लगे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं। सर्वत्र राजारामचन्द्र की जय के शब्द से ब्रह्माण्ड भर गया।"

छप्पय

अवध परी तें सकल चले सियपतिहिं धारि उर।
निखिल जीव निर्मुक्त भये सब शून्य भयो पर॥
कीयो प्रभुपद प्रेम सफल तनु तिनने कीन्हों।
जगजीवन को लाभ जथारथ तिनही लीन्हों॥
विधि विमान अगणित लिये, सरयू तट आये तुरत।
बैठि पधारे परमपद, रघुनन्दन निज तनु सहित॥

भगवान् के साथ अन्य सभी जीवों की परमगति

[७०६]

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा सविष्टोऽनुगतोऽपि वा ।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥ *

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ २२ श्लो०)

छप्पय

जिहि पद पावन हेतु करहिं जप जोग बिरागी ।
विविधि भाँति तनु कसहिं तेज युत तपसी त्यागी ॥
सो पद पायो सहज अवधवासी जीवनि ने ।
राम कृपा तै लोक उच्चतम पायो तिनि ने ॥
पल्लो पकरें प्रेम तै, आत्म समरपन जे करहिं ।
ते तप तीरथ जोग बिनु, भवसागर छिन महँ तरहिं ॥

वर्षा के अनतर नदी तट पर बहुत से वृक्ष उत्पन्न हो जाते हैं। कँटीले वृक्ष, झाँडियाँ, सरपत, काम घास तथा अन्य भी नाना प्रकार के झाड झंकार जम जाते हैं। किसी को कोई उत्सव करना

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! भगवान रामचन्द्रजी को जिन्होंने छुआ था, जिन्होंने उनके दर्शन किये थे, जिन्होंने उनका सहवास अथवा अनुगमन किया था, वे समस्त कोशलपुरवासी उसी स्थान को गये जिस स्थान को बड़े-बड़े योगी जन जाते हैं।

होता है, तो उतनी ही परिमित पृथ्वी को परिस्कृत करके उसे एक सी शुद्धि कर लेते हैं। यह पृथ्वी सर्वगम्य बन जाती है। वहाँ के झाड झकार हट जाते हैं, किन्तु जब बाढ आती है, तो बिना परिश्रम के ही सम्पूर्ण तट प्रान्त मे अन्त तक विशुद्धता छा जाती है, इसी प्रकार जब कोई आचार्य अवतरित होते है, तो अपने प्रभाव से अपने अनुयायियों को ससार सागर से पार कर देते हैं। यदि भगवान् अवतरित होते हैं तो अपने ससर्ग मे रहने वाले कीट पतग, पशु, पक्षी, सभी को मुक्त कर देते हैं। सभी के कर्म बन्धनों की बेड़ियों को काट देते हैं।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सशरीर अपने परमधाम वैष्णव लोक मे चले गये। अन्य जितने भी जीव थे, वे भी सरयू के पावन जल में प्रवेश करके अपने शरीरों का परित्याग करने लगे। सबको तनु त्याग करते देखकर भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा—"देखो! मेरे पीछे जितने भी प्राणी आये हैं, सबकी सद्गति होना चाहिए इन सरयू के गोप्रतार घाट (गुप्ता घाट) के जल का स्पर्श जिनके शरीरों से हो जाय वे अवश्य कर्म बन्धनो से छूट जायँ।"

यह सुनकर ब्रह्माजी बोले—"प्रभो! आप ही समस्त प्राणियों की एक मात्र गति हैं। आप जिसे जो लोक देना चाहे दें। जितने ये कीट पतग सर्प आदि तिर्यक् योनि के जीव है, ये सबके सब सन्तानक लोक में जायँ। यह लोक ब्रह्मलोक के ही समान शुद्ध और सनातन है। ये जितने भालू बदर आदि देवताओं के अश से उत्पन्न हुए थे, वे अब तनु त्याग कर अपने-अपने अशों मे मिल जायँ। सुग्रीवजी सूर्य के अश से उत्पन्न हुए थे, अतः वे सूर्य मडल मे प्रवेश कर जायँ। और भी सब वानर अपने अशी देवताओं में एकीभूत हो जायँ।"

ब्रह्मानी की बात का भगवान ने अनुमोदन किया। ब्रह्मानी अपने साथ अमरयों विमान लाये थे। जो भी सरयू में प्रवेश करके शरीर त्यागते वे ही दिव्य देह से विमान पर जा बैठते। विमान उन्हें लेकर दिव्यलोक में चला जाता। उस समय का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। सबकी आँखें अश्रुओं से भीग रही थी। राम प्रेम में फँसे हुए वे सब रामनाम का उच्चारण करते हुए सरयू जल में घुस जाते। सबका पार्थिव शरीर प्राणहीन होकर सरयू में उतरने लगता और दिव्य रूप से सब परमधाम को चले जाते। इस प्रकार अयोध्या में रहने वाले जितने जीव थे सभी परमपद को प्राप्त हुए।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब अयोध्या पुरी जीवों से रिक्त हो गई, तो कुश लव ने फिर राज्य कहाँ किया। जब कोई रहा ही नहीं तो वे शासन किस पर करते रहे।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! सर्वज्ञ श्रीरामचन्द्रजी तो सब पहिले ही से जानते थे। अतः उन्होंने कुश को कोशल देश का राजा पहिले ही बना दिया था, उनकी राजधानी में विन्ध्य पर्वत के पास कुशावती नगरी निश्चित की। श्रीरामजी की आज्ञा शिरोधार्य करके कुश कुशावती में चले गये और वहाँ अपने मंत्री पुरोहितों के साथ रहने लगे। इसी प्रकार लव को उत्तर कोशल का राजा बनाया उनकी राजधानी हुई श्रावस्ती। वे अपनी श्रावस्ती पुरी में रहने लगे। महाप्रयाण के समय श्रीराम की आज्ञा थी कुश लव तथा भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के पुत्रों में से कोई यहाँ न रहे। इसलिये इन आठों भाइयों में से कोई यहाँ नहीं थे। ये सब अपनी अपनी राजधानियों में थे। श्रीरामचन्द्र जी समस्त अयोध्यापुरी को खाली करके परम धाम पधारे। बहुत दिनों तक अयोध्या पुरी श्रीराम वियोग में उजाड़ ही पड़ी रही। वहाँ घोर

वन हो गया था। पीछे रघुवंशी राजाओं ने आकर उसका पुनः जीर्णोद्धार किया। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी १३ हजार वर्षों तक तरनाट्य करके परमधाम को पधारे।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आप ने राम चरित्र की समाप्ति दुःख मे की दुःखान्त काव्य की मनीषियों ने प्रशंसा नहीं की है। हमारे यहाँ प्राचीन परिपाटी है, कैसा भी कारुणिक आख्यान क्यों हो, अत मे उसका अवसान सुख मे करते हैं। नायक का वियोग वर्णन करके अन्त मे कहीं न कहीं उसका संयोग अवश्य करते हैं। वियोग मे तड़पा कर नायक नायिका को छोड़ना यह रस शास्त्र के विरुद्ध है। आपने तो इस उपाख्यान की अत्यंत कारुणिक स्थल पर समाप्ति की।

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! श्रीराम कोई साधारण नायक तो हैं ही नही वे तो जगन्नियन्ता हैं। इस चराचर जगत् के एक मात्र सूत्रधार हैं। वे ही सृष्टि स्थिति और प्रलय के स्वामी हैं। श्रीसीताजी उनकी नित्य शक्ति हैं वे सदा उनके साथ रहती है। उनका कभी श्रीराम से वियोग होता ही नहीं। अयोध्यापुरी भी कभी रिक्त नहीं होती। जैसे राम नित्य हैं। वैसे ही उनका धाम नित्य है। त्रेतायुग की एक रामनवमी को ही राम का अवतार हुआ हो, सो बात नहीं। जब-जब चैत्र में रामनवमी आती है, तब-तब उनका अवतार होता है, उनका अवतार विवाह, वनगमन, राज्यारोहण, नित्य ही होता है। राम और धाम की भाँति उनकी लीला भी नित्य है। श्रीराम कभी बूढ़े नहीं होते उनके न कभी दाढ़ी मूछें आती हैं और न उनके कभी झुर्रियाँ ही पड़ती हैं। वे सदा १६ वर्ष के युवक बने रहते हैं। उनके रूप मे कभी परिवर्तन नहीं होता। अवस्थाओं का उनके शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि उनका शरीर प्राकृतिक न होकर

चिन्मय है। अतः नाम रूप तथा लीला की भाँति उनका रूप भी नित्य है। वह कभी ढलता नहीं नित्य नूतन दिखाई देता है। इसी प्रकार श्रीसीताजी भी नित्य किशोरी ही बनी रहती हैं। यह जुगल जोडी सदा अवधपुरी के कनक महल मे कमनीय क्रीडा करती रहती हैं। सेविकायें नित्य सखी इनकी परिचर्या में सलग्न रहती हैं। वे नित्य सखी धन्य हैं जो प्रिया प्रियतम की सेवा मे रहकर महल मे टहल करके दिव्य सुख का अनुभव करती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस गुप्ता घाट की लीला से हमारा चित्त उद्विग्न सा हो गया है। फिर से एक बार संक्षेप मे उसकी समाप्ति करें।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं सुखान्त रामचरित का सक्षिप्त वर्णन करके इस पुण्य प्रसग को समाप्त करूँगा।"

छप्पय

बिरहमोहिँ अवसान चरित रघुनदन को सुनि।
शौनक अति ई दुखित सूतजी तँ बोले पुनि॥
सूत! चरित दु.खान्त नेक नहिँ हमहिँ सुहावे।
सुमिरि राम निर्वाण हृदय पुनि पुनि भरि आवे॥
सब सुनि बोले सूतजी, मुनिवर! राम अखड अज।
तिनकी आद्या शक्ति सिय, जाहिँ कबहुँ नहिँ तिनहिँ तज॥

सुखान्त रामचरित

[७०७]

धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनैः ।
स्त्रीपुम्भिः सुरसंकाशैर्जुष्टं भूषण भूषणैः ॥
तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया ।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० ३४, ३५ श्लोक)

छप्पय

सुनहु सुखान्त चरित्र राम स्वामी त्रिभुवन के ।
भरत लखन रिपुदलन रहैं आज्ञामहँ तिनके ॥
पतिकूँ सरबसु समुझि सदा सीया सुख पावैं ।
राम निरखि सिय कमल वदन छिन-छिन हरषावैं ॥
कनक भवन अतिई सुघर, सब सामग्री सुखद जहँ ।
हरषित ह्वै रघुवंशमनि, रमन करहिं सिय संग तहँ ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीरामचन्द्रजी के कनक-भवन को सेवकों ने सुगन्धित धूप दीपों तथा पुष्पमय आभूषणों से भली भाँति सजाया था। आभूषण उसके कारण विभूषित होते थे, उसमें रहने वाले दास दासी देवताओं के समान सुन्दर थे। उस भव्य भवन में पुरुषऋषभ आत्माराम जितेन्द्रिय भगवान् राम अपनी अभिमता प्रियतमा जनकनन्दिनी के साथ रमण करते थे।"

मनुष्य जो खाता है, वही अपने देवताओं को भोग लगाता है। जिससे जो सम्बन्ध प्रिय होता है, वही सम्बन्ध भगवान् से स्थापित करता है। भगवान् तो सबके स्वामी हैं। संसार में ५ ही सम्बन्ध हैं। ईश्वर और जीवका सम्बन्ध, मित्र मित्र का सम्बन्ध, स्वामी सेवक का सम्बन्ध, पुत्र पिता का सम्बन्ध और पति पत्नी का सम्बन्ध सब सम्बन्ध इन्हीं के अन्तर्गत हैं। अतः भगवान् में शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुर सम्बन्ध स्थापित करके रति करते हैं। संसारी सम्बन्ध शरीर के नष्ट होने से नष्ट हो जाते हैं, किन्तु भगवान् का श्रीविग्रह तो चिन्मय है, वह कभी नष्ट नहीं होता, अतः भगवान् के साथ किया सम्बन्ध नित्य होता है, स्थाई होता है अटूट होता है। भगवान् को जो जिस भाव से भजते हैं, भगवान् भी उनके लिये वैसे ही बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! भगवान् का प्रादुर्भाव अवध में हुआ आप यह न समझें कि पहले अवध में नहीं थे, फिर कहीं से बालक बनकर अवध में आये होंगे। वे तो नित्य अवध में ही निवास करते हैं। आविर्भाव तिरोभाव केवल रस की वृद्धि के लिये होता रहता है। वह तो एक अवस्था है। चक्रवर्ती महाराज दशरथ की पटरानी कौशिल्या देवी के उदर से अवतरित हुए। उनके शेष तीन अंश भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न केकेयी और सुमित्रा नाम वाली रानियों से उत्पन्न हुए। बालक बनकर मेरे भोले भाले राम चकित-चकित दृष्टि से इधर उधर खेलते। इधर से उधर एक गोद से दूसरी गोद, दूसरी गोद से तीसरी गोद में जाते, सबके चित्त को चुराते, सबको हँसाते, सबका मन बहलाते, मनहर बाललीला दिखाते, कभी रोते, कभी गाते, कभी पालनों में सो जाते, कभी उठकर पैर फड़फड़ाते, कभी माँ-माँ कहकर कौशल्या को बुलाते, कभी अपने बूढ़े बाप की गोद में चले

जाते। उनकी छाती से चिपट जाते, उनके साथ दूध भात खाते, फिर खाते-खाते भाग जाते, बालकों के साथ खेलते हुए कोलाहल मचाते। अपनी माता को बहुत खिजाते, पकड़ ही में न आते, दूर से ही सैंन चलाते, समीप नहीं आते, भरत शत्रुहन लक्ष्मणजी को भी बुलाते। और भी सब सखा जुट जाते, विविध प्रकार के खेल बनाते, तीर कमान चलाते किसी को घोडा बनाकर उसी पर चढ़ जाते। उसे कोड़े मार-मार कर दौडाते।

"भगवान् होकर ऐसी लीलायें क्यों करते थे, जी! देखो जी, अब तुम प्रत्येक बात मे क्यों-क्यों मत किया करो। खेल मे क्यों नहीं पूछी जाती। तुमने किसी से प्रेम किया हो तो समझें। प्रेम में यह बात न सोची जाती है न पूछी जाती है। प्रेम मे तो जो भी अट सट बात मुहमें आ जाती है, कह दी जाती है। हमारा प्रेमी जो करे वही सुन्दर है वही मन को हरने वाला है। हमारे प्रेमी के मुख से जो भी शब्द निकले वही अमृत है, उसकी वाणी मे शब्द घुलकर सरस बन जाता है। सॉभर की झील मे जो भी वस्तु डालता वही सॉभर बन जायगी। भगवान् जो भी करेंगे सुन्दर करेंगे शिव करेंगे कल्याणप्रद करेंगे। वे जो भी रूप बना लेंगे वही मनोहर होगा। मुँह मे कालिख लगा ले तो वह कालिख भी खिल जायगी। तन में धूरि लपेट लेंगे तो उसी से उनकी शोभा को देखकर शोभारानी लज्जित होकर घूँघट काढ लेगी। राम क्यों करते हैं, अच्छा इसका भी उत्तर सुन लो, वे सुख के लिये करते हैं, प्राणियो को ससार से पार करने के लिये करते हैं और रहस्य की बात तो यह है, वे भक्तों को आनन्द देने के लिये करते हैं। क्यो सत्य है न? तुम सत्य मानो मत मानो उनके यहाँ तो सब सत्य ही हैं। क्योंकि वे सत्य-स्वरूप हैं। असत्य से उनकी भेंट नहीं हुई। वे देखो छोटे से

मुनमुना न बनते तो पुत्र बनकर कौशल्या दशरथ को सुख कैसे देते। इसलिये उन्हें सुख देने को बालक बन गये। माता के दूध को चुसर-चुसर करके पीते, भूख लगने पर रोने लगते। माता को छाती से चिपट जाते, मचल जाते। उनका पल्ला पकड़ लेते। माता को निहाल कर देते। बड़ी-बड़ी आँखों में माँ मोटा मोटा काजर लगा देती। दाईं ओर बड़ा सा दिठौना लगा देती। मेरे राम को नजर न लग जाय। कैसी क्रीडा है। जिसकी दृष्टि से ससार विलीन हो जाता है। अचर मचर हो जाते हैं। सचर अचर होकर विलीन हो जाते हैं। माता उनकी रक्षा के लिये काजर का दिठौना लगाती हैं बगनखा पहिनाती हैं, कि भूत प्रेत पिशाच की बाधा न हो। राम डर न जाय। माता पिता को जब सुख दे चुके तो अब सखाओं की बारी आई। सख्य रस की भी तो अभिव्यक्ति करनी है। घुटुअन से अब पाँ पाँ पैया चलने लगे। मित्रता जोड़ने की योग्यता आ गई। सखाओं के गलों मे गलबेयाँ डालकर घुल घुल कर बातें करने लगे। सखाओं की दृष्टि मे वे बड़े थे। माता पिता की दृष्टि में वे सदा बालक ही बने रहे। जब बच्चों मे आये तो जोट बनाने लगे। यह उनकी जोट का यह उनके जोड़े का, खेल खेलने लगे। सबके हृदय मे घुस कर रस की धारा बहाने लगे। ससार मे जिसने सख्य सुख का अनुभव नहीं किया उसने कुछ नहीं किया। सख्य सुख उसे कहते हैं दो देहों मे एक से ही प्राण सचारन करें। प्रेमी सखाओं की दृष्टि मे तो राम सदा वैसे ही हैं। वे तो उनके लँगोटिया यार हैं। उन्हें बालकराम या राजराम से कोई काम नहीं हैं। वे तो राम हमारे सखा हैं इतना ही जानते हैं। किन्तु राम तो बढ़ते जाते हैं। वे बड़े बिना मानते नहीं। छोटे हैं तो बढ़ने ही चाहिये। युवक हो गये। युवक क्यों हुए जी ?"

फिर वही बात ? अरे भाई, इन चूडी बीछिया नथ वाली अपनी जीवराशि को भी तो उन्हें सुख देना है। स्त्रियों की आँखें युवाओं के ही ऊपर जाती हैं। उनकी नित्यशक्ति जानकी जी जनकपुर मे ये अवधपुर में। मिलना कैसे हो। दुल्हा बिना बने मिलन होता नहीं केवल दूल्हा बनने से भी तो काम नहीं बन सकता जब तक दुलहिन न बने। जिन्हे ब्रम को दूल्हा रूप से पाना है, उन्हें नाक छिदानी पडेगी चूडी बीछिया पहिनने पडेंगे। माँग में सिंदूर लगाना पडेगा। हाव भाव कटाक्ष छोडते हुए घूँघट की ओट मे से चोट मार कर दूल्हा को लोट पोट करने की शक्ति प्राप्त करनी होगी। तभी तो वह पाणिग्रहण करेगा। अपरिचित को अपना लेना सहज काम नहीं है।

राम दूल्हा बनकर जनकपुर जाते है। सबको सुख देते है, सीताजी को अपनाते हैं। उनके साथ आनन्द विहार करते हैं। दूल्हा राम को देख कर बहुत से मनचले, पुरुष भी मूँछ मुडा कर साडी पहिन कर सखी बन जाते हैं। और कोई दूसरा हो तो दुदकार दें। चलो हटो बनावटी सखी का वेष बना लिया है। किन्तु राम तो बनावट को भी यथार्थ मान लेते हैं। वे बडे दयालु हैं, बडे सरस हैं, किन्तु सरस ससुराल में ही हैं। राज सिंहासन पर बैठकर तो बडे कठोर हो जाते हैं। इसीलिये मिथिला भावना के उपासको का कहना है कि विवाह करके श्रीराम मिथिला से कभी अवध गये ही नहीं। ससुराल में ही बस गये ससुर के घर का निवास स्वर्ग से भी बढ कर है, फिर इन्हें तो ससुराल मे रहने की सनातन बान पडी है। समुद्र की बेटी लक्ष्मी से विवाह किया समुद्र मे ही बस गये। शिव रूप में हिमालय की पुत्री पार्वती का पाणिग्रहण करके उसी के घर में सदा के लिये रह गये। इसी प्रकार सीता को लेकर जनकपुर मे

ही एक महल बनाकर सुख से रहने लगे। चलो, रावण वध सीता परित्याग संसार भर की खटपट से बच गये। नित्य विवाह नित्य भाँवर नित्य ज्योनार, नित्य कुँवर कलेऊ नित्य मिलनी ये ही होता रहे। सालियों के लिये हँसी ठट्ठा का अवसर मिल गया। इधर से निकलीं दो मीठी बातें सुना गईं। उधर से आईं दो चटपटी बातें कह दीं। राम मुस्करा गये, उन्हें मानों पारितोषिक मिल गया। इसलिये मिथिला उपासना के भक्त विवाह के आगे को लीला पढ़ते ही नहीं। विवाह के पश्चात् कुछ हुआ हो तो पढ़े भी संसार में मुख्य वस्तु तो विवाह ही है। विवाह हुआ मानो सब कुछ हो गया। अब तो सुख ही सुख है, जो वर्णन की वस्तु नहीं अवर्णनीय विषय है। किन्तु अन्य भक्त अपने राम को घर जमाई कैसे देख सकते हैं। घर जमाई शब्द सुनते ही वे घबरा जाते हैं, भला दुलहिन के घर में हमारे राम रहेंगे। नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। राम को विवाह करने का अधिकार ही नहीं। यह काम तो दशरथ जी का है वशिष्ठ विश्वामित्र आदि बड़ों का है। अकेले राम ससुराल मे पैर भी नहीं रख सकते। हाँ दश पाँच बार आना जाना हो जाय संकोच दूर हो जाय उसकी दूसरी बात है। नहीं जहाँ पग-पग पर संकोच वहाँ मेरे संकोची राम अकेले जा सकते हैं। वे भला विवाह की बात मुख से निकाल सकते हैं। उन्हे पता भी चल जाय मेरे विवाह की बात है, तो वे जनकपुर जाते भी नहीं। पक्षियों को मालूम पड़ जाय कि इन दानों मे जाल बिछा है तो वे उन दानों को लेने ही न जायँ, किन्तु फँसाने वाले बहेलिया तो बड़ी बुद्धिमानी से बुलाकर फँसाते हैं। बूढ़े बाबा विश्वामित्र बोले—"बेटा! जनकपुर मे एक यज्ञ है देखने चलोगे।" चलो बाबाजी! भोले राम को यज्ञ में क्या आपत्ति थी! उन्हें यह क्या

पता इसके भीतर कोई रहस्य है। भोले-भाले ही ठहरे। जैसे बच्चे को बढावा देने को कहते हैं—"अच्छा देखो, यदि तुम उस काम को कर दो तो तुम्हे जाने, कैसे बहादुर हो।" बच्चे बढावे मे आकर कर देते हैं। श्रीरामचन्द्रजी से भी कहा—"तुम शिव-धनुष को चढा सकते हो राम? राम बोले—"मैं चढा ही नहीं सकता, तोड भी सकता हूँ मरोड भी सकता हूँ, टुकडे-टुकडे भी कर सकता हूँ।" अच्छा करो तो सही, देखे तुम्हारी वीरता।" राम ने धनुष को तोडा फँस गये। दशरथजी आ गये, या चुपके से बुलवा लिये। आपस मे जाने क्या साँठि गाँठि हो गई। धर दिया राम के सिर पर मुहर। बडो के सामने बोल भी नहीं सकते। राम ने सिर झुका दिया। उसी दिन से दूल्हा नीचे सिर झुकाये हुए ही चलता है। बहुत से स्थान मे फूलों से उसका मुँह भी ढक देते हैं। बाँध दी उनके गले मे जनक नन्दिनी।" अब कब तक यहाँ रहना है, राम सोचते, किन्तु बोलते नहीं। दोनों समधी-समधी निपट लें। जाने आने के सम्बन्ध मे दूल्हे को बोलने का कोई अधिकार ही नहीं। एक दिन रथ पर चढ कर बहू के साथ चल दिये। महलों मे आये। मातायें हर्ष के मारे फूली न समाईं। जो भी पूजा करें गाँठ जोड कर करें। दोनों को पास बिठा कर ही सब काम करावें। तुम जानते ही हो पास रहते-रहते प्रेम हो ही जाता है। सीताजी से रामजी प्रेम करने लगे। फिर वह प्रेम ऐसा बढा कि एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते थे।

जहाँ दो बर्तन रहते हैं खटकते ही है। सौत सौतों में मनमुटाव हो ही जाता है। रामचन्द्र को इस कलह को शान्त करने कुछ दिनों के लिये वन जाना पडा। उसमे कुछ राजनैतिक काम भी थे। रावणादि दुष्ट राजा प्रजाओं पर अत्याचार करते। उन्हें भी

वश मे करना था। त्याग से झगड़ा शान्त हो जाता है। रावण को मारकर श्रीराम लौट आये। आकर अवधपुरी में राजा हुये। सिंहासनासीन हुये। अब राजा होकर राजा के से सभी खेल करने चाहिये। भाइयो से कहा—"चारों दिशाओं मे जाओ। पृथ्वी पर दिग्विजय करो। मैं यहाँ पुरी की रक्षा करता हूँ पुर वासियो तथा अनुचरों का पालन पोषण करता हूँ।" भाई दिग्विजय के लिये गये और अब आपकी नित्य ही बड़ी धूम धाम से सवारी निकलने लगी। चातक की भाँति सभी प्रजा के जन दर्शनो को लालायित रहते। यद्यपि नित्य ही सवारी निकलती, किन्तु वह एक दिन उन्हे कोटि कल्पो के समान प्रतीत होता। रात्रिभर सोचते रहते। कब प्रातःकाल हो और कब राजाराम-चन्द्रजी की सवारी के दर्शन करें।

प्रातः काल होते ही सभी अपने-अपने घरो के सामने लीपते, चौक पूजते, बेल बूटे बनाते सड़कें स्वच्छ सुगन्धित जल से सींची जातीं। इधर से उधर मतवाले हाथी घूमते। उनके गडस्थलो से बह-बह कर मद पृथ्वी पर पड़ जाता। उसकी सुगंधि से वायु सुगंधित बन जाती। उस समय वह समस्त पुरी ऐसी प्रतीत होती थी, मानो सज बज कर सोलहू शृंगार करके नायिका अपने नायक की प्रतीक्षा मे बैठी हो। अवधपुरी के समस्त महलों के शिखरों पर, पुर द्वार, सभा, चैत्य तथा देवालयों पर बड़े-बड़े कलश झलमल-झलमल करते हुए चमकते थे। समस्त पुरी पुण्य-पताकाओं के फहराने से हिलती डुलती और किलोल करती सी दिखाई देती थी। सड़कें स्वच्छ करके नित्य सुंदरता के साथ सावधानी से सजाई जातीं। घर-घर कदली के फलदार वृक्ष शोभित थे। सुपारी, नारियल तथा ताड़ के पंक्तिबद्ध लम्बे-लम्बे वृक्ष बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। कहीं-कहीं वस्त्रों से दरवाजे

बनाये जाते। उनमें बड़े-बड़े शीशे लगाये जाते, जिसमें जी चाहे अपना मुख देख लो मुख देखने की सभी को स्वाभाविक इच्छा होती है चाहे कैसा भी काना खुदरा मुख क्यों न हो। वह पुरी नित्य उत्सवमयी सी दिखाई देती थी। स्थान-स्थान पर नित्य वन्दनवार बँधते थे। श्रीराम की सवारी निकलते ही सभी नर नारी आगे आकर हाथों में नाना उपहार लिये हुए खड़े हो जाते। वे सब लोग अञ्जलि बाँधे हुए स्तुति करते—"हे प्रभो! पूर्वकाल में वराह वेष बनाकर इस वसुन्धरा का आपने उद्धार किया था। अब राजा बनकर आप ही इसका निरन्तर पालन करें। इसी प्रकार हमे सदा सुख देते रहे।"

श्रीरामचन्द्रजी की सवारी नित्य ही निकलती थी, नित्य ही वे पुरवासियों को अपने दर्शन देते थे, किन्तु तो भी सबको ऐसा ही प्रतीत होता, मानो हमारे स्वामी चिरकाल मे लौटे हैं, नित्य ही उनकी सवारी में झाँकी मे नूतनता दिखाई देती। जो राजपथो के दोनों ओर आकर खड़े हो सकते थे, वे तो पहिले से ही आकर खड़े हो जाते। जो कुलवती महिलायें होतीं वे अपने गृहकार्यों को छोडकर अटारियो पर चढ़ जातीं। ओखा मोखा, झार झरोखाओं से घूँघट को हटाकर कमल नयन श्रीराम की झाँकी करतीं और अतृप्त नयनो से अपलक निहारती रहतीं। अपने हृदय के मधुर भावो को सुमन बरषा कर अभिव्यक्त करतीं।

इस प्रकार सबको दर्शन देते हुए नगर की प्रदक्षिणा करके पुनः अपने पूर्ववर्ती पिता, पितामह, प्रपितामह आदि महिपालो से सेवित सुखकर सुन्दर समस्त सामग्रियों से सम्पन्न अनन्त कोशों से परिपूर्ण महलो मे प्रवेश करते। इन्द्र के भवन को भी तिरस्कृत करने वाले उन महलो की शोभा का वर्णन कौन कर सकता है।

उनके द्वारों की देहली विद्रुम मणियों से बनी हुई थीं। स्थान स्थान पर जो स्तम्भ लगे थे, वे काष्ठ पाषाण के नहीं बने थे। वे सब वैदूर्य मणियों के बनाये हुए थे। जिनमें जाने वालों के प्रतिबिम्ब दिखाई देते थे। नीचे के फरश स्वच्छ मरकत मणियों को जड़ कर बनाये गये थे। उन महलों की भीतें स्फटिक मणियों की थीं। वे सुन्दर कलामर्मज्ञों के द्वारा सुन्दरतापूर्ण सजाये गये थे। रंग बिरंगी सुंदर सुंदर मालायें यथा स्थान उनमें टाँगी गई थीं। बहुरंगी पताकाओं से भवन सुशोभित थे। नाना रंग के रेशमी वस्त्रों से वे स्थान-स्थान पर आच्छादित थे। घरों के द्वारों के परदे बहुमूल्य पतले रेशमी वस्त्रों के बने हुए थे। शुभ्र स्वच्छ मोतियों की मालरें लटकी हुई थीं। स्थान-स्थान पर सभी इन्द्रियों को सुखकर सामग्रियाँ सजी सजाई रखी थीं। स्थान-स्थान पर अत्यन्त सुगन्धित धूप का धूम हो रहा था। सुगन्धियुक्त तेलों के तथा मणियों के दीपक जल रहे थे। पुष्पों की कलियों के गजरे बनाकर वे टेढ़े मेढ़े सुंदरता पूर्वक लगाये गये थे। वे भवन इतने भव्य थे कि सामग्रियों के सजाने से ही वे सुन्दर प्रतीत नहीं होते थे, । अपितु उनके सौन्दर्य के कारण ही ये सब सामग्रियाँ शोभा को प्राप्त हो रही थीं। वहाँ के जितने सेवक थे सभी सुन्दर थे। सेविकाओं के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं वे तो स्वर्गीय ललनाओं के सौन्दर्यगर्व को भी खर्व करने वाली थीं। सभी नई अवस्था वाली श्यामा थीं। सभी के शरीरों से कमल की सी गन्ध आती थी। सभी सुहावनी और मनभावनी थीं। आभूषणों को भी विभूषित करने वाले उनके सुन्दर सुकुमार मनोज्ञ अनुपम अंग थे। ऐसे सजे सजाये महलों में श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रिया जनक नन्दिनी के साथ निरन्तर विहार करते। श्रीराम आत्माराम हैं, वे अपनी आत्मा में ही रमण करते हैं।

उनकी आत्मा विदेह तनया ही है। वे उन्हें प्राणों से भी [illegible] प्यारी हैं। उनका पल भर भी वियोग सहन करने में [illegible]। वे बहुत कुछ करने में समर्थ हैं, किन्तु सीता के [illegible] नहीं कर सकते। वे सब कुछ सहन कर सकते हैं [illegible] के वियोग की कल्पना भी करने में वे समर्थ नहीं [illegible] नूतन क्रीडायें करके उनकी रस की वृद्धि करती है। [illegible] का रूप क्षण-क्षण में नूतन दिखाई देता है। [illegible] की कोई सीमा नहीं। इस अवतार में वैदेही [illegible] को प्राधान्य दिया। उन्होंने काम का उपभोग धर्म [illegible]। [illegible] पत्नी का जो व्रत ग्रहण किया वह [illegible]। सीताजी के सतीत्व के सम्बन्ध में तो कहना [illegible] भी है, किन्तु बहुमुखी पुरुष का [illegible] अनुकरणीय है। उसका पालन विधिवत् श्रीराम ने [illegible] को छोड़कर कहीं गये नहीं। जाते भी कैसे [illegible]। उनके कोई उत्कृष्ट स्थान हो, तो [illegible] महलों में विराज कर सीताजी के साथ [illegible] में निमग्न रहते हैं। उनका रामनाम, अयोध्या [illegible] सीता, कुसुम और दूर्वादल की [illegible] श्याम स्वरूप [illegible] नित्य हैं शाश्वत हैं। उनमें [illegible]। कभी नहीं। [illegible] भाग्यशाली भक्त [illegible] नित्य [illegible] दर्शन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—[illegible] रामचरित की समाप्ति नहीं, अत [illegible] राम के [illegible] की लीला का [illegible] है। इस [illegible] मर्यादा के परदे को [illegible] दाता। [illegible] अपना अनन्त सौन्दर्य [illegible] माधुर्य, [illegible]

मुख
नके
बड़े
नके

भवन मोहन रूप दिखाया। उन्हीं की ललित लीलाओं के लोभ से मैं अब आगे बढता हूँ।"

शौनकजी बोले—"तो, हाँ सूतजी! अब आप उसी अवतार की अनुपम लीलाओं की कथायें सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! अभी कैसे सुनाऊँ अभी तो मेरी भूमिका ही समाप्त नहीं हुई। मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने श्रीमद् भागवत में १२ स्कन्ध बनाये हैं। उनमें दशम ही प्रधान है। दशम की विशुद्धि के निमित्त ही इन ९ स्कन्धों का वर्णन है प्रथम आप नवम की सब कथायें सुन लें, तब दशम की कथा कहूँगा। हाँ एक बात तो रह गई। मैंने इस परम पावन रामचरित का माहात्म्य तो कहा ही नहीं।

शौनकजी बोले—"सूतजी! माहात्म्य अवश्य कहें। दान देकर दान का माहात्म्य अवश्य सुनना चाहिये। माहात्म्य तो आप पहिले ही सुना देते तो उत्तम था। कोई बात नहीं। अब ही सुनादो जिसे सुनकर रामचरित श्रवण तथा पठन में पुनः पुनः प्रवृत्ति हो।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं रामचरित के श्रवण पठन का माहात्म्य सुनता हूँ। उसे आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

राम मातु पितु सुहृद् सखा स्वामी बनि जावें।
पति, परमेश्वर, पुत्र रूप धरि सबहि कहावें॥
जो जैसे हो भजै भजै वे ताही तैसें।
क्रीड़ा अनुपम करे भक्त पावें सुख जैसें॥
मन विषयनि तें मोड़िकें, प्रभु सेवा सलग्न चित।
ते रघुवर लीला लखहिं, कनकभवन महँ होति नित॥

रामचरित माहात्म्य

[७०८]

पुरुषो रामचरित श्रवणैरुपधारयन् ।
आनृशंस्यपरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥*

(श्री भ० ९ स्क० ११ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

रामचरित जे पुरुष प्रेम तें पढ़ें पढ़ावें ।
तिनके छूटें बन्ध परम पदवी ते पावें ॥
श्रवनि पुटनितें पिये हिये आवे कोमलता ।
मिटहिँ कठिनता निखिल होहि जीवनमहँ मृदुता ॥
नितप्रति नवदिन नियमतें, रामायण जे नर सुनहिं ।
ते न भूलि भवजाल महँ, श्रवन रसिक कबहूँ फँसहिँ ॥

माहात्म्य बिना सुने वस्तु मे अनुरक्ति नहीं होती । सम्मुख अमृत रखा है, यदि हम उसका महत्व नहीं जानते, उसके माहात्म्य से अपरचित हैं, तो वह हमारे लिये व्यर्थ हैं । कोई बड़े भारी महात्मा हैं, हमारे सम्मुख से निकल जाते हैं हम उनके माहात्म्य को नहीं जानते, तो जितना हमे लाभ होना चाहिये

---

* शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! इस रामचरित को अपने श्रवण पुटो से पान करने वाला पुरुष ऋजुता मृदुता आदि गुणो से युक्त होकर कर्मबन्धनो से विमुक्त बन जाता है ।'

उतना लाभ नहीं होता है मंत्र ओषधि आदि में माहात्म्य सुनकर ही रुचि बढ़ती है। इसलिये सभी का माहात्म्य श्रवण करना चाहिये। इससे किन-किनको क्या लाभ हुआ।

सूतजी कहते है—"मुनियो! मैं तुमसे रामचरित का माहात्म्य अत्यत ही संक्षेप के साथ कहता हूँ। 'राम' इन दो शब्दो मे इतना बल है, कि पापी भी इनके सहारे पावन बन जाता है। मुख से उच्चारण न भी करे, केवल कानो द्वारा सुन ही ले तो भी उसकी मुक्ति हो जाती है। ओषधि खा ली जाय तब तो अपना प्रभाव दिखाती ही है। खावें न केवल सुई द्वारा रक्त मे पहुँचा दी जाय तो भी वह तत्काल चमत्कार दिखाती है। राम चरित वैसे तो स्वयं ही बड़ा मधुर चित्ताकर्षक तथा कानों को सुख देने वाला है। यदि समझकर पढ़ा सुना जाय तब तो पूछना ही क्या। बिना समझे बूझे प्रसंग से भी जो राम चरित सुनता है। उसकी भी मुक्ति होती है। क्योंकि बारम्बार राम-राम ये शब्द आते हैं। राम के रूप, स्वभाव, शील और कार्यों का वर्णन होता है। जैसे निर्मली बूटी गँदले पानी मे पड़ते ही उसकी मिट्टी को नीचे बैठा कर जल को विशुद्ध बना देती है, वैसे ही राम कथा कानो के द्वारा हृदय मे प्रवेश करते ही उसको कठिनता और चंचलता मिटा कर अन्तःकरण को सरल और कोमल बना देती है। इस विषय मे प्राचीन काल मे नारदजी ने सनत्कुमार मुनि को एक प्राचीन गाथा सुनाई थी। जिसमें राजा सौदामा गौतम शिवजी के शाप से राक्षस हो जाने पर रामायण सुनने के कारण उत्तम गति को प्राप्त हुए।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! सनकादिक कुमारों की नारदजी से भेंट कहाँ हुई और यह कथा प्रसंग कैसे चला? राजा सौदामा कौन थे? शिवजी ने उन्हें शाप क्यों दिया? और

रामायण श्रवण के प्रभाव से वे कैसे तर गये ? यदि आप उचित समझें तो कृपा करके हमारे इन प्रश्नों का उत्तर दें।"

यह सुनकर सूतजी कहने लगे—"मुनियो। आपने बड़े ही सुंदर प्रश्नों से श्रोता वक्ता दोनों का ही कल्याण होगा, रामचरित के माहात्म्य का वर्णन होगा अच्छा तो सुनिये, मैं आपके प्रश्नों का यथावत् उत्तर देता हूँ। एक समय सनक, सनंदन, सनत्कुमार और सनातन ये चारों मुनि घूमते घामते अपने पिता, लोक पिता महा ब्रह्माजी के दर्शनों के लिये उनकी सुमेरु शिखर वाली सुन्दर सभा में आये ब्रह्माजी का निवास स्थान तो सत्यलोक में है, किन्तु चौदह भुवनों का उन्हें काम देखना पड़ता है। अतः स्वर्ग के ऊपर सुमेरु शिखर पर उनकी एक सभा है। उसमें आकर तीनों लोकों के प्रार्थना पत्रों पर विचार करते हैं आज्ञा देते हैं। वह सभा बीच में है नीचे के सातों विवरों सहित भूलोक भुवर्लोक और स्वर्गलोग के जीव उसमें जा सकते हैं और ऊपर के महर्लोक जनलोक, तपलोक और सत्यलोक के भी निवासी वहाँ आ सकते हैं। वहीं से भगवती त्रिपथ गंगाजी निकली हैं। उनकी तीन धारा हैं स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल को गई हैं। स्वर्गलोक में उसी गङ्गा को मन्दाकिनी कहते हैं, पृथ्वी पर अलकनन्दा और पाताल में वही भोगवती के नाम से प्रसिद्ध है।"

ये चारों कुमार सदा ५ वर्ष के बालक ही बने रहते हैं, न कभी घटते हैं, न बढ़ते हैं। वस्त्र पहिनते नहीं। काम, क्रोध लोभ, मोह, मद मत्सर आदि के चक्कर में फँसते नहीं। स्वच्छन्द होकर इधर से उधर घूमते रहते हैं। कभी कहीं भगवान की कथा हुई वहाँ गये। समाप्त हो गई चले। यही इनके घूमने का उद्देश्य है। मुख से सदा 'हरिः शरणम् हरिः शरणम्' इन शब्दों को निरन्तर उच्चारण करते रहते हैं। उन लोगों ने जब सुमेरु के शिखर से

त्रैलोक्य पावनी भगवती सुरसरि को गिरते देखा तो वे बड़े प्रसन्न हुए। कितने भी पुराने क्यों न हों, वह बाल्यसुलभ चञ्चलता कहाँ जाय। उनकी इच्छा स्नान की हुई। कोई अंग पर वस्त्र हो तो उसे उतार कर कूदें। नंग धड़ंगे तुरन्त कूद पड़े। नहाते रहे किलोले करते रहे। इतने मे ही उन्हें वीणा बजावत हरिगुण गावत सामने से आवत देवर्षि श्रीनारदजी दिखाई दिये। नारदजी को देखकर कुमार खिल उठे—"वे बोले—"नारद! नारद! तुम भले आये भले आये। भाई, आओ? कहो, कहाँ जा रहे हो।"

नारदजी ने कुमारों को प्रणाम किया और कहा—"सौभाग्य की बात है, जो मुझे आज आपके दर्शन हुए। कहिये मेरे लिये क्या आज्ञा है।"

कुमार बोले—"अजी आज्ञा क्या है, हमें तो भगवत् चर्चा श्रवण करने का व्यसन लग गया है। जैसे किसी को अफीम खाने का भाँग पीने का, तमालपत्र धूम्रपान करने का व्यसन लग जाता है, तो वह जहाँ पहुँचता है, पहिले उसी की खोज करता है, उसी के सम्बन्ध में पूछ ताँछ करता है। इसी प्रकार हमे तो हरि चर्चा के बिना कुछ सुहाता ही नहीं। कोई मधुर-मधुर सुन्दर हरि सम्बन्धी चर्चा सुनाइये।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् नारदजी बोले—"क्यों न हो, महाराज! आप स्वयं साक्षात् ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं। सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं मेरे सगे भाई हैं। आपका तो हरिचर्चा आहार ही है। हरिचर्चा के लिये ही तो आपने इस शरीर को धारण कर रखा है। आप तो स्वयं साक्षात् ईश्वर ही हैं। लोक कल्याणार्थ ही आपने अवतार लिया है। आप तो कल्याण स्वरूप ही हैं, फिर भी जगत् के कल्याणार्थ आप विचरते हैं और समस्त अघहारिणी हरि कथा को श्रवण करते

रहते हैं जो उत्तम कुल के कुलीन सदाचारी पुरुष श्रद्धा से राम कथा सुनते हैं, उनका तो उद्धार होता ही है, किन्तु जो दुष्ट स्वभाव के व्यभिचारी पुरुष भी हैं वे भी रामकथा श्रवण से विशुद्ध बन जाते हैं। देखिये, रामायण की कथा के श्रवण से ही शिवजी के शाप से राक्षस बने राजा सौदासा की मुक्ति हो गई।"

इस पर कुमारों ने पूछा—"राजा सौदासा कौन थे कैसे उन्हें शिवजी का शाप हुआ और कैसे उनकी मुक्ति हुई। कृपा करके इस प्रसंग को आप हमें सुनावें।"

नारदजी बोले—"सुनिये, महाराज! प्राचीन काल में गङ्गा-तट पर महामुनि गौतम निवास करते थे। उनकी सेवा में सोमदत्त नाम के एक सदाचारी ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने मुनि से समस्त शास्त्रों का श्रवण पठन किया था। निरन्तर शास्त्रों को सुनते-सुनते वह बड़ा भारी विद्वान् हो गया। उसे अपनी विद्या का अभिमान भी हो गया।"

एक दिन वह शिवजी की पूजा कर रहा था, उसी समय उसके गुरु भगवान् गौतम वहाँ पधारे। उसने न तो उठकर गुरु को अभ्युत्थान ही दिया न प्रणाम ही किया। ठूँठ की भाँति देखते हुए भी वह दृष्टिहीन सा बन गया। उसके व्यवहार से गुरु तो कुछ भी न बोले, शिवजी को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने शाप दे दिया—"जा तू राक्षस हो जा।"

अब क्या था सोमदत्त का समस्त अभिमान कपूर की भाँति उड़ गया। दौड़कर उसने गुरु के पैर पकड़ लिये, लगा रोने गिड़गिड़ाने। गुरुजी ने कहा—"देख, भैया! सुनले मेरी सीधी सच्ची बात। शिवजी के शाप को व्यर्थ करने की मेरी सामर्थ्य नहीं। हाँ, इतना मैं किये देता हूँ, कि यह शाप १२ वर्ष तक ही रहेगा और रामचरित श्रवण से तेरी मुक्ति हो जायगी।" यह सुनकर

सोमदत्त को कुछ सन्तोष हुआ। वह तुरन्त शिवजी के शाप से राक्षस भाव को प्राप्त हो गया। अब क्या था अब तो वह घोर पाप करने लगा बड़े-बड़े उपद्रव मचाने लगा। मनुष्यों को पकड़ कर खाने लगा। घोर अरण्य में जिसे भी देखता उसे ही खा जाता। इस प्रकार करते हुए वह वनों में विचरण करने लगा।"

एक दिन कोई ब्राह्मण उसे दिखाई दिया। वह प्रयाग स्नान करके गङ्गाजल लिये हुए था। मुख से राम इस महामंत्र का निरंतर उच्चारण कर रहा था। राक्षस ने जब दूर से ही उस ब्राह्मण को देखा, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—"अच्छा, चलो, मेरा आहार तो आ गया।" ऐसा विचार करके वह ज्यों ही ब्राह्मण की ओर दौड़ा, त्यों ही उसकी गति रुक गई वह आगे बढ़ ही न सका। ब्राह्मण के ऐसे प्रभाव को देख कर राक्षस को बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने विनय के साथ कहा—"विप्रवर! आप धन्य हैं। आपकी तपस्या को धन्य है। जिसके प्रभाव से मेरा आप पर कुछ वश ही न चला। मैं आपका धर्षण करना चाहता था, किन्तु न कर सका। मैंने अब तक लाखों करोड़ों ब्राह्मणों को खा डाला है। आप यह किस मंत्र का जप कर रहे हैं, जिनके प्रभाव से राक्षस भी आपकी ओर दृष्टि उठा-कर नहीं देख सकता। आप तो बड़े प्रभावशाली हैं।"

वे ब्राह्मण जिनका नाम गर्ग था राक्षस की बात सुनकर बोले—"राक्षसराज! आप जो यह प्रभाव देख रहे हैं, यह सब राम नाम का प्रभाव है। निरन्तर राम नाम का जप करता रहता हूँ। राम चरित का श्रद्धा सहित श्रवण पठन करता हूँ।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए राक्षस ने कहा—"विप्र-वर! आपने अच्छा स्मरण दिलाया। मैं भी पहले ब्राह्मण था, गुरु का अपमान करने के कारण शिवजी ने मुझे शाप देकर

राक्षस बना दिया है। मेरे गुरुदेव ने मुझे आज्ञा दी थी, कि रामचरित सुनने से तुम्हारी मुक्ति होगी। सो, ब्रह्मन्! आप वेद वेदाङ्गो के पारङ्गत हैं, विद्वान् हैं, सुशील है, विनम्र हैं वैष्णव है, परोपकारी हैं आप मेरे ऊपर कृपा करें मुझे इस पवित्र कार्तिक मास के शुक्लपक्ष मे रामचरित सुना दें।"

वैष्णवो से कोई रामचरित कहने को कहे, तो वे सब कुछ भूल जाते हैं। बडे से बडे कार्यों को परित्याग करके रामचरित में निरत हो जाते हैं। उन गर्ग ब्राह्मण ने विधिवत् उस ब्रह्मराक्षस को रामचरित सुनाया। भगवान् रामचन्द्र की मर्यादामयी आनन्दमयी श्रुत मधुर कथा के सुनते ही वह प्रेतत्त्व से निर्मुक्त हो गया। दिव्य शरीर धारण करके और महामुनि गर्ग के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करके वह वैकुण्ठलोक को चला गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवर्षि नारदजी ने सनकादि महर्षियो से इस रामचरित के महात्म्य के सम्बन्ध मे कहा था। वास्तव में मनुष्यों की पाप में रुचि तभी तक होती है, जब तक उसे रामकथा मे रस नहीं आता। रामकथा मे रस आने पर ये सासारिक रस अत्यन्त ही तुच्छ दिखाई देते हैं। देखिये, महापापी महाव्यभिचारी शूद्र भी अपनी प्रेमिका के साथ रामचरित श्रवण से परम पद का अधिकारी बन गया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पापी शूद्र रामकथा श्रवण से कैसे परम पद का अधिकारी हो गया कृपया इस कथा को भी हमे सुनावें। इन आख्यानो के श्रवण से हमारी रामचरित मे अधिकाधिक प्रीति बढती जाती है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"सुनिये, महाराज! यह कथा भी नारदजी ने सनकादि मुनियो से कही थी। पूर्वकाल में नाम के एक राजा थे। वे बडे धार्मिक [illegible] पर

ब्रह्मण्य थे। उसकी पत्नी का नाम सत्यवती था वह सभी गुणों से सम्पन्न गुणवती तथा भाग्यशालिनी थी। वे दोनों मिलकर बड़े प्रेम से रामचरित की कथा सुना करते थे। एक दिन घूमते फिरते महामुनि विभाण्डक अपने शिष्यों सहित राजा के यहाँ आये। राजा ने पाद्य अर्घ्य आदि देकर मुनि की विधिवत् पूजा की, उन्हें सुन्दर सुवर्ण के सिंहासन पर बिठाया तथा मुनि के तप की आश्रम की तथा अग्नियों की कुशल पूछी। कुशल प्रश्न के अनन्तर महामुनि विभाण्डक बोले—"राजन्! आप सर्वदा रामचरित की ही कथा क्यों सुनते रहते हैं? संसार में तो और भी उत्तम-उत्तम पुराण हैं, शास्त्र हैं। आप उन सबको छोड़कर निरन्तर रामायण में ही क्यों लगे रहते हो।"

यह सुनकर राजा बोले—"भगवन्! संसार में जिसका जिससे काम निकलता है, वही उसको प्रिय है। संसार में असंख्यों सुन्दर से सुन्दर पुरुष हैं, किन्तु सती को तो अपने पति से ही प्रयोजन है। बहुत सी रँगी हुई सुन्दर से सुन्दर नौकायें हैं, किन्तु हमें तो उसी से पार जाना है जिसमें बैठे हैं। संसार में एक से एक बढ़कर महात्मा हैं। किन्तु हमारा उद्देश्य तो उन्हीं से सफल होगा जिनके द्वारा हमारे हृदय की ग्रन्थि खुल जायगी, जिसके द्वारा हमारे संशयों का नाश हो जायगा। मेरा कल्याण तो पूर्व काल में एक बार रामायण श्रवण से ही हुआ है।"

महामुनि विभाण्डक ने पूछा—"राजन्! पूर्वकाल में आप का उद्धार किन के द्वारा कैसे हुआ इस प्रसङ्ग को आप कृपा करके मुझे सुनाइये।"

मुनि की बात सुनकर राजा अपनी पूर्व की कथा सुनाने लगे। राजा बोले—"ब्रह्मन्! मैं पूर्व काल में मालिनि नामक शूद्र था। नित्य ही प्राणियों की हिंसा करता था। अपेय पदार्थों को पाता

था। अखाद्य पदार्थों को खाता था। जाति वालों से कुल वालों से और देशवासियों से द्रोह करता था। मास ही मेरा प्रधान आहार था। मदिरा मेरा प्रधान पेय था, धन छीनना ही मेरा ध्येय था। प्राणियों को हिंसा करना ही मेरा प्रधान व्यापार था। मैं कुछ लूटपाट कर चोरी करके लाता, वह सब वेश्याओं को लाकर दे देता। इस प्रकार कुछ दिनों तक तो मेरे कुल वाले सहन करते रहे। अन्त में उन सबने मिल कर मुझे नगर से निकाल दिया। परिजनों से परित्यक्त मैं इधर-उधर जंगलों और पर्वतों में भटकता रहा।

जो कोई जीव मिल जाता, उसे ही मारकर खा लेता। ऐसे ही घूमते-घामते मैं वशिष्ठ मुनि के आश्रम के निकट पहुँचा। वह स्थान सुन्दर था। वहाँ की शोभा अनुपम थी, मैं आश्रम के समीप ही एक पर्ण कुटी बनाकर रहने लगा। आश्रम से कुछ दूर पत्थरों को इकट्ठा करके मैंने चबूतरा बनाया और उस पर घास फूँस तृण छाकर रहने योग्य स्थान बना लिया। वहाँ मैं व्याध का जीवन व्यतीत करता जंगलों से जीवों को मार लाता और उनके मास को खाकर निर्वाह करता इस प्रकार वन में रहते हुए मुझे २० वर्ष व्यतीत हो गये।

एक दिन मैं बैठा था, कि मुझे एक रुदन का करुण शब्द सुनाई दिया। मैं उस शब्द की ध्वनि को ही लक्ष्य करके आगे बढ़ा। कुछ दूर चलकर एक वृक्ष के नीचे रोती हुई एक स्त्री मैंने देखी। उसके समीप जाकर मैंने उसे सान्त्वना देते हुए पूछा—"देवि! तुम कौन हो? इस वन में क्यों आई हो और क्यों रो रही हो?"

उसने रोते-रोते कहा—"आप मुझ अभागिनी के प्रति इतनी दया क्यों दिखा रहे हैं, मैं बड़ी पापिनी हूँ। मेरा जन्म निषाद जाति

मे हुआ है। काली मेरा नाम है मैं बड़ी व्यभिचारिणी और अधर्मचारिणी हूँ। परपुरुषों के कहने से मैंने अपने पति की गुप्त रीति से हत्या कर डाली थी। जाति वालों ने मुझे घर से निकाल दिया। अब मैं इधर-उधर आश्रयहीन होकर भटक रही हूँ।"

मैंने सोचा—"राम मिलाई जोड़ी, एक अन्धा एक कोढ़ी" "अच्छी बात है चलो हम तुम दोनो साथ रहे।" मेरा प्रस्ताव उसने भी स्वीकार कर लिया। मैं भी अपने हाथ से मांस पकाते-पकाते ऊब गया था, वह भी आश्रय चाहती थी। हम दोनों पति पत्नी की भाँति रहने लगे।

एक बार हमने देखा, वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर बड़ी धूम-धाम हो रही है। बहुत से ऋषि मुनि आ रहे हैं। हम दोनों इस लोभ से मुनि के आश्रम के समीप जाकर बैठ गये, कि मुनि प्रसाद पाकर जो पत्तल फेंक देंगे उसमें कुछ न कुछ उच्छिष्ट हमें मिल जाया करेगा। पहिले तो मुनि के आश्रम की ओर जाने का मेरा साहस ही नहीं होता था। जब मैं स्त्री सहित जाने लगा तो मुझे यथेष्ठ जूठन मिलने लगी। इसी लोभ से हम दोनों नित्य वहाँ जाते एक तो भगवान् का प्रसाद फिर महात्माओं के अधरामृत से लगा हुआ उच्छिष्ट उस महाप्रसाद के पान से हमारे मन का मल धुलने लगा। उसी समय सुना कल से यहाँ रामायण का नवाह पाठ होगा। हम दोनों भी एकान्त में दूर बैठकर कथा श्रवण करते। जिस दिन पाठ समाप्त हुआ उसी दिन हम दोनों की मृत्यु हो गई। उस पुण्य प्रभाव से ही मैं राजा हुआ और मुझे पूर्व जन्म की सब बातें ज्यों की त्यों स्मरण बनी रहीं। यह मेरी पत्नी वह निषाद कन्या काली है इस जन्म में भी यह मेरी पत्नी हुई। इसीलिये हम निरन्तर रामचरित सुनते रहते हैं, कि फिर हमें संसार में न आना पड़े।" यह सुनकर विभाण्डक मुनि

परम प्रसन्न हुए और राजा द्वारा सत्कृत होकर शिष्यों के सहित अन्य स्थान को चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। मैं कहाँ तक सुनाऊँ ऐसे एक दो नहीं असंख्यों इतिहास हैं जो बड़े से बड़े पापी केवल राम कथा सुन कर ही तर गये हैं। एक अत्यंत क्रूर चोर था। वह विष्णु मंदिर में देव धन को अपहरण करने गया। वहाँ एक ब्राह्मण को सोता देखकर उसे मारने को उद्यत हुआ। ब्राह्मण ने उससे नम्रता पूर्वक कहा—"तू मुझे क्यों मारता है मैंने तो तेरा कुछ बिगाड़ा नहीं।" ब्राह्मण की वाणी सुनकर उसे अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। ब्राह्मण की शरण गया। ब्राह्मण ने उस पर दया की। रामचरित सुनाकर उसे संसार सागर से सदा के लिये मुक्त कर दिया। मुनियो! मैं रामचरित की कहाँ तक प्रशंसा करूँ, यह चरित धन्य है, यश को देने वाला है। जिसके पुत्र न हो वह यदि श्रद्धा से रामचरित्र श्रवण करे तो उसके पुत्र हो जाय। जिसका विवाह न होता हो, वह यदि नियम पूर्वक राम चरित्र सुने तो उसे सुन्दर वहू मिल जाय। जिस कन्या को पति न मिलता हो, यदि वह रामचरित को सुने तो उसे मनोनुकूल पति की प्राप्ति हो! दरिद्र धन की इच्छा से रामचरित सुने तो धनी हो जाय। विद्यार्थी भक्ति पूर्वक रामचरित सुने तो उसे विद्या की प्राप्ति हो। शरणार्थी यदि सावधान होकर रामचरित सुने तो उसे सब के शरणदाता श्रीहरि मिल जायँ उनकी शरण में जाकर सुखी हो जाय। सारांश यह कि रामचरित, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष तक को देने वाला है। जो मोक्ष की भी इच्छा नहीं रखते, ऐसे निष्काम भक्त यदि निरन्तर राम कथा को ही सुनते रहें, तो उन्हें प्रभुपादपद्मों में अहैतुकी पराभक्ति प्राप्त हो। वह प्रभु प्रेम में पागल बने, परमानंद सुख का

अनुभव करते रहे। इस प्रकार यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में श्रीराम चरित के माहात्म्य का वर्णन किया। अब मुनियो! आप लोग और क्या सुनना चाहते है।"

यह सुनकर शौनक जी बोले – "सूतजी! आपने परम पावन रामचरित सुनाकर हमें कृतार्थ कर दिया। महाभाग! आप सूर्यवंश की वंशावली हमे सुना रहे थे। सूर्यवंश के प्रधान-प्रधान राजाओं का वर्णन करते-करते आप दशरथ नन्दन भगवान् रामचन्द्रजी तक आ गये थे। अब हम इससे आगे की वंशावली और सुनना चाहते हैं।

इस पर सूतजी बोले – "अच्छी बात है मुनियो! अब मैं अत्यन्त ही संक्षेप मे इस सूर्यवंश का वर्णन करके फिर उस चन्द्रवंश का वर्णन करूँगा। जिसमे चन्द्रवंशावतंस भगवान् कृष्णचन्द्रजी अवतरित हुए हैं। महाराज दशरथ जी के राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न चार पुत्र हुए। चारो के दो-दो पुत्र हुए, श्रीरामचन्द्रजी के सबसे बड़े पुत्र कुश हुए। अब कुश के आगे के राजाओं की वंशावली सुनिये।

छप्पय

मोक्ष कथा महं व्यर्थ जीव जीवन सब खोवें।
अन्त समय यमदूत निरखि डरि पुनि-पुनि रोवें॥
राम कथा यदि सुनहिं दुःख काहे कूं पावें।
देखें नहिं यममदन नित्य वैकुण्ठ सिधावें॥
चिन्ता दुख भय शोकयुत, नीरस यह संसार है।
है यदि जानें तत्व तो, रामचरित ही सार है॥

इक्ष्वाकुवंश के शेष राजा

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ।
यतस्तं प्राप्य राजान संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥*॥
(श्री भा० ९ स्क० १२ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

कुश के सुत नृप अतिथि निषध नृप तिनके नभ सुत ।
हिरणनाभ नृप दशम पीढिमहँ भये योगयुत ॥
जैमिनि मुनितैं योग सीखि कारति बहु पाई ।
याज्ञवल्क्यहूँ जिनहि योग विधि सरल सिखाई ॥
तिनकी छटमीं पीढ़िमहँ, भूप वशधर मरु भये ।
वश बचावन के निमित, अजर अमर नृप ह्वै गये ॥

ससार मे ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका बीज नष्ट हो जाता हो। धर्म और अधर्म दोनों ही भगवान् के अश से उत्पन्न हुए हैं, धर्म हृदय प्रदेश से प्रकट हुआ है और अधर्म पृष्ट देश से। सत्य युग में जब धर्म चारो पैरों से अवस्थित रहता है, तब भी अधर्म सूक्ष्म रूप से वहाँ रहता है। इसी प्रकार कलियुग मे जब

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन ! इक्ष्वाकु वशीय भूपतियो का वश सुमित्र नाम के राजा तक ही चलेगा। कलियुग मे उस राजा के अनन्तर यह वश समाप्त हो जायगा।

पूर्ण रूप से अधर्म व्याप्त हो जाता है तब भी धर्म बीज रूप से बना ही रहता है। सृष्टि में बीज सब के बने रहते हैं।

भगवान् के अवतार युग के अंत मे हुआ करते है। जैसे सत्य युग मे लोगो में ज्ञान की भावना स्वाभाविक थी। बिना सिखाये पढाये ही सभी ज्ञानी होते थे। प्रकृति की गति स्वभावतः पतन की ओर है। उत्थान के पश्चात् पतन यह लगा रहता है, किन्तु स्वभावतः प्रकृति शनैःशनैः पतन की ओर जाती है। जिसे सृष्टि के आदि मे प्रथम जो सत्ययुग होगा उसमे धर्म पूर्ण रूप से रहेगा। फिर धर्म शनैःशनैः क्षीण होते-होते कलियुग मे क्षीण हो जायगा। कलियुग के पश्चात् फिर जो दूसरा सत्ययुग आवेगा उसमे धर्म पूर्ण रूप से रहेगा तो अवश्य, किन्तु प्रथम सत्ययुग की भाँति न रहेगा। उससे कुछ न कुछ न्यून ही हो जायगा ऐसे ही होते-होते कल्प के अंत के सत्ययुग मे धर्म बहुत ही न्यून हो जयगा और कल्प के अंत के कलियुग मे तो सृष्टि का प्रलय ही हो जायगा।

इस प्रकार शनैःशनैः धर्म का ह्रास होता रहता है भगवान् अवतार लेकर उसका अभ्युत्थान करते हैं इसीलिये युगावतार प्रायः युग के अंत मे अवतरित होते हैं। सत्ययुग में जो स्वाभाविक ज्ञान की प्रवृत्ति थी वह सत्ययुग के अंत मे आकर क्षीण हो गई। उसका पुनरुत्थान करने के लिये भगवान् कपिल का अवतार हुआ। उन्होंने ज्ञान का प्रसार किया और यज्ञ की भी प्रशंसा की। त्रेता में ज्ञान के साथ वर्णाश्रम धर्म समस्त यज्ञ यागों का भी प्रसार हो गया। उसमे जब ह्रास होने लगा तो त्रेता के अंत मे भगवान श्रीरामचन्द्र जी का अवतार हुआ भगवान् के वंशज द्वापर के अन्त तक पृथ्वी का पालन करते रहे कलियुग मे विशुद्ध क्षत्रिय वंश अधर्म के कारण रह नहीं सकता

कलियुग मे वर्णाश्रम धर्म नष्ट प्राय' हो जायगा। यदि सूर्यवंश और चन्द्रवंश का बीज ही नष्ट हो जाय तो फिर आगामी सत्य युग मे इन वंशों का प्रसार कैसे हो। इसीलिये भगवान् का ऐसा विधान है, कि कलियुग के आते ही एक सूर्यवंश के राजा अपनी दिव्य देह से गंधमादन पर्वत पर गुप्त रूप से एक युग तक रहकर तपस्या करते रहते हैं। वे योग प्रभाव से अपने शरीर को टिकाये रहते हैं, कलियुग के अंत होते ही वे विवाह करके फिर से सूर्य वंश और चन्द्रवंश की स्थापना करते हैं। इन्हीं सब कारणों से ये सूर्यवंश और चन्द्रवंश कल्प के अन्त तक नष्ट नहीं होते। यह सब भगवान् का इच्छा से ही होता है।

सूतजी कहते हैं "मुनियो! अब तक मैंने इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का श्रीरामचन्द्रजी तक वर्णन किया। अब आगे के राजाओं का वर्णन सुनें। श्री रामचन्द्र जी के बड़े पुत्र हुए कुश वे कुशावती के राजा हुए। कुश के पुत्र अतिथि हुए। अतिथि के निषध और निषध के नभ हुए। नभ के पुत्र पुण्यश्लोक पृथ्वी-पति पुण्डरीक हुए और पुण्डरीक के पुत्र क्षेमधन्वा हुए। क्षेम धन्वा के देवानीक, उनके अनीह और अनीह के पुत्र परमयशस्वी पारियात्र हुए। पारियात्र के बलस्थल उनके वज्रनाभ हुए। ये वज्रनाभ परम तेजस्वी हुए। सूर्य के समान इनका तेज था। इसलिये इन्हे सूर्य के अंश से उत्पन्न मानते हैं। वज्रनाभ के पुत्र खगण और उनके विधृति हुए। विधृति के पुत्र परम यशस्वी हिरण्यनाभ हुए ये संसार मे योगाचार्य करके प्रसिद्ध हैं। भगवान् जैमिनि मुनि से इन्होंने योग की शिक्षा पाई थी। ये इतने प्रभाव शाली हुए कि कोशल देश वासी याज्ञवल्क्य ऋषि ने इनका शिष्यत्व स्वीकार किया। क्षत्रिय होकर भी ये ब्राह्मण के गुरु हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने हृदय की ग्रन्थि को छेदन करने वाला

महान् सिद्धि प्रद अध्यात्म योग इन्हीं से सीखा था।

इन हिरण्यनाभ के पुत्र पुष्य हुए और उनके ध्रुवसन्धि। ध्रुवसन्धि के सुदर्शन और सुदर्शन के परम तेजस्वी अग्निवर्ण भूपति हुए। अग्निवर्ण के शीघ्र और शीघ्र के ही पुत्र चिरजीवी मरु हुए।

महाराज मरु परम योगी हुए। इनके जब एक पुत्र हो गया, तो ये सब राज पाट छोड़कर गंध मादन पर्वत पर बदरीवन से आगे कलाप ग्राम मे जाकर तपस्या करने लगे। ये समाधि के अभ्यास से युग जीवी महापुरुष हो गये। अब तक ये कलापग्राम मे तपस्या कर रहे हैं और इस कलियुग के अन्त तक तपस्या करते रहेंगे। कलिकाल मे सूर्यवंश नष्ट हो जायगा, फिर जब सत्ययुग आवेगा लोगों की धर्म मे रुचि बढ़ेगी, धर्म अपने चारों पैरों मे अवस्थित हो जायगा, तभी ये ही सूर्यवंश से बीज रूप महाराज विवाह करके सूर्यवंश की पुनः स्थापना करेंगे। आगामी द्वापर मे जो व्यास होंगे उन्हीं का वर्णन करेंगे। अब जो मरु के पुत्रों का वंश चला वे लोग तो सब अल्प वीर्य साधारण राजा हुए। उनमे भगवान् विष्णु की कला का अंश उतना नहीं है। अतः ये कलियुगी साधारण नाम मात्र के राजा हुए। पहिले युगों के राजा लाखों वर्ष जीते थे, उनकी आयु युगों की होती थी। ये कलियुगी राजा थोड़े ही दिनों में पञ्चत्व को प्राप्त होंगे।

मरु के पुत्र प्रसुश्रुत हुए, उनके नन्धि और सन्धि के अमर्षण। महाराज अमर्षण के पुत्र महस्वान् हुए और महस्वान के विश्वसाह्व। विश्वसाह्व के प्रसेनजित। प्रसेनजित के तक्षक हुए। ये कोशलाधिप महाराज तक्षक महाभारत के युद्ध के समय विद्यमान थे। यद्यपि इनके पुत्र बृहद्बल भी परम शूरवीर थे, उनके एक पुत्र

भी थे वृहद्रण तक भी राजगद्दी पर महाराज तक्षक ही थे। ये दोनो बाप बेटे महाभारत समर में मारे गये। वृहद्बल का वध अर्जुन पुत्र अभिमन्यु ने किया। वृहद्बल महारथी थे। ६ बड़े-बड़े महारथियों ने मिल कर वीर अभिमन्यु को घेर लिया था, उनमे से वृहद्बल को तो अभिमन्यु ने मार दिया। शेष सब ने मिलकर अभिमन्यु को अधर्म पूर्वक मार डाला।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी महारथी कोशलराज कुमार वृहद्बल को अभिमन्यु ने कैसे मारा और वे फिर किस प्रकार मारे गय इस वृत्तान्त को कृपा करके हमे सुनाइये।

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! यह तो बहुत बडा वृत्तान्त है। इसे सुनाने लगूगा तो इक्ष्वाकु वशीय राजाओ की कथा रह ही जायगी। अतः मैं अत्यन्त ही सक्षेप में इस कथा को कह कर आगे बढ़ता हूँ। मुनियो! महाभारत के युद्ध मे षोडश वर्षीय अर्जुन पुत्र अभिमन्यु ने बडी ही वीरता दिखाई। उसकी अद्भुत वीरता को देखकर कौरव पक्षीय वीर कॉप उठे द्रोणाचार्य जो उस सेना के पितामह भीष्म के पश्चात् प्रधान सेनापति बनाये गये थे उन्होंने पांडवों को परास्त करने के निमित्त चक्रव्यूह की रचना की। धर्मराज युधिष्ठिर ने पूछा—"इस चक्रव्यूह मे घुस कर इसका नाश कौन कर सकता है?"

वीर अभिमन्यु ने कहा—"मै कर सकता हूँ।"

उस छोटे बालक की ऐसी वीरता भरी बात सुनकर धर्मराज ने उसे हृदय से लगाया और सिर सूँघकर युद्ध के लिये विदा किया वीरवर अभिमन्यु ने माता के गर्भ मे ही सुनते-सुनते चक्र-व्यूह छेदन को सीख लिया था। वह वीर अपने सिंहनाद से दशो दिशाओं को कँपाता हुआ सभी कौरव वीरो के देखते-देखते अभेद्य चक्र-व्यूह मे घुस गया और वहाँ सैनिकों को मारने लगा

तथा महारथियो को युद्ध के लिये ललकारने लगा। उसके ऐसे पराक्रम को देखकर बहुत से बड़े-बड़े वीर उससे लडने आये, किन्तु सबके सब पराजित होकर रण से भाग गये। इसके ऐसे प्रचड वेग को देखकर एक साथ ६ महारथियों ने उस बालक को घेर लिया। दश हजार योद्धाओं से एक साथ लडने वाले की महारथी सज्ञा है। ऐसे ६ महारथी जिस बच्चे को घेर लें, फिर भी जो विचलित न हो उसकी वीरता के सम्बन्ध मे क्या कहना। वे ६ महारथी साधारण नहीं थे। सभी विश्वविख्यात हैं। उनमें सम्पूर्ण अस्त्र शस्त्रो के मर्मज्ञ आचार्य द्रोण, उनके विश्वविदित पुत्र अश्वत्थामा, कुरुकुल के पुरोहित महा धनुर्धर कृपाचार्य, वीराग्रगण्य हार्दिक, यादवो के सुप्रसिद्ध महारथी कृतवर्मा और कोशल देश के राजकुमार 'बृहद्बल' ये ही सब विश्वविख्यात वीर थे।

बालक अभिमन्यु इन ६ ओ के प्रहारों को सहता रहा और सब के १०। १०। २०। २० बाण मार कर सभी को घायल किया तब तो सब एक साथ उस पर टूट पड़े। वह इन सब महारथियों के साथ अकेला ही युद्ध कर रहा था कि इतने में ही कोशल देश के महाराज तक्षक आ गये। उन्होने धर्म विरुद्ध एक कर्णि नामक चोखा बाण अभिमन्यु के हृदय मे मारा। यद्यपि अभिमन्यु के साथ वे नहीं लड़ रहे थे उनका पुत्र बृहद्बल लड़ रहा था। अभिमन्यु को इस पर बडा क्रोध आया। उसने एक बाण मार कर कोशल राज की ध्वजा को काट दिया, दूसरे से उनके सारथी और घोडों को मार दिया, रथ को भी चकना चूर कर इस प्रकार कोशल राज को रथ विहीन करके वीरवर अभिमन्यु ने गर्जना की, रथ विहीन कोशलराज ढाल तलवार लेकर अभिमन्यु की ओर दौड़े उसी समय बृहद्बल भी पिता की सहा-

यतार्थ दौडे। अभिमन्यु ने एक चोखा बाण कोशल राजकुमार बृहद्बल की छाती मे मारा उस बाण के लगते ही राजकुमार कटे वृक्ष की भाँति पृथ्वी पर गिर पडा और तुरन्त ही मर गया। पीछे अन्य महारथियो ने अधर्म पूर्वक अभिमन्यु को अस्त्र शस्त्र और रथ से विहीन करके अन्याय से मार डाला। विजय कोशल राजा महाराज तक्षक भी वहीं समर में वीर गति को प्राप्त हुए। उस युद्ध मे पाडवा की विजय हुई, धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट हुए। उन्होने जो राजा युद्ध में मर गये थे उनके छोटे-छोटे बच्चो को राजा बना दिया। जो राजवश नष्ट हो गये थे, उनके कुल में जो कोई भी बचा उसे ही राजा बना दिया। इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर ने पुन राज्य वशो की स्थापना की। कोशल राज तक्षक के पुत्र बृहद्बल के एक पुत्र थे, बृहद् रण मे मारे गये और वे ही महाभारत के अनन्तर कोशल देश के राजा हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिन दिनो आप लोग नमिपारण्य मे निवास करते थे, उन दिनो महाराज बृहद्रण ही कोशल देश के सिहासन पर विराजमान थे। आपके चले आने के पश्चात् इतने राजा और हुए। बृहद्रण के पुत्र उरुक्रिय, उरुक्रिय के सुत वत्सबृद्ध, उनके प्रतिव्योम, प्रतिव्योम के भानु, भानु के दिवाक, दिवाक के सहदेव, सहदेव के बृहदश्व, बृहदश्व के भानुमान्, के प्रतीकाश्व और प्रतीकाश्व के पुत्र परम तजस्वी महाराज सुप्रतीक हुए।

सुप्रतीक के मरुदेव, मरुदेव के सुनक्षत्र, सुनक्षत्र के पुष्कर, पुष्कर के अन्तरिक्ष, अन्तरिक्ष के सुतपा, सुतपा के अभित्रजित्, अभित्रजित के बृहदराज, बृहद्राज के वर्हि, वर्हि के कृतञ्जय, कृतञ्जय के रणञ्जय, रणञ्जय के सञ्जय पुत्र हुए। सञ्जय के शाक्य, शाक्य के शुद्धोद, उनके लाङ्गल, लाङ्गल के प्रसनजित,

प्रसेनजित् के क्षुद्रक, क्षुद्रक के रणक, और रणक के सुरथ तथा उनके सुमित्र पुत्र हुए। बस ये सुमित्र इस वंश के अंतिम राजा हुए। इसके अनंतर कोशल की गद्दी से इक्ष्वाकुवंश के राजाओं का अधिकार उठ गया। यह वंश पृथ्वी से नष्ट प्रायः हो गया क्षत्रिय वशवृद्धि होने से लोगों की वर्णाश्रम धर्म में राज्य परम्परा मे आस्था न रह जायगी। स्त्रियों के चरित्र हीन होने से शुद्ध रजवीर्य की परम्परा नष्ट हो जायगी।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी पर तो अब सूर्यवश चन्द्रवंश के बहुत से क्षत्रिय हैं। आप कहते हैं सुमित्र के पश्चात् सूर्य वशीय राजाओं का वश समाप्त हो जायगा।"

सूत जी बोले—"हाँ महाराज! कहने को तो अब भी लोग अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहते ही हैं। और वश परम्परा भी वही है। किन्तु अब वह कुलागत विशुद्ध वंश परम्परा नहीं रही। इसमे किसी का दोष नहीं। यह तो कलि का प्रभाव है। जैसे जाड़ो मे सरदी पड़ती है, वैसे ही कलियुग मे अधर्म का प्रसार होता है। कलियुगी लोग अधर्म को ही उन्नति का द्योतक समझेंगे। अज्ञान के वश होकर पशुओं का सा आचरण करेंगे। अभी तो कलियुग मे बहुत दिन शेष हैं, अभी से सर्वत्र अधर्म फैलने लगा। अब वर्णाश्रम धर्म पृथ्वी पर कहाँ रहा। ब्रह्मचारी कहीं दिखाई भी देते हैं, अब तो नाम मात्र के, वे केवल नाम के ब्रह्मचारी हैं जिन विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये, वेदो का अध्ययन करना चाहिये, वे विदेशी भाषायें पढ़ते हैं, जिनमे भौतिक सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता है। कलियुगी आधुनिक विद्यार्थी भिक्षा पर निर्वाह नहीं करते। प्रतिमास घर से धन मँगाते हैं। शुल्क देकर पढ़ते हैं। अध्यापकों

के प्रति सम्मान नहीं करते उन्हें वेतन भोगी भृत्य समझ कर वैसा ही उनके साथ वर्ताव करते हैं। छात्रावासों में निवास करते है, वे विलासिता के आलय बने हुए हैं, उनमें खाद्य अखाद्य सब खाया जाता है, पेय अपेय सब पीया जाता है, कर्तव्य अकर्तव्य सभी प्रकार के दुष्कर्म किये जाते हैं। निरीक्षक नाम मात्र के लिये रहते है, उनकी आज्ञाओं को छात्र मानते नहीं। विवाह के पूर्व ही वे दूषित होते हैं, व्यभिचारजन्य दोष उनमे आ जाते हैं। पढ़कर वे वर्णाश्रम धर्मोचित वंशपरम्परागत कार्यों से घृणा करने लगते है। वे दासता को चाहते हैं। उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। बाल्यावस्था में ही वृद्ध से लगने है, यही दशा गृहस्थियों की है। गृहस्थ धर्म यज्ञ करने के लिये किया जाता है दार ग्रहण अग्निहोत्र की रक्षा के निमित्त होता था। अब ढूँढने पर भी लाखों करोड़ो मे कोई गृहस्थ अग्नि होत्री नही मिलता, जिसके यहाँ तीनो अग्नियाँ सुरक्षित और पूजित हों। वेदो का पढ़ना तो पृथक् रहा, लोगो ने वेदो की पोथियों के दर्शन तक नहीं किया। गृहस्थ धर्म केवल पेट भरने और बाल बच्चे पैदा करने में ही सीमित रहा है। धर्म कर्म सभी भूल गये हैं। वानप्रस्थ धर्म तो लुप्त ही हो गया। वन ही नहीं रहे तो वानप्रस्थ कहाँ रहे। संन्यासी भी नाम मात्र के रह गये हैं। सन्यासधर्म पालन असम्भव हो गया है। यही दशा वर्णों की है। ब्राह्मणों का चिन्ह यज्ञोपवीत रह गया है। कैसे भी तीन धागे गले मे डाल लेना ब्राह्मणत्व का कर्म है। क्षत्रियों का काम कपट व्यापार करना ही शेष है। शूद्र तो कलियुग मे कोई रहा ही नहीं। चारो वर्णों में सांकर्य हो गया है।

कुल की रक्षा का भार स्त्रियो पर है, स्त्रियो के शुद्ध रहने से कुल विशुद्ध बना रहता है। स्त्रियों मे दूषित हो जाने से कुल

दूषित हो जाता है। संतति वर्णसंकर होने लगती है। वर्णसंकर सृष्टि के जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति परमार्थ में न होकर विषयों में होती है। वे विषय को सर्वश्रेष्ठ सुखकर धर्माधर्म का कुछ भी विचार न करके व्यवहार करते हैं। इसलिये कलियुग में वर्णधर्म आश्रमधर्म रहते ही नहीं। यों व्यक्तिगत रूप में भले ही रहे, सामाजिक रूप में उनका प्रचार बंद हो जाता है। धर्मरक्षा का भार राजा पर ही है, राजा न रहने से प्रजा स्वतन्त्र हो जाती है वह मनमाना व्यवहार करने लगती है। पुरुष पाप में निरत हो जाते हैं, वे सब काम में कपट करते हैं। स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति को भार समझने लगती हैं, उनमें स्वतन्त्रता बढ़ जाती है, वे पुरुषों के साथ मिल कर रहना नहीं चाहती। विवाह बन्धन में बँधना वे व्यर्थ समझती हैं। मनमाना आचरण करती है, सिर खोल कर स्वच्छन्दता के साथ जहाँ चाहे घूमती है, जहाँ चाहे रहती हैं जहाँ चाहे संतान उत्पन्न करती हैं, चाहें जहाँ सतानों को छोड़ आती हैं उनमें मातृत्व रहता नहीं, वे क्रूर कर्मा बन जाती है। विषयसुख को ही सर्वश्रेष्ठ सुख समझती हैं, उसके लिये वे सब कुछ करने को तत्पर हो जाती है। प्राचीन सती धर्म की खिल्लियाँ उडाती हुई गर्व का अनुभव करती हैं। ऐसी स्त्रियों से विशुद्ध वंश परम्परा अक्षुण्य बनी रहे ऐसी आशा करना व्यर्थ हैं। पुरुष भी ऐसे ही पापी हो जाते हैं। वे अपने सामने अनुचित कार्य कराते हैं। लोभ वश उन्हें बेच देते हैं, पाप कर्मों में फँसाते हैं। सन्तान पर प्रभाव तो रज वीर्य का ही होता है। शूद्र वर्ण के लोग भौतिक उन्नति चाहे जितनी कर लें, पर मार्थिक से वंचित ही रहते हैं। इसीलिये कलियुग में यज्ञ, अनुष्ठान अन्य धार्मिक कृत्य विधि पूर्वक हो नहीं सकते। क्योंकि इन कार्यों के लिये देश काल तथा पात्र इन तीनों की शुद्धता

आवश्यक है, इसीलिये महाराज! विशुद्ध क्षत्रिय वंश नष्ट हो जाता है। इसमें किसी का दोष नहीं, जो भी कुछ होता है, सब भगवद् इच्छा से होता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जब सब भगवान् की ही इच्छा से होता है, युगधर्म के प्रभाव से ही होता है, तो शास्त्र में बार-बार इनका वर्णन करके इनकी बुराई क्यों की गई है?"

सूतजी बोले—"महाराज! यह तो सब सत्य है, होता तो सब युग के ही प्रभाव से है। शास्त्रकारों की बुराई करने का तात्पर्य इतना ही है, कि जिसे तुम उन्नति समझ रहे हो, वह उन्नति न होकर अवनति है, जिसका तुम धर्म समझ कर प्रचार कर रहे हो, वह धर्म न होकर अधर्म है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जब कलियुग में देश, काल तथा पात्र कोई भी शुद्ध न रहेंगे, कोई भी साधन विधि विधान पूर्वक न हो सकेंगे, तब तो कलियुगी जीवों के उद्धार का कोई उपाय ही न रह जायगा।"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज! ऐसी बात नहीं है। कलियुग में तो जीवों के उद्धार का एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। उसमें देश, काल, पात्र, विधि, विधान किसी की भी अपेक्षा नहीं। उसका आश्रय लेने से सुदुराचारी भी संसार सागर को बात की बात में तर सकते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वह कौन सा उपाय है सूतजी!"

सूतजी बोले—"महाराज! वह है भगवन्नाम संकीर्तन भगवान् के नामों का कीर्तन प्राणियों को समस्त पापों से दूर हटा कर परमपद तक पहुँचा देता है। कलियुग में केवल राम नाम का ही आधार है। राम नाम ऐसा सर्वश्रेष्ठ, सुलभ, सर्वोपयोगी साधन है कि उसकी किसी साधन से समता ही नहीं। जो राम

नाम का निरन्तर कीर्तन करता है, उस पर कलि का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता। कलियुग उसके पास भी नहीं फटकता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त सक्षेप में विवस्वान् के पुत्र मनु से लेकर सुमित्र तक के राजाओं के वश का अत्यन्त ही सक्षेप मे वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी बोले—"सूतजी! आपने वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूप, नरिष्यन्त, पृषध्र, कवि ये १० पुत्र बताये थे, इनमे से आपने पृषध्र, कवि, करूप, नरिष्यन्त, दिष्ट और महाराज इक्ष्वाकु के वशो का तो वर्णन किया। महाराज इक्ष्वाकु के वश का वर्णन करते हुए आपने बताया था, कि उनके १०० पुत्र हुए थे उनमे विकुक्षि निमि और दडक ये तीन पुत्र तो बडे थे, ९७ छोटे। उनमे से २५ पुत्र तो आर्यावर्त से पूर्वीय देशों के राजा हुए। २५ पश्चिम देशों के राजा हुए। ४७ दक्षिण देशों के राजा हुए और ये तीन आर्यावर्त मध्य देश के राजा हुए। सबसे बडे महाराज विकुक्षि जो अपने कर्म से शशाद के नाम से विख्यात हुए, उनके वश का तो आपने वर्णन किया ही। अब उनके द्वितीय पुत्र निमि और तृतीय पुत्र दडक के वशों का वर्णन हमें और सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! महाराज निमि का वश बडा पावन है, पहिले उसे सुनाकर तब दडक के वश को सुनाऊँगा। अब आप निमि वश को श्रवण करें।

छप्पय

मरुतँ अष्टम पीढिमोंहि नृप भये बृहद्बल।
जिनकी द्वापरमोंहि भई कीरति अति उज्वल॥
भारतमहँ अभिमन्यु संग लडि स्वर्ग सिधारे।
कुमर बृहद्रण बचे बने राजा अति वारे॥
पीढ़ी उन्तिसमहँ भये अन्तिम नृपति सुमित्र वर।
फिर कलिमहं इक्ष्वाकु के, रहें विशुद्ध न वंशधर॥

निमि-वंश वर्णन

(७१०)

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वसिष्ठमवृतर्त्विजम् ।
आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः ॥
तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय ।
तूष्णीमासीद् गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १३ अ० १, २ श्लो०

छप्पय

अब इक्ष्वाकु कुमार द्वितिय निमि-वंश सुनाऊँ ।
गुरु वसिष्ठतें कह्यो नृपति—हौं यज्ञ कराऊँ ॥
ऋत्विज बनि गुरुदेव ! यथा विधि मख करवावें ।
बोले गुरु—सुरराज बुलायो तहँ ह्वै आवें ॥
भये मौन सुनि निमि नृपति, इन्द्र यज्ञ हित गुरु गये ।
क्षण-भंगुर जीवन निरखि, चिन्तित नृप सोचत भये ॥

"जीवन से प्यारी जीविका होती है ।" यह लोकोक्ति सत्य है

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने एक यज्ञ आरंभ किया उसमें वसिष्ठजी को ऋत्विज् वरण किया वसिष्ठजी ने कहा—'भाई मुझे पहिले इन्द्र ने वरण कर लिया है, वहां से निवृत्त होकर आऊँगा तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करो ।" यह सुनकर गृहपति महाराज निमि चुप हो गये, वसिष्ठजी इन्द्र का यज्ञ कराने लगे

जीविका के लिये प्राणी जीवन को हथेली पर रखकर कार्य करते है। अगाध समुद्र मे जाते हैं, जहाँ कि हमे कुछ आय हो, वहाँ पग-पग पर मृत्यु का भय है। जीविकोपार्जन के लिये सहस्रों हाथ नीचे खानो में जाकर काम करते हैं, जहाँ साक्षात् मृत्यु मुख फाड़े ही खड़ी रहती है। धनिको को प्रसन्न करने के निमित्त मतवाले साड़ो से, सिंहो और हाथियो से मनुष्य लड़ता है। इसी-लिये कि ये धनी प्रसन्न होकर कुछ दे देंगे। धन के लिये पुरोहितों को यजमानों की किस प्रकार हाँ मे हाँ मिलानी पडती है, उनके पीछे दौडना पड़ता है, जीविका को प्राण जीवन से श्रेष्ठ समझते हैं, जहाँ जीविका का प्रश्न आ जाता है, वहाँ प्राणी लड़ मरते हैं पात हो जाते हैं। ब्राह्मण-ब्राह्मण इसीलिये लड़ते हैं, यह मेरा यजमान है यह तेरा नहीं। एक क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय की जीविका के लिये राज्य वृद्धि के लिये हत्या करता है। वैश्यो के लिये तो प्रसिद्ध ही हैं चाहे चमड़ी चली जाय, दमडी न जाने पावे, इसी प्रकार घर मे बाहर जाति मे कुटुम्ब मे जहाँ भी लड़ाई होती है पद प्रतिष्ठा और जीविका को ही लेकर, इनमें जीविका ही प्रधान है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्माजी के पुत्र स्वायम्भुव मनु हुए। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु हुए, उनके सौ पुत्रो मे से विकुक्षि (शशाद) निमि और दंण्डक ये प्रधान थे। महाराज विकुक्षि के वंश का वर्णन तो मैं आपके सामने कर चुका अब आप निमि के वंश का वर्णन सुनिये।

महाराज निमि बड़े ही धार्मिक तथा प्रजा वत्सल थे। उनकी धर्म कर्मों मे अत्यधिक प्रवृत्ति थी। इसलिये सदा यज्ञ यागों में ही लगे रहते थे। मनु वंश के पुरोहित भगवान वसिष्ठ ही थे। इन सबके यज्ञ याग धर्मानुष्ठान सब ये कराते थे। एक बार महाराज निमि की इच्छा एक बड़ा भारी यज्ञ करने की हुई।

इसी निमित्त वे अपने कुल पुरोहित भगवान् वसिष्ठ के समीप गये। वसिष्ठजी ने राजा की कुशल पूछी और उनके आने का कारण जानना चाहा।"

हाथ जोड़कर नम्रता पूर्वक राजा ने कहा—"भगवन! मेरी इच्छा है, कि मैं एक बड़ा भारी यज्ञ करूँ। मेरी यह इच्छा तभी पूर्ण हो सकती है, जब आप कृपा करें। आप इस यज्ञ को विधि विधान पूर्वक मुझसे करा दें।"

महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—"राजन्! मेरा काम ही है, यज्ञ यगादि धर्मानुष्ठान कराना, किन्तु इस समय एक बड़ा धर्म संकट है?"

राजा ने पूछा—"वह क्या भगवन्!"

वसिष्ठ जी बोले-"देवराज इन्द्र सुमेरु पर एक बड़ा भारी यज्ञ करना चाहते हैं। उसके लिये उन्होंने आपके आने के पूर्व ही मुझे यज्ञ के लिये वरण कर लिया है और मैंने स्वीकार भी कर लिया है, कि मैं तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा।"

राजा ने कहा—"भगवन्! वे तो देवेन्द्र हैं स्वर्गाधिप हैं। वे चाहे जिस ऋषि से यज्ञ करा सकते हैं। मेरे तो आश्रय आप ही एक मात्र हैं। पहिले मेरा यज्ञ करावें।"

वसिष्ठजी ने कहा—"राजन्! आप धर्मात्मा होकर भी ऐसी अधर्म पूर्ण बात क्यों करते हैं। यज्ञ करना स्वीकार करके फिर उसमें न जाना यह तो बड़ा भारी पाप है, विश्वासघात है। पहिले मैं उनका यज्ञ करना स्वीकार कर चुका हूँ। वहाँ मुझे जाना ही है। कोई बात नहीं उनका यज्ञ कराके जब मैं लौटूँगा, तब फिर आपका भी कराऊँगा। आप तब तक मेरे आने की प्रतीक्षा करें।"

अब राजा चुप हो गये। उन्होंने हाँ ना कुछ भी नहीं कहा।

सोचा—"देखा जायगा। यज्ञ तो मुझे करना ही है। वसिष्ठ जी ने सोचा—"मौन सम्मति लक्षणम्" राजा ने मेरी बात मान ली" ऐसा सोचकर वे इन्द्र का यज्ञ कराने चले गये और वहाँ जाकर इन्द्र का याग आरम्भ की करा दिया।

इधर महाराज निमि ने सोचा—"धर्म के कार्यों मे विलम्ब करना उचित नहीं। आज तो हमारी धर्म करने मे रुचि है, कल बदल गई। चित्त तो चंचल है, क्षण-क्षण मे बदलता रहता है। कभी सत्त्व गुण की वृद्धि हो जाती है, तो धर्म कर्म परमार्थ चिंतन की इच्छा होती है। राजस् चित्त होता है तो राजपाट, धन, ऐश्वर्य, प्रभुता और राजसी वस्तुओ के संग्रह की लालसा होती है। तमो गुण की वृद्धि होने से निद्रा, आलस्य तथा प्रमादादि के वशीभूत प्राणी हो जाता है। अतः धर्म भावना उठते ही उस धार्मिक कृत्य को तुरंत कर देना चाहिये। उस समय यही सोच ले कि मृत्यु मेरे केश पाशो को पकडे खड़ी है। शुभ कार्यों में सोच विचार बहुत न करके उन्हें तुरत कर डालना चाहिये और बुरे विचार आजायँ तो उन्हें भरसक टालते रहना चाहिये। इन्द्र तीनो लोकों के राजा हैं। उनके यहाँ धन ऐश्वर्य की तो कमी है नहीं। न जाने उनका यज्ञ कब समाप्त हो। फिर उनके और हमारे काल मे बहुत अंतर है। हमारे ३६० वर्ष उनके एक वर्ष के समान है। यदि गुरु जी को विवशता है तो किसी भी कर्मकाडी ऋषि मुनि को बुलाकर उन्हीं से यज्ञ कराया जा सकता है। मैं समझता हूँ, गुरुजी को भी इसमे कुछ आपत्ति न होगी। उधर इन्द्र का भी यज्ञ होता रहे, इधर मेरा भी हो जाय।" यही सब सोच विचार कर राजा ने अन्य ऋत्विजों से यज्ञ आरभ करा दिया। राजा का यज्ञ बड़ी धूम धाम से होने लगा।

इधर इन्द्र का यज्ञ समाप्त कराके और यथेष्ट दान दक्षिणा

लेकर, वसिष्ठजी इस आशा से कि अपने यजमान निमि का यज्ञ कराना है अति शीघ्र आये। वहाँ आकर जो उन्होंने देखा, उसे देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। यज्ञ का बड़ा भारी समारोह हो रहा है। चारों ओर स्वाहा, स्वाहा की ध्वनि गूंज रही है। आचार्य के आसन पर एक दूसरे ऋषि विराजमान हैं। यज्ञ में दीक्षित राजा श्रद्धा सहित उनकी आज्ञा का पालन कर रहे हैं। जिस सम्मान के आसन के स्वयं अधिकारी थे, उस पर वसिष्ठजी दूसरे ऋषि को बैठा देखकर जल भुन गये। वे अपने क्रोध को संवरण न कर सके। देव का ऐसा ही विधान था। मुनि को बड़ा क्रोध आया।

इधर राजा ने जब अपने गुरु को आते हुए देखा, तो वे श्रद्धा पूर्वक उठे, आगे बढ़कर स्त्री सहित उनकी चरण वन्दना की, स्वागत सत्कार किया और प्रसन्नता प्रकट की।

मुनि तो क्रोध में ही भर रहे थे, उन्होंने राजा के स्वागत सत्कार का अभिनन्दन नहीं किया। क्रुद्ध होकर बोले—"निमि! यह क्या हो रहा है?"

नम्रता-पूर्वक राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! यज्ञ हो रहा है, जिस के लिये मैंने आपसे प्रार्थना की थी।"

व्यङ्ग के स्वर में मुनि ने कहा—"फिर मैंने तुम्हें क्या आज्ञा दी थी?"

सरलता के साथ राजा ने कहा—"आपने ब्रह्मन्! यही कहा था मुझे इन्द्र के यज्ञ में जाना है?"

क्रुद्ध होकर मुनि ने कहा—"और मैंने कुछ नहीं कहा था?"

राजा बोले—"हाँ, महाराज! आपने यह भी कहा था कि जब तक मैं इन्द्र का यज्ञ कराकर न लौटूँ तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करना।"

वसिष्ठजी ने दृढ़ता के स्वर में डाँटकर कहा—"तब तुमने मेरी प्रतीक्षा क्यों नहीं की ? क्या सोचकर मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया ?"

राजा ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—"भगवन ! मैंने सोचा—धर्म कार्य में क्या देरी करना। प्राणियों का जीवन जल बुद्बुद के समान है। पता नहीं कल क्या हो ! इसलिये धर्म कार्य जितना भी शीघ्र हो सके, उतनी ही शीघ्रता से उसे सम्पन्न कर लेना चाहिये। मेरा भाव आपकी आज्ञा के उल्लंघन करने में नहीं था। मैं तो इस जीवन को कमल दल पर पड़े जल कण के सदृश अत्यन्त ही चञ्चल और अस्थिर मानता हूँ इसलिये मैंने अन्य आचार्यों से यज्ञीय दीक्षा ले ली।"

राजा के ऐसे गूढ़ ज्ञान युक्त वचनों को सुनकर वृद्ध मुनि के कोपानल में मानो घी की आहुति पड़ गई हो। वे अत्यन्त ही क्रुद्ध होकर बोले—"अरे ! क्षत्रियाधम ! तू गुरुओं का अपमान करके भी अपने को पंडित मानता है। तू समझता है, ये दान दक्षिणा लेने वाले ब्राह्मण हमारे आश्रित हैं। हम इन्हें चाहे बुलावें या न बुलावें ये हमारा क्या कर सकते हैं। अच्छी बात है, तू मेरे बल को देख। आचार्य के अपमान करने का फल चख, तू मूर्ख होकर भी अपने को विद्वान मानता है। इस शरीर को ही सब कुछ समझ कर राजा होने के अभिमान से तू गुरुओं की अवहेलना करता है। जा तेरा यह शरीर गिर जाय, तू अभी मृतक हो जाय।"

यह सुनकर राजा को भी क्रोध आ गया। यद्यपि राजा आत्म ज्ञानी थे, किन्तु भावी के प्रबल होने से वे अपने आपको रोक नहीं सके। वे भी सर्व समर्थ थे। उनको भी शाप अनुग्रह की सामर्थ्य थी। अतः उन्होंने भी हाथ में जल लेकर कहा—"मुनि-

वर ! दक्षिणा के लोभ से आप धर्म अधर्म सबको भूल गये आपने विवेकहीन होकर मुझे देह पतन का शाप दे दिया। अत मैं भी आपको शाप देता हूँ, आपका भी देह गिर जाय।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! क्रोध और लोभ का यही दुष्परिणाम होता है। तनिक सी बात पर इतनी शापा-शापी हो गई। दोनो के ही वचन अमोघ थे। दोनो ही सामर्थ्यवान् थे। दोनो के ही देह यज्ञ मडप में प्राणहीन होकर गिर गये। इस घटना को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। रग मे भग हो गया। फिर भी यज्ञ का कार्य बन्द नहीं हुआ। वह पूर्ववत् चलता रहा।"

छप्पय

है यह देह अनित्य यज्ञ अविलम्ब कराऊँ।
यदि गुरु आवें नहीं अन्य आचार्य बुलाऊ॥
करि दृढ निश्चय तुरत यज्ञ आरम्भ करायो।
मुनि वसिष्ठ पुनि आइ नृपति प्रति क्रोध दिखायो॥
देह पात को शाप मुनि, दयो भूप क्रोधित भये।
नृपहु शाप मुनिकूँ दयो, तनु दोउनि के गिरि गये॥

आदि विदेह महाराज जनक

[७११]

जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः ।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १३ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

तनु तजि मित्रावरुण वीर्यतैं प्रकटे मुनि पुनि ।
निमिहू नेत्रनि माँहि बसहि नित पलक निमिष बनि ॥
निमिको मृतक शरीर मथ्यो वैदेह भये सुत ।
आदि जनक मिथिलेश मुक्त जीवन समाधियुत ।
तबतैं निमि वशी नृपति, जनक विदेह कहाहिँ सब ।
क्षणभगुर समुझैं सबहिँ, राज पाट वाहन विभव ॥

देह के बन्धन से ही जीव बँधा हुआ है। अनित्य और क्षण-भगुर इस शरीर मे जीव ऐसा तन्मय हो जाता है, कि इस अनात्म्य पदार्थ को ही आत्मा माने बैठा है, असत्य को ही सत्य

---

* शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! मृतक निमि के देह के मन्थन करने पर जो पुत्र हुआ, वह जन्म लेन से जनक, विदेह से उत्पन्न होने से वैदेह और मन्थन करने से उत्पन्न होने के कारण मिथिल, नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसीने मिथिला नाम की पुरी बसाई।"

समझता है। इसी के मोह में फँसकर इसे ही पुष्ट करने के निमित्त भाँति भाँति के पाप करता है, यदि इस देह का अभ्यास छूट जाय, तो देह रहते हुए भी मनुष्य विदेह बन जाय। ज्ञान के ही द्वारा, इसमें बढ़ी हुई आसक्ति दूर हो जाती है। यदि विषयों से आसक्ति नहीं हटी, तो चाहे घोर वन में सब कुछ त्याग कर चले जाओ, मन उन्हीं विषयों का चिन्तन करता रहेगा और अवसर पाने पर उन्हें ही संग्रह करने लगेगा। इसके विपरीत जो प्राणी विषयों से विरक्त हो गया है, मन में उनके प्रति आदर भाव नहीं है, तो विषयों के बीच में रहते हुए भी वह विरक्त है। सब कुछ करते हुए भी वह कुछ नहीं करता। सब कर्म करते हुए भी अक्रिय है।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! परस्पर में शाप देकर निमि और वसिष्ठ दोनों ने ही अपने अपने शरीर को त्याग दिया। वसिष्ठजी तो ब्रह्माजी के मानस पुत्र ही ठहरे। उन्हें स्थूल शरीर की उतनी अपेक्षा नहीं, वे अपने सूक्ष्म शरीर से ब्रह्माजी के समीप ब्रह्मलोक में पहुँचे। उन्होंने ब्रह्माजी को प्रणाम करके कहा—"ब्रह्मन्! राजा निमि ने मुझे शाप देकर शरीरहीन कर दिया है, अब आप मुझे आज्ञा दें, जिससे मैं पुनः स्थूल शरीर को प्राप्त करके सृष्टि के कार्य में योग दे सकूँ।"

वसिष्ठजी के ऐसे वचन सुनकर ब्रह्माजी ने ध्यान लगाकर सभी बातें जान लीं, सब वृत्तान्त को जानकर वे बोले—"वत्स, अभी तुम्हारा पृथ्वी पर बहुत कार्य है। एक मन्वन्तर तक तो तुम्हें सप्तर्षियों में ही रहना है। अतः तुम पुनः स्थूल देह धारण करो।"

यह सुनकर वसिष्ठजी ने कहा—"प्रभो! मैं किसी मानवी स्त्री के गर्भ से तो उत्पन्न होना नहीं चाहता। ऐसा उपाय बतावें

जिससे बिना गर्भ मे प्रवेश किये मुझे स्थूल शरीर प्राप्त हो सके।"

इस पर ब्रह्माजी बोले—"देखो, मैं तुम्हे एक उपाय बताता हूँ, एक बार मित्रावरुण ऋषि दोनो ही स्वर्ग से आ रहे थे। मार्ग में उन्हे सोलहू शृङ्गार किये हुए स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी दिखाई दी। उस अति सुन्दरा अप्सरा को देखकर दोनो ऋषियो का चित्त चचल हो गया और साथ ही रेतस् स्खलित हो गया। उन्होंने उस अमोघ वीर्य को एक घडे मे रख दिया है, उसम एक जीव ता प्रवेश कर गया है। तुम भी जाकर उसी कुभ मे प्रवेश कर जाओ। तुमसे पहिले जो जीव उसमे गया है वह संसार मे महान् ऋषि होगा। जो अगस्त के नाम से प्रसिद्ध होगा। कुंभ से उत्पन्न होने के कारण लोग उन्हें कुंभज भी कहगे। दूसरे अश से तुम प्रकट होगे, तुम्हारा नाम पूर्ववत् वसिष्ठ ही होगा। तुम्हें किसी स्त्री के उदर मे प्रवेश न करना पडेगा। तुम घट से उत्पन्न होने के कारण अयोनिज होगे।"

ब्रह्माजी की ऐसी आज्ञा सुनकर वसिष्ठजी ने उनके चरणो मे प्रणाम किया और वे आकर घट में स्थित मित्रावरुण के वीर्य में प्रवेश कर गये। कुछ काल म उसमें से वे पुन पुर्ववत् शरीर धारण करके इक्ष्वाकुवश के राजाओं का पौरोहित्य कर्म करने कराने लगे।

इधर निमि के यज्ञ मे आये हुए ऋषियों ने जब देखा, कि वसिष्ठजी के शाप से निमि का शरीर गिर गया है, वे मृतक हो गये हैं, तो उन्होंने उस शरीर को जलाया नहीं। अनेक प्रकार के सुगन्धित तेल लगाकर यज्ञ के अन्त तक उस देह की रक्षा करते रहे। यज्ञ समाप्त होने पर यज्ञ भाग लेने के लिये समस्त देवगण आये। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक अपना अपना भाग ग्रहण किया और ऋत्विजो से वर माँगने को कहा।

ऋत्विजों ने विनीत भाव से कहा—"देवताओ ! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं, तो हम आपसे यही वर माँगते हैं, कि हमारे यजमान महाराज निमि पुन. जीवित हो जायँ।"

ऋत्विजों की बात सुनकर समस्त देवताओं ने एक स्वर में कहा—"तथाऽस्तु—अच्छी बात है, ऐसा ही होगा राजा जीवित हो जायँगे।"

देवताओं की बात सुनकर आत्मज्ञानी महाराज निमि बोले—"मैं अब पुन: देह बन्धन में बँधना नहीं चाहता। भगवत् परायण मुनि-जन जन्म-मरण से सदा दूर ही रहना चाहते हैं। वे देहबन्धन से विमुक्त होकर सदा भगवत् चरणारविन्दों में ही अनुरक्त रहना चाहते हैं। मैंने जो शरीर छोड़ दिया है, अब फिर उसमें जीवित रहना नहीं चाहता। यह देह तो दुख, शोक तथा भय को देने वाला है। पग पग पर इसमें मृत्यु का भय लगा रहता है। इस अनित्य देह में मेरा ममत्व न हो ऐसा ही आप प्रयत्न करें।"

राजा की ऐसी बात सुनकर देवताओं ने कहा—"अच्छी बात है, निमि बिना देह धारण किये ही संसार में अजर अमर रहें। वे सूक्ष्म देह से ही रहकर समस्त प्राणियों के पलकों में निवास करें। आँखों के उन्मेषण निमेषण में ये प्रकट हुआ करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! तभी से महाराज निमि सब प्राणियों के पलकों में रहने लगे। इसीलिये सब आदमी पलक मारते हैं। पलक के मारने को निमेष कहते हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"तो क्या सूतजी ! पहले प्राणी पलक नहीं मारते थे ?"

सूतजी यह सुनकर बोले—"नहीं महाराज, पलक तो सदा ही लोग मारते हैं। पहिले निमेष का अधिष्ठातृ देव कोई और रहा होगा। इस कल्प मे तब तक देवताओं की भाँति सभी निर्निमेष रहते होंगे। जैसे मछली जल मे निर्निमेष रहती है। जबसे निमि अव्यक्त रूप से सबके पलकों मे रहने लगे, तबसे इस कल्प मे के लोग भी पलक मारने लगे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप सत्य कहते हैं सृष्टि मे तो सब कार्य ऐसे ही यथापूर्व होते रहते हैं। अच्छा तो फिर क्या हुआ? महाराज निमि का वंश फिर आगे कैसे चला?"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज, सुनिये अब मैं आगे जैसे निमि वंश चला उस वृत्तान्त को सुनाता हूँ आप सावधान होकर श्रवण करें। निमि के मर जाने पर निमि का सिंहासन रिक्त हो गया। उनके राज्य मे अराजकता फैल गई। धर्म कार्य बन्द हो गये। तब तो लोक का कल्याण करने वाले ऋषि मुनि चिन्तित हुए। वे बड़े-बड़े ज्ञानी ब्रह्मर्षि परमर्षि मिलकर यज्ञ मंडप मे आये। वहाँ उन्होंने निमि के निर्जीव शरीर का देखा सर्व समर्थ मुनियों ने उस शरीर को मथना आरम्भ किया। योग युक्त बुद्धि से सर्वज्ञ मुनियों के मथने से उनके संकल्प से उस शरीर मे से एक बड़ा तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। मथने से वह उत्पन्न हुआ इसलिये सब उसे मिथिल कहने लगे। विदेह से उत्पन्न हुआ इस लिये उसे वैदेह भी कहने लगे। मृतक शरीर से जन्म लेने से उसकी जनक संज्ञा हुई। उस पुत्र को देखकर सभी ऋषि मुनि तथा प्रजा के लोग परम प्रसन्न हुए। उन राजा मिथिल ने एक नगरी बसाई जो मिथिला के नाम से प्रसिद्ध हुई। ये ही जनक वंश के सर्व प्रथम राजा हुए। उनके वंशज सभी मैथिल जनक और विदेह कहलाये। इनके सभी वंशज ब्रह्मज्ञानी और जीवन्मुक्त

हुए। इनके पुत्र जो हुए वे उदावसु जनक के नाम से संसार में विख्यात हुए।

उदावसु जनक के पुत्र नन्दिवर्धन हुए। नन्दिवर्धन के पुत्र सुकेतु और सुकेतु के देवरात हुए। देवरात से महाराज बृहद्रथ हुए इन्होंने ब्रह्मर्षि, याज्ञवल्क्यजी से आत्मज्ञान सम्बन्धी बड़े ही गूढ़ प्रश्न किये थे, भीष्मजी ने उनका विस्तार से वर्णन धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर महाभारत के शांति पर्व में किया है। इनके बृहद्रथ के पुत्र महावीर्य हुए। महावीर्य से सुधृति हुए। महाराज सुधृति के पुत्र धृष्टकेतु हुए उनके हर्यश्व और हर्यश्व से मरु का जन्म हुआ। मरु से प्रतीपक, प्रतीपक के कृतिरथ, कृतिरथ के देवमीढ़ उनके विश्रुत और विश्रुत के पुत्र परम ज्ञानी महाधृति हुए। महाधृति के कृतिरात और कृतिरात के महारोमा हुए। महारोमा के पुत्र ह्रस्वरोमा और ह्रस्वरोमा के पुत्र महाभाग्यशाली, परमपुण्यवान् विश्वविख्यात इन्द्रादिक देवों से भी वंदित पुण्यश्लोक महाराज सीरध्वज हुए। इन्हीं को भगवती सीता के पिता होने का विश्व वन्दित पद प्राप्त हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवती सीता का जन्म कैसे हुआ, हमने सुना है, जगज्जननी तो अयोनिजा हैं, उनका जन्म तो किसी मानवीय महिला के उदर से नहीं हुआ। आप कहते हैं वे जनक की पुत्री हैं।"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज! सीताजी तो वास्तव में अयोनिजा हैं, उनकी उत्पत्ति रजवीर्य से नहीं हुई। फिर भी जनकजी ने उनका पालन किया, अतः वे पालक पिता थे। वास्तव में तो जानकीजी जगज्जननी हैं। संपूर्ण ब्रह्माण्ड ही उनकी कृपा की कोर से उत्पन्न होते हैं। फिर भी लीला के निमित्त उन्होंने शरीर धारण किया था। अतः उपचार से जनक जी

उनके पिता कहलाये। पूर्व जन्मों की तपस्या के प्रभाव से ही वे जगज्जननी के जनक के नाम से प्रसिद्ध हुए। जगन्माता उन्हीं के सम्बन्ध से जानकी, जनकनन्दिनी, जनकात्मजा, वैदेही, मैथिली, मैथिलेशकुमारी आदि नामों से प्रसिद्ध हुईं। जानकी जी कैसे पैदा हुईं अब आप इस वृत्तान्त को भी सुनिये।"

छप्पय

उन्निस पीढ़ीमाँहिं ह्रस्वरोमा जनमे सुत।
सीरध्वज तिनि पुत्र जगतमहँ परम नीति युत॥
भये यशस्वी पुत्र कुशध्वज तिनके प्यारे।
पुत्री सीता भई उभय कुल जिनने तारे॥
जनकदुलारी मैथिली, जनकसुता सीता सती।
वैदेही जनकात्मजा, जिनहिं जपहिं जोगी जती॥

सीता पिता महाराज सीरध्वज

(७१२)

ततः सीरध्वजो यज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम् ।
सीता सीराग्रतो जाता तस्मात् सीरध्वजः स्मृतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १३ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

सीरध्वज मख करन भूमि शोधन हित आये ।
ऋषि मुनि ज्ञानी विप्र शोधिबे तहाँ बुलाये ॥
शोधी सब ने भूमि जनक हल तहाँ चलायो ।
तबहिं अवनि तें प्रकटि सीय निज रूप दिखायो ॥
सीर मोहि सीता भई, लखि कृतार्थ नृप ह्वै गये ।
पाली पुत्री मानिकें, सीरध्वज तातें भये ॥

सामान्य नियम ऐसा है, कि पिता के नाम से पुत्री का परिचय दिया जाता है । "यह लडकी कौन है ?" तो समान्यतया घर में तो उसके बाप का नाम बताते हैं और ननिहाल मे उसकी माता

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज ह्रस्वरोमा के सीरध्वज उत्पन्न हुए । वे महाराज सीरध्वज एक बार यज्ञ के लिये हल से पृथ्वी जोत रहे थे उसी समय उनके हल की धार (सीर) के अग्रभाग से सीता जी भूमि से उत्पन्न हो गयीं । इसीलिये उनका नाम सीरध्वज प्रसिद्ध हुआ ।'

का नाम बताते हैं, अमुक की लड़की है। या अमुक की लड़की की लड़की है। किन्तु कोई कन्या ऐसी होती है जिनके सम्बन्ध से पिता माता का परिचय कराया जाता है। वैसे हम सुनयना रानी कहें तो कोई न समझेगा। पूछेंगे—"सुनयना कौन थी जी?" तो उसी समय कह दिया जाय, माता जी का माता थीं, तो तुरन्त सब समझ जायेंगे। सब साधारण में सीरध्वज महाराज प्रसिद्ध नहीं हैं। जानकी जी के पिता जनक थे। सीता जी के कारण ही राजा जनक का नाम सीरध्वज प्रसिद्ध हुआ। वैदेही सीता का नाम क्यों है? क्योंकि उनके पिता विदेह कहलाते थे। मैथिली सीताजी का नाम इसलिये था, कि वे मिथिलाधिप की पुत्री थीं। साराश इतना ही है, कि महाराज सीरध्वज राजा थे, ज्ञानी थे, किन्तु उनकी प्रसिद्धि जगज्जननी जानकी के जनक होने से ही हुई।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! महाराज सीरध्वज जनक ने एक बार यज्ञ करने का विचार किया। उन्होंने वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ के योग्य भूमि का शोधन कराया। सर्वज्ञ ऋषियों ने सब देखकर ज्ञान दृष्टि से विचार कर एक भूमि को यज्ञ के उपयुक्त ठहराया। महाराज जनक ने भी ब्राह्मणों की आज्ञा शिरोधार्य करके उस स्थान में यज्ञ करने का निश्चय किया। विधिवत् पूजन करके महाराज स्वयं सुवर्ण के हल से उस भूमि को जोतने लगे। जोतते-जोतते उनके हल की फार एक स्थान पर अटक गई। हल की फार से जो भूमि खुद जाती है, उसे वृद्ध या सीर कहते हैं। उसमें से घड़ा निकला, जिसमें एक परम सुन्दरी कन्या थी। राजा उस कन्या को देखकर परम प्रमुदित हुए। ऐसे रूप लावण्य युक्त परम सुन्दरी कन्या उन्होंने कभी नहीं देखी थी। उन्हें ऐसा लगा मानों स्वयं सिद्धि ही यज्ञ से पूर्व प्रकट हो गई।

वे भूमि के पति थे अतः पृथ्वी ने अपने पति को अपने उदर से कन्या रत्न को अर्पित किया। महाराज ने अत्यन्त उल्लास से उस कन्या का गोद में लेकर अपनी महारानी सुनयना को दिया।

सुनयना की गोद भर गई। वे ऐसी परम सुन्दरी कन्या को पाकर अत्यन्त ही आनन्दित हुई।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी के भीतर

ऐसी सुन्दर कन्या कहाँ से आ गई ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! इस सम्बन्ध में कल्प भेद से बहुत सी कथायें हैं। एक कथा तो यह है कि जब पृथ्वी पर रावण राजा हुआ, तो उसने दिग्विजय करके सभी को अपने आधीन कर लिया और सभी से कर लेने लगा। जब मनुष्य के विनाश का समय आता है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है जिसका नाश होने वाला होता है, वह वेद शास्त्र, देवता, ब्राह्मण, साधु, गौ तथा धर्म से द्वेष करने लगता है।"

रावण ने देखा—"ये साधु वनों में बड़ा आनन्द करते हैं। इनके वनों को कोई अपने राज्य में नहीं मानता। ये यथेष्ट फल मूल खाते हैं। कितने पेड़ इनके आश्रमों में होते हैं। किसी राजा के शासन को भी नहीं मानते, यदि इन पर कर लगा दिया जाय तो ये आधीन हो जायँ और हमारी सब आज्ञाओं का पालन करने लगें।" यह सोचकर उसने अपने सेवकों को मुनियों के पास कर लेने को भेजा।

मुनियों ने मिलकर कहा—"हम लोग अरण्यों में रहते हैं। फल मूलों पर निर्वाह करते हैं, हमारे पास कर देने को क्या रखा है ?"

सेवकों ने जाकर रावण से ये सब बातें कह दीं। तब रावण ने कहा—"ऋषियों के पास शरीर तो है, कह दो उसी में से कुछ दें। तुम लोग पुनः जाकर ऋषियों से कर माँगो।"

सेवकों ने पुनः जाकर ऋषियों से आग्रह किया। यह सुनकर ऋषियों को क्रोध आ गया। उन्होंने एक सभा की और उसमें सर्व सम्मति से निश्चय किया, कि अपने-अपने तपः पूत रक्त को निकालकर करके रूप में दो। इसी में से आदि शक्ति जगज्जननी उत्पन्न होकर इस दुष्ट को मारेंगी, और हमारे दुःख

का दूर करेंगी, ऐसा निश्चित करके सब ऋषियों ने कुछ-कुछ रक्त दिया। उससे एक घट भर गया, उसको रावण के सेवकों को देते हुए ऋषियों ने कहा—"हमारे पास यही कर है। इसीसे एक शक्ति उत्पन्न होगी, जो तेरा नाश करेगी।"

सेवक घड़े को लेकर चले गये और यह वृत्तान्त जाकर रावण से कहा—रावण यह सुनकर घबराया। पापी का हृदय ही कितना होता है। उसने सेवकों से कहा—"इसे बहुत दूर ले जाकर कहीं पृथ्वी के नीचे गाड़ आओ।"

यह सुनकर सेवक उस घट को ले गये और धर्मात्मा ज्ञानी महाराज जनक के राज्य में भूमि में गाड़ आये। उसी से एक शक्ति बन गई, जो अन्त में राजा को हल चलाते हुए मिलीं। जिन्होंने रावण का वध किया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! रावण का वध तो श्री रामचन्द्रजी ने किया था। सीताजी ने रावण का वध कहाँ किया? हाँ वे उसके वध में निमित्त अवश्य हुईं।"

इस पर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! इस सृष्टि में अनेक घटनायें घटती हैं।

भगवान् नाम रूप रखकर नाना भाँति की क्रीडायें करते रहते हैं। उनका आदि नहीं अन्त नहीं। उनमें सभव नहीं असभव नहीं भेद नहीं, विरोध नहीं, भगवान् के लिये सब सभव है। जिस रावण के वध में वैदेही निमित्त कारण हुई, वह तो साधारण रावण था, महारावण का वध तो जगज्जननी जानकीजी ने ही किया, रामजी की क्या सामर्थ्य थी जो उस महारावण का वध कर सकते, यह तो महा शक्ति का ही कार्य है।"

इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! वह महारावण कौन था, सीताजी ने उसका वध कैसे किया

कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें सुनाइये। इसे सुनकर तो हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है।"

दृढ़ता के स्वर में सूतजी ने कहा—"अजी, महाराज! भगवान् की माया में क्या आश्चर्य। सम्पूर्ण संसार ही एक महा आश्चर्य है। महारावण की कथा तो बहुत बड़ी है। उसे यहाँ में पूरी कहने लगूँ, तो जनक वंश का वर्णन रह ही जायगा अतः मैं इसे संक्षेप में सुनाता हूँ। आप इसे सावधान होकर श्रवण करें।"

रावण को मार कर जब भगवान् राज्य सिंहासन पर बैठे और सभी देवता, ऋषि, मुनि प्रशंसा करने लगे, तब हँसते हुए जानकीजी ने कहा—"दश मुख रावण को मार देना, यह कौन सी बड़ी बात है, वह तो एक साधारण जीव था। यदि भगवान् महारावण को मार दें, जिसके सहस्र मुख हैं, तो प्रशंसा की बात भी है।"

यह सुनकर श्री रामचन्द्रजी को बड़ा लज्जा लगी। उन्होंने पूछा—"महारावण कौन है और वह कहाँ रहता है?"

जानकीजी ने कहा—"वह महारावण लंका छोड़कर प्रलंका में रहता है। उसके सहस्र मुख हैं, उसे मारने से ही भगवान् की प्रशंसा हो सकती है।"

इतना सुनते ही भगवान् ने तुरंत महा लंका या प्रलंका में सैन्य सजा कर जाने की आज्ञा दे दी।"

आज्ञा पाते ही सब सैनिक लड़ने के लिये चले। भगवान् ने महा लंका में जाकर महारावण को संदेश भेजा, हम तुमसे युद्ध करेंगे। यह सुनते ही वह हँस पड़ा और कहा—"राम की क्या सामर्थ्य है, जो मुझसे लड़ सके।" मुनियो! यह बहुत बड़ी कथा है, मैं इसका विस्तार न करूँगा। संक्षेप में सुनाता हूँ।

महारावण से युद्ध करके अंगद, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, भरत शत्रुघ्न, लक्ष्मण सबके सब परास्त हो गये। श्रीरामचन्द्र जी भी लडने गये। वे भी हार गये, तब तो उन्हे बडी चिन्ता हुई। सोचने लगे—"अब मै क्या करूँ मेरी तो सब कीर्ति धूलि मे मिल गई।"

श्रीराम को अत्यन्त चिन्तित देखकर गुरु वसिष्ठ बोले—"राघव! आप चिन्ता क्यो करते हैं। महारावण को आप कभी भी नही मार सकते। आप क्या कोई भी संसार मे उसे नहीं मार सकता।"

श्रीरामचन्द्रजी ने चिन्तित होकर पूछा—"तब प्रभो! यह कैसे मरे?"

वसिष्ठजी ने कहा—"ये जो तुम्हारी बगल मे जानकी बैठी हुई हैं, ये साक्षात् जगदम्बा हैं ये चाहे तो रावण को मार सकती हैं। आप इनकी प्रार्थना करें, इनके प्रसन्न होने से ही सब कुछ सम्भव हो सकता है।"

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी संकोच मे पड़ गये किन्तु करते ही क्या, स्वार्थ के लिये सब कुछ करना पडता है। बहू के सामने हाथ जोडकर स्तुति करना, यह तो साधारण काम है, जिसने ऐसा नहीं किया वह यथार्थ मे पति ही नहीं।

श्रीरामचन्द्रजी ने आदि शक्ति जगदम्बा की स्तुति की। जगदम्बा ने अपनी शक्ति से और भी बहुत सी शक्तियों को उत्पन्न किया, उन सब ने मिलकर रावण के सहस्रों सिर काट डाले, महारावण मर गया। श्रीरामचन्द्रजी को अब श्री सीता के बल पराक्रम का ज्ञान हुआ। इस प्रकार महाशक्ति जगदम्बिका जानकी ने श्रीराम से भी न मारे जाने वाले महारावण का वध किया। यह किसी कल्प की कथा है। इसी प्रकार सीता जी

के जन्म के सम्बन्ध मे एक दूसरी भी कथा है। वह इस प्रकार है।

एक समय की बात है रावण तीनो लोको को विजय करता हुआ हिमालय के पुण्य प्रान्त मे पहुँचा। वहाँ उसने अनुपम रूप लावण्य युक्त एक ललना ललाम को देखा। वह अविवाहिता कन्या था। यौवनावस्था ने बिना सूचना दिये ही उसके शरीर में प्रवेश किया था। उसका अनवद्य सौन्दर्य था अग प्रत्यग से लावण्य छन छन कर उस पर्वत प्रान्त को लावण्य युक्त बना रहा था। वह अपने प्रकाश से ही प्रकाशित हो रही थी। मृग चर्म, धारण किये, तपस्विनीयो का सा वेष बनाये वह मूर्तिमती तपस्या प्रतीत होती थी। एकान्त अरण्य मे ऐसी अनुपम रूप लावण्य युक्त ललना को देखकर रावण काम के बाणो से विद्ध हो गया। उसने मधुर वाणी मे कहा—"देवि! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? इस घोर अरण्य में एकाकी क्या वास कर रही हो। तुम्हारा सौन्दर्य, ऐसी अवस्था और इसके विपरीत ऐसी कठिन तपस्या यह अत्यन्त विपरीत बातें क्यो हो रही है। तुम मुझे अपना परिचय दो।"

उस कन्या ने सरलता के साथ कहा—"महानुभाव! आप मेरा आतिथ्य ग्रहण करें। यह पैर धोने को जल लें। ये फल खाकर जल पीवें अपने श्रम को दूर करें, तब मैं अपना परिचय आपको दूँगी।"

उसकी वीणा विनिन्दित अत्यन्त मधुर वाणी सुनकर रावण ने कहा—"देवि! तुम्हारे मधुर वचनो से ही मेरा सत्कार हो गया तुम्हारा दर्शन करते ही मेरा सम्पूर्ण श्रम नष्ट हो गया, तुम मुझे अपना पूर्ण परिचय दो।"

इस पर वह कन्या बोली—"अच्छी बात है, सुनिये मैं आप

को अपना परिचय देती हूँ। समस्त देवताओं के गुरु भगवान् बृहस्पति हैं, देवताओं के गुरु होने से वे गुरु या देव-गुरु भी कहलाते हैं। उनके एक पुत्र हुए जिनका नाम कुशध्वज था। वे कुशध्वज ही मेरे पिता थे। वाङ्मीय कन्या में उन्हीं से मेरी उत्पत्ति हुई। पिता ने मेरा नाम वेदवती रखा, वे मुझे अत्यन्त ही प्यार करते थे जब मैं विवाह योग्य हुई तो बहुत से देवता, यक्ष, गन्धर्व मुनिपुत्र तथा राजपुत्रों ने आकर मेरे पिता से मुझे माँगा। बहुतों ने मेरे साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु मेरे पिता ने किसी को भी मुझे नहीं दिया।"

यह सुनकर रावण ने पूछा—"देवि! जब इतने बड़े बड़े लोगों ने आकर तुम्हारे पिता से याचना की, तो तुम्हारे पिता ने उन्हें क्यों नहीं दिया। सयानी पुत्री का विवाह करने के लिये तो पिता अत्यन्त ही चिन्तित और उत्सुक बने रहते हैं।"

वेदवती ने कहा—"राक्षसेन्द्र! जिस कारण मेरे पिता ने मुझे किसी को नहीं दिया, उसे भी मैं आपको सुनाती हूँ। आप ध्यान पूर्वक सुनें। मेरे पिता चाहते थे, मेरे जामाता स्वयं विष्णु भगवान् हों। इसी आशा से वे मुझे किसी को देना नहीं चाहते थे।"

एक बार दैत्यों के राजा शम्भु ने मेरे पिता से मेरी याचना की, पिता ने उसे भी मना कर दिया। वह दैत्यराज मेरे साथ विवाह करने को अत्यन्त उत्सुक था, पिता से सूखा उत्तर पाकर वह क्रुद्ध होकर चला गया। किन्तु उसके मन का मैल नहीं गया। उसने इसमें अपना बड़ा अपमान समझा और पिताजी से उस अपमान का बदला लेने के लिये सोचने लगा। एक दिन पिताजी गाढ़ निद्रा में सो रहे थे। वह दुष्ट रात्रि में चुपके से आया और सोते हुए पिताजी का उसने वध कर दिया। मेरी माता को इस

घटना से बड़ा दुःख हुआ। वे मेरे पिता के शरीर को लेकर अग्नि मे प्रवेश कर गईं।

जब मैंने देखा मेरे पिता मुझे श्री मन्नारायण को देना चाहते थे, पुराण पुरुष के साथ मेरा विवाह करना चाहते थे, तो मैं उनकी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के निमित्त यहाँ वन मे चली आई। मैं उन पुराण पुरुष पुरुषोत्तम को ही पति मान कर उनकी आराधना करती हूँ। मैंने तो अपना हृदय उन्हे अर्पित कर ही दिया है, मैंने तो मन से उन्हें वरण कर ही लिया है, अब अपनाना न अपनाना उनका काम है। उन्हीं सर्वेश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त मैं घोर तप कर रही हूँ। यह मैने आपको अपना परिचय दे दिया, अब आप सुख पूर्वक जा सकते है।"

रावण ने कहा—"देवि मैं जाना भी चाहूँ, तो नही जा सकता, मेरे पैर उठते नहीं, मानो वे यहाँ चिपक गये हैं। अब तक तुम्हारा विवाह न हुआ यह सौभाग्य की ही बात है। हे सुन्दरि! मैं तुम्हारे रूप पर अनुरक्त हूँ, मै तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर प्रमत्त हो गया हूँ। भामिनि! दैव ने तुम्हें मेरे ही लिये बनाया है। तीनों लोकों का स्वामी मैं हूँ, सभी लोकपाल मेरे नाम से थर-थर काँपते हैं। मेरे सम्मुख विष्णु क्या है, विष्णु तो देवताओं की भाँति मेरे सम्मुख भी नहीं आ सकते। तुम हठ को छोड़ो, मुझे अपना पति बना लो। तुम्हे तुम्हारी तपस्या का फल मिल गया।"

वेदवती ने गम्भीरता पूर्वक कहा—"राक्षसराज! आपको ये बातें शोभा नहीं देती, मैं तो भगवान् विष्णु की पत्नी हो चुकी। आप भगवान् पुलस्त्य के पौत्र हैं, उत्तम कुल मे आपका जन्म हुआ है। पर स्त्री के प्रति बुरे भाव रखना आपको उचित नही।"

यह सुनकर रावण ने अधिकार के स्वर मे कहा—"सुन्दरी! तुम्हें अपने रूप का बड़ा अभिमान है। होना भी चाहिये क्योंकि

ऐसी सुन्दरी स्त्री मैंने आज तक नहीं देखी। तुम्हारी यह अवस्था सुख भोग की है, तुम्हें बाबाजियों की भाँति तपस्या करना शोभा नहीं देता। तुम बार-बार विष्णु-विष्णु कह रही हो, वह विष्णु कौन है, वह तो भगोड़ा है, असुरों से युद्ध करते-करते भाग जाता है। वह बल में, वीर्य में, तेज में, ओज में, ऐश्वर्य में, किसी में भी मेरी बराबर नहीं। तुम उस विष्णु का मोह छोड़ कर मेरे साथ विवाह करके यथेच्छ सुख भोगो।"

वेदवती यह सुनकर परम क्रुद्ध हुई वह बोली—"राक्षस! तू सचमुच राक्षस ही है। अरे, त्रिलोक के स्वामी श्री विष्णु के लिये तेरे अतिरिक्त और कौन ऐसे शब्द कह सकता है। तू अभी यहाँ से भाग जा, नहीं तेरा कुशल नहीं है।"

इतना सुनते ही रावण को क्रोध आ गया वह बोला—"तू मेरा अपमान करती है? तू मुझे साधारण व्यक्ति समझती है। अच्छी बात है, तू इसका फल भोग।" यह कर उसने वेदवती के बाल पकड़े।"

बालों का पकड़ना था, कि वह कन्या सिंहनी बन गई। तुरन्त उसने क्रुद्ध हुई सर्पिणी की भाँति हाथ से अपने बालों को काट डाला। उस समय सती के प्रभाव से उसका हाथ तलवार बन गया। बाल बीच से कट गये। जो बाल रावण के हाथ में थे, वे उसके हाथ में रह गये। गरजकर वह बोली—"दुष्ट! तैंने मेरा अपमान किया है। परपुरुष होकर तैंने मुझे काम भाव से स्पर्श किया है, अतः अब मेरा यह शरीर तपस्या के योग्य नहीं रहा। अब मैं इसे भस्म कर दूँगी। मैं चाहूँ तो तेरा वध कर सकती हूँ किन्तु स्त्रियों को ऐसा उचित नहीं। शाप देकर भी तुझे नष्ट कर सकती हूँ। किन्तु शाप से तपस्या नष्ट होती है। अतः अब मैं इस शरीर को अग्नि में भस्म किये देती हूँ, अगले जन्म

में मैं किसी धर्मात्मा पुरुष के यहाँ अयोनिजा होकर उत्पन्न होऊँगी और तुझसे अपमान का बदला लूँगी। तैंने वन मे मेरा अपमान किया है, अतः तेरे वध का कारण वन ही होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर वेदवती ने तुरन्त सूखी-सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी की और उनमे अग्नि लगाकर अपने शरीर को भस्म कर दिया। रावण पाषण की मूर्ति की भाँति खड़ा-खड़ा सब देखता रहा और अन्त मे उदास मन से चला गया।"

वही देवी महाराज जनक के हल चलाते समय भूमि से उत्पन्न हुई। उसका नाम सीता हुआ। ब्रह्मर्षि कुशध्वज भगवान् को जामाता बनाने की इच्छा लेकर मरे थे, अतः वे ही पवित्र जनक वश में उत्पन्न हुए। सीर से सीता निकलने के कारण उनका नाम सीरध्वज हुआ। ये सीरध्वज परम धार्मिक और महान् विद्वान् थे। घर मे रहते हुए भी ये विरागी थे।

इस प्रकार सीता जी के जन्म सम्बन्ध मे अनेको कथाएँ है, वास्तविक बात तो यह है, कि सीता जी भगवान् की आदि शक्ति हैं। भगवान् जहाँ-जहाँ भी अवतरित होते हैं। वहाँ-वहाँ ये भी अवतरित होती हैं, क्योंकि शक्ति के बिना शक्तिवान् कुछ कर नहीं सकता। सभी कार्य शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। शक्तिशाली ही सब कुछ कर सकते हैं, जिन्होने जन्म जन्मान्तरों में सुकृत किये हैं, ऐसे सौभाग्यशाली पुरुषो के ही यहाँ शक्ति प्रकट होती हैं। शक्ति के आधार पर ही यह सम्पूर्ण विश्व टिका हुआ है। आदि जनक से लेकर अब तक के जितने जनक हुए हैं सभी के तप, तेज, ज्ञान, ध्यान तथा समस्त सुकृतो के फल स्वरूप सीता जी उनके वश मे उत्पन्न हुईं या स्वयं ही कृपा करके शक्ति ने उनके कुल को कृतार्थ करने के लिये अवतार धारण किया। जिस प्रकार महाराज सीरध्वज की पुत्री सीताजी हुईं। यह मैंने अत्यंत

संक्षेप में आपसे सीताजी की उत्पत्ति की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी ! अब आप महाराज सीरध्वज से आगे के जनक वंशीय राजाओं का वर्णन करें।"

सूतजी बोले—"सुनिये महाराज ! अब मैं आगे के राजाओं का वर्णन करता हूँ। सीता के पिता महाराज सीरध्वज जनक के पुत्र हुए कुशध्वज। ये महाराज भी अपने पिता, पितामह तथा प्रपितामह आदि की भाँति परमज्ञानी और जीवन मुक्त थे। इनके पुत्र महाराज धर्मध्वज हुए। जिनका कि योगिनी सुलभा से बड़ा ही अध्यात्मपूर्ण संवाद हुआ था।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह सुलभा योगिनी कौन थी ? इनका महाराज धर्मध्वज जनक से कहाँ सम्वाद हुआ ? उसमे मुख्य विषय क्या था, कृपा करके जनक और सुलभा के सम्वाद की बात हमे सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! इस कथा प्रसङ्ग में ऐसे गूढ़ ज्ञान का विस्तार नहीं किया जा सकता। फिर भी प्रसङ्ग वश संक्षेप मे मैं आपको सुलभा और महाराज धर्मध्वज के सम्वाद की बात सुनाता हूँ, आशा है आप इस गूढ़ ज्ञान सम्बन्धी आख्यान को ध्यान से सुनेंगे।"

छप्पय

सीय पिता बनि जगत माँहि यश विपुल कमायो।
कियो राम सँग ब्याह नृपति निज भाग्य सरायो॥
आदि शक्ति है सीय जगत छिन माँहि बनावें।
पाले पोसें सतत अन्तमहँ प्रलय करावें॥
यह प्रपंच सब शक्ति को, क्रीडा-थल ऋषि मुनि कह्यो।
जगदम्बा के पिता बनि, सीरध्वज अति यश लह्यो॥

महाराज धर्मध्वज और योगिनी सुलभा

(७१३)

कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः ।
धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १३ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

सीरध्वज सुत भये कुशध्वज जनक अमानी ।
धर्मध्वज तिनि पुत्र कर्मयोगी अति ज्ञानी ॥
लोक वेद महँ निपुण सबनिकूँ ज्ञान सिखावें ।
परमारथके प्रश्न पूछिबे पंडित आवें ॥
भया सुखद सम्वाद शुभ, सुलभा योगिनि मगमहँ ।
घुसी योगिनी याग तैं, जनक नृपति के अंगमहँ ॥

दो समान शील व्यक्ति मिलते हैं, तो परस्पर के सत्सङ्ग से बोध उत्पन्न होता है, दोनों को ही सुख होता है। ज्ञानी, ज्ञानी की खोज करता है, व्यसनी, व्यसनी की। समान धर्म हुए बिना सत्सङ्ग सुख नहीं होता। इष्ट और मन के बिना मिले, अपनापन नहीं होता वादविवाद में भले ही कड़े शब्दों का प्रयोग हो जाय,

---

* शुकदेवजी कहते हैं-- राजन ! सीता पिता महाराज सीरध्वज के सुत कुशध्वज हुए। उनके पुत्र धर्मध्वज हुए। धर्मध्वज के दो पुत्र हुए। उनमें से एक का नाम कृतध्वज और दूसरे का नाम मितध्वज था।

किन्तु भावना दोनों की ही शुद्ध रहनी चाहिये। क्योंकि ज्ञानी पुरुष और वीणा छेड़ने से-आघात करने से-ही सुर देते हैं। छेड़ते-छेड़ते वे मिल जायँ एक स्वर हो जाँय; तब तो कहना ही क्या, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे योगिनी सुलभा और धर्मध्वज जनक के सम्वाद के सम्बन्ध में प्रश्न किया, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। यह गूढ़ ज्ञान से युक्त सम्वाद अत्यन्त गम्भीर है, इसे सुनते समय चित्त तनिक भी इधर-उधर गया, तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। इसलिये आप इसे भली भाँति स्वस्थचित्त होकर सावधानी से श्रवण करें।"

प्राचीनकाल में सुलभा नाम की एक बड़ी ही प्रसिद्ध योगिनी स्त्री हो गई। वह उन दिनों की स्त्रियों में बहुत उच्च कोटि की योगिनी थी। महाराज धर्मध्वज जनक भी उन दिनों के परम ज्ञानी थे। वे वैदिक कर्मकाण्ड तथा मोक्षप्रद ज्ञानकाण्ड दोनों में ही निष्णात थे। सर्वत्र उनके ज्ञान, वैराग्य, सदाचार तथा त्याग की ख्याति था। सुलभा के मन में हुआ कि देखें तो सही, जनक की बड़ी प्रशंसा है, यथार्थ में वे पूर्ण ज्ञानी हैं, या उनके ज्ञान में कुछ त्रुटि है। इसी जिज्ञासा से वह महाराज जनक के दरबार में आई। यद्यपि वह भिक्षुणी संन्यासिनी थी, तो भी त्रिदण्ड आदि संन्यास के सब चिन्हों को त्याग कर आई थी। संयोग की बात उस समय महाराज जनक भी छत्र चँवर आदि चिन्हों को छोड़कर साधारण आसन पर सभासदों के साथ बैठे बातें कर रहे थे। ब्रह्मज्ञान की चर्चा हो रही थी, उसी समय योगिनी सुलभा वहाँ आई। वह अपना यथार्थ रूप छिपाकर एक अत्यन्त ही सुन्दरी स्त्री बनकर आई थी। उसके मुखमण्डल पर तेज विराजमान था। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य फूट-फूटकर निकल रहा था। उसके अंग सुडौल

और सुकुमार थे। देखने में वह स्वर्गीय देवी सी प्रतीत होती थी। राजा ने उस तेजस्विनी योगिनी का विधिवत् स्वागत सत्कार किया। सुन्दर आसन पर बिठाकर उसकी पूजा की। फल मूल भेंट किये और कुशल पूछी। राजा की पूजा को स्वीकार करके योगिनी

राजा के सम्मुख बैठ गई। वह तो राजा की परीक्षा करने ही आई थी। उसे संदेह था, कि सर्वत्र राजा जनक का जैसा नाम है, वैसा वह त्यागी तथा जीवन्मुक्त है या नहीं। इसीलिये उसने अपने बुद्धिसत्व से राजा के बुद्धिसत्व में प्रवेश

किया। उसने अपने नेत्रों को राजा के नेत्रों से मिलाकर त्राटक विधि के द्वारा राजा पर अपना प्रभाव जमाना चाहा। राजा को तो पूर्ण विश्वास था, मेरे ऊपर किसी का प्रभाव पड़ नहीं सकता। अतः वे बिना कुछ बाधा दिये चुप-चाप बैठे रहे, उन्होंने सुलभा के किसी काम मे विक्षेप नहीं किया, जब वह बुद्धि के द्वारा राजा के शरीर मे प्रवेश कर गई, तब महाराज धर्मध्वज ने पूछा—"देवि! आपने यह वेष क्यों बना रखा है? आपको यह वेष बनाने का अधिकार किससे प्राप्त हुआ?"

सुलभा योगिनी ने कहा—"राजन्! सभी ने कोई न कोई वेष बनाया ही है। किसी ने राजा का वेष बनाया है, कोई अपने को साधुवेष मे सजाता है, कोई अपने वेष से परमहंस अपने को प्रकट करता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसका कुछ न कुछ वेष न हो, फिर मैंने कोई वेष बना रखा है, तो इसमें आपको आश्चर्य क्यों हुआ।"

इस पर राजा ने कहा—"वेष तो सबका कुछ न कुछ होता ही है, किन्तु मुझे ऐसा लगता है, कि तुम्हारा यह यथार्थ वेष नहीं। तुम वेष बदलकर मेरे समीप आयी हो, बुद्धिमानों को चाहिये राजा के समीप और स्त्रियों के समीप वेष बदल कर न जाय, ऐसा करने से अनर्थ हो सकता है। तुम वेष बदलकर मेरे पास आई हो, तुम अपना यथार्थ परिचय मुझे दो। तुम कौन हो? तुम्हारे पिता का क्या नाम है? तुम्हारा विवाह हुआ या नहीं? यदि हुआ है तो तुम्हारे पति का क्या नाम है? इस समय तुम कहाँ से आ रही हो? यहाँ आने का तुम्हारा अभिप्राय क्या है? तुम यहाँ से कहाँ जाओगी?"

इस पर सुलभा ने कहा—"देखिये राजन्! वेष तो यथार्थ है ही नहीं, वह तो प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। परमात्मा को छोड़कर एक भी कोई ऐसा वेष हो, जो बदलता न हो, वह मुझे बताओ। जब कोई यथार्थ वेष है ही नहीं, सभी बनावटी और परिवर्तनशील हैं, तो तुम मेरे वेष को बनावटी क्यों बताते हो? अब तुम पूछते हो तुम कौन हो? कहाँ से आई हो? ये प्रश्न तो भिन्नता में होते हैं? अमुक यह है, अमुक वह है, मैं यह हूँ, और तुम कौन हो? मेरी दृष्टि में तो सब एक ही है। सभी की उत्पत्ति एक ही मूल से हुई है, फिर मैं कैसे बताऊँ, कि मैं यह हूँ। बिन्दु बिन्दु मिलकर जल राशि बनी है, जैसे वे सब मिले हुए हैं, वैसे ही सभी प्राणी परस्पर में एक राशि में मिले हैं। देखने को तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये भिन्न भिन्न हैं, इनके शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये गुण भी भिन्न भिन्न हैं, किन्तु फिर भी एक दूसरे से मिले हुए हैं। पृथ्वी में शब्द, रूप, रस गन्ध स्पर्श ये सभी हैं। एक भूत दूसरे से मिला है। फिर भी इनसे यह प्रश्न तो नहीं किया जाता कि तुम कौन हो। जल में धूलि भी मिली है, तेज भी है, शब्द भी है किन्तु जल स्वयं अपने को बताने में समर्थ नहीं। इनकी बात छोड़ दीजिये नेत्र इन्द्रिय सबके रूपों को बताती है। किन्तु स्वयं वह अपने को नहीं बता सकती। पंचभूत उनकी तन्मात्रायें, दशों इन्द्रियाँ, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ये सभी प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, जितने जीव हैं सभी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। जिसका तू है उसी की मैं हूँ, फिर तुम्हारा यह प्रश्न कैसे बनता है, कि तू कौन है। रही बनावट की बात, तू कहता है, मैंने अपना वेष बदल लिया है रूप परिवर्तन कर लिया

है, तो भी तू सोच ले, एक-सा रूप जिसका रहता है, प्रतिक्षण सबका रूप बदलता रहता है।

स्त्री का रज पुरुष का वीर्य दोनों मिलकर दोनों ही अपने रूप को बदल देते हैं। तत्क्षण वे मिलकर कलल हो जाते हैं, फिर कलल बदल कर बुद्-बुद् बन जाता है। बुद्-बुद् से पेशी, पेशी से मासपिंड, उनसे अंग प्रत्यग बनते हैं। इन्द्रियों के गोलक सप्त धातु नख रोम ये सब बदलते ही रहते हैं। जो बुद् बुद् था, वह अब बालक बन गया। बालक ९ महीने के पश्चात् उदर से उत्पन्न होकर स्त्री पुरुष सत्ता को प्राप्त होता है। बच्चा कहलाता है; उसकी त्वचा कितनी कोमल होती है। अग प्रत्यग कितने सुकुमार होते हैं, प्रतिक्षण बदलता जाता है, अगो मे कठिनता आती है, रूप परिवर्तित होता है, बाल निकलते हैं, झुर्रियाँ पडती हैं, बाल पकते हैं, बाल्य, कौमार, पौगड, किशोर, युवा तथा वृद्धादि अवस्थायें होती हैं। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में रङ्ग रूप, आकृति, प्रकृति तो बदलती ही रहती है, प्रतिदिन नहीं प्रतिक्षण यह बदला बदली होती रहती है, किन्तु इतनी सूक्ष्म रीति से यह बदली होती है, कि इसे प्राणी जान नहीं सकते। किसकी उत्पत्ति किससे हुई इसे कौन कह सकता है। जल में अमुक भँवर किससे उत्पन्न हुआ, इसे कौन बतावे। सभी शरीरों मे पृथ्वी है, सभी मे जल, तेज, वायु आकाश, इन्द्रियाँ, मन आदि सभी एक सी हैं, फिर यह निर्णय कैसे किया जाय कि कौन किससे उत्पन्न हुआ। जैसा तेरा शरीर है, वैसे ही दूसरे का है, जैसे तेरे शरीर मे आत्मा विद्यमान है, वैसे ही दूसरे शरीरों मे; फिर यह प्रश्न कैसे बन सकता है। कि मैं कौन हूँ, तू कौन है ?"

इस पर महाराज जनक ने कहा—"देवि ! तुमने मेरे शरीर मे प्रवेश क्यो किया ?"

सुलभा ने कहा—"यह जानने के लिये मैंने तेरे शरीर मे प्रवेश किया, कि तू यथार्थ मे ज्ञानी है या नहीं। राजपाट करते हुए भी सब लोग तुझे क्यों ज्ञानी कहते हैं।"

इस पर महाराज ने कहा—"देवि ! तुम्हे अपने योग का बडा अभिमान है, इसीलिये तुम अभिमान और चचलता वश ऐसे अनुचित कार्य कर रही हो ?"

सुलभा ने कहा—"तुम्हे कौन से कार्य अनुचित दिखाई दिये ?"

राजा ने कहा—"एक तो यही अनुचित कार्य तुमने किया कि स्त्री होकर तुमने मेरे शरीर मे प्रवेश किया।"

सुलभा पूछा—"इसमे अनुचित क्या हुआ ?"

राजा ने कहा—"इसमे सब अनुचित ही हुआ। एक नहीं इसमें अनेक दोष आ गये। यह लोकोक्ति सत्य है, कि स्त्रियाँ स्वतत्र होने से बिगड़ जाती हैं। तैंने स्त्री सुलभ चञ्चलता वश यह कार्य किया है। मैं ज्ञानी हूँ या अज्ञानी, मुक्त हूँ या बद्ध, तुझे इस बात से क्या प्रयोजन ! एक तो यह काम तैंने चञ्चलतावश किया। दूसरे तू अपने को सन्यासिनी भिक्षुणी योगिनी बताती है। संन्यासी पुरुष के लिये स्त्री का स्पर्श पाप है, इसी प्रकार सन्यासिनी स्त्री को पुरुष का स्पर्श करना दोष है। तैंने मेरे शरीर मे प्रवेश करके सन्यास धर्म को दूषित किया है। इससे प्रतीत होता है, तू नाम की सन्यासिनी है, तेरी अभी पुरुष के स्पर्श की कामना ज्यों की त्यो बनी हुई है। जिसके मन में कामभाव विद्यमान है, उसे सन्यासी कहाने का अधिकार ही नहीं। एक तो तैंने आश्रम सम्बन्धी

साङ्कर्य किया। दूसरे तू ब्राह्मणी है, मैं क्षत्रिय। ब्राह्मणी स्त्री का क्षत्रिय शरीर मे प्रवेश करके तैंने वर्ण धर्म का लोप किया है, तीसरे मोक्षधर्म परायणा त्यागधर्मावलम्बिनी भिक्षुणी है, और मैं सग्रहधर्मी गृहस्थ हूँ। यह तैंने त्यागधर्म को भी दूषित किया है मुझे यह भी पता नहीं तू ब्राह्मणी है या क्षत्राणी। मान लो तू क्षत्राणी ही हो और मेरे गोत्र की हो, तो तेरे द्वारा यह गोत्र साङ्कर्य दोष भी हो सकता है। तू यदि अविवाहिता कन्या है, तो कन्या का पर पुरुष के शरीर मे प्रवेश करना महा पाप है। यदि तू विवाहिता है, तो तेरा पति दूसरा होगा। मैं पर पुरुष हूँ, सती स्त्रियों का पर पुरुष से सम्बन्ध करना महा पाप है। यदि तूने अपनी उत्कृष्टता दर्शाने के लिये मेरे शरीर मे प्रवेश किया है, तो यह तेरी महान् चञ्चलता है। स्त्रियो के लिये चञ्चलता महान् अवगुण है, अतः सभी दृष्टियो से तेरा यह व्यवहार अनुचित है, गर्ह्य है, दोषयुक्त है। तू मेरी इच्छा के विपरीत बिना मुझसे पूछे ही मेरी बुद्धि मे घुस गई है। यह संगम एकाङ्गी है। सम्मति से उभय पक्ष की प्रसन्नता से जो सगम होता है वह सुखकर है। एकाङ्गी सगम दुःखद है अतः तैंने यह विषवमन का कार्य किया है। यदि तैंने विजय की इच्छा से मुझे परास्त करने के लिये ऐसा कार्य किया है, तो यह भी सर्वथा अनुचित है। सन्यास धर्म वालों को विवाद, जय पराजय से सर्वथा पृथक् ही रहना चाहिये। अतः तेरे सभी व्यवहार लोक तथ वेद दोनों ही दृष्टि से निन्दनीय हैं।"

यह सुनकर सुलभा खिलखिला कर हँस पड़ी और बोली—"अरे, जनक मैं तो समझती थी मेरा द्वैतभाव नष्ट हो गया है, तू ब्रह्मज्ञानी हो चुका है, किन्तु तेरी

बातें तो सब अज्ञानियों की सी हैं, आत्मा मे स्वगत विगत स्वजाति, विजाति, स्त्री, पुरुष का भेद ही नहीं। तू तो अपने ज्ञान को वासना रहित बताता है, किन्तु तेरे मन में तो प्रत्यक्ष वासना विद्यमान् है। यद्यपि बुद्धितत्व से मैंने तेरे शरीर मे प्रवेश अवश्य किया है, किन्तु जैसे कमल पत्र जल मे रह कर भी जल को स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार मैंने अपने अगों से तेरे अगो का स्पर्श नहीं किया है। तू तो अपने को जीवन्मुक्त बताता है, कि मन से संग की भावना करने से तू तो स्वधर्म से च्युत हो चुका है। अभी तेरा यह मिथ्याभिमान नहीं गया यह गृहस्थ यह त्यागी। जीव का तो धर्म ही मोक्ष के साथ समागम करता है, इसमे सङ्करता का क्या काम जिसके मन मे भेद है, उसे द्वैत का भान होता है, जब सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान् है तब उनमें सङ्करता संभव नहीं। वैसे भी देखो, संन्यासी का धर्म है एकान्त मे वास करे, मैंने तेरी बुद्धि को एकान्त समझा उसमें मैं सुख से निवास कर गई। लौकिक दृष्टि से भी साङ्कर्य नहीं। तू क्षत्रिय है मैं भी क्षत्रिकन्या हूँ, मेरा तेरा गोत्र एक नहीं। मैं तुझसे हीन जाति की भी नहीं।"

राजा ने पूछा—"देवि! तुम किस क्षत्रिय की पुत्री हो?"

सुलभा बोली—"राजन आपने प्रधान नामक राजर्षि का नाम सुना ही होगा। वे बड़े ही यशस्वी और पुण्यश्लोक हैं। उन्होंने बडे-बड़े यज्ञ याग किये हैं। मैं उन्हीं की प्यारी पुत्री हूँ। बाल्य काल से ही मेरी अध्यात्म की ओर रुचि है। मैंने समस्त शास्त्रों का विधिवत् गुरु मुख से अध्ययन किया है। जब मैं विवाह योग्य हुई, तो बहुत से राजकुमार मुझसे विवाह करने आये, किन्तु उनमें कोई भी मेरे अनुरूप नहीं थे। योग्य वर के न मिलने से मैंने गुरु

मुख से मोक्षधर्म का उपदेश ग्रहण कर लिया मैं भिक्षुणी सन्यासिनी बन गई। मैं संन्यास धर्म का विधिवत् पालन करती हूँ, एकान्त मे रहती हूँ। मैं बिना विचारे कोई कार्य नहीं करती। मैंने तुम्हारी बहुत प्रशंसा सुनी थी, कि तुम मोक्षधर्मावलम्बी हो, इसीलिये सत्संग के निमित्त मैं यहाँ चली आई। मेरे मन में किसी प्रकार की कामना नहीं है। मैं ब्रह्मचारिणी हूँ मैं अपनी प्रतिज्ञा से कभी च्युत होने वाली नहीं हूँ। मैं तो केवल तुम्हारे ज्ञान की थाह लेने आई थी।"

राजा ने कहा—"देवि तो भी तुम्हारी चंचलता ही है। मैं ज्ञानी हूँ या अज्ञानी इससे तुम्हे क्या? मेरे ज्ञानी होने में सन्देह क्यों हुआ? क्या मूँड़ मुड़ाकर बाबाजी बनने से ही ज्ञानी होते हैं। क्या घर मे रहकर कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। मैंने गुरु परम्परा से ज्ञान प्राप्त किया है। मेरे गुरु ऐसे वैसे नहीं हैं। वे संसार मे विख्यात हैं, उनका नाम महामुनि पञ्चशिख है, वे लोक कल्याणार्थ, भूले भटके प्राणियों को सत्पथ दिखाने के निमित्त पृथ्वी पर भ्रमण करते रहते हैं। गत वर्ष इन्होंने यहीं मेरी पुरी मे चातुर्मास्य किया था। वे सांख्य शास्त्र के पूर्ण पंडित हैं। योग शास्त्र मे भी पारंगत हैं। उन्होंने मुझे सांख्यशास्त्र, योग विधि तथा कर्मकांड तीनों की ही शिक्षा दी है और मै भी उनकी कृपा से निष्णात हो चुका हूँ। उन्होंने मुझे बाबाजी नहीं बनाया। गृहस्थ धर्म मे रहते हुए ही मुझे पूर्ण ज्ञानी बना दिया है। उन गुरुदेव की कृपा से ही मेरे सब संशय दूर हो गये हैं। मेरे हृदय की ग्रन्थि खुल गई है, मैं पूर्ण ज्ञानी हो गया हूँ। मैं राज-काज करते हुए भी उनमे निर्लिप्त रहता हूँ। मोक्ष के साधन ज्ञान वैराग्य हैं। मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है। ज्ञानी के लिये आवश्यक नहीं वह त्यागी वैरागी का वेष बनावे।

वह तो बिना वेष बनाये ही सब स्थितियों में मग्न रहता है। मुख्य तो है अन्तःकरण का शुद्ध होना यदि गृहस्थी में रहते हुए भी जो सदाचार से रहता है यम नियमों का पालन करता है, तो वह घर में रहता हुआ भी संन्यासी है। इनके विपरीत जो भी नियमों का पालन नहीं करता। संन्यासी का वेष बना लेने पर भी जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, धनादि में आसक्ति रखता है इन सब वस्तुओं का संग्रह करता है, तो वह संन्यासी होने पर भी गृहस्थों से गया बीता है। योगिनीजी! केवल अकर्मण्य हो जाने से, अग्नि न छूने से, काषायवस्त्र त्रिदंडादि धारण करने से ही कोई संन्यासी नहीं बन सकता। जब तक संसारी विषयों से वैराग्य नहीं होता, तब तक ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान के बिना मोक्ष हो ही नहीं सकता। मनुष्य मृत्यु के भय से ही इधर-उधर घूमता रहता है। बिना ज्ञान के मृत्यु का भय जाता नहीं। ज्ञान होने पर जीव निर्द्वन्द हो जाता है, फिर वह जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है।

बन्धन का कारण पूर्वजन्म कृत पुण्य पाप ही है। कारण रूप से प्राणियों के शरीरों में पुण्य पाप विद्यमान् रहते हैं। बीज जैसे जल से सींचे खेत में पड़ते ही अंकुरित हो उठता है, वह फिर से वृक्ष हो जाता है, इसी प्रकार वासनामय बीज शरीरों को पाकर जन्म मरण के चक्कर में फँसते हैं, सुख दुःख भोगते हैं। जब तक कर्मों की वासना बनी रहेगी तब तक बारम्बार जन्म होगा, बारम्बार मृत्यु होगी। जब वासना रूप बीज ज्ञान रूप अग्नि में भून दिया जाता है, तो फिर उसमें अंकुर उत्पन्न नहीं होते। मैंने गुरु प्रसाद से जब वासनाओं को भून डाला है। मुझे इन संसारी विषयों में आसक्ति नहीं। ये अनित्य और नाशवान् विषय मुझे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। मुझे

राज्यपाट मे कोई सुख नहीं, दुख भी नहीं। स्त्री पुत्रों में राग नहा द्वेष भी नहीं। मेरा कोई शत्रु नहीं मित्र नहीं। मैं उनसान का भाति व्यवहार करता हूँ। कोई मेरे एक हाथ मे अग्नि दे ने। दूसरे हाथ मे कोमलाङ्गी स्त्री का अङ्ग, मेरे लिये दोनों समान हैं। ज्ञान होने पर चाहे कोई त्रिदण्ड धारण करे, राज्यपाट करे अथवा नोकरा करे सब समान हे। ज्ञान न होने पर चाहें सम्पूर्ण शरार का गेरू से रग ले सैकडों त्रिदण्ड कमण्डलु धारण करले, उससे कोई लाभ नहा।"

कुछ लोग कहते हें कि दण्ड धारण मात्र से ही नर नारायण हो जाता हे। यह केवल दण्ड की प्रशसा मात्र हे, नहीं मुख्य तो ज्ञान हे। ज्ञान होने पर त्रिदण्ड तथा छत्र का दण्ड सभी समान है। यह कहो, कि सब त्यागकर केवल कोपीन मात्र धारण करने से हा मोक्ष प्राप्त हो जाता हो, सो बात नहीं। त्याग का सम्बन्ध वस्तुओं से नहीं, मन से ह। मन से जिसने त्याग कर दिया है, वह राजाओं के से छत्र चँवर धारण करके भी त्यागी हो सकता ह और जिसने मन से त्याग नहीं किया वह लँगोटी लगाकर भी त्यागा नहीं हे।

यह बात तो नहीं कि मनुष्य जा कुछ मिल जाता हो, उसी का सग्रह करता हो। साँप बिच्छू, सिंह व्याघ्र का सग्रह कान करता ह। लाग इनसे दूर रहते हें जिस वस्तु से जिसका काम चलता ह उसी का वह सग्रह करता है। बहुत से साँप नचाकर आजीविका करन वाला का साँप स काम चलता हे। वे सर्पों का सग्रह करत हैं। जिन फटे पुराने कपडा का हम फेंक देत हैं, कागद बनाने वाल उनका सग्रह करत हैं, क्योंकि उनसे उनका काम निकलता ह। राजा छत्र चँवर, हाथी, घोडा, सेना, कोष, मत्री, भवन, सेवक आदि वस्तुओं का सग्रह करते हैं। सन्यासी

दंड, कमडलु, कथा, कोपीन, आदि का सग्रह करते हैं। सग्रह दोनों ही समान है। यदि आसक्ति है तो साधुओं की कमडलु मे भी आसक्ति होती है। उसमे भाँति-भाँति की कारीगरी कराते हैं, नित्य उसे चिकनाया करते है, रेख देख रखते हैं, कोई उठा न ले जाय। कहीं अग्नि लगने पर उन्हे चिन्ता होती है, हमारे दड कमन्डलु न जल जायँ। इसके विपरीत इतनी वस्तुओं का सग्रह करने पर भी मुझे इन वस्तुओं मे आसक्ति नही। सम्पूर्ण मिथिलापुरी जल जाय, मुझे इसमे कुछ भी दुख न होगा।

गेरुआ वस्त्र पहिनने से या मूड मुडाने से ही दुख दूर हो जायँ, तो बहुत से लोग गेरुआ पहने भी दुखी दिखाई देते हैं। भेड भी मूडी जाती है, यह पैसा न रखना ही दुःख निवृत्ति का कारण हो तो पशु-पक्षी तो पैसा नही रखते, वे कल के लिये सग्रह भी नहीं करते, इन सब को मुक्त हो जाना चाहिये। दरिद्र सभी जीवन्मुक्त हो जायँ। बाह्य त्याग और बाह्य सग्रह का ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं। अकिञ्चन वेष बनाकर भी बन्धन हो हो सकता है और धनादिक सग्रह करने पर भी वह जीवन्मुक्त हो सकता है।"

जनक कह रहे हैं—"सुलभे! तुम पढी लिखी प्रतीत होती हो; तुम्हारे ओज, तेज, प्रभाव से मैं प्रभावित हुआ। मुझे तेरे ऊपर श्रद्धा हो गई है, किन्तु यह रूप तेरे अनुरूप नहीं तू सुन्दरी है, सुकुमारी है, युवती है, तुझे शिष्टता का व्यवहार करना चाहिये। ऐसे अपना प्रभाव जताने के लिये किसी के शरीर मे प्रवेश न करना चाहिए।"

यह सुनकर सुलभा ने कहा—"राजन्! तुम्हारा कथन सत्य है। फिर भी ज्ञानी के लिये वेष बन्धन का कारण नहीं। वह चाहे जैसा वेष बना सकता है। आप अभी कह चुके है, बाह्य-

त्याग सग्रह ज्ञान मे कारण नहीं। फिर भी आप बार-बार अपने पक्ष की पुष्टि कर रहे हैं। राजन्! मैं बिना सोचे समझे तुम्हारे समीप नहीं आई हूँ। मैं तो मुमुक्षओ को खोजती फिरती हूँ, जब मैने सुना तुम ज्ञानी हो, ब्रह्मवेत्ता हो, केवल तुम्हारे कल्याण की भावना से तथा तुम्हारे मोक्ष ज्ञान को समझने के निमित्त ही मैं यहाँ आई हूँ। मैं वाद विवाद से सदा दूर रहती हूँ। जैसे शारीरिक बल वाले मल्ल, दूसरे को जीतने के लिये परस्पर में लडते हैं, उस प्रकार ज्ञानियो का वाद विवाद नहीं होता है। जो स्वपक्ष का मडन करने के निमित्त जो भी मन में आता है, अट-सट बातें बताते हैं, वितडा वात करते हैं। वे यथार्थ ज्ञानी नहीं। शब्दो पर ही लडते हैं, बाल की खाल निकालते हैं, ऐसे शाब्दिक ज्ञानियो से परमार्थ बहुत दूर है।

ज्ञानी तो वाद-विवाद से बचकर मौन धारण करता है। वह तो निजानन्द मे मग्न रहता है। उसे जय पराजय से क्या काम, मैंने तुम्हारे ज्ञान की थाह पाली। सन्यासी किसी नगर में जाता है, तो किसी शून्य गृह में निर्जन स्थान मे एक रात्रि निवास करता है, दूसरे दिन फिर अन्यत्र चला जाता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे शरीर रूपी घर में आज की रात्रि निवास करके चली जाऊँगी। राजन्! सौभाग्य की बात है, कि आप राज्य-पाट में लगे रहने पर भी ससारी भोगो से विरक्त हैं। प्रपंच मे रहते हुए भी निष्पक्ष हैं। यह आपके कुल के अनुरूप ही है। आपके सभी पूर्वज विदेह ज्ञानी और जीवन्मुक्त हुए हैं। आप भी उन्हीं की भाँति हैं, आपने मेरा आदर सत्कार किया, इतने देर सत्सग किया, इन बातो से मैं सन्तुष्ट हूँ। आपका कल्याण हो, अब मैं जाऊँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुलभा की बात सुनकर धर्म-

ध्वज ने उसका अभिनन्दन किया। इस प्रकार राजा से सत्कृत होकर और एक रात्रि निवास करके सुलभा यथेष्ट स्थान को चली गई। यह मैंने प्रसंगवश महाराज जनक और सुलभा का सम्वाद सुनाया। अब आप धर्मध्वज से आगे के जनक वंशीय राजाओं के वंश का वर्णन सुनिये।"

छप्पय

भये योगिनी सग जनक नृपके प्रश्नोत्तर।
योग ज्ञान अध्यात्मयुक्त सुन्दर अति सुखकर॥
दोनों ज्ञानी परमज्ञान की गग बहाई।
जनक त्याग तप तेज निरखि सलभा हरषाई॥
स्वय तरे तारे बहुत, द्वै तिनके अनुरूप सुत।
भये कृतध्वज प्रथम नृप, द्वितिय मितध्वज योगयुत॥

महाराज केशिध्वज और खाण्डिक्य

[७१४]

कृतध्वजात् केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात् ।
कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १३ अ० २० श्लो०)

छप्पय

पुत्र कृतध्वजमाँहि भये केशिध्वज ज्ञानी ।
भूप मितध्वज तनय भये खाण्डिक्य अमानी ॥
केशिध्वज अध्यात्म ज्ञानमहँ विदित दिवाकर ।
कर्म तत्व परवीन नृपति खाण्डिक्य उजागर ॥
क्षत्रिय धर्म कठोर अति, समर उभयदल महँ भयो ।
हार्‌यो लघु खाण्डिक्य नृप, डरिके बनमहँ भागि गयो ॥

गुणग्राहिता एक ऐसा गुण है, कि वह सब में नहीं होता। जिसमें गुण ग्रहण करने की प्रवृत्ति होगी वह संसार में किसी से द्वेष न करेगा। हम द्वेष क्यों करते हैं? अज्ञानवश जब हम असत् वस्तु को सत् समझकर इसमें मिथ्याभिनिवेश कर लेते हैं, तभी किसी को शत्रु मान लेते हैं किसी को मित्र। जिसके प्रति

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज जनक के कृतध्वज और मितध्वज दो पुत्र थे। इनमें कृतध्वज के पुत्र केशिध्वज हुए और मितध्वज के पुत्र हुए खाण्डिक्य। इनमें केशिध्वज आत्मविद्या विशारद थे।"

हमारे मन में शत्रुता हो जाती है, तो उसके गुण भी दोष ही दिखाई देने लगते हैं, द्वेषवश हम उसके शुभ कार्यों में भी सम्मिलित नहीं होते। हमारी चाहे कितनी भी हानि क्यों न हो जाय, उसके समीप जाते भी नहीं किन्तु जो गुण ग्राही हैं उनकी पहले तो किसी से शत्रुता होती ही नहीं। फिर भी कर्तव्य वश किसी से शत्रुता हो भी जाय तो उनके मन में कोई भाव नहीं रहता। अवसर आने पर वे शत्रुता को भूल जाते हैं। मूर्खों की शत्रुता तो पत्थर की लीक के समान होती है, जो कभी मिटती नहीं। किन्तु ज्ञानियों की शत्रुता बालू की लकीर के समान है, कि जहाँ वायु आई फिर मिट कर ज्यों की त्यों हो गई। संसार में रहने से ज्ञानी हो अज्ञानी हो मित्रता शत्रुता तो प्रायः अपने संसर्गियों से हो ही जाती है, किन्तु ज्ञानी के हृदय पर इनका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। अज्ञानी रागद्वेष के कारण दुखी होता है, इतना ही ज्ञानी के व्यवहार में अन्तर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने आपको जनक वंशीय महाराज धर्मध्वज और योगिनी सुलभा का संक्षिप्त सम्वाद सुनाया अब आप धर्मध्वज से आगे जनक वंशीय मैथिल राजाओं के वंश का वर्णन श्रवण कीजिये।

महाराज धर्मध्वज जनक के दो पुत्र हुए कृतध्वज जनक दूसरे मितध्वज जनक, कृतध्वज के पुत्र हुए केशिध्वज जनक, और मितध्वज जनक के पुत्र हुए खाण्डिक्य जनक, इन दोनों भाइयों का बड़ा ही आध्यात्म्य सम्बन्धी सुन्दर सम्वाद है, जिसमें परमार्थ का बड़ा ही सरलता से निरूपण किया गया।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी हमें महाराज केशिध्वज जनक और राजर्षि खाण्डिक्य जनक के सुखद सम्वाद को अवश्य सुनावें। उसे सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है, यह आध्यात्म्य

सम्बन्धी चर्चा है बड़ी गूढ़, किन्तु इन जनक वंशीय राजाओं के आख्यान तो गूढ़ ज्ञान से ही ओत-प्रोत रहते हैं। इनमें आध्यात्म जैसे नीरस विषय को बड़ी सरसता और सरलता के साथ समझाया जाता है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! यहाँ मैं आध्यात्म चर्चा तो कर ही नहीं रहा हूँ, यहाँ तो मैं सरल-सरल शिक्षाप्रद कथाओं को प्रसिद्ध पुरुषों के आख्यान को सुना रहा हूँ। इसलिये इस विषय का विस्तार न करके मैं प्रसङ्ग वश सम्वाद को संक्षेप में ही सुनाऊँगा। यह केशिध्वज और खाण्डिक्य का सम्वाद बड़ा ही शिक्षाप्रद, रोचक और आध्यात्मिक भावों से भरा हुआ है। अच्छी बात है, सुनिये मैं इस पुण्य प्रसङ्ग को सुनाता हूँ।

महाराज कृतध्वज के पुत्र केशिध्वज हुए। ये परम ज्ञानी थे। ऋषि मुनि इनसे परमार्थ सम्बन्धी प्रश्न पूछने आते थे और अनेक प्रकार की शंकायें किया करते थे। उन सब का यथोचित उत्तर देते, सभी शंकाओं का समाधान करते। इनके चाचा मितध्वज के पुत्र खाण्डिक्य भी ज्ञानी तो थे ही किन्तु वे कर्मकाण्ड के विशेष ज्ञाता थे कर्मकाण्ड के विषय में उनकी सर्वत्र ख्याति थी। कर्मकाण्ड सम्बन्धी जो भी बड़ी से बड़ी शंका होती उसका ये समाधान करते। इनका भी केशिध्वज से पृथक् अपना छोटा सा राज्य था, उसमें सुखपूर्वक रहकर यज्ञ किया करते थे।

क्षत्रिय धर्म ऐसा क्रूर है, कि इसमें बाप की बेटे के साथ, भाई की भाई के साथ सम्बन्धी की सम्बन्धी के साथ लड़ाई हो जाती है। कोई भी क्षत्रीय किसी भी क्षत्रीय को अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध के लिये ललकारे तो कोई भी आत्माभिमानी क्षत्रिय कुमार युद्ध से पराङ्मुख न होगा। उस युद्ध का अभिनन्दन करेगा और प्राणों का प्रण लगाकर समर भूमि में उतर पड़ेगा। इसी प्रकार

किसी कारण से केशिध्वज और खाण्डिक्य का भी युद्ध हुआ। दोनों ही शूरवीर थे क्षत्रिय कुमार थे, भाई भाई थे। बहुत देर तक युद्ध होता रहा, अन्त में विजय केशिध्वज की हुई। खाण्डिक्य पराजित होकर अपने मंत्री पुरोहित तथा कुछ सेवकों को साथ लेकर वन को चला गया और वन में अपना एक छोटा सा किला बनाकर और आस पास के गाँवों पर अधिकार जमाकर छोटा-सा राज्य स्थापित करके रहने लगा। इधर केशिध्वज ने खाण्डिक्य के राज्य पर अधिकार जमा लिया और सुख पूर्वक राज्य करने लगा।

ज्ञानी पुरुष भी आसक्ति छोड़कर निष्काम भाव से लोक संग्रहार्थ यज्ञ यागादि पुण्य कर्म करते ही रहते हैं। यह न करें तो काल क्षेप कैसे हो। यज्ञ, दान, तप ये तो मनुष्य को पावन बनाने वाले हैं इनका तो कभी परित्याग करना ही न चाहिये। इसी भाव से आत्मविद्या विशारद महाराज केशिध्वज सदा यज्ञ याग आदि पुण्य कार्यों में लगे ही रहते थे।

एक बार उन्होंने एक बहुत बड़ा यज्ञ कराया। बड़े-बड़े कर्म काण्डी ऋषि मुनि उस यज्ञ को करने के लिये बुलाये गये। संयोग की बात कि जिस धेनु के दूध से यज्ञीय कर्म सम्पन्न होते थे, वह यज्ञीय धेनु किसी सिंह ने विजन वन में रक्षकों की असावधानी के कारण मार डाली। यह तो यज्ञ में बड़ा भारी विघ्न था अब यज्ञ कैसे हो, क्या प्रायश्चित्त इसके लिये किया जाय। यज्ञ में यज्ञीय धेनु का नष्ट हो जाना यह तो बड़ा भारी पाप है, यज्ञ में महान् अन्तराय है। राजा बड़े चिन्तित हुए, उन्होंने अपने ऋत्विजों से इसका प्रायश्चित पूछा।

ऋत्विजों ने सरलता के साथ निष्कपट भाव से कहा—"राजन्! हम इसका यथार्थ प्रायश्चित्त नहीं बता सकते। आज

कल महर्षि कशेरु कर्मकाण्ड मे प्रसिद्ध हैं। विशेषकर प्रायश्चित विधान मे तो उनकी अव्याहत गति है, उनका समाधान भगवान कशेरु ही कर सकते हैं। आप उनकी शरण में जायँ, वे आपको इसका यथोचित प्रायश्चित बतावेंगे।"

यह सुनकर महाराज केशिध्वज को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने ऋत्विजो की सम्मति को शिरोधार्य किया और महर्षि कशेरु के समीप प्रायश्चित्त पूछने गये। प्रणाम और शिष्टाचार के अनन्तर राजा ने सब वृत्तान्त बतलाया, किस तरह उनकी यज्ञीय धेनु शार्दूल द्वारा मारी गई, किस प्रकार ऋत्विजो ने, पूछने पर मुझे आपकी सेवा मे भेजा। ये सब बातें बताकर अन्त में उसका प्रायश्चित जानना चाहा।

सब बातें सुनकर महर्षि कशेरु बोले—"राजन्! यह विषय बड़ा गूढ़ है। अब मैं यह निर्णय नहीं कर सका, कि यज्ञीय धेनु के वध हो जाने पर तुम प्रायश्चित करके फिर इसी दीक्षा से यज्ञ कर सकते हो या तुम्हें पुनः दीक्षा लेनी होगी आप एक काम करें इस विषय को जाकर भृगु वंशीय महर्षि शुनक से पूछिये। महर्षि शुनक मुझसे भी अधिक इस विषय के ज्ञाता हैं।"

सूतजी कहते है—"शौनकजी, आपके पिता भगवान् शुनक कर्मकाण्ड मे अद्वितीय थे। जिस शंका का कहीं भी समाधान न हो, वह आपके पूज्य पिताजी के समीप जाकर होता था। कशेरु मुनि की बात सुनकर तथा उनको प्रणाम करके राजा आपके पिता भगवान् शुनक के समीप गये।

भृगुवंशीय भगवान् शुनक ने राजा का सत्कार किया और आने का कारण पूछा। राजा ने विनय प्रदर्शित करते हुए हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन्! मेरे यज्ञ की यज्ञीय धेनु का अरण्य में शार्दूल ने वध कर दिया है। उसका प्रायश्चित्त मेरे ऋत्विज नहीं

बता सके। उन्होंने मुझे महर्षि कराल के समीप भेजा कि वे आप को यथार्थ प्रायश्चित्त बतावेंगे। जब मैं उन सत्यवादी ऋषि के समीप पहुँचा तो उन्होंने बिना छल कपट के कह दिया—"भैया, मैं भी इसका यथार्थ प्रायश्चित्त नहीं जानता तुम भगवान शुनक की सेवा मे जाओ। वे तुम्हे इसका शास्त्रीय प्रायश्चित बतावेंगे। इसीलिये मै भगवान् के चरणों मे उपस्थित हुआ हूँ।"

यह सुनकर सर्वज्ञ शुनक बोले—राजन्! इसका प्रयश्चित्त न आपके ऋत्विज जानते हैं न कराल मुनि ही जानते हैं और न मैं ही जानता हूँ, पृथ्वी पर एक ही आदमी जानता है। उसके पास तुम सम्भव है जाओ न जाओ।"

शीघ्रता के साथ राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आप जैसे सर्वज्ञ जिस विषय को नहीं जानते उसे जानने वाला पृथ्वी पर दूसरा कौन है। आप मुझे उनका नाम बताइये मैं अवश्य ही उनकी सेवा में जाऊँगा।"

इस पर भगवान् शुनक बोले—"राजन्! इस विषय के ज्ञाता आपके शत्रु खाण्डिक्य राजर्षि हैं। आपने उन्हे परास्त किया है आप उनके पास जायँगे या नहीं, इसे मैं नहीं जानता।"

राजा ने दृढ़ता के स्वर मे कहा—"ब्रह्मन्! मैं अवश्य उनके पास जाऊँगा युद्धादि तो क्षत्रिय धर्म है, इस समय तो मैं गुरु के भाव से उनके समीप जाऊँगा। यदि वे मुझे अपना शत्रु समझ कर मार डालेंगे, तब तो मेरा प्रायश्चित्त स्वतः ही हो जायगा। मैं यज्ञ मे दीक्षित हूँ मैं तो शस्त्र उठाऊँगा नहीं। उनके हाथ से मरने से प्रायश्चित हो ही जायगा। यदि उन्होंने धर्म समझकर मेरे पूछने पर यथायोग्य प्रायश्चित्त बता दिया, तो उसे करने से मेरा यज्ञ अविफल समाप्त हो जायगा। मेरे तो दोनो हाथों मे लड्डू है। भाई खाण्डिक्य के समीप जाने में मेरा कल्याण ही है।

यह सुनकर भगवान् शुनक ने कहा—"राजन्! आप राजर्षि खाण्डिक्य के समीप जायँ, आपका कल्याण होगा।"

यह सुनकर मुनि के चरणों में प्रणाम करके महाराज केशिध्वज रथ पर चढ़कर खाण्डिक्य के समीप चल दिये। वे यज्ञ में दीक्षित होने के कारण कृष्णमृग के चर्म को ओढ़े हुए थे। हाथ में मृग का सींग और कुशाओं का मूठा था, वे मूर्तिमान् तप ही प्रतीत होते थे, अस्त्र शस्त्रों का उन्होंने त्याग कर रखा था। उन्हें अपनी ही ओर आते देखकर महाराज खाण्डिक्य को क्रोध आ गया। वे सोचने लगे—"मैं यहाँ राज्य पाट छोड़कर वन में आ बसा हूँ, यहाँ भी इसने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। अच्छी बात है मैं भी इससे युद्ध करूँगा।" यह सोचकर वे धनुष बाण तान कर खड़े हो गये।"

खाण्डिक्य को युद्ध के लिये उद्यत देखकर केशिध्वज ने कहा—"भाई! मैं युद्ध करने के लिये तो आया नहीं। क्या तुम मेरे मृगचर्म में बाण मरोगे?"

इस पर खाण्डिक्य ने कहा—"राजन! आप मेरे शत्रु हैं। शत्रु का वध करना क्षत्रिय का परम धर्म है। आप जो यह तपस्वियों का बनावटी वेष बनाकर इस आशा से आये हो, कि मृगचर्म को देखकर मैं बाण न छोड़ूँगा, सो यह आपका भ्रम है। क्या मृगों की पीठ पर मृगचर्म नहीं होता? क्या मृगया प्रेमी क्षत्रिय उन पर बाण नहीं छोड़ते। शत्रु तो शत्रु ही है, चाहे वह जैसा भी वेष बनाकर सम्मुख आवे। मैं तुम्हें बिना मारे छोड़ूँगा नहीं।

केशिध्वज ने कहा—"भाई देखो! मैं यज्ञ कर रहा था। मेरी यज्ञीय धेनु का वध वन में एक सिंह ने कर दिया। उसी का प्रायश्चित्त पूछने मैं आपकी शरण में अस्त्र-शस्त्रों से रहित होकर

आया हूँ। अब आपकी इच्छा है, चाहे तो मुझे एकान्त समझ कर मार डालें अथवा मेरे प्रश्न का समुचित उत्तर दें।"

इतना सुनते ही खाण्डिक्य ने धनुष से बाण उतार लिया, वे अपने मंत्री पुरोहितों को लेकर एकान्त मे भीतर गये, उनसे उन्होंने सम्मति ली कि इस समय मुझे क्या करना चाहिये।

राजा की बात सुनकर मंत्रियों ने कहा—"महाराज! ऐसे स्वर्ण अवसर को कभी भी हाथ से न जाने देना चाहिये। जिसके कारण हम राज्य पाट से हीन होकर वन-वन में भटक रहे हैं, वह शत्रु स्वतः ही हमारे अधिकार में आ गया है, वश मे आये हुए शत्रु को जीवित छोड़ देना बुद्धिमानी का काम नहीं। आप इस शत्रु को सुलभता से जीतकर इस सम्पूर्ण पृथ्वी का निष्कंटक राज्य कर सकते हैं।"

यह सुनकर खाण्डिक्य बोले—"आप लोगों ने सत्य ही कहा शत्रु को वश में आने पर अवश्य ही मार देना चाहिये। राजा का धर्म राज्य का पालन करना ही है, कितने ही यत्न से राज्य मिले राजा को अपने गये हुए राज्य को लौटा लेना चाहिये। यदि आस-पास ही बिना श्रम के राज्य मिलता तो फिर कहना ही क्या बुद्धिमान राजा को ऐसे अवसर को कभी भी हाथ से न जाने देना चाहिये।"

यह सुनकर राजर्षि खाण्डिक्य जनक ने कहा—आप लोगों का कहना सत्य है! आततायी शत्रु का वध कर देना धर्म संगत है। किन्तु इस समय ये मेरे भाई शत्रुता के भाव से तो आये ही नहीं। ये तो जिज्ञासु बनकर आये हैं। इस समय यदि मैं इन्हें मार दूँगा तो मुझे पृथ्वी का निष्कंटक राज्य तो अवश्य मिल जायगा, किन्तु मेरा परलोक नष्ट हो जायेगा, इसका परलोक बन जायगा। यदि मैं राज्य के लोभ को छोड़कर इसके प्रश्नों का

उत्तर दूँ तो मैं राज्य से भले ही वञ्चित रहूँ, किन्तु मेरा परलोक बन जायगा, इस लोक के तुच्छ सुखों की अपेक्षा परलोक सम्बन्धी सुख सर्वश्रेष्ठ है। मैं पृथ्वी के तुच्छ राज्य के पीछे परलोक को बिगाड़ना नहीं चाहता। इसलिये मैं तो द्वेष छोड़कर यह जो भी पूछेगा उसका उत्तर दूँगा।" यह कहकर वे लौटकर केशिध्वज के समीप आये और बोले—"कहिये राजन्! आप क्या पूछना चाहते हैं?"

केशिध्वज ने खाण्डिक्य के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए नम्रता के साथ कहा—"भाई! मैं यज्ञ कर रहा था, इसी बीच में यज्ञीय धर्मधेनु को सिंह ने मार डाला इसका प्रायश्चित न मेरे ऋत्विज बता सके, न महर्षि कशेरु बता सके और न महामुनि शुनक ही बता सके। उन्होंने मुझे आपके समीप भेजा है, आप इसका जो उचित समझें वह प्रायश्चित बतावें। जिससे मेरा यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सविधि निर्विघ्न समाप्त हो सके।

यह सुनकर खाण्डिक्य ने शास्त्रीय विधि से इसका प्रायश्चित्त बताया। प्रायश्चित्त जानकर महाराज केशिध्वज को परम प्रसन्नता प्राप्त हुई वे खाण्डिक्य के प्रति आदर प्रकट करके अपने यज्ञ में लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने खाण्डिक्य के आदेशानुसार ब्राह्मणों की अनुमति से प्रायश्चित्त किया फिर विधि विधान पूर्वक यज्ञ का सब कृत्य किया। उन्होंने दान से मान से सभी को सन्तुष्ट किया, ब्राह्मणों को यथेष्ट दक्षिणा दी। जिसने जो माँगा उसे वही दिया, याज्ञिकों का मनोरथ पूर्ण किया, ऋत्विज अत्यन्त सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद देते हुए गये। फिर भी राजा के मन में पूर्ण शान्ति नहीं हुई, उन्हें ऐसा लगा मानो कोई कृत्य शेष रह गया। उनके मनको पूर्ण सतोष हुआ नहीं। वे सोचने लगे—"मेरा मन पूर्ण सतुष्ट क्यों नहीं होता, यज्ञ को तो मैंने विधिवत् समाप्त

किया है। यज्ञ मे आये सभी का सत्कार किया है। कौन सी त्रुटि रह गई जिससे मेरा मानस असम्पन्न की भाँति होता है, सोचते-सोचते उन्हे ध्यान आया—"अरे, जिन खाण्डिक्य की कृपा से मेरा यह यज्ञ साङ्गोपाङ्ग समाप्त हुआ। उन्हे मैने गुरु दक्षिणा तो दी ही नहीं। गुरु दक्षिणा बिना सभी कृत्य अधूरे रह जाते हैं। मुझे सर्व प्रथम जाकर राजर्षि खाण्डिक्य को यथेष्ट मुँह माँगी दक्षिणा देकर सन्तुष्ट करना चाहिए उन्हे सन्तुष्ट करने पर ही मुझे सन्तोष होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा विचार करके महाराज केशिध्वज अपने सुन्दर रथ पर चढकर राजर्षि खाण्डिक्य के आश्रम की ओर चल दिये।

छप्पय

इत केशिध्वज कर्यो यज्ञ इक अतिशय भारी।
सिह यज्ञ की धेनु खाइ सब बात बिगारी॥
पूछो प्रायश्चित्त सबनि खाण्डिक्य बताये।
तिन ढिँग भूपति गये वृत्त सब तिनहिँ सुनाये॥
प्रायश्चित्त सुन्यो जनक, आई कर्यो विधीवत सकल।
सोच्यो गुरु खाण्डिक्यकूँ, दई दक्षिणा नहिँ विपुल॥

केशिध्वज द्वारा खाण्डिक्य को ज्ञान दान

(७१५)

खाण्डिक्यः कर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजाद् द्रुतः।
भानुमास्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १३ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

दैन दक्षिणा गये न याच्यो राज कोस धन।
कह्यो दक्षिणा देहु असत् सत् समुझे कस मन॥
हँसि केशिध्वज कह्यो लाभ जग तुमही पायो।
समुझि विषय विष सरिस न तिनमहँ चित्त फँसायो॥
देही देह पृथक् सतत, सुनहु ज्ञान परमार्थ युत।
देही नित्य अनित्य तनु, तत्सम्बन्धी गेह सुत॥

ये सासारिक भोग अनित्य हैं, नाशवान् हैं, क्षणभगुर हैं, आगमापायी हैं अशाश्वत हैं तथा परिणाम मे दु:ख देने वाले हैं। विद्वान् पुरुष इनके मोह मे नहीं फँसते। जो इस शरीर को ही सब कुछ समझे बैठे हैं, वे न्याय से अन्याय से उचित उपायो से अनुचित उपायो से जैसे भी हो तैसे विषयों के साधनभूत धन

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! खाण्डिक्य कर्मकाण्ड के तत्त्व को जानने वाले थे। अपने भाई केशिध्वज से डरकर वन मे भाग गये। केशिध्वज के पुत्र भानुमान् हुए, और भानुमान् के पुत्र शतद्युम्न हुए।

आदि को ही प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते हैं। उन्हें परमार्थ परमात्मा आदि से कोई प्रयोजन नहीं। पैसा प्राप्त हो, प्रतिष्ठा हो और यह शरीर सुख से रहे, यही उनकी अभिलाषा रहती है। मैं और मेरा यही उनका मूल-मंत्र है। मैं सुखी रहूँ मेरा वैभव बढ़े यही उनके जीवन का ध्येय है। वे नरपशु आहार, निद्रा मैथुनादि को ही सर्वोत्कृष्ट सुख समझकर उन्हें ही पाने के लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं। वे बार-बार जन्मते हैं बार-बार मरते हैं। वे आवागमन के चक्कर से छूटते नहीं। इसके विपरीत जो इन नाशवान् पदार्थों को कुछ भी न समझकर परमार्थ चिन्तन में समय बिताते हैं। वे अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं। जन्म मरण के बन्धन से सदा के लिये विमुक्त हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! खाण्डिक्य जनक के आदेशानुसार केशिध्वज जनक अपने यज्ञ को विधिवत् समाप्त करके, गुरुदक्षिणा देने के निमित्त पुनः गहन वन मे खाण्डिक्य के समीप गये। अबके पुनः केशिध्वज को रथ में आते देखकर खाण्डिक्य को पुनः शंका हुई। वे अस्त्र-शस्त्र लेकर अपने शत्रु से पुनः युद्ध करने के लिये उद्यत हुए।

खाण्डिक्य को युद्ध के लिये उद्यत देखकर हँसते हुए राजर्षि केशिध्वज बोले—"राजन्! मै युद्ध करने आपके समीप नहीं आया हूँ। आपकी कृपा से मेरा यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सकुशल सविधि समाप्त हो गया। अब मैं गुरुदक्षिणा देने के निमित्त आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ। आप मुझसे यथेच्छ दक्षिणा माँग लें।"

यह सुनकर खाण्डिक्य अपने मन्त्रियो को लेकर एकान्त में गया और उनसे पूछने लगा—"ये महाराज केशिध्वज जो मेरे भाई हैं, जिन्होंने युद्ध मे मुझे परास्त करके मेरा राज्यपाट

छीन लिया है, मुझसे यथेच्छ दक्षिणा माँगने को कह रहे हैं, इनसे क्या दक्षिणा माँगनी चाहिये।"

मंत्रियों ने कहा—"महाराज! इसमें भी कुछ पूछने की बात है। आप इनसे दक्षिणा में सम्पूर्ण राज्य माँग लें। राज्य के लिये कितने भारी-भारी युद्ध होते हैं। असंख्यों वीर मारे जाते हैं। राज्य के लिये उचित अनुचित सभी कार्य किये जाते हैं। अन्याय से भी क्षत्रिय को राज्य मिले तो उसे ले लेना चाहिये, फिर आप को तो घर बैठे बिना आयास-प्रयास के, बिना युद्ध के स्वतः ही राज्य मिल रहा है। ऐसे अवसर पर कोई भी बुद्धिमान् राज्य की अवहेलना न करेगा।"

यह सुनकर राजर्षि खाण्डिक्य हँसे और बोले—"आप लोग लौकिक अर्थ साधन में ही निपुण मंत्री हो। पारलौकिक स्वार्थ साधन में तुम सर्वथा अनभिज्ञ हो। अरे, मुझ जैसा व्यक्ति गुरु दक्षिणा में ऐसी क्षुद्र वस्तु की याचना कर सकता है। राज्य पाट तो अनित्य है। वह तो प्रारब्ध से आता जाता ही रहता है। क्या मैं पहिले राजा नहीं था। अब यदि मैं राज्य माँग भी लूँ तो कितने दिन सुख भोगूँगा। अन्त में तो सबको यहीं छोड़कर मर जाऊँगा। मैं इन अपने ब्रह्मज्ञानी भाई से ऐसी वस्तु क्यों न माँग लूँ, जिससे सदा के लिये जन्म मरण का चक्कर छूट जाय। संसार का आवागमन ही मिट जाय।"

मंत्रियों ने यह सुनकर संकोच के साथ कहा—"जैसी महाराज की इच्छा। हमने तो अपनी बुद्धि के ही अनुसार सम्मति दी है। करने न करने में आप सर्वथा समर्थ हैं। यह सुनकर खाण्डिक्य, केशिध्वज के समीप गये, उनका अभिनंदन किया और स्नेहपूर्वक बोले—"क्या आप यथार्थ में मुझे मुँहमाँगी दक्षिणा देना चाहते हैं?"

केशिध्वज ने कहा—"भाई ! मैं तो दक्षिणा देने के लिये ही यहाँ आया हूँ। आज आप जो भी माँगेंगे वही मैं गुरुदक्षिणा निश्चय दूँगा।"

यह सुनकर खाण्डिक्य बोले—"अच्छी बात है, यदि आप मुझे गुरुदक्षिणा देना ही चाहते हैं, तो मुझे उस कर्म का उपदेश दें जिससे समस्त क्लेशों का अत्यन्ताभाव हो जाय। आप अध्यात्म विज्ञान मे पारङ्गत हैं। परमार्थ पथ के प्रदर्शक हैं, जिससे सत्पदार्थ का बोध हो वही उपदेश मुझे दें।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए केशिध्वज बोले—"अरे, तुमने यह क्या गुरुदक्षिणा माँगी। जब मैं तुम्हे यथेच्छ वस्तु देने ही आया हूँ, तो तुम समस्त पृथ्वी का निष्कन्टक राज्य माँग लेते। क्षत्रियों के लिये तो राज्य लाभ से बढकर दूसरा कोई लाभ ही नहीं। प्रजापालन से बढकर कोई पुण्यप्रद कार्य ही नहीं। राज्य मिलने पर आप यथेष्ट दान पुण्य करते। इष्ट मित्र बन्धु बान्धवों को सुख देते, स्वय सुखोपभोग करते। यह न माँग कर आपने यह क्या वस्तु माँग ली।"

इस पर दृढता के स्वर मे खाण्डिक्य ने कहा—"भाई जी ! आप मुझे भुलावें नहीं, आप मेरी मुमुक्षुता की परीक्षा ले रहे हैं। नहीं तो क्या आप जानते नहीं राज्य पाकर प्राणी अहकारी हो जाता है। यह अहकार अत्यन्त ही मादक मधु है। इसे पान करके प्राणी जन्म मरण के चक्कर मे फँस जाता है। प्रजा का पालन रूप धर्म तो मैं कर ही रहा था। स्वेच्छा से मैंने उसे त्यागा भी नहीं। आपने युद्ध मे मेरा राज्यपाट–छीन लिया, अच्छा ही किया। मेरी जो भोगों मे लिप्सा थी, वह आपने छुडा दी। इतने दिन अरण्य मे रह कर क्लेश–सहते-सहते मे इन विषयो की क्षणभगुरता समझ गया। मुझे विषयों से–वैराग्य हो गया। मेरी

मोक्ष की इच्छा जाग्रत हो उठी। जिस मोह गर्त से भगवान् ने बल पूर्वक हाथ पकड कर निकाल दिया, उसी में जाकर फिर पड, फिर राज्यपाट के बन्धन मे बँधू, फिर जन्म-मरण के चक्कर में फँसू यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है। अतः राजन्! मुझ जैसा व्यक्ति आप जैसे अध्यात्म विद्या विशारद को पाकर क्षुद्र सांसारिक भोगों की याचना किस प्रकार कर सकता है।"

यह सुनकर केशिध्वज ने कहा—"यथार्थ मे तुम अध्यात्म-ज्ञान के अधिकारी हो गये हो। मैं भी जो कुछ करता हूँ मृत्यु से तरने की कामना से ही करता हूँ। यज्ञ यागादि करके पापों का क्षय करता हूँ और भोगों को भोग कर पुण्यों का क्षय करता हूँ। जब पुण्य पाप दोनों से छूट जाता है, तभी जीव मुक्त हो जाता है। अविद्या ही संसृति का हेतु है।"

खाण्डिक्य ने पूछा—"अविद्या क्या है?"

केशिध्वज ने कहा—"असत् में सत् बुद्धि तथा अनात्म्य में आत्मबुद्धि होना यही अविद्या का स्वरूप है। यह देह पचभूतों से बना हुआ अनित्य तथा नाशवान् है। अविनाशी तथा नित्यरूप देही भ्रम वश अज्ञान के कारण, माया के अधीन होकर इसे मान बैठा है। अज्ञानी इस देह को ही आत्मा मानते हैं। इसलिये जो भी कर्म प्राणी करता है, देह के सुख के लिये करता है। आत्मा तो सुख स्वरूप ही है, उसे भौतिक पदार्थों से सुख की अपेक्षा ही नहीं। यह देह ही पचभूतों से निर्मित है अतः पञ्चभौतिक विषयों के सुखों को चाहता है।"

खाण्डिक्य ने कहा—"जब देह पचभूतों से ही निर्मित है, तो उसे पचभूत क्या सुख देंगे।"

इस पर केशिध्वज ने कहा—"सुख तो क्या देंगे, यह एक प्रकार का भ्रम है। जैसे घर मिट्टी से ही बनाया जाता है, फिर

मिट्टी पानी लगाकर ही उसे लीपते पोतते हैं, स्वच्छ करते हैं। उसी प्रकार यह देह पृथ्वी से बना है, यह पार्थिव पदार्थ–अन्न, दूध, घृत, चीनी आदि-से पुष्ट होता है। अन्न जल से ही इसकी स्थिति है। जैसे घर से घर का स्वामी पृथक् होता है, वैसे ही देह से देही पृथक् होता है। घर वाला घर को बेचकर दूसरे घर मे चला जाता है। घर बदलने पर घर का स्वामी नहीं बदलता। इसी प्रकार देह के नाश होने पर देही का नाश नही हुआ करता। पचभूतों का बना देह, पंचभूतों से ही बढता है, पुष्ट होता है, फिर इसमें अहंकार करने की कौन सी बात है, कि मैं मोटा हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं धनी हूँ, मैं मानी हूँ, मैं जगत् पूज्य हूँ। आत्मदृष्टि से देखा जाय तो आत्मा सर्वश्रेष्ठ है ही। देहदृष्टि से देखा जाय तो चाहे मोटा देह हो या पतला, सुरूप हो या कुरूप, गोरा हो या काला छोटा हो या बड़ा, सब प्रकार से नाशवान् है, अशाश्वत है। फिर इसमें मोह करना व्यर्थ है।"

खाण्डिक्य ने कहा—"जब देही देह से पृथक् है तो फिर प्राणी धन, जन पुत्र परिवार तथा देह मे इतना आसक्त क्यों हो गया है।"

केशिध्वज ने कहा—"अनेक जन्मो के संस्कारों से निरन्तर कर्मवासनाओं के बन्धन में फँसा जीव ससार मे भटकता रहता है, पुनः पुनः जन्म लेता है, पुनः पुनः मरता है, उसका तो न जन्म है न मरण। देह के उपचार से ही उसमे जन्म मरण की कल्पना की जाती है। वासना के मैल से अन्तःकरण रूप वस्त्र मैला हो गया है। अपने यथार्थ स्वरूप से च्युत सा दिखाई देता है। जैसे नीहार के छा जाने से सूर्य ढका सा प्रतीत होता है। यह अन्तः करण रूप मैला वस्त्र, ज्ञान रूप उष्ण वारि से अन्य साधन सामग्री के द्वारा युक्तिपूर्वक धोया जाता है, तो शुद्ध निर्मल बन जाता है।

इसी प्रकार आत्मा तो नित्य शुद्ध बुद्ध निर्मल और निरामय है ही। प्रकृति के संसर्ग में यह अपने को सुखी दुःखी मानने लगता है।

खाण्डिक्य ने पूछा—"तो यह बताइये दुःख अज्ञान, अथवा भ्रम आदि किसमें होते हैं; प्रकृति में या आत्मा में ?"

केशिध्वज ने शीघ्रता के साथ कहा—"आत्मा में तो दुःख अज्ञान भ्रम आदि संभव ही नहीं। ये सब तो प्रकृति के धर्म हैं। आत्मा तो इनसे सर्वथा निर्लिप्त है।"

इस पर खाण्डिक्य ने पूछा—"इन क्लेश कर्मों का नाश किस साधन के द्वारा हो, कृपया इसे भी बताइये।"

केशिध्वज ने कहा—"क्लेशों के नाश का एक मात्र साधन योग है। योग के बिना चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध होता नहीं। बिना चित्तवृत्ति-निरोध के स्व स्वरूप में अवस्थिति होती नहीं।"

यह सुनकर खाण्डिक्य ने कहा—"महाभाग! उस योग का स्वरूप आप मुझसे बताइये।"

इस पर केशिध्वज ने कहा—"मन को वश में करने का ही नाम योग है। साधारणतया प्राणी मन के वश में होकर कर काम करता है। मन के हारे हार है मन के जीते जीत। बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है। विषयासक्त हुआ मन बन्धन का हेतु होता है, वही निर्विषय मन मुक्ति का कारण है। अशुद्ध मन ही जीव को चौरासी के चक्कर में घुमाता है। वही विशुद्ध बनकर ब्रह्म के साथ संयोग कराता है। उसी संयोग का नाम योग है। जो उस योग का साधन करता है, मुक्ति के लिये यत्न करता है; वही मुमुक्षु योगी कहाता है। योगी दो प्रकार के होते हैं। एक योगयुक्त, दूसरा युञ्जमान्; जिसकी समाधि सिद्ध हो गई है

वह तो योगयुक्त कहलाता है। जो योग के लिये यत्न कर रहा है और योग में अन्तराय आने से सिद्धि लाभ नहीं कर सका है; वह युञ्जमान कहलाता है। योगयुक्त योगी तो तत्क्षण मुक्त हो जाता है, किन्तु जिसके योग में अन्तराय हो गये हैं; वह जन्मान्तर में मुक्ति का भागी होता है। योगी के लिये सर्वप्रथम यम नियमों का पालन करना आवश्यक है।"

खाण्डिक्य ने पूछा—"यह यम नियम कितने हैं ?"

केशिध्वज बोले—"यम और नियम पाँच-पाँच हैं ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान; ये पाँच नियम हैं। इन यम नियमों का पालन विशिष्ट कामनाओं से किया, जाय तो उन-उन कामनाओं को पूर्ण करते हैं। यदि निष्काम भाव से पालन किया जाय तो ये ही मुक्ति देने वाले हो जाते हैं। इनमें से एक का भी निष्काम भाव से पालन करके मनुष्य मुक्त हो सकता है। यम नियम के पश्चात् आसन हैं ?"

खाण्डिक्य ने पूछा—"आसन कितने प्रकार के हैं ?"

इस पर केशिध्वज बोले—"भैया ! आसन तो असंख्य हैं, जिसमें स्थिरता हो, घुटने दोनों भूमि में सट जायँ, मेरुदण्ड ठीक सीधा हो जाय, बैठने में सुख हो, वही बैठने के आसन हैं। योग-शास्त्र में ८४ आसन प्रसिद्ध हैं, इनके अतिरिक्त भी बहुत से आसन हैं, इनमें सिद्धासन, पद्मासन और सुखासन ये मुख्य हैं। इनमें से किसी आसन का अभ्यास करके उसी से बैठकर प्राणायाम करना चाहिये।"

खाण्डिक्य ने पूछा—"प्राणायाम क्या ?"

केशिध्वज बोले—"प्राणों के संयम का नाम प्राणायाम है। प्राण तो सदैव ही श्वासोच्छ्वासरूप में सदा आते जाते रहते हैं।

इन्हीं को अभ्यास से नियमन करना प्राणायाम कहाता है। वह पूरक, कुम्भक और रेचक तीन प्रकार का होता है। प्राणायाम के अनन्तर प्रत्याहार करना चाहिये।"

खाण्डिक्य ने पूछा—"भाई जी! प्रत्याहार किसे कहते हैं?"

केशिध्वज बोले—"भागती हुई चित्त की वृत्तियों को पुनः पुनः समेटकर खींचकर भीतर की ही ओर लाना—वृत्तियों को बाह्य न होन देना—यही प्रत्याहार है। चित्त को शुभाश्रय में स्थित करना ही प्रत्याहार का प्रयोजन है।"

खाण्डिक्य ने पूछा—"भाई जी! चित्त का शुभाश्रय क्या है?"

केशिध्वज बोले—'चित्त के दो प्रकार के शुभाश्रय हैं। एक मूर्त दूसरा अमूर्त। अमूर्त भावना तो निराकार ब्रह्म की की जाती है और मूर्त भावना इस सम्पूर्ण विश्व को भगवान् का रूप मानकर करते हैं। जितना भी यह चराचर विश्व है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सरित्, समुद्र, आकाश, भूगोल, खगोल सब उन्हीं श्रीहरि का रूप है। सबकी उनके अगों में भावना करनी चाहिये। भगवान् का जैसा रूप रुचिकर हो शास्त्रों में जैसा उनका वर्णन किया गया है, उसमें चित्त को स्थिर करना चाहिये अन्तःकरण में भगवान की स्थिति होते ही समस्त पापों का नाश हो जाता है। समस्त अशुभ भस्मसात हो जाते हैं। समस्त शक्ति को स्थिर करने का आधार चित्त ही है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पाँच बाह्यसाधन हैं। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अतरङ्ग साधन हैं। चित्त में जब भगवान् की भलीभाँति सस्थिति हो जाती है। चित्त उनके स्वरूप को धारण कर लेता है। उसे 'धारणा' कहते हैं। धारणा की सिद्ध को ही ध्यान कहते हैं। भगवान् के सुन्दर स्वरूप का नख से शिख तक ध्यान करना

चाहिए। पहिले एक-एक अंग का ध्यान करे। ललाट, नेत्र, नासिका, मुखारविन्द, हृदय, बाहु, वक्षःस्थल, नाभि, कटि, ऊरु, जानु, टखना, पाद, प्रपाद, पादतल इस प्रकार प्रत्येक अंग पर बहुत देर तक ध्यान करे। जब सब अंगों में ध्यान लग जाय, तब भगवान के समस्त अंगों का एक साथ ही ध्यान करे। ध्यान की परिपक्वावस्था का ही नाम समाधि है। वह समाधि भी सजीव निर्बीज रूप से दो प्रकार की है। समाधि प्राप्त होने पर अशेष संक्लेश नाश हो जाते हैं। प्राणी परमानन्द में निमग्न हो जाता है। मुक्ति करतल में स्थित हो जाती है। जीव की स्व स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। यही अंतिम निष्ठा है; यही परागति है। समाधि सिद्धि मुनि कृतकृत्य हो जाता है। समाधि में स्थित योगी के समस्त संशय नाश हो जाते हैं। हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। उसके शुभाशुभ सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में आत्मज्ञान के साधनभूत योग का उपदेश किया। तुम इसका अभ्यास करोगे, तो तुम्हें स्वयं ही सब विषय ज्ञात होने लग जायँगे।"

यह सुनकर खाण्डिक्य ने केशिध्वज के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और अत्यन्त ही सत्कारपूर्वक बोले—"भाई जी! आपने मेरे समस्त संशयों का छेदन कर दिया। आपने मुझे अभूत पूर्व अमूल्य दक्षिणा दे दी। मैं सन्तुष्ट हूँ। आपने मुझे अध्यात्म उपदेश देकर कृतार्थ कर दिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! केशिध्वज से उपदेश पाकर खाण्डिक्य कृतार्थ हो गये। उन्होंने केशिध्वज की पूजा की। केशिध्वज ने खाण्डिक्य का समस्त राज्य लौटा दिया। खाण्डिक्य भी अपने राज्य पर अपने पुत्र को बिठाकर योग साधन करने के निमित्त वन में चले गये।

केशिध्वज भी समस्त कर्मों को निष्काम भाव से करते हुए अन्त में परमपद को प्राप्त हुए। केशिध्वज के पश्चात् उनके पुत्र भानुमान राजा हुए।"

छप्पय

यों दीयो बहु ग्यान भये कृतकृत्य जनक जब।
कीयो बहु सत्कार गये केशिध्वज गृह तब॥
करन योग खाण्डक्य गये वन भूपति करि सुत।
केशिध्वज हू क्लेश कर्म तजि भये योगयुत॥
जग महं जीवन मुक्त नृप, केशिध्वज हू ह्वै गये।
तिनके पीछे तनय तिनि, भानुमान भूपति भये॥

जनक-वंशीय शेष राजा

(७१६)

एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः ।
योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥*॥

(श्री भा० ९ स्क० १३ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

पीढ़ी सत्ताईसमाँहिं अतिम मैथिल कृति ।
भये जनक कुलमाहिं परम ज्ञानी सब भूपति ॥
ऋषि मुनि नित प्रति आइ करहिं सत्सङ्ग सदाहीं ।
या कुल कोई कृपण अज्ञ नृप प्रकट्यो नाहीं ॥
शुक सम त्यागी जनक ढिँग, परमारथ सीखन निमित ।
आये तिनिके शुभ चरित, करहिँ सतत ससार हित ॥

व्यक्ति की पूजा उसके गुणों से होती है । रूप, धन, ऐश्वर्य, कुल आदि से क्षणिक प्रतिष्ठा भले ही हो जाय, किन्तु आदर भाव गुणों के ही द्वारा होता है । अपने पास कोई किसी वस्तु की याचना के निमित्त आवे, उसकी इच्छा पूर्ण करना सबसे बड़ा शुभ कार्य है, किन्तु सांसारिक इच्छा पूर्ति से भी बढ़कर सर्वश्रेष्ठ कार्य है अभय दान । यह प्राणी मृत्यु के भय से भयभीत हुआ

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! मैंने जो इतने मैथिल राजाओं का वर्णन किया है, ये सब के सब आत्मविद्या में विशारद थे । योगेश्वरों की कृपा से ये सब घर में रहते हुए भी सभी प्रकार के द्वन्द्वों से निर्मुक्त थे ।"

इधर-उधर भटकता रहता है। मृत्यु का भय अज्ञान से होता है, जो इस अज्ञान को मेटकर ज्ञान दान देता है, वही सच्चा दानी है। जिस कुल में, जिस वंश में ऐसे ज्ञानी हो गये हैं, वह कुल धन्य है, वह वंश सर्वश्रेष्ठ है। उस वंश में उत्पन्न होने वाले सभी पुरुष पूजनीय हैं, आदरणीय हैं और श्लाघनीय हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं जनकवंशीय राजाओं के वंश का वर्णन कर रहा था, प्रसङ्ग वश महाराज केशिध्वज और खाण्डिक्य का संक्षिप्त आध्यात्मिक सम्वाद मैंने सुनाया; अब आप महाराज केशिध्वज के पुत्र भानुमान् से आगे के राजाओं का वर्णन सुनें। केशिध्वज तनय भानुमान् के पुत्र शतद्युम्न हुए। उनके शुचि, शुचि के सनद्वाज और सनद्वाज के सुत ऊर्ध्वकेतु हुए। ऊर्ध्वकेतु के अज, अज के पुरुजित, उनके अरिष्टनेमि, अरिष्टनेमि के श्रुतायु, श्रुतायु के सुपार्श्वक, सुपार्श्वक के चित्ररथ, उन के क्षेमधि, क्षेमधि के समरथ, समरथ के सत्यरथ, उनके उपगुरु और उपगुरु के उपगुप्त पुत्र हुए जो अग्नि के अंश माने जाते हैं। उपगुप्त के वस्वनन्त और वस्वनन्त के युयुध हुए। युयुध के सुभाषण सुभाषण के श्रुत, श्रुत के जय और जय के विजय पुत्र हुए। विजय के ऋत और ऋत के शुनक हुए। शुनक के सुत वीतहव्य और वीतहव्य के धृति, धृति के बहुलाश्व और बहुलाश्व के कृति नामक महाबली पुत्र हुए। महाराज कृति ही जनक वंश के अंतिम राजा हुए। कृति से आगे जनक वंश समाप्त हो गया।

ये सबके सब राजा जनक कहलाते थे। उपनिषदों में याज्ञवल्क्य और जनक सम्वाद बहुत प्रसिद्ध है। जहाँ भी अध्यात्म संवाद की चर्चा है; वहाँ जनक और दूसरे ज्ञानी मुमुक्षुओं का ही संवाद है। जनक शब्द ही ज्ञानी के लिये व्यवहृत होने लगा है। किसी की प्रशंसा करते हुए या व्यङ्ग करते

हुए लोग कहते हैं—"वे तो जनक ही हो गये हैं। राजर्षि जनक के सम्बन्ध की इतिहास पुराणों में बहुत सी कथायें हैं, उनका निर्णय नहीं किया जा सकता, वे किस जनक की कथायें हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण भाग में एक बड़ी ही ज्ञान पूर्ण कथा है। वह इस प्रकार है।

एक बार महाराज जनक ने एक बड़ा भारी विपुल दक्षिणा-वाला यज्ञ किया। उस यज्ञ में दूर-दूर से बहुत से विद्वान ब्राह्मण एकत्रित हुए। कुरु पाञ्चाल देश के भी बहुत से नामी-नामी शास्त्र पारङ्गत ब्राह्मण आये। उन सब को महाराज ने दान तथा मान से सन्तुष्ट किया। अब राजा को यह जिज्ञासा हुई, कि इन समस्त ब्राह्मणों में से पूर्ण ब्रह्मज्ञानी कौन सा ब्राह्मण हैं। ऐसे वे किस प्रकार कहें, कि आप सब में श्रेष्ठ कौन है। फिर सभी तो अपने को श्रेष्ठ समझते हैं।-इस बात की परीक्षा करनी चाहिये।"

यह सोचकर राजा ने अत्यन्त ही सुन्दर एक सहस्र गौएँ मँगवाईं। वे सबकी सब तरुणी थीं। सब दूध देने वाली थीं। सभी पुष्ट थीं। सभी के सींग सुवर्ण से मढे हुए थे। सभी स्वस्थ और सीधी थीं। उन गौओं को खडी करके राजा ने कहा—"ब्राह्मणों! आप सबमें जो ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन समस्त गौओं को ले जाय।"

इतना सुनते ही समस्त ब्राह्मण एक दूसरे का मुख ताकने लगे किसी का भी साहस न हुआ, कि उन गौओं के समीप जाय। सबको सम्भ्रम तथा असमञ्जस में पडे देखकर महा-मुनि याज्ञवल्क्य ने अपने एक शिष्य ब्रह्मचारी से कहा—"वत्स! इन सब गौओं को अपने आश्रम की ओर हाँक ले चलो।"

शिष्य, सामश्रवा ने अपने सद्गुरु की आज्ञा का पालन

किया। वह समस्त गौओं को हाँकर ले चला। याज्ञवल्क्य के द्वारा गौओं को ले जाते देखकर वहाँ आये हुए समस्त ब्राह्मण परम कुपित हुए। इसमें उन्होंने अपना बड़ा भारी अपमान समझा। उनमें से महाराज जनक के होता अश्वल ने कहा—"याज्ञवल्क्य! क्या हम सबमें एक मात्र तुम ही ब्रह्मज्ञानी हो?"

याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा—"विप्रवर! ब्रह्मनिष्ठ को तो हम प्रणाम करते हैं। हम तो गौओं को ले जाने वाले हैं। इस पर उस सभा में जितने भी विद्वान् बैठे थे, उन सबने भगवान् याज्ञवल्क्य से प्रश्नों की झड़ी लगा दी, पहिले अश्वल ने ही प्रश्न किया। उन सबका याज्ञवल्क्य मुनि ने यथोचित उत्तर दिया। तदनन्तर जरत्कारु आर्तभाग ने प्रश्न किये। फिर क्रमशः लाहयायनि भुज्यु मुनि ने, चक्रायणउषस्त मुनि ने, कोपीतकेय कहोलने वचक्रु की पुत्री ब्रह्मवादिनी गार्गी ने, अरुणि उद्दालक ने तथा शाकल्यविदग्ध ने उनसे प्रश्न पूछे। उन सब प्रश्नों का उत्तर भगवान् याज्ञवल्क्य ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता के साथ दिया महाराज जनक के भी याज्ञवल्क्य से प्रश्नोत्तर हुए। महाराज इनकी ब्रह्म-निष्ठा तथा अध्यात्म ज्ञान को देखकर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने याज्ञवल्क्य को आत्मसमर्पण कर दिया। अपना धन, जन, राज्य तथा सर्वस्व मुनि के चरणों में अर्पित कर दिया। तब से याज्ञवल्क्य जी इस कुल से ज्ञान दाता गुरु हुए।

जिस प्रकार इक्ष्वाकु वंश के कुलगुरु भगवान् वसिष्ठ थे, उसी प्रकार जनक वंश के कुल गुरु गौतम थे। गौतम मुनि के पश्चात् उनके पुत्र शतानंद जनक वंश के सब धार्मिक कृत्य कराते थे। जनकवंशीय राजाओं में एक से एक बढ़कर ज्ञानी और योगी हुए हैं। ये सब के सब निरभिमानी और आत्मविद्या में निपुण होते थे। इनके यहाँ सदा अध्यात्म चर्चा होती थी, उप-

निषदों में कथा है कि किसी राजा के पास जाकर किसी मुनि ने धन माँगा, तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"ब्रह्मन् आपने मुझसे माँग कर बड़ी कृपा की, मुझे भी आपने गौरव दिया। नहीं तो संसार में जनक बड़े दानी हैं, जनक बड़े ज्ञानी हैं, यही सर्वत्र प्रसिद्ध है।" इससे पता चलता है कि अन्य राजा इनके दान की प्रशंसा सुनकर डाह करते थे।

इनके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी कथायें प्रचलित हैं, जिनमें यह सिद्ध किया गया है कि जनक घर में रहते हुए भी कैसे निस्पृह रहते थे। उन कहानियों में से कुछ का उल्लेख हम यहाँ करते हैं।

(१)

एक बार किसी मुनि ने जनक से पूछा—"आप राज्य पाट करते हुए भी विदेह कैसे कहलाते हैं। राज्य के प्रबन्ध में तो बड़ी चिन्तायें रहती हैं किसी को दंड देना पड़ता है। निग्रह करने में द्वेषभाव हो ही जाता है। इतने सबसे विमुक्त कैसे बने रहते हैं?'

महाराज जनक ने कहा—'ब्रह्मन्! आप कुछ काल यहाँ निवास करें, तब मैं इसका उत्तर दूँगा।"

मुनि रहने लगे। राजा ने एक बार कहा—'ब्रह्मन्! क्या आप दुग्ध के भरे कटोरे को लेकर सम्पूर्ण बाजार में घूम सकते हैं?"

मुनि ने कहा—"इसमें कौन सी चतुरता है। कोई भी घूम सकता है?"

राजा ने कहा—इसमें यही सावधानी रखनी होगी, कि एक बूँद भी दूध न गिरने पावे।"

मुनि ने कहा—"न गिरेगा।"

राजा ने कहा - यदि गिर जाय तो ?"

मुनि ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"गिर जाय, तो आप जो उचित समझें दंड दें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है आप कटोरे को लेकर चलें, चार सिपाही खड्ग लेकर आपके पीछे चलेंगे। जहाँ भी एक बूँद दूध गिर जायगा, वहीं आपका सिर धड़ से पृथक् कर दिया जायगा।"

मुनि ने स्वीकार किया। एक कटोरा दुग्ध से लबालब भर दिया गया। वह कटोरा इतना भर गया, कि इसमें कुछ भी भरने को स्थान न रहा। तनिक सी ठेस लगते ही वह छलक पड़े। उसे बड़ी युक्ति से मुनि के हाथ पर रख दिया गया, चार सिपाही आगे चार पीछे नंगी तलवार लिये चले। मुनि ने अपना समस्त ध्यान उस कटोरे में जमा लिया, पैर इतनी बुद्धिमानी से उठाते थे, कि कोई भी अंग हिलने नहीं पता था। वे निरन्तर इस बात का ध्यान रखते थे, कि कटोरा हिलने न पावे। इस प्रकार शनैः शनैः वे सम्पूर्ण राजपथ पर घुमाये गये। एक भी बूँद दूध न गिरा जब वे लौटकर आये तो राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! मेरी नगरी का बाजार कैसा है ? आप तो सर्वत्र घूम आये हैं। इन बाजारों में सर्वश्रेष्ठ कौन सा हाट आप को अच्छा लगा।"

मुनि ने कहा—"राजन! मुझे तो कुछ भी पता नहीं। मैंने तो आपकी दुकानें देखा ही नहीं।"

राजा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"ब्रह्मन! आप कैसी बातें कह रहे हैं। आप अभी सम्पूर्ण बाजार के बीच से होकर आ रहे हैं। आँखें भी आप की खुली थीं। बाजार भी खुला था, फिर आप क्यों नहीं देख सके ?"

मुनि ने कहा—"राजन! केवल निकलने-से ही क्या होता

है, आँखे भले ही खुली रहे, जब तक मन का उनसे सयोग न होगा, तब तक खुली रहने पर भी आँखें नहीं देख सकतीं। मेरा मन तो उस कटोरे के दूध में लगा था। मुझे तो सर्वथा यही ध्यान रहता था, कि इसमे से एक भी बूँद दूध न गिरने पाये। यदि तनिक भी मेरी दृष्टि इधर-उधर होती, तो तुरन्त दूध छलक जाता, अत' बाजार मे होकर जाने पर भी मैं उसके रस का आस्वादन न कर सका, उसके सौन्दर्य को न निहार सका।"

इस पर राजा बोले—"ब्रह्मन ! इसी प्रकार मैं भी राज्य का उपभोग करते हुए, उन विषयो मे आसक्त नहीं होता। व्यवहार मे शरीर के फँसे रहने पर भी मन सदा परमार्थ में लगा रहता है। मैं सदा इस बात का ध्यान रखता हूँ, कि मेरा मन विषयो मे न फँसे।" यह सुनकर मुनि प्रसन्न हुए और राजा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके इच्छानुसार अन्यत्र चले गये। इसी प्रकार की एक और भी कथा है।

(२)

किसी मुनि ने आकर जनक जी से पूछा—"राजन् ! इन ससारी विषयो में तो बड़ा आकर्षण है। इनके स्मरण से ही मन पागल हो जाता है। फिर आप के यहाँ तो एक से एक सुन्दरी रानियाँ है। उनका एकान्त मे आप सग भी करते हैं, फिर भी उन मे आप आसक्त क्यो नही होते ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन ! आप भोजन कर लें, तब प्रश्नोत्तर होगे ?"

मुनि ने यह बात स्वीकार की। आज राजा ने अपने पाचको से कहकर बडे सुन्दर-सुन्दर पदार्थ बनवाये। ५६ प्रकार के भोग तैयार कराये। सुवर्ण के थालो मे उन्हें सजाया गया। मुनि के लिये सुन्दर आसन बिछाया गया। मुनि उस आसन पर बैठ गये,

परसे हुए थाल लाये गये, उन्होंने ऊपर देखा, सिर के ऊपर कच्चे धागे में एक तलवार लटक रही है। मुनि को मन ही मन बड़ा भय लगा, किन्तु संकोच वश कुछ बोले नहीं। शीघ्रता से भोजन करने लगे। उनका ध्यान तो तलवार की ओर लगा था। राजा बार-बार आग्रह कर रहे थे। "महाराज! यह वस्तु लें, वह लें, मुनि हाँ हूँ कर देते, जैसे तैसे वे भोजन करके उठ पड़े। राजा ने स्वयं हाथ धुलाये और पूछा—"ब्रह्मन्। अमुक साक कैसा बना था, खीर में मीठा कम तो नहीं था?"

मुनि ने कहा—"राजन्! सत्य बात तो यह है, कि मुझे तो पता ही न चला, मैंने क्या खाया है?"

राजा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"महाराज! षड्रस युक्त सुन्दर-सुन्दर व्यंजन थे, उनका आपके जिह्वा के साथ संसर्ग भी हुआ, फिर भी आपको उनके स्वाद का भान नहीं हुआ, यह कैसी बात है।"

मुनि ने कहा—"भान तो तब होता जब मेरा मन उन स्वादिष्ट पदार्थों में आसक्त होता। मेरा मन तो ऊपर लटकती हुई तलवार में फँसा था, इसलिये खाता तो गया, किन्तु उनके स्वाद का पता नहीं चला।"

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! यही दशा मेरी है। मेरा मन तो सदा परब्रह्म में फँसा रहता है। ऊपर से इन संसारिक विषयों का उपभोग करता हूँ। इसीलिए मैं इनसे सर्वथा निस्संग बना रहता हूँ, मेरी इनमें आसक्ति नहीं। इन्द्रियाँ इन्द्रियों में वर्त रही हैं।" यह सुनकर मुनि प्रसन्न होकर चले गये। ऐसी ही एक दूसरी कथा है।

(३)

कोई ऋषि थे, वे अपने शिष्य को समझा रहे थे, कि मन ही

बन्धन और मोक्ष का कारण है, यदि मन विषयों में फँसा है, तो चाहें कितने भी घोर वन में चले जाओ, वहाँ भी बन्धन है और यदि मन विशुद्ध है, तो विषयों के बीच में रहते हुए भी कोई बन्धन नहीं, राजा जनक राज्य पाट करते हुए भी विदेह हैं।"

शिष्य ने पूछा—"गुरुदेव! इन विदेह राजा की सभी प्रशंसा करते हैं, इनमें ऐसी क्या विशेषता है? क्यों बड़े बड़े ज्ञानी पुरुष विदेह का ही दृष्टान्त देते हैं?"

गुरु ने कहा—'उनमें यही विशेषता है, कि उनका मन विषयों में रहते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता। तुम जाकर इस विषय को उनसे ही पूछो, चलो मैं भी चलता हूँ।'

यह कहकर गुरु शिष्य को संग लेकर मिथिलापुरी में गये। उस समय राजा अन्तःपुर में थे। योग दृष्टि से उन्हें गुरु शिष्य के आगमन का पता लग गया था। वे एकान्त में अपनी पटरानी के सहित शैया पर शयन कर रहे थे। गुरु बाहर ही खड़े रहे। शिष्य को अन्तःपुर में भेजा, वहाँ एक से एक सुन्दरी स्त्रियाँ इधर से उधर छम्म-छम्म करती हुई घूम रही थीं। शिष्य को बड़ा संकोच हुआ। उन्हें भय भी लगा मेरा मन चंचल न हो जाय, अतः उन्होंने सिर नीचा किये ही किये राजा का पता पूछा—"सुन्दरी स्त्रियों ने बड़े आदर से कहा—"ब्रह्मन्! महाराज अन्तःपुर में हैं, आपके लिये तो कोई रोक टोक है ही नहीं आप भीतर चले जायँ। शिष्य यह सुनकर भीतर गये। राजा को रानी के साथ शैया पर देखकर शिष्य के मन में बड़ी घृणा हुई। राजा का एक हाथ पलंग के नीचे लटक रहा था, एक महारानी के वक्षःस्थल पर रखा हुआ था। शिष्य तुरन्त ही लौट आया और आकर गुरु से बोला—"भगवन्! आपने कैसे विषयी के समीप मुझे भेजा? वह तो सर्वथा विषयासक्त ही नहीं निर्लज्ज भी है।

मुझे देखकर उठा भी नहीं। वह भला मुझे क्या उपदेश देगा।" गुरु ने कहा—"अच्छी बात है मेरे साथ चलो।" यह कहकर गुरु शिष्य को लेकर पुनः अन्त.पुर मे गये। राजा का जो हाथ पलग से नीचे लटक रहा था, उसके ऊपर उन्होंने एक जलता हुआ अगार रख दिया। राजा के मुख मडल पर उस अगार से कोई भी विकार नही हुआ, जैसे महारानी के वक्षःस्थल पर हाथ रखे थे वैसे ही हाथ पर अग्नि को रखे रहे। तब गुरु ने कहा—"जनक की यही विशेषता है। इनके लिये कामिनी का कमनीय अग तथा अगार इसमे कोई अन्तर नहीं। सर्प और हार मे मिट्टी और सुवर्ण में इन्हे कुछ भी भेद नही। इनका मन सदा परब्रह्म मे लीन रहता है। शरीर से अनासक्त होकर ये सब कार्य करते हैं।" गुरु की ऐसी बात सुनकर शिष्य का भ्रम दूर हुआ। उन दोनों ने महाराज जनक का अभिनन्दन किया। जनक ने भी उनका सत्कार किया। ऐसी ही एक और कथा है।

(४)

किसी मुनि ने आकर कहा—"विषय समीप रहने से उनमे ममत्व हो ही जाता है। विषयों के त्याग से ममत्व छूट जाता है। अतः आप इन विषयों को छोडकर वन मे वास क्यो नहीं करते। राज्य की इन वस्तुओं मे आपको कुछ न कुछ आसक्ति तो होगी ही।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन! आप कुछ दिन मेरे यहाँ निवास करें, तब आपको स्वतः ही पता चल जायगा।" राजा की बात मानकर मुनि राजा के समीप ही रहने लगे। मुनि के पास बहुत सग्रह तो था नहीं। चार लँगोटी, दड, कमडल, कथा, मृगचर्म और एक दो पुस्तकें इतनी ही वस्तुएँ थीं। समीप के एक भवन में

ये सब वस्तुएँ रखी थीं। उन सब वस्तुओं को रखकर वे सभा में जाते, वहाँ भाँति-भाँति की ज्ञान चर्चा सुनते। बहुत से व्याख्या करने वाले सूत्रों की व्याख्या करते, निरन्तर आध्यात्मिक चर्चा होती रहती। एक दिन राजा ने अपने योग प्रभाव से महल में आग लगा दी। धू धू करके महल जलने लगा। सब इधर-उधर हाय-हाय करके भागने दौड़ने लगे। सर्वत्र कोलाहल मच गया। वे मुनि भी वहीं बैठे थे, उन्होंने देखा जिस भवन में मैं ठहरा हूँ, आग तो उसके समीप के ही भवन में लग रही है। तुरन्त उन्हें ध्यान हुआ—"कहीं मेरे दण्ड कमण्डल तथा लँगोटी कंथा आदि न जल जायँ।" वे दौड़े गये और उन वस्तुओं को निकालकर बाहर लाये। इतने में ही आग बुझ गई।

हँसते हुए राजा मुनि के समीप आये और बोले—"ब्रह्मन्! सभी लोग आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करते हैं। राजा को हाथी घोड़ा, रथ, सैनिक, धन आदि की आवश्यकता है, इसलिए वह इनका संग्रह करता है और साधु को दंड, कमंडल, कोपीन कंथा तथा मृगचर्म में आसक्ति है। आसक्ति तो दोनों की बराबर ही है संग्रही दोनों ही हैं, यदि संग्रह करके भी उसमें आसक्ति न हो तो चाहे वन में रहें या घर में दोनों ही उसके लिए समान हैं। यद्यपि मैं राज्य करता हूँ, फिर भी चाहें सम्पूर्ण मिथिलापुरी जल जाय, मुझे इसकी तनिक भी चिंता न होगी, देखिये मेरे सामने मेरे महल जलते रहे, मैं तो चुपचाप बैठा रहा, किन्तु आप तो अपने दंड कमंडल की ही रक्षा के लिए व्यग्र हो गये और भागकर उनकी रक्षा में प्रवृत्त हो गये। अब आप ही बताइये, कि आपका संग्रह बन्धन का हेतु है या मेरा?" यह सुनकर मुनि लज्जित हुए और बोले—"राजन्! आप ही यथार्थ त्यागी हैं।" ऐसा कहकर और राजा के प्रति सत्कार प्रदर्शित

करके मुनि चले गये। इसी प्रकार एक ब्राह्मण के साथ भी महाराज जनक का सम्वाद हुआ।

एक बार किसी अपराधी ब्राह्मण को राजा जनक ने दंड दिया और कहा—"तुमने ऐसा अपराध किया है, कि तुम मेरे राज्य में रहने योग्य नहीं हो। अभी मेरे राज्य से निकल जाओ।"

राजा के वचन सुनकर ब्राह्मण ने राजा से पूछा—"राजन्! आप मुझसे वही विषय कहें, जो आपके वशवर्ती हो। आप कहते हैं, मेरे राज्य से निकल जाओ; तो कितना राज्य आपका है, जिसे छोड़कर मैं दूसरे के राज्य में चला जाऊँ।"

ब्राह्मण के ऐसे गूढ़ प्रश्न को सुनकर राजा चिंता में पड़ गये। वे कुछ देर सोचते रहे। वे सोचकर बोले—"विप्रवर! मेरा क्या है, इस बात पर मैंने बहुत विचार किया। यह राज्य, पाट, धन, जन, स्त्री, परिवार तथा अन्य विषय क्या मेरे हैं। बहुत विचारने पर भी मैं इसका निर्णय न कर सका। अन्त में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा, कि या तो कोई भी विषय मेरे नहीं हैं, या संसार के समस्त विषय मेरे ही हैं।"

हँसकर ब्राह्मण ने पूछा—"आपके ही हैं या और किसी के भी?"

राजा ने कहा—"नहीं, ब्रह्मन्! जैसे मेरे हैं वैसे ही दूसरे के भी।"

ब्राह्मण ने कहा—"जब सबके ही हैं, तो फिर आप यह कैसे कहते हैं; मेरे राज्य से निकल जाओ। अन्यत्र चले जाओ।"

राजा बोले—"हाँ, भगवन्! यह मेरी भूल हुई, आप स्वेच्छा-पूर्वक जहाँ चाहें रहें।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! यह राज्य तो आपकी पैतृक सम्पत्ति है। इस पर वंश परम्परा के अनुसार आपका अधिकार है। फिर

आप इसे अपना क्यों नहीं मान रहे हैं। क्या समझकर आपने इस पर से अपनी ममता हटा ली है ?"

राजा जनक ने कहा—"ब्राह्मण ! चाहे मनुष्य अपने को धनी समझे या निर्धन, बली समझे या निर्बल, कुलीन, समझे या अकुलीन, सुरूप समझे या कुरूप, जितनी भी अवस्थायें हैं, सभी नाशवान हैं। जब सभी नाशवान हैं, तब इन्हें अपनी समझना मूर्खता है, इसीलिए मेरी किसी भी विषय में ममता नहीं। ममता वश ही मनुष्य समझता है, यह मेरी वस्तु है, यह दूसरे की। ममता न हो, सम्पूर्ण भूतों में उसी आत्मा को समझे तथा आत्मा में ही सबको समझे तो फिर मनुष्य, मैं मेरे के चक्कर में क्यों फँसेगा ?"

इस पर ब्राह्मण ने कहा—"अच्छा, यह तो ठीक है, किन्तु आपने कहा—"समस्त विषय मेरे हैं और जिस प्रकार मेरे हैं, उसी प्रकार दूसरे के भी हैं, सो किस प्रकार ?"

राजा ने कहा—"देखिये ब्राह्मण ! शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जितने भी ये इन्द्रियों के विषय हैं, उन सबका संयोग मेरी इन्द्रियों के साथ होता है, किन्तु इन्हें मैं अपने लिये नहीं चाहता। इन पर मैंने विजय प्राप्त कर ली है। मेरे द्वारा निर्जित विषय और इन्द्रियाँ मेरे अधीन हैं। मैं जो भी कुछ करता हूँ, अपने निमित्त नहीं करता। जितने द्रव्य एकत्रित करता हूँ देवताओं के लिये, पितरों के लिये, अतिथि अभ्यागतों के लिये, प्रजाजनों के लिये, तथा समस्त प्राणियों के लिये करता हूँ। इसलिये सभी विषय मेरे हैं। आप जहाँ भी रहेंगे, मेरे ही राज्य में रहेंगे। अतः अब मेरा आग्रह नहीं है, कि आप अमुक स्थान को छोड़कर अमुक स्थान में चले जायँ। आपकी जहाँ इच्छा हो वहीं रहें।"

यह सुनकर ब्राह्मण खिल-खिलाकर हँस पड़ा और बोला—

"राजन ! जैसी मैंने आपकी प्रशंसा सुनी थी, आप वैसे ही निकले। मैं वास्तव में ब्राह्मण नहीं, साक्षात् धर्मराज हूँ। मैं यहाँ ब्राह्मण का वेष बनाकर आपकी परीक्षा लेने ही आया था। आप ही एक ऐसे हैं, जो ममता से रहित ज्ञानरूपी प्रवृत्ति का अस्तित्व बनाये हुए हैं।" इतना कह कर धर्मराज वहीं अन्तर्धान हो गये।

सूतजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार एक नहीं अनेकों कथायें विदेह राजा के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। राजाओं के सम्बन्ध की ही नहीं विदेहराज की रानियों के सम्बन्ध की भी ऐसी ही कथाएँ हैं। कोई विदेह राजा सन्यासी बन गये थे, इस पर उनकी रानी ही उन्हें उपदेश देकर लौटा कर घर लाई थीं।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी ! इस प्रसंग को भी हमें सुनाइये। इन कथाओं के श्रवण करने में हमारा बड़ा मन लगता है। इनसे बड़ा बोध होता है।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! सुनिये मैं इस प्रसङ्ग को भी संक्षेप में सुनाता हूँ।

एक बार महाराज जनक को राज-पाट से महान वैराग्य हुआ। वे घर-द्वार राज-परिवार सभी को छोड़ छाड़कर वन में चले गये। उन्होंने सोचा—"मैं राज्य के प्रपंच में फँसकर क्या करूँगा। मूड मुड़ाकर भिक्षोपजीवी बनकर अपना शेष जीवन त्यागमय बिता दूँगा।" यही सोचकर वे वन चले गये। वहाँ निःसंग होकर एकान्त में कुटी बनाकर रहने लगे और मुट्ठी भर भुने जव खाकर निर्वाह करने लगे। इससे सभी प्रजा के लोग दुखित हुए। किसी का साहस राजा से कुछ कहने का नहीं हुआ। यह देखकर राजा की परम बुद्धिमती राजमहिषी राजा के समीप गई और निर्भय होकर कहने लगी—"राजन् ! आप यह क्या खेल कर रहे हैं ?"

राजा ने कहा—"त्याग के बिना विषयासक्ति नहीं छूटती। विषयासक्ति बिना छूटे ज्ञान नहीं होता। बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं। इसलिए मैंने सबका त्याग कर दिया है।"

रानी ने पूछा—"आपने त्याग किस वस्तु का किया है?"

राजा ने कहा—"मैंने सग का त्याग किया है। राज्य, धन, ऐश्वर्य का त्याग किया है?"

रानी ने कहा—"राज्य की समस्त वस्तुएँ पंच भूतात्मक है। क्या आप पृथ्वी पर अब नहीं रहते। महल और झोपडी मे अतर ही क्या है? क्या आपने जल का त्याग कर दिया है? क्या यहाँ आप स्वास नहीं लेते, वायु नहीं पान करते? क्या आपने प्रकाश को छोड दिया? यहाँ आप आकाश के नीचे नहीं रहते? जब पाँचो भूत जैसे वहाँ थे, वैसे यहाँ हैं, तब इनमे त्याग किस वस्तु का किया है? वहाँ आपके आस-पास मत्री पुरोहित सैनिक तथा सेवक आदि रहते थे, यहाँ पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग रहते हैं। इससे सग का भी परित्याग नहीं हुआ।"

राजा ने कहा—"मैंने परिग्रह का तो त्याग कर ही दिया है?"

रानी ने कहा—"परिग्रह का त्याग कहाँ किया? मध्याह्न काल में भूख लगने पर एक मुट्ठी भुने जव के लिये तुम्हे नगर की ओर दोडना ही पडता है, उसकी चिता रहती ही है। पहिले जहाँ आप देते थे वहाँ अब स्वय याचक बन गये हैं। पहिले आप राज्य का पालन करते थे, उसकी देख रेख रखते थे, अब आप दड, कमण्डल, कथा और कौपीन की देख रेख रखते हो। तुम्हारी इन आवश्यक वस्तुओ को कोई नष्ट कर दे, तो तुम्हे दु.ख होगा ही। फिर राज्य त्याग से लाभ क्या हुआ? ममता ही बन्धन का कारण है। यदि आपको ममता छूट जाय, तो आप जहाँ भी रहें वहीं त्यागी हैं। यदि ममता नहीं छूटी देखा देखी

काषाय वस्त्र, दंड, कमण्डल धारण कर लिए तो यह तो ढोंग है, दंभ है, छल है, अपने आपको ठगना है। राजन्! आप आलसी लोगों की भाँति अकर्मण्य न बनें। अकर्मण्य हाथी को भी चींटियाँ खा जाती है। मूर्ख लोग ही कर्म छोड़कर झूठा वेष बना कर बाबाजी बन जाते हैं और आलस्य मे अपना सम्पूर्ण समय बिताते हैं। आपको यह शोभा नहीं देता। जैसे आप सहस्रों का देकर खाते थे, वैसे खाइये। प्रजापालन रूप कर्म को कर्तव्य बुद्धि से कीजिये। देवता, पितर तथा अतिथियों को सन्तुष्ट कीजिये। फल की इच्छा न रखकर निष्काम भाव से कर्म करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपनी राजमहिषी के ये वचन सुनकर राजा का मोह दूर हुआ। उन्होंने संन्यासी बनने का विचार छोड़ दिया और वे घर मे आकर निष्काम भाव से सभी राज्य कार्यों को करने लगे। सो महाराज जिस प्रकार जनक वंशीय राजा ज्ञानी थे, उसी प्रकार उनकी रानियाँ भी अध्यात्म विद्या मे निष्णात थीं। महाराज जनक मुनियों के माननीय थे। यहाँ तक कि समस्त मुनियों के गुरु भगवान् शुकदेवजी ने भी उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। मुनियो! इस प्रकार जनक मेरे गुरु के भी गुरु अर्थात् बाबागुरु थे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्री शुकदेव जी ने जनकजी को गुरु कैसे बनाया और जनकजी ने उन्हे कैसा उपदेश दिया। कृपा करके इस उपाख्यान को आप हमें सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! जिस प्रकार मेरे गुरुदेव राजर्षि जनक के यहाँ शिक्षा लेने गये और जनकजी ने उन्हे जैसे उपदेश दिया, इस प्रसङ्ग को मैं संक्षेप मे सुनाता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

सूतजी मुनियों को जनक-शुक संवाद सुना रहे हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव भगवान् शुक जन्म से ही विरक्त तथा सर्व शास्त्रों के ज्ञाता थे। उनको गृहस्थाश्रम आदि प्रवृत्ति मार्ग के कार्य अच्छे नहीं लगते थे। उन्होंने देवगुरु बृहस्पति जी से भी समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया था। जब समस्त शास्त्रों में पारगत हो गये, तो एक दिन उन्होंने अपने पिता भगवान व्यासजी से पूछा—"भगवन्! आप मोक्षधर्म के ज्ञाता है, कृपा करके मुझे मोक्षधर्म का उपदेश दें।"

व्यासजी यह सुनकर परम प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने सोचा—"अपना पुत्र अपने से नहीं पढता, उसे पढाने के लिए दूसरे अध्यापक के निकट भेजना पडता है। हम इसे बतायेंगे, तो इसकी श्रद्धा न होगी। बिना श्रद्धा के फल नहीं होता। अतः इसे परमज्ञानी विदेह महाराज जनक के समीप भेजना चाहिये।" यह सोचकर वे बोले—"वत्स! इस प्रश्न का मैं उत्तर नहीं दे सकता। तुम महाराज विदेह जनक के समीप जाओ। वे तुम्हारे सभी संशयों का छेदन करेंगे।"

श्री शुकदेवजी ने कहा—"पिताजी आप ही मुझे उपदेश क्यों नहीं देते?"

व्यासजी ने कहा—'वत्स! वे ही इस विद्या में पारगत है। बड़े-बड़े ऋषि मुनि उनके ही समीप इस विद्या को जानने के निमित्त जाते हैं। तुम शीघ्र उनके समीप जाओ।"

श्रीशुक बोले—"पिताजी मैं योग द्वारा आकाश मार्ग से क्षण भर में मिथिला पहुँच सकता हूँ।"

व्यासजी ने कहा—"न भया! ज्ञान सीखने के लिए निरभिमान होकर जाना चाहिए। मोक्षधर्म के जिज्ञासु को साधारण भाव से गुरु के समीप जाना चाहिए। तुम पैदल ही महाराज

के समीप जाओ। वहाँ जाकर तुम अपने इष्ट मित्रों की खोज न करना, महाराज जो भी कहें उसे मानना, उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट मत करना और उनसे मान की भी अभिलाषा न रखना।"

पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके सम्याप्रास से श्री शुकदेव मिथिलापुरी के लिये चले। वे बद्रीनाथ से विष्णुप्रयाग, नंद प्रयाग, देवप्रयाग तथा ऋषिकेश वाले मार्ग से नहीं गये। कलाप ग्राम से वे सरस्वती नदी के किनारे-किनारे ऊपर चढ़े। काकभुसुंड पर्वत की चोटी के समीप से नीचे हूणदेश (तिब्बत) में आये। मेरुवर्ष से होकर वे मानसरोवर कैलाश होकर अलमोड़ा के रास्ते से नीचे उतरे, फिर सरयू के किनारे-किनारे गंगाजी के किनारे आये; वहाँ से मिथिलापुरी में पहुँचे। मार्ग में उन्हें हूणिया तथा चीनी जाति के बहुत से नगर मिले। सबने दिगम्बर शुक का सत्कार किया। विदेह राज्य को देखकर शुकदेवजी परम प्रमुदित हुए। वह देश धन धान्य से भरा पूरा था। वहाँ की भूमि उपजाऊ थी, हरे हरे धानों के खेत खड़े थे। उस समृद्धिशाली देश को देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। मिथिलापुरी में एक-से एक अद्भुत वस्तु थी। वहाँ के वन उपवन परम रमणीक थे। नगर नाना प्रकार से सजाया गया था। किन्तु शुकदेवजी ने उन सब वस्तुओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। वे इन सबकी ओर बिना ध्यान दिये मिथिलापुरी के नगर के द्वार पर पहुँचे। वे नगर के द्वार से प्रवेश कर ही रहे थे, कि द्वारपाल ने उन्हें भीतर जाने ही नहीं दिया। यह शुकदेवजी का महान् अपमान था, किन्तु वे सच्चे जिज्ञासु थे। आजकल तो कोई साधु दर्शन को जाते हैं और यदि साधु भजन पूजन में हो, कुछ देर बैठना पड़े, तो बड़े क्रुद्ध होते हैं। खरी खोटी सुनाते हैं और क्रुद्ध होकर लौट भी जाते हैं। शुकदेवजी ने ऐसा नहीं किया; वे शान्त भाव से द्वार पर

खड़े रहे। जब राजाज्ञा प्राप्त हो गई, तब द्वारपाल ने उन्हें भीतर जाने दिया। नगर में प्रवेश करके शुकदेवजी राजमहल की ओर चले महल के द्वार की प्रथम ड्योढ़ी से वे ज्यों ही घुसे त्यों ही द्वारपाल ने डांटकर उनसे कहा—"आप बिना पूछे नगे धड़ंगे भीतर कहाँ जा रहे हैं ?"

शुकदेवजी ने कहा—"मुझे महाराज जनक से मिलना है। उन्हीं के समीप जा रहा हूँ।"

द्वारपाल ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"राजा से ऐसे मिला जाता है। अभी भीतर जाने का समय नहीं है।"

यह सुनकर शुकदेवजी तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए। वे चुपचाप खड़े रहे। वे धूप में ही बैठकर आत्म चिन्तन कर रहे थे। इतने ही में मन्त्री आया, वह उन्हें सत्कार पूर्वक दूसरी ड्योढ़ी पर ले गया। इस सत्कार से भी शुकदेवजी को कोई हर्ष नहीं हुआ। वे चुपचाप मन्त्री के पीछे-पीछे चले गये।"

द्वितीय ड्योढ़ी में एक अत्यन्त ही सुन्दर अतिथिशाला थी। जिसमें राज्य के अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति ही ठहराये जाते थे। वे भवन भली भाँति सजाये गये थे। स्थान-स्थान पर सुन्दर स्वच्छ, शीतल सलिल वाले सुहावने सरोवर थे। जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिल रहे थे। वहाँ की भूमि बड़ी ही सुहावनी थी। वहाँ अत्यन्त सुन्दर ५० युवती स्त्रियाँ सजी-धजी उपस्थित थीं। श्री शुकदेवजी को देखकर वे सबकी सब उठकर खड़ी हो गईं। उन्होंने भगवान् व्यासनन्दन का स्वागत सत्कार किया। पाद्य, अर्घ्य, आसन देकर उनकी पूजा की। सुन्दर सलिल से उनको स्नान कराया। वे बहुत दूर से चलकर आ रहे थे। उनका श्रम विविध उपायों से दूर किया। बड़े रसयुक्त सुन्दर पदार्थ भोजन के लिए उनके सम्मुख उपस्थित किये। बड़े प्रेम से आग्रह पूर्वक

उन्हें भोजन कराया। भोजन करके श्रीशुक विश्राम करने लगे। ये युवतियाँ गाने बजाने तथा नृत्य आदि में बड़ी प्रवीण थीं। वे भाँति-भाँति के शृङ्गार रस के गाने गाती रहीं। हाव भाव कटाक्ष प्रदर्शित करके नृत्य करती रहीं, किन्तु फिर भी शुकदेवजी के मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ। वे शान्त भाव से स्थिर बैठे हुए ब्रह्म चिन्तन करते रहे। अर्ध-रात्रि तक वे ध्यान मग्न रहे, पुनः उन्होंने शास्त्रीय विधि से शयन किया। इस प्रकार एक दिन और एक रात्रि श्रीशुक उस विलास वैभव पूर्ण स्थान में निर्विकार भाव से रहे।

दूसरे दिन मिथिलेश अपने मंत्री पुरोहित और रानियों को साथ लेकर शुकदेवजी के समीप आये। उन्होंने आकर शास्त्रीय विधि से मुनि की पूजा की। सुन्दर सर्वतोभद्र आसन पर उन्हें बिठाया गा दान करके कुशल पूछी। पूजा कर चुकने के अनन्तर जब मुनि ने आज्ञा दी तो राजा हाथ जोड़े हुए बैठे। तब राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपका पधारना किसी विशेष कारण से हुआ हो तो उसे मुझे बतावें।"

राजा के प्रश्न को सुनकर मुनि बोले—"राजन्! मेरे पिता ने मुझे आपके समीप प्रवृत्ति निवृत्ति विषयक समस्त सन्देहों को दूर करने भेजा है। उन्होंने मुझसे कहा था—"जनकजी मेरे यजमान हैं। वे मोक्षधर्म के ज्ञाता हैं, सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी हैं। उनसे जाकर मेरी ओर से कुशल पूछना और अपने संशयों को उनके समीप प्रकट करना। वे तेरे समस्त संशयों का छेदन कर देंगे।"

राजा ने विनय के साथ कहा—"ब्रह्मन्! मैंने तो जो भी कुछ सीखा है, आपके पूज्य पितृदेव भगवान् व्यास से ही सीखा है। उन्होंने किसी विशेष प्रयोजन से आपको मेरे समीप भेजा है। अच्छी बात है पूछिये आपको क्या पूछना है?"

श्रीशुक बोले—"राजन्! यह बताइये इस लोक में ज्ञान की इच्छा वाले मुमुक्षु का क्या कर्तव्य है? मोक्ष का स्वरूप क्या है? मोक्ष प्राप्ति का साधन तप है या ज्ञान?"

यह सुनकर गम्भीरता पूर्वक राजा बोले—"ब्रह्मन्! आपके प्रश्न तो बहुत गूढ़ है, फिर भी मैं यथामति इनका उत्तर दूँगा। भगवन्! मोक्ष की इच्छा रखने वाला का जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पारमार्थिक कर्म करते रहना चाहिए। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाना चाहिए। ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में, गृहस्थ से वानप्रस्थ में और वानप्रस्थ से सन्यासाश्रम में जाना चाहिए।"

श्री शुकदेवजी ने पूछा—"राजन्! किसी का जन्म से ज्ञान हो गया हो, तो क्या उसे फिर भी ब्रह्मचर्य से गृहस्थ और गृहस्थ से वानप्रस्थ और सन्यास को धारण करना आवश्यक है?"

जनक ने कहा—'ब्रह्मन्! मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान विज्ञान के बिना नहीं होती। ज्ञान की प्राप्ति बिना गुरु सम्बन्ध के नहीं हो सकती। गुरु ही इस संसार सागर से पार पहुँचाने वाले हैं। ज्ञान ही सुदृढ नौका है। कर्णधार का काम गुरुदेव ही करते हैं। परम्परा अक्षुण्य बनी रहे, अतः ज्ञानी भी चारों आश्रमों का पालन करते हैं। जिसका मन शुद्ध हो गया है, जो जीवन्मुक्ति के आनन्द का अनुभव कर चुका है उसे तीनों आश्रमों की आवश्यकता नहीं। वह तो परमहंस रूप में स्वेच्छानुसार विचरण कर सकता है क्योंकि उसके मन में कोई कामना ही नहीं। प्रवृत्ति मार्ग तो कामनाओं को मेटने के लिए विषयों से विरक्त होने के निमित्त है। क्रम मार्ग का कथन है, ज्ञानी के लिए कोई क्रम नहीं। आप तो परम ज्ञानी हैं। जैसे अंधकारमय गृह दीपक से प्रकाशित होता है, वैसे ही बुद्धि रूप दीपक से आत्मा का साक्षात्कार होता है। आपको तो मेरे भी गुरु भगवान व्यास की कृपा से सभी विषयों

का ज्ञान हो गया है। इसीलिए आपका मन विषय वासना से रहित हो गया है। मुझे भी आपके पूज्य पिता के ही उपदेश से आत्मसाक्षात्कार हुआ है। मैंने परीक्षा करके आपको देख लिया। योग दृष्टि से मैं पहिले से ही जान गया था, कि आप आ रहे हैं, इसीलिये आपकी परीक्षा के निमित्त मैंने ये ढोंग रचे। आप परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। आपको अपने ज्ञान की थाह नहीं। आप जितना अपने को समझ रहे हैं, उससे कहीं अधिक आप ज्ञानी हैं। संशयवान पुरुष को ज्ञान भले ही हो जाय, किन्तु उसको मोक्ष नहीं हो सकता। शुद्ध उद्योग के द्वारा तथा गुरु के उपदेश को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करने से ही सभी संशय दूर हो जाते हैं, सभी बन्धन खुल जाते हैं। आप मोक्ष विद्या के अधिकारी हैं। आपको विषयों में स्वाभाविक रुचि नहीं। तुम्हारी सब में समदृष्टि है। तुम सुवर्ण और पत्थर को समान समझते हो। ब्राह्मणत्व का जो फल है तथा मोक्ष का जो स्वरूप है, वह तो तुम्हें प्राप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त और आप क्या जानना चाहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव ज्ञानी तो जन्म के ही थे, जनक जी के वचनों से उन्हें मोक्ष-प्राप्ति का दृढ़ निश्चय हो गया। वे राजा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके यथेच्छ स्थान को चले गये। इस प्रकार महाराज जनक मेरे बाबा गुरु हैं। मेरे गुरु ने उनसे शिक्षा प्राप्त की थी। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में जनक वंश के मुख्य-मुख्य राजाओं की कुछ कथायें कहीं। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने महाराज इक्ष्वाकु के विकुक्षि निमि और दण्डक ये तीन सबसे बड़े पुत्र बताये थे, उनमें

से विकुक्षि और निमि के वश की कथा तो आपने सुनाई, अब महाराज दंडक के वंश की कथा और सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो! महाराज दंडक का तो वंश चला ही नहीं। वह तो शुक्राचार्य के शाप से सकुटुम्ब सपरिवार राज्य कोष तथा प्रजा के सहित भस्म हो गया। उसका सम्पूर्ण राज्य नष्ट हो गया। उसका राज्य वालुका मय बन गया।"

यह सुनकर आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् शुक्राचार्य ने महाराज दडक को ऐसा घोर शाप क्यों दिया? क्यों उसके सम्पूर्ण राज्य को भस्म कर दिया? राजा ने ऐसा कौन सा घोर पाप किया था? कृपा करके इस कथा को हमे सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! इस कथा को सुनाकर अब फिर मैं उस शुभ्र चन्द्र-वंश का वर्णन करूँगा। जिसमें कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द प्रकट हुए।"

छप्पय

जनक वंशको विमल चरित अति सुखद सुनायो।
तिहि जगमहँ यश ज्ञान दानदै विपुल कमायो॥
प्रकटी आद्या शक्ति अमर कुल भयो भुवनमहँ।
करन जीव कल्यान फिरीं प्रभुसग वन वन महँ॥
यों विकुक्षि निमि वश की, कही कथा अति सुखमयी।
दडक तीसर तनय की, सुनहु कथा अब दुखमयी॥

महाराज दण्डक की कथा

(७१७)

क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः ।
तस्य पुत्रशतज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ६ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

सुत इक्ष्वाकु तृतीय गयो दण्डक वनमाँही ।
शुक्रसुता लखि भई विकलता अति मनमाँही ॥
अनुचित करि प्रस्ताव कुपित कन्या तिनि कीन्हीं ।
भये काम वश शिखा पकरि कन्या की लीन्हीं ॥
गुरु की कन्या द्विजसुता, विरजा संगमतैं रहित ।
बुद्धि, भ्रष्ट नृप की भई, करि अनुचित कीयो अहित ॥

मनुष्य जब काम-वश हो जाता है, तो अपना हित अनहित कुछ भी नहीं सोचता । जिस पर आसक्ति हो जाती है, उसे पाने का प्रयत्न पुरुष प्राणों का पण लगाकर करता है । पतंग का दीपक की लोय से कोई कल्याण थोड़े ही होता है, किन्तु उसको इसमें आसक्ति है । प्राणों का मोह छोड़कर उसका आलिंगन करता है और अपने आपको भस्म कर देता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! मनुजी के छींकने पर उनकी नासिका से इक्ष्वाकु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । उसके १० पुत्र हुए, उनमें विकुक्षि निमि और दंडक ये तीन सबसे बड़े प्रधान पुत्र थे ।"

है। इस घटना से दूसरे पतंगे लाभ उठाते हों, सचेत हो जाते हों, सो बात नहीं। जो भी दिये की लोय के सम्मुख आता है, वही उसे आलिंगन करने दौड़ता है। काम के वश होकर किस कामी ने सुख पाया? रावण काम के अधीन होकर सीताजी को हर ले गया, इसके फलस्वरूप वह कुल सहित नष्ट हो गया। इन्द्र ने काम वश होकर अनुचित कार्य किया, जिससे उसका पद अस्थाई हो गया, शरीर विकृत बन गई, न जाने क्या दुर्दशा हुई। नहुष काम वश होकर स्वर्ग के साम्राज्य से च्युत होकर सर्प बन गया। चन्द्र काम वश होकर कुष्टि हुआ। ब्रह्माजी को काम-वश हरिन बनना पड़ा। शिवजी को लाज छोड़कर मोहनी के पीछे दौड़ना पड़ा, विष्णु को पाषाण बनना पड़ा। भगवान् ने इस काम को उत्पन्न करके प्राणियों को काल के अधीन कर रखा है। यदि काम को जीत ले तो उसका काल कुछ कर ही नहीं सकता। बिन्दुपात ही मरण है, बिन्दुधारण ही जीवन है। काम-वेग ऐसा प्रबल होता है, कि उस समय बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। इन्द्रियाँ परवश सी हो जाती हैं। चित्त इतना प्रबल वेगशाली बन जाता है, कि विवेक कुछ काम नहीं देता। प्राणी विवश हो जाता है, आत्म विस्मृत बन जाता है। इन्द्रियों का विषयों के साथ जहाँ संसर्ग हुआ, कि फिर मन खो जाता है। जो आदमी जितना शक्तिशाली होता है, वह उतना ही साहस का कार्य कर सकता है, योगी जब योग से भ्रष्ट होकर काम के चक्कर में फँसता है, तो वह जितनी निर्लज्जता से कामोपभोग करता है, उतनी निर्लज्जता से साधारण आदमी नहीं कर सकता। विद्या, धन, योग, सामर्थ्य तथा अन्य शक्तियों से युक्त पुरुष साधारण आदमियों से अधिक साहस का कार्य करता है। ऐसे पुरुषों को दंड भी अधिक से अधिक देना चाहिये। एक

आदमी है, जो नियम विधान नहीं जानता, उससे यदि अपराध हो जाय, तो वह क्षमा भी किया जा सकता है, किन्तु जो स्वयं विधान विशारद है, सभी नियम सदाचार को जानता है, यदि वह कोई अनुचित साहस करता है, तो उसे अधिक से अधिक दड देना चाहिये, ऐसी इस देश मे सनातन प्रथा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे इक्ष्वाकु के पुत्र दंडक की कथा पूछी है, मैं उसे सुनाता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

महाराज दडक पिता के आदेश से दक्षिण देश में राज्य करने लगे। राजा वेसे तो कुलीन थे, इन्द्रियाँ उनके वश मे नहीं थीं वे कामी थे, भगवान् शुक्राचार्य को उन्होने अपना पुरोहित बनाया।"

एक दिन महाराज घोड़े पर चढ़कर अरण्य को गये। संयोग की बात उसी समय शुक्राचार्य की कन्या विरजा वहाँ वन की शोभा देखने अकेली ही आई हुई थी। वह अभी कन्या थी, रजोदर्शन भी उसका नहीं हुआ था। वह इतनी सुन्दरी थी, कि स्वर्गीय अप्सरायें भी उसके सम्मुख लज्जित हो जातीं। वह पृथ्वी की लक्ष्मी सी जान पडती थी। बाल्यावस्था को पार करके उसने यौवनावस्था मे पदार्पण किया था। यौवन के चिन्ह अस्फुट रूप से उसके अगों मे प्रकट हो रहे थे। वह उस अर्धमुकुलिता कलिका के समान थी, जिसके समीप अभी भ्रमर आया न हो। जिसका सौरभ पराग अभी विस्फुटित न हुआ। वह अपनी नारी सुलभ चचलता से इठलाती हुई इधर से उधर घूम-घूमकर पुष्प चयन कर रही थी। राजा की उस अनवद्य सौन्दर्ययुक्त कन्या के ऊपर दृष्टि पड़ी। उसके अपार सौन्दर्य को देखकर दण्डक काम बाण से विद्ध हो गया। उसका मन उसके अधीन न रहा। वह

शीघ्रता से उसके समीप आया अत्यन्त ही स्नेह से अधीरता के स्वर में पूछने लगा—"भामिनी ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? किसकी पत्नी हो ? तुम अकेली इस विजन वन मे क्यो फिर रही हो ? तुम कमला हो या साक्षात् रति हो, तुम्हारे ये कोमल चरण इस योग्य नहीं हैं, कि तुम इस कठिन भूमि पर पर नंगे पैरों घूमो।"

यह सुनकर लजाती हुई शुक्रतनया ने कहा—"राजन् ! मैं भगवान् शुक्राचार्य की पुत्री हूँ। अभी मे अविवाहिता हूँ।"

राजा ने अधीरता के स्वर में कहा—"देवि ! मैं इस देश का राजा हूँ, तुम्हारे अधीन हूँ, मैं तुम्हारे सौन्दर्य पर मुग्ध हूँ, मैं अपने वश में नहीं हूँ। तुम्हें निमित्त बनाकर काम मुझे अत्यन्त पीड़ा दे रहा है। तुम मेरे ऊपर दया करो, मुझे प्राण दान दो।"

यह सुनकर कुपित हुई कन्या ने कहा—"राजन् ! ऐसे वचन आपको मुख से उच्चारण न करना चाहिये। वाणी से कौन कहे, ऐसी बात आपको मन से भी न सोचनी चाहिये। देखिये, आप राजा हैं, सबके पिता हैं, इस सम्बन्ध से मे पुत्री हूँ। आप मेरे पिता के शिष्य हैं। इस सम्बन्ध में मैं तुम्हारी बहिन हूँ। फिर मैं विप्र कन्या हूँ, तुम क्षत्रिय हो, इस सम्बन्ध से मैं तुम्हारी पूजनीया हूँ। किसी भी प्रकार आपके मन मे मेरे प्रति बुरे भाव न होने चाहिये। कैसा भी कामी हो, पुत्री और बहिन के प्रति वह भी बुरे भाव मन मे नहीं लाता। इसलिये आप इस बात को मन से निकाल दें। आप मेरे पिता के आश्रम मे जायँ वे तुम्हारा आतिथ्य करेंगे।"

राजा ने कहा—"सुन्दरि ! मेरा मन मेरे अधीन नहीं है। मैं जानता हूँ, यह सम्बन्ध अनुचित है, किन्तु मेरा मन तुममे फँस

गया, मुझे तुम्हारे प्रति प्रेम हो गया है। प्रेम अंधा होता है, उसमें नियम रहता ही नहीं।"

कन्या ने कहा—"राजन्! आप प्रेम शब्द को कलंकित क्यों कर रहे हैं। यह तो आपका काम है, वह भी अधर्म पूर्वक अनुचित काम है। आप जान बूझकर हलाहल पान कर रहे हैं। मेरे समर्थ पिता को तुम्हारे भावों का पता भी लग जायगा, तो वे तुम्हारा सर्वस्व नाश कर देंगे। तुम अपना मृत्यु को अपने आप निमन्त्रण क्यों दे रहे हो। मैं अभी अपुष्पिता हूँ, अभी मैंने रजोदर्शन भी नहीं किया है, मैं सर्वथा अगम्या हूँ। अरजस्का कन्या के साथ संगम करना महान् पाप है। राजन्! अपना हित तुम स्वयं सोचो, क्यों तुम मृत्यु के मुख में जा रहे हो?"

राजा ने कहा—"वरवर्णिनी! एक बार मुझे तुम्हारा संगम प्राप्त हो जाय, फिर चाहे मुझे मरना ही पड़े, मैं मृत्यु को, राज्य को, धनको तुम्हारे सम्मुख तृण के सदृश भी नहीं समझता।"

कन्या ने डाँट कर कहा—"चल, हट! कुत्ता कहीं का! ऐसा अनुचित प्रस्ताव करता है।" यह कह कर वह शीघ्रता से चलने लगी। राजा की बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, उसकी विचार शक्ति नष्ट हो गई थी, उसका काल उसे पाप में प्रेरित कर रहा था। उसने जाती हुई कन्या के केशपाशों को कस कर पकड़ लिया और उसके साथ बलात्कार किया। कन्या तड़पती रही, रोती रही, किन्तु उस नरपिशाच ने कुछ भी ध्यान न दिया।

पीछे वह डर कर घोड़े पर चढ़ कर भाग गया। कन्या लज्जा से सिकुड़ी हुई रोती चिल्लाती अपने पिता के आश्रम पर पहुँची। वह अत्यन्त डर रही थी, उसकी श्री नष्ट हो गई थी। पिता ने उसकी दशा देखी, वे योग दृष्टि से सब कुछ समझ गये। राजा

के ऊपर उन्हें अत्यन्त ही क्रोध आया, मुनि की आँखों से आग निकलने लगी। उसी क्रोध के आवेश मे मुनि ने शाप दिया—"जिस क्रूरकर्मा नीच निर्लज्ज कामी राजा ने ऐसा जघन्य पाप किया है, उसका राज्य नष्ट हो जाय, उसके राज्य मे एक भी पशु पक्षी न बचे। सात दिन तक तप्त वालू की वर्षा हो, वृक्ष भी वहाँ न रहे, सम्पूर्ण राज्य वालुकामय अरण्य वन जाय।"

यह कह कर उन्होंने ऋषियों को आश्रम छोडकर अन्यत्र जाने की आज्ञा दी। अपनी कन्या से कहा—"तू यहीं पर घोर तप कर। मैं वर देता हूँ, तेरा यह आश्रम नष्ट न होगा। यहीं रह कर तपस्या करने से तू विशुद्ध हो जायगी।" यह कह कर मुनि कन्या को वहीं तपस्या के निमित्त छोड कर अन्यत्र दूसरे स्थान मे चले गये। मुनि का शाप असत्य तो हो नहीं सकता। सात दिन सात रात्रि तक दडक के सम्पूर्ण राज्य मे तप्त वालू की वर्षा हुई। उसका राज्य पाट, कोष, सेना, मत्री सबके सब नष्ट हो गये। दडक का राज्य वन वन गया। वह वन उसी के नाम से दण्डकारण्य या दण्डक वनके नाम से विख्यात हुआ। बहुत दिनों तक वहाँ कोई पशु पक्षी भी नहीं रहे। पीछे से आकर मुनिगण वहाँ श्रीराम-दर्शनों की लालसा से कुटिया बना कर रहने लगे। वृक्ष भी उत्पन्न हो गये। जब श्रीरामचन्द्रजी अवतार धारण करके सीताजी के सहित दण्डकारण्य मे पधारे तो उनकी चरणधूलि से वह अपावन वन परम पावन वन गया। वह शाप से मुक्त हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महाराज दडक का वश आगे नहीं चला। यह मैंने अत्यन्त सक्षेप में मनुवशीय राजाओं के वश का वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने सूर्यवंश की

कथा तो सुना दी। अब हम चन्द्रवंश की कथा और सुनना चाहते हैं। पृथ्वी में ये ही दो वंश परम पावन कहे गये हैं। इस वंश की उत्पत्ति कैसे हुई और मुख्य बात तो यह है, कि इस वंश की कितनी पीढ़ी के पश्चात् भगवान् कृष्णचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। हमारा मुख्य प्रश्न तो कृष्णचरित्र के लिये है। उसी के सम्बन्ध से हम चन्द्रवंशीय अन्य मुख्य मुख्य पुण्यश्लोक राजाओं का भी चरित्र सुनना चाहते हैं। कृपा करके अब आप चन्द्रवंश के राजाओं की कथाओं को कहें।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो! अब मैं आप से चन्द्रवंश का वर्णन करता हूँ, उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लज्जित पितु ढिग गई शुकतनया जब रोवति।
दुहिता देखी दुखित कुपित तब भये शुक अति॥
दया शाप नृप राज नष्ट है जावै सबई।
बरसी बालू तप्त भयो दण्डकवन तबई॥
घोर पाप तैं पलकमहँ, घूरि माँहि वैभव मिल्यो।
नष्ट भयो परिवार सब, फिरि दण्डक कुल नहिँ चल्यो॥

श्री परशुरामजी

श्री भागवत-दर्शन :-

भागवती कथा

[बत्तीसवाँ खण्ड]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

तृतीय संस्करण
१०००

मार्गशिर्ष
सम्वत् २०२७

संशोधित मूल्य २-० रुपए
मूल्य १.६५

प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

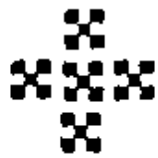

● मुद्रक :
पंडीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८६२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१—चन्द्रवंश-वर्णन	१
२—चन्द्रदेव का अनुचित कार्य	७
३—चन्द्रपुत्र बुध	१५
४—बुधपुत्र पुरूरवा	२१
५—पुरूरवा और उर्वशी	३७
६—उर्वशी का पुरूरवा से साक्षात्कार	५१
७—उर्वशी पुरूरवा की पत्नी बनी	५९
८—उर्वशी का वियोग	६५
९—उर्वशी के विरह में विक्षिप्त महाराज ऐल	७१
१०—ऐल और उर्वशी का पुनर्मिलन	७९
११—त्रयी विद्या का प्रादुर्भाव	९१
१२—पुरूरवा को गन्धर्व लोक की प्राप्ति	१००
३—महाराज ऐल का विषयों से विराग	१०५
१—महाराज ऐल की मुक्ति	११३
—महाराज जह्नु की कथा	१२०
—कुशनाभ-चरित	१३०
- सत्यवती-पति महर्षि ऋचीक	१४१
माता और पुत्री के चरु में विपर्यय	१५०
परशुराम-अवतार	१५७
पी परशुराम की पितृ भक्ति	१६८
हयराज सहस्रार्जुन	१७८

२२—सहस्रार्जुन और परशुराम-पिता जमदग्नि ... १८९
२३—परशुरामजी द्वारा कार्तवीर्य का वध १९७
२४—पिताकी आज्ञा से परशुरामजी का प्रायश्चित २०५
२५—परशुरामजी के पिता का निर्मम वध ... २११
२६—परशुरामजी द्वारा २१ बार क्षत्रियों का विनाश २१८
२७—प्रशान्त परशुराम जी ... २२५

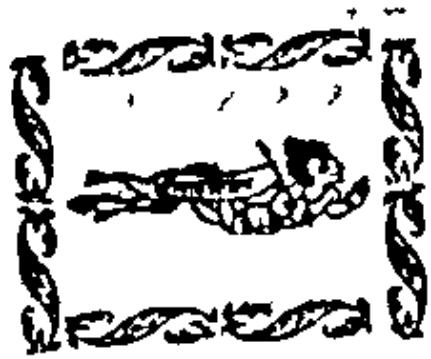

चन्द्रवंश-वर्णन

[७१८]

अथातः श्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः ।
यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १४ अ० १ श्लोक)

छप्पय

कहै सूत—"अब प्रथम शीश शुक चरननि नाऊँ ।
तब अति पावन चन्द्र-वंश की कथा सुनाऊँ ॥
नारायण के नाभि-कमल तैं अज चतुरानन ।
प्रकटे तिन के पुत्र अत्रि कुल जिनको पावन ॥
चन्द्र तनय तिनके भये,—अति तेजस्वी तपस्वी ।
राजसूय करि दिग्विजय, भये जगतमहँ यशस्वी ॥

एक बीज से बहुत-से बीज उत्पन्न होते है और उन सब बीजो में से प्रत्येक बीज में भी उतने ही बीज उत्पन्न करने की शक्ति होती है । यह बात नही है कि एक बीज से १०० बीज उत्पन्न हुए, तो वह शक्ति १०० स्थानो में बंट जाय । शक्ति सर्वत्र परिपूर्ण है । एक अग्नि की चिनगारी से बहुत सी अग्नि हो गई ।

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब मैं तुम्हे उस चन्द्रमा के पावन वंश का वर्णन सुनाता हूँ, जिस वंश में ऐल आदि पुण्य कीर्ति वाले राजाओं के वंश का कीर्तन किया गया है ॥"

उससे उत्पन्न प्रत्येक चिनगारी मे उतनी ही शक्ति है। एक दीपक से सहस्र दीपक जलाये गये। उन जले हुए दीपकों में से प्रत्येक मे सहस्रो दीपको को जलाने की शक्ति विद्यमान् है। शक्ति अनादि है, उसकी उत्पत्ति नही, नाश नही। काल, कर्म और गुणो के सम्बन्ध मे केवल आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं। किस बीज से कौन बीज उत्पन्न हुआ—किस जल-तरग से कौन सी तरङ्ग उत्पन्न हुई—इसका निर्णय कठिन है। यह ससारप्रवाह अनादि है। सदा से यह चला आ रहा है और इसी प्रकार सदा चलता रहेगा। केवल उपचार से यह कहा जाता है—इससे यह उत्पन्न हुआ और इससे यह। ये सब नारायण से उत्पन्न हैं और नारायण मे ही विलीन हो जाते हैं। तरंग बुद्बुद, फेन—ये सब जल से ही उत्पन्न होते हैं। जल के बिना इनका अस्तित्व नही। अतः जल ही मुख्य है, वही अगी है, शेष, सब उसके अगमात्र हैं, अगज हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् को जब क्रीडा करने की इच्छा होती है, तब वे सृष्टि देखने की इच्छा करते हैं, यो स्वतः ही सृष्टि हो जाती है, जैसे हम स्वत. स्वास-प्रश्वास लेते रहते हैं। भगवान् अपने तीन रूप धारण कर लेते है। अपनी नाभि के कमल से कमलासन ब्रह्मा को प्रकट करते हैं, ब्रह्माजी की भृकुटी से रुद्रदेव उत्पन्न होते हैं और स्वय चतुर्भुज रूप रख कर विष्णु बन जाते हैं। ब्रह्मा सृष्टि को बढ़ाने का कार्य करते हैं, विष्णु बढी हुई सृष्टि का पालन करते हैं और रुद्र उन सबका सहार करते हैं। जितना ही सुख उन्हे सृजन मे होता है, उतना ही सहार मे भी। बच्चो को जितना ही सुख खिलौने के पाने मे होता है, उतना ही उसे फट्ट से फोडने मे, न सृजन उनके लिये सुखद है और सहार दुःखद। मनु-प्रजापति रूप मे ब्रह्माजी सृष्टि करते

हैं। काल, मृत्यु, आधि, व्याधि रूप से शिव उसका संहार करते हैं और कल्पावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार, अंशावतार आदि रूपों से वे ही हरि बढ़ी हुई सृष्टि का पालन करते हैं। जो परात्पर प्रभु हैं, वे सृजन, रक्षण और संहार—इन तीनों से पृथक् रह कर नित्य दिव्य रस का आस्वादन करते रहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, मनु, प्रजापति, इन्द्र वरुण, कुबेर, यम, या अन्यान्य अधिकारीगण अधिकारारूढ होकर सृष्टि के कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। इन्हें इन कार्यों से कोई प्रयोजन नहीं। वे अपनी आद्याशक्ति के साथ निरन्तर विहार करते रहते हैं। कभी-कभी वे इस अवनि को परम पावन बनाने के निमित्त अपने समस्त परिकर के साथ अपने निज धाम में प्रकट लीला करके जीवों को दिव्य सुख का रसास्वादन कराते हैं। रसास्वादन कराने का उनका संकल्प नहीं, न वे उस हेतु से अवनि पर अवतरित ही होते हैं। यह लीला तो अनुसंगिक होती है। स्वयं ही रमण करने, अपने जनों को रमण कराने, वे कुछ काल प्रकट लीला करते हैं। जैसे बड़े नगर में से सहस्रों छोटे-बड़े जल के स्रोत निकलते हैं, वैसे ही इन परात्पर पूर्ण ब्रह्म से असंख्यों अवतार उत्पन्न होते हैं। जिस कल्प में यह अवतार हो जाता है, वह अन्य कल्पों से अत्यन्त सौभाग्यशाली होता है। जिस ब्रह्मा के समय में यह अवतार-अवतरित होता है, ब्रह्मा कृतार्थ हो जाते हैं। जिस कुल में यह परात्पर प्रभु प्रकट होते हैं, वह कुल परम पावन बन जाता है।

ब्रह्माजी के इस श्वेतवाराह नामक कल्प के अठाईसवें कलियुग मे यह परात्पर प्रभु प्रकट हुए। इनके प्रकट होने का कोई समय निश्चित नहीं, क्योंकि कोई भी इनके यथार्थ मर्म को नहीं जानते। भूत, भविष्य और वर्तमान की बातें वेदों से ही जानी

जाती हैं किन्तु वेद भी इनके भेद को नही जान सकते। वे भी 'नेतिनेति' कह कर मौन धारण कर लेते है। यह भी बात नही कि यह पूर्ण पुरुष जहाँ-तहाँ उत्पन्न हो जाय। परम स्वतन्त्र होने पर भी वह व्रज की सीमा मे बँधा है। प्रकट या अप्रकट, जो भी लीला करेगा, व्रज मे ही करेगा। वृन्दावन को छोडकर वह एक पैर भी न जायेगा। इस अवतरण मे सोमवश को इन्होने निमित्त बनाया। इस पुण्य कीर्ति-कुल मे अवतरित होकर इन्होंने इस पावन कुल को और भी अधिक पावन बना दिया। इसीलिये इस कुल के सभी भूपति पुण्यश्लोक माने गये हैं। अब हम उसी कुल का वर्णन करेंगे।

भगवान् के नाभि-कमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, यह कथा तो अनेको बार कही गई है। उसकी पुनरुक्ति हम यहाँ नही करते। ब्रह्माजी के दस मानस-पुत्र हुए, जिनमे भगवान् अत्रि भी उत्पन्न हुए। अत्रि मुनि का विवाह प्रजापति भगवान् कर्दम की पुत्री अनसूया के साथ हुआ। अनसूया बडी ही पतिव्रता स्त्री थी। उन्होंने अपने तप के प्रभाव से तीनो देवो को वश मे कर लिया था, जिस का वर्णन पूर्व मे कर चुके हैं। तीनो देव भगवान् अत्रि के तप से प्रसन्न होकर, अपने-अपने अंश से इनके यहाँ पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए, यह कथा भी हम कह चुके हैं। महर्षि अत्रि के यहाँ भगवान् विष्णु के अंश से दत्तात्रेय का जन्म हुआ, शिवजी के अंश से दुर्वासा और ब्रह्माजी के अंश से चन्द्रमा उत्पन्न हुए। ये ही चन्द्रमा चन्द्रवंश के आदि पुरुष माने जाते हैं, इन्ही के नाम से यह वंश विख्यात हुआ। अत्रि पुत्र चन्द्र ही इस वंश के संस्थापक हुए।

यह सुनकर शौनक जी बोले—'सूतजी! हमने तो सुना है कि चन्द्रमा भगवान् के मन से उत्पन्न हुए और यही-यही सुना है

कि उनकी उत्पत्ति समुद्र से हुई। अब आप इन्हें अत्रि का पुत्र बता रहे है यह क्या बात है ? कृपा करके हमारी इस शंका का समाधान कीजिये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! ये सूर्य-चन्द्र आदि तो नित्य हैं। इनका तो कभी नाश होता ही नही। प्रलय के समय ये अव्यक्त मे विलीन हो जाते हैं। जब कल्प का अन्त होता है, सृष्टि का क्रम आरम्भ होता है, तब धाता इन्हे पहिले की भाँति प्रकट करते हैं, इन्हे अपने पद पर पुनः प्रतिष्ठित करते हैं। प्रलय मे ये भगवान् के हृदय-देश मे वास करते हैं और सृजन के समय ये उनके मन से ही उत्पन्न होते हैं, अतः इन्हे मन से उत्पन्न हुआ बताते हैं।"

इसी प्रकार जब दुर्वासा के शाप से तीनो लोको की श्री नष्ट हो गई, तब ये भी श्री हीन हो गये, क्योंकि ये सब से अधिक श्री सम्पन्न थे और जब समुद्र से श्री के सहित सभी अलौकिक श्री वाले चतुर्दश रत्न मथ कर निकाले गये, तब ये भी श्री सम्पन्न होकर समुद्र से निकले। इसीलिये इन्हे श्री का भाई होने से ये जगत् के मामा करके विख्यात हैं। छोटे-छोटे बच्चे चन्दा को मामा मानकर कहा करते हैं, "चन्दा मामा ऊलरे भरी छवरिया फूल के।" ये उनके आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप हैं। सूर्य और चन्द्रमा को विराट भगवान् के दोनो नेत्र बताये हैं। वे ही चन्द्रमा जब आधिभौतिक दृष्टि मे अवतार लेते हैं, अत्रि मुनि के यहाँ अवतरित होते हैं, तब सभी मानवीय लीला करते हैं। देवताओ का-सा दिव्य रूप धारण कर सभी पुण्य-पाप से कार्य करते हैं। अतः मन से उत्पन्न चन्द्र मे, समुद्र से उत्पन्न चन्द्र मे तथा अत्रि-पुत्र चन्द्र में तत्वतः कोई भेद नही। एक ही ये देश-काल के भेद से अनेक रूप रख लेते हैं। इन चन्द्र का विवाह

दक्ष-प्रजापति की २७ कन्याओं के साथ हुआ। इनके विवाह होने से पूर्व ही चन्द्रमा के वीर्य से एक बडा ही बुद्धिमान पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम बुध हुआ। वह अन्य क्षेत्रज था। लडाई-झगड़े मे इन्हे प्राप्त हुआ।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—सूतजी! भगवान् बुध किस के क्षेत्र मे उत्पन्न हुए? इनके पीछे लडाई-झगड़ा क्यो हुआ? कृपा कर इस कथा को हमे विस्तार से सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी महाराज! रहने भी दो। बडे लोगो की बड़ी ही बातें होती हैं। छोटे कुछ गड़बड़-सडबड़ करें तो सभी उन्हें बुरा भला कहेंगे, सभी थूकेंगे, किन्तु, बड़े जो कर दे वही ठीक। उनकी ओर कोई ऊंगली नही उठाता। ये ऐसी बातें हैं कि मुझे कहने मे भी सकोच लगता है, किन्तु कथा प्रसग को तो पूरा करना ही है। कागज का पेट तो भरना ही है। वश विस्तार को तो बताना ही है। अतः इस कथा को मै अत्यन्त ही सक्षेप मे कहूँगा। आप ध्यान पूर्वक श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

यौवन, धन, सम्पत्ति और प्रभुता जग माँही।
होवे यदि अविवेक सहित तो फल शुभ नाँही॥
यौवन तें उन्माद, मान धन तें है जावे।
सम्पति प्रभुता पाइ सबनिकूँ कुटिल सतावे॥
सुन्दरता की ठसक महँ, सोम कार्य अनुचित करयो।
यौवन-मद ऐश्वर्य ने, सब विवेक तिनिको हरयो॥

चन्द्रदेव का अनुचित कार्य

[७१९]

सोऽयजद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम् ।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारां नामाहरद्बलात् ॥❀
(श्री भा० ९ स्क० १४ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

अत्रि-तनय अद्वितीय सुघर अतिशय त्रिभुवन महँ ।
लखैं उनहिँ जे नारि, काम प्रकटै तिनि मन महँ ॥
रूप निरखि आसक्त भई मुनि पत्नी सबहीं ।
-निज-निज पति तजि गईं समुझि सोमहिँ सरबसहीं ॥
अति साहस तब सोम को, बढ्यो पाप मनमहँ घँस्यो ।
तारा गुरु-पत्नी हरी, रूप परस्पर चित बस्यो ॥

पाप या पुण्य करते-करते मनुष्य का साहस बढ जाता है। सार्फल्यमण्डल तथा आशा, सफलता के प्रधान कारण हैं। यदि कोई काम मनुष्य करता है और उसमें उसे सफलता होती है, तो उसका साहस अधिक बढ जाता है। यदि प्रवृत्ति अनुचित

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! चन्द्रदेव ने त्रिलोकी को जीत कर राजसूय यज्ञ द्वारा भगवान् का यजन किया और ऐश्वर्य के अभिमान में भरकर देवगुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का बलपूर्वक हरण किया।"

कार्य में है, तो ऐसे अनुचित कार्य मनुष्य करेगा कि दुस्साहस पराकाष्ठा पर पहुँच जायगा। चाहे बड़े आदमी करें, चाहे छोटे, बुरे काम तो बुरे ही हैं। फिर भी समरथ के दोषों को लोग छिपाते हैं, उनकी सामर्थ्य के आगे बड़े से बड़े अनुचित कार्य दब जाते हैं, सामर्थ्यवान् प्रभावशाली पुरुषों के दूषण भी भूषण हो जाते हैं। एक बड़ा सद्गुण छोटे-छोटे कितने दुर्गुणों को दबा देता है और एक बड़ा दुर्गुण छोटे-मोटे सभी सद्गुणों को छिपा देता है। बड़े लोगों के दोषों को विचारना बड़ा अपराध है। दोष तो किसी के ही नहीं देखना चाहिये। देखने ही हों तो अपने मन के दोष देखे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने पूछा, चन्द्रदेव के वीर्य से बुध किसके क्षेत्र में उत्पन्न हुए। मैं आपको यह कथा सुनाता हूँ, आप ध्यान पूर्वक इसे सुनें।"

अत्रि-पुत्र भगवान् चन्द्र, ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न होने के कारण, बड़े ही सुन्दर थे। संसार में उन दिनों उनसे अधिक सुन्दर कोई भी नहीं था। फिर सोने में सुहागे का काम उनके तप ने किया। वे जन्मते ही तपस्या करने चले गये। वन में जाकर सहस्रों वर्ष-पर्यन्त वे घोर तप करते रहे। उनकी उग्र तपस्या से लोक-पितामह ब्रह्माजी परम प्रसन्न हुए। इन्होंने उन्हें समस्त ताराओं, ब्राह्मणों तथा औषधियों का राजा बना दिया। समस्त औषधियों में अमृत का संचार सोम ही करते हैं। सोम न हो, तो कोई भी औषधि फलवती न हो। सोम सब ब्राह्मणों के राजा हैं। समस्त तारागण उन्हीं के अधीन हैं। इस प्रकार तीनों लोकों के प्राणदाता सोम ही हैं। जब चन्द्रदेव को इतना बड़ा पद प्राप्त हो गया, तब तो उनकी शोभा अत्यन्त बढ़ गई। सभी देव उनके सम्मुख निष्प्रभ दिखाई देने

लगे। वे सौन्दर्य में सभी से श्रेष्ठ थे। जितने वे सुन्दर थे, उतना सुन्दर कोई मनुष्य तो क्या, देवता, गन्धर्व, सिद्ध या ऋषि-मुनि भी नही थे। उनका तप उग्रतम था। वे बिल्कुल तरुण थे। अभी विवाह भी नही हुआ था। उनके ऐश्वर्य का तो कोई ठिकाना ही नही था। ब्रह्मा जी ने उन्हें जगद्गुरु ब्राह्मणों का भी राजा बना दिया था। सबको जीवन-दान देने वाली औषधियो के भी व स्वामी थे। फिर उनके प्रभुत्व के सम्बन्ध मे तो पूछना ही क्या? उनके सौन्दर्य पर स्त्रियाँ लट्टू थी और उनके सकेत पर नाचने को प्रस्तुत थी। जैसे सूतली मे बँधी कबूतरी स्वेच्छानुसार उड़कर इधर-उधर नही जा सकती उसी प्रकार स्त्रियाँ भी उनके अपार सौन्दर्य जाल मे फँसकर, उन्हे छोड अन्यत्र जाना नही चाहती थी।

ऐश्वर्य पाकर चन्द्र ने एक ऐसा राजसूय यज्ञ किया जैसा उनके पूर्व किसी ने भी न किया था। इस यज्ञ को वही कर सकता था, जो तीनों लोक दिग्विजय कर ले। इन्होने त्रिभुवन को जीत कर अत्यन्त ऐश्वर्यशाली महान् यज्ञ किया। इस यज्ञ में समस्त देवता, ऋषि-मुनि अपनी-अपनी पत्नियों के साथ, पधारे थे। ऋषि-मुनि आये तो थे दान-मान-सम्मान लेने, किन्तु यहाँ उन्हे लेने के देने पड गये। उन सब की पत्नियाँ चन्द्रमा के ऐश्वर्ययुक्त सौन्दर्य को देखकर उन पर मुग्ध हो गईं। अब वे अपने पतियो के साथ जाना ही नही चाहती थी।

किसी को भी अपने गुणों का यथार्थ ज्ञान तभी होता है, जब दूसरे उसके उन गुणो के प्रशसक हो, दूसरे उन पर विमुग्ध हो जायँ। चन्द्रमा ने जब देखा कि मेरे सौन्दर्य में तो बडा भारी आकर्षण है, तब तो उन्हे अपने सौन्दर्य पर अत्यधिक अभिमान हो गया। वे उस अभिमान मे भर कर ऐसे अनुचित कार्य करने

लगे कि जिनका वर्णन करना अनुचित ही नहीं, अपराध भी है।

एक बार वे देवगुरु बृहस्पति के घर गये। वहाँ उन्होंने गुरु-पत्नी तारा को देखा। उसके रूप-लावण्य को देखकर चन्द्रमा आपे में नहीं रहे। सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य के अभिमान ने उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। उनका चित्त गुरुपत्नी पर चञ्चल हो गया। तारा का सौन्दर्य उनके मन में बस गया। अवसर पाकर वे तारा को एक दिन बल पूर्वक पकड़कर अपने महल में ले आये। बृहस्पति जी राजसूय में उनके अनुपम ऐश्वर्य को देख ही चुके थे। अतः उन्हे शाप देने का भी साहस न हुआ। अनुनय-विनय करके वे चन्द्र के चंगुल से अपनी पत्नी को छुड़ाना चाहते थे, किन्तु चन्द्र समझाने-बुझाने से मानने वाले नहीं थे, उन्हें किसी का भय तो था नही! यौवन, धन, सम्पत्ति और प्रभुत्व के अभिमान ने उनके विवेक को नष्ट कर दिया था। वे उचित-अनुचित का विवेचन विवेक पूर्वक नही कर सकते थे।

बृहस्पतिजी ने किसी भी प्रकार अपना मनोरथ पूर्ण होते नहीं देखा। समझाने से चन्द्र उन्हें और भी निर्बल समझना था। अतः उन्होंने देखा कि साम से काम न चलेगा, अब तो दण्ड का आश्रय लेना ही पड़ेगा। युद्ध में चन्द्र को परास्त करके ही वे अपनी प्यारी पत्नी को प्राप्त कर सकेंगे! ऐसा सोचकर उन्होंने देवराज इन्द्र से कहा—"देखो भाई! स्वर्ग के राजा तुम हो। त्रिलोकेश तुम्हारा ही नाम है। यह चन्द्रमा अपने ऐश्वर्य के अभिमान में किसी को कुछ समझता ही नही। मेरी पत्नी को बल पूर्वक हरण कर ले गया है। अब तो इसके गर्व को खर्व करना ही चाहिये। जब तक युद्ध में यह परास्त न किया जायगा, इसकी बुद्धि ठिकाने न आवेगी। इसलिये इसे जैसे हो, परास्त करो।"

इन्द्र ने अत्यन्त ही क्रोध के साथ कहा—"गुरुदेव! चन्द्रमा

ने यह महापाप ही नहीं किया है, हम सब का घोर अपमान भी किया है। हम इसे किसी प्रकार भी क्षमा न करेंगे। हम अपने बाहुबल से उसे परास्त कर भगवती तारा को लावेंगे। आप चिन्ता न करें, हम अभी युद्ध की तैयारी करते हैं।" यह कहकर देवराज ने समस्त देवताओं को युद्ध के लिये तैयार हो जाने की आज्ञा दी।

इधर, जब सुरगुरु बृहस्पति के प्रतिद्वन्द्वी असुर-गुरु शुक्राचार्य ने यह समाचार सुना, तब उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। (अपने शत्रु की हानि सुनकर चित्त में एक प्रकार का संतोष-सा होता है और हानि करने वाले की ओर स्वाभाविक अनुराग हो जाता है।) शुक्राचार्य दौड़े-दौड़े चन्द्रमा के पास गये और बोले—"देखो, चन्द्रदेव! तुमने जो भी उचित-अनुचित किया है, उस पर अड़े रहना। बृहस्पति की बन्दरघुड़की में मत आना। इन देवताओं को तो तुम जानते ही हो! ये तो सबके सब नपुंसक हैं। असुर जब चाहते हैं, इन्हें मार भगाते हैं। सदा इनकी पराजय ही होती है। ये सदा पराजित होकर विष्णु का आश्रय ग्रहण करते हैं। बृहस्पति तुम्हें किसी प्रकार जीत नहीं सकते। तुम युद्ध से तनिक भी मत डरना। हम तुम्हारे साथ हैं। मेरे समस्त असुर-शिष्य प्राणों की बाजी लगाकर तुम्हारे लिए रक्त बहाने को तत्पर हैं।"

यह सुनकर चन्द्रमा का साहस और भी अधिक बढ़ गया पहिले तो वह डर गया था, किन्तु, शुक्राचार्य का आश्वासन पाकर उसने कहा—"भगवन्! यदि आप मेरे साथ हैं, तो मैं कभी भी किसी से डरने वाला नहीं। एक नहीं, हजार बृहस्पति भी चाहे क्यों न आ जायँ, मैं तारा को कभी दे नहीं सकता। आप मेरे ऊपर कृपा बनाये रखें। देवता युद्ध की तैयारियाँ कर चुके

हैं, आप भी युद्ध के लिए असुरो को सुसज्जित करके लाइये।" यह सुनकर शुक्राचार्य ने कहा,—"राजन्! आप चिन्ता न करें। मैं अपने असुर और दानव, सभी शिष्यो को साथ लेकर युद्ध के लिये आता हूँ।" यह कहकर शुक्राचार्य ने असुरो को उत्साहित किया। असुर तो सब शुक्राचार्य के अधीन ही थे। उनकी आज्ञा पाकर वे सब के सब युद्ध के लिये शस्त्र-सज्जित होकर देवताओं से लडने समरभूमि मे आ डटे।

इधर, जब भगवान् शकर ने यह समाचार सुना, तब उन्हें भी बडा बुरा लगा। बृहस्पति के पिता, भगवान् अङ्गिरा, से शिवजी ने विद्या पढी थी। इस नाते वे उनके गुरु भाई थे। अत वे भी अपने भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, भैरव-वेताल, आदि गण लेकर बृहस्पतिजी की ओर से युद्ध करने समर मे आ डटे। इस युद्ध की सर्वत्र चर्चा फैल गई। असुर और सुरो ने ऐसी तैयारियाँ की, जैसी पहिले किसी भी युद्ध के लिये नही की थी। जब लोक पितामह ब्रह्माजी को यह समाचार विदित हुआ, वे शीघ्रता से हस पर चढकर रण भूमि मे आये। दोनो ही सेनायें समर के लिये सर्वथा तैयार ही थी। क्षण भर मे युद्ध आरम्भ होने ही वाला था कि बीच मे आकर ब्रह्माजी ने कहा—"ठहरो।"

अब कोई प्रहार कैसे कर सकता था। ब्रह्मा जी तो सब के बाबा ठहरे! सुर-असुर सभी उनके अधीन हैं। सभी उनका समान भाव से आदर करत हैं। बूढे बाबा को बीच मे खडे देखकर सभी ने शस्त्र त्याग दिये और सभी आकर उनके चरणों मे प्रणाम करने लगे। चन्द्र भी अपने पितामह के समीप आये और उन्हें प्रणाम करके सिर झुका, एक ओर खड़े हो गये।

ब्रह्माजी अपनी सफेद दाढी पर हाथ फेरते हुए, बूढ़े पुरुष जैसे अधिकार और अपनेपन के स्वर म बोलते हैं, वसे ही चन्द्रमा को सम्बोधित करके कहने लगे— 'चन्द्र, भाई, तुम्हारी यह बात हमे बहुत बुरी लगती है। तुम अपने स्वरूप को सर्वथा भूल गये। ऐसा अनुचित कार्य तुम्हारा पद प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। तुम्हें लज्जा आनी चाहिये। एक तो तुमने अनुचित कार्य किया है तिस पर भी युद्ध करने को उद्यत हो।"

यह सुनकर शुक्राचार्य ने कहा—' भगवन् ये कहाँ युद्ध कर रहे हैं ? यदि कोई किसी के ऊपर प्रहार करे, तो क्या उसे अपनी रक्षा भी न करनी चाहिये ?"

यह सुनकर, शुक्राचार्य को डाँटते हुए, ब्रह्माजी बोले—"चुप रहो तुम। यह सब अपराध तुम्हारा ही है। तुम्हे लज्जा आनी चाहिये। तुम अनुचित पक्ष लेकर अपने द्वेष भाव को व्यक्त कर रहे हो।" फिर चन्द्रमा को लक्ष्यकर बोले— तुम इन लोगो के चक्कर मे आ गये हो। ये असुर, देवताओ का जीतकर क्या तुम्हें जीवित छोड देंगे ? ये असुर तो स्वार्थी है। स्वार्थ-वश ये तुम्हारा साथ दे रहे हैं, देवताओ से अपनी शत्रुता का बदला ले रहे हैं। तुम्हारा पक्ष निबल है। हमारी बात माना। जो हुआ सो हुआ, बृहस्पति की पत्नी को अभी सब के सम्मुख लाकर दे दो।'

यह सुनकर चन्द्रमा सिटपिटा गये। वे कुछ भी न बोल सके। तब ब्रह्माजी ने कहा—"तू बोलता क्यो नही ? क्या कहता है देगा कि नही ?'

चन्द्रमा ने, सिर नीचे किये ही किये, लज्जित होकर कहा—"जैसी आपकी आज्ञा।"

ब्रह्माजी ने डाँटकर कहा—"हमारी यही आज्ञा है कि अभी लाकर तारा को लौटा दो।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो, अब चन्द्रमा क्या करते! उन्होंने तुरन्त लाकर तारा को बृहस्पति के हवाले कर दिया। सभी तारा को चकित दृष्टि से देखने लगे। युद्ध तो रुक गया, किन्तु अब एक दूसरा युद्ध छिड़ गया। अब तक स्त्री के लिये झगड़ा था। अब पुत्र के लिये झगड़ा आरम्भ हो गया।

शौनक जी ने पूछा—'सूतजी, पुत्र के लिये कैसे झगड़ा हुआ?"

सूतजी बोले—'हाँ, महाराज! सुनाऊँगा इसे भी। तनिक मैं आचमन करके स्वस्थ हो लूँ।"

छप्पय

दारा को सुनि हरन देवगुरु दुख अति पायो।
धर्म नीति कहि चन्द्र विविध विधि गुरु समझायो॥
भयो काम-वश चन्द्र सीख गुरु की नहिं मानी।
लियो सोम को पक्ष शुक्र ने अवसर जानी॥
शिव सुर गुरु को पक्ष लै, ताराहित लड़िये चले।
अस्त्र शस्त्र तें सजि असुर, आइ चन्द्रमा तें मिले॥

चन्द्र-पुत्र बुध

[७२०]

तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप।
बुद्ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण्मुदम् ॥*

(श्री० भा० ९ स्क०, १४ अ०, १४ श्लो०)।

छप्पय

कमलयोनि ढिँग जाइ अङ्गिरा वृत्त सुनाये।
सुनि चतुरानन तुरत शुक्र-शिव-गुरु-ढिँग आये॥
भिड़के आके चन्द्र कोप करि डाँट बताई।
कीन्हों बीच-बिचाव देवगुरु-दार दिवाई॥
देखि गर्भिणी बृहस्पति, आग बबूला ह्वै गये।
कछुक कहे कटु दुर्वचन, पत्नी पै क्रोधित भये॥

किसी के कुल मे कुछ दोष हो और सब के सामने वह बात प्रकट की जाय, तो उसे बडी लज्जा आती है। कुल की कालिमा से मन मे बडा सताप होता है। इसीलिये कुलीन पुरुष एक प्रकार का गर्व किया करते हैं कि हम श्रेष्ठ वंश के हैं, उच्च-कुल प्रसूत है। वैसे बडो के तो सब दोष छिप जाते हैं, फिर भी कहने

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन् ब्रह्माजी ने उस तारा के पुत्र का नाम 'बुध' और रख दिया, क्योंकि वह गम्भीर बुद्धि वाला था। उस पुत्र को पाकर चन्द्रदेव को परम प्रसन्नता प्राप्त हुई।

वाले कहते ही हैं। सम्मुख नही कहते, तो पीठ-पीछे कहते ही हैं। लोगो को दोष देखने मे, दूसरो के दोषो को कहने मे, एक प्रकार का रस मिलता है। यह पर-दोष-दर्शन की प्रवृत्ति पुरुषो मे स्वाभाविक है—जिसमे नही है, वह मनुष्य नही, देवता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब तारा के लिये देवता और असुरो मे घोर-युद्ध की तैयारियाँ हो गई, तब बृहस्पतिजी के पिता भगवान् अङ्गिरा घबडाये। उन्होने सोचा—"एक ओर तो शूलपाणि शकर, बृहस्पति, इन्द्र तथा अन्यान्य वरुण, यम, कुबेर, आदि देवतागण है, दूसरी ओर शुक्राचार्य तथा बलि, नमुचि, सम्बर, आदि परम पराक्रमी असुर हैं। दोनो ही ओर के वीर बलशाली हैं। एक स्त्री के पीछे संसार का सहार हो जायगा, जैसे हो तैसे इस युद्ध को रोकना चाहिये।" यह सोचकर वे दौडे-दौडे ब्रह्माजी के पास गये और उन्हे लिवा लाये। ब्रह्माजी ने चन्द्रमा को डाँट-डपट कर तारा को बृहस्पतिजी को दिलवा दी बृहस्पतिजी ने देखा, तारा तो गर्भवती है, उसका गर्भ सात महीने का हो गया है। तब तो वे कुपित हुए। उन्होने अपनी पत्नी को डाँटकरकहा—"दुष्टे! तूने मेरे क्षेत्र मे किसका बीज धारण कर रखा है। तू इसे तुरन्त त्याग दे। काम तो तूने ऐसा किया है कि मैं अभी तुझे शाप देकर भस्म कर देता, किन्तु मै तुझे भस्म न करूंगा। तेरे द्वारा मैं सन्तान उत्पन्न करना चाहता हूँ। तू इस गर्भ के बालक को अभी यहीं जन दे। तुझे घृत कुल्या, पय कुल्या स्नान करा के शुद्ध रूप मे मै पुनः ग्रहण कर लूंगा।"

यह सुनकर तारा बडी लज्जित हुई। उसे अपने पति के सामर्थ्य का पता था। वह जानती थी कि बात न मानने पर उसके पति उसे तुरन्त भस्म कर देंगे। इसलिए उसने उस गर्भस्थ बालक को तुरन्त त्याग दिया। वह बच्चा अत्यन्त सुन्दर था।

उसका मुख-मडल पूर्ण चन्द्र के समान चमक रहा था। सुवर्ण के सदृश उसका वर्ण था। वह देखने वालो के मन को स्वत. ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। उसे देखकर चन्द्रमा ने कहा—"ना पुत्र मेरा है, अत. इसे मुझे दे जाओ।"

जब तक पुत्र का मुख नही देखा था, तब तक तो बृहस्पति जी उसे दूसरे का बता रहे थे। इतने सुन्दर पुत्र को देखकर उन्हे भी लोभ हो आया। वे बोले—'वाह, यह बात अच्छी रही। स्त्री मेरी है, तो पुत्र भी मेरा ही है।"

इस पर चन्द्रमा बोले—'देखिये, अन्याय न कीजिये। वृक्ष मे बीज ही प्रधान माना जाता है। जिसका बीज, उसका वृक्ष न्यायत. पुत्र मेरा है।"

बृहस्पति बोले—"तुम्हारा कैसे है ? मेरा है जी !"

चन्द्रमा और बृहस्पति के विवाद को देख और सुनकर बूढे-बूढे ऋषियो को बडी लज्जा आई। वे तारा के समीप गये और अत्यन्त ही प्यार के साथ बोले—'बेटी ! सत्य-सत्य बता दे, यह बच्चा किसका है।"

सब के सम्मुख ऐसा प्रश्न सुनकर तारा अत्यन्त लज्जित हुई। वह सिर नीचे कर चुपचाप खडी-खडी, पैर के अगूठे के नख से भूमि को खोदती रही। उसने कुछ भी उत्तर नही दिया।

इस पर एक बूढे से ऋषि ने कहा—'बेटी ! लजाने की कोई बात नही। जैसे-तैसे तो युद्ध टला है अब इस बच्चे के लिये फिर युद्ध हो जायगा। चन्द्र और गुरु—दोनो ही क्रोध मे भरे हैं। तेरे ही हाथ मे अब निर्णय है। यदि चन्द्र का हो तो 'हाँ' कर दे, चन्द्र का न हो 'ना' कर दे।

इतना सुनकर तारा ने न 'हाँ' किया, न 'ना'। वह ऐसा बच्चा दिव्य था। गर्भ मे ही उसे सब ज्ञान हो

जब उसने देखा कि उसकी माँ, व्यर्थ की लज्जा मे बात बढा रही है, तब वह लाल-लाल आँख करके क्रोध मे भर कर बोला, 'माँ तुम्हे अपने कृत्य पर लज्जा आनी चाहिये। भरी सभा में तुम मेरा अपमान करा रही हो। जो सत्य बात हो, उसे बता क्यो नही देती ? अब व्यर्थ की लज्जा करने से लाभ ही क्या है ? ये सब तो सर्वज्ञ ऋषि हैं।"

अपने सद्य जात पुत्र के मुख से ऐसी बात सुनकर तारा और भी अधिक लज्जित हुई। सभी लोग उस नवजात पुत्र के मुख मे ऐसी बुद्धिमानी की बात सुनकर विस्मित हुए। बूढे बाबा ब्रह्मा ने जब देखा कि तारा अत्यधिक लज्जित हो रही है, तब वे उसे चुपचाप एकान्त मे ले गये और बडे ममता भरे स्वर मे पुचकारते हुए बोले—'बेटी ! लजाने की कोई बात नही। तेरा तो कुछ अपराध ही नही। तू इतना ही बता दे, किसका है यह बालक।"

नीचा सिर किये-किये ही अत्यन्त लज्जा के साथ आखो में आँसू भरकर तारा ने इतना ही कहा—"चन्द्रदेव का।,, .

अब क्या था ! प्रधान न्यायालय का निर्णय मिल गया। ब्रह्माजी ने आकर सबको अपना निर्णय सुना दिया—"देखो भाई, बृहस्पति जी का इस बच्चे पर स्वत्व न्यायतः नहीं। यह बच्चा चन्द्रमा का है।"

इतना सुनते ही दौडकर चन्द्रदेव ने बच्चे को गोद मे उठा लिया। वे बार-बार उसका मुख चुम्बन करने लगे। चन्द्रमा की गोद में बुध इसी प्रकार लगते थे, मानो करुण-रस की गोद मे वात्सल्य क्रीडा कर रहा हो। सभी इस दृश्य को देखकर वात्सल्य-रस का आस्वादन करने लगे। ब्रह्माजी सबसे पूजित होकर ब्रह्मलोक को चले गये। बृहस्पति जी अपनी पत्नी तारा

को लेकर स्वर्ग की ओर चल दिये। देवताओं ने भी गुरु का अनुगमन किया। शुक्राचार्य को आगे करके सब असुर भी पाताल को प्रस्थान कर गये। शिवजी कैलाश की ओर अपने भूत-प्रेत पिशाचों के साथ चले गये। बुध को लेकर चन्द्रमा भी अपने चन्द्रलोक में जाकर आनन्द पूर्वक रहने लगे।

कुछ काल के पश्चात् बुध ने अपने पिता चन्द्रदेव से कहा—"पिताजी! मेरी इच्छा तप करने की है। आपकी आज्ञा हो, तो मैं निर्जन वन में जाकर घोर तप करूँ।"

तप की बात सुनकर चन्द्रमा अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स! तुम्हारा विचार बहुत ही उत्तम है। तुम जो इतना वैभव देख रहे हो, यह सब तप द्वारा ही मुझे प्राप्त हुआ है। चन्द्रलोक का समस्त ऐश्वर्य ब्रह्माजी ने मुझे तप से ही प्रसन्न होकर दिया है। मेरी गणना ग्रहों में की गई है। तुम भी घोर तप करके ग्रहत्व प्राप्त कर सकते हो।"

अपने पिता की अनुकूल सम्मति पाकर बुध को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे चन्द्र के चरणों में प्रणाम करके उत्तर दिशा में जा सुमेरु के समीप घोर तप करने लगे। वे कंठ तक जल में खड़े होकर निरन्तर जप करते रहते थे। एक तो वे वैसे ही बहुत अधिक सुन्दर थे, किन्तु तपस्या के प्रभाव से उनकी सुन्दरता और निखर गई थी। उनका तप-पूत मुख मण्डल शरद्कालीन चन्द्रमा को भी लज्जित करने वाला था वे अपने प्रकाश से वन की सभी दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे। वहीं उनके एक लड़का पुरूरवा हुआ, जो गङ्गा-यमुना के संगम पर अवस्थित प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के राजा हुए। उन पुरूरवा के महाराज सुद्युम्न माता भी थे और पिता भी।

यह सुनकर शौनक जी बोले—'सूतजी! आपने

कहा, पुरूरवा बुध के पुत्र थे। अब आप कह रहे हैं, वे महाराज सुद्युम्न के पुत्र थे। यह विरोध वाली बात कैसी! फिर आपने कहा—"सुद्युम्न पिता भी थे और माता भी।" भगवान् के लिए तो कहा जा सकता है, "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" तुम ही माता हो, तुम ही पिता हो, किन्तु एक मनुष्य माता-पिता दोनों कैसे हो सकता है? पिता वीर्य वपन करता है, माता गर्भ धारण करती है। माता पिता नहीं हो सकती; पिता माता नहीं बन सकते। महाराजा पुरूरवा के सुद्युम्न माता और पिता दोनों ही कैसे हुए?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—'मुनियो! यह सब भोले बाबा के कौतुक हैं। उन्हें ही ऐसी ऊट-पटांग बातें सूझती हैं। वे ही चाहें तो स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बना सकते हैं। महाराज पुरूरवा की उत्पत्ति विचित्र ढंग से हुई। वे मातृ-सम्बन्ध से तो सूर्यवंशी हैं और पितृवंश से चन्द्रवंशी। सत्य बात तो यह है कि चन्द्रवंश का आरम्भ इनसे ही हुआ। यही सूर्यवंश से चन्द्रवंश को पृथक् करने वाले महाराज हुए। मैं इनकी उत्पत्ति की कथा सुनाता हूँ। आप सब इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

पूँछ-तोछ विधि करी भेद तारा बतलायो।
जानि चन्द्र को तनय तुरत बुध तिन्हें दिवायो॥
गुणी तपस्वी परम सुघर बुध वन महँ तप हित।
निवसैं तबई फँस्यो इला महँ चन्द्र-पुत्र-चित॥
मनु कुमार सुद्युम्न इक, दिवस सेन सजि बन गये।
तहँ शिवजी के शाप तैं, छोरा तैं छोरी भये॥

बुध-पुत्र पुरूरवा

[७२१]

अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम् ।
स्त्रीभिःपरिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान् बुधः ॥
सापि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम् ।
स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम् ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १ अ० ३४, ३५ श्लो०)

छप्पय

घोड़ा घोड़ी भये लोग सब भये लुगाई ।
नर तैं कैसे नारि बने सुधि बुधि बिसराई ॥
परम सुन्दरी भई फिरें इत-उत सब वन महँ ।
इला रूप सर काम घुस्यो श्री बुध के मन महँ ॥
सैननि के संकेत तैं, सट्ट-पट्ट कछु ह्वै गई ।
सहमत देऊ ई भये, इला वधू बुध की भई ॥

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! राजा सुद्युम्न जब स्त्री होकर बुध के आश्रम के समीप अन्य स्त्रियों के सहित विचरने लगे, तब उन स्त्री-रत्नों को देखकर भगवान् बुध ने उन्हें अपनी बहू बनाने की कामना की, उस सुन्दर भौंहवाली स्त्री ने भी चन्द्रतनय बुध को अपना दुल्हा बनाना चाहा । उन्हीं से बुध द्वारा पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुए ।"

अदृष्ट कहकर नही आता। कौन चाहता है, हम दुखी हो? किन्तु न चाहने पर भी दुख तो आ ही जाता है। इच्छा न करने पर भी रोग शरीर मे आ ही जाता है। भाग्य को जो अपने पुरुषार्थ से, तप से, प्रभाव से मेटना चाहते हैं, वे सर्वथा सफल नही होते। इसीलिये भगवद् भक्त भाग्य को मेटने का प्रयत्न नही करते। वे भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं—'हे प्रभो! पूर्व कर्मो के अनुरूप जो होने वाला हो, वह अवश्य हो। हम भाग्य को मेटने की प्रार्थना नही करते। हमारी प्रार्थना तो एक-मात्र यही है कि हम कही भी रहे किसी भी दशा मे रहें, आपके चरणो के आश्रय मे रहे, आप के नामो का चिंतन करते रहे।' भगवद् भक्त सिद्धि दिखाकर प्रकृति के काम मे हस्तक्षेप करने की व्यर्थ चेष्टा नही करते। इस विषय मे एक कथा है।

दो भगवद् भक्त महात्मा थे, कही दक्षिण देश की यात्रा कर रहे थे। मार्ग मे उन्हे एक तीसरे साधु मिले। उन्होने भी साथ चलने की प्रार्थना की। उन वैष्णवो ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। अब ये तीन हो गये। नये आये हुए साधु का पचभूतो पर अधिकार था। वे जल का स्तभन कर सकते थे। वायु को रोक सकते थे। आगे चलकर वे वैष्णव एक स्थान पर वन में खुले स्थान मे भोजन बनाने लगे। उसी समय उन्होने देखा, बडे वेग से आँधी आ रही है। इन नवीन आगन्तुक सत ने देखा कि आँधी आई तो सब दाल भात धूल-मय बन जायगा। इसलिये वे जिधर स आँधी आ रही थी, उधर एक तृण लेकर खडे हो गये। तृण को देखकर वायु बीच स फट, गई। इधर की वायु इधर निकल गई उधर की उधर। रोटी बनाने वाले वैष्णवो को वायु लगी ही नही।

यह देखकर वैष्णवो को बडा बुरा लगा। उन्होने उन

"आगन्तुक सन्त से कहा—"आपने दैवी काम उचित नही किया, आप हमारे साथ न रहे चाहे जहाँ चले जायँ।"

इस पर आचार्य प्रकटे करते हुए सत ने कहा—"मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है जिससे आप मेरा परित्याग कर रहे हैं? जब मै साथ हूँ, तब से अपनी बुद्धि से मैंने आप का कोई अपकार नही किया। मैंने तो वायु को फाडकर आपका उपकार ही किया, नही तो आपका दाल-भात धूलमय बन जाता, आप सब भूखे रह जाते।"

यह सुनकर उनमे से जो बूढे वैष्णव थे, वे बोले—"दाल-भात मे मिट्टी मिल जाती, तो वह किरकिरा ही तो हो जाता। इससे खाने मे हमे तनिक कष्ट होता। कष्ट से ही कठ के नीचे उतार लेते। न उतरते तो आगे चलकर पुन बना लेते। आप को इस प्रकार अपने स्वार्थ के लिये सिद्धि का प्रयोग न करना चाहिए। भगवान् के सभी कार्यो मे प्राणियो का मगल ही छिपा रहता है। सम्मुख जो समुद्र है, उसमे एक जहाज डूब रहा है। उसमें बैठे सहस्रो स्त्री पुरुष आर्तभाव से भगवान् की स्तुति कर रहे हैं। उसी पोत मे धक्का देने यह वेगवती वायु जा रही है। आप ने इसे बीच मे से फाडकर इसके वेग को कम कर दिया आपने दैवी कार्य मे व्यर्थ हस्तक्षेप किया है। अत. आप हमारे साथ रह नही सकते।"

यह सुनकर वे सन्त बडे प्रसन्न हुए। आगे से उन्होने ये सिद्धियाँ त्याग दी। दैव के भरोसे रहकर भगवत भजन मे वे निमग्न रहने लगे। इसीलिये श्रेष्ठ पुरुष सिद्धियो का प्रयोग नही करते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझ से बुध-पुत्र पुरूरवा की उत्पत्ति का प्रश्न पूछा था। आपने शका की थी पुरूरवा

के माता-पिता दोनो ही सुद्युम्न कैसे हुए। मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर देता हूँ। आप इस प्रसंग को समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।

विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु की श्रद्धा-नामक पत्नी में इक्ष्वाकु नृग, शर्याति दिष्ट, धृष्ट, करूप, नरिष्यत, पृषध्र, नभग और कवि—ये दश पुत्र हुए। इन सब का वर्णन मैं सूर्य-वंश के प्रसङ्ग मे ही कर चुका हूँ। जब महाराज के इक्ष्वाकु प्रभृति पुत्र पैदा नही हुए थे तब तक उनकी पत्नी सन्तान-रहित थी बहुत दिनो तक कोई सन्तान महाराज मनु के नही हुई, तब वे चिन्तित हुए। मुनियो! गृहस्थियो को पुत्र की बडी लालसा रहती है। पुत्र के बिना गृह सूना-सूना दिखाई देता है। पुत्र ही घर का दीपक है। सन्तानहीन घर मे और स्मशान मे अन्तर ही क्या? सन्तान के लिये सद्गृहस्थ दान, धर्म, आदि अनेक उपाय करते हैं। महाराज मनु ने भी अपने कुल गुरु भगवान् वसिष्ठ को बुलाकर उनसे प्रार्थना की— प्रभो! मेरे कोई सन्तान नहो, आप ऐसा कोई पुण्य-कार्य बतावें, जिससे मेरे सन्तान हो जाय।"

इस पर वसिष्ठ जी ने कहा—"राजन्! आप चिन्ता न कर। हमारे मन्त्रो की शक्ति अमोघ है। देवता भी मन्त्र के ही अधीन हैं। हम आपके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करेंगे। उसके प्रभाव से निश्चय ही आपके पुत्र हो जायगा।"

राजा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"प्रभो! आप मुझे उपदेश दें, मुझे क्या-क्या करना होगा। जो सामग्री आवश्यक हो, उसके लिये आज्ञा दें। मुझे किस नियम से रहना होगा?"

भगवान् वसिष्ठ ने कहा—"यज्ञ की समस्त सामग्रियों को

तो मैं मंगा ही लूँगा। आप पति पत्नी को केवल दुग्ध पीकर रहना होगा।"

भगवान् वसिष्ठ की आज्ञा से रानी-सहित राजा ने यज्ञ की विधिपूर्वक दीक्षा ली। वसिष्ठ जी ने सन्तान की कामना से एक यज्ञ कराया, जिसमे मित्रावरुण की प्रधानता थी। राजा-रानी केवल दुग्ध का ही आहार करते थे। भगवान् की इच्छा, विधि का विधान, रानी को यज्ञ के बीच मे ही ऐसी इच्छा हुई कि मेरे पुत्र न होकर पुत्री ही हो। इसीलिये वह चुपके से होता के पास अकेले ही गई और प्रणाम करके बोली—'भगवन्! मेरी एक प्रार्थना है आप उसे स्वीकार कर लें तो मैं वह निवेदन करूँ।"

होता ने कहा—"महारानी जी! आप कैसी बातें कर रही हैं? यहाँ तो हम आपके अधीन ही हैं। आप जैसा कहेंगी, वैसा ही हम करेंगे।'

रानी ने कहा—"मेरी इच्छा पुत्री प्राप्त करने की है। आप ऐसा मन्त्र पढे कि मेरे पुत्र न होकर पुत्री ही हो। राजा पुत्र चाहते हैं, अत आप उनसे यह बात न कहे।"

होता ने कहा—'अच्छी बात है! हमे क्या! हम पुत्र का मन्त्र न पढकर पुत्री का पढ देंगे। आप जब मना करती हैं तब महाराज से भी हम यह न कहेंगे। आप निश्चिन्त रहे, आपके निश्चय ही पुत्री पैदा होगी।"

इतना सुनकर महारानी बडी प्रसन्न हुई। होता का दान-मान से सत्कार करके वे चली गई। जब मुख्य कार्य कर्ता को ही फोड लिया जाता है, तब काम गडबड हो ही जाता है। होता ने चुपके से पुत्री का मन्त्र पढ दिया। इसलिये राजा के छोरा न होकर छोरी ही हुई।

महाराज को तो पूर्ण आशा थी कि मेरे पुत्र उत्पन्न

क्योंकि मन्त्रो की शक्ति अमोघ है। किन्तु जब उन्होंने सुना कि मेरे पुत्र न होकर पुत्री हुई है, तब तो वे उदास हो गये। वसिष्ठ जी ने आकर उसका नाम इला रखा।

तब उदास होकर राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! हम तो सदा से यही बात सुनते आये हैं, कि आपके मन्त्र अमोघ होते हैं। आप जो भी संकल्प करते हैं, वही ज्यो-का-त्यों पूर्ण, होता है, किन्तु अब मुझे मन्त्रो की अमोघता पर कुछ सन्देह होने लगा है।"

वसिष्ठ जी ने कहा—"राजन् ! आपको हमारे मन्त्रो पर सन्देह क्यों हुआ ?"

मनु बोले—"ब्रह्मन् ! मैंने पुत्र की कामना से इष्टि की थी। आपने भी कहा था—पुत्र ही होगा। किन्तु पुत्र न होकर मेरे पुत्री ही हुई। आप वेदज्ञ ब्राह्मणों के वाक्य विपरीत फल देने वाले कैसे हो गये ? यह प्रसिद्ध है कि देवताओं के और मन्त्र शास्त्र के ज्ञाता जितेन्द्रिय तप.पूत निष्पाप ब्राह्मणों के वचन असत्य नही होते। इसमे तो प्रत्यक्ष असत्य है।"

यह सुनकर वसिष्ठ जी ने कहा—"हाँ, राजन् ! मैं भी यह सोच रहा था, कि हमारा यह संकल्प विपरीत फल देने वाला क्यों हुआ। यह इला कन्या क्यों हुई ? अच्छी बात है, मैं ध्यान-मग्न होकर इसके कारण को देखता हूं।"

यह कहकर मुनि ने ध्यान लगाया। ध्यान से सब बातें जान कर वे बोले—"राजन् ! मैं सब समझ गया। घर का भेदी ही अनर्थ कर देता है। यह आपकी पत्नी का काम है। रानी के कहने से होता ने पुत्री की कामना से समाहित चित्त होकर वषट्-कार का उच्चारण करते हुए हवि छोड़ी थी, इसी से सब गुड़ गोबर हो गया।"

राजा ने कहा—"तब अब क्या हो ? अब कोई ऐसा मन्त्र नही, जो लडकी से फिर लड़का हो जाय ?"

वसिष्ठ जी ने कहा—"है क्यो नही ? हमारे मन्त्रो मे सब शक्तियाँ हैं। मैं अभी इस लडकी को लडका करता हूँ, चिन्ता न करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह कहकर भगवान् वसिष्ठ ने 'इला को पुरुषत्व प्राप्त हो' इस सकल्प मे पुराणपुरुष पुरुषोत्तम की प्रार्थना की, वेद-मंत्रो द्वारा उनकी स्तुति की। वाछा-कल्पतरु भक्तवत्सल भगवान् वसिष्ठजी की प्रार्थना से प्रसन्न हुए। उन्होने उस इला नाम की पुत्री को पुत्र बना दिया। वही इला पुरुष होकर सुद्युम्न के नाम से प्रसिद्ध हुई। राजा पुत्र को देखकर परम प्रमुदित हुए। उन्होने बडा भारी उत्सव किया। कुमार सुद्युम्न शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढने लगे। शनै शनै वह युवा हो गये।

एक दिन कुमार सुद्युम्न अपने बहुत से सेवको को साथ लेकर पर्वतीय प्रान्त मे आखेट के निमित्त गये। वे स्वय बडे शूर-वीर थे, उनके साथी सभी सुशिक्षित तथा स्वामि-भक्त थे। कुमार अति सुन्दर कवच धारण किये हुए थे। हाथ मे धनुषबाण लेकर वे साक्षात् वीर-रस-से प्रतीत होते थे। कुमार का घोडा अति सुन्दर और दौडने मे सर्वश्रेष्ठ था। वह सिन्धु देश के उत्पन्न हुए अश्वो मे अच्छी नस्ल का था। बड़े उत्साह से सुद्युम्न उस पर चढ़कर चले। चलते-चलते वे बहुत दूर निकल गये। हिमालय को लांघकर वे सुमेरु पर्वत की तलहटी मे आ गये। वहाँ उन्होने एक हिरण को देखा। उसे देखते ही राजा ने अपना घोडा उसके पीछे दौडा दिया। वह बडा बली था, अत्यन्त ही वेग से छलांगें मारता हुआ दौड रहा था। राजा पूरी शक्ति से

घोड़े को दौड़ा रहे थे। अन्त में मृग सुमेरु प्रान्त के किसी अरण्य में घुस गया और तुरन्त अदृश्य हो गया। राजा ने जब देखा, मेरा शिकार मेरे हाथ से निकल गया, तब तो वे निराश होकर किंपुरुष खण्ड में इधर-उधर घूमने लगे। कुछ देर में उनके साथी-सैनिक-सचिव सभी आ गये। सब को साथ लेकर वे उस हरे-भरे प्रान्त में भ्रमण करने लगे। कुछ दूर चल कर वे देखते हैं कि उनके सम्पूर्ण शरीर में स्त्रियों के सब चिह्न उत्पन्न हो गये। वे पुरुष से स्त्री बन गये। यही नहीं, उनके घोड़े घोड़ी बन गये, हाथी हथिनियाँ हो गईं। सब-के-सब सैनिक भी पुरुष से स्त्री बन गये। यहाँ तक कि सभी अपने नाम, गोत्र तथा पुरुष होने के अभिमान को भी भूल गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उस स्थान में ऐसी कौन-सी शक्ति थी, जिसके कारण सब के सब स्त्री बन गये। सुद्युम्न स्त्री हो जाते, तब तो कोई बात ही नहीं थी क्योंकि वे तो कन्या बनकर उत्पन्न ही हुए थे। किन्तु और सब-के सब किस कारण स्त्री बने, कृपा करके इस कथा को मुझे सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! मैं इसका कारण आपको बताऊँगा। इस विषय में जो एक कथा है, पहिले उसे ही आप श्रवण करें। उसी से सब भेद आपको मालूम पड़ जायगा। अच्छा, तो सुनिये उस कथा प्रसंग को।

जब शिवजी पार्वती के साथ विवाह करके हिमालय पर ही रहने लगे तब वे पार्वती जी के साथ एकान्त वन में भाँति-भाँति की क्रीड़ा किया करते थे। भोजन, भजन और रति का सुख स्वाद एकान्त में ही मिलता है। पुष्पित सुन्दर सुघर वनों में निभृत निकुञ्जों में, पर्वतीय प्रान्तों में, सरिताओं में तटों पर पार्वती के साथ शिवजी विहार करने लगे। एक दिन एकान्त

आरण्य मे शिवजी किसी सघन वृक्ष की छाया मे विराजमान थे। भगवती पार्वती विवस्त्रा बनी उनके अक मे विराजमान थी। उसी समय बहुत लम्बी-लम्बी दाढी जटाओ वाले फलाहारी, दुग्धाहारी, ब्रह्मचारी, तपस्वी मुनि शिवजी के दर्शन के लिये वहाँ आये। पार्वती जी ने जब देखा कि ये जङ्गली भैंसे के से चर्म वाले ज्ञान प्रधान बूढे-बूढे ऋषि शिवजी की ही ओर आ रहे हैं, तब तो वे अत्यन्त लज्जित होकर शिवजी की गोद से उठ कर किसी निभृत निकुञ्ज मे जाकर छिप गई।

ऋषियो को अपनी भूल मालूम हुई। उन्होने सोचा—"यह तो पार्वती रमेश्वर के रमण का समय है इस समय दर्शन के लिये जाना उचित नही" यह सोचकर वे उलटे पैर लौट गये। विवस्त्रा स्त्री को देखना दोष है, उसी लिये सब ज्यो के त्यो भगवान् नर नारायण के तपस्या स्थान बदरिकाश्रम की ओर चले गये और भगवान् के दर्शनोपरान्त प्रेमवश हुए अपने मानसिक दोष के लिये भगवान् से क्षमा याचना की।

इधर जब ऋषि चले गये, तब पार्वती जी ने आकर कहा—"महाराज! ये नीरस लोग आकर रङ्ग मे भङ्ग कर देते है।"

शिवजी ने कहा—'यह तो सृष्टि ही ऐसी है। कही भी जाओ, कोई-न-कोई तो वहाँ आ ही जायगा।"

पार्वती जी ने कहा—"कितन एकान्त मे आकर हम यहाँ बैठे हैं। फिर भी ये आर्त-जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी कँगले आकर घेर ही लेते है। इनके कारण रस का आस्वादन नही होता।"

शिवजी ने कहा—'तब क्या?"

पार्वती जी ने कहा—"मधुर रस मे आलम्बन स्त्री ही है। रस का आस्वादन वैसे तो परस्पर मे होता है, किन्तु स्त्री-हृदय

अत्यधिक सरस होता है। स्त्री, स्त्री से उतनी लज्जा भी नहीं करती। अत ऐसा कीजिये कि हमारे और आपके बीच कोई पुरुष न आने पावे। कोई स्त्री चाहे तो भले ही आ सकती है।"

शिवजी ने कहा—"यह तो असम्भव है। जहाँ पुरुष रहेंगे, वहाँ स्त्रियाँ आयेंगी ही और जहाँ स्त्रियाँ रहेंगी, वहाँ पुरुष का प्रवेश स्वाभाविक ही है।"

पार्वती जी ने कहा—"चाहे कुछ भी हो महाराज! पुरुष तो आप ही एक हैं। आप ऐसा कर कि इतने वन क्षेत्र मे स्त्रियो को छोडकर पुरुष का प्रवेश ही न हो। आपको छोडकर इस वन मे सब स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ रहे।"

शिवजी ने अपनी प्रिया को प्रिय करने की कामना से उनकी बात का अनुमोदन करते हुए कहा— 'मेरे अतिरिक्त जो भी कोई पुरुष-जाति का प्राणी इस वन की निश्चित सीमा मे आयेगा, वन नि सदेह स्त्री बन जायेगा।"

शिवजी के इस शाप या आशीर्वाद की बात सर्वत्र-फैल गई। तब से कोई भी पुरुष-जाति का प्राणी उस वन मे नही जाता था। महाराज सुद्युम्न को यह बात मालूम नही थी, वे अपने साथियो सहित आनन्द मे विहार करते हुए वहाँ पहुँच गये। वहाँ पहुँचते ही शिवजी का शाप फलीभूत हुआ। राजा अपने साथियो सहित स्त्री हो गये। स्त्री होने पर उनका सौन्दर्य शतगुण अधिक बढ गया। अब तो वे सुद्युम्न से इला रानी बन गये। इला अपनी सखी-सहेलियों के सहित छम-छम करती हुई एक वन से दूसरे वन मे घूमने लगी और अपनी अनुपम आभा से उस वन को आलोकित करने लगी। वे घूमती-फिरती उसी स्थान मे पहुँची, जहाँ चन्द्र-पुत्र बुध जल मे खडे होकर तप कर रहे थे। बुध भी अत्यन्त सुन्दर थे। तपस्या के कारण उनका मुख-मडल

दमक रहा था। उन्होंने जब इस अनुपम रूप लावण्य-युक्त चन्द्रमुखी ललना-ललाम को निहारा, तब वे सब जप-तप करना भूल गये। ईश्वर के रूप के स्थान मे इला का अनुपम रूप उनके मन मे बस गया। नेत्र फाड फाडकर उसकी ओर अपलक दृष्टि से निहारने लगे। इला भी सरोवर के तट पर खोई सी बैठ गई। उनके पैर आगे बढते ही नही थे। वह दृष्टि बचाकर बुध के तेजोमय मुख-मडल को बार-बार निहारती और अधीर हो जाती थी। जब वह बुध की दृष्टि मे भी सरसता और अनुराग देखती, तब तो उनका हृदय बाँसा उछलने लगता। बुध से अब नही रहा गया। अनुराग की मात्रा तो स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा अत्यधिक होती ही है, किन्तु साथ ही उनमे लज्जा का भी प्राबल्य होता है। लज्जा के कारण वे महसा अपने मनोगत भावो को वाणी द्वारा स्पष्ट प्रकट कर नही सकती। केवल हाव-भाव और चेष्टा द्वारा ही उसे अव्यक्त रीति से व्यक्त करती है। पुरुष निर्लज्ज होता है। स्त्रियो की अपेक्षा उसमे लज्जा कम होती है, इसलिये वाणी द्वारा प्रथम वही प्रस्ताव करता है।

बुध ने हाथ के सकेत से इला की एक सहचरी को बुलाया और उससे पूछा— 'देवि! तुम कौन हो? यह तुम्हारी स्वामिनी कौन है? इसका विवाह हुआ है या नही? तुम लोग इस वन मे क्यो घूम रही हो?'

इला की सहेली ने कहा—'देव! ये हमारी स्वामिनी हैं। हम सब इनकी सेविकाय हैं। इनका विवाह नही हुआ। ये पति की खोज मे ही घूम रही है। ये किस राजा की राजकुमारी हैं, इसका पता मुझे भी स्वय नही है।"

यह सुनकर बुध ने कहा—"देवि! मैंने अपना मन तथा स [illegible] तुम्हारी स्वामिनी के चरणो मे समर्पित कर दिया है।

ओर से उनसे प्रार्थना करो, मेरे ऊपर कृपा करें। मुझे स्नेहभरी दृष्टि से देखें।"

सहेली ने बुध का सन्देश इला से जाकर कहा। इला तो यह चाहती ही थी। दोनो एक दूसरे से मिले। बुध इला को सखियो सहित अपने सुन्दर आश्रम पर ले गये। बुध का छोटा-सा तो आश्रम, और स्त्रिया सहस्रो। वे इतनी भीड को रखकर क्या करते? उन्होने उन सब स्त्रियो को दूसरे-दूसरे पुरुषो को दे दिया। वे सबके सब एक-एक पुरुष की पत्नियाँ बन गईं। चन्द्र पुत्र बुध ने इला से विवाह कर लिया और वे उसके साथ आनन्द से सुखपूर्वक विहार करने लगे। कालान्तर मे इला गर्भवती हुई। उनके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बुध ने उसका नाम पुरूरवा रखा।

इधर जब मनु ने देखा, मेरा पुत्र सुद्युम्न अभी लौटकर नही आया, एक वर्ष से अधिक समय हो गया, तब तो वे बडे चिंतित हुए। उसी समय वीणा बजावत, हरि गुण गावत, देवर्षि नारद वहाँ आये। श्राद्धदेव मनु ने उनका स्वागत सत्कार किया और विनय के साथ पूछा—'ब्रह्मन्! आप चौदहो भुवन मे सदा घूमते रहते हैं। कही मेरे पुत्र सुद्युम्न को देखा हो तो बतावें।"

वह सुनकर हंसते हुए नारद मुनि बोले—"राजन्! अब सुद्युम्न कहाँ! अब तो उसकी वह देह ही नही रही।"

यह सुनकर दुःख प्रकट करते हुए मनु सभ्रम के साथ बोले—"ब्रह्मन्! मेरे पुत्र को मृत्यु कैसे हुई? हाय! वही एक मेरा पुत्र था कितने जप तप यज्ञ याग द्वारा मैने उसे प्राप्त किया था। वह यहाँ से उत्तर दिशा आखेट के निमित्त गया था। वहाँ उसकी मृत्यु किसी हिंसक जीव द्वारा हुई या युद्ध करते-करते उसने शरीर

को त्याग किया ? वह तो बडा बली था, सहसा किसी से समर मे पराजित होने वाला नही था।"

देवर्षि नारद ने कहा—'राजन्! वह मरा नही, जीवित है; किन्तु अब वह पुरुष नही, स्त्री है।"

मनु ने चकित होकर कहा—"ब्रह्मन् वह लडकी होकर ही उत्पन्न हुआ था। जैसे-तैसे तो लडकी से लडका बनाया गया, फिर किस अपराध स लडकी बन गया।'

नारदजी बोले—राजन्! यह सब भोले बाबा की कृपा है। शिवजी ठहरे औघडदानी, जिसने जो मांगा उसे वही दे दिया।"

मनु बोले—'तब महाराज! अब क्या हो ?"

नारदजी बोले—'हो क्या! अपने कुल पुरोहित को पुनः भेजो। फिर उसी उपाय का आश्रय लो।"

नारदजी की बात सुनकर वैवस्वत मनु ने ऋषियों को एकत्रित किया। वे बुध के आश्रम पर पहुँचे। ऋषियो ने वसिष्ठजी से कहा—"भगवन्! आप तो पहिले भी इन्ह स्त्री से पुरुष बना चुके हैं। अब फिर कुछ वही उपाय कीजिये।"

वसिष्ठजी बोले—'देखो मुनियो! काठ की हांडी बार बार अग्नि पर नही चडती। पहिले तो मैने कर दिया। यह है रुद्र की बात! कही उनका रूप रौद्र बन गया, तो सब गुड गोबर हो जायगा। इसलिये आप सब मिलकर शिवजी के निमित्त रुद्र याग करें। शिवजी प्रसन्न हो जायं तो चाहे जो कर सकते हैं।"

बुद्धजी ने जब देखा कि ये सब तो मेरी बहू को ही मुझेसे छीनने का प्रयत्न कर रहे हैं, तब उन्हे बुरा तो अवश्य ही लगा होगा! किन्तु वे सकोचवश कुछ बोले नही। वसिष्ठजी बड़ी सावधानी के साथ यज्ञ करने लगे।

उनकी उपासना से सन्तुष्ट होकर सदाशिव शंकर प्रकट हुए और बोले—"वसिष्ठजी ! तुम क्या चाहते हो ?"

वसिष्ठ बोले—"भगवन् ! मेरा यजमान पुन स्त्री से पुरुष हो जाय।"

यह सुनकर शिवजी ने अपनी अर्धाङ्गिनी पार्वती जी से सम्मति लेकर कहा—"देखो, भाई ! जो बात मै पार्वतीजी से कह चुका हूँ, उसे अन्यथा नही कर सकता। आज मैने यदि इसे स्त्री से पुरुष कर दिया, तो फिर सदा के लिये प्रचलन हो जायगा। हमारे घर मे ही मतभेद हो जायगा। इसलिये मै इसे सर्वथा पुरुष नही बना सकता। फिर भी मेरी आराधना व्यर्थ नही, होती इसलिए मै इतना किये देता हूँ, कि यह एक महीना, स्त्री रहेगा, एक महीना पुरुष।" यह बात मनु को तो अच्छी लगी नही, किन्तु, वसिष्ठजी बोले—'भैया ! जहाँ सर्वस्व नाश हो रहा हो वहाँ पण्डित जन आधे पर ही संतोष कर लेते हैं। इसलिये भगवान् जो दे रहे हैं, उसे ही ले लो। ये कही कुपित हो गये तो फिर यह भी न देंगे।"

अब मनु क्या करते ? उन्होने इसे स्वीकार किया। तुरन्त इला स्त्री से पुरुष हो गयी। वे चारो ओर देखने लगे। अपने सम्मुख वसिष्ठजी को देखकर वे आश्चर्य करने लगे। बुध के आश्रम पर अपने को देखकर वे पूछने लगे—'भगवन् ! मैं तो इस देश मे मृगया के निमित्त सैन्य सजाकर आया था। मेरे सब साथी कहाँ गये ? मेरे ये कुल-पुरोहित भगवान् वसिष्ठ और पिता जी यहाँ कैसे आ गये ?"

तब बुध बोले—"राजन् ! आप मृगया के निमित्त इस वन आये थे। मार्ग मे बड़े-बड़े आंधी पड़े। आप के सब सैनिक और वाहन ओलो से मर गये। आप भी घायल हुए थे यह सौभाग्य

की बात है, आप स्वस्थ हो गये। आप का समाचार पाकर ये इतने ऋषि-मुनि तथा आपके पिता यहाँ दौड़े आये। अब आप अपनी राजधानी में जायें। यह एक बड़ा सुंदर बालक है, इसे आप साथ लेते जायें। पुत्र की भाँति इसका पालन करें।" यह कहकर बुध ने पुरूरवा को सुद्युम्न को दे दिया। उस इतने सुंदर सुकुमार नृप को पाकर सुद्युम्न पर संतुष्ट हुए। पुत्र को लेकर ये प्रयाग की परम पुण्य भूमि प्रतिष्ठानपुर, झूसी, में आये। यहाँ आकर ये सुखपूर्वक राज-काज करने लगे। ये एक महीना तो पुरुष होकर राज-काज करते थे और एक महीना स्त्री होकर महल में छिपे रहते थे। उन दिनों राज-काज सब बन्द रहता था। शिवजी की कृपा से जब ये स्त्री होते, तब पुरुषपने की सब बातें भूल जाते और जब पुरुष होते तो स्त्रीपने की बातों को भूल जाते। कालान्तर में इनके उत्कल, गय और विमल—"ये तीन पुत्र और भी हुए।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हम यह जानना चाहते हैं कि ये—उत्कल, गय और विमल—पुत्र राजा की रानी के गर्भ से हुए या राजा के गर्भ से?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"अब महाराज! इसे तो आप अपनी योग-दृष्टि से ही देखकर समझ लें। मुझसे क्यों कहलाते हैं? सारांश यह है कि कैसे भी हो, राजा के चार पुत्र थे। इसीलिये ये पुरूरवा के माता भी थे, और पिता भी। शनैः-शनैः पुरूरवा बड़े हुए। वे राजा को महीने भर अन्तःपुर में छिपा देखकर संदेह करने लगे। प्रजा के लोग भी सुद्युम्न से सन्तुष्ट नहीं थे; क्योंकि वे एक महीना सभा में आते ही नहीं थे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुद्युम्न ने देखा, प्रजा उनसे

सन्तुष्ट न हो हैं, उनका पुत्र भी राज्य के योग्य हो गया है; वे उसे सिंहासन पर बिठाकर तपस्या करने वन चले गये। तब प्रतिष्ठानपुर के राजा पुरूरवा हुए।"

छप्पय

नृप पुरूरवा भये इलामहँ बुधसुत मनहर।
सुनि वशिष्ठ तहँ आइ शैव-मख कीन्हों सुन्दर॥
भये तुष्ट शिव कह्यों मास भरि नृप नर होवै।
रहै मास भरि नारि जाइ महलनि महँ सोवै।
प्रतिष्ठानपुर आइ गये, पुत्र विमल उत्कल भये।
नृप पुरूरवहिँ राज दै, तपहित पुनि वन महँ गये॥

पुरूरवा और उर्वशी

[७२२]

ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः ।
तस्य रूपगुणौदार्य शीलद्रविणविक्रमान् ॥
श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान् सुरर्षिणा ।
तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता ॥*
(श्री भा० स्क० १४ अ १५, १६ श्लो०)

छप्पय

प्रतिष्ठानपुर अधिप जगतमहँ अति ही सुन्दर ।
भूप रूप लखि धँस्यो उर्वशी हृदय काम शर ॥
निज ऊरू तैं प्रकट करी नारी-नारायण ।
भई उर्वशी श्रेष्ठ स्वर्ग को सुन्दर भूषन ॥
सो पुरुरवा रूप पै, भ्रमरी सम मोहित भई ।
अमृत इन्द्र, सुर स्वर्ग तजि, विह्वल ह्वै नृपपुर गई ॥

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! चन्द्र पत्र बुध से इला मे पुरूरवा का जन्म हुआ, जिसके सम्बन्ध मे मैं प्रथम कह ही चुका हूँ । देवर्षि नारद द्वारा स्वर्ग में उन महाराज पुरूरवा के रूप, गुण, औदार्य [illegible], सम्पत्ति, पराक्रमादि का वर्णन श्रवण करके उर्वशी अप्सरा कामबाण से बिद्ध होकर उनके समीप आई ।'

ससार मे सौन्दर्य ऐसा आकर्षक पदार्थ है कि एक नारायण ऋषि को छोडकर कोई भी इससे बच नही सका है। हृदय के स्थान पर जिसके पत्थर रखा हो और आँखो मे ज्योति न हो, स्पर्श इन्द्रिय जिसकी शून्य हो गई हो, उस जड प्राणी की बात तो छोड दीजिये; नही तो इस ससार मे ऐसा कोई व्यक्ति नही, जो सौंदर्य से आकर्षित न होता हो। ससार मे यह आकर्षण न हो, तो इस जगत का प्रवाह एक दिन भी न चले। यह ससार सौंदर्य के आकर्षण से ही रुका है। प्राणी एक दूसरे के सौंदर्य को देखकर आकर्षित होते है और परस्पर बंध जाते हैं। यदि आकर्षण न हो, तो बन्धन भी न हो। विश्व ब्रह्माण्ड, बालखिल्य, कार्तिकेय, वसिष्ठ, अगस्त्य, व्यास तथा और सबका प्राकट्य सौंदर्याकर्षण के ही द्वारा हुआ है। जब जीव किसी पर भी आकर्षित हो जाता है, तब अपने स्वरूप को भूल जाता है, अपने महत्व को त्याग देता है, अपना श्रेष्ठ जैसे भी प्राप्त हो, वैसे ही रहने को तत्पर हो जाता है। इष्ट की प्राप्ति तब तक नही होती, जब तक हम अपना सर्वस्व उसके ऊपर न्योछावर नही कर देते, अपनेपन को त्यागकर उसके अनुगत नही हो जाते। जल दूध मे मिलते ही अपने पूर्वरूप को त्याग देता है। तभी दो भिन्न वस्तुयें मिलकर एक होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज सुद्युम्न अपने पुत्र पुरूरवा को प्रतिष्ठानपुर की गद्दी पर बिठाकर, वन को चले गये, तब महाराज पुरूरवा प्रतिष्ठानपुर के राजा हुए। वे इतने सुंदर थे कि स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी, इनके सौंदर्य पर मुग्ध होकर, स्वर्ग के सभी सुखो को छोडकर, पृथ्वी पर आकर, इनकी पत्नी बनी।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह स्वर्गीय

अप्सरा उर्वशी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा कैसे हुई और फिर वह स्वर्ग के देवताओं को छोड़कर पृथ्वी के एक राजा की पत्नी कैसे हुई ? कृपा करके पहिले मेरे इन प्रश्नों का उत्तर देकर तब आगे की कथा कहें।"

सूतजी बोले—"भगवन् ! आपने ये अति उत्तम प्रश्न किये। पहिले मैं आपको उर्वशी की उत्पत्ति की कथा सुनाकर तब उस प्रसंग को सुनाऊँगा, जिसमें उर्वशी का स्वर्ग त्याग करके पृथ्वी पर आने का वृत्तान्त है। पहिले आप उर्वशी की उत्पत्ति को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

प्रजापति धर्म से भगवती मूर्ति के गर्भ से भगवान् नर-नारायण का अवतार हुआ। ये दोनों ही तपस्या करने हिमालय पर्वत के अन्तर्गत गन्धमादन पर्वत पर चले गये और गन्धमादन पर्वत पर, जहाँ विशालापुरी है, बदरिकाश्रम है, जहाँ शान्त जलवाहिनी भगवती अलकनन्दा बहती हैं और उनसे उष्ण जलवाहिनी भगवती अनल गङ्गा (तप्त कुंड)। उनमें मिलती हैं, उस स्थान पर जाकर घोर तप करने लगे। उन दोनों ऋषियों की तपस्या देख कर देवेन्द्र चिन्तित हुए। उन्होंने अपने सखा कामदेव और मलयानिल को बुलाकर कहा—"तुम लोग गन्धमादन पर्वत पर जाकर नर-नारायण दोनों ऋषियों की तपस्या में विघ्न करो। जिन अप्सराओं को आप चाहें, ले जायें। इन्द्र की बात सुनकर कामदेव मेनका, तिलोत्तमा, विप्रचित्ति, आदि स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सराओं को लेकर भगवान् नर-नारायण के तपोवन में आये। दोनों भाई ध्यान मग्न थे। वहीं आकर अप्सरायें भाँति-भाँति की काम-क्रीड़ायें करने लगीं। कोई फल तोड़ने लगी, कोई पुष्प चुनने लगी, कोई हँसने लगी, कोई खेलने लगी, कोई गाने लगी, कोई नाचने लगी, कोई ताल देने लगी, साराश कि भाँति-भाँति

की क्रीडायें करके वे उन दोनों भाइयो को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रबल प्रयत्न करने लगी। उसी समय 'नर' की आँखें खुल गईं। इतनी सुन्दरी स्वर्गीय अप्सराओ को देखकर उनका चित्त चचल हो उठा। नारायण भगवान् ने भी दृष्टि उठाकर इस कृत्य को देखा। वे अपने भाई नर के मनोगत भावों को समझ गये। तुरन्त ही उन्होने आम्र की एक मञ्जरी के रस से अपने ऊरू पर एक स्त्री का चित्र अकित किया। तुरन्त ही उसमे एक अनुपम रूपलावण्य-युक्त ललना उत्पन्न हो गई। वह इतनी सुन्दरी थी, कि उसके समान सुन्दरी स्त्री देवताओ में, किन्नरों तथा साध्यों मे कही भी देखने मे नही आई। वह साकार सुन्दरता ही प्रतीत होती थी, उसकी आभा के सम्मुख स्वर्ग की समस्त अप्सरायें फीकी-फीकी सी दिखाई देने लगी। उसके सौन्दर्य को देखकर रति भी लज्जित होती थी। कामदेव का मुख फीका पड गया। उन्होंने भगवान् से क्षमा-याचना की और अप्सराओ को साथ लेकर स्वर्ग चले गये। स्वर्ग मे जाकर इन्द्र ने पूछा—"कहो भाई तुम नर—नारायण—दोनों ऋषियो के तप में विघ्न कर आये ?"

इस पर काम ने कहा—"देवराज हम जीवित लौट आये, यही क्या कम है ? उन ऋषियो के सम्मुख ये स्वर्ग की अप्सरायें तो अत्यन्त तुच्छ हैं। आम्र की मञ्जरी के रस से अपनी ऊरू पर चित्र बनाकर भगवान् नारायण ने ऐसी सुन्दरी अप्सरा पैदा की कि उसके समान सुन्दरी स्त्री त्रिभुवन में कोई भी नही। वही संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है।"

उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर देवराज की इच्छा उस स्त्री-रत्न के दर्शनों की हुई। वे तुरन्त अपने विमान पर चढकर नर-नारायण की तपोभूमि बदरिकाश्रम में आये। वहाँ उन्होंने

आश्रम के समीप सौन्दर्य की घनीभूत राशि उर्वशी अप्सरा को देखा। वे उसे देखते ही अपने आप को भूल गये। आकर उन्होंने भगवान् नर-नारायण के पाद-पद्मों में प्रणाम किया और अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना की। भगवान् ने तो काम क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली थी। अत. इतने अपराध करने वाले इन्द्र पर भी उन्होंने क्रोध नहीं किया--उल्टे उनका बड़ा स्वागत सत्कार किया। इन्द्र की दृष्टि तो उस उर्वशी अप्सरा में लगी हुई थी। वह मधुकरी की भाँति इधर से उधर छम-छम करती हुई घूम रही थी। इन्द्र के मनोगत भाव को समझ कर भगवान् उससे बोले -"देवराज! यदि आप चाहें, तो इस अप्सरा को अपने यहाँ ले जायँ।

यह सुनकर इन्द्र के तो रोम-रोम खिल उठे। अंधे को क्या चाहिये, दो आँखें ही तो? अत्यन्त ही नम्रता के साथ प्रसन्नता प्रकट करते हुए इन्द्र बोले— 'प्रभो! आपकी कृपा का मैं अत्यन्त ही आभारी हूँ। यह अप्सरा मेरे यहाँ की सभी अप्सराओं की मुकुट-मणि बनकर रहेगी। इसके कारण मेरे स्वर्ग की शोभा सहस्रों गुनी बढ़ जायगी। ऐसी श्रेष्ठ ललना तो स्वर्ग में ही रहने योग्य है।"

यह सुनकर भगवान् ने उर्वशी को इन्द्र के लिये दे दिया। इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न होकर उर्वशी को लेकर स्वर्ग आये। उर्वशी अत्यन्त ही भोली थी। उसे कुछ भी नाचना-गाना नहीं आता था अतः इन्द्र ने तुम्बरु गन्धर्व को आज्ञा दी कि वह उर्वशी को संगीत शास्त्र की सर्वोच्च शिक्षा दे। देवराज की आज्ञा पाकर तुम्बरु गन्धर्व उर्वशी को शास्त्रीय विधि से नाचना, गाना और बजाना सिखाने लगा। कुछ ही काल में उर्वशी संगीत-शास्त्र में सभी स्वर्गीय सुर सुन्दरियों से सर्वश्रेष्ठ संगीत विशारदा बन

गई। एक दिन तुम्बरु अपनी शिक्षा की परीक्षा के निमित्त उर्वशी को इन्द्र की सभा मे लाये। और उससे नृत्य दिखाने को कहा। अपने शिक्षक की बात पाकर उर्वशी नृत्य करने को उद्यत हुई।

उस समय इन्द्र की सभा खचाखच भरी थी। उसमें देवता ऋषि, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, उरग, किंपुरुष, विद्याधर, नाग तथा मनुष्य—सभी विराजमान् थे। प्रतिष्ठानपुर के अधिपति महाराज पुरूरवा भी उस सभा में विराजमान थे। वे अपने तेज प्रभाव और योग के कारण बिना किसी अपराध के स्वर्ग चले जाते। इन्द्र उन्हे अपना आधा आसन बैठने को देते। नृत्य करते-करते उर्वशी की दृष्टि महाराज पुरूरवा के ऊपर पड़ी। वह उनके अद्भुत रूप लावण्य और शील स्वभाव को देखकर उन पर मुग्ध हो गई उसने मन ही मन उनको आत्म समर्पण कर दिया। यह उनके अनुपम रूपासव को पान करके ऐसी प्रमत्ता हो गई कि सब नृत्य कला भूल गई। उसका पैर उठता था, किन्तु उसका मन वहाँ नही था। वह अशुद्ध नृत्य करने लगी। ताल और लय को बार-बार भूल करने लगी। इस तुम्बरु को बड़ा क्रोध आया। वह सोचने लगा—"भूल यह कर रही है, देवराज क्रुद्ध मुझ पर होंगे। मेरी ही सर्वत्र अपकीर्ति होगी, कि मैं इसे शुद्ध शिक्षा न दे सका। इसलिये कई बार उसने संकेत से उर्वशी को टोका, किन्तु वह अपने आपे मे तो उस समय थी ही नही। कामबाण से विद्ध होकर घायल हुई वह आत्म-विस्मृत बनी हुई थी। जब बार-बार संकेत करने पर भी उर्वशी ने नही माना, तो कुपित होकर तुम्बरु गन्धर्व ने उसे शाप दिया—"तू स्वर्गीय ललना होकर एक मर्त्यलोक के मनुष्य पर आसक्त हो गई है। जा, तुझे कुछ काल मर्त्यलोक में रहना पड़ेगा। तू जिस राजा

का चिन्तन कर रही है, उसी की पत्नी बनकर तुझे पृथ्वी पर रहना पडेगा।" उर्वशी ने इस गन्धर्व के शाप को आशीर्वाद ही माना। उसे अमृत पान की, देवताओं के स्वर्ग से अपने भ्रष्ट होने की, कुछ भी चिन्ता नहीं थी। वह तो अपने प्रेष्ठ को पाना चाहती थी। अतः उसने उस शाप को सहर्ष स्वीकार किया।

सभा भंग होने पर महाराज पुरूरवा इन्द्र से अनुमति लेकर अपनी राजधानी प्रतिष्ठानपुर मे आकर सुखपूर्वक रहने लगे।

उर्वशी ने जब से राजा पुरुरवा को देखा, तब से उसके मन मे उसी का रूप बस गया। निरन्तर उसी के रूप का चिन्तन करती, उसी के गुणो का स्मरण करती, उसी की बाते करती थी, उसी का बार-बार चित्र बनाती और उसे सुंदर समझकर मिटा देती। रात्रि मे सोते समय भी उसी चित्र को देखती। उसे सभी स्वर्ग के सुख तुच्छ दिखाई देने लगे, पुरूरवा के बिना उसे ससार सूना ही प्रतीत होने लगा। वह लज्जा के कारण अपनी मनोव्यथा किसी से कह भी नही सकती थी जब उससे नही रहा गया, तब उसने अपनी सहेली रम्भा के समीप आकर कहा—"सखि! यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो, तो मेरे एक मनोरथ को पूर्ण करो।"

रम्भा ने अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए कहा—"बहिन तुम स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हो। देवराज तुम्हारे सकेत पर नाचते हैं। बडे बडे स्वर्गीय देव तुम्हारी कृपा के इच्छुक हैं। तुम्हे स्वर्गीय सभी सुख प्राप्त हैं; फिर तुम इतनी दुःखी क्यो हो? तुम्हारा मुख क्यों कुम्हलाया हुआ है? तुम्हे ऐसी कौन सी मानसिक व्यथा है? मैं अपने प्राणो का पण लगाकर भी तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करूंगी।"

उर्वशी ने कहा—"बहिन ! तुम्हारा कथन सत्य है। मुझे स्वर्ग के सभी सुख सुगमता से प्राप्त हैं। देवराज की भी मेरे ऊपर अत्यन्त कृपा है। फिर भी मेरे मन मे प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा की मनोहर मूर्ति बस गई है। मैं उस राजर्षि को पाकर ही सुखी हो सकती हूँ। उनके अंक के अतिरिक्त कोई शीतल वस्तु मेरे तन के ताप को नही मिटा सकती।"

रम्भा ने कहा—"देवि ! यह कौन-सी बड़ी बात है ? कहाँ पुरूरवा और कहाँ तुम ! पुरूरवा तो तुम्हारी कृपा को पाकर अपने को धन्य समझेगा। चलो, तुम मेरे साथ प्रतिष्ठानपुर चलो। मैं उस राजर्षि से तुम्हारी भेंट कराऊँगी।"

रम्भा की ऐसी बात सुनकर उर्वशी परम प्रसन्न हुई। वह छिपकर रम्भा के साथ चली। मार्ग मे उसे वीणा बजावत हरि गुण गावत, आगे से आवत, देवर्षि नारद दिखाई दिये। रम्भा और उर्वशी देवर्षि को देखकर घबरा गई। दोनो ने लज्जित होकर के देवर्षि के पाद-पद्मो मे प्रणाम किया।

उनको आशीर्वाद देकर नारदजी ने रम्भा से पूछा—"रम्भे ! आज तुम अपनी इस सहेली को साथ लिये कहाँ जा रही हो ?"

इस प्रश्न को सुनकर रम्भा घबडा गई। उसने सोचा, मैं सत्य बात कहूँगी, तो हमारी पोल खुल जायगी और झूठ बात कहूँ तो, ये सर्वज्ञ मुनि सब समझकर मुझे शाप दे देंगे। यह सब सोचकर उसने सत्य बात ही कहने का निश्चय किया। वह लजाती हुई शनैः-शनैः मुनि से बोली—"भगवन् ! आप तो सर्वज्ञ हैं। आपसे कोई क्या छिपा सकता है ? आप तो घटघट की जानने वाले हैं। प्रभो ! मेरी यह सखी प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा के रूप पर आसक्त हो गई है। उन्ही के समीप मैं इसे लिये जा रही हूँ।"

यह सुनकर नारदजी ने कहा—"देवि! महाराज पुरूरवा बड़े धर्मात्मा हैं। उनमे सभी श्रेष्ठ गुण हैं। वे उर्वशी के सर्वथा योग्य हैं। किन्तु फिर भी वे मानुष हैं, उर्वशी स्वर्गीय ललना है। अतः इसे सदा उनके समीप रहना नहीं चाहिये। कुछ काल उनके समीप रहकर इसे पुन. स्वर्ग मे आना चाहिये। इसे कुछ काल मनुष्य की पत्नी अवश्य बनना है। तुम्बरु गन्धर्व ने इसे शाप दे दिया है। तुम मेरी एक सम्मति मानो।"

रम्भा ने कहा—"आज्ञा कीजिये, भगवन्!"

नारद जी बोले—"देखो, तुम्हारी इस सखी ने पहिले ही दो मेढे पाल रखे हैं। उन्हे यह पुत्र की भाँति प्यार करती है। उन दोनो मेढो को साथ लेकर यह महाराज पुरूरवा के समीप जाय। पहिले उनसे तीन वचन ले ले, तब उनके समीप पत्नी-भाव से रहे।"

रम्भा ने पूछा—"वे तीन वचन कौन-कौन हैं?"

नारद जी बोले—'पहिला वचन तो यह ले कि राजा मेरे इन पुत्रीकृत मेढो की सदा रक्षा करें। जिस दिन इनकी रक्षा न होगी उसी दिन मै चली जाऊँगी। दूसरा वचन यह ले कि मैं घृत को छोड़कर दूसरी वस्तु न खाऊँगी। और तीसरा वचन यह ले कि मैथुन के अतिरिक्त राजा को मैं कभी नग्न न देखूँगी। मेरे इन तीनो वचनो मे से जिस दिन एक भी भग हो जायगा, उसी दिन मैं राजा को छोड़कर चली जाऊँगी।"

नारद जी की बात सुनकर रम्भा ने कहा—"भगवन्! मेरी सखी आपकी आज्ञा का सर्वथा पालन करेगी। आप ऐसा आशीर्वाद दें कि मेरी सखी की मनोकामना पूर्ण हो, तत्पश्चात् वह पुन. स्वर्ग मे पूर्ववत् ही पूजित हो।"

नारदजी ने कहा—ऐसा ही होगा।" इतना कहकर नारदजी

तो वीणा के तारो की झङ्कार करते हुये ब्रह्मलोक चले गये। इधर रम्भा तुरन्त उर्वशी के इन दो मेढा को ले आई। उन्हे लेकर वे दोनो गंगा-यमुना के सगम पर अवस्थित प्रतिष्ठानपुर को पहुँची।

प्रतिष्ठानपुर चन्द्रवशीय महाराज ऐल पुरूरवा की सुप्रसिद्ध राजधानी थी। पश्चिम की ओर गगा जी ही उस नगरी की परिखा थी। पचयोजन लम्बी वह नगरी विश्व मे विख्यात थी। उसके चारो ओर परकोटे बने हुए थे। गगाजी में से एक कृत्रिम जल धारा निकाल कर नगरी के तीनो ओर घुमाई गई थी। मानस तीर्थ से एक धारा निकलकर नगर के परकोटे के बाहर-बारह घुमाकर दुर्वासा के समीप पुन श्री गंगाजी की धारा मिला दी गई थी। इससे वह पुर गगाजी के मध्य मे एक टापू के समान दिखाई देता था। चारो दिशाओ मे उसके चार बडे-बडे द्वार थे। उन पर काठ के पुल बने हुए थे। वे चाहे जब उठा लिये जाते थे। प्रधान द्वारा इतने ऊँचे और कलापूर्ण बने हुए थे, कि वे दूर से सुमेरु के चार शिखर के ही समान दिखाई देते थे। परकोटे के भीतर नगर के चारों ओर सुन्दर वन उपवन उद्यान और क्रीडा-गृह थे। उनमे सुन्दर सुन्दर पुष्प और फलो के वृक्ष थे। उनके बीच बीच मे सुन्दर-सुन्दर छोटे बडे सरोवर थे, जिनमे भांति-भांति के कमल खिले हुए थे, जिनमे नगर के सभी श्रेणी के स्त्री-पुरुष क्रीडा कर रहे थे। वहाँ के राजपथ विस्तृत और स्वच्छ थे। उनके उभय पार्श्वों मे सुन्दर सघन वृक्ष लगे हुए थे। चौराहों पर सुन्दर-सुन्दर पुष्पो की क्यारियाँ लगी हुई थी जिनमें रंग-बिरंगे पुष्प खिले हुए थे। नगर के तृतीय परकोटे मे भांति भांति की दूकानें लगी हुई थी। जो वस्त्रों की हाट थी, उसमे वस्त्र बेचने वाले व्यापारी थे। बडी बडी

कोठियो मे चित्र विचित्र वस्त्रो को फैलाये वस्त्र-व्योपारी बैठे हुए थे। मणि-माणिक्य तथा हीरे-मोतियो का बाजार पृथक् थे। आभूषणो के हाट में बहुमूल्य सुवर्ण-चान्दी आदि के आभूषण बिक रहे थे। अन्न के हाट, भोजन पदार्थों के हाट, शाक-भाजी के हाट, मिर्च मसाले के हाट धातु पात्रो के हाट, मिट्टी, पत्थर, काठ, काँच आदि के पृथक्-पृथक् हाट थे। रम्भा के साथ उर्वशी स्वर्ग की अमरावती से भी सुन्दर उस प्रतिष्ठानपुरी को देखती हुई राजा के भवनो की ओर चली। राजा के ऐसे वैभव को देख कर उर्वशी मन ही मन प्रसन्न हो रही थी, नगरी की अलौकिक शोभा देखती-भालती उस राजा के महलो मे पहुँची। महलो के भीतर एक अत्यन्त सुन्दर वाटिका थी, जिसमें राजा तथा अन्त-पुर की स्त्रियाँ मनोविनोद के लिये आती थीं। उर्वशी रम्भा के साथ उसी वाटिका मे पहुँची। उस समय सन्ध्या होने मे दो घडी की देर थी। रम्भा एक अत्यन्त सुन्दर लताकुंज में उर्वशी के साथ जा कर बैठ गई। उर्वशी राजा के लिये अत्यन्त ही अधीर हो रही थी। रम्भा ने सोचा—"राजा से अभी भेंट तो हो नही सकती। रात्रि मे एकान्त होने पर जब महाराज इस वाटिका मे आवेंगे, तभी उनसे भेंट हो सकेगी। तब तक मैं अपनी सहेली का किसी प्रकार मनोरजन करूँ।" यह सोच कर रम्भा बोली—"बहिन उर्वशी! देखो, यह वाटिका दूसरी उर्वशी के समान है। यह तुम्हारी सपत्नी है। इससे तुम बच कर रहना।"

उर्वशी ने कहा—"रम्भे! तुम इस वाटिका को मेरी सपत्नी क्यो बता रही हो? मेरी और इसकी क्या बराबरी?"

रम्भा ने कहा—"बहिन! मै तो देखती हूँ, यह तुम्हारे ही समान गुणवाली है। तुम भी सुन्दरी हो यह वाटिका भी सुन्दर

है। तुम्हारे अंगों के साथ इसके भी पत्र-पुष्प और वृक्षों का सादृश्य है।"

उर्वशी ने पूछा—"मेरे अंगों से इसका सादृश्य कैसे है?"

रम्भा बोली—"देखो बहिन! इस वाटिका में चम्पा कैसी खिल रही है। जैसा तुम्हारे शरीर का वर्ण है वैसा ही इस चम्पा के पुष्पों का वर्ण है। इसके समीप ही जो यह छोटा सा अनार का वृक्ष है, उस पर जो ये लम्बे-लम्बे पुष्प लगे हुए हैं वे तुम्हारे ओष्ठों की भाँति लाल-लाल हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानों यह दाडिम-द्रुम पुष्पों के रूप में तुम्हारे अधरों की श्री को धारण किये हुए है। यह जो सहकार आम्र की लम्बी-लम्बी मंजरियाँ हैं, वे ऐसी लगती हैं, मानो काम-बाण लटक रहे हों। ये जो मधूक-महुए के लोल-लोल गोल-गोल रस भरे पुष्प हैं, वे मानो तुम्हारे कपोलों की श्री को बिखेर रहे हों, मधूक के समीप ही जो यह लम्बा सा ताल वृक्ष खड़ा है, उसके गोल-गोल कठोर फल तुम्हारे पीन पयोधरों की आभा को धारण किये हुए हैं। इस वाटिका के समीप जो ये कदली के वृक्ष खड़े हैं, वे तुम्हारे ऊरू-द्वयों के समान ही गोल और चिकने हैं। यह जो अविमुक्तक फूली हुई लता है, जिस पर इतने भ्रमर पंक्ति-बद्ध बैठे हैं, भ्रमरों से लदी हुई वे डालियाँ जब वायु से हिलती हैं, तब ऐसी प्रतीत होती है, मानों तुम्हारी काली-काली घुङ्घराली लटकती हुई लटायें हिल रही हों। ये जो कुन्द के शुभ्र खिले हुए पुष्प हैं, उन्हें मानों विधाता ने तुम्हारी दन्त-पंक्तियों की श्री से खिला दिया हो। इस सरोवर में जो सुन्दर-सुन्दर कमल के पुष्प खिल रहे हैं, वे तुम्हारी आँखों के समान सुन्दर, मृदु और विकसित हो रहे हैं। इन सौवर्ण कमलों के केशर की गन्ध तुम्हारी नासिका की गन्ध के सदृश तो है नहीं, किन्तु उसी की जाति की प्रतीत होती है। इस नलिनी

के तीर पर भ्रमण करने वाली हंसिनियो ने तुम्हारी गति को चुरा लिया है। इस आम्रवृक्ष पर बैठी हुई कोकिला तुम्हारी वाणी का अनुकरण कर रही है। यद्यपि वह सफल नही होती, फिर भी तुम्हारी वाणी मे और इसकी वाणी में सादृश्य है। यह जो वाटिका मे कृत्रिम सरिता बनाई गई है, उसका सलिल पिघली हुई कांच के समान उसी प्रकार निर्मल है, जिस प्रकार तुम्हारा हृदय निर्मल है।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! इसी प्रकार की बातें करती हुई, रम्भा अपनी सखी उर्वशी का मनोरजन करती रही। इन बातो मे उसे इस बात का भी पता न चला कि कब भगवान् भुवन-भास्कर अस्ताचल की कन्दरा मे छिप गये। सूर्य को सन्ध्या के अञ्चल मे मुंह छिपाते देखकर रम्भा उर्वशी से बोली—'बहिन! देखा सूर्यनारायण कितने दयालु हैं! तुम्हे अपने प्रियतम से मिलने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित देखकर वे स्वय अपनी प्रिया के रक्तवर्ण के अचल मे छिप गये। अब तुम शीघ्र ही ससार के सर्वश्रेष्ठ सुन्दर भूपति प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा के दर्शन करोगी। सामने वह देखो, महाराज अपने सखा के सहित इधर ही आ रहे हैं इस समय इनसे भेंट करना उचित नही। सम्मिलन तो एकात मे होता है। दूसरे आदमी के सम्मुख अपने आन्तरिक गम्भीर रहस्य-मय भाव व्यक्त नही किये जा सकते। अत अभी हम इनके सम्मुख न हो छिपकर इन दोनो की बातें सुनें ये क्या बातें करते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा निश्चय करके वे दोनो छिपकर राजा की बातें सुनने लगी।"

छप्पय

वन-उपवन-सर-हाट-बाट विस्मित ह्वै कें अति।
निरखै इत-उत चकित भटू भूली अमरावति॥
लै रम्भा कूँ सग उर्वशी पहुँची पुरमहँ।
प्रतिष्ठानपुर निरखि भई प्रमुदित अति उरमहँ॥
पल पल भारी है रह्यो, बनी अमरिका रूप की।
महल बाटिकामहँ सखी, करें प्रतीक्षा भूप की॥

उर्वशी का पुरूरवा से साक्षात्कार

[७२३]

मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम् ।
निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम् ॥
धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १४ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

आवत निरखे नृपति सखा-सँग अति हरषाई ।
किन्तु न लखि एकान्त भूप-सम्मुख नहिं आइ ॥
नृपति मनोगत भाव जानिबे कूँ छिपि उत-इत ।
सुनैं करें जो बात सखा तैं नृप विह्वल चित ॥
चित्त उर्वशीमहँ फँस्यो, नृपको रम्भा जानिकें ।
आई सम्मुख सखी संग हरषे नृप पहिचानिकें ॥

जिसका जिसके साथ संयोग होना होता है, वह किसी-न-किसी रूप में अवश्य हो जाता है। जिस बात को हम असंभव

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उर्वशी को मित्रावरुण का शाप था।" इसी कारण वह मर्त्यलोक में आई। महाराज पुरूरवा को कामदेव के समान रूपवान सुनकर उसने धैर्य धारण किया, और वह ललना प्रतिष्ठानपुर में उनके समीप आकर उपस्थित हुई।"

समझते है, प्रारब्ध-वशात् वह संभव हो जाती है। स्वर्ग मे हो, मत्यलोक मे हो या पाताल मे सभी प्रारब्ध के वशीभूत होकर एक दूसरे से मिलते और पृथक् होते हैं। जब-जैसा होना होता है, तब तैसा ही शाप या आशीर्वाद समर्थ पुरुषो द्वारा प्राप्त होता है। कोई न किसी को शाप दे सकता है; न किसी पर अनुग्रह ही कर सकता है। जब जैसा होने को होता है, तब वैसा ही वचन महापुरुषो के मुख से निकल जाता है। इसलिये किसी बात को असभव महसा न समझना चाहिये। प्रकृति मडल मे सबका काल निश्चित होता है। उस समय वैसा ही बानक बन जाता है।

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! तुम्बरु और मित्रावरुण के दुहरे शापो से शापित होकर, पुरूरवा के रूप पर आसक्त होकर, उर्वशी अपनी सखी रम्भा के साथ आई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तुम्बरु के शाप की बात तो आपने सुनाई, किन्तु मित्रावरुण ने उर्वशी को क्यो शाप दिया, इसका कारण तो आपने बताया ही नही। कृपा कर इस कथा को भी सुनाकर तब आगे की बात बतावें।"

इस पर सूतजी ने कहा— 'महाराज! जैसा होना होता है, वैसा ही संयोग बन जाता है। जिस दिन उर्वशी ने स्वर्ग मे महाराज पुरूरवा को देखा और उनके रूप पर आसक्त हो गई, उसी दिन उसे मित्रावरुण ने बुलाया था। उसने जाना स्वीकार भी कर लिया था, किन्तु वह उस दिन पुरूरवा के रूप चिन्तन मे ऐसी विह्वल हो गई थी, कि सब कुछ भूल गई। इस पर उन दोनो को क्रोध आ गया। उन्होंने शाप दिया—"तू जिस मर्त्य-लोक के राजा का चिन्तन करती जा रही है, कुछ दिन तुझे स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर उसी राजा के अन्तःपुर मे रहना पड़ेगा।" यही कारण है कि उसका चित्त इतना अधिक व्याकुल हो गया,

कि उसे स्वर्ग का सौन्दर्य नरक के समान दिखाई देने लगा। उसे छोडकर वह अपनी सखी रम्भा के साथ प्रतिष्टानपुर मे आई और छिपाकर उपवन मे टहलते हुए राजा की बातें सुनने लगी।"

इधर जब से महाराज पुरूरवा स्वर्ग से उर्वशी को देखकर लौटे; तब से उन्हें खाना-पीना कुछ भी अच्छा नही लगता था। वे रात्रि-दिन उर्वशी की ही चिन्ता करते रहते थे। उनका शरीर कृश हो गया, राज-काज उन्होने छोड दिया था। उनका मन बार-बार कहता—"उर्वशी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा है। वह बडे-बडे देवताओं को भी दुर्लभ है। उसे पाने के लिये मनोरथ करना पागलपन है किन्तु फिर भी उनका हृदय मानता नही था। वे निरन्तर उसी को सोचते रहते थे। आज वह अपने अतरङ्ग सखा के साथ मनोरञ्जन के लिये वाटिका मे आये थे। टहलते टहलते सखा ने राजा से पूछा—"राजन्! एक बात मैं बहुत दिनो से पूछना चाहता था, किन्तु संकोचवश पूछ न सका। आज्ञा हो तो अब पूछूँ।"

राजा ने कहा—"सखे! संकोच की कौन-सी बात है! तुमसे तो कोई छिपाव वाली बात नही। तुम्हे जो कुछ पूछना हो, वह प्रसन्नता पूर्वक पूछो।"

सखा ने कहा—"राजन्! जब से आप स्वर्ग से लौटे हैं, तभी से निरन्तर आपको अन्यमनस्क सा ही देख रहा हूँ। आपके मुख की कान्ति क्षीण हो गई है। शरीर पीला पड गया है, कपोल पिचक गये हैं, आँखें भीतर घुस गई चलने मे भी आप लडखडाते हैं, किसी से विशेष बातें भी नही करते, राजकाज भी बहुत मनोयोग से नही देखते। आपके इस परिवर्तन का कारण क्या है? आपके हृदय मे कौन सी चिन्ता है? क्यों आपको अशन वसन और

आनन्द विहार के कार्यों में उत्साह नहीं ? आपके अन्तःकरण मे कौन सी चिन्ता घुस गयी है ? यदि गोप्य न हो और मुझसे कहने मे कोई हानि न हो, तो अवश्य ही मेरे इन प्रश्नो का उत्तर दें।"

सखा की बात सुनकर राजा कुछ देर मौन रहे और फिर शनः-शनैःबोले— 'सखे ! तुमसे छिपाने योग्य तो कोई बात नहीं, किन्तु तुम मेरे मनोरथ को सुनकर हँसोगे, मुझे पागल समझोगे। इसी सकोच से मैंने आज तक तुमसे वह बात नहीं कही। अब जब तुमने पूछो ही है, तब मैं वह बात तुम्हे बताता हूँ। इस बार जब मैं स्वर्ग गया, इन्द्र की सभा मे उर्वशी अप्सरा को देखा। उसे देखते ही मेरा मन खो गया। मैं बिना मन का हो गया। मैंने अपने मन को बार-बार समझाया, कि यह स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा है, बडे-बडे देवताओ के लिये भी दुर्लभ है इसकी इच्छा करना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार बौने का चन्द्र को प्राप्त करना। फिर भी मेरा मन नही मानता। मैं उसी की स्मृति मे आत्मविस्मृत सा बना रहता हूँ। उसका त्रैलोक्य सुन्दर रूप मेरी आँखो मे बस गया है, हृदय मे समा गया है। उसे जितना ही निकालने का प्रयत्न करता हूँ, वह उतना ही भीतर धँसता जाता है। क्षणभर को भी उसका रूप मेरे चित्त से हटता नहीं। वह मन्द-मन्द मुसकाने वाली सुर ललना जब तक मुझे प्राप्त नही होती, तब तक मेरी यही दशा रहेगी। उसके बिना मैं जीवित नही रह सकता।"

सखा ने कहा—"राजन् ! आप इतने अधीर न हों। जिस का जिस पर सत्य स्नेह होता है, वह अवश्य ही एक न एक दिन प्राप्त होता है। उर्वशी भी आपको कभी न कभी प्राप्त होगी।"

राजा बोले—"सखे ! कल रात्रि मे मैंने एक अद्भुत स्वप्न देखा। यदि मेरा वह स्वप्न सत्य हो जाय, तो मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो जायं, मैं ससार मे कुछ दिन और जीवित रह सकूं।"

सखा ने पूछा—"प्रभो ! आपने क्या स्वप्न देखा ? कृपा कर के उसे मुझे सुनाइये।"

राजा ने कहा—'सखे ! मैंने स्वप्न मे देखा कि मैं अत्यन्त व्याकुल होकर मनोरञ्जन के निमित्त इसी वाटिका मे आया हुआ हूँ। यहाँ मुझे चन्द्रकान्तगृह मे उर्वशी प्राप्त हो गई है। किन्तु स्वप्न की बात का क्या विश्वास ? यदि मेरा यह स्वप्न सत्य हो जाय, तो मैं कृतार्थ हो जाऊं।"

सखा ने कहा—"प्रभो ! आप स्वस्थ हो। चिन्ता न करे, विषाद का त्याग दे। आपका मनोरथ अवश्य पूरा होगा, उर्वशी आपको अवश्य प्राप्त होगी। चलिये चन्द्रकान्तगृह मे चलें। वहो आप कुछ देर मनोरञ्जन करके चित्त को प्रसन्न करें।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! सखा के वचन सुनकर काम-बाणो से घायल हुए राजा समीप के ही चन्द्रकान्त गृह मे गये। वहाँ शीतल मणियो की शिला पर बैठकर चन्द्रमा की ओर देखने लगे। 'उन्हें चन्द्रमा की अत्यन्त शीतल किरणें जला रही थी। वे उर्वशी के रूप का स्मरण करके विरहाग्नि मे तप्त हुए लम्बी-लम्बी साँसें ले रहे थे।

इधर जब रम्भा और उर्वशी ने राजा की बातें, सुनी तो वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुई। रम्भा ने कहा—"बहिन तुम्हारा मनो-रथ पूर्ण हुआ। मैं तो समझती थी, तुम ही राजा के ऊपर आसक्त हो, किन्तु अब यहाँ आकर मैं देखती हूँ, राजा तो तुम

से भी अधिक विह्वल हैं। तुम्हारे लिये वे अत्यन्त व्याकुल हैं। राजा से साक्षात्कार करने का यही उपयुक्त अवसर है। चलो, चल, राजा के दर्शन करें।"

रम्भा की बात सुनकर मन में अत्यन्त प्रसन्न होती हुई, लज्जा के साथ शनः-शनैः उर्वशी उसके पीछे-पीछे चली। राजा के समीप जाकर दोनों ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज की जय हो! जय हो!"

अपने सम्मुख रम्भा के साथ उर्वशी को देखकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा वे संभ्रम के साथ अपने आसन से

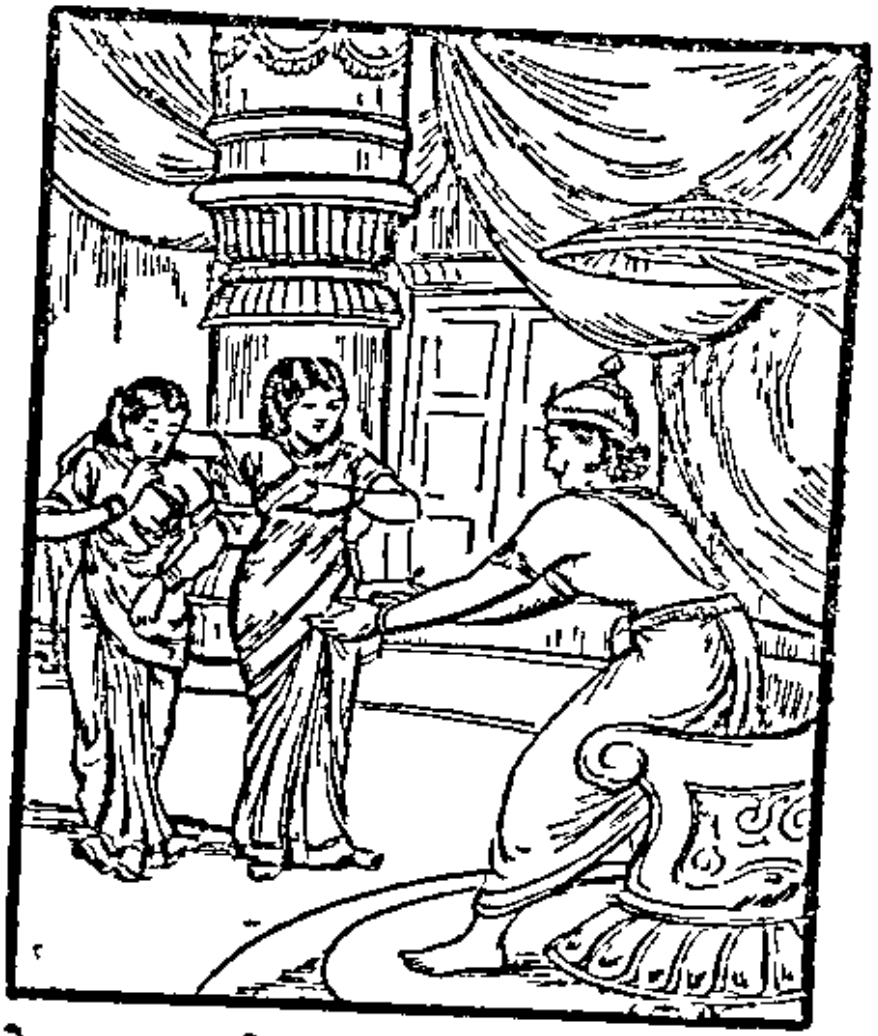

उठ पड़े और अत्यन्त ही अनुराग भरे स्वर में बोले—"हे स्वर्ग

की चिन्तामणि ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। आज मेरा जन्म सफल हुआ, आज मेरे पुण्यो का प्रत्यक्ष फल मुझे मिल गया जो, आज मैं अपने भवन मे ही स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ ललना के दर्शन कर रहा हूँ। आप स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी ललना हैं। सहस्राक्ष इन्द्र अपनी सहस्रो आँखो से भी आपके रूपासव का पान करते हुए तृप्त नही होते। पुण्यहीन प्राणी आपके दर्शन भी प्राप्त नही कर सकते। आप इस मणि-जटित आसन पर विराजकर मुझे कृतार्थ करें। मैं मर्त्यलोक का प्राणी आपका स्वागत किस प्रकार कर सकता हूँ।"

रम्भा ने कहा—"राजन्! आपकी स्नेह भरी वाणी ही सर्वश्रेष्ठ आतिथ्य है।"

राजा ने पूछा—"देवि! मैं यह जानना चाहता हूँ, कि आप स्वर्ग के विपुल वैभव को छोडकर इस मर्त्यलोक मे किस कारण आई हैं। मैं आपके शुभागमन का कारण सुनना चाहता हूँ।"

रम्भा ने कहा—"देव! जब आप स्वर्ग पधारे थे, तब इन्द्र की सभा मे मेरी सखी ने दर्शन किये थे। जब से इसने आप के अनुपम सौन्दर्य को निहारा है, तब से इसे स्वर्ग का वैभव तुच्छ दिखाई देने लगा। यह रात-दिन आपके ही रूप का चिन्तन करती रहती है। आपके वियोग मे इसने अशन वशन, शयन तथा मनोरञ्जन के सभी कार्यों का परित्याग कर दिया है। सदा आपका ही स्मरण करती है। आप मेरे ऊपर कृपा करें और इसे अपनावे।"

राजा ने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"देवि! मैं आज धन्य हुआ! देवी उर्वशी मुझसे स्नेह करती है, इससे बढकर मेरे लिये सौभाग्य की और कौन-सी बात हो सकती है?

आपकी सखी मुझे अपना आज्ञाकारी अनुचर ही समझे। मैं सब तरह आप की सखी की सेवा करूँगा।"

रम्भा ने कहा—"राजन्! आप पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ भूपति हैं। आपको पाकर मेरी सखी धन्य हो जायगी। फिर भी महाराज! मेरी सखी साधारण मर्त्यलोक की स्त्रियों के सदृश आपके साथ नहीं रह सकती। इसके रहने के कुछ नियम हैं। उन नियमों के पालन का आप वचन दें। तो यह कुछ काल आपकी पत्नी बनकर आपके अन्तःपुर में रह सकती है।"

यह सुनकर राजा ने कहा—'देवि! मेरा राज-पाट, धन-धान्य तथा यह शरीर—सभी आपकी सखी के अधीन हैं। प्राणों का पण लगाकर भी मैं इन्हें प्रसन्न कर सकूँ, तो हँसते-हँसते प्राणों को समर्पित करने के लिये उद्यत हूँ। आप मुझे अपनी सखी के रहने के नियम बताइये।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! राजा की बात सुनकर उर्वशी की ओर से रम्भा ने राजा के सम्मुख वे नियम रखे जिनके पालन होने तक उर्वशी राजा की पत्नी के रूप में रह सकती थी। जिस दिन एक भी नियम भङ्ग हो जायगा, उर्वशी राजा को छोड़कर स्वर्ग चली जायगी। उन नियमों को मैं आगे आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

करि स्वागत नृप कहैं—आजु हौं भयो कृतारथ।
पृथिवीपति नरदेव नाम मम भयो जथारथ॥
देवि उर्वशी, देखि चन्द्रमुख तव हौं हरष्यो।
मनहुँ मृतक द्रुम उपरि सुधारस बरबस बरस्यो॥
प्रान-दान दयिता दयो, दुरलभ दरश दिखाइकें।
जनम सफल मेरो करो, अनुचर मोंहि बनाइकें॥

उर्वशी पुरूरवा की पत्नी बनी

[७५४]

अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम् ।
को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम् ॥
तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः ।
रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १४ अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

कहे उरवशी—"देव ! कौन ललना जग माहीं ।
जो लखि तुम्हरो रूप होहि बरबस वश नाहीं ॥
प्यारे पुत्र समान मेष बालक द्वै मम सँग ।
पालन तिनिको करहि न रति तजि लखहुँ गगन अंग ॥
घृत को भोजन करहुँ नित, दुख-सुख सब कछु सहुङ्गी ।
प्रन यदि पूरे भये नाहिं, तो न यहाँ फिरि रहुङ्गी ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन् ! उर्वशी के प्रस्ताव करने पर महाराज पुरूरवा ने कहा—"अहो देवि ! आप का यह मनुष्यों को विमोहित करने वाला रूप और भव्य भाव कैसा कमनीय है ? भला संसार में ऐसा कौन पुरुष होगा, जो अपने आप आई तुम जैसी सुर-सुन्दरी का सेवन न करेगा ?"

उत्कंठा ही आनन्द की वृद्धि मे प्रधान कारण है। जो वस्तु जितनी ही अधिक उत्कंठा से सुदीर्घ प्रतीक्षा के बाद प्राप्त होती है, उसमे उतना ही अधिक सुख मिलता है। जिसके सयोग से जितना सुख मिलता है उसके वियोग मे उतना ही दु ख भी। इसलिये उत्कंठा ही सुख दु ख की अभिवृद्धि मे हेतु है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब रम्भा ने उर्वशी के भावों को व्यक्त किया, तब राजा ने कहा— 'मै सब प्रकार के वचन देने को सब प्रकार की प्रतिज्ञा करने को, तत्पर हूँ।"

यह सुनकर रम्भा के बार-बार प्रेरणा करने पर सकुचाती हुई उर्वशी बोली—"देव! आपके विश्व-विख्यात गुण, आपका अनवद्य सौन्दर्य अग्निशिखा के समान है। इस पर पतगिनी-रूपी कौन-सी नारी अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर न होगी? कामिनियो को वही पुरुष श्रेष्ठ, अत्यन्त प्रिय, होता है, जो गुण-ग्राही हो, रति-प्रिय हो और सरस हृदय वाला हो। आप मे ये सभी गुण विद्यमान है। इसलिये मै स्वर्ग के ऐश्वर्य का परित्याग करके आपके पास रमण करने यहाँ आई हूँ। किन्तु मेरे कुछ निमम हैं।"

राजा ने कहा—"मैं उन नियमो को ही सुनने को तो उत्सुक हूँ।

उर्वशी ने कहा—"मेरे नियम कोई कठोर नही। केवल तीन साधारण नियम हैं। पहिला नियम तो आपके साथ यह है कि-ये मेरे दो मेढे के बच्चे हैं। इनका मैंने पुत्र की भाँति पालन किया है। ये मुझे अत्यन्त प्रिय हैं; इनका पालन आप को सदा करना पडेगा। कोई इन्हे अपरण न कर ले जाय। दूसरा नियम यह है कि मैं स्वर्ग की अप्सरा हूँ। वहाँ मेरा भोजन अमृत ही था। पृथ्वी का अमृत घृत ही है। अतः घृत को छोडकर मैं कोई दूसरा

आहार न करूंगी। आप मुझे और कोई वस्तु खाने के लिये विवश न करें। तीसरा नियम यह है कि रति-काल को छोड़कर आप मेरे सम्मुख कभी विवस्त्र होकर न आवेंगे। इन नियमों का आप जब तक पालन करेंगे, तब तक तो मैं आपके साथ रहूँगी। जिस दिन आपके द्वारा एक भी नियम का उल्लंघन होगा, उसी दिन मैं यहाँ से चली जाऊँगी।"

राजा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"देवि! ये तो अत्यन्त साधारण नियम हैं। मैं अपने धनुष बाण से सदा तुम्हारे मेढ़े के बच्चे की रक्षा करता रहूँगा। घृत की मेरे यहाँ कमी नहीं। आप चाहे जितना घृत खायें। मैं विवस्त्र होकर कभी आप के समुख आऊँगा नहीं। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ इन नियमों का मैं भलीभाँति तत्परता से पालन करूंगा। अब तुम मुझे अपनाओ। तुम्हारे अलौकिक रूप-लावण्य, पवित्र भाव समस्त मानव-समाज को मोहित करने वारने वाले हैं। बड़े-बड़े देवता तुम्हारे दर्शनों के लिये सहस्रों वर्षों तक घोर तपस्या करते हैं। ऐसी तुम साक्षात् सुकृत-रूप स्वयं ही मेरे समीप आई हो, फिर मैं तुम्हारा परित्याग कैसे कर सकता हूँ? अब देर करने का काम नहीं है।"

राजा के ऐसा कहने पर रम्भा और उर्वशी दोनों ही परम प्रमुदित हुईं। उर्वशी के प्यारे मेढ़े के बच्चे रम्भा की गोद में थे। वह उन दोनों बच्चों को राजा की गोद में देती हुई बोली—"राजेन्द्र! आप इन बच्चों की रक्षा सावधानी से करें। मेरी सखी को कोई कष्ट न होने पावे। आप इसके मन को कभी बिगाड़े नहीं। सर्वथा ऐसी चेष्टा करते रहें, जिससे यह मेरी अन्य सखियों की, स्वर्ग के सुखों की उत्कंठा न करे।

राजा ने कहा—"देवि तुम निश्चिन्त रहो। जैसे आँखों की पुतलियों की रक्षा पलक करते हैं, वैसे ही मैं तथा मेरे सभी

आश्रित तुम्हारी सखी की रक्षा करेंगे। ये जो भी मनोरथ करेगी उसे प्राणों का पण लगाकर मैं पूरा करूँगा।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करती हुई रम्भा बोली—"राजन्! ये वचन आपके ही अनुरूप हैं। भगवान् आपका मंगल करें। अब आप मुझे आज्ञा दें। मुझे इसी समय लंका जाना है। वहाँ मेरे प्राणेश्वर कुबेर के पुत्र नल-कूबर मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। वे मेरे लिये उत्कण्ठित हो रहे होंगे। आप अपने वचनों को भूलें नहीं।"

राजा ने कहा— देवि! आप सुखपूर्वक लंका जायँ। उपहार-स्वरूप ये रत्न मेरी प्रसन्नता के निमित्त ग्रहण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यद्यपि रम्भा को रत्नों की इच्छा नहीं थी, समस्त सम्पत्ति के स्वामी कुबेर के पुत्र जिसके श्रेष्ठ हों, उसके सम्मुख मर्त्यलोक के रत्नों का महत्त्व ही क्या! फिर भी राजा की प्रसन्नता के निमित्त उसने पुरूरवा के दिये हुए रत्नों को सादर ग्रहण किया। फिर अपनी सखी उर्वशी को भाँति-भाँति से समझाकर, उससे हृदय से हृदय मिलाकर आकाश मार्ग से लंका की ओर चली गई।

इधर राजा पुरूरवा उर्वशी के संग नाना भाँति की काम-केलि करने लगे। उन्होंने राज्य का समस्त भार मंत्रियों के ऊपर छोड़ दिया। अब वे रात-दिन उर्वशी के साथ ही रहकर उसे अनेक उपायों से प्रसन्न करने लगे। जिस प्रकार लक्ष्मी नारायण के साथ, रति काम के साथ शची इन्द्र के साथ तथा सती शंकर के साथ सुखपूर्वक क्रीडा करती हैं, उसी प्रकार उर्वशी पुण्यश्लोक महाराज पुरूरवा के साथ सुखपूर्वक आनन्द-विहार करने लगी।

राजा उसे लेकर बड़े-बड़े मणि जटित महलों में, पुष्प गृहों में, वनों के बने आवासों में क्रीडा करने लगे। कभी वे उसे

लेकर सुंदर-सुंदर पर्वतो पर चले जाते, कभी उसे नदी के पुण्य पुलिनो में ले जाते, कभी फल-पुष्पो से लदे वनों में घुमाते, कभी सुहावने सरोवरो के तट टहलाते। वे उसका स्वय ही भांति-भांति से शृंगार करते, बहुमूल्य वस्त्राभूषणो को पहिना कर सजाते। उसके उत्तम अंगो पर पत्रावली बनाते, उसके काले-काले कुटिल केशों मे कुसुम लगाकर उन्हे विधिवत् बाँधते, सुगन्धित द्रव्यो से उसे मडित करते, उसकी प्रत्येक आज्ञा का अविलम्ब पालन करते। उसके अधरामृत का पान करके वे आत्म विस्मृत हो जाते। वह उन्हे नित्य ही नयो-नयो दिखाई देती थी। राजा ज्यो-ज्यो उसे निहारते, त्यो-ही-त्यो अत्यन्त उत्कंठित होते जाते। वह अप्सरा प्रतिदिन राजा के काम को बढ़ाती रहती। उस अप्सरा के रूप-जाल मे राजा ऐसे फँस गये कि वे लोक-परलोक-दानो को ही भूल गये। कब दिन होता है, कब रात होती है, इसका राजा को कुछ भी पता नही चलता। इसी बीच उर्वशी के गर्भ से आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय और विजय, पाँच पुत्र हुए। पाँच पुत्रों को पैदा करके उर्वशी ज्यो की त्यो बनी रही। राजा की इस पर अधिकाधिक आसक्ति बढती जाती थी। इतने दिन निरन्तर संयोग के पश्चात् अब वियोग का समय आया; क्योंकि सृष्टि का नियम है कि जन्म मरण के लिये होता है, उन्नति अवनति के लिये और संयोग वियोग के लिए। उर्वशी के बिना स्वर्ग सूना-सूना-सा दिखाई देता था। अतः इन्द्र ने गन्धर्वों को उर्वशी को लाने के लिये प्रेरित किया। वे उर्वशी को पृथ्वी से स्वर्ग लाने के लिये गुप्त रूप से षड्यन्त्र करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! गन्धर्वों ने क्या षड्यन्त्र किया?"

सूतजी कहते हैं—"महाराज ! सुनिये, मैं उस षड्यन्त्र को सुनाता हूँ ।"

छप्पय

सब स्वीकारे नियम उरवशी नृप अपनाये ।
पाइ ऐल सुरवधू हियेमहँ अति हरषाये ॥
सचिवनि शासन सौंपि प्रिया सँग है प्रमुदित अति ।
वन उपवन गिरि निकट नदी-तट बिहरहिं भूपति ॥
जने पाँच सुत अप्सरा, आयु श्रुतायु सतायु रय ।
सब सुन्दर सब सर्वविद्, भये पाँचवें सुत विजय ॥

उर्वशी का वियोग

[७२५]

अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि ।
मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै ॥
सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया ।
खादन्त्येन वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादाच्च नान्दकम् ॥

(श्री भा० [illegible] ३४, ३५ [illegible])

छप्पय

इत सुरपति लखि स्वर्ग उन्हकूँ [illegible] बरदाये ।
प्रेरित करि गन्धर्व ऐलपुर [illegible] प्यारे ।
लै मेषनि गन्धर्व राति [illegible] मारे ।
सनिकें तिनिको शब्द उरवशी [illegible] ।
भूपतिकूँ कोसन लगी, [illegible] ।
भये व्यर्थ नृप के नियम, [illegible]

द्वन्द का ही नाम जगत है, निर्द्वन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है। द्वन्द्व नही, जगत् नहीं, उत्पत्ति नही, सृष्टि नहीं, संसार नही। सयोग साथ वियोग लगा है, सुख के साथ दुःख, जीवन के साथ मरण पाप के साथ पुण्य, धर्म साथ अधर्म—इसी प्रकार सब में द्वन्द्व लगा है। जो इस द्वन्द्व के रहस्य को समझते हैं, वे कभी दुःखी नही होते, वे अमर हो जाते हैं। जो द्वन्द्व को सत्य समझकर उसको प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते है वे इस संसार में ही घूमते रहते हैं, जन्म-मरण के चक्कर से छूटते नही।

सूतजी कहते हैं —"मुनियो! जिसकी कामना बड़े-बड़े देवता भी करते हैं और उन्हे भी जो सरलता से प्राप्त नहीं हो सकती, उस सुर सुन्दरी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी को प्राप्त करके महाराज पुरूरवा उसके साथ देवताओ के क्रीडा स्थान नन्दन-कानन, चैत्ररथादि दिव्य वनो मे यथेच्छ क्रीडा करते हुए, सुख-पूर्वक विचरण करने लगे। कमल की, केसर की सी कमनीय गन्ध जिसके अंग से निरन्तर निकलती रहती है, उस कमल लोचना कामिनी के साथ आनन्द विहार करते हुए महाराज पुरुरवा उसके मुख की मीठी-मीठी मादक सुवास को सूंघने के कारण आत्म विस्मृत बने, अनेको वर्षों को क्षण के समान सुख पूर्वक बिताते रहे।"

स्वर्ग की शोभा तो उर्वशी से ही थी। उसके बिना स्वर्ग सूना सूना सा दिखाई देने लगा। देवराज इन्द्र ने गन्धर्वों को बुलाकर कहा—"तुम लोगो ने यह क्या अनर्थ कर डाला? उर्वशी को शाप देकर मर्त्यलोक भेज दिया? अब जैसे हो, तैसे उसे मर्त्यलोक से यहाँ लाओ, नही तो तुम्हारा कल्याण नहीं।"

यह सुनकर गन्धर्वों ने एक पञ्चायत की उसमें यही प्रस्ताव रखा गया, कि उर्वशी कैसे स्वर्ग लाई जाय। किसी ने कोई उपाय बताया, किसी ने कोई उन सब की बातें सुनकर उग्रसेन

नामक गन्धर्व बोला—"देखो, भाई! सुनो मेरी बात। मुझे भली-भाँति विदित है कि उर्वशी ने राजा के साथ विवाह वैदिक रीति से नहीं किया है वह प्रतिज्ञा बद्ध विवाह है। तीन प्रतिज्ञाओं में से एक भी प्रतिज्ञा टूट जाय, तो उर्वशी नारद जी के शाप के भय से राजा को छोड़कर स्वर्ग चली आवेगी। यद्यपि उर्वशी की इच्छा स्वर्ग आने की नहीं है, वह राजा में अत्यन्त ही आसक्त है, फिर भी प्रतिज्ञा भङ्ग होने पर वह वहाँ रह नहीं सकती। इसलिये सब से पहिले हमें उसके मेषों को चुरा लेना चाहिये" यह सम्मति सब को रुचिकर प्रतीत हुई। सभी ने इसका सहर्ष समर्थन किया। सब मिलकर आधी रात को प्रतिष्ठानपुर पहुँचे।

महाराज उर्वशी के साथ शयन-गृह में सो रहे थे। समीप ही वे दोनों मेढ़े के बच्चे रखे हुए थे। गन्धर्वों ने अपनी माया की। उग्रसेन भीतर घुस गया। उसने बल पूर्वक एक मेष बच्चे को पकड़ लिया वह पकड़ते ही बड़े वेग से चिल्लाया। गन्धर्व ने उसका मुख बन्द कर दिया। बाहर आकर उसने दूसरे गन्धर्व को दिया। उर्वशी चिल्लाई—"राजन्! उठो, उठो, देखो कोई मेरे बच्चे को हर कर लिये जा रहा है।" राजा नींद में थे। उन्होंने कुछ ध्यान नहीं दिया भली भाँति उर्वशी की बात भी सुनाई नहीं दी। इसी बीच उग्रसेन दूसरे बच्चे को भी पकड़ लाया। बच्चे चिल्लाने लगे। उर्वशी दुःख के कारण रुदन करने लगी। वह क्रोध में भरकर राजा को भली बुरी बातें सुनाने लगी। वह बोली—"हाय! मैं किस नपुंसक की नारी बनी, जो मेरे बच्चों की रक्षा करने में भी असमर्थ है। मैं तो समझती थी, यह क्षत्रिय है, बली है, वीर है। इसकी संरक्षकता में मेरा कुछ भी अनिष्ट न होगा। मेरे बच्चों का कोई बाल भी बाँका न कर

सकेगा, किन्तु यह तो नाम का ही क्षत्रिय निकला। दिन में तो बड़ा डोग मारता रहता है, मैं यह करूँगा, वह करूँगा। किन्तु रात्रि मे मेरे दुपट्टे मे मुँह छिपाकर स्त्रियो की भाँति खुर्राटे भरता रहता है। ऐसे वीर्यहीन स्त्रैण पति को पाकर मैं लोक परलोक दोनो से पतित हो गई। देखते-देखते चोर मेरे बच्चो को लिये जा रहे हैं, यह उनको छुडा नही सकता।"

अपनी प्रिया का ऐसा करुण क्रन्दन सुनकर वीराभिमानी महाराज ऐल तुरन्त अपनी शैया से उठे। समीप ही टगे हुए अपने खड्ग को उतार कर नगे ही भेड के बच्चो को खोजने चले। उस समय वे उर्वशी के मर्मान्तिक वचनो से ऐसे आहत हो गये थे कि उन्हे इस बात का ध्यान नही रहा, कि मैं नग्न हूँ। तुरन्त ठहर जा, ठहर जा, कहते हुए दौडे, गन्धर्व राजा के बल पराक्रम को जानते थे अत: वे मेषो को छोडकर आकाश मे बिजली के समान चमकने लगे। उस प्रकाश मे उर्वशी ने राजा को नग्नावस्था मे देख लिया। इससे वह बहुत घबराई। उसे नारदजी के वचन याद आ गये। यद्यपि वह अतृप्ता थी राजा को छोडना नही चाहती थी, उसका चित्त राजा के रूप-जाल मे फँसा हुआ था, फिर भी ऋषि के शाप के भय से उसने राजा का परित्याग करने का ही निश्चय किया। वह तुरन्त अन्तर्धान होकर गन्धर्वो के समीप पहुँच गई। गन्धर्व उस रूप की राशि सौन्दर्य की पुतली, स्वर्ग की चूडामणि ललना ललाम को लेकर गन्धर्व लोक को चले गये।

इधर जब मेष-बालकों को लेकर महाराज लौटे, तब उनके शरीर का सम्पूर्ण रक्त पानी हो गया, वे हक्के-बक्के से होकर चकित चकित दृष्टि से उर्वशी की शय्या को देखने लगे। उस पर उर्वशी नहीं थी। वे मूर्छित होकर गिर पडे और 'हा प्रिये!

हा प्रिये !' कह कर उच्च स्वर से रुदन करने लगे। कुछ काल मे चेत होने पर वे भवन के चारो ओर निहारने लगे। बार बार बिस्तरे को झाडने लगे, दशो दिशाओ को निहारने लगे। वे जिस दशा मे थे, उसी दशा मे पागलो की भाँति घर से निकल पडे। वे उर्वशी के लिये अत्यन्त ही अधीर हो रहे थे। उनका चित्त ठिकाने नही था। वे उन्मत्त सिडी-पागलो की भाँति इधर से उधर 'हा प्रिये, हा प्रिये' कह कर विचरण कर रहे थे। आधी रात्रि के समय वे अपने पुर को छोडकर विजन वन मे अकेले ही घूम रहे थे। उनके मुख मे जो भी अट सट बात आती, उसे ही बकने लगते। वे अपने आप ही उच्च स्वर से कहते जाते थे— प्रिये ! तुम मुझ हतभागी को छोडकर सहसा कहाँ अन्तर्हित हो गई। तुम्हारे बिना मैं प्रतिष्ठानपुर मे कैसे प्रवेश करूँगा ? जनता को क्या मुख दिखाऊँगा ? कैसे मेरा समय कटेगा ? किनके साथ बात करूँगा ? कौन मेरे मन को मुदित करेगी ? कौन मेरे मनस्ताप को हरेगी ? प्रिये ! तुमने विनोद तो नही किया है ? तुम मेरे प्रेम की परीक्षा तो नही ले रही हो ? तुम छिपकर मेरे साथ खिलवाड ता नही कर रही हो ? यदि ऐसी बात है, तो बहुत हो चुका ! इतनी हँसी अच्छी नही होती ! मैं अत्यन्त ही अधीर हो रहा हूँ ! तुम्हारे क्षण भर के वियोग को सहने की भी मुझमे शक्ति नही। देखो प्रिये ! तुम्हारे बिना यह रात्रि भी बीती जा रही है। ये नक्षत्र उसी प्रकार अन्तर्हित हो रहे हैं, जिस प्रकार तुम मेरे शयनागार से अन्तर्हित हो गई हो। देखो, निशा के प्रस्थान करने पर यह भगवती ऊषा देवी आ गई। उसी प्रकार तुम भी मेरे समीप आ जाओ। विप्रगण ऊषा देखकर अपने अपने नियमो मे लग गये। मेरे तो नियम सब तुम्हारे ही अधीन हैं। तुम्हारे बिना मेरा कोई नियम

नहीं चल सकता। देखो, ये भुवन-भास्कर भगवान् सविता उदित हो गये। दिन आ गया। तुम्हारे बिना यह पहाड से भी बड़ा मेरा दिन कैसे कटेगा ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार पागलों की भाँति प्रलाप करते हुए चक्रवर्ती राजा ऐल इधर से उधर घूमने लगे।"

छप्पय

प्रिया वचन सुनि परुष नगन नृप असि लै धाये।
करि प्रकाश गन्धर्व भेष तजि तुरत बिलाये॥
जब नृप निरखे नगन उरवशी अति सकुचाई।
अन्तरहित ह्वै गई फेरि सुरपुर महँ आई॥
फिरे नृपति नहिं लखी तहँ, प्रिया अधिक विह्वल भये।
अन्वेषण हित तुरत ही, रोवत वन कूँ चल दये॥

उर्वशी के विरह में विक्षिप्त महाराज ऐल

(७२४)

ऐलोऽपि शयनं जायामपश्यन् विमना इव ।
तच्चितो विह्वलः शोचन् बभ्रामोन्मत्तवन्महीम् ॥ ४० ॥
(श्री भा० ९ स्क० १४ अ ३२ श्लो०)

छप्पय

सुमिरि सुमिरि गुन-रूप भूप मोहे [illegible] ।
कस्तूरी-मृग-सरिस फिरै विह्वल [illegible] ॥
जड़-चेतन को भेद-भाव भूले [illegible] ।
पूछे पक्षी-पशुनि पतो कोई न [illegible] ॥
जाति, बरन, पद, प्रतिष्ठा, [illegible] बिसारिके ।
इत-उत भूले फिरहि हिय [illegible] धारिके ॥

तन्मयता की परीक्षा [illegible] ही होती है । [illegible] जितना ही अधिक प्रिय [illegible] उतनी ही [illegible] तन्मयता और [illegible]

आदि—सब सुधि भूल जाता है। उसके लिये संसार शून्य हो जाता है। उसका एक ही कार्य रहता है अपने प्रिय की खोज करना। सांसारिक सब प्रपंच रहते हुए भी उसके सामने से विलीन हो जाते हैं। वह सर्वत्र अपने प्यारे की ही छटा निहारता है, जड-चेतन का भेद-भाव भूल जाता है, लोक-परलोक दोनों के ही सुखों को समान समझता है, छोटे-बडे का भेद-भाव भुला देता है। उसका प्यारा उसके साथ रहे, फिर चाहे उसे नरक में रहना हो या स्वर्ग में, राजा बनकर रहना हो या भिक्षुक बनकर। यदि उसका प्रिय साथ नहीं है, तो उसके लिये स्वर्ग नरक से भी बढकर है, और यदि प्रिय साथ है, तो नरक भी सहस्रों स्वर्गों से श्रेष्ठ है। यह कामना यदि संसारी वस्तु की जाय, तो स्वर्ग में वही वस्तु मिलती है, यदि यह भावना भगवान् में हो, तो भगवान् के लोक की प्राप्ति होती है। उपासना में भावना ही प्रधान कारण है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उर्वशी राजा को नग्न देखकर, अपनी प्रतिज्ञा भग हुई समझकर, राजमहल छोडकर चली गई। राजा उसके विरह में दुःखी होकर नगर से निकलकर वन-वन उसकी खोज में भटकते रहे। इधर उर्वशी भी राजा के रूप पर आसक्त हुई उसी का निरंतर चिन्तन करती रही।

वे जिसे सम्मुख देखते, उसी से अपनी प्रिया का पता पूछते। उनका विवेक नष्ट हो गया था। वे यह भी विचार नहीं करते थे, कि जिससे मैं अपनी प्रियतमा का पता पूछ रहा हूँ, वह जड है या चेतन।

इन बातों से उन्हें क्या प्रयोजन! उन्हें तो अपनी प्रिया का पता लगाना है, वह चाहे जैसे लगे, जिसके द्वारा लगे। सम्मुख उन्होंने एक जंगली हाथी को आते हुए देखा। उसे देखकर वे

बोले—"हे वारणेन्द्र ! तुम इस वन के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ जीव हो। तुमने कहीं इधर से जाती हुई मेरी प्रिया को तो नहीं देखा है ? देखो, उसकी जाँघें तुम्हारी सूंड़ के समान हैं।" हाथी भला क्या उत्तर दे सकता था ! इतने में ही एक सिंह आ गया। सिंह के भय से हाथी भाग गया। अब राजा सिंह से ही पूछने लगे—"हे केशरी तुमने क्या मेरी प्रिया को देखा है ? उसका उदर तुम्हारे उदर के ही सदृश कृश है।" सिंह भी राजा की बात को अनसुनी कर के एक ओर चला गया। सम्मुख एक लता पर पके-पके बिम्ब के फलों को देखकर राजा बोले—"हे बिम्ब, तुमने मेरी प्राणेश्वरी को तो नहीं देखा है ? उसकी सबसे मोटी पहचान यह है कि उसके अधर तुम्हारे फलों के ही समान अरुण वर्ण के, स्निग्ध, और रसीले हैं।" भला कुँदरू क्या उत्तर दे सकता था ! उसके नीचे एक मयूर नृत्य कर रहा था। राजा की बात सुनकर उसने नृत्य करना बन्द कर दिया। वह भागकर एक ओर खड़ा हो गया और राजा को चकित दृष्टि से निहारने लगा। तब राजा उससे बोले—"हे मयूर ! तुम्हारे पंख बड़े चित्र-विचित्र वर्ण वाले हैं। कभी-कभी मेरी प्रिया ऐसी ही साड़ी पहिना करती थी। तुमने कहीं उसे इधर से जाते तो नहीं निहारा है ?" मयूर यह सुनकर चल दिया। उधर से एक हिरणी आ रही थी। वह यूथ-भ्रष्टा होने से कातर दृष्टि से भयभीत होकर आँखें फाड़-फाड़ कर राजा को निहार रही थी। उसे देखकर राजा बोले—"हे मृगी ! तुम मुझसे डरो नहीं। मैं वधिक नहीं, दुःखित हूँ, विरही हूँ, अपनी प्रिया द्वारा परित्यक्त हूँ। वह मुझे अर्धरात्रि में छोड़कर चली गई है। तुमने उसे देखा हो तो मुझे बता दो, मेरे तन की तपन बुझा दो, मुझे दयिता का संदेश सुनाकर जीवन-दान दो। उसकी आँखें तुम्हारे ही समान हैं। वह भी बड़ी भीरु है।"

मृगी ने भी जब कुछ उत्तर नहीं दिया, तब राजा रोने लगे। वे अपने ही आप बड़बड़ाने लगे—"हाय ! विधाता मेरे वाम हो गया ! मेरे बुरे दिन आ गये ! कोई मुझसे बोलता तक नहीं ! घूमते-घूमते रात्रि बीत गई। सूर्य चढ़ते-चढ़ते माथे पर आ गये। पृथ्वी तपने लगी। नीचे पाँव, ऊपर सिर जलता है। मुझे भीतर से विरहाग्नि जला रही है। सिंह ताप से तप्त होकर अपनी गुहा मे घुस गये, वे अपनी प्रियाओं के साथ सुख पूर्वक बैठे हैं। मैं कहाँ जाऊँ ? मेरे लिये तो संसार शून्य है। ये जङ्गली भैंसे धूप के कारण तालाबों में घुसकर कीच मे लोट रहे हैं, अपने ताप को मिटा रहे हैं। मैं किसके अङ्क में लोटकर अपना ताप मिटाऊँ ? यह चातक प्यास के कारण बार-बार चिल्ला रहा है, जैसे मैं उर्वशी को पाने के लिये पागलों की भाँति प्रलाप कर रहा हूँ। ये वन-गज अपनी-अपनी सूँड़ों मे पद्मिनी खडों को लिये हुए, उन्हें जल में डुबो-डुबो कर, अपने शरीर को सींचते हैं। यदि कहीं मेरी प्रिया भी मुझे मिल जाती, तो उसके कर-कमलों को अपने अंगों पर फिरा कर अपनी विरहाग्नि को बुझाता, उसके कमल-मुख को सूँघ कर अपनी तृष्णा को शान्त करता। उसके चरण-कमलों को अङ्क में रख कर सुखास्वादन करता। उसके अङ्ग की कमल-सरिस गन्ध को सूँघ कर अपने विरह-ज्वर को शान्त करता। ये पक्षी ताप से तापित होकर अपने-अपने घोसलों में घुस गये हैं। जैसे यह चिरौटा अपनी चिड़िया के साथ घोंसले में सुख पूर्वक सो रहा है, ऐसे ही यदि मेरी प्रिया मिल जाती, तो मैं भी अपने गृह रूपी घोंसले में सुखपूर्वक सोता ! ये पक्षियों के सुन्दर-सुन्दर कोमल-कोमल अंगों वाले बच्चे बार-बार अपनी चोंच घोंसलों से बाहर निकालते हैं, फिर छिपा लेते हैं। इसी प्रकार मेरे बच्चे मेरी प्रिया के बिना तड़प रहे होंगे।

ये हिरण घास चरना छोड़ कर वृक्षों की छाया में बैठकर जुगाली कर रहे हैं। लाओ, मैं भी कुछ देर किसी वृक्ष की छाया में बैठकर अपनी प्रिया का चिन्तन कर लूँ। ओहो! यह शिरीष का सघन वृक्ष कितना सुन्दर है! इसके पुष्प उसी प्रकार कोमल और सुखस्पर्शी हैं, जिस प्रकार मेरी प्रिया का प्रत्येक अङ्ग है। किन्तु प्रिया के विरह से दुःखित मुझको यह अच्छा नहीं लगता! हाय! इसकी छाया में भी मुझे शान्ति नहीं। इसकी सुगन्धि मुझे विह्वल बना रही है। चलूँ, आगे चलूँ। आगे कहाँ चलूँ? किधर चलूँ? कहाँ रोऊँ? किससे बातें करूँ? कौन मेरी सुनेगा? कौन मुझे सान्त्वना देगा? मरूँ भी तो कैसे मरूँ? मौत भी मुझसे डर जायगी, नदी भी सूख जायगी, पहाड़ भी मुझे न गिरावेंगे, हिंसक जन्तु भी मुझे न खायेंगे! अग्नि मुझे कैसे जलावेगी, जब इतनी प्रबल विरहाग्नि से भी मैं अभी तक नहीं जला? सब मुझे छोड़ गये। कोई मेरी बात का उत्तर नहीं देता! जगत-साक्षी भगवान् भुवन-भास्कर भी अपनी प्रिया सन्ध्या के रक्तवर्ण के अञ्चल में छिप गये। अब निशादेवी आ गई। हाय! मैं इस रात्रि को कैसे काटूँगा? कहाँ विश्राम करूँगा? कौन मुझे आश्रय देगा? हे देवि निद्रे! तुम्हें बार-बार प्रणाम है! तुम मेरी आँखों में आ जाओ। स्वप्न में ही मैं अपनी प्रियतमा के दर्शन कर लूँ। स्वप्न में भी वह तन्वङ्गी मुझे मिल जाय, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ। हाय! मैं कैसा अभागा हूँ? प्रतिष्ठानपुर का प्रतिष्ठित चक्रवर्ती भूप होकर मैं यहाँ विजन वन में अकेले भटक रहा हूँ। यदि मुझे कोई मेरी प्रजा आकर देखे तो कभी पहिचान नहीं सकती। हाय! यह पूर्ण चन्द्र उदित होकर मुझे खिझा रहा है, मानों मुझे चिढ़ाते हुए कह रहा है—"तुम्हारी प्रिया ने अपने मुख की आभा से मुझे फीका-फीका

बना दिया था ! तुम उसके विकसित मुख को निहार कर मुझे अत्यन्त तुच्छ, हेय और कलङ्की बताते थे। अब बताओ, मैं सुन्दर हूँ या तुम्हारी प्रिया का मुख।" मैं इन्हें क्या उत्तर दूँ ? बुरे दिनों में मित्र भी दुश्मन बन जाते हैं। सो यह चन्द्र तो मेरी प्रिया के मुख द्वारा पहिले से ही तिरस्कृत है। किन्तु नहीं, नहीं, ये चन्द्र तो मेरे पूज्य हैं। मेरे पिता के भी पिता हैं। अपने पोते पर ये दया करेंगे, अपनी पौत्र-वधू का पता ये अवश्य मुझे बता देंगे, मुझे मेरी प्रिया से अवश्य मिला देंगे। मेरी प्राणेश्वरी ने इन्हें ससुर समझकर लज्जा से घूँघट काढ़ लिया होगा, वह यहीं कहीं बैठी होगी। ये चन्द्रदेव संकेत द्वारा मुझे अवश्य उसके समीप पहुँचा देंगे। कब उस कमलानना, कमलनयना, कमलाङ्गिनी, कमलगन्धा की अंग-वायु को सूँघूँगा ? कब उसके काले-काले घुंघराले कचों से आवृत विकसित मुख कमल को किंचित उन्नत करके उसके अधर से निःसृत अमृत का अतृप्त भाव से पान करूँगा ? कब उसकी मृणाल के समान सुन्दर-सुडौल कोमल बाहुपाशों में आबद्ध होऊँगा ? कब उस नीलोत्पल दलाक्षी के बड़े-बड़े विशाल नेत्रों में निज नेत्र गड़ा कर आत्म-विस्मृत बनूँगा ?

हाय ! मेरी प्रिया तो ऐसी निष्ठुर कभी नहीं थी ! वह तो कभी स्वप्न में भी मुझ पर क्रोध नहीं करती थी। मैंने आज तक उसका क्रोधित आनन कभी देखा ही नहीं। वह तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करती, पल-पल, क्षण-क्षण मेरी प्रसन्नता का ध्यान रखती थी। उसके मुख-मण्डल पर मैंने आज तक कभी उदासी देखी ही नहीं। रात्रि में कमल मुँद जाता है, किन्तु उसका मुख-कमल रात्रि में अधिक खिलता था। दिन में चन्द्रमा म्लान हो जाता है, किन्तु उस चन्द्र-मुखी का मुख-चन्द्र दिन में

ही अधिकाधिक विकसित होता था। उसकी काली-काली घुँघराली लटें विथुरकर मेरे मुख से लगतीं, तब वह हँस पड़ती। मैं निहाल हो जाता। प्रिये! तुम किस अपराध पर मुझे छोड़ गई? जो हो गया, सो हो गया। अब मैंने अपने किये का आवश्यकता से अधिक दण्ड पा लिया। अब तुम आ जाओ। मुझे दर्शन देकर सुखी बनाओ। ससार मे तुम ही मेरी मति हो, तुम ही मेरी गति हो, तुम ही मुझे जिला सकती हो, तुम ही मृत-सदृश मुझे सुधा-पान करा सकती हो, तुम ही मेरी डगमगाती नौका को पार लगा सकती हो, तुम्हीं अथाह समुद्र मे डूबते मुझे करावलम्बन दे सकती हो। पहिले भी मैं मर रहा था, तुमने ही रम्भा के साथ आकर अपने देवदुर्लभ दर्शन देकर मुझे जीवन दान दिया था। अब भी तुम आकर मुझे मरने से बचा लो। हाय! तुम तो उत्तर भी नहीं देती। अब मैं क्या करूँ? देखो-देखो यह विभावरी भी बीत गई। निशा का भी अन्त हुआ। पूर्व सन्ध्या पुनः वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर आ गयी। पक्षी अपने घोंसलों मे बैठे ही बैठे गीत गाने लगे। मेरे गीत की तो उर्वशी ही एक मात्र टेक है। जब तक वह तन्वङ्गी न मिलेगी, मैं इसी गीत को गाता हुआ वन-वन फिरूँगा। इसी प्रकार भटकता-भटकता मर जाऊँगा। दिन हो, या रात्रि हो, मेरे लिये सब समान हैं। निद्रा भी मुझे छोड़कर चली गई। वह तो उर्वशी की सहेली थी। उसी के साथ वह भी भाग गई। जब उर्वशी लौटेगी, तभी उसके साथ वह भी लौटेंगी। अब तो विकलता देवी ही एक मात्र मेरा साथ दे रही है, आशा देवी ही हाथ पकड़े मुझे ले चल रही है। अब आशा जहाँ ले जायगी, वहाँ चलूँगा" यह कहते हुए राजा ऐल आगे को चल दिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसी प्रकार विरह में उन्मत्त हुए अंट-संट बकते राजा बारह दिन मे प्रतिष्ठानपुर से चलकर कुरुक्षेत्र मे पहुँचे। वहाँ भी वे 'हा प्रिये ! हा उर्वशी !' कहते हुए उन्मत्तों की भाँति इधर से उधर परिभ्रमण करने लगे।

छप्पय

बैठें तरु तर तनिक तुरत औचक उठि धावैं।
भ्रमवश प्रिया निहारि बढ़ैं आगे गिर जावैं॥
अट-सट कछु बकैं सिड़ी-पागल सम रोवें।
निशि-वासर पथ चलें, करें भोजन नहि सोवें॥
चलत-चलत द्वादश दिवस, महँ पहुँचे कुरुक्षेत्र ढिंग।
भूख प्यास श्रम नींद तैं, भये नृपति के शिथिल अंग॥

ऐल और उर्वशी का पुनर्मिलन

(७२५)

स ता वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्या च तत्सखीः ।
पञ्च प्रहृष्टवदनाः प्राह सूक्तं पुरूरवाः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १४ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

लखी उरवशी तहा, पाँच सखियन के सँग महँ ।
अति प्रसन्नता भई प्रिया लखि नृप अँग अँग महँ ॥
बोले—'जाया ! प्रान तुम्हार बिनु ये जावैं ।
तब निरखत तन मृतक होहि गीदड़-वृक खावैं ॥
कहै उरवशी कामिनी, करैं प्रीति नित स्वार्थ तैं ।
नष्ट करहिं सर्वस्व कूँ, भ्रष्ट करहिं परमार्थ तैं ॥

कोई बहुमूल्य प्यारी वस्तु हमारे समीप है, उसके सेवन से नित्य ही हम अनुभव करते हैं। वह कदाचित् खो जाय, उसकी प्राप्ति के लिये प्रबल प्रयत्न करते रहें और फिर वह मिल जाय, तो उसकी प्राप्ति में पलने से कई गुना सुख होगा। खोई वस्तु

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— राजन् ! एक बार सरस्वती नदी के तट पर कुरुक्षेत्र में महाराज पुरूरवा ने प्रसन्नमुखी पाँच सखियों के साथ उर्वशी को देखा। उसे देखकर राजा ने यह सूक्त कहा।

के मिल जाने से एक अनिर्वचनीय सुख होता है। कामना ही इच्छा को प्रबल करती है, इच्छा ही हमें लोक-परलोक तथा चौरासी लाख योनियों में घुमाती रहती है। चाह ही चिन्ता को बढाती है। इच्छापूर्ति होने पर कभी विवेक हो जाता है, कभी इच्छा और प्रबल हो जाती है प्रबल इच्छा का फल परलोक में प्राप्त होता है। विवेक होने पर विषयों से वैराग्य हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इधर तो महाराज पुरूरवा पागल बने उर्वशी के विरह में इधर-उधर भटक रहे थे, उधर उर्वशी की भी दशा बुरी थी। उसके मन में महाराज की मूर्ति गढ़ गई थी। वह दिन-रात राजा की ही चिन्ता करती रहती थी। वह राजा के लिये सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर थी। उसे एकमात्र भय था तो देवर्षि नारद का। नारदजी ने रम्भा के साथ जाते हुए कह दिया था—"तुम्हारी तीन प्रतिज्ञाओं में से एक भी भग हो जाय, तो तुम राजा के समीप मत रहना, नहीं तो तुम्हारा कल्याण नहीं है।" उसने राजा को नग्नावस्था में देख लिया, अतः उसे अत्यन्त दुःख के साथ उनका परित्याग करके गन्धर्वलोक में आना पडा। किन्तु यहाँ उसकी विकलता बढ गई। जब उससे किसी प्रकार भी न रहा गया, महाराज के विरह-दुःख को सहन करने में उसने सर्वथा अपने को असमर्थ पाया, तब तो वह देवर्षि नारद के समीप गई। हाथ जोडकर दीनवाणी में उसने कहा—"देव! मैं महाराज ऐल के बिना अत्यन्त ही दुःखी हूँ। मैं उन नरेन्द्र के एक बार दर्शन करना चाहती हूँ। आपके शाप के भय से मैं उनके पास नहीं जा सकती।"

नारदजी ने कहा—"देवि! तुम जिस प्रकार राजा के विरह में

दुःखी हो, उसी प्रकार राजा भी तुम्हारे लिये अत्यन्त कातर हो रहे हैं। उन्होंने अशन-वसन शयन-सभी का परित्याग कर दिया है। वे पागलो की भाँति विक्षिप्त बने इधर से उधर भ्रमण कर रहे हैं। वे आज कुरुक्षेत्र में एक प्लक्ष वृक्ष के नीचे अचेतन हुए पडे हैं। तुम जाकर उनके दुःख को शान्त करो। अपनी भी अभिलाषा पूर्ण करो। केवल एक रात्रि तुम उनके समीप रह सकती हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विरहियो के लिये तो क्षण भर का मिलन ही अत्यन्त सुखप्रद है। पल-भर के मिलन के लिये ही तो वे व्याकुल बने रहते हैं। उर्वशी को तो अपने प्रियतम से एक दिन मिलन का सुअवसर प्राप्त हो गया! इस समाचार को श्रवण करके वह फूली नहीं समाई। उसके अग प्रत्यग खिल गये। उसने प्रसन्नता प्रकट करते हुए अपना सखियों से कहा—"बहिनो! चलो, आज मैं अपनी चिरकाल की विरह वेदना को शान्त करूँगी। आज अपने प्रियतम के अक से अक भरकर मिलूँगी। आज मेरी साधना सफल होगी, अपने तप का फल पाऊँगी।" यह कहकर उसने अत्यन्त उल्लास से अपने अङ्गो को वस्त्राभूषणो से अलकृत किया। सोलहो शृङ्गार करके वह सखियों से घिरी हुई कुरुक्षेत्र की ओर चली।

इधर महाराज पुरूरवा अपनी प्रियतमा के विरह में रोते-चिल्लाते-तडपते इधर उधर जन्मत्तो की भाति फिरने लगे। श्रम के कारण उनके अग शिथिल हो गये, वे पुष्करिणी के समीप ही एक सघन वृक्ष की छाया में गिर पडे। आज उन्हें नींद आ गई। बिना बिस्तर के धूल में वे मृतक-सदृश पडे थे। उनके काले-काले घुँघराले बाल बिखरे हुए थे। न उनमें तेल डाला गया था, न उन पर कघी पडा थी। रूखे रूखे वे बाल वायु मे हिल हिलकर

महाराज की मनोवेदना व्यक्त कर रहे थे। उर्वशी उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर दुःख से अधीर हो गई। हाय! काल की यह कैसी कठोर क्रीड़ा है। विधि की कैसी विचित्र विडंबना है! जिसे हम हृदय से प्यार करते हैं, उससे परिस्थितियों के कारण मिल नहीं सकते। दो हृदय भाग्यवश पृथक्-पृथक् तड़पते रहते हैं। दो प्रेमी मिलकर एक साथ नहीं रह सकते। काल-चक्र एक दूसरे से पृथक करके दोनों को दुःखी बनता रहता है। हाय! इन चक्रवर्ती महाराज की मेरे वियोग में कैसी दुर्दशा हो रही है? कौन कह सकता है कि ये पुरुष-शार्दूल प्रतिष्ठानपुर के प्रजा-पालक प्रजेश हैं? आज ये पागलों की भाँति धूल में लोट रहे हैं, इनका मुख कुम्हला गया है। बारह दिन पहले ये कितने हृष्ट-पुष्ट थे! आज इनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है! प्रतीत होता है, इन्होंने तबसे न कुछ खाया है, न पिया, ये बिना विश्राम किये दौड़ते ही रहे हैं। इनकी आँखें भीतर घुस गई हैं। अंग-प्रत्यंग कृश और शिथिल पड़ गये हैं। इनके प्रेम का बदला मैं कैसे दे सकती हूँ? अच्छा, इनकी आँखें लग गई हैं, तो इन्हें कुछ काल विश्राम करने दूँ। मैं तब तक इस पुष्करिणी में स्नान कर लूँ। कैसा पावन यह तीर्थ है? यहाँ सरस्वती की गुप्त धार है! जब तक स्नान करूँगी, तब तक महाराज जाग भी जायँगे।" यह सोचकर वह वस्त्रों को उतारकर सखियों के साथ स्नान करने लगी।

उसी समय महाराज की आँखें खुल गईं। आँखें खुलते ही वे दीन वाणी में पुकारने लगे—"प्रिये! तुम मुझ हतभागी को छोड़कर कहाँ चली गई? तुम मेरे ऊपर दया क्यों नहीं करती? तुम मुझे अपने दर्शन क्यों नहीं देती? तुम्हारे बिना मैं मर जाऊँगा।"

उर्वशी ने महाराज का करुणक्रन्दन सुना। वह शीघ्र ही जल से बाहर आई। वस्त्राभूषणों को पहन कर ज्यों ही वह राजा की ओर चली, त्योंही राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने समझा, मेरी प्रिया मुझे बिना देखे ही स्नान करके जा रही है। वे पागलों की भांति दौड़े, किन्तु शरीर में शक्ति न होने से ठोकर लगते ही गिर पड़े। वे रोते रोते कातर वाणी में कहने लगे—"प्रिये! प्रिये! तनिक ठहरो, ठहरो। देखो, मैं तुम्हारे बिना कितना अधीर हो रहा हूँ। तुमने किस अपराध पर मेरा परित्याग कर दिया? अभी तुम्हारे साथ रहने से मेरी तृप्ति नहीं हुई। मुझे बिना पूर्णतया आनंदित किये इस विजन वन में छोड़कर जाना तुम्हारे स्वभाव के अनुरूप नहीं। कितने दिनों से मैं तुम्हारी रूप-सुधा का प्यासा हूँ? कितने दिनों से तुम्हारे प्रेम-भरे मीठे वचनों को सुनने के लिये लालायित हूँ? तनिक मुझे अपना कमल-मुख तो दिखा जाओ। क्षणभर बैठकर हम अपने दुःख-सुख की कुछ बातें तो कर लें। देखो, मेरा यह सुन्दर शरीर तुम्हारे बिना कैसा हो गया है! तुम्हारे वियोग-दुख को सहन करने की इसमें शक्ति नहीं, यह प्राणहीन होकर यहीं गिर जायगा। इसे कुत्ते, स्यार, गीदड़ नोच-नोचकर खायेंगे। जिस शरीर को अंक में रखकर तुम परम प्रमुदित होती थीं, आज वही तुम्हारे बिना मृतक हो जायगा तुम्हारे देखते-देखते सड़ जायगा। मांस-भोजी कंक, गृद्ध, आदि इसे खायेंगे! क्या यह तेरे प्रभाव और पद के अनुरूप होगा?"

राजा की ऐसी करुणा भरी वाणी सुनकर उर्वशी का हृदय फटने लगा। वह राजा के समीप आकर बैठ गई। उनके सिर को अपनी गोद में रखकर उनकी धूल झाड़ती हुई, अत्यन्त

स्नेह के स्वर में बोली—"राजन् पुरुष होकर भी आप इतने अधीर हो रहे हैं! हे नरर्षभ! ऐसी अधीरता आपके अनुरूप नहीं। महाराज! आप युग-युग जीवें। आपकी देह सदा ऐसी ही सुन्दर बनी रहे। आप चिरजीवी होकर प्रजा का पालन करें। आप मुझ स्वैरिणी स्त्री के पीछे इतने अधीर हो रहे हैं! यह आपकी भूल है। मुझ-जैसी स्त्री के पीछे आप अपने विवेक को न खोवें। कामिनियों का किसी से प्रेम नहीं हुआ करता।"

राजा ने अधीरता के स्वर में कहा—"देवि! तुम स्त्री होकर ऐसी बात मुख से मत निकालो। इस संसार में एकमात्र स्त्री ही तो सभी सुखों की खान है। कोई वस्तु शब्द से सुख देती है, कोई रूप से, कोई रस के द्वारा, कोई गन्ध के द्वारा, और कोई स्पर्श के द्वारा। स्त्री में तो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पांचों सुख हैं। स्त्री ही जगत् की जननी है। स्त्री के बिना आकर्षण नहीं कार्य में प्रवृत्ति नहीं। नीरस जीवन में सरलता का पुट लगाने वाली नारी ही तो है?"

उर्वशी बोली—"देव! आपका कथन यथार्थ है, किन्तु स्त्री के कई रूप होते हैं—पुत्री, भगिनी, धर्मपत्नी, माता, अनन्या और कामिनी। जैसे एक ही रस पात्र-भेद से पृथक्-पृथक् गुण देने-वाला हो जाता है, वैसे ही एक स्त्री सम्बन्ध-भेद से भिन्न-भिन्न रूपों वाली बन जाती है पुत्री वात्सल्य की मूर्ति है, भगिनी दया की मूर्ति है, धर्म-पत्नी प्रेम की मूर्ति है, माता क्षमा की मूर्ति है, अनन्या उपासना की मूर्ति है और कामिनी साक्षात् दोषों की मूर्ति है। स्त्री का पुत्री और भगिनी रूप लाल्य है, उसका लालन पालन करना चाहिये। यह भोली बालिका सभी के चित्त को चुराती है, मन्द मन्द मुस्कराकर जीवन में वात्सल्य उदय करती है। उसके लिये संसार में सभी पिता और भाई हैं। जब वह धर्म-

पत्नी बन जाती है, तब संसार में उसके लिये एक ही पुरुष रह जाता है। शेष या तो रहते नहीं, यदि रहते भी हैं, तो पिता भाई, पुत्र, आदि के रूप में ही रहते हैं। वह सब की श्रद्धा-भाजन बनती है। वह सती के रूप में संसार को धारण करती है। वही जब माता बन जाती है, तब सबको अपनी संतान समझती है, उसकी संज्ञा जाया हो जाती है पति ही उसके उदर में प्रवेश करके पुत्र रूप से पुनः प्रकट होता है। वह जगजननी के रूप से संसार में प्रकट होती है। सभी उसकी वन्दना करते हैं। वह माता-रूप में सब के प्रति वात्सल्य प्रकट करती है। वह निन्दनीय नहीं, वन्दनीय है। इन रूपों के अतिरिक्त नारी का एक अनन्यारूप भी है। पति जीवित हो या मर गया हो, विवाह हुआ हो या न हुआ हो, वह निरन्तर भगवत् चिन्तन में ही अपना समय बिताती है। सती के लिये तो पति ही परमेश्वर है; किन्तु अनन्या के लिये माता, पिता, भाई, पति - ये संसारी सम्बन्ध हैं, इनसे वह घृणा नहीं करती, इनके प्रति भी उसका आदर है। किन्तु वह सामान्य आदर है। अनन्य अनुरा तो उसकी अच्युत-पाद-पद्मों में है। उन्हीं को वह अपना पति सर्वस्व, समझती है। उसके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? वह तो साक्षात् श्री है।

इन सबसे पृथक् स्त्री का एक कामिनी रूप है, काम-तृप्ति ही जिसका लक्ष्य है। वह कामिनी या स्वैरिणी कहलाती है। उसका एक पति नहीं होता। जिनसे उसकी काम-तृप्ति होती है, उन्हीं को वह प्यार करने लगती है, उन्हीं से अपना सम्बन्ध स्थापित करती है। कामिनियाँ चाहे घर में रहें या हाट में बैठें, उनमें एक पण्य स्त्री होती है, एक कामिनी। दोनों ही स्वैरिणी हैं। वेश्या चाहे इस लोक की हो, या स्वर्ग की—दोनों ही समान

हैं। इनके हृदय छुरे के समान होते हैं। ऐसी व्यभिचारिणी स्त्रियां किसी से शुद्ध प्रेम नहीं कर सकतीं। उनका प्रेम तो स्वार्थ-जन्य होता है। जब तक जिससे स्वार्थ सधता है, तब तक वे उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करती रहती हैं। जहाँ स्वार्थ में आघात हुआ, ये चंडी बन जाती हैं, सब कुछ करने को उतारू हो जाती हैं। ऐसी स्वैरिणी स्त्रियां बड़ी निर्दयी होती हैं। ये अपने विरुद्ध आचरण को सहन नहीं कर सकतीं। अपने काम-भोग में इन्हें जहाँ व्याघात दिखाई दिया, वहाँ ये राक्षसी रूप धारण कर लेती हैं। ये तनिक से स्वार्थ के लिये बड़े-बड़े साहस का काम कर बैठती हैं। राजन्! आप तो पुरुष हैं, आप इन स्वेच्छाचारिणी कामिनियों की बातें नहीं जानते। मैं इनकी करतूतों से भली भाँति परिचित हूँ। मेरा भी कोई एक पति नहीं। मैं भी स्वर्ग की वेश्या ही हूँ। देवयोनि में होने से, अमृत पीने से, नारायण की जाँघ से उत्पन्न होने से, मुझे शास्त्रकारों ने शुद्ध कहा है। फिर भी मैं बहुभर्तृ तो हूँ ही। मैं तो इन कामिनी स्वैरिणियों की सभी लीलायें जानती हूँ। ये पहिले तो विश्वास उत्पन्न कर लेती हैं, फिर स्वार्थ के वशीभूत होकर तनिक-सी बात पर विश्वासघात कर डालती हैं। ये भाई, पिता, प्रेमी—सभी को विष दे सकती हैं, काम के पीछे पुत्र की हत्या कर सकती हैं। गर्भ के बालक को गिरा सकती हैं, भ्रूण हत्या—जैसे पाप को हँसते-हँसते कर सकती हैं। महाराज! मैं कहाँ तक बताऊँ? मैंने यहाँ तक देखा है कि जार के कहने से वे पति तक को मार डालती हैं। पति का शव पड़ा है और वे जार के साथ हँस रही हैं, खेल रही हैं, क्रीडा कर रही हैं। सगे-भाई की छाती पर चढ़कर उसे मार सकती हैं। ये कुलटा कामिनियाँ सर्वथा सौहार्द-शून्य होती हैं। भोले-भाले कामी पुरुष चक्कर में फँस जाते हैं, इन्हें अपनी प्रेम-

सी मानने लगते हैं, इन पर विश्वास करते हैं। अन्त मे ये उनके साथ छल करती हैं। जैसे गौ को कितनी घास मे छोड़ दो, वह एक स्थान पर न चुगेंगी, नई-नई घास की इच्छा करेगी। ऐसे ही ये स्वेच्छाचारिणी-व्यभिचारिणी कामिनियाँ नित्य नये पति की इच्छा करती है। जिसे भी देखकर इनका चित्त चचल हो जाता है, उसे तुरन्त फँसाने का जाल रचती हैं। पिछले प्रेमी को उसी प्रकार फेंक देती है, जैसे दूध से मक्खी को फेंक देते हैं। राजन्! आप मुझ स्वर्ग की अप्सरा के पीछे इतने उन्मत्त हो गये हैं, यह आपको शोभा नही देता।"

उर्वशी की ऐसी गूढ़ ज्ञान भरी बाते सुनकर भी राजा का मोह दूर नहीं हुआ। वे काम के अधीन हो रहे थे। अतः वे बोले—"देवि! तुम वेही बातें कहकर मेरे प्रेम की परीक्षा ले रही हो क्या? मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, मेरे चित्त मे तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरी स्त्री नहीं। तुम्हे पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।"

राजा को अत्यन्त अधीर देखकर उर्वशी बोली—"हे पुरुष शार्दूल! मैं तो गन्धर्वों के अधीन हूँ। आप एक काम करें आप समाहित चित्त होकर गन्धर्वों की आराधना करें। आपकी अनन्य आराधना से जब गन्धर्व आप पर प्रसन्न हो जायँ आपसे वर माँगने को कहें, तब आप उनसे मुझे ही माँग लें। उनके मुझे देने पर मैं निरन्तर गन्धर्वलोक में आपके साथ रमण करूँगी। मुझे भी आपके बिना संसार मे कुछ अच्छा नहीं लगता। आज की रात तो मैं नारदजी की आज्ञा से आपके साथ रहूँगी। प्रातःकाल होते ही मैं चली जाऊँगी। पुनः एक वर्ष के पश्चात् यही पर आपसे मेरी भेंट होगी। तब तक आप यहीं तपस्या करें।"

यह सुनकर राजा अत्यन्त हर्षित हुए। वे उर्वशी के लिये सब

कृत्य करने को तत्पर थे। वह रात्रि उर्वशी के सहित उन्होंने अत्यन्त ही आनन्द के साथ बिताई। उर्वशी को पुनः प्राप्त करके उनके रोम-रोम खिल गये, अमोघवीर्य उन राजर्षि ने उसी रात उर्वशी मे गर्भ स्थापित किया। प्रातःकाल होते ही उर्वशी गन्धर्व-लोक को चली गई।

उर्वशी के चले जाने पर राजा सावधान होकर गन्धर्वों की उपासना करने लगे। उनका चित्त उर्वशी मे ही फँसा था। उनके मन मंदिर मे उस मदेक्षणा की मनोमोहिनी मूर्ति ही बसी हुई थी। वे उसी का ध्यान करते हुए गन्धर्वों का आराधन करते थे। एक वर्ष के अनतर उनकी उपासना से गन्धर्व प्रसन्न हुए वे नारदजी को आगे करके राजा के सम्मुख प्रकट हुए और मेघ-गम्भीर वाणी मे बोले—"राजन्! आपकी तपस्या पूर्ण हुई। हम आपकी आराधना से सन्तुष्ट है। अब आपको जो भी माँगना हो, माँग लें।"

राजा ने कहा—"गन्धर्वो! यदि आप यथार्थ मे मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे मेरी प्रिया उर्वशी को आप दे दें।

यह सुनकर गन्धर्व बोले—"राजन्! उर्वशी तो गन्धर्व लोक की वस्तु है। वह तो शापवश कुछ दिनों के लिये पृथ्वी पर आ गई थी। उसके शाप का समय समाप्त हो गया। अब उसका अवनि पर आना असंभव है। फिर भी हम आप को एक उपाय बताते हैं, जिससे आप पुनः उर्वशी को प्राप्त कर सकेंगे।"

राजा ने कहा—"हाँ आप लोग मुझे उपाय बतायें। मैं उर्वशी की प्राप्ति से लिये उसे अवश्य करूँगा।"

गन्धर्वों ने कहा—"राजन्! यह अग्नि से पूर्ण एक स्थाली है। इसे आप ग्रहण करें। इस अग्नि के आप तीन भाग कर के निरालस्य होकर इनका यजन करें। आप वेदोक्त विधान

से 'जिस कामना से भी अग्नि का यजन करेंगे, आप की वही कामना पूर्ण होगी। उर्वशी की कामना से आप इन तीनों अग्नियों में आहुतियाँ देंगे, तो आपको गन्धर्वत्व की प्राप्ति होगी। गन्धर्वलोक में आकर एक मन्वन्तर-पर्यन्त आप उर्वशी के साथ सुखपूर्वक रमण करेंगे। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर कलियुग-इन चारों युगों को ७१ बार चौकड़ियाँ बीतेंगी, तब तक आप उर्वशी के साथ गन्धर्वलोक में रहेंगे। अभी तक तो सत्ययुग था, कोई यज्ञ-यागादि करता नहीं था। अब इस त्रेतायुग में आप ही इस अग्नि को दिखाने वाले प्रथम मन्वन्तर के प्रथम अग्निहोत्री होंगे। यह अग्नि आप के ही नाम से जगत् में विख्यात होगी।"

इतना कह कर और उस अग्निस्थाली को देकर गन्धर्व अपने लोक को चले गये। राजा ने देखा, उसमें हुताशन दीप्त हैं। वे सोच रहे थे, इस अग्नि-स्थाली को मैं अपने पुर में ले चलूँ, वहीं इसके तीन भाग करके यजन करूँगा फिर वे सोचने लगे—"उर्वशी कह गई थी, एक वर्ष पश्चात् मैं फिर आऊँगी। वह गर्भवती भी है। गन्धर्व-लोक में तो वह पुत्र का पालन कर नहीं सकती। पुत्र को देने वह आवेगी ही, उसकी प्रतीक्षा करूँ।"

राजा यह सोच ही रहे थे कि उसी समय उन्हें छम-छम की ध्वनि सुनाई दी। ज्योंही उन्होंने उत्कण्ठा-भरे हृदय से सिर उठाकर ऊपर देखा, त्यों ही उन्हें सोलहों शृङ्गार किए हुए, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित उर्वशी दिखाई दी। उसकी गोद में एक अत्यन्त ही सुन्दर बालक था। राजा के समीप आकर उसने कहा—"राजन्! यह आपका पुत्र है। इसे आप ग्रहण करें। अब मेरे गर्भ से आपके ६ पुत्र हो गये। इनका पालन आप भली भाँति करें। गन्धर्वों ने आपको मेरी

प्राप्ति का उपाय बता ही दिया है, आप उसी उपाय से अपने पुर में जाकर आराधना करें। इस पुत्र को आप स्वयं ही अपने पुर में ले जाकर इसका पालन करें। शीघ्र ही गन्धर्वलोक में आप आकर मुझसे भेंट करेंगे। फिर मन्वन्तर-पर्यन्त हम आप सुख-पूर्वक आनन्द-विहार करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर उर्वशी स्वर्ग को चली गई। राजा उस अग्नि स्थाली और पुत्र को लिये वहीं कुरुक्षेत्र में बैठे रहे।"

छप्पय

नृपवर! धारो धैर्य, कष्ट कब तलक सहोगे।
एक बरष पश्चात् रात्रि मम संग रहोगे॥
होवेगो सुत और शोक सब मन को त्यागो।
गन्धर्वनि कूँ पूजि इष्ट वर उन तैं माँगो॥
नृप-संग निशि बीति गई पुनि, राजा तप लागे करन।
भये तुष्ट गन्धर्व तब, भूपति तैं बोले वचन॥

त्रयी विद्या का प्रादुर्भाव

[७२८]

तस्य निर्मन्थनाज्जाता जातवेदा विभावसुः ।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १४ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

'वर माँगो' सुनि नृपति नीर नयनिमहँ छायो ।
बोले—'यदि वर देहु, उरवशी मोइ दिवाओ ॥'
आमस्थाली दई, कह्यो करि तीन भाग महँ ।
करो यजन, पुनि जाउ उरवशी बसहि सदा जहँ ॥
तबई आइ उरवशी, दै सुत निज पुर कूँ गई ।
थाली रखि सुत सग पुर, गये लुप्त पावक भई ॥

पहिले लोग आजीविका के लिये खेती-बारी नहीं करते थे । यदृच्छया जो प्राप्त हो गया, उसे ही खाकर जीवन-निर्वाह करते थे । जब अविश्वास हुआ कि सभव है, कल कुछ न मिले, तब सग्रह

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! दो अरणियों के मंथन से जो जातवेदा नामक अग्नि प्रकट हुई, उन्हें राजा पुरूरवा ने आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन तीन भागों में विभक्त करके पुत्र-रूप से स्वीकार किया ।'

का कामना हुई। कामना-पूर्ति के लिये कृत्रिम उपाय किये जाने लगे। जब भूमि को गोड़कर उसमें बीज बोने लगे, अन्न-करने लगे, तब वह स्वाभाविकी सिद्धि नष्ट हो गई। तब पहिले कोई समूह घर बनाकर नहीं रहते थे, स्वेच्छापूर्वक जहाँ चाहते वृक्षों के नीचे, पहाड़ों की कंदराओं में निवास करते। सर्दी, गरमी तथा वर्षा सहन करने की सबकी शक्ति उसी प्रकार की थी, जैसे जंगली जीवों की होती है। शनैः-शनैः अवनति आरंभ हुई। लोग घर बनाने लगे। पुर ग्राम, पट्टन, राजधानियाँ बनने लगीं। कोई फूस के घर बनाने लगे, फिर कच्ची मिट्टी से बनाने लगे, पीछे बहुत से लोग ईंट-पत्थरों से घर बनाने लगे। घरों में रहने से जंगलों में स्वच्छन्द रहने की शक्ति नष्ट हो गई। मनुष्य पराधीन और घर की परिधि में बंध गया। इसी प्रकार आदि सत्ययुग में सभी ज्ञानी होते थे। उस समय वेदों का, वर्णों का, देवों का, अग्नियों का विभाग नहीं था। एक मात्र ओंकार ही वेद था। श्रीमन्नारायण ही एक मात्र देव थे। यह लौकिक एक ही अग्नि थी, उस लौकिक, वैदिक तथा अनेक प्रकार के भेद नहीं थे। हंस नाम का एक ही वर्ण था। आवश्यकताओं के अनुसार आविष्कार हुए। युगधर्म के कारण इनमें अभिवृद्धि हुई। इनकी व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। काल के अनुसार कामना होती है, कामना के अनुसार कार्य होते हैं नई वस्तु तो संसार में कोई बनती ही नहीं केवल आविष्कार होता है। जो भी बनेगा, पंचभूतों से ही बनेगा। इसी प्रकार काल के अनुसार पूर्ववत् सृष्टि के सभी कार्य होते रहते हैं। जो पहिले नहीं था, उसकी उत्पत्ति आज हो ही नहीं सकती। जो आज है, वह फिर कभी अवश्य होगा। गंगाजी को भगीरथ न लाते, कोई दूसरा लाता। वह आतीं अवश्य, निमित्त भगीरथ न होकर

कोई दूसरे हो सकते थे। भागीरथी न कहलाकर वे किसी दूसरे के नाम से प्रसिद्ध हो जाती। इसी प्रकार त्रेता युग मे त्रयी विद्या का प्राकट्य होता है। महाराज पुरूरवा उसके निमित्त बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस समय कि मैं यह कथा कह रहा हूँ, वह प्रथम कल्प के प्रथम मन्वन्तर का प्रथम त्रेता-युग था। सत्ययुग में सभी स्वभाव से ज्ञानी थे। पृथ्वी से जो जब चाहता, वह तभी सशरीर स्वर्ग चला जाता, जितने दिन चाहता, स्वर्ग में रहता और फिर वहाँ से लौट आता। स्वर्ग मे और पृथ्वी में कोई विशेष अन्तर नहीं था। ज्ञान मे सबकी स्वाभाविक रुचि थी। विषयों के प्रति स्वाभाविक विरक्ति थी! सभी मे सहज सिद्धि थी। जिस प्रकार पक्षियों मे उडने की, जल-जन्तुओं में जल मे रहने की स्वाभाविक सिद्धि होती है, वैसे ही मनुष्यो मे स्वर्ग जाने की स्वाभाविक शक्ति थी। जब लोग कामी हो गये, तुच्छ संसारी विषयों के लिये व्याकुल रहने लगे, तब उनकी स्वाभाविक शक्तिनष्ट हो गई। अब तो स्वर्ग-प्राप्ति के लिये लोग साधना करने लगे। स्वर्ग की कामना वाले के लिये अश्वमेध का विधान बनाया गया। किसी विशेष लोक की प्राप्ति के लिये विशेष यज्ञों की विधि बनाई गई। देवता और मनुष्यों में भेद-भाव होने लगा। अब साधन करके ही मनुष्य स्वर्ग जा सकते थे। इसीलिये वेदों का विभाग किया गया, वर्ण और आश्रमों की व्यवस्था बनाई गई, वैदिक अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ, उनके भेद हुए। महाराज पुरूरवा ने सर्व-प्रथम उर्वशीलोक की इच्छा से त्रिविध अग्नि द्वारा सर्वदेव मय अधोक्षज, यज्ञेश्वर भगवान् वासुदेव का यजन किया। उन्होंने ही जातवेद नामक अग्नि को प्रकट किया।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! महाराज पुरूरवा ने जातवेदा

पुनः आये और राजा को चेत कराके कहने लगे—"राजन्! आप चिन्ता न करें। सम्मुख जो शमी (छोंकरा) का वृक्ष है, उसी में हुताशन प्रवेश कर गये हैं। आप युक्ति द्वारा उन्हें पुनः प्रकट करें।"

राजा ने पूछा—"किस युक्ति से अग्निदेव प्रकट होंगे?"

गन्धर्व बोले—"इसकी दो अरणियाँ बनाइये। उन्हें वैदिक मन्त्रों से रगड़िये। दोनों के रगड़ने से अग्नि प्रकट हो जायगी। उसको आप आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि— इन नामों से तीन भागों में विभक्त करें। फिर विधिवत् उनका यजन करें। उनके यजन करने से आप निश्चय ही गन्धर्व लोक को प्राप्त कर लेंगे। आप इस त्रेता युग में इन अग्नियों का आविष्कार करके यज्ञ करेंगे, तो आपका देखा-देखी सभी सकाम निष्काम पुरुष यज्ञ-याग किया करेंगे। आप इन अग्नियों के इस मन्वन्तर में जनक माने जायँगे। संसार में आपका यश फैलेगा। आप ही इसके आविष्कारक कहे जायँगे। तीन ये और एक ओपसद—इस प्रकार ये चार प्रकार की अग्नियाँ होंगी। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये जो चतुर्व्यूह प्रसिद्ध हैं—इन चार अग्नियों के अधिष्ठातृदेव होंगे। आहवनीय अग्नि के वासुदेव, दक्षिणाग्नि के संकर्षण, गार्हपत्याग्नि के प्रद्युम्न और ओपसद अग्नि के अधिष्ठातृ देव अनिरुद्ध होंगे। इसीलिये चतुरात्मा विष्णु ही सर्व श्रेष्ठ और यज्ञस्वरूप माने जायँगे। इनका आप विधिवत् यजन करेंगे, तो आपको गन्धर्वत्व की प्राप्ति होगी। वहाँ आप उर्वशी को प्राप्त करके अपनी मनोकामना पूर्ण करेंगे।" इतना कहकर गन्धर्व स्वर्ग को चले गये।

राजा ने सम्मुख एक शमी (छोंकरा) के वृक्ष को देखा। उसके बीच में एक अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष भी उग रहा था।

पुराने वृक्षों के खोखले मे पीपल का बीज पडने से वृक्ष के खोखले मे भी पीपल उत्पन्न हो जाता है। राजा ने उन दोनों वृक्षों की दो अरणियाँ बनाई। नीचे के मन्थन काष्ठ (अरणी) का नाम अधरारणि और ऊपर के मन्थन काष्ठ को उत्तरारणि बनाया। उन्होंने उत्तरारणि (ऊपर के मन्थन-काष्ठ) में तो अपना कल्पना की, नीचे के मन्थन काष्ठ (अधरारणि) मे उर्वशी का कल्पना का और अग्नि प्रज्वलित करने वाले वेदमन्त्रों द्वारा उसका मन्थन करने लगे। उनके मन्थन से जो जातवेद नाम की अग्नि प्रकट हुई, उसे राजा ने तीन भागो मे विभक्त किया। वही आहवनीय, जिसका ब्रह्मचर्यावस्था में आवाहन किया जाता है, गार्हपत्याग्नि, जिसको विवाह के चतुर्थ दिन अग्निहोत्री गृहस्थ धारण करते हैं, और तीसरी दक्षिणाग्नि, जिससे अग्निहोत्रियों का दाह-सस्कार किया जाता है, इन नामों से प्रसिद्ध हुई। राजा ने इनको अपने पुत्र-रूप से स्वीकार कर लिया। उन अग्नियों को बडी धूम धाम और प्रतिष्ठा के साथ लेकर महाराज पुरूरवा अपने नगर में आये। जनता ने उनका हृदय से स्वागत किया। महाराज ने उर्वशी-लोक की इच्छा से उस त्रिविध अग्नि द्वारा सर्वदेवमय भगवान् का यजन किया।

महाराज ऐल ने बडे उत्साह के साथ आकर सेकडों अश्वमेध यज्ञ किये, सहस्रों वाजपेय यज्ञ किये। अग्निष्टोम, अतिरात्र तथा द्वादशाह यज्ञों की तो कोई गणना ही नहीं। यज्ञों की उन्होंने धूम मचा दी। पृथ्वी पर यज्ञों का ताता लगा दिया। वे सप्तद्वीपवती पृथ्वी के एक मात्र सम्राट् थे। उन्हें किसी वस्तु की कमी तो थी ही नहीं। उर्वशी-लोक की कामना से उन्होंने बडे बडे दक्षिणा वाले सहस्रों यज्ञ कर डाले।

यज्ञों के प्रभाव से महाराज पुरूरवा के राज्य में दुर्भिक्ष, मरण, आधि व्याधि, महामारी कुछ भी नहीं थी। सभी लोग धर्म में आस्था रखने वाले थे। सभी शान्त दान्त और सदाचारी थे। सभी सुखी और समृद्धिशाली थे। उनके राज्य में कहीं अवैदिकी हिंसा नहीं होती थी। वे अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे। प्रजा भी उन्हें पिता मानकर पूजती थी। किसी दिन राजा को कोई स्वप्न मे भी देख लेता तो, वह अत्यन्त हर्षित होता। राजा जब सेन्य सजाकर नगर से निकलते, तो राजपथ के दोनों ओर पुरुषों की भीड़ लग जाती। स्त्रियाँ समस्त कार्यों को छोड़कर उनके दर्शनो को दौड़ती। वे ओरा मोरा, झरोखा, गवाक्ष तथा खिड़कियों मे से राजा के दर्शन करतीं। राजा कामदेव से भी अधिक सुन्दर थे। एक बार जो उनके दर्शन कर लेता, उसके नेत्र तृप्त हो जाते। प्रजा-नर-नारी उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती। वे चन्द्रमा के समान सबको प्रिय थे। चन्द्रमा तो विरहियो को दुःखदायी भी है, किन्तु वे सभी को सुखदायी थे। उनके दर्शनो को प्रजा लोग सदा लालायित रहते। महाराज जब-जब यज्ञ करते, सभी लोग सब कार्य छोड़कर यज्ञ-उत्सव में आ जाते। महाराज हृदय खोलकर अत्यन्त उदारता से धन लुटाते। जिसे जितना चाहिये, धन देते; जिसे जो वस्तु चाहिये उसे वह दे देते। उनके यज्ञ में 'ग्रहण करो', 'ग्रहण करो, के शब्द होते रहते थे। जिसे जो खाना हो, खाओ, जो पीना हो, पीओ। ब्राह्मण इतनी दक्षिणा पाते कि उसे उठा नहीं सकते थे, वहीं छोड़ जाते, पीछे ले जाते। महाराज के यज्ञों मे कभी कोई निराश नहीं लौटता था। महाराज ने इतने यज्ञ किये कि सम्पूर्ण पृथ्वी यज्ञ की वेदियों और कुशाओं से ढँक गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज ऐल के सभी यज्ञ सकाम थे। उनकी एक मात्र इच्छा थी, जैसे भी हो, वे उर्वशी को प्राप्त कर सकें। उर्वशी के लिये वे सदा अधीर बने रहते थे। जो भी कर्म करते, जिस प्रकार भी भगवान् का भजन करते, अन्त में यही प्रार्थना करते—"मेरे इस कर्म से सर्वान्तर्यामी भगवान् प्रसन्न होकर मुझे उर्वशी की प्राप्ति करावें।" उर्वशी के प्रति महाराज की अत्यन्त ही आसक्ति थी। एक बार उन्होंने ब्राह्मणों से कहा—"विप्रो ! आप मुझे उर्वशी को दिखावें।"

ब्राह्मणों ने कहा—"हे राजर्षि ! हम आपको उर्वशी को नहीं दिखा सकते। आप अपने पुण्यों के प्रभाव से स्वयं ही उर्वशी को देखेंगे।"

राजा ने कहा—"नहीं, महाराज ! मैं तो उसके बिना अत्यन्त व्याकुल हूँ, आप मुझे उसे दिखा ही दें।"

ब्राह्मणों ने कहा—"राजन् ! हमारी सामर्थ्य के बाहर है।"

राजा ने उनसे अत्यन्त आग्रह किया। उन्हें बहुत-सा धन देने का लोभ दिया। जब ब्राह्मणों ने सब प्रकार विवशता प्रकट की, तब राजा को उन पर क्रोध आ गया। काम से क्रोध की उत्पत्ति होती ही है। इसलिये क्रोध में भरकर राजा ने सब ब्राह्मणों का धन छीन लिया और उनका तिरस्कार करके उन्हें राज्य से निकाल दिया। इस पर कुछ ब्राह्मणों को क्रोध आ गया। उन्होंने क्रोध में भरकर राजा को शाप दिया—"तू काम के वशीभूत होकर हमारा अपमान करता है, शरीर-सुख को ही सब कुछ समझता है, अतः तेरा शरीर नष्ट हो जाय।"

ब्राह्मणों का शाप होते ही राजा की मृत्यु हो गई। इस पर बहुत से शान्तचित्त ब्राह्मणों ने उन शाप देने वाले ब्राह्मणों से कहा—"आप लोगों को ऐसा शाप देना उचित नहीं। राजा कैसे

धर्मात्मा थे ? प्रजा के लिये कल्पवृक्ष ही थे। उन्होंने जो कुछ किया, अपनी प्रिया की आसक्ति के ही कारण किया। हम लोगों का शस्त्र तो क्षमा ही है ?"

यह सुनकर शाप देने वाले ब्राह्मणों ने कहा—"क्या करें ? क्रोध से क्रोध उत्पन्न हो ही जाता है। हमसे भूल हुई। हमें क्षमा धारण करनी चाहिये थी अस्तु, हम तो शाप दे चुके। आप सब सामर्थ्यवान हैं। आप राजा को पुनः आशीर्वाद देकर जिला दें।"

यह सुनकर दूसरे शान्त-दान्त सदाचारी-तपस्वी ब्राह्मणों ने राजा को पुनः जीवित कर दिया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जीवित होने पर राजा ने अपने को बार-बार धिक्कारा, अपने काम-भाव की निन्दा की। अब उन्हें राज-पाट अच्छा नहीं लगता था। अतः उन्होंने वन जाने का विचार कर लिया।"

छप्पय

बिनु पावक के पात्र लख्यो चित्त चिन्ता छाई।
गन्धर्वनि ने आइ नृपति कूँ युक्ति बताई॥
मथो अरणि, द्वै प्रगट होहि पावक मानों सुत।
कीन्हों मन्थन, भये प्रकट लै गये अनल युत॥
यज्ञ-याग पुर पहुँचि कै, करे उर्वशी मिलन-हित।
दान, धर्म, शुभ कर्म, मख, करहिँ प्रिया मह फँस्यो चित॥

पुरूरवा को गन्धर्वलोक की प्राप्ति

(७२९)

पुरुरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥*

(श्रीभग० ९ स्क० १४ अ० ४९ श्लो०)

छप्पय

भयो काम तै क्रोध, शाप विप्रनि ने दीन्हों।
जीवित है तप घोर जाइ बदरीवन कीन्हों॥
नारायण न कृपा करी नृप स्वर्ग सिधाये।
निज शरीर के सहित गये सुर लखि हरषाये॥
सुरपति संग बैठाइ कें, सब सुख-सामग्री दई।
पतिहि पाइ पुनि उर्वशी, प्रेम-सहित प्रमुदित भई॥

किसी भी कामना से शुभ कर्म किये जायँ, उनका फल शुभ होगा ही। वैसे तो इन संसारी पदार्थों में—इन्द्रिय जन्य विषयों में—सुख है ही नहीं। इन वैषयिक पदार्थों का जितना ही अधिक

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन्! महाराज पुरूरवा से ही त्रेतायुग के आरम्भ में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन तीन अग्नियों का आदर्भाव हुआ। महाराज उसी पुत्ररूप से मानी हुई अग्नि के द्वारा गन्धर्वलोक को प्राप्त हुए।"

ध्यान करोगे, उतनी ही अधिक इनमें आसक्ति बढ़ती जायगी। जिसमें अधिक आसक्ति हो जाती है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त करने की कामना प्रबल हो जाती है। अपनी इच्छित वस्तु के न प्राप्त होने पर, कामना की पूर्ति न होने पर, क्रोध का होना स्वाभाविक है। क्रोधी पुरुष को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक तो रहता नहीं। अविवेकी पुरुष की स्मृति भ्रम में पड़ जाती है। स्मृति विभ्रम होने से मनुष्य का अन्त हो जाता है। महत् पुरुषों की कृपा से यदि पुनः स्मृति हो जाय, तो पुरुष अपनी इष्ट सिद्धि कर सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा पुरूरवा उर्वशी के लिये अत्यन्त ही अधीर हो गये, वे ब्राह्मणों से उर्वशी दिखाने को बहुत आग्रह करने लगे। ब्राह्मणों के असमर्थता प्रकट करने पर उन्होंने उनका सर्वस्व छीन लिया। इसमें कुछ ब्राह्मणों ने उन्हें शाप देकर निष्प्राण बना दिया। दूसरे ब्राह्मणों ने उन्हें जिला दिया। जब राजा को चेतना हुई और वे जाग्रित हो गये, तब उन्होंने अपने को धिक्कारा। तुरन्त ही वे अपने बड़े पुत्र आयु को राज्य सिंहासन पर बिठाकर, राज पाट सब छोड़कर, अग्नि होत्र के सहित, नर-नारायण की तपोभूमि, बिशालापुरी, में चले गये। वहाँ जाकर वे विधि विधानपूर्वक दोनों समय अग्निहोत्र करने तथा फल-मूल खाकर निरन्तर घोर तपस्या में निरत रहने लगे। इस प्रकार तीन वर्षों तक वे बदरीवन में घोर तपस्या करते रहे। उनकी एकमात्र इच्छा उर्वशी को पाने की थी। भगवान् नारायण भी उनके मनोगत भाव को जानते थे। भगवान् तो कल्पवृक्ष के समान हैं। जीव जिस भावना से भी भावित होकर उनका भजन करता है, वे उसकी उस भावना को तो पूर्ण करते ही हैं, अंत में उसे अपने पद का भी अधिकारी बना देते हैं।"

जब राजा को नरनारायणाश्रम में तपस्या करते-करते तीन वर्ष हो गये, तब हँसते हुए भगवान् बोले—"राजन् ! आज आप की मनोकामना पूर्ण होगी। आज आप स्वर्ग में अपनी प्रियतमा को प्राप्त कर सकेंगे।"

यह सुनकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने विधिवत् अग्निहोत्र किया। वे प्रतीक्षा में ही बैठे थे, कि उन्हें एक बड़ा भारी विमान दिखाई दिया। उसमें सहस्रों सुन्दर-सुन्दर गन्धर्व बैठे थे। अनेक सुर-सुन्दरी अप्सरायें अपनी चमक-दमक से उसे देदीप्यमान बनाये हुए थीं। उन सबसे घिरी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी विराजमान थी। दूर से ही उर्वशी को देखकर राजा का हृदय-कमल खिल उठा। उर्वशी ने विमान से उतरकर राजा को प्रणाम किया। गन्धर्व भी उसके आस-पास खड़े हो गये।

राजा ने सबका अभिनन्दन किया। तब उनमें से एक गन्धर्व बोला—"राजन् ! आपने अपनी तपस्या के प्रभाव से गन्धर्वलोक को जीत लिया। अब आप कृपा करके इस विमान पर विराजें। आप गन्धर्वलोक में चलकर उर्वशी के संग आनन्द-विहार करें।" यह सुनते ही महाराज के कमल-नयन आनन्द से विकसित हो उठे। उन्होंने तुरन्त स्नान किया। नित्यकर्मों से निवृत्ति होकर अग्निहोत्र की अग्नि को उन्होंने आत्मस्थ किया; अर्थात् उसे अपने में लीन किया। फिर वहाँ के निवासी ऋषि मुनियों की चरण-वन्दना करके उनकी प्रदक्षिणा की और सबसे अनुमति लेकर वे सशरीर विमान पर बैठ गये। उन्हें मर्त्यलोक का शरीर त्यागना नहीं पड़ा। राजा के विमान में बैठते ही आकाश से दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी, गन्धर्व गाने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। विमान शनैः-शनैः ऊपर उठा और वह माननीय दृष्टि से ओझल

हो गया। महाराज गन्धर्वलोक में जाकर आनन्द-विहार करने लगे। देवराज इन्द्र ने महाराज का हृदय से स्वागत किया। वे दूसरे इन्द्र की भाँति स्वर्ग में रहकर आनन्दोपभोग करने लगे। उर्वशी को साथ लिये हुए वे नन्दन-कानन, चैत्ररथ, विभ्राजक, आदि देवताओं के विहारवनों में स्वच्छन्द होकर भ्रमण करते। अमावस्या के दिन जब सूर्य-चन्द्रमा एक राशि पर आते, तब दोनों ही उर्वशी सहित पुरूरवा को देखने जाते। चन्द्रमा पौत्र को देखकर परम प्रमुदित होते। वात्सल्य-स्नेह के कारण उनके अंग से सुधारस चूने लगता। उसे पानकर पितर परितृप्त होते। इसी लिए अमावस्या के दिन पितरों के श्राद्ध का विधान है। अमावस्या के दिन पितरों का श्राद्ध सर्वश्रेष्ठ माना गया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजा पुरूरवा ने अपने प्रबल प्रयत्न द्वारा पुनः स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दर उर्वशी को इसी मानव-शरीर से प्राप्त कर लिया। वे निरन्तर उसके साथ रमण करते, फिर भी तृप्त नहीं हुई। उनकी लालसा अत्यन्त बढ़ गई। वे विषय-सुखों में सलग्न हो गये। उनका चित्त चंचल हो गया, वे अपने में एक प्रकार के अभाव का अनुभव करने लगे। जैसे अत्यन्त मीठा खाते-खाते मीठे से किसी की अरुचि हो जाती है, उसी प्रकार निरन्तर विषय भोगते भोगते भी वैराग्य हो गया। अब उन्हें उर्वशी के साथ उतना आनन्द नहीं आने लगा। उनका आकर्षण कम हो गया। देह से उनकी आसक्ति कम हो गई। अब वे सत् पदार्थ की चिन्ता करने लगे।"

छप्पय

पाइ अप्सरा संग सुरती भूपति अति मन महँ।
दिव्य विमान बिठाइ प्रिया-सँग विहरें वन महँ॥
नित अधरामृत पान करे सुधि-बुधि बिसराई।
नहिं जान कब दिवस होहि पुनि निशि कब आई॥
मोह दाम महँ फँस्यामन, रहे अतृप्त दुखी सतत।
विषयनि महँ संतोष नहिं, भयो फेरि नृप चित विरत॥

महाराज ऐल का विषयों से विराग

[७३०]

अहो मे मोह विस्तारः कामकश्मलचेतसः ।
देव्या गृहीत कण्ठस्य नायुः खंडा इमे स्मृताः ॥
नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाम्युदितोऽमुया ।
मुषितो वर्ष पूगानां बताहानि गतान्युत ॥*
(श्री भा० ११ स्क० २६ अ० ७।८ श्लो०)

छप्पय

नृप कूँ भयो विवेक मोहनिद्रातैं जागे ।
निज स्वरूप पहिचान विषय विष सम अब लागे ॥
अब न उरवशी भली लगे गुण सर्व बिलाने ।
समुझि दोष की खानि हाथ मल-मूल पछिताने ॥
हाड़, माँस मल-मूत्र को, तन थैला दीखन लग्यो ।
मक्त भये भगवान् के, विषय-भोग मल-भ्रम भग्यो ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब क्षुद्र कामों को भोगते-भोगते महाराज पुरूरवा को शान्ति नहीं मिली, तब उन्हें वैराग्य हुआ। वे कहने लगे—"अरे, मुझ काम से कलुषित चित्तवाले राजा के मोह का विस्तार तो देखो। देवी उर्वशी के कण्ठ में बाँह डाले मैंने अपनी सम्पूर्ण आयु के इतने दिनों को, इतनी रात्रियों को, जाते हुए नहीं निहारा। इस स्त्री के मोह-पाश में फँसकर मैंने यह भी नहीं जाना, कब सूर्य

जब तक मन विषयासक्त है, तब तक वैषयिक पदार्थों में अत्यन्त ही आकर्षण रहता है, मन तन्मय हो जाता है। जो अपने अनुकूल होता है, उसमें दोष दिखाई देते ही नहीं, वही जब मन के प्रतिकूल हो जाता है, तब उसमें दोष ही-दोष दिखाई देने लगते हैं। क्षणभंगुर वस्तु में फँसा मन जहाँ उसकी नश्वरता का अनुभव करता है, तुरन्त वहाँ से हट जाता है, क्योंकि जीव क्षणिक सुख नहीं चाहता, उसे तो शाश्वती शान्ति की प्यास है। इन इन्द्रिय-जन्य विषयों में शाश्वती शान्ति कहाँ? नश्वर पदार्थों में स्थाई सुख कहाँ रह सकता है? नाशवान् अविनाशी को कैसे प्राप्त करा सकता है? कहने सुनने से विराग नहीं होता। जब तक विषयों को भोगते भोगते उनकी यथार्थता का ज्ञान न हो, तब तक उनसे अरुचि नहीं होती, जब तक अरुचि नहीं, तब तक विराग नहीं, विराग के बिना त्याग नहीं, और त्याग के बिना शान्ति नहीं। अतः शान्ति का प्रधान कारण विषयों से पूर्ण विराग होना ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ऐल इस सप्तद्वीपा वसुमती के एक मात्र चक्रवर्ती भूपति थे। वे राज राजेश्वर परम यशस्वी और सर्वप्रिय थे। किन्तु उनकी उर्वशी में अत्यधिक आसक्ति हो गई थी। उर्वशी के चले जाने पर वे अत्यन्त व्याकुल होकर उन्मत्तों की भाँति नग्नावस्था में ही 'हा प्रिये हा प्रिये' कहते हुए इधर-उधर वनों में भटकते रहे। अन्त में त्रयी विद्या के प्रभाव से—अग्नि की आराधना करने से—वे गन्धर्व-लोक को प्राप्त हुए। वहाँ उर्वशी में अत्यन्त ही आसक्त-चित्त होने से वे निरन्तर वैषयिक क्षुद्र सुखों को भोगते रहे। निरन्तर

उन्मत्त होता है कब अस्त! यह भी तो पता नहीं चला कि ये दिन किस प्रकार निकल गये!"

सभी इन्द्रिय सुखों को भोगते रहने पर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। जैसे प्रज्वलित अग्नि को कोई घृत की आहुति दे-देकर शांत करना चाहे और वह शान्त न होकर और भी अधिकाधिक दीप्त होती जाय, उसी प्रकार वे विषयों के भोगों में शान्ति लाभ करना चाहते थे, किन्तु वे विषयों को भोगने से और भी अधिक अशांत बन गये। अब तो उन्हें संसारी विषयों की सत्यता में सन्देह होने लगा। अब वे उर्वशी के रूप को ध्यान से देखने लगे। वे सोचने लगे—जिसके पीछे मैं पागल बना हुआ हूँ, उसमें यथार्थ वस्तु क्या है? मैं इसके कमल के सदृश विकसित मुख पर, उभरे हुए वक्षःस्थल पर आसक्त हूँ। इनमें वास्तविक वस्तु क्या है? चर्म से ढँका मांस है, उसमें नाड़ी-नसें हैं, रक्त है, अस्थियाँ हैं, थूक है, कफ है। हाय! जिसे मैं सुख का साधन समझता था, वह तो अत्यन्त अपावन, नाशवान् वस्तुओं से निर्मित है। मेरा चित्त काम से कलुषित हो गया, उस पर मोह रूपी काई लग गई। कामिनी के कण्ठ में कर डालकर कामासक्त मैं अपने को कृतार्थ समझता था। यह मेरी भूल थी। अपनी आयु के ये अमूल्य क्षण मैंने व्यर्थ ही बिताये!

हाय! आँखों के रहते मैं अन्धा हो गया। मुझे इस उर्वशी के साथ रहते रहते कितने दिन व्यतीत हो गये? मास, वर्ष, युग तथा युग चौकड़ियाँ कितनी बीत गईं? मेरा विवेक नष्ट हो गया! हाय! मैं तो इस स्त्री का पालतू बन्दर हो गया। उठरे बँदरा, बैठरे बँदरा, नाचरे बँदरा—यह कहती रहती और मैं विवेकहीन बना वही करता रहता।

इस अप्सरा की निस्पृहता तो देखो! मैं सप्तद्वीपा वसुमति का एक छत्र सम्राट् था। बड़े बड़े राजे-महाराजे आकर मेरे चरणों में प्रणाम करते। ऐसे मुझ राजशिरोमणि को, मेरे अपार

ऐश्वर्य को राज-पाट तथा धन धान्य सबको तृण के समान त्याग कर, यह बिना मुझसे पूछे ही स्वर्ग चली गई, किन्तु मैं कामी इसका पीछा ही करता गया, जैसे गदही पीछे आने वाले गदहे को लात मारती रहती है, किन्तु वह निर्लज्ज कामी उसके पाद-प्रहारों को, प्रसन्नता पूर्वक सहता हुआ उसके पीछे ही पीछे लगा फिरता है।

हाय! काम ने मुझे ठग लिया! मैं कितना प्रभावशाली था। मेरा सब प्रभाव धूल में मिल गया! उर्वशी के वियोग में बाल-बखेरे वस्त्रहीन पागलों की भाँति, जिन्होंने मुझे जाते देखा होगा, उन पर मेरे इस आचरण का क्या प्रभाव पड़ा होगा? मैं कितना तेजस्वी था? इन्द्र भी मुझे आधा आसन देते थे। जब से यह कामिनी मेरे मन में बस गई, तब से मेरा सब तेज नष्ट हो गया। इन्द्र की कौन कहे साधारण लोग भी मेरा अपमान करने लगे। मनुष्य का तेज तभी तक रहता है, जब तक उसके मन में कोई चाह न हो। चुड़ैल की चाह तेज का सर्वनाश कर देती है। कहाँ मैं सबका स्वामी था! सब मेरे संकेत पर काम करते थे, सभी मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करते रहते थे। काम के वश होकर, मैं स्वामी होकर भी स्वयं कामिनी का दास बन गया। मेरा तेज, प्रभाव तथा स्वामित्व—सब चला गया। मैं क्या था, क्या हो गया?

एक प्रबल काम सभी सद्गुणों को नष्ट कर देता है। कोई स्त्री है, उसने सभी शास्त्र पढ़े हैं, बड़े-बड़े विद्वान् उससे शंका-समाधान कराने आते हैं, बड़ी भारी तपस्विनी है, यथेष्ट दान भी देती है, निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करती है, सर्व संग छोड़ कर एकान्त में वास करती है, मौन रहती है। इतना सब करने पर भी यदि उसका चित्त किसी युवक में फँसा है, तो उसके सभी साधन

-व्यर्थ है। इसी प्रकार कोई भी साधक, कितना भी बड़ा गुणी, पण्डित, कलाकार, तपस्वी, विद्वान्, एकान्तसेवी, तथा मौनी क्यों न हो, यदि उसका चित्त किसी चंचला-चपला मदिरेक्षणा ने चुरा लिया है, तो उसके साधन-भजन उसी प्रकार व्यर्थ हैं, जिस प्रकार बुझी अग्नि की राख मे हवन करना व्यर्थ है।

देखो तो सही! मैं अपने को कितना बड़ा पण्डित मानता हूँ, किन्तु मैं वास्तव में पण्डित न होकर पाण्डित्याभिमानी महा मूर्ख हूँ! हित-अनहित को तो पशु-पक्षी भी जानते हैं, मैं तो उनसे भी गया बीता हूँ। पशु-पक्षी भी तो समय से ही काम के अधीन होते हैं। मैं तो अन्धे की भाँति कुछ भी न देख सका, अपने हित-अनहित, भले-बुरे सभी को भूल गया। ऐसे लोलुपाकामी को बार-बार धिक्कार है! मैं समझता था, इस कामिनी के अधरों मे अनुपम अमृत है। इसका पान करने से मेरी तृप्ति हो जायगी, किन्तु ज्यों-ज्यों मैंने इस मादक आसव का पान किया, त्यों-त्यों मेरी अशान्ति और भी बढ़ती गई। तृप्ति के स्थान में अधिकाधिक अतृप्ति होती गई।

देखो, यह कैसी प्रबल मोह-माया है? जिस कामिनी का मन किसी कामुक के रूप में फँस गया है या किसी पुरुष का चित्त कुलटा के कुटिल कटाक्षों द्वारा आहत हो चुका है, उन्हे भगवान् अधोक्षज के अतिरिक्त कौन उबार सकता है?

देखो, जब मैं बारह दिनों तक बिना खाये-पीये उसके लिये वन-वन भटक रहा था, तब वह मुझे कुरुक्षेत्र मे मिली थी। मुझे उसने बार-बार समझाया, अनेकों बार कहा—"राजन्! आप मुझे स्वर्ग की वारांगना के पीछे क्यों पागल हो रहे हैं? आप मुझ गणिका के तुच्छ रूप पर इतने आसक्त हो रहे हैं? हम किसी एक की होकर नहीं रहती। हमारा रूप-यौवन तो सबके भोगने

की वस्तु है। हमारा किसी से सौहार्द नहीं। कमलिनी स्वतः ही खिलती है, किन्तु मधु-लोलुप मूर्ख मधुप समझता है, यह मुझे ही रिझाने के लिये खिल रही है। हम स्त्रियों की दृष्टि स्वभाव से ही चंचला होती है। हमारे कटाक्षों में स्वतः ही कुटिलता होती है। कामी पुरुष समझते हैं, यह मेरे ऊपर ही अपनी अनुरक्ति दिखा रही है। यौवन के मद में मदमाती रहना, मन्द-मन्द विलास के साथ चलना—यह हमारा स्वभाव है। किन्तु रूपासक्त लंपट समझते हैं, यह सब मेरे ही प्रति स्नेह प्रदर्शित किया जा रहा है। तब मैंने उस देवी के कथन के तात्पर्य को नहीं समझा था, अब वह बात मेरी समझ में आ गई। उस समय तो मुझ अजितेन्द्रिय दुर्मति की बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। उर्वशी ने सत्य और सुन्दर उक्तियों द्वारा मुझे सब प्रकार से समझाया था, किन्तु उस समय मुझ मंदमति के मन का महामोह दूर नहीं हो सका।

मेरा यह कहना भी मूर्खतापूर्ण ही है, कि उस उर्वशी ने मेरा सर्वनाश किया। उसने तो मुझे बुलाया नहीं था। उसने तो मुझे काम की अनित्यता बताई थी। उसका तो कोई अपराध नहीं। मांस लोभ से मछली कांटे को निगल जाय, तो इसमें कांटे का क्या दोष? वीणा की ध्वनि में मत्त होकर मृग जाल में फँस जाय, अथवा पकड़ा जाय, तो वीणा का क्या दोष? मधु के लोभ से मधुप कमल के भीतर फँस जाय और मत्त हस्ती कमल को खा जाय, तो इसमें कमल का क्या अपराध? जलते हुए दीप की लौ देखकर पतंग उसमें शरीर को जला दे, तो दीपक का क्या अपराध? यदि मैं अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन रखता, उसके रूप पर आसक्त न होता, तो वह मेरा क्या अपकार कर सकती थी? दूर से मनुष्य टेढ़ी-मेढ़ी पड़ी हुई माला को भले ही सर्प समझे-समझता रहे, वह माला सर्प बनकर

उसे डँस तो नहीं सकती। यदि मैं उसे पाने के लिये पागल न होता, इतना प्रबल प्रयत्न न करता, तो वह चाहे जितनी सुन्दरी होती, बनी रहती; वह मेरा कुछ बिगाड़ तो नहीं सकती थी। कोई रस्सी को सर्प समझने लगे, तो समझने वाले का दोष है। रस्सी का तो दोष नहीं है! उर्वशी को मैंने सुख की खानि समझा! इसमें सम्पूर्ण दोष तो मेरा ही है।

भला, सोचने की बात है, असत् में कभी सत् रह सकता है? मिट्टी के पात्र में सिंहिनी का दूध ठहर सकता है? कोई कहे कि हम इस शरीर से प्रेम करते हैं, इसमें सौहार्द रखते हैं, तो यह मूर्खता है। शरीर बनता है भौतिक पदार्थों से; जो क्षणभंगुर है, नाशवान है, परिणामी है। प्रेम, सौहार्द, आदि दिव्य अलौकिक हैं। देह में ये कैसे रह सकते हैं? कोई कामिनी समझे, अमुक जार मुझसे बड़ा प्रेम करता है; या कोई जार समझे, अमुक स्त्री के मुझ में अत्यन्त सौहार्द है, तो यह सबसे बड़ी मूर्खता है। जिस प्रकार तिमिर और प्रकाश साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार दुर्गंधि और मल-मूत्र से भरा शरीर और प्रेम साथ नहीं रह सकते। प्रेम अप्राकृतिक वस्तु है, अलौकिक है; उसका शरीर से क्या सम्बन्ध? यह सब अविद्या के कारण ही ऐसा होता है।

फिर यह शरीर किसी एक का है भी नहीं सभी इस पर अपना-अपना स्वत्व जनाते हैं। माता-पिता कहते हैं—यह हमारे रज-वीर्य से बना है, इसे हमने पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है; इसलिये इस पर हमारा अधिकार है। धाई और गो कहती हैं, हमने इसे दूध पिला-पिलाकर पुष्ट किया है, न्यायतः हमारा इस पर स्वत्व होना चाहिये। स्त्री कहती है, मैं अर्धाङ्गिनी हूँ, शास्त्र की दृष्टि से मेरा इस पर अधिकार है। इस प्रकार पुरुष कहता है इस लड़की को इसके माता-पिता ने जब पैदा किया होगा, तब

किया होगा। अब तो यह मेरी धर्म-पत्नी है। इस पर मेरा पूर्ण अधिकार है। स्वामी कहता है, तुम मेरे यहाँ नौकरी करते हो, मेरे अन्न से पले हो, मेरा तुम्हारे शरीर पर अधिकार है। अग्निदेव कहते हैं, तुम सब बकते रहो, मरने पर तो मुझे ही इस शरीर को, भस्म करना है। अंत में इसे मेरी ही शरण लेनी पड़ेगी। कुत्ता चील कौए, कङ्कुए, तथा गृद्ध आदि माँस-भक्षी जीव कहते हैं, अभि तक यह पहुँचे तब तो! हम बीच में ही इसे चट कर जायँगे। इस पर अधिकार तो हमारा है।

जिस शरीर के बहुत से अधिकारी हैं, जिस पर अनेकों अपना स्वत्व स्थापित करते हैं, उसे सुख का साधन समझना अज्ञता नहीं तो क्या है! ऐसे अपवित्र और अंत में घृणित दशा को प्राप्त होने वाले शरीर में कौन मनुष्य सद्बुद्धि करेगा?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा विचार करके राजा उर्वशी के प्रति उदासीन हो गये। उनका मोह दूर हो गया।"

छप्पय

भयो ज्ञान तन नाशवान अविनाशी श्री हरि।
साधक तरे अनेक काम तजि प्रभु चिन्तन करि॥
नारि फँसे नर-रूप निरखि नर नारि-रूप महँ।
दोनों तजि परमार्थ गिरे जग-अन्ध-कूप महँ॥
चरम-मांस-रज-वीर्य महँ, अज्ञ लिपटि समुझे सखी।
ज्यों-ज्यों विषयनि महँ फँसे होहिं अधिक त्यों-त्यों दुखी॥

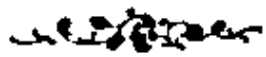

महाराज ऐल की मुक्ति

[७३१]

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय ।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥*

(श्री० भा० ११ स्क० २६ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

करै न कबहूँ संग कामिनी कामुक जन को ।
नहीं करै विश्वास पंच इन्द्रिय अरु मन को ॥
योगी, ज्ञानी, सिद्ध, विवेकी हू फँसि जावें ।
त्यागि तपस्या योग काम भोगनि अपनावें ॥
तातैं है निःसंग नित, निरत भजन ही महँ रहै ।
विषयनि तैं बचि के चलै, 'मम मन वश' कबहुँ न कहै ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! नरदेव-देव महाराज ऐल इस प्रकार कहते हुए उर्वशी के लोक को छोड़कर चले आये और अपने अन्तःकरण में आत्मारूप से स्थित परमात्मा को समझकर और उस आत्मज्ञान के द्वारा मोह-रहित होकर उपरत हो गये, अर्थात् संसार-बन्धन से मुक्त हो गये ।"

किया होगा। अब तो यह मेरी धर्म-पत्नी है। इस पर मेरा पूर्ण अधिकार है। स्वामी कहता है, तुम मेरे यहाँ नौकरी करते हो, मेरे अन्न से पले हो, मेरा तुम्हारे शरीर पर अधिकार है। अग्निदेव कहते हैं, तुम सब बकते रहो, मरने पर तो मुझे ही इस शरीर को, भस्म करना है। अंत में इसे मेरी ही शरण लेनी पड़ेगी। कुत्ता चील कौए, कछुए, तथा गृद्ध आदि माँस-भक्षी जीव कहते हैं, अग्नि तक यह पहुँचे तब तो! हम बीच में ही इसे चट कर जायँगे। इस पर अधिकार तो हमारा है।

जिस शरीर के बहुत से अधिकारी हैं, जिस पर अनेकों अपना स्वत्व स्थापित करते हैं, उसे सुख का साधन समझना अज्ञता नहीं तो क्या है! ऐसे अपवित्र और अंत में घृणित दशा को प्राप्त होने वाले शरीर में कौन मनुष्य सद्बुद्धि करेगा?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा विचार करके राजा उर्वशी के प्रति उदासीन हो गये। उनका मोह दूर हो गया।"

छप्पय

भयो ज्ञान तन नाशवान अविनाशी श्री हरि।
साधक तरे अनेक काम तजि प्रभु चिन्तन करि॥
नारि फँसे नर-रूप निरखि नर नारि-रूप महँ।
दोनों तजि परमार्थ गिरें जग-अन्ध-कूप महँ॥
चरम-मांस-रज-वीर्य महँ, अज्ञ लिपटि समुझें सुखी।
ज्यों-ज्यों विषयनि महँ फँसें, होहिं अधिक त्यों-त्यों दुखी॥

दिया जाय, तो चाहे कितनी भी सुन्दरी स्त्री का शरीर हो, या कितने भी सुन्दर पुरुष का, चील-गृद्ध ही इसे जीवित नोच ले जायँगे। त्वचा के भीतर भी कोई पवित्र वस्तु छिपी हो, सो भी बात नहीं। त्वचा के भीतर मांस, रक्त, नसें, मेद, अस्थियाँ, वीर्य ये ही सब अंट-संट वस्तुएँ हैं। उन्हीं वस्तुओं से पुरुष का शरीर बना है, उन्हीं से स्त्री का मुख है, इस पर चाम लगाकर काली-गोरी कलई कर दी गई है। इसके भीतर हड्डियों के टुकड़े हैं। मांस की एक लाल-लाल जिह्वा है, जिस पर सफेद-सफेद मैल जम जाता है जिसमें उभरे हुए लाल-लाल दाने हैं। दांतों की जड़ों से निरन्तर मैल निकलता रहता है। दाँतों में उँगली घिसकर नाक से सूँघें, कितनी दुर्गन्ध आवेगी? अच्छे से अच्छे सुगन्धित पदार्थ खाओ, मुख द्वारा पेट में जाते ही विकृत हो जाते हैं। उन का दुर्गन्धि युक्त मल बन जाता है। गुलाब जल, गंगा जल—कितना भी सुगन्धित पवित्र जल पियो, पेट में जाते ही गन्धयुक्त मूत्र बन जाता है। यह शरीर क्या है? मल-मूत्र बनने का कार्यालय ही तो। जैसे कार्यालय में जो वस्तु बनती है, पहिले भाण्डार-गृह में एकत्रित होती रहती है, फिर आवश्यकतानुसार वह बिक्री के लिये नित्य निकाली जाती है, वैसे ही इस देह में नित्य मल-मूत्र, पसीना, कफ, वात, पित्त, रज, वीर्य आदि बनते रहते हैं, एकत्रित होते रहते हैं और भिन्न भिन्न द्वारों से निकलते रहते हैं। पेट में कितना मल जमा रहता है? देह के प्रत्येक छिद्र से पसीना-मल-निकलता रहता है। इसी घृणित शरीर में पुरुष सुखानुभव करता है। स्त्री पुरुष के शरीर में रमण करके अपने को सुखी समझती है, पुरुष स्त्री के अङ्गों में आनन्द का अनुभव करता है। यदि पीव, विष्ठा, रक्त में रमण करना ही सुख है, तब तो मल के कीड़ों में, घाव के कीड़ों में, वीर्य के

विवेक के उदय होने पर यह सत् है और वह असत्, इसका ज्ञान हो जाता है। जहाँ सत् असत् का ज्ञान हो गया, वहाँ असत् का छोड़कर जीव सत् को अपना लेता है। सत् को अपना लेने से जीव के सब बन्धन खुल जाते हैं। वह नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त तथा सत्स्वरूप बन जाता है। जीव असत् में सत् बुद्धि करके ही फँस जाता है, सुखाभास में ही सच्चा सुख समझकर चौरासी के चक्कर में पड़ जाता है, भ्रमवश, मोहवश, अज्ञानवश माया में फँसकर मायिक बन जाता है। माया का वास्तविक ज्ञान होने से ही उस पर विजय प्राप्त की जाती है। अब तक जो स्वामिनी थी, अपने पर आधिपत्य जमाये हुए थी, फिर वही चेरि बन जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज पुरूरवा का विषयों से विराग हो गया। अब उन्हें उर्वशी का वह रूप तुच्छ और घृणित दिखाई देने लगा। वे अपने को बार बार धिक्कारते हुए कहने लगे—'हाय! यह साधक पुरुष विषयों में क्यों फँस जाता है? जिसका ध्यान करता है, उसी के अनुरूप बन जाता है विषयों का चिन्तन करते करते विषयी बन जाता है। एक बार इन्द्रसभा में मैंने इस बार वनिता को नाचते हुए देखा था। तभी भ्रम वश इसकी मूर्ति मेरे मन में गढ़ गई। मेरे मन में बार बार यह बात आती—"इसका कैसा, मन्द-मन्द मुसकान से युक्त मनोहर मुखारविन्द है? कैसी सुन्दर-सुहावनी नुकीली नासिका है? निरन्तर ऐसी भावना करते-करते मैं तन्मय हो गया, अपने सत्स्वरूप को भूल ही गया। अब सोचता हूँ, यह मेरी मूर्खता थी, बड़ा भारी अज्ञान था नहीं तो स्त्री के शरीर में ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसके पीछे पुरुष उन्मत्त हो जाता है? यदि शरीर के ऊपर त्वचा न हो और नंगा करके इसे खड़ा कर

दिया जाय, तो चाहे कितनी भी सुन्दरी स्त्री का शरीर हो, या कितने भी सुन्दर पुरुष का, चील-गृद्ध ही इसे जीवित नोच ले जायँगे। त्वचा के भीतर भी कोई पवित्र वस्तु छिपी हो, सो भी बात नहीं। त्वचा के भीतर मांस, रक्त, नसें, मेद, अस्थियाँ, वीर्य ये ही सब अंट-संट वस्तुएँ हैं। उन्हीं वस्तुओं से पुरुष का शरीर बना है, उन्हीं से स्त्री का मुख है, इस पर चाम लगाकर काली-गोरी कलई कर दी गई है। इसके भीतर हड्डियों के टुकड़े हैं। मांस की एक लाल-लाल जिह्वा है, जिस पर सफेद-सफेद मैल जम जाता है जिसमें उभरे हुए लाल-लाल दाने हैं। दांतों की जड़ों से निरन्तर मैल निकलता रहता है। दाँतों में उँगली घिसकर नाक से सूँघें, कितनी दुर्गन्ध आवेगी? अच्छे से अच्छे सुगन्धित पदार्थ खाओ, मुख द्वारा पेट में जाते ही विकृत हो जाते हैं। उन का दुर्गन्धि युक्त मल बन जाता है। गुलाब जल, गंगा जल—कितना भी सुगन्धित पवित्र जल पियो, पेट में जाते ही गन्धयुक्त मूत्र बन जाता है। यह शरीर क्या है? मल-मूल बनने का कार्यालय ही तो। जैसे कार्यालय में जो वस्तु बनती है, पहिले भाण्डार-गृह में एकत्रित होती रहती है; फिर आवश्यकतानुसार वह बिक्री के लिये नित्य निकाली जाती है, वैसे ही इस देह में नित्य मल-मूत्र, पसीना, कफ, वात, पित्त, रज, वीर्य आदि बनते रहते हैं, एकत्रित होते रहते हैं और भिन्न-भिन्न द्वारों से निकलते रहते हैं। पेट में कितना मल जमा रहता है? देह के प्रत्येक छिद्र से पसीना-मल-निकलता रहता है। इसी घृणित शरीर में पुरुष सुखानुभव करता है। स्त्री पुरुष के शरीर में रमण करके अपने को सुखी समझती है, पुरुष स्त्री के अङ्गों में आनन्द का अनुभव करता है। यदि पीव, विष्ठा; रक्त में रमण करना ही सुख है; तब तो मल के कीड़ों में, घाव के कीड़ों में, वीर्य के

कीड़ो मे, जूँओ मे और पुरुष मे क्या अन्तर रहा ? सड़े हुए घाव में कीड़े बिल-बिलाते रहते हैं, वे भी सड़े हुए रक्त-मांस को खाते हैं, उनमे क्रीड़ा करते हैं। यदि देह मे रमण करना ही सुख होता, तो ये कीड़े परम सुखी समझे जाते !

कोई कहता है—स्त्री दोषों की खान है। कोई कहता है—गिराने वाला पुरुष है, पुरुष प्रस्ताव न करे, तो स्त्री का साहस नहीं। वास्तव मे गिराने वाला न पुरुष है, न नारी। यह सब काम की करतूत है। काम सकल्प का सुत है। संकल्प से काम उत्पन्न होता है। काम तभी चरितार्थ होता है, जब स्त्री की पुरुष मे और पुरुष की स्त्री मे आसक्ति हो—दोनो का संग हो। विषयो की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। विषय बने रहें, इन्द्रियाँ उनमे प्रवृत्त न हो; तो कुछ भी बिगाड़ नहीं हो सकता। इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है। इन्द्रियाँ बनी रहे, विषय भी उपस्थित हों, यदि मन के द्वारा इन्द्रियाँ उधर न देखे, तो वे दिखाई ही न देंगे। रूप को अकेले चक्षु नहीं देख सकते, जब तक मन के साथ उनका संयोग न हो। अकेले श्रवण शब्दो को नहीं सुन सकते, जब तक उसमें मन न लगाया जाय। मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है। मन चाहे कितना भी चला करे, कितनी भी उछल-कूद करे, जब तक बुद्धि आज्ञा न देगी, मन इन्द्रियो को विषय मे प्रवृत्त कर ही नहीं सकता। मन बुद्धि के अधीन है। बुद्धि से भी श्रेष्ठ काम है। काम-भाव उदय होते ही सब बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। आप कितना भी दृढ़ संकल्प करें, कितना भी बुद्धि पूर्वक निश्चय करें, जब हृदय में काम का प्रबल वेग उठता है, तब सब निश्चय धूल मे मिल जाते हैं। मनुष्य अवश होकर काम में प्रवृत्त हो जाता है। बड़े-बड़े विवेकी, ज्ञानी, बुद्धिमान, ऋषि-मुनि, जिन्होंने संसार को तृण के समान समझा था, जो राज-पाट, धन-ऐश्वर्य

सबको लात मारकर वन में चले गये, उनका ही जब कामिनी से संयोग हुआ, तब वे सब जप-तप भूल गये, स्वर्गीय हो या भूतल की, उस कामिनी के चक्कर में फँस गये।

सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि जहाँ तक हो, इन्द्रियों से विषयों का संसर्ग ही न होने पावे। जिस विषय को कभी देखा या सुना नहीं है, उससे चित्त में उसकी वासना भी नहीं उठती। जैसे विदेश का कोई सुन्दर फल है, तो बड़ा स्वादिष्ट, किन्तु हमने कभी उसे खाया नहीं, तो वह सामने आ भी जाय, तो उसे खाने की इच्छा नहीं होती। यदि कभी एक बार उसके स्वाद का अनुभव कर चुके, तो उसे देखते ही उसे खाने की कामना हो जायगी। बहुत दिनों तक इन्द्रियों का विषयों से संयोग न हो तो पुरुष का चित्त शिथिल होकर शान्त तथा स्थिर हो जाता है। अतः मुमुक्षु का कर्तव्य है कि शक्तिभर विषयों से बचता रहे। घृत और अग्नि पृथक् पृथक् रखी रहें, कोई बात नहीं। जहाँ दोनों का संयोग हुआ कि घृत पिघलने लगता है, अग्नि प्रज्वलित होने लगती है। अतएव इन्द्रियों के द्वारा भी कभी पुरुषों को स्त्रियों का तथा स्त्रियों को स्त्रैण कामुक पुरुषों का भूलकर भी सङ्ग न करना चाहिये। संग होते ही मनुष्य फँस जाता है।

इस बात का कभी भी अभिमान न करे कि अब तो मैं इन्द्रियजित हो गया, मेरा मन मेरे अधीन हो गया। यह बड़ी भारी भूल है। मन-सहित इन पाँचों इन्द्रियों का विश्वास तो ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषों को मरते-मरते भी न करना चाहिये। मन का पता नहीं, कहाँ ले जाकर किसे पटक दे। बड़ी सावधानी से इस पर अंकुश रखने की आवश्यकता है। पहिले तो यह चिकनी-चुपड़ी बातें बनाता है। कहता है—अजी,

माता, बहिन, पुत्री को भी तो हम लोग छूते हैं—यह मेरी माता के समान है, बहिन के तुल्य है, पुत्री के बराबर है। ऐसा कहकर जब वह उन्हें स्पर्श करने लगता है, कान मे आकर धीरे से मन कह देता है—अजी, यह मेरी सगी माता, बहिन या पुत्री थोडे ही है! बस, झट आदमी काम के फन्दे में फँस जाता है। इसलिये मुमुक्षु को इस बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिये। चाहे युवती अपनी सगी माता, पुत्री, प्राप्तवयस्का भगिनी ही क्यों न हो, एकान्त मे किसी का सग न करे, अधिक बातें न करे, एक आसन पर सटकर न बैठे। काम बड़ा प्रबल शत्रु है, इसे अवसर देना ही न चाहिये। विवेकी-ज्ञानी पुरुष भी इसके फन्दे मे फँस जाते हैं, फिर मैं तो एक अज्ञानी राजा ही ठहरा। अस्तु, बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेइ। बहुत दिन तक भूला रहा, अब कभी न भूलूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महाराज ऐल ने यह आध्यात्मिक ज्ञानपूर्ण गीत गाये। वे तुरन्त उर्वशी के लोक को छोड़कर चले आये। उन्होने पुनः पृथ्वी पर आकर आत्मरूप से स्थित परमात्मा को जानकर समस्त मोह ममता का परित्याग कर दिया। आत्मज्ञान के प्रभाव से वे इहलोक-परलोक के समस्त दृष्ट और श्रुत भोगो से उपरत होकर, अपने सत्स्वरूप मे स्थित हो गये। वे शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरजन, निष्कल ब्रह्म को जानकर तन्मय हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने यह अत्यन्त संक्षेप मे प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने ऐसी विषयासक्ति की कथा क्यों सुनाई?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यह जीव विषयों में आसक्त हुआ ही तो संसार-चक्र में भटक रहा है? जो संसारी बन्धनों से मुक्त हैं, उन्हें तो सुनाना ही क्या? यह केवल प्रतिष्ठानपुराधीश पुरूरवा की ही कथा नहीं है। जीवमात्र की यह कथा है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना—ये ही गङ्गा, यमुना और सरस्वती हैं। इनका जहाँ संगम है, वहीं प्रतिष्ठानपुर है। यह मनुष्य देह ही प्रतिष्ठानपुर है। इसका स्वामी जो जीव है, वही पुरूरवा है। अविद्या-रूपी रम्भा के साथ मायारूपी उर्वशी इसे घेर लेती है, तो यह आत्मविस्मृत हो जाता है। बहुरूपिणी माया जीव को नित्य प्रति शिक्षा देती है। मायिक पदार्थ क्षणभंगुर हैं, अशाश्वत हैं, परिणामी हैं, पल-पल पर माया से इसकी शिक्षा प्राप्त होती है। नित्य कितने आदमी तो मरते हैं, बालक से युवा और युवा से बूढ़े होते हैं। आज जो सुन्दर दीखते हैं कल वे ही असुन्दर हो जाते हैं। युवक के मुख पिचक जाते हैं, स्वस्थ अस्वस्थ बन जाते हैं। बोलते-बोलते मनुष्य मर जाते हैं। कल तक जो महलों में भाँति-भाँति के विषयों का प्रमत्त होकर उपभोग कर रहे थे, आज वे द्वार-द्वार के भिखारी बन जाते हैं, मुट्ठी-मुट्ठी भर अन्न के लिये तरसते हैं। इन परिवर्तनों को भी देखकर जीव का माया से विराग नहीं होता, बल्कि वह उससे अधिकाधिक चिपटता-लिपटता जाता है। भगवान् की आराधना भी करेगा, तो माया की प्राप्ति के ही लिये। उर्वशी रूपी माया ने इसे रूप जाल में ऐसे कसकर बाँध लिया है कि साक्षात् भगवान् के स्थान विशाला पुरी में भी जाकर माया को ही माँगता है। इतना ही अच्छा है कि उसे भगवान से ही माँगता है, भगवान् का ही आश्रय ग्रहण करता है। यदि यह नि
से माया माँगे, तब तो वे उसे मार ही डालें,

विषय के ही कीडे हैं। वॉछा-कल्पतरु भगवान् पहिले इसकी इच्छा की पूर्ति करते हैं—इसे माया देते हैं। यह अनुभव करने लगता है कि चाहे सात भू विवरों की माया हो, या सात स्वर्गों की दिव्य या भौतिक, सब एक सी ही है। ब्रह्मलोक से लेकर पृथ्वी तक सभी पुनरावृत्ति वाले लोक हैं। सब में माया है। कहीं सूक्ष्म है, कहीं स्थूल। चींटी से ब्रह्मा तक सभी माया के चक्कर में बँधे घूम रहे हैं। इन्द्र अपनी सुन्दरी इन्द्राणी के साथ जितना सुखी है, उतना ही कुत्ता कुतिया के साथ। दोनों ही विषय के अधीन हैं, काम के दास हैं। 'संसारी विषयों में अतृप्ति है अशान्ति है, भगवत् कृपा से ऐसा विवेक होते ही जीव का मोह दूर हो जाता है। तब वह कामी और कामिनियों का संग न करके निष्काम कर्म करने वाले, भगवान् में ही सदा चित्त को लगाये रहने वाले, अत्यन्त शान्त, समदर्शी, ममता शून्य, अहंकार रहित, द्वन्द्वहीन, अकिंचन, भगवद्भक्तों का संग करने लगता है। भक्तों के संग से उसकी विषय वासना का अनुराग कम होने लगता है। माया के बन्धन ढीले होने लगते हैं। फिर इस बहुरूपिणी ठगिनी माया का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। उसकी यथार्थता का बोध जीव को हो जाता है। तब वह माया छोड़कर भगवान् की ओर चित्त लगाता है। जो आकर्षण अब तक विषयों में था, वह अब मायाधीश विश्वम्भर में हो जाता है। तब जीव कृतार्थ हो जाता है। उसके सब दुःख द्वन्द्व विलीन हो जाते हैं। वह कृतकृत्य होकर अपने सत्स्वरूप का अनुभव करने लगता है। यही इस पुरुरवा उर्वशी के चरित का आध्यात्मिक अर्थ है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने यह रूपक के द्वारा बड़ा ही सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन किया। अब हम पुरूरवा से

आगे चन्द्रवंश के अन्य प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं का चरित सुनना चाहते हैं। उर्वशी के गर्भ से महाराज पुरूरवा के आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय—ये ६ पुत्र आपने बनाये। इनके वंश में जो अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हुए हों, उनकी कथा आप मुझे सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है [illegible] में ऐल वंश के मुख्य-मुख्य राजाओं का वृत्तान्त सुनाता [illegible] इसे दत्तचित्त होकर सुनें।"

छप्पय

यों करि मनहिँ प्रबोध भये विषयनि तें [illegible]
त्यागि उरवशी लोक आत्मसुख माहिँ [illegible]
बिखरी मन की वृत्ति योग तैं वश-महँ [illegible]
करि स्वरूप सन्धान, चित्त कूँ शिक्षा [illegible]
मन पुरूरवा, उरवशी—माया पूर तन [illegible]
फँसि के ताके फन्द महँ, जीव त्रिविध विधि दुख [illegible]

—:※:—

महाराज जह्नु की कथा

[७३२]

भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः ।
तस्य जह्नुः सुतो गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत्॥*

(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

भये ऐल के विजय विजय के भये भीम सुत ।
तिनि के काञ्चन भये होत्र तिन भये धर्मयुत ॥
होत्र पुत्र जग माहिँ जह्नु ऋषि बड़े तपस्वी ।
गङ्गा सब पी गये जगत् महँ भये यशस्वी ॥
मस-सामग्री गंग ने, जल महँ दई डुबोइ जब ।
पान करी जनि कान तें, भयो जाह्नवी नाम तब ॥

तपस्वी अपनी तपस्या के प्रभाव से क्या नहीं कर सकता ? यह जगत् पंचभूतात्मक है । योगी अपने योग बल से इन सब पर विजय प्राप्त कर सकता है, पृथ्वी को हिला सकता है, जल का स्तम्भन कर सकता, है सूर्य की गति रोक सकता है । कहने का

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विजय के पुत्र महाराज भीम हुए । उनके काञ्चन, काञ्चन के होत्र और होत्र के पुत्र महाराज जह्नु हुए, जो गङ्गाजी को अञ्जलि में भरकर पी गये थे ।"

सारांश यही कि वह चाहे जो कर सकता है, उसके लिये कुछ भी कठिन नहीं, दुष्कर या असंभव नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं यह बात तो पहिले ही बता चुका हूँ, कि महाराज पुरूरवा से उर्वशी के गर्भ से छः पुत्र उत्पन्न हुए। पांच तो प्रतिष्ठानपुर में हुए, अन्तिम छठे जय को उर्वशी कुरुक्षेत्र में देकर चली गई थी। महाराज अपने सबसे बड़े पुत्र आयु को राज्यसिंहासन पर बिठाकर बदरीवन चले गये। उनमें से श्रुतायु नामक सुत के वसुमान नामक पुत्र हुआ। सत्यायु के श्रुतंजय, रय के एक और जय के अमित नामक पराक्रमी सुत हुए। विजय के पुत्र भीम थे, भीम के कांचन, उनके होत्र और होत्र के पुत्र राजर्षि जह्नु हुए।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने महाराज ऐल के सबसे बड़े पुत्र आयु के वंश का वर्णन न करके, छोटे पुत्र श्रुतायु, सत्ययायु, रय, विजय और जय—इनके वंश का वर्णन क्यों किया?"

सूतजी बोले—"महाराज! मुझे नियमानुसार करना तो चाहिये आयु के ही वंश का वर्णन, किन्तु एक सूची-कटाह न्याय है। लुहार के पास कोई एक कड़ाह बनवाने गया, उसके पीछे दूसरा सूई बनवाने। लुहार ने पीछे आने वाले की सुई बना दी। किसी ने पूछा—"कड़ाह बनवाने वाला तो पहिले आया था, उसका काम पहले करके तब तुम्हें पीछे आने वाले का काम करना चाहिये था तुमने पहिले उसकी सूई क्यों बना दी?" लुहार ने कहा—"सूई में तो कुछ श्रम नहीं, विस्तार नहीं, तनिक देर में बनाकर झंझट काट दिया। कड़ाह के बनाने में तो विस्तार करना है।" इसी प्रकार श्रुतायु आदि के वंशों को तो संक्षेप में कहना है, अतः इसे कहकर आयु के वंश का विस्तार करेंगे।"

शौनकजी ने कहा—"तब सूतजी ! आपने इनके वंश को छोड़ ही क्यों नहीं दिया ? आप ऐसा पीछे करते भी आये हैं, बड़े के वंश का वर्णन किया, छोटों को छोड़ दिया।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! ऐसा तो मैंने किया ही है। सब के वंश का वर्णन करूँ, तब तो ब्रह्माजी की सम्पूर्ण आयु में भी पूरा न हो। इन पांचों के वंश का भी मैंने केवल दिग्दर्शन-मात्र करा दिया है। केवल कथा-प्रसङ्ग मिलाने को एक-आध पीढ़ी कह दी है किन्तु विजय के वंश के सम्बन्ध में मैं ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि इस वंश में भगवान् विश्वामित्र उत्पन्न हुए हैं और भगवान् के अवतार परशुरामजी का सम्बन्ध भी इसी कुल से है। आप सब अवतार-कथा प्रिय हैं, मुझे भी भगवान् के अवतारों की कथा कहने में अत्यधिक आनन्द आता है। इस वंश-प्रसङ्ग में परशुराम-चरित है। इसीलिये इसका विस्तार करता हूँ। परशुराम-चरित के अनंतर मैं महाराज पुरूरवा के सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ पुत्र 'आयु' के वंश का वर्णन करूँगा।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए शौनकजी ने कहा—"साधु, साधु ! बड़ी सुन्दर बात है। हाँ, तो आप विजय-वंश का वर्णन करें। हाँ तो होत्र के पुत्र राजर्षि जह्नु हुए और जह्नु पुत्र कौन हुए ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! जह्नु के पुत्र पुण्यश्लोक पुरु हुए। ये राजर्षि जह्नु वे ही हैं जो सम्पूर्ण गंगाजी के जल को एक चुल्लू में पी गये थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! राजर्षि जह्नु गंगाजी के समस्त जल को क्यों पी गये ? यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है ! इस कथा को आप हमें अवश्य सुनावें।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! यह कथा तो बहुत बड़ी है। फिर सूर्यवंशी महाराज सगर के कथा प्रसङ्ग में मैं इसका वर्णन कर ही चुका हूँ। यहाँ अत्यन्त सक्षेप में केवल राजर्षि जह्नु के प्रसङ्ग को सुनाता हूँ।

यह तो आप जानते ही होंगे कि गिरिराज हिमालय के उमा और गङ्गा—दो पुत्रियाँ थीं। गङ्गा परम पावन थीं, वह विष्णु-पादाब्जसंभूता थीं, अतः उन्हें देवताओं ने स्वर्ग के लिये माँग लिया। उमा का विवाह शिवजी के साथ हो गया। गङ्गा अपने पिता की गोद में आना चाहती थीं किन्तु स्वार्थी देवता उन्हें आने देना नहीं चाहते थे। अपनी बहिन का विवाह हो जाने पर उनकी इच्छा भी विवाह करने की थी, किन्तु उन्हें तो पिता ने देवताओं को दे दिया था। वह मन मसोस कर रह जातीं और स्वर्ग को परम पावन बनाती हुई आकाश में प्रवाहित रहतीं।

बहुत दिनों के पश्चात् महाराज सगर ने एक अश्वमेध यज्ञ किया। इन्द्र उनके यज्ञ के घोड़े को चुरा ले गये। सगर पुत्रों ने पृथ्वी को खोदा, कपिलाश्रम पर घोड़ा पाकर वे मुनि पर कुपित हुए और मुनि के देखते ही अपने अपराध से सब-के-सब भस्म हो गये। सगर के दूसरे पुत्र असमञ्जस के पुत्र अंशुमान ने भगवान् की स्तुति की। भगवान् कपिल ने अंशुमान को गङ्गाजी को लाने के लिये आज्ञा दी! अंशुमान तपस्या करते-करते मर गये, गङ्गा नहीं आईं। स्वर्ग से गङ्गाजी का भूतल पर आना सामान्य बात नहीं थी। किन्तु राजाओं ने साहस नहीं छोड़ा। अंशुमान के पुत्र परम प्रतापी महाराज दिलीप हुए। वे भी तपस्या करते-करते मर गये, गङ्गा प्रसन्न न हुईं। भगीरथ का भाग्य प्रबल था, उसकी उग्र तपस्या से गङ्गा जी प्रसन्न हुईं और आने की अनुमति दे गङ्गाजी चंचला-चपला बालिका ही ठहरी। उनकी

मे चचलता भरी थी। वह बोलीं—"मेरे वेग को धारण कौन करेगा ?"

महाराज भगीरथ बोले—"सर्वलोकेश्वर भगवान् शिव तुम्हें धारण करेंगे।"

गङ्गा हँस पड़ीं। उसने सोचा, चलो, शिवजी से इसी व्याज से साक्षात्कार हो जायगा। वे मेरी बहिन के पति हैं। जीजाजी से कुछ हँसी-दिल्लगी ही हो जायगी। मैं अपने प्रबल वेग से उन्हे बहाती हुई पाताल में ले जाऊँगी और फिर हँसकर कहूँगी, जीजाजी, राम-राम! कहो कैसी रही ? तुम मुझे मेरी बहिन की भाँति सीधी सादी समझते होगे।" यह सब सोचकर गङ्गाजी ने भगीरथ से कहा—"शिवजी को मुझे धारण करने को सहमत कर लो, मैं भूतल पर चलने को तैयार हूँ।"

भगीरथ ने भगवान् भूतनाथ को प्रसन्न किया। उन आशुतोष को प्रसन्न करना कौन-कठिन कार्य है ? उन्होंने अनुमति दे दी। वैसे तो भोले-भाले हैं, किन्तु हँसी विनोद मे तो वे भी सब के कान काटते हैं! वे अपनी साली के अभिप्राय को समझ बैठे गये कैलाश के शिखर पर। हर हर करती हुई गाती चिल्लाती-इठलाती गङ्गा आकर बड़े वेग से शिवजी के सिर पर गिरी। वे बहुत उछली कूदीं, बहुत तड़क भड़क दिखाई, किन्तु लटरिया बाबा की जटाओं मे फँस गईं। वर्षों तक वहीं चक्कर काटती रहीं। एक बूँद भी जल पृथ्वी पर नहीं गिरा। भगीरथजी घबड़ाये, साली बहनोई के हँसी विनोद में मैं बीच मे ही मारा गया! उन्होंने शिवजी की एक जटा से एक धार निकाली। उसकी सात धारायें हो गईं। एक धारा को लेकर भगीरथजी दक्षिण समुद्र की ओर चले। भगीरथ के लाने के कारण ही गङ्गाजी का नाम 'भागीरथी' पड़ गया।

जिन दिनों गंगा भूतल पर अवतरित हो रही थी, उन्हीं दिनों राजर्षि जह्नु ब्रह्मावर्त में यज्ञ कर रहे थे। बहुत दूर तक उनके यज्ञ की वेदियाँ बनी थी। अनेक प्रकार की सामग्रियाँ वहाँ फैली हुई थी। महाराज बड़ी तत्परता से यज्ञ की वस्तुओं को सम्भाल-सम्भाल कर रख रहे थे। उधर से भगीरथ के रथ

के पीछे-पीछे गंगाजी भी जा रही थीं। चंचल प्रकृति के लड़के—

लड़कियों को बूढ़े आदमियों को चिढ़ाने में आनन्द आता है! गङ्गाजी को भी हँसी सूझी। "इस बूढ़े को अपना कुछ चमत्कार दिखाऊँ", यह सोचकर वे भगीरथ के रथ के पीछे से हटकर जह्नु की यज्ञ भूमि के समीप दौड़ गईं और अपने जल के वेग से उनकी सामग्रियो को डुबोकर 'हा हा' कर के हँस पड़ीं। बूढ़े जह्नु को गङ्गाजी की इस चंचलता पर बड़ा क्रोध आया। वे सोचने लगे—"यह लड़की मुझसे हँसी करती है! अच्छी बात है, इसे इसका फल चखाता हूँ।" यह कहकर वे गगाजी के सम्पूर्ण जल को एक चुल्लू मे भर कर पी गये। गंगा की ठिठोली भूल गई! हँसी मे खसी हो गई!"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतनी बड़ी गंगा के जल को महाराज जह्नु चुल्लू मे भरकर कैसे पी गये? यह बात हमारी समझ मे नहीं आती। फिर सब जल को कैसे पी गये होंगे? धारा तो हिमालय से अखण्ड बहती हुई आ रही थी।"

सूतजी बोले—"महाराज? योग मे सब सामर्थ्य है। उन्होंने योगबल से उद्गम को रोक दिया, जल को स्तंभित कर दिया और अपने मे बड़वाग्नि का आवाहन करके सब जल को सोख लिया।

महाराज भगीरथ ने सोचा, यह दूसरी विपत्ति सामने आई। लड़कियाँ बड़ी चंचल होती हैं। उन्होंने राजर्षि जह्नु की प्रार्थना की। गंगाजी भी सिटपिटा गईं, बोलीं—"पिताजी! मुझे छोड़ दें, मैं आपकी बच्ची हूँ।"

बालकों के पास यही एक अमोघ अस्त्र है—किसी बड़े पुरुष या बड़ी स्त्री के प्रति अपराध हो जाय, तो हाथ जोड़कर कह दें—"हम तो तुम्हारी संतान हैं।" संतानों के अपराधों की ओर माता-

पिता ध्यान नहीं देते। महाराज जह्नु ने गंगाजी को कान से निकाल दिया। तब भगीरथ उन्हें लेकर आगे बढ़े।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गङ्गाजी जह्नु महर्षि के उदर में जाकर पुनः प्रकट हुईं और उन्होंने जह्नु को अपना पिता कहा। इसलिये भागीरथी गंगा का नाम जाह्नवी हो गया।

छप्पय

जह्नु तनय नृप पुरु पूरु के पुत्र बलाक हु।
परम प्रसिद्ध बलाक भये तिनके सत अजक हु॥
अजक जगत महँ भये यशस्वी तिनके कुश सुत।
तिन तैं कौशिक गोत्र भयो जग माँहिं धरमयुत॥
पत्र चारि तिनके भये, भिन्न-भिन्न पर के अधिप।
श्रीकुशाम्बु भूतप बसू, चौथ भये कुशम्बु नृप॥

कुशनाभ-चरित

[७३३]

जह्नोस्तु पुरुस्तत्पुत्रो बलाकश्चात्मजोऽजकः ।
ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुस्तनयो वसुः ।
कुशनाभश्च चत्वारो गाधिरासीत् कुशाम्बुनः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १५ अ० ३ ४ श्लोक)

छप्पय

अति सुन्दर कुशनाभ घृताची लखि नृप दृढ़ व्रत ।
परना बनि कै रहा भई तातैं कन्या शत ॥
कन्या क्रीड़ा करहिं अनिल तिनके ढिंग आया ।
करचा व्याह-प्रस्ताव कुमारिनि ने ठुकरायो ॥
कुपित वाय अति ही भयो, सब कन्या कुबरी करीं ।
रावत सब पितु ढिंग गईं, नृप चरननि महँ गिरि परीं ॥

महापुरुषों के चरणों का आश्रय ग्रहण करने से प्राणी सभी दुःखों से छूट जाता है। मनुष्य क्रुद्ध हो गया हो, भूत, प्रेत,

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! राजर्षि जह्नु के पुत्र पुरु हुए। पुरु के बलाक और बलाक के पुत्र अजक हुए। अजक के पुत्र कुश तथा कुश के कुशाम्बु, वसु, वसु और कुशनाभ—ये चार पुत्र हुए। कुशाम्बु के पुत्र महाराज गाधि हुए।

पिशाच, पितर अथवा देवता क्रुद्ध हो गये हों, औरों की तो बात ही क्या, भगवान भी यदि क्रुद्ध हो गये हों, और प्राणी महापुरुषों की शरण में जाय, तो सभी का क्रोध शान्त हो जाता है, सभी प्रकार के शापों का अन्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने प्रसगवश राजर्षि जह्नु के गगापान तथा गगाजी के जाह्नवी नाम पडने का कारण बताया। अब आप महाराज जह्नु से आगे के राजाओं का वृत्तान्त सुनें। राजर्षि जह्नु के पुत्र पुरु हुए। पुरु के पुत्र धर्मात्मा महाराज बलाक हुए। बलाक के अजक नामक पुत्र हुए। महाराज अजक या ब्रह्म के पुत्र राजर्षि कुश हुए। ये कुश बडे ही यशस्वी हुए। इनके नाम से ही कौशिक गोत्र उत्पन्न हुआ। महाराज कुश ने विदर्भ देश की राजकुमारी वैदर्भी से विवाह किया। इसके गर्भ से महाराज के अत्यन्त ही धर्मात्मा यशस्वी चार पुत्र हुए। उनमें सबसे बडे महाराज कुशाम्बु हुए। भूतप, वसु और कुशनाभ—ये तीन छोटे थे। इनमें महाराज कुशनाभ बडे ही यशस्वी हुए। ये इतने सुन्दर थे कि स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा घृताची इनकी पत्नी बनकर रही। महाराज ने उस घृताची अप्सरा के गर्भ से १०० कन्यायें उत्पन्न कीं। वे वायु के क्रोध से कुबडी हो गई थीं, किन्तु महर्षि चूली के पुत्र राजर्षि ब्रह्मदत्त के प्रताप से पुनः रोगमुक्त हो गईं।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! महाराज कुशनाभ की कन्याओं पर वायु ने कोप क्यों किया? पुनः राजर्षि ब्रह्मदत्त ने उन पर कैसे कृपा की? कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, मुनिवर! पहिले

मै इसी कथा को सुनाकर तब आगे के राजाओं के वंश का वर्णन करूँगा।"

महाराज कुश के चार पुत्रों मे से सबसे बड़े धर्मात्मा महा-तेजस्वी कुशाम्बु ने कौशाम्बी नामक पुरी बसाई और उसमें धर्म-पूर्वक राज्य करने लगे। भूतप अथवा असूर्त्तरजस ने धर्मारण्य नामक नगर बसाया और वसु ने गिरिव्रज नामक नगर बसाया, जिसके चारो ओर पर्वत हैं, सुमागधी नाम की नदी उसकी शोभा बढाती है। धर्मात्मा कुशनाभ ने महोदय (कन्नौज) नामक पुरी बसाई और उसी मे राज्य करने लगे। गगाजी और कालिन्दी के सगम के समीप यह अत्यन्त पवित्र नगरी थी। इसके चारो ओर वन, उपवन, और भाँति-भाँति के सुगन्धित पुष्पोवाले रमणीय उद्यान तथा वन थे। राजा इतने सुन्दर थे कि घृताची अप्सरा स्वर्ग से इनके दर्शन करने आई और इनके रूप पर मुग्ध होकर इनकी पत्नी बनकर रहने लगी। उस घृताची अप्सरा से राजा ने अत्यन्त सुन्दरी १०० कन्यायें उत्पन्न कीं। वे कन्यायें इतनी सुन्दरी थीं, कि स्वर्ग की ललनायें उनके रूप को देखकर ईर्ष्या किया करती थीं। वे रूप-यौवन से सम्पन्न कन्यायें जब वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर उद्यान में क्रीडा करतीं, तो ऐसी लगतीं, मानों सैकड़ो रतियाँ विहार कर रही हों। वे सभी गाने बजाने और नाचने मे अत्यन्त ही निपुण थीं। वे अलौकिक रूपराशिवाली सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्यायें अपने शरीर और आभूषणों की आभा से उद्यानभूमि-रूपी नभ मे विद्युत् के समान चमक रही थीं उनके सौन्दर्य पर सब मे समान रूप से विचरण करने वाले वायुदेव आसक्त हो गये। उन्होंने उन कन्याओं से कहा—"राजकुमारियो! तुम परम सुन्दरी हो, स्वर्गीय ललनायें भी तुम्हारे सौन्दर्य की बराबरी नहीं

मै इसी कथा को सुनाकर तब आगे के राजाओ के वश का वर्णन करूँगा।"

महाराज कुश के चार पुत्रों मे से सबसे बड़े धर्मात्मा महा तपस्वी कुशाम्बु ने कौशाम्बी नामक पुरी बसाई और उसमें धर्म पूर्वक राज्य करने लगे। भूतप अथवा असूर्त्तरजस ने धर्मारण्य नामक नगर बसाया और वसु ने गिरिव्रज नामक नगर बसाया, जिसके चारो ओर पर्वत है, सुमागधी नाम की नदी उसकी शोभा बढाती है। धर्मात्मा कुशनाभ ने महोदय (कन्नोज) नामक पुरी बसाई और उसी में राज्य करने लगे। गगाजी और कालिन्दी के सगम के समीप यह अत्यन्त पवित्र नगरी थी। इसके चारो ओर वन, उपवन, और भाँति भाँति के सुगन्धित पुष्पोवाले रमणीय उद्यान तथा वन थे। राजा इतने सुन्दर थे कि घृताची अप्सरा स्वर्ग से इनके दर्शन करने आई और इनके रूप पर मुग्ध होकर इनकी पत्नी बनकर रहने लगी। उस घृताची अप्सरा से राजा ने अत्यन्त सुन्दरी १०० कन्यायें उत्पन्न की। वे कन्यायें इतनी सुन्दरी थीं, कि स्वर्ग की ललनायें उनके रूप को देखकर ईर्ष्या किया करती थीं। वे रूप-यौवन से सम्पन्न कन्यायें जब वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होकर उद्यान में क्रीडा करती, तो ऐसी लगतीं, मानों सैकडो रतियाँ विहार कर रही हो। वे सभी गाने बजाने और नाचने मे अत्यन्त ही निपुण थीं। वे अलौकिक रूपराशिवाली सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्यायें अपने शरीर और आभूषणों की आभा से उद्यानभूमि रूपी नभ में विद्युत् के समान चमक रही थीं उनके सौन्दर्य पर सब में समान रूप से विचरण करने वाले वायुदेव आसक्त हो गये। उन्होंने उन कन्याओं से कहा—"राजकुमारियो ! तुम परम सुन्दरी हो, स्वर्गीय ललनायें भी तुम्हारे सौन्दर्य की बराबरी नहीं

कर सकतीं। स्वर्ग में भी मैंने ऐसी सुन्दरी सुराङ्गनायें नहीं देखी। इतना होने पर भी तुम मर्त्यलोक की ही तो हो। तुम एक काम करो। मैं चराचर में रहने वाला वायु हूँ, वायव्य दिशा का लोकपाल हूँ, सभी का जीवन-दाता हूँ। तुम मेरे साथ विवाह करके देवाङ्गना बन जाओ। इस मर्त्य शरीर को त्याग कर दिव्य देह धारण करो। मैं तुम्हारी सभी इच्छाओं की पूर्ति करूँगा। यह यौवन सदा नहीं रहता, यौवन के साथ ही साथ सौंदर्य भी नष्ट हो जाता है। आयु चंचल है, फिर मनुष्यों की तो और भी अधिक। तुम मर्त्य-धर्म को त्यागकर अमर हो जाओ, मानवी स्त्री से देव-स्त्री बन जाओ।"

उन कन्याओं ने कहा—"वायुदेव! आप समस्त सुरों में श्रेष्ठ हैं। आप सबके भीतर-बाहर विचरण करते है, सब के मन की बातें जानते हैं। आप हमारे अन्तःकरण के भाव को समझकर भी ऐसा प्रस्ताव क्यों कर रहे हैं? क्या आप हमारी परीक्षा ले रहे हैं?"

वायुदेव ने कहा—"देवियो! इसमे परीक्षा की कौन-सी बात है? आप सबका सौन्दर्य मर्त्यलोक के प्राणियों के उपभोग योग्य नहीं है। विवाह तुम्हें करना ही है, फिर मरणधर्मा मनुष्यों से न करके मुझ अमर देवता के साथ करो। मेरे साथ विवाह करते ही तुम मानवी भाव से मुक्त हो जाओगी दीर्घ आयु पाओगी, तुम्हारा यौवन अक्षय हो जायगा, तुम्हारी पलक न गिरेगी, शरीर की छाया न पडेगी, जरावस्था भी तुम्हारे पास न आयेगी, तुम्हारे शरीर में से मल-मूत्र, स्वेद, तथा अन्य मल न निकला करेंगे, अमृत तुम्हारा आहार होगा।"

कन्याओं ने कहा—"हे देवोत्तम! हम कन्यायें हैं, विवाह करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। हमारे पिता हमें जिसके साथ भी

विवाह देंगे, उसी के साथ हम चली जायँगी। कन्या और गो का यही धर्म है—उसके रक्षक जिसके हाथ उसे सौंप दें, उसी के साथ चली जाय!"

वायु ने कहा—"तुम्हारा कथन सत्य है। किन्तु यह नियम उस कन्या के लिये है, जिसने रज दर्शन न किया हो। रजोदर्शन के अनन्तर कन्या दो वर्ष और प्रतीक्षा करे, फिर वह चाहे तो स्वयं वर वरण कर सकती है। तुम सब तो प्राप्तवयस्का हो। ऐसी बहुत सी राजकुमारियों ने किया भी है।"

कन्याओं ने कहा—"किया होगा, हम आपकी बात का खण्डन नहीं करतीं। किन्तु हमारे मत में यह निन्दनीय कार्य है। कन्या कितनी भी बड़ी हो जाय, वह पिता के ही अधीन है। उसमें अपना इतना विवेक नहीं रहता कि वह स्वेच्छा से अपना पति चुन ले! उसे तो अपने माता-पिता तथा संरक्षकों पर ही यह छोड़ देना चाहिये। तुम हमें यह अधर्म सिखा रहे हो! हमारे सत्यवादी धर्मात्मा राजर्षि पिता का तुम तिरस्कार कर रहे हो। पिता ही हमारे देवता हैं, वे ही हमारे स्वामी हैं। वे जिसके हाथ में हमारा हाथ दे देंगे, वही हमारा पति होगा। तुम अपने देवत्व के अभिमान में हमारा तिरस्कार मत करो, नहीं तो हम तुम्हारे मान का मर्दन कर सकती हैं, तुम्हारे गर्व को खर्व करने की हम में सामर्थ्य है। हम राजर्षि की पुत्री हैं। हम तुम्हें शाप देकर भस्म कर सकती हैं। तुम्हें लोकपाल के पद से हटा सकती हैं और दूसरे देवता को तुम्हारे पद पर प्रतिष्ठित कर सकती हैं।"

यह सुनकर वायुदेव कुपित हुए। उन्होंने उन सब कन्याओं के शरीर में वायुरोग उत्पन्न कर दिया। शरीर में वात, पित्त और कफ प्रधान हैं। इनमें भी पित्त और कफ तो पंगु ही हैं। वायु

ही इन्हें उड़ाकर भिन्न-भिन्न स्थानों मे ले जाती है। शरीर को वायु दूषित हो जाय, तो शरीरधारी प्राणी अत्यन्त पीड़ित होते हैं। उनको गठिया, लकवा, कुबड़ापन तथा अन्यान्य और भी बहुत से रोग हो जाते हैं। वायु के प्रकोप से वे सबकी सब कुबड़ी हो गईं। उनके अंग टूटकर बहुत छोटे हो गये और उनमें पीड़ा होने लगी।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वायुदेव तो सर्वव्यापक है, उन्होंने कन्याओं से विवाह करने का प्रस्ताव कैसे किया? वे तो उनके गुह्य अंगो मे निवास करते ही हैं, फिर विवाह का क्या अर्थ?"

सूतजी बोले—"महाराज इसका उत्तर तो मैं अनेक बार दे चुका हूँ। सर्वव्यापक वायु तो सामान्य रूप से सर्वत्र रहता ही है एक वायु का अधिष्ठातृ देव है वह वायु लोक के स्वामी हैं। उनके भी हाथ, पैर, मुँह, नाक, कान, आदि इन्द्रियाँ हैं! उनमें भी काम, क्रोध लोभ आदि के भाव हैं। उन्हीं देवता ने आकर कन्याओं से विवाह का प्रस्ताव किया। कन्यायें उनके प्रस्ताव को मान लेती, तो वे मानव शरीर को त्यागकर वायु लोक में, वायु के अनुरूप दिव्य रूप धारण करके, उनकी पत्नी बन जातीं। वे राजर्षि के वीर्य से स्वर्गीय अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न हुई थीं। उनके लिये ऐसा करना कठिन नहीं था। काम की पूर्ति न होने पर क्रोध होता ही है। जब वायु की इच्छा पूरी नहीं हुई, तब क्रोध करके उन्होंने उन सबको कुबड़ी बना दिया।

वे कन्यायें वायु के द्वारा विकृत हुई अपने घर आईं। वे लज्जा के कारण अपने अंगों को दिखाती नहीं थीं। वे पिता से डर रही थी और वेदना के कारण रुदन कर रही थी।

महाराज कुशनाभ ने जब देखा कि मेरी पुत्रियाँ तो वायुरोग

से पीड़ित होकर विकृताङ्गिनी बन गई हैं, तब उन्होंने अपनी कन्याओं से पूछा—"बेटियो ! तुम्हारी यह दुर्दशा किस कारण हुई ? किसने तुम्हारा अपमान किया ?"

लजाती हुई कन्याओं ने कहा—"पिताजी ! प्राणिमात्र के भीतर बाहर विचरण करने वाले वायुदेव ने हमारी यह दुर्दशा कर दी है। वे हमसे अनुचित प्रस्ताव कर रहे थे। हमने कहा—"हम तो अपने पिता के अधीन हैं।" किन्तु वे हमें अधर्म सिखाने लगे। हमने न उन्हें शाप दिया, न कटु वचन ही कहे, केवल उनके अनुचित प्रस्ताव का विरोध मात्र ही किया। इसी पर कुपित होकर उन्होंने हमें कुबड़ी बना दिया, हमारे अंगों को विकृत बना दिया। इसमें हमारा कोई दोष नहीं।"

यह सुनकर राजर्षि कुशनाभ गम्भीर होकर सोचने लगे और पुनः बोले—"पुत्रियो ! तुमने वायु को क्षमा करके अत्यन्त सुन्दर कार्य किया। यह तुमने मेरे कुल के अनुरूप ही व्यवहार किया क्षमा से बढ़कर कोई शस्त्र नहीं निर्बल में क्षमा नहीं होती। बलवानों का भूषण क्षमा ही है। समर्थ होने पर भी अपकारी का जो मन से भी अपकार न सोचे, वही क्षमावान है। वायुदेव सुरों में श्रेष्ठ हैं, उनकी बातों पर ध्यान न दो, तुम्हारी क्षमा का फल मिलेगा।" यह कहकर राजा ने कन्याओं को विदा किया और स्वयं मंत्रियों के साथ कन्याओं के हित की बात सोचने लगे।"

महाराज ने अपने मंत्रियों से पूछा—"इन कन्याओं का विवाह किससे करें ? कुबड़ी कन्याओं के साथ विवाह कौन करेगा ? कोई ऐसा धर्मात्मा राजा बताओ, जिसके संसर्ग से इनका कुबड़ापन दूर हो जाय।"

यह सुनकर राजा के वृद्ध पुरोहित ने कहा—"राजन् ! आप

महात्मा ब्रह्मदत्त के साथ इन कन्याओं का विवाह कर दें। वे इतने पवित्र हैं कि उनके स्पर्श-मात्र से यह सब पहिले की भाँति सुन्दरी हो जायँगी ?"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन् ! ये ब्रह्मदत्त कौन हैं ? किस के पुत्र हैं ? किस देश के राजा हैं ? वे इतने पवित्र क्यों हुए ? इन सब बातों को मुझे बताइये।"

पुरोहित बोले—"राजन् ! अभी बहुत दिनों की बात नहीं है। महर्षि चूली ने गङ्गातट पर वेद विहित तपस्या आरम्भ की। वे ऊर्ध्वरेता महर्षि बड़े ही शक्तिशाली और तेजस्वी थे। एकान्त में सयमपूर्वक रहकर वे घोर तपस्या करने लगे। जिन दिनों महर्षि चूली तपस्या कर रहे थे, उन्हीं दिनों उर्मिला गन्धर्वों की कन्या सोमदा उनके समीप आई। सोमदा अत्यन्त सुन्दरी थी, रूप और यौवन से सम्पन्न होने पर भी वह परम नम्र थी। मुनि को तपस्या में निरत देखकर वह अत्यन्त भक्ति भाव से मुनि की सेवा शुश्रूषा करने लगी। वह अपने शरीर के सम्पूर्ण सुख को छोड़कर रात्रि दिन मुनि की सेवा में ही सलग्न रहने लगी। मुनि उसकी श्रद्धा, भक्ति, नम्रता, सेवापरायणता, कार्य कुशलता तथा विशुद्धता के कारण उस पर प्रसन्न हुए उससे वर माँगने को कहा। मुनि बोले—"मैं तुम्हारे शील सदाचार और सेवा सत्कार से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हारा क्या उपकार करूँ ? तुम मुझसे अभीष्ट वर माँगो।"

मुनि को प्रसन्न देखकर बोलने में चतुर वह गन्धर्वी लजाती हुई अत्यन्त मधुरवाणी में बोली—"भगवन् ! आप मुझसे सन्तुष्ट हैं, यही मेरे लिये क्या वर से कुछ कम है ? आपने मुझ दासी की सेवा स्वीकार की और मेरे ऊपर अनुकम्पा प्रदर्शित की, इसी से मैं तो कृतकृत्य हो चुकी।"

मुनि बोले—"नहीं, फिर भी तुम जो चाहो, मुझसे वरदान माँग लो।"

यह सुनकर नीचे सिर किये हुए लजाती हुई सोमदा बोली—"भगवन्! स्त्रियों की सबसे बलवती इच्छा पुत्र आदि के लिये होती है। किन्तु, मैं तो कुमारी कन्या हूँ, मेरा अभी कोई पति नहीं है। आप तो ऊर्ध्वरेता महर्षि हैं, परम तपस्वी हैं। ब्राह्मी विभूति से युक्त होने के कारण ब्रह्मस्वरूप ही हैं। आप मुझे ब्रह्म तपस्या से युक्त एक पुत्र प्रदान करें। वह उसी प्रकार ब्राह्म विधि से उत्पन्न हो, जिस प्रकार ब्रह्माजी से सनकादि महर्षि उत्पन्न हुए। बिना शरीर संगम हुए मुझे मानसिक पुत्र दें।"

यह सुनकर चूली महर्षि प्रसन्न हुए। वह गन्धर्वी किसी राजा के वीर्य से उत्पन्न हुई थी, अतः उसका मानसिक पुत्र उसके सम्बन्ध से क्षत्रिय हुआ। ब्राह्म उपाय से उत्पन्न वह सोमदा-सुत ब्रह्मदत्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पांचाल देश की राजधानी काम्पिल्य नगरी मे वह समृद्धिशाली राजा राज्य करता है। आप उसके साथ अपनी इन कन्याओं का विवाह कर दें। आपका और इन सभी कन्याओं का कल्याण होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वृद्ध पुरोहित की सम्मति मान कर महाराज कुशनाभ ने बड़े आदर-सत्कार से सोमदा-सुत ब्रह्मदत्त को बुलाया। राजा के आमन्त्रित करने पर राजा महोदय नगरी में पधारे। महाराज कुशनाभ ने शास्त्रीय विधि से उन सौ कन्याओं का विवाह राजा ब्रह्मदत्त के साथ कर दिया। राजर्षि ब्रह्मदत्त का स्पर्श पाते ही वे सब-की-सब पहिले की भाँति सुन्दरी हो गईं। उनका समस्त वात-रोग शांत हो गया। यह देखकर महाराज कुशनाभ तथा उनकी रानियाँ परम

प्रमुदित हुई । ब्रह्मदत्त अपनी पत्नियों के साथ काम्पिल्य पुरी में जाकर धर्मपूर्वक राज्य करने लगे। सोमदा अपनी बहुओं को देखकर अत्यन्त हर्षित हुई, वह बहुओं को आशीर्वाद देकर स्वर्ग चली गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज कुशनाभ के वे ही १०० कन्यायें थीं। जब वे सब की सब विवाहित होकर अपने घर चली गई, तब महल बाल बच्चों के बिना सूना-सूना दिखाई दिया। राजा ने पुत्र प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े कर्म काण्डी विद्वान ब्राह्मणों को बुलाकर पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, जिससे पितरों ने प्रसन्न होकर उन्हें पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। पितरों का आशीर्वाद फलीभूत हुआ। महाराज कुशनाभ के एक परम तेजस्वी धर्मात्मा यशस्वी पुत्र हुआ, जो संसार में गाधि-नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाराज कुशनाभ के सबसे बड़े भाई कुशाम्बु के भी कोई सन्तान नहीं थी। वे ही बड़े होने से चक्रवर्ती पद के अधिकारी थे। अतः गाधि को उन्होंने ही गोद ले लिया। वे कुशाम्बु के ही पुत्र प्रसिद्ध हुए। महाराज गाधि के सत्यवती नाम की एक परम तपस्विनी कन्या हुई और विश्वामित्र नामक एक परम तेजस्वी पुत्र हुए, जो क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये, जिन्होंने संसार में एक अद्भुत् कार्य कर दिखाया। सत्यवती के पौत्र ही भगवान् परशुराम हुए, जो विष्णु भगवान् के अवतार हैं, जिन्होंने ब्राह्मण होकर भी मारकाट और क्षत्रिय धर्म का आचरण किया।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी महाराज! विश्वामित्र इसी शरीर से क्षत्रिय से ब्राह्मण कैसे हुए और ऋषि पत्नी होने पर भी सत्यवती के पौत्र क्षत्रिय कर्म करने वाले क्यों हुए? इस विषय में हमारे मन में बड़ा कुतूहल है। कृपा

करके इस प्रसंग को आप हमें पहिले सुनावें, तब आगे की कथा कहें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात महाराज! यही तो मुझे अभीष्ट था पहिले तो मैं श्रीविश्वामित्रजी के ब्राह्मण होने का वृत्तान्त सुनाऊँगा और फिर परशुराम-चरित। आप इन सब परम पवित्र कथाओं को श्रद्धापूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

वायु बात सब सुनी क्षमा भूपति ने कीन्हीं।
ब्रह्मदत्त बुलवाइ तिनहि सब कन्या दीन्हीं॥
पति परसत ही भईं सुन्दरी सब सुकुमारी।
लखि घर-वर अनुकूल भूप सुधि-देह बिसारी॥
कन्या अपने घर गईं, पुत्र-हेतु हरि तैं विनय।
करी यज्ञ करि नृपति ने, भये गाधि तिनके तनय॥

सत्वती-पति महर्षि ऋचीक

(७३४)

तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः।
वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत् ॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः कौशिका वयम् ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० १५ अ० ५-६ श्लो०)

छप्पय

ते कुशाम्ब के पुत्र कहाये गाधि भूमिपति।
तिनकी कन्या सत्यवती जगमहँ सुन्दर अति॥
आइ महर्षि ऋचीक याचना कन्या कीन्हीं।
सुनि घबराये बात बदलि भूपति ने दीन्हीं॥
बोले—देउ सहस्र हय, स्वच्छ शुभ्र जिनके वरन।
वेगवान अति कान्तियुत, एक कृष्ण होवै करन॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन्! महाराज गाधि से उनकी कन्या सत्यवती को ऋचीक ऋषि ने माँगा। राजा ने देखा, यह बूढ़ा ऋषि मेरी पुत्री के योग्य वर नहीं है। अतः वे बोले—"मुनिवर! हम कुशिक-वंशी क्षत्रिय हैं। आप हमें कन्या के शुल्क में चन्द्रमा के समान कान्तिवान् सहस्र घोड़े दीजिये, जिनका एक कर्ण श्याम वर्ण का हो।"

कभी-कभी मनुष्य बडे धर्म-संकट में पड जाता है। जो अपने पूज्य हैं, माननीय आदरणीय हैं, वे ही अपने समीप आकर कोई अनुपयुक्त अनुचित प्रस्ताव करे, तो न तो उनसे 'हाँ' कहते बनता है, न 'ना'। किसी युक्ति द्वारा उन्हे गोल मटोल उत्तर देना पडता है यदि वे ऐसे ही सट्ट पट्ट हुए, तब तो उस उत्तर के चक्कर में पडकर चुप हो जाते हैं और यदि सामर्थ्यवान् बुद्धिमान हुए, तो सब कुछ समझकर उस असभव बात को भी सभव करके अपने अद्भुत् सामर्थ्य का परिचय देते हैं। उनसे छल नहीं चलता, और उनके सामने सिर झुका ही देना पडता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ कि महाराज कुशनाभ कान्यकुब्ज देश की महोदय नामक नगरी मे राज्य करते थे। तदनतर महाराज गाधि वहाँ के राजा हुए। वे कोशाम्बी के भी भूपति थे। बहुत दिनो तक उन्हे कोई सन्तान नहीं हुई। अन्त मे महाराज राज्य छोडकर स्त्री-सहित वन मे रहने लगे। वे मुनियो से पुत्र प्राप्ति का उपाय पूछने लगे। भगवान् की इच्छा! वन में ही उनके एक कन्या उत्पन्न हुई। वह इतनी सुन्दरी थी, कि भूतल पर ऐसी सुन्दरी कन्या का उत्पन्न होना कठिन है। देखने में वह देवकन्या सी प्रतीत होती थी। चिरकाल के अनन्तर सन्तान का मुख देखकर राजा परम सन्तुष्ट हुए। वे कन्या को लेकर राजधानी मे लौट आये और अत्यन्त ही प्रेम के साथ उसका लालन पालन करने लगे। एक तो बहुत दिनों बाद कन्या उत्पन्न हुई थी, दूसरे वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी। अतः राजा उसे प्राणो से भी अधिक प्यार करने लगे। राजा ने उसका नाम रखा सत्यवती। वह शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कला के समान बढने लगी। शनैः-शनैः वह बाल्यावस्था को पार कर गई। उसने युवास्था मे पदार्पण

किया। राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। राजा चाहते थे कि कोई सर्व गुण सम्पन्न सुन्दर वर मिले, तो मैं उसे घर जमाई रख लूँ, जिससे मुझे कन्या का वियोग दुःख न सहना पड़े। राजा ऐसे सकल्प विकल्प कर ही रहे थे कि एक दिन द्वारपाल ने आकर सूचना दी—"प्रभो! भृगुवंशी महर्षि ऋचीक द्वार पर खड़े है, वे महाराज से मिलना चाहते है। क्या आज्ञा है?"

यह सुनते ही राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा है। वे शीघ्रता से उठकर द्वार पर गये और बड़े आदर सत्कार पूर्वक मुनि को अपनी सभा मे ले आये। विधिवत् उनका पूजन करके कुशल पूछकर राजा ने महर्षि के आगमन का कारण जानना चाहा।

राजा की भक्ति से प्रसन्न होकर मुनि बोले—"राजन्! आप धर्मात्मा हैं। मै आपसे कुछ याचना करने आया हूँ।"

"मुनि मुझसे कुछ माँगने आये हैं" यह सुनकर राजा के रोम-रोम खिल उठे। अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए बड़े उत्साह के साथ बोले—"ब्रह्मन्! मैं कृतार्थ हुआ! मैं आज अपने को बड़भागी समझता हूँ, जो भगवान् ऋचीक ने मुझे याचना के योग्य समझा। प्रभो! मेरा है ही क्या? यह राज पाट, सेना, कोष तथा सर्वस्व आपका है। मै परिवार-सहित आपका सेवक हूँ। आज्ञा कीजिये। कौन-सी वस्तु आपके अर्पण करके मैं कृतार्थ होऊँ?"

मुनि बोले—"राजन्! आप चन्द्रवंशी हैं, महाराज कुश के वंश मे उत्पन्न हुए हैं। ये शब्द आपके ही अनुरूप है। याचक आपके द्वार से कभी निराश नहीं लौटते। मैंने अपना दीर्घकालीन व्रत अभी समाप्त किया है। मेरी इच्छा विवाह करने की है।

सुना है, आपकी कन्या सत्यवती बड़ी ही सुन्दरी, सुशील और गुणवती है। मैं अपनी पत्नी बनाने के लिये उसी को आपसे माँगता हूँ। आप उसे मुझे दे दें।"

यह सुनकर तो महाराज किं कर्तव्यविमूढ़ बन गये। उनके ऊपर तो मानो वज्र गिर गया, उनकी सब आशाओं पर पानी फिर गया! "यह बूढ़ा ऋषि कैसा अनुचित प्रस्ताव कर रहा है? कहाँ मेरी परम सुकुमारी फूल-सी कन्या, कहाँ तपस्या से कठोर हुआ इनका वृद्ध शरीर! इन्हें तो कहने में भी संकोच नहीं हुआ। मैं ऐसे विसदृश वर को अपनी बेटी कैसे दे सकता हूँ? किन्तु इन तपोधन से ना करने का भी साहस मुझ में नहीं है। ये चाहें तो तपोबल से मेरे समस्त राज्य को नष्ट कर सकते हैं। इसलिये इनसे इस प्रकार की कोई बात कही जाय, जिसे ये न कर सकें, और ना भी न करना पड़े।"

यही सब सोचकर राजा बोले—"ब्रह्मन्! यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आपने मुझसे मेरी कन्या की याचना की। आप जैसे ब्रह्मर्षि को पाकर मेरी पुत्री कृतार्थ हो जायगी। किन्तु भगवन्! इसमें एक प्रतिबन्ध है।"

मुनि ने सरलता के साथ पूछा—"वह क्या?"

राजा बोले—"भगवन्! यही कि हमारे यहाँ का एक विचित्र कुलाचार है। यद्यपि मैं उसे उचित नहीं समझता, फिर भी पूर्वज जैसी प्रथा चला गये हैं, उसका पालन तो हमें करना ही चाहिये। हमारे यहाँ वर-पक्ष से कुछ शुल्क लेकर तब कन्या का विवाह करते हैं। यदि आप मेरी कन्या का शुल्क दे सकें, तो मैं सहर्ष आपको अपनी कन्या दे दूँगा।"

मुनि ने पूछा "आपकी कन्या के उपलक्ष में मुझे क्या शुल्क देना होगा? वह मुझे बताइये।"

राजा ने सोचा—"श्यामकर्ण घोड़े पृथ्वी पर नहीं हैं। वरुण-लोक को छोड़कर स्वर्ग में भी नहीं हैं। अतः मुनि से ऐसे ही घोड़े माँगने चाहिये।" ऐसे विचारकर राजा बोले—"मुनिवर! हम कुशिकवंशी क्षत्रिय हैं। यदि आप हमें कहीं से श्यामकर्ण सहस्र घोड़े लाकर दें, तो हम अपनी कन्या का विवाह आपके साथ कर सकते हैं।"

मुनि ने पूछा—"श्यामकर्ण घोड़े कैसे होते हैं?"

राजा ने कहा—"श्यामकर्ण घोड़ा का वर्ण चन्द्रमा के समान, शुभ्र होता है। उनका सम्पूर्ण शरीर तो दुग्ध के फेन के समान, चन्द्रमा के समान शुभ्र कान्तियुक्त होता है। केवल एक कान काले वर्ण का होता है। वे जल में, थल में—सर्वत्र समान रूप से चल सकते हैं। वरुणलोक के अतिरिक्त ऐसे घोड़े पृथ्वी पर किसी राजा के पास नहीं हैं।"

मुनि ने घास तो खोदी ही नहीं थी। इतना समय भगवान् की आराधना में ही बिताया था। भगवान के भक्त देखने में ही भोले भाले लगते हैं, किन्तु वे सबके मनोगत भावों को समझ जाते हैं। मुनि समझ गये कि राजा मुझे किसी प्रकार टालना चाहते हैं, किन्तु वे टलने वाले प्राणी नहीं थे। बड़े साहस के साथ बोले—"राजन्! यह कौन सी बड़ी बात है! चतुर्दश भुवन में जो भी वस्तु विद्यमान हो, उसे ही मैं अपनी तपस्या के बल से ला सकता हूँ। मैं अभी वरुणलोक जाता हूँ और सहस्र श्यामकर्ण घोड़े लेकर पुनः आपके समीप आता हूँ।" इतना कह कर मुनि योगमार्ग के द्वारा तुरन्त वरुणलोक पहुँच गये।

परम तपस्वी भार्गव महर्षि ऋचीक को आते देखकर जलेश वरुण उठकर खड़े हो गये। मुनि की यथोचित पूजा करके लोक-

पाल वरुण ने महामुनि ऋचीक से पूछा—"ब्रह्मन्! आपका स्वागत है! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका पधारना किसी विशेष प्रयोजन से तो नहीं हुआ है।"

मुनि ने कहा—"जलेश! इस समय मैं एक विशेष प्रयोजन से ही आया हूँ। मेरी इच्छा विवाह करने की है। जिसे मैं अपनी पत्नी बनाना चाहता हूँ, उसके पिता ने एक बड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया है। वे मुझसे सहस्र श्यामकर्ण घोड़े माँगते हैं। ऐसे घोड़े आपको छोड़कर और किसी के पास हैं नहीं, अतः मुझे ऐसे सहस्र घोड़े दे दीजिये।"

वरुण जी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सहस्र क्या, दश सहस्र घोड़े ले जाइये। आप तो वैसे ही जब भी जो चाहते अपना ही समझ कर ले जाते। फिर अब तो आप विवाह के लिये माँग रहे हैं। यदि किसी का विवाह कराने में कोई तन से मन से अथवा धन से सहायता करता है, तो उसे बड़े बड़े पुण्यलोकों की प्राप्ति होती है। जो कन्यादान करता है, उसके पुण्य का तो कहना ही क्या? आप जितने चाहें, उतने घोड़े ले जायँ।"

मुनि बोले—"वरुणदेव! आपका कल्याण हो, सदा आपकी वृद्धि होती रहे! मुझे अधिक घोड़ों की आवश्यकता नहीं, मुझे तो आप गिनकर सहस्र घोड़े दे दें।" यह सुनकर वरुण ने सुन्दर जाति के सहस्र श्यामकर्ण घोड़े मुनि को दे दिये। मुनि उन्हें लेकर गङ्गाजी के जल से निकल आये। गङ्गाजी में जिस स्थान पर वे घोड़े निकले थे, वह स्थान अश्व-तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मुनि ने वे घोड़े लाकर महाराज गाधि को दिये। महाराज उन घोड़ों को पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्हें मुनि की अपार शक्ति और योग प्रभाव का पता चल गया। बड़े हर्ष के साथ राजा ने सत्यवती का विवाह ऋचीक ऋषि के साथ कर दिया। मुनि

इतनी सुन्दरी सुशीला सर्वगुण सम्पन्ना पत्नी पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सत्यवती भी अपने पति को परमेश्वर के समान समझ कर श्रद्धा सहित उनकी सेवा करने लगी। ऐसे ब्रह्मवेत्ता अपार सामर्थ्यवान के साथ रहकर राजकुमारी अत्यन्त हर्षित हुई उस कृशोदरी सुन्दरी सुकुमारी राजकुमारी के साथ यथेष्ठ विहार करते हुए मुनि शची सहित दूसरे इन्द्र के समान प्रतीत होते थे। वे सत्यवती को लेकर वन उपवन में भाँति भाँति की क्रीडायें करते।

कुछ काल के पश्चात् भगवान् भृगु अपने प्रपौत्र और उनकी वधू को देखने आये। वधू सहित प्रसन्नचित्त अपने प्रपौत्र को

देखकर महर्षि के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। ऋचीक अपनी पत्नी के सहित हाथ जोड़कर खड़े हो गये और श्रद्धा सहित उनके चरणों में प्रणाम किया। नई बहू का कुछ मुँह दिखाई देना चाहिये। इसलिये भृगु मुनि ने कहा—"बेटा! मैं तेरे शील स्वभाव तथा सरलता से अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। इसलिए तू मुझसे जो चाहे, वर माँग ले।"

लज्जित भाव से सत्यवती ने कहा—"पिताजी! आप प्रसन्न हैं, मेरे लिए यही क्या कम वर है? फिर भी आपने जब वर माँगने की आज्ञा ही दी है, तब मैं वर माँगती हूँ। मेरे कोई भाई नहीं है। अतः मेरे एक योग्य भाई हो जाय और आपके वंश को चलाने वाला मेरे एक श्रेष्ठ पुत्र भी हो।"

यह सुनकर महर्षि भृगु अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"बेटी! तेरे भी एक अत्यन्त तेजस्वी, धर्मात्मा पुत्र होगा, जो भगवान् का अंशावतार ही होगा और एक भाई भी होगा, जो बड़ा तेजस्वी होगा।" यह कह कर उन्होंने अपने प्रपौत्र-ऋचीक से कहा—"वत्स! अब जब ऋतु काल आवे, तब तुम मंत्रों से अभिमंत्रित करके दो प्रकार की खीर बनाना—एक में क्षात्र तेज स्थापित करना, दूसरे में ब्रह्मतेज। दोनों को तुम अपनी पत्नी और सास को देना। तुम्हारी सास पहिले गूलर वृक्ष का आलिङ्गन करे और तुम्हारी पत्नी पीपल वृक्ष का। तदनन्तर दोनों श्रद्धायुक्त अभिमंत्रित चरु को खायें, दोनों के ही योग्य पुत्र होंगे।" इतना कहकर भगवान् भृगु वहीं अन्तर्धान हो गये। यह समाचार गाधि की पत्नी ने सुना, तो वह परम हर्षित हुई। उनके कोई पुत्र भी नहीं था। उन्होंने सोचा—"मेरी पुत्री सर्व समर्थ महर्षि की पत्नी बन गई है, वह मंत्र बल से जो चाहे करा सकती है। अब तो हमारे अवश्य ही पुत्र होगा।" यह सोच

कर वह मन ही मन प्रसन्न होती हुई अपनी पुत्री की प्रशंसा करने लगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भृगु ऋषि के चले जाने पर सत्यवती भी ऋतुकाल की प्रतीक्षा करती हुई अपने पति की सेवा में सलग्न रहने लगी।"

छप्पय

सुनि मुनि नृप मन भाव समुझि जल लोक पधारे।
वरण कर्‌यो आतिथ्य प्रेम तैं पाद पसारे॥
श्यामकरन हय सहस दिये लै नृप ढिंग आये।
सुनि प्रभाव तप निरखि गाधि अतिशय सकुचाये॥
सत्यवती कन्या दई, मुनि प्रसन्न अति ह्वै गये।
मिले प्रेम तैं वर वधू, अगुलीय नग सम भये॥

माता और पुत्री के चरु में विपर्यय

[७३५]

तावत् सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती।
श्रेष्ठं मत्वा तयायच्छन्मात्रे मातुरदत् स्वयम् ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १५ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

सत्यवती सुत और बन्धु-हित इच्छा कीन्हीं।
क्षात्र बल द्वै पृथक तेज धरि पायस दीन्हीं॥
सुता-भाग कूँ श्रेष्ठ समुझि माता ने खायो।
स्वयं मातु को भाग खाय सब वृत्त छिपायो॥
जानि योग तैं मुनि कह्यो, निज अनर्थ को भोगु फल।
तव सुत क्षत्रिय दंडधर, करै बन्धु तव तप प्रबल॥

भाव साकर्य वर्ण साकर्य, वृत्ति सांकर्य तथा अन्य जितने भी सांकर्य होते हैं, वे लोभवश या अविश्वास वश होते हैं। जीव विश्वास कर ले, कि जो मेरी वस्तु है, वह मुझे अवश्य ही प्राप्त

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महर्षि ऋचीक स्नान करने गये, तब सत्यवती की माता ने सत्यवती के चरु को श्रेष्ठ समझकर उससे माँग लिया। सत्यवती ने भी माता को अपना चरु दे दिया और माता के चरु को स्वयं खा लिया।"

होगी, तो सांकर्य न हो। सांकर्य न हो, तो सृष्टि न हो। सृष्टि न हो, तो बन्धन न हो, बन्धन न हो तो कोई मुक्ति के लिये प्रयत्न ही क्यों करे? जब प्रकृति में विकृति होती है, तभी संघर्ष होता है। जिस जीवन मे संघर्ष नहीं, विजय करने की भावना नहीं, उसमें उन्नति नहीं, गति नही, आगे बढने की शक्ति नहीं। अतः सघर्ष ही जीवन है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! प्रजापति भृगु के चले जाने के बाद कुछ दिनो के अनन्तर ऋचीक पत्नी सत्यवती ने अपने सर्व समर्थ पति से कहा—"प्राणनाथ! मैं तथा मेरी माता ऋतुस्नान कर चुकी हैं, आप अब अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। मेरे ससुर के वर को सत्य कीजिये।"

महर्षि ऋचीक ने कहा—"प्रिये! मैं अवश्य ही तुम दोनों को पुत्र प्रदान करूँगा। देखो, मैं मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके ये दो प्रकार के चरु बनाता हूँ—एक तो तुम्हारी माता के लिये, और एक तुम्हारे लिये। तुम्हारी माता पहिले यह सामने जो गूलर का वृक्ष है, उसका आलिङ्गन करके तब चरु खाय और तुम अश्वत्थ वृक्ष का आलिंगन करके तब अभिमन्त्रित खीर खाना।"

हाथ जोडकर सत्यवती ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्! हम ऐसा ही करेंगी।" यह सुनकर मुनि परम प्रसन्न हुए। उन्होंने शास्त्रीय विधि से वेदमन्त्रो द्वारा खीर तैयार की। सत्यवती के लिये जो चरु बनाया, उसमें तो ब्रह्मतेज स्थापित किया और उसकी माता के लिये जो पायस बनाया, उसमे क्षात्र तेज स्थापित किया। दोनो चरुओं को दो पृथक्-पृथक पात्रों मे बना कर बडी शुद्धता से मुनि ने अपनी पत्नी को दिया और बता दिया—"इस पात्र के चरु को तुम स्वय खाना, इस दूसरे को अपनी माता को देना।" सत्यवती ने इसे स्वीकार किया। मुनि

दोनों चरुओं के पात्रों को देकर मध्याह्न स्नान सन्ध्या करने गङ्गाजी के किनारे चले गये।

मुनि के चले जाने पर सत्यवती ने कहा—"अम्मा! वे ये दो चरु पात्र दे गये हैं और आज्ञा कर गये हैं कि इसे तुम पीपल का आलिंगन करके खाना और इसे गूलर का आलिंगन करके अपनी माता को खिलाना। अतः चलें, हम सम्मुख ही इन दोनों वृक्षों का आलिंगन करें और उनके पधारने के पूर्व ही पायस प्रसाद पा लें।"

यह सुन कर माता ने सोचा—"मुनि ने पत्नी पर विशेष प्रेम होने के कारण तथा अपना पुत्र सर्वश्रेष्ठ गुणवाला हो, इस लोभ से सत्यवती का पायस श्रेष्ठ बनाया होगा और मेरा साधारण। यदि मैं सत्यवती के पायस को पा लूँ, तो मेरे सर्वश्रेष्ठ पुत्र हो।" यह सोच कर वह अपनी पुत्री से बोली—"बेटी! मुझे एक बात तुझसे कहनी है। तू जानती ही है, सभी अपनी सन्तानों को सर्वश्रेष्ठ गुणों वाली चाहते हैं। मेरा ऐसा विचार है कि तेरे पति ने तेरे चरु में श्रेष्ठ मन्त्र पढ़े होंगे और मेरे में साधारण। अतः मैं चाहती हूँ कि तेरे चरु को मैं खा लूँ और मेरे चरु को तू खा ले। मेरे गर्भ से जो पुत्र होगा, उसे तो सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करना पड़ेगा और तेरे उदर से जो होगा, उसे सम्पूर्ण जीवन पूजा पाठ मे ही बिताना होगा। राजा जितना ही धर्मात्मा गुणी होगा, उतना ही लोगों का हित कर सकेगा। अतः मैं और तू परस्पर चरु बदल लें। बोल, क्या कहती है।"

माता के सामने पुत्री कह ही क्या सकती थी? फिर विवाह और पुत्र की बातें करते हुए तो लड़कियाँ अपने माता-पिता तथा भाइयों से बहुत संकोच करती ही हैं। अतः उसने धीरे से कहा—"बात तो कुछ नहीं है। मेरे विचार से तो उन्होंने पक्षपात न

किया होगा। यदि बदलने की बात उन्हें ज्ञात हो जायगी, तो सम्भव है, वे क्रोध करें।"

माता ने कहा—"इसमें क्रोध करने की तो कोई बात नहीं। फिर उनसे कहने की ही क्या आवश्यकता है। यदि वे पूछें कि क्या तू ने अपना भाग खाया, तो तू कह देना कि हाँ, मैंने खा लिया। तेरा भाई श्रेष्ठ हो, यह तो तेरे लिये भी बड़े गौरव की बात है।"

सत्यवती ने कहा—"माताजी! जैसी आपकी इच्छा, मुझे तो इसमें कुछ भी आपत्ति नहीं। मेरा भाई सर्वश्रेष्ठ हो, यह तो मैं हृदय से चाहती ही हूँ। अच्छी बात है, तो मैं गूलर का आलिंगन करती हूँ, तुम पीपल का आलिंगन करो। मेरे चरु को तुम खा लो, तुम्हारे चरु को मैं खाती हूँ।" यह कहकर दोनों ने विपरीत वृक्षों का आलिंगन किया और विपरीत चरु का भक्षण किया। जब वे चरु को खा चुकीं, तब ऋचीक मुनि सन्ध्यावन्दन से निवृत्त होकर आश्रम पर आये। उन्होंने आते ही अपनी पत्नी से पूछा—"क्या तुमने चरु खाया?"

सत्यवती ने भयभीत होकर कहा—"हाँ, प्रभो! खा लिया।"

उसके मुख के भाव को देखकर मुनि समझ गये, दाल में कुछ काला है। उन्होंने ध्यान लगाकर जो देखा, तो सभी बातें जान लीं। मेरी पत्नी ने मातृ स्नेहवश चरु बदल लिया है, इससे उन्हें बड़ा दुख हुआ। वे पत्नी पर क्रोध करते हुए बोले—"प्रिये! यह तुमने बहुत बड़ा अनर्थ कर डाला! तुमने तो सब गुड़ गोबर कर दिया! मैंने तुम्हारे चरु में ब्रह्ममन्त्र पढ़े थे और तुम्हारी माता के चरु में क्षात्र-मन्त्र! अब तुम्हारे गर्भ से ब्रह्म वेत्ता पुत्र न होकर बड़ा दुर्दण्ड और घोर प्रकृति का पुत्र होगा। इसके विपरीत

तुम्हारी माता के गर्भ से ब्रह्मवादियों में श्रेष्ठ, ब्राह्मण के शम-दम तप, आदि गुणों से युक्त, पुत्र होगा।"

यह सुनकर सत्यवती का मुख फक्क पड़ गया। वह बड़ी भयभीत हुई। उसने डरते-डरते काँपते हुए करों से अपने पति के पैर पकड़ कर प्रार्थना की—"प्रभो! ऐसा न हो। मेरा भाई ब्रह्मवेत्ता हो, इसमें तो मुझे कोई आपत्ति ही नहीं। किन्तु मेरा पुत्र दुर्दण्ड और घोर प्रकृति का हो, यह तो भृगुवंश के लिये बड़े कलङ्क की बात है। ब्राह्मण का पुत्र शान्त, दान्त, तितिक्षु और सहनशील होना चाहिये। मेरा इसमें कुछ अपराध नहीं है। मैंने यह काम स्वेच्छा से नहीं किया है। माता के संकोचवश विवश होकर मुझे ऐसा करना पड़ा।"

ऋचीक मुनि बोले—"प्रिये! विष को चाहे जानकर पीयो, या अनजान में, वह अपना प्रभाव अवश्य ही दिखावेगा। मेरे मन्त्र अमोघ हैं, मैंने उन्हें विधिवत् धारण किया है। वे विपरीत फल देने वाले या निष्फल तो कभी हो ही नहीं सकते।"

सत्यवती ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—"स्वामिन्! यदि मेरा पुत्र दुर्दंड और क्रूर हुआ, तो यह मेरे लिये अत्यन्त लज्जा की बात होगी। सर्वत्र मेरी अपकीर्ति होगी। मेरा पुत्र ब्राह्मी शक्ति से ही सम्पन्न हो।"

अपनी पत्नी की विनीत प्रार्थना पर मुनि को दया आ गई। वे बोले—"अच्छी बात है। तुम्हारा पुत्र तो शान्त, दान्त, तपस्वी ऋषि ही होगा, किन्तु मन्त्रों का बल व्यर्थ तो जा नहीं सकता। उनका पुत्र पर प्रभाव न पड़के पौत्र पर पड़ेगा। तुम्हारा पौत्र क्षात्रधर्म से युक्त घोर प्रकृति का शूर-वीर एवं बली होगा।"

सत्यवती ने कहा—"अच्छी बात है! जब ऐसा होना ही है, तो पुत्र न होकर पौत्र का होना ही ठीक है।"

मुनि ने कहा—"अब तो भगवान् की आराधना में अपना समय बिताओ। तुम्हारा पुत्र ब्राह्मी शक्ति से सम्पन्न जगत् पूज्य ब्रह्मर्षि होगा।" इतना कहकर मुनि तपस्या में लग गये और सत्यवती भजन-पूजन करती हुई बालक उत्पन्न होने की प्रतीक्षा करती रही।

नियत समय पर सत्यवती के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम भगवान् ऋचीक ने जमदग्नि रखा। मुनि ने अपने पुत्र के जात-कर्म आदि समस्त वैदिक-कर्म, वैदिक-मन्त्रों द्वारा विधि पूर्वक कराये। बाल्यकाल से ही महामुनि जमदग्नि की तपस्या में रुचि थी। वे यमुना के किनारे जाकर घोर तपस्या करने लगे। समय आने पर महाराज रेणु की कन्या रेणुका के साथ भगवान् जमदग्नि का विवाह हुआ। उसमें भगवान् जमदग्नि ने वसुमान आदि कई पुत्र उत्पन्न किये। सबसे छोटे पुत्र राम हुए, जो परशु रखने के कारण परशुराम के नाम से संसार में विख्यात हुए, जो भगवान् के अंशावतार हैं और दश मुख्यावतारों में जिनकी गणना है। देवी सत्यवती अपने योग्य पुत्र जमदग्नि को देखकर स्वर्ग चली गईं। उनका शरीर ऐसा पवित्र था कि उससे सकल लोकों को पवित्र करने वाली कौशिकी नदी हो गई। उन्होंने परशुरामजी के हिंसा कार्य को नहीं देखा, जो उन्होंने हैहय वंश का तथा समस्त क्षत्रियवंश का अन्त करने में किया था।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हैहयवंशियों ने भगवान् परशुराम का ऐसा कौन सा अपराध किया था, जिससे उन्होंने समस्त क्षत्रियवंश का अन्त कर दिया?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं भगवान् के अवतार श्री परशुराम जी का ही चरित

सुनाता हूँ। आप सब एकाग्र चित्त होकर इस अवतार-चरित को श्रवण करें।"

छप्पय

पति चरननि महँ सत्यवती बिनती बहु कीन्हीं।
होहि पुत्र नहिं पौत्र घोर मुनि आयस दीन्हीं॥
भयो कछुक सन्तोष जने जमदग्नि तपोनिधि।
जात नाम सब करम करे मुनि हरषि यथाविधि॥
रेणु सुता श्री रेणुका, संग ब्याह मुनि ने कर्यो।
परशुराम तिन तें भये, भूमिभार जिनने हर्यो॥

श्री परशुरामावतार

[७३६]

तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः ।
यवीयाञ्जज्ञ एतेषा राम इत्यभिविश्रुतः ॥
यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम् ।
त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ॥*

(श्री० भा० ९ स्क० १५ अ० १३-१४ श्लो०)

छप्पय

छोटे से बटु राम धनुष कधापै धारें ।
शस्त्र शास्त्रमहँ निपुण निशानों तकि के मारें ॥
परशु प्राप्त जब भयो निरखि अतिशय हरषाये ।
तबही तैं मुनि परशुराम जग मोंहि कहाये ॥
क्षत्रिय अति निर्दय भये, अभिमानी अघ नित करहिँ ।
वेद विप्र माने नहीं, ऋषि मुनि हू तिन तैं डरहिँ ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि जमदग्नि से रेणुका से वसुमान् आदि पुत्र उत्पन्न हुए । उनमें सबसे छोटे 'राम' इस नाम से संसार में विख्यात हुए, जिन्हें भगवान् वासुदेव का अंशावतार कहते हैं, जिन्होंने हैहयवंश का अन्त किया था और इक्कीस बार सम्पूर्ण पृथ्वी को क्षत्रिय शून्य कर दिया था ।'

प्रेम या वैर एक जन्म मे सहसा नहीं हो जाता। इनका बीज पहिले से ही निहित रहता है। जब इनके प्रकाश होने का समय आता है, तब ये प्रकट होकर अपना चमत्कार दिखाते हैं। जो जितने ही बडे होते हैं, उनका प्रेम या क्रोध भी उतना ही अधिक होता है। न कोई किसी को असमय में मार सकता है, न जिला ही सकता है। जब बहुतो के प्रारब्ध एक से हो जाते हैं, तब उनके नाश का एक सा ही कारण उपस्थित हो जाता है। जो नौका डूबने को होती है, उस पर चारों ओर से एकत्रित होकर ऐसे ही आदमी आकर बैठ जाते हैं, जिनका प्रारब्ध जल मे उसी समय उसी नौका से डूबने का होता है। मनुष्य ऊपरी घटनाओं को ही देखकर कारण खोजता है। उसे यह पता नहीं कि भीतर प्रकृति मे बहुत पहिले इसकी पृष्ठभूमिका तैयार हो जाती है।

सूतजी बोले—"मुनियो! आपने मुझसे भगवान् परशुराम के चरित के सम्बन्ध मे प्रश्न किया। आपने पूछा—"ब्राह्मण होकर भी परशुराम जी ने क्षत्रियो का वध क्यो किया? हैहयों ने उनका क्या अपराध किया था?" सो महाराज! निमित्त तो कुछ और ही हो गया। उन दिनो देवासुर-संग्राम मे जितने असुर मरे, सबके सब पृथ्वी पर आकर क्षत्रिय योनि में उत्पन्न हो गये, या यो कहिये कि उन दिनो के क्षत्रिय सभी के सभी विलासी, धन-लोलुप और विप्रद्रोही बन गये थे। मुनिवर के पिता तक को क्षत्रियों ने मार डाला था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ऋचीक मुनि के पिता को क्षत्रियों ने क्यो मार डाला? इस कथा को आप हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! ये सब कथा-प्रसङ्ग इतने बड़े-बड़े हैं, कि मैं इन सब को विस्तार से सुनाने लगूँ, तो कथा कभी

समाप्त ही न हो। अतः मैं संक्षेप में इस वृत्तान्त को सुनाता हूँ। लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा के मानस-पुत्र भगवान् भृगु हुए। भगवान भृगु की पत्नी का नाम पौलोमी था। पहिले किसी दानव से उसके विवाह की बातचीत हुई थी, पीछे उसके पिता ने भृगुजी के साथ उसका विवाह कर दिया। वह दानव घात में रहता था। एक दिन पौलोमी को अकेली देखकर वह शूकर का रूप धरकर, अग्नि से उसका परिचय पाकर, हर ले गया। वह गर्भवती था। भय के कारण उसका गर्भ चू गया। उससे एक तेजस्वी पुत्र हुआ। उस पुत्र के देखते ही वह दानव वहां भस्म हो गया। इसलिये उसका नाम 'च्यवन' रखा। महर्षि च्यवन का विवाह सुकन्या के साथ हुआ, जिसने दीमक के ढेर में उनकी चमकती हुई आँखों को अनजान में फोड दिया था। सुकन्या के गर्भ से भगवान् च्यवन के दो पुत्र हुए—एक आत्मवान, दूसरे दधीच। महर्षि दधीच ने जीवित ही देवताओं के हित के लिये अपनी अस्थियाँ दे दीं। उनकी स्त्री गर्भवती थी। वह नख से उदर को फाडकर, पुत्र को एक पीपल के नीचे बैठाकर, पति के साथ सती हो गई। उनके पुत्र पिप्पलायन हुए। महर्षि दधीच के बड़े भाई आत्मवान् थे और भी बहुत से भृगुवंशी ब्राह्मण थे। वे यज्ञों में बहुत सी दक्षिणा पाते थे, अत बहुत अधिक धनी हो गये थे। उन दिनों हैहयवंशी क्षत्रियों का बहुत बोल बाला था। उनमें अधिकांश असुर ही पैदा हो गये थे। वे भोग विलास में सब धन व्यय करने लगे। व्यसनियों के पास तो कभी धन रहता नहीं। उनकी दृष्टि सदा दूसरों के धन और दूसरों की स्त्रियों पर लगी रहती है। उन क्षत्रियों ने देखा—"इन ब्राह्मणों के पास बहुत धन है, इनका धन किसी प्रकार छीनना चाहिये।"

यह सोचकर उन्होंने ब्राह्मणों से धन माँगा। ब्राह्मणों ने धन नहीं दिया, उल्टे दस खरी खोटी सुनाई। एक तो गिलोय कडवी और तिस पर नीम चढी। अभिमानियों की बात न मानो तो उनका रोम-रोम जल उठता है। उन क्षत्रियों ने क्रोध मे आकर सब ब्राह्मणो को मार डाला। यही तक नहीं, उनके गर्भ के बच्चों तक को भी मार डाला। महर्षि आत्मवान् की पत्नी नहुष की लडकी नाहुषी थी। उसने किसी प्रकार अपने गर्भ को छिपा लिया। बहुत दिनो तक गर्भ को ऊरु में छिपाये रही। फिर कहीं एकान्त मे जाकर उस बच्चे को पैदा किया। ऊरु में छिपे रहने से और उस ऊरु को फाडकर पैदा होने से उसका नाम और्व पडा। ये ही और्व मुनि ऋचीक के नाम से ससार में प्रसिद्ध हुये।

ऋचीक मुनि जन्मते ही हैहय क्षत्रियों का नाश करने को उद्यत हो गये। तब स्वर्ग से उनके पितरों ने आकर उन्हें रोका—और कहा—"देखो, बेटा! ब्राह्मणो को क्रोध करना उचित नहीं।"

ऋचीक महर्षि ने कहा—"पितरो! आप सब समर्थ होने पर भी इस सहार को न रोक सके। इतने भृगुवशीय ब्राह्मण मारे गये और आपने उसका कुछ भी प्रतिकार नहीं किया। इन हैहय-वशीय क्षत्रियों में क्या सामर्थ्य थी, जो इतने निरपराध ब्राह्मणों को मार सकते? मैं आपको भी शाप दूँगा।"

पितरों ने कहा—"देखो भैया! हम सब तो जितक्रोध थे! हम में क्रोध और लोभ नहीं थे, हम निरन्तर तपस्या में निरत रहते थे। मृत्यु भी हमारे पास आने से डरती थी। हमारी इतनी अधिक आयु हो गई थी, कि हम उससे ऊब गये थे। किसी प्रकार मरकर स्वर्ग आना चाहते थे। वैसे तो हम स्वेच्छा से मर नहीं

सकते थे। इसीलिये हमने अपनी मृत्यु के लिये इन क्षत्रियों को निमित्त बना लिया। हम अपनी इच्छा से मरे हैं। इसलिये न तो तुम हमें ही शाप दो और न हैहयवंशीय क्षत्रियों का ही तुम संहार करो।"

यह सुनकर और्वऋचीक बोले—"पितरो! मैं क्या करूँ? मेरा क्रोध शान्त नहीं होता।"

पितरों ने कहा—"इसे समुद्र में फेंक दो अर्थात् जल में स्नान कर लो, क्रोध उतर जायगा। कहते हैं, और्व ऋषि का वही क्रोध वडवानल बनकर समुद्र में रहता है। आठ महीने तो वह समुद्र के जल को पीता रहता है, और चार महीना उसे फूत्कार करके निकाल देता है, जो हिमालय पर जाकर हिम बन जाता है। ऋचीक महर्षि का क्रोध तो ऊपर से शान्त हो गया, किन्तु हैहय-वंशीय क्षत्रिय के अपराधों को वे भूले नहीं। उन्होंने गाधि पुत्री सत्यवती के साथ विवाह किया, जिसका वृत्तान्त हम पीछे कह ही चुके हैं। उस सत्यवती से महर्षि ऋचीक के सैकड़ों पुत्र हुए, जिनमें जमदग्नि और वत्स—ये दो श्रेष्ठ ऋषि हुए। चरु विपर्यय होने के कारण जमदग्नि को ही क्षत्रिय-संहारी दुर्दंड घोर प्रकृति का होना चाहिये था, किन्तु पत्नी की प्रार्थना पर पुत्र को ऐसा न करके पौत्र जमदग्नि को मुनि ने ऐसा कर दिया।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जब ऋचीक मुनि सब कुछ करने में समर्थ थे, तब उन्होंने अपने पौत्र को क्षत्रिय भाव भावित क्यों बनाया? अपनी तपस्या के प्रभाव से वे उनमें भी विशुद्ध ब्राह्मतेज स्थापित कर देते और अपनी सास के उदर में से ब्राह्मतेज निकाल लेते।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! हम लोग बाह्य कारणों को देखकर ऐसा कहने लगते हैं। यदि ऐसा न होता, तो वह

घटना न होती। किसी की मृत्यु नदी में डूब कर लिखी है, वह कभी स्नान करने नहीं जाता। सहसा किसी मित्र की प्रेरणा से चला गया और डूबकर मर गया, तो हम कहते हैं, 'यदि वह उसे न ले जाता तो उसकी कभी भी मृत्यु न होती।' यह कहना अज्ञान-मूलक है। वह उसे क्यों न ले जाता? उसकी मृत्यु तो ऐसे होने ही वाली थी! वह तो केवल निमित्त बन गया। राजर्षि गाधि का वंश तो ब्राह्मण होना ही था—"इसका वरदान तो महर्षि ऋचीक के पिता के भी पिता भगवान् च्यवन ने उनके बाबा कुशिक को पहिले ही दे रखा था।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजर्षि कुशिक को च्यवन ऋषि ने वरदान क्यों दिया?"

सूतजी बोले—"भगवन्! ये सर्वज्ञ ऋषि जिन पर प्रसन्न हो जायँ, उसे जो चाहें, दे सकते हैं। बात यह थी कि एक बार महर्षि च्यवन कान्य-कुब्ज देश के महाराज कुशिक के यहाँ गये और बोले—"राजन्! मैं आपके महलों में रह कर चातुर्मास्य व्रत करूँगा। आप मेरी श्रद्धा से सेवा कीजिये।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मैं तो आपका दास हूँ। मेरा सर्वस्व आपका है। मेरा अहोभाग्य, जो आप मेरे यहाँ चातुर्मास्य व्रत करेंगे।"

राजा-रानी की अनुमति पाकर च्यवन मुनि उनके महलों में रहने लगे। वे राजा के धैर्य की परीक्षा लेने के लिए नित्य ही अद्भुत अद्भुत काम करते। कभी असमय में गरमागरम भोजन माँगते, कभी बने हुए भोजन को छोड़ कर चले जाते, कभी अच्छी वस्तु में भी दोष लगाते, कभी राजा-रानी को रथ में जोत कर उसमें बैठ जाते और उन्हें घोड़ों की भाँति कोड़ों से मारते। सारांश, वे ऐसे कार्य करते, जिससे राजा को क्रोध आ जाय। किन्तु

राजा बड़े धर्मात्मा थे, बड़े सहन-शील और धृतिवान थे। उन्होंने मुनि की न कभी अवहेलना की, न मन से ही कभी क्रोध किया।

राजा के ऐसे धैर्य को देखकर च्यवन मुनि प्रसन्न हो गये और राजा से बोले—"राजन्! मैं तुम्हारी सहनशीलता से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आप मुझसे जो चाहें, वह माँग लें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिये महान् वर है। फिर भी मेरी इच्छा है कि मेरा वंश ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाय।"

मुनि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छी बात है राजन्! तुम्हारे वंश में गाधि-नामक राजा होंगे। उनके पुत्र विश्वामित्र ब्राह्मण बन जायँगे और उनके आगे कौशिक वंश ब्राह्मण हो जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऋचीक मुनि अपने बाबा के वरदान को व्यर्थ कैसे बना सकते थे? अतः उन्होंने इसे दैवेच्छा ही समझा। हाँ, तो मैं ऋचीक-पत्नी सत्यवती का वृत्तान्त बता रहा था। चरु विपर्यय होने से सत्यवती की माता के गर्भ से तो विश्वामित्र जी का जन्म हुआ और सत्यवती के गर्भ से महर्षि जमदग्नि हुए। महर्षि जमदग्नि का विवाह महाराज प्रसेनजित् अथवा रेणु की कन्या रेणुका के साथ हुआ। रेणुका बड़ी पति-परायण थी। वह अपने पति की परमात्म-बुद्धि से सेवा किया करती थी।"

यद्यपि ऋचीक मुनि के वरदान से जमदग्नि विशुद्ध क्षत्रिय-स्वभाव के तो नहीं हुए, फिर भी मन्त्रों का प्रभाव कहाँ जाता! वे बड़े क्रोधी ब्राह्मण थे। धनुर्विद्या का उन्हें बाल्यकाल से ही व्यसन था। उनकी इच्छा के विरुद्ध यदि कुछ भी कार्य होता, तो उन्हें क्रोध आ जाता।

एक दिन की बात है, वे अपनी कुटी के समीप के वन में बाण-विद्या का अभ्यास कर रहे थे। उनकी पतिव्रता पत्नी रेणुका भी साथ ही थीं। वैशाख के दिन थे। मुनि धनुष पर बाण चढ़ा कर उसे दूर फेंकते और अपनी पत्नी को लाने को कहते। देवी रेणुका दौड़ कर जातीं और बाण उठा लातीं, तब तक मुनि दूसरा बाण छोड़ देते। एक तो ऊपर से सूर्य की उष्णता, दूसरे नीचे की रेत गरम थी। बार-बार जाने आने में रेणुका थक जातीं, वे किसी सघन वृक्ष की छाया में थोड़ा विश्राम करके तब बाणों को लाकर देतीं। बाण लाने में देर होते देखकर मुनि कुपित हुए। उन्होंने डाँटकर अपनी पत्नी से कहा—"तू मेरी क्रीड़ा में विघ्न करती है? इतनी देर से बाण क्यों लाती है?"

हाथ जोड़कर रेणुका ने कहा—"प्रभो! ऊपर से सूर्य तप रहा है, नीचे भूमि जल रही है। मेरा सिर भी जलता है और पैर भी! अब मैं क्या करूँ?" इन दिनों सूर्य अत्यन्त उग्र हो रहे हैं। अब क्या था? मुनि का क्रोध सूर्य के ऊपर चढ़ा। अब वे धनुष पर बाण चढ़ाकर सूर्य को गिराने को उद्यत हो गये। सूर्यनारायण डर गये, कि यह क्रोधी ब्राह्मण न जाने क्या कर डाले। ये तपस्वी उलटी खोपड़ी के होते हैं। ये न सीधे लिये जाते हैं, न टेढ़े। जब इन्हें जैसी सनक सवार हो जाय! इसलिये इनसे झगड़ा मोल लेना उचित नहीं।" यह सोचकर सूर्यदेव वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर आये और मुनि से बोले—"ब्रह्मन्! यह आप क्या करना चाहते हैं?"

मुनि बोले—"मैं इस सूर्य को गिरा दूँगा। यह मेरी क्रीड़ा में विघ्न करता है।"

वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—"ब्रह्मन्! सूर्य का तो स्वभाव ही उष्ण है। किसी का सहज स्वभाव तो नहीं बदला जा सकता।"

मुनि बोले—"तब मैं क्या करूँ ? मेरी स्त्री बाण लेने जाती है, उसका सिर जलता है, पैर जलते हैं।"

वृद्ध ब्राह्मण बोले—"देखो, सब काम युक्ति से होते हैं। क्रोध करने से कोई लाभ नहीं। यह मैं छाता देता हूँ, इसे लगाकर चलने से धूप न लगेगी और ये दो जूते देता हूँ, इन्हें पैरों में पहनने से उनके पैर न जलेंगे। और देखो, मैं तुम्हारा पुत्र होकर उत्पन्न हूँगा।" फिर क्या था ? जो पुत्र बन गया, उससे क्या क्रोध ? मुनि प्रसन्न हो गये। रेणुका भी जूता छाता पाकर परम प्रमुदित हुई। तभी से संसार में जूते छाते का आविष्कार हुआ। सूर्य की कृपा से इन दोनों वस्तुओं का जगत में प्रचार हुआ।

भगवान् जमदग्नि के रेणुका के गर्भ से वसुमान, वसुषेण, वसु और विश्वावसु—ये पुत्र उत्पन्न हुए। सबसे छोटे भगवान् परशुराम थे, जो भगवान् विष्णु के अंशावतार हैं। जन्म से ही ये बड़े उग्र, असहनशील, क्रोधी, दुर्दण्ड तथा घोर प्रकृति के थे। इनके उत्पन्न होते ही स्वर्ग में देवता परम प्रसन्न हुए। देवता भी नीच क्षत्रियों के कुकर्मों से दुःखी थे। भगवान से उन्होंने प्रार्थना की थी, कि किसी प्रकार इन राजाओं से, जो वास्तव में असुर हैं, कब पृथ्वी खाली हो, कब भूमि का भार दूर हो। भगवान् परशुराम के अवतार से इन्हें संतोष हुआ।

भगवान् परशुराम बाल्यकाल से ही अस्त्र-शस्त्र विद्या के प्रेमी थे। उन्होंने अपने पिता से ही धनुर्वेद की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की। वे शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। जब वे रुरु नामक मृग का चर्म ओढ़कर अपनी काली-काली घुँघराली जटाओं को बखेरकर, धनुष-बाण धारण करके चलते, तो साक्षात् वीर-रस दिखाई देते। फरसा धारण करने से ही सब उन्हें

परशुराम कहने लगे। ये अपने पिता के अनन्य भक्त थे। पितृभक्ति का ऐसा उदाहरण ससार मे दूसरा कोई नहीं मिलता। पिता की आज्ञा से इन्होने अपनी माता तथा भाइयों का भी वध कर डाला।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! परशुरामजी ने अपनी माता तथा भाइयो का वध क्यों किया? उनके पिता ने ऐसी कठोर आज्ञा क्यो दी? कृपा करके इस कथा को आप हमें अवश्य सुनावें।'

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! प्राचीन काल में

जीवन के मुख्य ध्येय सदाचार ही समझे जाते थे। स्त्रियों की पवित्रता पर विशेष ध्यान रखा जाता था। समाज की सब से अमूल्य सम्पत्ति स्त्रियाँ ही हैं। जिस समाज की स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं, वह पतित हो जाता है। स्त्रियों के दुष्टा हो जाने से सृष्टि में वर्णसंकरता छा जाती है। वर्णसकर प्रायः नास्तिक ही होते हैं। शुद्ध रज वीर्य मे ही आस्तिक भाव टिक सकते हैं। व्यभिचार ही उच्छृङ्खलता की ओर ले जाता है। जिस जीवन में उच्छृङ्खलता है, उसमें सत्य टिक नहीं सकता। पहले देखने या सुनने से मन दूषित होता है, मन के दूषित होने से भाव दूषित होते हैं, भाव दोष से इन्द्रिय ससर्ग की इच्छा होती है। अवेध अग सग होता है, जिससे अवेध सतति होती है। अवेध सतति की प्रवृत्ति सदा व्यभिचार और कदाचार मे ही होती है। इसीलिये सत्ययुग आदि युगों मे मानसिक पाप भी बहुत बडे पाप समझे जाते थे। मानसिक पापों के भी बडे कठिन प्रायश्चित्त होते थे। पूर्वकाल मे मानसिक व्यभिचार शारीरिक व्यभिचार से कम नहीं समझा जाता था। रेणुका देवी से यही अपराध बन गया। इस प्रसंग को मैं आप सब को सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर इसे श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

तिनके बध हित विष्णु विप्र बनि वसुधा तलपै।
प्रकटे लेके परशु विजय कीन्हीं शत्रु निपै॥
करयो न मन महँ मोह जनक-हित माता मारी।
आज्ञा अनुचित-उचित पिता की सिर पै धारी॥
पितु रुख लखि कारज करहिँ, डरहिँ न रूठहिं पितु कहीं।
पितृ भक्ति को दिव्य अस, उदाहरण जग महँ नहीं॥

—:❀:—

श्री परशुरामजी की पितृ-भक्ति

[७३७]

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीत् ।
मतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥
रामः सञ्चोदितः पित्रा भ्रातृन्मात्रा सहावधीत् ।
प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधेस्तपसश्च सः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १६ अ० ५-६ श्लोक)

छप्पय

पूछे शौनक—सूत ! राम की कथा सुनाओ ।'
सूत कहें—'सब कहहुँ, कथा महँ चित्त लगाओ ॥
एक दिवस जल भरन रेनुका गई, लसे तहँ ।
सुर बनितनि सग करहिँ चित्ररथ खेल नदी महँ ॥
रति-क्रीडा नृप-रूप लखि भयो काम-युत तिय-हृदय ।
बीत्यो मुनि को तब तलक, अग्निहोत्र-सन्ध्या-समय ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि जमदग्नि अपनी पत्नी के मानसिक व्यभिचार को जानकर उस पर अत्यन्त कुपित होकर अपने पुत्रों से बोले—'पुत्रो ! तुम अपनी इस पापिनी माता को मार डालो।' किन्तु उन पुत्रों ने ऐसा नहीं किया । जब मुनि ने परशुरामजी से कहा, उन्होंने माता के सहित भाइयों को भी मार डाला, क्योंकि वे अपने पिता के प्रभाव से पूर्णतया परिचित थे ।"

मानव चित्त कमल पत्र पर पडे पानी के सदृश चचल है। तनिक वायु लगते ही वह डगमगाने लगता है। इस सम्बन्ध में एक पौराणिक गाथा है। श्री कृष्ण भगवान् के १६१०८ रानियाँ थीं, उनमे ८ पटरानियाँ थीं। उन आठो मे एक जाम्बवती थी, जिसका पुत्र शाम्ब था। भगवान् के सभी पुत्रो मे वह सबसे सुन्दर था। उसके सौन्दर्य के सम्बन्ध मे यहाँ तक कहा जाता है, कि उसकी जो ओर १६ हजार माताएँ था, वे उस के रूप को देखकर मोहित हो जातीं। नारदजी ने जाकर भगवान से यह बात कही। भगवान् ने उस पर विश्वास नहीं किया। तब नारद जी तो खिलवाडी ठहरे। शाम्ब को उन्होंने स्वय सजाया और उसके हाथो से उन १६ हजार रानिया को भोजन परसवाया। उस समय हँसते हुए चचल दृष्टि वाले शाम्ब को देखकर सबके चित्त चचल हो उठे, सबका हृदय सरसता म पग गया। भगवान् ने सबके भाव को समझा। शाम्ब को शाप दिया—'तू कोढी हो जा। उन १६ हजार रानिया को शाप दिया, तुम्ह दस्यु चोर बल पूर्वक उठा ले जायँ।"

इस गाथा का एकमात्र सार यही है कि मनुष्य को अपने मन पर विश्वास न करना चाहिये। सदा सावधानी से सदाचार पर दृष्टि रखनी चाहिये। मनुष्य निर्लज्ज और साथ ही प्राय रूखे स्वभाव का होता है। स्त्री हृदय सकोची, स्निग्ध और सरस होता है। वह सौन्दर्य रूपी उष्णता को पाकर अति शीघ्र पिघल जाता है। जिन जातियो मे खाना पीना और इन्द्रियों का तृप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य समझा जाता है, जहाँ बाल कैसे आकर्षक बनें, अमुक इन्द्रिय-सुख कैसे सरलता से भोगा जाय, इन्हीं के आविष्कार मे सम्पूर्ण बुद्धि व्यय की जाती है, उनके लिये तो सदाचार-दुराचार कोई वस्तु नहीं है। किन्तु जिनका लक्ष्य सदा

भौतिकवाद से ऊँचा रहा है, जो प्रकृति से परे पुरुष को पाना ही पुरुषार्थ समझते हैं, उनकी दृष्टि मे ये ससारी सुख सर्वदा हेय और परिणाम मे दुःखद हैं। प्राकृत मे बधन है और प्राकृत मे मुक्ति। आर्यधर्म मे सदा असत् से सत् की ओर तथा अधकार से से परम ज्योति की ओर ले जाने का आदेश उपदेश दिया जाता है। जो भाव से प्राकृत हैं, उन्हें दिव्य बना लो, तुम ससार बन्धन से मुक्त हो जाओगे। इसलिये इन प्राकृत सबन्धो को हमारे यहाँ परम हेय माना है। माता को तुम हाड-मास की बनी एक पिता के उपभोग की वस्तु न समझो किन्तु उनमे देवता की ईश्वर-बुद्धि करो। पिता ही परमेश्वर हैं, आचार्य ही ईश्वर हैं, पति ही परमात्मा, सत ही भगवान् हैं, यह चराचर विश्व ही भगवान् का रूप है, यह जगत् सियाराममय हैं—इन भावो मे इन्द्रिय-भोगों का स्थान नहीं। इसीलिये हमारे यहाँ समस्त साधन एतदर्थ ही हैं। चित्त की वृत्तियाँ बिखरने न पावें, चित्त चचल होकर इस-उस भोग मे ही न पडा रह जाय, वह एक खूँटे से बँधकर अपनी वृत्तियो का निरोध कर सके।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे भगवान् परशुरामजी की पितृ भक्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न किया था। उसे मैं आपको सुनाता हूँ।

भगवान् जमदग्नि यमुनाजी के किनारे अग्रवन के समीप निवास करते थे। रेणुका सदा उनकी सेवा मे तत्पर रहतीं। उनके पुत्र भी उनके समीप वेदाध्ययन करते। एक दिन सायकाल गृह का सब कार्य करके भगवती रेणुका यमुनाजी से जल भरने गईं। आश्रम से यमुनाजी कुछ दूर थीं। वह स्थान बडा ही रमणीक था। दूर-दूर से राजा और राजकुमार वन-विहार और क्रीड़ा

करने वहाँ आया करते थे। यमुनाजी में पृथक् पृथक् कई ह्रद हो गये थे, जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिल रहे थे। नाना प्रकार के सुगंधित पुष्पों वाले पादप अपने पुष्पों की पुनीत सुगंधि से उस प्रदेश को सुवासित कर रहे थे। उसी समय गन्धर्वों के राजा चित्ररथ अपनी बहुत सी सुन्दरी गन्धर्विनी के सहित वहाँ क्रीडा करने आया। गन्धर्व एक तो वैसे ही अत्यन्त सुन्दर होते हैं, फिर उनमें चित्ररथ तो सौंदर्य की साक्षात् मूर्त्ति ही था। उसकी स्त्रियाँ उसे अत्यन्त ही प्यार करतीं। बहुत सी उसके अंगों से सटी हुई थीं, बहुत सी हँस रही थीं, बहुत सी उसके ऊपर जल छिड़क रही थीं। वह स्वयं खिलखिलाकर हँस रहा था और विनोद की विविध चेष्टायें करके सबको हँसा रहा था। देवी रेणुका नदी तट पर बैठी-बैठी गन्धर्वराज की काम क्रीडाओं को बड़ी स्पृहा से देखती रहीं। वे चित्ररथ के अनवद्य सौन्दर्य को देखकर इस बात को भूल ही गईं कि वे एक कठोर नियम पालन करने वाले तपस्वी क्रोधी मुनि की पत्नी हैं। उनके मन में चित्ररथ की रानियों के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगीं—"देखो, ये कितनी भाग्य शालिनी हैं। इन्हें अपने पति का कैसा प्रेम प्राप्त है? ये कितनी प्रसन्न चित्त हैं? मेरे भी पति ऐसे होते तो!" इस भाव के आते ही उनका ब्रह्म तेज नष्ट हो गया। पर पुरुष के प्रति प्रेम पैदा होते ही उनका भाव दूषित हो गया। मुनि सायंकालीन सन्ध्या हवन करने के लिये बैठे थे। सन्ध्या का समय निकल रहा था। नियम के बन्धन में बँधे मुनियों को सन्ध्या के समय का बिना उपासना के निकल जाना अत्यन्त ही कष्टकर कार्य है। उनकी पल-पल पर व्यग्रता बढ़ रही थी। वे एकटक दृष्टि से तीर की ओर निहार रहे थे। देवी रेणुका आत्म विस्मृत सी बनी उस चित्राङ्गद राजा की क्रीडाओं को देख रही थी।

भगवान् भुवन भास्कर ने भी जब देखा कि मुनि मुझे अब अर्घ्य न देंगे, इनकी प्रतीक्षा करना व्यर्थ है, इस समय तो ये क्रोध मे भरे हुए हैं, क्रोधी पुरुष के सामने से हट जाना ही श्रेयस्कर है, तब वे सन्ध्या के अरुण अंचल मे आनन छिपाकर सो गये। रात्रि समझकर गन्धर्व भी अपनी प्रेयसियों को साथ लिये हुए विमान पर चढ़कर चला गया।

अब रेणुका देवी को स्मरण हुआ— "हाय मैं यहाँ कहाँ बैठी हूँ! सन्ध्या का समय तो निकल गया! मेरे पति मेरी प्रतीक्षा मे बैठे होंगे। आज उनकी सायं सन्ध्या बिना सन्ध्या अग्निहोत्र के ही बीत गई होगी। निश्चय ही वे मुझे भस्म कर देंगे। वे बड़े क्रुद्ध हो रहे होंगे। मैंने यह कैसा अनजान में पाप कर डाला? आज कुशल नहीं, कल्याण नहीं; भगवन्! मेरी रक्षा करो।" ऐसा विचारती हुई अत्यन्त डरी हुई मुनि पत्नी घड़े को भरकर शनैः शनैः अँधेरे मे आश्रम की ओर चली। भय के कारण उसके पैर आगे नही पड रहे थे। वह थर-थर काँप रही थी, मन ही मन अनेको देवीदेवताओं की मनौती मना रही थी।

इधर जब मुनि ने देखा; सन्ध्या समय निकल गया, रेणुका अभी तक नहीं आई, तब उन्होंने समाधि लगाकर योग-बल से अपनी पत्नी के मानसिक व्यभिचार को जान लिया। अब तो मानो अग्नि मे घी की आहुति पड़ गई। वैसे निरपराध ही उसे देर हो जाती और सन्ध्या समय निकल जाती, तो इसी पर मुनि अत्यन्त कुपित होते। किन्तु यह तो मानसिक व्यभिचार हो गया। पत्नी के इस अपराध से मुनि आपे से बाहर हो गये। इतने मे ही चुपके से आकर रेणुका ने यमुना जल का घड़ा रख दिया।

पैरों की आहट सुनकर मुनि ने क्रोध में भरकर कहा—
"कौन है ?"

यह सुनते ही रेणुका के पैरों तल से तो मानो मिट्टी सरक गई, काटो तो शरीर में रक्त नहीं। फिर भी साहस करके काँपती हुई वे मुनि के सन्मुख आईं और हाथ जोड़कर दीनवाणी में बोलीं—"कि अपराध को क्षमा करें।"

मुनि के समीप ही अग्निहोत्र करने उनके चारों बड़े पुत्र बैठे थे। उनकी ओर मुँह करके क्रोध पूर्वक मुनि बोले—"पुत्रो! तुम इस अपनी पापिनी माता को अभी मेरी आज्ञा से मार डालो।"

मुनि-पुत्रों ने सोचा—"पिताजी क्रोध में भर कर ऐसी बातें कह रहे हैं। कुछ देर में क्रोध शान्त हो जायगा, तो क्षमा धारण कर लेंगे।" यही सोच कर वे चुप रहे।

पुत्रों को चुप देखकर उन्हें डाँटते हुए मुनि बोले—"क्यों रे! तुम मेरी आज्ञा का पालन न करोगे ? मैं कह रहा हूँ, तुम इस अपनी माता को अभी मार डालो।"

"माता का पद तो पिता से भी श्रेष्ठ है। पुत्र माता को कैसे मार सकता है।" यही सब सोच कर पुत्रों ने मातृ वध करना स्वीकार नहीं किया। उस पर मुनि को और भी अधिक क्रोध आ गया। क्रोधी पुरुष को कोई मारने से रोके, तो वह रोकने वाले पर भी प्रहार कर बैठता है। इसी प्रकार अब तक तो अकेली रेणुका पर ही क्रोध था, अब उन्हें इन अपने पुत्रों पर भी क्रोध आ गया। संयोग की बात, उसी समय परशुरामजी जंगल से समिधा का गट्ठर लिये, कन्धे पर फरसा रखे, वहाँ आ गये। अपने आज्ञाकारी पितृ भक्त छोटे पुत्र को देखकर मुनि ने कहा—
"बेटा! तुम अभी अपनी इस दुष्टा माता को मार डालो मेरी आज्ञा न मानने वाले इन अपने भाइयों को भी मार दो

परशुरामजी तो अपने पूज्य पिता के प्रभाव से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने सोचा—"पिता की आज्ञा का पालन न करूँगा, तो मैं भी पिता की क्रोधाग्नि में भस्म हो जाऊँगा और पिता को प्रसन्न कर लूँगा, तो अपनी माता तथा भाइयों की भी रक्षा कर लूँगा।" यही सब सोचकर तुरन्त ही उन्होंने फरसा लेकर माता अपने भाइयों का वध कर दिया। अब क्या था, मुनि प्रसन्न हो गये। क्रोध तभी तक होता है, जब तक फलोदय नहीं होता। जो हम चाहते हैं, जिसके लिये क्रोध करते हैं, वह हमें प्राप्त हो जाय, तो क्रोध कपूर की भाँति उड जाता है।

मुनि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"पुत्र! तुम दीर्घायु हो, बिना इच्छा के तुम्हारी मृत्यु न हो और वैष्णव तेज को छोड कर तुम किसी के सम्मुख पराजित न हो। मैं तुम पर अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। तुम और भी जो मुझसे चाहो, वरदान माँग लो। तुम जो माँगोगे, वही मैं आज तुम्हे दे दूँगा।"

पिता को प्रसन्न देखकर हाथ जोडे हुए परशुरामजी बोले—"पिताजी! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मैं आपसे यही वरदान चाहता हूँ, कि मेरी माता भाइयों सहित जीवित हो जायँ और उन्हें यह बात ज्ञात भी न हो, कि मैंने उन सबका वध किया है।"

इतना सुनते ही मुनि हँस पडे और प्रसन्न होकर बोले—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। इन सबके सिरों को धड से चिपका दो।"

परशुरामजी ने ऐसा ही किया। तुरन्त माता के सहित उनके सभी भाई जीवित हो उठे। उन्हें ऐसा लगा, मानो वे सोने के पश्चात् अभी उठे हों। वे सब आँखें मलते हुए इधर-उधर देखने लगे। परशुरामजी ने अपनी माता तथा भाइयों

के पैर छुए। वे सबके सब निद्रा भङ्ग होने के पीछे उठे हुए व्यक्तियों के समान अनायास ही कुशल पूर्वक उठकर परशुरामजी से कहने लगे—"हमें बैठे-बैठे आज निद्रा आ गई।"

परशुरामजी तो सब समझते ही थे कि उन्हें कैसी निद्रा आई थी। उन्होंने उनसे कुछ कहा नहीं। परशुराम भाइयों और माता को जीवित देखकर अत्यन्त ही आनन्दित हुए।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मातृ वध तो सबसे बड़ा पाप है। माता का गौरव तो पिता से भी अधिक है। फिर भगवान के अवतार परशुरामजी ने मातृ वध जैसा अपराध क्यों किया?"

यह सुनकर हँसते हुए सूत बोले—"अजी महाराज! आप एक माता के ही वध की बात कहते हैं। माता तथा भाइयों का वध तो उन्होंने पिता के तप का प्रभाव जानकर किया था, किन्तु इन्होंने तो असंख्यों पुरुषों की हत्यायें की। स्त्रियों के गर्भ से बच्चे निकालकर उन्हें मार डाला। यह अवतार इसी-लिये हुआ ही था। सामर्थ्यवान को दोष नहीं लगता। माली चाहे जिस पेड़ की डाल काट दे, जिसे चाहे उखाड़ कर फेंक दे, क्योंकि उसे पता है कि इसे काटने से वाटिका का अमुक लाभ होगा, इसे उखाड़ देने से वाटिका की शोभा बढ़ेगी। दूसरा अनजान ऐसा करे, तो यह अन्याय होगा। मारना-जिलाना सब भगवान् की क्रीड़ा है। सहस्रार्जुन जैसे—संसार के अद्वितीय वीर की भी हजार भुजायें इन्होंने ही काटीं। उसे भी इन्होंने ही परशु के घाट उतार दिया, जिसने रावण को भी कैद कर लिया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह सहस्रार्जुन कौन था? इसका क्या बल-वीर्य था? इसे परशुरामजी ने क्यों मारा? कृपा करके इस चरित को हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! मैं इस कथा को संक्षेप में आपको सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर इसे सुनें।"

छप्पय

आई अति भयभीत रेनुका कोपे तब मुनि।
कही सुतनि तैं मातु हनो, चुप रहें पुत्र सुनि॥
सोचे मुनिवर अधिक धृष्टता पुत्रनि कीन्हीं।
आये तबई राम सबनि बध आज्ञा दीन्हीं॥
पितु-प्रभाव-तप राम लखि मातु भ्रात मारे तुरत।
पितु प्रसन्नता वर लह्यो, सब जीवित ह्वैके फिरत॥

हैहयराज सहस्रार्जुन

(७३८)

हैहयानाधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः ।
दत्तं नरायणस्यांशमाराध्य परिकर्मभिः ॥
बाहून् दशशतं लेभे दुर्धर्षत्वमरातिषु ।
अव्याहतेन्द्रियौजः श्रीतेजोवीर्ययशोबलम् ॥*

(श्री ९ स्क० १५ अ० १७-१८ श्लो०)

छप्पय

सहसबाहु बलवान भूप हैहयकुल-भूषन ।
दत्त प्रमुहिँ आराधि, प्राप्त कीन्हें जिन बहु गुन ॥
तेज, ओज, पुरुषार्थ, सहसभुज, अव्याहत गति ।
यश, अजेयता, आदि लहे गुन, भयो मत्त अति ॥
रावन त्रिभुवन विजय करि, घूमत बल-मद-महँ भर्यो ।
पशु-समान तिहि पकरिकैं, दलन दर्प ताको कर्यो ॥

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! हैहय-वंशी क्षत्रियों का अधिपति सहस्रार्जुन क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ था। उसने श्रीमन्नारायण के अंशावतार भगवान् दत्तात्रेय की अनेक प्रकार से आराधना करके एक सहस्र भुजाएँ, शत्रुओं से अजेयता, अव्याहत इन्द्रिय-बल, सम्पत्ति, तेज पुरुषार्थ, यश, शारीरिक बल, आदि गुण प्राप्त किये थे।"

एक कहावत है, "मल्लनि कूँ मल्ल घनेरे। घर नाहीं, तो बाहर बहुतेरे।" अर्थात संसार में योद्धाओं से लड़ने वाले उनसे भी श्रेष्ठ बहुत से योद्धा पड़े हैं। यह दूसरी बात है, कि वे घर-नगर में न हों, किन्तु खोजने पर ससार में बहुत मिल जायेंगे। गगा ने सोचा, मैं श्रेष्ठ हूँ, किन्तु शिवजी ने उन्हें अपनी जटाओं में धारण किया, तो शिवजी श्रेष्ठ हुए। शिवजी को भी कैलाश धारण करता है, वह श्रेष्ठ हुआ। कैलाश को रावण ने लीला से उठा लिया, वह श्रेष्ठ हुआ। रावण को वालि ने काँख में दबा लिया, तो वह श्रेष्ठ हुआ। वालि को भी भगवान् ने एक बाण से मार दिया। इस प्रकार देखते हैं, ससार में भगवान् के अतिरिक्त कोई यह नहीं कह सकता कि हम सर्वश्रेष्ठ हैं। अवतारों में भी बड़े अवतार के सम्मुख छोटे अवतार हतप्रभ हो जाते हैं। एक अवतार का कार्य-काल समाप्त होते ही दूसरा उसे पराजित कर देता है। अवतार को अवतार क्या पराजित करेगा। यह सब भगवान् का विनोद है, क्रीडा है।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे हैहय-वंशी महाराज सहस्रार्जुन का चरित पूछा था। उसे मैं आपको सुनाता हूँ। महाराज यदु के प्रपौत्र 'हैहय' नाम के राजा हुए। उन्हीं हैहय के वश में कृतवीर्य नामक राजा हुए। इन कृतवीर्य के पुत्र ही अर्जुन हुए, जो सहस्रबाहु होने के कारण सहस्रार्जुन के नाम से विख्यात हुए। कृतवीर्य के पुत्र होने से वे कार्तिवीर्य भी कहलाये। ये सहस्रार्जुन भगवान् के दिव्यायुध—चक्र—के अवतार माने जाते हैं। इनकी पूजा भगवान् के ही समान शास्त्रों में बताई गई है। नारद पुराण में इनकी पूजा-पद्धति विस्तार से वर्णित है। इनकी २४ अक्षर की गायत्री भी है। इनके कवच भी हैं। उपासना करने वालों को ये अब भी सिद्धि देते हैं। ये

माहिष्मतीपुरी में राज्य करते थे। भगवान् दत्तात्रेय का इन्होंने शिष्यत्व स्वीकार किया था। उनकी ये श्रद्धा-भक्ति-सहित सदा सेवा करते थे। उन्हीं की कृपा से इन्हें अणिमा, महिमा, लघिमा आदि समस्त महासिद्धियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने इतने भारी भारी यज्ञ किये, अनेक प्रकार के इतने दान दिये, ऐसी-ऐसी तपस्याएँ कीं, इतने भारी-भारी शूर वीरता के कार्य किये कि दूसरे राजा तो मन से भी उन कार्यों की कल्पना करने मे असमर्थ थे। पचीस हजार वर्ष तक इन्होंने पृथ्वी पर एक छत्र-अखण्ड शासन किया। एक सहस्र उनके पुत्र थे। ससार में उन दिनो रावण सर्वश्रेष्ठ योद्धा समझा जाता था। उस रावण को इन्होने वानर की भाँति बाँधकर अपने महलों मे रखा था। उसके दशो सिरो पर दश दीपक रखकर जलाता था, इनके अन्तःपुर की स्त्रियाँ रावण को देखकर हँसती थीं।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! रावण की और सहस्रार्जुन की भेंट कहाँ हुई और इनमें लड़ाई क्यों हुई, कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! जो शूरवीर होता है, उसके हाथ युद्ध के लिये खुजलाते रहते हैं। रावण ने तपस्या के द्वारा अनेकों वरदान प्राप्त किये थे। उन वरदानों के कारण वह सबको जीत लेता। यहाँ तक कि उसने इन्द्र तथा अन्यान्य सभी लोकपालों को जीत लिया। इससे उसका दर्प और भी अधिक बढ गया। वह अपने सामने किसी को कुछ समझता ही नहीं था। जब सब लोकपालों को जीत कर वह पृथ्वी पर घूमता था, तब उसने सहस्रार्जुन की प्रशंसा सुनी और झट अपने मन्त्रियो और सेनिकों सहित माहिष्मतीपुर मे आया।"

उस समय सहस्रार्जुन अपनी सैकडो पत्नियो को लिये हुए

नर्मदा-तट पर जल-विहार करने गया हुआ था। आते ही रावण ने गृह-रक्षकों से कहा—"तुम जाकर राजा सहस्रार्जुन से कह दो कि रावण युद्ध के लिये आया है।"

पुर-रक्षकों ने कहा—"देव! इस समय महाराज नर्मदातट पर जल-विहार के निमित्त गये हुए हैं। नगर में तो वे हैं नहीं।"

इतना सुनते ही रावण सीधे ही पुण्यतोया भगवती नर्मदा के तट की ओर चल दिया। पुष्पक विमान से ही उसने पापनाशिनी भगवती रेवा के दर्शन किये—वह पर्वतों को तोड़ती-फोड़ती द्रुत गति से दक्षिण समुद्र की ओर जा रही है, उसके किनारे-किनारे हँस, कारडव, चक्रवाक, सारस आदि जल-जन्तु किलोल कर रहे हैं। वह सबको सुख देने वाली सरिता पाषाण-खण्डों को बहाती हुई तीव्र गति से जा रही थी। उसके दोनों तटों पर ऊँचे-ऊँचे पर्वत थे, जो विन्ध्य पर्वत के ही भाग थे। उन पर अनेक फल और पुष्पों से लदे वृक्ष खड़े थे, मानो वे नर्मदा के प्रहरी हों। नर्मदा-देवी शुभ्र, कृष्ण तथा और भी अनेक रंगों के पाषाण-खण्डों से क्रीड़ा करती हुई अट्टहास करती, इठलाती, कुटिल गति से प्रवाहित हो रही थी। रावण उसके किनारे पर पहुँचकर पुष्पक विमान से उतरा और अपने मंत्रियों से बोला—"मैं इस पुण्यतोया नर्मदा के तट पर स्नान-सन्ध्या और वंशि-पूजन करना चाहता हूँ। आप सब सेवा की सामग्री एकत्रित करें।"

रावण की आज्ञा पाकर सेवकों ने तुरन्त ही यथा-विधि प्रबन्ध किया। नर्मदाजी की शुभ्र बालुका में डेरे-तम्बू लग गये। रावण सदा अपने साथ सुन्दर शिवलिङ्ग रखता था। उसने एक स्थान पर शिवजी की स्थापना की और स्नान करने नर्मदाजी के जल में उतरा। उसने मल-मल कर नर्मदा के

नयनाभिराम नीर में स्नान किया। स्नान करके उसने शुद्ध-शुभ्र रेशमी वस्त्र पहने और शिवनाम का जप करते हुए पूजा-स्थान पर आया। उसने पहले से ही सेवकों को पुष्प और बिल्वपत्र लाने के लिये आज्ञा दे रखी थी। तब तक बहुत से राक्षस भी डालियों में फूल और बिल्वपत्र ले लेकर आ गये। पुष्पों का वहाँ एक ढेर लग गया। रावण उस सुगन्धित पुष्पों के ढेर को देखकर परम प्रमुदित हुआ। वह विधिवत् आसन-शुद्धि और करन्यास, हृदयन्यास तथा अङ्गन्यास करके पूजा करने में प्रवृत्त हुआ।

इधर जहाँ रावण पूजा करने बैठा था उससे आधा योजन नीचे सहस्रार्जुन अपनी सुन्दरियों के सहित सरिता के स्वच्छ सुन्दर-सलिल में क्रीडा कर रहा था। क्रीडा करते-करते उसे एक उमंग सूझी। उसने अपनी स्त्रियों से कहा—"तुम सब मेरी बाहुओं को कसकर पकड़ लो। देखो, मैं अभी नर्मदा के प्रवाह को रोके देता हूँ।"

स्त्रियों को तो खेल ही चाहिये! गरमियों के दिन थे। जल अत्यन्त प्यारा लगता था। वह बली नर्मदा के बीच सुमेरु के सदृश खड़ा हो गया। उसने अपनी सहस्रों भुजाओं को फैलाकर रेवा के प्रवाह को रोक दिया। जल आगे न जाकर वहीं सरोवर की भाँति रुक गया, पीछे भरने लगा। जहाँ रावण पूजा कर रहा था, वहाँ भी जल भर गया। रावण अभी पूरी पूजा भी नहीं कर पाया था कि उसके पुष्प, बिल्वपत्र तथा पूजा की अन्यान्य सामग्रियाँ बह गईं। रावण ने आश्चर्य के साथ सोचा—"यह सहसा बाढ़ कैसे आ गई? यदि कहीं वर्षा होती, तो यहाँ का जल गंदला आता। यह जल तो बड़ा निर्मल है। बाढ़ तो ऊपर से आती है। जल नीचे से ऊपर आ रहा है। निश्चय नीचे किसी कारण से नदी का प्रवाह रुक गया है। यह सोचकर उसने ताली

बजा कर संकेत से अपने मंत्री शुक और सारण दोनों को बुलाया। पूजा में वह बोल तो सकता नहीं था। हाथ के संकेत से उसने समझाया कि तुम लोग पता लगाओ, यह जल कैसे बढ़ गया।"

शुक-सारण तो रावण के संकेतों को समझते ही थे। वे तुरन्त आकाश मार्ग से नदी के प्रवाह के नीचे की ओर गये। आधा योजन जाने पर उन्हें नदी के बीच सुमेरु के सदृश सहस्रार्जुन स्त्रियों से घिरा दिखाई दिया। वे सब रहस्य समझ गये और तुरन्त आकर उन्होंने रावण को इसकी सूचना दी—"प्रभो! एक सहस्रबाहुओं वाला पुरुष नर्मदा के प्रवाह को रोके खड़ा है। इसी कारण इतना जल बढ़ गया है।"

इतना सुनते ही रावण को क्रोध आ गया। वह पूजा-पाठ सब भूल गया। शीघ्रता से पूजा समाप्त करके तथा अपनी पूजा की वस्तुओं को बांधकर युद्ध करने सहस्रार्जुन के समीप चला। दूर से ही उसने सहस्रार्जुन को स्त्रियों से घिरा उसी प्रकार देखा, जैसे कोई गजराज हाथियों से घिरा खड़ा हो। वह कार्तवीर्य के समीप जाने लगा। राजा के सैनिकों ने उसे रोका और कहा—'राजन्! अभी महाराज जल-क्रीडा कर रहे हैं। वे स्त्रियों से घिरे हुए हैं। यह युद्ध का समय नहीं है। आमोद-प्रमोद और विहार की वेला है। आप उनसे युद्ध करना चाहते हैं, तो एक रात यहाँ विश्राम करें। कल आपकी इच्छा-पूर्ति हो सकती है।"

महा अभिमानी रावण भला इतना धैर्य कैसे धारण कर सकता था? उसने सैनिकों को डाँटते हुए कहा—"चुप रहो, राजा को मेरे आने की सूचना दो। मैं अभी युद्ध करना चाहता हूँ।"

यह सुनकर सहस्रार्जुन के मन्त्री ने कहा—"यदि ऐसे ही

आपके हाथ खुजला रहे हैं, तो हमसे युद्ध कीजिये। महाराज के समीप आप नहीं जा सकते।"

इस पर रावण ने क्रोध करके शुक-सारण, आदि अपने मन्त्रियों से कहा—"तुम इन सब मन्त्री-सैनिकों को युद्ध में परास्त करो।"

इतना सुनते ही रणरंगी दुर्मद राक्षस उन मन्त्रियों और सैनिकों पर टूट पड़े। वे राक्षस भूखे थे। अतः सब सैनियों और मन्त्रियों को खा जाते। राक्षसों की ऐसी लीला देखकर कार्तवीर्य राजा के सैनिक भागने लगे। इस पर दूसरे सैनिक आ गये। वे राक्षसों का संहार करने लगे। दोनों ओर से भयंकर युद्ध होने लगा। युद्ध ने जब भीषण रूप धारण कर लिया और सहस्रार्जुन के वीर हारने लगे, तब किसी ने डरते-डरते राजा को रावण के आने, उसके साथ होने वाले युद्ध की सूचना दी। सुनते ही वीर-मानी अर्जुन स्त्रियों-सहित जल से बाहर निकला। उसने स्त्रियों से कहा—"तुम सब यहीं बैठकर आनन्द से खाओ पीओ, नाचो-गाओ। एक बन्दर आ गया है, वह बड़ा उपद्रव मचा रहा है, उसे मैं पकड़ लाऊँ। तुम लोग डरना मत।" यह कहकर वह हाथ में फरसा लेकर रावण की ओर चला।

सहस्रबाहु अर्जुन को अपनी ओर आते देखकर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने भीषण गर्जना की और दोनों परस्पर भिड़ गये। वह उसे मारता, वह उसे पछाड़ता वह उस पर प्रहार करता, वह उसे बाणों से आहत करता। दोनों ही वीर थे, दोनों ही त्रैलोक्य विजयी। दोनों ने ही तपस्या करके वर प्राप्त किये थे। एक के बीस भुजायें थीं, तो दूसरे के दश सौ।

बड़ी देर तक युद्ध होता रहा। रावण को तो अवध्यता का वर प्राप्त था, इसलिये अर्जुन उसे मार न सका, किन्तु बड़े वेग से उछल कर उसकी छाती में एक गदा मारी, जिससे वह मुख से रक्त उगलने लगा। इसी बीच सहस्र बाहुओं से पकड़ कर रावण को अर्जुन ने बाँध लिया और उसे घसीटता हुआ स्त्रियों के पास लाया। स्त्रियाँ उसके दश शीश और बीस भुजायें देखकर बहुत हँसीं राजा उसे 'पशु' की तरह बाँधकर माहिष्मतीपुर में ले गया और अन्तःपुर में ले जाकर उसे बाँध दिया।

देवताओं के द्वारा स्वर्ग में यह समाचार भगवान् पुलस्त्य ने सुना। अपने नाती का इस प्रकार पराभव और उसके बन्धन की बात सुनकर समदर्शी ऋषि से भी न रहा गया। कैसा भी राक्षस क्यों न हो, है तो अपने बेटे का बेटा ही। तुरन्त आकाश मार्ग से उड़कर पुलस्त्यजी माहिष्मतीपुरी में पधारे। उनके आगमन की सूचना सहस्रार्जुन को सेवकों ने दी। कार्तवीर्य महाराज अर्जुन ने भी मूर्तिमान सूर्य के समान देदीप्यमान ऋषि को आकाश से उतरते देखा। राजा अपने मन्त्रियों और पुरोहितों के सहित हाथ जोड़कर खड़े हो गये। मुनि जब आकाश से उतर कर पृथ्वी पर आ गये, तब राजा ने उन्हें पाद्य, अर्घ्य प्रदान कर शास्त्रीय विधि से उनकी पूजा की। अर्जुन की पूजा को ग्रहण करके मुनि राजा के दिये हुए आसन पर सुखपूर्वक बैठ गये। तब सहस्रार्जुन ने हाथ जोड़कर कहा—प्रभो! आज मैं आपके देव-दुर्लभ दर्शनों को पाकर धन्य हुआ, कृतार्थ हुआ। मेरे समस्त पितर तर गये। मेरी समस्त लौकिक-वैदिक क्रियायें सफल हुईं, मेरे सब मनोरथ पूर्ण हुए, जो आपने अपनी पावन पद-रज से इस पुरी को पुनीत बनाया। मेरा राज-पाट, धन कोष, स्त्री-परिवार—सब आपका ही है। मैं

अपना सर्वस्व आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। मेरे लिये कोई आज्ञा हो, तो बताइये।"

पुलस्त्य मुनि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुये कहा—"राजन्! आप संसार में अद्वितीय बली हैं। आपके समान बलवान् संसार में दूसरा कोई भी नर-पति नहीं। आपने मेरे पौत्र की विश्व व्यापी कीर्ति का हनन किया है। आज तीनों लोकों में आपका यश गाया जा रहा है। यद्यपि मेरा यह पौत्र राक्षस है, फिर भी कुल स्नेह के कारण मैं आपसे कहता हूँ, अब आप इसे छोड़ दें। इस प्रकार पशु की भाँति इसे बाँध रखना उचित नहीं। इतना सुनते ही महाराज कार्तवीर्य ने मुनि को कुछ भी उत्तर नहीं दिया, तत्काल रावण को बन्धन से मुक्त कर दिया। उसे अच्छे अच्छे वस्त्र भूषण भेंट में दिये और उससे हार्दिक मैत्री स्थापित की। सहस्रार्जुन से सत्कृत होकर रावण ने अपने बाबा पुलस्त्यजी के लजाते हुए पैर छूए। मुनि ने भी उसे वात्सल्य स्नेहवश छाती से लगाया। इस प्रकार दोनों में मैत्री स्थापित करके मुनि दोनों द्वारा पूजित होकर ब्रह्मलोक चले गये। इधर रावण भी सहस्रार्जुन से आज्ञा माँग कर आगे बढ़ गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज कार्तवीर्य अर्जुन का ऐसा प्रभाव था। संसार में उन्हें कोई युद्ध में जीत नहीं सकता था। वे ५०० हाथों में ५०० धनुष लेकर एक साथ ५०० बाण छोड़ते थे। वे कभी थकते नहीं थे। जरा, भय, रोग ग्लानि, तन्द्रा, निद्रा उनके पास भी नहीं फटकती थीं। वे अणिमादि-समस्त सिद्धियों से युक्त थे। इतना ऐश्वर्य पाकर उन्हें प्रमाद हो गया। वे देवता और ब्राह्मणों का अनादर करने लगे। उनके विरुद्ध वायु-मण्डल में विद्वेष के भाव उत्पन्न हो गये। देवता मिलकर ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने उन्हें विष्णु के पास

भेजा। विष्णु भगवान् ने रुद्रदेव से सब कहा। रुद्रदेव चंद्र के पास गये, फिर सूर्य के पास। सारांश सभी उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगे। जो जनता की दृष्टि में गिर जाता है, आकाश-मंडल में उसके विरुद्ध वातावरण उत्पन्न हो जाता है। सूर्यदेव ब्राह्मण का वेश बनाकर उसे शाप दिलाने के निमित्त माहिष्मतीपुरी में पहुँचे। ब्राह्मण को देखते ही राजा कार्तवीर्य ने उनका स्वागत-सत्कार किया और उनसे उनके वहाँ आने का कारण पूछा।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! मैं भूखा हूँ, मुझे भोजन दीजिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरे घर में सभी प्रकार के भोजन हैं, आप जो चाहें, पेट भर खायें।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! मैं साधारण ब्राह्मण नहीं हूँ। इन साधारण अन्नों से मेरी तृप्ति न होगी।"

राजा बोले—"भगवन्! आपकी जिस वस्तु से तृप्ति हो, उसी के लिये आज्ञा कीजिये। मैं वही उपस्थित करूँगा।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! आप मुझे अनित्य समझिये। मैं इन स्थावर वृक्षों को खाना चाहता हूँ। इनसे मेरी तृप्ति होगी।"

सहस्रार्जुन बोले—"भगवन्! वृक्ष तो सब पृथ्वी में उगे हुए हैं। उन्हें मैं आपको कैसे खिला सकता हूँ।"

ब्राह्मण बोले—"आप अपने रथ पर चढ़कर बाण छोड़ें। जिन-जिन वृक्षों पर आप बाण छोड़ेंगे, उन्हें मैं जलाकर भस्म कर दूँगा। ऐसा करने से मेरी तृप्ति होगी।"

राजा ने अतिथि सत्कार के लिये यह बात स्वीकार की। अपने दिव्य रथ पर चढ़कर वे जिस वृक्ष को लक्ष्य करके बाण छोड़ते, तुरंत वही वृक्ष जलकर भस्म हो जाता। इस प्रकार असंख्य वृक्ष भस्म हो गये। मुनि वशिष्ठ का आश्रम भी इसी

लपेट मे आ गया, उनके आश्रम के भी सब वृक्ष जल गये। ब्राह्मण तो अपना स्वार्थ-साध के चलते बने। विपत्ति बेचारे सहस्रार्जुन के सिर आई। राजा ज्योंही अरण्य से नगर मे आये, त्योंही उन्हें लाल-लाल आँखें किये, क्रोध में भरे, भगवान् वशिष्ठ दिखाई दिये। वशिष्ठजी ने राजा को देखते ही शाप दिया—"राजन्, एक ब्राह्मण के कहने से तुमने इतने निरपराध वृक्षो का उन्मूलन कर दिया! इस प्रकार तुम्हारे भी सहस्रों हाथो का छेदन कोई राम नामक ब्राह्मण करेगा।" यह सुनकर सहस्रार्जुन हँस पडा। उसने सोचा—"बड बडे क्षत्रिय इन्द्रादि लोकपाल तो मेरे सम्मुख खडे नहीं होते, ब्राह्मण मेरी बाहुओं का क्या छेदन करेगा?" इसीलिये उसने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वशिष्ठजी शाप देकर अपने आश्रम को चले गये और राजा सहस्रार्जुन अपने तेज, बल, वीर्य, वीरता, आदि के मद मे भरकर किसी को कुछ समझता ही नहीं था। रावण को जीतने से उसका अभिमान और भी बढ गया। भगवान् तो भक्तो के अभिमान को सदा हटाते ही रहते है। अभिमान ही तो उनका आहार है। वे किसी के अभिमान को चिरस्थाई नहीं बनने देते। सहस्रार्जुन का अभिमान भी परकाष्ठा पर पहुँच गया था। भगवान् ने परशुराम-रूप रखकर अभिमान सहित उसे चूर-चूर कर दिया। उसने परशुरामजी के पिता का अपमान किया था।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! परशुरामजी के पिता जमदग्नि का अपमान राजा कार्तवीर्य सहस्रार्जुन ने क्यों किया? फिर ब्राह्मण होकर भी श्री परशुरामजी ने युद्ध क्यों किया? उन अपराधियों को क्षमा क्यों नहीं कर दिया?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! हत्या की जड तो यह कामना है। किसी पदार्थ को देखकर उसे पाने की इच्छा होती है, मन मे लोभ आता है, इच्छा पूर्ति न होने पर क्रोध आता है। क्रोध में तो आदमी पागल हो जाता है, अपने पराये को भूल जाता है। महर्षि जमदग्नि से कैसे सहस्रार्जुन का विरोध हुआ, उस प्रसङ्ग को मैं आपको सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर इस प्रसङ्ग को श्रवण करें।

छप्पय

सुनि पुलस्त्य निज पौत्र पराभव अति सकुचाये।
उतरि अवनि पै तुरत नृपति अर्जुन ढिग आये।
कार्तवीर्य सत्कार कर्‍यो मुनि आयसु दीन्हीं।
छोड़्यो रावन तबहिं, मित्रता गाढ़ी कीन्हीं॥
यों जग जीत्यो जोग तैं, अतिशय मद बल को बढ़्यो।
मम समान जग को बली, भूत भूप के सिर चढ्यो॥

सहस्रार्जुन और परशुराम-पिता जमदग्नि

[७३९]

स एकदा तु मृगयां विचरन् विपिने वने।
यदृच्छयाऽऽश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत् ❀॥
(श्री भा० ९ स्क० १५ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

एक दिवस आखेट करन वन भूप पधारे।
तेज-पुञ्ज जमदग्नि निजाश्रम मौंहिं निहारे॥
हैहय-वंशी नृपति समुझि मुनि कीन्हों आदर।
करयो निमन्त्रण सैन्य-सहित नृप मान्यो सादर॥
कामधेनु की कृपा तैं, करे तृप्त सैनिक सकल।
धेनु सिद्धि लखि सहसभुज, लोभ भयो मन महँ प्रबल॥

संसार मे एक-से-एक सुन्दर आकर्षक तथा सिद्धि देने वाली वस्तुएँ हैं। यदि इन सबको हम भगवान् की कृति समझें,

---

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक दिवस कार्तवीर्य महाराज सहस्रार्जुन दैवयोग से गहन वन मे मृगया करते समय महामुनि जमदग्नि के आश्रम पर जा निकले।"

और जो जहाँ है, वहीं उसका आदर करें, तो संघर्ष न हो। जब एक वस्तु को अपनाने के निमित्त अनेक इच्छा करते हैं, एक उसे अपनी बनाना चाहता है, दूसरा उसे देना नहीं चाहता, तब संघर्ष होता है, युद्ध, रक्तपात और सर्वनाश होता है। पाप का मूल लोभ है। लोभी पुरुष परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी आसक्ति तो काम में है। जहाँ काम है, वहाँ राम नहीं। राम को पाकर काम समाप्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हैहयराज महाराज अर्जुन सहस्र भुजा पाकर तथा रावणादि प्रबल पराक्रमी वीरों को जीत कर अपने को विश्व-विजयी तथा सब का ईश्वर समझने लगे। एक दिन वे अपने मंत्री, सेनापति तथा बहुत से सैनिकों को साथ लेकर आखेट के लिए वन में गये। वे अनेक सिंह, व्याघ्र तथा जंगली शूकरों को मारते हुए गहन वन में निकल गये। वहाँ पहुँचकर सबके सब प्यास के कारण व्याकुल हो गये, पानी की खोज में जलाशय को ढूँढते-ढूँढते दैववश महर्षि जमदग्नि के आश्रम पर जा पहुँचे।

मुनि ध्यान-मग्न थे। महाराज सहस्रार्जुन ने मुनि के पाद-पद्मों में प्रणाम किया और उनका कुशल पूछा। मुनि ने देखा कि ये यदुवंश के परम पराक्रमी राजा महाराज कार्तवीर्य सहस्रार्जुन हैं और संयोग से मेरे आश्रम पर आये हैं, तो उन्होंने उनका हार्दिक स्वागत किया। अर्घ्य देकर उनका नृपोचित सम्मान किया। कुशल पूछकर उन्होंने प्रेम पूर्वक प्रश्न किया—"राजन्! इस समय आप कहाँ से पधारे हैं?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं वन में आखेट करने आया था। अकस्मात् मुझे आपका आश्रम दिखाई दिया। बस, आपके दर्श--

नार्थ मैं यहाँ चला आया और आपके दर्शन कर कृतार्थ हुआ।"

मुनि ने कहा—"यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आज मैं इतने योग्य अतिथि को पा सका हूँ। राजन्! आप मेरे आश्रम पर पधारे हैं। अपने आश्रम पर चाहे चंडाल भी आवे, उसका भी भगवत् बुद्धि से सत्कार करना चाहिये। फिर आप तो नराधिप हैं, यशस्वी हैं, कीर्तिशाली हैं सम्राट हैं, सहस्रों यज्ञ करने वाले हैं, भगवान् के अंशावतार हैं। आज आप अपने सब साथियों सहित मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।"

सहस्रार्जुन ने कहा—"ब्रह्मन्! आपका आतिथ्य मैंने तो स्वीकार कर लिया। आप ने मेरा इतना आदर किया। अयोग्य होने पर भी आप ने मुझे अर्घ्य प्रदान किया, मधुर वाणी से कुशल पूछा, आश्रम के फल-फूल दिये। मैं आपके इतने ही सत्कार से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ।"

मुनि बोले—"राजन्! यह तो हमने सदाचार का पालन किया है। मैं चाहता हूँ कि आप समस्त साथियों-सहित यहाँ निवास करें, प्रसाद पावें और यहाँ अपने श्रमको मिटावें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरे साथ तो बहुत आदमी हैं—सहस्रों सैनिक हैं, हाथी, घोड़े, ऊँट, बछड़े-बड़ा भारी आडम्बर है। आप त्यागी विरागी महात्मा हैं, कहाँ इतनी खट पट करेंगे? कहाँ से इतना सामान लावेंगे? वाणी से ही आपका सत्कार यथेष्ट है?"

मुनि ने दृढ़ता से कहा—राजन्! आप इस बात की चिन्ता न करें सब प्रबन्ध हो जायगा।"

राजा को बड़ा कुतूहल हुआ। इस लँगोटीधारी साधु का साहस तो देखो। यह मेरी समस्त सेना का सत्कार करना चाहता है। अब तक तो राजा शिष्टाचार समझ रहे थे, किन्तु मुनि के

दृढ़ वचनों से उन्हें बड़ा विस्मय हुआ ! फिर भी बात को पुष्ट करने के लिये बोले—"नहीं भगवन ! आप सब कुछ करने में समर्थ हैं। फिर भी क्यों कष्ट करेंगे ? सैनिक तो उद्धत होते हैं। आपकी कृपा बनी रहे, यही बहुत है।"

मुनि ने कहा—"नहीं राजन् ! इसमें कष्ट की कौन-सी बात है ? यह तो मेरा परम सौभाग्य है, जो आपका आतिथ्य कर सकूँ। सैनिकों की आप चिन्ता न करें। जो जैसी वस्तु चाहेगा, उसे वैसी ही वस्तु दी जायगी। मुझे इसमें बड़ी प्रसन्नता होगी।"

राजा का कुतूहल बढ़ता जा रहा था। इन फूँस की झोंपड़ियों में मुट्ठीभर नीवर के चावल रखे होंगे। एक गौ बँधी है। इसी से मुनि लाखों आदमियों का आतिथ्य करना चाहते हैं। सो भी मनमानी वस्तु देने के लिये कह रहे हैं। राजा ने परीक्षार्थ ऊपरी शिष्टाचार-वश कह दिया—"मैं आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन तो कर ही नहीं सकता। आपकी आज्ञा, वहीं मुझे स्वीकार है।"

इतना सुनते ही मुनि प्रसन्न हो गये। कामधेनु से उन्होंने कहा—"देवि ! ये माहिष्मती के महाराज हैं। इनका तथा इनके साथियों का इनके अनुरूप स्वागत सत्कार करो।"

इतना सुनते ही कामधेनु ने सभी सुखोपभोग की सामग्रियाँ उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। बात की बात में आश्रम के समीप राज सभा बन गयी। राजा के लिये सुवर्ण का सिंहासन सज गया। इन्द्र की सभा के समान सभा भवन सुसज्जित हो गया। उसमें सैकड़ों अत्यन्त सुन्दरी अप्सराएँ सेवा के लिये समुपस्थित हो गयीं। मन्त्रियों के पृथक्-पृथक् भवन बन गये। सैनिकों के सैकड़ों सजे-सजाये सुन्दर शिविर सामने ही शोभित होने लगे। सेनापतियों के लिए भव्य भवन खड़े हो गये;

हाथियों, घोड़ों तथा रथों के स्थान पंक्ति बद्ध पृथक् बने हुए थे। बात की बात में इन सब सामग्रियों की सृष्टि हो गई। दूध दही, घृत तथा ईख के रस की नदियाँ बह रही थी। सबके सम्मुख ५६ प्रकार के सजे-सजाये सुन्दर थाल सुन्दरियों द्वारा स्वतः ही समुपस्थित किये गये। अमृत तुल्य फलों के ढेर लगे थे, जिनमें से रस चू रहा था। उन अमृत तुल्य फलों और दिव्य पदार्थों को पाकर सभी मदोन्मत्त हो गये। जो जिस वस्तु की इच्छा करता, उसे वही वस्तु वहाँ तैयार दिखाई पड़ती। सभी विस्मित थे मुनि के प्रभाव पर, उनके अलौकिक सामर्थ्य पर। बहुत से सैनिक सोचने लगे—'अब कौन घर लौटकर जाय, यहीं बाबाजी के आश्रम पर रहेंगे, माल उड़ायेंगे।' बहुत से कहने लगे—बाबा जी बड़े चमत्कारी हैं।" इस प्रकार आपस में बात करते करते वे स्वर्ग की भाँति आनन्द-विहार कर रहे थे। राजा सहस्र बाहु भी विस्मित थे। मुनि के ऐसे ठाट-बाट देखकर उनके मन में लोभ उत्पन्न हुआ। कहाँ तो अर्जुन को प्रति आभार प्रदर्शित करना चाहिये था, कहाँ अब राजा के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। वे सोचने लगे—"इस लँगोटिया बाबाजी का ऐश्वर्य तो हमसे भी बढ़कर है। हमसे ही क्यों, संसार में किसी भी राजा का ऐसा ऐश्वर्य नहीं है। यह धेनु की ही करामात है। इस धेनु के बल पर ही मुनि इतनी उछल-कूद मचाते हैं। सब कुछ देने वाली वह गो ही है। यह गौ क्या, रत्न है। ऐसी गौ का बाबाजी के यहाँ क्या काम? यह तो राजाओं के योग्य है। हमारे यहाँ रहेगी, तो नित्य इससे तो मनमानी वस्तुएँ माँगा करेंगे, दूसरे राजाओं का सत्कार किया करेंगे। हमारा बड़ा नाम भी होगा।"

यह सोचकर राजा मुनि के पास गये और बनावटी शिष्टाचार पूर्वक बोले—"मुनिवर! आपने हम सबों का बड़ा ही उत्तम

आतिथ्य किया। हम सभी आपके स्वागत सत्कार से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। अब हम आप से एक वस्तु माँगते हैं।"

मुनि ने कहा—"राजन्! माँगना क्या? सब वस्तुएँ आपकी ही है। कहिये, कौन सी वस्तु आप चाहते है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन! इस कामधेनु को मुझे दे दीजिये। "इसके बदले मे आप और जितनी गाये कहे, मैं आपको भिजवा दूँ।'

मुनि ने नम्रता के साथ कहा—"राजन्! यही तो मुझे यज्ञीय सब सामग्री देती है इसी के द्वारा तो मेरे सब इहलौकिक तथा पारलौकिक कार्य होते है। देवता, ऋषि, पितर तथा अतिथियों का सत्कार मै इसी के द्वारा करता हूँ। इसे लेकर आप क्या करेंगे? आप तो राजा हैं।"

सहस्रार्जुन ने कहा—"ब्रह्मन! आप इस एक के बदले जितनी चाहेंगे, उतनी गायें मैं भेज दूँगा। आप तो त्यागी-विरागी बाबाजी ठहरे! यह तो रत्न है। रत्न रखने का अधिकार राजा को ही है।"

मुनि बोले—"यह सत्य है। किन्तु यह रत्न तो ऐसा है, जो किसी को दिया नहीं जा सकता।"

डाँटकर राजा ने कहा—"अब तक तो मैं सरलता के साथ माँग रहा था। आशा थी, आप प्रसन्नतापूर्वक इसे मुझे दे देंगे। अब देखता हूँ, आप इसे स्वेच्छा से देने को तत्पर नहीं हैं। अच्छी बात है, इस गो को मैं छोड़ नहीं सकता।"

मुनि ने गंभीरता के साथ कहा—"राजन! यह आपका अन्याय है। राजा होकर जब आप ऐसा अन्याय करेंगे, तब लोग न्याय के लिये किसके समीप जायँगे?"

राजा ने क्रोध से झल्लाकर कहा—"मैं राजा हूँ, राजा की आज्ञा ही न्याय है। जो राजा की आज्ञा का पालन नहीं करता,

वही अन्याय करता है। अन्याय मुनिवर, आप कर रहे हैं, जो राजा के कहने पर भी एक गाय नहीं दे रहे हैं। अब देखिये, मैं बलपूर्वक इसे लिये जाता हूँ। जो कुछ करना हो, कर ले।"

मुनि ने विवशता के स्वर में कहा—"मैं क्या करूँगा। हम ब्राह्मणों के पास तो एक क्षमा ही अस्त्र है। मैं इसे स्वेच्छा से

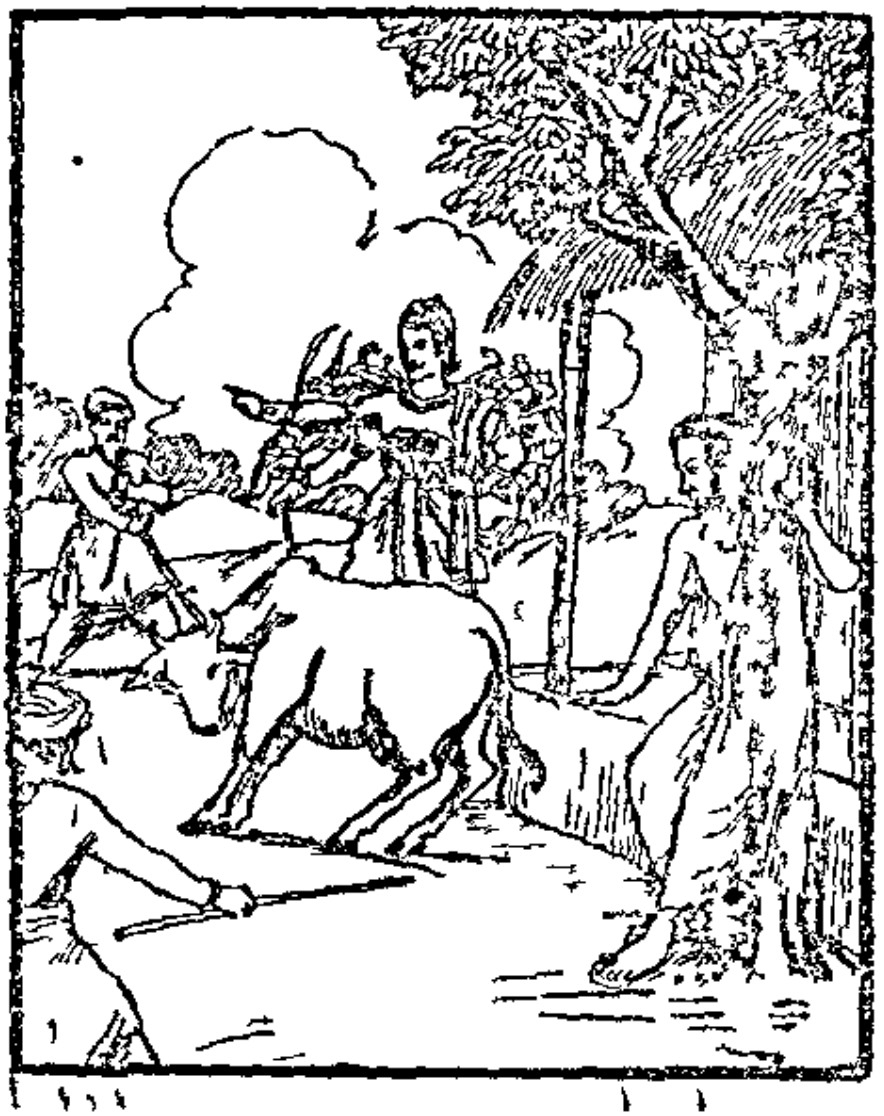

तो दे नहीं सकता, बल पूर्वक ले जायँगे, तो मैं आपके हाथ भी न पड़ूँगा, किन्तु इसका परिणाम बड़ा भयकर होगा।"

राजा ने दर्पपूर्वक कहा—"जो भी परिणाम होगा, उसे मैं देख लूँगा। इसको तो मैं अवश्य ले जाऊँगा।" यह कहकर

उसने सेवकों से कहा—"वीरो ! क्या देखते हो, इस गौ को बछड़ा सहित खोल लो और राजधानी को ले चलो।"

अब क्या था, राज-सेवक तो उद्दण्ड होते ही हैं, उन्होंने गौ को बछड़ा सहित खोल लिया और उसे ले चले। गौ जाती नहीं थी। किन्तु; उन निर्दयी सेवकों ने उसे नहीं छोड़ा। उसे डंडों से पीटते हुए माहिष्मतीपुरी की ओर ले चले।

गौ को लेकर सहस्रार्जुन परम प्रसन्न हुए। वह मार्ग में सोचते जाते थे—"बाबाजी कैसे अभिमान से कहते थे कि मैं गाय न दूँगा, इसका परिणाम अच्छा न होगा। अब गाय दी या नहीं ? मेरा क्या कर लिया ? इससे अब नित्य ५६ प्रकार के पदार्थ पैदा कराया करेंगे, खूब खायँगे, खूब लुटायँगे, संसार में नाम कमायँगे, सबसे श्रेष्ठ कहलायँगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह प्राणी लोभ में भरकर दूसरों की वस्तुओं पर मन चलाता है, भाँति-भाँति के मनसूबे बाँधता है। अन्त में उन सब मनसूबों को बिना पूर्ण किये ही निराश होकर संसार से चल देता है ! सहस्रबाहु दर्प में भरकर कामधेनु को क्या लाया, मानों मृत्यु को ही स्वेच्छा से निमंत्रित किया अपना सर्व-नाश बुला डाला ! इस लोभ से उसकी तथा उसके परिवार वालों की जो दुर्गति हुई, उसे आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

माँगी नृप मख-धेनु नहीं मुनिवर ने दीन्हीं।
बल प्रयोग करि पकरि धेनु भृत्यनि ने लीन्हीं॥
बार-बार चिल्लाइ नयन तैं नीर बहाये।
बछरा बनिके विकल लखै, जननी डकराये॥
नृप-हठ जग महँ अति विकट, कामधेनु-पुर लै गये।
परशुराम आये तबहिँ, सुनत रुद्र-सम ह्वै गये॥

परशुरामजी द्वारा कार्तवीर्य का वध

(७४०)

अथ राजनि निर्याते राम आश्रम आगतः ।
श्रुत्वा तत् तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १५ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

फरसा लीन्हों हाथ, चले नृप-कुल सहारन ।
राम-रूप लखि उग्र लगे हाथी चिघारन ॥
सहस करनि शर धनुष लिये नृप लरिबे आयो ।
सम्मुख निरख्यो शत्रु राम तकि परशु चलयो ॥
कर शर धनु, तनु मृग-चरम, अरुन नयन, रिस-युत वदन ।
मनहुँ परशु लै वीर-रस दर्प-दर्प आयो दलन ॥

समर्थ का क्रोध सफल होता है। क्रोध, क्रोध से बढ़ता है। शत्रु को समर के लिये सन्नद्ध देखकर उत्साह बढ़ता है। और वीरों के रोमाञ्च हो जाते हैं। वीरों के लिये समर का शुभावसर प्राप्त हो, तो वे अपना सौभाग्य समझते हैं। यदि शत्रु अपने

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! राजा के आश्रम से निकलते ही परशुरामजी वहाँ आ गये। राजा की दुष्टता का वृत्तान्त सुनकर वे आहत हुए अहि के समान क्रोध में भरकर फुँफकारने लगे।"

समान बलशाली हुआ, तो युद्ध में भी आनन्द आता है और जय पराजय दोनों में ही सन्तोष होता है। अपने से बड़े अथवा समान शत्रु को जीत लिया, तब तो संसार में यश होता है। यदि उससे लड़कर सन्मुख रण में मारे भी गये, तो स्वर्ग प्राप्त होता है। यदि अपने से छोटे को जीत भी लिया, तो कोई प्रशंसा नहीं, यदि देवयोग से उससे पराजित हो गये, तो संसार में अकीर्ति फैल जाती है। सम्मानित पुरुष की अकीर्ति मरण से भी अधिक दुःखदायी है। अतः युद्ध समान बल-वालों से करना ही श्रेयस्कर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आश्रम में प्रवेश करते ही परशुरामजी ने अपनी माता के द्वारा सहस्रार्जुन के अन्याय का वर्णन सुना। माता रो रही थी, शोक के कारण उनके अश्रु रुक नहीं रहे थे। कामधेनु के न रहने से आश्रम की ब्रह्मी श्री नष्ट हो गई थी, सम्पूर्ण आश्रम सूना सूना सा दिखाई देता था। इस पर परशुरामजी को बड़ा क्रोध आया। वे सोचने लगे—"ये राजा कितने दुष्ट हो गये हैं? उन्हें अपने बल-वीर्य, अधिकार तथा ऐश्वर्य का कितना भारी अभिमान हो गया है? ये जिस पत्तल में खाते हैं, उसी में छेद करते हैं! इन्हें सद् असद् का विवेक नहीं रह गया है! मेरे पिता ने इसके साथ कैसा शिष्टतापूर्ण व्यवहार किया! किन्तु वह अपनी दुष्टता को न छोड़ सका, हमारी कामधेनु को बलपूर्वक ले गया! अच्छी बात है, बच्चू को उसके किये का फल चखाऊँगा, उसे बताऊँगा कि ब्राह्मण केवल माला खटखटाना ही नहीं जानते, वे अस्त्र शस्त्र चलाने में भी निपुण होते हैं।" यह सोचकर उन्होंने समिधा का गट्ठर वहीं डाल दिया। अपना फरसा उठाया और पीठ पर बाणों से भरे दो अक्षय तूणीर लटकाये, कमर में तलवार बाँधी,

पीछे ढाल लटकाई, और हाथ मे धनुष लेकर वे सिंह के समान गरजते हुए माहिष्मतीपुरी की ओर दौडे। माता ने बताया था—"वह राजा अभी कुछ ही काल पूर्व यहाँ से सेना-सहित गया है। परशुरामजी अपने पिता के समीप भी नहीं गये। उन्होंने माता से इतना ही कहा—"माताजी। आप चिन्ता न करें। मै अपनी धेनु ले आऊँगा, तभी आकर परम पूजनीय पिताजी के पाद पद्मो मे प्रणाम करूँगा। मैं कामधेनु से वियुक्त अपने पिता के म्लानमुख को देखना नहीं चाहता।" रेणुका आश्रम के द्वार पर खडी देखती ही रही। क्षणभर मे परशुरामजी उनकी आँखो से ओझल हो गये। तब वे लौट आई और आकर अपने पति से बोली—"प्रभो! राम आया था। उसने जब सहस्रार्जुन की करतूत सुनी, सर्प के समान क्रुद्ध होकर गौ छीन लाने गया है। वह कह गया कि गौ लेकर जब आयेगा, तभी पिताजी को प्रणाम करेगा।"

यह सुनकर चिन्ता प्रकट करते हुए महर्षि जमदग्नि ने कहा—"यह तूने अच्छा नहीं किया, राम को राजाके पीछे भेज दिया। राम बडा क्रोधी है, उसका मुझमे अत्यन्त अनुराग है। मेरे अपकरी को वह जीवित न छोडेगा। बडा अनर्थ हो जायगा। हम ब्राह्मणों का अस्त्र तो क्षमा ही है। अब क्या किया जाय!" डरते-डरते रेणुका ने कहा—"प्रभो! मैंने तो उसे बहुत मना किया, आपके पास आने के लिये भी उससे कहा—"किन्तु वह आया ही नहीं। इसमे मेरा कुछ भी अपराध नहीं।"

अन्यमनस्क भाव से भगवान् जमदग्नि ने कहा—"उसे मुझ से मिलकर जाना चाहिये था, अस्तु, जैसी भगवान की इच्छा भगवान् जो भी करते हैं, मगल के लिये ही करते हैं।" यह कह कर वे चुप हो गये।

इधर परशुरामजी सहस्रबाहु के पीछे इस प्रकार दौड़े, जिस प्रकार गजराज के पीछे दुर्द्धर्ष मृगराज दौड़ता है। सहस्रार्जुन ने माहिष्मती नगरी में प्रवेश भी नहीं किया था, कि गर्जते-तर्जते, भाँति-भाँति के पैंतरे बदलते, परशुराम ने एक दहाड़ मारी। उनकी दहाड़ सुनकर सभी सैनिक तथा राजा उसी प्रकार डर गये, जिस प्रकार सिंह की दहाड़ सुनकर मृग डर जाते हैं। भयंकर दहाड़ सुनते ही सहस्रार्जुन ने पीछे मुड़कर ज्योंही देखा, त्योंही साक्षात् कालान्तक यमराज के समान भगवान परशुराम उसे दिखाई दिये। उनकी काली-काली लम्बी-लम्बी जटाएँ अस्त व्यस्त भाव से बँधी हुई थीं, कुछ लटें खुलकर इधर-उधर लटक रही थीं। जटाओं की जड़ के छोटे छोटे बाल वायु में बिथुर कर फहरा रहे थे। वे एक कृष्ण मृगचर्म को कमर में बाँधे हुए थे और एक ओढ़े। उस मृग-चर्म के ऊपर बाणों से भरे तूणीर, खड्ग, धनुष करवाल, ढाल, आदि अस्त्र लटक रहे थे। हाथ में चम-चमाता हुआ तीक्ष्ण धारवाला फरसा शोभा दे रहा था। सूर्य के समान उनका तेजोमय मुख-मंडल प्रकाशित हो रहा था कमल के समान विकसित बड़े-बड़े नेत्र क्रोध के कारण अंगारे के समान अरुण वर्ण के होकर, अग्नि की चिनगारियाँ निकाल रहे थे। लाल-लाल कुटिल अधर क्रोध के कारण फड़क रहे थे। उन्हें कभी कभी वे दाँतों से दबा लेते, तो वे विवशता सी प्रकट करते हुए और भी अरुण वर्ण के बन जाते। उनके ऐसे भयंकर-विकराल वीरवेश को देखकर सहस्रार्जुन पहले तो कुछ डरा, फिर धैर्य धारण करके उसने अपने सैनिकों से कहा—"वीरो! मैं जाता हूँ। यह उस जमदग्नि मुनि का पुत्र परशुराम है, कामधेनु हर लाने के कारण कुपित हो रहा है, किंतु क्षत्रिय के सम्मुख ब्राह्मण का क्रोध किस काम का? यह अकेले हमारा

क्या कर सकता है ? इसे पकड़ लो और मार डालो। ब्राह्मण समझकर इस पर दया मत करना। यह अस्त्र-शस्त्र लेकर लडने आया है, आततायी है, वधार्ह है। नगर मे भी सूचित कर दो, मेरी सम्पूर्ण सेना सुसज्जित हो जाय। मैंने इसके पराक्रम की कथाएँ सुनी हैं। शत्रु चाहे निर्बल भी हो, उसकी उपेक्षा न करनी चाहिये।"

इतना सुनते ही कार्तवीर्य के रण-रङ्ग-दुर्मद सैनिक धनुष, बाण गदा, खड्ग, ऋष्टि, शतघ्नी, शक्ति, शूल, तोमर, भुसुण्डी, आदि अस्त्र-शस्त्र लेकर भगवान् परशुराम के ऊपर टूट पड़े। परशुराम ने उन सब को उसी प्रकार मार भगाया, जिस प्रकार एक सिंह सहस्रो मृगो के झुण्ड को भगा देता है।" वह हाथियो, घोडों, रथों और पैदल सैनिको वाली चतुरंगिनी सेना परशुरामजी के सम्मुख उसी प्रकार न ठहर सकी, जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख तिमिरतम नहीं ठहर सकता। जब सब सैनिक मारे गये, तब सहस्रार्जुन ने और भी अधिक सैनिक भेजे। उन्हे भी भगवान् भार्गव ने यमलोक का मार्ग दिखा दिया। इस प्रकार शत्रु की समस्त सेना परशुरामजी ने समाप्त कर दी। उस समय उनका वेग मन और वायु से भी तीव्रतर था। वे जिधर फरसा घुमाते, उधर ही सफाया कर देते। जैसे किसान खेत को काटता है, गोप ग्वाल कुटी काटते हैं, चटाई बनाने वाले सरपत काटते हैं, वैसे ही वे सैनिको को काट रहे थे। वहाँ रक्त की नदियाँ बह गईं, उनमें सैनिकों के सिर कछुए के समान दिखाई देने लगे। कटे हुए हाथी पर्वतों के समान प्रतीत होते थे। भुजाएँ पाँच फण-वाले सर्पों के समान तैर रही थी। बहुत से सैनिक अधमरे हुए बिल-बिला रहे थे। बहुतों के सारथी नष्ट हो गये थे। वे टूटे हुए रथ के नीचे ही पडे थे। बहुतो के घोड़े नष्ट हो गये थे, सवार

समीप ही पड़े सिसक रहे थे। अनेकों की भुजाएँ कट गई थीं, वे छटपटा रहे थे। बहुतों के ऊरू, ग्रीवा, सिर कट गये थे। फिर भी उनके धड़ हिल रहे थे। बहुत से कष्ट के कारण रक्त की कीच में उसी प्रकार लोट रहे थे जिस प्रकार जङ्गली भैंसे छोटे-छोटे तालाबों के कीचड़ में लोटते हैं।

परशुरामजी के कुठार से बहुत से आहत हो गये थे, बहुत से बाणों से बिंधे हुए पड़े थे, बहुतों के अंग अस्त्रों द्वारा छिन्न-भिन्न हो गये। अब ऐसा कोई भी सेनापति बचा नहीं था, जो साहस के साथ समर में जा सके। सभी भयभीत और निरुत्साह हो गये।

सब पर परशुराम का आतङ्क छा गया था। सब में उत्साह भरता हुआ सहस्रार्जुन बोला—"वीरो! कोई बात नहीं। युद्ध में जय-पराजय तो लगी ही रहती है। कभी किसी की विजय होती है, कभी किसी की। अब मैं अपने हजार हाथों में धनुष-बाण धारण करके जाता हूँ। मैं अवश्य ही शत्रु को पराजित कर के रण से लौटूँगा। मेरे सम्मुख वह दो भुजाओं वाला ब्राह्मण ठहर ही क्या सकता है! आज तुम मेरी वीरता देखो।"

यह कहकर वह विशाल धनुष पर बाण चढ़ाकर समर-भूमि में गया। उसके ५०० हाथों में ५०० धनुष थे। ५०० हाथों से उसने एक साथ ही सब धनुषों पर बाण चढ़ाकर परशुराम जी के ऊपर छोड़े। एक साथ ५०० बाणों को अपने ऊपर आते देख रेणुका-नन्दन भगवान् राम तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़े लाघव से एक ही धनुष से इतने बाण एक साथ छोड़े कि वे आते हुए सब के सब बाण कटकर पृथ्वी पर गिर गये।

सहस्रबाहु ने देखा, यह तो महान वीर है। जब तक मैं ५०० हाथों से ५०० बाण छोड़ता हूँ, तब तक यह एक ही बाण से सहस्रों बाण छोड़कर उन्हें व्यर्थ बना देता है। बाणों के युद्ध

मे इससे मैं पार न पा सकूँगा। कोई बडा-सा पर्वत उठाकर इस के ऊपर फेंक दूँ, जिसके नीचे पिचकर यह मर जाय। सामने ही बडे शिखर वाला एक पर्वत खडा था। उस पर बडे-बडे ऊँचे वृक्ष भी उग रहे थे। सहस्रबाहु ने उस पर्वत को जड से उखाड लिया। जब वह पर्वत को उखाड रहा था, तभी सर्वज्ञ परशुरामजी उसके अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अपना तीक्ष्ण धारवाला फरसा उठाकर बडे कौशल से उसकी सहस्रों भुजाओं को एक साथ ही काट डाला। विमानो पर बैठे देवताओं ने परशुराम के इस कार्य की प्रशसा की और उनके ऊपर नन्दन-कानन के पुष्पो की वृष्टि की। बिना भुजा के वे वीर राजा शिखर वाले सजीव सुमेरु के समान दिखाई देने लगे। परशुराम-जी ने उछलकर उसके सिर को भी धड से पृथक् कर दिया। सिर के कटते ही उसका धड चक्कर काटता हुआ उसी प्रकार गिर गया, जिस प्रकार हिमालय के पख इन्द्र द्वारा काट लिये जाने पर वह गिर पडा था।

राजा के दश सहस्र पुत्र थे। उन्होंने देखा कि सहस्र भुजाओं वाले हमारे पिता को ही इस मुनि ने मार डाला, तब हम सब तो इसके सामने भिनगे के समान हैं, हमको तो यह एक ही प्रहार में यमपुर पहुँचा देगा। अत. अब इसके सम्मुख ठहरना उचित नहीं। यह सोचकर वे सब के सब समरभूमि छोडकर प्राणो को लेकर भाग गये।

कुछ देर तक परशुराम युद्ध-भूमि मे वीर रस के समान खडे रहे, किन्तु अब उनके सम्मुख कोई आने वाला ही नहीं था। दूर खडी हुई कामधेनु परशुरामजी को चकित दृष्टि से देख रही थी। परशुरामजी उसके समीप पहुँचे। इतनी दूर से बलपूर्वक लाने से तथा भयकर युद्ध देखने से बछडा सहित कामधेनु

भयभीत सी हो रही थी। क्रूर राजसेवकों ने निर्दयतापूर्वक उस पर डंडे चलाये थे, इस कारण वह पीड़ित भी हो रही थी। परशुरामजी ने उसे पुचकारा, प्यार किया, उसके शरीर पर हाथ फेरा, और उसे स्नेह पूर्वक पकड़कर अपने आश्रम की ओर चले।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! असत् पुरुषों के अपमान करने का यही फल होता है। सहस्रार्जुन ने तत्क्षण अपने किये का फल पा लिया। कुछ पाप पुण्य तो ऐसे होते हैं, जिनका फल दूसरे जन्मों में भोगना पड़ता है, किन्तु अत्युग्र पुण्य पापों का फल इसी जन्म में, चाहे तीन वर्ष में, तीन महीने में, तीन पक्ष में तीन दिन में या तीन प्रहर में, तत्काल मिल जाता है। सहस्रार्जुन को तीन प्रहर में ही अपने महान पाप का फल मिल गया।"

छप्पय

भयो युद्ध घनघोर वीर हैहय-पति रथ चढ़ि।
आयो इत तैं परशुराम नृप लखि आये बढ़ि॥
तीक्ष्ण परश तैं भुजा काटि अर्जुन की दीन्ही।
सुत सैनिक सब भगे राम गर्जन पुनि कीन्ही॥
नृप-सिर धड़तैं पृथक करि, कामधेनु लै चलि दये।
कही कथा पितु सन सकल, सुनि मुनि हर्षित नहिं भये॥

पिता की आज्ञा से परशुरामजी द्वारा प्रायश्चित्त

(७४१)

राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत् ॥
अवधीन्नरदेव यत् सर्वदेवमयं वृथा ।
वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः ।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात् पदम् ॥*

(श्री भ० ९ स्क० १५ अ० ३८-३९ श्लो०)

छप्पय

बोले मुनि जमदग्नि—'राम ! भल कियो न कारज ।
विप्रनि भूषण क्षमा जिही मर्यादा आरज ॥
अरे, कहा जिह करयो विप्र है नरपति मार्‌यो ।
कर्‌यो कर्म अति क्रूर कलंकित कुल करि डार्‌यो ॥
नृप-वध द्विज-वध तैं अधिक, प्रायश्चित जाको करहु ।
हरि चित्त धरि कीर्तनि करत, पावन तीर्थनि महँ फिरहु ॥

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! परशुरामजी जब सहस्रार्जुन को मारकर आये, तब उसके पिता भगवान् जमदग्नि ने कहा—'हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो ? भैया, तुमने यह बडा भारी पाप किया, जो वृथा ही राजा का वध किया । राजा सर्वदेवमय होता है । देखो भैया ? हम

जिसके हाथ मे क्षमा-रूपी शस्त्र है, उसका शत्रु कभी कुछ बिगाड़ ही नहीं सकते। क्षमा ही क्षमाशीलों का सर्वोत्तम अमोघ अस्त्र है। जो अपराध को क्षमा न करके उसका बदला लेते हैं, व अपराध की शृङ्खला को और सुदृढ़ बनाते हैं। हिंसा से हिंसा ही बढ़ती है। इसी से, हिंसा से क्षमा को श्रेष्ठ कहा है। किन्तु क्षमा सबलो का भूषण है, निर्बलों के लिये तो वह दूषण है। जैसे निर्बल आदमी शस्त्र चला नहीं सकता, उसके शस्त्र से शत्रु ही लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार निर्बल क्षमा नहीं कर सकता। उसकी क्षमा कायरता है। उससे दूसरे लाभ उठावेंगे और उसे मूर्ख बनाकर हँसेंगे, शांत-स्वभाव' सर्व-समर्थ; ज्ञानी ब्राह्मण ही क्षमा का आश्रय ले सकते हैं। युद्धोपजीवी क्षत्रिय को तो 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति का अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है। यदि क्षमा कोई कर सके, तब तो सर्वश्रेष्ठ है ही।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! सहस्रार्जुन के मर जाने पर उसके सब पुत्र भाग गये। परशुरामजी सवत्स अपनी गौ को लेकर आश्रम पर आये आकर उन्होंने पिता के पाद-पद्मो मे प्रणाम किया। अपनी गौ को देखकर मुनि का मुख-मडल खिल उठा। वे बार-बार उसके ऊपर हाथ फेरने लगे। उन्होंने उल्लास के साथ पूछा—"बेटा! तुम राजा से गौ किस प्रकार लाये?"

परशुरामजी ने कहा—"पिताजी! युद्ध करके मैं गौ को लाया हूँ।"

ब्राह्मणो का क्षमा ही भूषण है, क्षमा के कारण ही हम ससार म पूजनीय बने हैं। और की बात ही क्या, लोकगुरु ब्रह्माजी भी क्षमा के कारण ही ब्रह्मपद पर प्रतिष्ठित हुए हैं।"

जमदग्नि ने कहा—"छिः-छिः, ब्राह्मण होकर तुमने युद्ध किया ! राजा के बहुत सैनिक मारे गये होंगे ?"

परशुरामजी ने कहा—"राजा के सैनिक भी मारे गये और राजा भी मारे गये।"

चौंककर मुनि ने कहा—"हैं ! क्या महाराज कार्तवीर्य सहस्रार्जुन का भी तूने वध कर डाला ? वह तो पृथ्वी में अद्वितीय शूरवीर था। उसे तुमने मारकर बड़ा पाप किया ! ऐसा करना तुम्हें उचित नहीं था।"

परशुराम ने कहा—"पिताजी ! उसे क्या अधिकार था, कि वह आश्रम में आकर बलपूर्वक यज्ञीय हमारी धेनु को हर ले जाय। उसने यह दस्युओं डाकुओं सा व्यवहार किया। वह आततायी था। आततायी तो वध के ही योग्य होता है। उसे दंड देना पाप नहीं, पुण्य है।"

जमदग्नि मुनि ने कहा—"यह सत्य है, कि उसने आततायीपन किया। किन्तु बेटा, दंड देने का अधिकार सभी को तो है नहीं। हम ब्राह्मणों का अस्त्र तो क्षमा ही है। उपकारी के प्रति तो सभी प्रेम प्रदर्शित करते हैं। अपकारी के अपराध की ओर भी ध्यान न देना ही क्षमा है। हम संसार में सर्वश्रेष्ठ और विश्ववन्द्य क्यों माने जाते हैं ? इसीलिये कि हमलोग अपकारी को दंड नहीं देते। ब्राह्मण बहुत क्रोध करेगा, तो वाणी से शाप दे देगा, वह अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध नहीं करेगा। देखो, लोकपितामह ब्रह्माजी को यज्ञ रचाने को दौड़े और उनकी ही बनाई सृष्टि के जीवों ने उसके साथ बहुत अनुचित बर्ताव किया, किन्तु उन सब को उन्होंने क्षमा कर दिया। क्षमा के कारण ही वे लोकपितामह हुए और ब्रह्मत्व प्राप्त किया। ब्रह्म सम्पत्ति क्षमा के

कारण ही सूर्य के समान प्रकाशित होती है। तुम्हें राजा को मारना नहीं चाहिये था।"

परशुरामजी ने कहा—"पिताजी! मैं अपने अपमान करने वाले को क्षमा कर सकता हूँ, किन्तु आप के अपमान करने वाले को कभी नहीं। आप के मुख को म्लान देखने की मुझमे शक्ति नहीं।"

जमदग्निजी ने स्नेहपूर्वक कहा—"यह तो मैं समझता हूँ, तुम्हारा मुझमे अत्यन्त अनुराग हैं, किन्तु एक धर्मात्मा राजा के साथ ऐसा व्यवहार उचित नहीं।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यदि देखा जाय, तो इसमें मुनि का भी कुछ दोष है। राजा ने जब कामधेनु को माँगा ही था, तब वे उसे दे देते। गौ के पीछे मुनि ने लोभ क्यों किया? उसी का परिणाम यह हुआ, कि इतनी मारकाट, और लड़ाई हुई।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनिवर आप अग्निहोत्री मुनि होकर भी ऐसी बात कहते हैं। यज्ञ की गौ भला किसी को दी जा सकती है? लौकिक वस्तुएँ दी जा सकती हैं। उनके प्रति लोभ होना दोष है। कोई अपनी पूजा के श्रीविग्रह को माँगे, शिखासूत्र को माँगे, तो ये वस्तुएँ तो दी नहीं जा सकतीं। उस गौ से ही उनके समस्त लौकिक पारलौकिक कर्म होते थे। उसे दे देना तो अपने धर्म कर्म को देना था। मुनि की इतनी शांति तो देखिये। वे सर्व समर्थ थे, चाहते तो राजा को शाप देकर वहीं भस्म कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। बलपूर्वक राजा गौ को ले गया, तो उसे ले जाने दिया। क्रोध में भरकर परशुरामजी ने उसे मार डाला, तो उनके कार्य की भी उन्होंने निन्दा की और उन्हें बहुत डाँटा फटकारा।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! सत्य ही मुनि की क्षमा तो अपूर्व थी ! अच्छा, तो फिर परशुरामजी से उन्होंने क्या कहा ?"

सूतजी बोले—"महाराज, कहा क्या ? उन्हे क्षमा का महत्व समझाया और बल देकर कहा—"तुमने सार्वभौम राजा का वध किया है। यह ब्रह्म हत्या से भी बढकर पाप है। तुम्हें इसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।"

परशुरामजी के मन मे यह बात बैठती ही नहीं थी, क्योंकि उनकी नस-नस मे तो क्षात्र भाव व्याप्त था। सहस्रार्जुन के वध को पाप न समझकर परम पुण्य ही समझते थे। किन्तु अपने पूजनीय पिता के सम्मुख उन्होंने वाद विवाद करना उचित नहीं समझा। वे उनका अत्यधिक आदर करते थे। अतः वे बोले—"पिताजी ! मेरी दृष्टि में तो यह कोई पाप है नहीं। फिर भी आप श्रेष्ठ हैं, मेरे पूजनीय और वन्दनीय हैं, यदि आप इसे पाप समझते हैं, तो इसके प्रायश्चित स्वरूप आप जो भी मुझे आज्ञा करें, वही मैं करूँ ?"

जमदग्निजी ने कहा—"भैया ! यह पाप तो है ही तुम्हें इसका प्रायश्चित अवश्य करना चाहिये। इसका यही सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है कि भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन करते हुए उनकी मन मोहिनी मूर्ति को मन में धारण करके, तुम समस्त पावन तीर्थों की यात्रा करो। भगवान् के नाम कीर्तन करने, उनका स्मरण करने तथा पुण्य तीर्थों के श्रद्धापूर्वक सेवन करने से तुम्हारे सभी पाप कट जायँगे। तुम विशुद्ध बन जाओगे।"

परशुरामजी तो विशुद्ध थे ही, किन्तु पिता की आज्ञा का महत्व प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की। उनसे आज्ञा लेकर तीर्थ यात्रा की समस्त विधि पूछकर

तथा माता-पिता की परिक्रमा करके परशुरामजी तीर्थ यात्रा के लिये चल दिये। पिता ने जिन-जिन पुण्य तीर्थों की आज्ञा दी थी, उन तीर्थों मे जाकर, पवित्र-पवित्र नदियो मे स्नान करके, पृथ्वी की प्रदक्षिणा करके, एक वर्ष में वे अपने आश्रम में लौट आये। आकर उन्होने माता पिता के चरणो मे प्रणाम किया। जमदग्नि मुनि भी पुत्र को निष्पाप समझकर प्रमुदित हुए।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! परशुरामजी सहस्रार्जुन को मारकर उससे कामधेनु लेकर तथा पिता की आज्ञा से तीर्थ-यात्रा करके सुखपूर्वक उनके आश्रम मे रहने लगे। इधर सहस्रार्जुन के जो पुत्र परशुरामजी के पराक्रम से पराभूत होकर रण से भाग गये थे, उन्हे अपने पिता के निर्मम वध का स्मरण बना ही रहा। वे परशुरामजी से बदला लेने की घात में सदा लगे रहते थे। उन्हे कभी चैन नहीं पडता था।"

छप्पय

पितु-गौरव कूँ मानि हरषि आयसु सिर धारी।
तीर्थान महँ अघ हरन फिरहि द्विजवर अघहारी॥
सम्वत्सर महँ सकल अवनि परदच्छिन कीन्हीं।
पुनि पितु आये निकट निरखि आशिष बहु दीन्हीं॥
इत पितु-आज्ञा ते परशु-राम यज्ञ-जप-तप करत।
उत हैहय क्षत्रिय अधम, बदलौ लैबे कूँ फिरत॥

परशुरामजी के पिता का निर्मम वध

[७४२]

एकदाऽऽश्रमतो रामे सभ्रातरि वन गते ।
वैरं निसाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन् ॥*

(श्री० भा० ९ स्क० १६ अ० १० श्लो०)

छप्पय

परशु पराक्रम पराभूत पापी पामर खल ।
क्षत्रि धर्म तजि फिरहिँ, करहिँ नहिँ रण सब निर्बल ॥
एक दिवस सँग बन्धु गये वन परशुराम जब ।
आये छिपि के सहसबाहु-सुत अस्त्र लिये सब ॥
विष्णु ध्यान लवलीन मुनि, निरखि भये हर्षित सकल ।
प्रतिहिंसा हिय महँ जगी, वधहि तऊधम करहि खल ॥

प्रतिशोध की भावना से प्रतिहिंसा जागती है, प्रतिहिंसा पुनः प्रतिहिंसा को उत्पन्न करती है। किन्तु किया क्या जाय ! प्राणी अपने अपमान को सहज ही हनन नहीं कर सकता। अपमान को या तो सर्वथा जड पशु ही सहन कर सकता है या पूर्ण ब्रह्मज्ञानी

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! एक दिन परशुरामजी सब भाइयों के सहित वन को गये हुए थे। उसी समय सहस्रार्जुन के पुत्र अवसर पाकर अपना वैर चुकाने के लिये वहाँ आये।"

ही। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि पशुओं ने भी आदमियों से बदला लिया है। बदला लेने की भावना स्वाभाविक न हो, तो फिर पुनर्जन्म ही न हो। मनुष्य पुत्र बनकर, सगा-सम्बन्धी बनकर, दूसरे जन्म के कार्यों का बदला लेता है। बड़े-बड़े ऋषि मुनियों तक में ऐसे भाव देखे गये हैं। नीतिकारों का वचन भी है, जो पुत्र पिता के उपकार या अपकार का बदला नहीं चुकाता, वह सत्पुत्र नहीं है, किन्तु परमार्थ में बदला लेने की भावना अत्यन्त हेय मानी गई है। भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं। उनका कोई न तो शत्रु है, न मित्र, उनके लिये सब समान हैं। अतः वे जो भी करते हैं, जगत के हित के निमित्त ही, बदला लेने की भावना से नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तीर्थ-यात्रा करके श्री परशुराम अपने आश्रम पर लौट आये। वे आकर जप-तप, अग्निहोत्र आदि ब्राह्मणोचित कृत्य करने लगे। वे सहस्रार्जुन को मारकर उस बात को भूल ही गये, कि उनसे हमारी अब कोई शत्रुता रह गई है। उन्होंने सोचा—"सहस्रार्जुन ने आततायीपन का कार्य किया, उसे उसका फल तत्काल मिल ही गया। उसके पुत्र रण छोड़कर भाग ही गये। फिर उनसे युद्ध ही क्या करना? इस प्रकार सब झगड़ा समाप्त हो गया। किन्तु परशुरामजी के पराक्रम से पराभूत हुए वे सहस्रार्जुन के पापी पुत्र रात्रि-दिन जलते रहते थे। वे सदा यही सोचते रहते थे, कि परशुराम से अपने पिता के वध का बदला कैसे लें। परशुरामजी के तेज, प्रभाव, ओज, बल, वीर्य, पराक्रम, युद्ध-कौशल, आदि गुणों से वे पूर्णतया परिचित थे। अतः समर में सम्मुख युद्ध करने का साहस तो उन में था नहीं। वे छिपकर ही प्रतिहिंसात्मक घात करना चाहते थे और इसके लिये वे उपयुक्त

अवसर की ताक मे सदा लगे रहते थे। उनके गुप्तचर सदा यही देखते रहते, कि कब ऐसा अवसर हो, जब हम जाकर, जैसे परशुराम ने हमारे पिता का वध किया है, वैसे ही, हम भी उन के पिता का वध कर सकें। किन्तु ऐसा अवसर उन्हें मिलता नहीं था।

एक दिन परशुरामजी अपने भाइयो को साथ लेकर किसी काम से वन में गये। यह समाचार जब सहस्रार्जुन के पुत्रों को मिला, तब वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। तुरन्त ही वे अस्त्र-शस्त्र लेकर भगवान् जमदग्नि के आश्रम पर चढ आये। उन्होंने देखा, मुनि पत्नी रेणुका तो कुटिया के भीतर कुछ कार्य कर रही हैं, मुनिवर जमदग्नि अग्निशाला मे आँखें बन्द किये समाधि में परात्पर प्रभु का ध्यान कर रहे हैं। इसी अवसर को उन आततायियो ने उत्तम समझा। उनके साथ और भी बहुत से दुष्ट राजपुत्र थे। सहस्रार्जुन के एक पुत्रने पीछे से जाकर महामुनि जमदग्नि का सिर धड से काट लिया और वह उसे लेकर चलते बने। बहुतों ने आश्रम के वृक्ष काट डाले, बहुतों ने पौधे उखाड फेंके। मार-काट की ध्वनि सुनकर रेणुका कुटी से बाहर आई। वे अपने पति के सिरहीन धड को देखकर हाय-हाय करके रोने चिल्लाने लगीं और बार-बार छाती पीटने लगीं। रेणुकाजी को रोते देखकर वे सब क्रूरकर्मा नीच क्षत्रिय कायरो की भाँति मुनि का सिर लेकर भाग गये।

माता रेणुका के दुःख का वारा-पार नहीं था। उन्हें ससार बिलकुल सूना दिखाई देता था। पति के सिरहीन मृतक धड़ को निहारकर उनका हृदय फट रहा था। वे पूरी शक्ति लगाकर रोती हुई—"हा राम! हा राम!" कहकर चिल्ला रही थीं, छाती पीट रही थीं।

परशुरामजी ने दूर से ही माता का दुःख-शोक-पूर्ण करुण-क्रंदन सुना। वे शंकित तो पहले से ही थे। आज माता का ऐसा करुणापूर्ण विलाप सुनकर उनका हृदय धक-धक करने लगा। वे समझ गये, "आश्रम में कोई भयंकर दुर्घटना हो गई है। हो-न हो, सहस्रार्जुन के दुष्ट पुत्रों ने फिर चढ़ाई कर दी है। वे फिर कामधेनु को तो नहीं ले गये ?" यह सोचते ही वे तुरन्त बड़े वेग से आश्रम की ओर दौड़े। आश्रम पर आकर जो कुछ उन्होंने देखा, उसे देखकर तो उनका धैर्य छूट गया। अग्निशाला के सम्मुख कामधेनु बँधी है, वह बुरी तरह डकरा रही है। माता धूल में लोटी हुई छाती कूट रही हैं और "हा राम ! हा राम !" कहकर विलाप कर रही हैं ! पिता का सिरविहीन धड़ कटा पड़ा है ! आश्रम के सभी वृक्ष कटे पड़े हैं ! पौधे इधर-उधर उखड़े पड़े मुरझा रहे हैं।

परशुरामजी अपने पिता को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। वे पिता के लिये सब कुछ करके को तत्पर थे। पिता के कहने से उन्होंने अपनी जननी तक को मार डाला। पिता ही उनके इष्ट थे, गुरु थे, देवता थे। उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी कि मेरे पूज्य पिता का इस प्रकार कोई वध कर सकेगा। वे पिता के मृत शरीर से लिपटकर बालकों की भाँति फूट फूट कर रोने लगे। वियोग-जन्य दुःख और क्रोध के कारण उनकी वाणी स्पष्ट नहीं निकलती थी। वे दीनता और शोक के वेग से विमोहित होकर रोते-रोते कहने लगे—"हा पिताजी ! आप हमें छोड़कर कहाँ चले गये ? हाय ! आप तो सदा धर्म-कर्म में निरत रहते थे ! आपकी ऐसी अप-मृत्यु क्यों हुई ? आप तो सदा विष्णु-ध्यान में निमग्न रहते थे, कभी किसी का मन से भी अनिष्ट नहीं सोचते थे। आपको किस दुष्ट ने काट डाला ?"

परशुरामजी के करुण विलाप को सुनकर माता रेणुका को चेत हुआ। वे अपने पुत्र को रोते देखकर और भी अधिक वेग से रोने लगीं। उनका रुदन दिशा-उपदिशाओं में व्याप्त हो गया। माता को रोते देखकर परशुरामजी ने क्रोध भरे स्वर में पूछा—"माँ! मेरे पूज्य पिता का वध किस दुष्ट ने किया है?"

हिचकियाँ भरते हुए माता ने रुक-रुककर कहा—"बेटा! सहस्रार्जुन के सुत आये थे, उनके साथ और भी क्रूरकर्मा नाममात्र के क्षत्रिय थे। उन पापियों ने ही यह सब कृत्य किया है। तेरे पिता तो ध्यान-मग्न थे, मैं भीतर थी। इसी बीच आकर दुष्टों ने यह कृत्य कर डाला।" इतना कहकर माता फूट-फूट कर रोने लगी।

असहनशीलता के कारण जिनके ओंठ फड़क रहे हैं, नेत्र क्रोध के कारण अंगारे के समान जल रहे हैं, उन परशुराम ने माता को धैर्य बँधाते हुए कहा—"माँ! तुम चिन्ता मत करो। ये क्षत्रिय बड़े दुष्ट हो गये हैं, इन्हें अत्यधिक राज-मद हो गया है। मैं प्रथम इस पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दूँगा, तब अपने पिता को जीवित करूँगा। माँ! मैं पिता का बदला बिना लिये बैठ नहीं सकता। मुझे कोई समझा नहीं सकता, रोक नहीं सकता। भाइयों की सहायता से पिता की देह को तुम सुरक्षित रखना।" इतना कहकर परशुरामजी ने अपना तीक्ष्ण धारवाला परशु उठाया और सीधे माहिष्मतीपुरी की ओर चल दिये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परशुरामजी के फरसे की धारा कभी कुण्ठित क्यों नहीं होती! जब देखो, तब वे फरसे को ही लेकर चलते और उसी से असंख्य वीरों का वध करते हैं।"

सूतजी बोले—"महाराज! यह साधारण परशु नहीं था।

शिवजी के महातेज से इसका निर्माण हुआ था। जिससे भगवान् का सुदर्शनचक्र, इन्द्र का वज्र बना था, उसी तेज से यह फरसा भी बना था। पैदा होते ही परशुरामजी ने केलाश पर्वत पर जाकर शिवजी की आराधना की। इनकी आराधना से सन्तुष्ट होकर आशुतोष भगवान् भूतनाथ प्रसन्न हुए और इनसे वरदान माँगने को कहा। इन्होंने कहा—"प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे कोई ऐसा अमोघ अस्त्र दीजिये, जो कभी व्यर्थ न हो और उसकी धार कभी कुण्ठित न हो।"

यह सुनकर शिवजी ने इन्हें यह दिव्य फरसा दिया तथा और भी अनेक अस्त्र शस्त्र दिये। उन सब अस्त्र-शस्त्रों में इनका प्रधान अस्त्र यह परशु ही था। इसी से इन्होंने २१ बार पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों का संहार किया।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! माहिष्मती नगरी में जाकर परशुरामजी ने क्या किया? उन्होंने किन किन क्षत्रियों का संहार किया। आप कहते हैं, उन्होंने इक्कीस बार सम्पूर्ण क्षत्रियों का नाश किया। जब पहिले ही वे सब नष्ट हो गये, तो फिर बीस बार के लिये और क्षत्रिय कहाँ से आ गये? कृपा करके परशुरामजी के इन सभी प्रसंगों को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! इस हत्याकाण्ड का विस्तार क्यों पूछते हैं? कथा प्रसङ्ग को मिलाने के लिये मैं इस बीभत्स काण्ड का अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन करूँगा। आप प्रेम से इसे सुनें।"

छप्पय

लखि आश्रम सब शून्य शीघ्र सिर मुनि को काट्यो।
मृतक लख्यो पति-देह रेणुका को हिय फाट्यो॥
रोवे कुररी सरिस, पुकारे राम, धुनै सिर।
सुनि जननी को रुदन राम तब आये सत्वर॥
जनक मृतक तनु निरखि प्रति, परशराम रोवन लगे।
गये तात तजि हमहि कहँ, क्रूर काल ने हम ठगे॥

परशुरामजी द्वारा २१ बार क्षत्रियों का विनाश

(७४३)

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नृप ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १६ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

पितु-तनु बन्धुनि सोंपि चले क्षत्रिनि सहारन ।
पहुँचे पुर मेह तुरत परशु लै लागे मारन ॥
हैहय कुल सहार कर्‌यो पुनि जे ई पाये ।
क्षत्रिय सबई मारि मारि यम सदन पठाये ॥
युवक, वृद्ध, शिशु, उदर मेह, लखहिं जहां क्षत्रिय तनय ।
तुरत पठावें यम सदन, सुनहिं नहीं अनुनय विनय ॥

यदि अंग सड़ जाता है और उसमे विष व्याप्त हो जाता है, तो बुद्धिमान अनुभवी चिकित्सक उस सड़े हुए अंग का लोभ नहीं करता। शेष अंगों की रक्षा के लिये वह जड़ मूल से काट देता

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पिता के वध से क्रुद्ध हुए परशुरामजी ने २१ बार इस पृथ्वी को क्षत्रिय-शून्य कर दिया और समन्तपञ्चक क्षेत्र (कुरुक्षेत्र) मे रुधिर-रूप जल के ९ कुण्ड बनाये।"

है। जिस पौधे में कोई रोग हो जाता है, माली उसकी बड़ी बड़ी डालियों को काट देता है, जिससे दूसरे नये अच्छे कल्ले निकलें। जब कोई समाज अत्यन्त दूषित हो जाता है, भगवान् किसी न किसी रूप में अवतरित होकर उसका संहार कर देते हैं और समाज को संकट से बचाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! परशुरामजी को जब पता चला कि मेरे पिता का वध केवल हैहयवंशी क्षत्रियों ने ही नहीं किया है, अपितु इसमें बहुत से क्रूरकर्मा क्षत्रियों का भी भीषण षड्यन्त्र है, तब तो उन्होंने हाथ में कुशा लेकर पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों के संहार की प्रतिज्ञा की। वे अपने तीक्ष्ण धारवाले परशु को उठाकर बड़े वेग से माहिष्मतीपुरी की ओर चले। उन के चलने से पृथ्वी डगमग-डगमग कर रही थी। रोष के कारण वे दाँडते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानों साक्षात् रुद्र संसार का संहार करने के लिये कुपित होकर कहीं जा रहे हैं। माहिष्मती पुरी में पहुँचकर उन्होंने सहस्रार्जुन के सहस्रों पुत्रों को घेर लिया और परशु से उनके सिरों को काटने लगे। सिर काट-काटकर उन्होंने उनका एक पर्वत ही खड़ा कर दिया। उन्होंने ऐसा व्यूह बना लिया था कि कोई उसमें से निकल ही नहीं सकता था। सहस्र पुत्रों में से जैसे तैसे दुवक छिपकर जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित—ये पाँच पुत्र भाग गये। उन्हें पृथ्वी ने दया करके बचा लिया अर्थात् वे कहीं एकान्त में बन्दराओं में जाकर छिप गये। फिर उन्होंने समस्त क्षत्रियों का वध करना आरम्भ किया। वे जहाँ भी जिस क्षत्रिय को देखते, उसे वहीं मार डालते, जिस नगरी में घुस जाते, वहीं के राजा को यम सदन पहुँचा देते। इस प्रकार उन्होंने समस्त पृथ्वी को क्षत्रिय-शून्य कर दिया। जब पृथ्वी पर कोई राजा नहीं रहा, तब उन्होंने

अपने पिता के सिर को धड़ में जोड़कर उनका शास्त्रीय विधि से संस्कार किया। वे दिव्य शरीर से सप्तर्षि-मण्डल मे अद्यावधि विद्यमान हैं।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब एक बार उन्होंने पृथ्वी को क्षत्रिय-शून्य कर दिया, तब फिर पृथ्वी पर इतने क्षत्रिय कहाँ से आ गये? फिर जो एक बार हो गया, सो हो गया। बार-बार क्षत्रियों का संहार क्यों किया?"

सूतजी बोले—"महाराज अब इसका यह साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति क्या उत्तर दे सकते हैं? बात यह है कि पुरुष जो काम करना भी नहीं चाहता, वह उसे दूसरों के भड़काने से, लाग-डाट से विवश होकर करना पड़ता है। परशुरामजी तो भगवान् के अवतार थे। वे जानते थे कि जब तक क्षत्रियों की उद्दण्डता दूर न की जायगी, तब तक पृथ्वी से अनाचार दूर न होगा। इसलिये पिता का वध तो निमित्त मात्र था। जो संपूर्ण संसार की रक्षा करते हैं, वे क्या अपने पिता की रक्षा नहीं कर सकते थे? उनकी इच्छा के बिना इनके पिता को कौन मार सकता था? उन्हें लीला करनी थी, इसलिये उन्होंने यह सब स्वांग रचा था। पहले उन्होंने मूर्धाभिषिक्त राजाओं का ही वध किया था। बच्चों और बूढ़ों से वे बोले भी नहीं थे। राजाओं को मार कर वे फिर तपस्या में लग गये। कुछ दिनों में क्षत्रियों के बालक बड़े होकर फिर राजा बन गये। अब वे अपने-अपने पिताओं के वध का स्मरण करके अत्यधिक उद्दण्डता करने लगे। परशुरामजी के प्रति सर्वत्र घृणा के भाव फैलाने लगे, प्रजा को पीड़ा देने लगे, और ब्राह्मणों का बहिष्कार करने लगे। यहाँ तक कि एक दिन क्षत्रियों की भरी सभा में राजा परावस ने परशुरामजी के मुख पर ही उन्हें चिढ़ाते हुए कह दिया—

"परशुराम ! तुम हमेशा इस फरसे को बाँधे हुए इधर से उधर फिरते हो और बडे गर्व से कहते हो कि मैंने क्षत्रियो का विनाश कर दिया। जिस यज्ञ में राजा ययाति का स्वर्ग से अध.पात हुआ था और वे अपनी लडकी के लडके प्रतर्दनादि के यज्ञ में गिरे थे, वे प्रतर्दनादि कौन थे ? क्या वे क्षत्रिय वीर्य से उत्पन्न नहीं हुए थे ? तुम उनके सामने उसी प्रकार पर्वत का गुहा रूप बिल में छिप गये, जिस प्रकार चूहा बिल्ली के भय छिप जाता है !"

इस बात को सुनते ही परशुरामजी के क्रोधानल मे मानो घृत का आहुति पड गई। वे अपने को सभाल न सके। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब वे पृथ्वी पर एक भी क्षत्रिय न छोडेगें

यह कहकर वे अपने फरसे को उठाकर पुनः क्षत्रिय संहार के लिये निकल पड़े। इस बार उन्होंने बालकों को भी मारना आरम्भ कर दिया। उन्होंने सोचा—"न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। ये बच्चे ही न रहेंगे, तो राजा कैसे होंगे?" परशुरामजी का प्रभाव उस समय इतना अधिक था, कि किसी भी क्षत्रिय का उनके सन्मुख आने का साहस नहीं होता था। क्षत्रिय उनके नाम से थर-थर काँपने लगे। अब तो उन्हें क्षत्रियों से चिढ़ हो गई। यहाँ तक कि वे गोद तथा गर्भ के बच्चों का भी संहार करने लगे।

एक दिन वे क्षत्रियों को मारते हुए भगवती भागीरथी के तट पर पहुँचे। पंडों ने सोचा—"आजकल परशुरामजी का ही बोलबाला है। इनसे कुछ दक्षिणा लेनी चाहिये।" यह सोचकर वे उनके सम्मुख आकर बोले—"भगवन्! आप भगवती भागीरथी में स्नान करें।"

परशुरामजी ने पूछा—"इस गंगा को स्वर्ग से कौन लाया था?"

गंगावासी ब्राह्मणों ने कहा—"प्रभो! इन्हें महाराज भगीरथ लाये थे।"

क्रोध के स्वर में परशुरामजी ने पूछा—"भगीरथ कौन था?"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज! वे तो सूर्यवंशी क्षत्रिय थे।"

डाँटकर परशुरामजी ने कहा—"हम क्षत्रिय की लाई हुई गंगा में स्नान न करेंगे। हम स्वयं अपनी गंगा लावेंगे।" यह कह कर वे हिमालय की ओर चल दिये। अब उन्हें नई गंगा लाने की धुन सवार हुई। हिमालय और देवता डर गये। उन्होंने तुरत एक गंगा प्रकट कर दी। उन्हें लेकर परशुरामजी चले आये। वही पृथ्वी पर अब तक रामगंगा के नाम से विख्यात हैं। राम गंगा को लाकर परशुरामजी ने उसी में स्नान किया। इस बीच

जितने क्षत्रिय हो गये थे, उन सब का पुनः उन्होंने संहार किया। इस प्रकार इक्कीस बार में उन्होंने पृथ्वी पर एक भी क्षत्रिय नहीं छोड़ा। वे क्षत्रियों को पकड़ पकड़कर इकट्ठे कर लेते और कुरुक्षेत्र में ले जाकर उनका वध करते। उनके रक्त से ९ कुंड भर गये। उन रक्त कुंडों में ही उन्होंने अपने पितरों का तर्पण किया। तब पितरों ने प्रसन्न होकर कहा—"पुत्र! हम तुम्हारी पितृ-भक्ति से तो अत्यन्त प्रसन्न हैं, किन्तु तुम इतना क्रूर कर्म कर रहे हो, इससे हमें ग्लानि हो रही है। ब्राह्मण के लिये इतनी क्रूरता उचित नहीं! अब हुआ सो हुआ! अब तुम इस मारकाट से उपरत हो जाओ। अब हिंसा करना छोड़ दो।"

परशुरामजी का कार्यकाल भी समाप्त हो चुका था। सब का समय निश्चित होता है। समय से अधिक कोई कुछ कर नहीं सकता। इसलिये परशुरामजी ने पितरों की आज्ञा शिरोधार्य कर ली और उन्होंने क्षत्रियों का वध करना बन्द कर दिया। परशुरामजी ने अपने जाने तो किसी एक भी क्षत्रिय को शेष नहीं छोड़ा था, फिर भी किसी वस्तु का कभी बीज नाश नहीं होता। बहुत से क्षत्रिय गुप्त रूप से पृथ्वी पर रह ही गये। सब वंशों की स्त्रियों ने अपने बीज को बचाने के लिये किसी प्रकार परशुरामजी से अपने पुत्रों की रक्षा कर ली।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परशुरामजी ने २१ ही बार क्षत्रियों का संहार क्यों किया?"

सूतजी बोले—"अब महाराज! भगवान् की बात तो भगवान् ही जानें। सुनते हैं, जब जमदग्निजी के सिर को काटकर कार्तवीर्य अर्जुन के पुत्र ले गये थे, तब उनकी माता रेणुका देवी ने २१ बार ही छाती पीट-पीटकर 'हा राम, हा राम' ये शब्द कहे थे। उस समय परशुरामजी ने प्रतिज्ञा की थी, 'जितनी बार

मेरी माता ने छाती पीटी है, उतनी ही बार मैं पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों का संहार करूँगा।" संयोग की बात है, इक्कीस बार मे ही सब क्षत्रिय समाप्त हो गये और परशुरामजी के पितरों ने उन्हें क्षत्रिय वध से रोक दिया। उस समय सम्पूर्ण पृथ्वी परशुरामजी के अधीन थी। वे ही उसके एकमात्र अधीश्वर थे। उनके सामने बोलने का साहस किसी को नहीं था। किन्तु वे सम्राट बनना नहीं चाहते थे। उनका धन तो तप ही था। अतः वे अब सम्पूर्ण पृथ्वी दान करने की बात सोचने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! परशुरामजी को इन ब्राह्मणों पर बड़ी दया आई। सोचने लगे—"ये लोग सदा इन राजाओं के आश्रित रहते हैं। एक-एक क्षण चुन-चुनकर बड़े कष्ट से जीवन-निर्वाह करते हैं। इसलिये अब इन्हें राजा बना देना चाहिये।" किन्तु भाग्य को कौन मेट सकता है? ब्राह्मणों के भाग्य में तो दरिद्रता ही लिखी है? विष्णु भगवान् ने अपनी बड़ी साली दरिद्रता का विवाह अपनी बहू रानी लक्ष्मी जी के कहने से ब्राह्मण के ही साथ कर दिया है। फिर भला ब्राह्मण को परशुरामजी राजा कैसे बना सकते थे? जिसका जो काम, उसी को वह शोभा देता है।"

छप्पय

करयो क्रूर अति काज कृपा कीन्हीं नहिँ तिन पै।
नहीं बचें ते कोप काल को होवे जिन पै॥
चिढ़ राजनितें भई जहाँ देखें तहँ मारें।
पकरें बलि पशु-सरिस साथ सब कूँ सहारें॥
रक्त कुण्ड नौं भर दिये, सन्मुख नहिँ कोऊ लरयो।
पितरनि को ग्रस रक्त तें, परशुराम तर्पन करयो॥

—:०:—

प्रशान्त परशुरामजी

(७४४)

आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः ।
उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥
एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन् बहुशो नृपान् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १६ अ० २६ २७ श्लोक)

छप्पय

पुनि पितु सिर धड माहिं जोरि मन्त्रनि तें दीन्हों ।
सर्व-देव मय यज्ञपुरुष कों पूजन कीन्हों ॥
करे यज्ञ अति विशद भूमि कश्यप कूँ दीन्हीं ।
करि अवभृत अस्नान प्रतिज्ञा पूरी कीन्हीं ॥
त्यागि रोष अति शात है भूमि द्विजनि कूँ सौंपि सब ।
पूजित प्राणिनि तैं भये, गिरि महेन्द्र पर बसहिं अब ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन ! भगवान परशुरामजी मार-काट का परित्याग करके शान्त चित्त से अब तक भी महेन्द्र पर्वत पर विद्यमान हैं। वहाँ पर सिद्ध गन्धर्व और चारणगण उनका चरित-गान करते हैं। इस प्रकार विश्वात्मा विश्वेश्वर भगवान् श्रीहरि ने भृगुवंश मे अवतीर्ण होकर पृथ्वी के भार भूत समस्त राजाओं का अनेक बार वध किया।"

बलाबल करने वाला काल ही है। काल जिसके अनुकूल होता है, सभी परिस्थितियाँ उसके अनुकूल बन जाती हैं। जब काल प्रतिकूल होता है, तब अनुकूल भी प्रतिकूल हो जाते हैं। कार्यकाल बीतने पर वस्तु का महत्व भी चला जाता है। माघ में गंगा यमुना के मध्य की हाथ भर भूमि के लिये लोग लालायित रहते हैं, उसे प्राप्त करने के लिये प्रबल प्रयत्न करते हैं, बहुत सा व्यय करते हैं जहाँ माघ का मकर मेला समाप्त हुआ कि उधर कोई फिर ध्यान भी नहीं देता। जब तक कोई अधिकारी अधिकार के पद पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक उसका सभी बडा मान करते हैं, उसका स्वागत सत्कार करते हैं। जहाँ वह उस पद से पृथक हुआ कि फिर वहाँ उसकी कोई बात भी नहीं पूछता। प्रभाव सब समय एक सा नहीं रहता। इसीलिये विवेकी पुरुष प्रभाव देखकर किसी के बड़प्पन छोटेपन का निर्णय नहीं करते। बडप्पन में तो सदाचार ही प्रधान है। जिसके पास तपरूपी सम्पत्ति है, वह सब स्थानों में सर्वथा पूजनीय माना जाता है। इसीलिये ऋषि मुनि इन बाहरी तड़क भडक, स्वागत समारोह तथा प्रभाव की ओर ध्यान न देकर, तप में ही सदा चित्त लगाते हैं, त्याग तपस्या को ही उन्नति का मूलमन्त्र समझते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार कर के अब परशुरामजी इस क्रूर कार्य से निवृत्त हो गये। उन्होंने बडे-बड़े यज्ञ किये, अपना सर्वस्व दान कर दिया। उन्होंने यज्ञ में जो ब्राह्मण होता का काम करते थे, उन्हें पूर्व दिशा का राज्य दे दिया, जो ब्रह्मा बने थे, उन्हें दक्षिण दिशा के देश दे दिये, अध्वर्यु के लिये पश्चिम के प्रदेश प्रदान कर दिये और उद्गाता के उत्तम उत्तर दिशा अर्पित की। अन्य जो ऋत्विज थे, उन्हें उपदिशायें दीं। उस यज्ञ के जो आचार्य भगवान् कश्यप थे, उन्हें

मध्य की भूमि देकर सबका अधिपति बना दिया अर्थात् कश्यप ही इस सम्पूर्ण भू-मण्डल के सम्राट-पद पर अभिषिक्त कर दिये गये। यज्ञ के जो उपद्रष्टा तथा अन्यान्य सदस्य थे, उन्हें भी आर्यावर्त तथा अन्यान्य देश दिये गये। इस प्रकार परशुरामजी ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ब्राह्मणों में बाँट दिया। सम्पूर्ण पृथ्वी का दान करके परशुरामजी ने विधिवत् यज्ञान्त अवभृत-स्नान किया। वे ब्रह्म नदी सरस्वती में सर्वस्व दान करने के अनन्तर यज्ञान्त स्नान करके मेघ के आवरण से हीन सूर्य के समान सुशोभित हुए। पुनः परशुरामजी से पूजित उनके परम पूजनीय पिताजी भी दिव्य संकल्पमय शरीर धारण करके सप्तर्षियों के मंडल में जाकर विराजमान हुए।

कश्यपजी ने सोचा—"यह ब्राह्मण परशु लिये हुए पृथ्वी पर निवास करेगा, तो न जाने कब किस पर क्रुद्ध हो उठे। जब जिस पर क्रोध करेगा, तब उसी का संहार कर डालेगा। अतः अब इसे पृथ्वी पर रहना नहीं चाहिये। यह सोचकर वे परशुरामजी से बोले—"राम! तुमने समस्त पृथ्वी मुझे प्रदान कर दी है। अब मैं इस वन, कानन, दुर्ग गिरि तथा नगरी-सहित पृथ्वी का स्वामी हूँ। अतः मैं हाथ में यज्ञीय श्रुवा उठाकर तुमको आज्ञा देता हूँ—"तुम मेरी पृथ्वी पर मत रहो। दक्षिण सागर के तट पर चले जाओ। वहाँ समुद्र से अपने रहने का स्थान माँगो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इन महापुरुषों के त्याग को धन्य है! जो लोग बीघा भर जमीन के स्वामी हो जाते हैं, वे ही अभिमान में भरकर अपने को न जाने क्या समझते हैं और बड़े गर्व से कहते हैं—"हम भूमिपति हैं।" उसी सप्त द्वीपवती पृथ्वी के एकछत्र स्वामी होकर भी परशुरामजी ने उसे तृण के समान त्याग दिया, कश्यपजी को दान में दे दिया और उनकी

आज्ञा से एक क्षण भी उनके राज्य में नहीं रहे। कश्यपजी की प्रदक्षिणा करके वे दक्षिण समुद्र के समीप पहुँचे। समुद्र ने उन का स्वागत किया और उनके लिये भूमि छोड़ दी, जो शूपरिक (बीजापुर प्रान्त मे सूपल्य) देश से विख्यात हुआ। अब तक वे महेन्द्र पर्वत पर रहकर घोर तपस्या करते हैं। तब से उन्होंने फिर लड़ना भिड़ना त्याग ही दिया। कश्यपजी को भूमि देने के अनन्तर उन्होने दो बार और शस्त्र उठाये—एक बार तो शिव-धनुष भंग होने पर कौशल्यानन्दवर्द्धन श्रीराम की परीक्षा के निमित्त, जिसमें उन्हें नीचा देखना पड़ा और दूसरी बार भीष्म का विवाह कराने के निमित्त। इसमें भी उनकी एक प्रकार पराजय ही हुई, कारण कि अब उनका कार्यकाल रहा नहीं। इन प्रसंगों का यथा-समय वर्णन हो ही चुका है। इस प्रकार ब्राह्मणो को पृथ्वी का स्वामी बनाकर परशुरामजी अब तक महेन्द्र पर्वत पर घोर तप कर रहे हैं। ये भगवान् के आवेशावतार थे। ऋषि के शरीर मे भगवान् का आवेश आया था उसी आवेश मे आकर उन्होंने अकेले ही समस्त पृथ्वी के क्षत्रियों का संहार किया। जब वह आवेश समाप्त हो गया, तब फिर वे ऋषि के-ऋषि ही रह गये। ऋषिरूप में वे तप करते हैं। आगामी मन्वन्तर में जब ये सप्तर्षि बदल कर दूसरे नये सप्तर्षि चुने जायँगे, तब उनमे ये जमदग्नि-नन्दन भगवान् परशुरामजी भी एक होंगे। ये वेद का प्रचार करेंगे। प्रत्येक मन्वन्तर मे मनु, इन्द्र, प्रजापति, देवगण, मनुपुत्र, मन्वन्तरा-वतार तथा सप्तर्षि बदलते रहते हैं। जैसे इस वैवस्वत मन्वन्तर में विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि, भरद्वाज और गौतम—ये सप्तर्षि हैं; वैसे आगामी सावर्णि मन्वन्तर होगा। उस में प्रह्लादजी के पौत्र महाराज बलि इन्द्र होंगे और गालव, दीप्ति-

मान, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृङ्ग, बादरायण व्यास और परशुराम—ये सब सप्तर्षि होंगे। ये सब के सब अपने अपने आश्रमों में गुप्त रीति से स्थित है। किसी किसी भाग्यशाली को इनके दर्शन भी होते हैं। धर्मराज युधिष्ठर को महेन्द्रपर्वत पर परशुरामजी ने दर्शन दिये थे। अब भी बहुत से भाग्यशालियों को उनके दर्शन हो ही जाते हैं। यह मैंने अत्यन्त सक्षेप मे भगवान् के अशावतार श्री परशुरामजी का चरित कहा। अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं ?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! हमे बडा कुतूहल हो रहा है कि जब परशुरामजी ने सब क्षत्रियो को मार डाला, तब फिर इतने क्षत्रिय कहाँ स आ गये। ब्राह्मणो ने पुन पृथ्वी क्षत्रियों को क्यो लौटा दी ? जितने दिन ब्राह्मण राजा रहे, उन्होने कैसा राज्य किया ?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज ! जिस वस्तु के प्रति मनुष्यो का स्वाभाविक आकर्षण नही होता, उसकी रक्षा करने म रस नहीं आता। बिना मन के जेसा कार्य होता है, उसे आप जानते ही हैं। इन ब्राह्मणों ने कभी धन और भूमि को महत्व दिया ही नहीं। जन्म से ही इनके सस्कार त्याग की ओर होते हैं। कलियुग को छोडकर सभा युगो मे राजा क्षत्रिय ही होते हैं। उन्ह ही राज्य करने की योग्यता होती है। कलियुग म तो कपट का व्यवहार रह जाता है। इसमें तो जो बली हो, धूर्त हो, वही राजा बन बैठता है। ब्राह्मण तपस्या कर सकते हैं, कथा बाच सकते हैं। धर्म और न्यायपूर्वक सब को यथोचित दड देते हुए शासन करना उनके लिये कठिन है। वे मत्रणा कर सकते हैं, सुयोग्य मत्री बन सकते हैं, किन्तु शासक नहीं।

परशुरामजी ने तो बहुत चाहा कि राजसत्ता ब्राह्मणों के ही

हाथ में रहे, ये ही छत्र-चँवर लगाकर राजा बन जायँ। किन्तु जब इतने वीर पराक्रमी होकर वे स्वयं ही शासक न बन सके, राज्य को तृण-समान त्यागकर उसे कश्यपजी को सौंप कर तपस्या करने चले गये, तब दूसरों से वे कैसे शासन करने की आशा कर सकते हैं, जो उनसे से भी अधिक शांत-दांत और तितिक्षु हैं। कश्यपजी भी दूसरे ब्राह्मणों को राज्य देकर तप करने चले गये। अब ब्राह्मणों की दशा तो आप जानते ही हैं। इन्होंने कड़ा बोलना तक तो सीखा नहीं। किसी पर क्रोध आ भी जाय, तो शाप आदि देकर उसे तत्क्षण शांत कर लेते हैं। राज-काज में तो सब कुछ करना पड़ता है। यह इनके वश का नहीं!

कश्यपजी ने राज्य ले तो लिया, किन्तु अब, इस खटपट में पड़े कौन! उन्होंने कुछ ब्राह्मणों को बुलाकर सब पृथ्वी बाँट दी। जैसा धन होता है, वैसे ही वह व्यय होता है। परिश्रम की कमाई शुभ काम में लगती है। वैसे ही वह घर बैठे आ जाय पड़ी हुई मिल जाय तो वैसे ही चली भी जायगी। कश्यप जी ने कुछ लड़कर श्रम करके तो पृथ्वी ली ही नहीं थी, जो उसमें उनका अनुराग हो। संकल्प छुड़ाने से ही पृथ्वी उन्हें मिली थी, उन्होंने दूसरे ब्राह्मणों को संकल्प कर दी और स्वयं तपस्या करने वन को चले गये।

उग्र शासक न रहने से वैश्य, शूद्र तथा अन्य लोग भी सबल बन गये। उन्होंने ब्राह्मणों पर ही शासन करना आरम्भ कर दिया। कोई किसी की बात मानता ही नहीं था। यहाँ तक कि वैश्य शूद्र ब्राह्मणियों के साथ व्यभिचार करने लगे। सर्वत्र अराजकता छा गई। पृथ्वी ने सोचा—"जब मेरा कोई रक्षक ही नहीं, तब मैं रसातल को क्यों न चली जाऊँ?" यह बात कश्यप

को विवित हुई। वे दौड़े-दौड़े आये और पृथ्वी से कहा—"तू रसातल क्यों जाना चाहती है ?" रोकर पृथ्वी ने कहा—"रसातल न जाऊँ, तो यहाँ मैं अपनी दुर्गति कराऊँ ! तुम तो वन में जाकर समाधि में बैठ गये। ऐसे कहीं पृथ्वी का पालन होता है ? मुझे तो पत्नी की भाँति, जो निरन्तर सावधानी से पालेगा, उसके सहारे में रह सकती हूँ। तुमने दान में मुझे ले तो लिया, किन्तु मेरा पालन करते नहीं।"

कश्यपजी को अपनी भूल अब मालूम हुई। जैसे तैसे कुछ हुई पृथ्वी को उन्होंने मनाया। उसे अपने ऊरू में छिपाया। तभी से पृथ्वी का नाम उर्वी पड़ा। इसका साराश यह हुआ कि उन्होंने विशुद्ध वश की क्षत्राणियों में अपने वीर्य से पराक्रमी क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न किये। अब उन्होंने पृथ्वी से पूछा—"पुराने क्षत्रिय हैं भी ?"

पृथ्वी हँस पड़ी और बोली—'मैं कभी किसी का बीज नाश नहीं होने देती (कहीं-न कहीं छिपा ही लेती हूँ) आप चारों ओर घूम घूमकर पता लगावें, बहुत से छिपे हुए क्षत्रिय मिलेंगे। बहुत से जंगलों में हैं, बहुत से दूसरी जाति के लोगों में वर्ण बदल कर रह रहे हैं।"

कश्यपजी ने खोज की, तो सहस्रार्जुन के पाँच पुत्र छिपे हुए मिल गये। उनको उन्होंने पुन राजा बना दिया। विन्ध्य गिरि माला के पूर्वीय भाग ऋक्षवान् पर्वत पर उन्हें पुरुवशीय महाराज विदूरथ की रानी मिली। वह रीछों के बीच रहकर अपने बच्चे को छिपाकर रक्षा करती थी। कश्यपजी उन्हें ले आये और उनका नाम ऋक्षवान् रखकर उसे पुनः पुरुवश का राजा बना दिया।

भगवान् पराशर के आश्रम पर उन्होंने एक तेजस्वी सेवक

देखा। वह ऊँच नीच सभी काम करता था। इसलिये लोग उसे सर्वकर्मा कहते थे। कश्यपजी समझ गये कि यह भी कोई क्षत्रिय है शूद्र वेष में अपने दिन काट रहा है। पता लगाने से विदित हुआ कि यह महाराज सोदास का पुत्र है। उसे भी उन्होंने राजा बना दिया। ढूँढते-ढूँढते वे गोपों की बस्ती में पहुँचे। वहाँ भी उन्हें एक बड़ा तेजस्वी यशस्वी पुरुष दिखाई दिया। यद्यपि गोपों ने ही उसे पाल पोसकर बड़ा किया था, किन्तु वह गोप-जाति से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता था। कश्यपजी ने गोपों से छानबीन की। पता चला कि यह महाराजा शिवि का गोपति नामक पुत्र है। कश्यपजी ने उसे भी राजा बना दिया। गंगा तट गोमती जी के आश्रम पर दिविरथ के पुत्र छिपे हुए मिले। गृद्धकूट पर्वत पर महाराज बृहद्रथ मिले, जो लंगूरों में रहते थे। बहुत से राजकुमार समुद्र के तटों पर छिपे हुए मिले। बहुत से सुनारों अहीरों के यहाँ छिपकर रहते थे। कश्यपजी को जहाँ विशुद्ध वंश के क्षत्रियों का पता लगा, उन सब को वे ले आये। विशुद्ध वंश की क्षत्राणियों में धर्मपूर्वक उन्होंने भी संतानें उत्पन्न कीं। वे कश्यपगोत्रीय क्षत्रिय परम पराक्रमी हुए। उन सब ने इस पृथ्वी का धर्मपूर्वक पालन किया। कई राजा स्त्रियों का कवच बना कर उनके भीतर छिप गये थे। अब वे सब पुनः प्रकट हुए। कुछ ही काल में क्षत्रियों के पुनः विशुद्ध वंश स्थापित हो गये और वे ब्राह्मणों की आज्ञा से धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। इससे सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य हो गया। पृथ्वी पर पुनः क्षत्रिय वंश प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ। यह सब भगवान कश्यपजी की कृपा है। इस प्रकार भगवान् ने परशुराम रूप से अवतरित होकर क्षत्रियों के भार से दबी पृथ्वी का उनके अन्यायों से उद्धार किया।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप ने बताया था, कि महाराज गाधि की पुत्री सत्यवती ने अपनी माता के कहने से चरु बदल लिया था। इसीलिये उसके पौत्र परशुरामजी ऐसे क्रूरकर्मा और ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय भावापन्न हुए। अब हम यह सुनाना चाहते हैं कि सत्यवती का वह ब्रह्मतेज-सम्पन्न चरु गाधि की पत्नी सत्यवती की माता ने श्रेष्ठ समझकर खा लिया था, तो उसके गर्भ से कैसा पुत्र हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! यही तो मैं अब सुनाने वाला था। उन्हीं गाधि-पत्नी के गर्भ से सप्तर्षियों में परम पूजित महर्षि विश्वामित्रजी हुए, जो क्षत्रिय माता पिता से उत्पन्न होकर भी ब्राह्मण बन गये। अब मैं आप को उन्हीं भगवान् विश्वामित्र के चरित को सुनाता हूँ। आप श्रद्धापूर्वक, शान्ति के साथ, इस प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

जब जस निरखे समय रूप तब तस हरि धारैं।
साधुन रक्षा करहिं नीच-खल-दुष्टनि मारैं॥
करन धरम-उत्थान सदा प्रकटैं जग माहीं।
ऊँच-नीच ब्यौहार जगत को उन महँ नाहीं॥
क्षत्रानिनि के उदर तैं, प्रकटे सुर-रिपु अवनि पै॥
राम परशु तैं ते हने, करी कृपा सुर-नरनि पै॥

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६) ५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ८) है। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त सकीर्तन भवनो मे मिलती हैं। सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(तैंतीसवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्वितानि ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

824
धर्म

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●

तृतीय संस्करण १००० } वैशाख सं० २०२८ { मूल्य : १.६५

मुद्रक—बद्रीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१—अन्तर्द्वन्द्व	१
२—विश्वामित्र-चरित	१९
३—विश्वामित्रजी द्वारा शुनःशेप का उद्धार	४०
४—पुरूरवा के ज्येष्ठ सुत आयु का वंश	५०
५—महाराज ऋतध्वज या कुवलयाश्व	५६
६—महाराज अलर्क की कथा	९४
७—रजिरम्भ और अनेना की वंशावली	१०६
८—नहुप-चरित	११३
९—महाराज नहुप को इन्द्र-पद की प्राप्ति	१४६
१०—महाराज नहुप का उत्थान-पतन	१५२
११—देवयानी और कच में शापाशापी	१६९
१२—देवयानी और शर्मिष्ठा में कलह	१९०
१३—देवयानी और ययाति	१९८
१४—शर्मिष्ठा देवयानी की दासी बनी	२०७
१५—देवयानी का ययाति के साथ विवाह	२१५
१६—धर्म-संकट मे महाराज ययाति	२२२
१७—देवयानी की शंका	२२९
१८—ययाति पर देवयानी और शुक्र का प्रकोप	२३५
१९—ययाति पर जरा का आक्रमण	२४१
२०—पूरु द्वारा ययाति को यौवन प्राप्त	२५३
२१—महाराज ययाति को वैराग्य	२६०
२२—इन्द्रियों की बलवत्ता	२६८
२३—महाराज ययाति को परमपद की प्राप्ति	२८१
२४—पुरुवंशी महाराज दुष्यन्त	२८७

—०—

अन्तर्द्वन्द्व

[भूमिका]

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात्,
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः,
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० २० श्लो०)

छप्पय

संग्रह बनि के स्याम! कबहुँ हँसि हियमहँ आओ।
पुनि विराग बनि विभो! व्यर्थ सब वस्तु बताओ॥
सेवा शिक्षा देहु, मनोरथ महल रचाओ।
छिन महँ सुन्दर-सुघर महल रज माहिं मिलाओ॥
जल भरि-भरि रीते करो, रीते पात्रन पुनि भरो।
काम-धाम तुम कूँ न कछु, बालकवत् क्रीड़ा करो॥

---

* प्रह्लादजी भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो! पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले जितने पर और अपर कर्ता हैं, वे जिसकी प्रेरणा से कर्म करते हैं, जिसके द्वारा करते हैं, जिसके लिये करते हैं, जिससे करते हैं, जिसका करते हैं, जिसमें करते हैं, जिस प्रकार जो भी कुछ पैदा करते हैं, अथवा विपरीत करते हैं, वह सब आपका ही स्वरूप है।"

जिनके जीवन में निरन्तर आन्तरिक युद्ध न उठता रहता हो, वे या तो गुणातीत हैं या फिर जड हैं। जिसमे तनिक भी विचार, विवेक, वैराग्य और विषय विमर्श की क्षमता है, उस को तो पग-पग पर अपने कार्यों की, उनके परिणामों की, तथा हित-अहित की निरन्तर समीक्षा करनी ही पडती है। प्राणी व्यसनो से विवश है। व्यसन उसे कहते हैं, जिसमे अशन-भोजन से भी वैशिष्ट्य हो। जैसे किसी को धूम्रपान का व्यसन हो गया है। अब वह अशन के बिना रह सकता है, किन्तु व्यसन के बिना नहीं रह सकता। एक दिन उसे रोटी न दो, यह उसे स्वीकार होगा, किन्तु उसके लिये धूम्रपान का प्रबन्ध अवश्य कर दो। कुछ-न-कुछ व्यसन तो सबको ही होता है, किसी भी व्यसन के बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता। अब हमे समीक्षा इसी बात का करनी है, कि यह व्यसन हमे परमार्थ की ओर ले जा रहा है या स्वार्थ की ओर, इसका परिणाम हमे प्रभु के पाद-पद्मों मे ले जाना है या ससार-जाल में फँसाना। जो व्यसन हमे भगवान् की ओर ले जाय, वास्तव में वही उत्तम व्यसन है, वह सर्वथा ग्राह्य है। जो संसार मे हमें फँसावे, वह व्यसन कितना भी अच्छा हो, दुर्व्यसन है और उसे त्याग देने मे ही हमारा कल्याण है।

मैं अनेक बार पाठकों को बता चुका हूँ मुझे लिखने का व्यसन है। मैंने सोचा था कि और कुछ होता नहीं तो भगवान् और भक्तों के विषय में कुछ लिखते ही रहो। इसीलिये, उन्हीं की प्रेरणा से, उन्हीं की शक्ति से, उन्हीं के बताये सकेतों पर, मैं शुभ्र कागजो को काला करता हूँ। लिखने पर उनमें जो ममत्व हो जाता है—इन लेखों द्वारा मेरी प्रसिद्धि हो, प्रतिष्ठा हो, नाम हो—इसका उदय होना पाप है, अर्थात् दूसरे की वस्तु को अपना

बताना यह एक अक्षम्य अपराध है। इसीलिये बार-बार यह प्रेरणा होती है कि शीघ्र लेख छपें, शीघ्र इनका प्रचार-प्रसार हो। छपना—प्रचार करना—व्यापार है। जिसे व्यापार करना नहीं आता, वह यदि व्यापार में प्रवृत्त होगा, तो सिवाय अनर्थ के और क्या करेगा! उसके साथ के दूसरे व्यापारी, जिनका माल भी अपनी दृष्टि में बहुत अच्छा नहीं है, किन्तु जिन्हें व्यापार का ढंग मालूम है, अपने से बहुत अधिक प्रचार कर ले जाते हैं, उन्हें देखकर ईर्ष्या होती है। मन में व्यापार-वृद्धि की वासना है, किसी कामी या कामिनी के द्वारा प्रचार की आशा है, तो उनसे इच्छा न रहने पर भी सम्बन्ध स्थापित करना ही पड़ता है। इससे दम्भ बढ़ता है, दुर्गुण आते हैं। इच्छानुसार व्यापार न हो, तो क्रोध आता है। व्यापार-वृद्धि के लिये लोभ का भी आश्रय लेना पड़ता है लोगों की ऐसी धारणा बन गयी है, कि असत्य के बिना व्यापार चलता नहीं, अतः बात-बात पर वे असत्य बोलेंगे। व्यवहार में छल-प्रपञ्च, एक दूसरे को ठग लेना आदि बातें साधारण हो गयी हैं। जो जितना ही अधिक झूठ सच बोलकर लोगों से कपट-व्यवहार करके धन पैदा कर लेता है, समाज में उसका उतना ही अधिक मान होता है। काजल की कोठरी में जाय और एक रेख काजल की न लगे, यह असम्भव है। इन बातों को मैं पहले ही जानता था, फिर भी मैं व्यवहार में पड़ गया। इसे प्रारब्ध कहूँ या प्रमाद—इसका निर्णय पाठक ही करें। दूसरे लोग प्रारब्ध कहें तो उचित भी है, पर मुझे तो इसे प्रमाद ही कहना चाहिये।

'भागवती कथा' का प्रकाशन जब आरम्भ किया गया था, तब उसके प्रथम खण्ड की भूमिका में लिखा गया : खण्ड निकाल कर मैं उससे पृथक् हो जाऊँगा, [illegible]

हो सका। जिन्होंने यह भार उठाने का मुझे आश्वासन दिया था, वे अब दृष्टि उठाकर भी नहीं देखते। फिर मैंने किसी खण्ड की भूमिका में लिखा था "बाबाजी चक्कर में फँस ही गये।" वास्तव में बाबाजी के चक्कर में फँसने में कुछ भी शेष नहीं रहा। अन्तर्द्वन्द्व बराबर चल रहा था, इसी द्वन्द्व में २९ खण्ड निकल गये। प्रेसों के त्रास से बचने के लिये झूसी में एक छोटा प्रेस भी लिया गया, किन्तु उससे सुविधायें न होकर असुविधायें ही बढ़ीं। कहावत है—"स्वल्प पूँजी स्वामी को खा जाती है।" चार पृष्ठ की उस छोटी मशीन से 'भागवती कथा' जैसा विशाल ग्रन्थ कैसे छपे? इधर जब सब लिखे अध्यायों को खण्डशः लगाया, तो अब तक लगभग ४ वर्ष में ५३ खण्ड ही लिखे जा सके। यद्यपि मैं ऐसा कोई प्रकाशन-सम्बन्धी प्रयास नहीं करता था, फिर भी चित्त की वृत्तियाँ तो उस ओर लगी ही हुई थीं। मन में अनेक तरंगें उठती रहतीं—"तुम्हारा यह पतन हो गया है, भजन-पूजन सब छूट गया है, यह नियम बनाओ, वह बनाओ, किसी से मिलो मत, प्रकाशन की सोचो ही मत जैसा हो, उसे देखते रहो, या सबको भगवान् का काम सोचकर निश्चिन्त हो जाओ।" इस प्रकार के विभिन्न विचारों के उदय से मैं कुछ निर्णय न कर सका। कोई नियम भी करता तो उसे अपनी दुर्बलता से न निभा सकता। अन्त में आज से तीन चार महीने पहले मैंने निर्णय कर लिया कि अब मुझे प्रतिष्ठानपुर की प्रतिष्ठा का परित्याग करके एक दिन यहाँ से चुपके से चला जाना चाहिये। आँखों के सामने न ये सब वस्तुएँ रहेंगी, न इनमें मन जायगा। इससे मन में शान्ति हुई। अब इसके विपरीत विचार उठने लगे—"तुम चले जाओगे, तो और सब तो उजाड़ हो ही जायगा, प्रकाशन भी बन्द हो जायगा।" फिर सोचता—"तू

करने कराने वाला कौन है ? श्रीहरि ही सब करते कराते हैं। उन्हें प्रकाशन चालू रखना होगा, तो तेरे रहने से ही क्या होगा ? तू इसमें से अपना अहंकार छोड़कर चुपचाप किसी पुण्य तीर्थ में बैठकर राम राम रट, और जो समय बचे, उसमें भागवती कथा के शेष खण्डों को लिख।" भगवान के ऊपर सब कुछ छोड़ने की बात से चित्त में दृढ़ता आई। संकीर्तन-भवन का एक संरक्षण संघ बनाया गया, जिसके स्वामी श्री ब्रह्मचैतन्यपुरीजी, श्री श्यामप्रकाशजी, पं० मूलचन्दजी मालवीय, लाला रामनारायण लालजी बुकसेलर के सुपुत्र बा० वेणीप्रसाद जी, पं० रामकृष्णजी शास्त्री, वैद्यनाथ प्राणदा के स्वामी पं० रामनारायण जी वैद्य और बाबू श्यामसुन्दर संरक्षक (ट्रस्टी) बनाये गये। श्री गजाधर प्रसाद जी भार्गव भी वैधानिक परामर्श-दाता नियुक्त हुए। इस प्रकार संकीर्तन भवन का राजकीय विधि-विधान से संरक्षण संघ (ट्रस्ट) बन गया। तब मैंने निश्चय कर लिया, कि चैत्र का नव संवत्सर-महोत्सव समाप्त हुआ, और मैं वैशाख कृ० तृतीया को यहाँ से बिना किसी से कहे चल दूँगा। यह संकल्प दृढ़ था, इसका जितना भी प्रबन्ध होना चाहिये था, सब कर लिया था मैंने भागने की समस्त योजनायें बना ली थीं। अब प्रश्न उठा—भागकर चलूँ कहाँ ? मैं गंगा-तट या पुण्यतीर्थों को छोड़कर तो कहीं रह नहीं सकता। एक बार मन में आया, वृन्दावन में चलकर रहूँ; किन्तु फिर सोचा कि वहाँ तो बाल्य काल से रहा, पढ़ा, वह तो अपना घर ही है, वहाँ तो यहाँ से भी अधिक भीड़ हो जायगी। फिर सोचा—'बदरीनाथ चलूँ।' किन्तु वहाँ की जलवायु विशेष अनुकूल पड़ती नहीं, दो-चार महीने रहकर भागना पड़ता है। कई बार तो गया-आया ! अन्त में सोचा—"अच्छा, द्वारका जी चला जाय, शेष 'भागवती कथा' के खण्ड वहीं लिखे जायँ।"

भण्डाफोड हो जायगा लोग रोने रोने लगेंगे। किन्तु बिना उन्हें पहले कहे प्रबन्ध भी तो नहीं हो सकता।" यही सोचकर अक्षय तृतीया के एक दिन पहले द्वितीया को जब हम संगम से लौटकर आये, तब मैंने राजा को एकान्त में बुलाया और कहा—"हम तुमसे एक गुप्त बात कहते हैं, किसी से कहोगे तो नहीं।" उन्होंने कहा—"जब आप मना करते हैं, तब हम वैसा क्यों किसी से कहेंगे?"

मैंने कहा—"अच्छा, शपथ करो।"

उन्होंने कहा—"हाँ, शपथ की।"

तब मैंने उसे आदि से अन्त तक सब बातें बतायीं और कहा "अब द्वारका चलना है, तुम्हें भी साथ चलना होगा।" यह सुनते ही उसकी आँखें भरने लगीं। वह बोला—"महाराज! यह सब कलङ्क मेरे मत्थे लगेगा। सब मुझे ही अक्रूर कहेंगे। फिर आप से यह भी कैसे कहूँ कि आप ऐसा न करें, मुझे तो जैसी आज्ञा होगी, वैसा करूँगा—चलूँगा।"

मैंने कहा—"अच्छा, तुम आज सायंकाल को चले जाना, अपना सब सामान लेकर, जो विशेष सामान हो, उसे वैद्यजी के यहाँ रख देना। अमुक स्थान से मोटर लेकर कल प्रातः संगम पर आ जाना।"

तब उसने आँसू पोंछते हुए कहा—"महाराज! यह तो आप कठिन काम मुझे सौंप रहे हैं। यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। मैं पीछे पीछे चला अवश्य चलूँगा, किन्तु मोटर लेकर मैं नहीं आ सकता। सब का शाप मेरे ही ऊपर पड़ेगा। अक्रूर जी को सब गोपियों ने शाप दे दिया कि तुम क्रूर हो। और हुआ भी ऐसा ही सचमुच वे क्रूर हो गये, साधारण मणि के पीछे वे भगवान् से विमुख हो गये। प्रेमियों का शाप अमोघ होता है।"

मैंने कहा—"भैया! मैं तो अभागा हूँ। मुझसे संसार में प्रेम करता ही कौन है? मेरा प्रेमी कोई नहीं, यह मन शिष्टाचार है।"

उन्होंने कहा—हाँ, यह तो मैं भी जानता हूँ, कोई आप से प्रेम नहीं करता। इतने लोग यहाँ रहते हैं, उन सब को दुःख तो होगा ही। मोटर लाने की बात मुझसे मत कहिये।"

मैंने कहा - "अच्छी बात है। उसका प्रबन्ध मैं कर लूँगा। तुम संगम से मेरे साथ चलना।" यह सुनकर वे चले गये और यात्रा की सब तैयारियाँ करने लगे। अब तक यह बात अकेले मैं जानता था, अब चार कानों में पहुँच गयी।

सायंकाल शर्माजी को भी बुलाकर उनसे भी शपथ कराकर मैंने सब बातें कहीं और वे भी चलने की तैयारियाँ करने लगे।

हाँ, इसके एक ही दिन पहले श्री-श्री माँ आनन्दमयी का एक आदमी आया। उसने कहा—"यहाँ शिवजी की प्रतिष्ठा है, अक्षय तृतीया के दिन चाहे कुछ घण्टों के ही लिये सही, पिताजी को यहाँ आना ही चाहिये।" मुझे तो भागना था ही, मुझे यह अवसर मिल गया। कहने को भी हो गया कि काशी जा रहा हूँ। मैंने कहला दिया—"मोटर भेज दें मैं आऊँगा।"—जो मोटर संगम पर बुलायी थी, उसे मैंने रोक दिया। माताजी का दूसरा आदमी आ गया कि अक्षय तृतीया को प्रातःकाल मोटर पहुँच जायगी।

द्वितीया के दिन कथा कीर्तन से लौटकर मैं यहाँ आया। मन में अनेक विचार उठ रहे थे। कुछ हर्ष भी था कुछ खेद भी। हर्ष तो यह था, कि लगभग इस पाँच वर्ष के कारावास से मुझे मुक्ति मिलेगी, स्वच्छन्द संसार में विचरण का अवसर मिलेगा। खेद यह था कि कल से त्रिवेणी का स्नान; संगम के दर्शन और गङ्गा जल-पान से वञ्चित रहूँगा। कुटिया की लता-पताओं और छोटे-

छोटे पौधों का भी मोह होगा, किन्तु उसकी अनुभूति नहीं हुई। कीर्तन भवन से लौटते समय मन में कुछ द्विविधा-सी हुई। कल मेरे चले जाने पर आश्रम का जो दृश्य होगा, उसका चित्र सम्मुख उपस्थित हुआ। अब तक दृढ़ता थी, अब उस दृढ़ता में शिथिलता ने प्रवेश किया। अब तक निश्चय था कि बिना किसी को सूचना दिये चलूँ। अब मन में आया कि चलना ही है, तो सबसे कहकर चलूँ। राजा भैया साथ थे, मैंने पूछा—"कहो भाई! तुम्हारी क्या सम्मति है?"

उसने चौंक कर पूछा—"कैसी सम्मति?"

मैंने कहा—"यही कि हमें इस प्रकार जाना उचित है या नहीं?"

उसने कहा—"महाराज! हमसे यदि सम्मति पूछी जाती है तो हमें स्पष्ट कहने की अनुमति मिलनी चाहिये।"

मैंने कहा—"हाँ स्पष्ट ही कहो।"

वह बोला—"मुझे तो आपका जाना अनुचित ही प्रतीत होता है। इसके कई कारण हैं।"

मैंने कहा—"कौन कौन कारण हैं?"

वह बोला—"आपके बिना यह जो पसारा है, वह कल कुछ न दीखेगा।"

मैंने कहा—"न दीखे मुझे क्या? श्रीहरि ने ही सब किया है। मेरा किसी से मोह नहीं। मेरा स्वरूप ही है। मुझे राग हो गया है, इसीलिये ऐसा निश्चय किया है।"

वह बोला—"न राग हो, फिर भी जो कार्य आपके द्वारा हो रहा है, वह अधूरा रह जायगा। उसमें यह बड़ा भारी विघ्न है। द्वारका भगवत् क्षेत्र है, यह सत्य है, किन्तु मैं तो उस देश में बहुत रहा हूँ। इतना भारी विशाल एकान्त क्षेत्र कहीं न मिलेगा—

कहीं भी नहाने जाओ, जन-समूह में होकर जाना पड़ेगा। यह प्रतिष्ठानपुर ही ऐसा स्थान है जहाँ मील भर तक एकान्त कछार में जाकर त्रिवेणी स्नान कर लो। वहाँ ऐसा मीठा गंगाजल कहाँ मिलेगा? और सबसे बड़ा बात यह है कि जैसा लेखन का यहाँ वायुमण्डल निर्मित हो गया, वहाँ वैसा निर्माण करने में भी समय लगेगा। फिर कविता की किसी स्थान विशेष पर ही स्फूर्ति होती है। सम्भव है, वहाँ कविता की स्फूर्ति न हो। तो यह 'भागवत् चरित' जो छप्पयों में लिखा जा रहा है, अधूरा ही रह जायगा।"

अन्तिम बात ने मेरे हृदय पर प्रभाव डाला। यथार्थ में कविता की स्फूर्ति मुझे सर्वत्र होती ही नहीं। नौका में, बीच गंगा जी में, या इस कुटिया में—दो ही स्थानों पर कविता की स्फूर्ति होती है और ऐसा लगता है मानों मुझसे कोई लेखनी पकड़कर लिखवाता रहता है। अन्य कहीं मैंने कविता की भी हो, तो बहुत न्यून और चलती-फिरती।

अब मन की विचार-धारा बदली। मोह में जैसे अपने को कर्ता मानकर विचार उठते हैं, वैसे उठने लगे—"नया ही नया ट्रस्ट हुआ। ट्रस्टी लोगों के सिर पर एक साथ इतना भार पड़ जायगा। यद्यपि ३६ खण्डों के छपने का प्रबन्ध हो चुका है, किन्तु कौन जाने, पीछे अधूरे खण्ड छपते हैं या नहीं। ३६ खण्डों तक खण्ड पाठकों के पास न पहुँचेंगे, तो जो भावुक ग्राहक टकटकी लगाये भागवती कथा के प्रत्येक खण्ड की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते रहते हैं, उन सबका शाप मुझ पर लगेगा। आश्रम पर लगभग पन्द्रह सहस्र रुपये का ऋण है। अभी तक तो लोगों को विश्वास है कि देर-सबेर सब मिल जायगा। मेरे जाते ही जिनका रुपया चाहिये, वे आकर पन्तजी, खजाञ्ची जी साथ घेरेंगे। ये लोग कैसे सङ्कट में पड़ जायँगे?" अब

विचार भूल गये, मोह के विचार उठने लगे—"वहाँ गये और कविता की स्फूर्ति न हुई तो, फिर अपना-सा मुँह लेकर यहाँ लौटना पड़ेगा। फिर उठी पेंठ आठवें दिन लगती है, सब अधूरा ही रह जायगा। त्रिवेणी छूट जायँगी, इस गरमी में सुराही का अत्यन्त शीतल ठण्डा ठण्डा गंगाजल पीने को न मिलेगा। कितने दिन से लोग श्रीकृष्ण चरित की आशा लगाये बैठे हैं। छत्तीसवें खण्ड से श्रीकृष्ण चरित आरम्भ होता है और ५० वें खण्ड तक जाता है मैं भी यही आशा लगाये हुए हूँ कि कमसे कम ये पचास खण्ड तो छपकर पाठकों के हाथों में पहुँच ही जायँ।" इन विपरीत विचारों के आने से मेरे निश्चय में शिथिलता आ गयी।

मैंने कहा—"अच्छा, कल इस पर विचार करूँगा। न होगा, तो सबसे ही कहकर ही जाऊँगा।"

मैंने देखा, मुझमें पहले-जैसा भगवान पर विश्वास न रहा। पहले मैं कहीं चलता था, तो यों ही चल देता था। यह विचार भी नहीं करता था कि टिकट के पैसे कहाँ से मिलेंगे। कितने भी आदमी साथ हों, चल दिये। स्टेशन पर टिकट का कहीं कोई प्रबन्ध हो ही जाता था। इस बार कई दिन पहले से मैंने जाने का निश्चय कर लिया था। जाने के एक दिन पहले चुपके से बा० वेणीप्रसाद जी से ४००) किराये के मँगा भी लिये थे। अब चित्त संशय में पड़ गया।

राजा ने कहा—"आप अभी ठहरें। या तो भगवान आप से ही इस सम्बन्ध में कुछ कह देंगे या स्वप्न में ही कोई आदेश कर देंगे।"

यह सोचकर मैं सो गया। प्रातःकाल बहुत सवेरे उठकर त्रिवेणी स्नान करने गये। राजा ने कहा "कहो क्या आदेश हुआ। कुछ स्वप्न हुआ?"

मैंने कहा—"आदेश तो कुछ नहीं मिला। स्वप्न यह देखा कि हम गंगाजी में डुबकी लगा रहे हैं, एक कङ्कण मिला है।"

उसने कहा—"इसके तो दोनों अर्थ हो सकते हैं—या तो त्रिवेणी मैया कहती हैं कि मैं तुझे कङ्कण पहिनाये देती हूँ, यहीं रह, या वे कहती हैं कि यह उपहार लेता जा।"

मैं स्नान करके लौटा, तो संगम पर कुछ पण्डित हवन कर रहे थे। उन्होंने मुझे सत्कार-पूर्वक बुलाया और माला पहनायी। कुछ निर्णय ही न कर सका कि क्या आदेश है, क्या उपदेश है।

आश्रम पर आकर पुरी जी और हरेराम महाराज को बुलाया और उनसे सब बातें कहीं। उन्होंने कहा—"न आप हमारे रोकने से रुक सकते हैं, न हमारे कहने से जा सकते हैं। भगवान् को जो आपसे कराना होगा, वह अवश्य करावेंगे। यहाँ कथा लिखानी होगी, तो आप जाना भी चाहेंगे, तो नहीं जा सकते। कहीं बाहर जाकर ही कथा लिखानी होगी, तो आप यहाँ रहना भी चाहें, तो नहीं रह सकते। प्रथम खण्ड की भूमिका में लिखा है कि यहाँ त्रिवेणी पर ही कथा लिखा करूँगा। मुझसे उसे पूरा कराना होगा तो वे मुझे यहाँ रखेंगे।"

मैंने कहा—"कथा लिखने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। एक तो मुझे अनुभव होने लगा है कि मेरा त्याग-वैराग्य सब समाप्त होकर मैं माया-मोह में फँस रहा हूँ। मुझे आश्रम की, रुपयों की, ईंट पत्थरों की चिन्ता रहने लगी है। इससे न तो अब कुछ लिखा ही जाता है; न भजन ही होता है।"

उन्होंने कहा—"आप जहाँ भी जायँगे, वहीं ऐसा होगा। पहले जैसा नियम बना लें। कथा-कीर्तन के अतिरिक्त किसी से जैसे पहले नहीं मिलते थे, वैसे मिला मत करें, आश्रम में चाहे कुछ हो। भगवान् सब प्रबन्ध करेंगे। आपको तो अनुभव नहीं

यह भगवती कथा का कितना बड़ा कार्य भगवान् आपके द्वारा करा रहे हैं। इसका महत्व आपको अभी नहीं जान पड़ेगा, इस का पीछे पता चलेगा। आप त्रिवेणी और अपनी कुटी से सम्बन्ध रखें, आश्रम की, प्रेस की, प्रकाशन की—सब चिन्ता छोड़ दें।" पुरी जी महाराज ने भी इसी का समर्थन किया। उन्होंने कहा—"आपका यहाँ छः वर्ष रहने का तो आरम्भ से ही सङ्कल्प है। अतः ६ वर्ष तो ऐसा सोचे ही नहीं। ये सब ऊर्मियाँ उठती हैं। शुभ कार्यों में विघ्न आते हैं। इन्हें सहन करना चाहिये। आरम्भ किये कार्य को उत्तम पुरुष छोड़ते नहीं।"

मैं लेखन-कार्य को छोड़ तो नहीं रहा था। काष्ठ मौन रहकर भी दो वर्ष देखा, वह चलता नहीं, उसमें दम्भ ही अधिक बढ़ता है। दूसरे लोग समझते हैं—"महाराज काष्ठ मौन हैं।" किन्तु मुझमें कैसे-कैसे संकल्प विकल्प उठते हैं, उन्हें मैं ही जानता हूँ। कोई अत्यन्त प्रेमी आ जाते हैं, उनसे मिलने को चित्त व्याकुल हो जाता है। लोग भाँति-भाँति के व्यङ्ग करते हैं। उनसे मुझे क्षोभ हो जाता है।

मेरे मन में सच्चा वैराग्य होता, तब तो दूसरों से सम्मति लेने की आवश्यकता ही नहीं थी। मेरी दुर्बलता थी, जिसका समर्थन इन सभी अपने हितैषियों के मुख से सुनकर मैंने बाहर जाने का विचार छोड़ दिया। काशी जाना तो तय ही था, वहाँ से मोटर भी आ गयी थी। [1]प्रयागराज की अयोध्या, मथुरा, माया

१—पुर्या सप्त प्रसिद्धा प्रति वचन करीस्तीर्थराजस्य नार्यो। नैकट्ये नाति हृद्या प्रभवति च गुणे काशते ब्रह्म यस्याम्। सेय राज्ञी प्रधाना प्रियवचनकरी मुक्तिदाने नियुक्ता। ये ब्रह्माण्ड मध्ये स जयति सुतरा तीर्थराज प्रयाग॥ (प्रयाग-शताध्यायी)।

काशी, काञ्ची, अवन्तिका, पुरी और द्वारावती - ये सात रानियाँ हैं। काशी इनके अत्यन्त निकट होने से इनकी प्रधान पटरानी हैं। पिता आतपत्र अक्षयवट की छाया छोड़कर मैं माता की गोद में जा रहा था। पिता ने कहा "अपनी बड़ी माता से पूछ लो।" काशी गया, माँ ने अत्यन्त प्यार किया। और कहा—"बेटा! अभी पिता के ही पास लौट जाओ।" रात्रि में मैं उसी मोटर से लौट आया। आशा थी, चतुर्थी के दिन त्रिवेणी स्नान न मिलेगा, किन्तु चतुर्थी को फिर मैंने अपने को त्रिवेणी जी में गोता लगाते पाया। इस पर मुझे एक कहानी याद आ गयी। कहानी के बिना भूमिका पूरी कैसे हो?

मथुरा जी के विश्राम घाट से नीचे और बंगाली घाट से ऊपर एक घाट है, जिस पर एक कदम्ब का वृक्ष है। उस घाट पर चार चौबे आते और भाँग बूटी छानकर इधर-उधर की बातें करते थे। उनके पास एक नौका थी। वे कभी-कभी उस नौका में बैठकर भी भाँग घोंटते थे। नौका एक रज्जु से कदम्ब के वृक्ष में बँधी रहती थी। एक दिन नौका में बैठकर भाँग घोंटते ही-घोंटते एक चौबे ने कहा—"भैया! हमारी तो इच्छा होती है कि प्रयाग राज चलकर त्रिवेणी स्नान करें।"

दूसरे ने कहा—"हाँ, भाई, चलें तो सही, पर कैसे चलें! रेल में तो बड़ी भीड़ होती है; फिर उसमें भाँग-बूटी छानने का अवसर भी नहीं मिलता।"

तीसरे कहा—"सबसे अच्छा तो यही है कि इस नौका से ही चले चलें। एक थक जाय दूसरा खेवेगा; दूसरा थक जाय, तीसरा खेवेगा। इच्छानुसार चाहे जहाँ खड़ी कर ली, भाँग बूटी छान ली; निबट आये, फिर चल दिये। मार्ग में बहुत से गाँव पड़ेंगे। दूध मांग लाये, रबड़ी बना ली। इससे भाँग की खुश्की

दूर हो जायगी।' हर्रे लगे न फिटकिरी, रङ्ग चोखा ही चोखा।'

इसका सबने समर्थन किया। सर्वसम्मति से निर्णय हुआ कि आज ही चला जाय। आज कुछ गहरी छनें, जिस से नौका खेने मे श्रम न हो। विजया भवानी बनकर तैयार हुई, मन्त्र पढा गया

"दाऊ दयाल ब्रज के राजा। भाँग पीवे तो यहाँ आ जा॥
जाने न खाई भाँग की कली। वा छोरा तें छोरी भली॥'
विजया ऐसी छानियो, जसे गाढी कीच।
घर के समझें मर गये, आप नशे के बीच॥
सवेरे फेर छनेगी जी।

इस प्रकार कई बार मन्त्र पढकर गाढी कीच के समान सबने एक एक लोटा चढाई। चढाकर निपटने गये। खडी के चार कुल्लड भी ले लिये, तब तक आँखो मे लाल डोरे भी आ गये। सब ने कहा—"हाँ, भैया! तो अब चलो।" चारो नौका मे बैठ गये। वे नशे मे कदम्ब मे बधी रज्जु को खोलना भूल ही गये। अब एक महाशय खेने लगे नाव। शेष तीनों झूमते रहे। खेते-खेते जब वे थक गये, दूसरे आये, तीसरे आये, चौथे आये। वे अपने मन से ही सोचते जाते थे, अब गोकुल का घाट आया, अब हम महावन आये। अब ब्रह्माट घाट आया, अब दाऊजी का घाट आ गया, अब रेणुका घाट आया, अब आगरा पहुँच गये। तब तक अरुणोदय हो गया, लोग यमुना-स्नान के लिये आने लगे। कुछ परिचितो को देखकर उन्हें सन्देह हुआ। घर के लोग भी आ गये। उन्होंने पूछा—"तुम लोग यहाँ कैसे आ गये? किस सवारी से आये?" ऐसे प्रश्न सुनकर लोगों को सदेह हुआ। एक ने कहा—"तुम लोग यह ढोंग क्या चला रहे हो, रात्रि मे कुछ अधिक मात्रा मे चढा ली थी क्या?"

उनमें से एक बोला—"अजी, हम तो प्रयागराज जा रहे हैं, आधे तो पहुँच गये हैं, आधे सायंकाल तक पहुँच जायँगे।"

तब वे अपनी हँसी रोककर बोले—"अरे, पहुँच कैसे जाओगे भैया! इस कदम्ब में बँधी रस्सी को तो तुमने खोला ही नहीं। इसे जब तक न खोलोगे, तब तक कितने भी हाथ-पैर फट-फटाओ यहाँ से तुम आगे बढ़ ही नहीं सकते।" अब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई।

हम भी चार ही आदमी द्वारका जा रहे थे। तीन-चार महीने से मैं हाथ फट-फटा रहा था, बड़े-बड़े मनसूबे बाँध रहा था। उसका परिणाम कुछ नहीं। जहाँ-का तहाँ ही हूँ। इसे मेरा मोह कहा जाय, राग कहा जाय; त्याग-वैराग्य की न्यूनता कही जाय, पुस्तक-प्रकाशन की आसक्ति कही जाय, असुविधाओं की भीति कही जाय, इसका मैं तो निर्णय कर नहीं सका, पाठक ही अपनी ओर से निर्णय करें। अब ऐसा निश्चय किया है कि त्रिवेणी स्नान करके आऊँगा, अपनी कुटी में चला जाऊँगा, कथा के समय लगभग तीन-चार बजे निकलूँगा, तब किसी से मिलूँगा, फिर कीर्तन करके कुटी में घुस जाऊँगा। इसमें कभी-कभी महापुरुषों का, भगवान् का, अपचार हो जाता है; जय-विजय काकभुसुण्डि, इन्द्रद्युम्न आदि की भाँति अपराध हो जाता है, किन्तु करूँ क्या, वे ही तो सब करवा रहे हैं, उन्हीं का तो काम करना है। किसी का अपमान करने का, किसी को कष्ट देने का भाव तो है ही नहीं। अतः हे सबके अन्तर्यामी प्रभु! आप मेरी परीक्षा लेने मत आवें। परीक्षा में तो अनुत्तीर्ण मैं रहा ही हूँ। ऐसे किसी विशेष रूप में आप आवें, तो मेरे अन्तःकरण में प्रेरणा कर दें। मैं बाहर आकर आपका स्वागत-सत्कार करूँगा। अब देखें, प्रभु मुझे कब तक यहाँ रखते हैं, कब तक मुझसे कुछ

लिखवाते हैं। अभी तो आधा लिखने को पड़ा है। पहले तो ५०। ६० खण्डों में ही इसे समाप्त करने का विचार था। फिर १०८ की प्रेरणा हुई। अब होता क्या है, वे ही जानें। मेरा जो पतन हुआ है, हो रहा है, वह मेरे प्रमाद से, मेरी असावधानी से, त्याग-वैराग्य की न्यूनता से, किन्तु उसका दायित्व वे अपने ऊपर ले लेंगे तो मैं उनके फलों से विमुक्त हो जाऊँगा।

अच्छा, तो प्रणाम !

छप्पय

कहुँ राखो रासेश ! चाहिँ कछु काज कराओ।
भेजो पुर बैकुण्ठ, नरक महँ चाहिँ पठाओ॥
तीरथराज प्रयाग बसाओ, मगध भगाओ।
खुदवाओ या घास, चाहिँ निज चरित लिखाओ॥
जहाँ रखो जैसे रखो, भलो कहे जग वा हँसै।
रसना गुन गावै कथा, कान सुनै, हिय छवि बसै॥

सङ्कीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(प्रयाग)
वैशाख शु०श्री जानकी नवमी
२००७ वि०

तुम्हारा जैसा भी कुछ है वैसा,
प्रभुदत्त

विश्वामित्र-चरित

[७४५]

गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः ।
तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १६ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

सत्यवती की मातु ब्रह्ममन्त्रनि चरु खायो ।
तातैं द्विज-गुन-युक्त परम ज्ञानी सुत जायो ॥
ते ई विश्वामित्र, कर्‍यो जिन तप अति दुष्कर ।
विघ्ननि-सिर धरि पैर भये क्षत्रिय तैं द्विजवर ॥
विश्वामित्र वशिष्ठ महँ, लाग-डाँट अतिशय भई ।
कामधेनु-हित उभय-बिच, गुत्थम-गुत्था ह्वै गई ॥

अध्यवसायी, सच्ची लगन वाले व्यक्ति के लिये संसार में असंभव कुछ नहीं। जो अपने संकल्प में दृढ़ है, जो किसी से डरता नहीं, विपत्तियों से घबराता नहीं, विघ्नों के आने पर निराश-निरुत्साह नहीं होता, कार्य सिद्ध न होने पर हताश नहीं होता, जो अपने कार्य की पूर्ति तक प्रयत्न से पराङ्मुख नहीं होता;

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज गाधि के परम तेजस्वी विश्वामित्रजी उत्पन्न हुए, जिनका तेज प्रज्वलित अग्नि के समान था, जो अपने तपोबल से क्षत्रियपन त्यागकर ब्राह्मण बन गये।"

सफलता उसकी चेरी बन जाती है, विजय उसके पैरों में आकर लोटती है। वह कभी पराभव को प्राप्त नहीं होता। उद्योगी-पुरुष-सिंह को ही विजय श्री वरण करती है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अब मैं गाधि नन्दन भगवान् विश्वामित्र का चरित आप से कहता हूँ। महाराज गाधि की पुत्री, महर्षि ऋचीक की पत्नी, सत्यवती ने अपनी माता के आग्रह से मन्त्रों से अभिमन्त्रित अपना ब्रह्मतेजोमय चरु तो अपनी माता को दे दिया और माता का क्षात्र-तेज-युक्त चरु स्वयं खा लिया। इससे उसके पौत्र तो परशुरामजी क्षत्रिय-स्वभाव वाले क्रूरकर्मा हुए, अब आप उनकी माता का वृत्तान्त सुनिये।"

अपनी पुत्री का चरु खाकर गाधि-पत्नी ने गर्भ धारण किया। नियत समय पर उसके अग्नि के समान जाज्वल्यमान परम तेजस्वी एक पुत्र हुआ। पिता ने उसका नाम रखा विश्वामित्र। राजकुमार विश्वामित्र शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान माता-पिता तथा अन्य सभी जनों को सुख देते हुए बढ़ने लगे। कुछ काल में जब वे वयस्क हो गये, तब पिता ने विधिवत् उनका राज्याभिषेक किया। राजा होकर विश्वामित्रजी बहुत समय तक धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करते रहे।

एक बार उन्होंने चतुरङ्गिणी सेना एकत्रित करके दिग्विजय करने के लिये प्रस्थान किया। वे पृथ्वी पर यत्र-तत्र भ्रमण करने लगे। भ्रमण करते-करते वे महर्षि वशिष्ठजी के आश्रम पर पहुँचे। भगवान् वशिष्ठ का आश्रम ब्राह्मी सम्पदा से सम्पन्न था। उसमें स्थान-स्थान पर देवताओं के पीठ बने थे। तीनों प्रकार की अग्नियाँ कुण्डों में प्रज्वलित हो रही थीं। फल-फूलों के वृक्षों—लताओं से उसकी शोभा अनुपम हो रही थी। बहुत सी लताओं के वृहद् वितानों के नीचे बैठे हुए मृग-शावक जुगाली कर रहे

थे। सिद्ध, चारण, देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, आदि देव-उपदेव वहाँ निरन्तर आते-जाते रहते थे। कन्द, मूल, फल खाने वाले; यम, नियम, आसन, प्राणायाम, आदि का अभ्यास करने वाले; शान्त-दान्त तपस्वी उस आश्रम में अधिकता से निवास करते थे। कोई उनमें फलाहारी थे, कोई जलाहारी, तो कोई वायुपेयी और कोई सूखे पत्ते चबाकर ही जीवन-निर्वाह करते थे। यहाँ तक कि उस आश्रम के पशु-पक्षी भी स्वाभाविक वैर त्यागकर परस्पर प्रेम से रहते थे।

उस उत्तम आश्रम को देखकर राजा विश्वामित्र परम प्रमुदित हुए। उन्होंने महर्षि वशिष्ठजी के पाद-पद्मों में श्रद्धा-सहित प्रणाम किया। अपने आश्रम पर गाधितनय विश्वामित्र को आये देखकर ब्रह्म-पुत्र वशिष्ठजी अत्यन्त ही हर्षित हुए। कन्द, मूल, फूल, तथा स्वादिष्ट फल राजा को देकर उन्होंने उनका स्वागत-सत्कार किया, शास्त्रीय विधि से उन्हें अर्घ्य दिया।

मुनि ने राजा के राज्य, कोष, परिवार मंत्री, आदि का कुशल पूछा। राजा ने भी मुनि के वृक्षों, मृग आदि आश्रम के पशुओं, अग्नियों, तपस्वियों तथा अन्य समस्त आश्रम-वासियों का कुशल पूछा। तदन्तर हँसते हुए ब्रह्म-पुत्र वशिष्ठ ने कहा—"राजन्! संसार में और वस्तुएँ तो सुलभता से प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु उत्तम अतिथि की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है। वे ही आश्रम धन्य हैं, जिनमें अतिथियों का निरन्तर स्वागत-सत्कार होता है और जहाँ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पुरुष आतिथ्य ग्रहण करते हैं। आज मैं बड़ा ही आनन्दित हुआ कि आप-जैसे अतिथि मुझे प्राप्त हुए।"

विश्वामित्र ने कहा—"भगवन्! मैं तो आपका सेवक हूँ। आपके दर्शनार्थ इधर चला आया। अब मुझे जाने की मिलनी चाहिये।"

वशिष्ठजी ने कहा—"नहीं राजन ! मेरी इच्छा है कि मैं आपके समस्त साथियों और सेनिकों-समेत, आपका समुचित स्वागत-सत्कार करूँ।"

नम्रता पूर्वक राजा विश्वामित्र बोले—"भगवन् ! आप कैसी बात कर रहे हैं ? हम क्षत्रिय तो आपकी चरण धूल के सदृश भी नहीं। फिर भी आपने हमारा इतना सत्कार किया। आपके आश्रम के फल-फूल, मूल और जल अत्यन्त स्वादिष्ट हैं। सबसे अधिक सुखकर तो हमें विनय से सने आपके मधुर वचन लगे। इन सब वस्तुओं से हम परम सत्कृत हुए। आप इसी प्रकार मेरे ऊपर कृपा बनाये रखें। हम आपकी अनुग्रह के अत्यन्त ही आभारी हैं।"

वशिष्ठजी ने शिष्टता प्रकट करते हुए कहा—"राजन् ! आप तो भगवान् के अंशावतार हैं। आठों लोकपाल राजा के शरीर में निवास करते हैं। आपका तथा आपके सभी साथियों का आपकी योग्यता के अनुरूप ही स्वागत-सत्कार करना चाहता हूँ। आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।"

विश्वामित्रजी ने विनम्रता के साथ कहा—"भगवन् ! स्वीकार करने की क्या बात ? हम तो सदा आपका ही दिया खाते हैं। यहाँ खाये तो, नगर में खायें तो। मैं सोच रहा हूँ, मेरे साथ बहुत बड़ी सेना है। महात्माओं को अधिक कष्ट देना उचित नहीं। यहाँ आश्रम में इतना सामान जुटाने में तपस्वियों को कष्ट होगा।"

वशिष्ठजी ने कहा—"राजन् ! आप इसकी चिन्ता न करें। अतिथि-सेवा में कभी कष्ट नहीं होता। फिर आप-जैसे अतिथि ! इससे तो और अधिक प्रसन्नता ही होती है। आप तनिक भी संकोच न करें।"

विश्वामित्रजी ने कहा—"महाराज! आप सर्वसमर्थ हैं। मैं क्या कहूँ? जैसी इच्छा हो, करें। आपकी आज्ञा का उल्लंघन तो मैं कर ही नहीं सकता।" फिर तो वशिष्ठजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपनी कामधेनु को बुलाकर कहा—"हे शबले! तुम मेरे अत्यन्त श्रेष्ठ अतिथि विश्वामित्र का, उनके समस्त साथियों सहित, उत्तम रीति से, स्वागत-सत्कार करो। ऐसा कोई भी पदार्थ पृथ्वी पर शेष न रहे, जो खिलाया जा सकता हो और यहाँ न हो।"

यह सुनकर कामधेनु की पुत्री नन्दिनी ने समस्त खाद्य पदार्थों की सृष्टि की। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, पेय तथा चवर्ण करने के जितने खट्टे, मीठे, चरपरे, सोंधे, नमकीन तथा तिक्त खाने के षट-रस पदार्थ थे, उन सबकी सृष्टि शबला ने की। कामधेनु की कृपा से वहाँ गरमागरम भात के पहाड़ लग गये, जिन से धुंआ निकल रहा था। दाल के कड़ाह भरे रखे थे। कढ़ी, खीर, तथा संयात (मोहन भोग) कुण्डों में भरे थे। दूध-दही की नदियाँ बह रही थीं। लड्डू, पेड़े, जलेबी, बरफी, खुरमे, इमरती, रसगुल्ले, गुलाबजामुन, कलाकन्द, गोले, पिस्ते की कतरियाँ, लवंगलता, गुंजियाँ, मठरी, त्रिकोड़, सकलपारे, समोसे तथा और भी नाना प्रकार के मीठे-नमकीन पदार्थों के वहाँ ढेर लगे थे। बड़े-बड़े थालों में परसकर देवाङ्गनायें सब को खिला रही थीं। विश्वामित्रजी मुनि के इस स्वागत-सत्कार से बड़े सन्तुष्ट हुए। सैनिकों ने भर पेट भोजन किया, पीने योग्य पदार्थों का पान करके तृप्त हो गये। राजा के साथियों में से एक भी ऐसा नहीं था, जिसकी मनोकामना पूर्ण न हुई हो। जिसने जिस वस्तु का संकल्प किया, उसे वही वस्तु तत्काल ही बिना माँगे मिल

गई। राजा विश्वामित्र मुनि की इस सिद्धि पर और कामधेनु के इस सामर्थ्य पर मुग्ध हो रहे थे।

जब सब लोग खा-पीकर विश्राम कर चुके, तब विश्वामित्र वशिष्ठजी के समीप गये और बोले—"ब्रह्मन् ! आपने मेरा बहुत ही सुन्दर सत्कार किया। मेरे सभी साथी आपके स्वागत सत्कार से सन्तुष्ट हुए। अब जो मैं कहता हूँ, उसे आप सुनें। इस कामधेनु को मुझे दे दें।"

नम्र, किन्तु तीव्र शब्दों में मुनि ने कहा—"मैं इसे किसी को नहीं दे सकता राजन् !"

विश्वामित्र ने सरलता से पूछा—"क्यों महाराज ?"

मुनि ने कहा—"इसलिये कि इसी से मेरे समस्त इहलौकिक तथा पारलौकिक कार्य होते हैं।"

राजा ने कहा—"इसके लिये मैं आप को सुन्दर-सुन्दर सहस्र गौएँ दे दूँगा।"

मुनि ने कहा—"उन्हें आप अपने ही पास रखें, वे मुझे नहीं चाहिये।"

राजा बोले—"एक करोड गौएँ मैं आपको दे दूँगा। सभी सुन्दर ब्याई हुई दुधार, सोने की सींगो से मढ़ी।"

मुनि ने दृढ़ता के साथ कहा—"मैंने कह दिया, मुझे एक कामधेनु चाहिये, सहस्र-करोड़ और गौएँ नहीं।"

राजा बोले—"ब्रह्मन् ! मैं गौओं के साथ आपको सुवर्ण के मढ़े रथ भी दूँगा। अच्छी जाति के घोड़े भी दूँगा; आप इस गौ को मुझे दे दें।"

मुनि ने कहा—"राजन् ! मुझे सेना तो इकट्ठी करनी नहीं है, किसी पर चढ़ाई करनी नहीं है। मैं रथ-घोड़े लेकर क्या करूँगा। मेरी तो यही कामधेनु बनी रहे !"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन ! यह तो रत्न है, इसका अधिकारी मैं हूँ। आप प्रसन्नता से इसे न देंगे, तो मैं बलपूर्वक ही ले जाऊँगा।"

मुनि ने अत्यन्त दृढ़ता से कहा—"आप मुझसे चाहे एक बार कहला लें, या लाख बार, बात एक ही कह दी। मैं आपको स्वेच्छा से इस गौ को नहीं दूँगा, नहीं दूँगा। आप इसे छीन ले जाना चाहें, तो छीन ले जायँ।"

राजा ने सूखी हँसी हँसकर क्रोध के स्वर में कहा—"मैं आपका अभिप्राय समझ गया। आप अपने स्वयं से हाँ न कहेंगे। अच्छी बात है, मैं आपके बिना कहे ही इसे लिये जाता हूँ।" यह कहकर उन्होंने सेवकों को गौ ले चलने की आज्ञा दी। बहुत से सैनिकों ने बलपूर्वक गौ को खोल लिया और वे बछड़े-सहित गौ को ले चले—मुनि ने उनके काम में हस्तक्षेप नहीं किया। गौ अत्यन्त कातर हो डकरा रही थी; मानों मुनि से कह रही थी—"आपने मेरा परित्याग किस अपराध पर कर दिया है ?"

मुनि का कंठ भरा हुआ था, बोले—"शबले ! मैंने स्वेच्छा से तुम्हारा त्याग नहीं किया है। ये राजा हैं, समर्थ हैं, बलपूर्वक तुम्हें लिये जाते हैं। मैं क्षमाशील ब्राह्मण हूँ, क्या कर सकता हूँ ? यदि तुम अपनी रक्षा स्वयं कर सकती हो, तो करो।"

मुनि वशिष्ठ का संकेत पाते ही गौ ने अपने समस्त अंगों से पल्हव, यवन, काम्बोज, शक, म्लेच्छ, हारीत और किरात जाति के अनार्य सैनिकों की सृष्टि की। उनमें और विश्वामित्रजी के सैनिकों में भीषण युद्ध होने लगा। विश्वामित्र की सेना परास्त हुई। उनके पुत्रों ने भगवान् वशिष्ठ के ऊपर चढ़ाई कर दी। इस पर वशिष्ठजी ने 'हुँ' शब्द करके उन सबको भस्म कर दिया। इससे विश्वामित्र जी को बड़ा वैराग्य उत्पन्न हुआ। राज-पाट

अपने पुत्र को सौंपकर वे तपस्या करने वन को चले गये। उनका तप बदला लेने के लिये मकाम था। उन्होंने देव-देव महादेव की आराधना की। कुछ ही काल में आशुतोष भगवान् भूतनाथ विश्वामित्रजी की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके सम्मुख प्रकट हुए और उनसे वर माँगने को कहा।

विश्वामित्र ने पशुपति के पाद-पद्मों में प्रणाम करते हुए प्रार्थना की—'प्रभो! यदि आप इस अकिंचन पर प्रसन्न हैं, तो मुझे समस्त दिव्य अस्त्र-शस्त्र स्वयं ही आ जायँ।"

भगवान् भोलानाथ ने कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।" इतना कहकर वे अन्तर्धान हो गये। अब तो विश्वामित्र जी अपने को अजेय समझकर भगवान् वशिष्ठ के आश्रम पर गये। वहाँ जाकर वे अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगे और आश्रम को नष्ट-भ्रष्ट। आश्रम के ऋषि-मुनि, जीव-जन्तु—सब निकलकर भाग चले। तब क्रुद्ध होकर भगवान् वशिष्ठजी ने अपना ब्रह्म दण्ड उठाया। उससे उन्होंने विश्वामित्रजी के समस्त अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ बना दिये। वे अपना-सा मुँह लेकर, पराजित होकर, वहाँ से भागे। भागते हुए उन्होंने कहा—"क्षात्रबल को धिक्कार है। ब्रह्म-बल ही प्रधान बल है। एक ब्रह्मदण्ड ने मेरे सस्त अस्त्र-शस्त्रों को व्यर्थ बना दिया। इन सब बातों से, मैं हताश न होकर, अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ हूँ। अब, मैं स्वयं तपस्या के द्वारा, इस ब्रह्म-बल को प्राप्त करके, इसी शरीर से, ब्राह्मण बनूँगा। अब मेरा समस्त प्रयत्न ब्रह्मतेज प्राप्त करने के निमित्त ही होगा।" यह कहकर वे वन में ब्राह्मणत्व-प्राप्ति के लिये घोर तप करने चले गये। उनकी रानी भी उनके साथ थीं। वे गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए ही तपस्या करते थे। वन में उनके हविष्यन्द, मधुस्यन्द, दृढ़-नेत्र और महारथ-ये पुत्र उत्पन्न

हुए। फिर उन्होंने सोचा—"अरे, वन में आकर भी मैं काम-लोभ के वशीभूत हो गया ? अब मैं रानी से पृथक् रहकर घोर तप करूँगा। अब किसी की ओर नहीं देखूँगा, किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखूँगा। निरन्तर यम-नियमों के दृढ़ पालन में रत रहूँगा।" यह सोच, वे दूसरे दिन फल-मूल खाकर, तप करने लगे। फिर उन्होंने फल खाना भी छोड़ दिया, केवल पत्तों का ही आहार कर रहने लगे। बहुत दिनों तक हरे पत्ते खाने के बाद उसमें भी उन्हें हिंसा दिखाई दी। वे सूखे पत्तों पर ही रहने लगे। कुछ काल बाद वे केवल जल के सहारे, फिर वायु पीकर ही, समय बिताने लगे। उनका शरीर कृश हो गया, किन्तु फिर भी उन्होंने शरीर की ओर ध्यान ही न दिया। वे सोचते थे—संसार में तप ही मुख्य है, तप के प्रभाव से ही ब्रह्मा ने ब्रह्मत्व-प्राप्त किया है, इन्द्र तीनों लोकों के राजा बने हैं। मैं भी तप के प्रभाव से क्षत्रिय से ब्राह्मण बन जाऊँगा। ब्रह्म-पुत्र वशिष्ठ को दिखा दूँगा कि मैंने अपने पुरुषार्थ से विप्रत्व प्राप्त कर लिया है। वशिष्ठ से ही मैंने अपने को ब्रह्मर्षि न कहला लिया, तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं।" इन्हीं विचारों से उत्साहित होकर, वे बिना विघ्नों का विचार किये, घोर तप में निमग्न हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! विश्वामित्र जी की तपस्या में ईर्ष्या, उत्कर्ष की भावना और राजस अहङ्कार था। किन्तु, तपस्या परम उत्कृष्ट थी। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर लोकपितामह ब्रह्माजी उनके समीप आये, बोले—"राजन् ! मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। इस तपस्या के प्रभाव से तुम्हें राज-र्षियों के लोक प्राप्त होंगे। आज से लोग तुम्हें राजर्षि कहा करेंगे। ऐसा वरदान देकर भगवान् कमलयोनि तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये।

ब्रह्माजी की बात सुनकर विश्वामित्र जी को बडी लज्जा आई उन्होंने सोचा—"हाय, मैंने ब्रह्मर्षि बनने के लिये कैसी घोर तपस्या की। मुझे आशा थी कि मैं इस तपस्या के प्रभाव से अवश्य ही ब्रह्मर्षि बन जाऊँगा, किन्तु भगवान् ब्रह्मा तो मुझे अभी राजर्षि ही कहते है। इससे सिद्ध होता है, कि मैंने जो तपस्या की है, वह ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त करने को पर्याप्त नहीं है। अब मैं घोरतर तपस्या करके ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त करूँगा।" यह सोचकर वे निर्जन वन मे एकान्त स्थान में फिर घोर तप करने लगे।

विश्वामित्र जी वन मे बैठे तपस्या कर रहे थे, कि उन्हे रुदन की अत्यन्त आर्त्त वाणी सुनाई दी। रुदन सुनकर राजर्षि विश्वामित्र के हृदय में करुणा का सचार हुआ। उन्होंने आँख खोलकर देखा, तो अयोध्या के महाराज त्रिबन्धन के पुत्र त्रिशकु रो रहे है, मुनि ने पूछा—"राजपुत्र! तुम क्यो रो रहे हो? तुम्हे कोन सी व्यथा है। चाहे जो हो, मैं तुम्हारे दुःख को दूर करूँगा।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मैं गुरु के शाप से चाडाल हो गया हूँ। सशरीर स्वर्ग जाने की इच्छा से एक बडा भारी यज्ञ करना चाहता हूँ। इसके लिये मै अपने कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ के पास गया, उनके सौ पुत्रो के पास गया। उन्होंने मेरा यज्ञ कराना स्वीकार नही किया, उल्टे शाप देकर मुझे चाडाल बना दिया। अब मैं आपकी शरण में आया हूँ।"

अपने प्रतिद्वन्दी को नीचा दिखाने के लिये विश्वामित्र जी की ईर्ष्या जाग उठी। उन्होंने साहस के साथ कहा—"राजन्! कोई बात नहीं, चिन्ता मत करो। वशिष्ठ को जाने दो। मैं तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा, मैं तुम्हे सशरीर स्वर्ग पठाऊँगा। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा। तुम मेरी तपस्या का प्रभाव तो देखो! यज्ञ की सामग्री जुटाओ।" यह सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने

यज्ञ की सामग्री जुटाई। विश्वामित्र जी ने यज्ञ में वशिष्ठ जी के पुत्रों को बुलाया। उन सब ने कह दिया—"जिस यज्ञ का यजमान चांडाल हो, आचार्य क्षत्रिय हो, उस यज्ञ में हम नहीं जा सकते।"

यह सुनकर विश्वामित्र जी के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। क्रोध में भरकर, हाथ में जल लेकर, उन्होंने उन्हें शाप दिया—"ये वशिष्ठ के सभी पुत्र अभी भस्म हो जायँ और दूसरे जन्मों में कुत्ते का मांस खाने वाले चांडाल हों।" उन्हें ऐसा शाप देकर, जो मुनि नहीं आये, उन्हें भी उन्होंने शाप दे दिया। शेष मुनि डरकर उनके यज्ञ में आये। यज्ञ हुआ! विश्वामित्र जी ने जैसे-तैसे अपनी तपस्या का बल लगाकर त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग पठाया। देवताओं ने उसे नीचे ढकेल दिया। अब तो तप के अभिमान में अन्धे हुए मुनि ने दूसरे स्वर्ग की रचना करनी आरंभ कर दी। देवता घबराये, बीच-विचाव हुआ त्रिशंकु न स्वर्ग गया, न पृथ्वी पर ही गिरा। वह अधर में अभी तक मुख नीचा किये लटक रहा है।

अब तक विश्वामित्र जी ने जो तपस्या की थी, वह क्रोध करके, शाप देकर, हठ करके, सब समाप्त कर दी। लेखा बराबर हो गया। पूँजी निकल जाने पर मुनि की आँखें खुलीं। वे बोले—"अरे, मैंने तो क्रोध में भरकर अपना इतने दिनों का किया तप नष्ट कर डाला। काम, क्रोध और लोभ—ये ही तपस्या के बड़े शत्रु हैं। अब मैं क्रोध न करूँगा।" ऐसा निश्चय करके वे पुनः नवीन उत्साह के साथ तपस्या में प्रवृत्त हुए। उन्होंने पहिले दक्षिण दिशा में तपस्या की थी, तब त्रिशंकु के झंझट के कारण उनकी तपस्या में विघ्न पड़ा, अतः वे उस दिशा को छोड़ कर पश्चिम दिशा में तप करने पुष्कर क्षेत्र में चले गये। वहाँ

उन्होंने अपने भांनजे शुनःशेप का उद्धार किया। इसके कारण भी उनके तप मे विघ्न हुआ। फिर भी आकर वे पुष्कर मे हजारों वर्षों तक तप करते रहे। उनके तप से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी पुनः आये और उन्हे ऋषि की उपाधि दी।

मुनिवर विश्वामित्र इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुए। वे तो ब्रह्मर्षि बनना चाहते थे। अतः वे पुनः घोर तप मे निमग्न हो गये। मुनि का आश्रम सुन्दर वृक्षों और सघन लताओं से घिरा हुआ अत्यन्त ही सुन्दर था। वह पुष्कर कुण्ड के निकट ही था। एक दिन मुनि पुष्कर मे स्नान कर रहे थे। वहीं पर उन्होंने स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा मेनका को देखा। वह अपने अंगो मे दिव्य अंगराग लगाये हुए थी। उसके शरीर से कमल की सुगन्ध निरन्तर निकल रही थी। वह अत्यन्त ही महीन नीले रंग की रेशमी साडी पहने हुए थी। उसके काले-काले घुँघराले बालों में स्वर्गीय पुष्पों की माला गुँथी हुई थी, जिन पर मधुलोलुप भ्रमर मँडरा रहे थे, जिसकी सुगन्धि योजनो जा रही थी। उसके शरीर तथा पारिजात के पुष्पों की सुगन्धि से मुनि का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हुआ। नीली साड़ी मे से उसका सुवर्ण के समान शरीर विद्युत की भाँति चमक रहा था। उनकी दृष्टि उस पर जो गई, सो गड़ी की गड़ी ही रह गयी। अब मुनि सन्ध्या-वन्धन करना सब भूल गये। मंत्र कुछ पढ़ते क्रिया कुछ और करते। कभी आचमन करते, कभी जल उलीचते। किन्तु, दृष्टि उस सुर-सुन्दरी के शरीर पर लगी हुई थी। उसने परम पावन पुष्कर तीर्थ मे स्नान किया। स्नान करने से उसकी साड़ी उसके अङ्ग मे सटकर चिपट गई। अब उसके सभी अङ्ग स्पष्ट दिखाई देने लगे। वह बार-बार व्रीड़ा की भाव दिखाती हुई ह्रद से बाहर निकली, वह शरीर से चिपके वस्त्र को बार-बार छुड़ाती

और वायु उसे फर-फर उड़ा देती। उस समय उसका सौन्दर्य बड़ा ही भला मालूम होता था। जैसे-तैसे उसने वस्त्र बदले। स्नान करने से उसका अङ्गराग और भी अधिक सुगन्धि देने

लगा। उसने वस्त्र पहनकर संकोच के साथ मुनि के चरणों में प्रणाम किया। मुनि तो यह चाहते ही थे। वे निहाल हो गये। उन्होंने अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए कहा—"सुर-सुन्दरि! तुम कहाँ जा रही हो?"

लजाते हुए हाथ जोड़कर सिर नीचा करके, मेनका ने कहा—"भगवन् मैं इस परम-पावन पुण्य तीर्थ पुष्कर में स्नान करने ही आई थी।"

विश्वामित्र जी ने कहा—"तुम कहाँ जाओगी ?"

मेनका ने कहा—"महाराज ! अब जहाँ भी भाग्य ले जाय।"

मुनि बोले—"समीप ही मेरा आश्रम है, तुम चलना चाहो, तो आज चलकर मेरा आतिथ्य ग्रहण करो ?"

मेनका अप्सरा ने कहा—"मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो भगवान् ने मुझे अपने आश्रम मे चलने के लिये आमन्त्रित किया।"

मुनि यह सुनकर प्रसन्नता पूर्वक उसे अपने आश्रम पर ले गये। अब तो मुनि भजन पूजन, पूजा-पाठ-सब कुछ भूल गये। अच्युत के ध्यान मे मग्न न होकर वे अप्सरा के ध्यान मे मग्न रहने लगे। वह बार-बार जाने की आज्ञा माँगती, मुनि उससे और कुछ दिन रहने को कहते। वह तो देवताओं की सिखाई-पढ़ाई इसी काम के लिये आई ही थी। मुनियो ! तपस्वी को तपस्या में देवता अवश्य ही विघ्न करते हैं, पहले वे साधारण कामिनियों को भेजते हैं। तपस्वी उनके जाल मे फँस गया, तो ठीक है। यदि उनसे वह निकल गया, तो स्वर्गीय अप्सराओं को भेजते हैं। यह सौन्दर्य ऐसा जाल है कि इसमे प्रायः सभी प्राणी अन्धे होकर फँस जाते हैं। मुनि विश्वामित्र को मेनका के साथ रहते हुए दश वर्ष व्यतीत हो गये। ये दश वर्ष उन्हें दश पल के समान भी प्रतीत न हुए। एक दिन उन्हे स्वय ही चेत हुआ—"अरे, मैं ब्राह्मण बनने के लिये तप कर रहा था। मुझे तो इस कामिनी रूपी माया ने फँसा लिया। यह काले मूड की माया मेरे पीछे कहाँ से लग गई ? यह सब देवताओं की करतूत है।"

मेनका ने जब देखा कि मुनि अब प्रकृतिस्थ हुए हैं, मुझे शाप देकर भस्म कर देंगे, तब तो वह थर-थर काँपने लगी। मुनि ने

उसे निर्भय करते हुए कहा—"देवि ! तुम डरो नहीं, तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। दोष तो मेरा ही था। मैं तो स्वयं ही तुम्हें ले आया। तुम सुख पूर्वक जहाँ चाहो जा सकती हो।"

यह सुनकर मेनका के प्राणों में प्राण आये। वह तुरन्त मुनि को प्रणाम करके स्वर्ग जाने लगी। वह गर्भवती थी, उसके एक कन्या हुई, जिसे जङ्गल में छोड़कर वह चली गई, उसका पालन भगवान् कण्व ऋषि ने किया। जो बड़ी होने पर चक्रवर्ती महाराज दुष्यन्त की पत्नी हुई, जिसे विश्व विजयी सम्राट महाराज भरत की जननी होने का दुर्लभ पद प्राप्त हुआ। उसका वृत्तान्त महाराज दुष्यन्त के प्रसङ्ग में किया जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब विश्वामित्र जी ने पश्चिम दिशा को भी छोड़ दिया। अब वे परम-पावन उत्तर दिशा में जाकर कौशिकी नदी के तट पर रहकर, उग्र तप करने लगे।

उनकी तपस्या से भयभीत होकर देवगण लोक पितामह ब्रह्माजी के पास गये और बोले—"भगवन् ! महामुनि विश्वामित्र बड़ा उग्र तप कर रहे हैं, उन्हें आप महर्षि का पद दे दें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ, सोच तो मैं भी यही रहा हूँ। अच्छा मैं जाता हूँ विश्वामित्र के पास।"

लोक पितामह ब्रह्माजी, हंस पर चढ़कर विश्वामित्र जी के समीप आये और बोले—"मुनिवर ! तुम्हारी तपस्या बहुत उत्तम है, मैं तुम्हें महर्षि की उपाधि देता हूँ।"

यह सुनकर विश्वामित्र ने हाथ जोड़कर कहा—"भगवन् ! मेरा अहोभाग्य, जो आपने दर्शन दिये ! ब्रह्मन् ! मैं तो ब्रह्मर्षि बनने को तप कर रहा था। अभी आप मुझे ब्रह्मर्षि न कहकर महर्षि ही कह रहे हैं। इससे मैं समझता हूँ, मैं अभी इन्द्रियजीत नहीं हो पाया हूँ।"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ विश्वामित्र जी! अभी तक आप की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं। देखिये, मौन, व्रत, तपस्या, वेदाध्ययन, स्वधर्म-पालन, जप, व्याख्या, एकान्त वास, शास्त्र-श्रवण, समाधि ये सब उपाय मुक्ति देने वाले हैं, किन्तु जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं, उनके लिये ये ही सब उपाय, मुक्ति के कारण न हो कर केवल व्यापार, विषय-भोग के हेतु हो जाते हैं। अभी तुमने काम और क्रोध पर विजय प्राप्त नहीं की।"

इस पर विश्वामित्रजी बोले—"प्रभो! अब मैं पुनः तप करके ब्रह्मत्व प्राप्त करूँगा। अब मैं वही तप करूँगा, जिससे काम के वशीभूत न हो सकूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"वत्स! तुम ऐसा ही करो। तपस्या में काम ही सबसे बड़ा शत्रु है। एकान्त में काम अत्यधिक प्रबल हो उठता है। इसलिये एकान्त में कामिनी आदि आकर अनुराग प्रदर्शित करने लगें, तो उन्हें देवताओं द्वारा उपस्थित किया विघ्न समझकर उसमें आसक्त न हो, तुम्हारा कल्याण हो।" यह कह कर ब्रह्माजी तुरन्त अन्तर्धान हो गये। विश्वामित्र जी कठोरतम तप करने लगे।

वे एक पैर के अगूठे पर अधर में ऊपर को हाथ किये खड़े रहते। भोजन उन्होंने त्याग दिया था, वायु के आधार पर ही वे रहने लगे। उन्होंने सभी इन्द्रियों का निरोध कर रखा था। वे गर्मी के दिनों में पचाग्नि तापते, जाड़ों में जल के भीतर खड़े होकर तपस्या करते और वर्षा में बाहर मैदान में खड़े होकर उसे सिर पर लेते।

इनका तप देखकर इन्द्र के मन में सन्देह होने लगा। उन्होंने सोचा—"मुनि इतना घोर तप करेंगे तब तो मेरा सिंहासन ही मुझसे छीन लेंगे। जैसे-हो-तैसे इनके तप में विघ्न डालना चाहिये।

यह सोचकर उन्होंने स्वर्ग की अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा रम्भा को बुलाया और उससे कहा—"सुन्दरि ! तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर बड़े-बड़े तपस्वी मोहित हो जाते हैं। तुम जैसे हो, जाकर विश्वामित्र के तप में विघ्न उपस्थित करो।"

रम्भा बोली—"देवेन्द्र ! विश्वामित्र बड़े क्रोधी ऋषि हैं। वे तो अपने क्रोध से हम सबको भस्म ही कर डालेंगे।"

रम्भा को भय से थर-थर काँपते देखकर देवराज इन्द्र बोले—"रम्भे ! तुम डरती क्यों हो ? देखो, वसन्त, कामदेव, मलयानिल ये सब तुम्हारे साथ रहेंगे। मैं स्वयं ही कोकिल बनकर आम की मञ्जरी पर बैठे कूँजूगा। डरो मत, मेरी बात मानो।"

देवराज के ऐसे आश्वासन देने पर रम्भा ने विश्वामित्र जी के समीप जाना स्वीकार किया। सर्व प्रथम वसन्त ऋतु ने अपना प्रसार किया। सर्वश्रेष्ठ सुगन्ध को लिये हुए मलयानिल बहने लगा। काम ने अपने बाण सम्हाले। आम की मञ्जरी पर इन्द्र कोकिल बनकर कुहू-कुहू शब्द करते हुए कूँजने लगे। रम्भा वहाँ हाव-भाव कटाक्ष करती हुई सुन्दर नृत्य करने लगी। कोकिल की कूँज और नूपुरों की सुमधुर ध्वनि सुनकर मुनि का मन मत्त होकर नृत्य करने लगा। आखें खोलकर जो उन्होंने वसन्त ऋतु को देखा, तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। कोकिल का मादक स्वर रम्भा का मेनका के सौन्दर्य से भी बढ़ा चढ़ा सौन्दर्य ! विश्वामित्र ये देखते ही समझ गये, यह देवताओं की माया है, मुझे तप से भ्रष्ट करने के लिये ही यह सब जाल रचा गया है।" मन में उन्होंने काम में न फँसने का दृढ़ निश्चय किया। वे काम में तो नहीं फँसे, किन्तु क्रोध में फँस गये। उन्हें रम्भा पर क्रोध आ गया।

बोले—"दुष्टे ! तू मुझे तप से भ्रष्ट करना चाहती है। यह

वशिष्ठ जी के मुख से ब्रह्मर्षि शब्द सुनते ही विश्वामित्र जी कृतार्थ हो गये। अब उन्हें ब्रह्मर्षि शब्द का महत्त्व मालूम हुआ। अब उनके समझ में आया कि ब्राह्म-बल कितनी कठिनता से प्राप्त होता है।

दोनों ब्रह्मर्षि राग-द्वेष तथा ईर्ष्या छोड़कर अत्यन्त स्नेह से मिले। विश्वामित्र और वशिष्ठ में प्रगाढ़ मैत्री हुई। देवताओं ने उनके ऊपर पुष्प-वर्षा की। विश्वामित्रजी सप्तर्षियों में पूजित होकर अद्यावधि सप्तर्षि लोक में विद्यमान हैं। ऋषि रूप से वे पृथ्वी पर कार्य करते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार गाधि-नन्दन भगवान् विश्वामित्र इसी जन्म में क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गये। इनके चरित्र असंख्य हैं। मैंने अत्यन्त संक्षेप में उनके क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने का वृत्तान्त बताया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! आपने बीच में कथा-प्रसङ्ग में कहा था, विश्वामित्र जी ने शुनःशेप का उद्धार किया। यह शुनःशेप कौन था, और इसकी गणना विश्वामित्र जी के पुत्रों में कैसे हुई ? कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें और सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! मैं आपको शुनःशेप का वृत्तान्त सुनाता हूँ। उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भयो परस्पर युद्ध गाधि-सुत रन महँ हारे।
ब्रह्म-तेज-हित करन तपस्या बनहिँ सिधारे॥
काम क्रोध ने आइ तपस्या नष्ट कराई।
आई रम्भा कबहुँ, मेनका कबहूँ आई॥
पुनि-पुनि आये विघ्न बहु, किन्तु निराशा नहिँ भई।
है प्रसन्न विधि ब्रह्म ऋषि, की पदवी तबई दई॥

विश्वामित्रजी द्वारा शुनःशेप का उद्धार

[७४६]

यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः ।
देवरात इति ख्यातः शुनःशेपः स भार्गवः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १६ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

मुनिवर विश्वामित्र करें तप पुष्कर माहीं ।
शुनःशेप कूँ भूप यज्ञ-बलि-हित लै जाहीं ॥
मामा विश्वामित्र विनय के मंत्र सिखाये ।
अति प्रपन्न सुर भये यज्ञ महँ प्राण बचाये ॥
मातु पिता द्विज पुनि नहीं, शुनः शेप कबहूँ गये ।
गाधि-तनय सुत सम करे, भार्गव तैं कौशिक भये ॥

शास्त्रों में पिता कई प्रकार के बताये हैं। उत्पन्न करने वाले, पालन करने वाले, विद्यादान करने वाले, तथा अभय दान देने वाले अनेक प्रकार के पिता हैं। इन सबमें प्राणों की रक्षा करने वाले सर्व श्रेष्ठ हैं। कोई मर रहा हो और उसे मृत्यु-मुख से बचा ले, जीवन दान दे दे, तो वह भी सर्वोत्तम पिता है। अपनी

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! देवताओं द्वारा यज्ञ में दिये जाने के कारण शुनःशेप गाधिकुल में "देवरात" नाम से विख्यात तपस्वी हुआ। वह भृगुवंशी कहलाया।"

ओर से तो मृत्यु ही आ गई थी। उन्होंने हमें मृत्यु मुख से निकाल कर पुनः जन्म दिया। अतः वह जन्मदाता से भी श्रेष्ठ पिता है। ऐसे पिता के प्रति जो कृतघ्नता प्रकट करते हैं, उनका उपकार नहीं मानते हैं, वे सबसे बड़े पापी समझे जाते हैं। इसके विपरीत जो उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, पिता के सदृश उनका आदर करते हैं, उन्हें इस लोक मे यश और वैभव प्राप्त होता है और मरने पर उन्हें अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे शुनःशेप के उद्धार की कथा पूछी है। मैं उसे आपको सुनाता हूँ। प्राचीन काल में बड़े-बड़े यज्ञों में बलिदान होते थे। कलियुग के लिये यज्ञों में पशु-हिंसा का निषेध है। देवताओं की प्रसन्नता के लिये पशुओं की बलि दी जाती थी, कभी-कभी नर-बलि भी होती थी। सूर्य-वंश के परम पराक्रमी धर्मात्मा राजा हरिश्चन्द्र वरुण की प्रसन्नता के लिये अपने ही पुत्र को बलिदान करना चाहते थे। इन्द्र के कहने से राजा का पुत्र रोहित वन में चला गया। इधर जब राजा ने वरुण-यज्ञ नहीं किया, तब उन्हें शारीरिक मानसिक कष्ट हो गया। यह बात रोहित ने वन में सुनी। अब उसे एक उपाय सूझा कि अपने बदले यदि मैं किसी दूसरे पुरुष को द्रव्य देकर ले चलूँ, तो वरुण भी प्रसन्न हो जायँगे और पिताजी भी स्वस्थ हो जायँगे। खोजते-खोजते वे महर्षि अजीगर्त के समीप पहुँचे। वे निर्धन थे, धनाभाव के कारण अत्यन्त दुःखी रहते थे। उनके तीन पुत्र थे। राजपुत्र रोहित उन मुनि के पास पहुँचे और बोले—"ब्रह्मन्! मेरे एक संकट को आप दूर करें। मुझे वरुण की इष्टि करनी है। इसके लिये एक बलि-पशु चाहिये। आपके तीन पुत्र हैं, इनमें से आप

एक मुझे दे दें। मैं आपको इसके बदले में लाखों गौएँ और असंख्य-सुवर्ण-मुद्रायें दूँगा। आपका दारिद्रय नष्ट हो जायगा। मेरा भी काम चल जायगा। आपका वंश-विच्छेद भी न होगा, क्योंकि वंश की वृद्धि के लिये कुल की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने को आपके दो पुत्र हैं ही।"

राज-पुत्र रोहित की बातें सुनकर ऋषि धर्म सङ्कट में पड़ गये। एक ओर तो धन का लोभ, दूसरी ओर पुत्र-स्नेह। फिर उन्होंने सोचा—"धनहीन होकर तो हम सबके सब दुःख पा रहे हैं। लौकिक-पारलौकिक कोई कार्य हम धन के बिना नहीं कर सकते। यदि मैं अपने पुत्रों में से एक को दे दूँ, तो सदा के लिये दरिद्रता से मेरा पिंड छूट जायगा। यज्ञ में बलि-पशु बना पुत्र अवश्य ही स्वर्ग मे जायगा।" यह सब सोचकर ऋषि बोले—"राजकुमार! आपका कथन है तो सत्य, किन्तु मुझे अपना सबसे बड़ा पुत्र अत्यन्त प्रिय है, इसे मैं किसी प्रकार आपको नहीं दे सकता।"

समीप ही माता बैठी थी, उसने कहा—"सबसे छोटा मुझे अधिक प्रिय है, इसलिये इसे मैं न दूँगी।"

माता-पिता की ऐसी बातें सुनकर ऋषि का मध्यम पुत्र शुनःशेप, जो परम विद्वान और तपस्वी था, समझ गया कि माता-पिता मुझे देना चाहते है। अतः वह बोला—"राज-पुत्र। मेरे बड़े भाई मेरे पिता के अत्यन्त प्रिय है, और मेरा छोटा भाई माता का, अब रह गया मैं। सो आप मुझे ही अपने यज्ञ की बलि के लिये ले चलें। आप मेरे माता-पिता को जो धन देना चाहें, दे दें।"

यह सुनकर राज-पुत्र अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सहस्रों गौएँ, सुवर्ण-मुद्राएँ, और अन्यान्य भी जो वस्तुएँ मुनि ने माँगी,

वे सब उन्हें दीं। उन सब को देकर शुनःशेप को रथ में बिठाकर वह पुष्कर क्षेत्र में आया। अपने प्राण तो सभी को प्यारे होते हैं। शुनःशेप अब अपने बचने का उपाय सोचने लगा। उस ने सुना, यहाँ मेरे मामा विश्वामित्र जी तप कर रहे हैं। उन्होंने चांडाल हुए त्रिशंकु को भी अपने तपोबल से सशरीर स्वर्ग पहुँचा दिया था। वे चाहें, तो मेरी रक्षा कर सकते हैं। यह सोचकर वह विश्वामित्रजी के समीप गया और उनके सम्मुख गिर पड़ा।

दीन और दुःखी हुए शुनःशेप से दयावश विश्वामित्रजी बोले—"बच्चा! तू क्या चाहता है? तुझे क्या कष्ट है? किस लिये तू इतना दीन हो रहा है?"

शुनःशेप ने कहा—"मामाजी! मेरे माता-पिता ने मुझे त्याग दिया है। अब संसार में मेरा कोई भी नहीं है। मैं आपकी शरण आया हूँ। आप ऐसा करें, कि मेरे प्राणों की रक्षा भी हो जाय और राजा का भी कल्याण हो।"

मुनि को उस पर दया आ गई। वे अपने पुत्रों से बोले—"कोई इसके बदले बलि-पशु बनने जा सकता है?"

इस पर सब ने कहा—"पिता जी! दूसरे के पुत्र के पीछे आप हमें बलि-पशु बना रहे हैं, यह कहाँ का न्याय है? आप को ऐसी बात मन से भी न सोचनी चाहिये।"

यह सुनकर विश्वामित्र जी को क्रोध आया, किन्तु वे कुछ बोले नहीं। इस पर शुनःशेप ने कहा—"मामाजी! आप ही अपने मंत्र-बल से मेरी रक्षा करें।"

यह सुनकर विश्वामित्रजी ने कहा—"अच्छी बात है। चलो हम भी तुम्हारे साथ चलते हैं।" यह कहकर विश्वामित्रजी भी रोहित के साथ चल दिये। रोहित अत्यन्त प्रसन्न हुए। हरिश्चन्द्र ने जब सुना कि उनका पुत्र पुरुष-पशु और महर्षि

विश्वामित्रजी के साथ वन से लौट आया है, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मुनि का स्वागत किया। उनसे यज्ञ में सम्मिलित होने की प्रार्थना की और अन्यान्य बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को भी बुलाया। उस यज्ञ में ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी ने ब्रह्मा का कार्य किया था। आत्मवान् यशस्वी जमदग्नि अध्वर्यु हुए थे, अयास्य मुनि उद्गाता और महर्षि विश्वामित्र होता बनाये गये थे। विश्वामित्रजी ने शुनःशेप को दो ऐसे उत्कृष्ट मंत्र सिखला दिये थे, कि जिन्हें सुनकर देवराज इन्द्र प्रसन्न हो जायँ।

नियत समय पर लाल वस्त्र और लाल फूलों की माला पहना कर शुनःशेप को बलि-पशु के यूप में बांध दिया गया। उसने बड़े ही सुन्दर कण्ठ से विश्वामित्रजी के सिखलाये हुए मन्त्रों का देवताओं के सम्मुख गान किया। उन मंत्रों को सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। उन्होंने शुनःशेप से वर माँगने को कहा।

शुनःशेप ने कहा—"देवराज! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो यही वर दीजिये कि मेरा बिना बलिदान हुए ही राजा का यज्ञ साङ्गोपाङ्ग समाप्त हो जाय।" यह सुनकर सभी देवताओं ने इसका समर्थन किया। देवताओं ने उसे विश्वामित्रजी को दे दिया। इसलिये उसका नाम देवरात भी प्रसिद्ध हुआ।

विश्वामित्रजी ने कहा—"भाई, अब तुम सुखपूर्वक अपने घर जा सकते हो।"

उसने कहा—"मामाजी! मेरे माता पिता ने तो धन के लोभ ले मुझे त्याग ही दिया। उनकी दृष्टि में तो मैं मर ही गया। आपने मेरे प्राणों की रक्षा की है। अतः आप ही मेरे माता-पिता तथा सर्वस्व हैं। मैं आपकी शरण में हूँ।"

उसकी इस भक्ति से विश्वामित्रजी अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ पुत्र हुए।"

विश्वामित्रजी के एक सौ एक पुत्र थे। उनमें इक्यावनवें पुत्र का नाम मधुच्छन्दा था वह सबसे अधिक बुद्धिमान और यशस्वी था। अतः उसी के नाम से उनके सब पुत्र मधुच्छन्दस् कहलाते थे। मधुच्छन्दा से जो ५० बड़े थे, उनकी तो ज्येष्ठ मधुच्छन्दस् संज्ञा थी, और जो उनसे ५० छोटे थे, वे कनिष्ठ मधुच्छन्दस् कहलाते थे। विश्वामित्रजी ने सर्व प्रथम अपने ज्येष्ठ मधुच्छन्दस् पुत्रों से कहा—"देखो, यह देवरात तुम सब में श्रेष्ठ है। इसे तुम अपना बड़ा भाई करके मानो।"

उन सब ने कहा—"पिताजी! यह तो आप अन्याय कर रहे हैं। अपने सगे और सपुत्रों को छोड़कर दूसरे के पुत्र को सर्वश्रेष्ठ बना रहे हैं। हम इसे कभी अपना बड़ा भाई नहीं मान सकते।"

पुत्रों द्वारा अपनी आज्ञा का उल्लंघन होते देखकर विश्वामित्र जी को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उन सब को शाप दे दिया—"तुम सब म्लेच्छ हो जाओ। तुमने आर्य-धर्म के विरुद्ध बर्ताव किया है, अतः तुम्हारी गणना आर्यों में न होकर आर्येतर मनुष्यों में हो।"

इस प्रकार शाप देकर, फिर वे छोटे मधुच्छन्दसों से बोले—"कहो, भाई! तुम लोग क्या कहते हो?"

मधुच्छन्दा तो बुद्धिमान था ही। उसने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी! पुत्रों के तो सर्वस्व पिता ही हैं। दासों का, स्त्रियों का और पुत्रों का, स्वामी तथा पिता के रहते, कुछ भी अधिकार नहीं है। ये सब पोष्य कहे गये हैं। आप हमारे जनक हैं। आप हमें जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही हम करेंगे

अपने छोटे पुत्रों की ऐसी युक्तियुक्त बात सुनकर विश्वामित्र जी अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने उन सबको आशीर्वाद देते हुए कहा—"तुम सबने मेरे प्रति गौरव और मेरी आज्ञा के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की है, मेरे सम्मान की रक्षा करके मुझे यथार्थ पुत्रवान् बनाया है। इसलिये मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, कि तुम सब पुत्रवान् हो। संसार में तुम्हारा वंश प्रसिद्ध हो। यह देवरात भी, भार्गव न रहकर, कौशिक गोत्रीय ही रहा। तुम सब इसे बड़ा मानकर इसकी आज्ञा का पालन करो।" सबने इसे स्वीकार किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विश्वामित्रजी के सौ तो ये ही पुत्र थे इनके अतिरिक्त अष्टक, हारीत, जय, क्रतुमान आदि बहुत से पुत्र थे। देवरात (शुनःशेप) की गणना विश्वामित्र जी के वरदान से कौशिक गोत्र में हो तो गई, किन्तु यह अपने गोत्र मे श्रेष्ठ हुआ। इसलिये यह प्रवर-प्रवर्त्तक माना गया। इसका प्रवर दूसरा हुआ। विश्वामित्रजी के बहुत से पुत्र जो ब्रह्मर्षि होने के पूर्व के थे, वे सब तो क्षत्रिय ही हुए। पीछे के ब्राह्मण हुए। जिन्हें शाप से म्लेच्छ कर दिया, वे शूद्र और अन्त्यज हुए। इस प्रकार कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—सभी होते हैं। इस प्रकार विश्वामित्रजी की सन्तानों द्वारा कौशिक गोत्र के कई भेद हो गये। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में विश्वामित्रजी के वंश का प्रसङ्गानुसार वर्णन किया। अब बताइये, कौन सी कथा कहूँ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! एक शङ्का हमें रह गई। यह जो आपने शुनःशेप और विश्वामित्र का वृत्तान्त सुनाया है, पुराणान्तर में यही प्रसङ्ग हमने महाराज मान्धाता के यज्ञ के सम्बन्ध में सुना है। वहाँ बताया है, महाराज मान्धाता शुनःशेप

को मोल ले गये थे। आप कहते हैं कि उन्हें हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित ले गये थे। इसमें तो बड़ा भारी अन्तर पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि ये सब कपोल-कल्पित प्रसङ्ग हैं। जिसे जब जिस राजा का नाम याद आया, उसी के प्रसङ्ग में यह कथा लिख दी। नहीं तो मान्धाता और रोहित में तो कई पीढ़ियों का अन्तर है।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! कभी-कभी तो आप सर्वथा कलियुगी कुतर्कियों की सी शंका किया करते हैं। ब्रह्मन्! इस प्रवाह रूप से बहते हुए संसार सागर में कौन-सी लहर कब आई, यह किस संख्या की लहर है, इसकी गणना कौन कर सकता है? आप तो प्रति वर्ष कल्पवास करने तीर्थराज प्रयाग में जाते हैं। आपकी ही भाँति वहाँ बहुत से ऋषि-मुनि प्रति वर्ष आते हैं। सामान्यतया प्रति वर्ष मेला एक-सा ही होता है। राज्य की ओर से कल्पवासी और अधिकारियों के ठहरने का प्रबन्ध होता है। सङ्गम कभी आगे बढ़ जाता है, कभी पीछे हट जाता है। उसी के अनुसार मेले में भी हेर-फेर हो जाया करता है। प्रायः सभी श्रेणी के साधुओं के स्थान निश्चित रहते हैं। अधिकारियों के स्थान भी यथावत् रहते हैं। फिर भी प्रति वर्ष गङ्गा यमुना उस भूमि का कल्प करती हैं, उसे नूतन बनाती हैं, उसमें कुछ न-कुछ अंतर हो ही जाता है। किसी माघ में हमने प्रतिष्ठानपुर के समीप संगम में स्नान किया, द्वितीय वर्ष सङ्गम सोमेश्वर के समीप पहुँच गया, तीसरे वर्ष आदि-माधव जी के समीप, और चौथे वर्ष अक्षयवट के मूल में पहुँच गया। एक ही ऋषि ने चारों वर्ष संगम में स्नान किया। वर्णन करने वाले ने चारों ही स्थानों में ऋषि को स्नान करते देखा। जब उसके ध्यान में जहाँ का दृश्य आ गया, वर्णन कर दिया। अब दूसरा कोई कुतर्की कहे, कि इसमें तो संगति मिलती नहीं; तो यह उसकी

बुद्धि का दोष है। सङ्गम तो प्रति वर्ष क्या प्रति दिन बदलता रहता है। आज यहाँ है, तो कल वहाँ। इसी प्रकार कुछ हेर-फेर से ये घटनायें प्रत्येक कल्प में घटित होती हैं। किसी कल्प में महाराज मान्धाता ने शुनःशेप को मोल ले लिया होगा। ऋषि के मन में वर्णन करते समय वह घटना याद आ गई। किसी कल्प में रोहित ने मोल लिया होगा। इसमें असगति की कौन सी बात है?"

शौनकजी ने हँसकर कहा—"सूतजी! आप कल्प-भेद वाली बात कहकर ही हमें चुप कर देते हैं। सोचिये, जब आप इसी कल्प की कथा सुना रहे हैं, तो फिर सब ग्रन्थ इसी कल्प की एक सी घटना के हों।"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज! यह आवश्यक नहीं। वर्णन करने वाले मुनि कोई बँधे हुए थोड़े ही हैं। जिस समय समाधि में जिस कल्प की स्मृति हो आई, उसी का वर्णन कर दिया। जैसे भिन्न भिन्न कल्पों की भिन्न-भिन्न कथाएँ हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न मुनियों की कल्पनाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। हमें इन राजर्षि और ब्रह्मर्षियों के चरित्रों से केवल शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये—सो भी अनुकूल शिक्षा। यह नहीं कि विश्वामित्र जी जैसे ऋषि मेनका के फंदे में फँस गये, तो हमें जान-बूझकर काम के वश में हो जाना चाहिये। इनसे यही शिक्षा ले कि काम बड़ा प्रबल है, साधक को पग-पग पर सावधान रहना चाहिये। फूँक फूँककर पग बढ़ाना चाहिये। विश्वामित्र जी की भाँति पुनः-पुनः विघ्न आने पर भी निराश न होना चाहिये और जब तक सिद्धि न हो, तब तक प्रबल प्रयत्न करते ही रहना चाहिये। इसलिये राजर्षि, ब्रह्मर्षि तथा भक्तों के चरित्रों में अनुकूल शिक्षा खोजनी चाहिये और भगवान् के चरित्रों को, उनको क्रीडा समझकर, बिना तर्क के सुनकर प्रमुदित होना चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कथन सत्य है। अब आप आगे की मुख्य कथा सुनायें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"आगे की मुख्य कथा कौन-सी महाराज ?"

यह सुनकर हँसते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी ! आप बहुत शीघ्र भूल जाते हैं। मुख्य कथा तो अभी शेष ही रह गई। आप हमें चन्द्रवंश का वर्णन सुना रहे थे। चन्द्र के पुत्र बुध और बुध के पुत्र पुरूरवा हुए। पुरूरवा के, उर्वशी के गर्भ से आयु, श्रुतायु, सत्यायु रय, विजय और जय—ये छः पुत्र आपने बताये थे। सर्व प्रथम आपको पुरूरवा के बड़े पुत्र आयु के वंश का वर्णन नियमानुसार करना चाहिये था, सो आपने न करके 'सूची-कटाह न्याय' से श्रुतायु, सत्यायु, आदि के वंश का वर्णन किया उसी प्रसङ्ग में विजय के वंश का वर्णन करते हुए परशुराम जी और विश्वामित्र की कथा कह दी। आप मुख्य कथा पर आ जायँ—आयु के वंश का वर्णन करें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—" हाँ, महाराज ! कथा की झोंक में मैं तो भूल ही गया था। आपने अच्छी याद दिला दी। अब आप आयु के वंश का वर्णन सुनें।"

छप्पय

निज सुत विश्वामित्र प्रेम तैं पास बुलाये।
देवरातकूँ ज्येष्ठ करो बहु विधि समुझाये॥
आधे माने नहीं शाप दै म्लेच्छ बनाये।
शेषनि करि स्वीकार मनोवांछित वर पाये॥
ब्राह्मण क्षत्रिय म्लेच्छ हूँ, कौशिक गोत्री ही रहे।
विमल चरित संक्षेप महँ, गाधि-तनय के कछु कहे

पुरूरवा के ज्येष्ठ सुत आयु का वंश

[७४७]

यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्यामवन् सुताः ।
नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी रम्भश्च वीर्यवान् ॥
अनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रवृद्धोऽन्वयम् ।❀

(श्री भा० ९ स्क० १७ अ०, १,२ श्लो०)

छप्पय

अब पुरूरवा-पुत्र आयु की बरनौं सन्तति ।
नहुष, रम्भ, रजि और अनेना क्षत्रवृद्ध अति ॥
वीर पोच सुत भये पोंचहू परम यशस्वी ।
क्षत्रवृद्ध के काशि, काशि के राष्ट्र तपस्वी ॥
धन्वन्तरि तिनि सुत तनय, बनि हरि प्रकटित है गये ।
कुवलयाश्व ज्ञानी नृपति, पञ्चम पीढी महँ भये ॥

जब जैसे अवतार का कार्य होता है, तब भगवान् वैसा ही अवतार लेकर, ससार का उद्धार करते हैं। ससार मे आधि-व्याधि को ही दुःख का कारण बताया है। मानसिक दुःख का नाम आधि और शारीरिक दुःख का व्याधि है। आधि का नाश

❀ श्री शुकदेव जी कहते है—"राजेन्द्र ! महाराज पुरूरवा के जो बडे पुत्र आयु थे, उनके नहुष, क्षत्रवृद्ध रजि, वीर्यवान् रम्भ और अनेना ये पाँच पुत्र हुए अब तुम क्षत्रवृद्ध के वश को श्रवण करो।"

ज्ञान आदि से होता है और व्याधि का नाश औषधि आदि से। भगवान् ज्ञान का प्रसार करने कपिल आदि रूप में अवतरित होते हैं और व्याधि का नाश करने धन्वन्तरि आदि रूप में।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब मैं आपको बुध-पुत्र, प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज पुरूरवा के बड़े पुत्र, आयु के वंश का वृत्तान्त सुनाता हूँ। धर्मात्मा महाराज आयु के नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजि, रम्भ और अनेना—ये पाँच पुत्र हुए। इन सब में नहुष सबसे ज्येष्ठ—श्रेष्ठ थे। राजर्षि नहुष का चरित बड़ा ही अद्भुत है। इसका वर्णन मैं पीछे करूँगा। पहले आप अत्यन्त संक्षेप में इनके चार छोटे भाइयों के वंश का वर्णन श्रवण कीजिये। हाँ, तो महाराज आयु के द्वितीय पुत्र, क्षत्रवृद्ध, के सुहोत्र नामक पुत्र हुए। सुहोत्र के काश्यप, कुश और गृत्समद—ये तीन पुत्र हुए। गृत्समद के पुत्र महाराज शुनक हुए और शुनक के ही पुत्र ऋग्वेदीय मुनिवर शौनक हुए। शौनक जी ! ये शौनक आपसे पृथक् एक दूसरे राजर्षि हैं। आपका जन्म तो भृगुवंश में हुआ है।

महाराज सुहोत्र के प्रथम पुत्र काश्यप के काशि-नामक पुत्र हुए। इन्होंने काशी में अपनी राजधानी बनाई। महाराज काशि के राष्ट्र नामक पुत्र हुए। राष्ट्र के पुत्र दीर्घतमा हुए। ये महाराज दीर्घतमा मुनिवर दीर्घतमा से पृथक् हैं। इन दीर्घतमा के ही पुत्र आयुर्वेद के प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरि हुए, जिन्होंने संसार में आयुर्वेद का प्रचार किया, जो भगवान् के अंशावतार हैं, और जिनका नाम ले लेने से समस्त रोगों का नाश हो जाता है।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! आप पीछे बता चुके हैं, कि जब देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र मथा था:

तब भगवान् के अंशावतार भगवान धन्वन्तरि अमृत का कलश लेकर प्रकट हुए थे, जिनके हाथ से असुर अमृत-कलश छीन ले गये।" इस प्रकार पहले तो आपने धन्वन्तरि जी का प्राकट्य क्षीरसागर से बताया था। अब आप कह रहे हैं, कि ये काशिराज महाराज दीर्घतमा के पुत्र थे। यह विरोधाभास क्यों ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! भगवान् धन्वन्तरि तो नित्य हैं। उनका तो प्रादुर्भाव—तिरोभाव होता रहता है। एक बार वे समुद्र से भी प्रकट होकर तिरोहित हो गये थे। पुनः वे काशिराज के यहाँ राजा-रूप में अवतीर्ण हुए। आपने सुश्रुत-संहिता आदि का विस्तार किया। पृथ्वी पर आपने आयुर्वेद शास्त्र का प्रचार किया। पहले वैद्यों को यज्ञ में भाग नहीं दिया जाता था, किन्तु इन भगवान् ने अवतार लेकर यज्ञ का भाग ग्रहण किया। इनके नाम-संकीर्तन से ही समस्त रोगों का नाश हो जाता है। भगवान् धन्वन्तरि ने यह सिद्धान्त प्रचारित किया, कि संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जो औषधि न हो। संसार की सभी वस्तुएँ औषधि हैं। केवल उनके गुणों को जानकर प्रयोग करने वाला ही दुर्लभ है। हरीतिकी पहले भी थी, किन्तु लोग उसके गुणों से परिचित नहीं थे। भगवान् धन्वन्तरि जी ने बताया कि हरीतिकी सदा पथ्य है। रसायन है।

एक बार संसार में यह झूठी बात किसी ने फैला दी, कि भगवान् धन्वन्तरि इस पृथ्वी को छोड़कर चले गये। सभी लोग इस समाचार को सुनकर रोने लगे। सबको रोते देखकर हरीतिकी (हरड़) ने बड़े गर्व से कहा—"धन्वन्तरि जी पृथ्वी को छोड़कर चले गये, तो कोई बात नहीं। जो हो गया, सो हो गया। आप लोग चिन्ता न करें।"

लोगों ने कहा—"संसार में नित्य ही नई-नई व्याधियाँ होती हैं, उनका नाश कौन करेगा ?"

हरीतिकी ने कहा—"जब तक मैं पृथ्वी पर हूँ, तब तक तुम्हें चिन्ता करने की कोई बात नहीं। मैं सभी रोगों का नाश करूँगी।" हरीतिकी की ऐसी बात सुनकर एक ऋषि, राजर्षि धन्वन्तरि के समीप गये, और बोले—"महाराज हरीतिकी तो बड़े गर्व से कहती है, कि उसका प्रयोग सभी रोगों में युक्ति से हो सकता है। वह सब रोगों को नाश करने में समर्थ है।"

धन्वन्तरि जी ने कहा—"अच्छा, तुम जाकर उससे पूछो कि कच्चे ज्वर में तुम्हारा क्या उपयोग हो सकता है।"

ऋषि ने जाकर हरीतिकी से यही बात पूछी—"तुम कहती हो कि मैं सब रोगों को नाश करने में समर्थ हूँ, तो बताओ कच्चे ज्वर में तुम्हारा क्या उपयोग है ?"

यह सुनकर हरीतिकी खिलखिलाकर हँस पड़ी और बोली—"यह बात मिथ्या है, कि धन्वन्तरि जी इस पृथ्वी का परित्याग कर गये। वे इस पृथ्वी पर ही विद्यमान हैं।"

ऋषि ने पूछा—"यह बात तुमने कैसे जानी ?"

हरीतिकी ने कहा—"यह बात धन्वन्तरि जी के अतिरिक्त कोई जानता ही नहीं, कि कच्चे ज्वर में मेरा कोई उपयोग नहीं उनसे सुनकर ही आप कह रहे हैं।" मुनि यह सुनकर हँस पड़े और उन्होंने हरीतिकी की बात का समर्थन किया।

इस प्रकार धन्वन्तरि जी के महत्त्व को चर-अचर सभी प्रकार के प्राणी जानते थे। बड़े-बड़े उनसे आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने आते थे। इन भगवान् का अवतार कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी (धनतेरस) को हुआ था। आज तक इस त्रयोदशी को धन्वन्तरि जयन्ती मनाई जाती है। इन के पुत्र केतुवान हुए।

केतुवान के पुत्र भीमरथ हुए। भीमरथ के पुत्र दिवोदास हुए। दिवोदास के पुत्र द्युतमान् हुए, जो प्रतर्दन कहलाये, उन्हीं शत्रुजित् के पुत्र ऋतध्वज कुवलयाश्व इस नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज शत्रुजित द्युमान् के पुत्र ऋतध्वज का नाम कुवलयाश्व क्यों पड़ा? कृपा करके हमें इसका कारण बताइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! शत्रुजित् पुत्र ऋतध्वज बड़े ही, धर्मात्मा और ब्राह्मण-भक्त थे। जब ये कुमार ही थे, तब महर्षि गालव ने एक घोड़ा लाकर दिया था, उस का नाम 'कुवलय' था, जो समस्त पृथ्वी-मण्डल की परिक्रमा कर आता था। उसी पर सवार होने से धर्मात्मा महाराज ऋतध्वज का नाम कुवलयाश्व पड़ा। इनका बड़ा ही आश्चर्य-जनक मनोरञ्जक चरित है ऐसा अद्भुत चरित शायद ही किसी राजा का होगा। इनकी धर्म पत्नी का नाम मदालसा था, जो बड़ी ही ब्रह्मवादिनी तथा ज्ञान पारङ्गता थीं। उनका चरित भी अलौकिक है।"

यह सुनकर अत्यन्त उत्सुकता प्रकट करते हुए शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हम राजर्षि कुवलयाश्व का सम्पूर्ण चरित सुनना चाहते हैं। महर्षि गालव ने उन्हें कुवलय नामक अश्व क्यों दिया? मुनि के पास ऐसा अद्भुत घोड़ा कहाँ से आया, जो कुछ ही देर में सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा कर सके? महाराज की महारानी मदालसा किसकी पुत्री थी? उनका चरित अद्भुत किस प्रकार है? इन सभी वृत्तान्तों को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं महाराज ऋतध्वज अथवा कुवलयाश्व की चरित सुनाता हूँ, उसे आप सावधानी से श्रवण करें।"

छप्पय

भूप शत्रुजित् बत्स ऋतध्वज शूर वीर अति।
पालहिँ पितु-सम प्रजा धर्म महँ रखहिँ सदा मति॥
गालव दीन्हों अश्व पवन-मन तें द्रुतगामी।
ता पै चढ़ि पताल केतु मारयो खलनामी॥
कुवलयाश्व की कृपा तें, नृप पताल तल महँ गये।
विश्वावसु तनया तहाँ, मिली पाइ प्रमुदित भये॥

महाराज ऋतध्वज या कुवलयाश्व

[७४८]

स एव शत्रुजिद् वत्स ऋतध्वज इतीरितः ।
तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० १७ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

सँग मदालसा लई ऋतध्वज पितु-पुर आये ।
जननी-पितु अति सुघर बहू लखि अँग न समाये ॥
अति प्रगाढ़तर प्रेम परस्पर कुवरि-कुँवर महँ ।
जन-रक्षा हित गये अश्व चढ़ि नृप-सुत वन मह ॥
तालकेतु पाताल को, बन्धु-कपट तैं बन्यो मुनि ।
छल मदालसा तैं करयो, मरी प्राणपति मृत्यु सुनि ॥

प्राणी प्रेम के आधार पर ही जीवित है । प्रेम के बिना जीवन नहीं, रस नहीं, स्फूर्ति नहीं । प्राणियों का परिष्कृत पुण्यपथ प्रेम ही है । यह सम्भव है, प्राणी जल, वायु के बिना भले ही जीवित रह सके, किन्तु प्रेम के बिना जीवन असम्भव है । जो जितना ही महान तथा उत्तम होगा उसका प्रेम भी उतना ही विशाल और

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! द्युमान् का ही नाम शत्रुजित् था । उसका पुत्र ऋतध्वज के नाम से विख्यात था, जिसका दूसरा नाम कुवलयाश्व भी था । उसके अलर्क आदि कई पुत्र हुए ।"

विस्तृत होगा। बहुतों को धन से ही प्रेम होता है। धन के लिये वे तन को कुछ नहीं समझते। बहुतों को प्राणों से प्रेम होता है। प्राण रक्षा के लिये वे बड़ा-से-बड़ा पाप कर सकते हैं। बहुतों को धर्म से प्रेम होता है। धर्म के लिये वे हँसते-हँसते प्रसन्नता पूर्वक प्राणों का परित्याग कर सकते हैं। बहुतों को माता, पिता, गुरु, भाई, पत्नी, इष्टमित्र तथा अन्य किसी सगे-सम्बन्धी से इतना प्रेम हो जाता है कि उनके वियोग में वे प्राणों को रख नहीं सकते। जो इस अनित्य देह को, कुछ न समझकर, प्रियतम के निमित्त, प्राणों का परित्याग करते हैं, वे संसार में यशस्वी होते हैं। जीवन तो उन्हीं का सार्थक है। नहीं तो, इस देह में मोह करके, इसे आहार से पुष्ट करते हुए; कौआ, कूकर, सूकर आदि जीव भी अनेक वर्ष तक जीवित रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे महाराज ऋतध्वज का नाम कुवलयाश्व क्यों पड़ा? यह प्रश्न किया था। उसे मैं आपको सुनाता हूँ। "महाराज द्युमान् प्रनर्दन और शत्रुजित् इन नामों से संसार में प्रसिद्ध थे। यथार्थ में उन्होंने सभी शत्रुओं को अपने प्रभाव से जीत लिया था। इसीलिये उनका शत्रुजित् नाम सार्थक था। उन्होंने बड़े भारी-भारी यज्ञ किये थे, विविध भाँति के उत्तम-उत्तम दान दिये थे। संसार में उनका ऐश्वर्य अपार था। वे देवराज इन्द्र की भाँति पृथ्वी पर ही सभी सुखों का उपभोग करते थे। उनके यहाँ अन्न, पान, मणि माणिक्य, वाहन, वस्त्र, आभूषण आदि किसी भी वस्तु की कमी नहीं थी। महाराज के एक परम-विनयी, शूरवीर, विद्वान् प्रियदर्शन और चरितवान सुन्दर पुत्र भी था, जिसका नाम ऋतध्वज था। वह बुद्धि में बृहस्पति के समान, पराक्रम में देवराज इन्द्र के और सुन्दरता में अश्विनी कुमारों और कामदेव के समान था। वह ऐश्वर्य में कुबेर

के समान, दृढ़ता में यम के समान, सत्य में धर्म के समान और प्रियता में चन्द्रमा के समान था। ऐसे पुत्र को पाकर पृथ्वीपति शत्रुजित् सदा अपने सौभाग्य की प्रशंसा किया करते थे। राजकुमार की सहृदयता, सहनशीलता, मृदुलता, सर्वप्रियता, कार्यकुशलता, गुणग्राहकता, आदि सद्गुणों के कारण समस्त प्रजा के आबालवृद्ध नर-नारी उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। राजकुमार सबसे अत्यन्त स्नेह से मिलते और क्षण भर में ही बात करने वाले से आत्मीयता स्थापित कर लेते।"

एक दिन महाराज सभा में सचिवों से घिरे हुए बैठे थे। राजकुमार ऋतध्वज भी उनके समीप ही विराजमान थे, कि उसी समय द्वारपाल ने आकर कहा—"पृथ्वीनाथ! द्वार पर महर्षि गालव एक बड़ा सुन्दर घोड़ा लिये हुए खड़े हैं। वे आपसे मिलना चाहते हैं।"

महर्षि गालव का आगमन सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए, किन्तु उन्हें यह सुनकर कुतूहल हुआ कि मुनि अपने साथ घोड़ा क्यों लाये हैं। तुरन्त ही राजा, मन्त्री, पुरोहित तथा राजकुमार को लेकर गालव ऋषि के स्वागत के लिये चले। द्वार पर आकर उन्होंने विधिवत् महर्षि की पूजा की और उनका कुशल पूछा। मुनि ने भी राजा के समस्त परिवार और आश्रितों का कुशल पूछा। तत्पश्चात् राजा मुनि को अश्व सहित भीतर ले गये। अश्व तो राज-सभा के सम्मुख बाँध दिया गया और मुनि स्वर्ण सिंहासन पर बैठे। राजा, राजकुमार तथा सभी उपस्थित व्यक्ति बड़ी उत्सुकता से अश्व की ओर निहार रहे थे। वे उस अद्भुत अश्व के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहते थे।

सबको उत्सुक देखकर राजा ने मुनि से पूछा—"ब्रह्मन्! यह इतना सुन्दर अश्व आपको कहाँ मिला? आप इसे साथ लिये

क्यों घूम रहे हैं ? इस अश्व के सम्बन्ध का कोई विशेष इतिहास हो, तो उसे जानने को हम सब अत्यन्त उत्सुक हैं।"

मुनि ने कहा—"हाँ राजन ! यह अश्व साधारण नहीं है। इसका इतिहास भी बड़ा विचित्र है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! यदि हमसे छिपाने योग्य न हो तो कृपया इसका इतिहास हमें अवश्य सुनाइये।"

महर्षि गालव बोले—"राजन ! आपसे क्या छिपाना है। आपको सुनाने तो मैं आया ही हूँ। बात यह है, कि मैं अपने एकान्त आश्रम में, मौन रखकर, फलाहार करके, तपस्या करता हूँ, किन्तु एक दैत्य आकर मेरे तप में विघ्न करता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! वह दैत्य कौन है और वह आप के तप में किस प्रकार का विघ्न करता है ?"

मुनि गालव ने कहा—"नरपति ! उस दुष्ट दैत्य का नाम है पातालकेतु। वह पाताल में रहता है, नित्य ही पातालविवर से निकल कर, मेरे आश्रम में आता है। वह कामरूपी दैत्य कभी हाथी, कभी सिंह, कभी सूकर, कभी बाघ और कभी अन्य हिंस्र-जन्तु का वेश बना लेता है। वह आकर मेरे आश्रम को नष्ट करता और आश्रम-वासियों को दुःख देता है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन ! आप इतने बड़े तपस्वी हैं, आपके सामने यह नीच दैत्य ऐसी अशिष्टता क्यों करता है ? आप एक हुङ्कार मार दें, तो भस्म हो जाय।"

मुनि बोले—"राजन् ! आपका कथन सत्य है। मैं शाप देकर उसे भस्म कर सकता हूँ, किन्तु शाप देने से तप नष्ट होता है। इसलिये मैं उसे शाप देना नहीं चाहता। बड़े कष्ट से उपार्जित की हुई तपस्या का अपव्यय करना उचित नहीं।"

राजा ने पूछा—"तब ब्रह्मन् ! आप मुझसे क्या चाहते हैं ?

मुनि बोले—"हाँ, राजन् ! यही तो मैं आपको सुनाना चाहता हूँ। एक दिन की बात है, मैं अपने आश्रम मे बैठा था। उस असुर के अत्याचारो से मेरा अन्तःकरण बड़ा ही खिन्न हो रहा था उसी समय अकस्मात् आकाश से यह अश्व उतरा और मेरे आश्रम के समीप खड़ा हो गया। पहले तो मैंने समझा यह दुष्ट पातालकेतु ही अश्व का रूप बनाकर आया है। किन्तु, कुछ ही काल मे आकाशवाणी हुई—'गालव !, तुम चिन्ता न करो। यह अद्भुत अश्व भगवान् आदित्य ने तुम्हारे पास भेजा है। इसकी गति अव्याहत होगी। यह आकाश-पाताल मे सर्वत्र जा सकता है। यह बिना थके समस्त भूमण्डल की परिक्रमा कर सकता है। यह समुद्र के जल पर चल सकता है, पर्वतो पर चढ़ सकता है। संसार में इसका नाम कुवलय प्रसिद्ध होगा। इस पर चढ़कर महाराज शत्रुजित् के पुत्र ऋतध्वज इस दुष्ट पातालकेतु का वध करेंगे, जो तुम्हे नित्य क्लेश देता है। इस अश्व पर चढने के कारण राजकुमार का नाम भी कुवलयाश्व प्रसिद्ध होगा।' सो राजन् ! उस आकाशवाणी को सुनकर, और इस अश्व को लेकर मैं आपके समीप आया हूँ। आप नरपति हैं दुखियों के दुखों को दूर करने वाले हैं। आर्तों को क्षत से त्राण करना ही क्षत्रियो का परम धर्म है। आप मेरी रक्षा करें, राजकुमार ऋतध्वज को मेरे साथ भेज दे।"

राजकुमार ऋतध्वज बड़ी उत्सुकता से उस अश्व को देख रहे थे। उसके शरीर की सुन्दर गठन और स्फूर्ति देखकर उनके मन में अश्व को प्राप्त करने का लोभ हो रहा था। वे अश्वारोहण-विद्या मे बड़े निपुण थे। मुनि के मुख से आकाशवाणी की बात सुनकर उन्हे अत्यन्त ही हर्ष हुआ। वे उस घोड़े पर चढ़ने को अत्यधिक उत्सुक हो उठे। मुनि तथा महाराज राजकुमार की

उत्सुकता को समझ रहे थे। अतः राजा ने मुनि से कहा—"ब्रह्मन् ! ऋतध्वज आपका ही है। आपके साथ जाने से इसका कल्याण ही होगा। आप इसे प्रसन्नता पूर्वक अपने आश्रम में ले जायँ। अभी यह निरा बालक ही है। आप इसकी देख-रेख रखें। यह अधिक चंचलता न करने पाये।"

मुनि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"राजन् ! आप किसी बात की चिन्ता न करें। कुमार बड़े विनयी हैं। मैं सब प्रकार इनकी रक्षा करूँगा।"

यह सुनकर राजा ने कुमार को मुनि के साथ जाने की आज्ञा दी अपनी आन्तरिक प्रसन्नता को छिपाते हुए, सिर झुकाकर कुमार ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की। पिता ने पुत्र का स्वस्त्ययन किया और ब्राह्मणों के वेद-घोष के साथ उस अश्वरत्न की पीठ पर कुमार को चढ़ाया। उस अश्व पर चढ़े हुए राजकुमार ऐसे लगते थे, मानों साक्षात् वीर-रस मनोवेग नामक अश्व पर चढ़कर जा रहे हों। उसी दिन से राजकुमार ऋतध्वज का नाम कुवलयाश्व पड़ गया। यह मैंने ऋतध्वज के 'कुवलयाश्व' नाम पड़ने की कथा सुना दी। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! आप हमें कुमार कुवलयाश्व का सम्पूर्ण चरित सुनावें। उन्होंने पातालकेतु दैत्य को मारा या नहीं ? उनका विवाह हुआ या नहीं ? उनकी कितनी सन्तानें हुईं ? ये सभी बातें हमें बतावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! कुमार कुवलयाश्व की कथा बड़ी और अत्यन्त ही करुणा पूर्ण है। उसे मैं संक्षेप में ही सुनाता हूँ।"

हाँ, तो कुमार ऋतध्वज को लेकर महामुनि गालव अपने आश्रम पर आये। कुमार सुख पूर्वक आश्रम में रहने लगे। उस

दुष्ट दैत्य को इस बात का पता नहीं था कि कुमार कुवलयाश्व मेरा वध करने के लिये मुनि के आश्रम में ही ठहरे हुए हैं। मुनि जब सन्ध्या-वन्दन में तल्लीन थे, तब उसी समय उन्हें क्लेश पहुँचाने को वह काम रूप दैत्य, सूकर का रूप रखकर, मुनि के समीप आया। उसे देखते ही मुनि के सभी शिष्य एक साथ ही चिल्ला उठे—"राजकुमार! देखो, देखो, वह असुर, सूअर बना हुआ, मुनि के ऊपर प्रहार करने जा रहा है। राजकुमार ऋतध्वज ने भी उस वाराह रूपधारी दैत्य को देख लिया था, अतः वे तुरन्त धनुष पर बाण चढ़ाकर उस अश्व पर चढ़कर उसके पीछे दौड़े। धनुष बाण ताने हुए घोड़े पर चढ़े राजकुमार को अपनी ही ओर आते देखकर वह वाराह वेषधारी असुर बड़े वेग से भागा। कुमार ने एक अर्द्ध चन्द्राकार बाण उसको मारा। बाण से आहत होकर वह अपने प्राणों की रक्षा के लिये वायु के समान भागा। किन्तु अश्वारोही कुमार उसे छोड़ने वाले कब थे। वे भी शर सन्धाने उसके पीछे भागते ही गये। सूकर बने दैत्य ने जब देखा कि राजकुमार के हाथों से मैं बच नहीं सकता, इनके अश्व के समान तेज मैं दौड़ नहीं सकता, तब एक बड़े भारी अन्धकार पूर्ण पाताल-विवर में वह कूद गया। उसके कूदते ही अश्वारोही राजकुमार भी उस भयङ्कर गड्ढे में कूद पड़ा, क्योंकि उसके अश्व की गति तो अव्याहत थी। वह समान रूप से सर्वत्र जा सकता था।

उस घोर अन्धकार पूर्ण विवर में जाने से कुमार को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। वह सूअर तो अदृश्य ही हो गया। कुछ काल में उन्हें अत्यन्त प्रकाशमयी पाताल नगरी दिखाई दी। मणियों के प्रकाश से वह जगमग-जगमग कर रही थी। वह स्वर्ग की अमरावती पुरी से भी अधिक चित्ताकर्षक और सुन्दर दिखाई

देती थी। उस अद्भुत पुरी को देखकर कुमार को अत्यन्त कुतूहल हुआ। उन्हें भय तो था ही नहीं, वे पाताल पुरी के अनुपम दृश्यों को निर्निमेष दृष्टि से निहारने लगे। उसी समय उन्हें एक अत्यन्त ही सुन्दरी स्त्री उधर से जाती दिखाई दी। कुमार उसके समीप गये और बोले—"सुन्दरि! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? किसकी पत्नी हो? इतनी उत्सुकता के साथ तुम कहाँ जा रही हो? मुझे अपना परिचय दो।"

कुमार की बात सुनकर भी उस स्त्री ने उन्हें कुछ भी उत्तर नहीं दिया। कुमार को एक बार कुटिल दृष्टि से निहार कर, मुस्कुराती हुई, वह महल के भीतर घुस गई। कुमार इस रहस्य को कुछ भी न समझ सके। वे शीघ्रता पूर्वक घोड़े को बाहर ही बाँधकर अपनी उत्सुकता मिटाने के लिये, उस स्त्री के पीछे-पीछे महल में घुस गये।

भीतर जाकर कुमार ने जो कुछ देखा, उसे देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उस सजे-सजाये महल में एक सुन्दर सुवर्ण का पलङ्ग बिछा हुआ है। उसके ऊपर अत्यन्त ही कोमल गद्दे-बिछे हुए हैं। वे दुग्ध के फेन की भाँति स्वच्छ धवल वस्त्र से ढँके हैं। पलङ्ग पर अत्यन्त ही मृदु छोटे बड़े उपधान (तकिये) रखे हुए हैं। उसके ऊपर एक अत्यन्त ही सुन्दरी रमणी बैठी हुई है। उसके काले-काले घुँघराले बाल अस्त-व्यस्त भाव से मुख पर बिखरे हुए हैं। नीलकमल के समान बड़े-बड़े सुन्दर आकर्षक उसके नेत्र हैं। बन्धूक पुष्प की कलिका के समान उसके पतले-पतले मृदु-अरुणवर्ण के ओष्ठ हैं। चन्द्रमा की चाँदनी के समान स्वच्छ उसके दन्त हैं। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सुन्दरता फूट-फूटकर निकल रही थी। वह सर्वाङ्ग सुन्दरी रमणी ललाम लवङ्ग-लता के समान हिल रही थी। राजकुँवर ने आज तक इतनी

सुन्दरी कोई नारी निहारी ही नहीं थी। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि ब्रह्मा की सृष्टि में ऐसी सुन्दरा स्त्री भी हो सकती है। उन्होंने समझा, वह कोई पाताल की अधिष्ठात्री देवी है। वे शील सङ्कोच श्रद्धा तथा लज्जा के सहित सिर झुकाकर उसके सन्मुख खड़े हो गये।"

साक्षात् कामदेव के समान, मूर्तिमान वीर रस के समान, प्रत्यक्ष मनोरथ के समान, उस सुन्दर सलोने सुकुमार कुमार को

निहार कर वह सर्वाङ्ग-सुन्दरा रमणी मूर्च्छित होकर धड़ाम से पलङ्ग पर गिर पड़ी। उसकी ऐसी दशा देखकर आने वाली उस

दूसरी स्त्री ने उसका सिर अपनी गोद में रखा। कई औषधियाँ सुँघाई और शनैः शनैः उसके सिर को दबाती हुई पङ्खा झलने लगी। कुमार उस सुकुमारी के सौन्दर्य को देखकर अपने आप को भूले हुए थे। वे निर्णय ही न कर सके कि मुझे क्या करना चाहिये। समीप ही एक चौकी पर बैठ गये। कुछ काल में उस सुन्दरी की मूर्छा भङ्ग हुई। तब कुमार ने अत्यन्त ही सङ्कोच के स्वर में कहा—"देवि ! मैं आपका परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। आप अभी इस प्रकार मूर्छित क्यों हो गई थीं ?"

राजकुमार के ऐसे प्रश्न को सुनकर सुन्दरी लज्जित हुई। उसने एक रहस्य-भरी दृष्टि से अपनी परिचारिका सखी की ओर देखा।

उसके अभिप्राय को समझ कर सखी ने कहना आरम्भ किया—"राजकुमार ! आपने गन्धर्वों के राजा विश्वावसु का नाम तो सुना ही होगा। यह सुकुमारी राजकुमारी उन्हीं गन्धर्वराज की प्राणों से भी प्यारी पुत्री है। इसका नाम मदालसा है। एक तो गन्धर्व वैसे ही समस्त उपदेवों से सुन्दर होते हैं, तिसपर यह कुमारी समस्त गन्धर्व कन्याओं से सुन्दरी थी। इसके सौंदर्य की ख्याति स्वर्ग तक फैल गयी। इसकी सुन्दरता ही इसके बन्धन का कारण हुई।"

आश्चर्य के साथ राजकुमार ने पूछा—"सो कैसे ?"

सुन्दरी की सखी बोली—"सुनिये, यह बात भी मैं कहती हूँ। आप तो जानते ही हैं, सुमेरु पर रहने वाले गन्धर्व कितने सौंदर्य प्रिय और विलासी होते हैं। उन्हें गाने-बजाने, घूमने और वनों में विचरण करने का व्यसन-सा होता है। गन्धर्वराज विश्वावसु का एक बहुत ही सुन्दर बगीचा है। उसमें सभी प्रकार के सुन्दर-सुन्दर पुष्पों के वृक्ष हैं। वह दूसरे नन्दन-

कानन के समान ही सुन्दर है। उसी में यह एक दिन विचरण कर रहा थी। उसी समय वज्रकेतु दानव का पुत्र पातालकेतु वहाँ आया। वह मदालसा के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर इस पर आसक्त हो गया था। वह इसी घात मे रहता था। एकान्त मे मदालसा को पाकर वह मायावी परम प्रसन्न हुआ। उसने भयकर माया फैलाकर राजकुमारी मदालसा का अपहरण किया और अपने निवास स्थान पाताल मे लाकर इसे यहाँ रख दिया है।

उस दुष्ट ने इससे विवाह का प्रस्ताव किया, किन्तु इसने स्वीकार नहीं किया। आप ही सोचिये, कहाँ तो वह भयङ्कर रूप-धारी कामचारी दुष्ट दानव और कहाँ कामना युक्त रति के समान सुन्दरी मेरी सखी। उस दुष्ट दानव ने इससे कह दिया है—"आगामी त्रयोदशी को तेरे साथ विवाह कर लूँगा।" इससे यह अत्यन्त ही भयभीत हो गई है।

कल इसने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया था। ज्यों ही यह आत्म-हत्या करने को उद्यत हुई, त्यो ही स्वर्ग की साक्षात् कामधेनु इसके सम्मुख प्रकट हुई और इसे धैर्य बँधाते हुए बोली—"बेटी! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। तेरा विवाह इस दुष्ट दानव से कभी भी नहीं हो सकता। यह तो अब मृत्यु को घड़ियाँ गिन रहा है। अति शीघ्र ही यह सूकर का रूप बनाकर मर्त्य लोक मे जायगा। वहाँ जो भी इसे अपने बाणों से मारेगा, वही तेरा पति होगा।" इतना कहकर कामधेनु वहीं तुरन्त अन्तर्धान हो गई।

"आज मैंने सुना था कि वह दुष्ट दानव सूकर का रूप रख कर मर्त्यलोक मे गया है। मैंने यह भी सुना कि आज वह किसी के बाण का लक्ष्य बनकर पञ्चतत्व को प्राप्त हो गया। वह किस

कुमार के द्वारा मारा गया इसी का पता लगाने मैं गई थी। पता चला अवश्य ही वह मायावी दैत्य मारा गया।"

राजकुमार ने पूछा—"अच्छा, आप अपना तो परिचय दीजिये। आप कौन हैं?"

सुन्दरी की सखी ने कहा—"अजी, मेरा परिचय ही क्या? मैं गन्धर्व राजकुमारी इस मदालसा की प्यारी सखी हूँ। इसे मैं प्राणों से भी अधिक प्यार करती हूँ।"

कुमार ने कहा—"नहीं, तो भी आप अपना परिचय तो दें ही।"

इस पर सुन्दरी की सखी ने कहा—"मैं भी विन्ध्यवान् गन्धर्व की पुत्री हूँ। मेरा विवाह पुष्करमाली गन्धर्व के साथ हुआ था। उन्हें शुम्भ नामक दैत्य ने युद्ध में मार डाला। तब से मैं वैधव्य के व्रत का नियम पूर्वक पालन करती हुई पुण्य तीर्थों में भ्रमण करती रहती हूँ। जब मैंने सखी के अपहरण की बात सुनी, तब मैं योग के द्वारा, सब जानकर, इसके समीप आ गई हूँ और जो बनती है, इसकी सेवा करती हूँ।"

राजकुमार ने कहा—"अच्छा, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपकी सखी अभी मूर्छित क्यों हो गई थी।"

इस प्रश्न को सुनते ही सुन्दरी के मुख-मण्डल पर एक प्रकार की रसमयी लज्जा छा गई। उसकी सखी ने कहना आरम्भ किया—"देव! आप कोई धर्मात्मा दयालु देव प्रतीत होते हैं। आपसे मैं सच-सच बातें कहती हूँ। मेरी सखी आपके सुन्दर रूप को देखते ही मोहित हो गई। यह इसके जीवन में एक अद्भुत घटना घटित हुई। नहीं तो यह कभी किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती। आपके काले-काले घुँघराले से सुशोभित मस्तक, उभरी हुई विशाल छाती, सिंह के

स्थूल और मांसल कंधों और आजानु लम्बित बड़ी-बड़ी विशाल बाहुओं को देखकर यह अपनेपन को भूल गई। इसका मन मधुप आपके सौन्दर्य रूपी कमलकोष में फँस गया। अब इसे चिन्ता इस बात की है, कि मेरा विवाह तो उस व्यक्ति के साथ होगा, जो पातालकेतु को मारेगा, सुरभि के वचन कभी मिथ्या तो हो नहीं सकते। इसका मन है आपके साथ और शरीर का सम्बन्ध होगा दूसरे के साथ, यह अत्यन्त ही दुःखद प्रसंग होगा। इसीलिये मेरी सखी व्याकुल हो रही है। इसने अपना सर्वस्व आपके ऊपर न्योछावर कर दिया है। यह मैंने अपना और अपनी सखी का परिचय दिया। अब हम भी आपका परिचय प्राप्त करना चाहती हैं। आप ठीक-ठीक बतायें, आप कौन हैं—देवता, गन्धर्व, विद्याधर अथवा किसी नागराज के कुमार। आप यहाँ किस कारण और कैसे आये ?"

यह सुनकर सरलता के साथ राजकुमार ने कहा—"देवि ! मैं देवता, किन्नर विद्याधर, नाग या गन्धर्व नहीं हूँ। ये सब तो देव-योनि वाले मेरे पूजनीय हैं। मैं तो मर्त्यलोक का एक मनुष्य हूँ। महर्षि गालव की कृपा से और इस सूर्यदत्त अश्व के प्रभाव से मैं यहाँ पाताल लोक में आ सका हूँ। महर्षि गालव मेरे पिता से मुझे माँग लाये थे। पातालकेतु दानव उन्हें बहुत क्लेश देता था। आज वह सूकर का रूप रखकर उनके आश्रम में गया था। मैं उसका पीछा करते हुए यहाँ आ गया हूँ। वह मेरे बाण से आहत हुआ इसी बिवर में कूद पड़ा था। यही मेरे यहाँ आने का कारण है।"

यह सुनते ही मदालसा का मुखकमल खिल उठा। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उसने प्रेम पूर्वक अपनी सखी की ओर देखा, किन्तु प्रेम के उद्रेक में वह कुछ न तो बोल ही सकी, न कुछ कह ही सकी। उसकी ऐसी दशा देखकर मदालसा

की सखी कुण्डला बोली—"कुमार ! आपका कथन सर्वथा सत्य है। मेरी सखी का मन कभी अन्य पुरुष को देखकर चञ्चल नहीं हो सकता था। यह जन्मान्तरी संस्कार है। आपका-इसका सम्बन्ध अनेक जन्मों का है। तभी तो इसने देखते ही अपनी वस्तु को पहचान लिया। अब आप दोनों का विवाह हो जाना चाहिये। इसके हाथ को आपके हाथ में सौंपकर मैं भी निश्चिन्त होकर तपस्या में निमग्न हो जाऊँगी।"

कुमार ने कहा—"देवी ! मैं स्वतन्त्र तो हूँ नहीं। मैं तो अपने पिता के अधीन हूँ। मेरे पिता जिसके साथ मेरा विवाह करेंगे, उसी के साथ मुझे विवाह करना होगा।"

यह सुनकर कुण्डला ने कहा—"प्रभो ! आपका कथन सत्य है। मैं आपकी पितृ-भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ, किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि आपके माता-पिता इस सम्बन्ध से अत्यन्त ही सन्तुष्ट होंगे। यह कुलीलवंश की कन्या है, गन्धर्वराज की पुत्री है, आपके सर्वथा योग्य है। पिता इस सम्बन्ध का अभिनन्दन ही करेंगे। आप अपने मन में शंका न करें, फिर सुरभि का वचन कैसे असत्य हो सकता है ?"

कुमार ने कहा—"अच्छी बात है। जब ऐसा ही विधि का निश्चित विधान है, तो उसे अन्यथा कर ही कौन सकता है। किसी पुरोहित को बुलाओ, होय चाई-माई।"

राजकुमार की स्वीकृति मिलने पर वहीं कुण्डला ने विवाह की सब सामग्री जुटाई। उसने अपने कुलगुरु तुम्बरु का स्मरण किया। तुम्बरु समिधा-कुशा लिये, बगल में पोथी-पत्रा दबाये वहाँ आ गये। फिर तो क्या था, होने लगी स्वाहा-स्वाहा। मदालसा और कुमार ऋतध्वज का विधिवत् विवाह हो गया। दोनों पति-पत्नी-रूप सम्बन्ध-सूत्र में आबद्ध हो गये। कुण्डला

ने वर-वधू को आशीर्वाद दिया। दोनों को शिक्षा देते हुए उसने कहा—"तुम दोनों मिल-मिलकर प्रेमपूर्वक रहना। एक दूसरे की बात मानना। गृहस्थी-रूपी रथ के स्त्री और पुरुष दो पहिये हैं। जब दोनों ही यथा स्थान रहेंगे, तभी गाड़ी चल सकती है। पति-पत्नी के ही द्वारा देवता, पितर, भृत्य तथा अतिथियों का स्वागत-सत्कार कर सकता है। धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्ग की प्राप्ति पति-पत्नी के सम्मिलित उद्योग द्वारा ही हो सकती है। तुम नव-दम्पति सुख पूर्वक रहो, दोनों में दिनों दिन अनुराग बढ़े, यही मेरी प्रभु के प्राद पद्मों में प्रार्थना है।" इतना कहते-कहते कुण्डला का कंठ अवरुद्ध हो गया। उसकी आँखों से टप-टप प्रेमाश्रु गिरने लगे। रोते-रोते उसने मदालसा को गले लगाया। मदालसा ने आँसू पोंछते हुए कहा—"बहन! तुम मुझे अकेली क्यों छोड़ रही हो। तुम भी मेरे साथ चलो।"

कुण्डला ने कहा—"अकेली कहाँ छोड़ रही हूँ, मैं तो तुझे तेरे स्वामी के हाथों सौंप रही हूँ। अब मैं निश्चिन्त होकर भगवान् का भजन करूँगी। प्रभु से प्रार्थना करूँगी। तेरा सुहाग अचल रहे, तू पुत्रवती हो, तुझे मोक्ष का पूर्ण ज्ञान हो। अच्छा जा!" यह कहकर उसने रोते-रोते मदालसा की चोटी भिगो दी मदालसा भी भोली बच्ची की भाँति कुण्डला से लिपट कर फूट फूट कर रो रही थी। राजकुमार ने कुण्डला को प्रणाम किया, उसकी चरण धूलि ली। कुण्डला ने कुमार के सिर पर हाथ रखकर उन्हें आशीर्वाद दिया। देखते-देखते वह वहीं अन्तर्धान हो गई। अब कुमार अपनी प्राणप्रिया मदालसा को कुवलय नामक अपने दिव्य घोड़े पर बिठाकर पाताल लोक से चल दिया।

पाताकेतु के सगे सम्बन्धी दानवों ने जब यह समाचार सुना कि मर्त्यलोक का एक क्षुद्र मनुष्य पाताल में आकर पाताल-

केतु की भावी पत्नी को चुराये ले जा रहा है तब, सब के सब अस्त्र-शस्त्र लेकर राजकुमार ऋतध्वज के ऊपर टूट पड़े। राजकुमार अपने घोड़े पर सवार थे, अतः उन्हें पराजित होने का तो भय ही नहीं था, वे उन दानवों पर दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करने लगे। कुमार की बाण वर्षा के सम्मुख दानव युद्ध में ठहर न सके। बहुत से बाणों से विध कर मर गये, बहुत तो रण छोड़ कर भाग गये, बहुत वहीं क्षत-विक्षत होकर गिर गये। इस प्रकार दानवों को पराजित करके कुमार सर्व प्रथम गालव मुनि के आश्रम पर आये। शिष्यों सहित मुनि ने जब कुमार को वहू के साथ देखा तो वे सब परम प्रमुदित हुए। मुनियों ने नव-दम्पति को भाँति-भाँति के आशीर्वाद दिये।

इस प्रकार मुनियों द्वारा आदृत होकर तथा उनकी आज्ञा लेकर ऋतध्वज अपने पिता की पुरी में आये। माता पिता ने जब पुत्रबधू के साथ अपने पुत्र को देखा, तब तो उनके आनन्द की सीमा न रही। पिता ने अपने प्यारे पुत्र की प्रशंसा की, अपने भाग्य की सराहना की। माता ने वर-वधू को अनेकों आशीर्वाद दिये। नगर भर में उत्सव मनाया गया। मदालसा के अनिर्वचनीय रूप को देखकर सभी स्त्री पुरुष मन्त्र-मुग्ध की भाँति हो जाते। उसे देखकर सभी अपने भाग्य की सराहना करते। मदालसा ने अपने शील स्वभाव, सदाचार और स्नेहयुक्त सरल व्यवहार से सभी को वश में कर लिया था। वह नित्य प्रति प्रातःकाल उठकर अपने सास-श्वसुर के पाद-पद्मों में प्रणाम करती और सदा उनकी आज्ञा के अनुसार व्यवहार करती। कुमार ने अपना सर्वस्व मदालसा को समर्पित कर दिया था। मदालसा भी उन्हें अपना इष्टदेव मानकर सदा उनके अधीन रहती। उन दोनों में ऐसा प्रेम था कि 'एक प्राण दो देह' वाली कहावत इनके

ही विषय में चरितार्थ होती थी। कुमार मदालसा के साथ महलों में, पुर में, वन उपवनों, में नदी तट तथा उपत्यकाओं में विहार करते। इस प्रकार सुखपूर्वक उनके दिन व्यतीत होने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुमार ऋतध्वज की अपनी पत्नी में अधिक आसक्ति देखकर महाराज शत्रुजित ने एक दिन उनसे कहा—"बेटा! हम क्षत्रिय हैं, हमारा मुख्य कर्तव्य प्रजा के दुःखों को दूर करना ही है। गो ब्राह्मणों की रक्षा ही हमारा परम धर्म है। पृथ्वी पर अनेकों राक्षस विविध वेष बनाकर घूमा करते हैं और वे प्रजा को पीडा पहुँचाते हैं। साधु पुरुषों को दुःख देते हैं। तुम नित्य ही पृथ्वी पर घूम-घूमकर साधुओं का संरक्षण और दुष्टों का दमन किया करो।"

पितृ भक्त कुमार ऋतध्वज ने कहा—"पिताजी! मैं तो आप की आज्ञा के आधीन हूँ। आज से मैं नित्य प्रति सम्पूर्ण पृथ्वी मंडल पर घूमा करूँगा और दीन दुखियों के दुःखों को देखकर उन्हें दूर किया करूँगा।" उस दिन से नित्य ही प्रातःकाल कुमार अश्व पर चढकर जाते और दोपहर तक पृथ्वी की परिक्रमा करके लौट आते। उनके घोडे की गति सर्वत्र थी। वे जिधर चाहते चले जाते। प्रजा के दुःखों को सुनते, साधु महात्माओं से उनके आश्रमों का कुशल पूछते, कोई दैत्य दानव उन्हें दुख देता, तो वे उस दुष्ट को दण्ड देकर यमपुर पठाते। घूम-घाम कर मध्याह्न समय अपने महल में आ जाते, फिर मदालसा के साथ आनन्द विहार करते।

एक दिन कुमार घूमते फिरते यमुना तट पर पहुँचे। वहाँ उन्हें एक मुनि का बडा ही सुन्दर स्वच्छ आश्रम दिखाई दिया। उसमें फल पुष्पों के बहुत वृक्ष लगे थे। एक बडी-बडी जटाओं वाला मुनि उसमें तप कर रहा था।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वह किस मुनि का आश्रम था ?"

यह सुनकर हँसकर हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! कुछ न पूछिये। बहुत से दुष्ट पुरुष अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये साधु का वेष बनाकर अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करते हैं। राग, द्वेष, अनाचार, व्यभिचार फैलाते हैं। वे मन से तो असुर, राक्षस होते हैं, ऊपर से साधु-सन्तों का रूप बना लेते हैं। इन धूर्तों को परलोक का भी भय नहीं रहता। उस मुनि का नाम आप कपट मुनि समझ लें। बात यह थी, जब पातालकेतु को मारकर मदालसा को साथ ले कुमार आने लगे, तो पातालकेतु का भाई तालकेतु उनसे लड़ने आया। समर में कुमार के सम्मुख न ठहर सका। इसलिये उसने कुमार से छल पूर्वक बदला लेने का निश्चय किया। वह कपट वेष बनाकर इसी घात में घूमा करता था। उसने माया से यमुना तट पर एक आश्रम बना लिया और स्वयं ही साधु का कपट वेष बनाकर उसमें रहने लगा। राजकुमार ऋतध्वज ने तो उसे पहचाना नहीं। वह तो इस घात में ही था। कुमार ने मुनि समझकर उसे प्रणाम किया। उस कपट मुनि ने कुमार की बड़ी आवभगत की।

कुमार ने कहा—"मुनिवर ! आपका तप तो निर्विघ्न होता है न ? आपको कोई कष्ट तो नहीं है ? किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं है ?"

मुनि ने कहा—"राजन् ! आपकी छत्रछाया में भला हम मुनियों को कष्ट कैसे हो सकता है ? किन्तु कुमार ! मैं एक यज्ञ कर रहा हूँ आप यह अपना कण्ठ का हार मुझे दे दें, तो मेरा यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो जाय। दक्षिणा देने के लिये मेरे पास सुवर्ण नहीं है। बिना दक्षिणा के यज्ञ होता नहीं।"

उदार राजकुमार के लिये यह साधारण सी बात थी, अतः उन्होंने तुरन्त अपने कण्ठ का बहुमूल्य हार उतार कर उस कपट मुनि को दे दिया। हार लेकर मुनि ने कहा—"कुमार! एक काम तुम्हें और करना होगा। कुछ काल तक तुम मेरे आश्रम की रक्षा करो। मैं यमुना-जल में डूबकर वरुणदेव की उपासना करलूँ जब तक मैं न लाटूँ, तब तक तुम मेरे आश्रम की रक्षा करते रहो। तुम अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न हो।"

कुमार के स्वीकार करने पर वह दैत्य तुरन्त जल में डूबकर अपनी माया से राजा के पुर में पहुँचा। वह जानता था कि मदालसा कुमार को कितना प्यार करती है। इसीलिये वह अन्तःपुर में चला गया। राजा-रानी ने उसका स्वागत सत्कार किया। उसने समवेदना प्रकट करते हुए कहा—"आप लोगों को मैं एक अत्यन्त ही दुःखपूर्ण समाचार सुनाने आया हूँ। कुमार कुवलयाश्व अपने दिव्य अश्व पर चढकर मेरे आश्रम पर गया था। वहाँ दुष्ट दैत्यों ने उसे घेर लिया। कुमार बडी वीरता से लडता रहा, परन्तु अन्त में किसी दुरात्मा दैत्य ने उसकी छाती में त्रिशूल भोंक दिया। मरते समय कुमार ने बडे कष्ट से अपने कण्ठ का हार उतार कर मुझे दिया और आपको सूचना देने का आदेश देकर वे परलोक वासी हुए। मुनियों ने बडे कष्ट से उसका अग्नि संस्कार कर दिया। उनका घोडा आँसू बहाता हुआ हिनहिनाता रहा। उसे भी वह दैत्य बलपूर्वक पकड ले गये। मैं केवल सूचना देने और कण्ठहार को पहुँचाने आया हूँ।" यह कहकर वह कपट मुनि तुरन्त वहाँ से चला गया। मदालसा ने ज्यों ही पति की मृत्यु का समाचार सुना, त्योंही वह तुरन्त मूर्छित होकर भूमि पर गिर पडी और क्षण भर में उसके प्राणपखेरू उसके देह रूपी पिंजडे को परित्याग करके उड गये। उसका प्राणहीन शरीर वहाँ पडा रह

गया। एक तो कुमार की मृत्यु के समाचार से ही सब दुखी थे, अब पुत्र-वधू के परलोक गमन से सभी का धैर्य छूट गया। अन्तःपुर की सभी स्त्रियाँ छाती पीट-पीटकर रुदन करने लगीं। सुनते ही असंख्य प्रजा के नर-नारी एकत्रित हो गये। मदालसा को मृतक देखकर सभी विलाप कर रहे थे, सब आँसू बहा रहे थे। राजकुमार और मदालसा का नाम ले लेकर विलाप कर रहे थे।

राजा-रानी ने सबको धैर्य धारण करने को कहा, साथ ही अपने भाग्य की सराहना की, ब्राह्मणों की रक्षा में उनका पुत्र परलोक वासी हुआ है। सबको समझा-बुझाकर राजा मदालसा के मृतक शरीर को श्मशान ले गये, और उसका विधिवत् दाह संस्कार किया। दाह करके उन्होंने पुत्र और पुत्र-वधू को जलाञ्जलि दी, और फिर घर लौट आये।

इधर वह मुनि बना हुआ तालकेतु तुरन्त जल में घुस गया, और क्षण भर में माया से अपने आश्रम के निकट प्रकट हुआ। फिर बड़े शिष्टाचार से कुमार से बोला—"राजपुत्र! आपने निष्कपट भाव से मेरी सेवा की। भगवान् आपका भला करें। आपको कष्ट तो अवश्य हुआ, किन्तु वरुण सम्बन्धी मेरी इष्टि सकुशल समाप्त हुई। अब आप सुखपूर्वक अपने नगर को जा सकते हैं।"

राजकुमार उस कपट मुनि से आज्ञा लेकर, उसे प्रणाम करके अपने परम वेगवान अश्व पर चढ़कर नगर की ओर चले। वे अपने माता-पिता के चरणों में प्रणाम करने को अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे। वे सोच रहे थे, मदालसा ने अभी तक जल भी न पीया होगा। वह मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। उसे पल-पल भारी हो रहा होगा। वह मुझसे प्रेम के साथ कहेगी—"प्राण नाथ! आज इतनी देर क्यों हुई?" इसी प्रकार की बातें सोचते-

सोचते वे क्षण भर में ही अपनी नगरी में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा, सर्वत्र उदासी छाई हुई है। जो भी उन्हें देखता है, आश्चर्य प्रकट करता है। कोई कुछ कहता नहीं। कुमार इसका कुछ भी अभिप्राय नहीं समझ सके। वे सीधे महल में चले गये। वहाँ सर्वत्र शोक छाया हुआ था। नर-नारियों से भरा हुआ महल भी उन्हें सूना-सूना-सा प्रतीत हुआ, घोड़े से उतर कर उन्होंने माता-पिता के चरण स्पर्श किये। उन्होंने रोते-रोते उन्हें छाती से लगाकर अनेकों आशीर्वाद दिये। पुत्र की पुनः प्राप्ति से वे हर्षित भी थे और पुत्रवधू की मृत्यु से उन्हें दुःख भी अपार था।

कुमार ने इस उदासी और हर्ष का कारण पूछा, तो पिता ने आदि से अन्त तक सभी बातें सुना दीं। मदालसा की मृत्यु का सम्वाद सुनते ही कुमार किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गये। माता-पिता के सम्मुख वे शोक भी प्रकट नहीं कर सकते थे। लज्जा के कारण वे अवाक् रह गये। बारम्बार मदालसा के प्रेम को याद करके उनका हृदय भर आता। वे सोचते—"हाय! वह कितनी सती-साध्वी थी। मुझसे उसका कितना अनुराग था। मेरी मृत्यु का समाचार सुनते ही वह तुरन्त मर गई। प्रेम हो तो ऐसा हो। मुझ अधम, अनार्य, कृतघ्न, मन्दमति मूर्ख तथा हृदय हीन को धिक्कार है, जो अपनी ऐसी प्रियतमा के बिना भी मैं जीवित बना हुआ हूँ। अब मुझे भी उसी के पथ का अनुसरण करना चाहिये।"

कुमार ने पुनः गम्भीरता के साथ सोचा—"मेरा कर्तव्य क्या है। मेरी प्रिया ने जो कुछ किया उचित ही किया, किन्तु मैं प्राण परित्याग करने में स्वतन्त्र नहीं हूँ। मैं तो अपने पूजनीय पिता के अधीन हूँ। मैं मर भी जाऊँ तो उसका क्या उपकार होगा, यदि मैं रात-दिन शोक में ही निमग्न रहूँ तो मेरी माता को कष्ट

होगा। अतः मैं आज से यही प्रतिज्ञा करता हूँ कि मदालसा को छोड़कर मैं किसी दूसरी स्त्री का पत्नी भाव से स्पर्श नहीं करूँगा। यदि इसी जन्म में मुझे मेरी मनोरमा मदालसा पुनः मिल जायगी, तब तो मैं उससे स्त्री सम्बन्ध करूँगा; नहीं तो आज से स्त्री मात्र मेरी पूजनीया हैं। मैं स्त्री सुख का सर्वदा त्याग कर दूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा कर वे माता-पिता की सेवा करते हुए मदालसा की स्मृति में अपने दिन बिताने लगे। मदालसा को वे कभी भूलते नहीं थे, सदा उसकी मनोहर मूर्ति उनके हृदय पटल पर नृत्य करती रहती थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मनुष्य बिना प्रेम किये रह नहीं सकता। मनुष्यों की बात तो पृथक् रही। पशु भी प्रेम करते हैं। मनुष्य के हृदय में प्रेम और द्वेष करने की प्रवृत्ति है। उसे किसी से प्यार करने में, मीठी-मीठी बातें करने में भी आनन्द आता है और द्वेष करने में, पर निन्दा करने में भी सुख मिलता है। पर-निन्दा करने में सुख न हो तो इतने पढ़े-लिखे लोग अकारण बड़े बड़ों की निन्दा क्यों करें। उन्हें निन्दा करने में भी सुख का अनुभव होता है, जो लोग दूसरों की निन्दा नहीं करते, किसी एक में ही अपना चित्त लगा लेते हैं, वे संयमी सदाचारी पुरुष श्रेष्ठ होते हैं। ऐसे पुरुषों को भी प्रेम करने वालों की आवश्यकता रहती है। यह मानव प्राणी अनादि काल से प्रेम का भूखा बना है। यदि प्रेम की भूख प्रबल न हो, तो जिन्हें खाने पीने, पहनने तथा वाहन आदि की सभी सुविधायें प्राप्त हैं, वे दुखी क्यों देखे जाते? दुख वस्तुओं के संग्रह या अभाव में नहीं है। हम जो चाहते हैं, वह न प्राप्त हो तो दुःख होता है। हम आशा करते हैं हमारा मित्र हमें प्रेम करे, यदि वह प्रेम न करके विश्वासघात करता है, तो हमें दुःख होता है। पत्नी चाहती है पति मुझसे प्रेम करे,

किन्तु वह पत्नी से प्रेम न करके दूसरी किसी स्त्री से प्रेम करता है, तो उसे मर्मान्तक पीड़ा होती है। प्रेम के बिना पदार्थों में कोई स्वाद नहीं, प्रेम के बिना अमृत पिलावें तो वह निस्सार है, और प्रेम सहित विष भी पिया जाय, तो वह अमृत है। भगवन! आप तो बालकपन से ही बाबाजी बन गये। आपने तो शिशु काल से ही प्रभु से प्रेम जोड़ लिया। आप सब तो संस्कारी हैं, कारक पुरुष हैं साधारण पुरुषों को देखें, वे प्रेम के लिये कितने तड़पते रहते हैं। बालक अपने साथी बालक-बालिकाओं से कैसा प्रेम करते हैं। एक दूसरे के साथ खेलते हैं, उन्हें घर ले जाते हैं। मित्र के पिता से पिताजी कहते हैं, साथ-साथ बैठकर थाली में खाते हैं। बालकपन में कितना भोलापन रहता है। बाल्य-काल की मैत्री कैसी निश्छल- निष्कपट होती है। लड़कियाँ अपनी सहेलियों से कैसी घुल-घुलकर बातें करती हैं। गुड्डा गुड़ियों से खेलती हैं। खेल-खेल में लड़ाई भी हो जाती है। फिर प्रेम हो जाता है। बालक जिसे भी देखता है उसी में प्रेम की खोज करता है। इसीलिये बालक को सब प्रेम करते हैं। युवावस्था में हृदय किसी को अर्पित करने को व्याकुल हो जाता है। इसीलिये माता-पिता विवाह कर देते हैं। पत्नी अपने अनुकूल पति को पाकर, और पति अपने मनोऽनुकूल पत्नी को पाकर अपना हृदय उसे सौंप देते हैं। यदि दोनों का मन नहीं मिला तो रोते-रोते जीवन बिताना पड़ता है। अथवा जिस स्त्री को पति प्यार करता है और वह परलोक प्रयाण कर जाती है, तो सत्पति फिर दूसरी पत्नी से सम्बन्ध नहीं करता। फिर उसे मित्रों से वह प्रेम प्राप्त करना होता है। पिता पुत्र से प्रेम करके अपने भावों को व्यक्त करता है। जिसके न स्त्री है न बच्चे, मित्र हैं न सम्बन्धी, ऐसे साधु सन्त अपने शिष्यों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हैं। जिस हतभाग्य

के प्रेम करने को कोई भी नहीं, वह या तो पाषाण हृदय होकर संसार में जड़ता को प्राप्त होता है या प्रेमार्णव में डूबकर अपने आपको उसमें तन्मय कर देता है।"

कुमार ऋतध्वज अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे। किन्तु वह उनकी मिथ्या मृत्यु का समाचार सुनकर उनके वियोग मे परलोक वासिनी बन गयी। राजकुमार निरन्तर उसकी चिन्ता में ही निमग्न रहने लगे। उनके पिता ने सोचा—"पुत्र का जैसे भी मनोविनोद हो, वही उपाय करना चाहिये। वे जानते थे, मेरा पुत्र परम सदाचारी है, वह दृढ़प्रतिज्ञ है। किसी स्त्री से तो वह बात करेगा नहीं। कुछ राजकुमारों को इस के समीप रख दें। उनसे सम्भव है इसका मन बहल जाय। यही सोचकर उन्होंने कुमार की अवस्था के बहुत से राजकुमार वहाँ रख दिये। राजकुमार ऋतध्वज उनके साथ खेलने-कूदने और हँसने लगे। यह देखकर राजा को परम प्रसन्नता हुई। अब तो राजा ऐसा नियम कर दिया, कि कुँवर की अवस्था के जितने भी बच्चे हैं सब खेलने-कूदने कुमार के समीप बिना रोक टोक के जा सकते हैं। इससे ऋतध्वज के बहुत से समवयस्क साथी महलों में आकर उनके साथ खेलने-कूदने और मनोविनोद करने लगे। अब कुमार का अधिकांश समय अपने मित्रों के साथ खेलने कूदने में ही व्यतीत होने लगा।

राजकुमार प्रेमी थे, उदार थे, सहृदय थे, अतः बहुत से कुमार उनके समीप आने लगे। वे सबका यथोचित स्वागत सत्कार करते, सबके साथ प्रेम पूर्वक मीठी-मीठी बातें करते, सबके साथ बैठकर भगवान् का प्रसाद पाते, खेलते-कूदते और भाँति-भाँति के मनोरञ्जन करते।

प्रेम में स्थान की दूरी व्यवधान नहीं डालती। प्रेमी, प्रेमी को

खोज ही लेता है। प्रेम छिपाये नहीं छिपता, प्रेम की गन्ध बिना फैलाये फैल जाती है। पाताल में रहने वाले नागों के राजा अश्वतर के दो कुमार थे। वे मनुष्यों का वेष बनाकर एक दिन पृथ्वी पर घूमते-फिरते राजा के यहाँ आये। उन्होंने कुमार ऋतध्वज को अपने समवयस्क युवकों के साथ हास्य परिहास्य तथा भाँति भाँति की प्रेम की बातें करते हुए देखा। उनके शील स्वभाव और प्रेम के व्यवहार से वे नागकुमार मुग्ध हो गये। राजकुमार ने उनका भी स्वागत किया और कुछ ही काल में परस्पर आत्मीय हो गये। चलते समय कुमार ने कहा—"कल अवश्य आइयेगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, जब तक आप दोनों न आयेंगे मैं प्रसाद न पाऊँगा। देखिये भूल न जाइयेगा।" नाग कुमारों ने भी कहा—हाँ, हम कल अवश्य आयेंगे। ऐसा कह वे स्नेह पूरित हृदय को लेकर कुमार से विदा हुए। रात भर वे कुमार के शील स्वभाव और प्रेम को याद करते रहे, उन्हें नींद न आई, प्रातःकाल होते ही वे पुनः राजकुमार के समीप पहुँचे, कुमार उन दोनों को देखकर खिल उठे, उन्हें ऐसा लगा मानों ये उनके दोनों बाहरी प्राण हैं।

प्रायः देखा जाता है कि जिनसे हमारा जन्मान्तरीय घनिष्ट सम्बन्ध होता है, उन्हें देखते ही प्रेम हो जाता है। कक्षा में बहुत से विद्यार्थी पढते हैं, एक अध्यापक से शिक्षा लेते हैं, एक ही स्थान पर पढते हैं, एक भवन में रहते हैं, फिर भी किसी से तो हमारी एक ही दिन में घनिष्टता हो जाती है और बहुतों से वर्षों साथ रहने पर भी परिचय तक नहीं होता। वैसे कुमार सभी से प्रेम करते थे, किन्तु इन नाग कुमारों से उनका अत्यधिक स्नेह हो गया। वे उनके बिना व्याकुल हो जाते, बिना उन्हें खिलाये कोई वस्तु न खाते, अच्छी से अच्छी वस्तु आती तो पहले उन्हें

देते, गुप्त से गुप्त बात उससे पूछते। एक दिन नागकुमारों ने कहा—"कुमार! आप विवाह क्यों नहीं करते?"

कुमार ने बात को टालते हुए कहा—"अजी विवाह क्या करना, ऐसे ही हँसते-खेलते दिन कट जायेंगे।"

नागकुमार तो उपदेव थे, वे समझ गये कि कुमार के हृदय में कोई आन्तरिक वेदना है। अतः वे बोले—"आप हमसे कुछ छिपा रहे हैं, हमें विवाह न करने का सच्चा कारण बताइये।"

यह सुनकर अत्यन्त ही स्नेह के साथ राजकुमार ने कहा—"आपसे छिपाने की कोई बात नहीं। मैं सोचता था, अपना प्रेम ही आपको दूँ। अपने दुःख में आपको दुखी क्यों करूँ। किन्तु सच्चे मित्र तो सुख की अपेक्षा दुःख ही बाँटना चाहते हैं। मेरी एक परम प्यारी मदालसा पत्नी थी। उसने मेरे वियोग में प्राणों का परित्याग कर दिया, तभी से मैंने प्रतिज्ञा कर ली है, कि मदालसा को छोड़कर किसी भी स्त्री से सम्बन्ध न करूँगा। इसीलिये अब जीवन में स्त्री सुख भोगने की मुझे इच्छा नहीं। मैं मदालसा को कभी भूल नहीं सकता। इतना कहते-कहते कुमार की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। मानों उनकी जमी हुई हृदय की वेदना स्मृति रूपी उष्णता को पा, पिघलकर नेत्रों द्वारा बह रही हो। नागकुमार चाहते थे, वे अपने मित्र का कुछ संकट हो, तो उसे दूर करें। किन्तु जो स्त्री मर गई। जिसका शरीर जला दिया गया, वह पुनः कैसे प्राप्त हो सकती है। यही सोचकर निराश हो गये। इस घटना को सुनकर कुमार के प्रति उन दोनों का अनुराग और अत्यधिक बढ़ गया। अब वे नाना उपायों से कुमार को प्रसन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते। सूर्यास्त होने पर बड़े कष्ट से जाते रात्रि भर नागलोक में लम्बी-लम्बी साँसें लेते रहते और सूर्योदय के पूर्व ही आ जाते।

इधर अश्वतर नाग ने देखा। मेरे दोनों लड़के अब नागलोक में नहीं रहते। सूर्योदय से पूर्व न जाने कहाँ चले जाते हैं और रात्रि में लौटते हैं। पता नहीं कहाँ रहते हैं। एक दिन पिता ने पूछा—'पुत्रो! तुम दोनों भाई दिन भर कहाँ रहते हो?"

कुमारों ने कहा—"पिताजी! पृथ्वी पर एक बड़े धर्मात्मा महाराज शत्रुजित हैं। उनके ऋतध्वज नाम के एक बड़े ही गुणी कुमार हैं। वे परम रूपवान, विनयी, सरल सदाचारी, शूरवीर अभिमान शून्य, मधुरभाषी, प्रिय दर्शन और प्रेमी हैं। वे सुन्दर वक्ता हैं, उदार हैं, मित्रों का आदर करने वाले हैं। बोलते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके मुख से फूल झड़ रहे हों। वे माननीय पुरुषों का बड़ा आदर करते हैं, सदा हँसकर सबसे प्रथम बोलते हैं। उनका आभूषण शील ही है, विनय की तो मानो वे सजीव मूर्ति हैं। वे हमें अपने सहोदर भाइयों से भी अधिक प्यार करते हैं। साथ बैठकर प्रेम पूर्वक खिलाते हैं, विविध भाँति के उपहार हमें वे अर्पित करते हैं। पिताजी! हम क्या कहें उन्होंने अपने प्रेम पाश में हमें ऐसा कसकर बाँध लिया है, कि हमें नागलोक तथा भूलोक में कहीं अच्छा ही नहीं लगता। चित्त यही चाहता रहता है, कि निरंतर उनके ही समीप बैठे रहें। दिन भर तो हम उनके समीप रहते हैं। रात्रि में आप के भय से यहाँ चले आते हैं।"

नागराज अश्वतर ने कहा—"अरे बच्चो! पृथ्वी पर तो दिन में बड़ा गर्मी पड़ती है, तुम वहाँ रहते कैसे हो? हमारे यहाँ नागलोक में तो सूर्य की किरणें पहुँचती ही नहीं। अतः हम लोग तो उष्णता सहने के आदी ही नहीं।"

कुमारों ने कहा—"पिताजी! प्रेम एक ऐसा अनुपम पेय है कि प्रकृति के स्वाभाविक गुण उसमें बाधा दे ही नहीं सकते। उस

सर्व गुण सम्पन्न राजकुमार के साथ रहने से भगवान मार्तण्ड की तीक्ष्ण किरणें भी हमें आह्लाद प्रदान करती हैं, और उनके बिना पाताललोक की ये सुखमयी शीतल रात्रियाँ भी हमें सन्ताप देने वाली ही होती है। पिताजी ! उस निराभिमान विनयी राजकुमार ने हमें अपने प्रेम सूत्र में कसकर बाँध लिया है।"

अपने पुत्र के मुख से राजकुमार ऋतध्वज की ऐसी प्रशंसा सुनकर नागराज अश्वतर के रोम-रोम खिल उठे। उन्होंने अपने पुत्रों से कहा—"उस पुत्र के माता-पिता धन्य हैं, जिनकी प्रशंसा पुरुष पीठ पीछे भी प्रेम पूर्वक करते हों। ऐसे प्रेमी पुरुष संसार में बड़े भाग्य से मिलते हैं। ऐसे पुरुषों के दर्शनों से ही परम पुण्य प्राप्त होता है, किन्तु तुम लोग बड़े कृतघ्नी हो।"

नागकुमारों ने सकुचाते हुए पूछा—"कैसे पिताजी ?"

अश्वतर ने कहा—"देखो, वह तो तुम्हें इतना प्यार करता है किन्तु तुम उसका कुछ भी प्रत्युपकार नहीं करते। प्रेम में यह होता है कि अपनी अच्छी वस्तु मित्र को दे और वह जो दे, उसे प्रेम पूर्वक स्वीकार करे। उसके घर में बैठकर अपने घर की तरह निःसंकोच खाय और उसे अपने यहाँ खिलाये। उसके माता-पिता को अपना माता-पिता समझे, और अपने माता-पिता से आकर उनका परिचय दे। अपने दुख-सुख की बात मित्र से कहे और उसके दुख-सुख की बात उससे सुने। उसके विवाह उत्सवों में घर की भाँति काम में जुटा रहे और अपने पर्व उत्सवों में उसे आदर पूर्वक बुलावे। उसके दुःखों को दूर करने का सदा प्रयत्न करता रहे, और अपने दुखों को भरसक उसे न सुनावे, सो, तुम लोग इनमें से कुछ भी नहीं करते। तुम्हारे यहाँ नागलोक में ऐसी-ऐसी मणियाँ हैं उसे यहाँ लाया करो, और वह जो चाहे उसे दिया करो।"

नागकुमारों ने कहा—"पिताजी ! हमारे यहाँ क्या है। उसके यहाँ जो-जो वस्तुएँ हैं उसे तो हमारे नागलोक के नाग जानते भी न होंगे। उसे किसी वस्तु की कमी नहीं है। उसे हम क्या दे सकते हैं। जिस वस्तु की उसे आवश्यकता है, वह असम्भव है। वह दी ही नहीं जा सकती।"

अश्वतर नाग ने कहा—"संसार में उद्योगी पुरुषों के लिये असम्भव तो कोई वस्तु है ही नहीं। तुम मुझे बतलाओ। वह क्या चाहता है, मैं उसको प्रसन्नता के लिये वही वस्तु लाकर उसे दूँगा।"

यह सुनकर कुमारों ने आदि से अन्त तक मदालसा का सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया, और अन्त में कहा—"पिताजी वह मदालसा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता। उसे पाकर वह प्रसन्न अवश्य होगा, किन्तु वह तो मर गई। उसका आना अब असम्भव ही है। अतः उसे यहाँ लाकर हम क्या करेंगे।"

अश्वतर ने आवेश में आकर कहा—"मैंने तुमसे पहले ही कह दिया है, संसार में असम्भव वस्तु कोई नहीं है। मैं मदालसा को लाऊँगा और तुम्हारे उस राजकुमार मित्र को प्रसन्न करूँगा।" यह कहकर नागराज तुरन्त तप करने वन को चले गये। अश्वतर नाग पाताललोक से निकलकर नर-नारायण की तपस्या भूमि बदरिकाश्रम की ओर गये और वहाँ से भी आगे वे केशव प्रयाग पहुँचे, जहाँ सरस्वती नदी भगवती अलकनन्दा में आकर मिली हैं। फिर वे सरस्वती के किनारे-किनारे उस पर्वत पर पहुँचे, जहाँ से सरस्वती नदी निकली है। उसके समीप कागभुसुण्ड चोटी के समीप के एक ऐसे पर्वत शिखर पर—जहाँ महीनों बरफ जमी रहती है—रुककर घोर तप करने लगे। वहाँ उन्होंने सरस्वती देवी की आराधना की।

नागराज की आराधना से भगवती सरस्वती उन पर प्रसन्न हुईं। प्रकट होकर उन्होंने नागराज से वरदान माँगने को कहा। तब नागराज ने हाथ जोड़कर कहा—"माता! हम दो भाई हैं, मेरे एक भाई का नाम कम्बल है और मेरा नाम अश्वतर है। हम दोनों भाई अश्विनी कुमारों की तरह सदा साथ ही प्रेमपूर्वक रहें और दोनों सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ समझे जायँ।"

सरस्वतीजी 'तथास्तु' कहकर वहीं अन्तर्धान हो गईं। कम्बल और अश्वतर जानते थे, कि भगवान शंकर आशुतोष हैं। वे अवघरदानी भी हैं, संगीत उन्हें अत्यन्त प्रिय है। गा बजाकर तथा उनके सम्मुख नृत्य कर जो चाहो सो वर ले लो। उनके यहाँ संभव असंभव कुछ है ही नहीं। वे जो चाहें सो कर सकते हैं यही सब सोचकर तथा सरस्वती की कृपा से संगीतज्ञ होकर दोनों सरस्वती स्रोत से भी आगे कैलाश पर्वत पर पहुँचे। वहाँ निराहार रहकर गा-बजाकर शंकरजी को संतुष्ट करने लगे।

कुछ ही काल में अवघरदानी भगवान् भूतनाथ प्रसन्न हुए, और दोनों नागों से वर माँगने को कहा—महादेव जी को प्रसन्न देखकर कम्बलाश्वतर दोनों भाइयों में से अश्वतर नाग बोला—"प्रभो! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं, तो राजकुमार ऋतध्वज की पत्नी मदालसा मेरे यहाँ पुत्री बनकर प्रकट हो। उसका वैसा ही रूप, वैसी ही अवस्था, वैसा ही शील स्वभाव हो। उसे पूर्व-जन्म की सभी बातें स्मरण हों। वह योगिनी ब्रह्मवादिनी तथा पूर्णज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न हो।"

यह सुनकर भूतनाथ भगवान् भोलानाथ ने कहा—"अच्छी बात है ऐसा ही होगा। तुम ध्यान मग्न होकर बैठना, तुम्हारे फण से मदालसा ज्यों की त्यों उत्पन्न हो जायगी।" इतना कहकर

दोनों नागकुमारों ने कुवलयाश्व राजकुमार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"कुमार ? आपका कथन यथार्थ है। हमने तो कभी भेद भाव रखा ही नहीं। जैसा आप सोच रहे हैं, वैसा ही हमारा भाव है। हम तो इसे ही अपना घर समझते हैं। हमने भेद-भाव की भावना से यह बात नहीं कहीं थी। हमारे पूजनीय पिताजी तुम्हें देखने को बहुत उत्कण्ठित हैं। वे हमारे बहुत दिनों से पीछे पड़ रहे हैं। आज उन्होंने अत्यन्त आग्रह के साथ कहा है—"कुमार को अवश्य लाना। उन्हीं के संदेश को हमने अपनी भाषा में दुहराया है।"

इतना सुनते ही कुमार तुरन्त सिंहासन से कूद पड़े। उनकी आँखों से प्रेमाश्रु निकल रहे थे। उन्होंने कहा—"मैं धन्य हूँ, मैं कृतार्थ हुआ कि पूज्य पिताजी ने मुझे स्मरण किया। मैं आज उनकी चरणधूलि सिर पर चढ़ाकर कृतार्थ होऊँगा। आप शीघ्र चलें अब विलम्ब न करें। अहा ! आज मैं अपने उन धर्म-पिता के पाद-पद्मों में प्रणाम करूँगा।" यह कहकर कुमार ने वहीं, भूमि पर लेटकर उनके पिता के निमित्त साष्टाङ्ग प्रणाम किया और वे जैसे बैठे थे वैसे ही तुरन्त उठकर उन नाग कुमारों के साथ चल दिये।

नागकुमार मनुष्य वेष में राजकुमार के समीप आते थे। उन्हें इस बात का अभी तक पता नहीं था कि वे परम शक्तिशाली पाताल में रहने वाले उपदेव हैं, जो इच्छानुसार रूप रख सकते हैं। जिनके फणों पर दिव्य-मणि दमकती है। वे समझते थे गौतमी के पार किसी राजा के ये राजपुत्र हैं। गौतमी तट पर पहुँच कर उन दोनों ने कहा, नदी में तैरकर हम चलेंगे। राजकुमार ने कहा—"अच्छी बात है। वे ज्योंही जल में उतरे त्यों ही नागकुमारों ने अपने योग-प्रभाव से कुमार को खींचकर

कुमार सिर नीचा किये हुए चुपचाप नागराज के चरणों के समीप बैठे थे। नागराज ने उनका संकोच दूर करते हुए कहा—"बेटा देखो, तुम्हारा ही घर है। यहाँ संकोच की बात नहीं। भीतर जाओ, अपनी माता को प्रणाम करो। स्नान आदि से निवृत्त हो, फिर साथ-साथ भोजन करेंगे और तुमसे कुछ प्रेम की बातें करेंगे।" यह कहकर उन्होंने अपने पुत्रों को आज्ञा दी—"कुमार को भीतर ले जाओ भैया!" बहुत अच्छा कहकर कुमारों ने स्वीकार किया। फिर तीनों हँसते-खेलते, हँसी विनोद की बातें करते भीतर गये। माता के पैरों में तीनों पड़ गये। तीनों को ही माता ने बड़े स्नेह से उठाया। उनका मुँह चूमा और प्यार किया। फिर तीनों ने स्नान किया, चन्दन अंगराग लगाया। तब तक प्रसाद तैयार हो गया। पिता के साथ तीनों ने बैठकर सुख पूर्वक भोजन किया। कुमार ने देखा इस घर का कण-कण मुझे प्रेम में नहला रहा है। वे वहाँ प्रेम में सराबोर हो गये। इतना प्रेम उन्हें पहले कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ था।

भोजनोपरान्त नागराज अपनी बैठक में एक बहुमूल्य गलीचे पर बैठे। तीनों कुमार भी उनके चरणों में प्रणाम करके बैठ गये। नागराज ने सिर झुकाये कुमार को बलपूर्वक अपने समीप खींचकर, अपनी गोदी में बिठाकर उनके मुँह को थपथपाते हुए कहा—"बेटा! देखो, आज मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि तुम मेरे यहाँ आये हो। तुम्हें जो भी प्यारी वस्तु लगे, वह तुम मुझ से माँग लो।"

सकुचाते हुए कुमार ने कहा—"पिताजी! आप ऐसी बात कर रहे हैं। मुझे माँगने की क्या आवश्यकता है। याचना तो कंगाल करते हैं। दरिद्र के पुत्र हाथ फैलाते हैं। मेरे एक पिता समस्त भूमण्डल का शासन कर रहे हैं। दूसरे पिता पाताल के

पाताल पहुँचा दिया। पाताल में उन्होंने देखा, उनके दोनों मित्रों के मस्तक पर फण लहरा रहे हैं, उनमें दिव्य मणियाँ दमक रही है। वे परम तेजस्वी उपदेव अपनी प्रभा और कान्ति से पाताल को आलोकित कर रहे हैं। राजकुमार उन्हें चकित-चकित दृष्टि से निहार रहे थे। उन्हें अत्यन्त कुतूहल हो रहा था। उन्होंने आश्चर्य भरी वाणी में कहा—"धन्य भाग! आप तो उपदेव नागकुमार हैं?"

कृतज्ञता के स्वर में नागमित्रों ने कहा—"नहीं हम तो आप के सगे भाई हैं। चलो पिताजी के पास चलें।" यह कहकर नागकुमार बड़े गौरव से उन्हें अपने मणि-जड़ित भवन में ले गये।

नागराज अश्वतर एक परम दिव्य महल में, एक सुवर्ण सिंहासन पर बैठे हुए थे। उसमें असंख्यों अमूल्य मणियाँ दम दम करती हुई दमक रही थीं। वहाँ कहीं वीणा की ध्वनि हो रही थी, कहीं मधुर-मधुर पणव का स्वर सुनाई दे रहा था। स्वर्ग से भी बढ़कर पाताल की शोभा देखकर कुमार भौचक्के से रह गये। नागराज के अपार ऐश्वर्य को देखकर उनकी दृष्टि एक-एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती थी। उन राजकुमारों ने सिंहासन पर बैठे हुए अपने पिता की ओर संकेत करके कहा—'कुमार ये ही हमारे पूजनीय पिताजी हैं।" और पिताजी से कहा—"पिताजी ये ही हमारे सुहृद् राजकुमार कुवलयाश्व ऋतध्वज हैं।" कुमार ने दौड़कर अपना मुकुट से शोभित सिर नागराज के पादपद्मों में रख दिया और उन्हें प्रेमाश्रुओं से भिगो दिया। नागराज ने उठकर बड़ी कठिनता से राजकुमार को उठाकर छाती से लगाया और वे बड़ी देर तक उन्हें हृदय से चिपकाये रहे। कुछ प्रेमावेग कम होने पर उन्होंने कुमार के सिर को सूँघा, उनके बालों को सहलाया, पीठ को थपथपाया और भाँति-भाँति के आशीर्वाद दिये।

कुमार सिर नीचा किये हुए चुपचाप नागराज के चरणों के समीप बैठे थे। नागराज ने उनका संकोच दूर करते हुए कहा—"बेटा देखो, तुम्हारा ही घर है। यहाँ संकोच की बात नहीं। भीतर जाओ, अपनी माता को प्रणाम करो। स्नान आदि से निवृत्त हो, फिर साथ-साथ भोजन करेंगे और तुमसे कुछ प्रेम की बातें करेंगे।" यह कहकर उन्होंने अपने पुत्रों को आज्ञा दी—"कुमार को भीतर ले जाओ भैया!" बहुत अच्छा कहकर कुमारों ने स्वीकार किया। फिर तीनों हँसते-खेलते, हँसी विनोद की बातें करते भीतर गये। माता के पैरों में तीनों पड़ गये। तीनों को ही माता ने बड़े स्नेह से उठाया। उनका मुँह चूमा और प्यार किया। फिर तीनों ने स्नान किया, चन्दन अंगराग लगाया। तब तक प्रसाद तैयार हो गया। पिता के साथ तीनों ने बैठकर सुख पूर्वक भोजन किया। कुमार ने देखा इस घर का कण-कण मुझे प्रेम में नहला रहा है। वे वहाँ प्रेम में सराबोर हो गये। इतना प्रेम उन्हें पहले कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ था।

भोजनोपरान्त नागराज अपनी बैठक में एक बहुमूल्य गलीचे पर बैठे। तीनों कुमार भी उनके चरणों में प्रणाम करके बैठ गये। नागराज ने सिर झुकाये कुमार को बलपूर्वक अपने समीप खींचकर, अपनी गोदी में बिठाकर उनके मुँह को थपथपाते हुए कहा—"बेटा! देखो, आज मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि तुम मेरे यहाँ आये हो। तुम्हें जो भी प्यारी वस्तु लगे, वह तुम मुझ से माँग लो।"

सकुचाते हुए कुमार ने कहा—"पिताजी! आप ऐसी बात कर रहे हैं। मुझे माँगने की क्या आवश्यकता है। याचना तो कंगाल करते हैं। दरिद्र के पुत्र हाथ फैलाते हैं। मेरे एक पिता समस्त भूमण्डल का शासन कर रहे हैं। दूसरे पिता पाताल के

राजा हैं। मैं तो दोनों की सम्पत्ति का अधीश्वर हूँ। मैंने आज क्या नहीं पाया। अपने मुकुट से जो आपके युगल चरणों का स्पर्श किया, उसी से मेरे सब पाप धुल गये। मानो मैंने तीनों भुवन का राज्य पा लिया।"

हँसते हुए नागराज ने कहा—"नहीं नहीं! आज मुझे तुम्हें कुछ देना है। इन मणियों में से जो तुम्हें प्रिय लगे, उन्हें तुम छाँट लो।"

कुमार ने कहा—"पिताजी! आपकी आज्ञा तो शिरोधार्य ही है, किन्तु मणियाँ तो आपके पृथ्वी के घर में भी पर्याप्त हैं। देवता होकर भी आपने मेरे सिर को सूँघा और मुझे अपने हृदय से लगाया, क्या यह करोड़ों मणियों से बढ़कर मेरा आदर नहीं है?"

नागराज हँस पड़े और बोले—"अच्छा, वस्त्र, आभूषण, जो चाहो माँग लो।"

कुमार बोला—"अब मैं क्या कहूँ, जो आप दें वही लूँगा।"

अश्वतर बोले—"नहीं भाई, देना नहीं। तुम्हें जिसकी इच्छा हो, वह कहो। धन, रत्न, वाहन, वस्त्र, आभूषण नहीं लेते तो सुन्दरी-सी बहू लोगे?"

यह सुनकर कुमार लज्जित हुए, उन्होंने संकोच से सिर नीचा कर लिया। तब नागराज के पुत्रों ने कहा—"हाँ, पिताजी! इनकी एक पत्नी मदालसा थी। यदि उसे आप किसी तरह दे सकें तो दे दें, उसे पाकर ये परम प्रसन्न होंगे।"

हँसते हुए नागराज ने कहा—"हाँ, दे क्यों नहीं सकते। किन्तु, ये अपनी पत्नी को पहचान भी लेंगे?"

कुमारों ने शीघ्रता से कहा—"हाँ, पिताजी! अवश्य पहचान लेंगे।" फिर कुमार से बोले—"क्यों जी, तुम अपनी बहू को

पहचान लोगे न ?" कुमार अत्यन्त आश्चर्य और कुतूहल के साथ नागराज और कुमारों की ओर देखकर हँस पड़े। उसी समय नागराज ने पुकारा—"मदालसा ! बेटी मदालसा।"

इस शब्द को सुनते ही छमछम करती हुई एक अत्यन्त सुन्दरी युवती भीतर के परदे को हटाकर निकली। राजकुमार उसे देखते ही बड़े वेग से उसकी ओर दौड़े। बीच में ही नागराज ने उन्हें रोककर कहा—"हैं, यह क्या करते हैं। इतनी उतावली उचित नहीं। पहले मेरी बात सुनो। जब मैं इसे दूँ, तब ग्रहण करना।"

यह सुनकर कुमार लज्जित हुए। उनका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। प्रेमाश्रुओं से उनका मुख भीग रहा था। आनन्द की अधिकता से उनका कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था। उन्हें अपने समीप बैठाकर नागराज ने आदि से अन्त तक सब कथा सुनाई। उसे सुनकर कुमार परम प्रसन्न हुए। तब विधिवत् उन्होंने मदालसा को ग्रहण किया। उन्होंने ज्यों ही अपने अश्व को स्मरण किया, त्यों ही वह हिनहिनाता हुआ उनके समीप आ गया।

नागराज ने मदालसा और कुमार का अत्यधिक स्वागत-सत्कार किया। उन दोनों को बहुमूल्य वस्त्राभूषण और मणि-रत्न प्रदान किये। नागराज की दी हुई उन सभी वस्तुओं को लेकर तथा उनके पाद-पद्मों में प्रणाम करके मदालसा को घोड़े पर चढ़ाकर कुमार पुनः पाताल से पृथ्वी पर आये। नगर-निवासियों ने जब मदालसा के साथ राजकुमार को देखा, तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। घर-घर उत्सव होने लगे। सभी आनन्द में विभोर होकर नाचने लगे। सूत, मागध, बन्दी स्तुति करने लगे। माता-पिता ने जब इस समाचार को सुना तो वे प्रेम के आवेग में बेसुध हो गये। मदालसा को माता ने बार-बार छाती से लगाया। उसे अनेक-अनेक आशीर्वाद दिये। मदालसा ने भी अपनी सास तथा श्वसुर के पैर छुए। उस समय उन्हें जो प्रसन्नता हुई वह अवर्णनीय थी। लेखनी उसे व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुछ काल के पश्चात् महाराज शत्रुजित् परलोकवासी हुए। तब प्रजा के लोगों ने कुवलयाश्व ऋतध्वज को राजा बनाया। महाराज ऋतध्वज धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करते रहे। कालान्तर में ब्रह्मवादिनी मदालसा देवी

के गर्भ से विक्रान्त, सुबाहु, शत्रुमर्दन और अलर्क ये चार पुत्र हुए। इनमें से प्रथम तीन तो माता के उपदेश से गृह-त्यागी विरागी बाबाजी बन गये, केवल महाराज अलर्क गृहस्थ हुए। अन्त में वे भी त्यागी बन गये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा "सूतजी! मदालसा देवी ने अपने पुत्रों को कैसा उपदेश दिया जिससे सब के सब गृहत्यागी विरागी बन गये? महाराज अलर्क कैसे गृही बने और कैसे उन्हें अन्त में ज्ञान हुआ? कृपया मदालसा देवी और महाराज अलर्क के सम्बन्ध में हमें विस्तार से बतावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं, मदालसा देवी ने अपने पुत्रों को कैसे ज्ञानोपदेश दिया तथा उनके सबसे छोटे पुत्र अलर्क कैसे गृही बनकर अन्त में ज्ञानी हुए इस प्रसङ्ग को सुनाता हूँ। आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

नाग अश्वतर पुत्र ऋतध्वज के प्रेमी अति।
करिबे प्रत्युपकार करी सुत पितु मिलि सम्मति॥
पितु मदालसा फेरि तपस्या करि प्रकटाई।
कुमर पताल बुलाइ प्रिया फिरि तिननि मिलाई॥
पाइ परस्पर प्रिया प्रिय, अति प्रसन्न दोऊ भये।
पितु प्रयाण सुरपुर कर्यो, भूप ऋतध्वज ह्वै गये॥

महाराज अलर्क की कथा

[७४६]

षष्टि वर्ष सहस्राणि षष्टि वर्ष शतानि च ।
नालर्कादपरो राजन्मेदिनीं बुभुजे युवा ॥*

(श्री० भग० ६ स्का० १७ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

सुत मदालसा जने चारि ज्ञानी ते सबई ।
तीन त्यागि घर गये नृपति लखि बोले तबई ॥
चौथे कूँ मति मोक्ष धर्म को पाठ पढाओ ।
गृही धर्म की सीख देहु निज वश चलाओ ॥
सुत अलर्क राजा करे, धर्म प्रवृत्ति सिखाइकें ।
गुप्त मन्त्र दै बन गई, बन्धु प्रबोधे आइकें ॥

सतानों को योग्य अथवा अयोग्य बनाना अधिकाश माताओं के ही हाथ मे है । माता चाहे तो सन्तान को योग्य से योग्य बना सकती है और यदि वह चाहे तो उसे अधम से अधम बना सकती है । उत्तम विचार की माता की सतति उत्तम विचार की होगी, और अधम विचार की माता की सतति अधम विचार

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज अलर्क के अतिरिक्त किसी भी अन्य राजा ने छियासठ सहस्र वर्षों तक युवा रहकर इस पृथ्वी के राज का भोग नहीं किया ।"

की। वैसे इसके अपवाद भी देखे गये है, किन्तु साधारण नियम यही है। बालकों का हृदय अत्यन्त कोमल होता है, वह गीली मिट्टी के समान होता है, उससे चाहे जैसी आकृति बना लो। वह सूखने पर कड़ी हो जाती है, फिर बिना फिर से तोड़े-गलाये उसमें परिवर्तन होना कठिन है। छोटे पौधे की डाली को जिधर चाहे मोड़ दो। डाली बड़ी होने पर टूट भले ही जाय, मुड़ेगी नहीं। कच्चे आटे की मोटी, पतली, छोटी, बड़ी—जैसे चाहो—रोटी बना सकते हो। परिपक्व होने पर उसमें परिवर्तन अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार बाल्य-काल के संस्कार ही स्थाई हो जाते है। बड़े होने पर उनका छूटना कठिन है। माता जिन बातों के लिये प्रोत्साहन देगी, बच्चा उन्हीं बातों को करेगा। कोई बच्चा बालकपन में किसी की वस्तु उठा लाया। माता ने उस बच्चे की उस बात का अभिनन्दन किया। अब तो वह प्रोत्साहन पाकर नित्य वस्तुएँ चुराकर लाने लगा। बड़ा होने पर वह नामी चोर हुआ, राजा के यहाँ चोरी की, पकड़ा गया, फाँसी की आज्ञा हुई। अन्त समय उससे पूछा गया—"तुम किसी से मिलना चाहते हो?" उसने माँ से मिलने की इच्छा प्रकट की। माँ से उसे मिलाया गया। कुछ बात कहने के मिस उसने माँ का कान काट लिया। माँ रोने लगी। लोग आश्चर्य-चकित हो गये। तब उसने कहा—"प्रथम-प्रथम जब मैंने चोरी की थी, यदि मेरी माँ उसका अभिनन्दन न करती, तो आज मैं क्यों चोर बनता? क्यों मुझे फाँसी होती?"

इस दृष्टान्त से यही सिद्ध होता है कि सन्तान को अच्छा और बुरा बनाना माता की शिक्षा के ही ऊपर अवलम्बित है। अक्षर-ज्ञान का नाम ही शिक्षा नहीं है। पुस्तक विद्या को ही विद्या नहीं कहते। यथार्थ विद्या तो वही है, जो हमें मुक्ति-पथ की

ले जाय। मोक्ष-ज्ञान पोथी-पत्रों से नहीं होता, यह तो सत्संग द्वारा संस्कारों से प्राप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे महारानी मदालसा और उनके पुत्रों की कथा पूछी थी। उनके सबसे छोटे पुत्र अलर्क थे। महाराज अलर्क की कथा में ही ये सब प्रसङ्ग आ जायेंगे।"

मदालसा के पति महाराज ऋतध्वज या कुवलयाश्व धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करते रहे। सर्वप्रथम उनके एक पुत्र हुआ। राज्य भर में आनन्द मनाया गया। महाराज ने उसका नाम रखा 'विक्रान्त'। इस नाम को सुनकर महारानी मदालसा बहुत हँसीं।

राजा ने पूछा—"देवि! तुम हँसी क्यों?"

मदालसा ने कहा—"महाराज! मैं नाम सुनकर हँसी।"

राजा ने कहा—"क्षत्रिय का नाम तो इसी प्रकार शौर्य-वीर्य प्रकाशित करने वाला होना चाहिये।"

यह सुनकर मदालसा ने कुछ नहीं कहा। वे बच्चे को गोद में लेकर खिलाने लगीं। बच्चा जब रोता, तब वे लोरियाँ देती हुई कहतीं—"तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, संसार की माया से रहित है। यह विक्रान्त कल्पित नाम तो तेरे शरीर का है। तेरा इस शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं। तू रो मत।"

"अथवा रुदन भी मिथ्या है, यह तो शब्द मात्र है, इसमें अच्छाई-बुराई क्या। लोग कहते हैं, तू बढ़ रहा है। वास्तव में बढ़ता तो शरीर है। तुझ शुद्ध, बुद्ध आत्मा में वृद्धि नहीं, ह्रास नहीं। तू इस मिथ्या-शरीर में अपनापन स्थापित करके मोह मत करना। ये जो सांसारिक सम्बन्ध हैं, मिथ्या हैं। इनमें मत फँस जाना। मेरे जिन स्तनों का तू प्रेमपूर्वक पान कर रहा है, ये मांस की ग्रंथिमात्र हैं। उन्हीं में रस बनकर, दूध होकर, इनमें

निकलता है। इन्हें तू सुख का स्थान मत समझना। यह तो सब प्रकृति के विकार हैं। संसार की सभी वस्तुएँ पंचभूतों से निर्मित हैं। उसी प्रकार तेरी यह देह भी। इस देह में तथा अन्य पदार्थों

में तत्त्वतः कोई भेद नहीं। तू सब में समान बुद्धि रखना।" इस प्रकार नित्य ही बालक को माँ खिलाते-पिलाते परमार्थ का उपदेश देती, उन्हीं भावों को अपने दुग्ध के साथ पिलाती। फिर मदालसा

के गर्भ से द्वितीय पुत्र हुआ। उसका नाम राजा ने सुबाहु रखा। सुबाहु नाम को सुनकर भी ब्रह्मवादिनी मदालसा हँसने लगी। उसके भी उसने ब्रह्मज्ञान की वैसा ही शिक्षा दी। वह भी बड़ा ज्ञानी और विवेकी हुआ जब तृतीय पुत्र उत्पन्न हुआ, तब राजा ने उसका शत्रुमर्दन नाम रखा। इस नाम को सुनकर रानी बहुत हँसी।

तब राजा ने कहा—"देवि! मैं कैसे सुन्दर सुन्दर नाम रखता हूँ तुम इन नामों को सुनकर हँसती क्यों हो?"

हँसकर मदालसा ने कहा—'महाराज! कौन शत्रु? कौन मित्र? आत्मा तो एक—अद्वितीय है, उसमें तो शत्रु मित्र का भेद भाव है ही नहीं। अब रहा शरीर। सो, वह तो अनित्य है, क्षण भंगुर है, जड़ है। उसमें शत्रुता मित्रता बन नहीं सकती।"

राजा बोले—"अच्छी बात है, अब के जो पुत्र हो उसका नामकरण तुम ही करना।"

रानी ने इस बात को स्वीकार किया। कालान्तर में चतुर्थ पुत्र का जन्म हुआ। राजा के कहने से रानी ने उसका नाम रखा 'अलर्क'। इस नाम को सुनकर इस बार राजा हँस पड़े और बोले—"यह निरर्थक नाम तुमने बच्चे का किस कारण रखा?"

मदालसा ने कहा—"नाम तो सभी निरर्थक ही हैं। नामों का क्या अर्थ? नाम रूप दोनों ही मिथ्या हैं। पंचभूतों का एक पिण्ड है, व्यवहार के लिये उसका एक नाम रख लेते हैं। कोई-सा नाम क्यों न हो! आपने जो नाम रखे हैं, वे भी तो निरर्थक ही हैं। बच्चे बालू के पिण्ड बनाते हैं, किसी का नाम लड्डू रखते हैं, किसी का पेड़ा। वे सभी निरर्थक ही हैं। उन सब में बालू ही बालू है। इसी प्रकार आत्मा सर्वव्यापक है, वही विभु है। वही एक सर्वत्र व्यापक है। आपने अपने तीन पुत्रों के नाम विक्रान्त, सुबाहु

और अरिमर्दन रखें हैं। ये शरीर के नाम हैं या आत्मा के। शरीर के हैं, तो भी मिथ्या हैं; क्योंकि शरीर में विशेष गति, बाहु-सौन्दर्य, दुष्टदमन करने की शक्ति है नहीं, कारण कि वह जड़ है। यदि आत्मा के नाम हैं तो भी निरर्थक हैं। आत्मा तो सर्वव्यापक है। उसकी विशेष गति क्या होगी? आत्मा में सुरूपता-कुरूपता का भेद ही नहीं फिर उसकी बाहु सुरूप कैसे होगी। आत्मा का कोई शत्रु नहीं फिर उसका शत्रु-मर्दन नाम निरर्थक ही है। जैसे ये सब नाम निरर्थक हैं, वैसे ही अलर्क नाम भी निरर्थक है।"

अब तो राजा समझ गये कि मेरी पत्नी ब्रह्मवादिनी योगिनी है। उन्होंने रानी से विनय पूर्वक कहा—"तुमने मेरे तीनों पुत्रों को तो ब्रह्मज्ञानी बना दिया। अब वे गृहस्थाश्रम को स्वीकार क्यों करेंगे? कृपा करके मेरे इस चौथे पुत्र को ऐसा उपदेश दो, जिससे यह गृहस्थ धर्म का अनुगमन करे। वंश-परम्परा को अक्षुण्य रखना भी तो धर्म है। वंश-विच्छेद न होने पावे, इसलिये एक पुत्र को तो तुम प्रवृत्ति-मार्ग का उपदेश दो ही।"

मदालसा ने कहा—"अच्छी बात है, इसे मैं प्रवृत्ति-मार्ग का ही उपदेश दूँगी।"

अब मदालसा प्रथम पुत्रों की भाँति कुमार अलर्क को संसार से वैराग्य लेने का उपदेश न देकर, उसे खिलाती हुई कहने लगी—"बेटा! तुम धन्य हो, तुम इस समस्त वसुन्धरा के शत्रुहीन एकमात्र अधीश्वर होगे। तुम धर्म करके ही मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर होगे। तुम देवता, पितर, ऋषि, अतिथि-अभ्यागतों का सदा सेवा-सत्कार करना, प्रजा का पुत्रवत् पालन करना; यज्ञों के द्वारा देवताओं की, श्राद्ध तर्पण द्वारा पितरों की और आतिथ्य सत्कार द्वारा अतिथियों की सेवा करना। बाल्यकाल में बन्धुओं के अधीन, कुमारावस्था में गुरुजनों के, और युवावस्था में कुलीन

धर्मात्मा सदाचारी ब्राह्मणों के, और वृद्धावस्था में वन में रहकर आश्रित ब्रह्मनिष्ठ तपस्वियों के अधीन तुम रहना। प्रजा-पालन में तुम प्रमाद न करना, परदाराओं में मातृ बुद्धि रखना और समस्त व्यवहार धर्म पूर्वक करना।" इस प्रकार माता नित्य ही पुत्र को उपदेश देती।

शनः शनः कुमार अलर्क बड़े हुए। तब वे माता के पैर पकड़ कर उनसे सभी विषयों की शिक्षा ग्रहण करते। सभी शास्त्रों में परगता योगिनी मदालसा अपने पुत्र को सदा सदुपदेश देती रहती। उसने कुमार अलर्क को राजनीति का, वर्णाश्रम धर्म का, गृहस्थ के कर्तव्यों का, श्राद्ध की समस्त विधियों का, गृहस्थोचित सदाचार का और त्याज्य ग्राह्य, द्रव्यशुद्धि, अशौच तथा कर्तव्या कर्तव्य का भली भाँति उपदेश दिया।

इस प्रकार माता से उपदेश पाकर कुमार अलर्क सभी विषयों में निष्णात हो गये। उन्होंने विधिवत् वैदिक विधि से अपना विवाह किया और बहुत से पुत्रों को उत्पन्न किया। इधर महाराज ऋतध्वज भी राज्य करते-करते वृद्ध हो गये थे। कुमार अलर्क राज्य-भार सम्हालने के योग्य हो गये थे। अतः वे राज-पाट पुत्र को सौंपकर अपनी पत्नी के संग वन जाने के लिये उद्यत हुए। माता-पिता को वन जाते देखकर स्नेहवश महाराज अलर्क का हृदय भर आया और वे बच्चों की भाँति रुदन करने लगे। तब माता ने उन्हें प्रेम पूर्वक हृदय से लगाते हुए कहा—"वत्स! अधीर होने की कोई बात नहीं। तुम धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करना। कभी कुपथ की ओर पैर न बढ़ाना, धर्मरूप भगवान तुम्हारा कल्याण करेंगे। यदि तुम पर दैवयोग से शत्रुओं द्वारा अथवा अन्य किन्हीं कारणों से कोई विपत्ति आ जाय, तो मेरी दी हुई इस अँगूठी में रेशमी वस्त्र पर, अति सूक्ष्म अक्षरों में जो

उपदेश लिखा है, उसे पढ़ लेना। उसके पढ़ने से तुम्हारा दुःख दूर होगा।" ऐसा उपदेश देकर तथा उस सुवर्ण की अँगूठी को अपने पुत्र को प्रदान करके मदालसा अपने पति के साथ वन को चली गई। वहाँ वह अपने पति के साथ तपस्या करती हुई अन्त में पति सहित परमपद को प्राप्त हुई।

इधर महाराज अलर्क गंगा-यमुना के पवित्र संगम पर, यमुना के दक्षिण तट पर—जहाँ देवऋषि सदा निवास करते हैं, उस देव ऋषि (देवरख) के समीप अपने नाम से अलर्क पुर (अरैल) नगर बसाकर पृथ्वी का धर्म पूर्वक पालन करने लगे। वे छियासठ सहस्र वर्ष तक इस पृथ्वी पर राज-सुख भोगते रहे।

इनके बड़े भाई, जो वन में रहकर तपस्या करते थे, उनमें से सुबाहु इनसे अत्यन्त स्नेह रखते थे। उन्होंने सोचा—"मेरा छोटा भाई क्या सदा विषयों में ही फँसा रहेगा? क्या यह इसी प्रकार राज-सुख भोगता हुआ इस संसार से चला जायगा। अज्ञानियों की भाँति इसे पुनः-पुनः जन्म मरण के चक्कर में ही फँसा रहना होगा? माता मदालसा का दूध जिसने पिया है, उसे फिर दूसरी माता का दूध पीना पड़े, यह उचित नहीं। यदि इसे मैं वैसे उपदेश दूँ, तो इस पर कुछ प्रभाव न पड़ेगा। किसी प्रकार इस पर विपत्ति पड़े, तब इसे वैराग्य हो।" यही सोचकर वे काशिराज महाराज के समीप गये और बोले—"राजन्! मेरे भाई अलर्क ने मेरा राज्य ले लिया है। आप मेरी सहायता करें, उससे मेरा राज्य दिला दें।"

काशिराज ने ऋतध्वज कुमार सुबाहु की प्रार्थना स्वीकार की। उन्होंने महाराज अलर्क के पास सन्देश भेजा—"या तो तुम अपना राज्य सुबाहु को दे दो, या हम तुम्हें युद्ध में हराकर तुम्हारा सर्वस्व छीनकर सुबाहु को दे देंगे।"

इसके उत्तर में महाराज अलर्क ने दूत द्वारा काशिराज को संदेश भेजा—"मेरे सभी बड़े भाई मेरे पूजनीय हैं। वे मेरे समीप आकर मुझसे राज्य माँग लें, मैं उन्हें सर्वस्व देकर वन में जा सकता हूँ। किन्तु भय दिखाकर कोई मेरे ऊपर शासन करे, आज्ञा दे, यह मुझे सह्य नहीं। मैं भय के कारण, एक हाथ भी भूमि न दूँगा।"

यह उत्तर सुनकर काशिराज ने महाराज अलर्क के ऊपर चढ़ाई कर दी, उनके अन्य मण्डलीक राजाओं को जीतकर उनके पुर को चारों ओर घेर लिया। राजा कुछ सैनिकों के साथ अपने किले में एक प्रकार बन्दी बन गये। काशिराज के सैनिकों ने उनका भोजन-पानी भी बन्द कर दिया। भीतर दुर्ग में सेना भी कम थी। और युद्धोपयोगी सामग्री भी नहीं थी। अब तो राजा को बड़ी चिन्ता हुई। अपने को अत्यन्त संकट में पड़ा देखकर अब उन्हें अँगूठी की याद आई। तुरन्त उन्होंने अँगूठी को तोड़ कर उसमें रखे हुए वस्त्र को निकाला। उसमें अत्यन्त छोटे अक्षरों में ये दो श्लोक लिखे थे:—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षा प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥

अर्थात् सङ्ग का सब प्रकार त्याग करना चाहिये, यदि सर्वथा त्याग न किया जा सके, तो सत्पुरुषों का सङ्ग करना चाहिये, क्योंकि सज्जनों का सङ्ग ही संसार से आसक्ति हटाने की औषधि है। कामना का सर्वथा त्याग करना चाहिये, यदि सर्वथा त्याग न हो, तो मुक्ति की इच्छा की कामना करनी चाहिये, क्योंकि मुमुक्षा समस्त कामनाओं को नाश करने की औषधि है।

इन श्लोकों को उन्होंने बार-बार पढ़ा। जितनी ही बार वे इन्हें पढ़ते, उतनी ही बार उन्हें अधिकाधिक आनन्द आता।

ज्यों-ज्यों इनके अर्थ का विचार करते, त्यों-त्यों उन्हें शांति मिलती। अब उन्हें मुक्ति की कामना जाग्रत हुई। उसकी पूर्ति सत्सङ्ग से हो सकती है। अतः वे एक गुप्त मार्ग से भगवान् दत्तात्रेय के समीप गये। अत्रिनन्दन भगवान् दत्त प्रभु ने इन्हें सच्चा जिज्ञासु समझकर ज्ञान का उपदेश दिया। सद्गुरु के ज्ञानरूप अंजन के लगाते ही इनका अज्ञान-तिमिरान्ध नष्ट हो गया। इन्हें संसार के सभी पदार्थ अनित्य, क्षणभंगुर और परिणाम में दुःखदायी प्रतीत होने लगे। उन्होंने सद्गुरु के पादपद्मों में प्रणाम किया और कृतार्थ होकर उस स्थान में आये, जहाँ काशिराज और उनके भाई सुबाहु बैठे थे। आते ही महाराज अलर्क ने कहा—"राजन्! अब आप चाहें तो मेरे समस्त राज्य का स्वयं उपभोग करें या मेरे ज्येष्ठ भ्राता सुबाहु को दे दें।"

काशिराज ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा—"राजन्! आप में इतना परिवर्तन कैसे हुआ? क्षत्रिय का तो यह धर्म नहीं है! इसे या तो शत्रु से युद्ध करके विजय प्राप्त करनी चाहिये, अथवा सम्मुख संग्राम में हँसते-हँसते प्राणों का परित्याग करना चाहिये। शत्रु के सम्मुख दीन होकर आत्म समर्पण करना कायरता है, नीचता है, दुर्बलता है, हृदय की क्षुद्रता तथा नपुंसकता है।"

हँसते हुए महाराज अलर्क ने कहा—"राजन! अब ये मिथ्या बातें मुझ में मिथ्याभिमान उत्पन्न नहीं कर सकतीं। अब तो मेरा कोई शत्रु संसार में रहा ही नहीं। जब कोई शत्रु ही नहीं, तो विजय किस पर करूँ। अब तो भगवान् दत्त प्रभु की कृपा से मेरा अज्ञानान्धकार दूर हो गया है। अब मेरे शत्रु, मित्र, उदासीन—कोई रह नहीं गये। अब तो मैं सब में एक आत्मा

को देखता हूँ और अपने आप में चराचर भूतों को अनुभव करता हूँ। अब शोक, मोह मेरे पास फटक भी नहीं सकते।"

इतना सुनते ही अलर्क के बड़े भाई सुबाहु ने दौड़कर अपने छोटे भाई का आलिंगन किया और काशिराज से बोले—"राजन्! अब आप जायँ। मैं कृत कार्य हो चुका। जिस कार्य के लिये मैं आपकी सहायता को आया था, वह पूर्ण हो गया।"

काशिराज ने और भी आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा—"आप किस कार्य के लिये आये थे?"

सुबाहु ने कहा—"मैं अपने भाई अलर्क को राज सुखों में आसक्त देखकर उसे उसके यथार्थ स्वरूप का बोध कराने आया था। हम तीनों भाई तो तत्वज्ञानी हैं, किन्तु यह हमारा भाई तत्वज्ञ होकर भी सांसारिक भोगों में फँसा था। मैंने सोचा—"जब तक इस पर दुःख न पड़ेगा तब तक इसे मोक्ष की इच्छा उत्पन्न न होगी। जब तक मोक्ष की इच्छा नहीं होती, तब तक मनुष्य सत्सङ्ग में जाता नहीं। अब इसने भगवान् दत्तात्रेय से मोक्षधर्म की दीक्षा ले ली। मैं कृतकार्य हो गया। मुझे राज-पाट लेकर क्या करना है? मैं राज्य लेने की इच्छा से नहीं आया था, अपितु राज्य-बन्धन से अपने भाई को छुड़ाने आया था!"

यह सुनकर काशिराज ने महात्मा सुबाहु के पैर पकड़ लिये और कहा—"महात्मन्! आपने अपने भाई का तो उद्धार कर दिया। मैंने भी तो आपकी आज्ञा का पालन किया है, मैं भी तो आपकी शरण आया हूँ, मेरा उद्धार आप कब करेंगे?"

सुबाहु ने कहा—"राजन्! त्रिवर्ग तो आप को प्राप्त ही है। केवल मोक्ष ज्ञान से आप वञ्चित हैं। सो आप अहंता-ममता का त्याग कर दीजिये। मैं यह हूँ, यह मेरा है, इस अभिमान के त्यागते ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जायगी।" इस प्रकार काशि-

राज को अनेक प्रकार के उपदेश देकर और अपने छोटे भाई अलर्क से सत्कृत होकर महात्मा सुबाहु अरण्य को चले गये। इधर काशिराज भी अलर्क से पूजित और सम्मानित होकर सेना-सहित अपनी नगरी को लौट गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज अलर्क के बहुत से पुत्र थे। उन सब में बड़े 'सन्तति' थे। भगवान् दत्तात्रेय जी के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर महाराज अलर्क ने अपने सबसे बड़े पुत्र सन्तति को राज सिंहासन पर बिठाया। राज-पाट उसे देकर पत्नी सहित वे तपस्या करने वन में चले गये। वहाँ उन्होंने गुरु के बताये हुए योग-मार्ग का अभ्यास किया। अभ्यास करते-करते उन्होंने निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त कर ली। उस अनुपम सम्पत्ति को पाकर वे परमनिर्वाण-पद को प्राप्त हुए। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में महाराज अलर्क का चरित सुनाया। अब उनकी संतति का वृत्तान्त सुनिये।"

छप्पय

सेना-सहित सुबाहु काशिराजा सँग आये।
पुर अलर्क को घेरि लयो नृप अति घबराये॥
दत्तात्रेय समीप गये माँ मंत्र मानिकें।
पाइ ज्ञान सम भाव दिखायो रिपुहि आनिकें॥
लखि अलर्क कूँ बोधयुत, काशिराज निजपुर गये।
पायो पनि निर्वाण-पद, तिन सुत-सन्तति नृप भये॥

मरणधर्मा राजा को इन्द्र ने स्वर्ग का राज्य क्यों सौंप दिया? महाराज रजि ने ऐसा इन्द्र का कौन-सा उपकार किया था?"

इस पर सूतजी बोले—"अजी महाराज! संसार में सब स्वार्थ का खेल है। स्वार्थ के लिये गधे को भी बाप बनाना पड़ता है और स्वार्थ न हो, तो लोग पिता को भी नहीं पूछते।" देवता और असुरों में तो सनातन का वैर है ही। आप जानते ही हैं कि शारीरिक बल में सदा असुर भारी पड़ते हैं। देवताओं को सदा उनसे हारना पड़ता है। देवताओं के पास एक भगवान् का ही बल है। उन्हीं के सहारे वे अपने स्वर्ग को बचाये रहते हैं। एक बार देवताओं और असुरों में भयंकर युद्ध होने का समय आ गया। सब को निश्चय हो गया, कि अब घनघोर युद्ध होगा। युद्ध के पूर्व देवता और असुर मिलकर लोक-पितामह ब्रह्माजी के पास गये और दोनों ने ही विनय के साथ पूछा—"प्रभो! इस संग्राम में विजय किसकी होगी?"

ब्रह्माजी तो दूरदर्शी ठहरे। वे बड़ी युक्ति से उत्तर देते हैं। वे बोले—"देखो भाई! जिधर धर्म होता है, उधर ही यश, ऐश्वर्य और विजय भी होती है। आजकल पृथ्वी पर महाराज रजि परम धर्मात्मा हैं, वे भगवान् की उत्तम विभूति हैं। तुम दोनों में से जिस ओर राजा रजि होंगे, उसकी ही विजय होगी।"

इतना सुनते ही बलवान असुर दौड़े-दौड़े महाराज रजि के पास पहुँचे और नम्रता पूर्वक बोले—"राजन्! आप धर्मात्मा हैं। युद्ध का यह धर्म है कि क्षत्रिय के समीप जो पहले आवे, वह उसी की सहायता करे। देवताओं के साथ हमारा युद्ध होने वाला है, उसमें आपको हमारा ही साथ देना चाहिये।"

महाराज रजि ने कहा—"मुझे स्वीकार है। किन्तु, विजय मिलने पर स्वर्ग का राजा इन्द्र मैं बनूँगा।"

यह सुनकर लोभी असुर उदास हो गये। वे बोले—"तब हमें युद्ध करने से लाभ ही क्या हुआ? जैसा ही शतक्रतु इन्द्र, फिर वैसे ही इन्द्र आप हो जायँगे! हम तो चाहते हैं कि असुरों में श्रेष्ठ प्रह्लाद जी हमारे इन्द्र हों। हम आप को इन्द्र नहीं बना सकते। आप चाहें हमारी सहायता करें, या न करें।" यह कह-कर असुर चले गये।

तदन्तर देवता आये। उन्होंने भी राजा से सहायता की प्रार्थना की। उनसे भी राजा ने यही बात कही—"देखो भाई! तुम चाहे भला मानो, या बुरा; मैं तो टूक बात कहने वाला हूँ। लल्लो-चप्पो की बात करना मैं नहीं जानता। सीधी-सच्ची बात यह है कि युद्ध के लिये तो मैं तैयार हूँ किन्तु विजय होने पर इन्द्र मैं ही बनूँगा।"

देवेन्द्र ने कहा—"महाराज! मुझे यह स्वीकार है। आप हमारे अभी से इन्द्र हुए!" यह सुनकर महाराज रजि अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने असुरों से युद्ध किया। उस युद्ध में रजि के अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा से भयभीत होकर असुर भाग गये। देवताओं की विजय हुई। तब इन्द्र ने हाथ जोड़कर कहा—"राजन्! आज से मैं आपका पुत्र कहलाऊँगा।"

यह सुनकर महाराज रजि हँस पड़े और बोले—"जब तुम हमारे पुत्र ही बन गये, अब तुम स्वर्ग का राज्य करो।" किन्तु, इन्द्र को तो असुरों का खटका लगा हुआ था। वे जानते थे कि ज्यों ही महाराज रजि ने हाथ खींचा, त्यों ही ये असुर आकर हम पर पुनः चढ़ाई कर देंगे। इसलिये देवेन्द्र ने महाराज के पैर पकड़कर कहा—"स्वर्ग के राजा आप ही बने रहें, मैं तो पुत्र बनकर आपके कार्यों की देख-रेख करता रहूँगा।" राजा ने इसे

किन्नर, किंपुरुष, आदि में कहीं भी इन्द्र के योग्य पुरुष नहीं मिला। तब सभी देवता और ऋषियों ने महाराज नहुष को इन्द्र बना दिया। चन्द्रवंश के ये प्रधान राजा हुए। चन्द्र के पुत्र बुध, बुध के पुरूरवा, पुरूरवा के आयु और आयु के ही पुत्र महाराज नहुष थे। अब आप इनके पवित्र वंश का वर्णन सुनें।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा— 'सूतजी! आयु पुत्र महाराज नहुष का नाम नहुष किस कारण पड़ा? इसका कारण बताकर तब आप नहुष के वंश का वर्णन करें।'

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! पहले आप महाराज नहुष के नहुष नाम पड़ने की कथा को ही श्रवण करें।"

छप्पय

गये पिता परलोक पंचशत राजा बनि कें।
सबई है हम इन्द्र कहें शत क्रतु तें तनि कें॥
सुरगुरु ने अभिचार यज्ञ करि भ्रष्ट बनाये।
भये धर्मरिपु तुरत इन्द्र यम-सदन पठाये॥
इन्द्र-वज्र तें मरे सब, चल्यो नहीं रजिवंश पुनि।
आयु-तनय नृप नहुष को, विशद चरित अब सुनहु मुनि॥

नहुष-चरित

[७५१]

सङ्कृतिस्तस्य च जयः क्षत्रधर्मा महारथः।
क्षत्रवृद्धान्वया भूपाः शृणु वंशं च नाहुषात् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १७ अ० १८, श्लो०)

छप्पय

दत्त दयो फल आयु नृपति-पत्नी ने खायो।
फल प्रभाव तैं इन्दुमती ने सुत इक जायो॥
नहुष नाम विख्यात हुएड ने ताहि चुरायो।
पाचक राँधन दयो प्रेमवश कुँवर छिपायो॥
मुनि वशिष्ठ पालन करयो, बड़े भये रिपु-हनन हित।
चले दैत्य ढिंग जासु को, शिव-पुत्री महँ फस्यो चित॥

विधि के विधान कैसे विचित्र बने रहते हैं? जीव उनके विषय में सोच नहीं सकता। सुख, दुःख, आयु, जाति, सम्बन्ध, कीर्ति, यश, हानि, लाभ—ये सब पहले से ही निश्चित होते हैं। जैसा निश्चय होता है, उसी के अनुसार जीवों की प्रवृत्ति होती

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! जयसेन के पुत्र संकृति हुए उसके जय, जय के ही पुत्र महारथी क्षत्रधर्मा हुए ये सब क्षत्रवृद्ध के वंशज हैं। अब नहुष से उत्पन्न हुए राजाओं के वंश का वर्णन सुनो।"

है और उसके अनुरूप ही जीव प्रयत्न करते हैं, वैसे ही सब वानिक भी बनते जाते हैं। जिसका जिसके साथ विवाह होना होता है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह रुक नहीं सकता, जिस का संयोग जिसके साथ नहीं है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह नहीं हो सकता। सबका सम्बन्ध सबके साथ पहले से ही निश्चित है। जब यही बात है, तब व्यर्थ आशा करनी अनुचित है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने पुरूरवा के पुत्र आयु के सबसे बड़े कुमार नहुष का चरित मुझसे पूछा था। उसे मैं आपको सुनाता हूँ। वह अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद चरित है। प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज ऐल के सबसे बड़े पुत्र आयु थे। वे परम धर्मात्मा, यशस्वी, वीर और पुण्यात्मा थे। उस समय पृथ्वी पर उनके समान प्रजापालक, ब्राह्मण-भक्त और सर्वप्रिय दूसरा कोई राजा नहीं था। वे सप्तद्वीपवती वसुन्धरा के एकछत्र शासक थे। समस्त भू मण्डल पर उनकी आज्ञा मानी जाती थी। इतना सब होने पर भी उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनकी पत्नी का नाम इन्दुमती था। वह सुन्दरी, सुकुमारी, सुशीला और साध्वी थी। वह अपने पति में परमेश्वर बुद्धि रखकर सदा उनकी सभी आज्ञाओं का निरालस्य होकर, पालन करती वह हँसकर बोलती और प्रेम भरी दृष्टि से पति को निहारती। किन्तु सन्तान न होने से वह सदा उदास बनी रहती।"

राजा ने सोचा—"मुझे क्या करना चाहिये? किस उपाय से मेरा दुःख दूर हो? कैसे मुझे पुत्र की प्राप्ति हो? दुःख पड़ने पर साधु ही उसे हटा सकते हैं। अतः मैं चलकर किसी साधु की सेवा करूँ।" यह सोचकर वे किसी साधु की खोज करने लगे। उसी समय उन्होंने सुना—श्री विष्णु के अंशावतार भगवान् दत्तात्रेय यहाँ समीप ही ठहरे हुए हैं। अब तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता

हुई। उन्होंने निश्चय कर लिया—"मैं सेवा द्वारा भगवान् दत्तात्रेय को प्रसन्न करके उनसे पुत्र प्राप्ति का वरदान अवश्य लूँगा।" ऐसा निश्चय करके वे अत्रिनन्दन, अनुसूया नन्दवर्धन, भगवान् दत्त प्रभु के समीप गये। दत्तप्रभु ने अपनी चर्या ऐसी बना रखी थी, कि उसे देखकर सब लोग उनसे घृणा करें, कोई उनके पास न फटके। वे कुत्तों के साथ खाते, मृतक मनुष्य की खोपड़ी में सुरापान करते, मांस खाते और स्त्रियों से सदा घिरे रहते। यह सब उन्होंने माया फैला रखी थी। वास्तव में तो वे शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन और निष्कल थे। महाराज आयु तो जानते थे, ये भगवान् के अवतार हैं, लीला कर रहे हैं। वे सोचते थे—"ये तो सर्व समर्थ हैं, चाहे जैसी लीला करें, हमें तो सदा ईश्वर-बुद्धि से इन की सेवा ही करनी चाहिये।" यही सोचकर वे बिना गुण दोषों का विचार किये श्रद्धा सहित दत्त प्रभु की सेवा करने लगे। दत्त भगवान् कुछ बोलते ही नहीं थे।

जब उन्होंने देखा, इतना विपरीत आचरण करने पर भी राजा को अश्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तब वे बोले - "राजन्! आप ऊसर में बीज क्यों बो रहे हैं? राख में हवन क्यों कर रहे हैं? मुझ आचार हीन की सेवा शुश्रूषा करने से आप को क्या लाभ होगा? हम तो अघोरी हैं, अखाद्य पदार्थ खाते हैं, अपेय पीते हैं; हमारी इन्द्रियाँ हमारे वश में नहीं हैं। देखो, यह स्त्री सदा हमारे साथ रहती है। इसने हमें अपने वशीभूत कर रखा है। तुम जाकर किसी सदाचारी ब्राह्मण की सेवा करो, वहाँ तुम्हारी मनोकामना भी पूरी होगी। हम जैसे आचार विचारहीन प्राणी की सेवा से तुम्हें कुछ भी न मिलेगा।"

महाराज आयु ने कहा—"प्रभो! आप मनुष्य नहीं, ईश्वर हैं। आपके लिये आचार-विचार की आवश्यकता ही क्या है?

आप तो कुछ खाते-पीते ही नहीं, आपके लिये सब अखाद्य है, सब अपेय है। आपके वाम भाग में जो भगवती विराजमान हैं, ये साक्षात् जगदम्बिका लक्ष्मी जी हैं। इनकी सेवा में ये सब अन्य शक्तियाँ हैं। मैं आपकी कृपा से ही आपके स्वरूप को पहचानता हूँ, कृपाकर आप मुझे भ्रम में न डालें।"

यह सुनकर दत्त भगवान ने कहा—"अच्छी बात है, इस मनुष्य की खोपड़ी में सुरा डालकर माँस पकाओ।" इतना सुनते ही महाराज ने भगवान् की आज्ञा का पालन किया। जब मांस पक चुका तब भगवान् ने कहा—"इसे हमारे पास लाओ।" राजा माँस लेकर श्रद्धा सहित भगवान् के समीप गये। राजा की ऐसी भक्ति देखकर भगवान दत्त उनके ऊपर प्रसन्न हुए और हँसते हुए बोले—"राजन्! तुमने अपने धैर्य, शील, सदाचार और भक्ति से मुझे जीत लिया। अब तुम अपना इच्छित वर मुझसे माँग लो। आज तुम जो भी माँगोगे, वही मैं तुम्हें दूँगा।"

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए नम्रतापूर्वक महाराज आयु बोले—"प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो एक ऐसा पुत्र दें, जिसे देवता, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व तथा कोई भी जीत न सके। वह इन्द्र के समान पराक्रमी, शूर-वीर और यशस्वी हो।"

इस पर भगवान् दत्तात्रेय बोले—"राजन्! ऐसा ही होगा। तुम्हारे एक नहीं, पाँच पुत्र होंगे! सबसे बड़ा पुत्र भगवान् का अंशावतार और त्रिभुवन में अद्वितीय शूर-वीर, बली और प्रभावशाली होगा। तुम यह फल जाकर अपनी पत्नी को खिलाना। इससे दशवें महीने में तुम्हें पुत्र होगा।" इतना कहकर फल देकर भगवान् दत्तात्रेय तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा भी फल लेकर प्रतिष्ठानपुरी में आये और अपनी पत्नी इन्दुमती को उन्होंने वह फल दिया। रानी ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति से दत्त भगवान्

का दिया हुआ वह फल खाया। उसके खाने से रानी गर्भवती हुई। गर्भवती होने पर वह नित्य ही दिव्य-दिव्य स्वप्न देखती और अपने पति को सुनाती। महाराज ने अपने कुल-पुरोहित को बुलाकर स्वप्नों का फल जानना चाहा। स्वप्नों का वृत्तान्त सुनकर पुरोहित ने पूछा—"राजन्! दत्त भगवान ने जो फल आपको दिया था, वह आपने क्या किया?"

राजा ने कहा—"भगवन्! उसे तो मैंने अपनी पत्नी को दे दिया। उसने उसे खा लिया। उसी के प्रभाव से तो वह गर्भवती हुई है।"

तब पुरोहित ने कहा—"राजन्! यह उस फल का ही प्रभाव है आप चिन्ता न करें, आपके यहाँ संसार में विख्यात एक पुत्ररत्न होगा। वह भगवान् की कला से ही उत्पन्न होगा। देवता, ऋषि मुनि भी उसकी वन्दना करेंगे। वह मनुष्य होकर भी इन्द्रासन पर इन्द्र बनकर बैठेगा।"

यह सुनकर राजा-रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे यत्नपूर्वक गर्भ की रक्षा करने लगे। इधर विप्रचित्ति नामक दैत्य का पुत्र हुण्ड अपने शत्रु को रानी इन्दुमती के गर्भ में देखकर उसे मारने की घात में इधर-उधर छिपा रहा। वह वेष बदलकर गर्भस्थ बालक को मार डालना चाहता था। दश महीने पूरे होने पर महाराज आयु की सौभाग्यवती महारानी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। दैत्यराज हुण्ड तो घात में ही था। वह एक दाई के शरीर में प्रवेश कर गया। वह दाई मलिन रहती थी, पवित्रता का विशेष ध्यान नहीं रखती थी। इसीलिये दैत्य उसकी देह में घुस गया और पैदा होते ही बालक नहुष को लेकर भाग गया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आयु-पुत्र महाराज

नहुष तो अभी माता के उदर में ही थे। हुण्ड दैत्य से इनकी शत्रुता किस कारण हो गई ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! सभी प्रकार के लड़ाई-झगड़े और कलह का कारण यह बहू ही है। बहू के पीछे ही सब झंझट होते हैं। जब तक विवाह नहीं होता, माता-पिता अलग दुखी और चिन्तित रहते हैं, वर-वधू अलग छटपटाते रहते हैं किसी से विवाह की बात-चीत होती है, दूसरा उसमें अपनी इच्छा प्रकट करता है, उसकी इच्छा का विघात करता है, तो परस्पर वे लड़ते हैं, विवाह होने पर भी लड़ाई-झगड़ा। मुनियो ! आप ही धन्य हैं, जो इस विवाह-फिवाह के चक्कर में नहीं फँसे। नहीं तो नोन-तेल-लकड़ी जुटाते-जुटाते ही आपका समय बीतता। फिर इस प्रकार निश्चिन्त होकर सहस्र वर्षों तक कथा न श्रवण कर सकते। धन और प्रतिष्ठा को भी लोग लड़ाई का कारण बताते हैं। किन्तु ये तो कारण गौण हैं। मुख्य कारण तो काले मूँड-वाली ही है। बात यह थी, कि नहुष की बहू से दैत्य-राज हुण्ड विवाह करना चाहता था। वह नहुष को छोड़कर किसी दूसरे को पति बनाना नहीं चाहती थी। वह नहुष के जन्म की प्रतीक्षा में थी, इसीलिये हुण्ड पैदा होते ही नहुष को मार डालने की घात में घूम रहा था। इसीलिये पैदा होते ही वह मायावी अपनी माया से सद्यःजात नहुष को उठाकर अपनी पुरी में ले गया।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी ! आप एक से एक अद्भुत कुतूहल पूर्ण कथायें कहते हैं। महाराज नहुष माता के उदर में ही थे, उसके पूर्व ही उनकी बहू कहाँ से आ गई ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"अजी, महाराज ! विधि के विधान को कोई भली भाँति जान नहीं सकता। कभी-

कभी तो दुलहा पहले पैदा होता है, तब दुलहिन, और कभी-कभी दुलहिन पहले पैदा हो जाती है, तब दुलहा। देखिये; रेवतीजी आदि सत्ययुग में पैदा हुईं और उनके पति बलदेवजी अट्ठाईस चौकड़ी के पश्चात् पैदा हुए। श्रीकृष्ण भगवान् के पुत्र प्रद्युम्न पीछे पैदा हुए, उनकी पत्नी मायावती उनसे बहुत पहले पैदा होकर शम्बरासुर के यहाँ रहती थी। इसी प्रकार महाराज नहुष के जन्म के पहले उनकी पत्नी अशोकसुन्दरी पैदा हो गई थी। इसकी बड़ी ही विचित्र मनोरञ्जक कथा है। इसकी उत्पत्ति अलौकिक ढङ्ग से हुई। यह पार्वती देवी की पुत्री थी।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! पहले आप हमें इसी अद्भुत कथा को सुनावें। तब महाराज नहुष का अग्रिम वृत्तान्त कहें। अशोकसुन्दरी पार्वतीजी की पुत्री कैसे हुई? उसकी उत्पत्ति कहाँ और किस प्रकार हुई? कृपया इसे अवश्य सुनावें। इस प्रसङ्ग को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! यह कथा बहुत रसीली है। महात्माओं के सम्मुख ऐसी कथायें कहने में मुझे संकोच होता है। फिर भी आप नहीं मानते, तो मैं इसे कहता ही हूँ। आप सावधान होकर उसे श्रवण करें।"

एक समय की बात है, कि शैलेश-कुमारी भगवती भवानी ने अपने प्राणपति पशुपतिनाथ भूतभावन भगवान् वृषध्वज से कहा—"प्राणेश्वर! मेरी इच्छा सुन्दर-सुन्दर वन-उपवन देखने की है, आप मुझे उत्तम से उत्तम वन दिखावें।"

भोले बाबा तो स्वयं घुमक्कड़ प्रकृति के हैं। उन्हें तो वन-उपवनों में घूमने में बड़ा आनन्द आता है। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, चलो, तुम्हें देवताओं के क्रीड़ा करने योग्य उत्तमोत्तम वन दिखावें।"

यह कहकर भगवान् ने अपने बैल को बुलाया और उस पर पार्वती के सहित बैठकर कैलाश से स्वर्ग की ओर चले। देवताओं के विहार-स्थान, जो चैत्ररथ, वैभ्राजक, तथा सर्वतोभद्र नामक वन हैं, उनमें घूमते फिरते वे इन्द्र के नन्दनवन में पहुँचे। उस वन की शोभा अनुपम थी। उसमें बारहों मास वसन्त निवास करता है। वहाँ शीतल-मन्द-सुगन्ध मलयानिल सदा बहता रहता है। पार्वतीजी उस वन की शोभा देखकर अत्यन्त ही प्रमुदित हुईं। उन्होंने देखा—"वन में माधवी, मल्लिका, मालती, श्वेत यूथिका, सुवर्ण यूथिका अन्यान्य फूलवाली लतायें फैली हुई हैं, अनेक भाँति के पुष्प खिले हुए हैं। असंख्य प्रकार के देव वृक्ष उस वन की शोभा बढ़ा रहे हैं। शाल, ताल, तमाल, परिमल, सिन्धुवार, पियाल, कटहल, खरजूर नारिकेल तथा अन्यान्य पवित्र पादप उस उपवन की शोभा बढ़ा रहे हैं। स्थान-स्थान पर अमृत के समान जल वाली पुष्करिणियाँ बनी हुई हैं, जिनमें श्वेत, लाल, नील तथा और भी अनेक प्रकार के रङ्ग बिरंगे कमल खिले हुए हैं। हंस, सारस, जलकुक्कुट तथा अन्यान्य जल जन्तु किलोलें कर रहे हैं। शिवजी पार्वतीजी को सब वृक्षों का परिचय कराते हुए कल्पवृक्ष के समीप पहुँचे। उसकी अनुपम शोभा और पुष्पों की दिव्य गन्ध से प्रभावित होकर पार्वतीजी ने पूछा—"प्राणनाथ! यह किस का वृक्ष है? इसका क्या नाम है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी का नाम है विमुग्धता—भोलापन—सब जान-बूझकर भी सरलता के साथ अनजान की भाँति वे कल्पवृक्ष के सम्बन्ध में अत्यन्त कुतूहल के साथ पूछने लगीं। उनके कुतूहल को शान्त करने के निमित्त भगवान् सदाशिव बोले—"प्रिये! यह कल्पवृक्ष है। स्वर्ग में यही सबसे उत्तम वृक्ष माना जाता है।"

"इसकी क्या विशेषता है, प्राणवल्लभ ?"—छोटी बच्ची की भाँति जगज्जननी ने पूछा।

शिवजी ने कहा—"प्रिये ! इसके नीचे बैठकर प्राणी जो भी संकल्प करता है, वह तुरन्त पूर्ण होता है। जो जिस वस्तु की इच्छा करता है, उसे वह तुरन्त प्राप्त हो जाती है।"

आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए भगवती बोलीं—"हाँ, ऐसी बात है ! यदि हम कोई कामना करें, तो वह पूरी होगी ?"

आज भोले बाबा भी बालक ही बन गये थे। विनोद ही जो ठहरा। नहीं, जिनके संकल्पमात्र से यह चराचर विश्व उत्पन्न हो जाता है और जिनके भ्रकुटि-विलास से विलीन हो जाता है, उनके लिये कल्पवृक्ष का क्या महत्त्व ? यह क्षयिष्णु कल्पवृक्ष क्या कामना पूर्ण करेगा ? यथार्थ कल्पवृक्ष तो गौरी-शंकर ही हैं। फिर भी उन्हें कुछ क्रीड़ा करनी थी। किसी दुष्ट दानव को मरवाना होगा। उनके विनोद में भी लोक-कल्याण निहित रहता है। अतः वे बोले—"हाँ, हाँ, तुम कोई संकल्प करो, देखें, पूरा होता है या नहीं।"

अब क्या था ! पार्वतीजी बैठ गईं उस कल्पवृक्ष के नीचे और सोचने लगीं—"एक अत्यन्त ही सुन्दरी लड़की इस कल्प-वृक्ष से उत्पन्न हो जाय।" इन स्त्रियों को सुन्दर लड़के-लड़की से बढ़कर कोई प्रिय पदार्थ नहीं है। ये जब भी इच्छा करेंगी, प्रायः ऐसी ही करेंगी।

पार्वतीजी के संकल्प करते ही उस वृक्ष से एक अत्यन्त ही सुन्दरी षोडशवर्षीया बालिका निकल कर शनैः-शनैः पार्वतीजी की ओर आने लगी। उसका रूप-लावण्य अनुपम था। पार्वती-जी उस रूप की राशि, सुन्दरता की साकार प्रतिमा को देखकर आश्चर्य-चकित दृष्टि से उसकी ओर निहारती ही रह गईं।

उसका वर्ण तपाये सुवर्ण के समान था, उसके शरीर से सरसिज की सुन्दर सुहावनी सुगन्ध निकल रही थी। उसके ओष्ठ, नख, करतल, पदतल कोमल और अरुण वर्ण के थे। काले-काले घुँघराले बालों से कमल के समान उसका विकसित वदन

अत्यन्त ही सुन्दर था। उसके केश-पाशों में मोती पिरोये हुए थे, मानों नीली घास पर ओसकण पड़े हों। केसर-कस्तूरी से मिश्रित उसका तिलक अत्यन्त ही शोभा पा रहा था, जब वह मन्द-मन्द मुस्कुराती, तो ऐसी लगती, मानों चन्द्रमा की चाँदनी छिटक रही हो। उसके गोल-गोल क्षारसी से कपोलों

पर कनक के कुण्डल दमक रहे थे, मानों आकाश से विद्युत की छटा छिटक रही हो। उसके अङ्ग-अङ्ग से सौन्दर्य निकलकर दसों दिशाओं को आलोकमय बना रहा था। वह मन्द-मन्द गति से पार्वती-परमेश्वर की ओर ही आ रही थी। उसके पीछे और भी बहुत-सी देव-कन्यायें थीं उन कन्याओं को देखकर पार्वतीजी परम प्रमुदित हुईं। वे पिनाकधृक् शूलपाणि भगवान् शंकर से बोलीं—"प्राणवल्लभ! आपने इस कल्पवृक्ष का जैसा माहात्म्य बताया, वह वैसा ही निकला। देखो, मैंने एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या का संकल्प किया था, सो कैसी सुन्दरी यह कन्या उत्पन्न हो गई। यह तो मानों सौन्दर्य-माधुर्य की साक्षात् सजीव प्रतिमा ही है। संसार में वह पुरुष धन्य होगा, जो इसे पत्नी-रूप में वरण करेगा।"

पार्वती जी यह कह ही रही थीं, कि उस कन्या ने लजाते हुए शिवजी और पार्वती जी के पाद-पद्मों में प्रणाम किया तथा हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से कोकिल-कूजित कण्ठ से शनैः शनैः रुक-रुककर बोली—"माताजी! मुझे आपने किस कार्य के निमित्त उत्पन्न किया है? मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

यह सुनकर हँसती हुई पार्वतीजी बोलीं—"बेटी! मैंने किसी कारण-विशेष से तुम्हें उत्पन्न नहीं किया। वैसे ही कुतूहल वश कल्प-वृक्ष का माहात्म्य जानने के निमित्त मैंने तुम्हें संकल्प से पैदा किया है।"

यह सुनकर वह सुन्दरी कन्या बोली—"तब माताजी! अब मैं क्या करूँ? आप का तो विनोद हुआ, मैं ऐसे अब अपना जीवन कैसे बिताऊँ? किसे पिता-माता बताऊँ? कहाँ रहूँ और.....

पार्वती जी प्रेम-पूर्वक बोलीं—"बेटी! माता-पिता और किसे

बनाओगी ? मैं तेरी माता हूँ, शिवजी तेरे पिता हैं, स्वामी कार्तिकेय षडानन और गणेश तेरे भाई हैं। आज से तू हमारी पुत्री हुई। तू यहीं इस नन्दन-कानन में विचरण कर। ये तेरी सखी सहेलियाँ हैं।"

लड़की ने लजाते हुए कहा—"मेरा नाम तो रख दीजिये। और मैं कब तक यहाँ विचरण करती रहूँ ? कब तक मुझे यहाँ रहना होगा ?"

पार्वती जी ने कहा—"बेटी ! मैं तेरा अभिप्राय समझ गई। किन्तु अभी तुझे सहस्रों वर्षों तक पति नहीं मिलेगा। प्रतिष्ठानपुर के महाराज ऐल के पुत्र आयु हैं। बहुत दिनों के पश्चात् उन के नहुष नाम का धर्मात्मा राजर्षि पुत्र होगा। उसी के साथ तेरा विवाह होगा। वही तुझे पत्नी-रूप में वरण करेगा। तू तपस्या करके अपने जीवन को सदाचार मय बिताते हुए नहुष के जन्म की प्रतीक्षा कर। तेरे मुख पर चिन्ता तथा शोक के भी चिह्न नहीं हैं। तू सदा शोक रहित होकर हँसती रहती है, अतः तेरा नाम आज से 'अशोकसुन्दरी' होगा। तू यहाँ इस वन में अपनी सखी सहेलियों के साथ निवास कर।" इतना कहकर पार्वती जी ने उस कन्या को आशीर्वाद दिया और वे शिवजी के साथ नन्दिया पर चढ़कर कैलाश चली गईं।

अशोकसुन्दरी उसी नन्दनवन में रहकर अपनी सखी-सहेलियों के साथ दिन बिताने लगी। वह जब सखियों को साथ लेकर नन्दनवन में इधर-उधर घूमती, तब ऐसी लगती, मानों इस वन की अधिष्ठात्री देवी हो। जब वह पीला-कमल कर में लेकर घुमाती हुई चलती, तो साक्षात् कमला के समान प्रतीत होती। देवता उसे लक्ष्मी समझकर प्रणाम करते। कभी-कभी शची देवी जब वन-विहार के लिये आतीं, तो उसके सौंदर्य को

देखकर लज्जित हो जातीं। कामदेव की पत्नी रति उससे ईर्ष्या करने लगी। वह सोचती थी—"किसी प्रकार यह यहाँ से अन्यत्र चली जाय, तो सुर पुर में मेरी ही धाक रहे। इसके सौन्दर्य के सम्मुख मुझे कौन पूछेगा?" इस प्रकार उस कन्या को नन्दन वन में निवास करते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये।

एक दिन विप्रचित्ति दैत्य का पुत्र हुण्ड घूमता फिरता नन्दन वन में आया। उन दिनों उसका बड़ा प्रभाव था। इन्द्रादि समस्त देव उसके नाम से थर-थर काँपते थे। स्वर्ग में वह स्वच्छन्द विचरण करता। उसके भय से कोई देवता भी चूँ तक नहीं करता। सभी स्वर्ग की अप्सरायें उसकी सेवा करतीं। सर्वत्र उसकी धाक जमी हुई थी। जब वह नन्दनवन में आया, तब सहसा उसकी दृष्टि अशोकसुन्दरी पर पड़ गई वह उसे देखकर परम विस्मित हुआ। इसके पूर्व स्वर्ग में उसने ऐसा सौन्दर्य कभी नहीं देखा था। उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा, विप्रचित्ति तथा अन्यान्य जितनी भी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरायें समझी जाती थीं, वे इसके सामने कुछ भी नहीं थी पहले तो उसने समझा 'लक्ष्मी जी वन में घूम रही हैं।' फिर उसे सन्देह हुआ कि यह लक्ष्मी जी नारायण को छोड़कर ऐसे कैसे आवेंगी? सम्भव है, इन्द्र-पत्नी शची हो। किन्तु शची तो ऐसी सुन्दरी है नहीं। उसे तो मैंने अनेकों बार देखा है। हमारे दैत्य वंश की ही तो वह पुत्री है। यह कोई और ही है। यह सोचकर वह उस सुन्दरी के समीप गया और बोला—"देवि! तुम कौन हो? किसकी पत्नी हो? यहाँ नन्दन-कानन में अकेली क्यों घूम रही हो?"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"दानवेन्द्र! मैं भगवती पार्वती की पुत्री हूँ।"

दैत्यराज हुण्ड ने कहा—"पार्वतीजी के तो कोई पुत्री हैं ही नहीं। तुम उनकी पुत्री कैसे हुईं ?"

यह सुनकर अशोकसुन्दरी ने कहा—"दैत्येन्द्र ! मुझे माता जी ने कल्पवृक्ष से मानसिक संकल्प द्वारा उत्पन्न किया है। शिवजी के सम्मुख उन्होंने मुझे अपनी पुत्री के रूप में स्वीकार किया है। मुझे उन्होंने उत्पन्न करके यहीं रहने की आज्ञा दी है।"

दैत्यराज हुण्ड यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उससे कहा—"हाँ, ठीक ही है, पार्वती जी की तो सभी सन्तानें हैं। अच्छा मैं एक बात कहूँगा, तुम उसे मानोगी ?"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"उसे बिना सुने मैं कैसे कह सकती हूं, कि मानूँगी ही। पहले आप बात कहें, तब मैं उस पर विचार करूँगा, कि वह मानने योग्य है या नहीं।"

हुण्ड ने कहा—"देवि ! कहना यही है, कि मैं दैत्यराज विप्र चित्ति का पुत्र हूँ। हुण्ड मेरा नाम है, तीनों लोकों में मेरे बल पराक्रम की ख्याति है। इन्द्र मेरे नाम से ही थर-थर काँपते हैं। तुम मेरे साथ विवाह कर लो।"

यह सुनकर अशोकसुन्दरी की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। उसने डाँटकर कहा—"चल, हट, दुष्ट ! पार्वतीजी की पुत्री से विवाह करने चला है ! तालाब में जाकर अपना मुख तो देख ! इसी मुँह से विवाह करने चला है, सावधान ! फिर ऐसी बात मुख से निकाली, तो ठीक न होगा।"

विनय के साथ हुण्ड ने कहा—"तुम तो अप्रसन्न हो गईं। मेरा अभिप्राय यह है, कि विवाह तो तुमको करना ही है। फिर संसार में आजकल मुझसे श्रेष्ठ वर और कहाँ मिलेगा ? मैं तुम्हें अपनी आँखों की पुतली की भाँति रखूँगा, अपनी सब पत्नियों में

श्रेष्ठ बना दूँगा और तुम्हारा दास बनकर तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा का सावधानी के साथ पालन करूँगा।"

अशोकसुन्दरी ने क्रोध में भरकर कहा—"विवाह की बात तो पृथक् रही, मैं तेरे मुख पर थूकूँ भी नहीं। तू सीधे अपने घर चला जा। मेरा विवाह तो मेरी माता ने पहले ही पक्का कर दिया है।"

हुण्ड ने कहा—"सुनूँ भी तो, किसके साथ तुम्हारे विवाह की बातचीत हुई है। कौन ऐसा भाग्यशाली है?"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"मेरा विवाह होगा चक्रवर्ती महाराज आयु के पुत्र राजर्षि नहुष के साथ।"

आश्चर्य के साथ हुण्ड ने कहा—"मैं ऐल के पुत्र महाराज आयु को भलीभाँति जानता हूँ, उनके कोई पुत्र है ही नहीं।"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"हाँ, अभी तो उनके कोई पुत्र नहीं है, किन्तु कुछ काल के पश्चात् उनको पुत्र होगा, उसी के साथ मेरा विवाह होगा।"

यह सुनकर दैत्यराज हुण्ड बड़े जोरों से खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला—"यह अच्छी रही, अभी दूल्हा पैदा भी नहीं हुआ और दुलहिन माता बनने के योग्य हो गई! पता नहीं, कितने सहस्र वर्षों में महाराज आयु के पुत्र होगा, होगा भी, या नहीं। तब तक तुम बूढ़ी हो जाओगी। युवावस्था तुम्हारी समाप्त हो जायगी, यौवन के सुख से तुम सदा के लिये वञ्चित रह जाओगी। प्राणियों की आयु चंचल है, क्षणभंगुर है, उस पर यौवन तो अत्यन्त ही चंचल है। आपकी यह सुखोपभोग की अमूल्य आयु व्यर्थ न होने पावे। देवि! गोद के को छोड़कर तुम पेट की आशा क्यों करती हो? सामने आई हुई को छोड़कर मिथ्या आशा के सहारे जीवन को संशय में क्यों डालती हो?

आगे रखे हुए गंगाजल को छोड़कर मृग-मरीचिका के पीछे क्यों दौड़ना है ? उस काल्पनिक नहुष की आशा छोड़ो। मैं तुम्हारा किंकर सम्मुख उपस्थित हूँ। तुम्हारा इस बात को जो सुनेगा, वह हँसेगा। मान लो, हजार पाँच सौ वर्ष के पश्चात् महाराज आयु के पुत्र हुआ भी, तो तुम उसका वह बनोगी या दादी बनोगी ? इसलिये इस पागलपन को छोड़ो। मेरे साथ विवाह करके संसार के सभी श्रेष्ठ सुखों का उपभोग करो और अपनी युवावस्था को सार्थक बनाओ।"

अशोकसुन्दरी ने अत्यन्त ही रोष के स्वर में कहा—"दैत्यराज ! मैं तुमसे कहती हूँ तुम अभी यहाँ से चले जाओ। मैं तुम्हारी श्रद्धाहीन कामवासना से भरी बातों को सुनना भी नहीं चाहती। अब तुमने कुछ मुख से बात निकाली, तो तुम्हारा कल्याण नहीं।"

हुण्ड ने कहा—"देवि ! मैं तुमसे विनय कर रहा हूँ। त्रैलोक्य विजयी हुण्ड तुम्हारा अनुचर है, तुमसे प्रेम की भीख माँग रहा है। महाराज आयु की रानी कब गर्भ धारण करेगी, कब उसके पुत्र होगा, होते ही तो वह विवाह कर नहीं लेगा ? बालक होगा, कुमार होगा, पौगण्डावस्था को प्राप्त होगा, किशोर होगा, तब कहीं जाकर युवावस्था में पदार्पण करेगा। तब तक तुम्हारी युवावस्था समाप्त हो जायगी। युवावस्था ही जीवन है। विशेषकर नारियों की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाली युवावस्था ही है। तुम हठ मत करो, मुझे अपना अनुचर स्वीकार कर लो। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"दैत्यराज ! तुम्हें लज्जा आनी चाहिये। निश्चय ही तुम्हें कामरूपी मदोन्मत्त गजराज ने झकझोर डाला है, तभी तो तुम ऐसी बातें कह रहे हो ! अरे, जिसे विधाता ने ललाट में लिख दिया है, जगन्माता पार्वतीजी ने जिस

संयोग को अपने श्रीमुख से कहा है, चराचर के स्वामी शंकरजी ने जिसका समर्थन किया है; उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किसमें है ? तुम यहाँ से भाग जाओ, नहीं मैं तुम्हें शाप दे दूँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! पतिव्रता स्त्री के सम्मुख हठ करने की सामर्थ्य किसमें है ? हुण्ड अपना-सा मुँह लेकर चला गया, किन्तु उसने अशोकसुन्दरी को पाने की आशा नहीं छोड़ी थी। महाराज ! जिसके चित्त में जो वस्तु समा जाती है, वह उसे प्राप्त करने की प्राण पण से चेष्टा करता है। हुण्ड ने जब अपने मनोरथ को इस तरह सिद्ध होते न देखा, तब उसने माया का आश्रय लिया। उसके मन में अशोकसुन्दरी की सलोनी मूर्ति गड़ गई थी। वह सोते-जागते, उठते-बैठते, रात-दिन उसी के सम्बन्ध में सोचने लगा।

इधर अशोकसुन्दरी तपस्या करती हुई अपने पति के जन्म की प्रतीक्षा करने लगी। एक दिन उसने देखा, एक बड़ी सुन्दरी स्त्री उसके समीप आकर रोने लगी। उसने दयावश पूछा—"बहन ! तुम क्यों रोती हो ?"

उस स्त्री ने बताया—"मेरे पति को दुष्ट दैत्य हुण्ड ने मार डाला है, मैं उसी के दुःख से दुःखी हो घूम रही हूँ।"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"बहन ! हुण्ड तो बड़ा कामी है। वह दुष्ट मेरे भी समीप आया था। अस्तु, कोई बात नहीं, तुम अब पुरानी बातों को भूल जाओ। मेरे समीप रहकर तप करो।" यह सुनकर वह स्त्री अशोकसुन्दरी के समीप रहने तो नहीं लगी, किन्तु दिन में कई बार आती थी।

एक दिन उस स्त्री ने कहा—"देवि ! तुम कभी मेरे घर पर चलो, तो अति उत्तम हो।"

करके हुण्ड सूतिकाघर मे घुस गया और उस बच्चे को जीवित ही अपन घर मे ले आया।

यह सुनकर शौनकजी न पूछा—"हाँ, सूतजी! इस कथा को हमे विस्तार से सुनाइय। फिर उस दैत्य ने उस बच्चे का क्या किया? उसने बच्चे को तो मार ही डाला होगा? फिर अशोक-सुन्दरा का विवाह किसके साथ हुआ?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! जिसकी आयु शेष है, उसे कौन मार सकता है? जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होना निश्चित है, उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किसमें है? नहुप भाग्यवश दैत्य के हाथो मे आकर भी बच गये। आप धैर्य धारण करें, मैं पूरी कथा आपको सुनाऊँगा।"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है!"

सूतजी कहने लगे—"हाँ, तो महाराज! सूतिकागृह से कुमार नहुप को चुराकर हुण्ड ने उन्हे अपनी स्त्री विपुला को दिया और बोला—"प्रिये! इस बालक को मार कर आज इसे पाचकों को दो। मै आज इसी का माँस खाऊँगा।"

यह सुनकर विपुला ने कहा—"प्राणनाथ! आपको दया भी नहीं आती। कैसा सुन्दर सलोना भोला-भाला यह बालक है! प्रतीत होता है, इसका आज ही जन्म हुआ है। आप ऐसा निन्दित, लोक-गर्हित क्रूर कर्म करने को क्यो कहते हैं? इस निर-पराध भोले-भाले बालक के प्राण क्यो लेना चाहते हैं?"

हुण्ड ने कहा—"प्रिये! यह मेरा शत्रु है। अशोकसुन्दरी ने मुझे शाप दिया है। मेरी मृत्यु इसी के हाथो से होगी। स्वर्ग में भी मैंने यह बात सुनी थी। शत्रु के साथ दया करना उचित नहीं।

अतः इसे तुम मारकर आज रँधवाओ। इसके मांस को खाकर आज मैं निश्चिन्त हो जाऊँगा।"

यह सुनकर उसकी पत्नी विपुला ने कहा—"यदि ऐसी बात है, तब तो इसे अवश्य मार डालना चाहिये। मैं अभी इसके मांस को पकवाकर आपके भोजन के साथ लाती हूँ।" यह कहकर विपुला भोजनालय में गई और अपनी एक सहचरी मेकला नाम्नी दासी से बोली—"मेकला! तू इस बच्चे को अभी ले जा। इसे मार कर इसके मांस के टुकड़े-टुकड़े करके इसमें बहुत से सुगन्धित मसाले मिलाकर, अभी पकाकर तू स्वामी के भोजन के साथ ले आ। देखना इसमें प्रमाद न करना।"

मेकला पर विपुला का पूर्ण विश्वास था, वह उसकी प्रत्येक आज्ञाओं का यथावत् पालन करती थी। इसलिये उसने बच्चे को उसे दे दिया। वह भी जैसी आज्ञा कहकर उस बालक को लेकर भोजन गृह में चली गयी।

मेकला ने पाककर्ता सूद से कहा—"देखो, राजा की आज्ञा है इस बालक का मांस स्वादिष्ट बनाकर दानवेन्द्र के रात्रि के भोजन में देना। अभी तुम इस बालक का वध करो।"

यह सुनकर सूद तीक्ष्ण खड्ग लेकर बालक को मारने को उद्यत हुआ। किन्तु उस बालक की रक्षा तो दत्तात्रेय जी का तेज कर रहा था। खड्ग को देखकर बालक हँसने लगा। बालक को हँसते देखकर मेकला के मातृ-हृदय में दया आ गई। वह सूद से बोली—"मूद! देखो, यह कैसा भोला-भाला बालक है। इसके लक्षणों से प्रतीत होता है, यह किसी चक्रवर्ती का पुत्र है। यह दुष्ट दानव न जाने इस बालक को कहाँ से उठा लाया है। यह तो निर्दयी कृपा-शून्य है। भला यह भोला-भाला बालक इस दुष्ट का क्या अपकार कर सकता है। ऐसे फूल से बालक को यह

मारने के लिए कहता है। इसे तुम मत मारो। इस अबोध बालक पर दया करो।

पाकर्ता ने कहा—"देवि! तुम सत्य कहती हो। यह शुभ लक्षणों से युक्त बालक सर्वथा अवध्य है। तुम शीघ्र ही इसे कहीं बाहर रख आओ। ऐसे स्थान पर रखना, जहाँ कृपालु पुरुष रहते हों। मैं तब तक हिरण के छोटे बच्चे को मारकर उसका मांस पकाता हूँ।"

महाराज ने दयावश यह बात मान ली। भाग्यवश उसके मन में बच्चे के प्रति ममत्व हो गया था। वह तुरन्त बच्चे को लेकर उत्तर ओर उसे भगवान् वशिष्ठ के आश्रम के समीप रखकर लौट आई। इधर पाकर्ता ने हिरण के बच्चे का माँस पकाकर उसमें विविध भांति के सुन्दर स्वादिष्ट मसाले मिलाकर दैत्यराज हुण्ड की थाली में रख दिया। हुण्ड प्रसन्नता के साथ सबको खा गया। खाकर उसे परम हर्ष हुआ, "मैंने अपने पुरुषार्थ से अशोकसुन्दरी के शाप को अन्यथा बना दिया। स्वर्ग के देवताओं के वचनों को भी मिथ्या सिद्ध कर दिया।" वह मन में अत्यन्त ही प्रसन्न था किन्तु उसे पता नहीं था, उसके शत्रु की रक्षा तो उसका भाग्य कर रहा है।

इधर प्रातःकाल जब भगवान् वशिष्ठ उठकर स्नान करने चले तब उन्होंने आश्रम के समीप पड़े हुए उस सुन्दर शिशु को देखा। उस इतने सुन्दर सद्यःजात सुकुमार कुमार को देखकर मुनि को परम विस्मय हुआ। उन्होंने तुरन्त ही अन्यान्य ऋषियों को बुलाया। सभी उस बालक के अलौकिक रूप अनुपम ओज तेज को देखकर चकित रह गये। भगवान् वशिष्ठ ने दिव्यज्ञान से सब बातें जान लीं। उन्हें यह विदित हो गया कि इसे सूतिकागृह से हुण्ड उठा लाया है, किन्तु इसकी आयु शेष थी, इसी से यह बच गया।

यह दैत्यराज हुण्ड को अवश्य मारेगा। मुझे अभी इसकी रक्षा स्वयं ही करनी चाहिये। यदि हुण्ड को यह बात विदित हो गयी, कि मेरा शत्रु मरा नहीं, जीवित है, तो वह नित्य ही मारने के नये-नये उपाय करता रहेगा। इन सब बातों को सोचकर भगवान् वशिष्ठ जी ने दोनों हाथों से प्रेम पूर्वक उस बालक को उठा लिया और आश्रम में उसे लाकर उसकी देख-भाल की, और बड़े स्नेह से पुत्र की भाँति उसका पालन पोषण करने लगे।

शनैः-शनैः आश्रम में रहकर बालक शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। मुनि ने कहा—"यह बालक जन्म लेते ही हुषित नहीं हुआ। इसलिये संसार में इसका नाम नहुष होगा।" उसी दिन से आश्रम-वासी उसे नहुष के नाम से पुकारने लगे। मुनि ने बालक के सभी क्षत्रियोचित कर्म कराये। अवस्था होने पर उसे समस्त धनुर्वेद, अस्त्र-शस्त्रों का चलाना, लौटाना आदि सभी कार्य सिखाये। कुछ ही काल में कुमार नहुष सभी अस्त्र-शस्त्रों में निपुण हो गया। गुरु वशिष्ठ की कृपा से वह संसार में अद्वितीय हो गया।

इधर जब से इन्दुमती के सूतिगृह से बालक अदृश्य हो गया, तब से राजा-रानी अत्यन्त ही उदास रहने लगे। सब को बड़ा आश्चर्य था, कि बालक को ले कौन गया! बहुत खोज करने पर भी बालक का कुछ पता न लगा। रानी की रोते-रोते आँखें सूज गईं। उसी समय वीणा बजाते हरि गुण गाते नारदजी महाराज आयु के समीप आ पहुँचे। देवर्षि को देखकर महाराज ने उनका स्वागत सत्कार किया। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनंतर नारद जी ने पूछा—"राजन्! तुम कुछ उदास से दीखते हो, मुझे अपने दुःख का कारण बताओ।"

राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"भगवन्! जो न जानता हो,

उसे बताया जाता है। आप तो सर्वज्ञ हैं, घट-घट की बात जानने वाले है। आपको मैं क्या बताऊँ फिर भी आपकी आज्ञा है, तो मैं उसे कहता हूँ। भगवान् दत्तात्रेय की कृपा से मेरे एक पुत्र हुआ था, न जान कौन उसे सूतिकागृह से उठा ले गया। भगवन्! बड़ी तपस्या के अनन्तर तो मैंने उस पुत्र को पाया था, उसके नष्ट होने से मुझे आन्तरिक दुःख है। मेरे दुःख की तो कुछ बात नहीं, उसकी माता की दशा अत्यन्त शोचनीय है, रोते-रोते वह अंधी हो जायेगी।"

नारदजी ने कहा—"राजन्! आप अपने पुत्र के लिये सोच न करें वह नष्ट नहीं हुआ है, सुरक्षित है। दत्त भगवान् की कृपा से प्राप्त पुत्र का अनिष्ट संसार मे कौन कर सकता है? वह सर्व गुण सम्पन्न अद्वितीय शूरवीर होकर अपने शत्रु को मारकर, परम सुन्दरी स्त्री के साथ विवाह करके, वधू के साथ शीघ्र ही आकर तुम्हारे दर्शन करेगा।"

यह सुनकर राजा ने पूछा—"भगवन्! मेरा पुत्र कहाँ है? एक बार चलकर मैं देख तो आऊँ।"

मुनि बोले—"देखो, इस प्रकार धैर्य खो देने से कोई लाभ नहीं। अभी तुम उसे देखने की इच्छा मत करो। कुछ दिनों मे वह अकेले नहीं, बड़ी सुन्दरी वहू को साथ लेकर तुम्हारे समीप आ जायगा।" इतना कहकर नारद जी तुरन्त वहाँ से अन्तर्धान हो गये। नारद जी के वचन से राजा-रानी को धैर्य हुआ। वे बड़ी उत्सुकता से पुत्र के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

इधर कुमार नहुष वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर रहकर ऋषि-मुनियों द्वारा प्रेम पाकर शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। वे देखने मे बड़े ही सुन्दर, तेजस्वी और प्रभावशाली जान पड़ते थे। भगवान् वशिष्ठ से उन्होंने सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा विधि

पूर्वक सभी दिव्यास्त्रों का उपसंहार सहित प्रयोग सीख लिया था। उन्होंने ऋषियों के मुख से सुन रखा था, कि हुण्ड दैत्य उनका शत्रु है, वही उन्हें चुराकर लाया था, अतः उनके मन में हुण्ड को मारने की बड़ी इच्छा हुई। देवता तो यह चाहते ही थे। किसी प्रकार हुण्ड मारा जाय। उन्हीं का यह षड्यन्त्र था। वे जानते थे, यह दैत्य हमसे तो मरेगा नहीं। आयु-पुत्र नहुष ही इसे मारेंगे। अतः वे अनेक उपायों से नहुष की रक्षा करने लगे, उन्हें बहुत से अस्त्र-शस्त्र भी सिखाये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संसार में कितनी विचित्रता है? सभी अपने-अपने मन की बातें सोचते हैं। देवता हुण्ड को मरवाने की सोच रहे थे, वशिष्ठ अपने शिष्य के अभ्युदय की बात सोच रहे थे, महाराज आयु अपने पुत्र के आने की बात सोच रहे थे, उनकी पत्नी इन्दुमती अपने आत्मज की कल्याण की बात सोच रही थी, नहुष अपने शत्रु हुण्ड को मारकर अशोक सुन्दरी से विवाह की सोच रहे थे और हुण्ड दैत्य यह सोचकर निश्चिन्त था, कि मैंने अपने शत्रु को मारकर उसका मांस खा लिया, अब मैं अजरामर हो गया। उस मृग के मांस को नहुष का मांस समझकर बड़े स्वाद के साथ उसने खाया। खा-पीकर वह गङ्गा-तट पर तपस्या करती हुई अशोकसुन्दरी के समीप गया और बोला—"सुन्दरि! तुम अब अपने हठ को छोड़ो मेरे साथ विवाह कर लो। तुम्हारे भावी पति को तो मैं मारकर खा गया।"

इस पर अशोकसुन्दरी ने कहा—"तू कामी है, झूठा है, निर्लज्ज है। भला पार्वती जी का वचन कभी मिथ्या हो सकता है? आयु-पुत्र नहुष को कोई मार सकता है?"

हुण्ड ने कहा—"तुम अभी मेरी बात पर विश्वास न करोगी।

देख लेना, कुछ दिनों में सब बात मालूम हो जायगी। जन्म होते ही मैं उसे सूतिका घर से उठा लाया था, उसको मारकर उसका मांस बनवाकर मैं उसे पूरा खा गया। अच्छा, अब मैं जाता हूँ, तुम और विचार लो। यदि नहुष मर गया हो, तो तुम्हें मेरे साथ ही विवाह करना होगा।" यह कहकर वह तोंदकर अपने महोदर पुर में आ गया।

अब अशोकसुन्दरी के मन में सन्देह होने लगा, "यह दुष्ट है, अवश्य ही यह माया से आयु-पुत्र को ले आया होगा, सम्भव है,मारकर उसने खा भी लिया हो। किन्तु पार्वती जी का वचन अन्यथा कैसे हो सकता है? हाय! मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ? कौन मेरी सुनेगा?"

इस प्रकार अशोकसुन्दरी चिन्ता में मग्न विलाप कर रही थी, कि उसी समय विद्वर नामक गन्धर्व ने आकर कहा—"देवि! तुम क्यों चिन्ता कर रही हो? मैं तुम्हारी मनोव्यथा को जानता हूँ। यह हुण्ड तो दुष्ट है, यह आयु-पुत्र को प्रसूतिकागृह से लाया अवश्य था, किन्तु उन्हें मार नहीं सका। वे तो सकुशल वशिष्ठजी के आश्रम में बढ़ रहे हैं। तुम उनके लिये चिन्ता मत करो। वे शीघ्र ही आकर इस दुष्ट को मारकर तुम्हारे साथ विवाह करेंगे। तुम मेरी बात पर विश्वास करो। देवताओं ने ही मुझे तुम्हारे पास यह सदेश देने को भेजा है।" इतना कहकर विद्वर गन्धर्व चला गया। अब तो अशोकसुन्दरी बड़े मनोयोग से तपस्या करने लगी। उसे तप करते-करते बहुत दिन व्यतीत हो गये।

इधर जब कुमार नहुष बड़े हुए, तो उन्होंने भगवान् वशिष्ठ से हुण्ड-वध की आज्ञा माँगी। मुनि ने उनकी योग्यता अस्त्र-शस्त्रों की कुशलता देखकर उन्हें सहर्ष आज्ञा दे दी। इससे कुमार अति हर्षित हुए। वे अस्त्र-शस्त्रों को लेकर हुण्ड को मारने चलने लगे।

मुनियों ने उनका स्वस्त्ययन किया, देवताओं ने पुष्पों की वर्षा की। मन्द-सुगन्धित पवन बहने लगा। देवराज इन्द्र ने जब कुमार नहुष को पैदल ही हुण्ड से लड़ने को जाते देखा, तो उन्होंने अपने सारथी मातलि के साथ अपना रथ उनके लिये भेजा। इन्द्र के दिव्य रथ को पाकर नहुष अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उस पर चढ़कर वे चल दिये। चलते-चलते वे उसी स्थान पर पहुँचे, जहाँ अशोकसुन्दरी तप कर रही थी। नहुष को तो कुछ पता ही नहीं था। वहीं उन्होंने अपना डेरा डाल दिया। स्वर्ग की अप्सराएँ आ-आकर नहुष के सम्मुख नृत्य करने लगीं। गन्धर्व गाने लगे। कामदेव के समान सुन्दर कुमार नहुष सुन्दर दिव्य सिंहासन पर बैठे संगीत सुन रहे थे।

संगीत की मधुर ध्वनि सुनकर अशोकसुन्दरी के मन में उत्कंठा हुई, "आज यहाँ ऐसा दिव्य संगीत क्यों हो रहा है, चलकर देखूँ तो सही, कौन यहाँ आया है"। यह सोचकर उसने एक सघन वृक्ष की ओट से निहारा—स्वर्ग की उत्तम से उत्तम अप्सराएँ नृत्य कर रहीं हैं और एक सजीव सौन्दर्य के समान पुरुष बैठे-बैठे उनके नृत्य को निहार रहा है। अशोकसुन्दरी उन पुरुष को देखकर अपने आपे को भूल गई, उसके पलक झँपते नहीं थे। एक-टक दृष्टि से वह उसे निहारती की निहारती ही रह गई। उसने अपने मन को बहुत रोका, किन्तु उसका मन उसके अधीन रहा नहीं, वह उसे छोड़कर भाग गया। बिना मन के भूली-सी, भटकी-सी, ठगी-सी वह सुन्दरी वहीं की वहीं खड़ी रह गई। इतने में ही रम्भा अप्सरा आई और बोली—"सती-पुत्री! क्या देख रही हो तपस्वियों को इस प्रकार छिपकर युवा पुरुषों को देखना उचित नहीं। जाओ, तपस्या करो।"

अशोकसुन्दरी ने कहा—"बहन! यही तो मैं सोच

मेरा मन कभी भी किसी को देखकर चंचल नहीं हुआ, किन्तु न जाने क्यों, इसे देखकर चंचल हो रहा है। इसका कारण मैं अभी तक नहीं समझ सकी। मैं यहाँ से जाना चाहती हूँ, किन्तु पैर उठते ही नहीं। चित्त चाहता है, इसे ही निहारती रहूँ।"

यह सुनकर रम्भा बोली—"देवि! तुम पार्वत जी की पुत्री हो, तपस्विनी हो, तुम्हारा चित्त कभी अधर्म की ओर नहीं जा सकता। देवताओं ने जिनके साथ तुम्हारा विवाह निश्चित किया है, पार्वतीजी ने जैसा तुम्हें आशीर्वाद दिया है, ब्रह्माजी ने जिनके साथ तुम्हारा सम्बन्ध लिखा है, ये वे ही महाभाग आयु के पुत्र नहुष हैं। जैसे अपनी वस्तु को मन स्वयं ही पहचान लेता है, वैसे ही तुमने अपने प्राणपति को बिना परिचय के ही पहचान लिया। बिना पूर्वजन्म के सम्बन्ध के सहसा ऐसा प्रेम हो ही नहीं सकता। ये तुम्हारे भावी पति हैं, तुम लज्जा को छोड़ो और चलकर इन्हें पति-रूप में वरण करो।"

यह सुनकर अशोकसुन्दरी ने कहा—"बहन! ऐसे सहसा उनके समीप जाना उचित नहीं। न जाने वे क्या सोचें। इसलिये पहले तुम जाकर उनको मेरा संदेश सुनाओ। उसे सुनकर वे जो कहें, वह आकर मुझसे कहो। वे बुलायेंगे, तो मैं जाऊँगी।"

रम्भा ने कहा—"अच्छी बात है, मैं तुम्हारी दूती का काम करूँगी। किन्तु मुझे क्या मिलेगा?"

अशोकसुन्दरी ने हँसकर कहा—"तुझे सब कुछ मिलेगा। मैं तो तेरी हूँ ही, वे भी तेरे हो जायँगे।"

रम्भा ने कहा—"ये सब तो शिष्टाचार की बातें हैं किन्तु मेरे लिये यही बहुत है कि तुम दोनों मिल जाओगे, सुखी हो जाओगे। लोग परमार्थ के लिये कितने-कितने क्लेश उठाते हैं? अपने शरीर से किसी का उपकार हो जाय, वही क्या कम है!

अच्छी बात है, मैं जाती हूँ।" यह कहकर वह कुमार नहुष के समीप गई।

रम्भा ने जाकर पहले कुमार नहुष को प्रणाम किया और अशोकसुन्दरी का आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त बताते हुए कहा—"वह आपके ही निमित्त तप कर रही है। आप उसे पत्नी रूप में स्वीकार करें।"

कुमार नहुष ने कहा—"रम्भे! मुझे सब कुछ मालूम है। मेरे गुरुदेव भगवान् वशिष्ठ ने मुझे अशोकसुन्दरी की उत्पत्ति, उसके तप की कथा, हुण्ड द्वारा उसे छलकर लाने का वृत्तान्त तथा उसके द्वारा हुण्ड को शाप देना, आदि सभी बातें पहिले ही बता दी हैं। मैं यह जानता हूँ, अशोकसुन्दरी की उत्पत्ति मेरे ही लिये हुई है। वही मेरी धर्म-पत्नी होगी, उसी के पाने के लिये दुष्ट दानव हुण्ड मेरा जन्म होते ही मुझे हर लाया था। भाग्यवश मैं बच गया। भगवान् वशिष्ठ ने मेरी रक्षा की। अब जब तक मैं दैत्यराज हुण्ड को मार न डालूँगा, तब तक अशोकसुन्दरी से विवाह नहीं कर सकता। अभी कुछ दिनों तक तुम और धैर्य धारण करो। मैं हुण्ड को मारने ही आया हूँ।" नहुष की ऐसी बातें सुनकर रम्भा चली गई और उसने सभी बातें जाकर अशोकसुन्दरी से कहीं। इस बात को सुनकर वह परम प्रसन्न हुई और हुण्ड के वध की प्रतीक्षा करती हुई [illegible] पर ही [illegible] करने लगी।

इधर हुण्ड के गुप्तचरों ने नहुष का आगमन तथा [illegible] साथ हुई उसकी सब बातों को [illegible] ही दैत्यराज हुण्ड क्रोध में भर गया। [illegible] कर्ता ने, उस दुष्टा दासी ने, [illegible] का वध कराऊँगा। पहले [illegible] दुष्टा

मेरी चतुरंगिणी सेना सजाई जाय, मेरे सभी वीर सैनिक चलकर उस अल्पवीर्य राजपुत्र को घेर लें। व्यूह बनाकर सब उस पर एक साथ प्रहार करो। धर्माधर्म का कुछ भी विचार न करो। जैसे भी, जिस प्रकार भी, वह मरे, वैसे ही उसी प्रकार काम करना चाहिए।" अपने स्वामी की आज्ञा पाकर सभी दैत्य दानव नाना अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर नहुष को मारने चले। स्वयं हुण्ड भी अपने सुवर्णमंडित दिव्यरथ पर चढ़कर नहुष से युद्ध करने चला। दैत्य दानवों ने चारों ओर से राजकुमार नहुष को घेर लिया। दोनों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी। दानवों ने बहुत सी मायायें रचीं, हुण्ड ने अपना सम्पूर्ण बल लगाया, किन्तु दत्तात्रेयजी के तेज और वशिष्ठजी आशीर्वाद से महाराज नहुष का रोम भी टेढ़ा नहीं हुआ। उन्होंने हुण्ड के साथ घनघोर युद्ध किया। अन्त में उसने एक ऐसी शक्ति मारी, कि जिसके लगते ही दैत्य मरकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके मरते ही देवता आकाश से पुष्पों की वर्षा करने लगे, अप्सरायें नाचने लगीं गन्धर्व गाने लगे, उस समय सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा गया।

हुण्ड के मर जाने पर रम्भा को साथ लिये हुए अशोक-सुन्दरी कुमार नहुष के समीप आई और लजाती-सकुचाती हुई बोली—"राजकुमार! मैं तुम्हारी धर्मतः पत्नी हूँ। मेरी माता पार्वतीजी ने मुझे यही आज्ञा दी थी कि आप दैत्यराज हुण्ड को मारकर मुझे अपनावेंगे। सो विधिपूर्वक विवाह करके मुझे अपनी दासी बनाइये।"

यह सुनकर कुमार नहुष बोले—"सुन्दरि! मैं सब बातें पहले से ही जानता हूँ। मेरे गुरु भगवान् वशिष्ठ ने पहले से ही मुझे ये सब बातें बता दी थीं। तुम्हारी तपस्या की बात भी उन्होंने बताई थी, किन्तु सुन्दरी! विवाह करने में मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ।

तो अपने गुरु के अधीन हूँ। तुम मेरे साथ चलो, मैं भगवान् शिष्ठ से निवेदन करूँगा। वे शुभ मुहूर्त मे, सुन्दर लग्न में मेरे थ तुम्हारा विवाह कर देंगे।"

यह सुनकर अशोकसुन्दरी परम हर्षित हुई। वह अपनी ती रम्भा के साथ कुमार की आज्ञा से इन्द्र के रथ पर बैठ गई। र उन दोनों को लिये हुए वशिष्ठजी के आश्रम पर आये। ने हुण्ड को जिस प्रकार मारा था, जिस प्रकार घनघोर युद्ध था, ये सभी वृत्तान्त विस्तार के साथ सुनाये और साथ ही ा में उन्होंने अशोकसुन्दरी का परिचय भी दे दिया।"

अशोकसुन्दरी को देखकर मुनि परम प्रमुदित हुए, उन्होंने शुभ मुहूर्त तथा उत्तम लग्न में वैदिक विधि से अग्नि और ब्राह्मणों के समीप नहुष का अशोकसुन्दरी के साथ विवाह कर दिया। दोनों ही बड़े सुखी हुए। तब वशिष्ठजी ने कहा—"बेटा! अब तुम्हारा आश्रम का कार्य समाप्त हुआ। तुमने देश-शत्रु दुष्ट-दानव दण्ड को मार ही दिया, अब तुम अपनी वधू को साथ लेकर घर जाओ। वहाँ तुम्हारी माता तुम्हारे वियोग में तड़प रही हैं, पिता चिन्तित हो रहे हैं, तुम जाकर उन्हें सान्त्वना दो, धैर्य बँधाओ और जाकर उनकी सेवा करो।"

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके नहुष अपनी पत्नी अशोकसुन्दरी और रम्भा को साथ लेकर अपने पिता की राजधानी को चले। इधर देवताओं ने पहले ही से मेनका अप्सरा को रानी के पास भेज दिया था। रानी इन्दुमती अपने पुत्र के शोक में व्याकुल हुई रुदन कर रही थी। मेनका ने जाकर कहा—"देवि! अब शोक छोड़ो। तुम्हारा पुत्र वधू के साथ आज ही तुम्हारे समीप आ रहा है।" इस समाचार के सुनते ही रानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने शीघ्रता के साथ अपने पति को अन्तःपुर में बुलाया। फिर मेनका ने जो कुछ भी कहा था, सब सुनकर राजा को भी बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने कुमार के आगमन के उपलक्ष्य में बड़ा भारी उत्सव किया। सम्पूर्ण नगर तोरण-वन्दनवारों से सजाया गया। गाजे-बाजे और जयघोष के साथ पुत्र-वधू-सहित पुत्र को वे महलों में लाये। कुमार ने आकर माता-पिता के पादपद्मों में प्रणाम किया। अशोकसुन्दरी ने भी अपनी सास तथा श्वसुर के चरणों की वन्दना की। सर्वत्र आनन्द मनाया जाने लगा। प्रजा के सभी लोग परम सन्तुष्ट हुए। महाराज आयु ने बहुत-सा दान-पुण्य किया। अशोकसुन्दरी

को यहाँ पहुँचा कर रम्भा उसकी अनुमति लेकर स्वर्ग चली गई। नहुष अशोकसुन्दरी को पाकर अत्यन्त ही सुखी हुए। अशोक-सुन्दरी परम रूपवती सुशीला सुन्दरी सती-साध्वी नारी थी वह नहुष को प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी।

कुछ काल के पश्चात् महाराज आयु अपना राज-पाट सब नहुष को सौंपकर, तथा उन्हें विधिपूर्वक राजा बनाकर, अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ तपस्या करने वन में चले गये। तब महाराजा नहुष धर्मपूर्वक इस समुद्रोपा वसुमती का तत्परता के साथ पालन करने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज नहुष बहुत दिनों तक इस पृथ्वी का शासन करते रहे। उनके यति, ययाति, संयाति, आयाति, वियति और कृति—ये छः पुत्र हुए। ये सभी धर्मात्मा थे। महाराज नहुष ऐसे प्रभावशाली थे, कि देवताओं और ऋषियों ने मिलकर एक बार उन्हें इन्द्र बनाया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! ऋषियों ने महाराज नहुष को स्वर्ग का इन्द्र क्यों बनाया? देवताओं के इन्द्र उस समय कहाँ चले गये थे? वे कितने दिन स्वर्ग के इन्द्र रहे इन बातों को हमें अवश्य सुनाये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं महाराज नहुष के इन्द्र होने का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप सब इसे श्रद्धा-सहित श्रवण करें।"

छप्पय—सुरपुर उमा अशोकसुन्दरी पैदा कीन्ही।
कल्पवृक्ष तैं भई शिवा-पुत्री करि लीन्ही॥
नहुष होहिं पति उमा हरषि आशिष तिहि दीन्ही।
विप्रचित्ति-सुत हुण्ड करी माया सो चीन्ही॥
करयो व्याह नृप नहुष ने, गुरु-आज्ञा तैं हुण्ड हनि।
गये पितृ-गृह निरखि सुत, प्रमुदित जनु अहि पाइ मनि॥

महाराज नहुष को इन्द्र-पद की प्राप्ति

[७५२]

यतिर्ययातिः संयातिरायातिर्वियतिः कृतिः ।
षडिमे नहुषस्यासन्निन्द्रियाणीव देहिनः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० १ श्लो०)

छप्पय

रानी पाइ अशोकसुन्दरी नहुष सुखी अति ।
गये आयु बन करी तपस्या लही परम गति ॥
सुत यति और ययाति वियति संयाति यशस्वी ।
आयति कृति सब षष्ठ भये अति ज्येष्ठ तपस्वी ॥
वृत्र मारि हत्या-ग्रसित, है शतक्रतु जब छिपि गये ।
तब सुर सम्मति तैं नहुष, स्वर्ग माँहिं सुरपति भये ॥

मनुष्य अपने शील और सदाचार के बल से चाहे तो देवता बन सकता है। वह जब तक सदाचार पर स्थित रहेगा, तब तक अविराम उन्नति की ओर बढ़ता जायगा। किन्तु, जहाँ उसने सदाचार का अतिक्रमण किया, वह अभिमान के वशीभूत हुआ, वहाँ उसका पतन भी निश्चित है। जो सदा बड़ों का आदर-सम्मान

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज नहुष के यति, ययाति, संयाति, आयाति, वियति और कृति—ये छः पुत्र उसी प्रकार थे, जिस प्रकार देहधारी जीवों के छः इन्द्रियाँ होती हैं।"

करता है, उनसे आशीर्वादों को लेता है, वह आगे बढ़ता ही है। पर जब मनुष्य अपने को ही सब कुछ समझकर दूसरों को कुछ समझता ही नहीं, बड़ों का अपमान करता है, उनसे न करने योग्य कार्य कराता है, तब समझो कि वह अपने पतन के पथ को स्वयं ही परिष्कृत कर रहा है, उसकी ओर स्वतः ही बढ़ रहा है। अतः उन्नति-पथ के पथिकों को सर्वदा श्रेष्ठ पुरुषों का सम्मान और सदाचारानुकूल कर्म करते ही रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं महाराज नहुष का उत्तर चरित आपको सुनाता हूँ। नहुष के पिता आयु, जब वन को चले गये, ये और सुपुत्रों की भाँति प्रजा का पालन करने लगे। कालान्तर में क्रमशः इनके यति, ययाति, संयाति, आयाति, वियति और कृति—ये छः पुत्र हुए। ये सब के सब बड़े धर्मात्मा थे। महाराज नहुष अतिथि-अभ्यागतों तथा उत्तमोत्तम ब्राह्मणों को अनेकानेक वस्तुएँ सदा दान दिया करते, वे कभी किसी से कटु भाषण नहीं करते, सबसे प्रसन्न मुख बातें करते। उनके द्वार से कोई निराश नहीं लौटता। इच्छानुकूल वे दान देते, इससे उनके यश की ख्याति तीनों लोकों में फैली हुई थी। उनके द्वारा आयोजित यज्ञों में ब्राह्मण दक्षिणा लेते-लेते अघा गये थे। अतः उस पुण्य का उपभोग भी उन्हें शीघ्र ही मिलना था।"

वृत्रासुर के मारने से जब इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगी, तब वे हत्या के भय से मानसरोवर के फूले कमल की एक नाल में छिप गये। स्वर्ग इन्द्र रहित हो गया। तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। तब इन्द्र के बिना काम कैसे चले? इसके लिये स्वर्ग में एक सार्वजनिक सभा बुलाई गई। समस्त देवता, किन्नर, गन्धर्व, किंपुरुष, आदित्य, वसु, मरुद्गण, ऋषि महर्षि इसमें एकत्रित हुए, सबों ने इन्द्र की आवश्यकता प्रकट की।

अगस्त्यजी ने प्रस्ताव किया—"जब तक देवराज इन्द्र प्रकट नहीं होते, तब तक के लिये एक अस्थाई इन्द्र चुन लिया जाय। वह इन्द्र का स्थानापन्न होकर तीनों लोकों का पालन करे।" अगस्त्यजी के इस उत्तम प्रस्ताव का सभी ने समर्थन किया। अब सबसे बड़ा प्रश्न यह उठा कि इन्द्र का स्थानापन्न किसे बनाया जाय। मुख्य-मुख्य देवताओं से पूछा गया, सबने कह दिया, यह बताना हमारे वश की बात नहीं है। इसी प्रकार उपदेवों ने भी इसमें अपनी असमर्थता दिखाई।

इसपर ऋषियों ने कहा—"भाई, यों काम नहीं चलेगा। राजा का काम कोई राजा ही चला सकता है। पृथ्वी के किसी राजा को बुलाकर तब तक अस्थाई इन्द्र बना दो।" अब पृथ्वी के राजाओं की खोज होने लगी। सब ने एक स्वर से कहा—"इस समय एक राजा नहुष ही पृथ्वी पर ऐसे हैं, जो स्वर्ग के राजा भी बनाये जा सकते हैं।"

सर्वसम्मति के साथ ऋषि-मुनियों का एक शिष्टमंडल महाराज नहुष के समीप आया। स्वर्ग के सभी बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियों को देखकर महाराज नहुष अत्यन्त प्रसन्न हुए, उन्होंने हृदय खोलकर सबका स्वागत-सत्कार किया, शास्त्रीय विधि से पूजा अर्चा की। पूजा को विधि-पूर्वक ग्रहण करने के पश्चात् मुनियों ने राजा के राज्य, कोष, मन्त्री, परिवार तथा समस्त प्रजा का कुशलक्षेम पूछा। कुशल-प्रश्न के अनन्तर हाथ जोड़कर राजा ने कहा—"महात्मागण! आज इस अकिंचन के ऊपर आप सब ने किस कारण कृपा की। यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो मुझे आज्ञा दीजिये।"

ऋषियों ने कहा—"राजन्! देवराज इन्द्र ब्रह्महत्या के भय से अदृश्य हो गये हैं। इन्द्र के बिना यज्ञ के भागों को कौन ग्रहण

करें? इसलिये हम सब आपको इन्द्र के लौटने की अवधि तक के लिये स्वर्ग का इन्द्र बनाना चाहते हैं।"

यह सुनकर कानों पर हाथ रखकर महाराज नहुष बोले—"महात्माओ! आप यह कैसी अनोखी बात कह रहे हैं? देवता तो हमारे पूजनीय हैं, वन्दनीय हैं, उन देवताओं के राजा हम मर्त्यधर्मा मनुष्य कैसे बन सकते हैं?"

ऋषियों ने कहा—"राजन्! दान, सत्संग, मधुरवाणी, देव-पूजन और-भक्ति—ये स्वर्गीय गुण हैं। जिनमें ये गुण है, वे चाहे स्वर्ग में रहें या पृथ्वी पर, उनकी गणना देवताओं में ही है। आप में ये सभी गुण विद्यमान हैं। अतः आप अपने कर्मों के कारण देवता ही हैं। नरेन्द्र तो आप हैं ही। सप्त द्वीपवती वसुमती का पालन तो आप करते ही हैं, आप स्वर्ग का पालन भी करें।"

राजा ने नम्रता के साथ कहा—"नहीं महाराज! स्वर्ग का पालन कोई हँसी-खेल थोड़े ही है। वहाँ एक से एक तपस्वी, तेजस्वी, यशस्वी और प्रभावशाली पुरुष जाते हैं। समस्त ऋषि-मुनियों पर शासन करना, उनको एक लीक पर चलाना कोई साधारण काम नहीं है। वहाँ तो ऐसे-ऐसे तेजस्वी महात्मा बैठे हैं कि वे मुझे यदि एक बार देख भर दें, तो मैं जलकर भस्म ही हो जाऊँ।"

ऋषियों ने कहा—"नहीं राजन्! जब हम आपको स्वेच्छा-पूर्वक इन्द्र बनाने आये हैं, तब भस्म करने का कोई प्रश्न ही नहीं, चाहे हम कितने भी तेजस्वी क्यों न हों।"

नहुष बोले—"नहीं भगवन्! केवल बनाने से ही काम नहीं चलता। जब तक अपने में तेज का प्रभाव नहीं दूसरों के बनाने से क्या? यों तो आप एक मिट्टी का पुतला ही बना कर वहाँ रख दें। अपने में नियन्त्रण करने की शक्ति, तेज और प्रभाव न हो,

तो सभापति का पद लेना उचित नहीं। किसी के बनाने से कोई बन जाय तो उसका कोई प्रभाव नहीं। इस प्रकार झूठ-मूठ का इन्द्र बनना मैं नहीं चाहता।"

ऋषियों ने कहा—"तब आप चाहते क्या हैं?"

राजा ने कहा—"महाराज! क्षमा चाहता हूँ।"

ऋषियों ने कहा—"आप से अधिक योग्य और प्रभावशाली इस समय तीनों लोकों में कोई नहीं। ये ऋषि मुनि अवश्य हैं, सो ये वरदान दे सकते हैं, समय पड़ने पर शाप भी दे सकते हैं, ये शासन नहीं कर सकते। इसलिये आपको ही स्वर्ग में चलकर शासन करना होगा।"

यह सुनकर नहुष बोले—"महाराज! यह तो मेरा बड़ा भाग्य है, मेरे लिये महान् गौरव की बात है। किन्तु, मैं अपनी अयोग्यता के कारण ही हिचकता हूँ। आपकी आज्ञा का उल्लंघन करना भी अपराध है, इसलिये यदि आप एक वर दें, तो मैं स्वर्ग का इन्द्र हो सकता हूँ।"

ऋषियों ने प्रसन्न होकर कहा—"हाँ, राजन्! माँगिये। आप जो भी दुर्लभ से दुर्लभ वर माँगेंगे, वही हम आपको देने को वचनबद्ध हैं।"

राजा ने कहा—"यदि आप मुझे इन्द्र बनाना चाहते हैं, तो यही वरदान दें, कि मेरे सम्मुख जो भी आ जाय, जिसे भी मैं देख लूँ उसी का आधा तेज प्रभाव मुझमें आ जाय।"

ऋषियों को तो अपना स्वार्थ साधना था। सभी ने एक स्वर से कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। आपके सम्मुख जो भी आ जायगा, वह हतप्रभ हो जायगा।"

यह वरदान पाकर नहुष अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उनके देखते ही सब ऋषि-मुनि हतप्रभ हो गये। अब तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ।

वे ऋषियों के साथ स्वर्ग गये। सभी ऋषि-मुनियों ने मिलकर विधिवत् उनका इन्द्र-पद पर अभिषेक किया; सभी लोग नये इन्द्र के शासन को मानने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महाराज नहुष अपने पुण्य-प्रभाव से मनुष्य होकर भी स्वर्ग के राजा बन गये। पीछे अहङ्कार और कामाशक्ति के कारण उनका पतन हुआ। इस प्रसंग को भी मैं सुनाऊँगा। आप सावधान होकर इसे सुनें।"

छप्पय

इन्द्रासन पै बैठि नृपति मन माँहिं सिहावै।
देव उरग गन्धर्व सिद्ध सिर आइ झुकावै॥
ऋषि-मुनि बिनती करै अप्सरा चँवर डुलावै।
गुन गावै गन्धर्व नृत्य सुर-वधू दिखावै॥
अमृत असन भूषन परम, दिव्य गन्ध नन्दन-भ्रमन।
सुर-ललननि को सतत सँग, पाइ भयो उन्मत्त मन॥

महाराज नहुष का उत्थान-पतन

[७५३]

राज्यं नैच्छद् यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित् ।
यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते ॥
पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणाद् द्विजैः ।
प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः ॥*

(श्री भा० ९ स्क०-१८ अ०, २,३ श्लो०)

छप्पय

पाइ स्वर्ग को राज नहुष मन गर्व भयो अति ।
लह्यो अतुल ऐश्वर्य भूप 'की भई भ्रष्ट मति ॥
शची समीप सँदेश पठायो मोइ भजो अब ।
सती भई भयभीत बृहस्पति निकट गई तब ॥
करि सम्मति गुरुतें शची, कहवायो तब वरुङ्गी ।
ऋषि ढोवैं शिविका जबहिँ, इच्छा पूरी करुङ्गी ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! नहुष के सबसे बड़े पुत्र यति ने राज्य ग्रहण नहीं किया, क्योंकि वे उसके उस परिणाम को जानते थे, कि इसमें प्रविष्ट होकर मनुष्य आत्मभाव को नहीं जान सकता। जब इन्द्राणी के साथ सम्भोग करने की अभिलाषा के कारण ब्राह्मणों द्वारा पिता नहुष अपने इन्द्र-पद से भ्रष्ट कर दिये गये और वे अजगर-योनि को प्राप्त हो गये, तब उनके स्थान पर ययाति राजा हुए।"

संसारी विषयों से आज तक कभी किसी की तृप्ति न हुई है, न कभी होगी। ज्यों-ज्यों विषय मिलते जायँगे, त्यों-त्यों इच्छा भी बढ़ती जायगी। संसार के सभी विषय-भोग एक ही व्यक्ति को दे दिये जायँ, तो उन सबको भी भोगने से उस एक की भी तृप्ति न होगी। फिर इतने सीमित विषयों से, इतने भोगेच्छुक प्राणियों के रहते हुए, तृप्ति कैसे संभव है? यदि भोगों की प्रचुरता में ही सुख हो, तो इन्द्र को सदा सुखी रहना चाहिये। स्वर्ग में इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले सुखों की क्या कमी! स्वर्ग में पीने को अमृत मिलता है, जो संसार में सर्वोत्तम स्वादिष्ट पेय है। वहाँ कल्पवृक्ष के पुष्प हैं, जिनकी गन्ध योजनों तक जाती है, जिसके फूल कभी सड़ते नहीं, कभी कुम्हलाते नहीं। और भी घ्राणेन्द्रिय को प्रमुदित करने वाली वहाँ दिव्य-दिव्य गन्धें हैं। उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा तथा और भी ऐसी-ऐसी सुन्दरी अप्सराएँ वहाँ हैं जिनमे नेत्रों को सर्वाधिक तृप्ति मिल सकती है, जिनके सम्मुख संसार के सभी सौन्दर्य तुच्छ हैं। श्रवणेन्द्रिय को सुख पहुँचाने वाला सुमधुर संगीत वहाँ होता ही रहता है। गन्धर्वगण अपने गायन से, अप्सराएँ अपने कल-कूजित कण्ठ से वहाँ कोकिला के सदृश सदा कूजती रहती हैं। उनके नूपुरों की सुमधुर ध्वनि श्रवणों में अमृत घोलती रहती है। स्पर्श करने को उन कोमलाङ्गी कामिनियों की दिव्य गन्धयुक्त देह सभी सुकृतियों के लिये सुलभ है। चढ़ने के लिये इच्छाचारी विमान है, घूमने के लिये चैत्ररथ, विभ्राजक तथा नन्दन आदि कानन हैं। कौन-सी इन्द्रिय का वहाँ आहार नहीं? फिर भी वहाँ मानसिक व्यथा है। पतन का भय लगा है। अतिशय दोष भी वहाँ विद्यमान हैं। अतएव वहाँ भी सुख नहीं। जितने विषय प्राप्त होते हैं, उनसे सन्तोष नहीं होता। उपदेव देवों का भोग

चाहते हैं, देवता इन्द्र होना चाहते हैं, इन्द्र ब्रह्म-सुख को तरसते हैं। लाभ से लोभ बढ़ता है। यदि मन में असन्तोष है, तो ब्रह्म लोक में भी भले ही चले जाओ वहाँ भी सुख नहीं, शान्ति नहीं। यदि मन सन्तुष्ट है, स्वर्ग, नरक, पृथ्वी, पाताल, ब्रह्मलोक-कहीं भी रहो, सुख ही सुख है। सन्तोष ही उत्थान है, असन्तोष ही पतन। ब्रह्म को छोड़कर एक-सी स्थिति में कोई भी कभी नहीं रह सकता—या तो उसकी उन्नति होगी, या अवनति। उत्थान-पतन का यह क्रम ब्रह्मलोक तक लगा ही रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं महाराज नहुष के अन्तिम चरित को संक्षेप में सुनाकर उनके चरित की समाप्ति करूँगा। हाँ तो ऋषि मुनियों तथा देवताओं के बनाने से नहुष इन्द्र बन गये। कहाँ तो वे पृथ्वी के राजा थे, कहाँ अब स्वर्ग के अधीश्वर बन गये। अमृत का पान करते, नन्दनकानन में सुर-वनिताओं के साथ स्वच्छन्द विहार करते, विमानों में चढ़कर घूमते। स्वर्ग की सबसे श्रेष्ठ सुन्दरी सैकड़ों सुर-ललनाएँ सदा उनकी सेवा में सन्नद्ध रहतीं। सुन्दर से सुन्दर संगीत सदा होते रहते। सभी उनकी सेवा में तत्पर रहते, ऋषि-मुनि आकर उनकी स्तुति करते। देवता और लोकपाल अंजलि बाँधे उनके सामने खड़े रहते। उनके सम्मुख सब तेजहीन हो जाते। नये इन्द्र जो चाहते करते, वे किसी से सम्मति भी न लेते वे ऋषि मुनियों से अपनी पालकी उठवाते, खूब मनमानी करते।

जिन्होंने पहले इन्द्र से आदर पाया था, उनको अब नये इन्द्र पूछते भी नहीं थे। जिनको दान-दक्षिणा, मान-सम्मान प्राप्त था, उन्हें नहुष चाहते तो देते, न चाहते तो कान पकड़कर उसे निकाल देते। प्रभुता पाकर मद हो जाना स्वाभाविक ही है। नहुष भी स्वर्ग का राज्य पाकर मदोन्मत्त हो गये। अब तो ऋषि-मुनियों में

कानाफूसी होने लगी। जब किसी शासन के प्रति जनता में असन्तोष हो जाता है, तब उसके विरुद्ध गुप्त समितियों का निर्माण होता है। लोग शासन के विरुद्ध गुप्त षड्यन्त्र रचते हैं। देवताओं और ऋषियों की भी एक गुप्त सभा देवगुरु बृहस्पतिजी के घर पर हुई। वह सभा ऐसे ढंग से हुई कि नये इन्द्र को इसकी कोई सूचना ही न हो पायी। यदि उसे पता चल जाता और वह बीच में आ जाता, तो सब हतप्रभ हो जाते। समिति में इन्हीं बातों पर विचार हुआ कि "यह अस्थाई इन्द्र तो बहुत अन्याय करने लगा है। अपने सम्मुख किसी को कुछ समझता ही नहीं। प्रसंगानुसार कहता भी है, 'अब मुझे कौन इन्द्रासन से हटा सकता है?' यदि इसने इन्द्रासन पर स्थायी अधिकार स्थापित कर लिया, तब तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। इसका कुछ उपाय होना चाहिये।"

एक मुनि ने कहा—"क्या उपाय किया जाय? हम लोग यह नहीं जानते थे, कि यह ऐसा हो जायगा। पृथ्वी पर तो यह बड़ा धर्मात्मा था। इन्द्र होते ही यह मदोन्मत्त हो गया। हम लोगों ने तो इसे वर देकर पहिले ही अपने हाथ कटवा लिये। अब हो ही क्या सकता है!"

बृहस्पति जी ने कहा—"केवल निराशा प्रकट करने से काम न चलेगा, कुछ-न-कुछ उपाय अवश्य करना चाहिये। पहले यह पता लगाओ कि कितने लोग उससे सन्तुष्ट हैं, कौन-कौन देवता, ऋषि मुनि उसके पक्ष में हैं।"

सब ने कहा—"सभी उससे असन्तुष्ट हैं। ऊपर से तो उस की स्तुति करनी ही पड़ती है, किन्तु मन से कोई भी उससे प्रसन्न नहीं, क्योंकि सभी का वह अपमान करता है।"

बृहस्पति जी ने पूछा—"ये अप्सरायें उससे सन्तुष्ट हैं न?"

कुछ अप्सरायें भी गुप्त सभा में सम्मिलित हुई थीं। उनमें से उर्वशी बोली—"महाराज! कुछ न पूछिये। आप लोगों ने तो बन्दर के हाथ में खड्ग दे दिया है। हम स्वर्ग में सबका मनोरञ्जन करने वाली थीं, हमें सबसे सम्मान प्राप्त होता था। ये नये इन्द्र तो हमें दासी समझते हैं। ऐसी-ऐसी नीच टहल कराते हैं, जो हमारी दासी की दासियाँ भी कभी नहीं करती थीं।"

बृहस्पति जी ने कहा—"तब तुम चाहो तो उसे पदच्युत करा सकती हो।"

अप्सराओं ने कहा—"महाराज! हम तो अबलाएँ हैं। हम क्या कर सकती हैं! आप इतने बड़े-बड़े तेजस्वी हैं, आप जो चाहें, कर सकते हैं।"

देवगुरु ने कहा—"हम लोग लाखों-करोड़ों वर्ष तपस्या कर के तेज-तप का संग्रह करते हैं, तुम चाहती हो तो क्षण भर में सब पर पानी फेर देती हो तुम्हें अबला कहने वाला स्वयं ही निर्बल है। तुम तो ऐसी सबला हो कि क्रुद्ध होने पर जिसे चाहो, उसे पाताल पठा सकती हो।"

अप्सराओं ने कहा—"हमें आप जो आज्ञा करेंगे, उसे हम करने को तत्पर हैं।"

बृहस्पति जी ने कहा—"अच्छा, तुम एक काम करो, नित्य ही उसके सम्मुख शची देवी के सौन्दर्य की प्रशंसा किया करो, जिससे उसके मन में ये संस्कार जम जायँ, कि शची से बढ़कर संसार में कोई भी सुन्दरी नारी नहीं है।"

पवनदेव ने पूछा—"इससे क्या होगा।"

गुरु बृहस्पति जी बोले—"इससे जो होगा, उसे स्वयं ही देख लेना।"

उर्वशी ने कहा—"अच्छी बात है, आज से हम ऐसा ही

वायु-मंडल बनायेंगी।" इस प्रकार निश्चय होने के अनन्तर गुप्त समिति की कार्यवाही समाप्त हुई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संसार में यद्यपि कोई नूतनता नहीं। फिर भी प्राणी नित्य नूतनता चाहता है। सुलभता में जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसका विशेष महत्त्व नहीं प्रतीत होता। जो वस्तु रहस्यमयी हो, दुर्लभ हो, उसी की ओर चित्त स्वतः ही आकर्षित होता है। इसीलिये देवताओं को परोक्ष प्रिय बनाया है। भगवान् यों ही सबको मिल जाते, तो लोगों की उनके प्रति इतनी अधिक लालसा न होती। नहुष की सेवा में स्वर्ग की सभी सुन्दरी अप्सराएँ हाथ जोड़े खड़ी रहतीं। जब वह पृथ्वी में था, तब उसके लिये स्वर्गीय अप्सरायें कुतूहल की वस्तु थीं, उनके प्रति आदर था, सम्मान था। अब नित्य प्राप्त होने से वे साधारण हो गईं। फिर भी वे अनुपम सुन्दरी तो थीं ही। वे अब अपने संगीत में, नित्य ही शची की प्रशंसा करने लगीं, बढ़ा-चढ़ाकर उनके सौन्दर्य का वर्णन करने लगीं।

एक दिन नहुष ने उर्वशी से कहा—"मैं तो सदा से सुनता आया हूँ, तुम्हारी उत्पत्ति श्रीमन्नारायण भगवान् के उरु से हुई है। तुम संसार में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हो। किन्तु देखता हूँ कि तुम भी शची के सौन्दर्य की सदा प्रशंसा करती रहती हो। सुन्दरी स्त्रियाँ तो किसी स्त्री के सौन्दर्य की प्रशंसा करतीं ही नहीं।"

उर्वशी ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! जो अभिमानी ईर्ष्यालु स्त्रियाँ होती हैं, वे अपने सम्मुख किसी को सुन्दरी समझतीं ही नहीं। सदा दूसरों के दोष ही देखती रहती हैं। किन्तु, सत्य बात को छिपाना तो महापाप है। मेरे और शची देवी के सौन्दर्य की क्या तुलना! मैं वारवनिता हूँ वे महा सतीमाध्वी हैं। मैं सर्व भोग्या हूँ; उनका स्पर्श देवेन्द्र के अतिरिक्त कोई कर

हो नहीं सकता। हम में से कोई भी उनके चरण के नख-सौन्दर्य के बराबर भी नहीं है। वे रूप की राशि सौन्दर्य की साकार सजीव प्रतिमा हैं। उनके दर्शन भी भाग्य से होते हैं। रति उनकी दासी है। हम तो कभी उनके चरण धोने का सुयोग मिल जाता है तो इतने में ही कृतार्थ हो जाती हैं। आपने कभी उनके दर्शन नहीं किये ?"

नहुष ने हँसकर कहा—"हाँ, जबसे मैं यहाँ आया हूँ, वे कभी इधर आईं नहीं।"

हँसकर उर्वशी ने कहा—"वे ऐसे थोड़े ही आती हैं महाराज देवेन्द्र के बिना तो वे बाहर निकलती ही नहीं। आप उन्हें देख लेते, तो हम सब आपको फीकी फीकी लगतीं।

नहुष के मन में एक चोट-सी लगी—"मेरा इन्द्र बनना व्यर्थ है। यदि शची मेरे समीप नहीं आती, तो शची के बिना मैं इन्द्र कैसा ?" उसके मन में शची को पाने की उत्कट इच्छा जाग्रत हुई। वह शची के अनेक काल्पनिक चित्र बनाता, फिर भी उसे सन्तोष न होता।

दूसरे दिन नहुष ने वायुदेव को बुलाया और कहा—"पवन ! तुम सभी स्थानों में जाते हो। अभी जाकर तुम शची रानी को मेरा सन्देश पहुँचाओ। उनसे कहो—"मैं इन्द्र हूँ, उन्हें मुझे भजना चाहिये। जो इन्द्र होगा, शची को उसी की रानी बनना होगा।"

पवन देव "जो आज्ञा' कहकर शची देवी के समीप गये, और नये इन्द्र की आज्ञा उन्होंने नम्रता पूर्वक उन्हें सुना दी। सुनते ही सती शची तो अवाक् रह गईं। एक तो वह पति वियोग से वैसे ही दुःखी थीं, अब यह और नई विपत्ति उसके सिर पर आ गई। उन्होंने वायुदेव से कहा—"पवनदेव ! तुम तो सब

जानते हो, मैं अपने पति के अतिरिक्त किसी की ओर आँख उठा कर भी नहीं देख सकती। तुम नये राजा से कह दो—"मेरे धर्म की रक्षा करें। ऐसा अन्याय उन्हें उचित नहीं। वे तो कुछ समय के लिये इन्द्र बनाये गये हैं। यहाँ स्वर्ग में वे ऐसा कदाचार न फैलावें।"

वायुदेव ने जाकर सब समाचार नहुष से कहा। नहुष बोला—"मैं यह धर्म की बात कह रहा हूँ—"जो इन्द्र है, इन्द्राणी उसी की पत्नी होगी। शची को मुझे अपनाना ही होगा। अभी तो मैं विनय के साथ कह रहा हूँ। यदि उसने मेरी प्रार्थना स्वीकार न की, तो मैं बल-प्रयोग भी करूँगा।"

पवनदेव ने यह सन्देश भी जाकर शची को सुना दिया। इसे सुनकर तो वह घबराई। तुरन्त वह अपने गुरु बृहस्पति की शरण गई। गुरु-पत्नी तारा ने उनका आदर किया। शची ने रोते-रोते गुरु के चरणों में प्रणाम किया और अत्यन्त ही दीन वचनों में बोली—"भगवन्! गुरुदेव के अपमान का फल हमने यथेष्ट पा लिया। मेरे पति इन्द्रासन छोड़कर ब्रह्म-हत्या के भय से छिपे हुए हैं। मैं उनके वियोग-दुःख को सहती हुई यहाँ दिन काट रही हूँ। मैंने जैसे-तैसे अपने धर्म को अब तक बचाया। अब देखती हूँ, मेरा धर्म नहीं बच सकता। यह नया इन्द्र कामी हो गया है और इसकी विषयाशक्ति पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। इसे स्वर्गीय अप्सराओं से सन्तोष नहीं। मुझे भी अपने विषय का साधन बनाना चाहता है। प्रभो! आपके रहते हमारी ऐसी दुर्गति हो, यह तो आपके अनुरूप नहीं है।"

बृहस्पति जी ने कहा—"बेटी! तू चिन्ता मत कर। इसके पाप का घड़ा भर गया है। इसके सुकृत समाप्त हो गये हैं। इस के स्वर्ग से पतित होने के दिन निकट आ गये हैं। यह सब कुछ

मैंने ही कराया है। तू उसके पास यह सन्देश पठा दे कि कल मध्यान्ह को आप ऋषि-मुनियों से पालकी उठवाकर नियत काल से मेरे महलों में आइये, तब मैं आपकी सेवा करूँगी।"

गुरु की आज्ञा शची ने शिरोधार्य की, पवनदेव के द्वारा यही संदेश नहुष के समीप पठा दिया। संदेश सुनकर नहुष को प्रसन्नता हुई, मानो उसकी मनोकामना पूर्ण हो गई। उसे रात्रि में नींद भी नहीं आई, प्रातःकाल होते ही उसने सभी ऋषि-मुनियों को बुलाया। सबने समझा, यह नया इन्द्र हुआ है, कुछ दान-दक्षिणा बाटेगा। इसलिये सभी ऋषि-महर्षि अपने शिष्य और पुत्रों के साथ वहाँ पहुँचे। कुछ ऋषि जानते थे, कि आज नये इन्द्र की बिदाई का उत्सव है। जो लोग गुप्तसमिति के सदस्य नहीं थे, वे इस बात से अनभिज्ञ थे।

उसे तो ऋषियों का वरदान था कि जो उसके सामने आवेगा उसका तेज नष्ट हो जायगा। अतः सभी ऋषि-मुनि हतप्रभ हुए बैठे थे। सम्मुख ही एक बड़ी भारी पालकी रखी थी। नहुष ने आज अपने को अत्यधिक आकर्षक ढंग से सजाया, जिससे शची देखते ही उस पर रीझ जाय। उसे अपने को सजाने में अधिक समय लग गया। उसने कर में बँधे घटिका यन्त्र में देखा, तो पता चला कि नियत समय में कुछ ही काल अवशिष्ट है। वह शीघ्रता से शिविका में बैठ गया और ऋषियों से कड़ककर बोला—"उठाओ पालकी, शची रानी के घर मुझे तुरन्त ले चलो।"

ब्राह्मणों की आशाओं पर पानी फिर गया। हम स्वयं पालकियों में बैठकर जाते थे, कहाँ हमें इसका कहार बनना पड़ेगा। किन्तु ये कहते क्या? यह राजा है, देवेन्द्र है। चुपचाप सब शिविका को उठाकर इसे ले चले। महामुनि अगस्त्य तो इस षड्यन्त्र के मुखिया ही थे। वे उनके सम्मुख नहीं आये, एक मुनि

की जटा में छिपकर बैठ गये। शीघ्रता में नहुष ने देखा भी नहीं, कौन ऋषि आये हैं, कौन नहीं। उसे तो शची रानी से मिलने की चटपटी लगी हुई थी, इसलिये उसने कहा—"चले-चलो। विलम्ब न करो।"

सब ऋषि-मुनियों ने पालकी उठायी और शनैः-शनैः चलने लगे। यज्ञों में माल खा-खाकर शरीर कुछ स्थूल हो ही गया था। बोझ उठाने का कभी उन्हें अवसर ही नहीं आता था। अभ्यास न होने से वे कभी इस कंधे पर पालकी लेते, कभी उस पर। नहुष शीघ्रता कर रहा था। वह बार-बार शिविका में बैठा हुआ लात चलाता और सर्प-सर्प (शीघ्र चलो, शीघ्र चलो) कहता। संयोग की बात! जिस मुनि की जटा में अगस्त्य मुनि बैठे थे, उसी में उसने लात मारी। फिर तो क्या था! जिन्होंने एक चुल्लू में समुद्र सोख लिया था, आतापी को खाकर जो पचा गये थे, उनको क्रोध आ गया और बोले—"जा दुष्ट तू ही सर्प हो जा।"

अब क्या था! नाटक समाप्त हुआ! औंधे मुँह पालकी मेंसे वह गिर पड़ा और बड़ा भारी काला अजगर हो गया। अब तो उसका सब मद चूर हो गया। वह विनय के साथ बोला—"प्रभो! मेरे उद्धार का भी उपाय बताते जायँ।"

अगस्त्य मुनि उसके विनीत वचन सुनकर शान्त हो गये और बोले—"अच्छी बात है! सर्प तो तुझे होना ही होगा, किन्तु तेरी स्मृति तुझे बनी रहेगी। तेरे ही वंश में जब धर्मराज युधिष्ठिर होंगे, तब उनसे वार्तालाप करके तेरा सर्प-योनि से छुटकारा होगा और तू पुनः स्वर्ग में आ जायगा।" इतना सुनकर वह धड़ाम से धरती पर गिर गया और अजगर बनकर पृथ्वी पर निवास करने लगा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! फिर महाराज नहुष

का उद्धार हुआ या नहीं ? और हुआ तो कैसे ? कृपा कर इस कथा को भी आप हमें सुना दें।"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज ! धर्मराज युधिष्ठिर से वार्तालाप करके राजर्षि नहुष का उद्धार हो गया। उस प्रसंग को भी मैं संक्षेप से सुनाता हूँ ! आप दत्त चित्त होकर उसे श्रवण करें।"

जब द्यूत में सब कुछ हारकर धर्मराज युधिष्ठिर वनवास के दिन बिता रहे थे, तब एक दिन वे यमुना-तट पर हिमालय प्रदेश के रमणीक प्रान्त में ठहरे हुए थे। बहुत से अग्निहोत्री-तेजस्वी तपस्वी ब्राह्मण उनके साथ थे। उस पर्वतीय प्रांत की अपूर्व शोभा निहार कर भीमसेन अत्यन्त प्रसन्न हुए। कौतूहलवश वे बहुत दहाड़ते, ताल ठोंकते, नाना प्रकार की क्रीडा करते बहुत दूर निकल गये। वहाँ उन्होंने एक रूखे वन में पहाड़ की बड़ी भारी खोह में एक अत्यन्त डील डौल वाले अजगर को देखा। उसका रंग हल्दी के समान पीला था, उस पर रंग बिरङ्गी धारियाँ थीं, आँखें लाल लाल थीं वह लम्बी सांस ले रहा था। उसकी दाढें तीक्ष्ण थीं, मुख पर्वत की कंदरा के समान था, जीभ लपलपा रही थी। वह ओठों को बार-बार चाट रहा था। ऐसे भयंकर उस सर्प को देख-कर भीमसेन के रोंगटे खड़े हो गये। वे सम्हलना ही चाहते थे कि सर्प ने भीम का पैर पकड़ लिया। भीमसेन को अपने बल का बड़ा अभिमान था। उन्होंने ज्योंही सम्पूर्ण बल लगाकर अपने को सर्प से छुड़ाना चाहा, त्योंही सर्प ने उनके सम्पूर्ण शरीर को कस लिया और हाथों को छोड़ते हुए कहा—"तुम चाहे जितना बल लगा लो।"

भीमसेन ने बल लगाया, किन्तु उनका बल कुछ भी काम न आया। वे सर्प से अपने को नहीं छुड़ा सके। तब हारकर उन्होंने पूछा—"सर्पराज ! आप साधारण सर्प तो हैं नहीं, कोई विशिष्ट

व्यक्ति जान पड़ते हैं; क्योंकि सर्पों में इतना बल देखा नहीं गया है। मैं महाराज पांडु का पुत्र हूँ। धर्मराज युधिष्ठिर का छोटा भाई हूँ, भीमसेन मेरा नाम है। दश सहस्र हाथियों का मुझ में बल है, किन्तु आपके सम्मुख मेरा बल कुछ भी काम नहीं दे रहा है। आप अपना परिचय मुझे दें।"

सर्प ने कहा—"राजन्! मैं आपके पूर्वजों का भी पूर्वज हूँ नहुष मेरा नाम है। कभी मैं अपने पुण्यकर्मों से स्वर्ग का इन्द्र बन गया था। ब्राह्मणों के अपमान से मेरी ऐसी दुर्दशा हुई। मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। देव ने यही मेरे लिये आहार निश्चित कर दिया है। अनायास जो मेरे निकट आ जाता है, उसी को मैं खा लेता हूँ। तुम्हें भी मैं खाऊँगा।"

दीन होकर भीमसेन ने कहा—"सर्पराज! तुम धर्मात्मा हो। मुझे मरने से भय नहीं। मेरे भाई मेरे बिना बड़े दुःखी होंगे। मेरी माँ कुन्ती देवी तो मेरे बिना मर ही जायँगी। तीन भाई मुझसे छोटे हैं, एक बड़े हैं। वे सब धर्मात्मा हैं। मैं ही उन्हें क्रोध करके युद्ध के लिये उत्साहित करता रहता हूँ। अब वे सदा वन में ही रहकर दुःख से जीवन काटेंगे। तुम मुझे छोड़ दो।"

सर्प ने कहा—"राजन्! तुम मेरे आहार हो मैं अत्यन्त भूखा हूँ। यही मेरी आजीविका है। मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता।" इतना सुनकर भीमसेन मूर्छित हो गये।

इधर जब बहुत देर तक भीमसेन को धर्मराज ने नहीं देखा, तब वे बड़े चिन्तित हुए। उन्हें भाँति-भाँति के अपशकुन दिखाई देने लगे। उन्होंने द्रौपदी से पूछा—"भीम को तुमने तो कहीं नहीं भेजा है?"

द्रौपदी ने कहा—"नहीं, मैंने तो उन्हें कहीं नहीं भेजा है।

किन्तु वे बड़ी देर से वन में गये हैं। मुझे भी उनके लिये बड़ी चिन्ता हो रही है।" इतना सुनते ही धर्मराज का माथा ठनका। अर्जुन को द्रौपदी की रक्षा के लिये छोड़कर तथा नकुल-सहदेव को ब्राह्मणों की देख-रेख करने का आदेश दे, वे अपने वृद्ध पुरोहित धौम्य को साथ लिये वन की ओर चले। वे भीम के पद-चिह्नों को देखते, उनको खोजते-खोजते उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ भीम अजगर के फन्दे में फँसे थे। धर्मराज यह देखकर परम विस्मित हुए कि दश सहस्र हाथियों का बल रखने वाला भीम आज अजगर के फन्दे में कैसे फँस गया। उन्होंने ललकार कर कहा—"भीम! आज तुम्हारी ऐसी दुर्दशा क्यों हुई?"

भीम अचेत थे। धर्मराज की वाणी सुनकर उन्होंने आँखें खोलीं और हाथ से सिर ठोकते हुए बोले—"राजन्! सर्वत्र भाग्य ही फलीभूत होता है। पुरुषार्थ तभी तक काम देता है, जब तक भाग्य अनुकूल रहता है। दैव के प्रतिकूल होने पर विद्या, बल पौरुष, चातुरी, कला तथा अन्य सभी उपकरण व्यर्थ हो जाते हैं। मनुष्य दैवाधीन है। वह भाग्य के हाथ का खिलौना है। भाग्यहीन पुरुष पुरुषार्थ कर नहीं सकता। आप मुझे ही देखें। जो मैं अपने बल के सामने यक्षराज शंभु-सखा कुबेर को भी कुछ नहीं समझता था, उनसे भी युद्ध करने को उद्यत हो गया था, वही मैं आज एक सर्प के द्वारा बाँधा गया हूँ। मेरा बल यहाँ व्यर्थ हो गया।"

यह सुनकर धर्मराज ने सर्प से पूछा—"हे सर्प-श्रेष्ठ! तुम साधारण सर्प तो प्रतीत नहीं होते। तुम देवता, यक्ष, गन्धर्व, किंपुरुष या कोई और उपदेव हो? तुमने यह त्रिलोक-निन्दित सर्प का वेश क्यों बना रखा है? तुम मुझे अपना यथार्थ परिचय दो।"

धर्मराज के ऐसे पूछने पर सर्प बोला "राजन्! मैं तुम्हारा पूर्वज हूँ। चन्द्रवंश की पञ्चम पीढ़ी में मेरा जन्म है। कथा-प्रसङ्ग में तुमने मेरा नाम अवश्य सुना होगा। मेरा नाम नहुष है।"

यह सुनकर धर्मराज ने भूमिष्ठ होकर सर्प को प्रणाम किया और कहा—"मेरे पूर्वज के भी पूर्वज राजर्षि नहुष आप ही हैं? मैंने आपका यश ब्राह्मणों के मुख से बहुत सुना है। मैंने यह भी सुना है, कि आप मनुष्य होकर भी देवेन्द्र हो गये थे। आपको किस कारण यह लोक-निन्दित सर्प योनि प्राप्त हुई?"

सर्प बोला—"राजन्! अभिमान ही पतन का कारण है। अहङ्कार ही नीचे गिराता है। इन्द्र बनकर मैं मदोन्मत्त हो गया था। मैंने वेदज्ञ ब्राह्मणों से पालकी ढुलाई। ऋषि-मुनियों से मैंने कहारों का काम लिया! अगस्त्य-जैसे महर्षि का अपमान किया। इसी से मुझे यह अधम योनि मिली। मैं अपने प्रारब्ध के भोगों को भोग रहा हूँ, भूखा यहाँ पड़ा रहता हूँ। कभी कोई प्राणी स्वतः ही आ जाता है, तो उसे पकड़ कर अपनी बुभुक्षा शान्त करता हूँ। आज तुम्हारा भाई आ गया है, अतः इसे खा कर मैं आज अपनी भूख बुझाऊँगा। तुम तुरन्त यहाँ से भाग जाओ, नहीं तो कल मैं निश्चय ही तुम्हें भी खा जाऊँगा।"

धर्मराज ने कहा—"सर्पराज! आप धर्मात्मा हैं। मेरे भाई को आप छोड़ दें। इसके बदले आप जो भी अन्य आहार कहेंगे, मैं आपके लिये ला दूँगा। अन्य भी कोई कार्य करने को आप कहेंगे तो मैं उसे कर दूँगा।

सर्प ने कहा—"यदि आप मेरे प्रश्नों का यथावत् उत्तर दे देंगे तो मैं आपके भाई को छोड़ दूँगा।"

धर्मराज ने कहा—"सर्पराज! आप जो चाहें वह मुझसे पूछ लें। मैं उन सब का यथामति उत्तर दूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस पर अजगर और धर्मराज युधिष्ठिर में 'ब्राह्मण कौन है ? ब्राह्मण क्या है ? आदि विषयों पर बहुत देर तक प्रश्नोत्तर होते रहे। अन्त में अजगर धर्मराज के उत्तरों से सन्तुष्ट हुआ। उनके सत्सङ्ग से परम प्रमुदित हो, वह बोला—"राजन् ! जब मैं स्वर्ग से गिर रहा था, तब मैंने दीन होकर महर्षि अगस्त्य से पूछा था, कि मेरा उद्धार कब और कैसे होगा ?

उन दयालु ऋषि ने मुझे वरदान दिया था, 'धर्मराज युधिष्ठिर से सत्सङ्ग करते ही तुम सर्प योनि से छूटकर पुनः स्वर्ग में आ जाओगे। सर्प-योनि में भी जो तुम्हारे सम्मुख आ जायगा वह हत-प्रभ हो जायगा। तुम चाहे जैसे बली से बली जीव को पकड़कर खा सकते हो। धर्म के अवतार युधिष्ठिर तुम्हारा उद्धार कर देंगे।" सो हे आयुष्मान् ! तुमने मेरा उद्धार कर दिया। तुम अपने भाई को लेकर सुख पूर्वकर अपने निवास-स्थान को जाओ, मैं भी अब स्वर्ग जाता हूँ। इतना कहकर सर्प ने भीमसेन को छोड़ दिया और स्वर्ग चला गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में राजर्षि नहुष का चरित आपको सुनाया। अब आप लोग और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—" सूतजी ! आपने महाराज नहुष के यति ययाति, सयाति, आयाति, वियति और कृति—ये छः पुत्र बताये थे, अब उनके बड़े पुत्र यति के वंश का वर्णन सुनावें।"

हँसकर सूतजी बोले—"मुनियो ! यति का वंश तो चला ही नहीं। उन्होंने विवाह ही नहीं किया। जब उन्होंने देखा, मेरे पिता इन्द्र होकर सर्प-योनि को प्राप्त हुये, तब उन्होंने समझा कि नश्वर भोगों में यथार्थ आनन्द नहीं। इसीलिये उन्होंने विवाह किया ही

नहीं, राजगद्दी पर भी न बैठे। उनके वन चले जाने पर उनसे छोटे, ययाति, राजा बनाये गये। उन्होंने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया।"

इस पर चौंककर शौनक जी बोले—"सूतजी! ययाति तो क्षत्रिय थे, उन्होंने ब्राह्मण कन्या से विवाह क्यों किया और ज्ञानी शुक्राचार्य ने इस प्रतिलोम विवाह का अनुमोदन क्यों किया?"

सूतजी बोले—"महाराज! देवयानी को बृहस्पति पुत्र कच का शाप था, कि तुम्हें कोई भी ब्राह्मण-पति न मिलेगा। इसीलिये विवश होकर शुक्राचार्य ने ऐसे विवाह का समर्थन कर दिया।"

शौनक जी ने कहा—"तब तो राजा की सन्तति वर्ण संकर हो गई होगी? वे शुद्ध क्षत्रिय न रहे होंगे?"

सूतजी कुछ हिचकते हुए बोले—"नहीं महाराज! समर्थों को दोष नहीं लगते। वे अपने शाप वरदान से सब कुछ ठीक ठाक कर लेते हैं। शुक्राचार्य जी ने तो सब कुछ ठीक कर दिया था, किन्तु देवयानी के पुत्र पिता के शाप से क्षत्रिय वर्ण से हीन हो गये। ऋषि-पुत्र का शाप अमोघ था?"

शौनक जी ने पूछा—"देवयानी ने ऐसा कौन-सा अपराध किया था, जिससे कच ने उसे ऐसा दारुण शाप दिया?"

सूतजी बोले—"महाराज! जीव काम के वशीभूत होकर अनुचित इच्छा करता है। जब वह इच्छा पूरी नहीं होती, तब वह क्रोध करता है। क्रोध का परिणाम तो दुःख है ही। सबसे बड़ा शत्रु तो यह काम है। अच्छी बात है, देवयानी को कच ने शाप क्यों दिया, पहले यही कथा मैं आपको सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त होकर उसे श्रवण करें।"

छप्पय

शिविका महँ ऋषि लगे नहुष चढि शचि-गृह गमने।
पद-प्रहार करि 'सर्प' कहे मुनि भये अनमने॥
दुष्ट होहि तू सर्प, शाप कुम्भज मुनि दीन्हों।
तुरत सर्प ह्वै गिर्‍यो, पाप को फल चखि लीन्हों॥
धर्मराज सत्सङ्ग तैं, सर्प-योनि तैं छुटि गये।
सब तजि यति जब बन गये, तब ययाति भूपति भये॥

देवयानी और कच में शापाशापी

[७५४]

न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज ।
कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद् यमशपं पुरा ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० २२ श्लोक)

छप्पय

नृप ययाति ने ब्याह शुक्र-तनया सँग कीन्हों ।
शौनक शङ्का करी धर्म नृप ज्यों तजि दीन्हों ॥
सूत कहें—"मुनि, सुनी, कथा अति कहौं मनोहर ।
गुरु-सुत कच सुर-स्वार्थ-हेतु व्रत कीन्हों दुष्कर ॥
सीखन मृतसंजीनी-विद्या उशना ढिँग गये ।
मारे असुरनि द्वेष-वश, गुरु-प्रसाद जीवित भये ॥

एक हृदय दूसरे हृदय से मिलने को जब विकल हो जाता है तब विवेक नहीं रहता । यह प्रेम बन्धन भगवान् ने कैसा बाँध दिया है ? बिना सम्बन्ध के प्रेम स्थाई होता नहीं ।

---

* देवयानी राजा से कह रही है—"हे महाबाहो ! मैंने जिन बृहस्पति-कुमार को पहले शाप दिया था, उन्होंने मुझे भी शाप दे दिया था, कि तुम्हें ब्राह्मण वर न मिलेगा । इसीलिये मेरा पाणिग्रहण ब्राह्मण नहीं कर सकेगा ।"

संसार में पाँच सम्बन्ध मुख्य माने गये हैं—एक तो व्यष्टि समष्टि का सम्बन्ध, दूसरा पुत्र और पिता का सम्बन्ध, तीसरा सखा-सखा का सम्बन्ध, चौथा स्वामी और सेवक का सम्बन्ध, पाँचवाँ पति और पत्नी का सम्बन्ध। पत्नी में ये पाँचों सम्बन्ध एक साथ मिल जाते हैं। पत्नी पति की अर्धाङ्गिनी है, यह माता-पिता के समान वात्सल्य प्रेम करती हुई पति का पालन करती है। वह एक सच्ची सहचरी है। मैत्री का वह विधिवत् पालन करती है। और पत्नी तो वह है ही। अतः युवक-युवतियों में प्रेम होने पर परस्पर इस सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध को जोड़ने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। यदि उन दोनों में से एक भी इस प्रस्ताव को सामाजिक या धार्मिक बन्धन के कारण ठुकरा देता है, तो उनमें परस्पर प्रायः द्वेष हो जाता है, क्योंकि लौकिक प्रेम में काम की प्रधानता होती है। नाशवान् देह के सम्बन्ध से किया हुआ प्रेम, प्रेम न होकर, मोह, होता है। और मोह तो दुःख का कारण होता ही है। अतः जो प्रेम करने का इच्छुक हो, उसे देह से प्रेम न करके आत्मा से करना चाहिये। इससे उसे कभी भी दुःख न उठाना पड़ेगा, क्योंकि सबके सुहृद सर्वान्तर्यामी श्रीहरि ही हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको देवयानी और कच के शाप की बात सुनाता हूँ। भगवान् ब्रह्मा के पुत्र हुए अंगिरा और अंगिरा के दो पुत्र हुए—बड़े उतथ्य और छोटे बृहस्पतिजी। बृहस्पति को देवताओं ने अपना पुरोहित बना लिया। इसलिये वे स्वर्ग में रहने लगे। मर्त्यलोक के राजाओं की पुरोहिताई उन्होंने छोड़ दी। उनके बड़े पुत्र का नाम था कच। कच बड़े धर्मात्मा और सदाचारी थे।

ब्रह्माजी के एक दूसरे पुत्र थे भगवान् भृगु। उनके शुक्र

नामक पुत्र हुए, जो उशना कवि तथा भार्गव आदि नामों से भी विख्यात हैं। ये असुरों के पुरोहित हुए। ये सदा असुरों के पक्ष में तथा देवताओं के विपक्ष में रहते हैं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! ब्राह्मण होकर भी शुक्राचार्य देवताओं के विरुद्ध क्यों रहते हैं?"

सूतजी बोले - "महाराज! यह तो भगवान् की क्रीड़ा है। बिना पक्ष बनाये नाटक होता ही नहीं। वैसे नाटक के सभी पात्रों में मेल-जोल रहता है, किन्तु जब वे रङ्गमञ्च पर आते हैं, तब परस्पर युद्ध करते हैं। खेल में तो सब कुछ ही करना पड़ता है। भगवान् ही इन्हें प्रेरित करके इनसे सब कुछ कराते हैं। यह बात थी कि असुर तो सदा सुरों से लड़ते रहते हैं। असुर देवताओं को मारकर भृगु-पत्नी के घर में छिप जाते थे। देवता वहाँ पहुँच नहीं सकते थे। भृगु-पत्नी असुरों का बहुत पक्षपात करतीं। देवताओं ने विष्णु भगवान् से जाकर सब बातें कहीं। भगवान् ने कहा - "अच्छी बात है, हम भृगु पत्नी को देख लेंगे।" इन सर्वान्तर्यामी के लिये तो कुछ अच्छा बुरा है ही नहीं दैत्य जब थककर भृगु-पत्नी के घर में छिप गये, तब उन्होंने भी सुदर्शन लेकर उस घर के भीतर घुसकर उन दैत्यों को मार दिया और भृगुपत्नी का भी सिर काट दिया। इससे भगवान् भृगु बड़े क्रुद्ध हुए और विष्णु भगवान् को शाप दिया—"जाओ, जैसे तुमने मुझे पत्नी-विहीन कर दिया है, वैसे ही मनुष्य रूप रखकर तुम भी बहुत दिनों तक पत्नी-हीन होकर रहो।" शुक्र तब छोटे थे, उनको विष्णु भगवान् पर क्रोध आ गया। असुर एक पुरोहित की खोज में थे ही। इसलिये उनकी इनसे पटरी बैठ गयी। उन्होंने असुरों के कान फूँककर उन्हें चेला बना लिया। सज्जन पुरुष जिसे एक बार अंगीकार कर लेते हैं, उसे आजीवन

त्यागते नहीं। इसीलिये शुक्राचार्य रात दिन असुरों के हित की ही बात सोचा करते हैं।"

शुक्राचार्य जब छोटे थे, तभी इनके पिता ने सोचा—"यह मुझसे तो पढ़ेगा नहीं, क्यों कि पिता से प्रेमवश पुत्र पढ़ते नहीं।" अतः वे इन्हें अपने भाई अंगिरा मुनि के पास ले गये और कहा—"इस बच्चे को तुम ही भली-भाँति पढ़ाना।" अंगिरा मुनि के पास इनके पुत्र बृहस्पति तथा अन्यान्य और भी ऋषि कुमार पढ़ते थे, उनके साथ ही ये शुक भी पढ़ने लगे, पढ़कर शुक्राचार्य तो असुरों के पुरोहित हुए और बृहस्पतिजी सुरों के। इसलिये दोनों में लागडाँट रहती ही थी। यों तो अपने-अपने यजमानों को प्रसन्न करने को एक दूसरे से विरोध रखते ही थे, किन्तु प्राचीन सम्बन्ध से दोनों में भीतर-ही-भीतर सद्भाव भी था।

शुक्राचार्य मृतसंजीवनी विद्या जानते थे। अतः युद्ध में जो भी दैत्य मरता, उसे ये तुरन्त जिला देते थे। बृहस्पतिजी को यह विद्या आती नहीं थी। अतः युद्ध में देवताओं से असुर बढ़ जाते थे। सुर सोचते थे—"किसी प्रकार हमारे पुरोहित भी मृतसंजीवनी विद्या जान जाते, तो हमारा बड़ा लाभ होता।" तब तक प्रतीत होता है, समुद्र-मंथन नहीं हुआ था।

देवता यह भी जानते थे, कि मृतसंजीवनी-विद्या शुक्राचार्य के ही पास है। हमारे पुरोहित उनके समीप जा नहीं सकते। हाँ गुरुपुत्र कच जा सकते हैं। "बड़ों में आपस में वैर-भाव हो तो उससे बच्चों का कोई प्रयोजन नहीं।" यही सोचकर देवता गुरुपुत्र कच के समीप गये और बोले—"गुरुपुत्र! हमारा एक बड़ा कार्य है। आप ही उसे कर सकते हैं। शुक्राचार्य के समीप जैसे भी हो, जाकर मृत-संजीवनी-विद्या सीख आइए।"

कच बोले—"देवताओ ! शुक्राचार्य तो असुरों का पक्ष लेकर आप लोगों से द्वेष रखते हैं। वे मुझे यह विद्या क्यों सिखावेंगे ?"

देवताओं ने कहा—"वे ब्राह्मण हैं, ब्रह्मवादी हैं। उनका शिष्य बनकर जो उनके पास विद्या सीखने जायगा, उसे वे मना नहीं करेंगे। फिर आपके लिये तो जैसे ही बृहस्पतिजी, वैसे ही शुक्राचार्यजी। बच्चों से तो कोई द्वेष करता नहीं। आप अपनी सेवा से, विनय से, उन्हें सन्तुष्ट कर लें, वे आपको अवश्य विद्या प्रदान करेंगे। हम आपको एक रहस्य की बात बताये देते हैं। शुक्राचार्य के एक मात्र कन्या है देवयानी। उस पर उनका अत्यन्त ही स्नेह है। वह जो कहती है, उसे वे टाल नहीं सकते। आप शुक्राचार्य से भी अधिक उसे मानें, उसकी प्रत्येक आज्ञा का सावधानी से पालन करें। उसे यदि आपने संतुष्ट कर लिया, तो मानों शुक्राचार्य पर विजय प्राप्त कर ली। आप ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, जब तक विद्या प्राप्त न हो, तब तक शुक्र के यहाँ रहें। आजकल वे पृथ्वी पर दैत्यराज वृषपर्वा के यहाँ निवास करते हैं।"

देवताओं की प्रार्थना को गुरु-पुत्र कच ने स्वीकार किया। वे स्वर्ग से वृषपर्वा की नगरी में आये। उन्होंने शुक्राचार्य के समीप आकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर नम्रता के साथ निवेदन किया—"भगवन ! मैं देवगुरु बृहस्पति जी का पुत्र, महर्षि अंगिरा का पौत्र हूँ। कच मेरा नाम है। सहस्र वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके आपके चरणों के समीप मैं रहना चाहता हूँ।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए शुक्राचार्यजी ने कहा—"कच ! तुम भले आये, भैया ! तुम भगवान् अङ्गिरा के सम्बन्ध से जैसे बृहस्पति के पुत्र हो, वैसे ही मेरे भी। तुम मेरे समीप

निवास करो। मैं तुम्हें विद्या सिखाऊँगा।" यह सुनकर कच प्रसन्न हुए और शुक्राचार्य के घर में रहने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्राचीन काल में शिष्य विविध विषय की बहुत सी पुस्तकें लेकर, लेखनी और मसि-पात्र लेकर विद्यालयों में, नियत समय पर पढ़ने नहीं जाते थे। उन दिनों गुरु ही चलते-फिरते पुस्तकालय और ज्ञान के भंडार थे। शिष्य उनके समीप रहते। गुरु और गुरु-पत्नी उन्हें पुत्र की भाँति घर में रखतीं। परिवार के पुरुष की भाँति गुरु के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े कार्य को शिष्य किया करते। वे गुरु के निकट रहकर आचार की शिक्षा प्राप्त करते। केवल लिखना पढ़ना ही विद्या नहीं है। सुन्दर लेख लिख लेना, भली प्रकार पुस्तक पढ़ लेना, व्याख्यान दे लेना कला है। विद्या तो वही है, जो हमें मुक्ति का मार्ग दिखावे। उसके लिये सत्य, सदाचार, सहनशीलता, संयम, सरलता—सद्गुण परमावश्यक हैं। ये आते हैं निष्कपट भाव से सद्गुरु की सेवा करने से। प्राचीन काल के ब्रह्मचारी विद्यार्थी यही किया करते थे। उनके सम्मुख अक्षर-ज्ञान का कोई उतना महत्त्व नहीं था। वे गुरु से पढ़ाने की प्रार्थना नहीं करते थे। वे अपने में पात्रता लाने का प्रयत्न करते थे। फिर तो गुरु स्वयं ही चाहे तो एक दिन में शिष्य को सब विद्या प्रदान कर दें। अपात्र को विद्या प्राप्त भी हो गई, तो वह उसका दुरुपयोग ही करेगा। ताम्र के पात्र में रखा हुआ अमृत के समान दधि विष बन जायगा। पात्रता की परीक्षा सद्गुरु ही कर सकते हैं। अतः सद्गुरु को प्रसन्न रखना ही शिष्य का प्रधान धर्म है।

कच बड़े ही सुन्दर थे। वे सुशील, शान्त, सदाचारी, सत्य-प्रतिज्ञ, सहृदय तथा सरस थे। देवताओं ने उन्हें कह रखा था कि तुम देवयानी को प्रसन्न रखना। इसलिये वे गुरु से भी

अधिक देवयानी का ध्यान रखते, उसके रुख को देखकर काम करते, उसके बताये कार्य में कभी प्रमाद न करते। वे उसे गा-बजाकर भी प्रसन्न रखते, सदा उसके समीप संयमपूर्वक रहते, कभी उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। जिस प्रकार बेल के समीप कैसा भी वृक्ष हो, उसी के ऊपर बेल चढ़ जाती है, उसी प्रकार युवती स्त्री के समीप कैसा भी पुरुष रहे, उसके प्रति उसका अनुराग हो ही जाता है। यदि समीप रहने वाला विनयी, सदाचारी और सरस हृदय का प्रेमी भी हो, तब तो कहना ही क्या! अनुराग-अनुराग से बढ़ता है। शील-संकोच तथा मौन से उत्कण्ठा और बढ़ती है। अनुराग का भूषण है, भाव-गोपन। ज्यों-ज्यों अपने प्रति अनुराग रखने वाले के भावों का अध्ययन किया जाता है, त्यों-त्यों अनुराग और बढ़ता जाता है। देवयानी ने एक कल्पित चित्र बना रखा था। वह महर्षि की पुत्री थी, धर्मचारिणी थी। उसने अनुमान लगा रखा था, कि कच ने सहस्र वर्ष के ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा है। जब यह अपने ब्रह्मचर्य व्रत को यथाविधि पूरा करके व्रतान्त-स्नान करेगा, तब मैं इससे विवाह का प्रस्ताव करूँगी। यह मेरी छोटी सी आज्ञा को भी नहीं टालता, तो इसे भी कैसे टालेगा? तब हम और यह पति-पत्नी बनकर सुखपूर्वक रहेंगे। मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो जायँगे। ऐसे सुन्दर, सुशील, संयमी, सदाचारी, सरस, सहृदय, सत्यप्रतिज्ञ, सरल, साहसी, सर्वसद्गुण सम्पन्न स्वामी को पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगी।" उसने कच के प्रति मन ही मन दाम्पत्य-भाव स्थापित कर रखा था, किन्तु अपनी चेष्टा से, कभी इस भाव को व्यक्त न होने दिया। गुरु-पुत्री ही जो ठहरी। यदि अभी से आत्म-समर्पण कर देती, तो शिष्य पर शासन कैसे करती। उसके अनुराग का स्रोत फल्गु के स्रोत के समान था;

जो ऊपर से तो सूखा-सूखा प्रतीत होता था, किन्तु भीतर ही भीतर अगाध स्नेह भरा था।

पाँच सौ वर्षों तक तो असुरों को पता ही न चला, यह कौन है और क्यों शुक्राचार्य के समीप रह रहा है। पीछे असुरों को पता चला कि यह तो हमारे शत्रुओं के पुरोहित का पुत्र कच है, हमारे पुरोहित से मृत-संजीवनी विद्या सीखने आया है। "यदि सीखकर चला गया, तो देवता भी हमारे समान हो जायँगे। अतः इसे किसी प्रकार मार देना चाहिये।" यह सोचकर असुरों ने कुछ गुप्तचर कच के पीछे लगा दिये।

कच जब गुरु की गायों को लेकर, वन से, समिधा का गट्ठर सिर पर रख, लौट रहे थे, तब वे थक कर एक सघन वटवृक्ष की छाया में बैठ गये। उसी समय दश-बीस असुर भी वहाँ आ गये। आकर उन्होंने पूछा—"तू कौन है?"

कच ने कहा—"मैं देवगुरु बृहस्पतिजी का पुत्र और महर्षि अंगिरा का पौत्र हूँ। कच मेरा नाम है। भगवान् शुक्राचार्य का मैं शिष्य हूँ। उनकी गायों को चराकर समिधा लिये जा रहा हूँ।"

यह सुनकर असुरों ने कच को पकड़ लिया और उनके टुकड़े टुकड़े करके भेड़ियों को खिला दिया और हँसते हुए चले गये।

गोपाल के बिना गौएँ सीधे घर आ गईं। रात्रि हो गई, कच नहीं आये। देवयानी को बड़ी चिन्ता हुई। वह बार-बार बाहर आती, दूर तक देखती, कच का पता नहीं। प्रेम में पग-पग पर अनिष्ट की शंका बनी रहती है। देवयानी को अनेकों शंकाएँ होने लगीं, कि कच का कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ। जब शुक्राचार्य अग्निहोत्र और जप कर चुके, तब देवयानी ने डरते-डरते कहा—"पिताजी! आप अपने नित्यकर्मों से निवृत्त हो चुके, गायें तो वन से लौट आईं, किन्तु उनका गोपाल कच अभी तक

नहीं लौटा। पिताजी! निश्चय ही उसे असुरों ने मार डाला है। यदि कच न आया, तो मैं भी जीवित न रहूँगी।"

शुक्राचार्य ने कहा—"बेटी! तू घबड़ाती क्यों है। यदि कच को असुरों ने मार भी दिया होगा और वह किसी के पेट में भी चला गया होगा, तो भी मैं अपनी मृत-संजीवनी-विद्या से उसे जीवित कर दूँगा, यदि वह पेट में जाकर पच न गया हो तो।"

यह कहकर शुक्राचार्य ने अपनी विद्या का प्रयोग किया। उसके प्रभाव से कच, जिसके पेट में भी थे, उसी के पेट से निकल कर जुड़ गये और सकुशल अपने घर आ गये। देवयानी ने उनसे इतनी देर में आने का कारण पूछा, तो कच ने उन्हें सब सच-सच बता दिया। इसपर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा—"तुम गाएँ चराने मत जाया करो।" कच ने इसे स्वीकार किया।

एक दिन वे समिधा लेने वन को जा रहे थे। मार्ग में उन्हें असुर मिल गये। इन्होंने कच को पहचान लिया और मारकर एक पत्थर में बाँधकर, उनके मृत शरीर को समुद्र में डाल दिया।"

देवयानी को पुनः शंका हुई। उन्होंने फिर अपने पिता से कहकर कच को जीवित करा लिया। असुरों को जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने सोचा—"हम कच को मारते हैं, तो शुक्राचार्यजी उसे अपनी विद्या के प्रभाव से जिला देते हैं। अब कुछ ऐसा करें कि इसे शुक्राचार्यजी के पेट में ही पहुँचा दें, जिससे पेट फटने और मरने के भय से वे इसे पुनः जीवित न कर सकें।" इन्होंने यही सोचकर एक दिन कच को एकान्त में पाकर मार डाला और उनके शरीर को जलाकर, उसकी राख को पीसकर, मधु में मिलाकर, शुक्राचार्य को पिला दिया।

उन दिनों तक सुरापान के निषेध के इतने कड़े नियम नहीं

बने थे। शुक्राचार्य अनजान में कच की राख को सुरा के सहित उदरस्थ कर गये। नित्य नियमानुसार सायंकाल जब कच नहीं आये, तब देवयानी ने अपने पिता से कहा—"पिताजी! कच तो आज भी नहीं आया, प्रतीत होता है, असुरों ने उसे फिर मार डाला।"

शुक्राचार्य ने कहा—"बेटी! अब तू ही सोच, मैं क्या कर सकता हूँ। ये दुष्ट असुर उसके पीछे पड़े हैं। मैं बार-बार उसे अपनी विद्या के प्रभाव से जीवित करता हूँ, असुर उसे बार-बार मार डालते हैं। अब मैं कब तक उसकी रक्षा करूँगा?"

देवयानी ने कहा—"पिताजी! कच धर्मात्मा है, सुशील है, सदाचारी है, आपका प्रिय शिष्य है, मुझे वह अत्यन्त प्यारा है। आप उसे जैसे-हो-तैसे अवश्य जिलावें। नहीं तो मैं भी उसके बिना जीवित नहीं रह सकती।"

शुक्राचार्य ने प्रेम भरे रोष के स्वर में कहा—"देवयानी! तू तो लड़कपन करती है। बेटी! भाग्य को कौन मेट सकता है? कच के लिये तू सोच मत कर।"

देवयानी ने कहा—"पिताजी! मैं उस बाप की बेटी हूँ, जो भाग्य की रेख पर भी मेख मारने में समर्थ है, मैं उस बाबा की पोती हूँ, जिन्होंने साक्षात् विष्णु भगवान् की छाती में भी लात मारी और उन्हें शाप देकर दशावतार ग्रहण करने को विवश किया। चाहे जो हो, कच को तो आपको जीवित करना ही होगा।"

शुक्राचार्य अब क्या करते? लड़की के आग्रह को वे न टाल सके। मंत्र पढ़कर ज्यों ही शुक्राचार्य ने कहा—"बेटा! कच, आओ! आओ, त्योंही कच गुरु के पेट के भीतर जीवित होकर बोले—"गुरुदेव! मैं तो आपके उदर में हूँ। अब कैसे आऊँ?"

आश्चर्य-चकित होकर शुक्राचार्य ने पूछा—"बेटा तुम मेरे उदर में कैसे पहुँच गये ?"

कच ने कहा—"भगवन् ! असुरों ने मुझे मारकर, जलाकर, सुरा में मिलाकर, आपको पिला दिया।" इस पर शुक्राचार्य ने अपने को धिक्कारा, "अरे ! यह तो मुझसे बड़ा पाप बन गया ! आज से मैं संसार में नियम स्थापित करता हूँ, कि जो द्विज सुरा-पान करेगा, उसे ब्रह्महत्या के समान पातक लगेगा।" फिर कच से बोले—"बेटा ! तू सिद्ध हो गया। तू ने अपनी सेवा से देवयानी को प्रसन्न कर लिया। मैं भी तुझ पर प्रसन्न हूँ। अब मैं तुझे विद्या सिखाऊँगा।"

कच ने कहा—"गुरुदेव ! मैं आपका उदर फाड़कर ही बाहर आ सकता हूँ। और ऐसा करूँगा, तो आप की मृत्यु हो जायगी। फिर मैं विद्या किससे सीखूँगा ?"

शुक्राचार्य ने कहा—"मैं तुझे उदर में ही मृत-संजीवनी-विद्या सिखाता हूँ। उसे सीखकर, मेरा पेट फाड़कर, तू बाहर आ जाना, पुनः मुझे भी अपनी विद्या के प्रभाव से तू जीवित कर लेना; देखना, मुझसे कपट मत करना। "गुरु तैं कपट मित्र तैं चोरी, कै होहि निर्धन, कै होहि कोढ़ी।" निकलते ही मुझे जीवित कर लेना।"

कच ने कहा—"गुरुदेव ! आप मेरे ऊपर विश्वास करें। मैं आपका शिष्य भी हूँ और उदर में रहने के कारण पुत्र भी। मैं जीवन भर आपके साथ कभी भी कपट न करूँगा।"

यह सुनकर शुक्राचार्य प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने उदर में स्थित कच को मृत-संजीवनी-विद्या का उपदेश दिया। कच ने उसे विधवत् ग्रहण किया। वे तब गुरु का उदर फाड़कर निकल आये और अपनी विद्या के प्रभाव से गुरु को भी जीवित कर दिया।"

इस प्रसंग को सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! कच का भेड़ियों के उदर से निकल आना, जल में से निकल कर जीवित होना, शुक्राचार्य के पेट से निकल आना ये सब बातें हमारी बुद्धि में नहीं आतीं। जिस देह के टुकड़े-टुकड़े हो गये, प्राण शरीर को परित्याग करके चले गये, उनका पुनः जीवित होना हमें तो सत्य से परे प्रतीत होता है।"

हँसकर सूतजी बोले—"अजी महाराज ! मंत्र-विद्या के सम्मुख असंभव क्या है ? कलियुग में मंत्र-विद्या लुप्तप्रायः हो जाती है। इसीलिये कलियुगी मनुष्य इन बातों पर कम विश्वास करते हैं। यह तो ऋषियों की मन्त्र विद्या की बात है। हमने नटों के पास यह विद्या प्रत्यक्ष देखी है। एक नट का आँखों देखा वृत्तान्त हम सुनाते हैं।"

भारतवर्ष के एक प्रधान राजा के समीप एक नट अपनी नटी-सहित खेल दिखाने आया। उसने कहा—"महाराज ! हम ऐसा खेल दिखावेंगे, जो आपने कभी न देखा हो।" राजा को बड़ा कुतूहल हुआ।

सहस्रों दर्शक नट का खेल देखने आये। उसने अनेक प्रकार के खेल दिखाये। अन्त में उसने कच्चे धागे की एक अड़िया लेकर आकाश में फेंकी। वह दूर तक चली गई। नट उसी कच्चे धागे पर चढ़ने लगा। सब देखकर चकित हो गये। उसने कहा—"महाराज ! मैं स्वर्ग जा रहा हूँ। मेरी नटी की आप देख-रेख करना।" राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। वह चढ़ते-चढ़ते अदृश्य हो गया। सब दर्शक चकित थे। इतने में ही ऊपर से उसकी एक भुजा गिरी। नटी यह देखकर बहुत दुःखी हुई। उसने कहा—"स्वर्ग में मेरे पति से असुरों की लड़ाई हो गई। उन्होंने ही उनकी बाहु को काट दिया है। वह बाहु को लेकर रोने

आप चाहेंगे, इनसे कहला लेंगे। मेरी पत्नी को अवश्य आपने छिपा रखा है। वह तो बहुत सुन्दरी थी। राजा का चित्त ही तो है। महाराज! मेरे साथ ऐसा अन्याय न करें।"

राजा ने डाटकर कहा—"तू बड़ा मूर्ख है वे! अकारण हमें चोरी लगाता है। सबके सामने तो वह जल गई है। हमें तेरी नटी से क्या लेना है?"

नट ने कहा—"यदि मैं उसे खोज लूँ तब? यदि वह आपके महलों में ही मिले तब?"

राजा ने कहा—"तब तो जो चाहना, सो करना।"

इतना सुनते ही नट ने पुकारा..."नटी! ओ नटी! कहाँ है तू?"

राजा के सिंहासन के नीचे से नटी ने कहा—"प्राणनाथ! मुझे महाराज ने सिंहासन के नीचे दबा रखा है।"

राजा आश्चर्य चकित हुए। उन्होंने सिंहासन के नीचे देखा, तो नटी बैठी है। यह देखकर वे परम विस्मित हुए, उसे यथेच्छ पुरस्कार दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब एक साधारण नट ऐसे खेल कर सकता है, तब शुक्राचार्य जैसे सर्वज्ञ ऋषि के लिये मृत-संजीवनी-विद्या के प्रभाव से किसी को जीवित कर देना कौन सी आश्चर्य की बात है? यह सब तो खेल है।"

शौनकजी ने हँसकर कहा—"सूतजी! जहाँ आप खेल, क्रीड़ा, लीला कह देते हैं, वहीं हमारा तर्क समाप्त हो जाता है। सच्ची बात यही है, माया में सब सम्भव ही सम्भव है। हाँ, तो फिर क्या हुआ? कच का अग्रिम वृत्तान्त सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ मुनियो! सुनिये, मैं कच का उत्तर-चरित कहता हूँ। शुक्राचार्य के उदर में ही मृत-संजीवनी विद्या की शिक्षा

प्राप्त करके कच उनके उदर से बाहर आय। उन्होंने गुरु की पूजा की, उनके चरणो मे प्रणाम किया और विनय के साथ कहा—"गुरुदेव! मैं गुरु दक्षिणा म आपको क्या दू।

शुक्राचार्य ने कहा—"बेटा! गुरु दक्षिणा क्या देनी! तू मेरे गुरु का पौत्र है, मेरा पुत्र है। इतने दिन निष्कपट भाव से तूने मेरी सेवा की, यही गुरुदक्षिणा पर्याप्त है। नियमानुसार, एक गो दान करके, तू अपने व्रत की समाप्ति करके, सुखपूर्वक घर जा।"

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके कच ने विधिवत् व्रतान्त स्नान किया। गुरु की पूजा और गोदान करके उसने गुरु से आज्ञा माँगी। गुरु ने स्नातक को देने वाले उपदेश दकर कच को आशीर्वाद दिया। अब कच के सम्मुख एक बडा ही करुण दृश्य उपस्थित होने वाला था। वह जानता था—"देवयानी का मेरे प्रति अत्यन्त अनुराग है, वह मेरे जाने की बात सुनकर अत्यन्त अधीर हो जायगी। फिर भी जाना तो है ही। सयोग वियोग के ही लिये होता है।" इन्हीं बातो को सोचकर वह साहस करके एकान्त म देवयानी के समीप गया। देवयानी उदास बठी थी और कच के ही विषय म सोच रही थी। उसी समय कच ने जाकर कहा—"गुरुपुत्री! क्या सोच रही हो? मैंने आज व्रतान्त स्नान किया है, तुम जानती ही हो। आज मैं घर जाऊँगा। मुझे आशीर्वाद दो, और कभी कभी धर्मपूर्वक मेरा स्मरण कर लिया करना। साथ रहने म, जान म, अनजान म, मुझसे अपराध बन गये होंगे, उनको तुम क्षमा कर देना।"

कच एक सास म ही साहस करके इतनी बातें कह गया। देवयानी ने कुछ नहीं कहा। उनकी बडी-बडी आँखें गीली हो गईं। उनकी दोनो कोरो से मोतियों के समान अश्रु बिन्दु ढुलक

पड़े, उन्हें कौशल से पोंछती हुई देवयानी ने भर्राई हुई वाणी में कहा—"क्या सचमुच तुम हमें छोड़कर चले जाओगे ?"

कच ने विवशता प्रकट करते हुए कहा—"इच्छा तो नहीं होती, किन्तु कर्तव्यवश जाना होगा।"

देवयानी ने कहा—"कर्तव्य से भी कठिन व्यापार अनुराग का है कच ?"

कच ने कुछ भी इसका उत्तर नहीं दिया। वह अनमने से खड़े रहे। देवयानी ने कहा—"अच्छा, तुम यहाँ मेरे पास बैठ जाओ तुमसे आज मैं एक बात कहना चाहती हूँ।"

अबोध बालक की भाँति कच देवयानी के बताये हुए आसन पर बैठ गये। आज देवयानी के चित्त की विचित्र दशा थी। जैसे कोई गीले वस्त्र को ऐंठकर उसका जल निकाल रहा हो, उसी प्रकार उनके सरस-स्निग्ध हृदय को मानो कोई भीतर ही भीतर ऐंठ रहा हो। आज देवयानी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से अनुराग बह रहा था। सहस्र वर्षों तक जिस प्रणय को वे छिपाये हुए थीं, वह आज उन्मुक्त होकर हठात् बाहर आ गया था। उन्होंने सम्पूर्ण ममता बटोर कर कहा—"कच तुम जानते हो, मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूँ।"

कृतज्ञता के स्वर में कच ने कहा—"गुरुपुत्री ! यदि तुम मुझे प्यार न करती, तो मैं यहाँ एक दिन भी रह सकता था क्या ? तुम्हारे प्यार को पाकर ही तो मैंने सहस्र वर्ष क्षण के समान बिता दिये।"

देवयानी ने कहा—"कच ! मैं तुमसे एक बात कहना चाहती हूँ। उसे तुम मानोगे ?"

कच को ऐसा लग रहा था, मानो उन्हें कोई दो शिलाओं के बीच में डालकर दबा रहा हो। फिर भी सम्हल कर उन्होंने

कहा—"तुम्हे मेरे ऊपर सन्देह क्यो हुआ ? आज तक कभी मैंने तुम्हारी आज्ञा का पालन न किया हो, ऐसा स्मरण तो मुझे आता नहीं।"

देवयानी ने कहा—"नहीं, ऐसी बात नहीं है। किन्तु अब सम्भव है, न मानो। अब तो तुम स्नातक हो गये हो न ?" कच ने कृतज्ञता के स्वर मे कहा—"यह सब तुम्हारी कृपा से ही हुआ है। मैं तो तुम्हारा वही कच हूँ।"

देवयानी गम्भीर हो गयी। उसने कहा—"अच्छा, देखो, आज सहस्र वर्षों से मैं अपने भावो को छिपाये हुए थी। मैंने अपना मन पहले ही तुम्हे अर्पित कर दिया है। तुम्हारे ब्रह्मचर्य मे मैंने कभी विघ्न नहीं डाला। अब मेरी इच्छा है, तुम वैदिक विधि से मेरा पाणिग्रहण कर लो, मुझे अपनी अर्धाङ्गिनी बना लो।"

कच ने सम्पूर्ण साहस बटोर कर दृढता के साथ कहा—"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"

देवयानी को यह उत्तर ऐसा लगा, मानो किसी ने उसे हिमालय की चोटी से नीचे ढकेल दिया हो। वह तिलमिला उठी। उसने भली प्रकार कच को ऊपर से नीचे तक देखकर कहा—"ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? मुझमे तुम क्या दोष देख रहे हो ? क्या मैं कुलीन नहीं हूँ ?"

कच ने शीघ्रता से कहा—"तुम मे कोई दोष नहीं। तुम गगा जल की भाँति पवित्र हो। तुम्हारे कुल के सम्बन्ध मे तो कुछ कहना ही नहीं, किन्तु मैंने सदा तुम्हे बहन करके माना है। तुम मेरी गुरुपुत्री हो, धर्म की बहन हो। यदि धर्म प्रतिबन्ध न होता, तो मैं तुम जैसी सर्व गुण-सम्पन्ना पत्नी पाकर अपने भाग्य की सराहना करता।"

देवयानी ने कहा—"इसमे धर्म-विरुद्ध तो कोई बात नहीं।

मैं तुम्हारी सगी बहन तो हूँ नहीं। बहुत से ऋषियों ने अपनी पुत्रियों का विवाह अपने शिष्यों के साथ किया है।"

कच ने कहा—"देवि! किया होगा, किन्तु देखो, मैंने तुम्हें सदा बहन कहा है, गुरु से भी अधिक तुम्हारा आदर किया है। अब मैं तुम्हारा पाणिग्रहण कभी नहीं कर सकता।"

देवयानी ने कहा—"कच तुम व्यर्थ की बातें कर रहे हो। विवाह के पूर्व सभी कन्याएँ बहन के समान हैं। कुमारी कन्याओं का सब समवयस्क भाई के समान हैं। फिर भी विवाह तो किसी कुमार के ही साथ होता है? अब तक तुमने मुझे बहन कहा, ठीक है। अब तुम मेरा शास्त्रीय विधि से पाणिग्रहण कर लो हमारा नया सम्बन्ध हो जायगा।"

कच ने कहा—"देवि! तुम काम के वशीभूत होकर ऐसी धर्म-विरुद्ध बातें कर रही हो। सज्जन पुरुषों की वाणी का ही महत्त्व होता है। वाणी से ही पुत्री-पुत्र पराये हो जाते हैं वर वाणी से ही पत्नी को स्वीकार करता है, जिससे जीवन भर उसे उसका भरण-पोषण करना होता है। मैंने तुम्हें सदा बहन कहा है इस-लिये तुम मेरी बहन हो। तुम मेरे गुरु की पुत्री हो। जिन पिता की तुम पुत्री हो, उनके ही पेट से मैं पुनः पैदा हुआ हूँ, इसलिये भी तुम मेरी बहन हो। मैं अपने धर्म और गुरु के साथ विश्वास घात नहीं कर सकता। मुझे गुरुदेव ने भी इस सम्बन्ध में कोई आज्ञा नहीं दी।"

देवयानी ने कहा—"गुरु से आज्ञा तो मैं अभी दिलाये देती हूँ।"

कच ने कहा—"तुम अपने पिता की बहुत प्यारी लड़की हो। पिता की बहुत प्यारी लड़कियाँ स्वतन्त्र होकर प्रायः बिगड़ जाती

है। पिता को तुमने वश में कर रखा है। मैं ऐसा धर्म-विरुद्ध सम्बन्ध स्वीकार नहीं कर सकता।"

यह देवयानी का सबसे बड़ा अपमान था। उन्हें कच पर क्रोध आ गया। प्रतिहिंसा की ज्वाला उनके हृदय में जलने लगी।

उसने क्रोध में भरकर कच को शाप देते हुए कहा—"कच, तुम मुझ निर्दोषा पर दोषारोपण कर रहे हो। तुमने सहस्रवर्षों की

मेरी आशा पर पल भर में पानी फेर दिया। अतः मैं तुम्हें शाप देती हूँ तुम्हारी यह विद्या फलवती न होगी।"

क्रोध, क्रोध को बढ़ाता है। कच को भी क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—"गुरुपुत्री ! मैंने इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया। किन्तु तुम केवल काम के वशीभूत होकर ही मुझे शाप दे रही हो। अतः मैं भी शाप देता हूँ कि कोई भी ब्राह्मण कुमार—ऋषि पुत्र—तुम्हारा पाणिग्रहण न करेगा। मेरी विद्या मुझे फलीभूत न हो, किन्तु मैं दूसरों को तो उसे सिखा ही दूँगा।" इतना कहकर कच कुपित हुई गुरु-पुत्री को प्रणाम करके तथा गुरु की चरण धूलि लेकर स्वर्ग चले गये और उन्होंने वह विद्या वहाँ जाकर इन्द्र को सिखा दी। देवता कच पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनकी ब्रह्मचर्य की ऐसी दृढ़ता देखकर वे सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसीलिये कच के शाप से देवयानी को ब्राह्मण-वर नहीं मिला। नहुष-पुत्र महाराज ययाति के साथ उनका विवाह हुआ। सर्वज्ञ शुक्राचार्य तो सब जानते थे। अतः उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की। उन्होंने ययाति के साथ देवयानी का विवाह कर दिया और राजा वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा भी देवयानी के साथ गई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ययाति से देवयानी की भेंट कहाँ हुई ? ययाति ने ऐसा अनुचित प्रस्ताव पहले क्यों किया ? फिर वृषपर्वा ने अपनी पुत्री देवयानी के साथ क्यों भेजी ? कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें सुनाइये। धर्मात्मा महाराज ययाति के चरित को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है।"

सूतजी बोले—"महाराज ! जैसा होनहार होता है, वैसे ही सब बानिक बन जाते हैं। ययाति भला शुक्रपुत्री से विवाह का

प्रस्ताव कैसे कर सकता था ? यह तो शुक्राचार्य की लडेती लडकी का ही काम था। उसी ने ययाति से ऐसा प्रस्ताव किया और शुक्राचार्य को भी उसे मानना पडा। इसका बडा ही विचित्र, अत्यन्त ही मनोरञ्जक, प्रसङ्ग है। उसे भी मैं आप सबको सुनाता हूँ। आप समाहित होकर श्रवण करें।"

छप्पय

असुरनि कच वधि सुरासग गुरु-उदर पठाया।
शुक सिखाओ मन्त्र मृतक तैं फेरि जिवायो॥
है कृतार्थ कच चले देवयानी बोली तब।
करो ब्याह मम सङ्ग न कच ने स्वीकार्यो जब॥
शाप दियो विद्या नहीं, होहि फलवती निकट तव।
मिलहि न तोकूँ विप्रवर, कच हु कुपित है कह्यो तब॥

देवयानी और शर्मिष्ठा में कलह

[७५५]

शर्मिष्ठाजानती वासो गुरुपुत्र्याः समव्ययत् ।
स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत् ॥
अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसाम्प्रतम् ।
अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० १०-११ श्लो०)

छप्पय

वृषपर्वा की सुता नाम शर्मिष्ठा युवती ।
ले सखियनि वन गई देवयानी सँग हँसती ॥
शोभा निरखि बसन्त मोद महँ नाचे गावें ।
है विवस्त्र जल माँहिं करें क्रीड़ा सब न्हावें ॥
निरखे आवत वृषभ चढ़ि, पशुपति पारवती-सहित ।
है लज्जित सर तें निकसि, पहिनत पट लोचन-चकित ॥

* श्रीशुकदेवजी कहते—"राजन् ! अनजान में शर्मिष्ठा ने गुरु-पुत्री देवयानी के वस्त्र अपने समझ कर पहन लिये । इस पर अत्यन्त कुपित होकर देवयानी यह बोली—"अरे ! कैसे आश्चर्य की बात है, इस दासी का यह अत्यन्त निन्दनीय व्यवहार तो देखो । इसने मेरे पहनने के वस्त्रों को उसी प्रकार धारण कर लिया है, जैसे यज्ञ की हवि को कुतिया उठा ले जाय ।"

यौवन का उन्माद प्रायः सभी वयस्क एव स्वस्थ युवक युवतियों मे होता है। यदि वे सम्पत्तिशाली, कुलीन, अधिकारारूढ या विशिष्ट वश के हुए, तो उनका उन्माद आवश्यकता से अधिक बढ़ जाता है। इसीलिये चढती अवस्था के धनिक युवती-युवको से साधारण स्थिति वालो को विशेष सम्पर्क नहीं रखना चाहिये। ये क्षण मे तुष्ट हो जाते हैं, क्षण मे ही रुष्ट। धन-मद और यौवन-मद दोनों मिलकर युवावस्था मे अनर्थ उत्पन्न न करे, तो समझना चाहिये, यह प्रभु की विशेष कृपा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह तो मैं पहले ही बता चुका हूँ, कि शुक्राचार्य का अपनी पुत्री देवयानी पर अत्यधिक स्नेह था। प्रतीत होता है, देवयानी की माता उस समय नहीं थी। पिता और पुत्री ही वृषपर्वा के यहाँ रहते थे। दानवेन्द्र वृषपर्वा के भी एक लाडली लडकी थी। उसका नाम शर्मिष्ठा था। वह भी बडी मानिनी थी, पिता के एक ही पुत्री थी। माता पिता उसे प्राणों की तरह प्यार करते, आँख की पुतली की भाँति रखते। जब शैशवावस्था को पार करके उसने यौवनावस्था मे पदार्पण किया, तब उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से यौवन का उन्माद छनने लगा। वह धन मद और राज-मद से गर्वीली युवती हास-परिहास और बालसुलभ चचलता में ही अपना समय व्यतीत करने लगी। पिता ने उसी की अवस्था की सुन्दरी-सुकुमारी एक सहस्र सहेलियाँ उसके पास रख दी थीं। वे गा बजाकर, नाचकर तथा विविध भाँति से शर्मिष्ठा का मनोरञ्जन किया करती थीं। शर्मिष्ठा उन सबसे घिरी रानी मक्खी के समान दिखाई देती। गुरु पुत्री देवयानी भी कभी-कभी उसके यहाँ आती। गुरु-पुत्री समझकर सब उसका सम्मान करते, सभी उसके साथ शिष्टाचार का बर्ताव करते। घनिष्ठता मे शिष्टाचार रहता नहीं। शर्मिष्ठा शनैः-शनैः ढीठ हो

गई, राजपुत्री ही जो ठहरी ! देवयानी भी उससे भली-भाँति हिल-
मिल गई थी। दोनों में सहेलीपने का सम्बन्ध तो था ही, फिर
शर्मिष्ठा को राजपुत्री होने का अभिमान होना स्वाभाविक ही था।
इधर देवयानी को भी गुरुपुत्री होने का अभिमान था। किन्तु घर
मे कभी कोई अप्रिय घटना घटने का प्रसंग ही नहीं आया।
दानवेन्द्र वृषपर्वा जितना ही प्यार अपनी पुत्री को करते थे, उतना
ही, आदर देवयानी का। वे जो भी वस्त्र-आभूषण लाते, सदा दो-
हा लाते, देवयानी को देकर तब वे शर्मिष्ठा को देते। इसलिये
दोनो के वस्त्राभूषण समान ही रहते। दोनों ही सगी बहन सी
प्रतीत होतीं।

एक दिन शर्मिष्ठा ने कहा—"जीजी ! वसन्त की ऋतु
है, चलो, वन में चलकर विहार करें।"

देवयानी तो इसके लिये उत्कंठित ही रहती थी। उसने
कहा—"अच्छी बात है। चलो चलें, बड़ा आनन्द रहेगा। संगीत
का भी सब सामान हमारे साथ चलना चाहिये।"

राजाज्ञा होते ही वन-विहार की समस्त तैयारियाँ हो गईं।
सहस्र सखियों को साथ लिये हुए शर्मिष्ठा और देवयानी बड़े
ठाट-बाट के साथ चलीं। सभी युवतियाँ थीं। सभी की नस-नस
में यौवन का मद छाया हुआ था। एकान्त और वन पाकर सबकी
चंचलता सीमा का उल्लङ्घन कर गई। सभी स्वेच्छा से नाचने,
गाने और बजाने लगीं। कोई घूमने लगीं, कोई महुए के पुष्पों के
पराग को पीने लगीं, कोई पुष्प चुनने लगीं, कोई माला गूंथने
लगीं, कोई कोमल-कोमल पत्ते तोड़कर उसके दोने बनाने लगीं।
विविध प्रकार के भोजन बने थे। सभी रुचि के अनुसार खातीं-
पीतीं और हँसतीं; मानों उनके बीच आनन्द का सागर ही उमड़
रहा हो ! स्थल-क्रीड़ा करके, सबकी इच्छा जल-क्रीड़ा करने की

हुई। उद्यान में बड़ा भारी सरोवर था। उसके घाट वैदूर्य मणि के बने हुए थे। वहाँ कोई पुरुष तो था नहीं। सभी समवयस्का सहेलियाँ ही थीं। अतः अपने-अपने वस्त्रों को, घाटों पर उतार कर, वे नङ्गी होकर स्नान करने लगीं। कोई हँसती हुई किसी के ऊपर जल उछालतीं, कोई छींटे मार-मार कर दूसरी को भिगोती। कभी दो दल बन जाते और दोनों ही परस्पर पानी के छींटे मारते।

जल का एक नाम है जीवन। जल में वरुण का वास है। अतः जल में घुसते ही एक प्रकार की स्फूर्ति आती है। कैसा भी गंभीर मनुष्य हो, जल में घुसते ही उसका मुख खिल उठेगा। बच्चे जल में घुसते ही किलोलें करने लगते हैं, स्त्रियाँ हँसने लगतीं हैं। जल में एक प्रकार की शांति का अनुभव होता है। यदि शीत न हो, उष्णकाल हो, तब तो कहना ही क्या! जल का स्पर्श अत्यन्त ही सुखद होता है। यदि एक अवस्था के बहुत से युवक-युवतियाँ जल में साथ ही स्नान करें, हँसें, खेलें, तो फिर पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतर आता है। सदा अन्तःपुर में रहने वाली स्त्रियों को तो स्वच्छन्द स्थान में अत्यधिक आनन्द आता है। वे लड़कियाँ किलोल कर रही थीं, उसी समय वायु-देवता को एक विनोद सूझा, तीर पर रखे हुए लड़कियों के वस्त्रों को गड़बड़ कर दिया। वे तो क्रीड़ा में निमग्न थीं, उन्हें पता भी न चला कि वायु वेग से चलने लगी है।

उसी समय एक लड़की की दृष्टि सम्मुख पड़ी। उसने देखा, भगवान् भूतनाथ भवानी के सहित बैल पर चढ़कर इधर ही आ रहे हैं। उसने संभ्रम के साथ शिवजी का आगमन सब को जताया। सब नंगी थीं, यह सोचकर लज्जित हुईं और शीघ्रता से जल से निकलकर वस्त्र पहनने लगीं। शर्मिष्ठा राजकुमारी थी,

छरहरी थी, उसमें चुलबुलाहट अधिक थी, सबसे पहले दौड़कर उसने ही साड़ी लपेट ली और सखियों ने भी अपने-अपने वस्त्र पहने। देवयानी ब्राह्मण-कुमारी थी। उसे अपने ब्राह्मणपने का भी अभिमान था। वह जानती थी, शिवजी मेरे पिता के सहपाठी हैं, इसलिये उसे अधिक संभ्रम न हुआ। वह शनैः शनैः निकली। तब तक शर्मिष्ठा ने साड़ी पहन ली थी। देवयानी और शर्मिष्ठा के वस्त्र सभी एक से ही होते थे। शर्मिष्ठा ने अनजान में शीघ्रता-वश देवयानी की साड़ी पहन ली।

जब देवयानी आई, उसने देखा, मेरी साड़ी तो शर्मिष्ठा ने पहन ली है। एक तो उसे गुरुपुत्री होने का अभिमान, दूसरे उसका स्वभाव भी कुछ उग्र। जो उसकी हाँ-में-हाँ मिलाता रहे, उसके सर्वथा अनुकूल बर्ताव करता रहे, उससे तो वह प्रसन्न रहती, किन्तु जिसने उसके मन के तनिक भी विरुद्ध कार्य किया कि उस पर उसका क्रोध सीमोल्लंघन कर जाता। उसे ऐसा लगा, मानों शर्मिष्ठा ने जान बूझ कर उसके वस्त्र पहन लिये हैं। इसलिये वह अत्यन्त कुपित होकर बोली—"शर्मिष्ठा! तुझे लज्जा नहीं आती? तू ने मेरी साड़ी क्यों पहन ली?"

अपनी भूल को स्वीकार करते हुए शर्मिष्ठा ने हँसकर कहा—"हाय! जीजी! भूल हो गई! शीघ्रता में मैं अपनी साड़ी पहचान ही न सकी।"

देवयानी ने और कुपित होकर कहा—"क्या अंधी है तू? अब मैं क्या पहनूँ?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"मैंने तुम्हारी साड़ी ही तो पहन ली है! और वस्त्र तो तुम्हारे हैं ही। साड़ी तुम मेरी पहन लो। या मैं इसे उतार दूँ?"

इस पर तो देवयानी आपे से बाहर हो गई और बोली—

"तू हमारी दासी होकर ऐसी बात कह रही है ? तुझे लज्जा नहीं आती ? तेरी पहनी साडी मे कैसे पहन सकती हूँ ? तू क्षत्रिय-कन्या है, मैं ब्राह्मण की पुत्री ! ऐसे वैसे ब्राह्मण की भी नहीं, भृगुवश मे उत्पन्न भगवान् उशना की। मैं उन भृगु के वश की कन्या हूँ, जिन्होंने विष्णु भगवान् की छाती मे भी लात मारी थी और भगवान् को दशावतार धारण करने का शाप दिया था। तेरे पहने कपडे मैं छू भी नहीं सकती।"

अब तो शर्मिष्ठा को भी क्रोध आ गया। राजपुत्री ही जो ठहरी ! अतः रोष के स्वर मे बोली—"तू ब्राह्मण पुत्री है तो रह। किसी के ऊपर थोड़े ही चढ़ेगी ? मैं क्षत्रिय हूँ, तो तेरे घर माँगने तो जाती नहीं। कह रही हूँ, भूल हो गई, भूल हो गई। फिर आग बबूला हो रही है। जा, पहन ली हमने, कर ले, हमारा क्या करती है !"

दाँत पीसकर देवयानी ने कहा—"अच्छा, अब तो तू इतनी बढ़ गई है ! हमारी दासी होकर इतना साहस ! ब्राह्मण का इतना अपमान ! तेरा बाप तो सदा मेरे बाप के पैरों पर ही पड़ा रहता है। ब्राह्मणों को तू ने साधारण समझ रखा है ? वे परम पुरुष परमात्मा के मुख से उत्पन्न होने से सब वर्णों मे मुख्य माने जाते हैं। उन्होंने ही अपने तपोबल से इस विश्व-ब्रह्माण्ड को बनाया है। उन्होंने ही वैदिक वर्णाश्रम धर्म का विस्तार किया है। तुम असुरों की तो बात ही क्या, देवता और लोक पाल भी उनके चरणों की वन्दना करते हैं। स्वय श्रीमन्नारायण भी जिनकी स्तुति करते हैं, उन ब्राह्मणों मे भी हम भृगुवशी हैं। क्या यज्ञ की हवि को कुतिया जूठी कर दे, तो उसे कोई ब्राह्मण खा सकता है ? इसी प्रकार मैं क्या तेरे पहने वस्त्र पहन सकती हूँ ?"

अत्यन्त ही क्रोध के स्वर मे शर्मिष्ठा ने कहा—देखना, वाणी

को सम्भालकर बोलना; नहीं, तेरी जीभ अभी निकलवा लूँगी। आई है बड़ी ब्राह्मणी! हमें कुतिया बताती है! तू कुतिया तेरा बाप कुत्ता?"

इस पर देवयानी तो क्रोध के कारण जलने लगी। उसने कहा—"मेरा बाप कुत्ता है या सिंह, इसे अभी जानेगी। मेरे बाप ही तेरे बाप के राज्य को बचाये हुए हैं। उन्हीं के पीछे तू गुलछर्रे उड़ा रही है। मेरे बाप न होते, तो तू भूखों मर जाती, एक-एक दाने को तरसती।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"अरी भिक्षुकी! बहुत बढ़-बढ़कर बातें मत बना। हम तेरी सब स्थिति जानती हैं। तू तो एक मुट्ठी अन्न के लिये हमारे महलों की ही ओर ताकती रहती है। तेरा बाप जब सीधा लाता है, तब तू खाती है। हमारे ही टुकड़े खाय और हमें ही देखकर भूँके! जिस पत्तल में खाना, उसी में छेद करना! बलिभोजी कुत्ते-कौए को जैसे हम लोग जूठा अन्न डाल देते हैं, वैसे ही तुझे भी दे देते हैं। तिस पर भी ऐसी लम्बी-चौड़ी दूँन हाँक रही है।"

देवयानी ने कहा—"तुम सब असुर हो। असुर तो नीच होते हैं। सर्पिणी के गर्भ से सर्पिणी ही होगी। आज मैं तुझे अपने किये का फल चखाऊँगी। यदि मैंने तुझसे इस अपमान का बदला न लिया, तो तू मेरा नाम बदलकर रख देना, मुझे शुक्राचार्य की कन्या न कहना।"

इतना सुनते ही शर्मिष्ठा को बड़ा क्रोध आया। उसने देवयानी के हाथ से जो उसके दो-चार वस्त्र थे, छीन लिये और उसे नंगी करके समीप के कुँए में ढकेल दिया। उसे ढकेल कर मानिनी शर्मिष्ठा सखियों को साथ लिये हुए अपने पिता के पुर में आ गई। एक दो ने कहा भी—"कुमारी! गुरुपुत्री के साथ ऐसा

व्यवहार उचित नहीं।" उसने डाँटकर सबसे कह दिया—"अब कोई देवयानी का प्रसङ्ग ही न चलावे।" इतना कहकर वह सखियों-सहित महल में चली गई।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तब देवयानी का क्या हुआ? वह वैसे ही कूप में पड़ी रही या किसी ने उसे निकाला?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! भगवान् जो करते हैं, वह उचित ही करते हैं। देवयानी को महाराज ययाति ने कुँए से निकाला। उसका वृत्तान्त मैं आगे कहता हूँ।"

छप्पय

उलटे पुलटे वायुदेव ने पट अरु गहने।
गुरुपुत्री के वस्त्र भूलि शर्मिष्ठा पहने॥
शुक्रसुता ने कहीं बहुत अन कहनी बानी।
वृषपर्वा की सुता सुनत मन मोहिं रिसानी॥
अन्धकूप धक्का दियो, गिरी देवयानी तबहिं।
छाँड़ि विवस्त्रा कूपमहँ, आई लै पुर महँ सबहिं॥

देवयानी और ययाति

[७५६]

तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन् ।
प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह ॥
दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः ॥१

(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० १८, १९ श्लोक

छप्पय

दैवयोग तैं नृप ययाति मृगया-हित आये ।
नंगी निरखी कूप देवयानी सकुचाये ॥
दयो दुपट्टा डारि दयावश तुरत निकासी ।
दया उलटि कैं परी भूप के गर महँ फाँसी ॥
पितु ढिँग आई दुखित है, द्विज-तनया नृप वरि लये ।
सुनि घटना तनया-सहित, उशना अति दुःखित भये ॥

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शर्मिष्ठा जब घर चली गई, तब दैवयोग से मृगया करते हुए राजा ययाति वहाँ पहुँचे । जल की इच्छा से उन्होंने ज्योंही भीतर देखा, वहाँ देवयानी दिखाई दी, त्योंही दया के वश हुए राजा ने उस विवस्त्रा को अपना दुपट्टा देकर अपने हाथ से उसका हाथ पकड़कर कुँए के बाहर निकला ।"

सरल चित्त के स्त्री-पुरुष पहले तो किसी पर क्रोध करते ही नहीं। कदाचित किसी के प्रति उन्हें क्रोध हो जाय, तो कुछ देर में वह शान्त हो जाता है। उनका क्रोध पानी की लकीर के समान होता है। पानी में लकीर करते चलो, पीछे से मिटती चलेगी। कुछ ऐसे मध्यम श्रेणी के पुरुष होते हैं, जिनका क्रोध बालू के लकीर के समान होता है। कुछ देर तक तो बालू में लकीर दिखाई देती है, जहाँ वायु आई कि लकीर मिटकर बराबर हो जाती है। कुछ ऐसे क्रोधी प्रकृति के पुरुष होते हैं, जिनका क्रोध पत्थर की लकीर के समान स्थाई होता है, जो कभी मिटती ही नहीं। यदि किसी ने उनका कुछ तनिक-सा भी अपकार कर दिया, तो वे प्रति हिंसा की ज्वाला से जल उठते हैं और जीवन भर उसे स्मरण रखते हैं।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वृषपर्वा-पुत्री शर्मिष्ठा देवयानी को कुएँ में ढकेल कर चली गई। उसने समझा, देवयानी मर गई होगी, किन्तु भाग्य की बात! वह कुँआ बहुत गहरा नहीं था, न उसमें जल ही था। घास-फूस से आवृत वह अंध-कूप था। नङ्गी देवयानी उसमें, पेट में घुटने लगाकर, बैठ गई। उसके रोम-रोम से क्रोध निकल रहा था, उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की, वह शर्मिष्ठा से इसका बदला अवश्य लेगी और शर्मिष्ठा का जितना भी अपमान, जिस प्रकार भी कर सकेगी, करेगी। कुएँ में बैठी-बैठी वह क्रोध से जल रही थी, उसे कोई उपाय नहीं सूझता था।

दैवयोग से नहुष-पुत्र महाराज ययाति मृगया करते-करते उधर आ निकले। वे अपनी राजधानी से सेना तथा मन्त्रियों के साथ मृगया के निमित्त निकले थे। मार्ग में उन्होंने एक बड़ा भारी शूकर देखा। उसके पीछे उन्होंने अपना घोड़ा डाल दिया।

सेना के सभी पुरुष पीछे रह गये। एक सघन वन में जाकर वह शुक्र तो कहीं छिप गया और राजा भूख और प्यास के कारण व्याकुल हो उठे। उनका घोड़ा भी थक गया था। वे जल ढूँढ़ते ढूँढ़ते दैवयोग से उसी कुएँ में झाँकने लगे। उसमें जल तो था नहीं, एक परम सुन्दरी युवती नङ्गी बैठी हुई थी। उसके कानों के दिव्य कुण्डल सूर्य-चन्द्र के समान चमक रहे थे। उनके प्रकाश में उसका सुवर्ण वर्ण का शरीर अग्नि की राशि के समान प्रकाशित हो रहा था। इतनी सुन्दरी युवती को, कुएँ में पड़ी देखकर, राजा को आश्चर्य भी हुआ और दया भी आई। वे बोले—"सुन्दरि! तुम कौन हो? इस कूप में क्यों पड़ी हो? मैं तुम्हारा क्या उपकार कर सकता हूँ?"

कुएँ में से ही देवयानी ने कहा—"वीर! मैं असुर-गुरु भगवान् शुक्राचार्य की पुत्री हूँ। वे दाववेन्द्र वृषपर्वा के पूजनीय पुरोहित हैं। वे युद्ध में मरे हुए असुरों को अपनी मृत-संजीवनी-विद्या के प्रभाव से जिला देते हैं। राजन्! दुर्भाग्यवश मैं कूप में गिर गई हूँ। मेरे तेजस्वी-तपस्वी पिता को इसका पता नहीं। आप कृपा कर मुझे इस कूप से बाहर करें।"

यह सुनकर महाराज ययाति को आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपना उत्तरीय वस्त्र कुएँ में फेंकते हुए कहा—"सुन्दरि! तुम इस वस्त्र को अपने शरीर पर लपेट लो, मैं तुम्हें अभी कूप से बाहर करता हूँ।"

देवयानी ने राजा का रेशमी वस्त्र अपने अङ्गों में लपेट लिया। अब राजा ने घोड़े की लगाम और रस्सी को बाँधकर कुएँ में फाँसा। अब देवयानी उसे पकड़ कर चढ़ने लगी। तुरन्त राजा ने उसके सुन्दर कोमल हाथ पकड़ कर उसे कुएँ के बाहर निकाल लिया। राजा उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये थे। राजा सुन्दर

थे, युवक थे। उनका चित्त चञ्चल हो गया। फिर भी उसे ब्राह्मण पुत्री समझकर उन्होंने अपने मन को बल पूर्वक उसकी ओर से हटाना चाहा। मनुष्य के हृद्गत भाव तो छिपे रहते नहीं! देवयानी राजा के भाव को ताड़ गई। उसका भी चित्त राजा के रूप-माधुर्य में फँस चुका था। अतः वह बोली—"राजन्! तुमने मेरा पाणि ग्रहण किया है। अब जीवन भर उसे निभाना होगा।

आश्चर्य प्रकट करते हुए महाराज ययाति ने कहा—"देवि! तुम अधर्म की कैसी बात कर रही हो? सम्भव है, तुम मुझे जानती नहीं। मैं महाराज नहुष का पुत्र हूँ। ययाति मेरा नाम है। जाति का मैं क्षत्रिय हूँ। भगवान् शुक्राचार्य को मैं जानता हूँ। तुम उनकी प्यारी पुत्री हो, इसका भी मुझे पता है। मैं क्षत्रिय होकर तुम्हारे साथ विवाह कैसे कर सकता हूँ? यह जो मैंने तुम्हारा पाणि-ग्रहण किया है, वह धर्म-पूर्वक नहीं, अपितु आपत्ति काल में।"

देवयानी ने कहा—"अब चाहे, कैसे भी किया, आपने मेरा पाणि-ग्रहण तो कर ही लिया। सुकृति पुरुष अङ्गीकार किये हुए का प्रतिपालन करते ही हैं। आप शूरवीर हैं, शत्रुओं के पुर को जीतने वाले हैं, अपनी प्रतिज्ञा पर मर मिटने वाले हैं। देखिये जिस मेरे हाथ को आपने पकड़ लिया है उसे कोई दूसरा पुरुष न पकड़ने पावे।"

राजा ने कहा—"देवि! ऐसे थोड़े ही विवाह होता है, विवाह में तो मन्त्र पढ़े जाते हैं, पुरोहित हाथ पकड़वाता है। यह तो मैंने तुम्हें कुएँ में से निकालने को हाथ पकड़ा था।"

देवयानी बोली—"विवाह में पुरोहित हाथ पकड़वाता है, यहाँ भगवान् ने ही हाथ पकड़ा दिया। हमारा आपका सम्बन्ध मनुष्य-कृत नहीं, किन्तु ईश-कृत है। नहीं तो, आप ही सोचें आप

ही यहाँ क्यों आये, कोई दूसरा क्यों नहीं आया, आपने ही मेरा हाथ क्यों पकड़ा। इन सब बातों से यही समझना चाहिये कि भगवान् को यही इच्छा है। मैं निर्दोषी हूँ, मुझे मेरी सहेली ने द्वेषवश कुएँ में ढकेल दिया है। आप मुझे ग्रहण करने में किसी प्रकार की शंका न करें।

इस पर शीघ्रता के साथ राजा ने कहा—"नहीं, नहीं, मुझे तुम्हारी कुलीनता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं। तुम्हारी जैसी रूपवती युवती को पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। किन्तु मैं धर्म से डरता हूँ। क्षत्रिय होकर मैं ब्राह्मण की कन्या को कैसे ग्रहण करूँ ?"

देवयानी ने कहा—"आप इसकी तनिक भी चिन्ता न करें ऐसा तो होना ही था। कोई भी ब्राह्मण-कुमार मुझे वरण करेगा-बृहस्पति के पुत्र कच ने मुझे ऐसा ही शाप दे दिया है। मैंने भी उसे शाप दिया था। अतः पति तो मेरा कोई क्षत्रिय राजर्षि ही होता। और आज संसार में आपसे बढ़कर कुलीन, सदाचारी धर्मात्मा, यशस्वी, तेजस्वी कोई राजर्षि है नहीं! इसीलिये इसे आप विधि का विधान ही मान लें। मेरे पिता भी इस सम्बन्ध का समर्थन अनुमोदन करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कहावत है—"अन्धे, तुझे क्या चाहिये ? दो आँखें।" महाराज ययाति तो यह चाहते ही थे। राजा का मन तो उसके गोल-गोल कपोल और बड़ी-बड़ी आँखों में उलझ ही गया था। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, जब शुक्राचार्य भगवान् मुझे आज्ञा देंगे, तब तो कोई बात ही नहीं। उनकी आज्ञा का तो उल्लंघन देवराज इन्द्र भी नहीं कर सकते।" ऐसा कहकर और देवयानी से अनुमति लेकर वे अपने पुर को चले गये।

इधर जब बहुत देर तक भी देवयानी नहीं आई, तब शुक्राचार्य को चिन्ता हुई। उन्होंने देवयानी की दासी घूर्णिका से कहा—"घूर्णिके! देवयानी अभी तक नहीं आई। प्रातःकाल वह वृषपर्वा के महलों में गई थी। इतनी देर तो वह कभी लगाती नहीं थी। तू जाकर उसका समाचार तो ला।"

आचार्य की आज्ञा पाकर घूर्णिका वृषपर्वा के महलों में आई। उसने शर्मिष्ठा से पूछा। शर्मिष्ठा ने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, कह दिया—"हमको क्या पता?"

घूर्णिका की एक सहेली ने चुपके से एकान्त में सब बातें उसे बता दीं। घूर्णिका उस सरोवर के समीप के कूप के पास दौड़ी गई। वहाँ उसने राजा के रेशमी उत्तरीय को लपेटे रोती हुई देवयानी को देखा। उसे देखकर आदर और स्नेह के साथ घूर्णिका ने कहा—"गुरुपुत्री! तुम इतनी अधीर क्यों हो? चलो, जो हुआ, सो हुआ। अब तुम घर लौट चलो। आचार्य अत्यन्त ही अधीर हो रहे हैं।"

देवयानी ने कहा—"घूर्णिके! मैं वृषपर्वा के पुर में पैर न रखूँगी। तू मेरे पूजनीय पिता को जाकर सब वृत्तान्त बताना और मेरे निश्चय को भी कह देना।"

घूर्णिका तुरन्त ही लौटकर शुक्राचार्य के समीप गई और उन्हें आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त बताकर कह दिया—"शर्मिष्ठा ने तो प्राण लेने के निमित्त ही उसे कुएँ में गिरा दिया था। वह भाग्यवश बच गई। नहुष-नन्दन राजर्षि ययाति ने हाथ पकड़ कर उसे बचा लिया।"

अपनी पुत्री की ऐसी दुर्दशा सुनकर शुक्राचार्य की आँखों में आँसू आ गये। वे तुरन्त अपने पुत्री से मिलने घूर्णिका के साथ चल पड़े। दूर से ही अपने पिता को आते देखकर देवयानी रोने

लगी। शीघ्रता से शुक्र ने जाकर अपनी प्यारी पुत्री को छाती से चिपटा लिया, उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"बेटी! इतनी अधीर मत हो। दुःख सुख सदा भाग्य से ही होते हैं। पूर्व जन्म का तेरा कोई ऐसा ही अनिष्ट रहा होगा। वह भोग से समाप्त हो गया। तू किसी को दोष मत दे, यह सब तो प्रारब्ध का खेल है।"

देवयानी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"चाहे जिस कारण यह दुःख मुझे हुआ, मैं वृषपर्वा के पुर में अब पैर न रखूँगी, यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है।"

शुक्राचार्य बोले—"देखो, बेटी! हठ नहीं करना चाहिये। कौन किसी को सुख दुःख दे सकता है? सब जीव स्वकर्म-सूत्र से आबद्ध होकर समस्त चेष्टायें करते हैं। संसार में सबसे बड़ा शत्रु क्रोध है। बुद्धिमान् पुरुष को कभी क्रोध के वशीभूत न होना चाहिये।"

देवयानी ने कहा—"पिताजी! मुझे अपने अपमान से उतना क्रोध नहीं है। वृषपर्वा की पुत्री ने आपको स्तुतिकर्ता, भिखमङ्गा, याचक और दान लेने वाला बताया है। यदि आप असुरों की स्तुति करके उनसे दान लेकर जीविका चलाते हैं, तो मैं इस वृत्ति को नहीं चाहती। यह घोर अपमान है।"

शुक्राचार्य ने हँसकर कहा—"नहीं, बेटी। मैं किसकी स्तुति करता हूँ। उलटे सभी असुर ही मेरी स्तुति करते हैं। मैं किसी के सम्मुख हाथ नहीं फैलाता। असुर ही सदा मेरी सेवा में संलग्न रहते हैं। मैं स्वर्ग तथा पृथ्वी का स्वामी हूँ। इन्द्र और ययाति भी मेरे प्रभाव को जानते हैं। शर्मिष्ठा ने क्रोध में भरकर कुछ कह दिया होगा। तू अब क्रोध का परित्याग कर दे, शर्मिष्ठा के अपराधों को क्षमा कर दे।"

देवयानी ने कहा—"पिताजी ! मैं शर्मिष्ठा को कभी क्षमा नहीं कर सकती। उसके प्रति मेरा जो क्रोध हुआ है, वह कभी भी शान्त न होगा।

शुक्राचार्य ने अत्यन्त ही ममता के साथ प्रेम पूर्वक कहा—ना, बेटी ! ऐसा नहीं। क्रोध पाप का मूल है। जिसने क्रोध को जीत लिया, उसने सब को जीत लिया। पर यह सब का काम नहीं है। एक सहस्र वर्ष की तपस्या और एक बार का जीता हुआ क्रोध—दोनों में क्रोध का जीतना ही श्रेष्ठ है। जो दूसरों की, की हुई निन्दा को सह लेता है, उत्तर में निन्दकों का निन्दा नहीं करता, जो पीड़ा पहुचाने वाले से भी प्रेम करता है, दुःख देने वाले को भी क्षमा कर देता है, वह अक्षय लोकों का अधिकारी होता है। लड़के लड़की आपस में लड़ते ही रहते हैं। इसमें बड़ों को सम्मिलित न होना चाहिये।"

देवयानी ने कहा—"पिताजी ! आप तो इन अधम असुरों का पक्षपात करते हैं। ये सदा दुष्टता ही करते रहते हैं। देखिये, कच को इन्होंने अकारण तीन बार मार डाला। आपके पेट में इन्होंने उसे पहुँचा दिया, यह भी न सोचा, इससे गुरु का अनिष्ट होगा। ये सब बड़े स्वार्थी हैं, क्रूर हैं। इन्हें अपने बल पराक्रम का बड़ा अभिमान है। इसी अभिमान के वशीभूत होकर शर्मिष्ठा ने मुझसे ऐसी न कहने योग्य बातें कहीं और मुझे कूप में ढकेल दिया। ऐसे जीवन से तो मर जाना ही अच्छा। मैं इन अभिमानियों के पुर में पर भी न रहूँगी। सब कुछ क्षमा कर सकती हूँ, किन्तु शर्मिष्ठा ने जो मेरा घोर अपमान किया है, उसे मैं जीवन पर्यन्त क्षमा नहीं कर सकती। आप तो इन असुरों को मरने पर जिलाते हैं, ये हमें मारने के लिये ही सदा उद्यत रहते हैं। सर्पों को चाहे जितना भी दूध पिलाइये, उससे उनका विष ही बढ़ेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! शुक्राचार्यजी तो अपनी कन्या के अधीन थे। वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। अतः वे बोले—"हाँ, इन दुष्टों की सेवा करनी व्यर्थ है। यह पौरोहित्य कार्य ही निन्दनीय है। अपने तो ब्राह्मण ठहरे। दाना-दाना बीन-कर उसी पवित्र अन्न से निर्वाह करेंगे। अच्छा, चल, मैं भी इन असुरों की पुरी को छोड़ता हूँ।" यह कहकर वे अपनी पुत्री के कन्धे पर हाथ रखकर चल दिये।

छप्पय

भृगुसुत कीन्हीं शान्त न मानी सुता हठीली।
लाड़-प्यार महँ पली लड़ैती अति गरवीली॥
पुत्री हठ कूँ मानि त्यागि वृषपर्वा पुर कूँ।
चले सुता सँग शुक्र त्यागि नृप शिष्य असुर कूँ॥
सुनि सब सुर हरषित भये, असुरनि के छक्के छुटे।
यदि गुरु तजि सुरपुर गये, तो अघबरमहँ हम लुटे॥

—★—

शर्मिष्ठा देवयानी की दासी बनी

[७५७]

स्वानां तत् सङ्कटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम् ।
देवयानीं पर्यचरत् स्त्रीसहस्रेण दासवत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

पुत्री सँग गुरु जहाँ, तहाँ सब दानव आये ।
गुरु चरननि महँ परे विविध विधि शुक्र मनाये ॥
शांत भये गुरु कहें-सुता कूँ नृपति ! मनाओ ।
सुनि नृप पैरनि परे देवि ! अब लाज बचाओ ॥
दासी शर्मिष्ठा बने, गुरु-पुत्री बोली—कहूँ ।
सब सेवा सादर करै, सहस सखिन सँग जहँ रहूँ ॥

लाड़-प्यार जब पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, तब वह अनर्थ की सृष्टि करता है। प्रेम में पक्षपात हो जाना स्वभाविक है, किन्तु विवेकी पुरुष अधिक हठ नहीं करते। वे भाग्य-भरोसे मान-अपमान भूल जाते हैं। जिसका अपने शरीर के ही प्रति ममत्व है, अपने आपको ही जो सुखी बनाये रखना चाहता है,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शर्मिष्ठा ने जब अपने समस्त सम्बन्धियों पर संकट आते देखा, तब वह उनके कार्य के गौरव को समझ कर सहस्र सखियों-सहित दासी के समान देवयानी की सेवा करने लगी।"

वह दूसरों से क्या प्रेम करेगा ? प्रेम में तो प्यारी-से प्यारी वस्तु का भी बलिदान करना होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब शुक्रपुत्री देवयानी ने असुरों की अत्यन्त बुराई की, शुक्राचार्य के मन में यह बात बैठ गई—"ये असुर बड़े स्वार्थी हैं। इनकी हमारे प्रति श्रद्धा नहीं। कुछ श्रद्धा-प्रेम प्रकट भी करते हैं, तो केवल स्वार्थ-सिद्धि के ही लिये। इन दुष्टों को त्याग ही देना चाहिये।" यह सोचकर वे देवयानी से बोले—"बेटी ! यद्यपि मैं यहाँ का आचार्य हूँ, सब मेरी प्रतिष्ठा करते हैं, फिर भी यह पौरोहित्य-वृत्ति अत्यन्त निन्दनीय तथा गर्ह्य है। हम ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठ वृत्ति तो यही है कि पक्षी की भाँति कहीं भी पड़ रहें, दाना-दाना चुन-चुन कर पेट भर लिया करें। संग्रह से—धनिकों के आश्रय से—ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है। प्राणों को धारण करना है, तो घी-दूध मलाई से भी उनकी रक्षा हो सकती है, और स्वच्छन्द वन में उत्पन्न शाक-पात से भी। फिर इस पापी पेट के लिये इतने पाप क्यों करें ? यजमान पुरोहित को पाप ही पाप तो देता है। इसलिये मैं भी अब इन असुरों के साथ रहना नहीं चाहता। चलो कहीं एकान्त में प्रभु की आराधना करें।"

यह सुनकर देवयानी परम प्रसन्न हो अपने पिता के साथ चलने लगी। इधर क्षणभर में यह बात सर्वत्र फैल गई, कि शुक्राचार्य ने असुरों का परित्याग कर दिया। अब क्या था ? सर्वत्र हलचल मच गई। देवता यह सुनकर अत्यन्त ही हर्षित हुए। उन्होंने वृषपर्वा के ऊपर चढ़ाई करने की तैयारियाँ कर दीं। असुरों के छक्के छूट गये। वृषपर्वा सुनते ही नंगे पैरों दौड़े आये। उन्होंने देखा, देवयानी के सहित दंड-कमंडलु लिये शुक्राचार्य वन की ओर जा रहे हैं आते ही वृषपर्वा आचार्य के चरणों

में गिर गया। सब असुर भी गुरु को घेर कर खड़े हो गये। देवयानी उनसे हटकर सघन वृक्ष की छाया में खड़ी हो गई।

शुक्राचार्य ने हाथ जोड़े दैत्यों को देखकर पूछा—"तुम लोग क्या चाहते हो?"

वृषपर्वा ने कहा—"गुरुदेव! हम आपकी कृपा चाहते हैं। आप नंगे पैरों पैदल ही पुत्री-सहित कहां पधार रहे हैं?"

शुक्राचार्य बोले—"जहाँ मेरी इच्छा होगी, वहाँ जाऊंगा। मैं तुम नीचों के समीप नहीं रहूँगा। तुम लोग कृतघ्न हो, स्वार्थी हो, दुष्ट हो, तुम्हारे राज्य में अब मैं नहीं रहूँगा।"

वृषपर्वा ने दीनता के स्वर में कहा—"क्यों प्रभो! हमसे ऐसा कौन-सा अपराध बन गया? हमने तो अपने जानने में आपके विरुद्ध कोई भी आचरण नहीं किया।"

दाँत पीसकर शुक्राचार्य बोले—"मुझसे अपराध पूछते हो? धर्मज्ञ, गुरु सेवा परायण, सदाचारी मेरे शिष्य कच को, जो अङ्गिरा का पौत्र और बृहस्पति का पुत्र था, तुम लोगों ने तीन-तीन बार मार डाला। क्या यह मेरे साथ विश्वासघात नहीं है? उसकी राख को सुरा के साथ मुझे पिला दिया। क्या यह मेरे प्रति श्रद्धा का द्योतक है? आज तुम्हारी पुत्री ने मेरी पुत्री को मार ही डाला था, भाग्यवश बच गई। क्या यही तुम्हारी गुरु-भक्ति है? ऐसे निर्दयी, क्रूर, हत्यारे पुरुषों के साथ मैं रह नहीं सकता।"

वृषपर्वा ने कहा—"गुरुदेव! आप धर्मात्मा, सदाचारी, सत्यवादी और सर्वज्ञ हैं, हम सबके स्वामी और जीवन-दाता हैं। बालकों से तो अपराध बन ही जाता है। बड़े लोग सदा उन्हें क्षमा करते ही रहते हैं। हे गुरुवर्य! आपके बिना हमारी कोई गति नहीं है।"

शुक्राचार्य ने कहा—"मुझे इससे क्या प्रयोजन ? जब तुम लोग हमारे विरुद्ध आचरण करते हो, तब हम तुम्हारे समीप रह कर क्या करेंगे ? जब तुम हमें भिक्षुक और आश्रित समझते हो तब हम सम्मान पूर्वक तुम्हारे यहाँ कैसे रह सकते हैं ?"

कानों पर हाथ रखकर वृषपर्वा ने कहा—"प्रभो ! आप कैसी बात कह रहे हैं ? मेरे राज्य, धन, कोष, सेना, परिवार तथा शरीर के स्वामी आप ही हैं। मेरा सर्वस्व आपका है। मैं आपका शिष्य, सेवक, दास, आश्रित और अनुचर हूँ।" ब्राह्मण का क्रोध तो क्षणभर का होता है। वृषपर्वा को रोते गिड़गिड़ाते देखकर क्षणार्धमन्यु भगवान शुक्र प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! सच्ची बात तो यह है, कि यह देवयानी मुझे प्राणों से अधिक प्यारी है। इसे मैं दुःखी नहीं देख सकता। यदि तुम मुझे यहाँ रखना चाहते हो, तो जैसे भी हो, वैसे इसे प्रसन्न कर लो। मैं तो प्रसन्न हूँ ही।"

अब वृषपर्वा को भरोसा हुआ। उसने आचार्य के चरणों को छोड़कर गुरु-पुत्री के पैर पकड़े और दीन होकर बोला—"बहन ! हमारा जीवन तुम्हारे अधीन है। तुम चाहो तो हम सबको प्राणदान दे सकती हो और चाहो तो हमारा सर्वनाश कर सकती हो।"

देवयानी ने कहा—"राजन् ! हम तो तुम्हारे घर की भिखारिन हैं, तुम्हारे टुकड़ों पर पलती हैं।"

वृषपर्वा ने कहा—"बहन ! तुम ऐसी बात मुख से मत निकालो। तुम हम सबकी स्वामिनी हो। हमारा सर्वस्व तुम्हारा है।"

देवयानी ने कहा—"क्या यह तुम सत्य बात कह रहे हो ?"

वृषपर्वा ने कहा—"सर्वथा सत्य। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं, बनावट नहीं।"

देवयानी बोली—"तो, फिर मैं तुमसे जो कहूँगी, उसे तुम मानोगे ?"

दृढ़ता के स्वर मे वृषपर्वा ने कहा—"अवश्य। इसमे आप तनिक भी शंका न करें।"

देवयानी ने कहा—"यदि शर्मिष्ठा जीवन-भर मेरी दासी बनकर रहने को तैयार हो, तो मैं पिता-सहित तुम्हारे पुर मे चल सकती हूँ।"

हँसकर वृषपर्वा ने कहा—"गुरु-पुत्री ! इसमे तो तुमने कोई नई बात कही नहीं। जब मैं स्वयं ही तुम्हारा दास हूँ, तो पुत्री की तो बात ही क्या ?"

देवयानी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"देखिये, राजन् ! ये सब तो हैं शिष्टाचार की बातें। बात यह है कि अपनी सहस्र सखियों के साथ शर्मिष्ठा मेरी दासी बनकर रहे, मेरे पिता जहाँ भी मेरा विवाह करें, वहाँ भी जीवन-पर्यन्त वह मेरे ही साथ रहे।"

अब तो वृषपर्वा का माथा ठनका। विषय बड़ा गम्भीर था। शर्मिष्ठा अत्यन्त लाड़-प्यार मे पली थी, पिता की प्राणो से प्यारी पुत्री थी। वह अत्यन्त सुकुमारी और मानिनी थी। उससे जीवन-भर दासता कैसे होगी ?'—राजा इसी चिन्ता मे मग्न हो गये। किन्तु करते क्या ? उधर देवता उनके सिर पर चढ़े हुए थे, उन पर आक्रमण करने को उद्यत थे। 'अब वे मृतसंजीवनी विद्या भी सीख गये हैं। शुक्राचार्य चले गये, तो हमारा सर्वनाश ही हो जायगा।'—यही सोचकर वृषपर्वा ने शर्मिष्ठा की धाय को बुलाया और उससे कहा—"धाय ! तुम अभी जाओ, शर्मिष्ठा को यहाँ ले आओ। सम्पूर्ण कुल को सङ्कट से बचाना अब उसी के हाथ है।"

धाय राजा की आज्ञा पाकर, तुरन्त अन्तःपुर में जाकर, शर्मिष्ठा से बोली—"शर्मिष्ठा ! आज तेरे ऊपर अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण कार्य-भार आ पड़ा है। शुक्राचार्य सभी असुरों को छोड़ जा रहे हैं। इधर देवता असुरों पर चढ़ाई कर रहे हैं। देवयानी इस हठ पर अड़ी हुई है कि शर्मिष्ठा सहस्र सखियों सहित जब तक मेरी दासी न बनेगी, तब तक मैं नगर में पैर न रखूँगी। शुक्राचार्य देवयानी को कितना प्यार करते हैं, यह बात तुमसे अविदित नहीं। उसे छोड़कर शुक्राचार्य कभी पुर में लौट नहीं सकते। अब तुम्हें जो उचित जान पड़े वह करो।"

शर्मिष्ठा सोच में पड़ गयी। वह राजपुत्री थी, बुद्धिमती थी। आगे-पीछे, ऊँच-नीच का उसे बोध था। वह विचारने लगी—'यदि मैं भी हठ पर अड़ती हूँ, तो शुक्राचार्य अवश्य ही असुरों को छोड़ कर चले जायँगे। इससे मेरी सम्पूर्ण जाति पर आपत्ति आ जायगी। यदि मैं अकेले दासी बन जाती हूँ, तो मेरा समस्त कुल बच जाता है। इसके लिये एक का बलिदान भी हो जाय, तो वह सर्वोत्कृष्ट बलिदान माना जायगा।" यह सोचकर उसने दासी बनने का मन में दृढ़ निश्चय कर लिया। वह तुरन्त सहस्र सखियों-सहित शिविका में सवार होकर अपने पिता के समीप गई। वहाँ उसने देखा, सभी असुर हाथ जोड़े उदास खड़े हैं। उसके पिता वृषपर्वा देवयानी के पैर पकड़े रो रहे हैं। शुक्राचार्य एक ओर बैठे हैं। भृकुटियाँ को चढ़ाये हुए क्रुद्ध सिंहनी की भाँति देवयानी चुपचाप बैठी है। शर्मिष्ठा ने जाते ही देवयानी के पैर पकड़े और विनीत भाव से कहा—"जीजी ! मेरे अपराधों को क्षमा करो। मेरे पिता पर प्रसन्न हो जाओ। असुरों को अभय प्रदान करो। मैं जीवनपर्यन्त तुम्हारी दासी बनकर रहूँगी। तुम्हारे पिता जहाँ भी तुम्हारा विवाह करेंगे,

दो सहस्र दासियों के सहित मैं भी तुम्हारी सेवा मे पीछे-पीछे चलूँगी।"

हँसकर देवयानी ने कहा—"राजपुत्री! तुम तो सम्राट् की पुत्री हो, मैं तो एक स्तव करने वाले भिक्षुक की पुत्री हूँ। तुम मेरी सेवा कैसे कर सकती हो?"

लज्जित होकर शर्मिष्ठा ने कहा—"बहन! वे सब बातें मैंने क्रोध मे कही थीं। उनके लिये मैं दुःखी हूँ। मैं अपनी पराजय और तुम्हारी जय स्वीकार करती हूँ। मैं धर्मपूर्वक निष्कपट भाव से जीवन-पर्यन्त तुम्हारी दासी बनकर रहूँगी।" इतना सुनते ही देवयानी प्रसन्न हो गई। उसने जाकर अपने पिता के पैर पकडे और प्रसन्नता प्रकट करती हुई बोली—"पितृदेव! यथार्थ मे आप असुरो की समस्त सम्पत्ति के स्वामी हैं। हे द्विजवर्य! आपकी शक्ति अमोघ है। आपकी विद्या और विज्ञान का बल अचिन्त्य है। आपने मेरा प्रण पूरा कराया। अब मैं प्रसन्नतापूर्वक वृषपर्वा के पुर मे चल सकती हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर सभी को प्रसन्नता हुई। महायशस्वी द्विजवर शुक्राचार्य अपनी पुत्री सहित पुर की ओर चले। शर्मिष्ठा सहस्र सखियों के सहित दासी की भाँति देवयानी का अनुगमन करने लगी। सब असुर भी हाथ जोडे उनके पीछे चल पडे इस प्रकार देवयानी पुनः अपने घर में आई। अब शर्मिष्ठा देवयानी के ही यहाँ रहकर दासी की भाँति समस्त कार्य करने लगी।"

छप्पय

सुनि वृषपर्वा तुरत बुलाई सुता दुलारी।
बन्धु विपति सुनि असुरकुमारी बात विचारी॥
यदि दासी हौं बनूँ निरापद होवें परिजन।
परस्वारथ महँ लगे वही बड़ भागी है तन॥
गुरु-पुत्री पद पकरि कै, बोली दासी बनूँगी।
जहाँ विवाहें पिता तव, तहाँ संग ही चलूँगी॥

देवयानी का ययाति के साथ विवाह

[७५८]

नाहुषाय सुतां दत्त्वा सह शर्मिष्ठयोशना ।
तमाह राजञ्छर्मिष्ठामाधास्तल्पे न कर्हिचित् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १८ अ०, ३० श्लो०)

छप्पय

शर्मिष्ठा नृप-सुता देवयानी की दासी ।
बनी, असुर भय-रहित भये, परि चित्त उदासी ॥
प्रतिहिंसा महँ पगी देवयानी इतरावै ।
शर्मिष्ठा तैं सदा चरन-सेवा करवावै ॥
वाही वन महँ एक दिन, पुनि ययाति आये नृपति ।
गुरु-पुत्री प्रस्ताव पुनि, कर्यो, देव ! अब होहु पति ॥

संस्कार दो प्रकार के होते हैं, एक तो साधारण, दूसरे प्रबल । हमारा मार्ग में किसी उत्सव-पर्व के अवसर पर किसी से सम्मिलन हुआ । परस्पर प्रेम हो गया, दोनों एक-दो दिन साथ रहे । वे भी हमें भूल गये, हम भी उन्हें भूल गये । यह साधारण संस्कार है । दूसरा प्रबल संस्कार यह है कि जिनसे एक बार भेंट हुई,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! तदनन्तर शुक्राचार्यजी ने शर्मिष्ठा के सहित अपनी कन्या ययाति को देते हुए कहा—"राजन् ! इस शर्मिष्ठा को तुम अपनी पर्यङ्कशयनी कदापि मत बनाना ।"

प्रेम हो गया, वे भुलाने से भी न भूलें, हमारे जीवन में घुल-मिल जायँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवयानी को कूप से निकालकर राजा ययाति अपनी राजधानी को चले गये, किन्तु वे देवयानी के मनोहर रूप को, उसके सुखद स्पर्श को न भूल सके। मृगया के व्याज से कभी-कभी अवसर पाकर महाराज ययाति उस सरोवर के समीप आते किन्तु उन्हें वह सुन्दरी दिखाई नहीं देती। शुक्राचार्य से प्रस्ताव करने का उनका साहस न होता। ये ब्राह्मण विष और अग्नि से भी भयंकर होते हैं। विष को जो खाता है, वही मरता है; अग्नि जल से शान्त भी हो जाती है; किन्तु कुपित हुआ ब्राह्मण सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर देता है। राजा जानते थे कि इन्हीं शुक्राचार्य की कन्या के साथ राजा दण्डक ने बलात्कार किया था। इसके परिणाम स्वरूप उनका सहस्रों कोस लम्बा राज्य नष्ट होकर दण्डकारण्य बन गया। तप्त बालू के बरसने से दण्डक के राज्य के सभी जीव-जन्तु, वृक्ष तृण, आदि जलकर भस्म हो गये। इसीलिये शाप के भय से ययाति शुक्राचार्य के सम्मुख जाते भी नहीं थे।

इधर देवयानी ने भी दृढ़ निश्चय कर लिया था कि मैं विवाह करूँगी, तो राजर्षि ययाति के साथ। वह बार-बार इस बात को अपने बाप से कहना चाहती थी, पर उसका भी साहस नहीं होता था। देवयानी अब विवाह-बन्धन में बँधने के लिये अत्यन्त ही उत्सुक हो रही थी।

एक दिन उसका मन बड़ा अनमना-सा हो उठा। राजर्षि ययाति की उसे रह-रहकर याद आने लगी। उसने अपनी दासियों को आज्ञा दी—"आज हम उपवन में भ्रमण के निमित्त चलेंगी।" फिर क्या था? तैयारियाँ होने लगीं। पालकी में

चढ़कर देवकुमारी के सदृश देवयानी चली। उसकी सेवा में सहस्र सखियों के सहित दैत्यपुत्री शर्मिष्ठा भी चली। वन में पहुँचकर खा-पीकर देवयानी एक सुन्दर-स्वच्छ शय्या पर सुख-पूर्वक शयन करने लगी। उसके समीप सहस्रों सखियाँ बैठ गईं। कोई पान खिलाने लगी, कोई पीकदान उठाने लगी, कोई पंखा झलने लगी। शर्मिष्ठा शनैः शनैः उसके तलुओं को सहलाने लगी। उसी समय संयोग-वश राजर्षि ययाति भी वहाँ आ पहुँचे। ययाति को देखकर देवयानी का रोम-रोम खिल उठा। वह सम्भ्रम के सहित अपनी शय्या से सखियों-सहित उठकर खड़ी हो गई। राजा ने शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए कहा—"क्षमा कीजिये, मैंने आपके बीच प्रवेश करके बड़ा अनुचित कार्य किया, आपके आमोद-प्रमोद और आनन्द-आराम में विघ्न डाला।"

देवयानी ने कहा—"नहीं, पुरुषसिंह! आपके आने से हम सबको परम सुख हुआ। आइये, यह आसन ग्रहण कीजिये, कुछ काल विश्राम कीजिये।"

राजा ने अनजान की भाँति कहा—"आपके मधुर वचनों से ही मेरा सब सत्कार हो गया। आप कौन हैं और इस वन में किस कारण विचरण कर रही हैं?"

देवयानी ने कहा—"राजन्! मुझे आप भूल गये क्या? मैं असुर-गुरु भगवान् शुक्राचार्य की प्यारी पुत्री हूँ।"

अत्यन्त सुन्दरी राजकुमारी शर्मिष्ठा को देखकर शंकित चित्त से राजा ने पूछा—"यह देव-कन्या के समान सुन्दरी कौन है?"

हँसते हुए देवयानी ने कहा—"राजन्! इससे आप किसी प्रकार का संकोच न करें। यह वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा है। अपने पूज्य पिता के प्रभाव से यह जीवन-पर्यन्त मेरी दासी हो गई

है। जहाँ मैं विवाह करके जाऊँगी, वहाँ यह भी मेरे साथ ही मेरी सेवा में जायगी।"

यह सुनकर राजा को संतोष हुआ। उन्होंने आश्चर्य के साथ पूछा—"यह राजकुमारी दासी क्यों हुई?"

देवयानी ने कहा—"राजन्! आपने मुझे उस दिन कूप से निकाला था, मेरा पाणिग्रहण किया था। इसी ने मुझे उस अंधकूप में ढकेल दिया था। उसी के दण्ड-स्वरूप यह मेरी दासी हुई है। अब आप अपने उस वचन को सत्य कीजिये, मेरा विधिपूर्वक पाणि-ग्रहण कीजिये।"

राजा ने कहा—"सुन्दरि! मुझे पाणिग्रहण करने में तो कोई आपत्ति नहीं किन्तु मैं तुम्हारे तेजस्वी-तपस्वी सर्वसमर्थ पिता से अत्यंत डरता हूँ। वे अपने योग-प्रभाव से मृतकों को जीवित कर देते हैं, राजाओं को धूल में मिला देते हैं। उनसे मैं इस अनुचित सम्बन्ध के लिये प्रस्ताव कैसे कर सकता हूँ? कहावत है—

राजा योगी अग्नि जल, इनकी उल्टी रीति।
बचते रहियो परशुराम जी, थोड़ी राखो प्रति॥

यह सुनकर देवयानी हँस पड़ी और बोली—"राजन्! आप मेरे पिता को जैसा हौआ समझते हैं, वैसे वे नहीं हैं। पृथ्वी पर आप सर्वश्रेष्ठ राजर्षि हैं। वे इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लेंगे। अच्छा, आप याचना न करें। वे स्वयं आपको मुझे दे दें, तब तो आप मानियेगा?"

राजा ने कहा—"हाँ उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर ही कौन सकता है?" यह सुनकर देवयानी ने अपनी दासी के द्वारा शुक्राचार्य को बुलाया। बेटी का सन्देश पाकर आचार्य-प्रवर शुक्र वहाँ आये। इन्हें देखकर राजा ने इनकी चरण-वन्दना की

और हाथ जोड़कर सिर झुकाये विनीत भाव से इनके सम्मुख खड़े हो गये। तब देवयानी ने कहा—"पिताजी! ये नहुष-नन्दन परम धर्मात्मा राजर्षि ययाति हैं।"

शुक्राचार्य ने कहा—"बेटी! मैं इन्हें बाल्यकाल से जानता हूँ। पृथ्वी में इनके समान धर्मात्मा, भगवद्भक्त, दूसरा कोई भी राजा नहीं। जैसे स्वर्ग में इन्द्र हैं, वैसे ही पृथ्वी पर ये हैं।"

देवयानी ने अत्यन्त ही दुलार के साथ कहा—"पिताजी! उस दिन इन्हीं राजर्षि ने मेरा हाथ पकड़ कर मुझे कुएँ से निकाला और इन्होंने मुझे जीवन-दान दिया था। अब आप उचित समझें तो इन्हें ही मेरा जीवन-संगी बना दें।"

यह सुनकर शुक्राचार्य गम्भीर हो गये। राजा मारे डर के थर-थर काँप रहे थे। कुछ देर ध्यान करने के अनन्तर भगवान् शुक्राचार्य बोले—"बेटी! भाग्य को कौन मेट सकता है। बृहस्पति-पुत्र कच का शाप अन्यथा कैसे हो सकता है? कोई ऋषिकुमार तो तुझे वरण करेगा नहीं। किसी राजर्षि के साथ ही तेरा विवाह करना है। पृथ्वी पर ययाति से बढ़कर धर्मात्मा दूसरा कोई राजर्षि है नहीं। अतः मैं तेरे इस प्रस्ताव का अनुमोदन करता हूँ।" यह सुनकर देवयानी परम प्रमुदित हुई। राजा का भी भय जाता रहा। उन्होंने आचार्य की चरण-धूल लेकर सिर पर चढ़ाई। पुत्री-सहित राजा को लेकर शुक्राचार्य नगर में आये।

महाराज वृषपर्वा ने जब सुना कि शुक्राचार्य अपनी सुता का विवाह राजर्षि ययाति से करेंगे, तब तो उन्हें परम हर्ष हुआ। नगर-भर में विवाह के बाजे बजने लगे। चारों ओर धूम-धाम मच गई। मधुर-मधुर वीणा की ध्वनि से सबके चित्त हर्षित हो उठे। वृषपर्वा ने गुरु-पुत्री के विवाह के उपलक्ष्य में भाँति-भाँति के वस्त्र,

आभूषण, हाथी, घोड़े, रथ, दास-दासियाँ तथा गृहस्थोपयोगी अनेकों वस्तुएँ दान में दीं।

शुक्राचार्य ने शर्मिष्ठा के सहित देवयानी को राजा के हाथों में देते हुए कहा—"राजन्! यह मेरी पुत्री है और यह शर्मिष्ठा वृषपर्वा की पुत्री है। दोनों का तुम दान-मान से भली-भाँति सत्कार करना। दासी समझकर राजपुत्री शर्मिष्ठा का भी कभी अपमान न करना। किन्तु एक बात सदा स्मरण रखना, इसे कभी अपनी पर्यङ्कशयिनी न बनाना।"

राजा ने आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य की। गुरु ने पुत्री और जामाता को आशीर्वाद दिये। जाते समय देवयानी के नेत्रों से आँसू टपक रहे थे। वह अपने पिता से लिपट कर फूट-फूट कर रो रही थी। शुक्राचार्य की भी समस्त मोह-ममता बटुर कर देवयानी में ही घनीभूत हो गई थी।

आज वह पतिगृह जा रही है, इससे उनका भी हृदय भर रहा था। वे बार-बार कौशल से आँसू पोंछते और भर्राई हुई वाणी में कहते—"बेटी! रोते नहीं हैं। पिता कन्या को दूसरे के लिये ही पालता है। किसी न किसी दिन तो उसे कन्या को दूसरे के हाथ सौंपना ही पड़ता है। मुझे इसी का सन्तोष है, तू बड़े घर में जा रही है। ऐसे राजर्षि ने तेरा पाणि ग्रहण किया है, जिससे शक्र भी स्पर्द्धा रखते हैं। भगवान् तेरा कल्याण करें। तेरा मार्ग सुख प्रद हो। तू जा।" यह कहकर उन्होंने पुत्री को विदा किया शर्मिष्ठा भी दो सहस्र दासियों के सहित देवयानी की सेवा करने उसके पीछे-पीछे चली। सभी सकुशल पुर में पहुँच गये।

राज पुत्री शर्मिष्ठा देवयानी से अधिक सुन्दरी थी। स्त्रियों को इस बात की बड़ी चिन्ता रहती है, कि मेरा पति किसी अन्य

से प्रेम न करने लगे। इसके लिये वे यन्त्र-मन्त्र जादू टोना और न जाने क्या-क्या करती रहती हैं देवयानी को भी शंका हो गई कि निरन्तर पास रहने से ऐसा न हो कि राजा का मन शर्मिष्ठा में फँस जाय। इधर राजा को भी डर था कि मेरा चित्त चञ्चल न हो जाय, जिससे मुझे शुक्राचार्य के सम्मुख झूठा बनना पड़े। अतः उन्होंने महल से दूर अशोका वाटिका के भव्य भवनों में शर्मिष्ठा के रहने का पृथक् प्रबन्ध कर दिया। देवयानी ने भी इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। अब राजा धर्म पूर्वक रह कर आनन्द-विहार करने लगे। देवयानी ऐसे धर्मात्मा राजर्षि पति को पाकर परम सन्तुष्ट हुई।

छप्पय

नृप शङ्का कछु करी देवयानी समुझाये।
नृप कूँ निर्भय करन तुरत पितु शुक्र बुलाये॥
अनुमोदन पितु करयो साज सखियनि ने साजे।
कड़क-कड़क-धुँ लगे ब्याह के बाजन बाजे॥
शर्मिष्ठा सँग सुता दै, बोले—पितु पावें न दुःख।
दोऊ आदर पाइँ, परि, शर्मिष्ठा नहिँ सेज सुख॥

धर्म-संकट में महाराज ययाति

[७५६]

विलोक्यौशनसीं रजञ्छर्मिष्ठा सप्रजां क्वचित् ।
तमेव वव्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सती ॥*

(श्री भा ९ स्क० १८ अ ३१ श्लोक)

छप्पय

ले शर्मिष्ठा सङ्ग देवयानी कूँ भूपति ।
आये पुर महँ हरषि मनायो प्रजा मोद अति ॥
शुक्र-सुता कूँ सदा शील सर सरित घुमावें ।
सरस हास परिहास करें अति सुख सरसावें ॥
पुत्रवती उशना सुता, कछुक काल महँ ह्वै गई ।
शर्मिष्ठा ह्वै ऋतुमती, नृप-सङ्गम इच्छुक भई ॥

धर्म प्राणियों की स्वाभाविक इच्छाओं को नियन्त्रण में रखता है। यदि इच्छाओं को उन्मुक्त कर दिया जाय, पुरुषों पर धर्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नियन्त्रण न रहें, तो पुरुष

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! किसी समय जब शर्मिष्ठा ने देवयानी को पुत्रवती देखा, तब उसने भी ऋतु-स्नान के अनन्तर अपनी सखी के पति महाराज ययाति से एकान्त में वीर्यदान की प्रार्थना की।"

पशुओं से भी गये बीते हो जायँ। पशुओं मे भी एक स्वभाविक नियन्त्रण होता है। अऋतुमती गाय भैंस के निकट उनका नर न जायगा। एक पुरुष ही ऐसा जन्तु है, जो समस्त बन्धनो को तोड़-कर उन्मुक्त होना चाहता है। इसी से इसके लिये, धर्म की अत्यन्त आवश्यकता है। अनेक बन्धनो से छूटने के लिये, अनेक भयों से पार होने के लिये नियम के बन्धनो बँधता है। सुखी होने के लिये वह भाँति-भाँति की प्रतिज्ञा करता है। किन्तु अन्त मे नियमों को तोड़ने मे ही उसे परम सुख प्रतीत होता है। प्रतिज्ञायें पालन करने के लिये की जाती हैं, किन्तु मनुष्य विवश होकर वासना के वशीभूत होकर, धर्म-सङ्कट उपस्थित होने पर उन्हें तोड़ता है और परिणाम मे दुःख पाता है। इसे दिष्ट, प्रारब्ध, दैवेच्छा, भाग्य होनहार तथा कर्मगति—कुछ भी कह लें। जब मनुष्य के सामने दो ऐसे विरोधी धर्म आ जाते हैं, जो दोनों ही आवश्यक होते हैं, तब मनुष्य उसी ओर लुढ़क जाता है, जिस ओर उनके मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसे मानसिक दुर्बलता कहें या विधि का विधान ? इसका निर्णय कौन करे ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अपनी राजधानी मे आकर महाराज ययाति धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। उनके राज्य मे समय पर वर्षा होती थी, सभी औषधियाँ समय पर फलती-फूलती थीं। उनके राज्य मे चोरों का नाम नहीं था, व्यभिचार, अन्याय, अत्याचार कोई जानता नहीं था। सभी संयमी, सदाचारी सुशील और शान्त थे। सभी निरन्तर भगवद्-भक्ति मे निरत रहते। राजा ने नियम कर दिया था कि सभी अपने-अपने घरो मे नियत समय पर कीर्तन करें, भगवान् के गुणानुवाद श्रद्धा-सहित श्रवण करें, संयम और सदाचार के साथ

रहें, सभी गुरुजनों का आदर करें, और अपनी-अपनी धर्म-पत्नियों से ही सन्तुष्ट रहें। इन नियमों के कारण सभी संतुष्ट रहते। भगवद्भक्ति के प्रभाव से न कोई वृद्ध होते और न मृत्यु के ही दर्शन उन्हें होते। राजा ने सबके द्वार पर कल्पवृक्ष लगा दिये थे, सबके घरों में कामधेनु बाँध दी थी, अर्थात् कोई भी ऐसा नहीं था, जिसकी इच्छित वस्तु सरलता से प्राप्त न हो जाती हो। राजा की ऐसी धर्मनिष्ठा के कारण इन्द्र भी उनसे ईर्ष्या करने लगे। महाराज ने साक्षात् वैकुण्ठ को लाकर पृथ्वी पर स्थापित कर दिया।

उनकी पत्नी देवयानी सदा उनके अनुकूल रहती। उसके साथ रहकर वे धर्मपूर्वक सभी प्रकार के गार्हस्थ्य सुखों का उपभोग करते। उसे वनों-उपवनों में, सरोवर और नदियों के तटों पर ले जाते, पर्वतों पर भ्रमण कराते और सब प्रकार उसकी सभी इच्छाओं को पूर्ण करते। समय आने पर देवयानी गर्भवती हुई। उसने एक पुत्र रत्न उत्पन्न किया। राजा ने उसका नाम रखा—"यदु"। ये ही महाराज आगे चल कर यदु-वंश के संस्थापक हुए जिनके वंश में आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने उत्पन्न होकर अपने को यादवेन्द्र के नाम से प्रसिद्ध किया।

देवयानी जब पुत्रवती हो गई, वह अपने फूल से सुकुमार राजकुमार को गोद में लेकर आत्म-विस्मृत हो जाती और बार-बार उसके अरुण चरण के मुख को चूमती, तब शर्मिष्ठा के मन में भी एक इच्छा उत्पन्न होती, 'हाय मैं भी कभी पुत्र का मुख देख सकूँगी क्या? मेरी भी कभी इस प्रकार गोद भरेगी क्या। मैं भी कभी सुत के सुखद शरीर का स्पर्श कर सकूँगी क्या?' किन्तु जब अपनी दास-वृत्ति का स्मरण करती तब मन मसोसकर रह जाती, अपनी साध को पूरी होते न देखकर व्याकुल हो जाती।

इधर शर्मिष्ठा की तो यह दशा थी, उधर राजा जब कभी शर्मिष्ठा को देखते, तब उनके मन मे दया आती। वह उस मालती पुष्प के समान थी, जो एकान्त वन मे खिली हो और किसी ने आदर पूर्वक उसे अपने कण्ठ का हार न बनाया हो। राजा विवश थे, प्रतिज्ञाबद्ध थे। उन्हे देवयानी का भी डर था और उससे भी अधिक देवयानी के बूढ़े तपस्वी बाप का।

एक दिन शर्मिष्ठा ने ऋतुस्नान किया। आज उसे रह-रहकर राजा की याद आ रही थी। उसने सोचा—"देवयानी को राजा ने स्वयं ही तो वरण किया है, मैं भी तो उन्हे वर सकती हूँ। जब वे मेरी सखी के पति हैं, धर्मानुसार मेरे भी वे स्वामी हैं। वे दयालु हैं, दानी हैं। यदि मैं उनसे वीर्यदान की याचना करूँ, तो वे मुझे विमुख न करेंगे। आज यदि मुझे महाराज के दर्शन हो जाते, तो मैं उनसे विनती करती।" दैवयोग से उसी समय उसे अशोक-वाटिका में एकाकी घूमते हुए महाराज दिखाई दिये।

शर्मिष्ठा का भी साहस बढ़ा। वह लजाती हुई अपने अञ्चल को नीचा करके शनैः शनैः राजा के समीप गई। उसने भूमि पर घुटने टेककर राजा को प्रणाम किया और हाथ जोड़े, सिर नीचा करके चुपचाप, राजा के समीप खड़ी हो गयी। उसके सादे वेष, नत मस्तक और भोले-भाले मुख को देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानों मूर्तिमती सजीव करुणा खड़ी हो।

राजा ने अत्यन्त स्नेह से पूछा—"राजपुत्रि! तुम्हे मुझसे कुछ कहना है?"

शर्मिष्ठा ने सिर नीचा किये ही किये कहा—"प्रभो! मुझे कुछ याचना करनी है। दासी ही तो ठहरी।"

राजा ने देखा, उसके प्रत्येक शब्द मे करुणा भरी है। अत्यन्त ही स्नेहपूर्वक वे बोले—"तुम दासी जिसकी होगी, उसकी होगी।

मेरे लिये तो तुम उसी प्रकार आदरणीया हो, जिस प्रकार देवयानी। मेरे यहाँ तुम्हें किस वस्तु का अभाव है, जिसके लिये तुम्हें मुझसे कहना पड़ा? इसका मुझे दुःख है।"

शीघ्रता के साथ शर्मिष्ठा ने कहा—"नहीं प्रभो! आपके शासन में मुझे क्या, किसी को भी, किसी वस्तु का अभाव नहीं है। आपने तो सभी के द्वार-द्वार पर कल्पवृक्ष लगवा दिये हैं। फिर मैं तो आपकी छत्रछाया में, आपके अन्तःपुर में ही, रह रही हूँ। मुझे किसी वस्तु का अभाव कैसे हो सकता है? मैं तो आज आपसे वीर्य-दान की आकांक्षा करके आई हूँ।"

राजा ने कहा—"सुन्दरि! तुम मुझसे ऐसा धर्म-विरुद्ध प्रस्ताव क्यों कर रही हो? मैं धर्म के विरुद्ध आचरण कैसे कर सकता हूँ?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"प्रभो! मुझे तो इसमें धर्म-विरुद्ध कोई बात दिखाई पड़ती नहीं। आप भी मेरे कुल, शील, सदाचार से तो अवगत हैं ही। मैंने ऋतु स्नान किया है। मैं बड़ी आशा लेकर आपके सम्मुख उपस्थित हुई हूँ। मुझे आपके पास से निराश न लौटना पड़े, यही मेरी प्रार्थना है।"

राजा ने कहा—"शर्मिष्ठे! तुम युवती हो, राजपुत्री हो, परम सुन्दरी, कुलवती और शीलवती हो। फिर भी मैं शुक्राचार्य के निकट प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ, नहीं तो तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति ही नहीं थी। मैं धर्मशाप में बँधा हुआ हूँ।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"स्वामिन्! धर्म की गति बड़ी ही सूक्ष्म है। ऋषियों ने कहीं तो ऊपर से धर्म-जैसी दीखने वाली क्रिया को अधर्म कहा है और कहीं अधर्म-जैसी दीखने वाली क्रिया को परम धर्म माना है। सत्यासत्य में मुख्य हेतु वाणी न होकर भाव ही है। बच्चों को खिलाते समय बहुत-सी व्यर्थ की असत्य

बातें बनानी पड़ती हैं। वह असत्य विशेष निन्दनीय नहीं माना जाता। इसी प्रकार स्त्रियों के सम्बन्ध में, हँसी-विनोद में, विवाह के प्रसङ्ग में, आजीविका की रक्षा के समय, प्राणों पर अत्यन्त संकट उपस्थित होने पर, गो-ब्राह्मणों की रक्षा में, किसी के सतीत्व की रक्षा में, सर्वस्व अपहरण के समय तथा योग्य स्त्री के सम्बन्ध में, यदि थोड़ा-बहुत झूठ बोलना भी पड़े, तो दोष नहीं लगता। उस समय आपने प्रतिज्ञा की, उचित ही किया। किन्तु अब मेरे धर्म की रक्षा भी तो आप को ही करनी है। देवयानी के आप पति हैं, तो धर्मतः मेरे भी पति हैं। मैंने मन से आपको पति-रूप में वरण किया है। आर्य-धर्म के रहस्य को बताने वाले ऋषियों ने कहा है—"दास-दासी, पुत्र, और स्त्री की निज की कोई सम्पत्ति नहीं होती। जो भी कुछ सम्पत्ति होती है, गृह-स्वामी की ही होती है। मैं यद्यपि देवयानी की दासी हूँ, किन्तु धर्मतः विवाह होने पर आपका ही मुझ पर अधिकार है। देवयानी का अपना तो कुछ है ही नहीं। उसने तो अपना तन-मन, धन तथा सर्वस्व आप को समर्पित कर दिया है। अतः मेरी इच्छा पूर्ण करना भी आप का ही परम धर्म है।"

राजा ने कहा—"प्रिये! तुम्हारा कथन सत्य है, धर्मानुकूल है। किन्तु बड़े लोग जैसा आचरण करते हैं, छोटे लोग उसी का अनुकरण करते हैं। प्रजा के लिये राजा ही प्रमाण है। जब काम-वश होकर मैं अधर्म करने लगूँगा, तब सभी लोग अनाचारी हो जायँगे।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"मैं अधर्म करने को तो नहीं कह रही हूँ। आप मेरे धर्मतः, न्यायतः स्वामी हैं, भर्ता हैं, पति हैं। ऋतुमती स्त्री यदि संतान की इच्छा से पति के समीप जाय और पति उसका तिरस्कार कर दे, तो उसे भ्रूण-हत्या का पाप लगता है।"

राजा ने शर्मिष्ठा की युक्तियुक्त बातों पर कुछ देर तक विचार किया और बोले—"राजपुत्रि ! प्रार्थी के मनोरथ को पूर्ण करना मेरा व्रत है। यदि इस समय तुम्हें वीर्यदान देना अधर्म नहीं है, तो मैं समुपस्थित हूँ। बताओ, मैं क्या करूँ ?"

शर्मिष्ठा बोली—"प्रभो ! इस समय मैं संतानेच्छुका हूँ। दोष-रहिता हूँ, आप अपने व्रत की रक्षा करते हुए मेरे धर्म की भी रक्षा करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! शर्मिष्ठा की बात राजा को जँच गई। उन्होंने सोचा—"अच्छा, जैसी भगवान् की इच्छा। प्रारब्ध को कौन मिटा सकता है ? अब जो हो।"—यह सोचकर उन्होंने शास्त्रीय विधि से शर्मिष्ठा में गर्भाधान-संस्कार किया। दैत्य-पुत्री परम प्रमुदित हुई। शनैः शनैः गर्भ बढ़ने लगा। नियत समय पर शर्मिष्ठा ने एक पुत्र-रत्न प्रसव किया, जिसका नाम द्रुह्यु रखा गया।

छप्पय

बोली—हे नरदेव ! धर्म के तुम मेरे पति।
दासिनि की सब भाँति बताये स्वामी ही गति॥
वीर्यदान अब देहु पसारूँ पल्लो प्रियतम।
दासी पै मति बनो दयासागर अस निर्मम॥
रूपवती अरु ऋतुमती, शर्मिष्ठा की सुनि विनय।
शुक्र-प्रतिज्ञा भंग करि, दयो दान है के सदय॥

देवयानी की शंका

[७६०]

राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मं चावेक्ष्य धर्मवित् ।
स्मरञ्छुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १८ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

शर्मिष्ठा सुत जन्यो देवयानी सुनि आई ।
भई कोध तै लाल असुर-तनया धमकाई ॥
इत-उत बात बनाय देवयानी टरकाई ॥
गुरु पुत्रिहिँ बहकाइ दैत्य-पुत्री हरषाई ॥
शर्मिष्ठा महँ फँस्यो मन, बस्यो दम्भ नृप के हिये ।
भये कामवश शील तजि, रति सुख-हित कारज किये ॥

मनुष्य काम के अधीन न हो, तो उसे जरा-मृत्यु का भी भय न हो। मन में विकार होने से ही शरीर में विकार होता है। मनुष्य काम के वश होकर ही शील सदाचार खो बैठता है। हृदय

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब राजकुमारी शर्मिष्ठा ने पुत्र प्राप्ति के लिये प्रार्थना की, धर्म को जानने वाले महाराज ययाति ने इसे धर्म समझकर, शुक्राचार्य की आज्ञा का स्मरण रखते हुए भी, दैवाधीन होकर, उसे वीर्यदान दिया। उन्होंने भाग्य का अनुसरण किया।"

की प्रबल कामना दुस्साहस उत्पन्न करती है। दुस्साहस से जो अनर्थ होता है, उसे छिपाने को छल, झूठ, कपट तथा मिथ्या व्यवहार का आश्रय लेना पड़ता है। इसी से देह में जरा-मृत्यु आती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनुचित कार्य जब कोई करने लगता है, तो उसका भय भी मिटता जाता है। एक बार जो प्रतिज्ञा भंग कर देता है, उसके आगे प्रतिज्ञा निभाने की आशा करना वृथा है। जब हम कोई प्रतिज्ञा कर लेते हैं, तब प्रतिज्ञा विरोधी कार्य करने की बार-बार इच्छा होती है, मन अनेक प्रकार की युक्तियाँ सुझाता है। जब बुद्धि सबका निराकरण कर देती है, तब अन्त में मन कहता है, "अच्छा, एक बार इसे कर लें, फिर न करेंगे।" जहाँ एक बार किया, कि फिर मन कहता है, "जैसा ही एक बार, वैसा ही हजार बार। अब तो प्रतिज्ञा टूट ही गई!" इस प्रकार प्राणी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर मिथ्याचारी बन जाता है। राजा ययाति ने तो समझा, मैं धर्म कर रहा हूँ; किन्तु उन्हें पता नहीं था कि यह सब देवताओं का षड्यन्त्र था। तेजस्वी, सदाचार में निरत लोगों की परीक्षा के लिये देवगण भाँति-भाँति के प्रलोभन उपस्थित करते हैं। राजा ययाति धर्मात्मा थे, भगवद्-भक्त थे। उन्होंने पृथ्वी पर ही वैकुण्ठ बना दिया था। उनके राज्य के ग्राम-ग्राम में विष्णु भगवान् के मन्दिर थे, जहाँ निरन्तर भगवन्नामों का कीर्तन होता था, सभी मुख्य-मुख्य पर्व मनाये जाते थे, बड़े-बड़े उत्सव होते थे, सर्वत्र तुलसी-कानन और पद्मवन लगे हुए थे। ऐसे राजा के समीप जरा कैसे आ सकती? मृत्यु का तो उनके सम्मुख खड़े होने का भी साहस नहीं था। सहस्रों वर्षों तक ये युवा बने ही धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करते रहे। देवताओं को चिन्ता हुई की राजा इसी प्रकार परम धर्म करते

रहेंगे तो न वे स्वयं मरेंगे, न अपनी प्रजा को ही मरने देंगे। मृत्यु को भय हुआ, कि मेरा पद ही छिन जायगा। इसीलिये धर्मराज इन्द्र के समीप गये। इन्द्र ने धर्मराज–यम–का सत्कार किया और अपने पास आने का कारण उनसे पूछा। यम बोले—"देवेन्द्र! आप जैसे हो वैसे महाराज ययाति को स्वर्ग बुलावें। यदि वे पृथ्वी पर रहेंगे, तो सबको मृत्युहीन बना देंगे।"

धर्मराज की बात सुनकर देवेन्द्र ने अपने सारथि मातलि को महाराज ययाति के समीप भेजा और उनसे स्वर्ग पधारने की प्रार्थना कराई। इन्द्र सारथि मातलि ने जाकर महाराज ययाति का जय जयकार किया और उनसे कहा—"आयुष्मन्! आपको पृथ्वी पर रहते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये, अब आप स्वर्ग पधारें। देवराज इन्द्र ने आपको बुलाया है। स्वर्ग से आप जब चाहें ब्रह्मलोक, रुद्रलोक, आदि दिव्य लोकों का सुख भोगते हुए, वैकुण्ठ लोक चले जायँ। आपके पुण्य अनन्त हैं, उनके प्रभाव से आप अक्षय लोकों का उपभोग कर सकते हैं।" यह सुनकर राजा ने मातलि से विविध कर्मों के फलों को पूछा, स्वर्गादिक लोकों के सुखों को समझा, और अन्त में कह दिया– "इन्द्र सारथे! हम स्वर्ग जाना नहीं चाहते। हम तो अपने पुण्य प्रभाव से यहाँ पृथ्वी पर ही वैकुण्ठ स्थापित करेंगे।" यह सुनकर मातलि राजा से अनुमति लेकर, उन्हें आशीर्वाद देकर, स्वर्ग चले गये और सब बातें आकर इन्द्र से कहीं। यह सुनकर इन्द्र आश्चर्य चकित रह गये। अब उन्होंने एक ऐसा षड्यन्त्र रचा कि राजा काम के वश हो जायँ। कामवश होने से मनुष्य को क्रोध आता है, क्रोध से सम्मोह होता है, कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता, चिन्ता होती है, चिन्ता से जरा आती है, जरावस्था में कामवासना प्रबल हो उठती है। उससे आदमी की मृत्यु हो जाती है। वासना कर्तव्य

का, धर्म का, रूप रखकर आता है। इसीसे धर्मात्मा पुरुष भी उसके चक्कर में फँस जाते हैं। "अर्थी के सङ्कल्प को पूरा करना धर्म है" इस सिद्धान्त से राजा ने शर्मिष्ठा के साथ सङ्गम किया, किन्तु उसका परिणाम विपरीत ही हुआ। उनकी शर्मिष्ठा में देवयानी से भी अधिक आसक्ति हो गई। वे शुक्राचार्य के तेज को भी जानते थे। अतः उनका भी उन्हें भय था। प्राणी जब धर्म-पूर्वक अपनी वासनाओं की तृप्ति होते नहीं देखता, तब अधर्म का आश्रय लेता है। यह उसका पतन है।"

देवयानी ने जब सुना शर्मिष्ठा के भी एक पुत्र हुआ है, तब वह राजा के समीप गई। राजा की ओर से तो देवयानी को कोई शङ्का थी ही नहीं। शर्मिष्ठा के ही ऊपर उसे सन्देह हुआ। इसलिये वह उसे डाँटती हुई बोली—"दैत्य-पुत्रि! तू ने यह क्या अधर्म किया? हमारे अन्तःपुर में ही तू ने यह पुत्र कहाँ से, कैसे, उत्पन्न किया?"

यह सुनकर शर्मिष्ठा डर गई। बात बनाते हुए उसने कहा—"जीजी! मैंने कोई अधर्म नहीं किया है। एक दिन मैं ऋतु स्नान करके बैठी थी कि एक धर्मात्मा वेदज्ञ ऋषि मेरे समीप आये। मैंने उनका विधिवत् आतिथ्य-सरकार किया। मेरे आतिथ्य से प्रसन्न होकर उन्होंने मुझसे कोई वर माँगने को कहा। मैंने हाथ जोड़कर उनसे कहा—"प्रभो! अपने धर्म को बचाते हुए, मुझे पुत्र प्रदान कीजिये।" उन धर्मात्मा ऋषि ने ही मुझे धर्म पूर्वक पुत्र प्रदान किया है। काम-वश मैंने कोई अनुचित कार्य नहीं किया।"

देवयानी ने कहा—"वे ऋषि कौन थे? किसके पुत्र थे? किस गोत्र के थे?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"जीजी! मैं तो उस ऋषि के तेज और

प्रभाव से ऐसी प्रभावित हो गई कि उनका नाम, गोत्र, कुछ भी न पूछ सकी।"

यह सुनकर देवयानी ने शर्मिष्ठा की बात पर विश्वास किया और बोली—"यदि तेरा कथन सत्य है, तो मैं तुझसे प्रसन्न हूँ। वेदज्ञ श्रेष्ठ ऋषि के वरदान-द्वारा पुत्र उत्पन्न करना पुत्रार्थी के लिये कोई अधर्म नहीं।" इतना कहकर देवयानी अपने स्थान को चली गई। शर्मिष्ठा मन ही मन प्रसन्न हुई, कि इस गुरु पुत्री को मैंने कैसी झाँसा-पट्टी पढ़ा दी।

इधर जब राजा को पता चला, कि देवयानी शर्मिष्ठा की गति विधि पर कड़ा नियन्त्रण रखती है, तब तो राजा ने शर्मिष्ठा को इस प्रकार रखा कि देवयानी उसके सम्बन्ध में कुछ जान ही न सके। राजा देवयानी से छिपकर शर्मिष्ठा के महलों में जाते।

देवयानी के प्रथम पुत्र यदु हुए और फिर बहुत दिनों के पश्चात् एक पुत्र हुए, जिनका नाम तुर्वसु प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार देवयानी के दो पुत्र हुए।

इधर शर्मिष्ठा के द्रुह्यु, अनु और पूरु तीन पुत्र हो गये। किन्तु राजा ने उन्हें इस प्रकार छिपाकर रखा कि देवयानी को पता ही न चला, कि शर्मिष्ठा के और भी कोई पुत्र है। देवयानी समझ रही थी, राजा मेरे अधीन हैं, मुझसे प्रेम करते हैं। शर्मिष्ठा समझती थी—"राजा का सम्पूर्ण प्यार मुझे ही प्राप्त है, वे मेरे ही अधीन हैं।" किन्तु राजा न देवयानी के अधीन थे, न शर्मिष्ठा के, वे तो काम के अधीन थे। देवताओं के षडयन्त्र से जरा ने उनके शरीर में प्रवेश किया था। वह भीतर ही भीतर चिन्ता बनकर अपना काम कर रही थी। अन्त में उनका भण्डा-फोड़ हो गया और जरा ने खुलकर उन पर आक्रमण कर दिया। राजा का सिर हिलने लगा, बाल सफेद हो गये, मुख दांतों से हीन

होकर खोखला हो गया, कमर लच गयी, खाल सिकुड़ गई, और इन्द्रियों की शक्ति नष्ट प्रायः हो गई।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वृद्धावस्था ने राजा के शरीर में कैसे प्रवेश किया ? कृपा करके इस प्रसङ्ग को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! यह मनोरञ्जक तथा रोचक प्रसङ्ग मैं आपको सुनाता हूँ। आप समाहित चित्त से उसे श्रवण करें।"

छप्पय

यदु अरु तुर्वसु तनय देवयानी ने जाये।
शर्मिष्ठा हू तीन तनय भूपति तैं पाये॥
द्रुह्यु और अनु पूरु नाम तिनके अति मनहर।
प्रकट न बाहर होहिं रहैं महलनि के भीतर॥
शर्मिष्ठा के रूप मह, रँग्यो रँगीलो नृप हृदय।
देव-सरिस सुन्दर भये, ता ई तैं तीनो तनय॥

ययाति पर देवयानी और शुक्र का प्रकोप

[७६१]

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥
गर्भसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय मानिनी ।
देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्च्छिता ॥*

(श्री भग० ९ स्क० १८ अ० ३३, ३४ श्लोक)

छप्पय

एक दिवस नृप सङ्ग देवयानी उपवन महँ ।
घूमत-घूमत गई परम प्रमुदित है मन महँ ॥
देव-कुमार समान निहारे द्वै शिशु सुन्दर ।
रूप रंग उनहार-शील नृप सरिस मनोहर ॥
पूछे पतितैं प्रेमवश, जीवन-धन ये शिशु सुघर ।
है निर्भय क्रीड़ा करहिं, कहहु कौन के हैं कुमर ॥

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! देवयानी से यदु और तुर्वसु ये दो पुत्र उत्पन्न हुए और शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु और पूरु पुत्र उत्पन्न हुए । जब मानिनी देवयानी को विदित हुआ कि शर्मिष्ठा के मेरे पति के द्वारा गर्भ रहा था, तब तो वह क्रोध से विमूर्छित हुई अपने पिता शुक्राचार्य के घर चली गई ।"

पाप और पुण्य कितने भी छिपाये जायँ, छिपते नहीं। सूर्य चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, दिन, रात्रि, सन्ध्या, यमादिक देवता सबकी गति-विधि देखते रहते हैं। ये सबके सब कर्मों के साक्षी हैं। वायु-मण्डल में जहाँ पुण्य-पाप फैला, वहाँ वह प्रकट हो ही जाता है—कोई शीघ्र प्रकट होता है, कोई देर में।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवयानी तो प्रसन्न थी कि उसके दो पुत्र हो चुके हैं। उसे इस बात का पता नहीं था, कि शर्मिष्ठा ने तीन सुतों को जन्म दिया है और वह भी महाराज के ही वीर्य से। शर्मिष्ठा कभी देवयानी के समीप आती, तो उसकी सूचना पहले ही उसे दे दी जाती। बच्चों को छिपा दिया जाता। बच्चे तो बच्चे ही ठहरे। वे इन षड्यन्त्रों को क्या जाने वे तो शर्मिष्ठा को अपनी माता जानते थे और महाराज को पिता। महाराज एकान्त में बच्चों को बहुत प्यार करते थे।

एक दिन राजा के साथ देवयानी अशोक वन में टहल रही थी। वसन्त ऋतु थी। शर्मिष्ठा के दो पुत्र अनु और पूरु उस उपवन में हँसते हुए क्रीड़ा कर रहे थे। दोनों बच्चे अत्यन्त ही सुन्दर और सुकुमार थे। तपाये हुए सुवर्ण के समान उनका वर्ण था। वे लाल रङ्ग का अँगरखा पहने हुए थे और पीताम्बर बाँधे हुए। उनकी काली-काली घुँघराली लटें उनके गोल-मोल सुन्दर मुख पर बिथुर रही थीं। कानों में मणिमय कुण्डल झलमल-झलमल कर रहे थे। देवयानी ने इतने सुन्दर कुमार पहले इस उपवन में कभी देखे नहीं थे। प्रथम तो उसे भ्रम हुआ कि ये कोई देवकुमार हैं, क्रीड़ा करने के निमित्त यहाँ आ गये होंगे। फिर उसने ध्यानपूर्वक देखा, कि इनके पैर तो पृथ्वी पर पड़े हैं, इनके पलक भी गिरते हैं, और इनके शरीर की छाया भी पड़ती है। तब तो उसे निश्चय हो गया, कि ये मानव-कुमार ही

हैं। इनकी आकृति, प्रकृति मुख की उनहार, शारीरिक गठन, चलन-चितवन, सभी राजा के समान हैं। देवयानी तो उन्हें देख-कर विस्मित हो गयी। राजा मारे डर के थर-थर काँपने लगे। उनका मुख फक पड गया। कई बार उन्होंने आँखों के सकेत से बच्चों को भाग जाने को कहा किन्तु बच्चे सकेत क्या समझें? व अपने पिता को देखकर परम प्रफुल्लित होकर उनकी ओर दौडे।

देवयानी ने शका, विस्मय, आश्चर्य और कुतूहल के सहित राजा स पूछा—"प्राणनाथ! ये किसके बालक हैं? यहाँ इस हमारे अन्तःपुर के उपवन मे ये निर्भय होकर केसे खेल रहे हैं?"

राजा चुप ही थे कि बच्चे हँसते हुए राजा के समीप आ गये। देवयानी ने प्यार से उन दोनों बच्चों को पकडकर पूछा—"बच्चो! तुम ठीक-ठीक बताओ, तुम किसके पुत्र हो। यहाँ किसके साथ तुम आये हो?"

बच्चों ने निर्भय होकर सरल स्वभाव से कहा—"शर्मिष्ठा हमारी माता है, ये महाराज हमारे पिता हैं। यह हमारा घर है। हम अपने उपवन मे क्रीडा करने आये हैं।" यह कहकर बालक राजा की गोद मे दौडे, किन्तु राजा ने उन्हें गोद मे नहीं लिया। अब तो देवयानी सब रहस्य समझ गई। राजा तो सन्न रह गये। क्रोध और व्यङ्ग के स्वर मे देवयानी ने लाल-लाल आँखें निकाल कर राजा से पूछा—"क्यों, महाराज! ऐसा कपट-व्यवहार! क्या यही आप का धर्म है?"

राजा चुपचाप खडे थे। देवयानी से अब न रहा गया। वह तुरन्त शर्मिष्ठा के महलों मे घुस गई और अत्यन्त ही क्रोध मे भरकर उससे बोली—"दैत्यपुत्री! मैं समझती थी, दासी बनकर तेरी दुष्टता छूट जायगी, किन्तु तू अपने नीच स्वभाव को छोड नहीं सकती। तू ने मेरे साथ विश्वासघात किया है!"

शर्मिष्ठा को पति-प्रेम प्राप्त था, वह मानिनी थी। अब वह देवयानी की इतनी कड़ी बातों को क्यों सहती? उसने निर्भय होकर कहा—"तू आपे से बाहर क्यों हो रही है? मैंने तेरे साथ कौन-सी दुष्टता की? मैंने तेरे साथ क्या विश्वासघात किया?"

देवयानी ने कहा—"तू ने अपने इस कुकृत्य को छिपाकर क्यों रखा? जब तू मेरी दासी है, तब तुझे सब बातें मुझसे कहनी चाहिये थी।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"अब मैं क्या बार बार कहती? उस दिन मैंने तुझसे कह तो दिया ही था।"

देवयानी ने कहा—"उस दिन तूने झूठ कहा था। तूने कहा, मैंने एक ऋषि के वरदान से पुत्र पाया है।"

शर्मिष्ठा बोली—"मैंने तो तनिक भी असत्य नहीं कहा। धर्मात्मा राजर्षि ययाति किस ऋषि से कम है? इन्द्र भी इनका आदर करते हैं। इनका ही सत्कार करके इन्हीं के वरदान से मैंने पुत्र पाये हैं। यही बात मैंने तब कही थी, उसे ही अब कहती हूँ। एकान्त में कहला ले, चाहे हजार आदमियों के सम्मुख कहला ले।"

देवयानी ने कहा—"तू मेरी दासी थी, तुझे राजा से ऐसी प्रार्थना करने का क्या अधिकार था?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"जो अधिकार तुझे है, वही मुझे भी। जब तक तू अविवाहिता थी, तब तक मैं तेरी दासी अवश्य थी। किन्तु जब तू महाराज की धर्म-पत्नी बन गई, तब तेरी सब वस्तुओं के स्वामी महाराज हुए। उसी न्याय से वे मेरे भी स्वामी हैं। मैंने कोई अधर्म नहीं किया है। मेरे लिये ब्राह्मण-पुत्री होने से तू मान्य अवश्य है, किन्तु तुझसे भी अधिक मान्य ये राजर्षि

महाराज मेरे लिये हैं। इनके सम्मुख तू मेरे ऊपर शासन नहीं कर सकती।"

शर्मिष्ठा से मुँहतोड़ उत्तर पाकर देवयानी चोट खाई सर्पिणी की भाँति, राजा के ऊपर बिगड़ने लगी। वह राजा को डाँटते हुए बोली—"राजन्! तुम मेरे साथ इस प्रकार विश्वासघात करोगे, ऐसा परोक्ष में मेरा अपमान करोगे, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। अब मैं तुम्हारे समीप नहीं रह सकती। मैं तो अपने पिता के समीप जाती हूँ।" यह कहकर वह वहाँ से शुक्राचार्य के समीप चल दी। राजा भी उसके पीछे-पीछे चले, जैसे गौ के पीछे-पीछे साँड़ चलता है। राजा ने हाथ जोड़े, मुख में तिनका रखकर देवयानी से क्षमा माँगी, उसके पैर पकड़कर बोले—"हे मानिनि! तुम मेरे ऊपर कृपा करो, मेरे अपराध को क्षमा कर दो। शुक्राचार्य के समीप मत जाओ। मैं उन महर्षि से बहुत डरता हूँ।" किन्तु देवयानी ने उनकी एक न सुनी। वह तुरन्त अपने पिता शुक्राचार्य के समीप पहुँच गई। इतने ही में उदार-मन महाराज ययाति भी वहाँ पहुँच गये। ययाति को देखकर देवयानी अपने पिता से बोली—"पिताजी! अधर्म ने धर्म को जीत लिया। देवताओं के भक्षण-योग्य हवि को कुतिया खा गई। इन धर्मात्मा राजा ने अधर्म करके मुझे ठग लिया।"

शुक्राचार्य गम्भीर होकर बोले—"क्या बात है? क्यों आज इतनी कुपित हो रही हो?"

देवयानी ने कहा "पिताजी! शर्मिष्ठा ने मेरी सौत का पद ग्रहण कर लिया है। ये राजा धर्ममार्ग से विचलित हो गये हैं। देखिये, शर्मिष्ठा के तीन पुत्र इनके द्वारा हो चुके हैं, मेरे दो ही। इन्हीं सब बातों को सुनाने के लिये मैं आपके समीप आई हूँ।"

यह सुनकर शुक्राचार्य ने लाल-लाल आँखें करके पूछा—

"क्यों राजन्! क्या देवयानी ठीक कह रही है? आपके द्वारा शर्मिष्ठा में तीन पुत्र उत्पन्न हुए हैं?"

राजा ने सिर हिलाकर इस बात को स्वीकार किया। इसे सुनकर शुक्र ने क्रोध में भरकर कहा—"राजन्! तुमने प्रतिज्ञा भंग की है, अतः तुम भी बूढ़े हो जाओ।"

गिड़गिड़ा कर राजा ने कहा—"प्रभो! मैंने धर्म समझकर शर्मिष्ठा को वीर्य दान दिया। भार्गव! मैंने कोई अनुचित कार्य नहीं किया।"

शुक्राचार्य बोले—"ऋतुमती भार्या को वीर्य-दान देना उचित भी हो, तो तुमने प्रतिज्ञा तो भंग की ही है। तुम्हें मुझसे आज्ञा लेकर कुछ करना था।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! यह अपराध मुझसे अवश्य बन गया।"

शुक्राचार्य ने कहा—"अपराध बन गया, तो उसका फल भोगो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कहकर शुक्राचार्य चुप हो गये, राजा उनके सम्मुख हाथ जोड़े खड़े ही रहे।"

छप्पय

भये भूप भयभीत न बोले कछु घबराये।
करि कर को संकेत कुमर द्विज सुता बुलाये॥
पूछे किनके पुत्र शिशुनि सच बात बताई।
शर्मिष्ठा ढिँग कुपित देवयानी सुनि आई॥
बात खरी-खोटी कहीं, शर्मिष्ठा डरपी न जब।
भरी क्रोध महँ नृपहिं तजि, पितु-ढिँग रोवत गई तब॥

—०—

ययाति पर जरा का आक्रमण

[७७२]

शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष ।
त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥
अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन् दुहितरि स्म ते ।
व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति ॥❀

(श्रीभा० ९ स्क० १८ अ० ३६ ३७ श्लोक)

छप्पय

वृत्त सुन्यो सब शुक्र शाप भूपति कूँ दीन्हों ।
करी प्रतिज्ञा भङ्ग अनादर मेरो कीन्हों ॥
तातैं तुरतहिँ जरा देह तेरी महँ आवै ।
भोगि सकैं नहिँ भोग अनृत्त को फल सब पावै ॥
नृप बोले—तव सुता तैं, ब्रह्मन् ! तृप्ति भई नहीं ।
उभय ओर तैं विषय की, इच्छा अबहिँ गई नहीं ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपनी पुत्री की बात सुनकर शुक्राचार्य कुपित होकर ययाति से बोले—'हे स्त्री कामी ! हे असत्य-वादी ! हे मन्दमति ! तुझे मनुष्यों को विरूप करने वाली जरावस्था प्राप्त हो ।" यह सुनकर ययाति बोले—"ब्रह्मन् ! अभी तक मैं आपकी पुत्री के साथ विषय भोग करके तृप्त नहीं हुआ ।" तब शुक्र बोले—"अच्छी बात है, जो तुम्हें प्रसन्नता से स्वेच्छापूर्वक अपनी युवावस्था दे, उससे तुम अपनी वृद्धावस्था बदल सकते हो ।"

राम-नाम के जप-कीर्तन से आधि, व्याधि, दुःख, शोक, ग्लानि और सभी प्रकार के मनस्ताप दूर हो जाते हैं। सब सुखों का एकमात्र साधन भगवन्नाम है और सब अनर्थों का आश्रय एकमात्र काम है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्चभूतों से निर्मित यह शरीर है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पाँच इसके विषय हैं। कान, आँख, रसना, घ्राण और त्वचा—इन पंचेन्द्रियों द्वारा प्राणी इन विषयों का उपभोग करता है। विषयों को भोगते-भोगते वीर्य और रक्त का नाश होता है। वीर्य, रक्त तथा मल में ही प्राण रहते हैं। जब शरीर में वीर्य और रक्त का अभाव हो जाता है, तब यह शरीर खोखला बन जाता है। विषयों में आसक्त हुआ मन इधर-उधर भटकता रहता है। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने से विषय भोगे तो जाते नहीं, किन्तु उनमें तृष्णा बनी रहती है। काम-वासना को सब अनर्थों की जड़ कहा गया है। शरीर में जीर्णता आने से ही जरावस्था का आक्रमण होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ययाति को शुक्राचार्य ने जब शाप दे दिया, तब वे हाथ जोड़कर आचार्य से बोले—"ब्रह्मन्! आपने शाप देकर मेरा ही अनिष्ट नहीं किया, अपनी पुत्री का भी अपकार किया, जैसे कोई क्रुद्ध होकर अपने जामाता को मृत्यु का भी शाप दे दे, तो अपनी पुत्री को स्वयं विधवा बनाता है। विषय-भोगों से अभी तक मेरी तृप्ति नहीं हुई है, न आपकी पुत्री देवयानी की। अतः ऐसा उपाय करें, जिससे वृद्धावस्था मुझ पर आक्रमण न करे।"

शुक्राचार्य ने कहा—"हाँ भाई! भूल तो हो गई। किन्तु अब क्या किया जाय? मेरा शाप मिथ्या तो हो नहीं सकता!"

राजा बोले—"महाराज! आप सर्वसमर्थ हैं। कोई ऐसा

उपाय निकालिये, कि आपका वचन भी मिथ्या न हो और मैं युवा होकर देवयानी के साथ विषयों का उपभोग भी कर सकूँ।"

शुक्राचार्य कुछ सोचकर बोले—"राजन ! यदि आपका कोई पुत्र तथा सम्बन्धी स्वेच्छा से आपकी वृद्धावस्था ले सके, तो आप उसकी युवावस्था से सुखोपभोग इच्छानुसार कर सकते हैं।"

शीघ्रता से राजा ने कहा—"ब्रह्मन् यह वर मुझे और दीजिये कि मेरे पुत्रों में से जो भी मेरी वृद्धावस्था ले, वही मेरे पीछे सिंहासन का अधिकारी हो, उसे परम पुण्य हो और वही संसार में कीर्तिशाली बने।"

शुक्राचार्य तो प्रसन्न ही थे, अतः बोले—"अच्छी बात है जो पुत्र प्रसन्नता से तुम्हारी वृद्धावस्था ग्रहण करे, वही तुम्हारे पीछे राजा हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार वरदान पाकर देवयानी सहित राजा, अपने पुर में लौट आये। राजा के शरीर में वृद्धावस्था घुस गई थी। राजा के शरीर में वृद्धावस्था ने कैसे प्रवेश किया और कैसे वे कामना के वश होकर स्वर्ग गये, पुराणों में इसका बड़ा ही सुन्दर हृदयस्पर्शी रूपक बाँधा गया है। मुनियो ! आपकी इच्छा हो, तो उसे भी मैं आपको सुनाऊँ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हम तो समझते हैं, आप जितनी भी कथा कहते हैं, सब कोई न कोई रूपक ही है। यह दूसरी बात है, हम उस रूपक के अभिप्राय को न समझ सकें। इससे यह न समझना चाहिये कि चन्द्र, ऐल, ययाति, मान्धाता आदि ऐतिहासिक पुरुष नहीं थे। हाँ, तो आप हमें उस रूपक को अवश्य सुनावें।"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! यह जितना दृश्य प्रपञ्च है, सब रूपक ही है। इसमें एकमात्र श्रीहरि ही सत्य

है। जैसा होने को होता है, वैसा ही वायुमंडल सूक्ष्म जगत् में बन जाता है। शुक्राचार्य का शाप तो निमित्त-मात्र है। राजा के विरुद्ध तो देवता पहले ही से षड्यन्त्र रच रहे थे। वे किसी प्रकार राजा को स्वर्ग बुलाना चाहते थे। राजा यहीं पृथ्वी पर कथा-कीर्तन का प्रचार करके वैकुण्ठ बनाना चाहते थे। जब मातलि द्वारा बुलाने पर भी महाराज ययाति स्वर्ग न पधारे, तब इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। वे राजा को बुलाने का अन्य उपाय सोचने लगे।"

एक दिन देवराज इन्द्र ने कामदेव, वसन्त, मलयानिल तथा गाने-बजाने वाले बहुत से गन्धर्वों को बुलाकर कहा—"तुम लोग अपनी सरसता के लिये संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध हो। किसी प्रकार तुम महाराज ययाति के चित्त को आकर्षित करके उन्हें स्वर्ग में लाओ।"

देवराज की बात सुनकर कामदेव ने कहा—"प्रभो! महाराज ययाति बड़े धर्मात्मा हैं। उन्होंने पृथ्वी पर ही वैकुण्ठ बना रखा है। वे हमारे कार्यों से कैसे आकर्षित हो सकते हैं? फिर भी हम जाते हैं, सिद्धि-असिद्धि भगवान् के हाथ में है।" यह कहकर गाने बजाने वाली नाटक-मण्डली बनाकर राजा ययाति की सभा में गये।

राजसभा में पहुँचकर उन लोगों ने महाराज की जय-जयकार किया और कहा—"महाराज! हम लोग एक धार्मिक नाटक आप को दिखाना चाहते हैं।"

राजा ने अपने सभी मन्त्री-पुरोहितों को एकत्रित किया, सब से सम्मति ली। सबने कहा—"महाराज! धार्मिक नाटक में क्या हानि है?" सब की सम्मति मानकर राजा ने अभिनय की आज्ञा प्रदान कर दी। राजद्वार में नाटक की तैयारियाँ होने लगीं। ख-

मञ्च सजाया गया। ये सब तो देवता ही थे, इन्होंने रङ्गमञ्च को इतना सुन्दर सजाया कि दर्शक आश्चर्य-चकित हो गये। प्रजा के बहुत से लोग नाटक देखने आये। नाटक खेला जाने वाला था, "बटु वामन विजय।" उस नाटक में साक्षात् कामदेव तो सूत्रधार बने। उनकी पत्नी रति ने नटी का वेष बनाया। वसन्त ने पारिपार्श्वक का कार्य किया। उसने अपने हाव-भावों से राजा का मन अपने वश में कर लिया। सभी पात्रों ने अभिनय के अनुरूप दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये थे।

जिस नाटक में स्वयं कामदेव और रति ही नृत्य, गीत आदि के सहित अभिनय करें उसकी सुन्दरता के सम्बन्ध में तो कुछ कहते ही नहीं बनता। कामदेव ने अपने कौशल से राजा का चित्त ऐसा आकर्षित कर लिया, कि राजा शरीर की सुधि भूलकर चित्रलिखे के समान अभिनय देखने लगे। पात्रों के नृत्य, गीत सम्वाद और ललित हास से सम्मोहित होकर उनकी वृत्ति तदाकार हो गई। इसी बीच उन्हें लघुशंका लगी। तुरन्त लघुशङ्का से निवृत्त होकर वे अपने आसन पर आ बैठे, हाथ पैर धोना, कुल्ला आचमन करना भूल ही गये। इस अशुचि को देखकर अवसर पाकर जरा उनके शरीर में प्रवेश कर गई। राजा को पता भी न चला कि उनके शरीर में वृद्धावस्था ने कब प्रवेश किया। कामदेव भी अवसर पाकर उनके अङ्गों में व्याप्त हो गये। अब तो राजा काम के वशीभूत हुए। नाटक समाप्त हुआ। राजा का चित्त अब शर्मिष्ठा-देवयानी से तृप्त न होकर और भी कुछ चाहता था।

एक दिन राजा मृगया के निमित्त वन में गये। एक बड़े शूकर का पीछा करते हुए वे एक सुन्दर स्वच्छ सलिल वाले सरोवर के समीप पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा कि एक अत्यन्त ही सुन्दरी

रूपवती युवती वीणा बजाकर गान कर रही है। राजा थके हुए थे। रथ से उतर कर उन्होंने उस विस्तृत सरोवर में स्नान किया, जल पान किया। कमल की गन्ध वाले जल में नहा कर राजा का शरीर फूल सा हो गया। उस मधुर संगीत की श्रुति-मधुर ध्वनि राजा के कर्ण-कुहरों में अमृत-सा उड़ेल रही थी। वीणा की ध्वनि में तदाकार हुआ, किसी कामिनी का कोकिल-कूजित कण्ठ उनके हृदय में रह-रहकर उत्कण्ठा, अभिलाषा तथा कामना उत्पन्न कर रहा था। उस ध्वनि का अनुसरण करते हुए राजेश्वर महाराज ययाति उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ वह युवती बैठी हुई वीणा बजाकर गा रही थी। राजा को देखकर वह लजाती हुई वीणा रखकर खड़ी हो गयी। उसके पास बैठी हुई उसकी सखी भी खड़ी हो गई। राजा ने शिष्टाचार प्रकट करते हुए कहा—"क्षमा कीजियेगा मुझे, मैं आपके संगीत में विघ्न बना। आपने गाना बन्द क्यों कर दिया? उसे ही सुनने तो मैं यहाँ आया था।"

इस सुन्दरी ने इन बातों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। राजा को एक सुन्दर-सा आसन देकर उनसे बैठने की प्रार्थना की। राजा चुपचाप उस आसन पर बैठ गये। उस सुन्दरी की आँखें कमल के समान सुन्दर और विकसित थीं। वे कानों तक फैली हुई थीं, उनमें कटीला काजल लगा हुआ था। उसका रूप अनूप था, तेज, ओज, लावण्य अद्भुत। राजा ने अनुभव किया कि विधाता ने इसके सदृश दूसरी स्त्री त्रैलोक्य में और न बनाई होगी। नाटक के समय ही उनके शरीर मे सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट काम उस सर्व श्रेष्ठ सुन्दरी के दर्शनों से तो विशाल रूप में प्रकटित हो उठा। उनके हृदय मे धू-धू करके कामाग्नि जलने लगी। अत्यन्त ही मधुर वाणी में ममता सहित महाराज ने पूछा—

"सुन्दरि ! तुम किसकी कन्या हो ? यह तुम्हारी सुन्दरी सहेली कौन है। मैं तुम्हारा परिचय प्राप्त करने को अत्यन्त ही उत्सुक हूँ। मैं राजर्षि नहुष का पुत्र हूँ, ययाति मेरा नाम है। इस सप्त-द्वीपा वसुमती का मैं एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट हूँ।"

यह सुनकर सुन्दरी कुछ भी न बोली। वह लजाती हुई अपनी सखी के मुख की ओर निहारने लगी। उसके अभिप्राय को समझकर शनैः शनैः उस सुन्दरी की सहेली विशाला राजा ययाति से बोली—"राजन् ! मैं अपनी सखी का परिचय आपको देती हूँ। पूर्वकाल में शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया था। इससे उनकी पत्नी रति को बड़ा दुःख हुआ। दुःख के कारण वह सदा इसी सरोवर में निवास करती थी। देवताओं को देवी रति पर दया आई। वे देवाधिदेव महादेव के निकट जाकर बोले—"प्रभो ! रति अत्यन्त ही दुःखी है। उसके प्राणप्रिय पति को आप पुनः जीवित कर दें।"

देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करते हुए कामारि भगवान् शूलपाणि बोले—"देवताओ ! काम को हम जीवित तो किये देते हैं, किन्तु अब उसके अङ्ग न होगा, वह सभी प्राणियों के अंगों में व्याप्त होकर रहेगा। अनङ्ग नाम से वह संसार में प्रसिद्ध होगा। वसन्त इसका मित्र होगा और वह समस्त बलियों से भी बली होगा।' शिवजी के ऐसा वरदान देते ही काम वहाँ प्रकट हुआ। शिवजी ने उसे रति के निकट भेज दिया। बिना शरीर के पति को लेकर रति को सन्तोष कैसे हो सकता था। अन्य सभी पुरुषों के अंगों में काम व्याप्त होने से सभी काम के वश हो गये। रति इस सरोवर में अब तक रहती है। काम भी सूक्ष्म रीति से अपनी प्रिया के प्रेम से यहाँ रहता है। इसलिये यह 'काम-सरोवर' है। रति को शिव कोप से दारुण दुःख

उत्पन्न हुआ है। उस दारुण दुःख से पति विहीना रति सदा अश्रु-विमोचन करती रहती है। रति के उन अश्रुबिन्दुओं से महा शोक उत्पन्न होता है। जरा का जन्म भी उन्हीं अश्रुओं से होता है। वियोग, दुःख सन्ताप, और मूर्छा का जन्म भी उन्हीं शोक-जन्य अश्रुओं से होता है। शोक से काम ज्वर, विभ्रम और प्रलाप प्रकट हुए। प्रलाप का पुत्र उन्माद और पुत्री विह्वलता हुई। उन्माद से ही मृत्यु का जन्म हुआ। ये सब महाशोक की सन्तानें हैं।

एक बार अस्थायी रूप रखकर रति पति कामदेव किसी के कहने से यहाँ रति के निकट आये। पति को देखकर रति अत्यन्त ही आनन्द युक्त हुई। उन शोक के अश्रुओं के भीतर ही आनन्द के अश्रु उत्पन्न हुए। उनसे प्रीति नामक पुत्री हुई। प्रीति के तीन पुत्रियाँ हुईं—बड़ी का नाम ख्याति, मझली का नाम लज्जा और छोटी का नाम शान्ति हुआ। महानन्द नामक एक पुत्र भी हुआ। शान्ति के शुभदायिनी लीला और सुखदायिनी क्रीड़ा—ये दो पुत्रियाँ और मनोभाव तथा संयोग—ये दो पुत्र हुए। रति के वाम नेत्र से जो आनन्दाश्रु जल में गिरा, उससे एक कमल उत्पन्न हुआ; और कमल से सुन्दर अङ्गों वाली, प्राणियों को अपने दर्शनों से सुख देने वाली सभी इन्द्रियों और मन को आकर्षित करने वाली यह स्त्री उत्पन्न हुई। यह रति की कन्या है, 'अश्रु-बिन्दुमती' इसका नाम है। प्रेम में और शोक में तुरन्त ही इसके नेत्रों से टप-टप आँसू निकल पड़ते हैं। यही इस सुन्दरी युवती का परिचय है। राजन्! मैंने अपनी सहेली का परिचय आपको दिया। आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

महाराज ययाति ने कहा—"देवि! तुमने अपनी सखी का परिचय तो दिया, किन्तु अपना परिचय नहीं दिया। तुम कौन हो? और इस सुन्दरी के साथ क्यों रहती हो?"

विशाला ने कहा—"राजन् ! मेरा क्या परिचय ? मैं तो लोक पाल वरुण की पुत्री हूँ, विशाला मेरा नाम है। मेरी और इसकी स्वाभाविक मैत्री है। इसके स्नेह वश में इसके समीप रहती हूँ।"

राजा ने कहा—"यहाँ तुम्हारी सखी के रहने का कारण क्या है ?"

विशाला ने कहा—"अब महाराज ! आप जानते ही हैं, यह युवती हो गई है, किसी जीवन-संगी की खोज कर रही है। योग्य पति मिलने पर यह उसकी जीवन संगिनी धर्मपत्नी बन जायगी। संसार रूपी पथ को जीवन रूपी रथ द्वारा एकाकी पार करना कठिन है। पुरुष को स्त्री की और स्त्री को पुरुष की अपेक्षा रहती है। जैसे पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकता, रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, अग्नि एक अरणी से उत्पन्न नहीं हो सकती एक हाथ से जैसे ताली नहीं बज सकती, इसी प्रकार एकाकी जीवन कटना कठिन हो जाता है। अतः यह योग्य वर के लिये तप कर रही है।"

राजा ने उत्सुकता के साथ पूछा—"तुम्हारी यह सखी कैसा पति चाहती है ?"

विशाला बोली—"यह चाहती है, मेरा पति सदय, सुहृद, सुबुद्ध, सुप्रिय तथा सभी सद्गुणों से युक्त हो, उसका यौवन स्थिर हो, परम पराक्रमी, महान् तेजस्वी, विपुल ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रिय दर्शन, कामदेव के समान सुन्दर, कुलीन, रति-प्रिय और धर्माचरण करने वाला हो।"

राजा ने कहा—"देवि ! यदि मुझे तुम्हारी सखी स्वीकार करे, तो मैं इसमें अपना अहोभाग्य समझूँ। मैंने अपने पुरुषार्थ से पृथ्वी पर वैकुण्ठ स्थापित कर दिया है। प्रजा मुझे पिता के समान मानती है, मैं सदा दीन दुखियों के दुःखों को दूर करता रहता

हूँ, गुरुजनों का आदर करता हूँ। मैंने सप्तद्वीपवती वसुमती को अपने बाहुबल से जीता है, मेरे ऐश्वर्य को देखकर देवराज इन्द्र भी स्पृहा रखते हैं। पूछ लो, यदि यह मुझे अपना पति बना ले, तो मेरा जीवन सफल हो जाय।"

विशाला ने कहा—"महाराज! और तो सब बातें आप में हैं ही एक ही दोष आप में ऐसा है, जिसके कारण मेरी सखी आप को अपना पति नहीं बना सकती।"

राजा ने कहा—"वह कौन सा दोष तुम मुझ में देख रही हो, उसे मैं दूर करने का प्रयत्न करूँ।"

विशाला ने कहा—"महाराज आपके शरीर में वृद्धावस्था ने प्रवेश किया है। स्त्रियों के लिये वृद्ध पुरुष प्रिय नहीं होता। वृद्धावस्था जिसके शरीर में प्रवेश करती है, उसका तेज, बल, वीर्य और भोग शक्ति नष्ट हो जाती है। भोग-शक्ति तो युवावस्था में ही यथेष्ट रहती है। आप यदि युवक होते, तो मेरी सखी आपको सहर्ष स्वीकार कर लेती।"

राजा ने कहा—"देवि! मुझे वृद्धावस्था तो शुक्राचार्य के शाप से प्राप्त हुई है। मुझे आचार्य का यह भी वर है, कि मैं जिससे चाहूँ, अपनी वृद्धावस्था बदल कर उसकी युवावस्था ले सकूँ।"

विशाला ने कहा—"यदि ऐसी ही बात है, तो आप अपने पुत्रों में से किसी एक को अपनी वृद्धावस्था देकर उससे उसकी यौवनावस्था ले लें। तब यह आपको अपना पति बना लेगी, फिर आप इसके साथ आनन्द-सहित सुखोपभोग करें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, मैं जाकर अपनी वृद्धावस्था अपने पुत्रों को दूँगा। जो मेरी आज्ञा का पालन न करेगा उसे क्रोध में भरकर शाप दूँगा। जो मेरी बात मानकर मेरी वृद्धावस्था

को ग्रहण कर लेगा, उसे ही मैं अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाऊँगा।"

यह कहकर राजा उन दोनो से अनुमति लेकर अपने पुर को चले गये। सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हृदय मे जब कामना हो जाती है, तब चित्त उसी मे फँस जाता है। कामना पूरी न होने से क्रोध आता है। क्रोध से शाप उत्पन्न होता है। जरा में कामना की वृद्धि होती है और फिर कामना ही सब दोषों की जननी है। राजा अपनी वृद्धावस्था अपने पुत्रो को देने के लिये उत्सुक हो उठे।"

छप्पय

मुनि प्रसन्न पुनि भये भूप तै बोले बानी।
नृपवर! मन की बात तुम्हारी सब हौं जानी॥
जाओ अपनी जरा बदलि तनयनि तैं लेओ।
सुत को यौवन पाइ यथारुचि विषयनि सेओ॥
राजा बोले—जरा जो, स्वीकारे मेरो तनय।
पावै सो सम्राट-पद, जग महँ यश, कीरति विजय॥

पूरु द्वारा ययाति को यौवन प्राप्त

[७६३]

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः ।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ॥
इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णज्जरां पितुः ।
सोऽपि तद्वयसा कामान् तथावज्जुजुषे नृप ॥ ❀
(श्री भा ९ स्क० १८ अ० ४४-४५ श्लो०)

छप्पय

एवमस्तु मुनि कही विहँसि नृप पुर महँ आये ।
पाँचों प्यारे पुत्र प्रेम तैं पास बुलाये ॥
शुक्र-शाप की बात बताई यौवन माँग्यो ।
यदु, अनु, तुर्वसु, द्रुह्यु, सुनत वच सर सम लाग्यो ॥
चारों ही पितु-वचन सुनि, वय देवे तैं नटि गये ।
छात्र-धर्म तैं शाप दै, भ्रष्ट भूप ने करि दये ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ययाति के यौवनावस्था माँगने पर उनके सबसे छोटे पुत्र पुरु ने कहा—"जो पुत्र पिता के चिन्तन किये कार्य को स्वतः करता है, वह उत्तम पुत्र है ; कहने पर जो करे, वह अधम और जो कहने पर भी न करे, वह तो पिता के मल-मूत्र के समान है ।" ऐसा कहकर उसने प्रसन्नतापूर्वक अपने पिता की वृद्धावस्था ग्रहण कर ली । महाराज ययाति भी पुत्र के यौवन को प्राप्त करके यथेष्ट विषय-भोग करने लगे ।"

संसार स्वार्थ से भरा है। सभी सम्बन्ध स्वार्थ से भरे हैं। हम स्वार्थ के वशीभूत होकर दूसरों से न माँगने योग्य प्यारी से प्यारी वस्तु की याचना कर बैठते हैं। जिससे हम जिस वस्तु की याचना कर रहे हैं, उसको उसे देने में क्या कष्ट होगा, इसे याचना करने वाला अनुभव नहीं करता, क्योंकि अर्थी को दोष नहीं दीखता। याचक का पद तो छोटा होता ही है, किन्तु याचक से भी छोटा वह है, जो वस्तु के रहते और दान देने की क्षमता होने पर भी, 'ना' कर देता है। जो अपना शरीर देकर भी माता-पिता की इच्छाओं को पूरी कर सके, संसार में वही सत्पुत्र यशस्वी होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ययाति ने लौटकर अपने पाँचों प्रिय पुत्रों को प्रेमपूर्वक अपने पास बुलाया। सर्व-प्रथम उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र यदु से कहा—"बेटा! मैं तुमसे एक वस्तु माँगूँगा। क्या तुम उसे मुझे दोगे?"

यदु ने कहा—"पिताजी! मेरा है ही क्या? सब आपका ही तो है। आज्ञा कीजिये।"

राजा ने कहा—"देखो, बेटा! तुम्हारे नाना ने मुझे वृद्ध होने का शाप दे दिया है।"

यदु ने कहा—"हाँ, तो मुझे इसके लिये क्या करना होगा? कोई यन्त्र मन्त्र, औषधि या और कोई वस्तु कहाँ से लानी हो, तो मुझे आज्ञा कीजिये।"

राजा ने कहा—"बेटा! यह जरा दूर उपाय से जाने वाली नहीं है, यौवनावस्था से बदली जा सकती है। तू मेरे शरीर से उत्पन्न हुआ है, मेरे सब पुत्रों में श्रेष्ठ है। तू अपनी जवानी से मेरी जरावस्था बदल दे।"

यदु ने घबड़ाकर कहा—"पिताजी ! आप ऐसा क्यों चाहते हैं ?"

प्यार से महाराज ययाति बोले—"देखो, बेटा ! तुम्हारी यौवनावस्था प्राप्त करके उसके द्वारा मैं कुछ वर्षों तक विषयों का उपभोग करूँगा।"

यह सुनकर यदु ने विनीत भाव से कहा—"पिताजी ! आप ही सोचें, जब तक मनुष्य विषय-सुखों का अनुभव ही न करेगा, तब तक उनकी ओर से विरक्त भी नहीं हो सकता। वृद्धावस्था में विषयों का भोग भली-भाँति हो नहीं सकता। बूढ़े मनुष्य का वेष विकृत हो जाता है, उसकी दाढ़ी-मूँछें सफेद हो जाती हैं, मुख पिचक जाता है, सिर हिलने लगता है, बूढ़े बन्दर की सी सूरत हो जाती है, अंग शिथिल पड़ जाते हैं, खाल लटक जाती है, दाँत टूट जाने से मुँह पोपला हो जाता है, शब्द शुद्ध उच्चारण नहीं होते। अतः मुझे इसके लिये क्षमा कीजिये।"

तब राजा ने अपने दूसरे पुत्र तुर्वसु से कहा—"बच्चा ! क्या तुम मुझे अपनी युवावस्था दे सकते हो ?"

तुर्वसु ने कहा—"पिताजी ! अभी तो मैंने संसार में कुछ भी सुख नहीं भोगा। मैंने बड़े-बड़े युद्धों में बल प्रदर्शित भी नहीं किया। वृद्धावस्था ग्रहण करते ही तो मेरा रूप कुरूप हो जायगा, बल-वीर्य नष्ट हो जायगा, शक्ति क्षीण हो जायगी, भोग भोगने की सामर्थ्य जाती रहेगी। अतः मैं असमय में वृद्धावस्था ग्रहण नहीं कर सकता।"

अब उन्होंने शर्मिष्ठा के पुत्र द्रुह्यु से कहा—"बेटा ! तुम मेरी वृद्धावस्था ग्रहण करके मुझे अपनी युवावस्था दे सकते हो ?"

यह सुनकर द्रुह्यु ने कहा—"पिताजी ! वृद्धावस्था में बड़ा दोष है। पैदल चला नहीं जाता। हाथी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों

पर चढ़ें, तो शीघ्र थकावट आ जाती है। दाँत न रहने से न तो कोई कड़ी चीजें खा सकते हैं, न शुद्ध उच्चारण ही कर सकते हैं। अतः मैं आपकी वृद्धावस्था ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ हूँ।"

फिर राजा ने अपने चतुर्थ पुत्र अनु से कहा—"बेटा! तुम मुझे अपनी युवावस्था दे सकते हो?"

अनु ने कहा—"पिताजी! मैंने तो अभी संसार के कुछ भी भोग नहीं भोगे। अग्निहोत्र, दान, धर्म तथा बड़े बड़े यज्ञों का अनुष्ठान भी मैंने नहीं किया। वृद्धावस्था में सभी कर्म करने में आलस्य हो जाता है, पवित्रता-अपवित्रता का भी उतना ध्यान नहीं रहता, जीवन सदा दूसरों के अधीन हो जाता है। अतः मेरी ऐसी सामर्थ्य नहीं है।"

राजा ने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरु को बुलाया और कहा—"देख, बेटा! तू मेरा सबसे प्यारा पुत्र है। ये सब तो धूर्त हैं, मेरी आज्ञा का पालन नहीं करते। मैं एक सहस्र वर्ष तेरी युवावस्था से संसारी सुख और भोगना चाहता हूँ। पीछे मैं तेरा यौवन तुझे पुनः लौटा दूंगा। और इन सबों को तो मैं शाप दूँगा।"

पूरु ने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी! आप ऐसी बात क्यों कह रहे हैं? मुझसे पूछने की क्या आवश्यकता है? आप मेरे इस शरीर के सर्वथा स्वामी हैं। हे देव! संसार में पिता से बढ़कर और कौन उपकारी होगा? पिता के उपकार का बदला पुत्र सैकड़ों जन्मों में भी नहीं दे सकता। हमें तो आपकी इच्छा समझकर ही आपका प्रिय कार्य करना चाहिये। आपने तीन प्रकार के पुत्रों में मुझे अधम बना दिया।"

ययाति ने पूछा—"तीन प्रकार के पुत्र कौन कौन होते हैं? यह बात मुझे सुनाओ।"

पूरु बोले—"पिताजी! उत्तम पुत्र तो वह है, जो पिता के

मनोगत भावों को समझकर बिना कहे ही उसके कार्यों को श्रद्धापूर्वक करे। मध्यम वह है, जो पिता के कहने पर बिना श्रद्धा के केवल बेगार टाल देता है। जो अश्रद्धा से करता है, वह अधम पुत्र है। और जो पिता के कहने पर भी उनकी बात नहीं मानता, वह तो पुत्र है ही नहीं। इसलिये पिताजी! आप जो भी आज्ञा देंगे, मैं वही करूँगा। आप एक सहस्र वर्ष के लिये कहते हैं, मैं तो जीवन भर के लिये अपनी युवावस्था आपको देने को तत्पर हूँ।" यह कहकर पूरु ने संकल्पपूर्वक अपनी युवावस्था दे दी और शुक्राचार्य का स्मरण करके राजा ने उसे ग्रहण कर लिया।

राजा ने प्रसन्न होकर पूरु को आशीर्वाद दिया—"तुम मेरे राज्य के पूर्ण अधिकारी हो, सम्राट-पद तुम्हें ही प्राप्त हो। तुम यशस्वी, तेजस्वी और दीर्घायु हो। यह वंश तुम्हारे ही नाम से संसार में प्रसिद्ध हो!" इस प्रकार पूरु को वरदान देकर राजा ने शेष अपने चार पुत्रों को क्रुद्ध होकर शाप दिया। उन्होंने यदु को शाप देते हुए कहा—"जा, तेरे वंश के लोग राज्य के अधिकारी न होंगे।"

यदु ने हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी! आप मुझे ऐसा दारुण शाप क्यों दे रहे हैं? मैं आपका प्रथम पुत्र हूँ, असमर्थ होने से ही मैं आपकी आज्ञा का पालन न कर सका।"

इस पर महाराज ययाति ने कहा—"अच्छी बात है, विष्णु भगवान् की कृपा से तेरे वंशज भी राजा होंगे और जब तेरे वंश में आनन्दकन्द व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र उत्पन्न हो जायँगे, तब तेरा वंश विशुद्ध बन जायगा।"

यह कहकर वे तुर्वसु से बोले—"तूने कठोर शब्दों से मेरा तिरस्कार किया है, अतः तेरा वंश न चलेगा। तू अति संकीर्ण धर्माचरण करने वाले, अपने ही गोत्र में विवाह करने वाले,

वर्णसंकर जाति वाले, क्रूर, हिंसक, मांस-भोजी, गुरु-पत्नी-गामी, म्लेच्छ-चण्डालों का राजा होगा।" इस प्रकार तुर्वसु को शाप देकर राजा ने द्रुह्यु की ओर देखा।"

द्रुह्यु को सम्बोधित करके राजा बोले—"द्रुह्यु! तूने मेरी बात नहीं मानी। अतः तेरे वंशज समुद्र-पार के द्वीपों के निकट पार्वत्य प्रदेश के नाममात्र के राजा होंगे, जिनमें रथ, हाथी, नहीं चल सकेंगे, लोग पैदल या नौकाओं में यात्रा करेंगे। तुझे संसारी कोई सुख प्राप्त न होगे।"

फिर अनु को शाप देते हुए महाराज बोले—"अनु! तूने वृद्धावस्था से अत्यन्त घृणा की है, अतः तू शीघ्र ही बूढ़ा हो जायगा। तेरे वंशज श्रौत-स्मार्त धर्मों से भ्रष्ट होकर अनार्य बन जायेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजा ययाति ने अपने चारों पुत्रों को शाप दिया। पुरु की युवावस्था प्राप्त करके वे युवक हो गये। वे पुनः कामसर के समीप गये और काम-कन्या अश्रुविन्दुमती की सखी विशाला से बोले—"विशाले! अब मैं अपनी वृद्धास्था को अपने पुत्र को दे आया। अब यह आपकी सखी मुझे पतिरूप में वरण करे।"

विशाल ने कहा—"राजन्! आपके शरीर से जरावस्था तो निकल गई, फिर भी आप में एक दोष शेष है। इस कारण मेरी सखी आपको वरण नहीं कर सकती।"

आश्चर्य-चकित होकर राजा ने पूछा—"वह कौन-सा दोष मुझ में और है?"

विशाला ने कहा—"हे नरनाथ! आपके देवयानी और शर्मिष्ठा ये दो अत्यन्त सुन्दरी पत्नियाँ और हैं। स्त्रियों के लिये

सौत का दुःख सबसे अधिक कष्टप्रद है। इसीलिये मेरी सखी आपको वरण न करेगी।"

राजा ने कहा—"देवि! तुम इसकी तनिक भी चिन्ता मत करो। वे तो तुम्हारी दासी बनकर रहेंगी। उनसे मेरा क्या प्रयोजन? मेरे राज, पाट, धन, स्त्री, पुत्र, शरीर तथा सर्वस्व की स्वामिनी तुम्हारी सखी होगी।"

यह सुनकर विशाला प्रसन्न हुई। तब महाराज ययाति विधिवत् उस काम-कन्या अश्रुविन्दुमती के साथ गन्धर्व-विधि से विवाह करके उसे अपने महलों में ले आये। वे यथेष्ट विषयों का भोग भोगने लगे। फिर भी महाराज अपने कर्तव्य से पराङ्मुख नहीं हुए।

महाराज ने समस्त प्रजाजनों को वैष्णवी दीक्षा दिलायी थी। सब भगवान् शालग्राम की पूजा, नियम से भगवत्कथा, सुमधुर संकीर्तन, चन्दन और तुलसी-माला धारण करते थे। सभी एकादशी व्रत करते। राजा पुत्रवत् सबके सुख-दुखों पर ध्यान रखते। यथेच्छ भोगों को भोगने पर भी भगवत्भक्ति के प्रभाव से राजा की इन्द्रियों की शक्ति अक्षुण्ण थी। देवयानी और शर्मिष्ठा राजा के रुख को ही देखकर ईर्ष्या-द्वेष-रहित भाव से राजा की सेवा करतीं। प्रारब्धवश काम-कन्या के वशीभूत होने से उनकी इन्द्रियाँ अब उच्छृङ्खल हो गई थीं, मन विषयलोलुप बन गया था। जिसे यह पता चल जाय, कि कुछ दिन में ये सब विषय-भोग उससे छिन जायेंगे, वह उनका अत्यंत उत्सुकता से सेवन करता है। जो नित्य ही गंगातीर पर निवास करते हैं, उन्हें गंगाजल के सेवन में उतनी उत्सुकता नहीं होती। महाराज ययाति जानते थे, मुझे कुछ दिन में पुरु की यौवनावस्था लौटानी होगी, अतः वे सहस्र वर्षों तक निरन्तर विषय-भोगों को

भोगते रहे। फिर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। अन्त में उन्हें वैराग्य हुआ। उन्होंने अपनी जरावस्था पुत्र से ले ली। महाराज ने असंख्य राजसूय, अश्वमेध, आदि यज्ञ किये। उनका अनन्त पुण्य उनके साथ था। उन पुण्यों के सुखों को भोगते हुए इस संसार चक्र से सदा के लिये छूट गये।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज ययाति को कैसे वैराग्य हुआ, कैसे वे स्वर्ग गये और किस अपराध से उन्हें पुनः पृथ्वी पर आना पड़ा? कृपा करके इन बातों को हमें अवश्य सुनाइये। राजर्षि ययाति का चरित तो बड़ा ही अद्भुत है।"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो! महाराज ययाति का उत्तर-चरित समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

पुत्र पूरु तैं भूप अन्त महँ माँग्यो यौवन।
सुनि सुत बोल्यो पिता तुम्हारो ई सब तन मन॥
यों कहि यौवन दयो जरा, भूपति की लीन्हीं।
अति प्रसन्न पितु भये हरषि आशिष बहु दीन्हीं॥
बोले नृप गम्भीर ह्वै, पुत्र शब्द कीयो सफल।
बनहु चक्रवर्ती तुमहिँ, लहो जगत महँ यश विपुल॥

महाराज ययाति को वैराग्य

[७६४]

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० १९ अ० १३-१४ श्लोक)

छप्पय

यों सुत यौवन पाइ भोग भोगे संसारी ।
तौ ऊ तृप्ति न भई चित्त अति भयो दुखारी ॥
भयो विषय-वैराग्य विचारे नहिं सुख पायो ।
बनि विषयनि को दास समय अब व्यर्थ गँवायो ॥
तृप्ति करि सकै विषय ये, विषय-ग्रस्त नर कूँ नहीं ।
शान्त होहि कहु प्रज्वलित-अग्नि बिन्दु-घृत तैं कहीं ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ययाति अपनी पत्नी देवयानी से कह रहे हैं—"पृथ्वी में जितना धान्य, यव, सुवर्ण तथा सुन्दरी स्त्रियाँ हैं ये सबकी सब वस्तुएँ एक भी विषय-ग्रस्त पुरुष के चित्त को सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं । विषयों के भोगने से कभी भी वासना शान्त नहीं हो सकती । यही नहीं, जैसे अग्नि में घृत की आहुति डालने से वह और अधिक बढ़ती है, वैसे ही विषयों के भोगने से विषयेच्छा अधिकाधिक बढ़ती जाती है ।"

इकाई के आगे जितने ही विन्दु बढाते जाइये, उतनी ही उस की वृद्धि होती चलेगी। उसी प्रकार ससारी विषयों को जितना ही भोगो, उतनी ही उनमें अधिकाधिक इच्छा बढती जायगी। विषयास्वाद एक ऐसा धन है, जिसका चक्रवर्ती व्याज निरन्तर बढता ही रहता है। जब इन्द्रियाँ विषय भोगों की अभ्यस्त हो जाती हैं, तब उनके बिना रहा ही नहीं जाता। मरते-समय भी चित्त इन्हीं भोगे हुए विषयों मे फँसा रहता है। जिसका जो सस्कार प्रबल हो गया, उसी की स्मृति मे उसके प्राण छूटेंगे और दूसरे जन्म में उन्हीं की प्राप्ति मे प्राणी प्रयत्नशील होगा। अतः समस्त इन्द्रियजन्य विषय ससार-चक्र को और दृढ बनाने वाले हैं। विषयों मे फँसना ही दुःख है। विषयों से विमुक्त होना ही परम सुख है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ययाति अपने पुत्र पुरु की यौवनावस्था लेकर सभी प्रकार के ससारी सुखों को भोगते रहे। राजा जितने ही भोगों को भोगते, उतने ही अधिक अशात बनते जाते। उन्होंने अनुभव किया, कि वे आत्मपात की ओर आ रहे हैं। फिर तो उन्हे बडी आत्मग्लानि हुई, कि वे सम्पूर्ण भूमण्डल के सम्राट् आज स्त्रियों के क्रीड़ामृग बन गये, विषयों के दास हो गये। अब उन्हें सभी विषय-सुख फीके-फीके दिखाई देने लगे।

एक दिन उन्होंने अपनी धर्म पत्नी देवयानी को बुलाया। वह बडी श्रद्धा के साथ स्वामी के समीप गई। महाराज बोले—"प्रिये! आज मैं तुम्हें एक कहानी सुनाना चाहता हूँ, सुनोगी?"

देवयानी ने स्नेहपूर्वक कहा—"हाँ, सुनाइये, प्राणनाथ! मेरा परम सौभाग्य है, जो आप मुझे कहानी सुनावेंगे।"

राजा ने कहा—"देखो, ध्यानपूर्वक कथा सुनो।"

देवयानी बोली—"दत्तचित्त होकर ही कथा सुनूँगी, सुनाइये।"

राजा बोले—"एक बड़ा भारी वन था। वन था बड़ा गहन, बड़ा ही मनोहर। उसमे एक बड़ा भारी हृष्ट-पुष्ट बकरा रहता था। उसके बड़ी दाढ़ी थी, शरीर मे बहुत बल था। एक बार वह अपने इच्छित विषयों को खोजते-खोजते एक अन्धकूप के समीप पहुँचा। उसमें बड़ी लम्बी-लम्बी हरी-हरी सुन्दर दूब थी। ज्योंही वह उस दूब के लालच से कुएँ मे झाँका, त्योंही उसे उसमें एक बैठी हुई बकरी दिखाई दी। प्रिये! तुम जानती ही हो, एकान्त में बकरे को बकरी मिल जाय, तो उसकी कैसी दशा होती है। बकरे ने सोचा, किसी प्रकार यह बकरी अपनी संगिनी बकरियों के झुण्ड से बिछुड़ कर इस कुएँ में गिर पड़ी है, इसे किसी उपाय से बाहर निकालना चाहिये। उसने अपने पैने सींगों से एक मार्ग तैयार किया। बकरी बड़ी-बड़ी दूबों को मुख से पकड़ कर बकरे के बनाये मार्ग पर पैर रखकर कुएँ से बाहर आ गई।"

देवयानी ने पूछा—"फिर क्या हुआ?"

राजा ने कहा—"बकरी पूँछ हिला-हिलाकर अपने खुरों से बकरे के शरीर को सुहलाने लगी। बकरा भी उसके रूप पर मुग्ध हो गया। बकरी ने उसको आत्म-समर्पण कर दिया, बकरे को अपना पति बना लिया। हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर, बलिष्ठ बकरे को अत्यन्त ही रति-सुखदायक समझकर और भी बहुत-सी बकरियाँ में-में करती हुई उसके चारों ओर आ गईं और उन सबने भी उसे अपना पति बना लिया। वह तो कामी था ही। उन बकरियों में वह इतना आसक्त हो गया, कि अपनी सभी सुध बुध भूल गया।"

देवयानी ने तुनक कर कहा—"यह क्या तुम बेसिर-पैर की, बच्चों की-सी, कथा कह रहे हो? आगे कहो फिर क्या हुआ।"

राजा ने कहा—"अरे, शीघ्रता मत करो, शान्ति के साथ कथा सुनो।"

राजा ने कहा—"हाँ, तो जो बकरी कुएँ में से निकली थी, किसी योगयुक्त ब्राह्मण की थी। पहले ब्राह्मण भी बकरी रखते थे। यह जो कुएँ वाली बकरी थी, बड़ी मानिनी थी। इसे गर्व था, कि मैं ही बकर की सबसे प्यारी पत्नी हूँ। एक दिन उसने किसी दूसरी बकरी से इस बकरे को अत्यन्त ही प्रेम करते देखा। इसे देखकर यह कूपवाली बकरी जल-भुनकर खाक हो गई। उसके उस कर्म को बकरी ने विश्वासघात समझा। उसने अनुभव किया, यह मेरा पति अत्यन्त ही इन्द्रिय-लोलुप क्षणिक प्रीति करने वाला, बनावटी प्रेमी है। अतः वह अत्यन्त दुःखित होकर पालक के पास मे-मे करती हुई भाग गई।"

जब उस कामी बकरे को यह बात विदित हुई, तब वह बहुत घबड़ाया। वह इन्द्रिय-लोलुप अपनी बकरी के पीछे-पीछे मिमियाता गिड़गिड़ाता चला। उसने बकरी के हाथ जोड़े, पैरों पड़ा, अपनी दाढ़ी से उसके शरीर की धूल पोंछी, किन्तु वह मानिनी कब मानने वाली थी। वह मार्ग भर उससे बोली नहीं और अपने पालक पिता के पास पहुँच गई।"

देवयानी ने कहा—"फिर उसके पिता ने क्या कहा।"

राजा बोले—"हाँ, वही तो सुना रहा हूँ। उस बकरी ने जाते ही बकरे की बहुत-सी बुराइयाँ बताईं। क्रोधी ब्राह्मण ने एक अत्यन्त ही तीक्ष्ण छुरा निकाला और उस बकरे के बड़े-बड़े वृषण काट लिये। बकरा नपुंसक बन गया।"

देवयानी ने तुनक कर कहा—"रहने भी दो, अपने मन से कहानी गढ़ रहे हो, अंट-संट बक रहे हो।"

राजा ने कहा—"मान लो, मैं मन से ही बना रहा हूँ! तो

क्या मन से कथा बनाना कोई अपराध है ? ये कवि, लेखक सब मन से ही तो बनाते हैं ? इस सृष्टि की रचना भी तो श्रीहरि मन से ही करते हैं। मन ही तो बन्धन-मोक्ष आदि समस्त कार्यों का हेतु है।"

देवयानी बोली—"यह मुझे विदित नहीं था कि तुम कविता भी करते हो, कहानी भी बनाते हो ?"

राजा ने कहा—"अच्छा, तुम्हें मेरी कहानी रुचिकर नहीं लगती, तो उसे बन्द करता हूँ।"

देवयानी ने कहा—"नहीं-नहीं, । तो फिर क्या हुआ ?"

राजा बोले—"वृषणों के कट जाने से बकरा बड़ा दुःखी हुआ। उसका रुदन सुनकर उन योगवित् द्विजवर को दया आ गई। बकरी की भी स्वार्थ की उन्होंने हानि देखी, अतः उन विप्र वर ने एक सुन्दर यन्त्र द्वारा उसके कोशों को पुनः वहीं लाकर सी दिया। अब बकरा परम प्रमुदित हुआ। वह पुनः उस बकरी के साथ बहुत दिनों तक भोग भोगता रहा। ज्यों-ज्यों वह भोगों को भोगने लगा, त्यों-त्यों वह और अधिक असन्तुष्ट, दुःखी और चञ्चल होने लगा।"

देवयानी ने कहा—"यह क्या उपमा-अलंकार-सा जोड़ रहे हो। कौन बकरा, कौन बकरी ?"

राजा बोले—"बताऊँ ? बुरा मत मानना। तुम बकरी, मैं बकरा ! मैं तुम्हारे प्रेमपाश में फँसकर अत्यन्त दीन-हीन हो गया हूँ आत्म विस्मृत बन गया हूँ। भद्रे ! यह कामाग्नि बड़ी प्रबल है। यह भोगों से शान्त नहीं होती।"

देवयानी ने कहा—"सम्भव है, अधिक परिमाण में भोगने से तृप्ति हो जाय। जैसे बहुत भूखे को बहुत भोजन कराने से वह तृप्त हो जाता है।"

राजा बोले—"यह काम तो इतना प्रचण्ड भूत है, कि यह कभी तृप्त हो नहीं सकता। जलती अग्नि मे जितना ही ईंधन डालो,उतना ही वह प्रचण्ड होगी। घृत डालो,तो उससे वह और प्रचण्ड होगी।"

देवयानी ने कहा—"इस दुःख से बचने का कोई उपाय नहीं है ?"

राजा ने कहा—"है क्यों नहीं ? किन्तु अत्यन्त कठिन। जिन वस्तुओं से हमारा संसर्ग होता है, उनमे से किसी के प्रति राग हो जाता है, किसी के प्रति द्वेष। राग से आसक्ति होती है, द्वेष से घृणा। आसक्ति और द्वेष से चित्त मे विषमता होती है। राग-युक्त वस्तु के तो नाश का भय बना रहता है, और द्वेष-युक्त वस्तु मे आक्रमण का भय। उससे कहीं शान्ति नहीं मिलती। जब मनुष्य सभी को समान भाव से देखता है, न किसी से राग करता है, न द्वेष, तब उस समदर्शी पुरुष के लिये सभी दिशाएँ सुखमयी बन जाती हैं। जब दूसरा कोई है ही नहीं, सब अपने ही आत्मीय-सुहृद हैं, तो फिर भय का क्या काम ? दुःख संग्रह से होता है। संग्रह तृष्णा से किया जाता है। तृष्णा ऐसी अमरबेलि है कि वह बढ़ती ही जाती है। शरीर के जीर्ण होने पर भी तृष्णा जीर्ण नहीं होती। ज्ञानी पुरुष तो विवेक-विचार द्वारा इसे छोड़ भी सकते हैं, किन्तु अज्ञानी पुरुषों के लिये तृष्णा का त्याग अत्यन्त ही कठिन है। जो सुख की इच्छा रखता हो, उसे इससे बचते रहना चाहिये।"

देवयानी ने कहा—"भोग्य वस्तु सम्मुख आ जाती है, तब उसे भोगने की इच्छा होती ही है। यह इच्छा कैसे जाय ?"

राजा ने कहा—"अग्नि और तृण साथ-साथ रहेंगे, तो उनमे अग्नि उत्पन्न होगी ही। घृत अग्नि के समीप रहेगा, तो पिघल ही

जायगा। इसलिये साधक को जहाँ तक हो, विषयों से सदा बचते ही रहना चाहिये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह कैसे सम्भव हो सकता है? पुरुष तो स्त्री से ही उत्पन्न होता है। घर में बहन, बेटी, पुत्र-वधू तथा और भी सम्बन्धी की युवतियाँ रहती हैं। इनसे कैसे बचा जा सकता है? गृहस्थियों की बात छोड़ दीजिये। साधुओं को भी रोटी तो माताओं से ही मिलती है। घर में तो गृह-स्वामिनी ही रहती हैं। साधु माँगने जायगा, तो उन्हीं से बातें करेगा, उन्हीं से अन्न-पानी लेगा, उनके ही समीप बैठकर खायगा। दर्शन करने भी स्त्री-पुरुष दोनों ही आते हैं। मेलों में पर्व उत्सवों में, विवाह आदि संस्कारों में, सब साथ रहते हैं; साथ उठते-बैठते, खाते-पीते हैं। संग-दोष से बचा कैसे जा सकता है।"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"अब महाराज! आप चाहें, जो कह लें। आप तो निरन्तर कथा-कीर्तन में संलग्न रहते हैं। आपको विषयासक्त मन वाले लोगों के चित्त का अनुभव नहीं है। भगवन्! जब मन में काम-भूत प्रवेश कर जाता है, तब मनुष्य का सब विवेक नष्ट हो जाता है। वह कल तक जिसे धर्म की बहन, धर्म की माता कहता था, कामासक्त चित्त हो जाने पर उसी पर वह कुदृष्टि डालने लगता है। रही संसर्ग की बात, तो संसर्ग-बिना संसार का काम चल ही नहीं सकता। जहाँ एकान्त होता है, वहीं चित्त चञ्चल हो जाता है। अतः युवक-युवतियों को सर्वथा एकान्त में मिलना न चाहिये। मिला भी जाय, तो सरस बातें न होनी चाहिये, हँसी-विनोद न करना चाहिये। एकान्त में एक आसन पर सटकर तो अपनी सगी बहिन, युवती पुत्री तथा समर्थ होने पर माता के साथ भी न

बैठना चाहिये। इस विषय में अपने बाबा गुरु भगवान् व्यास का कही हुई एक अत्यन्त मनोरञ्जक कथा मैं आपको सुनाता हूँ। आप उसे ध्यान पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

राग द्वेष तैं रहित शान्त नर होवै जबहीं।
समदरशी कूँ होहि दशों दिशि सुखमय तबहीं॥
तृष्णा दुख को मूल सहज गुन सब ही खोवै।
बूढ़ो होहि शरीर न तृष्णा बूढ़ी होवै॥
पावै सत सुख तबहिँ जब, होवै विषयनि तैं विरत।
जो सुख चाहे जगत महँ, तृष्णा कूँ त्यागे तुरत॥

इन्द्रियों की बलवत्ता

[७६५]

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥*
(श्री भा० ९ स्क० १९ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

ज्येष्ठा श्रेष्ठा होहि पूजनीया हू नारी ।
युवती हांवै बहिन मातु-पुत्री अति प्यारी ॥
तब हू है एकान्त न बैठे इनके सँग महँ ।
सावधान नित रहे सटावै अँग नहि अँग महँ ॥
प्रबल प्रचण्ड पिशाच सम, यह इन्द्रिय समुदाय अति ।
हांवै सम्मुख विषय लखि, पंडित हू की भ्रष्ट मति ॥

प्राणी आकर्षण से ही क्रियायें करता है। जीवन में कुछ भी आकर्षण न हो, तो वह क्रिया क्यों करे! कुछ काम परलोक के सुख के आकर्षण से किये जाते हैं, कुछ इस लोक के सुख के आकर्षण से। परलोक का सुख तो श्रुतमात्र है। स्वर्ग में नंदनवन

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पुरुषों को एकान्त में एक आसन पर अपनी माता, बहिन तथा पुत्री के साथ भी न बैठना चाहिये, क्योंकि ये इन्द्रियाँ अत्यन्त ही प्रबल होती हैं। ये विचारवानों को भी विचलित कर देती हैं।"

है, कल्पवृक्ष है, पीने को अमृत है, अत्यन्त सुन्दरी अप्सरायें हैं तथा चढ़ने को दिव्य विमान हैं। ये बातें कानों से सुनी जाती हैं। शास्त्रों में ऐसा वर्णन है, इसलिये श्रद्धा से, आस्तिक बुद्धि से इन पर विश्वास किया जाता है। वैसे साधारण लोगों ने इन सबको देखा तो है नहीं। कोई इनके आकर्षण से आकर्षित होकर परलोक-सम्बन्धी काम करता है, कोई नहीं भी करता। कोई कह देता है, हम शास्त्रों या परलोक को मानते ही नहीं, तो उनके सम्मुख देवता आकर कहते भी नहीं, कि तुम हमें मानो ही। किन्तु इस लोक के भोग तो प्रत्यक्ष हैं। सुन्दर शब्द को सुनकर कर्णेन्द्रिय स्वतः ही उसकी ओर आकर्षित हो जाती है। इसके लिये किसी बाहरी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। दूर से ही सुगन्धित वस्तु को सूँघकर घ्राणेन्द्रिय सुख का अनुभव करती है। आँखें रूपको देखकर स्वतः गड़ जाती हैं। सुखद स्पर्श से अङ्ग के रोम-रोम खिल उठते हैं। मधुर-स्वादिष्ट वस्तु का जिह्वा से स्पर्श होते ही वह लपलपाने लगती है। नारी में पाँचों ही विषय-जन्य सुख विद्यमान हैं। अतः ऐसा कौन वीर्यवान् पुरुष है जिसका एकान्त में अपने अनुकूल कामिनी को देखकर चित्त चंचल नहीं होता। यदि ऐसा कोई है, तो वह नर नहीं नारायण है। उसके पादपद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी ने कहा—"मुनियो! इन्द्रियग्राम अत्यन्त ही बलवान है। इसके द्वारा बड़े-बड़े विद्वान् भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं। इस विषय में मैंने ऋषियों के मुख से अपने परम गुरु भगवान् व्यास के सम्बन्ध का जो इतिहास सुना है, मैं उसका वर्णन अपनी भाषा में करता हूँ।

पहले हस्तिनापुर में ही गंगाजी थीं। उसके सम्मुख पार में विदुरजी की एक कुटी है, जहाँ दुर्योधन के भाइयों की विधवा

दारायें आकर रही थीं। इसीलिये उस नगर का नाम दारानगर विख्यात हुआ। दारानगर गंगाजी के तट पर ही है। उसके समीप ही एक महात्मा कुटी बनाकर रहते थे। श्रीमद्भागवत में उनकी बड़ी निष्ठा थी। उसका वे बड़े प्रेम और नियम से पाक्षिक पाठ करते थे। वे बालब्रह्मचारी थे, कभी संसारी प्रलोभन उनके सम्मुख आये नहीं थे। इसीलिये वे कभी संसारी प्रलोभनों में नहीं फँसे थे। उनके सदाचार की आस पास के स्थानों में ख्याति थी। बहुत से स्त्री-पुरुष गंगा स्नान के निमित्त आते, महात्माजी के भी दर्शन कर जाते और आवश्यक वस्तुएँ भी भेंट कर जाते। महात्माजी आवश्यक वस्तु तो रख लेते, शेष वस्तुओं को वितरण कर देते, कुछ संग्रह नहीं करते थे। इसलिये लोग उनमें श्रद्धा रखते थे। वे किसी से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते थे। घड़ियों तक बहुत से स्त्री-पुरुष, युवक-युवती उनके समीप बैठे रहते, वे अपने भजन-ध्यान में ही मग्न रहते। अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के निमित्त वे किसी से विशेष सम्पर्क भी नहीं रखते थे। शनैः शनैः उनके मन में यह बात बैठ गई, कि मैं जितेन्द्रिय हो गया हूँ। वे संयमी, सदाचारी, सरल तथा साक्षर भी थे। श्रीमद्भागवत् का पाठ करते-करते जब वे नवम स्कन्ध के १९ वें अध्याय के १७ वें श्लोक को पढ़ते, तब सोचते—व्यासजी ने,

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥*

यह श्लोक क्यों लिखा, विद्वानों के मन को काम कैसे विच-

* अर्थात् माता, बहिन और पुत्री के साथ एकान्त में एकासन पर न बैठे। यह इन्द्रियग्राम बड़ा बलवान् है, विद्वानों के मनको भी विचलित कर देता है।

लित करेगा, जिसका मन तनिक से प्रलोभन पर विचलित हो जाय, वह विद्वान ही कैसा ? वे ऐसा सोचते, और उस श्लोक को छोड़ देते।

उन दिनों भगवान वेदव्यास अन्तर्हित नहीं हुए थे। वे प्रकट रूप में गंगातट पर निवास करते थे। अतः वे महात्मा अपनी शंका का समाधान कराने सत्यवती नंदन पराशर तनय भगवान् वेदव्यासजी के समीप गये। महात्मा का भगवान् ने यथोचित आदर-सत्कार किया। कुशल-प्रश्न के अनन्तर महात्मा ने कहा—"भगवन्! मैं एक शंका-समाधान के निमित्त आपके चरणों में आया हूँ।"

भगवान् व्यास ने कहा—"हाँ, भैया! कहो, क्या शंका है ?"

उसने कहा—"भगवन्! आपने श्रीमद्भागवत की रचना करके संसार का बड़ा उपकार किया। किन्तु, मुझे एक शंका है कि आपने—

> मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
> बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

यह श्लोक क्यों लिखा ? विद्वानों के मन को इन्द्रियाँ कैसे विचलित कर सकती हैं ? आपके ही युवक पुत्र श्रीशुक नग्न होकर स्त्रियों में घूमते, जनक के महलों में वे अत्यन्त सुन्दरी युवती स्त्रियों में ही रहते। उन्होंने उन्हें फँसाने को भाँति-भाँति के हाव-भाव-कटाक्ष चलाये, किन्तु वे विचलित नहीं हुए।"

व्यासजी ने कहा—"भैया! देखो, सब तो शुक नहीं हो सकते! मैंने केवल शुक के ही लिये तो भागवत लिखी नहीं। शुक सनकादिक तो इसके अपवाद हैं। मैं तो अपने ही मन की कहता हूँ कि इन्द्रियों का विषयों में आकर्षण बड़ा प्रबल होता

है। देखो, मेरे धर्मात्मा, तेजस्वी पिता का एकान्त देखकर ही चित्त चंचल हो गया !"

महात्मा ने कहा—"महाराज ! आप लोगों की बात तो पृथक् है। आप सब तो कारक पुरुष हैं, भगवान् के अवतार हैं। आप सबकी चेष्टाएँ तो लोक-कल्याण के निमित्त होती हैं। किन्तु, साधारणतया मनुष्य संयम और सदाचार से रहे, तो यह बात नहीं की इन्द्रियाँ उन्हें हठात् विषयों में गिरा दें। आप अभिमान न समझें। मेरे आश्रम में तो एक से एक सुन्दरी युवतियाँ आती हैं, मैं उधर ध्यान ही नहीं देता। यही समझता हूँ, जैसे पेड़ पर कोयल आदि पक्षी बोलते हैं, वैसे ही ये सब बोल रही हैं।"

व्यासजी ने कहा—"भैया, यह तो ठीक ही है। तुम संयमी हो, सदाचारी हो, शास्त्रज्ञ हो। अच्छा है, तुम्हारा मन विचलित नहीं होता। किन्तु, फिर भी सबके सम्मुख स्त्रियों से मिलने में और बात है, सर्वथा एकान्त में मिलने से दूसरी बात है। मैंने उनसे मिलने का तो निषेध किया नहीं, इतना ही कहा है कि उनसे एकान्त में मिलना निरापद नहीं। वैसे मनुष्य पशु तो है नहीं, माता, बहिन, बेटी इन सबसे तो कोई-भेद-भाव ही नहीं। फिर भी सावधानी के लिये यह बात लिखी गई है। जब इन्द्रियाँ चंचल हो जाती हैं, हृदय में कामाग्नि प्रज्वलित हो उठती है, तब यह मनुष्य पशु से भी गया-बीता हो जाता है ! काम का वेग बड़ा प्रबल होता है। अभी तुम नये साधु हो। तुम्हारे सम्मुख कभी ऐसे प्रलोभन आये नहीं। यह भगवान् की कृपा है।"

महात्मा ने कहा—"नहीं, महाराज ! यह तो आपने अत्युक्ति ही कर डाली। मैं इसे मानने को तैयार नहीं। मैं तो इस श्लोक पर हड़ताल फेरे देता हूँ।"

व्यासजी ने कहा—"भई, तुम्हारी इच्छा—पुस्तक तुम्हारी है,

तुम चाहे जहाँ हड़ताल फेर दो। तुम्हारा ऐसा विश्वास है, तो फेर दो हड़ताल।" यह सुनकर महात्मा ने व्यासजी के सम्मुख ही उस श्लोक पर हड़ताल लगा दी और आश्रम पर आकर भजन-पाठ करने लगे।

मनुष्य का स्वभाव है, जिसे वह भूलना चाहता है, उसकी ओर अधिक याद आती है। वैसे जप में कभी सर्प याद न आवे, किन्तु आप कह दें कि जप के समय सर्प की याद न आनी चाहिये, तो हठात् सर्प की याद आवेगी। यही नहीं, निरन्तर सर्प का ही स्मृति बनी रहेगी। इसी प्रकार महात्मा ने उस श्लोक पर हड़ताल तो लगा दी, किन्तु मन में वह दृढ़ता से लिख गया। जब भी उस स्थल पर आते, चिरकाल तक इसी का विचार करते। वे बार-बार दृढ़ता से कहते, मैं कभी ऐसे प्रलोभनों में न पड़ूँगा।

एक दिन सायंकाल के समय वे श्रीमद्भागवत का पाठ कर रहे थे। आषाढ़ का महीना था। बड़े वेग से आँधी आई। धूल से सब कोठरी भर गई। उन्होंने पुस्तक रख दी, अग्नि को ठीक कर दिया, इधर-उधर टहलने लगे। इतने में ही वर्षा आरम्भ हुई। बादल घिर आये। अमावस्या की अन्धेरी रात्रि थी, चारों ओर बादल घिरे थे, बीच बीच में बिजली चमक उठती। उसी समय एक कोमल कण्ठ सुनायी दिया—"स्वामी जी! मैं आश्रय चाहती हूँ। क्या कृपा करके आश्रय देंगे?" इन शब्दों में करुणा, विवशता, दीनता, अधीनता तथा परम मृदुता भरी हुई थी। महात्मा जी कुटी से बाहर निकल आये। उन्हें एक स्त्री दिखायी दी। अन्धेरी रात्रि में वह एक छाया-सी दिखायी देती थी।

महात्मा जी असमञ्जस में पड़ गये, बोले—"तुम कौन हो? यहाँ कैसे आई?"

उसी स्वर में उस अबला ने कहा—"भगवन्! मैं एक राज-कुमार की उप-पत्नी हूँ। कुमार अपनी स्त्रियों-सहित वन-विहार को आये थे। मैं वन में पुष्प तोड़ने आयी थी। उसी समय बड़े वेग से आँधी आ गई। मैं भटक गई तब से आश्रय ढूँढ़ती फिर रही हूँ। दैवयोग से यहाँ आपके समीप आ गई। आज रात्रि में मुझे आश्रय दे दें। प्रातः काल मैं चली जाऊँगी।"

महात्मा ने कहा—"देखो, देवि! यहाँ स्त्रियों का काम नहीं। हम साधु हैं, अकेले रहते हैं। यहाँ से कुछ दूर पर एक और आश्रम है, वहाँ चली जाओ। यहाँ तुम्हारा रहना उचित नहीं।"

स्त्री ने कहा—"महाराज! अब मैं इस अँधेरी रात्रि में कहाँ जाऊँगी। और कहीं भटक जाऊँगी। मैं आपसे कुछ माँगती तो हूँ नहीं, आश्रय चाहती हूँ। इसमें तो कोई अनुचित नहीं। आप को अपने पर विश्वास नहीं या मुझ पर विश्वास नहीं?"

महात्माजी ने कहा—"नहीं, तुम मेरी तो पुत्री के समान हो। अपने ऊपर मुझे पूर्ण भरोसा है। तुम्हारे ऊपर भी कोई अविश्वास करने का कारण दिखाई नहीं देता।"

स्त्री ने कहा—"अच्छा, हो भी मेरे ऊपर अविश्वास, तो मैं कोई साँप-बिच्छू तो हूँ ही नहीं। आप अपने ऊपर विश्वास रखिये। आपकी कुटी के एक कोने में अग्नि के सहारे मैं पड़ी रहूँगी। प्रातःकाल चली जाऊँगी। निराश्रय को आश्रय देना यह तो सभी का धर्म है, फिर महात्माओं की विभूति तो परोपकार के निमित्त ही होती है। परकार्यों को साधने से ही तो महा-त्माओं को साधु कहते हैं।" अब महात्मा क्या करते? उसके ऐसे युक्ति युक्त सुन्दर, कोमल और सरस वचनों को सुनकर महात्मा का मन बदला। इतने में ही बिजली चमकी। बिजली

के प्रकाश में महात्मा जी ने देखा, यह तो साकार सुन्दरता है। ऐसा सौन्दर्य उन्होंने कभी नहीं देखा था। उनका चित्त चञ्चल हो उठा। अब वे 'ना' न कर सके। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है।"

महात्मा जी का अश्वासन पाकर वह कुछ आगे बढ़ी महात्मा जी ने दीपक जलाया। उसका सम्पूर्ण रेशमी महीन वस्त्र भीगा हुआ था, उसमें से छन-छन कर उसका सौन्दर्य निकल रहा था। प्रकाश में जो उन्होंने उसके अनुपम लोकोत्तर सौन्दर्य को निहारा, तो उनका मन पानी-पानी हो उठा। चित्त की चञ्चलता बढ़ने लगी। उन्हें ऐसा लगा, मानो उन्हें कोई अपनी ओर बल पूर्वक खींच रहा है। महात्मा जी ज्ञानी थे, विवेकी थे, समझ गये कि यह सौन्दर्य का आकर्षण है, इसे अपने समीप रखना निरापद नहीं। अब इन्हें अपने मन पर अविश्वास होने लगा। फिर भी वे विवेक खो नहीं बैठे थे। उन्होंने कहा—"देवि! तुम्हारा यहाँ रहना उचित नहीं। समीप ही मेरी दूसरी कोठरी है, जिसमें मेरी जलाने की लकड़ियाँ रखी हैं। तुम उसमें चली जाओ।"

उसने कहा—"महाराज! जैसी आपकी आज्ञा। मुझे तो रात्रि काटनी है। आप जहाँ आज्ञा कर देंगे, मैं वहीं पड़ी रहूँगी। मुझे उस कोठरी को दिखा दीजिये, प्रकाश ले जाकर उसमें मुझे पहुँचा दीजिये।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा, चलो।" यह कहकर वे आगे-आगे प्रकाश लेकर चले, पीछे-पीछे वह स्त्री चली। भजन-कुटी के समीप ही वह कुटी थी। मुनि ने स्त्री को एक कुशा का मोटा आसन, एक वल्कल तथा वस्त्र दिये और बोले—"तुम्हारे सब कपड़े भीग गये हैं, इन्हें उतार कर सुखा लो, इस वल्कल को

पहन लो।" उसने कहा—"महाराज की बड़ी कृपा है। बाहर तनिक प्रकाश लेकर खड़े रहें, तो मैं वस्त्र बदल लूँ।" महात्मा ने कहा—"अच्छा बदल लो। वे बाहर खड़े हो गये। उसके बहुमूल्य वस्त्रों से सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध आ रही थी। उसके आभूषणों की आभा अनुपम थी। अङ्ग-अङ्ग से सौन्दर्य फूट-फूट कर निकल रहा था। मुनि का मन विचलित हो उठा। वे खोये-खोये से हो गये। उन्होंने समझ लिया कि मेरा मन मेरे हाथ से निकल गया। फिर भी इतने दिन के संयम के कारण उनका विवेक उन्हें छोड़ न सका। उन्होंने शीघ्रता से उस स्त्री से कहा—"देखो बेटी! अब तुम किवाड़ बन्द कर लो। हाँ, एक बात और स्मरण रखना। यहाँ समीप में ही एक भूत रहता है। वह अनेक रूप रख लेता है—"कभी बकरा बन के आता है, कभी भेड़िया बन के। वह जैसे का तैसा मेरा भी रूप बना लेता है। यदि रात्रि में वह मेरा रूप बनाकर भी तुमसे किवाड़ खोलने को कहे, तो भी तुम कभी मत खोलना। वह चाहे जितना विश्वास दिलावे, तुम उसके चक्कर में आ गई, तो भला न होगा।"

उस स्त्री ने सरलता से कहा—"नहीं, महाराज जी! मैं आप की आज्ञा का अक्षरशः पालन करूँगी। कोई भी मुझसे किवाड़ खोलने को कहेगा, तो मैं कभी भी न खोलूँगी अब आप जायँ और विश्राम करें।" यह कहकर उसने भीतर से किवाड़ बन्द कर लिये और मुनि अपनी कुटी में आ गये।

महात्मा जी ने यह बनावटी झूठी भूत वाली बात इसीलिये कह दी, कि सम्भव है, उनका चित्त चञ्चल हो जाय, तो वह किवाड़ न खोले, वे अपने धर्म से बच जायँ। किन्तु जब वे अपनी कुटी में आये, तब उन्हें इस बात पर पश्चात्ताप हुआ, कि यह बात उन्होंने क्यों कह दी। उन्हें रह-रहकर उसके सौन्दर्य

की स्मृति होने लगी। उनका चित्त उद्विग्न हो उठा। वे पाठ करने लगे पाठ में मन न लगा, उन्होंने पुस्तक रख दी। उन्होंने हाथ-पैर धोये, जल पिया, आसन पर आँख बन्द करके लेट गये। किन्तु नींद तो समीप की कोठरी में बन्द थी, वह मुनि की आँख में कैसे आवे? चित्त में अनेक विचार, अनेक भावनायें उठने लगीं—विचारों का बवंडर आ गया। महात्मा आसन पर लेटे न रह सके। बिना इच्छा के ईंधन वाली कोठरी के द्वार पर पहुँचे साहस नहीं हुआ, लौट आये। फिर मन न माना, वे फिर गये, फिर लौटे। ऐसे उन्होंने तीन-चार चक्कर लगाये। अन्त में साहस करके सम्पूर्ण मनोबल बटोर कर उन्होंने पुकारा—"बच्ची! सो गई क्या?"

भीतर से उसने कहा—"नहीं, महाराज जी! सोई तो नहीं।

अब तो महात्मा को साहस हुआ, बोले—"अच्छा तनिक किवाड़ तो खोल दे, तुझसे कुछ कहना है। पानी रखना तो मैं भूल ही गया। एक वल्कल से तुम्हारा काम न चलेगा, एक और ले ले।"

उसने कहा—"नहीं, महाराज! मुझे जल की आवश्यकता नहीं। वर्षा में प्यास लगती ही नहीं। मेरे कपड़े भी सूख रहे हैं। एक वल्कल से मेरा काम चल रहा है। आप कष्ट न करें, जाकर शयन करें।"

महात्मा ने कहा—"नहीं, सोने की तो कोई बात नहीं। तुम किवाड़ खोलो तो सही, कुछ और भी बातें करनी हैं।"

उसने ने कहा—"महाराज! कल होंगी बातें।"

महाराज ने कहा—"बात क्या है, तुम्हें कुछ आपत्ति है?"

उस स्त्री ने कहा—"हाँ मुझे आपत्ति है। आप महात्मा नहीं, भूत हैं। महात्मा का वेष बनाकर मुझे ठगने आये हैं। महात्मा-

जी मुझे पहले ही यह बता गये हैं।" यह सुनकर महात्मा खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले—"यह बात तो मैंने झूठ-मूठ कह दी थी। तुम मेरे ऊपर विश्वास करो। उस छेद में से देखो, मैं वही हूँ।"

स्त्री ने कहा—"मैं छेद में से भली-भाँति देख रही हूँ। आकार प्रकार, बोल-चाल सब आपकी वही है। यह बात भी महात्मा जी मुझे बता गये थे, कि मेरे ही जैसा बनकर वह आवेगा, तू विश्वास मत करना। सो, महाराज! चाहे आप भूत हों, या महात्मा, आज तो मैं किसी प्रकार किवाड़ नहीं खोल सकती। मैं महात्माजी के तो वश में हूँ, वे मुझे जो आज्ञा देंगे, मैं वही करूँगी। उनकी आज्ञा है, किवाड़ न खोलना। इसलिये मैं किवाड़ न खोलूँगी।

महात्मा बोले—"अच्छा, मैं दूसरे मार्ग से आ जाऊँ?

स्त्री ने कहा—"बड़ी प्रसन्नता से आ जाइये। मुझे तो कोई आपत्ति नहीं।" अब तो महात्माजी दूसरा उपाय सोचने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पश्चिम में कच्ची दीवाल के घर बनते हैं। वे खपड़ैल से नहीं छाये जाते। मोटी-मोटी लकड़ियाँ छत पर रखकर (जिन्हें सोट कहते हैं) इधर-उधर छोटी-छोटी लकड़ियाँ (किरचें) डालकर ऊपर से मिट्टी डाल देते हैं। इधर की मिट्टी ऐसी पक्की होती है, कि जल गिरने पर भी छत की कोई हानि नहीं होती। चोर लोग उन कच्ची छतों में सेंद देकर उन दो सोटों के नीचे से रस्सी द्वारा उतर कर चोरी कर ले जाते हैं। महात्माजी ने भी यही उपाय सोचा। वे छत पर चढ़ गये। वहाँ उन्होंने एक सेंद लगाई, उसकी किरचें निकालीं, दो सोटों के बीच में मार्ग बनाया। संयोग की बात, जहाँ फोड़ा, उन दोनों सोटों में वहाँ गाँठें थीं। उनके बीच से आदमी निकल नहीं सकता था।

अँधेरे में महात्माजी ने यह तो देखा नहीं। उन्होंने रस्सी ऊपर बाँधकर नीचे लटका दी और मुख के बल भीतर घुसे। दोनों हाथ और सिर नीचे निकल गये, किन्तु कमर बीच में फँस गई। उन्होंने बहुत बल लगाया, किन्तु अब न वे भीतर जा सके, न ऊपर ही निकल सके, त्रिशंकु की भाँति बीच में ही लटक गये। वे पूर्ण त्यागी होते, तो ऊपर के महर्-जन तप आदि लोकों का सुख भोगते, ऊपर जाते, गृहस्थ होते, तो नीचे जाकर संसार का सुख भोगते, पुण्य करते, स्वर्ग जाते। अब वे न इधर के रहे, न उधर के। बीच में ही बाबाजी फँस गये। प्रातःकाल हो गया। गंगा नहाने बहुत से लोग आये। महात्माजी को अधर में लटका देख-कर सब आश्चर्य करने लगे। प्रकाश होने पर महात्माजी ने देखा, कुटी के भीतर न स्त्री है, न अप्सरा। भूरी-भूरी दाढ़ी वाले व्यास भगवान् बैठे बैठे हँस रहे हैं और बार-बार भागवत के इस श्लोक को पढ़ रहे हैं—

> माता स्वसा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
> बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

इसे सुनकर महात्माजी लज्जित हुए और बोले—"हाँ, भगवन्! आपका कथन सर्वथा सत्य है। आपके वचनों पर हड़ताल लगाकर मैंने भूल की। अब मैं कहता हूँ, आपका एक-एक शब्द अनुभव और सत्य से भरा हुआ है।" तब व्यासजी ने उन्हें निकाला और श्रद्धापूर्वक उसका पारायण करने की आज्ञा देकर अपने आश्रम पर चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसीलिये शास्त्रकारों ने इस मन को शठ किरात के समान, पुंश्चली पत्नी के समान बताया है। इसे मैंने जीत लिया, ऐसा कभी विश्वास न करे। जीवन पर्यन्त

इसकी लगाम को खींचता ही रहे, इसी बात को महाराज ययाति अपनी पत्नी देवयानी को बता रहे हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! फिर महाराज ययाति ने क्या किया?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं सम्राट् ययाति के अग्रिम चरित को सुनाता हूँ। आप प्रेमपूर्वक उसे श्रवण करें।"

छप्पय

नृपति ययाति विचार करें हा! पाप कमायो।
पायो दुर्लभ देह भजन बिनु व्यर्थ गँवायो॥
सुत को यौवन लयो भोग भोगे निशि-वासर।
तोऊ तृप्ति न भई, लह्यो नहिं सुखमय अवसर॥
तातैं अब सब त्यागि कैं, तप हित वन महँ जाउँगो।
विषयाशा तजि भक्ति तैं, चित हरि माँहिं लगाउँगो॥

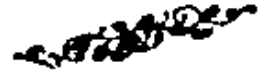

महाराज ययाति को परमपद की प्राप्ति

[७६६]

स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः ।
पुरेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥❀

(श्री भाग० ९ स्क० १९ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

यों करि पश्चाताप पूरु सुत तुरत बुलायो ।
यौवन देकें लई जरा बहु विधि समझायो ॥
सबकूँ दीयो राज पूरु सम्राट् बनाये ।
राजपाट सब त्यागि गये वन मन हरषाये ॥
करे घोंसला त्याग जब, पक्षी पर के जमत ही ।
त्यों विराग में विरत है, वन गमने नृप तुरत ही ॥

प्रातःकाल का भूला यदि सायंकाल तक घर लौट आये, तो उसे भूला हुआ नहीं कहते । इन संसारी विषयों के भोगों में इतना अधिक आकर्षण है कि प्राणी मरते-मरते इनका परित्याग नहीं कर सकता । चाहे जितनी वैराग्य की बातें बताई जायँ इन

❀ श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! तदनन्तर उन विश्वविख्यात महाराज ययाति ने सम्पूर्ण सङ्गों से निर्मुक्त होकर आत्मानुभूति द्वारा इस त्रिगुणमय लिङ्गदेह से मुक्त होकर परब्रह्म परमात्मा वासुदेव को प्राप्त करके, भागवती गति प्राप्त की, जो अमल है ।"

शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—सुखों में फँसी इन्द्रियों को उनसे हटाना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है। जिस भाग्यशाली को पुण्यों के प्रभाव से—भगवत् कृपा से—विषय में वैराग्य हो जाय तथा यह मन है, यह असत् है, ऐसा ज्ञान हो जाय, उसके सभी शुभ-अशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं। ज्ञानरूपी अग्नि समस्त भले-बुरे कर्मों को भस्मसात् कर देती है। कर्मों के नाश होने से पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज ययाति को विषयों से विराग उत्पन्न हुआ, तब उन्होंने अपने प्यारे पुत्र पुरु से पुनः अपनी अवस्था बदल ली। पुरु तरुण हो गये और महाराज देखते-देखते वृद्ध बन गये। उसी समय उन्होंने समस्त प्रजा के लोगों को बुलाकर कहा—"प्रजागण! मैं तो अब राजपाट छोड़कर तप करने वन को जाऊँगा, तुम मेरे स्थान पर पुरु को ही समझना।

प्रजा के लोगों ने कहा—"राजन्! आप धर्म के मर्म को जानने वाले हैं। फिर भी आप ऐसा नीति-विरुद्ध कार्य क्यों कर रहे हैं? नियमानुसार यदु राजसिंहासन के अधिकारी हैं। ज्येष्ठ पुत्र ही राजगद्दी पाता है, यह सनातन नियम है। आप इस परम्परा से चले आये नियम को तोड़कर सबसे छोटे पुत्र पुरु को राजा क्यों बना रहे हैं?"

प्रजा के लोगों की ऐसी बात सुनकर राजा ने कहा—"प्रजाजन! तुम्हारा विरोध उचित ही है। नियमानुसार राज्य का अधिकारी यदु ही था, किन्तु उसने पुत्रपने का कार्य किया नहीं। पुत्र वही है, जो माता-पिता की आज्ञाओं का पालन करे। मेरे यदु, तुर्वसु, अनु और द्रुह्यु, इन चारों पुत्रों ने मेरा अनादर किया है, मेरी बात नहीं मानी है। अतः मैंने शाप देकर इन्हें राज्य

से च्युत कर दिया है। कनिष्ठ होने पर भी पुरु ने ज्येष्ठ का कार्य किया है, उसने अपने सयम, सदाचार तथा शील से मुझे सन्तुष्ट किया है। अत यही सब म श्रेष्ठ है, यही राज्य का अधिकारी है। मैं किसी द्वेषवश या पक्षपातयुक्त होकर ऐसा नहा कर रहा हूँ। मैंने प्रथम ही भगवान् शुक्राचार्य से निवेदन कर दिया था, कि जो पुत्र मेरी जरा अवस्था लेकर अपनी युवावस्था मुझे देगा, वही मेरे राज्य का अधिकारी होगा। भगवान् शुक्र ने इसका समर्थन भी कर दिया था और मुझे ऐसा वर भी दिया था। उन्हीं के अनुसार मैं यह कार्य कर रहा हूँ ? आप सब लोगों को मेरे इस कार्य का समर्थन करना चाहिए, क्योंकि जब तक आप सब समर्थन न करेंगे, कोई राजा, हो ही नहीं सकता।"

यह सुनकर प्रजा क लोगों ने साधु साधु कहकर महाराज के वचनों का समर्थन किया। तब राजराजेश्वर ययाति ने अपने हाथ से अपना सुवर्ण मडित दिव्य मुकुट पुरु को पहना दिया। सभी प्रजा के लोगों ने पुरु को सम्राट् मानकर उनके प्रति आदर प्रदर्शित किया। महाराज ने अन्य चारों पुत्रों को भी एक एक दिशा का राज्य देकर पुरु के अधीन मण्डलेश्वर बना दिया। दक्षिण-पूर्व दिशा में द्रुह्यु को, दक्षिण में यदु को, पश्चिम म तुर्वसु को और उत्तर म अनु को राज्य दिये। इस प्रकार समस्त भूमण्डल का बँटवारा करके महाराज ययाति अपनी पत्नियों और ब्राह्मणों के सहित तपस्या करने वन म चले गये। महाराज के पाँचों पुत्रों के सतान हुईं। यदु की सतति काले यादव कहलाये, तुर्वसु के वशज (तुरुक) यवन हुए। द्रुह्यु के वशज भोजवशी कहलाये। अनु के वशज समुद्र के तीरों और टापुओं पर रहने वाले म्लेच्छ हुए तथा पूरु के वशज पौरव कहलाये।

राज पाट छोड़कर महाराज ययाति परम प्रमुदित हुए। वे

वानप्रस्थी मुनि का वेष बनाकर वन में रहकर घोर तपस्या करने लगे। कन्द-मूल-फल खाकर इन्द्रियों को जीतकर वे शास्त्रीय विधि से कठोर नियमों का पालन करते। उन्होंने विषयों की ओर से मुख मोड़ लिया। इस प्रकार सहस्रों वर्षों तक वे वन में तप करते रहे। अन्त में अपनी पवित्र कीर्ति को पृथ्वी में ही छोड़कर देवताओं से वन्दित होकर, वे स्वर्ग में गये और वहाँ इन्द्र के समान ऐश्वर्य भोगते हुए सुखपूर्वक रहने लगे। उनकी सब लोकों में अव्याहत गति थी। वे जब चाहते, ब्रह्मलोक चले जाते, जब चाहते वरुणलोक में आनन्द-विहार करते। एक बार उन्हें स्वर्ग से च्युत भी होना पड़ा था।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! धर्मात्मा महाराज ययाति को स्वर्ग से च्युत क्यों होना पड़ा? कृपा करके इस कथा को हमें अवश्य सुनावें। ऐसा कौन-सा उनसे अपराध बन गया था?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! अपराध क्या बनना था! यह सब इन्द्र का षड्यन्त्र था। बात यह थी कि एक दिन इन्द्र ने पूछा—"राजन्! राजपाट छोड़कर वन में आपने किसके समान तपस्या की थी?"

उस समय बातों ही बातों में भाग्यवश राजा को अहंकार हो गया। वे बोले—"देवेन्द्र! आप मेरी तपस्या के सम्बन्ध में क्या पूछते हैं? मेरे बराबर किसी ने तपस्या की हो, तो उसका नाम भी बताऊँ। मैंने जैसी तपस्या की है, वैसी देवताओं में, मनुष्यों में, गन्धर्व तथा महर्षियों में से किसी ने की हो, ऐसा मुझे कोई भी दिखाई नहीं देता। मेरे बराबर तपस्या करने वाला कोई भी न होगा।"

यह सुनकर इन्द्र हँस पड़े। उनका षड्यन्त्र सफल हुआ।

वे बोले—"राजन् अपने पुण्य की अपने मुख से ही जो प्रशंसा करता है, उसका वह पुण्य उसी समय क्षीण हो जाता है, एक बात। दूसरी बात यह कि आप सबकी तपस्या के सम्बन्ध में जानते भी नहीं। बिना जाने आपने अपने समान तथा अपने से श्रेष्ठ पुरुषों का अनादर किया। अतः आपके सब पुण्य क्षीण हो गये। पुण्य क्षीण होने पर प्राणी स्वर्ग में नहीं रह सकता! अब आपको मर्त्यलोक में उलटा मुख करके गिरना होगा। सम्हलिये! गिरने के लिये तैयार हो जाइये!"

यह सुनकर ज्ञानी महाराज ययाति तनिक भी विचलित नहीं हुए, वे बोले—"यदि भूल से दूसरों के अनादर के कारण मेरे पुण्यों का नाश होने से मुझे नीचे गिरना पड़े, तो इसकी मुझे चिन्ता नहीं। किन्तु देवराज! मैं यह चाहता हूँ, स्वर्ग से च्युत होने पर भी मुझे सज्जनों के ही बीच रहना पड़े।"

देवराज ने 'तथास्तु' कहा। देवदूत ने उन्हें तुरन्त नीचे गिरा दिया। वे अपने तेज से दशों दिशाओं को आलोकित करते हुए राजर्षि विश्वामित्र के पुत्र अष्टक की यज्ञभूमि में गिरे। उस समय वहाँ प्रतर्दन, वसुमना और महाराज उशीनर के पुत्र पुण्य-श्लोक शिवि भी उपस्थित थे। जब महाराज ययाति राज्य कर रहे थे, तब उनके समीप एक स्नातक गुरुदक्षिणा के निमित्त विपुल धन माँगने आये थे। महाराज के पास उतना धन नहीं था। अतः उन्होंने अपनी पुत्री ऋषि को दे दी। उस पुत्री से ही भिन्न भिन्न राजाओं से ये अष्टकादि चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। इस सम्बन्ध से इनके महाराज मातामह (नाना) लगते थे। इन सब को यह बात विदित नहीं थी। महाराज ने पृथ्वी का स्पर्श नहीं किया। अधर में ही खड़े-खड़े उन्होंने अष्टक के सभी प्रश्नों का उत्तर दिया, सत्संग किया। इसके प्रभाव से महाराज ययाति

पुनः अपने देवतों के सहित लौटकर स्वर्ग गये। वहाँ से वे अन्यान्य लोकों में विहार करते हुए भगवान् के नित्यधाम वैकुण्ठ में गये, जहाँ से पुनः लौटना नहीं होता। इस प्रकार महात्मा ययाति ने भगवत्भक्ति के प्रभाव से परमपद को प्राप्त किया।

देवयानी से जब महाराज ने बकरा-बकरी की कथा कही थी, तब प्रथम तो उन्होंने हँसी-विनोद ही समझा। जब महाराज सर्वस्व त्याग करके वन को चलने लगे, तब देवयानी भी इन संसारी भोगों और सम्बन्धों को अनित्य तथा क्षणभंगुर समझ कर और यह जानकर कि सब भगवान् की माया से ही रचा गया है, सत्य नहीं, स्वप्न के समान है, इन निखिल पदार्थों की आसक्ति को त्यागकर श्रीकृष्णचन्द्र में चित्त लगाकर तन्मय हो गई और फिर अपनी इस लिङ्गदेह को त्यागकर सत्-स्वरूप में मिल गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने परम यशस्वी महाराज ययाति का चरित, जिन भगवान् वासुदेव की कृपा से कहा, उन सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, सकल भूतों के आश्रय स्थान शान्त स्वरूप श्रीहरि के पादपद्मों में बार-बार प्रणाम करता हूँ।"

छप्पय

घोर तपस्या करी चित्त भगवत् महँ लाग्यो।
त्रिभुवन ब्यापी कीर्ति अंत महँ नृप तन त्याग्यो॥
गये स्वर्ग तप अहङ्कार तैं गिरि भुवि आये।
करि सज्जन सत्संग फेरि हू स्वर्ग सिधाये॥
सब लोकनि के भोगि सुख, करी नहीं तिन महँ रती।
पहुँचे पुनि वैकुण्ठ नृप, पाई भागवती गती॥

पुरुवंशी महाराज दुष्यन्त

[७६७]

पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत ।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २० अ० १ श्लोक०)

छप्पय

नृप ययाति लघु पुत्र पूरु को वंश सुनाऊँ ।
जन्मेजय तिनि पुत्र भये, तिन कुल-यश गाऊँ ॥
चौदह पीढ़ी मोहिं भये दुष्यन्त भूपवर ।
परम यशस्वी वीर शत्रुजित वंश यशस्कर ॥
देवबधूटी मेनका, सुता प्रेम मह फँसि गये ।
भयो 'वर्ष' जिनि नाम तैं, भरत तनय तिनकें भये ॥

वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखना पितृऋण से उऋण होने के लिये अत्यावश्यक है। पितरों को आशा लगी रहती है, कि हमारे वंश में कोई ऐसा तेजस्वी, तपस्वी, यशस्वी तथा भगवद्भक्त होगा, स्वयं तो तरेगा ही, अपने आगे-पीछे की पीढ़ियाँ

---

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन् ! मैं अब उसी पुरुवंश का वर्णन करता हूँ, जिस पुरुवंश में आपका जन्म हुआ है, जिस वंश में बहुत-से राजर्षियों का जन्म हुआ है और ब्राह्मण-वंश इससे चले हैं।"

को भी तार देगा। पृथ्वी पर, जितने दिनों तक जिसका यश रहता है, वह उतने ही दिनों तक स्वर्ग में रहकर सुखों का उपभोग करता है। जिसे यहाँ कोई नहीं जानता, उसे स्वर्ग में रहने का स्थान कैसे मिल सकता है? जिनके नाम से वंश विख्यात होता है, जिनका नाम नित्य पुरुष लेते हैं, वे तो अपने यश-शरीर से सदा अमर ही बने हुए हैं। पंचभौतिक शरीर न रहने पर भी उनकी कीर्तिमय देह सर्वत्र व्याप्त रहती है।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज ययाति के सबसे छोटे पुत्र पुरु के वंश को अब मैं सुनाता हूँ। इस वंश में क्षत्रिय तो हुए ही, बहुत से ऐसे भी वंश हुए हैं, जो अपने शुद्धाचरण से ब्राह्मण बन गये। इस प्रकार इस वंश में राजर्षियों और ब्रह्मर्षियों का भी जन्म हुआ।

महाराज पुरु के पुत्र जन्मेजय हुए, जो पौरव के नाम से विख्यात हुए। जन्मेजय के पुत्र प्रचिन्वान् हुए। उनके पुत्र प्रवीर और प्रवीर के नमस्यु हुए। नमस्यु के चारुपद, उनके सुधु, सुधु के बहुगव, उनके संयाति और संयाति के पुत्र हंयाति हुए। हंयाति के परम यशस्वी धर्मात्मा पुत्र रौद्राश्व हुए। इन महाराज रौद्राश्व ने स्वर्ग की परम सुन्दरी घृताचिसे दश पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम ऋतेयु, कुक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयु, जलेयु, सन्तेयु, धर्मेयु, सत्येयु, व्रतेयु, और वनेयु प्रसिद्ध हुए।

इनमें सबसे बड़े ऋतेयु थे। अतः नियमानुसार ऋतेयु ही राजगद्दी पर बैठे। इन ऋतेयु के पुत्र का नाम रन्तिभार हुआ! महाराज रन्तिभार परम धार्मिक, यशस्वी तथा राजर्षि थे। उनके सुमति, ध्रुव और अप्रतिरथ—ये तीन परम यशस्वी पुत्र हुए। सबसे बड़े सुमति थे, अतः नियमानुसार वे राजा हुए। सबसे छोटे अप्रतिरथ बड़े धर्मात्मा तथा ब्राह्मण प्रकृति के थे। उनके

पुत्र राजर्षि कण्व हुए। कण्व के पुत्र मेधातिथि, जिनके पुत्र प्रस्कण्व आदि अपने शुभ कर्मों से ब्राह्मण बन गये। इनका वंश क्षत्रिय वंश से पृथक् हो गया। अब सबसे बड़े रन्तिभार-तनय महाराज सुमति के वंश को सुनिये। महाराज सुमति के पुत्र रैभ्य हुए। इन्हीं रैभ्य के पुत्र परम यशस्वी महाराज दुष्यन्त हुए, जिन्होंने मेनका अप्सरा से उत्पन्न हुई परम सुन्दरी शकुन्तला से विवाह किया था।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! महाराज दुष्यन्त की देवी शकुन्तला से कहाँ भेंट हुई और किस प्रकार उनका विवाह हुआ? इस प्रसङ्ग को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! यह प्रसङ्ग बड़ा रोचक और सरस है। इसे मैं आप को सुनाता हूँ। महाराज दुष्यन्त पौरव-वंश में रत्न के समान प्रकाशमान हुए हैं। वे परम धर्मात्मा थे। आसमुद्रान्त समस्त भूमण्डल के वे एकमात्र अधीश्वर थे। उनके समान राजा इस पृथ्वी पर कोई दूसरा नहीं था। म्लेच्छ, आभीर यवन तथा समस्त वर्णाश्रमी उनका शासन मानते थे। उनके राज्य में पृथ्वी को जोतने-बोने की आवश्यकता नहीं थी। बिना जोते बोये ही वह भाँति-भाँति के अन्न देती थी। समय पर अपने आप वृष्टि होती थी। ब्राह्मण तप में निरत रहते थे, क्षत्रिय धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करते थे, वैश्य व्यवहार में कपट नहीं करते थे, और शूद्र श्रद्धा सहित सभी वर्णों की सेवा करते थे। स्वयं भी राजा बड़े हृष्ट-पुष्ट तथा युद्ध-विद्या-विशारद थे। वे बल में विष्णु भगवान् के समान और तेज में सूर्य के समान थे। प्रजा उनके व्यवहार से सदा सन्तुष्ट रहती थी। ऐसा सम्राट पाकर सभी अपने भाग्य की सराहना करते थे।

महाराज दुष्यन्त मृगया के बड़े प्रेमी थे। वे अपनी राजधानी

हस्तिनापुर के आस-पास के वनों में मृगया के निमित्त प्रायः जाया करते थे। एक बार महाराज अपनी सेना सहित बड़े ठाट-बाट से वन में मृगया के निमित्त चले। प्रजा जनों (राज्य के स्त्री पुरुषों) को जब पता चला कि महाराज कई दिनों के लिये वन में आखेट के निमित्त जा रहे हैं, तब तो सब मारे प्रेम के राजा के दर्शनों के लिये एकत्रित हो गये। कुलवती महिलायें अपनी अटारियों से महाराज के दर्शन करने लगीं। प्रजाजन जय-जयकार करते हुए उनके पीछे चले। आगे-आगे बाजे बजते जाते थे, पीछे-पीछे उनकी चतुरङ्गिणी सेना चल रही थी। कैलाश-शिखर के समान हाथी पर चढ़े हुए महाराज राज पथ से जा रहे थे। उनके ऊपर सुवर्ण की तानों वाला श्वेत छत्र तना था। दोनों ओर चँवर डुल रहे थे। प्रजा अतृप्त नेत्रों से उनके दर्शन कर रही थी। नगर से बाहर जाकर महाराज ने सभी को प्रेम-पूर्वक लौटा दिया। अब वे ऐसे बीहड़ वन में घुस गये, जिसमें बहुत से हिंस्र जन्तु निवास करते थे। राजा ने बहुत से सिंहों, व्याघ्रों, मृगों, सूअरों तथा अन्यान्य जङ्गली जीवों को मारा। सैनिकों ने उस वन में खलबली मचा दी। मृग भागने लगे, हाथी चिंघाड़ने लगे, सिंह दहाड़ने लगे, वन्य जन्तु भय से इधर-उधर छिपने लगे। सैनिक कच्चा मांस ही खाने लगे, हँसने लगे, गाने-बजाने लगे। महाराज स्वयं सूअरों और सिंहों का पीछा करते, उनके अंग-रक्षक उनका अनुगमन करते। सैनिक सभी प्रमत्त हो रहे थे। वन में आकर उनकी स्वच्छन्दता और भी बढ़ गयी थी। राजा एक वन से दूसरे वन में, और दूसरे से तीसरे वन में, फिरने लगे।

तीसरे वन में जाकर महाराज बहुत थक गये। अब वे कहीं विश्राम की बात सोच रहे थे। उस समय अभिसारिका की

भाँति मन्द-मन्द गति से प्रवाहित उन्हें मालिनी नदी दिखाई दी। उसमें जल तो बहुत नहीं था, किन्तु जितना भी था, स्वच्छ था। उसके दोनो तटों पर हंस, सारस, चक्रवाक, जल-कुक्कुट तथा अन्यान्य जल-जन्तु किलोल कर रहे थे। उसी नदी के तट पर उन्हें एक सुन्दर आश्रम दिखाई दिया। उस आश्रम में भाँति-भाँति के चिकने पत्ते वाले वृक्ष लगे हुए थे, उनमे कोई कँटीला या फल-पुष्पहीन वृक्ष न था। उन पर बैठे हुए पक्षी अपनी मधुर ध्वनि से आतिथ्य के लिये मानों पथिकों का आह्वान कर रहे हों। झींगुरों की झङ्कार में कोकिलों का कमनीय कूजन मिलकर एक विचित्र स्वर की सृष्टि कर रहा था। उड़ते हुए तोते कुछ कहते जाते थे। कबूतर दाने चुग रहे थे। अन्य पक्षी कुछ उड़ रहे थे, कुछ घोसलों मे बैठे थे।

आश्रमस्थ वृक्ष हरे- भरे और छायादार थे। वृक्षों मे बेलें लिपट रही थीं, हिल-हिलकर वे पुनः-पुनः उनके तनों को आलिंगन कर रही थीं। उन पर जो पुष्प लगे हुए थे, मानों वे रङ्ग-बिरंगे वस्त्रो से अपने को ढाँके हुए हो। वृक्षों की विशाल शाखायें मानो आकाश को स्पर्श करने के लिये परस्पर प्रतिस्पर्द्धा कर रही हों। फल और पुष्पों के भार से नत हुई शाखाओं के ऊपर मधु-लोलुप भ्रमर बैठकर तन्मयता के साथ मधु पान कर रहे थे। शीतल, मन्द, सुगन्धि वाला पवन पुनः-पुनः उन पादपों के फल पुष्पों से नत हुई डालियों को झकझोर रहा था। उस अनुपम आश्रम के दर्शन से महाराज का मन अत्यन्त ही प्रमुदित हुआ। वे चकित-चकित दृष्टि से उस आश्रम को निहार रहे थे। मालिनी नदी उस आश्रम के बीच से बह रही थी नदी मे से छोटे-छोटे जलस्रोत आश्रम के वृक्षों को सींचने के लिये बनाये गये थे। स्थान-स्थान पर लताओं के वितान बने थे, जिनके पुष्पों की

सुगन्ध से सम्पूर्ण आश्रम सुवासित हो रहा था। सम्मुख ही उन्हें एक जटाधारी तापस दिखाई दिये।

महाराज ने विनय के साथ, हाथ जोड़ कर, पूछा—"तपोधन! मैं जानना चाहता हूँ कि यह किन महर्षि का आश्रम है।"

तापस ने कहा—"राजन्! यह कश्यप-कुलोद्भव कुलपति भगवान् कण्व का आश्रम है।"

यह सुनकर महाराज को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—"आज मेरा अहोभाग्य है, जो लोकपाल-तुल्य भगवान् कण्व के आश्रम पर मैं आ गया आज मैं उन महर्षि के दर्शन करके अपने जीवन को सफल करूँगा।" ऐसा सोचकर वे आश्रम के द्वार पर पहुँचकर रथ से उतर पड़े। उन्होंने छत्र-चँवर आदि राजसी चिह्न हटा दिये। साधारण वेश में वे अपने एक निजी मन्त्री और पुरोहित को लेकर भगवान् कण्व के दर्शनों को गये। उन्होंने सभी सैनिकों को आदेश दे दिया—"यह मुनि-आश्रम है, कोई किसी प्रकार की यहाँ चञ्चलता या उपद्रव न करे। कोई मेरे पीछे न आवे। चुपचाप शान्ति के साथ यहाँ ठहरे रहें।" इस प्रकार आज्ञा देकर महाराज ने आश्रम में प्रवेश किया। उन्होंने देखा कि स्थान-स्थान पर सिंह, मृग, व्याघ्र स्वच्छन्द होकर वहाँ बैठे जुगाली कर रहे हैं। ये सब आश्रम के पालतू जन्तु हैं। ये मनुष्यों से भय नहीं करते, किसी पर प्रहार नहीं करते। मोर इधर-उधर दौड़ रहे हैं, पंख फैलाकर नृत्य कर रहे हैं। स्थान-स्थान पर देवताओं के पीठ बने हैं। छोटी-छोटी पर्ण-कुटियों में मुनिगण निवास कर रहे हैं। बहुत-सी यज्ञ-वेदियाँ बनी हुई हैं। उनमें से कपोत के समान धूम निकलकर आकाश में सुगन्धि भरता हुआ विलीन हो रहा है। ब्रह्मचारी इधर-उधर

मृगशावकों के समान फुदक रहे हैं। महर्षि बैठे हुए ध्यान कर रहे हैं, कुछ सामवेद के मन्त्रों का सस्वर गान कर रहे हैं, कुछ ऋग्वेद का पाठ कर रहे हैं, कुछ यजुर्वेद की संहिताओं का स्वर-सहित उच्चारण कर रहे हैं। कुछ बच्चे फल तोड़ रहे हैं, बहुत से कुश-समिधाओं को बाँध रहे हैं। बहुत से उटजों और पर्णशालाओं के आँगनों को गोबर से लीप रहे हैं। उस आश्रम में दश सहस्र तपस्वी ऋषि मुनि, ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थी निवास करते थे। वह वैकुण्ठ के समान आश्रम बड़ा ही रमणीक सुन्दर था। वहाँ स्वच्छता तो इतनी थी कि कहीं अशुचिता का नाम तक नहीं था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा उस अनुपम शोभायुक्त आश्रम को कुतूहल के साथ निहारते हुए भगवान् कण्व की कुटी की ओर बढ़े।"

छप्पय

मृगया-हित नृप गये सेन तजि निर्जन वन महँ।
सिंह व्याघ्र मृग मारि श्रमित है सोचें मन महँ॥
ऋषि आश्रम इत होहि मिटाऊँ श्रम तहँ जाई।
कण्वाश्रम तब दिव्य दूर तैं दयो दिखाई॥
राजचिह्न तजि चले नृप, बाली श्री लखि है चकित।
खग-मृग-सेवित पुष्प-फल-युत आश्रम शोभा लखत॥

इससे आगे की कथा ३४वें खण्ड में पढ़िये।

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६) ५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ११) है। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती हैं। भारी पुस्तकों को डाक खर्च अलग देना होगा।

, झूसी (प्रयाग)

भागवत कथा खण्ड ८— उत्तरा परीक्षित श्रीकृष्ण

श्री भागवत-दर्शन :-

भागवती कथा

[चौंतीसवाँ खण्ड]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

तृतीय संस्करण
१०००

ज्येष्ठ
सम्वत् २०२८

सुशोभित मूल्य मूल्य १.७५ रुपया

प्रकाशक
सकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

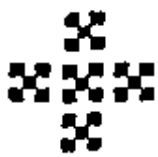

● मुद्रक
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१—महाराज दुष्यन्त और शकुन्तला	१
२—शकुन्तला की जन्म कथा	७
३—दुष्यन्त का शकुन्तला से गान्धर्व विवाह	१५
४—पुत्रवती शकुन्तला	२२
५—शकुन्तला का पति-गृह-गमन	२९
६—पति द्वारा शकुन्तला का अपमान	३९
७—दुष्यन्त-पुत्र भरत	४८
८—भरत-वंश की कथा	५५
९—महाराज रन्तिदेव की कथा	५९
१०—महाराज बृहत्क्षत्र के वंश का वर्णन	७१
११—कृप-कृपी की कथा	७८
१२—पाञ्चालवंशीय राजाओं का वंश	८५
१३—महाराज संवरण की कथा	९४
१४—तपती और संवरण का विवाह	१०१
१५—महाराज उपरिचर वसु की कथा	१०७
१६—चेदि राजाओं की कथा	११५
१७—महाराज शन्तनु की कथा	१२१

विषय	पृष्ठाङ्क
१८—देवव्रत भीष्म	१३०
१९—देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा	१४२
२०—विचित्र वीर्य का विवाह	१५६
२१—अम्बा के निमित्त भीष्म का परशुरामजी से युद्ध	१६५
२२—विचित्रवीर्य के क्षेत्रज सुत	१८४
२३—धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र	१९३
२४—द्रौपदी से पाँचों पाण्डवों के पाँच पुत्र	२०७
२५—पांडवों के अन्य पुत्र तथा भीमसेन के घटोत्कच	२१३
२६—अर्जुन के अन्य सुत	२२६
२७—अर्जुन-सुत अभिमन्यु और उनके वंशज	२३८

महाराज दुष्यन्त और शकुन्तला

[७६८]

दुष्यन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपद गतः।
तत्रासीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव ॥
विलोक्य सद्यो मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम् ।
बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० २० अ०, ८, ९, श्लो०)

छप्पय

होहि हवन, कहुँ साम बैठि बटु सस्वर गावैं।
नाचैं केकी कहूँ कहूँ मृग पूँछ हिलावैं॥
कोई समिधाकुशा पुष्प फल लैकें आवैं।
कोई बल्कल वस्त्र उटज पै डारि सुखावैं॥
तरुछाया महँ बैठि मृग, करहिँ जुगार खुजाइँ तन।
आश्रम शोभा निरखिके, भयो भूपको मुदित मन॥

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! महाराज दुष्यन्त एक बार अपने बहुत से योद्धाओं से घिरकर मृगया के निमित्त गये। वे संयोगवश कण्वमुनि के आश्रम पर पहुँच गये। वहाँ उन्होंने अपनी प्रभा से उस आश्रम को सुशोभित करती हुई लक्ष्मी के समान, देवमाया के समान, एक सुन्दरी स्त्री को देखा। उसे देखकर राजा उससे बातचीत करने लगे।"

सहस्र गौएँ खड़ी हों, उनमें बछड़े को छोड़ दो। गौ सब चाहे एक रंग रूप की ही क्यों न हों, बछड़ा उनमें से अपनी माँ का ही स्तन पान करने लगेगा। दूसरी गौ के नीचे न लगेगा। इसी प्रकार सच्चरित्र कुलीन वंशोद्भव पुरुषों का चित्त उसी की ओर आकर्षित होगा, जिससे अपना सम्बन्ध निश्चित हो। जिनका रजवीर्य शुद्ध है, जो सद्कुल में उत्पन्न हुए हैं, उनका मन अधर्म की ओर जाता ही नहीं। इसीलिये मनीषियों ने कहा—"संदेहास्पद वस्तुओं के विषय में सज्जनों की अन्तःकरण प्रवृत्ति ही परम प्रमाण है। जिनकी अधर्म करने की प्रवृत्ति ही नहीं, यदि उनसे भूल से भी कोई ऐसा-वैसा कार्य हो जाय, तो उसका सम्बन्ध पूर्वजन्मों का ही समझना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कण्वाश्रम में महाराज दुष्यन्त ने एक-से-एक विचित्र वस्तुएँ देखीं। वहाँ जितने मुनि थे, वे सब तपस्या में निरत थे। बहुत से कर्मकाण्डी थे, वे यज्ञ में कौन सा मन्त्र, कहाँ किस कार्य में विनियोग करना चाहिये, अमुक क्रिया किस प्रकार करनी चाहिये, इन्हीं सब बातों पर विवाद कर रहे थे। बहुत से दार्शनिक सिद्धान्तों की ऊहापोह कर रहे थे। बहुत से यम नियम परायण हो, मौन व्रत धारण किये, आसन मारकर, मन्त्र जाप कर रहे थे। चित्र विचित्र आसनों पर विराजे हुए सभी ऋषि मूर्तिमान् तप, सजीव ज्ञान, साक्षात् संयम के समान दिखाई देते थे। राजा ने मन-ही-मन सबको प्रणाम किया। राजा साधारण वेष में थे। बहुत से आदमी कुलपति भगवान् कण्व के दर्शनों को आया करते थे। अतः किसी ने उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। राजा ने देखा, कई ब्रह्मचारी हाथ में पलास का दण्ड लिये हुए कुल्हाड़ी और रस्सी लेकर वन में समिधा लाने जा रहे हैं। अतः उन्हें देखकर राजा ने आदर और

प्रेम के साथ कहा —"ब्रह्मचारियो ! आप बता सकते हैं कि भगवान् कण्व की कुटी कौन सी है ?"

उनमें से एक बड़ी बड़ी आँखों वाला सुन्दर सा वटु बोला—"देखिये, सम्मुख जो ये चार आम के बड़े बड़े सघन वृक्ष हैं, उनकी आड़ में जो लम्बी-सी दो कुटियाँ दिखाई दे रही हैं, उन्हीं में कुलपति भगवान् विराजते हैं। चलिये, मैं आपको पहुँचा दूँ।" यह कहकर ब्रह्मचारी उनके साथ हो लिया।

उस कुटी के चारों ओर बड़ा-सा घेरा लगा कच्ची मिट्टी से इतनी ऊँची दीवाल उठाई गयी थी, जिसमें मनुष्य न दीख सके। बाहर बाँस का एक फाटक था। उसके दोनों ओर दो वृक्षों पर मालती की लतायें चढ़ी हुई थीं, फूली हुई थीं। द्वार को दिखा कर ब्रह्मचारी ने कहा—"आप इसके भीतर जा सकते हैं। मेरे साथी दूर चले गये होंगे। अतः मैं अब आपकी आज्ञा चाहता हूँ।" यह कहकर वह दौड़ता हुआ चला गया।

द्वार पर पहुँच कर राजा ने मन्त्री पुरोहित को वहीं रोक दिया और वे अकेले ही आश्रम में घुस गये। उन्होंने देखा—आश्रम में सभी वस्तुएँ व्यवस्थित ढंग से रखी हुई हैं। सभी वृक्षों के थाले बने हुए हैं। सब थाला में पानी दिया गया है। चारों ओर लता-मण्डप बने हैं। एक सुन्दर पुष्करिणी भी उस आश्रम में है, जिसमें भाँति भाँति के कमल खिल रहे हैं। यज्ञशाला लिपी पुती स्वच्छ पड़ी है। दो कुटियाँ बनी हैं, जो अत्यन्त ही सुन्दरता के साथ सजी हुई हैं। राजा को ऐसा लगा मानो मैं वैकुण्ठ में आ गया। उन्होंने वहाँ कुलपति भगवान् कण्व को नहीं देखा। कुछ देर तो वे खड़े रहे, फिर उन्होंने पुकारा—"यहाँ कोई है ? मैं भगवान् कण्व के दर्शनों के निमित्त आया हूँ।"

राजा ने देखा, तुरन्त ही समीप की उटज से वल्कल वस्त्र

पहने अपनी वेणी को सम्हालती हुई, लजाती हुई, एक अत्यन्त ही सुन्दरी युवती निकली। राजा को देखकर वह उनके समीप आई और सिर नीचा करके खड़ी हो गई। इस मुनि आश्रम में साक्षात् लक्ष्मी, मूर्तिमती तपस्या और काम-पत्नी रति के समान उस अनुपम रूप लावण्य-युक्त ललना ललाम को देखकर राजा का मन चंचल हो उठा। वे सोचने लगे—"यह रमा है या सरस्वती? यह रति तो हो नहीं सकती। उर्वशी का यहाँ क्या काम? यह इस वन की अधिष्ठात्री देवी तो नहीं है? या स्वयं सुंदरता ही ही तो साकार रूप धरकर मेरा स्वागत करने नहीं आ रही है? अथवा मुनि की अनुपस्थिति में उनकी तपस्या ही मूर्तिमती होकर आतिथ्य के लिये बढ़ी चली आ रही है। यह देवकन्या तो है नहीं। तपस्वियों की कन्याओं में ऐसी कोमलता सम्भव नहीं।" राजा ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उस सुन्दरी ने वीणा विनिन्दित स्वर में कहा—"हे नरदेव! आपका स्वागत है! मेरे पिता अभी इसी समय एक मुनि के साथ वन में चले गये हैं। सम्भवतया कल वे अवश्य लौट आयेंगे। आप विराजें। यह आपके पैर धोने का जल है। इससे आप आचमन करें। यह मैं अपने पिता की ओर से आपको अर्घ्य दे रही हूँ। इस आसन को आप सुशोभित करें।"

राजा बीच में बिना कुछ बोले ही उस देवमाया सदृश ललना ललाम के ललित वचनों को सुनते गये, तथा पैर धोकर आचमन कर, अर्घ्य को शास्त्रीय विधि से स्वीकार करके, वे उस देवी के दिये हुए आसन पर बैठ गये।

राजा के बैठ जाने पर शकुन्तला ने पूछा—"क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकती हूँ?"

राजा बोले—"देवि! मैं इस देश का राजा हूँ। दुष्यन्त मेरा नाम है। मैं आखेट के निमित्त वन में आया था। आश्रम को

देखकर मेरी इच्छा भगवान् कण्व के दर्शनों की हुई। मैं मृगया करते करते थक गया था। प्यास के कारण व्याकुल था, किन्तु मुनि के मनोहर आश्रम के दर्शनों से मेरी भूख प्यास चली गई। यहाँ तुम्हारे मधुर वचनों से और प्रेम-भरे आतिथ्य से मैं कृतार्थ हो गया। भगवान् के दर्शन न होने से मुझे निराशा अवश्य हुई, किन्तु तुम्हारे स्नेहपूर्ण व्यवहार से मेरी यात्रा सफल हो गई। यह मैंने अपना परिचय दिया। अब क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकता हूँ ?"

लजाते हुए सुन्दरी ने कहा—"राजन्! मेरा इतना ही परिचय पर्याप्त है कि मैं भगवान् कण्व की पुत्री हूँ। उनकी अनुपस्थिति में अतिथियों की सेवा का भार मेरे ही ऊपर रहता है। आज्ञा कीजिये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?"

राजा ने कहा—"भगवान् कण्व तो बाल ब्रह्मचारी हैं, उनकी पुत्री होना तो असम्भव है, चाहे धर्म अपनी मर्यादा छोड़ दे, किन्तु भगवान कण्व अपनी मर्यादा नहीं छोड़ सकते। आप उनकी पुत्री कैसे हुईं ? मुझे अपना यथार्थ परिचय दीजिये।"

यह सुनकर शकुन्तला लज्जित हुई ! उसने कहा—"राजन ! मैं भगवान् कण्व की पालिता पुत्री हूँ। मेरी उत्पत्ति कैसे हुई, इसे मेरे पिता जानते हैं। राजा से शकुन्तला यह कह रही थी, कि उसी समय उसकी एक परिचर्या करने वाली सखी आ गई। राजा को देखकर वह सहम गई। राजा ने कहा—"देवि ! यदि तुम अपनी सखी की उत्पत्ति की कथा मुझे सुना सको, तो सुनाओ। इनका परिचय प्राप्त करने को मेरा चित्त चंचल हो रहा है।"

सखी ने कहा—"राजन् एक दिन एक महर्षि के पूछने पर भगवान् कण्व ने जिस प्रकार मेरी इस सखी की उत्पत्ति की कथा सुनाई थी, उसे मैं आपको सुनाऊँगी। आप दत्तचित्त होकर इस मनोरञ्जक आख्यान को श्रवण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सखी की बात सुनकर महाराज परम उत्सुक हुए। उन्हें अत्यन्त उत्कंठित देखकर सखी शकुन्तला की उत्पत्ति की कथा सुनाने के लिये प्रस्तुत हुई।

छप्पय

कही भूप-को यहाँ ? सुनत इक युवती आई।
सहज सुन्दरी निरखि नृपहिं मनमहँ सकुचाई॥
लज्जा तें सिर नाइ अर्घ्य दे आसन दीन्हों।
करे भेंट फल-फूल यथाविधि स्वागत कीन्हों॥
करि स्वागत स्वीकार जब, नृप परिचय पूछन लगे।
कह्यो सुता हौं कण्व की, पूछें नृप—'ऋषि पितु सगे'॥

शकुन्तला की जन्म कथा

[७६९]

विश्वामित्रात्मजैवाहं त्यक्ता मेनकया वने ।
वेदैतद् भगवान् कण्वो वीर किं करवाम ते ॥
आस्यतां ह्यरविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणं च नः ।
भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २० अ० १३-१४ श्लोक)

छप्पय

कण्व न कीयो ब्याह भई पुत्री तुम कैसे ।
सखी कहे—"नृप ! कहूँ सुता मुनि की यह जैसे ॥
विश्वामित्र महर्षि करें तप डरप्यो सुरपति ।
करन तपस्या भङ्ग पठाई सुरललना रति ॥
परम सुन्दरी मेनका, रति सँग भेजी मुनि निकट ।
डरपति पहुँची सुरवधू, करहिं जहाँ मुनि तप विकट ॥"

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् !" शकुन्तला दुष्यन्त से कह रही है—"हे वीर ! मैं विश्वामित्रजी की पुत्री हूँ । मेरी माता मेनका ने मुझे वन मे छोड दिया था । भगवान् कण्व इन सब बातो को जानते हैं । कहिये, मैं आपका क्या सत्कार करूँ ? हे अरविन्दाक्ष ! आप विराजिये, और हमारी अर्घ्यादि पूजा की वस्तुओ को स्वीकारिये नीवार के भात को खाइये और इच्छा हो तो आज की रात यही निवास कीजिये ।"

कमल कीच से होता है, फिर भी वह देवताओं के सिर पर चढ़ता है। नीलम कोयले की खान से निकलता है, फिर भी वह बहुमूल्य माना जाता है। गंगा-जल पवित्र ही होता है। गो किसी भी जाति की हो, उसका दूध पवित्र ही होता है। इसी प्रकार कन्या भी रत्न है। नीति का वचन है दुष्कुल में उत्पन्न हुई कन्या भी निर्दोषा मानी गई है। फिर सत्कुल प्रसूता मुनि पालिता कन्यारत्न क्षत्रियों को मिल जाय, तो वे उसे सहर्ष स्वीकार करते थे, किन्तु वे इस बात का सदा ध्यान रखते थे कि वह हमसे उच्चवर्ण की कन्या तो नहीं है। ऐसा करने से विलोम संकरता होती है जो अत्यन्त गर्ह्य है। अपने समान वर्ण की या अपने से निम्न वर्ण की कन्या वर्णाश्रमी द्विजातिया के लिये प्रशस्त बताई गयी है। इसीलिये विवाह के पूर्व कन्या का कुल, गोत्र जान लेना आवश्यक है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज दुष्यन्त ने शकुन्तला की सखी से बडी उत्कण्ठा के सहित शकुन्तला की उत्पत्ति-कथा सुननी चाही, तो वह कहने लगी—"राजन् ! सुनिये मैं आपको अपनी सखी के जन्म का वृत्तान्त सुनाती हूँ।

पूर्व काल में ब्राह्मण बनने के लिये राजर्षि विश्वामित्र ने बड़ा घोर तप किया। उनके तप को देखकर देवराज इन्द्र बड़े ही भयभीत हुए। उन्हें इस बात का सन्देह हुआ कि मुनि तपस्या करके कहीं मेरा इन्द्रासन न छीन लें। यही सोच कर उसने मुनि के तप में विघ्न डालने का निश्चय किया। उन्होंने स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी मेनका को बुलाया और कहा—"सुन्दरी ! तुम मेरा एक प्रिय कार्य करो। जैसे हो तैसे तुम विश्वामित्रजी के तप को भङ्ग करो।"

मेनका ने कहा—"देव ! मुझसे यह कार्य न होगा।"

देवराज ने पूछा—"क्यों न होगा ?"

मेनका बोली—"इसलिये कि ये मुनि बड़े क्रोधी हैं।"

इन्द्र ने कहा—"काम से क्रोध शान्त हो जाता है। सुन्दरता के आकर्षण के सम्मुख क्रोध चूर-चूर हो जाता है।"

मेनका ने कहा—'मुझे अपने सौन्दर्य पर इतना भरोसा नहीं।"

देवराज ने कहा—"तुम जाओ भी, वसंत, रति, मलयानिल, काम आदि सब को ले जाओ।"

मेनका अब क्या करती। स्वामी की आज्ञा कैसे टाल सकती थी। वह मुनि के निकट गई और अपने हाव भाव, कटाक्ष और संगीत से मुनि के मन को मोहने लगी। मुनि का मन चंचल हो उठा और उन्होंने उसे आश्रम में रहने के लिये आमंत्रित किया। मेनका तो आई ही इसी उद्देश्य से थी। मुनि के बुलाने पर वह गई और उनकी इच्छा पूर्ति करती हुई, सुख पूर्वक मुनि के साथ आनन्द विहार करने लगी। मुनि उस वार-वनिता के फंदे में ऐसे फँस गये कि जप, तप, योग, ध्यान आदि सब भूल गये। अब वे रात दिन उस ललना को ही रिझाने में लगे रहते। मुनि उसके वय, रूप और अनवद्य सौन्दर्य पर ऐसे आसक्त हो गये, कि वे समय की गति को ही भूल गये। उन्हें यह भी प्रतीत नहीं होता था, कि कब दिन हुआ, कब रात हुई।

एक दिन मुनि को चेत हुआ। अरे! मैं तो तप को त्यागकर विषयों में फँस गया। अवश्य ही यह देवताओं की माया है। उन्होंने लाल लाल आँख करके कहा—"मेनके! तू मेरे तप को भंग करने आई है ?"

यह सुनकर मेनका तो मारे डर के थर-थर काँपने लगी। उसे जो भय था, वही प्रत्यक्ष उसके सम्मुख उपस्थित हो गया। उसने

अत्यन्त ही भयभीत होकर भूमि में सिर टेक कर गद्गद वाणी से कहा—"मुनिवर ! मेरा इसमें कुछ दोष नहीं, मुझे तो देवराज इन्द्र ने भेजा है। आप मेरे अपराध को क्षमा करें, मुझे अभयदान दें।"

सुरसुन्दरी को इस प्रकार भय से थर-थर काँपते हुए देखकर मुनि को दया आ गई। उन्होंने कहा—"सुन्दरि ! न तुम्हारा कुछ दोष है, न कामदेव का ही दोष। यह सब मेरा ही दोष है। मैंने यदि इन्द्रियों को जीता होता, तो मैं इस प्रकार तप छोड़कर काम के फंदे में क्यों फँस जाता। मेरे ही मन में दोष है। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम सुखपूर्वक स्वर्ग जा सकती हो। मनुष्य विषय लोलुप न हो तो स्त्री उसका कुछ कर ही नहीं सकती। तुम इच्छापूर्वक जहाँ चाहो जा सकती हो। अब मैं और भी घोर तप करूँगा।" यह सुनकर मेनका के प्राणों में प्राण आये। वह मुनि के चरणों में प्रणाम करके तुरन्त वहाँ से चल दी। वह गर्भवती थी। विश्वामित्र का तेजस्वी वीर्य उसके उदर में स्थित था। गर्भ के दिन भी पूरे हो गये थे। अतः मेनका को मुनि के आश्रम से दूर मालिनी नदी के तट पर सिंह व्याघ्र सेवित निर्जन वन में एक कन्या उत्पन्न हुई। हिमालय की तलहटी मे उस शीघ्र-गामिनी सरिता के तट पर उस सद्यःजात कन्या को यों ही अनाथ छोड़कर वह स्वच्छन्दचारिणी कामिनी सुरवनिता स्वर्ग को चली गई। पृथ्वी पर उसने मानवीय रूप बना लिया था, इसीलिये उसे गर्भ रह गया, नहीं तो स्वर्गीय ललनाओं के स्वर्ग मे तो संतान होती ही नहीं।

भगवान् कण्व का आश्रम इस मालिनी के तट पर ही है। कुलपति भगवान् कण्व स्नान करने के लिये नदी तट पर प्रातःकाल जा रहे थे। उन्होंने निर्जन वन में एक अत्यन्त ही सुन्दरी

विद्युत्पुंज के समान सद्यःजात कन्या को वहाँ पड़े हुए देखा। उसे चारों ओर से शकुन्त (पक्षी) घेरे खड़े थे। कोई अपने परों से उसके ऊपर छाया कर रहे थे। कोई वायु कर रहे थे। मुनि को उस कन्या को देखकर बड़ी दया आई। करुणावश उन्होंने उस बच्ची को गोद में लेकर छाती से चिपटा लिया, और लेकर आश्रम में आये। (एक वृद्धा तापसी की ओर संकेत करके सखी ने कहा) यह जो वृद्धा तपस्विनी हैं, इन्हीं को मुनि ने कन्या लाकर दी। इन्होंने अपनी सगी पुत्री की भाँति इसका पालन पोषण किया। शकुन्त (पक्षियों) से घिरी हुई थी, इसलिये मुनि ने इसका नाम 'शकुन्तला' रखा। मुनि ने अपनी पुत्री की ही भाँति इसे प्यार से पाला है, इसीलिये यह उन्हें अपना पिता कहती है। वे भी इसे प्राणों से अधिक प्यार करते हैं। अब यह बड़ी हो गई है, इसलिये मुनि अब इसके विवाह की चिन्ता में हैं और इसके लिये योग्य वर खोज रहे हैं।"

इतना सुनते ही शकुन्तला ने आँख निकालकर कोप से सखी की ओर देखा और हाथ से उसके हाथ को दबाकर ऐसा कहने को मना किया। सखी हँस पड़ी। शकुन्तला लज्जित हुई। उसने अपनी झेंप मिटाने के लिये कहा—"हे नरदेव! मेरे कण्व भगवान पालित पिता हैं। उनसे ही मैंने भी यही बात सुनी थी, कि मैं मेनका के उदर से उत्पन्न राजर्षि विश्वामित्र की पुत्री हूँ। मेरी माता मुझे वन में छोड़कर चली गई थी। भगवान् कण्व ने ही मेरा भरण पोषण किया है। अपने जन्मदाता पिता को तो मैंने देखा भी नहीं—मैं तो इन्हें ही अपना सर्वस्व समझती हूँ। अच्छी बात है, ये सब बातें तो हुईं अब आप मेरी प्रार्थना सुनें। स्वतः ही जल में उत्पन्न होने वाले नीवार के चावल ही मुनियों का भक्ष्य अन्न है। उन सँवा के चावलों से ही मुनिगण देवता,

अतिथि और पितरों की तृप्ति करते हैं। वे चावल बने हुए रखे हैं। आप तो राजा हैं, ५६ प्रकार के व्यञ्जन नित्य खाते होंगे। आपको वे रुचिकर तो न होंगे, किन्तु हमारे स्नेहवश आप उन्हें पावें। हमारा आतिथ्य स्वीकार करके हमें कृतार्थ करें।"

राजा ने कहा—"देवि! तुम्हारे दर्शनों से ही मुझे सब कुछ मिल गया। तुम्हारे मधु से भी मीठे वचनों से ही मेरी परम-तृप्ति हो गई। तुम्हारे रूपासव को पान करते करते ही मैं नहीं अघाता। तुमने जो मेरा सत्कार किया इसी से मैंने सब कुछ पा लिया।"

अत्यन्त ही उत्सुकता और अनुराग के स्वर में अपनी स्नेह भरी दृष्टि को राजा की दृष्टि में उड़ेलती हुई शकुन्तला बोली—"हे कमलनयन! आप हमारे पूजनीय और माननीय अतिथि हैं। पिताजी के न रहने पर आपकी सेवा का भार सर्वथा मेरे ही ऊपर है। आप संकोच न करें। स्पष्ट आज्ञा दें हम आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें, किस प्रकार आपको प्रसन्न कर सकें। हमारी इच्छा है, एक रात्रि आप यहीं निवास करें, प्रातःकाल पिता जी आ जायँगे, उनके दर्शन करके आप जायँ। आप राजा हैं, आप से हम अधिक आग्रह तो कर नहीं सकतीं, किन्तु यदि आपकी इच्छा हो, कोई विशेष हानि न हो, तो आप एक रात्रि निवास यहाँ अवश्य करें।"

राजा ने कहा—"नहीं, संकोच की तो कोई बात नहीं। अब तक नाममात्र संकोच अवश्य था। अब तक मैं तुम्हें ब्राह्मण तपस्वी की कन्या समझता था। जब पता चल गया कि तुम भी एक राजर्षि की राजकन्या हो, तब तो संकोच की कोई बात ही नहीं। देखो, मैं अपने मंत्री, पुरोहित को बुलाता हूँ, उनसे सम्मति करके यदि सम्भव हुआ तो एक रात्रि यहाँ रहकर तुम्हारा आतिथ्य अवश्य ही स्वीकार करूँगा। ऐसा कर सका, तो मुझे

प्रसन्नता होगी।" यह कहकर राजा आश्रम के द्वार पर आये। वहाँ उनके पुरोहित और मन्त्री बैठे थे। राजा ने कहा—"भगवान कण्व यहाँ है नहीं। आज की रात्रि मैं यहीं निवास करना चाहता हूँ, तुम शिविर में जाओ। सेनानायक से कह दो, ऋषि आश्रम से सब लोग बहुत दूर रहें। ऋषियों को हमारे कारण किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे।"

मन्त्री ने कहा—"यहाँ महाराज के पास अगरक्षक और सैनिक भेज दिये जायँ।"

राजा ने कहा—"नहीं, यहाँ किसी का भेजने की आवश्यकता नहीं। ऋषि आश्रमों में अगरक्षकों की क्या आवश्यकता? यहाँ तो ऋषियों का तप ही सबकी रक्षा करता है। मैं अकेला ही यहाँ रहूँगा। किसी से कहने की भी आवश्यकता नहीं।"

मन्त्री ने कहा—"जैसी आज्ञा" यह कहकर वह राजा को अभिवादन करके पुरोहित के साथ शिविर में चला गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा का मन शकुन्तला के सौन्दर्य पर आसक्त हो चुका था। यह जानकर उन्हें परम सन्तोष हुआ कि यह क्षत्रिय कन्या है। उनके रोम-रोम में से अनुराग निकल रहा था। इधर शकुन्तला ने भी आज तक इतना सुन्दर पुरुष कोई नहीं देखा था। अब तक वह मृगशावकों के साथ खेली थी, उनकी दृष्टि में बालकों का-सा भोलापन था, किन्तु आज उसके बड़े बड़े नेत्रों में अनुराग के डोरे स्पष्ट दिखाई देने लगे। आज उसके मुख पर लज्जा, सकोच, अनुराग और उत्सुकता के सभी भाव क्षण-क्षण में आते और विलीन हो जाते। राजा उसके समीप आकर बैठ गये। अब राजा ने अपने प्रयोजन की बात आरम्भ की। आश्रम में शकुन्तला उसकी एक सखी और वृद्धा-तापसी के अतिरिक्त कोई भी नहीं था।

छप्पय

यौवन रूप निहारि भये मोहित मुनि ज्ञानी।
कीयो भोग विलास दिवस अरु निशा न जानी॥
भयो चेत इक दिवस मेनका भागी डरिकें।
गई स्वर्ग इक सुता सुन्दरी वनमहँ जनिकें॥
कुलपति कन्या वन लसी, घिरी शकुन्तनि तें विवश।
तातें नाम शकुन्तला, धर्‌यो करी कन्या सरिस॥

दुष्यन्त का शकुन्तला से गान्धर्व विवाह

[७७०]

उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये ।
स्वयं हि वृणते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥
ओमित्युक्ते यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम् ।
गान्धर्वविधिना राजा देशकालविधानवित् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २० अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

क्षत्रिय-कन्या जानि नृपति मन माँहि सिहाये ।
भूप काम-वश भये नीति के वचन सुनाये ॥
मैं पौरव तुम कुशिक वंश की राजकुमारी ।
वरण करहु पति मोहिं प्रीति यदि होहि तुम्हारी ॥
ब्राह्म, दैव, गान्धर्व अरु, राक्षस, आसुर, आर्ष वर ।
प्राजापत्य, पिशाच यों, ब्याह अष्ट संतानकर ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शकुन्तला की बात सुनकर दुष्यन्त ने कहा—"हे सुभ्रु ! आतिथ्य-सत्कार के लिये वचन कहना तुम्हारे अनुरूप ही है । तुम्हारा जन्म तो कुशिक वंश में हुआ है, राज-कन्यायें तो अपने योग्य वर को स्वयं ही वरण करती हैं ।" शकुन्तला ने कहा—"अच्छी बात है ।" तब देश-काल के विधान को जानने वाले राजा ने गन्धर्व-विधि से शकुन्तला के साथ विवाह कर लिया ।"

विवाह एक धार्मिक सम्बन्ध है, उससे धर्म की भी प्राप्ति होती है और काम-सुख भी मिलता है। धर्म हीन काम नरक ले जाने वाला होता है, धर्म सम्मत काम सुखकर है। उससे स्वर्ग और अपवर्ग तक की प्राप्ति होती है। धर्म से अविरोधी अर्थ और काम ही परलोक में सुख पहुँचाते हैं। धर्म से रहित अर्थ और काम इस लोक में क्षणिक सुख भले ही पहुँचावें, किन्तु उनका परिणाम दुःखद ही है। काम भोग में प्राणियों की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसे कोई रोकने में समर्थ नहीं—होंगे भी तो कोई विरले ही। इसीलिये स्मृतिकारों ने धार्मिक बन्धन मनुष्यों के लिये ही बताये हैं। पशु पक्षी तो प्रकृति के अनुसार व्यवहार करते ही हैं। काम प्रवृत्ति अनिवार्य तथा स्वाभाविक है, यही सोच कर ऋषियों ने विवाह के ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच—ये आठ भेद बताये हैं। इनमें कुछ उत्तम हैं, कुछ मध्यम और कुछ अधम। कन्या को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके योग्य वर को घर बुला, जो विधि पूर्वक कन्या दी जाती है, उसे ब्राह्म विवाह कहते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ विवाह है, आज कल यही विवाह प्रचलित है। यज्ञ के समय, अपनी कन्या को अलंकृत करके दक्षिणा में जो कन्या ऋत्विज को दी जाती है, उसे देव-विवाह कहते हैं। अब यज्ञ ही नहीं होते। अतः ऐसे विवाह भी नहीं होते। वर से एक या दो गायें लेकर जो विवाह किया जाता है, वह आर्ष विवाह है। "हम दोनों साथ रह कर धर्माचरण करेंगे"—ऐसी प्रतिज्ञा करके जो विवाह किया जाता है, वह प्राजापत्य है। आज कल यह होता ही है। कन्या को, कन्या के जाति वालों को, धन देकर, जो विवाह किया जाता है, वह आसुर विवाह है। इस विवाह का आजकल निर्धनों में बहुत चलन है। यह अत्यन्त नीच विवाह माना गया है। वर

और कन्या दोनों की इच्छा हो जाने पर जो स्वेच्छा से विवाह कर लिया जाता है, वह गान्धर्व विवाह है। इसके मूल में काम है, विद्वानों ने इसकी प्रशंसा नहीं की है। पढ़े-लिखे लड़के-लड़कियों में आजकल इसका बहुत प्रचलन है। घर वालों को मार कर लड़कर, घायलकर, जो रोती हुई कन्या को बल पूर्वक पकड़ ले जाय, यह राक्षस विवाह है, कन्या की इच्छा हो चाहे न हो। आज कल ऐसे विवाह राजकीय नियम के विरुद्ध माने जाने से प्रत्यक्ष नहीं होते। यह अत्यन्त हेय विवाह है। जो सुप्त-प्रमत्त अवस्था में, एकान्त में कन्या के साथ गमन करता है, यह अत्यन्त नीच—पैशाच विवाह है। इनमें ब्राह्मणों के लिये अन्त के दो-राक्षस और पैशाच-विवाह निषिद्ध हैं। शेष छः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं, अर्थात् गान्धर्व सब से अधम है। क्षत्रियों के लिये गान्धर्व विवाह निन्दनीय नहीं है। उनके यहाँ स्वयंवर होता है। कन्या एवं वर दोनों की अनुमति होने से ही यह विवाह हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज दुष्यन्त के मन्त्री और पुरोहित चले गये और वे शकुन्तला के साथ अकेले ही रह गये, तब उन्होंने बड़े स्नेह से उससे कहा—"सुन्दरि! तुम राजकुमारी हो, वन में रहने योग्य नहीं हो। तुम तो महलों को सुशोभित करने योग्य हो।"

शकुन्तला ने लजाते हुए कहा—"महाराज! मेरा तो जन्म ही वन में हुआ है, वन में ही मैं पली हूँ। वन के पशुओं के साथ ही मेरा जीवन व्यतीत हुआ है। महलों में तो राजा-रानी रहते हैं। हम तपस्वियों के भाग्य में तो वन ही है।"

राजा ने कहा—"रानी कहीं अग्नि की ज्योति में से तो निकलती नहीं। क्षत्रिय-कन्यायें जब राजा के साथ ब्याही जाती हैं,

तब वे रानी बन जाती हैं। मैं इस समस्त भूमण्डल का राजा हूँ, तुम मेरे साथ विवाह कर लो। तुम भी रानी बन जाओगी फिर, दास दासियाँ तुम्हे सुवर्ण तथा मणिमुक्ताओं के आभूषणों से सजाया करेंगी, तुम्ह नित्य नूतन रेशमी वस्त्र पहनाया करेंगी तुम्हारे अंग में दिव्य अंगराग लगाया करेंगी, भाँति भाँति के उबटन लगाकर तुम्हे नहलाया करेंगी सदा तुम्हारी आज्ञा की बाट जोहा करेंगी। सभी तुम्हारे सम्मुख हाथ जोडे खडे रहेंगे मेरा सर्वस्व तुम्हारा ही हो जायगा, मैं भी तुम्हारे ही अधीन होकर रहूँगा।"

यह सुनकर शकुन्तला लज्जित हुई। उसका मुख लाल हो गया, प्रसन्नता के कारण हृदय भर गया। साँस फूलने लगी, आँखों में अनुराग छा गया। वह कुछ रुक-रुक कर बोली—'हे नरदेव! आप जानते ही हैं, मैं विवाह करने मे स्वतन्त्र नहीं, अपने पिता के अधीन हूँ। मेरे पिता जिसके साथ मेरा विवाह कर देंगे, उसी के साथ मैं चली जाऊँगी। मुझे तो कुछ कहने का अधिकार ही नहीं।"

राजा ने पूछा—"तुम्हारे पिता ने किसी को वागदान दिया है क्या?"

शकुन्तला ने कहा—"जहाँ तक मुझे स्मरण है, मेरे पिता ने अभी किसी से मेरे विवाह की चर्चा ही नहीं की। यदि वह ऐसा करते, तो मुझसे अवश्य पूछ लेते। वह मुझे अत्यन्त प्यार करते हैं।"

राजा ने कहा—"अच्छा, यह बताओ, तुम्हारी इच्छा मुझे पति बनाने की है या नहीं। क्या तुम मुझे अपने अनुरूप नहीं समझती?"

अत्यत ही लजाती हुई सकोच के स्वर मे शकुन्तला ने कहा—

"महाराज ! ऐसा प्रश्न करके आप मुझे क्यों लज्जित कर रहे हैं। ससार मे ऐसी कौन युवती होगी, जो आपको आत्मसमर्पण करने मे अपना परम सौभाग्य न समझे। मर्त्यलोक की ललनाओं की तो बात ही क्या, स्वर्ग की सुन्दरी देव-कुमारी भी आपको अपना पति बनाने में अपना गौरव समझेंगी। मेरे चाहने से ही तो सब कुछ नहीं हो सकता। मैं अपने पिता से और अधर्म से बहुत डरती हूँ। धर्म-विरुद्ध में कुछ भी नहीं कर सकती। प्राणों को मैं सहर्ष छोड सकती हूँ, किन्तु धर्म को कभी नहीं छोड सकती।"

राजा ने कहा—"मैं तुम्हे धर्म छोडने को तो कह नहीं रहा हूँ। तुम युवती हो, प्राप्तवयस्का हो, राजकुमारी हो। युवती क्षत्रिय कन्याओं को स्वय वर-वरण करने को पूर्ण अधिकार है। उनके लिये गान्धर्व विवाह गर्ह्य नहीं, प्रशसनीय है, अधर्म नहीं, धर्म है, कनिष्ठ नहीं, उत्तम है, अयशस्कर नहीं, यशस्कर है, अकीर्तिकर न होकर कीर्तिकर है। तुम मेरे साथ गान्धर्व विधि से विवाह कर सकती हो। महामुनि कण्व धर्मज्ञ हैं, वे इसका अवश्य अनुमोदन करेंगे। यदि मेरे ऊपर तुम्हारी कृपा है, तो इसी समय तुम मेरे साथ विवाह कर लो।"

शकुन्तला ने कहा—"महाराज ! यदि मैं स्वय वर-वरण करने मे स्वतन्त्र हूँ, यदि धर्म और नीति के विरुद्ध नहीं है, तो मुझे आप को पति बनाने में परम प्रसन्नता है, किन्तु यहाँ मन्त्र पाठ करने वाले पुरोहित तो है ही नहीं।"

राजा ने कहा—"विवाह के मन्त्रो को तो मैं जानता हूँ। न भी जानता होता, तो गान्धर्व विवाह में मन्त्र न भी पढे जायँ, तो भी धर्म विरुद्ध नहीं होता। दोनो प्रतिज्ञा पूर्वक पाणिग्रहण कर ले, एक दूसरे को आत्मसमर्पण कर दें, यही यथेष्ट है।"

शकुन्तला ने कहा—'यदि यही शास्त्रीय आज्ञा है, तो मुझे आपका आत्म-समर्पण करने में कोई आपत्ति नहीं। किन्तु, आपको एक प्रतिज्ञा करनी होगी।"

राजा ने कहा—"वह क्या?"

शकुन्तला बोली—"राजाओं का चित्त चञ्चल होता है, उनके अनेक रानियाँ होती हैं। आप प्रतिज्ञा करें, मेरे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही राज्य का अधिकारी माना जायगा।"

राजा ने अत्यन्त ही उल्लास के साथ कहा—"प्रिये! तुम मेरे ऊपर अविश्वास क्यों करती हो? तुम्हें पुत्र तो न जाने कब होगा, मैं आज ही अपना तन, मन, धन, राज पाट तथा सर्वस्व तुम्हें समर्पित करता हूँ। मैं सत्य को साक्षी देकर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि तुम्हारे गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, उसे ही मैं अपने राज्य का अधिकारी बनाऊँगा। मैंने आज तक कभी मिथ्या भाषण नहीं किया। आशा है, तुम्हें मेरी शपथ पर विश्वास हो गया होगा। अब तुम अपने कमल से भी कोमल कर को मेरे हाथ में दो, जिसमें सुन्दर लाल-लाल चमकीले नख हैं, जिसका मणिबन्ध अत्यन्त ही कोमल है, जिसे मधुलोलुप भ्रमर सरोरुह समझकर उसके आस पास मँडरा रहे हैं, उसे मेरे हाथों में रख दो।"

यह सुनकर शकुन्तला ने अनुराग पूर्ण हृदय से अपने कमल से भी कोमल कर को महाराज की ओर बढ़ाया। महाराज ने उस सुकुमार कर को उसी उत्कण्ठा से ग्रहण किया, जिस उत्कंठा से अत्यन्त बुभुक्षित पुरुष भोजन ग्रहण करता है। अत्यन्त पिपासित जैसे सुन्दर-सुगन्धित स्वच्छ सलिल को ग्रहण करता है, लोभी जिस प्रकार धनराशि ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा ने शकुन्तला के कर को आदर, उल्लास और अनुराग के साथ

अपने हाथ मे लिया। फिर दोनो ने वेद मन्त्रो से एक दूसरे के साथ आजीवन धर्मपूर्वक रहने की प्रतिज्ञा की। स्वर्ग मे देवता और पितर इस मङ्गलमय गान्धर्व विवाह को देखकर मुदित हो रहे थे। वे नव-दम्पति के ऊपर कल्पवृक्ष के कुसुमो की वृष्टि कर रहे थे। आश्रम के वृक्ष हिल-हिलकर इसका अनुमोदन कर रहे थे। पवनदेव दोनो के उत्तरीय वस्त्रो को उडाकर ग्रन्थि बन्धन करने का उपक्रम कर रहे थे। शकुन्तला की सखी मन ही मन प्रसन्न हो रही थी कि अब तो मेरी सखी राजरानी हो गई। वृद्धा तापसी उसी प्रकार प्रमुदित हो रही थी, जिस प्रकार कोई कल्पलता को पाल-पोषकर बडा करे और उसमे सुन्दर पुष्प और फल आ जायँ। आज उसने अपने श्रम को सफल समझा। राजा ने समझा—अनमोल वस्तु मिल गई। शकुन्तला ने समझा—"मेरा जीवन सार्थक हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार गान्धर्व विवाह होने के अनन्तर महाराज ने हार के स्थान में अपनी विशाल भुजा को शकुन्तला के गले का हार बना दिया। नवे वधू को उपहार में हार देना चाहिये। वहाँ हार कहाँ था, अतः बाहुहार पहनाकर वे उसे समीप के सघन कुञ्जों मे ले गये।"

छप्पय

करि गान्धर्व विवाह होहु पत्नी तू मेरी।
सब विधि इच्छा करूँ सकल पूरन हौं तेरी॥
राज, पाट, धन-धाम, वस्तु सब मेरी जो है।
देह, प्रान, सर्वस्व आज तें तेरो सो है॥
बोली सोचि शकुन्तला, यदि अधर्म है नहीं नृप।
करूँ वरन यदि मम तनय, होहि सकल भू को अधिप॥

पुत्रवती शकुन्तला

[७७१]

अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे ।
श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम् ॥*
(श्री भा०, ९ स्क०, २० अ०, १७ श्लोक)

छप्पय

नृप स्वीकार्यो, भयो ब्याह गान्धर्व तुरत तहँ ।
पति-पत्नी बनि भये निरत दोऊ रति-सुख महँ ॥
मुनि-तनया तन अरपि अतिथि कूँ अति सुख दीन्हों ।
रज अरु वीर्य अमोघ गरभ थापन नृप कीन्हों ॥
भयो प्रात अति कष्ट तैं, विलग भये दोऊ बिकल ।
रति-श्रम प्रिया-वियोग तैं, दोउन के सब अँग शिथिल ॥

जो सदा व्यर्थ की झूठ-सच बात बोलते रहते हैं, उनकी वाणी का कोई महत्त्व नहीं, कोई मूल्य नहीं। लोग उनकी बातों पर विश्वास नहीं करते, उनके वाक्यों पर आस्था नहीं रखते। किन्तु, जो मौन के द्वारा वाणी का संयम करते है, असमय मे

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! अमोघवीर्य राजर्षि दुष्यन्त ने अपनी रानी शकुन्तला मे वीर्य स्थापित किया। प्रात काल होते ही दूसरे दिन व अपने नगर को चले गये। समय आने पर शकुतला ने एक पुत्र उत्पन्न किया।"

अनावश्यक असत्य बात नहीं बोलते, उनकी वाणी अमोघ हो जाती है। वे ही शाप और वरदान देने में भी समर्थ होते हैं। इसी प्रकार जो कामवश होकर रज और वीर्य का व्यर्थ ही अपव्यय करते हैं, क्षुद्र-इन्द्रिय सुखों के वशीभूत होकर धर्माधर्म का, गम्यागम्य का कुछ भी विचार न करके उनका व्यर्थ उपयोग करते हैं, उनका रज-वीर्य मोघ हो जाता है, व्यर्थ बन जाता है। इसके विपरीत जो सदाचार के पथ का कभी परित्याग नहीं करते, धर्म-बन्धन को ढीला नहीं होने देते, आर्य-संस्कृति की रक्षा करते हुए कामवश होकर भी अनुचित कार्य नहीं करते, वे अमोघ वीर्य होते हैं। उनका वीर्य जहाँ भी पड़ेगा, व्यर्थ नहीं जायगा। इसीलिये तो राजर्षि-महर्षियों का अमोघ वीर्य, पशु-पक्षी तथा वृक्षों में जहाँ भी च्युत होता, वहीं से सन्तान की उत्पत्ति हो जाती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सायंकाल की गोधूलि में शकुन्तला और दुष्यन्त का पाणिग्रहण-संस्कार हुआ। पुनः अनुराग-भरित हृदय से, राजा के बाहुपाश में आबद्ध शकुन्तला रतिके समान उस अपने ही लगाये उपवन में भ्रमण करने लगी। तापसी कुटिया पर ही थी। सखियाँ राजा-रानी का अनुगमन कर रही थीं। वे बताती जाती थीं—"महाराज! यह सुवर्ण मल्लिका पर, जो आप पीली-पीली खिली हुई कलिका देख रहे हैं। इसे बड़े श्रम से मेरी सखी शकुन्तला ने लगाया है। इसे लताकुंज बनाने का बड़ा व्यसन है। ये जो सम्मुख पुष्पों के भार से नत हुई माधवी की सघन कुञ्जें दिखाई देती हैं, इनका मेरी सखी ने बड़ी कला के साथ निर्माण किया है। पहले मिट्टी के खम्भे बनाकर उनके सहारे इनकी जड़सहित डालियाँ लगाई गईं, फिर बड़े बाँसों पर इन्हें चढ़ाकर वृक्षों में लिपटा दिया। वृक्षों पर फूली हुई माधवी ऐसी लगती है, मानों वृक्ष ही फूल रहे हों। मेरी सखी को कमलों से

अत्यन्त ही अनुराग है। यह जो पुष्करिणी दिखाई देती है, इसे हम सबने मिलकर बनाया था। मालिनी नदी से स्रोत लाकर इसे परिपूर्ण किया था, भगवान् कुलपति से कहकर दूर-दूर से रंग-बिरंगे कमल मँगाये थे। इतने अच्छे कमल आसानी से कहीं नहीं मिलते। आप देख रहे हैं, ये मछलियाँ कैसी फुदक रही हैं। जल ही इनका जीवनाधार है। अपने जीवनाधार के वक्षस्थल में ये कैसी क्रीडा कर रही हैं। कमलों को हिला रही हैं! देखिये कमल सूर्यास्त होने के कारण मुँद रहे हैं। अभी अर्ध विकसित कलिका के समीप ही यह भूला भटका भ्रमर आ गया, आते ही फँस गया। अब यह रात्रिभर इसी के अंक में बन्दी बना, पड़ा रहेगा। यह उड़ नहीं सकता। सम्मुख जो सघन केलों का कुञ्ज है, उसके आस पास ये विधारा की लताएँ कितनी सघन हैं! शकुन्तला के पालित हिरण यहीं निवास करते हैं। यह जो काले सींगों वाला हिरण है, इसका एक इतिहास है। हम लोग एक दिन वन में घूम रही थीं। वहाँ एक वधिक ने एक हिरणी को मार डाला, यह उसका शिशु था। अकेला इधर उधर तड़प रहा था। शकुन्तला ने इसे प्यार से गोद में उठा लिया, आश्रम में ले आई, पुत्र की भाँति इसे पाला-पोसा और दूध पिलाया, तनिक बड़ा हुआ, तो इसका एक हिरणी के सङ्ग विवाह कर दिया। उसने विवाह के समय वर दिया—"जैसे तुमने इस आश्रम में मेरी जोड़ी मिला दी है, वैसे ही एक दिन तुम्हारी भी यहाँ जोड़ी मिलेगी।" सो उसका वर आज सफल हुआ। मुझे काम है, वह पीली गो मुझसे ही मिलती है, दूसरे को दूध दुहने नहीं देती "अब मैं दूध दुहने जाती हूँ।" यह कहकर वह चल दी। शकुन्तला ने उसे बहुत पुकारा—"अरे, सत्या! कहाँ चली? मुझे अकेले क्यों छोड़ती है? सुन तो सही।"

उसने अनसुनी करते हुए कहा—"मुझे सुनने का अवसर नहीं। अकेली क्यों हो, अब तो तुम्हारे रक्षक, भर्ता महाराज साथ ही हैं।" यह कहकर वह आँखों से ओझल हो गई। महाराज उस विधारा और केला-कुञ्ज को देखकर अत्यन्त ही प्रमुदित हुए। रात्रि उन्होंने वहीं बिताई। अमोघवीर्य राजर्षि ने अपनी धर्म-पत्नी में वहीं गर्भाधान-संस्कार किया।

प्रातःकाल हुआ। राजा का शरीर शिथिल हो गया था। अतः उन्हें लज्जा, संकोच, भय तथा चिन्ता होने लगी। जब मनुष्य काम के प्रबल वेग में पड़ जाता है, तब बड़ों का संकोच, धर्म-अधर्म का भय, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान उसे रहता ही नहीं, काम वेग शान्त होते ही फिर विचार आता है। अब राजा ने सोचा—"ऋषि आश्रम में आकर मैंने कैसा अनुचित कार्य कर डाला। ऋषि की बिना अनुमति से शकुन्तला से ऐसा प्रस्ताव मुझे नहीं करना चाहिये था। मैंने उस छल कपट रहित भोली-भाली सरला को स्वार्थमय धर्म बताकर ठग लिया। मुनि यदि क्रुद्ध हों, तो मेरे सम्पूर्ण राज्य को शाप देकर भस्म कर सकते हैं।" इन विचारों के आते ही राजा का मुख फीका पड़ गया। उन्होंने भयभीत होकर शकुन्तला से कहा—"प्रिये! अब मैं अपने पुर को जाना चाहता हूँ।"

शकुन्तला ने विवशता के स्वर में कहा—"अभी क्यों? अभी पिताजी आते होंगे। उनका दर्शन करके, आशीर्वाद लेकर जायँ।"

राजा ने कहा—"देवि! राज-काज बड़े कठिन होते हैं। मेरी इच्छा तो थी कि मुनि की चरण-धूलि मस्तक पर चढ़ाकर कृतार्थ होऊँ। किन्तु, कार्य-भार से विवश हूँ। फिर कभी आकर उनके दर्शन करूँगा।"

शकुन्तला ने अपनी अनुरागभरी दृष्टि राजा को -

बोलते हुए, उनके कन्धे पर अपना सिर रखकर कहा—"फिर मैं आपके बिना कैसे रह सकूँगी ?"

राजा ने कहा—"तुम कोई चिन्ता मत करो, जाते ही मैं चतुरङ्गिणी सेना तुम्हें लेने के लिये भेजूँगा। तुम्हें राजरानी की भाँति, बड़े समारोह के साथ, मेरे मन्त्री और सेनापति ले जायँगे।"

शकुन्तला ने कहा—"महाराज! राजधानी में जाते ही मुझे भूल जायँगे। फिर स्मरण भी न करेंगे कि आश्रम में कोन मिली थी।"

शकुन्तला की नत ठुड्डी को उठाते हुए राजा ने कहा—"प्रिये! तुम कैसी बात कर रही हो! मेरे ऊपर इतना अविश्वास क्यों करती हो ?"

यह सुनकर शकुन्तला के दोनों नेत्रों से झरझर अश्रु बहने लगे। राजा का हृदय भी द्रवीभूत हो रहा था, प्रसङ्ग को अत्यन्त कारुणिक होते देखकर राजा चलने को प्रस्तुत हुए। शकुन्तला भी उनके साथ चली। उसे आज चलने में कष्ट हो रहा है, वियोग-जन्य दुःख से उसका हृदय भर रहा था। पैरों के शिथिल होने से वह कष्टपूर्वक पैर बढ़ा रही थी, राजा ने एक वृक्ष की छाया में उसे रोककर कहा—"तुम्हें कष्ट होगा, अब आगे मत चलो।"—यह कह, शीघ्रता से उसका आलिङ्गन कर वे आगे बढ़ गये। शकुन्तला का सिर चकराने लगा। वह वहीं बैठ गई। राजा तब तक दूर निकल गये थे। चोरों के समान वे अपने को छिपाये हुए जा रहे थे। आश्रम के द्वार से निकलकर वे अत्यन्त ही शीघ्र अपने शिविर में पहुँच गये और तुरन्त ही सेना को प्रस्थान की आज्ञा दे, रथ पर चढ़कर, राजधानी के लिये चले गये।"

शकुन्तला बड़ी देर तक सघन वृक्ष की छाया में पड़ी रही।

उसे पता भी नहीं, वह कब लेट गई। जब चेतना आई, उसने भूमि पर अपने को लेटा देखा। वह बहुत लज्जित हुई। उसे संसार सूना-सूना दिखाई देने लगा। अनमनी होकर वह कष्ट से उठी। वल्कल वस्त्रों की धूल उसने झाड़ी। सामने ही हँसती हुई सखी उसे दिखाई दी। आज वह उससे आँखें न मिला सकी। चुपचाप अपनी उटज में घुस गई। सखी ने उसे स्नान कराया, वस्त्र बदले, किन्तु वह चुपचाप कपोल पर कर रखे उदास मन बैठी रही। उसे किसी के सम्मुख जाने में लज्जा लगती थी।

कुछ ही देर पश्चात् फल-फूलों की टोकरी और कुशाओं का गट्ठर लिये हुए भगवान् कण्व वहाँ आये। नित्य के स्वभाव के अनुसार उन्होंने पुकारा—"बेटी शकुन्तले!"—यह सुनकर शकुन्तला को अत्यन्त ही संकोच हुआ। वह बाहर नहीं आई। नित्य की भाँति न उसने मुनि के पैर धोये, न फलों की टोकरी सिर से उतारी। सर्वज्ञ मुनि सब-कुछ समझ गये। टोकरी उतार कर वे उटज के भीतर गये। शकुन्तला मारे लज्जा के अपने अंगों में सिमटी-सी जाती थी। मुनि ने उसके सिर पर हाथ रखा और कहा—"बेटी! क्यों अनमनी-सी हो रही हो? चित्त कैसा है?"

इतना सुनते ही शकुन्तला मुनि के पैरों पर पड़ गई और रोने लगी। मुनि ने उठाकर उसे छाती से लगाया और बोले—"बेटी! मैंने योग-दृष्टि से सब बातें जान ली हैं। तुमने कोई धर्म के विरुद्ध कार्य नहीं किया है। राजर्षि दुष्यन्त धर्मात्मा हैं, उन्हें पति बनाकर तुमने उचित ही कार्य किया है।"

मुनि को अनुकूल देखकर शकुन्तला उठी और उसने अपने पालक पिता के पैर धोये, फलों को भीतर रखा और वह अपने दैनिक कार्यों में लग गयी। अब शकुन्तला की बाल-सुलभ चंचलता समाप्त हो गई। अब उसका बाल-भाव विलीन हो गया। अब वह

गर्भिणी हो गई थी। वह नित्यप्रति प्रतीक्षा करती—"राजा की सेना कब आती है, कब मैं अपने प्राणपति के पुर मे जाती हूँ। किन्तु एक-एक दिन गिनते-गिनते तीन वर्ष हो गये, न सेना ही आई न राजा का कोई सन्देश ही मिला। मारे लज्जा के वह अपने पिता से भी कुछ न कह पाती थी।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! शकुन्तला की शका सत्य निकली। राजा पुर मे जाकर आश्रम की सब बातें भूल गये। समय आने पर शकुन्तला ने एक पुत्ररत्न प्रसव किया। आश्रम भर मे आनन्द मनाया गया। स्वयं भगवान् कण्व ने उसके सभी संस्कार किये। अब शकुनन्ला बालिका न रहकर पुत्रवती बन गई।"

छप्पय

कण्व-शाप तैं डरपि प्रिया तें अनुमति माँगी।
महिषी समुझि वियोग दुःख तैं रोवन लागी॥
दै आश्वासन तुरत निकसि निज पुर कूँ धाये।
इतने महँ फल-पुष्प लिये कुलपति मुनि आये॥
तब शकुतन्ला लाज-वश, मुनि समीप आई नहीं।
सोचे—पितु होवें न रिस, पति परमेश्वर पै कहीं॥

शकुन्तला का पति-गृह-गमन

[७७२]

कण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः ।
बद्ध्वा मृगेन्द्रांस्तरसा क्रीडति स्म स बालकः ॥
तं दुरत्यय विक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा ।
हरेरंशांशसम्भूत भर्तुरन्तिकमागमत् ॥❀

(श्री भा० ९ स्क० २० अ० १८-१९ श्लोक)

छप्पय

मुनि आश्वासन दियो ब्याह अनुमोदन कीन्हों ।
पुत्रवती हो पुत्रि हरषि कुलपति वर दीन्हों ॥
समय पाइके पुत्र जन्यो ऋषि-मुनि हरषाये ।
जात-कर्म-सस्कार कण्व विधिवत् करवाये ॥
अति सुन्दर अति स्वस्थ सुत, लखि प्रमुदित सब जन रहें ।
करे दमन सिहादि को, सर्व-दमन सब मुनि कहें ॥

सयोग-वियोग की शृङ्खला मे ही ससार आबद्ध है । जिसमे

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वन मे भगवान् कण्व ने शकुन्तला के कुमार के सभी समुचित सस्कार किये । वह बालक सिंहो को बलपूर्वक बाँधकर उनसे खेला करता था । उस दुर्धर्ष विक्रान्तशाली श्रीहरि के अंश से उत्पन्न हुये बालक को लेकर प्रमदोत्तमा शकुन्तला अपने पति के समीप स्वय आई ।"

आना जाना लगा हो, वही संसार है, जो आवागमन से रहित है, वह संसारातीत है। प्रिय-संयोग में सुख सबको होता है और प्रिय-वियोग में सभी की आखें गीली हो जाती हैं, हृदय द्रवित हो जाता है। जिन्हें प्रिय-अप्रिय का ज्ञान ही नहीं, वे तो पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम हैं। जो संयोग में जितना ही सुख देता है, उसके वियोग में उतना ही दुःख भी होता है! पाषाण-हृदय हत्यारों के हृदय में भी करुणा देखी गई है। उन्हें भी प्रिय के वियोग में आँसू बहाते देखा गया है। ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, संयोग वियोग का प्रभाव तो सब पर पड़ाता ही है। यह दूसरी बात है कि उसे भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुभव करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शकुन्तला पुत्रवती हो गई। इससे आश्रम में सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई। शकुन्तला का बालक अत्यन्त ही सुन्दर था। अत्यधिक स्वस्थ था। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग अत्यन्त ही सुडौल थे। वह पूरे तीन वर्ष माता के गर्भ में रहा था। देखने में वह एक सिंह के शावक के समान प्रतीत होता था। शनैः-शनैः वह आश्रम के वायुमण्डल में बढ़ने लगा। उसके बाल काले और घुँघराले थे, मस्तक चौड़ा था, भौंहें धनुषाकार थीं, दोनों नेत्र कमल के समान बड़े थे, नासिका नुकीली थी, कन्धे सिंह के समान थे, बाहुएँ विशाल थीं, छाती चौड़ी थी, उदर केशरी के समान था, जघन मांसल और स्थूल थे, जानु-जघन सुन्दर और उतार-चढ़ाव के थे, चरण लाल थे, नख कान्ति युक्त थे। उसके दाँत शुभ्र और नुकीले थे। हाथ में चक्र का चिह्न था। आश्रम के लिये वह एक खिलौना था। जो भी ऋषि-मुनि आते उसे गोद में उठा लेते और प्यार करते। वह अपनी माँ की गोद में रहता ही न था। गोद में लेने पर यथार्थ में माँ की गोद भर

जाती। दूध पीकर तुरन्त वह पृथ्वी पर उतर पड़ता और इधर से उधर घुटनों के बल चलता रहता। वह गोशाला में चला जाता बछड़ो के गले से लिपट जाता, गायों की पूँछों को पकड कर लटक जाता, सींगों को पकडकर चढ़ जाता। उसे किसी का भी भय नहीं था। शनैः-शनैः वह बडा हुआ। आश्रम मे ही उसकी

अवस्था छः वर्ष की हो गई। देखने मे वह सिंह के समान प्रतीत

होता। जहाँ भी वह सिंह की दहाड़ सुनता, दौड़कर चला जाता और उसके कान पकड़ कर खींच लाता। वह दो सिंहों को पकड़ कर लड़ा देता, जङ्गली सूअर पर चढ़ जाता, दौड़ते हुए हिरणों को पकड़ लेता, पेड़ पर चढ़े रीछ के बाल पकड़ कर पेड़ से कूद पड़ता। सब लोग उसके पराक्रम को देखकर चकित रह जाते। सबने उसका नाम "सर्वदमन" रख दिया, क्योंकि वह सभी पशुओं का दमन करता था। भगवान् कण्व के चरणों में उसकी अनन्य भक्ति थी। उनकी प्रत्येक आज्ञा का वह पालन करता था। जङ्गली भैंसों को उठाकर ऊपर फेंक देता था। शकुन्तला बार-बार कहती—"सर्वदमन! देख, देख, तू इतनी चञ्चलता करता है, किसी दिन कोई सिंह-व्याघ्र तेरे ऊपर प्रहार कर बैठेगा।"

वह कहता—"माँ! हम किसी सिंह से कम हैं क्या? मुझे सिंहों के दाँत बड़े अच्छे लगते हैं, उन्हीं को पकड़ कर गिनता हूँ। देख, मैंने दो सिंह बाँध रखे हैं। अब उन्हें लड़ाऊँगा।"

शकुन्तला कहती—"हाय! तू तो बड़ा पागल है। छोड़ दे, छोड़ दे, सिंहों को ऐसे नहीं बाँधते।" माता के गौरव से सर्वदमन सिंहों को छोड़ देते। इस प्रकार अनेक प्रकार के पराक्रम प्रदर्शित करता हुआ वह बालक सभी को आश्चर्य-चकित करने लगा।"

कुछ काल के अनन्तर कुलपति कण्व ने कहा—"बेटी! राजा ने तो फिर सुधि ली नहीं। कोई बात नहीं, तुम बिना बुलाये ही उनके महल में चली जाओ।"

शकुन्तला ने कहा—"पिताजी! राजा मेरी सुधि न लेंगे तो मैं यहीं आपके चरणों में रहकर अपने दिन काट लूँगी। आप जहाँ दश सहस्र पुरुषों का पालन करते हैं, वहाँ आपके लिये मैं क्यों इतनी भारी प्रतीत होती हूँ।"

कण्व मुनि बोले—"बेटी ! सयानी पुत्रियों को पिता के घर मे अधिक दिन न रहना चाहिये। इससे संसार मे अपवाद होता है, अकीर्ति फैलती है। पति चाहे धनी हो या दरिद्र, उसी के घर स्त्री की शोभा है। पति रहते सयानी कन्या तो घर में भारी हो ही जाती है। केवल पेट भरना ही तो पर्याप्त नहीं, गृहस्थ-धर्म का पालन भी तो होना चाहिये।"

शकुन्तला ने कहा—"वहाँ से कोई बुलाने तो आया ही नहीं। बिना बुलाये वहाँ जाना उचित नहीं।"

महर्षि कण्व बोले—"बेटी ! तेरा कहना उचित है। बिना बुलाये जाने से आदर नहीं होता। किन्तु पिता के घर, पति के घर, गुरु के घर तथा अपने मित्र के यहाँ बिना बुलाये जाने मे भी कोई दोष नहीं, क्योंकि ये सब अपने ही तो घर हैं।"

शकुन्तला ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा। किन्तु मैं आपके बिना कैसे रहूँगी।" यह कह कर शकुन्तला रोने लगी।

मुनि ने अपने चार-पाँच बुद्धिमान शिष्यों को बुलाकर कहा—"तुम शकुन्तला को ले जाओ और हस्तिनापुर मे महाराज दुष्यन्त के महलों में इसे पहुँचा आओ।"

यह कहकर मुनि ने शकुन्तला की सखी से तैयारी करने को कहा। तापसियो ने गठरी मुठरी बाँधी एक ने सर्वदमन को उठाया और अब चलने को सभी शीघ्रता करने लगे। शकुन्तला के दोनों नेत्रो से आँसुओं की झडी लग रही थी, जिसे भी देखती उसी से लिपट जाती और फूट फूट कर रोने लगती। उसे ऐसा लग रहा था, मानों वह कहाँ जा रही है। उसका हृदय बार-बार भर आता था। आश्रम के कण कण से उसे मोह हो गया था। उसने जो वृक्ष, नन्हें-नन्हें पौधे लगाये थे, वे बडे होकर फूल-फल रहे थे। जिन हिरणों को उसने गोदी मे बिठाकर खिलाया था, रुई

के फोये से दूध पिलाया था, वे अब बडे बड़े सींगों वाले हो गये थे। फिर भी वे उसे घेरकर बच्चों की भाँति खडे थे, उसके शरीर को चाट रहे थे। शकुन्तला उन पर हाथ फेरती, पुचकारती और उनके मुँह पर अपना मुँह रखकर कहती—"मैं जा रही हूँ।"

जिन पक्षियों को वह नित्य ही नीवार के चावल डाल-डाल कर बुलाती थी, वे सब आज वृक्षों पर से उतर आये है। वे चावलों को नहीं चुगते, शकुन्तला की ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं और रो रहे हैं। छोटे-छोटे वटु आकर शकुन्तला को घेरे खडे थे। वे आपस मे पूछते—"जीजी आज कहाँ जा रही है?"

कोई बताता—"अपने पति के घर जा रही है।"

बच्चे कहते—"हम सबके कुलपति तो भगवान् कण्व ही हैं।"

दूसरा कहता—"अरे नहीं वह ससुराल जाती है।"

बच्चे पूछते—'ससुराल से कब लौटकर आयेगी?"

कोई बडा कहता—"अब क्यो लौटकर आयेगी? ससुराल कोई लौटने के लिये जाता है।"

यह सुनकर बच्चे रोने लगते। शकुन्तला उनके मुख को चूमती और आँसू पोछते हुए कहती—"भैया, मैं शीघ्र ही आऊँगी।"

बच्चे कहते—"जीजी! हम भी चलेंगे तेरे साथ।"

शकुन्तला कहती—"भैया, जाना तो बहुत दूर है, तुम सब थक जाओगे।"

बच्चे कहते—"सर्वदमन भी तो जा रहा है। हम उसी के साथ चलेंगे।"

दूसरे ऋषि बच्चों को समझाते—"देखो भैया! कभी हम सब लोग चलेंगे, तब तुम चलना।"

भगवान् कण्व बार-बार चलने के लिये कह रहे थे। उनका भी हृदय भरा हुआ था। वे अपने बाहरी अश्रुओं को तो बलपूर्वक रोके हुये थे, किन्तु उनका हृदय पिघल रहा था। वह भीतर ही भीतर बह रहा था, गल रहा था। उसकी आभा उनके मुखमण्डल पर प्रत्यक्ष दिखाई देती थी। उनकी वाणी रुक गई थी। वे बडे कष्ट से कुछ कह सकते थे।

जब मुनि ने कई बार चलने को कहा, तब शिष्य गठरी मुटरी लेकर चलने लगे। शकुन्तला ने अपने पालक पिता के पैर छुए और उनसे लिपटकर अबोध बालिका की भाँति रोने लगी। मुनि उसके सिर पर हाथ फेर रहे थे और बार-बार कह रहे थे—"बेटी! रोओ नहीं। हम कभी-कभी उधर आया करेंगे।" उन्होंने देखा, शकुन्तला की शिखा भीगी हुई है। उसके घुँघराले बँधे हुए बालों पर जलबिन्दु बिखरे हैं। मुनि को पता ही नहीं कि यह उसके नेत्रों का ही जल है।

जिस किसी प्रकार शकुन्तला को उन्होंने पृथक् किया। बच्चे रो रहे थे। हिरण पीछे-पीछे दौड रहे थे। वे शकुन्तला के वस्त्रों को दाँतों से दबाये हुए थे। पक्षियों के छोडे-छोटे बच्चे उसके पैरों के समीप चल रहे थे। तापसियाँ, आँसू पोंछते हुए, शकुन्तला को पकडे, चल रही थीं। कण्व मुनि भी आश्रम के द्वार तक उसे पहुँचाने जा रहे थे। आश्रम में एक तो मालिनी सरिता बह ही रही थी, आज दूसरी करुणा-सरिता भी अकस्मात बहने लगी, जिसके वेग में सभी आश्रमवासी बह रहे थे। सबके नेत्रों से नीर निकल रहा था। सभी विषण्ण वदन शकुन्तला का अनुगमन कर रहे थे।

आश्रम द्वार पर खडे होकर मुनि ने कहा—"बेटी! दशों

दिग्पाल तेरी रक्षा करें। वन के अधिष्ठातृदेव तेरे अनुकूल हों। मार्ग में पवन तेरे अनुकूल चले। तुझे पथ का श्रम न हो। देवता तेरा मंगल करें। अच्छा, जा।" यह कहकर मुनि ने फिर अपने बच्चों का सिर सूँघा। पैरों पर पड़े सर्वदमन को उठाकर बार-बार उसके अरुण-वरण मुख को चूमा। उस समय सबका हृदय भर रहा था। प्रसंग को अत्यन्त ही कारुणिक होते देख मुनि पीछे हट गये। शकुन्तला रोती और बार-बार मुड़कर पीछे देखती जा रही थी। उसके पैर आगे जा रहे थे, दृष्टि पीछे थी। मन कभी आश्रम में आ जाता, कभी दौड़कर राजमहल में पहुँच जाता। इस प्रकार वह अनेक स्मृतियों के बोझ को लादे पथ में जा रही थी। शकुन्तला को दूर गई देखकर मुनि लौटकर आश्रम में आये। सहस्रों तापस-तापसियाँ उस आश्रम में रहती थीं, वे सब अब भी थीं, केवल एक शकुन्तला ही गई थी, उसी के कारण सम्पूर्ण आश्रम सूना सूना दिखाई देता था, मुनि को पग पग पर शकुन्तला की स्मृति जाग्रत हो उठती। इस लता को वह कितना प्यार करती थी। इस अशोक को उसने अपनी जन्मतिथि की स्मृति में लगाया था। इन कमलों को मँगाने के लिये उसने मुझसे कितना आग्रह किया था। इस हिरण के पीछे उसे मेरी कितनी डाँट फटकार सहनी पड़ी। फिर भी वह उसे पास ही सुलाती थी। उसने पक्षियों के पानी पीने को पेड़ में यह पात्र बाँध रखा था। नित्य नियम से वह इसमें पानी भरती। रोटी तब खाती, जब सब वृक्षों में वह पानी दे लेती। इन पुष्पों को वह कितने आनन्द और उल्लास के साथ चुनती? कैसी सुन्दर-सुन्दर मालाएँ वह मेरे पूजन के लिये बनाती? शाकों की कितनी क्यारियाँ उसने लगा रखी थीं।" इस प्रकार की बातें सोचते-सोचते मुनि को सायंकाल हो गया। आज न उन्होंने मध्याह्न-कृत्य ही किया और न प्रसाद

ही पाया। इस प्रकार कई दिनों तक आश्रम मे शकुन्तला का वियोग खलता रहा।

इधर मुनि के बडे बडे शिष्य सर्वदमन सहित शकुन्तला को लेकर महाराज दुष्यन्त की राजधानी मे पहुँचे। वे निर्भय होकर महलों में चले गये। उन्होंने राज-कर्मचारी द्वारा सूचना भेजी—'हम भगवान् कण्व के आश्रम से आये है। उनकी आज्ञा है, हम शकुन्तला को राजा के महलो मे पहुँचा आवे। इसीलिये हम सर्वदमन-सहित शकुन्तला को लेकर आये है।"

समाचार सुनते ही राजा ने केवल मुनियों को बुलाया। मुनियों ने राजा का जय जयकर किया, कुलपति की ओर से कुशल पूछा और सब वृत्तान्त सुनाते हुए सर्वदमन-सहित शकुन्तला के आगमन का भी वृत्तान्त कहा। सब सुनकर राजा ने कहा—"मुनियो! आप निवास करें। कल राजसभा मे इसका निर्णय करूँगा। आप यज्ञशाला में निवास कर प्रसाद पावें।"

मुनियों ने कहा—"शकुन्तला हम से छोटी है। हम उसके घर मे प्रसाद कैसे पा सकते हैं? आप जब चाहे, निर्णय करें। हमे तो भगवान् कुलपति की इतनी ही आज्ञा थी, कि हम शकुन्तला को राजमहलो मे आपके समीप पहुँचा दे। सो, हमने उसे यहाँ पहुँचा दिया, आपको सूचित भी कर दिया। अब हम जाते हैं" यह कहकर राजा का जय जयकार करके शकुन्तला को राजमहल मे ही छोडकर बेचारे तपस्वी मुनि वहाँ से चल दिये, और लौटकर उन्होने कुलपति भगवान कण्व से कहा—"भगवन्! हमने आपकी आज्ञा का पालन यथाविधि किया। शकुन्तला को सर्वदमन सहित सकुशल राजमहल मे छोडकर राजा को जताकर हम लोग लौट आये।" यह सुनकर कुलपति को सन्तोष हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राजमहल में शकुन्तला का किसी ने भी सत्कार नहीं किया। वह राज-द्वार के सम्मुख एक स्थान मे बैठी रही।"

छप्पय

सुत-शकुन्तला सहित पठाई पुनि पति-गृह मुनि।
दुखित निहारत चली लता, तरु, खग, मृग पुनि-पुनि॥
कुलपति करुणा करी, हृदय तैं सुता लगाई।
पितु-गृह तैं है विदा, राजमहलनि महँ आई॥
सभा-भवन महँ आइकें, नृप कूँ निज परिचय दयो।
सुनि अवाक् से रहे नृप, अति विस्मय सबकूँ भयो॥

पति द्वारा शकुन्तला का अपमान

[७७३]

यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ ।
शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी ॥
माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।
भरस्व पुत्र दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २० अ० २०-२१ श्लो०)

छप्पय

राजा बोले—'कौन कहाँ की है तू नारी ।
जान नहीं पहिचान बने तू बहू हमारी ॥'
है शकुन्तला क्रुद्ध कहे कायर तुम भूपति ।
करिके छल व्यवहार बने अब इत भोरे अति ॥
करि गन्धर्व विवाह वन, गर्भ कर्‍या थापन तहाँ ।
कण्वाश्रम महँ जन्यो सुत, है समुपस्थित यह यहाँ ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! जब महाराज दुष्यन्त ने दोष रहित अपनी पत्नी तथा पुत्र को स्वीकार नहीं किया, तब सभी प्राणियों के सुनते हुए यह अशरीरी आकाशवाणी हुई—"हे दुष्यन्त ! माता तो धौंकनी के समान है। देखा जाय, तो पुत्र पिता का ही होता है। जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसी का रूप होता है। इसलिये तू इस पुत्र का भरण-पोषण कर, शकुन्तला का अपमान न कर।

सम्भावित प्रतिष्ठित पुरुषों को जान-बूझकर लोक संग्रह के लिये, अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये, कभी कभी कठिन कृत्य करने पड़ते हैं। श्री रामचन्द्र जी क्या जानते नहीं थे, कि सती शिरोमणि भगवती जनक-नन्दिनी गङ्गाजल के समान विशुद्ध हैं, फिर भी उन्होंने रावण वध के अनन्तर लङ्का में उनसे अत्यन्त कठोर वचन कहे और उन्हें अग्नि प्रवेश करके साक्षी देने के लिये विवश किया। भगवती वैदेही ने पति की आज्ञा शिरोधार्य की और अग्नि में प्रवेश करके अपनी पवित्रता प्रकाशित की। अग्निदेव ने स्वयं कहा—"ये निर्दोषा हैं। श्रीराम जी! इन्हें ग्रहण करें।" इतने पर भी अवध में आकर उन्होंने उनका परित्याग कर दिया। यह सब उन्होंने लोगों को दिखाने के लिये किया था, मेरे आदर्श का अनुकरण करके प्रजा में कदाचार न फैल जाय, इसका उदाहरण उपस्थित किया था। जिनका जनता से सदा सम्पर्क रहता है, उन्हें उनके सम्मुख अपनी स्थिति स्पष्ट रखनी पड़ती है। वे ऐसा न करें, तो जनमत उनके विरुद्ध हो जाय, जनता में उनका आदर न रहे और लोक की दृष्टि में वे गिर जायँ।

श्री सूतजी कहते हैं 'मुनियो! महर्षि कण्व के शिष्यों के चले जाने के अनन्तर शकुन्तला ने अपनी सखी सहित समीप की ही अतिथिशाला में निवास किया। उनके हृदय में बड़ी उथलपोथ हो रही थी। वह आश्रम में स्वतन्त्र पली थी। जङ्गली हिरणी के समान उसने जीवन व्यतीत किया किया था। आज अपने को राजमहल की परिधि में आबद्ध देखकर अपने को बन्दी के समान अनुभव करने लगी। रात्रि भर रोती रही। सर्वदमन श्रमित होने के कारण सो रहा था, किन्तु शकुन्तला की आँखों में नींद

कहाँ ? उसने सम्पूर्ण निशा चिन्ता, उद्विग्नता और विकलता मे ही बिताई।

प्रातःकाल हुआ, नित्य कर्मों से निवृत्त होकर उसने सभापाल को सूचना दी कि वह राजा से कुछ निवेदन करना चाहती है। सभापाल ने राजा को सूचना दी। भरी सभा मे उनके सम्मुख शकुन्तला को बुलाया गया। वह लजाती हुई विवश होकर सबके सम्मुख गई। राजा ने उनका न आदर किया, न बैठने को आसन ही दिया। उन्होंने उसका कुशल भी नहीं पूछा, अपराधिनी के समान वह खडी ही रही। तब राजा ने अपरिचित की भाँति पूछा—"तू कौन है ? कहाँ से आई है ? किसकी पुत्री है ?"

शकुन्तला ने कहा—"राजन् ! आप मुझे भूल गये क्या ? मैं भगवान् कण्व की पालिता पुत्री हूँ। महर्षि विश्वामित्र के द्वारा मेनका से मेरा जन्म हुआ है। शकुन्तला मेरा नाम है।"

राजा ने गम्भीर होकर पूछा—"तू चाहती क्या है ? तुझे मुझ से कुछ कहना है ? यहाँ क्यों आई है ?"

शकुन्तला ने कहा "महाराज ! आप इस प्रकार अपरिचित की भाँति मुझसे क्यों बातें कर रहे हैं ? कण्वाश्रम में आपने मेरे साथ विधिवत् गान्धर्व विवाह किया है, आपके वीर्य से मेरा यह पुत्र उत्पन्न हुआ है। भगवान् कण्व की आज्ञा से इसे लेकर मैं यहाँ आई हूँ, इसको आप युवराज-पद पर अभिषिक्त करा दें।"

राजा ने कहा—"अरे, तू कहाँ की ठगिन चली आई ! किसने तुझे सिखा-पढाकर यहाँ भेजा है ? मैंने तो आज से पहले तुझे कभी देखा ही नहीं। जान न पहचान, तू मेरी स्त्री बनती है ?"

अब तो शकुन्तला के दोनों ओठ फडकने लगे। क्रोध के कारण उसका मुख लाल हो गया। वह क्रुद्ध सिंहिनी की भाँति

राजा की ओर निहारने लगी। उसने कहा—"राजन्! आप धर्मात्मा होकर ऐसी अधर्म की बात करते हैं। मुझे ठगकर-धर्म की दुहाई देकर, आपने मेरा पाणिग्रहण किया, मेरा कन्यापन नष्ट किया, धर्म की शपथ खाकर मेरी सन्तान को राज्याधिकारी बनाने का वचन दिया, आते समय चतुरङ्गिणी सेना भेजने का आश्वासन दिया और अब ऐसी छल-कपट की बातें करते हैं? आप समझते हैं, हमारा आपका विवाह एकान्त में हुआ है, किसी ने देखा नहीं, इसलिये मैं नट जाऊँगा। स्मरण रखिये, सबके अन्तःकरण में विराजमान सर्वान्तर्यामी भगवान् तो सब कुछ देखते हैं। आदित्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, देवता, दिन, रात्रि तथा दोनों सन्ध्यायें—ये तो प्राणियों के सभी भले बुरे कर्मों को देखती हैं। धर्म से डरिये। अधर्म का आश्रय न लीजिये।"

राजा ने कहा—"तू बड़ी धर्माचारिणी है। जिसको तू अपने को पुत्री बताती है, वह क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने का प्रयत्न करता है। जिसे तू अपनी माँ बताती है, वह स्वर्ग की वारवनिता है, उसका कोई एक पति नहीं। ऐसी ही तू उसकी पुत्री मुझे जान पड़ती है। तूने ये तपस्वियों के पहनने योग्य वल्कल-वस्त्र पहन रखे हैं। इसमें तू अपने पाप को छिपाना चाहती है। न जाने कहाँ से इस लड़के को ले आई है, उसे मेरा पुत्र बताती है। तुझे सबके सम्मुख ऐसी असत्य बातें बनाने में लाज भी नहीं आती!"

शकुन्तला ने धैर्य के साथ निर्भय होकर कहा—"राजन्! लज्जा तो आपको आनी चाहिये, जो एक अबला के साथ ऐसा अत्याचार कर रहे हैं, अपनी धर्मपत्नी को वार-वनिता बता रहे हैं। महाराज! मैंने जन्म से ही धर्माचरण किया है। मैं पाप को जानती भी नहीं। आपने ही मुझे गान्धर्व विवाह को धर्म बताया

था। धर्म समझ कर ही मैंने उसे स्वीकार किया। आपके चले आने के पश्चात् मेरे पिता भगवान् कण्व ने भी इसका अनुमोदन किया। उन्होंने आशीर्वाद दिया था, "तेरा पुत्र समस्त भूमण्डल का चक्रवर्ती राजा होगा।" क्या उन तपःपूत ब्रह्मर्षि के वाक्य मिथ्या हो सकते हैं? धर्मावतार! मैं फिर कहती हूँ, "मैं आपकी धर्म से पत्नी हूँ, यह आपका न्यायतः पुत्र है। इसे अपनाइये, गोद में लेकर प्यार कीजिये। यह कब से आपकी ओर उत्सुकता-भरी दृष्टि से देख रहा है।"

इस पर राजा ने कहा—"हे तापसी! मुझे तेरे वचनों मे सत्य की आभा भी प्रतीत नहीं होती। मैंने तुझे इसके पूर्व कभी देखा भी है, ऐसा स्मरण तक नहीं होता। तू धर्माचारिणी हो या अधर्माचारिणी, मुझे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं। न तेरे इस साखू के समान बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले इस पुत्र से ही कोई प्रयोजन है। तू जहाँ चाहे जा सकती है। ठहरना चाहे ठहर सकती है।" यह कह कर राजा चुप हो गये।

इस पर रोती हुई शकुन्तला बोली—"राजन्! ऐसे अनजान मत बनिये। आश्रम की वे बातें आप भूल नहीं सकते। सोते हुए को जगाया जा सकता है, किन्तु जो जागता हुआ भी सोने का स्वांग रच रहा है, उसे कोई कैसे जगावे! आप भूले हों तो स्मरण भी दिलाया जाय। आप तो जान बूझकर अनजान बन रहे हैं। राजन! मैं आपकी पत्नी हूँ, आपने मेरे उदर में वीर्य स्थापित किया है। यह पुत्र आपका ही है। ऋषियों का वचन है कि पुरुष स्वयं ही अपने वीर्यरूप से स्त्री के गर्भ मे प्रवेश करता है, इसीलिये तो पुत्रवती स्त्री की जाया संज्ञा है। पुत्रवती स्त्री का कभी अपमान न करना चाहिये। उसका सदा-सर्वदा माता के समान आदर करना चाहिये। महाराज आप मेरे कुल को क्यों दोष दे

रहे हैं। कुशिक वंश क्षत्रियों मे श्रेष्ठ वंश है। विश्वामित्र जी सभी मुनियों मे श्रेष्ठ हैं। स्वर्ग मे छः ही तो मुख्य अप्सराएँ हैं—उर्वशी, पूर्वचिती, सहजन्या, मेनका, विश्वाची और घृताची। इनमें मेनका की उत्पत्ति ब्रह्माजी से हुई है। अतः वह सर्वश्रेष्ठा मानी जाती है। उसी के उदर से मैं उत्पन्न हुई हूँ। पूर्वजन्म में मैंने कोई घोर पाप किये होंगे। तभी तो मेरी माँ मुझे हिमालय पर्वत की तलहटी में दूसरों की सन्तान के समान छोड़कर स्वर्ग चली गई। बाल्य-काल मे मैं अपने माता पिता द्वारा परित्यक्ता हुई। अब युवावस्था मे मुझे मेरे पति ने भी त्याग दिया। मेरे भाग्य में तो दुःख लिखा ही है, उसे जीवन भर भोगूँगी। किन्तु आप इस अपने बच्चे को तो अपनाइये। इसे तो अपने राज्य का अधिकारी बनाइये।"

राजा ने कहा—"तापसी! तू बड़ी निर्लज्ज प्रतीत होती है, किसी दूसरे के वीर्यज पुत्र को तू बार-बार मेरा पुत्र कह रही है। तुझे लज्जा आनी चाहिये। मैंने तुझसे एक बार कह दिया, बार-बार कह दिया, मेरा तुझसे और तेरे इस पुत्र से कोई प्रयोजन नहीं। तू यहाँ से चली जा।"

आत्मग्लानि के कारण शकुन्तला का सिर नीचा हो गया था, उसके नेत्रों से निरन्तर नीर निकल रहा था, शरीर क्रोध और लज्जा के कारण काँप रहा था। वह राजा के इस दुर्व्यवहार को सहन न कर सकी। उसने कहा—"महाराज! मैं तो जाती ही हूँ। क्या मुँह लेकर अब मैं कण्वाश्रम मे जाऊँगी? मुझे ग्लानि हो रही है, फिर भी वे मेरे पिता हैं, मेरा आजीवन भरण-पोषण करेंगे। आप अपने इस पुत्र को आज न अपनावें, किन्तु यह समस्त भूमण्डल का एक दिन सम्राट् अवश्य होगा, देवताओं और ऋषियों के वचन कभी व्यर्थ नहीं जाते। अच्छी बात है,

भगवान् आपका कल्याण करें।" यह कहकर शकुन्तला चल दी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शकुन्तला के जाते ही आकाश से एक वाणी हुई। वाणी कहाँ से आ रही है, यह कोई जान नहीं सकता था। वह अशरीरी वाणी थी, सबको सुनाई दे रही थी। आकाशवाणी कह रही थी—"हे राजराजेश्वर दुष्यन्त! माता तो एक प्रकार की चर्म की थैली है, जैसे कोई चर्म की पेटी में द्रव्य रख दे, तो द्रव्य चर्म की पेटी का न कहलाकर रखने वाले का ही कहलायेगा। इसी प्रकार पुरुष अपनी पत्नी के उदर में अपना ही वीर्य स्थापित करता है और स्वयं ही उसके उदर से उत्पन्न होता है। इसीलिये पुत्रवती पत्नी की जाया संज्ञा है। आत्मा से उत्पन्न होने के कारण पुत्र में और पिता में कोई भेद नहीं। पिता ही नया रूप रखकर पुत्र रूप में परिणित हो जाता है। यह पुत्र आपका ही है। आप इसका भरण-पोषण कीजिये, शकुन्तला का सम्मान कीजिये, ऐसी सती-साध्वी सन्नारी का परित्याग करना सर्वथा अनुचित है। यह साधारण बालक नहीं है, यह आपके पश्चात् समस्त भूमण्डल का सम्राट होगा। राजन्! आप हमारी आज्ञा से इसका भरण-पोषण करें, अतः इसका नाम भरत होगा। संसार में यह भरत नाम से विख्यात होगा।" इतना कहकर आकाशवाणी शान्त हो गई।

शकुन्तला को क्यों नहीं स्वीकार किया ? तब अपनी गोद में लेकर अपने पुत्र को प्यार क्यों नहीं किया ?"

राजा बोले—"मेरा और शकुन्तला का विवाह एकान्त में हुआ था। कोई इस बात को जानता नहीं था। यदि मैं सहसा शकुन्तला और उसके सुत को स्वीकार कर लेता, तो आप सब ही मेरे ऊपर सन्देह करने लगते। लोग अनेक प्रकार के अपवाद उठाते। इस दृष्टि से लोक दृष्टि में यह मेरी शुद्ध सन्तान न समझी जाती। अब तो आप सबके सम्मुख आकाशवाणी ने साक्षी दे दी।"

सब ने एक स्वर से कहा—"महाराज ! शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न पुत्र निर्दोष है, आपका ही है। देखने में ऐसा लगता है, मानो आप ही पुन बालक बन गये हैं। इसके हाथ में चक्र का चिह्न है, यह अवश्य ही आसमुद्रान्त पृथ्वी का सम्राट् बनेगा। आप इसे अपनावें और युवराज बनावें।"

सबकी सम्मति समझकर सम्राट् ने शकुन्तला सहित सर्व दमन सुत को तुरन्त बुलाया। उसे गोद मे बिठाकर उसका मुख चूमा, सिर सूँघा। पुत्र के स्पर्श से उनके रोम रोम खिल उठे। ससार में जितनी सुखदा स्पर्श-वस्तुएँ हैं, उन सब मे पुत्र के अङ्ग का स्पर्श सर्व श्रेष्ठ है। आज महाराज अपने को कृत-कृत्य समझ रहे थे। वे अपने को पितृऋण से उन्मुक्त मान रहे थे। इसके अनन्तर उन्होंने पुरोहित को बुलाकर शास्त्रोक्त विधि से पितरो के श्राद्धादि कराये। ब्राह्मणो ने स्वस्ति-वाचन किया, गन्धर्वों ने मङ्गल-गान किया, सूत, मागध, वन्दियों ने स्तुति पाठ और विनय के वचन सुनाये। बडे ही उत्साह के साथ राजा ने पुत्र को युवराज पद पर अभिषिक्त किया।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! वही सर्वदमन भरत के नाम से

संसार में प्रसिद्ध हुआ। भरत के समान दानी और यशस्वी दूसरा सम्राट् कौन होगा ? इनके नाम से यह देश ही भरतखण्ड कहा जाने लगा।"

छप्पय

पुनि शकुन्तला शपथ करी भूपति नहिँ मानी।
है निराश जब चली भई तब नभ तैं बानी॥
माता धारण करे पिता की वस्तु कहावै।
पति ही बन के पुत्र नारि के तन तैं आवै॥
यह कुमार तुमरो तनय, भूप भरन जाको करो।
पितर सहित पु नरकतैं, पार जाइ सुख तैं तरो॥

दुष्यन्त-पुत्र भरत

[७७४]

भरतस्य महत्कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा ॥*

(श्रीभा० ९ स्क० २० अ० २९ श्लोक)

छप्पय

स्वीकार्यो सुत नृपति प्रजा अनुमोदन कीन्हों।
जानि—बूझि के भूप—पुत्र अपनो नहिँ चीन्हों॥
सब कूँ भई प्रतीत निरखि सुत सबहिँ सिहाये।
घर—घर मङ्गल भये राज महँ बजे बधाये॥
सर्वदमन युवराज करि, नाम 'भरत' नृप ने धर्‌यो।
भरत-वंश जिन तैं चल्यो, जग उज्ज्वल यश तैं कर्‌यो॥

धार्मिक संस्कार सङ्ग से ही पड़ते हैं। बल्यकाल में बालक जैसे वायुमण्डल में पलेगा, वैसा ही प्रभाव प्रायः उसके जीवन पर पड़ेगा। माता-पिता के विचारों की तथा अपने आस-पास के

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! महाराज भरत के किये हुए महान कर्मों को न तो पिछले राजाओं ने ही किया है और न उन कर्मों को आगे के राजा ही कर सकते हैं। उनके कर्मों तक कोई उसी प्रकार नहीं पहुँच सकता, जिस प्रकार कोई अपने बाहुओं से स्वर्ग को नहीं छू सकता।"

संस्कारों की छाप बालक के कोमल स्वभाव पर अमिट पड जाती है। वह जीवन भर नहीं छूटती। इसीलिये बाल्यकाल से ही प्राचीन समय में पुत्र को गुरुकुल में छोड आते थे, जिससे वहाँ की धार्मिकता का निर्मल वायु मण्डल और सादगी का उस पर प्रभाव पडे। जिन महापुरुषों का जन्म अरण्यों में, ग्रामों में होता है, वे पर पीडा को भली भाँति समझते हैं, क्योंकि उसे वे सहन कर चुके हैं, उन्हें उसका अनुभव है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आकाशवाणी सुनकर तथा प्रजा के सभी लोगों से सम्मति लेकर दुष्यन्त ने शकुन्तला को ग्रहण किया, उसे सम्राज्ञी बनाया और पुत्र को युवराज पद पर अभिषिक्त किया। शकुन्तला जब रानी बन गयी, तब उसने एक दिन राजा से पूछा—"क्यों महाराज! क्या सचमुच आप उन बातों को भूल गये थे क्या? आपको मेरे साथ किये हुए विवाह का स्मरण नहीं रहा था?"

राजा ने हँसते हुए कहा—"भला कहीं विवाह की बात भूली जा सकती है? मुझे सब बातें भली प्रकार स्मरण थीं तुमसे जो मैंने प्रतिज्ञा की थी, वह भी मुझे अक्षरशः याद थी।"

शकुन्तला ने कहा—"फिर आप जान बूझकर भी अनजान क्यों बन गये थे? क्यों आपने मेरा और अपने पुत्र का तिरस्कार किया था?"

अत्यन्त ही स्नेह से राजाने कहा—"प्रिये! सम्भावित पुरुषों को सबकी सम्मति, सहयोग और सहानुभूति को साथ लेकर चलना पडता है। मेरा-तुम्हारा विवाह एकान्त में हुआ था। यदि वैसे ही मैं तुम्हें रख लेता, तो प्रजा के लोगों में भाँति भाँति का प्रवाद फैल जाता। कोई कहता—राजा की यह पत्नी नहीं है, उनका यह पुत्र भी नहीं है, सुन्दरी देखकर राजा ने कोई रखेली

रख ली है। कोई कहता – राजा का इससे अनुचित सम्बन्ध है, यह उनकी व्यभिचारजनित सन्तान है। कोई कुछ कहता, कोई कुछ। यह संसार तो बहुमुखी है। परछिद्रान्वेषण में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मैं सोच रहा था, अपनी सत्यता कैसे प्रकट करूँ। अब सबके सम्मुख आकाशवाणी हो गयी, सबने समझ लिया कि हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध धार्मिक है, यह पुत्र धर्मतः मेरा ही तनय है। तो हम तुम दोनों ही निर्दोष सिद्ध हो गये। ऐसा न करता, तो मेरा-तुम्हारा—दोनों का लोक में अपवाद फैलता। इसीलिये मैंने तुम्हारे साथ ऐसा स्नेहहीन तुच्छ व्यवहार किया। तुम मेरी धर्मतः अत्यन्त ही प्यारी पत्नी हो, मेरे इस दुर्व्यवहार की ओर तुम ध्यान न देना। मैंने तुम्हारे कल्याण के लिये ही यह कठोरता की थी।"

यह सुनकर शकुन्तला के दोनों नेत्र प्रेमाश्रुओं से भर आये। वह अपने पति के पैरों में पड़ गयी और रोते-रोते बोली—"प्राण-नाथ! आपने तो मेरे हित के ही लिये यह सब किया, किन्तु मैं मन्दमतिवाली अबला इस रहस्य को न समझ सकी। मैंने क्रोध में भरकर आप से न कहने योग्य बातें कहीं। मैंने अपने प्राणनाथ परमेश्वर का अपमान किया। इससे मैं किन नरकों में जाऊँगी?"

अपनी प्यारी पत्नी को बलपूर्वक पैरों से उठाकर छाती से लगाते हुए महाराज बोले—"प्रिये! तुमने जो भी कुछ कहा, सती-साध्वी स्त्रियों के अनुरूप ही कहा। इतनी कठोरता पर ऐसी बातें कहने का तुम्हें अधिकार था। फिर तुम्हें दुःख हो रहा है, तो मैं तुम्हारी उन सभी बातों को हृदय से क्षमा करता हूँ। तुम प्रसन्न हो जाओ, उन बातों को भूल जाओ। वे बातें यथार्थ नहीं थीं, नाटक जैसा अभिनय था। स्वप्न का-सा संवाद था। अब

तुम मेरे साथ रहकर सभी ससारी सुखों को भोगो और अपने पुत्र को युवराज पद पर अभिषिक्त हुआ देखो।"

इस प्रकार जब दोनो मे प्रेम की बातें हुइ, तब दोना का हृदय आनन्द से भर गया, दोनो ही सुखपूर्वक ससारी भोग भोगने की लगे। कभी-कभी राजा शकुन्तला को रथ पर बिठाकर कण्वाश्रम दिखाने ले जाते। आश्रम में पहुँच कर शकुन्तला उसी प्रकार सबसे स्नेहपूर्वक मिलती, उसे राना होने का तनिक भी अभिमान नहीं था। कभी कभी राजा भगवान् कण्व को भी बुलाते थे। कालान्तर मे जब भरत बडे हो गये, तब महाराज राज पाट सब उसे सौंप कर शकुन्तला के साथ तपस्या करने वन मे चले गये, और वहाँ वानप्रस्थो के नियमों का पालन करते हुए परमपद को प्राप्त हुए।

महाराज दुष्यन्त के अनन्तर इस सप्तद्वीपवती समस्त वसुन्धरा के स्वामी दुष्यन्त पुत्र भरत हुए। वे बडे ही धर्मात्मा थे। उन्हे ऋषियों ने भगवान् का अशावतार बताया है।

महाराज भरत के दक्षिण हस्त मे चक्र का चिन्ह था और चरणों मे पद्मकोश सुशोभित था। उनका राजाधिराज पद पर पृथ्वी के समस्त राजाओं और ब्राह्मणो ने विधिवत् अभिषेक किया था। अङ्गिरा पुत्र उतथ्य की पत्नी ममता के गर्भ से उत्पन्न महर्षि दीर्घतमा को उन्होंने अपना पुरोहित बनाया था। समस्त भूमण्डल तो उनके अधीन ही था, अब वे अपना वैभव कैसे प्रकाशित करें, किसमे अपनी शक्ति लगावें। यह सोचकर उन्होंने धर्मोपार्जन को ही अपना कर्तव्य समझ लिया। वे यज्ञों के अनन्तर यज्ञ करने लगे। पहले उन्होंने गङ्गाजी के तट पर अश्वमेध आरम्भ किये। पहले उन्होने गङ्गाजी के तट पर इस प्रकार पचपन यज्ञ किये। गङ्गा तट पर यज्ञ करके अब

पर उन्होंने यज्ञों का विस्तार किया। अठहत्तर यज्ञ उन्होंने भगवती कालिन्दी के कूल पर किये। इन यज्ञों में उन्होंने कितना दान दिया, कितना धन बाँटा, इसकी कोई संख्या नहीं। उनका अग्नि-चयन अत्यन्त ही धूमधाम से होता था। अग्नि चयन-कर्म में सर्व प्रथम ब्राह्मणों को गो-दान दिया जाता है। सहस्रों ब्राह्मणों को वे यज्ञ में वरण करते थे और सभी को एक-एक वद्व गायें दिया करते थे।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! एक वद्व में कितनी गाएँ होती हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज! १४ लक्ष गायों के १०७ वें भाग को वद्व कहते हैं। उसमें १२ हजार ८४ गायें होती हैं। कहीं कहीं ऐसा भी बताया जाता है कि गायों के झुण्ड में वेग से एक डन्डा फेंके। जितनी गायों को वह लाँघ जाय, उन सबकी भी वद्व संज्ञा है। अर्थात् सहस्रों गायों के झुन्ड का नाम एक वद्व है। महाराज! उस समय गायें ही धन थीं। प्रत्येक कर्म में प्रथम गो-दान हो जाता था, तब कोई दूसरा कार्य होता था। महाराज भरत ने यज्ञों में अपना ऐसा वैभव प्रदर्शित किया कि सभी भूमण्डल के राजा उनके ऐश्वर्य से आश्चर्य-चकित रह गये। देवताओं के यज्ञों में भी ऐसा ऐश्वर्य देखने में नहीं आता था। उन्होंने अपने यज्ञों के यूप में तैंतीस सौ घोड़े बाँधकर सबको विस्मित बना दिया। सोम-यज्ञों में मण्णार नामक यज्ञ कार्य में उन्होंने ब्राह्मणों को चौदह लाख हाथी दान में दिये। वे हाथी ऐसे वैसे हाथी नहीं थे। पर्वत के समान उनका बड़ा डीलडौल था उनका रंग कृष्ण था, दाँत सफेद थे। सुवर्ण के आभूषणों से वे मण्डित थे। उनके ऊपर सुवर्ण के काम वाली रेशम की झूलें पड़ी थीं। सुवर्ण की शृङ्खला में वे बँधे थे। चलते फिरते पर्वत के समान वे प्रतीत होते थे।

उनके सभी कर्म अद्भुत थे। यज्ञों मे उन्होंने जैसी दान-दक्षिणा दी, वैसा दूसरा दे ही नहीं सकता।

उस समय पृथ्वी पर धर्म विरोधी, विप्रों से द्वेष करने वाले किरात, हूण, यवन, अन्ध्र, कङ्क, खश, शक आदि बहुत से अनार्य राजा थे। उन सब को महाराज भरत ने नष्ट कर दिया। इस प्रकार पृथ्वी को उन्होंने अनार्यों के आधिपत्य से उन्मुक्त कर दिया। उनके राज्य मे कोई धर्म-विरोधी नास्तिक और नीच राजा नहीं रहा था। असुर उनके समय मे पृथ्वी छोडकर पाताल मे चले गये थे। पाताल मे स्वर्ग का-सा सुख भोगते हुए सुखपूर्वक रहते थे। भरत से पूर्व असुरों ने देवताओं पर चढाई की और बहुत सी देवाङ्गनाओं को वे स्वर्ग से पकडकर रसातल मे ले आये थे। वे बेचारी बन्दिनी बनी रसातल में दिन काट रही थीं। महाराज भरत रसातल पर चढाई करके उन्हे जीतकर उनसे देवाङ्गनाओं को पुनः लौटा लाये थे।

महाराज भरत ने यथेच्छ संसारी सुख भोगे। इच्छानुसार दान-धर्म किया, समस्त याचकों की मनोकामनायें पूर्ण कीं, अनुपम दिव्य ऐश्वर्ययुक्त अनेक यज्ञ किये, देवताओं को हव्य से, पितरों को कव्य से, अतिथि, अभ्यागत, विप्रों, गुरुजनों और आश्रितों को दान, मान तथा सत्कार से सन्तुष्ट किया। लोकपालों के जैसे अनुपम ऐश्वर्य का उपभोग किया, उन सार्वभौम सम्राट् ने सभी सुखदा सामग्रियों का संग्रह किया और उनको यथा योग्य वितरित किया। इस प्रकार सत्ताईस सहस्र वर्षों तक वे वसुन्धरा का धर्म-पूर्वकर पालन करते रहे। अन्त मे उन्हे विषयों से विराग हुआ। उन्हे सार्वभौम सम्राट् की सम्मत सुखदा सम्पत्ति, अप्रतिहत अटल अनुशासन, तथा प्रिय पदार्थों से भी प्यारे प्राण भि नश्वर तथा क्षण भंगुर दिखाई देने लगे। उन्होंने सोचा—

के उपभोग मे सुख नहीं शान्ति नहीं।' ऐसा निश्चय करके वे समस्त ससारी सुखों से उपरत हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज भरत के पश्चात् उनके दत्तक पुत्र वितथ राजा हुए।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ये वितथ कौन थे? किसके पुत्र थे? महाराज भरत ने उन्हें दत्तक पुत्र क्यों बनाया। कृपा करके हमे इन सब बातो को सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी अनमने होकर बोले—"महाराज! बडो की बडी बाते होती हैं। वितथ की उत्पत्ति की बात आप न पूछें, तो ही अच्छा है। उनकी उत्पत्ति ऐसे ही सट्ट पट्ट हुई है। अच्छी बात है, मुझे भरत वश की कथा कहनी ही है। उसी के प्रसङ्ग में भरत पुत्र वितथ की भी उत्पत्ति सक्षेप मे कहूँगा। अब आप भरत वश की ही कथा श्रवण करें।"

छप्पय

भरत सरिस जग माँहिँ वीर को ज्ञानी दानी।
परम यशस्वी युद्ध-क्षेत्र मह अति ही मानी॥
अगणित दीये दान अश्व, भू, रथ, गज, गोधन।
कीये रिपुवश बाह्य भीतरी मन इन्द्रियगन॥
भोगे सब संसार सुख, तोऊ तुष्ट न नृप भये।
भोग सकल मिथ्या समुझि, उपरत तिन तैं ह्वै गये॥

भरत-वंश की कथा

[७७५]

वितथस्य सुतो मन्युर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः ।
महावीर्यो नरो गर्गः सङ्कृतिस्तु नरात्मजः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २१ अ० १ श्लोक)

छप्पय

नृप-विदर्भ की सुता सुन्दरी राजदुलारी ।
पत्नी तिनकी तीनि सुशीला अति सुकुमारी ॥
तिन तैं जे सुत भये भरत अनुरूप न माने ।
त्यागे पत्नी वंश वितथ लखि नृप खिसियाने ॥
भाभी ममता गर्भ तैं, पैदा सुरगुरु करयो सुत ।
त्यागि दयो पितुमातु ने, मरुत उठायो शिशु तुरत ॥

देवता हो, मनुष्य हो, ऋषि मुनि चाहे जो हो, जब उसे काम का वेग होता है, तब कर्तव्याकर्तव्य का विवेक उसे नहीं रहता। जिसके समीप भोग्य सामग्रियाँ यथेष्ट है, उन्हे उनके अभाव की स्थिति का सहज अनुभव नहीं होता। खाने पीने की सब वस्तुएँ घर मे विपुल परिमाण में होती हैं, तो मदाग्नि हो जाती है, भूख

---

* श्री शुकदेवजी कहते है —'राजन्! भरत पुत्र वितथ के सुत मन्यु हुए। मन्यु के बृहत्क्षत्र, जय, महावीय, नर और गर्ग—ये पांच पुत्र हुए उनमे से नर के पुत्र सङ्कृति हुए।"

ही नहीं लगती। जब अन्न क्षय हो जाता है, तब जठराग्नि भी बढ़ जाती है, भूख भी अधिक लगती है। धनी लोग निर्धनों की स्थिति का अनुभव नहीं कर सकते। जो विषयी हैं, रात्रि दिन विषयों में ही लिप्त रहते हैं, वे काम के वेग को क्या जानें, वे तो कूकर, शूकर, कबूतर आदि की भाँति रात्रि दिन विषय भोगों में ही संलग्न रहते हैं। जो विषयों से पृथक् रहकर इन्द्रियजित होने का प्रयत्न करते रहते हैं, वे ही समझ सकते हैं कि विषयों के सानिध्य होने से वासना कितनी प्रबल हो जाती है। क्षुद्र लोग अपने पापों को छिपाते हैं, महापुरुष अपनी निर्बलता को सबके सम्मुख प्रकट कर देते हैं। यही उनकी महत्ता है।

श्री सूतजी कहते हैं—मुनियो! दुष्यन्त-पुत्र राजर्षि भरत के तीन रानियाँ थीं। वे तीनों विदर्भ देश के महाराज की पुत्री थीं। राजा उन्हें अत्यन्त प्यार करते थे। उन तीनों के तीन-तीन पुत्र हुए। किन्तु उन सभी को राजा ने अपने अनुरूप नहीं समझा। न जाने क्यों, राजा को यह सन्देह हो गया कि ये मेरे पुत्र नहीं हैं। रानियों को बड़ा भय हुआ, कि राजा को हमारे ऊपर सन्देह न हो जाय, अतः उन सब ने अपने पुत्रों का वध करा दिया। अब राजा अनपत्य हो गये। उनके कोई सन्तान नहीं रही। वंश परम्परा अक्षुण्य बनी रहे, इसीलिये उन्होंने मरुद्गण के उद्देश्य से बड़ा यज्ञ किया। सन्तान की कामना से मरुतों का उन्होंने यजन किया। मरुतों ने एक सुन्दर-सा पुत्र लाकर राजा को दिया। यह पुत्र बृहस्पतिजी के बड़े भाई उतथ्य की पत्नी ममता के गर्भ से भगवान् बृहस्पति के वीर्य द्वारा उत्पन्न हुआ। ममता के अपने पति उतथ्य से जो पुत्र हुआ, वह बृहस्पतिजी के शाप से उदर से ही अन्धा उत्पन्न हुआ। इसीलिये उनका नाम दीर्घतमा रखा गया। यह जो ममता और

बृहस्पति के द्वारा पुत्र हुआ, वह दो से होने के कारण द्वाज कहलाया। ममता ने बृहस्पति से कहा—"हे बृहस्पति! तुम इस द्वाज का भरण-पोषण करो।" बृहस्पतिजी ने कहा "तू ही इस द्वाज को भर—अर्थात् भरण-पोषण कर।" दोनों ने ही उस पुत्र का भरण-पोषण नहीं किया। पुत्र बड़ा ही सुन्दर और परम तेजस्वी था, अमोघवीर्य देवगुरु भगवान् बृहस्पतिजी के वीर्य से उत्पन्न हुआ था! दोनों ने उसका भरण-पोषण नहीं किया! दोनों ही उस द्वाज को अरण्य में छोड़कर चले गये। मरुतों ने उसका भरण-पोषण किया। इसलिये वह 'भरद्वाज' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मरुतों ने प्रसन्न होकर उस भरद्वाज को ले जाकर महाराज भरत को दिया। राजर्षि भरत ऐसे सुन्दर तेजस्वी सुत को पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्होंने उसे अपना सगा पुत्र ही समझा। उसका एक नाम वितथ भी हुआ। वितथ कहते हैं, जो अन्याय से जन्मा हुआ हो। इधर भरत-वंश वितथ अर्थात् उच्छिन्न हो रहा था। उसी समय यह पुत्र प्राप्त हुआ। इसलिये इसका नाम वितथ ही प्रसिद्ध हुआ। महाराज ने उसे ही अपने राज्य का अधिकारी बताकर युवराज-पद पर अभिषिक्त किया। उस पुत्र को पाकर महाराज हर्षित हुए और पीछे उसे राज्य देकर वे वन चले गये।

महाराज वितथ अपने पिता-पितामह से चले आये हुए राज्य का धर्मपूर्वक पालन करने लगे। उनके मन्यु नामक पुत्र हुआ। महाराज मन्यु के, जैसे शरीर में पाँच इन्द्रियाँ मुख्य होती हैं, वैसे ही पाँच पुत्र हुए। उनके नाम बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्ग थे। इन पाँचों में से जो चौथे नर थे, उनके संकृति नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। संकृति के गुरु और रन्तिदेव—ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें महाराज रन्तिदेव परम धर्मिक और यशस्वी हुए। ये राजर्षि इतने धर्मात्मा थे कि इनका यश अब तक

तीनों लोकों में व्याप्त है। इन्हें जो राज्य मिला था, उससे जो भी आय आती, उसे जो भी माँगता, उसी को ये दे देते। जब उनके बड़े भाई गुरु ने यह देखा कि यह तो राज्य के योग्य नहीं, यह निरन्तर दान करता रहता है, तब उन्होंने इनकी मासिक वृत्ति बाँध दी। नियत समय पर इन्हें उतना धन दे देते, जिससे इनका निर्वाह भली भाँति हो सके। किन्तु इन्हें तो ईश्वर पर भरोसा था। इनकी प्रतिज्ञा थी, कि बिना उद्योग किये, जो भी आ जाय, उसी पर निर्वाह करना। न किसी से याचना करना, न भोजन-जल जुटाने के लिये परिश्रम करना। दैवयोग से इन्हें अपने कठोर व्रत के कारण ही एक बार अड़तालीस दिन बिना अन्न जल के बिताने पड़े।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी महाराज रन्तिदेव को अड़तालीस दिन बिना अन्न-जल के कैसे बिताने पड़े, कृपा करके इस कथा को आप हमें विस्तार से सुनायें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! मैं परम यशस्वी महाभाग्यवान महाराज रन्तिदेव का चरित सुनाता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर इस परम पुण्यप्रद पावन आख्यान को प्रेमपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

दयो मरुत्गन लाइ भरत ने सुत निज जान्यो।
पायो मरुत्-प्रसाद वंश निज उज्ज्वल मान्यो॥
विषय नाम तो म्लान जगतमहँ भये भरतसुत।
त्यागि राज-परिवार गये वन नरपति तप-हित॥
वन कुटुम्बका संग महँ, रहे करे तप रोकि मन।
निज्ञा समुद्रि प्रत्यक्ष सब, योग-मार्ग तो तज्यो तन॥

महाराज रन्तिदेव की कथा

(७७६)

रन्तिदेवस्य हि यश इहामुत्र च गीयते ।
वियद्वित्तस्य ददतो लब्धलब्धं बुभुक्षतः ॥
निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः ।
व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २१ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

भये वितथ के मन्यु पाँच सुत तिनके सुन्दर ।
बृहत्क्षत्र, जय, गर्ग, भये नर महावीयवर ॥
नरसुत सङ्कृति भयो तासु सुत द्वै जग भूषन ।
प्रथम भयो गुरु रन्तिदेव दूसर निष्किञ्चन ॥
बिनु पुरुषारथ दैववश, मिलहि अयाचित जो अशन ।
दै अभ्यागत अतिथि कूँ, पावैं हैं सन्तुष्ट मन ॥

सबमें भगवान् को देखना, सबमें भगवद्बुद्धि करना, प्रभु

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! महाराज रन्तिदेव का यश इस लोक तथा परलोक—दोनों स्थानों—में गाया जाता है । वे दैवाधीन प्राप्त धन से सन्तुष्ट रहने वाले, जो जो प्राप्त हो जाय, उसे देने वाले थे । एक बार उन निष्किञ्चन और धैर्यवान राजा को परिवार सहित दुःख उठाते हुए, भूखे-प्यासे रहते हुए अड़तालीस दिवस हो गये ।'

प्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है। भेद-भाव से भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती। कहीं भी, किसी भी साधन मे, निष्ठा हो जाय, वहीं भगवान् प्रकट हो जायँगे। अर्चा-विग्रह मे, माता पिता मे, गुरु मे, जड़ मे, चैतन्य मे, पशु, पक्षी, वृक्ष, अतिथि, अभ्यागत मे—कहीं भी—मन एकाग्र हो जाय, चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाय, दान मे- धर्म मे, पूजा मे, अतिथि-सेवा मे, प्राणायाम मे, योग में, ज्ञान मे तथा अन्यान्य विविध साधनो मे से किसी मे चित्त स्थिर हो जाय, तो उसी के द्वारा भगवान् मिल जायँगे। किन्तु उस साधन में दृढ़ रहे, विचलित न हो। अपनी सत्ता को पृथक् रख-कर परमार्थ-साधन को वृत्ति न बना ले, तो उसे उसी साधन द्वारा भगवत्-साक्षात्कार हो सकता है। महाराज रन्तिदेव ने शक्तिभर दीनो का दुःख दूर करने का व्रत ले रखा था। उसी व्रत के सहारे उन्हे भगवान् के दर्शन हुए और अपनी उज्ज्वल-धवल कीर्ति आदि को यहीं छोड़कर वे परमपद के अधिकारी हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज रन्तिदेव का व्रत था कि जो भी उनके समीप माँगने आता, उसे ना नहीं करते थे। ऐसे ही इनके परिवार के लोग थे। इनके बडे भाई ने जब देखा कि इस प्रकार तो यह सम्पूर्ण राज्य को दे डालेगा, इसकी कुछ वृत्ति बाँध देनी चाहिये, तब उन्होंने राज्य पर अपना अधिकार कर लिया, वे इनके लिये कुछ नियमित द्रव्य देने लगे। इससे यह परम प्रसन्न हुए, झंझट से छूटे। जो वृत्ति मिलती, उसी से ये काम चलाते। बीच मे ही किसी ने माँग लिया, तो दो चार दिन ये भूखे ही रह जाते फिर आया तो उससे पुनः निर्वाह कर लिया।

संसार मे, कुछ लोग, पुरुषार्थ को ही सर्वश्रेष्ठ समझते है। उनका कहना है—"सब कुछ पुरुषार्थ से ही प्राप्त होता है। दैव के अधीन रहना निर्वीर्य आलसियों का काम है। इसलिये भाग्य

की चिन्ता न करके निरन्तर पुरुषार्थ ही करते रहना चाहिये। पुरुषार्थ के सम्मुख भाग्य कुछ नहीं है। सोते हुए सिंह के मुख में हरिण स्वयं आकर नहीं घुस जाते। जब तक वह प्रयत्न न करे तब तक भाग्य कुछ भी नहीं।"

कुछ लोग कहते हैं—"प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनों का ही महत्त्व है। जैसे उडने के लिये पक्षी के दोनों पंख आवश्यक है जैसे चलने के लिये रथ के दोनों पहिये चाहिये, जैसे सतति के लिये स्त्री-पुरुष दोनों का होना अनिवार्य है, उसी प्रकार प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनों से ही काम चलता है। पुरुषार्थ न करे, तो प्रारब्ध कैसे बने? पूर्वजन्म के पुरुषार्थकृत कर्म ही तो आगे के जन्मों मे प्रारब्ध को बनाते हैं। इसलिये निरन्तर पुरुषार्थ करते रहना चाहिये, किन्तु उसके फल को दैवाधीन समझकर प्रारब्ध के ऊपर छोड देना चाहिये, अर्थात् कर्म करने मे तो हमारा अधिकार है, किन्तु उसकी फल-प्राप्ति मे हमारा अधिकार नहीं।"

कुछ लोग भाग्य को ही सब कुछ समझते हैं। वे कहते है—"जो हमारे भाग्य मे होगा, हम कहीं भी रहे, वह अवश्य हमे प्राप्त हो जायगा। जो सुख-दुःख के भोग हमे मिलने वाले हैं, वे अवश्य मिलेंगे। विधाता ने जो इस जन्म के सुख, दुःख, वय तथा भोग हमारे भाग्य मे लिखे हैं, वे हमे, जहाँ भी रहें, वहीं प्राप्त हो जायँगे। जितना धन हमारे भाग्य मे लिखा है, उतना हमे बालू मे भी बैठे रहने पर प्राप्त हो जायगा। जो हमारे भाग्य मे है ही नहीं, वह चाहे सुवर्ण के पर्वत पर जा बैठें, तो भी हमे नहीं मिलेगा। ससार में अन्न के दाने-दाने पर, जल की बूँद बूद पर, वस्त्र के टुकडे-टुकडे पर प्रत्येक का नाम लिखा है। जिस पर जिसका नाम लिखा है, वह जहाँ भी रहे, वहीं उसे प्राप्त होगा। जिस पर तुम्हारा नाम नहीं है, कितना भी प्रयत्न करो, तुम्हे मिल

ही नहीं सकता। आमों के पेड़ों को कौन लगाता है, कौन पानी देकर बड़ा करता है, कौन फलों को तोड़ता है, कौन टोकरों में भरकर बेचता है! कितने आदमी "मेरे आम, मेरे आम" की रट लगाते हैं, किन्तु उन्हें खाता वही है, जिसका उन पर नाम लिखा है। एक सेठ है, जिसके बाग में लाखों आम फले हैं। वद्यों ने आम खाने को मना कर रखा है, वह एक भी आम नहीं खा सकता। इसके विपरीत उन पर जिनका नाम लिखा है, वे परदेशी भी आकर खा जाते हैं। थाल परसा हुआ सम्मुख रखा है, भाग्य में वह भोजन नहीं होगा, तो कुत्ता बिल्ली आकर उसे उच्छिष्ट कर देंगी, उसी समय कोई अत्यावश्यक कार्य भी आ जायगा, किसी से लड़ाई-झगड़े होंगे, क्रोध में आकर वह परसी हुई थाली छोड़, उठ जायगा। इसलिये पुरुषार्थ व्यर्थ है, बच्चों के बहलाने की बात है, मुख्य तो है भाग्य। भाग्यवश जो सम्मुख आ जाय, उसे प्रभु का प्रसाद समझकर प्रेम से पा लो। कुछ न आवे, तो यही समझो, आज प्रभु की यही इच्छा है!"

इस विचार के लोग इतना तो पुरुषार्थ करते हैं कि जो आ जाय, उसे उठाकर खा लेते हैं, जो भूखा प्यासा आ जाय, उसे उठाकर दे देते हैं। इसके अतिरिक्त वे भोग्य-सामग्रियों को जुटाने के लिये कोई पुरुषार्थ नहीं करते। अनुक्षण अच्युत की अनुकम्पा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। महाराज रन्तिदेव ऐसे ही विचारों के व्यक्ति थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे मरुभूमि में ही निवास करते थे, जहाँ अन्न की भाँति जल भी पुरुषार्थ से ही प्राप्त होता है।

जो लोग निष्ठावान होते हैं, उनकी निष्ठा डिगाने के लिये खल पुरुष अकारण ही प्रयत्न किया करते हैं। कोई सत्यवादी हो, तो उससे झूठ बुलाने की, कोई ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये हुए हो,

तो उससे च्युत करने की, कोई अनुष्ठान कर रहा हो, तो उसे उससे हटाने की चेष्टा कुछ लोग अपने मनोविनोद के ही लिये करते हैं और उसे अपनी निष्ठा से च्युत होते देखकर उन लोगों को एक आत्मसंतोष-सा होता है। महाराज रन्तिदेव के गुणों को तो अन्य लोग पा नहीं सकते थे। उनसे वैसे ही द्वेष करने वाले लोग, उन्हें उनके निश्चय से डिगाने के लिये अनेकों प्रयत्न करते।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जिन्होंने अपना सर्वस्व भगवान् के अर्पण कर दिया है, उन्हें भी दुष्ट लोग दुःख क्यों देते हैं? भगवान् उनकी रक्षा क्यों नहीं करते?"

सूतजी ने हँसकर कहा—"महाराज! भगवान् ही तो ये सब लीलायें कराते हैं। भगवान् की इच्छा के बिना तो एक पत्ता भी नहीं हिलता। जैसे सुवर्णकार सुवर्ण को बार बार अग्नि में तपाकर उज्ज्वल करता है, उसी प्रकार भगवान् भक्तों को दुःखरूपी अग्नि में तपाकर उन्हें उज्ज्वल बनाते हैं, उनके महत्त्व को संसार में प्रकट करते हैं। भीष्म जैसे भगवद्भक्त को महीनों शर शय्या पर शयन करना पड़ा। पैर में एक काँटा गड़ जाता है, तो लोग दुःख से तिलमिला उठते हैं, उनके तो रोम रोम में तिल तिल स्थान में बाण बिंधे हुए थे। उन्हें कितना कष्ट होता रहा होगा? तिस पर भी भगवान् उनके समीप पाण्डवों को ले गये और बोले—"युधिष्ठिर के सब प्रश्नों का उत्तर दीजिये।"

पितामह ने पूछा—"हे प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं, सर्ववित् हैं, सर्वसमर्थ और सर्वेश्वर हैं, धर्मराज युधिष्ठिर को आप ही उपदेश क्यों नहीं देते?"

भगवान् ने कहा—"मुझे उपदेश देने में न कुछ आपत्ति है, न श्रम। सम्पूर्ण वेद ही मेरी निःश्वास हैं। किन्तु मुझे तो संसार में तुम्हारा महत्त्व बढ़ाना है, जगत् में तुम्हारी ख्याति करनी है,

त्रिलोक मे तुम्हारी कीर्ति का विस्तार करना है।" यह कहकर उन्होंने भीष्मपितामह से ही उपदेश कराया, जो ज्ञान महाभारत में शांतिपर्व के नाम से प्रसिद्ध है, जो सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। उद्धवजी को उपदेश देते हुए स्वयं भगवान् ने भी उसका उद्धरण दिया है और स्पष्ट कहा है—"यह ज्ञान मैंने देवव्रत भीष्म पितामह से प्राप्त किया है।" सो, मुनियो! भगवान् भक्तों को जो कष्ट देते हैं, वह उनके हित के ही लिये। जिसे वे ग्रहण करना चाहते हैं, प्रथम उसका सर्वस्व हर लेते हैं, फिर उसे योग्य अधिकारी बनाकर अपना सर्व उसे दे देते हैं। भगवान् भक्तों के अधीन हो जाते हैं, अपने आपको उनके हाथों बेंच देते हैं।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अब आप महाराज रन्तिदेव का अग्रिम चरित सुनावें।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! सुनिये! उसी की भूमिका तो मैं बाँध रहा हूँ। इनके बड़े भाई बहुत कहते थे, तुम्हें जो मिलता है, उससे महीने भर काम चलाया करो। वह कम पड़ता हो, तो और बढ़ा दें। तुम्हें तो जब कुछ मिलता है, तभी उसे व्यय कर देते हो, जो माँगता है, उसे ही दे देते हो। तुम्हारे पीछे ये परिवार वाले भी दुःख उठा रहे हैं। इन्हें पीड़ा पहुँचाना उचित नहीं।"

महाराज रन्तिदेव कह देते—"सबका अपना-अपना प्रारब्ध है। जो जिनके भाग्य का होता है, वह उन्हें मिल जाता है। मेरे भाग्य का मैं, और जिस-जिसके भाग्य का जो होता है वह उसे ले जाता है इसमें मैं देने-लेने वाला कौन हूँ।" यह सुनकर इनके बड़े भाई गुरु चुप हो जाते। ये जितना भी दे दें, उतना ही ये व्यय कर दें।

एक बार इन्हें एक मास के लिये जो मिला, सब किसी एक

को ही दे डाला। दूसरे मास जानकर या अनजान मे, महाराज गुरु ने धन नहीं भेजा, इसलिये ये अडतालीस दिन बिना अन्न-जल के ही रह गये। महाराज इस दुख से तनिक भी विचलित नही हुए। ये इसमे भी भगवान् का अनुग्रह ही समझते थे।

अडतालीस दिनो के पश्चात् उनचासवें दिन किसी ने बडी श्रद्धा से इन्हे बडी सुन्दर खीर, जिसमे मेवा, मिश्री, केशर तथा घृत पडा था, लाकर दी। साथ में हलुआ, पूडी तथा दूसरे पकवान भी थे। उसने घडा भरकर जल भी लाकर दिया। राजा ने समझा, यह भगवान् की परम अनुकम्पा है। बडे धैर्य के साथ भगवान् को अर्पण करके अपने परिवार वालो को सब वस्तुएँ बाँटीं। अपना भी भाग लगाकर ज्योंही आचमन करके वे प्रसाद पाने को उद्यत हुए, त्योंही भोजन के समय एक ब्राह्मण अतिथि उनके द्वार पर आकर उपस्थित हुआ। अतिथि को बिना खिलाये धर्मात्मा राजा प्रसाद कैसे पा सकते थे? अतः उन्होंने ब्राह्मण को प्रसाद पाने के लिये आमन्त्रित किया। ब्राह्मण तो आये ही इसीलिये थे। हाथ-पैर धोकर आ डटे चौके मे। राजा तो सब मे सर्वत्र उन सर्वान्तर्यामी प्रभु को ही विराजमान देखते थे। अत्यन्त श्रद्धा से आदरपूर्वक उस अन्न मे से कुछ भाग ब्राह्मण को पहले खिलाया। खा-पीकर और राजा को आशीर्वाद देकर ब्राह्मण देवता चलते बने। 'अतिथि यार किसके? भात खाये खिसके।'

ब्राह्मण के चले जाने के अनतर वे ज्योंही पुनः प्रसाद पाने बैठे त्योंही एक शूद्र वहाँ आ गया और राजा से बोला—"राजन्! मैं भूखा हूँ, आप मुझे कुछ अन्न दे दें, तो मेरे प्राण बच जायँ।"

राजा तो सब में भगवान् को देखते थे। अतः उन्होंने बडे आदर के सहित उस शूद्र को भी पेट भर भोजन कराया, जल पिलाया। शूद्र खा-पीकर राजा की प्रशसा करते चला गया।

अब बचे हुए अन्न का यथायोग्य विभाग वितरण कर राजा ज्योंही परिवार सहित खाने बैठे, त्योंही एक अवधूत बहुत से कुत्तों का साथ लिये हुए दीन वाणी में बोला—"राजन्, मैं बहुत भूखा हूँ मेरे कुत्तों सहित मुझे भी कुछ खाने को दीजिये।"

राजा तो तत्त्व ज्ञानी थे। वे कुत्तों में, विद्वान में, ब्राह्मण में चाडाल में—सर्वत्र अपने स्वामी श्रीहरि को ही देखते थे। अतः उन्होंने अवधूत को प्रणाम किया और उसके कुत्तों को भी भगवद् बुद्धि से प्रणाम किया, सब को भोजन कराया, पानी पिलाया और आदर-सहित विदा किया।

अब राजा के पास केवल जल शेष रह गया। वह जल भी उतना ही, जितने से एक आदमी तृप्त हो सके। राजा उस जल को ही बाँट कर पीने लगे, इतने में ही एक अत्यन्त प्यासा चाडाल दौडता हुआ आया और अत्यन्त कातर वाणी में बोला—"राजन्! मैं अत्यन्त प्यासा हूँ, यदि मुझे अब भी जल नहीं मिला, तो मैं निश्चय ही तडप-तडपकर मर जाऊँगा। जल मुझे पिला दीजिये।"

इतना सुनते ही महाराज जल पीने से रुक गये। अडतालीस दिनों से उन्होंने जल भी पान नहीं किया था, किन्तु चाडाल की कातर वाणी सुनकर वे अपना तथा भूख प्यास से तडपते अपने परिवार का दुःख भूलकर कहने लगे—'मैं भगवान् से कोई अष्ट ऐश्वर्य युक्त परमगति नहीं चाहता और न मुझे मोक्ष की ही इच्छा है। मैं तो सम्पूर्ण देह धारियों के अन्तःकरणों में स्थित होकर उनका दुःख सहन करना चाहता हूँ। संसार के सभी प्राणियों के बदले अकेले मुझे ही दुःख हो। शेष प्राणियों के दुःख दूर हो जायँ। अहो! यह चाडाल जाने की इच्छा रखने वाला है, जीवन चाहता है। इसका जीवन, इस जल के ही अधीन है, इस

जलरूप जीवन को देने से मेरी क्षुधा, पिपासा, श्रम, शरीर की शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद, मोह, आदि सभी वृत्तियाँ निवृत्त हो गई है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर उन्होंने वह जल भी हँसते हँसते उस चाडाल को दे दिया। चाडाल ने ज्यो ही जल पिया, आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी। सभी महाराज रन्तिदेव की जय-जयकार करने लगे। क्षण भर मे ही वह चाडाल देवता के स्वरूप मे उनके सम्मुख खडा हो गया और बोला—"राजन्! मैं साक्षात् धर्म हूँ। आप अपने धर्म पर, इस सकट में भी अविचल बने रहे, इससे मैं आप पर अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। आप जो चाहें, सो मुझसे वर माँग सकते हैं।"

राजा ने हाथ जोडकर कहा—"हे धर्मदेव! मेरा अहोभाग्य

जो आपके दर्शन हुए। मेरी बुद्धि सदा धर्म में अडिग बनी रहे मैं धर्म पथ से कभी च्युत न होऊँ, इसके अतिरिक्त मैं कुछ भी नहीं चाहता।"

राजा यह कह ही रहे थे कि गरुड की पीठ पर सवार होकर चतुर्भुज भगवान् विष्णु उनके सम्मुख उपस्थित हुए और बोले—"राजन्! ब्राह्मण वेष बनाकर मैं ही आपके समीप आया था। भूखे रहने पर भी आपने मेरे प्रति तो अश्रद्धा ही की और न ज्ञान का ही भाव प्रदर्शित किया। अत्यन्त भूख में भी जो आपने धैर्य नहीं छोड़ा, यही आपकी महत्ता है। आप पर मैं प्रसन्न हूँ; आप जो चाहें, मुझसे माँग लें। आपने अपने पुण्य प्रभाव से समस्त पुण्य लोकों को जीत लिया। आप जिन लोकों में चाहें जा सकते हैं।"

राजा पुण्य से प्राप्त इन लोकों का परिणाम जानते थे। उनमें सातिशय दोष और पतन का जो भय है, वे उसे भी जानते थे, अतः उन्होंने पुण्यमय लोकों में जाना स्वीकार नहीं किया। केवल यही कहा—"मुझे आपके चरण-कमलों की भक्ति प्राप्त हो।"

तदन्तर हंस पर चढ़कर कमण्डलु लिये वेद-गर्भ चतुर्भुज भगवान् ब्रह्मा उनके सम्मुख उपस्थित हुए और बोले—"राजन्! शूद्र रूप में मैं ही आपके सम्मुख आया था। आपने मेरे शूद्ररूप के प्रति वही आदर प्रदर्शित किया जो आपने एक अतिथि ब्राह्मण के प्रति किया। आपकी बुद्धि समत्व में स्थित है, आप मेरे लोक में चलें।"

राजा ने कहा—"हे चतुरानन! मुझे स्वर्गीय सुख नहीं चाहिये। मैं तो पृथ्वी में ही भगवत्-भाव देखना चाहता हूँ। मेरे मन में तनिक भी द्वैधी भावनाएँ न हों, सर्वत्र श्रीहरि को ही देखूँ, ऐसा आशीर्वाद आप मुझे दें।"

राजा यह कह ही रहे थे कि वृषभ पर चढ़े, त्रिपुण्ड लगाये हाथ में त्रिशूल लिये, त्रिनेत्र भगवान् त्रिपुरारि वहाँ उपस्थित हुए। वे व्याघ्र का चर्म ओढ़े थे, डमरू हाथ में था, मस्तक पर चन्द्रमा चमक रहे थे, जटाओं में श्री गङ्गाजी विराजमान थीं। वे रुद्राक्ष की माला पहिने, सम्पूर्ण शरीर में चिता की भस्म लगाये, कपूर के समान अपनी द्युति से दशों दिशाओं को प्रकाशित तथा सुवासित कर रहे थे। आते ही उन्होंने कहा—"राजन! कुत्तों सहित मैं ही अवधूत के वेश में तुम्हारे सम्मुख आया था। तुमने मुझमें तथा मेरे कुत्तों में कोई भेद भाव नहीं किया। इतने भूखे रहने पर भी कुत्तों सहित मेरी तृप्ति की। अब तुम जो चाहो, वह वर माँग लो। हम तुम्हारे धैर्य की परीक्षा के लिये वे रूप बनाकर आये थे। किन्तु, तुम अपने व्रत में दृढ़ रहे, अतः जो भी चाहो वह मुझसे माँग लो।"

यह सुनकर राजा ने तीनों देवों को श्रद्धा-सहित साष्टाङ्ग प्रणाम किया और गद्गद वाणी से कहने लगे—हे त्रैलोक्य वन्दित देवो! मेरा अहोभाग्य, जो आप तीनों के दर्शन हुए। संसारी पुरुषों को आपके दर्शन ही दुर्लभ हैं। आपके दर्शन से ही मैंने सब कुछ प्राप्त कर लिया। आपके दर्शनों के अनन्तर भी यदि मैं वही संसारी भोग चाहूँ, तो यह तो कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर धान की भूसी माँगने के सदृश है। विषय भोग तो नरक में भी प्राप्त हो सकते हैं, फिर उन्हें मैं आपसे क्या माँगूँ? आप यदि प्रसन्न हैं, तो फिर मुझे आशीर्वाद दें कि आनन्द कन्द व्रजचन्द्र श्री नन्दनन्दन भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में मेरी अविचल अहेतुकी भक्ति हो। ब्रह्मलोक पर्यन्त के भोगों में मेरी स्पृहा न हो। मेरा मन सदा श्रीहरि के चरणारविन्दों में ही लगा रहे।"

महाराज रन्तिदेव की ऐसी अविचल सुदृढ़ निष्ठा देखकर

धर्ममहित तीनों देव परम प्रमुदित हुए। उन्होंने राजा को अविचल भक्ति का आशीर्वाद दिया और राजा के देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अत्यन्त प्रलोभन देने पर भी महाराज ने ईश्वर-भक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य फल की इच्छा नहीं की। उनका चित्त निरन्तर अनन्य भाव से उन अच्युत में ही लगा रहता था। वे सर्वत्र सब स्थानों में, सब कालों में, समस्त प्राणियों में अपने इष्ट श्रीहरि को ही निहारते थे। उनका भेद-भाव छूट गया था। वे त्रिगुणातीत होकर जीवन्मुक्त बन गये थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उनके परिवार तथा साथ के अन्य लोगों का क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! साँभर की झील में जो भी पदार्थ जाता है, वही साँभर हो जाता है। चन्दन के वन के समीप रहने वाले अन्य कँटीले वृक्ष भी सुगन्धित बन जाते हैं। इसी प्रकार महाराज रन्तिदेव के संसर्ग में जितने लोग थे, वे सब उनकी सङ्गति के प्रभाव से योगी तथा नारायण परायण भगवत्-भक्त हो गये। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में मन्यु के प्रपौत्र नर के पौत्र महाराज रन्तिदेव की कथा कही। अब नर के अतिरिक्त जो महाराज मन्यु के बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य और गर्ग—ये चार पुत्र थे, उनके वंश का विस्तार आप सुनें।"

छप्पय—*रन्तिदेव के सरस कान नर जग महँ दानी।*
अतिथि-हेतु निज-क्षुधा-पिपासा जिन नहिँ जानी॥
भये दिवस चालीस आठ बिनु पीये खाये।
उनञ्चासवें दिवस स्वाद-युत व्यञ्जन आये॥
जेमन बैठे कुटुम-सँग, विप्र वृषल चाण्डाल बनि।
याञ्चा हरि हर अज करि, नृपति अन्न-जल दयो सुनि॥

महाराज बृहत्क्षत्र के वंश का वर्णन

[७७७]

बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरम् ।
अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः ॥*
(श्री भा० ९ स्क० २१ अ० २० २१ श्लोक)

छप्पय

हरषे तीनों देव देन दुरलभ वर लागे ।
हरि-चरननि अनुराग त्यागि जग-सुख नहिं माँगे ॥
माया भई विलीन प्रेम प्रभु हिय महँ छायो ।
नृप-अनुयायी सबनि सहज ही पर पद पायो ॥
ज्येष्ठ-श्रेष्ठ सुत मन्यु के, बृहत्क्षत्र भूपति भये ।
रच्यो हस्तिनापुर जिननि, हस्ति अमर सुत ह्वै गये ॥

योगी अपनी योग शक्ति से एक से अनेक रूप रख सकता है, अनेक रूपों से अनेक कार्य कर सकता है। वह नवीन सृष्टि रच सकता है, जड को चेतन कर सकता है। तात्पर्य यह है कि उसके लिये कोई कार्य कठिन नहीं, कोई असम्भव नहीं, कोई विषय

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन ! महाराज मन्यु के सबसे बडे पुत्र बृहत्क्षत्र के पुत्र हस्ती हुए, जिन्होंने हस्तिनापुर नामक नगर बसाया। उन महाराज हस्ती के अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ ये तीन पुत्र हुए।"

अज्ञेय नहीं। वह तो सर्वसमर्थ है। उसकी चेष्टा लोकग्राह्य होती है। अतः इसमें आश्चर्य प्रकट न करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं दुष्यन्त-पुत्र भरत के वंश का वर्णन कर रहा था, जिनके नाम से यह वंश, भरतवंश के नाम से, विख्यात हुआ। मैं बता ही चुका हूँ, महाराज भरत के पुत्र वितथ हुए। वितथ के मन्यु हुए। मन्यु के बृहत्क्षत्र, जय, महावीर, नर और गर्ग—ये पाँच पुत्र थे। इनमें से नर के वंश का महाराज रन्तिदेव तक, मैंने वर्णन किया। अब शेष चारों के भी वंश को श्रवण करें। पहले मैं संक्षेप में शेष तीन छोटों का वंश बताकर अन्त में सबसे बड़े राजर्षि बृहत्क्षत्र के वंश का वर्णन करूँगा।

महाराज मन्यु के पाँचवें पुत्र गर्ग के सुत शिनि हुए। शिनि से गार्ग्य का जन्म हुआ। यद्यपि गार्ग्य क्षत्रिय पुत्र थे, किन्तु इनकी सन्तति फिर ब्राह्मण हो गयी। पीछे यह ब्रह्म कुल हो गया।

अब मन्यु के तीसरे पुत्र महावीर्य के वंश को सुनिये। महावीर्य का सुत दुरितक्षय हुआ। उससे त्र्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि—ये तीन पुत्र हुए। ये भी तीनों ब्राह्मण-गति को प्राप्त हुए, अर्थात् इनका वंश भी कर्मणा ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो गया। द्वितीय पुत्र जय का वंश सम्भवतया चला नहीं।

महाराज मन्यु के सबसे बड़े पुत्र बृहत्क्षत्र के पुत्र हस्ती हुए, जिन्होंने हस्तिनापुर को बसाया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हस्तिनापुर तो पहले से ही था। हस्ती ने उसे क्या बसाया?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! पहले से क्या नहीं है? संसार में नयी वस्तु है ही क्या? केवल नाम रूप कुछ कभी-कभी परिवर्तित हो जाया करते हैं, भूमि तो सदा से है। मधु-कैटभ के मेदे से बनने से इसका नाम मेदिनी हो गया। यह कश्यपजी के उरु

में रहने से उर्वी, महाराज पृथु के द्वारा दोहन करने से पृथ्वी और वसु (धन) रहने से 'वसुमती' के नाम से विख्यात हो गयी। इसी प्रकार नगर तथा सड़कों की बात है। आज किसी नगर का नाम कुछ है, कल कोई दूसरा प्रभावशाली हो गया, तो उसी के नाम से वह प्रसिद्ध हो गया। आज किसी शासक का शासन है, उसके अधिकारियों या उसके नाम से कोई सड़क है, कल दूसरा अधिकारी आया, वह उसके नाम से हो गयी। यह संसार-चक्र ऐसे ही चलता है। वह नगर तो पहले ही से था, हस्ती के नाम फिर हस्तिनापुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हाँ, तो हस्ती के तीन पुत्र हुए—अजमीढ़, द्विमीढ़ और पुरुमीढ़। अजमीढ़ के वंशज प्रियमेधादि ब्राह्मणगण हुए। महाराज अजमीढ के द्वितीय पुत्र बृहदिषु हुए। बृहदिषु के पुत्र बृहद्धनु हुए। बृहद्धनु के पुत्र का नाम बृहद्काय हुआ। उनसे जयद्रथ, जयद्रथ के पुत्र विशद, विशद के सेनजित नामक यशस्वी पुत्र हुए। सेनजित के रुचिराश्व, दृढ़हनु, काश्य और वत्स—ये चार पुत्र हुए।

रुचिराश्व के पुत्र पाट हुए। पाट के दो पुत्र थे—एक का नाम पृथुसेन और दूसरे का नाम नीप था। नीप के सौ पुत्र हुए। नीप ने ही श्री शुकदेवजी की कन्या कृत्वी में ब्रह्मदत्त को उत्पन्न किया, जो सुप्रसिद्ध योगीश्वर थे।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! व्यास-पुत्र भगवान् शुकदेव तो जन्म से ही परमहंस थे। उन्होंने विवाह की कौन कहे, अपना यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं कराया था, फिर उनके पुत्री कैसे हुई?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! योगियों के लिये कुछ भी न असम्भव है, न आश्चर्य है। सभी

योगियों की ही तो संतान हैं, वे जगत् पिता हैं। यह सत्य है, मेरे गुरुदेव ने विवाह नहीं किया, किन्तु मेरे गुरु ने अपने ही समान एक छाया-शुक का निर्माण किया। उन्होंने ही विवाह किया। पुराणों में जो शुकदेवजी के वंश का वर्णन आता है, वह इन्हीं छाया शुक का है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! छाया शुक की रचना शुकदेवजी ने कब की?"

सूतजी बोले—"महाराज! जब शुकदेव विरक्त होकर माता पिता का परित्याग करके वन जाने लगे, तब इनके पीछे पुत्र वियोग से दुःखी भगवान् व्यास "हा पुत्र! हा पुत्र!" कहकर उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। श्रीशुक ने सभी प्राणियों में व्याप्त होकर 'भो' ऐसा शब्द कहा। फिर भी व्यासजी विरहाकुल ही बने रहे। तब सर्वसमर्थ महायोगीश्वर मेरे गुरुदेव ने अपने ही समान एक छाया शुक की रचना करके उसे वहीं छोड़ दिया और आप आगे चले गये। व्यास तो पुत्र-शोक में विमूर्च्छित से बने ही हुए थे। छाया शुक को पाकर उन्हें परम प्रसन्नता हुई, वे उसे लेकर घर आये और उसका विधिवत् विवाह किया। उसी से कृत्वी नाम्नी कन्या उत्पन्न की, जो नीप की पत्नी हुई, जिसने योगीश्वर ब्रह्मदत्त को उत्पन्न किया। ये ब्रह्मदत्त आत्म विद्या विशारद थे। इनकी स्त्री का नाम सरस्वती था। उसके गर्भ से इन्होंने विष्वक्सेन नाम का पुत्र उत्पन्न किया। ये भी महा योगीश्वर थे। इन्होंने महर्षि जैगीषव्य के उपदेश से योगशास्त्र की रचना की। योगाचार्यों में विष्वक्सेन की भी गणना है।

विष्वक्सेन के पुत्र उदक्स्वन हुए और उनसे भल्लाद नामक पुत्र उत्पन्न हुए। ये सब मैंने हस्ती के पुत्र अजमीढ के वंश का संक्षेप में वर्णन किया।

हस्ती के दूसरे पुत्र द्विमीढ के पुत्र यवनीर हुए। यवनीर के कृतिमान, उनके सत्यधृति, सत्यधृति के दृढनेमि, उनके सुपार्श्व पुत्र हुए। सुपार्श्व के सुमति, सुमति के सन्नतिमान्, उनके कृती। कृती ने हिरण्यनाभ से योग विद्या प्राप्त की। इससे इन्होंने प्राच्य सामऋचाओं की छः संहिताएँ कही थीं। इनके पुत्र नीप हुए। नीप के उग्रायुध, उनसे क्षेम्य, क्षेम्य से सुवीर, उनके रिपुञ्जय, रिपुञ्जय के पुत्र बहुरथ हुए। यह अत्यन्त संक्षेप में द्विमीढ के वंश का वर्णन हुआ। इस प्रकार हस्ति के अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ—इन तीन पुत्रों में से दो के वंश तो हो गये। तीसरे पुरुमीढ के कोई सन्तान ही नहीं हुई। इसलिये उनका वंश चला ही नहीं।

सबसे बड़े अजमीढ के कई रानियाँ थीं। एक रानी के वंशज ब्राह्मण हो गये। दूसरे के वंश का पीछे वर्णन कर ही चुके हैं। तीसरी एक नलिनी नाम की रानी थी, जिससे नील का जन्म हुआ। नील के पुत्र शान्ति, शान्ति के सुशान्ति, उनसे पुरुज, पुरुज के अर्क, अर्क से भर्म्याश्व और भर्म्याश्व से मुद्गल आदि पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। उन पाँचों पुत्रों के नाम मुद्गल, यवनार, बृहदिषु, काम्पिल्य और सञ्जय थे।

भर्म्याश्व के ये पाँचों पुत्र पाँच देशों के सम्मिलित राजा हुए। पिता ने कहा—मेरे पाँचों पुत्र पाँचों देशों का शासन करने में अलम् हैं, इसीलिये उन पाँचों देशों का नाम पाञ्चाल देश हुआ। चतुर्थ पुत्र काम्पिल्य ने अपने नाम से काम्पिल्य नगरी गङ्गातट पर बसाई। एटा जिले में गङ्गा किनारे अभी तक काम्पिल्य नाम से नगर है। वही पूर्व काल में पाचाल देश की राजधानी थी। अलीगढ के पास जो कोल है, वहाँ दक्षिण पाचाल देश की राजधानी थी। राजा के सबसे बड़े पुत्र मुद्गल से मौद्गल्य नाम के

ब्राह्मण-गौत्र की प्रवृत्ति हुई। मोद्गल्यगोत्रीय ब्राह्मण शिखा नहीं रखाते, इस सम्बन्ध में एक इतिहास है।

भर्म्याश्व पुत्र मुद्गल से दिवोदास नामक पुत्र और अहिल्या नाम की कन्या उत्पन्न हुई। उनमें से अहिल्या का विवाह गौतम ऋषि के साथ हुआ, जिनसे शतानन्दजी का जन्म हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! पीछे तो आप कह आये हैं कि ब्रह्माजी ने सभी वस्तुओं से सौन्दर्य लेकर एक स्त्री का निर्माण किया, जिसमें हल्य न होने से उसका नाम अहल्या रखा पीछे गौतमजी की परीक्षा लेने को ब्रह्माजी ने धरोहर के रूप में उसे उनके पास रखा था। पीछे उनके सत्य, संयम और सदाचार से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी ने उसका विवाह मुनि के साथ कर दिया। अब उसे मुद्गल की पुत्री बता रहे हैं। यह क्या बात है?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! यह सृष्टि तो अनादि है। किसी कल्प में अहिल्याजी ब्रह्माजी ने भी बनाई होगी, किसी कल्प में वे मुद्गल की भी पुत्री बनकर प्रकट हुई होंगी। इस सम्बन्ध में शंका न करनी चाहिये।

हाँ, तो शतानन्दजी के पुत्र सत्यधृति हुए। ब्राह्मण होने पर भी वे धनुर्विद्या में पारंगत थे। उनके पुत्र शरद्वान हुए, जिनके पुत्र कृप और कृपी थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कृप और कृपी की उत्पत्ति कैसे हुई, कृपा करके इस प्रसंग को हमें सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं आपको कृपाचार्य और कृपी के सम्बन्ध की कथा सुनाता हूँ, आप सावधान होकर उसे श्रवण करें।"

छप्पय

हस्ती-सुत अजमीढ़ नील-सुत शान्ति भयो तिनि।
उनके पुत्र सुशान्ति पुरुज सुत अर्क लहे जिनि॥
अर्क-पौत्र भर्म्याश्व पुत्र मुद्गल द्विज तिनि की।
भई अहिल्या सुता नारि मुनिवर गौतम की॥
शतानन्द तिनि तें भये, पुत्र सत्यधृति तासु के।
शरद्वान् सुत धनुर्विद, कृपाचार्य सुत जासु के॥

कृप-कृपी की कथा

[७७८]

शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात् किल ।
शरस्तम्बेऽपतद् रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम् ॥
तद् दृष्ट्वा कृपयागृह्णाच्छन्तनुर्मृगयां चरन् ।
कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत् कृपी ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २१ अ० ३५ ३६ श्लो०)

छप्पय

लखी उर्वशी शरद्वान् चित्त चञ्चलता अति ।
भई कामवश वृत्ति, तुरत सतधृति सुत की मति ॥
तन तो रोक्यो किन्तु रुक्यो नहिं रेत गिर्यो जहँ ।
कुशा झाड के मध्य भये सुत-सुता प्रकट तहँ ॥
लाये शन्तनु कृपावश, दोउनि को पालन कर्यो ।
जानि विप्र सन्तान शुभ, नाम कृपी कृप नृप धर्यो ॥

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! गौतम पुत्र शतानन्द के पौत्र शरद्वान् हुए। एक बार उर्वशी के दर्शन से उनका वीर्य कुशा के गुच्छे पर पड़ा। उससे अति शुभ लक्षण युक्त जुड़ले लड़की लड़के हुए। मृगया के निमित्त गये हुए राजा शान्तनु ने उन्हें देखा। वे कृपा के वशीभूत होकर उन्हें उठा लाये। लड़के का नाम कृपाचार्य हुआ और लड़की द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी हुई।"

कृपा करना श्रेष्ठ पुरुषों का कार्य है। जो दूसरों पर कृपा नहीं करते, अपने ही शरीर को सदा पालते-पोसते रहते है, वे अधम पुरुष मरकर दूसरे लोको में अपने शरीर को खाते हैं। ससार का ऐसा ही नियम है—जो जैसा करेगा वैसा भरेगा। जो प्राणियों पर कृपा करते हैं, दूसरो को दुःखी देखकर उनके दुःखो को दूर करने की चेष्टा करते है, यथाशक्ति उनकी सेवा सुश्रूषा करते हैं, वे ससार मे पुत्र-पौत्र तथा ऐश्वर्यशाली होकर अन्त मे धर्मोपार्जित पुण्यलोकों में जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने कृप और कृपी की उत्पत्ति की कथा मुझसे पूछी है। उसे मैं आपसे कहता हूँ। गौतम-गोत्रीय महामुनि शरद्वान् अपने पिता सत्यधृति के ही समान धनुर्विद्या मे पारङ्गत थे। उन्हें उतना प्रेम वेद-वेदाङ्गों में नहीं था, जितना कि धनुर्विद्या मे। वे शरकन्डे के शर बनाकर निरन्तर बाण-विद्या का अभ्यास करते रहते थे। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। अरण्य में रहकर वे लक्ष्य भेद का अभ्यास किया करते। अन्य विद्यार्थी, जैसे ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके वेदाध्ययन करते थे, वैसे ही ये समस्त इन्द्रियों का संयम करके अस्त्र-शस्त्र विद्या सीखा करते थे। कुछ दिनों में वे धनुर्वेद मे पारङ्गत हो गये। देवताओं ने उनके तप में अन्तराय उपस्थित किया। जो लोग शुभ कार्य करते हैं, देवताओं की ओर से उनके धैर्य की परीक्षा के निमित्त प्रायः बहुत से विघ्न हुआ करते हैं। जो उन विघ्नों की ओर ध्यान न देकर निरन्तर अपने कर्तव्य मे लगे रहते हैं, अन्त मे उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है।

देवेन्द्र ने महामुनि शरद्वान् के व्रत को भङ्ग करने के निमित्त उर्वशी नामक अप्सरा को भेजा। मुनि घोर वन में एकाग्र चित्त से बाण विद्या का अभ्यास कर रहे थे। वहीं समीप, आकर उर्वशी

काम-चेष्टायें करने लगी। वह अपने हाव-भाव तथा कटाक्षों द्वारा मुनि को मोहने का प्रयत्न करने लगी। कभी तो वह कन्दुक क्रीड़ा करते-करते मुनि के समीप आ जाती, कभी सुन्दर सङ्गीत गाकर मुनि के चित्त को आकर्षित करती, कभी अपने गुह्य अङ्गों को असावधानी के कारण विवस्त्र कर देती। युवक मुनि का ध्यान इस सुर ललना की ओर स्वतः ही आकर्षित हुआ। वे उसके रूप, यौवन, सौन्दर्य तथा माधुर्य को देखकर मन ही मन मुग्ध हो गये। उनका चित्त चञ्चल हो गया। कर काँपने लगे। हाथ से धनुष बाण छूट गये। वे अपने आप को भूल गये। उनका मन उस स्वर्गीया वार-वनिता के रूप जाल मे फँस गया। फिर भी उन्होंने धैर्य धारण किया। शरीर को वहीं अडिग बनाये रहे। वे अपने स्थान से विचलित नहीं हुए। शरीर को रोकने मे में तो मुनि समर्थ हुए, किन्तु शुक्र को न रोक सके। उनका रेत स्खलित हो गया। मुनि समझ गये, मेरा अमोघ वीर्य स्थान से च्युत हो गया है। अतः वे वहीं अपना मृगचर्म, दण्ड आदि छोड़ कर तुरन्त दूसरे स्थान में चले गये। उनका रेत एक कुश के फैले हुए झाड़ पर गिर गया। संयोगवश उसके दो भाग हो गये। मुनि का अमोघ वीर्य व्यर्थ तो कभी जा नहीं सकता, जहाँ भी पड़ेगा, वहीं फलवान् होगा। अतः तुरन्त वहाँ दो बच्चे हो गये। उनमे एक बालक था, दूसरी बालिका।

उन दिनों हस्तिनापुर में भीष्म पितामह के पिता महाराज शान्तनु राज्य करते थे। वे संयोगवश उसी वन मे मृगया के निमित्त आये थे। उनके किसी सेवक ने उन सुन्दर शुभ लक्षण वाले बालकों को रोते देखा। दण्ड कमण्डलु, मृगचर्म, कुश का ब्रह्मदण्ड, आदि देखकर सेवक समझ गया कि ये किसी ब्राह्मण की सन्ताने हैं। उसने दोनों को उठाकर महाराज को दे दिया।

महाराज ऐसे सुकुमार उन कुमारों को पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपने सगे पुत्रों की भाँति उनका पालन-पोषण किया, उनके ब्राह्मणोचित समस्त संस्कार कराये। राजा ने कृपा वश उनका पालन-पोषण किया, अतः कुमार का नाम कृप रखा और कुमारी का नाम कृपी। शनैः-शनैः वे राजा के महलों में सुखपूर्वक बढ़ने लगे।

इधर शरद्वान् के चले जाने के अनन्तर वह अप्सरा कृत-कार्य होकर स्वर्ग चली गई। मुनि ने गङ्गा-स्नान किया, वेद माता गायत्री का जप किया, जल में डूबकर अघमर्षण मन्त्र का उच्चारण किया। वे पुनः अपने आश्रम में आकर धनुर्वेद का अभ्यास करने लगे। तप प्रभाव से उन्होंने कृप और कृपी के जन्म की बात जान ली। वे राजा शान्तनु के समीप आये, अपना पूरा परिचय दिया और पुत्र तथा पुत्री को प्यार किया। यह नहीं, उन्हें धनुर्वेद की जितनी विद्या आती थी, वही सब अपने पुत्र कृप को सिखा दी। जब मुनि कृप धनुर्विद्या में पारङ्गत हो गये, तब वे आगे चलकर कौरव-पांडवों के धनुर्वेद-शिक्षा के आचार्य नियुक्त हुए। इसीलिये वे कृपाचार्य के नाम से विख्यात हुए।

कृपी विवाह योग्य हो गई थी। महाराज शान्तनु को उसके विवाह की चिन्ता थी। वे चाहते थे, कृपी के अनुरूप ही कोई तेजस्वी, यशस्वी मुनि-पुत्र मिले, तो उसके साथ मैं इसका विवाह कर दूँ। उन्हीं दिनों भरद्वाज मुनि गङ्गा-द्वार के समीप घोर तपस्या करते थे। देवयोग से घृताची अप्सरा के कारण उनका भी वीर्य स्खलित हुआ। उसे उन्होंने यज्ञ के एक द्रोण नामक पात्र में रख दिया। उससे द्रोण नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। महामुनि भरद्वाज अपने पुत्र को अन्य ब्रह्मचारियों के साथ वेद-वेदाङ्ग पढ़ाते थे।

मुनि के आश्रम मे उत्तर पाञ्चाल देश के भूपति महाराज पृषद् के पुत्र द्रुपद भी पढते थे। विद्या पढ़ते समय राजपुत्रो तथा मुनि पुत्रो मे कोइ भेद-भव तो होता ही नहीं था। द्रोण और द्रुपद साथ ही पढ़ते, साथ खेलते-कूदते। दोनों मित्र होकर, एक दूसरे से बडा स्नेह करने लगे। द्रोण धनुर्विद्या मे अद्वितीय थे। उन्होंने अपने पिता के शिष्य अग्निवेश से आग्नेयास्त्र सीखा था, परशुराम जी से धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। कालान्तर मे महाराज पृषद् परलोक वासी हुए। द्रुपद पांचाल देश के राजसिंहासन पर विराजे। इधर भरद्वाज मुनि के अनन्तर महामुनि द्रोण अपने पिता के आश्रम मे रहकर धर्माचरण करने लगे। उनकी इच्छा गृहस्थ बनने की हुई। वे महाराज शन्तनु के समीप कृपी की याचना करने गये। राजा ने योग्य वर समझकर सहर्ष कृपी का विवाह द्रोणाचार्य के साथ कर दिया। कृपी जैसी पति परायणा पत्नी पाकर द्रोणाचार्य परम प्रमुदित हुए, वे उसके साथ अग्नि होत्र आदि समस्त धर्माचरण करने लगे। कुछ काल मे उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही उसने अश्व जैसा थाम (शब्द) किया, अतः उसका नाम अश्वत्थामा हुआ। मुनि के पास तप रूप ही धन था। अन्य ऋषियों के पास गाएँ भी थीं। उनके बच्चे गो का दूध पीते थे। अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य के पास गाएँ नहीं थीं। मुनि पुत्रों की देखा देखी अश्वत्थामा भी दुग्ध मागते, तब कृपी आटे को जल में घोल कर दुग्ध बताकर उसे दे देती। पीछे अश्वत्थामा को विदित हुआ कि यह यथार्थ दूध नहीं है। द्रोणाचार्य को भी दुःख हुआ। उन्हे स्मरण आया कि उनका मित्र द्रुपद अब राजा बन गया है, अतः वह उनकी सहायता अवश्य करेगा। ऐसा सोचकर वे द्रुपद की राजधानी मे गये। द्रुपद से मिलकर उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते

हुए कहा—"राजन्! आपने मुझे पहचान लिया न? मैं भरद्वाज-नन्दन आपका सुहृद् सखा और मित्र द्रोण हूँ। आपने कहा था, मैं राजा हो जाऊँगा तो तुम मेरे ऐश्वर्य का मेरे साथ उपभोग करना।"

इतना सुनते ही ऐश्वर्य के मद मे मदान्ध हुए पांचाल देशाधिपति महाराज द्रुपद बोले—"ब्रह्मदेव तुम बड़े भोले हो। एक ऐश्वर्यशाली राजा की और एक दरिद्र ब्राह्मण की क्या मैत्री! अरे, जब हम तुम एक दशा में रहते थे, तब परस्पर स्नेह था। मैत्री तो समान गुण वालों मे होती है। अब मैं राजा हो गया, तुम वही दरिद्र ब्राह्मण हो, उन बातो को भूल जाओ। तुम ऐश्वर्य भोग की इच्छा छोड दो। यदि आवश्यकता हो, तो एक दिन का आटा तुम्हें दिला दिया जा सकता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज द्रुपद के ऐसे तिरस्कार पूर्ण वचन सुनकर द्रोणाचार्य परम क्रुद्ध हुए, किन्तु उन्होंने कुछ कहा नहीं। जैसे चोट खाया सर्प क्रुद्ध होकर चला जाता है, वैसे ही वे मन ही मन द्रुपद से बदला लेने का निश्चय करके वहाँ से हस्तिनापुर चले गये। वहाँ जाकर वे अपने साले कृपाचार्य के घर मे रहे। भीष्म पितामह कौरव-पाडवो को अस्त्र-शस्त्रों की अधिक शिक्षा देने के लिये किसी आचार्य की खोज में थे। जब उन्हे द्रोणाचार्य के आगमन का समाचार मिला, तब वे अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होने द्रोणाचार्य को उनका आचार्य नियुक्त कर दिया। तब से अन्त तक द्रोणाचार्य अपनी पत्नी कृपी और पुत्र अश्वत्थामा के साथ ही हस्तिनापुर में रहे। गुरु दक्षिणा मे उन्हो ने अपने शिष्यो से द्रुपद को बँधवाकर मँगाया और उसका आधा राज्य उससे लेकर छोड दिया। कृपाचार्य तो कौरवो के कुलगुरु थे ही। वे महाभारत के युद्ध से भी बच गये और धर्मराज

युधिष्ठिर के समीप अन्त तक रहे। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में कृप और कृपी की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! आपने मन्यु-पुत्र बृहत्क्षत्र के वंश का वर्णन तो किया। अब हम पांचाल देश के राजाओं के वंश को सुनने को उत्सुक हैं। कृपा करके उनकी कथा सुनाइये।"

सूतजी कहते हैं—"अच्छी बात है महाराज, अब मैं उनके ही वंश का वर्णन करता हूँ।"

छप्पय

कुरु-कुल के कृप भये सुतनि के शिक्षक घर महँ।
युवती निरखी कृपी भई चिन्ता नृप उर महँ॥
भरद्वाज सुत आइ ब्याह की इच्छा कीन्हीं।
है प्रसन्न नृप कृपी द्रोण कूँ विधिवत् दीन्हीं॥
द्रोण वीर्य तैं कृपी महँ, अश्वत्थामा सुत भये।
जगमहँ द्रोणाचार्य द्विज, वीर अग्रणी है गये॥

पाञ्चालवंशीय राजाओं का वंश

[७७९]

तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान्पृषतः सुतः ।
द्रुपदो द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः ॥ *

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० २ श्लोक)

छप्पय

दिवोदास सुत भये भूप मित्रेयु च्यवन तिनि ।
च्यवन कुमार सुदास भये सोमक आदिक उनि ॥
सोमक के शत तनय पृषद् सुत छोटे सब तैं ।
पृषद-पुत्र नृप द्रुपद द्रौपदी तनया तिन तैं ॥
धृष्टद्युम्न आदिक तनय, भये द्रुपद के जग-विदित ।
शत्रुसेन घन दूरि कर, रवि सम रणमहँ है उदित ॥

प्रतिशोध की भावना प्राणियों में स्वाभाविक है। एक चींटी को आप उँगली से दबावें, तो वह भी तुरन्त काट लेगी। वह भी बदला लेने को तत्पर हो जायगी। इसीलिये तो नीतिकारों ने कहा है—"मारने आने वाले को मार देने में कोई दोष नहीं

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सोमक के सौ सुत हुए। उनमें पृषद् सबसे छोटे थे। पृषद् के पुत्र द्रुपद हुए। उनके द्रौपदी नाम की सुता और धृष्टद्युम्न आदि पुत्र हुए।"

है।" जितने बड़े-बड़े पुरुष हुए हैं, भगवान् के अवतार हुए हैं, सभी ने अपकारी से बदला लिया है। जो अपकार करने वाले से बदला नहीं लेते, उसे हृदय से क्षमा कर देते हैं, वे ही संत हैं, वे ही वन्दनीय हैं। नहीं तो सभी को अपने प्रति अपकार करने वाले पर क्रोध आता है, शक्तिभर उसके अनिष्ट के लिये प्रयत्न करते रहते है। यदि स्वयं बदला न ले सके, तो पुत्रों से कह जाते हैं—"इनसे उपकार का अथवा अपकार का बदला अवश्य लेना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पाञ्चाल देश के नृपतियों के वंश का प्रश्न किया था। उसी का मैं वर्णन करता हूँ। मैं पहले बता चुका हूँ कि महाराज भर्म्याश्व के पाँच पुत्र हुए, जो पाञ्चाल कहलाये। इसी से देश का नाम पाञ्चाल पड़ा। उन पाँचों में मुद्गल सबसे बड़े थे। उनके दिवोदास नामक पुत्र और अहिल्या नामक पुत्री हुई। अहिल्या के वंश की कथा तो मैं कह चुका, अब आप दिवोदास के वंश का विस्तार श्रवण करें।"

महाराज दिवोदास के पुत्र मित्रेयु हुए। मित्रेयु के चार पुत्र हुए, जिनके नाम च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक हैं। इनमें से सोमक के सौ सुत हुए, जिनमें जन्तु सबसे बड़े थे और पृषद् सबसे छोटे। पृषद् के पुत्र महाराज द्रुपद हुए, जिनके अग्निकुण्ड से द्रौपदी की उत्पत्ति हुई और अग्निवेदी से बड़े पुत्र धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति हुई।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! द्रौपदी की उत्पत्ति यज्ञकुण्ड से कैसे हुई और धृष्टद्युम्न कैसे यज्ञवेदी से पैदा हुए। कृपा करके इस वृत्तान्त को आप हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, भगवन्! सुनिये मैं इस पुण्यप्रद परम पावन चरित को सुनाता हूँ। कृप और कृपी की कथा के प्रसंग में मैं द्रोणाचार्य के जन्म की कथा तो सुना

ही चुका हूँ। वे अपने सहपाठी, बाल्यकाल के मित्र द्रुपद के यहाँ धन की याचना करने गये थे। उस समय द्रुपद ने उनका अपमान किया और तिरस्कार करते हुए कहा—"राजा का मित्र राजा ही हो सकता है।"

यह बात धनुर्धर द्रोण के हृदय मे चुभ गई। उन्होने मन ही मन उनसे बदला लेने का निश्चय किया। वे हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र और पाडु के पुत्रो के धनुर्वेद के शिक्षक आचार्य हो गये। जब वे सब कुमार धनुर्विद्या सीख गये, द्रोणाचार्य ने गुरु-दक्षिणा का प्रसग आते ही कहा—"तुम सब जाकर राजा द्रुपद को उसके मत्रियों सहित बाँधकर मेरे पास ले आओ—यही तुम्हारी गुरु-दक्षिणा पर्याप्त है।"

इतना सुनते ही सभी कुमार तुरन्त गये और राजा द्रुपद की सेना को परास्त करके बात की बात में द्रुपद को बाँधकर द्रोणाचार्य के समीप ले आये। अपने सम्मुख बँधे हुए द्रुपद को देखकर अपनी भूरी-भूरी दाढी पर हाथ फेरते हुए वृद्ध मद मद मुस्कराते हुए आचार्य द्रोण बोले—"राजन्! बाल्य काल मे हमारी आपकी मैत्री थी, जब मैं आपके घर उसका स्मरण दिलाने गया, तब आपने कहा था—"बाल्यकाल की बातो को भूल जाओ।" उस समय हम दोनों एक सी दशा मे थे। अब मैं राजा हो गया, तुम भिक्षुक अतः अब मेरी तुम्हारी मैत्री कैसे हो सकती है, राजा का मित्र राजा ही हो सकता है।"

महाराज! मुझे तो आप से फिर मित्रता करनी थी। अब बिना राजा हुए मित्रता कैसे हो, इसीलिये मैंने आपको पकड़वा मँगाया है। आपका विस्तृत राज्य गगा के दक्षिण और दोनों ही तटो पर है। अब से आप तो गगा के

राज्य करे, मैं उत्तर तट पर राज्य करूँगा। तब हम में आप में पुनः मैत्री हो जायगी। क्यों, ठीक है न ?"

द्रुपद अत्यन्त लज्जित हुए। वे परास्त हो चुके थे, द्रोण के बन्दी थे, अधीन थे। अतः उन्होंने लजाते हुए अत्यन्त ही विनय के साथ कहा—"ब्रह्मन् ! आपकी बुद्धि विशाल है, आपकी विद्या फलवती है। आपके गुण अपार हैं। मैं आप के द्वारा परास्त हुआ। अब से आप जैसी भी आज्ञा देंगे, वैसा ही मैं किया करूँगा।"

द्रुपद की ऐसी विनयभरी बात सुनकर द्रोणाचार्य ने पुनः पूर्ववत् मैत्री स्थापना करके द्रुपद को छोड़ दिया। द्रुपद द्रोणाचार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपने नगर चले गये, किन्तु द्रोणाचार्य के द्वारा अपमानित होने से उन्हें अत्यन्त ही आत्म-ग्लानि हुई। जैसे प्रेम से प्रेम बढ़ता है, उसी प्रकार द्वेष से द्वेष बढ़ता है। द्रुपद मन ही मन द्रोणाचार्य से इस अपमान का बदला लेने की बात सोचने लगे। उन्होंने सोचा—"मैं द्रोण को अस्त्र-शस्त्रों से नहीं परास्त कर सकता। एक तो द्रोण स्वयं ही धनुर्विद्या विशारद हैं, दूसरे परशुरामजी से उन्होंने दिव्यास्त्रों की शिक्षा पाई है। फिर कौरव-पांडव उनके शिष्य हैं। अतः युद्ध में तो देवेन्द्र भी उनका सामना नहीं कर सकते। किसी प्रकार तन्त्र-मन्त्रों से मैं अपना बदला ले सकता हूँ, किन्तु ऐसा अभिचार-यज्ञ कराने वाले आचार्य मुझे कहाँ मिलेंगे ?" यह सोचकर राजा अत्यन्त ही चिन्तित हुए। वे राज्य का समस्त भार मन्त्रियों पर छोड़कर स्वयं वन-वन विद्वेष की अग्नि में जलते हुए द्रोण से बदला लेने के लिये मुनियों के आश्रमों में भटकने लगे।

एक बार वे ऋषि-आश्रमों में घूमते हुए एक सुन्दर आश्रम में पहुँचे। उन्होंने वहाँ तेजस्वी दो मुनियों को देखा। उनके तप और

तेज को देखकर राजा द्रुपद समझ गये, इनसे मेरे कार्य की सिद्धि हो सकती है। अतः वे अत्यन्त मनोयोग से उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। उन दोनों मुनिभाइयों के नाम याज और उपयाज थे। उपयाज यद्यपि छोटे थे, किन्तु अपने बड़े भाई से अत्यधिक तेजस्वी थे।

एक दिन एकान्त में उन्होंने उपयाज की विधिवत् पूजा करके कहा—"ब्रह्मन्! मेरी द्रोणाचार्य से अनबन हो गई है। उनके द्वारा मेरा अत्यन्त अपमान किया गया है। मैं उस अपमान की अग्नि से अहर्निश जलता रहता हूँ। ब्रह्मन्! मैं द्रोणाचार्य को युद्ध में नहीं जीत सकता। इसीलिये आपकी शरण में आया हूँ। आप मेरा यज्ञ करावें, जिससे कि मेरे द्रोणघाती पुत्र हो मेरा पुत्र द्रोण का वध कर सके।"

यह सुनकर उपयाज ने मधुर वचनों में कहा—"राजन्! आप मुझे ऐसा क्षुद्र समझते हैं क्या? मुझसे ऐसे जघन्य कार्य की आशा न रखें।"

द्रुपद ने कहा—ब्रह्मन्! मैं आपको दश करोड़ गौवें दूँगा। और भी आप माँगेंगे, वह दूँगा।"

इस पर उपयाज बोले—"राजन्! आप मुझे लोभ न दें। मैं लोभ के वशीभूत होकर कोई नीच कार्य नहीं कर सकता।"

यह सुनकर राजा को दुःख हुआ, किन्तु वे निराश नहीं हुए। उन्होंने फिर बड़ी सावधानी से उपयाज की सेवा की।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सेवा ऐसी वस्तु है कि इससे भगवान् भी वश में हो सकते हैं। जो किसी तरह भी वश में न आवे, वह सेवा से वश में आ सकता है। सती अपने सत्पति को सेवा से ही वश में कर लेती है। सत्सेवक स्वामी से सेवा द्वारा ही उचित-अनुचित कार्य करा सकता है। सेवा करने वाला सेवा

राज्य करें, मैं उत्तर तट पर राज्य करूँगा। तब हम में आप में पुनः मैत्री हो जायगी। क्यों, ठीक है न ?"

द्रुपद अत्यन्त लज्जित हुए। वे परास्त हो चुके थे, द्रोण के बन्दी थे, अधीन थे। अतः उन्होंने लजाते हुए अत्यन्त ही विनय के साथ कहा—"ब्रह्मन्! आपकी बुद्धि विशाल है, आपकी विद्या फलवती है। आपके गुण अपार हैं। मैं आप के द्वारा परास्त हुआ। अब मैं आप जैसी भी आज्ञा देंगे, वैसा ही मैं किया करूँगा।"

द्रुपद की ऐसी विनयभरी बात सुनकर द्रोणाचार्य ने पुनः पूर्ववत् मैत्री स्थापना करके द्रुपद को छोड़ दिया। द्रुपद द्रोणाचार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपने नगर चले गये, किन्तु द्रोणाचार्य के द्वारा अपमानित होने से उन्हें अत्यन्त ही आत्म-ग्लानि हुई। जैसे प्रेम से प्रेम बढ़ता है, उसी प्रकार द्वेष से द्वेष बढ़ता है। द्रुपद मन ही मन द्रोणाचार्य से इस अपमान का बदला लेने की बात सोचने लगे। उन्होंने सोचा—"मैं द्रोण को अस्त्र-शस्त्रों से नहीं परास्त कर सकता। एक तो द्रोण स्वयं ही धनुर्विद्या विशारद हैं, दूसरे परशुरामजी से उन्होंने दिव्यास्त्रों की शिक्षा पाई है। फिर कौरव पाण्डव उनके शिष्य हैं। अतः युद्ध में तो देवेन्द्र भी उनका सामना नहीं कर सकते। किसी प्रकार तन्त्र-मन्त्र से मैं अपना बदला ले सकता हूँ, किन्तु ऐसा अभिचार-यज्ञ कराने वाले आचार्य मुझे कहाँ मिलेंगे ?" यह सोचकर राजा अत्यन्त ही चिन्तित हुए। वे राज्य का समस्त भार मन्त्रियों पर छोड़कर स्वयं वन वन विद्वेष की अग्नि में जलते हुए द्रोण से बदला लेने के लिये मुनियों के आश्रमों में भटकने लगे।

एक बार वे ऋषि-आश्रमों में घूमते हुए एक सुन्दर आश्रम में पहुँचे। उन्होंने वहाँ तेजस्वी दो मुनियों को देखा। उनके तप और

तेज को देखकर राजा द्रुपद समझ गये, इनसे मेरे कार्य की सिद्धि हो सकती है। अतः वे अत्यन्त मनोयोग से उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। उन दोनों मुनिभाइयों के नाम याज और उपयाज थे। उपयाज यद्यपि छोटे थे, किन्तु अपने बड़े भाई से अत्यधिक तेजस्वी थे।

एक दिन एकान्त में उन्होंने उपयाज की विधिवत् पूजा करके कहा—"ब्रह्मन्! मेरी द्रोणाचार्य से अनबन हो गई है। उनके द्वारा मेरा अत्यन्त अपमान किया गया है। मैं उस अपमान की अग्नि से अहर्निश जलता रहता हूँ। ब्रह्मन्! मैं द्रोणाचार्य को युद्ध में नहीं जीत सकता। इसीलिये आपकी शरण में आया हूँ। आप मेरा यज्ञ करावें, जिससे कि मेरे द्रोणघाती पुत्र हो मेरा पुत्र द्रोण का वध कर सके।"

यह सुनकर उपयाज ने मधुर वचनों में कहा—"राजन्! आप मुझे ऐसा क्षुद्र समझते हैं क्या? मुझसे ऐसे जघन्य कार्य की आशा न रखें।"

द्रुपद ने कहा—ब्रह्मन्! मैं आपको दश करोड़ गौवें दूँगा। और भी आप माँगेंगे, वह दूँगा।"

इस पर उपयाज बोले—"राजन्! आप मुझे लोभ न दें। मैं लोभ के वशीभूत होकर कोई नीच कार्य नहीं कर सकता।"

यह सुनकर राजा को दुःख हुआ, किन्तु वे निराश नहीं हुए। उन्होंने फिर बड़ी सावधानी से उपयाज की सेवा की।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सेवा ऐसी वस्तु है कि इससे भगवान् भी वश में हो सकते हैं। जो किसी तरह भी वश में न आवे, वह सेवा से वश में आ सकता है। सती अपने सत्पति को सेवा से ही वश में कर लेती है। सत्सेवक स्वामी से सेवा द्वारा ही उचित-अनुचित कार्य करा सकता है। सेवा करने वाला सेवा

करते करते स्वामी बन जाता है। स्वामी उसके अधीन हो जाता है। हृदय से सर्वस्व समर्पित करके जो सेवा करते हैं फिर वह सेवा चाहे स्वार्थ से ही क्यों न की जाय, कभी भी व्यर्थ नहीं होती। द्रुपद की सेवा से पिघलकर एक दिन उपयाज बोले—"राजन्! आप इतने मनोयोग से मेरी सेवा क्यों करते हैं? आप मुझसे इस कार्य की आशा छोड दें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! अब मैं कहाँ जाऊँ मैंने तो आपके ही चरणों की शरण ली है, अब चाहे आप मुझे अपनावें या ठुकरा दें। स्वय न करें, तो मुझे कोई इसका उपाय बता दें।"

मुनि उपयाज बोले—"हाँ, महाराज! मैं आपको उपाय बताये देता हूँ। मेरे बडे भाई याज इस कार्य को करा सकेंगे। मेरा अनुमान है, वे इतनी भारी दक्षिणा के लोभ से उचित अनुचित का विचार न करेंगे। एक बार हम दोनों भाई कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक फल पडा हुआ मिला। मेरे भाई ने उसे तुरन्त उठा लिया और साथ लेकर चल दिये। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया, कि जहाँ यह फल पडा है, यह पावन प्रथ्वी है या अपावन, यह फल ग्राह्य है या अग्राह्य। जो इस प्रकार बिना पवित्रता-अपवित्रता का विचार किये जिस किसी वस्तु को ग्रहण कर सकता है, उसके लिये उचित अनुचित कुछ भी नहीं। बाल्यकाल में जब हम दोनों भाई पढते थे, तब मेरे भाई औरों की उच्छिष्ट वस्तुओं को बडे स्वाद से खा जाते थे। स्वादिष्ट वस्तु में वे उच्छिष्ट-अनुच्छिष्ट का विचार ही नहीं करते थे। इन सब बातों से मैं अनुमान करता हूँ, वे अवश्य ही तुम्हारा अभिचार-यज्ञ करा देंगे।"

याज की इन बातों को सुनकर महाराज द्रुपद को मन ही मन याज की ओर से घृणा हुई। किन्तु वे करते क्या? स्वार्थी पुरुष

दोषों की ओर नहीं देखता। वह तो जैसे हो, तेसे अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहता है। उपयाज की बात मानकर वे याज के समीप गये।

याज के समीप जाकर राजा ने आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त बताते हुए प्रार्थना की—"प्रभो! आप सर्वसमर्थ हैं। मुझसे ऐसा यज्ञ करावें, जिससे मेरे द्रोण को मारने वाला पुत्र हो। मैं आपको एक अबुर्द गौएँ दूँगा।"

मुनिवर याज ने राजा द्रुपद की प्रार्थना सहर्ष स्वीकार कर ली। द्रुपद को अत्यन्त ही हर्ष हुआ। याज मुनि ने जो-जो सामग्रियाँ बताई थीं, वे सब उन्होंने अल्पकाल में ही एकत्रित कर लीं। कार्य बडा था, अतः उन्होंने उपयाज से भी सहायता करने का आग्रह किया। उपयाज की इच्छा नहीं थी, फिर भी बडे भाई के गौरव तथा द्रुपद के आग्रह से याज के कार्यों में उन्होंने सहयोग दिया। बहुत विधि विधान पूर्वक यज्ञ के सभी कार्य हुए। यज्ञ के अन्त में मुनि ने द्रुपद की रानी को बुलाकर कहा—"देवि! तुम अविलम्ब यहाँ आओ और यज्ञ शिष्ट हवि को लेकर खाओ।

रानी ने कहा—"ब्रह्मन्! आज मैं देर तक सोती रही। अभी तो मैंने दँतौन-कुल्ला तक नहीं किया रात्रि के अगराग-चन्दन आदि मेरे अङ्ग में ज्यों-के-त्यों लगे हैं। अभी मैं शौच जाऊँगी। दँतौन-कुल्ला करके स्नान करूँगी, तब आपके समीप आने योग्य होऊँगी। तब तक आप मेरी प्रतीक्षा करें।"

महामुनि याज ने इसमें अपना अपमान समझा और बोले—"देखो, रानीजी! मैंने बडे परिश्रम से, अत्यन्त विधि विधान से इस हवि को तैयार किया है। यज्ञ-कार्यों में विलम्ब न होना चाहिए। तुम अविलम्ब आकर इस हवि को लेना चाहो, तो ले लो। न लेना चाहती हो, तो बाहर खडी-खडी तमाशा देखती रहो।"

यह कहकर मुनि ने अभिमन्त्रित हवि को सन्तान के संकल्प से तुरन्त अग्नि में होम दिया। उसके होमते ही अग्नि से एक बड़ा ही तेजस्वी पुत्र कवच धारण किए निकला। वह परम तेजस्वी था। वह अमर्ष से इठलाता हुआ निकला, निर्भय होकर चारों ओर देखने लगा। फिर एक अत्यन्त ही रूपवती कन्या उत्पन्न हुई। उसका वर्ण कृष्ण कमल के समान था, वह सौन्दर्य में अद्वितीया थी। ऋषियों ने पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न रखा और पुत्री का नाम कृष्णा रखा। द्रुपद की पुत्री होने से इसे द्रौपदी भी कहते हैं। धृष्टद्युम्न के उत्पन्न होने पर आकाशवाणी हुई—"यह पाञ्चालों के यश को बढ़ावेगा और द्रोण का वध करेगा।"

द्रुपद की रानी यज्ञवेदी से अत्यन्त सुन्दर सुकुमार पुत्र पुत्री को निकलते देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। वह हाथ जोड़कर ऋषियों से बोली—"विप्रगण! आप सब ऐसा आशीर्वाद दें कि ये दोनों बच्चे मुझे ही अपनी माता मानें। किसी दूसरी स्त्री में इनका मातृभाव न हो।"

ब्राह्मणों ने कहा—"ऐसा ही होगा।" तभी से वे दोनों बच्चे द्रुपद की बड़ी रानी को अपनी सगी माँ मानने लगे।

धृष्टद्युम्न बड़ा हुआ, तब द्रुपद उसे लेकर द्रोणाचार्य के समीप गये और विनीत भाव से बोले—"आचार्य-प्रवर! यह आपका बालक है, इसे आप धनुर्वेद की विधिवत् शिक्षा दें।"

द्रोणाचार्य तो सब जानते ही थे। उनसे यह बात अविदित नहीं थी कि यह मुझे मारने के निमित्त ही यज्ञवेदी से उत्पन्न हुआ है। फिर भी उन्होंने अपने आचार्य-पद के गौरव से उसे धनुर्वेद की शिक्षा दी। कृष्णा (द्रौपदी) बड़ी होने पर पाँचों पाण्डवों की पत्नी हुई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में

आपको बृहद्धुम्न और ऋषियों की उत्पत्ति की कथा सुनाई। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? बृहद्धुम्न का पुत्र बृहत्केतु हुआ। इसी प्रकार पाञ्चजन्य आगे चला।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमें अब आप ऋषियों के वंश का वर्णन सुनावें। वे कुल कौन थे?"

सूतजी बोले—"महाराज! ये कुल भरतवंश में ही उत्पन्न हुए थे। महाराज बृहत्क्षत्र के पुत्र थे हस्ती। उनके बड़े पुत्र अजमीढ़ थे। उनके कई रानियाँ थीं। उनके कुछ पुत्रों के वंश का वर्णन तो मैं पीछे कर ही चुका हूँ। उनके एक ऋक्ष नामक पुत्र था। ऋक्ष के संवरण नामक पुत्र हुआ। ये संवरण बड़े ही धर्मात्मा और यशस्वी थे। उनका विवाह सूर्य की कन्या तपती के साथ हुआ। कुरुकुल के संस्थापक महाराज कुरु इनके ही गर्भ से उत्पन्न हुए। महाराज संवरण ने सूर्य भगवान् की आराधना करके ही उनकी पुत्री तपती प्राप्त की। इसी से कौरव-पांडव तापत्य भी कहलाते थे।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप हमें परम धर्मात्मा महाराज संवरण की कथा विस्तार के साथ सुनावें। किस प्रकार उनका विवाह तपती के साथ हुआ।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं संवरण और तपती की कथा आपको सुनाता हूँ। आप सावधान होकर उसे श्रवण करें।"

छप्पय—हस्ती सुत अजमीढ़ नृपति के ऋक्ष अपर सुत।
तासु पुत्र संवरण तेज-तप परम कीर्तियुत॥
नृप बड़भागी परम सेन सँग मृगया-हित बन।
गये, प्रकृति-सौन्दर्य निरखि प्रमुदित नृप को मन॥
लख्यो विशाल वराह वन, एकाकी पीछो कियो।
दौरत ठोकर खाय के, गिर्यो तुरत हय मारे गयो॥

महाराज संवरण की कथा

[७८०]

घृष्टद्युम्नाद्धृष्टकेतुर्भार्म्याः पञ्चालका इमे ।
योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० २२ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

पौंड़ पियादे अश्वहीन नृप वन महँ डोलें ।
परम मनोहर प्रान्त मधुर सुर शुक-पिक बोलें ॥
शीतल मन्द-सुगन्ध पवन वहि सुख उपजावें ।
हरित दूब दल नीर निरखि नृप-नयन जुड़ावें ॥
निरखी निभृत निकुञ्ज महँ, नारी नयनानन्दिनी ।
करत प्रकाशित प्रान्तकूँ कनकलता-सम कामिनी ॥

विपत्ति आती है, तो हम अधीर हो जाते हैं, हानि होती है, तो हम दुःखी हो जाते हैं । पर, हम इस बात को भूल जाते हैं कि मंगलमय प्रभु कभी अपने पुत्रों का अमंगल नहीं करते । नित्य सुखरूप श्याम किसी को दुःख दे ही नहीं सकते । विपत्ति भी सम्पत्ति के निमित्त ही आती है । दुःख की प्राप्ति, सुख के लिये

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न के पुत्र धृष्टकेतु हुए । भर्म्याश्व के ये सभी वंशज पाञ्चाल कहलाये । अब तुम अजमीढ के दूसरे पुत्र ऋक्ष की वंशावली सुनो । ऋक्ष के पुत्र संवरण हुए ।"

ही है, हानि, लाभ के लिये ही होती है। हानि मे भी हमे इस बात का पूर्ण विश्वास रखना चाहिये कि भगवान् हमें इससे अधिक लाभ देने के निमित्त ही हमारी यह हानि कर रहे हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! आपने मुझसे पुण्यश्लोक महाराज सवरण की कथा पूछी थी। महाराज ऋक्ष के पुत्र सवरण बडे ही सुन्दर तथा प्रिय-दर्शन थे। प्रजा उनके दर्शनो से उसी प्रकार प्रमुदित होती, जिस प्रकार शरद के पूर्णचन्द्र को देखकर चकोर प्रमुदित होते हैं। वे धर्मात्मा, न्यायप्रिय, सत्यवादी तथा दीनवत्सल थे। रूप मे, उदारता मे तथा समस्त गुणों मे वे अद्वितीय थे। महाराज मृगया प्रिय थे। वे यदा कदा सैनिक तथा सेवको के साथ मृगया के निमित्त जाया करते थे।

एक दिन वे अपने सचिव, सैनिक-सामन्तों तथा सेवको के सहित एक रमणीय पर्वत प्रान्त मे मृगया के निमित्त गये। वहाँ उन्होंने अनेक हिसक मेध्य पशुओ को मारा और आनन्द पूर्वक साथियों सहित एक वन से दूसरे वन मे विचरण किया। कुछ दूर जाने पर महाराज को एक विशालकाय शूकर दिखाई पडा। राजा ने अपना घोडा उसके पीछे छोडा। शूकर बडा ही शीघ्रगामी था, वह वायु वेग से दौडने लगा। राजा ने सम्पूर्ण शक्ति लगाकर घोडे की वाग थामी। घोडे ने भी अपना पूर्ण बल लगा दिया। वह ऐसा लगता था, मानो आकश में उड रहा हो। आगे एक चट्टान दिखाई दी। घोडे को ठोकर लगी। ठोकर लगते ही महाराज दूर बालू में गिर गये और घोडा गिरते ही मर गया।

निर्जन बीहड वन मे राजा एकाकी रह गये। उनका जो एक साथी अश्व था, वह भी पञ्चत्व को प्राप्त हो गया। बालू पर गिरने के कारण राजा के शरीर मे चोट नहीं लगी। घोडे को वहीं छोडकर महाराज इधर उधर पर्वत से सुहावने प्रान्त में परिभ्रमण

करने लगे। वसन्त की ऋतु थी। वन-श्री सम्पूर्ण शृङ्गार करके अपने प्रियतम को रिझाने के निमित्त खड़ी थी। शीतल-मन्द सुगन्धित पवन हर-हर कर चल रहा था। झरने झर रहे थे। सरिता स्वच्छ-शीतल सलिल के साथ बही जा रही थी। वृक्षों पर बैठे विहङ्ग भूपति के स्वागत में मानो गीत गा रहे थे। प्रकृति के ऐसे सुहावने लुभावने सौन्दर्य को देखकर राजा अत्यन्त हर्षित हुए। वे उल्लास के साथ आगे बढ़ने लगे। आगे वे क्या देखते हैं कि पर्वत का एक सुन्दर-सुहावना शिखर है। उस पर पारिजात के छोटे-छोटे सघन वृक्ष लगे हैं। उन पर से स्वतः ही लाल डंठलियों वाले सफेद फूल गिर-गिर कर पृथ्वी पर बिछौना-सा बिछा रहे थे, मानों किसी ने हरे मखमली गलीचे के ऊपर बेल-बूटे काढ़ दिये हों। वृक्षों के झुरमुट में से राजा ने देखा—वहाँ सुवर्ण प्रतिमा के समान एक अत्यन्त ही सुन्दरी-सुकुमारी बाला बैठी है, उसके शरीर से एक दिव्य तेज निकल रहा है, वह सूर्य की प्रभा के समान अग्नि-ज्वाला के समान, घनीभूत, तेज के समान, चमक रही है, उसका मुख कमल के समान मृदु और स्निग्ध है, उसके काले-कुञ्चित केश, भ्रमरों की पंक्ति के समान कृष्ण मुख मण्डल पर बिथुर रहे हैं। वह मूर्तिमती सुन्दरता सी दिखाई देती है। उसके विशाल ललाट पर तिलक उसी प्रकार शोभित हो रहा है, मानों सुवर्ण के कमल पर चींटीधूटी बैठी हो। उसके कमल के समान बड़े-बड़े विकसित नेत्र सरस अनुराग से लबालब भरे हुए थे। कृष्णा नागिन के समान उसकी पीठ पर वेणी झूल रही थी। वह हँसती हुई प्रकृति-सौन्दर्य, को अत्यन्त ही अनुराग भरी दृष्टि से निहार रही थी। दृष्टि पड़ते ही महाराज संवरण अपने आपे को भूल गये। उसके निकट जाकर अत्यन्त ही मधुर स्वर में बोले—"देवि! तुम कौन हो? ऐसा सौन्दर्य तो मैंने कभी देवताओं, किन्नरों, गन्धर्वों तथा

विद्याधरो मे भी नहीं देखा, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या ?"

यह सुनकर वह सुन्दरी युवती ससकोच खडी हो गई। उसने एक शब्द भी मुख से नहीं निकाला।

फिर राजा ने अधीर होकर कहा—"हे वरवर्णिनि ! तुम लजाती क्यो हो ? मुझे अपना परिचय दो। मैं भरतवशीय महाराज ऋक्ष का पुत्र हूँ। सवरण मेरा नाम है। तुम्हारे दर्शन से ही मेरी सुधि-बुधि जाती रही। तुम मेरे ऊपर कृपा करो। आज तक अनेक युवतियाँ मैंने देखी हैं, किन्तु ऐसा सौन्दर्य, इतना माधुर्य, ऐसी अनुपम आभा, मुझे आज तक कहीं भी दिखाई नहीं दी।"

राजा के मुख से अपनी ऐसी प्रशसा सुनकर वह सुन्दर दाँतो वाली बाला हँस पडी और हँसते-हँसते ही वह आकाश की ओर अन्तर्धान हो गई। उस रूप की राशि ललना-ललाम को अपनी दृष्टि से ओझल होते देख, राजा मूर्छित होकर भूमि पर गिर गये। उन्हे अपने शरीर की सुधि-बुधि नहीं रही। वह शोक-सन्तप्त होकर लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगे।

कुछ काल के अनन्तर महाराज ने नेत्र खोले। वे क्या देखते हैं—"वही रति के समान सुन्दरी रमणी उनके सम्मुख खडी है और वीणा-विनिन्दित स्वर म सकोच के साथ शनैः शनैः कह रही है—"हे नरदेव ! आप इस सप्त द्वीपवती वसुमती के एक छत्र अधिपति हैं। आपका इस प्रकार मोह के वशवर्ती होना शोभा नहीं देता।"

उस युवती के ये शब्द राजा के कर्ण-कुहरों मे मानो सुधारस उडेल रहे हो। उसके मधुमय सगीतमय सरस शब्दो को सुनकर सवरण बोले—देवि ! मैं तुम्हारे सौन्दर्य-सुधा के सागर में डूबकर मूर्छित हो गया हूँ। हे भामिनि ! तुम मुझे जीवन-दान दे सकती

हो। यदि तुम मुझे अपना लो, मुझे अपना अनुचर बना लो, तो मैं जीवित रहता हूँ, अन्यथा मैं तो अपने जीवन की आशा छोड़ चुका हूँ।"

इस पर उस तेज-पुञ्ज रमणी ने कहा—"हे नरदेव! आप तो संसार के समस्त पुरुषों में सुन्दर हैं। आपका ऐश्वर्य अपार है। आप ऐसे व्याकुल क्यों हो रहे हैं?"

राजा ने कहा—"हे चन्द्रानने! तुम्हें निमित्त बनाकर यह अनङ्ग छिपकर मेरे ऊपर निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहा है। इससे मेरा सम्पूर्ण शरीर क्षत-विक्षत हो गया है। यदि तुम मेरी वशवर्तिनी बन जाओ, तो मैं अपने को विश्व विजयी अनुभव करने लगूँ। यदि तुम मेरे साथ गान्धर्व विवाह कर लो, तो मेरे शरीर में नवजीवन का संचार होने लगे।"

इस पर वह वाराङ्गना बोली—"हे पुरुषोत्तम! मैं अपने शरीर को किसी के अधीन करने में स्वाधीन नहीं हूँ। मैं अभी कुमारी हूँ। मेरे पिता मुझे जिसे देंगे, उसी के साथ मुझे जीवन बिताना पड़ेगा।"

राजा ने पूछा—"हे सुभ्रु! तुम किसकी पुत्री हो? तुम्हारे पिता कहाँ निवास करते हैं?"

कन्या ने कहा—प्रभो! मैं सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मों के साक्षी चराचर के स्वामी, तेजोराशि भगवान् सूर्यनारायण की पुत्री हूँ। सावित्री मेरी बड़ी बहन है। मैं उससे छोटी हूँ, तपती मेरा नाम है। यदि आप मुझे पाना चाहते हैं, तो मेरे पिता के पास जाकर याचना कीजिये। महाराज! जिस प्रकार आप मेरे लिये अधीर हो रहे हैं, उसी प्रकार मैं भी आपके बिना विकल बनी हुई हूँ। किन्तु पण्डितों ने स्त्रियों की स्वाधीनता की निन्दा की है। बाल्य-काल में वे पिता तथा पालक के अधीन रहती हैं, यौवन में उन्हें

पति के अधीन रहना पडता है और वृद्धावस्था मे पुत्रो की इच्छानुसार चलना पडता है। आप पूजा, व्रत, तपस्या, उपवास तथा प्रणाम के द्वारा मेरे पिता को प्रसन्न कर ले। वे प्रसन्न होकर मुझे अवश्य ही आपको दे देंगे।"

इतना कहकर तपती तुरन्त वहीं आकाश म अन्तर्धान हो गई। राजा पुन मूर्छित होकर भूमि पर गिर पडे। इतने म ही राजा के सैनिक, मन्त्री तथा सेवक टोह लेते-लेते वहाँ आ पहुँचे। घोडे को मृतक देखकर वे सब डर गये और भाँति-भाँति की कल्पना करने लगे। जब आगे बढकर उन्होंने राजा को मूर्छित देखा, तब वे सभी दु खी हुए। उन्होने राजा का मूर्छा भङ्ग करने के निमित्त विविध प्रकार के उपचार किये। उनके मुकुट को उतार कर सिर पर शीतल सलिल की धार छोडी। कमलो का मुकुट-सा बनाकर उसके सिर पर रखा, किन्तु वे कमल क्षण भर मे सूख गये। राजा कुछ-कुछ सचेत हुए अपने सैनिका, साथियों और सचिवों को देखकर वे और भी अधीर हो गये। बूढे मन्त्री ने अनुमान से जान लिया कि राजा काम पीडित होकर ऐसी चेष्टायें कर रहे हैं। अत उन्होने सबको हटाया और शने-शने राजा से सब बातें पूछीं। राजा ने एक एक कर सब बातें बताई। मन्त्री ने राजा की आज्ञा से सभी सैनिको को विदा किया। वे राजा के साथ अकेले ही उस वन मे रह गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज सवरण अपने बूढे मन्त्री की सम्मति से सूर्यनारायण को प्रसन्न करने के निमित्त तपस्या तथा अनुष्ठान करने लगे।"

छप्पय

निरखि भये आसक्त देह की सुधि बिसराई।
मुछित भूपति लखे सुन्दरी नृप ढिँग आई॥
समुझाये बहु भाँति कहें सवरण भामिनी।
तीन लोक महँ लखी नहीं तव सरिस कामिनी॥
मोहिँ बचाओ काम तें, मारहिँ शर घायल करहि।
अपनाओ यदि मोइ तुम, तो यह अरि डरिकें भगहि॥

तपती और संवरण का विवाह

[७८१]

तपत्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः ।
परीक्षित्सुधनुर्जह्नु निषधाश्वः कुरोः सुता ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० २२ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

बोली तपती—नृपति ! मोइ रवितनया मानो ।
कन्या जनक अधीन होहि तुम सब कछु जानो ॥
करो याचना जाइ दान यदि पितु दे देवैं ।
तो हम तुम मिलि धर्मयुक्त कामहिं नित सेवैं ॥
यों कहि अन्तरहित भई, नृप पुनि मूर्छा तैं जगे ।
तपती-हित उपवास व्रत, दृढ जप-तप करिवे लगे ॥

जिसे कोई कामना ही नहीं, वह जीव ही नहीं । जीव-संज्ञा तो काम से होती है । भगवान् को कोई कामना नहीं । वे जब जीवों को सुख देने की कामना करते हैं, तब अपनी भगवत्ता भूल कर अवनि पर अवतरित होते हैं और जीवों के ही समान क्रीडा

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज संवरण का विवाह सूर्य-कन्या तपती के साथ हुआ । उससे उनके कुरुक्षेत्रपति महाराज कुरु हुए । कुरु के परीक्षित, सुधनु, जह्नु और निषधाश्व नामक पुत्र हुए ।"

करने लगते है। जीव, यदि उन्हे ही अपना सच्चा सुहृद् और सर्वस्व समझ कर, उनसे ही, अपनी सब वासनाओं को कहे, अपनी सब इच्छायें उनके ही अर्पण कर दे, तब तो उसे सब कुछ मिल जाता है, इहलोक और परलोक दोनो के ही सुख प्राप्त हो जाते हैं। यदि ऐसा न करके, जीव काम के ही अधीन हो जाता है, तो उसे चौरासी के चक्कर में भटकना पड़ता है। धर्म, अर्थ काम अथवा मोक्ष की—जो भी—इच्छा अपने मन में उठे, उसी के लिये भगवान् की शरण लेनी चाहिये। उन्हीं के निमित्त जप, तप, व्रत, उपवास आदि करना चाहिये। वाञ्छा-कल्पतरु भगवान् जीव की सभी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं, वे चाहे इस लोक की हो, या परलोक की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! काम-सन्तप्त महाराज सवरण को जब तपती ने सूर्यनारायण की शरण में जाने को कहा, तब राजा ने अपने समस्त साथियों को विदा कर दिया। वे अकेले पर्वत शिखर पर बैठकर सूर्यदेव की आराधना करने लगे। शुद्ध होकर उन्होंने जगत्पति सूर्यनारायण को प्रणाम किया और वे निराहार एक पैर खड़े होकर तपस्या करने लगे। उन्होंने अपने कुल-गुरु भगवान् वशिष्ठ का स्मरण किया। बारहवें दिन ब्रह्मर्षि वशिष्ठ राजा के सम्मुख उपस्थित हुए। एकान्त में अपने गुरु को पाकर महाराज सवरण परम प्रमुदित हुए। उन्होंने भूमि में लोट-कर गुरु के पाद पद्मों में प्रणाम किया और उनकी यथोपलब्ध उपचारों से पूजा की।

राजा की पूजा को स्वीकार करके मुनि बोले—"राजन्! मैंने योग-बल से आपके समस्त मनोगत भावों को जान लिया है। मैं भगवान विवस्वान् सूर्यनारायण के समीप जाऊँगा और उनसे तुम्हारे लिये उनकी कन्या की याचना करूँगा। मुझे आशा है,

भगवान् भुवन भास्कर मुझे निराश न लौटावेंगे। वे अवश्य तुम्हारे लिये अपनी परम सुन्दरी सुकुमारी कन्या को दे देंगे।"

राजा ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन्! मुझे आपका ही तो एकमात्र भरोसा है।"

राजा की इस बात से मुनि प्रसन्न हुए। वे आकाश-मार्ग से उड़कर योग प्रभाव द्वारा सूर्यलोक में पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने दिव्य रथ पर विराजमान प्रभापति भगवान् सूर्यदेव को देखा। हाथ जोड़ वशिष्ठजी ने कहा—"प्रभो! मेरा नाम वशिष्ठ है, मैं ब्रह्माजी का मानसिक पुत्र हूँ। मैं आपके चरणों में श्रद्धा-सहित प्रणाम करता हूँ।"

वशिष्ठजी का परिचय पाकर सूर्यदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"वशिष्ठ! आप भले आये, आपका स्वागत है। आइए, मेरे पास इस आसन पर बैठिये।"

ऐसा कहकर सूर्यदेव ने सत्कारपूर्वक वशिष्ठजी को अपने समीप बिठाया और बोले—"वशिष्ठ! आपके आने का कोई विशेष प्रयोजन हो, तो आप मुझसे निःसंकोच कहें।"

सूर्यदेव से सत्कृत होकर ब्रह्मर्षि प्रवर वशिष्ठजी बोले—"भगवन्! आजकल पृथ्वी पर ऋक्ष के पुत्र महाराज संवरण राजा हैं। वे बड़े ही सुशील, धार्मिक तथा प्रजा वत्सल हैं। पृथ्वी पर उनके समान सुन्दर, तेजस्वी, धर्मात्मा दूसरा कोई राजा नहीं है। अतः उनके लिये मैं आपसे, आपकी तपती नाम की कन्या को माँगने आया हूँ।"

यह सुनकर सूर्यदेव प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"मुनिवर! मैं अपनी छोटी पुत्री तपती के लिये बड़ा चिन्तित था, क्योंकि वह जैसी सुन्दरी, सुशीला है, उसके लिये वैसा योग्य पति मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। ऋक्ष कुमार महाराज संवरण समस्त

नर-पतियों में श्रेष्ठ हैं। उनके समान सुशील, सुन्दर, सर्वगुण-सम्पन्न दूसरा वर मुझे तपती के लिये और कहाँ मिल सकता है? फिर आप जैसे ब्रह्मज्ञानी ऋषि-श्रेष्ठ मुझसे याचना करने आये हैं। यह तो मेरा तथा तपती का अहोभाग्य है। ब्रह्मन! यह आपकी ही पुत्री है, आप जिसे चाहें इसे दें।" यह कहकर सूर्य भगवान्

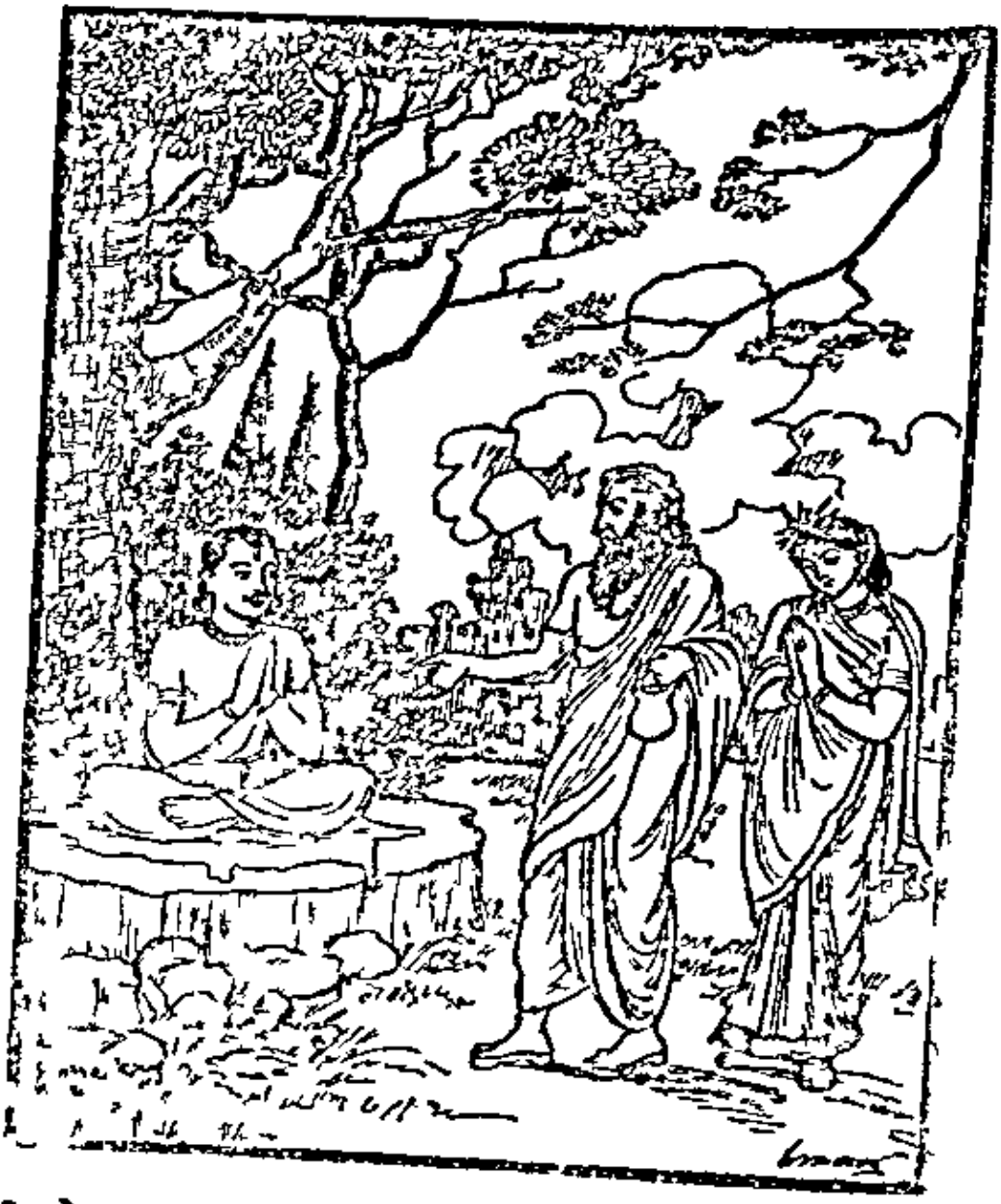

ने तपती को महामुनि वशिष्ठ के साथ कर दिया। वशिष्ठजी सूर्य

की प्रभा के समान दमकती हुई उस कन्या को लेकर आकाश मार्ग से अवनि पर उतरने लगे।

इधर महाराज सवरण तपती के निमित्त बिना कुछ खाये पिये मौन धारण करके घोर तपस्या कर रहे थे। बारह दिन उन्हें बिना अन्न-जल के हो गय थे। द्वादशादित्य भगवान सूर्य ने इनके गुणों को देख कर इन्हें अपनी कन्या दे दी। दूर से ही राजा ने वशिष्ठ के साथ विद्युत के समान, मूर्तिमती तपस्या सिद्धि के समान, उस ललना-ललाम को अवनि पर उतरत हुए देखा। राजा के नयन खिल गये। प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा न मुनि के पाद पद्मों मे प्रणाम किया। तब वशिष्ठजी न विधिवत् तपती का विवाह सवरण के साथ कर दिया।

तपती को पत्नी रूप में पाकर महाराज परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपना हृदय तथा सर्वस्व तपती को अर्पित कर दिया। तपता ने भी राजा के चरणों मे अपने को अर्पित कर दिया। अब राजा को तपती के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। राज पाट, पुर, परिवार—सभी से वे उदासीन हो गये। प्रधान बूढे मन्त्री उनके निकट ही थे। राज्य भार उन्हीं को सोपकर वे तपती के साथ वन मे ही वास करने लगे। वे उसे सुन्दर सुन्दर वन-उपवनों मे ले जाते। भाँति भाँति के पुष्प चुनकर वे उसके लिय हार बनाते, स्नेह भरित हृदय से उसे पहनाते पुष्पों का शृङ्गार करते, वेणी-गूँथते समय उसमे रग बिरगे पुष्पा को लगाते। साराश, अब उनका सम्पूर्ण समय तपता को प्रसन्न करने म ही व्यतीत होन लगा। वे प्रजा पालन रूप क्षत्रिय धम से पराङ्मुख हो गये। इससे समय पर वर्षा नहीं हुई, पृथ्वी से अन्न उत्पन्न नहीं हुआ। भूख के कारण प्रजा हाय-हाय करके रोने लगा। बारह वर्ष तक वन मे ही रहे। तब तक अनावृष्टि तथा

के कारण सभी प्रजा दुःखी रही। सब लोग मिलकर भगवान् वशिष्ठ के समीप गये और बोले—"ब्रह्मन्! आप हमारे राजा को कहाँ छोड़ आये? हम तो बिना अन्न के भूखों ही मर जायँगे। आप अविलम्ब कोई उपाय करें।"

यह सुनकर वशिष्ठजी ने कहा—"प्रजागण! आप किसी प्रकार की चिंता न करें, मैं तुम्हारे सभी दुःखों को दूर करूँगा।"

यह कहकर भगवान् वशिष्ठ ने तपती के सहित राजा संवरण को बुलाया। उनके नगर में आते ही देव स्वतः ही बरसने लगे। फिर राजा बारह वर्षों तक तपती के साथ यज्ञ करते रहे, जिससे सभी प्रजा को परम सुख हुआ। राजा फिर धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। कालान्तर में तपती के गर्भ से महाराज के कुरु नामक बड़े तेजस्वी, प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम पर आगे यह वंश कौरव-वंश के नाम से विख्यात हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुरु के परीक्षित्, सुधनु, जह्नु और निषधाश्व—ये चार पुत्र हुए। इनमें से सुधनु से सुहोत्र, सुहोत्र से च्यवन, च्यवन से कृती और महाराज कृती के ही उपरिचर वसु हुए। ये बड़े धर्मात्मा राजा थे। ये विमान में ऊपर ही उड़ा करते थे। इसलिये इनका नाम उपरिचर हुआ। मैं आपको इन धर्मात्मा राजा की कथा सुनाता हूँ।"

छप्पय

गुरु वशिष्ठ रवि निकट गये विनती बहु कीन्हीं।
माँगी तपती हरषि सूर्य नृप-हित दै दीन्हीं॥
विधिवत् करयो विवाह भये दोऊ अति प्रमुदित।
प्रिया प्रेम महँ फँस्यो संवरण भूपति को चित॥
रानी तपती गर्भ तैं, भये पुत्र कुरु जग-विदित।
कुल कौरव के नाम तैं, भयो पुत्र तिनि परीक्षित॥

महाराज उपरिचर वसु की कथा

[७८२]

सुहोत्रोऽभूत्सुधनुपश्च्यवनोऽथ ततः कृती।
वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

सुधनु जह्नु निषधाश्व तीन सुत औरहु तिनके।
रहे प्रथम सुतहीन सुहोत्रहु भये सुधनु के॥
च्यवन सुहोत्र कुमार च्यवन के कृती भये सुत।
कृती पुत्र वसु नृपति उपरिचर अष्ट सिद्धि-युत॥
सुर-ऋषि-वाद-विवाद महँ, पक्षपात नृप ने कियो।
क्रुद्ध भये ऋषि भूप कूँ, पतन शाप मिलि कैं दियो॥

संसार मे श्रीमन्नारायण की ही भक्ति सार है। नारायण नाम ही भवभय-बन्धन को छिन्न-भिन्न करने मे समर्थ है। नारायण ही परम तत्त्व है। जैसे वायु रोगों को नारायण तैल नष्ट कर देता है, जैसे उदर विकारो के लिये नारायण चूर्ण ही परमौ-

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! कुरु-पुत्र सुधनु से सुहोत्र हुए। सुहोत्र के पुत्र च्यवन, उनके कृती और कृती के ही महाराज उपरिचर वसु हुए। उनके बृहद्रथ आदि कई पुत्र हुए।"

पधि है, उसी प्रकार संसार सागर से पार उतरने के लिये नारायण-नाम की नौका ही सब प्रकार समर्थ है। जो सभी प्राणियों में अपने स्वामी नारायण को ही देखता है, जो जीवमात्र पर दया करता है, किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, उसे ही श्रीमन्नारायण के दर्शन होते हैं। यदि किसी कारण से अधःपात भी हो जाय, तो नारायण का नाम लेने से पुनः उत्थान हो जाता है। नारायण की शरण में जाने से सभी अशुभ नष्ट हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुरु-कुल में महाराज कृती के पुत्र उपरिचर वसु बड़े ही धर्मात्मा और भगवद्भक्त हो चुके हैं। उन्होंने भगवान् बृहस्पतिजी को अपना पुरोहित बनाया। ये बड़े अहिंसक थे। अश्वमेध यज्ञ में भी इन्होंने पशु की हिंसा नहीं की। अङ्गिरा-पुत्र भगवान् बृहस्पति से इन्होंने पूछा—"ब्रह्मन्! फल-फूल तथा अन्य सामग्रियों से महायज्ञ हो सकते हैं या नहीं?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"हो क्यों नहीं सकते? यज्ञ में पशु-हिंसा हो ही, यह आवश्यक नहीं।"

तब राजा ने कहा—"प्रभो! मुझसे ऐसा ही यज्ञ कराइये, जिसमें पशु-बलि न देनी पड़े।"

यह सुनकर बृहस्पतिजी ने यज्ञ की समस्त सामग्रियों की सूची बना दी। राजा ने तुरन्त वे सब वस्तुएँ एकत्रित कर दीं। यज्ञ आरम्भ हुआ। इसमें बृहस्पतिजी होता थे। प्रजापति पुत्र एकत, द्वित और त्रित उस यज्ञ के सदस्य थे। धनुपारय, रैभ्य, अर्धावसु, परावसु, मेधातिथि, तांडय, शान्ति, वेदशिरा, कपिल, आत्र, कठ, तैत्तिर, कण्व और देवहोत्र—ये सोलह सुप्रसिद्ध महर्षि भी उस यज्ञ में दीक्षित थे। उस यज्ञ की यही विशेषता थी कि

उसमे पशु हिंसा नहीं हुई थी। फल फूल, अकुर और बीजों से ही भगवान विष्णु की आराधना की गई थी।

महाराज उपरिचर की ऐसी भक्ति से रमारमण श्रीमन्नारायण प्रसन्न हुए। उन्होंने राजा को प्रत्यक्ष दर्शन देकर यज्ञीय पुरोडास को स्वय ग्रहण किया। उन्होंने अन्य किसी को दर्शन नहीं दिये। अदृश्य रूप से ही उन्होंने हविर्भाग का स्वीकार किया।

बृहस्पति ने क्रुद्ध होकर कहा—"मै कब से देवताओं को यज्ञ भाग देने को बुला रहा हूँ, देवता मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष क्यों नहीं होते ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! भगवान विष्णु ने आपके दिये हुए हविर्भाग को ग्रहण कर लिया।"

बृहस्पतिजी ने कहा—"मैं ऐसे मानने वाला नहीं! मैंने देवताओं के निमित्त इस पुरोडास को तैयार किया है। या तो देवताओं को प्रकट होकर इसे लेना चाहिये, या विष्णु भगवान् को सबके सम्मुख स्वय इसे ग्रहण करना चाहिये। अदृश्य रूप से भगवान् ने इसे ग्रहण क्यों किया ?" ऐसा कह कर बृहस्पति जी ने स्रुवा को ऊपर उछाल दिया।

तब राजा ने अत्यन्त ही मधुर स्वर मे बृहस्पतिजी को समझाते हुए कहा—"ब्रह्मन्! आप यह नई बात क्यों कर रहे हैं ? सत्ययुग में तो कोई क्रोध करता नहीं। यह तो अन्य युगों के भाव हैं। ब्रह्मन्! आप क्रोध करके देवाधिदेव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, वे स्वय जितक्रोध हैं। उन्हें तो क्रोधरहित पुरुष प्रेम से ही प्राप्त कर सकते हैं।"

राजा की इस बात का समर्थन करते हुए महर्षि एकत, द्वित और त्रित ने आपबीती एक घटना सुनाई। वे बोले—"हमारी भी एक बार भगवान् के दर्शनों की बलवती इच्छा हुई। तब हमें

आकाशवाणी सुनाई दी—"मुनियो! आप क्षीरसागर के उत्तर में महाप्रभावान श्वेत द्वीप में जायें वहाँ मेरा प्रत्यक्ष स्वरूप विद्यमान है। उस लोक में नारायण-परायण, चक्रवत् कान्ति वाले, परम ऐकान्तिक भगवद्भक्त निवास करते हैं। वे इन्द्रियरहित, निराहारी, अपलक तथा दिव्य गन्धयुक्त हैं।"

यह आकाशवाणी सुनकर हम सब श्वेत द्वीप में गये। वहाँ इतना तेज था कि हम सबके सब अन्धे हो गये, हमारी आँखें चौंधिया गयीं। वहाँ जाकर भी हम श्रीमन्नारायण के दर्शन न कर सके। अपने को तप रहित समझकर हम घोर तप करने लगे। जब हम सौ वर्षों तक उस लोक में रहकर तप करते रहे, तब हमें उस लोक के रहने वाले भगवद्भक्त महापुरुषों के दर्शन हुए। वे सब चन्द्रमा के समान श्वेत तथा भगवत्परायण थे। सहसा एक दिन वहाँ के सभी भगवद्भक्त बड़ी उत्कण्ठा से दौड़े, अनेक पूजा की सामग्रियाँ लाये और हाथ जोड़कर सभी कहने लगे—"हे पुण्डरीकाक्ष! हे विश्वोत्पादक! हे हृषीकेश! हे जनार्दन! हे नारायण! आपकी जय हो, जय हो।" उनकी स्तुति, पूजा, चेष्टा और मुखाकृति देखकर हम तो यह समझ गये, कि यहाँ भगवान् पधारे हैं, किन्तु हमें उनके दर्शन नहीं हुए। उस द्वीप के रहने वाले अन्य लोग तो उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर ही रहे थे। कुछ काल में पूजा समाप्त हुई, किन्तु वहाँ के लोग हमसे बोले तक नहीं। तब हम पुनः घोर तप करने लगे। तप करते-करते हम कृश हो गये। तब हमें पुनः आकाशवाणी सुनाई दी—"जो लोग भगवद्भक्तों के भक्त नहीं, उन्हें मेरे दर्शन दुर्लभ हैं। अभी तुम लोगों को इस लोक में रहने का अधिकार नहीं। अभी तुम्हें पृथ्वी पर रहकर बहुत कार्य करना है, बहुत जीवों को भगवान् की ओर लगाना है। तुम लोगों को यहाँ के महापुरुषों के

दर्शन हो गये, यही बहुत है। इनमें भक्ति करो। फिर जब तुम पुनः इस लोक में आओगे, तुम्हें मेरे दर्शन होंगे। तुम जिस मार्ग से आये हो, उसी मार्ग से लौट जाओ।"

एकत मुनि कह रहे हैं—"बृहस्पतिजी! यह आदेश सुनकर हम सब लौट आये। देखिये, हमने तप किया था, फिर भी हमें श्वेत द्वीप में जाने पर भी भगवान के दर्शन नहीं हुए। भगवान् हव्य-कव्य के भूखे तो हैं नहीं। उनके दर्शन उन्हीं की कृपा से होते हैं। वे साधन-साध्य नहीं, कृपा-साध्य है, अतः आप क्रोध न करें। भगवान् की जब कृपा होगी, तब आपको उनके दर्शन हो जायँगे।"

जब एकत मुनि ने ये बातें कहीं और द्वित-त्रित ने उनका अनुमोदन किया, तब बृहस्पतिजी ने क्रोध का परित्याग कर दिया। उन्होंने भगवद्भक्त महाराज उपरिचर वसु के यज्ञ को विधिवत् समाप्त किया। महाराज के ऊपर भगवान प्रसन्न हुए। कालान्तर में वे स्वर्ग-गामी हुए और पुनः ऋषियों के शाप से पृथ्वी पर आये।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतने बड़े भगवद्-भक्त राजा का पतन क्यों हुआ? ऋषियों का महाराज उपरिचर वसु ने क्या अपराध किया था?"

सूतजी बोले—"महाराज! कौन किसका अपराध करता है? सब भगवान् ही क्रीडा कर रहे हैं। वे जब जिससे जो काम कराना चाहते हैं, तब उसकी वैसी ही मति बना देते हैं। भगवद्-भक्तों को भगवान की स्मृति बनी रहे, मुख से उनका नाम उच्चारण होता रहे, फिर उनके लिये स्वर्ग, नरक, पृथ्वी तथा अन्यान्य ऊँच नीच सभी लोक समान हैं। उनकी भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है। महाराज उपरिचर भगवद्भक्त थे, किन्तु पक्षपातपूर्ण वचन

बोलने के कारण उनका स्वर्ग से पतन हुआ। यह प्रसंग मैं आपको सुनाता हूँ।"

एक बार देवताओं ने ऋषियों से कहा– "हे ऋषियो! तुम लोग यज्ञ में अज का हवन करना। अन्य पशु का हवन मत करना।"

ऋषियों ने पूछा—"अज का क्या अर्थ है?"

देवताओं ने कहा—"अज का अर्थ है बकरा।"

ऋषियों ने कहा—"पशु को मारकर उसका हवन करना यह सत्पुरुषों का काम नहीं, श्रुति की आज्ञा तो बीजों-धान्य आदि के पुरोडास बनाकर विधिपूर्वक हवन करने की है। उस परिपक्व बीज का ही नाम अज है।"

देवताओं ने कहा—"नहीं, अज का अर्थ है बकरा। यज्ञ में बकरे की बलि देनी चाहिये।"

इस प्रकार देवता और ऋषियों में वाद-विवाद हो रहा था, कि वहाँ धर्मात्मा महाराज उपरिचर आ पहुँचे। वे अपने तप के प्रभाव से आकाश में विमान पर विचरते थे। देवताओं और ऋषियों ने कहा—"ये महाराज उपरिचर धर्मात्मा हैं, ये कभी असत्य भाषण न करेंगे। इनको ही इस वाद-विवाद में पंच मान लो।"

दोनों ने राजा को पंच मान लिया। दोनों की बात सुनकर राजा ने देवताओं का पक्षपात किया और कह दिया—"यज्ञ में बकरे का ही हवन करना चाहिये।"

इतना सुनते ही तेजस्वी ऋषियों को क्रोध आ गया। उन्होंने उन्हें शाप दिया—"राजन्! तुमने पक्षपात में मुँहदेखी बात कह दी है, अतः आज से तुम्हारी अन्तरिक्ष में भ्रमण करने की शक्ति नष्ट हो जायगी। तुम स्वर्ग से च्युत होकर पृथ्वी के विवर में वास करने लगोगे।"

ऋषियों का शाप होते ही राजा स्वर्ग भ्रष्ट होकर पृथ्वी की दरार में घुसकर रहने लगे, किन्तु उन्हें अपने पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही। देवताओं ने देखा, हमारा पक्ष लेने से राजा पर विपत्ति आई है, इसलिये उन्होंने जाकर राजा से कहा—"राजन्! आप चिन्ता न करें। श्रीमन्नारायण मंगल ही करेंगे। शाप देने पर भी आप ब्राह्मणों से कभी द्वेष न करें। यज्ञों में हम आपको पूर्णाहुति के समय वसुधारा दिया करेंगे। उसे ही पीकर आप सन्तुष्ट रहें।" ऐसा वर देकर देवता भी चले गये। अब राजा वसु पृथ्वी के बिवर में रहकर देवताओं की बताई यज्ञीय वसुधारा को पीकर काल-यापन करने लगे।

अब राजा भगवान् की आराधना में लग गये, क्योंकि वे जानते थे कि हरिस्मृति ही सम्पूर्ण विपत्तियों को नष्ट करने वाली है। श्रीमन्नारायण का स्मरण-कीर्तन ही समस्त शाप-संतापों को स्वाहा करने में समर्थ है। ऐसा सोचकर वे निरन्तर नारायण मंत्र का जप करने लगे। वे भगवान् का पूजन नित्य नियम से करते। नारायण नाम का कीर्तन, नारायण मन्त्र का जप और श्रीमन्नारायण की पूजा-अर्चा में ही वे अपना समय बिताते थे। साथ ही वे ब्राह्मणों का सत्कार करते। उनकी ब्राह्मणों में कभी भी द्वेष-बुद्धि नहीं हुई। इससे श्रीमन्नारायण परम सन्तुष्ट हुए। उन्होंने गरुडजी को आज्ञा दी, राजा को पुनः उपरिचर कर दो, उनकी अन्तरिक्ष में भ्रमण करने की शक्ति पुनः ज्यों-की-त्यों बना दो।"

यह सुनकर गरुडजी तुरन्त पृथ्वी के बिवर में गये और राजा को उड़ाकर उसे आकाश में छोड़ दिया। तबसे वे पुनः उपरिचर हो गये, पूर्ववत् आकाश में भ्रमण करने लगे। वे सशरीर ब्रह्म-लोक को गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवद्भक्ति का ऐसा ही प्रभाव है। महाराज उपरिचर देवताओं का पक्षपात करने से, वाणी के दोष से दूषित होने पर भी, ब्राह्मणों के शाप देने पर भी, श्रीमन्नारायण की भक्ति करने से, पुनः सशरीर ब्रह्मलोक को गये। मुनियो ! यह मैंने महाराज उपरिचर वसु की संक्षेप में कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"महाभाग सूतजी ! अब हमें आप कौरव-वंश के आगे के मुख्य-मुख्य राजाओं के चरित सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! अब आप कौरव-वंश के अग्रिम राजाओं का वृत्तान्त श्रवण करें।"

छप्पय

स्वर्गच्युत ह्वै भूमि-विवर महँ बसहिँ उपरिचर।
नारायण को मन्त्र जपैं पूजा महँ तत्पर॥
नारायण को नाम निरन्तर नित-नित गावैं।
नारायण को ध्यान करैं तन्मय ह्वै जावैं॥
नारायण आज्ञा दई, गरुड़ शाप मोचन कर्‌यो।
नारायण ने नृपति को, ताप-शाप सबई हर्‌यो॥

चेदि राजाओं की कथा

(७८३)

अन्यस्यां चापि भार्यायां सकले द्वे बृहद्रथात् ।
ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते ॥
जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभवत्सुतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० ७, ८ श्लोक)

छप्पय

वसु के चेदि नरेश बृहद्रथ तिनि कुशाग्र सुत ।
तिनि के सुत नृप ऋषभ ऋषभ के पुत्र सत्यहित ॥
नृपति बृहद्रथ अपर नारि द्वै भाग देह के ।
जने मृतक लखि तुरत फिँकाये निकट गेह के ॥
जरा नाम की राक्षसी, भाग उभय जोरे जबहिँ ।
जीव-जीव कहिवे लगी, उठि रोयो सो शिशु तबहिँ ॥

भगवान् के विधान को जीव समझ ही नहीं सकता । यदि

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बृहद्रथ की दूसरी रानी से शरीर के दो टुकड़े उत्पन्न हुए । माता ने उन दोनो टुकड़ो को बाहर दिया । जरा नाम की राक्षसी ने उन टुकड़ो को क्रीडा करते समय 'व-जीव" कहकर जोड़कर जिला दिया । वही बालक जरासन्ध ।"

उसे समझ ले, तो फिर उसकी जीव-संज्ञा ही न रहे, वह शिवरूप हो जाय। जिस वस्तु को हम व्यर्थ समझकर फेंक देते है, कालान्तर में वही अमूल्य हो जाती है, जिसे बहुमूल्य समझकर बड़ी सावधानी से रखते हैं, समय पर वह दो कौड़ी की भी नहीं सिद्ध होती। विधि के विधान से मृतक जीवित हो जाते हैं, भगवान् की इच्छा से ही जीवित प्राणी पल भर मे मृतक बन जाता है। इस लिये दैव-बल ही यथार्थ बल है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आप से कौरव-वंश के अग्रिम राजाओं का वृत्तान्त कहता हूँ। महाराज उपरिचर वसु के बृहद्रथ, कुशाम्ब, मत्स्य और प्रत्यग्र—ये चार पुत्र हुए। ये सब चेदिप कहलाये। इनमे बृहद्रथ सबसे बड़े थे। उनके पुत्र कुशाग्र हुए। कुशाग्र के ऋषभ, उनके सत्यहित, सत्यहित के पुत्र पुष्पवान् और पुष्पवान के जह्नु हुए।

बृहद्रथ के एक और पुत्र हुआ, जिसका नाम जरासंध था। वह दो भागों में पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ था।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा · "सूतजी! जरासन्ध दो भागों में पृथक्-पृथक् कैसे पैदा हुआ और फिर वह जीवित कैसे हुआ? यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। इसके इतिहास को कृपा करके आप हमें सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! यह बड़ा ही अद्भुत इतिहास है। सुनिये, मैं यह कथा आप को सुनाता हूँ। मगध देश के महाराज बृहद्रथ बड़े ही धर्मात्मा तथा न्याय प्रिय थे। इनका विवाह काशिराज की दो कन्याओं के साथ हुआ। वे दोनों कन्यायें यमज थीं। वे अत्यन्त ही सुन्दरी और सर्वगुण-सम्पन्न थीं। उन दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम था। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे ऐसे ही राजकुमार के साथ विवाह करेंगी, जो उनमें किसी

प्रकार का पक्षपात न करे। दोनों को समान भाव से प्यार करे। महाराज बृहद्रथ ने प्रतिज्ञा की—"मैं तुम दोनों के साथ समान व्यवहार करूँगा, किसी प्रकार का पक्षपात न करूँगा।" यह सुनकर वे दोनों बड़ी प्रसन्न हुईं। काशिराज ने दोनों का विवाह बृहद्रथ के साथ कर दिया। राजा अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए दोनों के साथ समान व्यवहार करने लगे। दोनों रानियों के साथ रहते रहते राजा को बहुत दिन हो गये, किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं हुई। इससे राजा रानी सदा दुःखी और चिन्तित बने रहते। वृद्धावस्था भी राजा की ओर बढ़ने लगी।

एक दिन काक्षीवान् गौतम ऋषि के पुत्र परम तपस्वी महर्षि चण्ड कौशिक घूमते घामते मगध देश में आये। वे नगर से दूर एक सघन आम्र वृक्ष के नीचे टिके। बहुत से लोग मुनि के दर्शनों को आने लगे, जब महाराज बृहद्रथ ने मुनि का आगमन सुना तब वे भी अपने मन्त्री, पुरोहित तथा रानियों सहित मुनि के दर्शनों को आये। आषाढ़ का महीना था। सघन वृक्ष के नीचे दर्शकों से घिरे मुनि मूर्तिमान तप के समान ही दिखाई देते थे। राजा ने मुनि के चरणों में विधिवत् प्रणाम किया। फिर लजाते हुए कण्ठ में अञ्चल डालकर रानियों ने भी मुनि के पैर पकड़े। रानियों-सहित राजा ने मुनि की षोडशोपचार पूजा की। मुनि ने शास्त्रीय विधि से राजा की पूजा स्वीकार की। पूजा के अनन्तर बड़े करुण स्वर में राजा ने महर्षि की स्तुति की। पूजा और स्तुति से प्रसन्न होकर महर्षि ने कहा—"राजन्! मैं तुम्हारी पूजा स्तुति से अत्यंत ही सन्तुष्ट हूँ आप मुझसे कोई वर माँगें?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं वर लेकर क्या करूँगा? मेरे पिता स्वर्ग में रो रहे हैं। मैं रानियों सहित यहाँ रो रहा हूँ।

देखिये, ये मेरे बाल पकने लगे, मैं तो अब वन की तैयारियाँ कर रहा हूँ।"

सर्वज्ञ मुनि राजा की अन्तर्वेदना समझ गये। वे ध्यान मग्न हो गये उसी समय एक बड़ा ही सुन्दर आम का फल मुनि की गोद में गिर पड़ा। उस फल को लेकर मुनि बोले—"राजन्! आप इस फल को अपनी महिषी को दें। इससे आपके सन्तान होगी।"

फल पाकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने घर आकर नियमानुसार फल के दो भाग करके अपनी दोनों रानियों को दे दिये। फल को खाते ही दोनों गर्भवती हो गईं। इससे राजा को तथा उनकी समस्त प्रजा को बड़ा ही हर्ष हुआ। समय पाकर दोनों ने ही प्रसव किया। दोनों के ही उदर से एक देह के आधे-आधे भाग उत्पन्न हुए। एक हाथ, एक पैर, एक आँख, एक कान—सारांश यह कि बीच से आधे-आधे अङ्ग दोनों के पेट से पैदा हुए। ऐसे पुत्र को लेकर वे क्या करतीं! अतः उन दोनों ने धाई से कहा—"इन दोनों अङ्गों को तुम महलों के पीछे फेंक आओ।"

धाई उन्हें एक पात्र में लेकर एक शून्य स्थान में रख आई उसी समय जरा नाम की राक्षसी वहाँ आ गयी। उसने ध्यान से देखा कि वे दोनों फाँकें जीवित-सी हैं। उसने दोनों को लेकर एक में जोड़ दिया और खेल-खेल में कहने लगी—"जीवित हो जा जीवित हो जा।

राक्षसी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे दोनों फाँके एक में सट गयीं, परस्पर मिल गयीं। उनसे बड़ा ही सुन्दर एक शिशु बन गया! वह रोने लगा। जरा एक सुन्दरी स्त्री का वेश बना कर उस बच्चे को लेकर राज महल में गयी और बोली—रानी!

देखो, तुमने तो इस पुत्र को मृतक समझकर फेंक ही दिया था, किन्तु देव ने इसकी रक्षा की। आपने दीवाल पर चित्र बनाकर मेरा पूजन किया था, उसी के बदले मैंने तुम्हारा यह उपकार किया।"

पुत्र को देखकर राजा रानी परम हर्षित हुए उन्होंने ब्राह्मणों को विविध दान दिये, याचक, अभ्यागत तथा आश्रितों की मनो कामनाएँ पूर्ण कीं। राजा ने जरा राक्षसी द्वारा सन्धित होने से उसका नाम जरासन्ध रखा। तभी से राजा ने मगध देश में घर घर उस राक्षसी की पूजा आरम्भ करा दी।

यह जरासन्ध बड़ा ही शूरवीर, मानी तथा बली था। इसने पृथ्वी के समस्त राजाओं को जीत लिया था। जब महाराज वानप्रस्थाश्रम धारण करके रानियों-सहित वन को चले गये, तब जरासन्ध ही मगध देश का राजा हुआ। दीपक की लो के समीप आकर जैसे पतंगे जल जाते हैं, वैसे ही शत्रु इसके सामने आते ही श्री हीन हो जाते थे। उस समय भूमण्डल पर इसके समान दूसरा कोई बली नहीं था। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी पर भी इसने अठारह बार चढ़ाई की। अन्त में श्रीकृष्ण अपने वंश वालों के सहित इसके भय से भागकर द्वारका में जाकर रहे। इसका वध भगवान् ने भीम से कराया। इस प्रसङ्ग का वर्णन आगे करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! चेदिराज बृहद्रथ के पुत्र जरा सन्ध का सुत सहदेव हुआ। यह भी बड़ा बली था। अब आगे के राजाओं का वंश-वर्णन सुनो।"

छप्पय

जरासन्ध अति बली भयो नृप सेवें पदरज।
जातें डरि रणछोड़ द्वारका भगे त्यागि व्रज॥
तासु पुत्र सहदेव भये सोमापि तासु सुत।
श्रुतश्रवा तिनि तनय चेदि कुल भूषण रणजित॥
कुरु सुत तीसर जहु के, पौत्र विदूरथ ह्वै गये।
तिनि की नवमीं पीढ़ि महँ, नृप प्रतीप भूपति भये॥

महाराज शन्तनु की कथा

[७८४]

अभवच्छन्तनू राजा प्राङ्महाभिषसञ्ज्ञितः ।
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णयौवनमेति सः ॥
शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शन्तनुः ।
समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० १३-१४ श्लो०)

छप्पय

नृप प्रतीपके तीनि तनय देवापि बड़े सुत ।
गये राज तजि नृपति भये शन्तनु शोभायुत ॥
परसैं कर तैं जाहि शान्ति पावै सो प्रानी ।
जानि अमुमुक् इन्द्र नहीं बरसायो पानी ॥
भेजि सचिव षड्यन्त्र करि, वेद-भ्रष्ट अग्रज करयो ।
तब सुरपति बरषा करी, यों नृप सबको दुख हरयो ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! प्रतीप के बड़े पुत्र देवापि के न जाने पर छोटे शन्तनु राजा हुए । वे पूर्व जन्म मे महाभिष नाम वाले राजा थे । वे अपने हाथ से जिस-जिस को स्पर्श कर देते थे, वह वृद्ध होने पर भी युवा हो जाता था तथा उसे परम शान्ति प्राप्त होती थी । इसी कर्म के कारण वे 'शन्तनु' कहलाते थे । एक बार बारह वर्ष उनके राज्य मे इन्द्र ने वर्षा नही की ।"

बड़ों के प्रति सम्मान प्रकट करना आर्य-संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ सदाचार है। बड़ों के सम्मुख उच्चासन पर न बैठना, बड़ों के सम्मुख अभिमानपूर्वक न बैठना, बड़ों से शिष्टाचार-रहित व्यवहार न करना, बड़ों के रहते स्वयं सम्मान को ग्रहण न करना, ऐसी प्राचीन परिपाटी है। बड़े भाई के संस्कार जब तक न हुए हों, तब तक छोटे भाई को संस्कार कराने का विधान नहीं है। बड़े भाई का विवाह या अग्निहोत्र-सम्बन्ध न हुआ हो और छोटा अपने संस्कार करा लेता है, तो शास्त्रकारों ने उसकी 'परिवेत्ता' संज्ञा बताई है और उस बड़े भाई को 'परिविक्ति' कहा है। बड़े भाई के रहते, छोटे भाई को पिता के राज-सिंहासन पर बैठने का अधिकार नहीं है। यदि बड़ा भाई अयोग्य हो, महाव्याधि-ग्रस्त हो, या सदाचार-हीन हो, तब छोटे के राजा होने में कोई दोष नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने चेदिराज महाराज बृहद्रथ के पुत्र जरासन्ध के जन्म की कथा कही। अब उसके आगे के वंश को सुनें। जरासन्ध के सुत सहदेव हुए, उनसे सोमापि और सोमापि से श्रुतश्रवा का जन्म हुआ। यह मैंने संक्षेप में चेदि-वंशीय राजाओं की वंशावली बताई। अब कुरुवंशीय अन्य राजाओं का वंश विस्तार श्रवण करें।

मैं पहले ही बता चुका हूँ, कि हस्ती-पुत्र महाराज कुरु के परीक्षित्, सुधनु, जह्नु, और निषधाश्व—ये चार पुत्र हुए। उनमें से सुधनु के वंश का तो वर्णन मैंने कर दिया। अब शेष तीन का वर्णन सुनिये। कुरु के प्रथम पुत्र परीक्षित सन्तान हीन थे। उनका वंश चला ही नहीं। अब जह्नु के वंश को सुनें।

महाराज जह्नु के पुत्र सुरथ हुए। उनके सुत विदूरथ हुए। विदूरथ के सार्वभौम, उनके जयसेन, जयसेन के राधिक और

उनके अयुत पुत्र हुए। अयुत के क्रोधन, क्रोधन के देवातिथि, उनके ऋष्य, ऋष्य के दिलीप और दिलीप के प्रतीप हुए। महाराज प्रतीप के तीन पुत्र हुए, जिनके नाम देवापि, शन्तनु और बाल्हीक थे। इनमें से मँझले शन्तनु ही राजा हुए। इनका विवाह गंगाजी के साथ हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज प्रतीप ने बड़े पुत्र देवापि को राज्य न देकर शन्तनु को राजा क्यों बनाया? फिर शन्तनु तो मनुष्य थे, उनके साथ गंगाजी का विवाह क्यों हुआ? कृपा करके इस कथा को आप हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! मैं पुण्यश्लोक महाराज शन्तनु का चरित आपको सुनाता हूँ। आप समाहित चित्त से उसे श्रवण करें। पूर्वकाल में ये महाराज महाभिष थे। ब्रह्माजी के शाप से ब्रह्मलोक से च्युत होकर चन्द्रवंशी महाराज प्रतीप के यहाँ पुत्र होकर प्रकट हुए।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप कथा में से कथा का बीज निकाल देते हैं। आप हमें प्रतीप पुत्र शन्तनु का चरित तो पीछे सुनावें। पहले इसी बात को सुनावें, कि महाराज महाभिष को कमलयोनि ब्रह्माजी ने शाप क्यों दिया? वे ब्रह्मलोक से किस अपराध से च्युत हुए?"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन्! पूर्वकाल में इक्ष्वाकुवंश में परम धर्मात्मा महाराज महाभिष नाम के एक बड़े ही तेजस्वी, तपस्वी तथा यशस्वी राजा हो गये हैं। उन्होंने बड़ी बड़ी दक्षिणा वाले बहुत से यज्ञ किये, भाँति भाँति के पुण्य कर्म किये, सुयोग्य पात्रों को विविध प्रकार के दान दिये। अन्त में इस पाँच भौतिक शरीर को त्यागकर वे अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से ब्रह्मलोक गये। वहाँ जाकर ब्रह्मलोक के सुखों को भोगते रहे। एक दिन

ब्रह्माजी की सभा लगी हुई थी। उसमें बडे बड़े ब्रह्मर्षि, देवता, सिद्ध, चारण, गन्धर्व तथा अन्य सुकृतिजन विराजमान थे। उसी समय भगवती गंगादेवी एक अत्यत सुन्दरी नारी का रूप बनाकर ब्रह्माजी की सभा में आईं। वायु ने उनको अत्यन्त पतला रेशमी वस्त्र उडा दिया, जिससे उनका वक्षस्थल खुल गया। उसे देखकर सभी ऋषि-मुनियों तथा देवताओं ने अपना अपना सिर झुका लिया, किन्तु महाराज महाभिष गङ्गाजी की ओर टकटकी लगाये अपलक भाव से देखते ही रहे। उनकी इस अविनय के कारण कमलयोनि भगवान् ब्रह्मा क्रुद्ध हुए। त्रिकालदर्शी भगवान् वेदगर्भ राजा के मन के भाव को समझ गये। उन्होंने राजा से कहा—"राजन्! इस पवित्र लोक में भी आपके मन में काम के भाव उत्पन्न हो गये हैं? अतः अब आपका इस लोक से पृथ्वी पर पतन हो जायगा। मनुष्य जैसा सकल्प करता है, वैसी ही योनि उसे प्राप्त होती है। नारी पर आसक्त होना नर का काम है। अतः आपको नर-योनि में जन्म लेना पड़ेगा। जिस गगा पर आप आसक्त हो गये हैं, वही स्त्री-रूप रखकर आपकी पत्नी होगी और कुछ दिन साथ रहकर अन्त में वह आपको छोडकर चली आवेगी। तब फिर आप पुनः स्वर्ग में लौट आइयेगा।"

भगवान् ब्रह्मा के मुख से ऐसा शाप सुनकर, महाराज को विशेष दुःख नहीं हुआ, क्योंकि वे गगा के रूप पर अत्यन्त ही आसक्त थे। अब उन्हें पृथ्वी पर उत्पन्न होना था। उन दिनों महाराज प्रतीप ही इस पृथ्वी-तल पर परम धार्मिक, महान तेजस्वी तथा सबसे अधिक यशस्वी थे। अतः उनके ही यहाँ महाभिष ने जन्म लिया। वे ही शन्तनु के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनमें यह विशेषता थी, कि जिसे भी ये अपने हाथ से छू लेते, वह कितना भी वृद्ध क्यों न हो, युवक बन जाता था और उसे

परम शान्ति की प्राप्ति होती थी। इस कारण इनका नाम शन्तनु पड़ा। इनके बड़े भाई देवापि बड़े वैरागी थे, जब इनके पिता राजसिंहासन पर विराजमान होकर राज्य करते थे। तभी इनके बड़े भाई राजपाट छोड़कर वैराग्य के आवेश में वन चले गये और वहीं घोर तप करने लगे। कालान्तर में महाराज प्रतीप अपने शरीर में वृद्धावस्था को आते देख राजपाट शन्तनु को सौंपकर तपस्या करने वन चले गये। महाराज शन्तनु धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। महाराज बड़े मृगया प्रेमी थे। वे आखेट के निमित्त गंगाजी के किनारे, कछार में, खादरों में, वनों तथा उपवनों में घूमा करते।

एक दिन महाराज गंगा किनारे मृगया के निमित्त गये। जंगली जीवों का पीछा करते करते वे थक कर एक सुन्दर-सघन वृक्ष की छाया में सुखपूर्वक गंगा तट से कुछ दूर जा बैठे। उसी समय उन्हें एक अत्यन्त ही रूप लावण्य युक्त ललना दिखाई दी। वह अपने सौन्दर्य तथा कान्ति के आलोक से सम्पूर्ण वन्य प्रान्त को आलोकित कर रही थी। जब वह प्रकृति के सौंदर्य को देखकर हँसती, तब ऐसा प्रतीत होता, मानो उसके मुख से कुंद के पुष्प झड़ रहे हों। वह गङ्गा की लहरों के ऊपर निर्भय होकर आ रही थी। समीप के उपवन में वह चारुहासिनी विलास के सहित क्रीड़ा करने लगी। उसके शरीर का वर्ण गौर था, पदतल, करतल, ओष्ठ, अधर, जिह्वा, और नख अरुण वर्ण के थे। कमल के समान विकसित बड़े-बड़े उसके नेत्र थे। ऐंड़ी तक उसकी वेणी लटक रही थी। वह एक अत्यन्त ही सुन्दर नील वर्ण की महीन रेशमी साड़ी पहने हुई थी। उसके अङ्ग से सौन्दर्य छन-छन कर उस तट प्रदेश में बिखर रहा था। हंसिनी के समान रुनझुन-रुनझुन करती हुई, पैरों के नूपुरों को बजाती, विलास के साथ,

मन्द-मन्द गति से, वह चल रही थी। शनैः-शनैः आकर वह राजा के समीप खड़ी हो गई।

राजा शन्तनु ने आज तक ऐसी सुन्दरी स्त्री कभी देखी ही नहीं थी। वे उसके रूप, यौवन तथा अङ्ग-सौष्ठव को देखकर मन्त्र-मुग्ध की भाँति एकटक उसकी ओर देखते-के-देखते रह गये। राजा प्रयत्नपूर्वक अपनी दृष्टि उधर से हटाना चाहते थे, किन्तु इसमें वे सफल न हुए। उसे देखते-देखते उनकी तृप्ति नहीं होती थी। वह भी बिना कुछ बोले-चाले चुपचाप राजा के रूपासव का प्रेमपूर्वक पान कर रही थी।

कुछ काल के अनन्तर राजा ने कहा—"—हे भामिनी! तुमने अपने दर्शनों से ही मुझे वश में कर लिया है। मैं तुम्हारी कृपा चाहता हूँ। तुम मेरे ऊपर अनुग्रह करो, मेरी धर्मपत्नी बनकर मेरे साथ सुखोपभोग करो। मैं इस पृथ्वी का राजा हूँ। शन्तनु मेरा नाम है। मेरा राजपाट तुम्हारे ही अधीन है।"

उस स्त्री ने राजा की बात सुनकर कहा—"राजन्! आपको अपना पति बनाने में मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ। किन्तु मेरा एक नियम है। उस नियम का पालन करने की आप प्रतिज्ञा करें, तो मैं आपकी धर्मपत्नी बन सकती हूँ।"

राजा ने अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ कहा—"हे वर वर्णिनि! सुन्दरि! तुम अपना नियम बताओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम जो भी कुछ कहोगी, उसे मैं स्वीकार करूँगा जिस बात में तुम्हारी प्रसन्नता होगी, उसे प्राणों का पण लगाकर भी मैं पूरा करूँगा।"

यह सुनकर उस स्त्री ने कहा—"राजन्! मैं जो भी उचित-अनुचित करूँ, उसमें आप हस्तक्षेप न करें, न मुझे कभी कोई कड़ी बात ही कहें। यदि आपने मेरे किसी काम में हस्तक्षेप किया,

या मुझे बुरा भला कहा, तो निश्चय ही मैं आपको छोड़कर चली जाऊँगी।"

राजा ने उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी नारी की यह बात सहर्ष स्वीकार कर ली। धर्म को साक्षी देकर उन्होंने प्रतिज्ञा की। उसके साथ धर्मपूर्वक विवाह करके वे सुखपूर्वक उसके साथ सांसारिक सुख का उपभोग करने लगे।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! महाराज शन्तनु तो उच्च वंशावतंस धर्मात्मा और नीतिनिपुण थे। उन्होंने एक अज्ञात-कुल शीला स्त्री के साथ, बिना उसके नाम-गोत्र तथा वंश का परिचय पाये, सहसा विवाह क्या कर लिया? और फिर ऐसी कठिन प्रतिज्ञा में क्यों बँध गये?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! कठिन प्रतिज्ञा में तो राजा उसके अनुपम रूप-लावण्य तथा दिव्य तेज के प्रभाव से बँध गये और कुल-गोत्र पूछने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि इनके पूजनीय पिता महाराज प्रतीप प्रथम ही समझा गये थे, कि जो भी स्त्री एकान्त में तुमसे आकर विवाह का प्रस्ताव करे, उसे स्वीकार कर लेना।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! महाराज प्रतीप अपने पुत्र शन्तनु को ऐसी आज्ञा क्यों दे गये थे?"

सूतजी बोले—"महाराज! इस विषय में एक इतिहास है। उसे मैं सुनाता हूँ। महाराज प्रतीप के कोई संतान नहीं थी। इसलिये वे हरिद्वार में गङ्गा किनारे जाकर पुत्र प्राप्ति के निमित्त घोर तप करने लगे। महाराज बड़े ही सुन्दर, बलिष्ठ तथा दर्शनीय थे। उनको देखकर सभी का चित्त आकर्षित हो जाता था। एक दिन महाराज सन्ध्या-वन्दन करके जप करने जा रहे थे, कि उनकी दाहिनी जंघा पर अत्यन्त ही सुन्दरी स्त्री आकर बैठ गई।

सहसा एक दिव्य रूप-लावण्य-युक्त सुर-सुन्दरी को अपनी गोद मे बैठे देखकर राजा ने मधुर वचनों से कहा—"देवि ! तुम कौन हो ? क्यों आकर मेरी गोद में बैठ गई हो ? तुम्हें कौन-सा कष्ट है ? तुम मुझसे कुछ काम कराना चाहती हो क्या ? कहो, मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ।"

उस स्त्री ने कहा—"राजन् ! मै आपका समागम चाहती हूँ।"

राजा ने कहा—"देवि ! मैं तो पर-पत्नी को माता के समान मानता हूँ ।"

उस ललना ने कहा—"महाराज ! मैं पर-पत्नी नही हूँ, मैं तो धर्मपूर्वक आपकी पत्नी होना चाहती हूँ। मैं मानवी स्त्री नही हूँ, कन्या हूँ। गङ्गा मेरा नाम है, जह्नुतनया होने से मुझे लोग जाह्नवी भी कहते हैं।"

यह सुनकर महाराज प्रतीप बोले—"देवि ! तुम्हारा कथन यथार्थ है, किन्तु भूल से समझो या दैवयोग से, तुमने अपने को मेरी पत्नी बनने के अयोग्य कर दिया ।"

वह दिव्य कन्या बोली—"सो क्यों ? महाराज !"

राजा बोले—"देखो, देवि ! यह जो दाईं जङ्घा है, इस पर बैठने का पुत्र और पुत्रियों का ही अधिकार है। पत्नी के बैठने को ऋषियों ने वाम जङ्घा ही बतायी है। दाईं जङ्घा पर या तो पुत्री बैठ सकती है, या पुत्र वधू। अतः मैं तो तुम्हारे साथ विवाह कर नहीं सकता, किन्तु मेरा जो पुत्र होगा, वह तुम्हे अपनी पत्नी बना सकता है। मैं तुम्हे अपनी पुत्र-वधू के रूप मे स्वीकार करता हूँ।"

गंगादेवी बोलीं—"अच्छी बात है महाराज ! मुझे यही स्वीकार है। किन्तु आप अपने पुत्र को आदेश कर जायँ, कि वे मेरे किसी भी काम मे हस्तक्षेप न करें।"

राजा ने कहा—"ऐसा ही होगा। यदि मेरे पुत्र हुआ तो इस बात से उसे सचेत करता जाऊँगा।"

यह सुनकर गंगादेवी वहीं तुरन्त अन्तर्धान हो गईं। तदन्तर महाराज घर आये। उनके तीन पुत्र हुए। बड़े देवापि तो वन में चले गये। जब महाराज वृद्धावस्था में राजपाट शन्तनु को सौंप कर वन जाने लगे, तब वे उनसे कह गये—'पुत्र! गंगा किनारे एकान्त में कोई स्त्री तुमसे विवाह का प्रस्ताव करे, तो तुम उसके साथ विवाह कर लेना और उसके किसी काम में हस्तक्षेप न करना। वह जैसा करे, उसे वैसा करने देना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज शन्तनु ने पिता की आज्ञा समझकर ही गंगादेवी से विवाह कर लिया और उसके किसी कार्य में हस्तक्षेप न करने की प्रतिज्ञा की। वे उसके साथ सुख पूर्वक रहकर आनन्द विहार करने लगे। राजा तो गंगा के रूप में ऐसे आसक्त हो गये कि उन्हें प्रजा के सुख दुःख का पता ही न रहा। इधर बारह वर्ष इन्द्र ने उनके राज्य में समय पर उचित वर्षा नहीं की। इससे समस्त प्रजा में हाहाकार मच गया।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि राजा के पाप के कारण होती हैं। धर्मात्मा शन्तनु के राज्य में इतने दिनों तक घोर अनावृष्टि क्यों हुई? उनके राज्य में अकाल क्यों पड़ा।"

सूतजी बोले—"भगवन्! यही प्रश्न महाराज शन्तनु ने ब्राह्मणों से किया था। उन्होंने सभी ब्राह्मणों को बुलाकर उनसे पूछा—"विप्रगण! मेरे राज्य में इन्द्र वर्षा क्यों नहीं करते?"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज! आप में परवेतृत्व दोष लग गया है। आपके बड़े भाई देवापि जीवित हैं, उनके रहते आप

राजा बन बैठे हैं। उनका अभी विवाह भी नहीं हुआ, आपने विवाह कर लिया है। इसी दोष के कारण इन्द्र आपके राज्य में वर्षा नहीं करते।"

राजा ने कहा—"इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"आप अपने बड़े भाई को राज्य दे दें, यही एक मात्र इसका उपाय है।"

यह सुनकर शन्तनु वन में निवास करने वाले अपने भाई को राज्य देने के लिये चले। मन्त्रियों ने देखा, यदि राजा देवापि को राज्य दे देंगे, तो उनके शासन में अराजकता फैल जायगी। यह सोचकर उन्होंने कुछ वावदूक नास्तिक ब्राह्मणों को देवापि के पास भेज दिया। फिर उन्होंने जाकर महाराज देवापि को नाना युक्तियों द्वारा वेद के अपौरुषेयत्व का खण्डन किया। दैव की गति से राजा के मन में यह बात बैठ गई। जब शन्तनु वन में अपने भाई को राज्य देने गये, तब ब्राह्मणों ने उनसे कहा—"राजन्! अमुक वेद के अमुक सूक्त में यह बात कही गई है, आप उसे मानते हैं या नहीं ?"

देवापि बोले—"मैं वेद-फेद को नहीं मानता।" ब्राह्मणों ने जब देखा, कि यह तो वेद-विरोधी है, राज्य का अनाधिकारी है, तब तो शन्तनु का न्यायानुसार राज्य पर अधिकार हो गया। यदि बड़ा भाई सदाचारहीन, अयोग्य तथा महारोग से ग्रस्त हो, तो उससे छोटा भाई न्यायपूर्वक पिता के राज्य का स्वामी होता है। अतः महाराज शन्तनु के लौटते ही इन्द्र भगवान् ने वृष्टि की। सम्पूर्ण सूखी हुई पृथ्वी हरी-भरी हो गई, सर्वत्र आनन्द छा गया।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! महाराज देवापि ने ऐसे वेद विरोधी वचन क्यों कहे ? क्या नास्तिक हो गये थे ?"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज ! देवापि तो परम आस्तिक थे। वे तो भावीवश देवताओं के षडयन्त्र से कुछ क्षण के लिये ऐसे बन गये थे। वे तो महान योगी हैं। अब तक वे श्री बदरी नारायण से आगे कलाप ग्राम में योग-समाधि द्वारा स्थित हैं। इस कलियुग के पश्चात् जो सत्ययुग आवेगा, उसमें ये पुनः उच्छिन्न हुए चन्द्रवंश की स्थापना करेंगे।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी ! गंगाजी के गर्भ से महाराज शन्तनु के कितनी सन्तानें हुईं।"

सूतजी बोले—"महाराज ! गंगाजी के गर्भ से अष्ट वसुओं ने जन्म ग्रहण किया। वसुओं को वशिष्ठ जी के शापवश मानव योनि में जन्म लेना पड़ा। उनमें से केवल एक ही शेष रह गये, जो भीष्म के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! वसुओं को वशिष्ठ जी ने शाप क्यों दिया और उनमे से एक ही शेष क्यो रहे ?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! अब मै वसु-अवतार श्री भीष्म के जन्म की कथा आपको सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त से उसे श्रवण करें।"

छप्पय

शल अरु भूरिश्रवा भूरि बाह्लीक नृपति सुत।
शन्तनु के सुत भीष्म भये वसु ज्ञानी श्रीयुत॥
पितु-प्रसन्नता-हेतु प्रतिज्ञा दुष्कर कीन्हीं।
सन्तति सुख ऐश्वर्य भोग-इच्छा तजि दीन्हीं॥
नहीं पुत्र तोऊ सकल, द्विज तरपन नित प्रति करैं।
होहिं जगत-महँ यशस्वी, जे पितु आयसु सिर धरैं॥

देवव्रत भीष्म

[७८५]

बाह्लिकात् सोमदत्तोऽभूद् भूरिर्भूरिश्रवास्ततः ।
शलश्च शन्तनोरासीद् गङ्गायां भीष्म आत्मवान् ॥*

(श्री भा० ९ स्क, २२ अ०, १८ श्लोक)

छप्पय

वसुगण इक दिन जात रहे नभमहँ है प्रमुदित ।
मुनि वशिष्ठ मग मिले भूलि नहि करी दण्डवत ॥
निरखि अवज्ञा क्रोध ब्रह्मसुत तिनिपै कीन्हों ।
जनमो भूपै सकल, शाप तिनि सबकूँ दीन्हों ॥
तेई गङ्गा-गरभ तैं, नृप शन्तनु के सुत भये ।
जनमत फेंके सात सुत, एक भीष्म ही बचि गये ॥

जो कार्य देखने में हमें अप्रिय और अहितकर प्रतीत होता है, उसके भीतर हित सन्निहित रहता है। किस कारण यह घटना घटित हुई, उसके मूल को जान लेने से पुनः क्लेश नहीं होता। इस बात का दृढ़ निश्चय हो जाय कि मङ्गलमय श्रीहरि के समस्त विधान मंगल के ही निमित्त होते हैं, तो मनुष्य शोक, मोह और

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बाह्लीक से सोमदत्त हुए। उनसे भूरि, भूरिश्रवा तथा शल नामक तीन पुत्र हुए। शन्तनु से श्री गङ्गाजी मे आत्मवान् श्री भीष्म का जन्म हुआ।"

चिन्ता से सदा के लिये निर्मुक्त-निर्द्वन्द हो जाय। हमारे उदर के भीतर विकार एकत्रित हो गया है, वह व्रण बनकर बाहर निकलना चाहता है, तो व्रण होने में मंगल है। वह व्रण देह को स्वस्थ बनाने के लिये है। हमारे सौ रुपये नष्ट हो गये हैं, तो वह हजार प्राप्त होने के लिये हैं। प्राणी इसके रहस्य को समझता नहीं। तत्क्षण की क्रिया देखकर सुखी-दुःखी हो जाता है। यदि उसे इसके मूल कारण का ज्ञान हो जाय, तो फिर उसके सुखी-दुःखी होने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको अष्ट वसुओं ने, गंगा के गर्भ से, जन्म क्यों लिया, इस कथा-प्रसंग को सुनाता हूँ। भगवान् वशिष्ठ सुमेरु पर्वत के प्रान्त में एकान्त स्थान में रहकर तपस्या करते थे। उनका आश्रम अत्यन्त ही मनोहर था। उसके आस-पास योजनों वन था, जिसमें फल-फूल युक्त बहुत से वृक्ष थे और हरी-हरी कोमल दूबें। उसमें उनकी नन्दिनी गो सदा चरती रहती थी। नन्दिनी स्वर्ग की कामधेनु की पुत्री थी। वह अत्यन्त ही दर्शनीया तथा मनोरमा थी, उसके थन बड़े-बड़े थे, उसके खुर, पूँछ तथा सभी अंग अनुपम शोभा युक्त थे। जो कोई उसके दुग्ध को पीता, उसे वृद्धावस्था कभी भी बाधा नहीं देती थी।

एक दिन की बात है, नन्दिनी बड़े आनन्द के साथ हरी-हरी दूब चुग रही थी। उसी समय वहाँ आठो वसु अपनी पत्नियों-सहित आये। उन आठों वसुओं मे से एक का नाम द्यु वसु था। उसकी स्त्री बड़ी चञ्चला और सरल हृदय थी। उस सुन्दर गो को देखकर उसने अपने पति से पूछा—"प्राणनाथ! यह गो किनकी है? यह तो बड़ी ही सुन्दर है। ऐसी गो तो मैंने आज तक देखी ही नहीं!"

द्यु वसु बोले—"प्रिये ! यह स्वर्गीया कामधेनु की पुत्री नन्दिनी है। यह भगवान् वशिष्ठ की धेनु है। वे पुत्री के समान इसका पालन करते हैं। यह भी उनकी समस्त कामनाओं को पूर्ण करती है। इसके सुन्दर स्वादिष्ट दुग्ध का जो पान करता है, वह सहस्रों वर्ष जीता है, उसे वृद्धावस्था कभी बाधा नहीं पहुँचा सकती।"

यह सुनकर द्यु वसु की पत्नी ने अत्यन्त ही प्रेम के साथ कहा—'प्रियतम ! मेरा एक आग्रह मानोगे ?"

द्यु वसु ने कहा—"कहो, क्या बात है ?"

वसु पत्नी ने कहा—"प्राणनाथ ! आप मर्त्यलोक के परम धर्मात्मा राजर्षि उशीनर को तो जानते ही होंगे। उनके जीतवती नाम की एक कन्या है। संसार में वह सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। मर्त्यलोक की तो बात ही क्या ? स्वर्गलोक में भी उसके समान कोई सुन्दरी नहीं। वह मेरी प्रिय सखी है। वह युवती है। मर्त्यलोक में यौवन स्थायी तो रहता नहीं। उसकी युवावस्था समाप्त हो जायगी, तब उसका वह अनुपम सौन्दर्य भी नष्ट हो जायगा। मैं चाहती हूँ, उसका यौवन सदा स्थिर रहे। आप किसी प्रकार इस गौ को पकड़ कर मुझे दे दें। मैं अपनी सखी को इसे दूँगी। वह इसका दुग्ध पीकर सदा युवती बनी रहेगी। इससे मुझे अपार हर्ष होगा।"

द्यु वसु ने कहा—"प्रिये ! यह परम तेजस्वी वशिष्ठ मुनि की धेनु है। इस पर मन चलाना उचित नहीं।"

द्यु वसु पत्नी ने कहा—"नहीं, प्राणनाथ ! आपको मेरा यह आग्रह तो मानना ही पड़ेगा। अपनी सखी का स्थिर यौवन देखकर मुझे अपार हर्ष होगा।"

बहुधा प्राणी अनुचित कार्य करके भी अपनी पत्नी को प्रसन्न करते हैं। नारी का प्रसन्न करने को ही नर अगाध जल में गोता

लगाता है और उसका हार बनाकर अपनी प्रियतमा के कंठ में पहनाता है। बड़े बड़े समुद्रों को पारकर, प्राणों का पण लगाकर वह समुद्र पार जाता है, वहाँ से धन कमाकर अपनी प्राणप्रिया को सुवर्ण और रत्नों के आभूषणों से लाद देता है। बड़े बड़े बलवान गजों के मस्तकों को विदीर्ण करके, उनसे मुक्ता निकालकर अपनी मनोरमा के मस्तक को वह सजाता है। यदि मनुष्य को अपनी प्रिया को प्रसन्न करना न हो, मन में द्रव्य का लोभ न हो, केवल भिक्षान्न से या वन्य फल मूल या शाक से ही इस उदर दरी को पूर्ण करके, भगवत्चिंतन में ही समय बिताना हो, तो वह अनुचित कार्य क्यों करने लगा? द्यु वसु अपनी पत्नी के आग्रह को टाल न सके। उन्होंने शेष सात भाइयों की सहायता से नन्दिनी को पकड़ लिया और अपनी पत्नी की सहेली उशीनर-कुमारी जीतवती के यहाँ पहुँचा दिया। उस समय वशिष्ठ मुनि आश्रम पर नहीं थे। वे फल फूल तथा समिधा कुश लेने जङ्गल गये थे।

फल-फूल लेकर जब महामुनि वशिष्ठ अपने आश्रम पर लौटे, तब उन्होंने वहाँ नन्दिनी को नहीं देखा। चारों ओर खोजने पर भी जब उन्हें गौ नहीं मिली, तब उन्होंने ध्यान लगाकर उसकी खोज की। समाधि के प्रभाव से मुनि ने वसुओं की सब करतूत जान ली। उन्हें वसुओं पर क्रोध आ गया। क्रोध के आवेश में उन्होंने वसुओं को शाप दिया—"तुम लोगों ने देवता होकर भी यह गर्हा कार्य किया है, अतः तुम सब को मर्त्य-लोक में, मनुष्य योनि में, जन्म लेना होगा। तुम स्त्री के उदर से उत्पन्न होगे।"

जब अष्ट वसुओं को मुनि के शाप की बात मालूम पड़ी, तब वे बहुत घबराये। भय से काँपते हुए मुनि से शाप लौटा लेने की प्रार्थना की। इस पर भगवान् वशिष्ठ ने कहा—"देखो, भाई!

मैं तो कभी हँसी मे भी झूठ नहीं
अन्यथा हो नहीं सकता। हाँ, मैं
लोग पृथ्वी पर जन्म लेने के कु
त्याग कर पुनः देवयोनि को प्राप्त
गो हरी है, जिसके कारण तुम
मनुष्य-योनि मे जन्म लेकर पृथ्व
इसके संतान न होगी, और न इसे

मुनि के मुख से ऐसी बात सुन
वे सोचने लगे—"देवता होकर ह
उत्पन्न होंगे ?" वे ऐसी चिन्ता क
में गंगाजी आ रही थी गंगाजी ने
क्यों हो ?"

वसुओ ने कहा—"हमें वशिष्
मनुष्य-लोक मे स्त्री के उदर से
मर्त्यलोक में हमारी माता बनों।
उत्पन्न होना नही चाहते।"

गंगाजी ने कहा—"अच्छी व
प्रतीप-सुत शन्तनु की पत्नी होना
उत्पन्न होना।"

वसुओ ने कहा—"देवि ! आ
के जल मे छोड़ दिया करना, जिस
होकर, पुनः देवयोनि को प्राप्त हों

गगाजी ने कहा—"अच्छी वा
कर गङ्गाजी अन्तर्धान हो गईं। क
बनीं उनके गर्भ से क्रमशः वसुओं

सूतजी कहते हैं—"मुनियो !

बोला हूँ, अतः मेरा शाप तो
इतना कर सकता हूँ, कि तुम
ही दिनों पश्चात् मानवी देह
। किन्तु जिस द्यु वसु ने मेरी
बको शाप हुआ है, उसे तो
पर रहना ही होगा। किन्तु
स्त्री की इच्छा ही होगी।"
कर वसु अत्यन्त चिन्तित हुए।
मानवीय स्त्री ये गर्भ से कैसे
र ही रहे थे, ब्रह्माजी की सभा
पूछा—"वसुओ ! तुम चिन्तित

मुनि का शाप हुआ है। हमें
जन्म लेना होगा। देवि ! तुम
हम साधारण स्त्री के उदर से

ात है, मुझे भी मर्त्यलोक में
है। तुम सब मेरे उदर से ही

उत्पन्न होते ही हमें गंगाजी
से हम शीघ्र ही शाप से मुक्त
।"
त है ऐसा ही होगा।" यह कह
लान्तर में वे शन्तनु की पत्नी
ने जन्म लिया।
गङ्गादेवी के साथ विवाह करके

महाराज शतन्तु अत्यन्त ही हर्षित हुए। गङ्गादेवी ने मानवीय रूप रख रखा था। वे महाराज को अपने हाव, भाव, कटाक्ष, रूप, लावण्य तथा प्रेम-चातुरी से सदा प्रसन्न रखतीं। महाराज भी उनके शील, स्वभाव तथा गुणों पर मुग्ध होकर उन पर लट्टू थे। वे उन्हे समस्त भोग-सामग्री देकर सन्तुष्ट रखते। इस प्रकार उस दिव्य नारी के साथ रमण करते हुए उन्हें बहुत दिन व्यतीत हो गये। कालान्तर मे उसके गर्भ से आठ वसुओ ने क्रमशः जन्म लिया वे बच्चे जब पैदा होते, तभी गंगा उन्हें ले जाकर गंगा के प्रवाह मे छोडकर कहतीं—"जाओ, मैंने तुम्हे मानवी देह से मुक्त कर दिया।"

राजा को गंगादेवी की यह बात बुरी तो बहुत लगती, किन्तु वे प्रतिज्ञा बद्ध थे। गंगा को उन्होने वचन दिया था—"मै तुम्हारे किसी भी कार्य मे हस्तक्षेप न करूँगा।" इसीलिये वे उनसे कुछ भी न कहते, यद्यपि पुत्रों को इस प्रकार जल मे छोडने से उन्हे अत्यन्त ही मानसिक दुःख होता। उन्हे यह भय था कि यह कहीं मुझे छोड़कर चली न जाय।

जब इस प्रकार गंगादेवी ने अपने सात पुत्रों को गगाजी के जल में डुबो दिया और आठवें को भी डुबोना चाहती थीं, तब शन्तनु ने कहा—"देवि! तुम कोई राक्षसी हो या आसुरी? तुम्हें ऐसा जघन्य कार्य करने में लज्जा भी नहीं आती। नीतिकारों ने सत्य कहा है—"जिस कन्या का कुल-शील मालूम न हो, उसके साथ विवाह न करना चाहिये।" मैं जानता भी नहीं, कि तुम किसकी पुत्री हो, कौन तुम्हारा कुल है। मुझे क्या पता था, कि तुम ऐसी क्रूर कर्मा होगी। तुम तो मेरे कुल को ही नष्ट कर दोगी। मेरा वंश इस प्रकार कैसे चलेगा?"

यह सुनकर हँसती हुई भगवती गगा बोलीं—"राजन्! मैं न

तो राक्षसी हूँ, न किसी असुर की सुता। मैं दिव्य कन्या हूँ। भगीरथ मुझे स्वर्ग से तपस्या करके यहाँ लाये थे। इसलिये लोग मुझे भागीरथी कहते हैं। जह्नु ऋषि ने मुझे पीकर पुनः अपने शरीर से निकला था, अतः मेरा नाम जाह्नवी भी है। मैं त्रिपथगा गंगा हूँ। शापवश मुझे मानवी योनि मे रहना पडा। जिन पुत्रों को मैंने गगाजी मे बहाया, वे अष्टवसु हैं। इन्होंने मुझसे मर्त्य-लोक में माता बनने की प्रार्थना की थी और यह भी प्रार्थना की थी कि जन्मते ही मानवीय शरीर से मुक्त कर देना। इसीलिये मैं इन्हे जल मे छोड़ देती थी। यह अन्तिम पुत्र आपके वंश को बचाने के लिये शेष रहेगा। महाराज ! आपने मेरे कार्य मे हस्त-क्षेप किया, अतः अब मैं आपके पास न रहूँगी।" यह कहकर गंगा उस अन्तिम पुत्र को लेकर अन्तर्धान हो गईं। गंगाजी का परिचय पाकर महाराज शन्तनु आश्चर्य चकित रह गये।

गंगाजी को अन्तर्धान हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये। राजा गंगाजी को भूल नहीं सके। वे प्रायः एकान्त मे गंगा-किनारे बैठ कर गंगाजी का स्मरण करते रहते। गंगाजी ने राजा को ऐसा रति-सुख दिया था, कि वे पल भर को भी गंगाजी को न भूल सके। एक दिन महाराज गंगा-तट पर बैठे थे। उन्होंने क्या देखा कि गंगाजी की धारा सूख गई है। उन्हे बड़ा आश्चर्य हुआ कि समुद्रगा गंगा के प्रवाह को किसने रोक लिया। वे अत्यन्त कुतूहल के साथ आगे बढते गये। कुछ दूर जाकर उन्होंने देखा, एक अत्यन्त ही सुन्दर, दृढ़काय, बलिष्ठ, किशोरावस्थापन्न बालक धनुष-बाण लिये खड़ा है। उसने अपने अस्त्रों के प्रभाव से गंगाजी के वेग को ऐसा रोक दिया है, कि आगे को एक बूँद पानी भी नहीं जाता। वहीं समुद्र के समान स्थिर भाव मे रुका हुआ जल हिलोरें मार रहा है। वह देव सेनापति कार्तिकेय के

समान सुन्दर और बली था, कामदेव के समान सुन्दर था, मूर्तिमान वीर रस समान एक पैर को आगे किये स्थिर भाव से खडा था। साक्षात् पराक्रम के समान वह अस्त्र-शस्त्रों का चमत्कार दिखा रहा था। महाराज शन्तनु ऐसे अद्भुत बालक को देखकर परम विस्मित हुए। महाराज ने पूछा—"हे पुरुष सिंह! तुम कौन हो?"

इतना सुनते ही वह बालक तुरन्त वहाँ अन्तर्धान हो गया। तब तो राजा को और भी आश्चर्य हुआ। वे गंगाजी के तट पर बैठ गये और अत्यन्त ही करुण स्वर मे रोते-रोते बोले—"गंगे! हे त्रिपथगामिनि! तुम मुझे उस देवकुमार को पुनः दिखाओ—यह कोई जादू है, माया है, या मेरे चित्त का भ्रम। प्रिये! तुम मेरे प्रति इतनी कठोर क्यों हो गई हो?"

इतने मे ही वे क्या देखते हैं, कि अत्यन्त ही शुभ्र साडी पहने एक देवकुमारी, उस कुमार को साथ लिये हुए, आ रही है। वे साक्षात् भगवती गंगा थीं। राजा के समीप वे मानवीय रूप बनाकर रहती थीं, तब उनका दूसरा वेश भूषा तथा रूप था। आज वे शुभ्र साडी मे बडी ही तेजस्विनी और दिव्य लोक की देवी जान पडती थीं। उन्होंने अत्यन्त ही मधुर वचनों मे कहा—"देव! तुम मुझे नहीं पहचान रहे हो क्या?"

राजा ने कहा—"देवि! आपकी वाणी सुनकर मैं ऐसा अनुमान कर रहा हूँ कि आप प्राणप्रिया जह्नुतनया साक्षात् त्रिपथगा गंगा हो!"

गंगाजी ने कहा—"हाँ, महाराज! आपका अनुमान यथार्थ ही है। मैं गंगा ही हूँ। आपके वीर्य से जो मेरे अन्तिम पुत्र हुआ था, यह वही कुमार है। मैंने इसे पाल पोसकर इतना बडा किया है। भगवान् वशिष्ठ जी से इसने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र सीखे

हैं। इसे युद्ध में देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर—सब मिलकर भी नहीं हरा सकते। फिर पृथ्वी के राजाओं की तो कथा ही क्या ? महाराज ! अब आप इसे सम्भालें और अपने राज्य का अधिकारी बनावें।"

इतना कहकर और कुमार के हाथ को राजा के हाथ में देकर गंगादेवी तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गईं। राजा उस कुमार को प्रसन्नता पूर्वक अपने नगर मे लाये तथा यथा समय उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया। राजकुमार का नाम राजा ने देवव्रत रखा। देवव्रत बडे ही बुद्धिमान, धार्मिक, सुशील तथा पिता की आज्ञा के अनुकूल आचरण करने वाले थे। प्रजा के सभी लोग उन्हे प्राणों से भी अधिक प्यार करते। वे सभी के साथ अपने सगे सम्बन्धी तथा कुटुम्बियो की भाँति बर्ताव करते। उन्होने भगवान् परशुराम जी से भी अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की थी। ससार मे उस समय देवव्रत के समान कोई भी शूरवीर, बली तथा अस्त्र शस्त्र विद्या मे निपुण राजा अथवा राजकुमार नहीं था। देवता भी देवव्रत के पराक्रम से डरते थे। देवराज भी उनसे सहायता की इच्छा करते थे। पीछे इन्हीं देवव्रत का नाम भीष्म पडा।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी शन्तनु-सुत देवव्रत का नाम भीष्म किस कारण पडा ? देवव्रत तो उनका उतना प्रसिद्ध नाम नहीं है। सभी इन्हें भीष्म पितामह कहते हैं। क्या ये सभी के पितामह थे ?"

सूतजी ने कहा— 'महाराज ! इन्होने अपने पिता को प्रसन्न करने के निमित्त युवराज पद को त्याग दिया था। यही नहीं आजीवन अविवाहित रहकर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत की भीष्म प्रतिज्ञा भी की थी। इस कठोर प्रतिज्ञा करने के कारण ही सब

लोग इन्हें भीष्म के नाम से पुकारने लगे। ये कौरव और पांडवों के पितामह थे। सभी का पालन-पोषण इन्होंने ही किया था। जैसे राजा के गुरु को सभी गुरुजी कहने लगते हैं, राजा की माता को सभी माताजी कहते हैं, उसी उसी प्रकार राजा के पितामह होने से इनका नाम ही पितामह पड गया। इनके चरित बड़े अद्भुत हैं। इन्होंने युद्ध में विश्व विजयी भगवान् परशुराम जी को भी सन्तुष्ट किया था।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! हमें देवव्रत भीष्म के सभी चरित सुनाइये। उन्होंने क्यों अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की और परशुराम जी से इनका युद्ध किस कारण हुआ?"

इस पर सूतजी बोले—'अच्छी बात है, महाराज! अब मैं आपको वीरयूथाग्रणी कुमार भीष्म का चरित सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर उसे श्रवण करें।"

छप्पय

गंगा जननी कर्यो भीष्मको पालन बनमहँ।
शन्तनूकूँ पुनि दये पाइ सुत हर्षित मनमहँ॥
लाइ करे युवराज राजमहँ चहुँदिशि मङ्गल।
शन्तनु नृप इक दिवस गये मृगया हित जङ्गल॥
बहु हिंसक पशु बध करे, पहुँचे नृप यमुना जहाँ।
लखी पार पथिकनि करत, दाशराज कन्या तहाँ॥

—o—

देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा

[७८६]

शन्तनोर्दाशकन्यायां जज्ञे चित्राङ्गदः सुतः ॥
विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्राङ्गदो हतः ।
यस्यां पराशरात् साक्षादवतीर्णो हरेः कला ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० २२ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

जिनतैं कीन्हें प्रकट पराशर व्यास महामुनि ।
योजनगन्धा तुरत भई कन्या मुनि जनि पुनि ।
लखि कन्या-सौन्दर्य नृपति अतिशय हरषाये ।
कन्या-याचन-हेतु दासपतिके ढिँग आये ॥
नृप प्रस्ताव निषाद सुनि, हरषित ह्वै बोल्यो बचन ।
सत्यवती सुत होहि नृप, देहुँ करहि यदि आप प्रन ॥

अपने इष्ट की प्राप्ति उन्हीं को होती है, जो अपने बड़े से बड़े सुख को क्षण भर में तिलाञ्जलि दे सकते हैं। जो संसारी सुख

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— "राजन् ! महाराज शन्तनु ने निषाद-राज की कन्या से विवाह किया। उससे चित्राङ्गद पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका उससे छोटा भाई विचित्रवीर्य था। कुमार चित्राङ्गद को चित्राङ्गद नाम के गन्धर्व ने मार डाला। उसी निषाद-कन्या के गर्भ से भगवान् के अंशावतार पराशर-नन्दन भगवान् व्यास उत्पन्न हुए।"

चाहते हैं, उन्हें पारलौकिक सुख मिलना अत्यन्त ही कठिन है। शारीरिक सुखों का बिना त्याग किये गुरुजनों की सेवा होती नहीं माता, पिता आचार्य तथा गुरुजनों की प्रसन्नता के लिये जो जितना ही बड़ा त्याग करेगा, संसार में वह उतना ही बड़ा यशस्वी होगा। समस्त त्यागों में स्त्री-सुख का त्याग करना बड़ा ही दुष्कर है। मनुष्य एक बार प्राण त्यागने को तत्पर हो सकता है, किन्तु जीवन भर स्त्री सुख के त्याग की प्रतिज्ञा करना बड़े ही शूरवीर, जितेन्द्रिय, दृढ़ प्रतिज्ञ तथा संयमी पुरुष का काम है, जिस पुरुष ने ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करके, उसका निर्वाह किया है, वह विश्ववन्दनीय है, देवता भी उसके पदरज के लिये लालायित बने रहते हैं, भगवान् भी उसे स्वयं दर्शन देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गंगापुत्र शन्तनु-नन्दन का नाम भीष्म क्यों पड़ा, यह प्रसङ्ग मैं आपको सुनाता हूँ। युवराज होने के अनन्तर देवव्रत ने अपने पिता का सभी कार्य सम्हाल लिया। वे बड़े मनोयोग से राजकाज देखते। जिन कामों से प्रजा का भला हो, उन कामों को वे दृढ़ता से कराते। अब राजा को विश्राम मिल गया। वे स्वच्छन्द होकर वन उपवनों में घूमते, नदी तथा पर्वत-प्रान्तों में जाकर मृगया करते तथा सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करते।

एक दिन वे मृगया करते-करते यमुना किनारे निकल गये। वहाँ उन्हें दूर से कमलों की बड़ी ही सुन्दर सुगन्धि आने लगी। उस सुगन्धि के सहारे ही वे यमुना तट पर पहुँचे। वहाँ जाकर वे क्या देखते हैं कि एक अत्यन्त ही रूप लावण्ययुक्त युवती एक नौका की बल्ली लिये खड़ी है। उसके अनुपम सौन्दर्य से यमुना तट अत्यन्त ही सौन्दर्य युक्त बन रहा है। महाराज ने देखा, यह सुगन्धि उसी युवती के शरीर से निकल रही है। महाराज

अनुपम रूप लावण्य तथा अङ्ग-विन्यास से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। उन्होंने उस सुन्दरी से पूछा—"देवि! तुम कौन हो? किस की पुत्री हो?"

उस युवती ने कहा—"राजन्! मैं निषाद-राज की पुत्री हूँ, सत्यवती मेरा नाम है।"

राजा ने पूछा—"तुम यहाँ नौका पर खड़ी-खड़ी क्या कर रही हो?"

युवती ने कहा—"महाराज! मेरे पिता ने मुझे इस पार के यात्रियों को उस पार और उस पार वालों को इस पार नौका से उतारने का काम सौंपा है। पिता की आज्ञा से मैं यात्रियों को पार उतारा करती हूँ।"

राजा ने कहा—"मुझे भी पार लगा दो। मैं तुम्हारे सौन्दर्य-सागर में डूबा जा रहा हूँ।"

यह सुनकर कन्या लज्जित हुई। उसने सिर नीचा करके कहा—"महाराज आपके मुख से ऐसी बात शोभा नहीं देती।"

राजा ने कहा—"तुम युवती हो, विवाह के योग्य हो, यदि मैं तुम्हारे साथ विवाह करना चाहूँ, तो तुम मुझे स्वीकार न करोगी?"

अत्यन्त ही लजाते हुए शनैः शनैः सत्यवती ने रुक-रुककर कहा—"महाराज! मैं स्वतन्त्र तो हूँ नहीं, अपने पिता के अधीन हूँ। मेरे पिता मुझे जिसे भी दे देंगे, उसी के साथ मैं चली जाऊँगी। विवाह करने में मैं स्वाधीन नहीं। यदि आप मुझे चाहते हैं, तो मेरे पिता से मुझे माँगे। वे योग्य वर समझकर मुझे अवश्य आपको दे देंगे।"

राजा धर्मात्मा थे। वे कन्या के पिता दाशराज के समीप गये और बोले—"निषादराज! आप बड़े भाग्यशाली हैं, जो आपकी

पुत्री इतनी सुन्दरा है। अपनी पुत्री को आप मुझे दे दें। मैं उसके साथ विवाह करना चाहता हूं।"

निषाद के पश्चात् उस निषादराज ने कहा—"राजन्! पिता पुत्री को दूसरे के ही निमित्त पालता है। पुत्री ज्यों ज्यों कन्यापन को त्यागकर युवती होती जाती है, त्यों त्यों पिता की चिन्ता बढ़ती जाती है। युवती कन्या के पिता का रात दिन यही चिन्ता लगी रहती है, कि मेरी पुत्री को कोई योग्य वर मिल जाय, जहाँ जाकर वह सुखी रहे। मेरी पुत्री विवाह योग्य हो गई है। मैं उसके लिये योग्य वर की खोज में था। भगवान ने स्वयं ही मेरी इच्छा पूरी की। महाराज! आप इस भूमण्डल के एक छत्र सम्राट हैं। मेरी पुत्री को आप जैसा वर कहाँ मिलेगा? किन्तु आपको विवाह के पूर्व एक प्रतिज्ञा करनी होगी।"

महाराज शन्तनु ने पूछा—"वह क्या?"

निषाद बोला—"वह यही कि मेरी इस कन्या के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आपके राज्य का उत्तराधिकारी हो महाराज! जैसे आप राजा हैं, वैसे ही यह भी एक राजर्षि के वीर्य से मत्स्य के उदर से उत्पन्न हुई है। मैं तो इसका पालक पिता हूँ। मेरी इच्छा इसके पुत्र को राज सिंहासन पर आरूढ़ हुए देखने की है।"

यह सुनकर महाराज शन्तनु सन्न रह गये। वे मन ही मन सोचने लगे—'इस निषाद ने तो मेरी इच्छा पर पानी फेर दिया। मेरा गंगा के गर्भ से उत्पन्न हुआ, गांगेय देवव्रत, पुत्र है। वह राज्य के सर्वथा योग्य है। उसमें सब गुण ही गुण हैं। उसे मैंने युवराज पद पर अभिषिक्त भी कर दिया है। यदि उसे छोड़कर मैं इसके भावी दौहित्र को राज्य देता हूँ, तो सभी प्रजा मुझे धिक्का-

रेगी, मुझे सभी कामी कहकर मेरी निंदा करेंगे। यदि इससे प्रतिज्ञा करके उसका मैं पालन नहीं करता, तो मुझे नरकों की यातनायें भोगनी पड़ेंगी। इस लोक और परलोक में मेरी अपकीर्ति फैलेगी। अतः इस युवती को पाने की अभिलाषा मुझे छोड़ ही देनी पड़ेगी। इसी में मेरा कल्याण है।" यह सोचकर वे कुछ भी नहीं बोले। उस कन्या के अनवद्य सौंदर्य तथा दिव्य रूप-लावण्य की चिंतना करते हुये, वे अपने नगर को लौट आये।

नगर में आकर वे सत्यवती के रूप को भुलाने की चेष्टा करते, किन्तु वे जितनी ही चेष्टा करते, उतनी ही उन्हें उसकी स्मृति दुःख देने लगी। योजनों तक उस युवती के अंग से फैली हुई गन्ध अभी तक उनकी नासिका से निकली नहीं थी।

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! निषाद-कन्या सत्यवती के शरीर से कमलों की ऐसी दिव्य गन्ध क्यों आती थी? इसका कोई विशेष कारण हो, तो उसे हमें बतावें?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! एक राजर्षि अपनी ऋतुस्नाता पत्नी को छोड़कर पितरों के उद्देश्य से मृगया के निमित्त वन में गये। वहाँ निरन्तर पत्नी का स्मरण करने से उन का शुक्र स्खलित हो गया। उसे एक दोने में पक्षी द्वारा उन्होंने अपनी पत्नी के निकट भेजा। राजा अमोघवीर्य थे। पक्षी उस अव्यर्थ वीर्य को लिये हुए गगन में अत्यन्त ही वेग से उड़ा जा रहा था। दूसरे पक्षी ने उसे कोई खाद्य पदार्थ समझकर उस पर झपट्टा मारा। दोनों में युद्ध हुआ, अतः वह दोना यमुना जी में गिर गया। उसे एक बड़ी मछली खा गयी और उसके उदर में गर्भ रह गया। दैवयोग से वह गर्भवती मछली एक निषादों के पंच के जाल में आ गयी। उसे पकड़कर जब उसका पेट चीरा गया, तब उसमें से एक कन्या निकली। वह बड़ी ही सुन्दरी तथा

रूपवती थी। किन्तु उसमे यही एक दोष था कि उसके शरीर से मछली की बडी दुर्गन्ध आती थी। इसीलिये लोग उसे मत्स्यगधा कहते थे। उसके शरीर से ऐसी बुरी गन्ध आती थी कि कोई उसके समीप ठहरना भी नही चाहता था। वह पिता की आज्ञा से यात्रियो को पार लगाया करती थी। दैवयोग मे भगवान् पराशर उसकी नौका से पार जा रहे थे। उन्होने उसके उदर से महायोगी भगवान व्यास को उत्पन्न किया और उसे दो वर दिये। एक तो व्यास को उत्पन्न करके भी तेरा कन्यापन नष्ट न होगा, तू ज्यों-की त्यों कन्या ही बनी रहेगी, दूसरा यह कि तेरे शरीर से जो मत्स्य की गन्ध आती है, अब मत्स्य के स्थान पर कमल की गन्ध आया करेगी और वह एक योजन तक जाया करेगी। उसी दिन से पराशर मुनि के प्रभाव से उसके शरीर से कमल की गन्ध आने और एक योजन तक जाने लगी। इसीलिये उसका एक नाम योजनगन्धा भी था।"

शौनक जी ने पूछा—"अच्छा तो फिर क्या हुआ? महाराज शन्तनु ने उसके साथ विवाह किया या नहीं?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! यही तो मैं सुना रहा हूँ। महाराज जब से सत्यवती को देखकर नगर लौटे थे, तभी से अत्यन्त उदास रहने लगे। वे हँसते बोलते नहीं थे। घोडे पर चढ-कर मृगया के निमित्त भी न जाते और न किसी से विशेष बातें ही करते। वे निरन्तर एकान्त मे उदास बैठे घोर चिन्ता मे निमग्न रहने लगे।

एक दिन कुमार देवव्रत ने अपने पूज्य पिता से पूछा—"पितृ-देव! मैं देखता हूँ, आज-कल आप निरन्तर उदास बने रहते हैं। पहले जितने स्नेह और उल्लास के साथ आप मुझसे बातें करते थे, अब उस प्रकार बातें नहीं करते, मन्त्रियों से राज-काज की

बात भी नहीं पूछते। आप तो अत्यन्त ही मृगया प्रेमी थे, नित्य ही अश्व पर चढ़कर वन में आखेट के लिये जाते थे। इधर कई दिनों से आप महल से भी नहीं निकले। आपको जो चिन्ता हो, मुझे बतावें।"

यह सुनकर शन्तनु ने कहा—"नहीं, बेटा! वैसे ही कुछ चित्त उदास सा रहता है।"

देवव्रत ने कहा—"पिताजी! आप मुझसे छिपायें नहीं। अपनी मनोव्यथा मुझे सुनावें। मैं उसके निवारण के लिये सतत प्रयत्न करूंगा।"

अत्यन्त ही स्नेह से शन्तनु ने कहा—"बेटा! क्या बताऊँ, आज-कल मेरा चित्त डाँवाडोल रहता है। जिसके योग्य पुत्र हो, उसे पत्नी के अभाव में भी दूसरा विवाह न करना चाहिये। तुम जैसे शूरवीर, सुयोग्य पुत्र के रहते मुझे दूसरे विवाह की बात भी न सोचनी चाहिये। किन्तु कभी कभी मेरे मन में विवाह करने की प्रेरणा होती है। शास्त्रकारों ने एक पुत्रवान् को अपुत्री ही बताया है। पुत्र उत्पादन सबसे बड़ा धर्म है। जिसने पुत्र उत्पादन नहीं किया, अपने वंश को अक्षुण्य बनाये रखने के निमित्त आत्मजों की सृष्टि नहीं की, उसके जप, तप, दान, धर्म, यज्ञ, अनुष्ठान तथा समस्त शुभ कर्म वृथा हैं। इसीलिये मैं असमंजस में पड़ा हूँ कि तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र के रहते, मैं विवाह करूँ अथवा न करूँ।"

अपने पिता के मुख से ऐसी बातें सुनकर परम बुद्धिमान राजकुमार देवव्रत ताड़ गये, कि पिताजी का मन कहीं फँस गया है। अब उन्हें इस बात की चिन्ता हुई, कि वह कौन-सी ऐसी भाग्यवती कुमारी है, जिसे मेरी माता बनने का अत्यन्त ही महत्व पूर्ण पद प्राप्त होगा। उन्होंने वृद्ध मन्त्रियों से, राजा के अत्यन्त

घनिष्ठ सुहृदों से, इस बात का पता लगाया। महाराज से तो वे पूछ ही कैसे सकते थे। पूछताछ करने से उन्हें यह विदित हो गया, कि पिताजी निषादराज की कन्या सत्यवती के ऊपर अनुरक्त हैं। इस बात के ज्ञात होने पर उन्होंने दश-पाँच वृद्ध ब्राह्मणों को साथ लिया। दस-बीस मण्डलीक राजा भी उनके साथ चले। इस प्रकार वे ब्राह्मण, राजा तथा सेवकों से घिरकर निषादराज के स्थान पर गये। निषादराज ने इन सब का अत्यन्त ही प्रेम के साथ स्वागत-सत्कार किया।

राजकुमार देवव्रत ने कहा—"दाशराज! तुम अपनी पुत्री को मेरे पूज्य पिताजी के लिये दे दो।"

यह सुनकर हाथ जोड़कर बूढ़ा निषादराज बोला—"कुमार! आपका कल्याण हो! मैं इसे अपना बड़ा भारी सौभाग्य समझता हूँ, कि आप मुझ जैसे दीन-हीन, अकिञ्चन, नीच के द्वार पधारे। राजन्! मेरी पुत्री का इससे बड़ा सौभाग्य क्या होगा, कि वह राजरानी बने? राजर्षि शन्तनु के समान योग्य वर और भरत-वंश के समान उज्वल कुल मुझे त्रिलोकी में अपनी कन्या के लिये और कहाँ मिलेगा? महाराज मेरी पुत्री को अपनाना चाहते हैं, यह मेरे लिये परम गौरव की बात है। यह पुत्री राजर्षि उपरिचर वसु के वीर्य से मछली के गर्भ से उत्पन्न हुई। मैं तो केवल इसका-पालक पिता हूँ। पर मैं इसे अपनी सगी पुत्री से भी बढ़कर प्यार करता हूँ। राजर्षि की पुत्री को राजर्षि-पति मिलना बड़े भाग्य की बात है। मैं अपनी पुत्री के अभ्युदय के लिये आपसे एक पण चाहता हूँ।"

कुमार देवव्रत ने कहा—"तुम जो चाहते हो, मुझसे कहो।"

निषादराज बोला—"मैं यही चाहता हूँ, कि इसके गर्भ से

जो पुत्र हो, वही कुरुकुल की गद्दी पर बैठे, भरत वंश का सिंहासन उसे ही प्राप्त हो।"

यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए कुमार ने कहा—"निषादराज! यह कौन सी बड़ी बात है? राजपुत्र होने से तुम्हारा दौहित्र राजा होगा ही।"

निषादपति बोला—"हाँ, महाराज! आपका यह कथन सत्य है। किन्तु न्यायानुसार राज्य के अधिकारी तो आप हैं। आपको छोड़कर मेरा भावी दौहित्र राजा कैसे बन सकता है?"

उस समय पितृ-स्नेह से कुमार देवव्रत की आँखों में आँसू आ गये। वे अत्यन्त ही गद्गद कण्ठ से, धीर गम्भीर वाणी में सब लोगों को सुनाते हुए, बोले—"निषादपति! मैं सबके सामने प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ, कि तुम्हारी कन्या के पुत्र होते ही मैं अपने राज्याधिकार को सर्वदा के लिये त्याग दूँगा। भू-मण्डल का राज्य तो क्या, मैं अपने पिता की प्रसन्नता के लिये धधकती हुई अग्नि में कूद सकता हूँ, अथाह सागर में डूब सकता हूँ, हलाहल विष पी सकता हूँ और जीवित अवस्था में ही अपने हाथों अपनी खाल को उधेड़ सकता हूँ! मैं अपने पिता की क्षणिक प्रसन्नता के लिये सब कुछ करने को उद्यत हूँ। आप तनिक भी चिन्ता न करें। भगवती सत्यवती के गर्भ से जो कुमार उत्पन्न हो, वही हम सब का राजा हो।"

यह सुनकर निषाद पति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, आनन्द के कारण उसके रोम-रोम खिल उठे। फिर भी देवव्रत जैसे सुवर्ण को तपाकर विशुद्ध प्रकट करने के निमित्त उसने कहा—"राजकुमार! ये वचन आपके ही अनुकूल हैं। पिता के निमित्त इतना बड़ा त्याग आप जैसे धीर-गम्भीर, शूरवीर, सत्यप्रतिज्ञ, सदाचारी पुत्र ही कर सकते हैं। मेरे मन में एक संशय बना ही रहा।"

आश्चर्यचकित होकर कुमार बोले—"यह क्या ?"

दीनता के स्वर मे निषाद पति बोला—'कुमार ! आप बुरा न मानें। मैं अपनी पुत्री के स्नेह से अत्यन्त ही दीन हो गया हूँ। मैं इस बात को तो स्वप्न में भी नहीं सोच सकता, कि आप जो प्रतिज्ञा करेंगे, उसका पालन न करेंगे। अतः आप तो राजसिंहासन पर न बैठेंगे, किन्तु न्यायानुकूल तो राज्य पर आपका ही अधिकार है। मेरे दौहित्र को आप सबने राजा बना भी दिया, तो आपके पुत्र उन्हें लड़कर राजगद्दी से उतार देंगे। आपके पुत्रों से देवता भी विजय नहीं पा सकते। इसी बात का मुझे सन्देह है।"

निषादराज के मुख से इतना कृपणतापूर्ण, किन्तु दूरदर्शिता भरी बात सुनकर कुमार देवव्रत अत्यन्त ही गम्भीर हो उठे और मेघ गम्भीर वाणी मे सबको सुनाते हुए बोले—"राजाओ और

विप्रवृन्द ! आप सब मेरी प्रतिज्ञा सुनें। पिता के प्रीत्यर्थ आज मैं धर्म को साक्षी देकर प्रण करता हूँ कि मैं जीवन भर विवाह न करूँगा। अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते हुए मैं आजीवन अविवाहित ही रहूँगा। फिर तो बच्चे कहाँ से होंगे ? अब तो मैं समझता हूँ, निषादराज को मेरे पिता को अपनी पुत्री देने में कोई आपत्ति न होगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राजकुमार देवव्रत की ऐसी प्रतिज्ञा करने पर सभी आश्चर्य-चकित होकर उनके मुख की ओर देखने लगे। देवताओं ने आकाश से पुष्पों की वृष्टि की, गन्धर्वों ने वसु-अवतार देवव्रत की प्रशंसा-सम्बन्धी गीत गाये। गङ्गाजी की धार से धन्य-धन्य के शब्द सुनाई दिये। मुनियो ! इसका नाम है धर्मपूर्वक त्याग ! नहीं तो वह निषाद इनके राज्य का एक साधारण नागरिक था। वे उसे डाँट-डपट कर अनुकूल कर सकते थे, बलपूर्वक कन्या का हरण कर सकते थे। किन्तु यह अधर्म और प्रजा के साथ अन्याय कहा जाता। धर्मात्मा शन्तनु और उनके यशस्वी कुमार देवव्रत ऐसी नीति, सदाचार तथा धर्म विरुद्ध कार्य क्यों करते ? देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा सुनकर निषाद-राज के रोम-रोम खिल उठे। अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए, बार-बार कुमार की प्रशंसा करते हुए उसने कहा—"राज कुमार ! आपको छोड़कर ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा दूसरा कौन कर सकता है ? आपके पिता के लिये मैं अपनी पुत्री सहर्ष देता हूँ।" यह कहकर वह सत्यवती को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके वहाँ ले आया।

भीष्मप्रतिज्ञ कुमार देवव्रत ने सिर झुकाकर सत्यवती को प्रणाम किया और अत्यन्त ही आदर के साथ कहा—"माताजी ! आप रथ में बिराजें।"

सत्यवती पिता से मिलकर रथ में विराजी। सम्पूर्ण भूमंडल में कुमार के इस त्याग की बात फैल गयी। पिता ने जब अपने पुत्र की प्रतिज्ञा की बात सुनी, तब उन्हें बड़ी लज्जा आई, उनका हृदय पानी-पानी हो गया। उनकी अन्तरात्मा अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। पुत्र की इस भीष्म प्रतिज्ञा से उन्हें आन्तरिक दुःख हुआ, किन्तु अब हो ही क्या सकता था। सूर्य चाहे पश्चिम से उदय होने लगे, सुमेरु चाहे अपने स्थान से टल जाय, गंगाजी का प्रवाह चाहे समुद्र से बहकर हिमालय की ओर लौटने लगे, शेष-नाग चाहे पृथ्वी को धारण करना छोड़ दें, किन्तु देवव्रत अपनी प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ सकते। इसलिये उन्होंने अपने प्यारे पुत्र से प्रतिज्ञा छोड़ने को नहीं कहा। अश्रुपूर्ण नेत्रों से उनके मस्तक पर हाथ फेरते हुए उन्हें वर दिया—"तुम रण में सदा विजयी होगे? तुम्हारा सामना युद्ध में देवता भी न कर सकेंगे? मृत्यु तुम्हारे इच्छाधीन होगी।" इस प्रकार भीष्म को वरदान देकर शन्तनु ने सत्यवती के साथ विधि पूर्वक विवाह किया। वृद्धावस्था में इतनी सुन्दरी देवकन्या के समान सुकुमारी पत्नी पाकर प्रजा-नाथ की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। राजकाज को तो भीष्म जी ही सम्हालते थे। प्रजा के लोग भी कुमार भीष्म के व्यवहार से परम सन्तुष्ट थे। अब तो महाराज निरन्तर सत्यवती के साथ रहकर आनन्द-विहार करने लगे। सत्यवती के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए—बड़े का नाम चित्राङ्गद था और छोटे का नाम विचित्रवीर्य। ये दोनों बच्चे जब छोटे ही थे, महाराज शन्तनु इस असार संसार से सदा के लिये चल बसे। विधवा सत्यवती और उसके दो छोटे-छोटे पुत्र ही रह गये। चित्राङ्गद तो किशोरा-वस्थापन्न था, किन्तु विचित्रवीर्य तो अभी सत्यवती की था। राजा के बिना राजसिंहासन तो खाली रह

अतः भीष्म ने सत्यवती की अनुमति से चित्राङ्गद को राजा बना दिया।"

कुछ भी क्यों न हो, भीष्म के रहते, महाराज शन्तनु ने जो निषाद-कन्या से विवाह किया, यह उचित और उनके अनुरूप नहीं था। इसीलिये उनके द्वारा वृद्धावस्था में जो सन्तानें हुईं, वे उनके अनुरूप नहीं हुईं। भीष्म तो प्रतिज्ञाबद्ध थे, स्वयं गद्दी पर बैठ नहीं सकते थे। चित्राङ्गद तो नाम-मात्र के राजा थे। राज-काज तो सब भीष्म ही करते थे। फिर भी चित्राङ्गद राजा होने पर अपने को बड़ा शूर-वीर और बली समझते थे। गन्धर्वराज चित्राङ्गद ने उन पर चढ़ाई की। कुरुक्षेत्र में दोनों ओर से युद्ध हुआ। भीष्म उस युद्ध में नहीं थे। गन्धर्वों ने चित्राङ्गद को मार डाला। अब फिर कुरुकुल की गद्दी खाली हो गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! चित्राङ्गद के मारे जाने पर भीष्म ने अल्पवयस्क कुमार विचित्रवीर्य को राजगद्दी पर बिठया और स्वयं राज्य की देख-रेख करने लगे। कुछ काल में विचित्रवीर्य बड़े हुए। उन्होंने अपने को सर्वतोभावेन भीष्म को समर्पित कर दिया था। वे ऐसे बली भी नहीं थे, वृद्धावस्था की संतान थे, अपने पिता को उन्होंने भली भाँति देखा भी नहीं था। वे भीष्म को ही अपना पिता मानते थे, उन्हीं की आज्ञा में रहते थे। भीष्म भी उनका पुत्रवत् लालन-पालन करते थे। सत्यवती की आज्ञा लेकर वे ही राज्य का सब प्रबन्ध करते थे। शनैः शनैः विचित्रवीर्य बड़े हुए। बाल्यकाल को त्यागकर अब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया। अपने छोटे भाई को तरुण तथा विवाह योग्य देखकर भीष्म जी उनके विवाह की चिन्ता करने लगे। वे किसी योग्य प्रतिष्ठित क्षत्रिय कुल में विचित्रवीर्य का विवाह करना चाहते थे। उसी समय उन्हें काशिराज की कन्याओं

के स्वयवर का समाचार मिला। भीष्म जी उस स्वयवर से कन्याओं को हर लाये और वही स्वयवर उनकी मृत्यु का कारण बना।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! भीष्मजी किस प्रकार काशिराज की कन्याओं को हर लाये और उनके कारण उनकी कैसे मृत्यु हुई? कृपा करके इस प्रसग को आप हमें सुनाइये। बाल ब्रह्मचारी भीष्म के चरित सुनने मे हमारी बडी आस्था है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं आपको भीष्म का अग्रिम चरित सुनाता हूँ। आप इसे समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करे।"

छप्पय

शन्तनु भये उदास लौट निज पुर महँ आये।
निज पितु इच्छा जानि कुँवर केवट ढिँग धाये॥
समुझि दाश पण भीष्म प्रतिज्ञा दारुण कीन्हीं।
त्याग्यो पद-युवराज सीख सब जग कूँ दीन्हीं॥
जीवन भर क्वारे रहे, पितु प्रसन्नता के निमित।
सत्यवती के गरभ तैं, द्वै शन्तनु के भये सुत॥

विचित्रवीर्य का विवाह

[७८७]

विचित्रवीर्योऽथोवाह काशिराजसुते बलात् ।
स्वयंवरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके उभे ॥
तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः ॥❀
(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

चित्राङ्गद नृप भये हते गन्धर्वराज रन ।
दूसर कुमर विचित्रवीर्य नृप करे प्रजागन ॥
काशिराज की सुता तीनि हरि लईं दुलारी ।
शन्तनु लघु सुत संग विवाही उभय कुमारी ॥
बोली अम्बा भीष्म तैं वरे शाल्व मैंने प्रथम ।
धर्म जानि पठओ तहाँ, इच्छा पूरन करहु मम ॥

ब्राह्मण बालिकायें कहती हैं कि उन्हें विद्वान, यशस्वी-तपस्वी

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! भीष्म द्वारा स्वयंवर से बलात्कार से लाई हुई काशिराज की अम्बिका और अम्बालिका नाम की दो कन्याओं से विचित्रवीर्य ने विवाह किया । उन दोनों कुमारियों में अत्यन्त आसक्त हो जाने के कारण विचित्रवीर्य को राजयक्ष्मा रोग हो गया, उसी कारण वे मर गये ।"

तथा धर्मात्मा पति प्राप्त हो। वैश्य-कन्यायें चाहती हैं, हमारा पति श्री सम्पन्न वैभवशाली हो। शूद्र-कुमारियाँ चाहती हैं, हमें सेवा परायण, संयमी, धर्मात्मा पति मिले और क्षत्रिय कुमारियों की एकमात्र इच्छा शूरवीर, बली पति प्राप्त करने की होती है। सभी कुमारियाँ सुन्दर स्वरूपवान, स्वस्थ युवा पति की इच्छा रखती हैं। इसीलिये राजाओं के यहाँ स्वयंवर प्रथा था, सभी कुलीन प्रतिष्ठित राजकुमारों को किसी नियत तिथि पर एक साथ सत्कार पूर्वक बुलाया जाता था। वे सब वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर कन्या के पिता के नगर में आते। उनकी एक सभा लगाई जाती, वहाँ विवाह के योग्य कन्या को बुलाया जाता और सभी राजाओं का कुल-गोत्र उनसे बताया जाता फिर कन्या को स्वतन्त्रता दे दी जाती, इनमें से वह जिसे चाहे, वर ले। तब कन्या एक एक के समीप जाती, उसके कुल गोत्र सुनती, उसके बल की प्रशंसा सुनती। स्वयं उसके रूप को निहारती। फिर उन आगत राज कुमारों में से एक के गले में विजय माला डाल देती। उसी समय वह उसकी पत्नी मान ली जाती अर्थात् सगाई पक्की हो जाती। फिर शास्त्रीय विधि से दोनों का विवाह हो जाता। कभी कभी कोई बलवान् राजकुमार बलपूर्वक कन्या का हर ले जाता। यह भी शास्त्रीय विधि के ही अनुसार राक्षस विवाह है। क्षत्रियों में गान्धर्व और राक्षस विवाह की प्रशंसा की जाती है। क्षत्रियों में कन्या हरण शूरवीर, बली और साहसी राजा ही करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कन्यावस्था में जिनसे कानीन भगवान् व्यास उत्पन्न हुए, जिन्होंने श्रीमद्भागवत संहिता की रचना करके मेरे गुरुदेव, अपने प्यारे पुत्र, भगवान् शुक को दिया, उन्हीं केवर्त-कन्या भगवती सत्यवती से चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य—ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। चित्राङ्गद को जब गन्धर्वराज

चित्राङ्गद ने युद्ध में मार डाला, तब विचित्रवीर्य राजा बनाये गये। वे विवाह योग्य हो गये, किन्तु उनका विवाह नहीं हुआ। भगवती सत्यवती राजर्षि उपरिचरवसु के वीर्य से मत्स्य के उदर में उत्पन्न हुई हैं, इस बात को ज्ञानी मुनि तो योग बल से जानते थे। सर्वसाधारण तो कैवर्त-कन्या ही मानते थे। अतः कुलीन राजा विचित्रवीर्य को अपनी कन्या देने में हिचकते थे। किन्तु जिनके रक्षक भीष्म जैसे शूरवीर हैं, उनका कोई क्या कर सकता था? भीष्म इस विचार में मग्न थे, कि विचित्रवीर्य का विवाह कहाँ करें? उसी समय उन्हें सूचना मिली कि काशिराज के विवाह-योग्य तीन कन्यायें हैं—वे अप्सरा के समान रूपवती, परम गुणवती तथा मनोरमा हैं। उन कन्याओं की प्रशंसा सुनकर देवव्रत भीष्म एकाकी ही रथ पर चढ़कर हस्तिनापुर से काशी के लिये चल दिये। वन, पर्वत तथा नद नदियों को लाँघते हुए वे कुछ ही काल में काशी जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्वयंवर की बड़ी भारी तैयारियाँ देखीं। देश विदेश के बहुत से राजा तथा राजकुमार कन्याओं के पाने की इच्छा से वहाँ एकत्रित हुए थे। सभी को आशा थी, कन्या हमीं को वरण करेगी। सभी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित थे, सभी के मुकुटों में मणियाँ दमक रही थीं, सभी के लिये सुन्दर सिंहासन बिछे थे। काशिराज ने जब गांगेय भीष्म का आगमन सुना, तब उन्होंने उनका अत्यधिक स्वागत सत्कार किया। स्वयम्वर-सभा में भीष्मजी के लिये भी सिंहासन लगाया गया था।

नियत समय पर सभी राजा राजकुमार अपने अपने आसनों पर बन ठन कर सज धज कर आ बैठे। सब के बीच भीष्म को भी बैठे देखकर लोग परस्पर कानाफूँसी करने लगे। कोई कहता—"यह बूढ़ा, स्वयम्वर सभा में आकर क्यों बैठ गया है?

क्या इसे भी इस बुढ़ापे में विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हो गई है?" दूसरा कहता—"अरे भाई! इस बात को संसार जानता है कि भीष्म तो बाल-ब्रह्मचारी हैं। इन्होंने तो पिता को प्रसन्न करने के निमित्त आजीवन अविवाहित रहने की भीष्म प्रतिज्ञा की है।"

कोई कहता—"अरे, भाई, जब की होगी, तब की होगी। मनुष्यों की बुद्धि सदा एक-सी नहीं रहती। बाल पकने पर भी यदि मन न पके, तो उसे युवक ही समझना चाहिये।" कोई कहता—"अजी, चाहे पृथ्वी उलट-पुलट हो जाय, पर भीष्म अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकते।" इस पर दूसरा कहता—"अजी, यह रूप का प्रलोभन इतना कठिन है, कि इससे बचना बड़े-बड़े योगियों के लिये कठिन है।"

इस प्रकार परस्पर विविध भाँति की बातें हो रही थीं, कि उसी समय सोलहो शृङ्गार करके, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर तीनों राजकुमारियाँ स्वयम्वर-सभा में आईं। उनके आते ही सर्वत्र शान्ति छा गयी। सबकी दृष्टि उन्हीं की ओर लग गई। उनके मुखमण्डल की कान्ति तथा आभूषणों में लगे मणि-माणिक्य के आलोक से ऐसा प्रतीत हुआ, मानों तीन सौदामिनियाँ एक साथ चमक उठी हों। वे तीनों मरालिनियों की भाँति नूपुर की ध्वनि करती हुई, अलसाई गति से, मन्द-मन्द आ रही थीं। बहुत-सी सखियाँ उनका अनुगमन कर रही थीं। सबसे बड़ी अम्बा आगे-आगे थी, उसकी अवस्था सत्रह वर्ष की होगी, यौवन के समस्त चिह्न उसके शरीर में प्रस्फुटित हो रहे थे। उससे छोटी अम्बिका मध्य में थी। वह अम्बा से छोटी और अम्बालिका से बड़ी थी। कमल के समान बड़े-बड़े विस्फुटित नेत्रों से वह लज्जा-सहित कुटिल कटाक्षों से कुमारों को निहार रही थी। सबसे छोटी

अम्बालिका सबसे पीछे थी। पन्द्रह वर्ष की उसकी आयु होगी। तीनों सगी बहनें थीं। रूप में, गुणों में, आकृति-प्रकृति में एक सी प्रतीत होती थीं। सहसा अपरिचित व्यक्ति एक-दो बार देखकर यह निर्णय नहीं कर सकता था कि इनमें कौन-सी अम्बा है, कौन अम्बिका और कौन अम्बालिका।

कुमारियों के आते ही सूत-मागधों ने उनसे सभी राजा और राजकुमारों का परिचय कराया। कुमारियाँ जिन-जिन राजकुमारों के सम्मुख जातीं, उन्हीं का पुनः परिचय कराया जाता। इसी नियमानुसार जब कन्यायें देवव्रत भीष्म के आगे गईं, तब उनका भी परिचय कराया गया। कन्याओं ने वहीं लजाते हुए क्षीण स्वर में कहा—"वृद्ध को कौन कन्या स्वेच्छा से वरण करेगी?"

इतना सुनते ही सभी राजा राजकुमार ठठाकर हँस पड़े। उन सबको हँसते देख वीराभिमानी गांगेय भीष्म को क्रोध आ गया। वे सभी राजाओं को सम्बोधित करते हुए बोले—"राजाओं और राजपुत्रो! मैं जो कहता हूँ, उसे आप श्रवण करें। आठ प्रकार के विवाहों में एक राक्षस-विवाह भी प्रचलित है। उसमें सर्वश्रेष्ठ बली कन्या को बलपूर्वक, अपनी वीरता का शुल्क देकर, कन्या की इच्छा हो अथवा न हो, हर कर ले जा सकता है। सहस्रों पुरुषों को विजय करके क्रन्दन करती हुई कन्या को ले जाना क्षत्रियों के लिये गौरव की बात है। यह तो आप सब जानते ही हैं कि मैंने आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा की है। अतः मैं इन कन्याओं को अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिये हरकर ले जा रहा हूँ। जिनकी भुजाओं में बल हो, जो अपने को वीराभिमानी लगाता हो वह मुझसे युद्ध करके कन्याओं को लौटा ले जा सकता है।" इतना कहकर भीष्म जी ने सम्मुख खड़ी हुई तीनों कन्याओं को बलपूर्वक पकड़ कर सम्मुख तैयार खड़े अपने रथ में बिठा

लिया और स्वयं धनुष ताने रथ पर बैठकर सारथी से बोले — "रथ को हाँक दो।"

भीष्म का ऐसा साहस देखकर राजे राजकुमार भौचक्के-से रह गये। इसमें उन्होंने अपना घोर अपमान समझा। वे संख्या में सहस्रों थे। सभी ने एक साथ मिलकर भीष्म के ऊपर प्रहार किया। जैसे तेज प्रकाश पर बरसात में चारों ओर से पतंगे टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार भीष्म के ऊपर वे असंख्य नरपति एक साथ टूट पड़े। भीष्म उनके प्रहारों से तनिक भी विचलित न हुए, उन्होंने दिव्यास्त्रों के प्रभाव से सभी को एक साथ मूर्छित कर दिया। सभी समरांगण में बाणों से क्षत-विक्षत हो कटे वृक्ष के समान गिर पड़े। कुछ राजा युद्ध छोड़कर भाग गये, कुछ लौट गये, कुछ वेदना के कारण भूमि पर गिरकर सिसकने लगे। इस प्रकार और सब राजा तो लौट गये, किन्तु राजा शाल्व भीष्म का पीछा करता ही गया। वह बड़ा ही बली था। उसे अपनी शूर-वीरता का बड़ा अभिमान था। उसने भीष्म से बहुत देर तक युद्ध किया। अन्त में उसे भी पराजित होना पड़ा। देवव्रत ने उसे जीवित ही छोड़ दिया। शाल्व अपनी राजधानी में लौट गया और स्वयम्वर की बातों को भुलाकर धर्मपूर्वक प्रजापालन करने लगा। बाकी राजागण भी जहाँ-जहाँ से आये थे, अपने-अपने देशों को लौट गये।

शन्तनु-कुमार भीष्म उन तीनों सुन्दरी कन्याओं को साथ लेकर हस्तिनापुर की ओर चले। मार्ग में वे उन तीनों कन्याओं के साथ पुत्री के समान अथवा पुत्रवधू के समान बर्ताव करते रहे। कई दिनों में वे काशी से चलकर हस्तिनापुर आये। नगरवासियों ने जब सुना कि देवव्रत भीष्म काशिराज की तीनों कन्याओं को बलपूर्वक युद्ध में विजयी होकर ले आये हैं, तब तो सभी ने भीष्म

का बड़ी धूमधाम से स्वागत किया। सबके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करके भीष्म कैवर्त-कन्या अपनी विमाता सत्यवती के महलों में पहुँचे। वहाँ उन्होंने तीनों कन्याओं को सत्यवती के सम्मुख खड़ी करके उन्हें प्रणाम करते हुए कहा—"माताजी! मैं आपके लिये लड़कर इन तीन पुत्र-वधुओं को लाया हूँ। इनके लिये मुझे सहस्रों राजाओं से युद्ध करना पड़ा। किन्तु आपके आशीर्वाद से मेरे शरीर में खुरसट भी नहीं लगी। अब आप इनके साथ अपने पुत्र का विवाह कर दीजिये।"

भीष्म की ऐसी बात सुनकर सत्यवती के नेत्रों में प्रेम के अश्रु आ गये। उन्होंने भीष्म का सिर सूँघा और प्रेम भरी वाणी में कहा—"आयुष्मन! तुम्हारे अतिरिक्त और कौन ऐसा पुरुषार्थ कर सकता है? तुम्हारा कल्याण हो। तुमने आज मेरा अत्यन्त ही प्रिय कार्य किया! देवकुमारियों के समान इन कन्याओं को अपनी पुत्र-वधुओं के रूप में देखकर मैं अपने को परम सौभाग्य शालिनी समझूँगी। अब तुम विधिपूर्वक इन तीनों का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दो।"

फिर तो देवव्रत भीष्म उनके विवाह की तैयारियाँ करने लगे। तब उनमें से सबसे बड़ी कन्या अम्बा हाथ जोड़कर लजाते हुए भीष्म से बोली—"हे देव! आप धर्मात्मा हैं। स्वप्न में भी आप धर्म के विरुद्ध कार्य न करेंगे। महाराज! मैंने मन ही मन महाराज शाल्व को अपना पति बना लिया था। मेरे पिता ने भी मेरे सकल्प का अनुमोदन किया था। सभी जानते थे, कि स्वयम्वर में जाकर मैं महाराज शाल्व को ही वरण करूँगी, उनके ही कण्ठ में जयमाला पहनाऊँगी। किन्तु जब तक मैं उनके सम्मुख जा भी नहीं सकी, तभी तक आप मुझे बलपूर्वक हर लाये। मन से मैंने

उन्हे अपना पति मान लिया है। अतः आप कृपा करके मुझे उनके ही समीप भेज दे।"

अम्बा के मुख से यह बात सुनकर देवव्रत भीष्म ने इस पर विचार किया। उन्होंने सोचा—"जब समर्थ युवती कन्या ने मन से किसी योग्य वर को आत्म समर्पण कर दिया है, तब उसे विवश करना उचित नहीं। मन कहीं रहे, शरीर कहीं रहे, तो ऐसे दाम्पत्य मे सुख नही होता। मेरे भाई के लिये दो पत्नियाँ पर्याप्त हैं।" यही सब सोचकर उन्होंने कहा "राजकुमारि! तुम्हारी यदि यही इच्छा है, तो मैं तुम्हे महाराज शाल्व के ही समीप भेज देता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! यह कहकर धर्मात्मा भीष्म ने बडे आदर सत्कार-पूर्वक, अम्बा को रथ मे चढाकर, बहुत विश्वसनीय वृद्ध ब्राह्मणो के साथ महाराज शाल्व के समीप भेज दिया। अन्त मे यही अम्बा देवव्रत के प्राणों की प्यासी बन गयी। इसी के कारण स्वेच्छा मृत्यु वाले भीष्म की मृत्यु हुई। इसके पीछे ही उन्हे अपने गुरु परशुराम जी से युद्ध करना पडा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब भीष्म ने अम्बा की इच्छा के अनुसार उसे शाल्व के समीप भेज दिया, तब फिर वह इनके प्राणो की प्यासी क्या बन गई? कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें अवश्य सुनावें। विश्व-विजयी परशुराम जी के साथ भीष्म का युद्ध कैसे हुआ? इसे सुनने के लिये हमारे मन मे बडा कौतूहल हो रहा है।"

सूतजी बोले—"अच्छा बात है भगवन्! अब मै आपको परशुराम और भीष्म के युद्ध का ही वृत्तान्त सुनाता हूँ।"

छप्पय

अम्बा इच्छा जानि शाल्व ढिँग भीष्म पठाई।
कन्या ने निज प्रीति विवशता नृपहिँ जताई॥
बल अभिमानी शाल्व कहै पर विजित कुमारी।
करूँ ग्रहण तो होहि जगत् महँ हँसी हमारी॥
अति अनुनय अम्बा करी, घुडकि कही नृप क्यौं बकै।
अपर गृहीता नारि का, नृप पटरानी बनि सकै॥

अम्बा के निमित्त भीष्म का परशुरामजी से युद्ध

[७८८]

सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः ।
वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः ॥*

(श्रीभा० ९ स्क० २२ अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

है निराश बन माँहि लौटि अम्बा तब आई ।
बिलखि-बिलखि निज विपति-कथा सब मुनिनि सुनाई ॥
दैव-योग तैं परशुराम मुनिवर तहँ आये ।
सुनि अम्बा वृत्तान्त राम-नयननि जल छाये ॥
अम्बा के हित भीष्मतैं, परशुराम लड़िवे चले ।
शुभागमन मुनि सुनि तुरत, हरषि भीष्म गुरु तैं मिले ॥

अनन्त जन्म की वासनाएँ ही जीव को संसार-चक्र में घुमा रही हैं। हम जो भी शुभ-अशुभ करते हैं, वे सब संचित होते

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! शंतनुनन्दन भीष्म सम्पूर्ण धर्मात्माओं में श्रेष्ठ थे । वे परम भगवद्भक्त, आत्मज्ञानी तथा वीरों के अग्रणी थे । उन्होंने युद्ध में विश्व-विजयी परशुरामजी को भी सन्तुष्ट कर दिया था ।"

जाते हैं। उन सचित कर्मों में से जो एक जन्म के भोग लेकर शरीर बनता है, उसे प्रारब्ध कहते हैं। इस जन्म मे जो प्रारब्ध के भोग भोगने होंगे, उनका तो बिना भोग के नाश हो ही नहीं सकता। हम आगे के लिये जैसी वासना रखकर मरेंगे, वैसा ही जन्म होगा। प्रारब्ध-कर्म किसी को डण्डा मारकर कार्य नहीं कराते। प्रारब्ध का जैसा भोग होना है, वैसे ही वानिक बन जाते हैं। दरिद्र-घर मे जन्म लेने पर भी बहुत से राजा बन जाते हैं, बहुत से राजा के घर पैदा होने पर भी प्रारब्धानुसार भीख माँगते हैं। निर्धन-दरिद्र की लड़की रानी बन जाती है, राजकुमारी वन-वन भटकती फिरती है। हम जो भी इच्छायें करते हैं, वे सबकी सब पूरी अवश्य होंगी, किन्तु कब होंगी यह ठीक नहीं। बहुत से भोग स्वप्न मे ही भोगकर क्षय हो जाते हैं, बहुत से मनोरथ द्वारा ही भोगे जाते हैं। बहुतों के लिये जन्म धारण करना होता है। अत्युत्कट पुण्य-पापों का फल यहीं प्रायः मिल जाता है। यह प्राणी भावमय है—जैसा भाव करता है, वैसा ही बन जाता है। यह संसार भी भावमय है—जिसका जैसा भाव होता है, उसे वैसा ही यह दिखाई देता है। सुख-दुःख का दाता कोई व्यक्ति-विशेष नहीं। सभी सुख-दुःख प्रारब्ध से ही प्राप्त होते हैं। पुरुषार्थ से आगे के लिये संस्कार बन सकते हैं, प्रारब्ध सर्वथा मेटा नहीं जा सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अम्बा की इच्छा समझकर भीष्म ने उसे शाल्व के समीप भेज दिया। शाल्व के समीप जाकर अम्बा ने लजाते हुए शनैः-शनैः मधुर वाणी से कहा—"हे नरनाथ! मैं आपकी शरण आई हूँ।"

शाल्व ने कहा—"तुम कौन हो? मुझसे क्या चाहती हो?"

अम्बा बोली—"राजन्! मैं काशिराज की ज्येष्ठ कन्या हूँ?"

अम्बा मेरा नाम है। स्वयंवर के पूर्व ही मेरे पूज्य पिताजी ने कह दिया था, कि तू महाराज शाल्व को वरण करना। मैं भी आपके बल, पराक्रम की प्रशंसा चिरकाल से सुनती थी। आपके दर्शन करके तो मैंने अपना सर्वस्व आप के चरणों में समर्पित कर दिया था। मैंने मन से आपका पति वरण कर लिया था। अब आप मुझे अपनावें।"

शाल्व ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा - "तुम काशिराज की कन्या अम्बा हो ? मैं भी तुम्हें मन से चाहता था। इसीलिये मैंने प्राणों का पण लगाकर भीष्म से युद्ध किया था। तुम्हें तो शन्तनु सुत गांगेय भीष्म बलपूर्वक हरकर ले गये थे। फिर तुम मेरे समीप कैसे आ गई ?"

अम्बा ने कहा—"देव ! मुझे भीष्म हरकर तो अवश्य ले गये थे, किन्तु आप जानते ही हैं, वे तो बालब्रह्मचारी हैं। अतः मार्ग में वे हमें पुत्रियों की भाँति ले गये। पुर में जाकर जब वे अपने छोटे भाई के साथ हम तीनों का विवाह करने लगे, तब मैंने हाथ जोड़कर उनसे कह दिया—"मैंने तो अपना मन, शरीर तथा सर्वस्व महाराज शाल्व को अर्पित कर दिया है। आप मुझे उन्हीं के पास भेज दें।"

उन धर्मात्मा ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और मुझे बड़े आदर से—बहुत से वृद्ध ब्राह्मणों के साथ—यहाँ भेज दिया। अब आप मुझे अपनावें, मुझे अपनी प्यारी पत्नी बनावें।"

इस पर शाल्व बोले—"भद्रे ! मैं क्षत्रिय हूँ। दूसरे की वस्तु को मैं नहीं ले सकता।"

अम्बा ने कहा—"देव ! मैं दूसरे की वस्तु नहीं, आप की ही हूँ। मेरा मन सदा आप के ही चरणों में लगा रहता है।"

शाल्व ने कहा—"देवि ! यह बात मेरी पद-प्रतिष्ठा, कुल, गौरव

तथा गौरव के सर्वथा प्रतिकूल है। सब राजाओं को हराकर भीष्म तुम्हें ले आये हैं। अब तुम्हें कोई भी सच्चरित गौरवशाली राजा अपनी पत्नी नहीं बना सकता।"

अम्बा ने कहा—"नरनाथ! मैं सर्वथा दोष रहित हूँ। भीष्म मेरी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक मुझे हर ले गये थे। मैं मन में सदा आपका ही चिन्तन करती रही। प्रार्थना करती हुई, दुःखिनी कामपीड़िता नारी को जो निराश लौटाता है, उसे गोवध के सदृश पाप लगता है!"

शाल्व ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"सुन्दरि! तू चाहे एक बार कह, चाहे लाख बार। मैं मुझे किसी भी दशा में नहीं अपना सकता। मेरी आशा तू छोड़ दे। जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ चली जा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अत्यन्त अनुनय-विनय करने पर भी अम्बा को शाल्व ने ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया, तब वह राजकुमारी बड़ी निराश हुई। वह सोचने लगी—"अब मैं पुनः भीष्म के समीप क्या मुँह लेकर जाऊँ? जाने पर भी अब वे मुझे अपने यहाँ नहीं रखेंगे। पिता के घर अब मैं जा नहीं सकती। अब तो मुझे आत्महत्या ही कर लेनी चाहिये।" यह सोचकर वह एकाकी घोर वन में चली गई।

काशिराज की प्यारी दुलारी राजकुमारी चलते-चलते वन में मुनियों के आश्रम पर पहुँची। वहाँ उसने बहुत से मुनियों को तपस्या करते देखा। प्राणों का मोह सभी को होता है। अम्बा ने सोचा—"आत्महत्या करके क्या करूँगी? मेरी यह दुर्दशा भीष्म के ही कारण तो हुई है? वे यदि बलपूर्वक, मुझ रोती हुई को मेरी इच्छा के विरुद्ध, न लाते, तो मैं राजकुमारी होकर आज

वन-वन क्यों भटकती फिरती ?" ऐसी ही बातें सोचते-सोचते उसने वह रात्रि बिना खाये-पिये एक वृक्ष के नीचे बिताई।

दूसरे दिन वह मुनि-मंडली में पहुँची मुनिगण उसके अद्भुत रूप-लावण्य को देखकर आश्चर्य-चकित रह गये। फूल के समान अत्यन्त ही सुकुमारी को अनाथ की भाँति भटकते देखकर परोपकारी मुनियों के मन में करुणा उत्पन्न हो गई। अम्बा ने रोते-रोते अपनी करुण कहानी सभी को सुनाई, सुनकर सभी मुनि रोने लगे। मुनियों ने मन्त्रणा की। किसी ने कहा—"इसे शाल्व के क समीप भेज देना चाहिये," किसी ने कहा—"भीष्म के समीप भेज देना चाहिये," किसी ने कहा—"इसे इसके पिता के पास पहुँचा देना चाहिये।"

अम्बा ने कहा—"मुनियो! मैं इन तीनों स्थानों में से कहीं पर भी जाना नहीं चाहती। आप मुझे सन्यासिनी बना लें। मैं तो अब तपस्या करते-करते इस शरीर को जला देना चाहती हूँ।"

उन मुनियों में, जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी तथा शास्त्रज्ञ थे, वे बोले—"बेटी! तपस्या हँसी खेल नहीं है। फिर तू अत्यन्त ही सुकुमारी कन्या है। तेरा शरीर तप के योग्य नहीं है। तू यहाँ वन में रहेगी, यहाँ बहुत से राजा राजकुमार मृगया के निमित्त आते हैं। तेरे अनुपम रूप लावण्य को देखकर वे तुझसे विवाह का प्रस्ताव करेंगे। और भी भाँति भाँति के विघ्न पड़ेंगे। अतः सबसे सुन्दर बात तो यही है, कि तू अपने पिता के घर चली जा। वहाँ इच्छा हो, भजन करना, इच्छा हो, विवाह कर लेना। तुझमें कोई दोष तो है नहीं। गङ्गाजल के समान तू निर्दोषा है।"

अम्बा ने कहा—"मुनिवर! मैं भले ही मर जाऊँगी, किन्तु अब पिता के घर लौटकर न जाऊँगी, इसी प्रकार भटकती रहूँगी। मुझे भीष्म पर बड़ा क्रोध आ रहा है।"

उसकी प्रतिहिंसापूर्ण बातों को सुनकर मुनियों ने उसे बहुत समझाया। किन्तु उसके मन को सन्तोष नहीं हुआ। इतने ही में सृञ्जय-वंशी राजर्षि होत्रवाहन वहाँ आ पहुँचे। उन वृद्ध राजर्षि को आते देख सभी मुनियों ने उनका स्वागत-सत्कार किया, अर्घ्य देकर उन्हें सुन्दर आसन पर बिठाया।

राजर्षि होत्रवाहन ने समस्त मुनियों से पूछा—"मुनिगण! आज आप इतने चिन्ताग्रस्त क्यों हैं? किस गूढ़ विषय पर आप सब वाद-विवाद कर रहे थे? यह भोली-भाली बच्ची कौन है? यह क्यों रो रही है?" तब मुनियों ने अम्बा की आदि से अन्त तक सब कथा उन्हें सुना दी। सुनकर राजर्षि होत्रवाहन ने अपने काँपते हाथों से अम्बा को अपनी गोद में बिठा लिया और सिर सूँघकर बोले—"बेटी! तू तो मुझे न जानती होगी। तेरे उत्पन्न होने के पूर्व ही मैं राज्य छोड़कर वन चला आया था। मैं तेरा नाना हूँ। तेरी इस विपत्ति से मैं अत्यन्त ही दुखी हूँ। बोल, मैं तेरा क्या प्रिय कार्य करूँ?"

अम्बा ने कहा—"नानाजी! मेरी यह दुर्दशा भीष्म के ही कारण हुई है। अतः मुझे भीष्म पर बड़ा क्रोध आ रहा है।"

इस पर राजर्षि होत्रवाहन ने कहा—"ना, बेटी! व्यर्थ किसी पर क्रोध नहीं करना चाहिये। सुख-दुःख का देने वाला तो भाग्य है। भीष्म को तो पता भी नहीं था कि तू शाल्व से विवाह करना चाहती है। जब उन्हें पता चला, तब तुझे तत्क्षण शाल्व के समीप उन्होंने भेज दिया।"

अम्बा ने कहा - "नानाजी! क्या बताऊँ? जब तक मैं भीष्म से बदला न लूँगी, तब तक मुझे शान्ति न होगी।"

यह सुनकर सूखी हँसी हँसते हुए होत्रवाहन बोले—"बेटी! भीष्म से बदला लेना कोई हँसी-खेल तो है नहीं। देवता भी समर

मे उनसे नहीं जीत सकते। उन बालब्रह्मचारी को काल भी अपनी इच्छा से नही मार सकता। हाँ, एक उपाय है। तू भगवान् परशुरामजी की शरण मे जा, वे सब कुछ करने मे समर्थ हैं। भीष्म उनके शिष्य है, वे चाहे तो उन्हे आज्ञा देकर, तुम्हें पुनः उनसे अगीकार करा सकते हैं। वे शाल्व को भी आज्ञा दे सकते हैं और चाहे तो भीष्म से युद्ध भी कर सकते है। आज कल वे महेन्द्र पर्वत पर घोर तप कर रहे हैं।"

यह सुनकर अम्बा को प्रसन्नता हुई। वह भगवान् परशुराम जी की सेवा मे महेन्द्र पर्वत पर जाने को उद्यत हुई। उसी समय परशुरामजी के प्रिय शिष्य अकृतव्रण वहाँ आ पहुँचे। सब ने उन मुनि का स्वागत सत्कार किया। परस्पर की बातो ही बातो मे राजर्षि होत्रवाहन ने अम्बा का भी सब समाचार उनको सुनाया और उनसे भगवान् परशुरामजी का पता पूछा।

महामुनि अकृतव्रण ने कहा—"राजन्! भगवान् परशुरामजी आजकल यहीं समीप ही तप कर रहे हैं। बातो ही बातो मे वे आपको अपना प्रिय मित्र कहा करते हैं। आप यहाँ हैं, यह बात उन्हें विदित है। वे आपसे यही मिलने आवेंगे।"

यह बात सुनकर अम्बा को और महाराज होत्रवाहन को परम प्रसन्नता हुई। वह रात्रि इसी विषय की बातें करते-करते बीती। प्रातःकाल जब सब सन्ध्या अग्निहोत्र से निवृत्त हो गये, अग्निशाला मे बठे, तब इतने म ही क्या देखन हैं कि बडे भारी डील-डोल वाले जटाजूटधारी भगवान् परशुराम आ रहे हैं। उन्हें देखकर सभी खडे हो गये। मुनि के पधारने पर सभी ने उनके चरणों मे प्रणाम किया, विधिपूर्वक उनकी पूजा की और उन्हे उच्चासन पर बिठाकर उनका सम्मान किया। परशुरामजी न मुनियों की पूजा को स्वीकृत करके उनके तप, अग्निहोत्र, पशु-

पक्षियों तथा वृक्षों का कुशल पूछा। फिर वे राजर्षि होत्रवाहन से इधर-उधर की बातें करने लगे। बातों ही बातों में महाराज होत्रवाहन ने अपनी दौहित्री अम्बा का समाचार उन्हें सुनाया। अम्बा की अवस्था, उसके शरीर की सुकुमारता तथा भोली-भाली सूरत को देखकर परशुरामजी को दया आ गयी। उन्होंने अम्बा से कहा—"बेटी! तू मुझसे क्या चाहती है? भीष्म तो मेरा शिष्य ही है। तू कहे तो मैं भीष्म से तुझे स्वीकार करा दूँ, तू कहे तो शाल्व के साथ तेरा विवाह करा दूँ।"

अम्बा ने कहा—"प्रभो! शाल्व ने मेरा तिरस्कार किया है, मैं उसके साथ विवाह करना नहीं चाहती। मेरी दुर्दशा भीष्म के कारण हुई है, मैं भीष्म से बदला लेना चाहती हूँ।"

परशुरामजी ने कहा—"बेटी! भीष्म का तो इसमें कोई दोष नहीं। वह तो धर्मपूर्वक ही राक्षस-विधि से तेरा अपहरण करके लाया था। उसे तो पता भी नहीं था, कि तू शाल्व को चाहती है। जब उसे तेरे मनोगत भाव विदित हुए, तब तुरन्त उसने तुझे शाल्व के समीप भेज दिया। अब मैं यह करूँगा कि तुझे पुनः भीष्म से स्वीकृत करा दूंगा। वह तेरा विवाह अपने भाई के साथ कर देगा। तुम तीनों बहनें साथ ही सुखपूर्वक रहना।"

अम्बा ने कहा—"यदि उन्होंने मुझे स्वीकृत न किया तो?"

परशुरामजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"करेगा क्यों नहीं? वह मेरा शिष्य है। वह न मानेगा तो मैं उसे पुनः युद्ध में परास्त करूँगा। पर पहले मैं उसे समझाऊँगा। यद्यपि मैंने अस्त्र-शस्त्रों का परित्याग कर दिया है, फिर भी धर्म की रक्षा के लिये ब्राह्मणों की आज्ञा से मैं पुनः अस्त्र ग्रहण कर सकता हूँ।"

अम्बा तो जानती ही थी, भीष्म जैसे आत्माभिमानी, हठी वीराग्रगण्य मुझ पर-पुरुष से प्रेम करने वाली को कभी भी स्वी-

कार नहीं कर सकते। अच्छा है, उनके साथ परशुरामजी का युद्ध हो। यही सोचकर उसने कहा—"भगवन्! जैसी आपकी इच्छा।"

अपनी बात पर बल देते हुए भगवन् परशुराम बोले—"अवश्य, मैं आज्ञा-उल्लंघन करने पर भीष्म को युद्ध में मार डालूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करके अम्बा को साथ लिये हुए परशुरामजी हस्तिनापुर की ओर चले। सहस्रों ऋषि मुनि कुतूहल के कारण उनके साथ हो लिये।

ऋषि-मुनियों से घिरे भगवान् परशुराम कुरुक्षेत्र पहुँचे। वहाँ सरस्वती नदी के तटपर सभी ने डेरा डाल दिया। परशुरामजी ने अपने आने की सूचना देवव्रत गांगेय भीष्म के समीप पहुँचा दी। गुरुवर परशुरामजी का शुभागमन सुनकर भीष्म को अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। वे पुरोहित, मन्त्री तथा वृद्ध ब्राह्मणों को साथ लेकर परशुरामजी के दर्शनों के निमित्त सरस्वती नदी के तट पर आये। आकर भीष्म ने परशुरामजी की प्रेमपूर्वक पूजा की, उनको मधुपर्क अर्घ्य और गो भेंट की। फिर परशुराम ने भीष्म से राज्य, कोष, मन्त्री, अमात्य, सेवक, प्रजा तथा परिवार का कुशल पूछा। तदन्तर परशुराम जी भीष्म से बोले—"राजन्! मैं एक विशेष कार्य से तुम्हारे समीप आया हूँ।"

अत्यन्त ही नम्रता के साथ भीष्मजी ने कहा—"आज्ञा कीजिये, गुरुदेव!"

परशुरामजी ने रुक-रुककर अपना अधिकार प्रकट करते हुए कहना आरम्भ किया—"भैया! तुम जानते ही हो, यह अम्बा सर्वथा निर्दोषा है। इसमें चारित्र्य-सम्बन्धी कोई भी दोष नहीं। तुमने इसे शाल्व के समीप भेजकर उचित ही किया। शाल्व ने

इसे स्वीकार नहीं किया। अब तुम अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिये इसे पुनः स्वीकार कर लो।"

भीष्म जी ने कहा—"भगवन्! ऐसा नहीं हो सकता।"

परशुरामजी ने उत्तेजित होकर पूछा—"क्यों नहीं हो सकता?"

भीष्म ने कहा—"इसलिये कि इसका प्रेम परपुरुष से है।"

परशुराम जी ने कहा—"भाई, होगा तब होगा। फिर उससे तो इसका मानसिक प्रेम था।"

भीष्म जी ने कहा—"भगवन्! मनुष्य का मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। ऐसी स्त्री के साथ विवाह करना आर्य संस्कृति के विरुद्ध है, जो अन्य पुरुष से प्रेम रखती हो।"

यह सुनकर क्रुद्ध हुए सर्प के समान फुफकार छोड़ते हुए परशुराम जी बोले—"भीष्म! तू अपने को बड़ा पण्डित मानता है। इस लड़की का अपहरण करके तूने इसे स्त्री-धर्म से भ्रष्ट कर दिया है। इसीलिये इसका पति इसे स्वीकार नहीं करता। इसका एकमात्र उपाय यही है कि अपने भाई के लिये तू इसे स्वीकार कर ले। नहीं तो मैं तुझे तेरे मन्त्रियों-सहित मार डालूँगा।"

अत्यन्त ही नम्रता के साथ भीष्म बोले—"गुरुदेव! मैं तो आपका प्रिय शिष्य हूँ। आप मुझे किस अपराध पर मार देना चाहते हैं। आप ही सोचें जब उसने एक बार स्पष्ट कह दिया, मैं शाल्व से प्रेम करती हूँ, और मैंने उसे उसकी इच्छा के अनुसार शाल्व के समीप भिजवा भी दिया, तब मैं इसे स्वीकार करूँ, तो कोई कहेगा, मैंने काम के वशीभूत होकर ऐसा किया, कोई कहेगा, 'लोभ किया,' कोई कहेगा, 'परशुरामजी से भयभीत होकर ऐसा अनुचित कार्य किया।' भगवन! मैं काम, क्रोध, लोभ तथा भय से कोई भी अनुचित कार्य नहीं कर सकता।"

यह सुनकर परशुरामजी और भी अधिक क्रुद्ध हुए। उन्होंने कहा—"तू मेरा शिष्य होकर भी मेरी आज्ञा नहीं मानता ? अतः तू वधार्ह है। मैं तेरे साथ युद्ध करूँगा। तू तैयार हो जा।"

भीष्मजी को यह सुनकर रोष आ गया वे बोले—"महर्षे ! मैं काल से भी युद्ध करने को तत्पर हूँ। क्षत्रिय युद्ध से कभी डरते नहीं। अम्बा को मैं ग्रहण न करूँगा न करूँगा, कभी न करूँगा-आप चाहे क्रुद्ध हों या युद्ध के लिये उद्यत हों। आप मेरे गुरु हैं, मैं आप पर पहले प्रहार न करूँगा, किन्तु यदि आप अस्त्र-शस्त्र लेकर क्षात्र धर्म के अनुसार मुझसे लड़ने को तत्पर हो जायँगे, तो मैं पीछे भी न हटूँगा। आपके लिये, वेदों के लिये, ब्राह्मण के लिये, मेरे हृदय मे आदर है। अस्त्र-शस्त्र लेकर समर में सम्मुख लड़ने वाले विप्र का भी वध करना अनुचित नहीं।"

भीष्म के इन वीरता पूर्ण वचनों को सुनकर वीराभिमानी परशुराम जी खिल-खिलाकर हँस पड़े और व्यंग्य के स्वर मे बोले साधु ! साधु !! बड़ी प्रसन्नता की बात है ! भीष्म ! तू मेरा शिष्य होकर मुझसे लडना चाहता है ? जा, तू अपने बन्धु बान्धवों से अन्तिम भेंटकर आ। अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर तू कुरुक्षेत्र मे आ जा। मैं भी वहीं चलता हूँ। आज संसार देखे, वीराभिमानी भीष्म समर मे कैसे गिरता है, कैसे उसके मृतक शरीर को कङ्क, गृद्ध, मांस-भोजी जीव खाते हैं।"

यह सुनकर भीष्मजी ने परशुरामजी के चरणों मे प्रणाम किया और बोले—"अच्छी बात है गुरुदेव ! आप भी तैयार हो जायँ। मैं अपनी माता से अनुमति माँग आऊँ।"

परशुराम जी से अनुमति लेकर उनकी चरण-वन्दना करके भीष्म हस्तिनापुर गये। परशुराम जी ऋषि-मुनियों और अम्बा

को साथ लेकर सरस्वती-तट को छोड़कर स्यमन्त पञ्चक क्षेत्र के समीप रणाङ्गण में जाकर भीष्म की प्रतीक्षा करने लगे।

देवव्रत भीष्म ने सब समाचार अपनी माता सत्यवती को सुनाये। माता पहले तो सहम गई, पर धैर्य धारण करके भीष्म को समर की अनुमति दे दी। उन्होंने भीष्म का स्वस्त्ययन किया। ब्राह्मणों ने उन्हें आशीर्वाद दिये। पुरोहित और सचिवों ने उन्हें स्नेह भरित हृदय से विदा किया। समस्त प्रजा के लोगों ने उनके प्रति मङ्गल कामना की।

भीष्म अत्यन्त शुभ्र वस्त्र पहन कर सफेद फूलों की माला धारण करके, धनुष-बाण लिये, रथ पर चढ़कर, परशुराम जी से युद्ध करने चले। श्वेत घोड़े हिनहिनाते कुरुक्षेत्र की ओर दौड़ चले। कुरुक्षेत्र के निकट पहुँच कर उन्होंने अपना दिव्य शंख बजाया। सभी ने उसे समर की सूचना समझी। आकाश में देवता और देवङ्गनाओं के झुण्ड के झुण्ड विमान आ गये। ऋषि- महर्षि चारों ओर खड़े होकर भीष्म और परशुराम के युद्ध को देखने की उत्सुकता करने लगे।

गांगेय भीष्म जब अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर परशुरामजी से युद्ध करने को उद्यत हुए, तब पुत्र स्नेह से कातर हुई देवी गङ्गा अपना दिव्य रूप रखकर, भीष्म के निकट आई और बोलीं—"बेटा! तू यह क्या अनर्थ कर रहा है? विश्व विजयी परशुराम से तुझे युद्ध करना उचित नहीं। तू मेरा इकलौता पुत्र है। मेरे लाल! परशुराम जी ने इक्कीस बार पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों का संसार किया है। उनसे युद्ध न कर।"

इस पर भीष्म ने वीरतापूर्ण शब्दों में कहा—"माँ परशुराम मुझे भय दिखाकर मुझसे अनुचित कार्य कराना चाहते हैं। इन की तो बात ही क्या, एक बार साक्षात् यमराज भी आ जायँ,

तो डरकर मैं उनके सम्मुख नत न होऊँगा। मेरा कोई अपराध तो है नहीं! परशुराम मुझे युद्ध के लिये ललकार रहे हैं। फिर मैं कैसे पीछे हट सकता हूँ?"

यह सुनकर गंगादेवी परशुरामजी के समीप गईं और अनुनय विनय करके उन्हें समझाने लगीं। तब परशुरामजी ने

कहा—"मुझे तो कोई आपत्ति है नहीं, भीष्म ही अभिमान के

वशीभूत होकर हठ कर रहा है। वह मेरी बात मान ले, तो ठीक है।"

गंगादेवी यह सुनकर पुनः भीष्म के समीप आई और बोलीं—"बेटा! तू अपने गुरु की बात मान ले।"

भीष्म ने कहा—"माँ! तुम इस विषय में कुछ मत कहो। मैं युद्ध से पराङमुख नहीं हो सकता, भय के कारण कभी भी अपनी पद प्रतिष्ठा के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता।"

गंगादेवी ने जब देखा कि दोनों में से कोई मानता नहीं, तो वे भीष्म की मंगल कामना करती हुई अन्तर्धान हो गईं। अब दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ हो गईं। भीष्म दिव्य रथ पर बैठे थे। उनका चतुर सारथी उनका रथ हाँक रहा था। परशुरामजी का रथ भी अलौकिक था। उनके महा बुद्धिमान परम तपस्वी शिष्य अकृतव्रण उस रथ को हाँक रहे थे। जटा-जूटों का मुकुट बाँधे परशुरामजी मूर्तिमान वीर रस-से दिखाई देते थे। उन्होंने सर्वप्रथम भीष्म को लक्ष्य करके तीन बाण मारे। तुरन्त ही भीष्म ने अपने रथ को खड़ाकर दिया और रथ से कूद पड़े। ऋषि-मुनि, देवता तथा अन्यान्य सभी देवव्रत के इस व्यवहार से परम चकित हुए। भीष्म ने धनुष-बाण रथ में रख दिये। वे नंगे पैरों ही चलकर परशुरामजी के समीप पहुँचे, और उनके चरणों में प्रणाम करके उनकी विधिवत् पूजा की। फिर हाथ जोड़कर बोले—"गुरुदेव! मैंने आप से ही बाण विद्या सीखी है। आप मुझे युद्ध करने की आज्ञा दीजिये, और आशीर्वाद दीजिये कि मेरी विजय हो।"

भीष्म का ऐसा सदाचार पूर्ण-व्यवहार तथा उनकी अलौकिक विनय देखकर परशुरामजी का हृदय भर आया। वे बोले—"बेटा! ऐसा व्यवहार करके तूने मुझे प्रसन्न कर लिया। यदि तू

ऐसा न करता, तो मैं तुझे शाप देता। अब जा, विजय का आशीर्वाद तो मैं तुझे दे नहीं सकता, किन्तु तेरा मंगल ही होगा।"

भीष्म उनकी चरण वन्दना करके लौट आये। अब दोनों ओर से घोर युद्ध होने लगा। दोनों ही विश्वविजयी वीर थे। दोनों ही के पास दिव्यास्त्रों के समूह थे, दोनों ही रण-रङ्ग-दुर्मद, संयमी, सदाचारी, ज्ञानी, हठी और अपने पक्ष को प्रबल रखने वाले थे। दोनों ही प्राणों का पण लगाकर रणाङ्गण में अपना पुरुषार्थ और कौशल-प्रकाशित करने लगे। तीन दिनों तक दोनों में घमसान युद्ध होता रहा। तीसरे दिन अत्यन्त क्रोध करके परशुरामजी ने भीष्म के सारथी को मार डाला और भीष्म को मूर्च्छित करके धराशयी कर दिया। गंगा पुत्र देवव्रत को मृतक समझकर परशुराम गर्जना करने लगे, किन्तु अष्ट वसुओं और गंगादेवी ने भीष्म की रक्षा की, उन्हें पुनः चेत हो गया। वे पुनः परशुरामजी के ऊपर दौड़े। अब के उन्होंने एक दिव्य बाण छोड़कर परशुरामजी को घायल किया। मूर्च्छा भंग होने पर परशुरामजी पुनः भीष्म को मारने दौड़े। मुनियों ने उन्हें रोक लिया।

परशुरामजी का पराक्रम देखकर भीष्म निराश से हो गये। रात्रि में सोते समय अष्ट वसुओं ने स्वप्न में ब्राह्मण-वेश में आकर भीष्म को एक दिव्यास्त्र का स्मरण दिलाया। भीष्म ना पूर्व जन्म में वसु ही थे। प्रातःकाल जागते ही उन्हें वह अस्त्र स्मरण हो आया। समर के समय वे ज्योंही उस दिव्यास्त्र को छोड़ने को उद्यत हुए, त्योंही देवता, ऋषि, मुनि, सिद्ध, चारण तथा अन्यान्य दिव्य पुरुषों ने ऐसा करने से भीष्म को मना किया। अष्ट-वसुओं ने भी उन सबकी बात का अनुमोदन किया। गंगादेवी ने भी पुत्र को रोका। उन्होंने सब की सब मान ली। [illegible] ने भीष्म को दर्शन देकर प्रस्तावास्त्र छोड़ने से उन्हें रोक

परशुरामजी के पितृगण आकाश से उतर कर उनके समीप आये उनमें भगवान भृगु, ऋचीक तथा राजर्षि जमदग्नि भी थे। सबने परशुरामजी से युद्ध बन्द करने को कहा। परशुरामजी भीष्म के बल, पराक्रम, तथा युद्ध-चातुरी से सन्तुष्ट हो चुके थे, उन्हें जीतने की आशा खो चुके थे। उन्होंने चिल्लाकर कहा—"भीष्म ने आज मुझे जीत लिया।" यह कहकर वे खड़े हो गये।

तदन्तर परशुरामजी के पितरों ने उन्हें समझाया—"बेटा! ब्राह्मणों के लिये युद्ध शोभा नहीं देता। सब कार्यों का समय होता है! तुम्हारी शूरवीरता का समय समाप्त हो गया। यही बड़े भाग्य की बात है कि तुम भीष्म के हाथ से अभी तक जीवित हो। अब युद्ध समाप्त करो।"

यह सुनकर परशुरामजी ने कहा—"पितरो! युद्ध से न हटने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली है। भले ही भीष्म युद्धबन्द कर दे।"

तब देवगण और पितर भीष्म के समीप आकर उनसे युद्ध बन्द करने को कहने लगे। भीष्म ने वीरता के साथ कहा—"मैं अपने स्थान से एक तिल भी नहीं हट सकता, चाहे ब्रह्माण्ड उलट जाय। क्षत्रिय अपने क्षात्रधर्म को कदापि नहीं छोड़ सकता।"

भीष्म के ऐसे वीरतापूर्ण उद्गार सुनकर सब ऋषि-महर्षियों, पितरों और देवताओं ने परशुरामजी को घेर लिया और बोले—"भीष्म अपना हठ छोड़ नहीं सकते। ब्राह्मण कैसा भी क्यों न हो, उसके हृदय से क्षमा दया-कभी जाती नहीं। अतः आप ही युद्ध बन्द करा दें।"

सबकी सम्मति के सम्मुख परशुरामजी को सिर झुकाना पड़ा। उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र पृथ्वी पर रख दिये। फिर तो भीष्म ने भी अपने अस्त्र-शस्त्र रथ में रख दिये और दौड़कर परशुरामजी के पैरों पर पड़ गये। परशुरामजी ने प्रेमपूर्वक भीष्म

को उठाकर छाती से लगाया, उनका सिर सूँघा और सदा समर-विजयी होने का आशीर्वाद दिया।

जब परशुरामजी की आज्ञा पाकर उनकी पूजा करके भीष्म अपने नगर में लौट गये, तब परशुरामजी ने अम्बा से कहा—"बेटी! मैंने अपनी शक्तिभर चेष्टा की, किन्तु मैं सफल न हो सका। अब तेरी जो इच्छा हो, कर।"

परशुरामजी के मुख से यह बात सुनकर अम्बा ने कहा—"प्रभो! आपका कुछ दोष नहीं, यह सब तो मेरे भाग्य का दोष है। अब मैं तपस्या करके इस शरीर का त्याग करूँगी और दूसरे जन्म मे भीष्म से इस अपमान का बदला लूँगी।"

यह कहकर वह तप करने एकाकी ही वन मे चली गयी। उसके चले जाने पर सभी ऋषि-मुनि अपने-अपने आश्रमो पर चले गये। परशुरामजी भी महेन्द्र पर्वत पर जाकर घोर तप मे निरत हो गये।

अब उस अम्बा ने जाकर वन में भीष्मजी से बदला लेने की भावना से घोर तप आरम्भ किया। ऋषियो ने उसे बहुत रोका, किन्तु वह मानी नहीं। शिवजी ने उसके तप से प्रसन्न होकर दूसरे जन्म में भीष्म से बदला लेने का उसे वर दिया। उसी समय वह कुमारी चिता बनाकर उसमे जल मरी।

इधर महाराज द्रुपद पुत्र के लिये तपस्या कर रहे थे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने उन्हे वर दिया—"तुम्हारे पहले एक कन्या होगी। वही फिर पुत्र बन जायगी।" द्रुपद ने यह बात आकर अपनी रानी से कही। नियत समय पर रानी के के गर्भ से एक कन्या हुई, किन्तु उसने यह प्रसिद्ध कर दिया कि उसके पुत्र हुआ है। उसने उसका नाम शिखण्डी रखा। वह द्रुपद-कन्या जब सोलह वर्ष की हो गयी, तब राजा ने उसे पुत्र

कहकर उसका विवाह दशार्ण देश के राजा हिरण्यवर्मा की पुत्री के साथ कर दिया। जब उस लडकी को पता चला, कि जिसके साथ मेरा विवाह हुआ है, वह लडका न होकर, लडकी है, वह केवल वस्त्राभूषण ही लडकों की भाँति पहनती है। तब उसने यह बात अपनी धाय से कह दी। राजा हिरण्यवर्मा को भी यह बात मालूम हुई। उसने द्रुपद पर चढाई कर दी। राजा रानी बहुत घबडाये। राजा ने द्रुपद के पास दूत भेजकर पूछा—"तुमने मेरा क्यों अपमान किया?" शिखण्डी को बडी लज्जा आई। वह भागकर वन मे चली गयी, वहाँ स्थूणाकर्ण नामक एक यक्ष ने उसका स्त्रीत्व ले लिया और बदले मे उसे पुरुषत्व दे दिया। शिखण्डी ने यह बात आकर अपनी माता को बतायी, फिर माता ने द्रुपद से कही। द्रुपद ने दशार्णराज के पास सन्देश भेजा। राजा को जब विश्वास हो गया कि शिखण्डी लडकी नहीं है, तब वह बिना युद्ध किये ही लौट गया। भीष्मपितामह जानते थे कि अम्बा ही शिखण्डी बनकर उत्पन्न हुई है। अतः उसे देखकर उन्होंने युद्ध मे अस्त्र-शस्त्र त्याग दिये, तभी अर्जुन उन्हें मार सके।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भीष्मजी ने काशि-राज की तीन कन्याओं का हरण करके दो का विवाह तो अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के साथ कर दिया और तीसरी को अपनी मृत्यु का कारण बना लिया।"

विचित्रवीर्य इतनी सुन्दरी दो राजकुमारियों को पाकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे उनमे इतने अधिक आसक्त हो गये, कि महलों से बाहर निकलते ही नहीं थे। राज-काज सब भीष्म ही सम्हालते थे। राजकुमारी रात्रि दिन विचित्रवीर्य की सेवा करतीं। अधिक सगम और विषयाशक्ति के कारण विचित्रवीर्य को राजयक्ष्मा रोग

हो गया। भीष्मजी ने बड़े-बड़े वैद्य और चिकित्सक बुलाकर विचित्रवीर्य की चिकित्सा करायी, किन्तु सब व्यर्थ! अकाल ही सत्यवती-सुत विचित्रवीर्य काल-कवलित हो गये। वे उन युवती स्त्रियों को निःसन्तान छोड़कर परलोकगामी हुए। भीष्मजी ने बड़े कष्ट से अपने दूसरे भाई के भी प्रेत-संस्कार किये। जो दूसरे के अधिकार को छल-बल से छीनता है, वह भी उसका अधिक दिन उपभोग नहीं कर सकता! कुरुकुल की गद्दी पुनः खाली हो गयी। सत्यवती ने भीष्म से विवाह करके गद्दी पर बैठने का बहुत आग्रह किया, किन्तु वे तो दृढ़प्रतिज्ञ थे। उन्होंने राजगद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया। अब तो सबको वंश-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने की चिन्ता हो गयी। सत्यवती अब इसके लिये और उपाय सोचने लगीं।

छप्पय

करिबे अम्बा ग्रहण भीष्म तैं राम कही परि।
मानी नहिं जब बात कही मुनि—आ मोतैं लरि॥
भयो युद्ध घनघोर, देवव्रत परि नहिं हारे।
भये राम सन्तुष्ट सकुचि वन माँहि सिधारे॥
अम्बा बनि के शिखण्डी, भीषम तैं बदलो लयो।
नृप विचित्र आसक्त अति, निज रानिनि महँ ह्वै गयो॥

विचित्रवीर्य के क्षेत्रज सुत

[७८९]

क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः ।
धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

भयो रोग क्षय पुत्र-हीन नृप स्वरग सिधारे ।
माता सुमिरन करे व्यास मुनि तुरत पधारे ॥
कुरु-कुल को क्षय जानि व्यासतैं करवायो सुत ।
अन्ध भये धृतराष्ट्र पाडु अरु विदुर नीति युत ॥
पुत्रवती रानी लखीं, भये हृदय सबके हरे ।
शन्तनु सुत ने सब तनय, पालि-पोसि समरथ करे ॥

धर्म की गति बडी सूक्ष्म है। धर्म प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के त्यागने को नहीं कहता, उन्हें संयमित नियमित करना चाहता है। मैथुन सृष्टि में मैथुन की इच्छा स्वाभाविक है, अपरिहार्य है। विषय-भावना से ही तो प्राणी पैदा होते हैं। अतः उसके लिये कामना होनी ही चाहिये। किन्तु

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! स्वर्गीय विचित्रवीर्य की पत्नियों में बादरायण भगवान् व्यास ने माता सत्यवती के कहने से धृतराष्ट्र, पाडु और विदुर नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये।"

कामना से उसकी तृप्ति नहीं। उपभोग से कामना उसी प्रकार बढती जाती है, जिस प्रकार अग्नि ईंधन डालने से। इसीलिये सर्वज्ञ ऋषियों ने काम की एक व्यवस्था बाँध दी है। यों अव्यवस्थित रूप से कामोपभोग की स्वतन्त्रता दे दी जाय, तो फिर पशुओं और मनुष्यों में अन्तर ही क्या रह जाय! अतः शास्त्रकारों ने कहा है—"ऋतौ भार्यामुपेयात्।" ऋतुकाल में अपनी ही भार्या में गमन करे। यह सामान्य नियम है। कभी-कभी इस व्यवस्था में समयानुसार कुछ छूट देनी पडती है। उसे आपद्धर्म कहते हैं। केवल विषय तृप्ति के लिये जो कार्य किया जाता है, वह धर्म कैसे कहा जा सकता है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज शन्तनु ने काम-वश होकर जो कैवर्त-कन्या के साथ वृद्धावस्था में विवाह कर लिया, जिसके कारण सर्वसमर्थ भीष्म का अधिकार नष्ट हुआ, उसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। कुरु-कुल की परम्परा, जैसी चाहिये वैसी, अक्षुण्य न रह सकी। जिस सत्यवती के रूप पर महाराज आसक्त थे, उसके साथ वे अधिक दिन रह भी न सके। दो छोटे-छोटे बच्चे उसकी गोद में छोडकर वे परलोकवासी हुए। नाम के राजा भले ही हुए हों, पर राजकाज तो सब भीष्म ही करते थे। भीष्म को आशा थी, इन दोनों लडकों में से कोई तो योग्य निकलेगा ही। किन्तु दोनों में से कोई योग्य न निकला। सत्यवती को बडी चिन्ता हुई, कि कुरु-कुल का, पुरुवंश का नाम ही मिटा जाता है। उसकी दृष्टि देवव्रत भीष्म पर जाती थी। पर वह जानती थी, देवव्रत बडे हठी और दृढप्रतिज्ञ हैं। इसीलिये उनसे कुछ कहने का उसे साहस नहीं होता था।

एक दिन माता एकान्त में भीष्म से अत्यन्त ही नम्रता के साथ कहा—"देवव्रत! देखो, आज कुरु-कुल का दीपक बुझ रहा

है। सबकी दृष्टि तुम पर ही लगी है। अतः तुम अपनी प्रतिज्ञा ढीली करो—राजगद्दी पर बैठो, विवाह करो, सन्तान उत्पन्न करो, और कुरु-कुल की वंश परम्परा को अविछिन्न बनाओ।"

भीष्म ने कहा—"माताजी! सज्जन अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते। मैं राज्य-ग्रहण न करने की अपनी प्रतिज्ञा से डिग नहीं सकता।"

माता ने कहा—"तुम मेरे आग्रह से इसे स्वीकार करो। राज्य लेने को तो मैं कह नहीं रही हूँ, मैं तो कुल परम्परा की वृद्धि के लिये आग्रह कर रही हूँ। तुम्हें यह भय हो, कि मेरे पश्चात् मेरे पुत्र ही राज्याधिकारी होंगे इससे मैं संसार के सम्मुख झूठा बनूँगा, तो तुम एक काम करो। अभी तो तुम राज्यभार सम्हालो विवाह मत करो। विचित्रवीर्य की जो ये दो राजकुमारियाँ हैं, परम सुन्दरी हैं, युवती हैं, इनमें तुम सन्तान पैदा करो। शास्त्रकारों का मत है कि जिसके साथ जिसका पाणिग्रहण होता है, उस क्षेत्र में जो सन्तान होती है वह उसी की कहाती है। इन रानियों में जो पुत्र होंगे, वे विचित्रवीर्य के ही कहावेंगे। जब वे समर्थ हो जायँ, तो तुम राज्य उन्हें दे देना। इससे वंश-परम्परा भी अक्षुण्य बनी रहेगी, तुम्हारी प्रतिज्ञा भी न टूटेगी। यद्यपि ऐसा करना विशुद्ध धर्म नहीं, किन्तु इस समय तो हमें आपद्धर्म का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा।"

भीष्मजी ने कहा—"माताजी! आपका कथन सत्य है। किन्तु मेरी यह प्रतिज्ञा भी तो है, कि मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा। इसलिये विचित्रवीर्य की बहुएँ मेरे लिये पुत्री तथा पुत्र-वधू के समान हैं। मैं उनसे क्या, किसी स्त्री में सन्तान उत्पत्ति नहीं कर सकता।"

निराश होकर सत्यवती ने कहा—"तब अब क्या हो? क्या

राजर्षि प्रतीप का वंश नष्ट हो जायगा ? तुम तो धर्मात्मा हो, तुम्हीं कोई धर्म बताओ।"

भीष्मजी ने कहा—"माताजी ! आपत्तिकाल में मर्यादा रहती नहीं। मर्यादा हीन धर्म का ही नाम आपद्धर्म है। जब-जब आपत्ति आई है, तब-तब ऐसे धर्मों का पालन करना पड़ा है। जब परशुराम जी ने पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों को नष्ट कर डाला था, तब क्षत्राणियों ने ब्राह्मणों द्वारा सन्तानें उत्पन्न कराई थीं और वे सब के सब क्षत्रिय कहलाये। यदि सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त वे सङ्गम करतीं, तो वह व्यभिचार होता। इसी प्रकार तुम भी किसी सुयोग्य ब्राह्मण को बुलाकर उसके द्वारा इन दोनों रानियों में सन्तान उत्पन्न करा लो, दूसरा कोई उपाय नहीं।"

इस पर लजाते हुए सत्यवती ने कहा—"देवव्रत ! तुम मुझसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो, धर्मात्मा हो। हम सब की तुम ही एक गति हो। एक ऐसी बात है, जो तुमसे कहनी तो न चाहिये, किन्तु कहे बिना काम भी नहीं चलता। देखो, जब मैं कुमारी कन्या थी, तभी मेरे भगवान् पराशर के द्वारा एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, वह पिता के ही समान तेजस्वी था। पैदा होते ही वह अपने पिता के साथ चला गया था। जाते समय वह वर दे गया था—"माताजी ! आप जब भी मेरा स्मरण करेंगी, मैं आ जाऊँगा।" यदि तुम्हारी अनुमति हो, तो मैं उसे ही बुला लूँ। उसी से इन रानियों में सन्तान उत्पन्न कराऊँ। उसका नाम व्यास है।"

भीष्मजी ने कहा—"माताजी ! मैं भगवान् वेदव्यास को भली भाँति जानता हूँ। यह भी मुझसे अविदित नहीं है, कि वे आपके कानीन पुत्र हैं। महामुनि पराशर के आशीर्वाद से उन्हें जनकर भी आपका कन्यापन नष्ट नहीं हुआ था। उनके द्वारा सन्तान उत्पन्न कराना अधर्म नहीं है।"

धर्मात्मा भीष्म की अनुमति पाकर माता सत्यवती ने उसी समय अपने पुत्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास तुरन्त वहाँ प्रकट हो गये। माता के हर्ष का वारापार नहीं रहा। कुशल-प्रश्न के अनन्तर उन्हें माता ने आदि से अन्त तक सारी कथा सुना दी। आपद्धर्म जानकर भगवान् वेदव्यास ने माता के गौरव से यह बात स्वीकार कर ली। उन्होंने कहा—"माँ! मेरा तेज असह्य है। मेरे शरीर से तपस्या के कारण उत्कट गन्ध निकलती है, घोर तप करने के कारण मेरा शरीर काला और कठोर हो गया है, जटायें ताम्रवर्ण की हो गई हैं। जिस स्त्री ने व्रत-उपवास न किया हो, वह मेरे समीप नहीं आ सकती। अतः तुम दोनों बहुओं से एक-एक वर्ष व्यापी व्रत कराओ। तब मेरे समीप आने की योग्यता प्राप्त कर सकेंगी।"

माता सत्यवती ने कहा—"भैया! हमें तो एक-एक क्षण भारी पड रहा है। बिना राजा के प्रजा उच्छृङ्खल हो जाती है, सर्वत्र अराजकता फैल जाती है, समय पर इन्द्र वर्षा नहीं करते, धार्मिक क्रियायें लुप्त हो जाती हैं। अतः तुम शीघ्र ही मेरे इस काम को करो।"

व्यासजी ने कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा। किन्तु तुम बहुओं से कह देना, वे सावधान रहें, डरें नहीं।"

सत्यवती ने यह बात स्वीकार कर ली। उसने अपनी बड़ी बहू अम्बिका को, जिसका नाम कौशल्या भी था, भली प्रकार समझा दिया। राजकुमारी ने इस बात पर आपत्ति की, किन्तु जब सास ने आग्रह किया, तब उसने उसे स्वीकार किया।

निशीथ के समय अम्बिका के शयनगृह में भगवान् व्यास पधारे। अम्बिका वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। शयनगृह भली-भाँति सजाया गया था। उसमें

सुन्दर सुगन्धित तैल का दीपक जल रहा था। भगवान् व्यास के पधारते ही वह गृह गन्ध से भर गया। भगवान् की लम्बी-लम्बी सुनहली जटाएँ दीपक के प्रकाश में विद्युतलता के समान दमकती हुई हिल रही थीं। बड़े बड़े विशाल नेत्रों से दिव्य प्रकाश निकल रहा था। उनकी दाढ़ी मूँछें कड़ी और कुछ-कुछ भूरी थीं। वे रुरु नामक मृग का चर्म ओढ़े थे। उनके ऐसे रूप को देखकर अम्बिका ने डर से नेत्र बन्द कर लिये और फिर व्यास भगवान् को उसने देखा ही नहीं। भगवान् उसके गर्भाधान-संस्कार करके चले गये।"

सत्यवती ने अत्यन्त ही उत्सुकतापूर्वक पूछा—"तात! बताओ कौशल्या के गर्भ से हमारे कुल के अनुरूप ही पुत्र होगा न?"

व्यासजी ने कहा—"माताजी! मैंने तो आपसे पहले ही कहा कि सब काम में शीघ्रता अच्छी नहीं होती कौशल्या के गर्भ से दश हजार हाथियों के समान बलवाला पुत्र होगा, किन्तु होगा अन्धा, क्योंकि तुम्हारी बहू ने मुझे देखकर नेत्र बन्द कर लिये थे।"

सत्यवती ने कहा—"भैया! अन्धा पुत्र तो राजा नहीं हो सकता। तुम कृपा करके और एक पुत्र हमारे लिये दूसरी रानी में उत्पन्न करो।"

भगवान् व्यास ने यह बात माता के गौरव से पुनः स्वीकार कर ली। अब के सत्यवती ने अपनी छोटी बहू अम्बालिका को भली-भाँति समझा दिया, कि तू नेत्र बन्द मत करना, सावधान रहना।" बहू ने भी यह बात मान ली। किन्तु जब नियत समय पर भगवान् वेद-व्यास पधारे, तब उनके तेजस्वी, तपस्वी रूप को देखकर मारे भय के पीली पड़ गयी। भगवान् ने उसके भी गर्भ धारण कराया। जब सत्यवती ने फिर पूछा—"इससे कैसा पुत्र

होगा ?" तब भगवान् ने कहा—"क्या बताऊँ माँ ! तुम्हारा भाग्य ही ऐसा है। पुत्र तो अच्छा होगा, किन्तु वह पीले रङ्ग का होगा। रान-काज में भी उसकी रुचि न होगी, क्योंकि तुम्हारी बहू मुझे देखकर भय के कारण पीली पड़ गई थी।"

इस पर सत्यवती ने कहा—"भैया ! एक बार तुम और कृपा करो। मेरी बड़ी बहू से एक सन्तान और उत्पन्न कर दो।"

भगवान् ने कहा—"माँ ! मैं जो भी कर रहा हूँ, विशुद्ध धर्म बुद्धि से कर रहा हूँ। इसमें काम का गन्ध भी नहीं।'

सत्यवती ने कहा—'भैया ! यह तो मैं जानती हूँ। तुम जितेन्द्रिय और साक्षात् धर्म के स्वरूप हो, किन्तु हमारी विपत्ति की ओर भी तो देखो। हमें एक सर्वगुण सम्पन्न सुत की आवश्यकता है, जो कुरु कुल का यशस्वी राजा हो।

व्यास जी ने कहा—"अच्छी बात है, एक वर्ष के पश्चात मैं फिर आऊँगा।' व्यासजी तुरन्त वहीं पर अन्तर्धान हो गये।

समय आने पर अम्बिका ने एक पुत्र उत्पन्न किया, जो जन्मांध था। उसका नाम धृतराष्ट्र हुआ। कुछ काल के अनन्तर अम्बालिका ने भी एक पुत्र रत्न प्रसव किया, जो पीतवर्ण का था। सम्पूर्ण शरीर का पाण्डु वर्ण होने से उसका नाम पाण्डु प्रसिद्ध हुआ।

अम्बिका जब प्रसव से निवृत्ति पा गई तब सत्यवती ने उसे समझाया—'बेटी ! यह अन्धा पुत्र तो राजा होने योग्य नहीं। अतः अबके तेरे जेठ आवेंगे। तू उनसे डरना मत।' यह सुनकर अम्बिका ने वैसा ही किया, किन्तु उसके मन में व्यास भगवान का भय बैठा हुआ था। नियत तिथि को भगवान के पधारने की बात थी। अम्बिका बहुत डर रही थी।

सूतजी बोले--"हे महाराज ! हुई क्या नहीं ? किन्तु वे भी सब व्यासादि मुनियों की कृपा से हुई। अब मैं कौरव पाण्डव के जन्म का ही कथा सुनाता हूँ। आप इन नरपतियों की गाथा श्रद्धा सहित श्रवण कर।"

छप्पय

अन्ध न राजा होहि विदुर दासीके जाये।
तातैं मझिले पाण्डु प्रजा ने भूप बनाये॥
अन्ध कुमर धृतराष्ट्र संग ब्याही गंधारी।
जानि अन्ध पति कबहुँ स्वयं नहिं वस्तु निहारी॥
पति समान अन्धी भई, नयननि पट्टी बाँधिकें।
विपुल कीर्ति जगमह लही, यों अखण्ड व्रत साधिकें॥

धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र

[७९०]

गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशत नृप ।
तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुःशला चापि कन्यका ॥
शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः ।
जाता धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रयः ॥
नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्रयोः ।*
(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० २६, २७, २८ श्लोक)

छप्पय

एक सुता शत पुत्र जने गान्धारी रानी ।
दुर्योधन जिनिमाँहि ज्येष्ठ अतिशय अभिमानी ॥
कौरव सबकूँ कहैं पाण्डुसुत पाँचहु पाण्डव ॥
अर्जुन हरि के सखा जरायो जिन बन खाण्डव ॥
भारतमहँ कौरव मरे, पुत्र-मित्र-बान्धव सहित ।
कुन्ती माद्रीमहँ भये, पाँच पाण्डु के अमरसुत ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! महाराज धृतराष्ट्र के उनकी पत्नी गान्धारी से सौ पुत्र उत्पन्न हुए जिनमे दुर्योधन सबसे बडा था। दुःशला नाम की एक कन्या भी थी। पाण्डु शापवश मैथुन नही कर सकते थे। अत उनके धर्म, वायु और इन्द्र द्वारा युधिष्ठिर आदि तीन पुत्र हुए। दूसरी पत्नी माद्री से भी अश्विनीकुमारो द्वारा नकुल और सहदेव दो पुत्र हुए। इस प्रकार कौरव सौ और पाण्डव पाँच थे।'

जिन सन्तानों को पिता ने पैदा किया है या पुत्र-पुत्री मानकर पालन-पोषण किया है, उन्हें विवाहित देखने की माता-पिता की स्वाभाविक इच्छा होती है। जिसमें मनुष्य स्वयं सुख का अनुभव करता है, उसी को अपने प्रिय को देना चाहता है। गृहस्थ का सबसे बड़ा सुख है, मिथुन हो जाना, एक से दो बन जाना। माता-पिता के लिये योग्य वधू और पुत्री के लिये योग्य वर के लिये निरन्तर चिन्तित रहते हैं। विवाह होने से सम्बन्धियों और वंश की वृद्धि होती है। अतः गृहस्थियों का सबसे श्रेष्ठ महोत्सव, सबसे सुख-प्रद कार्य विवाह ही होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शन्तनु-सुत भीष्म ने धृतराष्ट्र, पान्डु और विदुर को पाल-पोसकर बड़ा किया। जब तीनों भाई कुरु-कुल की गद्दी पर बैठ गये और युवा हो गये, तब भीष्मजी को उनके विवाह की चिन्ता हुई। बड़े होने के नाते सबसे पहले उन्हें धृतराष्ट्र का विवाह करना था। धृतराष्ट्र अन्धे थे। अन्धे को अपनी कन्या कौन दे? किन्तु उत्तम कुल और धन ऐश्वर्य का ऐसा प्रलोभन होता है, कि महाव्याधि युक्त पुरुषों का भी विवाह हो जाता है। धृतराष्ट्र तो युवक सुन्दर राज-पुत्र थे।

गांगेय भीष्म ने सुना कि गान्धार देश के राजा सुबल के यहाँ एक अत्यन्त ही रूपवती-गुणवती पुत्री है। अतः उन्होंने उनके पास धृतराष्ट्र को अपनी कन्या देने का सन्देश भेजा।

महाराज सुबल ने जब सुना, धृतराष्ट्र तो अन्धे हैं, तब वे सोच में पड़ गये कि अपनी इतनी सुन्दरी-सुकुमारी, प्यारी-दुलारी पुत्री का विवाह एक जन्मान्ध के साथ जानबूझकर कैसे कर दूँ! फिर उन्होंने सोचा—"हम साधारण राजा हैं, कुलीन वंश के राजकुमार हमारे साथ सम्बन्ध करने में हिचकते हैं। हमारा देश भी म्लेच्छ-प्राय है। अच्छा है हमारा पुरुवंशी राजाओं से सम्बन्ध

स्थापित हो जाय। नेत्रहीन होने से क्या हुआ! इतने बड़े घर में जाकर कन्या तो सुख पावेगी।" यही सब सोच विचारकर महाराज सुबल ने सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। महाराज के एक पुत्र था शकुनि। उसने भी पिता की सम्मति का अनुमोदन किया। इतनी दूर से बरात क्या बुलाती! यही सोचकर शकुनि अपनी बहन को रथ पर बिठाकर स्वयं ही हस्तिनापुर ले आया। भीष्मजी यह देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने महलों में शास्त्र विधि के साथ धृतराष्ट्र का विवाह गान्धारी के साथ कर दिया।

गान्धारी ने जब से यह बात सुनी कि मेरे पिता ने मेरा विवाह एक जन्मान्ध राजकुमार के साथ करने का निश्चय किया है, उसने भी तभी से अपनी आँखों में मोटी पट्टी बाँध ली। उसने सोचा—"मैं अपने अंधे पति के सदृश ही रहूँगी, जिससे मेरे मन में उनके प्रति अनादर का भाव न आ जाय।"

गान्धारी बड़ी ही पतिपरायणा थी। वह अपने शील, स्वभाव सदाचार तथा सद्व्यवहार से समस्त सम्बन्धियों को प्रसन्न रखती धृतराष्ट्र ऐसी सती साध्वी, पतिव्रता पत्नी पाकर परम प्रमुदित हुए और सुखोपभोग करने लगे।

भीष्म को पाण्डु के विवाह की चिन्ता हुई। महाराज पाण्डु शूरवीर, सुन्दर और गुणी थे। किन्तु वे पीले थे। भीष्मजी चाहते थे, कोई कन्या स्वयं उन्हें वरण करे। उन्हीं दिनों सुना कि महाराज कुन्तिभोज की कन्या कुन्ती का स्वयंवर है। कुन्ती उनकी अपनी पुत्री नहीं थी।

वृष्णिवंशीय महाराज शूरसेन बड़े ही धार्मिक राजा थे। उन्हीं के नाम से उस देश का नाम शूरसेन प्रसिद्ध हुआ। महाराज कुन्तिभोज उनकी बूआ के लड़के थे। दोनों में बड़ा स्नेह था।

महाराज कुन्तीभोज के कोई सन्तान नहीं थी। शूरसेनजी ने कहा—"हम अपनी पहली सन्तान आपको दे देंगे।"

भाग्य की बात! महाराज के हुई पुत्री। महाराज ने उसका नाम रखा पृथा। अपनी प्रतिज्ञानुसार महाराज शूरसेन ने उस कन्या को अपने फुफेरे भाई कुन्तिभोज को दे दिया। जैसे एक कुमुदिनी सुन्दर सरोवर से लायी जाकर दूसरे सरोवर में वृद्धि को प्राप्त होकर खिलती है, उसी प्रकार महाराज शूरसेन के महलों से जाकर पृथा महाराज कुन्तिभोज के महलों में बढ़ने लगी। वहाँ आकर उसका नाम कुन्ती प्रसिद्ध हो गया। महाराज शूरसेन के पृथा के अलावा चार कन्याएँ तथा वसुदेव आदि दस पुत्र और हुए। इसीलिये भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी की कुन्ती फूआ लगती थी। महाराज ययाति ने अपने पाँच पुत्रों में से चारों को राज्य से बहिष्कृत कर दिया था। केवल सबसे छोटे पुत्र पुरु को ही विशुद्ध क्षत्रिय मानकर राजा बनाया था। अतः पुरुवंशीय राजा क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। यदुवंशी वैसे तो राजा होते थे, किन्तु उन्हें नियमानुसार सम्राट् के चिन्ह धारण करने का अधिकार नहीं था। पुरुवंशी राजाओं से उनका विवाहादि सम्बन्ध भी नहीं होता था। जब कुन्ती कन्या ही थी, तभी उसे महर्षि दुर्वासा की कृपा से देवहूती विद्या प्राप्त हो गई थी। मन्त्र की परीक्षा के लिये कुतूहलवश उसने भगवान सूर्य नारायण को बुलाया। उन्हीं से कन्यावस्था में ही अपने पिता के घर में ही महावीर कर्ण का जन्म हुआ। लोकापवाद के भय से कुन्ती ने छिपाकर उसे पिटारी में रखकर नदी के जल में छोड़ दिया। फिर भी सूर्य की कृपा से वह पूर्ववत् कन्या ही बनी रही। उसकी सुन्दरता की सर्वत्र ख्याति थी। बहुत से क्षत्रिय कुमारों ने महाराज कुन्तिभोज से कुन्ती की याचना की। एक को दें, एक को

न दें, तो बहुतों के बुरे बनें—यह सोचकर महाराज कुन्तिभोज ने कन्या का स्वयम्बर रचा। उसमे महाराज पांडु भी पधारे। कुरु-कुल-भूषण महाराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। कुन्ती ने भी महाराज पांडु की वीरता की ख्याति सुन रखी थी। अतः उसने उन्हीं के कंठ मे जयमाला पहना दी। अन्य सभी आगत राजा और राजकुमार निराश होकर लौट गये, कुन्ती का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ महाराज पांडु के संग हुआ। कुन्ती जैसी सुन्दरी पत्नी पाकर पांडु प्रसन्न हुए।

कुन्ती के कुछ काल तक कोई सन्तान न हुई। तब भीष्मजी ने महाराज पांडु का दूसरा विवाह करना चाहा। उन्होंने सुना, महाराज मद्रराज के माद्री नाम्नी बड़ी ही सुन्दरी कुमारी है। शास्त्रकारों ने माद्र देश की बड़ी निन्दा की है। यह बात महाभारत मे महावीर कर्ण ने अपने सारथी बने मद्रराज महाराज शल्य से बार-बार कही है। अस्तु, इससे क्या। "कन्या-रत्नं दुष्कुलादपि" ऐसा नीतिकारों का वचन है। सो मद्रराज तो क्षत्रिय ही थे। इसीलिये देवव्रत भीष्म मन्त्री, पुरोहित तथा ब्राह्मणों के साथ वल्हीक वशावतंस महाराज मद्रराज के महलो मे स्वय गये। अपने यहाँ उनको आये देखकर मद्रराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होने विधिवत् भीष्म की पूजा की और नम्रता के साथ पूछा—"प्रभो! किस प्रयोजन से आप इतने नद, नदी, वन तथा पर्वतो को लाँघकर मेरे यहाँ पधारे हैं? मेरे लिये कोई सेवा हो तो, उसके लिये आज्ञा कीजिये।"

भीष्म ने यह सुनकर कहा—"राजन्! मैंने सुना है, आपकी कोई विवाह-योग्य अत्यन्त ही सुन्दरी कन्या है। उसे मैं अपने भतीजे पाण्डु के लिये आपसे माँगने आया हूँ।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए मद्रराज बोले—"महा-

राज ! मेरे लिये यह तो परम सौभाग्य की बात है। पुरुवंशी नरपतियों से सम्बन्ध स्थापित करना कौन नहीं चाहेगा। राजन ! मेरी कन्या के लिये ऐसा सुन्दर वर, ऐसा समृद्धिशाली, गौरवान्वित कुल, पृथ्वी पर और कहाँ मिलेगा। किन्तु राजन् ! हमारा कुल परम्परागत एक सदाचार है।"

देवव्रत भीष्म ने पूछा—"वह क्या है ?"

मद्रराज बोले—"मेरे यहाँ वर से धन लेकर विवाह करते हैं।"

भीष्म ने कहा—"यह तो बात अच्छी नहीं है। कन्या का द्रव्य लेकर विवाह करना निन्दनीय कार्य है।"

मद्रराज बोले—"जो हो, मुझे तो अपनी कुल परम्परा का पालन करना ही है।"

इस पर हँसकर भीष्म ने कहा—"अच्छी बात है। अपने पूर्वपुरुषों की स्थापित की हुई मर्यादा का आप पालन करें। मैं आपको यथेष्ट धन दूँगा।" यह कहकर भीष्मजी ने बहुत-सा सुवर्ण, बहुत मणि-माणिक्य-जटित सुवर्ण के आभूषण, रत्न, हय, गज तथा मोतियों के ढेर के ढेर मद्रराज को दिये। इन सब वस्तुओं को लेकर मद्रराज शल्य ने अपनी बहन माद्री को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके भीष्म को दिया। वे उसे हस्तिनापुर में ले गये और शुभ मुहूर्त में उसका विवाह पाण्डु के साथ कर दिया। अब पाण्डु के कुन्ती और माद्री—दो पत्नियाँ हो गईं और धृतराष्ट्र के एक गान्धारी। अब रह गये विदुरजी। सो उनके विवाह के लिये भी भीष्म चिन्तित हुए।

एक दिन माथुर मंडल के किसी ब्राह्मण से भीष्म ने सुना कि वंश के चाचा महाराज देवक के शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न एक युवती कन्या है, वह बड़ी ही सुशीला तथा धर्मपरायणा है। इस समाचार को सुनते ही भीष्मजी महाराज आहुक के पुत्र उग्रसेन के

भाई देवक के समीप गये और विदुर के लिए उनकी पुत्री माँगी।

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज देवक ने वह सुन्दरी सुकुमारी सर्व लक्षण-लक्षणा कन्या भीष्म को दे दी। वे उस लडकी को लेकर अपने नगर मे आये और उसका विवाह विदुरजी के साथ कर दिया। महाराज देवक की देवकी आदि सात कन्याओं का विवाह वसुदेवजी के साथ हुआ था। माता देवकी के गर्भ से ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अवतार लिया था। इस सम्बन्ध से विदुरजी भगवान् के मौसा लगते थे।

इस प्रकार तीनो भाइयों के विवाह हो गये। कालान्तर मे धृतराष्ट्र के सौ पुत्र और एक कन्या हुई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज धृतराष्ट्र के सौ पुत्र कैसे उत्पन्न हुए? सौ वर्ष मे सौ या दश-दश, पाँच-पाँच?"

हँसकर सूतजी बोले—"सौ के सौ महाराज! एक साथ ही।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सो कैसे? सूतजी! इस कथा को आप हमे सुनाये।"

सूतजी बोले—"सुनिये, महाराज! धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी बडी पतिव्रता थी। एक दिन भगवान् वेद-व्यास गान्धारी के यहाँ अतिथि हुए। गान्धारी ने उनका अत्यधिक स्वागत-सत्कार किया। उसकी सेवा से सन्तुष्ट होकर व्यासजी ने उससे कहा—"बेटी! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, तू मुझसे कोई वर माँग ले।"

गान्धारी ने हाथ जोडकर कहा—"भगवन! मेरे सौ पुत्र हो।"

व्यासजी ने कहा—"ऐसा ही होगा।" यह कहकर वे चले गये। कालान्तर मे गान्धारी गर्भवती हुई। नौ महीने पूरे हो चले, दश बीते, एक वर्ष बीत गया—प्रसव के कोई लक्षण ही नहीं। गान्धारी को बडी चिन्ता हुई, एक एक महीना करके एक वर्ष और बीत गया। फिर भी प्रसव का कोई ठिकाना नहीं! इसी बीच

उसने सुना कि कुन्ती ने एक पुत्ररत्न अरण्य में उत्पन्न किया है। अब तो उसे बडी ईर्ष्या होने लगी। मेरी द्वैरानी तो पुत्रवती हो जायँ, जिठानी होकर भी मेरे पुत्र नहीं! दो वर्ष से इस गर्भ को पेट मे लिये फिरती हूँ, फिर भी यह न बढता है, न बाहर निकलता है। कौन भूत, प्रेत, राक्षस मेरे उदर मे आ गया? यह सोचकर उसे क्रोध आ गया। उसने गर्भस्थ बालक को हाथ मार मार कर बाहर निकाल दिया। एक मास पिंड उत्पन्न हुआ। उसके हाथ, पैर, सिर धड—कुछ भी नही थे। उसने दासी से कहा—"इस मास पिंड को बाहर फेंक आ।"

दासी ज्योंही उसे बाहर फेंकने चली, त्योंही भगवान् व्यास देव वहाँ प्रकट हो गये। उन्होंने दासी को रोकते हुए कहा—"ठहरो।" दासी ठहर गई। भगवान् व्यास गान्धारी के पास जाकर पूछने लगे—"सुबल पुत्री! क्या बात है?"

गान्धारी ने कहा—"अजी, महाराज! कहाँ तो सौ पुत्रों का आप वर दे गये कहाँ दो वर्ष मे एक हुआ भी, तो लोहे के समान मास पिंड! यह तो अब भी न होता, मैंने बलपूर्वक इसे बाहर किया है।"

व्यासजी ने कहा—"देख, बेटी! मैंने तो कभी हँसी में भी असत्य भाषण नहीं किया है। तेरे सौ पुत्र अवश्य होंगे। किन्तु तूने ईर्ष्या-वश शीघ्रता कर डाला। अभी इसे दो वर्ष से अधिक गर्भ मे रहना था। अस्तु, कोई बात नहीं। तू इसे एक पात्र मे रखकर ठण्डे जल से नित्य सींचती रह। कुछ दिनों में अपने आप इसके सौ टुकडे हो जायँगे। उनमे से प्रत्येक को घृत के भरे घडे घडे में रखकर तू उनका मुख बन्द कर देना और दो वर्ष तक उनको मत खोलना। जितने घडे हैं, उन सबमे एक एक पुत्र हो जायगा। अबके मेरे आज्ञानुसार ही काम करना!"

गान्धारी ने कहा—"अच्छी बात है, भगवन् !"

यह सुनकर भगवान् व्यासदेव तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये। गान्धारी ने बड़े-बड़े सौ घड़ो मे घृत भरवा रखा था। एक दिन सहसा अँगूठे के पोर के समान उस मांस-पिंड के सौ टुकड़े हो गये। गान्धारी उन्हे बड़ी सावधानी से दासी से घृत के घड़ो मे रखवाने लगी। उसी समय उसके मन मे संकल्प हुआ, "मेरे एक पुत्री होती, तो उसका कन्यादान करती! स्त्रियो के लिये जामाता अत्यन्त ही प्यारा होता है।" वह यह सोच ही रही थी, कि धाय ने कहा—"मैंने सौ घड़ो मे तो इन टुकड़ो को रख दिया, फिर भी एक शेष रहता है।"

गान्धारी ने कहा—"इसे भी एक घृत भरी नाँद मे रख दो और भली-भाँति ढँक दो।" धाय ने ऐसा ही किया।

दो वर्ष के अनन्तर पहला घड़ा खोला गया। उसमे से एक बडा हृष्ट-पुष्ट बालक उत्पन्न हुआ। उसका नाम दुर्योधन रखा गया। तदनन्तर क्रम-क्रम से एक-एक दिन के पश्चात् सभी घड़े खोले गये। उनमे से सौ पुत्र और एक दुःशला नाम की कन्या निकली। दुःशला का विवाह जयद्रथ के साथ हुआ। ये दुर्योधनादि सभी बड़े बली और मानी थे। इनके पुत्र हुए, किन्तु वे सबके सब महाभारतीय युद्ध मे मारे गये। इसलिये धृतराष्ट्र का वश तो आगे चला नहीं, अब मैं पाण्डु के वश का वर्णन करता हूँ।

महाराज पाण्डु बड़े मृगया प्रेमी थे। इन्हे राज्य-सुखभोग अच्छे नहीं लगते थे। वे राज-पाट अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र को सौंपकर अपनी दोनो पत्नियो को साथ लेकर पर्वत पर चले गये। वे वहाँ बदरीनारायण के समीप के पर्वत शिखरो पर आनन्द के साथ विहार करने लगे। वहाँ उन्होंने एक शिव की स्थापना की,

जो अद्यावधि बद्रीनारायण न नीचे पाण्डुकेश्वर के नाम से विख्यात है। उनसे ऊपर पर्वत के सात शृङ्ग हैं। देवताओं का निर्मित एक हिमकुण्ड है। लोकपालो द्वारा बनाये जाने से वह तीर्थ लोकपाल तीर्थ के नाम से विख्यात है। महाराज पाण्डु शापवश स्वय तो सन्तान उत्पन्न करने म समर्थ नहा थे। उन्होंन देवताओं से अपनी दोनो रानियों मे पाँच पुत्र उत्पन्न कराये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज पाण्डु को किसने शाप देकर सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य बना दिया? देवताओं से कुन्ती-माद्री ने कैसे पुत्र उत्पन्न कराये?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज सुनिये। एक बार महाराज पाण्डु ने वन मे शिकार करते एक मृग को मृगी के साथ सगम करते देखा। छिपकर महाराज ने दो बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया। बाण लगते ही वे विकल होकर भूमि पर गिर पड़े। उस समय मृग मानवी वाणी मे बोला—"राजन्! आपने हम मारकर घोर पाप किया है। मे वास्तव मे मृग नहीं था, किन्दम नाम का ऋषि था। योग बल से मृगी बनी अपनी पत्नी मे गर्भाधान कर रहा था।"

राजा ने विनय के साथ कहा—'ब्रह्मन्! मुझे तो पता नहा था कि आप ऋषि हैं।"

मृग ने कहा—"मृग को भी ऐसे छिपकर न मारना चाहिये।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मृगया के नियमो मे यह कहीं नहीं है। पशु असावधान हो, सो रहा हो, बैठा हो, राजा उसे घेरकर, छिपकर, छलकर—जैसे चाहे, मार सकते हैं।"

मृग ने कहा—"देखिये! मैथुन का समय प्राणिमात्र के लिये अत्यन्त हितकर, सुखकर तथा प्रिय है। उसमें जो विघ्न डालता है, उसे पाप लगता है। मैं सन्तति की कामना से अपनी भार्या

मे गर्भाधान कर रहा था। मेरी अभिलाषा पूर्ण भी नही हुई थी, कि आपने बीच मे ही आकर हम दोनो के आनन्द को नष्ट कर दिया। आपने मृग रूप मे हमे मारा है। अतः आपको ब्रह्म-हत्या तो लगेगी नहीं, किन्तु मैं शाप देता हूँ कि जब भी आप अपनी पत्नी मे मैथुन करने में प्रवृत्त होगे, आपकी भी यही दशा होगी, आप भी तत्क्षण मर जायँगे। आपकी पत्नी भी मृगी के सदृश आपके साथ सती हो जायगी।" ऐसा शाप देकर वे मृग-रूपधारी ऋषि अपनी पत्नी-सहित स्वर्ग सिधार गये। राजा को इससे दुःख हुआ। उन्होंने स्त्री-सग सर्वदा के लिये त्याग दिया।

महाराज पाण्डु को मृग की बातो से बडा वैराग्य हुआ। वे राजपाट छोडकर दोनो पत्नियों को लेकर लोकपाल पर्वत पर चले गये। वहाँ मुनियो के मुख से उन्होंने सुना, कि जिसके पुत्र नहीं होते हैं, उनको स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, उनके पितर दुःखी होते हैं। तब महाराज को वन मे पुत्र की इच्छा उत्पन्न हुई। स्वय तो वे पुत्र उत्पन्न कर नही सकते थे, उन्होंने कुन्ती से ऋषियों द्वारा पुत्र उत्पन्न कराने को कहा। कुन्ती ने यह बात स्वीकार नहीं की। तब उसने दुर्वासा ऋषि से बाल्यकाल मे प्राप्त देवहूती विद्या की बात बतायी।

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज पाडु ने कुन्ती को देवताओं को बुलाने की अनुमति दी। पति की आज्ञा पाकर कुन्ती ने क्रमशः धर्म, वायु और देवेन्द्र का आह्वान किया। उन देवों ने आकर योगमूर्ति धारण करके कुन्ती के गर्भाधान किया। इससे क्रमशः उनके वीर्य से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए।

इतने पर भी महाराज ने पुनः किसी देवता को बुलाकर और पुत्र उत्पन्न करने को कहा। इस पर कुन्ती ने कहा—"महाराज!

आपत्ति काल मे भी तीन पुत्रों से अधिक इस प्रकार उत्पन्न न कराने चाहिये। अपने पति से चाहे जितने पुत्र हो। अब मैं अन्य किसी देव का आवाहन नहीं कर सकती।"

तब महाराज ने कहा—"अच्छा, इस माद्री के लिये भी किसी देवता का आह्वान करो।"

कुन्ती ने माद्री से कहा, माद्री ने अश्विनीकुमारो का आह्वान किया। उनसे उसके परम रूपवान नकुल और सहदेव—दो पुत्र हुए। इस प्रकार पाँचो पांडवो का जन्म पांडुकेश्वर से ऊपर लोकपाल के पर्वतों पर हुआ था। अब तक वहाँ पाडवों के नाम से बहुत से पर्वत, झरने, ग्राम, तालाब तथा शिलाएँ प्रसिद्ध हैं। हिमालय मे, विशेषकर गन्धमादन पर्वत के निकट, पग-पग पर पाण्डवों के स्मृति-चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। पाँचो पाण्डवो को देखकर महाराज पाडु परम प्रमुदित हुए। शनैः-शनैः बालक बढने लगे। वे बालक ऋषियो के ही आश्रमो मे उत्पन्न हुए थे, ऋषियो ने ही उनके जात-कर्म आदि सस्कार किये। देखने में वे देवकुमार ऋषियो के से ही पुत्र दिखाई देते थे।

लोकपाल पर्वत संसार मे सबसे रमणीय स्थान है। उसकी घाटी मे सेकडो प्रकार के पुष्प अपने-आप उत्पन्न होते हैं। प्रकृति देवी वहाँ परदा नहीं करती, क्योंकि वह जन शून्य अत्यन्त ही एकान्त स्थल है। ऋतुराज वसत मे शोभा-देवी वहाँ सोलहो शृङ्गार करके विचरण करती है, प्रकृति नग्न होकर नृत्य करती है। वन-श्री मारे हर्ष के फूल जाती है। पुष्पों की सुगन्धि से दशों दिशायें सुवासित हो जाती हैं। शाल, ताल, तमाल, रसाल, पनस आदि के लम्बे-लम्बे वृक्ष वहाँ प्रहरियों की भाँति सजे धजे खडे हो जाते हैं। झरने झर झर करके गान गाते हैं। वह भू-स्वर्ग है। लोकपाल वहाँ नित्य ही आते हैं। स्थान स्थान पर रग बिरगे स्थल

कमल खिल जाते हैं। हिमकुण्ड देवताओं का बनाया हुआ है। अद्यावधि भी उसमें इतनी स्वच्छता रहती है, कि एक तिनका भी उसमें नहीं रह सकता।

महाराज पाण्डु को वह स्थान अत्यन्त ही रुचिकर था। अब के भी प्रति वर्ष की भाँति वसन्त आया। महाराज पाण्डु अपनी छोटी पत्नी माद्री के साथ वन विहार के लिये निकले। वैसे तो प्रायः कुन्ती सदा उनके साथ रहती थी, किन्तु उस दिन देवयोग से कुन्ती बच्चों की देख रेख में रही, माद्री अकेली ही महाराज के साथ थी।

माद्री अत्यन्त ही सुन्दरी और अभी युवती थी। निरन्तर पार्वत्य प्रान्त में रहने से उसका सौन्दर्य और निखर गया था। स्वयं वह पर्वत प्रान्त की थी। उस दिन उसने वैसे ही फूलों का शृंगार किया था। शुभ्र महीन रेशमी साड़ी पहने वह साक्षात् रति के समान प्रतीत होती थी। महाराज उसके साथ वन की शोभा निहारते हुए इधर से उधर घूम रहे थे। सहसा एकान्त पाकर उनकी काम-वासना उद्दीप्त हो उठी। साथ-साथ घूमने वाली माद्री के रूप ने तो घृत में अग्नि-कार्य किया। महाराज अपने आपे में न रह सके। माद्री ने ऋषि शाप का स्मरण दिलाया, बहुत कुछ अनुनय विनय की, बल प्रयोग भी किया, धर्म का रहस्य भी समझाया, किन्तु सब व्यर्थ! काम के वेग ने विचारवान राजा की बुद्धि भ्रष्ट कर दी। परिणाम जो होना था, वही हुआ। महाराज उसी क्षण मर गये। माद्री ने पड़े ही पड़े कुन्ती को पुकारा। कुन्ती दौड़ी आई, आकर रोने लगी।

कुन्ती ने स्वयं सती होने की इच्छा प्रकट की, किन्तु माद्री, ने कहा—"तुम बड़ी हो, मैं छोटी हूँ। मेरे कारण ही महा[illegible] की मृत्यु हुई है। अतः मुझे ही सती होने दो।" कुन्ती ने

प्रार्थना स्वीकार कर ली। माद्री अपने दोनों पुत्रों को कुन्ती को सौंपकर पति के साथ सती हो गई। उस दिन से कुन्ती पाँचो को ही अपना पुत्र मानती। वे पाँचो भाई भी अपने को सगा भाई समझते। ऋषियों ने कुन्ती-सहित उन पाँचो पुत्रों को हस्तिनापुर मे पहुँचा दिया। देवव्रत भीष्म ने उन पाँचो का पुत्रवत् पालन किया। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र और पांण्डु के ये पाँच पुत्र साथ ही खेलने-कूदने और बढने लगे। अन्त मे राज्य के लिये परस्पर झगडा हुआ। धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कहते थे, राज्य पर हमारा अधिकार है, हम बड़े के लड़के है। पांडव कहते थे, तुम्हारे पिता ही जब अधे होने से राज्य के अधिकारी नहीं हुए, तब तुम कैसे हो सकते हो। राज-पुत्र होने से हम ही राज्य के अधिकारी है। अन्त मे इसी बात पर महाभारत हुआ। धृतराष्ट्र के सभी पुत्र पौत्र उस महासमर मे मर गये। श्रीमन्नारायण की कृपा से पाँचो पांडव बच गये। उनके भी बहुत से पुत्र हुए। सब के सब युद्ध मे मारे गये। केवल अभिमन्यु की स्त्री के गर्भ मे परीक्षत् ही शेष रहे। उन्हीं से पांडवो का वंश चला। मुनियो! अब मैं आपको पांडवो के पुत्रो की ही कथा सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भये धरम तैं धरमराज वृक उदर बायु तैं।
पार्थ इन्द्र तैं जने पृथा ने परम चाव तैं॥
नकुल और सहदेव अश्विनी कुमर भिषक्वर।
माद्री तैं उत्पन्न करे दोऊ सुत सुन्दर॥
पाँचहुँ की पत्नी भई, द्रुपदसुता अति सुन्दरी।
पूर्व जन्म को वृत्त सुनि, आपत्ति काहू नहिँ करी॥

द्रौपदी से पाँचों पांडवों के पाँच पुत्र

[७९१]

द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्यः पुत्रास्ते पितरोऽभवन् ।
युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात् ॥
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ।
सहदेवसुतो राजञ्छ्रुतकर्मा तथापरे ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० २८-२९ श्लो०)

छप्पय

धमराज प्रतिविन्ध्य पुत्र तामें प्रकटायो ।
भीम पुत्र श्रुतसेन द्रौपदी देवी जायो ॥
अर्जुन तैं श्रुतकीर्ति नकुल तैं सतानीक सुत ।
श्रुतकर्मा सहदेव-तनय अति भये धरमयुत ॥
अश्वत्थामा सबनिके, काटे सिर सोवत शिबिर ।
अन ब्याहे सब ही मरे, चल्यो वंश तिन को न फिर ॥

धर्म तत्वज्ञ त्रिकालदर्शी महापुरुष, भूत-भविष्य की सब बातें सोचकर ही, किसी घटना के विषय में निर्णय करते हैं।

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पाँचों पाण्डवों से द्रौपदी द्वारा तुम्हारे पाँच पितृव्य उत्पन्न हुए। उनमें युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से श्रुतसेन, अर्जुन से श्रुतकीर्ति और नकुल से सतानीक तथा सहादेव से श्रुतकर्मा का जन्म हुआ।"

हम सब प्रारब्ध के अधीन होकर सब चेष्टाएँ कर रहे हैं। हमारा किसी से जो सम्बन्ध होता है, हम तो समझते हैं, वह सहसा जुट गया। किन्तु उसका सम्बन्ध पूर्वजन्म की घटनाओं से होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं पाडवों के वंश का वर्णन करता हूँ। हाँ, तो जब पाडव कुछ बडे हुए, तो दुर्योधनादि कौरव उनसे स्वाभाविक ही द्वेष करने लगे। दुर्योधन ने अपने दुष्ट भाइयों और मंत्रियों की सम्मति से वारणावत में एक लाख का घर बनवा कर उसमें कुन्ती सहित पाडवों को जलाने का षडयन्त्र रचा। जब वे सो रहे थे, तभी इसके दूतों ने उसमें आग लगा दी। विदुरजी की कृपा से पाडव एक सुरंग द्वारा सुरक्षित वन में आ गये और फिर वे भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करते हुए समय की प्रतीक्षा करने लगे। उसी समय उन्होंने द्रौपदी के स्वयम्वर की बात सुनी। उसमें यह पण था कि जो आकाश में टँगी घूमती हुई मछली को बाण से वेध देगा, उसी के साथ द्रौपदी का विवाह होगा। अर्जुन ने उस लक्ष्य को वेध किया। अतः द्रौपदी उन्हीं के साथ चल दी। कुन्ती एक कुम्हार के घर ठहरी थी। पाडवों ने द्वार पर से ही कहा—"माँ! आज हम बडी सुन्दर भिक्षा लाये हैं।"

कुन्ती ने भीतर से कहा—"अच्छी बात है, भैया! तुम पाँचों इसे बाँट लो।"

अब उसने द्रौपदी को देखा, तब तो उसे दुःख हुआ और बोली—"भया मेरा वचन मिथ्या न होने पावे, तुम पाँचों ही इस सुन्दरी कुमारी से विवाह कर लो।" इस बात का धर्मराज ने तो समर्थन किया, किन्तु द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि सभी ने विरोध किया, अन्त में व्यास भगवान् ने आकर द्रुपद को समझाया—

"राजन! आप चाहें, न चाहें, भवितव्यता ऐसी ही है। द्रौपदी के पाँच ही पति होंगे! कई जन्मों के इसे ऐसे ही वर प्राप्त हैं। पूर्व जन्म में यह एक ऋषि-कन्या थी। इसे अपने अनुरूप कोई पति नहीं मिला। इसलिये इसने शिवजी की तपपूर्वक आराधना की। आशुतोष भगवान् भूतनाथ प्रसन्न हुए और उसके सम्मुख प्रकट होकर उससे वर माँगने को कहा, उसने व्यग्रता में भावी-वश शिवजी से पाँच बार कहा—"मुझे योग्य वर दीजिये, वर दीजिये, ।"

इस बार शिवजी ने कहा—"भद्रे! तैंने पाँच वर माँगे हैं, इसलिये तेरे पाँच पति होंगे, फिर भी तू दोष का भागिनी न होगी। पतिव्रताओं में तेरी गणना होगी!"

व्यासजी महाराज द्रुपद को समझाते हुए कह रहे हैं—"राजन! वही कन्या आपके यहाँ अग्नि से उत्पन्न हुई। यह अयोनि-जा है। इसलिये पाँच पति होने पर भी इसे दोष न लगेगा।"

एक घटना और भी है। एक बार देवराज इन्द्र ने गंगाजी में बहता हुआ एक सुवर्ण का कमल फूल देखा। उत्सुकता वश इन्द्र उसके उद्गम-स्थान को देखने चले। चलते-चलते वे बहुत दूर चढ गये। ऊपर क्या देखते हैं कि एक स्त्री बैठी रो रही है। उसके जो आँसू गिरते हैं, वे सुवर्ण कमल हो जाते हैं। यह देख कर देवेन्द्र को दया आई और वे उससे पूछने लगे—"भद्रे! तू क्यों रोती है?"

उसने कहा—"आप मेरे पीछे पीछे आवें। मैं इसका कारण बताती हूँ।" यह कह वह आगे आगे चलने लगी, इन्द्र उसके पीछे पीछे चलने लगे। कुछ दूर पर जाकर उन्होंने एक गुफा में एक बलिष्ट पुरुष को बैठे देखा। वह एक दूसरी स्त्री के साथ

मनोविनोद के निमित्त कुछ क्रीडा कर रहा था। इन्द्र को देखकर वह पुरुष बिना इन्द्र की ओर देखे अपनी प्रिया के साथ खेलता रहा। इन्द्र ने उस पुरुष का अपमान किया। तब उस पुरुष ने उसे एक गुफा में ले जाकर बन्द कर दिया। उस गुफा में चार ऐसे ही दिव्य पहले से बन्द थे। इन्द्र तो अब भयभीत हुए। वे समझ गये, ये देव देवेश भगवान् वृषभध्वज हैं। अतः वे गिड-गिडाने लगे। इन्द्र की विनती सुनकर पार्वती पति बोले—"देखो, देवेन्द्र! ये चारों भी इन्द्र हैं। तुमने मेरा अपमान किया है। अतः तुम पाँचों को पृथ्वी पर मनुष्य बनकर उत्पन्न होना होगा। यह अकेली तुम पाँचों की पत्नी होगी।"

तब उन पाँचों ने कहा—"प्रभो हम पृथ्वी पर यदि उत्पन्न हों, तो धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनी कुमारों के द्वारा उत्पन्न हों।"

शिवजी ने कहा—"ऐसा ही होगा। ये नये इन्द्र साक्षात् प्रकट न होकर अपने अंश से उत्पन्न हों। तुम चारों इन्द्र, धर्म, वायु और अश्विनी कुमारों द्वारा उत्पन्न होगे।"

व्यासजी ने द्रुपदजी से कहा—"राजन्! ये वे ही पाँचों इन्द्र पाँच पाण्डव हैं। यह वही देवी है। इसके ये ही पाँच पति होंगे।"

जब व्यासजी ने इस प्रकार व्यवस्था दे दी और दिव्य दृष्टि से पाण्डवों का इन्द्ररूप दिखा दिया। तब द्रुपद ने द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ कर दिया। द्रुपद के यहाँ विवाह होने पर तथा समझाने बुझाने पर धृतराष्ट्र ने आधा राज्य पाण्डवों को दे दिया और वे पाँचों भाई इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी बनाकर रहने लगे।

धर्मराज युधिष्ठिर की सभा में नारदजी ने आकर उनसे कहा—"राजन! आप पाँचों भाइयों की एक ही पत्नी है। अतः

अपना समय बाँध लो। देखो, एक तिलोत्तमा के पीछे सुन्द और उपसुन्द मे ऐसी लड़ाई हुई कि दोनों मर गये।

नारदजी का उपदेश मानकर पाँचों भाइयो ने यही निर्णय किया कि प्रत्येक भाई नियमित समय तक बारी-बारी से द्रौपदी के समीप रहेगा। यदि कोई भाई एकान्त मे द्रौपदी के समीप हो और उस समय दूसरा भाई चला जाय, तो उसे बारह वर्ष वनवास करना होगा। एक बार जब युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ एकान्त में थे, तब अर्जुन को ब्राह्मण की गौओ की रक्षा के निमित्त अपना धनुष-बाण लेने उसी भवन मे जाना पडा। इसके प्रायश्चित-स्वरूप उन्होने बारह वर्ष वनवास किया। उसमें इन्होने कई विवाह भी किये।

कालान्तर मे पाँचो भाइयो के वीर्य से द्रौपदी मे पाँच पुत्र हुए। महाराज युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से कुमार श्रुतसेन, अर्जुन से पराक्रमी श्रुतकीर्ति, और नकुल तथा सहदेव के द्वारा सतानीक और श्रुतकर्मा, नामक पुत्रो का जन्म हुआ। इस प्रकार द्रौपदी के पाँच प्यारे पुत्र थे। इन्होने द्वारका मे रहकर अस्त्र-शस्त्र विद्या सीखी थी। ये जब विवाह योग्य हुए, महाभारत छिड़ गया। उसमे ये पाँचो बडी वीरता के साथ लड़े। महाभारत के युद्ध के अन्त तक ये जीवित रहे।

अन्त में गुरुपुत्र अश्वत्थामा ने सोते हुए इन पाँचों सुकुमार राजकुमारो का पशुओं की भाँति वध कर दिया, जिससे कौरवो की भाँति पांडवो के वंश का भी सर्वनाश हो जाय। किन्तु भगवान् को तो पांडव वश की रक्षा करनी थी। अतः अर्जुन की द्वितीय पत्नी से जो अभिमन्यु नामक सुत था, उसकी पत्नी गर्भवती थी। उसी से पांडवो का वंश चला।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पांडवो की द्रौपदी के अतिरिक्त

और कितनी पत्नियां थीं ? उनके कितने पुत्र हुए ? इस प्रसंग को कृपा कर हमें और सुनाइये।"

सूतजी बोले—'महाराज ! अब मैं पाण्डवों के अन्य पुत्रों की कथा आपको सुनाता हूँ। आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

धर्मराज की पत्नि पौरवी तैं सुत देवक।
भीम घटोत्कच कर्यो हिडिम्बा महँ सुत सेवक॥
दूसरि काली माँहिं सर्वगत सुत प्रकटाये।
श्री सहदेव सुहोत्रकुमर विजया ने जाये॥
नकुल करेणुमती उदर, तैं कीन्हें नर मित्र सुत।
अर्जुन रानी तीनि तैं, भये तीनि सुत विनय युत॥

पांडवों के अन्य पुत्र तथा भीमसेन के घटोत्कच

[७९२]

युधिष्ठिरात्तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः ।
भीमसेनाद्धिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० २२ अ० ३० श्लोक)

छप्पय

लक्षागृह तैं भागि गहन वन आये पाडव ।
लखि हिडम्ब ने बहिन हिडम्बा तहँ पठई तब ॥
मारन आई स्वयं भीम लखि भई विमोहित ।
जान्यो भाव हिडम्ब भीम तैं भिड़्यो क्रूरचित ॥
द्वंद्व युद्ध भीषण भयो, भिड़े, भीम, भय नहिं कर्‌यो ।
यातुधान को बल घट्‌यो, मरि धरनी पै गिरि पर्‌यो ॥

प्राचीन प्रथा थी कि, एक पुरुष बहु विवाह कर सकता था। राजाओं के यहाँ तो सहस्रों रानियाँ होती थीं। तब वसी शक्ति

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! द्रौपदी से पाँचो पाण्डवो के पाँच पुत्रो के अतिरिक्त युधिष्ठरजी से पौरवी नाम्नी पत्नी म देवक पुत्र हुआ। हिडम्बा राक्षसी म भीमसेन से घटोत्कच और दूसरी काली नाम्नी पत्नी से उनके सर्वगत नामक पुत्र हुआ।"

सामर्थ्य थी विवाह करना एक परम धर्म माना जाता था। धर्म-पूर्वक ही कामोपभोग की आज्ञा थी। कामवश होकर भी राजा विवाह कर लेते थे, किन्तु विद्वानों में उसकी प्रशंसा नहीं थी। धर्मपूर्वक निज पत्नी मे उत्पन्न हुआ पुत्र ही पिता का उत्तराधिकारी माना जाता था। धर्महीन काम व्यभिचार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्रौपदी तो पाँचों पांडवों की पत्नी थी। द्रौपदी के अतिरिक्त पाँचों भाइयों के और पत्नियाँ थीं, जैसे महाराज युधिष्ठिर की एक पत्नी पौरवी थी, जिसके गर्भ से देवक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। भीमसेन की काली नाम्न पत्नी थी, उससे सर्वगत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सहदेव की पर्वत कन्या विजया थी, जिससे सुहोत्र नामक सुत हुआ और नकुल की करेणुमती नाम्नी पत्नी से नरमित्र नामक पुत्र हुआ। भीमसेन की एक हिडम्बा नाम की राक्षसी पत्नी थी और अर्जुन के उलूपी, मणिपूरया और सुभद्रा नाम की तीन पत्नियाँ थीं। इन तीनों का विवाह उन्होंने बारह वर्ष के वनवास के समय किया था। भीमसेन की हिडम्बा राक्षसी पत्नी के घटोत्कच नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भीमसेन ने राक्षसी से विवाह क्यों किया?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"महाराज! अपनी माताजी की आज्ञा से भीमसेन ने राक्षसी से विवाह किया था। यह विवाह जैसे हुआ उसे मैं सुनाता हूँ।"

भीमसेन अपने भाइयों में सबसे अधिक बली थे। वे बड़े ही हृष्ट-पुष्ट थे, सिंह के समान उनके कंधे थे। दश सहस्र हाथियों के बराबर उनमे बल था। वे लाक्षागृह से छिपकर भागने पर वन में अपनी माता तथा भाइयों को पीठ पर बिठा कर ले जाते थे। पर दिन भर चलते-चलते वे भी थक गये। माता तथा

और सब भाई तो थककर पडते ही एक पेड के नीचे गहरी निद्रा मे सो गये, किन्तु भीमसेन जागकर पहरा दे रहे थे।

उस वन मे हिडम्बा नामक एक नर-मास भोजी राक्षस रहता था। वह वन उसी के नाम से विख्यात था। जो कोई उस वन मे जाता था, उसे तुरन्त मारकर हिडम्ब खा जाता था। नर मास की गध आते ही उसके मुख में पानी भर आया। ओठों को चाटता हुआ लालच भरी दृष्टि से माता सहित पाडवों को देख वह घने वृक्षों के मध्य एक बडे वृक्ष पर चला गया।

वहाँ जाकर उसने अपनी युवती बहन हिडम्बा से कहा—"हिडम्बे! इधर कई दिनों से मुझे मनुष्य मास खाने को नहीं मिला। प्रारब्धवश आज पाँच-छ. मनुष्य यहाँ आ गये हैं। वे बडे ही मोटे हैं। उनकी त्वचा भी चिकनी और कोमल है। मैं अपने तीक्ष्ण दाँतो को उनके गुदगुदे मास मे चुभोकर इनके रक्त को पेट पर पाऊँगा। ये कोई राजकुमार जान पडते हैं। इनके साथ एक बुढिया भी है। तू जा, देख आ, ये कौन हैं। और सब तो सो रहे हैं, एक बलवान जाग रहा है। या तो तू ही जाकर सबको मार ला। यदि उचित समझे तो मुझे भी बुला लेना।"

हिडम्बा तुरन्त वहाँ गई, जहाँ पाण्डव सो रहे थे। केवल भीमसेन पहरा दे रहे थे। भीम कृष्ण वर्ण होने पर भी अत्यन्त ही रूपवान थे। हिडम्बा यद्यपि क्रूरकर्म करने वाली राक्षसी थी, किन्तु काम ने उसकी क्रूरता और क्रोध दोनो को नष्ट कर दिया। वृषभ के समान उन भीम को देखकर वह ऋतुमती गो के समान बन गई। काम ने उसके अङ्ग अङ्ग मे मादकता उत्पन्न कर दी। अब वह भाई की बात भूल गई अपनी इच्छा-पूर्ति के चक्कर मे पड गई। वह काम-रूपणी राक्षसी थी, इच्छानुसार अपना रूप बदल, बना सकती थी। उसने सकल्प मात्र से

अत्यन्त सुन्दरी मानवी स्त्री का रूप बना लिया। सोलहो शृंगार करके, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर, कटिकी कर्धनी, करके कंकण और पैरों के नूपुर बजाते भीमसेन के समीप गई और अत्यन्त ही दीन वाणी में बोली—"हे देव! आपके द्वार पर एक भिखारिनी खड़ी है। क्या उसे आप काम-भीख देंगे?"

भीमसेन ने चौंककर पूछा—"सुन्दरि! तुम कौन हो? इस अर्धरात्रि में ऐसे बीहड़ वन में क्यों आई हो? मुझसे क्या चाहती हो?"

हिडम्बा ने कहा—"हे नरनाथ! मैं राक्षसी हूँ। यह वन मेरे भाई हिडम्ब का है। यहाँ जो भी आता है, उसे मेरा भाई खा जाता है। तुम्हें भी खाने के लिये उसने मुझे भेजा है।"

भीमसेन ने गरजकर कहा—"आ, खा तू मुझे पकड़, देखूँ तेरा राक्षसीपन?"

हिडम्बा ने दीनता के साथ कहा—"प्राणनाथ! आपने तो अपने रूप-मंत्र का मेरे ऊपर जादू कर दिया है। मैं आपको पकड़ने आई थी, पर मैं ही पकड़ी गई। आप मुझे अपनी भार्या बना लें।"

भीमसेन ने कहा—"मैं इतनी लंब-तड़ंगी बहू को लेकर क्या करूँगा?"

हिडम्बा ने कहा—"आप जैसी चाहेंगे, मैं वैसी ही बन जाऊँगी।"

भीमसेन हँसकर बोले—"यदि तू साँपिनी बन गई तो?"

हिडम्बा ने कहा—"नरनाथ! आप मुझ अबला पर दया करें। मुझसे हँसी ठट्ठा न करें। मेरा भाई आ जायगा, तो वह आप सबको मार देगा। जब तक वह न आवे, आप सब मेरी पीठ पर चढ़कर भाग चलें। मैं इच्छानुसार रूप बना सकती हूँ,

आकाश मे उड सकती हूँ, जितना चाहूँ बोझ ले जा सकती हूँ। आप देर न करें। अपने भाइयों और माता के सहित मेरे ऊपर चढ़ लें।"

भीमसेन बोले—"भामिनि! डरना और भागना तो मैंने सीखा ही नहीं। तुझसे या तेरे भाई से मैं डरता नहीं। तू अपने भाई को बुला ला।"

हिडम्बा बोली—"जीवनधन! मैंने तो अपना तन, मन सर्वस्व आपके चरणों मे अर्पण कर दिया है। आप अपनायेंगे, तो मैं आप की चरण-सेवा करूँगी, ठुकरायेंगे तो यहीं आत्म-हत्या करके आपके सम्मुख ही प्राण त्याग दूँगी।"

हिडम्बा यह कह रही थी, कि इतने मे ही नर-मास का लोभी हिडम्ब देर होते देख स्वय ही आ गया। उसने हिडम्बा की बात सुन ली और अपनी बहन को मानवीय रूप मे अत्यन्त सुन्दरी वेश मे देखकर क्रोधित हो गया। उसने गरजकर कहा—"दुष्टे! तूने राक्षसों के सदाचर के विरुद्ध कार्य किया है। राक्षस उपदेव होते हैं, मनुष्यों की स्त्रियों से संगम भले ही कर लें किन्तु वे अपनी लडकियाँ मनुष्यों को नहीं देते। तू राक्षसी होकर एक पुरुष पर आसक्त हो गई है? अच्छी बात है, मैं तेरे इस प्रेमी को मारूँगा, फिर तुझ कुल-कलंकिनी को भी यमद्वार पठाऊँगा।" यह कहकर वह भीमसेन पर प्रहार करने दौडा।

भीमसेन तो इसके लिये तैयार ही थे। दोनो मे गुत्थमगुत्था होने लगी। वह उसको मारता, वह उसे ललकारता। दोनो मे गुत्थमगुत्था, मुक्कामुक्की, तडापडी, पटकापटकी, हाथापाही होने लगी। पाण्डव भी जाग पड़े। उन्होंने सामने देव कुमारी के समान बनी-ठनी हिडम्बा को देखा। कुन्ती ने पूछा—"बेटी! तू कौन है?"

उसने कहा—"अम्माजी! मैं तुम्हारी बहू हूँ।"

कुन्ती ने कहा—"अरी, बेटी ! रात ही रात तू मेरी बहू कैसे बन गई ? मेरे किस बेटे की तू बहू है ?"

उसने कहा—"मैं तुम्हारे मझले बेटे की बहू हूँ।"

कुन्ती ने भयभीत होकर पूछा—"तो, मेरा वह बेटा कहाँ गया ?"

उसने कहा—"सासजी ! मेरा भाई राक्षस हिडम्ब है। वही उनसे लड रहा है।"

इतना सुनते ही माँ रोने लगी। अर्जुन ने कहा—"अम्मा ! अरे, तू कैसी बात कर रही है ? तेरे बेटे को राक्षस क्या यमराज भी नहीं मार सकते। देखूँ तो सही, वह कैसा राक्षस है।" यह कहकर अर्जुन तुरन्त दौडे। धर्मराज, नकुल, सहदेव भी पीछे चले। माँ भी उठकर वहाँ पहुँची। सबने देखा कि दोनों में घोर युद्ध हो रहा है, वह वन के सहस्रों बडे बडे वृक्ष टूट टूटकर चकनाचूर हो रहे हैं, दोनों ही लम्बी लम्बी साँस ले रहे हैं। भीमसेन उसे नीचे पटककर रगड रहे हैं। हँसकर अर्जुन ने कहा—"दादा ! कहो तो मैं भी तुम्हारी सहायता करूँ।"

भीम ने कहा—"तू खडा-खडा तमाशा ही देख। मैं अभी इसका कचूमर निकाले देता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"अजी, रहने भी दो दादा ! कब से खिलवाड कर रहे हो ? मैं होता तो अब तक इसका भरता बना देता।"

भीम ने हँसकर कहा—"अरे, तू भरता ही बनाता, देख मैं इसकी चटनी बना रहा हूँ। तू मेरे पास मत आना।"

हँसकर अर्जुन ने कहा—"नहीं, दादा ! मैं इसे मारने में ही आपका हाथ बँटाऊँगा।"

भीमसेन यह सुनकर हँस पडे और बोले—"अच्छा, देख मैं

अभी इसे यमपुर पठाता हूँ।" यह कहकर उन्होंने उसकी कमर तोड़ दी, मारकर धडाम से धरती पर पटक दिया।

तब तक अरुणोदय हो चला। अर्जुन ने कहा—भैया, शीघ्रता करो। यदि हमें किसी ने देख लिया, तो बडा अनर्थ होगा! हमें छिपकर ही जीवन बिताना है।" इतना सुनते ही भीम अपने चारों भाइयों तथा माता को लादकर शीघ्रता के साथ चल दिया। हिडम्बा भी छम-छम करती उनके पीछे-पीछे चली।"

भीमसेन ने कहा—"क्यों री, राक्षसी की बच्ची! तू भी अपने भाई के मार्ग को जानना चाहती है क्या?"

यह सुनकर हिडम्बा रोने लगी। किन्तु उसने उनका पीछा नहीं छोडा। तब धर्मराज ने कहा—"भीम! भैया, तू इस अबला को मत मारना। स्त्री के ऊपर धर्मात्मा लोग कभी भी प्रहार नहीं करते। यह हमारा क्या बिगाड सकेगी?"

भीमसेन सबको लिये हुए सूर्यास्त के समय बहुत दुर पहुँचे। जब सब बैठ गये, तो युधिष्ठिर से घूँघट मारकर हिडम्बा कुन्ती के पास गई और जाकर रोते-रोते बोली—"माताजी! पुरुष-हृदय तो कठोर होता है। आप तो नारी-हृदय की व्यथा को जानती हैं। अपने प्रेष्ठ को न पाकर स्त्रियों को कितना महान कष्ट होता है, इसे स्त्रियाँ ही अनुभव कर सकती हैं। आप अपने पुत्र को आज्ञा दें, वे मुझे स्वीकार कर लें। नहीं तो मैं अभी यहीं प्राण त्याग दूँगी।"

हिडम्बा की ऐसी बात सुनकर कुन्ती को उस पर दया आई। उसने भीम से कहा—"भैया! तुम इसके साथ विवाह करलो।"

भीम ने कहा—"अम्मा! जब तक धर्मराज का विवाह न हो, तब तक मैं विवाह कैसे कर सकता हूँ?"

इस पर धर्मराज ने कहा—"अरे, भैया! यह वेसा विवाह नहीं है। इस समय तो हमें आपद्धर्म का पालन करना है।

विचारी प्राण दे रही है कोई बात नहीं भैया! तुम हमारी आज्ञा से इसके साथ विवाह कर लो।"

भीमसेन ने कहा—"आप सबकी आज्ञा है, तो मैं विवाह किये लेता हूँ। किन्तु मैं तभी तक इसे साथ रखूँगा, जब तक इसके सन्तान न हो।"

यह बात हिडम्बा ने स्वीकार कर ली। कुन्ती ने कहा—"देख बेटी, दिन मे तू भीम को जहाँ चाहे ले जाया कर, किन्तु सायंकाल इसे यहीं कर जाना।" यह सुनकर हिडम्बा बड़ी प्रसन्न हुई। वह भीम को दिन मे अपने ऊपर चढ़ाकर आकाश मे उड़ जाती। फिर सुन्दरी मानवी स्त्री का रूप रखकर वनो, उपवनो, पर्वतों गिरि-गुहाओं मे भीमसेन को घुमाती, उनके साथ आनन्द-विहार करती और सायंकाल होते ही उन्हे उनके आवास स्थान पर पहुँचा देती। इस प्रकार बहुत बहुत दिनो तक वह पांडुनन्दन वृकोदर के साथ दाम्पत्य सुख का उपभोग करती रही। कुछ काल के अनन्तर उसके गर्भ रहा और तुरन्त ही उसने बड़े ही डील-डौल का एक पुत्र उत्पन्न किया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हिडम्बा ने तुरन्त ही पुत्र कैसे उत्पन्न कर दिया? वर्ष दो वर्ष गर्भ में भी तो बालक रहा होगा?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, महाराज! राक्षसियाँ गर्भ धारण करते ही पुत्र उत्पन्न कर देती हैं। उनके पुत्रों को भी बढ़ने मे समय की अपेक्षा नहीं होती। उत्पन्न होते ही वे युवा हो जाते हैं। इसीलिये हिडम्बा ने गर्भ धारण करते ही पर्वत-प्रान्त में पुत्र उत्पन्न किया। यद्यपि वह पुत्र पुरुष के वीर्य से राक्षसी में उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसमे पुरुषो के-से एक भी चिह्न नहीं थे। देखने में वह भयकर प्रतीत होता था। अजन पर्वत के समान वह बड़े डील-डौल वाला तथा कृष्ण वर्ण का था। माता-पिता दोनों ने मिलकर उसका नाम घटोत्कच रखा। वह पैदा होते ही युवा हो गया। हाथ जोड़कर उसने माता-पिता को प्रणाम किया और कहा—"हे माताजी! हे पिताजी! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?"

भीमसेन ने कहा—"बेटा ! तू अपनी माता का भली-भाँति पालन-पोषण करना, मनुष्यों को कष्ट मत पहुँचाना। मैं जब तेरा स्मरण करूँ, तब तू आ जाना।"

घटोत्कच ने अपने पिता की यह बात स्वीकार की। फिर उसने जाकर अपनी दादी कुन्ती और चारों चचों के पैर छूए। उन सबने पाण्डु के प्रथम पौत्र हिडम्बा-नन्दन घटोत्कच का सिर सूँघा उसे प्यार किया और आशीर्वाद दिये।

इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके भीमसेन ने हिडम्बा और घटोत्कच को विदा कर दिया। फिर वे एकचक्रा नगरी में जाकर रहने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमें एक शंका है। जब राक्षस इच्छानुसार रूप रख सकते हैं, तब सदा मनुष्य रूप में ही क्यों नहीं रहते ? हिडम्बा सदा सुन्दरी स्त्री ही क्यों नहीं बनी रहती थी ? वह भीम को प्रसन्न करके विकराल राक्षसी क्यों बन जाती ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! सौंदर्य की कोई परिभाषा तो है नहीं। अपना रूप सभी को अच्छा लगता है। लंका जीतकर जब श्रीरामचन्द्रजी पुष्पक विमान से लौट रहे थे, तब मार्ग में उन्हें किष्किन्धापुरी मिली। सीताजी ने सुग्रीव की स्त्रियों से मिलने की इच्छा प्रकट की। पुष्पक उतारा गया। वानरियों ने जब सुना कि जिस सीता के लिये इतना भारी समर हुआ, इतने रीछ-वानर मारे गये, वे यहाँ आई हैं, तो सब बड़ी उत्सुकता से जानकीजी के दर्शनों को आईं। जानकीजी के रूप को देख कर वे बड़ी प्रसन्न हुईं और आपस में कहने लगीं—"जानकीजी सुन्दरी तो हैं, किन्तु इनमें एक कमर है यदि इनके पूँछ और होती, तब और अच्छी लगतीं। पूँछ के बिना मुण्डी-मुण्डी क्या

अच्छी लगती हैं !" सो, महाराज ! सुन्दरता अपने मन से होती है। इसी प्रकार राक्षसों को अपना ही रूप प्रिय लगता है। हिडम्बा अपनी प्रसन्नता के लिये मानवी स्त्री नहीं बनती थी, केवल भीम को प्रसन्न करने को। दूसरी बात यह कि रूप ये असुर राक्षस माया से मानवीय बनाते हैं। माया निर्मित वस्तु बहुत समय तक टिकती नहीं। श्रीकृष्ण के सम्मुख शाल्व माया से वसुदेवजी का सिर काटकर लाया था, कुछ काल मे वह विलीन हो गया। अतः मायावी रूप बहुत दिन टिक भी नहीं सकता। और राक्षसों के समाज मे यह बात अत्यन्त निन्दनीय मानी जाती है, कि कोई राक्षस मनुष्य-रूप मे रहे, जो चना-चबेना तथा फल-फूल के समान उनके भोज्य हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कथन सत्य है। जिस वस्तु में अपनापन हो जाता है, उसमे स्वाभाविक आसक्ति हो जाती है। सूअर से यदि कहें—तुम मरकर मनुष्य बन सकते हो, सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ खाओगे, तो वह शूकर-शरीर और अपने निन्दनीय आहार त्यागने को कभी उद्यत न होगा। जैसे सभी को अपनी बनायी कविता सुन्दर लगती है, उसी प्रकार सभी को अपने वर्ण की देह सुन्दर और प्यारी लगती है। अच्छा यह बताइये, पाण्डवो ने फिर कभी घटोत्कच से कोई काम लिया या नहीं ? कभी उसे बुलाया या नहीं ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! जब कभी बोझ ढोने तथा लडने-भिड़ने का काम पडा, तब पाण्डवों ने घटोत्कच का स्मरण किया। वनवास के समय जब पाण्डव बदरीवन की यात्रा कर रहे थे, तब अत्यन्त ही सुकुमारी द्रौपदी हिमपूर्ण पर्वत-शिखरों पर चढ़ने मे असमर्थ होने के कारण मूर्छित होकर गिर गयी। इस पर नकुल, सहदेव तथा धर्मराज विलाप करने लगे। तब भीमसेन

ने कहा—"आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं ? आप सबको मैं स्वयं कन्धे पर बिठाकर ले जा सकता हूँ। यदि आप कहें, तो घटोत्कच को बुला लूँ, आप सबको अपनी पीठ पर लादकर ले जायगा।"

धर्मराज ने कहा—"हाँ, भैया ! घटोत्कच को ही बुलाओ। ऐसे समय वही काम आवेगा।"

धर्मराज की आज्ञा पाते ही भीमसेन ने हिडम्बानन्दन घटोत्कच का स्मरण किया। वह कामरूपी राक्षस वायु-वेग के समान अपने कई राक्षसों को लेकर वहाँ आ पहुँचा। उसने सबके पैर छुए, माता पिता को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर पूछा—"पिताजी ! आपने किस लिये मेरा स्मरण किया है ?"

भीमसेन ने कहा—"बेटा ! तेरी यह माता बहुत थक गई है। इसे तू अपने कन्धे पर बिठाकर ले चल। हम सब तो पैदल चल लेंगे। पर इससे बरफ के कारण पैदल नहीं चला जा सकता।"

यह सुनकर घटोत्कच ने कहा—"पिताजी ! मैं तो अकेले ही ब्राह्मणों-सहित आप सब को पीठ पर बिठाकर आकाश में उड़ सकता हूँ। फिर अब तो मेरे साथ बहुत से राक्षस भी हैं। माता जी को तो मैं उठाता हूँ। आप सब इन राक्षसों के कन्धों पर बैठ जायँ।"

इससे सभी को प्रसन्नता हुई। सभी भाई तथा धौम्यादि विप्रगण राक्षसों के ऊपर चढ़कर गन्ध-मादन पर्वत की शोभा देखते हुए बदरीवन पहुँचे। वहाँ भगवान् नर-नारायण के दर्शन करके सभी प्रमुदित हुए। बदरीवन में पहुँचकर पाण्डवों ने राक्षसों सहित घटोत्कच को आशीर्वाद देकर विदा किया। आज-कल भी जब बड़े डीलडौल वाले पहाड़ी कण्डी में आदमियों को बिठाकर कन्धे पर लादकर बदरीनाथ की यात्रा में चलते हैं,

तब घटोत्कच के साक्षात् वंशज-से ही वे प्रतीत होते हैं। इस प्रकार हिडम्बानन्दन घटोत्कच ने पाण्डवों को मृत्यु मुख से बचाया।

दूसरी बार तो उसने अपने शरीर का बलिदान देकर अर्जुन की रक्षा की। कर्ण ने देवराज इन्द्र को प्रसन्न करके एक ऐसी 'शक्ति' प्राप्त की, जो कभी किसी दशा में भी व्यर्थ नहीं जा सकती थी। उसको उसने अर्जुन के वध के निमित्त रख छोड़ा था। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उसे घटोत्कच के ऊपर छुड़वाकर व्यर्थ बना दिया। इससे घटोत्कच तो मर ही गया, किन्तु वीराग्रगण्य अर्जुन बच गये। यदि वह अर्जुन पर छोड़ी जाती, तो निश्चय ही उनकी मृत्यु हो जाती। महाभारत युद्ध का पाशा ही पलट जाता। किन्तु पलटता कैसे? कराने वाले ने तो पहले से ही सब प्रबन्ध कर रखा था।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भीमनन्दन हिडम्बा पुत्र घटोत्कच की कथा मैंने आपसे कही। अब मैं अर्जुन के पुत्रों की कथा आपसे कहूँगा।"

छप्पय

करी हिडम्बा बिनय दया कुन्ती कूँ आई।
आयसु दीन्हीं भीम राक्षसी बहू बनाई॥
ताहीतें सुत भयो घटोत्कच अति बलशाली।
इन्द्र-दत्त जो शक्ति कर्णकी कीन्हीं खाली॥
अर्जुन-बध हित सुरक्षित, रखी कर्णने यत्न करि।
वीर घटोत्कचकें लगी, लगत भूमिपै पर्‌यो मरि॥

—★—

अर्जुन के अन्य सुत

[७९३]

करेणुमत्यां नकुलो निरमित्रं तथार्जुनः।
इरावन्तमुलूप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम् ॥
मणिपूरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः ॥*

(श्री भाग० ९ स्क० २२ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

इरावान सुत जन्यो उलूपीतैं अरजुनने।
दई पुत्रिकाधर्म सहित मणिपुर नरेशने॥
सुता ब्याहि प्रण कर्‌यो पुत्र जो पुत्री जावै।
सो होवै युवराज हमारो पुत्र कहावै॥
तासु गरभतैं अति बली, पुत्र बभ्रुवाहन भयो।
लखि रण-कौशल जासुको, विस्मित अर्जुन ह्वै गयो॥

पिता के अनुरूप ही पुत्र होता है। वीर्य्य का कुल का, संस्कारों का बालक के ऊपर प्रभाव पड़ता है। धर्म के तत्व को

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नकुल से करेणुमती ने नरमित्र तथा अर्जुन ने नागकन्या उलूपी से इरावान् तथा पुत्रिका धर्म से विवाही मणिपूरपति की कन्या से बभ्रुवाहन नामक पुत्र उत्पन्न किया। वह उनका पुत्र अपनी माता के पिता का ही पुत्र कहलाया।"

जानने वाले मनीषियों ने पुत्र को पिता की आत्मा ही बताया है। यदि पुत्र पिता के अनुरूप नहीं, तो उसमें संस्कार, अदृष्ट तथा माता का दोष है। कुलागत सदाचार का पालन करते, धर्म पूर्वक जो पुत्र होता है, वही वीर्यज पुत्र श्रेष्ठ और पिता के अनुरूप होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं आपको अब संक्षेप में अर्जुन के पुत्रों की कथा सुनाता हूँ, सुनिये। वनवास का अर्थ विदेशवास है, अर्थात् उसे अपनी नगरी छोड़कर पृथ्वी पर्यटन करना होगा। एक दिन युधिष्ठिर के रहते अपना धनुष लेने द्रौपदी के पास अर्जुन चले गये। वे जब ब्राह्मण की गायों को दस्युओं से छुड़ा लाये, तब उन्होंने कहा—"मुझे नियमानुसार बारह वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए तीर्थ भ्रमण करना चाहिए।"

यह सुनकर धर्मराज ने कहा—"अरे भाई! कोई बात नहीं, तुम आवश्यक कार्य से गये थे। आपत्ति विपत्ति के समय मर्यादा का उल्लंघन हो ही जाता है। वैसे तो कुछ दोष नहीं, यदि हो भी, तो उसके लिये मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, तुम वनवास का विचार छोड़ दो।"

यह सुनकर अर्जुन ने कहा—"देव! धर्म में दम्भ करना दोष है। हम स्वार्थ वश अपनी प्रतिज्ञा का कुछ-का कुछ अर्थ लगावें, तो यह तो छल है, प्रवञ्चना है। इसलिये नियमों में शिथिलता न होनी चाहिये। शिथिलता होते ही नियम बिगड़ जाता है। अतः मुझे नियमानुसार बारह वर्ष के लिये इन्द्रप्रस्थ को छोड़ देना चाहिये।"

जब कुन्ती-नन्दन अर्जुन ने अत्यधिक आग्रह किया, तब धर्मराज ने अनुमति दे दी। बहुत से सेवक तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को साथ लेकर अर्जुन प्रथम उत्तरा खण्ड की ओर चले। गंगा-

किनारे-किनारे के नगरों-ग्रामों को देखते हुए, वे उस कुशावर्त तीर्थ में आये, जहाँ भगवती भागीरथी, अपने पिता हिमालय की गोद से उतरकर पृथ्वी पर पैर रखती हैं। उसे गंगाद्वार, हरद्वार, हरिद्वार तथा कुशावर्त क्षेत्र कहते हैं। उस स्थान की रमणीयता तथा प्राकृतिक शोभा देखकर अर्जुन परम प्रमुदित हुए, वहाँ कुछ दिन रह भी गये। एक दिन वे गंगा-स्नान कर रहे थे, कि वहाँ कौरव्य नामक नाग की कन्या उलूपी आई। वह देव कन्या थी, अत्यन्त सुन्दरी युवती थी कुमारी थी। इन्द्र-पुत्र अर्जुन को देख कर वह उस पर आसक्त हो गयी। वह तो पाताल की रहने ही वाली थी। जल मार्ग से ही तो वह पाताल में जाती-आती थी। ज्यों ही अर्जुन ने जल में डुबकी मारी, त्योंही वह अर्जुन को पकड़कर पाताललोक ले गयी। अर्जुन डरने वाले तो थे ही नहीं। वहाँ के मणिमय भवन अत्यन्त प्रकाश-युक्त बहुत सी बहुमूल्य मणियों को देखकर वे विस्फारित नेत्रों से आश्चर्य के साथ इधर-उधर देखने लगे।

उन्होंने उलूपी से पूछा—"देवि! तुम मुझे यहाँ क्यों ले आयी?"

उलूपी ने कहा—"नरनाथ! मैं ऐरावत नाग के वंश में उत्पन्न कौरव्य नामक नाग की प्यारी पुत्री हूँ। मैं आपसे विवाह करना चाहती हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"देवि! नाग तो उपदेव होते हैं। उनका सम्बन्ध मनुष्यों से कैसे हो सकता है?"

उलूपी ने कहा "देव! आपको मनुष्य कौन कहता है? आप तो साक्षात् नरावतार हैं, देवराज इन्द्र के वीर्य से आप माता कुन्ती में उत्पन्न हुए हैं। आप तो देवकन्याओं के पति हो ही सकते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"देखो, मैं अपने भाइयों से द्वादश वर्ष के ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा करके आया हूँ।"

उलूपी ने कहा—"महाराज पर-पत्नी से संगम करने में ब्रह्मचर्यव्रत का लोप होता है। मुझे आप अपनी पत्नी बना लें, विधिवत् मेरे साथ शास्त्रीय विधि से विवाह कर लें। इससे आपका व्रत भी खंडित न होगा और मेरे प्राण भी बच जायँगे, मैं आपसे सत्य की शपथ करके कहती हूँ, आप मुझे न अपनायेंगे तो मैं प्राण त्याग दूँगी, आत्मघात कर लूँगी। आपका नियम केवल अपनी पत्नी द्रौपदी के सम्बन्ध में है।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा, यदि यही बात है, तो बजे सहनाई, बने मण्डप, जले अग्नि, फिरे भाँवर।"

अर्जुन की अनुमति पाते ही विवाह की सभी सामग्रियाँ एकत्र की गईं। नागों ने अर्जुन का विवाह उलूपी के साथ कर दिया। एक दिन वहाँ रहकर और फिर अपनी नई बहू को लेकर अर्जुन अपने स्थान हरद्वार में चले आये। वहाँ वे बहुत दिनों तक उलूपी के साथ रहे। जब उसके एक बच्चा हो गया, तब उसे उसके पिता के घर पहुँचाकर रमते राम अर्जुन आगे चल दिये। उत्तर के तीर्थ करके, वे पूर्व के तीर्थों की ओर चले। नैमिषारण्य, ब्रह्मावर्त प्रयाग, काशी तथा अंग, वंग, कलिङ्ग देश के तीर्थों को करते हुए वे मणिपुर में पहुँचे। उन दिनों वहाँ महाराज चित्रवाहन राज्य करते थे। अर्जुन वहाँ के वनों पर्वतों में और सरोवरों के तटों पर विहार करने लगे। वे एक दिन किसी सरोवर के तट पर बैठे थे। वहाँ उन्हें छम-छम की ध्वनि सुनाई दी। पीछे फिरकर उन्होंने देखा कि बहुत-सी युवतियाँ आ रही हैं। उनके आगे एक बहुत ही रूपवती युवती थी अर्जुन ने देखा आगे वाली युवती के अंग-प्रत्यंग से सौन्दर्य छन-छनकर बाहर निकल रहा है। पूछ-ताछ

करने से अर्जुन को पता चल गया, कि यह मणिपूर-नरेश महाराज चित्रवाहन की परम सुकुमारी दुलारी इकलौती पुत्री है। अभी इसका विवाह नहीं हुआ है।

अर्जुन राजपुत्र थे, कुलीन थे, वीर थे, सुन्दर थे, निर्भय थे। उनके मन मे वह कुमारी बस गयी। वे निर्भय होकर महाराज चित्रवाहन के समीप गये और बोले—"राजन ! मैं राजपुत्र हूँ, क्षत्रिय हूँ।"

राजा ने पूछा—"कुमार ! तुम किस राजा के पुत्र हो ?"

अर्जुन ने कहा—"महाराज ! मैं हस्तिनापुर के महाराज शन्तनु का प्रपौत्र, विचित्रवीर्य का पौत्र-महाराज का पाण्डु का तीसरा पुत्र हूँ। धर्मराज युधिष्ठिर और भीमसेन मेरे बड़े भाई हैं, नकुल और सहदेव मेरे छोटे भाई। आप से एक वस्तु की याचना करने आया हूँ।"

राजा ने कहा—"कुमार ! यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हारा है। जैसे तुम पाण्डु के पुत्र हो, वैसे ही मेरे भी। कहो, तुम्हें किस वस्तु की आवश्यकता है ?"

अर्जुन ने कहा—"महाराज ! मैं आपकी कन्या के साथ विवाह करना चाहता हूँ।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"मेरा अहोभाग्य ! आपके समान कुलीन, सदाचारी, विश्व-विजयी वीर मुझे अपनी पुत्री के लिये और कहाँ मिलेगा ? किन्तु मेरी एक कुलागत प्रतिज्ञा है, उसका पालन आपको करना होगा।"

अर्जुन ने कहा—"वह क्या ?"

राजा बोले—"इस सम्बन्ध मे एक इतिहास है। मेरे कोई पूर्व पुरुष प्रभञ्जन नाम के धर्मात्मा राजा हो चुके हैं। उनके कोई सन्तति नहीं थी। पुत्र-प्राप्ति के निमित्त उन्होंने शिवजी की

आराधना की। आशुतोष भगवान् भूतनाथ प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! तुम्हारे ही नहीं, तुम्हारे कुल मे अब जो भी होगे, उन सब के एक ही-एक सन्तान हुआ करेगी।" तब से मेरे कुल मे सब के एक पुत्र होता रहा है। मेरे पुत्र न होकर यह पुत्री हुई है। इसलिये मैं पुत्रिका धर्म से इसका विवाह करना चाहता हूँ?"

अर्जुन ने पूछा—"पुत्रिकाधर्म क्या है?"

राजा बोले—"जिस लडकी के भाई न हो, उसको वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके वर को देते हुए पिता यह कहे—"मैं इस भ्रातृहीना कन्या को तुम्हे देता हूँ। इससे जो पुत्र होगा वह मेरा पुत्र समझा जायगा।"इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके जिस कन्या को दिया जाता है, उसे पुत्रिकाधर्म कहते हैं। मेरी कन्या से जो पुत्र होगा, उसे मैं ले लूँगा। यही इसका शुल्क है। यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा कर सको, तो मेरा तथा मेरी कन्या का अहोभाग्य!"

अर्जुन ने यह बात स्वीकार की। राजा ने बड़ा भारी उत्सव किया, सम्पूर्ण राज्य मे आनन्दोत्सव मनाया गया। चित्राङ्गदा का विधिवत् अर्जुन के साथ पाणिग्रहण-संस्कार हुआ। कहाँ तो अर्जुन आये थे राज्य छोडकर वन में! कहाँ एक दूसरा राज्य मिल गया। चित्राङ्गदा देव तुल्य परम पराक्रमी पति पाकर परम प्रमुदित हुई। वह सर्वात्म भाव से अर्जुन की सेवा करने लगी। अर्जुन अपनी नई ससुराल मे तीन वर्ष रहे। जब चित्राङ्गदा के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हो गया, तब वे पुत्र और पुत्र की माता को छोड़कर दक्षिण की यात्रा को चले गये। अर्जुन के उस पुत्र का नाम हुआ बभ्रुवाहन। महाराज चित्रवाहन ने उसे ही युवराज घोषित कर दिया। शनैः-शनैः बभ्रुवाहन बढ़ने लगे।

युद्ध के उपरान्त पाण्डवों ने जो दिग्विजय की, उसमे बभ्रुवाहन ने अपने पिता अर्जुन से युद्ध किया।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! बभ्रुवाहन ने अपने पिता अर्जुन से युद्ध क्यों किया ? कृपा करके इस वृत्तान्त का आप सुनावें।"

सूतजी बोले—'भगवन ! मेरे गुरु के भी गुरु भगवान व्यास ने महाभारत में इस कथा का वर्णन किया है और जैमिनी अश्वमेध में भी इसका विस्तार से वर्णन है। मैं इस कथा को अत्यन्त संक्षेप में आपको सुनाता हूँ।"

महाभारत के युद्ध के अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया। उसमें घोड़ा छोड़ा गया। देश विदेशों में भ्रमण करता हुआ यज्ञीय अश्व मणिपुर राज्य में पहुँचा। वहाँ के राजा अर्जुन नन्दन बभ्रुवाहन ने जब अपनी माता से सुना कि मेरे पिता दिग्विजय करने के निमित्त अश्व की रक्षा करते हुए मेरी राजधानी के समीप आये हैं, तब वह भेंट का बहुत-सा सामान लेकर पिता के समीप गया। बभ्रुवाहन अपने साथ बहुत-सा धन, रत्न, आभूषण, वस्त्र, अलंकार, वाहन तथा नाना भाँति की वस्तुएँ उपहार के निमित्त लाया था। पिता के समीप पहुँचकर उसने उनके पादपद्मों में प्रणाम किया, भेंट की सभी वस्तुएँ सादर समर्पित कीं और हाथ जोड़कर कहा—"पिताजी ! मैं आपका अनुगत हूँ, मेरे योग्य जो सेवा हो, वह बताइये।"

अपने पुत्र के इस व्यवहार से अर्जुन प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा—"तू ने जो मेरे साथ व्यवहार किया है, इससे प्रतीत होता है, तू मेरे वीर्य से उत्पन्न नहीं है।"

यह सुनकर बभ्रुवाहन की आँखें क्रोध के कारण लाल हो गईं। उसने अपने क्रोध को रोकते हुए कहा—"क्या पुत्र को पिता का सत्कार नहीं करना चाहिये ?"

धीर गम्भीर स्वर में अर्जुन ने कहा—"अवश्य करना चाहिये।

पिता के प्रति आदर करना पुत्र का परम धर्म है। किन्तु यह तुम्हारा व्यवहार तब शोभनीय होता, जब मैं निःशस्त्र होकर तुम से पिता की भाँति मिलने आता। अब तो मैं धर्मराज का प्रतिनिधि होकर युद्ध की इच्छा से समस्त राजाओं को युद्ध के लिये ललकारता फिरता हूँ। जो निर्बल हैं, वे आकर मुझे भेंट देते हैं, दीनता के साथ अधीन हो जाते हैं। जो वीराभिमानी हैं, वे मुझ से युद्ध करते हैं। तुम क्षत्रिय-वीर्य से उत्पन्न होकर भी, एक दिग्विजयी राजा के सेनापति के सम्मुख, बिना युद्ध किये, झुक गये। यह व्यवहार क्षत्रियोचित नहीं है।"

बभ्रुवाहन को अपनी भूल मालूम हुई। वह तुरन्त लौटकर अपनी माँ के पास पहुँचा और कहा—"माँ! मैं तो राजा के घोड़े को पकड़ूँगा, इससे युद्ध करूँगा।"

चित्राङ्गदा ने कहा—"बेटा! यह तेरे पिता हैं, पिता के साथ पुत्र का युद्ध ठीक नहीं।"

बभ्रुवाहन बोला—"माँ! इन्होंने तो तेरा तिरस्कार किया है। अब मैं मानने का नहीं।"

माता और पुत्र में ये बातें हो ही रही थीं, कि इतने में ही नागराज-कन्या उलूपी वहाँ आ पहुँची। उस सुन्दरी को देखकर सहसा बभ्रुवाहन स्तम्भित हो गये। वे बोले—"देवि! आप कौन है, किसलिये आप यहाँ पधारीं हैं।"

उलूपी ने कहा—"बेटा! मैं तुम्हारी माता हूँ। तुम अपने इस अभिमानी पिता से युद्ध अवश्य करो। भगवान् तुम्हारा भला करेंगे। इन वीराभिमानी अपने जनक के गर्व को तुम युद्ध में चकनाचूर कर दो।"

यह सुनकर बभ्रुवाहन अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"माताजी! मैं आपकी आज्ञा का पालन अवश्य करूँगा।

यदि पिता युद्ध से ही प्रसन्न होंगे, तो मैं इनसे युद्ध करूँगा। इन्हें युद्ध में पराजित करूँगा।"

यह कहकर वीराभिमानी बभ्रुवाहन ने तुरन्त अपना सुवर्ण का कवच पहना और रणभूमि में जा पहुँचा। उसने अपने सेवकों से कहा—'इस घोड़े को पकड़ लो और इन सभी सैनिकों को मार भगाओ।" सेवकों ने ऐसा ही किया, अर्जुन के यज्ञीय घोड़े को पकड़ लिया। जब अर्जुन ने यह सम्वाद सुना, तब वे अत्यन्त हर्षित होकर बभ्रुवाहन से लड़ने आये। पिता-पुत्र में घोर संग्राम हुआ दोनों ही अस्त्र शस्त्रों के ज्ञाता थे, दोनों ही रण से हटने वाले नहीं थे, दोनों ही प्राणों का पण लगाकर लड़ रहे थे। अर्जुन ने बाण मार-मारकर बभ्रुवाहन को घायल कर दिया था। इधर बभ्रुवाहन भी पूरी शक्ति लगाकर लड़ रहा था। अन्त में उसने एक ऐसा बाण अर्जुन की छाती में मारा, कि उसके लगते ही वे मूर्छित होकर रथ से नीचे गिर गये और उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।

पिता के बाणों से पुत्र पहिले ही जर्जरित हो गया था। बाण मार कर वह भी मूर्छित होकर भूमि पर गिर गया। अपने पति और पुत्र का निधन सुनकर चित्राङ्गदा रोती हुई समर भूमि में आई और अपने पति की मृतक देह को गोद में लेकर दाढ़ मारकर रोने लगी। वह भाँति-भाँति के करुण वाक्य कह-कहकर विलाप करने लगी। उलूपी भी वहाँ आ गयी। उसको सुनाकर चित्राङ्गदा कहने लगी—"बहन! तूने ही मेरे पुत्र को उत्तेजित करके मेरे पति से लड़वा दिया। मुझे पुत्र के मारे जाने का उतना शोक नहीं, जितना पति के मारे जाने का। मैं इन कुरुकुल तिलक के बिना जीवित नहीं रह सकती। इसलिये मैं भी प्राणों का परित्याग

करती हूँ।" यह कहकर चित्राङ्गदा प्राण त्यागने के लिये उद्यत हो गई।

इतने मे ही बभ्रुवाहन की भी मूर्छा भङ्ग हो गई। उसने जब पिता को मृतक और माता को विलाप करते देखा, वह भी शोक करने लगा। तब उलूपी ने सबको धैर्य बँधाते हुए कहा—"आप सब चिन्ता न करें, मैंने यह सब अपने पति के हित के लिये कराया है।" यह कहकर उसने सञ्जीवनी मणि अर्जुन के हृदय पर रख दी। उस मणि के रखते ही अर्जुन सोये हुए पुरुष की भाँति, आँख मलते हुए, उठ खड़े हुए और चित्राङ्गदा तथा उलूपी अपनी दोनो पत्नियों को रणभूमि में देखकर तथा सभी को व्याकुल देखकर उसका कारण पूछा। इस पर चित्राङ्गदा ने कहा—"प्राणनाथ! आप उलूपी से इसका कारण पूछें।"

जब अर्जुन ने उलूपी से पूछा, तब उसने बताया—"देव! जब आपने अन्याय से शिखण्डी को आगे करके अधर्मपूर्वक भीष्म को मारा, तभी श्री गङ्गाजी सहित वसुओ ने शाप दिया था—"आपकी मृत्यु भी अपने पुत्र द्वारा होगी।"

यह शाप और किसी ने नहीं सुना, केवल मैंने सुना था। इससे मुझे बड़ा भय हुआ। मैंने अपने पिता से सब कहा। वे वसुओं के पास गये और उनसे अनुनय विनय की। मेरे पिता की विनती सुनकर उन्होंने कहा—"अर्जुन की मृत्यु तो उसके पुत्र द्वारा अवश्य होगी, किन्तु पुनः वह सजीवनी मणि द्वारा जीवित हो जायगा। इस मृत्यु से उसके पाप का प्रायश्चित हो जायगा।" उसी पाप का प्रायश्चित कराने के लिये मैंने बभ्रुवाहन को युद्ध के लिये उत्साहित किया। प्राणनाथ! पुत्र के द्वारा पराजय होने मे कोई दोष की बात नहीं, क्योंकि पुत्र तो अपनी आत्मा ही है। इससे आपके पाप का प्रायश्चित हो गया। नहीं तो,

आप को नरक जाना पड़ता। वसुओं के शापवश ही बभ्रुवाहन आपको मार सका, नहीं तो आपको सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते। आप तो साक्षात् नरावतार है। मैंने जो कुछ किया है, आपके हित के लिये, प्रेमवश ही किया है।"

यह सुनकर अर्जुन परम प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने पुत्र का प्रेम से आलिङ्गन किया और उसका सिर सूँघा। तब हाथ जोड़कर बभ्रुवाहन ने कहा—"पिताजी! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो एक दिन चलकर मेरे महलों में विश्राम करें, कल प्रातःकाल चले जायँ।"

इस पर अत्यन्त स्नेह से अर्जुन ने कहा—"बेटा! मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। घोड़े के कारण परतन्त्र हूँ। घोड़े की गति स्वतन्त्र है। इसे रोकना उचित नहीं। तुम अपनी दोनों माताओं को लेकर धर्मराज के अश्वमेध यज्ञ में आना।"

यह सुनकर बभ्रुवाहन ने फिर आग्रह नहीं किया। सिर झुकाकर कहा—"हाँ, पिताजी! यज्ञ मे अवश्य आऊँगा।" यह सुनकर अर्जुन प्रसन्न हुए और घोड़े के पीछे-पीछे चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बभ्रुवाहन अपनी दोनों माताओं को लेकर समरक्षेत्र से महलों में आये। फिर वे यज्ञ का समय आने पर दोनों माताओं के साथ हस्तिनापुर आए। सभी ने बभ्रुवाहन का बड़ा ही स्वागत-सत्कार किया। बभ्रुवाहन ने अपनी दादी तथा गुरुजनों के पैर छुए और यज्ञ में समस्त कार्य किये। इस प्रकार मैंने अर्जुन के इरावान और बभ्रुवाहन इन दोनों पुत्रों का वर्णन किया। अब उनके तीसरे पुत्र अभिमन्यु और उनके वंशजों की कथा सुनिये।"

छप्पय

अश्वमेध को अश्व बभ्रुवाहन ने पकर्‌यो।
रनको बानो पहिन पिता तैं लड़िबे निकर्‌यो॥
अति ई भीषण युद्ध भयो पितु सुत तैं हार्‌यो।
सुनी मात जिह बात पुत्र ने मम पति मार्‌यो॥
अति विलाप पति-हित कर्‌यो, आइ उलूपी समर महँ।
मणि तैं पति जीवित करे, गये पार्थ निज नगर महँ॥

अर्जुन के सुत अभिमन्यु और उनके वंशज

[७६४]

परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा ।
त्वं च कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात् ॥
तमेवे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः ।
श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान्॥*

(श्री भा० ९ स्क० २२ अ० ३४-३५ श्लोक)

छप्पय

रचवायो अति स्वांग सूत्रधार सखा कृष्ण ने ।
हरी सुभद्रा जाय द्वारका महँ अर्जुन ने ॥
तिनके सुत अभिमन्यु वीर-गति भारत पाई ।
नारि उत्तरा गर्भवती हरि-चरननि आई ॥
तातैं जनमे भागवत, देवरात नृप परीक्षित ।
सुरतरु-सम पूरन करहिँ, प्रजा-मनोरथ धरमबित ॥

---

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन् ! जब कौरवों का वंश नष्ट होने लगा और माता के उदर में ही तुम अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र तेज से नष्ट होने लगे, तब श्रीकृष्ण भगवान् के प्रभाव से ही तुम उस मृत्यु से जीवित बच गये । हे तात ! जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन ये तुम्हारे परम पराक्रमी पुत्र हैं ।"

शास्त्रकारों का कथन है कि बहुत से पुत्र पैदा करने चाहिये, जिनमें कोई भगवद्भक्त, कोई वीर, कोई वंशधर हो जाय। क्षत्रिय समर में जाते समय जीवित लौटने की आशा नहीं रखते। वे हथेली पर सिर रखकर और सिर पर कफन लपेटे ही समर में जाते हैं। इसीलिये वीर क्षत्रिय अपने वीरपुत्र की सदा मङ्गल-कामना करते रहते हैं, पुत्रवान् होने पर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्रौपदी, उलूपी और चित्राङ्गदा के अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की भगिनी सुभद्रा भी अर्जुन की एक पत्नी थी। वनवास के समय इनकी दृष्टि सुभद्रा पर पड़ गई। बलराम तथा अन्य यादवों के विरोध करने पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्मति दी, कि वे सुभद्रा को हर ले जायँ। भगवान् ने इस काम में उन्हें सहायता दी, अपना रथ भी दिया। अर्जुन सुभद्रा को हर ले गये। उसी के गर्भ से महावीर अभि-मन्यु का जन्म हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! अब तो आप घास-सी काटने लगे। सुभद्रा-हरण और अभिमन्यु-जन्म की कैसी सुन्दर-सरस कथायें हैं, उन्हें आप दो शब्दों में ही समाप्त कर रहे हैं। कहिये भगवद्भक्तों की कथा में इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज, मैं सुभद्रा-हरण की लीला को आगे विस्तार के साथ श्रीकृष्णचरित के प्रसङ्ग में कहूँगा। भगवन्! सुभद्रा-हरण-लीला में अर्जुन की वीरता का प्राधान्य नहीं है। उसमें तो भगवान की भक्तवत्सलता की महिमा है। भगवान् कैसे भक्तवत्सल हैं, कि अपने अनुचरों की छोटी से छोटी इच्छा को पूरी ही नहीं करते, बल्कि उसमें स्वयं कार्यतः

सहयोग भी देते हैं। यदि यह चरित यहाँ सुनने की आपकी इच्छा हो, तो आज्ञा कीजिये, मैं इसे यहीं कहूँ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! यह तो आपकी इच्छा पर ही है।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! वहीं उपयुक्त रहेगा। यहाँ तो केवल कथा-प्रसंग को एक सूत्र में आबद्ध करने के उद्देश्य से मैं केवल परम्परा ही बताता जाता हूँ। हाँ, तो सुभद्राजी के गर्भ से वीराग्रगण्य अभिमन्यु का जन्म हुआ। जब ये गर्भ में ही थे, अर्जुन इनकी माता को अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध की बात बताया करते थे। उन्हीं बातों को सुनकर गर्भ में ही इन्होंने समस्त अस्त्र-शस्त्र सीख लिये थे। पाण्डव जब बारह वर्ष के वनवास के समय महाराज विराट के यहाँ एक वर्ष अज्ञात-वास में थे, तब अर्जुन उनकी पुत्री उत्तरा को नाचने-गाने की शिक्षा दिया करते थे। अन्त में उसी लड़की का विवाह अर्जुन ने अपने पुत्र सुभद्रा-नन्दन अभिमन्यु के साथ कर लिया। उत्तरा जब गर्भवती थी, तभी अभिमन्यु को कई महारथियों ने मिलकर महाभारत युद्ध में अन्याय से मार डाला। जिस दुर्योधन के बहनोई जयद्रथ ने बालक अभिमन्यु का वध किया था, उसे सव्यसाची अर्जुन ने श्रीकृष्ण की सहायता से सूर्यास्त के पहले-पहले मार डाला।

महाभारत-युद्ध समाप्त होने पर पाण्डवों के कुल का समूल नाश करने के निमित्त अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के सिर काट लिये, पाँचों पांडवों को मारने को पाँच बाण छोड़े। उत्तरा के गर्भ को नष्ट करने के लिये भी उसने ब्रह्मास्त्र छोड़ा, किन्तु भगवान् की कृपा से पाँचों पांडव भी बच गये और

उत्तरा के गर्भस्थ बालक का भी बाल बाँका नहीं हुआ। वे ही गर्भस्थ बालक महाराज परीक्षित् हुए, जिन्होंने भगवान् शुक से

श्रीमद्भागवत की कथा, गंगा तट-शुकदेवाश्रम-पर सुनी। उन महाराज परीक्षित् की महिमा का गान कौन कर सकता है?"

महाराज परीक्षित् के चार पुत्र हुए—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन। महाराज जनमेजय बड़े ही धर्मात्मा थे।

इन्होंने ही सभी पुराणों तथा महाभारत को सुनकर इनका पृथ्वी पर विशेष प्रचार-प्रसार किया। पुण्यश्लोक महाराज जनमेजय की कीर्ति जब तक चन्द्र-सूर्य रहेंगे, तब तक बनी रहेगी। इन्होंने बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञ किये। कावषेय गोत्रीय ऋषिवर तुर को अपना पुरोहित बनाकर यज्ञों द्वारा भगवान का यजन किया और सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपना एकछत्र राज्य स्थापित किया। इन महाराज जनमेजय के पुत्र शतानीक को तो भगवन्! आप जानते ही हैं। आपसे इन्होंने आत्मज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी। ये धनुर्वेद-विशारद भी थे। भगवान् कृपाचार्य से इन्होंने अस्त्र-विद्या की शिक्षा पाई थी तथा याज्ञवल्क्य ऋषि से वेदत्रयी तथा क्रिया ज्ञान अर्थात् भक्ति-शास्त्र का अध्ययन किया था। इस शतानीक के पुत्र सहस्रानीक हुए। सहस्रानीक के अश्वमेधज, उनके असीम कृष्ण, असीम कृष्ण के पुत्र नेमिचक्र हुए। नेमिचक्र हस्तिनापुर के अन्तिम राजा हुए। पहले हस्तिनापुर से कुछ दूर गंगाजी थीं। महाराज नेमिचक्र के समय में गङ्गाजी की धारा हस्तिनापुर के नीचे आ गई। एक बार बाढ़ आई, पूरा हस्तिनापुर बह गया। तब महाराज उस नगर को छोड़कर प्रयागराज के समीप आकर कौशाम्बी नामक नगरी में सुख पूर्वक निवास करने लगे। कौशाम्बी को ही इन्होंने अपनी राजधानी बनाई।

महाराज नेमिचक्र के पुत्र चित्ररथ हुए। उनके कविरथ, कविरथ के वृष्टिमान्, वृष्टिमान् के सुषेण और सुषेण के सुनीथ उनके नृचक्षु तथा नृचक्षु के सुखीनल सुत हुए।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इसके ये हुए, उसका यह पुत्र हुआ, यही करते रहोगे या कोई कथा भी सुनाओगे?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! कड़वी दवा को जैसे आँख मूँदकर विश्वास के बल पर पी जाते हैं, उसी प्रकार अब आप

मौन होकर इस वंशानुचरित को श्रवण करते जाइये। जैसे चिकित्सक कह देता है कि यह दवा अतिउत्तम है, और हम उसकी बात मानकर इच्छा न होने पर भी कड़वी से कड़वी औषधि को श्वांस रोककर पी जाते हैं, वैसी ही इस चन्द्रवंश की वंशावली को आप शास्त्राज्ञा मानकर सुनते जाये अब तो तनिक-सी ही रही है। हमारा मुख्य उद्देश्य तो यदुकुल का वंश वर्णन है, उसमे भी यदुकुलभूषण, यदुनन्दन, यादवेन्द्र श्री कृष्णचन्द्र के चारु चरित का। इसलिये अब मैं पुरु वंश को संक्षेप से कह कर और नाम मात्र को अनु द्रुह्यु तथा तुर्वसु के वंशज राजाओं का वर्णन करके, यदुवंश की कथा कहूँगा।"

इस पर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है सूतजी! आप कह लीजिये वंशावली को ही। हाँ, तो सुरीनल का पुत्र कौन हुआ?"

सूतजी बोले—"भगवन्! सुरीनल के पुत्र परिमव हुए, उनके सुनय और सुनय के मेधावी। मेधावी से नृपञ्जय, उनके दूर्व और दूर्व से तिमि का जन्म हुआ। तिमि से बृहद्रथ बृहद्रथ से सुदास, सुदास से सतानीक, सतानीक से दुर्दमन, उनके वहीनर, वहीनर के दण्डपाणि, दण्डपाणि के निमि और निमि के पुत्र क्षेमक हुए। बस, ये क्षेमक ही चन्द्रवंशीय महाराज बृहत्क्षत्र के वंश के अन्तिम राजा हैं। कलियुग में महाराज क्षेमक के अनन्तर यह वंश समाप्त हो जायगा। महाराज पुरु का यह वंश देवता और ऋषियों द्वारा सत्कृत है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! चन्द्रवंशीय राजा तो अब भी बहुत हैं। आप कहते हैं, यह वंश क्षेमक के अनन्तर समाप्त हो जायगा। यह क्या बात है?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज! बीज तो किसी वस्तु

का कभी भी नाश नहीं होता। सूर्यवंश के महाराज मरु तथा चन्द्रवंश के महाराज देवापि अब तक भी योग-समाधि में बैठे बद्रीनाथ के ऊपर अलक्षित भाव से तप कर रहे हैं। कलियुग का अन्त होने पर ये पुनः सूर्य तथा चन्द्रवंश की स्थापना करेंगे। आगे के युगों में जो सूर्य-चन्द्र की वंशावली होगी, वह मरु और देवापि की जो सन्तानें होंगी, उनसे ही मानी जायगी। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि दोनों राजाओं के अनंतर कलियुग आ गया था। वंशों में उतनी विशुद्धता नहीं रही। फिर भी सूर्यवंश के महाराज सुमित्र और चन्द्रवंश के महाराज क्षेमक तक कलियुग में भी इन वंशों की परम्परा किसी प्रकार अक्षुण्ण और शुद्ध बनी रही। इन राजाओं के अनन्तर तो कलियुग के प्रभाव से विशुद्ध वंश परम्परा नहीं रही। म्लेच्छों के आने तक तो क्षत्रिय-कुल रहे भी, वे शनैः-शनैः क्षात्रधर्म से च्युत हो गये। उन्होंने प्रजा-पालन और धर्म-युद्ध से मुख मोड़ लिया। अब तो नाम मात्र के क्षत्रिय राजा रह गये हैं। अब तो जिसकी लाठी उसकी भैंस हो गई है। वंश-परम्परा लुप्तप्राय हो गई। धर्म की ओर से युग-प्रभाव के कारण लोगों की अरुचि हो गयी। वर्णाश्रम-धर्म नष्टप्राय हो गया। कुलगत मर्यादा छिन्न-भिन्न हो गई। भगवान् जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं। बुरा तो उनके यहाँ कुछ है ही नहीं। धर्म भी उन्हीं के हृदय से उत्पन्न हुआ है और अधर्म भी उन्हीं की पीठ से। सत्ययुग में धर्म का बोलबाला रहता है। त्रेता में तीन भाग धर्म और एक भाग अधर्म भी अपना आधिपत्य जमा लेता है। द्वापर में अधर्म आधे पर अधिकार कर लेता है। कलियुग में धर्म निर्बल हो जाता है, अधर्म सबल बन जाता है, चतुष्पाद्धर्म के तीन पैर टूट जाते हैं। वह कुछ दिन एक पैर से लँगड़ा-लँगड़ा कर चलता

है। अन्त में वह भी टूट जाता है। अधर्म बीसों बिस्से का स्वामी हो जाता है, जैसे सत्ययुग में धर्म का एकछत्र राज्य था, वैसे ही घोर कलियुग में अधर्म का हो जाता है। सो, महाराज! ये सब कलियुग को बढ़ाने के ही लिये विशुद्ध वंश छिन्न भिन्न हो जाते हैं। अकुलीन वर्णसंकर दस्यु धर्मी ही मनमाना आचरण करके कलियुग को पुष्ट करते हैं, उसकी शक्ति को बढ़ाते हैं। वे क्या बढ़ाते हैं, समय सब कुछ करा लेता है! कालरूप भगवान् ही सब समयानुसार मति बदल देते हैं। सो महाराज! अब तो पृथ्वी पर कलियुग आ गया है। ब्रह्म-राक्षस स्त्रियों के गर्भों से मनुष्य रूप में उत्पन्न होकर कलियुगी प्रवृत्ति का प्रचार कर रहे हैं। इस प्रकार मैंने महाराज हस्ती के पिता बृहत्क्षत्र के वंश का वर्णन कर दिया। अब लगे हाथों आप महाराज बृहद्रथ के अवशिष्ट राजाओं के भी नाम सुन लें।

पीछे मैं मगधराज बृहद्रथ-सुत जरासन्ध के जन्म तक का वर्णन कर ही चुका हूँ। जरासन्ध को श्रीकृष्ण की सहायता से भीमसेन ने द्वन्द्व युद्ध में बीच से फाड़ दिया था। इसकी कथा मैं आगे कहूँगा। उसके पुत्र सहदेव हुए, जिन्होंने भगवान् की आज्ञा से अपने यहाँ पिता द्वारा बन्दी बनाये राजाओं को सत्कार-पूर्वक वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके अपने अपने नगरों को भेज दिया था। सहदेव पुत्र मार्जारि हुये, उनके श्रुतश्रवा, श्रुतश्रवा के युतायु और उनके नरमित्र नाम के सुप्रसिद्ध भूपति हुये। नरमित्र के पुत्र सुनक्षत्र, उनके बृहत्सेन, बृहत्सेन के कर्मजित, कर्मजित के शृञ्जय, उनके विप्र और विप्र के सुत शुचि हुए। शुचि के क्षेम, उनके सुव्रत, सुव्रत के धर्मसूत्र धर्मसूत्र से शम, शम से द्युमत्सेन, द्युमत्सेन के सुमति, सुमति के सुत सुबल हुए। सुबल के पुत्र सुनाथ और सुनीथ के सत्यजित, सत्यजित के विश्वजित और उनके रिपुञ्जय हुए।

जरासन्ध के पश्चात् अर्थात् महाभारत के अनंतर मगध-वंश में एक सहस्र वर्ष में ये बाईस राजा हुए। रिपुञ्जय के अनन्तर मगध-वंश छिन्न भिन्न हो गया। बिहार में अब भी गिरिव्रज (राजगिरि) नाम का स्थान है, जहाँ उष्ण जल के स्रोत निकलते हैं यह बड़ा ही रमणीक और स्वास्थ्यप्रद स्थान है, किन्तु अब उस वंश की केवल कथा मात्र अवशिष्ट रह गई है। कराल काल ने सभी बातें अपने विशाल गर्भ में छिपा लीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने महाराज ययाति के सबसे छोटे पुत्र पुरु के वंश का अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन किया। अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप इस बात को पहले ही बता चुके हैं, कि महाराज ययाति के शुक्रतनया, देवयानी और वृषपर्वा की प्यारी पुत्री शर्मिष्ठा—ये दो पत्नियाँ थीं। जिनमें से देवयानी के गर्भ से यदु और तुर्वसु ये दो पुत्र हुए और शर्मिष्ठा ने द्रुह्यु, अनु और पुरु इन तीन पुत्रों को जन्म दिया। आपने शर्मिष्ठा के सबसे छोटे पुत्र पुरु के ही वंश का वर्णन किया। अब हम महाराज ययाति के शेष चार पुत्रों का भी वंश का वर्णन सुनना चाहते हैं।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यदि मैं इन सबका विस्तार करने लगूँ, तो फिर यह कथा समाप्त ही न होगी। श्रीकृष्ण-चरित सुनाने को अवकाश ही न होगा। अतः मैं महाराज पुरु के शेष चारों भाईयों के वंश का अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन करूँगा। सबसे प्रथम आप शर्मिष्ठा के द्वितीय पुत्र अनु के वंश का वर्णन सुनें। इस वंश में बहुत ही प्रसिद्ध राजर्षि हो गये हैं, उन्हीं का वर्णन अब मैं करूँगा।"

छप्पय

भूप भागवत सुनी अन्त महँ भये भक्तियुत।
जनमेजय श्रुतसेन भीम अरु उग्रसेन सुत॥
जनमेजय जो ज्येष्ठ भये सुत शतानीक तिनि।
पच्चिस पीढ़ी माहिँ भये क्षेमक भूपतिमनि॥
क्षेमक ही जा वश के, सब तें अन्तिम नृप भये।
कलि प्रभाव तें शुद्ध कुल, छिन्न-भिन्न अब ह्वै गये॥

इसके आगे की कथा अगले खण्ड में पढ़िये।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा (१०८ खण्डो मे)—८३ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६ ५०

३—सटीक भागवत चरित (दो खण्डो मे)— एक खण्ड का मू० ८ ००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३ ४५

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २ ५०

७—कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २ ५०

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओ का पालन कैसे करें मू० २.५०

१०—श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डो मे)— प्रथम खण्ड का मू० १ ६०

११—नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ० ६०

१२—श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ० ६५

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ० ३१

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, मू० ० ३१

१६—भारतीय सस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७—राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ०.४०

१८—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१९—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दो मे) मू० ० २०

२०—भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४.०० द्वितीय खड मू० २ ५०

२१—सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दो सहित मू० ० ७५

२२—प्रयाग माहात्म्य— मू० ० २० २५—प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२ २६—श्री हनुमत्-शतक— मू० ०.५०

२४—सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० २७—महावीर-हनुमान्— मू० २ ५०

(उपलब्ध) दीप्ति

भवन मूसी (प्रयाग)

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(पैंतीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन-भवन,

झूसी (प्रयाग)

संशोधित मूल्य २-०० रुपया

द्वितीय संस्करण चैत्र शु० वि० २०१४] [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवतप्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
कुटनी आशा(भूमिका)		१
१—अनुवंशीय महाराज उशीनर	...	१५
२—उशीनरनन्दन महाराज शिवि की कथा	...	२४
३—अनुवंशीय बलि की सन्तति	...	३६
४—महाराज रोमपाद	...	४५
५—ऋष्यशृङ्ग मुनि और वेश्या-पुत्री	...	५४
६—मुनि ऋष्यशृङ्ग फँसे	...	६६
७—महाराज रोमपाद के वंशज	...	७५
८—द्रुह्यु और तुर्वसु के वंशज	...	८३
९—यदुवंश वर्णन	...	८७
१०—महायोगी महाभोगी महाराज शशविन्दु	...	९३
११—शैव्यापति ज्यामघ	...	१००
१२—वृष्णिवंशीय वीर	...	१०८
१३—कालनेमि कंश कैसे हुआ ?	...	११६
१४—शूरवंश में वसुदेवजी	...	१३०
१५—वसुदेवजी के भानजे कुन्ती-पुत्र कर्ण	...	१३६
१६—शूर-सुतों की सन्तति	...	१५१
१७—श्रीकृष्ण रूपसुधा की बानगी	...	१५८

कुटनी आशा

भूमिका

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिंगला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥१

(श्री० १० स्क० ४७ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

आशा तैं संसार बँध्यौ आशा ही जीवन।
आशा डोले संग सदा घर हो अथवा वन॥
आशा जगकी करै निराशा ही फल पावै।
आशा प्रभु की करै विपति-वारिधि तर जावै॥
आशा तजि कैं धीर जन, जावैं जग तैं निकरि कैं।
आशा मेरी यही कब, रोऊँ प्रभु पग पकरि कैं॥

संसार आशा के बल पर ही अवस्थित है। निराशा में जीवन नहीं, चेतना नहीं, स्फूर्ति नहीं, उल्लास नहीं। संसार में किसी को भी देखिये, वह किसी-न-किसी आशा से ही जीवित है। भीष्मपितामह, जिन्हें संसार में कोई नहीं जीत सकता था, वे समर में सो गये, विश्वविदित वीर द्रोणाचार्य मर गये, अपराजित

१—व्रजाङ्गनाएँ उद्धवजी से कह रही हैं—"उद्धव! हमने सुना है कि पिंगला नाम की वेश्या ने कहा था—'संसार में सर्वश्रेष्ठ सुख है किसी की आशा न करना।" किन्तु, हम करें क्या, यह सब जानते हुए भी श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन की जो आशा हमें लगी हुई है, उसे त्यागना हमारे लिये अत्यन्त ही कठिन है।"

सूर्य-पुत्र कर्ण भी सदा के लिये सो गये। फिर भी दुर्योधन विजय की आशा से शल्य को सेनापति बनाकर लड़ता रहा। स्वयं भी रण-भूमि में घायल पड़ा है, जंघाएँ टूट गयीं हैं, शरीर से रक्त बह रहा है, जीवित अवस्था में ही काक, कंक गृद्ध उनके शरीर का मांस नोच रहे हैं। ऐसी अवस्था में भी विजय के लिए अश्वत्थामा को सेनापति-पद पर अभिषिक्त करके, वह पाण्डवों के नाश के लिये भेज रहा है। आशा कितनी बलवती है।

भरतजी के लिये जीवन की कौन-सी बात शेष रही थी? जो उनसे वात्सल्य-स्नेह रखते थे, वे पिताजी सुरपुर पधार गये। जो उनके सुहृद्, बन्धु, इष्ट और सर्वस्व थे, वे श्रीरामचन्द्र वन को पधार गये। अब वे श्मशान के सदृश अयोध्या में कैसे रह सकते थे? उनके लिए तो वहाँ एक क्षण भी रहना असह्य था। किन्तु वे वहाँ रहे। एक दो दिन नहीं, मास दो मास अथवा वर्ष दो वर्ष भी नहीं; पूरे चौदह वर्ष। केवल इसी आशाके भरोसे कि चौदह वर्षके पश्चात् मुझे राम के दर्शन होंगे।

शबरी को अब जीने की क्या आवश्यकता थी? उसे संसारी भोगों की आवश्यकता नहीं थी। जिनकी छत्रछाया में रहकर वह जीती थी, वे गुरुदेव भगवान् मतङ्ग मुनि अब सुरपुर पधार गये। किन्तु सहस्रों वर्षों तक वह आश्रम में गुरु के इन्हीं वचनों पर विश्वास करके जीती रही कि एक दिन राम पधारेंगे। राम के दर्शनों की आशा में ही वह जीती रही।

गोपिकाओं के लिये संसार सूना हो गया था। श्रीकृष्ण जब उन्हें छोड़कर मधुपुरी चले गये, तब उनके जीने का प्रयोजन ही क्या रहा? फिर भी वे जीवित बनी रहीं, इसी आशा में कि श्यामसुन्दर कह गये हैं, मैं लौटकर आऊँगा। संभव है, श्याम लौट आवें। बस, इसी एक आशा बन्धन के सहारे उन्होंने अपने

जीवन को टिकाये रखा। अन्य आशायें छोड़ी भी जा सकती हैं, किन्तु, श्रीकृष्ण के मिलन की आशा को छोड़ना अत्यन्त दुष्कर है।

देवयानी को उसके इच्छानुसार सुन्दर, स्वस्थ, युवा, हँसमुख संगीतज्ञ, सुशील, कुलीन, विनयी और प्रेमी साथी मिल गया था। उसने अपने जीवन की समस्त आशाएँ उसी पर केन्द्रित कर रखी थीं। वह भी उससे अत्यन्त प्यार करता, उसके सभी काम बड़े उल्लास के साथ करता, उसे गा-बजाकर नाचकर, रिझाता, उससे प्रेम-भरी बातें कर-करके स्नेह-सागर में उसे डुबो देता, उसने उस गुरुपुत्री के पीछे अपने शरीर-सम्बन्धी सुखों को सुख नहीं समझा। गुरु का अपनी पुत्री पर अत्यन्त अनुराग है, वे उसे अत्यधिक प्यार करते हैं, उसके प्रसन्न होने पर गुरुदेव भगवान् शुक्राचार्य मुझपर प्रसन्न हो जायँगे, इसी आशा से वह प्राणों का पण लगाकर देवयानी की सेवा-शुश्रूषा करता। किन्तु देवयानी ने दूसरी ही आशालता का एक पौधा लगा लिया और उसे स्नेह-जल से सींच-सींचकर बड़ा किया। असुरों ने कई बार कच को मार डाला, किन्तु देवयानी के प्रसाद से, गुरु की कृपा से, प्रत्येक बार वह जी उठा और गुरु ने उसकी सेवा से सन्तुष्ट होकर उसे संजीवनी विद्या दे दी। कच कृतकार्य होकर घर चलने लगा। देवयानी की आशालता आवश्यकता से अधिक बढ़ गई। उसमें कलियाँ आने लगीं। उसने कचरूपी भ्रमर को रस-पान करने को आह्वान किया। किन्तु, उसने उसके आमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया। सहसा आशालता पर तुषाराघात हुआ। वह जल गयी, मुरझा गयी, सूख गयी। रङ्ग में भङ्ग हो गया, आशा निराशा में परिणत हो गयी। प्रेम ने

कोप का रूप पकड़ लिया। दोनों ओर से शापाशापी हुई। यह सब आशा के कारण हुआ!

नैराश्य होने पर भी विषयों के प्रति आशा बनी रही। देवयानी ने पिता के प्यार का दुरुपयोग किया। उसकी आशा मर्यादा हीन थी। बूढ़े शुक्राचार्य उस युवती कन्या के ऐसे वश में हो गये कि उसके हाथों के खिलौने बन गये। मर्यादा त्यागने पर जो सुख की आशा रखता है, उसे सदा दुःख ही उठाना पड़ता है। संयोग से उसकी राजा ययाति से भेंट हो गयी। उसने उनसे अनुचित प्रस्ताव किया। ब्राह्मण पुत्री होकर उसने क्षत्रिय से विवाह करके सुख-प्राप्ति की इच्छा प्रकट की। राजा का भी मन विचलित हो गया। किन्तु उसे सर्वज्ञ शुक्राचार्य का भय था। देवयानी ने पिता को सहमत कर लिया। वह मर्यादाहीन विवाह हो गया। किन्तु उसका परिणाम जो होना चाहिये, वही हुआ। देवयानी का एक भी पुत्र राज्य का अधिकारी नहीं हुआ। वे सब वर्णाश्रम-बहिष्कृत हुए। राजा को भी देवयानी से सुख की आशा न थी, किन्तु, उसी के कारण उन्हें युवावस्था में वृद्धावस्था ग्रहण करनी पड़ी। पुत्र की युवावस्था को लेकर उन्होंने भोग किये, किन्तु विषयाशा शान्त न हुई। अन्त में अत्यन्त दुःखित होकर उन्होंने कहा—

"जो मन्दमतियों के लिये अत्यन्त दुस्त्यज है, और शरीर के जीर्ण हो जाने पर भी जो जीर्ण नहीं होती, उस दुःख बहुल विषयाशा तृष्णा को कल्याण की कामनावाले पुरुष को तुरन्त त्याग देना चाहिये।"

बात यह है कि यह शरीर ही आशा पर टिका है। जब तक साँस है, तब तक आशा है। जैसी आशा करोगे, वैसा फल मिलेगा। संसार अनित्य है, नाशवान है, दुःखबहुल है। इससे आशा रखोगे, तो दुःख की प्राप्ति होगी, नाशवान अनित्य और

क्षण-भंगुर वस्तु मिलेगी और शुद्ध, सनातन, सुख-स्वरूप सर्वेश्वर की प्राप्ति की आशा करोगे, तो उससे सुख मिलेगा, सनातन लोकों की प्राप्ति होगी। संसार की आशा हमे दीन बना देती है। मन मे जहाँ धन की आशा उत्पन्न हुई, वहाँ हमें धनिकों के सम्मुख झुकना पडता है। अपनी अकड के कारण हम सिर भले ही न नवावें, मन से तो हमें नवना पडना है। आशा एक अत्यन्त ही क्षीण और पतली वस्तु है। जहाँ आशा पूर्ण होने की किञ्चिन्-मात्र भी सम्भावना नहीं होती, वहाँ भी आशा की एक क्षीण रेखा दिखायी देती है। हाय! आशा के पीछे मनुष्य क्या क्या नहीं करता और कितने कितने क्लेशो को सहन नहीं करता।

महाभारत के शान्तिपर्व मे इस विषय की एक बडी ही सुन्दर कहानी है। कोई सुमित्र के नाम के राजा थे। वे आखेट के लिये वन मे गये। एक बडे भारी मृग के पीछे उन्होने घोडे को दौडाया। उन्हें पूर्ण आशा थी कि मैं इस मृगको अवश्य ही मार लूँगा। मृग बार बार उनके समीप आता—कभी छिप जाता, फिर प्रकट हो जाता। इस प्रकार वह राजा को एक अत्यन्त सघन वन मे ले गया। राजाने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उस मृग को मारने में लगा दी। सहसा वह सम्मुख दिखाई दिया। राजा ने एक तीक्ष्ण बाण उसके ऊपर छोड ही तो दिया। किन्तु, हाय रे दुर्दैव! राजा का लक्ष्य चूक गया, वह हिरण के न लगकर दूसरे स्थान मे लग गया। हिरण सघन वन में घुसकर अदृश्य हो गया। राजा की आशा पर पानी फिर गया। वह अपने साथियो से बिछुड गया था, दौडते दौडते थक गया, भूख प्यास से उसका मुख सूख गया था, अकृतकार्य होने से वह निराश हो रहा था। इसी निराशा मे जल की आशा से भटकता हुआ वह मुनियो के आश्रम पर पहुँचा। सम्मुख

उसने महामुनि ऋषभको देखा। दोनों ओर से शिष्टाचार हो जाने के अनन्तर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! समुद्र और आकाश को लोग बहुत बडा बताते हैं। किन्तु, मेरी बुद्धि मे आशा इन दोनो से बडी है। कृपा करके आप यह बतावें कि असीम आशा रखनेवाले पुरुषमे और असीम आकाश मे बडा कौन है। ब्रह्मन्! इस आशा के सम्बन्धमे मुझे बडा सन्देह हो रहा है। आप सर्वज्ञ हैं, कृपालु हैं, मेरे प्रश्न का उत्तर देनेमे आपकी तपस्या मे बाधा न पडती हो, आपको अवकाश हो, तो मेरे इस आशा सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर दें, आशा का कारण बतावे और उसकी शक्ति का भी परिचय करावे।

यह सुनकर महामुनि ऋषभ हँसे और बोले—"राजन्! तुम्हारा प्रश्न बडा ही उत्तम है, इस विषय में मैं तुम्हें एक अच्छी अपनी आँखों-देखी घटना सुनाता हूँ। इस घटना को सुनकर ही आपके प्रश्न का उत्तर हो जायगा और आप का सन्देह भी दूर हो जायगा।

राजन्! एक बार मैं तीर्थाटन करते-करते बदरी वन मे चला गया। वहाँ अश्वशिरा नामक एक महर्षि का आश्रम था। वह बडा ही स्वच्छ लिपा पुता और ब्राह्मी श्री से युक्त स्थान था। उसमें स्थान स्थान पर देवताओं की वेदियाँ बनी हुई थीं, बदरी का एक वृक्ष था और नर नारायण मुनि भी वहीं तपस्या करते थे। समीप ही एक सुन्दर-स्वच्छ सलिलवाला सुहावना सरोवर था। मैंने सरोवर मे स्नान किया, नित्यकर्म से निवृत्त होकर मैं महामुनि अश्वशिरा के समीप गया। मुनि ने मेरा विधिवत् आतिथ्य किया और समीप ही एक कुटी मुझे रहने को दी। मैंने उस कुटीमें अभी अपना आसन भी नहीं रखा था, कि सहसा सामने से आते हुए मुझे एक विचित्र मुनि दिखायी दिये। अपने जीवन

मे आज तक ऐसा आदमी मैंने कभी देखा ही नहीं था। वे लम्बाई मे हम साधारण आदमियों से आठ दस गुने लम्बे थे, किन्तु वे इतने दुबले पतले थे कि उनकी कुछ उपमा ही नहीं दी जा सकती। उनका कोई भी अग कनिष्ठिका उँगली से मोटा नहीं था। फूँस की भाँति पतले पतले लम्बे-लम्बे उनके हाथ पैर थे। उनकी तृण के समान पतली पतली लम्बी-लम्बी उँगलियाँ थीं। उनके रूपानुरूप उनके सिर, मुख, आँख, कान, नाक आदि अग थे। मैं उन मुनि को देखकर भयभीत हो गया, डरके मारे मेरी घिग्घी बँध गयी। दौड़कर मैंने उनके चरणों की वन्दना की। इतने में ही और भी बहुत से ऋषि मुनि वहाँ आ गये। सबने उन्हे प्रणाम किया। सबके स्वागत सत्कार को स्वीकार कर वे महामुनि बैठ गये। उनका नाम महर्षि तनु था। उनकी आज्ञा पाकर हम सब मुनि भी उन्हे चारों ओर घेरकर बैठ गये। वे इधर-उधर की धर्म सम्बन्धी कथायें कहने लगे। उसी समय एक राजा वहाँ आया। वह अत्यन्त उदास था, मुख उसका सूखा हुआ था। श्रम के कारण उसके सब अङ्ग शिथिल हो रहे थे। उसने अपना नाम गोत्र बताकर मुनियों को प्रणाम किया और तनु मुनि की आज्ञा पाकर वह बैठ गया। मुनि ने राजा का यथोचित स्वागत-सत्कार करके, उनके दुःख का कारण पूछा।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरा नाम वीरद्युम्न है। मेरा भूरिद्युम्न नाम का एक बड़ा ही सुशील, धर्मात्मा, इकलौता पुत्र था। वह यहीं कहीं अरण्य मे खो गया है। उसके खो जाने से मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। मुझे संसार सूना सूना प्रतीत होता है। मैं इस आशा से इस वन मे आया हूँ, कि मेरा पुत्र मिल जाय। संसार मे आशा ही बडी दुर्लभ वस्तु है। मुनिवर! आशा से भी बढ़कर कोई दुर्लभ वस्तु है क्या? आप मेरे पुत्र के सम्बन्ध

मे कुछ जानते हों तो मुझे बतावें।"

ऋषभ मुनि राजा सुमित्र से कह रहे हैं—"राजन्! जब महाराज वीरद्युम्न ने उन महर्षि तनु से यह पूछा, तो मुनिवर कुछ देर तक ध्यान करते रहे और अन्त मे बोले—"राजन्! तुम्हारे पुत्र ने एक ऋषि की आशा पर पानी फेर दिया था। एक ऋषि ने उससे यज्ञ के लिये एक सुवर्ण कलश और वल्कल वस्त्रों की याचना की। इन वस्तुओं का देना तो दूर रहा उसने उलटे उन लोकपूजित विप्रर्षि का अपमान किया। इसीसे वह संकट में पड गया है। समर्थ होने पर भी जो किसी की आशा पर पानी फेर देता है, उसे भी कभी न कभी निराश होना पडता है।"

यह सुनकर राजा वीरद्युम्न को बडी निराशा हुई, वे वहीं मूर्छित होकर गिर गये।

राजा सुमित्र ने ऋषभ मुनि से पूछा—"ब्रह्मन्! राजपुत्र ने तो एक ऋषि का अपमान किया, उनकी आशा को भग्न किया किन्तु राजा ने कौनसा पाप किया था। जिससे उसे पुत्र शोक मे निराश होना पडा।"

इस पर ऋषभ मुनि बोले—"राजन्! ये जो अत्यन्त क्षीण तनु नामक महर्षि थे, ये पहले मान सम्मान की इच्छा से राजाओ के यहाँ भ्रमण किया करते थे। घूमते फिरते ये राजा वीरद्युम्न के यहाँ भी गये। इसने इनका यथोचित-सत्कार नहीं किया। इससे इनके हृदय मे बडी ठेस लगी।कभी कभी आशा भङ्ग होने पर आत्म सम्मान जागृत हो उठता है और आलसी पुरुष भी उद्योगी हो जाते हैं। उसी समय इन महर्षि ने प्रतिज्ञा की, कि मैं आज से किसी भी राजा से न तो किसी वस्तु की आशा रखूँगा और न इनसे किसी प्रकार की याचना ही

करूँगा। ऐसा निश्चय करके ये घोर तपस्या करने लगे, अपने शरीर को अत्यंत कृश बना लिया। मनुष्य को क्लेश तभी तक होता है, जब तक उसके मनमे आशा है। जहाँ आशा का परित्याग किया कि सब वस्तुएँ स्वतः ही आ जाती हैं। कभी स्वप्न मे भी जो आशा हुई होगी, वह भी पूरी हो जाती है। जिस राजा के यहाँ सम्मान की इच्छा से वे गये थे, उसने राज-मद मे भरकर जिनका प्रथम यथोचित सम्मान नही किया था, अब वही राजा आकर उन्हीं के चरणों मे लोटने लगा। यद्यपि राजा ने उन्हे पहिचाना नहीं था, कि ये वे ही महर्षि हैं, तथापि उनके सामने दीन हीन होकर वह गिडगिड्या तो सही। राजा ने अत्यन्त दीनता के स्वर मे कहा—"ब्रह्मन्! आप मुझे आज्ञा दे, तो मैं एक प्रश्न करूँ।"

महर्षि तनु ने कहा—"हाँ, राजन्! पूछिये।"

राजा ने पूछा—ब्रह्मन्! आप मुझे बतावें, आशा कितनी दुर्बल वस्तु है। क्या उसकी कोई नाप-तौल भी है?"

राजा के इस प्रश्न को सुनकर महामुनि तनु खिल खिलाकर हँस पडे। हँसते समय इनके छोटे से मुख के छोटे-छोटे चावल के दानों सदृश दाँत चमक रहे थे। वे बोले—"राजन्! इस आशा से बढकर संसार मे दुबली-पतली कोई वस्तु नहीं है।"

राजा ने पूछा—"क्यो भगवन्! आप आशा को सबसे दुबली पतली क्यो बता रहे हैं?"

मुनि ने कहा—"राजन्! मेरे मन में जब भी कोई इच्छा उत्पन्न होती, इस आशा से कि अमुक राजा के समीप, अमुक धनवान् के पास, जाने से मेरी इच्छा पूर्ण होगी, मैं बडी आशा लेकर श्रीमानों के समीप, राजाओं के समीप अनेक बार गया हूँ। उस समय मेरे मन की कैसी दशा होती थी, उसे मैं ही जानता

हूँ। यह रॉड़ आशा जिस वस्तु के चित्र को भी मन के सम्मुख खड़ा कर देती है, उसी वस्तु को लेकर वह आकाश पाताल एक कर देती है—उसके वहाँ जायँगे तो आशा पूरा होगी या नहीं, हो जायगी तो यह करेंगे वह करेंगे ऐसे रहेंगे, ऐसा काम करेंगे। नजाने कितने संकल्प-विकल्प उठते हैं। कैसी भी आशा मन में उठ जाय, फिर उसे पूर्ण करने में बड़ा प्रयास करना होता है। आशा कभी पूरा नहीं होती। उसमें से शाखा-प्रतिशाखायें निकलती ही रहती हैं। जिसने संसार से आशा की, वह संसार का दास हो गया। जिसने समस्त आशाओं को तिलाञ्जलि दे दी, सम्पूर्ण संसार उसका दास बन गया। यह आशा ऐसी कुटनी है, कि जहाँ तनिक भी आशा के पूर्ण होने की संभावना न हो वहाँ भी यह लगी ही रहती है।"

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! आशा को आपने दुर्बल भी बताया और उसकी प्रबल शक्ति को भी बताया। किन्तु, आप बुरा न मानें, तो मैं एक और प्रश्न करूँ।"

मुनि ने कहा—"राजन्! बुरा मानने की कौनसी बात है? आप इच्छानुसार जो पूछना चाहें पूछें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! संसार में मैंने बहुत भ्रमण किया है, किन्तु आप के समान दुबला-पतला मैंने कोई भी आदमी नहीं देखा। कृपा करके यह बतावें कि संसार में आप से भी कोई दुबला-पतला पुरुष या स्त्री है?"

यह सुनकर महर्षि तनु फिर हँस पड़े, और बोले—"हाँ राजन्! मुझसे दुबली भी बहुत-सी वस्तुएँ हैं?"

राजा ने कहा ब्रह्मन्! उन्हें मुझे बताइये। आपके शरीर से दुर्बल कौन कौन वस्तुएँ हैं?"

मुनि बोले—"सुनिये राजन्! मैं बताता हूँ।"

१—कोई पुरुष है वह बड़ी आशा लेकर किसी व्यक्ति के पास गया। जिस व्यक्ति के पास वह जिस आशा से गया, उसमे आने वाले की इच्छा पूर्ण करने की भली भाँति सामर्थ्य है किन्तु उसने आगत व्यक्ति की आशा पूरी करनी तो पृथक् उसका यथोचित स्वागत-सत्कार तक नहीं किया, तो उस हताश व्यक्ति को आशा मेरे शरीर से कहीं अधिक दुर्बल है।

२—दूसरे चाहे जितना उपकार करे, किन्तु उनके उपकारों को जो नहीं मानते, प्रत्युत् उपकार करनेवालों का उलटा अपकार करते हैं, ऐसे कृतघ्न जो भी आशा करते हैं, उनकी आशा मेरे शरीर से अत्यन्त दुर्बल है।

३—जो लोग दूसरों की विनय सुनकर भी नहीं पसीजते, जो दूसरो के साथ सदा निष्ठुर व्यवहार करते रहते हैं, ऐसे कठिन हृदयवाले जो भी आशा करते हैं, उनकी आशा मेरे शरीर से अधिक दुर्बल है।

४—जो लोग दूसरो के घरो मे आग लगा देते हैं, तनिक से लोभ के कारण दूसरों को विष खिला देते हैं, अस्त्र शस्त्र लेकर दूसरो का अन्याय से वध करने को उद्यत रहते हैं, दूसरों के धन को बलपूर्वक छीन ले जाते हैं, दूसरों के खेतों पर बलपूर्वक अधिकार कर लेते हैं तथा दूसरों की स्त्रियों को उड़ा ले जाते हैं, ऐसे आततायी पुरुषो की आशा मेरे शरीर से दुर्बल है।

५—किसी के इकलौता प्यारा पुत्र है। वह साधु हो जाय, खो जाय, विदेश चला जाय, युद्ध करने चला जाय, बहुत दिनों से उसका कोई समाचार न मिले, फिर जो उसके मिलने की आशा रखता है, उसकी आशा मेरे शरीरकी अपेक्षा कहीं अधिक कृश है।

६—किसी निर्धन के एक पुत्र उत्पन्न होते ही वह आशा करने लगे, यह पढ़ लिखकर अमुक परीक्षा उत्तीर्ण होगा, फिर अमुक

पद प्राप्त कर लेगा, यथेष्ट धन उपार्जन करेगा, उससे हम घर बनवावेंगे। इस प्रकार उत्पन्न होते ही जो माता पिता अपनी सन्तान के भावी सुख की आशा करने लगते हैं, उनकी आशा मेरे शरीर से कहीं अधिक कृश है।

७—जो किसी व्यापार को आरम्भ करते ही यह आशा लगा लेते हैं कि जहाँ हमारा यह कार्य चालू हुआ, वहाँ हम लखपति-करोड़पति हो जायँगे, उनकी आशा मेरे शरीर से भी अधिक दुर्बल है।

८—कोई लड़की विवाहयोग्य हो गई है। माता पिता को उसके विवाह की अत्यधिक चिन्ता है, कई वर्षों से वे दिन रात दौड़ते धूपते रहते हैं, पचासों लड़कों के माता पिताओं से बातें होती हैं, छूट जाती हैं। उस लड़की के सम्मुख जो विवाह की बातें की जाती हैं, उसकी आशा के सम्मुख मेरे शरीर की कृशता अत्यन्त ही तुच्छ है। उस बालिका की कैसी दशा होती होगी, जो क्षण क्षण इस आशा मे रहती है कि सम्भव है उसके साथ सगाई पक्की हो जाय। वह कल सुनती है, वह सम्बन्ध नहीं हुआ फिर दूसरे से बात चलती है, फिर आशा होती है। फिर उस आशा पर भी पानी फिर जाता है। उस आशा की तनुता का बिना विवाह योग्य लड़की बने दूसरा कोई व्यक्ति अनुमान कर नहीं सकता।

ये आठ वस्तुएँ मेरे शरीर से भी कृश हैं। कहो तो और भी गिनाऊँ?"

यह सुनकर राजा मुनि के पैरों पड़ गया और बोला—"ब्रह्मन्! आपका कथन सर्वथा युक्तियुक्त है। मैं अपने पुत्र की आशा से इस वन मे भटक रहा हूँ। आप सर्वज्ञ हैं, मेरी इस आशा को पूर्ण कर दें, मेरे पुत्र को मुझसे मिला दें।"

यह सुनकर तनु महर्षि फिर खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"राजन्! तुमने भी किसी की आशापर ऐसे ही पानी फेरा है। अस्तु, अब मैं तो तुम्हारी आशा को पूर्ण करूँगा ही। यह कहकर मुनि ने अपने योग बल से राजा के खोये हुए पुत्रको बुला दिया। राजा अपने पुत्रको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अब मुनि ने माया से बनाया हुआ वह अपना दुबला-पतला शरीर त्याग दिया और अपना यथार्थ रूप राजाको दिखाते हुए कहा—"राजन्! मैं वही मुनि हूँ, जिसका सामर्थ्य रहते हुए भी आपने सत्कार नहीं किया था, मुझे निराश कर दिया था तब से मैंने सबसे आशा छोड़कर तपस्या में चित्त लगाया। मनुष्य जब तक आशा को छोड़ता नहीं, तभी तक दुःख पाता है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिये, कभी किसी से कोई आशा न करे। किन्तु, आशा बिना किये रहा नहीं जाता। तभी प्राणी दुःख पाता है।" इतना कह कर महर्षि तनु समीप के ही वन मे तपस्या करने चले गये। राजा वीरद्युम्न भी अपने पुत्र भूरिद्युम्न को साथ लेकर अपने घर को चले आये। महर्षि ऋषभ राजा सुमित्र से कह रहे हैं—"राजन्! हिरण आपके हाथ नहीं आया, तो आप इतने दुःखी क्यों हो रहे हैं? उस क्षुद्र आशा को छोड़िये और सुखी होइये।"

इस कथा से सारांश यही निकला कि मनुष्य अपनी आशाओं के ही कारण दुःखी हो रहा है। सुख का एक मात्र उपाय है, समस्त आशाओं को श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों मे अर्पित कर देना। कितनी कितनी क्षीण आशायें चित्त मे उठती हैं, ये सब भगवान् की प्राप्ति मे लग जायँ, तो बेडापार हो जाय। समुद्रकी तरङ्गो का अन्त है, आकाश से बरसनेवाले जलबिन्दुओं की संख्या भी हो सकती है, पृथ्वी के रजकणो की गणना भी संभव है किन्तु, इन आशाओं की कोई संख्या नहीं! मनमें जो आशा

उत्पन्न हो जाती हैं, उसीका चित्र सम्मुख आ जाता है। इन आशाओं की चपेटों में ही हम इधर से उधर छटपटाते तिलमिलाते रहते हैं। मुझे आशा थी, छः वर्ष में अठारहों पुराणों की कथा भी हो जायगी और 'भागवती कथा' के १०८ खण्ड भी लिख जायँगे, किन्तु, इन पाँच वर्षों में न तो आधे पुराणों की कथा ही हुई, न आधा से अधिक 'भागवती कथा' ही लिखी गयी। तिसपर भी आशाओं का अन्त नहीं। एक के पीछे दूसरी, दूसरी के पीछे तीसरी, ऐसे ही आशाओं का ताँता बँधा रहता है। इन समस्त आशाओं का पर्यवसान कब श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में होगा, इसे वे ही जानें। प्रेमी पाठक और पाठिकाओं से मेरी यही करबद्ध प्रार्थना है कि अब मेरी समस्त आशायें उन चञ्चल-शिरोमणि श्रीकृष्णचन्द्र के चारु चरणारविन्दों में ही केन्द्रित हो जायँ।

छप्पय

होवे आशा असन भोग श्री हरि को खाऊँ।
जल की आशा होहि कृष्ण चरणामृत पाऊँ॥
चन्दन, माला, गन्ध वसन की उपजै आशा।
प्रभु-प्रसाद करि लेहुँ जगत् तैं होहि निराशा॥
आशा सब मिटि जाहि परि, सब आशा तुम महँ लगैं।
दम्भ, कपट, छल, लोभ भ्रम, तुमरी आशा तैं भगैं॥

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(प्रयाग)
ज्येष्ठ कृ० ६।२००७ वि०

तुम्हारे दर्शनों की आशा में
आशान्वित
प्रभुदत्त

अनुवंशीय महाराज उशीनर

(७६५)

अनोः सभानरश्चक्षुः परोक्षश्च त्रयः सुताः ।
सभानरात्कालनरः सृञ्जयस्तत्सुतस्ततः ॥
जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशीलो महामनाः ।
उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ ॥१

(श्री भा० ९ स्क० २३ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

नृप ययाति के भये पुत्र चौथे जो नरपति ।
तिनि 'अनु' को अब वंश सुनहु जो है पावन अति ॥
भये सभानर, चक्षु परोक्षहु अनुसुत रनजय ।
पुत्र सभानर भये कालनर तिनिके सृञ्जय ॥
जनमेजय सृञ्जय तनय, महाशील तिनि पुत्रवर ।
महामना तिनि के तनय, तिनि तैं नृपवर उशीनर ॥

मनुष्य शरीर में सद्गुणों का निवास है और दुर्गुणों का भी जो अपने सद्गुणों का विकास करते हैं, वे सद्गुणों को पराकाष्ठापर पहुँचा कर प्रभु को प्राप्त करते हैं। जो दुर्गुणों का विकास

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! महाराज ययाति के 'अनु' नामक पुत्र के सभानर, चक्षु और परोक्ष—ये तीन पुत्र हुए। सभानर के सुत कालनर, उनके सृञ्जय, सृञ्जय के जनमेजय तथा जनमेजय के महाशील हुए और महाशील के महामना हुए। महामना के उशीनर और तितिक्षु—दो सुत थे।"

करते हैं वे पराकाष्ठापर पहुँचे दुर्गुणों से ही प्रभु को प्रसन्न करते हैं। जो बीच मे ही लटके है, वे क्लेश पाते हैं। मनमे दुर्गुण भरे हैं, ऊपर से सद्गुण का ढोंग रचते हैं। मन मे संग्रह की वासना है, पर जो ऊपर से त्यागी बने हैं, वे स्वार्थी हैं परमार्थी नहीं। जिसकी जिसमे भी निष्ठा हो, उसी की पराकाष्ठा कर दे, उसापर सर्वस्व निछावर करदे, तो भगवान् उसके सम्मुख ही खडे हैं। भगवान् के लिये न कुछ सत् है न असत्। वे तो आनन्द तथा सुख स्वरूप हैं। उनके लिये सब अच्छा ही अच्छा है। बुरे की कल्पना तो जीव ने अपने आप कर ली है। जीव अपनी निष्ठा मे अडिग रहता रहे, तो भगवान् उसी मे से प्रकट हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं शर्मिष्ठा के द्वितीय पुत्र ययातिनन्दन अनु के वंश को कहता हूँ। नियमानुसार तो मुझे पहले महाराज यदुवंश वर्णन करके तब उनके छोटे भाइयो का वर्णन करना चाहिये था। किन्तु पिता के शाप से चारो भाई क्षत्रियपने से च्युत कर दिये गये थे। इन चारों को मंडलीक मान कर सम्राट् पुरु को ही बनाया गया था, अतः विपरीत ही वर्णन करना है, क्योंकि यदुकुल के वर्णन की पूर्ति के ही लिये इन चारों का वर्णन है। यदुकुल- वर्णन अङ्गी है, ये सब उसके अङ्ग हैं। हाँ, तो देवयानी के दूसरे पुत्र 'अनु' के सभानर, चक्षु और परोक्ष—तीन पुत्र हुए। इन मे सभानर के पुत्र कालनर हुए। कालनर के पुत्र परम धरमात्मा सृञ्जय हुए। सृञ्जय नाम के बहुत से राजा हो गये हैं, सृञ्जय से जनमेजय का जन्म हुआ। जनमेजय के पुत्र महाशील, महाशील के महामना और इन परम भाग्य शाली महाराज महामना के ही पुत्र जगत्विख्यात् उशीनर हुए। महाराज उशीनर की कीर्ति ससार मे अब तक व्याप्त है। इनका

एक सबसे कठिन व्रत था—शरणागत की रक्षा करना। इनके सम्बन्ध में एक बड़ा ही सुन्दर इतिहास है। इससे इनकी शरणागतवत्सलता का पता चलता है। अपनी निष्ठा में दृढ़ रहने के लिये ये राज्य, धन, स्त्री, पुत्र तथा शरीर को भी कुछ नहीं समझते थे।

एक दिन महाराज उशीनर यज्ञ मंडप में बैठे हुए यज्ञीय कार्य कर रहे थे। महाराज ने यज्ञ की दीक्षा ले रखी थी। इसमें उन्होंने नियम कर रखा था कि यज्ञ में जो भी चाहो, आओ, यथेष्ट भोजन पाओ, जिस जिस वस्तु की आवश्यकता हो, ले जाओ। वहाँ सदा 'आइये' भोजन कीजिये, मलाई खाइये, लड्डू खाइये, खीर सपोटिये, रबड़ी पीजिये, इच्छानुसार पदार्थ पाइये, यही ध्वनि सुनाई देती रहती थी। जितने ही अधिक याचक आते, जितने ही अधिक अतिथि आकर प्रसाद पाते, राजा उतने ही अधिक प्रसन्न होते।

एक दिन राजा अपने सभासदों के साथ यज्ञ-मंडप के सम्मुख एक चबूतरे पर बैठे कुछ धर्म चर्चा कर रहे थे, कि उसी समय आकाश से उड़ता हुआ एक कबूतर शीघ्रता के साथ राजा की गोद में बैठ गया। यह देखकर सभा को परम विस्मय हुआ। कबूतर भयभीत था, वह उड़ते उड़ते थक गया था और डर से राजा की गोद में काँप रहा था। राजा को उसपर बड़ी दया आई। वे उसके शरीर पर हाथ फेरने लगे और उसे पुचकारने लगे।"

इतने में ही तीक्ष्ण चोंच वाला, भयावनी आँखों वाला एक श्येन (बाज) पक्षी आकर राजा के सम्मुख निर्भय होकर बैठ गया और मानवी भाषा में कहने लगा—"राजन! यह मेरा आहार है। इसे आपने क्यों छिपा रखा है? इसे मुझे दे दीजिये।" राजा तथा सभी सभासद एक पक्षी के मुख से मानवीय वाणी सुनकर परम विस्मित हुए। राजा उसकी ओर देखकर बोले—

"पक्षिराज ! तुम ऐसा अन्याय क्यों कर रहे हो ? शरणागतो की रक्षा करना तो मेरा परम धर्म है। अभय की इच्छा से मेरी शरण मे आये हुए इस पक्षी को तुम मुझसे क्यों माँग रहे हो ? क्या मैं शरणागत का त्याग करके महापाप का भागी बनूँ ?"

बाज ने कहा—"राजन् ! अन्याय मैं कर रहा हूँ या आप ? आप मेरा आहार छीन रहे हैं। दूसरों की वृत्ति को विच्छेद करना तो सबसे बड़ा पाप है।"

राजा ने कहा—"अरे, भैया ! किसी जीव के प्राण लेना कहाँ का धर्म है ? दूसरों को मार कर खाना तो बड़ाभारी दोष है।"

बाज ने कहा—"महाराज ! इसका दोष आप मुझे क्यो देते हैं ? ब्रह्मा को इसका दोष दीजिये। उन्होने मेरी ऐसी वृत्ति क्यो बनाई ? जलके जीव दूसरे जलके जीव को खाकर ही तो जीते हैं। बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं। यदि किसी को न मारना ही ब्रह्माजी को इष्ट होता तो मकड़ी के पेट मे जाल का सूत्र क्यो पैदा करते ? मकड़ी जाल पूरकर उसमें जीवो को फँसाती है और दिनभर जीवो को खाती है। छिपकली छोटे-छोटे जीवों का ही आहार करके जीती है। बिल्ली चूहो को ही पकड़ पकड कर खाती है। सिह वन मे रहता हुआ भी घास नही चरता, जीवों को ही मारकर खाता है। मनुष्य, जो अपने को सब से बड़ा बुद्धिमान् लगाता है, कितनी मछलियों को छौंककर खा जाता है, कितने बकरो को उदरस्थ कर जाता है। आप ही इस यज्ञ में कितने पशुओं की बलि दे रहे हैं ?"

राजा ने कहा—"भाई ! पशुओं की बात दूसरी है, मैं तो मनुष्य हूँ। जब मैं किसी को जिला नहीं सकता, तो मुझे किसी को मारने का भी अधिकार नही। शरण मे आये की रक्षा करना मेरा धर्म है। तुम्हे मेरे कार्य मे मेरी सहायता करनी चाहिये।"

बाज बोला—"राजन् ! धर्म तभी होता है, जब पेट भर जाता है भूखे भजन नहीं होता। फिर क्या आप हिंसा से बचे हैं ? आप जो फल खाते हैं, उनमे क्या जीव नहीं ? वे भी बढ़ते है, उनको भी कष्ट होता होगा। आप जो हरे-हरे शाक खाते हैं, उनमें जीव नहीं ? आप जो अन्न के बीज खाते हैं, क्या वे निर्जीव हैं ? जीव न होता, तो वे दूसरे अंकुर को उत्पन्न कैसे कर सकते ? हम तो एक दो जीवो को ही मारते हैं, आप तो असंख्य जीवों की हत्या करते है।"

राजा बोले—"भाई ! यह तो विवशता है। अन्न न खायँ, तो काम कैसे चले ?"

बाज ने शीघ्रता से कहा—"यही बात महाराज ! मेरे विषयमें भी सोच ले। इसे न खाऊँ तो शरीर कैसे चले ? गौ घास के ऊपर दया करे,तो कै दिन वह जीवित रहेगी ? इसलिये महाराज ! आप इस मोह को छोड़िये। मुझ भूखे को मेरा आहार देकर परम पुण्य के भागी बनिये। मेरे आहार को चुराकर पाप न कमाइये। देखिये, इसे मारकर मैं स्वयं ही न खाऊँगा। अपने बाल-बच्चों को भी खिलाऊँगा। महाराज ! धर्म-की गति बड़ी सूक्ष्म है। जिस धर्मानुष्ठान से दूसरे के धर्मानुष्ठान को आघात पहुँचे, वह धर्म नहीं, कुधर्म है। अविरुद्ध धर्म ही यथार्थ मे धर्म है।"

राजा ने कहा—"जहाँ दो धर्मों मे परस्पर विरोध हो, वहाँ क्या करना चाहिये ?"

बाज बोला—"महाराज ! वहाँ बलाबल देखना चाहिये। जिसके पालन से अधिक बाधा होती हो, अधिक लोगों का अकल्याण होता हो, वहाँ उसे छोड़कर, जिससे न्यूनतम आघात हो, उसका आचरण करना चाहिये। इस पक्षी को छोड़ देने से केवल आपका मन खिन्न होगा और हमारे तो सम्पूर्ण परिवार के प्राण

ही चले जायँगे। अतः आपको इसे हमे दे देना चाहिये।"

राजा ने कहा—"अच्छा, एक काम करो। तुम्हें इस कबूतर से तो कोई द्वेष है नहीं। तुम्हे तो आहार चाहिये। अब ऐसा काम करना चाहिय, कि शरणागत की रक्षा वाला मेरा व्रत भी खण्डित न हो और तुम्हे आहार भी मिल जाय। इसके लिये मैंने यह उपाय सोचा है, कि तुम्हे मैं अन्य जिस पक्षी का जितना कहो, उतना माँस मँगवा दूँ। तुम तो श्येन पक्षी ही हो। मेरे यहाँ बहुत से मरे हुए जन्तु हैं। जितना चाहो उतना माँस मैं तुम्हें दिला सकता हूँ। मेरे व्रत को खण्डित न होने दो।"

बाज ने कहा—"महाराज! मैं मरे हुओ का माँस नहीं खाता।"

राजा ने कहा—"अच्छा, जीवितो का मँगा दूँ।"

बाज ने कहा—"इससे लाभ क्या? एक के पीछे आप दूसरे जीवो की हिंसा करायेंगे, यह कहाँ की दया है?"

राजा ने कहा—"भाई! मुझे तो शरणागत की रक्षा करनी है। यह कबूतर मेरी गोद मे बैठा हुआ भय के कारण थर-थर काँप रहा है और मेरी ओर बार-बार सतृष्ण नेत्रों से देखकर यह भाव व्यक्त कर रहा है, "राजन्! मेरी रक्षा करो।" इसलिये मैं इस कबूतर की तो जैसे भी हो, वैसे रक्षा करूँगा ही। इसके बदले तुम जो मुझसे माँगोगे, वही मैं तुम्हे दूँगा।"

बाज ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज! आपका यदि इस कबूतर पर इतना स्नेह है, आप किसी भी प्रकार इसे देना नहीं चाहते, तो एक काम करें, इस कबूतर के बराबर अपने शरीर से स्वयं माँस काटकर मुझे दें,। उसे खाकर मैं प्रसन्न हूँगा।"

यह सुनकर अत्यंत ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए बड़े उल्लास के साथ राजा ने कहा—"पक्षिराज! तुमने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की

मैं इसे अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि मेरे शरीर को ऐसे सुन्दर कार्य मे लगा रहे हो।" ऐसा कहकर महाराज ने एक बडा सा तराजू मगाया। एक ओर तो उन्होंने कबूतर को रखा, और दूसरी ओर अपने शरीर का मॉस रखा। किन्तु लोगों ने देखा, मॉस कम है, कबूतर वाला पलडा भारी है। तब राजा ने और मॉस काटकर रखा। फिर भी बराबर नही हुआ। राजा अत्यन्त उत्साह के साथ बार बार शरीर से काट-काटकर मॉस रखते, किन्तु कबूतर का पलडा पृथ्वी से उठता ही नहीं था। राजा ने जब देखा, मेरे शरीर मे मॉस नहीं रहा, तब वे स्वय पलडे मे जा बैठे।

यह देखकर बाज हँस पडा। सब के देखते देखते बाज वहीं विलीन हो गया। उसके स्थान मे वज्रहस्त पुरन्दर इन्द्र वहाँ खडे थे। उन्होंने मेघ-गम्भीर वाणी मे कहा—'राजन्! आप का कल्याण हो! वास्तव मे मैं बाज नहीं, देवताओं का राजा इन्द्र हूँ। यह कबूतर भी वास्तविक कबूतर नहीं। ये हव्यावाहन साक्षात् अग्निदेव हैं। हम दोनो आपकी धर्मनिष्ठा की परीक्षा लेने के लिये छद्म वेश बनाकर आपके यज्ञ मण्डप मे आये थे। हम आपकी स्वर्ग मे जैसी प्रसशा सुनते थे, आप उससे भी अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुए। इस शरणागत वत्सलतारूप परम धर्म के कारण आप की कीर्ति पताका प्रलय पर्यन्त तीनो लोकों मे फहराती रहेगी। भूमण्डल पर सूर्य चन्द्र के समान आप का यश अचल बना रहेगा।"

इतना कहकर अग्नि और इन्द्र तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा भी अपने यज्ञ को पूर्ण करके धर्मानुष्ठान मे लग गये और धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। इन्हीं धर्मात्मा राजा के पुत्र त्रैलोक्य-वन्दित प्रातः स्मरणीय महाराज शिवि हुए, जिन

अमल विमल धवल कीर्ति अब तक तीनों लोकों में व्याप्त है महाभारतादि ग्रन्थों में यह बाज और कबूतर की कथा इन सम्बन्ध में भी विख्यात है सम्भव है, इनके साथ भी यही घटना घटित हुई हो।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! महाराज शिवि ऐसा कौन-सा गुण था, जिसके कारण वे आज भी अजर अमर बने हैं। महाभारतादि ग्रन्थों में बार बार इनका यशोगान किया गया है, स्थान-स्थान पर इनके उपाख्यानों को गौरव से कहा गया है।"

इसपर सूतजी बोले—"महाराज! राजर्षि शिवि में सर्व अलौकिक गुण थे। सभी सद्गुणों के वे भण्डार थे। किन्तु उनका जैसा धैर्य तो संसार में कहीं देखा नहीं गया। उनका धैर्य अलौकिक था। उसके लिये उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता था, उनका ऐसा सहज स्वभाव ही बन गया था, कि वे बड़ी से बड़ी दुर्घटना होने पर भी विचलित नहीं होते थे। किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल घटना से उनके धैर्य का बाँध नहीं टूट सकता था। महाराज! स्त्री पुत्रों में भूमि तथा भवनों में ऐसी आसक्ति हो जाती है, कि इनके नाश से मनुष्य अपना ही नाश समझने लगता है। यह भगवान् की गुणमयी दैवी माया का ही प्रभाव है। महाराज शिवि अपने धैर्य द्वारा इस माया को पार कर गये थे। उनकी सत्य में निष्ठा थी। वे सत्य के पीछे सर्वस्व होमने के लिये तत्पर रहते थे।"

यह सुन कर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! उशीनर नन्दन राजर्षि शिवि के धैर्य की कथा आप हमें अवश्य सुनावें। इन कथाओं के श्रवण से अन्तःकरण शुद्ध होता है और धर्म में प्रवृत्ति होती है।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज अब मुझे महाराज शिवि का ही चरित तो सुनाना है। किन्तु अब मुझे शीघ्रता करनी है। अतः सक्षेप में ही सुनाऊँगा आप सब तो विद्वान् हैं अपने आप उसका विस्तार कर लेंगे।"

छप्पय

बनि के अग्नि कपोत उशीनर नृप ढिँग आये।
शक्र श्येन धरि रूप भूप कूँ वचन सुनाये॥
यह कपोत आहार हमारो या कूँ त्यागो।
नृपति कहैं—तजि याहि और चाहे जो माँगो॥
माँग्यो नृप तन मास जब, हरषि करयो तन समरपन।
कृष्ण धैर्य तैं करे वश, लह्यो अन्त महँ भक्तिधन॥

उशीनरनन्दन महाराज शिवि की कथा

(७९६)

शिविर्वनः शमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः ।
वृषादर्भः सुवीरश्च मद्रः कैकेय आत्मजाः ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

तिनि के सुत शिवि भये क्रोधजित धैर्यवान अति ।
माँग्यो द्विज सुत मास दयो हर्षित ह्वै भूपति ॥
लेन परीक्षा महल माहिँ द्विज आग लगाई ।
तनिक न विचलित भये बात द्विज शीश चढ़ाई ॥
आये अज द्विज वेश धरि, लई परीक्षा कठिन अति ॥
मृतक पुत्र जीवित भयो, शिवि नरपति की विमल मति ॥

विना स्वल्प वस्तु के त्याग के महान वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। त्याग से ही वस्तु की वृद्धि होती है। कृषक प्रथम अन्न को मिट्टी मे मिला देता है, उसका त्याग करता है, तब उसे एक अन्न के स्थान में बहुत अन्न मिलता है। व्यापारी विदेशों मे अपने पास से द्रव्य लगाता है, तब उसे लाभ होता है। विदेशी व्यापारी अथाह जल के वक्षःस्थल को चीरते हुए दूसरे देशो मे जाते हैं, अपना रक्त पसीना बनाते हैं, तब कुछ प्राप्त करते हैं।

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज उशीनर के शिवि, वन, शमी और दक्ष—ये चार पुत्र हुए। इनमें से ज्येष्ठ महाराज शिवि के भी वृषादर्भ, सुवीर, मद्र और कैकेय—चार सुत हुए।"

कामी पुरुष कामिनी के पीछे प्रिय से प्रिय वस्तु त्याग देते है। इसी प्रकार धर्मनिष्ठ पुरुष धर्म के पीछे अपना सब कुछ होम देते हैं, जो प्रण वे कर लेते है, प्राणपण से उसे पूरा करने का प्रयत्न करते है। जिन्हे इस नश्वर शरीर मे, क्षणभगुर संसारी विषय भोगो मे, नाशवान् ईंट पत्थरो के घरो मे मोह है, वे ससार से परे की वस्तु को कैसे प्राप्त कर सकते है ? जब स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के ही लिये इस लोक के सभी सुखो को त्यागना होता है, तब भगवान् तो स्वर्ग मे भी दूर हैं, उनकी प्राप्ति के लिये तो इह लोक तथा परलोक, दृष्ट और श्रुत सभी सुखो को त्यागना होगा। राज पाट,कोष, किला, स्त्री पुत्र तथा समस्त विषय भोगो को त्यागकर विशुद्ध धर्म की प्राप्ति हो सके, तो ऐसा कौन बुद्धिमान होगा, जो इन नाशवान-क्षुद्र भोगों के त्याग में ननु नच करेगा। किंतु मूर्ख लोग, नारकीय पुरुष, पैसे पैसे के लिये असत्य भाषण करते हैं। वे सोचते है—"चाम भले ही जाय, छदाम न जाय।" वे इसी प्रकार दुःख सुख सहते हुए चौरासी के चक्कर मे घूमते रहते हैं। जो धर्म के पीछे सर्वस्व निछावर कर देते हैं, वे अपनी अमल-धवल कीर्ति को सदा के लिये भू मण्डल पर छोड़कर दिव्य लोको मे आनन्द विहार करते हुए, अन्त मे परमपद के अधिकारी बन जाते हैं।

सूतजी कहते है—'मुनियो ! अब मै उशीनर नन्दन महाराज शिवि का पावन चरित कहता हूँ। इनको हुए कई युग हो गये। फिर भी इनकी कीर्ति ससार मे ज्यो की त्यो बनी है, और तब तक बनी रहेगी, जब तक गङ्गा, यमुना, हिमालय, चन्द्र, सूर्य तथा यह सृष्टि रहेगी। महाराज शिवि ने अपने पुण्य कर्मों से सभी दिव्यलोकों को जीत लिया था। पृथ्वी पर अपने समान सभी राजाओं को बाहुबल से जीतकर उन्होंने सपत्नजित् श्री उपाधि

प्राप्त की थी। राजा ने कितने यज्ञ, पुण्य कम किये और दान दिये, इसकी गणना नहीं। पृथ्वी के रजकणों की, मेघ बूँदों की आकाश के तारागणों तथा नक्षत्रों की, समस्त जीवों के रोमों की सातों समुद्रों के जल बिन्दुओं की भले ही कोई गणना कर ले, किन्तु महाराज शिवि ने ब्राह्मणों को कितनी गौएँ दीं, कितनी सुवर्ण मुद्राएँ बाँटी, इनकी गणना अत्यन्त ही कठिन है। उन्होंने जितने यज्ञ किये, उतने प्रजापतियों को छोड़कर किसी ने न किये होंगे। समुद्रों में जितने जीव-जन्तु निवास करते हैं, उतनी गौएँ उन्होंने दान दी होंगी। उनके यज्ञों में आओ, नहाओ, खाओ ले जाओ—ये ही शब्द सुनाई देते थे। महाराज की उदारता से प्रसन्न होकर सदाशिव भोले नाथ शंकर ने उन्हें आशिर्वाद किया था—"तुम्हारा कोश कभी खाली न होगा।" यह वर पाकर तो राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा था। वे दोनों हाथोंसे धन-रत्न लुटाते रहते थे उन्होंने घोषणा कर रखी थी कि जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह मुझसे वही निःसंकोच आकर ले जाय। राजा कल्पवृक्ष के समान सब की इच्छाओं को पूर्ण किया करते थे। उनके द्वार से कोई भी अतिथि निराश होकर नहीं लौटाता था।

एक दिन महाराज के यहाँ एक तेजस्वी ब्राह्मण आया। उसे अपनी सभा में आये हुए देखकर राजा ने श्रद्धा-भक्ति के सहित उनका अभिनन्दन किया। उनका कुशल पूछकर उनकी विधिवत पूजा करके, हाथ जोड़कर, नम्रता के साथ राजा ने उनसे पूछा—"ब्रह्मन्! इस दीन पर आपने कैसे कृपा की? मेरे योग्य कोई सेवा हो तो निःसंकोच मुझे आज्ञा दीजिए।"

ब्राह्मण ने कहा—"हाँ, राजन्! मैं आप के समीप एक कार्य से आया हूँ।"

राजा ने कहा—"आज्ञा करें, भगवन् ! मेरा धन, प्राण सर्वस्व ब्राह्मणों और अतिथियों का ही है।"

ब्राह्मण बोले—"राजन् ! मैं भूखा मरता हूँ, आहार की इच्छा से आपके समीप आया हूँ।"

राजा ने अत्यन्त नम्रता से कहा—'प्रभो ! मेरे यहाँ षट्रस-युक्त ५६ प्रकार के व्यंजन तैयार हैं। आज्ञा करें, आप कैसा भोजन करेंगे।"

ब्राह्मण ने कहा—"मुझे ऐसा भोजन नहीं चाहिये। मैं तो अघोरी सम्प्रदाय का हूँ मुझे भोजन के लिये मांस दीजिये।"

राजा ने धैर्य के साथ कहा—"मांस भी तैयार है। कहिए मृग का, शूकर का, शशक का, अज आदि किस मेध्य पशु का मांस आप खायेंगे।"

ब्राह्मण बोले—"राजन् ! इनमे से किसी के मांस पर मेरी रुचि नहीं, मैं तो नर मास खाऊँगा।"

राजा ने कहा—"वधशाला में नर-मांस भी मिल सकता है।"

ब्राह्मण ने कहा—"ऐसा नर-मांस मुझे नहीं चाहिये। मैं तो राज पुत्र का मांस खाऊँगा। यदि तुम अपने इकलौते कुमार का स्वयं मांस पकाकर लाओ, तो उसे ही मैं खाकर तृप्त होऊँगा।"

राजा ने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"ब्रह्मन् ! मेरा तथा मेरे पुत्र का अहोभाग्य ! आज उसका राजकुल मे जन्म लेना सार्थक हो गया, जो उसका शरीर अतिथि-सेवा मे लगेगा। ब्रह्मन् ! इस हाड मास के बने शरीर का यही एकमात्र उपयोग है, कि इससे धर्मोपार्जन किया जाय। यदि मानव-देह से कैतव-रहित धर्म का उपार्जन हो सके, तो ऐसे शरीर का एक दिन का जीवन भी धन्य है ! इसके विपरीत जो सुन्दर-स्वादिष्ट पदार्थ

खाते हुए, मांस को बढाते हुए, उनका मल बनाते रहते हैं, पावन भूमि को अपावन बनाते रहते हैं, ऐसे शिश्नोदरपरायण पुरुष यदि कल्प तक भी जीवें, तो उनके जीवन से क्या लाभ ? ब्रह्मन् ! आप विराजे, मैं अभी अपने पुत्र का मास बनाकर लाता हूँ।" यह कहकर राजा वहीं ब्राह्मण को बिठाकर अन्तःपुर में गये। वहाँ उन्होंने अपने राजकुमार वृषादर्भ को अपने हाथों से काटकर मास को स्वयं पकाया।"

सूतजी कहते हैं—"भगवन् ! आप इसमें आश्चर्य न करें। जिन्होंने सत्य का व्रत ले रखा है, उनके सम्मुख ये स्त्री, धन, पुत्र आदि अत्यन्त ही तुच्छ पदार्थ हैं। उनके लिये अपने पुत्र तथा बकरे के पुत्र में कोई अन्तर नहीं। हम तो माया के चक्कर में फँसकर मोह वश आसक्ति-वश एक को अपना समझते हैं, दूसरे को पराया। किन्तु जो सत्निष्ठावान् पुरुष हैं, वे सभी को प्रभु सेवा का उपकरण समझते हैं। भगवान् ने जो भी कुछ दिया है, भगवत् और भागवतों की सेवा के ही निमित्त दिया है। महाराज ! एक आचार्य थे। उनका एक निष्ठावान् शूद्र शिष्य था। आचार्य उससे बहुत स्नेह करते थे। आचार्य कुछ वृद्ध हो चले थे। अतः वे उसके कंधे पर हाथ रखकर चलते थे। इससे उनके उच्च जाति के शिष्य मन ही-मन कुढते थे। सर्वज्ञ आचार्य उनके मनके भाव को समझ गये। जिन शूद्र भक्त पर महाराज का अनुराग था, वे कोई एक उपपत्नी रखे हुए थे। उससे वे बहुत स्नेह करते थे। एक दिन आचार्य ने अन्य भागवतों से कहा—रात में जब इस शूद्र भक्त की उपपत्नी सो रही हो, तब तुम सब जाकर उसके अङ्ग के सब आभूषण उतार लाओ।"

आचार्य का ऐसा आज्ञा पाकर अन्य शिष्य अत्यन्त हर्षित हुए। वे शूद्र भक्त तो घर में थे नहीं, उनकी पत्नी सो रही थी।

सो क्या रही थी, आँख बन्द करके एक करवट से लेटी हुई थी। आचार्य की आज्ञा से वे सब भागवत उसके घरगये।:शनैः शनैः उसके अङ्ग के सब बहुमूल्य आभूषण उतारने लगे। जब एक अङ्ग के सब आभूषण वे उतार चुके, तब उसने करवट बदली। शिष्यों ने समझा,अरे, यह तो जाग रही है। वे तुरन्त वहाँ से भाग गये। भक्त जी घर आये, स्त्री से पूछा—"तेरे एक अङ्ग के आभूषण कहाँ गये ?"

उसने कहा—"कुछ वैष्णव भागवत आये थे। वे मेरे शरीर के आभूषणों को उतार ले गये।"

अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए भक्तजी बोले—"तो, फिर वे दूसरे अङ्ग के आभूषणों को क्यों छोड गये ?"

स्त्री ने कहा—"मैंने करवट बदली, तभी तो वे भाग गये।"

डाँटकर भक्तजी ने पूछा—"तूने करवट ही क्यों बदली ?"

स्त्री ने कहा—"प्राणनाथ ! करवट मैंने इसलिये बदली, कि वैष्णवगण दूसरे अङ्ग के भी आभूषण उतार सकें।"

गरजकर भक्तजी बोले—"तुझे स्वयं करवट लेने की क्या आवश्यकता थी ? यह शरीर, धन, आभूषण तथा हमारा सर्वस्व वैष्णवों का ही है। वे स्वयं जैसे चाहते, शरीर को उलट-पुलट लेते। अभी तेरी वैष्णवों में निष्ठा नहीं।" यह कहकर उन्होंने उसका उसी समय परित्याग कर दिया। आचार्य ने जब यह बात सुनी, तब अपने उच्चवर्णाभिमानी भक्तों से कहा—"बताओ, तुम में से किसकी भगवद्भक्तों के प्रति ऐसी निष्ठा है ?" यह सुनकर वे सबके सब लज्जित हुए और उनका उस दिन से अत्यधिक आदर करने लगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! आप यह न सोचें, कि महाराज शिवि ने अपने हाथ से अपने सगे पुत्र का सिर काटकर

उस मांस को कैसे पकाया ? साधुओं के लिये कौन सा ऐसा कार्य है, जो दुस्साध्य हो ? अपनी निष्ठा के लिये साधु पुरुष सब कुछ कर सकते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी ! फिर क्या हुआ ? उन ब्राह्मण ने उस बालक का मांस खाया ? वे ब्राह्मण क्या थे. पूरे राक्षस थे। ऐसे राक्षस के प्रति भी श्रद्धा बना रहनी सचमुच अत्यन्य आश्चर्य की बात है।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! ऐसा होना अत्यन्त कठिन है। इतिहास मे हरिश्चन्द्र, दधीचि महाराज शिवि आदि ऐसे इने-गिने ही दृष्टांत हैं। हाँ, तो अपने पुत्र का मास राँधकर वे लाये। किन्तु जहाँ ब्राह्मण को वे बिठा गये थे, वहाँ ब्राह्मण मिला ही नहीं। अत्यन्त ही शङ्कित चित्त से पुत्र के रँधे मास को सिर पर रखे राजा उस अतिथि द्विज को इधर-उधर खोजने लगे। किन्तु उनका कहीं पता ही न चला। इतने मे ही एक राजकर्मचारी ने आकर कहा—"प्रभो ! जिस ब्राह्मण ने राजकुमार का मास माँगा था वही आपके आने मे देर होते देख, महलों में कोपालय तथा अन्य स्थानों मे क्रुद्ध होकर अग्नि लगा रहा है। समस्त बहुमूल्य सामग्रियाँ स्वाहा हो रही हैं।" इतना सुनकर भी महराज विचलित नहीं हुए। धैर्य के साथ इस बात को सुनकर वे अतिथि द्विज के समीप गये और अत्यन्त ही नम्रता के साथ बोले—"भगवन् ! मेरा अपराध क्षमा हो। आने मे विलम्ब हुआ। आपकी आज्ञानुसार मैं अपने पुत्र का मास बनाकर लाया हूँ, आप इसे प्रेमपूर्वक पा लीजिये।

ब्राह्मण ने वस्त्र उठाकर थाली मे रखे मास को देखा और कुपित होकर बोला—'हम आज्ञा देते हैं, तू ही इस मांस को खा जा।"

ब्राह्मण की ऐसी बात सुनकर राजा बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के ब्राह्मण की आज्ञा से पुत्र मांस को खाने के लिये उद्यत हो गये। उन्होंने ज्यों ही बच्चे की खोपड़ी को हटाकर मांस खाना चाहा, त्यों ही ब्राह्मण ने हँसकर हाथ पकड़ लिया और बोले—"राजन्! यथार्थ में आपने क्रोध को जीत लिया है। वास्तव में आपकी निष्ठा दृढ़ है। आप इस भगवान् की माया को तर गये। मैं साक्षात् चतुरानन ब्रह्मा हूँ। आपके धैर्य की परीक्षा लेने के निमित्त ही मैं वेष बदल कर आपके यहाँ आया था। अब मैं समझ गया कि आप अतिथियों की सेवा के लिये सब कुछ कर सकते हैं, ब्राह्मणों के लिये सम्भव असम्भव सभी प्रकार की वस्तुओं को दे सकते हैं। ऐसा कहकर ब्रह्माजी अपना यथार्थ रूप दिखाकर अन्तर्हित हो गये। राजा ने देखा, उनका वह पुत्र वस्त्र आभूषणों से अलंकृत होकर सामने से आ रहा है। जिस पुत्र को वे मार चुके थे, उसे पुनः आते देखकर राजा ने यह सब भगवान् की कृपा ही समझा।

ब्राह्मण जब अन्तर्हित हो गये, तब सभा में बैठे राजा से सभासदों ने पूछा—"प्रभो! हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपने ऐसा कठिन कार्य किस कामना से किया था? क्या यश प्रतिष्ठा की अभिलाषा से आपने ऐसा दुस्साहस किया था?"

यह सुनकर सरलता के साथ शिवि ने कहा—'भाइयो! मैं जो भी दान देता हूँ, यज्ञादि शुभ कार्य करता हूँ, वह सब यश कीर्ति, ऐश्वर्य अथवा प्रतिष्ठा के निमित्त नहीं। मुझे इसके उपलक्ष्य में कोई अन्य उत्तम वस्तु प्राप्त हो, ऐसी भी कामना मैं नहीं करता। दान देना सनातन से धर्म माना गया है पुण्यात्मा लोग दान देते आये हैं। यही समझकर निष्कामभाव से मैं इसका आचरण

करता हूँ। जैसे चोर स्वभाववश चोरी करता है, सुरापी को बिना सुरापान किये रहा नहीं जाता, वैसे ही दान देना मेरा स्वभाव हो गया है, उसमें न तो मुझे प्रयास करना पड़ता है और न मैं इसके बदले कुछ चाहता ही हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा की ऐसी निष्कपट सीधी सरल बातें सुनकर सभी सभासद परम सन्तुष्ट हुए। महाराज की इस निष्काम वृत्ति को देखकर सुरासुर-पूजित ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारद भी चकित हुए और उन्होंने राजा शिवि के सम्मुख अपने को भी तुच्छ माना।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! नारदजी तो भगवान् के अवतार हैं। उन्होंने अपने को महाराज शिवि से छोटा क्यों माना? क्यों उन्होंने ऐसा कहा? कृपा करके इस कथाप्रसङ्ग को भी हमें सुनावें।"

इसपर सूतजी बोले—"राजन्! एक बार यज्ञ करके विश्वामित्र के पुत्र अष्टक विमान में चढ़कर स्वर्ग में जा रहे थे। उनके साथ उनके भाई प्रतर्दन, वसुमना और उशीनर सुत ये महाराज शिवि भी थे। मार्ग में इन सबको देवर्षि नारदजी मिल गये। इन सबने नारदजी का सत्कार किया और कहा—"भगवन्! आप भी हमारे साथ स्वर्ग चलें। बात-चीत करते-करते मार्ग आनन्द पूर्वक कट जायगा।"

नारदजी तो घुमक्कड़ ही ठहरे। उन्हें इसमें क्या आपत्ति होनी थी? अतः वे भी साथ हो लिये। बात-चीत होते होते एक ने पूछा—"महाराज! हम चारों में से सबसे पहले स्वर्ग से च्युत कौन होगा?"

नारदजी ने कहा—"भाई! अष्टक ही सबसे पहले स्वर्ग से च्युत होकर धराधाम पर आवेंगे।"

उसने पूछा—"सो क्यों ? महाराज !"

नारदजी बोले—"एक बार मैं अष्टक की राजधानी में गया। दूसरे दिन ये मुझे सुंदर-सुवर्ण-मंडित रथ मे बिठाकर वायु सेवनार्थ ले गये। वहाँ मैंने लाखों बड़े-बड़े ऐनवाली गौएँ चरते देखीं मैंने पूछा—"ये गौएँ किसकी हैं ?"

अष्टकने अभिमान से कहा—"ब्रह्मन्! ये गौएँ मैंने ही ब्राह्मणों को दान मे दी हैं। इससे मुझे पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी।" राजा ने अपने मुख अपने दान की प्रशंसा की। इसलिये इन्हें सर्वप्रथम पृथ्वी पर आना होगा।"

तब उन तीनों में से एक ने पूछा—"अच्छा, हम तीनों मे से कौन प्रथम पृथ्वी पर लौटेगा ?"

नारदजी बोले—"आप लोगों मे से प्रतर्दन पहले स्वर्गसे च्युत होगा। इसकी भी कथा सुनो। मैं तो घूमता ही रहता हूँ। ऐसा एक भी राजा न होगा, जिसके यहाँ मैं न गया होऊँ,एक बार मैं इनके यहाँ गया। मुझसे घूमे बिना तो रहा ही नहीं जाता। ये भी मुझे रथ में बिठाकर घुमाने ले गये। रथ मे चार घोडे लगे थे। क्रम से राजा के समीप आकर चार ब्राह्मणों ने एक-एक घोडे की याचना की। राजा ने सबसे ही कहा—"मेरे घर से घोडा लेना।"जब सब ने वहीं लेने का आग्रह किया, तब एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा, ऐसे चारो घोडे इन्होने दान में दे दिये। दान तो इन्होंने दिया ही, किन्तु संकोच के साथ आग्रह करने पर दिया। अतः तुम तीनों से पहले ये पृथ्वी पर आवेंगे।"

तब शेष दो ने पूछा—"हम दोनो मे से प्रथम कौन स्वर्ग च्युत होगा ?"

नारदजी बोले—"वसुमना ही प्रथम पृथ्वी पर आवेंगे। इसका भी कारण सुनें। इनके पास एक पुष्परथ नाम का ऐसा

रथ था, कि वह चाहे जहाँ जा सकता था। मेरे मन में आया कि इस राजा से वह रथ लेलूँ, तो इसी में बैठकर घूमा करूँ। मैंने इनसे माँगा, तो ये बोले—"महाराज! आपका तो रथ है ही, चाहे जब ले जायँ।" मैंने फिर आकर माँगा, तो फिर उन्होंने ऐसा ही गोल- मटोल उत्तर दिया—"हाथ-पाँव को बचाना, मूँजो को टरकाना" "कोठी कुठिला से हाथ न लगाना सब तुम्हारा ही माल खजाना।" इस प्रकार मुझ से मना तो किया नहीं, किन्तु रथ दिया भी नहीं। अतः तुम दोनों में से ये वसुमना ही प्रथम पृथ्वी पर आवेंगे।"

यह सुनकर एक ने कहा—"अच्छा, मान लीजिये, ये शिवि और आप दोनों स्वर्ग जायँ,तो किस का प्रथम पतन होगा?"

नारदजी बोले—"भाई, शिवि से पहले मेरा ही पतन होगा। शिवि के समान धैर्य, साहस और सत्य-बल,मुझ में नहीं है। शिवि की जैसी निष्ठा मेरी कैसे हो सकती है? ये जो भी कर्म करते हैं, निष्काम भाव से, कर्तव्य समझकर करते हैं। ये फल की इच्छा रखकर कार्य नहीं करते। ये उदारता में, सद्गुणों में, त्याग और तितिक्षा में, सभी नर-पतियों से श्रेष्ठ हैं। यह बात मैं बार-बार कह चुका हूँ। एक बार मैंने देखा, एक मार्ग में कुरुवंशी महाराज सुहोत्र और ये— दोनों एक दूसरे का मार्ग रोके खड़े हैं दैवयोग से घूमता-फिरता मैं भी वहाँ जा पहुँचा। मैंने पूछा—"तुम दोनों एक दूसरे का मार्ग रोके क्यों खड़े हो?"

सुहोत्र ने कहा—"हम दोनो ही समान राजा हैं; छोटा राजा बड़े को मार्ग देता है अतः न तो ये मुझे देखकर मार्ग छोड़ते हैं, न मैं इनके लिये।"

इसपर मैंने सुहोत्र से कहा—"राजन्! महाराज शिवि चरित्र में तुम्हारी अपेक्षा अच्छे हैं।" यह सुनकर महाराज सुहोत्र

ने इनकी परिक्रमा की और बड़े आदर-सत्कारसे इन्हें मार्ग दिया। इसलिये मैं भी इनकी बराबरी नहीं कर, सकता। पुत्र को मारकर स्वय राँधकर, अतिथि का सत्कार करना और महलों मे आग लगा देने पर भी मन मे रञ्चक मात्र भी विकार न आने देना, कितना भारी धैर्य का कार्य है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवर्षि भगवान् नारद जी ने भी महाराज शिवि के चरित्र और धैर्य की प्रशंसा की है। अब आप महाराज शिवि के अग्रिम वंश का वृत्तान्त श्रवण करें।"

छप्पय

भये चारि शिवि तनय पिता के सम तेजस्वी।
वृषादर्भ कैकेय सुवीर हु मद्र यशस्वी॥
नृपति तितिक्षु सुशील उशीनर नृप लघु भ्राता।
पुत्र उशद्रथ भये हेम सुत तिनि सुख-दाता॥
हेम पुत्र सुतपा भये, सुतपा सुत बलि जग-विदित।
राज, पाट, धन, धान्य, पशु, सुख सब, किन्तु न एक सुत॥

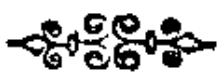

अनुवंशीय बलिकी संतति

(७६७)

शिवेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुशद्रथः ।
ततो हेमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत् ॥
अङ्गवङ्ग कलिङ्गाद्याः सुह्मपुण्ड्रान्ध्र संज्ञिताः
जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ४,५ श्लो०)

छप्पय

भूपति बलि सुत बिना रहे मन महँ अति चिंतित ।
सूझै नहीं उपाय नृपति कूँ सुतहित समुचित ॥
गंगा तट पै बैठि बात नृप मन महँ आई ।
द्विज तैं सुत करवाहुं, नाव इक दई दिखाई ॥
दीर्घतमा तामैं बँधे, बड़े तपस्वी अन्ध मुनि ।
नाव पकरि तट पै करी, भये मुदित मुनि नाम सुनि ॥

वंश का उच्छेद होता हो, तो धर्मपूर्वक काम भाव से रहित होकर द्विज द्वारा वंश-परम्परा को बनाये रखने की प्राचीन प्रथा थी। दोष भाव से होता है। एक ही कार्य है, यदि वह शुद्ध

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज शिवि के तो चार पुत्र हुए। उशीनर के भाई तितिक्षु थे, उनके पुत्र रुशद्रथ हुए। उनके हेम, हेम के सुतपा और सुतपाके ही पुत्र बलि हुए। महाराज बलिने आपनी पत्नी के गर्भ से दीर्घतमा मुनि के द्वारा अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र और आन्ध्र—छः पुत्र उत्पन्न कराये।"

भाव से किया जाय, तो ऊपर से अनुचित सा भी दीखता हो, किंतु वह उचित ही है। यदि अशुद्ध भावसे किया जाय, तो उचित और उत्तम काम भी हेय है। तप श्रेष्ठ कार्य है, किन्तु दम्भ से, द्वेष से, प्राणियों को कष्ट देने को किया जाय, तो वह उत्तम कार्य होने पर भी अधम है। बल-पूर्वक दूसरों का धन छीनना निन्द्य काम है, किन्तु दिग्विजय मे यज्ञ के लिय दूसरे राजाओं पर चढाई करके, उनके धन को बल पूर्वक छीन लेना निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। अतः सुख दु:ख मे भाव ही प्रधान कारण है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने उशीनर-सुत महाराज शिवि का चरित आप को सुनाया। यह मैं पीछे ही बता चुका हूँ, कि महाराज उशीनर के एक छोटे भाई थे, जिनका नाम तितिक्षु था। अब इनके वंश को भी श्रवण करें। महाराज तितिक्षु के रुशद्रथ नाम के पुत्र हुए। रुशद्रथ के सुत हेम और हेम के सुत सुतपा हुए। इन्हीं महाभाग-सुतपा से समस्त धर्मों के ज्ञाताओं मे सर्व-श्रेष्ठ महाराज बलिका जन्म हुआ। महाराज की पत्नी का नाम सुदेष्णा था। सुदेष्णा परम रूपवती, सुकुमारी, पतिपरायणा और सती साध्वी रानी थी। राजा का उसके प्रति अत्यत ही अनु-राग था। यद्यपि महाराज के कोई सन्तान नहीं थी, फिर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। जब महाराज को सन्तान की आशा जाती रही, तब उन्होंने महामुनि दीर्घतमासे अपने क्षेत्र में अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र,सुह्म और आन्ध्र-ये छः पुत्र उत्पन्न कराये। उनके क्षेत्र में और भी पुत्र हुए, जो ब्राह्मण हुए।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये महामुनि दीर्घ-तमा कौन थे? महाराज बलि से इनकी भेंट कहाँ हो गयी? कैसे उन्होंने बलि के क्षेत्रमे क्षत्रिय और ब्राह्मणों को उत्पन्न किया? कृपा करके इस कथा को हमें सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! ऐसी कथाएँ आप मुझ से न पूछा करें, तो ही अच्छा है। ये ऋषि अपनी धुनि के बड़े पक्के होते हैं। इन्हें जो भी सूझ जाय, उसी पर अड़ जाते हैं, जो कह दें, वही धर्म हो जाता है। महाराज ! ये तप के प्रभाव से सब कुछ कर सकते हैं। तपस्या में बड़ी सामर्थ्य है। इस बात को मैं पहले भी दुष्यन्त सुत भरत के प्रसङ्ग में बता चुका हूं। भगवान् अंगिरा के उतथ्य, बृहस्पति और संवर्तक—ये तीन पुत्र थे। महर्षि उतथ्य की पत्नी का नाम था ममता और बृहस्पतिजी की पत्नी का नाम था तारा। संवर्तक तो बृहस्पतिजी के कारण घर छोड़कर अवधूत ही हो गये थे। इन्हीं संवर्तक ने महाराज मरुत्त का यज्ञ कराया था। हाँ, तो महामुनि दीर्घतमा उतथ्य ऋषि के ही पुत्र थे। बृहस्पतिजी के शाप से, ये माता के उदर से अन्धे ही उत्पन्न हुए थे। उत्पन्न होते ही ये संस्कार-वश वेद-वेदाङ्ग सभी कुछ पढ़ गये। जब ये विवाह-योग्य हुए, तब उतथ्य मुनि को इनके विवाह की चिन्ता हुई, किन्तु जन्मान्ध को अपनी कन्या दे कौन ? यही एक कठिन समस्या थी। उसी समय एक ब्राह्मण की प्रद्वेषी नामवाली युवती पुत्री थी। वैसे तो वह बड़ी रूपवती थी, किन्तु स्वभाव की बड़ी चिड़चिड़ी थी। कोई ब्राह्मण-कुमार उसके स्वभाव के कारण उससे विवाह करना नहीं चाहता था। उसने सोचा—"चलो' दीर्घतमा को ही अपना पति बना लो। पढ़ा लिखा विद्वान् तो है ही। कोई नेत्रवाला तो बात-बात में त्रुटि निकालेगा। अंधे को जहाँ बिठाओ, बैठ जायगा, जहाँ लिटाओ, लेट जायगा।" यही सब सोच समझ कर प्रद्वेषी ने दीर्घतमा को अपना पति बना लिया।

दीर्घतमा अन्धे होने पर भी बड़े रतिप्रिय थे। सुरभि के पुत्र वृषभ से इन्होंने गोधर्म की भी शिक्षा प्राप्त कर ली थी।

शील-सकोच आँखो मे ही होता है। जिसके आँखें ही नहीं, वह शील सकोच क्या करे। अतः वे आश्रम मे सबके सामने गोधर्म का आचरण करने लगे। आश्रम के आस पास रहने वाले मुनियो ने कहा—"यह दीर्घतमा तो लोक मर्यादा कुछ भी नहीं मानता, अतः इसका समाज से बहिष्कार कर देना चाहिये।"—यह सोचकर मुनियों ने उन्हें छोड दिया।

इनकी जो स्त्री थी, वह बडी कर्कशा थी जब तक उसके पुत्र नहीं हुए, तब तक तो वह इनके साथ रही, पीछे बोली—"देखोजी प्रज्ञा चक्षु महाराज! सुन लो मेरी दो टूक बात, अब मेरी तुम्हारी निभने की नहीं!"

दीर्घतमा मुनि ने पूछा—"क्यों नहीं निभने की? मुझ मे क्या त्रुटि है?"

गरज कर प्रद्वेषी बोली—"तुम मे सब त्रुटि ही त्रुटि तो हैं। पुरुष को स्त्री का भर्ता कहा है, क्योंकि वह स्त्री का तथा उससे उत्पन्न बच्चो का भरण पोषण करता है। तुम्हे करना तो चाहिये मेरा भरण पोषण, किन्तु उलटे मुझे ही तुम्हारा तथा तुम्हारे इतने पुत्रो का भरण पोषण करना पडता है। पालन करने से ही पुरुष की 'पति' सज्ञा है। तुम न मेरा पालन करते हो न भरण। अतः तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहाँ चले जाओ। मेरी जहाँ इच्छा होगी, वहाँ मैं चली जाऊँगी।"

दीर्घतमा ने कहा—"प्राज, तू एक काम कर। मुझे तू किसी धनी क्षत्रिय के समीप ले चल, उससे मैं बहुत सा धन माँग कर तुझे दूँगा।"

व्यंग्य के स्वर मे हाथ घुमाती और सैंन मटकाती हुई प्रद्वेषी बोली—"मुझे तुम्हारा धन फन नहीं चाहिये। नटिन नेढिनी की भाँति तुम्हारी लाठी पकडे पकडे मैं किसी राजा की सभा में

भीख माँगने नहीं जाना चाहती। मेरी तुम्हारी अब नहीं पट सकती। जहाँ तुम्हारे सींग समायँ, तहाँ तुम जाओ, जहाँ मेरी इच्छा होगी, मैं जाऊँगी।"

दीर्घतमा कुछ कम तो थे ही नहीं, वे भी तपस्वी मुनि थे। उन्हे भी क्रोध आ गया। वे बोले—"तू मुझे छोड कर जा कैसे सकती है?"

प्रद्वेषी ने कहा—"क्या तुमने मुझे मोल ले लिया है? मेरी जहाँ इच्छा होगी जाऊँगी।"

मुनि दीर्घतमा बोले—"तुझे अपने रूप का बडा अभिमान है। तू सोचती होगी, मैं किसी दूसरे के साथ रह जाऊँगी। ले, मैं आज से ऐसा कठोर नियम बनाये देता हूँ, कि द्विजों की पत्नियाँ किसी भी दशा में दूसरा पति न कर सकेंगी। उनका पति चाहे जीवित हो या नहीं, उसीकी ही होकर उन्हे रहना पड़ेगा। जो ऐसा न करके अन्यथा आचरण करेगी, उनकी संसार में निन्दा होगी।"

प्रद्वेषी का क्रोध सीमोल्लंघन कर गया। वह अपने युवक पुत्रों से बोली—"बेटों! इस निठल्ले अंधे अपने बाप को तुम पकडकर गंगाजी मे छोड आओ।"

मुनि-पुत्र भी उस अन्धे के चिडचिडे स्वभाव से खिन्न रहते थे, अतः माता के कहने से वे उन्हें पकड़ ले गये। कैसे भी हों, पिता ही ठहरे। अतः गंगाजी में उन्हें डुबाया तो नहीं, किन्तु एक छोटी-सी नौका मे इन्हें बाँधकर श्रावण-भादों की भरी गंगा जी मे उन्हें निराधार छोड दिया और कह दिया—"पिताजी! अब जहाँ आपका भाग्य हो, तहाँ चले जाइये।"

मुनि अन्धे थे, ज्ञानी थे, बिना कुछ बोले चुपचाप नौका में पडे रहे। नौका बहते-बहते काशी से भी और बहुत दूर बलिया

के समीप पहुँची। प्रातःकाल हो गया, मुनि कुछ बोले ही नहीं। उसी समय महाराज सुतपा के सुत बलि वहाँ गंगा-स्नान के लिए आये। मुनिकी नौका राजा के समीप ही हो कर निकली। राजाने देखा, नौका पर मल्लाह नही हैं। कोई आदमी उस पर बँधा पडा है। तुरन्त ही उन्होंने नौका पकड ली, बँधे हुए मुनि को खोला और पूछा—"ब्रह्मन् ! आप कौन हैं ? इस नौका मे आप को किसने बाँध दिया है ?"

मुनि बोले—"राजन् ! मैं महर्षि अंगिरा का पौत्र और महामुनि उतथ्य का पुत्र हूं। दीर्घतमा मेरा नाम है। मेरे अज्ञानी पुत्रो ने अपनी माँ के कहने से मुझे अंधा समझकर मेरा तिरस्कार किया है और मुझे इस नौका मे बाँधकर बहा दिया है।"

महामुनि दीर्घतमा का परिचय पाकर राजा को बडी प्रसन्नता हुई और वे विनीत भाव से बोले—"ब्रह्मन् ! आप पुरानी बातों को भूल जायँ। मैं आपका सेवक हूँ, आप इस राज्य को अपना ही समझें और यहाँ सुख-पूर्वक निवास करें।"

मुनि तो यह चाहते ही थे। राजा की प्रार्थना उन्होंने स्वीकार कर ली और वे सुख-पूर्वक महाराज बलिके यहाँ रहने लगे। राजा को जब पता चला कि मुनि रति कर्म मे बडे दक्ष हैं, तो उन्होंने प्रार्थना की—"मुनिवर ! मेरे लिये आप सन्तान उत्पन्न करें।"

मुनि को इसमे आपत्ति ही क्या होनी थी ? वे बोले—"अच्छी बात है राजन् ! मैं तो इस विद्या मे दक्ष हूँ। सुरभि-पुत्र से मैंने तो गोधर्म की भी शिक्षा प्राप्त की है।"

राजा बोले—"महाराज ! कृपा करके गोधर्म का यहाँ आचरण न करें मनुष्य धर्म ही ठीक है। मेरी रानी में आप

गर्भाधान करें।" इस प्रकार मुनि की स्वीकृति होने पर राजा ने अपनी पतिव्रता पत्नी से कहा—"वंश की वृद्धि के लिये तुम महामुनि दीर्घतमा के निकट जाओ।"

रानी ने "हाँ" तो कह दिया, किन्तु उनकी रुचि न हुई। उन्होंने देखा, एक तो मुनि बूढ़े हैं, दूसरे अंधे। उनका शरीर काला कुरूप है, अतः उसने अपनी एक दासी को मुनि के समीप भेज दिया। मुनिवर दीर्घतमा ने उससे कक्षीवान् आदि कई पुत्र उत्पन्न किये। उन पुत्रों को देखकर राजा ने मुनि से कहा—"ब्रह्मन्! आप इन मेरे पुत्रों को मुझे दें।"

मुनि ने कहा—"राजन्! ये तुम्हारे पुत्र नहीं हैं। मेरे हैं, मैंने अपने लिये इनको उत्पन्न किया है। तुम्हारी रानी तो अन्धा समझकर मेरे समीप आई ही नहीं।"

यह सुनकर राजा ने समझा बुझाकर महारानी सुदेष्णा को किसी प्रकार सहमत किया। फिर मुनि ने रानी के गर्भ से परम यशस्वी अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, सुह्म और आन्ध्र—ये छः परम यशस्वी पुत्र उत्पन्न किये। गर्भाधान के समय एक ऐसी घटना हो गई, कि मुनि ने इन पुत्रों को क्षत्रियपने से भ्रष्ट कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ऐसी कौन-सी घटना हो गई?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! जाने भी दें। आप साधु महात्मा होकर इन बातों से क्या लेंगे? इन मुनियों की माया विचित्र है। ये 'क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा' स्वभाव वाले होते हैं। इतना ही समझ लें कि महाराज बलि के ये छः क्षेत्रज पुत्र हुए। इन सबने अपने अपने नाम से देश बसाये। बड़े अङ्ग तो अङ्ग देश (बिहार) के राजा हुए। दूसरे वङ्ग वङ्ग देश के, तीसरे कलिङ्ग ने कलिङ्ग देश का शासन-भार संभाला।

पुण्ड्र, सुह्म और आन्ध्र ने भी अपने अपने नाम से देश प्रसिद्ध किये, जो देश अब भी पूर्व दिशा मे उन्हीं के नाम से विख्यात हैं। ये सब राजा विशुद्ध क्षत्रिय न होकर एक विशिष्ट ही जाति-वाले हुए। अब यदि मैं इन सब के वंशों का वर्णन करूँ, तो कथा बहुत बढ जायगी। अतः महाराज बलि के सबसे बडे पुत्र अंग की वंशावली कहकर महाराज अनु के वंश की कथा समाप्त करूँगा। फिर महाराज ययाति के तृतीय पुत्र द्रुह्यु के वंश को कहूगा।"

शौनक जी बोले—"हाँ, सूत जी! अब आप शीघ्रता कीजिये। हमे तो श्री कृष्ण चरित सुनने की चट पटी लगी हुई है। हाँ, तो अंग के पुत्र कौन हुए?"

सूतजी बोले—"सुनिये महाराज! बलि के पुत्र अनपान, उनके दिविरथ, उनके धर्मरथ, धर्मरथ के पुत्र चित्ररथ हुए, जिनका दूसरा नाम रोमपाद भी था। उनके कोई सन्तान नहीं थी। अतः अयोध्याधिप महाराज दशरथ ने अपनी शान्ता नाम्नी कन्या राजा को दे दी। राजा ने उसका विवाह ऋष्यशृङ्ग से कर दिया। बडे छल-बल से राजा ने मुनि पुत्र को बुलाया था। उनके चतुरङ्ग पुत्र हुए। उनके ..."

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! अब इतनी शीघ्रता भी मत करें। महाराज रोमपाद ने मुनि पुत्र ऋष्यशृङ्ग को कैसे छल-बल से बुलाया? महाराज दशरथ ने अपनी कन्या क्यों दी? इन प्रसङ्गों को स्पष्ट करके सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! मेरा हर प्रकार मरण है। विस्तार करता हूँ, तो आप कहते हैं, संक्षेप मे सुनाओ, और संक्षेप करता हू, तो आप कहने लगते हैं—घास सी काट रहे हो। कथा वाचक का काम बडा बुरा है। उसे श्रोता के रुख को हर समय

देखना पड़ता है। गृहस्थ हो, तो उसके मन की बात जानी भी जाय। इन बाबाजियों का पता ही नहीं चलता कि ये क्या सुनना चाहते हैं। कभी तो एक शब्द पर घण्टों अड़ जायँगे, कभी आवश्यक कथा को कहेंगे—चलो, चलो आगे। महामुनि ऋष्यशृङ्ग की कथा अत्यन्त ही रोचक सरस, सुन्दर और शिक्षाप्रद है। आप कहिये तो वही सुनाऊँ, नहीं, वंशावली कहकर उसे समाप्त करूँ।"

शौनकजी बोले—"नहीं सूतजी! इतनी शीघ्रता की आवश्यकता नहीं। मुनिवर ऋष्यशृङ्ग की कथा हमें अब सुनावें। राजा उन्हें छल-बल से किस प्रकार वन से लाये और क्यों अपनी प्यारी, दुलारी, सुकुमारी, परम सुन्दरी पुत्री का विवाह वनवासी मुनि के साथ किया?"

यह सुनकर सूत जी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं आपको इन सब बातों को सुनाता हूं, आप एकाग्र चित्त से इसे सुनें।

छप्पय

दीर्घतमा तैं भये नृपति सुत चेतज सुखकर।
अंग बंग अरु कलिंग सुह्म अरु पुण्ड्र अन्ध्रवर॥
निज निज नामनि देश पूर्व महँ थापित कीन्हें।
दासी सुत मुनि दीर्घतमा निज सुत करि लीन्हें॥
अङ्ग राज खनपान सुत, दिविरथ सत तिनके अधिप।
तिनके सुत नृप धरमरथ, पुत्र चित्ररथ भये नृप॥

महाराज रोमपाद

(७९८)

सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः ।
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

रोमपाद हू नाम न तिनके कोई सन्तति ।
शान्ता कन्या दई मित्र लखि दशरथ भूपति ॥
विप्रनि को अपमान करयो नहि सुरपति बरसें ।
भीषन परयो अकाल, अन्न बिनु सबजन तरसें ॥
भये चित्ररथ दुखित अति, सम्मति मन्त्रिनि तें करी ।
कौन पाप तें घोर यह, विपदा हम सब पै परी ॥

अधिक उपकरणों से धन-ऐश्वर्य नहीं बढ़ता, जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा ही फल मिलता है। एक प्राचीन कहानी है। कोई राजा आखेट के निमित्त वन में गया। वहाँ उसे बड़ी प्यास लगी। सेवकों ने बताया—"महाराज ! यहाँ से समीप ही राज्य का एक बड़ा भारी अनारों का बगीचा है, वहीं पधारें। इतना सुनते ही राजा वहाँ गये। मन्त्री भी साथ में थे। देखा बाग बहुत बड़ा है। एक सहस्र माली उसमें काम करते हैं।

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! दिविरथ के पुत्र धर्मरथ हुए। उनके चित्ररथ हुए, जो रोमपाद नाम से भी विख्यात थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनके मित्र अयोध्याधिप महाराज दशरथ थे।"

राजा को अत्यधिक पिपासा लगी हुई थी। उन्होंने अति शीघ्र जल माँगा। तुरन्त ही एक माली ने समीप के पेड़ से एक अनार तोड़कर उसका रस निचोड़ा। एक पात्र भर गया, राजा ने पीया। रस बड़ा मधुर था। राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। अब राजा ने पूछना आरम्भ किया कि यहाँ के फल कहाँ जाते हैं? मालियों ने कहा—"महाराज, यहाँ से राज्य के मन्दिर में जाते हैं, भोग लगवाकर ब्राह्मणों के यहाँ तथा और सबके यहाँ प्रसाद रूप में भेज दिये जाते हैं?"

राजा ने पूछा—"कितने माली यहाँ काम करते हैं?"

मालियों ने कहा—"महाराज! हम सब एक सहस्र हैं?"

राजा ने फिर पूछा—"सब पेड़ कितने हैं।" उत्तर मिला एक सहस्र ही पेड़ हैं। एक पेड़ की देख-रेख एक माली करता है।"

राजा ने कहा—"एक पेड़ पर एक माली की क्या आवश्यकता है? एक माली भली-भाँति १० पेड़ों की देख-रेख कर सकता है। नौ सौ को अभी निकाल दो।" मन्त्री ने उसी समय नौ सौ को निकाल दिया। राजा चले गये।

कुछ दिन के पश्चात् राजा फिर बाग में गये। फिर उन्होंने पीने को रस माँगा। वही बूढ़ा माली अबके १० अनार तोड़ कर लाया। उनका रस निचोड़ा, तो भी पात्र नहीं भरा। राजा ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा—"पहले तो एक ही अनार में पात्र भर गया था, अब १० फलों के रस में भी पात्र नहीं भरा! यह क्या बात है?" बूढ़े माली ने कहा—"प्रभो! उष्णता से रस सूख गया है।" राजा ने कहा—"अभी तो उतनी गरमी पड़ती नहीं।" माली ने कहा—"प्रभो! अपराध क्षमा हो। सूर्य की गरमी से रस नहीं सूखा है। आपने जो नौ सौ मालियों को उनकी आजीविका से पृथक् कर दिया है, उन सबके बाल-बच्चों

की आह से यह रस सूखा है।" राजा को अपनी भूल मालूम हुई और तुरन्त उनको पुनः अपने-अपने कामों पर नियुक्त कर दिया।

यह कथा तो पुरानी है, किन्तु यह प्रत्यक्ष देखा है, कि जो पाँच-पाँच, सात-सात गाँव के राजा थे, उनके धन की भी कोई गणना नहीं होती थी। इतना दान पुण्य करते थे, कि लोग उनके धन की थाह भी नहीं पा सकते थे। आज १०० गावों के भूमिपति को भी एक साँधा देना दुर्लभ हो गया है। वसुन्धरा वही है, किन्तु अब वह वसु-धन-नहीं देती। बड़े-बड़े राष्ट्र आज दिवालिया हो रहे हैं। इसका कारण यही है कि उन्हें भगवान् का आश्रय नहीं, धर्म पर निष्ठा नहीं। अपने कृत्रिम साधनों में, अपने ही कार्यों मे,-उन्हें विश्वास है। आस्तिक बुद्धि हो, देवता; द्विज, गुरु और भगवान् मे विश्वास रख कर कार्य किया जाय, तो यह पृथ्वी सुवर्ण उगलती है। कामधेनु बनकर सभी इच्छाओं को पूर्ण करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने अनुवंशीय महाराज बलि के वंश को कहते हुए महाराज चित्ररथ तक, जिनका दूसरा नाम रोमपाद भी था, वर्णन किया। अब मैं महाराज रोमपाद की कथा कहता हूं। इन्हीं के प्रसंग मे महर्षि ऋष्यशृङ्ग की कथा भी आ जायगी।"

महाराज रोमपाद अङ्ग देश के राजा थे। वे धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करते थे। अंग देश बड़ा ही समृद्धिशाली देश माना जाता है। राजा धर्मात्मा थे, उनका अपार ऐश्वर्य था, धन-रत्नों से सदा उनका भण्डार भरा रहता था, मंत्री उनके अनुकूल और न्यायप्रिय थे। प्रजा उन्हें पिता के समान मानती थी। वे भी उन सब का बिना भेद-भाव के पुत्र के समान पालन करते थे। राजा को सभी प्रकार के सुख प्राप्त थे। किन्तु; उनके

पुत्र नहीं था। इसलिये वे दुखी से रहते थे। ययाति के शा से महामुनि दीर्घतमा के क्रोध से इनका शुद्ध क्षत्रियों से सम्बन्ध नहीं था। फिर भी राजा तो ये थे ही। इनकी 'सूत' संज्ञा हो गई थी। अवध के राज्य और इनके राज्य की सीमा मिली हुई थी उन दिनों अवध मे महाराज दशरथ राज्य करते थे। महाराज दशरथ से इनकी बडी मैत्री थी और परस्पर अत्यधिक प्रेम था। महाराज दशरथ के भी कोई पुत्र नहीं था। उन्होने अपने मित्र इन सूतराज महाराज रोमपाद से कहा—"अब हमारे जो भी सन्तान होगी, उसे हम तुम्हें दे देंगे।"

संयोग की बात कि महाराज दशरथ की उपपत्नीसे एक कन्या हुई। यह कन्या अत्यन्त ही सुन्दरी थी। देव-कन्यायें भी उसके रूप को देखकर लजा जाती थीं। महाराज ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वह कन्या महाराज रोमपाद चित्ररथ को दे दी। महाराज के महलों मे वह सुन्दरी कन्या कुमुदिनी की भाँति बढने लगी। राजकुमारी अत्यन्त ही सुकुमारी तथा शान्त थी, अतः माता पिता ने उसका नाम शान्ता रखा। शनैः शनैः शान्ता ने युवावस्था में पदार्पण किया। महाराज उसके अनुरूप सुयोग्य वर की खोज करने लगे।

उसी समय एक दुर्घटना हो गयी। राजा लोभवश ब्राह्मणों से झूठ बोले। उनकी धर्म-भावना शिथिल हो गयी। ब्राह्मण दुःखित होकर उनके यहाँ से चले गये। इस अपराध के कारण दैव ने वर्षा नहीं की। सम्पूर्ण राज्य मे अकाल पड गया। वृष्टि न होने के कारण पेड-पत्ते सूख गये। पृथ्वी ने अन्न देना बन्द कर दिया। राजा को बडी चिन्ता हुई। उन्होने अपने मन्त्रियों तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर पूछा—"देश मे अनावृष्टि अति वृष्टि शासक के पाप के ही कारण होती है। मुझसे ऐसा कौन

सा पाप बन गया है, जिससे मेरे राज्य में वृष्टि नहीं हो रही है।"

इस पर ब्राह्मणों ने कहा—"राजन्! आपसे लोभ वश ब्राह्मणों के प्रति अपराध हो गया है। आप सच्चे हृदय से अपने पाप का प्रायश्चित्त करें, ब्राह्मणों से क्षमा याचना करें, तो इन्द्र आपके राज्य मे वर्षा करेंगे। यदि महामुनि शृङ्गी आपके राज्य मे आ जायँ, तो निश्चय ही आपके राज्य मे उनके आते ही वर्षा हो जाय।"

राजा ने पूछा—"ब्राह्मणो! मुनिवर ऋष्यशृङ्ग मे ऐसी कौन सी विशेषता है, कि उनके आते ही वर्षा हो जायगी?"

ब्राह्मणो ने कहा—"राजन्! इस समय ऋष्यशृङ्ग मुनि की तपस्या सर्वोत्कृष्ट है। उन्होंने आज तक किसी भी स्त्री के दर्शन तक नहीं किये। वे गंगाजल के समान विशुद्ध हैं। संसारी विषयों को वे जानते तक नहीं। उन्हे आप जैसे हो, वैसे अपने राज्य मे बुला लें और अपनी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या का विवाह उनके साथ कर दें, तो आपका बडा अभ्युदय हो। वर्षा तो उनके आते ही हो जायगी। यही नहीं आपके पुत्र भी हो जायगा और कीर्ति दिग्दिगन्तो में छा जायगी।"

यह सुनकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने अपराध के लिये हृदय से पश्चात्ताप किया और ब्राह्मणो के पैरो पर पड़कर उनसे क्षमा याचना की। ब्राह्मण जब प्रसन्न हो गये, तब सबके सब लौट आये। अब राजा को इसी बात की बड़ी चिन्ता रहने लगी कि ऋष्यशृङ्ग मुनि मेरे महलो मे कैसे आवें।

एकबार उन्होंने बड़े-बड़े विद्वानो की एक सभा की। उसमें यही प्रस्ताव रखा कि "मुनिवर ऋष्यशृङ्ग को किन उपायों से अपने राज्य में लाया जाय।" इस पर किसी ने कुछ सम्मति दी, किसी ने कुछ। बहुत से लोगों ने तो कहा—"उनका यहाँ आना

असम्भव है। उनके पिता उन्हें कहीं भी जाने नहीं देते। किसी स्त्री को तो आज तक उन्होंने देखा ही नहीं। उनके पिता घोर जंगल में रहते हैं। वे अपने पुत्र को कभी भी स्त्री दर्शन नहीं करने देते। यदि वे किसी प्रकार स्त्री को देख लें, तब तो चक्कर में फँस जायँ।"

अब राजा की समझ मे बात बैठ गई, कि इस विषय मे बड़े बड़े विद्वानो की आवश्यकता नहीं, न शास्त्रज्ञ तथा नीति निपुण गुणी ही इस उलझी हुई गुत्थी को सुलझा सकते हैं। इस काम को तो कामप्रवीणा, मनोहारिणी कामिनी ही कर सकती हैं।" यह सोचकर उन्होंने विद्वानो को तो विदा किया और बडी सुन्दरी युवती, रूप गर्वीली वारांगनाओ को बुलाया। उनके सम्मुख उन्होंने अपना प्रस्ताव रखा। वे सब सुनकर बडी भयभीत हुईं और हाथ जोडकर बोलीं—"अन्नदाता! हमे क्षमा किया जाय। आप हमे और चाहे जो कठिन से कठिन कार्य बता दें, चाहे और जो दण्ड देना चाहे दे दें, किन्तु ऋष्यशृङ्ग के पिता विभाण्डक मुनि के समीप हमे न भेजें। हमने उन उग्र स्वभाव के महर्षि की ख्याति सुनी है। हम उनके तप तेज से भी परिचित हैं। हम यह भी जानती हैं, कि वे स्त्रियो से बहुत चिढ़ते हैं। अपने पुत्र को उन्होंने आज तक कोई स्त्री नहीं देखने दी। वे इस सम्बन्ध मे सतर्क रहते हैं। यदि उन्हे हमारे काम का तनिक भी पता लग गया, तो वे हमें वहीं शाप देकर भस्म कर देंगे।"

जब सभी ने इस काम में असमर्थता प्रकट की, तब उनमे से एक बूढी वेश्या अपनी आँखों को नचाती हुई और कृत्रिम काले बालों पर हाथ फेरती हुई बोली—"महाराज! मुझे भरपूर पारितोषिक मिले, तो मैं यह कार्य कर सकती हूँ।"

राजा ने कहा—"तू मुनि-पुत्र को यहाँ ले आ। मैं तुझे यथेष्ट धन दूँगा।"

उसने कहा—"अच्छी बात है, महाराज! मैं ऋषि पुत्र को अवश्य यहाँ लाऊँगी। मुझे एक बहुत सुन्दर नौका मँगवा दीजिये। राजा ने एक बहुत बडी अत्यन्त सुन्दर नौका मँगवा दी। बूढी वेश्या ने उसे अत्यन्त कौशल के साथ सजाया। उसमे अच्छे अच्छे पुष्प और फूलोवाले गमले सजाये। लताओ के वितान बनाये, भाँति भाँति के चित्र बनाये। उस वेश्या की एक अत्यन्त सुन्दरी षोडशवर्षीया कन्या थी। वह गाने-बजाने तथा नाचने में अत्यन्त ही निपुण थी। उसके समान सुन्दरी कोई भी वेश्या नहीं थी। अपनी उस लडकी के साथ पाँच-सात और वेश्याओं को लेकर आवश्यक सामान और सहयोगियो के साथ वह मुनि पुत्र को फँसाने चल दी।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये ऋष्यशृङ्ग महामुनि किनके पुत्र थे। आपने कहा, कि उन्होने जीवनभर कभी किसी स्त्री को देखा ही नहीं। सो यह कैसे सम्भव हो सकता है? पुरुष का जन्म तो स्त्री के ही उदर से होता है। फिर वह बिना स्त्री देखे कैसे रह सकता है? माता का दूध तो उन्होंने पिया ही होगा?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! ऋष्यशृङ्ग महामुनि विभाण्डक के पुत्र थे। वे स्त्री के गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए थे। हरिणी के उदर से उन्होने जन्म लिया था। इनके पिता सदा इसी चेष्टा में रहते थे, कि मेरे पुत्र को कभी भी स्त्री के दर्शन न हो। ये संसारी विषय-भोगों से सदा पृथक् ही रहे। किन्तु; महाराज! ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है? स्त्री पुरुषों में परस्पर स्वाभाविक आकर्षण है। यह मनुष्य-कृत आकर्षण नहीं

है, है दैव-कृत। ब्रह्माजी ने पहले पहल पुरुषों को ही पैदा किया। तब मन से ही सृष्टि होती थी। ब्रह्माजी ने बहुत से पुत्र पैदा किये। उन्होंने सबको आज्ञा दी—"तुम सब लोग सृष्टि की वृद्धि करो।" किन्तु; बिना बात कौन झंझट में पड़े? सृष्टि-वृद्धि में न किसी को रुचि ही होती, न कोई इसे अच्छा ही समझता। सब बैठकर राम राम जपते। ब्रह्माजी सबको पुचकारते, उपदेश देते, पितृ भक्ति की शिक्षा देते, किन्तु सब व्यर्थ! फिर वे बड़ी चिन्ता में पड़ गये, भगवान् की शरण में गये। भगवान् ने अपनी काया से एक ब्रह्मा के दो ब्रह्मा बना दिये। उनमें एक भाग से स्त्री हुई। बस, उसे देखते ही सबकी विवाह करने की इच्छा हो गई। बिना कहे-सुने ही सृष्टि बढ़ने लगी। इसलिये एक से दो होने की प्राणिमात्र की स्वाभाविक इच्छा है। कोई भगवत् कृपासे विरला ही भले इस आकर्षण से बच जाय। नहीं तो प्राणिमात्र में यह आकर्षण होता ही है। जब आकर्षण हो जाता है, तब ब्रह्मा भी उसे रोकने में असमर्थ हो जाते हैं। एक नारायण ऋषि को छोड़कर इस आकर्षण से कौन बचा है? नर का भी चित्त चञ्चल हो गया था। जिस पर गुरु और हरि की पूर्ण कृपा हो और बचाने की उनकी इच्छा हो, वही बच सकता है। नहीं तो, फिर मुनियो! जो है, सोई है। अब आप से क्या कहे? एकान्त में युवक को देखकर युवती और युवती को देखकर युवक अपने आपे को भूल जाते हैं। सभी प्रतिज्ञायें शिथिल पड़ जाती हैं।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी! अब आगे की कथा सुनाइये। मुनिवर ऋष्यशृङ्ग का जन्म हरिणी के उदर से कैसे हुआ? हरिणी से पुरुष बालक का उत्पन्न होना तो असम्भव है? फिर वे विभाण्डक मुनि के पुत्र कैसे कहलाये?

उस बूढी वेश्या ने वन मे जाकर क्या किया ? इन सब बातों को सुनने के लिये हमे बडा कुतूहल हो रहा है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज ! असम्भव संसार में कुछ भी नहीं है। जो क्षुद्र बुद्धि के लोग होते हैं, वे ही भगवान् की माया की शक्ति को न समझकर, जो बात उनकी बुद्धि में नहीं आती, उसे असम्भव कह देते हैं। भगवान् की माया मे सब कुछ सम्भव है। गोकर्ण जी गो के ही पेट से हुए। व्यास जी की माता सत्यवती मछली के ही उदर से हुई थीं। कृप और कृपी सरकडे में ही उत्पन्न होगये थे। अगस्त्य जी तथा वशिष्ठ जी घडे से उत्पन्न हुए। द्रोणाचार्य यज्ञ के एक द्रोण नामक पात्र से ही उत्पन्न हुए। एक नहीं, ऐसे असख्य उदाहरण हैं और अब भी ऐसे यदा-कदा देखने मे आते हैं। अमोघ वीर्य ऋषियों का वीर्य कभी भी व्यर्थ नही जाता। वह जहाँ भी पडेगा, वहीं सार्थक होगा। अच्छी बात है, मैं आप को महामुनि ऋष्यशृङ्ग की उत्पत्ति की कथा सुनाकर फिर उस वेश्या की माया को सुनाऊँगा। आप इस सरस, शिक्षाप्रद उपाख्यान को सावधान होकर सुनने की कृपा करें।"

छप्पय

बोले द्विज—यदि ऋष्यशृङ्ग मुनिवर पुर आवें।
तो सुरपति अविलम्ब राज महँ जल बरसावें॥
मुनि आगमन उपाय बतायो सब मिलि मंत्रिनि।
ऋषि कुमार तप निरत न निरखी नारी नयननि॥
यदि प्रमदा को मुख कमल, निरखें तो फँसि जायँगे।
रूपाकर्षण डोरि महँ, बँधे, विवश ह्वै आयँगे॥

ऋष्यशृङ्ग मुनि और वेश्या-पुत्री

(७९९)

शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग उवाह ताम् ।
देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम् ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

मानी सम्मति नृपति बार बनिता बुलवाईं ।
मुनि मोहन की बात सुनी सबई घबराईं ॥
बोली वेश्या वृद्ध—प्रभो ! यदि आज्ञा पाऊँ ।
तो छल-बल करि ऋष्यशृङ्ग मुनिवर कूँ लाऊँ ॥
सब सामग्री सौंपि नृप, वेश्या कूँ आयसु दई ।
ठगिनी तनया दास सँग, चढि नौका पै चलि दई ॥

अज्ञान मे त्याग नहीं । कोई कहे, हम संसारी विषयों से आँख मींच लेंगे, तो वे बलपूर्वक हमारे ऊपर कैसे चढ़ जायँगे । यह तो सत्य है, कि तुम बाहर से विषयो को न देखोगे, किन्तु भीतर जो विषयों की संसार भोग की वासना भरी है, उसे कैसे निकाल सकते हो ? जब तक मन निर्विषय न हो, भोगों की वासना क्षय न हो जाय, तब तक कितनी भी आँखें मीचे रहो, छुटकारा

१—श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज रोमपाद को उनके सखा महाराज दशरथ ने अपनी शान्ता नाम्नी कन्या दी, जिसे ऋष्यशृङ्ग ने विवाहा था, जिन हरिणी-सुत ऋष्यशृङ्ग को दैवके न बरसने पर वेश्यायें लाई थीं ।"

नहीं। रहोगे तो भूतों के बने संसार मे ही ? महामुनि सौभरि ने सोचा, 'बाहर रहने से दृष्टि चंचल होती है, चित्त इधर-उधर भटकता है। मैं जल मे डूबकर समाधि लगाऊँगा। वहाँ कोई न शब्द सुनाई देगा, न आकर्षक रूप ही देखने को मिलेगा। यही सोचकर उन्होंने यमुनाजी के जल के भीतर समाधि लगाई। समाधि का भी तो कभी-न-कभी अवसान होता ही है। एक दिन ज्योंही समाधि खुली, दृष्टि सहसा एक मगर पर पड़ी। उसे अपनी स्त्री तथा बच्चों के साथ विहार करते देखकर गृहस्थ बनने की वासना मुनि के भी मन में जागृत हो उठी। वे तुरन्त जल से निकले और पचास विवाह किये, पाँच हजार पुत्र पैदा किये। सारांश यही है, कि भीतर वासना है, तो वह कभी-न कभी प्रकट होगी ही। संसार मे रहकर कभी-न-कभी तो विषयों से संसर्ग हो ही जायगा। ऊपर से आँख बन्द करना वैसा ही है, जैसा कि शुतुरमुर्ग का हाथ मे धनुष बाण लिये, आखेट-प्रिय पुरुष को देखकर, अपने मुख को बालू में छिपा लेना। वह सोचता है—"मैं इसे देखूँगा ही नहीं।" किन्तु उसे यह पता नहीं, कि तू न देखेगा, तो वह तो तुझे देख ही रहा है। बहुत से लोग अभिमान-वश कहते हैं, मैं इसकी देख-रेख करूँगा, मैं इसे विचलित न होने दूँगा।" अरे, भैया! दूसरों का ठेका तो पीछे लेना, पहले अपने को तो सम्भालो। जिसने स्वयं मन को वश मे नहीं किया, जो अवसर पाकर स्वयं फिसल जाता है, वह दूसरों का उत्तर-दायित्व कैसे ले सकता है ? यह निर्विवाद बात है, कि निवृत्ति-मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। पहले कपड़े मे कीच लगाना, फिर उसे क्षार से धोकर उज्ज्वल करना, कोई बुद्धिमानी की बात तो है नहीं। श्रेष्ठ बात तो यही है, कि पहले कीच लगने ही न दे। किन्तु जब हमे कीच के मार्ग से जाना ही है, कीच लगे बिना निस्तार नहीं, तो

विवशता है। इसी लिये ऋषियों ने प्रवृत्ति-मार्ग को सुरक्षित किला बताया है। पहले गृहस्थी मे रहकर विषयों का अनुभव करे। फिर शनैः शनैः उससे उपराम हो जाय। पहले उनकी अनित्यता और क्षण-भंगुरता का अनुभव करे, पीछे सब को छोड़ कर विरक्त हो जाय। इसी का नाम क्रम मार्ग है। यही राज पथ है, यही विघ्न-बाधाओं से रहित 'पन्था' है। जो विषयों का बिना अनुभव किये क्षणिक आवेश मे आकर या किसी के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर वैराग्य धारण कर लेते है, उनमे से अधिकांश का पतन ही होते देखा गया है। इसीलिये विशुद्ध निवृत्ति-मार्ग के विरले ही अधिकारी होते हैं। सभी बड़े बड़े ऋषि-महर्षियों ने इसी लिये प्रवृत्ति मार्ग को अपनाया। इसीलिये उन्होंने धर्म-पूर्वक वेद विधिसे दारा ग्रहण किया। इस विषय मे जिन्होंने मिथ्या हठ किया, वे प्रायः फिसलते ही देखे गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पहले मैं आप को महामुनि ऋष्यशृङ्ग की उत्पत्ति-कथा सुनाकर, तब उस वेश्या की मोहिनी करतूतों की कहानी सुनाऊँगा।

प्रजापति भगवान कश्यप के एक विभाण्डक नामक पुत्र थे। वे बड़े ही त्यागी, तपस्वी, संयमी और स्वाध्याय-परायण थे। भगवान् विश्वामित्र ने जहाँ तप किया, वहीं सिद्धाश्रम मे वे रहते थे। उनके तप की सर्वत्र ख्याति थी। वे एक विशाल सरोवर मे खड़े होकर जब तक सूर्य पीठ पीछे न आ जायें, तब तक तपस्या करते रहते थे। सरोवर बड़ा ही सुन्दर और सुविस्तृत था उसमें नाना भाँति के कमल खिले रहते थे। देवता, सिद्ध और चारण भी उसमें स्नान करने आते थे।

एक बार मुनि गरमी के दिनों मे उसी सरोवर में खड़े होकर तप कर रहे थे। सूर्य सिर पर आ गये थे। खड़े-खड़े मुनि थक

गये थे। शरीर मे उष्णता व्याप्त हो रही थी। सूर्य अपनी पूर्ण कलाओं से तप रहे थे। उसी समय स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी वहाँ स्नान करने आ गई। उस अनुपम रूप लावण्य युक्त स्वर्गीय ललना को देखकर मुनि का मन विचलित हो गया। वे बार बार प्रयत्न करके अपनी दृष्टि को उसकी ओर से हटाना चाहते थे, किन्तु उसके सौन्दर्य मे इतना अधिक आकर्षण था कि मुनि अपने श्रम मे सफल न हुए। वे अपलक दृष्टि से उस रूप की राशि, सौन्दर्य की साकार प्रतिमा तथा माधुर्य मनोहर रूप अप्सरा को निहारते ही रह गये। अनजान मे उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसी समय आश्रम की एक पालिता हरिणी वहाँ पानी पीने को आई। पानी के साथ ही उस अमोघवीर्य को भी पान कर गई। उसके गर्भ रह गया। उसी के उदर से महामुनि ऋष्यशृङ्ग का जन्म हुआ। मृगी के उदर मे से उत्पन्न होने से उनके सिरपर एक सींग था। महर्षि विभाण्डक उस बालक का पालन पोषण करने लगे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतने बड़े महर्षि का वीर्य उर्वशी के दर्शनमात्र से ही स्खलित कैसे हो गया और एक हरिणी महामुनि के अमोघवीर्य को उदर मे धारण करने मे समर्थ कैसे हो सकी?"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन्! भावी सब कुछ करा लेती है। जैसी भवितव्यता होती है, वैसे ही सब बानिक बन जाते हैं। यह हरिणी साधारण हरिणी नहीं थी। पूर्व काल में यह एक देवकन्या थी। किसी पुण्यात्मा राजा को देखकर यह हरिणी की भाँति अपने बड़े बड़े नेत्रों से चकित-चकित भाव से उस राजा को अनुराग भरी दृष्टि से निहार रही थी। उसकी इस अविनय को देखकर लोकपितामह ब्रह्माजी को क्रोध आ गया

और उन्होंने शाप दिया—"जा, तू मर्त्यलोक मे हरिणी हो जा।" जब उसने बहुत अनुनय विनय की, तब ब्रह्माजी ने कह दिया—"अच्छी बात है। मेरा शाप तो व्यर्थ होने का नहीं। हरिणी तो तुझे होना ही होगा, किन्तु जब तेरे उदर से एक ऋषिपुत्र हो जायगा, तभी तू शाप से मुक्त हो जायगी।"

यह सुनकर उसे सन्तोष हुआ। वही देव कन्या यहाँ आकर हरिणी बनी। वह मुनि के आश्रम के निकट रहती थी और हरे हरे तृण खाकर अपने शाप की अवधि की प्रतीक्षा करती रहती थी। एक दिन उर्वशी उधर से निकली। जब उसने अपनी सखी को हरिणीके रूपमे देखा,तब उसपर उसे दया आगई। वह सोचने लगी, 'किस प्रकार इसके उदर मे ऋषि का शुक्र पहुँचे।' उसी समय उसे सम्मुख तपस्या करते हुए कश्यपसुत महर्षि विभाण्डक दिखाई दिये। वह लज्जा का भाव प्रदर्शित करती हुई सरोवर के समीप गई। वह स्नान के बहाने वहाँ अपने समस्त अङ्गो को निरावृत करने लगी। निधि का विधान, भावी की प्रबलता, मुनि की दृष्टि उस पर पड गई और उनका शुक्र स्खलित हो गया। मृगी उसे पान कर गई। दैवकृत भावी को सत्य सिद्ध करने के निमित्त महामुनि शृङ्गी ने उस हरिणी के उदर से जन्म लिया। मुनि पुत्र को जन्म देकर वह हरिणी स्वर्ग सिधार गई और उसे वही अपनी पूर्व की योनि प्राप्त हो गई। मुनि विभाण्डक उस बच्चे को गो का दूध पिलाकर पालने पोसने लगे।

मुनि को रेत पात से बडा क्षोभ हुआ। वे सोचने लगे—"अप्सरा को देखने से ही मेरा तेज नष्ट हुआ। अब मैं अपने इस पुत्र को कभी भूलकर भी स्त्री के दर्शन न कराऊँगा। इसे विशुद्ध ब्रह्मचारी बनाऊँगा।" यही सोचकर वे अपने पुत्र ऋष्य-शृङ्ग को अपने आश्रम से बाहर कहीं जाने नहीं देते थे। वे उन

से नियमपूर्वक जप, अग्निहोत्र कराते, वेद पढ़ाते और बड़े-बड़े ऋषियों को छोड़कर किसी से उन्हें मिलने नहीं देते थे। स्त्री को तो वे अपने आश्रम की परिधि में पैर ही नहीं रखने देते थे। कोई बूढ़ी ऋषि-पत्नी भी वहाँ नहीं आ सकती थी। आना तो दूर की बात, पुत्र के सम्मुख कभी स्त्री का नाम भी नहीं लेते थे। ऋष्यशृङ्ग जानते भी नहीं थे, कि मुनियों के अतिरिक्त कोई और भी स्त्री पुरुष होते हैं। उन्होंने न कोई नगर देखा था, न नगर की वस्तुएँ ही। वे ब्रह्मचारियों की भाँति मूँज की मेखला पहनते; रुद्राक्ष की माला, कुशा की पवित्री और ब्रह्मदण्ड धारण करते। पलाश का दण्ड, कौपीन और वल्कल वस्त्र—यही उनका वेष था। जप, तप, अग्निहोत्र, स्वतः ही उत्पन्न वनके कड़वे-कषैले फल, गो तथा अपने पिता के अतिरिक्त उन्हें पता भी नहीं था कि संसार में और भी कुछ वस्तु है। वे समझते थे, संसार मे सभी तपस्वी ही हैं; सब जप, तप, व्रत, अनुष्ठान मे लगे रहते हैं। उनके पिता समिधा, कुश, फल-फूल तथा जल भी स्वयं ही लेने जाते। मध्याह्नोत्तर एक प्रहर के लिये वे बाहर जाते थे। वे उस समय बहुत-सा काम अपने पुत्र को बता जाते। इस बीच कोई ऋषि-महर्षि आ जाते तो ऋष्यशृङ्ग उनको भी पाद्य-अर्घ्य तथा फल-फूल देकर सन्तुष्ट करते, उनका स्वागत-सत्कार करते। सभी ऋषि ऋष्यशृङ्ग के भोलेपन से सन्तुष्ट थे। विभाण्डक मुनि अपने पुत्र की सरलता, भोलेपन तथा विषयों की ओर से अनभिज्ञता देखकर फूले नहीं समाते थे। वे एक प्रकार से उनकी ओर से निश्चिन्त हो गये थे।

मुनिवर ऋष्यशृङ्ग अब बाल्यावस्था को पार कर गये थे। युवा वस्था ने, उनको बिना सूचना दिये ही, उनके शरीर पर अधिकार जमा लिया। अब तक तो उनकी जटायें ही थीं, अब उनके

ओष्ठ काले पडने लगे उनमे काले काले छोटे बाल भी उगने लगे। ठोढी और कपोलों पर भी बाल आने लगे। दोनों कॉखों मे भी उन्होंने देखा, बाल उग रहे हैं। हृदय में भी कुछ सरसता का संचार होने लगा। यौवन अव्यक्त भाव से आकर उनके कान में कुछ गुनगुना जाता, किन्तु वे उसका कुछ भी अभिप्राय न समझ सकते। वे भोले बच्चे ही थे। उनके कपोलों के ऊपर कुछ-कुछ मुहा से उत्पन्न होने लगे। एक दिन उन्होने अपने पिता से पूछा—"पिताजी! मेरे एक सींग तो है ही, अब ये कपोलों पर भी सींग उत्पन्न होंगे क्या?"

पिता ने कहा—"नहीं, बेटा! ये सींग नहीं, कीले हैं। अँगूठे और उँगली से इन्हे दबा दो, तो काली कीलें निकल जॉयगी। अवस्था बढने पर ये मुंह पर हो जाती हैं। इन्हें मुहासे कहते हैं।

ऋष्य-शृङ्ग ने पूछा—"पिताजी! आप की भॉति मेरे भी इतनी लम्बी दाढी होगी?"

पिता ने कहा—"हॉ, बेटा! होगी क्यों नहीं? किन्तु एक दिन में थोडे ही होगी। शनैः शनैः होगी।"

पुत्र ने पूछा—"पिता जी! न जाने क्यो, मेरा शरीर कुछ टूटता सा है, अँगडाइयॉ आती हैं। अब मन कुछ और-हीऔर-सा हो गया है।"

पिता ने प्यार से कहा—"तुम पढने मे श्रम कम करते हो। पढते ही रहा करो, तीनो काल स्नान किया करो। निद्रा कम कर दो। यह एक प्रकार का रोग है।"

भोले बच्चे ने ये सब बातें मान लीं। उसकी तो पिता के एक एक शब्द पर श्रद्धा थी, उसके लिये तो पिता ही सब कुछ थे। पिता जो कह दें, वही वेद वाक्य। इस प्रकार वे ऋषि घोर तप में निरत हो गये, उनका युवावस्था से साक्षात् परिचय नहीं हुआ।

इधर बूढी वेश्या अपनी नौका सजाकर महामुनि विभाण्डक के आश्रम की ओर चल दी। जब आश्रम दो कोस रह गया, तो उसने वहाँ अपनी नौका एक पर्वत की आड मे छिपाकर खडी कर दी। उसने चारो ओर गुप्तचर लगा दिये। वे सब मुनि की गति विधि का पता लगाने लगे। उसने मुनि का दैनन्दनकृत्य सब जान लिया। मुनि कब कुशा समिधा लेने जाते हैं, कब लौटकर आते हैं—यह सब जानकर उसने जाल बिछाया। उसे पता चला, चतुर्दशी के दिन मुनि मध्यान्ह कृत्य करके ही चले जाते हैं और सूर्यास्त के समय लौटते हैं; क्योंकि अमावास्या और पूर्णिमा को उन्हें देवपौर्णमास्य यज्ञ करने होते हैं। वे उनके लिये बहुत सी सुन्दर समिधा दूर से लाते हैं। बस, उसी दिन उसने ऋष्यशृङ्ग को फँसाने का निश्चय किया।

शुक्लपक्ष की चतुर्दशी आई। एक गुप्त स्थान मे वह अपनी पुत्री के साथ छिपी बैठी रही। मुनि विभाण्डक जब मध्यान्ह कृत्य करके और प्रसाद पाकर समिधा कुशा लेने चले गये, तब उसने अपनी परम सुन्दरी पुत्री को भली भाँति सजा धजाकर सोलहों शृङ्गार करके मुनिपुत्र ऋष्यशृङ्ग के समीप भेजा।

उस वेश्या पुत्री ने भी अभी युवावस्थामे पदार्पण किया था। यौवन के मद मे मदमाती अलसाती मन्द मन्द गति से वह मुनि पुत्र के पास पहुँची। मुनिपुत्र एक कुशासन पर वल्कल बिछाये वेदाध्ययन कर रहे थे, कि यह वेश्यापुत्री छमछम करती हुई उनके समीप पहुँची। इसके बहुमूल्य वस्त्रों से सुगन्धि आ रही थी। सुगन्धित पुष्पों की वह माला पहने हुए थी। केशों में सुगन्धित तेल पडा था, वस्त्रों में और अंग में इत्र फुलेल लगे थे। उसे देख कर मुनि पुत्र सहसा उठकर खड़े हो गये। उसका मुखमण्डल दामिनी के समान दमक रहा था, कानों के कुण्डल कपोलों पर

आकार हिल रहे थे, उसके प्रकाश मे उसका सौन्दर्य फूट-फूटकर बह रहा था। ऋष्य-शृङ्ग उसे देखकर भौचक्के से रह गये। ऐसे मुनि उन्होने आजतक नहीं देखे थे। उन्होने समझा, ये कोई महान् व्रत-धारी बहुत उच्च कोटि के मुनि हैं। अतः उन्होने अपने सदाचार के अनुसार मुनि को अभ्यर्थना की और बोले—"मुनि-वर! आपके तप के तेज से मैं आपको अपने से श्रेष्ठ मानता

हूँ। अतः मैं आपको प्रणाम करता हूँ। यह गङ्गाजल है,

सुन्दर, स्वच्छ निर्मल है। इसमे उशीर (खस) भी पड़ी है। आप इससे अपने चरण धोवें। यह अष्ट वस्तुओ से बनाया हुआ अर्घ्य है, इसे आप ग्रहण करें। इस सुन्दर वल्कल वस्त्र से ढँके मृगचर्म पर विराजे। ये वन के बेर, पीलू आँवले तथा अन्य जो जङ्गली फल हैं, इन्हे आप स्वीकार करें।"

उस वेश्या पुत्री ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं किसी के नमस्कार को ग्रहण नही करता। न मैं आप के पाद्य और अर्घ्य को ही स्वीकार करूँगी। ये कडवे, कषैले, जङ्गली फल मेरे किसी काम के नही। उन्हे मैं दूर फेंके देती हूँ। आप मेरे दिये हुए फलों को खायँ, मेरे लाये हुए पेय को पीवे। मैं किसी के नमस्कार को ऐसे ग्रहण नहीं करती। मेरे व्रत हैं, मैं सबका आलिङ्गन करती हूँ। अतः आइये, मैं आपका आलिङ्गन करूँ।"

भोले भाले ऋषिकुमार क्या जानते थे, कि इसके आलिङ्गन मे हलाहल विष भरा है। सरल स्वभाव से वे उसकी छाती से सट गये। उस बार वनिता ने बार बार मुनि पुत्रका गाढालिगन किया। मुनि पुत्र के सम्पूर्ण शरीर मे बिजली सी दौड गई। वे आत्म विस्मृत से बन गये। फिर उसने उनके मुख को झुकाकर उसे बार-बार चूमा। उसके सुखद स्पर्श और शरीर की दिव्य गन्ध से मुनि की चेतना नष्ट-सी हो गई। वे समझ ही न सके, यह क्या जादू है! फिर उसने मुनि पुत्रको अपनी झोली मे से निकाल कर रसगुल्ले दिये। जीवनभर उन्होंने कडवे, कषैले, जङ्गली फल खाये थे, उन सुन्दर,स्वादिष्ट,रसीले गुलगुले पुलपुले,सट्टसे गले के नीचेलकीर सी करते हुए उतर जानेवाले, सुगन्धित फलो को खाकर, वे चकित रह गये। उनसे उनकी तृप्ति ही नहीं होती। रसगुल्ले-गुलाबजामुन खिलाकर फिर उस वेश्या ने उन्हें हलकी-सी सुगन्धित द्रव्योंसे युक्त सुरा पिलाई। उसके पीते ही मुनिकी आँखें चढ़ गईं। अब तो वे

उस वेश्या पुत्री की ओर एकटक भाव से देखते रहे। अब उसने अपने वस्त्रों से गेंद निकाला। पैरों के नूपुरों को बजाती हुई वह गेंद उछालने लगी। वह दौड़कर उसे ले लेती। उसने ऋष्यशृङ्ग से कहा—"तुम भी इसे ऊपर ही ऊपर अपने हाथों में लो।"

मुनि पुत्र ने कभी गेंद देखी नहीं थी। वे उसके कथनानुसार उसके पीछे दौड़ते। वह अवसर पाते ही उनका आलिङ्गन कर लेता। मुनि पुत्र को बड़ा सुख प्रतीत होता, वे बार बार उसका आलिङ्गन चाहते। इस प्रकार वह बड़ी देर तक उनके साथ गेंद खेलती रही। गेंद खेलते समय ऐंडी तक लटकती हुई उसकी वेणी में से बहुत से सुन्दर फूल गिर गये, फिर उसने मुनि पुत्र को गाना सुनाया, नृत्य दिखाया और मुनि के आने का समय जानकर उनसे बोली—"मुनिवर! अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिये, देर हो रही है। मैं अपने आश्रम पर जाऊँगी।"

विवशता के स्वर में मुनि पुत्र बोले—"मैं तुम्हारे बिना कैसे रह सकता हूँ! मुझे भी अपने साथ ले चलो। तुम्हारा आश्रम कहाँ है?"

वेश्या पुत्री ने कहा—"मेरा आश्रम यहाँ से दूर है। अभी मुझे सन्ध्या वन्दन आदि सायकालीन कृत्य करने हैं। फिर कभी मैं आऊँगी, तो आपको अपना आश्रम दिखाने ले चलूँगी। इस समय मुझे बहुत आवश्यक कार्य है।" इतना कहकर वह छम-छम करती हुई बार-बार टेढ़ी चितवन से मुनि पुत्र को निहारती हुई चली गई।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तक वह वेश्या दिखाई देती रही, तब तक तो मुनि पुत्र एकटक भाव से खड़े-खड़े उसे देखते रहे। जब वह उनकी दृष्टि से ओझल हो गई, तब वे वहीं पछाड़ खाकर गिर पड़े। उन्हें मूर्च्छा—सी आ गई। सुरा के मद से

उनकी आँखें लाल हो रही थीं। हृदय में एक प्रकार की ऐंठन सी हो रही थी, मानो कोई उनके पके हृदय को मसल रहा हो और उसमे मीठी मीठी वेदना हो रही हो। कुछ काल में मुनि पुत्र को चेतना हुई। वे उठकर बैठ गये। उन्हें सम्पूर्ण संसार सूना-सूना सा दिखाई देने लगा, पृथ्वी घूमती-सी प्रतीत होने लगी। चतुर्दशी के चन्द्र उनकी ऐसी दशा को देखकर खिल उठे, युवक मुनि की हृत्तन्त्री के तार उस वेश्या की विरह वेदना से बज उठे। वे सन्ध्या वन्दन, वेद पाठ, गो दोहन—सब कुछ भूलकर सिड़ी पागलो की भाँति निर्निमेष दृष्टि से आकाश की ओर देखने लगे। उनके नेत्रों से अश्रु निकल रहे थे। वे उस वेश्यापुत्री की मनोमयी मूर्ति से बातें कर रहे थे। उसी को हृदय मन्दिर में बिठाकर उसका ध्यान कर रहे थे।

छप्पय

वीर्य विभाण्डक पान नार सँग हरिनी कीयो।
जन्यो शृङ्ग सिर पुत्र नाम शृङ्गी धरि दीयो॥
विषयनि तें अनभिज्ञ वृत्ति तप माँहिं लगाई।
नारि न कबहू लखी करन छल वेश्या आई॥
परम सुन्दरी षोडशी, लखि समुझे मुनि तपोधन।
आलिङ्गन छल तें करयो, मोहित मुनि को करयो मन॥

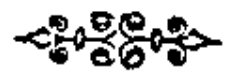

मुनि ऋष्यशृङ्ग फँसे

(८००)

नाट्यसङ्गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनार्हणैः ।
स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरुत्वतः ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ९ श्लो०

छप्पय

अति भोरे सब बात कपट बिनु पितुहिं बताई ।
समुझि गये मुनि यहाँ कामिनी कुलटा आई ॥
सुत समुझायो-वत्स ! न मुनि खल तोहि भुलायो ॥
अब करियो मत बात असुर माया करि आयो ॥
पितु-आयसु मानी नहीं, दशा अनौखी-सी भई ।
घायल करि शर सैन तैं, ठगिनी ठगि कै लै गई ॥

शील, संकोच, लज्जा, विनय आदि सद्गुण तभी तक रहते हैं, जब तक चित्त को किसी तिरछी चितवन ने चुराया न हो, जब तक भ्रुकुटि-रूप बाण पर चढ़ाकर किसी कामिनी ने कटाक्ष शर से युवक के हृदय को बेधा न हो। मन मे जहाँ कामाशक्ति का अंकुर उत्पन्न हुआ, वहाँ व्यवहार मे कपटता आ जाती है, बड़ो के प्रति आदर-भाव कम हो जाते हैं, भावो के गोपन की प्रवृत्ति

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मुनि पुत्र ऋष्यशृङ्ग को वेश्यायें नृत्य, गान, वाद्य, हाव-भाव तथा आलिङ्गन आदि विविध विधियों से मोहित करके राजा के पुर में ले आई। उन्हीं ऋष्यशृङ्ग ने पुत्रहीन महाराज रोमपाद को पुत्र के लिये मरुतों की इष्टि करायी।"

बढती है, मन अन्य चिन्तनीय वस्तुओं को छोडकर उसी सुन्दर मूर्ति का मनन करता रहता है। भगवान् की मनमोहिनी मधुर मूर्ति का हम नित्य ध्यान करते हैं, हठपूर्वक मन को उसमें लगाते हैं, हर समय उसे सम्मुख रखने की चेष्टा करते हैं, नख से शिख तक और शिख से चरण पर्यन्त मनोयोग से उसका चिन्तन करते हैं, फिर भी वह मन मे नहीं बैठती, कभी स्वप्न मे भी दिखाई नहीं देती। उसके विपरीत किसी सुन्दरी कामिनी को सहज स्वभाव ही देख ले, देखकर दृष्टि हटा लें, तो पलभर के ही अवलोकन से मनमे वह मूर्ति गढ-सी जाती है। जितना ही उसे भुलाने का प्रयत्न करते हैं, उतनी ही उसकी स्मृति और अधिक आती है। यही भगवान् की भुवन मोहिनी माया का प्रभाव है। यही ससार को बनाये रखने-वाली उनकी प्रकृति, माया अथवा अविद्या है। जीव सोचता नहीं कि जडरूपा मिथ्या माया में जब इतना आकर्षण है, तो उन मायापति मे न जाने कितना आकर्षण होगा, जब प्राकृतिक सौंदर्य मे ही इतनी मादकता है, तब प्रकृति से परे उस परमपुरुष के सौन्दर्य मे कितनी मोहकता होगी। किन्तु यह जानने की योग्यता हो तब न ? योग्यता भी तो उन्हीं का कृपासे प्राप्त हो सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वेश्या के लौट जाने के कुछ ही काल पश्चात् महामुनि विभाण्डक समिधाओं का गट्ठर सिर पर लादे, कुशा, फल फूल लिये, अपने आश्रम पर आये। आज उन्होंने देखा कि उनके पुत्र ने सदा की भाँति उनका सम्मान नहीं किया, दौडकर उनके सिर से समिधाओं का गट्ठर नहीं उतारा, पैर धोने को कमंडलु में भरकर जल नहीं लाया। वह मुनि को देखकर उठा तक नहीं, उसे पता भी नहीं चला कि मुनि ने कब आश्रम में प्रवेश किया। ऐसा देखकर मुनि चकित रह गये, आज

उनके पुत्र की विचित्र दशा थी, आज से पूर्व उन्होंने ऋष्यशृङ्ग को पहले कभी भी इस दशा में नहीं देखा था। ऋषि-पुत्र अकेले ही उस शून्य आश्रम में बैठे हैं। उस वेश्यापुत्री की मनमोहिनी मूर्ति का वे तन्मय होकर ध्यान कर रहे हैं। वियोग, विवशता, निर्बलता तथा व्याकुलता के कारण वे लम्बी-लम्बी गरम गरम सांसें ले रहे हैं। उनकी आँखें चढ़ी हुई हैं। वे अपलक शून्य आकाश की ओर निहार रहे हैं, मानो आकाश में त्राटक कर रहे हों। उनका मन दूषित हो गया था। अपने पुत्र की ऐसी दशा देखकर मुनिने समिधाओं के गट्ठर को उतारकर रख दिया और ऋष्यशृङ्ग के समीप जाकर बोले—"बेटा! आज तेरी यह क्या दशा हो गयी है? अभी तक तूने सायंकालीन सन्ध्या और अग्निहोत्र क्यों नहीं किया? ये स्रुवा और स्रुक् तो अभी बिना धोये ही पड़े हैं! यज्ञशाला की सभी वस्तुएँ अस्त-व्यस्त पड़ी हैं। ये आसन और मृगचर्म वैसे ही पड़े हुए हैं! अभी तक तूने न बछड़े को दूध पिलाया, न गौ को ही दुहा! तेरी आँखें क्यों चढ़ रही हैं? तेरे वल्कल वस्त्रों में धूल क्यों लगी है? तेरी ऐसी दयनीय दशा किस कारण हुई? तू इतना अन्यमनस्क क्यों हो रहा है? ऐसी दशा में आज से पहले तो मैंने तुझे कभी देखा नहीं! तू अपने दुःख तथा चिन्ता का कारण मुझे बता।"

मुनि के इन प्रश्नों को सुनकर ऋष्यशृङ्ग ने उठकर अपने पूजनीय पिता को प्रणाम किया। वे अत्यन्त ही भोले थे, छल कपट दुराव छिपाव तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। ये तो नगरों की, सभ्यता की उन्नति की, वस्तुएँ हैं। सादगी से वनों में जीवन बिताने वाले भोले भाले मुनि कुमारों में इनकी गंध भी नहीं। अतः मुनि के पूछने पर सरलता के साथ वे बोले—'पिताजी! क्या बताऊँ? आप के चले जाने के पश्चात् एक बड़े तेजस्वी, तपस्वी मुनि यहाँ

पधारे। तात! आज तक इतने प्रभावान् तपोधन के दर्शन मैंने किये ही नहीं थे। उनकी सभी बातें विचित्र और आकर्षक थीं। उनका वेश हम सब मुनियों से पृथक् ही था उनकी जटायें बड़ी बड़ी थीं। वे बीच से दो फाँक करके पीछे की ओर गुथकर विचित्र रीति से लटकाई हुई थीं। वे हम लोगों की जटाओंकी भाँति रूखी रूखी और शुष्क नहीं थीं। वे चिकनी और सुन्दर थीं। उनमें से निरन्तर एक दिव्य सुगन्धि निकल रही थी। उनमें विचित्र विचित्र रङ्ग बिरंगे पुष्प लगाये हुए थे। सम्मुख ये कुछ पुष्प पड़े हैं। ये उन्हीं तपोधन मुनि की जटा से निकलकर गिर गये हैं। उनका मस्तक विशाल और आकर्षक था। हम लोग जैसे भस्म का तिलक लगाते हैं, उन मुनि का ऐसा तिलक नहीं था। एक लाल रङ्ग की बिन्दी लगी हुई थी। उनके शरीर में जो भस्म लगी थी, वह काली नहीं थी। स्वच्छ-सुगन्धित थी। उनकी भौंहें हमारी जैसी नहीं थीं ऐसी भौंहें आज तक मैंने किसी मुनि की नहीं देखीं। वे पतली और टेढ़ी थीं। न जाने उनमें क्या लगाया था, जिससे वे चमक रही थीं। उनके नेत्र विशाल और कमल के समान थे। जब वे मेरी ओर निहारते, तब ऐसा लगता, मानों अमृत की वृष्टि कर रहे हों। उनकी नाक बड़ी सुघड़, ऊँची और पतली थी। उसमें जाने उन्होंने कैसे छिद्र करके एक गोल सी कोई वस्तु पहन रखी थी। उसकी नीली नीली किरणें चमचमा रही थीं। पिताजी! उनके कानों में गोल गोल कोई वस्तु पड़ी थी, जो कपोलों की शोभा बढ़ा रही थी। उनके दाँत गौ के दुग्ध के समान स्वच्छ थे। उनके मुख कमल से निरन्तर सुगन्धि आ रही थी। उनके ओठ कुँदरू के समान थे। उनके रुद्राक्ष हमारे रुद्राक्षों से भिन्न थे। वे काले नहीं थे, पीले थे। वे चमचमा रहे थे। उनकी माला तुलसी की नहीं थी, न जाने लाल, नीले, हरे—वे किसके

टुकड़े थे ? उन्होंने कई मालायें पहनी थीं। उनकी पुष्पों की माला भी दिव्य थी। उनकी बाहुएँ उतार चढ़ाव की सुन्दर थीं। स्तन के स्थान मे कोई बजनेवाली वस्तुएँ वे पहने हुए थे। जब वे हाथों को हिलाते,तब बड़ा विचित्र शब्द करके बजने लगते। उनके कण्ठ के नीचे,वक्षःस्थल के ऊपर,मांस के दो गोल गोल,उभरे,रोम रहित पिंड थे। वे एक लाल रङ्ग के पतले वल्कल वस्त्रसे विचित्र प्रकार से बाँधे हुए थे। वे एक नीले रंग का वल्कल ओढे थे, जो ऐसा पतला था, कि उसमें से अम्बर दिखाई देता था। उनकी उँगलियाँ पतली पतली और कोमल थीं। उनकी पवित्री कुशा की बनी नहीं थी। उसमें कोई लाल रङ्ग की ऐसी वस्तु जड़ी थी, जो जगमगा रही थी। उनका उदर कृश था, नाभि भीतर से गहरी और गोल। उनकी मेखला हमारी मेखला से भिन्न थी। उसमें विचित्रता यह थी, कि वह बजती थी और उनके वल्कलो मे से वह बिजली के समान चमकती थी। उनका नितम्ब भाग अन्य मुनियों से भारी था। उनके सभी वल्कलों में से सुगन्धि आ रही थी। वे तपोधन योगी जब चलते थे, तब उनके पैरो मे कोई विचित्र वस्तु बड़े ही मधुर स्वर मे बजती थी। उनके चरण कोमल, रंगे हुए, लाल, सुन्दर और सुगन्धियुक्त थे। वे महानुभाव विचित्र ढँग से चलते थे। उनके मुख मण्डल पर निरन्तर मन्द मन्द मुस्कान छाई रहती थी। जब वे ठठाका मारकर हँसते,तब ऐसा प्रतीत होता, मानो पुष्प झड़ रहे हों। पिताजी ! उनका तेज तप, व्रत—सभी अलौकिक था। उनके ब्रह्मचर्य व्रत का क्या नाम है ? किस अनुष्ठान के द्वारा उन्होंने इतना तेज प्राप्त किया है ? मैं भी उनके साथ वैसा ही तप करके ऐसा तेज चाहता हूँ।

पिताजी ! वे हँसते हुए मेरे निकट आये। मैंने उन्हें प्रणाम

करना चाहा, पाद्य और अर्घ्य देना चाहा, किन्तु न तो उन्होंने मेरे प्रणाम को ही स्वीकार किया और न मेरे दिये हुए पाद्य-अर्घ्य को ही। मेरे दिये हुए भिलावाँ, पीलू, बेल, आँवले तथा कैथ आदि फलों को उन्होंने दूर फेंक दिया। फिर उन्होंने अपनी झोली में से गोल-गोल छोटे-छोटे बड़े विचित्र फल निकाले। आश्चर्य की बात है पिता जी! उनके फलों में न छिलके थे, न गुठली। उनका स्वाद अलौकिक था। अमृतोपम वे फल कण्ठ में हिटकते नहीं थे। उनको मुख में रखते ही जीभ से पानी निकलने लगता और वे सट्ट से गले के नीचे उतर जाते। उन्हें चाहे जितना खाओ, तृप्ति ही नहीं होती थी। उनसे न दाँत खट्टे होते थे, न चित्त ही ऊबता था। दाँतों का काम ही नहीं, ओंठ से वे गल जाते और स्वतः ही नीचे उतर जाते। फिर उन्होंने अपना कमण्डलु निकाला। वह हमारे कमण्डलुओं से भिन्न था। वह अत्यन्त ही चमकीला था, लम्बा-लम्बा-सा था। उसका मुख छोटा था। वह किसी वस्तु से बन्द था। उसे खोलकर उसमें से उन्होंने मुझे एक पेय पिलाया। उसे पीते ही यह पृथ्वी मुझे घूमती-सी दिखाई देने लगी, चित्त में स्फूर्ति उत्पन्न हो गई, इन्द्रियों में मादकता छा गई, विचित्र-सी दशा हो गयी। पिताजी! उनके पास बिल्व की भाँति एक विचित्र फल था। उसे वे पृथ्वी पर मारते, तो वह उछल जाता। उसे वे बीच में ही दोनों हाथों को पसार कर ले लेते। फिर मारते और दौड़कर उसे ले लेते। इस प्रकार वे बहुत देर तक मेरे साथ क्रीड़ा करते रहे। वे बार-बार मुझे हृदय से लगाते। इससे मुझे बड़ा सुख मिलता। कई बार उन्होंने मेरे मुख को नवाकर उसपर अपना मुख रखकर एक अव्यक्त शब्द किया, जिससे मेरे रोमाञ्च हो गये। पिताजी! वे महात्मा बड़े अच्छे थे, हँस-हँसकर मुझसे बातें करते थे, मुझसे

अत्यन्त ही स्नेह करते थे। उनकी चलन, चितवन, उठन, बैठन, अवलोकन, मुस्कान, क्रीड़ा, वेदगायन,नृत्य—सभी बातें मोहक और विचित्र थीं। उनकी जटाओं में से पुष्प झड़ते थे। वे बड़ी देर तक मेरे पास रहे। पिता जी! मेरा मन उन्हीं के साथ रहने को करता है। जब से वे गये हैं, मेरा मन उदास हो रहा है, शरीर टूट रहा है। पलभर को भी वे मेरे मन से पृथक् नहीं होते। मैं उन्हीं की जैसी तपस्या करना चाहता हूं।"

अपने भोले-भाले अनजान अबोध पुत्र के मुख से ये सब बातें सुनकर मुनि समझ गये कि कोई कुलटा मेरे बच्चे को बहकाना चाहती है। हाय! इसके लिये मैंने सब प्रयत्न किये और सब व्यर्थ हुआ चाहते हैं। मैं चाहता था कि मेरा बच्चा स्त्री-स्पर्श से सदा दूर रहे। अब एक बार इसने उसका अनुभव कर लिया, तब तो इसका बचना असम्भव है। फिर भी उन्होंने पुत्र को स्त्री का ज्ञान नहीं कराया। उस वयस्क बालक को अज्ञान में ही रखने के निमित्त वे बोले—"बेटा! वह कोई तपस्वी नहीं था, राक्षस था। राक्षस बड़े मायावी होते हैं। वे विचित्र-विचित्र वेश बनाकर लोगों को कुपथ की ओर ले जाते हैं। फिर कभी ऐसे वेश में राक्षस आवे, तो उसे छूना नहीं। जिनकी उतनी लम्बी-लम्बी जटायें हों, दाढ़ी-मूँछ के बाल नहीं, कण्ठ के नीचे वक्षःस्थल पर मांस- पिण्ड हों; उन सब को बनावटी राक्षस जानना। वे फल विष के थे, उन्हें कभी मत खाना। तुझे उस राक्षस ने जो पेय वस्तु पिलाई थी, वह तपस्विओं के लिये अपेय है; उससे तप, तेज, धर्म, कर्म—सभी नष्ट होते हैं तुम भूल कर भी कभी उसे फिर मत पीना। राक्षसों से सदा सावधान रहना। उन्हें छूने से भी पाप लगता है। जो हुआ, सो हुआ। गङ्गा-स्नान करो, गायत्री का दुगुना जप करो,

सायंकालीन अग्निहोत्र करो। उस राक्षस को भूल जाओ।"

पुत्र ने पिता के कहने से "हाँ" तो कर दी, किन्तु वे उसे मन से भुला न सके। एक बार जिस सुख का अनुभव किया है, वह तीव्र वैराग्य के बिना भुलाया नहीं जा सकता।

महर्षि विभाण्डक को बडी चिन्ता हुई। रात्रि भर उन्हें निद्रा नहीं आई। वे प्रातः होते ही उस वेश्या की खोज मे चले। वेश्या भी सतर्क थी। उसने अपने गुप्तचरों से पता लगवा लिया था, कि मुनि उसकी खोज मे हैं। अतः वह तीन दिनो तक छिपी रही, मुनि को जब वन मे कोई नहीं मिला, तब वे निराश हो गये।

तीसरे दिन ज्योंही वे कुश समिधा लेने वन को गये, त्योंही वह वेश्या पुत्री पुनः ऋष्यशृंग के समीप आई। उसे देखते ही मुनि पुत्र का रोम रोम खिल उठा और वे बड़े ही उल्लास के साथ बोले—"मुनिवर! आप तीन दिन से कहाँ रहे? मुझे तो आपके बिना पल पल भारी हो रहा है। आपके तप, तेज और ब्रह्मचर्य-व्रत से मैं अत्यन्त ही प्रभावित हो गया हूँ। मेरे पिता आपके आने से सन्तुष्ट प्रतीत नहीं हुए। अतः कृपा करके उनके लौटने के पहले ही आप मुझे अपने आश्रम पर ले चलें। आपका आश्रम देखने की मेरी बडी रुचि है।"

वेश्या को यही तो अभीष्ट था। वह तुरन्त मुनि पुत्र को साथ लेकर चल दी। नौका के समीप आकर उसने मुनि को उसमे बिठाया और मल्लाहों से चुपके से कह दिया, नौका खोल दो। मल्लाहो ने नौका खोल दी। गंगाजी की उत्ताल तरंगों को चीरती-फाडती नौका प्रवाह की ओर बढ़ने लगी। वेश्यायें विविध प्रकार के गाने गाकर, नाना प्रकार के हाव-भाव दिखाकर, इधर-उधर की मधुर, कर्ण प्रिय बातें कहकर ऋष्यशृङ्ग मुनि के

मन को बहलाती रहीं। मुनि पुत्र समझ रहे थे, मैं किसी दूसरे लोक में आ गया हूँ। उनका ताल स्वर के सहित सुरीला सरस गायन, नाना भाव भङ्गियाँ दिखाकर अद्भुत नृत्य तथा विविध वाद्यों के सुन्दर स्वर सुनकर मुनि मुग्ध हो गये। कई बार उन्होंने बीच में पिता का स्मरण किया, किन्तु वेश्याओं ने उन्हें इधर उधर की बातें सुनाकर बहला दिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वेश्यायें विविध प्रकार के उपायों से विभाण्डक मुनि के भोले भाले पुत्र को फँसा लाईं। जब यह समाचार अंगदेश के राजा रोमपाद ने सुना, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना ही न रहा।

छप्पय

मुनि-सुत के छिपि पास बार-बनिता पुनि आई।
नौका पै ले गईं नाव पुनि तुरत चलाई॥
गावत रसमय गीत नृत्य करि बाद्य बजावत।
अङ्ग देश ले गये चित्त महँ अति हरषावत॥
ऋष्यशृङ्ग पहुँचे जबहिं, राज माँहि बरषा भई।
भये सुखी सब प्रजागन, विपति-भूतिनी भगि गई॥

———

महाराज रोमपाद के वंशज

(८०१)

प्रजामदाद्दशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः ।
चतुरङ्गो रोमपादात्पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः ❀॥

(श्री भा० ९ स्क० २३ अ० १० श्लो०)

छप्पय

शान्ता कन्या सग व्याह मुनि सुतको कीन्हों ।
सुकुमारी लहि बहू, जगत सुख मुनि अब चीन्हों ॥
कोप विभाण्डक करयो, रोप तैं नृप पुर आये ।
बहु स्वागत नृप करयो बहू सुत पैर गिराये ॥
पुत्र - वधू - सँग पुत्र कूँ, लखि लहू मुनिवर भये ।
उड्यो क्रोध कर्पूर-सम, पुत्र - वधू कूँ वर दये ॥

ऐसा सिद्धान्त है, कि कितना भी कामातुर पुरुष हो, उसे अत्यधिक क्रोध दिलाया जाय,तो क्रोध के आवेश मे उसकी काम-भावना नष्ट हो जायगी । इसी प्रकार क्रोधाविष्ट पुरुष को अपनी कामना के अनुसार मोहक वस्तुएँ दिखा दी जायँ, तो उसका क्रोध नष्ट हो जायगा । क्रोध एक प्रकार की अग्नि है । अग्नि जैसे जल से शान्त हो जाती है, वैसे ही क्रोधाग्नि शुचि सुन्दर पवित्र उज्ज्वल

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मुनिवर ऋष्यशृंग के यज्ञ कराने पर पुत्रहीन राजा दशरथ ने (श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न) पुत्र प्राप्त किये थे । रोमपाद के पुत्र चतुरङ्ग हुए और चतुरङ्ग के पुत्र पृथु-लाक्ष हुए ।"

मोहक तथा शृंगार-रस की जितनी वर्द्धक वस्तुएँ हैं उन्हें देखकर बुझ जाती है। क्रोधी पुरुष के सम्मुख क्रोध करने से उसका क्रोध और बढ़ता है। चित्त के अनुकूल परिस्थिति देखकर उसका चित्त पानी-पानी हो जाता है। फिर उसे अपने किये पर पश्चात्ताप होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अंग देश के समीप आकर वेश्या ने नौका खड़ी कर दी। मुनि-पुत्र ने पूछा—"मुनियो! अब हम कहाँ आ गये?"

बूढ़ी वेश्या ने कहा—"आयुष्मन्! अब हम अपने आश्रम के निकट आ आ गये। चलिये, हमारा आश्रम देखिये। यह कह कर उसने मुनि को घाट पर उतारा। समाचार पाते ही महाराज रोमपाद सहस्रों ब्राह्मणों और मुनियों को साथ लिये हुए महामुनि ऋष्यशृङ्ग का स्वागत करने आये। उन्होंने पाद्य-अर्घ्य देकर विधिवत् मुनि का स्वागत किया और उन्हें बड़ी धूम-धामसे रथपर बिठाकर अपनी राजधानी को ले गये। मुनिपुत्र ने आजतक कभी नगर देखा नहीं था। वे राजधानी की धूम-धाम चहल-पहल स्त्री-पुरुषों तथा बड़े-बड़े भवनों को देखकर चकित रह गये। राजा के पुरोहित ने ऋष्यशृङ्ग को सभी प्रवृत्ति-मार्ग की बातें बताईं। राजा ने बड़े आदर सत्कार से मुनिपुत्र को अपने यहाँ बसाया। उनके वहाँ पहुँचते ही इन्द्र ने वर्षा की। चारों ओर जल ही जल दिखाई देने लगा। मरु के समान शुष्क भूमि दैव के बरसते ही शस्य-श्यामला हो गयी। सर्वत्र हरी-हरी घास और लहराते हुए धान दिखायी देने लगे। राजा ने अपनी परम सुन्दरी अत्यंत सुकुमारी प्यारी-दुलारी पुत्री शान्ता का विवाह ऋष्यशृङ्ग मुनि के साथ कर दिया। अब तो मुनि समझ गये, ये मुनि नहीं; भगवान् की मनोहारिणी मोहिनी माया है। इतनी सुन्दरी

वहू को पाकर मुनि अत्यंत प्रसन्न हुए। वे राजा के महलों मे सभी सुखोपभोग की सामग्री तथा सत्कार पाकर शान्ता के साथ गृहस्थधर्म का पालन करने लगे। जैसे भोले भाले मुनि थे, वैसी ही हरिणी की भाँति बड़े-बड़े नेत्रो वाली अत्यंत भोली-भाली राजपुत्री शान्ता था। शान्ता ने अपना तन-मन-धन तथा सर्वस्व मुनि के चरणो मे समर्पित कर दिया। वह निष्कपट भाव से अपने पति-परमेश्वर की परिचर्या करने लगी। अपनी सेवा-शुश्रूषा, विनय तथा अनुकूल आचरणों से उसने मुनि को अपने वश में कर लिया। मुनि भी उसके प्रेम-पाश मे ऐसे बँध गये, कि वन को भूल से गये।

इधर जब विभाण्डक मुनि लौटकर आश्रम पर आये, तब वहाँ उन्होंने अपने पुत्र को नहीं देखा और परम विस्मित हुए। तत्काल उन्हें शंका हो गयी, अवश्य ही मेरे पुत्र को किसी ने बहका लिया है। उन्होंने आस-पास के सभी मुनियों के आश्रम खोज डाले, किन्तु पुत्र का पता नहीं चला। जब वे अत्यंत क्रोध मे भरे अपने पुत्र को खोज रहे थे, तब एक बूढ़े से मुनि ने हँसकर कहा—"नगर में जाकर देखो, तुम्हारे बच्चे को कोई बेच तो नहीं आया।"

मुनिने लाल-लाल आँख करके कहा—"क्या मेरा पुत्र कोई बेचने की वस्तु है?"

वृद्ध मुनि ने कहा—"तुमने तो बच्चे को अपना खिलौना ही बना रखा था, न उसे संसार का ज्ञान कराया, न किसी से मिलने दिया, संसार से उसे अज्ञात ही रखा। अज्ञान में त्याग नहीं। ज्ञानपूर्वक त्याग ही सच्चा त्याग है। अंधकार को देखकर ही प्रकाश को महत्ता जानी जाती है। रात्रिका ज्ञान होने पर ही दिन की उपयोगिता बुद्धि मे आती है। जबतक प्रवृत्ति-

मार्ग का पूर्ण ज्ञान न हो, तब तक निवृत्ति मार्ग की उत्तमता प्राणी कैसे जान सकता है? स्वाभाविक प्रवृत्तियों को हठपूर्वक कौन रोक सकता है? समावर्तन और विवाह योग्य पुत्र को स्त्री से परिचय न कराकर जो तुमने पाप किया, उसी के फल-स्वरूप अङ्गदेश के राजा के राज्य में वर्षा नहीं हुई। तुम अङ्गराज से जाकर पुत्र का पता पूछो।"

अब तो मुनि को पता चल गया कि यह सब अङ्गदेश के राजा का षड्यन्त्र है। वे क्रोध मे भर कर राजा को शाप देने को उद्यत हुए। इस पर सब मुनियो ने एकत्रित होकर उन्हें ऐसा करने से रोका। शास्त्रीय प्रमाण दे देकर उन्होने इन्हे समझाया—"आपका ऐसा करना अनुचित है। आप अङ्गराजके समीप पहले जायँ और सब बातों का पता लगावें। उनका सब बातें सुनकर फिर आप उचित समझे, तो उसे शाप या वरदान दें।"

मुनियों की बात मानकर विभाण्डक मुनि क्रोध मे भरकर अङ्गदेश की राजधानी चम्पापुरी (चम्पारण्य) को ओर चल पडे। प्रतीत होता है, इस षड्यन्त्र मे कुछ मुनियों का भी हाथ था। राजा को यह सूचना प्रथम ही मिल गयी कि महामुनि विभाण्डक क्रोध मे भरकर आ रहे हैं। अतः उन्होंने बहुत से राजकर्मचारी भेजकर गाँव-गाँव में उनके स्वागत सत्कार का प्रबन्ध किया कराया, मुनि जिस गाँव मे जाते, उसी गाँव के कृषक तथा अन्य लोग उनका बडा आदर करते, सब वस्तुएँ उनको अर्पण करते। मुनि पूछते—"ये किनके गाँव हैं?" तब सब कहते—"महाराज, ये ऋष्यशृङ्ग मुनि के गाँव हैं। राजा ने अपनी पुत्री के विवाह में उन्हें दहेज में दिये हैं।" इस प्रकार सभी गाँवो मे पूजित तथा सम्मानित होकर वे चम्पापुरी में पहुँचे। राजाने उनका ससमारोह स्वागत-सत्कार किया। भगवान् भी विनय पूजन से प्रसन्न हो

जाते हैं, फिर मुनि तो मुनि ही ठहरे। उनका बढा हुआ रजोगुण दूर हुआ। राजा उन्हे मुनि पुत्र के महलों मे ले गये। वहाँ उन्होंने देखा कि जैसे स्वर्ग मे इन्द्र रहते हैं, वैसे ऋष्यशृङ्ग अत्यत ही सम्मान के साथ राजा के महलों मे ठहरे हुए हैं। सहस्रो दास-दासियाँ उनकी सेवा मे समुपस्थित हैं। राजकुमारी शान्ता बिजली की भाँति इधर से उधर अपने प्रकाश से महलो को प्रकाशित करती हुई, छम-छम करती हुई घूम रही है। पिता को देखते ही लज्जित होकर मुनिकुमार खडे हो गये। पुत्र और पुत्रवधू ने आकर मुनि के पैर पकडे, उनका पूजन किया, और हाथ जोडकर खडे हो गये। इतनी सुन्दरी सुकुमारी राजकुमारी पुत्रवधू को देखकर मुनि का क्रोध कपूर की भाँति उड गया। उन्होंने पुत्र का आलिङ्गन किया, पुत्रवधू के सहित उनका सिर सूँघा और उन्हे पुत्र पौत्रवान् होने का आशीर्वाद दिया। अङ्गराज महाराज रोमपाद को भी उन्होंने कृपाभरी दृष्टि से देखा। कुछ काल राजा का आतिथ्य स्वीकार करके पुत्र को वहीं छोडकर मुनि तपस्या करने वन को चले गये।

इतने यशस्वी, तपस्वी, संयमी, सरल जामाता पाकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। कुछ काल मे शान्ता ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। इससे सम्पूर्ण राज्य मे आनन्द छा गया।

एक दिन शान्ता ने अपने सर्वसमर्थ पति से कहा—"प्राण नाथ! मुझे आपके अनुग्रह से सभी प्रकार के सुख हैं, किन्तु मेरे कोई भाई नहीं है। इससे मेरे माता पिता भी दुखी रहते हैं और मुझे भी बडी चिन्ता रहती है। आप कोई ऐसा उपाय करे कि मेरे एक भाई हो जाय।"

मुनि ऋष्यशृङ्ग ने कहा—"मैंने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके वेदाध्ययन किया है। मैं पुत्र के निमित्त महाराज

को पुत्रेष्टि यज्ञ कराऊँगा, जिसके प्रधान देवता इन्द्र होंगे। वे अवश्य ही महाराज को पुत्र प्रदान करेंगे।"

यह सुनकर शान्ता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने यह सूचना अपनी माता तथा पिता को दी। राजा ने और भी बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ की सम्पूर्ण तैयारियाँ कीं। बड़ी धूमधाम से यज्ञ हुआ। उस यज्ञ का तत्काल ही फल भी मिल गया। इन्द्र ने प्रसन्न होकर राजा को पुत्रवान् होने का आशीर्वाद दिया। महारानी गर्भवती हुईं और नियत समय पर उन्होंने एक पुत्र-रत्न को प्रसव किया। राजा ने उस कुमार का नाम चतुरङ्ग रखा। कुमार चतुरङ्ग शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा।

इधर जब अयोध्याधिप महाराज दशरथ ने यह बात सुनी कि मेरा पुत्री शान्ता के पति पुत्रेष्टि यज्ञ कराने में बड़े निपुण हैं, तब वे भी अनुनय-विनय करके शान्ता सहित ऋष्यशृङ्ग को अपने यहाँ ले आये। राजा के आग्रह से महामुनि वशिष्ठ की सम्मति से महाराज दशरथ को भी ऋष्यशृङ्ग मुनि ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, जिसके फल स्वरूप उनके अवध-कुल-मण्डन कौशल्यानन्द-वर्द्धन रघुनन्दन श्री राघवेन्द्र का, प्रेम के साकार रूप श्री भरतजी का तथा सुमित्रा-नन्द-वर्द्धन लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी का जन्म हुआ।

मुनिवर ऋष्यशृङ्ग ने जब देखा कि शान्ता के भी पुत्र हो गया है, तब वे राजा से अनुमति लेकर पुनः वन में चले गये। अब वे अङ्गदेश को छोड़कर गंगा-किनारे कान्यकुब्ज देश में आकर रहने लगे। शान्ता भी राजभवनों को छोड़कर उनके साथ ही रही और सब प्रकार उनकी सेवा करती रही। मुनि ऋष्यशृङ्ग का आश्रम कान्यकुब्ज देश में गंगा-तट पर (फर्रुखाबाद जिले के शृङ्गी रामपुर में) अब भी विद्यमान है, जहाँ बड़ा भारी मेला लगता है।

इस प्रकार महाराज रोमपाद की पुत्री का विवाह महामुनि ऋष्यशृङ्ग मुनि के साथ हुआ। महाराज के पुत्र चतुरङ्ग बड़े ही धर्मात्मा तथा गुणग्राही थे। उनके पुत्र का नाम था पृथुलाक्ष, पृथुलाक्ष के पुत्र बृहद्रथ, बृहद्कर्मा तथा बृहद्भानु—ये तीन पुत्र हुए। उनमे सबसे बड़े बृहद्रथ के पुत्र बृहन्मना हुए। उनके जयद्रथ, जयद्रथ को सम्भूति नाम्नी भार्या से विजय नामक पुत्र हुआ। विजय के धृति, धृति के धृतव्रत, उनके सत्कर्मा और महाराज सत्कर्मा के ही पुत्र सूतराज अधिरथ हुए।

महाराज अधिरथ के कोई पुत्र नहीं था। एक दिन वे गंगाजी में स्नान कर रहे थे, कि उन्हे गंगाजी के प्रवाह में एक पेटी बहती हुई दिखाई दी। मल्लाहों से उन्होंने उस पेटी को निकलवाया। उसमें एक बड़ा ही सुन्दर बालक था। देवकुमार के समान उसकी आभा थी, कानों में उसके स्वाभाविक दिव्य कुण्डल थे। राजा उसे अपने घर ले आये और उसे अपना पुत्र मानकर उसका पालन-पोषण करने लगे। ये कन्यावस्था मे कुन्ती के गर्भ से सूर्य भगवान् द्वारा उत्पन्न कानीन पुत्र थे। राजा ने उसे अपना पुत्र मान लिया। अपनी पत्नी राधा को उसे दिया। इसीलिये कुन्ती-पुत्र कर्ण राधेय कहलाये। पीछे अधिरथ के और भी पुत्र हुए। पृथ्वीपति कर्ण के भी बहुत से पुत्र हुए, जिनमे वृषसेन मुख्य थे। पीछे इनका और भी वंश-विस्तार हुआ, उसे कहाँ तक बतावें। बंगाल, उड़ीसा तथा मिथिला मे अब भी बहुत से कर्ण-वंशीय कायस्थ हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार अत्यन्त ही संक्षेप मे मैंने यह महाराज ययाति के चतुर्थ पुत्र अनु के वंश का वर्णन किया। अब आप उनके तृतीय पुत्र द्रुह्यु के वंश का अत्यन्त संक्षेप मे वर्णन सुने।"

छप्पय

ऋष्यशृङ्ग मुनि गृही बने बहु मख करवाये।
दशरथ अरु नृप रोमपाद जिन तैं सुत पाये॥
रोमपाद के भये पुत्र चतुरंग अमानी।
दशवा पीढी भये कर्ण कुन्ती तैं दानी॥
सुत ययाति अनु-वंश महँ, भये धर्मयुत भूप सब।
कह्यो वंश अनु-पुरु को, सुनो द्रुह्यु को वंश अब॥

द्रुह्यु और तुर्वसु के वंशज

(८०२)

द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः ।
आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मसुतो धृतः ॥

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

नृपति द्रुह्यु सुत बभ्रु बभ्रु सुत सेतु जिनहु तैं ।
सेतु-पुत्र आरब्ध भये गान्धार तिनहु तैं ॥
चौथी पीढी माँहि प्रचेता भये शक्ति युत ।
तिन तैं अति बलवान भये तेजस्वी शत सुत ॥
उत्तर दिशि के भूप ये, म्लेच्छनि के राजा विदित ।
अब तुर्वसु को सुनहु कुल, जो ययाति के द्वितिय सुत ॥

जिस कुल मे एक भगवद् भक्त हो जाता है, वह अपने वंशके सात पहली, सात पाछे की और सात मातृकुल की पीढियों को तार देता है। यदि किसी कुल मे भक्त भावन भगवान् वासुदेव प्रकट हो जायँ, तो उस कुल के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या ! वह सम्पूर्ण कुल धन्य हो जाता है। सूर्य वंश की इतनी महिमा क्यों है ? इसलिये कि उसमें रविकुल तिलक श्रीराघव ने अवतार ग्रहण किया। अजन्मा होने पर भी उन्होंने सूर्य वंश मे जन्म

१—श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! ययाति-पुत्र द्रुह्यु के पुत्र बभ्रु हुए। उनके सेतु, सेतु से आरब्ध का जन्म हुआ। आरब्ध के पुत्र गान्धार उनके धर्म और धर्म के पुत्र धृत हुए।"

लिया, इसीलिये वह कुल परमपावन बन गया है। इसी प्रकार चन्द्र-वंश की बात है। यद्यपि चन्द्र-वंश में एक से एक शूरवीर, यशस्वी, प्रतापी राजा हुए हैं, किन्तु फिर भी वे सब मरणधर्मा थे। इस वंश का महत्त्व तो यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के अवतार के कारण ही हुआ। महाराज ययाति के ज्येष्ठ पुत्र महाराज यदु यद्यपि पिता के शाप से क्षत्रियत्व से हीन हो गये थे, किन्तु भगवान् के अवतार ले लेने से देवताओं के लिये भी वह कुल परम वन्दनीय बन गया। भगवान् के सम्बन्ध से और सब भाइयों के कुल भी कीर्तनीय बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने महाराज ययाति के पंचम और चतुर्थ पुत्र पुरु और अनु के वंशों को कहा, अब अत्यन्त ही संक्षेप में उनके तृतीय पुत्र द्रुह्यु के कुल को कहता हूँ। ये हिमालय के इस पार उस पार देशों के अनार्य म्लेच्छ देशों (पहाड़ी, तिब्बती, काबुल, कंधार, रूस, चीन, जापान) के राजा हुए। वर्णाश्रमी देशों की सीमा से बाहर होने से ये संस्कार-हीन हो गये। म्लेच्छों के संसर्ग से उनके साथ विवाह आदि सम्बन्ध करने से ये भी म्लेच्छप्राय हो गये। अतः इनके कुल के कुछ ही राजाओं का केवल नाममात्र कहता हूँ।

महाराज द्रुह्यु के पुत्र बभ्रु हुए। उनके सेतु, सेतु के आरब्ध, आरब्ध के ही पुत्र गान्धार हुए, जिन्होंने अपने नाम से गान्धार (काबुल-कंधार) देश को प्रसिद्ध किया। इस देश मे फल बहुत होते हैं। वहाँ के अनार तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इस देश के अश्व भी नामी होते हैं। महाराज गान्धार के पुत्र धर्म हुए, धर्म के धृत, उनके दुर्मना और दुर्मना के पुत्र प्रचेता हुए। प्रचेता के सौ पुत्र परम पराक्रमी हुए। ये पहाड़ों और समुद्रों को पार करके बड़े-बड़े टापुओं में गये और वहाँ इन्होंने अपने उपनिवेश बनाये।

द्विजों से दूर रहने से तथा शीतप्राय प्रदेशों में रहने से इनके रंग-रूप भी बदल गये और ये संस्कार हीन हो गये। यद्यपि इनके ये सभी देश प्राचीन मान चित्र के अनुसार भारतवर्ष में ही हैं, परन्तु पीछे भारतवर्ष उतने में ही रहा, जितने में वर्णाश्रमी आर्य निवास करते हैं, अर्थात् हिमालय से कन्याकुमारी तक, अटक नदी से कटक (जगन्नाथ पुरी) तक। पीछे चलकर गान्धार देश भी भारत से निकल गया। अब भारत के कुछ प्रान्त यवनाधिक्य के कारण अपने को भारत से पृथक् कहने लगे हैं। इस प्रकार काल-क्रम से भारतवर्ष की सीमा संकुचित होती जाती है। ये मैंने ययाति पुत्र द्रुह्यु के वंश का वर्णन किया। इस प्रकार शर्मिष्ठा से उत्पन्न महाराज ययाति के तीनों पुत्रों के वंश मैंने कहे। अब देवयानी से उत्पन्न महाराज ययाति के द्वितीय पुत्र तुर्वसु के वंश को श्रवण करें।

महाराज तुर्वसु के पुत्र वह्नि हुए, वह्नि के पुत्र भर्ग और भर्ग से भानुमान का जन्म हुआ। भानुमान के पुत्र त्रिभानु हुए। इन महाराज त्रिभानु के पुत्र परम यशस्वी उदार बुद्धि महाराज करन्धम हुए। इन करन्धम के ही पुत्र मरुत हुए, जिन्होंने इतना भारी यज्ञ किया कि उसके समान वैभवशाली यज्ञ कोई न राजा आज तक नहीं कर सका। ये महाराज मरुत पुत्रहीन थे इन्होंने पुरुवंशीय दुष्यन्त को अपना पुत्र मान लिया था। उनके पहिले, पिता के दूसरा कोई पुत्र नहीं था, अतः ये लोभ से पुनः पुरु के ही वंश में मिल गये। पीछे इनका क्या चला या नहीं, इसका कुछ पता नहीं चलता।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—सूतजी! अब न चले, सच्ची बात तो यह है कि इस वंशावली को हम तो ऊब गये हैं। बीच-बीच में जो आप सु

हर आख्यान कह देते हैं, उनमें तो मन लग जाता है; किन्तु इसके ये हुए उसके ये हुए, इन बातों को हम आपके कहने से कड़वी औषधियों के समान आँख मूँदकर पान करते जाते हैं। अब आपने राजर्षि ययातिके चार पुत्रों की वंशावली तो कह ही दी। यह हम मानते हैं कि आपने उसे अपनी ओर से बहुत ही संक्षेप में कही, किन्तु जो कुछ कहा है, पर्याप्त है। अब आप महाराज-ययाति के ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र यदु के वंश का वर्णन करें। इसमें भी जो बहुत मुख्य मुख्य, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजा हुए हों, उनका ही वर्णन करें। अब कृष्ण कथा कहिये, नन्द-नन्दन की कमनीय क्रीड़ा सुनाइये। भगवान् के व्रज की, मथुरा तथा द्वारका की श्रुत मधुर लीलाओं को सुनाइये, कर्णों की सार्थकता इसी में है। उसी कृष्ण-कथा के लोभ से हम धैर्य के साथ आप की ये कथायें सुनते आ रहे हैं, किन्तु वह तो वस्तु ही और है। उसे ही कहिये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं महाराज यदु के ही वंश का वर्णन करूँगा। तनिक और धैर्य धारण करें। फिर तो रस ही रस है। फिर छिलका-गुठली का काम नहीं।"

छप्पय

तुर्वसुके सुत वह्नि वह्नि के भर्ग भूमिपति।
भानुमान तिनि तनय त्रिभानुहु तिनि सुत दृढमति॥
नृप त्रिभानु के तनय करन्धम भूप मनस्वी।
मरुत नृपति तिनि पुत्र यज्ञ करि भये यशस्वी॥
पुरुवंशी दुष्यन्त कूँ, गोद लयो परि लोभवश।
निजकुल महँ पुनि मिलि गयो, बढ्यो न पुनि तिनि वंशयश॥

यदुवंश-वर्णन

(८०३)

ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ ।
वर्णयामि महापुण्य सर्वपापहरं नृणाम् ॥
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः ॥

(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० १८ १९ श्लो०)

छप्पय

यदुनन्दन के पाद पद्म महँ शीश नवाऊँ ।
अब ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु वंश सुनाऊँ ॥
भये चारि यदु पुत्र सहसजित् , क्रोष्टा,रिपु नल ।
नृप सहस्रजित पुत्र भये शतजितहु अमित बल ॥
सतजित के सुत महाहय, हैहय दूसर बेणुहय ।
हैहय कुल बलवान अति, करी जिननि दश दिशि विजय ॥

भगवान् का अवतार जिस कुलमें हो, वह अत्यन्त पावन और सर्वश्रेष्ठ है। महाराज भगीरथ अपने तपोबल से श्री गङ्गाजी को भूतल पर लाये थे, किन्तु उसमे महाराजसगर, असमजस, अशुमान्

१—श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन् ! अब मैं महाराज ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु के वंश का वर्णन करता हूँ, जो महापुण्य-प्रद है और मनुष्यों के सभी पापों को हरनेवाला है। मनुष्य यदुवंश वर्णन सुनकर सभी पापों से मुक्त हो जाता है, क्योंकि इसी वंश में नराकृति भगवान परमात्मा अवतीर्ण हुए थे।

तथा दिलीप का भी तप और श्रम सम्मिलित था। पाँचवीं पीढ़ी मे आकर भगवती त्रिपथगामिनी गगा प्रसन्न हुईं तथा भक्तवर भगीरथ के पीछे पीछे चला आईं। इसीलिये उनका नाम भागीरथी पड़ा। इसी प्रकार यह सत्य है कि श्री देवकी, वसुदेव तथा नन्द-यशोदा के पुण्य-प्रभाव से प्रभु का प्राकट्य हुआ, किन्तु इसमे यदुवंश के समस्त राजाओं का भी पुण्य सम्मिलित है। वैसे प्रभु का प्राकट्य किसी साधन से या पुण्यो से नहीं हो सकता। वे स्वयं ही कृपा करके जिस कुल को पावन करना चाहें, जिस वंश को बड़ाई देना चाहे, उसी में प्रकट होंगे। उन्हे कोई साधनों द्वारा नही बाँध सकता। वे तो प्रेम की रस्सी मे बँधकर नाच सकते हैं। इस अट्ठाईसवे द्वापर के अन्त मे उन्होंने यदुकुल पर कृपा की। अतः अब यदुकुल की कथा कही जाती है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! अब मैं महाराज ययाति के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ पुत्र शुक्र-नदिनी भगवती देवयानी के गर्भ से सर्वप्रथम उत्पन्न—महाराज यदु के वंश का वर्णन करता हूँ। जिस वश मे अजन्मा भगवान् वासुदेव ने नर रूप से अवतार धारण किया था।

महाराज ययाति के देवयानी से जिस प्रकार यदु का जन्म हुआ और जिस प्रकार पिताकी वृद्धावस्था न लेने से वे क्षत्रित्व से भ्रष्ट कर दिये गये, इन सब प्रसंगो को मैं महाराज ययाति के चरित मे कह ही चुका हूँ। अब उनके आगे के वश को सुनिये। महाराज यदु के चार पुत्र हुए, मानो चारो पुरुषार्थ, चारो वेद, चारों वर्ण तथा आश्रम मूर्तिमान होकर उत्पन्न हुए हो। उनके नाम सहस्रजित, क्रोष्टा, नल तथा रिपु थे। इनमे से सहस्रजित और क्रोष्टा के वंशों का वर्णन करता हूँ।

सहस्रजित के पुत्र शतजित हुए। इन महाराज शतजित के तीन पुत्र हुए—पहले महाहय दूसरे वेणुहय और तीसरे हैहय। इन

सबमें सबसे छोटे तीसरे हैहय बड़े पराक्रमी तथा प्रभावशाली थे। इनके नाम से हैहय-वंश चला तथा हैहय वंशी क्षत्रिय बड़े बली समझे जाने लगे। महाराज हैहय के पुत्र धर्म हुए, उनसे नेत्र हुए। नेत्र के पुत्र कुन्ती हुए, कुन्ती के सोहञ्जि और सोहञ्जि के ही परम यशस्वी महाराज महिष्मान हुए, जिन्होंने नर्मदा-किनारे अपने नाम से महिष्मतीपुरी बसाई, जिसे वे अपनी राजधानी बनाकर सुखपूर्वक राज्य करने लगे। महाराज महिष्मान के पुत्र भद्रसेन हुए और उनके धनक नामक सुत हुए। महाराज धनक के पाँच पुत्र हुए, जिनके नाम दुर्मद, कृतवीर्य, कृताग्नि, कृतवर्मा और कृतौजा थे। इन पाँचों में महाराज कृतवीर्य बल, बुद्धि और पराक्रम में, यश तथा ख्याति में सर्वश्रेष्ठ हुए। इन्हीं के पुत्र सहस्रार्जुन थे, जो कृतवीर्य के पुत्र होने से कार्तवीर्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये कार्तवीर्य सहस्रार्जुन चक्रवर्ती राजा थे। पृथ्वी पर उस समय इनके समान बली कोई भी राजा नहीं था। सूर्य-वंश तथा चन्द्रवंश के सभी राजाओं को हराकर इन्होंने सप्तद्वीपवर्ती समस्त वसुन्धरा का एकाकी ही उपभोग किया। उस समय इन पृथ्वीपति की समता कोई भी राजा यज्ञ, दान, तप, योग, विद्या तथा वीर्य में नहीं कर सकता था। जहाँ भी ये युद्ध करते, वहीं विजय प्राप्त करते। ये न कभी बूढ़े हुए और न इनका कभी बल ही घटा। इनका धन-ऐश्वर्य तो कभी कम होता ही नहीं था। पचासी हजार वर्षों तक ये समस्त इन्द्रियों के भोगों को अव्याहत गति से भोगते रहे। उस समय ये ही एकमात्र चक्रवर्ती राजा थे।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यदुवंशीय राजाओं को तो ययाति के शाप से चक्रवर्ती के सिंहासन पर बैठने का अधिकार ही नहीं था। फिर ये समस्त पृथ्वी के एकछत्र सम्राट् कैसे हो गये?"

यह सुनकर सूतजी बोले--"महाराज ! शाप-पाप बलवानों का कुछ नहीं कर सकता। जिन पर भगवान् की कृपा हो जाती है, उनके सभी शाप समाप्त हो जाते हैं। शाप तो इनके कुल के मनुष्य ने ही दिया था न ? भगवान् के अंशावतार अवधूत भगवान् दत्तात्रेय की इन्होंने बड़े मनोयोग से सेवा की। अत्यधिक सेवा शुश्रूषा करके इन्होंने दत्त भगवान् को प्रसन्न किया और उनसे योग-विद्या तथा समस्त अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कीं। दत्त भगवान् की कृपा से ही इन्होंने एक सहस्र बाहुओं को प्राप्त किया। दत्त भगवान् ने इन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा था—"भगवान् को छोड़कर और कोई भी क्षत्रिय तुम्हे युद्ध में परास्त नहीं कर सकता। सर्वत्र तुम्हारी विजय ही होगी।" इसी कारण ये जिस राजा पर चढ़ाई करते, उसी को इनके सामने घुटने टेकने पड़ते। कोई इनके सम्मुख खड़ा होने का साहस ही नहीं करता था। अन्त मे भगवान् ने परशुराम रूप में प्रकट होकर इनका वध किया। ये कार्तवीर्य सहस्रार्जुन भी भगवान् के कलावतार माने जाते हैं। पुराणों मे इनकी उपासना की विधि है और इनके नाम की गायत्री भी है। इनका प्रसङ्ग भगवान् परशुराम के चरित-प्रसङ्ग में आ ही चुका है, अतः उसे पुनः कहने की आवश्यकता नहीं। उन दिनों पृथ्वी के समस्त क्षत्रिय मद में भर गये थे। वे विद्वान् ब्राह्मणों का अपमान करने लगे, अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। इन महाराज सहस्रार्जुन को योग का भी बल था, अष्ट सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। शरीर मे भी अमित पराक्रम था। ये सप्त द्वीपवती पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट् तो थे ही। इनके महाबलशाली एक सहस्र पुत्र भी थे। इन सब वस्तुओं के होने से महाराज का दर्प आवश्यकता से अधिक बढ़ गया। उसी दर्प में इन्होंने परशुरामजी के पिता

महर्षि जमदग्नि की यज्ञीय कामधेनु हर ली। इस पर क्रोध करके परशुरामजी ने इन्हें मार डाला तथा इनके सभी पुत्रों को भी यमपुर पठा दिया। सहस्र पुत्रों में से भागकर केवल पाँच जीवित रहे। इनके नाम जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित थे। इनसे ही आगे यदु-वंश की वृद्धि हुई।

इन पाँचों मे सबसे बड़े महाराज जयध्वज के तालजंघ नामक बड़े ही प्रभावशाली और बली पुत्र हुए। उनके सौ पुत्र हुए। वे सब के सब तालजंघीय क्षत्रिय कहलाय।

जिन दिनों ये तालजंघीय क्षत्रिय थे, उन दिनो अयोध्या में सूर्य-वंशीय महाराज बाहुक राज्य करते थे। इन सबने अवध पर चढ़ाई करदी और अवध के राज्य को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। महाराज बाहुक अपनी रानियों सहित वन मे जाकर और्व मुनि के आश्रम मे रहने लगे। ये अपनी रानी को गर्भवती छोड़कर मर गये। पीछे रानी के गर्भ से चक्रवर्ती महाराज सगर का जन्म हुआ। समर्थ होने पर उन्होने सैन्य-संग्रह करके तालजंघों पर चढ़ाई की। उसमे बहुत से तालजंघ मारे गये। उनकी सहायता मे यवन, शक, हैहय तथा बर्बर जाति के जो लोग आये थे, उन सब को भी महाराज सगर ने परास्त किया। वे सब सगर के भय से भयभीत होकर उनके गुरु भगवान् और्व के समीप गये। गुरु ने सगर से उन्हें प्राणदान देने को कहा। महाराज सगर ने उन्हें मारा तो नहीं, किन्तु उस समय की प्रथाके अनुसार उन्हे वेदबाह्य कर दिया, वर्णाश्रमधर्म से पृथक् कर दिया। उनसबके ये ऐसे-ऐसे विचित्र वेश बना दिये, जो दूर से पहचाने जा सकें, कि ये अवर्णाश्रमी वेदबाह्य अनार्य हैं। तालजंघ के सौ पुत्रो में से जो सबसे बड़े थे, उनका नाम वीतिहोत्र था। प्रतीत होता है, महाराज सगर

ने उन्हें वेदवाह्य न करके उनका पैतृक राज्य दे दिया था। उन्हें वीतिहोत्र के पुत्र महायशस्वी महाराज मधु हुए, जिनके कारण यदुवंशी यादवों की माधव या मधुवंशी संज्ञा हुई। इन मधु के भी सौ पुत्र हुए। इन सौ में वृष्णि सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। इन वृष्णिके नाम से यादव वार्ष्णेय या वृष्णि वंशी बोले जाते हैं। यदु, मधु और वृष्णि—ये इस कुलमें तीनों परम कीर्तिमान हुए हैं। इसीसे इस वंशवाले यादव माधव तथा वार्ष्णेय बोले जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने महाराज यदु के जेष्ठ पुत्र सहस्रजित के वंश के मुख्य-मुख्य राजाओं के नाम बताये। अब मैं महाराज के द्वितीय पुत्र क्रोष्टा के वंश का वर्णन करूँगा। उसे आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

हैहय नृप तैं भये आठवा पीढी अर्जुन।
कार्तवीर्य अति बली सहस भुज, सिद्ध सर्वगुन॥
दत्तकृपा तैं सिद्धि सहस सुत सब सुख पाये।
परशुराम तैं सुतनि सङ्ग मरि स्वर्ग सिधाये॥
सहसनि महँ तैं पाँच सुत, बचे जयध्वज, मधु, वृषभ।
सूरसेन ऊर्जित नृपति, सुनहु जयध्वज कुल ऋषभ॥

———

महायोगी महाभोगी महाराज शशविन्दु

(८०४)

श्वाहिस्ततो रुशेकुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः ।
शशविन्दुर्महायोगी महाभोजो महानभूत् ॥१

(श्री० ९ स्क० २३ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

तालजङ्घ तिनि पुत्र भये तिनि के हू शत सुत ।
वीतिहोत्र ही बचे शेष लरि मरे शक्तियुत ॥
वीतिहोत्र के पुत्र भये मधु वृष्णि भये तिनि ।
माधव अरु वार्ष्णेय नाम तैं, पालहिं देशनि ॥
कोष्टा यदु के द्वितिय सुत, वृजिनवान् तिनिके तनय ।
वृजिनवान् के वंश कूँ, सुनहु विप्रगन है सदय ॥

कलिकाल रूपी दावानल ने योग, ज्ञान तथा सिद्धियों को भस्म सा कर दिया है। इसीलिये कलियुग मे योगी, ज्ञानी, सिद्ध तथा शक्तिमान पुरुष दिखाई नहीं देते। इसीलिये कलियुगी क्षुद्र बुद्धिवाले लोगों को योग की सिद्धियों पर सहसा विश्वास नहीं होता। अमुक ऋषि ने दश सहस्र वर्षों तक तप किया, अमुक राजर्षि ने पचासी हजार वर्षों तक राज्य किया, ये सब बातें

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यदु पुत्र क्रोष्टु के वृजिनवान् नामक पुत्र से श्वाहि का जन्म हुआ। श्वाहि के सुतरुशेकु हुए और रुशेकु के चित्ररथ। इन्हीं चित्ररथ से महायोगी, महाभोगी, महान ऐश्वर्यशाली महाराज शशविन्दु का जन्म हुआ।"

चंडूखाने की गप समझी जाती हैं। किन्तु ये बातें असत्य नहीं, अक्षर सत्य हैं। हम में श्रद्धा और विश्वास की कमी है। मनुष्य जो चाहे, सो कर सकता है। उसमें योग की अनन्त शक्तियाँ हैं। उसमें असम्भव के लिए स्थान नहीं, सभी कुछ सम्भव है। असम्भव यदि कुछ हो सकती है, तो यही बात है, कि अविश्वासी पण्डित मानी मूर्खों पर विश्वास करना। श्रद्धा के सम्मुख, विश्वास के आगे कुछ भी असम्भव नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में महाराज यदु के प्रथम पुत्र सहस्रजित् के कुछ वंशों का वर्णन किया। अब आप उनके द्वितीय पुत्र महाराज क्रोष्टा के वंश को श्रवण करें। महाराज क्रोष्टा के पुत्र वृजिनवान् हुए। उनके पुत्र श्वाहि हुए, श्वाहि के रुशेकु, उनके चित्ररथ और महाराज चित्ररथ के परमयोगी, परम सामर्थ्यवान, विषयों को अव्याहित गति से भोगनेवाले, राजराजेश्वर, परम ऐश्वर्यशाली महाराज शशविन्दु हुए। आप उनके ऐश्वर्य और विषय भोगों की बात सुनें, तो आश्चर्य-चकित हो जायँ। पृथ्वी पर रहकर मनुष्य न इतना ऐश्वर्यशाली ही हो सकता है, और न इतने भोगों को ही भोग सकता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज शशविन्दु कितने ऐश्वर्यशाली थे? इनके ऐश्वर्य का कुछ वर्णन तो करें।"

सूतजी बोले—"महाराज! मैं क्या वर्णन करूँ! आप यही समझें कि पृथ्वी पर चौदह महारत्न माने गये हैं, अर्थात् हाथी, घोड़ा, रथ, स्त्री, बाण, कोष, माला, वस्त्र, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान—इनकी महारत्न संज्ञा है। ये सभी रत्न इनके यहाँ अगणित और असंख्य थे। हाथियों की गणना नहीं की जा सकती थी। इसी प्रकार हय तथा रथों की बात थी। इनके

पास सभा दिव्य वाण थे। इनके पास कितना सुवर्ण था, इसकी कोई थाह नहीं, गणना नहीं। इनकी मालाये देवताओं के समान दिव्य थीं, वे न कभी कुम्हलाती थीं, न सूखता थी। इनके पास दिव्य वस्त्र थे, जो कभी न मैले होते थे, न जीर्ण हो। शक्ति और पास भी इनके अलौकिक थ। मणि माणिक्यों से तो कोठे भर रहते थे। इनका छत्र दिव्य था जो सब ऋतुओं मे अनुकूल हो जाता था। इनके पास असख्य विमान थे, जो आकाश मे मँडराते रहते थे। इन सभी महारत्नो मे स्त्री रत्न को सर्वश्रेष्ठ बताया है। दश सहस्र इनके रानियाँ थीं, जो एक-से एक रूप वती तथा सौंदर्य मे स्वर्गीय ललनाओं को भी तिरस्कृत करने वाली थीं।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—'सूतजी! यह तो बडे आश्चर्य की बात है। एक पुरुष दश सहस्र स्त्रियो का पति कैसे हो सकता है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—'महाराज! मैं बार-बार कह चुका हूँ। सृष्टि मे असभव कुछ नहीं। हमारी बुद्धि पर परदा पड गया है। हमने अपने अन्त करण को इतना सकुचित कर लिया है, कि हम अपनी सामर्थ्य के बाहर की बात सोच ही नहीं सकते। हम यह नहीं सोचते कि इस अनन्त ब्रह्माण्डवाले विश्व में हमारे एक ब्रह्माण्ड का उतना भी अस्तित्व नहीं, जितना अनन्त महासागर में एक बिन्दु का। जब इस चतुर्दशभुवनवाले ब्रह्माण्ड की यह दशा है, उसमे एक मनुष्य का अस्तित्व ही क्या। एक कथा है कि इस ब्रह्माड क ब्रह्माजी रूठ गये। उन्होंने कहा—"मैं सृष्टि न करूँगा। देखें ब्रह्माण्ड का काम कैसे चलता है।"

इतने मे ही देखा—बहुत से बडे बडे खच्चर लदे हुए चले जा रहे हैं। रूठे हुए ब्रह्माजी ने समीप ही बैठे हुए एक वृद्ध मुनि से

पूछा—"मुनिवर! ये इतने खच्चर कहाँ जा रहे हैं? इन पर क्या लदा है?"

मुनिने कहा—"हे ब्रह्माजी! ये खच्चर सम्पूर्ण विश्वमे चक्कर लगाते फिरते हैं। जैसा यह ब्रह्माण्ड है, वैसे असख्यो ब्रह्माण्ड हैं। उन सभी ब्रह्माण्डो मे प्रथक् पृथक् ब्रह्मा हैं। किसी के चार मुख हैं, किसी के दश, किसी के सौ, तथा किसी के सहस्र। वे सभी ब्रह्मा इन खच्चरों पर लदे हैं। जिस ब्रह्माण्ड का ब्रह्मा रूठ जाता है, वहाँ इनमे से निकाल कर बिठा दिया जाता है।"

अब तक ब्रह्माजी अपने को ही ब्रह्मा माने बैठे थे। जब उन्होंने असख्यो ब्रह्माओ की बातें सुनी, तब उनका मोह दूर हुआ और वे फिर सृष्टि के कार्य मे लग गये।

वास्तविक बात यही है। गूलर के भीतर का भुनगा समझता है कि ससार इतना ही बडा है। जब वह किसी प्रकार भगवदिच्छा से गूलर से बाहर निकलता है, तो उसे आश्चर्य होता है जितने को मैं विश्व ब्रह्माण्ड समझे बैठा था, ऐसे गूलर तो इस पेड मे असख्य लगे हैं और पृथ्वी पर ऐसे असख्यों वृक्ष हैं। इस सृष्टि का कोई वारापार नहीं। योग की शक्ति की कोई सीमा नहीं। महामुनि सौभरि ऋषि ने योगप्रभाव से ही पचास स्त्रियो से विवाह किया और पचास रूप रखकर प्रथक् प्रथक् सभी के महलों मे सदा बने रहते थे। इसी प्रकार महाराज शशबिन्दु दश सहस्र रूप रखकर दश सहस्र रानियों को सन्तुष्ट रखते थे।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"अच्छा, तो सूतजी! उन उन महायोगी राजर्षि के पुत्र कितने हुए?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! पुत्रों का कुछ न पूछिये। आप सुनकर हँसेंगे और इसे भी असंभव बतायेंगे। आप क्या बतायेंगे, कलियुगी जीवों की ओर से कहेंगे, किन्तु भगवन्! मैं

फिर कहता हूँ, योग के आगे कुछ असम्भव नहीं। योग-प्रभाव से ही विश्वामित्र जी ने नई सृष्टि रच दी। महाराज शशविन्दुकी दशसहस्र रानियों में से प्रत्येक के एक-एक लाख पुत्र हुए अर्थात् महाराज के सब दश करोड सुत हुए।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"अब सूतजी! आपके सम्मुख 'हाँ, तो कहनी ही पड़ेगी, किन्तु यह बात मानवीय बुद्धि मे बैठनी असंभव है। एक आदमी के दश करोड़ पुत्र! मान लो, योग प्रभाव से किसी प्रकार अण्डे-बच्चो की भाँति हो भी जायँ, तो वे सब रहेंगे कहाँ! इतना भारी विशाल हमारा यह भारत देश है। इसमे सब स्त्री-बच्चे, बड़े-बूढ़े मिलाकर चालीस करोड़ हैं। फिर भी हम समझते हैं, जनसंख्या बहुत बढ़ गई है। गत अर्ध शताब्दी मे दुगुनी हो गई है। जब इतने बड़े देश मे ये लोग नहीं समाते, तो एक आदमी के दश करोड़ बेटे कहाँ रहते होंगे?"

सूतजी बोले—"भगवन्! ये सब जडवादियों के विचार हैं, जिनके मत में पञ्चभूतों के संघात से ही स्वतः सृष्टि होने लगती है, जो सृष्टि में चैतन्य की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, जो पृथ्वी को, गंगा आदि पवित्र सरिताओ को जड़ समझते हैं। किन्तु, जो पृथ्वी को माता मानते हैं, चैतन्य देवी समझकर उनकी उपासना करते हैं, उनके लिये स्थान की कमी नहीं होती, उनके लिये पृथ्वी चाहे जितनी बड़ी हो सकती है, चाहे जितनी छोटी। जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसा ही फल मिलता है। आँख पर जिस रङ्ग का काँच रख लो, उसी रङ्ग की सब वस्तुएँ दिखाई देती हैं। जो रात्रि दिन यही हिसाब लगाते रहते हैं, कि कितने बीघे जमीन है, इसमे कितना अन्न होता है, कितने लोग बस सकते है, उनको वैसा ही फल मिलता है।

योग के प्रभाव से महाराज शशविन्दु जितना चाहते थे, पृथ्वी को बढ़ा सकते थे, जितना चाहते थे संकुचित कर सकते थे।"

शौनकजी ने कहा—"जब श्रद्धा के ही ऊपर बात है, तब सूतजी! आपकी बात माननी ही पड़ेगी, किन्तु राजा तो योगी थे। वे दश करोड़ तो योगी नहीं थे। उनके वंशज कहाँ रहे?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! उन सब का वंश नहीं चला। कोई युद्ध मे मर गये, कोई स्वतः ही लड़ मरे। जैसा भगवान् के पुत्र-पौत्र प्रभास मे परस्पर लड़ मरे थे। उन दश करोड़ो में छ ही प्रधान थे, जिनका वंश आगे चला।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अब आप हमे उसी का वंश सुनाइये, जिसमे भगवान् वासुदेव का जन्म हुआ हो।"

सूतजी बोले—"महाराज! वही तो मैं सुना रहा हूँ। भगवान् को यदुनन्दन, यादव, यादवेन्द्र, यदु-वंश विभूषण, यादवनाथ कहते हैं। उन्हे माधव, वृष्णि वंशावतंस, वार्ष्णेय तथा वृष्णि कुल-कमल भी कहते हैं। अतः अत्यंत संक्षेप मे मैं इनके कुलवालो के नाम कहूँगा। हाँ तो अब महाराज शशविन्दु के जेष्ठ पुत्र पृथुश्रवा के वंश का वर्णन मैं करता हूँ। पृथुश्रवा के पुत्र धर्म हुए, धर्म के पुत्र उसना हुए, जिन्होने सौ अश्वमेध यज्ञ किये। उशना के पुत्र रुचक और रुचक के पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु और ज्यामघ ये पाँच पुत्र हुए। इनमे सबसे छोटे ज्यामघ अपनी स्त्री के जमूड़ा थे।"

शौनकजी बोले—"जमूड़ा क्या होता है सूतजी?"

सूतजी हँसकर बोले—"महाराज! मैं पीछे ही बता चुका हूँ। सम्भव है, आप भूल गये। जो खेल करने वाले जादूगर होते हैं, वे एक लड़का रखते हैं, उससे अपनी इच्छा के अनुसार उसे वश

में करके, जो चाहें कहला लेते हैं। उसी प्रकार वे अपनी स्त्री के वश में थे। स्त्री कहती—"उठ, तो उठते, वह कहती 'बैठ' तो वे बैठते। सारांश स्त्री के संकेत पर वे नाचने वाले थे। अब उन्हीं का चरित सुनिये।"

छप्पय

चौथी पीढ़ी माँहि भये शशाविन्दु योगिवर।
भोग, योग, ऐश्वर्य बसहिं जिन महँ गुन सुखकर॥
दश सहस्र तिनि नारि कोटि दश सुत उपजाये।
जिनको वैभव देखि स्वर्गपति इन्द्र लजाये॥
पृथुश्रवा तिनके तनय, 'धर्म' पुत्र तिन श्रेष्ठतर।
उशना, उशना के तनय, रुचक पद्म तिनि सुत सुघर॥

शैव्यापति ज्यामघ

(८०५)

पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः ।
ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्यां शैव्यापतिर्भयात् ॥
(श्रीभा० ९ स्क० २३ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

पुरुजित, पृथु, रुक्मेषु, रुक्म ज्यामघहु रुचकके ।
ज्यामघ छोटे नृपति न सन्तति काई तिनके ॥
शैव्या नृप की नारि भूप निज वश करि लीन्हों ।
सन्तति इच्छा रही ब्याह करि और न कीन्हों ॥
सीमावर्ती भूप की, कन्या हरि लाये नृपति ।
रथासीन युवती लखी, बोली शैव्या कुपित अति ॥

पति-पत्नी इस गृहस्थी-रूपरथके दो पहिये हैं। दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सुन्दर हों,तब तो गृहस्थाका रथ झनझनाता हुआ आनन्द-पूर्वक चलता है, किन्तु जब दोनोंही अपने-अपने कर्तव्य को भूलकर विपरीत आचरण करते हैं, तब रथ रुक जाता है। चलता भी है, तो अत्यन्त कष्ट से। पत्नी घर की स्वामिनी है, पति बाहर का। पत्नी का कार्य-क्षेत्र छोटा, किन्तु महत्त्वपूर्ण है। पति का

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज रुचक के पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु और ज्यामघ—ये पाँच पुत्र थे। ज्यामघकी स्त्री का नाम शैव्या था। यद्यपि वे सन्तान हीन थे, फिर भी स्त्री के भय से उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया।"

क्षेत्र विस्तृत है, किन्तु उसमें राग, द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, चिन्ता, आदि हैं। स्त्री गृह की स्वामिनी है, इसलिये उसे गृहिणी कहा गया है। पुरुष को पतन से बचाती है, इसलिये उसकी पत्नी संज्ञा है। पुरुष के सभी कामों मे हाथ बँटाने से उसे अर्धाङ्गिनी कहा है। पत्नी का तथा उससे उत्पन्न सन्तति का पुरुष पालन करता है, इसलिये उसकी पति संज्ञा है, भरण-पोषण करने से उसे भर्ता भी कहते हैं। सत्पत्नी प्रेमपूर्वक व्यवहार करके पति को अपने वश मे कर लेती है। पति पत्नी के प्रेम-पाश मे बँधकर उसके विरुद्ध आचरण नहीं करता। प्रेम के बन्धन मे बड़ा सुख होता है। जो पत्नी प्रेम से नहीं, अभिमान में भरकर पति पर शासन करती है, उसे अपना क्रीड़ा मृग बनाये रहती है, अपनी इच्छानुसार नचाती है और वह पुरुष भी ऐसा नपुन्सक है, कि स्त्री के सामने भीगी बिल्ली बना रहता है, उसके क्रोध को देखकर थर-थर काँपता रहता है, अपने पुरुषत्व के अधिकार को एकदम खो बैठता है, तो उन दोनो का ही पतन होता है। ऐसे पुरुष का नाम है स्त्रीजित्। शास्त्रकारों ने स्त्रीजित् पुरुष को ज्ञान आदि देने का अनधिकारी बताया है। ऐसे पुरुष से संभाषण करना भी उचित नहीं। ऐसी स्त्री के लिये तो कहना ही क्या, वह अपना इहलोक और परलोक—दोनों बिगाड़ रही है। जिस स्त्री का पति प्रेम से नहीं—भय से स्त्री को देखकर थर-थर कांपने लगे, जो स्त्री सदा नौकर और दासो की भाँति उच्चासन पर बैठकर पति को उचित अनुचित आज्ञा देती रहे, उसके सर्वप्रथम तो सन्तान ही न होगी, यदि होगी भी, तो लड़कियाँ होंगी। यदि कदाचित् पुत्र हुआ भी, तो वह पागल,मूर्ख,व्यभिचारी या नपुन्सक होगा। सारांश यह है, कि स्त्रीजित् पुरुष संतति-सुख नहीं भोग सकता। उसका जीवन सर्वदा भय-ग्रस्त बना रहता है।

स्त्रियाँ इस लोक में भी दुःखी रहती हैं और मरकर भी नरकों में जाती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं महाराज रुचक के छोटे पुत्र ज्यामघ का चरित कहता हूँ, जो अपनी बहू के जमूड़ा थे। राजा ज्यामघ की रानी का नाम शैब्या था। वह बड़ी तेज तर्राक थी। पति को वह अपने सम्मुख कुछ समझती ही नहीं थी जैसे मालिक नौकर-चाकरों से बर्ताव करते हैं, वैसे ही वह राजा से बर्ताव करती थी। राजा खड़े हैं, वह पीढ़े पर बैठी है, वहीं से आज्ञा दे रही है। क्योंजी! तुमने यह काम नहीं किया?"

राजा भी भोंदू ही था। वह भी डरकर कहता—"महारानी साहब, अपराध हो गया।"

वह और रोष प्रकट करती हुई कहती—"बस, तुमने तो ये ही दो शब्द पढ़े हैं, "अपराध हो गया, अपराध हो गया" अपराध क्यों हो गया? तुम अन्न नहीं खाते। जिस काम को भी बताती हूँ, उसी को टाल-मटोल कर देते हो। अमुक मंत्री को निकाल दो, अमुक को अपने यहाँ रख लो।"

मारे डर के राजा की तो धोती खराब हो जाती। वह जो कहती, उसे बिना ननु नच के वे करते। ऐसी स्त्री से सन्तान की क्या आशा हो सकती है। इसीलिये उसके कोई सन्तान नहीं थी। राजा बहुत चाहते थे, कि मेरी इस रानी से तो पुत्र हो। उन्होंने इस कामना से कितने जप, तप, यज्ञ अनुष्ठान कराये। सन्तान की कामना से पितृगण तथा विश्वेदेवों की आराधना भी की, किन्तु सब व्यर्थ हुआ। जैसे बालू से तेल निकलना सम्भव नहीं है, वैसे ही वन्ध्या-स्त्री से सन्तान उत्पन्न होना भी संभव नहीं। "राजा सोचते, यदि मैं दूसरा विवाह कर लूँ, तो संभव है, मेरे सन्तान हो जाय। किन्तु, दूसरा विवाह करूँ कैसे? यह

तो फिर मुझे घर में भी न रहने देगी। मेरा मुँह काला करके मुझे घर से निकाल देगी।" इन्हीं सब बातों को सोचकर उनका शैव्या के सम्मुख ऐसा प्रस्ताव करने का साहस ही न होता था। शैव्या कब चाहने लगी कि कोई सौत उसकी छाती पर मूँग दलने के लिये आ जाय। इसलिये वह सदा सतर्क रहती। राजा को आने में तनिक भी देर होती, तो वह देर से आने का विवरण पूछती। इस बात की बडी सावधानी रखती, कि राजा किसी दूसरी युवती की ओर न देख सकें, न बातें ही कर सकें। राजा के मनमें तो दूसरा विवाह करने की इच्छा थी। किन्तु, रानी की इच्छा के बिना तो वे पानी भी नहीं पी सकते थे। अतः उनके मन की बात मन मे ही पच गई।

राजा के समीपवर्ती एक दूसरे भोज नामक राजा थे। किसी कारणवश राजा से उनकी शत्रुता हो गयी। राजा ने उनके राज्य पर चढाई कर दी। राजा बडे बली थे। इनकी सैनिक शक्ति भी सुसंगठित थी। राजा ने अपने निकटवर्ती प्रतिस्पर्द्धी राजा को परास्त किया। फिर राजा जब पराजित शत्रु के भवन मे रत्न लेने गये, तब उन्होंने वहाँ एक अत्यन्त सुन्दरी युवती राजकुमारी को देखा। वह महाराज की अत्यन्त ही प्यारी सुकुमारी पुत्री थी। वह विवाह योग्य थी। राजा उसके ऐसे अलौकिक रूपलावण्य को देखकर मुग्ध हो गये और उस कन्या रत्न को अपने रथ पर बिठाकर नगर मे विजय के बाजे बजाते हुए आये।

रानी शैव्या ने जब सुना, मेरे पति शत्रु पर विजय करके आये हैं, तो वह भी द्वार पर सखियो के साथ आयी। राजा के साथ रथ पर एक अत्यन्त सुन्दरी नूतन अवस्थावाली सुकुमारी राजकुमारी को देखकर, वह तो मारे क्रोध के, आग बबूला हो गयी। राजा का स्वागत सत्कार करना तो भूल ही गयी। उन्हे

हुई, क्रोध के स्वर मे बोली—"अरे, कपटी ! जो मेरे योग्य स्थान है, वहाँ पर तूने किसे बिठा रखा है ? मेरी छाती पर मूँग दलने के तू यह मेरी सौत कहाँ से ले आया है ?"

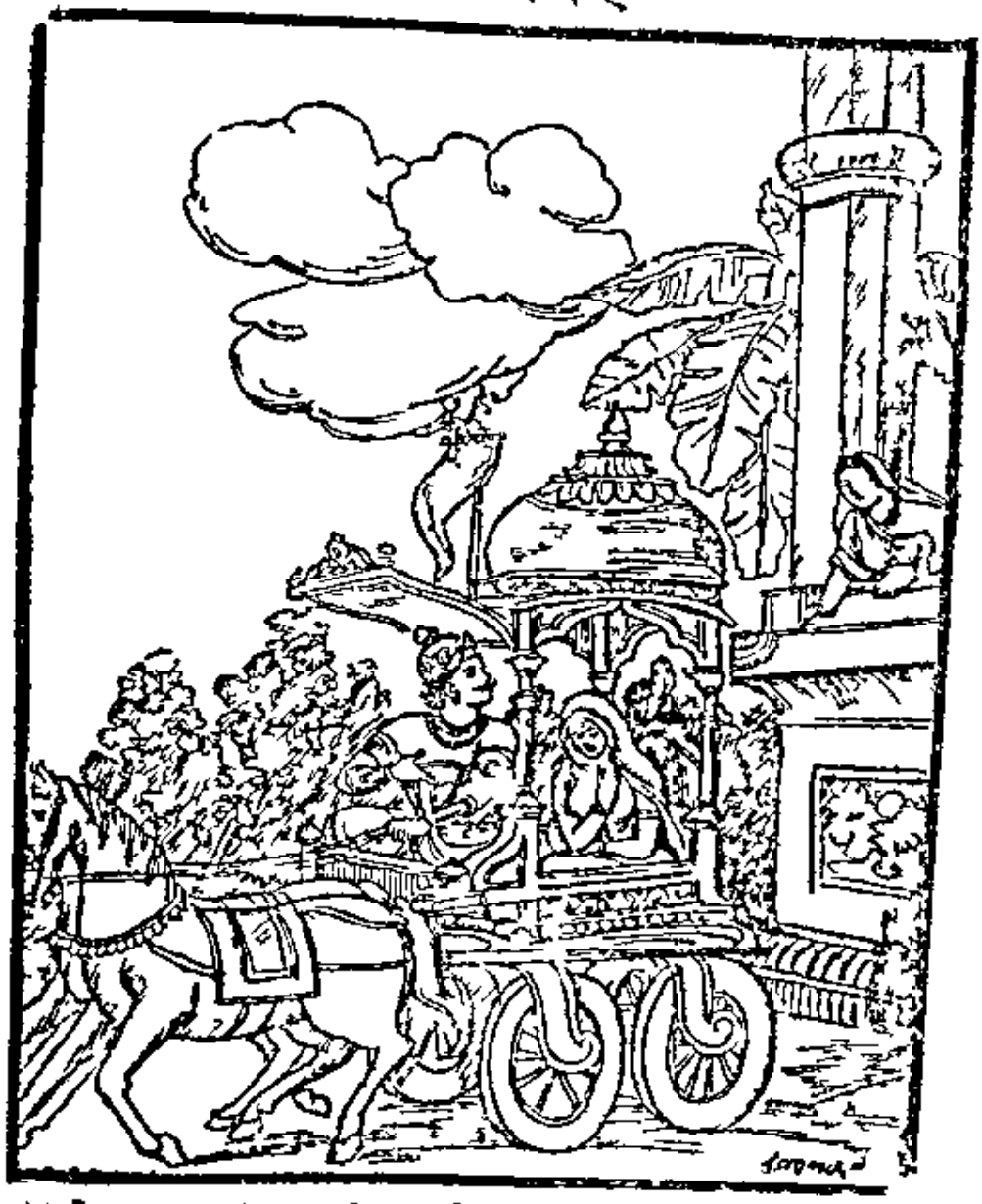

कहाँ तो राजा विजय के हर्ष मे फूले नही समा रहे थे, वे अपनी रानी से प्रशसा सुनने को उत्सुक थे, कहाँ छूटते ही गालियों से स्वागत होते देख उनकी सिट्टी गुम हो गयी। कहाँ सैकड़ों सैनिकों के मुण्ड उडाकर आये थे, कहाँ वे ही राजा एक कारे मुण्डवाली को देखकर थर-थर काँपने लगे। वह एकदम

रथ के आगे खड़ी छाती पर ही चढ़ना चाहती था, मारे डर के राजा के मुँह से सहसा निकल पड़ा—"रानीजी! यह तुम्हारा सौत नहीं पुत्रवधू है।"

यह सुनकर रानी को और भी क्रोध आ गया। बोला—"तुम सा निर्लज्ज और झूठा पुरुष मैंने तो कोई देखा नहीं। मेरे पुत्र होता, तो मेरी पुत्र वधू होती, मैं तो जन्म का वन्ध्या हूँ। यह भी होता है कि राजाओं के बहुत-सा पत्नियाँ होती है। एक पत्नी का जो पुत्र होता है, उसकी वहू सब का ही पुत्र वधू कही जाता है। सो, मेरे कोई दूसरा सोत भी नहीं। फिर यह मेरी पुत्र वधू कैसे हो सकता है?"

राजा और भी घबरा गये, किन्तु देवताओं ने बात सम्भाल ली। शारदा उनकी जिह्वा पर पैठ गई। लड़खड़ाती वाणी में बोले—"महारानीजी! आप के जो पुत्र होगा, उसी की यह पत्नी होगी।"

मानो राजा की बात का देवताओं और पितरों ने भी अनुमोदन किया। रानी का क्रोध उतर गया। उस लड़की को बड़े यत्न से एक पृथक महल में रखा। उस पर रानी ने कड़ा पहरा लगा दिया, कि और की बात तो पृथक है, राजा भी इसके भीतर न जाने पावे। बेचारी वह लड़की भोज्या बिना अपराध के ही बन्दिनी बन गई। उसे कारावास की भाँति भीतर ही अपने दिन बिताने पड़े।

भाग्य का पता नहीं चलता, जाने कब अस्त हो जाय, कब उदय! हम जिस बात को सम्भव समझते है, वह असम्भव हो जाती है, जिसे सर्वथा असम्भव समझते हैं, वही सम्भव। कुछ ही दिनों के पश्चात् जिस शैव्या को सभी जन्म की वन्ध्या कहते थे, जिससे सन्तान की आशा सर्वथा छोड़ रखी थी, वही गर्भवती

हो गयी। सम्पूर्ण राज्य मे आनन्द छा गया। दशवें महीने उसने एक पुत्र रत्नको प्रसव किया। उसका नाम विदर्भ रखा। आगे चल के य हा विदर्भ बडे प्रभावशाली हुए। इन्होंने (बरार) राज्य की स्थापना की।

हाँ, तो शैव्या अब वन्ध्या नहीं रही। उससे पुत्र हो गया। सबका भाग्य पृथक् पृथक् होता है, भाग्यशाली का भाग्य उससे आगे आगे चलता है। शैव्या के भाग्य मे तो पुत्र का मुख देखना नहीं था, किन्तु राजकुमारी भोज्या के भाग्य से उसके पुत्र हो गया। अब भोज्या को आशा हुई—"मुझे जीवन भर कौमार व्रत धारण न करना पडेगा। मेरा पति आज उत्पन्न हुआ है, १६ वर्ष के पश्चात् विवाह योग्य भी हो जायगा।" सभी प्राणी आशा के ही सहारे जी रहे हैं। यदि आशा न हो, तो प्राणी इतने कष्ट मे भी प्राणो को क्यो धारण किये रहता"

शनैः शनैः शैव्या का सुत विदर्भ बढने लगा। भोज्या की आशा लता लहलहाने लगी। एक एक दिन करके सोलह वर्ष व्यतीत हो गये। जब कुमार विवाह योग्य हुआ, तो उसके लिये वहू खोजनी न पडी। वह तो पति के जन्म के पहले ही आकर घडियाँ गिन रही थी। दूसरा कोई स्वाधीन राजा होता, तो दुगुनी अवस्था की वहू के साथ अपने कुमार का विवाह क्यों होने देता, किन्तु जहाँ एकमात्र स्त्रियों का ही आधिपत्य है, पुरुषों की जहाँ बात पूछी नहीं जाती, वहाँ तो सभी बातें मनमानी ही होती है। शैव्या ने अपने पुत्र का विवाह उसी भोज्या के साथ कर दिया। भोज्या ३२ वर्ष की और विदर्भ अभी १६ वर्ष के। किन्तु, विवाह हो ही गया। महाराज विदर्भ ने भोज्या के गर्भ से तीन पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम कुश, क्रथ और रोमपाद थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं इन के वंश को

संक्षेप में कहकर वृष्णि-वंशीय और राजाओं का भी चरित कहूंगा।"

छप्पय

बुहक! कहाँ तैं सौति पकरि रथ पै बैठाई।
डरिकें बोले भूप - पतोहू रानी! आई॥
बोली रानी-बन्ध्या हौं क्यों बात बनाओ।
कैसे मेरी होहि पतोहू मर्म बताओ॥
बोले नृप-भावी तनय, बने बधू वर सुर दियो।
गर्भवती शैब्या भई, सुत विदर्भ पैदा कियो॥

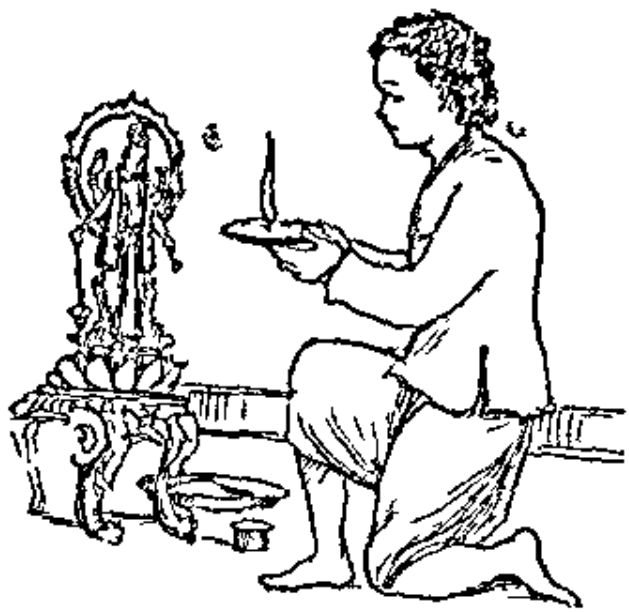

वृष्णिवंशीय वीर

(८०६)

वृष्णोः सुमित्रः पुत्रोऽभूद्युधाजिच्चपरंतप ।
शिनिस्तस्यानमित्रश्च निम्नोऽभूदनमित्रतः १॥

(श्रीभा० ९ स्क० २४ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

कुश, क्रथ, नृपवर रोमपाद तीनों विदर्भ सुत ।
क्रथ की पीढी बीस माँहि प्रकटे नृप सात्वत ॥
सात्वत के भजमान, दिव्य,भजि, वृष्णि हु अंधक ।
देवावृध अरु महाभोज सातों सुत धार्मिक ॥
षष्ठ पुत्र भजमान के, देवावृध के बभ्रु सुत ।
पिता पुत्र दोऊ परम, ज्ञानी, तारक योग युत ॥

पार जाने वाले दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे हैं, जो स्वयं एकाकी ही तर जाते हैं, दूसरे वे होते हैं, जो स्वय तो तरते ही हैं, साथ मे बहुतों को लेकर तरते है। जैसे सर्प, सिंह स्वय अपने बाहुबल से नदी पार हो जाते हैं, किन्तु नौका वाला मल्लाह स्वयं तो नौका-सहित उस पार हो ही जाता है, साथ में बहुत से ऐसे लोगों को भी पार ले जाता है, जो तैरना जानते ही नहीं। सृष्टि में दोनो की ही आवश्यकता है, दोनों ही श्रेष्ठ हैं। अभिमान मे

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं— राजन्! वृष्णि के पुत्र सुमित्र और युधाजित् दो हुए, उनमें युधाजित् से भी शिनि और अनमित्र दो पुत्र हुए। अनमित्र के पुत्र निम्न हुए।"

भर कर किसी की निन्दा न करनी चाहिये। कोई भक्त कुछ रुपये लेकर एक विरक्त महात्मा के पास गया और बोला—"महाराज! ये रुपये हैं, किसी धर्म कार्य मे लगा दीजिये।" महात्मा ने कहा—"भाई, हम तुम्हारे नौकर तो हैं ही नहीं, जो तुम्हारी बेगार करें। हमे क्या प्रयोजन कि बैठे ठाले व्यर्थ का संकल्प-विकल्प करें। इन रुपयों को अभी उठा ले जाओ।"

भक्त कुछ परीक्षक विचार के थे, वे महात्माओं की परीक्षा किया करते थे। अतः उन रुपयों को लेकर वे एक दूसरे सन्त के पास गये। उनके पास और भी महात्मा थे, आगत पुरुषों का स्वागत-सत्कार भी करते थे, दुखी लोगों के दुखों की ओर भी यथाशक्ति ध्यान देते थे। अबके वे भक्त उन्हीं के समीप आये और बोले—"महाराज! इन रुपयों को किसी काम मे लगा दें।" महात्मा ने पूछा—"कितने रुपये हैं?" उसने बताया—"पाँच हजार हैं।" महात्मा बोले—"चार हजार का विद्यार्थियों को एक भवन बनवा दो, एक सहस्र का अन्न लेकर इनके लिये रखवा दो।" अब क्या करते, भक्तजी ने वे रुपये लगा दिये और बोले—"महाराज! मैं उन सन्त के पास गया था। वे तो रुपयों को देखते ही बिगड़ उठे। उन्होंने बहुत-सी खरी-खोटी बातें मुझे सुनाईं महाराज! हमें तो वे महात्मा जँचे नहीं। उनकी प्रशंसा लोग व्यर्थ करते हैं।"

महात्मा बोले—"नहीं, भैया! ऐसा मत कहो। हमें शक्ति ऐसे ही त्यागी महात्माओं से मिलती है, वे त्याग का आदर्श उपस्थित करते हैं।"

फिर वे भक्त उन विरक्त महात्मा के पास जाकर बोले—"भगवन्! आपने तो उन रुपयों को तुच्छ समझकर ठुकरा दिया,

किन्तु उन महात्मा ने तो जातेहा उन सबको ले लिया। वे महात्मा हमारी समझ में आये नहीं।"

यह सुनकर वे महात्मा हँस पड़े और बोले—"भाई! देखो, तुमको उनकी निन्दा न करनी चाहिये। हम तो सर्प की भाँति हैं, अकेले रहते हैं, अकेले पार हो सकते है। वे महात्मा तरन-तारन हैं। स्वयं तो वे तरते ही हैं, असंख्यों को तार कर तरते हैं। भगवान् ने उन्हे इन्ही कार्यों के लिये भेजा है। वे हमसे भी श्रेष्ठ हैं।"

इस प्रसङ्ग के कहने का भाव यही है, कि जो इस असार संसार से स्वयं ही साधनो द्वारा तर जाय, वह सर्वश्रेष्ठ पुरुष है, उसने मानव जीवन को सार्थक बना लिया। किन्तु, उससे भी वे श्रेष्ठ हैं, जो बहुत से पुरुषों को साथ लेकर संसार से पार हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने शैव्यापति महाराज ज्यामघ की कथा आपको सुनाई। उनके पुत्र विदर्भ हुए। विदर्भ के कुश, क्रथ और रोमपाद तीन पुत्र हुए। रोमपाद के वंश में क्रमशः इतने राजा हुए—रोमपाद, बभ्रु, कृति, उशिक और चेदि। चेदि से ही चैद्यादि नृपतिगण हुए। उनका बहुत विस्तार हुआ।

विदर्भनन्दन क्रथ के वंश मे क्रमशः इतने राजा हुए—क्रथ, कुन्ती, धृष्टि, निवृति, दशार्ह, व्योम, जीमूत, विकृति, भीमरथ, नवरथ, दशरथ, शकुनि, करम्भि, देवरात, देवक्षत्र, मधु, कुरुवंश, अनु, पुरुहोत्र, आयु और आयु के पुत्र सात्वत हुए। ये सात्वत बड़े धर्मात्मा यशस्वी और प्रभावशाली हुए। इनके ही कारण यह वंश सात्वत वंश कहलाया। श्रीकृष्ण भगवान् का नाम सात्वतां-पति है। इनके ही सम्बन्ध से प्रसिद्ध हैं।

महाराज सात्वत के सात पुत्र हुए, जिनके नाम भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक, और महाभोज थे। सबसे

बड़े भजमान के दो रानियाँ थीं, उनके तीन तीन पुत्र हुए, जिनके नाम निम्लोचि, किङ्किण, धृष्टि शताजित्, सहस्रजित् और अयुताजित् थे।

सात्वत सुत देवावृध तरनतारन थे। इनके पुत्र बभ्रु भी पिता के ही समान महायोगी, परमज्ञानी तथा आचार्य कोटि के हुए। इन दोनों पिता पुत्रों के सम्बन्ध में एक पौराणिकी सूक्ति प्रसिद्ध है। बहुत से लोग ऐसे होते हैं, कि कहते तो बहुत हैं, करते कुछ भी नहीं। पहाड़ दूर से तो देखने में सुहावना लगता है, किन्तु उसके समीप जाओ, तो झाड़झङ्कार, ईंट पत्थर ही दिखाई देंगे। दूर से बजते हुए ढोलों को सुनें, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे कितने गम्भीर होंगे, किन्तु उनके समीप जाकर उनकी भीतरी दशा देखो, तो मालूम होगा कि पोल ही पोल है। इसी प्रकार बहुत से लोगों को दूर से तो बहुत प्रशंसा सुनते हैं, समीप जाने पर उनका निजी जीवन उतना उन्नत दिखाई नहीं देता। बड़े बड़े लेखकों की कृतियों को पढ़कर हम अनुभव करते हैं, वे कोई उच्च कोटि के महापुरुष होंगे। जब उनके समीप जाते हैं, तो प्रतीत होता है कि जो वे लिखते हैं, उसे अपने जीवन में परिणित नहीं कर सकते। उन्हें समझना चाहिये वे एक निर्जीव यन्त्र हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि वे जो कहते हैं, उसे करते भी हैं। जो उनके भीतर है, वही बाहर है, जैसे वे दूर से सुन पड़ते हैं, वैसे ही समीप आने पर दिखाई भी देते हैं। वे ही महापुरुष हैं, वे ही पूजनीय, वन्दनीय तथा आदरणीय हैं। देवावृध और बभ्रु—ये दोनों पिता पुत्र ऐसे ही महापुरुष थे। तभी तो इनके विषय में यह पौराणिकी-सूक्ति प्रसिद्ध थी कि हमने 'जैसा दूर से सुना था, वैसा ही समीप आकर देखा भी। बभ्रु पुरुषों में उत्तम हैं और उनके पिता देवावृध तो देवताओं के ही समान हैं।"

इन दोनों पिता पुत्रों के उपदेश पाकर चौदह सहस्र पैंसठ पुरुष परमपद को प्राप्त हुए। उन्होंने अमृतत्व लाभ किया। इस प्रकार सात्वत पुत्र देवावृध अपने वंश-सुत द्वारा ही अजर-अमर हो गये।

महाराज सात्वत के सुतों में से एक महाभोज भी थे, जिनसे भोजवंशी यादव उत्पन्न हुए। अब सात्वत पुत्र वृष्णि के वंश को सुनिये।

वृष्णि के पुत्र सुमित्र और युधाजित् हुए। इनमें से युधाजित् के दो पुत्र शिनि और अनमित्र हुए। अनमित्र के पुत्र निम्न हुए। निम्न के भी दो पुत्र थे—सत्राजित् और प्रसेन। सत्राजित् की पुत्री सत्यभामा का विवाह श्रीकृष्णचन्द्र के साथ हुआ। ये सब बातें स्यमंतकमणि की कथा के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण-चरितमें आवेगी। युधाजित् पुत्र अनमित्र के एक और सुत शिनि नामक था। उनके पुत्र सत्यक हुए। सत्यक के युयुधान और सात्यकि थे। सात्यकि के जय, उनके कुणि तथा कुणि के पुत्र युगन्धर हुए। अनमित्र के तीसरे पुत्र वृष्णि थे। उनके पुत्र श्वफल्क और चित्ररथ थे। श्वफल्क बड़े धर्मात्मा थे। महाराज काशिराज के राज्य में वर्षा नहीं होती थी। जब उन्होंने धर्मात्मा श्वफल्क को बुलाकर अपनी पुत्री गान्दिनी का विवाह उनके साथ कर दिया, तब इन्द्र ने वर्षा की। गान्दिनी के गर्भ से अक्रूर, आसङ्ग, सारमेय, मृदुर मृदुविद, गिरि, धर्मवृद्ध, सुधर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमाद और प्रतिबाहु—ये तरह पुत्र हुए, जिनमें अक्रूरजी परम भगवत्भक्त हुए। श्रीकृष्णचरित में इनकी भक्ति का प्रसङ्ग आवेगा ही। अक्रूरजी को एक सुचीरा नाम्नी भगिनी थी, और देववान और उपदेव दो पुत्र थे। और भी सभी भाइयों के बहुत से पुत्र पौत्र थे। उनके वंश का कहाँ तक वर्णन करें।

इनके चाचा चित्ररथ के भी पृथु, विदूरथ, आदि कई पुत्र थे। फिर उनके भी बहुत से पुत्र पौत्र हुए। यादवों के वंश की गणना कर ही कौन सकता है ?

हाँ, तो साधु सावधान ! पिछली कथा स्मरण करो। मैं महाराज सात्वत के सातों सुतों का वंश बता रहा था। उनमें से एक पुत्र अन्धक थे। उनके कुकुर, यजमान, शुचि और कम्बलबर्हि नामक चार पुत्र हुए। ये अन्धकवंशी कहलाये। इनमे सबसे बड़े कुकुर थे। इनके वंश मे क्रमशः इतने राजा हुए—कुकुर, वह्नि, विलोमा, कपोत-रोमा, तुम्बुरुसखा अनु, द्वितीय अन्धक, दुन्दुभि, अरिद्योत और पुनर्वसु। महाराज पुनर्वसु के आहुक नामक एक पुत्र तथा आहुकी नाम की पुत्री हुई। आहुक के पुत्र देवक और उग्रसेन हुए। महाराज देवक के देववान् उपदेव, सुदेव और देववर्द्धन ये चार पुत्र हुए।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महाराज देवक के कोई पुत्री भी हुई ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! पुत्री के पीछे ही तो इतनी वंशावली कहनी पड़ी। महाभाग देवक की ही पुत्री देवकी हुई, जिसको आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की जननी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। देवकीजी के अतिरिक्त भी महाराज ! देवकी की धृतदेवा, शान्ति देवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता और सहदेवा ये छ बहनें थीं। इन सातो का विवाह महाराज वसुदेव के साथ हुआ।

महाराज उग्रसेन का विवाह विदर्भ देश के महाराज सत्यकेतु की पुत्री पद्मावती के साथ हुआ। उसके गर्भ से कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरभू और राष्ट्रपालिका—ये पाँच पुत्रियाँ थीं, जिनका विवाह वसुदेवजी के छोटे भाइयों के साथ हुआ।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! उग्रसेन के पुत्र भी थे ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! आप सब जानते हैं। ऐसे भोले भाले बनकर प्रश्न करते हैं, मानों कुछ जानते ही नहीं। इन्हीं महाराज उग्रसेन के तो कालनेमि नामक असुर कंस रूप में उत्पन्न हुआ। जिसने यादवों से वैर ठाना, जिसको निमित्त बना कर भगवान् ने अवतार लिया। इस दुष्ट ने यदुवंशियों को बहुत क्लेश दिया। ऐसे क्रूर असुर-पुत्र के कारण महाराज बड़े दुखी रहते थे। कंस जानता था, मैं कालनेमि नामक असुर हूँ, मुझे भगवान् विष्णु ने पूर्वजन्म में मारा था। इसीलिये वह यदुवंशियों और अपने पिता उग्रसेन से द्वेष करता था। वह सबको पीड़ा देता था। इसके अतिरिक्त भी महाराज उग्रसेन के सुनामा, न्यग्रोध, कंकु, शंकु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टि और तुष्टमान्—ये आठ पुत्र और थे।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महाराज उग्रसेन तो बड़े धर्मात्मा थे। उनके यहाँ ऐसे क्रूर स्वभाव वाला असुर क्यों उत्पन्न हुआ, जिसने अपने कुलवालों को ही भाँति भाँति के कठिन क्लेश पहुँचाये ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! यह सब मातृ-दोष के कारण ऐसा हुआ। सन्तानों पर माता पिता के स्वभाव और सदाचार का बहुत प्रभाव पड़ता है। पति से पृथक् रहकर स्त्रियों का स्वच्छन्द विहार करना अनर्थ का हेतु होता है। परमार्थ हीन अनार्य जाति तो इस रहस्य को जान ही नहीं सकती। उनके यहाँ शारीरिक सुख ही सब कुछ है। किन्तु जो अध्यात्मवादी हैं, उन्हें तो रजवीर्य की विशुद्धता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। पति से पृथक् रहने पर युवती स्त्रियों में चाचल्य बढ़ ही जाता है। उसी का यह प्रभाव हुआ, उग्रसेन जैसे धर्मात्मा राजा के यहाँ

कश जैसा क्रूरकर्मा पुत्र हुआ। इस सम्बन्ध मे एक पौराणिक गाथा है। उसे आपको सुनाकर तब आगे की कथा कहूँगा।"

छप्पय

महाभोज तें भये भोजवशी यादवगन।
वृष्णि-वश वार्ष्णेय कहाये यदुकुल नन्दन॥
वृष्णि-तनय नृप भये युधाजित् पौत्र वृष्णि पुनि।
सुत श्वफल्क तिनि पुत्र भये अक्रूर सरिस मुनि॥
अन्धक दशमी पीढि महँ, उग्रसेन देवक भगत।
देवक तनया देवकी, उग्रसेन के कंस सुत॥

कलानेमि कंस कैसे हुआ !

(८०७)

आत्मानमिह सञ्जातं जानन्प्राग्विष्णुना हतम् ।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ॥१॥

(श्रीभा० १० स्क० १ अ० ६८ श्लो०)

छप्पय

नृप विदर्भ की सुता विवाही उग्रसेन कूँ
सुता प्रेम तें नृपति पठाये दूत लेन कूँ ॥
मातु पिता घर जाय भई स्वछन्द दुलारी ।
सखियनि संग सजि फिरै वननि महँ राजकुमारी ॥
मदमाती पद्मावती, विहरति है स्वछन्द जहँ ।
धनद दास गोभिल असुर, आयो घूमत फिरत तहँ ॥

विषयों के प्रति प्राणियों का सहज अनुराग है। जो इ
जीव-जगत् का जनक है, वह स्वतन्त्र है। अतः स्वभाव से सभ
स्वतन्त्र होना चाहते हैं। परतन्त्रता में दुःख और स्वतन्त्रता
सभी को सुख का अनुभव होता है, किन्तु स्वतन्त्रता के सच्
सुख का वही अनुभव कर सकता है, जो किसी के बन्धन में र
चुका हो। जिसने बन्धन का अनुभव नहीं किया, वह विमुति

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कंस को यह बात विदित थी
कि मैं पूर्वजन्म में महाअसुर कालनेमि नाम का था। उस समय विष्
भगवान् द्वारा मारा जाकर यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ। इसीलिये वह यादवों से
विरोध करने लगा।"

सुख का कैसे अनुभव कर सकता है। इसीलिये धर्म का बन्धन-प्रेम का बन्धन ही सुख का परम हेतु है। जो धर्म बन्धन मे नहीं बँधा, वह परमात्माको कैसे पकड सकता है। जिसने प्रेम बन्धन मे बँधकर अपना तन, मन, धन, समस्त शारीरिक-मानसिक चेष्टाये और अपना सर्वस्व अपने प्रेमास्पद को अर्पित नहीं कर दिया, वह प्रेम के रहस्य को क्या जाने। पतिव्रता पत्नी अपना सर्वस्व पति चरणों मे अर्पित करके अखिल सृष्टि की स्वामिनी बन जाती है। ऐसी पतिव्रता के विरुद्ध आचरण करने का साहस कौन कर सकता है? जो अपने पति को सर्वस्व न समझकर शारीरिक सुखों मे ही फँसी रहती है, उसीकी ओर पर पुरुष दृष्टि उठाकर देख सकता है, उसी से बलात्कार या छल करने का साहस कर सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मात्मा महाराज उग्रसेन के यहाँ दुष्टात्मा असुर पुंगव कस कैसे उत्पन्न हुआ, इस प्रसग को मैं आप को सुनाता हूँ। इसी प्रसग से विदित हो जायगा, कि कालनेमि कैसे उग्रसेन के यहाँ पुत्र रूप में प्रकट हुआ।

माथुर मण्डल के राजा आहुक के पुत्र उग्रसेन धर्म पूर्वक प्रजापालन करते थे। वे सम्पूर्ण धर्मों के जानने वाले शूर वीर, दानी तथा सभी सद्गुणों के सागर थे, उनका विवाह विदर्भ देश के महाराज सत्यकेतु की प्यारी पुत्री पद्मावती के साथ हुआ था। पद्मावती यथा नाम तथा गुणवाली थी। वह पद्मा के समान सुन्दरी थी। महाराज ऐसी सुन्दरी सर्वगुणसम्पन्ना पत्नी पाकर राजा परम प्रमुदित हुए। पति पत्नी मे परस्पर बडा स्नेह था।

पद्मावती अपने पिता की एकलौती पुत्री थी। इसलिये मातापिता का उस पर अत्यधिक अनुराग था। इसलिये जब भी कुछ दिन बीतते, माता पिता पुत्री को घर बुला लेते थे। एक बार

पुत्री को ससुराल गये बहुत दिन बीत गये। विदर्भ राज की रानी ने अपने पति से कहा—"प्राणनाथ! पद्मावती को देखे मुझे बहुत दिन हो गये हैं। उसकी मुझे बहुत याद आती है। उसे शीघ्र ही आप कुछ दिनों के लिये घर बुलालें।"

यह सुनकर महाराज सत्यकेतु ने कहा—"प्रिये! मुझे भी पद्मा की बहुत याद आ रही है। मैं आज ही मथुरा दूत भेजता हूँ। उग्रसेन उसे मेरे कहने से अवश्य भेज देंगे।"

यह कहकर महाराज ने तुरन्त दूतों को और अपने कुल वृद्ध पुरोहित को पद्मावती को लाने के लिये मथुरा भेज दिया। कुल-पुरोहित ने जाकर सब का कुशल पूछा और राजा का सन्देश महाराज उग्रसेन को सुनाया। यद्यपि महाराज उग्रसेन नहीं चाहते थे कि उनकी प्राणप्रिया पद्मावती पल पर भी उनसे पृथक् हो, किन्तु ससुर के स्नेह और सौहार्द से तथा अपनी उदारता, विनय और भक्ति दिखाने के लिये उन्होंने प्रसन्नता के साथ सभी प्रबन्ध करके अपनी पत्नी को भेज दिया। पद्मावती पीहर गमन की बात सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। वह अत्यन्त उत्सुकता के साथ अपने मायके चली। कुछ दिनों में वह विदर्भ देश में अपने माता पिता के समीप आ गई। माता-पिता को प्रणाम करके वह रोने लगी। राजा-रानी ने उसका सिर सूँघा और उसे छाती से चिपटा लिया।

ससुराल में तो उसे बहू बनकर रहना पड़ता था। सदा परदे में रहती, किसी से बातें नहीं करती थी। घूँघट मारे रहती थी, बहू ही ठहरी। अब यहाँ पिता के घर में तो कोई परदा ही नहीं। सिर से अञ्चल उतर गया है, तो उतरा ही हुआ है। सब से वह हँसकर बातें करती, सखी सहेलियों के साथ हास-परिहास और क्रीडा करती। अपना ऐश्वर्य दिखाने के लिये

सुन्दर-से सुन्दर वस्त्राभूषणों को धारण करती। सज धजकर सोलहों शृङ्गार करके, वह सखियों के सम्मुख यह सिद्ध करना चाहती थी, कि मैं भी माथुर-मण्डल की महारानी हूँ, मेरा भी वहाँ अपार ऐश्वर्य है। पिता के घर में आकर वह यह बात भूल ही गई कि पति से पृथक् रहकर स्त्रियों को इस प्रकार साज शृङ्गार न करना चाहिये, न इतनी स्वच्छन्द क्रीडा तथा हँसी विनोद ही करना चाहिये। वह तो अपने पिता की लाड़िली लड़ैती लाली थी, घर में आकर वह अति चपल चञ्चल बालिका के समान बन गई, अपनी सखी-सहेलियों के साथ वन उपवन, सरित तथा सरोवरों के समीप जाकर क्रीडा करती। हँसती खेलती वन विहार का आनन्द लूटती।

एक दिन वह भली प्रकार सज धजकर सोलहों शृङ्गार करके सखियों के साथ एक सुन्दर सरोवर के निकट क्रीड़ा निमित्त गई। वह अपनी सभी सखियों के मध्य बिजली के समान दमक रही थी। वसन्त की ऋतु थी, वनश्री ने भी आज समुचित शृङ्गार किया था। जिस सरोवर के निकट वह क्रीड़ा कर रही थी, उसका नाम सर्वतोभद्र था। उसके समीप ही बेलों का सघन वन था। वह लताओं के सघन वितानों से सुशोभित था। एक ओर तो हरी भरी छोटी सी पहाड़ी थी, दूसरी ओर अति सुन्दर मनोहर वनस्थली। भाँति भाँति के रङ्ग बिरङ्गे पुष्प वहाँ हँसते हुए आनन्द में भर कर खिल रहे थे। सघन द्रुमों की शाखायें, झूम झूमकर भूमि को चूम रही थीं। वन की ऐसी शोभा देखकर वे सभी सुकुमारियाँ खिल उठीं। सभी एक ही अवस्था की थीं। वहाँ न कोई पुरुष था, न किसी का संकोच। एकान्त स्थान पाकर सभी के हृदय में सरसता का संचार हुआ। एक तो स्त्रियाँ स्वभाव से ही चञ्चला होती हैं, फिर पर भी

युवावस्था । सभी की गधापचीसी की वय थी। अतः सब निर्मुक्त हँसी हँसने लगीं, इधर से उधर महुओं के फूलों को बीन-बीनकर उनका रसपान करने लगी। कोई गाने लगी। कोई नृत्य दिखाने लगी, कोई वाद्य ही बजाने लगी, इस प्रकार वे क्रीड़ा करते-करते थक गईं। मुख-कमलों पर श्वेत बिन्दु भी झलकने लगे। पद्मावती ने सम्मति दी, 'अब तो जलविहार होना चाहिये।' बस फिर क्या था ! सभी अपने-अपने वस्त्र उतार-उतार कर सरोवर में कूद ही तो पड़ीं। कोई किसी को डुबाती, कोई किसी पर जल फेंकती, कोई किसी को ऊपर चढ़ा कर जल में गिरा देती। यह देखकर सब हँसते-हँसते लोट-पोट हो जातीं। कोई किसी के कंधे पर चढ़ जाती। कोई दोनों को ढकेल देती। इस प्रकार वहाँ आनन्द विनोद और हास्य की तरंगें उठ रही थीं।

उसी समय वह दैवयोग से लोकपाल धनद कुबेर का एक सेवक गोभिल नामक दैत्य वहाँ आ पहुँचा। उन युवतियों को जल-क्रीड़ा मे निमग्न देखकर करबद्ध खड़ा हो गया। उसकी दृष्टि पद्मावती पर पड़ी। 'उसके रूप, यौवन, सौन्दर्य तथा लावण्य को देखकर दैत्य कामातुर हो उठा। वह सोचने लगा—'यह सुन्दरी कैसे मिले।' गोभिल शक्तिमान था। अतः उसने ध्यान से यह बात जान ली कि यह विदर्भराज की पुत्री है और मथुरा-नरेश महाराज उग्रसेन की पत्नी है। किन्तु यह तो अपने पति को छोड़कर किसी परपुरुष को चाहती ही नहीं। इससे मैं संगम कैसे कर सकता हूँ। इसी बात को असुर एकान्त में खड़े-खड़े सोचता रहा। सहसा उसके मन में एक बात आ गई—"क्यों न मैं माया से महाराज उग्रसेन का ही रूप रख लूँ ?"

इस विचार क आते ही उसे बडी प्रसन्नता हुई। उसने तुरन्त महाराज उग्रसेन का ज्यों का त्यो माया मय रूप धारण किया। उसने अपनी दानवी माया से ऐसा स्वरूप बना लिया, कि कोई भी सन्देह नहीं कर सकता था, कि य मथुरेश उग्रसेन नहीं है। ऐसा सुन्दर रूप रखकर वह सरोवर के समीप ही एक सुन्दर सघन अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर स्वर के सहित वंशी बजाने लगा। उसने ऐसा कर्ण प्रिय सगीत

छेडा, कि दशो दिशाये गूँज उठी। वह दैत्य सुन्दर-सुललित कण्ठ से ताल, लय तथा स्वर के सहित गा रहा था और वशी बजा रहा था। सखियों के मध्य बैठी हुई पद्मावती ने वह चित्त को हठात् अपनी ओर आकर्षित करनेवाला संगीत सुना। वहीं बैठे बैठे अपनी सहेलियों से वह संगीत की

प्रशंसा करने लगी। संगीत की स्वर-लहरियाँ आ आकर उसके हृदय को उन्मत्त बनाने लगीं। अब वह अपने स्थान पर बैठी न रह सकीं। कुतूहलवश संगीत के स्वर के सहारे वह सखियों-सहित उधर ही चली। दूर से ही उसने देखा कि अशोक के नीचे एक व्यक्ति बैठा बाँसुरी बजा रहा है और उसी स्वर में गीत गा रहा है। कुछ समीप पहुँचकर उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। ये तो मेरे प्राणनाथ मथुरेश महाराज हैं। किन्तु, वह बार बार सोचने लगी—"उनके आने की तो कोई सूचना भी नहीं थी। इतनी दूर से वे सहसा ऐसे कैसे आ सकते हैं? सम्भव है, ये कोई और हों, मुझे भ्रम हो गया हो।" इस प्रकार संशय में पड़ी पद्मावती यह सब सोच ही रही थी, कि उस दुष्ट गोभिल दैत्य ने पुकारा—"प्रिये! तुम मेरे समीप आओ। मैं तुम्हारे बिना व्याकुल हो रहा हूँ।"

अब तो पद्मावती को कोई सन्देह ही नहीं रहा। वह दौड़ कर उग्रसेन बने उस दुष्ट दैत्य के समीप गई और प्रणाम करके उसने पूछा—"प्राणनाथ! आप कब पधारे?"

मायावी दैत्य ने कहा—"प्रिये! मुझे तुम्हारे बिना एक एक पल युग के समान हो गया। मैं तुम्हारे विरह को अधिक सहन करने में समर्थ न हो सका। इसीलिये अपने राज्य को छोड़कर तुम्हारे समीप आया हूँ। देवि! तुम्हारे बिना मेरा जीवन असम्भव है, तुम्हारा विरह मुझे व्याकुल बनाये हुए है। अनंग ने अपने कुसुम शरों से मुझे जर्जर बना दिया है।"

पद्मावती की सखियाँ उसे उग्रसेन समझकर वहाँ से हट गईं। वह दुष्ट नाना प्रकार की सरस-स्नेह भरी बातें करके राजकुमारी को एकान्त सघन वन में ले गया और वहाँ उसने अपनी इच्छा-पूर्ति की। महाराज उग्रसेन के किसी विशिष्ट अङ्ग

में कोई विशिष्ट चिन्ह था। उस चिन्ह को उसके अङ्ग में न पाकर पद्मावती को उस पर सन्देह हुआ। वह सोचने लगी—"मेरे पति कैसे आ सकते हैं। उन्होंने तो ऐसी चञ्चलता कभी दिखाई नहीं। हो न हो यह कोई दैत्य है, माया से इसने यह छद्मवेश धारण कर लिया है। यह मेरा पति नहीं हो सकता।"

ऐसे विचार के आते ही उसने अपने वस्त्रों को पहन लिया और लाल-लाल आँखें करके बोली—"अरे दुष्ट! सच-सच बता तू कौन है।"

दैत्य ने अपना यथार्थ रूप रखकर कहा—"मैं गोभिल नामक दैत्य हूँ, कुबेर का अनुचर हूँ।"

क्रोध से उसे जलाती हुई-सी पद्मावती बोली—"अरे, दुष्ट! तू ने मेरे साथ अधर्म किया है। मैं तुझे शाप देकर भस्म कर दूँगी।"

गोभिल ने धैर्य के साथ बिना डरे कहा—"देवि! मैंने तो कोई अधर्म किया नहीं। असुर और मानवों का यह धर्म ही है कि छल बल और माया से अपनी इच्छाओं की पूर्ति करें। मैंने भी वही किया है। इसमें मैं तो कोई अधर्म की बात नहीं समझता। मैं तो अपने धर्म पर ही हूँ। तुम अपने धर्म पर हो या नहीं, इसे तुम्हीं सोचो।"

पद्मावती बोली—"अरे नीच! तू पतिव्रताओं के प्रभाव को क्या नहीं जानता ?"

दैत्य ने कहा—"भली भाँति जानता हूँ। पतिव्रता तो असम्भव को सम्भव कर सकती है, सूर्य चन्द्र की गति रोक सकती है, सुमेरु को भस्मसात् कर सकती है, सातों समुद्रों को सङ्कल्पमात्र से सुखा सकती है। शरीर की बात तो पृथक् रही, सती को कोई मन से भी दूषित नहीं कर सकता।"

पद्मावती ने कहा—"जब तू इतना जानता है, तो तूने ऐसा

साहस क्यों किया ? क्या मैं तुझे शाप देकर भस्म नहीं कर सकती ?"

दैत्य बोला—"कर क्यों नहीं सकती। यदि तुम सच्ची पतिव्रता होती, तो अवश्य कर सकती थी।"

पद्मावती ने कहा—"क्या तुझे मेरे पतिव्रता होने मे सन्देह है ? देख, मैं तुझे अभी शाप देकर भस्म करती हूँ।"

उपेक्षा के स्वर मे गोभिल बोला—"मुझे सन्देह ही नहीं है, पूर्ण विश्वास भी है, कि तुम पतिव्रता नहीं हो। इसीलिये मुझे तुम्हारे शाप का भी भय नहीं है। यदि तुम पतिव्रता होती, तो इस प्रकार पति को छोड़कर यहाँ वन-विहार न करती। पतिव्रता क्या पति के बिना क्षण भर भी रह सकती है ?"

पद्मावती ने कहा—"अरे, नीच ! मैं कहीं बाहर तो गई ही नहीं। मुझे मेरे पिता ने प्रेम पूर्वक बुलाया है। स्त्रियो के लिये दो ही तो रहने के स्थान हैं—या तो पति का, या पिता का घर। मैं शरीर से पति से पृथक् हूँ, किन्तु मन से तो मैं उन्हीं का चितन करती रहती हूँ।"

गोभिल ने कहा—"मन से यदि तुम अपने पति का ही चितन करती रहती, तो तुम मुझे पहचान न सकती ? यह असम्भव है। पतिव्रता के धर्मों को तुम जानती ही नहीं। तुम धैर्यपूर्वक सुनो और क्रोध न करो, तो मैं तुम्हें पतिव्रताओं के धर्म बताता हूँ। यदि वे तुम मे हो, तो मुझे शाप देकर भस्म कर देना, वे न हों, तो चुपचाप अपने घर चली जाना।"

पद्मावती ने कहा—"अच्छा, बता तू ही पतिव्रताओं के धर्म।"

गोभिल बोला—"देवि ! सावधान होकर श्रवण करो।"

पतिव्रता नित्य ही मन, वाणी तथा कर्मों से अपने पति की सेवा में संलग्न रहती है।

पतिव्रता—पति की संतुष्टि में ही अपनी संतुष्टि मानती है।

पतिव्रता—पति के क्रोध करने पर भी क्रोध नहीं करती।

पतिव्रता—पति के गाली देने पर भी उत्तर नहीं देती।

पतिव्रता—पति के प्रहार करने पर भी पलटकर उसे रोषभरी दृष्टि से नहीं देखती।

पतिव्रता—सदा अपने पति के दुःख-सुख मे साथ रहती है। पति को सुखी रखना ही उसके जीवन का ध्येय है। पति के दोषो की ओर वह ध्यान नहीं देती, गुणो के ही कारण उसका आदर नहीं करती। पति चाहे सुरूप हो या कुरूप, सर्वाङ्ग हो या हीनाङ्ग, स्वस्थ हो या महारोगयुक्त—सब भाँति वह उसी की सेवा करती है।

पतिव्रता—पति की अनुपस्थिति मे श्रृङ्गार नहीं करती, ग्राम्य सुखो को नहीं भोगती, हँसी, विनोद, मनोरञ्जन तथा चञ्चलता नहीं करती।

पतिव्रता—की पवित्रता, शुचिता, साज, श्रृङ्गार,हास-परिहास तथा शारीरिक-मानसिक सभी चेष्टाये पति को प्रसन्न करने के निमित्त होती हैं। क्या तुम मे हैं ये सब बातें ? क्या तुम पति को देवता मानती हो ? क्या तुम कुलटा स्त्री नहीं हो ? कहो तो कुलटाओं के भी लक्षण बता दूँ।"

यह सुनकर आगबबूला होती हुई पद्मावती बोली—"अरे दुष्ट दैत्य ! तू बहुत बढ़-बढ़कर बात बना रहा है। निर्लज्ज दानाव ! पति को ही सर्वस्व समझने वाली मुझे तू कुलटा बना रहा है। तू ने मुझसे कौन से कुलटापने के लक्षण पाये ?"

धैर्य, किन्तु रोष के स्वर में, गोभिल बोला—"पति की अनुपस्थिति मे जो स्त्री लोलुपता-वश ग्राम्य भोगो को भोगती है, वह कुलटा है। जो स्वामी को छोड़कर अन्य पुरुषों में मन लगाती

है. वह कुलटा है। अच्छा, रानीजी! तुम अपने को पतिव्रता लगाती हो,तो यह बताओ पति के बिना तुम यह चटक-मटक क्यों कर रही हो? इन काले काले बालों में इतना बहुमूल्य सुगन्धित तैल तुमने किसे रिझाने के लिये डाला है? ये सुन्दर बाल काढ़ बाँधकर किसके लिये सजाये हैं? किसका घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करने के लिये धम्मिल में यह मालती का सुगन्धियुक्त माला खुर'सी है? यह बेंदी सिन्दूर किसे दिखाने को सजाया है? अनेक सुगन्धि पदार्थों से युक्त यह पान किसकी घ्राण में सुगन्धि में स्वाँस उँडेलने को खाया है। वक्षस्थल पर यह गाढ़ा-गाढ़ी केशर-कस्तूरी और कपूर से युक्त चन्दन की कीच किसके करों को सुगन्धित करने के लिये लेपी है? हाथों में मिहदी और पैरों में महावर किसके मनको आकर्षित करने के लिये रचाये हैं? पतिव्रता तो यह सब पति को ही प्रसन्न करने के लिये करती हैं। वह स्वयं अपने को सुख देने के निमित्त शरीर को नहीं सजाती। तुम्हारे पति तो यहाँ से ४०० कोस दूर बैठे हुए हैं। तुम यह रङ्गरेलियाँ कर रही हो, क्या यही तुम्हारा पतिव्रत है! दुष्टा कहीं की? चली है मुझे शाप देने। पहले अपने रूप को तो देख। मनुष्य अपने दोषों को तो देखता नहीं,दूसरों पर लाँछन लगाता है। तुम्हारा पति मथुरा में बैठा है, तुम विदर्भ देश में चहक रही हो, मदमाती बनी फुदक रही हो और कहती हो, मैं पतिव्रता हूँ, पतिव्रता हूँ।' तुम पत्थर हो। मैं तो तुम्हे एक व्यभिचारिणी कुलटा स्त्री समझता हूँ। यदि तुममे तेज, ओज, बल, तप, शक्ति सामर्थ्य तथा पातिव्रत का प्रभाव है, तो दिखाओ मुझे। लो, मैं खड़ा हूँ तुम्हारे सामने, करो मुझे नष्ट! हम तो असुर हैं, जहाँ हमे ऐसी स्त्रियाँ मिलती हैं, सम्मति-असम्मति, छल-बल, कला-कौशल तथा माया आदि से मोहित करके अपनी इच्छा-पूर्ति करते हैं, चले

जाते हैं। मैंने तुम्हारे उदर मे अमोघवीर्य स्थापित किया है। इसमे कालनेमि नामक राक्षस संकल्प से आ गया है। वही तुम्हारे उदर से उत्पन्न होकर तुम्हारे पति के वंशवालो को क्लेश देगा।" इतना कहकर वह दानव तुरन्त वहाँ से चला गया।

पद्मावती को अपनी भूल प्रतीत हुई। उसके सभी अङ्ग दुखने लगे। नेत्रों से अश्रुओं की धारा बहने लगी। लज्जा, दुःख, आत्म-ग्लानि तथा शोक के कारण वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसकी सखियाँ दूर थीं। रुदन का शब्द सुनकर वे सब की सब दौड़ी आईं। आकर उन्होंने देखा, पद्मावती अत्यंत दुःखी होकर मुख ढाँके उच्च स्वर से एकाकी रुदन कर रही है।

आकर सभी ने घबराहट के साथ पूछा—"राजकुमारि ! महाराज कहाँ चले गये ? तुम इतनी दुःखिता क्यों हो रही हो ?"

रोते-रोते राजकुमारी ने कहा—"बहनो ! मेरे प्राणनाथ मथुरेश महाराज यहाँ नहीं पधारे थे, वह तो कोई दुष्ट दानव था। उसने छद्मवेश बनाकर मेरा सतीत्व नष्ट किया। अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? मैं तो बुरी तरह ठगी गई, कहीं की भी न रही ! मैं किसी को कैसे मुँह दिखाऊँगी ? कैसे अपना पाप छिपाऊँगी ? हाय ! मेरे किस जन्म के पाप उदय हुए ? अब मैं लौटकर माता पिता के समीप न जाऊँगी। यहीं आत्म-घात करके मर जाऊँगी।" इस प्रकार वह रोती-रोती विलाप करने लगी।

सखियों ने उसे भाँति-भाँति से समझाया। कर्मों का भोग बताकर, जैसे-तैसे उसे धैर्य बँधाकर विदर्भ-नरेश के महलों मे ले गईं। वहाँ जाकर पद्मावती ने अपनी माता से यह सब समाचार

कहा। माता ने अपने पति महाराज सत्यकेतु को सब बातें बताईं, महाराज को भी बड़ी चिन्ता हुई। अपनी मान-मर्यादा तथा कुल-कीर्ति को बचाने के निमित्त राजा ने तुरन्त पुरोहित तथा सेवकों के साथ पद्मावती को उसके पति के यहाँ भेज दिया।

महाराज उग्रसेन अपनी प्राणप्रिया के आगमन से परम प्रसन्न हुए और ससुराल का कुशल पूछा। रानी ने यह बात पति के सम्मुख प्रकट न की। वह उस गर्भ को गिराने के लिये भाँति भाँति की चेष्टा करने लगी। किन्तु वह तो गिरनेवाला गर्भ नहीं था। असुर ने उसके उदर में प्रवेश किया था। रानी को गर्भ धारण किये हुए एक वर्ष हो गया, किन्तु प्रसव के कोई चिह्न ही नहीं दिखाई दिये। इसी प्रकार दस महीने के स्थान में १० वर्ष हो गये। वह दुष्ट बाहर ही न हुआ। अन्त में १० वें वर्ष में वह कालनेमि दैत्य महारानी पद्मावती के गर्भ से उत्पन्न हुआ। महाराज ने बड़ी धूम-धाम से उसका जन्मोत्सव किया। उसी का नाम कंस रखा गया। कंस ने क्या-क्या किया, इन सब बातों का वर्णन श्रीकृष्ण-चरित मे किया जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने वृष्णिवंशी राजाओं का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया। मैं पीछे बता चुका हूँ कि अनमित्र-पुत्र वृष्णि के श्वफलक और चित्ररथ दो पुत्र हुए, श्वफलक के तो अक्रूर प्रभृति तेरह पुत्र हुए, जिनके नाम पीछे बता चुका हूँ। अब महाराज चित्ररथ के वंश को श्रवण करें। चित्ररथ के पुत्र विदूरथ हुए और विदूरथ के ही पुत्र शूर हुए। इन शूर के ही कारण भगवान् श्रीकृष्ण का नाम शौरि हुआ। इसी वंश में वसुदेव जी का जन्म हुआ। अतः अब शौरि-वंश का ही आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

उग्रसेन को रूप धरयो रानी बहकाई।
करयो कपट छल असुर कुमरि एकान्त बुलाई॥
यापन कीयो गर्भ जानि पीछे पछताई।
आई महलनि तुरत पिता पीहर पहुँचाई॥
कालनेमि आयो उदर, होनहार सो है गयो।
जन्यो पुत्र दश बरस महँ, असुर कंस सोई भयो॥

शूर-वंश में वसुदेवजी

(८०८)

देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि ।
वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानक दुन्दुभिम् ॥१

(श्री भा० ९ स्क० २४ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

पुत्र चित्ररथ भये विदूरथ शूर तनय तिनि ।
शूर तनय भजमान भये तिनि के सुत नृप शिनि ॥
शूर मारिषा माँहि जने दश सुत तेजस्वी ।
तिनि महँ सब तैं बड़े भये वसुदेव यशस्वी ॥
तिनिकी पत्नी त्रयोदश, भाग्यवती अति देवकी ।
अजर अमर जग महँ भई, जननी बनि हरि देवकी ॥

भगवान सर्वव्यापक हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, चराचर मे समान रूप से व्याप्त हैं। ये विचार शान्त रस की उपासना करनेवाले योगियो के हैं। भगवान को सर्वव्यापक और विराट् मानकर अशान्त चित्त को निर्मल शान्त बनाना, यही शान्त रस की उपासना का फल है। शान्तरस के उपासक ज्ञानी विराट् भगवान् की ही उपासना करते हैं। संसार में जो भी कुछ है, उस भूमा पुरुष का विलास मात्र है, वे ही अनेक रूपों मे दिखाई देते हैं। वे ही सत्य हैं, नाना रूपो में प्रतीत होनेवाला प्रपञ्च असत् है। किन्तु,जो भगवान् में कोई सम्बन्ध स्थापित करके उनके सगुणरूप की उपासना करते हैं, उनके लिये ससार सत् है या असत्—यह

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वसुदेवजी के जन्म के समय देवताओं के आनक और दुन्दुभि बाजे स्वयं बजने लगे थे। इसलिये वसुदेवजी को "आनक दुन्दुभि" कहते हैं। ये भगवान् श्रीहरि के जन्म के स्थान हैं।"

प्रश्न विचारणीय ही नहीं। जिस वस्तु से भगवान् का सम्बन्ध है, वह भगवान् की ही भाँति सत् है। भगवान् के उपयोग में जो भी वस्तु आती है, सब सत् है सब चिन्मय है। भगवान् से जिनका सम्बन्ध हो चुका है, वे सब उनके परिकर हैं, पार्षद हैं, नित्य हैं, सत् हैं, चिन्मय है। जिस भूमि में उनकी क्रीडा हुई है, वह सत् है, सुख-स्वरूप है। जहाँ वे अवतरित हुए हैं, जिसके द्वारा प्रकट हुए हैं, वे सब श्रीहरि के स्थान है। उनमें वे तदाकार हैं। इसीलिये वासुदेव के बसने के स्थान को वसुदेव कहते हैं। जो वसुदेव, वही वासुदेव—एक ही आत्मा हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पीछे मैं बता चुका हूँ कि महाराज चित्ररथ के पुत्र विदूरथ हुए। उनके शूर नामक पुत्र का जन्म हुआ शूर के सुत भजमान, उनके शिनि, शिनि के स्वयम्भोज और स्वयम्भोज के पुत्र हृदीक हुए। हृदीक के तीन पुत्र हुए—देववाहु (देवमीढ़) शंतवनु और कृतवर्मा।

महाराज हृदीक के बड़े पुत्र देववाहु का नाम देवमीढ़ भी था। इन देवमीढ़ महाराज के एक बड़ा तेजस्वी पुत्र हुआ। वह शूर के समान शूर-वीर था, अतः सबने उसका भी नाम शूर रखा। कुमार शूर जब बड़े हुए, तब मारिषा नाम्नी राजकुमारी के साथ इनका विवाह हुआ। उस मारिषा पत्नी से इन्होंने दश पुत्र उत्पन्न किये। इन दश में सबसे बड़े पुत्र का नाम वसुदेव था।

वसुदेवजी का जब जन्म हुआ, तब पृथ्वी पर तो सर्वत्र आनन्द छा ही गया, स्वर्ग में भी देवताओं के नौबत और दुन्दुभि आदि बाजे स्वयं बजने लगे। बिना बजाये ही जब सब बाजे स्वतः बजने लगे, तब देवताओं को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सब अपने राजा शचीपति शतक्रतु को आगे करके लोक पितामह श्री ब्रह्माजी के पास गये और बोले—"भगवन्! यह बड़े ही आश्चर्य की बात

है, कि हमारे बाजे बिना बजाये ही बजने लगे हैं। संसार में ऐसी कौन-सी विचित्र घटना घटनेवाली है ? आज सम्पूर्ण चराचर आनन्द मे उन्मत्त हो रहा है, सबके लिये ऐसी कौन-सी अपूर्व आनन्द की बात होनेवाली है ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"देवताओ ! तुमको पता नहीं। आज तो अत्यन्त ही आनन्द का अवसर है। जैसे कोई प्रजा-वत्सल, सर्व-प्रिय, सर्वसुहृद् सम्राट् कहीं आनेवाला होता है, तो उसके आग-मन को सुनकर ही सभी को बड़ी उत्सुकता होती है, सभी अत्यंत ही उत्कण्ठा से उसके आगमन की प्रतीक्षा करने लगते हैं, दिन गिनने लगते हैं। उनके स्वागत-सत्कार के लिये स्थान बनाते हैं। जब उनके निवास के लिये स्थान बन जाता है, तब तो सभी को आशा हो जाती है कि अब तो वे अवश्य ही पधारेंगे। इसी प्रकार भगवान् के जन्म लेने का स्थान वसुदेवजी हैं। प्रथम आकर वे वसुदेवजी के ही अन्तःकरण मे प्रवेश करेंगे। उन्हीं वसुदेवजी का आज जन्म हुआ है। उनी की प्रसन्नता मे दुन्दुभि आदि बाजे स्वयं बजने लगे।"

यह सुनकर देवता प्रसन्न हुए और भगवान् कमलासन को प्रणाम करके अपने यहाँ आकर आनन्दोत्सव मनाने लगे। वसुदेवजी के अनन्तर महाराज शूर के देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कंक, शमीक, वत्सक और वृक—ये नौ पुत्र और उत्पन्न हुए। ये सब भगवान् के चाचा थे। भगवान् जब क्रीडा करते हैं, तब एकाकी रमण नहीं करते। अपने बहुत से सम्बन्धियो को लेकर वे खेल करते हैं, क्योंकि खेल, नाटक, अभिनय एक दो से नहीं होते। उसके लिये बहुत से पात्र चाहिये। इसीलिये नौ तो उनके चाचा थे, चाचियो को तो कोई संख्या ही क्या है ! तेरह तो इनकी सगी मातायें थीं। इन में सबसे छोटी देवकीजी थीं।

पाँच इनकी बूआये थी। मुझे सक्षेप मे सभी के वश को कहना है। अब शीघ्रता से आप यह बता दीजिये कि मैं पहले भगवान् के सगे मौसेरे, चचेरे भाइयो के नाम सुनाऊँ या इनकी बूआओ के बालकों के नाम बताऊँ ?"

इस पर शौनकजी बोले—"अब महाराज सूतजी, आप ही जानें। आप इन्हीं के वश को सुनाते रहे, तो श्रीकृष्ण लीला-श्रवण मे देर हो जायगी और हमे श्रीकृष्ण-लीला सुनने की चट-पटी लगी हुई है। परन्तु, आप मानेगे थोडे ही। जब तक श्री कृष्णलीला की पूरी भूमिका न बाँध लेंगे, तब तक आप आरम्भ न करेंगे। प्रतीत होता है, श्रीकृष्ण लीलाओ मे स्थान स्थान पर इन सब का प्रसङ्ग आवेगा। इसीलिये आप प्रथम ही सब का परिचय करा देना उपयुक्त समझते हैं। अच्छी बात है, पहले भगवान् की बूआओ के ही वश को सुनाइये। हाँ, तो भगवान् की पाँच बूआएँ कौन थीं ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! सुनिये, वसुदेवजी की पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी—ये पाँच बहनें थीं। प्रतीत ऐसा होता है कि महाराज शूर के पहले ये पाँच पुत्रियाँ ही हुईं, तदनन्तर दश पुत्र हुए। पुत्रियो मे सबसे बडी पृथा थी और पुत्रो मे सबसे बडे वसुदेवजी।

महाराज शूर की बूआ के पुत्र महाराज कुन्तिभोज थे। अवस्था में तो कुन्तिभोज महाराज शूर से बडे थे, किन्तु दोनो में बडा ही स्नेह था। एक बार महाराज कुन्तिभोज मथुरा मे आये। महाराज शूर ने अपने फुफेरे भाई का बडा स्वागत-सत्कार किया। उन दिनों महारानी मारिषा ने प्रथम ही प्रथम गर्भ धारण किया था। महाराज कुन्तिभोज के कोई सन्तान नहीं थी, अतः बातों-ही-बातों में यह प्रसग छिड गया। महाराज कुन्तिभोज

सन्तान के बिना बडे दुःखी तथा चिन्तित दिखाई दिये। अत' स्नेहवश महाराज शूर ने कहा—भाईजी! आप इतने दु खी क्यों होते हैं? हम भा तो आप के ही हैं। आप की बहू गर्भवती है। मेरी प्रथम जो भी सन्तान होगी, उसे मैं आप को दे दूँगा।"

यह सुनकर महाराज कुन्ती भोज परम प्रसन्न हुए। कुछ काल मे मारिषा के गर्भ से एक पुत्री का जन्म हुआ। महाराज शूर ने उसका नाम पृथा रखा। पृथा जब एक दो वर्ष की हो गई, तब महाराज शूर ने अपने प्रतिज्ञानुसार उसे महाराज कुन्तिभोज के यहाँ भेज दिया। इतनी सुन्दरी पुत्री पाकर महाराज कुन्तिभोज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने उसे पुत्र करके ही माना और अत्यत ही लाड प्यार के साथ उसका पालन पोषण करने लगे। जैसे एक कमल-कुण्ड से यत्न पूर्वक कुमुदिनी की बेल लाई जाय, तो कुछ काल तो मार्ग में वह कुम्हला जाती है, किन्तु दूसरे वैसे ही कुण्ड मे वैसा ही सुन्दर जल, वैसी ही कीच पाकर वह हरी भरी प्रफुल्लित हो जाती है, उसी प्रकार मथुरा के महलो से आते समय मार्ग मे पृथा दु खी हुई। किन्तु, कुन्तिभोज महाराज के महलो में आकर पुन. प्रफुल्लित हो गई। वह अपने पुराने घर को भूल सी गई। जैसे चन्द्र की कला प्रतिदिन बढती है, वैसे ही पृथा भी बढने लगी। कुन्तिभोज की पुत्री होने से उसका नाम अब कुन्ती हो गया। ज्यों-ज्यों उसकी अवस्था बढती गई, त्यों ही-त्यो उसके गुण भी बढने लगे। वह त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या थी। पिता उसे पाकर अपने को परम भाग्यशाली मानते थे। जो भी उस कन्या को देखता, वही उसके गुणों पर मुग्ध हो जाता। ससार को वश मे करने के तीन ही महामन्त्र हैं—मधुरवाणी, सेवा और पर निन्दा न करना। लडका हो,

लड़की हो, स्त्री हो, पुरुष हो—कोई भी क्यों न हो, जिसने ये तीन महामन्त्र ग्रहण कर लिये, उसने विश्व को अपने वश में कर लिया। कुमारी कुन्ती ने इन तीनों ही मन्त्रों को ग्रहण कर लिया था। इसीलिये तो उसने असम्भव बात को भी सम्भव कर डाला। सबके लिये दुराराध्य दुर्वासाजी को अपनी शुश्रूषा के बलसे उन्होंने प्रसन्न और सन्तुष्ट करके ऐसा दुर्लभ वर प्राप्त कर लिया, जो मनुष्यलोक की ललनाओं को नसीब कहाँ, देव पत्नियों के लिये भी दुर्लभ है। इन्हीं कुन्ती के गर्भ से कन्यावस्था में दान वीर महाराज कर्ण का जन्म हुआ।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हम प्रसङ्गानुसार यहाँ दानवीर कर्ण के जन्म की कथा को भी सुनना चाहते हैं, कृपा करके संक्षेप में इसे भी सुना दें। तब भगवान् की शेष बूआओं की कथा सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! मैं भी महात्मा कर्ण की कथा सुनाने को उत्सुक था, किन्तु आपके डर से प्रसङ्ग नहीं चलाया। अब आपने ही प्रश्न कर दिया, तो सुनिये, कर्णोत्पत्ति की कथा सुनाता हूँ।

छप्पय

सुता शूर की पाँच बहन वसुदेव भूप की।
पृथा सबनि महँ बड़ी खानि जो रही रूप की॥
कुन्ती भोज कू दई नृपति पुत्री करि लीन्ही।
दुर्वासा ने देव बुलावनि विद्या दीन्ही॥
आवाहन रवि को करयो, मन्त्र परीक्षा करन हित।
आये सम्मुख सूर्य जब, भयो कुँवरि चित सङ्कुचित॥

वसुदेवजी के भानजे कुन्ती पुत्र कर्ण

(८०६)

कुन्तेः सख्युः पिता शूरोह्यपुत्रस्य पृथामदात् ।
साप दुर्वाससो विद्यां देवहूतीं प्रतोषितात् ॥
तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिम् ॥१

(श्री भा० ९ स्क० २४ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

व्यर्थ आगमन होहि न मेरो तेरो अनहित ।
थापन कीयो गर्भ भई कुन्ती अति लज्जित ॥
करी प्रकट नहि बात जन्यो छिपके सुन्दर सुत ।
अति तेजस्वी वीर कवच पहिने कुन्डल युत ॥
कन्या सुत अनुपम निरखि, लोक लाज वश डरि गई ।
प्यायो पय मुख चूमि के, पुनि पुनि लखि व्याकुल भई ॥

समाज का बन्धन न हो, तो मनुष्य या तो पशु हो जाय, या फिर देवता ही बन जाय। साधारण लोगों को लोक लाज-वश बहुत-सी ऐसी बातें करनी पडती हैं, जिन्हें करने को हृदय नहीं चाहता। किन्तु, समाज तो अपनी मर्यादा को स्थिर रखने को

१—श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पृथा के पिता राजा शूरसेन ने अपनी पुत्री को अपने सखा महाराज कुन्तिभोज को दे दी। उस पृथाने अपने से सन्तुष्ट हुए महर्षि दुर्वासा से देवहूती नामकी विद्या प्राप्त की थी। उस विद्या की परीक्षा के निमित्त उसने परमपवित्र सूर्यदेव को बुलाया।"

अप्रिय कार्यों को भी कराता है। समाज हार्दिक भावो को आदर नहीं देता। उसे तो मस्तिष्क से काम है। समाज के लिये पृथक् पृथक् सबके भावो को जानना असम्भव है। उसके लिये तो घटना ही प्रमाण है। कोई अपने विशिष्ट गुणो से समाज से ऊपर उठ जाय, उसकी बात दूसरी है, किन्तु समाज किसी को क्षमा नहीं करता। उसे तो देश, काल, समय और अपने यहाँ सदाचारानुसार समाज मे रहनेवालों को निन्दा और स्तुति रूप दण्ड देना ही है। इसीलिये बहुत से अपराध समाज के भय से नहीं होने पाते और बहुत सी प्रकट करने योग्य बातें भी समाज के नियमानुसार प्रकट नहीं की जातीं। समाज मे सामाजिक व्यवस्था का पालन करना सर्वसाधारण के लिये हितकर ही है। इससे समाज उच्छृङ्खलता से कुछ बच जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज कुन्तिभोज पृथा को पाकर परम प्रमुदित हुए। उसका वहाँ 'कुन्ती' नाम प्रसिद्ध हुआ। कुन्ती जब विवाह योग्य हुई, तब राजा उसके योग्य वर ढूँढने लगे। उनका कुन्ती के प्रति अत्यधिक अनुराग था। वे चाहते थे मेरी पुत्री को कोई उत्तम घर-वर मिले। राजा इस चिन्ता मे थे ही कि महर्षि दुर्वासा राजा के महलो में आये। महामुनि दुर्वासा को देखकर राजा अपनी रानी तथा पुरोहित मन्त्रियो के साथ उठकर खड़े हो गये। उन्होंने मुनि का यथोचित स्वागत सत्कार किया और कुशल पूछा। दोनो ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर मुनि ने कहा—"राजन्! मेरी इच्छा है कि अबके चातुर्मास्य व्रत में आपके ही यहाँ रहकर करूँ। आपकी इसमें क्या सम्मति है?"

अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरा अहो भाग्य, जो आप मेरे ऊपर इतनी अधिक कृपा करना

चाहते हैं। स्वामिन्! एक क्षण को भी साधु सग मिल जाय, तो करोडो जन्मो के पाप ताप कट जाते हैं। फिर आप तो मुझे चार महीने अपने दर्शनो का देव दुर्लभ सुअवसर प्रदान कर रहे हैं। इससे बढकर मेरे लिय प्रसन्नता की दूसरी बात कौन हो सकती है?"

राजा की प्रसन्नता पूर्वक अनुमति पाकर मुनि ने वहीं उनके यहाँ चातुर्मास्य व्रत करने का निश्चय कर लिया। राजा कुन्ती भोज दुर्वासा जी के स्वभाव को जानते थे। वे ही क्या जानते थे, ससार के सभी लोग जानते हैं कि दुर्वासाजी रुद्रावतार हैं। क्रोध तो उनके ओठो पर रखा ही रहता है। वे शाप के बिना बात ही नही करते! ऐसे उग्रस्वभाव मुनि को चार महीने प्रसन्न रखना असम्भव कार्य था। जो अपने आपे को खोकर सर्वात्म भाव से उनकी ही हो जाय, वही उनकी झटक-को झेल सकता है। जिसके मन मे तनिक रोष है, जिसके चित्त मे छिपा हुआ भी यह भाव है, कि हम भी कुछ हैं, वह दुर्वासाजी का सेवा कर ही नहीं सकता! सेवा धर्म परम गहन है। सेवक सुख चाहे, तो वह सच्चा सेवक नहीं, उससे सेवा हो नही सकती। जो स्वामी के प्रति पूर्ण श्रद्धा नहीं रखता, सर्वात्मभाव से उनके अनुगत नहीं होता, उससे सेवा कार्य असम्भव है।

एक स्वामी के कई सेवक थे, किन्तु उनका एक पर अत्यधिक अनुराग था। दूसरे सेवकों को यह बात बुरा लगती थी। वे सोचते—"हम भी तो दिन रात सेवा करते हैं, हम भी तो अपने रक्त का पानी बनाकर रात दिन सेवा मे जुटे रहते हैं, स्वामी हमारे ऊपर इतने सन्तुष्ट नहीं, जितने अमुक सेवक पर हैं।" एक दिन एक साहसी ने यह बात स्वामी से निवेदन कर भी दी—"प्रभो! आप अमुक सेवक पर अधिक ममत्व रखते हैं, हम पर उतना

नहीं। क्या हम आप के सेवक नहीं? हमारी सेवा मे कोई त्रुटि है?"

स्वामी ने कहा—"अच्छी बात है, इसका उत्तर फिर कभी देंगे।" इस प्रकार बात पुरानी पड गई।

एक दिन कोई वस्तु उस कहने वाले सेवक ने रास्ते में रख दी। स्वामी उधर से आये और जान बूझकर उसमे ठोकर मारी, वह वस्तु फूट गई। तब स्वामी क्रोध करके कहने लगे—"तुम लोग बड़े बुद्धि हीन हो, यह वस्तु मार्ग मे क्यों रख दी? यह टूट फूट गई।"

सेवक ने कहा—"स्वामिन्! इसमे मेरा क्या दोष है? इतना चौडा मार्ग था, आप बचाकर चले जाते। आपने तो जान बूझकर उसमें ठोकर मार दी।"

स्वामी ने कहा—"तुमने उसे मार्ग मे रखा ही क्यों?"

सेवक बोला—"महाराज, कहीं न कहीं तो उसे रखना ही था। यह तो आप को सोचना चाहिए कि वस्तु मार्ग में रखी है, बचकर जायँ।" स्वामी अब क्या कहते, चुप चाप चले गये।

कई दिनो के पश्चात् एक दिन चौकी पर काँच का एक पात्र रखा था, जिस सेवक के प्रति स्वामी का अनुराग था वह भी वहाँ झाड़ू दे रहा था। और भी सब आस-पास बैठे थे। स्वामी ने उस काँच के पात्र को उठाया और हाथ मे नीचे गिरा दिया। पात्र पत्थर पर गिरते ही चूर चूर हो गया। अब तो स्वामी ने लाल-लाल आँखें करके उस अपने निजी सेवक को बुलाकर डाँटना आरम्भ किया। और बोला—"पात्र क्यों फोड दिया?"

उसने हाथ जोड कर दीनता के साथ कहा—"स्वामिन्! अपराध हो गया, मुझे क्षमा प्रदान करें। आगे से मैं सावधान

रहूँगा।" अन्य सभी सेवक ऐसा उत्तर सुनकर आश्चर्य-चकित रह गये और उससे जाकर बोले—"अरे भाई तुम्हारा इस में क्या अपराध ? तुमने तो पात्र को छुआ तक नहीं, यह तो स्वामी के हाथ से गिरकर फूटा है।"

उसने नम्रता के साथ कहा—"स्वामी जब क्रोध कर रहे हैं, तब निश्चय ही हमारा कोई न कोई अपराध होगा ही, क्योंकि मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वामी कभी मेरा अनिष्ट नहीं चाहते। उनके जो भी कार्य होते हैं, मेरे मङ्गल के ही निमित्त होते हैं। स्वामी के कार्यों मे त्रुटि निकालना यह सेवक का धर्म नहीं है। यदि मेरा अपराध न होता, तो वे मुझे कभी नहीं डाँटते। यदि उन्होंने बिना अपराध के मुझे डाँटा है, तो इसमे भी कोई रहस्य होगा, इसमें कल्याण की भावना छिपी होगी।"

उसके उत्तर को सुनकर स्वामी ने कहा—"इसके इसी भाव के कारण मेरा इस पर अधिक अनुराग है। यह अपनापन खोकर सर्वात्मभाव से अनुगत होकर सेवा करता है। अन्तःकरण तो एक ही है। जब वह मुझपर इतना विश्वास रखता है, तो मैं पत्थर हृदय तो हूँ ही नहीं। मेरा उसपर पूर्ण अनुराग है। इसके लिये कोई वस्तु अदेय नहीं। सेवा द्वारा इसने मुझे वश मे कर रखा है। सेवा तुम भी करते हो, किन्तु सेवक के अभिमान से करते हो। हम स्वामी के परिश्रमी सेवक हैं। तुम व्यवहार के अनुसार बर्ताव करते हो, अपनी आत्मा को अर्पण करके सेवा नहीं करते। अतः मेरा भी तुमसे व्यवहारिक ही स्नेह है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस कथा का सार यही है, कि सच्ची सेवा वही कर सकता है, जिसको स्वामी की सभी चेष्टाओं मे कल्याण ही कल्याण दीखे। जिसकी स्वामी पर पूर्ण श्रद्धा हो। राजा कुन्तिभोज ने सोचा—"मेरी पुत्री परम सुशीला है,

धर्म में इसकी रुचि है, क्रोध तो इसे कभी आता ही नहीं। कडवे वचन बोलना तो यह जानती ही नहीं। इसे ही मुनिवर दुर्वासा की सेवा मे नियुक्त कर दू। मुनि चाहे जितना क्रोध करें, यह कभी कुपित न होगी। यही सब सोचकर उन्होंने कुन्ती से कहा—"बेटी! अब तेरी सहनशीलता तथा धैर्य की परीक्षा के दिन हैं। देख, महामुनि दुर्वासा बडे क्रोधी हैं। चार महीने तुझे अपने सभी शारीरिक सुखों को तिलाञ्जलि देकर इनकी सेवा करनी होगी। तू कभी इनके किसी कार्य मे त्रुटि मत देखना, सर्वात्म-भाव से इनकी अनुगामिनी हो जाना। ये जो कहे, वही तू उसी समय अव्यग्र भाव से करना।"

हाथ जोडकर कुन्ती ने कहा—"पिताजी! यह मेरा परम सौभाग्य है। मैं प्राण पण लगाकर महर्षि की सेवा करूँगी।"

राजा पुत्री के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटी! तेरा कल्याण भी हो जायगा।"

यह कहकर राजा ने मुनि की सेवा का कार्य कुन्ती को सौंप दिया। कुन्ती मनोयोग से मुनि की सेवा करने लगी। मुनि तो कुन्ती के धैर्य की परीक्षा के ही लिये ठहरे हुए थे। वे बात बात मे त्रुटि निकालने लगे। कभी सुन्दर भोजन भी बना है, तो उस में दोष लगाकर उसे छोड देते। कुन्ती, बिना कुछ कहे, दूसरा भोजन बनाती। कभी दिन भर नहीं आते, आधी रात को आकर गरमागरम भोजन माँगते। कुन्ती उसी समय बनाती। सारांश यह कि वे कुन्ती का भाँति भाँति से परीक्षाएँ करने लगे। किन्तु, कुन्ती ने कभी क्रोध नहीं किया। वह सब कुछ धैर्य के साथ सहती रही। अन्त में मुनि प्रसन्न हो गये और उससे वर माँगने को कहा। कुन्ती ने हाथ जोड कर कहा—"प्रभो! मुझे तो किसी

वर की आवश्यकता नहीं। आप जिसमें मेरा कल्याण देखें, वह वर, स्वयं ही आपका आग्रह हो, तो मुझे दे दें।

मुनि यह सुनकर और भी अधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने ध्यान से देखा, कि कुन्ती के पति सन्तानोत्पत्ति करने में शापवश समर्थ न होंगे। अतः उन्होंने एक देवदूता विद्या कुन्ती को प्रदान की। उन्होंने कुन्ती को एक मन्त्र बताकर कहा—"तुम्हें जब जिस देवता को बुलाना हो, तब उसके रूप का ध्यान करके इस मन्त्र को पढ़ना, वह देवता तुरन्त तुम्हारे सम्मुख आ जायगा।"

हाथ जोड़कर नम्रता से कुन्ती ने यह विद्या ग्रहण की। मुनि इच्छानुसार चातुर्मास्य व्रत समाप्त करके चले गये।

कुन्ती लड़की ही तो थी, उसे बड़ा कुतूहल हुआ, कि मन्त्र पढ़ते ही देवता मूर्त्तिमान होकर कैसे आते होंगे। एक बार किसी देवता को बुलाकर मन्त्र की परीक्षा करूँ तो सही। देखूँ, किस रूप में देवता आते हैं।

संयोग की बात, उसी समय कुन्ती पिता के घर में ऋतुमती हुई थी। उस समय उसके शरीर में एक विचित्रता-सी प्रतीत होने लगी। ऋतु-स्नान करके उसने एक स्थान को स्वच्छ करके लीपा और वह मन्त्र की परीक्षा करने बैठ गई। उसने सोचा—"किस देवता को बुलाऊँ?"

उसी समय भगवान् भुवन-भास्कर प्राची दिशि के रक्ताञ्चल को ढहाकर उदित हुए। कुन्ती ने सोचा—"क्यों न मैं इन्हीं सर्वकर्मों के साक्षी प्रत्यक्ष देव श्री सविता देवता का आवाहन करूं?"

बस, फिर क्या था! सूर्यनारायण का ध्यान करके उसने दुर्वासा-दत्त मन्त्र पढ़ा। मन्त्र पढ़ते ही भगवान् सूर्यदेव तत्काल वहाँ आकर उपस्थित हुए। उनके असह्य तेज के कारण

कुन्ती की आँखों में चकाचौंध छा गया। शुद्ध-स्वरूप भगवान् अमिता को सशरीर मूर्तिमान देखकर चकितचित्त होकर कुन्ती कहने लगी—"भगवन्! बालचापल्यवश मन्त्र की परीक्षा की उत्सुकता में मैंने आपका आवाहन किया। मुझे आपसे कुछ निवेदन नहीं करना है। मेरी चपलता की ओर आप ध्यान न दें, इस अपराध के लिये मुझे क्षमा करें। अकारण मैंने आप को कष्ट दिया, इससे आप मुझपर कुपित न हों और अब आप इच्छानुसार पधारें।

सूर्यदेव ने कहा—"इस मन्त्र का प्रभाव यह है, कि जिस देवताको तुम आवाहन करोगी, वह आकर तुम्हारे गर्भाधान संस्कार करेगा। मैं तुम में गर्भ-स्थापन करने ही आया हूँ।"

दोनों कानों पर हाथ रखकर आश्चर्य, भय, भ्रम, लज्जा तथा दीनता के स्वर में कुन्ती ने कहा—"हे जगत्पते! हे कर्म साक्षिन्! आप प्राणिमात्र के धर्म के साक्षी होकर भी कैसी अधर्म की बात कह रहे हैं। भगवन्! मैं तो कन्या हूँ। कन्या के गर्भ स्थापन कैसे हो सकता है?"

सूर्यदेव ने कहा—देवि! मेरा दर्शन अमोघ है, वह कभी व्यर्थ हो नहीं सकता। सुन्दरि! तुम चिन्ता मत करो, मैं बिना गर्भ स्थापन किये तो लौट नहीं सकता। इसमें मेरा तथा मुनि दुर्वासा की विद्या का अपमान है और तुम्हारा अनिष्ट भी है। अतः गर्भ तो मैं तुम्हारे स्थापन करूँगा ही, किन्तु मेरे प्रभाव से तुम्हारा कन्यापन नष्ट न होगा। पुत्र को जनकर भी तुम कन्या ही बनी रहोगी। तुम्हारी योनि दूषित न होगी।"

कन्या कुन्ती विवश थीं, इतने बड़े देव के सम्मुख वे कुछ कह भी नहीं सकती थीं। उन्हें अपने ऊपर बड़ा क्रोध आ रहा था। लज्जा, ग्लानि और संकोच के कारण वे अपने शरीर में ही सिकुड़ी

सी जाती थी। सूर्यदेव ने उनकी नाभि को स्पर्श किया और गर्भाधान-संस्कार किया। अपना तेजस्वी अमोघवीर्य स्थापित करके सूर्यदेव अपने लोक को चले गये। देवी कुन्ती ने तुरन्त ही एक परम तेजस्वी, अत्यंत सुन्दर, कवच-कुण्डल धारण किये द्वितीय सूर्य के समान परम प्रभावान एक पुत्र उत्पन्न किया। जब तक पुत्र का मुख नहीं देखा था, जब तक तो उन्हें ग्लानि, दुःख, घृणा और आत्मनिर्वेद के कारण संकोच था। अब जब उन्होंने पुत्र का मुख देखा, तो उनका मातृ-प्रेम उमड़ पड़ा। बार बार बच्चे का मुख चूमा, उसे छाती से चिपटाया! स्तनों मे दूध आ गया था, उसे दूध पिलाया।

राजमहल के एक अत्यन्त एकान्त स्थाम मे कुमारी कुन्ती ने पुत्र को प्रसव किया उस विशाल भवन मे वह थी और थी उसकी एक वृद्धा धाय। रात्रि के समय कुन्ती ने उस सूर्य-सुतको जन्म दिया। उसके मन मे अनेक भाव उठ रहे थे। कभी तो सोचती—"इस बच्चे को लेकर कहीं दूर देश चली जाऊँ, जहाँ मुझे कोई जान न सके। वहाँ भीख माँगकर पेट भरूँगी, इस बच्चे को जिलाऊँगी, या कहीं किसी की नौकरी-चाकरी कर लूँगी।" फिर सोचती—"मैंने तो महलो से बाहर कभी पैर रखा ही नहीं। प्रातःकाल ही पिता चारो ओर दूत भेजेंगे, मुझे पकड़वा लेंगे। उन्हें यदि यह बात मालूम हो गई, तो मेरा मरण ही हो जायगा। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? हाय, राजपुत्री होकर भी आज मुझे कितना क्लेश हो रहा है! ऐसी बातें सोचकर देवी कुन्ती रो पड़ती, फिर बच्चे के मुख का देखकर उसे चूम लेती। यह कैसा सुन्दर शिशु है। अपने पिता के समान है। संसार बड़ा निर्दय है। कौन विश्वास करेगा, कि यह जगत्पति सूर्य-देव का पुत्र है? अब तो मुझे इस बालक का मोह छोड़ना ही

होगा। यह जगत्पति का पुत्र है, अपने भाग्य से, अपने प्रारब्ध-वश, जहाँ भी रहेगा, वहीं सुख से रहेगा।" इन्हीं विचारों की धारा में माता बहने-उतराने लगीं।

वर्षाऋतु थी, निशीथ की बेला थी, चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। छोटी-छोटी बूँदें पड़ रही थीं। घन-घटायें घिरी हुई थीं, बिजली चमक रही थी, बीच-बीच में घन-गर्जना हो रही थी। धाय ने एक अत्यंत सुन्दर पेटिका प्रथम से ही बना रखी थी। वह पेटिका इतनी कारीगरी से बनवाई गई थी कि उसे चाहे जितने अगाध जल में डाल दो, वह डूब नहीं सकती थी। उसमें वायु जाने के भी मार्ग थे। उसमें अत्यन्त गुलगुले गद्दे बिछे हुए थे। कई तकिये रखे हुए थे, खिलौने भी थे। धाय ने उस पर कुंकुम के थापे लगाये थे। कलावे से उसे लपेटा था। हरिद्रा, दूर्वा, सुपारी, अक्षत, दधि आदि मंगल-द्रव्य उस पर लगाये हुए थे। उसे उठाकर धाय ने राजकुमारी से कहा—"बेटी! चलो, डरो मत।"

बड़े कष्ट से, अपने हृदय के टुकड़े को छाती से चिपकाकर, काली साड़ी पहन और काली चद्दर ओढ़कर, रोते-रोते कुन्ती वृद्धा धाई के पीछे-पीछे चुपके-चुपके महलों के पीछे के मार्ग से चली। संसार प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा था, केवल दो ही जाग रहे थे एक कुन्ती और दूसरी उसकी वृद्धा धाय। कुन्ती-पुत्र माता की गोद में उसकी छाती से चिपटा हुआ झपकियाँ ले रहा था। महलों से कुछ दूर पर एक छोटी सी बरसाती नदी थी। आज-

कल वह बड़े वेग से बह रही थी, चर्मण्वती (चम्बल) की सहायक नदी थी। कुछ दूर चल कर वह चर्मण्वती में मिल गई थी। कुन्ती अपनी धाय के साथ उसी नदी-तट पर पहुँची नदी के वेग को देखकर उसका हृदय फटने लगा उसने रोते रोते बड़े कष्ट से बच्चे को अपने स्तनों का दूध पिलाया और फिर बिलखते हुए बोली—"बेटा! तुम इतने बड़े देवता के पुत्र होकर भी एक राक्षसी के गर्भ से क्यों उत्पन्न हुए? हाय! ऐसी कौन-सी मेरे समान हृदय-हीना माता होगी, जो अपने प्राणों से भी प्यारे हृदय के टुकड़े को ऐसे अगाध जल में निराधार छोड़ दे। वत्स! जाओ, किसी भाग्यवती की कोख पूरी करो। वह स्त्री धन्य होगी, जो पुत्र मानकर तुम्हारा पालन करेगी। मेरे लाल, सम्पूर्ण प्राणियों को प्रकाश देनेवाले तुम्हारे पिता भगवान् सविता तुम्हारी सर्वत्र रक्षा करें। मैं तुम्हे वरुणदेवके हाथों सौंपती हूँ और सदा के लिये सौंपती हूँ। जीवन मे फिर तुम कभी मुझे मिलोगे या नहीं, इसे भगवान् ही जानें।" ऐसा कहते-कहते रोते रोते माता ने उस पेटिका मे पुत्र को सुलाकर नदी के प्रवाह में बहा दिया। कुन्ती के शोकाश्रुओं को अपने जलमे एकाकार करती हुए वह सरिता उस पेटिका को नचाती हुई आगे बढ़ी। जब तक वह पेटी दीखती रही, माता खड़े-खड़े रोती रही। जब वह आँखों से ओझल हो गई, तब कटी हुई लता की भाँति मूर्च्छित होकर कुन्ती गिर पडी। बूढी धाय ने अपने काँपते हुए हाथों से उसे उठाकर धैर्य धारण कराया और बार बार समझाते हुए बोली—"बेटी!

अब शोक करने से काम न चलेगा। तेरा पुत्र सामान्य नहीं है। वह सविता का सुत है। उसका प्रारब्ध उसकी सदा रक्षा करेगा।" इस प्रकार समझा बुझाकर धाय कुन्ती को महलों में ले गई। इस घटना को किसी और ने नहीं जाना।

इधर जिस मंजूषिका में कुन्ती पुत्र कर्ण बिठाकर अश्व नाम की छोटी नदी मे बहाये गये थे, उस मंजूषिका को बहाती हुई वह नदी चर्मणवती नदी मे ले आई। अश्व नदी ने उस पेटिका को चर्मणवती को सौंप दिया। अब चर्मणवती उसे बहाने लगी। चर्मणवती नदी (इटावे के समीप) श्री यमुनाजी मे आकर मिलती है। अतः उसने उसे यमुनाजी को सौंप दिया। अब वह बालक पेटी मे लेटा हुआ यमुना नदी मे बहने लगा। यमुना तीर्थराज प्रयाग मे आकर गङ्गा जी मे मिलती हैं। अतः यमुनाजी ने उस पेटी को गङ्गाजी को सौंप दिया। गङ्गाजी उसे बहाते बहाते अंग देश की राजधानी चम्पापुरी (चम्पारन) के समीप ले गई। वहाँ सूतराज महाराज अधिरथ स्नान कर रहे थे। वे पुत्र हीन थे। उन्होंने मल्लाहों से उस मंजूषा को जल से बाहर निकलवाया। उसमे अत्यन्त सुन्दर शिशु देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसे उन्होंने उसी समय अपना पुत्र मान लिया और अपनी पत्नी राधा को उसे दिया। राधा की रिक्त कोख भर गयी। कर्ण कौन्तेय न कहाकर राधेय कहाये। भाग्य की विडम्बना तो देखिये! देव-पुत्र होकर भी ये भाग्य-वश सूतपुत्र कहलाये और इसी कारण पग-पग, पर अपमानित हुए।

इतने बली, शूर-वीर, दानी; तेजस्वी, तपस्वी होने पर भी भाग्य इनके प्रतिकूल था। ये भगवान् की सगी फूआ के पुत्र थे, अर्जुन की सगी माता के उदर से उत्पन्न हुए थे, भाग्य के फेर से ये दोनों ही उनके विरुद्ध हो गये और दोनों ने युद्ध में अन्याय से उन्हें मार डाला। भगवान् तो अन्याय करते नहीं। फिर उन्होंने उन्हें अन्याय से क्यों मारा—यह दूसरी कथा है। अवतार लेकर तो वे सब कुछ करते हैं। खेल में तो धर-मार, गाली-गलौज सब कुछ होता है। यह दूसरी बात है, पात्रों के मन पर उन घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। खेल की बातों में सत्यता नहीं। नाटक के समाप्त होते ही वे सब बातें भी समाप्त हो जाती हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"हाँ, तो मुनियो! मैं तो बहक गया। मैं तो आपको भगवान् की बुआओं का वंश सुना रहा था न? मैं वसुदेवजी की पाँच बहनों के सम्बन्ध में बोल रहा था। उन पाँचों में सबसे बड़ी पृथा थी, जिसे वसुदेवजी के पिता महाराज शूर ने अपने फुफेरे भाई कुन्तिभोज को दे दिया था, जिससे उदर से कन्यावस्था में सूर्यसुत कर्ण का जन्म हुआ। उसका विवाह महाराज परीक्षित् के परदादा राज राजेश्वर पाण्डु के साथ हुआ, जिसके उदर से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन उत्पन्न हुए। अब आप पृथा से छोटी बहनों के वंश को भी अत्यन्त संक्षेप में सुनिये।"

पृथा से छोटी बहन, जो श्रुतदेवा थी, उसका विवाह करूष-

नरेश वृद्धशर्मा के साथ हुआ, जिसका पुत्र—दन्तवक्र हुआ, जो पूर्वजन्म मे दिति पुत्र हिरण्याक्ष था। अबके वह भगवान् का फुफेरा भाई बनकर उत्पन्न हुआ। किन्तु भगवान् के लिये तो कोई अपना पराया है ही नहीं। उसे फुफेरा भाई समझकर भी भगवान् ने छोडा नहीं, उसे मारकर पुनः वैकुण्ठ मे पहुँचा दिया।

भगवान् की तीसरी बुआ श्रुतकीर्ति का विवाह कैकय-नरेश धृष्टकेतु के साथ हुआ, जिसके पाँच पुत्र हुए। उनमे सन्तर्दन सबसे बडे थे। ये सब कैकय राजकुमार कहलाये।

चौथी बूआ राजाधिदेवीका विवाह अवन्ति-नरेश महाराज जयसेन के साथ हुआ, जिससे विन्द और अनुविन्द नामक दो पुत्र हुए, जो महाभारत मे काम आये। इनके एक पुत्री भी थी, जिसका नाम मित्रविन्दा था। उसके साथ भगवान् ने अपना विवाह कर लिया। द्वारिका में जाकर उन्होंने दाक्षिणात्य पद्धति का अनुसरण किया, तभी तो बूआ की बेटी को अपनीबहू बना लिया।

पाँचवीं भगवान् की बूआ श्रुतश्रवा का विवाह चेदिदेश के राजा दमघोष के साथ हुआ, जिससे शिशुपाल नामक पुत्र हुआ, जो पूर्वजन्म मे दिति पुत्र हिरण्यकशिपु था। यह भी अबके फुफेरा भाई ही बना था। भगवान् ने इसका भावी बहू को बल पूर्वक हरण करके अपनी बहू बना ली और इसका भी सिर धर्मराज के राजसूय यज्ञ मे धड से पृथक् कर दिया। यह प्रसङ्ग आगे श्रीकृष्ण-लीला प्रसङ्ग मे विस्तार के साथ वर्णन होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने संक्षेप में भगवान् की बुआओं के वंश का वर्णन किया। अब आप भगवान् के चचेरे-मौसेरे-सगे भाइयों का वर्णन सुनिये।

छप्पय

धरि मंजूषा माँहि नदी महँ वत्स बहायो।
चम्बल-यमुना गङ्ग बहत चम्पारन आयो॥
अधिरथ पकर्‌यो तुरत मुदित ह्वै पुत्र बनायो।
राधा कूँ दै दयो, कर्ण राधेय कहायो॥
पृथा विवाही पाण्डु कूँ, पाण्डव जाके भये सुत।
श्रुतदेवा के भयो खल, दन्तवक्र सुत पापयुत॥

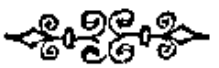

शूर-सुतों की सन्तति

(८१०)

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥१

(श्रीभा० ९ स्क० २४ अ० ५६ श्लो०)

छप्पय

केकय कूँ श्रुतकीर्ति विवाही बूआ हरि की ।
चौथी बूआ भई सुरानी अवन्तीश की ॥
श्रुतश्रवा ने चेदिराज शिशुपाल हु जायो ।
मारि चक्र तैं कृष्णचन्द्र वैकुण्ठ पठायो ॥
नौ चाचा भगवान् के, कछु मौसिनि के पति भये ।
कछु इत-उत तैं बहू लै, बेटा-वारे बनि गये ॥

वनवारी की वंशी जिन बाँसों की बनी थी, उन बाँसों के वंश-वारे अपने को अत्यन्त ही भाग्यशाली समझते थे, कि हमारे वंश मे उत्पन्न किसी बाँस की बेटी वंशी का सम्बन्ध भगवान् वासुदेव के अधरों के साथ हो गया। जब-जड बाँसों मे भी अपने वंशज के भगवत्-सम्बन्ध से पुलक, रोमाञ्च, आदि सात्विक भाव हो जाते हैं, तो जड नहीं हैं, चैतन्य हैं, और जिनके वंश में साक्षात् वनवारी ही स्वय उत्पन्न हो जायँ, तो उनकी प्रसन्नता

१—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"जब जब ससार में धर्म का क्षय और पाप की अभिवृद्धि होती है, तब-तब सबके स्वामी भगवान् हरि अपने आपको उत्पन्न करते हैं अर्थात् अवतार धारण करते हैं।"

का तो करना ही नहीं ! वह कुल-का-कुल पावन बन जाता है। उस वंशवाले सभी वन्दनीय और कीर्तनीय बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैं आप को एक कथा सुनाता हूँ। एक पण्डित जी थे। उनके एक बड़ी भोली-भाली लड़की थी। पिता उसे बहुत उपदेश देते। जो उपदेश भगवत्सेवा-सम्बन्धी होता, उसे तो वह बड़े ध्यान से सुनती; जो संसारी बात होती, उसे टालमटोल कर देती। पण्डितजी ने उसका विवाह एक लड़के के साथ कर दिया। विदा के समय भोली-भाली बच्ची पिता के पास आकर बैठ गई। पिता उसे उपदेश देने लगे—"देख, बेटी ! पति को परमेश्वर मानकर उनकी पूजा करना, सास-ससुर का आदर करना, द्वौरानी-जिठानियों से मेल रखना, देवर-जेठों की रोटी में और अपने पति की रोटी में भेद-भाव न करना, जो देवर काम न करते हों, उनसे कभी भी कड़े वचन न कहना, सास ननद की बातों को धैर्य से सुनना, बड़े-बूढ़े को देखकर घूँघट मार लेना।" इसी तरह की बहुत बातें वे उसे बताते रहे। अन्तमें उन्होंने पूछा—"बेटी ! तेरी बुद्धिमें कुछ बात बैठी ?"

लड़की ने सरलता से कहा—"हाँ, पिताजी ! बैठी।"

पिता ने उल्लास से पूछा—"क्या बैठी बेटी ?"

लड़की बोली—"यही पिताजी ! कि जब से आपने कहना आरम्भ किया है, तब से चीटियों के इस बिल में से एक लाख बत्तीस हजार पाँच सौ पच्चीस चीटियाँ निकली हैं।"

पिता ने यह सुनकर माथा ठोका,—हाय ! मेरे उपदेश को इसी प्रकार इसने सुना ! मेरी बात की ओर ध्यान न देकर यह चीटियों को गिनती रही।" सो महाराज ! मुझे भी कुछ ऐसा प्रतीत होता है, कि जब मैं भक्त और भगवान् का कोई आख्यान कहता हूँ, तब तो आप बड़े मनोयोग से ध्यानपूर्वक सुनते हैं;

किन्तु जब मैं वंशावली कहता हूँ, तब आप अन्यमनस्क भाव से उसे सुनते रहते है और माला सटकाते रहते है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह आप कैसे कहते है? हम तो आप की कथा बडे ध्यान से सुनते है।"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! यदि आप कथा ध्यान से सुनते हैं, तो बताइये, भगवान् के कितनी मौसियाँ थी और उनके क्या-क्या नाम थे।"

यह सुनकर शौनकजी हँस पडे और बोले—"सूतजी! सुन लो हमारा सच्ची बात। भगवान् की मौसियो की हमने खीर तो खाई नहीं, न उनकी छठी की कसार और पूडियाँ ही उडाई, जो हमे उनके नाम याद हो। हम तो भगवान् को जानते हैं, उनके नाना देवक और उग्रसेन को जानते हैं, उनकी माता देवकी को जानते हैं, और उनके एक मामा कंस को भी जानते हैं। उनकी मामी, मौसी, चाची, ताई—इन सब से हमे क्या प्रयोजन? हाँ, आप कथावाचक हैं, आप को सब के नाम स्मरण रखना आवश्यक है। अतः आप कथा कहते चलें, हम सुनते चलते हैं। जो स्मरण रखने योग्य बात होगी, उसे हम स्मरण कर ही लेंगे।"

इस पर सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! सत्य है आप का कथन। किन्तु भगवन्! हमें तो कोई कथा कहनी होती है, तो प्रथम उसकी भूमिका बाँधनी पडती है, उसकी सब सामग्री जुटानी पडती है। जैसे कोई शिल्पी किसी यन्त्र को बनाता है तो छोटे बडे सभी प्रकार के आवश्यक औजारो को रख लेता है, किस समय किस की आवश्यकता पड जाय। कभी-कभी तो जिनको रखता है, उनमे से किसी का उपयोग होता भी नहीं। अतः श्रीकृष्ण चरित के लिये मैं सब सामग्री जुटा रहा हूँ। अत्यंत संक्षेप मे भगवान् के नौ चाचाओ का, उनकी मौसियों का,

वृत्तान्त कहकर फिर भगवान् के ही चरित का आरम्भ करूँगा।"

शौनकजी बोले—"अच्छी बात है, सूतजी! एक साँस में सुना दीजिये भगवान् के नौ चाचाओं का वंश।"

सूतजी बोले—"लीजिये महाराज! सुनिये। फिर यह मत कहियेगा, कि घास-सी काट गये। देवभाग एक, देवश्रवा दो, आनक तीन, सञ्जय चार, श्यामक पाँच, कङ्क छः, शमीक सात, वत्सक आठ, और वृक नौ—ये नौ तो भगवान् के चाचा थे। कंसा एक, कंसवती दो, कङ्का तीन, शूरभू चार और राष्ट्रपालिका पाँच ये पाँच भगवान् की मौसी थीं। वसुदेवजी ने सोचा—"अब कहाँ नई नई ससुराल बनाते फिरें। अपने भाइयों का विवाह भी अपनी ही ससुराल में कर लें अतः अपनी पाँचो सालियों का विवाह अपने पाँचो भाइयो के साथ कर लिया। चार शेष रह गये, सो उनका इधर-उधर से जोड तोड मिलाकर घर बसा दिया। इसलिये भगवान् की पाँचों मौसियाँ मौसी भी थीं और चाची भी थीं। बडी मौसी कंसा का विवाह बडे चाचा देव भाग के साथ हुआ। उन दोनों से भगवान् के चित्रकेतु और बृहद्बल ये दो चचेरे भाई हुए। कंसवती मौसी का विवाह देव श्रवा चाचा से हुआ। उनके सुवीर और इषुमान ये दो पुत्र हुए। आनक चाचा की पत्नी कङ्का हुई, जिनके गर्भ से सत्याजित् और पुरुजित् का जन्म हुआ। सृञ्जय चाचा की बहू राष्ट्रपालिका थी, जिनसे वृष और दुर्मर्षणादि कई पुत्र हुए। श्यामक चाचा ने शूरभूमि के गर्भ से हरिकेश और हिरण्यान ये दो पुत्र उत्पन्न किये। अब मौसी तो हो गईं समाप्त। चार चाचा और शेष रह गये। उनमें से वत्सक चाचा ने एक मिश्रकेशी अप्सरा से विवाह कर लिया, उससे वृक आदि कई पुत्र हुए। वृक चाचा की भी दुर्वाक्षी नाम्नी अप्सरा ही पत्नी थी। उससे तक्ष, पुष्कल और

शाल आदि कई पुत्र हुए। शमीक चाचा की सुदामिनी नाम्नी रानी थी, उससे सुमित्र और अर्जुन पाल आदि कई पुत्र हुए। कङ्क चाचा की स्त्री का नाम कर्णिका था, उससे ऋतधाम और जय ये दो पुत्र हुए। यह अत्यन्त संक्षेप में मैंने वसुदेवजी से छोटे भाइयों के वंश का वर्णन किया। अब आप वसुदेवजी के वंश को भी सुनिये।

शौनकजी बोले—"सूतजी! इस वंश विस्तार को वहीं समाप्त भी करोगे, या कहते ही चलोगे। महाभाग! अब बहुत हो गया, हमें आप श्रीकृष्ण चरित सुनावें।"

सूतजी बोले—"अब बस महाराज! आ गया कर काँटे पर मामला।" बहुत गई थोड़ी रही, वह भी बीती जात।" अब आप सोचें भगवान् के सम्बन्ध से कितनों के वंश का वर्णन कर डाला। भगवान् के सगे भाइयों के नाम न बतावें तो अनुचित होगा। कोई बहुत नहीं। वसुदेवजी की तेरह ही तो पत्नियाँ थीं। सब के ये ही आठ आठ दश दश पुत्र हैं। उन सबका नाम निर्देश ही तो करना है। हाँ, तो सुनिये वसुदेवजी की छः और सात, तेरह पत्नियाँ थीं। पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना और इला, छः तो ये हुईं और धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी सात ये महाराज देवक की पुत्री—इस प्रकार ये सब तेरह थीं। इनमें रोहिणी के गर्भ से बलदेवजी, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और कृत आदि कई पुत्र उत्पन्न हुए। पौरवी से सुभद्र, भद्रबाहु, दुर्मद, भद्र और भूत आदि बारह पुत्र हुए। मदिरा के नन्द, उपनन्द कृतम और शूर आदि पुत्र हुए। कोशल देश की जो भद्रा थी जिसका कौशल्या भी नाम था, उसने केशी नाम का एक ही कुल की कीर्ति को उज्ज्वल करने वाला पुत्र पैदा किया। रोचना

हस्त हेमाङ्गदादि कई पुत्र जने। इलाने उरु, वल्कल आदि वीर यादवों को उत्पन्न किया। ये तो छः पत्नियों के वंश हुए, अब जो महाराज देवक की सात पुत्रियाँ थीं, जो सबकी सब वसुदेवजी को विवाही थीं, उनके भी वंश को सुनो।

सबसे बड़ी धृतदेवा के गर्भ से वसुदेवजी ने महा तेजस्वी विदष्ठ नामक 'शूरवीर' बली पुत्र को पैदा किया। शान्ति देवा के श्रम और प्रतिश्रुत नामक कई पुत्र हुए। उपदेवा के कल्प, वर्ष आदि दश क्षत्रिय राजा उत्पन्न हुए। श्रीदेवा के वसु, हंस, तथा सुतश आदि छः पुत्र हुए। देवरक्षिता ने नौ पुत्रों का जन्म दिया, जिनमें गद मुख्य थे। सहदेवा ने आठ पुत्रों को उत्पन्न किया, मानो आठों वसु पुत्र रूप से उत्पन्न हुए हों। उनमे पुरु और विश्रुत ये मुख्य थे।

अब सबसे छोटी पत्नी देवकीमे वसुदेव ने आठ पुत्र और एक पुत्री पैदा की पुत्री सबसे छोटी थी, उसका नाम सुभद्रा था और कीर्तिमान, सुषेण, भद्रशेन ऋजु,सम्मर्दन,भद्र,और शेषावतार भगवान् संकर्षण वसुदेवजी—ये सात पुत्र थे।

शौनकजी बोले—"सूतजी! आठवें वसुदेवजीके पुत्र कौन थे?"

हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! इतनी गाथा इन आठवें ही देवकी सुत के लिये तो गाई गई। ये देवकी के आठवें ही सुत स्वयं साक्षात् श्रीहरि थे। ये ही स्वयं साक्षात् परात्पर प्रभु भगवान् वासुदेव थे। इनका जन्म भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी के दिन हुआ था। इन अज, अच्युत, अव्यक्त, अनादि, अचिन्त्य श्रीहरि ने भाद्रपद की अष्टमी को अर्धरात्रि के समय अवतार धारण किया था। उनकी अवतार कथा को अब मैं आगे वर्णन करूँगा। आप दत्त-चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

शूर पुत्र वसुदेव वंश कूँ अब हौं गाऊँ।
तेरह रानी हतीं सबनि के नाम गिनाऊँ॥
सुनहु रोहिणी, इला, पौरवी अरु धृतदेवा।
भद्रा, मदिरा, देवरक्षिता अरु सहदेवा॥
शान्तीदेवा सुन्दरी, श्रीदेवा हू नाम की।
उपदेवा इन सबनि महँ, सबतें छोटी देवकी॥

श्रीकृष्ण रूप-सुधा की बानगी

(८११)

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोल सुभगं सविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो ।
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ❀॥

(श्री भा० ९ स्क० २४ अ० ६५ श्लो०)

छप्पय

आठ सात दश एक भये सबके ही सुतवर ।
आठ देवकी जने भये अष्टम ,श्रीगिरधर ॥
जब जब होवे धर्म नाश बाढे अघ अतिशय ।
तब तब लै अवतार करहिं हरि धर्म अभ्युदय ॥
कौन कहि सके कौतुकी, के कारन अवतार का ।
कौतुक-वश कीड़ा करत, काज सरत ससार को ॥

संसार में जितना प्रकाश है,सब सूर्य, चन्द्र और अग्नि का ही है। इनको भी किसी एक ही स्थान से प्रकाश मिलता है। हम

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन श्रीहरि का मुखारविन्द मकराकृत-कुण्डल-मण्डित कमनीय कर्णों से, कान्तिमय कमनीय कपोलों से अत्यन्त ही सुशोभित था, जिस पर विलासयुक्त हास छिटक रहा था, उस नित्य प्रफुल्लित मुखारविन्द के मकरन्द को मुदित हुये नर-नारी अपने नयन-पुटों से पान करते हुए, कभी भी तृप्त नहीं होते थे, तथा निमिपर कुपित होते थे।"

नगर मे विद्युत् का प्रकाश देखकर भौचक्के-से रह जाते है, किसी श्रीमान् के घर अत्यधिक प्रकाश देखकर हम उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। उस समय हम इस बात को भूल ही जाते हैं, कि श्रीमान् के घर प्रकाश विद्युत् केन्द्र से आ रहा है, जहाँ से सभी को प्रकाश मिलता है। यदि हमारी दृष्टि केन्द्र की ओर रहे, तो हमें आश्चर्य, विस्मय, सम्मोह तथा सोच न हो। संसार मे हम किसी स्त्री-पुरुष, युवक, युवती, बालिका-बालक तथा अन्य किसी वस्तु मे सौंदर्य देखते हैं, तो विस्मित हो जाते हैं। ओहो! कैसा सौंदर्य है, कितना माधुर्य है, कैसा लावण्य है! उस समय हमे यह स्मरण बना रहे, कि जहाँ से यह सौंदर्य इस वस्तु मे आया है, उस सौंदर्य के सम्मुख यह सौंदर्य उतना भी नहीं, जितना अथाह अगाध सागर का एक बिन्दु, तो हम उस सौंदर्य पर मोहित होकर अपने संसार-बन्धन को और सुदृढ़ न कर लें। उस अचिन्त्य, अलौकिक, अद्भुत्, अपार सौंदर्य की छटा कभी कभी अच्युत अवनि पर अवतरित होकर भाग्यशाली भक्तों को दिखाते हैं और उनके नेत्रो को सफल बनाते हैं। जिन्होंने उस सौंदर्य की राशि की एक बार भी बाँकी झाँकी कर ली, वे निहाल हो गये, धन्य हो गये, कृतार्थ हो गये!

भगवान के सभी अवतार सुन्दर हैं, उनकी सभी चेष्टायें सुन्दर हैं, वे जो रूप रख लें वही सुन्दर है। जो वस्त्र आभूषण धारण करलें, वे भी अंगों के सौन्दर्य से सुन्दर हो जाते है। भगवान् देवता, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक, पशु, पक्षी, जलचर, नभचर, भूचर सभी योनियों मे अवतरित हुए। सभी उनके रूप को देखकर मुग्ध हुए, अपने पने को भूल गये, किन्तु इस श्रीकृष्णावतार मे तो उन्होंने सौंदर्य की पराकाष्ठा कर दी। ऐसा सुन्दर स्वरूप न कभी पृथ्वी पर प्रकट हुआ, न उसके अतिरिक्त अन्य कभी

प्रकट हो ही सकता है। स्थावर, जङ्गम, चर-अचर की तो बात ही क्या, वे स्वयं ही अपने अद्भुत रूप को निहारकर आत्म-विस्मृत बन जाते। जब भी वे आदर्श में अपना रूप अवलोकन करते, तब स्वयं ही कह उठते, ओहो ! इतना सौन्दर्य ! क्या सचमुच मैं इतना सुन्दर हूँ ? फिर देखते—क्षण-क्षण में वह रूप नवीन नवीन बन जाता। पल-पल मे वे उसे भूल जाते और विस्फारित नेत्रों से देखते। यह सौन्दर्य कैसा है ? यह माधुर्य कहाँ से आया ? जब वे स्वयं ही अपने रूप पर विमुग्ध हो जाते हैं, तब अन्य को क्या वार्ता ? कौन उस रूप का वर्णन कर सकता है ? कौन उस सौन्दर्य के सम्बन्ध में साधिकार कुछ कह सकता है ? हम सब तो उसकी छाया को ही कहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! देवकी के अष्टम गर्भ से स्वयं साक्षात् परात्पर प्रभु प्रकट हुए ?"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! भगवान् को क्या आवश्यकता थी, जो इस कोलाहलपूर्ण संसार मे, इस दुःखपूर्ण मर्त्यधर्मा मर्त्यलोक मे आकर अवतरित हुए।"

सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान् को धर्म अत्यधिक प्रिय उनका हृदयज पुत्र है। यद्यपि अधर्म भी उनकी ही पीठ से पैदा हुआ पुत्र है, किन्तु उसका वे उतना आदर नहीं करते। पृथ्वी पर जब-जब पाप का अभ्युदय हो जाता है, धर्म का जब-जब संसार मे क्षय हो जाता है, तब-तब वे सर्वेश्वर सर्वात्मा श्रीहरि अनेक रूप रखकर अवतरित होते हैं।"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! क्या साधु-परित्राण और दुष्कृत-विनाश ही भगवान् के अवतार का एकमात्र कारण है ?"

सूतजी हँसकर बोले—"नहीं, महाराज ! उनके अवतार के यथार्थ कारण को कौन कह सकता है ? दुष्टों का विनाश और

शिष्टो का पालन तो उनके सकल्पमात्र से ही हो सकता है। जीवो की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—यह तो उनकी माया विलास का ही हेतु है। जिनका अहैतुकी अनुग्रह हो, इन जन्म मरणादि की सर्वथा के लिये निवृत्ति और आत्मस्वरूप सुखस्वरूप की प्राप्ति, का हेतु है, उनके अवतार के सम्बन्ध मे "इत्थम्भूत" कहना यह दुस्साहसमात्र ही है, अज्ञता है, मूर्खता है।

उन प्रभु के अवतार के सम्बन्ध मे यदि कुछ कहा भी जा सकता है, तो यही कि वे भक्तो पर कृपा करने के लिये ही अवनि पर अवतरित होते हैं। अपने अनुगत आश्रितों पर अनुग्रह करने के अतिरिक्त और कोई निश्चित कारण बुद्धि मे आता नहीं। गो, जो अपने उदर से स्तनो म दुग्ध उतारती है, उसका कारण अपन वत्स के प्रति कृपा ही है। वह अपने बछडे के स्नेह से दुग्ध उतारती है, उतारने पर उसे कोई दुह ले, कोई पी ले, कोई अपने बल को बढा ले, कोई अपनी आत्मा की तृप्ति कर ले, कोई सपन पराक्रम-वीर्य को बढा ले, गो की दृष्टि तो वत्स पर ही रहता है। माता के दुग्ध पर प्रधान अधिकार तो वत्स का ही है।

कलियुग मे उत्पन्न होनेवाले जीव अत्यन्त ही दीन होंगे, वे दु खी और शोकयुक्त होंगे। किसका ध्यान करने से उनका दु ख शोक दूर हो, यही भक्तवत्सल भगवान् को चिन्ता हुई। उन्होने सोचा—"अल्प मे सुख नहीं, क्षुद्र मे सुख नहीं, विनाशी मे रस नहीं। क्यो न मैं ही अद्भुत रूप रखकर इन दु खित क्लान्त जीवो के मध्य मे अवतरित होऊँ? क्यो न मैं ही अपना अपार सौन्दर्य माधुर्य, लावण्य, दिखाकर इन्हे शान्ति की सुधा का पान कराऊँ? मेरे रूप का ध्यान करके अनन्त काल तक जीव सुख-शान्ति का अनुभव करेंगे। उनके क्लेश, दु ख शोक,सताप तथा आधिव्याधि सभी का आत्यन्तिक नाश हो जायगा। मेरे यश-रूप अमृत का

कर्ण-पुटों द्वारा प्रेमपूर्वक पान करने से प्राणी इस भव पयोधि से परिश्रम बिना ही पार पहुँच जायँगे।" यही सब सोचकर उन्होंने अज्ञान को निवृत्त करनेवाला अपना परम पवित्र सुयश संसार में फैलाया। अपनी त्रैलोक्यमोहिनी मूरति का पृथ्वी पर प्रादुर्भाव किया। जिस अनुपम रूप के साक्षात् दर्शन से या ध्यान में दर्शन करने से जीव समस्त अशुभों से तत्काल छूट जाता है, उनके यश, रूप पवित्र तीर्थ में अवगाहन करनेवाले साधुजन, उसे अपने कर्ण पुटों से पुनः पुनः पान करनेवाले गणत पुरुष, मोक्ष की प्रतिबन्ध स्वरूपा कर्मवासना को तत्काल त्यागकर संसार-बन्धनों से दास के लिये छूट जाते हैं। पुनः पुनः पान न भी कर सके, तो भी एक बार ही श्रीहरि के यशामृत का श्रोत्ररूप अञ्जलि से आचमन मात्र ही करने से कल्याण हो जाता है।

इस श्रीकृष्णावतार में भगवान् ने बड़ी-बड़ी श्रुत-मधुर, त्रैलोक्य पावन, हृदय तथा इन्द्रियों को सुख देनेवाली क्रीडायें कीं, जो मुक्तों को, मुमुक्षुओं को, नित्यों को तथा बद्ध जीवों के लिये भी आनन्द देनेवाली हैं। ज्ञानियों को, वीरों को, यहाँ तक कि संसारी विषयियों को भी वे लीलायें अच्छी लगती हैं। उस समय असुर अवनि पर राजाओं के रूप में अवतीर्ण हो गये थे। अनेकों अक्षौहिणी सेना के वे सब स्वामी बन गये थे, वे बड़े दुस्साहसी, अभिमानी, क्रूर तथा तपस्या में निरत थे, और कोई उन्हें मार नहीं सकता था, क्योंकि उनमें तप का भी बल था। (भगवान् के अतिरिक्त ऐसे सामर्थ्ययुक्त क्रूरकर्मा का वध कौन कर सकता था? पृथ्वी उनके भार से आक्रान्त हो गई। उसने दीन-वाणी से विश्वम्भर की विनय की। सबके घट घट की जानने वाले, गो-ब्राह्मणों के प्रतिपालक, ब्रह्मण्यदेव गोपाल भू का भार उतारने के निमित्त अपने बड़े भाई शेषावतार श्री संकर्षणजी

के सहित अवतीर्ण हो गये और अवतार धारण करके उन भगवान मधुसूदन ने ऐसे-ऐसे अनेकों कठिन कार्य किये, जिनका देवेश्वरगण अन्तःकरण से भी अनुमान नहीं कर सकते।

महाराज! जिनकी लावण्यमयी ललित लीलाओं का भोजवंशी, वृष्णि-वंशी, अन्धक-वंशी, मधुवंशी, शूरसेन, दशार्ह, कुरु, सृञ्जय तथा पाण्डुवंशीय वीर निरन्तर गान करते हैं और उनकी प्रशंसा करते हैं, उन श्रीहरि ने अपनी चेष्टाओं से संसार को तृप्त कर दिया, उसे एक सच्चे सुख का मार्ग दिखा दिया। उन्होंने अपनी स्नेहयुक्त मन्द-मन्द मधुर मुस्कानमयी टेढ़ी चितवन से, प्रेम-प्रसाद-पूर्ण विलासमयी वाणी से, बल, विक्रम और साहसमयी ललित लीलाओं से त्रैलोक्य-पावन भुवनमोहन सर्वाङ्गसुन्दरी सुखमय सुघर स्वरूप से नृलोक को रमण कराया, उसे आनन्दित किया, उन श्रीहरि के सम्पूर्ण अङ्ग का वर्णन मुनियो! कौन कर सकता है? केवल बानगी के लिये, रस का चस्का लगाने के लिये मैं उनके अनुपम आनन का यत्किञ्चित् वर्णन करके फिर उनकी ललित लीलाओं को संक्षेप में कहूँगा।

मुनियो! तनिक आप अपने दुग्ध-फेन के समान स्वच्छ, कमल के समान विकसित, करील के पुष्प के समान सरस नेत्रों को बंद करके श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य-युक्त आनन का ध्यान करें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप बार-बार आनन-आनन कहते हैं। श्रीकृष्ण के मुख-कमल को आप मुखारविन्द, चन्द्रवदन, आदि क्यों नहीं कहते?"

सूतजी हँसते हुए बोले—"अजी, महाराज! आनन कहने में अनेक हेतु हैं। आनन का अभिप्राय यह है कि इस मुख को अन्य साधारण मुख समझकर ऐसे ही देखने मत चले आना। आओ तो सम्हल कर आना। यह ऐसा अगाध रस-सागर है कि

आते ही निमग्न हो जाओगे, डूब जाओगे। इसलिये आ-आओ न न मत आना, मत आना।

अथवा मुख की जो चन्द्र से, कमल से, उपमा देते हो, वे सब उपमायें यहाँ फीकी पड जायँगी। आ समन्तात् न-न। अर्थात् न यहाँ चन्द टिक सकता है, न कमल। इसे तो बिना उपमा के अनुपम समझकर केवल 'आनन, ही उपचार से कह दिया।

अथवा जिनके दर्शनों से व्रज जीवों की चारो ओर से चेष्टायें होती हैं, जो उस रूप माधुरी को सब ओर से देखते के देखते ही रह जाते हैं। "आसमन्तात् अनन चेष्टन-यद्दर्शनेन व्रज-जीवाना तत् आनन।" इस प्रकार यह आनन शब्द बहुर्थ-वाचक है। इसलिये मेरे गुरुदेव ने बिना किसी विशेषण के लगाये इसे सीधा आनन कह दिया। यदि इसकी मैं शास्त्रीय विवेचना आरम्भ कर दूँ, तब तो आप सब आनन मे ही अटके रह जायँगे। यद्यपि जीव का आनन मे उलझ जाना ही परम पुरुषार्थ है, यही नेत्रों की सार्थकता है, फिर भी महाभाग नेत्रो को ही आहार देना धर्म नहीं है ये बेचारे कर्ण कब से प्यासे हैं? ये श्रीकृष्ण गुण-श्रवण के लोलुप हुए कब से अपने द्वारो को खोले खडे हैं? कुछ इनका भी तो शील-सकोच कीजिये, इन्हे भी तो यशामृत का पान करने दीजिये। अतः अब आनन का हा अर्थ न करके मैं आनन की कुछ छटा की चासनी चखाकर, उसकी ही बानगी बता, श्रुत-मधुर अत्यत ही कर्णप्रिय श्रीकृष्णचरित कहूँगा।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! आसमन्तात् अनन = आननम् या आ समन्तात् न-न आनन इन व्याख्याओं मे हमें कोई आनन्द नहीं आता। आप तो हमें उस अनुपम आनन की मानसिक झाँकी करावें।"

सूतजी बोले—'हाँ, तो महाराज! नेत्रों को बन्द कीजिये।

ध्यान कीजिये। माथे पर मोर-मुकुट हिल रहा है। काले-काले घुँघराले, सटकारे, प्यारे कुटिल केश हिल हिलकर कपोलों को व्यजन कर रहे हैं। अर्ध स्फुटित नील कमल के समान कर्ण कुछ तो केशों से ढँके हैं। नीचे के भाग में जो छिद्र हैं, उनमें मकराकृत कमनीय कुण्डल लटक रहे हैं, वे कुण्डल कर्णों की ही नहीं, कपोलों की भी श्रीवृद्धि कर रहे हैं। गोल-गोल आरसी के समान लोल कपोल कुण्डलों की दमक से, नेत्ररश्मियों की चमक से, कुटिल केशों की आभा से, विकसित से दिखाई देते हैं। कुंदरू के समान लाल-लाल अत्यंत गुदगुदे रसभरे अधरों पर मन्द-मन्द मुस्कान छिटक रही है, मानों बन्धूक पुष्प की कलिका के ऊपर चन्द्र की रश्मियाँ छिटक रही हों और चुलबुली वायु आकर गुदगुदी करके उसे हँसा रही हो। उसी प्रकार वे रसीले-लजीले मधुमय ओंठ हँसी से हिल रहे हैं। दोनों कमलों के समान बड़े-बड़े नेत्रों के कटाक्षरूप बाणों को मानों भ्रकुटी रूप धनुष पर चढ़ाकर दर्शकों को आहत करने का उपक्रम कर रहे हों। ऐसे उन श्यामसुन्दर मदनमोहन आनन्दकन्द व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र के मुखारविन्द का अवलोकन करके उसके मधुर मकरन्द को अपने नयन पुटों द्वारा यथेष्ट पान करके नर हो अथवा नारी, विवाहिता हो अथवा क्वारी, त्यागी विरागी हो या घोर संसारी—कोईभी कभी तृप्त नहीं होते। सब चाहते थे, अपलक भाव से इस साकार रूप की खान आनन को निहारते ही रहें, किन्तु बीच में पलक प्रतिबन्ध डाल देते थे। निमेष उन्मेष होने से दर्शनों में व्यवधान पड जाता था। इसलिये सभी पलकों के अधिष्ठातृ देव राजा निमि को गाली देते थे कि यह हमारे दर्शन में विघ्न डालता है, पलकों को मारकर अन्तराय उपस्थित करता है। इस निगोडे को निकाल दो। विधाता से कह दो, यह हमारे पलकों पर न बैठा करे। इसे

बैठना ही हो, तो तब बैठे, जब हम श्रीकृष्ण-रूप सुधा का पान न करते हों।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं कहाँ तक कहूँ, भगवान् का सौन्दर्य-माधुर्य अकथनीय। है उसका अनुमान तो वे ही भाग्यशाली कर सकते हैं, जिन्होंने उसके एक बार दर्शन किये हों, फिर उसे संसार का सभी सौंदर्य फीका-फीका दिखाई देता है। महाभाग! अब मैं श्रीकृष्णचरित का आरम्भ करता हूँ, आप सब सावधान हो जायँ।"

छप्पय

आ पै चितवन मधुर मन्द मुसकान-मयी है।
नयन—पुटनि तैं पान करन छवि सुधामई है॥
कानन कुण्डल सुघर कपोलनि आनन दमके।
चहु रदिम के परत सुदामिनि सम सो चमके॥
इक टक निरखहि नारि-नर, मन अँटके चित चकित है।
परे पलक व्यवधान तो, निमिकूँ कोसें दुखित है॥

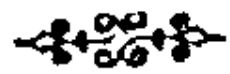

भागवत कथा, खण्ड ३ — सामन्त श्रीकृष्ण

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(छत्तीसवाँ खण्ड)

ती माधव मद

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्वितो।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'।

(कालय) की

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●

संशोधित मूल्य २ ० रुपया

तृतीय संस्करण १००० } माघ वसंतपंचमी सं० २०२७ { मूल्य : १.६५

मुद्रक—वंशीधर शर्मा भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठाङ्क
१—संक्षिप्त श्रीकृष्ण-चरित	...	१
२—महाराज परीक्षित का श्रीकृष्ण-चरित-सम्बन्धी प्रश्न		७
३—महाराज परीक्षित की कथा श्रवण में उत्सुकता	..	१६
४—श्रीशुक द्वारा परीक्षित-प्रश्नों की प्रशंसा	...	२३
५—भगवान् के अवतार के निमित्त	...	३५
६—श्रीहरिद्वारा भू और देवों को आश्वासन	...	४७
७—वसुदेवजी का विवाह	...	५४
८—कंस को आकाशवाणी	...	६२
९—वसुदेवजी की प्रतिज्ञा	...	७२
१०—वसुदेवजी द्वारा कंस को पुत्र प्रदान	...	८१
११—कंस की सभा में देवर्षि नारदजी	...	८९
१२—कंस स्वयं राजा बन गया	...	९९
१३—शेषावतार श्री बलरामजी का प्राकट्य	...	१०६
१४—विश्वात्मा का वसुदेवजी के अंतःकरण में प्रवेश	...	१३०
१५—हिरण्य गर्भ का देवकी के गर्भ में प्रवेश	...	१३७
१६—कंस की चिन्ता	...	१४८
१७—गर्भगत श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति	...	१५४
१८—श्रीकृष्ण जन्म	...	१६२
१९—श्रीहरि और श्रीवसुदेव देवकी	...	१७१
२०—गोकुल की गोल में	...	१८१
२१—नन्दरानी के प्रसव	...	१८७
२२—कारावास में कन्या-योगमाया	...	२०७
२३—कारावास में कंस	...	२२२
२४—योगमाया की भविष्यवाणी	...	२३५
२५—कारावास से श्रीदेवकी वसुदेवजी की मुक्ति	...	२४३

संक्षिप्त श्रीकृष्णचरित

[८१२]

जातो गतः पितृगृहाद् व्रजमेधितार्थो
हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः ।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे
आत्मानमात्मनिगमं प्रथयञ्जनेषु ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० २४ अ० ६६ श्लो०)

छप्पय

जन्म अष्टमी पक्ष कृष्ण भादौं की रजनी ।
विद्युत् घन महँ चमक उठै काची जनु बजनी ॥
पितु कूँ आज्ञा दई गये गोकुल गिरधारी ।
नन्द यशोदा महल मनहु खिलि गई उजारी ॥
गो गोपी अरु गोपगन, सँग नित हरि क्रीड़ा करहि ।
असुर देहि दुख सबनि कूँ, हनि तिनकू जग भय हरहि ॥

जो बुद्धिमान मिठाई बेचने वाले होते हैं, जिन्हे अपनी मिठाई की उत्तमता पर पूर्ण विश्वास होता है और जिन्हें योग्य

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण ने जन्माष्टमी के दिन जन्म लिया । तदन्तर वे अपने पिता के घर से गोकुल गये, वहाँ बढ़े हुए, अपने शत्रुओं का संहार किया । फिर बहुत सी पत्नियों का पाणि-ग्रहण करके उनसे पुत्र उत्पन्न किये तथा लोगों में वेदमर्यादा स्थापित करने के निमित्त अनेकों यज्ञों द्वारा अपने आप ही अपना यजन किया ।"

उत्तम ग्राहक की भी परीक्षा होती है, वे पहले उत्तम अधिकारी को बिना माँगे कुछ मिठाई बानगी के लिये दे देते हैं। उसका रस चखकर वह व्यक्ति जिसकी जिह्वा मधुर रस को चखते ही लपलपाने लगती है, वह फिर बिना मिठाई लिये रह नही सकता ! इसी प्रकार उत्तम वक्ता अधिकारी श्रोता को कथा का सूत्रपात्र करके उसकी उत्सुकता को बढाते हैं। यदि वह आगे के लिये उत्कंठापूर्वक जिज्ञासा करता है, तब तो उसे आगे को कथा बताते हैं, नहीं तो उसे समाप्त कर देते हैं। सूत्रपात करने से अधिकारी की परीक्षा हो जाती है।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! अब मैं आपको श्रीकृष्णचरित सुनाता हूँ। भाद्रपद के कृष्णपक्ष की अष्टमी को अर्धरात्रि के समय मथुरा के कारावास मे भगवान् का जन्म हुआ। तदनन्तर वे अपने पिता के घरसे नन्द बाबा के गोकुल मे गये। वहाँ कुछ-कुछ बडे हुए। मामा ने प्रथम ही पूतना को उपहार-रूप मे खिलौना भेजा। कुछ देर तक तो उसकी बनी ठनी गुडिया से वे खेलते रहे। फिर याद आई, गुडियो से तो लडकियाँ खेलती है, मैं तो लडका हूँ। मामा की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। लडको को मार कर उन्हे लडकियाँ ही दिखाई देती हैं। इतना स्मरण आते ही उन्होने उस गुडिया को तोड-मरोड डाला। वे कुछ बडे होते तो कुब्जा की तरह उस बहू बना लेते, किन्तु दूधमुँहा बच्चे बने थे। उसने आते ही मुँह में स्तन ठूँस दिया। अब तो वह धर्म की माता बन गई। उन्होने उसे माता की गति दी। फिर सोचा, माँ ने तो मुझे महर के महलो मे ही बन्द कर रखा है। कारावास भोगने को मेरे माता पिता ही बहुत हैं, मैं व्रज का सैर-सपाटा करूगा, ऊपर उडकर सब व्रज के घरो को देखूँगा। वैसे उडूँ तो भोले-भाले गोप डर जायेंगे, मुझमे भूत का भ्रम करने लगेंगे। इस

लिये उन्होंने भभूड़े भूत को बुलाया। उसे ही उडनखटोला बनाया। वे उस तृणावर्त असुरके ऊपर चढ ही तो गये। उसके गले को कस के पकड ही तो लिया। अब उड़े लालाजी ऊपर, तिक-तिक करके उस भभूड़े भूत को हाकने लगे। ऊपर चढकर ब्रजकी शोभा देखी, घर-घर दूध गरम हो रहा है, बडा भारी धुआँ हो रहा है। तृणावर्त की आँखो मे धुआँ भर गया। उसके कल-पुरजे बिगड गये। उडनखटोला ऊपर न उडकर, नीचे ही गिरा। आपने कहा- "चल बे हम ने जितना देख लिया, उतना ही बहुत है। नीचे उतर आये और रोने लगे। रोने क्यो लगे जो! इसलिये कि उनका वायुयान चकनाचूर हो गया। उसके बनने की आशा न रही। खिलौने के फट से फूट जाने पर कभी-कभी बच्चे ताली देकर हँस भी लेते हैं, कभी रोने भी लग जाते हैं। माता ने गाडी मे उसे सुला दिया। आपने सोचा, हम तो सो रहे है, यह गाडी गढी है। लाओ इसे भी सुला दो, दोनो साथ-साथ सोवें। मारी जो ठोकर अडडधुम। गाडी भी सो गई और उस मे के घी-दूध के कुप्पे भी फूट गये। फिर वत्सासुर से बातें हुई, बकासुर की चोच को चर्र से चोर ने चीर दिया। चोरी की विद्या मे विशारद आचार्य या महामहोपाध्याय हो गये। धेनुक को मारा कालियनाग का दमन किया, प्रलम्ब को पछाडा, अजगर को उबारा। शङ्खचूड, अरिष्ट तथा केशी आदि राक्षसो का उद्धार किया। वे गोकुल से फिर मथुरा आये, मथुरा से द्वारका धाये। जो-जो भी राजा शत्रु बनकर सम्मुख आये, उन सबने प्राण गँवाये। फिर एक नही दो नही, दश नही, बीस नही, सौ नही, हजार नही- सोलह हजार एक सौ आठ राजकुमारियो के साथ विवाह किये। सब मे दश-दश पुत्र पैदा किये। कितने पुत्र हुए, किसी अर्थशास्त्री से गणना करानी

पड़ेगी। फिर उन्होने यज्ञ किये, दान दिये, प्रायश्चित्त किया। परमात्मा होकर ये सब काम क्यो किये ? यज्ञों मे उन्होने यजन किनका किया ? अपना ही यजन किया। स्वय ही ठाकुर, स्वय ही पुजारी। स्वय ही कर्त्ता, स्वय ही भोक्ता, स्वय ही यज्ञ, स्वय ही यजमान। चीनी का ही घोडा, चीनी का ही सवार ! उन्होने यह सब इसलिये किया, जिससे वेदकी मर्यादा बनी रहे—धर्म की मर्यादा स्थापित करने को यह लीला रची। फिर कौरव पाडवो मे कलह करा दी, स्वय ही उसके सूत्रधार थे। वे स्वय ही दूत बनकर गये, चार से कहा तू चोरी कर, साह से कहा, तू सावधान रह। कैसी लीला है, कैसा नाटक करते हैं नटनागर ? उन्होने अर्जुन के हाथ मे झूठे बाण दे दिये, साथ ही पोटलीभर के अभिमान भी। अर्जुन समझ रहे थे, सब मेरे बाणो से मर रहे है। किन्तु निर्जीव बाण भला किसी को कैसे मार सकते हैं ! फिर और मारन वालो के हाथो मे भी बाण थे। यथार्थ बात तो यह है, जिसकी ओर ये मरने के विचार से दृष्टि पात करते, वही उसी समय मर जाता, रणभूमि मे गिर जाता। समस्त सेनाओ का सहार कराके सव्यसाची अर्जुन की विजय उन्होने घोषित की। तदन्तर अपने कुल मे भी कलह करा दी। कुल मर्द कलह कृष्ण ने क्यो कराई ? इसका कोई उत्तर नही। उनके कार्यों मे क्यों' का प्रश्न नही। उनकी इच्छा ही एकमात्र प्रधान कारण है। अन्त मे उद्धव को आत्मज्ञान का उपदेश देकर वे निज आश्रम को चले गये।" इतना कहकर सूतजी चुप हो गये।

सूतजी को चुप देखकर उत्सुकता, आश्चर्य और सभ्रम सहित शौनकजी ने पूछा—सूतजी ! क्या श्रीकृष्ण-चरित हो गया ? महाभाग ! इतनी देर पहाड खोदा, निकसी एक मूसरी, तीन दिन बिना खाये-पीये भोजन की प्रतीक्षा की, मिला एक

सकलपारा। कब से कह रहे हो, श्रीकृष्ण-चरित कहूँगा, श्री कृष्ण चरित कहूँगा। कहा भी तो दो शब्दो मे उसे समाप्त कर दिया। क्या इतने ही के लिये आपने इतनी देर वशो के गीत गाये। एक-एक राजा की कथा मे तो आपने न जाने क्या-क्या वर्णन किया। हम धैर्य से सब सुनते रहे चलो, इन सब को भी सुन लो श्रीकृष्ण चरित सुनने को मिलेगा। सो आपने तो हमारी आशा पर ही पानी फेर दिया। महाभाग! हमारी तृप्ति नही हुई, अपितु और भी अधिकाधिक उत्सुकता बढ गई।"

हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! श्रीकृष्णचरित समाप्त नही हुआ है। मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने राजा परीक्षित की उत्कठा बढाने को ही अत्यन्त सक्षेप मे श्रीकृष्ण-चरित की बानगी चखा दी। उन्होने सोचा— राजा की उत्सुकता भी तो देखें, श्रीकृष्ण चरित सुनने को कितने उत्कण्ठित है। आज महाराज परीक्षित को बिना अन्न जल ग्रहण किये चार दिन समाप्त हो गये। मेरे गुरुदेव जानना चाहते थे कि भूख से राजा व्याकुल तो नही हो गये हैं। यदि व्याकुल हो तो कुछ जलपान कर लें, क्योकि चित्त भूख-प्यास या अन्य किसी विषय की चिन्ता मे फँसा रहता है तो कथा श्रवण मे मन नही लगता इसीलिये श्रीशुक ने इस प्रकार सक्षिप्त श्रीकृष्ण चरित कहा।"

शौनकजी ने कहा—'हाँ तो सूतजी! महाराज परीक्षित ने फिर किस प्रकार कौन से प्रश्न किये, इन सबको विस्तार से आप कहे। अब श्रीकृष्ण-चरित मे कृपणता न करें।"

शौनकजी ने कहा—"श्रीकृष्ण-चरित को विस्तार के साथ ससार मे कौन कह सकता है? ब्रह्मादि देव भी उनका पार नही पा सकते। अत. मैंने जो भी कुछ चरित अपने गुरुदेव से सुने हैं, उन्हे ही कहूँगा। अब जिस प्रकार महाराज परीक्षित ने प्रश्न

पूछे उन्हो का वर्णन मैं करता हूँ। आप सब अब समाहित चित्त हो जायँ।"

छप्पय

गोकुल तैं पुनि लौटि सबल मथुरा महँ आये।
डरि हरि रन कूँ छोड़ि भगे रनछोर कहाये॥
आइ द्वारका ब्याह सहस सोलह करवाये।
पुत्र पौत्र बहु बढ़े निरखि यादव गरवाये॥
करि कुल को संहार हरि, उद्धव कूँ शिक्षा दई।
यों प्रभास महँ अन्त की, पूरन भू-लीला भई॥

महाराज परीक्षित का श्रीकृष्ण-चरित-सम्बन्धी प्रश्न

[८१३]

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः ।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम ।
तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १ अ० १-२ श्लोक)

छप्पय

प्रभु चरननि कूँ वन्दि व्याससुत मौन भये जब ।
सुनि संक्षिप्त चरित्र विकल ह्वै बोले नृप तब ॥
चन्द्रवंश रविवंश माहि बहु भये भूपगन ।
सुनि शुभ तिनिके चरित मुदित अति भयो मोर मन ॥
अब अति रसमय सारमय, सुखमय अनुपम शक्तिमय ।
कृष्णचरित गुरुवर ! कहहु, हृदय होहि प्रभु-भक्तिमय ॥

चित्त चोर के चारु चरित्रों के श्रवण की चटपटी जिन को

---

* महाराज परीक्षित श्रीशुकदेवजी से पूछते हैं—"भगवन् ! आपने सोमवंश और सूर्यवंश के राजाओं के वंश का विस्तार पूर्वक वर्णन किया और इन दोनों वंश वाले राजाओं के अद्भुत-अद्भुत चरित भी सुनाये, इसी प्रसंग में धर्मात्मा महाराज यदु के वंश का भी वर्णन किया । अब आप हमें उसी वंश में विष्णु के अंश से उत्पन्न श्रीकृष्ण के चरित सुनाइये ।"

लग जाती है, उन्हे ससार की सुधि ही भूल जाती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि ये जैव धर्म हैं। जीव इनके बिना रह नही सकता। प्राणिमात्र इनमे सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु जो इन धर्मो से ऊपर उठ जाते हैं, उनके लिये आहार, निद्रा आदि व्यर्थ से बन जाते हैं, वे उस रस मे ऐसे निमग्न हो जाते है, कि उनको इन बातो की स्मृति ही नही रहती। जीवो की जब तक देह मे आत्म बुद्धि है, तभी तक देह को पुष्ट और प्रसन्न करने वाले पदार्थ प्रिय लगते है। जहाँ आत्म-स्वरूप श्रीकृष्ण के स्वरूप का बोध हुआ यथार्थात्मा का अनुभव हुआ, तहाँ देह-सम्बन्धी सुखो की तो बात ही क्या, देह की भी सुधि बुधि नहीं रहती।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब भगवान् श्री शुक सक्षिप्त श्रीकृष्ण-चरित कहकर चुप हो गये, तब परम भागवत् भरत-वशावतस कुरुकुल की कीर्ति को बढाने वाले अभिमन्युतनय उत्तरानन्दवर्द्धन महाराज परीक्षित ने उत्सुकता और धैर्य के साथ कहा—"भगवन्! आपने आज चार दिनो से बडी ही सुन्दर-सुन्दर एक से एक अद्भुत-सरस कथायें सुनाई। आपने भगवान् के कच्छ, मच्छ वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम आदि अवतारो की भी कथायें सुनाई। ससार मे सूर्यवश और सोमवश—ये ही क्षत्रियो के सर्वश्रेष्ठ वश समझे जाते हैं। प्रायः सभी प्रकार के क्षत्रियो की उत्पत्ति इन्ही दो वशो से हुई है। आपने इन दोनो ही वशो का कही सक्षेप से, कही विस्तार से वर्णन किया। इन वशो मे उत्पन्न हुए राजाओ की सुन्दर, शिक्षाप्रद, विचित्र, आश्चर्यजनक' असभव सी प्रतीत होने वाली कथायें भी सुनाई। भक्त और भगवान् की कथाओ का ही नाम भागवती कथा है। जहाँ जहाँ आपने अवतारों का वर्णन किया है, वहाँ-

वहाँ स्थान-स्थान पर आप कहते गये है कि ये सब अवतार तो कोई कलावतार हैं, अशावतार है, कोई आवेशावतार है, कोई मन्वन्तरावतार तथा युगावतार हैं, किन्तु यदुनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र तो स्वय साक्षात् परात्पर ब्रह्म ही है। जिस धर्मात्मा यदु के वश मे यदुनन्दन यादवेन्द्र उत्पन्न हुए हैं, उन ययाति-पुत्र यदु के वश को भी आपने विस्तार से कहा। उनके और भी दुर्वसु द्रुह्यु, अनु और पुरु–इन चारो भाइयो के वंशो का वर्णन किया। अब हम आपसे यदुवश मे अवतीर्ण भगवान् वासुदेव के चारु चरित विस्तार के साथ सुनना चाहते है। अब सब कहानी-कथाओ को छोडकर हमे उसी यदुवश मे अपने समस्त अशो व सहित अवतीर्ण हुए भगवान् विष्णु की ललित लीलाओ को सुनाइये। परम पावन यदुवश मे अवतीर्ण होकर अखिलेश्वर देवकीनन्दन ने कौन-कौन-सी कर्ण तथा समस्त इन्द्रियो को सुख देने वाली क्रीडायें की ? श्रीकृष्ण-चरित मुझे ही नही, सभी प्रकार के प्राणियो को प्रिय है।"

श्री शुकदेवजी ने कहा— 'राजन् ! भगवान् ने तो माया का आश्रय लेकर प्राकृतवत् लीलायें की ? नित्य अव्यक्त ज्ञान स्वरूप आत्मा में रमण करने वाले ज्ञानियो को ये प्राकृतवत् लीलायें प्रिय कैसे हो सकती हैं ?"

हँसकर महाराज परीक्षित बोले— 'भगवन् ! ज्ञानियो के हृदय की तो ये ललित लीलायें हार ही हैं। प्रकृत-सी प्रतीत होने पर भी ये सब लीलायें दिव्य हैं, चिन्मय हैं, ऊपर से मैदा की बनी सी दिखाई देती है, किन्तु भीतर इतनी पोली है कि उनमे रस ही रस भरा है, जहाँ जिह्वा से इनका ससर्ग हुआ, कि फिर कैसा भी ज्ञानी ध्यानी हो, उससे इन्हे बिना चखे रहा नही जाता। यथार्थ मे इन लीलाओ के अधिकारी तो ज्ञानी ही हैं।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भगवन् ! आप ही हैं। आपसे बढ़कर संसार में दूसरा ज्ञानी कौन होगा ? आप जब भगवान् की लीलाओं का वर्णन करने लगते हैं, तब तन्मय हो जाते हैं, उन्हीं के रस में निमग्न होकर आत्म-विस्मृत से बन जाते हैं। यदि इनमें अपूर्व रस न होता, तो आप जैसे परमहंस चक्रचूडामणि वीत-राग त्यागी विरागी सन्यासी इनका इतने उल्लास के साथ वर्णन क्यों करते ?"

श्रीशुक बोले—"अच्छा, ज्ञानियों की बात तो दो छोड़। उनकी दृष्टि में तो जगत् की सत्ता ही नहीं, वे तो सब प्राणियों में, समस्त घटनाओं में, उसी सच्चिदानन्द-स्वरूप के दर्शन करते हैं, किन्तु श्री कृष्ण की सरस और शृंगारपूर्ण कथाओं को सुनकर मुमुक्षुओं का तो पतन हो सकता है, उनका चित्त तो चंचल हो सकता है। अतः मुमुक्षुओं के लिये ये लीलायें हितकर कैसे हो सकती हैं ?"

महाराज परीक्षित ने कहा— भगवन् ! आप सब जानते हैं। आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं कि मैंने मनोयोग से कथा सुनी है या नहीं। मुमुक्षुओं के लिये तो श्री कृष्ण कथा श्रवण के अति-रिक्त मुक्ति का कोई सरल सुन्दर सर्वोपयोगी अन्य साधन ही नहीं। उनकी अप्राकृतिक, सरस लीलाओं को सुनते सुनते ही उनका प्राकृत जगत् में चित्त हट जायगा। उनकी दृष्टि में श्री-कृष्ण लीलायें ही गड़ जायेंगी। उन्हें श्रीकृष्ण लीला के अति-रिक्त कुछ दिखाई ही न देगा। यह जगत् उनकी लीला का विलासमात्र ही प्रतीत होने लगेगा। सभी में उनकी मुरली की मधुर ध्वनि सुनाई देगी। अतः मुमुक्षुओं के लिये तो श्रीकृष्ण कथायें भवरोग की अचूक भेषज हैं अव्यर्थ औषधि हैं।"

श्रीशुक ने कहा— राजन् ! आपने श्रीकृष्ण-कथा को सर्व-

प्रिय बताया। बद्ध मुक्त और मुमुक्षु—तीन ही प्रकार के जीव होते है। उनमे से मुमुक्षु और मुक्तो को तो कृष्ण-कथायें प्रिय होगी ही, किन्तु ससारी -बद्ध लोगो को तो भगवान् की चर्चा रुचिकर ही नही होती। उनको तो विषय वार्तायें ही प्रिय हैं। उनके लिये कृष्ण-कथा कैसे कल्याणप्रद और सुखकर, हो सकती है ?"

महाराज परीक्षित ने कहा—"हाँ, भगवन्! यह बात सत्य है कि बद्ध जीवो को भगवत् वार्ता नही सुहाती, अवतार-चरित्रो मे उनका मन नही लगता, किन्तु भगवन्! श्रीकृष्ण कथा इसमे अपवाद है। भले ही उन्हे कच्छ, मत्स्य, वराह नृसिंह, वामन, परशुराम आदि कथायें रुचिकर न हो किन्तु ये कृष्ण की कथायें तो ऐसी आकर्षक हैं कि प्राकृत बद्ध जीवो का भी मन हठात् इनकी ओर आकर्षित हो जाता है। रासविहारी ने इन लीलाओ को इतने कौशल के साथ किया है, कि जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वे वैसी ही दिखाई देती है। ससारी लोगो ने जहाँ गोपियो के नख-शिख का वर्णन सुना, जहाँ कुण्डलो की आभा से दमकते हुए कपोलो कचु से आवृत पीन पयोधरो और काञ्चीकलाप परिरम्भ नितम्बबिम्बो का वर्णन सुना तहाँ वे सब बातें भूल जाते हैं उस रस मे बहने लगते हैं।"

श्रीशुक ने कहा—"यह तो राजन्! कुछ बात नही हुई, सुरापी को सुरापान कराके अपने पक्ष मे कर लेना, उसके व्यसन को और बढाना है। विषयो को विषय-सामग्री प्रदान करके उनके बन्धन को और सुदृढ करना है।"

इस पर राजा बोले—"नही, भगवन्! यह बात नही। विष की ओषधि विष ही है, स्थावर विष जङ्गम विष से नष्ट हो जाता। इसी प्रकार प्राकृत सरसता दिव्य सरसता

नष्ट हो जाती है। इसीलिये तो रास-लीला का श्रद्धा से श्रवण करने का फल जितेन्द्रिय होना है।"

श्रीशुक बोले—"जिनके श्रद्धा न हो, उनकी क्या दशा होगी ?"

महाराज बोले—"न हो श्रद्धा ! मिश्री को अन्धेरे में खाओ, तो भी मीठी लगेगी; अग्नि को अनजान में छूओ, तो भी जला देगी। श्रीकृष्णलीलाओं के तो श्रवणमात्र से ही कल्याण होता है। ये लीलायें इतनी रसमयी है कि सभी प्रकार के प्राणियों के मन को उनके कानों को, अत्यन्त ही प्यारी लगती हैं। उत्तम श्लोक भगवान् वासुदेव के गुणानुवाद केवल पशुघ्न -आत्मघाती-वधिक प्रकृति के लोगों को छोडकर सभी को अच्छे लगते हैं। हतभागियों को छोडकर और ऐसा कौन-सा सहृदय प्राणी होगा, जो उनसे विमुख होगा। श्रीकृष्ण की लीलाएं वैसे तो सभी को प्रिय हैं, वे सभी के आत्मा हैं, किन्तु मेरा तो उनसे विशेष सम्बन्ध है, वे मेरे तो कुल-उद्धारक हैं। मेरे पितामह तो उन्ही के पाद-पद्मों की नौका बनाकर महाभारत रूप समुद्र को ही नही तर गये, इस अपार संसार सागर को भी सहज में ही पार कर गये। आप ही सोचिये भगवन् ! महाभारत कोई साधारण समर थोड़े ही था ! वह अगाध अपार सागर के समान था, जिसमे समस्त विश्व को निगलने की शक्ति रखने वाले भीष्म द्रोण आदि तो तिमि, तिमिङ्गिल, तिमङ्गिल ङ्गिल महामत्स्यों के समान थे। इन महारथियों के नाम से इन्द्रादि देव थर-थर कांपते थे। उस समुद्र को मेरे धर्मराज आदि पितामह श्रीकृष्णचरणरूप नौका को पकड़कर गोवत्स के खुर के समान लांघ गये। उन्हें उसमे चढ़ना तक नही पड़ा।"

श्रीशुक बोले—"राजन् ! इतने दूर के सम्बन्ध को कौन

मानता है ? मनुष्य-स्वभाव है, वह अपने ही उपकार करने वाले का अधिक ऋणी रहता है।"

इस पर महाराज बोले—"भगवन् ! मेरे ऊपर भी भगवान् के कुछ कम उपकार थोड़े ही हैं ! मेरे तो वे जीवनदाता, मेरी माता के भयत्राता तथा सर्वस्व ही हैं। गुरुपुत्र अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र छोड़कर माता के उदर मे ही मुझे मारकर कौरव-[illegible] वंश के बीज मुझ परीक्षित को नष्ट कर देना चाहते [illegible] छोड़ भी दिया। मेरी देह दग्ध भी होने [illegible] दया के सागर देवकीनन्दन मेरी माँ के [illegible] लेकर घुम गये और उसे घुमाते हुए मेरी [illegible] बाबा होने पर भी भाई बन गये। अपने [illegible] मे रहने मे भी उन्होने सकोच नही [illegible] भी हैं। मेरा शरीर तो उन्ही की [illegible] देने से मेरा नाम 'विष्णुरात" पड़ा।

भगवन् ! सृष्टि करने वाले [illegible] प्रलय करने वाले रुद्र भी [illegible] करण मे भी अन्तर्यामी रूप से [illegible] वाले काल बनने [illegible] जीवन [illegible] दृष्टिवाले आत्मज्ञानी जन [illegible] सना करते है और बाह्य [illegible] विषयरूप से उन्ही का [illegible] ही हैं और मुक्ति भी [illegible] भी वे ही हैं, आभास [illegible] बिम्ब भी वे ही हैं, [illegible] हैं, मृत्यु भी वे ही हैं। [illegible] किसी की सत्ता नहीं [illegible]

माया मनुष्य माधव की मनोहर, मधुर तथा मधुमय लीलाओ का आप अब वर्णन करे । मेरी कुछ शकाये है, प्रथम उनका समाधान करे, साथ ही श्रीकृष्णचरित का भी वर्णन करे । इस सम्बन्ध मे मैं कुछ प्रश्न करना चाहता हूँ ।'

श्रीशुकदेवजी बोले—'राजन् ! पहले आप अपनी शकाओ को कीजिये, फिर जो-जो प्रश्न आपको करने हो, वे प्रश्न कीजिये और कुछ जलपान भी कर लीजिये; क्योकि भूख मे कथा भली भाँति समझी नही जाती । ससार मे सब स बडा कष्ट है वृद्धावस्था का । वृद्धावस्था मे इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है पाचन शक्ति नष्ट हो जाती है विषयो की भोगने की वासना बनी हा रहती है । यहा नही, वह और प्रबल हो जाती है । इन्द्रियाँ भोगो को भोगने मे समर्थ नही होती शरीर-सम्बन्धी आवश्यक कार्य भी नही किये जा सकते । घर वाले भलीभाँति बोलते भी नहीं, सभी घृणा करते हैं । जीवित ही नरक हो जाता है । वृद्धावस्था से भी अधिक कष्ट पुत्र की मृत्यु पर होता है । पुत्र-मृत्यु से बढकर ससार मे कोई दु ख नही । उससे भी बडा दु ख बुभुक्षा का कष्ट है । भूख में मनुष्य सब कुछ भूल जाता है । इस विषय मे एक उपाख्यान है ।

धृतराष्ट्र के जब सौ पुत्र मर गये, तब उन सब के शव एक बेर वृक्ष के नीचे धर्मराज की आज्ञा से एकत्रित किये गये । माता गान्धारी अपने पुत्रो की मृत्यु पर रो रही थी वह श्रीकृष्ण भगवान् को कोस रही थी, कि इन्होने मेरे पुत्रो को मरवा दिया है । ये चाहते तो मेरे पुत्र न मरते ।' उसी समय भगवान् की माया से उसे भूख लगी । इतनी भूख लगी कि उससे रहा नही गया । वहाँ घोर अरण्य मे खाने को क्या रखा था ? पुत्रो के मृतक शरीर सड रहे थे, उनसे दुर्गन्ध निकल रही थी । गान्धारी भूख से

व्याकुल थी। सयोग की बात! और कोई समीप था नही। उसने तनिक पट्टी हटाकर देखा, तो उस बेर के वृक्ष पर पके हुए बेर लग रहे हैं। खडे होकर उसने बेर तोडना चाहा, हाथ पहुँचा नही कुछ कसर रह गई। माता ने सोचा— ये लडके तो अब मर ही गये हैं। ये अब जीवित तो हो ही नही सकते। क्यो न दो-चार शवो को रखकर उनके ऊपर चढकर बेरो को तोड लूँ और अपनी प्रबल बुभूक्षा को शान्त कर लूँ।' यह सोचकर उसने ऐसा ही किया। फिर भी हाथ नही पहुँचा। क्रमश उसने सभी पुत्रो के शव को रखकर बेर तोडने का प्रयत्न किया। इतने ही मे श्रीकृष्ण वहाँ आ पहुँचे और बोले— बूआजी क्या कर रही हैं? आप इतना कष्ट क्यो करती हैं? कहे तो मैं बेर तोड दूँ।"

यह सुनकर गान्धारी लज्जित हुई और बोली—'भगवन्! आपकी माया विचित्र है। कोई इसका पार नही पा सकता। सो, राजन्! आपको भूख का कष्ट हो रहा होगा। पहिले कुछ खा लें, तब मैं आपके प्रश्नो का उत्तर दूँगा।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर राजा परीक्षित गम्भीर हो गये और श्रीकृष्ण-चरित सम्बन्धी प्रश्न करने लगे।

छप्पय

तनय रोहिणी देव! प्रथम बलदेव बताये।
मातुदेवकी पुत्र आठ महँ फेरि गिनाये॥
एक देह तें द्वै उदरनि महँ जनमे कैसे।
कहैं शेष की कथा भये सकर्षण जैसे॥
घर तजि ब्रज महँ दुबकि के बसे अहीरनि वेश ज्यौं।
ज्यौं भागे रन छोडि के, मारे मामा कंस ज्यौं॥

महाराज परीक्षित की कथा श्रवण में उत्सुकता

[८१४]

नैपातिदु:सहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १ अ०, १३ श्लो०)

छप्पय

नन्द यशोदा त्यागि फेरि क्यौं मथुरा आये ?
क्यौं मथुरा तैं बन्धु द्वारका लाइ बसाये ?
क्यौं अति मधुमय चरित गोप गोपिनिहिँ दिखाये ?
क्यौं ब्रज महँ नहिँ लौटि यशोदानन्दन आये ?
ब्रज मथुरा अरु द्वारका, महँ जो लीला करी हरि ।
पावन परम प्रसङ्ग प्रभु ! मोहि सुनावहि कृपा करि ॥

जीवन तो ससार मे उनका ही धन्य है, जिनकी रुचि निरन्तर भक्त और भगवान् की कथाओ के श्रवण मे बनी रहती है। अन्य कथायें सब निस्सार हैं। ससारी लोगो के सम्मुख तीन ही कथायें हैं कामिनी, काचन और कीर्ति। इन्ही की प्राप्ति के लिये परनिन्दा, परस्तुति, राग द्वेष कलह, दम्भ, छल, कपट, हिंसा,

---

* महाराज परीक्षित श्रीशुकदेवजी से कह रहे हैं—"प्रभो !, मैंने अन्न और जल का परित्याग कर दिया है, फिर भी मुझे यह दुस्सह क्षुधा पिपासा बाधा नही दे रही है। कारण कि आपके मुख कमल से निकले हरि कथा रूप अमृतका जो मैं पान कर रहा हूँ।"

मात्सर्य, ईर्ष्या आदि मे निमग्न बने रहते हैं। इसमे वे इस लोक को भी बिगाडते हैं, परलोक को भी नष्ट करते हैं। उसने ऐसा किया, वह ऐसा है, वह वैसा है। इन कथाओ मे क्या सार है? इनके श्रवण से चित्त मे ईर्ष्या, द्वेष, दम्भ आदि दुर्गुण ही आते हैं। जिनका चित्त भक्त और भगवान् के चिन्मय चरित्रो के चिन्तन मे ही निमग्न रहता है, जिनके कर्णकुहर कभी कृष्ण-कथा-श्रवण से भरते नही, जिनकी वाणी वनवारी की विरुदावली गाते-गाते थकती नही, उन्होने अपने दोनो लोको को बना लिया। वे इस लोक मे पर-चर्चा रूपी दावाग्नि से बचकर सुख का अनुभव करते हैं और परलोक मे जाकर प्रभु के नित्य पार्षद बन जाते हैं। भागवती कथाओं के श्रवण मे रुचि साधन से नही होती, भाग्य से होती है, भगवान् की कृपा से ही होती है।

सूतजी कहते है— 'मुनियो! जब भगवान् शुक ने राजा परीक्षित से प्रश्न करने को कहा और कुछ जलपान करने की भी सम्मति दी तब हाथ जोडकर बडी नम्रता से महाराज परीक्षित कहने लगे—'भगवन्! आज चार दिन से मैं आपके श्रीमुख से हरि कथा-रूप अमृतरस का पान करके सभी सासरिक धर्मों को भूल गया हूँ। प्रभो! यह हरिकथामृत तो दिव्य अप्राकृत रस है। इसके सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या! लोग प्राकृत विषयो मे इतने तन्मय हो जाते है कि उन्हे शरीर की सब सुध-बुध भूल जाती है। घर मे बेटा बेटी का विवाह हो, तो लोग रात्रि-दिन एक कर देते हैं, न उन्हे भोजन की सुधि रहती है, न शयन की। लोग किसी कर्णप्रिय राग को सुनकर ऐसे तन्मय हो जाते है कि खाना पीना सब भूल जाते हैं। मनुष्यो की तो बात ही क्या, हरिण, सर्प जैसे पशु गायन सुनकर तन्मय हो जाते हैं। वधिक उन्हे उसी तन्मयता की अवस्था मे मार देते है। जार पुरुष अपनी

प्रियतमा के प्रेम मे इतने आत्म-विस्मृत हो जाते हैं कि उन्हें अपने प्राणो का भी मोह नही रहता। कोई पुरुष अपनी प्रियतमा को अत्यधिक प्यार करता था। उसकी पत्नी अपने पिता के घर गई थी। उसके पिता का घर सरिता के उस पार था। रात्रि मे उससे नही रहा गया। भादो की महा नदी प्रबल वेग से बह रही थी, उसी मे वह कूद पडा और एक शव के सहारे उस पार पहुँचा। ससुराल मे जाकर ऊपर देखा कि एक सर्प लटक रहा है। उसे ही पकडकर वह ऊपर छत पर चढ गया। भगवन्! जब ससारी विषयों मे इतनी तन्मयता है, इतनी आत्मविस्मृति है, तो आप तो अप्राकृत रस पान करा रहे है। ऐसी ही एक कथा किसी नायिका की है। वर्षा की अन्धेरी मे अर्धरात्रि के समय किसी घोर वन मे वह अपने जार पति से मिलने जा रही थी। मार्ग मे उसे योगाभ्यास करते हुए एक महात्मा मिले। वे शवासन पर लेटकर ध्यान कर रहे थे। वह स्त्री उनकी छाती पर पैर रख कर निकल गई। मुनि को बडा क्रोध आया। वे स्पर्श से ही समझ गये, किसी स्त्री का पैर है। क्रोध मे भरकर उन्होने उस पर एक डण्डा जमा दिया। उसने फिर कर साधु को देखा भी नही, अपने उपपति के समीप चली गई।

कुछ काल मे वह उनसे मिलकर, कुछ रात्रि शेष रहने पर, उसी मार्ग से लौट कर आई। साधु ने कहा—"क्यो री दुष्टे! तू मेरी छाती पर पर रखकर निकल गई थी?"

हाथ जोडकर वह बोली—"भगवन्! मुझे तो स्मरण भी नही। कब की बात आप कह रहे हैं?"

क्रुद्ध होकर मुनि बोले—"क्या बात बनाती है? तुझे इतना भी पता नहीं? मैंने तो तुझे एक डण्डा कस कर मारा था।"

उस स्त्री ने कहा—"नहीं, मैं सत्य कहती हूँ भगवन्! मुझे

कुछ भी पता नही, कब मैं आपके ऊपर होकर गई और कब आपने मुझे डण्डा मारा।"

इस पर साधु बोले—'हाँ, तुझे क्या पता होगा? तू तो मतवाली हो रही थी। स्वैरिणी कही की!"

स्त्री बोली—"महाराज! अपराध क्षमा हो, आप जिसके प्रेम मे मग्न होकर ध्यान कर रहे थे, उससे तो बढकर मेरा ही प्रेम था। मुझे तो अभी तक पता नही, कब मै आपके ऊपर से निकली, कब आपने मुझे डडा मारा। आपका प्रेम बनावटी है।" साधु यह सुनकर लज्जित हुए और उन्होने स्वीकार किया, मेरा मन अपने प्रेमी मे नही लगा था।

महाराज परीक्षित कह रहे है—"प्रभो! जब ससार मे लोगो को अनुकूल विषय सुख पाकर देहानुसधान नही रहता, तब मुझे तो आप दिव्यातिदिव्य मधुरातिमधुर अमृत पिला रहे है, जिसमे शरीर-धर्मों का कोई अथ नही। ससारी स्त्री-पुरुष जब बैठकर सम्पूर्ण रात्रि प्रेम की बातें कहते कहते बिता देते हैं और पलभर भी नही सोते, तब आप तो परमपुरुष की कथा सुधा मेरे कर्ण-कुहरो मे उंडेल रहे हैं। आपने जो क्षुधा पिपासा को दुस्सह बताया, उसे मै स्वीकार करता हूँ, किन्तु इस समय कृष्ण कथा सुनते-सुनते मुझे भूख प्यास का कुछ भी कष्ट नही है। कृपा करके आप मेरी शकाओ का समाधान करें, मेरे प्रश्नो का उत्तर दें।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्रीशुकदेवजी बोले—"अच्छी बात है राजन्! पूछिये आपके क्या प्रश्न है। कौन कौन सी आपको शकाय हैं?'

महाराज परीक्षित ने कहा— महाराज सर्वप्रथम तो मुझे यही शका है कि शूर वश का वर्णन करते हुए आपने वसुदेवजी

की तेईस पत्नियों के तथा उनकी सन्तानों के नाम गिनाये। उनमें रोहिणीजी के पुत्रों में भी बलरामजी की गणना की और देवकी के पुत्रों में भी उन्हें मानवाँ पुत्र बताया। एक ही बलराम जी, एक ही शरीर से दो माताओं के उदर से कैसे उत्पन्न हुए? यदि दूसरे जन्म की बात होती या दो देह रख लेते, तब तो यह समझ भी था। वे एक देह से एक साथ दो मातओं के उदर में कैसे रहे? मेरी एक तो यह शंका है। दूसरी यह है, कि जब श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् थे, तब वे अपने पिता के घर को छोड़कर छिपकर जाकर व्रज में क्या बसे? क्यों उन्होंने माता-पिता का परित्याग किया?

इन शंकाओं के अतिरिक्त श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के सभी चरित्रों को सुनाइये। उन यादवेन्द्र ने अपने बन्धुओं तथा कुल के लोगों के सहित कहाँ-कहाँ निवास किया? भगवान् ने व्रज में रहकर गोष्ठ में, वनों में तथा निकुञ्जों में कौन-कौन सी लीलायें की? वे व्रज से पुनः मथुराजी क्यों गये? वहाँ उन्होंने क्या-क्या किया? कंस तो उनके मामा थे, न मारने योग्य अपने मामा को उन्होंने क्यों मारा? आप ही सोचें, अपनी माता का भाई कैसा भी क्यों न हो, उसका भानजे के द्वारा वध क्या उचित कहा जा सकता है? भानजा तो मामा को पिता से भी अधिक प्यार करता है, मामा को देखकर उछल पड़ता है। पिता तो कभी पुत्र को मार भी देता है, किन्तु मामा तो भानजे को डाँटता भी नहीं। मान लो मामा क्रूर भी हो, तो भानजे को चाहिये, उसके घर न जाय। उसे मारना तो पितृ-वध के समान है। मामा को माधव ने क्यों मारा, इसका कारण बताकर यह भी बताइये कि मथुरा में रहकर उन्होंने और कौन-कौन-सी लीलायें की? मथुरा का परित्याग करके वे द्वारका क्यों गये? जरासन्ध ने

भय से भागकर उन्होने साधारण मानवीय लीला क्यो की ? वे मनुष्य-देह धारण करके यादवो के साथ कितने दिनो तक द्वारावती मे रहे ? द्वारकापुरी मे रहकर उन्होने कौन-कौन सी लीलायें की ? उनके कितनी पत्नियाँ थी, कितने पुत्र हुए ? इन सब बातो को आप विस्तार मे सुनाने की कृपा करें।"

शुकदेवजी बोले—'राजन् ! आपने तो एक साथ ही इतने प्रश्न कर डाले। मैं तो इतने प्रश्नो को भूल भी जा सकता हूँ। फिर इन सब बातो का यथार्थ उत्तर मैं कैसे दे सकता हूँ ? ये सब भगवान् की भूतकाल की लीलायें हैं।'

इस पर हँसते हुए राजा बोले—'भगवन् ! आप मुझे बहकावें नही। भगवान् की लीलाओ मे कभी भूत भविष्य, का भेद भाव होता है क्या ? ये लीलायें तो नित्य है सदा सर्वदा होती ही रहती हैं। हम अल्पज्ञ प्राणी उन्हे इन चर्म-चक्षुओ से भले ही न देख सकें, किन्तु प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ है, सर्वविद हैं त्रिकालदर्शी हैं। आपके सम्मुख तो सभी घटनायें हाथ मे रखे आँवले के सदृश प्रत्यक्ष है। ऐसी कौन-सी बात है, जो आपसे छिपी हो ? मैंने जो इतने प्रश्न किये हैं, उससे आप यह न समझ लें कि इतने ही प्रश्नो का उत्तर देना है। यह तो मैंने केवल सकेत मात्र कर दिया है। जो बात मैंने न पूछी हो, उसे भी कहे, जिन-जिन लीलाओ का आप उचित समझें, उन्हें भी कहे। भगवान् की तो सभी लीलाय उचित ही है। उन सब का पार कोई पा नही सकता, मेरे जीवन की अवधि को दृष्टि मे रखकर, फिर आप मेरी योग्यता देखकर, सभी लीलाओ का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज परीक्षित ने मेरे गुरुदेव के सम्मुख अत्यन्त भक्तिभाव तथा श्रद्धा-सहित ये प्रश्न

किये, तब भगवतरस के सर्वश्रेष्ठ रसिक परम भागवत भगवान् शुकने राजा की प्रशंसा की, उनके प्रश्नों की सराहना की, तदन्तर स्वस्थ चित्त होकर गद्गद् कंठ से, प्रेमाश्रुओं से अपने गोल-गोल कपोलों को भिगोते हुए, कलि के कल्मषों को काटने वाले कृष्ण चरित्रों का वर्णन करने के लिये उद्यत हुए।"

छप्पय

सुनत परीक्षित प्रश्न महामुनि शुक हरषाये।
तनु अति पुलकित भयो अश्रु नयननि महँ छाये॥
अति उत्कण्ठित चित्त नृपति की करें प्रशंसा।
धन्य-धन्य अभिमन्यु-तनय कुरु कुल अवतंसा॥
सफल जनम भूपति भयो, कृष्ण-चरन महँ भई रति।
अन्त समय हरि-कथा महँ, उमग्यो अस अनुराग अति॥

श्रीशुक द्वारा परीक्षित-प्रश्नों की प्रशंसा

(८२२)

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि ।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा ॥*
(श्री भा० १० स्क० १ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

राजन् ! हरि की कथा गङ्ग-सम सब कूँ तारे ।
जो पूछै जो सुनै प्रेम तें जो उच्चारे ॥
मज्जन दरशन परश बालु मिट्टी अथवा जल ।
नाम, श्रवण-गुण-कथन सबहिं मेटें मन के मल ॥
अथवा नियमित देश महँ, ही श्री गङ्गाजी बहहिं ।
किन्तु कथा मन्दाकिनी, नर सबई थल पै लहहिं ॥

सुख दुख सम्बन्ध से होता है। जो जितने ही महान होंगे, उनके सम्बन्ध से उतना ही महत्ता होगी, अत महत्पुरुषो से कैसे भी सम्बन्ध क्यो न हो जाय, उसका परिणाम सुखद ही होगा। जिसके शरीर मे सुगन्धित द्रव्य लगे हैं, वह जहाँ बैठ जाय, वहाँ के लोगो की इच्छा न होने पर भी उन्हे सुगन्धि प्राप्त होगी। गध की दूकान के सम्मुख होकर निकलने पर ही सुगन्धि आ जायगी। भगवान्नाम कीर्तन जहाँ हो रहा हो, वहाँ जाने से, दूर से सुनने

---

* "श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् वासुदेव की कथा का प्रश्न, कहने वाले, पूछने वाले और सुनने वाले— इन तीनो को पवित्र करता है, जैसे भगवान् का पादोदक गङ्गा-जल समस्त पुरुषों को पवित्र कर देता है।"

अथवा अनुकरण करने से भी जिस प्रकार कल्याण ही होता है, उसी प्रकार कृष्ण कथा से कैसे भी, किसी प्रकार भी, प्राणी का सम्बन्ध हो जाय, तो वह तर ही जाता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित ने श्री शुकदेव जी से भगवान् की कथा के सम्बन्ध में ऐसे प्रश्न किये, तब उनकी प्रशंसा करते हुए श्रीशुक बोले—"हे राजर्षि श्रेष्ठ! तुम धन्य हो, तुम्हारे माता-पिता धन्य हुए, तुम्हारा पावन कुल आज परम पावन हुआ, जिसमें तुम्हारे जैसे भगवद्भक्त पुरुष उत्पन्न हुए। राजन्! जो बुद्धि वनवारी के विषय मे विचार करती है, वही बुद्धि श्रेष्ठ है। वही वास्तव में बुद्धिमान व्यक्ति है, जिसने कृष्ण कथा श्रवण करने का निश्चय कर लिया हो। मृत्यु के समय अत्यन्त भाग्यशाली पुरुषो की ही श्रीकृष्ण कथा मे अभिरुचि होती है। अपने भगवान् की कथा का प्रश्न करके अपने को ही पावन नही बनाया, मुझे भी पावन बना दिया। इन सुनने वाले समस्त श्रोताओ को भी कृतकृत्य कर दिया। जैसे जाड़े में एक ही आदमी ईंधन लाकर अग्नि को जलाता है, एक के जलाने से आस-पास के सभी लोगो का शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे भगवान् की कथा-सम्बन्धी प्रश्न करने से पूछने वाले, कहने वाले और सुनाने वाले—"सभी तर जाते है, जैसे भगवान् के चरणों का जल तीनों को तारता है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी भगवान् के चरण का जल, तीनो मे किसको तारता है, इसे स्पष्ट करें।"

सूतजी बोले—"महाराज! मेरे गुरुदेव कही-कही ऐसी सूक्ष्म बात कह देते हैं कि उसकी व्याख्या करें, तो चाहे जितने अर्थ लगा लो, फिर भी यह नही कह सकते, इसका यही अभिप्राय

है। उन्होंने इतना ही कहा कि भगवान् की कथा-वार्ता वक्ता, श्रोता और प्रश्नकर्ता—तीनों को ही पवित्र कर देती है, जैसे भगवान् का चरणोदक। अब भगवान् का चरणोदक एक तो साक्षात् गङ्गाजी ही है, दूसरा शालग्राम आदि के भगवद्-विग्रह स्नान कराने से जो तीर्थ होता है, वह भी चरणोदक होता है। ये दोनो ही तीनो को तार देते हैं। इन तीनो के बहुत अर्थ हैं।"

शौनकजी बोले—'कुछ तो सुनाइये सूतजी! कथा की और गङ्गाजल की उपमा तो अनूठी है। कथा के विषय में तो समझ लिया कि श्रोता, वक्ता और प्रश्नकर्ता—इन तीनों को तारती है। अब गगाजी के सम्बन्ध मे सुनाइये, वे किन्हें तारती हैं।"

सूतजी बोले—'सुनिये महाराज! गगाजी ने तीनो को तार दिया कमण्डलु में रखने वाले ब्रह्माजी को, सिर पर धारण करने वाले शिवजी को और पृथ्वी पर लाने वाले भगीरथजी को, अथवा पृथ्वी, पाताल तथा स्वर्ग—तीनो लोको को उन्होने अपनी तीन धाराओं से तार दिया। अथवा जन्हु के कुल को, भगीरथ के कुल को और हिमालय के कुल को-इन तीनों कुलों को तार दिया, अथवा महाराज प्रदीप को, शन्तनु को और भीष्म को-इन तीनो को तार दिया, अथवा गंगाजी स्नान करने वाले, दर्शन करने वाले तथा आचमन करने वाले-तीनों को ही तार देती है। अथवा दूरसे गंगा-गंगा कीर्तन करने वाले, गङ्गाजी को जायंगे, ऐसे ध्यान करने वाले और मरने पर हड्डी पड़ने वाले, गगाजी तक आने में असमर्थ लोगों को भी गंगा तार देती है। अथवा गगाजी के किनारे रहने वाले उन्ही का जल पान करने वाले, उन्ही के तट पर जीवन भर रहकर मरने वालों को तार देती हैं। अथवा गङ्गाजी में स्नान करने वालों के मातृकुल, पितृकुल तथा अपने निज कुल के तीनो वंशो को गंगा तार देती हैं। अथवा गंगाजी सात्त्विक प्रकृति

वाले, रजोगुण और तमोगुण प्रकृति वाले—सभी प्रकार के लोगों को तार देती है, अथवा स्नान करने वाले के तीनों गुणों को नष्ट कर के उसे निस्त्रैगुण्य बना देती है। अथवा गङ्गाजी स्त्री, पुरुष, नपुंसक—सभी को परमपद तक पहुँचा देती हैं। अथवा भगवान् का चरणोदक स्नान कराने वाले, करने वाले और उसका पान करने वाले—तीनों को पवित्र बनाता है। अब कहाँ तक अर्थ करूँ। आप संक्षेप में यही समझें कि गङ्गाजी का जिस प्रकार भी सम्बन्ध हो जाय, साक्षात् न हो, परम्परा से हो जाय, तो भी वह प्राणियों को पवित्र करती हैं। जो गङ्गाजी के किनारे रहते हैं, गङ्गा स्नान करते हैं, उनके पुण्यों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या! जो दूर से गङ्गा-गङ्गा नाम लेते हैं, वे भी तर जाते हैं। इस विषय के पुराणों में अनेक दृष्टान्त हैं, उनमें से कुछ मैं यहाँ बताता हूँ। इससे आप समझेंगे कि विष्णु-पादोदक की कितनी महिमा है।

एक राजा थे अत्यन्त ही क्रूर, दुराचारी, दंभी पापी और नीच प्रकृति के। वैसी ही उनकी रानी थी। मरने पर यम के दूत उन्हें यमराज के यहाँ ले गये। यमराज ने अपने लिखिया चित्रगुप्त को बुलाकर पूछा—'इनका कोई पुण्य है?" लिखिया महाशय ने अपनी बहुत सी बहियों को उलट-पुलट कर देखा और कहा—"प्रभो! इन्होंने तो जीवन-भर पाप ही पाप किया है। कभी गङ्गाजी के दर्शन भी नहीं किये।" यमराज ने क्रोध में भरकर कहा—"इन्हें नरकों में डाल दो।"

यमराज की आज्ञा पाकर वे नरकों में पचते रहे। अन्त में राजा मेढक हुए और रानी मेढकी। किसी पुण्य के प्रभाव से उन्हें पुरानी सभी बातें स्मरण बनी रहीं। किसी सन्त से उन्होंने गङ्गाजी की महिमा सुनी। दोनों ने बड़े उत्साह से

'निश्चय किया कि "हम गङ्गाजी चले गे।" ऐसा निश्चय करके वे चल दिये। उनके मार्ग मे एक सर्प देवता मिले। वे दोनो को खा गये। मरते समय उन्होने गगा-गगा कहा। इसी से वे स्वर्ग गये। वहाँ स्वर्ग के सुखो को भोगते हुए अन्त मे वे वैकुण्ठलोक मे चले गये। यह तो गगाजी के नाम स्मरण का माहात्म हुआ।

अब गगाजल के स्पर्श का भी माहात्म्य सुनिये। एक बडा ही दुराचारी क्रूर ब्राह्मण था। वह ससार मे जितने पाप कर्म हैं, सभी को करता था। अन्त मे उस दुष्ट को किसी ने मार डाला। मरकर वह विन्ध्य पवत के समीप भूत हो गया। वह भूख प्यास से दुखी होकर एक शमी वृक्ष पर रहने लगा। एक दिन एक सदाचारी ब्राह्मण तीर्थराज प्रयाग से स्नान करके जा रहा था। दैवयोग से वह थक कर उस शमी वृक्ष के नीचे बैठ गया। भूत भूख-प्यास से दुखी होकर रोने लगा। ब्राह्मण ने समझ लिया, यह कोई दुष्कृत पुरुष है, अपने पापकर्मों से यह भूत हो गया है। उसकी ऐसी दयनीय दशा देखकर उन्हे उस पर दया आ गई। उनके पास कावर मे गगाजल था। उन्होने गगाजल लेकर उसके ऊपर छिड़क दिया। गगाजल के स्पर्श होते ही वह तुरन्त प्रेतयोनि से छूट गया। उसी समय स्वर्ग से विमान आया और वह दिव्य रूप रखकर ब्राह्मण के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके स्वर्गलोक को चला गया। बहुत दिनो तक स्वर्गीय भोग भोगकर वह एक सदाचारी ब्राह्मण के कुल मे उत्पन्न हुआ। उसे गंगा जी की महिमा स्मरण था। अतः वह घर छोडकर गगाजी के किनारे आकर बस गया और वही भगवान् का भजन करता हुआ, अन्त मे वैकुण्ठवासी हुआ। यह गगा जल के स्पर्श का माहात्म्य हुआ। अब गगाजी के स्नान का माहात्म्य सुनिये।

दक्षिण देश मे एक बहुत ही रूपवती वेश्या थी। उसने बड़े-

बड़े धनिकों के पुत्रों को भ्रष्ट किया था। रात्रि-दिन व्यभिचार सुरापान और मांस आदि के भक्षण मे ही उसका समय व्यतीत होता था। एक बार उसे बड़े वेग से ज्वर आया। उसके शरीर मे फोडे हो गये। पकी हुई देह से दुर्गन्ध आने लगी, नौकर-चाकर धन लेकर भाग गये। जो उसके रूप पर मरते थे, वे अब उसके पास भी नही फटकते थे उसे कोई पानी देने वाला भी नही था। अत्यन्त दु ख मे वह तडप रही थी। उसी समय कोई दयालु मुनि उसके समीप आये और बोले—"तू गगा-गगा कह। दु खी तो वह थी ही गगा गगा कहने लगी। गंगाजी की कृपा से उसका दु.ख दूर होने लगा। उसे कुछ चेत हुआ। जब वह चलने योग्य हुई, तो शनैः-शनै अपना घर छोडकर चल दी। लोग पूछते "कहाँ जा रही हो?" वह रोकर कहती, मैं गगाजी जा रही हूँ।' अब उसका शरीर अच्छा हो गया। मार्ग मे जो भी कुछ मिल जाता उसे वह खा लती। कुछ न मिलता तो वह भूखी ही रह जाती। इस प्रकार गंगा जी के नाम का कीर्तन करती हुई वह बहुत दिनो मे प्रयागराज आ पहुँची। आकर उसने भक्ति भाव से त्रिवेणी मे स्नान किया। स्नान करते ही गंगा जी मे उसका शरीर छूट गया। तुरन्त ही विमान आया और वह ब्रह्मलोक मे जाकर दिव्य अप्सरा हो गई। यह गगा स्नान का फल हुआ। अब गगाजी मे अस्थि पडने का जो माहात्म्य है, उसे श्रवण कीजिये।

स्वर्ग में एक पद्मगन्धा नामकी बड़ी ही सुन्दरी अप्सरा थी। उसे अपने रूप यौवन का अत्यन्त ही गर्व था। वह बडी मानिनी, रतिप्रिया और मोहक थी। इन्द्र उसके ऊपर अत्यधिक अनुरक्त थे। एक दिन इन्द्र एकान्त में उसके साथ थे। उसी समय सोलहो शृंगार करके इन्द्राणी शची वहाँ आईं। वे देखकर भौचक्की रह

गई। तीनों लोकों के राजा समस्त देवताओं के स्वामी शतक्रतु इन्द्र उस पद्मगन्धा अप्सरा के चरणों में बैठे उसके तलवों को सुहला रहे हैं और उन स्वर्ण के पात्रों में लपेटे पान खिला रहे हैं। यह देखकर शची ने अपने पति देवेन्द्र को घुड़का और कहा—'प्राणनाथ! आप तीनों लोकों के स्वामी होकर भी यह कैसा अन्याय कर रहे हैं। बड़े बड़े देवता ऋषि महर्षि आकर, आपके चरणों में अपना सिर रखते हैं। आप इस क्षुद्र अप्सरा की चरण सेवा कर रहे हैं। यह बहुत ही अनुचित कार्य है। इस कुलटा को लज्जा भी नहीं आती, जो आप से ऐसी सेवा ले रही है। इस दुष्टा को अपने रूप-यौवन का बड़ा गर्व है। यह दासी होकर भी मेरी शैय्या पर शयन कर रही है।"

यह सुनकर पद्मगन्धा के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। वह शची को झिड़ककर सिंहनी की तरह गरजकर बोली—"चल, हट। आई कहीं की स्वामिनी बनकर! तू भी देवेन्द्र की दासी है, मैं भी हूँ। मुझमें और तुझमें क्या अन्तर? तूने कुछ महाराज को माल तो ले ही नहीं लिया है? वे मुझसे प्यार करते हैं तो तेरे हृदय में क्यों शूल चुभते हैं? तू ईर्ष्या के कारण क्यों मरी जाती है? तेरे शरीर में अग्नि क्यों लग रही है? मुझ से सुरेन्द्र प्यार करते हैं, मैं उनसे चाहे जो कराऊँगी। तुझे मैंने मना तो किया ही नहीं तू भी करा सकती हो, तो करा! मैं लल्लो-चप्पो की बातें नहीं जानती। यदि तू ही महाराज पर अपना अधिकार समझती है, तो ले मैं चली।" यह कहकर वह क्रुद्ध सर्पिणी के समान फुफकार छोड़ती हुई वहाँ से जाने लगी। देवेन्द्र तो उसके अधीन हो गये थे, वे तो पल भर भी उसका वियोग नहीं सह सकते थे, अतः उन्होंने दौड़कर पद्मगन्धा के पैर पकड़ लिये और दीनता दिखाते हुए बोले—'प्राणेश्वरी! तुम उसकी बातों

पर ध्यान न दो, मुझ दीन हीन की ओर निहारो। मैंने तो तुम्हारे प्रति कोई अपराध नही किया। मैं शची को अभी निकालता हूँ, तुम शयनागार से बाहर मत जाओ।" यह कहकर इन्द्र उसकी नाना प्रकार की अनुनय-विनय करने लगे और जैसे तैसे उसे मनाकर लौटा लाये।

शची रानी यह सब दृश्य देख रही थी। उन्होंने व्यङ्ग के स्वर मे कहा—"अरे, पापिनी क्रौंची! और तू भोग ले कुछ दिन इस सौभाग्य को। अन्त मे तो तेरा पतन अनिवार्य ही है।" यह कह कर शची लौटकर अपने महलो मे चली गईं।

यह बात सुनकर पद्मगन्धा को बडी चिन्ता हुई। उसका समस्त रूप-यौवन का मद उतर गया, ईर्ष्या जाती रही। देवेन्द्र से आज्ञा लेकर वह अकेले ही शची के महलो मे गई और उनके पैर पकडकर बोली—"जीजी! तुम कृपा करके मुझे यह बताओ कि तुमने मुझे क्रौंची क्यो कहा।

यह सुनकर शची रानी का भी क्रोध जाता रहा। वह बोली—"बहन! यहाँ की हम सभी अप्सरायें किसी बड़े पुण्य के कारण ही पृथ्वी मे आकर स्वर्ग मे देवाङ्गनायें बनी है। तू पूर्व जन्म मे एक क्रौंच पक्षी की स्त्री क्रौंची थी, मांस खाती थी और वृक्ष कोटर मे निवास करती थी। एक महत्पुण्य के प्रभाव से तुझे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसमे तेरे रूप पर मुग्ध हो कर देवेन्द्र मेरा भी तिरस्कार करते हैं।"

पद्मगन्धा बोली—"जीजी! मैं किस पुण्य के प्रभाव से इतनी सुन्दरी अप्सरा हुई हूँ, कृपा करके मुझे बता दें।"

शची बोली—"तेरा इतना ही पुण्य है, कि जिस वृक्ष के कोटर में रहती थी, वह गंगा तट पर था। गंगाजी की पवित्र वायु तुझे लगती थी, वह गंगाजल का पान करती थी। एक दिन

एक सर्प तेरे कोटर मे घुस आया। उसने तुझे डँस लिया, तेरे मास को खा गया। पतली-पतली हड्डियाँ तेरी गगाजी मे गिर गई। वे पक्षी की पतली हड्डियाँ जब तक गगाजी मे रहेगी, तब तक तू स्वर्ग मे ऐसा ही ऐश्वर्य भोगेगी। जहाँ वे गल गई, कि फिर तू मर्त्यलोक मे चली जायगी। अब वे तेरी हड्डियाँ गलने ही वाली है।'

यह सुनकर पद्मगन्धा को बडा सोच हुआ। उसने कुछ कहा नही। वह अन्यमनस्क भाव से इन्द्र के साथ रमण करने लगी। एक दिन देवेन्द्र ने कहा—'प्रिये! आजकल तुम बडी उदास रहती हो, मुझे इसका कारण बताओ।

उसने कहा—"कुछ नही, वैसे ही मेरा मन ऐसा हो गया है।"

देवेन्द्र ने कहा—'देखो मैं तुम्हारे मुख कमल को म्लान देखना नही चाहता। तुम जो भी चाहोगी, वही मैं तुम्हें दूँगा। तुम मुझसे इच्छानुसार वरदान माँग लो।"

पद्मगन्धा ने कहा— सत्य कहते हो पीछे नटोगे तो नही?'

यह सुनकर इन्द्र ने तीन बार कहा—सत्य कहता हूँ सत्य कहता हूँ। पुन पुन सत्य कहता हूँ। तुम मुझसे जो भी माँगोगी वही तुम्हे मै दूँगा।'

पद्मगन्धा ने कहा—"अच्छा यदि आप प्रसन्न है, तो अबके मेरा जन्म पृथ्वी पर गगा-किनारे हथिनी का हो।"

देवेन्द्र न कहा—'यह तुमने क्या वरदान माँगा? मैं तो तुम्हारे बिना पलभर भी नही रह सकता।

पद्मगन्धा ने कहा—'देव! मुझे कुछ दिन हथिनी-योनि मे रहने दीजिये, पुन मैं आकर आपकी जैसे अब सेवा करती हूँ वैसे ही करूँगी। मैने हथिनी-योनि क्यो माँगी इसका पीछे बताऊँगी।"

जैसे तैसे देवेन्द्र ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। वह गगा किनारे बडे डीलडौल की हथिनी हुई। हथिनी होकर भी उसे स्वर्ग की वे सब बाते याद थी। अत वह अपने शरीर पर यथेष्ट गगाजी की कीच लपेटती। गगाजी की कीच मन की कीच को धो देती है। उसके पय का पान मातृ पय पान से पृथक कर देता है। गगा का दर्शन ससार का दर्शन हटा देता है। उसमें भीतर बुडकी मारने से ससार मे अधोगति नही होती।

कुछ दिनो के पश्चात् हथिनी आहार छोड दिया, वह गगा जी मे खडी होकर उपवास करने लगी। उपवास करते करते वह अत्यन्त कृश हो गई और अन्त मे गगाजी के बीच ही मर गई। उस लेने स्वय देवेन्द्र आये और वह पहले से भी सहस्रो गुनी सुन्दरी हो गई। तब एक दिन प्यार से देवेन्द्र ने पूछा—"तुमने मुझसे हथिनी की योनि क्यो माँगी ?"

इस पर वह अप्सरा बोली—"प्रभो! जब इच्छा न रहने पर स्वाभाविक पक्षी की हड्डी गगाजी मे पडने पर मुझे इतना सौभाग्य प्राप्त हुआ था तब इच्छा पूर्वक हड्डी पडने पर न जाने कितना सौभाग्य प्राप्त हो। पक्षी की हड्डी तो कुछ दिनो नष्ट हो जाती है किन्तु हथिनी की हडडी तो चिरकाल तक रहेगी। तब तक मैं आपके साथ आनन्द-विहार करती रहूँगी। अत अपने पुण्य को सौभाग्य को, स्थाई बनाने के लिये मैंने हथिनी की योनि माँगी थी।'

यह सुनकर देवेन्द्र परम प्रमुदित हुए, उस दिन से वे भी गगाजी की महिमा को भली भाँति समझने लगे। यह मैंने गगा जी मे हडडी पड़ने का माहात्म्य बताया। अब आप विष्णु-चरणोदक का माहात्म्य श्रवण कर।

एक बडा ही हिंसक, क्रूर, परधन लोभी ब्राह्मण पृथ्वी पर

मरने पर जब उसे पकडकर यमदूत सयमनी-पति यम के समीप ले गये, तब यमराज ने नियमानुसार चित्रगुप्तजी को बुलाया और उनसे इस ब्राह्मण के पुण्य पाप का लेखा पूछा।

चित्रगुप्तजी ने तुरन्त वर्णो के क्रम से लगे हुए इसके खाते को खोला और उलट-पुलट कर बोले—प्रभो! इसने तो पाप ही पाप किया है, पुण्य तो इसका अणुमात्र भी नही है।"

तब यमराज ने कहा—'अच्छी बात है, इस रौरवादि नरको की यातना दो।'

यमराज की आज्ञा से उस अनेक नरको मे पकाया गया। जब उसके कुछ पाप शेष रह गये, तब उसे पृथ्वी पर काक योनि मे डाल दिया गया। काक होकर वह अखाद्य वस्तुओ को खाता हुआ अपनी आयु के दिन बिताने लगा। एक दिन वह उडता हुआ भगवान् के मन्दिर के ऊपर चला गया। उसे बहुत प्यास लग रही थी। तुलसीजी के थामरे पर भगवान् का चरणामृत रखा था। कौआ आकर तुलसी-चबूतरे पर बैठ गया और उस सम्पूर्ण चरणामृत को पी गया। चरणामृत के पान करते ही उसके प्राण पखेरू उड गये। उस समय स्वर्ग से विमान आया और हंस देवता बनकर स्वर्ग को चला गया।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! भगवान् के चरणामृत का—गगाजल का कहाँ तक माहात्म्य बताऊँ। गगाजल मरते-समय प्राणियो के मुख मे पड जाय, तो पापी भी पावन हो जाते हैं। गगाजी के तट पर रहकर भी जो अन्य जल का पान करता है। उससे अभागा ससार में कौन होगा? [illegible] रहते भी जिसका शरीर ग्राम्य श्मशान में [illegible], उससे बढकर उसका दुर्भाग्य क्या होगा? [illegible] तृण भी शरीर पर अन्य उपलेप लगाता है [illegible] कौन है?"

गगाजी नहाने वालो को तो पवित्र करती ही हैं, नहाने वालो के ससर्गियो को भी पवित्र कर देती हैं। मेरे गुरुदेव ने भगवत्-कथा को गगाजल की उपमा देकर एक अत्यन्त ही साहित्यिक चमत्कार दिखाया है। जलरूपी गंगा से बढकर यह कथा-रूपी गंगा है क्योकि गगा तो एक सीमित देश मे ही रहती हैं, किन्तु, कृष्ण कथा रूपी गंगा तो सर्वत्र सुलभ हैं, जहां चाहे, वही इन्हे प्रकट कर सकते हैं। इस प्रकार राजा के प्रश्नो की प्रशसा सुनकर मेरे गुरुदेव ने जिस प्रकार भगवान् के अवतार का कारण बताया, उस कथा को मैं आपको आगे सुनाता हूँ, आप सावधान होकर उसे श्रवण करे।"

छप्पय

अब नृप! उत्तर देहुँ करे जो प्रश्न जगतहित।
प्रभु अवतार-निमित्त कहहुँ चित करहु समाहित॥
बाढे भू पै असुर वेष भूपति को धारें।
करें यथेच्छाचार साधु-गो-विप्रनि मारें॥
प्रकटे अगनित असुरगन, अवनि अधिक पीड़ित भई।
धेनु- रूप धरि दुखित है, अज चतुरानन ढिग गई॥

भगवान् के अवतार के निमित्त

[८१६]

भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्मणं शरणं ययौ ॥
गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः ।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचत ॥*

(श्री भा० १० स्क० १ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

अश्रु विमोचन करति दुखित मन महँ पछितावति ।
कमलासन ने लखी विकल भूदेवी आवति ।
अज प्रनाम करि कहें मातु ! क्यों अश्रु बहाओ ।
निज दुख कारन जननि मोइ अविलम्ब बताओ ॥
वसुधा बोली वत्स बहु, बोझ बढ्यो भारी भई ।
सहशीलता नृप बने, असुरन मेरी हरि लई ॥

भगवान् के अवतार का कारण उनकी क्रीडा ही है। जब उन्हे अपने निज जनों को विचित्र-विचित्र लीला दिखाने की स्वय

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! जब राजाओं के रूप मे अनेक उन्मत्त दैत्यगण पृथ्वी पर यथेच्छ अत्याचार करने लगे, तब उनके भार से अत्यन्त पीड़ित होकर पृथ्वी गौ का रूप रखकर, नेत्रों मे अश्रु भरकर तथा खिन्न होकर करुण स्वर मे क्रन्दन करती हुई ब्रह्माजी की [illegible] गई ! वहाँ जाकर उसने उनको अपने कष्टों की कहानी कह [illegible]

कुछ कुतूहल करने की इच्छा होती है, वे अवनि पर अवतरित होते हैं। साधारण जीवो की तो शक्ति ही नही कि उनकी ओर आँख भी उठाकर देख सकें; फिर उनके साथ विहार शय्या, आसन, भोजन, युद्धादि व्यापार कैसे कर सकते हैं? अतः वे अपने परिकर को भी साथ लाते हैं। क्रीडा करने के पूर्व-अवतरित होने के प्रथम-वे ऐसा वायु मण्डल उत्पन्न कर देते है कि सभी उन्हे पुकारने लगें, सभी आर्त होकर उनके अवतार की प्रार्थना करने लगें। वे अपनी माया-शक्ति की प्रेरणा से तमोगुण की अभिवृद्धि कर देते है, तम-प्रधान असुरो मे प्रवेश करके उन्हें बढ़ाते है। इससे सत्त्व-प्रधान सुर घबडा जाते है, असुरो का बल बढ जाता है। प्रबल हुए असुर देवी-शक्ति को नष्ट करने लगते हैं। यदि वे विशुद्ध पापी ही हो, तब तो वे अपने पाप से ही नष्ट हो जायँ, शाप से ही भस्म हो जायँ, किन्तु वे क्रूर, हिंसक, बली होने पर भी तपस्वी होते हैं, दानी तथा धर्माचरण करने वाले भी होते हैं। ऐसे लोगो पर ऋषि मुनियो का तेज भी काम नही आता, उनके लिये तो सत्त्वमूर्ति भगवान् को ही अवतरित होना पडता है। पहले वे तमोगुण मे प्रवेश करके उसे बढा रहे थे, अब सत्त्वमूर्ति रखकर उसका नाश करते हैं। वे जब जैसा काल देखते हैं, तब तैसे ही गुण मे प्रवेश करके उसे बढा देते हैं। स्वय ही वाध्य, स्वय ही बाधक। इसे उनकी लीला के अतिरिक्त क्या कहें उसमे हेतु क्या बतावें? फिर भी किसी को निमित्त बनाकर ही वे क्रीड़ा करते हैं।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन्! अब मैं आपके पावन प्रश्नो का यथामति उत्तर देता हूँ। सर्वप्रथम मैं यह बताऊँगा कि भगवान् ने अपने अवतरण के निमित्त कारण क्या बनाया था। पृथ्वी पर बहुत से असुर राजाओं के

रूप में उत्पन्न हो गये। वे बडे बली थे। सब के सब ऐश्वर्य, बल, पराक्रम तथा तप के मद में उन्मत्त होकर महान अत्याचार करने लगे। उनके भार मे भू-देवी दब-सी गई। उस भार को उतारने के लिये अच्युत अवनि पर अवतरित हुए।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् के अवतार का इतना ही छोटा-सा एक कारण है। सर्वशक्तिमान भगवान् को इस तनिक-सी बात के पीछे ही इस आधि-व्याधि, जरा तथा दु:खपूर्ण संसार मे आना पडा। महाभाग! वे चाहते, तो अपने सकल्पमात्र से असुरो का नाश कर देते, उन्हे उत्पन्न ही न होने देते। क्या किसी की उत्पत्ति भगवान् की इच्छा के बिना हो सकती है? यदि नही, तो असुरों को उन्होने उत्पन्न ही क्यों होने दिया, जिन्हे मारने उन्हे नर-रूप धारण करना पडा? उन्हे मनुष्य बनकर मानवीय दु:खो को भी सहना पडा। इस विषय मे हमे बडा संदेह है। इसका समाधान कीजिये, तब आगे की कथा कहिये।'

यह सुनकर सूतजी हंस पड़े और बोले—"भगवन्! आप तो ऐसे प्रश्न करते हैं, मानो कुछ जानते ही नही। महाराज! भगवान् के किसी भी चरित्र के सम्बन्ध में यह नही कहा जा सकता कि यह इसलिये ही हुआ। यही कहा जा सकता है, यह भी कारण हो सकता है। भगवान् के अवतार के अनेक कारण शास्त्रों मे बताये हैं जय-विजय को जब सनकादि मुनियो ने शाप दिया, तब भगवान् ने कहा—"तीन जन्मो तक मैं तुमसे क्रीडा करूंगा। तीसरे श्रीकृष्ण-जन्म में मैं तुम्हारा उद्धार करूंगा।" इसलिये उनके उद्धार के निमित्त भगवान् अवतरित हुए। कोई कहते हैं—"दण्डकारण्य के मुनि श्रीराम के अद्भुत रूपलावण्य को देखकर विमोहित हो गये। उनके मन में भगवान् के

रमण करने की इच्छा उत्पन्न हुई। भगवान् ने कहा—"यह तो मेरा मर्यादा पुरुषोत्तम अवतार है। आगे मैं एक लीलावतार धारण करूँगा, तब तुम स्त्री होकर मेरे साथ रमण करना।" अत उनकी इच्छा पूर्ति के लिये मैंने यह भुवन मोहन श्रीकृष्णावतार धारण किया।" कोई कहते हैं—' जब अगस्त्यादि ऋषियों ने आकर लक्ष्मणजी की बडी प्रशसा की और कहा, मेघनाद को वही मार सकता है, जो बारह वर्ष बिना खाये, बिना सोये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे।" श्रीराघव को बडा आश्चर्य हुआ। वे बोले—"लक्ष्मण तो मेरे साथ नित्य ही फल खाता था, उसने मेघनाद को कैसे मारा ?" लक्ष्मणजी बुलाये गये। भगवान् ने पूछा—"क्या तुमने बारह वर्ष भोजन नही किया ?"

लक्ष्मणजी ने कहा—'नही प्रभो ! मैंने न भोजन किया, न निद्रा ली।"

भगवान् बोले—"तुम तो स्वय फल लाते थे और मैं तीन भाग करके तुम्हें दे देता था। तुम खाते नही थे क्या ?'

अत्यन्त आश्चर्य के साथ भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! हमे तो पता भी नही, तुम उन फलो को क्या करते थे ?"

लक्ष्मणजी ने कहा—"महाराज ! मै आपके दिये हुए फलों का अनादर कैसे करता ? उन्हे सुखाकर रख लेता। अवसर मिलने पर उन्हें बाण द्वारा अवध भेज देता। वे सब फल मेरे पास अभी यहाँ रखे है।" कुतूहल के साथ भगवान् ने कहा—"अच्छा, लाओ उन फलो को।"

लक्ष्मणजी सब फल ले आये। गिने गये, तो चार दिन के कम निकले। भगवान् ने कहा—"चार दिन के कम क्यो हैं ?"

लक्ष्मणजी ने कहा—"महाराज ! पहिले दिन तो शृंगवेरपुर मे हम लोगो ने कुछ खाया ही नही था। जिस दिन पिता के

परलोक-गमन का समाचार मिला, उस दिन न मुझे आपने फल लाने की आज्ञा दी, न उस दिन किसी ने खाया ही। जिस दिन सीताजी का हरण हुआ, उस दिन किसी ने कुछ खाया ही नहीं; आपको अपने शरीर की भी सुधि नहीं थी। एक दिन उस दिन नहीं खाये, जिस दिन मुझे शक्ति लगी थी। उस दिन मैं दिन भर मूर्च्छित पड़ा रहा, आप रोते रहे उस दिन भी कुछ नहीं खाया था। इसलिये चार दिन के कम हैं।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया! यह तो बड़ी भूल हो गई। बड़ा बनना तो बहुत बुरा व्यापार है! बड़े लोग सेवकों से काम लेना ही जानते हैं। वे इस बात की सुधि नहीं रखते कि हमारे सेवक ने खाया या नहीं, उसे कुछ कष्ट तो नहीं है। देखो, मैं तो अपनी प्रिया के साथ वनों में भी आनन्द-विहार करता रहा। तुमने कुछ खाया भी नहीं। इस अपराध का यही प्रायश्चित्त है कि अब के मैं छोटा बनूँगा, तुम बड़े बनना। अब के मैं तुम्हारी सेवा करूँगा।" इसलिये श्रीकृष्ण छोटे बने और शेषावतार सर्पण को बड़ा बनाया, किन्तु, छोटे बनकर भी ये बड़े ही रहे। अब बड़े कहाँ तक छोटे बनें।

कोई कहते हैं—"भृगुजी के एक पुत्री थी, जिसका नाम लक्ष्मी था। उन्होंने विष्णु भगवान् के साथ उसका विवाह कर दिया, दहेज में एक गाँव दिया। पीछे भृगुजी ने उस गाँव पर अपना अधिकार जमा लिया। विष्णु भगवान् ने कहा, यह मेरी बहू का है। इसी पर तू-तू, मैं-मैं हो गई। बड़ा न्यायालय तब तक स्थापित नहीं हुआ था। भृगुजी ने शाप दे डाला—"जाओ, तुम्हें दस बार पृथ्वी पर अवतार लेना पड़ेगा। इसलिये ससुर के शाप से वे उत्पन्न हुए।"

कोई कहते हैं—"भृगुजी ने इन्हें यज्ञ की रक्षा का काम सौंपा

था। इसी बीच देवताओं पर असुरों ने चढ़ाई कर दी। विष्णु भगवान् चक्र लेकर भाग गये। उसी बीच असुरों ने आकर भृगु के यज्ञ को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। इस पर क्रुद्ध होकर भृगुजी ने कहा—"तुमने जामाता होकर भी मेरी आज्ञा-पालन में प्रमाद किया, अतः जाओ, तुम्हे दस बार पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ेगा।"

कोई कहते हैं— 'असुर देवताओं को मारकर भृगु की पत्नी के यहाँ छिप जाते थे। देवता वहाँ जा नही सकते थे। इस पर चक्र लेकर भगवान् ने उसका सिर काट दिया। इस पर भृगुजी ने उन्हे शाप दे दिया।"

कोई कहते है—"जाम्बवान की युद्ध से तृप्ति नही हुई, तब भगवान् ने उन्हे वर दिया कि श्रीकृष्णावतार लेकर हम तुमसे युद्ध करके तुम्हारी तृप्ति करेंगे।"

कोई कहते हैं—"नन्द-यशोदा पूर्वजन्म मे द्रोण वसु और धरा थे। उनसे ब्रह्माजी ने कहा—"तुम पृथ्वी पर उत्पन्न हो।" उन्होने कहा—"भगवन् मे हमारी अविरल भक्ति हो, वे बालरूप से हमारी क्रोड में क्रीडा करें, तो हम पृथ्वी पर उत्पन्न हों।" भगवान् ब्रह्माजी ने कहा—"ऐसा ही होगा।" तब द्रोण-धरा ही नन्द-यशोदा के नाम से अवतीर्ण हुए। भगवान् भी ब्रह्माजी के वचनो को सत्य करने के लिये, बलरामजी के सहित, व्रज में रह कर उन दोनो को सुख देते रहे।"

कोई कहते हैं—"सुतपा और प्रश्नि ही वसुदेव-देवकी-रूप मे अवतीर्ण हुए। उनके वर को सत्य करने भगवान् श्रीकृष्ण-रूप मे उत्पन्न हुए।"

कोई कहते है—"श्रुतियो ने, अप्सराओं ने, ऋषियो ने नित्य परिकर की सहचरियो ने भगवान् के साथ वृन्दावन में रास करने की इच्छा की। उनकी इच्छा-पूर्ति के लिये, रास-विलास-

करने के लिये, भगवान् नन्द-नन्दनरूप से व्रज मे प्रकट हुए।"

कोई कहते हैं—"बहुत से असुरो ने वर माँगे थे कि हम पृथ्वी पर राजा रूप से उत्पन्न हो, तो हमारी मृत्यु भगवान् के देखते-देखते हो, इसीलिये भगवान् ने अवतार लिया।'

कोई कहते हैं—"इन्द्र ने भगवान् से प्रार्थना की कि मेरा पुत्र हो तो उसकी आप रक्षा करें। अत इन्द्र के वर को सत्य करने, एकमात्र अर्जुन की रक्षा करने के लिये भगवान् ने यह रूप धारण किया।"

कोई कहते हैं—'भगवान् जब पृथ्वी को वराह रूप से ला रहे थे, तब भगवान् के स्पर्श से पृथ्वी के शरीर मे सात्त्विक भाव उत्पन्न हो गये। इसी से पृथ्वी के एक पुत्र—भौमासुर—उत्पन्न हो गया। पृथ्वी ने प्रार्थना की, कि इसकी मृत्यु भगवान् के अतिरिक्त किसी से न हो। भगवान् ने तथास्तु कह दिया। अब तो वह असुर अपने को अजर-अमर और अजेय समझकर अत्यधिक अत्याचार करने लगा। अब भगवान् के पुत्र को कौन मारे? इसीलिये उसे मारने को भगवान् अवतीर्ण हुए।"

सूतजी कहते हैं—"महाराज! कहाँ तक गिनावें! जैसे भगवान् अनत हैं, वैसे ही उनके अवतार के सम्बन्ध मे अनेकों कारण बताये जाते हैं। इन सब कारणों को सुनकर भी सब मे स एक ही सामान्य ध्वनि निकलती है, कि भगवान् अपने आश्रित भक्तो को सुख देने—उनकी इच्छा पूर्ण करने—के निमित्त कमनीय क्रीडा करने के लिये ही आते हैं। इसीलिये हम किसी एक कारण को उनके अवतार का निमित्त कारण बताकर उनके अवतार की भूमिका बाँधते हैं। आप यह न समझें कि उनके अवतार का यही एकमात्र कारण है। सच पूछा जाय, तो उनके अवतार का कुछ भी कारण नही, वे अकारण वैसे ही बालक्रीडा के सदृश,

मनोविनोद के लिये, स्वेच्छा से अवतरित होते हैं। ...
सुख देने—उनके संकेत पर कठपुतली की भाँति नाचने—से, ...
स्वरूप होने पर भी, उन्हे अत्यधिक सुख होता है। अतः भक्त
को सुख देने—अपने सुख स्वरूप को प्रकाशित करने—वे अवनि
पर आते हैं। कथा प्रसङ्ग चलाने को यह भूमिका बाँधी गई है
कि जब पृथ्वी पर कालनेमि, अरिष्ट, धेनुक, केशी, प्रलम्ब, नरक
सुन्द, बाण, भौम, तथा (हिरण्यकशिपु दन्तवक्त्र) हिरण्याक्ष
शिशुपाल आदि अनेको असुर राजाओ के रूप में तथा अन्यान्य
रूपो मे उत्पन्न होकर पृथ्वी के भारभूत हो गये, तब भू का भार
उतारने भगवान् ने अवतार धारण किया।"

इस पर शौनकजी ने कहा— 'सूतजी! जब यही बात है, तब
असुरो को मारने को तो उनके एक केश का भी अवतार हो
जाता तो वह ही सब दैत्यो का नाश करने मे समर्थ था; या किसी
और मे ऐसी शक्ति दे देते।"

सूतजी बोले—"महाराज! ये साधारण पापी नही थे।
साधारण पापी तो अपने पाप से ही नष्ट हो जाता है। ये वैसे तो
बडे धर्मात्मा थे। जरासध को ही ही देखिये, कितना ब्राह्मण-भक्त
था! कोई ब्राह्मण किसी समय भी आ जाय, वह उसका उसी समय
सत्कार करता था। जो भी ब्राह्मण उससे याचना करता, वह उसे
वह वस्तु उसी समय देता। ऐसे धर्मात्मा असुर को भगवान् के
अतिरिक्त कौन मार सकता था? इन सब मे सहस्रो लाखो
हाथियो के समान बल था। ये ब्रह्मादि देवताओ से भी नही
जीते जा सकते थे। रही केशावतार की बात, सो इन्हे मारने
को तो भगवान् ने केश का ही अवतार धारण किया। भूमा पुरुष
के श्वेत और कृष्ण केश से ही श्रीबलरामजी और श्रीकृष्ण का
अवतार हुआ। नर-नारायण ने भी अवतार धारण किया, विष्णु

भगवान् ने भी अवतार धारण किया–ये सब कला अंशादि अवतार आकर परिपूर्णावतार श्रीकृष्ण के विग्रह मे अन्तर्भूत हो गये। खल निग्रह गीतोपदेश आदि लोक कल्याण कारक कार्य इन्ही अंश कला अवतारो द्वारा हुए। परिपूर्णतम अवतार तो राग भोग मे ही निमग्न रहकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप से भक्तों को–आश्रितो को–सुख देता रहा। इन सब विषयो का विस्तृत विवेचन समय समय पर होता रहेगा। आप मुझे कथा कहने दें। ऐसी शकायें करते रहेगे, तो कथा का प्रवाह ही रुक जायगा। ये भगवान् तर्क से प्राप्त नही होते। इनको प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है—प्रेम श्रद्धा भक्ति के सहित इनके चारु चरित्रो का श्रवण करना, मनन करना, विचार करना, कथन करना प्रचार करना प्रसार करना तथा स्वर सहित गान करना।"

शौनकजी बोले— अच्छी बात है सूतजी! अब आप कथा ही कहे।"

सूतजी बोले —"जैसे मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित को भगवान् के अवतार का निमित्त कारण बताया उसे ही अब मैं कह रहा हूँ। पृथ्वी पर जब असुर अत्यधिक बढ गये और उनके बोझ को सम्हालने मे वह असमर्थ हो गई तब वह अत्यन्त दु खी होकर गौ का रूप रखकर, आखों मे आँसू भरकर अत्यत खिन्न होर दीन स्वर से विलाप करती हुई ब्रह्मा जी के पास चली।

ब्रह्माजी का घर तो ब्रह्मलोक में है किन्तु वे सातों भुवनो के स्वामी हैं, अत सातो भुवनो के बीच ध्रुवलोक म ऊपर सुमेरु शिखर पर उन्होने अपनी एक सभा बना रखी है, ताकि ऊपर के महर्जन, तप और सत्यलोक के भी लोग आ सकें और नीचे

के भू, भुव और स्वर्ग लोक के भी लोग आ सकें। सात पाताल तो भू के विवर ही कहे जाते हैं, इनकी गणना तो भूलोक में ही की जाती है। यह ब्रह्माजी की सभा स्वर्गलोक से ऊपर तथा महर्लोक से नीचे है। शासक को अपने राज्य के बीच में ही राज सभा बनानी चाहिये। जब ब्रह्माजी की सभा लगती है, तब उसमें सभी के अधिष्ठातृदेव पहुँचते हैं, जैसे नदियाँ दिव्य रूप रखकर जाती हैं, पर्वतों के अधिष्ठात देव ग्राम नगरों के देव, असुर, गन्धर्व, गुह्य, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच- सारांश समस्त जीवों के प्रतिनिधि ब्रह्माजी की सभा में उपस्थित होकर अपना दुख-सुख सुनाते हैं। धर्म भी रहते हैं, अधर्म भी रहते हैं। ब्रह्माजी को सब की सुननी पड़ती है, सब का प्रबन्ध करना पड़ता है। जिनको भी कोई दुःख होता है, वे वहीं जाकर रोते हैं। पृथ्वी भी गौ का रूप रख कर उनकी सभा में पहुँची।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने मना तो कर दिया है, कि तर्क मत करना, किन्तु बिना पूछे हमसे रहा नहीं जाता। पृथ्वी ने गौ का ही रूप क्यों रखा?"

सूतजी बोले—"अब महाराज! यह बात तो आप पृथ्वी से पूछें। हमने तो पुराणों में पृथ्वी का जहाँ भी वर्णन सुना है, गौ रूप से ही सुना है। जैसे गौ के शरीर में सब देवताओं का निवास है, वैसे ही पृथ्वी भी सबका आधार है। गौ का इसलिये भी रूप रखा होगा कि गौ अत्यन्त भोली होती है, उस पर सभी लोग दया करते हैं। कन्या और गौ—दोनों के भोलेपन को देख कर सब हृदय द्रवीभूत हो जाते हैं। पृथ्वी को सबके हृदय में दया उत्पन्न करनी थी, इसीलिये वह गौ बनकर ब्रह्माजी के पास गई।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! एक तनिक सी शङ्का और रह-

गई। अच्छा, पृथ्वी तो जानती थी, ब्रह्माजी कुछ नही कर सकते। करने धरने वाले तो श्रीहरि ही हैं। पृथ्वी का भगवान् से परिचय न होता तब तो ब्रह्मा जी की सहायता की अपेक्षा भी थी पृथ्वी रानी तो भगवान् की बहू ही हैं। फिर वे सीधे भगवान् के पास क्यो नही गई, उन्होंने इतना चक्कर क्यो लगाया ?"

यह सुनकर सूतजी बहुत खिलखिला कर हंस पडे। इस पर शौनकजी ने शङ्कित होकर कहा— सूतजी! हमारा प्रश्न कुछ गडबड हो गया क्या ? हमने कुछ भूल कर दी क्या ?' हंसते हुए सूतजी बोले—'महाराज! जान बूझकर भूल नही की। प्रश्न मे भूल हुई ही, किन्तु यह भूल गृहस्थी न होने से स्वाभाविक ही है। आप तो जन्म से ही बाबाजी बन गये हैं, गृहस्थियो के सदाचार को क्या जानें! भगवन्! स्त्री को जब पति से कोई बात सबके सामने कहनी होती है तब वह बीच मे पुत्र पुत्री को बिठाकर कहती है। भूदेवी विष्णु भगवान् की बहू ठहरी। वह भी निर्लज्ज कलियुगी नही सतयुगी सती साध्वी ठहरी। वे अकेले भगवान् के पास कैसे जाती ? घूंघट खोलकर कैसे बातें करती ? अत. चार मुह वाले अपने बेटे को साथ ले कर जाना उन्होने उचित समझा। उनका एक मुख पिता के सम्मुख रहता एक माँ के सम्मुख। माँ घूंघट मे से उनके कान मे जो कह देती, वही वे भगवान् से निवेदन करते। मुझे तो यही कारण प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कोई कारण हो तो उसे आप जाने।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार पृथ्वी देवी ब्रह्माजी की भरी सभा मे गईं। सब देवता इन्हें देखकर चकित रह गये। ब्रह्माजी ने यथोचित उनका स्वागत सत्कार किया कुशल क्षेम

पूछा। माता ने अपना सब दु ख रो रोकर उन्हें सुनाया। ब्रह्मा जी सब सुनकर चिन्तित हुए। वे पृथ्वी देवी को आगे करके सब देवताओं को साथ लिये हुए शिवजी के समीप पहुँचे। शिव ने सब सुनकर कहा—'मैं क्या कर सकता हूँ, करने धरने वाले तो वे ही श्रीहरि हैं। उनकी शरण मे सब चल।' शिवजी की सम्मति मानकर सब क्षीरशायी श्री विष्णु के समीप चलने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

सुरगण करहु उपाय भार मेरो उतरे सब।
जाउँ रसातल चली वहन की शक्ति नहीं अब॥
सुनि के भू की बात सुरनि ब्रह्मा उकसाये।
सुनि बोले अज असुर अवनिपै अगनित आये॥
गङ्गाधर शिव ढिग चलहु, वे कछु युक्ति बतायँगे।
फिर उनकूँ हू संग लै, कमलापति ढिग जायँगे॥

श्रीहरि द्वारा भू और देवों को आश्वासन

[८१७]

गिरं समाधौ गगने समीरिताम्,
निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

ब्रह्मादिक सब देव अवनि सँग शिव ढिँग आये।
पुनि अज, हर, सुर अन्य क्षीरसागरहिँ सिधाये॥
देखि अपार पयोधि विष्णु कूँ खोजें सब सुर।
परि दरशन नहिं भये अधिक चिन्ता व्यापी उर॥
है अधीर श्रद्धा सहित, लगे करन विनती सबहि।
अज आयसु हरि की सुनी, बोले देवनि तें तबहि॥

सर्वज्ञ भगवान् काल के भी काल हैं। विश्व ब्रह्माण्ड काल के अधीन है, किन्तु काल भगवान् के अधीन है। भगवान् काल के

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—' राजन् क्षीर सागर पर ब्रह्माजी की समाधि में आकाशवाणी सुनाई दी। उसे श्रवण करके उन्होंने इन्द्रादि देवताओं से कहा—"अमरगण! मैंने जो भगवान् की भविष्यवाणी सुनी है, उसे तुम सब सुनो और सुनकर उसके अनुसार तुरन्त कार्य करो। इस विषय में देर करने का काम नहीं है।"

अधीन होकर कोई कार्य नहीं करते, किन्तु काल को ही आज्ञा कर देते हैं कि अमुक समय पर हमारे यहाँ उपस्थित हो जाना। भगवान् के संकेत पर काल जब आकर उपस्थित होता है, तब भगवान् योग निद्रा से उठकर हाथ मुँह धोते हैं और फिर क्रीडा करने लगते हैं। क्रीडा करते-करते जब इच्छा होती है, वे सो जाते हैं। सोना और खेलना—ये ही बालमुकुन्द भगवान् के दो कार्य हैं। भगवान् 'जिस लोक में भी सोवें, उसी लोक के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी-रूप कगले याचक उन्हें आकर दीन वचन सुनाते हैं। इन खटमल और मच्छर रूपी स्वार्थियों से बचने के लिये भगवान् दुग्ध के समुद्र के बीचो बीच शयन करते हैं। सबसे सुन्दर चिकनी गुदगुदी सर्प की देह होती है। वे उसी को सुन्दर शय्या बनाते है, उस पर महत्तत्व गुदगुदा गद्दा बिछाते है त्रिगुणों के तकिये लगाते है और आँखे बन्द करके चुपचाप सो जाते हैं। उनकी बहूरानी भगवती कमलादेवी अपनी अत्यन्त कोमल जङ्घाओं पर उनके चरण कमलों को रखकर कमल से भी कोमल अपने कमनीय करों से शनैं शनैं सुहलाती रहती हैं। उनके सुखद स्पर्श से योग निद्रा आने से श्रीहरि के नयन उन्मीलित हो जाते हैं। वे झपकियाँ लेने लगते हैं। उनका शयन स्थान वैसे ही एकान्त तथा गुप्त है। प्रथम तो वहाँ कोई पहुँचता ही नहीं, कोई भूला भटका। अधिकारारूढ सेवक पहुँच भी जाय, तो भगवान् असमय मे उन्हे दर्शन नहीं देते, किसी अधिकारी से कहला देते हैं अभी मिलने का तो समय नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब पृथ्वी देवी ने अपने दुःख को मिटाने के निमित्त चतुरानन भगवान् ब्रह्माजी से प्रार्थना की, तब वे शिवजी के समीप गये, फिर सबने मिलकर सम्मति की। सर्वसम्मति से यही निश्चय हुआ कि कर्ता, धर्ता सब श्रीहरि ही हैं।

सब को एक साथ मिलकर भगवान् की शरण में जाना चाहिये। अब यह प्रश्न उठा कि भगवान् तो वैकुण्ठ मे, श्वेत द्वीप में, क्षीर सागर मे, और जाने कहाँ-कहाँ, रहते हैं; किस स्थान मे चलना चाहिये। इस पर ब्रह्माजी बोले— देखो' भाई! यदि भगवान् वैकुण्ठ मे या श्वेत द्वीप मे इस समय होते, तो उन्हे आर्त प्राणियो का क्रन्दन सुनाई अवश्य देता। प्रतीत होता है, वे गहरी निद्रा मे कही सो रहे है। सोते हुए पुरुष को किसी की चिन्ता नही रहती, वह अपने आनन्द मे मग्न रहता है। भगवान् के सोने का स्थान क्षीर सागर है। वहाँ अनेक बार मैं गया हूँ। मैंने उन्हे योगनिद्रा मे, नेत्र बन्द किये, शेष-शैय्या पर शयन करते हुए, निहारा है। अब वहाँ चलने से काम चलेगा।"

सब ने कमलासन की बात का साधु-साधु कहकर समर्थन किया। गोरूपा पृथ्वी को आगे करके समस्त ब्रह्मादि देव क्षीर सागर की ओर चल दिये। वहाँ जाकर सब ने देखा कि दूध का समुद्र हिलारें मार रहा है। बड़े-बड़े दुग्ध के झाग किनारे पर लगे हुए हैं। जयन्त ने अपने एक नेत्र से, देवताओं ने अपने दो नेत्रो से, ब्रह्माजी ने अपने आठ नेत्रो से शिवजी ने अपने दश नेत्रो से, स्वामी कार्तिकेय जी ने अपने बारह नेत्रो से, और सहस्राक्ष देवेन्द्र ने अपने हजार नेत्रो से, चारों ओर आँख फाड़-फाड़ कर देखा, किन्तु भगवान् दिखाई ही न दिये। तब तो देवता बडे निराश हुए कि उनका आना ही व्यर्थ हुआ। भू देवी भी रुदन करने लगी। सब को सान्त्वना देते हुए बूढे ब्रह्मा जी बोले—"अरे देवताओ! तुम चिन्ता मत करो। भगवान् तो स्तुति से प्रसन्न होते हैं। सब मिलकर एक मन से, एक स्वर से, गद्गद कण्ठ होकर स्तुति करो। देखो अभी भगवान् प्रकट होते हैं।"

"बाबा वाक्यं प्रमाणम् ।" बूढे बाबा जो कह दें, वही ठीक। सब पंक्तिबद्ध, हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर, छाती निकालकर खडे हो गये और पुरुषसूक्त से करने लगे स्तुति, प्रिय भगवान् की स्तुति !

कोलाहल सुनकर भगवान् ने नेत्र बन्द किये ही कहा—"यह कौन कोलाहल कर रहा है ?"

एंड़ी को अपने दोनों कर-कमलों से दबाती हुई लक्ष्मी जी बोली—"प्राणनाथ ! देवता गण आये हैं, वे आपकी स्तुति कर रहे हैं।"

भगवान् बोले—'देवता बड़े अनाडी हैं। उन्हें इतना भी ज्ञान नही कि जब पट बन्द हो, शयन हो गया हो, तब न श्री विष्णु मन्दिर की प्रदक्षिणा करनी चाहिये, न वहाँ खड़े होकर स्तुति ही। इनको किसने सिखाया है ?"

लक्ष्मी जी बोली—'चतुरानन आये है और साथ ही बसुधा जी भी हैं। किन्तु, आज तो वे बडे-बडे सोगो वाली गौ बन रही हैं, लहँगा-फरिया कुछ नही पहनी है, ऐसे ही नङ्ग धडङ्गी खड़ी हैं।" अपनी धर्मपत्नी के आगमन को सुनकर भगवान् के मन मे प्रेम तो हो ही गया। पुत्र के आगमन से क्रोध भी जाता रहा किन्तु, वे लक्ष्मी जी के सम्मुख अपना प्रेम प्रकट कैसे करें ? लक्ष्मी जी तनिक-सी बात में तुनक जाती हैं। अतः भगवान् बोले—"मेरे बेतार के तार वाले यन्त्र को मुख पर लगाओ। ब्रह्मा से कहो—"आँख बन्द करके अपने हृदय के यन्त्र को मेरे यन्त्र से मिला लें, अभी मेरे उठने का समय नही हुआ। ये कामार्थी कङ्गाल हम जहाँ जाते हैं, वही पहुँच जाते हैं। मैं लेटे-लेटे ही ब्रह्मा को निकट सब बातें सुना दूँगा।"

लक्ष्मी जी ने भगवान् की आज्ञा का पालन किया। भगवान् ने ब्रह्माजी के हृदय मे कहा—"क्यो हल्ला मचाया है ?"

दीनता के स्वर में ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! पृथ्वी माता बडी दुखी हो.. "

बीच में ही भगवान् ने कहा—"बहुत बाते करने की आवश्यकता नही। हमे सब पता है। हम ऐसे नही सोये हैं कि सब को भूल जायें। हमे सबकी रत्ती-रत्ती बात मालूम है। पृथ्वी के दुख हमसे अविदित नही हैं। अभी हमे ऐसे ही कुछ और पडे रहना है। तब तक देवताओ से कहो, वे कुछ कार्य करे। स्वर्ग मे ही पडे-पडे आनन्द न उडाते रहे।"

डरते-डरते ब्रह्माजी ने कहा—'देवताओ के लिये क्या आज्ञा है। उन्हे क्या करना होगा ?"

भगवान् ने कहा— देवता सब जाकर पृथ्वी पर यदुकुल में अवतार लें। वे तब तक पृथ्वी पर रहे, जब तक मैं अपनी काल शक्ति से पृथ्वी का भार नष्ट करते हुए भूलोक मे विहार करूँ। मैं स्वय वसुदेव जी के यहाँ अवतरित होऊँगा। देवताओ की स्त्रियाँ भी व्रज मे मेरी प्रसन्नता के लिये उत्पन्न हो। मेरे कलारूप स्वय प्रकाश सकर्षण सहस्रवदन शेषजी भी मेरा प्रिय करने के लिये मुझसे प्रथम अवतीर्ण होगे। जिन मेरी परम ऐश्वर्य शालिनी योगमाया ने सम्पूर्ण चराचर जगत को मोहित कर रखा है, वह भी मेरी आज्ञा से मेरा काय करने के निमित्त अपने अश से प्रकट होगी। अब जाओ भाग जाओ, मुझे सोने दो।'

हृदय मे भगवान् का आदेश पाकर ब्रह्माजी उठकर खडे हो गये। देवता वाणीसे तो स्तुति कर रहे थे किन्तु क्षीर सागर मे चारो ओर आँख फाड-फाडकर देख रहे थे, कि कब भगवान् प्रकट होते हैं। जब ब्रह्माजी खडे हो गये, तब सभी अकबका

कर उनके मुख की ओर निहारने लगे और निराशा के स्वर मे पूछने लगे—'प्रभो ! अभी तक भगवान् के दर्शन नही हुए। भगवान् कब प्रकट होगे ?"

ब्रह्माजी ने गम्भीर होकर कहा—"इस समय भगवान् योग-निद्रा मे हैं। वे इस समय दर्शन न दे गे। उन्होने मेरे हृदय मे आप सब के लिये सदेश दिया है।"

अत्यन्त उत्सुकता के साथ देवताओ ने पूछा—'भगवान् ने हमारे लिये क्या उपदेश दिया है प्रभो ?"

ब्रह्माजी बोले—'देखो, समाधि अवस्था मे मुझे आकाशवाणी सुनाई पडी। उसे मैं आप सब को सुनाता हूँ। उसे सुनकर आप सब उसके अनुसार अविलम्ब कार्य करे, देर मत करे।"

देवता बोले— हां, भगवन ! हमे आज्ञा करे। हम आपकी आज्ञाओ का यथाशक्ति पालन करे गे।"

ब्रह्माजी बोले—"भगवान् ने कहा है—मैं तमोगुणी निद्रा मे सो नही रहा हूँ। मुझे सब पता है। मैं, मेरे अशावतार शेष तथा मेरी भुवनमोहिनी माया-शक्ति-सब अवनि पर अवतरित होगी। देवाङ्गनाओ के साथ देव भी यदुकुल मे जाकर पृथ्वी पर उत्पन्न हो। मैं वसुदेव क घर जन्म लेकर भू का भार उतारूंगा।'

यह सुनकर पृथ्वी प्रसन्नता के साथ कान खडे करके अपने सींगो को हिलाने लगी, पूंछ फटफटाने लगी। देवता हर्ष मे भरकर जय ध्वनि करने लगे।

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया ! अब देर करने का काम नहीं। तुम लोग स्वर्ग मे जाओ और तुरन्त यादवो के यहाँ नन्द के ब्रज मे अवतीर्ण हो। सुर सुन्दरियां भी सुन्दर वेश बनाकर श्यामसुन्दर को रिझाने को, उनसे क्रीडा कराने को, उत्पन्न हों।

मैं भी अब अपने सत्यलोक को जाता हूँ। मेरा बहुत काय पडा होगा। ये पृथ्वी माता' भी अपने यहाँ जायें। अब तो ये भगवान् के चरण कमल की पराग पडने से पावन होने पर भी परम पावन बन जायेंगी।'

सूतजी कहते हैं—मुनियो! ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर सभी अपने-अपने लोको को चले गये। ब्रह्माजी भी सत्यलोक में आ गये।"

छप्पय

होवें यदुकुल माहिँ शीघ्र अवतरित मुरारी।
हरि तें अविदित नहीं विपति की बात तुम्हारी॥
प्रभु प्रकटें बल सहित योग माया हू आवे।
पूजित जग महँ होहि असुर संहार करावे॥
यदुकुल गोकुल माँहिँ सब, सुर-सुरललना देह धरि।
प्रकटि करहु सुरतनु सफल, ऐसी आयसु दई हरि॥

वसुदेवजी का विवाह

[८१८]

राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम् ।
मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः ॥
तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः ।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥*

(श्रीमा १० स्क० १ अ० २८, २९ श्लो०)

छप्पय

हरि-सन्देश सुनाइ धरा कूँ धीर बँधायो ।
ब्रह्मलोक अज गये सबनि को मन हरषायो ॥
निज ललनन के संग अवनि पै जनमे सुरगन ।
जिन सौंप्यो सर्वस्व कृष्ण कूँ निज तन-मन-धन ॥
सुनहु कथा पावन परम, श्री मथुरा की मधुर अब ।
शूर-तनय वसुदेवजी, के विवाह को वृत्त सब ॥

विवाह एक परम धार्मिक कृत्य है। विवाह न हो, तो जीवन मे सरसता नही, सृष्टि की उत्पत्ति नही, वृद्धि नही सग्रह नही, सयम नही नियमन नही। मिथुन होने की, एक से

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! उन दिनो समस्त यदुवशी राजाओ की वह मथुरापुरी ही राजधानी थी, जिसमे सर्वदा ही श्रीहरि विराजमान रहते हैं। एक बार की बात है कि उसी नगरी मे कभी शूर के पुत्र वसुदेव जी नया विवाह करके अपने घर जाने के लिये अपनी नई बहू के साथ रथ पर सवार हुए।"

अनेक होने की, जीवमात्र की स्वाभाविक इच्छा होती है। स्वाभाविकी इच्छा टाली नहीं जा सकती। उसे संयत किया जा सकता है। जिनके मन में इच्छा नहीं, कामना नहीं, उन्हें तो संयत करने की आवश्यकता नहीं। जिस भवन में बिछौना, चौकी, चित्र, पात्र, फल फूल, आदि साज-शृङ्गार के समान हैं ही नहीं, वहाँ तो उन्हें यथा स्थान लगाने का प्रश्न ही नहीं। किन्तु, जहाँ ये सब सामग्रियाँ हैं और उन्हें वैसे ही अस्त-व्यस्त रूप से भवन में ठूँस-ठूँसकर भर दिया है, वहाँ यह भवन और वस्तुओं का दुरुपयोग है। इसी प्रकार स्वाभाविक वासना को संयत करने, उसे नियमानुसार सजा-बजाकर रखने का ही नाम धर्म है। संसार में कोई वस्तु बुरी नहीं, कोई अच्छी नहीं, उनका उपयोग ही भला-बुरा है। घृत को अमृत कहा है, किन्तु घृत को मर्यादा से अधिक खा लो, तो वह विष का काम करेगा। ताँबे के पात्र में खाओ, तो वह हानि करेगा। बराबर मात्रा में शहद में मिलाकर खाओ, तो वह मारक हो जायगा। इसी प्रकार मिथुन होने की इच्छा को शास्त्रीय पद्धति से धर्म पूर्वक विवाह करके पूर्ण करना यह भगवान् का स्वरूप है। तभी तो नव वर-वधू के दर्शन को लक्ष्मीनारायण का दर्शन कहा है। जब नव वर-वधू नवीन विवाह करके आते हुए दिखाई दें, तो खड़े रोकर उन्हें प्रणाम करना चाहिये, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! ब्रह्मादिक देवताओं के चले जाने के अनन्तर भगवान् ने अपने कमल नयनों को पुनः बन्द कर लिया, किन्तु अब उन्हें निद्रा नहीं आयी। उन्होंने एक ही बार इधर-उधर करवटें बदलीं। लक्ष्मीजी ने कहा—"क्यों? नींद उचट गई क्या?"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"प्रिये ! तुम सब जानती हो। यह बहू-बेटी की चिन्ता ऐसी होती है, कि पुरुषों को न भोजन अच्छा लगता है, न निद्रा ही आती है। चिन्ता के समय निद्रा भाग जाती है। मेरी इच्छा अवतार धारण करने की है।"

लक्ष्मीजी ने कहा—"तो, महाराज ! मैं यहाँ अकेली बैठी-बैठी क्या करूँगी ? मैं भी आपके साथ ही पृथ्वी पर अवतार लूँगी।"

भगवान् बोले—'देखो, हमारा तुम्हारा अवतार साधारण मनुष्यों के यहाँ तो नहीं हो सकता। तुम तो विदर्भाधिप महाराज भीष्मक के यहाँ अवतार धारण करो; क्योंकि वे बड़े धर्मात्मा, सत्परायण, सरल और सदाचारी हैं। संसार में उनके अतिरिक्त तुम्हारा पिता बनने के योग्य दूसरा पुरुष नहीं है। मैं शूरसेन-सुत श्री वसुदेव जी के यहाँ जगन्माता देवकी के उदर से अवतीर्ण हूँगा। वे ही दम्पति परम धर्मात्मा तथा सर्वगुण सम्पन्न हैं। उनके अतिरिक्त अवनि पर अन्य पुरुष मेरे माता पिता कहलाने के योग्य नहीं हैं।"

लक्ष्मीजी ने कहा—'अच्छी बात है, महाराज ! किन्तु फिर आप मेरे साथ विवाह कर लेना। कहीं ऐसा न हो, मैं आपकी बाट ही देखती रहूँ। यहाँ तो चारों ओर समुद्र है, बीच में अकेली मैं हूँ। आप मुझे प्यार करते हैं। वहाँ तो बहुत-सी स्त्रियाँ होंगी। सब देवाङ्गनाये अवतीर्ण होंगी। मुझे भूल मत जाना, भला ?"

भगवान् ने लक्ष्मीजी की ठोडी ऊँची करते हुए कहा—"प्रिये ! तुम ऐसी बातें क्यों कह रही हो ? भला तुम्हें कभी भूल सकता हूँ ? तुम्हारे बिना तो मुझे नींद भी नहीं आती। अच्छी

बात है। तो मैं भूमि के अपने नित्य धाम श्री मथुरापुरी मे प्रकट हूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने श्री महालक्ष्मी जी के साथ ऐसा निश्चय कर लिया। अब जिनके यहाँ भगवान अवतरित होंगे, उन वसुदेव जी का भी वृत्तान्त सुनिये।"

महाराज देवमीढ के पुत्र शूरसेन हुए। वे बडे धर्मात्मा और प्रजावत्सल थे। वे माथुर मण्डल तथा शूरसेन देश के राजा थे। उनके पुत्र वसुदेवजी थे। उनका विवाह सात्वतवशीय महाराज उग्रसेन के भाई देवक की छ पुत्रियो के साथ हुआ। उनके छ पत्नियाँ पहिले थी। इस प्रकार बारह विवाह तो उनके हो चुके थे। अब महाराज देवक की सबसे छोटी पुत्री देवकी और रह गई थी। उसे राजा अत्यन्त ही प्यार करते थे। वह लडकी क्या थी साक्षात् जगदम्बा का ही स्वरूप थी। जो भी कोई उसे देखता, वही उनके ओज, तेज, रूप, लावण्य, प्रभाव तथा कान्ति को देखकर नतमस्तक हो जाता अपने आप उसका श्रद्धा से नत मस्तक हो जाता। महाराज देवक चाहते थे, मेरी पुत्री को कोई सर्वगुण सम्पन्न पति मिले और वह मथुरा मे ही हो, क्योंकि मथुरा की बेटी मथुरा मे ही विवाही जाय, तभी उसकी शोभा है। एक कहावत भी है—

मथुरा की बेटी, गोकुल की गाय। भाग्य फूटे तो बाहर जाय।" यही सब सोच-समझकर उन्होने निश्चय किया—'वसुदेवजी सर्वगुण सम्पन्न हैं। ससार मे खोजने पर भी देवकी के लिये ऐसा दूसरा पति कही नही मिलेगा। इसकी छ बडी बहिन भी वसुदेव जी के साथ ही विवाही गयी हैं। वे सब देवकी को प्राणो से भी अधिक प्यार करती हैं। बाहर कही गई, तो न जाने कैसी द्वेरानी-जिठानी मिलें। देवकी तो स्वयं न लड़ेगी

किन्तु दूसरी द्वेरानी, जिठानी, ननद, सास लडती हैं, तो मन में कुछ न कुछ दुःख होता ही है। वसुदेव जी के यहाँ सभी बातें अपनी समझी-समझाई ही हैं, अपना घर ही है। वही इसका विवाह करना उत्तम होगा।" यह सोचकर उन्होने गर्ग जी द्वारा वसुदेव जी के यहाँ सगाई भिजवा दी। वसुदेवजी तो यह चाहते ही थे। उन्होने सगाई स्वीकार कर ली और नियत तिथि पर वर बनकर बाजे-गाजे के साथ बरात लेकर देवकजी के द्वार पर जा पहुँचे। देवकजी ने बडे उत्साह के साथ बरात की आगमनी की, द्वार पूजन हुआ, जनवासा दिया गया। नियत लग्न में बडी धूमधाम से, ब्राह्मणो के वेद-घोष के साथ, वसुदेव जी ने देवकी जी का पाणि-ग्रहण किया। दोनो ओर से हर्ष का ठिकाना नही था। शङ्ख दुन्दुभि, भेरी, नगाडे, आदि बाजे बज रहे थे। आकाश से देवता पुष्पो की वृष्टि कर रहे थे। इस प्रकार अत्यन्त उत्साह के साथ विवाह की विधि सम्पन्न हुई। दो-चार दिन बरात और ठहरी। अन्त मे विदाई का दिन आया। वसुदेव जी मोर बाँधकर घर मे बहू को विदा कराने गये। सास-सरहजो ने उन्हे समझाया, सरसता से सनी बातें कही, घी-दूध खिलाया। कुकुमदधि का तिलक किया, अक्षत लगाये और देवकी को समझा-बुझाकर विदा किया। लडकी की विदाई के समय बडा कारुणिक दृश्य उत्पन्न हो जाता है। घर के सभी लोगो के नेत्र मे जल भरा रहता है। सभी आर्द्र हृदय से अत्यन्त प्यार के साथ लडकी को विदा करते हैं।

देवकी रोती-रोती वसुदेवजी के पीछे-पीछे जा रही थी। उस की माता बहने उसे पकडे हुए थी। वह कभी किसी की छाती से चिपटकर रोने लगती कभी किसी के कन्धे से कन्धा सटाकर बिलखने लगती। स्त्रियाँ उसे समझाती, चुप कराती। बाहर

लडकी को विदा करने पुरुष खडे थे। देवकी अपने ताऊ उग्रसेन के गले लगाकर रोने लगी। महाराज उग्रसेन ने उसके सिर पर हाथ रखा और समझाते हुए प्यार पुचकार कर कहने लगे—"अरे बेटी! ऐसे भला कोई रोते है। तू कही दूर थोडे ही जा रही है। हम जब चाहे तुम्हे बुला लेंगे। वहाँ तेरी सब बडी बहने हैं, रोने की कोई बात नही। जा अब, तुम्हे शीघ्र ही हम बुला लेंगे।" यह कहकर उन्होने अपने आंसुओ को पोछा। फिर देवकी अपने पिता से मिली। वह अपने बडे भाई कंस से लिपट कर रोने लगी।

अपनी बहन को रोते देखकर क्रूरकर्मा कस का हृदय भी भर आया। बहन का स्नेह होता ही ऐसा है। बहन साक्षात् दया की मूर्ति होती है। वह सजीव करुणा की प्रतिमा होती है। भाई से तो साधारण लोग भी विरोध कर सकते हैं, किन्तु बहन से विरोध तो नृशस, आत्मघाती, पापी, दुराचारी ही करेंगे, जिन्हें धन का, प्राणो का, अत्यधिक मोह होगा। कस वैसे बडे उग्र स्वभाव का था, किन्तु विदा होते समय बहन के रुदन को देखकर उसका भी हृदय पानी-पानी होगा। उसने गुडिया के समान सजी-धजी अपनी नव विवाहिता छोटी बहन को प्यार दुलार तथा ममत्व के सहित पकड कर रथ पर चलाया। वसुदेव जी भी चुपचाप रथ पर बैठ गये। देवकी भैया भैया कहकर पुकार रही थी। स्नेह भरित हृदय से खडे-खडे कस यह सब देख रहा था। सूत सफेद चार घोडो की रश्मियो को पकडे हाथ मे तोत्र लिये कस की आज्ञा की प्रतीक्षा मे था, कि कब उसे आज्ञा मिले और कब वह रथ को हांके। सहसा कस को भगिनी के स्नेह के कारण एक सुमति सूझी। उसने सोचा—"मैं स्वय ही रथ को हांक कर देवकी को उसकी ससुराल तक पहुँचा आऊँ। इससे

वह बडी प्रसन्न होगी कि मेरे भाई मुझसे कितना प्यार करते हैं।' इस विचार के आते ही उसने सूत को हटने की आज्ञा दी।" सूत एक ओर हट गया। उछलकर कस सूत के स्थान मे बैठ गया और घोडो की रश्मियो को हाथ मे लेकर बहन की प्रसन्नता के लिये स्वय रथ हांकने लगा। उसके रथ के पीछे सुवर्णमण्डित बहुत स रथ चल रहे थे।

महाराज देवक अपनी पुत्री देवकी को अत्यधिक प्यार करते थे। पुत्री की प्रसन्नता के लिये उन्होने बहुत सी वस्तुएँ दहेज मे दी थी। सुवर्ण की मालाओ से विभूषित, पर्वत के समान डील-डौल वाले, अच्छी जाति के सुन्दर शिक्षित चार सौ हाथी उन्होने दिये थे, और पन्द्रह सहस्र उत्तम वर्ण के, दर्शनीय, वायु के समान वेग वाले, छरहरे सिन्धु देशीय घोडे, सुवर्ण मण्डित, सुदृढ मनोहर अठारह सहस्र रथ, उन्होंने पुत्री के पीछे-पीछे कर दिये थे। सुता की सेवा करने के लिये सुन्दर स्वभाव वाली, सुशीला सुन्दरी नवयुवती विचित्र वस्त्राभूषणो से विभूषित, दो सौ दासियाँ उन्होने दी थी। इन सब दहेज की वस्तुओ को लिये, गुडमुडी मारे विवाह के वस्त्रो मे समीप बैठी हुई अपनी बहू के साथ रथ मे बैठे हुए वसुदेव जी अपने घर के लिये चले। उनका साला कस बडे स्नेह से रथ को हांक रहा था। सब लोग मन ही मन उसके भगिनी-प्रेम की प्रशसा कर रहे थे। विदाई के बाजे बज रहे थे। शङ्ख तूर्य, मृदङ्ग दुन्दुभि आदि अनेक मङ्गल मय वाद्य एकसाथ बजकर एक विचित्र प्रकार की शोभा का विस्तार कर रहे थे। वर वधू की विदाई के समय के सभी कृत्य हो चुके थे।

देवकी की विदाई के बाजे ब्रह्मलोक को पार करके वैकुण्ठ-लोक तक मे सुनाई दिये। भगवान् ने देखा, अरे जिस माता के उदर में जन्म लेना है उसी की विदाई के तो ये बाजे बज रहे हैं।

किन्तु, जिस यदुवंशी राजा बने कालनेमि मामा को मुझे मारना है, उसका यदि अपनी बहन के प्रति ऐसा ही वात्सल्य बना रहा, तो मैं भला कैसे उसे मार सकूँगा ? असुरों के हृदय में भी यदि स्नेह उमड आया, तो वे मेरे द्वेषी, क्रोधी अनुगत कैसे हो सकते हैं ? इसीलिये किसी प्रकार इसका बहन से विरोध करा दो।'

भगवान् को बैठे ठाले एक न एक उत्पात सूझता ही रहता है। इस विचार के आते ही, उन्होंने कंस को सचेत करने के लिये आकाशवाणी की। उस आकाशवाणी के सुनते ही रङ्ग में भङ्ग हो गया। सबका उत्साह शिथिल पड गया। स्नेह के स्थान में द्वेष छा गया, प्रसन्नता के स्थान में भय का साम्राज्य हो गया। आनन्द और उल्लास का स्थान शंका, शोक और चिन्ता ने ग्रहण कर लिया।

इस पर शौनक जी ने पूछा—'सूतजी ! वह आकाशवाणी क्या थी ? उससे कंस को इतना भय क्यों हुआ ?"

सूतजी बोले— अजी महाराज ! प्राणिमात्र को अपने प्राण प्यारे होते हैं। सभी उपाय करके मनुष्य जीवित रहना चाहता है। आकाशवाणी ने जो कुछ कहा, उसे मैं पीछे कहूँगा। कथा कहते-कहते मेरा कण्ठ कुछ सूख सा गया है। तनिक आचमन कर लूँ, फिर आपको इस पुण्यप्रद प्रसंग को सुनाऊँगा।'

छप्पय

श्री वसुदेव विवाह देवकी के संग कीन्हों।
देवक अधिक दहेज विदा बेला महँ दीन्हों॥
रोवत-रोवत चली देवकी पीछे वर के।
अश्रु विमोचन करत गये रथ तक सब घर के॥
सब परिजन रोवन लगे, नेह कंस हिय हू जग्यो।
करयो सारथी दूर रथ, स्वयं हरषि हाँकन लग्यो॥

कंस को आकाशवाणी

[८१९]

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक् ।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

पथ महँ सहसा सुनी कंस ने नभ तें बानी ।
"जा कूँ लैकें जाइ प्रेम ते ओ ! अज्ञानी ॥
ताको अष्टम पुत्र पकरि के तोइ पछारै ।
भरी सभा महँ खेंचि मञ्च तें निश्चय मारै ॥
कंस सुनत अति कुपित है, चल्यो देवकी वध करन ।
लखि उद्यम वसुदेवजी, सहमि सरल बोले वचन ॥

समस्त प्राणियों के सभी कर्म, सभी चेष्टायें, सभी व्यापार इसी उद्देश्य से होते हैं, कि हम सुख पूर्वक सदा जीते रहें। इस बात को सभी जानते हैं, कि जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा। जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश भी है। फिर भी प्राणी मरना नहीं चाहता। मृत्यु को टालना चाहता है। मन्त्र, तन्त्र, औषधि,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपनी बहन देवकी को पहुँचाने के लिए पथ में जिस समय कंस रथ हाँक रहा था, उसी समय उसे यह आकाशवाणी सुनाई दी—अरे, मूर्ख ! तू जिस बहन को रथ में बिठाकर ले जा रहा है, इसी के आठवें गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक तुझे मारने वाला होगा।"

बल पुरुषार्थ सभी लगाकर वह अपने को काल-कवलित होने से बचाना ही चाहता है। इसीलिये वह दूसरो से डरता है दूसरो को मारकर स्वय जीना चाहता है। यही मोहन की मोहनी माया है। यही अखिलेश की अनिर्वचनीय अनादि अविद्या है। अपरोक्ष ज्ञान से, अहैतुकी भक्ति से ही इस माया का इस अनादि अविद्या का, आत्यन्तिक नाश हो सकता है, कसारि की कृपा के अतिरिक्त इससे पार होने का अन्य उपाय नही है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! रथो की गडगडाहट, अश्वो की टापो की तडतडाहट, हाथियो के घन्टो की घनघनाहट, नूपुर पाजेब, कर्धनी तथा चूडियो की खनखनाहट, तथा भेरी शङ्ख मृदङ्ग आदि वाद्यो की सुमधुर ध्वनियो के बीच कस बडे उल्लास के साथ देवकी के रथ को हाँके हुए जा रहा था, कि सहसा मार्ग मे ही उसे आकाश से एक बडी ही सुस्पष्ट गम्भीर वाणी सुनाई दी। वह वाणी कहाँ से आ रही हैं, कुछ पता नही कौन कह रहा है, कुछ ज्ञात नही। वह अशरीरी वाणी थी। कस को ही सम्बोधित करके वह कही जा रही थी। कस के कान खडे हुए। वह एकाग्र चित्त से ध्यान लगाकर वह वाणी सुनन लगा। आकाशवाणी कह रही थी—"अरे मूर्ख! तू जिस अपनी बहन को इतने प्यार-दुलार मे रथ मे बिठाकर पहुँचाने जा रहा है इसी के आठवें गर्भ से एक बालक उत्पन्न होगा, जो तेरा काल होगा, उसी के द्वारा तेरी मृत्यु होगी'।

कहाँ तो बहन की विदाई के समय हर्ष से उसका हृदय भर रहा था, कहाँ अनुराग और करुणा के कारण उसका अन्त करण आर्द्र हो रहा था, कहाँ सहसा मृत्यु की बात सुनकर उसकी क्रूरता जाग उठी। प्रेम का स्थान प्रति हिंसाने ग्रहण कर लिया 'अरे, इसी छोकरी का छोकरा मुझे मार डालेगा? तब तो इस

विष की वेलि को स्वयं ही सींचना है। विषधर सर्पिणी को गले में डालकर उसके विष की वृद्धि करनी है। जब इसी का लड़का मुझे मारने वाला होगा, तब लड़का होने के पूर्व इसे ही मैं क्यों न मार डालूं? वेलि के बढ़ने के पूर्व ही उसकी जड़ को क्यों न काट दूं? चोर के उत्पन्न होने के पूर्व उसकी माँ को ही क्यों न मार दूं? कार्य होने के पूर्व कारण का ही क्यों न नष्ट कर दूं। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। इस देवकी का ही क्यों न मार दूं। जब यह रहेगी ही नहीं, तब इसका आठवाँ गर्भ कहाँ से होगा? हत्या की जड़ को ही काट दो, गर्भाशय को ही समाप्त कर दो। बीज को ही भुनकर निर्जीव कर दो। अभी तो यह मेरे वश में ही है। उपस्थित को छोड़कर आगे की आशा क्या रखनी! इस पर दया करना उचित नहीं।"

यही सब सोच-समझकर उसने रथ को रोक दिया। सारथी से कहा—"रश्मियों को शीघ्र ही सम्हालो।" हाथ उठाकर बाजे वालों से उसने कहा—"बाजे बजाना रोक दो।"

कंस की आज्ञाओं का अविलम्ब पालन हुआ। बाजे बन्द कर दिये गये। पीछे के रथ रुक गये। सारथी ने शीघ्रता से घोड़ों की रश्मियों को थाम लिया। कमर में लटकती हुई करवाल (तलवार) को कंस ने सड़ाक से खींच लिया। वसुदेव जी की बगल में बैठी देवकी की काली-काली मालती के पुष्पों की मालाओं से गुंथी सर्पिणी के समान लम्बी चोटी उसने उसका घूंघट हटाकर बायें हाथ से कस कर पकड़ ली और दायें हाथ से तलवार घुमाकर उसने ज्यों ही उसके सिर को धड़ से पृथक् करना चाहा, त्यों ही बीच में ही वसुदेवजी उस भोजकुल-कलङ्क महापापी निर्लज्ज कंस से बोले—"राजन्! आप यह क्या कर रहे हैं?"

कंस ने लाल-लाल आँखें निकालकर क्रोध के स्वर में कहा—"इसे यम सदन पठा रहा हूँ।"

वसुदेवजी ने धैर्य के साथ कहा—"क्यों क्यों ? क्या बात है ? क्यों आप ऐसा महान निन्दनीय क्रूर कर्म करना चाहते हैं ?

कंस ने क्रोध में भरकर कहा—"यह क्या क्रूर कर्म है ? क्या तुमने आकाशवाणी सुनी नहीं ?"

गम्भीर होकर वसुदेवजी बोले—"राजन् ! मैंने सब कुछ सुना है। फिर भी आप जैसे यशस्वी, तेजस्वी, शूर-वीर व्यक्तियों को ऐसी क्रूरता शोभा नहीं देती। आप कोई साधारण पुरुष तो हैं नहीं, भोजवंश की कीर्ति को बढ़ाने वाले हैं। समस्त शूर-वीर आपके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। ऐसे परम-प्रख्यात शूरवीर होकर भी आप एक नहीं तीन-तीन महापाप करने को उद्यत हो रहे हैं।"

कंस ने देवकी की चोटी को पकड़े ही पकड़े कहा—"मैं कौन से तीन-तीन पाप कर रहा हूँ ?"

वसुदेवजी बोले—'सुनिये, विवाह मङ्गल का उत्सव है। जो किसी के विवाह में विघ्न डालता है, वह रौरव आदि नरकों में जाता है। इसलिये शक्ति भर दूसरों के विवाह में सहायता देनी चाहिये। विघ्न तो कभी डालना ही न चाहिये। नव वरवधू को कभी कुवाच्य भी न कहना चाहिये। एक तो आप विवाह में विघ्न डाल रहे हैं। शास्त्रकारों ने स्त्री को सदा अवध्या बताया है। स्त्री से चाहे जैसा अपराध हो जाय, उसका वध कभी न करना चाहिये। आप स्त्री-वध कर रहे हैं। स्त्री भी सामान्य नहीं है—आपकी छोटी बहिन है सीधी और सरल है, अभी-अभी उसका विवाह हुआ है। दूसरा स्त्री-वध का पाप आप कर रहे हैं। तीसरा पाप यह कि आपके पिता चाचा सब खड़े

हैं। ये अपनी पुत्रों को प्रेमपूर्वक विदा कर रहे हैं। आप इनका अपमान कर रहे हैं। सन्तान पिता की आत्मा ही कही गई है। इसलिये आप देवकी का वध नहीं कर रहे हैं, अपने पितृव्य देव का वध कर रहे हैं। अतः हे वीर! आप ऐसा निन्द्य, क्रूर कर्म करने का कभी स्वप्न मे भी साहस न करें।"

कुछ सम्भल कर कंस बोला—"वसुदेवजी आप बात तो यथार्थ कह रहे हैं। किन्तु देखिये, अपने प्राण सबको प्यारे होते हैं। सम्मुख मृत्यु दिखाई देती हो, तो बुद्धिमान को यथाशक्ति उसे हटाने का प्रयत्न करना चाहिये। मैं मानता हूँ, यह मेरी बहन है। किन्तु अपने ही शरीर का कोई अंग सड जाय, और उससे अन्य अंगो को हानि की सम्भावना हो, तो बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि उस अंग को काट कर अन्य अंगो की रक्षा करे। जब इसका लडका मुझे मारने वाला होगा, तो मैं ही इसे पहिले से क्यों न मार दूं। इससे आपकी कोई विशेष हानि भी नहीं। बारह पत्नियां तो आपके हैं ही, एक न सही।"

वसुदेवजी ने कहा—'भाई! देखो, सुनो हमारी बात। तुम चाहते हो, तुम्हारी मृत्यु कभी न हो। यह असम्भव बात है। जिसने जन्म लिया, वह अवश्य मरेगा। हिरण्यकशिपु ने मृत्यु से बचने के लिये कितने उपाय सोचे, कितने वर मांगे। अन्त मे उसकी भी मृत्यु हुई ही। एक असुर ने वर मांगा, पृथ्वी मे कहीं भी मेरी मृत्यु न हो', तो उसे एक पक्षी उडा ले गया आकाश मे उसकी मृत्यु हुई। एक असुर ने वर मांगा, मेरी मृत्यु पृथ्वी पर न हो, समुद्र में हो, इसीलिये वह कभी समुद्र के समीप नहीं जाता था, पर्वत पर रहता था। सहसा वही समुद्र उमड आया पहाड डूबने लगे। उसे एक बडा भारी द्वीपाकार कछुआ दिखाई दिया। जल से बचने को वह उसकी पीठ पर चढ

गया। तुरन्त कछुआ जल में डूब गया और वह असुर मर गया। इस प्रकार एक नहीं, उसके असंख्य दृष्टान्त हैं। संसार में जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्यमभावी है। प्राणी जब उत्पन्न होता है, मृत्यु को साथ लिये ही उत्पन्न होता है। समय आने पर कोई न कोई निमित्त बन जाता है। बिना मृत्यु के कोई किसी को मार नहीं सकता। जब मृत्यु आ जाती है, तब किसी को उससे बचा नहीं सकता। महाराज नहुष को जन्म के समय ही हुण्ड दैत्य अपना मारने वाला समझ कर उठा ले गया था, किन्तु वह उन्हें मार न सका। जिस रसोइये को उसने उसे मार कर बनाने को दिया था, वह उसे वशिष्ठ जी के आश्रम पर छोड़ आया। महाराज सगर जब गर्भ में थे, तभी उनकी माता की सपत्नियों ने उसे विष दे दिया था, कि गर्भस्थ बालक मर जाय। किन्तु उनकी तब मृत्यु नहीं थी, वे गर के सहित ही माता के गर्भ से उत्पन्न हुए। इसलिये उनका नाम सगर रखा गया। वे महान प्रतापी हुए। जब उनका समय आया, तब वे भी काल-कवलित हो गये। महाराज प्रियव्रत, मान्धाता पृथु, बलि रावण ये एक-से-एक बली राजा हुए हैं। मृत्यु ने उनको भी नहीं छोड़ा। आज हो अथवा सौ वर्ष के पश्चात्, प्राणियों की मृत्यु तो निश्चित ही है। प्राणी तो कर्मों के अधीन है। जिस देह का प्रारब्ध कर्म समाप्त हो गया, फिर वह लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं टिक सकता। इस शरीर को त्याग कर उसके अभिमानी जीव को अपने कर्मानुसार विवश होकर पुनः अन्य देह ग्रहण करनी पड़ती है। अतः मृत्यु के भय से अनर्थ करना, पाप करना, उचित नहीं।"

कंस ने कहा—"महाराज वसुदेव जी! प्राणि-मात्र मृत्यु से बचने का यथासाध्य प्रयत्न करता है। मैं तो मनुष्य

हूँ, शूर हूँ, । आप एक चीटी को उँगली से दबाइये, वह शक्ति भर बचने की चेष्टा करेगी, काट खायगी और शरीर मे प्राण रहते बचने के उपाय काम मे लायेगी । पुरुष को पता लग जाय कि इस कारण मेरी मृत्यु बदी है, तो वह उस कारण को मिटाने का यथासाध्य प्रयत्न करेगा ही । जब मुझे पता लग गया, कि इसी के आठवें गर्भ से उत्पन्न होने वाले बालक से मेरी मृत्यु है तब मैं इस झंझट को अभी क्यो न काट दूं ? रोग के मूल को ही क्यों न मेट दूँ, जिससे उपद्रव उठे ही नही ?"

वसुदेव जी ने कहा—"राजन् ! मृत्यु को मेटने की सामर्थ्य किसमे है ? जीव तो मरने के पूर्व ही अपने लिये दूसरी योनि तैयार कर लेता है, शरीर त्याग के पूर्व ही उसका दूसरा शरीर बन जाता है, जैसे हम पिछले पैर को तब उठाते हैं, जब अगले को जमा लेते है । आपने तृणजलूका नाम एक कीड़ा देखा होगा—वह जब अगले पैर को एक डाल पर जमा लेता है, तब पहली डाल को छोडता है । उसी प्रकार जीव अपने कर्मानुसार एक देह से दूसरी देह मे जाता है । नये शरीर से नरक स्वर्ग भोगता है ।"

कंस ने कहा—"आप यह कैसी बातें कह रहे हैं ? किसी ने जिस देह से पाप-पुण्य किया है, वह देह तो वहाँ पड़ी रह जाती है । उसके किये दुख सुख को भोगता है दूसरा शरीर । यह तो वही बात हुई कि देवदत्त ने किसी का वध किया, यज्ञदत्त को फाँसी पर लटका दिया । दुख-सुख उसी देह को होना चाहिये, जिससे पाप-पुण्य किया ।"

वसुदेव जी ने कहा—भैया, तुम सोचो, क्या भला-बुरा कर्म शरीर करता है ? शरीर तो जड है, उसमे स्वयं भला बुरा करने की शक्ति कहाँ है । सुख-दुख तो कर्ता के अभिमान से होता है ।

राजा की सेना की जय पराजय तो राजा की ही मानी जाती है। इसका तो तुम नित्य ही सोते समय अनुमान करते हो। स्वप्न में हमे जग्रत के सस्कारो के कारण देखे सुने पदार्थ दिखाई देत है। स्वप्न मे कोई बन्दर आता है, हमे काट लेता है तो बडा दु ख होता है। अब आप सोचे। स्वप्न मे जो बन्दर आया है, उसके देह नही है हमे जो उसने काटा है, उसका चिन्ह भी हमार जाग्रत के शरीर मे कहा नही है। फिर भी हमे दु ख तो होता ही है। जागने पर भी चित्त धडकता रहता है। इससे अनुमान होता है कि जीव ने वह दु ख स्वप्न शरीर से भोगा। दु ख-सुख, चाहे स्वप्न-शरीर से भोगो या जाग्रत शरीर मे, स्थूल शरीर से भोगो या सूक्ष्म शरीर से, भोक्ता तो जीव ही है। इस स्वप्न शरीर मे जाग्रत शरीर के सदृश आत्म भाव हो गया था। उसे भी जीव 'मेरा ही शरीर कहता था। उस समय वह अपने जाग्रत काल के शरीर का भूल गया था। इसी प्रकार इस शरीर का अन्त काल उपस्थित होने पर यह विविध प्रकार के विकारो वाला मन अपने प्रारब्ध कर्मों की प्रेरणा स जैसी भावना करता है वैसा ही बन जाता है। माया द्वारा पचभूतो क विविध प्रकार के निर्मित शरीरो मे वह जिस-जिसकी ओर दौडता है, उनमे जिस-जिसको उपलब्ध करता है, उसी-उसी मे आत्म भावना करके वह जन्म ग्रहण करता है।"

कंस ने कहा—"जीव अपने आप कर्म करके बन्धन मे क्यो फँस जाता है? इन ससारिक विषयों मे आसक्त होकर वह चौरासी के चक्कर में क्यो पड जाता है?"

वसुदेवजी ने कहा—'जीव का स्वभाव तो बंधन का नही है। वह तो नित्य है। किन्तु माया से रचे हुए इन मायिक विषयों के ससग से चञ्चल-सा प्रतीत होता है। जैसे किसी

परात मे जल भरा है, उसमे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड रहा है। परात को जलवायु लगने से हिल रहा है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा भी हिल रहा हो। सरोवर के जल मे वायु लगने से हिलोरे उठती हैं, तो उसमे प्रतिबिम्ब सूर्य भी लहरो के साथ हिलता हुआ सा दिखाई देता है। वास्तव मे सूर्य-चन्द्र मे तथा उनके प्रतिबिम्ब म चञ्चलता नही है। यह तो जलवायु के ससग स प्रतीत होती है। उसी प्रकार जीव मे चचलता नहीं, वह माया रचित पदार्थों के समर्ग स मोहित -सा हो जाता है। जीव मरने से डरता है। आप ही सोचिये, जीव को कौन मार सकता है। वह तो अमर है। रही शरीर की बात। सो वह तो स्वत ही क्षणभगुर है। इन्ही सब बातो को सोचकर कल्याणेच्छुक जीव को कभी किसी से द्वेष न करना चाहिये। जो दूसरो से द्वेष करता है, उसे स्वय दूसरो से भय रहता है। मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही काटता है। इसलिये भैया, तुम अपनी इस बहन के वध स निवृत्त हो जाओ। राजन्! सोचिये छोटी बहन की कभी हत्या की जाती है! देखो, यह कैसी भोली भाली है देखने मे कठपुतली के समान, सजी-सजाई गुडिया के समान, दिखाई देती है। छोटी बहन तो पुत्री के समान मानी गई है। आप तो क्षत्रिय हैं। जो प्राणियो को दुख से बचावे, दीनो की रक्षा करे वही क्षत्रिय है। यह बेचारी बालिका कैसी कृपिणा है! अभी अभी इसका विवाह हुआ है। यह वैवाहिक माङ्गलिक चिन्हो मे युक्त है। वीर होकर ऐसी बच्ची का वध? छि-छि! यह तो अत्यन्त ही घृणित काय है। आप ऐसा पाप मत करे, इस अबला को न मारे।'

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! इस प्रकार वसुदेवव जी अनेक युक्तियो से शाम, दाम और भेदादि नीति का अवलम्बन

करके कंस को विविध प्रकार से समझाया, किन्तु वह तो खल था, शरीर को ही सब कुछ समझने वाला असुर था। वह अपने निश्चय से हटा नहीं। जब उसने देवकी के वध का निश्चय बदला नहीं, तब वसुदेव जी ने दूसरी युक्ति उस दुष्ट के हाथ से देवकी को बचाने की सोची।

छप्पय

शूर कुलीन प्रवीन भोज कुल भूषन सज्जन।
क्यों कायरता करहु बहिन कूं मारो राजन॥
अरे जीव तू नित्य देह क्षणभंगुर नश्वर।
जनम्यो सो ध्रुव मरे देर महँ अथवा सत्वर॥
भगिनी भोली भययुता, अबला दुहिता के सरिस।
थर-थर काँपति देहु अब, अभयदान तजि द्वेष रिष॥

वसुदेव जी की प्रतिज्ञा

[८२०]

न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद् वागाहशरीरिणी ।
पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४ अ०, ५४ श्लो०)

छप्पय

कंस कहे—'वसुदेव ! सुनी नहीं नभ की बानी ?
कौन मृत्यु कूँ प्यार करे प्रानी अज्ञानी ?
सुनि बोले वसुदेव—'देवकी तैं नहिं कछु डर ।
अष्टम सुत तैं मृत्यु कही सोई भय को घर ॥
अच्छा, हौं यह प्रन करहुँ, अष्टम सुत की का कथा ।
जन्मत सुत सौंपों सबहिं, होहि न तुम कूँ अब व्यथा ॥

जो बात बीत गई वह तो बीत ही गई। उसके लिये सोच करना व्यर्थ है। जो होने वाली है, वह अभी भविष्य के गर्भ मे निहित है। उसकी चिन्ता करके दुःखित होना मूर्खता है। मनुष्य को तो सदा वर्तमान की चिन्ता करनी चाहिये। मन मे कोई पाप करने का प्रबल इच्छा हो जाय, तो जैसे बने तैसे, उस

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब कंस किसी प्रकार भी देवकी के वध से निवृत्त नहीं हुआ, वसुदेव जी उससे बोले—'हे सौम्य ! आकाशवाणी ने जो कुछ भी कहा, उसके अनुसार तुम्हें देवकी से तो साक्षात् कोई भय है ही नहीं। तुम्हें तो उसके पुत्र से भय है। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि एक ही पुत्र को नहीं, देवकी के सब पुत्रों को मैं तुम्हें दे दूँगा।"

समय को टाल देना चाहिये। इसी प्रकार पुण्य करने की इच्छा हो और अपने पास द्रव्य हो तो उसे तत्काल कर देना चाहिये। फिर यह विचार करे, कि अभी हम सब व्यय कर देंगे, तो आगे क्या होगा। भगवान के यहाँ कुछ कमी तो है ही नहीं, जो उसका भण्डार चुक जाय। जिसने अन्न दिया है वह आगे भी देगा। सारांश यही है कि बुद्धिमान व्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य यह है कि वर्तमान को बना ले भूत भविष्य से शिक्षा ग्रहण करे चिन्ता न करे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब वसुदेव जी कंस को सब प्रकार समझाकर हार गये, किन्तु उस दुष्ट की बुद्धि में एक भी बात न बैठी तब वे सोचने लगे-'यह दुष्ट अब समझाने बुझाने से तो मानने का नहीं। इसने अपनी बहन की एक हाथ से चोटी पकड़ रखी है, दूसरे हाथ में नंगी तरवार है। बचे तो यह मानेगा नहीं। जैसे भी मान तैसे इससे अब मना लेना चाहिये। इस तत्काल आई हुई वर्तमान विपत्ति को जैसे बने तैसे टाल देना चाहिये। होगा तो वही, जो होने वाला होगा।"

मनुष्य का अधिकार तो कर्म करने में है। कंस भी अभिमान ही कर रहा है। बुद्धिमान पुरुष का जहाँ तक वश चले, जहाँ तक उसका बल पुरुषार्थ काम दे, तहाँ तक उसे आई हुई आपत्ति को टालना ही चाहिये। प्रयत्न करने पर भी यह न टले तो फिर उसमें किसका दोष है?

अब एक ही उपाय है। मैं इससे यह प्रतिज्ञा करूँ कि देवकी के गर्भ से जो पुत्र होंगे, उन सबको मैं तुम्हें दे दिया करूँगा। मेरा विश्वास है इस बात को वह स्वीकार [illegible] इसमें उसे कुछ आपत्ति न होगी। इसके अतिरिक्त

उपाय है भी तो नहीं। इस समय आगे की नहीं सोचनी है, मुख्य कार्य इस अबला के प्राण बचाना है।

कौन जानता है, जब तक देवकी के पुत्र हो, तब तक यह दुष्ट कंस मर ही जाय। न मरे तो इसकी बुद्धि ही बदल जाय, बहिन भानजों पर दया ही आ जाय।

अथवा मेरे पुत्र ही उत्पन्न न हो। सम्भव है कन्या ही कन्या उत्पन्न हो जायें।

आकाशवाणी अन्यथा भी नहीं हो सकती। सम्भव है, मेरे पुत्र उत्पन्न होकर इसे मार ही डालें, तो समस्त यदुकुल का कोढ़ ही धुल जाय, सब का सङ्कट ही कट जाय।"

इन्हीं सब बातों को सोच-विचार कर वसुदेव जी बोले—"अच्छा, राजन्! हमारी एक बात सुनें। आप इस बेचारी देवकी को क्यों मारना चाहते हैं? इससे तो आपको कोई भय नहीं। आकाश-वाणी ने यह तो नहीं कहा कि देवकी आपका वध करेगी।"

सूखी हँसी हँसते हुए कंस ने कहा—"अजी, इसके पुत्र से तो भय है! यह तो एक बात हुई—चाहे बेल से भय अथवा उसके फल से भय। बेल ही न रहेगी, तो उस पर विषयुक्त फल ही न रहेंगे।"

वसुदेव जी ने कहा—राजन्! बेल घनी हो छाया वाली हो और उसके फल विषैले हों, तो बुद्धिमान को उनके फलों को नष्ट कर देना चाहिए। इसी प्रकार आप देवकी के आठवें पुत्र को मार डालें। आपको तो आठवें पुत्र से ही भय है। किन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, इसके गर्भ से जितने भी बालक होंगे, मैं उन सब को लाकर आपको दे दिया करूँगा। फिर चाहे आप उन

सब को मार डालें, चाहे उनमे से आठवें को ही मारें। यह तो आपकी इच्छा के ऊपर निभर है।

भावी की प्रबलता! यह युक्ति कस के मन मे बैठ गई। उसने सोचा— 'वसुदेव जी सत्य ही तो कहते हैं। इस बेचारी बच्ची ने तो मेरा कुछ बिगाडा नही है। आकाशवाणी का तो कथन है कि इसका आठवाँ पुत्र मुझे मारने वाला होगा। मैं उसे पैदा होते ही मार दूंगा। यह कहो कि वसुदेव जी से कही छिपा लेंगे सो पहले तो वसुदेव जी कभी असत्य भाषण करते नही। मानलो, छिपाने का प्रयत्न भी करें, तो क्या मुझसे कोई कुछ छिपा सकता है? इसलिये वसुदेव जी का प्रस्ताव युक्ति युक्त है' यही सब सोच समझकर उसने करवाल को कोश मे रख लिया। देवकी की चोटी उसने छोड दी और बोला— देखो, जीजाजी, गडबडी न हो। समय-समय पर मुझे सुतो को समर्पित करते रहना।'

वसुदेव जी न सरलता के स्वर मे कहा—'ना, भैया! गड बडी क्यो होगी! क्या तुम्हे मेरा विश्वास नही?'

कस ने कहा— 'आप पर मुझे विश्वास न होता तो मैं अपनी मृत्यु को जननी इस देवकी को छोडता ही क्यो। किन्तु पुत्र स्नेह से ऐसा होता है कि मनुष्य सब प्रतिज्ञायें भूल जाता है। मैंने तो आपकी बात मान ही ली।"

वसुदेव जी उसकी प्रशसा करते हुए बोले—'क्या कहना है आपकी सज्जनता का? आपके सदृश उत्तम पुरुष और कौन होगा? भगवान् आपका कल्याण करें।" यह कहकर वसुदेवजी देवकी को साथ लेकर उसी रथ पर अपने घर चले आये। कस वही से उदास मन, दूसरे रथ पर चढकर अपने घर लौट आया। इधर काल क्रम से सर्व देवमयी देवकी देवी ने अपने गर्भ

से प्रत्येक वर्ष एक-एक करके आठ और एक कन्या को जन्म दिया।'

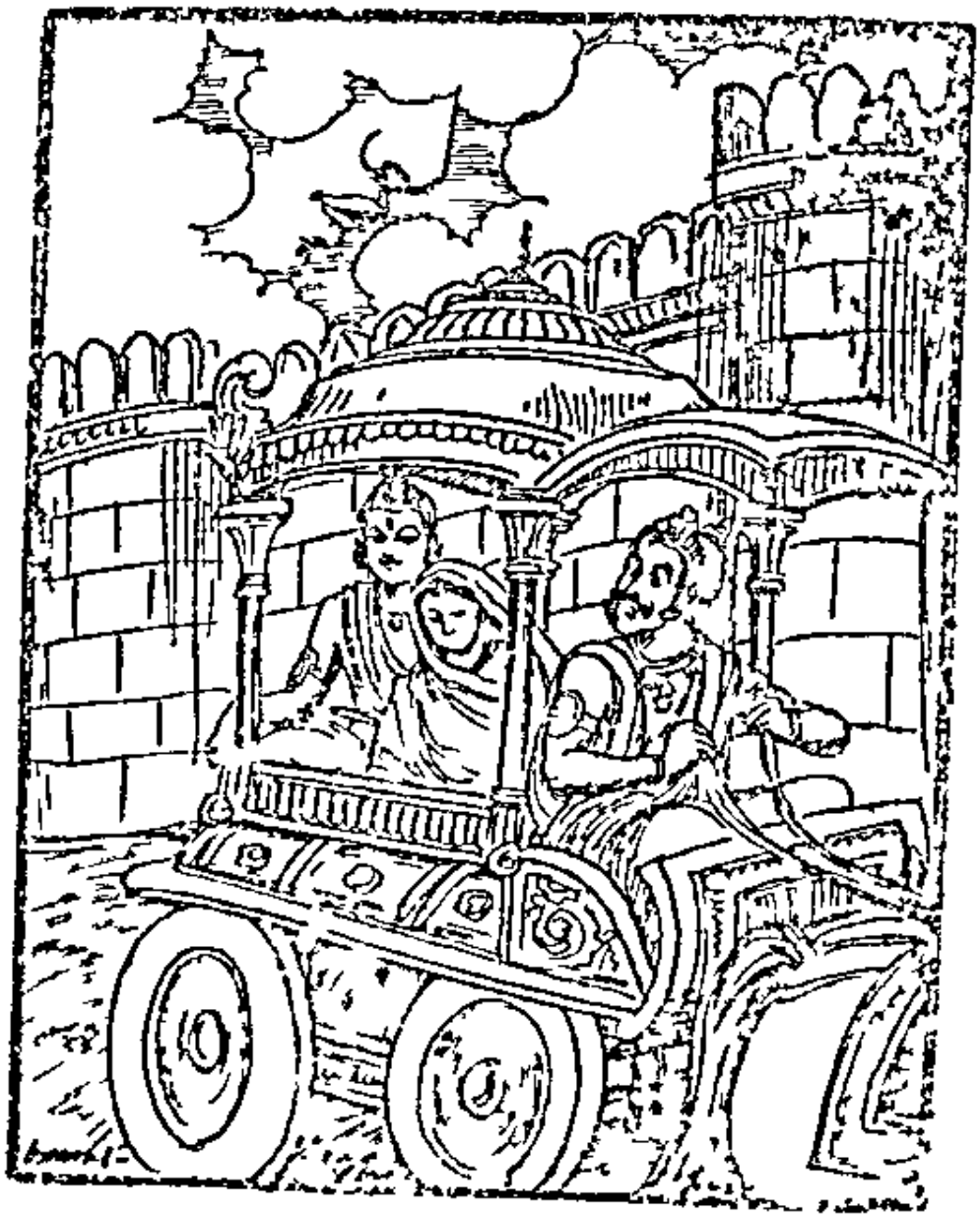

इस पर शौनक जी ने कहा सूतजी! क्षमा करें, हमें एक शंका है। आप तो पीछे कह आये हैं, कि उस समय पृथ्वी पर वसुदेव जी के समान सदाचारी धर्मात्मा पुरुष दूसरा कोई था ही नहीं किन्तु हमें तो इस बात में सन्देह होता है। देखिये बारह पत्नियाँ तो उनके घर में थीं, सैकड़ों पुत्र भी होंगे, बहुत

से विवाह योग्य भी होगे। फिर भी सिर पर मौर बांधकर जामा पहिनकर, दूल्हा बनके, तेरहवां विवाह करने वे आ धमके। इससे हम उन्हे कैसे जितेन्द्रिय और सदाचारी समझें। जब वे यह बात जानते थे कि देवकी के जो पुत्र उत्पन्न होगे, कंस मार ही डालेगा तब फिर उन्होने देवकी जी से पुत्रो को उत्पन्न ही क्यो किया ? दो चार वर्ष मे पुत्र हो जाता, सो भी बात नही। कोई वर्ष नही गया जिसमे देवकी जी ने पुत्र पैदा न किया हो। अब हम ऐसे आदमी को कैसे सदाचारी और जितेन्द्रिय कहे ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पडे और बोले—"बडी सुन्दर शका आपने की भगवन्! ये कलयुगी अल्पवीर्य क्षुद्र प्राणी ऐसी ही शका करते है। इनका हृदय इतना क्षुद्र होता है कि ये उससे ऊंची बात सोच ही नही सकते। भगवन्! पहले लोगो मे अमित वीर्य होता था उसका अनुमान ये कलियुगी अल्प वीर्य प्राणी नहीं कर सकते। इन लोगो को एक पत्नी को सन्तुष्ट करना ही कठिन हो जाता है। पहले लोगो के सैकडो सहस्रो पत्नियाँ होती थी और वे सभी को सन्तुष्ट रखते थे। मर्यादा और सिद्धान्त की बात तो दूसरी है किन्तु नियमानुसार एक पुरुष की बहु पत्नियाँ हो सकती हैं लेकिन एक पत्नी के बहु पति नही हो सकते। एक स्त्री एक वर्ष मे एक ही सन्तान उत्पन्न कर सकती है। वरदान आदि इसके अपवाद हैं किन्तु सामर्थ्यवान पुरुष एक वर्ष मे तीन सौ साठ और इससे अधिक भी सन्तान उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है। फिर वसुदेव जी जैसे पराक्रमी अमोघ वीर्य व्यक्ति के यहाँ तेरह पत्नियाँ थी, तो इसमे बुराई की बात ही कौन सी थी ?"

रही सन्तान न उत्पन्न करने की बात। सो, गृहस्थी के लिये

ऋतुमती भार्या के समीप गमन न करना एक बड़ा भारी पाप है। सन्तान की इच्छा वाली ऋतुमती भार्या के समीप उसे जाना ही चाहिये। वेद की आज्ञा है "ऋतौ भार्यामुपेयात्।" ये तीन शब्द हैं—ऋतुकाल भार्या, और जाना। तीनो मे एव लगाओ। अर्थात् ऋतुकाल मे ही भार्या के समीप जाना चाहिये, अन्य समय मे नही। अपनी ही भार्या मे गमन करना चाहिये अन्य मे नही। जाना ही चाहिये, ऋतुकाल को व्यर्थ न बनाना चाहिये। गर्भ रहें न रहे, यह ईश्वरेच्छा है।

वसुदेव जो अमोघवीर्य थे, उनका गमन कभी व्यर्थ तो होता ही नही था। इसीलिये उनके इतनी सतानें था और इसी वेद वाक्य की आज्ञा से वे ऋतुकाल मे गमन करते थे, उसी से देवकी जी के नौ सन्तानें हुई।'

शौनक जी ने कहा—"सूतजी! हम यह पूछते है कि अच्छा, उनका पुत्रोत्पादन धर्म था फिर भी उन्होने देवकी जी को बचाया क्यो? आठ पुत्रो को देकर एक पत्नी को बचाना यह कहाँ का न्याय है?"

सूतजी ने कहा—"अब महाराज इस विषय मे तो हम क्या कहे! वसुदेव जी ने तो उपस्थित मृत्यु को ही टाला। उन्होने यह नही सोचा था कि मुझे पुत्र देने ही होगे। उन्होने अनेक कल्पनायें की थी फिर सोचा—"यह कस समस्त यादवो को यातना देगा। इसके बदले मेरे आठ पुत्र ही मारे जाएं तो सब का भला होगा। कस का वध सभी यादव चाहते थे। वह दुष्ट था खल प्रकृति का था। कोई भी उससे सन्तुष्ट नही था। यदि पुत्रो को देकर भी जाति का भला हो तो पुत्रों की बलि देना श्रेष्ठ है। वसुदेव जी का तो अत्यन्त उच्च आदर्श रहा होगा।"

शौनक जी ने कहा—"हाँ, सूतजी! इस प्रकार का आदर्श

तो सराहनीय है। फिर भी एक शका हमारे मन मे रह ही गई। देखिये ससार म पुत्र शोक सबमे बडा बताया गया है। स्वाभाविक मृत्यु से भी जिसका पुत्र मर जाता है उसे भी कितना क्लेश होता है। सो, वसुदेव जी तो अपने छ-छ पुत्रो को अपने हाथ से मारने को दे आये और कस ने उनके सामन—उनके देखते-देखते—उनका वध किया। इस इतनी भारी विपत्ति को आठ-आठ बार वसुदेव जी ने सहन कैसे किया ?"

इस पर सूतजी बोले—'महाराज, धर्म मे बडी शक्ति होती है। धार्मिकता सहनशीलता हा तो सिखाती है ? जो धर्म पर दृढ है, वे धर्म रक्षा के लिये कौन से कठिन से-कठिन दुखो को नही सह सकते ? अर्थात् वे धम के लिये सब कुछ सह सकते है।"

शौनक जी बोले—'सूतजी वसुदेव जी को तो आशा लगी ही रहती होगी, कि कम सम्भव है, मेरे इस बच्चे को छोड दे या कोई दया करके छुडा दे।'

सूतजी बोले "महाराज जिनकी तत्त्वाधान मे पूर्ण निष्ठा हो गई है वे किसी भी बात की अपेक्षा नही रखते।"

इस पर शीघ्रता से शौनक जी ने पूछा—'अच्छा, सूतजी ! हम एक बात पूछते है। कस अन्ततोगत्वा मनुष्य ही तो था। वह अपनी बहन के सद्यःजात छोटे-छोटे निरीह बच्चों को सहसा मार कैसे डालता था ? क्या उस दया नही आती थी ? वह ऐसे क्रूर कर्म मे कैसे प्रवृत्त होता था ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! आप खलो की कुछ न पूछें। ससार मे ऐसा कौन-सा कुकर्म है, जिसे नीच पुरुष न कर सकते हो। वे अपने माता-पिता, भाई, पुत्र, सगे सम्बन्धी, गुरुजन, इष्टमित्र—सभी का निर्मम होकर वध कर सकते है, उन्हे विष दे सकते है, शूली पर चढा सकते है, माता, बहन-

बेटियों और पुत्र-बन्धुओ के साथ गमन कर सकते हैं, ब्रह्महत्या, सुरापान तथा जो भी नीच से नीच कार्य हैं, उन्हें इन्द्रिय सुख, जीवन तजा राज्य के लिये प्रसन्नता पूर्वक कर सकते हैं।"

शौनक जी ने फिर कहा—"सूतजी ! मुझे तो भगवती देवी देवकी के ऊपर दया आती है। वे अपने हृदय के टुकडे को अपने ही हाथ वध कराने को कैसे देती होंगी ?"

सूतजी आह भरकर बोले—"महाराज, यदि देवी देवकी में इतनी ही क्षमता न होती, यदि उन्होने अपनी इन्द्रियो पर इस प्रकार विजय प्राप्त न कर ली होती, तो उन्हे भगवान् की जननी बनने का देव दुर्लभ पद कैसे प्राप्त हो सकता था ? जितेन्द्रिय पुरुषो के लिये किस वस्तु का त्यागना कठिन है ! वे तो सत्य के लिये, धर्म के लिये, पुत्र परिवार तथा प्राणो तक का परित्याग करने मे आगा पीछा नही करते।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी ! हमे सब कथा सुनाइये। वसुदेव जी ने किस प्रकार अपने पुत्र ला-लाकर कस को दिये ?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! अब मैं उसी कथा को सुनाता हूँ। जिस प्रकार वसुदेव जी ने कस को अपने पुत्र प्रदान किये थे, वह भी सुनाता हूँ।"

छप्पय

कस कर्यो विश्वास बहिन निज फिर नहिँ मारी।
आये घर वसुदेव देवकी दुखित विचारी॥
प्रथम पुत्र वसुदेव देवकी जाया जायो।
भयो न मन महँ मोद, हरष हिय महँ नहिँ छायो॥
अति कोमल अति सरल शिशु, सुन्दर सरसिज-सम वदन।
सुमिरि कस पन मातु को, अति ई कातर भयो मन॥

वसुदेव जी द्वारा कंस को पुत्र प्रदान

[८२१]

कीर्तिमन्त प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः ।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० १ अ० ५७ श्लो०)

छप्पय

बोले श्रीवसुदेव—प्रिये ! मत मोह बढ़ाओ ।
निज पन पूरन करूँ कुमर कूँ अबई लाओ ॥
बिलसि हिये तैं लाइ प्याइ पय सुत मुख चूम्यो ।
कंपित कर है गये मातु को माथो घूम्यो ॥
बिलसत जाया छोड़ि सुत, लयो अंक वसुदेव पुनि ।
क्रूर कंस के गये ढिंग, बिहँस्यो सुत को जन्म सुनि ॥

साहित्य मे जहाँ भाव और विभाव का वर्णन है वहाँ एक भाव-सन्धि बताई गई है। दो विरोधी भाव एक साथ ही हृदय मे आ जायें, उसे भाव सन्धि कहा है। पुत्र का जन्म हो और उसकी जननी की दशा चिन्ताजनक हो तो पिता के मन मे पुत्र-जन्म का हर्ष जन्य भाव भी है और पत्नी के रुग्ण होने का शोक भी है। किन्तु भावी दुःख का प्रथम ही पता हो तो वह सुख भी अत्यधिक दुःख का ही हेतु हो जाता है, उससे भावो की सन्धि न होकर वह सुख दुःख का ही बढाने वाला होता है।

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—'राजन् ! वसुदेव जी ने अपना कीर्तिमान् नामक प्रथम पुत्र चित्त मे अत्यन्त दुःख मानकर भी झूठ से अत्यन्त डरने के कारण कंस को सौंप दिया।'

जैसे किसी को प्रथम से ही ज्ञात हो जाय, कि अमुक लडकी विवाह होते ही विधवा हो जायगी तो उसका विवाह-जन्य सुख, दुःख की ही वृद्धि करता है। वह विवाह कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से भले ही किया जाय, किन्तु उसके करने मे कोई आनन्द नही, विवाह सम्पन्न होने पर एक निश्चिन्तता का अनुभव नही, वह तो जान बूझकर विपत्ति के मुख मे प्रवेश करना है। ऐसे दु खजनक कार्य भी कर्त्तव्यवश, धर्म के भय से, समाज के आतक से, मनुष्य-स्वभाव वश करने ही पडते हैं। ज्ञानी-अज्ञानी-दोनो को ही ऐसी स्थिति मे से होकर निकलना पडता है, अन्तर इतना ही है, अज्ञानी रो-रोकर दु ख को और बढाते हैं, ज्ञानी अपने ज्ञान के द्वारा चित्त को समझा लेते है।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेव जी देवकी को विवाह करके अपने घर ले आये। समय आने पर भगवती देवकी ने गर्भ धारण किया। प्रथम गभ धारण कर लेने पर घर की स्त्रियो को, पति-पत्नी को, दोनो के परिवार वालो को तथा अन्य सगे-सम्बन्धियो को कितनी प्रसन्नता होती है! स्थान स्थान से गर्भिणी के लिये उपहार आने लगते हैं। आठवें-नवें महीने से ही उत्सव आरम्भ हो जाता है गर्भिणी के मातृ गृह से सुन्दर-सुन्दर मिठाइयाँ, बच्चे के लिये खिलौने आदि आने लगते है। प्रीतिभोज होता है और मन मे कितना उत्साह, कितनी उमङ्गें कितनी आशायें, कितनी अभिलाषायें होती हैं, इन्हें बिना गृहस्थ बने, केवल सुन पढकर कोई अनुभव नहीं कर सकता। स्त्री अब तक तो पत्नी थी भार्या थी अब वह जाया हो जायगी। उसका पति उसके पेट से स्वय पुत्र बन कर उत्पन्न होगा। अब उसका मान-सम्मान, अधिकार— सब बढ जायेंगे। अब वह माता हो जायगी। उसका पति भी उसे अब ब्याज से, पक्षान्तर से, माता

कहने लगेगा। वह मेरी घरवाली, मेरी पत्नी, या मेरे घर से, न कहकर लल्ला की माँ कहेगा। बच्चे से यह न कहकर कि जा मेरी पत्नी के पास जा, यही कहेगा—"माँ के पास चला जा। माँ को पुकार।" इसीलिये मातृ-पद को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बताया है। जो पत्नी माता बन गई, अब वह लम्बा घूंघट नही मारती, पति से डरती भी नही। अब तो वह जननी हो गई। प्रथम गर्भ धारण करने पर स्त्रियो को अत्यन्त प्रसन्नता होती है, उसी प्रसन्नता मे तो वे गर्भ धारण के विविध कष्टो को, प्रसव की असह्य पीडा को, सहर्ष सहन करती है, किन्तु भगवती देवकी को प्रथम गर्भ धारण करके भी प्रसन्नता नही हुई। वे जानती थी, "मेरे पति सत्य-प्रतिज्ञ हैं। जो बात वे एक बार मुख से कह देंगे, उसका प्राणो से पण लगाकर पालन करेंगे। उस प्रण से वे कभी भी विचलित न होगे। मेरे जो सन्तान होगी, उसे वे बिना माँगे, मेरे भाई कस को दे आवेंगे। वह इतना क्रूर और निर्दयी है कि वह बच्चे को देखते ही मार डालेगा। वह असुतृप-असुर है। प्राणो का उसे अत्यन्त मोह है। मृत्यु से बचने के लिये वह सब कुछ कर सकता है। उससे कुछ अच्छी आशा रखना निराशामात्र ही है। इन्ही सब बातो को सोच सोचकर देवकी देवी दु.खी बनी रहत। इस प्रकार शनै. शनैः नौ महीने बीत गये। दशवें महीने मे उन्होने एक अत्यन्त ही सुन्दर पुत्ररत्न का प्रसव किया।

दासी ने वसुदेव जी से बाहर आकर कहा—"बधाई है महाराज! छोटी रानी जी के यहाँ पुत्ररत्न का जन्म हुआ है।"

अन्यमनस्क भाव स वसुदेव जी ने कहा—"काहे का बधाई है, हमारी तो लोकहँसाई है। सब मुझे बुरा कहग, कि यह पुत्रघाती है। किन्तु, करूँ क्या, कर्त्तव्य का पालन तो करना

ही पडेगा। प्रण तो निभाना ही होगा। अब विलम्ब करने की आवश्यकता नही। जितना ही विम्लब होगा, उतना ही मोह बढेगा।" यह कहकर उन्होने अङ्गरखा पहना, पगडी धारण की, उस पर चीरा बाँधा, कलँगी लगाई, दुपट्टा कन्धे पर डाल कर वे भीतर गये और बोले—'प्रिये! क्या समाचार है?'

देवकी देवी ने कष्ट के साथ कहा—'प्राणनाथ! पुत्र उत्पन्न हुआ है। देखिये, कैसा सुन्दर है, कितना सुकुमार है, कैसा भोला-भाला इसका मुख है। यह रोता नही, हँस रहा है। जन्म से ही इसक मुख मे दात हैं।'

अन्यमनस्क भाव से वसुदेव जी ने कहा—"प्रिये! मोह मत बढाओ। बच्चे को बहुत मत खिलाओ। श्रीहरि का ध्यान लगाओ, अब विलम्ब न लगाओ, बच्चे को लाओ। मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार इसे कस राय को दे आऊँ।"

देवकी देवी ने अधीर होकर कहा—'प्राणनाथ! वह मेरा भाई तो बडा क्रूर है, आप उसे इस भोले-भाले बच्चे को दे आवेंगे, तो वह इस मार डालेगा। इतने सुन्दर भोले-भाले बच्चे को आप जान बूझकर काल के मुख मे क्यो डालना चाहते हैं?"

वसुदेव जी ने कहा—"प्रिये! हमने उससे ऐसी ही प्रतिज्ञा की थी।"

देवकी जी ने अधीर होकर कहा—"आपने उससे इतनी कठिन प्रतिज्ञा क्यो कर ली?"

वसुदेवजी ने कहा—"यदि ऐसी प्रतिज्ञा न करता, तो तुम्हारे प्राण कैसे बचते?"

देवकी देवी ने रोते-रोते कहा—"मैं इन प्राणो को धारण करके क्या करूँगी? पुत्र को मरवाकर ऐसे जीने से क्या लाभ। आपने मुझे क्यो बचाया?"

वसुदेव जी ने दृढ़ता के साथ कहा— प्रिये ! अब इन व्यर्थ की बातों से क्या लाभ ! पुत्र तो हमें कंस को देना ही होगा— स्वतः न देंगे, वह उसे बलपूर्वक मंगा लेगा। जितनी ही अधिक देर बच्चा रहेगा, उतना ही मोह बढ़ेगा। मैं जितना असत्य से डरता हूँ, उतना मृत्यु से भी नहीं डरता। मेरे वचन असत्य न होने पावें, मैं कंस के सम्मुख विश्वासघाती न बनने पाऊँ। मेरे ऊपर उसने विश्वास किया है, अतः मुझे भी अपनी प्रतिज्ञा धर्म-पूर्वक पूरी करनी चाहिये। लाओ, पुत्र को मुझे दे दो। यह कह कर वसुदेव जी ने दोनों हाथ आगे कर दिये। देवकी देवी के हाथ काँप रहे थे, हृदय फटा जा रहा था नेत्र बह रहे थे शरीर में रोमाञ्च हो रहा था, वसुदेव जी उनकी ऐसी दशा देख-समझ गये, किन्तु कर्त्तव्य ने उन्हें विवश किया। बलपूर्वक पत्नी की गोद से बच्चे को ले लिया और उसे लेकर चल दिये। देवकी देवी 'हा पुत्र ! हा पुत्र !' कहती हुई मूर्छित होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। किन्तु, वसुदेव जी ने पीछे फिरकर नहीं देखा, वे हृदय कड़ा करके बच्चे को लेकर कंस की राजसभा में चल दिये।

रथ पर बैठकर वसुदेव जी बच्चे को लिये हुए कुछ ही समय में कंस के सभा भवन में पहुँचे। उस समय कंस अपने क्रूर-कर्मा मन्त्रियों के साथ बैठा था। उसी समय बच्चे को लिये वसुदेव जी को आते देखकर अवहेलना की हँसी हँसता हुआ कंस बोला— 'आइये वसुदेव जी ! आइये। कहिये सब कुशल मङ्गल है न ? आज तो बहुत दिनों पर दिखाई दिये ? स्वास्थ्य तो अच्छा है न ? यह क्या ले आये ?"

वसुदेवजी ने सरलता के साथ कहा—'यह बच्चा है, देवकी के गर्भ का यह प्रथम बालक है।"

कंस ने अनजान की भाँति कहा—"अच्छा, देवकी के बच्चा हुआ है ? बड़े मङ्गल की बात है ! आप इसे यहाँ कैसे ले आये ?"

वसुदेव जी ने अन्यमनस्क भाव से कहा—'मैंने तो आपसे प्रतिज्ञा की थी, कि देवकी के सब पुत्रों को मैं आपको दूँगा इसीलिये इसे आपको देने आया हूँ।"

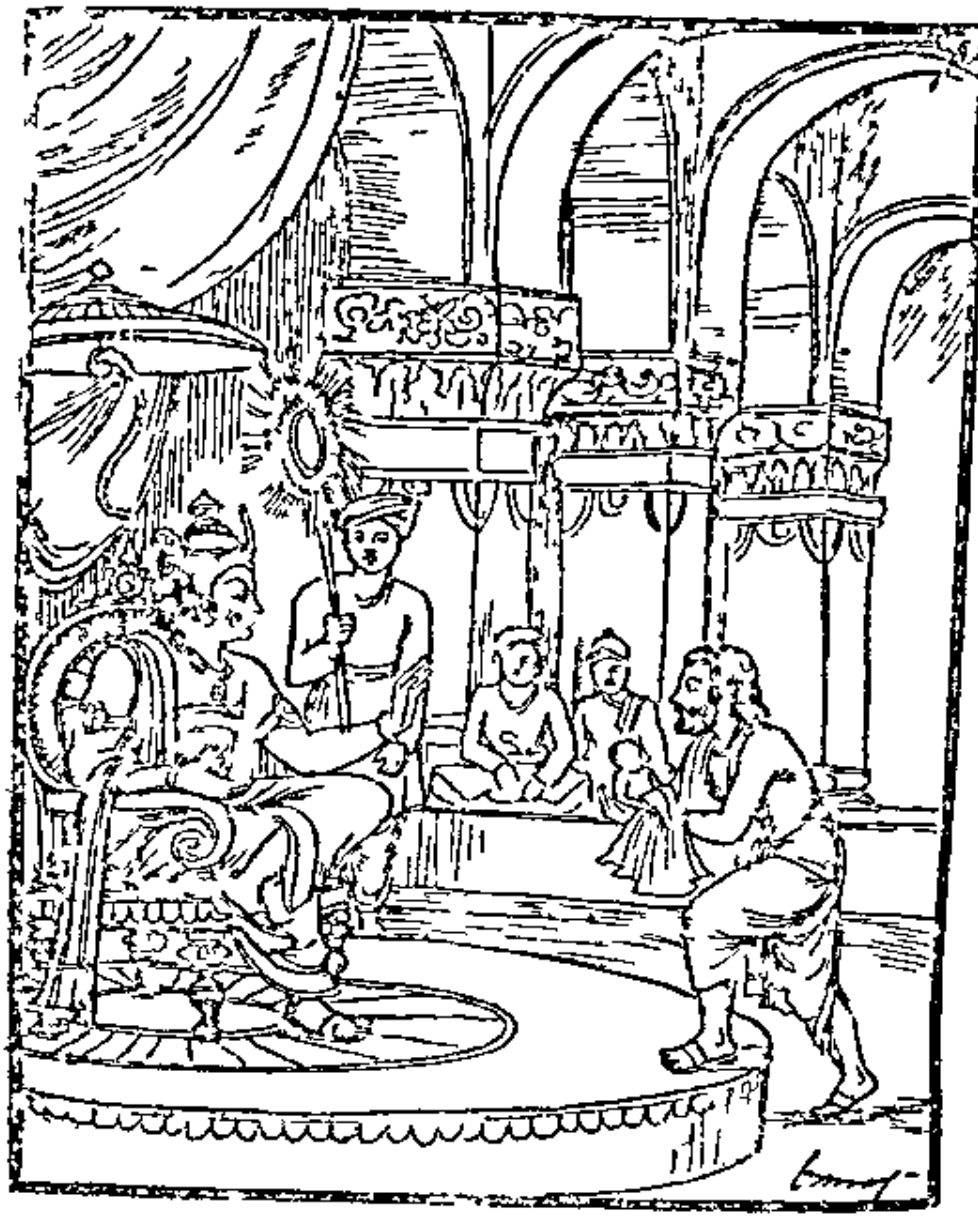

यह सुनकर ठहाका मारकर हँसते हुए कंस ने कहा—"वसुदेव जी ! आप बड़े भोले हैं। अजी, मेरा इस बच्चे से क्या

प्रयोजन ? आकाशवाणी ने तो देवकी के आठवें गर्भ से उत्पन्न होने वाले बालक से मुझे भय बताया था। अत इसे ले जाओ। जो आठवाँ बच्चा हो, उसे लाना इसे लेकर मैं क्या करूँगा ?"

यह सुनकर वसुदेवजी ने कहा— 'बहुत अच्छा, जैसी आपकी आज्ञा। मैं तो अपनी प्रतिज्ञानुसार इसे लाया था।" यह कहकर वे बच्चे को लेकर पुन अपने घर लौट आये।

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! देवकी का प्रथम पुत्र मृत्यु के मुख से सकुशल लौट आया, काल का कवल होने से बच गया। इससे वसुदेव जी को तो बडी प्रसन्नता हुई होगी ?"

सूतजी बोले—"अजी महाराज ! प्रसन्नता क्या होनी थी ! वसुदेव जी तो जानते थे कि कस अव्यवस्थित चित्त वाला है। इसकी प्रसन्नता भी दु ख का ही हेतु है। अभी तो इसने बच्चे को लौटा दिया है। अभी कोई दूसरा आकर विपरीत सम्मति दे दे, तो अभी फिर मँगा कर बच्चे को मरवा डालेगा। यह कोई निश्चय तो है ही नही कि एक बार इसने जो कह दिया वह पत्थर की लकीर बन गई। क्षण मे कुछ क्षण मे कुछ। यह कस महा दुष्ट है अजितेन्द्रिय है इसका मन इसके वश मे नही है। इन्ही सब कारणो से उन्हे प्रसन्नता नही हुई।'

शौनक जी बोले— 'हाँ, तो सूतजी ! फिर क्या हुआ ? कस ने उस वसदेव जी के प्रथम पुत्र जिसका नाम पिता ने कीर्तिमान रखा था उसे किसी के कहने से फिर बुलाकर मार दिया या वह बचा रह गया।"

सूतजी बोले—' बचा कैसे रहता, महाराज ! वह तो मरने के लिये ही पैदा हुआ था। देवर्षि भगवान् नारद की सम्मति से उसने उसे पुन मँगवाकर मार डाला।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! इतने धर्मात्मा भगवद्भक्त

भगवान् के अवतार नारद जी ने कंस को ऐसी विपरीत सम्मति क्यों दी ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! इस सम्मति में भी बड़ा भारी रहस्य है। इस प्रसङ्ग को मैं आगे सुनाता हूँ आप सावधान हो कर श्रवण करें।

छप्पय

जीजाजी ! तुम दृढ़-प्रतिज्ञ समदरसी ज्ञानी।
शुचिता समता सत्य सरलता तुमरी जानी॥
शिशु कूँ घर ले जाउ काम का मेरो याते।
अष्टम जो हो पुत्र बतायो सुर भय ताते॥
सुनि लौटे वसुदेवजी, दुष्ट वचन नहिं सत गने।
समुझि महा खल कंस कूँ, भये पुत्र लखि अनमने॥

कंस की सभा में देवर्षि नारदजी

[८२२]

सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत ।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥
एतत् कंसाय भगवान्शंसाभ्येत्य नारदः ।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० १ अ० ६४ श्लो०)

छप्पय

लौटि गये वसुदेव तबहिँ नारद मुनि आये ।
कंस कर्यो सत्कार कहे मुनि–'सुत च्यौं लाये ॥'
कंस कहानी कही बताई नभ की बानी ।
नारद बोले विहँसि नीति नृप नहिँ तुम जानी ॥
नन्द और वसुदेव के, बन्धु दार सुत सुहृद्गन ।
सुर सुर ललना सबहिँ ये, चहत भार भू को हरन ॥

सद्गुरु का काम होता है जीव को शीघ्र से शीघ्र श्रीहरि के सम्मुख करना । पाप-कर्म भगवद्दर्शन मे अन्तराय है । इसीलिये सद्गुरु सत्कर्म कराकर पापो को नाश कराते है । पाप कर्मों के

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन ! देवर्षि भगवान् नारदजी ने कंस को आकर ये सब बातें कही, कि नन्द और वसुदेव पक्ष के जो भी स्त्री-पुरुष, बन्धु बान्धव तथा सुहृद्गण हैं, जो देखने में तुम्हारे सेवक हैं, ये सब प्राय देवता ही हैं । भूमि के भार उतारने तथा दैत्यो का वध करने के लिये ही ये सब षड्यन्त्र हैं ।"

सदृश कभी-कभी कोई ऐसा पुण्य-कर्म भी होता है, जो भगवद्-दर्शनो-में मुक्ति मे-अन्तराय होता है, कारण कि पाप-पुण्य दानो ही बन्धन के कारण हैं। अतः कभी-कभी सद्गुरु ऐसे कर्मों के नाश के लिये शिष्य से लोक-विपरीति भी काय कराते हैं। गुरु आज्ञा समझकर शिष्य उन कर्मों को सहर्ष अनासक्त भाव से करते हैं, कारण यह है, कि अच्छे-बुरे कर्मों मे हमारी आसक्ति नही। ऊपर से शुभ दिखाने वाला कर्म यदि हमे भगवद्दर्शन से-ससार से पार जाने से—रोकता है, तो ऐसे कर्म को हम पैरो की ठोकर मारकर ठुकरा देगे और जो कर्म ऊपर से अनुचित और लोक-विरुद्ध दिखाई देता है और श्रीगुरुदेव की उसे करने की आज्ञा है तो हम उसे सहर्ष करेगे, चाहे नरक मे ही जाने की आज्ञा क्यो न हो! जसे प्रकृति को पहचानने वाले सद्वैद्य को ही रोग की उत्पत्ति उसके कारण और उसके शमन करने का ज्ञान है, वैसे ही शिष्य के अधिकार और उसकी प्रकृति को जानने वाले सद्गुरु ही इस बात को भली-भाँति जानते हैं, कि कौन सा कार्य करने से इसे लाभ होगा। जैसे भिन्न-भिन्न प्रकृति होने से एक ही रोग की पात्र-भेद से भिन्न-भिन्न चिकित्सायें है, उसी प्रकार साधको की प्रकृति के अनुसार एक ही साध्य के अनेक साधन है। सब साधनो का सार यही है कि श्यामसुन्दर के चरण सरोरुहो मे चित्त की वृत्ति अटक जाय, किसी भी प्रकार हो, मन मे फँस जाय। काम से हो, क्रोध से हो लोभ से हो, अथवा भय से हो, तो भी उनकी प्राप्ति हो जायगी। यदि प्रेम स उनको सुमिरन हो, तब तो कहना ही क्या।'

सूतजी कहते है—"मुनियो! क स के लौटाने पर वसुदेव जी अपने प्रथम पुत्र को लेकर ज्यो ही राज सभा के द्वार से निकले त्यो ही वीणा बजावत, हरि गुण गावत, चोटी हिलावत, खडाऊँ

चटकावत देवर्षि नारद जी वहाँ आ पहुँचे। उन्होने तो वसुदेव जी को पुत्र ले जाते हुए देख ही लिया था, किन्तु वसुदेव जी तो अन्यमनस्क हो रहे थे। अत. उन्होने नारदजी को नही देखा। वे रथ पर बैठकर बच्चे को लेकर चले गये।

इधर नारद जी को आते देखकर कस ने उनका स्वागत-सत्कार किया। पाद्य, अर्घ्य आचमनीय आदि देकर उनकी पूजा की, कुशल पूछा। दानो ओर से कुशल-प्रश्न होने के अनन्तर नारदजी ने पूछा—"राजन्! अभी बाहर जाते हुए मुझे वसुदेव जी दिखाई दिये थे। वे चमकते वस्त्र मे लपेटे क्या वस्तु लिये जा रहे थे?"

कस ने सहज स्वभाव से कहा—'कुछ नही महाराज! उन का प्रथम पुत्र था। वे मेरे पास लाये थे, मैंने उन्हे लौटा दिया।"

अनजान भोले भाले व्यक्ति की भांति नारद जी ने पूछा—"वे सद्य जात पुत्र को यहाँ क्यो लाये थे?'

कस ने कहा—"अजी, भगवन्! क्या बताऊँ? एक ऐसी घटना घटित हो गई, कि उसके कारण मुझे बडी चिन्ता हो गई है, आप अच्छे आ गये। आप ही मेरी शका का समाधान करें।"

नारद जी ने कुछ बात पर बल देते हुए कहा—"हाँ, हाँ, बताइये, क्या घटना घटित हो गई। आपको किस बात की चिंता हो गई?"

कस बोला—"भगवन्! देवकी का वसुदेव जी से अभी गत वर्ष विवाह हुआ था। विदाई के अवसर पर मैं उसके रथ को हाँक रहा था, उसी समय आकाशवाणी हुई कि "इसका आठवाँ पुत्र तुझे मारने वाला होगा।" मैं उसी समय देवकी को मार डालना चाहा था, किन्तु वसुदेव जी ने यह कहकर उसे बचा लिया कि इसके सब बालको को मैं तुम्हे लाकर दे दिया करूँगा।

वसुदेव जो भले आदमी हैं। आज ही उनके पुत्र हुआ। अपनी प्रतिज्ञानुसार उसे वे यहाँ लेकर आये थे।'

नारद ने कहा—"फिर आपने उसे लौटा क्यों दिया ?"

कंस ने कहा—'महाराज, उस बच्चे से मुझे क्या लेना है। आकाशवाणी ने तो अष्टम पुत्र से मुझे भय बताया था। जब अष्टम होगा, तब मैं उसे मार दूँगा।'

नारदजी बोले—"आपको क्या पता, अष्टम कौन है ?"

कस ने कहा—"महाराज, इसमे भी कुछ कहने-सुनने की बात है? यह तो स्पष्ट है। यह प्रथम पुत्र है फिर द्वितीय तृतीय-ऐसे ही जो इससे आठवाँ होगा-वही मेरा शत्रु होगा, उसे ही मैं मार डालूगा।"

यह सुनकर नारदजी हँसे और उन्होने एक गोल वृत्ताकार लकीर खीची। उस पर आठ कंकडियाँ रखकर वे बोले— बताइये, इनमे आठवी कौन सी है।"

कस ने अपने सामने की कंकडी को गिनकर आठवाँ बता दिया। नारद जी ने कहा—'हम इससे आरम्भ करते हैं।" फिर दूसरी से फिर तीसरी से-ऐसे प्रत्येक को आठवी सिद्ध कर दिया। फिर एक अष्ट दल कमल लेकर कहा—इसमे आठवाँ दल कौन सा है?' उन्हें भी सबको आठवाँ सिद्ध कर दिया फिर एक आठ फाँक की नारङ्गी को छीलकर पूछा— इनमे आठवी फाँक कौन सी है? उसी प्रकार एक-एक कर गिनकर सबको आठवी सिद्ध कर दिया। एक पात्र मे आठ बूंद पानी डालकर कहा— "इसमे से आठवी बूंद निकालिये।" आठ पेडो को एक मे भर दिया और कहा—इनमे से आठवाँ निकालिये।" आठ अगूरो का गुच्छा लेकर कहा—'इनमे मे आठव अगूर को तोडिये।" कस बार बार गिनता सभी आठवें हो जाते। उसकी बुद्धि चकरा गई, चित्त मे विभ्रम हो गया। नारद जी ने कहा— "राजन्! मैं तो देवताओ मे ही रहता हूँ। देवता बडे मायावी हैं, उनकी माया का पता नही चलता। न जाने वे किसको आठवाँ सिद्ध कर द। एक रहस्य की बात आपको और बताता हूँ, आपको उसका पता नही।"

कस ने कहा— 'हाँ, महाराज! बताइये। मैं तो देवताओ की धूर्तता समझता नही।"

नारद जी बोले—"आप तो भोले हैं। देखिये, ये व्रज में रहने वाले नन्दादि जितने गोप हैं, इन गोपो की जितनी स्त्रियाँ हैं, ये सभी देवी रूप है।"

कंस ने कहा—'भगवन्! देवता और देवाङ्गनायें-सब गोप-गोपी रूप मे क्यों प्रकट हुए?"

नारदजी बोले—"भूमि का भार बहुत बढ गया है। उसे ही उतारने ये सब मनुष्य रूप मे प्रकटे हैं। व्रज की बात तो जाने दो, तुम्हारे घर मे भी बहुत से तुम्हें ही मारने को देवता उत्पन्न हुए है।"

कंस ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—'मेरे घर मे कौन उत्पन्न हुए।

नारद जी बोले—देखो ये जितने वसुदेवादि वृष्णि-वंशी यादव हैं, उनके देवकी आदि जितनी स्त्रियाँ हैं, वसुदेव और नन्दादि गोपो के जितने जाति, बन्धु, मित्रगण, सगे सम्बन्धी और प्रेमी है-ये सब देवता है। तुम पूर्व जन्म मे कालनेमि नामक असुर थे। तुम्हारे बहुत से प्रलम्बासुर, अघासुर, बकासुर, शकटासुर, तृणावर्त आदि अनेक साथी असुर भी उत्पन्न हुए हैं। वे सब तुम्हे मिल जायंगे। जितने यादव तुम्हारे यहाँ नौकर-चाकर, सम्मति-दाता, मन्त्री आदि है, ये ऊपर से तो तुम्हारे सेवक बने हुए है। किन्तु ये सब तुम्हारे शत्रु ही हैं। ये सब तुम्हारा नाश करेंगे। अब तुमको जो उचित जान पड़े, सो करो हमने तत्त्व की यथार्थ बात तुम्हें बता दी।" इतना कहकर नारद जी ने अपनी वीणा उठाई और उस पर तान छेडते हुए बिना कंस से पूछे ही यह गये-वह गये। अब कंस को बडा भारी सोच उत्पन्न हो गया।

वह सोचने लगा—"अरे, मैं तो भ्रम में था। ये सब सुहृद-

रूप मे मेरे शत्रु हैं। मेरे कुटुम्बी ही मुझे मरवाने का षडयन्त्र रच रहे हैं। मेरी जाति वाले ही मेरे प्रतिपक्षी हैं। ये यादव सभी देवगण हैं। मुझे मारने वाला देवकी के ही गर्भ से उत्पन्न होगा। यह भी निश्चय नही कि आठवाँ कौन-सा है, जो भी आठवाँ हो जाय। इसीलिये मुझे वसुदेव और देवकी को कारावास में रखना चाहिये। देवकी का जो भी पुत्र उत्पन्न हो, उसे ही मार डालना चाहिये।" यही सब बात सोचकर उसने नगर-नायक को बुलवाया और उसे आज्ञा दी—'देखो, तुम अभी मेरी आज्ञा से सेना लेकर वसुदेव जी के घर को घेर लो। फिर वसुदेव और उनकी पत्नी देवकी को पकडकर मेरे समीप ले आओ। जो लोग इसमे विघ्न करें, उनका पक्ष लें उनको भी मार डालो।"

नगर-नायक ने युवराज कस की आज्ञा सिरोधार्य की। उसने तुरन्त जाकर वसुदेव जी का घर घेर लिया। वसुदेव जी तो यह सब पहले से ही समझते थे। उन्होन उनका कोई विरोध नही किया। देवकी के सहित वे निर्विरोध भाव से कस के दरबार मे चले आये। उन्हे सम्मुख देखकर क्रोध से ओठो को काटता हुआ, अपनी बडी-बडी लाल लाल आँखो को निकालता हुआ, कस बोला— वसुदेव और देवकी दोनो को जञ्जीरो से जकडवा कर एक सुदृढ किले मे बन्द कर दो। उसके आसपास कड़ा पहरा लगवा दो। एक विशेष अधिकारी इसी काम पर नियुक्त किया जाय। देवकी जब गर्भवती हो, उसकी सूचना मुझे दी जाय। जब इसके गर्भ के दिन पूरे हो, उसकी सूचना दी जाय और बच्चा होते ही तुरन्त मुझे बताया जाय। चाहे सर्दी हो, गर्मी हो, वर्षा हो, लू चल रही हो, हिम पड रहा हो, ओले बरस रहे हो, दिन हो, रात्रि हो-सन्ध्या हो-जब भी बच्चा जन्मे, उसी क्षण मेरे पास इसकी सूचना भिजवाई जाय।"

उस क्रूरकर्मा का विरोध करने की किसमे सामर्थ्य थी ? सेवक हृदय से ऐसा नही चाहते थे, किन्तु करते क्या ? बलवान के सम्मुख बोलने की उनमे सामर्थ्य नहीं थी। अतः इच्छा न रहने पर भी देवकी और वसुदेव जी को लोहे की जञ्जीरो से जकडकर एक घर मे बन्द कर दिया गया, उन पर पहरेदार बैठा दिये गये। जब भी देवकी गर्भवती होती, उसकी सूचना कस को दी जाती। पहले कीर्तिमान पुत्र को तो उसने मार ही दिया। इसके अनन्तर जो-जो पुत्र होते, कस स्वय जाकर उन सब को मार डालता। इस प्रकार उसने देवकी के छः पुत्रो को मार डाला।

पुत्र उत्पन्न होते ही वसुदेव जी तुरन्त सक्षेप मे जात कर्म करके उनके नाम रख लेते। नाम क्या रखना था, नेगमात्र करना था। इस प्रकार कस ने देवकी जी के गर्भ से उत्पन्न कीर्तिमान, सुषेण, उदारचित भद्रसेन, ऋजु, सम्मदन और भद्र इन छ पुत्रो का मार डाला।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! देवकी-वसुदेव इतने धर्मात्मा थे, इनसे एक दो नही छ-छ पुत्र उत्पन्न होते ही क्यो मारे गये ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान् के विधान को प्राणी ठीक-ठीक समझ नही सकता। उनके प्रत्येक कार्य मे मङ्गल निहित है। हम अपनी क्षुद्र बुद्धि से उनके यथार्थ रहस्य को जान नही सकते। देवकी के इन छः पुत्रो का जन्म लेते ही मार डाले जाने मे कल्याण था। देवकी जी के गर्भ से साधारण जीव तो जन्म ले ही नहीं सकता था। वे सब प्रजापति मरीचि के पुत्र छ ऋषि थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! उन देवतुल्य ऋषियो ने ऐसा

क्या अपराध किया था, जिससे उन्हे जन्म लेते ही असुर के हाथो मरना पडा ?"

सूतजी बोले—"महाराज! सबसे बडा अपराध है महत् पुरुषो की अवज्ञा। ससार मे इससे बडा अपराध कोई है ही नही। महापुरुषो मे स्वाभावानुसार कभी कोई नीति विरुद्ध अनुचित कार्य हो भी जाय तो भी उसकी निन्दा न करनी चाहिये क्योकि सभी अपनी प्रकृति से विवश है, सभी भगवत् प्रेरणा से ही पाप पुण्य मे प्रवृत्त होते हैं। मनुष्य को चाहिये कि दोष देखने हो, तो अपने देख, गुण देखने हो तो दूसरो के। ससार मे कोई भी ऐसा व्यक्ति नही, जिस मे कोई गुण न हो। ससार मे कोई भी ऐसी वस्तु नही जो किसी न किसी रोग की औषधि न हो। स्वर और व्यञ्जनो मे कोई भी ऐसा वर्ण नही जो मन्त्र न हो। केवल उनकी योजना करना उन्हे समझकर उपयुक्त स्थान मे प्रयुक्त करना ही योग युक्त बुद्धिमान का काम है। अत सदा दूसरो के गुण ही देख अपने सदा अवगुण देखे। जो दूसरो के अवगुण देखता है, उसमे वे अवगुण निश्चय ही आ जाते हैं, क्योकि जीव तो सकल्पमय है। जो जैसा सकल्प करेगा उसके वसे ही सस्कार बन गे। युवती स्त्री का सकल्प आते ही चित्त चञ्चल हो जाता है। इसी प्रकार दोषो का स्मरण करते ही व दोष मन मे आ जाते हैं। भावना ही ससार म प्रधान मानी गई है। भावो से ही पुरुष असुर बन जाता है, और भावो मे ही देवता।

स्वायम्भुव मन्वन्तर मे महर्षि मरीचि के ऊर्णा नाम वाली पत्नी से देव सदृश स्मर उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृद् और घृणी—ये छ ऋषिकुमार उत्पन्न हुए थे। जिस समय ब्रह्मा जी अपनी कन्या सरस्वती से सगम करने को सन्नद्ध हो गये,

ये छ अत्यन्त ही अवहेलना पूर्वक ब्रह्माजी को दोषी ठहराकर हंसने लगे। इस पर ब्रह्माजी को बडा क्रोध आया कि ये मेरे पौत्र होकर मेरी हँसी उडा रहे है। इसलिये उन्होने तुरन्त उन सब को शाप दिया—"जाओ, मूर्खो! तुम सब असुर-योनि मे उत्पन्न हो जाओ।"

ब्रह्माजी का शाप कभी अन्यथा तो हो ही नही सकता। वे जाकर हिरण्यकशिपु के पुत्र हुए। उनका अपराध उतना बडा नही था। अतः भगवान् ने कृपा करके योगमाया को आज्ञा दी—'इन्हे देवकी के गर्भ मे ल जाओ। वे ही मारीचि-पुत्र ये छ थे, पीछे भगवान् की कृपा स य आसुरी योनि छोडकर देव-लोक चले गये।"

शौनक जी न पूछा—"हां, तो सूतजी! फिर क्या हुआ? कस का अन्य यादवा न तथा उसके पिता उग्रसेन ने विरोध नही किया।'

सूतजी ब'ले—"उन सब मे इतनी सामर्थ्य कहां थी? उसने तो सब को वश मे कर लिया था, स्वय राजा बन बैठा था। उसी प्रसग को अब मैं कहता हूँ, आप सावधान होकर उसे सुने।'

छप्पय

नभवानी मह छिपी गूढ अतिशय चतुराई।
कमल पुष्प महँ सबई आठवें दल तो भाई॥
यादव तुमरे शत्रु करो इन सब तैं कुट्टी।
मुनि ने सल कूँ तुरत पढाई उलटी पट्टी॥
नारद आगि लगाइ कें, गये कंस चिन्ता भयी।
आयसु यादव दमन की, सेनापति कूँ दे दयी॥

कंस स्वयं राजा बन गया

(८२३)

उग्रसेन च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम् ।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ॥*

(श्री भा० १० स्क० १ अ० ६९ श्लोक)

छप्पय

मँगवाये पुनि तुरत पकरि वसुदेव देवकी ।
जञ्जीरनि तैं जकड़ि हनै सुत महापातकी ॥
पितु पग बेड़ी डारि बनाये बन्दी भूपति ।
सिंहासन पर स्वय विराज्यो पापी खल मति ॥
अनाचार नित प्रति करे, अति दुःखित यादव भये ।
कोशल, कुरु, केकय, निषद, सब देशनि महँ भगि गये ॥

जो केवल जीने के ही लिये, पेट पालने के ही निमित्त इस नश्वर शरीर को पुष्ट करके, इन्द्रिय सुखो के उपभोग के ही निमित्त—जीते हैं, वे देव योनि मे होते हुए भी असुर है। इसके अतिरिक्त जो भगवद् भजन के ही निमित्त जीते हैं भगवद्भक्ति ही जिनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य है, वे असुर योनि मे उत्पन्न होने पर भी आसुरी भावो से रहित है देवता है। प्राणी इन प्राणो के लोभ स कितने पाप करता है ? माता पिता भाई सगे-सम्बन्धी तथा सुहृदो का भी निर्दयता पूर्वक वध कर

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—'राजन् ! महाबलवान कस अपने पिता उग्रसेन को जो यदु, भोज, और अन्धक वशीय यादवो के अधिनायक थे, बन्दीगृह मे डालकर शूरसेन देश का राज्य स्वय करने लगा।"

देता है। इतना करके भी वह प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता, मरकर अपना अयश छोड़कर रिक्त-हस्त चला जाता है। पूर्व जन्म के संस्कारों के वशीभूत होकर जीव शुभ-अशुभ कर्मों में प्रवृत्त हो रहा है। वे नट नागर ही सबको नचा रहे हैं। वे अखिल ब्रह्माण्ड के सूत्रधार ही सबसे भाँति-भाँति अभिनय करा रहे हैं। जीव उनके ही संकेत पर नाचता है। उन्हीं की क्रीड़ा को सुखमय, आनन्दमय, उल्लासमय तथा उत्साहवर्द्धक बनाने को सबकी चेष्टायें हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कंस पूर्व जन्म में कालनेमि नामक दैत्य था। देवासुर संग्राम में यह भगवान् के हाथ से मारा गया! अपनी माता के दोष से यह माता के पितृगृह में ही गर्भ में आया था और दश वर्ष गर्भ में रहा। इस कथा को पीछे मैं भोज वंश के वर्णन के प्रसङ्ग में कह ही आया हूँ। पहले तो यह भूला हुआ था, नारद जी ने जब इसे स्मृति दिला दी तब तो इसे पूर्ण विश्वास हो गया, "मैं पूर्व जन्म का असुर हूँ, देवताओं से मेरा वैर है, ये जितने यादव हैं, सभी मेरे प्रतिपक्षी शत्रु हैं, ये सब मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे हैं। यद्यपि मैं बली हूँ, फिर भी मेरे हाथ में शक्ति नहीं है। हमारे यदु, भोज अन्धक तथा वृष्णि-वंश में बहुत से नायक हैं। यदुवंशी छत्र-चँवर लगा कर सम्राट के सिंहासन पर तो बैठते नहीं। एक-एक वंश के अधिनायक होते हैं। मेरे पिता उग्रसेन प्रधान अधिनायक हैं। सब ने इन्हें ही बुद्धिमान समझकर अधिनायक का सभापति चुन दिया है। शूरसेन देश का शासन प्रायः ये ही करते हैं। और अब अधिनायक तो केवल सम्मति मात्र देते हैं। वसुदेव जी भी इस शासन समिति के सदस्य थे। इन्हें मैंने सभा की अनुमति के विरुद्ध पकड़कर बन्द कर दिया है। इस पर हमारे

वंश की समिति मे असन्तोष होगा। अतः सर्व प्रथम प्रधान नायक अपने पिता को कारावास मे डालकर शासन की बागडोर मैं अपने हाथ मे ले लूं और वर्तमान सभा को भङ्ग कर दूं। जो सामन्त मेरे पक्ष में हो, उन्हे तो रखूं जो मेरे पक्ष का समर्थन न करते हो उन्हे या तो राज्य से भगा दूं या पदच्युत करके कारावास मे डाल दूं। जब तक मेरे पिता इस गणतन्त्र राज्य के सभापति हैं तब तक मे कोई कार्य न कर सकूंगा। पिता ही मेरे मार्ग मे कण्टक हैं। इन्हें निकाल कर मैं निष्कण्टक हो माथुर-मण्डल और शूरसेन प्रदेश का शासक हो सकूंगा।" यही सब सोचकर वह अपने पिता को पकडने का अवसर सोचने लगा। उसने सेवको से यह कार्य कराना उचित नही समझा। स्वयं ही उसने अपने हाथो इस कार्य को करना चाहा।'

शौनक जी बोले—"कंस ने अपने पूजनीय पिता को क्यो पकडना चाहा ?"

सूतजी ने झुंझलाकर कहा—"महाराज सैकडो बार तो मैं इसका उत्तर दे चुका हूँ। दुष्टो के कोई माता पिता सगे-सम्बन्धी नही होते। ये अपने प्राणो का ही प्रेमपूर्वक पालन करने वाले असुर प्रकृति के नीच पुरुष, तथा लोभ मे फँसे भूपतिगण अपने माता पिता भाई तथा सगे सम्बन्धी, सुहृदो की हत्या कर डालते हैं। इनको कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रहता ही नही। जो अपने स्वार्थ मे विघ्न प्रतीत होते, उन्हें वे मार डालते हैं, चाहे वे कोई भी क्यो न हो।

शौनक जी बोले—"तो हाँ सूतजी! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—'अजी, महाराज! उस धूर्त की धूर्तता तो देखिये। एक दिन उग्रसेन जी प्रात काल शय्या से उठे। तभी कंस नहा-धोकर चदन, गध पुष्प और अक्षत लेकर उनके समीप

पहुँच गया और बोला—"पिताजी! तनिक चरण नीचे तो कीजिये, मैं उनका पूजन करूँगा।"

उग्रसेन जी बड़े प्रसन्न हुए। आज इस खल को ऐसी सुबुद्धि कैसे हुई? उन्होंने तुरन्त अपने दोनों पैर नीचे कर दिये। कंस ने उन्हें धाकर गंध, अक्षत पुष्प आदि चढ़ाये और छिपी हुई बेड़ी को निकाल कर पैरों को जकड़ दिया, हाथ में हथकड़ियाँ डाल दीं और बोला—'पिताजी! आप अब बूढ़े हो गये हैं। अपने दामाद वसुदेव जी के समीप रहकर आप चैन की वंशी बजाइये। अब आपको राजकाज के झंझटों से कुछ काम नहीं। यह कहकर उसने उन्हें भी वसुदेव जी के समीप ही दूसरे घर में बन्द कर दिया।

अब उसने पुरानी यादव सामन्त-सभा को भङ्ग कर दिया। अपने मन से ही उसने प्रलम्ब, बक, चाणूर, तृणावर्त, अघ मुष्टिक अरिष्ट, द्विविद, केशी धेनुक आदि को अपनी सभा का सदस्य बनाया यादवों में अक्रूर आदि जो उसके सर्वदा पक्ष के थे, जो उसकी हाँ में हाँ मिलाते थे, उन्हें भी सभा में रख लिया। उसने कहा—"हमारे मन्त्रिमण्डल में स्त्रियों को भी अधिकार मिलने चाहिये। एक मन्त्रिणी स्त्री भी हो।" इसलिये पूतना को उसने मन्त्रिमण्डल में रखा। और गुप्तचर विभाग उसे सौंप दिया। पृथ्वी पर जो दूसरे बलवान असुर प्रकृति के जरा सन्ध, बाणासुर, भौमासुर आदि-आदि राजा थे उनसे इसने सन्धि कर ली। इसका पक्ष प्रबल सा गया। सभा में बहुमत भी इसे प्राप्त हो गया। स्वयं सभा का अधिनायक बनकर यह शासन करने लगा। जिन सामन्तों को उसने समझा कि ये मेरे पिता उग्रसेन के पक्ष के हैं, या भीतर ही भीतर उनसे सहानुभूति रख कर मुझे पदच्युत करना चाहते हैं, उनसे उसने गहरी शत्रुता ठान

लो, उनके ऊपर विशेष कर लगा दिये भाँति-भाँति के प्रतिबन्ध लगा दिये किसी पर असत्य अभियोग ही चला दिया, जिन असुर राजाओ क साथ उसकी सन्धि थी उनके यहाँ अपन असुर राज-दूत रख दिये उनको चेतावनी दे दी, हमारे यहाँ का कोई यादव भागकर तुम्हारे राज्य म आवे तो उसकी सूचना हम दे देना।'

इस प्रकार उग्रसेन तथा वसुदेव के पक्षपाती यादवो को वह भाँति-भाँति क क्लेश देने लगा। इतनी बडी सत्ता क सम्मुख बिना किसी शक्तिशाली नेता के साधारण जन तथा सामन्तगण कर ही क्या सकते हैं? अत उन्होने देश छोडकर जाना ही उचित समझा। उन निष्क्रमणार्थी यादवो को राज्य से बाहर जाने की सुविधा कस ने कर दी। वे बेचारे अपने घर बार को छोडकर दूसरे-दूसरे राज्यो मे जाकर बसने लगे। कोई तो कुरु जाङ्गल देश म चले गये। धृतराष्ट्र जी ने उन सब को बसन की सुविधा दे दी। कोई पाचाल देश मे चले गये। महाराज द्रुपद न उनको सत्कार पूर्वक ठहराया। कोई कोई मथुरा मण्डल से भागकर केकय देश म चले गये। कोई शाल्व विदर्भ, निषध, विदेह तथा कोशल आदि देशो मे बस गये। इस पकार यादव तथा कोशल आदि देशा म बस गये। इस प्रकार यादव शरणार्थी अपने घरा को छोडकर भिन्न भिन्न प्रदेशो मे जाकर बस गये। अब तो कस खुलकर खेलने लगा। उसने अपने विरोधी पक्ष को एक प्रकार से समूल ही नष्ट कर दिया। उसे जिस पर सन्देह होता कि यह मेरे दल का समर्थक नही है उसे हा साम दाम दण्ड तथा भेदनीति का आश्रय लेकर या तो राज्य से बाहर निकाल देता, या कोई झूठा अभियोग लगाकर उसे कारावास मे ठूँस देता। सवत्र आतङ्क छा गया। मन ही मन वैसे उससे सब घृणा करते थे किन्तु उनके मुख पर सब उसकी प्रशसा ही करते थे।

जब उसने अपने कण्टक-रूप विपत्तियों को अपनी बुद्धि से निर्मूल कर दिया, तब वह किसी बली राजा की कन्या के साथ विवाह करने की बात सोचने लगा। उन दिनों पृथ्वी पर मगध का राजा जरासन्ध सबसे श्रेष्ठ सम्राट समझा जाता था। उसके पास अगणित सेना थी। उसकी धन सम्पत्ति का कोई वारापार नहीं था, सब राजा उसके नाम से थर-थर कांपते थे। उसके अस्ति और प्राप्ति नाम की दो विवाह-योग्य युवती कन्याएं थीं। वह उनका विवाह उस राजा के साथ करना चाहता था, जो सर्वश्रेष्ठ बली हो। उसने राजाओं के बल की परीक्षा के लिये एक प्रण रख रखा था कि जो कोई इस पण को पूरा कर दे, उसी के साथ मैं अपनी कन्याओं का विवाह कर दूं। इस संकल्प से उसने स्वयंवर रचा और पृथ्वी के सभी बली राजा तथा राजकुमार उसमें बुलाये गये। कंस भी उस स्वयंवर मे गया। जरासन्ध से इसकी मैत्रीपूर्ण सन्धि तो हो चुकी थी। अतः जरासन्ध ने इसका भली प्रकार स्वागत-सत्कार किया। सब राजाओं के समक्ष कंस ने जरासन्ध के पण को पूरा किया। अतः उसने सहर्ष अपनी दोनों कन्याओं का विवाह कंस के साथ कर दिया। इससे कंस को बड़ी प्रसन्नता हुई, साथ ही उसका अहङ्कार और भी बढ़ गया। वह सोचने लगा—"अब मेरा कोई कर ही क्या सकता है? जरासन्ध मेरे श्वसुर है, बाण-भौम जैसे मेरे मित्र हैं। अब किसका साहस है, जो मेरे सम्मुख दृष्टि उठा सके? इसी अभिमान के वशीभूत होकर वह प्रजा के लोगों पर भाँति-भाँति के अत्याचार करने लगा। जब तक अधिक से अधिक अत्याचार न होंगे, तब तक भगवान् का अवतार कैसे होगा? ये सब भगवान् के अवतार के ही उपक्रम हैं। जब तक अत्युग्र क्रिया नहीं होती, तब तक उसके विरुद्ध बड़ी प्रतिक्रिया भी नहीं होती। जब

तक घोर अत्याचार नही होते, तब तक जीवन का सचार नही होता। जो जाति अत्यन्त शक्तिहीन निर्बल हो जाती है, उसी पर अत्याचार होते हैं। या तो उन अत्याचारो से उसका अन्त ही हो जाता है या प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर वह सबल शक्तिशालिनी तथा उन्नत बन जाती है। प्रकृति एक दशा में किसी को भी रखना नही चाहती। उसका सिद्धान्त है— या तो मरो या आगे बढो।' निष्क्रय हो दूसरो के मार्ग को रोके रहना उचित नहीं। जब कस के ऐसे अत्याचार बढने लगे, तब भगवान् से पूर्व उनके तेजोमय अश सकर्षणावतार शेषजी का अवतार हुआ। वे देवकी जी के गर्भ मे आये और रोहिणी के उदर से उत्पन्न हुए।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज परीक्षित ने यही तो शका की थी कि बलराम जी देवकी और रोहिणी दोनो के ही पुत्र कैसे हुए। वही शका हमारी भी है।'

सूतजी बोले—"महाराज वही कथा तो अब मैं कहने जा रहा हूँ, उस कथा मे ही इस शका का समाधान हो जायगा। आप सकर्षणावतार श्री बलराम जी के जन्म का ही प्रसङ्ग अब सुनें।"

छप्पय

तृणावर्त चाणूर पूतना और बकासुर।
धेनुक, केशी द्विविद प्रलम्बहु असुर अघासुर॥
कस सचिव सब बने करें उत्पात निरन्तर।
कछु यादव बचि गये न पावें परि ते आदर॥
विनय करत सब अति दुखित, होहु अवतरित हे प्रभो!
करहिं असुरअब अघ अमित, हरहु भार भू को विभो॥

शेषावतार श्री बलरामजी का प्राकट्य

(८२४)

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलङ्कृतम् ।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले ॥
अन्याश्च कससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ।
देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम् ।
तत् संनिकृष्य रोहिण्या उदरे संनिवेशय ॥*

(श्री भा० १० स्क० २ अ० ७,८ श्लो०)

छप्पय

भरयो पाप को घड़ा हिल्या हरि को सिंहासन ।
आयसु नटवर दई योगमाया कूँ तत्छिन ॥
रहै रोहिणी मातु नन्द बाबा के घर महँ ।
तेजोमय मम अंश देवकी बसै उदर महँ ॥
ताहि रोहिणी गर्भ में, थापित करि प्रकटो तुमहु ।
वासुदेव हम होहिँ तुम, सुता यशोदा की बनहु ॥

जब किसी बात की पराकाष्ठा हो जाती है, तब भगवान् वही

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् ने योगमाया को आज्ञा दी—हे देवि ? तुम गोप और गौओं से अलङ्कृत व्रज में जाओ। हे भद्रे ! वसुदेव जी की स्त्री रोहिणी नन्दजी के ही गोकुल में है। उनकी और भी स्त्रियाँ कंस के भय से भयभीत होकर विवरों में बसती हैं। देवकी के उदर में मेरा तेजोमय अंश से शेष नामवाला है, उसे खींचकर रोहिणी के उदर में स्थापित करो।"

प्रकट हो जाते हैं। साधारण स्थिति मे भगवान् प्रकट नही होते। खा पी लिया, सो गये ससारी विषयो को भोग लिया, समय निकाल के कुछ देर राम-राम भी रट लिया, ऐसी स्थिति में भगवान् प्राय प्रकट नहीं होते। प्राय इसलिये कहा कि भगवान् किसी नियम मे तो बँधे नही। उनकी इच्छा हो जाय, चाहे जिसे दर्शन दे दें परम पुण्यवान् का भी उनके दर्शन न हो, घोर पापी पर भी कृपा कर दे। किन्तु पुण्य की हो, पाप की हो, सुख की हो, दु ख की हो, पराकाष्ठा मे तो वे प्रकट हो ही जाते हैं। सुख की पराकाष्ठा मे सम्भव है न भी प्रकट हो किन्तु दु ख की पराकाष्ठा मे तो वे रह नही सकते क्योकि शरणागतवत्सलता उनकी प्रधान बान है। इसीलिये तो भक्तिमती कुन्ती ने माँगा है—"हमे निरन्तर विपत्ति ही विपत्ति मिलती रहे, क्योकि विपत्ति मे आप सहायता करने आते ही हैं। आप न भी आना चाहे, तो भी आपको आना ही होगा।" यदि विपत्ति बुरी वस्तु होती तो जिनके घर मे विश्व ब्रह्माण्ड के स्वामी उत्पन्न ह गे, जिन्हे अखिल ब्रह्माण्डनायक के माता पिता होन का परम सौभाग्य प्राप्त होगा उन देवकी-वसुदेव को इतनी भारी-भारी विपत्तियो का सामना क्यो करना पडता? जो विपत्ति भगवद्-दर्शन मे सहायक हो, वह कोटि सम्पत्तियो से श्रेष्ठ है, और जो सम्पत्ति हम विहारी से विमुख कर दे वह कोटि विपत्तियो से भी दु खकर है। अत भगवद्दर्शन के माग मे जो विपत्तियाँ है, वे तो भक्ता को भूषण हैं। उनसे भगवान् का सिंहासन हिल जाता है और वे स्थिर नही रह सकते।

सूतजी कहते है—'मुनियो! जब कस के अत्याचार अत्यधिक बढ गये और उसने एक-एक करके क्रमश. देवकी के छ. बालको को मार दिया, तब भगवान् का भी सिंहासन हिल गया।

यादव रूप मे उत्पन्न हुए देवो का करुण क्रन्दन जब उनके कर्ण-कुहरो मे पडा, तब उन्होने देवताओ को दिये हुए अपने आश्वासन की स्मृति हो आई। तुरन्त ही उन्होने अपनी योगमाया को बुलाया और बोले—"देवि! अब मैं भी मर्त्यलोक मे कुछ लीला करना चाहता हूँ।"

योगमाया ने कहा—"अजी, महाराज! दुःख, शोक आधि व्याधि, तन्द्रा, ग्लानि, राग, द्वेष, हिंसा, मात्सर्य-पूर्ण मर्त्यलोक मे आप क्यो जाना चाहते हैं? सब लोग आपको जान लेगे, तो यह जगत का खेल ही समाप्त हो जायगा।"

भगवान् बोले—"जगत का खेल क्यो समाप्त हो जायगा? तुम भी मेरे साथ जन्म लेना। तुम मुझे अपने घूंघट में छिपाये रहना। जब मैं तुम्हारे पट से आवृत रहूँगा, अज अव्यय होने पर भी मूढ मुझे देख न सकेगे। भक्तो के सम्मुख तो मैं परदा रख ही नही सकती। भक्त बडे ढीठ होते है। वे परदे को उठा कर मेरे दर्शन कर लेते है और कहते है— क्यो, महाराज! यह घूंघट क्यो लगा रखा है। योगमाया की साडी मे क्यो छिपे हैं? आपको ऐसी बात शोभा देती है?" तब मैं हँस जाता हूँ उन्हें छाती से चिपटा लेता हूँ। जो मूढ है वे मेरे पास नही फटकते, मेरी निन्दा करते हैं, मुझे माया का चेहरा बताते हैं, विषयी होने का दोषारोपण करते हैं। इसलिये उन अज्ञो द्वारा ससार-चक्र चलता ही रहेगा। मुझे तो अपने आश्रितो को सुख पहुँचाना है। भक्तो को अनुपम दिव्य रस का पेट भर के पान कराना है। द्वेष से भजन वाले असुरो का भी उद्धार करना है, भू का भार उतारना है। ये सब तो गौण प्रासगिक कार्य है। मुख्य कार्य तो व्रज मे मुझे मधुर रस की अखण्ड सरिता प्रकट करनी है।"

योगमाया ने कहा—"यदि मुझे भी उत्पन्न होना है, तो काजर-बेंदी लगा लूं, नये लहंगा, फरिया और चोली आदि वस्त्र पहन लूं।"

भगवान् बोले—"अरे, चटक-मटक की आवश्यकता नही। अब के तुम्हें मेरी बहन बन के उत्पन्न होना है।"

योगमाया बोली—"जो चाहो सो बना लो महाराज! बहन हूं, भौजाई' बूआ, माता आदि सब सम्बन्ध आपके ही सम्बन्ध से तो है। तो मुझे क्या करना होगा?"

भगवान् बोले—"मुझे भगवती देवकी के उदर से उत्पन्न होना है। मैं उनके आठवें गर्भ से प्रकट हूँगा।"

योगमाया बोली—'इस समय तो महाराज! देवकी के सातवां गर्भ है। अब तक छः पुत्र हुए थे, उन्हे कस ने उत्पन्न होते ही मार डाला। अब सातवें गर्भ का भी आठवाँ महीना है। एक महीने बाद जो पुत्र उत्पन्न होगा, उसे भी कस मार डालेगा।"

भगवान् बोले—'मार कैसे डालेगा? ये छः तो मारीचि मुनि के पुत्र थे जो ब्रह्माजी के शाप से हिरण्यकशिपु के पुत्र हो कर आसुरी योनि मे उत्पन्न हुए। वे उस योनि से शीघ्र ही मुक्त होने के निमित्त देवकी जी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उनका तो उत्पन्न होते ही मरने मे मङ्गल था। अब यह सातवाँ गर्भ साधारण गर्भ नही है। इसमे तो मेरे परम तेजोमय अंश सकर्षणावतार शेष भगवान् ही आये है। रामावतार मे ये मेरे छोटे भाई थे। अब के ये मेरे बड भाई बनेंगे। इन्हे कोई मार नही सकता किन्तु फिर भी तुम एक काम करो। इनके इस सप्तम् गर्भ को खीचकर श्री वसुदेवजी की दूसरी पत्नी रोहिणीजी के गर्भ मे स्थापित करो। वे आज कल नन्दजी के गोकुल मे छिपकर रहती हैं। वे भी गर्भिणी हैं। उनके गर्भ मे सकर्षणजी

को ले आओ। इससे ये देवकी के भी पुत्र कहावेंगे और रोहिणी के भी। वास्तव में तो ये किसी के भी पुत्र नहीं, सब इन्हीं के पुत्र हैं।"

योगमाया ने कहा—"इससे क्या होगा ? आप इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हैं ? उन्हें देवकी के ही उदर से उत्पन्न हो जाने दो।"

भगवान् डाँटकर बोले—"बहुत बकबक मत करो। हम जो कहते हैं, वही करो। अब हमें रहा नहीं जाता। भक्तों के दुःख अब देखे नहीं जाते। अभी तुम नन्दजी के गोकुल में जाओ, वहाँ रोहिणी के गर्भ में संकर्षण जी को पहुँचा आओ।"

हाथ जोड़कर योगमाया ने कहा—"अच्छा, प्रभो ! मैं अभी मथुरा में गर्भस्थ शेषावतार को ले जाती हूँ और नन्दजी के गोकुल में—रोहिणी जी के उदर में-उन्हें पहुँचाती हूँ।" यह कहकर योगमाया चल दी।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी ! ये नन्दजी कौन थे ? वसुदेव जी की पत्नी रोहिणी के यहाँ क्यों रहती थी ?'

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज, नन्दजी कौन थे इसे बताने की मेरी सामर्थ्य नहीं। जैसे भगवान् नित्य हैं, वैसे ही उनके परिकर पार्षद भी नित्य हैं। भगवान् अकेले प्रकटित नहीं होते, वे अपने पार्षदों के सहित ही प्रकट होते हैं। फिर भी कोई नन्दजी को द्रोण-वसु का अवतार बताते हैं, उनकी स्त्री यशोदा को धरा का अवतार कहते हैं। ये वसुदेव जी के भाई थे। कंस के भय से वसुदेव जी की अनेक पत्नियाँ तो इधर उधर गुफाओं में, सुरक्षित स्थान में जाकर छिप गईं। रोहिणी जी नन्दजी के घर में छिपकर रहती थी।"

शौनकजी ने कहा—'सूतजी ! वसुदेवजी की बहुत सी पत्नियाँ थीं

थे। और नन्दजी को आप गोप-अहीर-गूजर बताते है फिर ये उनके भाई कैसे हुए ?"

सूतजी बोले—"सुनिये, महाराज! मैं आपको इसका रहस्य बताता हूँ। प्राचीन काल मे सभी जातियो म बडा सुन्दर सगठन था सभी जातियो मे राजा होते थे। ब्राह्मणा मे जो राजा होते थे, वे प्रधान कहलाते थे। क्षत्रियो मे जो राजा होत थे, वे नर पति भूपति, राजा नरेन्द्र आदि कहलाते थे। राजा के यहाँ बहुत सी स्त्रियाँ होती थी। उनमे ब्राह्मण वर्ण को छोडकर सभी वर्ण की स्त्रियाँ होती था। अपने वर्ण की प्रधान रानी राज-महिषी या पटरानी कहलाती थी। उसका जो बडा पुत्र होता था वह राजकुमार कहलाता था। राजा के पश्चात वही गद्दी का अधिकारी होता था। उससे जितने छोटे पुत्र होते थे, वे कुमार कहलाते थे। उनको भी दो चार गावो का राज्य मिलता था। पटरानी के अतिरिक्त जितनी क्षत्रिय जाति की रानियाँ होती थी, उनके पुत्र भी मण्डलीक ठाकुर कहलाते थे। शेष जाति की स्त्रियो के पुत्र माता के वर्ण के ही समझे जाते थे। वैश्यो मे जो प्रधान होते थे, वे नगर श्रेष्ठी या श्रेष्ठि प्रवर कहलाते थे। अन्य जातियो के राजा अपनी अपनी जातियो के पति कहलाते थे, जसे निषादो के राजा निषादपति, गोपो के राजा गोपपति। ये सब क्षत्रिय राजाओ के अधीन होते थे। जिन जातियो की जङ्गल से आजीविका चलती है, जैसे निषाद गोप आदि, उनके भिन्न-भिन्न यूथ (ठांडे) होते हैं। उनमे एक-एक व्यक्ति मुख्य पञ्च या चौधरी होता है। ऐसे कई मुख्यो को मिलकर एक समिति (या पचायत) होती थी। जाति के समस्त अभियोगो का निणय यह समिति (जाति) पचायत ही करती थी।

इन सबके ऊपर भी एक प्रधान होते थे। राजा की ओर से बहुतो को 'राय' की उपाधि मिलती थी।

माथुर और शूरसेन देशों का बलपूर्वक स्वय ही वंस राजा बन गया था। उसने समस्त मण्डलीक भूमिपालो को अपने अधीन कर लिया था। जितनी मथुरा के आसपास गोचर भूमि थी, वह गोकुल या ब्रज कहलाती थी। उसमे कई वन थे, जिनमे बारह वन मुख्य थे। उस ब्रज या गोकुल मे स्थान-स्थान पर गोपो के बहुत समूह रहते थे। उनके पास लाखो गौएँ होती थी। गोपालन ही उनका मुख्य व्यवसाय था। गोप जाति मे दो श्रेणियो के लोग होते थे। एक तो जगली जाति के अनार्य, उनको तो पचम वर्ण मे माना जाता था 'आभीराः पचमस्मृताः!' किन्तु दूसरे प्रकार के गोपो की एक जाति होती थी। क्षत्रिय से वैश्य या अम्बष्ट कन्या मे जो लोग होते थे, वे प्रायः गोपराज होते थे। वर्णाश्रमी इन गोपराजो के साथ वैश्यो के सदृश व्यवहार करते थे। क्षत्रिय इनकी कन्याओ के साथ विवाह भी करते थे।"

ब्रज के वनो मे रहने वाले गोपो के राजा श्री जयसेनजी थे। मथुरा से दक्षिण यमुनाजी के पार उनका गोकुल था। उसमे वे अपनी लाखो करोडो गौओ के साथ रहते थे। उन दिनो मथुरा के राजा देवमीढ राज्य करते थे। गोकुल के गोपराज राय जयसेनजी ने अपनी एक परम सुन्दरी पुत्री का विवाह मथुरेश महाराज देवमीढ के साथ कर दिया। महाराज देवमीढ की जो क्षत्रिय पटरानी थी, उससे तो शूर नामक पुत्र उत्पन्न हुए और इस गोप-कन्या से पर्जन्य नामक पुत्र हुए। महाराज शूर की पत्नी का नाम मारिषा था। उससे दस पुत्र हुए, जिनमे वसुदेवजी बडे थे।

गोपराज जयसेन जी के कोई पुत्र नही था। अत उन्होन अपनी पुत्री के पुत्र पर्जन्यजी को गोद ले लिया। अपने नाना

की गद्दी पर आने से पर्जन्यजी गोपराज हो गये। उनका विवाह एक अम्बष्ठ जाति की वरीयसी नाम की पत्नी से हुआ। यह एक संकर जाति होती है। वैश्यों के सदृश ही इसे समझना चाहिये। गोपराज पर्जन्य के वरीयसी रानी के गर्भ से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सनन्द और नन्दन थे।

गोपराज पर्जन्य रायजी जल वृद्ध हुए, तब उन्होने अपने बड़े पुत्र उपनन्द को अपनी गद्दी दी। इन पाँचो भाइयो मे जो तीसरे नन्दजी थे, वे सबसे बुद्धिमान, चतुर और सर्वगुण सम्पन्न थे। पाँचो भाई उनमे अत्यन्त ही स्नेह करते, और भी जितने गोप थे, उनका अत्यधिक आदर करते। वैसे तो प्रायः यही सदाचार चला आता था, कि बडा पुत्र ही पिता का उत्तराधिकारी हो, किन्तु गणतन्त्र में जहाँ चुनकर प्रधान बनाया जाता है, वहाँ इसका अपवाद भी हो जाता है। सब गोपो की इच्छा थी, नन्द जी ही हमारे राजा हो। उपनन्द जी भी नन्दजी को बहुत प्यार करते थे। अतः जिस दिन पिता ने इन्हें पगडी पहनाई, उसी दिन इन्होने सभी पचो के सम्मुख भरी सभा मे गोपो से कहा—"देखो, भाई, मुझमे इतनी योग्यता नही कि मैं आप सब पर समुचित शासन कर सकूँ। मेरा यह भाई नन्द अत्यन्त ही बुद्धिमान है, आप सब की सम्मति हो, तो यही हम सब का राजा बने। सब तो यही चाहते भी थे। सब ने एक स्वर से साधु-साधु कहकर उपनन्द जी की बात का समर्थन किया और नन्दजी को पगडी पहना दी गयी। तभी से वे नन्दराय हो गये। समस्त गोपो ने उनकी छत्रछाया मे रहना स्वीकार कर लिया।"

प्रत्येक गोप के यूथ के पृथक्-पृथक् राजा होते थे। वे सब राजा गोकुल के गोपराज को कर देते थे, और गोकुल के गोपराज

मथुरा के राजा के अधीन थे। वे उन्हे वार्षिक कर दिया करते थे। व्रज मे एक महराना नामक ग्राम है। वहाँ के गोपराज सुमुख थे। उनकी पत्नी का नाम पटला रानी था। पटला रानी के गर्भ से श्री सुमुखराय के एक कन्या उत्पन्न हुई। कन्या अत्यन्त ही सुन्दरी थी। पुरोहित ने उसका नाम रखा यशोदा। यशोदा शनै शनै बढकर युवती हो गई। पिता को उसके विवाह की बडी चिन्ता थी। उस कन्या के रूप की ख्याति समस्त गोपों मे फैल गई थी। उपनन्द जी ने भी उस कन्या की प्रशसा सुनी। वे स्वय महरान गये। गोपराज सुमुख ने उनका बडा आदर-सत्कार किया। कन्या को देखकर उपनन्द जी के रोम रोम खिल उठे। उन्होने सुमुखराय जी से कहा—"राजन्! मैं आपकी पुत्री यशोदा को अपने भाई नन्द के लिये माँगता हूँ।"

यह सुनकर श्री सुमुखजी के हर्ष का ठिकाना न रहा। उन्होने कहा—'महाराज! मेरी भी यही हार्दिक इच्छा थी किन्तु मैंने सकोचवश यह बात किसी से कही नही। मैं सोचता था, मैं एक साधारण गोप हूँ, आप गोपराज हैं, मेरी कन्या को आप क्यो स्वीकार करगे। किन्तु आपने कृपा करके स्वय ही प्रस्ताव किया। मेर लिये इससे गौरव की क्या बात हागी?'

विवाह की बात पक्की हो गई, नियत समय पर श्री यशोदा जी का विवाह श्री नन्दरायजी के साथ हो गया।

विवाह हुए बहुत दिन हो गये, किन्तु यशोदा जी के गर्भ से कोई बच्चा नही हुआ। इससे सभी के मन मे उदासी रहती थी। सभी गोप चाहते थे, नन्दजी के एक पुत्र हो जाय। पाँचो भाइयो ने बहुत जप-तप, अनुष्ठान, दान-पुण्य, आदि कराये, किन्तु अभी तक यशोदा रानी गर्भवती नही हुई। इस प्रकार होते-होते नन्दजी की आयु नवासी वर्ष की हो गई और यशोदा

रानी की चौरासी वर्ष की। श्री नन्दजी और यशोदा जी की तो पुत्रप्राप्ति की अत्यन्त इच्छा थी ही, किन्तु वे उसे व्यक्त नहीं करती थे। उपनन्द जी अत्यन्त अधीर होते जाते थे।

एक दिन उपनन्द जी ने समस्त गोपों को बुलाया, बूढ़े बूढ़े ब्राह्मणों को बड़े सत्कार से आवाहन किया। पचासों [illegible] में जाजिमें बिछ गईं। उनके ऊपर गुदगुदे गद्दे [illegible]। बड़े बड़े उपबर्हण (तकिये) रखे गये। प्रत्येक [illegible] ग्राम से हाथ में लाठी लिये, पगड़ी बाँधे, [illegible] आने लगे। उपनन्द जी ने सब का स्वागत-सत्कार [illegible] लगी। हाथ जोड़कर उपनन्द जी ने कहा—"[illegible] मैंने इसलिये कष्ट दिया है कि हमारे जो [illegible] कोई सन्तान नहीं। आप सब मिलकर कोई [illegible] अनुष्ठान बतावें कि हमारे व्रज युवराज [illegible]।"

यह सुनकर सब अपनी-अपनी [illegible] कहा—'तीर्थ करो" किसी ने [illegible] किसी ने कहा—"अनुष्ठान करो।" [illegible] अपनी सम्मति दी। इसके अनन्तर [illegible]

देखो भाई, हम सब वैष्णव [illegible] रायण हैं। हमें उनका ही [illegible] प्रीति के निमित्त ही उपवास [illegible] एकादशी अत्यन्त प्रिय [illegible] समस्त व्रज के लोग [illegible] आज गङ्गादशहरा [illegible] नाम निर्जला एकादशी [illegible] परसों निर्जला [illegible] पारण करें, उस दिन [illegible]

एक मन एक प्राण होकर इस हरिवासर के व्रत को करें। फिर पुत्र की तो बात ही क्या, स्वय साक्षात् श्रीहरि ही प्रत्यक्ष प्रकट हो जायँगे।"

वृद्ध ब्राह्मण की बातो का सभी ने एक स्वर से अनुमोदन किया। सब ने कहा—"बाबा! हमारे गाँव मे तो एकादशी को चूल्हा जलेगा नहीं।" सब के मन मे था बडा उत्साह, बडी उत्कण्ठा, अत्यन्त ही आह्लाद। सभी हरिवासर व्रत करने की इच्छा करने लगे। स्त्रियो ने कहा—"हम भी व्रत करेंगी।" बच्चो ने ताली पीटते हुए आनन्द मे उछलते हुए कहा—'बाबा! बाबा! हम भी एकादछी व्रत कलेङ्गे।"

नन्दजी ने प्यार से कहा—"अरे, बेटो! तुम क्या व्रत करोगे। बच्चे व्रत नही करते।"

बच्चो ने हठ करके कहा—"नही बाबा! हम तो कलेङ्गे।"

नन्दजी बोले—'अच्छा, तुम एक दाढ से व्रत करना। एक ओर की दाढ से खा लेना। दूसरी दाढ मे अन्न न लगे, यही बच्चो का व्रत है।"

बच्चो ने कहा—"नही बाबा! हम तो निलजला कलेङ्गे।"

नन्द बाबा ने कहा—"अच्छा, अच्छा, करना। इस प्रकार समस्त व्रज मे एकादशी व्रत करने का उत्साह छा गया। आज से ही तैयारियाँ होने लगी। भगवान् के मन्दिर सजाये गये। दशमी के दिन सब ने एक बार फलाहार किया। एकादशी के दिन सभी निर्जल रहे। रात्रि मे भगवान् के जगमोहन मे कीर्तन हुआ। जब आखो मे कुछ नीद के डोरे दिखाई देने लगे, तब भगवत्-सम्बन्धी अभिनय आरम्भ हुआ। गोपो ने ऐसा सुन्दर अभिनय किया, कि सभी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। किसी को नीद की स्मृति ही नही आई। प्रात काल

सब उठकर यमुना स्नान को चले गये। घर-घर ब्राह्मणो को भोजन कराया गया। ब्रज मे इतने ब्राह्मण न मिले, तो मथुरा जी से बुलाये गये। यथेष्ट बडी और खीर खाकर सब ने हृदय से आशीर्वाद दिया—"बाबा! तेरे घर मे पुत्र ही नही, परमेश्वर पैदा हो। एक नही, दो भगवान् प्रकट हो।"

हाथ जोडकर नन्दजी ने उनका आशीर्वाद ग्रहण किया। दक्षिणा सहित ताम्बूल निवेदन किया, एक-एक दुधारु गाय उन्हे दक्षिणा मे दी।

ब्राह्मणो ने कहा—'बाबा! हम अभी से गाय नही लेते, तेरे लाला हुँ जायगो, तब लेंगे।"

बाबा बोले—"ब्राह्मणो! तब एक गो थोडे ही दी जायगी। तब तो गायो से आपके घरो को भर दूँगा। यह तो द्वादशी पारणा की दक्षिणा है। गोदान के बिना कोई भी कर्म साङ्गोपाङ्ग नही होता।'

यह सुनकर ब्राह्मणो ने उच्च स्वर से कहा—"आप धनवान, पुत्रवान, ऐश्वर्यवान तथा कीर्तिमान हो। आपके अनत पौत्र हो।"

इस प्रकार वर्ष की चौबीस एकादशियाँ ब्रज मे बडी ही धूम धाम से मनाई गई। वही ज्येष्ठ शुक्ला निजला एकादशी पुनः आई। सब गोपो ने बडी धूमधाम से एकादशी का उद्यापन किया। ब्रज भर मे आनन्द की लहर छा गई। द्वादशी के दिन, सम्पूर्ण दिन नन्दजी ब्राह्मणो अतिथि अभ्यागतो तथा गोपो को भोजन कराते रहे। सब की अनुमति लेकर उन्होने अपने भाइयो के सहित व्रत की पारणा की।

वे दिन भर के थके थे, तीन दिन के भूखे थे शय्या पर पडते ही उन्हे निद्रा आ गई। प्रात.काल ब्राह्म मुहूर्त मे उन्होने स्वप्न देखा। सामने यशोदा रानी बैठी हुई हैं। उनकी गोद मे श्याम

वर्ण का अति चचल बालक क्रीडा कर रहा है। उसके अग का वर्ण नवीन जलभरे मेघ के समान, गहरी काली दूर्वा के समान अलसी के पुष्प के समान, श्याम तमाल के समान तथा सुचिक्कण नीलकान्त मणि के समान, सरोरुह नीले कमल के समान, दिव्या ञ्जन मिश्रित जमे हुए नवनीत के समान तथा विष्णुकान्ता लता के नव विकसित पुष्प के समान है। कानो तक फैले हुए, कमल के समान खिले हुए उसके बडे ही मनोहर बडे बडे कजरारे नेत्र हैं। यशोदा उस बालक को दुग्ध पिला रही हैं। चचलतावश वह माता स्तन को छोड चकित-चकित दृष्टि से मेरी ओर निहार रहा है। उसके मुख के दोनो ओर मातृ-स्तन का दुग्ध बह रहा है। पीली अँगुली के ऊपर भी फुहारे के समान दुग्ध की बूंदें पडी हुई हैं। उस बालक को देखकर नन्दजी तो प्रेम मे विभोर हो गये। ज्यो ही उन्होने हाथ बढाया, त्यो ही उनके नेत्र खुल गये। तुरन्त उन्होने यशोदा जी को पुकारा।

रानी यशोदा पहले ही उठ पडी थी। वे दही मथने वाली दासियो को दही मथने के लिये कह रही थी। पति की पुकार सुनकर वे तुरन्त उनके पास दौडी गई। वहाँ उन्होने देखा— नन्दजी के नेत्रो से झर-झर अश्रु झर रहे है। उन्हे शरीर की सुधि नही है। वे प्रेम मे विभोर हुए विकल से बने हुए हैं। यशोदा रानी न उनके सिर पर हाथ रखा और बोली— प्राण-नाथ! चित्त कैसा है?'

श्री नन्दराय ने नेत्र खोले। रानी को देखते ही उनका हृदय भर आया। पचासी वर्ष की रानी ऐसी लगी, मानो अभी उनका विवाह होकर आया हो। वे अत्यन्त ही स्नेह से बोले—'प्रिये! मैंने एक स्वप्न देखा है।"

स्वप्न की बात सुनते ही रानी वही पलग के नीचे बैठ गई

और बोली—'महर, आपने क्या स्वप्न देखा है। उसे मुझे सुनाइये।"

नन्द बाबा उठने लगे। बीच मे ही रानी ने पकडकर कहा—"उठो मत, सोते सोते ही उसे सुनाओ।"

नन्दजी बोले—"महरि! ऐसे बात बनेगी नही, मैं बैठकर ही उसे सुनाऊँगा।"

यह कहकर बाबा तो पलग पर ही बैठ गये। मैया पलंग की पाटी पर अपनी छाती सटाकर निर्निमेष दृष्टि से उनके प्रफुल्लित मुख कमल को देखने लगी। नन्दजी के नेत्रो से निरन्तर अश्रु बह रहे थे वे रुकते ही नही थे। कभी-कभी कोई टप-टप करके यशोदा जी के केश पाशो पर भी गिर पडते थे।

यशोदा जी ने कहा—'हाँ, तो सुनाओ क्या स्वप्न देखा था।"

बडे कष्ट से कण्ठ को खाँसकर विशुद्ध बनाकर रुक-रुककर नन्द बाबा बोले—"रानी! आज मैंने विचित्र स्वप्न देखा। तुम्हारी गोद मे नील मणि के नवनीत के समान अत्यन्त मृदुल अत्यन्त मनोहर, अति सुकुमार, परम चचल, कमल दल लोचन, घनश्याम, कोटि काम से भी लावण्य युक्त एक सुन्दर बालक क्रीड़ा करते तुम्हारा स्तन पान करते, अभी-अभी देखा है। इसे स्वप्न भी नही कह सकता, जागृत भी नही कह सकता, मनोभ्रम भी नही है। मेरी बुद्धि मे नही आती की बात क्या है! क्या श्री मन्नारायण कभी ऐसी कृपा करेगे? क्या हमे कभी ऐसा देव दुर्लभ दृश्य दिखाई देगा? क्या कभी मैं तुम्हारी गोद को भरी हुई देखूँगा?"

इतना सुनते ही नन्द रानी का हृदय भर आया। इनके भी दोनो नेत्र बहने लगे और वे गद्गद कण्ठ से आँसू पोछते हुए

बोली—"महर ! मैंने भी आज ऐसा ही स्वप्न देखा है। ऐसा ही बच्चा मैंने अपनी गोद में निहारा है।"

अब क्या था, नन्दजी के आनन्द का ठिकाना नही रहा। स्नान करके उन्होने स्वप्न की बात अपने बड़े भाई उपनन्दजी से कही। उपनन्द जी ने तुरन्त अपने बूढे पुरोहित जी को बुलाया। पुरोहित जी यमुना स्नान करके आ रहे थे। किसी गोप ने कहा—"पण्डित जी ! बड़े बाबा आपको बुला रहे है।"

बूढे पुरोहित जी ने कहा—"अरे भाई, तुम देखते नही, अभी तो मैं यमुना-स्नान करके आ रहा हूँ, शालिग्राम भगवान् की पूजा कर आऊँ, तब वस्त्र पहनकर, तिलक छापे लगाकर आऊँगा।"

पुरोहित जी के आने मे देर देखकर उपनन्द जी स्वयं ही चल दिये। उन्हे मार्ग में पुरोहित जी आते हुए मिले। उपनन्द जी ने उनके पैर छुए।

आशीर्वाद देते हुए पण्डित जी ने कहा—"अरे, भाई ! तुम ने क्यो कष्ट किया। मैं आता तो था, तनिक 'भगवान् की पूजा करने मे देर हो गयी।"

उपनन्द जी ने आग्रह के स्वर में विनीत भाव से कहा—"महाराज तनिक चौपाल से होते हुए निकल जायँ। एक आवश्यक कार्य है। पत्रा है आपके पास ?'

बूढे ब्राह्मण आग्रह को टाल न सके, बोले—'अच्छी बात। चलो, पत्रा तो हमारा अस्त्र ही है जैसे क्षत्रिय कभी तलवार को छोड़कर नही जाता, उसी प्रकार हम कभी पचांग छोडकर कही नही जाते। हाँ पचांग मेरे दुपट्टे में बंधा है।"

यह कहकर ब्राह्मण अपनी सटकिया को टेकते-टेकते चौपाल की ओर चले। हाथ जोड़े हुए बूढे उपनन्द भी उनके पीछे चले। सूती कपड़े पर तो इस समय पुरोहित जी बैठे गे नही, इसलिये

उन्होने ऊनी गलीचा नीम के नीचे बिछा दिया। नन्दजी को उपनन्द जी ने सकेत किया। उन्होने पचीस मुहरें पुरोहितजी के चरणो मे रखी। पुरोहित जी ने आश्चय के साथ पूछा—'अरे, भैया! यह किस बात की दक्षिणा है?"

उपनन्द जी कहा—'महाराज! आज इस नन्द और इसकी बहू-दोनो ने स्वप्न मे एक बालक देखा है। पचाग मे देखिये, इस स्वप्न का क्या फल है"

पण्डित जी बोले—'अजी, राजन्! हम बिना ही पत्रा देखे बताये देते हैं—नन्द के लाला होगा। और वह नारायण के सदृश होगा।"

उपनन्द जी ने कहा—'महाराज! ऐसा हमारा भाग्य कब होगा? कब हम बहू की भरी गोद देखेंगे? महाराज! मेरी प्रार्थना है कुछ ब्राह्मणो को अनुष्ठान मे बिठा दें।"

पण्डितजी बोले- अच्छी बात है, ब्राह्मणो को मैं बुलाता हूँ।"

अभी तो सूर्य नारायण भी उदय नही हुए। आज कुछ ब्राह्मणो को वरण कर दो।"

ब्राह्मणो ने जब सुना कि नन्द बाबा बेटा के निमित्त कोई अनुष्ठान बठाना चाहते हैं, तब सभी प्रसन्न हुए और आकर बोले—'बाबा! हमे तेरी दक्षिणा नही चाहिये। हम तो अपनी ओर से व्रज नवयुवराज के उदय के निमित्त अनुष्ठान करेंगे।"

नन्दजी ने कहा— ब्राह्मणो! मेरा क्या है? मैं तो बूढा हो चुका। आपके आशीर्वाद से सब कुछ हो सकता है। आप चाहे जसे अनुष्ठान करें।"

ब्राह्मणो ने कहा—'हे व्रजेश्वर! हम प्रतिज्ञा करते है जब तक तुम्हारे पुत्र न होगा, तब तक हम यमुना-किनारे

अनुष्ठान करते ही रहेंगे।' यह सुनकर सभी गोपों को बड़ी प्रसन्नता हुई। नन्दजी ने एक-एक सुवर्ण मुद्रा वरण में दी और कह दिया— 'महाराज! दूध, चीनी, घी, आटा, दाल, चावल— सब के लिये सेवक पहुँचा आया करेंगे। आप निश्चिन्त होकर अनुष्ठान करें।"

यह ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी की बात है। नन्दजी ब्राह्मणों से यह कह ही रहे थे, कि उसी समय सबने देखा, खड़ाउँओं की खटखट सुनाई दी। सबका ध्यान उस ओर गया। सब ने आश्चर्य के साथ देखा, एक अत्यन्त ही तेजस्विनी वृद्धा माता चली आ रही है। बगुले के पङ्खों के समान उनके सिर के समस्त बाल सफेद थे। शरीर का वर्ण गोर था, मुख मण्डल पर दिव्य तेज प्रकाशित हो रहा था। वे सफेद धोती पहने हुए थी, कण्ठ मे तुलसी जी की मालायें पड़ी थी। हाथ मे सुमिरिनी थी। उनके साथ एक अत्यन्त ही सुन्दर छोटा सा बालक था। बालक बड़ा चंचल और हँसमुख था। वह लगोटी लगाये था। हाथ मे पलाश का दंड लिये हँसता हुआ ऐसा लगता था मानो मूर्तिमान विनोद हो।"

समस्त गोप उस वृद्धा माता के तेज को देखकर स्तम्भित हो गये। सब ने उनके चरणों मे प्रणाम किया। वृद्धा माता ने हाथ उठाकर सब को आशीर्वाद दिये।

तब उपनन्द जी ने पूछा—"भगवती! आप कौन हैं? कहाँ से पधारी हैं? किस कारण आपने कृपा की? हम आपकी क्या सेवा करें?"

वृद्धा ने कहा—'मैं अवन्तिकापुरी की रहने वाली हूँ। वैसे तो हम रहने वाली काशी के हैं, किन्तु मेरा एक पुत्र अवन्तिका-पुरी मे बच्चों को पढ़ाने के लिये आ गया है। मुझे लोग पौर्णमासी

कहते है, मेरे पुत्र का नाम सान्दीपनी आचार्य है। यह बालक, उसी का है। यह मुझसे बडा स्नेह रखता है। इसका नाम मधुमङ्गल है। मैंने सुना है कि व्रज मे नारायण अवतार धारण करेंगे, इसीलिये व्रजवास करने के निमित्त इस वृद्धावस्था मे मैं यहाँ आई हूँ। यह बच्चा हठ पूर्वक मेरे साथ आ गया है।"

यह सुनकर उपनन्दजी ने कहा—'भगवति! यह हमारे लिये परम सौभाग्य की बात है, आप यहाँ व्रज मे निवास करें। हम यमुना-किनारे आपकी कुटी बनाये देते हैं। हम हर प्रकार आप की सेवा करेंगे।'

उस समय वे वृद्ध ब्राह्मण बोले— गोपो! सुनो मैं तो तुम्हारी अस्थाई पुरोहिती करता था। अब ये भगवती आ गई हैं, आज से ये ही तुम्हारी पुरोहितानी रही। मैं भी जो होगा, आपका काम करता रहूँगा।"

सब ने इस बात को सहर्ष स्वीकार किया। उसी दिन से उनका नाम पौर्णमासी पुरोहितानी पड गया। उनका पुत्र मधुमङ्गल बडा हँसोड, बडा चचल, बडा ढोठ था। वह गोपियो के घर घर मे जाता और मुँह मटकाकर सैन चलाकर, रसिया गाकर नाच कर तथा विविध प्रकार आकृति बनाकर गोपियो को हसाया करता था। वह सब का खिलौना हो गया। पौर्णमासी पुरोहितानी के लिये कुटिया बन गई, वह यमुना किनारे रहने लगी। घर-घर से दूध पहुँच जाता। एक बडा कडाह भर जाता, उसमे पुरोहितानी चीनी-चावल डाल देती। फिर तुलसी डालकर नारायण का भोग लगाकर सबको प्रसाद बाँटती। पौर्णमासी पुरोहितानी की खीर व्रज मे सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई।

इन्ही सब बातो मे दोपहर हो गया। भीतर से कई बार

बूढी दासी रसोई के लिये बुलाने आई, किन्तु सब लोग तो पौर्णमासी पुरोहितानी की आवभगत मे लगे हुए थे। जब पुरोहितानी पौर्णमासी की कुटिया बन गई, उनकी खीर तैयार हो गई, नारायण का भोग लग गया, वे पाने बैठ गईं, तब नन्दजी घर आये।

यशोदा रानी द्वार पर ही खडी थी। उन्होने प्रेम भरे कोप के साथ कहा—"तुम्हें सब कामो के लिये समय मिल जाता है, रसोई के लिये ही समय नही मिलता। कब का राजभोग तैयार है, पुजारी जी भोग लगाकर कब के बैठे हैं। कितनी बार मैंने दासी भेजी, आप भूल ही जाते हैं।"

नन्दजी ने स्नेह से कहा—'देखो, महर! बडी प्रसन्नता की बात है, आज हमारे यहाँ एक बडी तेजस्विनी पुरोहितानी आई है। मैं उनके ही स्वागत-सत्कार मे लगा रहा। घर के सब लोग बैठे होगे। चलो, प्रसाद पावें।"

नन्दजी भीतर गये। सब भाइयो ने प्रसाद पाया। नन्दरानी की जिठानी ने सब को ताम्बूल दिये। इतने मे ही दोपहरी ढल गई। नन्द बाबा चौपाल पर बैठे थे। बहुत से गोप इकट्ठे हो गये थे। भाँति भाँति की चर्चायें चल रही थी। कोई अनुष्ठान वाले ब्राह्मणो की प्रशंसा कर रहा था, कोई पौर्णमासी पुरोहितानी के तेज के सम्बन्ध मे कह रहा था। कोई मधुमङ्गल के विनोदी स्वभाव को बता रहा था। इतने मे ही घोडो के खुरों की टपटप की ध्वनि सुनाई दी। सब सुनकर चौंक गये, कौन इतने बडे सफेद घोडे पर चढ़कर आ रहा है। किसी ने कहा—"कसराय के यहाँ से कोई अधिकारी आया होगा।" किसी ने कहा—"कोई मण्डलीक होगे।'

सब देख रहे थे, कि घोड़ा चौपाल पर रुका नही, भीतर

अन्त.पुर में बिना रोक-टोक चला गया। सब ने समझा, महराने का कोई लडका है। तभी तो बिना पूछे अपनी बूआ के पास चला गया है।

भीतर अन्तःपुर में स्त्रियां भी चौंक पडी। घोड़े का सवार घोड़े को द्वार पर ही छोडकर भीतर चला गया। सब स्त्रियो ने आंचल ठीक किया, नन्दरानी ने घूंघट मार लिया। उस पुरुष ने नन्दरानी का घूंघट हटाकर कहा—"रानी, आप मुझे पहचानती नही ?"

परिचित सा स्वर सुनकर नन्दरानी ने उस पुरुष की ओर देखा और बोली—"हाय ! रोहिणी जीजी ! तुम पुरुष-वेश मे कैसे आईं ?"

रोहिणी देवी ने नन्दरानी के मुख पर हाथ रखते हुए कहा—"चुप ! चुप ! किसी पर यह बात प्रकट न होने पावे।"

तुरन्त नन्दरानी ने दासी को भेजा। नन्दजी बुलाहट सुन कर तुरन्त भीतर गये। नन्दरानी ने उनके कान मे कुछ कहा। सुनकर नन्दजी भीतर गये और बोले—"भाभी ! तुम अच्छी आ गईं। कंस बड़ा दुष्ट है। तुम पुरुष-वेश मे बडी बुद्धिमानी से आ गईं। यह तुम्हारा घर है, किसी प्रकार संकोच का काम नही।" उसी समय नन्दरानी ने घर की सब तालियो का गुच्छा रोहिणी जी को देते हुए कहा—"जीजी ! अब तुम इसे सम्हालो।" रोहिणी जी इतना आदर पाकर प्रसन्न हुईं। ताली का गुच्छा उन्होने अपने लंहगे के नारे मे बांध लिया। सुखपूर्वक वे नन्दजी के घर मे रहने लगी।

व्रज मे रहते हुए ही एक दिन रोहिणी जी ने अनुभव किया मेरे उदर मे कोई अपूर्व वस्तु आ गई है। उनका हृदय आनन्द से भर गया। अंधेरे में भी उनका मुख मण्डल चमकने लगा

उन्हें प्रतीत हो गया कि उनके उदर में सहसा किसी ने नारायण के अंश को लाकर बिठा दिया है। सात महीने की तो वे गर्भिणी

थी ही। श्रावण मे पूरे नौ महीने हो गये। भाद्रपद शुक्ल षष्ठी के दिन भगवती रोहिणी ने एक पुत्र प्रसव किया। ये ही शेषावतार भगवान् सकर्षण थे। दासी ने चुपके से नन्दजी के कान मे यह बात कही। नन्दजी के हर्ष का ठिकाना नही रहा। वे चाहते थे, आज मैं अपना सर्वस्व लुटा दूं। किन्तु कंस के भय से वे प्रकट मे

उत्सव कर ही नही सकते थे। गोपो से भी उन्होने चर्चा नही की। गुप्त रीति से वे जो कुछ दान पुण्य कर सकते थे, किये।

रोहिणी-नन्दन भगवान् सकर्षण जब से प्रकट हुए, तब से न वे कभी हँसते थे, न नेत्र ही खोलते थे। रोहिणी जी ने एक दिन रात्रि मे पौर्णमासी पुरोहितानी को बुलाकर पूछा—'माता जी! यह बच्चा न तो नेत्र ही खोलता है, न हँसता ही है, इसके लिये कोई जन्त्र मन्त्र कर दो। कोई टोटका करना हो तो टोटका बता दो। झाड-फूँक करनी हो, तो झाड-फूँक कर दो।"

पुरोहितानी ने कहा—"रानी जी! इस पर हमारी झाड-फूँक न लगेगी। एक वर्ष के पश्चात् इसका साथी आ जायगा, तब यह हँसेगा खेलेगा।'

सब ने पुरोहितानी की बात पर विश्वास किया। नन्दरानी के हर्ष का ठिकाना नही था। कुछ काल मे नन्दरानी के गर्भ रह गया। समस्त व्रज मे हल्ला मच गया, ब्राह्मणो के अनुष्ठान ने काम किया। जल भरने जो गोपिकायें यमुना जी के किनारे जाती, तो वहाँ झुन्ड के झुन्ड ब्राह्मणो को झोली मे हाथ डाले माला सटकाते देखती, तो हँसकर कहती 'ब्राह्मणो! तुम बूढी रानी के बालक पैदा करने को जप कर रहे हो। क्या यह सफल होगा?"

ब्राह्मण कहते—"अवश्य सफल होगा। यशोदाजी कभी बूढी नही होती। नन्दजी के बाल तो तिल-चाँवरी के सदृश आधे सफेद होगये हैं, किन्तु यशोदा जी के सिर मे कोई एक भी तो सफेद बाल निकाल दे।"

स्त्रियाँ कहती—'भगवान् आपकी आशा पूर्ण करें।"

जब नन्दरानी गर्भवती हो गई, तब गोपियाँ आकर ब्राह्मणो से कहती—"ब्राह्मणो! अब तो आपकी पाँचो उँगलियाँ

घो में हैं। नन्द रानी के कुछ-कुछ गर्भ के लक्षण दिखाई देने लगे हैं।"

ब्राह्मण अपनी प्रसन्नता को छिपाते हुए अकड़कर कहते—"क्या वेदों के वचन असत्य हो जायेंगे? हमें तुमने ऐसा-वैसा ब्राह्मण समझ रखा है? हमारे मन्त्र कभी व्यर्थ नहीं जा सकते।"

कोई हंसमुख गोपी हँसती-हँसती कहती—"ब्राह्मणो! यदि छोरी हो गई तो?"

इस पर एक बूढ़े ब्राह्मण आवेश में आकर बोले—"यदि छोरी हुई भी, तो हम उसके स्थान पर छोरा कर देंगे। छोरी विलीन हो जायगी।"

बूढ़ी-बूढ़ी गोपियाँ कहतीं—"हाँ महाराज! आप सब कुछ कर सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने आप की दो बातों का उत्तर दिया। एक तो इस बात का कि बलदेव जी देवकी और रोहिणी दोनों के पुत्र कैसे हुए। वे गर्भ में तो देवकी के ही आये थे, किन्तु भगवान् की आज्ञा से योगमाया ने उन्हें उनके गर्भ से खींचकर सम्यक प्रकार से कर्षण करके रोहिणी जी के उदर में स्थापित कर दिया। इसीलिये उनका नाम संकर्षण पड़ा। दूसरे आपने वसुदेवजी और नन्दजी का सम्बन्ध पूछा; वह भी बताया। इन दोनों के बाबा एक थे। वसुदेव जी के पिता शूर क्षत्री रानी से उत्पन्न हुए थे। और नन्दजी के पिता पर्जन्य गोपकन्या के गर्भ से पैदा हुए थे। यद्यपि नन्दजी अपने नाना के यहाँ रहते थे। फिर भी वसुदेव जी से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। वसुदेव जी तथा उनकी स्त्रियाँ व्रज में आती जाती थी। सब में परस्पर बड़ा स्नेह था। नन्दजी की ही

सम्मति से वसुदेव जी की ग्यारह पत्नियाँ भिन्न-भिन्न स्थानों में गुप्त रीति से रहती थीं। रोहिणी जी को नन्दजी ने अपने घर में ही रखा। यह तो मैंने अत्यन्त संक्षेप में बलदेव जी के जन्म का प्रसङ्ग कहा। अब आप श्री कृष्णावतार की कर्णप्रिय कमनीय कथा को श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

हरि की आयसु पाइ योगमाया तहँ आई।
मातु देवकी गर्भ खींचि कें गोकुल लाई॥
कर्‍यो रोहिणी उदर तेज माता मुख छायो।
दशम मासमहँ पुत्र राम संकर्षण जायो॥
भाद्र शुक्ल छटि तिथि लगन, शुभ मुहूर्त महँ उदित है।
दये दरश ब्रज जन सकल, नाचें उदितइ मुदित है॥

विश्वात्मा का वसुदेव जी के अन्तःकरण में प्रवेश

[८२५]

भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः ।
आविवेशांश भागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥*

(श्री० भा० १० स्क० २ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

इत ब्रजपति नँदराय, पुत्रहित मख करवाये ।
विप्र वेदवित् बहुत मन्त्र जप करन बिठाये ॥
उदर यशोदा माहिं योगमाया आई जब ।
ब्रज महँ मङ्गल भये, परस्पर कहहिं गोप सब ॥
लाल होइगो नन्द कें, हल्ला ब्रज महँ मचि गयो ।
गऊ गोप गोपिनि को, तप्त हियो शीतल भयो ॥

पहले कोई बात मन मे आती है तब उसे वाणी द्वारा लेखनी द्वारा, संकेतो द्वारा, व्यक्त करते है। तदनतर उसे कर्मों द्वारा कार्यरूप मे परिणत करते हैं। हम कोई भी काम सहसा नही कर डालते। प्रथम मन ज्ञानेन्द्रियो के गोलको द्वारा विषयो को देखता है, तुरन्त बुद्धि को सूचना देता है। बुद्धि करो या न करो का निर्णय देती है, तब मन पुनः कर्मेन्द्रियो को प्रेरित

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! भक्तो के भय को भगाने वाले भगवान् विश्वात्मा ने भी अपने अंश और भागों के सहित वसुदेवजी के अन्तःकरण मे प्रवेश किया।"

करता है; शरीर को उस कार्य में लगाता है। कभी-कभी कोई भाव वायुमण्डल से स्वयं बुद्धि में आ जाते हैं। तब जीव उनके अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होता है। परम सुकृति जीवन मुक्त महापुरुष प्रभु की प्रेरणा से सब करते हैं। वैसे तो सभी चराचर-स्थावर-जङ्गम प्राणी भगवद् आज्ञा से ही काम करते हैं, केवल इतना है कि ज्ञानी उस प्रेरणा का अनुभव करते हैं, जिसका अज्ञ पुरुष नहीं कर पाते।

सूतजी ने कहा—'मुनियो! भगवान् योगमाया को ऐसी आज्ञा देकर तथा उसको विशेष वर देकर स्वयं प्रकट होने की सोचने लगे। उन्होंने वसुदेव जी के अन्तःकरण में प्रवेश किया।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी! योगमाया को भगवान् ने वरदान क्या दिया, यह बात तो हम भूल गये।"

सूतजी बोले—"अजी महाराज! आप भूले थोड़े ही हैं। वह वरदान वाली बात तो मैंने पूरी कही ही नहीं। हाँ तो भगवान् ने योगमाया से कहा—'तुम देवकी जी के गर्भ को [illegible] जाकर रोहिणी के गर्भ में स्थापित कर दो।"

योगमाया ने कहा—"महाराज! मुझे क्या [illegible] मिलेगा?"

भगवान् ने कहा—'तुझे मैं अपनी बहन बना लूँगा।"

योगमाया बोली—"आप तो दो [illegible], कोई आप को यशोदानन्दन कहेंगे, कोई [illegible]। मुझे आप किसकी बेटी बनावेंगे?"

भगवान् ने कहा—'जब बहन ही बनाई, [illegible] ही बेटी कहलायेगी।"

योगमाया बोली—"बहन बनाकर [illegible]

बडी हुई, किसी के हाथ मे मेरा हाथ पकडा दोगे। वह मुझे बहू बनाकर ले जायगा। झाड़ू-बुहारू, चक्की चूल्हे मे ही मेरे दिन बीतेंगे। सब मुझे अबला नारी कहकर मुझ पर दया दिखावेंगे।"

भगवान् बोले—"अरे, तू अबला बनने से क्यो डरती है? लगन-विवाह कुछ झझट नही। पैदा होते ही कस तुझे पत्थर पर पटककर परलोक पठा देगा।"

योगमाया बोली—"तब मेरे प्रकट होने से क्या लाभ? आप कहते हैं, तू अबला भी न होगी, बच्ची ही मारी जायगी। सब लोग मेरी हँसी उडावेंगे, तिरस्कार करेंगे कि भगवान् की योगमाया होकर भी इसका कुछ वश न चला। मैं क्या बल-पौरुष दिखाऊँगी?"

भगवान् बोले—"तुम्हारी हँसी उडाने की सामर्थ्य भला किसकी है? कस तुझे साधारण बालिका समझ कर पत्थर पर पटक अवश्य देगा' किन्तु तू आकाश मे उड जायगी। वहाँ अष्टभुजी बनकर विश्व वन्दिता भगवती देवी बन जायगी। तू समस्त कामना और वरो को देने वाली होगी। सभी लोग तुझे समस्त मनोवाञ्छित फलो तथा वरो को देने वाली, समस्त मङ्गलो की अधीश्वरी समझेंगे। सदा धूप, दीप, नैवेद्य, चुनरी, कठ-सूत्र, रोली कुकुम आदि पूजा के अनेक उपहारो, नाना प्रकार के मङ्गल-द्रव्यो से तेरी पूजा किया करेंगे। लोग तुझ पर विविध भाँति की बलियो को चढावेंगे। ससार मे तुम्हारे बहुत से पीठ प्रसिद्ध होगे। विन्ध्याचल मे तुम्हारा निवास होगा। ससार मे तुम्हारे अनेक नाम प्रसिद्ध होगे। कोई तुम्हें दुर्गा, तारा, जगदम्बा-भद्रकाली कहेगे। विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, ईशानी, नारायणी,

शारदा, अम्बिका, भूति, सनति, कीर्ति, कान्ति, पृथ्वी, धृति, लज्जा, पुष्टि, उषा, और अन्यान्य स्त्रीवाचक नाम तुम्हारे होगे। तुम्हे लोग आर्या, वेदगर्भा भद्रा, भद्रकरी, क्षेम्या, क्षेमकरी, ललिता, महेशानी आदि भी कहेगे। बोल अब तो प्रसन्न है ?"

योगमाया ने कहा—'महाराज ! मैं तो सदा ही प्रसन्न हूँ। आपकी आज्ञा को सदा सिर पर धारण करती हूँ।"

भगवान् बोले—"अच्छा, तुम जाओ, यशोदा जी के गर्भ से उत्पन्न होओ। मैं देवकी जी के गर्भ से प्रकट होऊँगा। जिस गर्भ को तू देवकी जी के गर्भ से खीचकर व्रज मे रोहिणी जी के गर्भ मे स्थापित करेगी, वह गर्भ के आकर्षण किये जाने से 'संकर्षण' कहलावेगा। लोकरञ्जन करने से 'राम' तथा बलवानों मे श्रेष्ठ होने से 'बलभद्र' भी कहावेगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भगवान् के इस प्रकार आज्ञा देने पर भगवती माया देवी ने कहा— अच्छी बात है, मैं ऐसा ही करूँगी" ऐसा कहकर उसने देवकी के सप्तम-गर्भ को रोहिणी जी के उदर मे डाल दिया। कंस नित्य ही पूछा करता था, 'देवकी का क्या समाचार है।' सेवको ने जाकर कह दिया—"महाराज ! देवकी का सातवाँ गर्भ तो गिर गया।" यह बात क्षण भर में सम्पूर्ण नगर मे फैल गई। पुरवासी परस्पर यही चर्चा करने लगे कि देवकी का गर्भ गिर गया।"

गर्भ गिरने की बात सुनकर कस को बडी प्रसन्नता हुई। उसने सोचा—"चलो, सातवाँ तो बिना मारे ही मर गया। अब आठवाँ, मेरा शत्रु, गर्भ मे आवेगा। उसी गर्भ की सावधानी से रक्षा करनी है।" यह सोचकर उसने कारावास के अध्यक्ष को बदल दिया। दूसरा विश्वास पात्र अधिकारी वहाँ नियुक्त किया। उसने प्रहरी दुगुने कर दिये। पहरे मे जो प्रहरी तनिक

भी असावधानी करता, उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया जाता। अब कंस को शांति नहीं थी। "आठवें गर्भ में स्वयं मेरे पुराने शत्रु श्री हरि आवेंगे। उन्हें जन्म लेते ही मैं मार डालूँगा।" यही चिन्ता उसे रात-दिन बनी रहती।

इधर जब बलदेव का जन्म हो गया, तब योगमाया देवी ने भी माता यशोदा जी के गर्भ में प्रवेश किया। योगमाया के प्रभाव से समस्त गोपों को यह दृढ़ विश्वास हो गया, कि नन्द जी के यहाँ लाला ही उत्पन्न होगा। यशोदा जी को अभी से बधाइयाँ आने लगीं। व्रज तो पहले ही परम समृद्धशाली, शोभा-सम्पन्न था किन्तु अब तो उसकी शोभा का क्या कहना है! वहाँ के समस्त कङ्कड़-पत्थर मणि-माणिक्य हो गये।

आज जब समय आया, तब भगवती काल-शक्ति ने प्रभु को प्रेरित किया। भक्तों के भय के हरण करने वाले भक्त-भावन भगवान् ने वसुदेव जी के अन्तःकरण में प्रवेश किया। विश्वात्मा भगवान् अपनी समस्त कलाओं के सहित वसुदेव जी के मन में आये। जिस समय शौरि आनक दुन्दुभि ने अपने अन्तःकरण में भगवान् का दिव्य-तेज धारण किया, उस समय वे सूर्य के समान देदीप्यमान होने लगे। उस समय कोई उन्हें दबा नहीं सकता था, कोई उनका धर्षण नहीं कर सकता था। वे असह्य और अदम्य हो गये। अन्तःकरण में भगवान् के प्रवेश करते ही वे कान्तिवान, प्रभावान तथा देदीप्यमान हो गये।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् तो घटघट में विराजमान हैं। वे सदा-सर्वदा सभी के अन्तःकरण में निवास करते हैं। उनका वसुदेवजी के अन्तःकरण में प्रवेश करने का तात्पर्य क्या है? क्या वे पहले वसुदेव जी के अन्तःकरण में नहीं थे?"

सूतजी बोले—'महाराज, थे क्यो नही ? भगवान् तो सदा सर्वदा सभी के अन्त करण मे रहते हैं, किन्तु यहां विशेष घटना का उल्लेख करना है, जैसे कहते है—एक दिन राजा अपने घर मे गये।' तो इस कथन का तात्पर्य यह है कि उस दिन किसी विशेष घटना के उद्देश्य से किसी विशेष सकल्प को लेकर गये, वैस सामान्यत तो नित्य ही जाते थे। इसी प्रकार सर्वान्तर्यामी रूप से तो भगवान् सदा सवदा सभी के हृदय मे सवत्र विद्यमान रहते हैं। आज वे विशेष सकल्प से वसुदेव जी के मन मे बैठे। सकल्प रूप स उन्होने उनके अन्त करण म प्रवेश किया। वसुदेव जी जानते थे कि अष्टम गभ से श्री भगवान् प्रकट होने वाले हैं। अत भगवत्-प्रेरणा से उन्होने गर्भाधान करने का सकल्प किया। भगवान् मेरे हो जायंगे। इनने सकल्पमात्र से हो प्राणी समस्त देवताओ स भी श्रेष्ठ हो जाता है फिर उसे कोई प्राणी न दबा सकता है, न भय ही दिखा सकता है। भगवान् का सकल्प आते ही जीव कृत्य कृत्य हो जाता है। वैसे तो समस्त इन्द्रियो का व्यापार ही प्रभु-प्रेरणा से हो रहा है। कान उन्ही की प्रेरणा से सुनते हैं नेत्र उन्ही की प्रेरणा से देखते हैं वाणी उन्ही की प्रेरणा से बोलती है। फिर भी जब कोई विशिष्ट सकल्प से बोलता है, तब लोग कहते है—'भगवान् ही इनके भीतर स बोल रहे हैं अर्थात् इनका सकल्प सत्य है। भगवान् मे और हममे इतना ही तो अन्तर है। हम अल्पवीय हैं वे अमाघवीर्य है। हम असख्यो सकल्प नित्य करते रहते हैं। उनम से कोई सकल्प सफल हो जाता है, नही तो अधिकाश असफल ही होते हैं। भगवान् का कोई सकल्प असफल नही होता। वे जो सकल्प करते हैं वह ही मूर्तिमान सफलता रूप रखकर उनके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इसीलिये उन्हे सत्य सकल्प तथा सत्य-

प्रतिज्ञ कहा गया है। देवताओं मे उन्होने प्रतिज्ञा की थी कि मैं अवतार धारण करूंगा। पृथ्वी को आश्वासन दिया था मैं तेरे भार को उतारूंगा। अपने आश्रित भक्तो तथा अपने परिवार के निज जनो को सुख देने का उनके मन मे सङ्कल्प उठा। इसीलिये भगवान् ने वसुदेव जी के अन्त करण मे प्रवेश किया।"

शौनक जी बोले—हाँ, तो सूतजी! फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"फिर क्या हुआ महाराज! फंस गये भगवान् चक्कर मे, बंध गये प्रेम के बन्धन मे, जो गर्भवास से छुडाने वाले थे, वे देवकी के गर्भ मे स्वतः आ गये। जो जगत के बन्धनों को छुडाने वाले थे, वे भक्तो के बन्धन मे आ गये। जो समस्त सम्बन्धो को छुडाने वाले हैं वे यादव और गोपो के सम्बन्धी हुए। यही कथा मैं आगे कहूँगा। आप उस हिरण्यगर्भ के गर्भ मे आने की कथा को श्रवण कीजिये।"

छप्पय

जाया श्री वसुदेव देवकी जन्यो न लल्ला।
गिरयो सातमों गर्भ मच्यो मथुरा महँ हल्ला॥
अति ई चिन्तित कस भयो अब अठमों आवै।
जीवित यदि रह जाय मोइ यम सदन पठावै॥
इत रक्षा साधन सुदृढ़, करे विविध मथुरेश ने।
उत मन महँ वसुदेव के, करयो प्रवेश परेश ने॥

हिरण्यगर्भ का देवकी के गर्भ में प्रवेश

[८२६]

ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशम्,
समाहितं शूरसुतेन देवी
दधार सर्वात्मकमात्मभूतम्,
काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः ❀

(श्रीभा १० स्क० २ अ० १८, श्लो०)

छप्पय

विश्वम्भर को तेज शूर-सुत धारयो मन महँ।
सुखद सौम्य दुर्धर्ष तेज तिनि प्रकट्यो तन महँ॥
पति तैं सोई तेज देवकी देवी धार्यो।
दिव्यकन्ति लखि कससभय हिय माहिं विचार्यो॥
निश्चय जाके गर्भमहँ वास शत्रु ने कर लयो।
विनु प्रकाश की निशामहँ, भवन प्रकाशित ह्वै गयो॥

ससार मे जिन बातो को हम नित्य देखते हैं, उनके विरुद्ध यदि कोई बात सुनाई देती है, तो हम आश्चर्य करने लगते हैं, उसे असम्भव बताते हैं। मस्तक के नीचे ही हम आँखें देखते आये हैं। हम किसी से कहे—"हमने अमुक के मस्तक पर

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तदन्तर देवी देवकीजी ने उस जगत के मङ्गल करने वाले आत्म स्वरूप सर्वात्मा श्री अच्युत के दिव्य तेज को वसुदेव जी के द्वारा अपने मे आधान करने पर विशुद्ध मन से उसी प्रकार धारण किया, जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र को पूर्व दिशा धारण करती है॥"

नेत्र देखे तो वह इसे असम्भव बतावेगा। सूर्य को नित्य हम पूर्व मे उदय होते देखते हैं। यदि कोई कहे—"हमने पश्चिम में सूर्य को उदय होते देखा था, तो सुनने वाले इसे असम्भव बनायेंगे, क्योंकि उन्होंने अपनी बुद्धि से एक संकुचित नियम बना रखा है। हम बालकों को सदा माता के गर्भ में उत्पन्न होते देखते हैं। यदि कोई कहे—'हमने एक वृक्ष के फल से पुत्र उत्पन्न होते देखा' तो लोग सहसा इस पर विश्वास न करेंगे। यदि विश्वामित्र जी के विधान को ब्रह्माजी सफल होने देते और वृक्षों से पुत्र उत्पन्न होते देखते, तो फिर कोई इसे असम्भव न बताता। इससे यहां सिद्ध हुआ कि सम्भव-असम्भव का भेद-भाव हम अल्पज्ञ जीवों के ही लिये है। जो सर्वज्ञ हैं वे असम्भव को भी सम्भव बना देते हैं। विश्वामित्र जी ने नई सृष्टि रच ही दी। उनके बनाये सप्तर्षि के तारे अब भी आकाश में विद्यमान हैं। जब ऋषि ही ऐसा कर सकते हैं तब उन ऋषियों के पैदा करने वाले ब्रह्माजी के भी जनक के लिये कौन-सी बात असम्भव है? वैसे देखने मे तो यह बात अटपट लगती है, कि असंख्यों ब्रह्माण्ड जिनके एक-एक रोम-कूप मे फैल-फूट कर निवास कर रहे हैं, वे अखिल कोटि ब्रह्माण्ड-नायक, चराचर के स्वामी श्री मन्नारायण किसी स्त्री के गर्भ मे आवें यह बात मानवी बुद्धि मे बैठती भी नहीं। तर्क को ही प्रधान प्रमाण मानने वाले इस पर विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं—'निराकार साकार हो ही नहीं सकता। प्रकाश-अन्धकार साथ रह ही नहीं सकते। जल और अग्नि साथ कैसे रह सकेंगे? अमूर्ति का मूर्ति बनाना उसका अपमान है। किन्तु वे यह नहीं जानते कि नियम प्राकृत हैं। प्रभु तो प्रकृति से परे है। उनके लिये सब सम्भव है। इसीलिये उन्हें कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं समर्थ बताया है। इसीलिये

भगवान् के चरित्रो को उनकी लीला समझकर श्रद्धा से श्रवण करना चाहिये। मानवीय तर्क की वहाँ तक पहुँच नही। मानवीय तर्क को महापुरुषो के चरित्र के ही विषय मे निर्णय नही कर सकते। फिर भगवत्-चरित्रा क सम्बन्ध की ता बात हो क्या ?

सूतजी कहते हैं – 'मुनियो ! योगमाया को आज्ञा देकर भगवान् ने भी प्रथम वसुदेव जी के अन्त.करण मे प्रवेश किया। भगवान् के अन्त करण मे प्रवेश करते ही उनके मन मे समस्त सद्गुण उदित हो गये। अब तक वे कस से डरते थे। अब वे बोले—'कस हमारा क्या करेगा ? उसकी सेना हमारा क्या कर सकती है ? ये क्या हमे बन्धन मे डाल सकेंगे ?" इस प्रकार वे निर्भय हो गये। वसुदेव जी को जो भी देखता, वहा चकित रह जाता। उनका तेज अद्भुत हो गया, वे सूर्य के समान देदीप्यमान हो गये।

जिस प्रकार गुरु के तेज का-उनकी विद्या का-अधिकारी शिष्य होता है उसी प्रकार पति के तेज की अधिकारिणी पत्नी होती है। सद्गुरु सद्शिष्य के कान मे मन्त्र-दान दकर जिस प्रकार उसे सुरक्षित रखता है उसी प्रकार सत्पति सत् स्त्री मे अपना तेज आधान करके उसकी वृद्धि करता है उसे अक्षय बना देता है। वसुदेव जी द्वारा वह जगन्मङ्गल सर्वात्मा श्री हरि का दिव्य तेज सर्व देवमयी जगन्माता देवकी ने धारण किया, अर्थात् श्री हरि उनके गर्भ मे आये।

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! हमने तो ऐसा सुना है कि सर्वात्मा प्रभु किसी भी माता के गर्भ मे नही आते। उनकी उत्पत्ति रजवीर्य से नही होती। वे तो वैसे ही प्रादुर्भूत हो जाते है।"

सूतजी बोले—'महाराज! भगवान् का गर्भ मे आना न आना तो उपचार मात्र है। आना तो वहाँ बनता है जहाँ पहले न हो। भगवान् तो सर्वत्र हैं। रही रजवीर्य की बात। सो वे भी तो उन्ही के रचे हैं उनमे भी वे हैं। उनका गर्भ मे आना साधारण जीवो की भाँति गर्भगत दुखो को भोगने के लिये नही है। जैसे राजा कारावास मे आया तो उसका आना अपराधियो की भाँति यातना भोगने के निमित्त नही है, बल्कि मनोविनोद के लिये, अपनी प्रजा का अवलोकन करने के लिये। वह बन्दियो पर कृपा प्रदर्शित करने के लिये आता है। उसके आने से बहुत से बन्दी अपराधी रहने पर भी मुक्त हो जाते हैं। भगवान् तो योगमाया का आश्रय लेकर क्रीडा करते हैं। अभिनय रचते हैं। उनका सकल्प ही गर्भ मे आना है। योगमाया के प्रस्ताव से ब्रह्मादि देव तथा अन्य सब प्राणी यही समझते है कि देवकी का गर्भ बढ रहा है, इसम भगवान् भी बढ रहे है। किन्तु भगवान् का क्या घटना-बढना! वे तो प्रथम से ही परिपूर्ण हैं। दसवें महीने शरीर उनका प्रादुर्भाव हो जाता है। जब तक इच्छा होती है वे क्रीडा करते हैं फिर अपने जगन्मोहन दिव्य वपु को तिरोहित कर लेते हैं। भगवान् की लीलायें प्राय लोकवत होती हैं, कुछ लोकोत्तर दिव्य तेज युक्त भी होती हैं। इसलिये गर्भ मे आना उनकी लोकलीला है। भगवान् देवकी जी के गर्भ मे आये। इससे उनका प्रकाश बढ गया। वे शोभित तो हुई किन्तु भली प्रकार शोभित नही हुई जसे दीपक का प्रकाश घटादि से दबाने से आच्छन्न हो जाता है जैसे कृपण का धन विधवा का यौवन ज्ञान खल की विद्या रहने पर भी प्रकाशित नही होती वैसे ही देवकी जी के मुख पर तेज था, किन्तु कस के भय से वह ढंका- प्रतीत होता था।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ज्ञान-खल किसे कहते हैं ? और उसकी विद्या कैसे प्रकाशित नही होती ? इसे हमे स्पष्ट करके समझाइये ।"

सूतजी बोले—"महाराज ! ज्ञान-खल कहते हैं ज्ञानकृपण को । जैसे किसी के पास अटूट सम्पत्ति हैं, किन्तु न वह उसका स्वयं ही उपभोग करता है, न किसी को दान ही देता है, तो वह धनकृपण कहलाता हैं, इसी प्रकार जो विद्या होने पर उसे दूसरो को नही देता, वह ज्ञान-खल कहलाता है । इस विषय मे एक दृष्टान्त है, उसे श्रवण कीजिये । उसके श्रवण से आपको ज्ञान-खल का भाव भली-भाँति विदित हो जायगा ।

एक कौण्डिन्य नामक ऋषि थे । वे एक ब्राह्मण के घर उसकी कन्या की याचना करने गये । ब्राह्मण की कन्या बडी सुशीला तथा सर्वगुण-सम्पन्ना थी । शीला उसका नाम था । विवाह करके वे एक बैलगाडी मे बैठकर अपने घर आ रहे थे । उनके माग में यमुनाजी पडी । मध्यान्ह का समय हो गया था । वहाँ बैल खोल दिये गये । पति-पत्नी ने गाँठ बाँधकर यमुनाजी मे स्नान किया ।

शीला ने देखा, आज यमुना जी के घाट पर बड़ी भीड़ है । बहुत-सी स्त्रियाँ मालपूआ बनाकर लाई है—कोई पूजन कर रही हैं, कोई ब्राह्मणों को मालपूआ बाँट रही है । कोइ स्वय यमुना-तट पर बैठकर मालपूआ उडा रही है, कोई अपने बाल-बच्चो को बाँट रही हैं । स्त्रियो को जब स्त्रियाँ मिल जाती है, तब वे हृदय खोलकर परस्पर बाते करने लग जाती है । वे क्षण भर मे एक दूसरे को भायेली-सहेली बना लेती हैं । शीला ने देखा—मेरे पति जब तक सन्ध्या बन्दन कर रहे है, तब तक मैं इन स्त्रियो से पूछ आऊँ कि आज कौन सा पर्व है, किसकी यात्रा है, क्या इसका माहात्म्य है ।"

यह सोचकर वह एक स्त्री के पास गई। वह पूजा करके ब्राह्मण को मालपूआ खिला रही थी। उसने अपने घूंघट को तनिक सरकाकर पूछा—"बहन जी! आज कौन सा पर्व है? किसकी यात्रा है?"

वह स्त्री बड़ी भली थी। उसने कहा—'हाय! बहन, तुम्हें इतना भी नहीं मालूम होता है। तुम्हारा अभी विवाह होकर आया है। विवाह के मङ्गल चिन्ह तुम्हारे अंगों पर है। आज अनन्त चतुर्दशी का व्रत है।"

शीला ने संकोच से कहा—"बहन, मुझे तो पता नहीं है कि इस व्रत में क्या होता है, किसका पूजन करना होता है।"

वह स्त्री बोली—"होता क्या है बाँस के पत्ता पर अनन्त को रखकर उसकी पूजन करते हैं। मालपूआ या जो भी भोज्य पदार्थ हो, उसमें से आधा ब्राह्मण को दे देते हैं, आधा स्वयं खाते हैं। कोई कठिन थोड़े ही है बहन! तुम भी कर लो। सामने यह बाँस का पेड़ है, इस पर से पत्ते तोड़ लो। एक पैसे में दो अनन्त मिलते हैं। पूजन करके एक तुम अपने बायें हाथ में बाँध लो, पति के दायें हाथ में बाँध दो। चौदह गाँठ वाला यह अनन्तसूत्र अनन्त धन-धान्य-ऐश्वर्य देने वाला होता है। तुम्हारा नया विवाह हुआ है, तुम अवश्य इसे करो। जाते ही पुत्र होगा। धन धान्य से घर भर जायगा। अन्न धान से कोठी कुठले भर जायेंगे। दूध पूतों की कमी न होगी।"

शीला ने कहा—"जीजी! आज ही तो मेरा विवाह हुआ है। उनसे तो मैंने कोई बात भी नहीं की। उनके स्वभाव को भी मैं अभी नहीं जानती। इसीलिये उनसे अनन्त सूत्र बाँधने को तो मैं कह नहीं सकती। यदि अकेली मैं बाँध सकती होऊँ, तो बाँध लूँ।"

उस स्त्री ने कहा—'क्या हानि है ? तुम ही बांध लो। अनत भगवान् का व्रत तो सभी कर सकते है।"

यह सुनकर शीला ने एक अनन्त ले लिया। गाडी मे से पुटली खोलकर पूडी निकाल लाई। ब्राह्मण से पूजन करवाया। उसने आधी पूडियाँ ब्राह्मण को दी। तब तक उसका पति भी सन्ध्या जप कर चुका था। उसने ब्राह्मण को पूडी देते और उन्हे प्रणाम करते अपनी पत्नी को देखा। तो वह मन ही मन प्रसन्न हुआ कि उसकी पत्नी भगतिनि है। स्त्री ने आकर पति को भोजन परसा। जब वह खा चुका तो स्वय भी एकान्त मे जा कर भोजन करन लगी। भोजन करके वह अपनी सहेली के पास गई और बोली—"जीजी! अब मैं जाती हूँ। तुमने मुझे यह अच्छा व्रत बता दिया। अब मैं प्रत्येक भाद्रपद की शुक्ला चतुर्दशी को इस व्रत को किया करूँगी।"

यह कहकर उसने इसे छाती से चिपटा लिया। दोनो सगी बहनो की भाँति मिल जुलकर विदा हुई। कोण्डिन्य मुनि अपने घर आकर सुख पूवक रहने लगे। शीला नियम पूर्वक अनन्त चतुर्दशी का व्रत बडी श्रद्धा भक्ति के साथ करने लगी। व्रत के प्रभाव से उसके बहुत से पुत्र हुए। धन-रत्नो से उसका घर भर गया। दास-दासियाँ बहुत-सी हो गयी। सहस्रो गाये हो गई। नित्य ही अनेक अतिथि आते। कभी पूडियाँ छन रही हैं, कभी हलुआ घुट रहा है कभी खीर बन रही है। जैसी कि सुकृती धर्मात्माओ के घर मे चहल पहल होती है वैसी ही सदा चहल-पहल रहने लगी।

धन आने पर प्राय सभी को मद हो जाता है। फिर वह सब मे भगवान् को नही देखता। उसकी मन्द बुद्धि हो जाती है,—मैं ईश्वर हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान हूँ, सुखी हूँ, दूसरा मेरे समान

कौन है ? मैं यज्ञ करने वाला हूँ, दान देने वाला हूँ, ऐसा अभिमान हो जाता है। दैव की प्रेरणा से कौंडिन्य मुनि को भी अभिमान हो गया।

भाद्रपद की पूर्णिमा के दिन उसने अपने स्त्री से कुछ काम करने का कहा। स्त्री के हाथ में अनन्त-सूत्र बंधा था। उसने पूछा—"यह पीला-पीला डोरा तुमने क्या बांध रखा है ?"

स्त्री ने कहा—"हाय ! प्राणनाथ ! इसे डोरा मत कहिये। ये तो अनन्त भगवान् हैं। आप के जो इतना धन-धान्य वैभव है—सब इनकी ही कृपा से है।"

कौंडिन्य मुनि बोले—'कौन अनन्त होता है ? यह सब धन-वैभव तो मेरे पुरुषार्थ से हुआ है। दिन-रात परिश्रम करता हूँ। यह डोरा क्या धन ऐश्वर्य देगा ? ला, मैं इसे जलाता हूँ, देखें यह मेरा क्या करलेता है ?" यह कहकर उसने आवेश मे आकर अपनी स्त्री का दायाँ हाथ पकड़ लिया और अनन्त-सूत्र को उतारकर अग्नि मे फेंक दिया। शीला हाय-हाय करती हुई दौड़ी। उसने अपने शरीर की कुछ भी चिन्ता न की, जलती अग्नि मे तुरन्त हाथ डालकर अनन्त-सूत्र को उठा लिया और दुग्ध मे डाल दिया।

कौंडिन्य मुनि ने यह बड़ा भारी अपराध किया था। अभिमान मे भरकर अनन्त भगवान् का अपमान किया था। पहले वे निर्धन थे। भगवान् की कृपा से, न जाने कहाँ से, उनको इतना धन आ गया। वे समझते थे, मेरे पुरुषार्थ से आया है। किन्तु, पुरुषार्थ तो धन के लिये सभी करते हैं, सब के तो धन नहीं हो जाता। धन तो प्रारब्ध से, पुण्य कर्मों से आता है। जैसे नारियल के फल मे जल कहाँ से कब आ जाता है, वैसे ही धन आता हुआ नही दिखाई देता। जब वह जाने वाला होता है,

तब ऐसे चला जाता है जैसे गजभुक्त कपित्थ। हाथी कैथ के फल को बिना फोडे-चबाये समूचा ही निगल जाता है, मल-द्वार से कुछ दिनो मे वह समूचा ही निकल तो आता है, किन्तु उसके भीतर गूदा नही रहता। कोई बडा छेद भी नही होता। गज के पेट मे कपित्थ का गूदा कहाँ चला जाता है, इसे कोई नही बता सकता। इसी प्रकार पुण्य क्षीण होने पर धन कहाँ चला जाता है—इसे भी कोई यथार्थत नही कह सकता। कौडिन्य मुनि की भी यही दशा हुई। उनकी गौओ को चोर चुरा ले गये, घर में आग लग गई। धन धान्य जलकर भस्म हो गये। जिस पर ऋण था, उसने दिया नही।

शीला ने रोते-रोते कहा—"प्रभो! यह सब अनन्त भगवान् के अपमान का फल है।"

यह सुनकर कौडिन्य मुनि उदास हुए। उन्होने प्रतिज्ञा कर ली— जब तक मैं अनन्त भगवान् के दर्शन न कर लूँगा, तब तक घर लौटकर न आऊँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करके वन मे जाकर उसने घोर तप किया फिर अनन्त भगवान् को ढूँढने चला। सम्मुख उसने अत्यत हरे भरे फलो से लदा एक आम का वृक्ष देखा। उसने उससे पूछा—'भाई वृक्ष, तुम बडे शोभित हो। तुमने अनन्त भगवान् को देखा है?'

उसने कहा— महाराज! मैंने तो अनन्त भगवान् को देखा नहीं।"

फिर उसे आगे एक गौ मिली, गधा मिला, साँड मिला, दो परस्पर एक दूसरी मे जल बहाती हुई पुष्करिणियाँ मिली। सबसे उसने अनन्त का पता पूछा, किसी ने नही बताया तब उसने जीवन का व्रत करना चाहा, तो वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे भगवान् मिले। वे उसे एक एक बिल मे ले गये। वहाँ उन्होने

दर्शन दिये। कौडिन्य मुनि ने भगवान् से पूछा—"वह हरा भरा वृक्ष कौन था ?"

भगवान् ने कहा—"वह वृक्ष पूर्वजन्म मे एक ज्ञान-खल ब्राह्मण था। वैसे तो वह वेदवेदाङ्ग का ज्ञाता था, किन्तु सब मे अनत को नही देखता था। विद्या का कृपण था। उसने किसी को न तो विद्या पढाई और न विद्या का जो मुख्य फल विमुक्ति है, उसे ही प्राप्त किया। इसीलिये उसे वृक्ष-योनि प्राप्त हुई। उसके फलो को पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े भी नही खाते। ऐसे ज्ञान खलके समीप विद्या प्रकाशित नही होती। पीछे बताया, यह गौ पृथ्वी थी। वह लोगो को अन्न नही देती थी। वृषभ धर्म था। धर्म का सत्य निर्णय नही करता था। गधा क्रोध था। साँड़ अहकार था, आदि-आदि।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वह ज्ञान-खल अनत को न देखने वाला ब्राह्मण ही था, जिसे वृक्ष होना पड़ा। विद्या रहते हुए भी उसकी शोभा नही थी। इसी प्रकार कस के कारावास में अवरुद्ध, डरी हुई, भगवती देवकी भगवान् को धारण करके भी उस ज्ञान-खल विप्र की भाँति शोभित नही हुई। फिर भी उनकी प्रभा चारों ओर प्रकाशित होने लगी। उनकी कान्ति से वह अन्धकार-पूर्ण गृह भी प्रकाशित होने लगा।

एक दिन सेवको ने जाकर कस से कहा—"प्रभो ! देवकीजी गर्भिणी हो गई हैं। यह उनका आठवां ही गर्भ है।"

यह सुनकर कस देवकी को देखने गया। उनके तेज प्रभाव, शरीर के वर्ण, अङ्गों के सौष्ठव, मंद-मुसकान को देखकर वह तो आश्चर्य-चकित रह गया। उनकी दिव्य कान्ति से वह कारावास का भयकर गृह जगमग-जगमग कर रहा था। चारो ओर कान्ति छिटक रही थी। वहाँ की शोभा अपूर्व थी। यह देखकर कंस के

छक्के छूट गये। उसने सोचा—"अवश्य ही अबकी बार इसके गर्भ मे मेरे प्राणों को हरने वाला हरि आ गया है। मैंने इसे बालकपन से देखा है। इसे कारावास मे भी सात वर्षों से देख रहा हूँ, ऐसी कान्ति-प्रभा इसकी पहले कभी नहीं थी। इसकी तो आकृति-प्रकृति, चलन, उठन बैठन चितवन, हँसन—सब कुछ बदल गया! अब मुझे क्या करना चाहिये?" मुनियो! इस प्रकार चिन्ता करता हुआ कंस अपने महलो मे लौट आया और इसी विषय की चिन्ता करने लगा।"

छप्पय

बालकपन तें लखी देवकी घरके माहीं।
किन्तु कबहुँ अस प्रभा अनोखी देखी नाहीं॥
होहि न जब तक प्रसव तबहिं तक याकूँ मारूँ।
प्रथमहिं दुखजड़ काटि विपति भावी कूँ टारूँ॥
लै कें कर करवाल खल, पुनि मन महँ सोचन लग्यो।
ब्याह-समय वसुदेव ने, छल करि के मोकूँ ठग्यो॥

कंस की चिन्ता

[८२७]

किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु मे,
यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् ।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयम्,
यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः ॥❀॥

(श्री भा १० स्क० २ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

अब यदि मारूँ याहि बात मेरी बिगरेगी ।
वध भगिनी को सुनत प्रजा सबरी भड़केगी ॥
अबला वन्दिनि बहिन गर्भिणी भय की मारी ।
जाके वध तें होहि नष्ट श्री - कीति हमारी ॥
तेज देवकी को लख्यो, कुल - कलङ्क कातर भयो ।
साँप - छछून्दरि के सरिस, असमंजस महँ परि गयो ॥

यश और प्रतिष्ठा की इच्छा सभी को होती है—"चाहे कोई पुण्यात्मा हो, पापी हो, धनी हो, निर्धन हो, पठित हो मूर्ख हो, शक्तिभर मनुष्य जान-बूझकर ऐसा कार्य नही करना चाहता,

---

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कंस सोचने लगा—इस विषय मे अब मुझे अतिशीघ्र क्या उपाय करना चाहिए ? स्वार्थवश होकर भी सम्मानित पुरुष अपने पराक्रम का हनन नही करते ! एक तो यह स्त्री है, फिर बहन है, तिस पर भी गर्भिणी है । इसके वध का पाप तो मेरी श्री, यश तथा आयु का नाशक होगा ।"

जिससे संसार में उसकी अपकीर्ति हो, लोग उसे बुरा कहें। यदि स्वार्थवश विवश होकर ऐसे क्रूर कर्म करने भी पड़ते हैं, तो नाना युक्ति-प्रमाण देकर उसे उचित सिद्ध करने की प्रायः सभी चेष्टा करते हैं। अपयश से पापी भी डरते हैं। अतः वे पाप को छिपकर करते हैं। जब दो विरोधी स्वार्थ सम्मुख उपस्थित होते हैं, तब मनुष्य ऐसी युक्ति अपनी बुद्धि से निकालना चाहता है, जिससे स्वार्थ भी सध जाय, और अपकीर्ति भी न हो। जब ऐसा कोई उपाय नहीं सूझता, तब फिर कीर्ति की उपेक्षा करके मनुष्य स्वार्थ-सिद्धि में निरत हो जाता है। अर्थी फिर दोषों की ओर नहीं देखता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कंस को जब निश्चय हो गया, कि उसको मारने वाला देवकी के गर्भ में आ गया है, तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसे बड़ा भय लगा। पापियों का हृदय क्षुद्र होता है। वे तनिक सी चिन्ता से चिन्तित हो जाते हैं। कंस के मन में यह बात आई, इस देवकी को मार ही क्यों न डालूँ। झंझट कटे, नित्य की चिन्ता से मुक्त ही हो जाऊँ।"

फिर उसने सोचा—"मारना तो ठीक नहीं। मारने का तो अवसर वही उत्तम था। विवाह के ही समय इसे मार देता, तो सब झंझट कट जाते। मुझे इतने छोटे-छोटे सद्यःजात शिशु क्यों मारने पड़ते? उस समय मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। वसुदेजी ने मुझे उलटी पट्टी पढ़ाकर भ्रम में डाल दिया। मैं उनकी बातों में आ गया। उस समय तो अवसर था, सब ही ने आकाशवाणी सुनी थी। अब तो अवसर निकल गया। इन दोनों पति-पत्नी को मैंने कारावास में डाल दिया। इनके सद्यःजात बच्चों को निर्दयतापूर्वक मार दिया। फिर भी यदि मैं इसे मारता हूँ, तब लोग मेरी बहुत निन्दा करेंगे। यादव सब मेरे विरुद्ध ही हो

गये हैं। मैंने यादवों की प्राचीन समिति को भङ्ग कर दिया है। प्रजा का भी मेरे प्रति भाव अच्छा नहीं है। ऐसी दशा मे यदि मैं देवकी का वध करता हूँ, तो लोगो को मेरे विरुद्ध प्रजा को भडकाने का एक अवसर मिल जायगा। अत: देवकी को मारना उचित नही।

फिर एक बात यह भी है, देवकी को मारना सर्वथा कायरता है। स्त्री के ऊपर हाथ उठाना वीरोचित कार्य नही है। चाहे अपने स्वार्थ की हानि ही क्यो न होती हो, वीर पुरुष अपने पराक्रम को दूषित नही करते। एक तो स्त्री वैसे ही अवध्या है, तिस पर भी यह ऐसी-वैसी साधारण स्त्री भी नही; मेरी छोटी बहन है। इसे मैंने गोद मे लेकर प्रेम पूर्वक खिलाया है, मुख चूमा है। यह मेरी पुत्री के समान है। तिस पर भी यह गर्भिणी है। गर्भिणी स्त्री का वध ब्रह्माण्ड-वध के समान है। यदि आज मैं अपनीअबला गर्भिणी छोटी बहन को मार देता हूँ, तो सभव है, मेरा शत्रु तो मर जाय, किन्तु सब लोग मुझे थू थू करें, मेरी निन्दा करें। मेरी वीरता का, बल-पराक्रम का, जो ससार मे इतना नाम है, वह नष्ट हो जायगा। मेरी श्री, कान्ति, शोभा, प्रतिभा—सभी नष्ट हो जायँगी। घोर पाप करने से आयु भी क्षीण हो जाती है। मान लो, इस प्रकार मैं अपनी वन्दिनी बनी बहन को मारकर जीता भी रहूँ, तो ऐसे जीवन से लाभ ही क्या? जो पुरुष अत्यत हिंसा वृत्ति से रहता है, सर्वत्र जिसकी क्रूरता प्रसिद्ध है, सभी जिसके नाम से घृणा करते हैं—वह तो जीवित ही मृतक-सदृश है। मुखपर चाहे, भय अथवा शील-सकोच-वश कोई कुछ न कहे, पीठ पीछे तो लोग उसकी निन्दा करते ही हैं। मरने पर तो उसका सब अपयश ही शेष रह जाता है। इस लोक मे अपमान और परलोक में नरकादि

दारुण लोको की प्राप्ति होती है। इसलिये इसको मारना मेरे लिये हितकर नहीं है।

यह कही भाग तो जायगी ही नही ? इसके पेट से बच्चा ही तो होगा ? पैदा होते ही तो वह युद्ध करने योग्य न हो जायगा ? मैं पैदा होते ही उसे मार डालूँगा ! वसुदेवजी ने आज तक कभी मेरे विरुद्ध आचरण नही किया है। इसलिये मुझे देवकी को मारने का विचार तो सर्वथा त्याग ही देना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कस क्रूरकर्मा था। उसके लिये कोई काय असम्भव नही था। वह अपने प्राणो की रक्षा के लिये सब कुछ कर सकता था। देवकी उसके हाथ मे थी। उसके कारावास मे ही थी। वह चाहता तो क्षणभर मे उन्हे मार सकता था। किन्तु, मारने वाले से जिलाने वाला बलवान होता है। उसकी बुद्धि बदल गई, दुष्ट के हृदय मे भी दया आ गई। अत उसने देवकीजी को मार डालने का विचार मन से निकाल दिया।

किन्तु, देवकी के गर्भगत बालक से उसने वैर बांध लिया। उसे दृढ विश्वास हो गया कि उसका शत्रु इसी के उदर में है। कब इसका जन्म हो, कब मैं इसे मारूँ ! वैर के कारण उसके चित्त की समस्त वृत्तियाँ उदरस्थ श्रीहरि के ही सम्बन्ध मे लग गई। उसे हृदय-धडकन का रोग हो गया। जब भी वह उठता, उसे भगवान् की चिन्ता रहती। कही वह देवकी के उदर से निकलकर मुझे मारने तो नही आ रहा है ! बैठते समय भी वह शकित हो जाता। चकित-चकित दृष्टि से चारो ओर वह निहारने लगता। जब भोजन करने बैठता, तब बार-बार पीछे देखता, चौक पडता, कभी चिल्ला उठता—मेरा शत्रु आ गया। जल पी रहा है अथवा

ठंडाई दुग्ध या और कोई तरल पदार्थ पी रहा है। भगवान् की स्मृति आई कि चौंक पड़ा। पानपात्र हाथ से गिर गया। सोते समय स्वप्न मे भी भगवान् को ही देखता। चौंककर शय्या से उठ बैठता दौड़ने लगता। सारांश यह कि उसे क्षणभर भी यह बात न भूलती। सामने सहस्रों पुरुष बैठे हैं चिन्ता मे निमग्न होने के कारण उसे एक भी दिखाई नही देता। उसे सर्वत्र हाथ मे अस्त्र लिये वध के लिये उद्यत, श्रीहरि दिखाई देते। जो गति योगियो के लिये भी दुर्लभ है, वह उसे प्राप्त हो गई।

एक पेसस्कृत (भौंरा) नामका कीड़ा होता है। वह भित्तियों पर मिट्टी का अपना घर बनाता है। उसमे किसी एक बच्चे को पकड़कर बन्द कर देता है और उसके कानो के आस-पास गूँजता रहता है। भय के कारण वह कीड़ा भी तदाकार हो जाता है, भौंरा ही बन जाता है। इसी प्रकार जिससे अपना अत्यन्त स्नेह होता है, उसमे भी वृत्ति तदाकार हो जाती है। वैसे ही वैर से भी मन उसी मे लग जाता है। यदि वह वैर भगवान् मे हो, तो जीव वैर के द्वारा ही भगवान् तक पहुँच जाता है। खाड का खिलौना है, उसे जान मे खाओ, अनजान मे खाओ, प्रेम से खाओ, द्वेष से खाओ, अँधेरे मे खाओ, उजाले मे खाओ माँगकर खाओ, चुराके खाओ—मुख मीठा होगा ही। इसी प्रकार भगवान् का काम, क्रोध, द्वेष, स्नेह-सम्बन्ध से तथा भक्ति से—"कैसे भी चिन्तन करो, भगवान की प्राप्ति होगी ही।'

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् जब देवकी देवी के गर्भ मे आ गये, तब सभी ग्रह अनुकूल हो गये, समस्त ऋतुएँ सुखदायिनी बन गई। ब्रह्मादि देव गुप्त रूप से आ-आकर गर्भगत श्रीहरि की स्तुति करने लगे।'

छप्पय

निश्चय कीयो जिही बहिन वध सब विधि अनुचित।
दृढ़प्रतिज्ञ वसुदेव होहिँ नहिँ तिन तैं अनहित॥
वध को त्यागि विचार निरन्तर हरिहिँ विचारे।
असन, बसन अरु शयन माँहिँ जगदीश निहारे॥
वैर भाव तैं विष्णु भजि, तदाकार मन बनि गयो।
शत्रु समुझि सर्वेश कूँ, अति सर्वोत्तम पद लह्यो॥

गर्भगत श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति

[८२८]

सत्यव्रत सत्यपरं त्रिसत्यम्,
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रम्,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

समुझि देवकी गर्भ माहिँ हरि हर चतुरानन।
सब सुर मुनि-संग आइ करें हरि को अभिवादन॥
प्रभु की इस्तुति करें मधुर स्वरमहँ मिलि सुरगन।
जय सर्वेश्वर, सत्य, नित्य, शिव, अग-जग-मावन॥
विश्व वृक्ष के बीज तुम, सब भूपनि के भूप हो।
सगुण सर्वगत सत्त्वमय, सुसकर सत्य-स्वरूप हो॥

जब कोई अधिकारी अपनी सीमा में अपने स्वामी का आगमन सुनता है, तब सभी अवश्य कार्य छोड़कर मुख्य-मुख्य

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवगण कंस के कारावास में जाकर गर्भगत श्रीविष्णु की स्तुति करते हुए कहने लगे—'हे प्रभो! आप सत्यव्रत हैं। आप सत्य द्वारा ही प्राप्त होते हैं, तीनों कालों में आप सत्य हैं। आप सत्य की योनि हैं, सत्य में ही स्थित हैं तथा सत्यके भी सत्य हैं। ऋत और सत्य—ये दोनों आपके नेत्र हैं। आप सत्यात्मक हैं। हम सब ऐसे आपकी शरण में आये हैं।"

सेवक और साथियो के साथ उनका अभिनन्दन करने जाता है। अधिकारी की चेष्टा ऐसी रहती है, कि स्वामी को जो बात प्रिय हो, उसे करना, स्तुति विनय द्वारा उसकी प्रसन्नता प्राप्त करनी। सच्चे हृदय से की हुई स्तुति से सभी सन्तुष्ट हो जाते है। 'स्तोत्र कस्य न रोचते', स्तुति किसे प्यारी नही लगती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब ब्रह्माण्ड के हमारे चतुर्मुख ब्रह्माजी को यह बात ज्ञात हुई कि अखिल कोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीहरि हमारे लोक में अवतरित होने के निमित्त देवकी देवी के गर्भ मे आ गये हैं, तब वे नारदादि समस्त मुनियो, इन्द्रादि सस्त देवो तथा अन्यान्य समस्त लोकपालो और शिवजी को साथ लेकर देवकी के निवासस्थान पर आये तथा सुमधुर वचनो से सर्वकामप्रद श्रीहरि की स्तुति करने लगे।"

देवता हाथ जोडकर कहने लगे— 'प्रभो! आप सत्यसकल्प हैं, जो बात जिससे कह देते हैं, उसका पालन तत्परता के साथ करते हैं। आप इस दृश्य जगत् के आदि कारण हैं आप इस संसारवृक्ष के बीज हैं। बीज क्या स्वय ही वृक्ष बन गये हैं! वृक्ष बन जानेपर फिर जिस बीज से वह वृक्ष बना है, उसी में घुलमिल जाता है। आप, आपके युगलचरण इस ससार-सागर से पार कराने के लिये नौका हैं। प्रभो! आप भक्ति के द्वारा सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं। हे देव! यद्यपि आप अवाङ्मनस गोचर है, कोई आपको मन बुद्धि के द्वारा प्राप्त नही कर सकता; फिर भी भक्तजन उपासना आदि के द्वारा आपका साक्षात्कार करते हैं। आपके नाम मे ही ऐसी अपूर्व शक्ति है, जिसके कीर्तन से सभी अनिष्ट दूर हो जाते हैं, आपके गुण-श्रवण, रूप-चिन्तन तथा श्रीअङ्गो के ध्यान से यह ससार सदा के लिये विलीन हो जाता है। यद्यपि आप अजन्मा हैं, फिर भी

भक्तो के ऊपर अनुग्रह करके जन्म धारण कर है। यह आपकी लीला है, क्रीडा है, विनोद है, मनोरञ्जन है। और क्या कहें? हे नाथ! जैसे आपने पहले अनेक अवतार धारण किये थे, वसे ही अब भी श्रीकृष्णावतार धारण करके भू का भार उतारिये।" इस प्रकार सभी देवता आत होकर गद्-गद् वाणी से भगवान् की स्तुति करने लगे।

देवकी देवी सो रही थी, देवताओ की स्तुति सुनकर वे उठ कर बैठ गई। उन्होने देखा, उनका घर जगमग-जगमग हो रहा है। चतुर्मुख ब्रह्माजी खडे हैं, पचमुख शिवजी भी उनके पास हैं, सहस्रलोचन इन्द्र भी है, वीणा लिये नारदजी भी खडे हैं, यम, वरुण, कुबेर, वायु सूर्य, चन्द्र—सभी देवता खडे हैं। उनकी छाया नही पड़ती वे पृथ्वी का स्पर्श नही करते। उनमे से किसी के भी पलक नही गिरते। इन सब लक्षणो से देवकी देवी समझ गईं, ये सब देवगण हैं। इन सब के वस्त्राभूषण दिव्य हैं। इनकी मालायें अम्लान दिव्य-पुष्पो की हैं, कभी मुरझाती नही। उनकी सुगन्धि से दशो दिशायें सुगन्धित हो रही हैं। देवकी देवी ने उठकर सब देवो को प्रणाम किया और हाथ जोड़-कर दीनता के साथ कहा—'देवताओ! आप विश्व-वन्दित है। सभी आपकी पूजा-अर्चा करते है। यज्ञो मे आपके उद्देश्य से आहुतियाँ दी जाती हैं। आप सबके मनोरथो को पूर्ण करने वाले हैं, सभी को वर देने वाले है। आप दु खियो के दु.खो को दूर करने वाले हैं। मैं भी एक दु:खिनी दीना अबला हूँ, आपकी शरण मे आई हूँ। आप मेरे भी दु:खो को दूर करें। मुझ हतभागिनी पर भी कृपा करें!'

ब्रह्माजी ने यह सुनकर देवकी देवी को प्रणाम किया। सब देवताओं ने भी उनका अनुसरण किया। तब चतुरानन बोले—

'मात देवकि! तुम बडी भाग्यशालिनी हो, तुम्हारा बडा सौभाग्य है जो तुम्हारे गर्भ मे हम सब का अभ्युदय करने के लिये साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीहरि अपनी सम्पूर्ण कलाओ सहित आये हुए हैं। आप अपने को हतभागिनी क्यो कहती हैं? आप के सदृश भाग्य ससार मे और किसका होगा?"

देवकी देवी न हाथ जोडकर कहा— हे पितामह! आपके तथा इन सब देवो के मुझे दर्शन मिल गये यही मेरा भाग्य है। नही तो ससार मे मेरे समान हतभागिनी स्त्री कौन होगी? जिस दिन विवाह के अनन्तर घर से चली तभी से उत्पात आरम्भ हुए। अपना भाई अपना शत्रु बन गया। मेरे छोटे छोटे सद्य जात छ पुत्र पैदा होते ही मार गये। मैं वज्र की छाती बनाये जीवित बनी रहा और बच्चो को जनती रही। मेरे कारण पतिदेव भी कारावास के कठिन से कठिन कष्टो का सह रहे हैं। मैं अपन परिवार वालो से पृथक हो गई। मेरे कारण मेरी अन्य बहन विवरो मे छिपा दिन काट रही हैं। फिर भी मैं रात्रि-दिन अपने भाई कस के भय से थरथर काँपती रहती हूँ। वह मूर्तिमान काल के समान सदा मेरी दृष्टि मे घूमता रहता है। सद्य-जात शिशुओ की हत्या के रक्त से रगे उसके भयकर हाथ मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। वह मेरे इस गर्भ के बालक को भी मार डालेगा।'

ब्रह्माजी ने हँसकर कहा—"माताजी! आप कैसी बातें कर रही हैं! इस गर्भ के बालक को वह बेचारा क्या मार डालेगा? इसके द्वारा तो वह स्वय ही मर जायगा। अब आप उस मरणासन्न कस से तनिक भी भय न करें। कस तो अब मुमुर्षु है वह तो अपनी अन्तिम घडियो को गिन रहा है। उनके दिन तो प्राय पूरे हो चुके हैं, उसके पाप का घडा तो भर चुका है।

देवकी देवी ने निराशाभरी आह छोडते हुए कहा—"कहां मर चुका है, महाराज! वह तो आनन्द मे फल फूल रहा है। उसने तो अपने विरोधी समस्त यदुवशियो को देशनिकाला दे दिया है। वे सब विदेशो मे जैसे-तसे अपने दिन काट रहे हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"कोई बात नही, और थोडे दिनो का कष्ट है। दस-ग्यारह वर्ष पश्चात् भगवान् सब का दु ख दूर करेंगे वे तुम्हारे पुत्ररूप मे प्रकट होकर समस्त यदुकुल की रक्षा करेंगे। केवल यदुकुल ही नही, समस्त भूमण्डल की रक्षा करेंगे। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रकृति से परे परम-पुरुष परमात्मा प्रभु की स्तुति करके ब्रह्मा, शिव आदि देवगण अपने-अपने लोको को चले गये। उन अचिन्त्य ऐश्वर्य युक्त अखिलेश की कोई स्तुति तो कर ही क्या सकते हैं? उनके तो रूप, गुण, चरित्र आदि मनवाणी के विषय ही नही। फिर भी उन सब ने यथामति-यथाशक्ति उनकी स्तुति की। भगवान् तो गर्भ मे थे अतः उन्होने चुपचाप देवताओ की स्तुति सुन ली।"

अब देवकी देवी के गर्भ के नौ महीने पूरे हो गये। दशवां महीना लग गया। भगवान् के प्राकट्य का समय आया। समय ने सोचा मैं अपनी सार्थकता जीवन की सफलता कर लूं। अत भगवान् के जन्म के समय पर समय सर्वगुण सम्पन्न हो गया। मुहूर्तों ने सोचा, हम भी अपने जीवन को धन्य बना लें। अतः उस समय सुन्दर से सुन्दर, उत्तम से उत्तम मुहूर्त हो गया। ग्रहों ने सोचा—'हम किसी को सुखदाई होते हैं किसी को दु खदाई। एक शुभ होता है, तो दूसरा अशुभ। आज हम सब ही शुभ बनकर अपने को कृत्य-कृत्य कर लें। अत समस्त ग्रह अनुकूल और शुभ स्थानो मे हो गये। इसी प्रकार नक्षत्र, तारागण—सब

शान्त सुखद और मङ्गलप्रद बन गये। ऋतुओ ने कहा—"हम सब ऋतुयें छ. हैं। लोग कहते तो वसन्त को ऋतुराज है, किन्तु हम सब मे वर्षाऋतु ही सर्वश्रेष्ठ है। वर्षा मे ही सर्वत्र हरियाली छा जाती है। वर्षा मे ही जल वृष्टि होती है। जल का एक नाम जीवन भी है। वर्षा मे ही प्राणिमात्र को जीवन मिलता है। वर्षा न हो, तो न अन्न हो, न घासभूसा हो। वर्षा के बिना जीवन रह ही नही सकता। वर्षा ही जीवन है। वर्षा ऋतु ही सब ऋतुओ का आश्रय है। अतः वर्षाऋतु को सब ऋतुओ ने प्रस्तुत किया।

मासो ने सोचा—हम क्वार, कार्तिक, अगहन, पौष, माघ, फाल्गुन चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ आषाढ और श्रावण—ग्यारह महीने हैं। हम सब पुरुष हैं, हमारी एक ही बहिन है भादो। वही स्त्रीलिंग है। वही हम सब को प्यारी है। भाद्रपद मे सभी उन्नति करते हैं। सूखी नदियाँ भी भर जाती हैं। पशु, पक्षी मनुष्य-जाति की स्त्रियाँ प्रायः इसी महीने मे गर्भ धारण करने की विशेष योग्यता प्राप्त करती है। यह मास जीवन आरम्भ करने का मास है। पितर भी इसी मास मे विशेष तृप्त होते हैं। अतः सब मासों ने भादो को आगे किया। पक्षो ने कहा—'यद्यपि शुक्ल पक्ष को लोग श्रेष्ठ समझते हैं, क्योंकि उसमे चन्द्रमा रहता है, किन्तु यह लोगो का भ्रम है। चन्द्रमा तो शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष दोनो मे ही समान रहता है। अन्तर इतना ही है कि शुक्लपक्ष मे रात्रि के प्रथम भाग मे विशेष रहता है कृष्णपक्ष मे रात्रि के परभाग मे विशेष रहता है। फिर उस का नाम ही कृष्णपक्ष है। अतः कृष्णपक्ष को आगे किया।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! कृष्णपक्ष की तो प्रशसा की नही। वैसे आप पक्षपात से चाहे जो सिद्ध कर दें।"

सूतजी बोले—"नही, महाराज ! पक्षपात की क्या बात है ? पक्ष तो कृष्ण ही श्रेष्ठ है। जिन वस्तुओ का चाहे नाम से, गुण से, रूप से—कैसे भी श्रीकृष्ण से सम्बन्ध हो जाय, वही सर्वश्रेष्ठ है। तीर्थराज प्रयाग मे त्रिवेणी तट पर एक व्रजवासी सकल्प पढ रहे थे। शुक्लपक्ष का महीना था। वे कह रहे थे, कृष्णपक्ष। किसी पडा ने कहा—"महाराज ! अब तो शुक्लपक्ष है।"

व्रजवासी बोले—"भैया, जिसके लिये शुक्लपक्ष होगा, उसके लिये होगा, हमारा तो सदा कृष्ण ही पक्ष है। सो महाराज ! पक्षो ने कृष्णजन्म के लिये कृष्णपक्ष को ही आगे किया। तिथियो ने परस्पर मे सम्मति की कि कौन सी तिथि बडी है। पूर्णिमा ने कहा—"मैं सबसे बडी हूँ रात्रिभर खिली रहती हूँ। मुझे देखकर सभी सुखी होते हैं, मैं देवताओ को प्रिय हूँ।"

अमावस्या ने कहा—'सबको प्रिय कैसे हो तुम ? विरहिणी तो रात्रिभर तुम्हारी चाँदनी मे तडपती रहती है। चोर तुम्हे कोसते ही रहते हैं। दिन की शोभा प्रकाश से है, रात्रि की शोभा अन्धकार से है। अत: मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ। इसीलिये चान्द्रमास मुझसे ही आरम्भ होता है। पितरो की मैं अत्यन्त प्रिय हूँ।"

इस पर सबने कहा—"रात्रिभर प्रकाश भी अच्छा नही और न रात्रिभर अन्धकार ही। मध्यम मार्ग ही उत्तम है। आधे मे अन्धकार, आधे मे प्रकाश। इसलिये अष्टमी तिथि ही उत्तम है। इसमे सभी सुखी हो सकते है।" अत. सबने अष्टमी तिथि को आगे किया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार श्रीकृष्णजन्म के समस्त उपक्रम एकत्रित हो गये। भाद्रपद कृष्णा-अष्टमी का दिन आया। इसी दिन भगवान् का प्राकट्य हुआ। अब आप श्रीकृष्णजन्म की कथा श्रवण करें।"

छप्पय

देखि देवकी देव दीन ह्वै बोली बानी।
हे चतुरानन ! शंभु सुरेश्वर वीनापानी॥
हौं अबला अति अधम दया दासी पै कीजै।
कंस न मारे सुतहिँ कृपा करि जिह वर दीजै॥
सुरगन बोले मातु तुम, जग-जननी मत भय करो।
अखिल भुवनपति होहिँ सुत, हनहिँ कंस, धीरज फरो॥

श्रीकृष्ण-जन्म

[८२९]

निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः॥
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥*

(श्री० भा० १० स्क० ३ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

आश्वासन दै देव विनय करि स्वर्ग सिधारे।
भये सकल अनुकूल लगन, ग्रह नखतहु तारे॥
वृष्टि करहिं सुरसुमन दुन्दुभी मधुर बजावें।
विद्याधर गन्धर्व अप्सरा नाचें गावें।
कृष्णा भादौं अष्टमी, नखत रोहिणी शुभ समय।
अर्ध रात्रि वेला सुखद, तब प्रभु प्रकटे प्रेममय॥

अजन्मा का जन्म हुआ, इस पर कौन विश्वास करेगा? विश्वास न करो, न सही! किन्तु; अजन्मा का जन्म गोकुल में हुआ अवश्य। निराकार ने साकार वपु धारण किया; अथवा सदा-सर्वदा अपने लोक में साकार-स्वरूप से ही सात्वतो द्वारा द्वारा सेवित सर्वेश्वर उसी रूप से अपने अनुगत पार्षद, परिकरो के सहित अवनि पर अवतरित हुए। यह तर्क से सिद्ध

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उस घोर अंधकारमयी अर्ध रात्रि के समय श्रीजनार्दन जगदीश का जन्म हुआ। जैसे पूर्वदिशा मे पूर्ण चन्द्रका उदय होता है, उसी प्रकार देवरूपिणी देवकी की कुक्षि से सर्वगुहाशय श्रीविष्णु का प्रादुर्भाव हुआ।"

न होने पर भी उसी प्रकार ध्रुव सत्य है जिस प्रकार सत्य, सत्य है। विश्वब्रह्माण्ड जिनके उदर मे है वे देवकीजी के उदर के भीतर आये। यह बुद्धि के परे की बात होने पर भी सिद्धान्तत. सत्य है, क्योंकि वे भी तो बुद्धिस पर हैं। अत भगवान का अवतार होता है इसम जिन्हें सन्देह हो, वे सन्देह करें। जिन्होंने उस रूप को देखा है और आज भी अनेक महानुभावो के सम्मुख वह अनिर्वचनीय रूप प्रकट होता है वे इसे कैसे काल्पनिक कह सकते हैं? भगवान् ने भक्तो को सुख देने कमनीय क्रीडा करने के हेतु श्रीकृष्णरूप धारण किया और वह भी भाद्र कृष्णाष्टमी की अर्धरात्रि के समय इसम कोई सन्देह नही।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! भाद्रपद की कृष्णाष्टमी तिथि आई। समय स्वत ही शुभ और सवगुण सम्पन्न हो गया। रोहिणी नक्षत्र का उदय हुआ। अन्य जो अश्विनी आदि नक्षत्र थे वे समस्त शुभ हो गये। ग्रह और तारागण शान्त हो गये। सभी ग्रहो ने अपनी क्रूरता तथा वक्रता छोड दी। दशो दिशायें दमकने लगी। वर्षा के कारण उनमे जो कुछ धूम था वह हट गया सभी दिशायें निर्मल हो गयी। नभ म अमल-विमल स्वच्छ कान्तिमय शोभायुक्त तारागण चमचमान लगे मानो किसी ने नीलमणि की छत मे दिव्य प्रकाश युक्त स्फटिक मणि के टुकडे मढ दिये हो। समस्त नगर पुर ग्राम, गोष्ठ, खेट खर्वट, रत्नो तथा अन्य वस्तुओ की खानें तथा सम्पूर्ण स्थान शोभायुक्त बन गये। पृथ्वी पर ऐसा प्रतीत होता था, मानो सर्वत्र स्वाभाविक सौन्दर्य छा गया हो। प्रकृतिदेवी अपने पति की प्रतीक्षा मे पगली सी हो रही थी। जब उसे विदित हो गया, आज मेरे प्राणनाथ जीवन-धन, सर्वस्व पधारेंगे तब उसने उनके स्वागत के निमित्त सर्वत्र यथेष्ट शोभा बटोर दी। मेदिनी मङ्गल-

मयी बन गई। उसे भी तो अपने तप्त वक्षस्थल पर प्रभु के
शीतल सुखद पादतलो को रखकर उसके ताप को शान्त क
था। अतः उसके अगो में भी सात्त्विक विकार उत्पन्न हो
रोमाञ्च होने से उसकी शोभा बढ गई। रोम-रूप तृण, वी
लता तथा पादपो द्वारा वह सिहर उठी। उसके रोम-रो
आनन्द झरने लगा। नदियो का नीर निर्मल तथा नीरज
गया। मुकुलित कमलो को कलियाँ खिलकर हिलने लगी। सु
शीतल स्वादिष्ट, स्वच्छ सलिल वाले सरोवरो की श्री स्वत
बढ गई। उनमे कमल, कन्हार, शतपत्र सरोरुह, आदि अ
जातियो के विविध रग वाले कमल विकसित हो गये। ह
कारडव, चक्रवाक, सारस तथा अन्यान्य जल-जन्तु कलरव क
लगे। वनो की शोभा सबसे अधिक बढी। सभी ऋतुओ
पादप पल्लवित पुष्पित होकर असमय ही फलने लगे। उन
बैठे हुए खग-वृन्द कलरव करके नभमण्डल को गुजायमान क
लगे। ऐसा प्रतीत होता था, वे श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव के उपलक्ष
मगलगान कर रहे हो। पक्ति-बद्ध पुष्पो के स्तवक पत्तो से र
ऐसे प्रतीत होते थे, मानो प्रकृतिदेवी ने पादपो के स्तम्भ ल
कर पल्लव और सुमन-गुच्छो के बन्दनवार लटका दिये हो
केसर, मधु और पराग से पूर्ण पुष्पो पर षट्पद बैठक
गुजार करते हुए गुणी गायक की भाँति गीत गाते हुए
प्रतीत होते थे। शीतल-मन्द-सुगन्ध, सुखकर, सुन्दर, स्वच्छ
समीर बहने लगा। उस सुखद समीर से शुभ समाचा
सुनकर शान्त - सदाचारी - सुशील द्विजो द्वारा सचित अग्निहोत्र
की अग्नि स्वतः ही प्रज्वलित हो गयी। असुरो के दुःख से
दु खी देवादि तथा महात्माओ के मनमुकुर मोद से खिल गये।
सुरो ने समझा, सर्वेश्वर हमारी प्रार्थना से प्रकट हो रहे हैं।

माता का पेट फूल गया था, उसमे कोई रजवीर्य से निर्मित रक्त, मांस, मेदा मज्जा, अस्थि तथा शुक्र—इन सात धा वाला प्राकृत पिंड थोडे था ! उस उदर मे तो सर्वेश्वर का दिव्य सरम सकल्पमात्र था। उसका जन्म क्या होना था, वही दिव्य सकल्प साकार होकर जननी के सम्मुख हो ग ऐसा नही हुआ कि मातृ-उदर से कोई रक्तभरा तथा अन्य से सना प्राकृत हाथ-पैरवाला बालक पैदा हुआ हो ! भग देवकी स्वभावानुसार शय्या पर पडी हुई थी। छ सात कारावास मे उन्होने और भी शिशु-प्रसव किये थे। उसी सस्क वश वे पडी हुई थी। कारावास मे धाई परिचारिका कहाँ आती ? अत' उनके पति ही पलग के पास बैठे थे। आधी हो गई थी। जगत निद्रादेवी की गोद मे पडा सो रहा था। स शाति का साम्राज्य था। बीच-बीच मे प्रहरियो की कण-कटुवा सुनाई देती थी या दिव्य सगीत कल्पवृक्षो के सुमनो से आ भरा हुआ-सा प्रतीत होता था। किन्तु यदि कोई मानव उठा चाहे तो वहाँ कुछ भी दिखाई नही देता था। सहसा माता शय्या पर पडे-पडे ही देखा कि एक नवघन के सदृश अत्य मनोहर चतुर्भुजी मूर्ति उनके सम्मुख खडी है। वह शैशव वस्थापन्न नही है। उनकी अवस्था नित्यकिशोर है। अलसी पुष्प के समान उनके श्रीअङ्ग की कान्ति है। काले-काले घुंघरा बाल कधो पर बिथुरकर कपोलो का स्पर्श कर रहे हैं विशाल भाल पर कुंकुम कस्तूरी-मिश्रित तिलक शोभायमान है उनके कमल के समान विकसित बडे-बडे नेत्र हैं। शुक के सदृश नासिका मे बुलाक हिल रहा है, दाडिम के सदृश दशनो से कमनीय कान्ति निकल रही है। कण्ठ मे वनमाला और कौस्तुभमणि शोभित हो रही हैं। वक्ष.स्थल मे श्रीवत्सलाछन अपनी आभा

से अपना अस्तित्व प्रकट कर रहा है। वह शरीर मे सुवर्ण के सदृश सुन्दर सुहावना स्वच्छ मनोहर पीताम्बर धारण किये हुए है। अङ्ग का वर्ण सजल जलधर के सदृश श्याम और सरस है। उसके दो नही, चार भुजायें हैं। उन चारो भुजाओ मे वह चार आयुध धारण किये हुए है। करतल लाल कमल के सदृश मृदुल तथा सुघर हैं। उन करा मे से एक करकमल मे पाचजन्य नामक शङ्ख है। वह ऐसा प्रतीत होता है, मानो रक्तकमल के ऊपर शुभ्र स्वच्छ राजहस बैठा हो। द्वितीय हस्त मे सुदर्शनचक्र उसी प्रकार सुशोभित हो रहा है, जिस प्रकार आकाश में इन्द्र धनुष। तृतीय श्रीकरकमल मे कौमोदिकी नाम्नी गदा है, जो नीचे तो मोटी है और फिर क्रमश पतली होती आई है। चतुर्थ करकमल मे एक पृथक क्रीडा-कमल है जिसे भगवान् मन्द-मन्द मुस्कान के सहित हिला रहे हैं, घुमा रहे हैं। श्रीहरि की अपरिमित काली-काली घुंघराली अलकावली वायु मे विथुरकर झूमकर महामूल्यमय रत्नकिरीटो, कान्तिमय कुण्डलों, तथा गोल-गोल सुडौल चिक्कड-चमकीले कपोलो को चूम रही है। उसका सुन्दर सुचिक्कड सजल जलद के समान श्याम श्रीअग कटि की मनोहर मेखला से, भुजाओ के भव्य दिव्य भुजबन्दो से, करके कमनीय कनक-कङ्कणो से तथा अन्यान्य मणिमय दिव्य सुवर्ण आभूषणो से विभूषित हो रहा है। इन भूषणो से अङ्गों की शोभा नही बढी है, अपितु ये भूषण ही उन भव्य अङ्गो को पाकर शोभायुक्त हो गये हैं।

वसुदेवजी इस आश्चर्य को देखकर परम विस्मित हुए। अब तक तो वे यही देखते आये थे, कि बच्चा उत्पन्न होते समय देवकी बिना जल की मछली के सदृश छटपटाया करती थी, बडे कष्ट से बच्चा होता था रक्त आदि से प्रसव का स्थान भर

जाता था, वहाँ का दृश्य बडा अशोभन हो जाता था, बच्चा पैदा होते ही रुदन करने लगता था, बच्चे का जन्म सुनते ही द्वारपाल दौड आता और पूछता था—'बच्चा हुआ ?' तुरन्त ही दौड़े-दौडे कस आ जाता। वह अचेतन पडी देवकी का कुछ भी शील-सकोच न करके उस बच्चे को उठा लेता और तुरन्त उसे मार डालता। किन्तु ऐसी बात नही हुई। देवकी को कोई कष्ट नही हुआ। रक्त की एक बून्द भी नही गिरी। उनका उदर जो फूला था, वह पिचक गया। तुरन्त शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी, वनवारी बांके विहारी सम्मुख खड़े हो गये। चतुर्भुजी विष्णु को पुत्ररूप से अपनी पत्नी के उदर से अवतीर्ण हुए देखकर बसुदेवजी के मुरझाये सूखे नेत्र आश्चर्य तथा आनन्द से विकसित हो उठे।

कृपण को जैसे अनन्त धन-राशि मिल जाय, पुत्र हीन को जैसे पुत्र-जन्म का सुखद सम्वाद प्राप्त हो जाय, मृतक को जैसे जीवन मिल जाय, धनिक को जैसे उसकी खोई हुई अनन्त धन-राशि मिल जाय, बिछुडा हुआ अपना अत्यन्त सुहृद जैसे अकस्मात् मिल जाय—' इन बातो से जितनी प्रसन्नता होती है, उनसे भी अनन्त गुनी प्रसन्नता वसुदेवजी को पुत्ररूप मे उत्पन्न हुए प्रभु के दर्शनो से हुई। वे कृष्णावतार महोत्सव मनाने के सभ्रम मे इस बात को भूल ही गये, कि हम कस के कारावास मे हैं। तुरन्त उन्होने हाथ मे जल लेकर आनन्दमग्न होकर ब्राह्मणो को दश सहस्र गोदान करने का सङ्कल्प कर दिया। भगवान् के दर्शनों से उन्हे इतना आह्लाद हुआ, कि यह बात उनके मन में भी नही आई, कि दश सहस्र गौएं मैं कहाँ से लाऊँगा।'

भगवान् खडे-खड़े मुस्करा रहे थे। देवकी देवी शय्या पर पड़ी ही पड़ी अपलक भाव से उनकी अनुपम छवि को निहार

रही थीं। उन्हें शरीर की सुधि-बुधि ही नहीं थी। वे यह निर्णय न कर सकीं कि मैं यह जो देख रही हूँ वह स्वप्न है या सत्य है। भगवान् की अलौकिक दिव्य कान्ति से उस सूतिका-

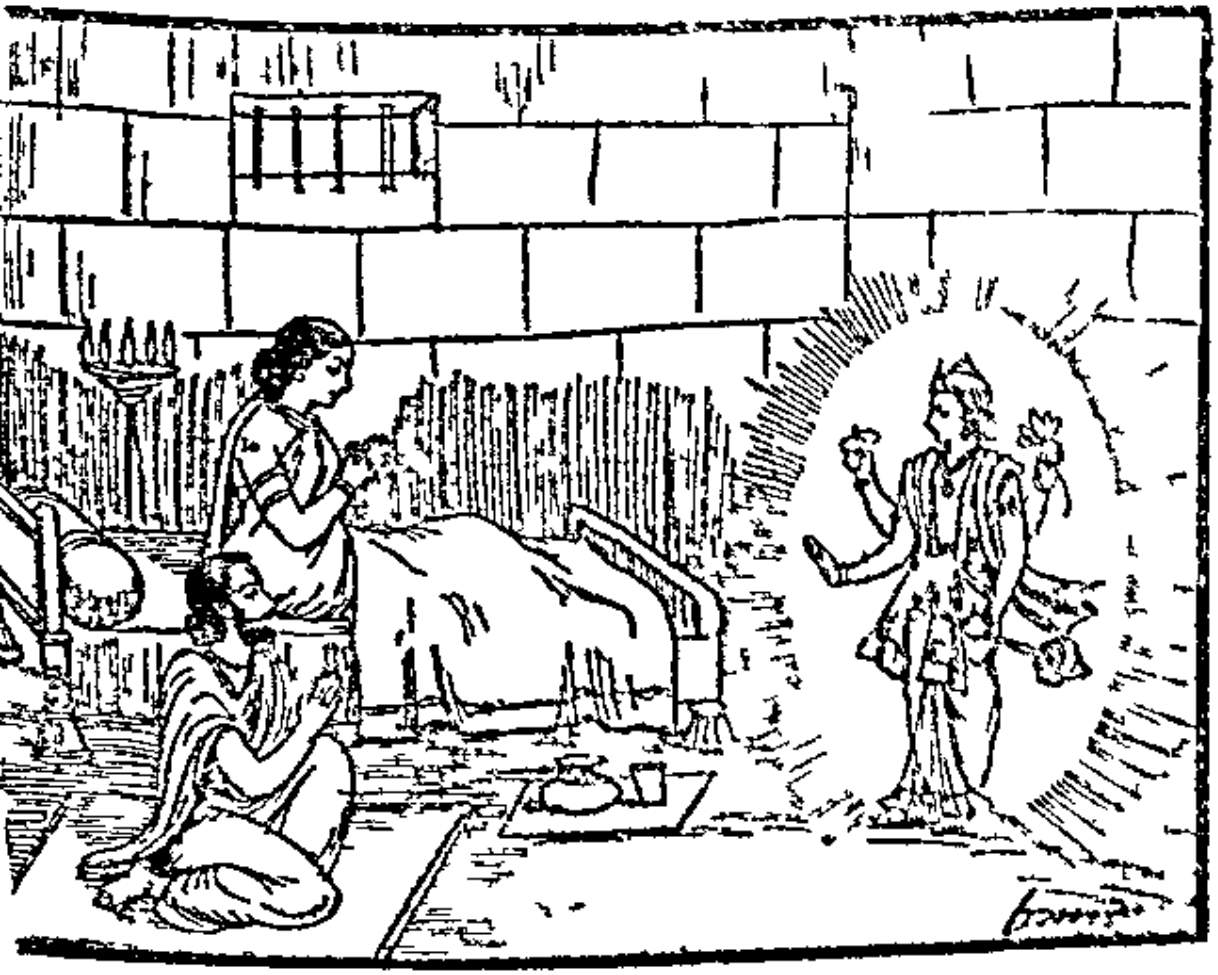

गृह में असंख्य सूर्य-चन्द्रों के सदृश सुहावन, सुखद और सहज प्रकाश फैल रहा था। वसुदेवजी ने अपनी विवेक-बुद्धि द्वारा अपने आपको सम्भाला। सद्य जात अपने चतुर्भुजी बालक को परमपुरुष जानकर उनको जो भी कुछ कंस का रहा-सहा भय था वह जाता रहा। वसुदेवजी बड़े ही बुद्धिमान, ज्ञानी और भगवान् के प्रभाव को जाननेवाले थे। हड़बड़ाहट में वे किं-कर्तव्यविमूढ़-से बन गये। वे शीघ्रता में निर्णय ही न कर सके कि अब उन्हें क्या करना चाहिये। फिर सोचे—'अरे

के दर्शन हुए, मैंने उनकी स्तुति भी नहीं की ?" यह सोचकर उन्होंने भगवान् की स्तुति की।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वसुदेवजी तथा देवकीजी ने भगवान् के प्रकट होने पर जो स्तुतियाँ की हैं, वे दोनों ही बड़ी दिव्य हैं। उनका वर्णन मैं यथा-स्थान पुनः स्तुति-प्रकरण में करूँगा। अब तो आप आगे की कथा श्रवण करें।"

छप्पय

अप्राकृत शिशु सुघर चतुर्भुज कमल नयन वर।
शंख, चक्र अरु गदा पद्म सुन्दर आयुध-धर॥
पीताम्बर वर अंग सजल जलधर शोभा तनु।
कारे कुंतल केश रूप साकार भयो जनु॥
सुन्दर श्याम शरीर की, शोभा अति अद्भुत् बनी।
शोभित तनु की कान्ति तैं, ककण कुण्डल करधनी॥

श्रीहरि और श्रीवसुदेव देवकी

[८३०]

एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३ अ० ४४ श्लोक)

छप्पय

बनि विस्मित वसुदेव वत्स को, बहुरि विचारें ।
नहिं सुत ये सर्वेश चतुर्भुज शुभ वपु धारें ॥
करचो मानसिक दान ध्यान तैं चिन्हें श्री हरि ।
परमपुरुष परमेश, जानि विनवें वन्दन करि ॥
आप अखिल जगदीश हैं, पहिचाने प्रभु परावर ।
अज, अनादि विश्वेश विभु, व्यापक सुखकर तत्वपर ॥

दुःख में भगवान् प्रत्यक्ष होकर प्रकट हो जाते है। किन्तु, उनको सब कोई जान भी नहीं सकते। हम स्त्री-पुरुषो को ही पूर्ण-रीत्या नही जान सकते। बाहर की बात छोड़ दीजिये। अपने मन को भी हम भली भाँति नही जान सकते. फिर औरों की तो बात ही क्या है। भगवान् को कोई साधनों द्वारा जानने का अभिमान करें, तो यह उसका अभिमानमात्र ही है। भगवान् साधनों से नहीं जाने जा सकते। वे तो स्वयं ही जिस पर कृपा करें, स्वय ही जिसे जनाना चाहें वही जान सकता है। वे ही

---

* श्रीभगवान्, श्री वसुदेवजी तथा देवकीजी से कह रहे है—"देखो, मैंने तुम दोनों के लिये अपना यह रूप इसलिये दिखा दिया है, कि तुम्हें मेरे पूर्व जन्मो का स्मरण हो जाय। अन्यथा मेरे सम्बन्ध का ज्ञान मर्त्य शरीर से हो नहीं सकता अर्थात् मुझ चिन्मयका ज्ञान चिन्मय शरीर से ही होता है।"

जब कृपा करके दिव्य चक्षु दें, बुद्धियोग प्रदान करें, तभी वे पहचाने जा सकते है। नही तो लीलाधारी की लीला अत्यंत ही अद्भुत है ब्रह्मादि देव भी उसका पार नहीं पा सकते, फिर औरों की तो कथा ही क्या है!

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् चतुर्भुजरूप से श्री वसुदेवजी तथा देवकीजी के सम्मुख प्रकट हो गये, तब श्री वसुदेवजी विस्मय के सहित भगवान् की स्तुति करने लगे। वसुदेवजी बोले—"प्रभो! मैं जान गया, जान गया। आप मेरे पुत्र नही परमेश्वर है; आप शिशु नही, सर्वेश है, सर्वान्तर्यामी हैं, घटघटवासी है। आप में ही चराचर जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय हुआ करती है। आप त्रिगुणातीत है। आप अज, अव्यक्त, अनादि तथा अचिन्त्य हैं। नाथ! ऐसे होकर भी आप मेरे पुत्र बनकर प्रकट हुए है। प्रभो! आपका जन्म मेरे यहाँ हुआ है, इस समाचार को सुनते ही क्रूरकर्मा कंस कर मे करवाल लिये तुरत दौडा आवेगा। उसने आप से पूर्व उत्पन्न होने वाले मेरे बच्चो को मार डाला है। जब वह सुनेगा कि आठवें गर्भ से बालक उत्पन्न हुआ है, तब आप पर भी वह प्रहार करेगा।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! देवी देवकी ने जब देखा कि अब के मेरे गर्भ से पुत्र न होकर परात्पर प्रभु प्रकटित हुए हैं तब उनके हर्ष-शोक का ठिकाना नही रहा। हर्ष तो उन्हें श्रीहरि के उत्पन्न होने का था और शोक था अपनी दयनीय दशा का। वे कंस से बहुत ही डरी हुई थी। पति को स्तुति करते देखकर उन्हें भी ज्ञान हुआ, कि ये भगवान् हैं, इनकी स्तुति करनी चाहिये।" अत हाथ जोड़कर कहने लगी—"हे प्रभो! आप अज, अनादि, अव्यक्त, ब्रह्म, ज्योतिर्मय, निर्गुण, निराकार सत्तामात्र, निर्विशेष, निरीह, सर्वप्रकाशक तथा विष्णु हैं। हे

नाथ ! मर्त्यलोक के प्राणियों के लिये आपके दर्शन दुर्लभ हैं। हमारे जैसे मायाबद्ध प्राणियो के सम्मुख इस गुह्यातिगुह्य स्वरूप को आप प्रकट न करें। हम मोह-पाश मे आबद्ध जीव इस परम रहस्यमय रूप निहारने के अधिकारी नही हैं। दूसरी बात यह भी है कि मैं कंस के कारण अत्यन्त ही डरी हुई हूँ। आपके पूर्व उत्पन्न होने वाले बालको को इस दुष्ट ने मार डाला है। आप को भी वह मार डालेगा। अतः आप अपने इन शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि दिव्य आयुधो को छिपा ल। इस बात पर कौन विश्वास करेगा, कि अनेक ब्रह्माण्ड जिनके गर्भ मे है वे मेरे गर्भ मे आये और पुत्र बनकर प्रकट हुए ?"

देवी देवकीजी की स्तुति सुनकर भगवान् बोले—"देवि ! मैं एक विशेष प्रयोजन से चतुर्भुज रूप मे आपके सम्मुख प्रकट हुआ हूँ।"

देवकीजी ने पूछा—'वह क्या प्रयोजन है भगवन् ?"

भगवान् बोले—"वह यही कि मैं तुम्हें तुम्हारे पूर्वजन्म की स्मृति दिलाना चाहता हूँ।"

देवकी बोली—"हम पूर्वजन्म मे कौन थे ?"

भगवान् ने कहा—"तुम स्वायम्भुव मन्वन्तर के समय पूर्व-जन्म मे पृश्नि थी और ये तुम्हारे पति वसुदेवजी सुतपा नाम के प्रजापति थे। जैसे दक्ष कश्यप, कर्दम, अत्रि आदि प्रजापति हैं, जिनसे प्रजा की वृद्धि होती है, वैसे ही ये प्रजापति थे। ब्रह्माजी ने कहा—'भैया, तुम सृष्टि की वृद्धि करो।"

इन्होने पूछा—"महाराज ! सृष्टि-वृद्धि के लिये हमें क्या करना होगा ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, भाई ! तपस्या से शक्ति आती है। तप द्वारा सभी संभव है। अतः तुम एकान्त मे जाकर घोर

तप करो। तुम्हारे तप से श्रीहरि प्रसन्न होकर तुम्हे अभीष्ट वर देंगे।

यह सुनकर पति-पत्नी दोनो तप करने घोर वन मे चले गये। वहाँ जाकर तुमने इन्द्रियो का दमन करके देवताओ के वर्षों से बारह हजार वर्ष-पर्यन्त (हमारे ३६० वर्ष देवताओ के एक वर्ष के समान हैं, उतने वर्ष) तुमने घोर तप किया। तुम दोनो ही बडी सावधानी से—अप्रमत्त भाव से—तप करते थे, वर्षाऋतु मे खुले मैदान मे बैठकर चारो महीनो की वर्षा को सिर पर लेते थे। जाड़े के दिनों मे कण्ठ-पर्यन्त जल मे खडे होकर तुम लोग निरन्तर तप करते रहते थे तथा गर्मी के दिनो मे बालू मे बैठकर चारो ओर से अग्नि जलाकर पाँचवें सूर्य का ताप सहकर पञ्चाग्नि तापते रहे। इस प्रकार तुम लोग वर्षा, वायु, धूप, शीत, उष्ण आदि काल के गुणो को सहते हुए अत्यन्त कठिन तपस्या करते रहे, नित्य नियम से प्राणायाम करते थे। इसलिये प्राणायामादि साधनो द्वारा तुम्हारे मन का सब मैल धुल गया। तुम दोनो निष्कल्मष बन गये। तुम मुझसे वर मांगना चाहते थे, अतः तुमने कन्द-मूल-फल आदि आहार को भी त्याग दिया, केवल वृक्षो से स्वतः ही गिरे हुए सूखे पत्ते खाकर तुम तप करते रहे। कुछ काल मे सूखे पत्ते भी तुमने छोड दिये, केवल वायु पीकर ही निर्वाह करने लगे।

जब मैंने देखा, तुम्हारा अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, उसमे किसी प्रकार का दोष शेष नही रहा है, श्रद्धा और भक्ति द्वारा, निरन्तर मेरे ही चिन्तन मे लगे हुए हो, तुम दोनो के हृदय-मन्दिर मे मेरी ही मनमोहिनी मूर्ति विराजी हुई है, तब फिर मुझसे नही रहा गया। मैं इसी चतुर्भुज रूप से तुम्हारे

सम्मुख प्रकट हुआ और मैंने मेघ-गम्भीर वाणी से कहा— वर ब्रूहि, वर ब्रूहि – वर माँगो, वर माँगो ।"

तुम दोनो ने अभी तक ससारी सुख तो भोगा ही नही था। ऐसा सौन्दर्य-लावण्य भी कभी नही देखा था विषय - भोगो का सपर्क भी तुमसे नही हुआ था, फिर सन्तान तो होती ही कैसे ! फिर तुमको मैंने प्रजावृद्धि के निमित्त ही पैदा किया था। मेरे दर्शनो का फल तो यह है, कि ससारी विषयो मे छूट-कर ससार-बन्धन से मुक्ति हो जाय, मेरे नित्यधाम की प्राप्ति हो जाय। यही वर बुद्धिमानो को मेरे प्रकट होने पर माँगना चाहिये। किन्तु, तुम्हे तो मैंने अपनी माया म मोहित कर रखा था अत तुमने मोक्ष की याचना नही की। तुम दोनो के मन मे तो मेरी मनमोहिनी मूर्ति बस गई थी। अत तुमने कहा— 'प्रभो ! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं, तो हमे अपने सदृश पुत्र दीजिए, पुत्र दीजिये, पुत्र दीजिए !'

मैंने कहा—' जाओ, अपने समान मैंने पुत्र दिया पुत्र दिया, पुत्र दिया ! '

यह सुनकर तुम दोनो अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। तुम्हारा मनोरथ सफल हो चुका था अत तुम अपने घर लौट आये और धर्मपूर्वक गृहस्थ-धर्म-का पालन करते हुए धर्माविरुद्ध काम-भोगो का भोग करने लगे।

मैं वरदान देकर जब अपने लोक मे आया तब सोचा— "अरे, मैंने तो तीन बार कह दिया—पुत्र दिया, पुत्र दिया, पुत्र दिया। इसलिये मुझे तीन पुत्र इन्हें देने चाहिये। वे तीनो ही सर्वथा मेरे समान हो।"

मैंने लक्ष्मीजी से कहा— 'मुझे थोडे सतुए बना दो।"

लक्ष्मी ने कहा— 'सतुओ का क्या करोगे महाराज ?"

मैंने कहा—"मुझे कहीं विशेष काम से यात्रा में जाना है।"

लक्ष्मीजी ने सतुए बना दिये। मैं नमक-सत्तू बाँधकर लुटिया-डोरी लेकर समस्त ब्रह्माण्डों में अपने समान तीन व्यक्ति खोजता फिरा। खोजते-खोजते थक गया, किन्तु शील, उदारता, सौंदर्य, माधुर्य, कृपालुता, भक्तवत्सलता तथा अन्यान्य गुणों में तीन की तो कौन कहे, मेरे समान एक भी व्यक्ति न मिला। तब मैं हताश हो गया। अब क्या करता? मैं वचन तो हार ही चुका था। इसलिये मैं स्वयं ही तुम्हारा पुत्र होकर 'पृश्निगर्भ' इस नाम से विख्यात हुआ।"

यह सुनकर देवकी देवी आश्चर्य-चकित होकर पूछने लगी—"अच्छा, हम पूर्वजन्म में इतने बड़े आदमी थे! मेरे पति प्रजापति थे! मैं प्रजापति की पत्नी थी! आप मेरे पहले भी पुत्र हो चुके हैं? यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।"

भगवान् बोले—"एक बार नहीं, तीन-तीन बार मैं तुम्हारा पुत्र हो चुका हूँ। तुम तो मेरी योगमाया के प्रभाव से उन बातों को भूल गई हो।"

देवी देवकी बोली—"हाँ, महाराज! एक जन्म की तो कथा सुनी। दूसरे जन्म में हम कौन थे और आपने किस रूप में हमारे यहाँ अवतार धारण किया था?"

भगवान् बोले—"दूसरे जन्म में तुम अदिति थीं और ये तुम्हारे पति वसुदेवजी प्रजापति कश्यप थे। तुमने बहुत से देवों को उत्पन्न किया, फिर मैं तुम्हारे गर्भ से उपेन्द्र रूप में अवतरित हुआ। बौना होने से लोग मुझे वामन भी कहते थे। उस समय बलि को छलकर अपने बड़े भाई इन्द्र को तीनों लोकों का राज्य मैंने दिया था और तीनों लोकों का पालन किया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी ! अदिति देवी तो तब भी विद्यमान थी और अब भी है। फिर देवकी देवी अदिति का अवतार कैसे हुई ?"

सूतजी बोले—'क्यों महाराज ! इसमे कौन सी आश्चर्य की बात है ? भगवान् का जब अवनि पर अवतार हुआ, तब बलदेवजी व्यासजी, नारदजी परशुरामजी सनकादि तथा और भी कई अवतार उपस्थित थे। एक ही भगवान् के एक साथ इतने अवतार कैसे हो गये ! इन सबमे भगवान् के विशेष अंश थे। भगवान् की शक्ति तो अपरिमित है। ऐसे ही उनके अंग उपांग पार्षद् और परिकरों की भी शक्ति अनन्त है। अदितिजी एक शरीर से थी। एक अंशो से देवकी रूप मे अवतरित हुई। लक्ष्मीजी ही कितने अंश से अवतरित हुई हैं। इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। जो भगवान् के अचिन्त्य अपरिमित प्रभाव को भुलाकर केवल साधारण मनुष्यो की सीमित बुद्धि से ही विचार करते है वे ही ऐसी शकायें उठाया करते हैं। आप उन्हीं की ओर से यह पूछ रहे हैं ?"

शौनकजी बोले— हाँ, सूतजी ! यह सत्य है। अब आप आगे की कथा कहिये।"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज ! देवकी देवी ने भगवान् से पूछा—"महाराज ! तीसरे जन्म मे हम कौन थे ? आप किस रूप से अवतरित हुए ?"

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—'तीसरा तो तुम्हारे सम्मुख प्रत्यक्ष ही है। तुम देवकी वसुदेव हुए मैं श्रीकृष्णरूप मे अवतीर्ण हुआ हूँ। चतुर्भुज रूप से मैं इसलिये उत्पन्न हुआ कि तुम्हे पूर्वजन्मो की सब बातें स्मरण करा दूँ। मैं तो सत्य सकल्प हूँ, जिसमे जो कह देता हूँ, उसे पूरा करता हूँ। तुम

से तीन बार पुत्र होने को कहा था, तीनों बार मैं तुम्हारा पुत्र हो गया।"

देवकी देवी ने कहा—"महाराज ! जब आप मेरे पुत्र होकर ही प्रकट होने वाले थे, तब यह चार भुजाओं वाला अलौकिक रूप आपने क्यों धारण किया ?"

भगवान् बोले—'देखो, यदि मैं साधारण बच्चे की ही भाँति प्रकट हो जाता, तो तुम मुझे कैसे जान सकते थे ? केवल मनुष्य-शरीर से ही मेरे जन्म लेने का ज्ञान नहीं हो सकता। मैं अपने यथार्थ रूप से इसलिये प्रकट हुआ कि तुम्हें मेरे दर्शन हो जायँ, पूर्वजन्म के अवतारों की सब बातों का स्मरण हो जाय और मेरा-तुम्हारा परिचय हो जाय। कहो तो मैं बच्चा बन जाऊँ, चाहे जो बन जाऊँ; यह तो मेरे बायें हाथ का खेल है।"

देवकी देवी ने कहा—"तो महाराज ! अब आपको हम अपना पुत्र मानें अथवा परमेश्वर मानें, यह तो बड़ी दुविधा हो गई।"

भगवान् बोले—"दुविधा की इसमें कौन-सी बात है ? तुम मुझे अपना पुत्र ही मानो। कभी ब्रह्म भी मान लो। जो भी मानो, जैसे भी मानो—कुछ भी मानकर मुझमें निरन्तर अपने मन को लगा दो। अन्त मे मुझमें ही मिल जाओगी। मुझमें प्रीति बढ़ाओगी, तो अन्त में परम-पद पाओगी।"

देवकी देवी बोली—"महाराज ! आप भी कहाँ कारावास में उत्पन्न हुए ? हम तो कंस के भय से दीर्घ साँस भी नहीं ले सकती। छोटे बच्चे होते, तो कहीं छिपा भी लेती। तुम इतने बड़े चतुर्भुज प्रकट हुए हो, तुम्हें कहाँ छिपाऊँ ? मैं तो उस अपने काल-स्वरूप भ्राता से भयभीत हुई थरथर काँप रही हूँ !"

भगवान् बोले—"मुझे कंस-फंस का कुछ भी डर नहीं है। इस गदा से उसका सिर तोड़ दूँगा।"

देवकी देवी कांपती हुई बोलीं—"अजी, लालजी ! अजी, महाराज ! ऐसा मत करो। जन्मते ही उपद्रव मत मचाओ। लोग मुझे न जाने क्या समझेंगे। मेरी बहन भी मेरे पास न आवेंगी, कहेंगी—"इसने तो ऐसा छोरा जना है, जो पेट से ही मुद्गर लेकर जन्मा है, पैदा होते ही मामाजी की खोपड़ी के दो टुकड़े कर दिये। ऐसी अमानुषी लीला मत करो, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। तुम मत डरो, मैं तो कंस से डरती ही हूँ।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है; तुम डरती हो, तो एक काम करो, मुझे गोकुल पहुँचा दो। वहाँ नन्द बाबा के यहाँ मेरी माया छोरी बनकर अब प्रकट ही होने वाली है। उसे तो ले आओ और उसके स्थान पर मुझे वहाँ चुपचाप लिटा आओ।"

देवकी देवी ने कहा—"तुम तो अनहोनी बातें बता रहे हो ! हम दोनों के हाथ पैरों में हथकड़ी-बेड़ी पड़ी हैं। हम सात तालों में बंन्द हैं। सैकड़ों संगीनोवाले पहरेदार घूम रहे हैं। इतने पहरों में से तुम्हें कैसे बाहर ले जायँ। फिर अपनी छोरी को कौन मारने देगा ?"

भगवान् बोले—"इन बातों की कुछ चिन्ता मत करो। ये सब बातें मेरी योगमाया के प्रभाव से स्वतः ही हो जायँगी। अपने आप सब वानिक बन जायेंगे। तुम चिन्ता मत करो। बोलो, अब मैं बच्चा बन जाऊँ ?"

देवकी देवी बोली—"अच्छी बात है ! बन जाओ महाराज, बच्चा ! अब आप जानें, आपका काम जाने। आप जैसी प्रेरणा करते हैं, वैसा हम करेंगी। उसमें सिद्धि हो, असिद्धि हो, हानि हो, लाभ हो, पाप हो, पुण्य हो—सब आप ही जानें। हम यन्त्र हैं, आप यन्त्री हैं; हमें जैसे नचावेंगे, वैसे ही हम नाचेंगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऐसा कहकर भगवान् छोटे से, मुनमुने से, एक वितस्ति मात्र के फूल से, बालक बन गये। वे पैर फटफटाने लगे, आँखें मूँद ली, किन्तु रोये नही। रोते तो सब गुड़ गोबर हो जाता है। चोरी से उत्पन्न हुए हैं न ? चोर की तो माता भी कुठिला मे मूंड़ देकर रोती है कि कोई सुन न ले। फिर ये तो स्वय चोर हैं। रोते तो कलई खुल जाती। अतः गुम-सुम बने बापके मुंहड़े की ओर देखने लगे। वसुदेवजी योगमाया के प्रभाव से भगवान् के प्रभाव को भूल-से गये और अपने बच्चे को छिपाने के लिये गोकुल जाने की तैयारियाँ सोचने लगे।"

छप्पय

करी देवकी विनय विवशता बहुरि बताई।
बोले श्री भगवान मातु, तू च्यौं घबराई॥
पृश्नि गर्भ अरु रूप बनायो वामन मैंने।
तृतिय चतुर्भुज रूप निहारयो अब ई तैंने॥
डरहु कंस तैं मोहि तो, गोकुल महँ पहुँचाइ के।
छोरी नन्दरानी जनी, धरहु यहाँ तिहि लाइ के॥

गोकुल की गैल में

[८३१]

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः
सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा
या योगमायाजनि नन्दजायया ॥❀
(श्री भा १० स्क० ३ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

आयसु हरि सिर धरी करी गोकुल की त्यारी ।
परी हथकरी हाथ जाउँ कस बात बिचारी ॥
स्वय हथकरी गिरीं कटीं पाइनि की बेरी ।
धरे सूप महँ श्याम चले नहिँ कीन्हीं देरी ॥
शेष छत्रवत बनि गये, वर्षा तैं बालक बच्यो ।
इत गोकुल की गैल में, यम भगिनी कौतुक रच्यो ॥

जीव को भय या प्रतिकूलता तभी तक है, जब तक उसे श्री भगवान् का प्रत्यक्ष आदेश प्राप्त नही होता । जहाँ भगवत् साक्षात्कार हुआ, तहाँ अनुकूलता-प्रतिकूलता का कोई अर्थ ही नही रहता । उसके लिये सभी घटनायें अनुकूल ही हो जाती हैं । भय तो सदा दूसरे से होता है । जब घट-घट-व्यापी, सर्वान्तर्यामी, प्रभु ही अपने बन गये तब पराया दूसरा कौन

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इसके अनन्तर श्री वसुदेव जी जिस समय भगवान् की आज्ञा से सूतिकागृह से अपने बच्चे को लेकर घर से बाहर चले, उसी समय नन्दजी की पत्नी के गर्भ से भगवान् की अजन्मा योगमाया ने जन्म लिया ।'

रहा ? सभी तो अपने हो गये। अनुकूलता-प्रतिकूलता तो मन ने मान रखी हैं। बन्धन और मोक्ष भी मन की ही मानी हुई बातें हैं। जहाँ मनमोहन से मन मिल गया, तहाँ सृष्टि की सब घटनाएँ अपना ही अनुसरण करने लगती है।

सूतजी कहते है— मुनियो! जब भगवान् श्री देवकीजी तथा वसुदेवजी को इस प्रकार आदेश देकर प्राकृत शिशु के सदृश बन गये, तब वसुदेवजी ने सोचा—'भगवान् ने अभी आदेश दिया है मुझे गोकुल पहुँचा दो। नन्दजी के यहाँ मेरी योग-माया पुत्रीरूप मे उत्पन्न हुई है, उसे ले आओ। किन्तु, अब मैं गोकुल जाऊँ कैसे ? मेरे हाथो मे हथकडियाँ पडी हैं, पैरो मे बेडियाँ हैं। पहरे वाले न जाने क्यो आज चिल्ला नही रहे हैं, नही तो "ताला-जगला ठीक है महाराज'—यही बोलते-बोलते कान फोड देते हैं, पलभर को भी चुप नही रहते। ये जो बडे-बड़े ताले लकट रहे हैं, इनसे मैं कैस पार जाऊँगा।"—"वसुदेवजी यह सोच ही रहे थे, कि देखते ही देखते उनके हाथो की हथकडियाँ तडाक-तडाक करके टूट गई। पैरो की बेडियाँ स्वतः खुल गई। गले का (गल-बन्धन) स्वतः गिर गया। सम्मुख द्वार के ताले स्वय खुल गये। यह देखकर वसुदेवजी को विस्मय हुआ, किन्तु विष्णुमाया का कृत्य समझकर उन्होने मन को समझाया, तुरन्त समीप मे पडे हुए सूप को उठाया, उसमे एक गुदगुदा गद्दा बिछाया। देवकीजी की गोदी से बालक को उठाया। बडी सावधानी से उसे उस सूप मे सुलाया। माता ने तब तक बच्चे को भरपेट दूध पिला दिया था। रोते-रोते सूप मे सोये श्यामसुन्दर के सुचिक्कन कपोलो को कई बार माता ने चूमा। उनका हृदय भर रहा था, दोनो नेत्र श्रावण-

भादो की भाँति वह रहे थे, वे खुलकर रो भी नही सकती थीं। कही कंस को विदित न हो जाय, मेरे लाल का अनिष्ट न हो जाय। उनका हृदय ऐंठा जाता था वसुदेवजी ने बालक को एक अत्यन्त पतले पीताम्बर से ढँक दिया था। माता बार-बार वस्त्र को उठाती, मुँह चूमती और पुनः स्तन पिलाती।

वसुदेवजी ने अधिकार के स्वर मे कहा—'बस, बहुत हो गया। मोह-ममता छोड़ो।" देवकीजी इतना सुनकर कटी लता के समान गिर गई। वसुदेवजी बच्चे को लेकर चल दिये।

पहरेवाले सब पट्ट पड़े थे, उन्हें न शरीर की सुधि थी, न पहरे की चिन्ता। वे ज्यो के त्यो पड़े खुर्राटे ले रहे थे। योग-माया ने सभी को सुला दिया था। वन्दीगृह के सभी द्वार भलीभांति बन्द थे। उनमे बड़े बड़े फाटक, लोहे की मोटी-मोटी जंजीरें पड़ी थी, जिनमे वज्राती ताले लगे हुए थे। कोई भी किसी भी यत्न से उनके बाहर नही जा सकता था, किन्तु वसु-देवजी को देखते ही वे सब द्वार-ताले उसी प्रकार खुल गये; जिस प्रकार निरीक्षक के आने पर कारावास के द्वार खुल जाते हैं। जहाँ श्री कृष्णचन्द्रजी को लिये हुए वसुदेवजी जाते थे, वहाँ सभी मार्ग सुगम और निष्कटक बन जाते थे। उस समय की शोभा अद्भुत् थी।

भादो की आधी रात्रि थी। आकाश में बादल उमड़-घुमडकर गर्जन कर रहे थे, मानो श्रीकृष्णजन्मोत्सव के उपलक्ष्य मे नौबत, दुन्दुभी बजा रहे हो। मेघो ने देखा कि देवताओ ने तो दुन्दुभी बजाई, पुष्पों की वृष्टि की; अब हम क्या बजावें, क्या बरसावें। अतः वे मन्द मन्द गरजकर बाजो का अनुकरण करने लगे। जल की अत्यन्त छोटी-छोटी फुहारें वर्षाकर वे विश्वम्भर का स्वागत कर रहे थे। शेषजी ने देखा—"इन भक्तों को अपने ही स्वार्थ से

प्रयोजन है। ये नही देखते कि इस समय सद्यःजात शिशु को स्नान कराने से उसका अहित होगा। वसुदेवजी भी भोले भाले ही ठहरे। यह नही जानते थे, भादो का महीना है, मार्ग मे कही वर्षा होगी

साथ मे एक छाता तो ले चलें। अस्तु; कोई बात नही। वसुदेव जी व्यग्रता मे, शीघ्रता मे हडबडाहट मे यदि छाता लाना भूल भी जायें, तो मेरे ये सहस्र फण फिर किस काम आवेंगे? मैं ही क्यों न इनका छाता लगाकर इन्हें सफल बना लूं।"

इस विचारे के आते ही वे तुरन्त भगवान् के पीछे दौडे गये। वे अपने सहस्रो फणो की छाया से जल निवारण करते करते उनके पीछे पीछे चले। वसुदेवजी सकुशल यमुनाजी के तट पर पहुँच गये। इस बीच न उन्हें किसी ने रास्ते मे टोका न उन्हे कोई मिला ही।

वसुदेवजी ने आँखें उठाकर जो देखा, तो उन्हे यमराज की बहन गर्जती-तर्जती हिलोरें मारती दिखाई दी। यमुनाजी का रूप आज अत्यन्त भीषण बना हुआ था। निरन्तर वर्षा होने के कारण यमुनाजी का प्रवाह अति गम्भीर और तीव्र हो रहा था। वायु चल रही थी। साँय साँय करती हुई ऊँची ऊँची हिलोरें उठ रही थी। भीषण तरगावलियो के कारण जल के ऊपर स्वच्छ मटमैला फेन थिरक थिरककर ताल स्वर मे नृत्य कर रहा था। उसमे गम्भीर भंवर नायिकाओ की नाभियो के सदृश थे, किन्तु वे सुखकर प्रतीत न होकर भयावने-से लग रहे थे। कालिन्दी का ऐसा भयङ्कर रूप देखकर वसुदेवजी विस्मित और चिन्तित हुए। कुछ देर तो वे खडे-खडे सोचते रहे। अन्त मे उन्होने निश्चय किया— 'अरे! जिनके प्रभाव से मेरी हथकडी-बेडियाँ कटकर गिर गई जिनके प्रभाव से पहरे वाले सो गये, ताले खुल गये क्या वे यहाँ यमुनाजी के प्रवाह को नही रोक सकते? मैं निभय होकर यमुनाजी मे घुसता हूँ।'

ऐसा निश्चय करके वे यमुनाजी मे घुस गये। यमुनाजी अपने भावी स्वामी को देखकर सकुच गईं, वसुदेवजी के घुटनो तक हो गईं। फिर उन्होने सोचा—"अब तो ये मेरे समीप आ गये हैं, इन्होन मुझे आँख की कोर से देख भी लिया है फिर सगाई पक्की क्यो न हो जाय! ससुर के पैर तो छू ही लिये, इनके भी पैरो को छू लूँ, जिससे इन्हे मेरी स्मृति बनी रहे।

सब लोग इनके चरणो की ही बडी प्रशंसा करते है। मेरी छोटी बहन गङ्गा इनके चरणों से ही निकली है, स्वयं भी ये वटवृक्ष पर लेटे-लेटे अपने चरणो के अंगूठे को चूसते रहते हैं। मैं भी तो इनके चरणों को धोऊँ, पास आये पति को देखकर क्यो सोऊँ? प्रियतम के चरणों को वक्षःस्थल पर धारण करके क्यो रोऊँ? आये हुए उत्तम अवसर को क्यों खोऊँ? यह सोचकर यमुनाजी उनके चरण छूने चली। वसुदेवजी ने सोचा—'यमुनाजी बढी। उन्होंने भगवान् को सिर पर रख लिया। यमुनाजी एक झपट्टे मे सिर तक पहुँच गईं। वसुदेवजी ने दोनो हाथों से शिशु को ऊपर उठाया यमुनाजी उछली। वसुदेवजी समझ गये, कुछ दाल में काला है! उन्होंने बच्चे को नीचे कर दिया। भगवान् ने भी चुपके से अपना चरण सूप के नीचे लटका दिया। चरणों की पूजा सभी को प्यारी लगती है। कोई कहो, चाहे मत कहो। बाप के शील-संकोच से मुंह से तो कुछ कहा नही। अगूठे को ही ऐसे संकेत से घुमा दिया कि कालिन्दी सब कुछ समझ गईं। चरणामृत लेकर वे पानी-पानी हो गईं। फिर ससुर के घुटनो में ही लग गईं। वसुदेवजी सकुशल पार पहुँच गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वसुदेवजी यमुना पार करके श्रीनन्दजी के गोकुल के समीप ही पहुँच गये।

छप्पय

गर्जन तर्जन करति बहति यमुना मदमाती।
भावी पति कूँ निरखि उछलि मनमाहिँ सिहाती॥
लै के हरि को नाम शूर-सुत जल महँ प्रविशे।
कालिन्दी के कमलनयन निज पति लखि निकसे॥
पद-परसन हित बढ़ी जब, समुझि गये वसुदेव सब।
लै चरणामृत घटि गई, भये प्रेम तैं पार तब॥

नन्दरानी के प्रसव

[८३२]

यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत ।
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥*

(श्रीभा १० स्क० ३ अ० ५३, श्लो०)

छप्पय

इत यसुदा के भये गर्भ के पूरे दिन जब ।
साजि प्रसव को साज प्रतीक्षा करहिं नारि सब ॥
गोबर, तिल, सिल, सींक, शस्त्र, घट-जल, फल, मिट्टी ।
धूप, तेल, रँग, दुग्ध, दीप, सरसों, पट, घुट्टी ॥
और प्रसव की वस्तु सब, लै बूढ़ी गोपी जुरीं ।
इत उत विहरत मुदित मन, खनखनाइँ कंकन चुरीं ॥

गृहस्थधर्म एक ऐसा महान शास्त्र है कि वह पुस्तक पढने से नही आता। उसमे पग पग पर अनुभूति की आवश्यकता है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य इतना ही नही है, पशु पक्षियो की भाँति खाना, पीना सोना तथा सन्तान पैदा कर लेना, जैसे-तैसे पेट भर लेना। गृहस्थ का इतना ही पुरुषार्थ नही। चिकित्सा का इतना ही प्रयोजन नही है कि रोग के उपद्रवो को तीक्ष्ण औषधि देकर शान्त कर लें। विवाह का इतना ही उद्देश्य नही कि

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नन्दजी की पत्नी यशोदाजी को यह तो प्रतीत हुआ कि मेरे कोई सन्तान हुई है, किन्तु निद्रा और परिश्रम के कारण अचेत हो जाने से वह निश्चय न कर सकी कि पुत्र हुआ है, अथवा पुत्री।"

अपनी एक सहचरी को हाथ पकड़ के घर में ले आवें। इन सब कर्मों मे आस्तिकता हो, ये सब कर्म धर्मबुद्धि से किये जायं, उपचार और चिकित्सा के साथ हमारी धार्मिक आस्था बनी रहे, लौकिक और वैदिक—सभी कृत्य यथा-साध्य किये जायं। इन कृत्यो से हमारी भावी सन्तानो के सस्कार बनते हैं। इन्हे वे ही वृद्ध स्त्री पुरुष भलीभाँति सम्पन्न करा सकते हैं, जिन्होने चिरकाल तक गृहस्थी मे रहकर इन सब कर्मों का अनुभव किया है। बिना अनुभव के गृहस्थी के लौकिक वैदिक, कुल-परम्परागत व्यवहार जाने ही नही जा सकते।

आर्य वैदिक सनातनधर्म मे जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त सस्कार ही सस्कार हैं। उनमे सोलह संस्कार मुख्य हैं। गर्भाधान से लेकर अन्तिम दाहसस्कार तक सभी कार्य विधिविधानपूर्वक किये जाते है। गृहस्थो के यहाँ दो ही पर्व मुख्य और अत्यन्त हर्षयुक्त माने जाते है। जन्म-पर्व और विवाह-पर्व। जन्म के समय और विवाह के समय नगर के कुल-परिवार के बडे बूढे स्त्री-पुरुष आकर गृहस्थी के कामों मे हाथ बँटाते हैं। सामाजिक जीवन तो परस्पर की सहायता और सहानुभूति पर ही अवलम्बित है। किसी के घर पुत्रजन्म हो विवाह हो, आस-पास, पास पडोस के लोग उसे अपना ही काम समझते हैं और सब मिलकर सहयोग देते हैं। जब दूसरो के होता है, तो ये देते हैं। पडोसी की सहायता करना, उसके सुख-दुख मे सुखी दुखी होना यह हमारा परम धर्म था। कलिकाल के प्रभाव से अब यह सहयोग बहुत कम हो गया है। स्वार्थवश लोग दूसरो की सहायता नही करते, पडोसी मे सहानुभूति नही रखते, इसीसे हमारा जीवन रूखा-रूखा, सुख शान्ति हीन, एकाकी, प्रेम-हीन सा हो रहा है। पहले गाँव मे किसी के बाल-बच्चा होता

था, किसी के भी विवाह होता था, झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ स्त्रियो की सहायता करने पहुँच जाती थी, सब के सब पुरुष पुरुषो के कामो में हाथ बँटाते थे। अब हमारा पारिवारिक सम्मिलित कुटुम्ब-जीवन शनै-शनै नष्ट होता जा रहा है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी श्रीकृष्णचन्द्रजी को यमुना पार करा के नन्दजी के गोकुल के समीप ले आये। अब आप इधर नन्दजी के गोकुल की भी कथा सुनिये। यह तो मैं पहल ही बता चुका हूँ वृद्धावस्था मे नन्दरानी गर्भवती हुई। सम्पूर्ण व्रजभर मे इस समाचार से आनन्द छा गया। सब रात्रि-दिन शेष, महेश, गणेश दिनेश भगवती तथा भगवान् विष्णु से यही मानते थे, कि नन्दजी के लाला हो। नन्दजी बार-बार सखी सहेलियो द्वारा नन्दरानी से पुछवाते थे तुम्हारा किस वस्तु पर मन जाता है, क्या खाना चाहती हो क्या ओढना-पहनना चाहती हो। तुम्हारी जो इच्छा हो वह बताओ। नन्दजी जानते थे कि गर्भिणी के मन को मारना न चाहिये। उसकी जो इच्छा हो उसे यथाशक्ति पूरा कर देना चाहिये। यदि गर्भिणी की इच्छा पूरी न हुई, उसे मानसिक चिन्ता—अप्रसन्नता हुई, तो इसका प्रभाव गर्भगत बालक पर पडेगा। गर्भिणी को बहुत श्रम न करना चाहिये। दिन मे सोना न चाहिये। बुरी-बुरी बातो का चिन्तन न करना चाहिये। दु खद 'विस्मयोत्पादक घटनाओ को सुनना न चाहिये। परपुरुष के रूप को न देखना चाहिये, न उसके रूप का चिन्तन करना चाहिये। गर्भिणी जिस के रूप का चिन्तन करेगी, उसी के रूप की सन्तान होगी। अत उसे अपने पति के रूप का या भगवान् के ही रूप का चिंतन करते रहना चाहिये। नदजी ने दासियो से कह रखा था—"रानी को सदा भगवान् की ही कथा सुनाती रहो। उन्हे

श्रीमन्नारायण के ही रूप का सदा चिंतन कराती रहो, उनके सम्मुख श्रीहरि के ही गुण गाती रहो।" दासियाँ तथा अन्य गोपाङ्गनायें ऐसा ही करती, सदा श्रीयशोदाजी को कथा-कीर्तन सुनाती रहती, भगवान् की रूप-माधुरी का वर्णन करती रहती।

यशोदाजी के जब गर्भ रहा, तब उनका मुख मिचलाने लगा, भोजन मे अरुचि हो गई, खट्टे और सौंधे पदार्थों पर मन चलने लगा। मिट्टी और खपड़े के टुकडे खाने की इच्छा होने लगी, शरीर भारी-सा प्रतीत होने लगा, स्तनो मे कुछ कुछ दुग्ध का सा सचार होने लगा, ओष्ठो और स्तन चचुओ मे कालिमा छा गई, रह-रहकर रोमाच होने लगे, पैर कुछ भारी हो गये, फिर शनै-शनैः शरीर अधिक भारी होने लगा, उदर की वृद्धि होने लगी, अब शरीर मे कृशता विशेष प्रतीत होने लगी। अब यशोदाजी शय्या से बहुत ही कम उठती थी। वे व्याकुल-सी, चिन्तित-सी दिखाई देने लगी, किन्तु उनके मुख का तेज बढने लगा, अब तो गर्भकुक्षि मे स्पष्ट घूमता-सा दिखाई देने लगा, बड़ी बूढी गोपियो ने लक्षण देखकर नन्दजी को सूचना दी कि गर्भ के दिन पूरे हो गये, यह निश्चय नही, कब प्रसव हो जाय।

बडी-बूढी गोपियो के मुख से यह बात सुनकर उपनन्दजी ने अपने पुरोहित महामुनि शाडिल्य को बुलाया। शाडिल्य जी अपनी भूरी-भूरी दाढी पर हाथ फेरते हुए आये। आकर उन्होने पाँचो भाइयो के हाथो मे राखी बाँधी और आशीर्वाद दिये। फिर पूछा—"मैं तो आज राखी बाँधने को आने ही वाला था, आपने नन्दजी को बुलाने के लिये क्यो भेजा?"

उपनदजी बोले—"हाँ, महाराज! आप आते ही, फिर भी मुझे एक बात पूछनी थी। पाँच सुवर्णमुद्रा पत्रा के उपर रखकर

बोले—"नन्द की बहू के बालबच्चा होने वाला है। बूढी-बूढी गोपियाँ कहती है—"गर्भ के दिन पूरे हो गये।" अब यह बताइये—"कब बालक का जन्म होगा और छोरी होगी या छोरा ?"

यह सुनकर वृद्ध शाडिल्य बोले—'अजी, छोरी का क्या काम! छोरा होगा, छोरा। फिर मेष, वृष, मिथुन, कर्क करके कई बार उंगली पर गिनकर बोले—"आज से आठवें दिन भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को तुम्हारे लाला का जन्म होगा।"

उपनन्दजी हर्ष के साथ बोले—'किस समय होगा महाराज ?"

हँसकर बूढे मुनि-बोले—'अब सब बात पहिले से ही पूछ लोगे। हम यह नही बतायेंगे, किस समय होगा, किन्तु होगा अष्टमी के दिन।"

बस, फिर क्या था! सम्पूर्ण व्रज मे हल्ला मच गया नद के लल्ला होगा, सभी स्त्री-पुरुष तैयारियाँ करने लगे। उपनद जी ने सुनन्दजी से कहा—"भैया, हम पाँचो भाइयो मे एक ही तो बहन है, बच्चा होने पर बूआ का बहुत काम पडता है, इसलिये तुम किसी गोपकुमार को भेजकर सुनन्दा को बुलवा लो"

यह सुनकर सुनन्दजी ने पास मे बैठे हुए एक छरहरे लडके से कहा—'अरे, भया हरी, तू अपनी बूआ को लिवा लायेगा ?"

उसने शीघ्रता से कहा—"हाँ चाचा! मैं चला जाऊँगा, किन्तु बडे बैलो की जोडी को बहलो मे जोतकर ले जाऊँगा।"

हँसकर उपनन्दजी ने कहा—"अच्छा, अच्छा, उनको ही ले जाना किन्तु वहाँ मेहमानी हो खाते मत रह जाना। आज साँझ होते होते लौट आना।"

वह बोला—'अब ताऊजी! आज तो जाऊँगा ही, कल आ जाऊँगा।"

उपनन्दजी बोले—"अच्छा जा।"—"यह सुनकर वह गोपकुमार घर मे गया, भोजन किया। नई अँगरखी-पगड़ी पहनी, सिर पर सिरपेच बाँधा और कधे पर दुपट्टा डाल, सज-धजकर हाथ में पेना लेकर चौपाल पर आया। कई गोपों ने रथघर से बहली निकाली, उसको धूल झाडी। बड़े-बडे नागौरे बैल उसमें जोते। सीगो मे रग-बिरंगी पगड़ी बाँधी, गले में मोर पख के गंडे बाँधे। बहली में घंटे घटी बाँधकर उसने बैलों को दौड़ाया। बैल वायु मे उडने-से लगे। सुनन्दाजी की ससुराल पास में ही चार-पाँच कोस पर थी। बहली की खनखनाहट और घटे की ध्वनि सुनकर सब गाँववाले चौक पड़े। "कहाँ की बहली आई! बैलो को देखकर ही सब समझ गये, यह तो गोकुल की जोड़ी है। सब ने अनुमान लगा लिया कि नन्दजी के बाल-बच्चा होने वाला है, यशोधरजी की बहू को लेने कोई आया होगा। बहली को देखकर लड़की-लडके दौड़े-दौड़े सुनन्दाजी के पास गये—"चाची, चाची! गोकुल से बहली आई है, तुझे लेने।"

यह सुनकर सुनन्दाजी का हृदय तो बाँसो उछलने लगा। इतने में ही गोपकुमार ने आकर सुनन्दाजी के पैर छुए। सुनन्दा ने लडके को छाती से चिपटा लिया। उसके सिरपर हाथ फेरा और कहा—"कहो, भैया! घर मे सब राजी-खुशी है?"

लड़के ने कहा—"हाँ, बूआ! सब अच्छी तरह हैं, चाची के बालबच्चा होने वाला है। उन्होने तुझे बुलाया है। ताऊजी तो कहते थे आज ही लौट आना।"

सुनन्दाजी ने प्यार से कहा—"अरे भैया! आज कैसे लौट सकते हो? इतने दिनो पर तो घर जाऊँगी। कुछ भाजी वाहन भी तो बनाना है? हम कल चलेंगी। अच्छा, जा, हाथ-पैर धो ले, भूखा होगा। तब तक मैं भोजन बनाती हूँ।"

यह कह कर सुनन्दाजी उठ पड़ीं। शीघ्रता के साथ दूध में चावल डाल दिये। कढ़ाई माँजकर उसे चूल्हे पर चढ़ाया, छुन्न-छुन्न करके घी पिघलने लगा। पूड़ियाँ बिलने लगीं। और भी दस-बीस गोपियाँ इकट्ठी हो गईं। चढ़ी कढ़ाई पर भाजी-वाहिने के लिये मठरी सकल पारे भी बनने लगे। हरिहर को भोजन करा दिया। सुनन्दा बूआ रात भर घर जाने की तैयारियाँ करती रहीं। कभी उस लँहगा को बाँधती, कभी उस ओढ़नी को रखतीं।

प्रातःकाल सबसे मिल भेंट कर लम्बा-सा घूँघट मारकर वे बहली पर चढ़ गयीं। घड़ी भर दिन भी न चढ़ा होगा कि बहली नन्द जी के द्वार पर पहुँच गई। ब्रज में सब प्रतीक्षा ही कर रहे थे। अब तो सुनन्दा जी अपने पीहर में आ गयीं। यहाँ घूँघट की कौन कहे सिर भी आधा खुल रहा था। भाइयों ने अपनी छोटी बहिन को प्यार किया। सभी गोपियाँ हृदय से हृदय सटा कर मिलीं। भीतर जाकर सुनन्दा अपनी सभी भाभियों से मिलीं और ताना देते-देते बोलीं—"अब तो हमें सबने भुला ही दिया। कभी बुलाती भी नहीं।"

नन्दरानी ने तालियों की गुच्छा सुनन्दा देवी को देते हुए कहा—"बीबी! अब तुम इसे सम्हालो।"

बिना कुछ आपत्ति किये सुनन्दा जी ने तालियों का गुच्छा अपने नाले में बाँध लिया और आते ही घर की सभी सार सम्हार करने लगीं। कौन वस्तु कहाँ रखी है, क्या चाहिये, कौन-सी वस्तु मँगानी है, सब सुनन्दा देवी को पता था। इस प्रकार सब तैयारियाँ करते करते भाद्रपद कृष्णाष्टमी का दिन आ गया।

ब्रज भर की बूढ़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ अपने सफेद बालों को सफेद

ओढ़नी से ढाँककर, पोपले मुँह को बार-बार चलाती हुई आ गई। सब को निश्चय था, कि आज नन्दरानी के बालक होगा। जितनी स्त्रियाँ थी, सब सुहागिनी थीं। बूढ़ी भी थीं, अधेड़ भी थीं, युवती भी थीं, और कुछ कुमारी भी थीं। जिस घर मे प्रसव होना था, उस प्रसूतिघर को भली-भाँति सजाया गया। अपने कुलकी बूढ़ी धाय कई दिनों से वहीं रहती थी। उसका आज कल बहुत आदर था, उसे पान खाने का व्यसन था, पलङ्ग पर बैठी-बैठी पान चबाती रहती और वहीं से आज्ञा देती रहती—"यह लाओ, वह लाओ, इस वस्तु को भी जुटाकर रख लो। संभव है इसका भी काम पड़ जाय।" सूतिका घर को लीप पोत कर स्वच्छ किया गया। चारों ओर उसमें धूप जलाई गई, भूत बाधा हटाने के लिये सरसों बिखेरी गई और विशेष वस्तुओं की धूनियाँ दी गयीं।

बूढ़ी दाई बता रही थी—"बेल की तेंदुए की, गोंदनी भिलावा तथा खैर की सूखी-सूखी लकड़ियाँ लाओ। प्रसूत के समय इन सब लकड़ियों का व्यवहार शुभ होता है। शुद्ध सदाचारी अथर्ववेद के जानने वाले ब्राह्मण भी रहें, न जाने किस समय कौन-सी बात पूछनी हो। सामने की चौपाल में उनके ठहरने का प्रबन्ध करा दो। आज किवाड़ बन्द करने की आवश्यकता नहीं। रात्रि में जाने किस समय बच्चा हो जाय! सूतिका घर को फिर देख लो। वहाँ तनिक भी मैला-कुचैला न रहने पावे, सुगन्धित धूप जलती रहे। यमुना जल के घड़े भरकर रखवा दो। जल की बहुत आवश्यकता पड़ती है। पास के घर में पुराने कपड़े रखवा दो। वे सब धुले और अच्छे हों। अङ्गीठियाँ दो रहें। कोयलों की बोरी अच्छी तरह रखवाओ। कोयले बहुत बड़े भी न हों, छोटे भी न हों। भङ्गिनि दो बनी रहें,

शौचालय में गन्दगी न होने पावे। और फिर तुम सब तो जानती ही हो। सब ही अनेकों बार बच्चे जन चुकी हो।

एक छरहरी-सी गोपी बोली—"दादी, तैंने ये सब बातें कंठस्थ कर ली होंगी।"

अपना ज्ञान जताती हुई दाई बोली—"अरी, बेटी! रात दिन यही काम करना होता है। बच्चे पैदा कराते-कराते ही मेरे बाल सफेद हो गये हैं। देखो, इतनी चीजें सम्भाल कर रखना। दो सिल, दो ऊखल-मूसल, बाहर बाबा से कहो एक सॉड़ भी बाँध दें। धोबी के यहाँ से एक गधा भी मँगा लें।"

एक बूढ़ी सी गोपी बोली—"अरी, रहने भी दे। गधे-फदे का क्या काम। तू तो बहुत बढ़ाती है। गधे के चार बाल उखाड़-वाकर मँगवा लो।"

बूढ़ी दाई ने पान मुँह मे ठूसते हुए कहा—"वीर! जो नेग-जोग सकुन होता है, उसे मैं बताती हूँ, करो चाहे मत करो, और सुनो—सुई, धागा, छुरी, चाकू, सोना, चाँदी, अन्न—ये सब चीजें रख लो। गेरु घिसकर लगाया जाता है, गेरु मँगा लो। सातिये रखने को अच्छा सा गोबर मँगा लो। नई कोरी सींग सातिये में लगाने को रख लो। कोरा कपड़ा, हलदी और आटा, एक काली हड्डी मँगा लो। बच्चा पैदा होने पर जात कर्मसंस्कार होता है, उसकी सामग्री मँगा लो।"

सुनन्दा ने कहा—"दादी! उसमे क्या-क्या होता है, उसे भी बता दो।"

बुढ़िया बोली—"अरी, लाली! वह तो मेरा काम है नहीं। पडितजी का काम है। यही धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुङ्गीफल, सुदक्षिणा, समर्पयामि ऐसा पडित करते हैं। पुजारीजी को चुन्नी पंसारी के यहाँ भेज दो, वह अपने आप बाँधकर पुड़िया दे देगा।

हाँ, एक बात तो मैं भूल ही गई। दो ओषधियाँ अभी और मँगानी हैं।"

सुनन्दा बोली—"तुमने तब से तो कहा नहीं, बैठी-बैठी पान चबा रही हो। ओषधियों का क्या होगा?"

बुढ़िया बोली—"देख बेटी! कूट, इलायची, लांगुली, कन्द, वच, चित्रक (चीते की छाल) और कज—इन सबका चूर्ण बनाकर बार-बार सुँघाने से बच्चा तुरन्त हो जाता है और जनने वाली को पीड़ा भी नहीं होती। और दूसरी ओषधि धूनी देने की है। शीशम की गोंद और भोजपत्र की गोंद इन दोनों को लेकर बार-बार कुछ-कुछ देर में धूनी देने से भी बच्चा शीघ्र होता है। अच्छी तेल की बोतल रखी है कि नहीं, उसकी मुझे तुरन्त आवश्यकता होगी। जब प्रसव की पीड़ा होती है, तो मैं दोनों पसवाड़े पीठ और नितम्बों में ऐसे हलके हाथों से मालिश करती हूँ कि बच्चा तुरन्त हो जाय। कुछ ओषधियाँ और हैं जो यहाँ तैयार रखी रहें, जैसी स्थिति होगी, जब आवश्यकता होगी, मैं माँग लूँगी। घी, तेल, शहद, गेहूँ आदि तो घर में हैं ही। इतनी ओषधियाँ और मँगा लो। सेंधानमक, संचरनमक, कालानमक, वायविडंग, गुड़, कुष्ठ (कुड़ा) देवदार, सोंठ पीपलामूल, गजपीपल, मण्डूकपर्णी, इलायची, लांगुली कन्द, वच, चीता, चव्य, लताकरंज, हींग, सरसों, लहसन, कनकवृक्ष, दम्न, अलसी, पेठा, भोजपत्र, कुलथी और कुछ आसव भी मँगाकर रख लो।"

इस पर एक अधेड़-सी गोपी बोली—"धाय दादी तू क्यों बादर फारि रही है। किसी के बच्चा नहीं हुए या हमने कभी प्रसव नहीं किया, दश-दश बार हमारे तो बच्चा हो चुके हैं। हमने तो ये चीजें आँखिन से भी नहीं देखी हैं। नन्दरानी के

अनोखा ही बच्चा पैदा होगा। तैने तो पूरी चरक संहिता ही याद कर ली है। हमारे यहाँ तो गोपियाँ खेतों में काम करती रहती हैं, वहीं बच्चा हो जाता है। वह नन्दा की बहू रामलीला देखने मथुरा गई। मेले में ही उसके बच्चा हो गया। कुछ बात नहीं, उठाके ले आई। मेरा ही बड़ा छोटा बनवारी जङ्गल में हुआ। मैं खेत पर रोटी देने गई, वहीं हो गया। मेरे तो कोई पास भी नहीं था। पीछे जब वे आये, तो उन्होंने पास में काम करती हुई चमारिनियों को बुलाया।"

यह सुनकर बूढ़ी दाई पान की पीक को पात्र में थूककर मुँह पोंछकर बोली—"अरी, छोरी! तू क्यों बढ़-बढ़ के बात बनाती है। तू मेरे सामने ही तो पैदा हुई है।"

जल्दी से उस गोपी ने कहा—"दादी, सामने पैदा होने से क्या बात हो गई! तू भी तो किसी के सामने ही पैदा हुई होगी। तेरे सब बाल सफेद हो गये हैं। मेरे आधे सफेद हो गये हैं, मेरी बात का उत्तर दे।"

यह सुनकर दाई बोली—"बेटी! सब की एक सी बात नहीं होती। ये नन्दरानी अत्यन्त सुकुमारी हैं, इन्होंने आज तक कभी प्रसव किया नहीं। प्रथम प्रसव में बड़ा कष्ट होता है। दो चार बार होने के अनन्तर उतना नहीं होता। फिर अन्य गोपियों में और यशोदा जी में कुछ अन्तर भी तो होना चाहिये—ये रानी हैं। मैं तो सब घरों में जाती हूँ, किसी के बच्चा होने में कष्ट होता है, तो मैं उससे धान कुटवाती हूँ। हाथ-पैर हिलवाती हूँ, इधर-उधर घुमाती हूँ, बार-बार जम्हाई लिवाती हूँ, इससे बच्चा तुरन्त हो जाता है, किन्तु ऐसी सुकुमारी से ऐसा परिश्रम कराऊँ, तो वायु कुपित होकर बच्चे के तथा बच्चा जनने वाली के प्राणों तक को ले सकता है। सभी धान बाईस

पॅसेरी नहीं बिकते, सभी पशु एक डन्डे से नहीं हाँके जाते। इसी सम्बन्ध की मुझे एक कहानी याद आ गई, कहो तो सुना दूँ।"

सबने कहा—"हाँ, हाँ दादी! सुनाओ कहानी। बुढिया पान को उगलती हुई बोली—"एक राजा थे राजा। उनकी रानी बड़ी सुन्दरी, बड़ी सुकुमारी और बड़ी ही बुद्धिमती थी। ये राजा छोटे थे, वह बहुत बड़े राजा की लडकी थी। राजा को बाग बगीचा लगाना बहुत ही प्रिय था। राजा ने एक बहुत बड़ा बाग लगा रखा था। उसमे देश देशान्तरो से भाँति-भाँति के फल फूलो के पौधे मँगवाकर लगा रखे थे। सेकडो माली उसमें काम करते थे। राजा नित्य सबको देखा करते। जो पौधे बहुत सुकुमार थे, उन्हें छाया में गमलो मे रखते, बड़ी सावधानी से पानी दिलाते। राजा को पेड़ो से अत्यन्त ही प्रेम था। रानी भी उसके साथ घूमने-फिरने बाग मे आती थी। छोटे-छोटे पौधों को, लताओं के कुञ्जो को, बेलवाले वृक्षों को देखकर राजा-रानी बहुत प्रसन्न होते।"

कुछ काल मे रानी गर्भवती हुई। गरमी के दिन थे। बहुत सी बूढी-बूढी धायें इकट्ठी हुईं। प्रसव की सामग्रियाँ मँगाई जाने लगीं। रानी, राजा को महलों मे ही अटकाये रहती—"अब के उसे बुलाओ, यह वस्तु मँगाओ। राजा कभी-कभी बाग में भी न जाने पाते, इससे वे ऊब गये। एक दिन झुंझलाकर बोले—"रानी! तुम्हारे बच्चा हुआ या बवडर हुआ। यह ला, वह ला, तुमने खोपडी खा ली। हम तो स्त्रियों को नित्य बच्चे जनते देखते हैं। हमारे यहाँ की नौकरानियों के कपास बीनते-बीनते खेत में बच्चे हो जाते हैं। तुमने तो दो महीने से आकाश पाताल एक कर रखा है। यह लाओ, वह लाओ, इसे

बुलाओ, उसे बुलाओ। बच्चा होगा, हो जायगा, उसकी इतनी चिन्ता क्यों ?"

रानी बुद्धिमती थीं, अतः उसने हँसकर बात टाल दी कि तुम मूँछों वाले प्रसव की पीड़ा क्या जानो। स्त्री होते तब जानते। बात हँसी मे टल गई। एक दिन रानी अकेली बगीचे में गईं। वहाँ सैकडों माली काम करते थे। गरमी के दिन थे, गमलों में पौधो मे सायं-प्रातः दोनों समय जल दिया जाता था। रानी ने मालियों के चौधरी को बुलाकर कहा—"देखो, मेरी आज्ञा है, आज से तीन दिन तक एक भी पेड़ में पानी मत देना। और न महाराज से कहना। यदि तुमने मेरी आज्ञा भङ्ग की, तो तुम्हें तुरन्त निकलवा दूँगी।"

हाथ जोडकर चौधरी ने कहा—"महारानी जी ! हम कभी आपकी आज्ञा का उलङ्घन कर सकते हैं ? आपका नमक खाते हैं, हमे जो आज्ञा होगी वही करेंगे।"

इतना कहकर रानी चली गईं। तीन दिन तक राजा को काम मे इस प्रकार फँसाये रखा, कि वे बगीचा आ ही न सके। चौथे दिन रानी ने कहा—"प्राणनाथ ! आप बगीचा नहीं चलते, बगीचा गये कई दिन हो गये।"

राजा ने झुंझलाकर कहा—"बगीचा कैसे जाऊँ, तुम्हारे लाला जो होने वाला है, उसी की सार सम्हार से अवकाश नहीं मिलता।"

रानी ने हँसकर कहा—"अच्छा, चलो चलें मैं भी आज चलती हूँ।"

यह कहकर रानी भी राजा के साथ रथ मे बैठ कर गयीं। तीसरा पहर था, अभी तक धूप अत्यन्त कष्टदायी थी। राजा ने बगीचे मे जाकर जो देखा, वे देखते ही भौचक्के-से हो गये। पेड़

सब कुम्हलाये हुये थे। बहुत से गमलों के सुकुमार पौधे सूख गये थे। बहुतों के पत्ते झर गये थे।"

राजा के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। तुरन्त उन्होंने चौधरी को बुलाया और लाल लाल आँखें करके बड़े क्रोध के स्वर में बोले—"मेरे इतने सुन्दर बाग को तुमने चार दिन में ही चौपट कर दिया, मैं तुम्हें बहुत अधिक दण्ड दूँगा। तुमने चार दिन से इनमें पानी क्यों नहीं दिया ?"

हाथ जोड़कर थर-थर काँपते हुए चौधरी ने कहा—"प्रभो! आप हमारे माई बाप हैं, अन्नदाता हैं। हम क्या करें, हमारे तो आप दोनों ही माता-पिता के तुल्य हैं, किसकी आज्ञा मानें, किसकी न मानें ?"

राजा ने क्रोध में भरकर पूछा—"इसका क्या अर्थ ? हम पूछते हैं कुछ उत्तर देते हो कुछ ?"

चौधरी ने कहा—"महाराज! हमें जैसी आज्ञा मिली, उसका पालन किया ?"

राजा ने गरज कर पूछा—"पेड़ों में पानी मत दो, यह तुम्हें आज्ञा किसने दी ?"

चौधरी काँपने लगा और महारानी के मुख की ओर देखने लगा। तब रानी ने कहा—"आज्ञा मैंने दी ?"

अब तो राजा कुछ सटपटाये, किन्तु फिर उसी स्वर में बोले—"तुमने ऐसी आज्ञा क्यों दी ?"

रानी झूठा रोष दिखाती हुई बोली—"यह आज्ञा इसलिये दी, कि आप व्यर्थ में इतना धन अपव्यय कर रहे हैं। नित्य इनमें दो बार जल देने की क्या आवश्यकता है ? जङ्गल में छोकर, करील, हींस आदि के पेड़ खड़े रहते [illegible]ीन देता है, ये सब तो हरे भरे बने रहते हैं।

ये तो सूखते ही नहीं! आपके पेड तीन दिन में ही सूख गये।"

यह सुनकर राजा हँस पडे और बोले—"अच्छा, यह उस बात का उत्तर है, कि नौकरानियाँ खेत में ही बच्चे जन लेती हैं—तुम इतना खटराग क्यों करती हो?"

रानी ने प्यार से कहा—"हाँ, प्राणनाथ! उसी बात का यह उत्तर है। देखिये, सबके साथ एक-सा बर्ताव नहीं हो सकता। जिनको रात-दिन मस्तिष्क का काम करना पडता है उनके, और जो रात-दिन खेत में परिश्रम का काम करते हैं उन के भोजन में अन्तर होता है। दोनों के लिये एक-सा भोजन अनुकूल नहीं पड़ता। सब की प्रकृति, सबके स्वभाव, सब के कोठे भिन्न-भिन्न होते हैं।"

बूढी धाय कह रही है—"सो, बेटियो! मैं मानती हूँ, बहुत-सी स्त्रियाँ बिना उपचार के ही अपने आप प्रसव कर लेती हैं, किन्तु उनमें और नन्दरानी में अन्तर है।"

यह सुनकर कई बूढी-बूढी डोकरियाँ बोलीं—"हाँ, अन्तर क्यों नहीं है, वे रानी ठहरीं। यह सब को अपना ही-सा समझती हैं।"

इतने में ही सुनन्दा आ गई और कुछ अधिकार के स्वर में बोली—"इस बूढी धाय पर तो दो ही काम आते हैं। दिन भर इधर-उधर की कथा कहानी कहला लो या एक टोकरी भर के बकरियों की तरह पान चबवा लो। काम तो कुछ करके देगी नहीं। वहाँ भाभी कराह रही है, यह यहाँ गप्प मार रहा है।"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ पलङ्ग पर से उठती हुई धाय बोली—"अजी, बीबी जी! मैं क्या करूँ ये छोरियाँ मानती ही नहीं। चलो चलें।" यह कहकर धाय यशोदा मैया के समीप

गई। वे एक अत्यन्त गुदगुदे गद्दे पर तकिये के सहारे सुखपूर्वक लेटी हुई थीं। धाय ने जाकर उनके पेट को देखा। धीरे-धीरे अत्यन्त कोमल भाव से उसे दबाया और फिर बोली—"रानी, कैसा चित्त है ?"

सरलता के साथ नन्दरानी ने कहा—"अच्छा ही है।"

धाय बोली—"रानी ! बुरा न मानो तो एक बात कहूँ।"

यशोदा जी बोली—बुरा मानने की क्या बात है, कहो क्या कहती हो ?"

धाय ने कहा—"पेट टटोलने से तो ऐसा लगता है मानों पेट में दो बालक हैं।"

यशोदा ने प्रेम के रोष में कहा—"इस बुढ़िया को एक न

एक विचित्र ही बात सूझती रहती है। एक हो जाय यही बहुत है। कहती है दो-दो बालक है।"

धाय बोली—"हँसी की बात नहीं। अच्छा, यह बताओ, तुम ने कभी जुड़ैला केला तो नहीं खाया ?"

यशोदा मैया बोलीं—"जुड़ैला केला क्या होता है ?"

धाय ने कहा—"केले की जो फली होती है न। कोई-कोई दो फली एक साथ जुड़ी रहती है। उसे ही जुड़ैला केला कहते हैं।"

नन्दरानी ने कहा—"मेरी तो केला खाने मे रुचि ही नहीं होती। हाँ बालकपन मे हमारे कूँए के पास बहुत केले थे। एक पेड़ पर ही गहर पक गई थी। मैंने बाल सुलभ चञ्चलता वश उसमे से दो जुड़ी हुई फली अवश्य खा ली थी।"

धाय की प्रसन्नता से आँखें चमकने लगी—अपनी सर्वज्ञता पर गर्व करती हुई बोली—"देखो मैंने कैसी बात बता दी! जुड़ैले केले कन्याओं को कभी न खाने चाहिये। नहीं तो उनके जुड़ैले लड़के होते हैं।"

यह सुनकर सुनन्दा ने खीज कर कहा—"भाभी! इस बुढ़िया का तो माथा फिर गया है, तुम इसकी बात पर ध्यान मत देना। यह अब सठिया गई हैं।" फिर धाय से बोली—"तू अपनी पंडिताई छाँटना छोड़ दे। यह देख बच्चा होने मे कितनी देर है ?"

धाय फिर हाथ मे तेल लगाकर मालिश-सी करने लगी और पूछने लगी—"रानीजी! अंगों मे ग्लानि सी तो नहीं होती। मुख और नेत्रों में शिथिलता का अनुभव तो तुम नहीं कर रही हो ? ऐसा प्रतीत तो नही होता कि वक्षस्थल के बन्धन खुल-से रहे हैं। कोख नीचे की ओर तो नहीं जा रही हैं ? नाभि के नीचे के भाग मे भारीपन तो नहीं प्रतीत होता। वस्ति,

कमर, पसवाड़े तथा पीठ में चमक-सी तो नहीं हो रही है। मुँह बहुत मिचला तो नहीं है। कुछ हड़बड़ाहट सी तो नहीं प्रतीत होती है।"

यशोदा जी ने कहा—"सो, तो कुछ नहीं, मुझे न घबराहट है, न पीड़ा ही प्रतीत होती है। मुख भी नहीं मिचलता। हाँ, कुछ आँखों में नींद-सी आने लगी है। चित्त चाहता है सो जाऊँ।"

यह सुनकर बूढ़ी दाई अपने पोपले मुख को फाड़कर हँसने लगी। पास में बैठी स्त्रियों ने पूछा—"दादी ? हँस कैसे पड़ी ?"

धाय बोली—मुझे एक कहानी याद आ गई।"

एक गोपी ने पूछा—"कौन-सी कहानी दादी ! उसे भी सुना दो।

धाय बोली—"एक नई बहू थी। सीधी-सादी भोली-भाली। उसने पहले कभी बच्चा जनते किसी को देखा नहीं था। पहले ही पहले उसके गर्भ के दिन जब पूरे हो गये, तब एक दिन उसने अपनी सास से कहा—"सास जी ! देखो, ऐसा न हो कि कभी मेरे रात में बच्चा हो जाय और मैं सोती की सोती ही रह जाऊँ। मेरे जब बच्चा हो तो मुझे जगा देना।"

हँसकर सास ने कहा—"बेटी ! मैं क्या जगा दूँगी, तुम्हीं घर भर तथा मुहल्ले भर को जगा देगी। सो देखो, यशोदा जी के प्रसव के सब लक्षण प्रकट हो गये हैं। बूढ़े शांडिल्य ने तिथि भी बता दी है, सौ वर्ष मे तो मैं देख रही हूँ, शांडिल्य जी की बात कभी झूठी नहीं होती ! अब आधी रात होने वाली है, रानी कहती हैं—मुझे नींद आ रही है।"

कह सुनकर सुनन्दा ने फिर धाय को डाँटा—"इस बूढ़ी को सदा हँसी ही सूझती रहती है। सब बाल सफेद हो गये, मुँह में

एक भी दाँत नहीं, बात ऐसी रसीली करेगी मानों अब ही गौने की दुलहिन आई हो।"

बुढ़िया ने डाँट कर कहा—"लल्ली! तुम समझती नहीं हो, जिसके बच्चा होने वाला हो, उसे ऐसी हँसी विनोद की बातें सुनाते रहना चाहिये, जिससे उसका मन प्रसव की पीड़ा की ओर न जाय। इधर-उधर बातें कह कर मनको बहलाते रहना चाहिये। जाओ, अपने भैया से कह आओ कि अभी बच्चा नहीं हुआ।"

सुनन्दा इतना सुनते ही छम्म-छम्म करके बाहर गई। उसके हर्ष का ठिकाना नहीं, उसकी चोटी ऐड़ी तक लटक रही थी। सिर खुला था, आज वह इधर से उधर घूम रही थी, कभी बाहर जाती, तो कभी भीतर आती। कभी किसी वस्तु को उठाती, कभी किसी को रखती। उसे एक स्थान मे चैन नहीं पड़ता था। उसने बाहर चौपाल मे जाकर कहा—"भैया जागते रहना, अभी बच्चा नहीं हुआ है।"

नदजी ने कहा—"हम जाग रहे हैं, तू जा; वहीं बैठ। जब कुछ हो, तो हमे सूचना देना।" इतना सुनकर सुनन्दा भीतर चली गई। युवती गोपियाँ ढोलक बजाकर गीत गाने लगीं बुढ़िया पैर फैलाकर उनकी आ में आ मिलाने लगी। धाय इधर-उधर की वस्तुओं को देख-देखकर रखने लगी।

इस प्रकार आधी रात हो गई भगवान् की योगमाया के प्रभाव से गोप-गोपी सभी को नींद आ गई। जो जहाँ बैठे थे, वहीं सो गये। गोप भी मंचों और खाटों पर सो गये। धाय भी सो गई। और की तो बात ही क्या, यशोदा मैया भी गहरी नींद मे सो गईं।"

उसी सुप्तावस्था मे उन्होंने प्रसव किया। उन्हें, यह भी

पता नहीं चला कि छोरी हुई या छोरा, एक हुए या दो। कुछ-कुछ ऐसा प्रतीत तो हुआ कि मेरे कुछ हुआ है, किन्तु योगमाया के प्रभाव से प्रसव करके भी वे सो गईं। जो बालक पैदा हुआ, वह रोया भी नहीं। बालक क्या था योगमाया ही बालिका बन गई थी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नट नागर की लीला अद्भुत है। देखिये, कैसी विचित्र बात हुई। प्रसव से पहले स्त्रियों को कितना कष्ट होता है, चिल्लाती हैं, तड़फड़ती हैं। मूर्च्छित हो जाती हैं, किन्तु यशोदाजी ने सोते-सोते ही बच्चा जन दिया और जनकर भी सो गईं।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! फिर क्या हुआ? पूरी कथा सुनाइये, गोप गोपी फिर कब जगे?"

सूतजी बोले—"सुनिये, महाराज! मैं सम्पूर्ण कथा सुनाऊँगा, आप एकाग्रचित्त होकर इस पुण्यमयी कथा को श्रवण करें।"

छप्पय

पलपल महँ सब करें प्रतीक्षा नन्दलाल की।
नन्दरानी के होहि न पीड़ा प्रसवकाल की॥
लीला अपनी तहाँ योगमाया फैलाई।
सोये सबई योगनींद महँ लोग-लुगाई॥
परी पलग पै यशोदा, तनिक आँखि-सी झपि गई।
भयो कछू परि सुधि नहीं, छोरा वा छोरी भई।

है। इस मनुष्य-नामक जन्तु की बुद्धि पर पत्थर पड़ गया है। यह भी भगवान् की ही माया है। जिसे भी देखो वही अपने को संसार भर की बुद्धिमत्ता का ठेकेदार समझता है। हम अंधविश्वासी नहीं हैं, जो मूर्खों की तरह "बाबा वाक्यं प्रमाण" मान लें। हममें बुद्धि है। हम अपनी बुद्धि से बड़े-बड़े आविष्कार कर सकते हैं। क्या आविष्कार कर सकते हो जी तुम? घी है, चीनी है, मैदा, सूजी, बेसन, खोया ये वस्तुयें हैं। अब आप कहते हैं, हमने एक नई मिठाई का आविष्कार किया—'सोहन हलुवा, मोहनथाल, चमचम, लवंगलता, कृष्णमोदक आदि नई मिठाइयाँ बनाईं।' क्या उसमें नवीनता की, इन चीजों को मिलाकर कोई गोल बना दी, कोई लम्बी, कोई छोटी, कोई मोटी। तुम्हारा आविष्कार तो तब जानते, जब इन वस्तुओं के बिना मिठाई बना देते। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पंचभूत हैं, ईश्वर निर्मित हैं। इनके बिना तुम कोई आविष्कार करो, तो तुम्हारी बड़ाई है! भिन्न वस्तुओं की योजना करके एक वस्तु बनाना यह भी बुद्धिमानी है, किन्तु भैया, मेरी यह लौकिकी बुद्धि है। परमार्थ में इसका कुछ भी उपयोग नहीं। इनसे विषय-भोगों की वृद्धि होती है। ये सब भुक्ति के लिये हैं, मुक्ति के लिये नहीं। ये मस्तिष्क की वस्तुएँ हैं, हृदय की नहीं। हृदय की वस्तु है भगवत्लीला। विषयों से श्रेष्ठ इन्द्रियाँ हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँचों विषय बने रहें, फिर भी जब तक इनको भोगने वाली इन्द्रियाँ न हों, तब तक ये व्यर्थ हैं। इन्द्रियों से भी श्रेष्ठ मन है। इन्द्रियाँ स्वयं भोगने में समर्थ नहीं, जब तक कि उनके साथ मन का सहयोग न हो। अतः इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन हुआ। मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि है। बुद्धि के बिना मन कुछ कर नहीं सकता! मन कितना भी छटपटाता रहे,

बुद्धि जब तक न कहेगी, तब तक वह कुछ भी न कर सकेगा, छटपटाता ही रहेगा। भगवान् तो बुद्धि से भी परे है। भगवान् मे और उनकी लीलाओं मे कोई अन्तर नही। नाम, रूप, लीला और धाम—ये सब भगवान् के ही स्वरूप है, एक ही हैं। अतः भगवान् साधारण बुद्धि से नही समझे जाते। उन्हें समझने के लिये एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म और ही विलक्षण बुद्धि होती है। अचिन्त्य भावो को मानवीय कसौटी पर कसना ऐसे ही है, जैसे सुवर्ण को ककण पर कसना। भगवत् लीलाओं को तर्क से नही, श्रद्धा-भक्ति और विश्वास के साथ श्रवण करना चाहिये; तभी रस आवेगा। माता के स्तनों को बालक बनकर पीने से ही दूध मिलेगा। दाढी-मूंछ लगाकर, बडप्पन का अभिमान बढाकर, उन्हें पियो, तो कुछ न मिलेगा। यदि कुछ मिल भी गया, तो कै हो जायगी। अतः कृष्णचरित्रों को सरल हृदय से, विश्वास-भरित अन्तःकरण से, श्रद्धा-सहित श्रवण करना ही परम धर्म है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यशोदाजी के गर्भ से योगमाया ने छोरी बनकर जन्म लिया। साथ ही द्विभुज श्रीकृष्ण भी उनके उदर से उत्पन्न हुए।"

चौंककर शौनकजी ने कहा—"अजी सूतजी! आप यह क्या कह रहे हैं! हमने तो अब तक यही सुना है, कि यशोदाजी के गर्भ से एक लड़की हुई, देवकीजी के गर्भ से भगवान् विष्णु श्रीकृष्णरूप में प्रकट हुए। वसुदेवजी श्रीकृष्ण को चुपके से यशोदाजी के पलग पर रख आये, वहाँ से लड़की को उठा लाये। अब आप कहते हैं, यशोदाजी के गर्भ से भी श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए। क्या श्रीकृष्ण दो थे?"

हँसकर सूतजी बोले—'दो नही महाराज! श्रीकृष्ण तीन

थे। तीन कहना भी अनुचित है, वे तो अनंत थे। किन्तु, लीला की सगति लगाने के लिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने तीन ही श्रीकृष्ण की कल्पना की है। श्रीकृष्ण बडे भोले-भाले हैं। वे इतने भोले-भाले न होते, तो ये स्वार्थी लोग उन्हें कभी न पूजते। वे इतने भोले हैं कि उन्हे तीन बनाओ, तीन बन जाते है, एक बनाओ एक बन जाते हैं। देवकी का पुत्र बनाओ, देवकी-नन्दन बन जाते है। अर्जुन ने कहा—'मैं तो तुम्हे साला बनाऊँगा।" भगवान् ने कहा—"मेरी बहन को लेकर भाग जा, मेरा जीजा हो जायगा।" अपना रथ भी दे दिया, अपना सारथी भी दे दिया। बताइये, इतनी कृपालुता, इतनी दयालुता आप अन्यत्र कहाँ पायेंगे। पूतना ने कहा—'मैं तो उन्हे बेटा बनाऊँगी।" भगवान् बोले—"ला, माँ, तेरी कपालक्रिया भी लगे हाथ कर दूँ। स्तन पीते-पीते ही उसे मातृगति दे दी। ऐसे भोले-भाले कृष्ण को चाहे जो बना लो, वे तुम्हे मना नही करते। और तीन कृष्ण बनाये बिना तो लीला की सगति भी नही बैठती।"

यह सुनकर शौनकजी हँस पड़े और बोले—"हाँ, तो सूतजी! तीन कृष्ण कौन-कौन-से हैं?"

सूतजी बोले—'सुनिये महाराज! एक तो मथुरेश कृष्ण हैं, एक द्वारकेश कृष्ण और व्रजेश कृष्ण। तीनो के ही अवतार के पृथक्-पृथक् प्रयोजन हैं। तीनो ने पृथक्-पृथक् अवतार लेकर भी एक ही शरीर का आश्रय लिया। श्रीरामावतार मे वालि को भगवान् ने मार दिया था। इस पर इन्द्र दुखित हुए। भगवान् ने उन्हे वर दिया—अब के हम तुम्हारे सुत से सूर्य सुत को मरवा दगे। वे ही वालि और सुग्रीव, कर्ण और अर्जुन हुए। यह अर्जुन नर-नारायण—दोनो ऋषियो मे से नर का

अवतार है। नारायण ने भी इन्द्र को वर दिया था—'मैं अवतार लेकर तुम्हारे पुत्र की रक्षा करूंगा और उसका सारथी बनूंगा। अतः महाभारत कराने के लिये, ज्ञान का उपदेश करने के लिये, नारायण ऋषि अवतार लेना चाहते थे। उसी समय भूमि पर बड़े बड़े बलवान दैत्य उत्पन्न हो गये थे। भूमि ने देवताओं के साथ भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने वर दिया, "हम मथुरा मे देवकी के यहाँ उत्पन्न होकर असुरों का संहार करेंगे, भू-का भार उतारेंगे।" देवताओं ने भूमा पुरुष से भी प्रार्थना की थी। उन्होंने अपने कृष्ण और श्वेत दो बाल उखाडकर कह दिया—"दैत्यों के वध के लिये तो मेरे इन दो बालों का ही अवतार यथेष्ट है। अतः वे ही दो बाल बलराम-श्रीकृष्ण रूप में उत्पन्न हुए। और परात्पर प्रभु स्वयं भगवान् अखिल कोटि ब्रह्माण्ड-नायक गोलोक की लीला को मर्त्यलोक मे प्रकट करने के लिये उत्पन्न हुए। इस ब्रह्माण्ड के पालक विष्णु ने मथुरा मे भगवती देवकी देवी के यहाँ चतुर्भुजरूप मे अवतार धारण किया। ये मथुरेश विष्णु हैं। इनका काम है असुरों का संहार करना, भू का भार उतारना। उसी समय नारायण ऋषि के भी अवतार का समय था। उन्होंने सोचा—"अब हम पृथक् माता कहाँ खोजते फिरें। लाओ, विष्णु भगवान् ने अवतार धारण किया है, इनके ही शरीर मे प्रवेश कर जायं। अतः वे भी उसी शरीर में प्रवेश कर गये। इनका काम है—अर्जुन का सारथ्य करना और गीता आदि का उपदेश करना। इनका कार्य मथुरा से जाकर द्वारका में आरम्भ होता है। अतः ये द्वारकेश कृष्ण हैं। तीसरे परात्पर प्रभु द्विभुज ही होकर गोकुल मे यशोदा देवी के उदर से उत्पन्न हुए। ये व्रजेश नन्द-नन्दन कृष्ण हैं। पहले ये हुए, इनके साथ भगवान् की योगमाया पुत्री

रूप से हुई अर्थात् यशोदा के दो सन्तानें हुईं—"एक पुत्र और एक पुत्री।[१] यदि एक ही उदर से पैदा न होती, तो अनुजा कैसे कहलाती ?[२] अनुजा तो उसी का नाम है, जो एक माता के गर्भ से अपने मे पीछे पैदा हुई हो। इससे विदित होता है कि जिस उदर से योगमाया हुई थी, उसीसे पहले भगवान् भी उत्पन्न हुए। जब वसुदेवजी अपने पुत्र को लेकर गोकुल पहुँचे, तब उन्होने यशोदाजी की शय्या पर एक पुत्र और एक पुत्री को पडे देखा। ज्योंही उन्होने अपने पुत्र को रखा, त्योंही वह यशोदा के द्विभुज पुत्र मे उसी प्रकार समा गया, जिस प्रकार बिजली बादल मे समा जाती है।[३] सजातीय छोटी वस्तु बड़ी वस्तु में मिल जाती है, एक हो जाती है। हम कैसा भी एक घड़ा जल लाकर गङ्गाजी मे डालें, उसमे वह एक हो जायगा। इसी प्रकार नन्द-नन्दन श्रीकृष्णचन्द्र में वसुदेव-नन्दन वासुदेव विलीन हो गये।"

शौनकजी बोले—सूतजी ! इसमें विशेषता क्या हुई ? भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, सब काम कर सकते हैं। वे गीता का उपदेश भी दे सकते है, अर्जुन का सारथ्य भी कर सकते हैं और भू का भार भी उतार सकते हैं। फिर तीन कृष्णों की कल्पना

---

१. गोविन्दाख्या पुमान् कन्या चाम्बिका मथुरांत ॥ (अग्निपुराणे)

२. नन्द पत्न्यां यशोदायां मिथुन समजायत।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥
(श्री भा० १० स्क० ४ अ० ६ श्लोक)

३. माथुरेशो द्वारकेशो व्रजस्थे नन्दनन्दने।
उभावपि विलोयेते कृष्णे पूर्णतमे नृप ॥
वसुदेव समानीते वासुदेवेऽखिलात्मनि।
लीने नन्दसुते राजन् घने सौदामिनी यथा ॥

करने से प्रयोजन क्या सिद्ध हुआ ? शरीर तो एक ही है, भगवान् की अनन्त शक्ति है, वे 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' सभी समर्थ हैं।"

इस पर गम्भीर होकर सूतजी बोले—"नही, महाराज ! इसे आप ध्यानपूर्वक विचार करें। वैसे तो आपका कथन ठीक ही है, भगवान् सर्वसमर्थ हैं; किन्तु भक्तो ने रसास्वादन के लिये, लीलाओ की सगति लगाने के लिये, ऐसी कल्पनायें की हैं। वास्तव मे तो विष्णु भी वे ही हैं, नरनारायण ऋषि भी वे ही हैं, भगवान् भी वे ही हैं, ब्रह्मा भी वे ही हैं, परात्पर प्रभु भी वे ही है। किन्तु बिना भेद-भाव के लीला तो नही बनती। विष्णु और परात्पर प्रभु के अवतारों में कुछ अन्तर है। विष्णु तो देवकी के गर्भ से पुत्र की भाँति उत्पन्न नही हुए, सहसा प्रकट हो गये; जैसे सूर्य प्रकट हो जाता है।[1] सो भी वे चतुर्भुज-रूप मे प्रकट हुए, पुत्र बनकर नही प्रकट हुए, परमेश्वर बनकर खड़े हो गये। रोये नही, हँसते रहे। किन्तु, नन्द के घर मे वे आत्मज बनकर—पुत्र बनकर—द्विभुज बालक होकर, यशोदाजी के गर्भ से बच्चे की भाँति, उत्पन्न हुए।[2] इन द्विभुज यशोदानन्दन ने न किसी दैत्य को मारा, न भू का भार उतारा। ये सब काम तो इनके अधीन नौकर-चाकर करते रहे। इन्हे किसी का रथ हाँकने या गीता का उपदेश देने का अवकाश कहाँ था ? इनके तो दो ही काम हैं—राग और भोग। आज तक भी व्रज के

---

१ देवक्या देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥

(श्री भा० १० स्क० ३ अ० ८ श्लोक)

२. नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः।

(श्री भा० १० स्क० ५ अ० १ श्लोक)

मर्यादावाले मन्दिरों में भगवान् के राग-भोग के ही समय दर्शन होते है। उन्हे किसी को दर्शन देने का अवसर कहाँ राग-भोग के समय जो भाग्यशाली आवें, वे दर्शन कर लें। ये कृष्ण कभी व्रज को छोड़कर बाहर पैर भी नही रखते। व्रज में ही उत्पन्न हुए, सदा व्रज मे ही रमण करते रहते हैं।[१] अतः देवकी-नन्दन चतुर्भुज मथुरेश, और श्री भगवान् नारायण ऋषि तपस्वी के अवतार द्वारकेश—ये दोनो ही—द्विभुज यशोदा के गर्भ से साक्षात् पुत्र रूप में प्रकट होने वाले नन्द-नन्दन के रूप में विलीन हो गये।[२]"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अजी, सूतजी! यह तो भक्तों की भावना है। लीलाओं की संगति लगाने की कल्पना है। अच्छी बात है! परन्तु, यह बताइये, व्रज से तो भगवान् अक्रूर के साथ चले गये थे। यदि न जाते, तो गोपियों को इतना वियोग क्यो होता? विरही गोपियों के अश्रुओं की बाढ़ से व्रज के बह जाने की संभावना क्यो होती?"

सूतजी बोले—"महाराज! व्रज-रस के रसिक इन सब बातों की संगति लगाते हैं। उनका कथन है, कि भगवान् का गोप-गोपी तथा गायों से कभी वियोग होता ही नही। उनका तो नित्य संयोग है। भगवान् ने प्रेम-वृद्धि के लिये यह लीला अवश्य की थी। वे रथ पर चढ़कर अक्रूर के साथ मथुरा को

---

१. सर्वदा द्विभुजो कृष्णो न चतुर्भुज कदाचन।
वृन्दावनं परित्यज्य पादमेक न गच्छति॥

२. स स्वय द्विभुजः कृष्ण यशोदागर्भसम्भवः।
तस्यासौ देवकी पुत्र भविष्यति चतुर्भुजः॥

(अग्निपुराण)

ओर चले अवश्य थे, किन्तु भतरौड तक ही गये। यहाँ अक्रूरजी ने मध्याह्न सन्ध्या करने के लिये ज्यो ही यमुनाजी में बुडकी लगाई, त्योही श्रीकृष्णजी भी यमुना मे डुबकी मारकर तुरन्त व्रज मे आ गये। रथ पर वहाँ केवल चतुर्भुज मथुरेश विष्णु ही बैठे रह गये, जिन्हें वसुदेवजी छोड गये। जैसे प्रयाग से गगा-यमुना दोनो मिलकर समुद्र की ओर साथ-साथ चलती है, किन्तु समुद्र मे मिलने के पूर्व ही बंगाल मे (मुक्त त्रिवेणी-क्षेत्र से) यमुना पुनः पृथक् होकर चली जाती है वहाँ यमुना की धारा फिर पृथक् हो गई है, वैसे ही वसुदेवजी वाले मथुरेश कृष्ण कुछ दिन तो व्रज मे व्रजेश कृष्ण के श्रीविग्रह मे मिलजुल कर रहे। वहाँ पर अघासुर, बकासुर धेनुकासुर, आदि असुरों को जो मारा है, वह तो इन मथुरेश का ही काम था। अब जब इनका मथुरा की लीला करने का समय आ गया, तब यशोदा-नदन सौहार्द्र के नाते इन्हे वृन्दावन की सीमा (भतरौड, अक्रूर घाट) तक पहुँचाने आये। इस बाद को सभी जानते हैं। व्रज मे भगवान् प्रकट-रूप मे कभी भी चतुर्भुज नही हुए हैं। यदि चतुर्भुज हो जाते, तो रस-भग ही हो जाता। फिर सख्य, वात्सल्य, मधुर—इनमें से एक भी रस न बनता। सुनते हैं, एक दिन भगवान् मान करके छिप गये। गोपियाँ व्याकुल होकर उन्हे ढूँढने लगी। भगवान् तो कौतुकी ही ठहरे! यहाँ कोई व्रज के सखा या गोप तो थे नही! रहस्य की लीला थी! गोपियो को छकाने के लिये भगवान् चतुर्भुज बनकर एक कुज मे बैठ गये। रूप-रग, आकृति प्रकृति—सब वही। केवल भुजाएं चार धारण कर ली। गोपियो ने जब चतुर्भुज भगवान् को देखा, तब तुरन्त उन्होने अपना अचल सम्हाला। गले मे ओढनी डालकर घुटने टेककर उन्होने भगवान् को प्रणाम

किया। भगवान् ने कहा—"गोपियो! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, वर मांगो।"

गोपियों ने कहा—"हमारे नटखट चित्त-चोर श्रीकृष्ण हैं, वे खो गये हैं। आप ऐसा वर दें, कि वे मिल जायें।"

भगवान् बोले - "अरे पगलियो! मैं ही तो श्रीकृष्ण हूँ!"

गोपियों ने यह सुनकर कान बन्द कर लिये, आँखें मीच ली और बोलीं—"श्रीविष्णु! श्रीविष्णु! आप यह कैसी अधर्म की बात कह रहे है! आप तो चतुर्भुजी कोई देवता हैं! हमारे यशोदा-नन्दन श्रीकृष्ण तो गोप-कुमार हैं!"

गोपियों की ऐसी निष्ठा देखकर भगवान् द्विभुजरूप से प्रकट हो गये। अक्रूरघाट पर अक्रूरजी ने जल में चतुर्भुजी विष्णु के ही दर्शन किये थे। नन्द-नंदन तो लौटकर व्रज में आ गये और गोपियों के साथ अद्यावधि वहाँ विहार कर रहे हैं। उनका विहार नित्य है, श्रीवृन्दावन नित्य है, गोप-गोपीगण तथा उनके समस्त परिकर नित्य है। अन्तर इतना है, कि पहले उनकी प्रकट लीला थी, अक्रूर के साथ आने के अनंतर अप्रकट लीला हो गई।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! ये तो सिद्धान्त की गूढ़ बातें हैं। अब आप हमें कथा-प्रसंग सुनाइये।"

सूतजी ने शीघ्रता से कहा—"जय महाराज! आपने बात छेड़ दी, तो मुझे उसका उत्तर देना ही था। नहीं तो यह तो अत्यन्त रहस्य की बातें हैं साधारण बुद्धि से ये नहीं समझी जा सकतीं। कथा प्रसङ्ग को ही अब में चालू करता हूँ। कथाओं की ओर सबकी स्वाभाविक रुचि होती है और कथा-प्रसंग को सब समझ भी जाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ सूतजी! कथा ही कहें। अच्छा, तो यमुना पार करके वसुदेवजी कहाँ गये?"

सूतजी बोले – महाराज ! सुनिये । यमुना पार करके शीघ्रता के साथ वसुदेव जी नन्द जी के गोष्ठ मे पहुँचे । लाखो गायो के झुण्ड वहाँ बँधे हुये थे । वसुदेवजी का हृदय धडक रहा था । वे सीधे नन्दजी के चौपाल पर पहुँचे। देखा वहाँ सब गोप गहरी निद्रा मे सोये पड़े है । इसे भगवान की माया समझकर वे भीतर घर मे घुसे । देखा, सब किवाड खुले पड़े हैं । घर मे स्त्रियाँ तो बहुत हैं, किन्तु सब सोई पडी हैं । कोई पीढा पर ही मुँह फाडे सो रही है, किसी के मुख से लार बह रही है, कोई ढोलक पर ही सिर रखे सो गई है, कोई किसी के ऊपर ही पड़ गई है, कोई भित्ति के ही सहारे पडी है, कोई मजीरा छाती पर ही रखे लुढक रही है, कोई घड़े के ही सहारे पडी है, कोई किसी के पेट पर ही सिर धरे सो रही है। वसुदेवजी समझ गये, यह सब भगवान् की माया है । वे सूतिकाघर मे गये, तो देखा कि स्वय यशोदा मैया भी गहरी निद्रा मे पडी हुई हैं । एक सद्य.जात बालिका वहाँ पडी हुई है । वसुदेवजी ने देर नही की । सूप से श्रीकृष्ण को उठाकर यशोदा मैया की शय्या पर सावधानी से सुला दिया और वहाँ से उस बालिका को उठा लिया । वे चलने लगे, किन्तु उनके पैर आगे नही बढते थे, नेत्रो से झर-झर अश्रु बह रहा था । दो पैर गये फिर लौट आये फिर श्रीकृष्ण को उठाया, मुख चूमा, फिर रख दिया । फिर बढे, फिर मन न माना, फिर लौटे । उनका चित्त नही चाहता था कि श्रीकृष्ण के समीप से जाऊँ, उनका वियोग उन्हें असह्य था। वे आगे बढ़े कि एक चूहा गाय के पेट पर से निकला । वह चौक पडी । वसुदेवजी ने सोचा—"बात बिगडी । यदि एक भी कोई जाग गई, तो चोर-चोर करके चिल्ला उठेगी ।" अतः वे शीघ्रता से पैर दबाते हुए चले । किन्तु, योगमाया के प्रभाव से कोई

काण्ड नही हुआ। वे चुपके से घर के बाहर हो गये। चौपाल पर गोप पूर्ववत् सो रहे थे। मन ही मन श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हुए वसुदेवजी यमुना-तट पर आये। यमुनाजी ने इन्हें पूर्ववत् मार्ग दे दिया।

यमुना पार करके वे अपने कारावास मे आये। द्वारपाल अभी तक निद्रा मे अचेत पड़े थे। वसुदेवजी ने लडकी को देख देवकी देवी को दे दिया। उन्होने स्नेह पूर्वक उसे अपनी सेज पर

सुला लिया। तदन्तर वसुदेवजी ने पुनः पूर्ववत् अपने पैरों में बेड़ी डाल ली—"हाथों में हथकड़ी पहन ली, और पूरे बन्दी बन गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह तो कुछ चमत्कार-सा ही दीखता है। पहरे वाले सब सो गये, गोप-गोपी सब सो गये, यमुना घट गईं! इसमे तथ्य क्या है?"

सूतजी बोले—'महाराज! यदि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, तब तो इसमें कुछ भी आश्चर्य या शंका नही! योगमाया के प्रभाव से सब कुछ सम्भव है! यदि उन्हें मनुष्य मानकर इस लीला पर विचार करें, तब तो स्पष्ट ही है कि कंस के अत्याचारो से सभी दुःखी थे, पहरे वालो मे मिलकर वसुदेवजी चले गये। नदजी से पहले ही पक्की कर ली होगी। कृपावश उन्होंने अपनी पुत्री देना स्वीकार कर लिया होगा। वे अपने गोप-गोपियों और गायों सहित इस पर डेरा डालकर ठहरे होगे। इस प्रकार सब ने मिल-जुलकर यह षड्यन्त्र रचा होगा, कस की आंखों में धूल झोंकी होगी। महाराज! भगवान् की लीलायें अनन्त हैं। उन्हें जो मनुष्य मानता है, उसके लिये वे मनुष्य बन जाते हैं, जो उन्हें योगी मानता है, उसके लिये योगेश्वर और जो उन्हे ईश्वर मानता है, उसके लिये वे ईश्वर बन जाते हैं। पुराणो तथा अन्य स्थानों मे इस घटना का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है।

कही कहा है कि नन्दजी की एक चेटिका (दासी) थी। उसके द्वारा बच्चे-बच्ची का आदान-प्रदान हुआ। कही कहा है, "नंद जी से और वसुदेवजी से पहले ही बात पक्की हो चुकी थी, कि मेरे जो संतान होगी, उसे तुम्हें दूंगा। तुम्हारी आठवी संतान को मैं रक्षा करूंगा।" कही कहा है कि वसुदेवजी गोकुल

नहीं गये। नन्दजी कंस को कर देने मथुरा जा रहे थे। यमुना किनारे वे अपना पड़ाव डालकर पड़े थे। वहीं यशोदा देवी ने बालिका को जन्म दिया। वहीं से वसुदेवजी उठा ले गये। कहीं ऐसा भी वर्णन है, कि वसुदेवजी बच्चे को छिपाने के लिये अलक्षित स्थान की ओर दौड़े। उन्हें कुछ भी पता नहीं था, कि मुझे कहाँ जाना है। वे यमुना पार करके जा रहे थे, कि उन्हें मृतक लड़की को लिए हुए नन्दजी दिखाई दिये। उनके लड़की हुई होगी, होते ही मर गई होगी। तब वसुदेवजी ने उनसे प्रार्थना की कि मेरे इस बच्चे को आप किसी तरह छिपा लें।"

नन्दजी ने कहा—'भाई! कंस राजा बड़ा क्रूर है। मैं उसके विरुद्ध आचरण नहीं कर सकता।" तब वसुदेवजी ने बहुत अनुनय-विनय की, अपने किये उपकारों का स्मरण दिलाया। जैसे-तैसे नन्दजी सहमत हुए। वे यमुना-किनारे एक गड्ढे में लड़की को रखकर वसुदेवजी के पुत्र को लेकर अपने गोकुल चले गये।

वसुदेवजी लौट ही रहे थे कि उन्हें रुदन की क्रन्दन-ध्वनि सुनाई पड़ी। वसुदेव उधर ही चले। उन्होंने क्या देखा कि लड़की तो जीवित है। वे उस लड़की को लेकर कारावास में आये और फिर उसको कंस ने मार डाला। इस प्रकार इसमें अनेक मतभेद हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हम तो श्रीकृष्ण को मनुष्य मानते नहीं। मनुष्य मानकर हम उनके चरित्र से क्या लेंगे? हम तो उन्हें परात्पर प्रभु मानकर ही उनकी अत्यन्त रसमयी, आह्लादमयी, परम मनोहर लीलाओं का श्रद्धा-सहित श्रवण करना चाहते हैं। मतभेद तो सदा रहे हैं, सदा बने रहेंगे। बने

हमें इनसे क्या प्रयोजन ? हमे तो आप उन परात्पर प्रभु नटवर गिरधारी वनवारी की ललित लीलाओ को उमङ्ग, उत्साह और आह्लाद के साथ सुनाइये। हां, तो फिर योगमाया के कारावास आने के अनन्तर क्या हुआ ?'

सूतजी बोले—"उसके पश्चात् जो हुआ, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। योगमाया रो पडी सब पहरे वाले जग पडे। योगमाया का बोलना ही असुरो को चुनौती देना है। अब जो हुआ, उसे भी आचमन करके कहूँगा। तनिक देर कीर्तन हो जाय।"

श्री कृष्णगोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव॥

छप्पय

सुत वियोग अरु कंस-त्रास तैं गाँ घबराई।
पति तैं कन्या लई सेज पै साथ सुवाई॥
पहिनी श्री वसुदेव हथकरीं बेरीं फिरि तौ।
दम्पति थर थर कँपै कंस पापी के डर तौ॥
रुदन योगमाया करयो, द्वारपाल सब जगि गये।
बाल-जन्म सुनि कहन कूँ, तुरत कंस ढिँग भगि गये॥

कारावास में कंस

[८३४]

स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः।
सूतीगृहमगात् तूर्णं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः॥*

(श्री भा० १० स्क० ४ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

कहैं कस ते देव! देवकी बालक जायो।
उग्रसेन-सुत सुनत जन्म रिपु अति घबरायो॥
हड़बड़ाइकें उठ्यो, मूँड़ चौसटमहँ लाग्यो।
सुधि न मुकुट की रही, केश खोले ही भाग्यो॥
आयो कारावास महँ, सर्राटे तैं घुसि गयो।
कन्या देखी पलंग पै, निरखि तेज विस्मित भयो॥

यह मनुष्य प्राणी अपनी मृत्यु से सदा डरता रहता है। यह सदा चौकन्ना रहता है, कि मैं मर न जाऊँ। पुराण मे 'मृत्यु' को अधर्म के वश मे कहा है। कही तो ऐसा वर्णन है कि अधर्म की स्त्री का नाम मृषा (असत्यता) था। इन दोनो से दम्भ और माया दो पुत्र-पुत्री हुए। अधर्म की सतति होने से इन दोनो ने परस्पर विवाह कर लिया। इनके संसर्ग से भी लोभ और निकृति

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवकी के बच्चा हुआ है, इतना सुनते ही कस तुरत पलङ्ग छोड़कर खड़ा हो गया और बिना मुकुट पहने नगे सिर खुले बालो से हड़बड़ाहट मे डगमगाहट हुआ देवकी के प्रसव-घर मे आया। 'यह मेरा काल', 'मेरा काल' है, कहता हुआ वह अत्यन्त विह्वल हो रहा था।"

(शठता)–ये दो पुत्र-पुत्री हुए। उन्होने भी अपनी वशपरम्परानुसार विवाह कर लिया। इनसे भी क्रोध और हिंसा—ये दो पुत्र-पुत्री हुए। इन्होंने भी आपस म विवाह कर लिया। इनम कलि (कलह) और दुरुक्ति—ये दो बालक और बालिका हुई। ये भी फिर बहू दुलहा बन गये। इनसे भय और मृत्यु—ये दो पुत्र-पुत्री हुई। इस क्रम से मृत्युदेव अधम महाराज के प्रतौत्र के पौत्र अर्थात् पांचवी पीढी मे उत्पन्न हुए।

किसी युग मे दूसरा ही क्रम है। किसी मे ऐसा है कि अधर्म की स्त्री हिंसा थी। इन दोनो से अनृत (असत्य) पुत्र, निर्भृति पुत्री–ये दो सन्तानें हुईं। इन दोनो ने परस्पर मे विवाह कर लिये, जिससे दो पुत्र और पुत्रियाँ अर्थात् चार सतानें हुई। पुत्रो के नाम नरक और भय थे तथा कन्याओ के नाम माया और वेदना। भय ने माया से विवाह कर लिया और नरक ने वेदना का पाणिग्रहण कर लिया। भय और माया के ससर्ग से ही "मृत्युदेव" का जन्म हुआ। फिर मृत्यु के व्याधि जरा, शोक, तृष्णा, क्रोध आदि बहुत-सी सन्तानें हुईं। इस क्रम से मृत्युदेव अधर्म बाबू के प्रपौत्र अर्थात् तीसरी पीढी मे हुए। 'मृत्यु' किसी कल्प मे पुरुष रूप से हुए हैं किसी कल्प मे इन्हे मृत्युदेवी भी कहा है।

मृत्युदेव के सम्बन्ध मे एक कथा है। यमराज जब लोकपाल हुए, तब देखा कि सृष्टि बहुत बढ गई है। ब्रह्माजी ने यमराज से कहा—"देखो, भाई! आय के साथ व्यय भी होना चाहिये, कुछ लोगो को मारते भी चलो।"

यमराज ने कहा—"नही महाराज! ऐसा क्रूर कर्म मैं नही करूँगा।"

ब्रह्माजी ने चिन्तित होकर अपने चार हाथो से चारो मुख

की सफेद दाढी के बालों को सुलझाते हुए कहा—"अच्छा, तो हम तुम्हे एक मन्त्री दिये देते हैं। तुम उसे मारने का काम सौंप देना, इसका एक विभाग ही पृथक् कर देना।"

यमराज ने इसे स्वीकार किया। ब्रह्माजी एक उपलोक पाल की खोज में चले। चलते-चलते गंगा-किनारे उन्हे एक ब्राह्मण घोर तप करते हुए मिला। ब्रह्माजी ने उसे हिलाते हुए कहा—"उठो भाई, उठो। मैं तुम्हे वरदान देने आया हूँ। मैंने तुम्हे उपलोक-पाल बना दिया।"

ब्राह्मण बडे प्रसन्न हुए, पूछा—"महाराज! मुझे किस लोकपाल का सहायक बनाया है?"

ब्रह्माजी ने कहा—"तुम आज से यमराज के सहकारी हुए। उनके साथ ही मिल-जुलकर काम करो।"

उसका नाम मृत्यु था। वह बोला—"महाराज! मुझे करना क्या होगा?"

ब्रह्माजी ने कहा—"लोगो को मारना होगा।"

ब्राह्मण दु खी होकर बोला—"ऐसा क्रूर कर्म मुझसे नही होगा। यह पद आप किसी दूसरे को दे दें, मुझे यह आपकी गद्दी नही चाहिये।" यह कहकर वह पुनः घोर तप करने लगा। फिर ब्रह्माजी आये। फिर वही प्रस्ताव किया। ब्राह्मण फिर सहमत नही हुए। तब ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, हम सुनें भी तो, तुम्हे आपत्ति क्या है?"

मृत्युदेव बोले—"अजी महाराज! आपत्ति की तो बात ही है। सब मुझे गालियाँ देंगे, बुरा-भला कहेंगे। मारना कुछ अच्छा काम थोड़े ही है! यह सत्य है कि लोगो पर मेरा प्रभाव रहेगा, लोग मेरे नाम से काँपेंगे, किन्तु रात्रि-दिन मुझे गालियाँ सुननी पड़ेगी।"

ब्रह्माजी ने कहा—"बस, इतनी-सी ही बात से डरते हो ? इसका मैं प्रबन्ध किये देता हूँ।" तुरन्त ही ब्रह्माजी ने असंख्य रोगों को उत्पन्न किया और उन्हें उत्पन्न करके बोले—"देखो, यह सब तुम्हारे सैनिक होंगे, तुम्हें कोई भी दोष न देगा ! सब यही कहेंगे, ज्वर से मर गया, सांप ने काट लिया, विष से मरा, घोड़े से गिरा, जल में डूबा। सब दोष इन रोगों पर ही जायेंगे। अब क्या था ! विप्रदेव ने वह पद स्वीकार कर लिया। उसी दिन से सब उनके नाम से थर-थर काँपने लगे। कितना भी बड़े से बड़ा वीर हो, मृत्यु का नाम सुनकर उसका भी हृदय धक-धक करने लगता है। जहाँ मृत्यु का देवी के रूप में वर्णन किया है, वहाँ उसकी उत्पत्ति की बड़ी मनोरञ्जक कथा है।

जैसे कभी-कभी मनुष्य से भारी भूल हो जाती है, वैसे ही ब्रह्माजी भी कभी-कभी भारी भूल कर बैठते हैं। कोई बड़ा सुन्दर भव्य भवन बनावे, किन्तु कहीं भी उसमें से जल निकलने की मोरी न बनावे, तो वह घर दुर्गन्धि करने लगेगा। उसमें रहना कठिन हो जायगा। इसी प्रकार ब्रह्माजी ने सृष्टि बनाने की झोंक में सृष्टि तो बहुत-सी उत्पन्न कर दी। मानसी सृष्टि के अनन्तर मैथुनी सृष्टि उत्पन्न की। स्त्री-पुरुषों के संयोग से सम्पूर्ण पृथ्वी भर गई। सांस लेने का भी स्थान न रहा। तब तो ब्रह्माजी बड़े घबराये। अरे, यह तो मुझसे भूल हो गई ! सृष्टि बढ़ाने की धुनि में मैंने यह विचार नहीं किया कि इतनी सृष्टि रहेगी कहाँ ! बहुत सोच विचार किया, कुछ उपाय भी न सूझा ! अब तो ब्रह्माजी को बड़ा क्रोध आया। क्रोध करके वे सम्पूर्ण सृष्टि को भस्म करने लगे। दशों दिशायें उनके क्रोध के धुएँ से भर गईं। सम्पूर्ण विश्व का प्रलय होते देखकर त्रिनेत्र सदाशिव भोलेनाथ दौड़े-दौड़े आये और हाथ जोड़कर

बोले—"पिताजी ! पिताजी ! यह आप क्या कर रहे हैं ? आपने ही तो इस सृष्टि को उत्पन्न किया है, आप ही इसका नाश क्यों कर रहे हैं ? आपके द्वारा ऐसा अनर्थ उचित नहीं।"

शिवजी की विनय से ब्रह्मा बाबा का क्रोध कुछ शान्त हुआ और बोले—"भैया ! शङ्कर मेरा उद्देश्य सृष्टि का विनाश करने का नहीं है, किन्तु इतनी बढी हुई सृष्टि रहे कहाँ ? मैं चाहता हूँ कि काम योग्य ही जीव-जन्तु रहे। यह व्यर्थ की बादी छँट जाय।"

शिवजी बोले—"नहीं, महाराज ! आपके द्वारा ऐसा क्रोध शोभा नहीं देता। आप मुझे यही वर दें कि आप सृष्टि का संहार न करें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, मैं सृष्टि का विनाश न करूँगा। किन्तु, तुम ऐसा कोई उपाय सोचो, जिससे आय-व्यय प्रायः बराबर बने रहें। यों सृष्टि बढती ही गई, तो काम कैसे चलेगा ?" इतना कहकर ब्रह्माजी विश्व-विनाश से विरत हो गये। वृषभध्वज भी विधि के पास बैठ गये। ब्रह्माजी चिन्ता और क्रोध मे भरे विचारने लगे। इतने मे ही उनकी समस्त इन्द्रियों की सहायता से एक सुन्दरी स्त्री उत्पन्न हो गई। उसके शरीर का वर्ण कृष्ण और लोहित था। आँखें कुछ भीतर घुसी-सी कृष्ण वर्ण की थीं। उसकी हथेलियाँ काली थीं। उसके कानो मे कनक के कुण्डल जगमग जगमग करते हुए चमक रहे थे। वह दिव्य वस्त्रालकारो से विभूषित थी। उत्पन्न होते ही उसने शकर जी तथा ब्रह्मा जी को प्रणाम किया और उनकी दाईं ओर खडी हो गई।"

ब्रह्माजी ने उसे बुलाया और कहा—देख, 'तेरा नाम मेने मृत्यु रखा।"

- उसने हाथ जोडकर कहा—"महाराज ! मुझे क्या काम करना होगा ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"मैंने क्रोध और चिन्ता मे भरकर तुझे उत्पन्न किया है। अतः तू सब को मारा कर। धनी हो, निर्धन हो, राजा हो, रङ्क हो, विद्वान हो, मूर्ख हो, स्त्री हो, पुरुष हो, तू बिना भेद-भाव के सब को कालानुसार मार दिया कर।"

यह सुनकर मृत्यु देवी तो घबराई। यह कैसा क्रूर कर्म ब्रह्माजी मुझे बता रहे हैं। स्त्रियों के आँसू तो नाक पर रखे ही रहते हैं। अतः वह टप-टप आँसू बहाती हुई रोने लगी। किन्तु, उसने आँसुओं को पृथ्वी पर नहीं गिरने दिया, हथेलियों पर ही ले लिया।"

ब्रह्माजी ने उसे बहुत समझाया, लोभ-लालच दिया, डराया धमकाया। साराश कि शाम, दाम, दण्ड, भेद—सभी नीतियों का प्रयोग किया, किन्तु वह देवी नहीं मानी, नहीं मानी। स्त्री-हठ ही जो ठहरा ! स्त्री जब अपनी बात पर अड जाय, ब्रह्माजी की तो बात ही क्या है, उनके बाप भी उन्हे नहीं समझा सकते।

ब्रह्माजी डाँटकर कहा—"तू हमारे सामने उत्तर प्रत्युत्तर करती है। हमने तुझे जिस काम के लिये उत्पन्न किया है, तुझे वही करना पडेगा।"

सुबकियाँ भरती हुई मृत्यु देवी बोली—"महाराज ! ऐसा अन्याय मत करो, मुझे अधर्म के काम मे नियुक्त मत करो। अनीति का आश्रय न लो, मुझे कृपा की दृष्टि से देखो जिन्होंने मेरा कोई भी अपराध नहीं किया, उन निरपराध प्राणियों को मैं क्यों मारूँ ? माता को पुत्र से, पुत्र को माता से, भाई को भाई से, स्त्री को पति से, पति को स्त्री से, बहन को भाई से, भाई से बहन को, सुहृद से सुहृद को, सम्बन्धी से सम्बन्धी को तथा

कुटुम्बी से कुटुम्बी को मैं अकारण क्यों पृथक् करूँ ? वे सब मुझे शाप देंगे, गाली देंगे। मैं इस पाप पूर्ण कर्म को कभी भी नहीं कर सकती। आप इसके लिये चाहें बुरा मानें या भला।"

ब्रह्माजी ने कहा—"नहीं, तुझे करना ही होगा।" अब उसने मौन धारण कर लिया। ब्रह्माजी ने लाख बार कहा, वह बोली ही नहीं। ब्रह्मा जी उसकी धर्म-निष्ठा से भीतर ही भीतर तो प्रसन्न हो रहे थे, किन्तु ऊपर से उसे डाँट-डपट रहे थे। मृत्यु ने उनकी एक भी बात न सुनी, वह गङ्गा-किनारे हरिद्वार में तपस्या करने चली गई। दस-बीस, शत, सहस्र, लक्ष, अर्व, खर्व वर्षों तक वह घोर तपस्या करती रही। कई बार ब्रह्माजी उसके पास आये, उसने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया।"

जब वह तपस्या करते-करते अत्यन्त कृश हो गई, तब ब्रह्माजी उसके समीप गये और बोले—"भद्रे ! देखो, जिसे मैंने जिस काम के लिये उत्पन्न किया है, उसे वह काम करना ही पड़ेगा। चाहे ऐं करके करे चाहे चें करके। तू चाहे तपस्या करते-करते मर जा, तुझे मेरी बात माननी ही पड़ेगी।"

यह सुनकर मृत्यु फिर रो पड़ी। उसने अपने अश्रु हाथों में लेकर कहा—"महाराज ! मुझे क्यों ऐसे पाप कर्म मे प्रवृत्त करते हैं ?"

ब्रह्माजी बोले—"लल्ली ! तू समझती नहीं। इसमें पाप कुछ नहीं है। जैसे जन्म लेना आवश्यक है, वैसे मरना भी आवश्यक है। मरने के बिना सृष्टि का काम चल नहीं सकता। तुम्हे कोई दोष नहीं लगेगा। यही नहीं, इसमे तेरा कल्याण होगा। तेरे जो शोक से अश्रु निकले हैं, जिन्हे तूने अपनी अञ्जलि मे रोक रखा है, इनसे असंख्य आधि-व्याधियाँ होंगी। वे ही जीवों को मारकर लाया करेंगी। मृत्यु के समय तो जीवों

की ओर काम और क्रोध को भेजना। जब वे काम क्रोध के अधीन हो जायँगे, तब मुझे कुछ दोष भी न लगेगा।" कोई यह भी नहीं कहेगा कि मुझे मृत्यु ने मारा। सब यही कहेंगे, "अमुक आधि से मरा, अमुक व्याधि से मरा।" यह सुनकर मृत्यु ने ब्रह्माजी की आज्ञा मान ली। तभी से मृत्यु प्राणियों को मारती है। मरते समय चाहे वृद्धावस्थापन्न ही स्त्री-पुरुष क्यों न हो, उन्हें 'काम' और 'क्रोध' का वेग होता है। पुरुषों का जिन स्त्रियों से संसर्ग रहा है, जिनमें अत्यधिक आसक्ति रही है, ऐसी ही स्त्रियों को जिन पुरुषों में अत्यन्त मोह रहा है, वे सब याद आते हैं। वासनाएँ प्रबल हो जाती हैं। वे ही वासना जीव को पुनः संसार में ले आती है। जिसने मृत्यु के पूर्व ही काम-क्रोध को जीत लिया है, वह तो जीवन्मुक्त है, ऐसे पुरुषों की तो मृत्यु होती ही नहीं। शरीर से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं। किन्तु जो 'काम-क्रोध' के वशवर्ती होकर विषयों में आसक्त हैं, उन्हें मृत्यु अत्यन्त भयावनी लगती है, वे मृत्यु के भय से सदा भयभीत बने रहते हैं। यही 'काम-क्रोध' या भय भगवान से सम्बन्ध से हों, तो वे मुक्ति के हेतु हो जाते हैं। अन्त में काम से, क्रोध से, भय से, भगवान स्मरण आ जाय, तो वह [illegible] पापी क्यों न हो, कृत कृत्य हो जाता है। [illegible], [illegible], कंस आदि के पापों की, अत्याचारों की, कोई सीमा नहीं, किन्तु उनका क्रोध और भय भगवान को लेकर था, अतः वे तर गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! [illegible] मुनी, तभी से उसे सदा अपनी मृत्यु का भय बना रहता था। उसे विदित हो गया था कि भगवान विष्णु [illegible] अतः वह उठते-बैठते, खाते-पीते सदा विष्णु को ही [illegible]।

करता था। आठवें गर्भ में देवकी को गर्भवती देखकर जब उसे विश्वास हो गया, कि अवश्य ही इसके उदर में मुझे मारने वाला विष्णु है, तब से वह सदा सचेत रहता। देवकी के प्रसव के दिन गिनता रहता, रात्रि में उसे नींद नहीं आती थी, दिन में उसे भोजन अच्छा नहीं लगता था। मृत्यु से भयभीत हुआ वह भगवान के जन्म की प्रतीक्षा प्रतिपल, प्रतिक्षण, करता रहता था। वह प्रहरियों को सदा सचेष्ट और सावधान किये रहता था, "इस गर्भ के विषय में कुछ भी प्रमाद न होने पावे। बालक उत्पन्न होते ही मुझे तुरन्त समाचार दिया जाय। इसमें पलभर की भी देर न हो।" सेवक कंस से बहुत डरते थे, अतः सदा सावधान रहते थे। कभी कोई रात्रि में अपनी बारी में सोने की तो कौन कहे, बैठता भी नहीं था। योगमाया के प्रभाव से उस दिन सब पहरेवाले सो गये। वसुदेवजी श्रीकृष्ण भगवान् को गोकुल पहुँचा आये। वहाँ से कन्या को भी ले आये। तब-तक सब सोते के सोते ही पड़े रहे। जब वसुदेवजी हथकड़ी-बेड़ी पहनकर पूर्ववत् बन्दी बन गये, तब वह कन्या-बनी योग-माया चिल्लाई।

सद्यःप्रसूता कन्या के रुदन की ध्वनि सुनकर सोते हुए प्रहरी तुरन्त जग गये। उनमें से एक दाढ़ी वाला प्रधान प्रहरी अपने साथी से बोला—"अरे, ढम्बरसिंह! भाई, मुझे तो निद्रा आ गई। कहो यह रोने की ध्वनि कहाँ से आ रही है?"

ढम्बरसिंह बोला—"प्रधानजी! अपराध क्षमा हो, मैं भी सो गया और जितने थे, सबके सब सो गये।"

प्रधान प्रहरी बोला—"भैया! तू कहे मत मेरी। मैं कहूँ ना तेरी। ऐसे ही गोलमाल बात रहने दे।" वसुदेवजी से इसी समय उसने तुरन्त पूछा—"बाल-बच्चा हुआ क्या?"

वहीं से प्रहरी ने पूछा—"फूफाजी कहिये, कुछ हुआ क्या ?"

वसुदेवजी ने कहा—"हाँ, भाई, बच्चा हुआ है।"

बस, फिर क्या था, इतना सुनते ही चार प्रहरी एक साथ दौड़े-दौड़े गये। कंस तो पलंग पर पड़ा पड़ा करवटें बदल रहा था। वह तो अत्यन्त उत्सुकता के साथ देवकी के अष्टम गर्भ के बालक की प्रतीक्षा कर रहा था। प्रहरियों ने जाकर द्वार पर से ही कहा—"मथुरेश महाराज की जय! जय हो! श्रीमती देवकीजी ने प्रसव किया है।"

"अच्छा, देवकी के बच्चा हो गया! यह कहते हुए कंस अत्यन्त ही हड़बड़ाहट के साथ तुरन्त पलङ्ग पर से उठकर खड़ा हो गया। उसके बड़े-बड़े बाल बिखरे हुए थे। सिर पर न पगड़ी थी, न मुकुट। वह शय्या पर जैसे पड़ा था, वैसे ही हाथ में खड्ग लेकर कारावास की ओर नंगे पैरों ही दौड़ा। एक झपट्टे में वह कारावास में पहुँच गया। कारावास के अध्यक्ष, निरीक्षक तथा समस्त प्रहरी अपनी-अपनी पोशाक पहने पहरे पर तत्पर थे। सबने राजा को प्रणाम किया। प्रधान प्रहरी ने पहला ताला खोला। कंस ने इधर-उधर देखकर कहा—"ताला-जंगला सब ठीक है न ?"

निरीक्षक ने कहा—"हाँ, प्रभो! सब ठीक है।"

यह सुनकर वह शीघ्रता से भीतर घुसा। सभी प्रधान कर्मचारियों ने उसका अनुसरण किया। तालियों के गुच्छे को खनखनाते हुए प्रधान प्रहरी आगे दौड़ता जाता था। फाटक पर पहुँचने के पूर्व ही वह तुरन्त द्वार खोल देता। इस प्रकार सात ताले खोलकर, सात फाटकों को पार करके, कंस देवकीजी के प्रसूतिकाघर में पहुँच गया। वहाँ उसने देखा कि वसुदेवजी के हाथ पैरों में हथकड़ी बेड़ी पड़ी है, प्रसव की पीड़ा को प्रदर्शित

करती हुई भगवती देवकी भयभीत हुई कराह रही हैं। उन्होंने दूर से ही मृत्यु के समान, साक्षात् काल के समान, मूर्तिमान यमराज के समान, आते हुए अपने भाई कंस को देखा। उनका सम्पूर्ण शरीर थर-थर काँप रहा था। इतने में ही कंस ने कर्कश स्वर में दहाड़कर पूछा—"देवकी! क्या हुआ है तेरे?"

देवकी देवी ने दीनता के स्वर में कहा—"भैया! यह तो छोरी है।"

कंस ने आश्चर्य चकित होकर कहा—"क्या कहा? छोरी है! अब के छोरी हुई! अच्छा, ला उसे मुझे दे।"

देवकी देवी ने दुःखी होकर कहा—"भैया! जो है, वह तुम्हारे सामने है। परन्तु, भैया! इस बच्ची को लेकर तुम क्या करोगे? मेरे और बच्चों के समान इसे भी तुम मारना चाहते हो क्या? भैया, ऐसा मत करो। देखो, भला यह बच्ची तुम्हारा क्या अपकार कर सकती है।"

कंस ने डाँटकर कहा—"बहुत व्यर्थ की बातें न बना। सीधे अपनी बच्ची को मुझे दे दे। नहीं तो मैं उसे बलपूर्वक तुमसे छीन लूँगा।"

देवकीजी बोलीं—'भैया, मेरी काहे को है, यह तो तेरी ही है। यद्यपि है तो यह लोक और शास्त्र के विरुद्ध, किन्तु दक्षिण देश की यह प्रथा है कि बहन अपनी लड़की का भाई के लड़के के साथ विवाह कर देती है। इस घोर विपत्ति से बचने के समय मैं भी इस लोक-विरुद्ध धर्म का आचरण करूँगी। बड़ी होने पर मैं इसका तुम्हारे लड़के के साथ विवाह कर दूँगी। तुम इसे अपनी पुत्र-वधू मानकर छोड़ दो। इतने वीर होकर तुम्हें स्त्री-वध नहीं करना चाहिये।"

कंस ने कहा—"मैंने मृत्यु से बचने को ही तो तेरे सब पुत्रों को

मारा है ! अष्टम बालक से आकाशवाणी ने मेरी मृत्यु बताई थी। इसे मैं कैसे छोड सकता हूं ?"

देवकी बोली—"भैया! तुमने क्या मारा है, मेरे भाग्य से ही वे मर गये। उनकी देववश ही मृत्यु हो गई ! वे कैसे अग्नि के समान तेजस्वी थे। उनकी मृत्यु तुम्हारे हाथों ही लिखी थी। उनको तुमने मार दिया, किन्तु अब तो कृपा करो, अब तो यह एक कन्या रह गई है। यह अबला तुम्हारा क्या अनिष्ट कर सकती है ! इसे तो छोड दो। मेरे सन्तोष के लिये इसे मत मारो।"

कंस ने कहा—"देवकी ! मृत्यु से सभी को भय होता है। मै इसे तुम्हें कैसे दे सकता हूँ ?"

देवकी ने गिड़गिड़ा कर कहा—"अरे, भैया ! तुम सर्व समर्थ हो, जो चाहो कर सकते हो। तुम दानी हो, दयालु हो, मेरे ऊपर दया करो। यह बालिका तुम्हारा कुछ भी नहीं कर सकती। देखो, मैं तुम्हारी छोटी बहन हूँ। बच्चा होने के अवसर पर भाई-बहन को वस्त्राभूषण देता है। तुम मुझे यही भीख दे दो। अब मेरे बच्चा होने की क्या आशा है। प्रतीत होता है, यह मेरी अन्तिम सन्तान है। लड़का तो कोई रहा नहीं। यह एक पेट पुछनी लड़की रह गई है। अपने बच्चों के मारे जाने से मैं अत्यन्त दीन हो रही हूँ। सो, मेरे राजा भैया, मुझ अभागिन की यह विनती तो स्वीकार कर लो। मुझे इस अन्तिम सन्तान को तो, दे ही दो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार देवकी देवी ने कंस की बहुत-कुछ अनुनय विनय की, किन्तु उस दुष्ट का हृदय नहीं पसीजा। वह कन्या को मारने पर कटिबद्ध हो गया।"

छप्पय

कन्या माँगी रोइ देवकी बोली भैया !
पुत्रीसम लघु बहिन तुम्हारी मैं हूँ गैया ॥
मारे सब सुत किन्तु कृपा कन्या पै कीजे।
परि पैरनि पै करूँ याचना जाकूँ दीजे ॥
अन्तिम मेरी धीय है, जिह अनरथ का करेगी।
रक्षो रक्त तैं हाथ च्यौं, देह सदा नहिं रहेगी ॥

योगमाया की भविष्य वाणी

[८३५]

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ।
यत्र क्वचन पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

एक न खल ने सुनी सुता पत्थर पै पटकी ।
सटकी करतैं तुरत बनी देवी नभ चटकी ॥
अष्ट भुजी बनि गई दिव्य आयुध धारें कर ।
शङ्ख, चक्र, धनु, खड्ग, चर्म, तिरशूल, गदा शर ॥
लक्ष्य कंस कूं करि कहे, मन्द मोइ मारें वृथा ।
प्रकट्यो तेरो शत्रु ता मति दै बालनि कूँ व्यथा ॥

मनुष्य शक्तिभर सिद्धि के लिये विधान बनाता है। उसमें सफलता हो जाती है, तो अहंकार बढ़ जाता है। असफलता होती है, तो दीनता आती है। यह दीनता ही कभी कभी भगवान् को मिला देती है। पुरुषार्थ पर मनुष्य की आस्था कम हो जाती है। असफलता ही भावी सफलता की द्योतक है। जो गँवाता है, वही पाता भी है। अतः असफलता हमें शिक्षा देने,

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! पत्थर पर पटकने पर योगमाया कंस को लक्ष्य करके आकाश में कह रही है—रे मन्दमति! मुझे मारने से तुझको क्या मिलेगा? तेरा अन्त करने वाला काल तो कहीं अन्यत्र ही उत्पन्न हो गया। वह तेरा पूर्व शत्रु है। तू क्यों अकारण अन्यान्य बालकों की हिंसा कर रहा है? ऐसा मत कर।

संसार का यथार्थ ज्ञान कराने, के निमित्त आती है। इसलिये असफलताओं को देखकर घबराना न चाहिये, बल्कि और भी उत्साह के साथ अपने कर्म की सिद्धि में लग जाना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवी देवकी ने अपने क्रूरकर्मा भाई से अत्यन्त दीन होकर कन्या पर दया करने की प्रार्थना की, किन्तु उस दुष्ट ने तो दया का पाठ ही नहीं पढ़ा था। उसका स्वभाव ही क्रूर था, अतः उसने देवकी माता की बातों की ओर ध्यान ही नहीं दिया। माता बच्ची को हृदय से चिपटाकर निरन्तर अश्रु बहा रही थी। दोनों हाथों से उसे वक्ष पर चिपकाये हुये अत्यन्त दीन भाव से विलाप कर रही थी। किन्तु, कंस ने उन्हें क्रोध में भर कर झिड़क दिया। डाँटकर बोला—"जिसके लिये मैंने तुम दोनों को कारावास में बन्द किया था, उसे ही तू बचाना चाहती है? चल, हट, आई बड़ी दया की भिखारिणी!" यह कहकर उसने बल पूर्वक कन्या को देवी देवकी की गोद से खींचकर छीन लिया।

वह सद्यःजात बालिका थी, अत्यन्त सुन्दरी, सुकुमारी तथा कोमलाङ्गी। अपनी बहन की लड़की थी, दया करने योग्य थी, किन्तु दुष्टों के मन में दया कहाँ! उसने उस लड़की को घुमाकर पत्थर पर पटका। वह कंस के हाथ से सटकी, तुरन्त ही उसे यह बात खटकी, तब तक देवी उसके सिर पर पैर रखकर नभ में चटकी। कंस परम विस्मित बना इस लीला को देख रहा था। योगमाया के ऐसे अद्भुत प्रभाव को देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। ऊपर उसने जो देखा उसे, तो उसके विस्मय का ठिकाना ही नहीं रहा। बालिका देखते-देखते बड़ी सुन्दरी बाला बन गई। भगवान् की अनुजा – उनकी छोटी बहन – वह देवी दिव्य रूपा हो गई है। उसकी कांति से दशों दिशायें आलोकित

हो रही हैं। वह अष्टभुजी देवी होकर दिखाई पड रही है। आठ भुजाओं में वह पृथक पृथक् अष्ट आयुध धारण किये हुए है। चार हाथों में तो शङ्ख, चक्र, गदा और त्रिशूल हैं। शेष चार हाथ में वह धनुष-बाण, खड्ग और चर्म (ढाल) धारण किये हुए है। चारों ओर से सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर,

नागगण आदि उन्हें घेरे हुए खडे हैं। वे सब हाथों में देवी का भेंट उपहार के लिये विविध वस्तुएँ लिये हुए हैं और अत्यन्त ही विनीत भाव से, सुमधुर कण्ठ से उनकी स्तुति कर रहे हैं। कल

चकित-चकित दृष्टि से देवी की ओर देख रहा था। देवी बोली—"अरे मन्दमति! मुझ माया को मारने से तेरा कौन-सा काज सधेगा? क्या तू मुझे मारकर जीवित बच सकता है? जिसे मारने के लिये तूने अकारण इतने निर्दोष बालकों की हत्या की है, वह तो कहीं उत्पन्न हो गया।"

कंस ने पूछा—"कहाँ उत्पन्न हो गया महामाया जी?"

महामाया बोलीं—"उत्पन्न हो गया, हो गया। यहीं कहीं तेरे ब्रज में हुआ है। अधिकन बताऊँगी (वह तेरा पुराना शत्रु विष्णु ही है) वह तुझे मारेगा, अवश्य मारेगा। अब तो व्यर्थ बालकों की हिंसा करना छोड़ दे। या अब तेरी जो इच्छा हो, सो कर।"

सूतजी कहते हैं—"महाराज! योगमाया देवी कंस से ऐसा कहकर तुरन्त अन्तर्धान हो गईं। वे ही पृथ्वी के अनेक स्थानों में भिन्न भिन्न नामों से प्रकट हुईं। वे सब शक्ति-पीठ कहाते हैं, जहाँ भक्तगण श्रद्धा सहित देवी जी का पूजन करके अभीष्ट फल पाते हैं।

कंस पर देवी के इस कथन का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने मन में सोचा—"अरे, जिसके लिये इतना प्रपञ्च रचा, अपनी बहन-बहनोई को शत्रु की भाँति कारावास में रखा, वह तो इनके यहाँ उत्पन्न न होकर कहीं ब्रज में अन्यत्र उत्पन्न हो गया है। इनको मैंने व्यर्थ ही कष्ट दिया! ये तो कितने सच्चे हैं, अपने बच्चों को स्वयं ही मुझे मारने के लिये दे देते थे। ये कितने सरल, सदाचारी, सत्यवादी और सहिष्णु हैं! इसके अविरुद्ध मैं कितना कठोर, क्रूर, कदाचारी और कायर हूँ, जो अपने सगे-सम्बन्धियों को इतना कष्ट दे रहा हूँ। मैंने इनके साथ अकारण अन्याय किया है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हम एक बात आप से पूछते हैं। वसुदेव जी तो बड़े धर्मात्मा थे। असत्य से वे बहुत डरते थे। वे जो कहते थे, वही करते थे। फिर उन्होंने कंस के साथ विश्वासघात क्यों किया ? एक बार जब वे यह प्रतिज्ञा कर चुके, कि मैं तुझे देवकी के सभी पुत्रों को लाकर दे दूँगा, फिर उन्होंने श्रीकृष्ण को क्यों छिपाया ? क्यों वे अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध चोरी से श्रीकृष्ण को ले जाकर गोकुल में छिपा आये ?"

यह सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये और बोले—"देखिये, महाराज, धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है। सत्य क्या है, असत्य क्या है, इसका निर्णय साधारण लोग नहीं कर सकते। कभी सत्य-सा दीखने वाला कार्य असत्य सिद्ध होता है, कभी असत्य-सा दीखने वाला कार्य सत्य माना जाता है। आपके इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है। अच्छा, पहले आप यह बताइये कि धर्म क्या है ?"

शौनकजी ने कहा—"वेद में जो प्रतिपादित है, वही धर्म है। वेद जिसे अधर्म कहे, वह अधर्म है।"

सूतजी ने पूछा—"अच्छा, महाराज ! वेद क्या है ?"

शौनक जी ने कहा—"भगवान् का निःश्वास ही वेद है। भगवान् की वाणी का ही नाम वेद है।"

सूतजी बोले—"जब भगवान् की वाणी ही वेद है और वेदों में जो प्रतिपादित है, वही धर्म, तो भगवान की ही आज्ञा तो परम धर्म हुई। वह वेदोक्त धर्म से भी बढ़कर है। तब तो कोई दोष की बात नहीं। तो भगवान् ने चतुर्भुज रूप से प्रकट हो कर साक्षात् आज्ञा दी—"हमें नन्द जी के गोकुल में पहुँचा दो।" ऐसी दशा में उन्हें क्रूरकर्मा कंस से की हुई प्रतिज्ञा का पालन

करना धर्म था या भगवान् की आज्ञा का पालन करना ? हम तो कहते हैं भगवान् की आज्ञा ही परम धर्म है।

दूसरी बात यह है, कि स्त्रियाँ हठ पर अड रही हों, तो उन्हें टालने के लिये विवाह आदि के सम्बन्ध में, हँसी विनोद में, वृत्ति की रक्षा में, प्राण-संकट आने पर, गो ब्राह्मणों की रक्षा में, तथा और भी किसी के प्राण बचते हों, तो उस समय का झूठ ऐसा निन्दित नहीं माना गया है। किसी के प्राण जा रहे हों और अपने झूठ बोलने से प्राण बच जाते हों, तो उस समय झूठ बोल देना कोई दोष नहीं। वसुदेव जी ने सोचा—"यह अष्टम गर्भ है, इस में साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। ये बच जायेंगे तो कंस के दुःख से दुःखी समस्त प्रजा का कल्याण होगा। यद्यपि कंस इन्हें मार नहीं सकता, फिर भी उसके पास इन्हें ले जाऊँ और इन्होंने उससे लड़ाई की, तो एक अलौकिक बात हो जायगी। मानवी लीला न बनेगी।" यही सब सोचकर वे बालक कृष्ण को गोकुल में छिपा आये।

दूसरों का जिससे उपकार हो उसका सब प्रकार रक्षा करना परम धर्म है। जहाँ सत्य बात कहने से किसी का अनिष्ट होता हो, वहाँ सत्य न कहकर गोलमटोल उत्तर दे दें। इस विषय में एक कथा है। एक महात्मा सत्य ही बोलते थे। एक दिन एक गो दौड़ी आई और वह समीप के ही गहन वन में छिप गई। इतने में ही उसका पीछा करता हुआ एक वधिक आया। उसने पूछा—"ब्रह्मन्! मेरी एक गो इधर आई थी। आपने उसे देखा है क्या? वह किधर गई?"

महात्मा ने सोचा—"इस गो बताता हूँ, तो मुझे गो के वध का पाप लगेगा, नहीं बताता हूँ, तो असत्य भाषण का पाप लगेगा।" अतः वे बोले—"देखो, भाई! देखना काम आँखों का

है, किन्तु उनमे बताने की शक्ति नही। बताने का काम वाणी का है, किन्तु उसमे देखने की शक्ति नही। अतः जिन्होंने देखा है, वे कह नही सकती, जो कहती है, उसने देखा नही। मैं तुम्हें क्या बताऊं?" यह सुनकर वधिक हंस पडा। वह वधिक नही था, साक्षात् धर्म ही थे।

इसके विपरीत एक और कथा है। एक कौशिक नामक महात्मा सत्य ही बोलते थे, या वे मौन रहते थे। एक दिन कुछ लोग डरकर उनके आश्रम के समीप छिप गये। कुछ देर मे वे वध करने वाले भी हाथ मे खड्ग लेकर आये। उन्होने पूछा—ब्रह्मन्! यहाँ कुछ लोग हांपते हुए, डरे हुए, दौडकर आये हैं। आपने उन्हे देखा है?"

वे तो सत्यवादी ही ठहरे, बोले—"हां, वे आश्रम के पीछे छिप रहे हैं।"

इतना सुनते ही वे सब खड्ग लेकर वहाँ पहुँच गये और सबका वध कर डाला। इससे उन सत्यवादी मुनि को नरक जाना पडा। यह जो उन्होने सत्य भाषण किया, वह असमय किया। इसीलिये वह अधर्म ही हुआ।

इसके विपरीत एक कथा है। एक अन्धा पशु था, ब्रह्माजी से वर पाकर वह सब को पीड़ा देता था। कोई उसे वरदान के प्रभाव से मार नही सकता था। इतने मे ही एक बलाक नामक व्याधा आया। वह अन्धा पशु रात्रि मे पानी पी रहा था। पानी पीते असावधान अन्धे पशु को मारना धर्म-विरुद्ध है, किन्तु उस व्याधा ने उसे मार डाला। उसके मरते ही देवताओ ने उस व्याधा के ऊपर पुष्पवृष्टि की और उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। ऊपर से यह अधर्म सा दीखता था, किन्तु वास्तव में धर्म था। इस प्रकार वसुदेवजी का भगवान् को गोकुल मे छिपा आना

किसी भी प्रकार अधर्म नहीं था। उन्होंने तो भगवत्-आज्ञा से ही यह सब कुछ किया।'

इस पर शौनकजी ने कहा—'हाँ, सूतजी! भगवत्-आज्ञा से तो जो कुछ भी किया जाय, वही धर्म है। अब कृपा करके हमें आगे की कथा सुनाइये। योग-माया की आकाशवाणी सुनकर कंस ने फिर क्या किया?"

सूतजी बोले— महाराज! कंस को अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ और वह देवकी वसुदेव के प्रति सौहार्द प्रकट करने लगा। इस प्रसङ्ग को आपको सुनाता हूँ, आप श्रद्धा सहित उसे श्रवण करें।"

छप्पय

यों कहि अन्तरधान भई फिरि दीखी नाहीं।
विन्ध्याचलमहँ जाइ भई पूजित जगमाहीं॥
सुनि चिन्तित अति भयो कंस पुनि पुनि पछितावै।
जाइ देवकी निकट दुखित ह्वै कें समुझावै॥
करि बन्धन तैं मुक्ति पुनि, करहि प्रदर्शित प्रेम अति।
चिकनी चुपरी बात करि, देहिभुलावौं मूढ़ मति॥

कारावास से श्री देवकी वसुदेवजी की मुक्ति

[८३६]

तयाभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः ।
देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

बोल्यो—'भगिनी ! भाम ! छमहु अपराध हमारे ।
मैंने शठता करी तुम्हारे शिशु सब मारे ॥
सुरनि कर्यो छल कपट पाप मोतें करवाये ।
करि नभबानी मृषा बहिन के सुत मरवाये ॥
अस्तु, भई सो भई अब, हौं लज्जित अरु दुखित अति ।
भोगें है प्रारब्धवश, सब सुख दुःख सम्पति विपति ॥

मनुष्य अपने को जैसे क्षमा कर देता है, वैसे अन्य को भी क्षमा कर दे फिर वरभाव शत्रुता तथा कलह न हो। हमसे कोई अपराध बन जाता है तब तो कह देते हैं— चलो, जो हुआ सो हो गया। किन्तु दूसरो के अपराधो को हम जीवन भर नही भूलते मरते समय अपने परिवार वालो से भी कह जाते हैं, उनने हमारे साथ ऐसा वर्ताव किया था, तुम भी इसके साथ ऐसा ही करना। अपने से कोई अपराध हो जाता है तो प्रारब्ध को दोष देते हैं। दूसरो से हो जाता है तो उसके प्राण खा

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— राजन ! योगमाया की बात सुनकर कंस को परम विस्मय हुआ। उसने तुरन्त देवकी और वसुदेवजी को बंधन से मुक्ति करके अत्यन्त विनीत भाव से कहा।'

जाते है, तुमने ऐसा किया ही क्यो ? यही भिन्न दृष्टि है इसी का नाम पक्षपात या स्वार्थ है, ऐसे लोग ऊपर से तो बडा भारी ज्ञान छाँटते है किन्तु भीतर ही भीतर उनमे स्वार्थ सिद्ध करने की भावना भरी रहती है। दुरात्माओ के ये ही लक्षण हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! योगमाया के वचनो को सुनकर कस को चेत हुआ। उसने सोचा—"अरे, मैं तो ठगा गया। जिस देवकी के अष्टम गर्भ से मुझे भय था, वह तो गोकुल मे ही कही अन्यत्र उत्पन्न हो गया। अब क्या किया जाय, अब तो इन देवकी और वसुदेव को वन्दी बनाकर रखना वृथा है। यदि यह बात पहले से ही विदित होती, तो मैं इन्हें वन्दी ही क्यो बनाता। मुझसे यह तो भूल हो गई।" फिर सोचने लगा—"कोई बात नही। हो ही जाता है, भूल मनुष्य से ही तो होती है। ऐसा कौन-सा मनुष्य है, जिसने जीवन मे कभी भूल न की हो। अब मैं इधर-उधर की बातें कहकर इन्हें प्रसन्न कर लूँगा।" यही सोचकर वह देवकी और वसुदेवजी के पास गया।

अत्यन्त ही सौहार्द प्रकट करते हुए उसने देवकी से कहा—"बहिन! मेरे द्वारा तुम्हे बडा क्लेश हुआ। बेचारे वसुदेवजी को भी व्यर्थ मे बहुत-सी विपत्तियाँ उठानी पडी। आकाशवाणी सुनकर मेरी भी कैसी बुद्धि भ्रष्ट हो गई, कैसा मैं बधिक बन गया, कैसा राक्षस भाव मुझमे आ गया, जो आपके सद्यःजात बालको को निर्दयतापूर्वक मार डाला।"

देवकी ने दुखित होकर कहा—"अरे, भैया! कौन किसे दुख देता है, सब अपनी करनी के फल हैं।"

कस ने पश्चात्ताप के स्वर मे कहा—"सो तो है ही। फिर भी तू मेरी बहिन है, ये मेरे बहनोई हैं, मुझे तो अपने सगे,

सम्बन्धी, सुहृद् तथा कुटुम्बवालो पर करुणा करनी चाहिए, उनकी सहायता करनी चाहिये। सो तो मैंने कुछ किया नही, उलटे तुम्हे बडे बडे क्लेश दिये। आपका स्वाभाविक स्नेह छोडकर मैंने दुष्टता पूर्ण व्यवहार किया। इन कुकृत्यो के कारण कौन से नरको मे मुझे जाना होगा। कौन-कौन-सी यमयातनायें मुझे सहनी पडेगी।"

देवकी जी ने कहा—"भैया! तुम तो मुझे बहुत प्यार करते थे, अपनी पुत्री के सदृश मानते थे, जब से तुमने आकाशवाणी सुनी, तभी से तुम्हारे भाव बदल गये।"

कस ने कहा—'हाँ, बहिन! मुझे इसी बात का तो आश्चर्य हो रहा है। मनुष्य झूठ बोले तो बोले। अब विधाता भी झूठ बोलने लगा है। आकाशवाणी तो सदा सत्य ही होती है मेरे लिये वह भी असत्य सिद्ध हुई। उसी के चक्कर मे पडकर मैंने कैसे-कैसे घोर पाप किये। अपने कितने तेजस्वी होनहार भानजों को पैदा होते ही मार डाला। अबध्या कन्या को भी निर्दयता-पूर्वक पाषाण पर पटका। आप अपने पुत्रो की मृत्यु से दुखी होगे। इन पापो के कारण मैं तो जीवित ही मृतक के समान हूँ। ब्रह्महत्या के सदृश मैंने पाप किया है।"

आँखो मे आँसू भरकर देवी देवकी ने कहा—"भैया दुखी होने से क्या होता है, अब लौटकर थोडे ही आ सकते है?'

कस ने कहा—', हाँ अब यही सोच समझकर तो सन्तोष करना पडेगा। अब शोक करने से ही क्या हो सकता है, उन बेचारो का प्रारब्ध ही ऐसा था, उनके भाग्य मे ऐसा ही लिखा होगा। ससार के सभी प्राणी दैवाधीन होकर भटकते रहते है। जिसकी जहाँ जिसके द्वारा मृत्यु बदी होती है, उसकी वही उसी के द्वारा मृत्यु हो जाती है। इसे कोई अन्यथा करने मे समर्थ

नही। जैसा होना होता है, वैसी ही बुद्धि बन जाती है। फिर जन्म के साथ मृत्यु तो लगी ही रहती है। जिसने जन्म लिया है उसे आज या सौ वर्ष के पश्चात् मरना तो अवश्य ही है। फिर मरना भी एक खेल है। वास्तव में तो मृत्यु होती ही नही!"

देवकी जी ने कहा—"मृत्यु होती क्यों नही भैया।" जीता हुआ आदमी प्रत्यक्ष मरा हुआ दिखाई देता है।"

कस ने कहा—"अच्छा, तू विचार कर मरता कौन है। शरीर में दो वस्तुएँ हैं, एक शरीर एक आत्मा। एक क्षेत्र है दूसरा क्षेत्रज्ञ। आत्मा तो न मरती है, न जन्म लेती है, वह तो अजर, अमर, नित्य और शाश्वत है। शरीर तो क्षणभंगुर है ही। आज बना, कल बिगडा। आज जो मनुष्य है, कल पशु योनि में चला जायगा, फिर पक्षी बन जायगा, किन्तु जिसके आश्रय से ये देह प्राप्त करता है, उसमें तो कोई विकार नही। जैसे मिट्टी है, उसके घड़े, सकोरे, नाद, हंडी तथा मटकी आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्तन बनते हैं। कुछ काल में बर्तन फूट जाते हैं। बर्तनों के नष्ट होने पर मिट्टी नष्ट नही होती। बर्तन बनने के पूर्व भी मिट्टी थी, फूटने पर भी मिट्टी हो गई। बीच मे केवल उसका नाम रूप बदल गया। इसी प्रकार देह उत्पन्न होते रहते हैं, नष्ट होते रहते हैं, इससे आत्मा मे विकृति नही होती। वह तो शुद्ध निर्विकार एकरस बना रहता है।"

देवकी जी ने कहा—"तब फिर भैया! बच्चा पैदा होने पर लोग हर्ष क्यो मनाते है, मरने पर इतने क्यो रोते हैं?"

कस ने कहा—"यह लोगो की मूर्खता है, अज्ञान के कारण ही ऐसा करते है। उन्हे यथार्थ तत्त्व का ज्ञान नही होता। कुछ को कुछ मान बैठे हैं। टेढो-मेढी पडी रस्सी को भ्रमवश सर्प मानकर भयभीत हो रहे है। कुछ का कुछ मान लिया है।

ये देह-गेह आदि नश्वर और अनात्म पदार्थ हैं, इन अनात्म-पदार्थों मे अज्ञान के कारण आत्मबुद्धि कर ली है। देह और आत्मा का भेद न जानकर देह को ही आत्मा माने बैठे हैं। इसी मूर्खतावश सब अपनी देह को ही सुखी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। दूसरों को अपने से भिन्न मानकर उनसे राग द्वेष कर रहे हैं। राग-द्वेष से भेद-भाव होता ही है। यह भेद ज्ञान ही सयोग - वियोग का कारण है। मेरा शत्रु मर गया, अच्छा हुआ। मेरे मित्र का पुत्र मर गया, बुरा हुआ। यह भेद-भाव ही दुःख-सुख का कारण है। यह सुख दुःख ही प्राणियों को पुनः-पुनः ससार मे ले आते हैं। पुण्य और पाप की वासनाओ से ही दूसरा शरीर लेना पड़ता है। पुण्य विशेष हैं, तो सुख मिलेगा। पाप विशेष हैं, तो दुःख मिलेगा। इन वासनाओं मे ही बँधे रहने के कारण ससार चक्र की निवृत्ति नही होती। 'पुनरपिजनन पुनरपिमरणम्" यह क्रम चलता ही रहता है। इन्ही सब बातो को समझकर लल्ली! तू शोक मत कर। मेरे ऊपर क्रोध भी मत करना; इसने ही मेरे बच्चो को मारा है, कौन किसे मार सकता है, कौन किसे जिला सकता है। सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं। इस विषय में तुम एक दृष्टान्त सुनो।

एक ब्राह्मण था, वह गाडी लेकर अपनी स्त्री को लाने ससुराल मे जा रहा था। चलते चलते उसके बैल थक गये। समीप ही उसने एक बडा सुन्दर उद्यान देखा। वहाँ एक सुन्दर सरोवर था, ब्राह्मण एक वृक्ष के नीचे गाड़ी खोलकर बैठ गया। विश्राम करके वह सरोवर में स्नान करने गया। वहाँ उसने क्या देखा कि एक भिखारिणी वहाँ पडी तड़प रही है। वह प्यास के कारण व्याकुल हो रही थी। उसने क्षीण-

स्वर में कहा—"कौन है, तनिक दया करके मुझे पानी पिला दे।"

ब्राह्मण को दया आ गई, वह लोटा मे पानी भरके उसके पास गया। जाकर जो उसने देखा, उसे देखकर उसे बड़ी दया आई। भिखारिणी के सभी कपड़े मैले-कुचैले और फटे-पुराने थे। गौर वर्ण का उसका शरीर था, अभी-अभी उसने युवावस्था मे पदार्पण किया था, उसका मुख अत्यन्त ही सुन्दर था, किन्तु सम्पूर्ण शरीर मे गलित कुष्ट था। घावों में कीड़े पड रहे थे और वे बिलबिला रहे थे। सम्पूर्ण शरीर से दुर्गन्धि आ रही थी, उसके पास भी कोई खडा नही होता था। ब्राह्मण ने नाक बन्द करके उसे पानी पिलाया और पूछा—"कुछ खाओगी ?"

सतृष्ण नेत्रों से कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसने सिर हिला दिया। ब्राह्मण अपनी गाडी मे से सत्तू ले आया। सत्तू सानकर उसने दिया। कई दिन की वह भूखी थी। भोजन करके उसको शरीर की सुधि आई। उसने ब्राह्मण के प्रति अपना कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"भगवान् आपका भला करे, मुझ पतिता के ऊपर आपने बडी दया की।"

उस स्त्री की ऐसी दशा देखकर ब्राह्मण को बडी दया आ गई। वह उसके पास बैठ गया, उसने कहा—"मैं तुम्हारी और क्या सहायता कर सकता हूँ।"

इतना सुनते ही वह स्त्री फूट-फूटकर रोने लगी—"उसकी आँखो की कोर से निरन्तर आँसू बह रहे थे। रोते-रोते उसने कहा—"संसार मे मुझसे अधिक पतिता और कौन होगी। मैं तो समझती थी संसार मे मुझसे कोई बोलेगा भी नही, किन्तु अब पता चला, संसार में पतियो से भी प्रेम करने वाले दयालु पुरुष

हैं। आप मेरे ऊपर यदि कुछ दया करना चाहते हैं, तो मुझे कहीं से थोड़ा विष ला दें या किसी नदी में फेंक आवें। इस जीवन से मैं ऊब गई हूँ, मरना चाहती हूँ, किन्तु मुझ अभागिनी की मृत्यु भी नहीं आती।" यह कहकर वह फिर मुख ढाँपकर रोने लगी।

ब्राह्मण उसकी मानसिक वेदना को समझ गया, कि यह अत्यन्त कष्ट मे है, किन्तु उसकी बुद्धि मे यह बात नही आ रही थी कि मैं उसकी क्या सेवा करूँ? इतने मे ही एक वृद्धा वहाँ आ गई। उस स्त्री को देखकर वह भी वहाँ खडी हो गई। उसके हृदय मे भी दया आ गई। उसने कहा—"इसे क्या हो गया है?"

ब्राह्मण बोला—"माताजी! यह कोई बडी दुखिया है, यहाँ कही कोई आस-पास वैद्य हो तो बताओ, इसकी कुछ चिकित्सा कराई जाय। मुझसे जो बन सकेगा, वह मैं सहायता करने को तैयार हूँ।'

वृद्धा बोली— भैया! वैद्य को तो मैं जानती नही। यहाँ से चार-पाँच कोस दूरी पर गगा किनारे एक महात्मा हैं। वे भभूत देकर बहुत से रोग अच्छे कर देते हैं।"

ब्राह्मण ने कहा— मुझे उधर ही जाना है यदि यह चलना चाहे तो मैं ले चलूँ।"

स्त्री तो यह चाहती ही थी। वह सहर्ष तैयार हो गई। ब्राह्मण अपनी गाडी ले आया। वृद्धा की सहायता से उसे गाडी में लिटाया और उसे लेकर वह महात्मा के समीप पहुँचा। सायकाल का समय था, ब्राह्मण ने महात्मा को प्रणाम किया, और उस स्त्री की सब कथा सुनाकर भभूती देने की प्रार्थना की। रोते-रोते उस स्त्री ने भी महात्मा जी की विनय की। महात्मा बोले—

'देखो भाई, सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। यह भी अपने कर्मों के फल से इस दशा को प्राप्त हुई है।"

ब्राह्मण ने पूछा—'प्रभो! आप तो सर्वज्ञ हैं, इसने ऐसा कौन-सा पूर्वजन्म मे पाप किया था, जिससे इसकी ऐसी दुर्गति हुई?"

महात्मा बोले—"पूर्व जन्म मे यह एक बडे धनिक वैश्य की कन्या थी इसका व्याह माता पिता ने एक दूसरे धनिक वैश्य पुत्र के साथ किया। जिसके साथ इसका विवाह हुआ था, उसका एक छोटा भाई और था। वह अत्यन्त ही सुन्दर था। उसके साथ इसका सम्बन्ध हो गया। यद्यपि पहिले दोनो भाइयो मे बडा प्रेम था, किन्तु इस अनुचित सम्बन्ध मे दोनो भाई एक-दूसरे के रक्त के प्यासे बन गये। छोटे भाई ने अवसर पाकर बडे भाई का वध कर दिया और उसे नदी मे फेंक आया। अब तो यह खुल्लमखुल्ला उसके साथ रहने लगे। इसे सुरापान का, मास खाने का भी व्यसन हो गया। इसका देवर पशु-पक्षियो को लाता, यह स्वय उनको मारकर उनके मासो को विविध प्रकार से बनाकर खाती। कुछ दिनो मे सब धन समाप्त हो गया। धन न रहने से आपस मे लडाई होने लगी। अन्त मे वह देवर भी इसे छोडकर भाग गया। इसने किसी और से सम्बन्ध कर लिया। वह इसे निर्वाह के लिए द्रव्य देता था।

तुम पूर्वजन्म मे भिक्षुक थे। एक दिन अत्यन्त भूखे इसके द्वार पर आ गये। इसने दया करके तुम्हे भोजन करा दिया। भोजन करके तुम चले गये किन्तु इसके रूप को देखकर तुम्हारे मन मे इसके प्रति कुछ आसक्ति हो गई। कुछ दिनो पश्चात सर्प ने इसे डस लिया और यह नरको मे ले जाई गई। वहाँ नरक की इसे भयकर वेदनाएँ दी गईं। जब इसके कुछ पाप शेष रहे,

तो यह एक शूद्र की कन्या हुई। यह बड़ी सुन्दरी थी, अतः एक धनिक शूद्र क साथ इसका विवाह हो गया। उस नगर का जो भूमिपति था उसकी इस पर दृष्टि लग गई। वह भूमि पति इसके पूर्व जन्म का पति ही था। जिससे इसका विवाह हुआ वह इसका देवर था। उस भूमि पति ने क्रोध मे भरकर पूर्व, जन्म के वैर के सस्कार के कारण इसके पति को मार डाला और इस अपने घर मे रख लिया। इसका चाल चलन भी अच्छा नही था, अतः इसे उपदश की बीमारी हो गई। इससे उसने इसे त्याग दिया। ये ससारी पुरुष तो रूप के लोभी होते है। इसे कोई पूछता नही था, इसी बीच मे इसे कुष्ठ हो गया और घावो मे बडे-बडे कीड़े पड गये। ये सब वे ही पशु पक्षी कीड़े हुए थे, जिन्हें मारकर उनके मांस को इसने खाया था। पहिले इसने उनके मांस को खाया था, अब ये इसके मांस को खा रहे हैं।

तुम्हारी इसके प्रति मानसिक आसक्ति भी थी, तुम्हारे साथ इसने दया भी की थी। इसीलिये इस जन्म मे तुम्हारे मनमे इसके प्रति दया उत्पन्न हो गई और तुम इसे गगा किनारे ले आये। जिस बुढिया ने इस पर दया की यह इसकी पूर्व जन्म की धाय थी। इसका इस पर बडा स्नेह था। ससार मे कोई घटना सहसा नही होती, सबका पूर्व जन्म के सस्कारो से सबन्ध रहता है। अब यह गगा किनारे रहे, गगा रज शरीर मे लगावे, गगाजल का पान करे, इसीसे इसकी सद्गति हो जायगी।" उस स्त्री ने ऐसा ही किया, कुछ दिन मे उसका रोग दूर हो गया और गगा किनारे रहने से उस स्वर्ग की भी प्राप्ति हुई।

कस अपनी बहन देवकी स कह रहा है— 'सो, बहिन कोई किसी को जान बूझकर नही मारता। पूर्व जन्मो का वैर लेने को ही ऐसा करता है। मेरा तुम्हारे इन बच्चो के साथ ऐसा

ही कोई सस्कार रहा होगा। ज्ञानी के लिये तो कर्मबन्धन है ही नही। क्योकि उसका कर्तृत्व का अभिमान नही है। उसकी बुद्धि कम करते हुए भी उन कर्मो म लिप्त नही होती। ऐसी दशा मे वह चार सम्पूर्ण लोको की हत्या कर डाले तो भी वह उनसे पृथक ही रहता है कर्म बन्धनो मे बँधना नही है किन्तु जब तक यह अभिमान है कि मैं मारता हूँ या मुझे कोई मारता है, तब तक स्वय प्रकाश होने पर भी जीव देह की उत्पत्ति तथा नाश का अभिमान करने के कारण वह अज्ञान वश बाध्य-बाधक भाव को प्राप्त होता है। इसलिये भावी को प्रबल समझकर तुम सोच मत करो। मुझमे यह पाप भूल मे हो गया।

देवकीजी बोली—"अब भैया जो कुछ होना था सो हो गया हम तुमसे कुछ कहते थाडे ही है। तुम सर्व समर्थ हो जो चाहो कर सकते हो"

कस बोला— 'कहोगे क्या ? तुम दोनो ता बडे साधु स्वभाव के हो धर्मात्मा हो, सहिष्णु हो दीन दुखियो पर दया करने वाले हो। मैंने जो तुम्हारे साथ अन्याय, अ याचार किये हैं नृशसता की है उसे क्षमा करो। मैं तुम्हारी शरण हूँ।'

सूतजी कहते है—' मुनियो ! इतना कहकर कस सुबकियाँ भरकर रोने लगा तथा दवकीजी और बसुदेवजी के पैरो मे गिर पडा।'

इतने अभिमानी और पराक्रमा कस को इस प्रकार दीन होते देखकर देवी देवकी का क्रोध शान्त हो गया। बसुदेवजी तो ज्ञानी ही थे उन्हे तो क्रोध होना ही क्या था, अत वे कस को धैर्य बँधाते हुए हँसकर बोल –' राजन् ! आपने सत्य बात कही। वास्तव मे कोन किसे सुख दु ख देता है सभी अपने किये कर्मो

का फल भोग रहे हैं। देह धारियों को अज्ञान के कारण ही अहं बुद्धि होती है। उसी अज्ञान के प्रभाव से यह मेरा है, यह तेरा है, इस प्रकार की भेद बुद्धि प्रतीत होती है, वे भेद दर्शी लोग ही दुःख, सुख, हर्ष, शोक, भय, द्वेष, लोभ, मोह तथा मद से

अन्धे होकर परस्पर में लड़ते झगड़ते हैं और एक दूसरे का नाश करानेवाले काल स्वरूप सर्वप्रेरक परमात्मा को नहीं जानते।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! ऐसा कहकर देवकीजी तथा वसुदेवजी ने सच्चे हृदय से बिना छल कपट के कंस को क्षमा

कर दिया। कंस ने भी योगमाया के कथन पर विश्वास दिखाते हुए वसुदेव और देवकी को बन्धन मुक्त कर दिया। वे दोनो कारावास से मुक्त होकर अपने घर चले गये। कंस उनसे आज्ञा लेकर अपने घर चला गया।"

छप्पय

सुख दुख कूँ को देहि भाग्य ही सब करवावै।
दैवाधीन वियोग दैव ही लाइ मिलावै॥
अहं बुद्धि अज्ञान जन्य प्रारब्ध बनावै।
हर्ष, शोक, भय, लोभ, मोह आदिक उपजावै॥
ऐसें ज्ञान बघारिकें, करि प्रसन्न दोनों लये।
कारागृह तें मुक्त है, हरि चित धरि निज गृह गये॥

इसके आगे की कथा अगले खण्ड में पढ़िये।

गोपाल श्याम

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(खण्ड ३८)

व्यासशाखोपवनतः सुमनासि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य

तृतीय संस्करण १००० प्रति] आश्विन कृष्णा द्वितीया अक्टूबर १९७२ [मूल्य २) रुपया

मुद्रक-वशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
भूमिका	१
१. राम-श्याम का नाम-करण	१३
२. कनुआ-बलुआ	२१
३. राम-श्याम की बाललीला	३०
४. पङ्काङ्गरागानुलिप्त राम-श्याम	३७
५. गो-वत्सविहारी राम श्याम	४३
६. बालविनोदिनी लीलाएँ	५१
७. मृद्भक्षण-लीला	७०
८. माखनचोरी लीला	८१
९. गोपियों का उपालम्भार्थ गमन	९२
१०. गोपियों का उपालम्भ	१०७
११. श्रीकृष्ण के उत्पात	११४
१२. श्रीकृष्ण को अपराधी सिद्ध करने का प्रयत्न	१२५
१३. यशोदा मैया का दधिमन्थन	१३७
१४. माखनचोर की करतूत	१४७
१५. श्रीकृष्ण पकड़े गये	१५५
१६. दामोदर की दयालुता	१६३
१७. जीवोद्धारिणी लीला	१७३
१८. श्रीहरि ने यशोदा मैया का स्तन पान क्यों किया	१८१
१९. नलकूबर मणिग्रीव के शाप की कथा	१९७
२०. श्रीकृष्ण की बन्धन-मुक्ति	२१४
२१. श्याम की प्रेममयी लीलाएँ	२२९
२२. भृत्यवश्य भगवान्	२२८

•••०(१)०•••

॥ श्रीहरि ॥

जग-जाल से बचने का उपाय

[भूमिका]

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया,
त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

दाम नाम अरु काम जगत के जे ई बन्धन।
समुझें सुख फँसि जात करें पुनि पाछें क्रन्दन॥
पड़ित मूरख जीव सबहिं इनिमाहिं भुलाने।
जे जगकी तजि रीझ रमापति रूप रिझाने॥
ते ई जगमहँ धन्य हैं, प्रभु पै नित बलि जात हैं।
स्वयं तरें तारें सबनि, जग के बन्ध नसात हैं॥

---

* श्रुतियाँ भगवान् की स्तुति करती हुई कहती हैं—"हे नाथ! जो पुरुष आपको अखिल जीवों का आश्रय स्थान समझकर सेवते हैं, वे मृत्यु को कुछ भी न समझकर उसके सिर पर पैर रख देते हैं। जो आप से विमुख हैं, वे चाहें कितने भी भारी पंडित क्यों न हों, उन्हें आप कर्मों को कहने वाली श्रुतियों के चक्कर में फँसाकर पशुओं की तरह बाँध देते हैं, वे स्वयं ही बँधे हैं, फिर दूसरों का बन्धन क्या खोल सकेंगे? किन्तु जिन्होंने आप में सुहृद्भाव स्थापित कर लिया है, वे तीनों लोकों को पावन बना देते हैं।"

आज से बहुत पहिले की बात है, जब मैं श्रीवृन्दावन धाम-मे रामबाग मे ठहरा हुआ था। उन्हीं दिनों एक बंगालिनी माई मेरे समीप आयी। आनदजी ने मुझे उनका परिचय कराया कि—"इनका नाम है 'गोपालेर माँ' गोपालजी की माता। इनके गोपालजी बड़े सुन्दर हैं। इनसे बोलते चालते हैं और इनके हाथ से प्रसाद भी पाते हैं। ये उन्हे अपना पुत्र मानती हैं।" यह सुनकर मैं उनके गोपालजी के दर्शन करने गया। उनसे गोपाल जी बातें करते थे या नहीं, उनके हाथ से प्रसाद पाते थे या नहीं, इसे तो वे जानें उनका काम जाने, किन्तु मुझे वह लड्डू-गोपाल भगवान् की मूर्ति बड़ी ही सुन्दर लगी। लिखते-लिखते अब भी मेरे नेत्रो के सम्मुख वह मनमोहिनी मूर्ति नृत्य करती-सी प्रतीत होती है। मूर्ति बड़ी थी, वह संभवतया अष्टधातु की बनी थी। छोटे बच्चे जैसे हाथ पैर से किढ़रिते हैं वैसी ही वह मूर्ति थी। एक हाथ मे लड्डू था दूसरा भूमि पर पैरों के सदृश रखा था। उनके श्रीअङ्ग पर बड़ी सावधानी से नीला रङ्ग किया गया था। श्रीअङ्ग की नीलकान्ति चमचम चमकती थी। मूर्तियों में आभा तीन ही कारणों से आती है। अर्चक की उत्कट श्रद्धाभावना से, बनाने वाले की चतुरता से, और अतुल वैभव के साथ सेवा-पूजा-करने से। उस काषाय वस्त्रधारिणी माता के पास अतुल वैभव तो नहीं था, किन्तु उसमे शेष दोनो बातें थीं। किसी सुयोग्य निर्माता के द्वारा वह निर्मित थी और माता जी बड़ी श्रद्धा से- अत्यन्त भाव से--उनकी सेवा पूजा करती थीं। भाँति-भाँति का शृङ्गार करके उन्हे सजाया गया था। फिर वैसी ही मूर्ति मैंने कलकत्ते मे चामड़िया सेठो के यहाँ देखी। मेरी इच्छा हुई मैं भी अपनी पूजा में वैसी ही लड्डू-गोपालजी की मूर्ति रखूँ। फिर मैं हिचक गया, एक तो मैं बहुधन्धी हूँ, उनको समय से खिला पिला न सकूँगा। दूसरे न जाने किन-किन के मन

को वे बिगाड़ेंगे, इसलिये मुझे वे प्राप्त भी न हुए। मैंने उद्योग भी न किया। मदरास से एक छोटे-से-मुन्मुना-से चाँदी के लड्डू गोपाल आये हैं। वे बड़े सीधे सादे हैं, दिन भर भूखे बैठे रहते हैं। दोपहर में दो तीन बजे एक बार साग पात खाकर निर्वाह कर लेते हैं। फिर भी वह मूर्ति मुझे भूली नहीं।

एक दिन अभी दस बीस दिन की ही बात है, मैं त्रिवेणीजी में नौका में बैठा पूजा कर रहा था, कि वैसी ही मूर्ति को गोदी में लिये हुए एक माता सगम स्नान करा रही थी। वे अपने पुत्र की भाँति उन्हें गोद में लिये हुए थीं, उनकी आकृति प्रकृति से ऐसा प्रतीत हुआ, मानों वे किसी सम्पन्न घर की महिला हैं। सभवतया बाल विधवा होगीं और अपना कोई पुत्र न होने से इन गोपालजी को ही पुत्र मान लिया होगा। माता को तब बहुत प्रसन्नता होती है, जब कोई उनके बच्चे को प्यार करे उसे कुछ खाने खेलने की वस्तु दे।

जिनको उन माताजी ने पुत्र बनाया था, उन्होंने मुझे भी कुछ आकर्षित किया था। सहसा बीच सगम में एक माता की गोदी में उन्हें देखकर मैं चौंक पड़ा। पूजा बन्द करके मैंने उन्हें पास आने को कहा। वे तो छोटे थे माँ की गोदी मे थे, कैसे मेरे पास आते। मेरी दाढी मूँछे और रूखे रूखे पिचड़ी बालों को देखकर डरते भी होंगे, इसलिये मैंने उनकी माता को ही बुलाया। माता उस अपने लाडले पूत को गोदी म लिये हुए आयीं। मैंने एक गुलाब का फूल उनके हाथ में दिया। इच्छा हुई उन्हें गोदी में ले लूँ, किन्तु वे और उनकी माता दोनों ही भीगे थे। माता ने आवश्यकता से अधिक उन्हें गोता लगा दिये थे। माता काँप रही थीं। वे कुछ काल अपने बच्चे को लिये हुए मेरे पास खड़ी रहीं, फिर फूल को पाकर और यह जानकर, कि ये मेरे बच्चे को प्यार करते हैं, मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होती हुई चली गयीं।

अब आप सोचिये, जैसे और ससारी माताओं को पुत्र का बन्धन है, वैसे ही इन माता को भी है। इनकी सेवा पूजा हो, इसकी उन्हे चिन्ता है। धन जुटाती हैं, भाँति-भाँति की वस्तुओं को मँगाती हैं, किन्तु जिसकी वे चिन्ता करती हैं वह नित्य है। उन्हें विश्वास है मैं भले ही मर जाऊँ मेरा बेटा कभी भी न मरेगा। मैं इसे भले ही प्यार न करूँ यह मुझे अवश्य प्यार करेगा। जब वे गोपाल पर इतना विश्वास रखती हैं, तो गोपाल का भी तो कुछ कर्तव्य है। वह धनिकों की भाँति पाषाण हृदय कृतघ्न और स्वार्थी तो है नहीं। औरों के लिये हो भी किन्तु जो उसे पुत्र कहकर प्यार करती है लाड लडाती है उसके प्रति तो वह इतना निष्ठुर हो ही नहीं सकता। वह स्वय अमर है तो अपनी माँ को भी अमर बना देगा, उसकी माँ उसे प्यार करती है तो उसे उससे प्यार करने को विवश होना ही होगा। इसलिये जिस माता ने गोपालजी को अपना पुत्र बना लिया है, उसकी बन्धन मुक्ति में तो कोई सन्देह नहीं। उसका जगत् का जाल छिन्न भिन्न हो ही जायगा।

अब आप सोचें-जगत् का जाल कहते किसे हैं? काम के लिये मिथुन बनने की इच्छा और उस मिथुन सुख को स्थायी रखने के लिये दाम की इच्छा, इनके द्वारा हमारा नाम भी हो यह भावना। मनुष्य दाम चाहता है काम के लिये और काम भोग से नाम चाहता है। काम कहते हैं-समस्त इन्द्रियों के सुख को अभिलाषा को। रूप का सुख, रस का सुख, गन्ध का सुख, शब्द का सुख और स्पर्श का सुख। ये सब परस्पर में स्त्रियों को पुरुषों से, पुरुषों को स्त्रियों से मिलते हैं, इसलिये विवाह करने का सबको स्वाभाविक रुचि होती है। विवाह बन्धन हुआ मानों ससार चक्र आरम्भ हुआ। विवाह करके आज तक आत्यन्तिक सुख तो किसी को हुआ नहीं। मेरे पास तो बहुत लोग

आते हैं, किसी ने नहीं कहा—"हम अत्यन्त सुखी हैं।" फिर भी मनुष्य विवाह करने को अत्यन्त उत्सुक रहता है, यही भगवान् का माया है। खाने को चाहें घर में अन्न न हो, किन्तु विवाह अवश्य हो। मेरे पास विद्यालय विश्वविद्यालय से ऊबकर बहुत से विद्यार्थी आते हैं, कोई कहते हैं—"हमें याग सिखा दें, कोई कहते हैं हमें अपनी सेवा म रख लें।" मैं तो ऐसे युवकों को देखते देखते उनकी नाडी पहिचानने लगा हूँ, कह देता हूँ, विवाह करके तब मेरे पास आना।

अभी मुझे एक श्रीमद्भागवत सप्ताह के सम्बन्ध से कुछ देर क लिये कानपुर जाना पडा। मुझे बडी शीघ्रता थी, मेरे पुराण पाठ का त्रिवेणी स्नान का नागा न होने पावे। उसी समय सेठ पद्मपति जी सिंहानिया के दिव्य भवन (कमला स्ट्रीट) को देखने भी बडी शीघ्रता मे गये। प० गजानन्दजी जिनसे मैंने बाबूजी का सम्बन्ध स्थापित कर लिया है मुझे दिखाने ले गये। ऐसा सुन्दर समृद्धिशाली विस्तृत सुसज्जित भवन मैंने अपने जीवन मे कभी नहीं देखा। वहाँ के तीन चार प्रहरी हमारे साथ लगे रहे और बडे मनोयोग से उन्होंने हमे सभी वस्तुएँ दिखाने का प्रयत्न किया। यदि सावधानी से सब वस्तुओं को देखते तब तो कई दिनों का काम था। हम ऐसे ही चक्कर लगा आये। उसमें भाग्यशाली ही लोग आकर ठहरते होंगे, किन्तु मुझसे कोई वहाँ दो चार घटे भी ठहरने को कहे तो मैं नहीं रह सकता। उसकी किवाडों पर जो एक विशेष प्रकार का रङ्ग किया गया था, उसकी उत्कट गध से मेरे सिर मे पीडा हो रही थी और मैं नाक बन्द किये हुए ही घूमा। वहाँ के सरोवर को देखकर बडी प्रसन्नता हुई। पडितजी ने बताया एशिया में ऐसे एक या दो ही सरोवर और हैं। अस्तु, देख दाखकर अब हमें अपने कृपालु प्रहरियों से विदा होना था, जिन्होंने बडे उत्साह से हमें सब दिखाया था।

चलते समय मैंने एक छोटे-से सुन्दर-से प्रहरी से कहा—"देखो हम बहुत बड़े महात्मा हैं। हम सब कुछ कर सकते हैं, सब कुछ दे सकते हैं। तुम्हारे सेठ साहब भी हमें मानते हैं, तुम हमसे जो चाहो सो माँग लो। हम अपने आशीर्वाद से तुम्हें सब कुछ देने में समर्थ हैं।"

यह सुनकर वह चुप रहा। मैंने कहा—"तुम जितना चाहो धन माँग लो, पुत्र माँग लो, भवन माँग लो, ऐश्वर्य माँग लो। बोलो, बोलो, शीघ्र बोलो हमें जाना है।"

फिर भी वह चुप ही रहा। मैंने कहा—"अच्छा, पुत्र चाहते हो?"

उसने फिर भी कुछ नहीं कहा। मैंने कहा—"तुम्हारा विवाह हुआ?"

उसने कहा—"जी, नहीं हुआ।"

मैंने कहा—"तो क्या बहू चाहते हो?"

उसने कहा—"जी हाँ।"

मैंने कहा—"अच्छा, जाओ तुम्हारा विवाह हो जायगा।"

हमारे साथ तीन चार प्रहरी थे। आज सबको ही वरदान देने की मुझे जुन्न सवार हुई। दूसरे से पूछा—"बोलो तुम क्या चाहते हो?"

उसने कहा—"साब! मैं ब्याह ही चाहता हूँ।"

मैंने कहा—"अच्छा, जा तेरा भी हो जायगा।"

तीसरे से पूछा—"तू क्या चाहता है भैया!"

उसने कहा—"मैं भी साब! वही चाहता हूँ।"

यह सुनकर हमारे जितने साथी थे सब खिलखिलाकर हँस पड़े। मैंने कहा—"भैया! तू तो इतना बड़ा हो गया है, अभी तेरा विवाह नहीं हुआ?"

उसने कहा—"साब ! हुआ तो था, किन्तु उसे सर्प ने काट लिया मर गयी।"

मैंने कहा—"अच्छा, जा तेरा भी हो जायगा।"

इस प्रकार वरदान देकर हम तो चले आये। अब यह तो हमें पता नहीं उन विचारों का घर बसा या नहीं, किन्तु इससे मैं इसी निर्णय पर पहुँचा, कि संसार बन्धन में फँसने की जीवों की स्वाभाविक रुचि होती है। वह बिना किसी से प्रेम किये रह नहीं सकता।

हमारे "वैद्य रामनारायणजी" जब आये थे, तब उनका एक बारह तेरह वर्ष का पुत्र भी उनके साथ था। वह "भागवती कथा" का इतना प्रेमी है, कि एक दिन में एक खण्ड को समाप्त करके तब विश्राम लेता है। उसने अपने पिता से पूछा—"ब्रह्मचारीजी इतना लिखते ही जाते हैं, लिखते ही जाते हैं, ये कहाँ से इतना लिखते हैं?"

उसके पिता ने कहा—"पुराण-मंडप में नित्य पुराणों की कथाएँ होती हैं, उन्हें ही सुन सुनकर लिखते हैं।"

उनका कहना कुछ अंशों में सत्य है, कथाएँ तो पुराणों की ही रहती हैं, किन्तु अधिक लिखने का मसाला तो मुझे इस संसार के अध्ययन से मिलता है। संसार में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं जिससे कुछ न कुछ शिक्षा न ली जा सके। विशेषकर पठितों की अपेक्षा अपठितों से हमें शिक्षा अधिक मिलती है। मैं प्रायः अवसर आने पर सभी से ऐसे प्रश्न करता हूँ और कभी कभी मुझे एक धुन सी सवार होती है। बहुत दिन की बात है, तब कानपुर में स्वामी एकरसानन्द की अध्यक्षता में एक संकीर्तन महोत्सव हुआ था। उसमें हम भी गये थे और सरसैया घाट पर ही ठहरे थे। एक मल्लाह के लड़के से हमने कहा—"हमें पार

पहुँचा दे। उसने पार पहुँचा दिया।" मैंने कहा—"हम बड़े भारी महात्मा हैं तू जो चाहे सो माँग ले।"

उसने मेरे कान मे बड़ी दीनता से कहा—"महाराज! मुझे चार रुपये की आवश्यकता है। चार रुपये दिला दीजिये।"

चार रुपये उसे दिला दिये गये। वह और भी जो माँगता। दिला दिया जाता। मेरा विश्वास है वह बड़ा होता, विवाह योग्य होता, तो अवश्य ही विवाह का वर माँगता, और विवाह हो गया होता तो पुत्र का वरदान माँगता। अब कहने चला ही हूँ, तो लगे हाथों एक पुत्र के वरदान की भी बात शीघ्रता के साथ सुना दूँ।

एक बार हम झरिया गये थे। जहाँ कोयले निकाले जाते हैं, ऐसे एक कोयलों की खान के स्वामी बीरम बाबू के यहाँ ठहरे। उनके छोटे भाई करमसी बाबू हमे कोयलो की खान दिखाने ले गये। इससे पहिले हमने कभी कोयलो की खाने नहीं देखी थी। हम अनुमान भी नहीं कर सकते थे, कि इतने नीचे भी आदमी काम कर सकता है। भूमि से सैकड़ो हाथ नीचे कोयले खोदे जा रहे थे। वायु भी यन्त्रों द्वारा ही नीचे पहुँचायी जाती थी। वहाँ श्रमिक लोग अत्यन्त श्रम के साथ कोयले काट रहे थे। उनके कपड़े और शरीर ही काले नहीं हो जाते हैं, उनका थूक भी काला निकलता है, और मल मूत्र भी सुनते हैं काला हो जाता है। मनुष्य भी ऐसा जीवन बिता सकता है, यह हमने वहीं देखा। हमारे तो वहाँ कुछ देर में प्राण तड़फड़ाने लगे। स्वाँस रुकने लगी। एक बड़ा हृष्ट-पुष्ट कुली उन पत्थर के कोयलो को काट रहा था। सम्पूर्ण शरीर पसीने से लथपथ था। मैंने उसे रोककर कहा—"देखो, हम बहुत बड़े महात्मा हैं। तुम्हारे ये बाबू साहब भी हमारे भक्त हैं। हम सब कुछ दे सकते हैं, माँगो तुम क्या माँगते हो?"

उसने कहा—"मुझे एक पुत्र दीजिये।"

इतना सुनते ही हमारे समस्त साथी खिलखिलाकर हँस पड़े, और उनमें से एक बोला—"तू तो कोयले काटता है, पुत्र का क्या करेगा लेकर।"

दूसरा बोला—"वह भी कोयले काटेगा।"

एक दूसरे कुली से भी यही बात कही—"उसने कुछ केवल पैसे ही माँगे।"

इन सब उद्धरणों का यही अभिप्राय है, कि समस्त जीव काम और दाम की दाम-रस्सी मे बँधे हुए हैं। मूर्ख ही नहीं अच्छे-अच्छे पण्डित, हम जैसे जटाधारी, लटाधारी, मठाधारी, त्यागी, सन्यासी इसी चक्कर में हैं। बहुतों से मेरा परिचय है बड़ा सुन्दर उपदेश देते हैं, बड़े से बड़े धनिक उनका आदर करते हैं। बहुत से उनके शिष्य भी हैं, किन्तु इन दाम काम और नाम के ही समस्त प्रयत्न हैं। कोई कपड़े का व्यापार कर रहा है, कोई औषधि का कोई न्याय कराने का और कोई उपदेश देने का। 'स्वात्मानन्द पदप्रवेशकलन शेषाः वणिक्वृत्तयः" इस ससार बन्धन से छूटने का प्रयत्न कोई विरले ही करते हैं। वह तभी होगा जब भगवान् को अपना सुहृद् समझकर उन्हीं के निमित्त समस्त चेष्टाएँ की जायँ। जब तक ससार मे सुखानुभूति होगी, तब तक गोपालजी प्यारे नहीं लगेंगे। जब संसार के पदार्थों से मन हट जाय, यह अनुभव होने लगे, कि इनमे सुख नहीं तब गोपालजी में चित्त लगेगा।

काम की और अर्थ की भावना स्वाभाविक है, प्राणीमात्र में है, बिना सिखाये पढ़ाये आ जाती है, इसीलिये हमारे यहाँ काम-शास्त्र और अर्थ शास्त्र पर मुनियों ने विशद विचार किया है। काम को श्रीकृष्ण का पुत्र बताया है और लक्ष्मी (अर्थ) को भगवान् की पत्नी, और स्वयं भगवान् को धर्मस्वरूप कहा है।

धर्म से विहीन अर्थ और काम विनाश की ओर ले जाते हैं। आज संसार में इतनी अशान्ति क्यों है? लोग अर्थ को चाहते हैं। स्वच्छन्द काम-सुख भोगने के इच्छुक हैं, किन्तु धर्म को त्यागकर यह सब चाहते हैं, इसीलिये वे अधिकाधिक संसार में जकड़ते जाते हैं। यह युग का धर्म है, कलियुग में धर्म का एक ही पाद तो रह गया है। अन्य युगों में भी लोग अर्थ सञ्चय करते थे, कामोपभोग करते थे, किन्तु धर्मपूर्वक करते थे। श्रुति तो कहती हैं अपुत्रो की गति ही नहीं, इसलिये जिन्हे विवाह की इच्छा भी नहीं होती थी, वे भी धर्मपालन के लिये विवाह करते थे। जरत्कारु मुनि की विवाह करने की इच्छा नहीं थी, किन्तु पितरों के कहने से उन्होंने अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह किया और आस्तीक मुनि के गर्भ में आते ही स्त्री को छोड़कर चले गये। पांडवों ने राज्य लाभ लोभवश नहीं किया था। राज्य-सुखों के उपभोग के लिये महाभारत नहीं किया था, क्षत्रिय का धर्म-पालन करने को युद्ध किया था। न धर्मराज की युद्ध करने की इच्छा थी न अन्य भाइयों की ही, किन्तु धर्मपालन के लिये करना पडा, और अन्त मे उस राज्य को छोड़कर हिमालय मे गलने चले गये। पत्नी करो, किन्तु धर्मपत्नी करो, अर्थोपार्जन करो किन्तु धर्म के लिये करो, किन्तु कामी लोभी इन बातों को सुनते नहीं हम साधारण लोगों की बात तो पृथक् रही, व्यासजी स्वय कहते हैं—"मैं हाथ उठाकर उच्च स्वर से रो-रोकर कहता हूँ, कि धर्म से काम और अर्थ की प्राप्ति होती है, उस धर्म का सेवन तुम क्यों नहीं करते, किन्तु मेरी कोई सुनता ही नहीं।"

धर्मपूर्वक सेवन किये हुए काम और अर्थ भी यश श्री और स्वर्ग को ही देते हैं। इनसे आत्यन्तिकी शान्ति नहीं मिलती। आत्यन्तिकी शांति तो श्रीकृष्ण से कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें लाड़ लड़ाने में–रिझाने में मिलती है। श्रीकृष्ण हमारे

हैं यह भावना हो जाय और उन्हीं के लिये सब काम किये जायँ तो बेडा पार है।

नन्दरानी के कोई पुत्र नहीं था। बुढापा आ गया। वे पुत्र चाहती थीं, अन्त में पुत्र मिला। पुत्र भी ऐसा वैसा नहीं साक्षात् परमात्मा ही पुत्र बनकर आ गया। उसी ने माता को पुत्र सुख दिया। किसी ने उन्हें सखा बनाया, किसी ने कांत सम्बन्ध स्थापित किया और किसी ने उन्हे शत्रु माना। श्रीकृष्ण को जिसने जा बनाया वही वे बन गये और उन सबका परमानद सुख की प्राप्ति करायी। पूतना ने कहा—"मेरे पूत नहीं है। श्रीकृष्ण तू ही मेरा पूत बन जा। मैं तुझे विष पिलाऊँगी।" श्रीकृष्ण ने कहा—"मैं तेयार हूँ, विष पीलूँगा तुझे माता की गति दे दूँगा।" ऐसा ही उन्होंने किया। श्रीकृष्ण की पत्थर की धातु की मिट्टी की कैसी भी मूर्ति बनाकर उनसे प्यार करें। न मूर्ति बनावें घर में बच्चे तो सभी के हैं, उनमे ही श्रीकृष्ण की भावना करके उन्हे खिलावें। सेवा वैसी ही करें केवल भाव बदल दें। श्रीवल्लभाचार्य जी के पुत्र श्रीविट्ठलनाथ जी के सात पुत्र हुए। वे सबमें ही पाँच वर्ष तक भगवद्भावना करते थे। उसी भाव से उन्हे खिलाते पिलाते। यह कैसी सुखद उपासना है। श्रीकृष्ण को जो तिलभर प्यार करता है, वे उससे पहाड़ के सदृश प्यार करते हैं। श्रीकृष्ण की लीला चिन्तन ही जग जाल से छूटने की औषधि है। श्रीकृष्ण से जिसका सम्बन्ध जुड जाता है, उसका जगत् से सम्बन्ध आप ही टूट जाता है। श्रीकृष्ण से सम्बन्ध जोडना सहज नहीं। मर्त्यधर्मा प्राणी अमर्त्य से स्वय सम्बन्ध जोड ही कैसे सकता है, जब तक वे न चाहें। जिसको वे वरण कर लें, जिसे वे अपना लें वही उनसे सम्बन्ध जोड सकता है। हे कृपानाथ! हम पर भी कृपा करो, इन कागद, स्याही, चित्र, साँचे, छपाई आदि से हटाकर मुझे अपना लो। हे श्यामसुन्दर!

तुम्हारी बाँसुरी तो नित्य है, वह तो निरन्तर बजती रहती है, उसकी ध्वनि हमें सुना दो। तुम्हारे नूपुर तो नित्य चिन्मय हैं, उनकी झङ्कार को हमारे कर्ण कुहरों में भी प्रवेश होने दो। तुम तो नित्य ही माखन की चोरी करते हो, एक लौंदा चुपके से हमारी ओर भी सरका दो। तुम तो नित्य ही गोरस का दान लेते हो उसमें से कुछ हमें भी पिला दो, हे नदनन्दन! हे यशुमति-जीवन धन! हे सखाओं के सर्वस्व! हे व्रजवनिताओं के प्राण! हे राधा-रमण! हे माखनचोर! कठोरता मत धारण करो। मेरे घर है न द्वार है, कोई भी अपना कहने को मेरा नहीं है। तुम ही अपना लो तुम्हीं अपना कुछ बना लो इस जग जाल से तुम्हीं छुड़ा लो, हे मेरे मदन मोहन!

छप्पय

हे नँदनन्दन! यशुमति सुत! अब तो अपनाओ।
भटक्यो जग में बहुत दयित! अब मत भटकाओ॥
मेरे नहिं पितु मातु सखा सम्बन्धी प्यारे।
भयो तिरस्कृत फिरूँ तिहारे आयो द्वारे॥
अब भरमाओ नहिँ अधिक, अपनाओ मम कर गहो।
तू मेरो जिह लगत है, अपने श्रीमुख से कहो॥

सङ्कीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)
मार्गशीर्ष – कृ० १२–२००७ वि० } प्रभु

—:—

राम-श्याम का नाम-करण

[८६५]

गर्गः पुरोहितो राजन् ! यदूनां सुमहातपाः ।
व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८ अ० १ श्लोक)

छप्पय

एक दिवस बसुदेव पुरोहित गर्ग बुलाये ।
करि पूजा सत्कार विनययुत वचन सुनाये ॥
बोले—गुरुवर ! आज आप गोकुल कूँ जावें ।
तहँ द्वै बालक बसहिँ नाम तिनके धरि आवें ॥
शौरि बचन सुनि गर्ग मुनि, अति ही आनन्दित भये ।
पोथी पत्रा बाँधिके, तुरत नन्द ब्रजमहँ गये ॥

समस्त हित के कामों में जो आगे रहता है, वही पुरोहित कहलाता है । वेद को मानने वाले वर्णाश्रमियों का कार्य पुरोहित के बिना चलता नहीं । यही नहीं, एक प्राचीन परिपाटी है कि अपने पुरोहित के कुल मे कोई रहे, तो यजमान को तब तक दूसरे पुरोहित से धार्मिक कृत्य न कराने चाहिये । महाराज मरुत्त और देवगुरु बृहस्पति के सम्वाद से यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यादवों के कुल पुरोहित अत्यन्त महा तपस्वी श्रीगर्गजी थे । वे वसुदेवजी की प्रेरणा से नन्दजी के व्रज मे गये ।"

अपने कुल पुरोहित की सन्तान योग्य न भी हो, तब भी यजमान को उसे मानना चाहिये। अपना अयोग्य पुत्र हो तो कोई उसे छोड़ थोड़े ही देता है। यजमान और पुरोहित का सम्बन्ध भी कौटुम्बिक सम्बन्ध है। वैदिक कर्मों पर से आस्था उठ जाने से अब यह प्रथा उठती जाती है। काल का प्रभाव है, युग का धर्म है, किसी का कुछ दोष नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी का शरीर तो मथुरा जी में रहता था, किन्तु मन नन्दजी के गोकुल में ही पड़ा रहता था। वे दिन गिनते रहते थे, कि मेरा बच्चा आज के दिन का हुआ। जिस दिन दश दिन हुए उसी दिन सोचा—"बच्चे का नाम-करण होना चाहिए, किन्तु तब बड़े उपद्रव हो रहे थे, वसुदेवजी चुप हो गये, तब उन्होंने सोचा—"अब तो नाम-करण होना ही चाहिये। कैसे हो, मेरे बच्चे का नाम-करण मेरे ही पुरोहित के द्वारा हो, इसी सोच विचार में वे पड़े थे कि उन्हें एक दिन मार्ग में महामुनि गर्गजी मिले। वसुदेवजी ने बड़ी श्रद्धाभक्ति के सहित मुनि की चरण-वन्दना की और बोले—"भगवन्! आपके तो अब दर्शन ही नहीं होते। सब स्वजनों ने हमें छोड़ ही दिया, आप भी छोड़ देंगे तो हम कैसे जीवित रह सकते हैं?"

गर्गजी ने कहा—"वसुदेवजी! आप कैसी बात कह रहे हैं? आप सब परिस्थिति जानते हैं, मुझ से क्या कहलाते हैं। आज-कल मिलने जुलने में न जाने कोई क्या अर्थ निकाले। सर्वत्र तो गुप्तचर घूम रहे हैं।"

वसुदेवजी ने कहा—"हाँ, महाराज! यह तो सत्य है, अच्छा कल किसी समय कृपा करें।"

गर्गजी ने इधर-उधर देखकर धीरे से कहा—"अच्छा मैं कल रात्रि में आऊँगा।"

वसुदेवजी ने विनय के स्वर में कहा—"महाराज ! भूल न हो।"

दृढता के स्वर में गर्गजी ने कहा—"भूल कैसे होगी राजन् ! मैं अवश्य आऊँगा।"

यह कहकर गर्गजी चले गये, वसुदेवजी अपने घर लौट आये। दूसरे दिन रात्रि में अकेले ही गर्गजी पधारे। वसुदेवजी ने विधिपूर्वक उनकी पूजा की और हाथ जोडकर बोले—"प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ हैं, ज्योतिष शास्त्र के प्रणेता ही हैं आपको विदित ही होगा मेरी पत्नी रोहिणी नन्दजी के व्रज में रहती है, उसका एक बच्चा है, नन्दजी का भी एक बच्चा है, इन दोनो के आप नाम करण सस्कार कर आवें।"

गर्गजी ने कहा—"राजन् ! जाने में तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, किन्तु व्रज में मेरे जाते ही हल्ला मच जायगा। कस के गुप्तचर सर्वत्र घूमते रहते हैं। नन्दजी के यहाँ धूम धडाका उत्सव होगा, तो सर्वत्र हल्ला मच जायगा। कस मुझसे पूँछ सकता है, आप क्यो गये ? आप पर भी सदेह कर सकता है। इससे हम लोगों पर एक नवीन विपत्ति आ जायगी।"

इस पर वसुदेवजी ने कहा—"अब महाराज ! इसे तो आप विचार लें। यजमान के समस्त कर्म कुल पुरोहित के ही अधीन हैं। यजमान के परिवार का कुल पुरोहित भी एक अङ्ग है। पुरोहित के घर में कोई न रहे तो उसका श्राद्ध यजमान कर सकता है और उसे वह श्राद्धान्न तथा तर्पण का जल मिलता है। इसी प्रकार यजमान के घर कोई न रहे तो उसका श्राद्धादि पुरोहित कर सकता है, यजमान पुरोहित का ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है। आप जैसे सर्वज्ञ पुरोहित सम्पत्ति विपत्ति दोनों में ही यजमान का साथ देते हैं। आपके बिना बच्चों का नाम करण कौन कर सकता है ?"

महामुनि गर्ग ने कहा—"यह तो मैं सब जानता हूँ। मेरे मन में तो आपके प्रति बड़ा प्रेम है। अच्छी बात है, मैं कल जाऊँगा। आप किसी से इस विषय की चर्चा न करें।"

वसुदेव जी ने कहा—"मुझे क्या पड़ी है, किसी से कहने को। आप सावधान रहें, नन्दजी को समझा दें।"

गर्गजी ने यह सब स्वीकार किया। वे वसुदेवजी से विदा हुए रात्रि में अपने घर में विश्राम किया। रात्रि भर सोचते रहे—"मेरा बड़ा भाग्य है, जो भगवान् के कल दर्शन होंगे, उनके नामकरण का सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा। उनका क्या नाम-करण करना। उनके तो अनेक नाम हैं। इसी व्याज से उनके दर्शन मुझे हो जायँगे। इन्हीं विचारों में रात्रि के तीन पहर बीत गये। रात्रि में ही कमण्डलु लेकर धोती दुपट्टा बगल में दबाकर यमुना जी के गोकुल घाट की ओर चल दिये। कोई पूछेगा, तो कह देंगे, आज इधर ही स्नान शौच के लिये जाना है, किन्तु रात्रि में किसी ने उन्हें देखा नहीं, वे यमुना पार करके सूर्योदय के पूर्व ही नन्दजी के गोकुल में पहुँच गये।

गोष्ठ की गौओं को ग्वाले चराने को ले गये थे। दश पाँच दिन के बहुत से गौओं के बच्चे गोष्ठ में इधर से उधर फुदक रहे थे, नन्दजी अरुणोदय में ही स्नान करके गोष्ठ के एक भाग में शालग्राम भगवान् की पूजा कर रहे थे, कि उन्हें सहसा सामने से आते हुए महामुनि गर्ग दिखायी दिये। उन्हें देखते ही नन्दजी अत्यन्त प्रसन्न होकर उठ खड़े हुए। आज उनके हर्ष का ठिकाना नहीं था। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि स्वयं भगवान् विष्णु ही विप्र का रूप रखकर उन्हें कृतार्थ करने आये हैं जिन शालग्राम भगवान् का पूजन कर रहा था, वे ही साक्षात् सजीव होकर गर्ग बन गये हैं। अत्यन्त भक्ति भाव तथा नम्रता के सहित हाथ जोड़कर मुनि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और बैठने के लिये सुन्दर

आसन दिया। भगवान् की पूजा की जो सामग्री थी, उसी से विधिपूर्वक विष्णु बुद्धि से उनका पूजन किया।

महामुनि गर्ग ने स्वस्थ चित्त से बैठकर नन्दजी की की हुई शास्त्रीय पूजा को शास्त्रीय विधि से स्वीकार किया। तब नन्दजी अत्यन्त मधुर वाणी से मुनि की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"भगवान्! आज मैं धन्य हुआ, कृतार्थ हुआ, जो आपकी सेवा का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ। आप तो आप्तकाम हैं, आपकी सेवा हम कर ही क्या सकते हैं और आपको हमारी सेवा की अपेक्षा भी नहीं, आप जो हम जैसे दीन चित्त गृहस्थियों के घरों को अपनी पदरज से पधार कर पावन बनाते हैं, इसमें आपका अपना कोई निजी स्वार्थ तो होता नहीं। हम इन गृहस्थियों के झंझटों को सहते-सहते दीन चित्त कृपण हो जाते हैं, हम जैसे शोक सन्तप्तों को शान्ति मार्ग बताने, हमारा कल्याण करने ही आप विचरण करते रहते हैं।"

गर्गजी ने कहा—"अजी, नन्दजी! ये तो आपके शिष्टाचार के वचन हैं, हम लोग किस योग्य हैं, तुम धन्य हो जो नारायण की भक्ति से यहीं वैकुण्ठ का सुख भोग रहे हो।"

नन्दजी ने विनीत भाव से कहा—"महाराज! ऐसे वचन आपको नहीं कहने चाहिए, बिना पढ़ा लिखा साधारण ब्राह्मण भी पूजनीय होता है, तिसमें आप तो सर्वज्ञ हैं। जो इन्द्रियों से परे अतीन्द्रिय ज्ञान है जिसके द्वारा लोग भूत भविष्य का वृत्तांत प्रत्यक्ष जान सकते हैं, आपने उस ज्योतिष शास्त्र की रचना की है। आप समस्त ब्रह्मवादियों में श्रेष्ठ हैं। आपके चरणों में मेरी प्रार्थना है।"

गर्गजी ने कहा—"हाँ, कहिये गोपेन्द्र! मैं आपका कौन-सा कार्य कर सकता हूँ।"

नन्दजी ने कहा—"मेरे ये दो बालक हैं, इनमें एक तो लग-

भग पन्द्रह महीने का हो गया एक आज सौ दिन का हुआ है, इन दोनो के अभी नाम करण सस्कार नहीं हुए हैं। आप इनके नाम रख दें।"

गर्गजी ने कहा—"भैया! नाम तो तुम्हारे कुल पुरोहित ही रखेंगे। जो जिस कुल का गुरु होता है, वही उनके सस्कार करा सकता है। मैं तुम्हारा गुरु हूँ नहीं।"

नन्दजी ने दृढता के स्वर मे कहा—"महाराज! ब्राह्मण तो माता के उदर से ही गुरु बनकर उत्पन्न होता है, वह किसी व्यक्ति विशेष का गुरु नहीं होता, अपितु वह तो जन्म से ही सबका गुरु होता है। इस न्याय से आप भी मेरे गुरु हैं। आप इनका नाम करण सस्कार कराव।"

गर्गजी ने कहा—"मुझे सस्कार कराने मे तो कोई आपत्ति है नहीं, किन्तु बुद्धिमान् पुरुष को आगे पीछे की सभी बातें विचार लेनी चाहिये सभी जानते हैं, मैं यादवों का कुल पुरोहित हूँ, मैं सदा से पृथ्वी पर यदुकुलाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हूँ, यदि मैं तुम्हारे पुत्र का सस्कार कराऊँ, तो सभी लोग तुम्हारे पुत्र को देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुआ ही समझेंगे। अभी तक तो लोगों को सदेह ही है, कस को तो तुम जानत ही हो, वह कैसा दुष्ट बुद्धि है, आज कल वह सदा सशक रहता है, प्रत्येक घटना में वह रहस्य खोजता है। यह बात सभी जानते हैं, वसुदेवजी की और आपकी प्रगाढ मित्रता है, कस से भी यह बात अविदित नहीं है। देववाणी के कथन को मानकर वह यह भी जानता है कि देवकी की आठवीं सन्तान कभी भी कन्या नहीं हो सकती। मैं आपके पुत्र का नाम करण करूँगा, व्रज भर मे उत्सव होगा, हल्ला मच जायगा। फिर कस को इस बात मे रच मात्र भी सदेह न रहेगा, कि यह देवकी का आठवाँ पुत्र है। आप पर भी आपत्ति आवेगी और वसुदेवजी पर भी। वह फिर आपके बच्चों को मार डालेगा।

गौओं को छीन लेगा और आपको राज्य से बाहर कर देगा। मेरे संस्कार कराने से इतने अनर्थों की सम्भावना हो सकती है।"

नन्दजी ने कहा—"महाराज! हमें हल्ला-गुल्ला करने से क्या काम। हम बहुत विस्तार भी नहीं चाहते। मैं किसी को बुलाऊँगा भी नहीं। आपके आगमन की बात किसी को बताऊँगा भी नहीं घर में इस संस्कार को कराऊँगा भी नहीं। यहीं दोनों बच्चों की माताओं को बच्चों सहित बुलाये लेता हूँ, आप साधारण रीति से स्वस्तिवाचन पूर्वक उनका द्विजाति संस्कार मात्र कर दें। उत्सव हमें करना होगा, तो पीछे कर लेंगे।"

गर्गजी ने कहा—"फिर भी किसी को भी तो बुलावेंगे। जहाँ बात चार कान से छे कान होती है वहीं फैल जाता है।"

नन्दजी ने कहा—"मैं जानूँ आप जाने और मैं सेवकों को भी नहीं बताऊँगा। आज आप संस्कार करें। यहीं भगवान् की रसोई बनावें। प्रसाद पाकर रात्रि में चले जायँ, नौका का प्रबन्ध है ही। रात्रि में मथुरा पहुँच जायँगे। कौन जान सकता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गर्गजी को यही तो अभीष्ट था, इसी निमित्त तो वे आये ही थे, जब नन्दजी ने अपने आप ही सब बातें गुप्त रखना स्वीकार किया, तो उन्होंने नाम करण संस्कार कराने की स्वीकृति दे दी। नन्दजी ने अपनी पूजा की सामग्री बटोरी और भीतर घर में नन्दरानी तथा रोहिणीजी को नाम करण के लिये तैयार होने के लिये कहने गये। भीतर जाकर उन्होंने एकान्त में दोनों को समझाया, यह सुनकर दोनों मातायें प्रसन्नतापूर्वक तैयारियाँ करने लगीं।"

भग पन्द्रह महीने का हो गया एक आज सौ दिन का हुआ है, इन दोनों के अभी नाम करण सस्कार नहीं हुए हैं। आप इनके नाम रख दें।"

गर्गजी ने कहा—"भैया! नाम तो तुम्हारे कुल पुरोहित ही रखेंगे। जो जिस कुल का गुरु होता है, वही उनके सस्कार करा सकता है। मैं तुम्हारा गुरु हूँ नहीं।"

नन्दजी ने दृढता के स्वर मे कहा—"महाराज! ब्राह्मण तो माता के उदर से ही गुरु बनकर उत्पन्न होता है, वह किसी व्यक्ति विशेष का गुरु नहीं होता, अपितु वह तो जन्म से ही सबका गुरु होता है। इस न्याय से आप भी मेरे गुरु हैं। आप इनका नाम करण सस्कार कराव।"

गर्गजी ने कहा—"मुझे सस्कार कराने मे तो कोई आपत्ति है नहीं, किन्तु बुद्धिमान् पुरुष को आगे पीछे की सभी बातें विचार लेनी चाहिये सभी जानते हैं, मैं यादवों का कुल पुरोहित हूँ, मैं सदा से पृथ्वी पर यदुकुलाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हूँ, यदि मैं तुम्हारे पुत्र का सस्कार कराऊँ, तो सभी लोग तुम्हारे पुत्र को देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुआ ही समझेंगे। अभी तक तो लोगों को सदेह ही है, कस को तो तुम जानते ही हो, वह कैसा दुष्ट बुद्धि है, आज कल वह सदा सशक रहता है, प्रत्येक घटना में वह रहस्य खोजता है। यह बात सभी जानते हैं, वसुदेवजी की और आपकी प्रगाढ मित्रता है, कस से भी यह बात अविदित नहीं है। देववाणी के कथन को मानकर वह यह भी जानता है कि देवकी की आठवीं सन्तान कभी भी कन्या नहीं हो सकती। मैं आपके पुत्र का नाम करण करूँगा, व्रज भर में उत्सव होगा, हल्ला मच जायगा। फिर कस को इस बात मे रच मात्र भी सदेह न रहेगा, कि यह देवकी का आठवाँ पुत्र है। आप पर भी आपत्ति आवेगी और वसुदेवजी पर भी। वह फिर आपके बच्चों को मार डालेगा।

गौओं को छीन लेगा और आपको राज्य से बाहर कर देगा। मेरे सस्कार कराने से इतने अनर्थों की सम्भावना हो सकती है।"

नन्दजी ने कहा—"महाराज! हमे हल्ला-गुल्ला करने से क्या काम। हम बहुत विस्तार भी नहीं चाहते। मैं किसी को बुलाऊँगा भी नहीं। आपके आगमन की बात किसी को बताऊँगा भी नहीं घर मे इस सस्कार को कराऊँगा भी नहीं। यहीं दोनों बच्चा की माताओं को बच्चों सहित बुलाये लेता हूँ, आप साधारण रीति से स्वस्तिवाचन पूर्वक उनका द्विजाति सस्कार मात्र कर दें। उत्सव हमें करना होगा, तो पाछे कर लेंगे।"

गर्गजी ने कहा—"फिर भी किसी को भी तो बुलावेंगे। जहाँ बात चार कान से छे कान होती है वही फैल जाता है।"

नन्दजी ने कहा—"मैं जानूँ आप जाने और मैं सेवकों को भी नहीं बताऊँगा। आज आप सस्कार करें। यहीं भगवान् की रसोई बनावें। प्रसाद पाकर रात्रि में चले जायँ, नौका का प्रबन्ध है ही। रात्रि म मथुरा पहुँच जायँगे। कौन जान सकता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गर्गजी को यही तो अभीष्ट था, इसी निमित्त तो वे आये ही थे, जब नन्दजी ने अपने आप ही सब बातें गुप्त रखना स्वीकार किया, तो उन्होंने नाम करण सस्कार कराने की स्वीकृति दे दी। नन्दजी ने अपनी पूजा की सामग्री बटोरी और भीतर घर मे नन्दरानी तथा रोहिणीजी को नाम करण के लिये तैयार होने के लिये कहने गये। भीतर जाकर उन्होंने एकान्त मे दोनों को समझाया, यह सुनकर दोनों मातायें प्रसन्नतापूर्वक तैयारियाँ करने लगीं।"

छप्पय

नन्द निहारे गर्ग विष्णु सम पूजा कीन्हीं।
करि पूजा स्वीकार हरषि मुनि आशिष दीन्हीं॥
नाम-करण संस्कार सुतनि को कीजे मुनिवर।
मुनि समझाये नन्द न मेरो करिबो हितकर॥
बोले वजपति जाति कुल, के जन नहिं बुलवाऊँगो।
गुप्त भावतै गोष्ठमहँ, नाम--करण कराऊँगो॥

कनुआ-बलुआ

[८६६]

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् ।
चकार नामकरण गूढो रहसि बालयोः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

श्याम रोहिणी लिये रामकूँ मैया यशुमति ।
बोले मुनिवर गग रोहिणीसुत जिह ब्रजपति ॥
सकर्षण, बलराम नामतैं बोले जावैं ।
जे जसुमति सुत वासुदेव हरि कृष्ण कहावैं ॥
नारायण सम तनय तव, ब्रजकी रक्षा करिहैं ।
हनि सुर द्रोही असुर कुल, भूमि-भार-भय हरिहैं ॥

नाम दो प्रकार के होते हैं, एक राशिका लग्नका-नाम दूसरा घर में बोलने का प्यार का नाम, प्यार का नाम बिगडकर आधा बोला जाता है, जैसे भोलादत्त है तो भुल्लो, मूलचन्द्र है, तो मुल्लो, रामदत्त है तो रम्मू शम्भूदत्त है तो शम्भू । इस आधे और बिगडे हुये नाम में जो प्यार भरा है, वह अनेक उपाधियो से विभूषित शिष्टाचार युक्त सम्बोधन मे कहाँ मिलेगा । एक पडित नाथू-

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महामुनि गर्गजी को तो नाम करण सस्कार करना ही था, जब नन्दजी ने ही इस प्रकार प्रार्थना की तो उन्होने एकान्त मे छिपकर बालको का नाम-करण सस्कार किया ।"

रामजी थे, वृद्ध थे। उनकी माँ लगभग सौ वर्ष की थीं। पंडित जी बड़े प्रतिष्ठित थे, सब लोग उनका अत्यधिक सम्मान करते थे। उनकी माता मर गयीं वे बालकों की भाँति फूट फूटकर रोने लगे। लोगों ने समझाया—"पंडितजी। आप इतने बुद्धिमान् हैं, माताजी का समय था जिसने जन्म धारण किया है, उसे एक दिन मरना ही है। आपको इतना शोक शोभा नहीं देता।"

पंडितजी ने आँसू पोंछते हुए रोते रोते कहा—"भाई! ये सब बातें तो मैं जानता हूँ, माताजी का समय था मेरा भी समय समीप ही है, मरना सभी को है। मुझे माताजी की मृत्यु पर सोच नहीं। अच्छा है वे दुःख से छूटीं। मुझे तो सोच इस बात का है, कि अब मुझसे कोई "नत्थू" कहने वाला नहीं रहा। "नत्थू" शब्द में जितना प्रेम भरा था, उतना मेरे नाम के आगे पीछे जितनी उपाधियाँ लगती हैं. उनमें कहाँ है और वह शब्द माताजी के मुख से ही मधुर लगता था। दूसरा कोई कहे तो उसमें अपमान का भान होने लगेगा।"

बात यह है कि शब्दों में कुछ नहीं है। सब बात भावों के ही ऊपर निर्भर है। भाव ही भाव के शब्दों का कुछ से कुछ अर्थ बना देते हैं। वैसे कोई गाली दे तो मरने मारने को तैयार हो जायँ, उन्हीं गालियों को ससुराल में साली सरहजें दें, तो वे मिश्री से भी मीठी और दालमोंठ से भी नमकीन प्रतीत होंगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी ने घर में जाकर यशोदा-मैया के कान में कुछ कहा। सुनते ही मैया रोहिणीजी के समीप दौड़ी गयीं। रोहिणीजी ने सुनकर प्रसन्नता प्रकट की। दोनों ने बच्चों को निहलाया। रोहिणीजी ने श्रीकृष्ण को उबटन लगाकर स्नान कराया, मोटा मोटा काजर लगाकर माथे पर दीठ न लगे इसलिये दिठौन लगाया। हाथों के कड़ूलों को स्वच्छ किया। पैर के घुँघुरूदार कड़ूलों को खटाई से धोया, कठुला बघनखा आदि

कंठ में पहिनाये। पोली झंगुरिया पहिनायी, गोटादार चिबकती टोपी पहिनायी, भाल पर गोरोचन का तिलक दिया, काली काली घुँघराली लटों को तेल डालकर सम्हाला और बड़े ही स्नेह के साथ गोद में लेकर मुख चूमा। इस प्रकार बालक का शृङ्गार करके माता ने स्वयं भी अपना शृङ्गार किया। इसी प्रकार बलरामजी का यशोदा मैया ने शृङ्गार किया। दोनों ही शृङ्गार करके भली-भाँति सज-धज कर बच्चों को गोदी में लेकर पिछले द्वार से बिना किसी से कहे गोष्ठ में चली गयीं।

गर्गजी वहाँ सब सामग्री सजाये बैठे ही थे। नन्दजी ने भी पुनः स्नान करके देवता और पितरों का पूजन तर्पण किया। तब तक दोनों लालों को गोद में लिये हुए अपनी नूपुर, कंकण, और किंकिणी आदि आभूषणों की ध्वनि से गोकुल को मुखरित करती हुई रोहिणीजी और यशोदाजी आ पहुँचीं। छोटे लालजी के अंग पर रेशमी पीत वस्त्र शोभित हो रहे थे और बड़े लालजी का श्रीअङ्ग नीले रेशमी वस्त्रों से विभूति था। उस गौर-श्याम की मनमोहिनी जोड़ी को देखते ही मुनिवर गर्ग के सम्पूर्ण अङ्गों में एक प्रकार की विद्युत्-सी दौड़ गयी। वे किसी अव्यक्त शक्ति की प्रेरणा से इच्छा के बिना भी सहसा अपने आसन से उठकर खड़े हो गये, उनके पलक गिरते नहीं थे, वे बार बार सोचते—"इन्हें मैया की गोदी से छीनकर हृदय से चिपटा लूँ, नेत्रों में बिठा लूँ, सिर पर चढ़ा लूँ, इनके चरणों को अन्तःकरण में छिपा लूँ. इस पर वे अनेक प्रकार की तर्कना करते रहे, किन्तु हाथ आगे बढ़ते नहीं थे, इतने में ही श्याम गौर दोनों बालकों को माताओं ने आकर मुनि के चरणों में डाल दिया। चरणों में पड़े दोनों शिशु ऐसे दीखते थे मानों मुनि के पाद-पद्मों में गौर और नील दो खिले कमल माताओं ने चढ़ाये हों। श्याम मुट्ठी बाँधे सिर को इधर करते हुए हाथ हिला रहे थे, मानों कह रहे

थे, अब तुम्हे माया स्पर्श नही कर सकती। दोनो बालक मूर्तिमान् सौंदर्य माधुर्य के समान, आनन्द और उल्लास के समान, सच्चिदानन्द आनन्द घन विग्रहो के समान, तथा मूर्तिमान भाग्य के समान मुनिवर को दिखायी दिये। उन्होंने दोनो बच्चो के सिरो पर हाथ रखते हुए कहा—"स्वस्त्यस्तु, कल्याणमस्तु" वे तो कल्याण के स्वरूप ही हैं। माताओं ने भी मुनि के चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया, मुनि ने आशीर्वाद दिया। दोनो बच्चों को माताओ ने गोद में ले लिया।

व्रजराज ने यशोदा मैया से कहा था—"गर्गजी बड़े भारी ज्योतिषी हैं, ये भूत भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालो की बातो को जानते हैं।" यशोदाजी ने सोचा—"देखें, ये कैसे त्रिकालज्ञ है, इसीलिए उन्होंने गौर बालक को ले लिया और श्याम को रोहिणी जी को दे दिया। सर्वज्ञ होगे, तो बता ही देंगे. यह किनका पुत्र है इसी भाव से दोनो माताएँ बच्चों को बदल कर गोद में लिये खड़ी रहीं। मुनि ने जब आज्ञा दी, तब दोनों चौंक के ऊपर बिछे पटरों पर बैठ गयीं। मुनि ने संक्षेप मे संकल्प-पूर्वक दीपक कलश शख घंटा तथा गणेशजी का पूजन कराया, तदनंतर नवग्रह षोडश भाँति का पंचदेवों का पूजन कराके पञ्चाङ्ग खोला। रोहिणीजी श्रीकृष्ण को लिये हुए पहिले बैठीं उनके पश्चात् यशोदाजी बलराम को लिये बैठी थीं। नियमानुसार प्रथम उन्हें पहिले बैठी हुई रोहिणी जी की गोदी के बालक का नाम रखना चाहिये था, किन्तु वे तो सर्वज्ञ थे, समझ गये बड़े लालजी तो यशोदाजी की गोदी मे हैं। पहिले बड़े लालजी का ही नाम रखकर तब छोटे का रखें। इसीलिये गौर बालक की ओर उँगली उठाकर बोले—"यह जो यशोदा रानी की गोदी में रोहिणीजी का पुत्र है, यह अपने गुणों से स्वजनों को रमावेगा। इसलिये इसका एक नाम तो 'राम' होगा, राम कई हो गये हैं। एक परशु को रखने वाले

परशुराम, एक दशरथ के पुत्र दाशरथी राम, इन सबके पीछे विशेषण लगाने से इनका पृथक्-पृथक् बोध होता है। इनके शरीर मे बल बहुत अधिक होगा, अतः ये 'बलराम' कहलावेंगे। भद्र स्वरूप होने से बलभद्र और बडे भाई होने से बलदाऊ जी भी कहेंगे। ये यादवों और गोपो मे विग्रह होने पर मेल करावेंगे इसलिये इन्हे 'सकर्षण' भी लोग कहेंगे। मुख्य इनका नाम रहा 'बलराम'।

यह सुनकर यशोदा मैया ने रहस्य भरी दृष्टि से रोहिणीजी की ओर देखा नेत्रों ही नेत्रों उन्होंने बता दिया, जैसा मुनि के सन्बन्ध में सुना था, ये तो वैसे ही निकले। मेरी गोद में होते हुए भी गौर बालक को इन्होंने बता दिया।

तदनन्तर रोहिणीजी की गोद में झपकियाँ लेते हुए लालजी की ओर देखकर नंदजी से महामुनि गर्ग बोले—"व्रजराज! यह तुम्हारा सुत प्रत्येक युग में उत्पन्न होता है। सतयुग में यह श्वेत वर्ण का होता है, त्रेता मे इसका रंग रक्त हो जाता है, द्वापर में पीत वर्ण का होता है, अब कलियुग के आदि में कृष्ण वर्ण का प्रकट हुआ है। वर्ण के अनुसार ही इसका नाम 'कृष्ण' होगा। पहिले कभी यह वसुदेव का भी पुत्र हुआ था, इसलिये इसे लोग वासुदेव कहने लगें, तो तुम बुरा मत मानना। गुण और कर्मों के अनुसार तुम्हारे पुत्र के और भी सहस्रों नाम हैं। उन्हें ज्योतिष और तपस्या के प्रभाव से मैं तो जानता हूँ, दूसरे लोग उन्हें नहीं जानते हैं।"

नन्दजी ने कहा—"महाराज! इसके ग्रह लग्न देखकर बता दें, इसका भाग्य कैसा होगा। इसके कारण हमारे कुल की वृद्धि होगी या नहीं?"

यह सुनकर हँसते हुए गर्गजी बोले—"अजी, नन्दजी! आप इसके ग्रह लग्नों की क्या बात पूछते हैं, यह बालक कल्याण

पावन करता हुआ समस्त गोपों और गौओं को आनन्दित करेगा। इनके सहारे आप विपत्तियों के सागर से सुगमतापूर्वक पार हो जायँगे।"

नन्दजी ने कहा—"महाराज! इसका शत्रु स्थान कैसा है? शत्रु तो इसे बाधा नहीं पहुँचावेंगे।"

गर्गजी हँसे और बोले—"मैंने ज्योतिष की बड़ी प्रसिद्ध पुस्तक गर्ग संहिता बनायी है, उसके अनुसार मैं पिछले अगले जन्मों की बातें बताता हूँ। देखिये, पूर्व काल में अराजकता के समय डाकुओं और लुटेरों से पीड़ित प्रजा की तथा साधुजनों की रक्षा की थी, तब इसके भुजबल से रक्षित होकर साधुजनों ने डाकुओं पर विजय प्राप्त की। इसको शत्रुओं से भय होने की बात तो दूर रही, जो इससे प्रेम भी करेंगे, वे भी शत्रुओं से निर्भय हो जायँगे उन्हें भी कोई दबा नहीं सकते। आप जानते ही हैं असुर कितने बली हैं देवता तो समर में उनके सम्मुख खड़े भी नहीं हो सकते, किन्तु भगवान् विष्णु द्वारा सुरक्षित होने से असुर उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकते। गोपराज! विशेष क्या कहें, हम तो यही कहते हैं कि तुम्हारे लालजी गुण कीर्ति और प्रभाव में साक्षात् श्रीमन्नारायण के ही समान होंगे, तुम सावधानी से इनकी रक्षा करना।"

हाथ जोड़कर नन्दजी ने कहा—"महाराज! रक्षा करने कराने वाला मैं कौन हूँ, आपके आशीर्वाद से ही रक्षा होगी। जब आपका वरदहस्त इनके शिरों पर पड़ गया है, तो इनके मंगल में क्या सन्देह है। महाराज! आपने इनका टेवा बना लिया हो तो मैं साथ ही ग्रहों का फल भी सुनना चाहता हूँ।"

गर्गजी बोले—"विशेष फल तो जब मैं बड़ी जन्मपत्री बनाऊँगा, तब सुनाऊँगा। इस समय तो साधारण रीति से आपके पुत्र के ग्रहों का उल्लेख मात्र करे देता हूँ। वैसे सभी शुभ ग्रह

उच्च के पड़े हैं, भाद्र कृष्ण अष्टमी बुधवार को अर्धरात्रि के समय आपके लाल का जन्म हुआ है। इस सम्वत्सर का नाम सरस विभावन है। सरस सम्वत्सर मे होने से यह साँवरा सलौना सुकुमार सुत सबको सरसावेगा, विश्व ब्रह्माण्ड को रस में डुबा-वेगा। जन्म रोहिणी नक्षत्र है, यह अत्यन्त शुभ है, अष्टमी तिथि बुधवार सब मङ्गलमय ही है, लग्न वृष है, इससे यह सबसे श्रेष्ठ होगी। तन स्थानो मे उच्च के चन्द्रमा हैं, जिससे इसे शारीरिक सुख सदा मिलेगा। वृष से चौथे स्थान अर्थात् सिंह राशि सूर्य हैं इसका फल यह है कि यह सम्पूर्ण भूमण्डल को अपने भुजबल से जीत लेगा पञ्चम स्थान पर कन्या के बुध हैं इसका फल यह होगा, कि पुत्रों की कमी न होगी नित्य ही पुत्र पैदा होंगे। इतने पुत्र होंगे कि बाबा, दादी को सबके नाम भी न याद रहेंगे।

छठे स्थान पर तुला राशि पर शुक्र और शनि दोनों साथ ही साथ बैठे हैं, इसका फल यह है, कि यह अपने शत्रुओं को बीन-बीन कर मारेगा। पृथ्वी पर एक भी इसका शत्रु शेष न रहेगा। सातवें स्थान पर राहु हैं, ये कुछ गड़बड़ है इसका फल यह होगा कि इसके बहुएँ बहुत होंगी ऊँच नीच सभी श्रेणी की बहुओं से महल भरे रहेंगे। मकर राशि पर भाग्य स्थान मे मङ्गल है इनका फल यह होगा कि सदा इसका मङ्गल ही-मङ्गल होगा, निरन्तर ऐश्वर्य बढ़ता रहेगा। मीन राशि पर लाभ के स्थान में बृहस्पति हैं। इसका फल तो कुछ कहना ही नहीं सदा अष्टसिद्धि नवो निधि तुम्हारे लाल के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। कर्क स्थान मे मेष के शनिश्चर हैं इसका फल यह है, कि इसका वर्ण कृष्ण होगा। घन के सदृश श्याम शरीर होगा। सक्षेप में यही इसके ग्रहों का फल है।"

नन्दजी यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने मणि मुक्ता सुवर्ण रत्न तथा बहुत से वस्त्राभूषण गर्गजी को दक्षिणा में दिये।

गौएँ भी दीं और कहा—"महाराज! दक्षिणा की वस्तुओं को यहीं छोड़ जायँ, अब के जब हम मथुरा आवेंगे, आपके घर पहुँचा आवेंगे। आप यह न सोचें—"कि ब्याज भाड़ा दक्षिणा, पीछे पड़ै तो कच्छुना।" आपकी दक्षिणा पहुँच जायगी।"

यह सुनकर गर्गजी हँस पड़े। मैया यशोदा और रोहिणीजी प्रणाम करके चल दीं। रोहिणीजी ने पूछा—"मैंने तो सुना नहीं, क्या-क्या नाम रखे दोनों के?"

यशोदाजी ने कहा—"बड़े का नाम 'बलराम' और छोटे का नाम 'कृष्ण' यही तो बताये थे और जाने पण्डितजी क्या-क्या गीत गाते रहे, वे सब तो मेरी समझ में आये नहीं।"

रोहिणीजी ने कहा—"ये नाम कुछ भारी हैं मेरी जीभ तो लौटेगी नहीं, इसलिये बड़े को तो मैं 'बलुआ-बलुआ' कहकर पुकारा करूँगी और छोटे को 'कनुआ-कनुआ' कहकर। कहो रानी दोनों नाम ठीक हैं न?"

यशोदा मैया बोलीं—"हाँ, ये नाम तो मुझे भी सीधे लगते हैं। 'कृष्ण कृष्ण' कैसा टेढ़ा नाम है तीन बार जीभ मोड़नी पड़ती है 'कनुआ' सीधा नाम है 'बलुआ' भी अच्छा है। आज से इन दोनों को 'कनुआ-बलुआ' के ही नाम से हम बुलाया करेंगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिनको यज्ञों में बड़े आदर से बुलाते हैं, सस्वर वेद मन्त्रों से शुद्धता के साथ स्तुति करने पर भी जो नहीं आते, वे ही माता के 'कनुआ-बलुआ' इन शब्दों को सुनकर ललक उठते हैं।"

इस प्रकार नाम-करण संस्कार करके महामुनि गर्ग तो सूर्यास्त होने के अनन्तर चुपके-से अपना टाट कमण्डलु उठाकर मथुरा की ओर चल दिये और नन्द बाबा उनके चरणों मे प्रणाम करके घर लौट आये। अब श्याम और बलराम गोकुल में

माताओं के समीप रहकर शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति बढ़ने लगे। अब वे गोदी को छोड़कर घुटुओं के बल रेंगने भी लगे।"

छप्पय

मैया पूछे घरयो नाम का मुनि छोरनिको।
जसुमति बोली नाम कृष्ण-बलराम ललनिको॥
भारी है कछु नाम कहे हम कनुआ-बलुआ।
उत्सव भयो न कछु पठाओ घर-घर हलुआ॥
हरि कनुआ-बलुआ बने, गोकुलमहँ बढ़िबे लगे।
कछुक दिवस महँ रेंगिके, घुटुअन बल चलिबे लगे॥

राम-श्याम की बाल-लीला

[८६७]

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ,
घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकम्, -
मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

बन्दर बालक सरिस हाथ पाँइनि बल किट्टिरें ।
इत उत भोरे बने नन्द—आँगन महँ बिहरें ॥
घिसिरि-घिसिरके कबहुँ गोष्ठ में घुटुअनि जावें ।
गोशाला की कीच चलत निज तन लपटावें ॥
पग नूपुर कटि कर्धनी, चलिबे महँ रुनु-झुनु बजहिं ।
शब्द सुनत इत उत लसत, हिय हुलसत किलकत भजहिं ॥

संसार में बहुत-सी वस्तुएँ सुन्दर बताई हैं, उन सब सुन्दर

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं —"राजन् ! श्रीराम और श्याम दोनों अपने चरणों को घसीटते हुए गोशाला की कीच मे घिसिरते थे। चलते समय उनके नूपुरो तथा कर्धनी आदि के सुन्दर शब्द होते जाते थे। उस शब्द से वे अत्यन्त ही प्रसन्न होकर लोकवत् लीला का अनुसरण करते। कभी किसी के साथ चले जाते, फिर मुग्ध और भयभीत होकर माता के समीप लौट आते।"

वस्तुओं में अबोध शिशु की भोरी चितवन उसकी सरस, निश्चल, स्वाभाविक क्रीड़ा, उसकी उठन-बैठन, बोलन, चितवन सभी बाल चेष्टाएँ परम सुन्दर हैं। कौन ऐसा हृदय हीन होगा, जो भोरे बालक को देखकर प्रसन्न न होता हो। बालक चाहे जिसका हो वही बड़ा प्यारा लगता है। इसका एक कारण है जिस गभीरता और शील-संकोच को हम सर्वश्रेष्ठ समझकर गुम्म बने रहते हैं लोगों के सम्मुख खुलकर हँस नहीं सकते, इससे भीतर सम्मानित प्रतिष्ठित सर्वत्रपूजित बनने की हमारी वासना भरी हुई है। बालक को तो कोई वासना नहीं, वह तो सरल निश्छल है, जब चित्त चाहता है खिल खिलाकर हँस पड़ता है, जब चाहता है रो जाता है, क्षण भर मे रोना बन्द करके हँसने लगता है। जिससे जो चाहे उचित अनुचित कह दे, उसके यहाँ उचित-अनुचित का भेद ही नहीं, इसीलिये सभी बच्चों के मुख से तोतली वाणी सुनकर हँस जाते हैं, उसकी किसी भी बात का बुरा नहीं मानते। वह जब चाहता है, स्त्रियों में दौड़ जाता है, जब चाहे पुरुषो मे आ जाता है, उसके मन मे स्त्री-पुरुष का भेदभाव नहीं जब चाहे नङ्गा हो जाता है, समाज के बन्धनो को उसने स्वीकार ही नहीं किया, इसलिये उस पर वे लागू भी नहीं। उसे न लज्जा है न संकोच है और न समाज के मानापमान का भय है। खेलना उसका व्यापार है, वह अपनी प्रकृति वालों के साथ खेलता है। जो उस पर बड़प्पन का प्रभाव जमाना चाहता है उसके पास वह फटकता भी नहीं। इसीलिये बड़े लोग बच्चो को खिलाते समय स्वयं बच्चे बन जाते हैं, उसके साथ वैसे ही बालकों की-सी बातें करने लगते हैं। बच्चे दाढ़ी वालों से बहुत डरते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि दाढ़ी मूँछ जितनी ही बड़ी होगी उतना ही इनमें अभिमान भरा होगा। जब उन्हें यह निश्चय हो जाय, कि दाढ़ी मूँछों में भी इसका बालकपन अभी स्थिर है, तो फिर बच्चे दाढ़ी को खिलौना

कर उससे खेलने लगते हैं। बच्चे सदा बिना दाढ़ी मूँछ वाले माताओं में रहते हैं, सहसा दाढ़ी को देखकर डर जाते हैं। नित्य देखते-देखते उनका भय दूर हो जाता है। बालक में छल छिद्र नहीं होता, इसीलिये वह सर्वप्रिय होता है। यदि भगवान ही बालक का वेष बनाकर विहरने लगें-क्रीड़ा करने लगें-तब तो पूछना ही क्या ? सोने में सुगन्धित हो जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कुछ काल के अनन्तर भगवान् पलकिया और माता की गोद को छोड़कर अपने पावन पदों से पृथ्वी को पवित्रतम बनाने लगे। उन्होंने पृथ्वी पर पदार्पण किया पृथ्वी ने देखा ये आये तो मेरा भार उतारने के लिये हैं और पड़े रहते हैं पलकिया पर। वहाँ क्षीरसागर में शेष शेया पर पड़े रहते थे यहाँ आकर पलकिया पर पड़ गये। अपने चरण कमलों से मुझे पावन तो बनाया ही नहीं। लेटते भी हैं तो माता की गोद में। जो माता की गोद में लेटा है उससे उसकी प्रिया को प्रसन्नता कैसे होगी। माता की गोदी को छोड़कर मेरे वक्षःस्थल पर अपने चरणों को रखें तब मेरे रोम-रोम खिलेंगे। अब तक तो भगवान् संकोच के कारण नेत्र बन्द किये रहते थे। भूख लगी तो माता के स्तनों को लिया, दूध पिया फिर सो गये। अब जब नेत्रों को खोलकर इधर-उधर देखने लगे तब सैनों-ही सैनों में भू देवी ने संकेत किया—"कब तक माता की गोद में ही विहार करते रहोगे, कुछ मेरी भी सुधि लोगे। पहिले तो मुझे सूअर बन कर पाताल से उठा लाये थे, अब देखते हुए भी आँखें बन्द किये हुए हो। यह कोई अच्छी बात है क्या ?"

भगवान् सोचा—"अरे भाई ! हम तो माता के स्नेह में अपने वचन को भी भूल गये। अच्छा कोई बात नहीं। प्रातः का भूला सायंकाल तक घर लौट आवे तो वह भूला नहीं कहा जाता अब चलो माता की गोदी से उतरकर पृथ्वी को पावन बनावें।"

इसके वक्षःस्थल पर पाद प्रसार करके इसे प्रसन्नता प्रदान करें। यह सोचकर वे माता की गोद से बल पूर्वक उतरना चाहते थे किन्तु माता से अधिक बलवान् थोड़े ही हैं। माता इन्हें कसकर पकड़ लेती हैं, तब ये रोने लगते हैं। गोपियाँ बोलीं—"रानी! अब बच्चे को पृथ्वी पर चलने फिरने दें, सदा गोदी में चिपकाये रहेंगी।"

मैया कहती—"यह बड़ा ऊधमी है कहीं इधर उधर चला जायगा तो चोट फेंट लग जायगा।"

गोपियाँ कहतीं—"चोट फेंट काहे को लगेगी, सब बच्चे चलते ही हैं, तुम देखती रहना।"

गोहिणाजी ने भी आग्रह किया, सबके कहने से नँदरानी ने खुली भूमि पर बच्चे को छोड़ दिया। पृथ्वी उद्धार की याद आ गई, अतः हाथ और पैर दोनों से ही चलने लगे। हाथों की हथेलियों को आगे टेककर घुटुना के बल अब वे बन्दर की भाँति शनः-शनैः रेंगने लगे। यह देखकर सभी गोपियाँ ताली बजा बजा-कर हँसने लगीं। माता पुकारतीं—"कनुआ!" तो आप मुड़कर माता की ओर देखने लगते। माता को बड़ी प्रसन्नता होती अब बच्चा समझने लगा है। मानों पहिले ये कुछ समझते ही नहीं थे। आप रेंगते रेंगते आगे बढ़ जाते। पीछे से झट जाकर माता गोदी में उठा लेती और बार बार मुख चूमतीं। मेरा लाल चलने लगा। देखो कितनी दूर आ गया है। अब आप स्पष्ट स्वर में माँ भी कहने लगे। माता सिखातीं-देख ये तेरे बाबा हैं, ये ताई हैं, ये चूआ हैं। किसी शब्द को तो आधा बोल लेते किसी का उच्चारण न कर सकने के कारण माता के मुख की ही ओर देखते रह जाते। गोपियों ने कहा—"देखो नँदरानी, लालजी को जितने आभूषण पहिनाओ सब बजते हैं, आभूषणों के शब्दों से बच्चे को चलने में बड़ा उत्साह मिलता है।" माता ने तुरन्त हाथ और पैरों के

कड़ूलों में छोटे-छोटे घुँघुरू डलवा दिये। कटि में जो किंकिणी पहिनायी उसमें भी बजने वाले घुँघुरू पड़े थे। उन्हें पहिनकर श्याम राम जब चलते तो ऐसा लगता मानों—बालकृष्ण के रिंगण नृत्य पर अंग वाद्य बजा रहे हों, आभूषणों की ध्वनि सुनकर दोनों लाल चौंक पड़ते, वे निर्णय ही न कर सकते कि यह ध्वनि कहाँ से आ रही है। चलने-चलते नूपुरों की सुमधुर ध्वनि सुनकर किलकारियाँ मारने लगते। अब तो द्वार तक जाने लगे। एक दिन वे खिसकते खिसकते द्वार की देहली से नीचे आ गये। कोई ब्रह्मज्ञानी वृद्ध महात्मा उधर से जा रहे थे। वे व्रज में आये तो भगवान् के दर्शनों को ही थे, किन्तु उन्हें दर्शनों का सौभाग्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ था। लालजी ने सफेद दाढ़ी दूर से देखी, तो समझे बाबा हैं। आप शीघ्रता से पैरों को घसीटते हुए, नन्हें-नन्हें नूपुरों को बजाते हुए उनके पीछे पीछे चले। इससे यह सिद्ध किया कि मुझे खोजने की इच्छा से जो किसी प्रकार व्रज में आ जाता है, उसके मैं चुपके से पीछे लग जाता हूँ। कुछ दूर व्रज की उस परम पावन वीथी की रज में अपने अंगों को घसीटते हुए चले। उन दिव्य नूपुरों की सुमधुर ध्वनि सुनकर सन्त ने पीछे फिर कर देखा। देखते ही वे समझ गये, ये ही साकार ब्रह्म हैं, वेद प्रतिपादित परब्रह्म ने ही यह बालक का रूप बनाया है, वे ठिठक गये और चन्द्रमुख पर बिथुरी हुई छोटी-छोटी घुँघराली लटों में अपने मन को खो बैठे।

बालकृष्ण ने देखा—"ये तो मेरे बाबा नहीं हैं। तो वहाँ से डरकर भयभीत होकर भागे। चरण कहीं पड़ रहे हैं कर कहीं। काँप रहे हैं, वे छिपने के उपक्रम में अधीर हो रहे थे। 'भक्त को देखकर भगवान् भागे क्यों जी ?" अजी! भगवान् दो ही काम तो जानते हैं, भागना और छिपाना। छिपने में इन्हें बड़ा आनंद आता है, इसीलिये सदा छिपे रहते हैं। किसी के सम्मुख प्रकट

भी होते हैं, फिर छिप जाते हैं। रुलाकर भाग जाते हैं, रुलाने में इन्हें बड़ा रस आता है। लड़खड़ाते पैरों से द्वार पर चले किन्तु देहली को लाँघ न सके। वहीं खड़े खड़े रोने लगे। देहली को लाँघने के लिये सहायता की प्रार्थना करने लगे। तब वे ब्रह्मज्ञानी महात्मा हँस पड़े और सोचने लगे—"देखो, आज ब्रह्म को भी सहायता की आवश्यकता पड़ रही है, जिनके नाम से इतने बड़े अगाध संसार सागर को लोग बात की बात में लाँघ जाते हैं, वही आज देहली लाँघने के लिये रो रहा है, माता की प्रार्थना कर रहा है। इतने में ही मैया दौड़कर द्वार पर आ जाती हैं, लाल के हाथ पैरों को काँपते देखकर तुरन्त बच्चे को गोदी में उठा लेती हैं, मुख चूमती हैं और उसी समय बढ़ई को बुलाकर द्वार की चौखट निकलवा देती हैं, बच्चों को सरकने में, लाँघने में कष्ट न हो। भगवान् ने वात्सल्य की कैसी सरस धारा नन्द भवन में बहा रखी है। अब आप सरकते-सरकते गोष्ठ में भी एक दिन पहुँच गये। वहाँ गौओं के मूत्र की बहुत-सी कीच हो रही थी, उसमें आप जाकर लोटने लगे। हाथ से कीच को थप थपाने लगे, इधर-उधर उछालने लगे कीच में लोटने में बड़ा आनन्द आ रहा था। इतने में ही मैया पहुँच गयीं। दौड़कर कहने लगीं—"कनुआ! तू तो बड़ा भारी उपद्रवी है, सब कपड़े कीच में सान लिये मैंने कितने परिश्रम से तो तैल उबटन लगा-तुझे स्नान कराया था। नयी झगुरिया पहिनायी थी, मोटा मोटा काजल लगाया था। लटूरियाओं को तेल डालकर सम्हाल कर काढ़कर सुन्दर बनाया था। तैंने मेरा सब परिश्रम मिट्टी में मिला दिया। सब गुड़ गोबर कर दिया। यह कहकर माँ बड़े स्नेह से लालजी को उठा लायीं और घर आकर पुनः स्नान कराया, वस्त्र बदले और बड़े सावधानी से लाल की रेख देख को बैठ गयीं, किन्तु कब तक ऐसी बैठी रहतीं, घर का काम धन्धा

भी तो देखना था। लल्ला का अन्न प्राशन संस्कार भी हो गया है। छ महीने के अधिक से लालजी हो गये हैं। अन्न प्राशन के दिन माता ने बड़ा भारी उत्सव मनाया था। व्रज भर के गोप गोपिकाओं का निमन्त्रण दिया था। षड्रस भोजन बनाकर सबको तृप्त करके लालजी के मुख में सब वस्तुएँ छुआयी थीं खीर चटायी थी। अब लालजी खीर चाटने लगे हैं, मिठी पूड़ी रोटी को भी मुख में देने से निगल जाते हैं। साग मुख में देते हैं तो थूक देते हैं, मिश्री को चाटने लगते हैं। मक्खन के लोंदे को लेकर मुख में पोत लेते हैं, भूमि को मक्खन से लेप देते हैं। माता अब बड़े प्रेम से लालजी के लिये विविध प्रकार की वस्तुएँ बनाती हैं, जहाँ माता की तनिक भी आँख बची कि आप, खिसकते हुए गोष्ठ में पहुँच जाते हैं और गो मूत्र तथा गोबर के कीच में लोट जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् प्राकृत बालकों की सी लीला करके नन्द यशोदा तथा अन्य गोपी गोपों को सुख देने लगे।"

छप्पय

समुझि नन्द लखि वृद्ध सङ्ग ताके लग जावें।
जब मुरि देखे पुरुष मातु के ढिँक भगि आवें॥
अम्मा बब्बा मधुर तोतली बोली बोलें।
गोबर अरु गो-मूत्र पङ्कमहँ विहतर डोलें॥
जब देखो तब गोष्ठ महँ, चचलता अद्भुत करें
गोअनि के पैरनि परें, मैया अति मन महँ डरें

—○—

पङ्काङ्गरागानुलिप्त राम-श्याम

[८६८]

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ,
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम् ।
दत्त्वा स्तन प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य,
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

करि उबटन अन्हवाइ मातु मँगुरी पहिनावें ।
गोरोचन को तिलक डिठौना भाल लगावें ॥
इत उत दीठि बचाइ गोष्ठमहँ लाला जावें ।
बछरा, गोबर, घास कीचतैं दुन्द मचावें ।
मातु उठावत हरि तुरत, पुनि पुनि चूँमति मधुर मुख ।
छातीतैं चिपटाइकें, हिय महँ पावें परम सुख ॥

चचलता करते हुए बच्चों को जो स्नेहभरित हृदय से बरजते हैं और उनके भोरेपन पर रीझकर बार-बार मुख चूमते हैं, वे माता पिता कितने बडभागी हैं । बालकों की प्रत्येक लीला में सुख

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं "राजन ! माताएँ कीचड मे खेलते अपने बालकों को क्रीडा करते देखकर स्नेह के वशीभूत हो जाती, उनके स्तनो मे दूध भर आता और वे पङ्क रूपी अङ्गराग से अनुलिप्त होने के कारण रुचिर प्रतीत होने वाले अपने बालकों को दोनो हाथो से उठाकर गोदी मे लेकर हृदय से चिपटा लेतीं, फिर दुग्ध पान कराती । दूध पीते समय उनकी मधुर मधुर मुस्कान तथा नन्हीं नन्हीं दन्तावली से युक्त उनके मुख कमल को निहार कर अत्यन्त ही आनन्द मे निमग्न हो जातीं ।"

है, सरसता है, सरलता है। भोलापन है, आकर्षण है। बालक जो करते हैं, सहज स्वभाव से करते हैं, वे जो भी करें उसी में एक प्रकार का अद्भुत सुख होता है। उनकी प्रत्येक चेष्टा में विनोद है, सहृदय माताओं का हृदय बालकों की चंचलता से खिल उठता है, जो बालक जितना ही अधिक चंचल होगा, उतना ही अधिक अपनी चचलता से माता-पिता को सुख पहुँचावेगा। चचलता ही तो बालकपन की शोभा है। यही तो बालकों का स्वरूप है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बलदाऊ के सहित श्याम सुन्दर ने अपने बाल्यकाल की चचलतापूर्ण क्रीडाओं से ब्रजवासियों को जो सुख दिया, वह अन्य किसी भी बड़े से बडे लोक मे दुर्लभ है। उन क्रीडाओं ने उसी समय ब्रजवासियों को सुखी नहीं किया, अब भी जो उनका स्मरण करते हैं, वे सुखी होते हैं और आगे भी अनन्त काल पर्यन्त उन चरित्रों को स्मरण करकरके सुख का अनुभव करते रहेंगे। श्रीकृष्ण की बाल लीलाएँ ही तो वासल्य रस के उपासकों के जीवन का आधार हैं वात्सल्य भाव में भावित भावुक भक्त उन्हीं के स्मरण से तो निर्भय होकर इस भवसागर को बात की बात में तर जाते हैं। और अनन्त कालपर्यन्त उस सुख का अनुभव करते रहते हैं।

श्याम और बलराम ने अब गौशाला देख ली, उन्होंने निधि पा ली। जब भी उन्हें दाँव मिलता तुरन्त खिसकते हुए किढरते गौशाला में आ जाते, हाथ पैरों से बछडों की भाँति चल-चलकर गौओं के नीचे चले जाते, मानों ये भी छोटे बछरे हैं। गौएँ सूँघतीं और अपने स्वामी को पहिचानकर प्रमुदित होतीं घर में लालजी को न पाकर माता दौडी आती। गौओं के नीचे लालजी को देखकर वे कहतीं—"हाय! यह कनुआ बडा चञ्चल है, बलुआ बेटा तो सीधा सादा है। यह कनुआ ही बड़ा ऊधमी है। गौ के

नीचे बैठा है, गौ लात मार दे, खुर रख दे या सींग ही चला दे तो क्या हो जाय। इसे तनिक डर भी नहीं लगता। मरखनी गौएँ हैं। पशुओं को क्या पता यह कौन है? यह कहकर कीच में सने श्याम को माता उठा लेतीं और उनके गालों पर प्यार की थपकियाँ देती हुई कहतीं—"कनुआ! तू बड़ा ऊधम मचाने लगा है, गोद में लेती हूँ, तो गोद में नहीं रहता। छोड़ती हूँ तो, तू दुन्द मचाता है, बड़ा नटखट है तू? तनिक आँखों से ओझल हुआ कि तू यहाँ दौड़ आता है तुझे डर नहीं। पशुओं से खेला जाता है?" श्यामसुन्दर माता की ऐसी बातें सुनकर भोरेपन से माता की ओर देखने लगते और उसकी नथ को पकड़ लेते। कंठ के हार को खींचने लगते। मानों कह रहे हों—"अम्मा? मैं तो पशुपालक हूँ न? गोपाल को गौएँ पहिचानती हैं। मैं तो उनके कंठ का हार हूँ मेरे हाथ में तो उनकी नाथ है मैं उनका नाथ हूँ। जैसे तेरी नाक में यह नथ है वैसे ही मैं भी उनकी नाक की नकेल हूँ, मेरे संकेत से वे सब काम करती हैं।"

माता बालक की क्रीड़ा देखकर हँस जातीं अपने स्तनों से चूते हुए दूध को पिलातीं। पुनः न्हिला धुलाकर दूसरे वस्त्र पहिनातीं। दिन भर दोनों माताएँ बालकों की रेख देख में सदा लगी रहतीं। एक दिन मैया यशोदा ने श्यामसुन्दर को सुन्दर उबटन लगाकर गरम जल से अत्यन्त ही मनोयोग के साथ स्नान कराया स्नान कराके शरीर को सुन्दर स्वच्छ वस्त्र से पोंछा। उस समय श्याम का सुचिक्कण परम कोमल सुन्दर शरीर नवनीत की नील मणि के सदृश अत्यन्त ही सुहावना लग रहा था। उस स्निग्ध श्रीअंग के स्पर्श मात्र से माता के अंगों में वात्सल्य के कारण रोमाञ्च हो रहे थे, वे लालजी की रूप माधुरी का पान करते-करते अघाती ही नहीं थीं। अत्यन्त सुन्दर पीतवर्ण के रेशमी वस्त्र पहिनाये। आँखों में मोटा मोटा काजल लगाया, तिलक

दिठौना से भाल को सजाया। कारी-कारी प्यारी सटकारी लालजी की लटों को इतर फुलेल से स्निग्ध करके उन्हे काढ़कर सुन्दर किया। फिर उनकी शोभा को निहारने लगीं। माता का मन भरता ही नही था। चाहती थीं लाल को आँखो में बिठा लूँ, हृदय की कोठरी मे छिपा लूँ।

अब लालजी माता की गोदी मे न रह सके। शृङ्गार हो गया, पेट भर के दूध पी लिया, अब माता की गोद में क्या काम ? स्वार्थी ही जो ठहरे, जिससे अपना स्वार्थ नहीं उनकी ओर देखते भी नही बात भी नही करते। अपना प्रयोजन होता है, तो बलपूर्वक गोदी- में चढ़ जाते हैं। माता ने देखा बच्चा खेलने के लिये तुरा रहा है, उन्होंने लालजी को भूमि पर छोड़ दिया। अब तो ये पजों और घुटनो के बल दौडने भी लगे हैं। इधर से उधर आँगन में घूमने लगे। माता ने झँगरी को समेटकर पीठ के पीछे एक गाँठ बाँध दी। जिससे वस्त्र मैला न हो, अग मे धूलि न लगे, किन्तु ये तो धूलि को ही अपना सर्वस्व समझते थे। बड़े आनन्द के साथ धूलि मे खेलने लगे। इतने मे ही कोई गोपी किसी काम स आ गयी, माता उससे बातें करने लगीं कुछ वस्तु देने भीतर गयीं, त्यो ही लालजी द्वार से निकलकर गोष्ठ में पहुँच गये। वहाँ गोमूत्र का गड्ढा था, उसमे कीच भर रही थी, आपने समझा यह क्षीरसागर है, तुरन्त उसमे घुस गये और इधर से उधर लोटने लगे उस पावन पङ्क मे विहार करने में विहारी को बड़ा आनन्द आ रहा था। रेशमी वस्त्र कीच मे सन गये, सम्पूर्ण अङ्ग कीच में सन गया, और वे दोनो हाथो से कीच को फटफटा रहे थे और छोटे छोटे नन्हे नन्हे दाँतो को निकालकर हँस रहे थे। कीच में हाथ फटफटाने से छोटी-छोटी कीच की बिन्दुएँ कपोलों पर पड रहीं थीं, वे ऐसी लगतीं थीं मानों-चन्द्र के ऊपर नीलमणि का चूर्ण बिखरा हुआ हो। इतने मे ही मैया

भीरत से बाहर आयीं। उनका शरीर भीतर अवश्य चला गया था किन्तु मन तो उनमें ही निरन्तर अटका था। आते ही उन्होंने आँगनमें चारों ओर देखा लालजी का पता ही नहीं। वे समझ गयीं ऊधमी आँख बचाकर गोष्ठ में चला गयाहै। वे दौडी दौडी खिरक मे आयीं वहाँ देखती हैं लालजी कीच में लेट रहे हैं और हँस रहे हैं माता यह देखकर अपनी हँसी न रोक सकीं। बनावटी क्रोध प्रदर्शित करती हुई बोलीं—"कनुआ! तू बडा उधमी हो गया है। देख मैंने कितने प्रेम से तुझे न्हिलाया था, फिर सब शरीर कीच मे सान लिया। मुझे ऐसा लगता है तू पहिले जन्म मे सूअर रहा होगा, इसीलिये तेरी कीच में लोटने की टेंव नहीं गयी।

माता को सूअर कहते देखकर श्यामसुन्दर चकित-चकित दृष्टि से जननी की ओर निहारने लगे। माता ने कीच मे सने हुए लाल को उठाया। अपने अचल से मुख पोंछा। फिर जाकर वस्त्र बदले अग से कीच धोयी और दूध पिलाकर सुलाने लगी। वेद जिनकी अनेक प्रकार से भाँति-भाँति की उपमाओं द्वारा स्तुति करते हैं माता उनको 'सूअर' कहकर पुकारती हैं इस गाली से जितने वे प्रसन्न होते हैं, उतने वेदों की स्तुति से प्रसन्न नहीं होते।

एक दिन आप गौओं के जल पीने की नाद मे चढ गये और गौओं के जूठे जल मे घुसकर उसे उलीचने लगे। माता ने अपने लाल की करतूत को देखा और बोलीं—"कनुआ तू अवश्य ही पूर्व जन्म मे या तो कच्छ होगा या मच्छ, तभी तुझे जल विहार इतना प्रिय है, सब कपडे भिगो लिये। चल तो सही अब तुझे बाँधकर रखूँगी। यह कहकर माता लालजी को ले गयीं।

एक दिन अपने सब मुख मे धूलि लपेटकर घुटुओं से दौड रहे थे, माता ने जाकर पकड़ा तो माता की ओर खुर खुर करने लगे। माता ने कहा—तू तो सिंह की भाँति दहाडता है, तू ही पूर्व जन्म मे सिंह रहा होगा।" कभी किसी गोपी

वस्तु देखते तो उसे ही माँगने लगते। तब माता कहतीं—"हाय! दारी के! अभी से तू भीख माँगने लगा। अहीर गोप कहीं भीख माँगा करते हैं, अवश्य ही तू किसी जन्म में बामन रहा होगा। एक दिन माता के साग बनाने के हँसिया को लेकर समीप में रखी हुई मूलियों को काटने लगे। तब माता बोलीं—"अरे, कनुआ-कनुआ, क्या कर रहा है, अभी से काटना-पीटना सीख लिया। मालूम होता है पूर्व जन्म में कोई निर्दयी काटने वाला ब्राह्मण रहा होगा। कभी गोपों के बाणों को उठाकर फेंकते उन्हें मुख में दबाते, उन पर हाथ फेरते। तब माता कहतीं—"बिना बताये ही तू बाणों को फेंकने लगा, अवश्य ही तू पूर्व जन्म में मृगया प्रेमी कोई क्षत्रिय रहा होगा। इस प्रकार लालजी जो भी करते माता उसी पर कुछ न कुछ अनुमान लगाकर कह देतीं। लालजी अब कुछ बोलने भी लगे, जिस वस्तु को पाते उसे ही मुख में ले लेते। माता कहतीं—"तू तो सर्वभक्षी है रे। न जाने तेरे पेट में क्या-क्या भरा है, भला धनुष बाण पत्थर के बटखरे हँसिया ये वस्तुएँ खाने की हैं क्या? तेरे जो हाथ पड़ता है मुख में ही ले जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार माताओं को घुटुअन चलकर सुख देते हुए श्याम और बलराम कुछ दिन ब्रज में विहार करते रहे। अब वे पैरों से चलने का प्रयत्न करने लगे।"

छप्पय

चंचलता कूँ निरखि मातु खीजें हरषावें।
कच्छ मच्छ वाराह कबहुँ वटु विप्र बतावें॥
पाँ पाँ पैयाँ चलें खाइँ अब माखन रोटी।
करें मातु तें रारि रोप महँ पकरें चोटी॥
मधुर मधुर बतियाँ करें, ब्रजवासिनि के मन हरें।
रसिया गावें नाचि कें, नित नूतन लीला करें॥

गोवत्सविहारी राम-श्याम

[८६९]

यह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला—

वन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ
प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

बछरनि की गहि पूँछ लटकिके इत उत जावें ।
गैया मैया मैंसि चमरिया कहि कहि गावें ॥
पकरैं गैयनि सींग कुदकि ऊपर चढ़ि जावें ।
ता ता थैया करें लुगाइनि नाच दिखावें ॥
कण्ठ मधुर स्वर मन हरन, बाल सुलभ कूजत कलित ।
होहिँ मुदित मन मातु अरु, गोपी लखि लीला ललित ॥

जिस जाति के बालक होते हैं, उसी जाति के प्रायः खेल खेलते हैं। माता पिता अबोध बालकों को लिए हुए उचित

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब राम श्याम कुछ बड़े हुए तब व्रजांगनाओं के लिये दर्शनीय कुमार लीलाओं को करने लगे। बछड़ों की पूँछ पकड़कर लटकने लगे, बछड़े उन्हें इधर से उधर खींचने लगे। उस समय गोपियाँ अपने-अपने घरों से बाहर निकल आतीं और हँसती हुई आनन्द में विभोर हो जाती।"

अनुचित अनेक प्रकार की बातें करते हैं। वे सोचते हैं—"बच्चा तो कुछ समझता नहीं, किन्तु यह भ्रममात्र है। बच्चा सब कुछ समझता है माता-पिता जो करते हैं, उनके संस्कार चल चित्रों की भाँति उसके हृदय-पटल पर अङ्कित होते जाते हैं, जब वह बोलने लगता है, तब उन सब भावों को खेल में अनजान में व्यक्त करता है, बड़ा होने पर उनका अर्थ समझता है। गाँवों में छोटे छोटे बच्चों को खेलते देखते हैं। अबोध लड़की लड़के साथ खेलते हैं मिट्टी का खेत बनाते हैं, बालू का घर बनाते हैं, चूल्हा, चौका, चक्की, बर्तन सभी वस्तुएँ गीली चिकनी मिट्टी की बनाते हैं, बैल, ऊँट, घोड़े, भी उसी चिकनी मिट्टी के बना लेते हैं। एक लड़की घूँघट मारकर बहू बन जाती है, मिट्टी की रोटी पोती है एक बालक दुलहा बन जाता है। खेत से हर लेकर आता है घर में रोटी तैयार न होने पर बहू से डाँटकर कहता है, रोटी क्यों नहीं बनायी। इस पर उसे मारता है। ये बातें उसने घर में ही सीखीं किसी ने सिखायी नहीं बहू बनने वाली चाहे अपनी बहिन ही हो, बालकों को पता ही नहीं होता है, बहू क्या दुलहा क्या किन्तु जो देखते हैं उसका चित्र अपने आप खिंच जाता है उसे ही प्रकट करते हैं। बनियों के बच्चे दुकानदारी के खेल खेलते हैं। क्षत्रियों के लड़के राजाओं के से खेल खेलते हैं। गोपों के लड़के गौओं के खेल खेलते हैं। सामने जो होगा उसी से खेला जायगा। यह संसार भी एक क्रीड़ा—स्थली है ज्ञानी भी इसमें खेलता है और स्वयं भगवान् भी बालक बनकर खेलते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण की बाललीला अति ही मधुर और अनुराग राग से रञ्जित है इसका वर्णन कौन कर सकता है। श्रीकृष्ण घुटुअन चलते विविध भाँति की लीला करके ब्रजवासियों को परम आनंदित करने लगे। अब माता लालजी की

उँगली पकड़कर चरणों के बल चलना सिखाने लगीं। चरणों में बजते नूपुर रुनुझुनु शब्द करते हैं माता उनके हाथों को पकड़ कर कहती हैं—'देखो ? अब हमारे लालजी चलने लगे—"पाँ-पाँ पैयाँ, पाँ पाँ पैया। गुरुजी की डरियाँ, गुरु की डरिया। भगि जा हौआ भागि जा हौआ। कनुआ-बलुआ-कनुआ-बलुआ।" ऐसे कहकर दोनों को चलाती हैं। बलदेवजी बड़े हो गये हैं, अतः उँगली के सहारे ही चले जाते हैं आगे निकल जाते हैं। ये ठहरे छोटे, छोटे आगे कैसे बढ़ सकते हैं। बड़े आगे बढ़ने ही नहीं देते। इस पर श्याम रो पड़ते हैं। झट माता गोदी में उठाकर घनश्याम को आगे कर देती हैं और ताली बजाकर कहती हैं—"कनुआ आगे निकल गया, मेरा कनुआ बढ़ गया।" तब आप प्रसन्न हो जाते हैं। चार डग चलते हैं, फिर डगमगा कर गिर जाते हैं। माता कहती हैं—"अरे चींटी मर गयी।" तब आप रोना भूलकर मैया से पूछने लगते हैं—"मैया! कहा चींटी मरी।" फिर माँ गोद मे उठा लेती हैं। अब आपको चलने में बड़ा आनन्द आता है। कोई गोपी उँगली नहीं पकड़ती तो आप भीत पकड़कर ही खड़े हो जाते हैं। तब माँ गोद में भरकर कहती हैं—"अरे! कनुआ तो खड़ा हो गया। चल भैया! मुझे छू तो ले।"

तब आप माँ को छूने दौड़ते हैं, बीच मे ही लड़खड़ाकर गिरने लगते हैं, तो माता दौड़कर गोदी में उठा लेती हैं। मुख चूमती हैं और कहती हैं—"दूध पी ले तू पेट भर के। तब तू झट चलने लगेगा।" आप कहते हैं—'माँ! बहुत-सा दूध पीऊँगा।" तब माँ मिश्री पड़ा दूध पिलाती हैं। आप फिर डग-मग-डगमग करते हुए चलते है। गोपियाँ ताली बजाती हैं।

अरुणोदय के समय मैया उन्हें शैया पर ही छोड़कर दधि मथने लगती हैं। आँख खुलते ही वे शैया पर मैया को ढूँढ़ते हैं।

दधि मन्थन की घर्र मर्र घर्र मर्र की ध्वनि सुनकर अपने आप पाटी पकडकर शेया से नीचे उतर आते हैं और पीछे से मैया से लिपट जाते हैं। रोते रोते कहते हैं—"मुझे भूख लगी है।"

मैया कहती हैं—"अरे! दारीके, अभी मुँह तो धो ले। दिन तो निकलने दे।" परन्तु आपके लिये तो कभी रात्रि है ही नहीं। अँधेरे का नाम नहीं, नित्य प्रकाश है, मुँह तो वह धोवे जो अशुचि हो। नित्य शुचि के लिये बाह्य शोच की क्या आवश्यता वे अड जाते हैं। माता माखन की एक छोटी सी गोली बनाकर हाथपर रख देती हैं। झट उसे मुख में डालकर फिर माँगने लगते हैं। माँ छींके से एक पूडी उतार लेती हैं, उसके ऊपर टटक-मक्खन लहेस देती हैं, ऊपर से तनिक-सा नमक बुरक देती हैं। श्यामसुन्दर सूगे की तरह छोटे छोटे दाँतों से पूडी को कतर कतरकर खाते हैं। खाकर फिर माँ की गोदी में सो जाते हैं। दही बिलोकर माँ उठती हैं। शौचादि से निवृत्त कराकर पुनः पाँ पाँ पैया चलाती हैं। अब आप बिना किसी की सहायता के बलदेव जी के सहित गोष्ठ में भी चले जाते हैं। वहाँ बछडों से खेलते हैं। एक दिन बलदेवजी ने एक बछडे की पूँछ पकडी। लडकों का स्वभाव होता है, एक को कोई काम करते देखकर दूसरा उससे होड लगाता है। जब बलदाऊजी ने पूँछ पकडी है, तो मैं उनसे पीछे क्यों रहूँ। श्याम ने भी एक बछडे की पूँछ पकडी। वह बछडा श्याम की ही भाँति चञ्चल था, पूँछ पकडते ही उसने उछाँच मारी उछलकर वह इधर से उधर दौड़ने लगा। श्याम भोरे ही जो ठहरे। डर गये, कसकर पूँछ पकड ली, अब वह इन्हें लिये हुए इधर से उधर दौडने लगा, ये बन्दर के बच्चे की भाँति पूँछ से चिपट गये। गोपियाँ यह देखकर झुन्ड की झुन्ड इकट्ठी हो गयीं और ताली बजाकर हँसने लगीं। इतने में ही रोहिणी मैया आ गयीं, उन्होंने तुरन्त श्याम को गोद में लेकर

कहा—"हाय ! कनुआ ! तू बड़ा दण्गली हो गया है। गाय के बच्चों की पूँछ से लटकते हैं ?" आप खिल खिलाकर हँस पड़े। बलदाऊ जी से बोले—"दादा ! तू भी अपने बछड़े को चला ?" बलदाऊ जी ने जो चलाया, तो धम्म से गिर पड़े। बलदेव जी रोने लगे और श्याम मैया की गोद में हँसने लगे। तुरन्त यशोदा मैया ने दौड़कर बलदेव जी को उठा लिया और शरीर पोंछकर कहने लगीं—"बलुआ ! तू इस कनुआ की बातों में मत आया करे। यह तो बड़ा धूर्त है ? तेरे चोट लग गयी। लो मैं कनुआ को मारती हूँ। यह कहकर माता ने एक हाथ श्याम के श्रीअंग के पास रखा दूसरे हाथ से अपने ही हाथ में चट्ट से मार दिया। यह देखकर बलदेवजी हँसने लगे। मैया कहने लगीं—"मेरा बलुआ राजा बेटा है। कनुआ राजा नहीं है।" यह सुनकर श्यामसुन्दर रोहिणीजी की गोद से ही कहने लगे—"हम भी राजा हैं।"

रोहिणीजी ने कहा—"हाँ, बेटा ? तू भी राजा है।"

श्यामसुन्दर के लिये अब बछड़ों की पूँछ पकड़कर लटक जाना एक बड़ा सुन्दर खेल हो गया। जब भी गोष्ठ में आते बछड़ों की पूँछ पकड़कर लटक जाते। कभी-कभी कई बछड़ों की पूँछ एक साथ पकड़ते। उनमें से जो बलवान् बछड़ा होता वह पूँछ निकाल कर भाग जाता एक पूँछ निकलने से हाथ ढील पड़ जाता, श्यामसुन्दर कीच में गिर पड़ते रोने लगते। गोप आकर उठाते, गोपियाँ कहतीं—"देख, देख फुर्र से चिड़िया उड़ गयी।"

श्यामसुन्दर रोना भूलकर चिड़िया को देखने लगते। तब गोपियाँ गोद में लेकर उन्हें घर कर आतीं।"

कुछ गौओं को यशोदा मैया स्वयं दुहतीं। पद्म गन्धा श्यामा गौओं के दूध को पृथक् दुहकर मैया गरम करतीं। इसके मक्खन से मेरा कनुआ मोटा होगा। मैया जब दूध दुहने जातीं तो राम-

श्याम भी हाथ में छोटी-छोटी लुटिया लेकर जाते और कहते—"माँ हमको भी दूध दुह दे।' माँ उनकी छोटी-सी लुटियाओं को गौओं के थनों की धार से भर देतीं। उस दूध को लाकर स्वयं गरम करते। तनिक गुनगुना हुआ कि झट पी जाते। कभी कभी अपनी लुटिया ले जाकर बछड़ों को दुहने लगते, बछड़े फुदकते भागते तब पूछते—"मैया, हमें यह दूध क्यों नहीं दुहने देते? तू तो इतना दुह लेती है।"

मैया कहतीं—"बेटा! बछड़े दूध नहीं देते गैयाँ ही दूध देती हैं।"

श्याम पूछते—"मैया! बछड़े दूध क्यों नहीं देते?"

मैया कहतीं—"मैया! बछड़ों की मैया है, जैसे तू मेरा दूध पीता है, वैसे ही बछड़े भी अपनी मैयाओं का दूध पीते हैं। वे पीने वाले हैं, देने वाली तो गैयाँ हैं।"

कभी-कभी आप दो बछड़ों की जोट बनाकर एक छबरे में रस्सी बाँधकर उनके गले में बाँध देते और छबरे में बैठकर उन्हें तिक-तिक करके हाँकते और कहते—"हतो, गाली आयी गाली आयी।"

कभी बछड़ों के गले में बाहुएँ डालकर लटक जाते, कभी किसी बछड़े पर चढ़ जाते, बछड़ा कूद फाँद करता तो आप बिल्ली के बच्चे की भाँति उससे चिपट जाते। कभी बछड़ों को इधर से उधर दौड़ाते और स्वयं भी उनके पीछे-पीछे दौड़ते' कभी बछड़ों को घर से रोटी लाकर खिलाते, न खाते तो उनके मुख में ठूँसते। कभी मट्ठा को बाँस की नलकी में भरकर बछड़ों को पिलाते, बछड़े इनका शरीर पर मट्ठे को उगल देते, तब आप दौड़कर घर जाते, कपड़े बदलने को माता से कहते। कभी छोटी छोटी घास उखाड़ कर बछड़ों के मुख में देते। कभी बँधे बछड़ों को खोल देते, वे जाकर गौओं को पीने लगते। फिर उन्हें खींचते दूध पीने

से हटाते, किन्तु माता का दूध पीते हुए बच्चे सरलता से नहीं हटते, ये कितना भी खींचते, ता भी बछड़े नहीं हटते, तब रोने लगते। गोप आकर बछड़ों को बाँधते, कभी गौओं के सींग पकड़कर हिलाते। बछड़ों का पूँछ का गौओं का पूँछ में बाँध देते, फिर बछड़े के फुदुकन पर ताला बजा बजाकर हँसत। कभी हरी हरी

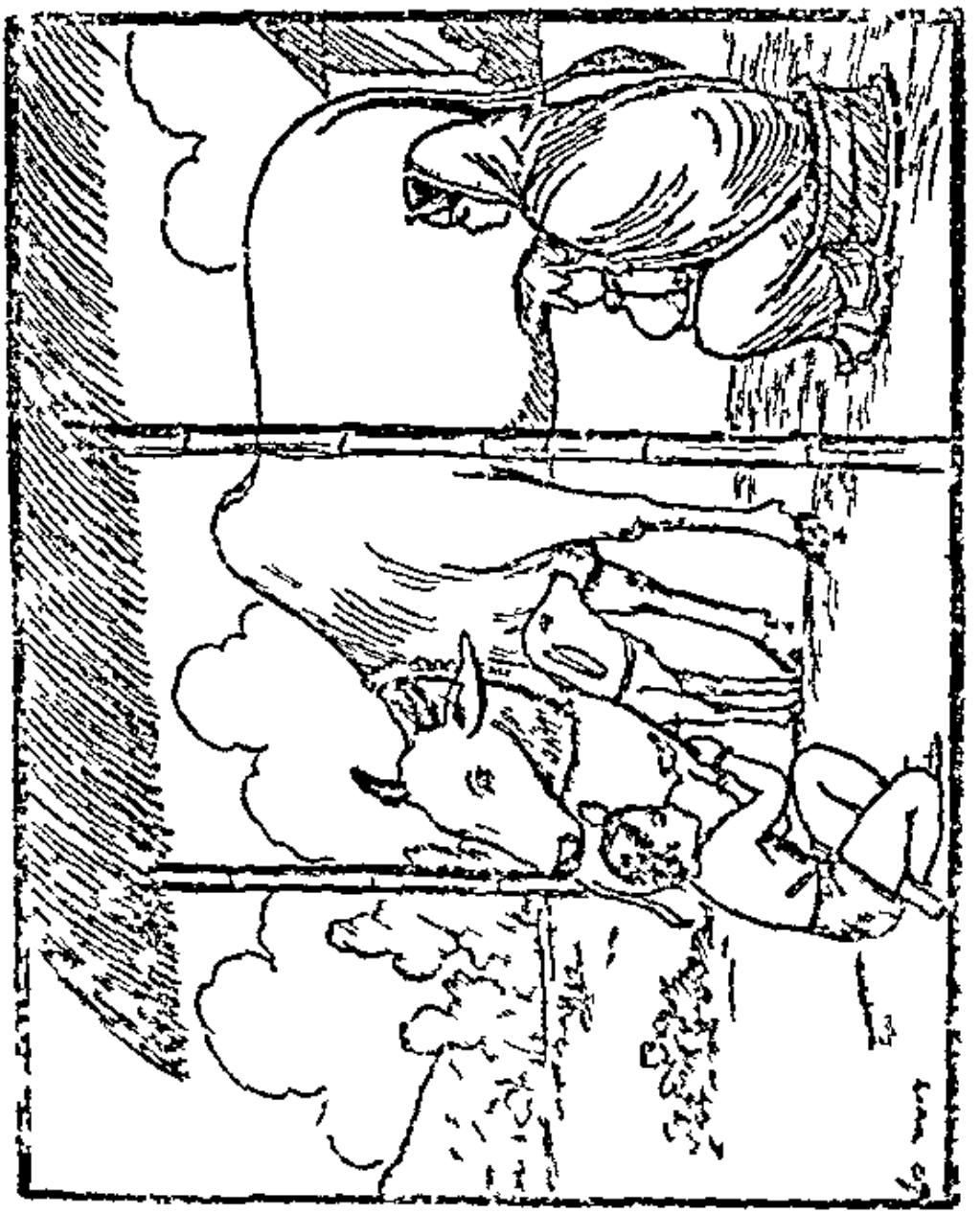

कोमल कोमल घास उखाड़कर बछड़ों को खिलाते वे न खाते और गाएँ मुख करतीं तो उनके ही मुख में दे देते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार श्रीश्याम और राम गोष्ठ में जाकर गौओं और बछड़ों से भाँति भाँति की क्रीडाएँ करने लगे। उनकी इन बाल लीलाओं का जो प्रेम पूर्वक स्मरण करेगा, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा और वह प्रभु-प्रेम प्राप्त कर सकेगा।"

छप्पय

कबहुँ साँडके सींग पकरिकें तिनितें खेलें।
कबहूँ पकरें श्वान सर्प तिनि मुखकर मेलें॥
कबहूँ ताता करें आगिकूँ पकरन जावें।
कबहूँ बन्दर मोर खगनिकूँ पकरि नचावें॥
कबहूँ शस्त्रागारमहँ, असिपै हाथ फिराइकें।
किलकैं होवें मगन अति, वस्तु अनोखी पाइकें॥

बाल विनोदिनी लीलाएँ

[८७०]

शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् ।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ,
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

कबहूँ खेलन चन्द्र मातुतें पुनि पुनि मागें।
कबहूँ पीकें दूध गोदतें झम्पट भागें॥
कबहूँ जलमहँ घुसैं भिगोवें तन पट सगरे।
कबहूँ पक्षिनि पकरि करें गोपिनितें झगरे।
कबहूँ द्विजकूँ देखिकें, करि प्रणाम भगि जात हैं।
कबहुँ परसी खीरकूँ, चाटि चाटिके खात हैं॥

ससार में जो पैदा हुआ है, वह कभी बालक भी रहा होगा। हम सब लोग जो अपने को किशोर युवक अधेड या वृद्ध कहते

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! दोनो मैयाओं का चित्त बडा उद्विग्न हो जाता और वे घर के धधो का भी नहीं कर सकती थीं। कारण कि वे अत्यन्त चचल बच्चों को सीग वाले पशु से, अग्नि से, दांतो से काटने वाले पशुओं से, तलवार से, जल से, पक्षी-ब्राह्मण और दांतो से तथा कांटो से बचाने मे ही लगी रहती।"

हैं, सभी एक न एक दिन बालक रहे होंगे। आज हम बालकों का बाता पर उपेक्षा के स्वर में कह देते हैं—'अरे, ये तो बच्चे हैं, ये लडके बडे उपद्रवी होते हैं, ये तो लडकपन की बातें हैं। किन्तु इस बात को हम भूल जाते हैं कि कभी हमने भी लडकपन किया होगा कभी हमें भी बडा ने डाँटा होगा, कभी हमार भी कान गरम हुये होंगे, कभी हमे भी मुरगा बनना पडा होगा। हमें भा डाँट फटकार सुननी पडी होगी। मनुष्य अपनी पिछली स्थिति का स्मरण किये रहे, तो वह किसी को भी दोषी न ठहराये, क्योंकि दोष होना-भूल होना-स्वाभाविक है। जानकर कोई भूल थोडे ही करता है। प्राणा जो भी करता है, अपनी बुद्धि से अच्छे के लिये ही करता है। जिस कार्य में अच्छाई न दिखाई देती हो, उसमें मनुष्य की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। जो जिस कार्य में प्रवृत्त हो गया, समझ लो उसने उसी में सुख समझा होगा। बालक जो भी करते हैं, खेल के लिये करते हैं, मनो विनोद की भावना से करते हैं। बडों को यदि वह बात बुरी लगती है, तो लगा करे। वे बालक बनकर उस परिस्थिति में होकर देखें तब उन्हें पता चलेगा, कि बालकों ने जो किया यथार्थ ही किया। हम भी इन्हीं के सदृश बालक होते, ऐसा ही करते। अपने आपको छोडकर कभा कोई भूल नहीं करता। दूसरों की भूल को बताना हा भूल है। बालकों की सभी चेष्टाएँ निस्वार्थ छल कपट के रहित होती हैं। यदि सर्वान्तर्यामी भगवान ही बालक बनकर विहरें, क्रीड़ा करें, तब तो पूछना ही क्या ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राम और श्याम अब पगों स चलने लगे, दौडने लगे, खेलने लगे, माता से तोतली बोली में झगडने लगे, आग्रह करने लगे। दोनों हा बडे चचल थे किन्तु ये छोटे तो महा खोटे थे। ये बाहर भीतर दोनों ओर से टेढे थे, इनकी चितवन चलन, उठन, बैठन, क्रीड़ा, लीला सभी टेढी।

सभी अद्भुत रहस्यों से भरी हुई थी। वेद भी जिनका अब तक भेद न पा सके। आगे पा सकेंगे इसमे भी सन्देह ही है। वेद एक बार भेद बताने का प्रयत्न करते हैं, फिर न इति न इति (यह नहीं, यह नहीं) कहकर चुप हो जाते हैं।

लालजी को गौओं से बडा प्रेम है, वे गोष्ठ म जाकर गौओ से खेलते हैं उनके सींगों को पकडकर लटक जाते हैं, माताएँ डर जाती हैं, ये बडे ऊधमी हैं। बार बार मना करती हैं, किन्तु ये तो किसी की बात मानना सीखे ही नहीं। जो करना चाहते हैं वही करते हैं।

व्रज में एक बडे डील डौल का साँड था। साक्षात् धर्मराज ही भगवान् के अङ्ग स्पर्श के लोभ से वृषभ बन गये थे। वैसे कलियुग में तो उनके एक ही पाद रहता है, किन्तु नन्दजी के गोष्ठ में तो चारों पैर सुन्दर और स्वस्थ हैं। जहाँ भगवान् स्वय क्रीडा करते हों, वहाँ धर्म को विकृत कौन कर सकता है। प्रसिद्धि ऐसी थी, कि सब लोग उसके समीप जा नहीं सकते थे, उसके सामने जाना कठिन समझा जाता था। एक दिन बलदाऊ और श्याम खेलते-खेलते उस मरखने साँड के समीप पहुँच गये। दोनो ने उसके दोनों बडे-बडे सींग पकडे। उसने चुप चाप सिर नीचे कर दिया। बलदेवजी तो पकडे ही रहे किन्तु ये श्याम तो बिना ऊपर चढ़े मानते नहीं, शनः-शनः उसके सिर पर पैर रखकर उसके कुकद के ऊपर चढने लगे। उसकी टाठ बहुत ऊँची और मोटी थी, आप डगमगाते हुए उस पर चढ़े। और भी बालक खड़े थे, वे हँस रहे थे, दूर से माता ने देखा, "हाय! कनुआ बलुआ तो मरखने साँड के पास खेल रहे हैं।" माता तुरन्त दौडीं। रोहिणीजी उनसे भी आगे दौडी, जाते ही उन्होंने श्याम को गोदी में उठा लिया, यशोदाजी ने बलदेवजी को पकड़ कर साँड के भय से पीछे भग गयीं और दोनों हाथों से बल-

देवजी के दोनों कपोलों को दबाती हुई बोलीं—"तू इतना बड़ा हो गया है, अपने छोटे भैया को उपद्रवों से रोकना तो दूर रहा, तू भी उसकी हाँ में हाँ मिला देता है। मरखना साँड है सींग मार देता तो ?" बलदेवजी यह सुनकर श्याम की ओर देखकर हँस पड़े। श्यामसुन्दर भी भोले बन गये। माता दोनों को भीतर ले गयीं।

श्यामसुन्दर जहाँ भी अग्नि जलती देखते वहीं दौड़ जाते। अग्नि की लपट को देखकर वे बड़े प्रसन्न होते, बाबा जाड़ों में अगिहाना जलाकर बहुत से गोपों के साथ अग्नि तापते हुए बैठते और इधर-उधर की बातें करते तो ये भी बाबा की गोदी में जा बैठते। अग्नि जलती तो आप उसकी ओर हाथ बढ़ाते। बाबा कहते 'ताती है भैया ! मुरस जायगा।" तब से आप अग्नि को "ताता-ताता" कहते। माताएँ रोटी बनातीं तो दौड़कर गोदी में जाते और 'ताता ताता' कहकर चूल्हे में हाथ देते। माताएँ हाथ पकड़ लेतीं और कहतीं —"कनुआ ! हाथ जल जायगा। अग्नि को नहीं छूते हैं भला।" जलती हुई एक लकड़ी उठाकर श्याम हँसते हुए बलराम की ओर बढ़ाते, तब माता डाँट देती। "तू ऐसा उपद्रव करेगा तो तुझे घर के भीतर करके बाहर से ताला दे दूँगी।"

आप कहते—"मैया ! ताता नहीं छूँऊँगो।"

एक दिन आप घर से गोष्ठ को जा रहे थे। मार्ग में एक कुत्ता मिला। बस, फिर क्या था खेल आरम्भ हो गया कहीं से एक रस्सी ले आये, कुत्ते के कंठ में बाँधकर फिर उसे एक लगाम की भाँति उसके मुख में डाल दिया। बलदेवजी ने उसकी पूँछ पकड़ी और उस पर चढ़ गये, तब तक एक और कुत्ता आ गया, और बलराम श्याम के कुत्ते को छोड़कर उस पर बिना लगाम के ही चढ़ गये। वह बाहर की ओर भगा और श्याम का

भीतर की ओर, श्याम कह रहे थे—"भैया ! मेला घोला। मेला घोला ?"

मैया ने देखा—"हाय ! कनुआ ! राम राम, तू तो सरभगी, है, अरे ! ऊधमी कहीं कुत्ता पर चढते हैं।"

तब आप कहते—"अम्मा दाऊ का घोला बाहर भाग गया।" यह सुनकर यशोदा मैया बाहर दौडतीं। उधर से नन्दजी बलरामजी को गोदी मे लिये हुए आते मिले।

यशोदा मैया कहतीं—'देखो, अब ये बच्चे तो बडा उपद्रव करने लगे हैं। नित्य नूतन उत्पात करते हैं। तुम्हारे छोटे लालजी कुत्ते को ही घोडा बनाये हैं।"

हँसते हुए नन्दजी कहते—'यह भी तो कुत्ते पर हा चढ रहा था, मैं पकड कर लाया हूँ। तब नन्दजी आकर श्याम को भी गोदी में लेते अत्यन्त उल्लास के साथ श्याम कहते—"बाबा ! बाबा मेला घोला भग गया।"

ब्रजेन्द्र कहते—"बेटा। यह घोडा नहीं कुत्ता है, यह काट खाता है। जब तू बडा हो जायगा, तब तेरे लिये घोडा ल देंगे।"

बलदेवजी कहत—"बाबा ! एक मेरे लिये भी ले देना।"

हँसते हुए नन्दजा कहते—"हाँ तेरे लिये अवश्य लेंगे तू तो राजा बेटा है।"

श्याम कहते—"बाबा मैं भी लाजा हूँ।"

बाबा कहते—"अरे, चल हट ! तू राजा कहाँ है तू तो चोर है।"

यह सुनकर श्याम रोने लगते। तब तुरन्त रोहिणीजी बाबा से उन्हें अपनी गोद में ले लेतीं और कहतीं—'मेरा कनुआ बेटा राजा है। बडा होगा तो मुकुट लगावेगा, छत्र चँवर लगेंगे।"

तुरन्त श्याम कहते—"और मैया ! घोला पै चढे गे।"

रोहिणी मैया कहतीं—"घोड़े पर नहीं हाथी पर चढना।"

तब आप कहने लगते—"हम तो हाती पै चलेंगे, हाती पै चलेंगे।"

इस प्रकार कुत्ता, सियार, चूहा, जो भी मिलता उसे ही पकड़ने दौड़ते। एक दिन राम श्याम दोनो जा रहे थे, कि सम्मुख उन्हे एक बडा सा सर्प पडा हुआ मिला। सर्प तो इनका बिस्तर ही था, आज बहुत दिनो मे सर्प को देखकर ये उसकी ओर लपके। बलरामजी ने उसकी पूँछ पकडली, ये उसके सिर पर हाथ फेरने लगे। सर्प ने अपना फण उठा दिया ये हाथ से पकड कर उसे हिलाने लगे इतने में ही गोपी आ गयी। उसने सर्प से खेल करते जब राम श्याम को देखा, तो वह भय के कारण विह्वल हो गयी, वहीं से चिल्ला उठी—"नँदरानी चलियो चलियो श्याम सर्प से खेल रहा है।" नँदरानी ज्योंहीं आयीं त्योंही सर्प वहाँ से हटकर अपने बिल मे घुस गया। मैया ने दोनो बच्चों को गोदी में उठा लिया झाड फूँक करायीं सर्प की केंचुली शरीर पर घुमायीं। दासी के हाथो दूध भरकर सर्प की बामी पर पहुँचाया अन्य गोपियों से आँखों में आँसू भरकर कहने लगीं—"आज नारायण ने ही बच्चों की रक्षा की। सर्प तो विषधर ही होते हैं डस लेते हैं। प्रतीत होता है ये सर्प देवता हमारे कोई कुल के पितर हैं, तभी तो बच्चों से नहीं बोले—"सोमवार को खीर बनाकर पितरों के निमित्त बाटूँगी।" मैया ने समझा मेरे बच्चों का पुनर्जन्म हुआ।

अब माता दोनों को बाहर जाने से शक्ति भर रोकतीं। ऐसा प्रबन्ध करतीं, जिससे ये अकेले कहीं न जायँ। एक दिन रोहिणी मैया नारायण के भोग के लिये रसोई बना रहीं थीं यशोदा मैया घर में बैठी दोनों को खिला रहीं थीं। उसी समय रोहिणीजी ने पुकारा—"नन्दरानी तनिक जीरा तो दे जाना। आज मैं जीरा लाना भूल ही गयी।" यह सुनकर नन्दरानी तुरन्त उठीं। के

जानती थीं ये लड़के बड़े चंचल हैं, ये इधर-उधर खिसक देंगे, अतः बाहर से कुंडी लगाकर जीरा लेने गयीं।

अब क्या था ये घर के भीतर इधर उधर कोई खेल की वस्तु खोजने लगे। कल दशहरा था, नन्दबाबा ने शस्त्रों का पूजन करके उन्हें वैसे ही टाँग दिया था। जिस घर में राम श्याम विहर रहे थे, उसके समीप ही शस्त्रागार था, उसमें बहुत से धनुष, बाण रखे थे, तलवारें लटक रही थीं। दोनों भैया उस घर में जा पहुँचे, नंगी चमकती हुई करवालों को देखकर दोनों उस पर हाथ फेरने लगे। उसमें अपना मुख देखने लगे। बलराम एक को खींचने लगे। एक धनुष धड़ाम से नीचे गिर गया। माता तो पहिले से ही शंकित थीं। खटका सुनकर वे दौड़ी आयीं और बच्चों को तलवार से खेलते देखकर तुरन्त दौड़कर दोनों को उठा लिया। नन्दजी भी आ गये। यशोदा मैया बोली—"तुम इन तलवारों को खुला ही छोड़ देते हो। ये दोनों ठहरे ऊधमी। कहीं हाथ पैर न काट लें।"

नन्दजी अपनी भूल स्वीकार करते हुए बोले—"कल शीघ्रता में न तो मैं ताला ही लगवा सका न तलवारों पर म्यान ही चढ़वा सका अब आगे से ध्यान रखूँगा। तुम तनिक सावधान रहा करो।"

झुँझलाकर यशोदा मैया बोली— "अब कैसे सावधान रहूँ, जीजी ने तनिक जीरा माँगा था, उसे ही देने गयी थी, कि तब तक ये शस्त्रागार में घुस गये। एक स्थान पर तो ये टिकते ही नहीं।"

नन्दजी ने कहा—"कोई बात नहीं बच्चे ही हैं, अभी इन्हें भले-बुरे का कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं।" यह कहकर वे बच्चों का लेकर खेलने लगे। रसोई बनी नारायण का भोग फिर नन्दजी ने दोनों बालकों के सहित प्रसाद पाया।

नन्दजी कभी कभी दोनों को स्नान कराने यमुनाजी ले जाते, वहाँ एक दूसरे पर जल छिड़कते, बार बार स्नान कराते। नन्दजी डाँटकर कहते—"कनुआ! बहुत स्नान नहीं करते, सरदी हो जायगी भैया! किन्तु आपको सरदी गरमी का भय नहीं था। स्नान करने से इन्हें बड़ा प्रसन्नता होती। माता का जल भरा रहता उसी को उलीचने लगते। कभी मिट्टी के भरे बर्तन में कर छुल लेकर मार देते जब वह फूट जाता और उसमें से एक साथ जल बहता तब आप बहुत हँसते और मैया से डरकर इधर उधर भाग जाते। माता सब समझ जाती उसी ऊधमी की यह करतूत है। पूछने पर भोरे बन जाते और कहते—'मैया! कैसा घड़ा। मैं तो उधर गया भी नहीं।"

एक दिन शरदपूर्णिमा थी। ब्रज में बड़ा भारी उत्सव मनाया जाता है। अनेक कढ़ाहों में खीर बनने लगीं। शारदीय शशि आज अपनी सम्पूर्ण कलाओं के सहित उदित हुए। श्याम माता की गोदी में बैठे पूछ रहे थे—"मैया! शरद कब बैठेगी?" माँ कहतीं—"अरे! शरद तो रात में आती है।"

रात होते ही आप बोले—"माँ शरद आ गयी?"

माँ ने कहा—"तू देखता नहीं यह जो ऊपर चन्दा दीखता है, वही शरद है।"

भोरेपन के साथ भगवान् ने पूछा—"यह चन्दा कौन है, अम्मा?"

माता ने कहा—"भैया! यह भगवान का खिलौना है।"

खिलौने का नाम सुनकर भगवान् मचल गये और बोले—"मैया! हम भी खिलौना लेंगे?"

माता ने तुरन्त भौंरा, फरकनी, झुनझुना, काठ के हाथी, घोड़ा, थाली, कटोरा आदि अनेक प्रकार के खिलौने लाकर लालजी के सम्मुख रखे। श्याम ने तुरन्त उन सब खिलौनों को

उठाकर फेंक दिया और रोते-रोते बोले—"हम तो चन्दा खिलौना लेंगे।"

माता ने प्यार से कहा—"बेटा! चन्दा तो भगवान् का खिलौना है।"

आप बोले—"हम भगवान् से कुछ कम हैं क्या, हम भी भगवान् हैं।"

मैया ने कानों पर हाथ रखते हुए कहा—"हाय! कनुआ! ऐसी बात मुख से नहीं कहते हैं, कान पक जाते हैं।" किन्तु

तो हठी ठहरे जो कह देते हैं उसे करके दिखाते हैं। जो संकल्प कर लेते हैं वह मोघ कभी हो ही नहीं सकता। हठपूर्वक पैर फटफटाते हाथों को हिलाते, आँखों से आँसू बहाते माता के वस्त्रों को खींचते हुए बोले—"हम तो चन्दा ही लेंगे। हू हू हू मैया! हमें चन्दा ला दे।"

मैया प्यार से बोलीं—"अरे! यह कैसा बावरा छोरा है। चन्दा कहीं खेलने की वस्तु है, देख तेरा विवाह होगा, बहू आवेगी तुझे रोटी बनाकर देगी। देख उस गौ का बच्चा कैसा काला है, कनुआ तेंने देखा नहीं। बाबा तेरे लिये फुलालेन का कैसा टोपा लाये हैं, उसे लगाकर तू राजा हो जायगा। बलदाऊ को मैं उस टोपे को नहीं दूँगी। क्योंकि राजा बेटा तो तू ही है।" इस प्रकार की बातें करके माता भुलाना चाहती थी, किन्तु ये भूलने वाले कब थे, अपनी टेक नहीं भूले—"हम तो चन्दा लेंगे, चन्दा लेंगे।"

सब गोपी कहने लगीं—"नन्दरानी, तुम्हारा लाल तो बड़ा हठी है इसे किसी भाँति सुला दो।"

यह सुनकर माता गोदी में लेकर थपथपाने लगी, लोरी गाती हुई कहने लगी "आजा री नींदरिया। काल्हि कटे तेरी मुंडरिया। मेरे कनुआ के ढिग आजा, दूध मलाई मक्खन खाजा।" इन बातों का श्याम पर कुछ प्रभाव नहीं हुआ। वे आठ-आठ आँसु रोते और हाथ पैर फटफटाते। उसी समय रोहिणी जी को एक युक्ति सूझी। एक परात में पानी भर लायीं और बोलीं, "कनुआ आ-मैं तुझे चन्दा दूँ।" यह कहकर मैया ने श्याम को गोद में ले लिया। परात में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उसे दिखाती हुई बोलीं—"देख, इसमें चन्दा आ गया है, पकड़ ले।"

यह देखकर बड़े उल्लास से परात में हाथ डालने लगे। किन्तु हाथ में चन्द्रमा आता ही नहीं।

तब माता कहने लगीं—"कनुआ! तू हाथ में खिलौने को पकड़ भी नहीं सकता।" आप बार-बार हाथ डालते। ठंडा ठंडा जल लगता। माता ने कहा—"तू दूध पी ले तब इसे पकड़ना।"

यह सुनकर श्याम माता का दूध पीते पीते सो गये।

नन्द बाबा ने दोनों बच्चों को दंडवत् करना सिखा दिया था। किसी साधु महात्मा या ब्राह्मण को बाबा देखते तभी कहते—"कनुआ! डंडौत कर।"

तब आप दोनों हाथ जोड़कर कहते—"डंडौत।"

यह सुनकर सब हँस जाते। भगवान् के मन्दिर के पुजारी के समीप जाते और कहते—"पंडिज्जी पलसाद।" पुजारीजी तुरन्त एक पेड़ा दे देते आधा खाते और आधा उनके ऊपर फेंककर भाग आते। पुजारीजी कहते—"अरे! कनुआ! भैया! तू तो बड़ा ऊधम मचाता है, देख अब मुझे फिर स्नान करना पड़ेगा। ब्राह्मण के साथ श्यामसुन्दर भाँति भाँति की लीलाएँ करते। एक ब्राह्मण के साथ उन्होंने एक ऐसा अद्भुत क्रीडा की जिससे वह निहाल हो गया।

यशोदा मैया के पिता के एक वृद्ध पुरोहित थे, बड़े भगवद्भक्त थे, यशोदाजी को उन्होंने गोद में खिलाया था। जब उन्होंने सुना यशोदा के लाला हुआ है, तो महराने से लठिया टेकते टेकते गोकुल में आ पहुँचे। गोपों ने वृद्ध ब्राह्मण का बड़ा स्वागत सत्कार किया। यशोदा मैया ने जब सुना हमारे पीहर के पुरोहित आये हैं, तब उन्होंने बड़े आदर से उन्हें बुलाया। घर की कुशल क्षेम पूछा और कहा—"बाबा! अब तुम रसोई बना लो।"

वृद्ध ब्राह्मण बोले—"अरी, लाली ! अब क्या रसोई बनानी, आज ऐसे ही कुछ दूध पी लूँगा, कल देखी जायगी।"

आग्रह पूर्वक यशोदा मैया ने कहा—"नहीं, बाबा ! ऐसे कैसे हो सकता है। रसोई तो बनानी ही होगी। चौका बर्तन मैं किये देती हूँ, दूध को चूल्हे पर चढ़ाये देती हूँ, आप उसमें चावल डाल देना आटा मले देती हूँ, चार पूड़ी उतार लेना। पीछे उसी कढ़ाई में साग छौंक लेना।" मैया के बहुत आग्रह करने पर ब्राह्मण ने रसोई बनाना स्वीकार किया। अधौटा दूध की खीर बनी। टकौरादार पूड़ी, सुन्दर आलू मैंथी का साग सब सामग्री बनकर तैयार हो गयी। मैया ने यमुना जल का घड़ा रखते हुए कहा—"अब महाराज ! देरी मत करो बड़ी अबेर हो गयी है, लगाओ नारायण का भोग।"

ब्राह्मण ने खीर को थाली में फैला दिया, जिससे ठण्डी हो जाय। पूड़ियाँ रख दीं, शाक को एक कटोरा में रख दिया। सब पर तुलसीपत्र छोड़ दिये और नेत्र बन्द करके भगवान् का ध्यान करने लगे। ध्यान में वे कह रहे थे—"हे प्रभो ! आओ प्रसाद पाओ।" अब क्या था, भूखे भगवान् तो नन्द-भवन में ही विहार कर रहे थे। मैया दूसरे घर में चली गयी थीं, ब्राह्मण नेत्र बंद किये ध्यान कर रहे थे। इतने में ही बाल-गोपाल आकर खीर सपोटने लगे। दोनों हाथों से सुर्र-सुर्र करके सपोट रहे थे। ब्राह्मण का ध्यान भग हुआ। सोचा—"चूहा तो नहीं आ गया।" नेत्र खोलकर देखते हैं चार पैर का छोटा चूहा तो है नहीं, दो पैर का बड़ा काला चूहा सड़ासड़ खीर को सपोट रहा है। नेत्र खुलते ही खीर लगे हाथ और मुख से भगवान् भागे। इतने में ही यशोदा मैया आ गयीं। लालजी के हाथों को खीर में सने देखकर और मुख में लिपटी खीर को देखकर वे समझ गयीं, कि इस ऊधमी ने सब गुड़ गोबर कर दिया। पंडितजी की रसोई

जुठार दी। वे लालजी को मारने दौड़ीं। तुरन्त ब्राह्मण ने आकर मैया का हाथ पकड़ लिया और बोले—"यशोदा तोइ मेरी सूँ जो तैंने बालक पर हाथ छोडा। बच्चा ही जो ठहरा। बच्चों को बोध तो होता नहीं। कोई बात नहीं मुझे ऐसी इच्छा भी नहीं थी, अतिकाल भी हो गया था, अब कल बनाऊँगा। थोडा दूध पी लूँगा।"

अत्यन्त आग्रह-पूर्वक लज्जित होकर मैया ने कहा—"नहीं, बाबा! ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हें मेरी शपथ है, तुम न बनाओगे तो मुझे बड़ा दुःख होगा। मैं अभी तडाक फडाक चौका किये देती हूँ, दूध तो अधौटा रखा है, पास के चूल्हे पर खीर चढा दो। दूसरा पर पूडी उतार लो। शाक के लिये आपकी इच्छा, बनाओ चाहे मत बनाओ।"

ब्राह्मण ने कहा—"ना, बेटी! मुझे भूख नहीं है, अब मुझे यमुनाजी भी जाना है।"

मैया बोलीं—"भूख न सही, मेरे आग्रह से बना लो।"

ब्राह्मण क्या करते नन्दरानी के आग्रह को टाल न सके। फिर रसोई तैयार की। माता देखती रहीं वह उधमी कहीं फिर न आ जाय। श्याम अबके पलकिया पर सो गये। माता ने सोचा—"अच्छा है इसे जगाऊँगी नहीं। तब तक पडितजी प्रसाद पा लेंगे। इसलिये वे बोलीं—"बाबा! अब देरी मत करो। भोग लगाओ, प्रसाद पा लो। बडा अबेर हो गयी है।"

ब्राह्मण ने पुनः तुलसी छोडी घटी बजायी और नेत्र बन्द किये। अबके नेत्र तो बन्द किये, किन्तु ध्यान में वे ही बालगोपाल आने लगे तब तक घर में कुत्ता घुस आया। मैया कुत्ते को मारने और किवाड बन्द करने ज्यों ही गयीं, त्यों ही नटखट पलकिया से उठे और खीर को दोनों हाथों से सपोटने लगे। चार-चार पूड़ियों का गप्पा मारने लगे। आहट पाते ही ब्राह्मण

ने नेत्र खोले कि श्याम भोग लगा रहे हैं। खटका सुनते ही माता भी दौड़ी आयीं। अभी तक पूड़ियाँ गाल में ही थीं। कंठ के नीचे नहीं उतरी थीं। हाथ में खीर भर रही थी। माता ने चट आकर हाथ पकड़ लिया और पूड़ी भरे गाल पर एक चपत लगाती हुई बोली—"क्यों रे मेरे बाप! तू इतना ऊधमी हो गया है। ब्राह्मण को भी नहीं छोड़ता। भूखा ब्राह्मण बाघ से भी अधिक भयङ्कर होता है, तू जानता नहीं ब्राह्मण शाप दे देंगे।"

इतने में ही ब्राह्मण ने तुरन्त मैया का हाथ छुड़ाकर श्याम को गोदी में ले लिया और कहने लगे—"अरी, लाली! कोई बात नहीं है। मैं तो पहिले ही कह रहा था, मेरे भाग्य में आज भोजन नहीं है। बच्चे पर हाथ छोड़ना ठीक नहीं। अब तू मुझसे फिर बनाने का आग्रह मत करना।"

अत्यन्त ही लजाते हुए अपराधी की भाँति मैया ने कहा—"बाबा! अब मैं किस मुख से कहूँ, सब अपराध मेरा ही है, मैं छोड़कर चली गयी।"

ब्राह्मण ने अत्यन्त स्नेह से कहा—"अरी, यशोदा! तू ऐसी बात मत कहे। अपने मन को मैला मत करे। वृद्धावस्था में भूख बहुत कम लगती है। ला तू अभी दूध पीता हूँ। बेसन के चार लड्डू ले आ।"

यशोदा मैया ने दीनता के स्वर में कहा—"अजी, बाबा दूध लड्डू से क्या होगा। आपको तो कुछ नहीं, न भी खाओ तो भी रह जाओगे, किन्तु मेरा मन न भरेगा। अब मैं चौका बर्तन न करूँगी। बरोसी में दूध रखा है, उसी में चावल डाल दो। बस खीर ही बना लो।"

खीजकर ब्राह्मण ने कहा—"अरी, लाली मैं बूढ़ा आदमी हूँ, इतना परिश्रम अब मुझसे होता नहीं।"

मैया ने रिरियाकर कहा—"अजी, बाबा मैं तुम्हारे पैरों

पडती हूँ, उसमें परिश्रम कुछ नहीं होगा, चावल डालकर थोड़ा घी छोड दो। घी छोडने से दूध उफनता नहीं। खाली खीर ही बना लो।"

अब क्या करते, ब्राह्मण ने बरोसी के दूध में चावल डाल दिये। तब तक चोका भी लग गया। रोहिणी मैया ने एक चूल्हा भी जला दिया। दूसर घर मे जाकर मैया आटा माड लायीं। चार पूडी बेल लायीं। घी डालकर कढाई भी चढा दी। और बोलीं—"बाबा! खीर तो बन ही गयी है। चार पूडी और सेक लो, मेरे मन को सतोष हो जायगा।"

सब सामग्री तो तेयार ही थी, घी भी गरम हो गया था, पूडियाँ बिली बिलायी तेयार रखी थीं केवल कढाई में डालने की देरी थी। ब्राह्मण ने पूडी भी उतार लीं। मैया टैंटी, आम का अचार भी ले आयीं। अबके उन्होंने श्याम को एक घर मे बन्द कर दिया था और द्वार पर स्वय बेठ गयी थीं ब्राह्मण देवता बिना भोग लगाये केसे खाते। फिर नारायण का स्मरण किया। सयोग की बात रसोई घर में रोहिणी मैया रसोई बना रही थीं। शाक छोंकने के लिये उन्होंने कढाई मे घी डाल दिया, घी जलने लगा था, उनके हाथ, पूआओं के लिये जो बेसन फेंटा था उसमें सन रहे थे, अतः वहीं से चिल्लायीं– रानी! तनिक दौडकर मेथी तो दे जाना।"

मैथी उसी घर में बन्द थी, जिसमे मैया ने श्यामसुन्दर को बन्द कर रखा था। वे किवाड खोलकर तुरन्त भीतर गयीं। झट से मैथी निकालीं और दौडकर रसोई घर में पहुँचीं। शीघ्रता मे वे किवाडे बन्द करना भूल गयीं थीं। अब क्या था अवसर मिल गया ब्राह्मण ने अबके बडी परात मे खीर सीरी की थी, जिससे शीघ्र ठडी हो जाय। श्यामसुन्दर अबके खीर की परात मे ही

लाकर बैठ गये। सब कपडे खीर में सन गये दोनों हाथों से सपोटने लगे।

माता मैथी को घी मे डालकर शाक को कढाई में छौंककर ज्योंही आयी त्यों ही क्षीरसागरशायी खीर मे विहार कर रहे हैं। माता अत्यन्त खीज गयीं और श्याम के दोनो कान पकडकर बोली—"दारी के! आज मैं तुझे बिना मारे न छोडूँगी। तू इतना उपद्रव क्यों करता है?"

अबके श्याम ने कहा—"मैया! मेरा क्या दोष है?"

मैया ने क्रोध में भरकर कहा—"तेरा दोष नहीं तो क्या मेरा दोष है?"

श्यामसुन्दर बोले—"न तेरा दोष न मेरा दोष। दोष इन बाबा का ही है बार-बार रसोई बनाते हैं और आँख बन्द करके मुझे प्रेम से बुलाते हैं। जो कोई मुझे प्रेम से बुलाता है, तो मैं अवश्य ही वहाँ जाता हूँ।"

मैया ने खीजकर कहा—"अरे, ऊधमी! वे तुझे बुलाते हैं?"

भगवान ने कहा—"मैं ही इनका भगवान् हूँ।"

इतना सुनते ही ब्राह्मण के हृदय के पट खुल गये, उनकी दृष्टि दिव्य हो गयी, भगवान् को पहिचानकर उनके पैरों पडने लगे और श्याम की जूठी खीर को बड़े उल्लास और प्रेम के साथ खाने लगे।

माता अत्यन्त ही चकित होकर कहने लगीं—"हाय! बाबा! तुम यह क्या कर रहे हो? बच्चे की जूठी खीर खा रहे हो?"

ब्राह्मण बोले—"यशोदा! तू धन्य है जो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा को बेटा समझकर उनको गोदी मे खिलाती है डाँटती डपटती है, मुझ मूर्ख ने इन प्रभु को पहिचाना नहीं। हाय! मैंने कितना अपराध किया।" यह कहकर ब्राह्मण अत्यन्त प्रेम में भरकर रुदन करने लगे।

मैया ने समझा भूख के कारण ब्राह्मण बावरा हो गया है, तभी तो ऐसी अटसट बेसिर पैर की बातें बक रहा है। यह समझकर वह श्याम को गोदी में लेकर चली गयीं। ब्राह्मण भी उस दिव्य प्रसादी खीर को पाकर कृतार्थ होकर बार-बार नन्दजी के आँगन में लोटकर वहाँ की धूलि बाँधकर नन्दनन्दन के पाद-पद्मों में प्रणाम करके घर चला गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसी एक नहीं द्विजों के साथ श्रीहरि अनेक रसमयी क्रीडाएँ करने लगे। द्विजों के ही साथ ऐसी क्रीडा न करते जो द्विजों के कटक असुर हैं, उनके भी साथ ऐसी ही क्रीड़ा करते। द्विज रूप में जो असुर उत्पन्न हुए थे, उनकी भी छातियों पर चढ़कर उन्हें डरा धमकाकर उचित मार्ग पर लाने लगे। कभी श्यामसुन्दर पक्षियों को पकड़ लेते उनके साथ क्रीड़ा करते, अब आपके सब दाँत निकल आये हैं दूध के दाँत अब गिरने भी लगे हैं।

एक दिन रोटी खा रहे थे, कि एक दूध का दाँत उखड़ गया वे रोने लगे—"अम्मा! मेरा दाँत उखड़ गया है। अब क्या करूँ, दाँत तो बूढ़ों के उखड़ते हैं। मैं तो अभी से बूढ़ा हो गया।"

मैया ने कहा—"देख तू इस दाँत को दूध में रख दे, बड़ा होकर यह फिर तेरे मुख में उग आवेगा।" यह सुनकर आप उसे बड़े चाव से एक मिट्टी के बर्तन में दूध भरकर रखते और नित्य मैया से पूछते मेरा दाँत अभी बढ़ा नहीं। मैया कहतीं—"अरे, तू धीरज धर कुछ दिनों में दाँत उग आवेगा।" इस प्रकार जब भी दूध के दाँत उखड़ते उन्हें दूध में डालकर रख देते। उसके स्थान पर जब नये दाँत उत्पन्न हो जाते तो अत्यन्त प्रसन्न होकर उछल उछलकर कहते मेरा दाँत उग आया। फिर दूध में जाकर देखते। माता उसे घूरे पर गाड़ आतीं। कहतीं—"अब तो तेरे मुख में उग आया। अब इस बर्तन में कहाँ है।"

जब कोई गोपी कहती—"कनुआ ! तू तो बूढ़ा हो गया।" तब आप कहते—"मेरा दाँत दूध में बढ़ रहा है।" इस प्रकार का अनेकों बाल लीलाएँ करते हुए माता, पिता तथा व्रजवासियों को सुख देने लगे।

कभी-कभी नंगे पैरों काँटों में चले जाते। बबूर के बहुत से काटे तोड़कर उन्हें रेत में गाड़-गाड़कर उनकी खेती बनाते। मैया आतीं और कहतीं—"हाय ! कनुआ ! देख, तू इतने कांटे तोड लाया है, किसी के पैरों में लगेंगे। तेरे शरीर में छिद जायेंगे। तू इतना बड़ा हो गया फिर भी तुममें तनिक भी बुद्धि नहीं आयी।"

इस पर आप कहते—"माँ एक भी काँटा न रहने दूँगा। बीन-बीन कर सबको दूर फेंक दूँगा। नष्ट कर दूँगा। व्रज को निष्कंटक बना दूँगा। माता उनके भोलेपन पर हँस जातीं और काँटों को लेकर जलती हुई अग्नि में डाल देतीं। जब आप धूलि से खेलने लगते तो माता कहतीं—"तुझे धूल इतनी प्यारी क्यों है रे ! जब होता है तब धूल में ही लोटने लगता है।"

तब आप कहते—"मैया ! धूरि बड़ी कोमल होती है, ठण्डी-ठण्डी बड़ी अच्छी लगती है। बलदाऊ भी तो खेलते हैं। हम सब साथ खेलते हैं। इस धूलि से खेलने में मुझे बड़ा आनन्द आता है।"

माता श्याम के मुख से ऐसी भोली बातें सुनकर प्रेम में विभोर हो जातीं और बार-बार उनका मुख चूमतीं।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! माता बालकृष्ण के मुख को ही बार-बार क्यों चूमती थीं ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! वात्सल्य रस का प्रधान स्रोत मुख ही है दास्य रस का स्थान पैर है, सख्य के मुख्य रसास्वादन का स्रोत बाहुएँ बतायीं हैं और मधुर रस का प्रधान स्थान है

हृदय। इन इन रसों के आस्वादन कर्ता और आस्वाद्य परस्पर में इन-इन अंगों को सटाकर ही अपने-अपने रस का आस्वादन करते हैं। वात्सल्य स्नेहमयी माता अपने मुख को बच्चे के मुख से सटाकर वात्सल्य का अनुभव करती हैं। दास अपने स्वामी के चरणों को अपने अंगों से स्पर्श करके दास्यसुख का आस्वादन करते हैं। सखा अपने सखा को बाहुपाश में आबद्ध करके सख्यानुभूति करते हैं और मधुर रस के नायक नायिका के हृदय से हृदय सटाकर इस रससागर में स्नान करते हैं। माता यशोदा ने परब्रह्म को पुत्र बनाया था। उनके हृदय में ऐश्वर्य की गंध भी नहीं थी। कोटि लाख बार श्रीकृष्ण को परमात्मा कहो। उनकी बुद्धि में यह बात भरती ही नहीं थी। वह तो अपना साक्षात् पुत्र समझकर वात्सल्य रस का आस्वादन करतीं बार-बार बच्चे के मुख को चूमतीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने कुछ लीलाओं का संकेत किया अब श्रीकृष्ण ने जैसे मृद्भक्षण लीला की, उसका वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

कबहूँ घर की वस्तु लाइके बाहर खोवैं।
कबहूँ टूटे दाँत दिखावैं पुनि पुनि रोवैं॥
कबहूँ कटकाकीर्ण गैल महँ बरबस [illegible]।
माता लावैं पकरि नहीं आवैं [illegible]॥
बहुविधि लीला लालजी, ललित ललित [illegible]।
बजमहँ बसि बलदेव सँग, बजवासिन [illegible]॥

मृद्भक्षण लीला

[८७१]

एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः ।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ८ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

एक दिवस बल श्याम गोप बालनि सँग खेलें ।
यमुना तटपै जाइ दण्ड सब मिलिके पेलें ॥
पेलि पालिकें दड कदम तर गये कन्हाई ।
मीठी माटी निरखि दुबकि थोरी-सी खाई ॥
लखि बोले बलदेवजी, कनुआ ! माँटी खातु है ।
मैयातैं अबई कहूँ, अब तू बिगरयो जातु है ॥

पृथ्वी को गन्धवती कहा है । सब प्रकार की सुगन्धि दुर्गन्धि की उत्पत्ति पृथ्वी से ही होती है । जहाँ का जल मीठा होता है, वहाँ की मिट्टी भी मीठी होती है, जहाँ का जल खारा होता है, वहाँ की मिट्टी भी खारी होती है । मीठी मिट्टी में एक प्रकार का सौंधापन होता है तभी तो मिट्टी के पात्र में रखे जल का, दूध आदि का एक अद्भुत स्वाद हो जाता है । यह हमारा शरीर

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! एक समय श्री बलदेवजी तथा अन्य गोप कुमारों ने खेलते खेलते बीच में ही आकर माता यशोदा से कहा श्रीकृष्ण ने मिट्टी खाई है ।"

मिट्टी का ही बना है। इसमें आधा भाग मृत्तिका का है और आधे में जल, तेज, वायु और आकाश ये चार भूत हैं। इसकी स्थिति मृत्तिका से उत्पन्न अन्नादि से ही होती है और अन्त में यह मिट्टी में ही मिल जाता है। अर्थात् आदि मध्य और अन्त में यह मिट्टी ही मिट्टी है। जैसे मिट्टी के घर को सुरक्षित रखने को मिट्टी से ही लीपते पोतते हैं, वैसे ही इस मिट्टी के शरीर को सुरक्षित रखने के लिये हम जो भी खाते हैं मिट्टी ही खाते हैं। जब मनुष्य इस सत्य को भूल जाते हैं, तो भगवान् अवतार लेकर इस सत्य को लीला द्वारा प्रकाशित करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब श्रीकृष्ण सखाओं के संग खेलते-खेलते यमुना-तट तक चले जाते, वहाँ जाकर भाँति भाँति के खेल खेलते। अब तक वे बलदेवजी के साथ भी बिना सकोच अन्य गोप कुमारों के समान निर्भय होकर खेलते। अभी तक भान नहीं होता था, कि ये मुझसे बड़े हैं, मुझे इनका शील संकोच करना चाहिये। किन्तु एक घटना ऐसी घट गयी, कि उस दिन से ये बलदेवजी से संकोच करने लगे और शक्ति भर इनसे पृथक् रहकर ही क्रीडा करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह कौन-सी ऐसी घटना घटित हो गयी?"

सूतजी बोले—"महाराज! एक दिन सब सखाओं के सहित श्याम यमुना तट पर क्रीडा कर रहे थे। साथ में बलदाऊजी भी थे। घरुआ पाती, गुल्ली डडा आदि खेल होते रहे। अन्त में श्रीकृष्ण अकेले ही यमुनाजी के एक ढाह के नीचे चले गये। यमुनाजी की सुन्दर चिकनी मृत्तिका को देखकर मन मोहन का मन ललचा उठा। उन्होंने सुन्दर सी एक मिट्टी की ढेली उठाकर खानी आरम्भ कर दी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! नन्दबाबा के यहाँ दूध, दही,

मक्खन तथा मेवा मिष्ठान्न की तो कमी नहीं थी, भगवान् ने मिट्टी क्यों खायी ?"

इस पर सूतजी ने कहा—"अब महाराज ! भगवान् की बात तो भगवान् ही जानें। मेरी बुद्धि में तो यह बात आती है, कि भगवान् ने सोचा होगा, मुझे दूध दही बहुत प्रिय है, यह होता है गौओं के स्तनों से। गौएँ घास खाती हैं, तो दूध बनता है, घास होती है पृथ्वी से। जिस पृथ्वी से दूध की जननी घास होती है उसका स्वाद क्या है, इस बात को जानने के लिये भगवान् ने मृत्तिका खायी होगी। अथवा देवता जो भी आते हैं, व्रजरज की प्रार्थना करते हैं—"हमें व्रजरज की प्राप्ति हो।" भगवान् ने सोचा—"चाखें तो सही, इस व्रजरज में क्या माधुर्य है जो ब्रह्मादिक देवता भी इसके लिये तरसते हैं। अथवा भगवान् सोचते हैं लोग शरीर को तो मृत्तिका से शुद्ध करते हैं। मंत्र पढ़ते हैं—"मृत्तिके हर मे पाप यन्मया दुष्कृत कृतम।" किन्तु मेरे पेट में तो सभी सुकृत दुष्कृत भरे पड़े हैं। यह मिट्टी पेट में पहुँचकर क्या प्रभाव दिखाती है।" इसकी परीक्षा करने को मृत्तिका खायी, अथवा भगवान् ने सोचा—"हमारे लिये जैसा ही मक्खन का गोला वैसे ही माटी का ढेला। लाओ यमुनातट पर इस ढेले को ही खा लें। अथवा भगवान् यह दिखाते हैं, शरीर में भीतर बाहर माटी ही माटी है, हम जो खाते हैं, वह भी माटी है। अथवा यह गर्भवती स्त्रियाँ मिट्टी खाती हैं। इन्हीं के संस्कार बच्चों में शेष रह जाते हैं, इसलिये कुछ बच्चे बाल स्वभावानुसार मिट्टी खाते हैं। कुछ भी क्यों न हो, श्रीकृष्णचन्द्र जी ने मिट्टी खा ली।

बलदेवजी का तो श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य स्नेह था। बड़े लोग छोटों का विशेष ध्यान रखते हैं। जब बलदाऊजी ने देखा खेलने वाले में गोपकुमारों श्रीकृष्ण नहीं हैं, तो वे घबड़ाये और

इधर-उधर खोज करने लगे। यमुनाजी की ढाह के नीचे बलदेव जी ने देखा श्रीकृष्ण खड़े खड़े मिट्टी खा रहे हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। और गोपों ने भी देखा वे हँसने लगे। तब बलदाऊजी ने अपने ओठों पर उँगली रखकर उन्हे चुप रहने का संकेत किया। बालक सब चुप हो गये। उसी समय चुपके-चुपके पेरो की पैछर बचाकर बलदेवजी गये और पीछे से पट्ट हाथ पकड़ लिया और बोले—"कहो, कनुआजी! यह माल उड़ा रहे हो?"

श्रीकृष्ण तो सटपटा गये, भयभीत हो गये मुख मे मिट्टी भरी थी, कुछ कह नहीं सकते थे, हाँ ना भी नहीं कर सकते थे, चोर सेंद पर पकड़ा गया।

बलदेवजी ने दृढ़ता के साथ कहा—"आज मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं, मैया के पास ले चलूँगा। तुझे मिट्टी खाने की लत पड़ गयी तो तुझे भयंकर रोग हो जायँगे।"

श्रीकृष्ण के मुख से शब्द नहीं निकला। गोप ताली बजा-बजा कर हँसने लगे। संयोग की बात कि उसी समय देव पूजा के लिये स्वयं यशोदा मैया जल भरने आयी थीं। बलदेवजी श्याम को उनके ही समीप ले चले। श्रीकृष्ण डर रहे थे रो रहे थे अनुनय विनय कर रहे थे और हा हा खाकर बलदेवजी से प्रार्थना कर रहे थे कि गोपो ने पहिले ही दौड़कर यशोदा मैया से कहना आरम्भ कर दिया—"मैया मैया! कनुआ भैया ने आज माटी खायी है बलदाऊजी उसे पकड़ कर ला रहे हैं।" इतने में ही भगवान् को पकड़े हुए बलदेवजी वहाँ आ पहुँचे और अम्मा से बोले—"देख मैया! इस कनुआ ने आज अभी अभी मिट्टी खायी है।"

यह सुनकर मैया को बड़ी शंका हुई—"यदि अभी से इसे मिट्टी खाने की लत पड़ गयी तो इसे पांडु आदि रोग हो

जायँगे।" यही सोचकर उन्होंने कसकर श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ लिया और डाँटती हुई उपालम्भपूर्वक बोलीं—"कहिये लालाजी! आज आपने मिट्टी का भोग लगाया है?"

मुख लटकाये अपराधी की भाँति श्यामसुन्दर खड़े हो गये। माता ने कहा—"बोलता क्यों नहीं, खड़ा है गुम्म सुम्म मौनी बना। जो पूँछती हूँ, उसका उत्तर क्यों नहीं देता?"

रोते-रोते श्याम बोले—"क्या उत्तर दूँ।"

मैया ने कहा—"अहा हा! कैसे भोरे बन गये हैं, मानो अभी सुना नहीं। अच्छा तू यह बता, तैंने मिट्टी क्यों खायी है?"

कुछ टेढ़े होकर माता की ओर कनखियों से देखते हुए बोले—"मैंने कहाँ मिट्टी खायी है?"

माता ने कहा—"चोरी भी करता है, झूठ भी बोलता है। चोरी सीना जोरी, यह सब गोप कह रहे हैं।"

गोपों ने कहा—"हाँ, मैया! हमने अपनी आँखों से मिट्टी खाते देखा है।"

माता ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"बोल अब क्या कहता है।"

यह सुनकर कृष्ण अकड़ गये। बलदेवजी से तो संकोच करते थे। माता से तो कोई संकोच था ही नहीं दृढ़ता के स्वर में बोले—"अब तू मेरा तो विश्वास करती नहीं। इन झूठे गोपों की बात ही मानेगी। तुझे यह पता नहीं, आजकल ये मेरे बैरी हो गये हैं। खेल में इन्हें मुझे पट्टी देनी थी, ये देते नहीं मैं इनसे लड़ता था, इसलिये मेरी झूठी चुगली करके तुझसे पिटवाना चाहते हैं तू पीटेगी ये सब हँसेंगे।"

मैया ने कहा—"अच्छा ये सब तो तेरे बैरी हैं तेरा बड़ा भैया बलदेव तो तेरा बैरी नहीं है वह भी तो कह रहा है।"

रोकर श्याम बोले—"अम्मा! तू अब दाऊ की मत पूछे,

अब ये मुझसे उतना प्रेम नहीं करते मेरे विपक्षियों के पक्ष में मिल गये हैं।"

माता ने डाँटकर कहा—"और सब झूठे हैं, केवल तू ही साँचाधारी है। तैंने मिट्टी न खायी होती तो ये तुझे क्यों पकड़कर लाते ?"

यह सुनकर दृढता के स्वर में श्याम बोले—"मैया ! तू मेरी बात पर विश्वास कर मुझे इतना झूठा मत समझे। मैंने मिट्टी नहीं खायी, नहीं खायी, नहीं खाया। यदि तुझे मेरी बात पर विश्वास नहीं है, तू मुझे झूठा ही समझती है तो मेरे मुख को देख ले। इससे बढ़कर तो कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं।"

माता ने शीघ्रता के साथ कहा—"अच्छी बात है, दिखा तू अपना मुख।"

यह सुनकर तो श्याम की सिटिल्ली भूल गयी। घबड़ा गये मिट्टी तो खायी ही था, मुख में भी लग रही थी, परन्तु अब करते क्या मुख खोलना ही पड़ा।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"जब भगवान् को पता था, कि मेरे मुख में मिट्टी लग रही है, मैंने मिट्टी खायी है तो फिर भगवान् ने मुख दिखाने की बात कही ही क्यों। कोई बहाना बना देते। कहते—"अम्मा मुझे बड़ी प्यास लग रही है, कंठ सूख रहा है पानी पी लूँ तब तू मार लेना। ये ढाह बाँधकर रोने लग जाते, अपना अपराध स्वीकार कर लेते, कह देते अम्मा अब मैं नहीं खाऊँगा। या कह देते बलपूर्वक इन लोगों ने मेरे मुख में ठूँस दी है। यह सब न कहकर उन्होंने स्पष्ट क्यों कह दिया कि मेरा मुख देख ले।"

सूतजी बोले—"महाराज ! श्रीकृष्ण ने सचमुच मुख देखने को थोड़े ही कहा था। उन्होंने तो बन्दरघुड़की दी थी। उन्होंने सोचा यह होगा, कि जब मैं आत्मविश्वास के सहित दृढ़तापूर्वक

अपने मुख को दिखाने को कहूँगा, तो मैया मेरे प्रभाव में आ जायगी, सोचेगी—"इसने मिट्टी खायी होती तो इतनी दृढता के साथ मुख दिखाने को न कहता।-यही सोचकर कह देगी, 'अच्छा, जा फिर उपद्रव मत करना।' उन्हें क्या पता था कि माँ कह देगी 'अच्छा, दिखा मुख।' जब आज्ञा के विरुद्ध माता ने मुख दिखाने को कहा, तब तो लालाजी सिटपिटा गये।"

भगवान् को भयभीत देखकर उनकी ऐश्वर्य शक्ति ने सोचा—"अब मेरे स्वामी पर संकट आ गया है। माता का तो शुद्ध वात्सल्य भाव है, उसने मुख मे लगी मिट्टी देख ली तो बिना मारे छोडेगी नहीं। मिट्टी खाने से तो भयंकर रोग होते हैं, माता है हितैषिणी, इसलिये अब स्वामी की रक्षा करनी चाहिये। अतः उस मुख की मिट्टी मे ही सम्पूर्ण चराचर विश्व ऐश्वर्य शक्ति ने स्थापित कर दिया। छोटा सा बटुआ-सा मुख जिसमे नन्हें नन्हे चावल से स्वच्छ दाँत हैं, लाल वर्ण की चिकनी जिह्वा है—भगवान ने मुख फैला दिया। माता ने देखा बच्चे के मुख मे तो चल चित्रों की भाँति सम्पूर्ण विश्व दिखायी दे रहा है। दशों दिशाएँ, सम्पूर्ण भूलोक पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, नद, नदी, पर्वत, द्वीप, समुद्र, चन्द्रमा और तारागण के सहित निखिल ज्योतिर्मण्डल वैकारिक अहङ्कार के कार्य-सभी इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव और मन, राजस अहङ्कार की कार्यभूता इन्द्रियाँ तथा तामस अहङ्कार की कार्यभूता सभी तन्मात्राएँ एवं सत्व रज और तम ये तीनों गुण श्रीकृष्ण के मुख में दिखायी दिये।

माता ने देखा जीव, काल, कर्म, स्वभाव, आशय और भिन्न-भिन्न शरीरों के कारण विचित्र भेदवाला वह सम्पूर्ण विश्व मेरे लाल के मुख में दिखायी दे रहा है। माता यह देखकर और भी अधिक आश्चर्यचकित रह गयीं, कि उस मुख में सम्पूर्ण व्रज-मंडल भी दीख रहा है, समस्त ग्वाल, बाल, गोप गोपी तथा

गौएँ भी उसमें स्वच्छन्द विचरण कर रही हैं। स्वयं अपने को भी माता ने देखा, श्रीकृष्ण मुख फाड़े खड़े हैं, वह भी उसने मुख में निहारा। उस मुख वाले कृष्ण के मुख में भी अनन्त ब्रह्मांड दिखायी दे रहे हैं। उसमें भी श्रीकृष्ण हैं। माता यह सब देखकर बड़ी हक्की बक्की-सी हो गयी। वे निर्णय ही न कर सकीं कि यह बात क्या है। मेरे तनिक से छोरा के मुख में यह क्या अलाइ बलाइ दिखायी दे रहा है। मैया बार बार आँखों को मींडतीं, मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ। फिर सोचतीं—"स्वप्न तो यह है नहीं मेरी आँखें खुली हैं, मैं यमुना किनारे खड़ी हूँ। संभव है भगवान् की कोई माया हो, या मेरी बुद्धि में कोई भ्रम हो गया हो। कोई मादक वस्तु खाने से मुझे ही अटसट दिखायी देता हो, किन्तु मैंने तो कोई मादक वस्तु छुई तक नहीं। हो न हो इस मेरे लाल की ही कोई जन्मजात योगिसिद्धि हो, या किसी भूत प्रेत का इसमें आवेश हो गया हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दूसरी कोई माता यदि इस प्रकार अपने पुत्र के मुख में विश्व ब्रह्मांड को देखती, तो उसी समय पुत्र के पैरों पर पकड़कर उनकी घी गुड़ से पूजा करती, किन्तु ये तो अनन्य वात्सल्य रस की मूर्ति यशोदा मैया हैं। इन्हें तो यह अलाइ बलाइ दिखायी दी। तनिक-सी शंका अवश्य हुई कि कहीं मेरे बालक में ही यह कोई जन्मजात योग-सिद्धि तो नहीं है। फिर माता ने सोचा—"जो भी कुछ हो यह सब भगवान् की कोई लीला है। इसलिये भगवान् की स्तुति से ही यह सब ठीक हो जायगा। यही सोचकर वे हाथ जोड़कर स्तुति करने लगीं—"जो भगवान् चित्त से मन से वाणी तथा कर्म से भली भाँति नहीं जाने जा सकते, जिनमें यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड अवस्थित है, इन्द्रियाधिष्ठता और बुद्धि के प्रेरक द्वारा जिसकी प्रतीती होती है, उन अचिन्त्य शक्ति परब्रह्म परमात्मा को मैं प्रणाम

करती हूँ, जो परम पद हैं। यह सम्पूर्ण संसार जिनकी माया के वशीभूत होकर व्यवहार कर रहा है। मैं भी जिनकी माया से मोहित होकर यह अनुभव करती हूँ, कि गोरे मोटे शरीर वाली यह मैं हूँ। ये व्रज के राजा मेरे पति हैं, यह कृष्ण मेरा पुत्र है, मैं सम्पूर्ण व्रज के राजा व्रजेश्वर की निखिल सम्पत्ति की स्वामिनी धर्मपत्नी हूँ। ये समस्त व्रज के गोप-गण, गोपियाँ तथा जितनी भर गौएँ हैं, ये सब मेरे ही अधीन हैं। वे ही विश्वम्भर भगवान् मेरी एकमात्र गति हैं, जिनकी माया से मुझे मैं मेरा तू तेरा इस प्रकार की कुमति ने घेर रखा है, वे ही मुझे मोह पाश से छुड़ावें।"

भगवान् ने जब माता की ऐसी उच्च तत्वज्ञानी की बातें सुनी, तो वे घबड़ा गये—"अरे, मेरी माता कहीं मूड मुड़ाकर जोगिनी बनकर इस संसार को असार मानकर समाधि में स्थिति हो गयी, तो सब गुड गोबर हो जायगा। मेरी लीला ही समाप्त हो जायगी, कौन मुझे दूध पिलावेगा। कौन छड़ी लेकर डॉट डपट करेगा। उन्होंने देखा ऐश्वर्य शक्ति ने तो बीच में पड़कर बड़ा गडबड घुटाला कर दिया। तुरन्त भगवान् ने ऐश्वर्य शक्ति को डॉटा और रुखाई के साथ बोले—"अभी तू यहाँ से भाग जा।" ऐश्वर्य शक्ति मारे डरके सिर पर पैर रखकर भीगी बिल्ली की भाँति वहाँ से भागी। तब भगवान् ने अपनी वैष्णवी माया को बुलाया, जिसमें पति, सखा, पुत्र तथा स्वामी आदिका नित्य सम्बन्ध है। उससे भगवान् ने कहा—"तू मेरी माता के हृदय से क्यों भाग गयी, तू उसके हृदय पर प्रभाव डाल।"

भगवान् की आज्ञा पाते ही पुत्र स्नेहमयी वैष्णवी माया ने माता के हृदय पर अधिकार जमा लिया। उसके प्रभाव जमाते ही माता तुरन्त उस दृश्य को भूल गयी। हाथ से लकडी फेंक दी और लालाजी को गोद मे लेकर बार बार उनका मुख चूमती

हुई पुचकारती हुई बोली—"मेरा कनुआ राजा बेटा है। ये सब लड़के बड़े धूर्त हैं। बलदाऊ भी धूर्त है। मेरे छोटे-से बच्चे को झूठे ही अपराध लगा रहे हैं। मेरे घर में माखन मिश्री की कुछ कमी है क्या? मेरा बच्चा क्यों मिट्टी खायगा। कहने वाले खायँ। चल भैया घर चलकर दूध मलाई खा।" यह कहकर श्याम को माता गोदी में उठाकर ले गयीं। अब उन्हें वे सब बातें विस्मरण हो गयीं श्याम को हृदय से लगाते ही प्रेम की बाढ़ सी उमड़ने लगी। वह जैसे पहिले श्रीकृष्ण को अपना छोटा-सा बच्चा समझती थीं, वैसे ही समझने लगीं। ब्रह्माण्ड दर्शन की बात वे स्वप्न के समान भूल ही गयीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तीनों वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग और भक्तजन जिनके सुयशका निरन्तर गान करते रहते हैं, वेद भी जिनके भेद को न जानकर नेति नेति कहकर चुप हो जाते हैं, शेष शारदा भी जिनके गुणों का अपार ऐश्वर्य का अब तक पार नहीं पा सकते उन अखिल कोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीहरि को मैया यशोदा अपना पुत्र करके मानती हैं। उन्हें डाँटती डपटती हैं, उनके दुःख सुख का सदा ध्यान रखती हैं, यह कैसे आश्चर्य की बात है। जिनकी महिमा का पार नहीं। असंख्यों ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिनकी श्वास प्रश्वास में से उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं, जिनके भय से वायु चलती है—सूर्य चन्द्र प्रकाश प्रदान करते हैं, वे ही सर्वेश्वर गोपी, यशोदा के सम्मुख भय के कारण थर-थर काँपते हैं भगवान् की कैसी भक्तवत्सलता है, वे अपने अनुगतों के हाथों बिके हैं, उन्हें सुख देने के लिये अपने अपार ऐश्वर्य को भूल जाते हैं, छोटे से अबोध बालक बन जाते हैं।"

ऋषियो! महावन गोकुल के पास यमुना तट पर जहाँ भगवान् के मुख में माता को ब्रह्माण्ड के दर्शन हुए और जहाँ

भगवान् ने माटी खायी यह घाट अबतक ब्रह्माण्ड घाट के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ की मिट्टी अब तक बड़ी मीठी होती है और यात्रियों को प्रसाद में वही मिट्टी दी जाती है। बोल दे माटी खाने वाले गोपाल की जय।"

छप्पय

(१)

यों कहि पकरे श्याम राम माता ढिंग लाये।
डरे मातुकूँ देखि कमल नयननि जल छाये॥
पूछे माता कहो श्याम क्यों माटी खाई।
बोले नटवर तनिक न खाई माटी माई॥
नहिँ पतिआवे देखि मुख, दै दिखाइ फारयो बदन।
सुत मुखमहँ माता लखे, तीन लाक चौदह भुवन॥

(२)

लखि मुख महँ ब्रह्माण्ड गोप गोपीपति ब्रजकूँ।
निरखत पकरे श्याम अकबकी ठाढ़ी निजकूँ॥
जगदीश्वर की शरन गई तारी-सी लागी।
ब्रह्मज्ञान की बात करे ममता सब भागी॥
पुत्र स्नेहमयी तुरत, माया फेरी श्याम जब।
फिर कनुआ कहिवे लगी, भूली मुख की बात सब॥

माखनचोरी लीला

[८७२]

कालेनाल्पेन राजर्षे ! रामः कृष्णश्च गोकुले ।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥
ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः ।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८ अ० २६,२७ श्लो०)

छप्पय

वय जब कछु कछु बढ़ी नन्दलालाकी थोरी ।
सीखी विद्या प्रथम दही माखन की चोरी ॥
सङ्ग सखा सब लिये खेलिबे घर पर जावें ।
कहें माखन दधि धर्‌यो सैन तें ताड़ लगावें ॥
भाभी कहि भौंपै भवन, कहै नई पहिनी चुरी ।
बतियाँ बोले मधुर अति, मुख मिश्री हियमहँ छुरी ॥

एक बार जिस काम को करने मे रसानुभव हो और उसे पुनः-पुनः करने की टेव पड जाय, उसके बिना रहा न जाय, उसे

---

* शुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"हे राजर्षि ! अल्पकाल मे ही राम और कृष्ण घुटुओ का सहारा छोडकर गोकुल मे पैरो के ही बल सरलता से चलने फिरने लगे। तदनन्तर भगवान् कृष्ण बलरामजी के सहित तथा अन्यान्य समवयस्क व्रज के बालको को साथ लेकर आनन्द के साथ खेलने लगे।"

व्यसन कहते हैं। कोई व्यसन अपनी प्रेरणा से होता है, कोई पर प्रेरणा से। दूसरों को सुख देने के लिये भी कार्य किये जाते हैं। भगवान् तो आप्तकाम हैं, उन्हें न कोई इच्छा है न व्यसन, किन्तु भक्तों को सुख पहुँचाने के लिये व्यसन लिप्त-से दिखायी देते हैं। वास्तव में तो वे निरीह हैं। इच्छा तो वह करे जिस पर कोई वस्तु न हो, किसी वस्तु की कमी हो। भगवान तो सबके जनक हैं, वे कोई इच्छा करते हुए से भी दिखायी दें, तो समझना चाहिए, वे केवल भक्तों को, अपने आश्रित जनों को सुख देने के ही लिये क्रीड़ा कर रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब श्याम चार पाँच वर्ष के हो गये। बालकों के साथ स्वच्छन्द विहार करने लगे। पहिले उन्हें जितनी ही माता की गोदी प्यारी लगती, अब उतनी ही क्रीड़ा प्यारी लगने लगी। संग में सैकड़ों गोपकुमार खेलने आ जाते, द्वार पर, गोष्ठ में, चौपाल के पीछे तथा यमुना तट पर वे खेलते। उनका सौन्दर्य माधुर्य प्रति पल बढ़ता रहता था। जो नर-नारि उनकी एक बार झाँकी कर लेते वे निहाल हो जाते। भोरेपन के साथ चंचलता और लड़कपन सोने में सुगन्धि का काम करते हैं। उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य सौष्ठव फूट-फूटकर निकलता रहता, गोपियाँ झुण्ड-की-झुण्ड उस रूप माधुरी का पान करने आतीं, उनके हाथों बिना मोल बिक जातीं, उन्हें देखती की देखती ही रह जातीं बिना काम के भी विविध बहाने बना-बनाकर वे नन्द भवन में आतीं और वहाँ श्याम रूपासव का पान करके अकी-सी, जकी-सी, भटकी सी, पगली-सी, खड़ी-की-खड़ी रह जातीं। यशोदा मैया मन-ही-मन सिहातीं, बार-बार अपने लाल के ऊपर बलि-बलि जातीं।"

श्याम खेल खालकर दौड़े-दौड़े आते। मैया का अंचल पकड़ कर कहते—"मैया! भूख लगी है।"

माता अत्यन्त स्नेह से मुख चूमकर कहतीं—"बेटा ! दूध पीले, मेवा मिष्ठान्न खाले। बोल, क्या खायेगा ?"

आप कहते—"मैया ! मुझे तो माखन चाहिये।" माँ तुरन्त माखन देतीं। रोटी पर रखकर माखन को मट्ट-मट्ट करके खा जाते। उस खाने की छवि को देखकर गोपियाँ निहाल हो जातीं और आँखों में आँसू भरकर मन ही मन मनातीं—"हे सर्वान्तर्यामी हरि ! कभी श्याम हमारे भी आँगन में आकर इस प्रकार माखन खायेंगे। कभी हमसे भी ऐसी मधु में सनी मीठी-मीठी बातें करेंगे, कभी हमें भी अपने सुखद स्पर्श से निहाल करेंगे। भगवान् का प्रादुर्भाव तो भक्तों के सुख के ही लिये होता है। गोपियों के झुण्ड के झुण्ड नन्द-भवन में आते। यशोदा मैया सभी का आदर सत्कार करतीं, उसी समय श्याम झूठा रोष दिखाकर, बनावटी आँसू बहाकर, पैर फटकारकर, माता का अंचल पकड़कर अपनी चंचलता दिखाते, दही माखन माँगते। दही खट्टा होने पर पात्र को फोड़ देते। बिगड़ जाते रो जाते, माता की चोटी पकड़कर लटक जाते। ऐसे खेलों को देखकर गोपाङ्गनाएँ निहाल हो जातीं, अपने आपको भूल जातीं और चाहतीं कृष्ण हमसे भी कभी ऐसे रार करेंगे ? कृष्ण कभी हमें भी अपनावेंगे ? इधर गोपियों की उत्कंठा बढ़ रही थी उधर भगवान् की भक्तवत्सलता उमड़ रही थी। दोनों के ही जब बाँध टूट गये, तब माखनचोरी लीला आरम्भ हुई।

प्रेम सम्बन्ध दोनों ओर से होता है, जिसे हम प्यार करते हैं, वह हमें प्यार न करे यह असम्भव है। जान में, अनजान में प्रेम कैसे भी करो, प्रेम छिपता नहीं। कस्तूरी की गन्ध को और प्रेम के सम्बन्ध को दुराय के राखो, तो भी प्रकट हो ही जाता है। मन तो एक ही है, हम जिसे मनसे चाहे, तो वह बिना चाहें रह ही नहीं सकता। चेतन्य प्राणी के भीतर तो हृदय नामक एक

कोमल वस्तु रहती है, प्रेम तो पाषाण आदि जड को भी पिघला देता है। गोपियाँ समझती थीं यह कृष्ण कितना मोहक है, कितना भोरा है, कितना चचल है, इसकी प्रत्येक चेष्टा में कितना आकर्षण है, हम मनसे इसे कितना चाहती हैं, कितना प्यार करती हैं, किन्तु यह हमारी ओर देखता तक नहीं। हमें जानता भी न होगा, यहाँ माता के सामने हम इससे बोल नहीं सकतीं, इसे हृदय से चिपटाकर प्यार नहीं कर सकतीं। हमारे घर यह आने ही क्यों लगा। हम कगालिनी ठहरीं यह राजा का पुत्र है, प्यार करें तो कैसे करें। भोजन, भजन और प्रेम तो एकान्त में ही भली भाँति व्यक्त होता है एकान्त से कान्हा को कहाँ पावें। जिस प्रकार व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण से ऐकान्तिक मिलन को व्याकुल थीं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी उनसे मिलने को छटपटा रहे थे। मैया उन्हें जाने नहीं देती थीं। खेलने तो वे जाते थे, किन्तु गोपियों के घर मे नहीं जाते थे।

मैया चाहती थीं, मेरा लाल यथेष्ट दूध पीवे, माखन कम खाय, क्योंकि अधिक माखन खाने से भूख मर जाती है, अधिक दूध पीने से बल बढता है। श्याम को माखन अधिक प्रिय था, माता दूध अधिक पिलाना चाहती थीं, इस प्रकार दोनों के बीच में इस विषय पर मतभेद था दूध पीने के डर से श्यामसुन्दर सवेरे ही सो जाते, माता सोते ही सोते गोदी में बिठाकर सुन्दर केशर मिश्री डाला हुआ दूध पिला देतीं। नींद में होते तब तो पी जाते यदि जाग पडते तो पात्र को लेकर फेंक देते। माता अनेक प्रकार की कहानी सुनाकर श्याम की दूध पीने मे रुचि उत्पन्न करतीं, कहतीं—"कनुआ! देख, बलदेव की चोटी कितनी बडी है, तेरी बहुत छोटी है। छोटी इसलिये है कि तू दूध नहीं पीता। यदि चार समय तक तू एक एक कटोरा दूध पीने लगे तो तेरी चोटी भी ऐडी तक लटकने लगे।" इस चाव से श्याम दूध पीते

और चोटी को देखते जाते और माँ से पूछते—"अम्मा ! मेरी कुछ चोटी बढी ?"

माँ कहतीं—"अरे, लल्लू ! तू तो बावरा है। एक दिन मे ही थोडे बढ़ जायगी। कुछ दिन पी फिर देखना।"

दो चार दिन दूध पीते चोटी न बढती तो दूध पीना छोड देते। फिर माँ कहतीं—"देख, दूसरे बच्चे कैसे सुन्दर हैं, तू काला कलूटा है, भूरी गाय का दूध पीवे तो तू भी गोरा हो जायगा।" दो चार दिन इस लोभ से पीते फिर अपने रंग को बदला हुआ न देखकर दूध पीना छोड देते और माता से मक्खन देने का आग्रह करते। माँ प्रातःकाल तो टटका हाल का निकला सद मक्खन दे देतीं, किन्तु जब बार-बार माँगते, तो कह देतीं—"मक्खन हर समय नहीं खाते।"

प्रकृति का नियम है, जिसके लिये मना करते हैं, उसके लिये इच्छा और बढ़ती है। अभाव में वस्तु के प्रति आकर्षण अधिक होता है। एक दिन श्याम प्रातःकाल उठते ही मक्खन के लिये आग्रह करने लगे। माता ने एक बार दे दिया, उसे खा गये, फिर दुबारा माँगा माता ने दुबारा दे दिया, तिबारा माँगा तब कह दिया—"अधिक मक्खन खाने से पेट मे मक्खन की कीच हो जाती है बेटा।"

अब क्या करते श्याम मन मारकर रह गये। माता ने श्यामा गौ का अधौटा दूध मिश्री डालकर दिया। लालाजी ने उठाकर बेला फेंक दिया बोले—"मैं नहीं दूध पीता।"

माता ने छाती से चिपटाकर पुचकार कर कहा—"हाय, बेटा ! दूध को नहीं फेंकते हैं। दूध का भूमि पर गिराना बड़ा अशुभ होता है। ऐसे दूध गिरावेगा तो तुझे बड़ीबहू मिलेगी वह तुझे मारा करेगी।"

इस पर रिस में भर कर श्यामसुन्दर कहते हैं—"बहू

भले ही बड़ी आवे किन्तु मैं दूध नहीं पीऊँगा।" माता भाँति-भाँति से मनाकर खीर खिलातीं। दूध की खुरचनी श्याम माँगते तो माता कहतीं—"देख, लाला खुरचनी खायगा, तो मेरे विवाह में आँधी आवेगी।"

इस पर श्याम कुपित हो जाते। मैया खुरचनी भी नहीं देती। पेट भर के माखन भी नहीं खाने देती। अच्छी बात है, मैं माँ से छिपकर खाऊँगा।"

एक दिन मैया दही बिलोकर मक्खन के लौंदा को कठौरी में रखकर किसी काम के लिये बाहर गयीं। श्याम तो ताड़ लगाये हुए थे, आज वे जागते हुए भी शैया पर पड़े पड़े सोने का स्वाँग रच रहे थे। मैया ने सोचा—"अच्छा है यह ऊधमी अभी तक आज उठा नहीं, नहीं तो मुझे काम न करने देता। वे ज्यों ही कमोरी को रखकर बाहर गयीं त्यों ही श्याम चुपके से उठे। कमोरी नीचे ही रखी थी, उसमें हाथ डालकर एक गफ्फा मारा। श्रीकृष्ण यह देखकर चकित रह गये, कि आज के मक्खन में अपूर्व स्वाद है, उन्हें ऐसा लगा मानों आज तक मैंने इतना स्वादिष्ट मक्खन कभी खाया ही नहीं। उसी समय उनके मन में यह बात बैठ गयी कि चोरी का माखन अत्यन्त स्वादिष्ट होता है। दूसरा गफ्फा मारने ही वाले थे, कि मैया आ गयीं। मैया ने खटर पटर का शब्द सुना तो समझीं बिल्ली घर में घुस गयी, किन्तु घर में तो काला बिलौटा घुसा हुआ माखन का भोग लगा रहा था। मैया ने पूछा—"कौन है ?"

अब तो लालाजी की सिटिल्ली गुम। घबड़ा गये। शारदा ने देखा—"अब तो बात बिगड़ रही है मेरे स्वामी पर मार पड़ेगी।" अतः वह छिपकर आकर भगवान् की जिह्वा पर आ बैठी।"

भगवान् तुरन्त बोले—"कोई नहीं, मैया मैं हूँ।"

मैया समझ गयीं यह कुछ ढूँढ रहा है पूछा—"कौन है

कनुआ तू यहाँ क्या खटर-खटर कर रहा है ? मक्खन की कमोरी में हाथ क्यों डाल रहा है ?"

श्रीकृष्ण मुँह लटकाकर बोले—'मया ! तुझे मेरे दुःख सुख की तो चिंता नहीं रहती। मुझे ये पद्मराग मणि के कटक हाथ मे पहिना दिये हैं ! इनसे मेरे हाथ गरम हो गये उन्हें मक्खन की ठडी ठडी कमोरी में रखकर ठटा कर रहा हूँ।"

मैया ने कहा—"अच्छा तेरे गालों पर मक्खन क्यों लगा है ?"

श्याम बोले—"मैं मक्खन मे हाथ दिये था अनजान में मेरी उँगली छू गयी। उसी समय मेरा गाल खुजाने लगा। खुजाते समय लग गया होगा।" माता को स्वप्न मे भी ध्यान नहीं था, मेरा बच्चा चोरी करेगा, उन्होने श्याम की बात मान ली बात तो समाप्त हो गयी, किन्तु श्रीकृष्ण की जिह्वा चोरी के माखन को खाकर लपलपाने लगी। उन्होंने निश्चय कर लिया आज से चोरी का ही माखन खाना। चोरी के माखन में जो स्वाद है, वह माता के दिये हुए में नहीं है।"

एक दिन मया ने कोई वस्तु लेने श्रीकृष्ण को एक अपनी पडोसिनी के समीप भेजा। श्रीकृष्ण उसके घर में गये। वह उनकी मौसी लगती थी सयोग की बात कि उस समय वह दही बिलोकर किसी काम से बाहर गयी थी। मौसी के घर में कोई रोक टोक तो होती ही नहीं। खिरकी खोलकर श्याम घर मे घुस गये। उन्होंने देखा मट्ठे की मथानी मे रई पडी है। समीप की कमोरी में तनिक से पानी मे माखन का लौदा पडा है। जिसे जिस वस्तु का व्यसन होता है, उसे वह व्यसन की वस्तु एकान्त मे मिल जाय तो फिर उस पर रहा नहीं जाता उसका उपभोग करने को उसका चित्त चचल हो उठता है। श्रीकृष्ण ने देखा टटका हाल का निकला सद माखन रखा है। उन्होंने इधर उधर

दृष्टि दौड़ाई, घर मे कोई नहीं था माखन का लौंदा उठाया। एक गफ्फा मारा। श्रीकृष्ण के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। घर के माखन से इस माखन मे लाख गुना स्वाद है। अब उन्हें निश्चय हो गया, कि हाथ से दिये हुए से चोरी का माखन स्वादिष्ट होता है। मक्खन गालो में ही भरा था, गोपी आ गयी, माखन खाते हुए दूर से उसने श्यामसुन्दर को देख लिया। वह तो निहाल हो गयी। मन चाही अभिलाषा पूरी हुई। कब से वह यह बात मना रही थी, अन्तर्यामी प्रभु ने उसकी इच्छा पूरी की। कहीं मेरे भीतर जाने से श्याम सकुचा न जायँ इसलिये ठिठक गयी। चोर का हृदय तो बहुत दृढ़ होता है तभी तो वह साहस करके सबके सोते हुए घर मे घुस जाता है, किन्तु उसके पैर निर्बल होते हैं, तनिक-सी पैछर पाते ही उखड जाते हैं। श्याम सुन्दर ने कनखियो से देख लिया मौसी आ रही है। उसी समय रई उठाकर बड़े वेग से 'हट हट' करके दौड़े, एक मिट्टी के बर्तन में रई मार भी दी बर्तन फूट गया। गोपी हँसते-हँसते लोट पोट हो गयी। घर मे आकर बोली—"कनुआ कनुआ ! क्या बात है ?"

आप भोरी सी सूरत बनाकर बोले—"मौसी ! अभी एक बडी भारी बिल्ली आयी, तू तो ऐसे ही घर को छोडकर चली जाती है, वह तेरे मक्खन के लौंदे को उठाकर भागी, मैं रई ले कर उसके पीछे भागा, किन्तु वह झट से खूँटी पर चढ़कर छप्पर फाडकर भाग गयी।"

हँसकर गोपी ने पूछा—"लल्ला ! बिल्ली थी, कि बिलौटा था ?"

आप शीघ्रता से बोले—"अब, मौसी ! बिल्ली बिलौटा की पहिचान तो तुझे होगी मैं तो बालक ठहरा। मैं तो जानता नहीं

बिल्ली बिलौटा में क्या अन्तर है, मैं तो सबको बिल्ली ही जानता हूँ।"

गोपी ने पूछा—"उस बिलौटा के भैया ! दो पैर थे या चार।"

हँसकर श्याम बोले—"अब, मौसी ! पैर तो मैंने गिने नहीं। मैं समझता हूँ दो पैर होंगे दो हाथ होंगे।"

गोपी ने कहा—"अच्छा, बिल्ली बिलौटा की बात छोड़ दे, तू माखन खाले।"

मुँह बनाकर श्यामसुन्दर बोले—"मौसी ! मुझे तो माखन की गन्ध भी नहीं भाती। मेरी मैया से नित्य ही मेरी इसी विषय पर रार होती रहती है। वह कहती है माखन खाले, मुझे माखन अच्छा नहीं लगता। मैया ने तुझे अभी बुलाया है।" यह कह कर वे तुरन्त भाग गये। गोपी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा।

अब श्याम ने निश्चय किया, कि ब्रज में सब गोपियों के घर-घर मक्खन की चोरी करनी चाहिये। चोरी का माखन खाना चाहिये। अकेले खाने में स्वाद भी नहीं आता, अतः एक समिति का सगठन करना चाहिये। संगठित कार्य सुचारु रीति से होता है अतः एक दिन यमुना तट पर उन्होंने अपनी एक गुप्त सभा बुलायी। बलदाऊजी को उसमें नहीं बुलाया। सर्वप्रथम श्याम ने अपनी बड़ी टोपी उतारी। उस टोपी के भीतर पत्ते में बँधे दो माखन के लौंदे थे। श्याम इस युक्ति से बालों में छिपाकर उन नवनीत के लौंदों को लाये, कि किसी को सदेह ही न हो। समिति के जितने सदस्य थे, सबको तनिक तनिक मक्खन बाँटा और सब से कहा—"इसे खाओ।"

सबने मक्खन खा लिया। फिर श्रीकृष्ण ने पूछा—"धर्म से कहो, ऐसा माखन तुमने पहिले कभी खाया है ?"

सबने एक स्वर से कहा—"नहीं, हमने ऐसा मक्खन आज

तक नहीं खाया। इसमें भैया क्या विशेषता है इसे और बता दो।"

श्रीकृष्ण बोले—"इनमें भैया, यही विशेषता है, कि यह है चोरी का माखन। चोरी का माखन जितना स्वादिष्ट होता है, उतना स्वाद वैसे माखन में कहाँ? यदि तुम लोग मेरे कहने में चलो, मेरी बात मानो तो ऐसा माखन नित्य ही तुम्हें पेट भर के मिला करेगा।"

सबने एक स्वर में कहा—"कनुआ भैया! तू जो कहेगा हम वही करेंगे। ऐसा माखन तू हमें नित्य खिलाया कर। यह विद्या तैंने कहाँ से सीखी?"

श्रीकृष्ण बोले—"अरे, मैं यह सब माता के पेट से ही सीखा हुआ पैदा हुआ हूँ। तुम लोग किसी से कहना मत। सब मेरे कहने में रहना। तुममें से हम किसी के घर चोरी करने जायँ, तो अपने घरवालों से भी मत कहना। मैं जो कहूँ उसी को करना। यदि हम कभी पकड़े भी जायँ तो घरवालों का पक्ष न लेकर हमारा ही पक्ष लेना।"

सबने कहा—"हाँ, भैया! हम तो तुझे अपना नेता मानेंगे। तेरे ही आदेशों का पालन करेंगे। अपने अपने घरों का भेद बतायेंगे सब बात समझावेंगे। कहाँ माखन रहता है, अम्मा कब घर से बाहर जाती है।"

श्रीकृष्ण बोले—"हाँ, भैया यह तो अत्यन्त आवश्यक है, बिना घर के भेदिया के चोरी हो ही नहीं सकती। चोरी के लिये कोई जानकार भेदिया आवश्यक होता है।"

सखाओं ने कहा—"अरे भैया, पकड़े गये तब?"

भगवान बोले—"पकड़ कैसे जाओगे भाई! पकड़े तो तब जा सकते हो, जब तुम्हारे बीच में मैं न रहूँ। जब मैं तुम्हारे साथ हूँ, तब तो तुम्हें किसी बात की चिन्ता करनी ही न चाहिये। मैं

सब कुछ सम्हाल लूँगा। तुम सब मेरे ऊपर विश्वास करो।"

सबने कहा—"भैया! हमें तेरे ऊपर पूर्ण विश्वास है। अच्छा बुरा, स्याह-सफेद, तू जो भी करेगा, हमें तनिक भी आपत्ति न होगी। तेरी हाँ में हाँ हम मिलाते रहेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार माखनचोरी समिति की स्थापना हुई, उस समिति से शिखामणि सभापति सर्व-सम्मति से श्यामसुन्दर चुने गये। सबने उनके ऊपर अपना विश्वास प्रकट किया और उन्हें सबने सर्वाधिकार समर्पित कर दिये। अब जिस युक्ति से माखन, दही दूध आदि रस चुराये गये, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

चोरीके सब साज सजे सङ्गी शिशु कीहें।
भेद लगावें कछू कछू इत उत करि दीन्हें॥
कछू बहानों करें सरलता मुखपै लावें।
इत उत बात बनाइ श्याम घरमाँहिं घुसावें॥
चोर कलामहँ निपुण अति, नन्दनँदन घनश्याम हैं।
चोरे मन, माखन मदन, मोहन शोभाधाम हैं॥

गोपियों का उपालम्भार्थ गमन

(८७३)

कृष्णस्य गोप्यो रुचिर वीक्ष्य कौमारचापलम् ।
शृण्वत्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

भोरो बदन बनाइ बिहँसि घरमहँ घुसि जावें ।
चाची भाभी कहें प्यारतें गहकि बुलावें ॥
यदि देखें नहिं डोल लौटिके पुनि पुनि आवें ।
जब घर सूनो लखे चोरि दधि माखन खावें ॥
गोपी अति उत्सुक रहहिं कथा कृष्णकी ही कहहिं ।
मागहिं विधितें सतत वर, कब हरिकी साँसति सहहिं ॥

प्रेम की भाषा का अर्थ न शब्दों से जाना जाता है न कार्यों से, वह भावगम्य है। हृदय ही उसका अर्थ समझ सकता है। प्रेम की भाषा का उलटा ही अर्थ होता है। प्रेम के कार्यों का विपरीत अर्थ होता है। गाली देना बुरी बात है, किन्तु ससुराल की गालियों में-प्रेम की गालियों में-कितना आनन्द भरा रहता है। बिना प्रेम के बच्चे की ओर तनिक आँख निकाल दो, रो

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण का अत्यन्त रुचिर बाल चापल्य देखकर ब्रज की गोपियाँ माता यशोदा के समीप आकर उनको सुना सुनाकर इस प्रकार उलाहना देने लगीं।"

जायगा, डर जायगा किन्तु प्रेम से उसके चपत लगाओ, कितना प्रसन्न होगा, उसका हृदय खिल उठेगा। बाल पकडना, मारना, पीटना कोई अच्छा काम तो है नहीं, किन्तु बच्चों के प्रेमपूर्वक बाल पकडो, उनको मारो, पीटो, तो उसे वे अनुग्रह ही समझेंगे। आप शब्द सम्मानवाचक है, श्रेष्ठ है, सुन्दर है, किन्तु किसी बच्चे को आप कह दो, तो वह डर जायगा। सोचेगा—"अवश्य ही मुझसे कोई भारी अपराध बन गया है, तभी तो मेरे गुरुजन मुझसे 'आप' कह रहे हैं। किसी की पीछे से आकर आँखें बन्द कर लेना बुरी बात है, किन्तु उसी काम को कोई अत्यन्त प्रेमी करे तो वह सबसे श्रेष्ठ कार्य समझा जाता है। किसी के धुले वस्त्रों पर कीच, मिट्टी, रंग डाल देना बुरी बात है, किन्तु वही होली में अपनी साली सरहज या भाभी के द्वारा डाला जाय, तो वह अमृत छिडकने के सदृश सुखप्रद प्रतीत होता है। चोरी करना बुरा काम है, किन्तु वही चोरी प्रेमपूर्वक प्रेमी की प्रिय वस्तु की, की जाय, तो उसके ऊपर अत्यन्त अनुग्रह है वस्तुओं में, कार्यों में तथा वचनों में प्रेम नहीं होता। प्रेम हृदय की वस्तु है और अपने प्रेमी की सभी चेष्टाएँ सभी कार्य सुखप्रद ही होते हैं, इसलिये जो बिना भावों को समझे केवल कार्यों की ही आलोचना करते हैं, वे शुष्क हृदय के कर्मासक्त पुरुष रस मार्ग के अनधिकारी हैं। प्रेम की लीलाएँ रसिक भावुक भक्तों को ही सुख दे सकती हैं। रसहीन कुतर्की तो उनसे विपरीत भावना ही निकालते हैं और अपराधों के भागी बनते हैं। श्रीकृष्ण के बाल चरित में माखनचोरी लीला ही सबसे सरस प्रसङ्ग है, किन्तु शुष्क हृदय के अरसिक इन प्रसंगों के सुनने के अनधिकारी हैं। जिनका रस शास्त्र में प्रवेश हो, वे ही उनके लाभ उठा सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण ने बाल चोर समिति का संगठन कर लिया, अब वे चोरी करने जाने लगे। बालकों

को खेलना और खाना ये दो काम इतने प्रिय होते हैं, कि इनके पीछे वे झूठ-सच सब बोल सकते हैं, रो सकते हैं, घरवालों के विरुद्ध बर्ताव कर सकते हैं, घर की वस्तुओं को छिपा सकते हैं, बिगाड़ सकते हैं। उस समय अपने पराये का तो उतना विवेक रहता भी नहीं, वस्तुओं में मोह ममता भी नहीं रहती, भविष्य की चिन्ता भी नहीं रहती, आज का काम चल जाय, आज का खेल बन जाय, आगे की आगे देखी जायगी। देखी क्या जायगी आगे भी कुछ आयेगा, इस बात का उन्हें स्मरण ही नहीं। बच्चों को हँसी की बातें बहुत प्यारी लगती हैं। किसी को देखकर हँसना, दूसरों का अनुकरण करना, रहस्य बात को जानने की जिज्ञासा होना, ये ही बालकों के प्रायः स्वभाव भी होते हैं। बच्चे अपनी हँसी को अपने रोने की इच्छा को रोक नहीं सकते, वे हँसी की बात होने पर खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं। रोने की बात पर रो जाते हैं, उन्हें अपने पराये का उतना पक्ष-पात नहीं होता, छिपाना वे जानते ही नहीं। जो बात होती है उसे कह देते हैं। माखन की चोरी में खेल भी है, रहस्य भी है, हँसी भी है और स्वादिष्ट खाने का भी प्रबन्ध है, ऐसे कार्य को कौन बालक न चाहेगा। कुछ गुम्म-सुम्म बाल्यावस्था में वृद्ध स्वभाव वाले बालकों को छोड़कर सभी इस क्रीड़ा में सहर्ष सम्मिलित होंगे। श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जो गुम्म-सुम्म गम्भीर हैं, ऐसे बालकों को अपनी समिति में सम्मिलित ही नहीं किया। जो चंचल स्वभाव के हँसमुख, क्रीड़ा, तथा विनोदप्रिय अपने अनुगत बालक हैं, उन्हें ही अपने संगठन में मिलाया। सब घर का उन्हें पता लग गया, किसके घर में कितने आदमी हैं, कितनी गौएँ हैं, किसके घर कितना माखन होता है, किस स्थान पर रखा जाता है, कब वह घर के बाहर जाती है, कैसे वह माखन प्राप्त हो सकता है। उनका गुप्तचर विभाग सुदृढ़ था।

घर घर में उनके अनुयायी थे, जो सबकी चूल्हे चौके तक की बात बता देते थे। अब वे घर-घर में जाकर चोरी करने लगे।

एक बड़ी भावमयी गोपी थी, वह श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी पर अत्यन्त ही अनुरक्त थी, निरन्तर श्रीकृष्ण के रूप का चिंतन करती रहती। नित्य अनेक बहाने बनाकर यशोदा मैया के घर जाती, श्रीकृष्ण को देखकर निहाल हो जाती। वह चाहती थी, श्रीकृष्ण मेरे घर कभी माखन खायँ। नन्दजी गोकुल भर में अपनी साख में बड़े थे। वे किसी के चाचा लगते थे, किसी के भाई साढ़ू। अतः अधिकांश गोपियाँ श्रीकृष्ण की चाची, भाभी, मौसी ऐसी ही लगतीं थीं। हाँ तो वह भावमयी गोपी श्रीकृष्ण की भाभी लगती थी। जब वह घर जाती तो माता की गोदी में बैठकर उससे 'भाभी' कहते और माता के अंचल में मुख छिपा लेते। वह कहती—"लालाजी! आओ हमारी गोद में।" तब आप माँ की गोदी में ही लज्जा के कारण ऐंडकर दुहरे हो जाते। तब माँ कहतीं—"अरे, कनुआ! तू अपनी भाभियों से भी शरमाता है। देख कैसी बुला रही है, जा।" किन्तु आप नहीं जाते।

एक दिन आप उसके खिरक में गये उसकी बहुत-सी गौएँ थीं, उनके सब बछड़ों को खोल आये और दौड़कर उसके घर गये और हाँपते-हाँपते बोले—"देख तेरे बछड़े सब छूट गये। मैंने उन्हें बाँधना चाहा, किन्तु भला वे मुझपर कैसे रुकने लगे। शीघ्र जा नहीं वे सब दूध पी जायँगे।"

यह सुनकर वह दौड़कर खिरक में गयी और कहती गयी—"लालाजी। मेरे घर को देखना, कुत्ता बिल्ली न जाय।"

आप बोले—"हाँ भाभी! तू जा मैं तो यहाँ बैठा ही हूँ।"

गोपी खिरक की ओर गयी आपने तुरन्त ताली बजायी। ताली का शब्द सुनते ही आसपास छिपे हुए दाम, सुदामा, स्तोक कृष्ण, किंकणी, मनसुखा, मधुमंगल, रैंदा, पैंदा, सैंदा, सरकुआ,

मटकुआ, चटकुआ, लटकुआ, मटकुआ तथा और भी सैकड़ों गोप आ गये अब क्या था, उड़ने लगे माखन के लौंदे। श्रीकृष्ण कमोरी उठा-उठा कर लाते, लड़के आपस में बाँटकर खाते श्रीकृष्ण ने दूर से देखा गोपी आ रही है, सब लड़कों से सैनों में ही कह दिया—"अब सटकन्तोबाच होनी चाहिये।" तुरन्त ही किसी ने गालों में माखन भरा किसी ने हाथों में लौंदा लिये और वहाँ से भागे। श्रीकृष्ण चिल्लाने लगे—"अरे धूर्तो ठहर जाओ। अब भागते क्यों हो ?'

गोपी ने देखा मेरी सब दूध, दही, माखन की कमोरी मोरी के पास खाली पड़ी हैं। उसने कहा—"हाय लालजी ! तुमने यह क्या किया ?"

आप बोले—"भाभी, तू मुझसे कुत्ता बिल्ला देखने को ही तो कह गयी थी, वह मैंने एक भी घर में नहीं जाने दिया।"

गोपी बोली—"तुमने इन लफंगे छोकरों को क्यों नहीं रोका ?"

श्रीकृष्ण बोले—"मैंने बहुत रोका, किन्तु वे ठहरे बहुत, मैं ठहरा अकेला। अकेला कैसे रोकता ?"

गोपी बोली—"तुम रोक कहाँ रहे थे, तुम तो उन्हें खिला रहे थे और स्वयं खा रहे थे।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"भाभी ! तेरी सूँ, तेरे दुलहा की सूँ, मैंने तो माखन छूआ तक नहीं।"

गोपी बोली—' हाय ! लल्लू ! तुम झूठी सपथ खा रहे हो, मैंने स्वयं तुम्हें सबके साथ खाते देखा है, तुम्हारा मुख अभी तक माखन से सन रहा है, गालों पर चिपक रहा है।"

श्रीकृष्ण बोले- "अरे, भाभी तू मुझे बिना बात झूठा बनाती है, मैंने तो तेरा माखन देखा तक नहीं। एक छोरा माखन खा रहा था, हाथ में लिये था, मैंने उसमें एक पटक मारी वह नीचे

गिर गया, किन्तु फिर उसने मुझे दबा दिया। हाथ से मेरा मुँह पकड़कर मसल दिया, बन्द कर दिया। जिससे मैं तुझे बुला न सका। उसी समय मेरे मुख में माखन लग गया होगा। हवन करते हाथ जलते हैं, उपकार करत अपकार होता है, मैंने तेरे घर की रखवाली की, उसका फल यह मिला कि झूठी चोरी लगी, अब मैं तेरे घर कभी न आऊँगा।" यह कहकर भगवान् तुरन्त भग गये। गोपी हक्का बक्का सी बनी उन्हें देखती की देखती रह गयी।

अब सब गोपियों को पता चल गया, कि श्रीकृष्ण घर घर माखन की चोरी करने आता है। सभी चाहतीं कभी हमारे घर आवें, हमारे घर आवें। ऐसे स्थान पर माखन रखतीं कि झट से उतार लें। काम करती रहतीं और इधर उधर देखती रहतीं, कि अभी आये या नहीं। जिस दिन जिनके घर चोरी कर ले जाते उस दिन वह अपने को धन्य समझती। अब गोपियों ने सोचा—"यह बात ठीक नहीं, वे चुपके से चोरी कर ले जायँ, चोरी करते हुए उन्हें पकड़ा जाय और गालों में गुलचे लगाये जायँ, जब वे हा हा खायें रोवें तब छोड़ा जाय। यह सोचकर अब वे श्रीकृष्ण को पकड़ने की ताड़ में रहने लगीं। एक छरहरी सी गोपी ने कहा—"अच्छा कल मैं पकड़ूँगा।"

श्रीकृष्ण को जो पकड़ने की प्रतिज्ञा करता है, उसे वे पकड़ाई दे देते हैं। गोपी छिपकर बैठी रही। घट घट की जानने वाले घनश्याम उसके घर में घुसे। गोपी ने किवाड़ की ओट से देख लिया। इधर उधर देखकर माखन की कमोरी में श्रीकृष्ण ने हाथ डाला। एक गफ्फा मार गये। दूसरा ग्रास उठा ही रहे थे, कि पीछे से पहुँचकर गोपी ने हाथ पकड़ लिया और बोली—"कहो लालजी! क्या हो रहा है?"

श्रीकृष्ण अब ढीठ हो गये थे। चौर विद्या में निपुण हो गये

थे, इसलिये सटपटाये नहीं, बोले—"हमारे मन में जो आ रहा है, सो कर रहे हैं। तू पूछने वाली कौन है ?"

गोपी ने कहा—"मैं ही घरवाली हूँ। मेरे घर में तुम क्यों घुसे ?"

श्रीकृष्ण बनावटी सभ्रम के साथ बोले—"अरे, चाची यह तेरा घर है क्या ! ले, मेरी कैसी मति मारी गयी, मैं तो अपना घर जानकर घुस आया था।"

गोपी बोली—"अच्छा, आपका ही घर सही, फिर यह माखन की कमोरी में हाथ क्यों डाल रहे हो ?"

आप बोले—"तू माखन को खुला ही रख देती है। देख इसमें कितनी चींटियाँ चढ गयी है। इसकी चींटियों को बीन रहा हूँ।"

गोपी बोली—"चींटी बीन रहे हो सो, तो अच्छा कर रहे हो, फिर यह गाल पर माखन कैसे लगा है।"

भगवान् बोले—"इस कमोरी में से चींटियाँ निकलकर मेरे मुख पर ही तो चढ गयी थीं उन्हें मैंने हाथ से हटाया था। लग गया होगा माखन।"

सखी ने हँसकर कहा—"कुछ चींटियों ने लगाया कुछ मैं लगाती हूँ।" यह कहकर उसने एक माखन का लौंदा उठाकर श्याम के मुख पर पोत दिया। श्रीकृष्ण भागे और बोले—"मैं मैया से कहूँगा, तू मुझे घर में बन्द करके मारती है।" यह कह कर वे भाग गये। गोपों ने कहा—"सारे, अकेला ही अकेला माल उडा आया, हमें पूछा तक नहीं।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"अरे, मैं अकेला लौट आया यही बहुत है, नहीं तो मेरे मुखपर माखन फिराकर मुझे बकरा बना रही थी यह बगाले की विद्या जानती है। सारे ! भाग चलो नहीं सबको बकरा बना लेगी। यहीं म-मे करते रहोगे।" यह सुनकर रैंदा, पैंदा, सैंदा सब मुट्ठा बाँधकर भाग खड़े हुए।

एक दिन श्रीकृष्ण एक घर को खाली देखकर सॅकडी खोलकर उसमें घुस गये। पास मे ही छोटे मुख की माखन की कमोरी रखी थी उसमे से माखन निकालकर खाने लगे। गोपी तो जानबूझकर छिपी हुई थी। उसने देखा अब श्याम ने पेट भर माखन खा लिया है और भागने की ही ताड में हैं तो पीछे से आकर हाथ पकड लिया और बोली—"लालाजी, राम राम! कहो क्या कर रहे हो?"

आपने छूटते ही उत्तर दिया—"भाभी! मेरा एक बछरा खो गया है, उसे ही ढूँढ रहा हूँ।"

गोपी ने हंसकर कहा—"बछरा खो गया है, तो फिर माखन की मटुकी मे हाथ क्यों दे रहे हो?"

श्रीकृष्ण बल देकर बोले—"उसी को तो मटकी में खोज रहा हूँ, मेरा बछरा छोटा सा माखन का ही है और माखन ही वह खाता है। कुदुक कुदुककर चलता है, जहाँ माखन की मटकी देखता है उसी मे कूदकर घुस जाता है।"

गोपी बोली—"वह बछरा यशोदा मैया ने जाया है न? वह सफेद माखन का न होकर काले माखन का है न?"

यह सुनकर श्याम हंस पडे और गोपी भी निहाल हो गयी।

एक दिन श्यामसुन्दर ने अपने सखाओं के सहित एक गोपी के घर पर धावा बोल दिया। घर वाले तो खेत पर काम करने गये थे, गोपी गोबर पाथने गयी थी। आप अपने सेनिकों को साथ लेकर उसके घर मे घुस गये। इधर-उधर सखाओं को छिपा दिया और आप मटकी मे से माखन निकालकर भोग लगाने लगे। इतने मे ही गोपी आ गयी। बाहर के सखा तो लडके ही ठहरे भाग गये श्रीकृष्ण रह गये और रेंदा, पैंदा, सैंदा आदि १०–१५ इधर-उधर भीतर छिपे सखा रह गये।

सखी समझ गयी आज श्यामसुन्दर आ गये।

उसने डाँटकर पूछा—"घर मे कौन घुसा है ?"

वहीं से आप बोले –"भाभी ! मैं हूँ।"

जानकर भी अनजान बनी गोपी बोली—"मैं कौन ?"

श्यामसुन्दर बोले—"मे हूँ, कृष्ण।"

गोपी प्रेम का रोष दिखाती हुई बोली—"तुम 'कृष्ण' हो तो घर में क्यों घुसे हो ?"

श्यामसुन्दर रहस्य भरी वाणी मे बोले—"भाभी ! तनिक धीरे बोल। आज मेरी मैया मुझ पर बड़ी कुपित हो गयी है। *उसने कहा है, तू मुझे मिल जायगा तो तुझे मारे बिना न छोड़ूँगी,* सो मैया के डर से ही मैं यहाँ छिपा हुआ हूँ। तनिक मेरे ऊपर कृपा कर, मैया को बताना मत। तनिक देर छिपा रहूँगा।"

गोपी बोली—"छिपे हो सो तो अच्छी बात है, किन्तु ये माखन की मटकियाँ तुमने बाहर क्यों फेंक रखी हैं ?"

श्रीकृष्ण बोले—"अब भाभी ! इतनी देर तक तेरे घर में छिपा हूँ कुछ तेरा काज करना चाहिए। इसलिये बर्तन हटा हटा कर तेरे घर की सफाई कर रहा हूँ।"

गोपी बोली—"घर की सफाई कर रहे हो, या माखन की सफाई कर रहे हो ?"

श्यामसुन्दर बोले—"माखन क्या होता है भाभी ! मैंने सोचा—"तेरे बर्तनों को भी साफ कर दूँ, इसमें देखो मट्ठे के ऊपर का मैल भरा है, मैंने बर्तन बाहर रख दिये। ये बालक दरिद्री ही ठहरे मट्ठे के मैल को ही उड़ाने लगे।"

गोपी ने पूछा—"अच्छा, जब तुम माता से डरकर छिपे हो, तो इन इतने सखाओं को साथ लेने का क्या काम था ?"

श्रीकृष्ण बोले—"तू घर में थी नहीं, मैंने सोचा-सूने घर में छिपूँ कोई चोरी लगा दे, इसलिये इन्हें साक्षी रूप में खड़ा कर रखा है।"

गोपी ने कहा—"चोर-चोर मौसाते भाई, जैसे तुम छिपने वाले वैसे ही तुम्हारे साथी। माखन तो तुम खा रहे हो गोप कुमारों को दरिद्री बता रहे हो, तुम्हारे ओठ गाल सब माखन में सने हैं।"

सम्भ्रम के साथ श्रीकृष्ण बोले—"अरे, भाभी! देख तू मुझे चोरी लगाती है, अभी एक कुत्ता आया। पीछे से अकस्मात् कुत्ते के आने से मैं डरकर एक कमोरी के ऊपर गिर पड़ा। यह तो अच्छा हुआ, कि वह कमोरी फूट गयी, मैं औंधे मुख माखन के ऊपर पड़ा। उसी से मुख में माखन लग गया होगा।"

यह सुनकर गोपी ने चुपके से जाकर किवाड़ बन्द कर दी और बोली—"अच्छा, अब छिपना चाहते हो तो छिपे रहो यहीं।" श्रीकृष्ण को कोठरी में बन्द होते देखकर सखा सब भाग गये। श्रीकृष्ण घबड़ा गये। किन्तु सखा भी तो चोर विद्या में निपुण हो चुके हैं। पीछे फिरकर कच्ची दिवाल से चढ़कर छप्पर में छेद करके वहीं से बोले—'कनुआ! अरे सारे! आज तो तू अच्छा फँसा।"

भीतर से ही सैनों के संकेत में श्याम बोले—"निकालो भैया मुझे नहीं मेरी सब कलई खुल जायेगी।"

लड़कों ने अपनी अपनी धोतियाँ खोलीं गाँठ बाँधकर लटकायीं श्रीकृष्ण धोती को पकड़कर खूँटी पर पैर रखकर छप्पड़ फाड़कर यह गये वह गये। तुरन्त भागकर माता के पास आये और माता से लड़ने लगे—"मैया! तू कुछ देखती नहीं। खिरक में से बहुत सी गोपियाँ गोबर चुरा ले जाती हैं। दोहनी उठा ले जाती हैं, गोबर हटाने की फावड़ी उठा ले जाती हैं।"

माता बोलीं—"बेटा! हमारे यहाँ गोबर की कुछ कमी थोड़े ही है। ले जाने दे।"

श्रीकृष्ण बोले—"ले जाने को तो मैं मना नहीं करता।

किन्तु चोरी कर गोबर ले जाना ठीक नहीं। पूछकर ले जायँ, छिपकर क्यों ले जायँ।"

माता ने कहा—"कौन है, तू मुझे बता मैं कह दूँगी, जितना चाहे माँगकर ले जायँ, चोरी क्यों करती हैं।"

श्रीकृष्ण बोले—"अभी अभी चार चुराकर गोबर ले जा रही थीं, मुझे देखकर तीन तो भाग गयीं। एक मुझसे लड़ने लगी। मैं क्या करता वह लम्बतड़ंगी युवती थी मैं छोटा सा बच्चा। वह उलटी मुझे ही डाँटने लगी।"

मैया ने कहा—"कोई बात नहीं बेटा! सब लोग हमारी प्रजा ही तो हैं।"

इधर माँ बेटा में ये बातें हो रही थीं, उधर गोपी ने श्रीकृष्ण को कोठरी में बन्द तो कर दिया, किन्तु उसका हृदय धड़क रहा था, कहीं भीतर बन्द रहने से श्यामसुन्दर का मन उदास न हो जाय। सोचती थी, किवाड़ खोलूँगी, तो वे भग जायँगे, बन्द रखूँगी तो उन्हें कष्ट होगा, यही सोचकर उसने तनिक किवाड़ खोलकर देखा तो न उसमें श्रीकृष्ण न उनकी परछाईं। गोपी बड़ी चकित हुई भीतर गयी। छप्पड़ फटा हुआ देखा, सब समझ गयी। चोर शिरोमणि किसी प्रकार छप्पड़ फाड़कर भाग गये। देखूँ घर पहुँचे या नहीं।" यही सोचकर वह नन्द-भवन में गयी। उसे देखते ही श्यामसुन्दर बोले—"यही गोबरचोट्टी है सदा चुरा चुराकर गोबर ले जाती है न। आज मैंने इसे चोरी में पकड़ा तो मुझसे लड़ने लगी। गोबर की तो हमारे यहाँ कुछ कमी नहीं, किन्तु यह चोरी से ले जाती है, इसी से मुझे बड़ा बुरा लगता है। चोरी से मुझे बड़ी घृणा है। किसी को चोरी करते मैं देखता हूँ, तो मेरा रक्त उबलने लगता है।"

यह सुनकर यशोदा मैया हँसने लगीं, गोपी सैनों ही सैनों में यह कहती हुई कि "अच्छी बात है अबके आना मैं बताऊँगी

कौन चोर है।" उसको जाते देखकर श्यामसुन्दर ताली बजाकर हँसने लगे।

एक दिन एक गोपी के घर में गये। वह नई ही विवाही आयी थी, उसकी एक अंधी ददिया सास थी, एक उसका पति था और ससुर, सास उसकी नहीं थी। ददिया सास अंधी थी। श्यामसुन्दर उसके घर मे गये और बोले—"दादी! दादी! मुकुन्द भैया ने भाभी को खेत पर बुलाया है और यह कहा है कलेऊ के लिये मट्ठा और महेरी लेकर शीघ्र आवे।"

बुढ़िया ने कहा—"कौन है बेटा, कनुआ! तुझे वह कहाँ मिला?"

श्रीकृष्ण बोले—"दादी! अभी वहाँ से एक आदमी आया है। वह मुझसे कह गया है।"

बुढ़िया ने तुरन्त बहू को कलेऊ लेकर भेजा। नई बहू थी घूँघट मारकर चली गयी। अब तो मैदान साफ था। गोप हँसने लगे, कृष्ण ने मुख पर उँगली रखकर उन्हें चुप किया। फिर सोचा—"यहाँ मक्खन खायेंगे, तो खटर पटर होगी, बुढ़िया बड़ी घाघ है, हल्ला गुल्ला करेगी, अतः माखन को लेकर चलें बाहर एकान्त मे यमुना तट पर उडावेंगे।"

यही सब सोचकर चुपके-चुपके सब माखन के गोले केले के पत्तों में रख कर धोतियों में बाँध लिये। कौतुकी ही जो ठहरे। जिसमे आज का माखन था उस कमोरी का सब माखन निकालकर उसमे कीच भर दी। ऊपर के तनिक-सा मक्खन ल्हेस दिया। मक्खन लेकर नौ दो ग्यारह हुए।

बहू कलेऊ देकर लौट आयी। रोटी बनाने लगी। दोपहर में उसके ससुर और पति भोजन करने आये। भोजन करते समय उन्होंने मक्खन माँगा। एक तो नई बहू सदा ही घूँघट मारे रहती है फिर ससुर के सामने तो हाथ भर लम्बा घूँघट मारती है। वह

घूँघट मारे ही मारे कमोरी को उठा लायी और हाथ से उसी कीच को परोसने लगी। ससुर ने कहा—"बहू सिरिनि हो गयी है क्या? अरी! हम तो मक्खन माँग रहे हैं, तू कीच परोस रही है।"

यह सुनकर बहू बड़ी लज्जित हुई उसकी समझ में ही नहीं आया। अपनी ददिया सास के कान मे उसने कहा—"दादीजी! मैंने तो आज ही इसमे माखन रखा था, कीच कैसे हो गयी?"

बुढ़िया सब समझ गयी और बोली—"अरी, बहू! वह नन्द का लाला आया था। मैं बहुत दिनों से सुन रही हूँ, वह घर-घर जाकर माखन की चोरी करता है। कुछ खटर-पटर तो मैंने सुनी थी। सोचा—चूहे होंगे, किन्तु यह क्या पता था। यह सब दो पैर का काला चूहा उत्पात मचा रहा है। तू और माखन की मटुकियों को तो देख।"

यह सुनकर बहू भीतर गयी। उसने देखा सब मटकियाँ खाली पड़ी हैं। माखन का तो नाम भी नहीं। बहू ने कहा—"दादीजी! माखन का तो नाम भी नहीं बचा।" बुढ़िया ने कहा—"तू जाकर नन्दरानी से कह आना कि तेरा लाल ऐसे उत्पात करता है।"

एक बुढ़िया थी बड़ी लड़ाकू, बिना लड़े उसकी रोटी ही नहीं पचती थी। एक दिन रोटी के बिना तो वह रह सकती थी। किन्तु लड़े बिना उससे नहीं रहा जाता था। एक ही उसकी बहू थी। उससे दिन भर काम कराती और स्वयं बैठी-बैठी बात बनाती रहती।

श्रीकृष्ण ने सोचा—"इस सूमड़ी के घर से माखन चुराना चाहिये। यही सोचकर वे इधर-उधर ताड़ लगाते रहे। जब उसकी बहू जल का कलशा और धोती लेकर यमुनाजी की ओर गयी, तभी आप थोड़ी देर पश्चात् आये और हाँपते-हाँपते बोले—

"ताई! ताई! बड़ी दुर्घटना हो गयी।"

चौंककर बुढ़िया बोली—"क्या घटना हो गई, बेटा?"

श्यामसुन्दर बोले—"मैं अभी अभी यमुनाजी की ओर से आ रहा था, भाभी भी नहाकर यमुना का जल भरकर घड़े को सिर पर रखकर आ रही थी, पीछे से उस कारे मरखने साँड़ ने आकर उसके हुड्डु मारी, वह मुँह के बल गिर पड़ी। उसके दाँत टूट गये, मुख से रक्त बह रहा है, उसने रोते रोते मुझसे कहा—'मेरी सास को समाचार दे देना। सो मैं दौड़ा दौड़ा आया हूँ।" यह सुनकर तो बुढ़िया तुरन्त किवाड़ खुली की खुली छोड़कर भागी इधर मित्र मण्डली ने कृष्ण की चातुरी पर तुमुल हास्य ध्वनि की। सब ने माखन उड़ाया, दही खाया, बन्दरों और मोरों को खिलाया।

इधर से बुढ़िया दौड़ी-दौड़ी जा रही थी, उधर से बहू यमुना जल भरे आ रही थी, बुढ़िया ने अकबकाकर कहा—"बहू! कैसे गिर गयी। बहुत अधिक तो चोट नहीं लगी।"

बहू ने घूँघट में से ही कहा—"आपसे किसने कहा? मैं तो गिरी नहीं।"

यह सुनकर बुढ़िया समझ गयी, यह सब नन्दलाल की तिकड़म है, दौड़कर वह घर में गयी, तो वहाँ माखन की रीती मटुकियाँ पड़ी हैं सब समझ गयी, यह नन्द के लाल की करतूत है उसने डाँटकर अपनी बहू से कहा—"तू जा चटकुआ की माँ को भी साथ ले जा। नन्दरानी से जाकर कह तुम्हारा लाड़ला छोरा ऐसी-ऐसी धूर्तता करता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्णचन्द्र ऐसी एक नहीं असंख्यों मधुरातिमधुर लीलाएँ नित्य-प्रति व्रज में करने लगे। जिसके यहाँ जो घटना हो जाती, वह सबसे उसका विस्तार पूर्वक वर्णन करती। श्रीकृष्ण अब खुलकर खेलने लगे। किसी के

घर में घुस जाते उसका माखन खाते, खा पीकर आते तो सोते हुए बच्चे को चुटकी से काट आते। कभी खाट पर सोये गोप गोपियों की चोटियों को बाँधकर ऊपर से रस्सी लपेट आते। कभी किसी लड़ाकू गोपी के घर की वस्तु उठाकर किसी दूसरे के घर में रख आते, अपनी वस्तु को देखकर वह लड़ती। दोनों में लड़ाई होती तो श्रीकृष्ण खड़े-खड़े हँसते रहते। इस प्रकार जब वे अत्यधिक उपद्रव करने लगे, तो गोपिकाओं ने सम्मति की, कि नन्दरानी के समीप चलकर उलाहना देना चाहिये। इसी उद्देश्य से एक दिन सब सखियाँ मिलकर नन्द-भवन में मैया को उपालम्भ देने के लिये चलीं। उनके मन में बड़ा मोद था। वे हृदय से तो चाहती थीं, श्रीकृष्ण हमसे ऐसी ही चञ्चलता सदा करते रहें, किन्तु ऊपर से बनावटी रोष दिखाकर इसी बहाने मैया को मुदित करने की इच्छा से वे मैया को कृष्ण की करतूतें सुनाने के लिये गयी थीं।"

छप्पय

ब्रजबनिता श्रीकृष्ण ललित लीलनि पै रीझीं।
जब लाला अति लगे करन तब कछु कछु खीझीं॥
मनमहँ तो अति मोद क्रोधयुत बदन बनायो।
यशुमतिढिँग चलि कहहिँ सबनि मिलि मतोकमायो॥
सजि बजिकें सब मिलि मुदित, उपालम दैवे चलीं।
गोकुल की सब गलिनि महँ, खिली मनहुँ पंकजकली॥

गोपियों का उपालम्भ

(८७४)

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशस जातहासः
स्तेय स्वाद्वत्यथ दधि पयः कल्पितैः स्तेययोगैः ।
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्ड भिनत्ति
द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान् ॥*

(श्रीमा० १० स्क० ८ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

लखि गोपिनिकूँ मातु कुशल पूछी बैठाई ।
करि पालागन सबनि कृष्ण की बात चलाई ॥
नहिँ हम ब्रजमहँ रहैं कान्ह अब बहुत सतावे ।
घर घर चोरी करे नित्य तकरार मचावे ॥
दूध, दही, नवनीत, घृत, चोरि सखन सँग खातु है ।
कहनी अनकहनी कहे, ढीठ भयो सतरातु है ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपियाँ आकर यशोदा मैया को उलाहना देती हुई कह रही हैं—"मैया ! तुम्हारा लाला असमय म बछडे छोड देता है । डाँटने पर हँस जाता है चोरी के दूध दही को रुचि पूर्वक खाता है । चोरी के विविध प्रकार के उपाय रचता है । बन्दरो को खिलाता है । यदि बन्दर भी नही खाते तो बर्तनो को फोड देता है । यदि कोई वस्तु मिलती नही, तो घर के ऊपर क्रोध करता है । बालको को रुलाकर भग जाता है ।"

प्रेम के उपालम्भ में कहने वाले को सुनने वाले को और जिसका उपालम्भ किया जाता है उसको, इस प्रकार तीनों को ही सुख होता है। प्रेम एक ऐसा पदार्थ है, कि जिसमें भी मिल जायगा उसी को मधुर बना देगा। जैसे बुद्धिमान् जिस क्षेत्र में भी बुद्धि का उपयोग करेगा, उसी मे उसे ख्याति प्राप्ति होगी, यही दशा प्रेम की है। बुराई करना सुनना सबसे बड़ा पाप है, किन्तु प्रेमपूर्वक की हुई बुराई से बढ़कर संसार मे कोई भी बड़ा पुण्य नहीं है। श्रीकृष्ण वेद की सारगर्भित स्तुतियों से उतने प्रसन्न नहीं होते, जितने गोकुल की गँवार ग्वालिनियों की गालियों से प्रसन्न होते हैं। गोपियाँ उन्हे धूर्त, कितव, ठग, वञ्चक, चोर तथा हृदय-हीन आदि कठोर शब्द कहती हैं, तो वे कृतकृत्य हो जाते हैं। प्रेम की ऐसी ही टेढ़ी गति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सज-बजकर गोपियाँ नन्द-भवन की ओर चलीं, नंदरानी ने दूर से ही झुण्ड की झुण्ड गोपियों को अपने भवन की ओर आते देखा। वे सब भाँति-भाँति के सुवर्ण आदि के मणि जटित आभूषण पहिने और रंग बिरंगी ओढ़-नियों को ओढ़े इन्द्र धनुष मे चमकती हुई बिजली के समान दिखायी देती थीं। यशोदा मैया ने तुरन्त दासियों से जाजिम गलीचे बिछवाये। शीघ्रता से पान लगवाये और द्वार पर खड़ी हो गयीं। हँसती हुई नन्दरानी ने सबका स्वागत सत्कार किया। सब नन्दरानी के पाइन लगीं सबको सुहाग अमर रहने का बूढ़-बुढ़ैली होने का तथा बच्चा होने का आशीर्वाद देकर नन्दरानी बैठ गयीं। दासियों ने चाँदी के थाल मे पान सुपारी इलायची आदि लाकर सबके सम्मुख रखी। कुशल प्रश्न और स्वागत शिष्टाचार के अनन्तर यशोदा मैया ने कहा—"आज तुम एक साथ मिलकर किसी काम के लिये तो नहीं आयी हो? यदि कोई काम हो, तुम्हें कोई कष्ट हो, तो मुझसे कहो।"

उन सब गोपियों में जो सबसे अधिक चंचल तथा वाचाल थी, वह बोली—'रानीजी ! हम आपसे अन्तिम विदा लेने और आपको पालागन करने सब मिलकर आयी हैं।"

आश्चर्य सम्भ्रम और चिन्ता के स्वर में नन्दरानी ने पूछा—"क्यों, क्यों क्या बात है ? व्रज में तुम्हें क्या कष्ट है, तुम्हे किसी ने सताया हो या कष्ट दिया हो, तो मुझसे कहो व्रजराज से कहकर मैं उसे दण्ड दिलाऊँगी।"

उस गोपी ने कहा—"आप उसे दण्ड दिलाने में असमर्थ हैं। व्रजराज भी उसे दण्ड नहीं दे सकते।"

नन्दरानी ने आश्चर्य के साथ कहा—"व्रज में ऐसा कौन बली प्रकट हो गया, जिसे व्रजराज भी दण्ड नहीं दे सकते। उसका नाम तो सुनूँ।"

उनमें से एक गोपी बोली—"वह बली और कोई नहीं तुम्हारे लडैते लाला कृष्णचन्द्र ही हैं।"

मैया ने कहा—"मेरा बच्चा तो छोटा सा है, अभी तो वह भली भाँति बोलना भी नहीं जानता, उसने तुम्हारा कौन-सा अपराध किया है।"

एक गोपी बोली—"वह छोटा नहीं बडा खोटा है। तुम उसकी करतूतों को सुनोगी तो उसके खोटेपन को समझ सकोगी। तुम्हारे सामने तो वह भोरा बन जाता है।"

मैया बोलीं—"सुनूँ भी तो, क्या ऊधम करता है ?"

गोपी बोलीं—"देखो, मैया ! हमारे बछडो को छोड देता है।"

मैया बोलीं—"तो यह क्या बुरा करता है, दूध दुहने के समय तुम भी तो बछडो को छोडती हो। एक तो तुम्हारा काम कर देता है, और फिर ऊपर से तुम उसकी शिकायत भी करती हो।"

गोपी बोली—"अरी मैया ! दूध दुहने के समय बछड़ो को

छोड़े तब तो कोई बात ही नहीं, वह तो असमय में बछड़ों को छोड़ देता है। जब दूध दुहने का समय नहीं होता तब सब बछड़ों को छोड़कर भाग जाता है। बछड़े सब दूध पी जाते हैं, हम सब देखती की देखती ही रह जाती हैं। फिर अपना चुपके से घरों में जाकर माखन उड़ाता है"

मैया ने कहा—"अरी वीरो! तुम्हारा ही बच्चा है, कोई बात नहीं उसका स्वभाव ही चञ्चल है, तुम उसे तनिक डाँट डपट दिया करो।"

एक गोपी मुँह मटकाकर बोली—"अरी, मैया! तुम डाँटने को कहती हो वह स्वयं ही ऐसी बन्दर घुड़की देता है, कि अच्छे अच्छे उससे डर जाते हैं। जब हम अत्यन्त बिगड़ती हैं, तो उसी समय ऐसा खिलखिलाकर हँसता है, कि हमारा सब क्रोध कपूर की भाँति उड़ जाता है। रोकने पर भी हमारी हँसी नहीं रुकती, इसकी हँसी में कुछ ऐसा जादू है, कि कोई इसके सम्मुख क्रोध कर ही नहीं सकती। हँसकर यह हानि करता है।"

नन्दरानी बोलीं—"देखो, तुम सब जानती ही हो मेरे यहाँ माखन की तो कुछ कमी नहीं। बच्चा ही है, कभी माखन को देखकर मन चल जाता होगा। कौड़ी भर इसके हाथ पर रख दिया करो।"

गोपी बोली—"हाय यशोदारानी! आप भी ऐसी बात कहती हैं। नारायण साक्षी हैं, वह पेट भर के खा ले। सब तुम्हारा ही तो है। माखन को हम मना तो करती नहीं, किन्तु देने से वह माखन खाता ही नहीं। कहता है—"मुझे माखन अच्छा ही नहीं लगता है।" किन्तु उसको जब चोरी कर ले जाता है, तो यों ही मट्ट-मट्ट खा जाता है। चोरी का माखन उसे बहुत स्वादिष्ट लगता है। दूध को पी जाता है, माखन को खा जाता है। दही को सपोट जाता है।"

मैया बोलीं—"एक काम करो, दूध, दही, मक्खन तथा घी आदि रसा को ऊँचे छींके पर रख दिया करो।"

गोपियों ने कहा—"मैया! यह हम सब करके देख चुकी हैं। तुम्हारा लाला चोर विद्या मे तो इतना निपुण हो गया है, कि अच्छे अच्छों के कान काटता है। बिलौटा की भाँति ऐसी इसकी नाक है, कि दूर से ही सूँघकर जान लेता है, किस बर्तन मे दूध है, किसमें दही है और किसमे नवनीत है। ऐसी इसने छडी बना रखा है, कि दूध को देखते ही उसमें छेदकर देता है। दूध धार से गिरता है सब मुख लगा लगाकर पी जाते हैं। माखन उतारना हुआ तो एक लडके के ऊपर दूसरा, दूसरे के ऊपर तीसरा ऐसे चढकर उसे उतार लेते हैं और खा जाते हैं।"

मैया ने कहा—"अरी, वीर! खाते ही तो हैं। सब बच्चे अपने ही हैं। खा लेने दिया करो।"

गोपी ने कहा—"खाने में तो कुछ आपत्ति नहीं। पेट भर के स्वय खा ले सखाओं को खिला दे, किन्तु वह तो सदावर्त खोल देता है। बन्दरों को इसने ऐसा सिखा पढा रखा है, कि उसे देखते ही सब बन्दर इकट्ठे हो जाते हैं और लँगतार बनाकर बैठ जाते हैं। यह सबको माखन के लौदे फेंकता है। पेट ही तो ठहरा बन्दर भी कहाँ तक खाँय। उन पर भी नहीं खाया जाता। जब बन्दर भी नहीं खाते तब तो गाली भी देने लगता है। कैसी सूमडी का माखन है मेरे बानर भी इसे नहीं खाते। यह कहकर क्रोध में भरकर वह दूध, दही, घृत तथा नवनीत के बर्तनों को वहीं आँगन मे फोडने लगता है।"

यशोदा मैया ने कहा—"तुम एक काम करो घर मे रखा ही मत करो। किसी लोहे की पेटिकामें रखकर बन्द कर दिया करो, कहीं छिपा दिया करो।"

गोपी बोलीं—"यह सब भी करके देख लिया है, इसका भी

कोई परिणाम नहीं हुआ। पहिले सखाओं के संग घर को ढूँढता है, जब घर में कुछ नहीं मिलता, तो घर के ही ऊपर क्रोध करता है। कहता है—"यह घर का बड़ा दुष्ट है, अशुभ है, जिस घर में दूध, दही, घृत, नवनीत नहीं उस घर को तो व्रज में रहने का अधिकार ही नहीं।" ऐसा कहकर छप्पड़ में आग लगा देता है जब घर जलने लगता है, तो भाग जाता है, अथवा घरवालों पर ही कुपित हो जाता है, बच्चा सोता होता तो उसे नोंचकर भाग जाता है। सोते समय खूँटा से चुटियाँ बाँध जाता है हाथों को रस्सी से बाँध जाता है, मुख में कपड़े ठूँस जाता है।"

यशोदा मैया बोलीं—"अरे, गोपियो! तुम इतनी बड़ी-बड़ी युवती ठहरीं मेरा छोटा-सा बच्चा है। तुम यौवन के मद में मद-माती होकर मेरे बच्चे से छेड़छाड़ करती होगी। मेरा बच्चा कुछ चंचल तो अवश्य है, किन्तु जितनी बात तुम बढ़ा चढ़ाकर कहती हो, उन पर मुझे विश्वास नहीं होता। ताली तो दोनों हाथों से ही बजती है। तुम उससे छेड़छाड़ करना छोड़ दो। अपने आप सुधर जायगा।"

गोपी बोलीं—"मैया! यह तो हम पहिले ही जानती थीं, कि तू अपने पूत का ही पक्ष लेगी हमारी बात पर विश्वास न करेगी। अच्छा विश्वास मत करे, पहिले अपने बच्चे की सब बातें सुन तो ले सुनकर तुझे जो उचित जान पड़े वह करना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर वह माता से श्रीकृष्ण की और भी चञ्चलता की बहुत बातें बताने लगीं। उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

—०—

छप्पय

चुपके घर महँ घुसे धरयो दधि माखन पावै।
सगी साथी मोर बानरनि तुरत खवावै॥
यदि न मिलहि नवनीत कुपित है मटुकी फोरे।
पटकि परातन पात्र लाइ आँगनमहँ तोरे॥
पकरै गोपी तुरत तो, लै छोरनि संग भगतु है।
घरमहँ आगि लगाइकें, मारि ठठाको हँसतु है॥

श्रीकृष्ण के उत्पात

[८७५]

हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यै-
श्छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित् ।
ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपम्
काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

जिह छोटो है नहीं छोकरा खोटो भारी ।
मुँहफट अति ई भयो देइ छूटत ई गारी ॥
छींके पै चढ़ि जाइ जानि दधि माखन जावे ।
चोरी विद्या निपुण विविध विधि युक्ति चलावे ॥
कबहूँ बाबाजी बने, छोरी हू बनि जात है ।
मूसे बिल्ली के सरिस, घुसि घर महँ दधि खात है ॥

सुख सुनाने से बढ़ता है, दुःख सुनाने से घटता है। इस मनुष्य जतु का ऐसी रचना भगवान् ने की है, कि इसे सुनाने की आवश्य-

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपियाँ यशोदा मैया से कह रही हैं—"मैया ! यदि दही माखन ऊँचे स्थान पर हो, इसका हाथ नहीं पहुँचता, तो बड़ी-बड़ी युक्ति करता है, चौकी ऊखल आदि रखकर उन तक पहुँचता है, फिर भी नहीं पा सकता तो छीकों में रखी उन सब भांडों की वस्तुओं को जानकर उनमें छिद्र कर देता है। यदि अँधेरी

कता बनी ही रहती है। हमें अपने मन की बात अपने सगे संबंधी प्रेमी को सुनाने में सुख होता है। अपने भावों को व्यक्त करने में एक प्रकार की सुखानुभूति होती है। कोई बोलकर कोई लिखकर अपने भावों को व्यक्त करते हैं जिससे हम प्यार करते हैं, उसके सम्बन्ध में बिना कहे हम पर रहा नहीं जाता। सीधे कहें, टेढ़े कहें, घुमाकर कहें, फिराकर कहें, कहना तो होगा ही। एक वाणी ऐसा होती है, कि शब्दों से तो वह स्तुति प्रकट होती है, किन्तु वास्तव में वह निन्दा है। एक कथन ऐसा होता है, कि सुनने में तो वह गाली के सदृश है। किन्तु भीतर उसमें अनन्त स्नेह भरा हुआ है। कामी पुरुष कामिनियों की कथाएँ कहते हैं। भक्त भगवान् की कथा कहते हैं। ससारी लोग संसार की बातें करते हैं। वे कहने वाले धन्य हैं। जो अपने प्रियतम की ही कथा कहते हैं, वे सुनने वाले भी धन्य हैं, जो बड़े चाव से अत्यन्त उत्साह से अपने प्यारे की कथाओं को सुनते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकाएँ यशोदा मैया के सम्मुख श्रीकृष्ण के उत्पातों का वर्णन कर रहीं थीं। इतने में ही श्यामसुन्दर आकर माता की गोदी में बैठ गये। अब क्या था, गोपिकाओं का उत्साह और भी बढ़ गया। श्याम माता की छाती से सटे हुए थे; उसके अंचल में मुख छिपाये थे। कभी-कभी माता की दृष्टि बचाकर उनकी नीली साड़ी में से गोपिकाओं को टेढ़ी दृष्टि से देखते थे, उस समय ऐसा प्रतीत होता था, मानों घन में से शरद का पूर्णचन्द्र झाँक रहा हो। हृदय तो

कोठरी मे रख दें तो मणि जटित आभूषण जो इसके अंग मे हैं, वे ही प्रकाशित कर देते हैं मणियों से क्या? इसका अंग ही ऐसा प्रकाशवान् है, कि दीपक का काम देता है। ये सब उत्पात यह तभी करता है, जब हम सब अपने घर के काम धन्धों में लगी रहती हैं।"

सबका प्रेम के कारण उमग रहा था, वे यशोदाजी से आगे कहने लगीं।

एक गोपी ने कहा—"नँदरानी! तुम्हारे लाल की एक बात हो, तो बतायी जाय। ये तो नित्य नयी-नयी चोरी की लीलाएँ करते हैं। एक दिन मैं कण्डा पाथने गयी थी। मैं गोबर इकट्ठा कर रही थी, कि मेरे पास ये लालजी आये और बोले—"भाभी! राम राम!"

मैंने कहा—"हजारी उम्र हो लालजी! कहो किस बात की राम राम है?"

आप बोले—"क्या राम राम करना भी पाप है क्या?"

मैंने कहा—"पाप तो कुछ नहीं, किन्तु तुम्हारी राम राम कुछ रहस्यभरी है। कहो, आज किसके घर पर चढ़ाई है?"

भोरी सूरत बनाकर बोले—"कैसी चढ़ाई भाभी!"

मैंने कहा—"बड़े भोरे बने हो, कहो आज कहीं चोरी करने नहीं गये?"

बस इतना सुनना था कि बिगड़ गये, बोले—"तू चोट्टी तेरा खसम चोट्टा, हमने तेरी कब चोरी की?"

मैंने कहा—"मैं तुम्हारी बन्दरघुड़की में नहीं आने की।"

तब बोले—"अब तक तो हम-चोरी करते नहीं थे, किन्तु अब तैंने हमें चोर कहा है, तो अवश्य चोरी करेंगे।"

मैंने कहा—"देखी जायगी! तब से मैं सावधान रहने लगी। दूसरे दिन मैं बैठी थी, कि एक छोरी आयी और बोली—"भाभी! तुझे नानी बुला रही है?"

मैंने कहा—"बेटी! तू कौन है?"

उसने कहा—"अरी, भाभी तू जानती नहीं, पीपलवारी श्यामो मेरी नानी लगती है।"

मैंने कहा तू बसन्ती की बेटी है। अच्छा मैं तेरी नानी के

पास जाती हूँ, तू यहीं रहना। एक कारो सो छोरा नन्द को लाला घर में न जाने पावे तू यहीं देखना। घर में बहू अकेली है।"

छोरी बडी चतुर मालूम पडती थी। उसने कहा—"मामी! मैं कल ही अपने गाँव से आयी हूँ, मैंने सुना है नन्द का लाला माखन की चोरी करता है, मैं उसे जानती हूँ। तू जब तक न लौटेगी, तब तक मैं द्वार पर ही रहूँगी।"

यह सुनकर मैं चली गयी। जब मैं श्यामो चाची के घर मे पहुँची और उससे पूछा—"मुझे क्यों बुलाया है।" तो उसने कहा—"मैंने तो नहीं बुलाया।" मैंने कहा—"अभी तो बसती बीबी की छोरी आपने भेजी थी, मैं ता उसे घर पर बैठा कर आयी हूँ।"

वह बोली—"बहू तैंने भाँग तो नहीं पी ली, बसती तो अपने ससुराल है, उसके छोरी कहाँ है, एक छोटा-सा छोरा है।"

मैं समझ गयी, यह सब उसी नटखट की चाल है। दौडी-दौडी घर आयी, तो क्या देखती हूँ, सब ग्वाल बाल माखन उडा रहे हैं, वह छोरी बन्दरो को लौंदे के लौंदे फेंक रही है। मैंने दूर से ही कहा—"दारी के, खडे तो रहो।" उसी समय सींग दिखाकर फरिया उतारकर यही नटखट बोला—"भाभी! राम राम! अब फिर तो चोर न कहेगी।"

यह कहकर सखाओं के साथ भाग गया। आकर मैंने घर में देखा। दूध, दही, घी के सब बासन रीते पड़े हैं। बालक पलना पर पडा रो रहा है। बहू एक खम्भे से बँधी है। तब मैं समझ गयी, छोरी नहीं छोरा था और यही तुम्हारा भोरा घर फोरा था।"

नन्दरानी ने हँसकर कहा—"तू कैसी लुगाई है तुझे छोरा छोरी की पहचान नहीं। मेरे छोरा को छोरी बताती है।"

इस पर एक दूसरी बोली—"तुम्हारा यह बालक न छोरी है न छोरा यह तो घर फोरा है?"

यशोदा मैया ने कहा—"तेरा इसने कब घर फोरा है।"

वह बोली—"मेरी भी कहानी सुनो। पिछले माघ महीने में ही मेरा गौना होकर आया है। तीन वर्ष पहिले जब मैं ब्याह के आयी थी, तब तुम्हारी गोदी में इन्हे देखा था। अब के जब आयी तभी सासूजी ने कहा—"बहू, यशोदा के लाल से सावधान रहना, वह सबका माखन चुपके-चुपके खा जाता है। दूध पी जाता है, दही को चाट जाता है।"

मैंने कहा—"माँ जी! आप निश्चिन्त रहे। मैंने अपने माइके में ही नन्दलाल की चोरी की बातें सुन रखी हैं। मेरे यहाँ वे चोरी नहीं कर सकते।"

सास ने कहा—"बहू वह बड़ा चंट है। ऐसा काइयाँ है कि, चुपके से घर में घुस जाता है, उसे कोई पकड़ नहीं सकता।"

मैंने कहा—"अम्माजी! मेरे घर में वह आया तो मैं पकड़ लूँगी।"

न जाने क्यों ये आस पास चोरी करने आते, किन्तु मेरे घर में नहीं आते, मुझे गर्व था, कि ये मेरी चोरी न कर सकेंगे।"

एक दिन मैंने देखा ये अकेले आ रहे हैं, इनके चंचल नेत्र ही बता रहे थे, कि ये किसी ताड़ में घूम रहे हैं। मेरी सास खेत पर गयी थी, मैं किवाड़ खोलकर एक ओर छिप गयी। इन्होंने इधर देखा उधर देखा, कुछ देर खाँसते मठारते रहे, फिर बोले—"चाची नहीं है क्या?" मैं समझ गयी आज ये इसी ताड़ में हैं। मैं कुछ न बोली। फिर बोले—"भाभी! किवाड़ क्यों खोल रखी है?"

मैं छिपी बैठी रही। ये चुपके-चुपके घर में घुसे माखन की कमोरी मैंने नीचे ही रख दी थी। तुरन्त इन्होंने गपका मारा। कुछ लौंदे हाथ में लिये और इधर-उधर देखते हुए ज्यों ही ये भागना चाहते थे, त्यों ही आकर मैंने पट्ट से हाथ पकड़ लिया

और बोली—"कहो लालजी ! क्या बात है, तुमने और गोपियों का घर समझ रखा है क्या ?"

यह सुनकर लालजी सटपटा गये और रोमनी सूरत बनाकर बोले—"भाभी ! मैं तेरे हाथ जोडता हूँ, पेर पूजता हूँ, हा हा खाता हूँ, फिर कभी तेरे घर न आऊँगा, तू मुझे छोड दे।"

मैंने कहा—"लालाजी ! अब चाहे, तुम ऐं करो चाहे चें करो। मेरी सास को आने दो जब तक मैं तुम्हे तुम्हारी माँ के पास न ले जाऊँगी तब तक छोडूँगी नहीं।"

यह सुनकर ये मेरी अनुनय विनय करके बोले—भाभी ! तेरी सूँ तेरे बीछिया की सूँ, अब मैं कभी न आऊँगा।"

मैं तो पकडकर तुम्हार पास लाने वाली थी, इन्हें रोते देखकर मुझे दया तो आ रही थी, किन्तु मैंने छोडा नहीं कहा तुम्हे बाँधकर रखूँगी। यह सोचकर मैंने इन्हे एक खभे से बाँध दिया। कुछ देर मे बोले—"भाभी ! तुझे दया भी नहीं लगती। मैं भागूँगा थोडे ही, देख मेरे हाथ कैसे कस के बाँध दिये हैं, तनिक ढीले कर दे।" मुझे दया आ गयी जाकर देखा हाथ लाल हो गये थे मैंने खोल दिया। तब बडे प्यार से बोले—"भाभी तू बाँधना नहीं जानती।"

मैंने कहा—"तुम तो जानते हो, लाओ सिखा दो।"

तब बोले—"देख, ऐसे गाँठ मारी कि जिससे बहुत भिचने न पावे। यों एक चक्कर दिया, यो दो दिये और तीन बस, ऐसे मुझे कसकर बाँध दिया।" मैंने कहा—"हाँ, अब समझ गयी खोल दो।" तब आप बोले—"तेरा या तेरे खसम का मैं नौकर थोडे ही हूँ जो खोल दूँ। खुलवा अपने दुलहा से।" यो कह कर एक माखन का लोंदा मेरे सब मुख में लपेटकर भाग गये।"

मेरी सास लौटकर आयी उन्होंने कहा—"बहू ! बहू ! अभी

तक रोटी नहीं बनायी। चौके में ये कुत्ते कैसे घुस रहे हैं। मारे लज्जा के मेरे मुख से तो शब्द भी नहीं निकला था। मुझे बँधा देखकर सास सब समझ गयीं और कहने लगीं—"अवश्य ही यह श्रीकृष्ण की करतूत है, तू उसके फंदे मे कैसे फँस गयी। तू तो डींग मारती थी, कि मैं कभी उसके चक्कर में न आऊँगी। यह सुनकर मैं लज्जित हुई सास ने मेरा बन्धन खोल दिया।"

यशोदा मैया ने कहा—"तुम भी तो मेरे बच्चे को बाँधती हो। जो दूसरे को बाँधेगा, उसे एक दिन बँधना ही होगा। छेड़ छाड़ तो तुम ही पहिले से करती हो।"

इस पर एक तीसरी बोली—"नदरानी! तुम तो विश्वास करती नहीं। यह ऐसे ऐसे बहाने बनाता है, कि हमें विवश होकर विश्वास करना होता है। एक दिन दौरा-दौरा मेरे पास आया और बोला—"चाची! नागा बाबाजियों की हमारे यहाँ एक बड़ी भारी जमात आयी है। मैया ने कहा है, कुछ दही माखन मैं तेरे घर से भी ले आऊँ, घर घर से मँगाया है।"

मैंने कहा—"लालाजी! दही माखन की क्या कमी है। नद रानी ने महात्माओं के लिये मँगाया है तो ले जाओ।"

यह सुनकर रैंदा, पैंदा, सैंदा, सटकुआ मटकुआ, मटकी उठाकर चले। मेरे घर के पास ही एक सघन वटवृक्ष है। उसके नीचे ही बैठकर अपने सब साथियों को बाँट रहा था, स्वयं भी खा रहा था। वे सब छोटे-छोटे बालक धोती भी नहीं बाँधे थे। मैं उधर पानी भरने जा रही थी। वट के नीचे पगति देखकर मैंने इनसे कहा—"कहो लालजी, तुम तो नागा बाबाजियों के लिये दही माखन लाये थे, यहाँ तो तुम आपस में ही उड़ा रहे हो?"

ये डाँटकर बोले—"तेरी आँखें फूट गयी हैं, क्या देखती नहीं। ये सब परमहंस नागा बाबा ही तो हैं। भोग लग रहा है,

तू भी चाहे प्रसाद ले जा। तुझे वर माँगना हो वर माँग ले।" हे रानीजी! इस प्रकार के ये उपद्रव करते हैं।"

यह सुनकर फिर चौथी गोपी बोली—'मैया! तुम्हारी गोद में तो लालजी कैसे भोरे बने बैठे हैं। किन्तु तुम इन्हें चोरी करते देखो, तो हँसते हँसते लोट पोट हो जाओगी। एक दिन मैं सो रही थी, वे उठकर खिरक में चले गये थे। न जाने ये सखाओं के संग कहाँ छिपे थे चुपके से घर में घुस आये। मुझे देखकर फुसुर फुसुर करके बातें करने लगे। मैं समझ गयी माखनचोर

आ गया। मैं और भी कपड़ा ओढ़कर सो गयी। तुरन्त ये इधर-उधर माखन खोजने लगे। पूरी बानरी सेना साथ थी, जब इधर-उधर माखन न मिला तो ऊपर देखने लगे। एक ने कहा—"देखो, चोट्टी ने कितना ऊँचा टाँग दिया है।" उसी समय ये बोले—"सारे! हौले हौले बोलो। जाग पड़ी तो सब गुड़ गोबर हो जायगा।" यह सुनकर सब चुप हो गये। एक ने कहा—"कनुआ! बिना एक के ऊपर एक ऐसे चार जब तक न चढ़ेंगे तब तक काम चलेगा नहीं।" इस पर ये ही बोले—"सारे! तू ही पहिले घोड़ा बन।" वह कुछ बड़ा था वही घोडा बना उसके ऊपर दूसरा और दूसरे के ऊपर तीसरा ऐसे चढ़े। फिर भी मटुकिया हाथ नहीं आयी। तब धीरे से लालजी बोले—"मटुकिया में छेद कर दो, किन्तु फटट होने से यह गोपी जाग पड़ेगी इसलिये पहिले इसे कसकर बाँध दो।"

मैं सब पड़ी सुन रही थी, मैंने सोचा—"ये उत्पाती छोकरे मुझे बाँध देंगे, तो मैं तो कहीं की भी न रहूँगी। यह सोचकर मैं उठी और दौडकर किवाड़ बन्द कर दी।" तब तो ये सब घबडाये अब दूध दही खाना तो भूल गये। इन्होंने एक लडके के शरीर पर सीरा लगाकर उस पर धुनी हुई रुई चिपका दी, मुख पर बबे की कलौंच लपेट दी। एक हण्डी फोडकर उसका खप्पर बनाकर हाथ में दे दिया और द्वार पर खड़े हो गये। तब तक मैं अपने अडोस पडोस की और गोपियों को भी बुला लायी। मेरी इच्छा थी, किसी प्रकार इन्हें पकड कर तुम्हारे पास लाती।"

भीतर से ही ये कहने लगे—"चाची! खोल दे अब फिर कभी न आवेंगे।"

हम बहुत-सी गोपियाँ थीं, हमने सोचा हमसे ये भागकर कहाँ जायँगे। मैंने किवाड़ खोली तो ये सब एक साथ चिल्लाने

लगे—"भूत आया भूत आया।" जिसे इन लोगों ने भूत बना रखा था, वह हू हू करके हम लोगों की ओर दौड़ा हम तो सबकी सब डरकर इधर-उधर गिर पड़ीं। ये सबके सब हँसते हुए भाग गये। इस प्रकार अनेक भाँति के यह स्वाँग बनाना जानते हैं। कभी छोरी बन जाते हैं, कभी बाबाजी बन जाते हैं और कभी भूत बन जाते हैं।"

यशोदा मैया ने कहा—"बहू! तैंने सपना देखा होगा, मेरा छोटा सा लाला ये सब बातें क्या जाने। सपने मे ही तू जाग गयी होगी। इतना छोटा बच्चा अँधेरे मे घर की वस्तुओं को कैसे ढूँढ सकता है।"

इस पर एक अन्य सखी बोली—"अब रानी! तुम हम सब को तो झूठी समझती हो इसके लिये अँधेरा उजेला एक सा ही है तुमने जो इसे मणियों की मालाएँ, मणिजटित आभूषण पहिना रखे हैं, इनसे अँधेरे घर में भी प्रकाश हो जाता है, दीपकों से भी अधिक प्रकाश प्रतीत होने लगता है।"

मैया ने कहा—"जब तुम सब ही कहती हो, तो लो, मैं इसके शरीर से सभी आभूषणों को उतारे लेती हूँ।"

इस पर कई गोपियों ने मैया को रोकते हुए कहा—"मैया! तुझे हमारी शपथ है, जो बच्चे के आभूषणों में हाथ भी लगाया तो बच्चे को आभूषणों से हीन करना अशुभ होता है, तुम इसके आभूषणों को उतार भी लो, तो इसका श्रीअङ्ग ही ऐसा दिव्य प्रकाशमान है, कि अँधेरे में भी उजेला कर देता है। अन्धकार तो इसे देखते ही डरकर भग जाता है। मैया! इसलिये आभूषणों को तू मत उतार।"

मैया ने कहा—"तुम सब ही आ-आकर मुझे उलाहना देती हो, मैं तो कहती हूँ, मेरा भोरा बच्चा इन सब बातों को क्या जाने।"

उस पर गोपी बोली—"नन्दरानी ! तुम विश्वास करो, यह घर-घर जाकर चोरी करता है और सबको छकाता है।"

यशोदा रानी ने कहा—"मैं तो तब विश्वास करूँगी, जब तुम इसे पकड़कर मेरे पास लाओ। वैसे तो जो चाहे जिसे चोरी लगा दे।"

इस पर एक गोपी ने कहा—"अच्छी बात है, मैया ! मैं श्याम को पकड़कर तुम्हारे पास लाऊँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब बहुत-सी बातें बताने पर भी यशोदा मैया को विश्वास न हुआ, तो कुछ गोपियाँ और भी बातें बताने लगीं।"

छप्पय

कबहूँ झिरके आइ हमें ही चोर बतावे।
रानी तेरो पूत भूत बनि कबहुँ डरावे॥
बन्दर लावे पकरि कहे जो ताकूँ काटे।
खिलखिलाइ हँसि जाइ जबहिं हम जाकूँ डाटे॥
चितवन महँ टोना भरयो, बानी मिसरी सम मधुर।
करे काज अन्याय के, तोऊ लागे अति सुघर

श्रीकृष्ण को अपराधी सिद्ध करने का प्रयत्न

[८७६]

एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ
स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथाऽऽस्ते ।
इत्थं स्त्रीभिः समयनयनश्रीमुखालोकिनीभि-
र्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८ अ० ३१ श्लोक)

छप्पय

मैया ! कहँ लौं कहैं बात कछु कहत न आवै ।
निशि दिन चोरी युक्ति सोचि उत्पात मचावै ॥
मुख तैं सीटी मार बाल गोपाल समेटे ।
देखे आँगन लिप्यो वहीं टट्टी कूँ बैठे ॥
साइ, बिगारे, उलीचे, बर्तन फोरे हँसि परे ।
त्यागि देहि मल मूत्र हू, घर आँगन मैलो करै ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें उलाहना देती हुई यशोदा मैया से कह रही हैं—"बन्दरानी ! यह तुम्हारा लाला इस प्रकार की अनेकों बार धृष्टता करता है । हमारे स्वच्छ घरों में मल-मूत्र भी कर देता है । यह नित नूतन चोरी सम्बन्धी ही अविष्कारों का अन्वेषण करता रहता है, किन्तु इस समय कैसा सरल बना है, मानो कुछ जानता ही नहीं ।" इस प्रकार गोपियां यशोदाजी को सुनाती भी जाती थीं

काम कोई न बुरा है न अच्छा है, प्राणी न कोई बुरा है न अच्छा, सभी भगवान् के बनाये हुए हैं। अच्छे बुरे की कल्पना हमने अपने स्वार्थ से अपने अपने कारण कर रखी है। जिसमें अपनापन हो जाता है, उसमें अच्छाई ही अच्छाई दिखाई देती है। जो पराया प्रतीत होता है, उसके गुण भी अवगुण से लगते हैं। जीव का जहाँ अपनापन हो जाता है, वहीं वह बँध जाता है। अपने की सब बातें सहनी पड़ती हैं, रोकर सहो चाहे हँसकर सहो, बिना सहे निर्वाह नहीं, क्योंकि वह अपना जो है। अपने हाथ की बनी रोटी, अपने खेत की उत्पन्न हुई वस्तु अस्वादिष्ट होने पर भी स्वादिष्ट लगती है। जीव तभी तक दुःख का अनुभव करता है, जब तक संसार को अपना समझता है, क्योंकि संसार दुःखमय है, जहाँ इसने श्रीकृष्ण को अपना समझ लिया, उनमें अपनापन स्थापित कर लिया, तहाँ दुःख का नाम भी न रहेगा। प्रत्येक घटना में सुख का अनुभव करेगा, क्योंकि वे श्रीहरि सुख-स्वरूप हैं। उनकी प्रत्येक चेष्टा सुखप्रद है, आनन्ददायिनी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आप नेत्र बन्द करके ध्यान करें। बड़ा भारी विस्तृत नन्दभवन का प्रांगण है। उसमें सिंघाड़े दार छपी हुई जाजिम बिछी है। उस पर रंग बिरंगे गलीचे बिछे हुए हैं। पश्चिम की ओर सहारे सहारे कई मसनद (बड़े स्वच्छ धुले तकिये) रखे हैं। बीच के बड़े तकिये के सहारे यशोदा मैया बैठी हैं। शेष तकिये वैसे ही इधर-उधर पड़े हैं। कहने पर भी किसी ने उनका सहारा नहीं लिया। भला नन्दरानी के सम्मुख उनकी बराबर तकिया लगाकर कौन बैठ सकती है। उनका मुख पूर्व की ओर है। उनके सम्मुख सहस्रों गोपियाँ रङ्ग बिरङ्गी

और भय से चंचल हुए नेत्र वाले कृष्ण को बार-बार निहारती भी जाती थीं। इन सब बातों को सुनकर यशोदाजी हँस जाती, वे अपने लाला को धमकाती भी नहीं थीं।'

ओढ़नी ओढ़े घूँघट मारे विविध भाँति के लँहगा पहिने बैठी हैं। गोपियाँ प्रायः सभी युवती हैं। सभी का घूँघट भ्रुकुटियों तक है, कुछ नयी बहुएं लम्बा घूँघट मारे बैठी हैं, तर्जनी और मध्यमा उंगली के सहारे घूँघट को कैंची के समान करके वे नन्दरानी की गोद मे बैठे श्यामसुन्दर को निरन्तर निहार रही हैं। बीच बीच मे हँसी की बात आने पर सब हँस जाती हैं, अनुराग के कारण सबके हृदय हिलोरें ले रहे हैं। सबके नेत्र आनन्द उद्रेक से चमक रहे हैं। उनकी चोलियों की तनी कसी हुई हैं, अति अनुराग के कारण जब उनका वक्षःस्थल बढ़ जाता है, तब ऐसा लगता है मानों तनी टूट ही जायँगी। नँदरानी के सम्मुख जो बोलने मे निपुण गोपियाँ हैं, वे ही बातें करती हैं। रङ्ग बिरङ्गी ओढ़नियों के कारण वह आँगन विविध रङ्ग के फूलों से फूली फुलवारी के सदृश प्रतीत होता है।

यशोदा मैया का शरीर कुछ स्थूल है। गौरवर्ण के अंग पर विविध भाँति के आभूषण चमक रहे है। जब वे हाथों को इधर से उधर उठाती हैं, तो चुरी और आभूषण खनखनाने लगते हैं। उनका मुख विशाल और तेजपूर्ण है। अवस्था ढल जाने पर भी उनके शरीर मे वृद्धावस्था के चिह्न प्रतीत नहीं होते, एक घुटने को नवाये दूसरे को श्रीकृष्ण की पीठ से सटाये तकिये के सहारे बैठी हैं। उनके सामने पान इलायची के थार रखे हैं सामने दो परिचारिकाएँ खड़ी हैं। उनकी गोद में श्रीकृष्ण कुछ तिरछे हुए बैठे हैं, उनका मस्तक माता के स्तनों से सटा है। अंचल मे श्याम-सुन्दर मुख छिपाये हुए हैं, वे कहने वाली गोपी को कनखियों से देख लेते हैं और सैनों ही सैनों में कुछ सकेत करते हैं। इससे गोपी को कहने मे और उत्साह मिलता है, वह निहाल हो जाती है। जब वह कह चुकती है और माता उसके बदले मे उससे तर्क करती हैं, उसे ही डाँट देती हैं तो आप मन ही मन

जाते हैं और उसे सींग दिखाकर, अपने मुख को माता के अंचल में छिपा लेते हैं, पहिचानते हैं और सिर हिलाकर कुछ संकेत करते हैं, अर्थात् आज तू भी उपालम्भ देने आयी है। अच्छी बात है, देखा जायगा।

अब तक जो कह रही थी, उसके चुप हो जाने पर दूसरी बोली—"मैया! दूध दही ही यह खाता हो सो भी बात नहीं। हमारे छप्परों पर सखाओं सहित लाठी मारता है, जिससे सब कूरा करकट दूध, दही, माखन तथा अन्य वस्तुओं में पड़ जाता है। कभी-कभी हमारी लकड़ियों को बिखेर जाता है। कभी-कभी बाहर का कूड़ा लाकर आँगन में फेंक जाता है। मट्ठे की मटुकियाँ को फोड़कर घर भर में मट्ठा ही मट्ठा बहा जाता है। चूल्हे की राख को इधर-उधर छींट जाता है। पानी के मटुकों को फोड़कर घर भर में कीच कर जाता है।"

इस पर यशोदा मैया बोलीं—"घर में कूड़ा करकट डालना तो बड़ी बुरी बात है। क्यों रे कनुआ! तू ऐसा करता है?"

भगवान् बोले—"मैया! तू इन सब चोटियों की बात सुन ले। तब मैं इकट्ठा ही उत्तर दूँगा, मैंने किसके घर में कूड़ा डाला है, किसके आँगन में कीच की है?"

यह सुनकर एक अन्य गोपी बोली—"हाय! रानी इस तनिक से छोकरे पर कैसी-कैसी बातें बनाने आ गयीं हैं। मुझे तो कहने में भी लज्जा आती है संकोच लगता है। यह कीच ही नहीं करता और भी बड़े-बड़े उत्पात करता है।"

यशोदा मैया बोलीं—"उन्हें भी तो सुनूँ, क्या क्या करता है?"

इस पर वही गोपी बोली—"दिवाली के लिये मैंने अपने घर को लीप-पोतकर स्वच्छ बना रखा था। आँगन ऐसा लीपा था, कि मक्खी भी जहाँ रपट जाय। मैं तो घर के भीतर ही थी, यह

अपनी सेना लेकर पहुँच गया। इधर उधर घूमकर यह चुपके से बोले—"अभी तो वह घर के भीतर है, अभी अँधेरा भी है फिर आवेंगे।"

इस पर एक बोला—'हमे तो सारे! लघुशका लगी है।"

इस पर कई बोल उठे हमे भी लगी है हमें भी लगी है। इस पर इनमें जो मनसुखा है वह बोला—"सारे! तुम सबको लघुशका लगी होगी मुझे तो दीर्घशका लगी है।"

तब यही तुम्हारा लाडला बोला—"अरे सारे! और कहाँ जाओगे केसा लिपा पुता स्वच्छ स्थान है मारो यहीं हाथ।"

बस, फिर क्या था इसकी अनुमति पाते ही, उसी स्थान पर खड़े होकर सब छोकरे वर्षा सी करने लगे। इस पर मनसुखा बोला—"वर्षा तो अच्छी हो रही है, किन्तु गर्जन नहीं हो रही है। इतना सुनते ही कई एक पक्ति में लँगोटी खोल-खोलकर बैठ गये। भीतर से मैंने फिटिर फिटिर का शब्द सुना तो मैं बाहर निकलकर आया। दुर्गंधि के कारण नाक फटी जा रही थी। वहाँ फटी लकड़ी पड़ी थी। मैं चेला लेकर दौड़ा—"दारीके, ओ ठहर तो जाओ। तुमने मेरे आँगन को टट्टी समझ रखा है।" इतना सुनते ही सब भाग खड़े हुए। उसी समय भगी को बुलाकर मैंने जैसे तैसे उसे स्वच्छ कराया। मैया! तुम ही सोचो यह अच्छा काम है, भले घर के लड़कों को ऐसा करना चाहिये?"

माता ने श्रीकृष्ण की ठोडी उठाकर पूछा—"क्यों रे कनुआ! तू ऐसा करता है?"

श्रीकृष्ण बोले—"अब मैया! मैं अकेला, ये इतनी झुंड की झुंड हैं, तू मेरी बात तो मानेगी नहीं, यह जो मुँह मटका मटकाकर धमधल्लो सी कह रही हैं, इसे तो मैं भली भाँति जानता हूँ, इसके साथ तो मैंने अवश्य झगड़ा किया है। बात यह थी, कि यह हमारे खिरक के सामने ही लँहगा उठाकर बैठ

गयी। उधर से कहीं बड़े बूढ़े गोप भी आते जाते थे, यह निर्लज्ज बैठी ही रही। मुझे बड़ा बुरा लगा, मैंने एक ईंट उठाकर मारी जिससे इसका लँहगा, फरिया सभी वस्त्र खराब हो गये। अब तू ही बता। इसे खेत में जाना चाहिये या निर्लज्ज की तरह खिरक के द्वार पर बैठना चाहिये। तभी से यह मुझसे बिगड़ गयी है। मैं तो जब तक अँधेरा रहता है तभी तक जंगल में शौचादि से निवृत्ति होकर लौट आता हूँ।"

यह सुनकर वह मोटी-सी गोपी हँस पड़ी और बोली—"हाय! श्यामसुन्दर! तुम इतनी झूठी बातें तुरन्त गढ़ लेना कहाँ से सीख आये हो?"

इस पर यशोदा मैया ने कहा—"यह कनुआ चंचल तो अवश्य है, किन्तु जितनी तुम इसकी बातें बता रही हो, उन पर मुझे विश्वास नहीं होता।"

शीघ्रता से श्रीकृष्ण बोले—"मैया! तू कभी इन चोटियों की बात पर विश्वास मत करना। ये सबकी सब चोरी करती हैं, कोई गोबर चुराती हैं, कोई बेल पर से लौकी, नेनुआ तोड़ ले जाती हैं, तेरी आँख बचते ही ये वस्तुओं को उड़ा देती हैं। यहाँ भी ये कुछ न कुछ चोरी की ही ताड़ में आयी होंगी। बहाना बनाती हैं और आने को क्या कारण बतावें। सफेद झूठ बोलती हैं, झूठ भी बोले तो बनाकर बोले, इन पर झूठ बोलना भी नहीं आता। चोरी भी लगातीं तो किसी और वस्तु की लगातीं, मैं माखन की चोरी क्यों करने लगा। हमारे यहाँ नौ लाख गौएँ हैं। पानी की भाँति दूध दही बहता है। कीच की भाँति माखन पड़ा रहता है। फिर मुझे क्या पड़ी है, जो मैं माखन चुराने जाऊँ। तेरे दस-बीस पुत्र नहीं, अकेला मैं ही तो हूँ। तू चाहे तो इन सबको माखन में डुबो सकती है। स्वयं मुझे पकड़कर, घर में ले जाती है, मेरे मुख में माखन ठूँसती है। मेरे मुँह पर लपेट देती

हैं। मुँह मटकाकर सैंन चलाकर पुतली घुमाकर जाने ये क्या-क्या कहती हैं, मुझे बार-बार छाती से चिपटाती हैं। इनकी लीलाएँ ये ही जाने इनके मन की कोई थाह नहीं पा सकता। ये अपनी चोरी छिपाने को मुझे चोर बताती हैं।"

यशोदा मैया ने कहा—"ऐसे मैं किसी की बात न मानूँगी। यदि मेरा लाल चोरी करता है, तो चोरी करते समय ही उसे पकड़कर मेरे पास लाओ। यों कहने को तो यह तुम्हे भी चोट्टी बताता है परन्तु इसकी बातों का भी मैं विश्वास नहीं करती।"

यह सुनकर गोपियाँ उठ पड़ीं और बोलीं—"अच्छी बात है, हम तो पहिले ही जानती थीं, कि तुम उलटी हमें ही डाँटोगी। फटकारोगी, अपने लाल को नहीं धमकाओगी। अच्छी बात है, हम कभी पकड़कर भी तुम्हारे पास लावेंगी। सौ बार चोर की तो एक बार शाह की भी बन जाती है।" ऐसा कहकर वे अपने अपने घर को चली गयीं। कृष्ण माता की गोदी में ही से उनकी ओर मुँह मटकाते रहे।

गोपियों ने आपस में समिति की और कहा, कि कृष्ण को कौन-सी गोपी पकड़ेगी? उसी समय बरसाने की एक नयी बहू गोकुल में विवाह के आयी थी, उसने कहा अच्छी बात है, "मैं पकड़कर दिखाऊँगी।" बाल चोर समिति के गुप्तचर विभाग की ओर से श्रीकृष्ण को भी यह सूचना मिल गयी, कि अमुक गोपी ने श्रीकृष्ण को पकड़ने का बीरा उठाया है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्रीकृष्ण से आकर किसने कह दिया?"

सूतजी बोले—"महाराज! घर के भेदिया ही तो सब भेद बताते हैं। उस गोपी का एक छोटा सा देवर भी था। वह भी चोर समिति का सदस्य था। उसी ने बताया—"कनुआ भैया! अभी ने तुझे पकड़ने का बीरा उठाया है।"

यह सुनकर हँसते हुए नन्दलाल बोले—"अच्छी बात है देखा जायगा, वह मुझे पकड़ती है या स्वयं पकड़ी जाती है। अब वह गोपी दिन रात्रि श्रीकृष्ण की ही ताड़ में रहने लगी।'

श्रीकृष्ण को जो पकड़ने की प्रतिज्ञा करता है, कृष्ण उसकी प्रतिज्ञा पूरी करते हैं, स्वयं पकड़ में आ जाते हैं, और उसे भी पकड़ा देते हैं। एक दिन अपनी सब सेना को साथ लेकर अँधेरे में ही उस गोपी के घर में गये। सब सखाओं को द्वार पर खड़ा करके सावधान कर गये और कह गये, "कोई मेरे पीछे न आवे यदि मैं पकड़ा जाऊँ तो सब मेरा साथ दें मेरे पीछे-पीछे मेरे घर तक चलें।" सबने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। आज तो आप स्वयं पकड़ाने गये थे, गोपी माखन सामने ही रखकर छिपी हुई पकड़ने को तैयार बैठी थी। आपने मटुकियों में से माखन निकाला और पालथी मारकर भोग लगाने लगे, जब भरपेट माखन खा चुके तब पीछे से आकर गोपी ने पट्ट से पहुँचा पकड़ लिया और बोली—"कहो लालाजी! उस दिन की याद है, मैया की गोदी में बैठे बैठे मुझे चोर बता रहे थे, अब तुम्हारे गालों में गुलचे लगाकर तुम्हें छठी तक की याद दिलाऊँगी। यह मैया की गोदी नहीं है गोपी का घर है।"

आप तो हँस पड़े और बोले—"भाभी! तेरी सूँ, तेरे खसम की सूँ, अब मैं तेरे घर न आऊँगा।"

गोपी ने कहा—"मैं अपने घर से बढ़ती तो हूँ नहीं, जो तुम शपथ खा रहे हो। अपने बाबा की शपथ खाओ अपनी मैया की शपथ खाओ। अब शपथ खाने से काम न चलेगा, तुम्हें आज पकड़कर मैया के पास ले चलूँगी।"

आप उसके पैर पकड़कर बोले—"भाभी! ऐसा मत करो, नहीं तो मैया मुझे मारेगी। तू ही चाहे जो दंड दे ले। ला तेरे लँहगा को यमुनाजी में धो लाऊँ।"

गोपी बोली—"न मुझे लँहगा धुलाना है न फरिया। मुझे तो तुम्हारी मरम्मत करानी है, सो भी मैया के हाथों। वे बहुत कहती थीं, मेरा बच्चा चोर नहीं है। आज सब जान तो जायँगे, यह छोरा नहीं घर फोरा है, इसके पेट में हाथ भर लम्बी दाढ़ी है।"

श्रीकृष्ण रोने लगे। गोपी ने कहा—"तुम्हारे इन झूठे आँसुओं से मैं पसीजने वाली नहीं आज तो तुम्हें मैं पकड़कर ही ले चलूँगी।"

आप भोरी सूरत बनाकर बोले—"तेरी इच्छा ले चल।"

अब क्या था, गोपी ने कसकर, कलाई पकड़ ली और श्रीकृष्ण उसके साथ चल दिये वह तो उस गाँव की बहू ही ठहरी। बहू भी पुरानी नहीं नयी, इसलिये घूँघट मारकर श्रीकृष्ण को कसकर पकड़कर चल दी। श्याम की सेना भी संकेतानुसार पीछे-पीछे चोर है चोर है, चोर पकड़ा गया, चोर पकड़ा गया, कहती हुई पीछे-पीछे चली। मार्ग में जाते-जाते श्रीकृष्ण ने कहा—"भाभी! तू इतनी निष्ठुरता क्यों करती है, देख तू कितना कसकर मेरा हाथ पकड़े है, यह हाँथ दुखने लगा है इसे पकड़ ले।" गोपी को श्रीकृष्ण को कष्ट देना तो अभीष्ट ही नहीं था, उसे तो माता के सम्मुख यह सिद्ध करना था कि तुम्हारा लाल चोरी करता है। उसने इस हाथ को छोड़कर दूसरा हाथ पकड़ लिया। जब वह नन्दजी के चौपाल के समीप पहुँची तो वहाँ उपनन्दजी, सनन्दजी आदि बहुत-से बूढ़े बूढ़े गोप बैठे थे, उनमें से कोई इसका जेठ लगता था कोई ससुर कोई ददिया ससुर। इसने डेढ़ हाथ लम्बा घूँघट मार लिया। तभी श्यामसुन्दर धीरे से बोले—"भाभी! मेरा यह हाथ भी दुखने लगा, अबके इसे पकड़ ले।" यह सुनकर घूँघट में से बिना देखे ही उसने हाथ बढ़ाया, श्रीकृष्ण ने तुरन्त पीछे आने वालों में से उसके देवर का हाथ उसके हाथों

में दे दिया। उसे पहिले ही सिखा पढ़ा दिया था, अतः वह कुछ बोला नहीं।"

श्रीकृष्ण पीछे से दौड़कर दूसरे द्वार से मैया की गोद में जा बैठे। मैया ने कहा—"लाला! इतना हाँप क्यों रहा है?"

श्रीकृष्ण बोले—'मैं खिरक में से आ रहा था, सो वह कटखना बन्दर मेरे ऊपर खों-खों करके दौड़ा। मैं वहाँ से लैया-पैया दौड़ा आया हूँ।"

मैया ने भयभीत होकर कहा—'बेटा! कहीं उसने दाँत तो नहीं मार दिया?"

श्रीकृष्ण बोले—"ना, मैया! दाँत कैसे मारता मैं तो ऐसा भागा कि वह मेरी परछाईं भी न पा सका। तनिक मैं तेरी गोदी में सोऊँगा!" 'सो जा बेटा!' कहकर माँ श्याम की सुन्दर सुचिक्कण पीठ को थपथपाने लगीं। इतने में ही वह गोपी आ गयी और बोली—"मैया पाँइन लागूँ। तुम बहुत कहती थीं, कि कभी चोरी करते हुए मेरे लाला को पकड़कर लाओ। देखो, आज मैं इसे पकड़ लायी। अब तो तुम हमें झूठी न बताओगी।"

नन्दरानी ने कहा—"कैसे पकड़ लायी, किसे पकड़ लायी? बात तो बता तैने भाँग तो नहीं पी ली है?"

गोपी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"चोरी करते हुए तुम्हारे लाला को पकड़कर लायी हूँ, तुम्हारे लाला को। देख लो अभी तक इसके मुँह में माखन लिपटा है।"

मैया बोलीं—"अरी, सुतैमन! घूँघट उठाकर देख तो सही यह मेरा लाला है या तेरा देवर है। मेरा लाला तो मेरी गोदी में सो रहा है।"

गोपी ने जो घूँघट उठाकर देखा, तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। बोली—"मैं पकड़कर तो कन्हाई को लायी थी यह बीच में देवर कैसे हो गया?"

मैया ने हँसकर कहा—"आज तो देवर को पकड़ लायी है, कल अपने ससम को मत पकड़ लाना। तेरे हाथ लगने से बच्चा बदल जाता है, तो अपने पति को भी मत बदल देना।" यह सुनकर गोपी लज्जित हुई।

श्रीकृष्ण बोले—"मैया! यह बड़ी चोट्टी है, घर के दूध की मलाई को उतारकर चुपके-चुपके खा जाती है। इसके देवर ने अपने भाई से बता दिया होगा, इसीलिये उसे धमकाने यहाँ पकड़ लायी है, तू इसकी बात का विश्वास मत करना।"

यह सुनकर वह गोपी उल्टे ही पैरों लौट गयी। श्रीकृष्ण ठठाका मारकर हँसने लगे। बालकों ने भी तारी बजायी। तब श्रीकृष्ण बोले—"मैया! ये ग्वाल बाल इकट्ठे हो गये हैं, इन्हें आज भर पेट माखन खिला दे।" मैया ने बड़े प्यार से कहा—"आओ, बेटाओ! पेट भरके माखन खा लो।" सबको एक-एक लौंदा माखन एक-एक बड़ी डरी मिश्री की मैया ने दी। सब माखन मिश्री खाकर कूदते-उछलते अपने अपने घर चले गये। श्रीकृष्ण का साहस अब और भी अधिक बढ़ गया। वे दिन दहाड़े डाका डालने लगे। चोरी का माखन खाने में उन्हें भी आनन्द आता और जिनका माखन चुराते उन्हें भी अत्यधिक सुख होता।

एक गोपी चाहती थी, श्रीकृष्ण मेरे घर में नित्य माखन चुराने आया करें, किन्तु उनसे नित्य कुछ वाद-विवाद हो, रार हो कलह हो। एक दिन श्रीकृष्ण घूम रहे थे। उस गोपी ने कहा—"कहो लालाजी कहाँ जा रहे हो?"

आप डाँटकर बोले—"कहीं जा रहे हों, तू पूछने वाली कौन होती है। हमारा सकुन बिगाड़ दिया। सवेरे ही सवेरे टोक दिया।"

गोपी बोली—"मैं तुम्हारा सकुन सब जानती हूँ, यहाँ

तुम्हारी दाल नहीं गलने की, मेरे यहाँ चोरी नहीं कर सकते। यदि फिर इधर कभी आये तो अच्छा न होगा।"

आप बोले—"चल हट ! तेरे बाप की गली है। हजार बार आवेंगे, तू मना करने वाली कौन है ?" यह कहकर भाग गये। गोपी प्रतीक्षा करती ही रही। उसे पल-पल भारी हो गया। श्याम अब आते हैं अब आते हैं, करते-करते सूर्यास्त हो गया। सम्पूर्ण रात्रि तारे गिनते-गिनते उसने बितायी। प्रातःकाल माखन निकालकर आशा में बैठी रही। श्याम नहीं आये, उसकी व्याकुलता बढ़ने लगी। खाना-पीना कुछ भी नहीं सुहाता था, दूसरा दिन भी समाप्त हुआ बैरिनि राति फिर उसी तरह बितायी। अब श्यामसुन्दर पर नहीं रहा गया। वे आये और गोपी की मनोकामना पूर्ण की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गोपियों के मुख से नित्य ही श्याम की चोरी की बातें सुनकर माता के मन में भी इच्छा हुई श्याम को मैं कब चोरी का माखन खाते देखूँगी। वांछाकल्पतरु श्रीहरि ने माता की इच्छा पूर्ति का भी विचार किया।"

छप्पय

नँदरानी सुन हँसी कहें मदमाती तुम सब।
कनुआ मम ढिँग रहे करे घर घर चोरी कब॥
ऊपर तें करि रोष कहें गोपी तुम रानी।
पक्ष करोगी पुत्र प्रथम ही हमने जानी॥
जो जिह बाहर करतु है, सो घर महँ हू करेगो।
चोरी पकरो दण्ड फिर, दैबो तुमकूँ परेगो॥

—○—

यशोदा मैया का दधिमन्थन

[८७७]

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रति सूत्रनद्धम्
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्प च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्र कवरविगलन्मालती निर्ममन्थः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ९ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

सोचें मन महँ मातु बने जिह कैसे छोरी।
कैसे घर घर जाइ करे माखन की चोरी॥
करि करि क्रीड़ा सरस श्याम सुख सबकूँ दीन्हों।
मातु मनोरथ सिद्ध करहुँ हरि निश्चय कीन्हो॥
भोर भयो जननी उठी, दधि परोदि मथिवे लगी।
घमर घमर को मधुर रव, सुनि हरि की निद्रा भगी॥

ससार में सर्वत्र सौंदर्य ही सौंदर्य भरा है, किन्तु उसे देखने की

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं— 'राजन्! यशोदा मैया की दधिमन्थन करते समय कैसी दर्शनीय अपूर्व शोभा है? सुनिये, उनका कटि भाग स्थूल है, उसमें वे कटिबन्धन से युक्त रेशमी वस्त्र पहिने हुए हैं। उनके दोनों स्तन हिल रहे हैं, पुत्र स्नेह के कारण उनसे दुग्ध चू रहा है। बार-बार रज्जु के खींचने से श्रमित हुई भुजाओं के कङ्कण और कानों के कुण्डल हिल रहे हैं, उन सुन्दर भौंहों वाली यशोदाजी के मुख पर पसीना आ गया है और वेणी में गुंथे हुए मालती के पुष्प सिर हिलने से गिर रहे हैं।''

योग्यता चाहिये। सौंदर्योपासक कवि सर्वत्र सौंदर्य ही सौंदर्य देखते है, कवियों को फल-फूल वाले हरे-भरे वृक्षों से बड़ा सुख होता है। वे उनमें अनन्त सौन्दर्य का अनुभव करते हैं, उनसे बातें करते हैं, तथा उनकी बातों को सुनते हैं। वे प्रत्येक घटना में सौंदर्य देखते है, वनों में, उपवनों में, सरों में, सागरों मे, नदों में, नदियों में, गिरों में, गिरिशिखरों में, पुरों में, नगरों में, पढ़ों में, अनपढ़ों मे, बालकों मे, वृद्धों में, प्रौढ़ों में, युवकों में, नरों में, नारियों में, कालों में, गोरों में, रूपवानों में, कुरूपों में, हँसने में, रोने में जहाँ भी उनकी दृष्टि जाती है वहीं वे सौंदर्य को निहारते हैं। उनकी दृष्टि में संसार एक सुन्दर खिलौना है। उसकी सब घटनाएँ हँसने की सामग्री हैं, कोई आता है तो भी हँसते हैं, जाता है तो भी हँसते हैं। कोई हँसता है तो भी हँसते हैं कोई रोता है तो भी हँसते हैं। कोई प्रतिज्ञा करता है, तो भी हँसते हैं, प्रतिज्ञा भंग करता है तो भी हँसते हैं। आवश्यक साधनों के आने पर भी हँसते हैं, उनके अभाव में भी हँसते हैं, गम्भीरता को भी देखकर हँसते हैं, चञ्चलता को देखकर भी हँसते हैं। जिसे अनुकूलता, प्रतिकूलता दोनों ही सुखानुभूति हो, नमकीन और बिना नमकीन दोनों प्रकार के साग में भी स्वाद का अनुभव हो, वही कवि है। वास्तव में देखा जाय तो बिना नमक के साग में भी एक प्रकार का सौंधा-सौंधा स्वाद है। इन बातों को कवि ही अनुभव कर सकता है। हम संसारी लोग घटनाओं को जिन दृष्टियों से देखते हैं, कवि उससे भिन्न ही दृष्टि से देखता है। किसी स्त्री को रोते देखकर हमें भी दुःख होता है. किन्तु कवि उसकी चेष्टाओं का अध्ययन करता है। कैसे इसके अश्रु निकलते हैं, मुख की आकृति कैसी होती है, रुदन किस स्वर में करती है, अश्रु निकलकर कहाँ गिरते हैं। वह तो रुदन के सौन्दर्य चिन्तन में ही निमग्न हो जाता है।

एक कवि थे, उन्होंने एक छोटा सा बगीचा लगा रखा था, उसमें रङ्ग बिरङ्गी मटर बो रखी थी। एक मोटा-सा साँड़ उस मटर के खेत में घुसकर उसे खाने लगा। कवि स्वभावानुसार लाठी लेकर साँड को खेत से बाहर निकालने चले, उन्होंने लाठी उठायी। साँड लाल-लाल आँखें करके अपने सींगों से कवि को मारने दौडा। उस समय उसका ककुद् हिल रहा था पैरों को कुछ टेढ़े करके सिर को नीचा करके वह क्रोध में भरकर कवि की ओर बढ़ा, कवि तो उस शोभा को देखकर आत्मविस्मृत से बन गये। उसकी क्रोध की मुद्रा का रसास्वादन करने लगे। जहाँ के वहाँ खड़े हो गये। यहा कवि का हृदय है। कवि की दृष्टि को साधारण लोग नहीं समझ सकते। जिन घटनाओं को हम नित्य देखते हैं, हमारे ऊपर उनका कोई प्रभाव नहीं पडता। उन्हें ही कवि देखकर उनका वर्णन करता है, तो हम पढते पढते अघाते नहीं। जितने ये राम कृष्ण आदि अवतार हुए हैं, यदि इनके चारु चरित्रों को किसी कवि ने अन्तर्दृष्टि से न देखा होता, तो ये कथाएँ अमर कैसे बनी रहतीं। इतिहास के पात्रों को अमर करने वाले कवि ही हैं। साधारण घटनाओं में भी जो सरसता भर देता है, वही कवि है। स्त्रियों को दही मथते सभी निहारते हैं, नित्य उनके मन पर कोई प्रभाव नहीं पडता जब उसी मन्थन वर्णन को कवि की कृति में पढते हैं, तो शुष्क हृदय भी सरस सा बन जाता है। मैया यशोदा की दधि मथते समय कैसी अपूर्व शोभा है, इसका साकार रूपक भगवान् वेदव्यास ने अपने वर्णन में खडा कर दिया है। भाग्यशाली ही उस वर्णन को पढ़कर उसका अपने हृदय में अनुभव कर सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण के सम्बन्ध के नित्य ही उपालम्भ सुन-सुनकर माता यशोदा के मन में एक लालसा उत्पन्न हो गयी। वे सोचने लगीं—"कृष्ण गोपियों के घर से

माखन चुराता है, इसे मैं अपने नेत्रों से कैसे देखूं ? कभी मेरे सम्मुख भी,चोरी करे, तो मैं इसे डाँटूँ फटकारूँ । बच्चों को डाँटने फटकारने में भी एक प्रकार का आनन्द आता है । सर्वान्तर्यामी प्रभु की समस्त चेष्टायें भक्तों को सुख देने के ही निमित्त होती हैं, वे माता के भाव को समझ गये अब उन्होंने निश्चय किया, कि माता के सम्मुख भी मैं वात्सल्य रस की अभूत पूर्व धारा बहाऊंगा, उसे भी अपना चौर्यकर्म दिखाऊँगा । माता जितनी लीला देखने को उत्सुक थीं, उससे अधिक ये लीलाधारी लीला करने को उत्सुक थे ।

मैया यशोदा के समस्त कर्म अपने लाला की प्रीति के ही निमित्त होते थे । खिरक में लाखों गौएँ थीं, उनकी रेख-देख दास दासी करते । नन्दबाबा के संरक्षण में उनका समस्त कर्म होता। दस बीस गौएँ माता भीतर पूजन के लिये घर में रखतीं । उनको मेवा मिश्री आदि खिलाती जातीं । जल के स्थान पर दुग्ध पिलाया जाता उनका दूध बहुत गाढ़ा होता और उसमें पद्म की सी गंध आती, अतः वे सब गौएँ पद्मगन्धा कहलातीं थीं । उनके नाम थे, श्यामा, रामा, गंगा, यमुना त्रिवेणी आदि-आदि । माता उनकी रेख-देख स्वयं करतीं । उन गौओं का दूध नारायण की सेवा में आता । उनमें से एक दो के दूध को मैया स्वयं दुहतीं, स्वयं गरम करतीं, स्वयं उनके दही को जमातीं, और लालजी को गोद में लिये हुए स्वयं ही अपनी रेख-देख में अपनी आँखों के सम्मुख दही मथवातीं और उसी को श्रीकृष्ण को खिलातीं। माता का हृदय ही जो ठहरा । मेरे लाला को माखन बहुत प्रिय है, अतः अच्छे से अच्छा सुन्दर से सुन्दर माखन उसके लिये बनाया जाय, यही माता को चिन्ता होती ।

यद्यपि अब श्रीकृष्ण चार पाँच वर्ष के हो गये हैं, दूध, दही, माखन मलाई सब खाते हैं । रोटी, दाल, भात को भी उड़ाते हैं,

किन्तु माता के स्तनपान को उन्होंने नहीं छोड़ा है। जब एक वर्ष के पश्चात् माता के दूसरा बच्चा हो जाता है, तो पहिले बच्चे का दूध छूट जाता है, यदि माता के दूसरा बच्चा न हो तो बहुत-से लड़के तो बहुत सयाने होने पर भी माता का दूध पीते रहते हैं। यही इनकी दशा थी, नित्य ही माता छप्पन प्रकार के भोग लगाती। विविध भाँति के पदार्थों को बनाती, अपने हाथों से श्यामसुन्दर को खिलाती, किन्तु जब तक ये दूध को न पी लेते, तब तक इनकी तृप्ति ही न होती। माता को भी इसमें बड़ा आनन्द आता, ये माता के साथ ही सोते थे, ये माता को कसकर पकड़े रहते, पलङ्ग पर पड़े-पड़े ही मैया दासियों से कहती रहतीं। देखना रई को गरम जल से धो लेना। बहुत शीघ्रता भी मत करना दही मथते समय ठंडा हो जाय, फैल जाय तो तनिक गरम पानी देने से ठंड छूट जाती है, लौंनी के दाने फैलकर लौंदा बन जाता है। शैया पर पड़े ही पड़े बतातीं रहतीं। जब माखन निकालने का समय आता, तो तुरन्त हाथ धोकर हाथ डालकर माखन निकाल लेतीं। दधि मन्थन और चक्की चलाने का काम अरुणोदय में होता है। जिस स्त्री का दही अरुणोदय तक बिलोया नहीं जाता, जो सूर्योदय तक चक्की चलाती रहती है, वह फूहर कहलाती है। लक्ष्मी उसके घर से भाग जाती है, अतः रई और चक्की की ध्वनि सूर्योदय से प्रथम ही बन्द हो जानी चाहिये। इसलिये प्रातःकाल तड़के मुँह अँधियारे माँ अपने लाल को थपथपाती जाती और दही मथवाती जातीं।

एक दिन कोई पर्व था, घर की सभी दासियाँ अन्यान्य कामों में व्यस्त थीं। अभी तक दही नहीं मथा गया। माता को तो एकमात्र चिन्ता अपने लालकी थी। उठते वह माखन माँगेगा। मैं कहाँ से दूँगी, क्यों नहीं आज मैं ही उठकर दही को मथ लूँ, वह ऊधमी जाग पड़ा, तो फिर कुछ भी काम न करने देगा, टटका

तुरन्त निकाला, सद माखन इसे न मिला, तो रोते-रोते घर भर देगा। इसीलिये माँ चुपके चुपके उठीं, जिससे श्रीकृष्ण को प्रतीत न होने पावे। वे तनिक उठतीं, फिर ठहर जातीं, बार बार बच्चे का मुख देख लेतीं, इसे मेरे उठने की बात विदित तो नहीं हो गयी है। श्रीकृष्ण तो आज विचित्र लीला करने वाले थे, अतः वे आज गहरी नींद में सो रहे थे, उन्हें पता ही न चला माँ मेरी शैया से कब उठ गयी है।

उठकर माता ने तुरन्त गरम जल से हाथ पैर धोये। मथनी को सुन्दर स्वच्छ जल से धोया। खिड़की में रखी हुई दही की मटकियों को उठा लायीं। शब्द न हो, इस प्रकार दही में हाथ लगाकर उसे मथनी में परोंदा, फिर रई को धोया। रई की रस्सी को सम्हाला। मथने की रस्सी रई से लिपटी हुई थी, उसके दोनों कोनों पर सोने की खुँटी बँधी थी। मैया ने रई को दही में डुबाया और घमर-घमर कर के दही मथने लगीं।

जिस समय मैया दही मथ रही थीं, उस समय की उनकी शोभा दर्शनीय थी। दही मथते समय और चक्की चलाते समय माताएँ मधुर स्वर में गीत गाती रहती हैं, जिससे मन भी लगा रहता है, श्रम भी नहीं होता और काम भी मालूम नहीं पडता। मैया भी दही मथते समय अपने बच्चे की बाल लीलाओं का स्मरण कर-करके गाती जाती थीं। व्रज में एक गोपी थी, वह बड़ी सुन्दर कविता करना जानती थी। उसने श्रीकृष्ण के बाल-चरित्रों को बड़ी ही मर्म स्पर्शी भाषा मे वर्णन किया था। बड़े सुन्दर प्रसाद पूर्ण मधुर गीत बनाये थे। उन गीतों को मैया ने कण्ठस्थ कर लिया था। उसे अपने पुत्र की प्रत्येक बात परम प्रिय लगती थी, उसे उसकी लीला गाने में आन्तरिक सुख होता था। इसलिये जब भी उसे अवसर मिलता, तभी उन पदों को गुन गुनाया करती थी। आज दधि मथते-मथते माता मन्थन के घमर-

घमर शब्दों में अपने स्वर को मिलाती हुई गा रही थी। वह एक सुन्दर निवाड के पीढ़े पर बैठी थी। उसके चौखट पाये सब चन्दन के थे। बड़ी-सी मथनी मे गाढा-गाढा दही भर रहा था, उसमें मथनी को डालकर दायें बायें हाथों से दाम को क्रमशः खींचती। दही के मथे जाने से छींटे उडते थे, वे ऐसे लगते थे, मानों क्षीरसागर के मथे जाने पर उसमे से मोती उछल रहे हों। मैया का शरीर कुछ अपेक्षा कृत स्थूल था। उनका कटि भाग तो स्वभाविक ही अधिक स्थूल था, वे एक सुन्दर रेशमी साड़ी पहिने हुए थीं। एकान्त मे वहाँ कोई पुरुष तो था नहीं इसलिये सिर का वस्त्र खिसक गया था। जिससे उनकी मोटी चोटी इधर-उधर हिल रही थी। वह विधिपूर्वक गुँथी हुई थी। रात्रि में दासियों ने उसमे राजमालती के पुष्प गूँथ दिये थे। मालती की मालायें भी उसमें लगायी गयी थीं। मथते समय वेणी में गुँथे पुष्प नीचे भूमि पर गिर रहे थे, मानों आकाश से देवगण पुष्प वर्षा कर रहे हों। अथवा पुष्प पैरों में पड़ककर भूमि मे गिरकर माता से मना कर रहे हों, कि माँ! यह तुम्हारा काम नहीं है। दासियों को आने दो, वे दधि मथेंगी। आप लाला के पास जाओ। अथवा माता को साधारण काम करते देखकर पुष्प लज्जित हो रहे हों कि जब माता इतने छोटे छोटे काम स्वय करती हैं, तो हमें क्या अधिकार है, सबसे ऊपर माता के मस्तक पर बैठे रहें, हमें भी गिर जाना चाहिये। अथवा उन्होंने सोचा श्रीकृष्ण इसी मार्ग से आकर माता को पकडेंगे उनके पथ को पुष्पमय बना दो। अतः वे माता के सिर से उतरकर श्रीकृष्ण के मार्ग में लेट गये। अथवा पुष्पो ने सोचा व्रज में उच्चासन पर बैठना निषेध है, वहाँ तो व्रजरज में ही लोटने का सबसे बडा माहात्म्य है। गोपियों की पदधूलि को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उसमें लोट-पोट जाना चाहिये। माता ने हमें सबसे ऊपर मस्तकपर बिठा रखा है, अतः

अब हमें व्रज की रज में लोट पोट होना चाहिये। अथवा श्रम के कारण सिर हिलने के कारण पुष्प स्वाभाविक ही गिरते होंगे कुछ भी हो, माता के सिर से सुगन्धित पुष्प गिर रहे थे। यद्यपि माता की अवस्था ढल गयी थी, फिर भी शरीर में एक भी झुर्री दिखायी नहीं देती थी मुख उसी प्रकार चन्द्र के समान खिला हुआ था। माँग में सिंदूर शोभा दे रहा था। भाल पर सौभाग्य तिलक अंकित था, सिर का एक भी बाल सफेद नहीं था। कानों के कमनीय कुण्डल बार बार रज्जु के खींचने से हिल रहे थे, उनकी भौंहे सुन्दर और तिरछी थीं, वह चिकनाई लगाकर सम्हाली गयी थीं। बड़े-बड़े नेत्र अनुराग से छलक रहे थे। उनकी चुरी, ककण, बँगली, पहुँची, बाजूबन्द आदि आभूषणों से युक्त भुजायें नेति के खींचने से इधर-उधर हिलते थे, उनमें के आभूषण बज-बजकर मथने के शब्द में अपनी ताल मिला रहे थे। सोकर उठने के कारण माता ने कचुकी नहीं पहनी है, अतः उनके निर्मुक्त पुष्ट, लम्बे और लटके हुए स्तन दो बड़ी मछलियों के सदृश चञ्चल हो रहे थे। निरन्तर पुत्र का ही स्मरण करते रहने के कारण उनका मातृस्नेह उमड रहा था, स्नेह के उद्रेक के कारण स्तनों से दूध चू रहा था, जिससे उनका रेशमी वस्त्र भीग रहा था। श्रम के कारण मुख पर स्वेद बिन्दु झलक रहे थे। पैरों को फैलाये वे स्नेहमयी सजीव प्रेम प्रतिमा ही दिखायी देती थीं। मथनी हिलने न पावे, इसलिये उसके चारो ओर पत्थर के उठखने लगे हुए थे। माता दधि मथती जाती थीं और शेया की ओर निहारती जाती थी, कि कहीं ऊधमी जाग न पड़े। वे चाहती थी, श्रीकृष्ण के जगने के पूर्व ही मैं माखन निकाल लूँ। जहाँ यह जागा, कि फिर मथने नहीं देगा। इसीलिये वे शीघ्र शीघ्र हाथों को चला रही थीं। माता जिसके लिय चिन्ता कर रही थीं वही बात हुई, श्रीकृष्ण ने करवट बदली। शेया पर

उन्होंने इधर उधर माता को निहारा। माता को न पाकर वे उठ कर बैठ गये और आँख मलते हुए ऐंड़ने लगे। सामने देखा माता दही मथ रही है। आप पाटी पकड़कर पृथ्वी पर उतरे और माता की ओर चले।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिन्हें योगी, यति, साधु, सन्यासी सदा खोजते रहते हैं, वे ही आज भोरे बन दूध पीने की

इच्छा से रोते हुए माता को खोज रहे हैं। उठते ही भगवान् को माता के स्तनपान की चटपटी लगी। वे कुछ खुली कुछ मुँदी

आँखों से मुख लटकाये माता की गोद की ओर दौड़े। समीप जाकर उन्होंने पट्ट से माता की रई को पकड़ लिया। अब माता दधि कैसे मथतीं, यदि किसी वस्तु को पकड़ते तो माता मथती रहतीं। किन्तु रई के पकड़ने से तो उन्हें रुकना ही पड़ा। दधि-मन्थन का बन्द करके माता ने लालाजी को गोदी में उठा लिया और उनके मन्द-मन्द मुसकान से युक्त मनोहर मुखारविन्द को निहारती हुई, स्नेह के कारण स्वतः ही झरते हुए अपने स्तनों का दुग्ध पिलाने लगीं।"

छप्पय

मातु मथहिं दधि हिलहिं कान कुण्डल बोबो कर।
स्वेद-बिन्दुयुत बदन कमल पै जनु हिमकन बर॥
राजमालती सुमन झरहिं सिरतें अति सुन्दर।
मनहुँ कुसुम बरसाइ करहिं सुर मान निरन्तर॥
श्याम त्यागि शैया तुरत, मातु मथानी पकरिकें।
अम्मा बोबो प्याइ दै, पुनि पुनि बोलें अकरिकें॥

माखनचोर की करतूत

(८७८)

उलूखलाग्रे रुपरि व्यवस्थितम्,
मर्कांय काम ददत शिचि स्थितम् ।
हैयङ्गव चौर्यविशङ्कितेक्षणम्,
निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ९ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

सम्मुख सुतकूँ निरखि नेहतैं मातु उठायो ।
अङ्क लाइ मुख चन्द्र चूमि पय-पान करायो ॥
इत जननी हिय हरषि कृष्णकूँ दूध पिआवै ।
धरयो बरोसी दूध उफनि उत आगि बुझावै ॥
दूध पूत इक सङ्ग ई, उफने माता सुतहिँ तजि ।
दूध उतारन आगितैं, लैया पैया गई भजि ॥

अपने प्यारे से अपने प्यारे के हितैषी का अधिक आदर किया जाता है। पुत्र को कोई रोग है, उसकी चिकित्सा कोई सुयोग्य

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! माता ने देखा श्रीकृष्ण उलटी ओखली के ऊपर खड़े हैं छीके पर रखे मक्खन को इच्छानुसार बानरों को बाँट रहे हैं। चोर कर्म की आशङ्का के कारण उनके नेत्र चञ्चल हो रहे हैं, वे इधर उधर देख रहे हैं। पुत्र को ऐसी स्थिति में देखकर अपने आप माँ सुत के समीप गयीं।"

वैद्य कर रहा है, पूर्ण विश्वास है, पुत्र उसके उपचार से निरोग हो जायगा, तो उसका स्वागत सम्मान पुत्र से अधिक किया जाता है। कारण कि वह पुत्र का मङ्गलेच्छु है। सुत का उसके द्वारा कल्याण होगा। उस वैद्य से स्वयं सीधा कोई प्रेम नहीं है। उसमें जो आदर बुद्धि है, वह सुत के सम्बन्ध से ही है। उसे प्रसन्न करने में यदि सुत को दो-चार खरी-खोटी भी बातें कहनी पड़ें, तो इसमें प्रेम का आधिक्य ही समझना चाहिये। वैद्य को प्रसन्न रखना मानों पुत्र की निरोगता को ही उपार्जन करना है। छोटे बच्चे इस रहस्य को समझते नहीं। वे इसमें अपना अपमान समझते हैं, रोने लगते हैं, माता पिता से क्रुद्ध हो जाते हैं, रूठ जाते हैं, मचल जाते हैं और नाना प्रकार के उपद्रव करने लगते हैं। माता-पिता को भी फिर उसे शान्त करने के लिये शाम, दाम, दण्ड तथा भेद नीति का आश्रय लेना पड़ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैया यशोदा की रई आधे मथे हुए दही में ज्यों की त्यों पड़ी है। उनके हाथ से मथने की रस्सी कब छूट गयी, इसकी भी उन्हें सुधि नहीं थी। श्याम माता की गोदी में पड़े-पड़े दूध पी रहे थे। सम्मुख ही पद्मगंधा गौ का दूध मिट्टी की बरोसी में गरम हो रहा था। नित्य तो दासियाँ बरोसी में कण्डे रखकर सुलगा देती थीं, जब वे निर्धूम हो जाते, तो दूध औटने की हंडी में दूध को छानकर उस पर रख देतीं। अग्नि शनैः-शनैः कम होती जाती दूध का उफान हंडी में आता—और उसी में उमड़-घुमड़कर शान्त हो जाता, फिर शनैः-शनैः मलाई ऊपर जमने लगती, कलेवा के समय तक दूध औटकर लाल हो जाता, उस पर मोटी रोटी के सदृश मलाई पड़ जाती। श्रीकृष्ण को मलाई बड़ी अच्छी लगती थी, इसलिये मैया भोर में ही बहुत तड़के दूध दुहाकर उसे बरोसी पर गर्म करने रख देतीं। जब श्रीकृष्ण खेलकर आते और आते ही मलाई माँगते, तो अम्मा झट-

उतनी ही बड़ी रोटी पर मलाई रख देतीं। गेहूँ की लाल रोटी पर मानों सफेद मलाई की रोटी रखी हो। श्रीकृष्ण दोनों ही रोटियों को दाँतों से कतर-कतरकर खा जाते, इससे माता को अत्यन्त ही हर्ष होता। दूध जितना ही गाढा होता है जितनी ही मन्द मन्द अग्नि से औटाया जाता है, उतनी ही मोटी मलाई पड़ती है। माता सब काम करते हुए भी दृष्टि दूध पर ही रखती। यद्यपि वह गोद में बिठाकर श्यामसुन्दर को दूध पिला रही थीं, फिर भी वह बार बार बरोसी की ओर देखती जाती थीं, आज शीघ्रता में किसी दासी ने अधिक कण्डे सुलगा दिये। निर्धूम होने के पूर्व ही जब अग्नि अपने यौवन पर थी, तभी उस पर दूध से भरी औटाने की हँडिया रख दी। अधिक अग्नि लगने से दूध उबला और उबलकर बरोसी में गिरकर जलने लगा। दूध का एक बिन्दु भी अग्नि में गिरकर जलने लगे तो माताएँ उसकी गन्ध ही से तुरन्त पहिचान जाती हैं, कि कहीं दूध उफन रहा है। अब तक माता दूध पीते हुए मनमोहन के मुस्कानयुक्त मनोहर मोहक मुखारविन्द को ममता भरी दृष्टि से निहार रही थीं। दूध के जलने की गन्ध पाते ही उसने जो देखा, उसे देखकर तो वह हक्की बक्की रह गयी। सब कुछ भूल गयी। तुरन्त बलपूर्वक श्रीकृष्ण को गोदी से उतारकर भूमि पर रखकर दूध को उतारने दौड़ी। बस, फिर क्या था अब तक तो दूध ही उफन रहा था अब पूत भी उफन पड़ा। 'अच्छा, मैया को मैं प्यारा नहीं, मुझसे प्यारा दूध है। मेरा कुछ भी शील सकोच नहीं किया, मुझे अतृप्त ही छोड़कर बीच में से भागकर दूध को उतारने चली गयी। देखूँगा इसके दूध दही मक्खन को।' माता के इस व्यवहार से बाल-कृष्ण को क्रोध आ गया। भगवान् को क्रोध क्यों आया जी? क्रोध आना तो कोई अच्छी बात नहीं? अच्छी बात न हो, कुछ बात तो है ही। अच्छी-बुरी दोनों ही बातों के जनक वे हैं। दैवी

आसुर दोनों ही प्रकार की सृष्टि उनसे है, समस्त भावों के जनक वे ही हैं। जब उनमें शान्ति है, तो क्रोध भी होगा, किन्तु उनका क्रोध कल्याणप्रद है, क्योंकि वे कल्याण स्वरूप हैं। माता पर जो क्रोध आया उसमें कूट-कूटकर प्रेम भरा था। जैसे गङ्गाजल में आकर सभी प्रकार के जल गङ्गाजल बन जाते हैं, ऐसे ही प्रेम-गङ्गा में जो भी भाव आ जाते हैं, वे प्रेममय हो जाते हैं। प्रेम का कोप तो भाग्य-शालियों को ही प्राप्त होता है। प्रेम का कोप पराये पर नहीं किया जाता, वह तो अपनों पर ही आता है। कृष्ण जिसे अपना करके स्वीकार कर लें और फिर उस पर कोप करें, इससे बढ़कर सौभाग्य की बात कौन-सी हो सकती है।

हाँ, तो श्रीकृष्ण के कोप के कारण बन्धूक पुष्प की अर्धोन्मीलित कलिका के सदृश युगल ओष्ठ फरकने लगे, वे अपने छोटे-छोटे शुभ्र प्रकाशमय मनोहर दाँतों से बिम्बक-वर्ण के अधर को दबाकर इधर-उधर अपने क्रोध को व्यक्त करने का साधन ढूँढ़ने लगे। माता ने जो दही बिलोने के माँट में चारों ओर पत्थर के टुकड़े लगा रखे थे, उन पर उनकी दृष्टि पड़ी, उन्होंने एक बड़े से पत्थर को उठाकर दही से भरी मटुकिया में पूरा बल लगाकर मारा। पत्थर के लगते ही पुरानी चिकनी मटुकिया फट से फूट गयी। अललल करके उसका समस्त आधा बिलोया हुआ दही भूमि पर फैल गया। माता की बरौसी कुछ दूर पर दूसरे घर में रखी थी, वह दूध को उतार कर उसके ठंडे होने की प्रतीक्षा में बैठ गयी। हड़बड़ाहट में वह इस बात को भूल ही गयी, कि श्रीकृष्ण को मैं अतृप्त ही छोड़कर चली आयी हूँ।

श्रीकृष्ण ने क्रोध में भरकर मटुकिया में पत्थर तो मार दिया किन्तु उनके हाथ कुछ नहीं लगा। अभी तक मक्खन दही से पृथक् नहीं हुआ था। पृथक हो जाता लौंदा बन जाता, तो मट्ठा के फैल जाने पर भी कुछ न कुछ माखन मिल ही जाता,

किन्तु अभी तक तो वह उसमें एकाकार ही था। मटुकी के फूट जाने पर भगवान् को कुछ भय हुआ, वे भगे वहाँ से। सोचने लगे—"माता का अपराध भी किया और कुछ हाथ भी नहीं लगा।" तुरन्त वे घर में घुस गये, छींके पर कल का माखन रखा था। समीप ही धान कूटने का काठ की बड़ी ओखली उलटी रखी थी, श्याम ने शनः-शनैः उसे खिसकाकर छींके के नीचे किया, फिर आप उस पर चढ़ गये, जैसे तैसे माखन की कमोरी को उतार लिया। एक गफ्का मारा माखन बड़ा मीठा था। लाभ से लोभ बढ़ा सोचा—"यहाँ बैठकर खाऊँगा, तो सम्भव है, बीच में ही माँ आ जाय, खाने न दे उलटे दण्ड दे, इसलिये इस माखन की कमोरी को लेकर वहीं एकान्त में माखन खाना चाहिये, किन्तु बाहर जाते हैं, माँ देख लेगी। उसी समय उन्हें पिछली खिड़की दिखायी दी। सयोग से वह खुली हुयी थी। आप उस कमोरी को लिये हुये उस खिड़की के नीचे उतर गये। वहाँ तमाल, बकुल, कदम्ब तथा अर्जुन के बहुत से वृक्ष लगे हुए थे। उन पर श्रीकृष्ण के सखा बानर बैठे हुए थे। वहाँ भी एक काठ का ऊखल उलटा रखा था। उसे ही श्याम ने अपना मूँढ़ा बनाया। उस पर मटुकिया को लेकर बैठ गये। बानर तो लगे हुए ही थे। बानर और बालकों को जिससे एक बार खाने को माल मिल जाता है, उससे वे हिल मिल जाते हैं। श्रीकृष्ण को देखते ही बहुत बानर अपने परिवार सहित आकर उनके चारों ओर बैठ गये। श्रीकृष्ण को अकेले तो भोजन करने में आनन्द ही नहीं आता। भोजन का रस तो तभी आता है, जब अपने अत्यन्त प्रेमी सखा साथ बैठकर हँसते खेलते मीठी बात करते-करते खाँय। भोजन की मिठास प्रेम की बातों से बहुत बढ़ जाती है। अपने बानर सखाओं को देखकर श्रीकृष्ण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे स्वयं एक ग्रास खाते और एक लौंदा उनको भी

जाते। वे ऐसे सधे हुए थे, कि फेंकते ही गेंद की भाँति बीच में से ही माखन को लपक लेते और अपने गालों में भर लेते। इस प्रकार माखन का ज्योनार होने लगी।

इधर माता ने दूध को उतार कर ठंडा किया। अग्नि ठोक पीटकर उसका बल कम किया, जब वह मृत प्रायः सी हो गयी, उसका बल घट गया, तो उस पर पुनः दूध को रखा। फिर देखती रही, इसमें उबाल तो नहीं आती। जब उस पर पतली सी जाली पड गयी, मलाई आ गयी, तब वह निश्चिन्त हो गयी। दूध पर जब मलाई पड जाती है, तब फिर वह उफनता नहीं।

इस प्रकार दूध की भली भाँति व्यवस्था करके जब माता मथनी मटुकी के समीप आयी तो उसे ऐसा लगा, मानों आँगन में दधिसागर उमड रहा है। मटुकी फूटी पडी है, दही की कीच हो रही है। फूटे माँट के भीतर पत्थर देखकर, मन्थन-गृह से दूसरे घर में श्रीकृष्ण के दधि में सने पैर देखकर माता समझ गयी, कि यह सब उस ऊधमी की ही करतूत है। वे इधर उधर देखने लगीं, श्रीकृष्ण वहाँ नहीं हैं इससे तो उन्हें पूर्ण निश्चय हो गया वही फोडकर डर के कारण भग गया है। माता को पुत्र की ऐसी चपलता पर हँसी आ गयी। बच्चों की ऐसी चचलता देखने का सौभाग्य भाग्यशाली पुरुषों को ही मिलता है। फिर भी माता को ऊपरी मन से रोष प्रकट करना है, जिससे पुनः पुत्र ऐसा कार्य न करे। अब माता को पुत्र कहाँ चला गया, इस बात की चिन्ता हुई।

लालजी वैसे तो बडे बुद्धिमान बनते हैं, किन्तु माता के सम्मुख उनकी सिटिल्ली गुम्म हो जाती है। माखन चोराने गये भी तो उस दही की कीच में ही होकर गये। जिससे उनके चरणों के चिन्ह स्पष्ट दिखायी देते थे। माता उन चरण चिन्हों

के सहारे-सहारे घर में गयीं। जाकर उन्होंने देखा कल जिस मटुकी में माखन रखा था, वह मटुकी भी छींके पर नहीं है। समझ गयी आज श्रीकृष्ण ने मेरे घर मे भी चोरी की है। तब तो गोपियों की बात सत्य ही है। वे नित्य उपालम्भ देने आतीं, तो मुझे विश्वास नहीं होता था। जब यह मेरे सामने भी नहीं चूकता, तब अन्य गोपियों को तो अवश्य ही यह छकाता होगा आज इसे दड दूँगी, मारूँगी और रस्सी से बाँध दूँगी।"

इतने में ही उनकी दृष्टि खुली हुई बाहर की खिडकी पर पडी। वे सोचने लगीं हो न हो वह ऊधमी इसी ओर से निकल कर नीचे चला गया है। कहीं भय के कारण बन मे न भाग जाय, यही सब सोचकर माता उसी ओर चलीं। उन्होंने अपने छडे कड़े पाइजेब ऊँचे कर लिये थे। जिससे वह बजने न पावे। पैछर सुनकर वह चोर भाग न जाय। चरणों को सम्हाल-सम्हाल कर माता खिडकी के समीप गयीं। वहाँ जाकर उन्होंने जो देखा उस देखकर तो उन्हे बहुत हँसी आयी वानरों की ज्योनार हो रही है। चूतडों के बल मनुष्यो की भाँति बैठे हुए वानर हाथ मे लिये माखन के लौंदा को भोग लगा रहे हैं। श्रीकृष्ण बीच में बैठे-बैठे डाँट रहे हैं। यद्यपि वे एक परसने के महत्व पूर्ण कार्य में सलग्न हैं, तो भी वे असावधान नहीं हैं। कहीं मेरी चोरी खुल न जाय, इस भय से चौकन्ने होकर इधर-उधर देखते भी जाते हैं। इधर माता तो इस ताड में थी, कि इसे मेरे आने का पता न लगे और पीछे से चुपके चुपके जाकर मैं इसे पट्ट से पकड लूँ, उधर श्रीकृष्ण इस ताड़ मे थे, कि माता मेरी चोरी को देख न पावे। उसके आने के पूर्व ही मैं माखन को खा खवाकर समाप्त कर दूँ, किन्तु माता के सम्मुख पुत्र की कैसे चल सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! माता तो श्रीकृष्ण को देख रही

थीं, किन्तु श्रीकृष्ण अपने बाँटने के कार्य में व्यस्त थे। सहसा उन्होंने चुपके-चुपके हाथ में छड़ी लिये हुए माता को अपने समीप ही आते देखा। तुरन्त ही आपने माखन की मटुकिया पृथ्वी पर पटक दी। ओखली पर से उछलकर मुट्ठी बाँधकर भगे। भय के कारण वे छिपना चाहते थे, माता उन्हें पकड़ना चाहती थीं। विजय किसकी होगी इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

नहीं अघाये श्याम रोष मैयापै आयो।
लोढ़ा ढिँगई धरयो क्रोध करि ताहि उठायो॥
मारयो तकिके माड दही को फूट्यो फटई।
फुटति मथानी भगे श्याम माखन ले झटई॥
आइ यशोदा दृश्य लखि, हँसी पुत्र पकरन चली।
सोंचे मनमें श्याम की, चोरी की कलई खुली॥

श्रीकृष्ण पकड़े गये

(८७९)

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ९ अ० १३-१४ श्लो०)

छप्पय

माता चुपके चली चोर की चोरी पकरन ।
निरखत इत उत समय चपल दृग जनमनरञ्जन ॥
जननी आवत लखी ओखरी तजि हरि भागे ।
पीछें दौरी मातु कृष्ण डरि काँपन लागे ।
करमहँ छोटी-सी छरी, मार नितम्बनितैं नमित ।
खुले केश सिरतैं सुमन, गिरहिँ मगहिँ तन अति श्रमित ॥

जितना भी कहना, सुनना, देखना, भालना, खेलना, कूदना, आदि व्यापार है, सब माया में ही सम्भव है। समस्त क्रियाएँ समस्त लीलाएँ माया मे ही सम्भव हैं।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! जिनका न बाहर है, न भीतर, न पूर्व है न पर तथा जो इस सम्पूर्ण जगत् के बाहर भीतर आदि अन्त में विद्यमान् हैं तथा जगत् स्वरूप ही हैं, उन इन्द्रियो से अतीत माया से मानव बने अव्यक्त अच्युत को मैया यशोदा अपना पुत्र ही मानकर प्राकृत शिशु के समान रस्सी द्वारा उलूखल से बांधने लगीं।"

माया में कुछ भी असंभव नहीं। माया के बिना जो कोई ब्रह्म या जीव होगा, वह गुम्म सुम्म लीला से रहित, कहने सुनने से हीन, रस विहीन सूखे सत्तू के समान है। वही माया का आश्रय लेकर रस बन जाता है। रसगुल्ले के सदृश मधुर सुस्वाद कहने सुनने और रसास्वादन के योग्य बन जाता है। वैष्णवों ने माया के तीन भेद माने हैं, एक तो संसार को मोहने वाली काले मूँड़ की माया, दूसरी भक्तों को मोहने वाली रसमयी माया और तीसरी स्वयं भगवान् को मोहित करने वाली परम रस रूपा अभिन्न स्वरूपा माया। सख्य, दास्य और वात्सल्य रस का आस्वादन भक्तमोहनी माया के ही द्वारा होता है और मधुर रस की अनुभूति तो भगवान् को भी मोहित करने वाली माया के आश्रय से ही हो सकती है। उसे प्राप्त करने का अन्य साधन नहीं। सख्य, दास्य और वात्सल्य रस के रसिकों के समीप ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की मात्रा बढ़ती जाती है। दास्य, रस में जितना ऐश्वर्य है, उतना सख्य में नहीं, सख्य में कुछ शेष भी रह जाय, तो वात्सल्य में तो उसकी परिसमाप्ति हो ही जाती है। मधुर रस में तो ऐश्वर्य कुंज कुटीरों में छिपा पैर पलोटता रहता है, हा हा खाता है और सदा भयभीत बना रहता है। वात्सल्य में कभी अकड भी है, कभी क्रोध भी है और साथ ही साथ डर भी है। वहाँ ऐश्वर्य की गति नहीं। माता कृष्ण को डाँटती हैं, फटकारती हैं, मारने को उद्यत हो जाती हैं और डराने को उन्हें बाँध देती हैं। कृष्ण ऐसा जादू जानते हैं, कि वे किसी के पकड़ में नहीं आते स्वतन्त्र हैं सभी प्रकार के बन्धनों से विमुक्त हैं, किन्तु वे भी प्रेम रज्जु से बँध जाते हैं। भक्तों के बाँधने पर बन्धन में फँस जाते हैं। यही भक्तमोहकरी माया की कमनीय क्रीडा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की लीला में तर्क

काम नहीं करती, चोरी के अपराध मे यशोदा मैया उन श्रीकृष्ण को दौडकर क्षण में पकडना चाहती हैं, जिन्हे पकडने के लिये योगी, यति, साधक, सिद्ध तथा अन्यान्य साधनसम्पन्न सतत प्रयत्नशील बने रहते हैं और फिर भी पकडाई मे नहीं आते। वे सब केवल चित्त से ही पकडना चाहते हैं, किन्तु माता उन्हें प्रत्यक्ष पकडकर बाँधने पर उतारू हो गयी हैं। योगी आदि तो जन्म जन्मान्तरों असख्यों वर्षों तक जप, तप, योग, अनुष्ठान करने की आशा रखते हैं, किन्तु मोटा मैया चार पग भागकर शीघ्र से पकडने को उद्यत हैं। जिन श्रीकृष्ण के भय से भय भी भयभीत होकर भागता है, वे ही भक्तभावन भगवान् माता के भय से भाग रहे हैं। माता को भान ही नहीं यह ईश्वर है। ईश्वर होगा तो अपने घर का होगा। मैया के आगे तो वह मुनमुना-सा लाला है। उसे सब काम मैया की आज्ञा से करना चाहिये। माखन उतार कर खाने का बन्दरों को बाँटने का उसे क्या अधिकार है। उसकी यह अनधिकार चेष्टा है, इसके लिये उसे दण्ड देना आवश्यक है। दण्ड तो तभी दिया जाय जब चोर पकडा जाय, सम्मुख अपराधी नहीं तो दण्ड किसे दें। इसलिये प्रथम उसको घर पकडी होनी चाहिये इधर माता का तो यह विचार था। उधर श्रीकृष्ण ने यह नहीं सोचा—"मैंने माखन मैया का ही तो खाया है।" मैया की समस्त वस्तु पुत्र की ही है। पुत्र उसका अधिकारी है, इच्छानुसार उपयोग कर सकता है। खा सकता है, दान दे सकता है, संग्रह कर सकता है, यह सब उसकी इच्छा पर निर्भर है। मैया की रखा मटुकी को मैं ले लाया, उसके मक्खन को स्वयं खाया, [illegible] खिलाया, इसमे चोरी की कौन सी बात है [illegible] किन्तु श्रीकृष्ण को इतनी बुद्धि कहाँ। वे तो आज बने हैं। मैं तो छोटा-सा बच्चा हूँ, मुझे [illegible]

कार्य करना है, उसकी आज्ञा से ही वस्तुओं को उठाना धरना है। मुझे भूख लगे तो माता से याचना कर सकता हूँ, वह जो खिलावे वह खा सकता हूँ। उसके बिना पूछे जो वस्तु मैं उठाता हूँ, वह चोरी है, इसके लिये माँ मुझे दण्ड देने में स्वतन्त्र है। जब चोर स्वयं ही अपने को चोर स्वीकार कर ले, तो फिर अपराध सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्या है। जिस चोरी को करते हुए प्रत्यक्ष दण्ड देने वाले ने ही पकड़ लिया, तो उसके लिये साक्षी की क्या आवश्यकता? तुरन्त उसे वहीं दण्ड दिया जा सकता है। श्रीकृष्ण तो अपने को चोर माने ही बैठे थे, इधर मैया अपने सर्वाधिकार से छड़ी लिये हुये आ ही रही थीं, कि बिना कुछ पूछे इसे पकड़कर दण्ड देना ही आरम्भ कर दूँगी। इसीलिये उनके हाथ में छड़ी थी। चोर शक्तिभर पकड़ाई नहीं देता। श्रीकृष्ण माता को समीप ही आया देखकर भगे। माता को तो गर्व था। यह छोकरा मेरे सामने कितना भाग सकता है। चार डग बढ़कर इसे पकड़ लूँगी। इसीलिये माता अपनी पूरी शक्ति लगाकर भगी। साहस तो माता ने बहुत किया किन्तु कहाँ बालक कहाँ बूढ़ी, कहाँ छरहरे शरीर का छोरा कहाँ मोटे शरीर की मैया। कहाँ सुकुमारी गोरी रानी, कहाँ नटवर कृष्ण वर्ण का आभीर-तनय।

श्रीकृष्ण के पीछे दौड़ते-दौड़ते माँ हाँपने लगीं। एक तो उनका सम्पूर्ण शरीर ही स्थूल था, फिर नितम्बों के अतिस्थूल होने से वे बालकों के साथ कैसे भाग सकती थीं आशा में भगी थीं, भागने से उनकी चोटी इधर से उधर झोटा खा रही थी, मानों माता को मना कर रही हो, कि माखन के पीछे माधव को मत मार, किन्तु माता उसकी ओर भी दृष्टिपात नहीं करती थीं। मुखारविन्द से अनन्य स्वेदकण निकल-निकलकर माता का क्रोध शान्त हो, उनकी कोपाग्नि हमारे शीतल कणों से शान्त हो,

अतः वे छिद्रों से निकल निकलकर बाहर आ रहे थे, किन्तु माता उनको क्रोध में भरकर दंड देती, तुरन्त अपने कोमल करों से उन्हें मिटा देती, उनके स्थान में दूसरे आ जाते, अतः एक हाथ से तो मैया स्वेद-बिन्दुओं से समर करती जाती, एक हाथ में छड़ी हिलाते हुए वह दौड़ी ही जाती थी।

श्रीकृष्ण ने देखा माता मानेगी नहीं। वे चाहते तो जिन सखाओं को अब तक माखन खिला रहे थे, उनकी ही सहायता से पेड़ पर चढ़ जाते। मैया पेड़ पर तो चढ़ ही नहीं सकती थी, इतने में ही बाबा आ जाते। वे मैया से बड़े हैं, वे बल-पूर्वक उसे मारने से रोक देते, किन्तु श्रीकृष्ण तो इतने डर गये, कि उन्हें भागने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही न सूझा। अब मैया के आगे कितना भाग सकते थे, तुरन्त पकड़ाई में आ गये। श्रीकृष्ण का सब बल समाप्त हो गया। माता के सम्मुख वे अपराधी चोर के सदृश खड़े हो गये। जब जीव सब ओर से प्रयत्न करके हार जाता है, तब वह रोने लगता है, जिसके सम्मुख रोता है, यदि वह दयालु हुआ, तो रोने से उसे अवश्य ही दया आ जाती है। इसीलिये बालक प्रत्येक आवश्यक कार्य के लिये माता के सम्मुख रो जाते हैं। रोना ही निश्छल सरल बालकों का बल है। श्रीकृष्ण भी जब सब करके हार गये, तब माता के सम्मुख भय से थर-थर काँपते हुए रोने लगे अपराधी तो थे ही, दण्ड तो उन्हें मिलना ही चाहिए, अब रो धोकर दण्ड कुछ न्यून कराया जाय, इसके लिये वे मातृ हृदय में करुणा उत्पन्न करने का प्रयत्न करने लगे। रात्रि में माता ने नेत्रों में मोटा-मोटा काजल लगाया था, वे चाहते थे, नेत्रों में आँसू आ जायँ। आँसुओं को देखकर सहृदय पुरुषों का हृदय पसीज जाता है, किन्तु आज आँसुओं ने भी समय पर विश्वासघात किया, वे अपनी इच्छा से माता के सम्मुख नेत्रों से निकलते ही नहीं थे, मानों वे भी माता से डरते हों। अब

श्रीकृष्ण ने देखा, कि समय तो मेरे विपरीत हो गया, आँसू ये भी अवसर पर बाहर नहीं निकलते, तब तो वे अपनी लाल-लाल गुदगुदी हथेलियों से नेत्रों को मसलने लगे। मानों कह रहे हैं "दुष्टो ! तुम ऐसे समय क्यों सूख गये, तो दो चार निकल पड़ा। आँसू तो नेत्रों के भीतर थे, ऊपर तो काजल था। काजल फैल गया। उसने लाल हथेली को लाल कपोलों को काला कर दिया। किसी का भी सङ्ग करो उसका कुछ न कुछ रङ्ग तो चढ़ेगा ही।

अपराधी आँखें तो मिला नहीं सकता। श्रीकृष्ण पिटने के भय से व्याकुल नेत्रों से आकाश की ओर निहारने लगे। वे नीले आकाश की ओर देखकर मानों कह रहे हैं—"आकाश! मेरा तेरा वर्ण एक-सा है तू ही जल बरसा दे, तू ही इन नेत्रों को आर्द्र कर दे, जिससे चार बिन्दु जल तो इनमे निकल आवे।" किन्तु आकाश इस लीला को देखकर हँस रहा था। मानों कह रहा हो—"हम सब भूतों को आपने बाँध रखा है मिला-जुलाकर गड़बड़ घुटाला कर रखा है। अब तुम भी बँधकर देख लो बन्धन मे क्या स्वारस्य है ?"

माता ने भय के कारण दृष्टि फेरे हुये श्रीकृष्ण के दोनों हाथ पकड़ लिये और धमकाती हुई बोली—"क्यों रे मेरे बाप! तू चोरी करना भी अभी से सीख गया है ? गोपियाँ मुझसे आ-आकर कहती थीं उनकी बात पर मुझे विश्वास नहीं होता था, किन्तु आज मैंने तुझे प्रत्यक्ष चोरी करते देखा है। अब मैं तुझे बिना मारे छोड़ूँगी नहीं।" यह सुनकर श्रीकृष्ण तो मारे डर के थर-थर काँपने लगे।"

माता का उद्देश्य पुत्र को डराना तो था नहीं वह चोरी पर चिढ़ी हुई थी। श्रीकृष्ण ने कहा नहीं, कि मैं चोरी न करूँगा। ये तो बोलते ही नहीं। मौनी बाबा बन गये हैं। माता अब स्वयं

डरने लगीं। उन्होंने सोचा—"छोटा बच्चा है, बहुत डर गया है, कहीं इसके हृदय में डर बैठ गया, तब तो अनर्थ हो जायगा।" यह सोचकर उन्होंने हाथ की छड़ी फेंक दी। मानों उन्होंने संकेत किया, कि तू मेरे शरीर से उत्पन्न हुआ है, अतः अन्यत्र उत्पन्न होने वाली छड़ी से तुझे नहीं मारूँगी।" छड़ी फेंकने से श्रीकृष्ण को कुछ कुछ सान्त्वना हुई।

मैया तो बड़ी पुत्रवत्सला थी, हितैषिणी थी वे पुत्र के हित के लिये ही दण्ड देना चाहती थी। छड़ी की मार बड़ा दण्ड है, इसलिये छड़ी फेंककर वे बोलीं—"अच्छा! तुझे मारूँगी तो नहीं, किन्तु रस्सी से बाँधूँगी, अवश्य। तू बड़ा चंचल हो गया है। यहीं तुझे बछड़े की भाँति बाँधकर रखूँगी, जिससे तू किसी दूसरे के यहाँ चोरी करने न जा सके।"

श्रीकृष्ण तो कुछ बोलते ही नहीं थे। माता ने निश्चय कर लिया इसे आज बाँधना ही है। एक दिन बाँधने से इसकी चोरी की लत छूट जायगी। नहीं तो यह और भी अधिक उच्छृङ्खल हो जायगा। सोचा—उन्होंने यह कि कुछ देर इसे बाँध रखूँगी। फिर गोपियाँ आकर अपने आप इसे छुड़ा देंगी।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! प्रेम की लीला तो देखिये, जिसका न भीतर है, न बाहर है, जो न पूर्व है न पर है, जो सभी प्रकार के बन्धनों से निर्मुक्त है, उन्हें माता रस्सी से बाँधना चाहती हैं। शरीर को बाँधकर उसे दूसरी वस्तु से कस देना यही बन्धन है। श्रीकृष्ण के लिये पर क्या अपर क्या? बन्धन क्या मोक्ष क्या? किन्तु ये सब तो ज्ञान की बातें हैं, यहाँ तो माता पुत्र में प्रेम की वात्सल्यमयी लीला हो रही है। इसका आस्वादन द्वैत के बिना नहीं हो सकता। बन्धन तो प्रेम का स्वरूप है। 'बन्धनात् बन्धुरुच्यते, जो अपने प्रेम पाश में हमें कसकर बाँध लें, वही बन्धु है। प्राणियों के एक मात्र बन्धु श्री हरि ही हैं,

इसीलिये मैया ने अपनी वेणी में से अपने केशों की बटी रस्सी खोली और पुत्र को बाँधने के लिये उद्यत हुईं।"

छप्पय

जिनको जप, तप, ध्यान, योगतैं पकरि न पावें।
तिनकूँ जननी छरी लिये डर सहित भगावें॥
देह थूल सुकुमार श्रमित जब जानी माता।
स्वय पकड़महँ आइ गये तब भव भय-त्राता॥
निज करतैं हरि-कर पकरि, बोली क्यों चोरी करी?
रोये आँखिनि मीड़ि प्रभु, तब जननी फेंकी छरी॥

दामोदर की दयालुता

[८८०]

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत्स्वबन्धने ॥
एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ९ अ० १८-१९ श्लोक)

छप्पय

कसिकें पकरे श्याम दई मीठी सी गारी ।
हरिकूँ बाँधन हेतु कचनि तें डोरि निकारी ॥
दयो लपेटा एक कमर महँ बाँधन लागी ।
द्वै अंगुल कम रही जेवरी दूसरि माँगी ॥
पुनि द्वै अंगुल कम रही, पुनि बाँधी पुनि कम भई ।
घर की सब रस्सी चुकी, हँसी मातु विस्मित भई ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण ने जब देखा मेरी माता के शरीर पर पसीना आ गया है, उनकी चोटी में गुथे फूलों की मालायें अस्त व्यस्त हो गयी हैं । माता को इस प्रकार परिश्रम युक्त देखकर भगवान् को कृपा आ गयी और वे अपने आप बँध गये । महाराज ! इस प्रकार भगवान् अपनी भृत्यवश्यता दिखावें नहीं तो ब्रह्मादि ईशों के सहित विश्व जिनके अधीन है, उन स्वाधीन श्रीकृष्ण को कौन बाँध सकता है ?"

बंधन के बिना रस नहीं। जो बन्धन से मुक्त है, वह रस का आस्वादन कैसे करेगा। अंतर इतना ही है, कि जीव जब विषयों के साथ बँध जाता है, तब वह बद्ध बन जाता है, जब उसका संयोग शिव के साथ हो जाता है, तब उसकी मुक्ति संज्ञा होती है, किन्तु एक रस इससे भी भिन्न है, जिसमें न जीव विषयों से बँधता है न ब्रह्म से। वह स्वयं ब्रह्म को बाँध लेता है। इसी का नाम है पंचम पुरुषार्थ। इसे रागमार्ग रसअध्वा या प्रेमपन्था कहते हैं। इसमें जीव शिव के साथ सायुज्य लाभ नहीं करता, किन्तु उसे ही बाँधकर इच्छानुसार नचाता है। कोई दास बनकर सेवा से अधीन करके स्वामी को नचाते हैं, कोई सखा बनाकर मित्रता जोड़कर बाहुपाश में बाँधकर मित्र के हृदय से अपने हृदय की तन्त्री को बाँध लेते हैं। कोई स्वयं माता-पिता बनकर उन सर्वेश्वर को सुत बनाकर उनका लालन-पालन करते हैं, लाला कहकर बुलाते हैं, अपराध पर डाँटते फटकारते हैं। अपराध करने पर उसके उदर को प्रेम की दाम से बाँध देते हैं। और कोई उन्हें कान्त, प्रेष्ठ, प्रिय, प्राणनाथ तथा पति मानकर रति के बन्धन से बाँधकर इच्छानुसार नचाते हैं, रुलाते हैं और उससे बार-बार हा-हा खवाते हैं। प्रेम का बन्धन बड़े भाग्य से होता है इसमें बँधकर जीव भी कृतार्थ हो जाता है और ब्रह्म भी अपने को धन्य-धन्य मानता है। यह बन्धन अत्यन्त भाग्य से प्राप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! माता ने श्रीकृष्ण को पकड़ लिया। बालक को अत्यन्त भयभीत देखकर उन्होंने छड़ी फेंक दी और बोलीं—"तुझे बाँधूँगी।" यह कहकर वह अपने जूड़े में से बालों की बनी रस्सी खोलने लगीं। माताएँ जब केश को झाड़ती हैं, तब उनमें से जो टूटे-फूटे बाल निकलते हैं उन्हें सम्हाल-सम्हाल कर रखती जाती हैं। जब वे बहुत हो जाते हैं,

तब उन्हें बटकर उनकी रस्सी बनाती हैं, उसी से अपने जूड़े को बाँधती हैं। माता ने सोचा यह, कि मैं अपने तनय को वन से उत्पन्न बालों की ही रस्सी से बाँधूगी। भिन्न वस्तु का बन्धन भिन्नता करता है।

श्रीकृष्ण कैसे भी शिशु थे, फिर भी थे तो वे ईश्वर ही कोई राजा चाहें भिखारी बनकर प्रजा में घूमें, किन्तु उसका राजापना तो नष्ट न होगा। भगवान् की ऐश्वर्यादि जो शक्तियाँ थीं वे तो कहीं चली नहीं गयीं थीं। वे तो उनके साथ ही थीं, किन्तु उनका उन्होंने उपयोग नहीं किया। वे उनसे काम नहीं लेते थे। भक्त-वत्सलता के वशीभूत होकर भोरे बालक बने थे। ऐश्वर्यादि शक्तियाँ अणिमादि सिद्धियाँ सदा श्याम के मुख को जोहती रहतीं, कि कुछ हमारी भी सेवा स्वीकार की जाय, किन्तु जब बालक ही बन गये, तो विचित्र शक्तियाँ अणिमादि सिद्धियों का क्या काम ? फिर भी बीच-बीच मे जब श्रीकृष्ण को अत्यन्त सकट में फँसा हुआ ये शक्तियाँ देखतीं, तो उनसे रहा नहीं जाता, वे तुरन्त श्रीकृष्ण की सहायता को दौड़तीं। श्रीकृष्ण की क्षुद्र शक्तियाँ क्या सहायता कर सकती हैं जी ?" न कर सकें सहायता यह दूसरी बात है, किन्तु सकट के समय उनसे रहा नहीं जाता। एक अत्यन्त ही सुकुमारी कोमलाङ्गनी पतिपरायणा रानी है, उसका परम पराक्रमी शूर-वीर विश्वविजयी पति है, उसके साथ जल विहार कर रहा है। जल विहार करते-करते वह गहरे जल में जाकर डूबने लगता है। यद्यपि उसकी प्राणप्रिया अत्यन्त ही सुकुमारी है, तैरना भी नहीं जानती, फिर भी पति को सकट में फँसा देखकर उससे रहा नहीं जाता, वह उसे संकट से उबारने दौड़ती है। यद्यपि उसका प्रयास निष्फल है, बचाने क्या जायगी स्वयं ही डूब जायगी, एक नया खेल हो जायगा, भले ही हो जाय, किन्तु हरि को नेत्रों के सम्मुख विपत्ति में देख;

कर उससे रहा नहीं जाता, वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे बचाने का प्रयत्न करती है न बचा सके यह दूसरी बात है।

श्रीकृष्ण अनन्तकोटिब्रह्माण्डों के ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, आज वे बालक बने माता यशोदा के अधीन हैं, ऐश्वर्यादि शक्ति अपने स्वामी की इस लीला को देखकर लज्जित हैं। हमारा स्वामी स्वतन्त्र ईश्वर है वह किसी की मानने वाला तो है नहीं। उसे जब जो धुनि सवार हो जाय, उसे वह पूरा ही करके छोड़ेगा; अब वह फँसा भी तो कहाँ, एक गोकुल की गँवारिनी गोपी के यहाँ। यह गोपी इसकी महत्ता को जानती नहीं, इससे ऐश्वर्यादि शक्तियों को बड़ा दुःख होता है। जब माता वत्सलता की पराकाष्ठा कर देती है। सर्वेश्वर को दण्ड देने के निमित्त प्रस्तुत हो जाती है, तब शक्तियों का साहस छूट जाता है। वे श्रीकृष्ण की सहायता करने दौड़ती हैं। मिट्टी खाने के समय भी ऐश्वर्य शक्ति ने श्रीकृष्ण के मुख में अपना चमत्कार दिखाया, किन्तु माता पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। उसने समझा न जाने मेरे लाल के मुख में यह क्या अलाई बलाई दिखायी देती है। जननी ने उसे जंजाल ही माना।

अब इस समय भी जब इतने भयभीत कृष्ण को भी माता छोड़ती नहीं, उसे बाँधने पर ही तुली हुई है, तो ऐश्वर्य शक्ति का बाँध टूट गया। उससे श्रीकृष्ण की ऐसी दुर्दशा न देखी गई। उदर में आकर बैठ गयी। माटी खाने के अवसर पर तो उसने मुख में विश्व ब्रह्माण्डों के दर्शन कराये थे, अब उदर में अनन्त शक्ति को बिठाया। कृष्ण की कमर तो ज्यों-की-त्यों ही रही। जैसे अर्जुन को विश्वरूप दिखाते समय भगवान् का शरीर भी विश्वमय बन गया था। यहाँ वह बात नहीं। श्रीकृष्ण की कमर उतनी ही है; उनके अंगों में कोई वृद्धि नहीं, कोई परिवर्तन नहीं, किन्तु उसका अन्त नहीं।

उलटे आनन्द ही आया कि इस प्रेममयी खिलवाड़ को हमें स्वयं आँखों से देखने का सुअवसर प्राप्त होगा। इसी विचार से झुण्ड की झुण्ड गोपियाँ क्षण भर में एकत्रित हो गयीं। श्रीकृष्ण अपराधी की भाँति खड़े थे। उनके उदर में माता ने दाम लपेट रखी थी, वह दोनों हाथों से रस्सी के दोनों छोरों को पकड़े दूसरी रस्सी की प्रतिक्षा कर रही थी, कि इतने में ही दासी दूसरा जूड़ा लेकर आयी और बोली—"रानी! रहने दो, बच्चा है, कोई बात नहीं आपके माखन की कमी थोड़े ही है।"

झिड़ककर मैया बोलीं—"चल हट, बड़ी हेजवाली बनी है। माखन की क्या बात है। चाहे जितना खावे, चाहे जितना लुटावे। इसे जो चोरी की लत पड़ गयी है, यह बहुत बुरी बात है, आज मैं इसे बिना बाँधे छोड़ूँगी नहीं।" दासी अब और क्या कहती, वह तो दासी ही ठहरी। मैया के माँगने पर रस्सी दे दी। मैया ने पहिली रस्सी में इस रस्सी को जोड़ा, फिर एक चक्कर लगाकर गाँठ देने को उद्यत हुयी, तो फिर दो अंगुल छोटी पड़ी। फिर दूसरी रस्सी मँगायी उसे भी जोड़कर बाँधी, दो अंगुल कम हुई। इस प्रकार माता जितनी भी रस्सी जोड़ती दो अंगुल कम रह जाती।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! रस्सी दो ही अंगुल कम क्यों होती थी?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! जीव में और ईश्वर में दो ही अंगुल का अन्तर है। एक अगुल तो जीव की कमी है, कि वह अपने अहंकार को नहीं छोड़ता। एक अंगुल भगवान् की भी कमी है, कि वे कृपा नहीं करते। जीव अपने कर्तृत्व के अभिमान को छोड़ दे और भगवान् कृपा कर दें, तो फिर कमी शेष नहीं रह जाती।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भगवान् की ओर से तो कुछ

कमी नहीं है, उनकी कृपा की दृष्टि तो निरन्तर समान भाव से जीवों पर होती रहती है। उसे ग्रहण करने की पात्रता ही न हो, तो भगवान् क्या करें ? स्वाति की वर्षा सर्वत्र होती है। सीपी में पात्रता है, तो उसमे पडते ही स्वाति की बूँद मोती बन जाती है। हाथी के मस्तक पर पडने से गजमुक्ता हो जाती है। केला में पड़ने से कपूर, बाँस मे पडने से वंशलोचन तथा गो पर पड़ने से गौरोचन बन जाती है। वही तालाब, मोरी कीच आदि में पड़ने से व्यर्थ बन जाती है। इनमे उसे ग्रहण करने की पात्रता नहीं। इसलिये कमी जीव की ही है, ईश्वर की कुछ कमी नहीं।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! आपका यह कहना सत्य है, भगवान् की कृपा की वृष्टि तो प्राणि मात्र पर समान रूप से होती है, किन्तु पात्रता कोई उनकी कृपा के बिना अपने पुरुषार्थ से प्राप्त थोड़े ही कर सकता है। जीव पुरुषार्थ किये बिना रह ही नहीं सकता। उसकी उत्पत्ति ही पुरुषार्थ के लिये है। पुरुष का जो अर्थ-प्रयोजन है वही पुरुषार्थ कहलाता है। पुरुषार्थ करते-करते जहाँ जीव थक जाता है। सब प्रकार से असमर्थ अपने को अनुभव करने लगता है, तब श्रीकृष्ण स्वयं कृपा करते हैं और बँध जाते हैं। अतः जीव का धर्म है अपनी ओर से कुछ उठा न रखे। निरन्तर अखंड पुरुषार्थ करता रहे। पुरुषार्थ करते-करते जब थक जाय उनके उदर का पार न पावे, तब भगवान् एक अंगुल बढ़कर कृपा करते हैं और उसको प्रेम पाश को पूरी करके स्वय बँध जाते हैं। माता को गर्व था, मेरे यहाँ इतनी रस्सियाँ हैं, कि उनसे मैं कृष्ण को बाँध लूँगी। कृष्ण हँसते रहे देखते रहे। माता ने रस्सियाँ मँगायी। जब उसकी सब रस्सियाँ समाप्त हो गयीं। असफलता के कारण दुखी नहीं हुई मुस्कारा गयीं, आश्चर्य चकित होकर कृष्ण की ओर देखने लगीं।"

माता अपनी पूरी शक्ति लगा चुकी थीं, उसने अपनी ओर

से कोई कोर कसर नहीं छोड़ी थी। घर की तो सब रस्सियाँ समाप्त हो गयी थीं। पास पड़ोस की गोपियाँ भी कुतूहल वश अपने अपने घर से रस्सियाँ उठा लायीं। वे कृष्ण को बँधा हुआ देखना चाहतीं थीं। "श्रीकृष्ण हमें नित्य छकाते हैं, आज उन्हें भी तो चोरी का फल मिलना चाहिये। वे छल से गोपियों को बाँध कर हँसते रहते हैं, आज इन्हें भी हम बँधा देखकर हँसेंगी। मैया रस्सी के अभाव में बाँध नहीं पाती। हम मैया की सहायता करेंगी। उन्हें यथेष्ट रस्सियाँ देंगी। किन्तु उनकी सहायता किसी काम न आयी श्रीकृष्ण नहीं बँधे नहीं बँधे। दो अंगुल की कसर रह ही गयी। रस्सियों को जोड़ते-जोड़ते मैया थक गयी थीं। उनका सपूर्ण शरीर स्वेद से लथपथ हो गया, उनकी वेणी में गुथी हुई मनोहर मालायें अपने स्थान से खिसककर ढीली हो गयीं। मुख पर चिन्ता और विषण्णता के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगे। माता की ऐसी दशा देखकर श्रीकृष्ण को कृपा आ गयी। उनके हृदय में कृपा का संचार हुआ। कृपा के उदय होते ही ऐश्वर्य शक्ति डर गयी। उसने सोचा—"जहाँ कृपा है वहाँ मेरी दाल न गलेगी। दया में तो कर्तव्य पालन किया भी जा सकता, किन्तु कृपा के वश होने पर तो सब कुछ भुला दिया जाता है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हम तो दया कृपा को एक ही समझते थे। अब आप इन्हें दो बता रहे हो?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! दया कृपा वास्तव में एक ही वस्तु है। कहीं-कहीं इन दोनों को पर्यायवाची माना गया है, किन्तु फिर भी कृपा और दया में कुछ अन्तर है। दया तो सब पर समान रूप से होती है, दूसरों को दुखी देखकर उनके दुःख को दूर करने की जो भावना है वही दया कहलाती है, किन्तु वही दया जब अपने सम्बन्धियों पर होती है, तो उसका नाम कृपा है। दया में सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं। कृपा में सम्बन्ध आवश्यक

है। कोई हमारी सेवा करता है, उससे स्वामी सेवक का सम्बन्ध हो गया है। उस सेवा परायण व्यक्ति के दुःख को देखकर उसे दूर करने की जो भावना है उसी का नाम कृपा है। अथवा जिन्होंने किसी से मरापने का सम्बन्ध जोड़ लिया है, जो पुत्र हैं पति हैं पत्नी हैं उन्हें दुखी देखकर होने वाली करुणा कृपा है। अर्जुन को युद्ध में अपने सगे सम्बन्धियों को देखकर मोहवश यही कृपा उत्पन्न हुई थी। कृपा से बन्धन होता है। भगवान् दया तो प्राणीमात्र पर करते हैं, किन्तु कृपा उन्हीं पर करते हैं जो उनसे सख्य, वात्सल्य, दास अथवा मधुर सम्बंध स्थापित कर लेते हैं। इन सम्बन्धियों का जब श्रीकृष्ण थका हुआ देखते हैं तो "कृपयासीत् स्वबन्धने" अपने आप ही कृपा करके बन्धन में बँध जाते हैं।"

श्रीकृष्ण ने सोचा—"मेरी माता अब अधिक दुखी हो गयी है, उन्होंने टेढ़ी भ्रुकुटि करके ऐश्वर्य शक्ति की ओर देखा भगवान् की कुटिल भ्रुकुटि को देखते ही ऐश्वर्य शक्ति भग गयी। अनन्त का शरीर पुनः सीमित हो गया। वे साधारण गोपकुमार से हो गये। माता ने उन्हें एक ही रस्सी में बाँध लिया।"

सूनजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण को भला संसार में कौन बाँध सकता है। बाँधने में तो वही समर्थ हो सकता है, जो बँधने वाले से रूप में, आकर्षण में, गुण में, ऐश्वर्य में, सरलता में उससे अधिक हो। श्रीकृष्ण से बढ़कर सुन्दर कौन हो सकता है। उनके समान आकर्षण संसार की किसी भी वस्तु में सम्भव नहीं। सद्गुणों की तो वह खानि ही हैं। समस्त सद्गुण उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं, वे गुणों के नियामक हैं। ऐश्वर्य उनके समान किसका हो सकता है, उन्हें किसी वस्तु का अभाव भी नहीं, कोई उनसे बड़ा भी नहीं। जहाँ उस वस्तु को देखते हैं, वहीं रीझ जाते हैं, वहीं बँध जाते हैं। वह वस्तु है 'प्रेम' वे प्रेम के अधीन होकर भक्तों

के वश में हो जाते हैं। इस प्रकार माता के द्वारा स्वयं ही बँधकर उन समस्त बन्धनों से मुक्त करने वाले सर्वेश्वर ने यह दिखला दिया, कि "मैं भक्तों के वश में हूँ। भक्त मुझे जैसी नाच नचावेंगे, वैसी ही नाच मैं नाचूँगा। जहाँ रखेंगे वहीं रहूँगा। वे जो कहेंगे वही करूँगा। उनके बाँधने पर बँध जाऊँगा" अतः अपनी माता पर कृपा करके वे स्वयं ही बन्धन में बँध गये।

छप्पय

चकित चकित है मातु लाल को उदर निहारें।
पुनि पुनि पकरें पेट भयो का समय बिचारें॥
भयो स्वेद सब अंग थके खुलि बाल गये सब।
माला खिसकी गिरे फूल हरि रीझि गये तब॥
कृष्ण कृपा जिन पै भई, तिनके कारज सध गये।
श्याम नेह वश आप ही, प्रेमपाशमहँ बँध गये॥

जीवोद्धारिणी-लीला

[८८१]

कृष्णास्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः ।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ९ अ० २२ श्लोक)

छप्पय

गोपी कीही विदा करें गृह कारज मैया ।
ग्वाल बाल मिलि कहें खेल कछु होवे मैया ॥
दाम उदरमहँ कसी उलूखल महँ सो बाँधी ।
उलट्यो गाड़ी बनी बैल बनि प्रभु ने साधी ॥
ग्वाल बाल तिकि तिकि करें, हाँके हरि खीचन लगे ।
सम्मुख यमलार्जुन लखे, धनदपुत्र धनमद ठगे ॥

कोई रोटी बनाने वाला है, भोजन तो वह सबको बनाकर खिलाता है, उसका काम ही है, सबकी तृप्ति करना। किन्तु जिससे उसकी एकान्तिक मित्रता है, उसे वह प्रेम पूर्वक खिलाता है। पदार्थ वे ही हैं, उनमें कोई विशेषता नहीं। परसने वाला भी वह है, किन्तु उसमें कर्तव्य के पालन के अतिरिक्त प्रेम और मिला दिया है। प्रेम वस्तुओं में तो नहीं होता, वह तो भिन्न

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब माता अपने गृह कार्यों में व्यग्र हो गयी, तो प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र ने सम्मुख अर्जुन के दो वृक्ष देखे। ये दोनों पूर्वजन्म में यक्षों के पति कुबेरजी के पुत्र थे।"

वस्तु है उसे चाहे जिस वस्तु मे मिला दो, वही सरल बन जायेगी। मुक्तिदाता श्रीहरि सबको मुक्ति देते हैं। उनका काम ही मुक्ति देना है। वे योगी, यति, संन्यासी, त्यागी, ज्ञानी, ध्यानी तथा सभी प्रकार से साधकों को मुक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु भक्तों को जिस सुख से वे प्राप्त होते हैं, उस सुख का शुष्क तत्वज्ञानी भला कैसे अनुभव कर सकते हैं। पतिव्रता पत्नी घर भर के लोगों की सेवा करती है, सबकी रसोई बनाती है, सबके स्थान को लीपती है, सबसे हँसकर बोलती है, ऊपर से देखने में पति के साथ कोई विशेष व्यवहार नहीं करती, किन्तु पति के साथ जो उसका ऐकान्तिक सम्बन्ध है वह पति को ही प्राप्त हो सकता है। जो श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करके भक्ति करते हैं, वह सुख ब्रह्मादि देवों को, योगियों को तथा आत्मस्वरूप तत्व ज्ञानियों को भी दुर्लभ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्यामसुन्दर कृपा के वशीभूत होकर स्वयं ही बँध गये। माता ने उनके सुन्दर पीपल के सदृश चढ़ाव उतार के नीचे जहाँ कौधनी पहिनी जाती है, वहीं एक छोटी-सी रस्सी बाँध दी। मानों माता ने काले कृष्ण को कृष्ण वर्ण की दूसरी कौंधनी पहिना दी हो। जिस काठ के उलूखल पर श्याम बैठे थे वह डमरू के समान ऊपर नीचे गोल था बीच में पतला था। माता ने एक दूसरी बड़ी रस्सी लेकर उसका एक छोर तो श्याम की कटि में बँधी डोरी में बाँध दिया और उसका दूसरा छोर खड़े हुए उलूखल के बीच में बाँध दिया, जिससे कृष्ण कहीं भाग न जायँ। इस प्रकार माता ने पुत्र को बाँध ही दिया। गोपियाँ सैनों में ही श्याम को खिजा रही थीं। कोई-कोई मुँह मटकाकर सैन चलाकर कह रही थीं—"कहो लालाजी! कैसे बँधे। नित्य हमें छकाया करते थे। कहाँ गई अब तुम्हारी हेकड़ी? अब बोलो, तुम्हें कौन छुड़ाता है?"

माता यद्यपि बूढ़ी थी, फिर भी इन युवती गोपियों की सैनों में की हुई बातों का वह अर्थ समझती थीं। उसने सोचा—"ये यौवन के मद में मदमाती गूजरियाँ जब तक रहेंगी, मेरे लाल को चिढ़ाती ही रहेंगी अतः वह बोली—"वीर! अब अपने-अपने घर जाओ। घर का भी तो काम धन्धा देखना चाहिये। गोपियाँ जाना नहीं चाहती थीं, किन्तु जब घरवाली स्वयं ही युक्तिपूर्वक खदेड़ रही है, तो कैसे बैठें, फिर भी वे जाने में कुछ आना कानी करने लगीं। यह देखकर मैया स्वयं उठी और अपने घर के कार्यों में लग गयीं। गोपिकाओं ने समझ लिया, इस बुढ़िया को हमारा यहाँ बैठना अखर रहा है। इसलिये वे भी एक-एक करके सब चली गयीं। श्रीकृष्ण के बहुत से सखा भी एकत्रित हो गये थे। माता यह चाहती थी। बहुत से बालक श्याम के समीप रहें, उसका मन लगा रहे। अतः बच्चों को उन्होंने एक एक बड़ा लड्डू दिया और कहा—"बेटाओ! यहीं खेलना भला!"

बच्चे बड़े प्रसन्न हुए, माता हाथों से तो काम करती जाती थी, किन्तु दृष्टि उनकी श्रीकृष्ण के ही ऊपर लगी थी। वह बार-बार सोच रही थी—"अब बहुत हो गया खोल दूँ, किन्तु फिर सोचती, कुछ देर तो बँधा रहे। बँधने मे उसे कोई कष्ट भी नहीं बालकों के साथ आनन्दपूर्वक हँस खेल रहा है। जब रोने लगेगा, तब खोल दूँगी।" यही सब सोचकर वह चुपचाप काम में जुटी थी।"

लड़कों ने कहा—"कनुआ भैया! लड्डू खायेगा?"

श्याम् बोले—"भैया! तुम दे दोगे तो खा लूँगा।"

कोई बोला—"भैया! हमने तो दाँत गड़ा दिया है।"

श्याम ने कहा—"तो क्या हुआ मैं नीचे से खा लूँगा।"

यह सुनकर सब अपने-अपने लड्डू में से श्याम को देने लगे। श्याम ऐसे खा रहे थे, मानो बहुत दिनों के भूखे हों। जो यज्ञों में

विधि विधानपूर्वक बनाये, चरु को भी वेद मन्त्रों से बार-बार स्तुति करने पर नहीं खाते, वे ही आज जंगली गोप ग्वारियों के छोराओं की जूठन खा रहे हैं।

खा पीकर सखाओं ने कहा—"भैया, अब तो कुछ खेल होना चाहिये।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"अरे, भैया! मुझे तो मैया ने बाँध दिया है, खेल क्या हो।"

एक चतुर-सा गोप बालक बोला "बन्धन का ही खेल हो। खेल में भी तो बन्धन ही है। हम सब इस उलूखल को उलटे देते हैं, यह तो गाड़ी बनी बनाई है, तू बैले की भाँति बँधा ही है। गाडी का ही खेल हो। तू खींच हम सब हाँकेंगे।"

भगवान् बोले—"हाँ, भैया! यह तुमने अच्छी सुझायी। खींचने में तो मैं बड़ा निपुण हूँ। कर्षण करने से ही मुझे कृष्ण कहते हैं। मैं खींचूँगा, तुम लोग हाँकना।"

अब क्या था, बन्धन में भी खेल आरम्भ हुआ। श्रीकृष्ण खेलने के अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं। कौतुकी ही जो ठहरे। हुआ खेल का आरम्भ। ग्वाल बाल तिक-तिक करके वृषभ बने बालकृष्ण को हाँकने लगे और कहने लगे—"हाँ, भैया! कनुआ खींच गाड़ी को, देखें, तैंने अपनी मैया का कितना दूध पीया है।" यह सुनकर श्रीकृष्ण ने मन बल लगा दिया। गाड़ी आगे नहीं बढी सब ताली बजाने लगे—"अड़ियल बैल है अड़ियल।"

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! जो इन अगणित विश्व ब्रह्माडों को ढो रहे हैं, उनसे ओखली नहीं खिसकी, इसका क्या कारण है? भगवान् ओखली को क्यों नहीं खींच सके?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाभाग! खेल में 'क्यों' का प्रश्न नहीं उठता। खेल तो खेल ही है। जो लोग खेल को खेल न समझ कर सत्य मानते हैं, वे ही क्यों क्यूँ के चक्कर में फँस जाते हैं।

सब श्रीकृष्ण की क्रीड़ा है, सब उन खिलाड़ी का खेल है, सब उन वृन्दावन विहारी का विहार है, सब उन परम कौतुकी का कौतुक है, इसे देखते जाओ, हँसते जाओ, यही श्रेष्ठ साधन है।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जहाँ हम श्रीकृष्ण के स्वरूप को भूल जाते हैं, वहीं 'क्यों' कहने लगते हैं, वह रुक जाते हैं, हाँ तो फिर गाड़ी चली या नहीं?"

सूतजी बोले—"चली क्यों नहीं, महाराज! चलाने को ही तो श्रीकृष्ण रुके थे। रस वृद्धि के लिये ही तो निर्बल बने थे। ग्वालों के उपालम्भ को सुनकर श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण बल लगाया। वे हाथ और पैरों के बल बैल के सदृश बने हुए थे। एक झटका मारा गाड़ी चल निकली। ओखली लुढ़कने लगी बच्चों ने ताली बजायी। सब चिल्लाने लगे—"बलवान् बैल है, बलवान् बैल है।"

श्रीकृष्ण कुछ-कुछ आगे बढ़े। वहाँ उन्होंने दो जुड़ौले अर्जुन वृक्षों को सम्मुख देखा। वे पहिले उत्तर दिशा के लोकपाल यक्ष-पति कुबेर के पुत्र थे, नारदजी के शाप से ये वृक्ष बन गये थे। उन पर भगवान् की दृष्टि पड़ी।"

शौनकजी ने कहा—'सूतजी! आप कह रहे हैं। ये दोनों वृक्ष श्रीकृष्ण के द्वार पर ही थे। इतने दिनों तक भगवान् इनके नीचे होकर निकले होंगे, अब तक इन पर दृष्टि नहीं पड़ी थी क्या? अब तक इनको भगवान् ने नहीं देखा?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! देखा क्यों नहीं। भगवान् नित्य ही देखते थे, किन्तु आज कृपा भरी दृष्टि से देखा। आज उनका वृक्ष योनि से उद्धार करने के विचार से अवलोकन किया। आज उन्हें शाप बन्धन से मुक्त करना चाहा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आज ही भगवान् ने ऐसा विचार क्यों किया? आज ही उन्हें इनकी याद क्यों आयी?"

हँसकर सूतजी बोले—"अब महाराज ! इन नटवर के मन का बात कौन जाने। कब इनकी कृपा दृष्टि पड़ जाय। सबका समय बँधा रहता होगा। समय आने पर ही ये कृपा दृष्टि की वृष्टि करते होंगे। या और कुछ बात होगी, मुझे तो ऐसा लगता है, अपना बन्धन देखकर भगवान् को इन कुबेर पुत्रों के शाप बन्धन की याद आ गयी।" 'जाके पैर न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई।' आज अपने को बँधा देखकर इन वृक्षों की याद आयी अरे ये कितने दिनों से मेरे द्वार पर बँधे खड़े हैं। जब मैंने ही इनका बन्धन नहीं खोला, तो फिर मैं माता स बन्धन खोलने की आशा कैसे करूँ। यदि मैं इनका बन्धन खोल दूँगा, तो मेरा भी बन्धन खुल जायगा। ससार तो व्यवहार पर ही चला रहा है। इस हाथ दो उस हाथ लो। यही सोचकर भगवान् को उनके उद्धार का बात याद आ गयी होगी। भगवान् तो कृपा के सागर हैं, वे माता पर कृपा करने के लिये स्वय बँधे और यमलार्जुन वृक्षों पर कृपा करने आगे बढ़े।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! बँधना यह माता पर क्या कृपा हुई ?"

यह सुनकर सूतजी के नेत्रों से नेह का नीर बहने लगा। उनकी वाणी गद्गद् हो गयी। अत्यन्त करुण स्वर मे बोले—"भगवन् ! प्रेम के बन्धन में भी भगवान् का अनन्त प्रसाद भरा है। भगवान् लक्ष्मीजी के पति हैं। पत्नी पर पति जितनी अनुग्रह करता है, उतनी और किसी पर कर नहीं सकता। अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर देता है। अपने अग में उसे मिला लेता है, इसीलिये वह अर्धाङ्गिनी कहलाती है। भगवान ने लक्ष्मीजी को अपने हृदय मे रहने का स्थान दिया। चरण पलोटने की सर्वोत्कृष्ट सेवा प्रदान की इससे बढ़कर प्रभु का प्रसाद क्या हो सकता है। प्रभु प्रसाद की पराकाष्ठा है, किन्तु इतनी

कृपा करने पर भी लक्ष्मीजी का इतना साहस तो है नहीं, कि वे भगवान् को बाँध दें। उनके मुख की ही ओर जोहती रहती हैं। मनुष्य अपने पुत्र पर भी सबसे अधिक कृपा करता है। पुत्र अपनी आत्मा है, पिता की समस्त चल-अचल सम्पत्ति का अधिकारी है। भगवान् ने अपने पुत्र ब्रह्माजी पर भी उतनी कृपा नहीं की, जितनी यशोदा मैया पर। देखिये, उनके अधीन हुए उनके स्तनों को पान किया, उनके भय से थर-थर काँपे और उनके बाँधने पर बँध गये। इसलिये भगवान् अपराध के फलस्वरूप नहीं बँधे। वे तो सर्वेश्वर हैं विश्वपति हैं उनसे अपराध क्या हो सकता है। माता को वात्सल्य सुख देने को वे बँधे थे और नलकूबर मणिग्रीव जो धनद कुबेर के पुत्र वृक्ष बने चिरकाल से उनके द्वार पर खड़े थे, उनका उद्धार करने उलूखल को खींचते आगे बढ़े थे।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह दामोदर लीला तो बड़ी ही रसमयी है, महाभाग! इस लीला में तो भगवान् ने वात्सल्य रस की पराकाष्ठा ही दिखा दी। यशोदा मैया के भाग्य की जितनी भी प्रशंसा की जाय, उतनी ही कम है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक पुत्र बनकर जिनके स्तनों का पान करें, उनसे बढ़कर बड़भागी संसार में कौन हो सकता है। हम यमलार्जुन उद्धार की कथा तो पीछे सुनेंगे। भगवान् उलूखल से खेल कर रहे हैं, तो उन्हें तब तक खेल करने दीजिये। आप हमें यह बतावें, नन्दजी और यशोदाजी ने ऐसा कौन-सा सुकृत किया था, जिसके द्वारा उन्हें भगवान् के माता पिता होने का देव दुर्लभ पद प्राप्त हुआ था। यशोदा मैया ने ऐसा कौन सा कर्म किया था जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने बड़े-बड़े स्तन श्रीकृष्ण के मुख में दिये।। इस प्रश्न का उत्तर देकर तब आप आगे की कथा कहें।"

यह सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये और बोले—"महाभाग!

ऐसी पदवी कर्मों द्वारा प्राप्त नहीं होती। यह पद साधन साध्य नहीं कृपा साध्य है। भगवान् जाने कब रीझ जायँ, कब कृपा की वृष्टि कर दें। श्री नन्दजी और मैया यशोदाजी के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

बड़ो अटपटो पथ प्रेम को नहिं सब जानें।
जिनकूँ जोगी जती जगन्मय जगपति मानें॥
तिनिकूँ मैया पकरि बाँह मारें धमकावें।
पिट पिटाइकें श्याम गोद ताही की आवें॥
जिनकी लीला ललित सुनि, सब जग आनन्दमहँ भरयो।
जगदीश्वर जिनि सुत बने, कौन सुकृत यशुमति करयो॥

श्रीहरि ने महाभागा यशोदा मैया का स्तन पान क्यों किया ?

[८८२]

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् ।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ८ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

नन्द द्रोण द्विज हते धरा पत्नी सँग बनमहँ ।
भिक्षा पै निर्वाह करहिँ घरि श्रीहरि मनमहँ ॥
करन परीक्षा विष्णु अतिथि द्विज बनि बन आये ।
धरा करयो सत्कार मातु पितु विप्र पठाये ॥
करी याचना अन्न की, धरा अधिक चिन्तित भई ।
पति अभावमहँ अन्नहित, स्वयं बनिक द्वारे गई ॥

दरिद्रता में गुण ही गुण है और धन मे दोष ही दोष है। धन बड़े कष्ट से उपार्जन किया जाता है। प्राणों का प्रण लगाकर पैसा प्राप्त हो जाने पर उसकी रक्षा में बड़ा कष्ट होता है। धनी पुरुष को रात्रि में निद्रा नहीं आती, खुटका बना ही रहता

❀ महाराज परीक्षित् श्री शुकदेवजी से पूछ रहे हैं—"ब्रह्मन् ! महाभागा यशोदा मैया ने ऐसा कौन-सा पुण्य कर्म किया था, जिससे भगवान् ने उनका स्तन पान किया। और नन्दजी ने भी कौन-सा बड़ा भारी पुण्य किया था, जिससे उन्हें ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ ?"

है। धनी का सबसे सदा शका बनी रहती है। मेरे धन को चोर न चुरा ले जायँ, कोई आकर याचना न कर बैठे, भाई बन्धु धन के लिये झगड़ा न करें, राजा कर न बढा दे, मैं स्वयं ही कहीं रखकर न भूल जाऊँ इस प्रकार रक्षा करने में भी दुःख, पास में रखा रहे तो भी दुःख, कि यह वैसे ही रखा है, किसी व्यापार में लगावें तो वृद्धि हो। व्यय करना हो तो दुःख होता है, हाय व्यर्थ ही व्यय हो रहा है। यदि नष्ट हो गया, तब तो प्राणान्त दुःख होता है, धनी कभी निश्चिन्त नहीं बैठ सकते। उन्हें निरतर चिन्ता ही लगी रहती है कोई बिरले ही धनिक होंगे, जो किसी न किसी रूप में चोरी न करते होंगे। दूसरों को कष्ट पहुँचाकर ही धन एकत्रित होता है। धनिकों के लिये मिथ्या भाषण तो एक सामान्य-सी बात है। बात बात पर झूठ बुलवा लो, उनसे कहो तो कह देंगे अजी, क्या करें झूठ बोले बिना काम ही नहीं चलता। यापार तो झूठ सच दोनों के ही आधार पर चलता है। धनिक लोग कहेंगे कुछ करेंगे कुछ। धन पास में रहने से काम का वेग बढता है, धनी बड़े अहंकारी होते हैं वे अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं। उनके प्रतिकूल तनिक सी भी कोई बात हुई, कि वे क्रोध में भर जाते हैं। अभिमान के तो वे पुतले ही होत हैं। यह बडा है यह छोटा है, इससे बात करनी चाहिये, इससे न करनी चाहिये, यह भेद बुद्धि धन वृद्धि से हो ही जाती है। धनी पुरुषों का बहुतों से वैर हो ही जाता है, क्योंकि उन्होंने आवश्यकता से अधिक वस्तुओं पर अधिकार जमा रखा है। धनिकों को सहसा किसी पर विश्वास नहीं होता, माता, पिता, पत्नी तथा भाई बन्धु सभी पर अविश्वास हो जाता है। धन में स्पर्धा स्वाभाविक है, कोई मेरी बराबरी कैसे कर सकता है। धन बढने पर स्त्री जूआ तथा मदादि मादक द्रव्य का व्यसन बढ जाता है। इस प्रकार धन में अनेक दोष हैं।

दरिद्रों की ओर कोई देखता ही नहीं इससे वे इन सब अवगुणों से इच्छा रहने पर भी बचे रहते हैं। इस प्रकार दरिद्रता में सब गुण होने पर भी एक बड़ा भारी दुर्गुण है। अतिथि सत्कार समुचित रूप से नहीं हो सकता। जो दरिद्रों होकर भी घर पर आये अतिथि का तन, मन तथा सर्वस्व अर्पण करके उसका सत्कार करते हैं, उनसे बड़ा सुकृति संसार में दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। इस सुकृति के बदले में भगवान् को क्रय कर लेते हैं, उन्हें अपने अधीन बना लेते हैं। भगवान् उनके हाथों बिक जाते हैं, क्योंकि वे सबमें अपने स्वामी के स्वरूप के दर्शन करते हैं। जिन्होंने अतिथि का सर्वस्व समर्पण करके सत्कार कर लिया उन्होंने सब कुछ पा लिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महा भाग्यवती यशोदा मैया के किस कर्म से परात्पर प्रभु रीझ गये, इस विषय की मैं एक गाथा आपको सुनाता हूँ।"

एक अत्यन्त ही शान्त एकान्त वन था। उस वन में एक जीर्ण शीर्ण पर्णकुटी थी। उसमें एक द्विज दम्पति निवास करते थे। ब्राह्मण का नाम द्रोण था और उनकी पत्नी का नाम था धरा। दोनों ही बड़े भगवद् भक्त विषयों से विरक्त, कृष्ण प्रेम में अनुरक्त और भगवान् के रूपासव में आसक्त थे। ब्राह्मण भिक्षा करके तीसरे पहर जो भी कुछ लाता, ब्राह्मणी उसकी रसोई बनाती आगत अतिथि अभ्यागतों और पति को खिलाकर जो कुछ बचता उसे खा लेती, न बचता तो भूखी ही सो जाती। उसने गाँव देखा नहीं था, वह वन में ही रहकर भगवान के ध्यान में निमग्न रहती। भगवान् ने उसे इतना अधिक सौन्दर्य व्यर्थ ही दे रखा था। वह उस वन्य प्रदेश की मालती कलिका के सदृश थी, जिसके सौन्दर्य की प्रशंसा करने वाला कोई नहीं था। यौवन ने आकर उसे झकझोरा हिलाया डुलाया। किन्तु उसके ऊपर

उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह सती-साध्वी अपने पतिको ही परमेश्वर मानकर उसी की आज्ञाओं का अनुसरण करती, पति की सेवा में ही वह अपने कर्तव्य की इतिश्री मानती पति की आज्ञा ही उसके लिये वेदाज्ञा थी, पति इच्छा के ही अनुसार वह बिल्वपत्र, तुलसीदल तथा भाँति-भाँति के पुष्पों को एकत्रित करती। पति ने कह रखा था अतिथि ईश्वर का रूप है। अतिथि का अनादर ईश्वर का अनादर है। अतिथि जिस द्वार से भग्नाशा होकर लौट जाता है, उसके समस्त सुकृत नष्ट हो जाते हैं। सर्वस्व न्योछावर करके अतिथि की पूजा करनी चाहिये।" पति की यह बात उसने गाँठ में बाँध ली थी। पति की अनुपस्थिति में भी कोई अतिथि आ जाता, तो उसका वह यथाशक्ति स्वागत सत्कार करती।

एक दिन उसका पति भिक्षा लेने समीप के ग्रामों में गया था, उसी समय एक युवक विप्र अपनी वृद्धा माता तथा वृद्ध पिता को साथ लिये हुए उस पतिव्रता की कुटी पर आया। सती ने उन तीनों का श्रद्धा सहित स्वागत सत्कार किया।

युवक ने कहा—"देवि! ये मेरे वृद्ध पिता माता हैं। आज कई दिनों से इन्हें खाने को कुछ नहीं मिला, भूख के कारण ये तड़प रहे हैं, इनके प्राण कण्ठगत हैं तुम्हारे पास कुछ खाने को हो, तो दो।"

पतिव्रता ने कहा—"विप्रवर! आप कुछ काल विश्राम करें, मेरे पति अभी भिक्षा लेकर आते होंगे, उनके आते ही पहिले मैं आपके माता-पिता को ही भोजन कराऊँगी।"

युवक ने पूछा—"उनके आने में कितनी देरी है?"

शीघ्रता के साथ पतिव्रता ने कहा—"अब वे आने ही वाले हैं।" युवक चुप हो गया। कुछ काल के पश्चात् उसने पुनः पूछा—"अभी तक तुम्हारे पति आये नहीं?"

पतिव्रता ने चिन्ता प्रकट करते हुए कहा—"अब तक उन्हें आ जाना चाहिये। न जाने क्यों आज विलम्ब हुआ ?"

युवक ने कहा—"मुझे अपनी चिन्ता नहीं है। मुझे तो इन बूढ़े माता पिता की चिन्ता है। इन्हें यदि शीघ्र भोजन न मिला तो ये परलोक प्रयाण कर जायँगे। वृद्धों ने सत्य ही कहा है भिक्षुक के यहाँ भूखे को कभी अतिथि न होना चाहिये। मैंने बहुत प्रतीक्षा की, अब मैं यहाँ से चला जाऊँगा, किसी अन्य का द्वार खटखटाऊँगा।"

पतिव्रता ने कातर भाव से कहा—"आप मेरे द्वार से निराश होकर लौटेंगे ?"

विवशता प्रकट करते हुए युवक ने कहा—"और दूसरा कोई मार्ग भी तो नहीं।"

पतिव्रता ने कहा—"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। इस दशा में इनका जाना निरापद नहीं।"

युवक ने कृतज्ञता भरी वाणी में कहा—"देवि! आपकी सहानुभूति के लिये धन्यवाद है, किन्तु मैं विवश हूँ मुझे अति शीघ्र आहार का प्रबन्ध करना है, मैं तुम्हारे पति की अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकता।"

यह सुनकर देवी कुछ चिन्तित हुई फिर सोच समझकर बोली—"यहाँ से समीप ही एक ग्राम है, मैं वैसे कभी गयी तो हूँ नहीं, किन्तु मैं जानती हूँ ग्राम सन्निकट ही है। आप कुछ देर प्रतीक्षा करें मैं कुछ आहार लाती हूँ।" यह कहकर वह ज्यों की त्यों उठकर चल दी।

ग्राम समीप ही था, उसमें एक युवक वणिक् की दूकान थी। पतिव्रता धरा देवी उसी पर जाकर खड़ी हो गयी। अन्य बहुत से स्त्री पुरुष सौदा ले रहे थे। युवक वणिक सबको तोल-तोलकर दे रहा था। उसने पतिव्रता से भी पूछा—"तुम्हें क्या चाहिये ?"

पतिव्रता ने कहा—"मेरे पति भिक्षा लेने गये हैं; वे अभी लौटे नहीं। मेरी कुटी पर तीन अतिथि आये हैं उन्हें अभी आहार चाहिये। उनके लिये मैं आहार लेने आयी हूँ।"

युवक भिक्षुक ब्राह्मण को जानता था। उसे यह भी पता था, द्रोण द्विज के समीप एक फूटी कौडी भी नहीं है, उसकी पत्नी को उसने नहीं देखा था। एक बार उसने पतिव्रता को ऊपर से नीचे तक देखा। असहाय को देखकर सभी उससे अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं, सौन्दर्य को देखकर अच्छे अच्छों का मन विचलित हो जाता है। कामवासना काम सामग्री को देखकर बढ़ती है। युवक वणिक् के मन में पाप वासना का उदय हो गया। उसने पूछा—"तुम्हें क्या-क्या चाहिये ?"

युवक वणिक् ने आवश्यकता से अधिक आटा, दाल, चावल, घृत, नमक, मिरच मसाले तथा साग एक पात्र में भरकर सती के सम्मुख रखा और बोला—"यह तो सामग्री मैंने दी, अब तुम मुझे क्या दोगी ?"

दीनता के स्वर में देवी ने कहा—"मैं कंगालिनी भिक्षुकी हूँ, मेरे पास देने को क्या है ?"

सतृष्ण नेत्रों से अपनी दुर्भावना को व्यक्त करते हुए उसने कहा—"मैंने सदावर्त तो खोल ही नहीं रखा है, व्यापार करता हूँ। एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु देना यही व्यापार है। तुम पर दाम नहीं है, तो जो भी कुछ है वही दो।"

विवशता के स्वर में सती ने कहा—"मेरे पास देने को और है क्या। मेरे पास यह फटी साड़ी है।" यह कहकर उसने अपनी फटी साड़ी दिखायी। फटी कंचुकी से सुवर्ण के सदृश उभरे हुए उसके पयोधर दिखायी दिये।"

वणिक् ने कहा—"जो तुम्हारे पास है उसे दोगी ?"

देवी ने कहा—"मैं भगवान् की शपथ खाती हूँ मेरे पास जो भी कुछ हो तुम ले लो।"

यह सुनकर उस कामी ने अपनी कामुक भाषा में माता के स्तनों की ओर संकेत किया। देवी का सतीत्व चमक उठा। उसने क्रोध नहीं किया। बुरा भी नहीं माना। जब मैंने भगवान् की शपथ खाकर सब कुछ देने की प्रतिज्ञा की है, तो मुझे उससे हटना न चाहिये। यह इन मांस के उभरे हुए दो लोथड़ों को ही तो माँग रहा है। इन्हें देकर यदि अतिथियों का सत्कार होता है, तो ये तो व्यर्थ ही छाती के भार हैं।" यह सोचकर सम्मुख पड़ी हुयी एक तीक्ष्ण छुरी को देवी ने दृढ़ता के साथ उठा लिया बात की बात में उसने अपने दोनों स्तन काट डाले। स्तनों को उस युवक के ऊपर फेंककर वह भोजन सामग्री को लेकर शीघ्रता के साथ कुटी की ओर दौड़ी। छाती से रक्त की दो धाराएँ बह रही थीं। जिससे उसके वस्त्र रक्तरंजित हो गये। मार्ग भी रक्त वर्ण का हो गया। लाकर सामग्री उसने युवक को दी। आवेश में वह चली तो आयी थी, किन्तु कुटी पर आते ही अधिक रक्त निकलने से मूर्छित होकर गिर गयी।

कुछ देर में उसने आँखें खोलकर जो कुछ देखा उसे देखकर तो वह अत्यन्त ही विस्मित हुई। जिस युवक के लिये वह सब कुछ लायी थी, वह युवक अब चतुर्भुज विष्णु के रूप में परिणत हो गया। वृद्धा माता सिंह वाहिनी महामाया देवी हैं। वृद्ध पिता त्रिलोचन शंकर हैं। भगवान् ने सती को अभय दान देते हुये कहा—"माता! तुमने हमारे लिये अपने स्तनों का दान दिया है, अतः द्वापर के अन्त में आकर हम तुम्हारे पुत्र होंगे, और इन स्तनों को पान करके आपको अत्यन्त सुख देंगे।"

सिंहवाहिनी भगवती देवी ने भी वर दिया—"हम भी तुम्हारी पुत्री बनकर प्रकट होंगी।" शिवजी ने भी वर दिया हम

भी ब्रज में उत्पन्न होंगे। इस प्रकार वर दे ही रहे थे, कि तब तक द्रोण द्विज भी आ गये। वे भी भगवान् के दर्शन करके कृतार्थ हुए। ये ही द्रोण फिर आठ वसुओं के रूप में हुए धरा इनकी भार्या हुई। ब्रह्माजी ने इनसे कहा—"अब तुम पृथ्वी में उत्पन्न होकर गोवंश का पालन करो।"

द्रोण वसु ने कहा—"हम आपकी आज्ञा को तो शिरोधार्य करते हैं, किन्तु जब हम पृथ्वी पर उत्पन्न हों, तो देवाधिदेव विश्वपति श्रीहरि मे हमारी अविचल भक्ति हो, जिस भक्ति के द्वारा जीव सहज मे ही इस दुर्गति से पार हो जाता है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। भगवान् तुम्हारे पुत्र होकर प्रगट होंगे और तुम्हें सुखी करने को भाँति-भाँति की क्रीड़ाएँ करेंगे।"

इस प्रकार ब्रह्माजी की आज्ञा और इनका वर पाकर द्रोणजी ब्रज में श्रीनन्दजी के रूप में उत्पन्न हुए और उनकी पत्नी धरा देवी ही यशोदाजी के रूप मे प्रकट हुईं। इसीलिये भगवान् में इनकी सबसे अधिक भक्ति थी। भगवान् को तो अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी ही थी, इसीलिये उन्होंने श्रीकृष्ण रूप से माताजी के स्तनों के पय का पान किया। श्रीबलदेवजी तथा अन्यान्य सखाओं के सहित भाँति-भाँति की क्रीडाएँ कीं। इसी सुकृत से माता का साहस बढ़ गया। यह तो एक व्यावहारिक रूप से कथा है। वास्तव में तो श्रीकृष्ण नित्य हैं, उनका धाम नित्य है, नन्द यशोदाजी समस्त गोप, गोपी ग्वाल और गौएँ सभी नित्य हैं। उनकी लीला भी नित्य ही हैं। नित्य ही माँ उलूखल से इन्हें बाँधती है, इसीलिये तो इनका नाम दामोदर नित्य है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! यह बात तो समझ ली। अब आप यमलार्जुन वृक्षों के उद्धार की कथा कहिये। उलूखल से बँधे श्रीकृष्ण ने आगे क्या किया?"

सूतजी बोले—"अब, महाराज! मैं वही यमलार्जुन उद्धार की कथा ही तो सुना रहा हूँ। उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

वणिक अन्न घृत दयो रूपने जादू डारो।
लखि कुच करि संकेत मूल्य माँगत मतवातो॥
सती प्रतिज्ञा करी काटि कुच दोऊ दीन्हें।
लै सामग्री आइ अतिथि पद वन्दन कीन्हें॥
अतिथि विष्णु बनि वर दयो, मम हित कुच काटे जननि।
पुत्र बनूँ स्तन पिऊँ, तू प्रकटे मम मातु बनि॥

यमलार्जुन उद्धार

(८८३)

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्,
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ।
निष्पेततुः परम विक्रमितातिवेप-
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥*

(श्री भा० १० स्क० १० अ० २७ श्लो०)

छप्पय

वसु बनि पुनि द्विज द्रोण भये ब्रज नन्द गोपपति।
धरा यशोदा भई बने सुत कृष्ण जगत्पति॥
बाँधि उलूखल दये कृष्ण खींचे गाड़ी सम।
बाल वृषभ सम चलें श्याम शोभा अति अनुपम॥
यमलार्जुन के मध्य हरि, गये उलूखल फँसि गयो।
खींच्यो बलतें बाल प्रभु, गिर्यो वृक्ष अति रव भयो॥

श्रीकृष्ण की समस्त लीलाएँ प्राणिमात्र के हित के निमित्त जीवों के उद्धार के ही निमित्त होती हैं। वे जिससे जो भी कराते हैं,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिनके उदर में दाम बँधी है, उन बाल कृष्ण ने उलूखल को ज्योंही बलपूर्वक खींचा त्योंही लुढ़ककर अटके हुए उसके परम पराक्रम से शाखा प्रशाखा तथा पत्तों सहित विचलित हुआ वह वृक्ष बड़े वेग से घोर रव करता हुआ, जड़ सहित उखड़कर गिर गया।"

स्वय करते हैं उसमें सब आनन्द ही आनन्द हैं। सब कुछ आनंद के ही लिये करते हैं, निरानन्द का तो वे नाम भी नहीं जानते। तो जो पत्त वृत्त पर लगे हैं वे एक दिन अवश्य ही गिरेंगे। जो जीव श्रीकृष्ण के सम्मुख पड़ेंगे उन सबकी मुक्ति अवश्य होगी। चींटी से ब्रह्मा पर्यन्त सभी जीवों को एक दिन मुक्त होना है। कोई देर में कोई सवेर में। देर सवेर का भी कोई अर्थ नहीं। आज ही सब खिलौने टूट जायँ तो खेल सदा कैसे चले, श्रीकृष्ण को तो सदा खेलना ही है। खेलने के अतिरिक्त दूसरी बात वे जानते ही नहीं, एक खिलौना टूटा दूसरा आ गया। यही गुण प्रभाव है। इसमें क्या शाप क्या अनुग्रह ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यशोदानन्दन श्यामसुन्दर के उदर में रस्सी बँधी है। दूसरी रस्सी उसमे बाँधकर वह उलूखल में बाँध दी है। बालकों ने उलूखल को उलट दिया है। वह गाड़ी के सदृश बन गया है। श्रीकृष्ण दोनों हाथों और दोनों पैरों के बल-बैल के सदृश चल रहे हैं। ग्वाल पीछे से ताली बजा रहे हैं। गाडी का खेल हो रहा है। श्याम सुन्दर उधमी ही जो ठहरे। उन्हें कोई न कोई विचित्र बात सदा सूझती रहती है। सामने अर्जुन के दो जुडेले वृक्ष खड़े थे उनके स्कन्ध परस्पर में एक स्थान से निकले थे। उनके बीच में कुछ अन्तर था। श्रीकृष्ण भूमि से होकर न जाकर उन वृक्षों के बीच से निकले उन्हें अपने श्रीअग के स्पर्श से कृतार्थ करने के निमित्त बन्दर के बच्चे के सदृश खिसककर निकले। स्वय तो निकल गये, किन्तु आपकी कमर की रस्सी में बँधा हुआ उलूखल टेढा होकर उन दोनों के बीच में अटक गया।

गाडी की गति रुक गई। वृषभ बने बनवारी का यह बडा अपमान था। लडके ताली पीटेंगे "अड़ियल बैल है, फिर अड गया।" इसीलिये आपने अपना पूरा बल लगाया। अब क्या,

था, जिसे खींचने को श्रीकृष्ण अपना बल लगा दें और वह न खींचे तो आश्चर्य ही है। श्रीकृष्ण के बल लगाते ही यमलार्जुन का वह बड़ा भारी वृक्ष अड़ड़धम् करके पृथ्वी पर गिर पड़ा। वह जड़ मूल से उखड़ गया। उसकी शाखायें टूट गईं। पत्ते चकनाचूर हो गये। उसके गिरने का भयंकर शब्द समस्त व्रज में छा गया। पीछे आने वाले बच्चे डर गये। श्रीकृष्ण उनके बीच में खड़े-खड़े हँस रहे थे। उन्हें कोई चोट फेंट नहीं आई थी। उन्हें क्या चोट आनी थी, वे तो चोट फेंट से परे हैं। उन्होंने तो उन्हें कृपा भरी दृष्टि से देखते ही सोचा था—"अरे, ये धनद कुबेर के प्यारे पुत्र हैं। धन के मद में मत्त होने के कारण मेरे परम भक्त नारदजी का इन्होंने अपमान किया था, इसीलिये उन्होंने इनके कल्याण के निमित्त शाप देकर इन्हें वृक्ष योनि में भेज दिया था। इनकी बहुत विनय करने पर मेरे द्वारा उद्धार का संकेत कर दिया था। देवर्षि नारदजी मेरे अनुगत हैं, भागवतों में श्रेष्ठ हैं, मेरे परम भक्त हैं, अतः मैं नारदजी के वचनों को सत्य करूँगा, इन लोकपाल कुबेर के पुत्रों का उद्धार करूँगा।" यही सोचकर भगवान् उन दोनों वृक्षों के बीच से निकले और अपने संकल्प से उन्हें गिराया, नहीं तो इतने भारी-भारी वृक्ष तनिक से बच्चे की तनिक सी कटि में बँधी रस्सी से कैसे गिर सकते थे।

उन वृक्षों के गिरते ही उनमें से अग्नि के समान प्रकाशवान् परम तेजस्वी दो देवकुमार तुरन्त उत्पन्न हुए। वे दोनों सिद्ध पुरुष अपनी परम दिव्य कान्ति से दशों दिशाओं को देदीप्यमान कर रहे थे, वे अपनी प्रभा से सूर्य को भी तिरस्कृत कर रहे थे, उन मलहीन देवकुमारों ने चराचर जगत् के एकमात्र स्वामी सच्चिदानन्द घन स्वरूप सौन्दर्य विग्रह रस रूप श्रीकृष्णचन्द्र के

पादपद्मों में विनम्र होकर प्रणाम किया और गद्गद् वाणी से उनकी स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुबेर पुत्र नलकूबर मणिग्रीव दोनों भाइयों ने भगवान् की दिव्य स्तोत्र से स्तुति की। उसका वर्णन मैं समयानुसार फिर करूँगा। वे दोनों हाथ जोड़े विनीत भाव से उनकी स्तुतिकर रहे थे और कृष्ण भोरे बालक की भाँति उनकी ओर निहार रहे थे।

दोनों भाइयों ने दंडवत् प्रणाम करके स्तुति के अंत में कहा—"हे सर्वेश्वर! आप तो सर्वज्ञ हैं, सब जानते ही हैं, कि हम दोनों गुह्यक तथा यक्षों के अधिपति लोकपाल कुबेर के पुत्र हैं। हमारा नाम नलकूबर और मणिग्रीव है। हमें आप अपना अकिञ्चन अनुचर समझें। प्रभो! हम तो ऐश्वर्य के मद में सदा मदमत्त बने रहते थे, आप तो अकिञ्चन गोचर हैं। हम जैसे अभिमानियों को आपके दर्शन कैसे हो सकते हैं। यह तो देवर्षि भगवान् नारदजी ने ऐसी कृपा की कि आपके दर्शन हो गये। वे परोपकारी संत हमारे ऊपर अनुग्रह न करते, तो हम आपके देव दुर्लभ दर्शन कैसे प्राप्त कर सकते थे। अब आप हमें अपने लोक में जाने की आज्ञा दें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, आप मुझसे कोई वर माँगें।"

दोनों भाइयों ने कहा—"भगवन! ये संसारी विषय तो आप से दूर हटा देते हैं। इन ऐश्वर्य और विषय भोगों की चाह आपसे क्या करें? आपके दर्शन हो गये, तो मानों सब कुछ मिल गया।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, यश ऐश्वर्य [illegible] और कुछ माँग लो।"

नलकूबर मणिग्रीव यह सुनकर [illegible]—"हे [illegible]

हे भक्तवत्सल ! हे कारण रहित कृपालो ! हे स्वामिन् ! आप हमें यही वर दें, कि हमारी वाणी सदा आपकी ही विरुदावली का बखान करती रहे। जिह्वा से दूसरे के गुण दोषों का कथन न हो। हमारे श्रवण आपकी सुन्दर सुखद श्रवणप्रिय लीला कथा के श्रवण मे ही सदा संलग्न रहे। हमारे कर सदा आपका कैंकर्य कार्य ही करते रहे। हमारा मन मधुप आपके अरुण वरण के चरण कमल मकरन्द के पान में ही सदा व्यस्त बना रहे। सिर सदा आपके सदन स्वरूप संसार की सेवा और सत्कार में नत बना रहे। नेत्र सदा आपके श्रीविग्रहो तथा साधुजनों के दर्शनों मे ही निमग्न रहे। आपके अचल रूप प्रतिमादिकों और चल रूप सन्त महात्माओ को छोड़कर किसी अन्य की ओर दृष्टि-पात ही न करें। हे सर्वेश्वर ! यही वर हमें आप कृपा करके दीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब धनद कुबेर के पुत्रों ने प्रभु के पुनीत पादपद्मों में प्रणत होकर ऐसी प्रार्थना की, तो प्राणिमात्र के प्रेमास्पद परेश प्रसन्नता पूर्वक रस्सी से उलूखल में बँधे ही बँधे हँसते हुए उनसे बोले— 'लोकपाल कुबेर के प्यारे पुत्रो ! मैं इन सब बातों को तुम्हारे बताने के पूर्व ही जानता था, तुम धन के मद में मदमत्त होकर दृष्टिहीन से हो गये थे। इसीलिये तुम्हारे ऊपर कृपा करके परम कारुणिक मेरे प्रिय भक्त देवर्षि नारदजी ने तुम्हें शाप दिया। उनका शाप कुछ क्रोध जनित आवेग मात्र ही नहीं था। उसमें तुम्हारा परम हित निहित था। तुम्हें ऐश्वर्य का ज्वर चढ़ा हुआ था। धन का घमंड ही बात का बाहुल्य था। उसमें तुम अंड-बंड बक रहे थे, देवर्षि तो संसार रोग के सुनिपुण चिकित्सक हैं। उन्होंने तुम्हारी समुचित चिकित्सा करके दरिद्रता रूपी औषधि देकर तुम्हें मद रहित निरोग बना दिया। यह उनके अनुरूप ही था। क्योंकि साधुजनो के दर्शनों से पुरुषों

का ससार बन्धन रहता नहीं। अब तुम ही सोचो अँधेरे में कुछ भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि नेत्रों को ज्योति प्रदान सूर्य ही करते हैं। वे जगत् को भी प्रकाश देते हैं और नेत्रों को देखने की शक्ति भी देते हैं इसी प्रकार जिनका चित्त अहर्निशि निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है ऐसे सन्त दर्शन करने वालों के अज्ञान को भी दूर करते हैं और हृदय में मेरी परम ज्योति का प्रकाश करते हैं।"

दोनों भाइयों ने लज्जित होकर कहा—"प्रभो! हमने तो भगवान् नारदजी के सम्मुख बड़ा अशिष्ट व्यवहार किया था, किन्तु उन कृपा के सागर ने तो हमारे ऊपर अहैतुकी कृपा की। ससार बन्धन को काटने वाले आपके दुर्लभ दर्शन प्राप्त हुए। अब हमारा जो कर्त्तव्य हो, उसकी शिक्षा हे स्वामिन्! आप हमें दें।"

भगवान् ने कहा—"कोई बात नहीं, कैसे भी जीव सन्तों के सम्मुख आ जाय, उसका बेड़ा पार ही है। सन्तों का समागम, राग से, द्वेष से, क्रोध से, सद्भावना से, दुर्भावना से, कैसे भी किसको हो जाय फिर उसके उद्धार में कोई सदेह नहीं रह जाता। अब तुम जाकर मुझमें चित्त लगाकर सुखपूर्वक वहाँ निवास करो।"

दोनों भाइयों ने कहा—"महाराज! घर में तो बन्धन ही बन्धन है वहाँ हम फिर मदोन्मत्त हो जायेंगे।"

भगवान् ने प्रेम के साथ कहा—"ना भैया! अरे, जिस पर मेरी एक बार कृपा हो गई, क्या वह फिर सदा के लिये विषयों में फँस सकता है? तुम्हें तो मेरा ससार बन्धन को विच्छेदन करने वाला परम प्रेम प्राप्त हो चुका है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के मुख से यह वचन सुनकर वे दोनों भाई परम प्रसन्न हुए और ऊखल में बँधे हुए

श्रीकृष्णचन्द्र के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करके, उनकी आज्ञा लेकर अपने पिता की दिशा उत्तराखंड की ओर चले गये। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में कुबेर के पुत्र नलकूबर मणिग्रीव के शापोद्धार की कथा सुनायी, अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! नलकूबर मणिग्रीव ने नारदजी का क्या, अपराध किया ? उन्होंने उन दोनों भाइयों को क्यों शाप दिया, कृपा करके इस कथा को आप हमें और सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! मैं अब इसी कथा को आपको सुनाता हूँ, आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

टूटत तरु अति सुघर देवसुत प्रकट भये तहँ।
करत प्रकाशित दिशनि नम्र ह्वै आये हरि जहँ॥
नलकूबर मणिग्रीव धनद सुत बुद्धि गँवाई।
पायो नारद शाप भये तरु दोऊ भाई॥
कृष्ण दरश तें दुख कटे, विषय वासना हू जरी।
तनु पुलकित गद्गद् गिरा, दामोदर विनती करी॥

नलकूबर मणिग्रीव के शाप की कथा

[८८४]

कथ्यतां भगवन्नेतत्तयोः शापस्य कारणम् ।
यत्तद् विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेस्तमः ॥*

(श्री भा० १० स्क० १० अ० १ श्लो०)

छप्पय

प्रभु प्रसन्न ह्वै परम प्रेम दुर्लभ वर दीन्हों ।
आयसु हरि की पाइ गमन निजपुर तिनि कीन्हों ॥
पूछे शौनक—सूत ! धनद सुत का अघ कीयो ।
च्यों मुनि नारद शाप वृक्ष बनिवे को दीयो ॥
हँसिकै बोले सूतजी, भगवन् धन मद अति विकट ।
तिहि मदमह मदमत्त बनि, विहरहिं दोऊ सर निकट ॥

बहुत सी ऐसी वस्तुएं हैं जिन्हें पान से एक ही इन्द्रिय के सुख का साधन प्राप्त होगा, किन्तु धन ऐसी वस्तु है, कि इसके द्वारा चाहे जिस इन्द्रिय के विषय को मँगा लो। कुछ काल में सुरा का मद उतर जाता है, जाति का मद भी शिथिल पड़ जाता है, विद्यामद अधिकार का मद ये सभी मद आदमी को सदाचार

---

* महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेव जी से पूछ रहे हैं—'हे भगवन् ! नलकूबर मणिग्रीव के शाप के कारण को कृपा करके हमसे कहिये। उन्होंने ऐसा कौन-सा निन्दित कर्म किया जिसके कारण देवर्षि नारद को क्रोध आ गया, उसे भी कहिये।"

से गिरा देते हैं, किन्तु धन का तो सबसे अधिक भयंकर है। धन-मद में फँसकर प्राणी शील, सकोच, सदाचार, कुलाचार, तथा सद्गुण सभी को खो बैठता है। धन कोई बुरी वस्तु नहीं उसका मद ही बुरा है। धन पाकर किसी विरले को ही अभिमान नहीं होता। धनिकों में कुछ इने-गिने ही ऐसे वन्दनीय पुरुष होंगे, जो धन पाकर भी स्त्री, द्यूत और सुरा, इन व्यसनों में न फँसे हों। नहीं तो धन बढ़ते ही ये व्यसन पीछे लग जाते हैं। जहाँ ये व्यसन लगे, तहाँ धन का ह्रास हुआ। ये व्यसन घोर अधकार की ओर नरक की ओर ले जाने वाले हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे कुबेर पुत्र नलकूबर मणिग्रीव के वृक्ष योनि पाने और नारदजी का शाप देने का कारण पूछा था, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। बात यह है चार दिशा हैं और चार उपदिशा। इन आठों दिशाओं के आठ लोकपाल हैं। इनमें उत्तर दिशा के लोकपाल धनद कुबेर हैं। ये देवताओं की सभी सम्पत्ति के स्वामी हैं। यक्ष, राक्षस, गुह्यक तथा रुद्रगणों के ये स्वामी हैं। त्रिलोकी में कुबेर से बढकर कोई सम्पत्तिशाली नहीं है। देवताओं के भडारी ही ठहरे। समस्त सम्पत्तियों के स्वामी ही जो ठहरे इनके यहाँ किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। लोकपाल धनद के दो पुत्र थे, जिनमें से एक का नाम नलकूबर था और दूसरे का नाम मणिग्रीव। धनिकों के पुत्र प्रायः सुन्दर होते हैं, फिर तिसमें ये तो देवपुत्र थे। ये दोनों अत्यन्त ही सुन्दर थे देवता कभी बूढे नहीं होते सदा सोलह वर्ष के ही बने रहते हैं, इसलिये इन्हें निर्जर कहते हैं। इसलिये इनका यौवन भी स्थायी था। यौवन, धन, सम्पत्ति और प्रभुत्व यदि इनके साथ अविवेक भी हो तो ये एक एक ही असख्यों अनर्थ कर सकते हैं। फिर जहाँ ये चारों हों, वहाँ की तो बात ही क्या कहनी। इनके समीप ये चारों बातें थीं। अविवेक ने इन्हें

अपने वश में कर रखा था। ये दोनों अत्यन्त विषयी थे। स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सराओं को सदा लिये हुये ये देवोद्यानों में विहार करते रहते। सुन्दर सुन्दर सरोवरों के तटों पर सुन्दरियों के साथ जल केलि करते, उनके साथ वारुणी मदिरा का पान करके मदोन्मत्त होकर हँसते खेलते गाते बजाते। शिवजी, कुबेरजी को अपना सखा ही मानते हैं, अतः सखा के सुतों के नाते शिवजी भी इन्हें अपना सेवक ही मनाते। इन सब बातों के कारण ये दोनों अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। इन्हें अपने ऐश्वर्य का बड़ा अभिमान था।

एक दिन ये दोनों स्वर्गीय सुन्दरी अप्सराओं को लिये हुए वन विहार के लिये गये। वहाँ विभ्राजक, चैत्ररथ, तथा नन्दन काननादि वनों में स्वच्छन्द विहार करने लगे। इन दोनों ने वारुणी नाम की मदिरा यथेष्ट पी रखी थी। साथ की अप्सराओं को भी पिला रखी थी, उसके मद में ये मदमाते बने हुए थे। इन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं थी। सुरा के कारण इनकी कामाग्नि प्रदीप्त हो रही थी। मन जब काम के आधीन हो जाता है और कामिनी को भी सम्मुख पाता है, तो वह कुत्सित चेष्टायें बिना किये रह नहीं सकता। उन कुबेर के कुमारों ने उन अप्सराओं के सम्पूर्ण वस्त्र उतरवा दिये उन्हें नितान्त नग्नकर दिया। स्वयं भी नंगे हो गये वारुणी के मद में उन्हें शील, संकोच तो रहा नहीं मद के कारण उनके नेत्र घूम रहे थे। दोनों मदोन्मत्त बने कैलाश के परम रमणीय उपवन में इधर से उधर चक्कर लगाने लगे। नंगी अप्सरायें गाती बजाती थीं, ये उनके स्वर में स्वर मिलाकर गाने का अनुकरण करते फिर ठठाका मारकर—हा! हा! हा! करके हँसने लग जाते। वह पुष्पित वन बड़ा ही सुन्दर था, उसमें सदा वसन्त निवास करते। कल कल नादिनी पुण्यस्रोया विष्णु पादाब्धसम्भूता श्रीगङ्गाजी का वह तट था।

भगवान् चन्द्रशेखर के जटा-जूट से निकलकर भगवती त्रिपथगा यहीं से पृथ्वी, पाताल, और स्वर्ग में गई हैं। कहीं-कहीं कैलाश की उपत्यकाओं मे गङ्गाजल रुककर गङ्गाजी के मध्य में ही ह्रद बन गये थे। वे यक्षाधिप कुबेर कुमार उन कमनीय कमलों को लेने के लिये श्रीगङ्गाजी के एक ह्रद में घुस गये, उन अप्सराओं ने भी उनका अनुसरण किया। जल में वरुण देवता का निवास होता है, जल को प्रसन्नता होती है। उन काम पीडित अप्सराओं और कुबेर कुमारों ने साथ ही ह्रद मे प्रवेश किया था। अब उन्हें जल क्रीडा की सूझी, दोनों अपने हाथों जल उलीचकर उन्हें न्हिलाने लगे। वे क्रीडा का भाव दिखाती हुई भागतीं उन्हें कसकर पकड लेतीं, उनके ऊपर स्वय जल उलीचतीं, इस प्रकार बडी वेला जल विहार होता रहा। सयोग की बात दैवयोग से देवर्षि नारदजी वीणा बजाते हरिगुण गाते उधर से आ निकले।

वैसे नारदजी किसी की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। यह तो ससार है, इसमे सभी प्रकार के प्राणी हैं, सभी अपने अपने स्वाभाव और सस्कारों से विवश हैं, कहने से कौन मानता है, अच्छे-अच्छे साधक इच्छा न रहने पर भी पूर्वसस्कारों के अधीन होकर विषयों मे फँस जाते हैं। फिर देवयोनि तो भोग योनि है ही, इसमें तो इन्द्रियों को तृप्त करना ही प्रधान उद्देश है। भाग्यवश नारदजी की इन दोनों पर दृष्टि पड गयी। सर्वान्तर्यामी नारदजी देखते ही इन कुबेर पुत्रों को पहिचान गये। शिवजी की सभा मे सदा ही ये कुबेर के साथ नारदजी को मिलते थे। इनके पिता नारदजी को देखते ही उठ खडे हो जाते। इन दोनों को पैरों में डालते थे, ये भी जब कभी नारदजी को देखते तो चरण वन्दना करते। आज नारदजी ने देखा—"ये छोकरे मुझे देखकर हँस रहे हैं। प्रणाम नमस्कार तो दूर रही, ये मुझे देखकर वस्त्र तक नहीं पहनते। नंगे, धडगे इन नगी अप्स-

राओं के साथ मेरे देखने पर भी निर्लज्ज होकर विहार कर रहे हैं। ओ हो! ये तो वारुणी के मद में मतवाले बने हैं। ऐश्वर्य मद ने इन्हें नेत्र रहते हुए भी अन्धा बना दिया है। अच्छी बात है मैं इनके मद को चूर करूँगा।"

अब तक अप्सराओं की दृष्टि नारदजी पर नहीं पड़ी थी। स्त्री कैसी भी क्यों न हो उसमें कुछ न कुछ लज्जा रहती ही है। वेश्याओं तक में कुछ शील सकोच स्त्री सुलभ लज्जा का अंश बना रहता है। नारदजी को देखते ही दौड़कर उन अप्सराओं ने

अपने अपने वस्त्र पहिन लिये। किन्तु नलकूबर मणिग्रीव को तो अपने ऐश्वर्य का अभिमान था। वे सोचते थे—"यह तूमडिया भिखारी नारद हमारा क्या करेगा। हम स्वतन्त्र हैं, धनद लोकपाल के पुत्र हैं, हमारी जो इच्छा होगी सो करेंगे। नारद हमारा शासक तो है ही नहीं।" यही सोचकर वे नारदजी के सम्मुख वैसे ही नगे-धड़ंगे खड़े रहे।

ऊपर विमान में चढी अप्सरायें इस कामक्रीडा को देख रही थीं, उनके मन में भी काम भाव उत्पन्न हो रहा था। बहुत से देवगण भी आकाश मे विमानों पर बैठे इस जल विहार को देखकर सिहर रहे थे, केवल नारदजी ही चिन्तित और दुखी हुए खड़े थे।"

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! नारदजी के दुखी होने का क्या कारण था? महाभाग यह तो ससार है। इसमें अच्छे-बुरे, खोटे-खरे सभी प्रकार के जीव होते हैं। कोई किसी कार्य से अपनी वासना की पूर्ति कर रहा है कोई किसी कार्य से। नारदजी चुप चाप कृष्ण कीर्तन करते हुए चले जाते। उन्हें इन विषयों के बीच मे पडने की क्या आवश्यकता थी। सब अपने स्वभाव से विवश होकर कार्य करते हैं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यह सत्य है, प्राणी विवश है, वह सस्कारों के आधीन होकर ही कार्य करता है। किन्तु सन्तों का स्वभाव भी तो परोपकार है। वे प्राणियों पर कृपा किये बिना रह नहीं सकते, जैसे दुष्टों का स्वभाव ही पर पीडा देना होता है। उनका चाहे कुछ भी स्वार्थ न हो किन्तु इन्हे प्राणियो को पीडा देने में एक प्रकार का आनन्द आता है, इसी प्रकार सन्तों को परोपकार करने में, दीन, दुखियों के दुखों को दूर करने में, भूले भटकों को सुमार्ग में लगाने में, अज्ञों को उपदेश करने में, आनन्द आता है। कहीं वे प्रसन्नता प्रकट करके कृपा करके हैं, कहीं शाप

देकर भी अनुग्रह करते हैं। उनकी प्रत्येक चेष्टा में परहित निहित रहता है वे जो भी करते हैं प्राणियों के कल्याण के ही निमित्त करते हैं। नारदजी को इनकी ऐसी दुर्दशा देखकर दया आ गयी। ये समझ गये मद में उन्मत्त बने ये यत्न समझाने बुझाने से मानने वाले नहीं इन पर तो शाप देकर ही कृपा करनी है। रोग के उपद्रव अधिक बलवान हों तो प्रथम अनुभवी वैद्य को उपद्रव को शान्त करने की चेष्टा करनी चाहिये, फिर शनैः-शनैः उपद्रवों के कारण रोग को जड़ मूल से मेंट देना चाहिये। मुझे प्रथम शाप देकर इनके ऐश्वर्य मद को नष्ट करना है। अब ऐश्वर्य से हीन हो जायेंगे। तब ये प्रभु प्रसाद प्राप्त करने के अधिकारी बन जायँगे। इतने बड़े लोकपाल के पुत्र होकर ये ऐसे निर्लज्ज हो गये हैं, यह बड़े दुःख की बात है।" यही सब सोच विचार कर नारदजी अपने आप ही आकाश चारी देवता और अप्सराओं को सुनाते हुए शून्य से बातें करने लगे।

नारदजी कहने लगे—"महामुनि च्यवन ने इन्द्र को मारने के लिये 'मद' नाम का एक पुत्र उत्पन्न किया था। इन्द्र को जब पता चला, कि मुनि ने मुझे मारने मद को उत्पन्न किया है, तो वे मुनि के चरणों में गिरकर उनसे क्षमा माँगने लगे। तब इन्द्र की अनुमति से मुनि ने मद को अनेक स्थानों में बाँट दिया। हाथियों में, स्त्रियों में, सुरापियों मे, धन मे, विद्या में, द्यूत में, तथा अन्य भी बहुत से यौवनमद, ऐश्वर्यमद, विद्यामद, कुलमद, सुरामद, तथा धनमद, आदि अनेक मद हुए। इन सबमें ऐश्वर्यमद जितना बुद्धि को भ्रष्ट करने वाला है उतना और कोई भी मद नहीं है। ऐश्वर्य के मद मे तो प्राणी अपने पराये के विवेक को ही खो बैठता है। हास्यादि रजोगुण के कार्य हैं, किन्तु ऐश्वर्य मद होने वाले अनर्थों की तो कोई सीमा ही नहीं। ऐश्वर्य मद में स्त्री संग, द्यूत और मदिरा इनकी तो प्रधानता रहती है। जो मदिरा पान करेगा

मांस अवश्य चाहिये, मांस विना हिंसा के प्राप्त होता नहीं। जो अपने नश्वर शरीर के पोषण के लिये दूसरों के प्राणों की हिंसा करता है वह अपने शरीर को तो अजर-अमर समझता ही है। उसे पुष्ट बनाने को प्राणियों का वध करता है। यह शरीर कितना भी सुन्दर हो, कितना भी कुलीन हो सबकी तीन ही गति है। ब्राह्मण का शरीर हो या चांडाल का, काला हो अथवा गोरा, स्त्री हो या पुरुष, कुलीन हो अथवा अकुलीन, रोगयुक्त हो अथवा निरोग, मरने पर तीन ही इसकी गति है। अग्नि में जला दो तो मुट्ठी भर राख हो जायगी, गाड़ दो तो सड़कर कीड़े पड़ जायँगे। वन में, जल में, फेंक दो तो मांस भोगी जल जन्तु उसे खाकर विष्ठा बना देंगे। ऐसे नश्वर अनित्य क्षणभंगुर शरीर के लिये जो पुरुष प्राणियों से द्रोह करता है, वह अपने हाथों ही नरक के मार्ग को परिष्कृत करता है। क्या वह अपने वास्तविक स्वार्थ से परिचित है ?

नारदजी इस प्रकार शून्य में कह रहे थे। समीप ही कुबेर पुत्रों के अंग रक्षक यक्ष दूर बैठे थे। उनमें से एक यक्ष ने आकर हाथ जोड़कर नारदजी के चरणों मे प्रणाम किया और अत्यन्त ही विनीत भाव से बोला—"भगवन्! आप इस देह को अनित्य क्षणभंगुर बता रहे हैं। यह तो सत्य ही है, किन्तु यह शरीर हमें वंश परम्परा से प्राप्त हुआ है। हमारे माता पिता ने इसे उत्पन्न किया है, उन्हीं का इस पर अधिकार है।"

नारदजी ने कहा—"अच्छा पहिले यही निर्णय हो जाय, इस शरीर पर किसका अधिकार है। यदि अन्न न मिले तो न तो यह शरीर बढ सकता है और न रह सकता है अधिकार की ही बात है, तो इस शरीर पर अन्नदाता का ही अधिकार होना चाहिये। अन्नदाता को भी पिता कहा है।"

यक्ष ने कहा—"अन्न तो तभी खायगा, जब पहिले शरीर

बनेगा। शरीर बनाने वाले का भी तो अधिकार होना चाहिये ?"

नारदजी ने कहा—"अन्न से ही तो वीर्य बनता है, पुरुष अपनी पत्नी की योनि में वीर्य का आधान करता है, माता के रज और पुरुष के वीर्य के सम्मिश्रण से शरीर उत्पन्न होता है। माता उसे उदर में धारण करती है। अतः वीर्यदाता पिता उदर में धारण करने वाली माता का भी इस शरीर पर अधिकार है। वे कहते हैं यह मेरा पुत्र है। पिता का पिता कहता है मैं पुत्र को पैदा न करता तो पौत्र कैसे होता, इसी बात को उसका पिता कहता है। अतः सभी पूर्वजों का भी इस पर अधिकार है। माता की माता नानी कहती है मैं अपनी पुत्री को पेट मे न रखती तो यह धेवता, कैसे होता अतः नानी इस शरीर पर अपना अधिकार जमाती है। इसी प्रकार माता के पिता नाना, इस पर अपना स्वत्व प्रकट करते हैं। भगवान् कहते हैं कोई भी पैदा करो यह शरीर मेरी कृपा से सुरक्षित है, मैं चाहूँ तो अभी इसे नष्ट कर सकता हूँ। अतः मेरा अधिकार है। जिसके यहाँ नौकरी चाकरी करते हैं वह कहता है—"मैंने इस शरीर को क्रय कर लिया है। मैं जो चाहूँ इससे काम लूँ, मैं इसका स्वामी हूँ।" सबकी बात सुनकर कुत्ते, गीदड, चील, कछुआ, कीडे आदि जीव तथा अग्नि देव कहते हैं—"स्वामी तो वही है जिस पर वह वस्तु पहुँच जाय, तुम बकते रहो, अत में तो यह शरीर ही पेट में आना है, अतः हम ही इसके सच्चे स्वामी हैं। अब बताओ, इस शरीर को किसका कहें, किसे इसका स्वामी मानें।

यक्ष ने पूछा—'तब महाराज! यह वास्तव में शरीर है किसका ? कौन स्वामी है ?"

नारदजी ने कहा—"अरे, भाई यह देह अव्यक्त से उत्पन्न हुआ है। समस्त भूत आदि में अव्यक्त ही थे। बीच में व्यक्त हो गये। अन्त में भी अव्यक्त में मिल जायेंगे। जहाँ की वस्तु तहाँ

चली गई तो इसमें शोक और चिन्ता करने की तो कोई बात ही नहीं। स्वप्न में हमने सर्प देखा हम डर गये। स्वप्न भग हुआ, भय चला गया। स्वप्न के पूर्व भी वहाँ सर्प नहीं था। स्वप्न के अन्त मे भी उसका अस्तित्व नहीं रहा। केवल स्वप्नावस्था मे उसकी प्रतीति मात्र हुई। ऐसा ही यह देह है। बनने से पूर्व इसकी समस्त सामग्री पंचभूतों मे थी। मरने पर भी ज्यों की त्यों पचभूतों मे मिल जाती है। यह देह असत् है। ऐसी साधारण वस्तु के लिये कौन बुद्धिमान पुरुष जीवहिंसा आदि पाप कर्म करेगा। एकमात्र आत्मा ही सत्पदार्थ है। अज्ञानी पुरुष शरीर को ही आत्मा माने बैठे हैं। इसलिये शरीर को सदा बनाये रखने की, सुखी रखने की, निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त होकर पाप कर्म करते हैं। अपने संस्कारों को कुत्सित करके आत्महा बनकर नरकों की यातनायें भोगते हैं। ऐश्वर्य का मद एक प्रकार का रोग है। जैसे वात रोग में आदमी अड-बड बकता है, इधर-उधर हाथ पैर फटफटाता है, उसी प्रकार धनमद में मतवाला मनुष्य मोहवश मूर्खता करता है। बड़ों का अपमान करता है। सदाचार का उल्लंघन करता है।"

यक्ष ने पूछा—"भगवन्! इस धनमद रोग की कुछ ओषधि भी तो होगी?"

नारदजी बोले—"हाँ, ओषधि है, क्यों नहीं। धनके मद में मत्त हुये रोग की दरिद्रता ही एकमात्र ओषधि है। ऐश्वर्यमद आँखों मे जाले के समान छा जाता है। आँखों की पुतलियों पर जब जाला आ जाता है, तो मनुष्य को कुछ सूझता नहीं, वह अन्धा हो जाता है। उस आँख के पके हुए जाले को किसी अञ्जन से या शस्त्र से काट दो, तो पुनः आँखों में ज्यों की त्यों ज्योति आ जाती है, पुनः दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार धनमद में मदान्ध हुये पुरुषों को दरिद्रता दे दी जाय तो उनकी बुद्धि ठिकाने

आ जाती है। दरिद्र बिना बने दरिद्रों के दुःख नहीं जाने जाते। जब स्वयं दरिद्र बन जाता है तो वह सबके दुखों को अपने ही समान अनुभव करने लगता है।"

यक्ष ने कहा—"भगवन्! सुनकर भी तो बहुत बातों का अनुभव होता है?"

नारदजी ने कहा—"कुछ बातों की सुनकर भी जानकारी हो जाती है। किन्तु स्वयं अपने ऊपर बीतती है, तब उसका अनुभव यथार्थ होता है। अपने पैर में बिवाई फटती है तब उसकी पीर का अनुभव भली-भाँति होता है। अपने पैर में जब काँटा लगता है, और कष्ट में सी-सी करते हैं, तब ज्ञान होता है, कि दूसरों को भी काँटा लगने पर ऐसा ही कष्ट होता होगा। जिनको समय पर आवश्यकता से अधिक भोजन, वसन, वाहन, विलास की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो जाती हैं, वे निर्धनों की आवश्यकताओं का और उनके अभाव में जो पीड़ा होती है उसका अनुभव कैसे कर सकते हैं? दरिद्रता दैव की दी हुई स्वाभाविकी तपस्या है। दरिद्री में और तपस्वी में ऊपर से कोई अन्तर नहीं। निर्धन के पास न धन बल है न जन बल। पेट भरने पर ही व्यभिचार द्यूत तथा मद्य पान की बातें सूझती हैं। निराहार प्राणी की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। सम्मुख भोग वस्तुएँ होने पर भी इच्छा नहीं होती। अहंकार, अकड़ आदि तो धन के मद से ही हुआ करते हैं। निर्धन किस आधार पर अहंकार करे। दरिद्रता देवी की दया से सब दुर्व्यसनों से स्वतः ही बचा रहता है।"

यक्ष ने पूछा—"भगवन्! आपने निर्धन को तपस्वी की उपमा कैसे दी?"

नारदजी बोले—"अरे! भाई! तपस्वी और क्या करते हैं? हम अन्न नहीं खायेंगे, केवल फलाहार पर ही रहेंगे, बाल नहीं

बनवायेंगे। आहार छोड़कर केवल जल पीकर ही रहेंगे। जाड़ों में दिगम्बर बनकर रहेंगे। पञ्चाग्नि तापेंगे। इन्हीं सब बातों का नाम तपस्या है। निर्धन की यह तपस्या अपने आप हो जाती है। उस पर वस्त्र नहीं होते, जैसे-तैसे पेट में घोंटू देकर, चिथड़ों को ओढ़कर रात्रि भर जागता रहता है। अन्न नहीं मिलता, तो जल पीकर ही रह जाता है। दिन भर परिश्रम करता है। देव योग से उसे जो कष्ट प्राप्त होते हैं वही उसका परम तप है। अन्तर इतना ही है, कि वह तपस्या अपने आप मन से की जाती है, यह तपस्या दैवेच्छा से अपनी इच्छा न रहने पर की जाती है। वह भी तपस्या इच्छा से कहाँ होती है। उसे करने को भी पूर्व संस्कारों के कारण प्राणी विवश हो जाता है। सभी तो उस तपस्या को नहीं कर सकते। उसमें भी पूर्व संस्कारों से, भाग्य से किसी विरले पुरुष की ही प्रवृत्ति होती है। दरिद्रता से जो दुःख सहते हैं उनसे भी पाप तो कटते ही हैं, अशुभों का नाश तो उनसे भी होता है, अतः दरिद्रता भोगना एक प्रकार का तप है। जिनको अजीर्ण, मन्दाग्नि, अथवा संग्रहणी हो जाती है। उनको चिकित्सक लोग उपवास कराके अथवा अल्प आहार देकर उनके दोषों को पचाते हैं। जैसे अजीर्ण की उपचार उपवास है वैसे ही धनमद से अंधे हुए पुरुषों की आँखों केलिये दरिद्रता ही सर्वश्रेष्ठ अचूक अंजन है। जिसकी देह क्षुधा से जर्जर हो जाती है, जिसे सदा सर्वदा अन्न की ही चाह बनी रहती है, ऐसे निर्धन पुरुष की समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। वाणी में करुणा आ जाती है, मुख पर दीनता छा जाती है। वह किसी से न कड़वा वचन ही बोल सकता है न उसमें हिंसा करने की सामर्थ्य ही रहती है।

यक्ष ने कहा—"महाराज! निर्धनता में एक बड़ा दोष है। जिसके पास धन न होगा, तो साधु सन्त भी उसके पास न

आवेंगे। साधु सन्त न आवेंगे तो वह सत्संग से वंचित रहेगा। जो सत्सग से वञ्चित रहेगा, उसकी सद्गति भी न होगी। इससे नो निर्धनता इस लोक, परलोक दोनो को ही बिगाडने वाली है।

नारदजी ने कहा—"अरे,भैया! यह बात नहीं समदर्शी साधु गण कुछ धनिकों के क्रीत दास तो होते नहीं धनिक तो धन के मद में भरकर साधुओं से भली भाँति बोलते तक नहीं। वे तो अधे हो जाते हैं, माता पिता गुरु तथा स्वजनो तक का तिरस्कार करते हैं। ऐसे अभिमानी पुरुषों के समीप साधुजन जाकर उनकी लल्लो-चप्पो क्यों करने लगे। उनकी दृष्टि में तो धनी-निर्धन समान ही हैं। जो भी उनके पास जाय उसी से वे प्रेम करते हैं। धनी तो अपनी पद प्रतिष्ठा के मद मे भरकर उनके समीप जाते नहीं, उन अकिञ्चनों के समीप जाने में वे अपना अपमान समझते हैं। जाते भी हैं तो नम्रता नहीं दिखाते, उनके समीप श्रद्धा से बैठते नहीं, अभिमान में अकडे रहते हैं। निर्धन तो डरता रहता है। वह जहाँ चाहता है वहाँ निरभिमान होकर चला जाता है। निःसकोच पैर छूता है सेवा करता है। इस प्रकार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों को साधु समागम का अधिक सुयोग प्राप्त होता है। उनका संग करते-करते वह विषयों में जो अब तक तृष्णा बनी हुई थी, उसे भी शनैः शनैः त्याग देता है। धन तो पहिले ही नष्ट हो चुका था। साधु संग से जहाँ तृष्णा का भी नाश हुआ, तहाँ वह जीवन मुक्त बन जाता है। प्रभु के सर्वश्रेष्ठ प्रेम को वह प्राप्त कर लेता है। इस कारण निर्धनता बुरी वस्तु नहीं है। वह साधु समागम से भी वञ्चित नहीं करती। जो साधु होकर धन का लोभी है वह साधु ही नहीं। जो भगवच्चरणारविन्दों के रस के रसिक हैं, उन समदर्शी साधु पुरुषों को दुर्गुणों से युक्त एव धन के मद से मत्त दुर्जनों से क्या प्रयोजन है?

उनके लिये तो ऐसे अविनम्र अहंकारी उपेक्षणीय ही होते हैं। ये कुबेर के पुत्र वारुणी मदिरा का पान करके प्रमत्त बने हुए हैं, ऐश्वर्य मद से मदान्ध हो रहे हैं। स्त्रियों में अत्यंत आसक्त हो गये हैं, ऐसे इन्द्रिय लोलुप, स्त्री परायण यक्षों का मैं अज्ञान जनित मद दूर कर दूँगा। इन्हें इनके मद से भ्रष्ट करके स्थावर बना दूँगा।"

यक्ष ने कहा—"महाराज! आप क्यों क्रुद्ध होते हैं। आप इनको स्थावर योनि में शाप देकर क्यों भेजना चाहते हैं?"

नारदजी ने कहा—"देखो, भाई! कोई साधारण विषयासक्त बद्ध जीव होते, तो मैं उनकी उपेक्षा भी कर सकता था। ये तो प्रसिद्ध लोकपाल के पुत्र हैं। देवयोनि में होने से पूजनीय और वन्दनीय हैं। ज्ञान तथा भगवद्भक्ति के अधिकारी हैं। इतने उच्च अधिकारी होने पर भी अत्यन्त मद के कारण अज्ञान में ऐसे डूबे हुए हैं इन्हें अपने वस्त्रों तक की सुधि नहीं मेरे सम्मुख भी नङ्ग-धड़ंगे वृक्ष के समान खड़े हैं। अतः ये वृक्ष ही बनें। इन दोनों में परस्पर में बड़ा ही स्नेह है। जिनका आपस में स्नेह होता है, वे किसी योनि में जन्म लेंगे दोनों साथ ही रहेंगे। अतः ये वृक्ष बनकर भी जुड़ैले होंगे। दोनों की जड़े आपस में सटी होंगी। दूर से देखने में ये दो होने पर भी एक ही दिखाई देंगे।" यक्ष ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! ये हमारे स्वामी हैं। इनसे कोई अविनय हो भी गई है, तो उसे आप क्षमा करें। आप तो दया के सागर हैं। इन्हें ऐसा कठोर शाप न दें।"

नारदजी ने कहा—"भाई, देखो! मैं तो कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोलता। मेरी वाणी अमोघ है, वह कभी मिथ्या हो ही नहीं सकती। इन्हें वृक्षयोनि में तो जाना ही होगा, किन्तु तुम बहुत विनय करते हो, तो मैं इतना किये देता हूँ कि इन्हें वृक्षयोनि में भी मेरी कृपा से इस जन्म की स्मृति ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

यह दड मैं इन्हें इसलिये देता हूँ, कि जिससे ये फिर कभी अज्ञान में फँसकर ऐसा अनर्थ न करें।

यक्ष ने कहा—"महाराज! पूर्वजन्म की स्मृति बनी रहना तो और भी बुरी बात है। सदा इन्हें अपनी पूर्व दशा स्मरण करके दुःख बना रहेगा।"

नारदजी ने कहा—"यही तो तप है। अपने पापों का स्मरण करके सदा चिंतित बने रहना, पश्चात्ताप करते रहना यही तो सर्वश्रेष्ठ साधन है। जिसे पाप करके हृदय से पश्चात्ताप बना रहता है और उसके प्रायश्चित स्वरूप तपस्या में लगा रहता है, वह शीघ्र पापों से मुक्त हो जाता है। इन्हें सदा यह स्मृति बनी रहेगी, कि हमने ऐश्वर्य के मद में भरकर ऐसा अनर्थ किया, तो वृक्ष योनि में भी इनकी तपस्या हो जायगी। तपस्या में स्थान का बडा प्रभाव होता है पुण्य स्थानों में की हुई तपस्या अन्य स्थानों से शतगुणी बलवती होती है। अतः ये वृक्ष भी होंगे तो परम पुण्य प्रद व्रज भूमि में होंगे। व्रज में भगवान् की जन्म स्थली गोकुल में इनका जन्म होगा। गोकुल में भी भगवान् के भवन के द्वार पर ये रहेंगे। द्वापर के अत में भगवान् नद यशोदा के पुत्र बनकर इनके नीचे खेलेंगे।"

यक्ष ने कहा—"भगवन्! फिर इनके उद्धार का भी तो कोई उपाय बता जाइये।"

हँसकर भगवान् नारदजी ने कहा—"अरे, अब भी उद्धार का उपाय शेष रह गया क्या? वृन्दावन धाम में ये निवास करेंगे, ग्वाल बालों से सुमधुर श्रीकृष्ण नाम का कीर्तन सुनेंगे। भगवान् की माखन चोरी आदि लीलाओं को ये देखेंगे, उनके सुमधुर त्रैलोक्य पावन रूप का ये अवलोकन करेंगे। नाम, रूप लीला और धाम चारों ही साधन तो इन्हें प्राप्त हैं। केवल कृष्ण धाम में ही विश्वासकर पडे रहें, केवल कृष्ण नाम

ही रटते रहें, केवल कृष्ण रूप में ही मन को अटकाये रहें, केवल कृष्ण लीलाओं का ही चिंतन, मनन श्रवण करते रहें। इन चारों में से एक का ही आश्रय लेने से उद्धार हो जाता है, फिर इन्हें तो चारों ही प्राप्त होंगे। इनके उद्धार में तो कोई सदेह ही नहीं।"

यक्ष ने पूछा—"फिर इनकी वृक्षयोनि कब छूटेगी।"

नारदजी ने कहा—"यशोदा मैया जब श्रीकृष्ण को माखन चोरी के अपराध पर बाँधेगी, तब वे अपराधी बने इन अपराधियों के बीच से निकल जायँगे, तब इनका अपराध क्षमा हो जायगा। ये वृक्षयोनि से छूट जायँगे। ब्रह्मादिक देवताओं को भी जो कृष्ण प्रेम दुर्लभ है वह परम प्रेम पद इन्हें प्राप्त होगा। देवताओं के वर्षों से सौ वर्ष तक ये वृक्षयोनि में रहेंगे। तदनन्तर सौ वर्ष बीत जाने पर आनन्दकन्द व्रजचन्द श्रीकृष्णचन्द्र की इन्हें सन्निधि प्राप्त होगी। उसी समय ये भगवान् की भक्ति प्राप्त करके फिर अपने लोक के अधिकारी हो जायँगे। फिर कुबेर लोक में रहकर भगवान् की सेवा पूजा और परिचर्या में लगे रहेंगे। यह शाप मैंने इनके कल्याण के लिये ही दिया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर इच्छानुसार सभी लोकों में घूमने वाले देवर्षि नारदजी भगवान् के दर्शन करने के लिये बदरीवन की ओर चले गये। उधर ये दोनों कुबेर के पुत्र यमल अर्जुन होकर गोकुल में नन्दजी के द्वार पर देवताओं के वर्षों के सौ वर्षों तक खड़े रहे। भगवान् जब इनके बीच में से निकले, तब इनका उद्धार हुआ और ये भगवान् की स्तुति करके, उनकी आज्ञा लेकर अपने लोक को चले गये।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ सूतजी! फिर क्या हुआ? भगवान् बँधे ही रहे या उन्हें किसी ने खोला।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज! भगवान् को न कोई बाँध सकता है, न खोल ही सकता है। वे अपनी इच्छा से ही

बँधते हैं, इच्छा से ही खुलते हैं। अब जो हुआ उसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

संग अप्सरा वस्त्र हीन नंगे है न्हावें।
हरि गुन गावत परम रसिक नारद मुनि आवें॥
लखि मुनि युवती निकरि पहिन पट ऋषि सन्माने।
किन्तु धनद सुत मत्त नम्र ठाढ़े मौं ताने॥
शाप दयो मुनि तरु बनो, यमलार्जुन ते है गये।
पुनि द्वापर के अन्त महँ, परसि प्रभुहिं पावन भये॥

श्रीकृष्ण की बन्धन मुक्ति

[८८५]

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् ।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

वृक्ष पतन रव सुनत नन्द गोपादिक धाये ।
बँधे उलूखल कृष्ण करत क्रीड़ातहँ पाये ॥
कहें परस्पर गिरे वृक्ष नहिं आँधी पानी ।
बालनि सच सब कही बात काहू नहिं मानी ॥
गिरे दूध के दाँत नहिं, जिह छोटो सो छोकरा ।
तरु उखारि कैसे सके, कहें युवक अरु डोकरा ॥

यह बात बार-बार दुहरानी पड़ती है, कि यह प्रेम का पंथ निराला है। इसमें जो हो जाय वही थोड़ा है। परात्पर सच्चिदानन्द घन विग्रह श्रीकृष्णचन्द्र को संसार बन्धनों से मुक्त करने वाला सभी वेद शास्त्र बताते हैं। उन्हें भी माता रस्सी से बाँध देती थी। जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं शक्यः' हैं सर्वसमर्थ हैं, वे

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! व्रजराज नन्दजी ने अपने पुत्र को ओखली में रस्सी से बँधा देखा तथा यह भी देखा कि वह उस ओखली को खींच रहा है, तो हँसते हुए उन्होंने अपने लाला के बन्धन को खोल दिया।"

अपने बन्धन को स्वय खोलने में समर्थ नहीं। वे इस प्रतीक्षा में इधर से उधर घूमते हैं, कि आकर मेरे कोई बन्धन को खोल दे। अब जो सबको बन्धन में बाँधने वाला है उसके बन्धन को भला कौन खोल सकता है, जो सबको नाक में नकेला डालकर नचा रहा है उसे कौन बचा सकता है कौन छुड़ा सकता है। या तो जिसने बाँधा होगा वही छुड़ावेगा। तीसरे की क्या सामर्थ्य कि उसके बन्धन को बन्धन भी कह सके।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन यमलार्जुन वृक्षों से नलकूबर मणिग्रीव ये दो दिव्य पुरुष निकले इस बात को तो बालकों ने देखा, किन्तु उन्होंने क्या स्तुति की और श्रीकृष्ण ने उनसे क्या कहा—इस बात को वे अबोध बालक भला क्या समझ सकते थे। जब वे दोनों धनदकुमार चले गये और वृक्षों के गिरने का शब्द चौपाल पर बैठे हुए गोपों ने सुना तो वे तुरन्त जैसे बैठे थे, वैसे ही दौड़े हुए चले आये। नन्दजी भी सबके साथ थे। उन्हें आशंका थी कहीं वज्रपात तो नहीं हुआ। आकर उन्होंने देखा खिलाड़ी श्रीकृष्ण बैल बने उस उलूखल को गाडी के समान खींच रहे हैं। सब उन वृक्षों के अकस्मात् गिर जाने से चिन्तित तथा भयभीत थे। आते ही बूढ़े-बूढ़े गोपों ने समीप ही खेलने वाले बालकों से पूछा—"बालको! ये वृक्ष सहसा कैसे गिर गये? आँधी नहीं पानी नहीं, इतने बड़े वृक्ष अपने आप कैसे गिर सकते हैं?"

बालकों ने अपनी जानकारी प्रकट करते हुए बड़े दृढ़ता के स्वर में कहा—"यह जो कनुआ है यह ओखली को खींच रहा था। इन दोनों वृक्षों के बीच से यह ज्यों ही निकला त्यों ही ओखली टेढ़ी हो गयी इसने बल लगाया। इसके बल लगाते ही ये वृक्ष टूटकर गिर गये। हमारे देखते-देखते इसने ही ये वृक्ष गिराये हैं। इसमें से बड़े सुन्दर किरीट मुकुट पहिने दो परम

तेजस्वी पुरुष निकले थे। वे कुछ देर तक कनुआ भैया से बात करते रहे फिर आकाश में उड गये। हमारे सामने ही इसने इन वृक्षों को गिराया है।"

बालकों की बात सुनकर कोई हँसने लगे, कोई कहने लगे ऐसा कैसे हो सकता है। ये तो लडके हैं ऐसे ही अंट-सट बकते हैं। कोई अत्यन्त सम्भ्रम के साथ कहते—"इस बच्चे ने नहीं गिराये तो यह फिर किसका काम है। अपने आप तो इतने बडे वृक्ष बिना प्रबल आँधी के गिर नहीं सकते। ऐसा हुआ कैसे ?" कोई कहता सहसा इस प्रकार वृक्षों का गिरना घोर अनिष्ट का सूचक है।

अब तक बड़े बड़े गोप यही समझ रहे थे, कि जैसे लड़के खेल-खेल में किसी को घोडा बना देते हैं, किसी को गाडी बना देते हैं, वैसे ही बालकों ने श्रीकृष्ण को बैल बना दिया है। इसीलिये एक ने कहा—"तुमने इस कनुआ को क्यों बाँध रखा है ?"

उनमें से एक चपल सा बालक बोला—"हमने काहे को बाँधा है। इसे तो यशोदा मैया ने बाँधा है।"

उसने पूछा—"मैया ने क्यों बाँधा ?"

वही बोला—"इसने मैया का माखन चुराया था, उसके पुराने माट को फोड़ दिया था। इसी पर कुपित होकर माता ने इसकी कमर में रस्सी बाँधकर इसे उलूखल से बाँध दिया है।"

नन्दजी भी खडे-खडे यह सब सुन रहे थे। अब ये वृक्ष के टूटने का बात तो भूल गये। उनका हृदय भर आया। यशोदाजी के ऊपर मन ही मन बडा क्रोध आया। मेरे इतने सुकुमार बालक को तनिक से माखन के पीछे इस अहीरिनि ने बाँध दिया है। उनके नेत्रों में अश्रु आ गये। फिर सोचा—"यदि मैं ही रोने लगूँगा, तो कृष्ण तो मुझे रोते देखकर ढाह मारकर रोने लगेगा। वह दृश्य बड़ा कारुणिक होगा। मुझे बालक के सम्मुख अपनी

दुर्बलता व्यक्त न करनी चाहिये।" यही सब सोचकर हृदय से तो रो रहे थे, किन्तु ऊपर से हँसते हुए श्यामसुन्दर के समीप गये और बोले—"कनुआ बेटा! क्या बात है?"

आप अपने भोरे स्वभाव से बोले—"बाबा! बाबा! मुझे मैया ने बाँध दिया है।"

नन्दजी ने अत्यन्त प्यार से कहा—"तैंने कोई अपराध किया होगा?"

आप अत्यन्त भोरे बनकर बोले—"बाबा! मैंने कोई अपराध नहीं किया। मैया का दूध उफन गया था। वह शीघ्रता में उसे उतारने चली उसके पैर के कड़ूले के ठोकर से माट फूट गया, इसी पर मुझे बाँध दिया है। और मारा भी है।"

नन्दजी ने कहा—"कोई बात नहीं बेटा! अब मैं तेरी मैया को मारूँगा। ला मैं तेरा बन्धन खोल दूँ।"

यह कहकर नन्दजी ने उदर में बँधी रस्सी को खोल दिया। गोद में लेकर बार बार श्रीकृष्ण के मुख को चूमा। जहाँ रस्सी बँधा थी, वह स्थान लाल पड गया था, नन्दजी उसे अपने हाथ से सहलाने लगे और बोले—"बेटा! चल मैया के पास।"

आप बोले—"बाबा! मैया तो मुझे मारती है, अब मैं मैया के पास न जाऊँगा।"

नन्दजी ने भोरे भारे श्रीकृष्ण का मुख चूमा और बोले—"अरे, बेटा! मैया तो दूध पिलाती है। मैं तुझे दूध कहाँ से पिलाऊँगा।" आप बोले—"बाबा! मैं श्यामा गैया का दूध पी लिया करूँगा। और तेरे साथ ही चौपाल पर सो रहा करूँगा।"

वृक्षों के गिरने के शब्द को सुनकर यशोदा मैया भी दौडी आयीं। उन्होने देखा दोनों वृक्ष उखड़े पड़े हैं। उसके आस-पास बालक वृद्ध सहस्रों स्त्री पुरुष खड़े हैं और वृक्ष के गिरने के ही सम्बन्ध में बातें हो रही हैं। नन्दजी की गोद में, सकुशल

श्रीकृष्ण को देखकर मैया के प्राणों में प्राण आये। उन्होंने हाथ के संकेत से श्रीकृष्ण को अपनी गोदी में बुलाया, किन्तु श्रीकृष्ण ने मैया की ओर से मुख फेर लिया। मातृ हृदय धक धक कर रहा था। उन्हें अपने कृत्य पर रह-रहकर पश्चात्ताप हो रहा था। "हाय! मेरी कैसी मति मारी गयी। तनिक से माखन के पीछे इतने सुन्दर सुकुमार बालक को रस्सी से बाँध दिया। माट तो मिट्टी का था। उसे तो फूटना ही था। मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। मेरे ऊपर क्रोध का भूत चढ़ गया। यह तो नारायण ने ही रक्षा की, कि बच्चे का कुछ अनिष्ट नहीं हुआ, नहीं तो इतना भारी पेड़ गिर गया। बालक नीचे ही दब जाता। हे भगवान् मेरे बच्चे का कल्याण करना।" इस प्रकार सोचते-सोचते माता का हृदय भर आया। वे बालकों की भाँति रोने लगीं। गोपियाँ आकर उन्हें समझाने लगीं—"व्रजेश्वरी! कोई बात नहीं। नारायण ने बड़ी रक्षा की। बच्चे का बाल भी बाँका नहीं हुआ। तुम अपने मनको मैला मत करो। भगवान् करें आपका बच्चा युग-युग जीता रहे।"

माता को वृक्षों के गिरने का तो ध्यान भी नहीं रहा था। उन्हें तो अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हो रहा था। वे तो मन ही मन अपने को धिक्कार दे रही थीं। मेरा बच्चा मुझसे रूठ गया है मेरी गोदी में नहीं आता। मैं माता कहलाने के योग्य नहीं। जो माता अबोध बच्चे पर क्रोध करके उसे दण्ड दे वह माता कैसी? माता का शासन तो प्रेम का होता है। पिता भले ही डाँटे फटकारे, किन्तु माता तो अपने प्रेम से ही पुत्र को वश में कर लेती है। मेरे मनमें प्रेम का लेश भी नहीं। मैं प्रेमहीना हूँ।"

यह सोचते सोचते उन्हें संसार सूना ही सूना दिखाई देने लगा। श्रीकृष्ण को लेकर नन्दजी अथाँई पर चले गये। उन्हें भी यशोदाजी पर क्रोध आ रहा था, जैसे-तैसे तो इस वृद्धावस्था

में हमें पुत्र का मुख देखने को मिला है, यह कुछ समझती ही नहीं। बच्चे को बाँध दिया। आज वे भी भीतर भोजन करने नहीं आये। व्रजराज चौपाल पर ही रहे वहीं श्रीकृष्ण को स्वयं बुलाकर मिश्री मिलाकर श्यामा गौ का दूध पिलाया।

बलदेवजी उस समय कहीं बाहर चले गये थे, उन्होंने जब सुना मैया ने मेरे छोटे भैया को रस्सी से बाँध दिया था और उसके ऊपर अर्जुन वृक्ष गिर गये, तो उनके दुःख का ठिकाना नहीं रहा। रोते रोते नन्दबाबा के पास गये नन्दजी ने उन्हें बार बार पुचकारा किन्तु बलदाऊजी की हिचकियाँ ही बन्द नहीं होती थीं, श्रीकृष्ण को देखकर व रोहिणीजी के पास गये और रोष में भरकर बोले—"माँ! मैया ने कन्हैया को तनिक से माखन के पीछे ओखली से बाँध दिया था, यह अच्छा हुआ मैं वहाँ नहीं था, नहीं तो मेरा तो हृदय फट जाता। अब वह तो मैया ही ठहरी उससे तो हम कुछ कह ही नहीं सकते। दूसरा कोई श्याम के श्री अंग से क्रोध में भरकर हाथ भी लगाता, तो मैं उसे उसका फल चखाता।"

रोहिणीजी ने अत्यन्त प्यार से उनके आँसू पोंछते हुए कहा—"कोई बात नहीं है बेटा! बच्चों को ऐसे धमकाया न जाय, तो काम कैसे चले।"

इस प्रकार समस्त व्रज में हल्ला मच गया। बूढ़ी बूढ़ी गोपियाँ कहने लगीं—"यशोदा अति कर देती है। कभी बालक को आँखों में धमका दिया। यह नहीं कि उसे छड़ी लेकर मारे या रस्सी से बाँध दे। मारने बाँधने से बालक ढीठ हो जाता है। इस प्रकार जितने मुख थे, उतने प्रकार की बातें थीं। यशोदा मैया ने प्रातः से मुख में जल तक नहीं दिया। वे श्रीकृष्ण के लिये तड़फने लगीं। कुछ ही प्रहरों का समय उन्हें युगों के सदृश प्रतीत होने लगा। श्रीकृष्ण कभी क्रोध नहीं करते, वे कुछ काल हटकर

उत्कंठा की अग्नि को तीव्र कर देते हैं। वियोग से प्रेम के स्वारस्य को बढा देते हैं। वियोग के अनन्तर जो संयोग होता है वह अत्यन्त सुन्दर मधुमय होता है।

श्रीकृष्ण ने देखा मैया की उत्कठा पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है तो वे व्रजराज से बोले—"बाबा! बाबा! मैं तो मैया के पास जाऊँगा।"

व्रजराज बोले—"अरे ऊधमी! अभी तो कहता था, मैं चौपाल पर ही सोऊँगा।"

आप बोले—"बाबा! तेरे पास बोबो तो हैं ही नहीं। मैं तो बोबो पीऊँगा।"

नन्दजी बोले—"धत्तेरे नटखट की। यह बात तो मैंने तुमसे पहिले ही कही थी, तू मैया के बिना नहीं रह सकता।" यह कहकर श्रीकृष्ण को लेकर व्रजराज अन्तःपुर में गये। यशोदा मैया ने अत्यन्त स्नेह से श्याम को गोदी में बिठाया और मातृ-स्नेह के कारण झरता हुआ अपने स्तनों का दूध प्रेमपूर्वक उन्हें पिलाया। श्रीकृष्ण प्रातः की सब बातें भूल गये, वे फिर पूर्ववत् हँस हँसकर बातें करने लगे। विस्मृति ही सुख की जननी है पुरानी बातों को भूलकर हम नयी में ही निमग्न हो जायँ, तो फिर आनन्द ही आनन्द है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! व्रज में रहकर श्रीकृष्ण ऐसे ही अनेकों सुखद लीलाएँ करने लगे। अब उनमें से कुछ का वर्णन मैं आगे करूँगा।" छप्पय

बँधे बिलोके श्याम नन्द बाबा ढिंग आये।
दाम खोलि मुख चूमि प्रेमतें हृदय लगाये॥
बाबा बोले—'वत्स! गोद मैया की जा अब'।
'मैया मारे मोइ न जाऊँ' बोले-हरि तब॥
यशुमति मन सन्ताप अति, तब मम मति मारी गई।
नहिं सुत आयो अब तलक, सुमिरि मातु व्याकुल भई॥

श्याम की प्रेममयी लीलाएँ

[८८६]

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् बालवत् क्वचित्।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ११ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

सौंझ भई पुनि श्याम मातु के हिय लपटाये।
उमग्यो पुत्र सनेह नयन के नीर न्हवाये॥
यों ब्रजमहँ हरि नित्य नई ई धूम मचावे।
साधारन शिशु सरिस हरिहिं युवती फुसलावें॥
वेद विदित वन्दित जगत, भोरे शिशु सम बनि गये।
जाके वश महँ सब जगत, ते ब्रजवासिनि वश भये॥

भगवान को कोई चाहे, कि हम अपनी विद्या बुद्धि से वश में कर लेंगे, तो उसका सोचना व्यर्थ है। वेद भी जिसका पार न पा सके, ब्रह्मादिक देव भी सहस्रों वर्ष की घोर तपस्या और समाधि द्वारा जिनके यथार्थ तत्व को नहीं समझ सके, उन्हें यह अल्प

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! वे भगवान् कभी तो गोपियों के फुसलाने से बच्चों की भाँति नाचने लगते, और कभी कठपुतली के समान उनके अधीन होकर उनकी प्रेरणा से भोरे बालक की भाँति उच्च स्वर से गाने लगते।'

मति अल्पायु और अल्प गुणों वाला मनुष्य नामक जन्तु अपनी स्वल्प बुद्धि और साधारण विद्या के द्वारा कैसे पा सकता है। भगवान् से अधिक चतुर कोई हो, तो वह अपनी चतुराई से उन्हें जीत सकता है, किन्तु वे तो चतुरों के भी चतुर हैं। वे चतुराई से नहीं जीते जा सकते। उन्हें तो भोरेपन से कोई वश में कर सकता है। भोरे के वश में होकर ये भी साधारण शिशु के समान भोरे बन जाते हैं। निष्कपट सरलता जिनमें देखते हैं, उनके अधीन हो जाते हैं। अधीन होकर ऐसी रसमयी लीलायें करते हैं। जिनके श्रवणमात्र से चराचर विश्व परम पावन बन जाता है। व्रजवासियों के सदृश भोरा कौन होगा, भगवान् उनके भोरेपन पर रीझ गये और उनके अधीन बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन वृक्षों के गिरने का गोपों के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा वे परस्पर में आश्चर्य के सहित उन्हीं के गिरने के सम्बन्ध में बातें करने लगे, किन्तु यशोदाजी के मन पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, उन्हें तो तभी तक दुःख था जब तक श्यामसुन्दर उनकी गोद में नहीं आये थे। श्याम के अंग का स्पर्श होते ही उन्हें छाती से चिपटाते ही मैया सब बातों को भूल गयीं। श्याम की मोहनी मूरत में ऐसा जादू था, कि एक बार जो उनकी ओर देख लेता, वह देखता का देखता ही रह जाता, उसकी तृप्ति ही न होती थी। श्याम के रूप का जादू वैसे तो सभी के ऊपर था, किन्तु व्रजवासिनी गोपियों ने तो अपना सर्वस्व उनके ऊपर वार दिया था। उन्हें बिना श्याम को देखे चैन नहीं पड़ता था। कोई मठा के मिस से, कोई दीपक जोरने के हेतु से, कोई अन्य कुछ कारण से नन्द महल में आती ही रहतीं। झुण्ड को झुण्ड गोपियाँ श्याम-सुधा सागर में अवगाहन करके आत्म-विस्मृत बनी ठगी-सी इधर-उधर फिरती रहतीं। श्याम का व्रज में प्रकट होने का एक मात्र प्रयोजन व्रज सुन्दरियों को सुख देना ही

था। अतः वे एक घर से दूसरे घर में दूसरे घर से तीसरे घर में फिरते ही रहते। भोरे बालकों की-सी चेष्टा बना रखी थी। भीतर से तो बड़े टेढ़े थे, किन्तु ऊपर से बड़े भोरे दिखायी देते। गोपियाँ उनके ऊपर बलि-बलि जातीं, उन्हें देखते ही घर के सब काम काज भूल जातीं इन्हीं से उलझ जातीं।

न जाने इन्होंने कहाँ से नाचना सीख लिया था। पैरों में बचने घुँघुरू तो मैया ने ही बाँध दिये थे। आप उन्हें बजाते हुए ठुमुक-ठुमुककर चलते। मैया कहतीं—"कनुआ! नाच तो दिखा दे।" तब आप दोनों हाथों को उठाकर, कमर को लचाकर, मुँह को मटकाकर, सैन दिखाकर, भाव दिखाकर नाचने लगते। गोपिकाएँ इनके नृत्य को देखकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जातीं और बूढ़ी-बूढ़ी गोपिकायें कहतीं—"यशोदारानी! तैंने तो बड़ा नचकैया पूत जाया है। यह तो बड़े-बड़े नाचने वालों के भी कान काटता है।"

तब मैया कह देतीं—"बच्चा ही जो ठहरा, ऐसे ही दिन भर खिलवाड़ करता रहता है।" गोपियाँ सदा श्रीकृष्ण के नृत्य को देखने के लिये समुत्सुक बनी रहतीं। जब नंदजी आते और मैया कहती—"कनुआ! बाबा को नाच तो दिखा दे।" तब आप लज्जित हो जाते और मैया की गोदी में बैठकर उसके अंचल से मुख ढक लेते। तब मुख चूमकर मैया कहतीं—"अरे, तू तो बड़ा लजीला है रे, कहीं घर में लाज करते हैं। ऐसे लजावेगा, तो तेरी कोई सगाई भी न करेगा।"

श्यामसुन्दर लुगाइयों में तो हृदय खोलकर नाचते, किन्तु लोगों को देखते ही सकुचा जाते। घर-घर जा जाकर नाच दिखाते। गोपियाँ कहतीं—"लालाजी! तुम नाच दिखाओगे, तो हम तुम्हें टटका सद्-हालका निकाला माखन देंगी।" बस, फिर क्या था माखन के तो ये प्रेमी ही ठहरे। नाचने लगते।

फिर दूसरी कहती—"लालाजी ! नाचना ही जानते हो, या गाना भी ?"

तब आप अभिमान पूर्वक कहते—"हाँ, गीत गाना भी जानता हूँ।"

गोपियाँ कहतीं—"अच्छा, सुनाओ कोई गीत। रसिया जानते हो ?"

आप कहते—"हाँ, रसिया भी जानता हूँ सुनो—"कटीले कजरावारी तनिक रस दै जैयो।" यह सुनकर गोपियाँ हँसते-हँसते लोट पोट हो जातीं। छोटे से गोल गोल भोरे मुख से कुछ तोतली वाणी में ये शब्द ऐसे लगते, मानों अमृत में पगे हों, इन वचनों को सुनकर गोपियाँ अपने आपे में न रहतीं। श्रीकृष्ण कैसा भी गीत गाते, उनके मुख से वह अत्यन्त ही सुखद प्रतीत होता। बड़े-बड़े गोपों ने उन्हें कुछ गीत कठस्थ करा दिये थे। उन्हीं को वे सबके सामने बिना समझे बूझे गा देते। उनका अर्थ क्या है इसे वे नहीं जानते थे। यह भी कैसे कहें—"वे नहीं जानते थे।" जानकर भी अनजान बने हुए थे। अर्थ के वे पीछे नहीं पडते। वे तो भावग्राही हैं। अर्थ तो शब्दों के अनेक हैं। एक ही शब्द के बहुत अर्थ हो जाते हैं, वे तो हृदय के पारखी हैं, यह भाव से कहा गया है, इतना ही प्रयोजन वे रखते हैं।"

गोपिकायें उन्हें बात-बात पर फुसला लेतीं। भोरे ही जो ठहरे। आ जाते गोपिकाओं के चक्कर में। कोई कहतीं—"लाला-जी ! तुम नाच दोगे, तब मक्खन दूँगी।" आप नाच देते। तब वह कहतीं—"लालाजी ! तुम्हारा नाच अच्छा नहीं हुआ।" तब आप फिर नाचते। तब भी वह माखन न देतीं, तो आप रो पड़ते उसके वस्त्रों को पकड लेते। ऊपर चढ़ जाते। गोपिकायें हँस जातीं। निहाल हो जातीं।

एक दिन आप कहीं अकेले जा रहे थे। एक भावमती गोपिका

गोबर डाल रही थी। उसके मन में तो सदा वे ही मनमोहन बसे रहते थे। उसने जब श्याम को सामने से ही जाते देखा तो पुकारा—"लालाजी! कहाँ जा रहे हो?"

आप मुड़ पड़े और बोले—"भाभी! तेरे ही घर तो जा रहा था।"

गोपी मानो निहाल हो गयी। उसने पूछा—"किसलिये जा रहे थे?"

आप बोले—"कल तैंने कहा नहीं था, कि मैं टटका माखन निकालकर रखूँगी। तुम आना।"

गोपी बोली—"माखन लालाजी! सेंत मेत ही मिलता है क्या? कुछ परिश्रम करो तब मिलेगा।"

आप बोले—"भाभी तू, जो कहेगी वही मैं करूँगा।"

गोपी ने कहा—"अच्छा, गोबर के भरे छबरे को मुझे उठवाओ। जितने छबरे उठवाओगे उतनी ही माखन की गोली तुम्हें दूँगी।"

आप बोले—"अच्छी बात है, रूँगट मत करना।"

गोपी ने कहा—"रूँगट की क्या बात है, तुम जितने छबरे उठाते जाओगे, उतने चिह्न तुम्हारे गालों पर मैं लगाती जाऊँगी।"

आप कुछ पढ़े लिखे तो थे ही नहीं। स्वीकार किया। अब गोपी गोबर को छबरा में भरती आप अपने छोटे छोटे हाथों से सम्पूर्ण बल लगाकर उठाते। उस समय उनके छोटे-छोटे अरुण वर्ण के कपोल और भी अरुण हो जाते। गोपी जब गोबर को डाल आती, तो एक सींक से पतले गोबर की एक रेखा उनके कपोल पर अंकित कर देती। मानों उन पर पत्रावली अंकित कर रही है। अब वह अधिक गोबर न उठवा सकी। चित चोर ने उसका चित्त जो चुरा लिया था। कुछ काल के पश्चात् गोपी बोली—"अब लालाजी! बस करो।"

आप बोले—"अब माखन दे!"

सखी बोली—"कितनी गोली हुई?" वह उँगली से कपोल की रेखाओं को गिनने लगी। उसने बताया दश हैं।"

आप बोले—"मैं कब से गोबर उठवा रहा हूँ; दश ही हुए।"

वह बोली—"चाहे जिससे गिनवा लो, दश ही हैं। बस फिर क्या था आप झगड़ा करने पर उतारू हो गये और भी इधर-उधर से गोपियाँ जुट आयीं। वे तो इस ताड़ में ही रहती थीं। आपने अपना अभियोग सब गोपियों के सामने सुनाया। एक गोपी ने कहा—"लाओ मैं गिनूँ।" बस गिनने का ही खेल हो गया। श्रीकृष्ण बड़ी उमङ्ग से मुख कर देते। गोपी निहाल हो जातीं और उनके सुन्दर सुचिक्कण भरे हुए गोल-गोल कपोलों में उँगली गड़ाकर गिनतीं। इस प्रकार बड़ी देर तक यही खेल होता रहा। अन्त में श्रीकृष्ण ने जितना बताया उतना ही सबने माना और गोपियों ने मनमाना माखन देकर उन्हें प्रसन्न कर दिया।

श्रीकृष्ण को वे गोपियाँ कठपुतली की भाँति नचाती थीं, भगवान् तो सदा से भक्तों के वश में होते ही आये हैं। गोपियाँ जैसे भी उन्हें नचातीं वैसे ही नाचते। व्रज में सभी बातें अटपटी हैं कहाँ तो ईश्वर जीव को नचाता है, किन्तु व्रजवासी ईश्वर को ही नचकैया बनाकर नचाते हैं। वहाँ वह सर्वेश्वर ऐसा भोरा बन जाता है, कि मोर का मुकुट लगाकर, घूँघट बाँधकर जामा पहिन कर जहाँ चाहता है, वहीं नाचने खड़ा हो जाता है। व्रज में उसे न लज्जा है न संकोच। अपने नृत्य गायन से व्रजवासियों को प्रसन्न करने में अपना अहोभाग्य समझता है। उसकी समस्त चेष्टायें व्रजवासियों को रिझाने के ही निमित्त होती हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् व्रज में बालक बनकर प्राकृत शिशुओं के सदृश एक से एक अद्भुत

एक से एक चित्ताकर्षक मनोहर लीलाएँ करने लगे। वे लीलाएँ अनन्त हैं, निरन्तर गाते रहने पर भी शेष शारदा उनका पार नहीं पा सकते। फिर हम जैसे अल्पमति तो उनका पार पा ही क्या सकते हैं।"

छप्पय

कबहूँ नाचें नाच गान कबहूँ वर गावें।
माँगे माखन कबहुँ कबहुँ हठि रार मचावें॥
कबहूँ माँगे भीख भिखारी वेष बनाई।
कबहूँ घर घर जाइ दिखावें स्वाँग कन्हाई॥
कबहू आँगन लीपके, चौक पूरि ज्योनार करि।
ब्याह करें दुलहा बने, मोरपख शिर मौर धरि॥

भृत्यवश्य भगवान्

[८८७]

विभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम् ।
चाटुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ॥
दर्शयंस्तद्विदांलोक आत्मनो भृत्यवश्यताम् ।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ११ अ० ८, ९ श्लो०)

छप्पय

काम बतावें मातु पिता ततछिन करि लावें ।
माँगे माता वस्तु दौरिकें ताहि उठावें ॥
बाट तराजू लाइ धरें आगे मैया के ।
कपड़ा लावें दौरि बड़े हलधर भैया के ॥
धोवें पग नँदराय जब, लाइ खडाऊँ प्रभु धरें ।
भक्तवश्य श्रीजगत्पति, सेवक सम कारज करें ॥

बालक जब चलने लगते हैं, तो उन्हें चलने में बडा आनन्द

---

* शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! भगवान श्रीकृष्ण लोक में ज्ञानी पुरुषों को अपनी भक्तवश्यता दिखाते हुए व्रजवासियों को आनन्दित करते हुए विविध भाँति की बाल चेष्टाएँ करने लगे। कभी स्वजनों के आज्ञा देने पर पीढा बटखरा तराजू तथा पादुकाओं को उठा लाते। कभी ताल ठोककर मल्लयुद्ध करते, इस प्रकार अपने बन्धु बान्धवों को सुखी करने लगे।"

आता है। जब वे बोलने लगते हैं, तो इधर-उधर की बातें करने में उन्हें सुख होता है। जब उनकी वस्तु की जानकारी की जिज्ञासा बढ़ जाती है, तो सम्मुख जो भी वस्तु आती है, उसी के विषय में जानने को लालायित रहते हैं, और जब उन्हें काम करने की योग्यता हो जाती है तो इधर उधर के काम करने में चटपटी दिखाते हैं, चलते हैं, तो दौड़कर चलते हैं। खेलने लगते हैं तो उसी में तन्मय हो जाते हैं। बाल्यावस्था बड़ी ही सुख की अवस्था है। यदि बालक संस्कारी हुआ, वह माता पिता के प्रति बाल्यकाल से ही भक्ति प्रदर्शित करने वाला हुआ, उनकी आज्ञानुसार बर्ताव करने वाला हुआ, तब तो माता पिता उस पर प्राण दे देते हैं। उनका ऐसे बालक के प्रति अत्यधिक अनुराग हो जाता है। यह तो उन संस्कारी योगभ्रष्ट बालकों के सम्बन्ध की है, जो किसी साधन में तनिक सी भूल होने पर पवित्र श्रीमानों के यहाँ अथवा योगियों के कुल में उत्पन्न होते हैं, उनके गुणों के कारण माता पिता उन्हें आँखों की पुतलियों के सदृश रखते हैं। यदि समस्त सद्गुणों की खानि सर्वेश्वर जगत्पति ही जिनके पुत्र बन जायँ और उनकी छोटी मोटी सेवा करें, तो उन्हें कितना आनन्द होता होगा, इसकी कल्पना मर्त्यलोक का मर्त्यधर्मा प्राणी कैसे कर सकता है। ऐसे माता पिता की जितनी भी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण अब ऐसी ऐसी सरल लीलाएँ करने लगे, जिन्हें देखकर सभी को परम सुख होता था। वे बुढ़िया को मार्ग में देखते तो पकड़कर घर पहुँचा देते, किसी का गोबर उठवा देते, किसी की गया दूध न देती लात मारती तो उसके बछड़े को पकड़े रहते। अपनी छोटी छोटी बाहुओं से घास उठा लाते बछड़ों को खिलाते। अब वे बड़ी बड़ी वस्तुओं को इधर उधर उठाकर रखने लगे थे।"

माता कहती—"कनुआ ! वहाँ से तराजू तो उठा ला। तुरन्त वहाँ दौडकर जाते और तराजू को उठा लाते।"

मैया कहती—"उस पँसेरी को तो ले आ।"

आप पँसेरी को उठाते तो पूरा बल लगाते, गोपिकाएँ हँसने लगतीं—"लालाजी ! तुम्हारी मैया ने तुम्हे भर पेट दूध नहीं पिलाया, तभी तो तुमसे पसेरी नहीं उठती।"

तब तो आप पेट के बल उसे उठाकर माता के पास लाते और कहते—"देख, मैया ! मैं अपने आप पँसेरी को उठा लाया हूँ।"

मैया कहती—"तू राजा बेटा है।"

तब रोहिणीजी कहतीं—"अच्छा कनुआ, उस चौकी को तो उठा ला।"

तब आप जाते उसे जैसे तैसे अपने सिर पर रखते और डगमगाते पैरों से चौका तक लाते। मैया दौडकर चौकी को ले लेतीं और कहतीं—"अब तो कनुआ सब काम करने लगा, देखो वहाँ से अपने आप चौकी को उठा लाया।"

नन्दबाबा जब बाहर से घर में रसोई जीमने आते, तो मैया यशोदा स्वय उनके पैरों को धुलातीं। पैर धोकर वे खडाऊँ पहिनते और खडाऊँ पहिनकर चौका मे जाते। कभी-कभी मैया कहतीं—"कनुआ ! देख, सामने खडाऊँ रखे हैं उन्हें उठा तो ला।" तब आप दोडकर जाते और बाबा के खडाऊओं को सिर पर रख कर ले आते। तब बाबा कहते—"कनुआ तो अब बडा चतुर हो गया।" यह सुनकर आप अत्यन्त ही प्रसन्न हो जाते। अब जब भी बाबा को पैर धोते देखते, बिना कहे ही खडाऊओं को उनके सम्मुख रख देते।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिनके चरणों की वन्दना बडे-बड़े लोकपाल करते हैं। जिनकी चरण पादुकाओं के स्पर्श के लिये ब्रह्मादिक तरसते रहते हैं, वे ही भगवान् नन्दजी की चरणपादु-

काओं को सिर पर रखकर लाते हैं, यह उनकी भक्तवत्सलता है। सब लीलाओं से वे यह दिखाते हैं, कि मैं भक्तों के सर्वथा अधीन हूँ जो मेरे अनुगत हैं, उनके लिये मैं सब कुछ कर सकता हूँ। उनकी सेवा करने में मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ, भगवान् तो अपने भक्तों का-निजजनों का-सबसे अधिक आदर करते हैं। वे तो उनके क्रीतदास के सदृश बन जाते हैं और इस लोभ से उनके पीछे घूमते हैं, कि इनके चरणों की धूलि मेरे अङ्ग पर पड जाय, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ। ऐसे भगवान् नन्दजी की पादुकाओं को शिर पर रखते हैं, तो इसमें आश्चर्य करने की ही कौन सी बात है। वे इन ललित लीलाओं से ज्ञानी पुरुषों को अपनी भक्तवत्सलता दिखा रहे हैं। वे इन सरस लीलाओं द्वारा अपने सगे सम्बन्धी तथा अन्यान्य गोपों को अत्यधिक आनन्दित कर रहे हैं।"

कभी कोई गोपी कहती—"श्यामसुन्दर देखें तो सही तुमने अपनी माँ का कितना दूध पिया है। तुम कुस्ती तो दिखाओ।"

यह सुनते ही भगवान् कछनी काछकर अखाडे में खडे हो जाते और मल्लों की भाँति ताल ठोकने लगे। अपने बराबर वालों से कुस्ती करने लगते। वे अपने बराबर के गोपकुमारों को द्वन्द्व युद्ध में ऐसा पछाड़ते, ऐसा दाँव लगाते कि देखने वालों के मुख से स्वतः ही साधु साधु निकल पडता।

एक दिन एक बुढिया आयी वह बडी बातूनी थी। जो बुढियाएँ बातून होती हैं, वे जिसके घर में पहुँच जाती हैं, उसे काम धन्धा नहीं करने देतीं। ससार भर की बातें हाथ मटका-मटकाकर कहती हैं। इसने ऐसा किया उसने वैसा किया, यह ऐसा है, वह वैसा है। श्रीकृष्ण को ऐसी परचर्चा की कोई बातें अच्छी नहीं लगतीं। उन्हीं के सम्बन्ध की कोई बातें करे तो उन्हें सुहाती हैं। दूसरों की इधर-उधर की बातों से वे चिढ जाते

हैं। वे बुढ़िया के स्वभाव को जानते थे। जिस दिन वह घर में आ जाय, नन्दरानी का सब काम रुक जाय।

एक दिन वह आयी। यशोदा मैया ने कहा—"कनुआ! देख दादी आयी हैं। इनके लिये पीढ़ा तो ले आ।"

श्रीकृष्ण रस्सी के बुने पुराने पीढ़ा को उठा लाये। जिसमें इधर-उधर टूटी रस्सियाँ लटक रही थीं।"

मैया ने कहा—"अरे, लल्लू! कैसा पुराना पीढ़ा ले आया।"

आप बोले—"मैया! दादी को इसी में सुख मिलेगा। दादी इसमें बैठ जायगी, तो बात करते-करते इधर-उधर गिरेगी नहीं।"

बुढिया ने कहा—"नये पुराने की क्या बात है मुझे तनिक देर तो बैठना ही है।"

श्रीकृष्ण तो जानते थे, इसकी तनिक देर कितनी लम्बी होती है, अतः आपने पीढ़ा डाल दिया। बुढ़िया बातें करने लगी। श्रीकृष्ण चुपके से उसके पीछे बैठ गये। बुढ़िया को कुछ कम भी दीखता था, अतः श्रीकृष्ण ने पीढ़ा मे लटकती हुई जेवरियों से बुढ़िया के वस्त्रों को बाँध दिया। उसी समय घर में एक गौ व्याय पड़ी। मैया उसे देखने गयी।

श्रीकृष्ण ने कहा—"दादी! तू भी देख, जो बछड़ा कैसा सुन्दर है।"

यह सुनकर बुढिया उठी। उसके पीछे पीढ़ा भी लटकता हुआ आ रहा था। गोपियाँ यह देखकर ठठाका मारकर हँसने लगीं। श्रीकृष्ण गम्भीर होकर बोले—"इसमें हँसने की कौन-सी बात है। दादी को यह पीढा अच्छा लगा, बाँधकर साथ ले चलो, सब दादी के ही जीवन का तो जमूडा है, नहीं तो सब घास कूड़ा ही कूड़ा है।"

इस पर लोग और हँसने लगे। बुढ़िया गालियाँ देने लगी।

उस दिन से उसने कान पकड़ा, कि अब नन्दभवन में आऊँगी तो श्रीकृष्ण को देखकर ही चली जाऊँगी, इधर-उधर की व्यर्थ बातें न बनाऊँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार सर्वसमर्थ प्रभु आज गँवार गोप बालों को अधीन होकर प्राकृत शिशु के सदृश ही समस्त क्रियाएँ करते हैं। वे स्वयं हँसते हैं, वे स्वयं खाते हैं, साथियों को खिलाते हैं। जो जिस इच्छा से इनके समीप आते हैं। उनकी उस इच्छा की पूर्ति ये भक्तवत्सल भगवान् करते ही हैं। यह ध्रुव सत्य है, इसमें अणुमात्र सन्देह करने का अवसर नहीं।"

छप्पय

जगमहँ भटके जीव प्रेम बिनु शान्ति न आवे।
क्षणभंगुर जगभोग भोगिके सुख नहिँ पावे॥
प्रेमधाम हैं श्याम हिये महँ यदि बसि जावें।
होवे जीव कृतार्थ दुःख सन्ताप नसावें॥
प्रेम पन्थ अति अटपटो, बिन बोले दिन दिन बढे।
चाहे वह यह फेरि मुख, जाय रङ्ग गहरो चढे॥

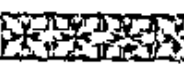

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये।

श्री भागवत-चरित सटीक

टीकाकार

'भागवत चरित व्याम' प० रामानुज पाण्डेय,
बी० ए० विशारद

'भागवत चरित' विशेषकर व्रजभाषा की छप्पय छन्दों मे लिखा गया है। जो लोग व्रजभाषा को कम समझते हैं, उन लोगों को छप्पय समझने मे कठिनाई होती है। उनके लिये लोगों की माँग हुई कि छप्पयो की सरल हिन्दी मे भाषा-टीका की जाय। सवत् २०२२ विक्रमी मे इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ। उसकी दो हजार प्रतियाँ छपायीं। छपते ही वे सब-की-सब निकल गईं। अब उत्तरार्द्ध की माँग होने लगी। जो लोग पूर्वार्द्ध ले गये थे, वे चाहते थे पूरी पुस्तक मिले किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण छपने में विलम्ब हुआ साथ ही लोगो की यह भी माँग थी, कि कुछ मोटे अक्षरों में छापा जाय। प्रभु कृपा से अब के रामायण की भाँति बड़े आकार मे मोटे अक्षरों मे (२० पा०) अर्थ सहित प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक खंड मे ८५० से अधिक पृष्ठ हैं मजबूत एवं सुन्दर कपडे की जिल्द, चार-चार तिरगे चित्र और लगभग ३५० एकरंगे चित्र हैं। मूल्य लागत मात्र से भी कम ४२) रु० रखी गयी है। एक खंड का मूल्य २१) रु०। डाक खर्च अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें।

—व्यवस्थापक

था "कृष्ण" का बाल लीला

श्रीभागवत-दर्शन—

भागवती कथा

(३९वाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनासि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सङ्कीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

द्वितीय संस्करण] भाद्रपद संवत् [illegible] मूल्य [illegible]

मुद्रक—भागवत प्रेस, झूसी (प्रयाग)

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
८८८—फल बेचनेवालीपर कृपा	...	१७
८८९—क्रीड़ाप्रिय कनुआ-चलुआ	...	२७
८९०—गोपोंका वृन्दावन गमनका निश्चय	...	३८
८९१—गोपोंका वृन्दावनमें निवास	...	४६
८९२—वृन्दावनमे बाँसुरीकी प्राप्ति	...	५३
८९३—वृन्दावनमे बालकोंके खेल	...	६१
८९४—वत्सासुर-उद्धार लीला	...	६६
८९५—बकासुर-उद्धार लीला	...	७२
८९६—बकासुर-संहारी वनवारी	...	७८
८९७—श्रीकृष्णके कुमारावस्थाके कुछ खेल	...	८३
८९८—बाल-विनोद	...	१०५
८९९—ग्वाल-बालोंकी वनमें विचित्र क्रीड़ाएँ	...	११४
९००—व्रजवासी बालकोंका सौभाग्य	...	१२१
९०१—अघासुरका आगमन	...	१२८
९०२—अघासुरके मुखमे बालक बछड़े तथा वनवारी		१३५
९०३—अघासुर-उद्धार	...	१४२
९०४—महाराज परीक्षित् की शङ्का	...	१५१
९०५—शुकदेव-द्वारा परीक्षित् और उनके प्रश्नकी प्रशंसा		१५८
९०६—सखाओं सहित वनवारीका वनभोज	...	१६४
९०७—वनभोज छटाकी एक झाँकी	...	१७०
९०८—सर्वं विष्णुमयं जगत्	...	१७९
९०९—श्रीबलदेवजी द्वारा रहस्योद्घाटन	...	१८७
९१०—ब्रह्माजीको भगवान्‌की महिमाके दर्शन	..	१९५
९११—भगवान्‌के अपार ऐश्वर्यकी झाँकी	...	२०२
९१२—ब्रह्मस्तुति	...	२०८
९१३—ब्रह्मा मोह लीलाका उपसंहार	...	२१५
९१४—गोचारण लीला	...	२२६
९१५—भगवान्‌की भ्रातृ-भक्ति	...	२३५

अतीतकी स्मृतियाँ

(भूमिका)

अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ।
गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८० अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

हाय ! कहाँ मम गयो बालपन पतो बताओ ।
अरे, मोह करि कृपा नेंक गुह दृश्य दिखाओ ॥
भोर होत उठि खात खेलमें समय बितावत ।
हँसत हँसावत रहत प्यार सबहीको पावत ॥
सखनि सङ्ग सुखतें सरस, खेलें खेल अनेक नित ।
चहल-पहलमहँ दिन कटत, चिन्ता लिपटे नहीं चित ॥

वे दिन अब स्वप्नके सदृश हो गये। वे दिन भूतके गर्भमें विलीन हो गये। किन्तु उनकी स्मृतियाँ अवशिष्ट हैं और वे ही मेरी निधि हैं। वे करील और हींसकी कुंजे, वे इमलीके कच्चे कटारे, इमली और लभेरके कोमल पत्ते, कच्ची अमियाँ और पके पके पेंचू अब जीवनमें खानेको काहेको मिलेंगे। अब मिलें भी तो वे खाये न जायँगे। मक्का, ज्वार, बाजरा और बेझरकी उन

---

*भगवान् श्रीकृष्ण अपने लँगोटिया यार सुदामाको एकान्तमें पाकर पूछ रहे हैं—"ब्रह्मन् ! क्या आपको वह बात स्मरण है, जब हम दोनों गुरुगृहमें रहते थे, उस समय गुरु पत्नीने हम दोनोंको ईंधन लानेके लिये वनमें भेजा था। उस समय जो घटना घटित हुई थी उसकी याद है ?

वासी रोटियोंमें जो अगिहानेकी आगमें-सेककर खाते थे ऐसा स्वाद अब रसगुल्लोंमे भी दुर्लभ है। मक्काके दानोंको अगिहाने की राखमें डालकर दबा देते थे और जब वे फूला बनकर ऊपर आ जाते थे, उस समय उन फूलोंको देखकर जो प्रसन्नता होती थी, उस प्रसन्नताके आगे नयी से नयी पुस्तक छपकर आनेकी प्रसन्नता अत्यंत तुच्छ है। उन अगिहानेके तुरंत भुने गरमागरम फूलोंमे जो स्वाद आता था, आज वह स्वाद घीमे तल मसाले मिले काजू और पिस्ताओंमे नहीं आता। नमक पड़े हुए परामठे टेंटी, करोंदा, या मिर्चके अचारके साथ अथवा कच्चे आमकी चटनीके साथ खानेमे जो स्वाद आता था—वह अब दुर्लभ होगया। अपने साथियोंको पीठपर चढ़कर जो चढ़ी ली जाती थी, उसकी तुलना इन गुदगुदे गद्दोंवाली भोपू गाड़ियोंके साथ कैसे करूँ। रेतमें खेलना, भरी दोपहरीमें इधर-उधर भटकना तथा मूसलाधार वर्षामे उछल-उछलकर नहाते रहना—ये सब अतीतकी बातें हो गयीं। उनकी जब स्मृति आती है तब हृदयमें हूक उठती है। क्या से क्या हो गया वह प्रसन्नता वह निश्चिन्तता, वह समता वह क्रीड़ाप्रियता ये सब मेरी बाल्य सहचरी न जाने कहाँ चली गयीं? इन सबके स्थानमे इस बड़े मुँहवाली डॉइनिने अपना आधिपत्य जमा लिया है। उस डॉइनिका नाम है, बड़े बननेकी चिन्ता। इस कुट्टिनीने समस्त आनन्दको किरकिरा कर दिया है। इसने मेरा बालकपन छीन लिया है। सुखीसे दुखी बना दिया है। जो बनता है वह दुखी होता है, पिटता है। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

एक महात्माजी अपने शिष्यको शिक्षा दिया करते थे 'देखो बेटा! कभी कुछ बनना न चाहिये। जो बनता है उसकी दुर्गति होती है। शिष्य, गुरुकी बातका यथार्थ मर्म समझ नहीं सका।

एक दिन गुरु शिष्य दोनों कहीं जा रहे थे। मार्गमें एक [illegible] मिला। गुरुजी तो फक्कड़ ही ठहरे। सुन्दर सजे

हुए उद्यानके भवनको देखकर आपके मनमें एक लहर आगयी। शिष्यसे बोले—"बच्चा! चलो इस भवनमे सो जायँ।" शिष्यने कहा—"चलो गुरुजी।" दोनों ही प्रहरियोकी आँख बचाकर उस सुन्दर सुसज्जित महलमें घुस गये और राजा रानीके लिये जो सुखकर दो शैयाये पृथक् पृथक् बिछी थीं, उनपर सो गये। गुरु एक घरमे सोये, चेलाजी दूसरेमे।

कुछ कालके अनन्तर राजा रानी आये। अपनी शैयापर एक अपरिचित व्यक्तिको सोते देखकर राजाने डाँटकर पूछा—"तू कौन है, यहाँ कैसे सो गया।" गुरुजी तो सब समझे बूझे थे। वे कुछ नहीं बोले, राजाकी ओर देखकर हँसते रहे। गुरुजी न डरते हैं न कुछ उत्तर देते हैं, यह देखकर राजा ने कहा—प्रतीत होता है यह कोई पागल है। इसे बाहर कर दो।" सेवको के कहनेपर गुरुजी बाहर चले गये। सुखपूर्वक निकल आये।

अब चेलाजीकी बारी आयी। राजा भीतर गया। वहाँ भी एक शैयापर अपरिचित व्यक्तिको देखकर उससे पूछा—"तू कौन है?" चेलाजी तो चेला ही ठहरे अभी कच्चे थे। सिटपिटा गये और बोले—"हम साधु हैं, महात्मा है।" राजाको बडा क्रोध आया। उसने कहा—"साधु ऐसे होते हैं, बिना पूछे किसीके घरमें घुसते है। यह कोई ठग है। लगे इसके बेत।"

अब क्या था, सेवकोने उसे बहुत मारा। मार पीटकर धक्का देकर निकाल दिया। रोते-रोते चेलाजी गुरुजीके पास पहुँचे और बोले—"गुरुजी! आज तो बहुत पिटाई हुई।

गुरुजीने कहा—"बच्चाजी! कुछ बने होगे?"

चेलाजीने कहा—"नहीं, महाराज! मैं कुछ नही बना। मैंने कह दिया था मैं साधु महात्मा हूँ।"

हँसकर गुरुजीने कहा—"तो साधु महात्मा तो बने, जो बनता है उसकी दुर्गति होती ही है।"

वास्तविक बात यही है, हम जितने बड़े बनते जाते हैं, उतने ही दुखी होते जाते हैं। इस संसारकी उत्पत्ति भ्रमसे ही है। भ्रममें ही स्थित है और भ्रमकी निवृत्ति हो जानेसे ही इसकी निवृत्ति होती है। जब हम छोटे थे, तो सोचा करते थे न जाने राजा रानी कैसे होते होंगे। न जाने वे क्या खाते होंगे। दिनभर मिठाई उड़ाते रहते होंगे। वे बड़े सुखी रहते होंगे। जिधर भी चलते होंगे सहस्रा रुपये लुटाते जाते होंगे।" किन्तु जब राजा रानियोंसे संपर्क हुआ, तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। वे लोग भी हमारी ही भाँति दाल, भात, रोटी, शाक ही खाते हैं। वे दिनभर—रहनेपर भी—मिठाई नहीं खाते। एक एक पैसेका हिसाब रखते हैं। हम साधारण लोगोंकी ही भाँति कृपणता करते हैं और वे हमसे भी अधिक चिन्तित और दुखी रहते हैं। जिसके पास सौ रुपये हैं वह सहस्रपतिको सुखी समझता है, सहस्रपति लखपतिको और लखपति करोड़पतिको किन्तु है यह वास्तवमें भ्रम ही। सभी दुखी, सभी चिन्तित जिसके पास जितनी ही अधिक सम्पत्ति-भोग सामग्री है—वह उतना ही दुखी है। हम कहते हैं—'कि अब हम बच्चे नहीं रहे, बड़े हो गये, बुद्धिमान हो गये" किन्तु वास्तवमें देखा जाय तो हम बड़े नहीं हुए छोटे हो गये, बुद्धिमान नहीं मूर्ख बन गये। अरे, बड़ा तो वह है जो सुखी हो निश्चिन्त हो। अब आप सब हृदयपर हाथ रखकर अपने आप ही विचार करें, कि जब आप बालक थे तब सुखी और निश्चिन्त थे या अब सुखी निश्चिन्त हैं।

मेरे पाठक पाठिकाओंमें से कोई भी ऐसे न होंगे, जो बालक न रहे होंगे। वे अब पढ़नेको बन्द कर दें। एकान्तमें बैठकर अपने बाल्यकालकी मधुर-मधुर स्मृतियों का स्मरण करें। किसी से कहें नहीं, क्योंकि अब उन बातोंको दूसरोंसे कहनेमें आपको लज्जा लगेगी, अब आप बड़े जो बन गये हैं। अपने आपही

सोचें। बाल्यकालमें कितनी निश्चिंतता रहती थी। उस समयकच्चा पक्का जो भी खा लेते थे, सब स्वाहा हो जाता था। कोई शील नहीं—सकोच नहीं, ऊँच नीचका भेदभाव नहीं। खेलनेको जो भी बालक आता उसीके संग खेलते। यह तो हमें बड़े लोग सिखाने लगे—"वह नीचका, निर्धनका बालक है, छी. छीः तुम्हें उसके साथ खेलना चाहिये? उस समय ऊँच-नीचका भेदभाव ही नहीं था। मान अपमानका ध्यान ही नहीं था। किसीने एक चपत मार दिया—रो पड़े। फिर उसने पुचकारा मिठाई या खिलौना दिखा दिया—हँस पड़े। जो दूसरोंसे घृणा नहीं करता उससे दूसरे भी घृणा नहीं करते। करें भी तो वह घृणा को घृणा समझता ही नहीं। बालक चाहे जिसकी गोदमें बैठ जाय वहीं प्यार पावेगा। जिसके सम्मुख चला जाय वही उसका मुख चूमना चाहेगा। जब चाहे स्त्रियों में चला जाय, जब चाहें पुरुषोंमें चला जाय। कितना भोलापन रहता है, उसकालमें कितनी सरलता और पवित्रता रहती है, उस अवस्थामें किसीको उससे घृणा ही नहीं। उसका मुख गंगाजलसे भी अधिक पवित्र रहता है। जूठे गंगाजलको पीनेमें तो हम हिचकते हैं, किन्तु बालकके जूठे मुखको चूमनेमें हमें किसी प्रकारका सकोच नहीं। उसके मुखको कितने स्त्री पुरुष जूठा करते रहते हैं। जो आता है वही ओठोंसे उसके मुखको चूम लेता है—दूसरा आनेवाला चाहे वह वेदपाठी ब्राह्मण ही क्यों न हो यह नहीं करता कि पहिले जल से उसके मुखको धोले तब चूमे। वह भी उसको हृदयसे सटा लेता है मुख चूम लेता है। उसके मुखमें सखरी निखरी कच्ची-पक्की फलाहारी रसोईके समान भेदभाव नहीं। वह अमृतके सदृश पवित्र है, सदा अनूठा है।

ऋषियोंने मानव जीवनका चरमलक्ष्य बालकपनको पुनः प्राप्त करना बताया है। दत्तात्रेय जैसे महाज्ञानी भी कहते हैं—

"विचरामीह बालवत्" मैं छोटे बच्चे की भाँति निश्चिन्त होकर विचरण करता हूँ। दत्तात्रेयजीने अपने चौबीस गुरुओंमें से एक बालकको भी गुरु बनाया है और उससे मान अपमानमें सम रहनेकी, घर परिवारकी चिन्ता न करनेकी तथा अपने आपमें ही मग्न होकर क्रीड़ा करनेकी—शिक्षायें ग्रहणकी और अन्तमें यह सिद्धान्त स्थिर किया "संसारमें दो ही व्यक्ति चिन्तासे रहित और परमानन्द पूर्ण हैं, एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट बालक और दूसरा गुणातीत ज्ञानी पुरुष।"

वास्तवमें ज्ञानी भी सर्वथा बालक ही बन जाता है। हमने कई ज्ञानियोंको देखा है—सर्वथा भोले बालककी ही भाँति बात करते हैं, उसी प्रकार निष्कपट होकर खिल-खिलाकर हँसते हैं। ऐसी सीधी सरल निश्छल बातें करते हैं मानों ये कुछ जानते ही नहीं। भीतर ज्ञानका समुद्र भरा है, ऊपर सरलताका सागर उमड़ रहा है। उनकी सरलता देखकर किनका हृदय गद्गद न हो जायगा। जगन्नाथपुरीमें एक महन्त है अब भी हैं वे। अब तो उनके शिष्य महन्त हो गये हैं, वे एकांत कमरेमें रहते हैं, सुनते हैं—पहिले जब वे महन्त थे, तब लोग आकर कहते—'अजी महाराज! आपके कानमें तो एक कीड़ा घुस गया।" तो वे पूछते—"हाँ, कीड़ा घुस गया? अच्छा, भैया! अब यह कैसे निकले।" वे कहते—महाराज ५००) लगेंगे। तब वे अपने कोठरीसे कहते—"भैया ५००) इन्हें देदो। अब वह क्या करता। ५००) देने पड़ते। उसने ५००) लिये और तनिक हाथ फटफटाकर कह दिया—"देखिये महाराज यह निकल गया।" तब आप कहते—"हाँ, अरे निकल तो गया भैया! अब मेरे पीड़ा भी नहीं।" इस प्रकार जो भी उनसे कोई कुछ कहदे—बच्चोंकी भाँति उसे उसी प्रकार मान लेते। बहुत बड़ा आपका स्थान है। जबदेखा वे ऐसे लुटाते रहते हैं। जो जैसा कहता है वैसा करते हैं, तो उनके उत्तराधिकारीने सब प्रबन्ध

अपने हाथोंमें ले लिया। अब वे निकलते हैं, तो बच्चे उनके पीछे लग जाते हैं और कहते है—"बाबा तुम्हारा विवाह करदें, वे बच्चोंकी सी ही बातें करने लगते हैं।'

श्रीहरि बाबाजी कहते थे, हम भी माँ आनन्दमय के साथ उनके दर्शनोंको गये। गये तो थे आधे घंटेके लिये—किन्तु उनके भोले स्वभावसे मुग्ध होकर दो ढाई घंटे उनके पास बैठे रहे। चित्त चाहता था यहाँसे उठे ही नहीं। उनकी बातचीत उठन-बैठन, हँसन खेलन सबमें अत्यन्त ही भोलापन था। हरिबाबा कहते थे—जब हम पहुँचे तो किसीने कहा—आपके दर्शनोंको महात्मा आये हैं, तो वैसे ही सरलताके साथ आकर बैठ गये। किसीने कहा—"महाराज! ये हरिबाबा हैं गंगा किनारे रहते हैं, कीर्तन करते हैं।" तब आप बोले—"कीर्तन करते हैं, तो अच्छा ही तो करते हैं, कीर्तन तो करना ही चाहिये।" फिर किसीने कहा—"महाराज! ये आनन्दमयी माँ हैं।"आप बोले—"अच्छा हैं आनन्दमयी माँ हैं तो।'

इसी प्रकार उनसे जो बात करो—उसीमे अत्यंत ही सरलता कोई बनावट नहीं, मिथ्या शिष्टाचार नहीं। हरिबाबाजी कहते थे—बच्चोंको विवाहकी बात कहते देखकर हमने भी उनसे विवाहकी बात चलाई। हमने कहा—"महाराज! अमुक राजाकी लडकी है, वह आपसे विवाह करना चाहती है। बडा धन मिलेगा साथमें।" यह सुनकर आप बोले—"अच्छा, विवाह करना चाहती है, धन भी मिलेगा। "बुलाओ (अपने शिष्यका नाम लेकर) उसे।'

उनके शिष्य बुलायेगये। उनसे आप बोले—"भैया! ये कहते हैं, अमुक राजाकी लडकी है उससे विवाह करले तो बहुत धन मिलेगा। क्या हानि है—करले विवाह, साधु सेवा हो जायगी।" उनके शिष्यने हँसकरकह दिया—"हाँ,महाराज कर लीजियेगा।"

इस प्रकार उनके जीवनमें फिरसे बालकपन आ गया है लोग उन्हें पागल समझते हैं, किन्तु ये मूर्ख यह नहीं समझ कि हम स्वयं पागल हैं। बताइये जिस भूमिसे पीली मिट्टी और सफेद चूना निकलता है, उसी भूमिसे सोना चाँदी ये धातुएं निकलती हैं। पीली मिट्टीमें और सोनेमें, चूनेमें तथा चाँदीमें अंतर ही क्या है। इसके लिये लोग कितने पागल हो रहे हैं, इस पागलपनका कुछ ठिकाना है। किसी बच्चेका मिट्टीका खिलौना फूट जाता है और जब वह उसके लिये रोता तो ये बड़े कहलाने वाले ठठाका मारकर हँसते हैं और कहते हैं—"देखो, बच्चा ही तो है इस तुच्छ वस्तुके लिये कितना रो रहा है।" उन बुद्धिके शत्रुओंको यह पता नहीं कि तुम भी तो वैसा ही बालकपन नित्य करते हो। निर्धनके पास एक रुपया है उसका वह खो जाय, तो उसे उतना ही दुःख होगा, जितना लखपतीको लाख रुपये खो जानेसे होगा। बच्चेको एक पैसा प्राप्त होनेपर जो सुख होता है उतना सुख राजाको दूसरा राज्य पानेपर भी नहीं होता। भारतके वर्तमान राष्ट्रपतिने अपने जीवन चरित्रमें कहीं लिखा है, कि बालकपनमें मेरे भाई जब मुझे एक पैसा दे देते थे तो उस समय जितना सुख होता था, अब उतना किसी भी वस्तुके पाने से नहीं होता। प्रियता तो तृष्णाके ऊपर निर्भर है। किसीको बड़ी प्यास लगी है, आप उसे माला पहिनावें, चन्दन लगावें, सुन्दर वाहनपर घुमावें इन बातोंसे उसे सुख न होगा उसे तो ठंडा जल चाहिये। जलके लिये वह सभी सुखोंको त्याग देगा। इंग्लैण्डके राजाने एक स्त्रीके पीछे इतने बड़े साम्राज्यको—जिसमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता था—ठुकरा दिया। बच्चेके लिये खिलौना ही सर्वस्व है। उसके लिये धन राज्य, सुन्दर दुलहिनकी तृष्णा ही नहीं। इस अर्थमें सभी बच्चे हैं किन्तु इन बड़े बच्चोंमें और छोटे बच्चोंमें अन्तर इतना ही है, कि बड़े बच्चे—बच्चेपनका

काम करते हुए भी अपनेको बडा और बुद्धिमान लगाते हैं। बच्चे जो करत है उसीमे मग्न रहते हैं वे और कुछ बनते नहीं। चिन्ता वे भी करते है—किन्तु उनकी चिन्ता होती है खेलमे। बच्चे घरआपाती बनाते हैं। लडकियाँ गुड्डा गुड्डियोसे खेलत। हैं। उनका गुड्डा बीमार भी होता है, उसके लिये वैद्य भी बुलाती है, उसकी नाडी दिखाती हैं, औषधि लाती है, पथ्य बनाती है, उसका विवाह करती है, बहू लाती है, गीत गाती हैं, उस गुड्डा के भी लडका हो जाता है, दाईको बुलाती हैं, सब कुछ करती है, किन्तु है सब यह खेलमाल। बच्चे ही कितने खेल खेलते है। अब मैं कहाँ-कहाँ तक गिनाऊँ, खेलोकी कोई सख्या नहीं। पाठक पाठिकाओने बालकपनमे जो-जो खेल खेले हो, उन्हे चुपचाप एकान्तमें बैठकर याद करले। याद करत समय अपने बडप्पनको भुला दे, कुछ देरको बालक बन जायँ, अपनी वही छोटी-सा मूर्ति याद करे और उन बाल्यकालके साथियोका स्मरण करे। जितना देर आप उन बातोको याद करेगे उतना देर आप इन ससार। चिन्ताओंसे मुक्त हो जायँगे, जो सदा आपके मस्तकमे चक्कर लगाती रहती है, जो सोते समय भी आपका पिड नहीं छोडतीं, जिन्होंने आपको अशान्त बना रखा है। बालकपनकी स्मृति आते ही वे भाग जायँगी। क्योंकि मनुष्य जिस समय जो सोचता है उस समय वैसा ही बन जाता है। आप बालकपनकी बात जब तक सोचेंगे—तब तक बालकपनकी भाँति सरल और निश्चिन्त हो जायँगे।

मुझे जब लोग मुक्त कंठसे खिलखिलाकर हँसते देखते हैं, तो जो लोग अपनेको बहुत बडा लगाते हैं, वे कहते हैं अरे, ब्रह्मचारी जीमें गम्भीरता नहीं, कुछ लोग डाह भी करते हैं, कि यह सदा हँसता ही रहता है। मेरे जीवनमें जो भी कुछ प्रसन्नता है, वह इसी कारण है कि मैंने अपने बाल स्वभावको कुछ कुछ सुरक्षित

रखा है। मैं धर्म से कहता हू, पहिले मैं कभी नहीं सोचता था कि मैं बूढा हूँगा। सोचता था सदा इसी प्रकार बालक बना रहूँगा। किन्तु इस ससारने मेरे बालकपनको सुरक्षित रहने नहीं दिया। काजरकी कोठरीमें जो भी गया—वही कालिखसे न बच सका। अवतार भी आये और उन्हें भी इस संसारके पीछे न करने योग्य बाते करनी पड़ी। श्रीराम नहीं चाहते थे जनक दुलारी मुझसे कभी पृथक् हो, किन्तु दुष्ट रावण उन्हे हर ही ले गया। जैसे तैसे उस दशमुख वाले रावणको मारकर अपनी प्रियाको लौटाकर अवध आये, तो अवधमे एक नहीं अनेकों रावण पैदा हो गये। जिसके मुखपर देखो उसीके मुखपर यही बात कि राजारामने अन्याय किया। दूसरेके घरमे रही हुई सीता को फिर रानी बना लिया। समुद्र पारके दशमुख वाले रावणको तो वे मार सकते थे, किन्तु एक मुख वाले घरमे ही बहुतसे रावण जन्म पैदा हो गये, तो इन्हे कैसे मारते। रामने उन्हें न मारकर अपने मनको ही मारा। जो नहीं करने योग्य था वह किया। अपनी प्राणेश्वरीका सदाके लिये त्यागकर दिया। राजरानी कण्टकाकीर्ण वनमें—इन घरके रावणोंके ही कारण-जीवनभर भटकती रही और रामराजा सिंहासन पर बैठे बैठे भीतर ही भीतर रोते रहे। इस ससारका सम्बन्ध ऐसा ही दुखकर है।

श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे, कि मेरा बालकपन कहीं चला जाय। मेरी बँसुरिया, कमरिया तथा लकुटिया छिन जाय। मेरा मोरमुकुट उतर जाय, किन्तु उनके घरके यादवोंने ही नहीं माना। वनमे भी चाचा अक्रूर पहुँच गये। रो-रोकर उन्होंने बन्धुओंका दुख सुनाया, माता-पिताकी विपत्ति बतायी श्रीकृष्णके हृदयमें दया आगयी। सोचा—चलो, दो दिनमे दुख दूर करके लौट आवेंगे। वे अक्रूरके सग चल पडे। श्रीकृष्णसे यही सबसे बड़ी भूल हो गयी, वृन्दावन छोड़कर जाना ही न चाहिये था।

गोपियोंके हृदय हिला देनेवाले प्रसङ्गको पढकर मुझसे बहुत से लोग पूछते हैं—"जब वृन्दावनसे मथुरा दो कोस भी नहीं, तब ये गोपिकायें विरहमे इतनी व्यथित क्यो हुई श्रीकृष्णके पास मथुरा चली क्यों न गयीं। मथुरा जाकर उन्हे देख आतीं।' ऐसा प्रश्न वे ही करते हैं जिन्होने कभी किसीसे हृदय खोलकर मित्रता न की हो। गोपिकाओंको विरह तो था वृन्दावनविहारी कृष्णका। मथुरामें जो कृष्ण है उसे देखकर तो उनका विरह और बढता। मथुरा तो वे दूध दही बेचने नित्य ही जाती थीं। किन्तु मथुराके श्रीकृष्णसे भेंट करनेका उनका साहस नहीं होता था। उनके दर्शनोंसे तृप्ति नहीं हो सकती थी। बीचमे देश काल और परिस्थितिका अन्तर जो पड गया था।

मेरे एक बड़े सम्माननीय मित्र है। चिरकाल तक कारावासमे हम साथ रहे। काशीमें जब मैं रहता था, नित्य नियमसे उनके पास जाता था। एक दिन भी किसी कारणसे न पहुँच पाता, तो हृदयमें एक प्रकारकी विकलता होती, दूसरे दिन पहुँचते ही मुझसे प्रश्न होता था "कल क्यों नहीं आये?" घरमे उनके बच्चोंसे कितना स्नेह था। समयने पलटा खाया मुझे महात्मापनेका अभिमान हो गया, वे प्रान्तके एक बहुत बडे पदपर प्रतिष्ठित हो गये। लखनऊ और प्रयागमे कोई अन्तर नहीं। दोनोकी ही ऐसी परिस्थिति है, कि चाहे तो फिर वैसे ही नित्य मिल सकते हैं। किन्तु बीचमे पद प्रतिष्ठाका ऐसा व्यवधान पड गया है कि चाहनेपर भी मिलना नहीं हो सकता। वैसे मेरे सम्मानमे और उनके प्रेममें कोई अन्तर पडा हो ऐसा भी बात नहीं, किन्तु अवस्थायें न मिलने को विवश कर देती हैं, वह पुरानी बात तो आ नहीं सकती। अब शरीरसे मिलनेकी अपेक्षा उन पुरानी बातोंकी स्मृतियोंमे ही सुख है। दोनो सोचते हैं, सुखी होते है। मेरे
जो मुझसे अत्यन्त स्नेह करते थे मेरा बडा सम्मान

अब उन्होंने कपड़े रँग लिये हैं, पहिले जैसे हम मिलते थे वैसे मिल नहीं सकते। इन्हें सन्यासीपनेका अभिमान हो गया है, मुझे यह अभिमान है, मेरे सामनेके ये बच्चे हैं मेरे लाल्य हैं। इस व्यवधानसे हमारा पहिले जैसा मिलन असभव हो गया है। इसी लिये,न फिर राधाजी श्रीकृष्णसे मिलीं न कृष्ण ही फिर राधाज से मिलने आये। अकस्मात् कुरुक्षेत्रमे भेंट हो गयी। किसीने भेंटके पश्चात् राधाजीसे पूछा—कहो इस भेंटसे तृप्तितो हुई?' श्रीजीने कहा—'हाँ, श्रीकृष्ण तो वे ही हैं, मैं भी वही हूँ, किन्तु मेरा मन तो कालिन्दीके तटपर श्रीवृन्दावनकी कुञ्जोंके प्रति दौडता है। अर्थात् वृन्दावन विहारी श्रीकृष्णके ही दर्शनोसे तृप्ति हो सकती है।

इसीसे आप समझ सकते हैं, कि अत्यन्त छटपटाते रहनेपर भी व्रजसे एक भी गोपी गोप मथुरा नहीं गये।

श्रीकृष्ण भी मथुरा द्वारका जाकर सुखी हुआ हो सो बात नहीं। उसका भी हृदय रोता ही रहा। बाल्यकालकी—अतीतकी स्मृतियोंको सोचकर नयनोसे नीर बहाता ही रहा रसिक रसखान ने श्रीकृष्णके इन भावोंको निम्न पद्योंमें कितने सुन्दर ढङ्गसे व्यक्त किया है, व्रजकी बातोंका स्मरण करके द्वारकामें रोते रोते कृष्ण कह रहे हैं—

ग्वालनके सँग जैबो ऐबो औ चरैबो गाय,
हेरी तान गैबो सोचि नैन फरकत हैं।
छाँके गज मोती माल वारा गुंजमालनिपै,
कुञ्ज सुधि आये हाय प्रान धरकत हैं॥
गोबरको गारो सुनौ माहिँ लगै प्यारो,
नहिँ भावै ये महल जे जटित मरकत हैं।
मन्दरते ऊँचे कहा मन्दिर हैं द्वारकाके
ब्रजके खरक मेरे हिये खरकत हैं॥

इसी प्रकार श्रीकृष्णके इन मनोगत भावोंको व्रज रस-नभके सूर श्रीसूरदासने इन शब्दोंमे कहा है। श्रीकृष्ण रोते-रोते अपने सुहृद् सखा और मन्त्री उद्धवसे करुणाभरी वाणीमे कह रहे है—

ऊधो मोहि व्रज बिसरत नाहीं।
हस सुताकी सुन्दर कलरव अरु कुञ्जनिकी छाहीं ॥१॥
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं ॥२॥
यह मथुरा कञ्चनकी नगरी मणि मुक्ता जिहिमाहीं।
जबहिं सुरत आवत वा सुखकी जिय उमँगत सुधि नाहीं ॥३॥
अनगिन भाँति करी बहु लीला यशुदा नन्द निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन गहि यह कहि कहि पछिताहीं ॥४॥

श्रीकृष्ण एक पलको भी व्रजको नहीं भुला सका, किन्तु विचारा क्या करे, परिस्थितिने उसे विवश कर दिया। इसलिये व्रजवासियोंके सम्मुख उसे हार माननी पडी। इसीलिये उसने उद्धवजीके हाथो व्रजमे नन्द यशोदाको सन्देश पठाया था—

कामरी लकुट माहिं भूलत न एक पल,
घुँघुची ना निसारों जाकी माल उर धारे हैं।
जा दिनतें छाकैं छूट गईं ग्वालनिके,
ता दिनतें भोजन न पावत सकारे हैं॥
भनै यदुनस जो पै नेह नन्दनश हू सों,
बसी ना बिसारों जो पै बश हू निसारे हैं।
ऊधो व्रज जैयो मेरी लैयो चौगान गेंद,
मैयाते कहियो हम ऋणियाँ तिहारे हैं॥

मैयासे ऋणियाँ कहनेकी बात तो उचित भी है, किन्तु भैया कृष्ण तू वहाँ मथुरा द्वारकामे चौगान गेंद मँगाकर क्या करेगा वहाँ ग्वाल बाल तो हैं ही नहीं, खेलेगा किनके साथ। खेल तो सखाओंमें ही बनता है तू तो ऐसे ही व्रजकी बाते स्मरणकर करके रोता रह।

इसीलिये वृन्दावनके उपासक मथुरावाले चतुर्भुज वासुदेव कृष्णको नहीं मानते। वे द्विभुज नन्दनन्दन कृष्णकी उपासना करते हैं। उनका कृष्ण कहींसे आया नहीं, वह तो नन्दात्मज है। नन्दज की आत्मासे यशोदाके गर्भसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये वह न कहीं जाता है, न आता है। वृन्दावनकी सीमाको छोड़कर एक पैर भी आगे नहीं बढ़ता।

इसी कारण वृन्दावनकी पाठशालावाले भक्त द्विभुज नन्द-नन्दनके उपासक हैं। व्रजमें सख्य, वात्सल्य और मधुर ये तीन ही रस हैं। अरे, यह बात तो बड़े विवेचनकी छिड़ गयी। मुझे १६ पृष्ठोंमें ही भूमिका समाप्त करनी थी, क्योंकि भूमिकाके लिये १६ पेज ही छोड़े जाते हैं। अतः अब तो मुझे अधूरी ही बात छोड़नी पड़ेगी। हाँ, तो जो श्रीकृष्णकी वात्सल्य भावसे उपासना करते हैं, उनके कृष्ण ५ वर्षसे आगे कभी बढ़तेही नहीं। सनकादि चारो कुमारोंके समान सदा बालक हा रहते हैं और नित्य नये-नये खेल खेला करते हैं खेलोंमें अच्छा बुरा ऊँच नीच नहीं होता। अतः ये खेल उन भक्तोंके लिये ही सुखकर हो। स्थान नहीं है इसलिये समाप्त। अब आगेके ज्यो-ज्यो खंड छपते जायँगे श्रीकृष्ण सयाने होते जायँगे। आजकल खण्ड छपनेमें फिर बड़ी कठिनायी हो गयी। बाजारमें कागजका अत्यन्त अभाव हो गया। किसी मूल्य पर २२-२४ पौंड कागज नहीं मिलता। जैसे तैसे यह २८ पौंड मिला है। गोपालजीको अपना चरित्र छपाना होगा तो सब प्रबन्ध कर लेंगे। द्रव्याभावसे इस खण्डको न छपाने से सब चिन्तित थे। गोपालजीको भी चिन्ता होगी। अपना यश सुनना सभीको अच्छा लगता है। उन्होंने तुरन्त द्रव्य भेज दिया अब तक और अवतारोंके चरित्र थे, इससे ध्यान नहीं देते थे। अब तो गोपालजी का ही चरित्र है। आज इतना ही, थोड़े लिखे को बहुत समझना जी। जय श्रीकृष्ण, जय श्रीकृष्ण।

सकीर्तनभवन, प्रतिष्ठानपुर
माघ, कृ० २।२००७ वि०

प्रभुदत्त

फल बेचनेवालीपर कृपा

(८८८)

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम् ।
फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

ब्रजमहँ काछिनि हती एक सुखिया हरिप्यारी ।
कृष्ण प्रेममहँ रहति सतत पगली मतवारी ॥
हरिहियकी सब जानि उमेदा भाव दिखावें ।
यों उत्कण्ठा तासु दिनहिँ दिन अधिक बढ़ावें ॥
जब अति उत्कण्ठा बढी, सदय साँवरो ह्वै गयो ।
अभिलाषा पूरन करी, सुखियाकूँ अतिसुख दयो ॥

यह जीव जाने कबसे नीरका प्यासा और प्रेम आहारके लिये भूखा बना है। यदि एकमात्र पेट भर लेना और नींद भर सो लेना ही जीवका लक्ष्य होता, तो जिनपर भोजनकी प्रचुर सामग्री है वे दुखी न दिखायी देते। इससे सिद्ध होता है जीव अन्नके

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन श्रीकृष्णचन्द्रके करोंसे अन्न बिखर रहा था, उन दोनों करोंको फल बेचनेवालीने फलोंसे भर दिया और भगवान्‌ने उसके फलोंके पात्रको रत्नोंसे भर दिया।

आहारके अतिरिक्त और भी कुछ चाहता है। उसे पानेके अतिरिक्त और भी किसी पदार्थकी पिपासा है। वह पदार्थ है प्रेम। सभी प्रेम चाहते हैं। प्रेमके विना कोई अमृत भी पिला दे, तो पिपासा शान्त नहीं होती और प्रेमके सहित कोई विष भी दे दे तो उस मरनेमे शान्ति है। जीव प्रेमके लिये भटक रहा है। वह अँधेरेमें इधर उधर खोज रहा है। कभी धनसे प्रेम करता है, कभी स्त्री पुत्रसे, कभी मित्रोमे उसे खोजता है, कभी प्रेयसी के कटाक्षोमे उसका अन्वेषण करता है। कुछ काल वह वहाँ अटका रहता है, फिर आगे चल देता है, यह प्रेमका शाश्वत स्थान नहीं। यह अन्वेषण क्रम जीवका अनन्त काल तक चलता ही रहता है। अन्तमे जब भाग्यवश—यदृच्छासे—प्रभु प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है, यथार्थ प्रेमास्पदके दर्शन हो जाते हैं, तो जीव कृतार्थ हो जाता है।

जीव आत्मसमर्पण करने में हिचकता है। वह कुछ बचाकर प्रेम करना चाहता है, परम प्रेमास्पद प्रभु इसे सहन नहीं कर सकते। वे तो सब कुछ लेना चाहते हैं। अपने दोनो हाथोको भर लेना चाहते हैं। जीव प्रेमके आवेगमे अपना सर्वस्व उन्हे समर्पित कर दे—उनके दोनो हाथोको भर दे—तो फिर उसका कर्तव्य शेष रहता ही नहीं। भगवान् तो दाता हैं जीव भोक्ता है। जहाँ जीवने अपनापन छोडा, तहाँ वे हरि उसके रिक्तपात्रको पूर्ण कर देते हैं उसे नेह-रतन धनसे भर देते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! प्रभुके प्राकट्यका एकमात्र उद्देश्य प्रेम दानके लिये ही होता है। जीव अनन्त कालसे प्रेमके लिये भटक रहे हैं। जैसे कभी-कभी बाढ आ जाती है। उसमे घाटके समीपके घर, वृक्ष, पेड, पत्ते सब निमग्न हो जाते हैं वैसे ही कभी कभी प्रेमकी बाढ आती है। अवनि पर अत्यधिक प्रेम पिपासु एक साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं। उन सबकी प्रेमपिपासा

को शान्त करने भगवान् स्वयं अवतार रूपमे अवतरित होकर आचार्य रूप या गुरु रूपमे प्रकट होकर शान्त करते है। द्वापरके अन्तमें ऐसी ही एक प्रवल वाढ़ आई थी, उस प्रेमकी वाढ़मे स्त्री, पुरुप, वालक, युवा, वृद्ध, ऊँच, नीच, पशु, पक्षी, तथा कीट पतङ्ग आदि सभी प्लावित हो गये। व्रजमें कुछ काल प्रकट रूपमें ऐसा प्रेमका प्रवाह वहा कि उसमे अवगाहन करके सभी कृतार्थ हो गये। यह प्रवाह तो शाश्वत है, निरन्तर वहता रहता है, किन्तु वह सामान्य गतिसे सदा वहता है। उस समय तो प्रवल वाढ़ आ गयी थी। मर्यादाके सेतुओंको छिन्न-भिन्न कर दिया। उसमें जाति कुल आदिकी कोई मर्यादा नहीं रही।

जिन दिनों गोकुलमें नन्दनन्दन वाललीलाये करके व्रजवासियोंको सुख दे रहे थे, उन्हीं दिनो मथुरामें एक अत्यन्त अनुरागवती सुखिया नामकी काछिनि रहती थी। उसके कानोंको कृष्णकथा श्रवणका एक राजरोग लग गया था। जैसे कामियों-की कभी कामसे तृप्ति नहीं होती, जैसे लोभियोंकी कभी धनसे तृप्ति नहीं होती, वैसे ही उसके कान कृष्णकथा सुनते-सुनते अघाते ही नहीं थे। उन दिनों व्रजमें घर-घर श्रीकृष्णके ही चांचल्यकी—उनके ही सौंदर्य माधुर्यकी—चर्चा होती रहती। जैसे विषैले रोग चिकित्सा न करने पर एक अङ्गसे दूसरे अङ्गोंपर फैल जाते हैं अपना अधिकार जमा लेते हैं, वैसे ही सुखियाके कानोंका रोग उसके नेत्रोंको भी लग गया। नेत्र नित्य प्रति उस निगोड़ेकी स्मृतिमें नीर वहाते रहते और उसे देखनेको व्याकुल वने रहते।

किसीने उससे कह दिया—"श्याम कुछ दूर तो हैं नहीं। वे गोकुल ही में तो रहते हैं। तू फल लेकर उनके द्वार पर जा। नेत्रों का सन्ताप दूर हो जायगा। उनके दर्शन हो जायँगे।"

सुखियाका काम ही था, फल वेचना। अव तक वह अपने फलोंको कौड़ीके मूल्यपर अन्य लोगोंके हाथ वेचती थी। अव

उसने सोचा—"मैं तो अपने फलोंको श्यामसुन्दरको ही दूँगी। उनके हाथों फल भी बेचूँगी। स्वयं भी बिक जाऊँगी।" यह सोचकर वह नन्द-भवनके चारों ओर चक्कर लगाने लगी। "फल लेउ री फल।" किन्तु चिल्लानेसे ही तो श्रीकृष्ण फल नहीं ले लेते। उन्हें देने के लिये हृदयकी लालसा चाहिये, उत्कंठा चाहिये, तड़प चाहिये, और चाहिये सब कुछ समर्पित करनेकी भावना।

सुखिया गयी थी, नेत्रोंका रोग शान्त करने, किन्तु वहाँसे उलटा एक नया रोग लेआई। आँखें उसके अनुपम रूप लावण्य को देखकर बिक गयीं। मन उसकी बाँकी चितवनमें उलझ गया। चित्तमें उसीकी मोहिनी मूरत गढ़ गई। सुखिया सब कुछ भूल गयी। लाभसे लोभ बढ़ता है। गुण श्रवण करते-करते लीलाओंका अनुसन्धान करते-करते—उसे दर्शनोंकी उत्कंठा हुई, दर्शन करके अब स्पर्शकी इच्छा हुई। जिसमें सुखद स्पर्श नहीं, उस दर्शनमें पूरा सुख नहीं। उससे तो और विकलता बढ़ती है। वह सुनती थी, कृष्ण बड़े कोमल हृदयके हैं, दीनबन्धु हैं, कृपालु हैं, किन्तु दर्शन करके उसकी धारणा विपरीत ही हुई। उसे अनुभव होने लगा—"श्रीकृष्ण अत्यंतनिठुर हैं, मैं उनके लिये कितनी लालायित बनी रहती हूँ, किन्तु वे मेरी ओर देखते तक नहीं। नेत्र बचाकर निकल जाते हैं। मैंने तो सुना था वे घटघटकी जाननेवाले हैं, हृदयके भावोंको जाननेवाले हैं। क्या वे नहीं जानते, मैं उन्हें प्यार करती हूँ, फिर वे ऐसा निष्ठुर व्यवहार क्यों करते हैं। अच्छा, मैं भी अब उन्हें न चाहूँगी।

यह वह मनमें सोचती, किन्तु यह उसके वशकी बात थोड़े ही थी ज्यों-ज्यों वह श्रीकृष्णको भुलाना चाहती थी, त्यों-त्यों उनकी स्मृति और भी अधिक आती। वह सोचने लगी—यह अच्छी बुरी पीछे लगी, किस निष्ठुरसे पाला पड़ा। मैं ऐसा जानती, कि प्रेम करनेसे ऐसी दुर्गति होती है, पग-पग पर विवशता सहनी

पड़ती है तो पहिले प्रेम करती ही नहीं। किस निष्ठुरके पाले पड़ गयी।" किन्तु उसने जान-बूझकर तो प्रेम किया ही नहीं था। श्रीकृष्णके नाम और गुणोंमें जादू ही ऐसा है, कि जिनके कानों को उनका रस लग गया, फिर वे उस ओर बिना खिंचे रह ही नहीं सकते। अब सुखिया सब कुछ भूल गयी नित्य मथुरासे गोकुल आना और श्रीकृष्ण जहाँ-जहाँ भी जायँ, उनके पीछे-पीछे फिरना और बार-बार चिल्लाती रहना—"कोई फल लो रा फल।"

प्रेमकी कुछ ऐसी विपरीत गति है, कि जिसे हम हृदयसे चाहें और वह हमारे प्रति उदासीनता प्रकट करे, तो उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ती है। यदि भगवान् सभीको तुरन्त मिल जाते, तो भगवान्के प्रति लोगोंकी इतनी उत्कंठा कभी न होती। प्रेमीकी उपेक्षा उत्कंठाकी ओर वृद्धि करती है। जितनी ही अधिक उत्कंठा के अंतमें मिलन होगा, सुखकी उतनी ही अधिक अनुभूति होगी। प्रेम रूपी मोदकमें उत्कण्ठा रूपी मीठा जितना ही अधिक डाला जायगा, उतना ही अधिक वह मीठा होगा। सुखियाकी उत्कंठा अब पराकाष्ठाको पहुँच गयी। उसे रात्रिमें न नींद आती, न दिन में भूख लगती। रात्रिभर सोचती रहती, प्रातःकाल होते ही यों उठकर सीधी नन्दभवनकी ओर जाऊँगी। तब तक लालजी तान दुपट्टा सोते ही होंगे। माता उन्हें मधुर-मधुरगीत गाकर उठावेगी आरती सजायेगी, मुझे तो रोक-टोक है ही नहीं, साग देने प्रातःकाल पहुँचती हूँ। लालजीकी छवि निहारती रहूँगी। फिर मैया टटका-सद-माखन उनकी रोटीपर रख देगी। उसे वे अपने छोटे-छोटे चमकते दाँतोंसे कतर-कतरकर खायँगे, फिर बच्चोंके साथ खेलने जायँगे। मैं भी उनके पीछे-पीछे जाऊँगी। वे गोपियोंके घरोंमें घुस जायँगे। मेरे दाढ़ी मूँछें तो हैं नहीं। जो गोपियोंके घरमें जानेकी रोक-टोक हो, फिर मैं ठहरी फल बेचनेवाली। फल संग्रह करनेवालीकी कहीं रुकावट भले

ही हो। फल बेचनेवालीकी कहीं भी रुकावट नहीं। वहाँ जाकर लालजी गोपियों से रार करेंगे। हाय! वे महाभागा गोपियाँ कितनी बड़भागिनी हैं जो कृष्णके कोमल करको कसकर पकड़ लेती हैं। उन्हें बिना शील संकोचके छातीसे चिपटा लेती हैं। मैं ही एक अभागिनी हूँ। जिसकी ओर श्रीकृष्ण देखते नहीं। दूसरोंसे हँस-हँसकर बातें करते हैं, मेरी ओर ताकते भी नहीं। उचित भी है, मुझमें इतनी योग्यता ही कहाँ है, मैं हतभागिनी नीच जातिकी उनके स्पर्शके योग्य भी तो नहीं। फिर सोचती—"वे तो अशरणशरण हैं, दीनबन्धु हैं, संभव है मुझ दीन नीच जातिकी अधम अबलापर भी कभी कृपा करें।" इन्हीं बातोंको सोचते-सोचते वह सम्पूर्ण रात्रिको बिता देती। प्रातः फलोंकी डलियाको सिरपर रखकर गोकुल आ जाती। यही उसका नित्य का व्यापार था।

जब उसकी उत्कंठा सीमाको उल्लंघन कर गयी, तब श्रीकृष्ण ने उसकी मनोकामना पूर्ण की उसे अपनी अनुग्रहकी अधिकारिणी बनाया।

नित्यकी भाँति एक दिन वह गोकुलमें गयी, अपने स्वभावानुसार उसने पुकारा "फल लो फल" बस, फिर क्या था समस्त फलोंको देनेवाले फलदाता स्वयं ही उसके फलोंको लेने आये। वे तो दाता ठहरे रिक्त हाथ कैसे आते। कृपणकी भाँति हाथ मींचकर थोड़ा लेकर—आना तो वे जानते ही नहीं। आते हैं तो भलीभाँति हाथोंको भरे हुए आते हैं और मुक्तहस्त होकर लुटाते-गिराते हुए आते हैं। श्रीकृष्णने घरमें से ही पुकारा—"फल बेचनेवाली! ठहर जा।" अब क्या था, जब स्वयं श्रीकृष्ण ठहरनेको कहते हैं, तो उसका तो आवागमन रुक गया। चिरकालकी बलवती आकांक्षा पूरी हुई। जो वह चाहती थी, वह आज उसे प्राप्त हो गया। उसकी मनोकामना पूर्ण हो गयी। अभिलषित वस्तु ही मिल

गयी। श्रीकृष्णने उसका नाम लिया, फल स्वीकार करनेका वचन दिया और अपने श्रीमुखसे ठहरनेको कहा। वह उनके द्वारपर ही ठहर गयी।

पूर्वकालमें ग्रामोंमें पैसोंसे वस्तु लेना बहुत ही कम होता था। कम क्या, होता ही नहीं था। गाँवोंमें यथेच्छ अन्न होता था। जो वस्तु लेनी हुई अन्न दे दिया, उसके बदलेमें वह वस्तु ले ली। जैसे गुड लेना है, तो ग्रामीण बच्चे गुड बेचनेवालेसे पूछेंगे—"गुड कै खूँट दिया है?" वह कहेगा—"चार खूँट तन बच्चे अन्न ले आवेंगे। बेचनेवाला उस अन्नके चार भाग करेगा। तीन भाग तो अपनी झोलीमें डाल लेगा। एक भागकी बराबर गुड तोलकर दे देगा।' इसी प्रकार सागवालीसे पूछेंगे—"मूली किस भाव दी हैं?" वह कहेगी—"बेझरसे दो भर गेहूँसे चार भर" यदि लडके बेझर लावेंगे, तो उसकी बराबर दो बार मूली तोल देगी, गेहू लावेंगे तो चार बार। इस प्रकार वहाँ सब काम अन्नसे ही चलता था।

फलवालीसे फल लेनेके लिये श्रीकृष्ण भी अपने दोनों हाथोंकी पसमें ऊपर तक अन्न भरकर लाये। उनके छोटे-छोटे कोमल कोमल कमलकी पखुडियोंके सदृश सुन्दर-सुन्दर कर थे। उनमें ऊपर तक अन्न भरा था। अभी पस भरना भी भलीभाँति नहीं जानते। दोनों हाथोंके बीचके छिद्रसे निरन्तर अन्न गिरता आ रहा है, मानो मुक्तहस्त होकर वे सबके लिये बिखेर रहे हों। दोनों हाथोंकी पस भरकर वे सुखियाके समीप आये और अपने अमृतमें सिंचित वचनोंसे अत्यन्त ही प्रेम पूर्वक बोले—"ले हमें फल दे दे।" यह कहकर उनपर जितना अन्न था, सब उसे दे दिया। ये कृपाके सागर जिसपर रीझते हैं उसे सब कुछ दे देते हैं। अपने लिये कुछ भी बचाकर नहीं रखते। जो जितना देता है, उससे अधिक पाता है, यह तो सिद्धान्तकी बात है।

जब भगवान् अपना सर्वस्व दे देते हैं, तो भक्त भी किसी फलको अपने समीप नहीं रखता। वह भी फलदाताको अपने सब फल समर्पित करके रिक्तपात्र हो जाता है। श्रीकृष्ण भल

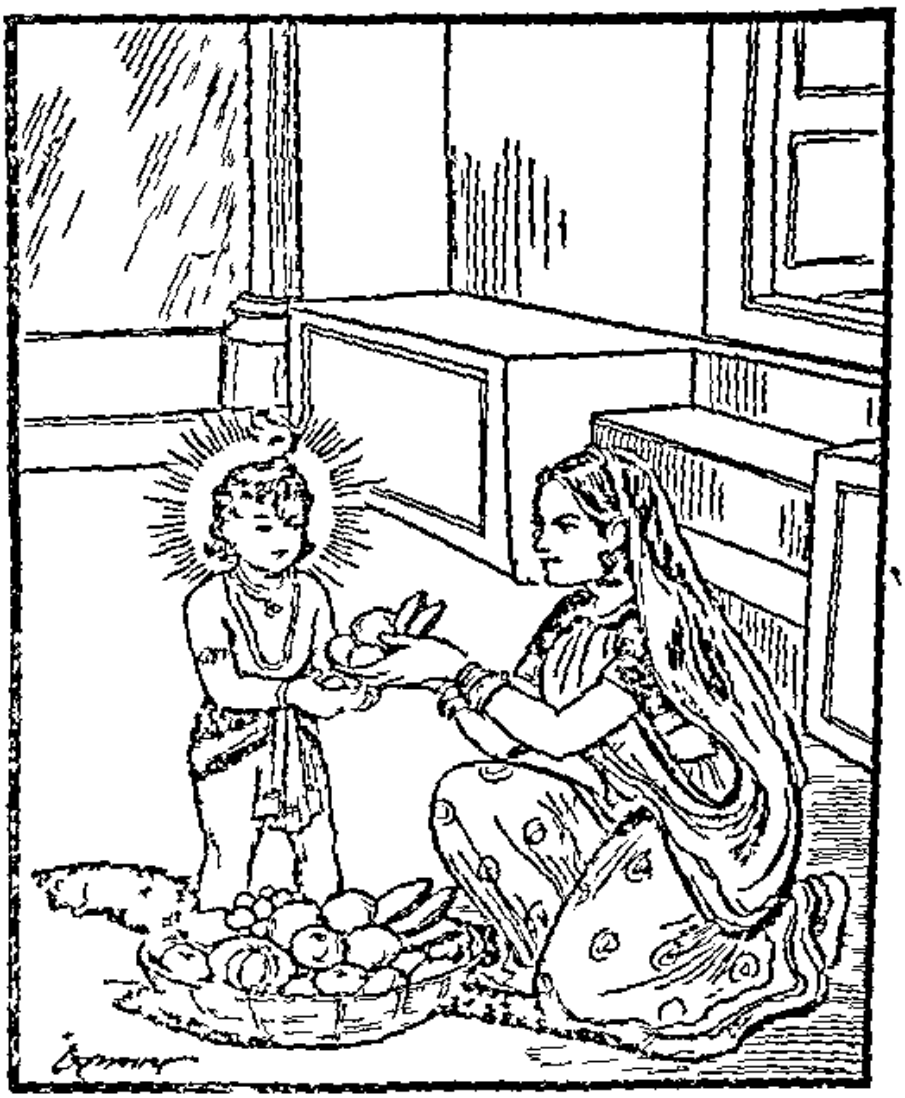

अपने अनुगतको रिक्त कैसे रहने देंगे। वे भी उसके रिक्तपात्रको रत्नोंसे भर देते हैं। भक्त और भगवान्का यह आदान-प्रदान निरन्तर चलता रहता है। इसमें व्यवधान नहीं होता, अन्तर नहीं पड़ता।

जब भगवान्‌ने फल बेचनेवालीको अपना सब अन्न देकर दोनो हाथ खालीकर दिये, तो फल बेचनेवालीके पास भी जितने फल थे, वे उसने उठाये और एक एक करके श्रीकृष्णके कोमल करोंको बार बार स्पर्श करते हुये चुन-चुनकर रख दिये। अब लालजीके दोनो हाथ तो घिर गये, लटके हुये पीताम्बरको कौन सम्हाले। कपोलों पर जो स्वेद बिन्दु झलक उठे है उन्हे कौन पोंछे। अब तो सुखियाका सकोच दूर हो गया था, लाला जीकी ढीली फेटको कसकर बाँध दिया। अपने वस्त्र से उसने उनके गोल-गोल लोल-लाल कपोलोंपर जो स्वेद बिन्दु आ गये थे, उन्हे पौंछा और बार-बार प्यार करके कहा—"जाओ घरमे ले जाओ।"

श्रीकृष्णने देखा इसने मुझे समस्त फल देकर अपने पात्रको खालीकर दिया है। तो उन्होंने भी उसके पात्रको रत्नोंसे भर दिया। वह कृतार्थ हो गयी, कृतकृत्य हो गयी, उसने जीवन का फल पालिया। श्रीकृष्णने उसके समस्त फलोंको तो लिया ही साथहीं उसके मनको भी ले लिया, अब वह अपने मनवाली न रहकर मनमोहनके मनवाली बन गयी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रीकृष्ण गोकुलमे रहकर एकसे एक अद्भुत सरस सुखप्रद लीलाओंको करने लगे। अब उन्होंने अपने चरण कमलकी रज से वृन्दावनको परम पावन करनेका विचार किया। गोकुलकी लीला समाप्त करके वे वृन्दावनकी लीलाओंके लिये मनमे सोचने लगे। क्योंकि गोकुल की तो बाललीला ही है। बाल लीलाये तो वात्सल्य रसके उपासको को ही अधिक सुखप्रद है, श्रीकृष्ण तो सभी रसोंके दाता है, वे तो रसिकशेखर हो जो ठहरे अत सख्य और माधुर्य की लीलाओंकी भूमि तो वृन्दावन ही है। सबके अपने-अपने विभाग बँटे रहते हैं। गोकुलवालोंकी उपासना वात्सल्य रस की

ही है। वृन्दावनवाले अधिकांशमें वात्सल्यको जानते ही नहीं। वहाँ तो सख्य और मधुर रसका ही प्राबल्य है। सख्य भी कुछ सीमामें ही है, नहीं तो वहाँ मधुर रसका ही साम्राज्य है। रास रासेश्वरी का पुर ही जो ठहरा। वहाँ श्रीकृष्णको कौन पूछता है। जब भगवान्‌का वृन्दावन जानेकी इच्छा हुई, तो गोपोंके मनमें उन्होंने वैसी ही प्रेरणा कर दी। सबके प्रेरक तो वे ही परात्पर प्रभु हैं। जगत् उन्हींकी प्रेरणासे चल रहा है। अब मैं श्रीकृष्णकी कुछ नित्यकी भोजनादिक लीलाओंका कहकर श्रीवृन्दावनकी लीलाओंका वर्णन करूँगा।

छप्पय

नंद भवनके निकट लेउ फल' सुखिया बोली।
जानी अनुगत कृष्ण कृपाकी गठरी खोली॥
पल भरि लाये अन्न दयो कर आगे कीये।
सुखिया सब फल तुरत करनिम हरिके दीये॥
कृष्ण हाथ फलतैं भरे, हरि रतननि डलिया भरी।
या सुखिया सब श्यामकूँ, फल दैकैं जगतैं तरी॥

क्रीड़ाप्रिय कनुआ बलुआ

(८८९)

इत्थं यशोदा तमशेषशेखरम्,
मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप ।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतम्,
नीत्वा स्वबाटं कृतवत्यथोदयम् ॥❀
(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० २० श्लो०)

छप्पय

अति क्रीडाप्रिय कृष्ण ग्वाल बालनि सँग जावें ।
होहिँ खेलमे मग्न बुलावें मातु न आवें ॥
कहें मातु प्रिय बचन प्यार करिकें पुसलावें ।
आवें भरि तनु धूरि लाइ पुनि मातु न्हवावें ॥
मैया परसे प्रेमतें, बाबा सँग भोजन करें ।
कबहूँ लिपटैं प्रेमतें, कबहूँ मातातें लरें ॥

एकान्तमें भोजन त्यागी विरागी सन्यासियोंके लिये भले प्रशंसनीय हो, किन्तु गृहस्थको भोजनमे तो आनंद तभी आता

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार उन अशेष शेखर श्रीहरिको अपना ही पुत्र मानकर, पुत्र स्नेह पाशमें बँधी हुई यशोदा मैया, बलरामजीके सहित श्रीकृष्णका हाथ पकड़कर अपने घरमें ले आईं। फिर आकर जो भी मंगल कृत्य करने थे वे किये।

है, जब उसके आस-पास उसीकी थालीमें बालगोपाल बैठे हों। एक कौर स्वयं खाये दूसरा बच्चोंके मुखमें दे। बच्चे तो बच्चे ही ठहरे थालीमें जो अच्छी वस्तु दिखायी देती है, उसे तुरन्त शीघ्रताके साथ खा जाते हैं। उन्हें भय नहीं सङ्कोच नहीं, मिथ्या शिष्टाचार नहीं, जो बात उन्हें अच्छी लगती है, बिना दुराव दिखावेके उसे कर डालते हैं, जो वस्तु उन्हें स्वादिष्ट लगती है, उसे वे खा जाते हैं।

अरण्यमें वास करके तपस्या करनेवाले मुनिपुत्रोंके लिये गम्भीरता भले ही प्रशंसनीय हो, किन्तु गृहस्थियोंके बालकोंकी तो चंचलता भूषण ही मानी गयी है। बालक जितना ही अधिक चंचल होगा, माता पिताको उतना ही अधिक आनन्द पहुँचायेगा। बालकोंकी चंचलताको देखकर माता पिता तथा अन्य परिजनोंके रोम-रोम खिल जाते हैं। उनकी चंचल चेष्टायें मधुसे भी अधिक मीठी और मसालेदार चाटसे भी अधिक चटपटी लगती हैं। भाग्यशाली गृहस्थियोंको ही ऐसी चेष्टायें देखनेको मिलती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब श्रीकृष्णचन्द्र गोकुलसे दूर यमुनातट पर खेलने जाने लगे। वहाँ गीली बालूमें पैर गाड़कर उसपर और गीली बालू थपथपाते, फिर शनैः-शनैः पैर निकाल लेते। एक खोह सी बन जाती। श्याम कहते—"देखो, हमारा भाड़ बन गया। फिर उसमें एक छेद करते अग्नि जलाते। बालू भूजनेका अभिनय करते। मिट्टीके बैल बछड़ा बनाते, घरआ-पातीका निर्माण करते। गुल्ली डंडा आँख मिचौनी आदि खेल खेलते। खेलनेमें उन्हें इतना आनन्द आता कि वे सब कुछ भूल जाते।

माताकी तो समस्त चेष्टायें कनुआ बलुआके ही लिये होतीं। वे प्रातःकालसे दोपहर तक भाँति भाँतिके व्यञ्जन बनानेमें लगी

रहतीं। भगवान्‌को जो-जो वस्तुएँ अधिक रुचिकर होतीं उन्हें अधिक मात्रामे बनातीं। नित्य ही षटरस भोग बनाती। छप्पन प्रकारके व्यञ्जनोको तैयार करती। उसे इतनी वस्तुएँ बनानेमे कुछ कष्ट नहीं प्रतीत होता था। अपितु अत्यधिक सुख ही होता था। एकादशी आदि व्रतके दिन कुछ न बनाना होता, तो उसे सूना-सूना सा प्रतीत होता। माताओके हाथोंकी सार्थकता इसीमे है, कि वे उनसे सुन्दर-सुन्दर पकवान् प्रभुके भोगके लिये बनावे। जिन पदार्थोंका श्रीभगवान्‌को भोग लगे, वे पदार्थ धन्य हैं और वे बनानेवाली माताएँ धन्य है। प्रातःकाल उठते ही मैया सर्व प्रथम उडद मूँगकी दालोको भिगो देती। भाँति-भाँतिकी शाक भाजियोको मँगातीं, उन्हें अमनिया करती कराती। फिर भाँति-भाँतिके पकवानोंको पहिले बनाती। तदनन्तर दाल, भात, रोटी आदि इनको बनाती। पकवान तो कुछ ठडे भी हो जायँ, तो कोई बात नहीं। दाल भात रोटी आदि तो ठडे हो जानेसे नीरस बन जाते है। इनमे तो गरमागरममे ही स्वाद आता है। जिस दिन कोई पर्व होता, उस दिन तो माता वस्तुओको बनाते-बनाते अघाती ही नहीं थी। न जाने क्यो माता चाहती थी, मेरे बच्चे बहुतसी वस्तुओको खायँ। जिसे राम श्याम न खाते, उसे बनानेमे माता अपना व्यर्थ प्रयास समझती। प्रात. उठते ही मैया माखन मिश्री बासी रोटी पूडी देकर दोनोको कलेऊ करा देती। कलेऊ करके वे खेलने चले जाते। तब तक दोनो मातायें परिचारिकाओं और रसोइयोकी सहायतासे बहुतसी वस्तुओंको बनाती रहतीं। जब पुजारी जी नारायणका भोग लगा देते, तब नन्दजी आते आते ही पूछते—"कनुआ-बलुआ कहाँ गये ?"

मैया कहतीं—"वे तो अभी खेलकर ही नहीं लौटे, भोरमे ही गये हैं।"

नन्दबाबा कहते—"दोनो एकसे ही जुट गये हैं, बडे खिलाड़ी

हो गये हैं। उन्हें बहुत दूर मत जाने दिया करो।"

झूठी खीज दिखाती हुई यशोदा मैया कहती—'वे मा तब न ? दोनों किसीकी सुनते ही नहीं। तुमने सिर पर जो चढ़ रखे हैं।"

बाबा बातको बढ़ती देखकर धीरेसे कह देते—"कोई बात नहीं, लड़के ही जो ठहरे यही तो खेलने खानेकी अवस्था है। जहाँ बड़े हुए विवाह हुआ तहाँ घर गृहस्थीमें फँस गये। तुम भी जब लड़की रही होगीं तो ऐसी ही कबड्डी मारती रहती होगीं।"

बात हँसीमें पड़ जाती। तुरन्त रोहिणी मैया जाती, दो-चार सेविकाओंको इधर-उधर भेजती। ढूँढ़ ढाँढ़कर दोनोंको ले आती। जब तक दोनों न आते नन्दजी रसोईके आसनपर नहीं बैठते। जब आ जाते तब उन्हें प्रेमपूर्वक घुड़कते—"अरे भैया ! तुम लोग तो बड़े दङ्गली हो गये हो। देखो, हम कबसे बैठे हैं। ऐसा भी क्या खेल, भोजनके समय तो आ जाया करो।"

तब श्रीकृष्ण अत्यन्त ही प्यारसे कहते—"बाबा ! आज हम वहाँ चले गये। वहाँ बड़े पैंचू पक रहे थे। तोड़-तोड़कर खाते रहे।"

तब बाबा कहते—"अरे बेटा ! पैंचू मत तोड़ा करो। करीलके काँटे लग जायँगे। करीलका काँटा बड़ा बुरा होता है। अपने यहाँ टेटियोंका मनों अचार पड़ा है। टेटीका अचार ही अच्छा लगता है। टेटी जब बड़ी होकर पक जाती है, लाल पड़ जाती है, तो उसे ही पैंचू कहते हैं। वह भी मीठी लगती है, किन्तु उसमें से होक आती है चित्त बिगड़ जाता है। पैंचू मत खाया करो।-अच्छा, चलो भोजन करो।" ऐसा कहकर दोनोंको साथ लेकर सुखपूर्वक भोजन करते। नंदजी रामश्यामके मुखमें दाल भातका ग्रास देते, तो आप भी बाबाके मुखमें ग्रास देते कभी खीरको

लेकर बाबाकी दाढी मे पोत देते। बाबा हँस जाते और कहते—"ओ कनुआ ! तू बडा दङ्गली हो गया है।"

कभी-कभी भोग लगने के पहिले ही आ जाते और कहते—"अम्मा ! बडी भूख लगी है हमे रोटी दे।"

अम्मा कहती—"हाय, अभी नारायणका भोग भी नहीं लगा है। बिना भोग लगे खाने से कान पक जाते है।"

तब आप पुजारीजीके पास जाते—"और कहते—"पंडित जी ! भोग लगाओ। तभी तक बाबा आ जाते, इधर-उधरकी बातोमें लगा लेते। ऊपर आकाशमे पक्षी दिखाते। श्याम रामके हाथमे आटे-बाटे करते। तब श्रीकृष्ण कहते—"बाबा ! मेरे हाथमे भी आटे-बाटे कर दो"

तब बाबा गोदमे बिठाकर श्यामके एक हाथ को लेकर उसमे थपथपी देते हुए कहते—आटे बाटे दही चटाखे। बर फूले बनवारी फूले। बारो मास करेला फूले।" इतना मंत्र पढ़कर हाथोंको थपथपाना बद कर देते। फिर एक-एक उँगली पकड कर बताते। देख यह तेरी उँगली, यह मेरी उँगली, यह तेरी मैयाकी उँगली यह बलदाऊकी उँगली। चार उँगलियोंके पश्चात् अँगूठे को पकडकर कहते—"यह बलका खूँटा" इतना कहकर मुखपर अँगूठेको ले जाकर कुट्ट ऐसा शब्द करते। फिर शनैः-शनैः उँगलियो से हाथको गुलगुलाते हुए बगल तक ले जाते और यह मंत्र पढते जाते'तोडत फोरत हिरन बिड़ारत गौ चरावत मेरे कनुआकी गैया खोगयी है, डुकरिया रस्तामे ते चरखा उठा लइयो।' फिर बगल मे गुलगुली करते-करते कहते—कन्हैयाकी गैया ये पा गई, ये पा गई। गुलगुली होनेसे श्रीकृष्ण हँसते-हँसते लोट पोट हो जाते। नेत्रोंमें आँसू आ जाते। फिर कहते—"बाबा ! फिर आटे बाटे कर दो।"

तब नंदजी कहते—"अब कल करेंगे, चलो भगवान्‌का भोग उसर गया, प्रसाद पा लें। तब आप पैर धोकर बाबाके साथ भोजन करने जाते। इस प्रकार नित्य माता पिता तथा अपने स्वजनोंको बाल लीलायें करते हुए सुख देने लगे।

एक दिन श्रीकृष्णके जन्मका रोहिणी नक्षत्र आया। मैयाने उस दिन बड़ी तैयारियाँ की भाँति-भाँतिके व्यञ्जन तैयार किये, बहुतसी गैयोंको सजाकर दानके लिये तैयार किया। भगवान्‌का भोग लगा। नंदजीने कहा—"अरे, अभी तक कनुआ बलुआ तो आये ही नहीं।

आज श्याम यमुना तटपर खेल रहे थे। खेल हो रहा था चड्डीका। जो जिसे बता दे, उसको नियत स्थान तक चड्डी देनी पड़े। कई बार तो श्रीकृष्णको चड्डी देनी पड़ी। अबके उनकी चड्डी लेनेकी बारी थी। इतनेमें ही रोहिणी मैया आ गई और बोली—"अरे भैया! तुम अभी तक घर नहीं आये। देखो, तुम्हारे बाबा कबसे बैठे हुए तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। चलो-चलो।"

बलराम बोले—"मैया! तुम चलो हम आते हैं।"

मैयाने कहा—"आते कैसे हैं, तुमपर कोई उड़नखटोला है, मेरे साथ चलो।"

आप अकड़ गये—"हम नहीं चलते। अपनी चड्डी लेकर चलेंगे।"

भोरी मैया क्या करती। लड़कोंसे हठ करना उचित नहीं। लौट आई और खिसियाकर बोली—"अधिक दुलार करनेसे लड़के बिगड़ जाते हैं। इन्हें सिरपर चढ़ा रखा है।"

वात्सल्यमयी यशोदा मैया समझ गई लड़के कहनेसे नहीं आये। इसलिये ये खिसिया गयी हैं। अतः बोलीं—"जीजी! तुम तनिक इन पकोड़ियोंको देखो, मैं लाती हूँ, उन्हें खिलाकर।" यह कहकर वे जैसे बैठी थीं तैसे ही बेसन लगे हाथोंसे उठकर चली गयीं।

जाकर उन्होंने यमुना किनारे देखा पूरे वेगसे रेल हो रहा है। श्याम सबसे अकड़-अकड़कर चड्डी ले रहे है। और बच्चो को क्रीड़ासक्त देखकर स्नेहमय माताके स्तनोमे अपने आप दूध भर आया और वह स्वतः ही छातीसे बहने लगा। दूरसे ही खेलमें आसक्त अपने बच्चोंको वे प्रेम पूर्वक पुकारने लगीं—"कनुआ बेटा! आजा, आजा। मेरा कनुआ तो राजा है। वह तो मेरी बातको कभी टालता नहीं। देख भैया, अब बहुत देर हो गयी। देख तो सही सूरज सिरके ऊपर आ गया है। बड़ी अबेर हो गयी खेलते-खेलते तू कितना थक गया है तेरा मुँह सूख गया है। भूखसे तू कितना दुबला हो गया है, पेट पीठमे सट गया है। चल-चल अब चलकर भोजन करले।'

श्रीकृष्ण तो अपनी धुनिमें मस्त थे, उन्होंने माताकी बात सुनी ही नहीं। तब माताने सोचा पहिले बलरामको फोड़ना चाहिये। बलराम चल देगा, तो अकेला श्रीकृष्ण रुकेगा नहीं। अतः वे अब बलरामजीको सम्बोधन करके कहने लगीं—बेटा! बलराम! कमलनयन बलुआ। अब देखो? भैया! देर करनेका काम नहीं भोजन ठंडा हो रहा है। अपने छोटे भाईको लेकर तुरन्त चल दो। अब कल खेलना। तुम लोग तड़के ही तनिक सा कलेऊ करके आये हो। अब तो तुम्हे भूख लग रही होगी। भोजन तैयार है, नारायणका भोग लग रहा है। अब चलकर मट्टमट्ट करके भोजन करो। आज बड़े-बड़े सुन्दर पकवान बने हैं। व्रजराज आँगनमें बैठे तुम दोनोंकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

पकवानोंका नाम सुनकर श्रीकृष्णकी तो लार टपकने लगी। वे चड्डी लेते ही लेते बोले—"मैया आज कौन-सा त्यौहार है?"

मैया प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोली—"अरे, भौंदू! तुझे इतना भी पता नहीं। आज तेरा जन्मनक्षत्रका उत्सव जो है। मैंने दान देनेको बड़ी-बड़ी सुन्दर-सुन्दर गौएँ सजा रखी हैं। बड़ी-बड़ी

मिठाइयाँ बनायीं हैं। ब्राह्मण द्वारपर बैठे हैं, तेरी ही देर है। शीघ्र चलकर ब्राह्मणोंको दान दे, उनके पैर छू, उनसे आशीर्वाद ले।"

आप बोले—"मैया! चल तू हम अभी आते हैं।" किन्तु मैया तो ऐसे माननेवाली थी नहीं, उसने सोचा—"जब तक ये ग्वालबाल रहेंगे, तब तक खेल समाप्त न होगा। बिना खेलको समाप्त किये ये दोनों चलेंगे नहीं। अतः वह अन्य गोपकुमारोंको पुचकार कर बोली—"बेटाओ! तुम भी अब सब अपने-अपने घर को जाओ। देखो, तुम्हारी मातायें तुम्हारी बाट जोह रही हैं।"

लडके तो यह चाहते ही थे, वे खेल समाप्त करके चलनेको उद्यत हुए। माता उन्हें बढावा देती हुई कहने लगीं—"तुम बेटाओ! बडे राजा हो, देखो तुम्हारी मैयाओंने कैसा मोटा-मोटा काजर तुम्हारे लगा रखा है, कैसी चिलकनी टोपी और गोटादार बगलबन्दी पहिना रखी है। यह कनुआ तो भगी है। देखो तो सही इसके कपडे कैसे मैले-कुचैले हो गये हैं। सम्पूर्ण शरीर धूलिसे भर गया है।"

फिर अपने आप ही कहने लगीं—"मेरा कनुआ भी अब राजा बेटा बन जायगा। मेरे साथ जहाँ यह घर पहुँचा कि मैं इसे तेल उबटन लगाकर स्नान कराऊँगी सुन्दर चदन लगाऊँगी। बालोंको तेल डालकर काढूँगी। मोतीकी मालायें पहिनाऊँगी। मणि मुक्ताओंके सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहिनाऊँगी। नई धराऊ चिलकनी पीली रेशमी बगलबन्दी पहिनाऊँगी। गोटादार चिलकनी टोपी पहिनाऊँगी। इसके हाथसे ब्राह्मणोंको गौओंका दान कराऊँगी। "आजाओ बेटाओ? आजाओ? देखो कौन आगे आता है। दौडकर जो आगे निकल जायगा वही राजा बेटा हो जायगा। अब दौडो भोजन करके वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत होकर फिर खेलना।"

इतना सुनते ही श्रीकृष्ण दौड़े । बलदेवजी दौड़े । मैया कहा—"कनुआ ! यदि तू पीछे रह गया—तो ये ग्वालबाल सब सेंगे । तुझे निर्बल बनावेंगे ।" यह सुनकर श्याम मुट्ठी बाँधकर आगे । मैया भी शनैः शनैः मथर गतिसे उनके पीछे-पीछे चली । कुछ दूर दौड़नेके अनन्तर दोनों थक गये । तब माताने एक हाथकी उँगली श्यामको पकड़ा दी दूसरे हाथकी बलरामको । इस प्रकार दोनोंको उँगली पकड़ाकर घर ले आयीं । आकर स्वस्त्ययन कराया, ब्राह्मणोंको गौओंका दान कराया, ब्राह्मणोंको भोजन कराके विदा किया ।

अब नंदजी दोनों बालकोंको साथ लेकर भोजन करने बैठे । आज मैयाने कच्चे—पक्के मीठे—नमकीन बहुत प्रकारके व्यंजन बनाये थे । चूरमाके लड्डू, निकुतीके लड्डू, बेसनके लड्डू, सूजीके लड्डू, खोआके लड्डू, कागनीके लड्डू तथा और भी मगद आदि के भाँति-भाँतिके लड्डू बनाये थे । मठरी, टिकिया, सकलपारे, सुहार' मोहनथाल आदि और भी बहुत वस्तुएँ बनाई थी । जलेबी, रसगुल्ला, बरफी, कलाकंद, पेड़ा, गुलाबजामुन, कतरी आदि अनेक प्रकारकी रंग-बिरंगी मिठाइयाँ बनायी थीं । जिनमेंसे दिव्य सुगंधि आरही थी । पूड़ी, कचौड़ी, लुचई, मालपूए, मीठीपूड़ी तथा फैंनी आदि पक्की रसोईके विविध भाँतिके पदार्थ बनाये थे । दाल मौंठ, समोसे, कचरी, दही बड़े, बतासे गुलगप्पे तथा और भी अनेको नमकीन वस्तुएँ बनाई थीं । बासमती चावलोंका सुगंधित खिला हुआ सुन्दर भात बनाया था । पतरी-पतरी गेहूँकी फुलकियाँ बनायी थी । श्यामको मिस्सी रोटी बहुत प्रिय है, अतः बेसन और मूँगकी दालकी चुनी गेहूँके आटेमें मिलाकर तवेपर ही उसमें गोचे कर-करके मोटी रोटी बनायी थी जिन गोचोंमें चुपड़ते समय घृत भर जाय । मूँग उड़द, मौंठ, अरहर, चना आदिकी दालें बनायी थीं । बेसनकी फुलौरी-

दार कढ़ी भी बनी थी। बथुआ, लौकी, काशीफल, पोदीना निकुती आदिके अलग-अलग रायते बने थे। सागोंकी तो कोई गणना ही नहीं, हरे समयके जितने साग मिल सकते थे, बनाये गये थे। बहुतसे सूखे साग थे। भाँति-भाँतिकी मीठी नमकीन चटनियाँ थीं। बड़े-बड़े कुरकुरे पापड़ थे। खीर भी कई प्रकारकी थी। आम, करौंदा, नीबू, मिरचा, टैंटी, अदरख ऊख, आदिके अचार थे। विविध प्रकारके मुरब्बे थे। कहाँ तक गिनाव—मैयाने पूरे अन्नकूटका ही सब सामान बना रखा था बड़े-बड़े कई थालोंमें, सैकड़ों छोटी-बड़ी कटोरियोंमें वे सब पदार्थ परसे गये। श्याम बाबाकी गोदीमें बैठे-बैठे खा रहे थे बड़े-बड़े ग्रासोंको एक साथ मुखमें दे जाना और शीघ्र-शीघ्र खाना यह तो श्रीकृष्णकी पुरानी ही टेव ठहरी। वे इस वस्तुको खा उस वस्तुको खा—इस प्रकार सभीपर हाथ फिराने लगे। उसी झपट्टे में एक हरी कड़वी मिरच भी आगई। उसे भी खा गये खा ता गये, किन्तु सी-सी करके हाथ पटकने लगे। सिर हिलाने लगे, मुँह बनाने लगे। आँखोंमें आँसू आ गये। बाबाकी गोदीमें से उठकर भागे। तुरंत रोहिणी मैयाने गोदीमें उठा लिया। मुखमें फूँक मारने लगीं। और बोलीं—"अरे, कनुआ तू मिरचा खा गया। तनिक खीर तो पी जा, यह कहकर खीरका कटोरा मुखसे लगा दिया। श्यामने दो-चारघूँट पतली खीर पी। फिर मैयाने मोहनभोग मुखमें दे दिया। खीर और मोहनभोग खानेसे मुखका तीतापन जाता रहा। मुख मीठा होनेपर आप बोले—"अब मैं बाबाकी गोदमें बैठकर नहीं खाऊँगा। मैयाकी गोदमें बैठकर खाऊँगा। बाबा तो सी-सी खिला देते हैं।"

हँसकर बाबा बोले—"अरे ऊधमी उलटा मुझे ही दोषी बताता है। अपने आप तो सब वस्तुओंको शीघ्र-शीघ्र खाने

गता है। भैया तू तो सर्वभक्षी है। बलुआको देख, कैसे धीरे-रे स्वादसे खा रहा है।" इस प्रकार बड़े आनन्दसे भोजन आ। भोजनोपरान्त मुखशुद्धिके लिये मैयाने पान इलायची दि वस्तुएँ दीं। खा पीकर श्याम पुनः खेलनेको चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्याम अपनी भोरी री चेष्टाओंसे माता-पिताके आनन्दको बढ़ाने लगे।"

छप्पय

अति चचल अति चपल गोदतें उठि उठि भागे।
निरखें मैया भगत खड़ी ह्वै जामें आगे॥
जननी दृष्टि बचाइ कृष्ण ह्वैलेतें सटकें।
ऊधम नित नव करें जाइ पेड़निते लटकें॥
वनमहँ विहरत मुदित मन, नील पीत पट तन लसहिं।
ब्रज वासिनि सुख देहिँ नित, श्याम राम गोकुल बसहिँ॥

गोपोंका वृन्दावनगमनका निश्चय

(८९०)

वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम् ।
गोप गोपी गवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥
तत्रात्रैव यास्यामः शकटान्युङ्क्त मा चिरम् ।
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० २८, २९ श्लो०

छप्पय

यमलार्जुनको पतन अशुभ अति गोपनि मान्यो ।
नहीं निरापद ठौर शिशुनि हितकर नहिं जान्यो ॥
पञ्चायत सब करहिं होहिँ उत्पात यहाँ अति ।
नाना रूप बनाइ असुर इत आवैं नित प्रति ॥
तातें तजि गोकुल तुरत, श्रीवृन्दावन चलहु सब ।
भूमि सरस जल थल विमल, बोले श्रीउपनन्द तब ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उपनन्दजी सब गोपोंकी सम्मति देते हुए कहने लगे—"देखो, भाई! यहाँसे कुछ ही दूरपर एक वृन्दावन नामका वन है। वह नूतन वनावलीसे सुशोभित है, पशुओंके लिये हितकर है, उसमें अति पवित्र पर्वत हैं, गौओंके लिये घास है और बड़ी लताओंकी कुंजें हैं। सब गोप-गोपी और गौओंके लिये सेवनीय है, अतः आज ही हम सब वहाँ गौओंको आगे करके चलें, देरी करनेका काम नहीं, सभी पचोंको मेरी बात जँचे तो अपने अपने छकड़ोंको जोतकर चलो।"

जीव तो अन्न जलके अधीन है। जहाँका जितने दिन अन्न जल बदा होगा, वहाँ उतने दिन अवश्य ही रहना होगा। जहाँ से अन्न जल उठ गया है वहाँ लाख प्रयत्न करने पर भी कोई रह नहीं सकता। जलके कण-कणपर अन्नके दाने-दानेपर सबकी छाप लगी है। लोग भूलसे ऐसी बात कहते हैं, उसने उसे भगा दिया। वह उसे वहाँसे ले गया। अजी, न कोई किसीको भगाता है न कोई किसीको ले जाता है। अन्न जल ही बलवान है, वही प्राणियोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानोंमें घुमाता रहता है, नहीं तो जहाँ हमारा जन्म हुआ है। जिन वृक्षोंके नीचे बाल्यकालकी अनन्त स्मृतियाँ सुरक्षित हैं, जिस धूलिमें बालकपनमें लोटे हैं, जिन घरोंमें अपना शैशव बिताया है, जिन वृक्षोंके कच्चे-पक्के मीठे कसैले फलोंको बडी उमंगके साथ खाया है—ऐसी जन्मभूमि को स्वेच्छासे कौन छोडना चाहेगा। अपनी माता कैसी भी कुरूपा हो, बालकोंको तो वही प्यारी लगती है। उसे तो उसी गोदीमें वात्सल्य सुख मिलता है। दूसरेकी माँ कितनी भी सुन्दर हो कितनी भी धन वाली हो, हमें वह अपनी सगी माताकी भाँति प्यार थोडे ही कर सकती है, इसी प्रकार हमारी जन्मभूमि चाहे कैसी भी रूक्ष स्थानमें हो, चाहे वहाँ जीवन-साधनके समुचित उपकरण न हों, फिर भी वह हमें अत्यन्त प्यारी लगती है, उसके कण कणमें अतीतकी स्मृतियाँ सन्निहित रहती हैं। उसकी स्मृतिमें ही कितना मीठा-मीठा आनंद आता है, उस बेरियापर चढकर बेर खाते थे, उस इमलीके पेडसे फल लाकर चटनी बनाते थे। जन्मभूमिके साथ हमारे शरीरका तादात्म्य सम्बन्ध है, जैसे माताके दूधसे हमारा शरीर बना है वैसे ही जन्मभूमिकी धूलि भी हमारे शरीरको बढानेमें उपयोगी हुई है। उस ऐसी प्यारी जन्मभूमिको भी प्राणियोंको अवश होकर प्रारब्ध वश-अन्न जल की प्रबलतासे सदाके लिये छोडना पडता है। दैवकी यह कैसी

विडम्बना है। जीव बात-बात पर परवश है। जिस जननीने हमें अपने शरीरके रक्तसे पाला-पोसा है, उस जननीको भी निर्दय होकर छोड़ना पड़ता है। जीव अवश है, प्रारब्ध के अधीन है। परमात्मा यद्यपि स्वतंत्र है, किन्तु वह भी जब अवतार धारण करता है तो वह प्रारब्धके अधीन तो होता नहीं, किन्तु प्रेमके अधीन तो उसे भी होना पड़ता है। वृन्दावनकी अधिष्ठात्री देवीने अनंत तपस्या करके यह वर प्राप्त किया था कि श्याम सुन्दर अपने जगन्मंगल विश्वपावन पदारविन्दोंसे मेरे ऊपर विहार करें। उसी वरको सत्य करनेके लिये भगवान्‌ने गोपोंके मनमें प्रेरणा की। गोपोंको गोकुलसे उचाट हो गयी। उनका मन अब गोकुलमें नहीं लगने लगा। वह भी श्रीकृष्णके सम्बन्धसे। श्रीकृष्णको जहाँ सुख हो वही सबसे पावन भूमि है। श्रीकृष्णकी प्रसन्नता ही तो जीवका परमलक्ष्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस दिनसे अर्जुनके वे जुड़वे वृक्ष गिरे थे, उस दिनसे गोपोंमें खलबली मच गयी थी। जहाँ भी १०।५ गोप इकट्ठे होते इसीकी चर्चा करते। वे श्रीकृष्णके महान् ऐश्वर्यसे तो अनभिज्ञ ही थे, वे यह नहीं जानते थे, इन सर्वेश्वरमें अनन्त शक्ति है, ये अपने संकल्प मात्रसे जो चाहें-सो कर सकते हैं, इनके लिये कुछ भी असंभव नहीं, किन्तु वे तो इन्हें नन्दजीका छोटा-सा बालक ही जानते थे। इनको इस बातका महान् आश्चर्य हो रहा था, कि ये वृक्ष सहसा गिर कैसे गये। इनकी जड़ें भी नहीं सड़ी थीं। भीतरसे खोखले भी नहीं थे। आँधी-पानीका भी प्रकोप नहीं था। अवश्य ही यह कोई दैवी घटना किसी बड़े भारी संकटकी सूचक है। बात कानों-कान फैल गयी। आस पासके गाँवोंमें भी यही चर्चा फैल गयी।

नन्दजी इस विषयकी अधिक चर्चा सुनकर चिंतित हुए। उनके भाई सनन्द, उपनन्द, महानन्द आदि भी बहुत चिंतित थे।

श्रीकृष्णको सब प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे। एक दिन नंदजीने आस पासके सभी गोपोंको बुलाया। रावलसे वृषभानुजी भी आये और भी गोपोंके बडे गणनायक रङ्ग-बिरङ्गी पगडियाँ पहिनकर नन्दजीकी चोपालपर जुडे। जाजिमे बिछ गयीं, उनपर गलीचे बिछाये गये मसनदें रखी गयीं। बूढे बडे पंच, गोप आगे तकियेके सहारे बठे। तब नन्दजीने कहा—"व्रजमे आज कल इन अर्जुन वृक्षोंके अकस्मात् गिरनेकी सर्वत्र चर्चा हो रही है। कुछ लोगोंका कहना है, यह घटना किसी उत्पत्तिकी सूचक है, कोई कुछ कहते हैं, कोई कुछ। इस विषयमें हमारा जो कर्तव्य हो, उसे आप सब पञ्च मिलकर बतावे।"

यह सुनकर एक बूढेसे गोप बोले—"केवल अर्जुन वृक्षोंके ही पतनकी बात नहीं है। हम तो देखते हैं, गोकुलमें नित्य ही नये उत्पात हो रहे हैं।"

नन्दजीने कहा—"हाँ यही तो पूछना है, कि इन उत्पातोंका प्रतीकार क्या किया जाय?"

एक दूसरे गोप बोले—"देखो, भाई! हमारे न घर है न खेतीबारी। गौएँ ही हमारा धन हैं, गौएँ ही हमारी देवता हैं, वे ही हमारी आजीविकाका साधन हैं। जहाँ बाढ लगाकर गौएँ खडी कर दीं, वहीं हमारा गोकुल हो गया। जहाँ क्रमबद्ध छकडे खडे कर दिये वहीं हमारा पुर हो गया, इसी स्थानके लिये हमारा कोई पट्टा तो लिखा नहीं। सबही भूमि गोपालकी है। हमारे यहाँ बारह वन और बारह उपवन हैं। इस वनका नाम है महावन। महावनमें उपद्रव हैं, तो किसी दूसरे वनमे चलकर डेरा डाल दो। वहाँ बसती बना लो।"

नंदजीने कहा—'यदि सबकी सम्मति यही है, कि इस स्थानको छोडना ही चाहिये, तो पहिले इसीका निर्णय हो जाय।"

इसपर वृषभानुजीने कहा—"देखिये, हमें स्थानकी उतनी चिन्ता नहीं। हमें तो श्रीकृष्णकी चिन्ता है। श्रीकृष्ण जहाँ सुखी रहें, राम कृष्णको जहाँ आनन्द हो, वह नरक भी हमारे लिये स्वर्गसे बढकर है, जहाँ श्रीकृष्ण प्रसन्न न रहें, वह वैकुण्ठ भी हमारे लिये नरकके समान है। यदि यहाँ नित्य प्रति उत्पात होते हैं और श्रीकृष्णके लिये कुछ आशङ्का है, तो हमें तुरन्त इस स्थानको त्याग देना चाहिये। श्रीकृष्ण ही हम सबके जीवन सर्वस्व हैं। क्यों पञ्चो! यही बात है न? इसमें किसीको मतभेद तो नहीं?"

सबने एक स्वरसे कहा—"श्रीकृष्ण ही हमारे सर्वस्व हैं, जहाँ उन्हें सुख हो वहीं हमें रहना चाहिये।"

सबकी सम्मति स्थान त्यागकी ही समझकर नन्दजीने कहा—"अच्छा, यह तो निश्चय हो गया, कि इस स्थानको हमें त्यागना है, किन्तु अब विचारणीय विषय यह है, कि इस स्थानको छोड़कर चलें कहाँ? कहाँ अपनी बस्ती बसावें। स्थान ऐसा चाहिये, जो खुला हुआ विस्तृत हो, जलका सुपास हो, गाओंके लिये घासका बाहुल्य हो और देखनेमें भी रमणीय हो। सघन वृक्ष हों।"

उस पञ्चायतमें नन्दजीके सबसे बडे भाई उपनन्दजी ही सबसे अधिक बूढे थे। गोपोंमें वे ही ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध समझे जाते थे। वे देश, काल और वस्तुके तत्वको जाननेवाले थे। श्याम और बलरामको वे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे। राम श्यामके लिये वे सब कुछ करनेको सर्वदा उद्यत रहते थे। वे भी अनुभव करते थे यह स्थान अब निरापद नहीं है। स्थान परिवर्तनकी बात वे भी इधर कुछ दिनोंसे सोच रहे थे। आज सभी गोपोंने मिलकर यह निर्णय किया, तो उन्हें बडी प्रसन्नता हुई। वे भी इस बातसे पूर्ण सहमत थे, कि हमें इस

स्थानका परित्याग कर देना चाहिये। अतः वे बोले—"मुझे इस बातसे अत्यन्त प्रसन्नता है, कि आप सब लोग इस स्थानको त्यागनेके लिये उद्यत हैं। हम देखते हैं, जबसे नन्दके लाला हुआ है, तबसे यहाँ नित्य ही कुछ न कुछ उत्पात होते रहते हैं। यहाँ बालकोंका रहना निरापद नहीं, अतः यदि हम गौओंकी गोपवंशकी कुशल चाहते हों, तो हमें इस स्थानका मोह त्याग-कर यहाँसे उठकर चल ही देना चाहिये। जबसे हमारे घरमें बच्चेका जन्म हुआ है, तभीसे यहाँ विपत्तियोंका ताँता-सा लगा रहता है। बच्चा छः दिनका भी नहीं हुआ था, कि कहींसे विपत्ति की मारी राँड पूतना आ निकली। जैसे-तैसे नारायणने उस बालघातिनी राक्षसीके पंजेसे लालाको बचाया। फिर इतना बड़ा छकड़ा अकस्मात् लालाके ऊपर बिना आँधी-ब्यारके गिर गया। भाग्यवश उससे भी बच्चेकी रक्षा हुई। फिर बवण्डरमें छिपकर कोई दैत्य या भूत प्रेत आया वह बच्चेको आकाशमें ही उड़ा ले गया। उस दुष्टने बच्चेको शिलापर ही पटक दिया, इन्द्रादि लोकपालोंने बालककी रक्षा की। अब यह नया उत्पात हुआ। बिना आँधी पानीके इतने बड़े वृक्ष सहसा गिर पड़े। कितने बाल बच्चे उनके नीचे खेल रहे थे, यदि कोई भी बालक दब जाता, तो क्या उसके प्राण बचते। भगवान्‌ने ही कृपा की कि किसीको चोट फेंट नहीं आयी। ऐसा लगता है यह ताँता तब तक लगा रहेगा, जब तक हम यहाँ रहेंगे। इसलिये जब तक कोई और अनिष्टकारी उत्पात या अरिष्ट आकर व्रजपर आक्रमण नहीं करता—उसके पहिले ही हम बालकोंको लेकर किसी अन्य स्थानपर चला जाना चाहिये। सब गोप भी अपने बन्धु बान्धव परिवार तथा समस्त सामग्रीके साथ चलें।"

नन्दजीने कहा—"इस विषयमें तो सब एक मत हैं ही कि

इस स्थानको छोड़ देना चाहिये, किन्तु छोड़कर जायँ कहाँ, अब तो प्रधान प्रश्न यह है।"

उपनन्दजीने कहा—"हाँ, एक स्थान मेरी दृष्टिमें है, यदि वह आप सबको रुचिकर हो, तो मैं बताऊँ।"

नन्दजीने कहा—"दादा! बहुत दूर तो नहीं है?"

उपनन्दजी बल देकर बोले—"अरे, नहीं भाई! यहाँसे समीप ही है। उसका नाम वृन्दावन है। श्यामा और रामा तुलसी के तो वहाँ वनके वन खड़े हैं। वहाँके वृक्ष बड़े ही सघन हैं, लताओंके वितान बने हैं, कुञ्ज निकुञ्जोंका वहाँ बाहुल्य है। वहाँकी भूमि बड़ी रसमयी है।

नन्दजीने कहा—"दादा! आप वहाँ कभी गये हैं? गौओंको तो वहाँ कोई कष्ट न होगा।"

उपनन्दजीने कहा—"अरे भाई! देखनेकी क्या बात है हम तो वहाँ रहे है। तू जब बहुत छोटा-सा था, तब हम वहाँ रहे हैं। जैसा यहाँ यमुनाजीका तट है वैसे वहाँ भी यमुनाजी बहती हैं। वहाँकी बालू बड़ी ही कोमल और लहरियादार है। वहाँकी दूब अत्यन्त हरी-हरी और कोमल-कोमल हैं। चारे घासकी तो वहाँ कमी ही नहीं। बारह कोसका वह वन है। यमुनाजीके इस पार उस पार उसकी सीमा है। जलका सुपास है समीप ही गोवर्धन नामका सुन्दर पर्वत है। जिसमेंसे झरने झरते हैं। उसकी तलहटीमें वनजन्तु विचरते हैं। वृन्दावनकी शोभा अपूर्व है। बालक वहाँकी प्राकृतिक शोभाको देखकर बड़े प्रसन्न होंगे। वृन्दावन जैसा परम पावन वन, समस्त गिरिवरों से श्रेष्ठ गिरिराज-गोवर्धन, यमुनाके परम रमणीक पुलिन एक से एक आकर्षक वस्तुएँ वहाँ है। पर्वत, दूब और लता आदिकी बहुलता है। वह गोप-गोपी और गौओंके रहने योग्य है।"

नन्दजीने कहा—"अच्छी बात है, तो कब वहाँ चले?"

उपनन्दजी बोले—"कबकी कौन बात, शुभस्य शीघ्रम्, आज ही वहाँ चलो। अब देर करनेसे क्या लाभ? बजे यात्राके बाजे, चले शङ्ख बजाते हुए आगे आगे गोप।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उपनन्दजीकी बातका सभीने साधु-साधु कहकर समर्थन किया। उसी समय सब वृन्दावन-गमनकी तैयारियाँ करने लगे।"

छप्पय

साधु-साधु सब कह करयो अनुमोदन सबने।
बोले बूढे गोप लख्यो वृन्दावन हमने॥
सब ई तहाँ सुपास दून, द्रुम, जल, वन गिरिवर।
श्रीयमुनाके निकट परम सुन्दर अति सुखकर॥
चलो आज ई चलेंगे, निश्चय सब मिलिकें करयो।
सुनत बँधे बिस्तर तुरत, छकरनिमहँ सब धन भरयो॥

—:o:—

गोपोंका श्रीवृन्दावनमें निवास

(८६१)

वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम् ।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥ ❀

(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

तुरही बाजन लगीं जोरि छकरा सब दीन्हें ।
धनुष बान लै हाथ गोप कछु आगे कीन्हें ॥
तिनके पीछे धेनु सौंड बछरा सब जावें ।
छकरनि गोपी चढ़ीं गीत गोविंदके गावें ॥
माता यशुमति रोहिणी, रामश्याम सँग रथ चढ़ीं ।
ज्यों मन सँग इन्द्रिय चलहिं, त्यों हरि सँग गैया बढ़ी ॥

भगवान्‌को छोड़कर जिनकी धन, जन, कुटुम्ब, परिवार, माता, पिता, पति, पुत्र, बहिन भाई आदि स्वजनोंमें आसक्ति होती है, उन्हें पग-पगपर दुःख उठाना पड़ता है, किन्तु जिन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रभुकी प्रसन्नतामें ही मिला दी है, उन्हें सभी दशाओंमें सुख होता है। वे दुखका नाम भी नहीं जानते।

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जो वृन्दावन सभी ऋतुओंमें सुखदायक है, उसमें पहुँचकर अर्ध चन्द्राकार अपने छकड़ोंको खड़ा किया और अपनी-अपनी गौओंके रहने योग्य स्थान बनाये।"

भगवान जिसमे प्रसन्न हो, उसीमें प्रसन्नता मानना। जहाँ रखे वहाँ रहना, जो कहें वही करना, उनकी ही चर्चा सुनना और कहना यही अनन्यताके लक्षण हैं। व्रजवासी सब अनन्य थे। उन्हें अपने सुख दुखकी चिन्ता नहीं थी, हमारे लालाका जिसमे अनिष्ट न हो, उस कर्मको करना, जिसमे उसका मङ्गल हो उसी कामको करना—इसीलिये तो वे आज विश्ववन्दित हुए।

सूतजी कहते है—"मुनियो! गोपोंने सर्वसम्मतिसे यह निर्णय किया, कि हमें गोकुलके महावनको छोडकर वृन्दावन चलना चाहिये। सो भी आज ही, देर करनेका काम नहीं। सबने अपने-अपने छकडोंको निकाला उनमे अपने भाँडे, वर्तन, ओढना-बिछौना, अन्न तथा और भी समस्त गृहस्थीकी सामग्री भर दी और गोकुलको छोडकर तुरन्त चल दिये।

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! पीछे तो आप गोपोंके ऐश्वर्यका ऐसे विस्तारसे वर्णन कर चुके है, अब आपके कहनेसे यही प्रतीत होता है, कि वे सब छकडाओंके नीचे रहते थे, जब चाहते थे, तभी उठकर चल देते थे, कोई साधारण भी आदमी अपनी गृहस्थी छोडता है, तो उठाने-धरनेमें कई दिन लग जाते हैं, ऐसे ही सहसा गोप कैसे उठकर चल दिये?"

सूतजी बोले—"महाराज! पहिले गोप जगलोंमे विचरनेवाली जगली जाति ही मानी जाती थी। वे वनोंमे ही रहते थे छकडोमे अपना सब सामान रखते थे। सहस्रो लाखो गोएँ उनके पास होती थीं। जिस वनमे अच्छी घास देखी वहीं छकडे हाँक दिये, गौओंको लेगये। गौओंके ठहरनेको बाढ बाँध दी। जहाँ गौएँ रहती थीं, उसका नाम गोकुल है। गोवर्द्धन पूजनके समय भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे नंदजीसे स्पष्ट कहा है—हम लोगोंके पुर नहीं, नगर नहीं, ग्राम नहीं, घर नहीं और भी कुछ नहीं है पिताजी! हम तो सदा ही वन या पर्वतोंमें रहने वाले वन-

वासी हैं।" इससे स्पष्ट है, कि ये गोप भी ऐसे ही थे। अब जो पीछे नंदजीके ऐश्वर्यका वर्णन किया है, वह तो भगवान्के जन्म लेनेसे समस्त व्रज रमाके क्रीड़ाका स्थान बन गया था। जहाँ स्वयं साक्षात् रमापति ही निवास करते हैं, वहाँ पर कमी किस बात की थी। व्रज चौरासी कोसमें बारह वन और बारह उपवन थे। ये सदा इन वन उपवनोंमें घूमा करते थे। श्रीबलदेवजीका जन्म उस स्थानमें हुआ जहाँ बलदेव अथवा दाऊजी ग्राम आजकल बसा है। श्रीकृष्णका जन्म वहाँ हुआ था जहाँ महावन ग्राम है, और यमुनाजीका ब्रह्माण्ड घाट है। तीन चार वर्षों तक गोप श्रीकृष्ण जन्मके अनन्तर यहीं रह गये। धन ऐश्वर्यकी तो कुछ कमी ही नहीं थी, ठाठ-बाठ बढ़ गये। भाग्यशालीका भाग्य आगे आगे चलता है। जब गोकुलको छोड़कर सब वृन्दावन चले गये तो वहाँ भी ऐसा ही ऐश्वर्य हो गया। अतः भगवान् जहाँ है, वहाँ असंभव भी संभव हो जाता है। गोप वैसे तो वनचारी ही थे, किन्तु श्रीकृष्णके जन्मसे वे देवताओंके भी वन्दनीय हो गये। पीछे ये अपनी अपनी राजधानियाँ बनाकर ग्राम बसाकर स्थायी रूपसे ग्रामवासी बन गये। इस सबका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

शौनकजीने कहा—"हाँ, सूतजी! आपका कथन सत्य है, जहाँ सर्वेश्वर श्रीहरि हैं, वहाँ किस बातकी कमी रह सकती है, अच्छा तो अब आप वृन्दावन यात्राका वृत्तान्त बतावें।"

सूतजी बोले—"सुनिये, महाराज! सभी गोपोंने आनन-फाननमें अपने-अपने बिस्तरे बाँध लिये। सामान सब छकड़ोंमें भर दिया। छकड़ोंके ऊपर कसकर खाटें बाँध दीं। उन खाटोंपर घूँघट मार बालकोंको लिये हुए गोपियाँ बैठ गयीं। जो बूढ़े चलनेमें असमर्थ थे, वे भी गाड़ियोंमें बैठ गये। कुछ घोड़ोंपर चढ़ गये। जो युवक गोप थे, वे धनुष बाण लेकर आगे आगे चले। कुछ

दायें बायें हो गये। बीचमें गौओंको कर लिया। पीछे पीछे सब छकड़े चले। नन्दजीके सजे सजाये रथ कुछ छकड़ोंके पीछे थे, कुछ छकड़े उनके पीछे चल रहे थे। एक रथमें रोहिणीजीको साथ लिये हुए यशोदा मैया बैठी थीं। राम श्याम दोनों उनकी गोदीमें बैठे थे। रथ सुन्दर सुवर्णमण्डित वस्त्रोंसे अलंकृत था। उसपर लाल परदा पड़ा था। परदेपर चित्र-विचित्र रङ्ग-बिरंगे, बेल बूटे अङ्कित थे। सेविकाओंने परदेको ऊपर बाँध दिया था। जिससे बाहरका सब दृश्य भली भाँति दिखायी दे। आगेके गोप शङ्ख नरसिंहे और तुरहियोंको बजाते चलते थे। गौओंके खुरोंसे धूलि उड़ रही थी, गोप परस्परमें बातें करते जाते थे। वनकी शोभाको देखते हुए सभी आनन्दके साथ वृन्दावनकी ओर बढ़ रहे थे।

गोपियाँ सब सजी-धजी थीं, आज उन्होंने नये धराऊ, चमकने गोटा और आरसी लगे लँहगा फरिया पहिने थीं। सभी आभूषणोंको पहिनकर पैरोंमें महावर लगाये वे इस प्रकार जा रही थीं, मानों कहीं विवाह बरातमें जा रही हों। उन्होंने अपने उभरे वक्षःस्थलोंपर नव कुंकुमकी कीच लेप रखी थी। वे सब आनन्दमें विभोर हुई श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाओंसे सम्बन्धित गीत गाती जाती थीं। अपने पुत्रके सम्बन्धके गीत सुनते-सुनते यशोदाजीका हृदय बाँसों उछल रहा था। वे एकाग्र चित्तसे गोपियोंके गीतोंको सुन रही थीं। अपने बालकोंकी बाललीलाओंकी बातोंको बड़ी उत्सुकताके साथ श्रवण करती हुई यशोदाजी और रोहिणी आनन्दमें तन्मय हो रही थीं।

श्रीकृष्ण वनमें जिस वस्तुको देखते उसीके सम्बन्धमें बड़ी उत्सुकताके साथ पूछते—"मैया! यह कौन है?" माता उसके सम्बन्धमें बतातीं। मोरको देखकर श्रीकृष्ण बोले—"मैया! यह कौन है?"

मैयाने कहा—"यह मोर है जिसके मुकुटको तू पहिनता है मोरोंको तू मक्खन खिलाता था, नहीं जानता ?"

श्रीकृष्ण बोले—"हाँ, मैया ! मैं मोरोंको तो जानता हूँ, किन्तु ये बिना पङ्खवाली इनके साथ कौन हैं ?"

मैयाने कहा—"मैया ! यह इनकी बहुएँ हैं। जब यह मोर पङ्ख फैलाकर नाचता है, तो इसके नेत्रोंसे आनन्दके अश्रु निकलते हैं। इन अश्रुओंको ये मोरनी पी लेती हैं, इनके गर्भ रह जाता है और बच्चे होते हैं।"

इतनेमें ही सारस सारसी दिखायी देते, उन्हें देखकर श्रीकृष्ण पूछते—"मैया ! ये कौन हैं ?"

मैया कहती—"बेटा, यह सारस है इसके साथ इसकी स्त्री है, ये सदा साथ-साथ ही रहते हैं। वहू-दुलहा कभी अलग नहीं होते। एक मरता है, तो दूसरा भी मर जाता है।"

फिर हिरनोंको देखकर भगवान् पूछते—"मैया ! ये कौन हैं जो उछल उछल कर चलते हैं ?"

मैया कहती—'बेटा ! ये हिरन हैं, जिनकी मृगछालाको महात्मा लोग बिछाते हैं।"

श्रीकृष्ण पूछते—"मैया ! एकके तो सींग हैं, औरोंके सींग क्यों नहीं हैं ?"

मैया कहती—'जिसके सींग है वह तो मृग है, जिनके सींग नहीं ये इसकी सब वहू हैं।"

आप कहते—"मैया ! सबकी वहू हैं, मेरी वहू कहाँ है ?"

मैया हँसकर कहती—"अरे, अभीसे तेरी वहू कहाँसे आयी। तू तो चोरी करता है, तेरे वहू कैसे आ सकती है।'

आप कहते—'मैया ! मैं चोरी अब न करूँगा। मुझे भी वहू मँगादे। मैं भी वहूके साथ घूमा करूँगा। जब सबके वहुएँ हैं, तो मेरी भी वहू होनी चाहिये।"

मैया कहती—"अच्छा ! वृन्दावन चल। वहाँ तुझे भी बहू मँगा दूँगी।"

तब आप पूछते—"मैया ! वृन्दावन कितनी दूर है ?"

मैया कहती—"अरे, अब कहाँ है दूर, आगे चलकर वह जो सामने गोवर्धन पर्वत दीखता है, उससे इधर ही है।"

आप पूछते—"मैया गोवर्धन क्या होता है ?"

मैया कहती—"बेटा ! गोवर्धन एक पहाड है, वह बडा ऊँचा है। तब आप हाथ ऊँचे करके मैयाकी गोदमें खडे हो जाते और पूछते—"इतना ऊँचा है ?"

माँ कहती—"अरे, बावरे ! इससे भी ऊँचा।"

तब आप पूछते—"बाबाकी बराबर।"

मैया कहती—"बाबासे भी ऊँचा।"

तब आप चुप हो जाते, सोचते—बाबासे ऊँचा और कौन हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकारकी बातें करते हुए यमुना किनारे-किनारे सब वृन्दावनके सामने पहुँचे। रात्रिमें वहीं डेरा डाला। प्रातःकाल सभी यमुनाजीको पार करके वृन्दावन की पवित्र भूमिमें पहुँचे। वह वन सभी ऋतुओंमें सुखदायी था। दूरसे गोवर्धन पर्वत दिखायी देता था। वहाँके पवित्र पादप झुककर झूमकर वृन्दावनकी पवित्र रजको चूम रहे थे, वृक्षोंपर बेलें चढ़नेसे कुञ्ज-कुटीरें बनी हुई थीं। गोपोंने यमुना-जीके पश्चिम अर्ध चन्द्राकार शकट खडे करके गौओंके रहने योग्य स्थान बना लिया। राम और कृष्ण दोनों भाई वृन्दावनके पवित्र जङ्गलोंको, गोवर्धन पर्वतको और यमुनातटको देखकर अत्यन्त ही प्रमुदित हुए। वहाँ सुखपूर्वक रहते हुए नाना क्रीडाएँ करने लगे।"

छप्पय

सुतनि गोदमहँ लिये मातु जावें बृन्दावन।
मगमहँ निरखत श्याम वृक्ष खग मृग वन पशु-गन॥
कौतूहलके सहित मातुतें पूछें नटवर।
मैया! जे को रहैं कहाँ कित है इनको घर॥
मैया प्यार दुलारतैं, इत उतकी बातें कहैं।
कहैं अटपटी बात जब, हँसि मुख फेरें चुप रहैं॥

वृन्दावनमें बाँसुरीकी प्राप्ति

(८६२)

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः ।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

वृन्दावनमहँ पहुँचि सबनिने डेरा डारो ।
कृष्णचन्द्र ह्वै उदित कर्यो नभवन उजियारो ॥
वन, गिरि, तटकी छटा निरखि हरि अति सुख पायो ।
वत्सपाल बनि मातु पिता मन मोद बढायो ॥
गोपवत्स गोवत्स सँग, लिये विविध कौतुक करें ।
मुरली मधुर बजाइकें, गावें नाचें स्वर भरें ॥

सुख सम्मान शीलगुणवालोंमे ही होता है। जिसे सांसारिक वस्तुओंका अभिमान है, कि मैं धनी हूँ, मानी हूँ, पंडित हूँ, यशस्वी हूँ, तपस्वी हूँ, तेजस्वी हूँ, प्रभावशाली हूँ, गुणी हूँ, सुन्दर हूँ, श्रेष्ठ हूँ तथा सम्मानित प्रतिष्ठित अथवा और किसी

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार श्रीकृष्ण और बलरामजी अपनी मधुर वाणी और बाललीलाओंसे व्रजवासियोंको आनन्दित करते हुए कुछ ही कालमे बछड़ोंको चरानेवाले हो गये।"

कारणसे बड़ा है, तो वह किसीसे प्रेम नहीं रख सकता। प्रेम सदा अभिमान शून्य ही कर सकेगा। प्रेम प्रेमके लिये होता है जो किसी कारणसे प्रेम किया जाता है, वह प्रेम नहीं स्वार्थ है। निष्कपट सरल स्वाभावके प्रेममें प्राय शिष्टाचार रहता नहीं। सच्चे प्रेममें ऐश्वर्यका अभाव रहता है। सखाओंमें जहाँ बड़े छोटेका भेद-भाव उत्पन्न हुआ कि फिर सख्य रस रहता नहीं, वह विरस बन जाता है। बालकोंमें बड़े छोटेकी भावना बड़े लोग ही भरते हैं। स्वतः बालकोंमें छोटा बड़ा ऊँच-नीच आदिका भेदभाव नहीं रहता।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! वृन्दावनकी पवित्र भूमिमें आकर श्रीकृष्णका चित्त सरसतामें निमग्न हो गया। वैसे तो वे रस रूप ही हैं, किन्तु वृन्दावनकी रसमयी भूमिमें उनका रस अत्यधिक प्रस्फुरित होने लगा। बड़े बड़े गोपोंको जब गौएँ चराने जाते हुए श्याम देखने लगे तो उन्होंने पूछा—"मैया! ये सब गोपकुमार, नित्य नियम कहाँ जाया करते हैं?"

मैया ने कहा—"बेटा! ये सब वनमें गैयोंको चराने जाया करते हैं।"

आप बोले—"तो, मैया! हम भी गौओंको चराने जाया करेंगे।"

मैयाने कहा—"अरे, बेटा! अभीसे गैयोंको चराने थोड़े ही जाते हैं। बहुत-सी मरखनी गैयाएँ हैं वे बिदुककर भाग जाती हैं। बहुत-सी भगनी गैयाएँ हैं। वे झुण्डको छोड़कर खेतोंमें भग जाती हैं।"

श्रीकृष्ण आग्रह-पूर्वक बोले—"नहीं, मैया! हम तो गैयोंको चराने जायँगे ही।"

जब भगवान्‌ने बहुत हठ किया और रोने लग गये। तब मैयाने नन्द बाबासे कहा—"लड़के गौएँ चरानेको बहुत हठ

कर रहे हैं। चलुआ तो स धा है यह कनुआ ही बहुत पीछे पडा है।"

नन्दजीने कहा— बच्चोंका मन मारना उचित नहीं। यदि ये बहुत हठ करते हैं तो यहीं घरके आस-पास बछडोंको डुला लाया कर। बछडोंके सींग भी नहीं है मारेंगे भी नहीं। चरेंगे तो बच्चोंका खेल भी हो जायगा।"

मैयाने भी इस बातकी स्वीकृति देदी। वे श्रीकृष्णसे बोलीं—"तू गोपका बच्चा है, गौओंके बच्चोंको चरानेके लिये ले जाया कर।'

श्रीकृष्णको तो चरानेसे प्रयोजन है, चाहे बडे चरें या बालक चरें। वे बछडोंसे प्यार भी अधिक करते थे, अत उन्होंने बछडोंका चराना स्वीकार कर लिया। श्रीकृष्ण और बलराम अब वत्सपाल बन गये। माता प्रात उठकर ही न्हिला धुलाकर इनका शृंगार कर देता। सुन्दर स्वच्छ पीतवर्णके रेशमी वस्त्र श्रीकृष्ण को और रेशमी नीले श्रीबलदेवजीको पहिनाती। अंगोंमें अच्छे-अच्छे रत्नमणि जडित बहुमूल्य आभूषणोंको पहिनातीं। कुछ खिलाकर अन्य गोपकुमारोंके सहित बछडे चरानेके लिये माता उन्हें समीपके ही स्थानोंपर भेजती। आप बलदेवजीको लिये हुए उमंगके साथ बछडोंको चरानेके लिये वनमें जाते। चरानेका तो एक उपलक्षण मात्र ही था। सच्ची बात तो यही थी, कि वे इसी मिससे बालकोंके साथ कबड्डी खेलने बिना रोक टोकके चले जाते।

बडे बडे ग्वाल बाल वंशी बजाते। वंशीकी ध्वनि सुनिके श्यामसुन्दर आनन्द विभोर बन जाते। एक दिन एक सखासे श्यामसुन्दरने कहा—"भैया! एक वंशी हमें भी बनादे।"

गोपने कहा—"अच्छा, भैया! बाँसुरी तो मैं बना दूँगा, किन्तु कल मुझे मोहनभोग खिलाना।"

श्यामसुन्दर बोले—"ऐसे नहीं भाई, तू मुझे वंशी बनादे, बजाना सिखादे, फिर हम सब बाल गोपालोंका बड़ा भारी भंडारा करेंगे।"

यह सुनकर सभी ग्वाल बाल उछलने लगे। सब कहने लगे—"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा कनुआको अच्छी सी छाट-कर सुन्दर सी एक वंशी बनादो। यह टेढ़ा भी है, वंशी बजावेगा तो बड़ा अच्छा लगेगा।" अब सब श्रीकृष्णके लिये वंशी खोजने चले।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! माता पिता तथा स्वजन अपने बच्चेके विवाहके लिये बहू खोजने चलते है, उनका इच्छा यह होती है। सबमे से सुन्दर खोजकर विवाह करें, किन्तु वह तो पहिलेसे ही निश्चित रहती है। जिसका जिसके साथ संयोग होता है कोई लाख प्रयत्न करा, वही बहू उस मिलेगा। विधाताने जिसका जिसके साथ पहिलेसे संयोग बद दिया है, उसका उसके साथ अवश्य ही संयोग हो जायगा। श्रीकृष्ण साधारण वेणुको तो बजावेंगे ही नहीं। उनकी तो सब वस्तुएँ चिन्मय हैं। असंख्यो वर्ष योग तप तथा ध्यानादि करके कोई भगवान्के घुँघरू बने हैं, कोई उनके कंठके हार। कोई उनके पीताम्बर और कोई लकुट-मुकुट। मुरली भी भगवान्की चिन्मय थी। बाँसोके बीचमे श्रीकृष्णके अधरामृत पानकी इच्छासे न जाने वह कबसे तपस्या कर रही थी। आज उसकी तपस्याके सुफल होनेका सुदिन आया। गोप भगवान्को वेणुके लिये बाँस खोजने चले। किसीने कहा—"यह बाँस सुन्दर है।" दूसरेने कहा—"यह तो तनिक टेढ़ा है।" किसीने कोई बताया तो दूसरेने उसे गाँठदार पतला, मोटा ठोस और न जाने क्या क्या दोष बताकर छोड़ दिया। बालक ही जो ठहरे बाँसोंमें सुन्दरसे सुन्दर बाँस खोजने लगे।"

खोजते खोजते उन्हें अत्यंत ही चमकीला बाँस दिखायी

दिया—वह न छोटा था न बडा। न टेढा था न गाँठदार, न बहुत पतला था न बहुत मोटा। वह ठोस भी नहीं था वह मुरलीके आकारका ही बना हुआ था। उतना ही बडा था, केवल उसमे आगे पीछे पत्ते लगे हुए थे।

श्रीकृष्णने दूरसे दिखाया—"भैयाओ! देखो, वह जो छोटा-सा बाँस चमक रहा है, उसकी वेणु नहीं बन सकती?"

दूसरेने कहा—'हा, भैया! वह तो बडा अच्छा है, बडा चमक रहा है, नाप ज्योका त्यो है, उसमे गाँठ भी नहीं। तोडना भी न पडेगा, काटना भी न पडेगा, मानो पेडने तेरे ही लिये नापकर इसे रख रखा है। आ तू कधपर चढकर उसे तोड तो ले।"

श्रीकृष्ण तो माखनचोरीके समय कन्धोपर चढना सीख ही चुके थे। उछलकर सखाके कधेपर चढ गये। ज्यो ही भगवान्के कर कमलका स्पर्श हुआ, त्यों ही वह बाँसकी पोली बडीसी पोट टूट गयी। एक गोपने दोनो ओरके सूखे पत्ते हटाए हटाते ही सप्त स्वरो वाली बनी बनायी मुरली निकल आयी। सब गोपकुमार आश्चर्यके साथ कहने लगे—"कनुआ भैया! तू तो बडा भाग्यशाली है, ले, न छेद करने पडे न सफाई। बनी बनायी बाँसुरी तुझे मिल गयी। कैसी सुन्दर है, मानों विधाताने पहिलेसे ही गढकर रख रखी हो। इसमे नित्य दोनो समय मक्खन लगाया करना, जिससे चमक उठे। मैयासे कहकर इसमे घुँघरूँ जडवा लेना सोनेकी चौप लगवा लेना। अच्छा, तू इसमें मार तो सही फूँक।"

श्रीकृष्ण टेढे तो जन्मके ही थे। ललित त्रिभङ्ग रूपमें खडे होकर, एक चरणको खडा करके कमरको कुछ लचाकर मुखको कुछ नमाकर सिरको कुछ लटकाकर उन्होंने वंशीमे एक फूँक मारी। समस्त विश्व उस ध्वनिको सुनकर स्तब्ध रह गया। गोप चित्र लिखेसे खडेके खड़े ही रह गये। वह मधुमय रव विश्व

ब्रह्माण्डमें भर गया। वृन्दावनकी वृक्षावली रोमाञ्चित हो उठीं, सभी आत्म-विस्मृतसे बन गये। श्यामसुन्दर दोनों ओठोंको कुछ संकुचित करके पक्षीकी-सी चोंच बनाकर उसमेंसे फूँक मार रहे थे। उनके दोनों कपोल ओठोंके संकोचसे पतले हो गये थे, नेत्र टेढ़े हो गये थे, भौंहे तन गयी थीं. वे फूँक मारते रहे।

कुछ कालमें उन्होंने वंशीको अधरोंसे हटाया और हँसते हुए बोले—"भाइयो! मैं अभी बजाना जानता नहीं। तुम सबको जैसे बजाते देखता था, उसीका मैंने अनुकरण किया था। मुझपर वंशी बजाना आजायगा?"

भगवान्‌के इन वाक्योंको सुनकर सभी गोपोंको चेत हुआ, उनकी भाव समाधि भङ्ग हुई, सब एक स्वरमें बोले—"भैया! कनुआ! तू तो मैयाके पेटसे ही सब कुछ सीखकर पैदा हुआ है क्या? हम लोग इतने दिनसे वंशी बजाते हैं, हमपर भी ऐसी बजानी नहीं आती। तैंने तो चमत्कार-सा कर दिया।"

अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए महान् उल्लासमें भरकर श्यामसुन्दर बोले—"अच्छा मुझे वंशी बजाना आ जायगा।"

एक बड़े गोपकुमारने कहा—"आ क्या जायगा आ गया। अब तू हम सबका वंशी बजानेमें गुरु हुआ। आजसे तेरा नाम हमने "वंशीधर" रख दिया।

श्रीकृष्ण परम प्रसन्न हुए उन्होंने कहा—"तो चलो भैया, आज ही भण्डारा हो, अब बछड़ोंको लौटा ले चलो।"

बछड़ोंको चराना क्या था खेल माल ही जो ठहरा तुरन्त लौटाकर घर ले गये। मैयाने कहा—"बेटा! आज बहुत शीघ्र लौट आये?"

श्यामसुन्दर बोले—"मैया! मैया! मैंने आज वंशी बजाना सीख लिया है। ये ग्वाल बाल कहते हैं, तू बहुत अच्छी

बजाने लगा है। इसके उपलक्ष्यमें आज मैं इन सबको भोजन कराऊँगा।"

मैयाने कहा—"मैं भी तो सुनूँ बेटा! देखे, तू कैसी मुरली बजाता है। और भी गोपियाँ वहाँ बैठी थीं। श्याम निःसंकोच उन सबके बीचमें त्रिभंग-ललित-गतिसे खड़े होकर अपनी बाँसुरीमें फूँक मारने लगे। सबके हृदयमें प्रेमका एक तूफान सा उठने लगा। सभी गोपिकाएँ तन्मय हो गयीं, सभीको भाव समाधि हो गयी। अश्रु पुलक आदि सात्विक विकार होने लगे। सबको प्रेमानंदमें तल्लीन होते देखकर वनवारीने वंशी बजाना बंद कर दिया और मैयाको झकझोरते हुए बोले—"मैया मैया! सो गयी क्या? अब सबकी पंगति होने दे—देरी क्यों करती है, भूख लगी है।"

जैसे कोई गहरी निद्रासे जगता है वैसे मैया प्रेम समाधिसे जगीं, श्यामसुन्दरको गोदमें लेकर बार-बार उनका मुख चूमा और बोलीं—"बेटा, तू जुग-जुग जीवे।" ऐसी सुन्दर मुरली बजाना तू सीख गया। बड़े आश्चर्यकी बात है।"—यह मुरली तैंने कहाँ पायी?"

आप बोले—"मैया! इसे मैंने बड़े परिश्रमसे खोजकर निकाला है। तू इसे सावधानीसे छिपाकर रखना। ये जो गोपियाँ तेरे यहाँ आती हैं। ये बड़ी चोट्टी होती हैं। गोबर तक चुरा ले जाती हैं। मेरी इस मुरलीको चुरा ले गयीं तो फिर मैं नहीं जीऊँगा।"

मैयाने बड़े प्यारसे कहा—"ना, बेटा! कोई चुराके कैसे ले जायगा। मैं कुठिलामें रख दिया करूँगी। अच्छा तू सबको एक पंगतिमें बिठा मैं सबको आज भोजन कराऊँगी।"

यह कहकर मैया उठी। उनके यहाँ मेवा मिष्ठान्नकी तो कुछ कमी ही नहीं थी। मनों दूध औटा हुआ रखा था, उसमें शीघ्रतासे

चावल डाल दिये। बातकी बातमे खीर तैयार होगयी। श्यामसुन्दर सब सखाओंके साथ बैठ गये। और भी गोपियाँ उत्सव सुनकर आगयीं। सब परोसने लगीं। हँसीके फुव्वारे छूटने लगे। भोजन मे हँसी विनोद होनेसे अधिक खाया जाता है और एक सजीव सुन्दर रस उत्पन्न हो जाता है। कोई किसीके मुखपर खीर पोत देता, छींटे डाल देता, वह आँखे मलने लगता तो सब हँसने लगते। इस प्रकार बडे ही आनन्दके साथ ज्योनार होने लगी। जब सब बालक भोजन कर चुके तब, मैयाने सबको उनके नापके वस्त्र दिये। सबको सुन्दर-सुन्दर सिरोपा देकर प्रेम-पूर्वक विदा किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उसी दिनसे श्यामसुन्दर "वंशीधर" हो गये। अब वे बछडोंको चरानेके लिये जब जाते, तब साथमें वंशीको भी ले जाते थे और वहाँ जाकर सबको बजा-बजाकर प्रसन्न करते।"

छप्पय

पाई अपनी वेनु विहँसि कर कमलनि धारी।
बिना बताये लगे बजावन श्रीबनवारी॥
मुरली की धुनि सुनी भये जड़ चेतन प्रमुदित।
मनहुँ प्रिया रव सुनत प्रेष्ट हिय पंकज विकसित॥
अधरामृत नित प्याइके, पालि पोसि मोटी करी।
वैरिनि बंशी बनि गई, ब्रजबासिनि का मति हरी॥

वृन्दावनमें बालकोंके खेल

(८६३)

कचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित् ।
कचित्पादैः किङ्किणीभिः कचित्कृत्रिमगोवृषैः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

बछरनि लावै घेरि लकुट लै मुरलीधारी ।
नित प्रति बनमहँ जाइँ बजावैं बेनु बिहारी ॥
गोपिनमहँ धरि ढेल घुमाय तकिकें मारैं ।
जावे मेरो दूरि मुन्ति सब ग्वाल पुकारैं ॥
चरननि नूपुर बाँधिक, नाचैं सैन चलाइकें ।
चाँइ माइँ करि फिरैं, गिरैं रेतपै जाइकें ॥

संसारके किसी देशमें चले जाओ भाषा और रङ्गको छोडकर प्रायः मनुष्योंकी एक-सी ही प्रवृत्तियाँ होती हैं। कहीं भी किसी देशमें भी चले जाओ बालकोंके खेल प्रायः एक-से ही होंगे। भगवान्‌का यथार्थ रूप बालक ही है, अस्त्र शस्त्र लेकर जो युद्ध करनेवाले भगवान हैं, वे रक्षक पालक तथा शासक भले ही हो

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वनमें जाकर श्रीकृष्ण कभी वेणु बजाते, कभी दूर ढेले फेंकते, कभी चरणोंमें घुँघुरू बाँधकर उन्हें बजाते और कभी कृत्रिम गैया, बैल बनकर खेलते।"

सकते हैं। वे खलोंसे रक्षा करनेके कारण हमारे श्रद्धाके भाजन हैं, बलवान् और वीर होनेसे आदरणीय भी हैं, किन्तु वे हमें छककर प्रेमामृत नहीं पिला सकते। जिसे निःसङ्कोच होकर हम कसकर छातीसे नहीं चिपटा सकते उससे प्रेम कभी हो नहीं सकता। श्रद्धा, भक्ति, आदर तथा सम्मान भले ही हो सकता है। बालकोंकी प्रत्येक चेष्टाएँ उनकी निश्छल क्रीड़ामें निरन्तर प्रेमका प्रवाह प्रवाहित होता रहता है। हम बालकोंको बालक तो मानते हैं, गोपाल नहीं मानते। बालकोंको गोपाल भी मान लें—तो फिर उपासनाके लिये हमें पाषाणकी प्रतिमामें, जलमें, आकाश पाताल या पहाड़ोंकी खोहोंमें भटकना न पड़े। बालक ही भगवान्का रूप है। यदि स्वयं भगवान् ही बालक बन जायँ तो बालक भगवान्का रूप न होकर भगवान् ही बालकके रूपमें बन जाते हैं। उनके जिनको सौभाग्यसे दर्शन हो जाते हैं, वे कृतकृत्य बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब श्रीकृष्णको गोप बालकोंके साथ गौओंके बछड़ेको चरानेमें बड़ा आनन्द आने लगा। मोहनकी मुरलीको सुनकर सब मुग्ध हो जाते। उन्होंने जहाँ वंशी बजायी कि बछड़े सब उनके आस पास आकर कानोंको खड़ा करके चुपचाप मंत्र-मुग्धकी भाँति उसकी धुनिको सुनते रहते। बालक बछड़ोंको छोड़कर खेलमें लग जाते, बछड़े हरी हरी दूबको चरते हुए दूर निकल जाते, तब श्यामसुन्दर वंशी बजाते, वंशीकी जहाँ धुनि उनके कानोंमें पड़ी तहाँ पूछोंको उठाकर बछड़े भागते और मुरलीकी ध्वनिके सहारे-सहारे वहीं आ जाते। अब तो गोपोंको बड़ा सरल उपाय मिल गया। जिसके भी बछड़े चले जाते' वही कहता—"कनुआ भैया! तनिक वंशी तो बजाते। देख, तेरी वंशीको सुनकर बछड़े जहाँ होते हैं, वहाँ से भागकर आ जाते हैं।" तब श्यामसुन्दर मुरली बजा देते। बछड़े तुरन्त

इकट्ठे हो जाते। जब बट कर देते, तो फिर अनमनस्क होकर घास चुगने लगते। वंशीकी ध्वनिमें ऐसा जादू था, कि पशु पक्षी सभी उसे सुनकर आनन्दमें विभोर होकर आत्म विस्मृतसे बन जाते। आप ग्वालोंके संग भाँति-भाँतिकी बाललीलाएँ करते। सनके पेड़ोंको कीचम गाड़ देते, जब वे सड़ जाते तो उनके ऊपर-के वल्कलको उतारकर उसकी रस्सी बट लेते, फिर उसकी गोफन बनाते। उस गोफिनमें ढेला रखकर उसे घुमाते। एक छोरको तो उँगलीमें उरझा लेते। दूसरे छोरको अत्यंत पतला बटकर वेणीकी भाँति गुह लेते। गोफिनके बीचमें ढेला रखकर दोनों छोरोंको पकड़कर बहुत देर तक घुमाते रहते, फिर एक छोरको छोड़ देते। एक छोर उँगलीमें लगा ही रहता। जो पतला छोर छूटता वह विचित्र शब्द करता, ढेला बहुत दूर जाकर गिरता। ग्वालबालोंमें प्रहरों यही खेल होता रहता, किसका ढेला दूर जाय। किसका ढेला यमुनाका पार करके उस पार जाकर गिरे। कोई कहता—'मेरा ढेला सबसे आगे जायगा।' दूसरा कहता—"तेरा कैसे जायगा, मेरा जायगा।" कुछ उनमेंसे पक्ष बनते। ढेले चलने आरम्भ होते।" कोई कहता उसका ढेला पीछे रह गया। वह कहता—"अबके तो मैं बल नहीं लगा सका, अबके देखना। वह फिर मारता। कोई कहता गोफनसे क्या ढेला फेंकना, हाथसे फेंको। तब सब हाथसे फेंकने लगते। एस ढेला फेंकाका खेल होता।

कभी गोप कहते—"कनुआ! हमने सुना है, भैया! तू नाचता बड़ा सुन्दर है, तनिक नाच तो दिखा दे।" तब आप अपने पैरोंके घुँघरुओंको बजाते हुए नाचते। किसी गोपसे कहते लाओ चाँई-माँई खेलें।" ऐसा कहकर दोनों बड़े वेगसे चक्कर लगाते। चक्कर लगाते लगाते वृक्ष पशु पक्षी सभी घूमते-से दिखायी देते। चक्कर लगाते लगाते जब घुमनी आ जाती,

तब कोमल बालूमें धड़ामसे गिर पड़ते। घुँघरू बजने बन्द हो जाते, सब बच्चे हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते।

कभी कहते लाओ—गौओं और साड़ोंका खेल खेले। बहुतसे गोपोंको गौएँ बना देते वे हाथ पैरके बलसे चलते। यमुनाजीमें जाकर मुखसे गौओंकी भाँति जल पीते। किसीको साँड़ बना देते। गौओंको साड़ोंके पास ले जाते, कुछ गोप बन जाते गौओं को चरा देते। एक गौ बने गोपने खड़े खड़े ही लघुशङ्का कर दी। इसपर दूसरेने कहा—"हट, सारे, खड़े खड़े ही मूत दिया।"

तब वह बोला—"सारे, गौएँ तो खड़े ही खड़े मूतती हैं। हम गौ जो बने हैं।" यह सुनकर सभी गोप हँस जाते। इसपर श्रीकृष्ण कहते—"सारे! असली गौ थोड़े ही बना है, बनावटी गौ बना है, यदि असली है तो ले घास खा। दूध दे।" इसपर वह भाग जाता।

इस प्रकार गौओं और साड़ोंके खेल खेलते, इसके अतिरिक्त भी बालकोंके नाना खेल खेलते। कभी कभी दो साँड़ बनकर साड़ोंकी भाँति रम्हाते। सिरसे सिर भिड़ाकर टक्कर मारते, साँड़ोंकी भाँति युद्ध करते। श्रीकृष्ण कहते—"देखे कौन सबसे अधिक गर्जना करता है।" इसपर सभी बाँ-बाँ करके गर्जना करते। उनके भीषण शब्दोंको सुनकर गोप दौड़े आते कि कहीं साँड़ तो नहीं लड़ रहे हैं। जब देखते कि ये तो बच्चे ऊधम मचा रहे हैं, तब उन्हें फटकारते। दूसरे भी लोग दौड़े आते और पूछते—"क्या हुआ, क्या हुआ?" तो पहिले लोग कहते—"अजी, कुछ नहीं ये छोकरे दंगल मचा रहे हैं।

कभी श्रीकृष्ण कहते—"अच्छा, कौन किस पशु पक्षीकी बोली बोलना जानता है?" उसपर कोई 'म्याँऊँ-म्याँऊँ' कहकर बिल्लीकी बोली बोलता। कोई 'ऐं-ऐं' कहकर बकरीकी बोलीका अनुकरण करता। कोई "गुटुरु गुटुरु" करके कबूतरकी बोली

बोलता कोई काँउ-काउ करके कौवेके स्वरका अनुकरण करता। कोई "पैंकू-पैंकू" करके मोरकी बोली बोलता कोई कपडा फैला कर मयूरकी भाँति नृत्य करता। कोई ऊपर पैर करके मोर चाल चलता, कोई मेढकी चालका अनुकरण करता। कोई सर्पकी चाल चलता। कोई कुत्ताकी भाँति शरीरको अकड़ता। इस प्रकार सर्वान्तर्यामी प्रभु भी उनके साथ-साथ उनकी ही भाँति क्रीडा करते हुए साधारण बालकोंके ही अनुसार मयूर आदि पक्षियों की बोलीका अनुकरण करते हुए बछडोंके पीछे-पीछे वनोंमें घूमने लगे।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! भगवान् इस प्रकारसे वृन्दावन के वनोंमें स्वच्छन्द होकर क्रीडा कर ही रहे थे, कि उसी समय एक असुर गुप्त रूपमें वहाँ आया। असुर तो मायावी होते ही हैं। वे जब जिसका चाहते हैं, उसीका रूप बना लेते हैं, वह दुष्ट असुर भी बछडेका रूप बनाकर ही भगवान्के समीप आया। उसका वृत्तान्त मैं आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

ग्वालनि गाय बनाय साँड़ सम स्वय रम्हामें।
बने बाल कछु ग्वाल साँड ढिँग गाइन लामें॥
कबहूँ द्वै बनि साँड परस्पर टक्कर मारें।
कबहूँ जीते श्याम कबहुँ बलदाऊ हारें॥
सारस मोर चकोर सम, बोली बोलें हँसि परें।
यों प्राकृत शिशु सरिस हरि, बाल सुलभ क्रीड़ा करें॥

वत्सासुर-उद्धारलीला

(८६४)

कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः ।
वयस्यैः कृष्ण बलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

बनमहँ बालनि सहित करें हरि हलधर खेला ।
आयो तब ई दुष्ट तहाँ इक दैत्य जरैला ॥
बनिकें बछरा जाइ मिल्यो हरिके बछरनिमहँ ।
समुझि गये हरि बलहिँ बताओ खल सैननिमहँ ॥
मति कछु जानत नाहिँ जो, ऐसे भोरे बनि गये ।
चितवत इत उत बालवत, चुपके खलतें सटि गये ॥

निरन्तर मीठाही मीठा खाते रहो, तो उससे चित्त ऊब जाता है। जो विशुद्ध मधुर रसके ही उपासक हैं, उनकी बात दूसरी है। उनका तो पथ ही पृथक् है वो सामान्यतया मधुर तो सभीको अच्छा लगता है, किन्तु बीच-बीचमें चटपटी चटनी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! किसी समय अपने समवयस्क बालकोंके साथ बलदेवजी तथा श्रीकृष्णचन्द्र यमुनाजीके किनारे बछड़ों को चरा रहे थे, उसी समय उन्हें मारनेकी इच्छासे एक दैत्य उस स्थानपर आया।"

होनेसे स्वाद बदल जाता है। फिर मीठा और अच्छा लगने लगता है। लीलामें जैसे अनुकूल पात्र आवश्यक होते हैं, वैसे प्रतिकूल पात्रोंकी भी आवश्यकता होती है। यदि प्रतिकूल पात्र न हों तो लीला सुन्दर बनती नहीं। रावणके बिना श्रीरामका उतना उत्कर्ष समझा नहीं जा सकता। सतोंके पीछे दुष्ट लोग न पड़ें तो उनका महत्व ही कैसे समझमें आवे। वाद्योंके ऊपर आघात न किया जाय, तो उनमें से मधुर ध्वनि कैसे निकल सकती है। भगवत्लीलाओंमें असुरोंके उपद्रव न हों तो लीलाओंका विस्तार कैसे हो सकता है। असुर भी तो भक्त हैं। अन्तर इतना ही है। भगवद्भक्त लोग प्रेम भावसे उपासना करते है, असुर गण द्वेष भावसे। भगवान्को तो किसी भावसे भजो भजनेवालेका उद्धार तो अवश्य ही होगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर श्रीकृष्ण तो अपने ग्वाल-बालोंके सहित वृन्दावनका पावन भूमिमे भाँति भाँतिकी बाललीलाएँ कर रहे थे, उधर कंसको चिन्ता लगी हुई थी, कि मेरा शत्रु कहीं व्रजमे ही उत्पन्न हुआ है। कोई कहते हैं—'नंदके व्रजमें मुझे मारनेवाला छिपा है।" वह स्वय पूर्व जन्मका दैत्य था, अतः सूक्ष्म रूप रखकर दैत्य उसके समीप आते जाते थे। एक दिन एक सूक्ष्म रूप रखकर दैत्य आया और बोला—"राजन्! आप इतने चिन्तित क्यों रहते हो?"

कंसने कहा—"भाई, मैं पूर्वजन्ममे कालनेमि नामका असुर था। विष्णुने मुझे मार डाला था। अब भी सुनते हैं, मुझे मारने को विष्णु कहीं व्रजमे उत्पन्न हो गया है।"

उस असुरने कहा—"सुना तो मैंने भी है, वह नदके व्रजमें कहीं रहता है। अच्छी बात है, मैं वहाँ जाऊँगा और अपनी आसुरी मायासे उसे छल-पूर्वक मारकर तब आपके समीप लौट कर आऊँगा।"

कंसने कहा—"यदि बन्धुवर ! तुम मेरा इतना काम कर दो, तो मैं जीवन भर आपका ऋणी रहूँगा।"

असुरने कहा—"आप चिन्ता न करें मैं अभी जाता हूँ, य कहकर असुर वहाँसे चल दिया। वनमें जाकर उसने देख बाल गोपालोंके साथ श्रीकृष्ण तन्मय होकर खेल रहे हैं। भगवान का तो ओज, तेज, रूप-लावण्य ही ऐसा अनुपम है, कि कितना भी छिपाना चाहें, फिर भी नहीं छिप सकता। भगवान को देखते ही असुर समझ गया, कि अवश्य ही यही विष्णु है। अब इसे कैसे मारूँ। युद्धमें सन्मुख तो मैं इससे जीत न सकूँगा। मुझे मायाका आश्रय लेना चाहिये—क्या माया रचूँ। इसी बातको वह बहुत देर तक सोचता रहा अन्तमें उसने सोचा—"श्रीकृष्णके लाखों बछड़े हैं, मैं भी बछड़ेका रूप रखकर इनमें मिल जाऊँ। श्रीकृष्णको जब एकान्तमें पाऊँगा, तो तुरन्त मार डालूँगा।" यही सोचकर वह बछड़ा बनकर बछड़ोंमें मिल गया। नये बछड़ेको देखकर बछड़े विदुकने लगे। असुर कैसा भी रूप रख लें, उनकी आसुरी प्रकृति थोड़े ही जा सकती है। बछड़ोंमें हलचल मची, तो भगवान्‌ने दृष्टि उठाकर उधर देखा। देखते ही वे समझ गये, कि यह वत्सका रूप रख कर असुर आ गया है। इस दुष्टने सोचा होगा—"मैं बछड़ा समझकर इसे न मारूँगा। किन्तु मैं केवल वेष ही देखकर मोह में पड़ने वाला नहीं हूँ, दुष्ट चाहे जैसे वेष बनाले—मैं उनका संहार अवश्य करूँगा। मेरा अवतार ही दुष्टोंका नाश और शिष्टोंकी रक्षाके निमित्त है।" यही सोचकर भगवानने अपने नेत्रोंके संकेतसे उसे बलदेवजीको दिखाया। बलदेवजी भी देखते ही समझ गये, कि अवश्य ही यह दुष्ट बुद्धिवाला असुर है।

भगवान् गोपोंसे कहा—"देखो भाइयो ! बछड़े बड़ा उत्पात मचा रहे हैं, उन्हें घेरकर इधर ले आओ।"

यह सुनकर बहुतसे ग्वालबाल गये। सब बछड़े तो चले आये, वह पूँछ उठाकर इधरसे उधर दौड़ने लगा। बछड़ोंको मारने लगा।"

गोपोंने कहा—"कनुआ भैया! एक बछड़ा पगला गया है, वह हमारे वशमें नहीं आता।"

भगवान्‌ने कहा—"पागलोंकी चिकित्सा तो मैं ही जानता हूँ, ऐसे उपद्रवियोंको वशमें करनेकी विद्या मुझे आती है, मैं अकेला अभी जाकर उसे वशमें करता हूँ।"

यह कहकर भगवान अकेले ही गये। हाथमें जो छोटा-सा लकुट था, उसे भी छोड़ गये। चुपके चुपके भोले बालककी भाँति इधर उधर देखते हुए अनजान बने शनैः-शनैः उसके समीप गये। वत्सासुर तो इस ताड़में ही था, कि कृष्णको जहाँ एकान्तमें पाऊँ, वहीं उन्हें मार डालूँ। भगवान् उसकी इच्छाकी पूर्तिके लिये उसके समीप एकाकी ही गये। भगवान्‌को एकान्तमें अकेला देखकर उसने पूँछ उठाकर सम्पूर्ण बल लगाकर पिछले पैरोंकी लात भगवान्‌के वक्षःस्थलमें मारी। भगवान् तो पहिलेसे ही सावधान थे, ज्यों ही उसने लातें चलायीं त्यों ही भगवान्‌ने उसकी उठी हुई पूँछको भी पकड़ लिया और पिछले दोनों पैरोंको भी पकड़ लिया, पूँछ और पैरोंको पकड़कर भगवान्‌ने उसे इस प्रकार घुमाया, जैसे शरद् ऋतुमें मिट्टीका कुहकुआ बनाकर उसमें कोयलेदार अग्नि रखकर गोफिनपर रखकर बालक जैसे वेगसे घुमाते हैं। घूमनेसे वायु लगनेसे उसमेंसे अग्निके विस्फुलिङ्ग निकलते हैं, उनका एक गोल मण्डल बन जाता है। इसी प्रकार जब भगवान्‌ने पैर पकड़कर उसे घुमाया, तो घूमते समय ही उसकी आँखें निकल आयीं। अन्तमें वह बछड़ा बना न रह सका। उसने अपना यथार्थ असुर रूप प्रकट कर दिया। भगवानने उसे

अन्तिरिक्षमें घुमाकर एक बड़े भारी कैथके पेड़पर दे पटका। पेड़पर गिरते ही उसके प्राण शरीरसे निकल गये। कैथके बहुतसे फल पृथिवीपर गिर गये, जिनसे पृथिवी ढक गयी। कई कैथके वृक्ष गिर भी पड़े, उनके साथ मरकर वह भी पृथिवीपर धड़ामसे गिर पड़ा। असुरके मरते ही देवताओं ने पुष्पकी वृष्टिकी। भगवानके हाथसे मरनेसे उसका आवागमन मिट गया वह मुक्त हो गया। गोपोंने अत्यन्त ही आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"अरे, भैया! यह बछड़ा नहीं था, असुर था। तैंने इसे कैसे पहिचान लिया।"

हँसकर भगवानने कहा—"जाओ, सारेओ! तुम इतना भी नहीं पहिचान सकते, कि यह बछड़ा हमारा है, यह कोई दूसरा असुर है। जो वत्सपाल होकर वत्सोंको नहीं चीन्ह सकता वह ग्वारिया कैसा? पौहारके प्रत्येक पौहरेको पौहारिया पहिचानता है।"

ग्वालबालोंने कहा—"धन्य है, धन्य है, भैया! आजसे तू ही हम सबमें श्रेष्ठ रहा। हमें तो अभी बछड़ों और असुरोंकी पहिचान ही नहीं। आजसे हम तुझसे ही पूछ लिया करेंगे, तू ही हम सबका गुरु रहा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर सभी गोप अत्यन्त उत्कण्ठाके सहित भगवान्‌का बार-बार आलिङ्गन करने लगे। कोई शीघ्रतासे वनमें दौड़ गये, वहाँसे पुष्प तोड़ लाये। कोई छोटे-छोटे कोमल कोमल आमके लाल-लाल पत्तोंको ही तोड़ लाये कुछ ग्वाल कुमार बहुतसे तुलसीदल ही तोड़ लाये सबने मिलकर भगवान्‌के लिये घुटनों तककी लम्बी बड़ी सुन्दर वनमाला बनाई। कुछ चन्दन काटकर पत्थरपर घिस लाये। कुछ जङ्गलकी सुगन्धित घासको उखाड़ लाये, उसे धूपके स्थानमें जलाने लगे। इस प्रकार गन्ध, पुष्प, धूप-दीप और माला

आदिसे भगवान्‌की जैसी बनी तैसी पूजा की। सबने उनके ऊपर पुष्पोंकी वृष्टिसे भगवान्‌का जय-जयकार किया और जङ्गली फल लाकर भगवान्‌को खिलाये।

गोपोंके सहित भगवान्‌ने उन फलोंको बड़ेही प्रेमके साथ पाया। सबके प्रति प्रेम प्रदर्शित करके वे बछड़ोंको साथ लिये हुए पुनः वृन्दावनकी ओर चले। उस समयकी भगवान्‌की शोभा अवर्णनीय थी। गोपोंने आज उन्हें पुष्पों और वनकी मालाओं-से भली भाँति सजाया था। सिरपर मोर मुकुट बाँधे बाँसुरी बजाते हुए, सबके मनको हठात् अपनी ओर आकर्षित करते हुए, नन्द-नन्दन गोष्ठमें पधारे। वहाँ समस्त गोपियोंने तथा यशोदा और रोहिणी मैयाने भगवानका हृदयसे स्वागत किया, आरती की। तब गोपोंने कहा—"मैया! आज इस कनुआने बछड़ा बने एक राक्षसको मार डाला।"

मैया आश्चर्य प्रकट करती हुई कहने लगी—"यह कनुआ बड़ा ऊधमी है तुम लोग इसकी सावधानी रखना। असुर राक्षसोंसे न भिड़ने पावे।" इस प्रकार माता अपने पुत्रोंपर वात्सल्य प्रेम प्रदर्शित करती हुई, उनकी लीलाओंके श्रवणसे अत्यंत ही मुदित होतीं और उन्हें बड़े चावसे सुनतीं। इस प्रकार भगवान्‌ने वत्सासुरका उद्धार किया।

छप्पय

पकरि पूछ अरु पाँइँ कुदकुआ सरिस घुमायो।
बछराको तजि रूप असुर तनु खल प्रकटायो॥
कैथनि मारयो दैत्य वृक्ष फल टूटि गिरे तब।
निरखि दैत्यकूँ ग्वाल बाल बोले हँसिके सब॥
मारयो सारो दुष्ट जिह, भलो करयो दुख हटि गयो।
वत्सासुर उद्धार लखि, देवनि अति विस्मय भयो॥

बकासुर-उद्धारलीला

(८६५)

स वै. बको नाम महानसुरो बकरूपधृक् ।
आगत्य सहसा कृष्णंतीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद्बली ॥१

(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० ४९ श्लो०)

छप्पय

यों बनि बछरापाल लाल डोलें बन बनमहँ ।
इक दिन ग्वालनि लख्यो बड़ो बक सोचे मनमहँ ॥
है यह निश्चय असुर खड़ो मुख ऊपर कीये ।
जब तक सोचे ग्वाल लीलि ग्वाने हरि लीये ॥
गये कृष्ण बक-बदनमहँ, निरखि बाल व्याकुल भये ।
तुरत दुष्टके कण्ठमहँ, पावक सम हरि ह्वै गये ॥

कभी-कभी भगवान् मायाके अधीन-से भी होते हुए दिखायी देते हैं। उस समय दैत्य उन्हें निगल जाते हैं, अदृश्य कर लेते हैं, किन्तु उनका अदृश्य होना मायामें फँसना नहीं है, केवल अपने सुहृदोंको सुख देनेके निमित्त ही उनकी ऐसी चेष्टाएँ होती हैं,

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वह बक नामका महान् असुर बगुलेका रूप धारण किये हुए था। उस तीक्ष्ण चोंचवाले महाबली असुरने सहसा आकर श्रीकृष्णचन्द्रको निगल लिया।"

अदर्शनमें उत्कंण्ठा अधिक बढ़ती है, दुःखमे अपने सुहृद् सम्बन्धी बहुत याद आते हैं। वियोगमे दर्शनकी लालसा अधिक उत्कट होती है, वियोगके अनंतर जो संयोग होता है, वह अत्यंत ही सुखकर होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भूतभावन भगवान् वासदेव श्रीबलरामके सहित बछड़ोंको चराते हुए विविध भाँतिकी क्रीड़ाएँ करने लगे। यद्यपि वे सम्पूर्ण लोकोका पालन करनेवाले हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके एकमात्र अधिपति हैं, फिर भी आज बछड़ोंको चरानेवाले ग्वारिया बने हुए हैं। ग्वालबालोमे ऐसे गूढ़ भावसे छिपे हैं, कि औरोकी तो बात ही क्या बड़े बड़े ब्रह्मादि देव, इन्द्रादि लोकपाल भ्रममे पडकर उन्हें साधारण गोपबालक मानने लगते हैं और उनका अपमान तक करनेको उद्यत हो जाते हैं, यही उनकी भगवत्ता है। यद्यपि वे अपने बल ऐश्वर्यको शक्ति भर छिपाते हैं, फिर भी कहाँ तक छिपावे छिपानेकी भी तो कोई सीमा होती है। कभी कभी उनका बल ऐश्वर्य प्रकट हो ही जाता है, प्रकट लीलामे आवश्यक भी है, जो अतः पुरकी गूढ लीला है, वह तो सर्वथा रसमयी है, उसमे तो राजभोगके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। यह जो असुरोंके मारने आदिका काम है, यह तो वैष्णवी शक्ति भगवान्के श्रीअंगमे विराजकर करत रहती है। पूर्णपरात्पर प्रभु जिन्हे श्रुति रसरूपा बताती हैं—उन्हें इन मारधाडके कार्योंसे कोई प्रयोजन नहीं। वे तो सदा सरसतामे पगे रहते है।

वृन्दावनमे वे देखनेमे ५-६ वर्षके बालक प्रतीत होते हैं, किन्तु वे तो नित्य किशोर हैं, उनकी लाली बनी नित्य किशोरी भी साथमे हैं, उनका निकुञ्ज विहार नित्य निरंतर चलता रहता है। उसे उनके परिकरवाली ही जान सकती है, अन्यका उसमे प्रवेश नहीं। प्रकट लीलामें तो आज वे वत्सपाल बने हुए हैं। प्रातःकाल

मैया कलेवा बाँध देती, उसे छींकेमें रखकर कंधेमे लटका लेते और एक वनसे दूसरे वनमें बछड़ोंको चराते हुए घूमा करते। बालकों को खानेको मिल जाय और खेलनेको मिल जाय, फिर तो कोई चिन्ताकी बात रहती ही नहीं। इसलिए बालगोपाल बने श्रीहरि तो निश्चिन्त थे, किन्तु कंस सदा व्याकुल बना रहता था। वह भगवान् की मायामे ऐसा फँसा था, कि स्वयं भयके कारण नन्द-गोकुल मे आता नहीं था। उसे दृढ़ विश्वास था कि मेरा और मेरे शत्रु विष्णुका जहाँ एकान्तमे आमना-सामना हुआ, वह मुझे मार डालेगा। उसकी बुद्धि ऐसी विपरीत हो गयी थी, कि वह अभी तक निर्णय भी न कर सका था, मेरा शत्रु है कौन? वह किसका लडका है। योगमायाके कथनसे इतना ही उसे अनुमान था। कि मेरा शत्रु नन्दजीके गोकुलमे किसी गोपके घरमे बालरूपमे छिपा है। जिसे भेजता, उसे ही श्रीकृष्ण मार डालते उसे कोई सूचना देने वाला भी नहीं बचता। सेना भेजता तो उसके बचे सैनिक जाकर सूचना देते। सेना भेज नहीं सकता था भेजनेका कोई कारण नहीं कोई आधार नहीं। असुरोंको भेजता था। वे भी गुप्त रूपसे अनेक वेष बनाकर आते। श्रीकृष्ण वहीं समाप्त कर देते। इससे कंसको सदा खटका बना रहता।

जिस पूतनाको उसने व्रजमे बच्चोंको विष पिलाकर मारने भेजा था, वह पूतना आजतक नहीं लौटी। वह समाप्त हो गयी। उस पूतनाका एक भाई था, जिसका नाम था बक। उस बकासुरको कंसने बुलाकर कहा—"भैया! बक, देखो तुम्हारी बहिनको मैंने व्रजमे अपने शत्रुको मारने भेजा था। सुना है, वह नन्दके गोकुलमे गोप बालक बना हुआ गुप्त रूपसे रहता है। बड़ा होने पर वह मुझे अवश्य ही मारेगा, तुम्हारी बहिनको भी संभवतया उसीने छलसे मार डाला है, यदि तुम किसी भाँति

उसे मार सको तो मेरा भी शत्रु मारा जाय और अपनी बहिनके घातीसे तुम भी बदला ले लो।"

यह सुनकर बकासुरने कहा—"राजन्! आप चिन्ता न करें, मैं आज ही नन्दके व्रजमे वृन्दावन जाऊँगा। बडे बकका वेष बनाकर उस बालकको तुरन्त निगल जाऊँगा। मुझसे वह बच नहीं सकता।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कसने उस असुरका स्वस्त्ययन किया और बडी प्रसन्नताके साथ विदा किया। वह दुष्ट वृन्दावनमे गया जहाँ यमुना किनारे बछडे चर रहे थे वहाँ बडे भारी बगुलेका रूप रखकर बैठ गया।

गोपोंके साथ भगवान् अपने बछडोंको पानी पिलाने यमुना तटपर आये। बछडोंने पेट भरके पानी पिया। जब वे यमुना जल पान करके तृप्त हो गये तो फिर चरनेको चलने लगे। कुछ गोपकुमार आगे थे कुछ पीछे थे। बछडोंको जल पिलाकर उन सबने भी जल पिया था। हाथ पैर धोकर कोई आगे भाग गया कोई पीछे रह गया। उन सब गोपकुमारोंने उस बगुला बने पर्वताकार महादैत्यको देखा। उसे देखते ही वे आपसमें विचार करने लगे—'इतना बडा बगुला तो हम दोनोंने आज तक कभी देखा नहीं। यह ऐसा लगता है, मानो इन्द्रके वज्रसे कटा हुआ कोई हिमालयका हिमशिखर हो। यह साधारण बगुला नहीं है, अवश्य ही यह कोई असुर है। गोप बालक तो बच्चे ही ठहरे. उस ऐसे अद्भुत जीवको देखकर सबके सब भयभीत हो गये।

श्रीकृष्ण सबके पीछे थे, भक्तोंके अपने अनुगतोंके पीछे-पीछे रहना उनका स्वभाव ही है। उस बगुला बने तीक्ष्ण तुण्ड वाले महादैत्यने एक झपट्टा मारा। वह सबसे श्रीकृष्णकी ही ताडमें था, उनके तेज, रूप तथा सौन्दर्यको ही देखकर वह समझ गया

था, यही मेरी बहिनका मारनेवाला कंस राजाका शत्रु है। उसने अपनी बड़ी चोंचसे श्रीकृष्णको पकड़ लिया और तुरन्त उन्हें निगल ही तो गया।

गोप सब देख रहे थे, श्रीकृष्ण तो उन सबके जीवन सर्वस्व हैं, प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं। अपने हृदयधन प्राणोंके प्राण श्रीकृष्णको भीमकाय बकुलेके मुखमें गये देखकर बलराम तथा अन्यान्य सभी ग्वाल बाल ऐसे अचेत हो गये जैसे प्राणोंके बिना इन्द्रियाँ अचेत हो जाती हैं, जलके बिना मछली अचेत हो जाती है अथवा मणिके बिना फणी व्याकुल हो जाता है।

भगवान्‌ने देखा यह लीला तो नीरस बन गयी। यह लीला ऐसी ही होनी थी, भगवान्‌ने सोचा—"यह तो अत्यन्त कारुणिक लीला हुई। मेरे सखा मेरे बिना व्याकुल हो जायँगे। तड़पने लगेंगे। अब यहाँ बगुलाके मुखमें तो कोई देखनेवाला नहीं, यहाँ सिद्धिसे काम लो। तुरन्त भगवानने अपने शरीरमें अग्नि तत्वको प्रबल किया। भगवानका श्रीअङ्ग धधकते हुए अंगारके सदृश जलने लगा। अब तो जैसे कोई अत्यन्त उष्ण ग्रासको निगल जाय और मुखमें सहन न होनेके कारण तुरन्त उसे उगल दे, उसी प्रकार कंठके जलनेसे वह भगवान्‌को मुखमें रखनेमें सर्वथा असमर्थ हुआ। तुरन्त उसने भगवानको उगल दिया। भगवानको उगलकर वह उनके ऊपर प्रहार करने दौड़ा। उसके मुखमें जानेसे भगवान्‌के श्रीअङ्गमें कोई क्षति नहीं हुई थी। क्षति होनी ही क्या थी, जो सबके बनाने वाले ब्रह्माजीके भी बाप हैं, उन्हें इस बक बने असुरसे क्या क्षति हो सकती थी, वह दुष्ट अभी तक उनके प्रभावको नहीं समझ सका। वह पुनः कुपित होकर अपनी चोंचके द्वारा उनपर प्रहार करने दौड़ा।

बकासुर कंसका सखा था, उसका प्रिय करना चाहता था तथा श्रीकृष्ण भगवान्‌को मारकर अपनी बहिनका बदला लेना चाहता था, इसीलिये इसने प्राणोंका पण लगाकर प्रभुपर आक्रमण किया। आकाशमें विमानोंपर चढे देवगण डर रहे थे, कि यह असुर कहीं श्रीकृष्णचन्द्रको मार न डाले। इधर पृथिवीपर ग्वालबाल श्रीकृष्णके वियोगमें मूर्छित पडे थे, इसलिये देवताओंको तथा अपने अनुगत ग्वालबालोंको आनन्दित करने के निमित्त भगवान्‌ने अपने दोनों हाथोंसे उसकी चोंच पकड ली। पुन सब ग्वालबालोंके देखते-देखते उसकी चोंचको दोनों हाथोंसे पकडकर भगवान्‌ने उसे उसी प्रकार चीर डाला जैसे चटाई बनानेवाला सरकण्डेको बीचसे चीर डालता है। अथवा कापडिया कपडेके थानको बीचसे चीर देता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! बकासुरके मार जानेपर देवताओंने असुरसंहारी आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रपर नन्दन काननके मल्लिकादि पुष्पोंकी वर्षा की तथा दुदुभि नगाडे तथा अन्यान्य दिव्य वाद्योंको बजाते हुए उनकी स्तुति करने लगे। यह देखकर ग्वालबालोंको बडा विस्मय हुआ।

छप्पय

सहन करि सक्यो नहीं उगल दीये खलने हरि।
मारन दौरयो दुष्ट चांचतं तुरत कोप करि॥
हरि हँसि पकरी चोंच ग्वाल लखि अति हरषाये।
दयो बीचतें फारि सुमन देवनि बरषाये॥
अति विस्मित बालक भये, आलिङ्गन हरि को करें।
पत्र, पुष्प, फल लाइकें, हरष सहित सम्मुख धरें॥

बकासुरसंहारी वनवारी

(८९६)

मुक्तं बकास्याद्युपलभ्य बालकाः,
रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः ।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः,
प्रणीय वत्सान्व्रजमेत्य तज्जगुः ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० ५३ श्लो०)

छप्पय

असुर मृतक हरि कुशल निरखि बालक हरषावें ।
मनहुँ मृतक तनु प्रान आइ इन्द्रिय सुख पावें ॥
लै बछरनिकूँ ग्वालबाल वृन्दावन आये ।
अति उत्सुक ह्वै वृत्त सबनि यशुमतिहिँ सुनाये ॥
बगुलासुरकी बात सुनि, सबकूँ अति विस्मय भयो ।
कहें गोप मुनिगर्गने, सब भविष्य पहिलिहिँ कह्यो ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब श्रीकृष्ण चन्द्रजी बगुलेके मुखसे निकलकर बलराम तथा अन्य गोप कुमारोंके समीप आये, तो उन्हें देखकर सबको ऐसा आनन्द हुआ जैसे गये हुए प्राणोंके आनेसे इन्द्रियोंको आनन्द होता है। सभी ग्वाल बाल अति प्रसन्नता-पूर्वक उनसे गले लगाकर मिले। तदनन्तर अपने-अपने बछड़ोंको लेकर व्रजमें आये। वहाँ आकर उन सबने बकके मारे जाने आदिका सभी वृत्तान्त सुनाया।

जैसे बड़े बड़े नेत्रोंको निरखकर लोचनोंको सुख होता है, वैसे ही अपने साथी सगी, सुहृद् सखा तथा सहपाठियोंमेंसे किसीको बड़ा कार्य करते देखते हैं, तो सहृदय साथियोंको अत्यधिक प्रसन्नता होती है। प्रतीत ऐसा होने लगता है मानों यह कार्य हमने ही किया है। अपने सुहृदयोंके किये शुभ कर्मोंसे हमे अत्यन्त प्रसन्नता होती है। उनकी प्रशंसा करनेसे और सुननेसे एक प्रकार का आन्तरिक सुख होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्रीकृष्णने बकासुरकी चोंच पकड़कर उसे बीचसे फाड़ कर फेंक दिया, तब गोपोंने कसकर श्यामसुन्दरका आलिङ्गन किया। जिस प्रकार मृतक देहमे पुनः प्राण आजानेसे इन्द्रियोंको सुख होता है अपने विपत्तिमे फँसे अपने प्रियतमको सकुशल घर लौट आनेपर उसकी प्रियाओंको सुख होता है, वैसे ही बकासुरके मुखसे निर्वृण तथा सकुशल श्रीकृष्णको लौटा हुआ देखकर गोपोंको हर्ष हुआ। वे सब श्रीकृष्णको स्नेह चरित हृदयसे आलिङ्गन करने लगे। बलराम जीको तो सबसे अधिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने बार-बार भगवान-को छातीसे लगाकर उनका सिर सूँघा और प्रेमाश्रुओंसे उन्हे न्हिला दिया।

सबने अपने अपने बछड़ोंको एकत्रित किया और श्रीकृष्ण-को आगे करके वृन्दावनकी ओर चल पड़े। व्रजमे आकर गोपों-ने बड़े उल्लासके सहित बकासुरका सब वृत्तान्त गोप और गोपियोंसे कहा। छोटे छोटे बच्चोंने यशोदा मैयासे कहा—"मैया! मैया। आज कनुआ भैयाने एक बड़े भारी राक्षसको मार डाला।"

मैयाने पूछा—"हाय! राक्षस वहाँ कैसे आ गया?"

बालकोंने कहा—"मैया! वह बडा भारी बगुला बनकर आया था। पहिले तो दूरसे हमे ऐसा लगा मानों कोई पहाड़का

टुकड़ा पड़ा हो। उसने न पूछ करी न गछ साथ पीछेसे कनुआ भैयाको पकड़ लिया और लील गया।"

भैयाने कहा—"हाय! बगुला लालाको निगल गया।"

गोपोंने शीघ्रतासे कहा—"अरी, पूरी बात तो सुन ले। वह राक्षस निगल तो गया किन्तु तुरन्त उसने उलटी कर दी। कनुआ ने तुरन्त झपटकर उसकी चोंच पकड़ ली और बीचसे चर करके चीर डाला। मैयाने विह्वलता पूर्वक कहा—"देखो, नारायणने ही बच्चेकी रक्षा की। तुरन्त सवा मन लड्डू मँगाकर नारायणका भोग लगाया गया और सबको प्रसाद बँटा। गोपोंने भी जब यह बात सुनी तो वे भी परम विस्मित हुए। उन्हे ऐसा लगा मानो श्रीकृष्णका आज पुनर्जन्म हुआ है, वे सतृष्ण नेत्रोंसे बार-बार उत्कंठा पूर्वक श्रीकृष्णचन्द्रके अनुपम आननको निहारने लगे।

गद्गद् कंठसे उपनन्दजीने नेत्रोंके अश्रुओंको पोछते हुए कहा—"देखो, कैसे आश्चर्यकी बात है, कि इस बालकको कितनी बार मृत्युने आकर घेरा किन्तु जब जब ऐसे संकट आये—यह बाल-बाल बच गया। इसका एक रोआ भी टेढ़ा नहीं हुआ। इसके विपरीत जिन्होंने आकर इसे भय पहुँचाया उन्हींका अनिष्ट हुआ। वे ही प्राणोंसे हाथ धो बैठे। जैसे अग्निपर पतंगे आकर गिरते हैं, तो अग्निको तो कुछ हानि पहुँचा नहीं सकते। उलटे वे ही स्वयं अग्निमें गिरकर भस्म हो जाते हैं, वैसे ही जो-जो भी राक्षस आये वे सब इसके समीप आकर मर गये।

इसपर नंदजीने कहा—"वेदवेत्ता जो बात कह देते हैं, वे जो भविष्यवाणी कर देते हैं—वह होकर ही रहती है। ज्योतिष शास्त्रके प्रणेता भगवान् गर्गने इस बालकके नामकरणके समय

जो जो बातें कही थीं, अब मैं उन सबको प्रत्यक्ष—अपनी आँखोंसे हुई देख रहा हूँ ।

उपनंदजीने पूछा—"गर्गजीने क्या बात कही थी ?"

नन्दजी बोले—"उन्होंने इस कृष्णका हाथ देखकर और इसकी जन्म लग्न बनाकर ग्रहोंका बलाबल विचारकर कहा था। इसके ऊपर जितने शत्रु आक्रमण करेंगे, वे सब मारे जायँगे। इसके पीछे गोप वंशका बड़ा नाम होगा। व्रजवासी इसकी कृपा से बड़ेसे बड़े संकटोंसे सरलताके साथ तर जायँगे।"

उपनन्दजीने कहा—"हाँ भैया ? ये सब बातें तो सत्य उतर रही हैं। हम तो समझते थे गोकुलमें ही उत्पात आते हैं। यहाँ भी जबसे आये हैं तभीसे उत्पात होने आरम्भ हो गये।"

इसपर एक दूसरे गोपने कहा—"अजी, चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं है। हमारे कनुआके हाथमें सिद्धि है। हम तो बालकपनसे देख रहे हैं, इसने जिस असुर पर हाथ रखा—फिर मानों उसका काल ही आ गया। कोई असुर राक्षस इसका क्या अनिष्ट कर सकेंगे।"

उपनन्दजी ने कहा—"फिर भी भैया ! इसके हाथमें गंडा बाँध दो। ओझा से तावीज बनवाकर इसके कंठमें पहिना दो। कुछ मन्त्र-तंत्र भी कर दो, जिससे असुर इसके समीप ही न फटकने पावें।"

यह सुनकर नन्दजीने ओझाको बुलवाया, झाड़-फूँक कराई। गंडा तावीज जो-जो उसने कहे, सब इनके कंठ और बाहुओंमें बाँधे गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जो अखिल ब्रह्माण्डोंकी अपने तनिकसे संकल्पसे रक्षा करते हैं, आज वे ही भगवान् भक्त वत्सलता दिखाते हुए भूत प्रेतों की बाधासे बचनेके लिये अपनी

बाहुओंमें और गण्डा यन्त्र बँधवा रहे हैं। नन्दादि गोपोंको तथा यशोदादि गोपियों को सुख देनेके निमित्त ही ये ऐसी भोरी भोरी चेष्टायें करते हैं। गोपोंके मुखोंमें अन्य कोई कथा ही नहीं थी, किसी अपर विषयकी वे चर्चा ही नहीं करते थे। रात्रि दिन राम और कृष्णकी ही कथाओंका कथन करते, उन्हींके विषयमें सोचते, उन्हींकी लीलाओंको ग्वालबालोंके मुखोंसे बड़े आनन्दके साथ श्रवण करते—इस प्रकार तद्गत मानस होनेसे निरन्तर भगवत् चर्चा करनेसे ही वे कभी किसी सांसारिक कष्टका अनुभव नहीं करते थे। श्रीकृष्ण भी अपने साथियोंको सुख देने, बालकोंके सदृश बहुत सी सुखद क्रीडायें करते। उनमेंसे कुछ का वर्णन मैं आगे करूँगा। आप इन लीलाओंको समाहित चित्तसे श्रवण करें।

छप्पय

यह दुष्टनिकूँ मारि सबनिकूँ सुख अति देगो।
करै अलौकिक कर्म सुयश जिह जगमहँ लेगो॥
मारि न कोई सके जिही असुरनिकूँ मारे।
जीते सबकूँ सदा नहीं बैरिनितें हारे॥
यों नित हरि बलरामकी, कहैं सुने सोचे कथा।
रम्यो रहै मन उनहिमहँ, होहि न सांसारिक व्यथा॥

श्रीकृष्णके कुमारावस्थाके कुछ खेल

(८६७)

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्लवनादिभिः ॥❀
(श्रीभा० १० स्क० ११ अ० ५९ श्लो०)

छप्पय

खेलें वनमहँ चोर एक बालकहिँ बनावें ।
अपर बाल सब भागि जाहिँ इतउत छिपिजावें ॥
खोले तब वह आँखि जाइ खोजे बालनिकूँ ।
बनि जावें ते चोर खोजि छूवे वह जिनिकूँ ॥
आँखमिचौनी खेल पुनि, खेलें पुलबन्धन करें ।
कसि कछनी बैठक करें, ताल ठोकि कबहूँ लरें ॥

सब समयके जैसे राग बँधे होते हैं, वैसे ही सभी अवस्थाओंके खेल बँधे होते हैं। जो जिस परिस्थितिके बालक होते हैं, उनके खेल भी वैसे ही होते हैं। जो सघन बस्तियोंवाले विशाल नगरोंमें रहते हैं, बच्चोंके खेल भी उनके अनुरूप

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब श्रीकृष्ण बलदेवजी व्रजमें रहकर आँख 'मिचौनी' 'सेतुबन्ध' 'बन्दर चाल' आदि और भी अनेकों कुमारावस्थाके अनेकों खेलोंको खेलते हुए अपनी कुमारावस्था बिता दी।

होते हैं। जो नदियोंके तटोंपर विस्तृत वनोंमें वास करते हैं उन वनोंके खेल उन स्थानोंके ही अनुरूप होते हैं। ग्रामीण बालक कितने उल्लासके साथ दौड़कर छिपकर पेड़ों पर चढ़ कर खेलते हैं, उसका अनुभव एक घिरे हुए सीमित स्थान रहनेवाले नगरनिवासी बालक कैसे कर सकते हैं। ग्रामीण बालकोंके खेलोंमें श्रम और साहस दोनों ही अधिक होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीकृष्ण क्रीडाप्रिय और कौतुकप्रिय दोनों हैं। वे कुमारोंके साथ भी खेल करना जानते हैं और कुमारियोंके साथमें भी। युवकोंके साथ भी खेलते हैं और युवतियोंके साथ भी। सज्जनोंके साथ भी वे क्रीड़ा करते हैं और असुरोंको भी खेल-खेलमें पछाड़ देते हैं। वे अपने सम्बन्धियोंके साथ छोटे बननेका भी खेल करते हैं और कभी खेल-खेलमें ही जगद्गुरु बन जाते हैं। कभी खेल-खेलमें स्वयं रथ बनकर रथमें बैठ जाते हैं, कभी खेल-खेलमें स्वयं सारथी बनकर रथ हाँकने लगते हैं। कभी खेल-खेलमें असंख्यों राजाओंको लड़ाकर उनका नाश करा देते हैं, कभी अपने पुत्र पौत्रोंका ही खेल-खेलमें संहार कर देते हैं। श्रीकृष्णका सब खेल है जो जैसे बन जाते हैं तब तैसे ही खेल करने लगते हैं। इस लिये वे सदा प्रसन्न रहते हैं। वे सदा खेलको खेल समझते हैं। हम दुखी इसलिये होते हैं, कि खेलको यथार्थ समझकर खेलकी जय पराजयको अपनेमें आरोपित करके सुखी दुखी चिन्तित और अशान्त बन जाते हैं। सबको खेलमात्र समझ लें तो फिर चिन्ता शोकके लिये स्थान रह ही नहीं जाता।

श्रीकृष्णका बछड़ोंको ले जाना उन्हें चराना तो एक दिखावा था। बछड़े तो चरेंगे ही जो भोजन उनके भाग्यमें होगा उसे वे खायेंगे ही। श्रीकृष्णको तो क्रीडा करनी है। हँसना खेलना है सुखी रहना है, जो विधान बनाते हैं, बनाते रहें, जो चिन्ति

होते हैं—होते रहे, श्रीकृष्णको तो कुछ साथी सगी सखा मिल जायँ उन्हींमें वे निमग्न रहते है। प्रातःकाल कलेउ किया और बछड़ोंको लेकर वनमें चले गये। दोपहरको बाँध ले गये, सायंकालको घरमें आकर खा लिया।

यमुनाके सुन्दर पुलिनोंमें जहाँ मरकत मणिके सदृश हरी-हरी घास थी, वहाँ बछड़े छोड़ दिये और खेल आरम्भ हुआ। वे अनेकों प्रकारके कुमारावस्थामे विशेषकर खेले जाने वाले खेलोंको खेलते थे। उनमेंसे कुछके नाम मैं बताता हूँ—जैसे श्रीकृष्ण अनन्त हैं, वैसे ही उनके खेल भी अनन्त हैं, उनका पार कोई प्राणी पा नहीं सकता। जैसे यात्री गंगाजलकी अनन्त राशिमे से एक छोटी सी गंगा जलीमे जल ले जाते है और उसे ही गंगाजी कहकर पूजते और मानते हैं। उसी प्रकार अनन्त श्रीहरिके अनन्त खेलोंसे कुछ खेलोंको कहकर ही—उन्हींके मिससे भगवान्‌की लीलाका वर्णन हम यहाँ करते है।

१—आँखमिचौनी लीला—श्रीकृष्ण वनमें जाकर ग्वाल बालोंके संग आँखमिचौनी लीला खेलते। इसके कई प्रकार हैं। एक प्रकार तो यह है कि पहिले सब लड़के खड़े हो जाते हैं, उनमेंसे एक लड़का एक उँगली मे चिह्न लगाकर सबसे उँगलियों को पकड़नेको कहता है, जिसने अन्य उगलियोंको पकड़ लिया वह तो मुक्त हुआ। जिसने चिह्नित उँगलीको पकड़ लिया वह चोर माना गया। एक स्थानको दाई (स्पर्श स्थान) बना लिया। जो लड़का चोर बना था, उसकी एकने आँखे मीच लीं। अब सब लड़के छिप गये। आँख मीचने वाला लड़का खेलमें सम्मिलित नहीं होता। वह द्रष्टा बनकर तटस्थ रहता है और जो खेलके विरुद्ध कार्य करता है, उसकी सबको सूचना देता है।

जब लड़के छिप जाते हैं, तो द्रष्टा उन चोर बने बालक की आँखें खोलता है। अब वह जाकर छिपे हुए बालकोंको

खोजता है, जैसे वह पूर्व दिशामें खोज रहा है तो पश्चिम य
उत्तर दिशाके छिपे बालक अवसर पाकर दौड़कर दाईको छू ले
हैं। मानों उनको वह नहीं पकड़ सका। यदि दाई छूनेके पू
वह दौड़ते हुए बालकोंको छूले, तो जिसे छूले—वह चोर हो जा
है। या ढूँढ़कर किसीको छू ले वह चोर हो जाता है। बहुत
बालकोंमेंसे जिसे वह ढूढ़कर छूलेगा—वही चोर हो जायगा
यदि किसीको भी न छू सका तो फिर दुबारा तिबारा जब तक
वह किसीको चोर न बना दे, उसीको चोर बनना पड़ेगा। य
एकाकी आँख मिचौनी लीला है।

दूसरा प्रकार इसका यह है कि दो पक्ष हो जाते हैं। दो पक्ष
के दो प्रधान बन जाते हैं। दोनों प्रधान एक लकीर खींच
इधर उधर खड़े हो जाते हैं और ऊपर हाथ उठाकर कहते हैं-
'जिन्हें हमारी ओर खेलना हो वह हमारे पास आओ।' इस
अपनी अपनी रुचिके अनुसार कुछ बालक इधर होजाते हैं—कु
उधर। एक दोनों पक्षका पंच रहता है। वह यह देखता रहता
कि कोई पक्ष न्याय विरुद्ध बर्ताव तो नहीं करता। अब दो
पक्षमें एक चिह्न डालकर यह निर्णय होता है कि पहिले कौन प
छिपेगा, कौनसा ढूँढेगा। जिसका ढूँढ़नेका नाम निकलता
उस पक्षके सभी लोग अपने अपने हाथोंसे अपने अपने नेत्रोंको
भली भाँति बंदकर लेते हैं। पंच आकर देखता है कि को
उँगलियोंके छिद्रोंसे देख तो नहीं रहा है। जब उसकी आँखें ठी
बंद हो जाती हैं तो दूसरे पक्षके सब लोग जाकर छिप जाते हैं
उनके छिप जानेके अनन्तर पंच आँखें खोलनेको कहता है। अ
सब जा-जाकर उस पक्षके लोगोंको खोजते हैं। यदि सबके स
खोज लिये तो फिर उन सबको आँखें बंद करनी पड़ती हैं। पहिले
वाले अबके छिपते हैं। यदि उनमेंसे कुछको न ढूँढ़ सके तो फि
इन्हींको आँखें बंद करके पूर्ववत ढूँढ़ना पड़ता है। यह खेल चलता

ही रहता है। जीव कबसे भटक रहा है, कबसे भगवान्‌को ढूँढ़ रहा है, किन्तु वे आँखमिचौनी का खेल खेलकर छिप जाते हैं और फिर बडी कठिनतासे दो अंगुल समीप हा छिपे हुए किसी भाग्यशालीको मिल जात हैं। इस प्रकार और भी आँखमिचौनी-के प्रकार हैं।

सुरंग घोड़ी—एक सुरंग घोडीका भी खेल होता है। दस-दस पाँच-पाँच लडके आपसमें बँट जाते हैं। उनमेंसे एकको संकेत द्वारा घोड़ी बनाते हैं, दूसरा सवार बनकर उस घोड़ी बने लडके की पीठपर चढता है। दो ईंट उस घोडी बने बालकके आगे रख दी जाती हैं। अब वह जो सवार है, वह अपनी घोडी से उतरता है और अपनी घोडीके चारों ओर यह मंत्र पढ़ता हुआ एक पैरसे चक्कर लगाता है "सुरंगलाल घोड़ी तू नेक चनापै बोली। सुरंगलाल घोड़ी तू नेक चनापै बोली।" इस मंत्रको एक साँसमें पढ़ता है। जहाँ साँस टूटी—वहाँ तुरन्त वह कूदकर अपनी घोड़ीपर चढ़ जाता है। यदि साँस टूटनेके पहिले वह न चढ़ सके, बीचमें ही साँस टूट जाय या दूसरा पैर पृथिवी पर लग जाय तो तुरन्त उसे घोडी बन जाना पड़ता है और फिर घोड़ी बना बालक उसपर चढ़ जाता है। अच्छा उसपर चढ़कर वह घोड़ीकी आँखें बंद कर लेता है। फिर समीप बैठे बालक उन दो रक्खी हुई ईंटोंको खटकाते है। सवार घोड़ीसे पूछता है—'किसने खटकाई ?' यदि घोड़ी बना बालक खटकानेवालेका नाम ठीक बता देता है, तो खटकानेवाला घोडी बन जाता है। घोड़ी बना हुआ सवार बन जाता है और सवार बालक खटकानेवालोंमें सम्मिलित हो जाता है। जब एकबार खटका दे और खटकानेवाले का घोड़ी बना बालक ठीक नाम न बता सके तो सवारको तुरन्त उतरकर "सुरंगलाल घोडी, तू नेक चनापै बोली। सुरंगलाल घोड़ी तू नेक चनापै बोली।" इस मंत्रको पढ़ते-पढ़ते एक पैरसे

चक्कर लगाकर तब कुदककर चढ़ना होगा। जितने बार ठीक न बता सकेगा, उतने ही बार मंत्र पढ़कर एक पैरसे चक्कर लगाना पड़ेगा। इसमें भी आँखें मूँदी जाती हैं। कई बार भगवान्‌को भी घोड़ी बनना पड़ता था, किन्तु भगवान्‌का श्री अंग नील मणिके सदृश इतना अधिक चिकना था, कि जो भी बालक चढ़ता वही फिसल जाता। तब वे कहते—"यह घोड़ी अच्छी नहीं, सवारको गिरा देती है।"

सेतुबन्ध लीला—कुछ लड़के एक पंक्तिमें खड़े हो जाते हैं आगे वाला झुक जाता है—उसके पीछेका झुककर उसकी कमर पकड़ लेता है, फिर एककी दूसरा दूसरेकी तीसरा ऐसे कमर पकड़कर बहुत लंबा पुल बाँधते हैं। फिर उस पुलपरसे सबके कंधाओं-पर पैर रखकर एक निकलता है, वह गिर जाता है तो दूसरा उठाता है गिराने वाला आगे खंभा बनकर खड़ा हो जाता है, जब तक वह गिरता नहीं तब तक वह इधरसे उधर पार होता रहता है। जहाँ गिरा कि फिर उससे आगेका चलता है, इस प्रकार सेतुबन्ध खेलको भी भगवान गोपोंके साथ खेलते थे।

बंदरकुदकी—बन्दरोंकी भाँति एक डालसे दूसरी डालपर कूदकर जाना, छिप जाना, फलोंका तोड़ना यह बंदरकुदकी खेल है। यह पेड़पर चढ़नेका खेल है। ऐसे और भी अनेकों खेल हैं—

लभरे बंशी या कै के डंडा—यह खेल पेड़पर चढ़नेपर है। सब खेल आरंभ होनेके पूर्व एकको चोर बनाया जाता है। स्वेच्छासे चोर कौन बनने लगा। सबमेंसे चोरको छाँटनेके कई प्रकार हैं। बहुत बच्चे खेलने वाले हुए तो बहुतसे पत्ते ले लेते हैं। उन पत्तोंमेंसे एकमें छेद करते हैं। फिर उन्हें मुट्ठीमें दबाकर सब-से खिंचवाते हैं। जिसके हाथसे छिद्रवाला पत्ता खिंच आया वही चोर होता है। अथवा सब उँगलियोंमें उँगली सटाकर एकमें

छोटासा पत्ता छिपा लेते हैं, जिसने पत्तेवाली उँगली पकड़ली वही चोर हुआ। अथवा बहुतसे खपड़े उलटे रख देते हैं। एकमें चिह्न कर देते हैं, सबसे खपड़े उठवाते है। जिसपर चिह्नवाला खपड़ा आ गया, वही चोर है। इस प्रकार लभेर वंशी खेलमें भी पहिले एक चोर चुन लेते हैं। फिर एक डण्डा लेते हैं। उन लड़कोंमे जो प्रधान होता है—वह टाँगके नीचेसे डंडेको निकाल कर बलपूर्वक फेंकता है, चोर उसे लेने दौड़ता है, तब सब आस-पासके पेड़ोंपर चढ़ जाते हैं। अब चोर उनमेंसे छूनेको दौड़ता है। जब तक वह किसीके पास आता है तब तक कोई दूसरा लड़का शीघ्रतासे पेड़से उतरकर उस डण्डेको फिर दूर फेंक देता है, तो उसे फिर उसे वहाँ लेने दौड़ा जाना पड़ता है। यदि डण्डा उठानेसे पूर्व उसने उतरनेवाले लड़केको छू लिया—तो वह चोर हो जाता है। चोरको दो कामोंपर ध्यान रखना होता है, एक तो यह कि कोई पेड़से उतरकर डण्डेको फेंकने न पावे दूसरा यह कि किसीको छूकर चोर बनावे। इसमे चोरको बहुत दौड़ना पड़ता है, औरोंको शीघ्रता पूर्वक पेड़ोंपर चढ़ना और उतरना होता है। इस लभेर वंशी खेलको खेलनेमे श्यामसुन्दर बड़े प्रवीण थे। वे इतनी शीघ्रताके साथ पेड़पर चढ़ते कि बन्दर भी इतनी शीघ्रतासे नहीं चढ़ सकते थे। लभेर वंशीमें श्रीकृष्णको चोर बनाना कठिन था।

अटकन बटकन—यह भी छोटे बच्चोंका एक खेल है। श्रीकृष्ण इस खेलको अपने साथी ग्वालबालोंके साथ बहुत खेलते थे। यह खेल यों होता है कि सब बच्चे एक गोल चक्कर लगाकर बैठ जाते हैं, अपने-अपने दोनों हाथोंको पट्ट करके पृथिवी पर जमाकर रख लेते हैं। उनका एक प्रधान बालक बीचमे बैठ जाता है। अपनी तर्जनी उँगलीसे सबके हाथोंको शीघ्रताके साथ क्रमसे छूता जाता है, साथ ही इस मन्त्रको पढ़ता जाता है—"अटकन.

वटकन, दही चटासन, वन फूले वनवारा फूले। सॉवन मास करैला फूले। बाबाजीकी उल टूल। बाबा गये दिल्ली। लाये सात कटोरी। एक कटोरी फूटी। बाबाकी बहू रूठी। काहे बात पै रूठी। दूध दहीपै रूठी। दूध दही बहुतेरो, खाइबेकूँ मुँह टेढो। बिछा द रानी पलका।' जहाँ उस प्रधान बालकने—"बिछादै रानी पलका" यह अन्तिम वाक्य कहा, वहीं सब लडके अपने अपने हाथोंको सीधा कर लेते हैं। हथेली ऊपर हो जाती हैं।

फिर वह प्रधान लडका प्रत्येक बालकसे पूछता है—कैसे नोचूँ ? चेंटा या चटी सुइया फारो।" जो कहता है चींटी, उसकी हथेलीको तनिक धीरेसे नोचता है मानों चींटीने काटा हो, जो चेंटा बताता है उसकी हथेलीको तनिक अधिक नोंचता है। जो सुई कहता है उसके तनिक नख गडाता है, जो फारा कह देता है उसकी जोरसे बकुटी भर लेता है, जिससे वह 'सी' कर जाय। नोंच नोचकर एकके ऊपर एक ऐसे सब हाथोंको चुन चुनकर रखते जाते हैं। बहुत हाथ एकके ऊपर एक रखनेसे ऊँच हो जाते हैं। तब वह प्रधान खडा हो जाता है। सबसे ऊपरके हाथको पहिले उँगलियोंसे छूता है, फिर कुहनीसे छूता है। ऐसे बार-बार छूता है और इस मन्त्रको पढता जाता है 'अपरीके ढपरा। म्याऊँ बुलाय, चमकत आये। पकर म्याऊँ मूसेका कान।" यह अन्तिम वाक्य "पकर म्याऊँ मूसेका कान, जब समाप्त हुआ तभी कुहनी उँगली छूना बद करके उस हाथसे समीपके बच्चेका कान पकडा लेता हैं। फिर दूसर हाथपर भी इसी प्रकार बार-बार उँगली कुहनी छुआकर "अपरीके ढपरा, म्याऊँ बुलाये, चमकत आये। पकर म्याऊँ मूसेका कान' पढकर फिर उस हाथसे कान पकड़ा लेता हैं। इसी प्रकार सब एक दूसरेके कानोंको पकड लेते हैं। एक गोलमें एक दूसरका कान पकड हुए बालक बडे ही सुन्दर लगते हैं। जब एक दूसरेकाका कान पकड लेते हैं तब सब एक

साथ सिरको हिलाते हुए "चेऊँ मेऊँ—चेऊँ मेऊँ" मुखसे कहते जाते हैं। चेऊँ मेऊँ करते करते बालक भाग जाते हैं। खेल समाप्त हो जाता है।

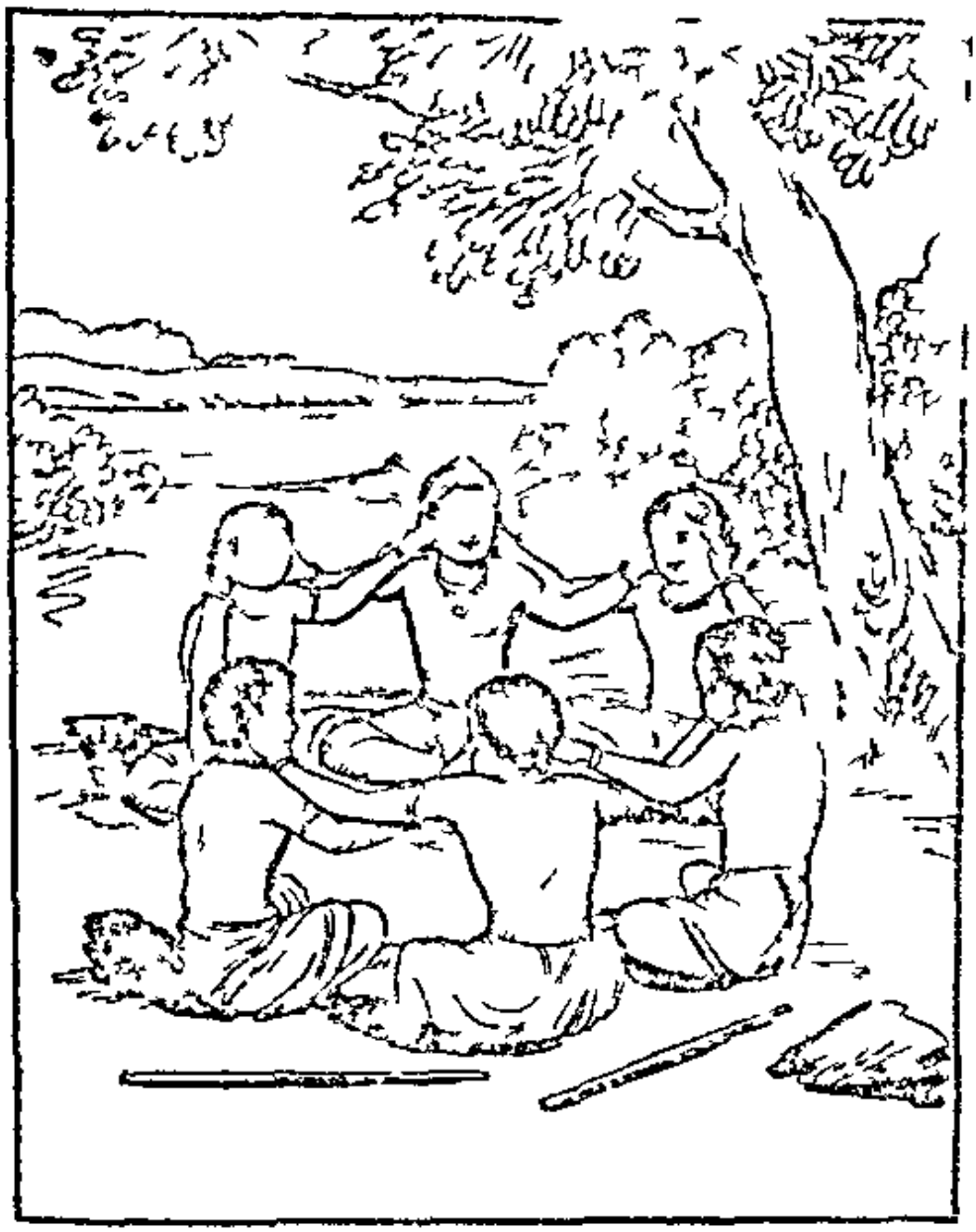

छप्पनके पेड पै कै दूनी के—बन्दोंके घोडी चढनेके खेल बहुत प्रकारके होते हैं। पहिले ८ ८ या १०-१० की टोलियाँ बना लेते हैं। ४ ४ या ५ ५ के दो भाग कर लेते हैं। अब उसी सकेतसे पत्ता खिंचवाते हैं। जिस टोलीवालोंका पत्ता निकल आवे—वे सब

घोड़ी बनते हैं। दूसरी टोलीवाले उनपर चढ़ जाते हैं। घोड़ी बना बालक नीचे आँखें किये रहता है। उसके ऊपर जो चढ़ा रहता है, वह उसके सिरपर एक दो तीन अथवा चार उँगली खड़ी करके पूछता है "छप्पनक पेड़पे कै दूनी कै ?" वह घोड़ी बना लड़का जितनी उँगली उसने उठाई हैं—दो या तीन ठीक-ठीक बता दे, तो फिर वे चारों सवार उतरकर घोड़ी बन जाते हैं, वे घोड़ी बने उनपर चढ़ जाते हैं। यदि पहिलेने ठीक न बताई तो सब चढ़े रहते हैं। फिर दूसरा पूछता है "छप्पनके पेड़पर कै दूनी कै ?" उसने भी ठीक न बताई तो तीसरा पूछता है, चौथा पूछता है। चारोंमेंसे एकने भी ठीक बतादी तो सब उतरकर घोड़ी बन जाते हैं। यदि चारोंने अशुद्ध बताई तो फिर पूछते हैं। इस प्रकार यह खेल बहुत देर तक चलता है।

खन-खन मलूका—यह भी घोड़ीका ही खेल है। पहिले सींक डालकर एकको चोर बनाते हैं। जो चोर निकलता है उसपर पूछनेवाला चढ़ता है। और बच्चे आधे घोड़ेके इधर हो जाते हैं आधे उधर। दोनों ओर एक सींका निश्चित हो जाती है, कि इसके आगे लड़के न जायँगे। दोनों ओरके लड़के खड़े हो जायँगे। घोड़ीपर चढ़ा लड़का कहेगा—"खन-खन मलूका" सब लड़के चिल्लाकर कहेंगे। एक ई ऐका" वह फिर कहेगा "खन-खन मलूका" सब कहेंगे—"दोई दो आ।' एक बार वह खन-खन मलूका कहेगा—'सब तीन ई तीन' चारई चारा, पाँचई पाँचा, छै ई छै आ, सात ई साता। बस, सात तक कहेंगे।

सात कहनेके अनंतर सवार पूछेगा मेरी नीली कितनेकी ?" एक ओरके लड़के कहेंगे—"तुम्हारी नीली सौकी।" फिर सवार कहेगा—"मेरी नीली सौकी ?" तब दूसरी ओरके लड़के कहेंगे—"तुम्हारी नीली कानी कौड़ीकी भी नहीं।" इस बातको सुनकर वह उन सबको मारने घोड़ी परसे उतरकर भागेगा। तब तक

दूसरे पक्षके लड़के आ-आकर घोड़ी पर चढ़ कर चड्डी लेने लगग। सवार फिर उन्हें मारने भागेगा। तब तक इधरके लड़के आकर घोड़ी पर चढ़ने लगेंगे। फिर वह इधर आवेगा। जिसे छूलेगा फिर उसे ही घोड़ी बनना पड़ेगा और घोड़ा बना सवार हो जायगा। फिर वह पूछेगा—"खनखन मलूका" सब कहेंगे एकई एका।" इस प्रकार यह खेल चलता रहेगा। श्रीकृष्ण जब इस खेलमें लग जाते थे तब भोजन भी भूल जाते थे।

घुड़गेंद बची—उसी संकेतसे एक लड़केको पहिले घोड़ी बनाते हैं। सींक डालकर यह निश्चय हो गया कि रामको घोड़ी बनना है तो सब लड़के सामने खड़े हो जायँगे। अपने-अपने कपड़े पसार पसार कर। घोड़ी बना लड़का गेंद फेंकेगा। जिसने गेंद ऊपर ही ऊपर लपक ली वह सवार बन जायगा। यदि गेंद उसे छूकर भूमिमें गिर गई तो उसे ही फिर घोड़ी बनना होगा, फेंकने वाला सवार हो जायगा। अब घोड़ीपर चढ़कर वह बलपूर्वक गेंदको भूमिमें मारेगा। गेंद उछलेगी यदि उसे सवारने लपक ली तो वह ज्योंका त्यों घोड़ीपर चढ़ा रहेगा। यदि दूसरेने लपक ली तो वह लपकने वाला सवार हो जायगा। कोई भी न लपक सका तो सवारको घोड़ी बनना होगा। किसी दूसरेको छूकर गेंद भूमिमें गिर गई तो जिसे छूकर गिरी है उसे घोड़ा बनना होगा। इस प्रकार यह खेल भी बहुत देर तक चलता है।

करवली करवला—यह बच्चोंका बड़ा ही मनोरंजक खेल है। श्रीकृष्ण जब इस खेलको खेलते थे, तो गोपियाँ लोट पोट हो जाती थीं। सभी उत्सुकताके साथ प्रतीक्षा करती थीं, कि श्रीकृष्ण 'करवली बरवला' खेलके सम्बन्धसे आज हमारे घर आवें। यह खेल यों होता है :—

खेलके दो प्रधान बन जाते हैं। वे अपनी अपनी टोली बनाना चाहते हैं। दोनोंको यह लालसा रहती है, टोलीमें बलवान्

लडके आ जायँ। वे अपने अपने स्थानपर बैठ जाते हैं। खेलने वाले १०।२०।५० जितने भी लडके हों वे उनसे पृथक् बैठ जाते हैं। खेलने वाले जितने लडके हैं वे भी दो—दोकी अपनी टोली बनाते हैं। पहिली टोलीके दो लडके आते हैं। वे अपना अपना एक एक बनावटी नाम रख लेते है, जैसे एकने अपना नाम घोडा रख लिया दूसरे ने हाथी। अब उन आने वाले लडकों मे से एक उन बैठे हुए दोनो प्रधानोंके सामने कहता है "चीरा फारी" उन दोनो प्रधानोंमेसे कोई सा एक कह देता है "फारी तोरी भर्र फर्र" तब उन आने वालो मेसे एक कहता है—"हाथी लोगे या घोडा ?" तो जिस प्रधानने "फारी तोरी भर्र फर्र" कह दिया है वह तो बोलेगा नहीं, दूसरा कह देगा—हाथी, तो जिस लडकेका नाम हाथी होगा वह तो उस प्रधानकी टोलीमें हो गया, दूसरा लडका "फारी तोरी भर्र फर्र" कहने वाले प्रधानकी टोलीमे बच गया। फिर दूसरी टोलीके लडके आवेंगे। वे अपना नाम घोडी घोडा रख लेंगे, किन्तु इन प्रधानोंको बतायगे नहीं। 'चीरा फारी' 'फारी तोरी भर्र फर" उनका भी बँटवार हो जायगा। इस प्रकार आधे आधे टोलियोंमे बँट जायँगे।

अब उनमें से कोई एक प्रधान प्रश्न पूछेगा—"आठ कर बली छै करबला मार खाओ या ही लता।"

इस प्रश्नका प्रथम अभिप्राय समझ लेना चाहिये। अपने गाँवमें जितने घर हैं, बच्चोंको पता रहना चाहिये इसके घरमे कितनी स्त्रियाँ हैं, कितने पुरुष हैं। जैसे देवदत्तके घरमे आठ स्त्रियाँ हैं, छै पुरुष हैं, तो स्त्रियोंको करबली कहेंगे, पुरुषोंको करबला। प्रश्न पूछने वालेका अभिप्राय है, कि पूर्व दिशामे ऐसा घर किसका है, जिसके घर आठ स्त्रियाँ हो और छै पुरुष हो।" अब दोनों ओरके लडके सोच सोचकर बतावेंगे। उसका घर तो नहीं है। दूसरा कहेगा—"उसके घरमे तो आठ करबला हैं।

फिर तीसरा कहेगा, चौथा कहेगा। सभी अनुमान लगा—लगाकर बतावेंगे। जिस टोलीका लड़का ठीक बता देगा—उसी टोलीके सब लड़के सवार बन जायँगे और दूसरी टोलीके सब लड़कोंको घोडी बनना पड़ेगा सब लड़कोंको लादकर घोडी बने हुए लड़कोंको उसी आदमीके घर तक ले जाना पडेगा। उस घरमें जाकर जो लड़के चढ़े हुए हैं—वे घर वालेसे पूछेंगे—"ज्योंके त्यों या तरके ऊपर?" इस प्रश्नका अभिप्राय यह है, कि हम जैसे चढकर आये हैं, वैसे ही चले जायँ, या अब घोड़ा बने हुए सवार बन जायँ और सवार बने घोडा बन जायँ?" घर वाले बच्चोंके इस प्रश्नको सुनकर हँसने लगते है और संदेहमें पड़ जाते हैं क्या कहें। ऊपर वाले तो विनती करते हैं—"चाचा! ज्योंके त्यों कह दो घोड़ा बने हुए विनती करते हैं—"चाचा! तरके ऊपर कहदो।" घरमें स्त्रियाँ होती हैं तो स्त्रियोंसे ही पूछते है। यदि घर वालोंको घोडी बने बालको पर दया आ गई, तो कह देते हैं—"तरके ऊपर" तब सब सवार उतर कर घोडी बन जाते हैं। घोडी बने बालक उनपर चढ़ जाते हैं। यदि किसीने कह दिया—'ज्योंके त्यों' तब जैसे आये थे वैसे फिर फिर वहाँ तक जाते हैं। वहाँ जाकर फिर यही खेल होता है। श्रीकृष्ण प्रायः श्रीदामाके ऊपर चढ़कर जाते थे और उधर किसीने 'तरके ऊपर' कह दिया तो उसे ढोकर यहाँ तक भी लाते थे। इस प्रकार यह खेल बहुत देर चलता है।

नगरी नगरी—"लड़कोंका यह भी विचित्र खेल है। सौ पचास जितने भी लड़के होते है, एक पंक्तिमें हाथ पकड़कर लंबे दूर तक खडे हो जाते हैं, उनमें जो दो प्रधान और बलवान होते हैं वे दोनों इधर और उधरके दोनों कोनों पर खडे हो जाते है। उनमेंसे एक कोनेका प्रधान चिल्लाकर कहता है—"न्यौरे

भैया वारके ? दूसरे कोने वाला प्रधान कहता है—"हाँ, रे भैया! पारके ?

इतका पूछता है—"तेरी घोड़ी कैसी लीद करे ?"

उतका कहता—हल्दीकीसी गाँठ।

इतका पूछता—"तेरी घोड़ी कैसो मूँते ?"

उतका कहता—"तेलकी सी धार।"

इतका कहता—तेरी घोड़ीने खेत खायो।"

उतका कहता—"मारो ससुरीमें जूता ई जूता।"

बस, इतना सुनते ही सब बच्चे पैर फटफटाकर ओं ओं ओं करके कूदने लगते हैं। कुछ देरके अनन्तर उधरका फिर पूछता है—"तेरी नगरीमें कौनको व्याह ?"

तब इधरके प्रधानके समीप हाथ पकड़े जो भी लड़का होता है उसीका नाम लेकर कहता है—"हमारी नगरी में रामका व्याह।"

तब उधरका पूछता है—"कौन सो बाजों लावे ?"

तब प्रधान कह देता है, ढपरी ढपरा, तू तू बाजा, भोंपू बाजा, फट फट बाजा।',

जिस बाजेका नाम लेता है उसी बाजेका अनुकरण करता हुआ हाथ पकड़े ही पकड़े प्रधान चलता है। जैसे उसने कहा—फट-फट बाजा तो फट-फट करते हुए चलेंगे। तू तू बाजे का नाम ले दिया तो सब तू तू करते चलेंगे। सब लड़के उस बच्चेकी बाँहके नीचेसे निकल जायँगे। हाथ सब पकड़े रहेंगे। हाथ कोई छोड़ेगा नहीं। सबके नीचेसे निकलनेसे उसका मुख उलटा हो जायगा। इस कोनेका प्रधान विवाह करके फिर अपने कोने पर चला जायगा। वहाँ जाकर फिर पूछेगा ? तेरी नगरीमें किसका विवाह ?" इसपर वह विवाह हुए लड़केसे आगेवालेका नाम बता देगा। फिर बाजा पूछेगा। कभी-कभी हँसानेको यह

कह देगा—"गू की छ तरी वाला बाजा लाना" तब सब छी-छी करते हुए आवेंगे। सब हँसते हँसते लोट पोट होते जायँगे। इस प्रकार पंक्तिमें एक दूसरेका हाथ पकडे जितने खडे है पारी पारीसे सभी का विवाह हो जायगा। जिसका विवाह होता जायगा, उसका मुख उलटा होता जायगा। सबका विवाह हो जाने पर सब पालथी मारकर अँगूठा पकडकर अकड़ बैठ जायँगे। तब दोनों प्रधान कुछ दूर पर दो लकीर कर देंगे। एकका नाम गंगा दूसरीका नाम यमुना। उकड़ बैठे हुए प्रत्येक बालकसे पूछेंगे—"तुम्हें गंगामें पहुचावे या यमुना मे ?"

उसने गंगामे या यमुनाजीमें कहा तो गंगाजीकी लकीरमें जाकर बैठा दिया, यदि यमुनाजीमे कहा, तो उनके दोनो हाथोंके बीचमें हाथ डालकर उठाकर यमुनाजी पहुँचा दिया। जिसका आसन ढीला हो गया बीचमे हाथ छूट गया—उसे न गंगामे पहुँचाते है न यमुना मे। उसे मोरीमे बीचमें जाकर बैठा देते है। विवाहके पश्चात् भवसागरसे पार हो गय, खेल समाप्त हो गया। श्रीकृष्ण ही प्रधान बनके सबको भवसागरसे पार करते थे। इस खेलमें सब रामश्याम ही प्रधान बनत थे और सबको उठा उठाकर ले जाते थे।

अधा थापी—लडकोंका यह भी एक आँख मीचने का खेल है। पहिले एक लडकेको उसी क्रमसे चोर बनात हैं। फिर उसकी आँखे बद करके सब लडके उसकी चाँदमे चपत लगाते है। आँख बद करने वाला पूछता है—पहले थाप किसने मारी ?" यदि उसने यथार्थ बता दिया। पहिले मारनेवालेका नाम बता दिया, तो फिर उसकी आँखें बद करते हैं, उसके सिरपर चपत लगाते हैं। श्रीकृष्णका स्पर्श होते ही लडके बता देते थे, यह कनुआकी थाप हैं। तब आपको भी अपने सिरमे थाप लगवानी पडती। पडैश्वर्य सम्पन्न हाते तो अपने घरके होंगे, यहाँ ब्रजमे

तो वे बालक बने हुए हैं। यहाँ तो उन्हें थापी खानी ही होगी। ब्रजके ग्वालबालोंकी थापसे वे इतने प्रसन्न होते हैं, जितने परम ऐश्वर्य और विधि विधानसे की हुई पूजासे भी नहीं होते।

चील झपट्टा—यह भी सिरमें थाप मारनेका ही खेल है। पहिले खेलके नियमानुसार एक चोर निकालते हैं। सब खेलों एक प्रमुख रहता है। चोरका नाम निकल आया, तब उसे एक गोल परिधि बनाकर बैठा दिया जाता है। एक इतनी बड़ी धोती या रस्सी उसके हाथमें दे देते हैं जो गोल खिंची हुई सीमा तक पहुँच सके। उसका एक छोर तो चोरके हाथमें रहता है, एक छोर प्रमुखके हाथमें। प्रमुखके हाथमें एक कोड़ा कपड़ेका बनाया हुआ भी रहता है। और बहुतसे बालक उस परिधिके आस-पास खड़े हो जाते हैं। उनमेंसे कोई लड़का दौड़कर उस चोरके सिरमें एक चपत लगा आता है। वह सिरपर कुछ कपड़ा बाँधे रहता है। प्रमुख उसे ज्यों ही हटाने छूने दौड़ता है, त्यों ही उधरसे दूसरा लड़का चपत मारकर भागता है। जिसे जिधरसे अवसर मिलता दौड़कर चपत मारता रहता है। जिसे उसने परिधिके भीतर छू लिया। उसे चोर बनना पड़ता है और जो अब तक चोर बना था मारनेवालेमें सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार यह खेल भी बहुत देर चलता है और इसमें तुरन्त-तुरन्त चोर बदलते रहते हैं।

कोड़ा मार—यह भी एक बालकोंका कोड़ा मारका खेल है। बड़ा गोल चक्कर लगाकर लड़के बैठ जाते हैं। किसी अँगोछा या अन्य कपड़ेको बटकर उसका एक कोड़ा बनाते हैं। खेलका प्रमुख उस कपड़ेके कोड़ेको लिये हुए गोल बैठे हुए लड़कोंके बाहर चक्कर लगाता है। बैठे हुए लड़के पीछे देख नहीं सकते। वे पीछे हाथसे टटोलते रहते हैं। चक्कर लगानेवाला लड़का चक्कर लगाते-लगाते चुपकेसे किसीके पीछे कोड़ा रख देता है।

रखते ही उसे मालूम हो जाय, कि मेरे पीछे कोडा रखा है, वह तुरन्त उठकर रखनेवालेको तब तक दौड दौडकर कोडोंसे मारता रहेगा। जब तक वह रखनेवाला उसके रिक्त स्थान पर आकर बैठ न जाय। यदि कोडा रखकर यह रखनेवाला एक चक्कर लगा आवे और तब तक जिसके पीछे रखा था, उसे मालूम न हो, तो वह चक्कर लगाकर उसी कोडेको उठाकर पीटता है। तब वह भागता है। कोडेवाला तब तक उसके कोडे मारता रहेगा जब तक वह दौडकर पुनः अपने स्थानपर न आ बैठे। इस प्रकार यह कोडेका खेल बहुत देर तक चलता है। श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ इस खेलको बहुत खेला करते थे।

(कबड्डी) भडूडू—यह बड़ा प्रसिद्ध खेल है, इसे बालक भी खेलते हैं, युवा भी खेलते हैं और प्रौढ भी खेलते हैं। खेलनेवालोंके दो दल बन जाते हैं। बीचमें एक लकीर या मेड बना लेते हैं, उसे 'फारा' कहते हैं। एक दलका नायक तो एक फारेमे खडा हो जाता है, दूसरे दलका दूसरेमें, तब दोनो हाथ उठाकर कहते हैं—'हमारे दलमे कौन आता है?" तब सब अपनी अपनी रुचिके अनुसार उससे लिपट जाते हैं, उसे छूते हैं। सामान्यतया दोनों दलोंमें बराबर बराबर होते हैं। अब एक लडका भडूडू देने चलता है। वह एक साँसमे कोई शब्द कहता जाता है। कोई "कबड्डी कबड्डी कबड्डी कबड्डी" कोई कहता है—"डू डू डू डू" कोई कहता है—"सीताराम सीताराम सीताराम" कोई कहता है—"राधेश्याम राधेश्याम राधेश्याम।" कोई कहता है "हइयो हइयो हइयो" इस प्रकार साँस न टूटने पावे तब तक वह दूसरे फारेमे इधरसे उधर उनमें से किसीको छूने दौडता है। उस समय साँस लेते लेते वह एक या अनेक जितने भी खेलनेवालोको छूकर उसी स्वाँसमें अपने फारेमें आ जायगा, तो वे सबके सब छुये जानेवाले मर गये। उन्हें खेलसे विरत

होकर एकान्तमें मृतकके सदृश बैठ जाना होगा। यदि छूते सबने मिलकर उसे पकड़ लिया। उसकी साँस टूट गयी अपने फार तक न आसका तो मानों वहीं मर गया। यदि पक पर भी वह कबड्डी कबड्डी कहता रहे उसकी साँस न टूटे किसी प्रकार बल लगाकर सबको खींचते खींचते वह फारे आजाय, तो जितने उसे पकड़े थे या छुये रहे थे, वे सबके मारे गये। उन सबको बैठना पड़ेगा। दोनों ओरके मरते हैं। ओरके जितने मरेंगे, दूसरी ओरके उतने ही मरे हुए जीवि होकर उठ खड़े होंगे। जिस फारेमें अन्तिममें एक भी न रहेगा उस पक्षकी हार समझी जायेगी। फिरसे खेल होगा यदि अबके इन्होंने जीत लिया तो दोनों बराबर हो गये। खेल बहु देर तक होता है, इसमें अंतमें यह देखना पड़ता है, किस दल किस दलपर कितने फारे किये। अर्थात उस दलकी कितनी बा अधिक जीत हुई। बड़े बड़े जब खेलते हैं तो लड़ाई झगड़ा होनेसे कभी-कभी किसीका हाथ पैर भी टूट जाता है। बालक तो इस खेलको प्रेम-पूर्वक खेलते हैं। श्रीकृष्ण जब खेलते थे, तो एक पक्ष- के प्रधान श्रीकृष्ण होते थे, दूसरेके बलरामजी। श्रीकृष्ण तब तक खेलते रहते थे, जब तक दोनों पक्षकी बराबर जीत न हो।

इ—ऐसा ही एक बालकोंका और खेल है, इसमें बहुत लड़कों की आवश्यकता नहीं, सात नौ ग्यारह। इतने ही से काम चल जाता है। जैसे सात लड़के हुए तो बराबर बराबर मिट्टीकी तीन ढेरियाँ बना लीं। उनपर एक एक लड़का बैठ गया। तीन लड़के उसके आस पास घूमनेवाले होंगे एक छूने वाला। अब वे जो तीन लड़के हैं वे उन तीनों ढेरियोंका उल्लंघन नहीं कर सकते। वे आस पासमें ही दौड़ेंगे, किन्तु छूनेवालेका अधिकार होगा वह चाहे जिधरसे निकल सकता है, ढेरियोंका उल्लंघन भी कर सकता है। वे दौड़नेवाले इस चेष्टामें रहेंगे, कि हमें यह छूने न पावे।

यह छूनेकी चेष्टा करेगा। सब अपना अपना दाव देखते रहेंगे। छूनेवाला थक जाय या उसे जब आवश्यकता हो, तब हाथके संकेतसे ढेरियोंपर बैठे हुए किसी लड़केको 'छू' करके उठा देगा और स्वयं उसके स्थानपर बैठ जायगा। जिसे छू लेते हैं, वह ढेरियापर बैठ जाता है, बैठा हुआ लडका उठकर दौड़ने लगता है।

चोर चोर—एक चोरका भी खेल होता है। लड़कोंमे से कुछ घरवाले बन जाते हैं, कुछ गाय भैंस बन जाते हैं, कुछ पहरेदार बन जाते हैं और कुछ चोर हो जाते हैं। जो घर गृहस्थी हैं, वे सो जाते हैं। पहरेवाले आकर ऊँचे स्वरसे पहरा देते हुए कहते हैं, "तुम्हारी नगरीमें चोर पड़े हैं, जागते रहियो।" इस प्रकार पहरा देते हैं। उसी समय चुपके चुपकेचोर आते हैं, माल मसाला गाय भैंस उठाकर चल देते हैं, एक स्थानपर छिपा देते हैं। तब घर-वाले आँखें मलते हुए उठते हैं, पहरेवालोंको बुलाते हैं। राजकर्म चारियोंको सूचना देते हैं। वे सब घोड़ोपर चढकर खोजने चलते हैं। लाठीको दोनों टाँगोंके भीतर देकर उसके एक छोरको लगाम-की भाँति पकड़ते हैं दुसरा किढिरता रहता है, वही मानों उनका घोडा है। बहुत दूर जाकर चोर पकडे जाते है। राजाके सम्मुख लाये जाते है। उनसे पूछा जाता है और सजा दी जाती है।

सुई बुढ़िया—बहुतसे लडके एकत्रित हो जाते हैं। उनमेसे एकको बुढिया बनाते हैं। शेष लड़के पृथक् खडे हो जाते हैं। बुढिया बना लडका रेतमे कुछ खोजता रहता है। तब उन लड़कोंमेंसे कोई पूछता है—"बुढिया बुढिया! क्या खोज रही है?"

बुढ़िया कहती है—"सुई खोज रही हूँ?"

लडके—सुईका क्या करेगी?

बुढिया—थैली सीऊँगी।

लड़के—थैलेका क्या करेगी?"

बुढ़िया—रुपये भरूँगी।
लड़के—रुपयोंका क्या करेगी ?
बुढ़िया—भैंस खरीदूँगी।
लड़के—भैंसका क्या करेगी ?
बुढ़िया—दूध पिऊँगी।

सब लड़के उछलते हुए कहेंगे—"दूध नहीं तो तू मूत पीवेगी।"

तब बुढ़िया बना लड़का उनको पकड़ने दौड़ेगा। लड़के इधर से उधर भागेंगे। जिसे वह छू देगा फिर उसे बुढ़िया बनना होगा। तब उससे भी लड़के यही प्रश्न करेंगे। फिर वह भी छूने दौड़ेगा। इस प्रकार यह खेल होता रहता है। श्रीकृष्ण ग्वाल बालोंके सहित रात्रिमें इस खेलको अधिक खेलते थे। रात्रिका एक और खेल है।

धूप छाँह—जब चाँदनी छिटक रही हो तो बहुतसे बच्चे एकत्रित हो जाते हैं। जहाँ चाँदनी न हो, वृक्ष अथवा किसी घर की छाया हो, उस छायामें सब लड़के खड़े हो जाते हैं। एकको मगर बनाते हैं। चाँदनीको नदी मान लेते हैं और छायाको किनारा। अब लड़के छायासे निकलकर चाँदनीमें आते हैं। नहाने कपड़ा धोनेका अभिनय करते हैं। वह मगर बना बालक उन्हें पकड़ने दौड़ता है। लड़के तो सावधान रहते हैं, जब वह पकड़ने दौड़ता है तो तुरन्त छायामें आ जाते हैं। मानों जलको छोड़कर स्थलमें आ गये। स्थलमें तो मगर पकड़ नहीं सकता। फिर आकर नहानेका अभिनय करते हैं। जिसे वह चाँदनीमें पकड़ लेता है। उसे फिर मगर बनना पड़ता है। इस प्रकार बड़ी रात्रि तक यह खेल होता रहता है। वृन्दावनकी पावन भूमिमें शुक्ल पक्षकी उजाली रात्रियोंमें श्रीकृष्ण सखाओंके साथ बड़ी

रात्रि तक इस खेलको खेलते रहते। मैया जब आती पकड़कर ले जाती तब कहीं जाते।

टेसू—टेसूका खेल सदा नहीं खेला जाता। वह क्वारकी नव दुर्गाओं में ही होता है। इस खेलको लड़की लड़के दोनों ही खेलते हैं। तीन लड़कियोंका एक टेसू बनाते हैं। उसपर एक दीपक रखते हैं, फिर घर-घर भीख माँगने जाते हैं लड़कियाँ टेसू नहीं बनातीं। वे एक कच्ची हडी लेती हैं उसमें बहुतसे छिद्रकर लेती हैं। उनमे दीपक रखकर जाती हैं। वे भी घर-घर भीख माँगती हैं लड़कोंके झुंडके झुंड पृथक् चलते है लड़कियोंके पृथक्। घर-घर जाकर लड़के लड़कियाँ टेसूके गीत गाते हैं। जैसे "टेसूरा घंटार बजावे। नौ नगरी नौ गाँव बसावे। ताऊमे बस गये तीतर मोर। हँगत नेनियाँलइ गये चोर। चोरनिके घर खेती भई। ठूँस नैंनिया हरमे दई" यह टेसूका गीत समाप्त हुआ। इसके अनन्तरे कहेंगे—"ला ओरी पारसालको चबैंना" तब माताएँ उन्हें अनाज देंगीं। इसी प्रकार लड़कियाँ भी माँगेंगी। लड़के अपने टेसूको किसी लड़कीकी झाँझरियापर फिरा दे तो मानो उसके टेसूका उसकी झाँझरियासे विवाह हो गया। इसलिये लड़कियाँ लड़कोंको देखते ही अपनी झाँझरियाँओंको बड़े यत्नसे रखती हैं, कोई टेसू न फिरा दे। भीखमे जो अन्न आता है, उसका गुड़ चना या खील बतासा लाकर लड़के खाते हैं। श्रीकृष्ण टेसूके गीत बहुत जानते थे और वे टेसूके दिनोंमें बहुत माँग लाते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कहाँ तक गिनाऊँ बच्चोंके अनन्त खेल हैं। श्रीकृष्ण प्रकट लीलामें साढे ग्यारह वर्ष तक व्रजमें रहे। वे नित्य ही एकसे एक नया खेल खेलते थे। गेंदा-बल्ला गुल्ली डंडा, लुका छिपी तथा चाई माई आदि बहुत खेल हैं। इस कथा प्रसङ्गमे केवल बानगीके रूपमे मैंने कुछ खेलोंका

उल्लेख कर दिया है, इसी प्रकार और भी बालकोंके खेलोंको समझना चाहिये। श्रीकृष्ण वृन्दावनकी कुञ्ज और वीथियोंमें विचरते हुए विविध भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते रहे। वृन्दावनके अनुपम सौंदर्यसे वे विमुक्तसे हो गये। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके एकमात्र अधीश्वर वृन्दावनकी परम पावन भूमिमें वे अपने ऐश्वर्यको भूल गये। प्राकृत विमुग्ध बालककी भाँति क्रीडाएँ करते थे। उनका कुछ वर्णन मैं अब आगे प्रसङ्गानुसार करूँगा।"

छप्पय

कबहूँ सैंन सजाइ विजय करि गाड़ें झंडा।
कबहूँ खेलें खेल भड्डड्ड गुल्ली डंडा॥
अन्धाधापी और मलूका घोड़ा खनखन।
कैकैडंडा चीलझपट्टा अटकन-चटकन॥
जा छप्पनके पेड़पै, कै कै दूनी कै।
खेलें हरि सब मिलि कहें—कृष्णचन्द्रकी जै॥

(८६८)

कचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजात्,
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरि ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १० अ० १ श्लो०)

छप्पय

एक दिवसकी बात सुनहु हरि निश्चय कीन्हों ।
काल्हि कलेऊ करें वनहिं जिह आयसु दीन्हों ॥
लड्डू पूआ खीरि जलेबी पेड़ा पपड़ी ।
हलुआ मोहनथार समोसे फेंनी रबड़ी ॥
सब सामग्री साजिकें, श्याम सखनि सँग चलि दये ।
ग्वालबाल सबहैं सजे, बन शोभा निरखत भये ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! एक दिनकी बात है, कि भगवान् प्रातःकाल बहुत तड़के उठे । उन्होंने निश्चय कर लिया था आज वनमें ही कलेवा करना चाहिये, इसीलिये अपने नरसिंहाके मनोहर शब्दसे सभी साथियोंको जगाते हुये आगे आगे बछड़ाओंको करके गोष्ठसे वनके लिये निकल पड़े ।"

भोजन तीन कारणोंसे किया जाता है। पेट भरनेके लि सम्बन्ध निभानेके लिये और प्रेमके लिये। पेट भरनेके लिये त पशु पक्षी कीट पतग देवता मनुष्य सभी भोजन करते हैं। उ मानकी भोजनमे प्रवृत्ति होती है इसमें न आग्रहकी आवश्यक है न शिक्षाकी। एक सम्बन्धसे भी भोजन किया जाता है। भो की इच्छा तो है नहीं, फिर भी ये हमारे सम्बन्धी हैं इनसे हमार भाजी व्योहार है, इनके यहाँ भोजन न करेंगे, तो ये बुरा मानो ये हमारे यहाँ भोजन करते हैं, तो हमे भी इनके यहाँ भोज करना ही चाहिये। एक प्रेमका भोजन होता है। प्रेमके बन भोजनमे, प्रेमसे परसे हुए भोजनमें करने-करानेवाले दोनोंको ह परम सुख होता है। बहुतसे प्रेमी एक साथ बैठकर जब भोज करते हैं, उस प्रेम भोजमे जो सुख होता है, वह अवर्णनीय है। वास्तवमे वस्तुओंमे स्वाद नहीं स्वाद तो प्रेम है। बिना प्रेम ५६ प्रकारके भोजन कराये जायँ, तो वे विषके सदृश हैं और प्रे के साथ साग पात भी खिलाया जाय तो वह अमृतसे बढकर है तभी तो भगवान्ने दुर्योधनकी मेवा मिठाइयोंको छोडकर विदुर घर साग खाया था।

दस पाच प्रेमी एक साथ मिलकर भोजन करने बैठते हैं, त प्रेमकी भावनासे वे पदार्थ अत्यन्त ही स्वादिष्ट और परम रुचिकर बन जाते हैं। इसीलिये कभी कभी प्रेम भोजोंका आ जन किया जाता है। जिन्होंने कभी प्रेमियोंकी पक्तिमें प्रेम पूर्व प्रसाद नहीं पाया उनका जीवन वृथा ही गया। यों पेट तो शूकर सूकर भी भर लेते हैं। कौआ बलिका भोजन करता हुआ सैकड़ों वर्ष जीता रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! एक दिन श्रीकृष्णने सोचा— 'हम लोग प्रातः घरसे कलेवा करके चलते हैं। मध्याह्नको हम थोड़ा बहुत ले जाते हैं, बहुतोंको मैया छाक दे आती हैं। हम

दिन वनभोज हो। प्रातः कोई कुछ न खाय। खेलते-खेलते भली भाँति कड़ाकेकी भूख लगे फिर सबका मिलकर सहभोज हो। सब प्रेम-पूर्वक भोजन करें, इसमें बड़ा आनन्द आवेगा। यह सोचकर उन्होंने सायंकालके समय सबसे कह दिया—'देखो, भाई! कल कोई भी अपने अपने घर कलेऊ करके न आवे। अभी जाकर अपनी अपनी माताओंसे कह दो, कि कल हमारा वन भोज है, हमारे लिये जो भी बना सके बनाकर छींकेमें रखकर हमें साथ दे दें, हम सब मिलकर वनमें ही पावेंगे।"

सबने आनन्दसे उछलते हुए कहा—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, कल वनभोज होगा। हम सब अच्छे अच्छे पकवान बनवा बनवाकर लावेंगे" यह कहकर श्रीकृष्णसे अनुमति लेकर सभी अपने अपने घर चले गये। घरपर जाकर सबने अपनी माताओंसे कहा—"मैया! मैया! कनुआ भैयाने कहा है, कल वनमें ही भोजन होगा। तू हमें कलके लिये अच्छे माल टाल बना दे। ऐसे बना दे, जैसे कनुआके घर भी न बने।"

तब माताएँ कहतीं—"बेटा! हम उनकी बराबरी कैसे कर सकते हैं। वे राजा हैं, हम साधारण गोप हैं। जैसे कुछ हमारी सामर्थ्य है वैसा बन जायगा" यह कहकर माताएँ यथाशक्ति सुन्दरसे सुन्दर मेवा मिष्ठान्न पकवान तथा और भी वस्तुएँ बनाने लगीं। कुछने रात्रिमें ही बना लिया। किसीने मुँह अँधियारे तड़के ही बरोसामें आग सुलगाकर उसीपर सादी रोटी आदि बना दीं। बच्चोंके लिये सुन्दर सुन्दर सामग्री बनाकर उन सबको छनामें बाँधकर छींकोंमें रख दिया।

श्रीकृष्णको आज मारे प्रसन्नताके नींद भी नहीं आयी। साथियोंके साथ एकान्तमें प्रेम भी मिले और खानेको माल भी मिले तो इस प्रसन्नतामें किस सहृदयको निद्रा आ सकती है। श्रीकृष्ण अत्यंत ही भोरमें बहुत तड़के उठे। और ग्वालबाल

सब अभी तक सो ही रहे थे। बच्चे तनिक देर तक सोते हैं। श्रीकृष्णने घर घर जाकर अपना नरसिंहा उच्च स्वरसे बजाया। नरसिंहाकी ध्वनिको सुनकर बच्चे तुरन्त जाग पडे उन्हें भी चटपटी लगी हुई थी। अपनी माताओंसे पूछने लगे—"मैया! नरसिंहा कौन बजा रहा है?"

तब तक श्रीकृष्ण बोल उठते—"अरे, सारे मैं हूँ, अब तुम सोते ही रहोगे, या उठोगे भी, देखो दिन निकलने ही वाला है। आज सबको सूर्योदयके पहिले ही वनमे पहुँचना चाहिये। उठो चलो।"

लडके कहते—"कनुआ मुँह तो धोले।

श्रीकृष्ण कहते—"अरे, सारेओ? तुम्हे जो मुँह फुँह धोना हो वहीं धोना। यमुनाजीमे सब कुछ होगा चलो चले।"

इस प्रकार सबको जगाकर श्याम सुन्दरने इकट्ठा किया। आज बलदेवजीको साथ नहीं लिया, भोजमे हँसी खेलमे बडे सामने होते हैं, तो सकोच होता है, निर्मुक्त हास्य नहीं हो सकता। कुछ सकोच बना रहता है। आनन्द तभी आता है, जब सब एक ही वयके एक ही विचारके और एक ही प्रकृतिके हों। इसलिये आज वन भोजन लीलामे बलदेवजीको पृथक् ही रखा गया। श्रीकृष्णके नरसिंहा बजानेपर सभी नरसिंहा बजाने लगे। इसका भाव यह कि हमने अपने बछडे खोल दिये। अब झुंडके झुंड बछरोको आगे करके गोष्ठसे निकले। उस समय व्रजसे निकलनेकी ग्वालवालोकी शोभा अत्यन्त ही रमणीय थी। जिन्होने उस शोभाको प्रत्यक्ष जगत्मे या भाव जगत्में नहीं देखा उनका जीवन वृथा है।

सभीकी माताओंने रात्रिमें सोते समय मोटा मोटा काजल लगादिया था। प्रातः उठकर सब वैसे ही चले आये हैं। आँखों की कोरोंमें कीचड लगी है। सबके सिरोपर गोल गोल गोटादार

चमकनी टोपी है। किसीके सिरपर चारा भी बँधा है। सब रंग बिरंगी, अँगरखी और बगलबन्दियोंको पहिने हुए हैं। सबकी धोतियाँ घुटनों तक हैं। कमरमें फेंटा बाँध रखा है। सबके हाथोंमें लाठी है। फेंटाओंमें एक ओर बाँसुरी खुरसी हुई है दूसरी ओर नरसिंहा खुरसा है। एक हाथमें लाठी है। दूसरे हाथमें भोजन सामग्रीका छींका है उस छींकको पीठपर डाले हुए पकड़े हैं। हाथोंमें लाठियोंको लिये हँसते खेलते विनोद की बातें करते बछड़ोंके पीछे पीछे जा रहे हैं। श्रीकृष्णका नटवर वेष बना हुआ है। सिरपर मोरका मुकुट शोभा दे रहा है। कानोंमें कुंडल और नाकमें नकबेसर हिल रही है। नाकका बुलाक हिल हिलकर बार बार ओष्ठोंको स्पर्श कर रहा है। बड़े बड़े विशाल कमलके समान तिरछे नेत्रोंमें मोटा-मोटा काजल लगा है। लाल बगलबन्दीके ऊपर पीताम्बर कसा हुआ है। उसमें बाँसुरी नरसिंहा खुरसा हुआ है। काली कमलीको लाठी पर लटकाकर उसे कंधेपर रख लिया है। भोजन सामग्रीका छींका भारी होनेसे उसे एक बछड़ेकी पीठपर लाद रखा है। इस प्रकार अपने सखा सुन्दोंको लिये हुये वे गोष्ठसे वनकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं। सहस्रों छोटे छोटे अत्यन्त प्रेमी ग्वाल-बाल उनका अनुगमन कर रहे हैं। मधुमंगलको छोड़कर उनमें एक भी ऐसा नहीं, जिसकी पाँच वर्षसे अधिककी अवस्था हो। श्रीकृष्णके बछड़ोंकी तो कोई संख्या ही नहीं। अगणित बछड़े थे। सबने अपने अपने बछड़े भगवानके बछड़ोंमें ही मिला दिये। जब हम भगवानके अनुगत हो गये तो हमारे बछड़े उनके बछड़ोंसे पृथक् रह ही कैसे सकते हैं।

वनमें पहुँचकर बछड़ोंको चरने छोड़ दिये। यमुना किनारे जाकर सब अपने अपने नित्य कर्मोंसे निवृत्त हुए। हाथ पैर धोये और फिर उस क्रीडास्थलकी ओर चले जहाँकी बालू अत्यंत

कोमल है। यद्यपि श्रीकृष्णचन्द्र आज सूर्योदयके पूर्व ही चल पड़े थे, किन्तु सूर्यदेवने देखा कि मैं तो लीला दर्शनसे वञ्चित हो रह जाऊँगा, अतः वे भी शीघ्र ही उदय हो गये। अब ग्वाल-बालोंके वनके खेल आरम्भ हुए। बच्चोंमें अनेक प्रकृतिके बालक होते हैं। कोई हँसमुख होते हैं, कोई रोनेवाले होते हैं। कोई चतुर होते हैं, कोई भोंदू होते हैं। कोई गंभीर होते हैं कोई चुलबुले होते हैं। कोई गुम्मसुम्म होते हैं, कोई बाचाल होते हैं। कोई बहुत खानेवाले होते हैं, कोई चिड़ियाका-सा चुगा हा खाते हैं। जो बच्चे तनिक-सी बातपर खिसिया जाते हैं, दूसरे बालक उनको और भी अधिक चिढ़ाया करते हैं। ऐसे लड़के सबके हँसनेकी सामग्री बन जाते हैं।

श्रीकृष्णका तो काम ही है सबको प्रसन्न करना, सबको हँसाना, सबको सुख देना। वे रोना तो जानते ही नहीं। रोवे तो वह जिसकी मैया मर जाय श्रीकृष्णकी मैया तो अमर है। वह कभी मरती ही नहीं फिर उनके रोनेका क्या प्रसङ्ग। वे हँसते रहते हैं। सबकी मनोवाञ्छा पूरी करते रहते हैं। माताकी सदा इच्छा रहती है, अपने लालका सुन्दरसे सुन्दर शृंगार करूँ उत्तमसे उत्तम वस्तुएँ बनाकर खिलाऊँ। आप माताके अनुरोध को मानते हैं। शृङ्गार कराते हैं, सुन्दर सुन्दर स्वादिष्ट खट्टे मीठे, चटपटे-नमकीन मीठे तथा तीखे पदार्थोंको खाते हैं। माता को आनन्दित करते हैं। घरमें माता मणि मुक्ताकाच तथा सुवर्ण के भाँति भाँतिके आभूषणोंमें सजाकर वनमें भेजती हैं। अब यहाँ वनमें बालकोंकी भी इच्छा होती है हम श्रीकृष्णका शृङ्गार करें, उन्हें सजावें, तब आप उनके सामने भी सजनेको शृङ्गार करानेको बैठ जाते हैं। बच्चे लाल लाल घुंघचियोंको एकत्रकर लाते हैं, उनकी मालाएँ बनाते हैं। श्रीकृष्णके कण्ठमें, भुजाओंमें कलाइयोंमें तथा मुकुटमें उन्हें लटकाते हैं। बहुतसे बालक समीपकी

लाल टैंटियाँ, रंगबिरंगे करौंदे, निर्छुट सुगंधितसेंद, झरबेरिया के पक्के कच्चे बेर, पीलू तथा और भी विविध भाँतिके रंग बिरंगे फलोंको तोड़ लाते हैं, उनकी मालाएँ बनाते हैं, श्रीकृष्णके अंगोंमे पहिनाते हैं। उनमे बीच—बीचमें आमके, जामुनके, नींबूके, अजमाइन के तथा और भी पेडोंके कोमल—कोमल पत्ते लगा देते हैं। तुलसी दल और फूलोंकी तो दिव्य वृन्दावनमे कमी ही नहीं। वहाँ तो बारहों महीने बसन्त बना रहता है। सब लड़के विविध भाँतिके पुष्प तोड लाते हैं, तुलसीदल उतार लाते हैं। खजूर आदिके गुच्छोंको तोड लाते हैं। उन सबसे श्रीकृष्ण का शृङ्गार करते हैं। कोई सेल खड़ी घिसकर श्रीकृष्णके अंगोंमें लगाते हैं। कोई बीच—बीचमें गेरूकी लाल-लाल छोटी-छोटी बिन्दियाँ रख देते हैं। सारांश यह है, कि जिसे भगवान्‌का जो शृंगार प्रिय होता है जिस रूपमें उसे अच्छे लगते हैं, भगवान् उसी रूपको धारण कर लेते हैं। उन्हे सकोच नहीं, आपत्ति नहीं। उन्हें जिस प्रकार सजाकर सेवकको सुख मिले, उसी प्रकार वे सज जाते हैं। जब साज शृङ्गार हो गया तब हँसी विनोद आरम्भ होता है। कभी किसीकी टोपीको ऊपर उछाल देते हैं, उसे दूसरा गेंदकी भाँति ले लेता है। तीसरा उछालता है, कोई उसमें मिट्टीका ढेला रखकर दूर फेंक देता है फिर गंभीर होकर उसे किसी कामको बुलाता है जब उठता है और अपनेको बँधा पाता है, तो सब हँस पड़ते हैं। कोई किसीके कपड़ेमे दूसरा कपड़ा बाँध देता है और उसे अकस्मात बुलाता है। वह कपड़ा घिसिटता हुआ आता है, तो वह चिल्लाता है "तुम्हारी पूँछ लटक रही है उसे सम्हाल लो।" तब सब हँस पड़ते हैं। कोई तालाबमे पानी पीता है, तो दूसरा उसे चुपकेसे जाकर पानीमे ढकेल देता है, उसके कपडे भीग जाते है। सब हँस पडते हैं। कोई चुपचाप बैठा होता है, तो दूसरा पीछेसे चुपके—चुपके आकर दोनों हाथोंसे उसके हाथोंसे उसके

नेत्रोंको बंदकर लेता है। अब जिसके नेत्र बंद हैं, वह उसके हाथोंको वस्त्रोंको टटोलकर उसे पहिचाननेकी चेष्टा करता है। कहता है 'दाम' हैं यदि वह दाम नहीं होता, तो आँखें नहीं खोलता। वह फिर कहता है सुदाम है, और भी नाम लेता है जब उसका नाम बता देता है, तो वह हँसता हुआ नेत्रोंको खो देता है। या वह हार मान ले, कि भाई हम नहीं बता सकते, तो खोल देता है।

कोई किसी अत्यंत चिड़चिड़े स्वभाववालेके छींकेको चुपके उठा लेते हैं। जब वह इधर-उधर देखता है और पूछता है—"मेरा छींका किसने ले लिया" तो लड़के भोले-भाले बनकर कहते हैं, हमें क्या पता वह जब किसीपर देखता है, तो उसकी ओर दौड़ता है, वह दूसरेको दे देता है, दूसरा तीसरेको तीसरा चौथे-को। जब वह छींकेवाला खिसियाकर रोने लग जाता है, तब उसे दे देते हैं।

कभी कोई किसीको चुपकेसे चपत लगाकर इधर-उधर देखने लगता है। वह पूछता है किसने मारा। नाम लेता है उसने मारा। दूसरोंका नाम लेनेपर सब हँस पड़ते हैं। इस प्रकार बैठे—बैठे अनेक हँसी विनोदकी बातें होती रहती हैं। कुछ लड़के आपसमें अठारह गोटी, नौ गोटी, खपड़ा उछाल खेलते हैं। खेलते—खेलते कोई अपानवायु छोड़ देता है, तो सब पूछते है—"किसने पादा ?"

कोई बताता नहीं तब मंत्र पढ़कर उसका नाम निकालते हैं—"अकड़ बक्कड़लोईकी टक्कड़ टूँइ टाँइ ठुस्स" ऐसे सबके आगे कहते हैं। जिसके नाममें सबसे अंतिम ठुस्स निकलती है, उसीको सब दोषी बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ग्वालबालोंके सहित यमुना पुलेनकी कोमल बालूमें बैठकर भाँति-भाँतिके

ोद करते रहे, अब वनकी शोभा देखने उठे, उसका भी पमें वर्णन सुनिये।"

छप्पय

मुख करि हरिकी ओर प्रेमतैं बैठे आगे।
अब सब सुखतैं बैठि हँसी कछु करिवे लागे॥
कोई बालक वस्त्र वस्त्रतैं बाँधे चुपकें।
काहूकी लै छाक सखा कछु पेड़नि दुबकें॥
छींको लै चम्पत करें, और औरकूँ देहिँ जब।
खिसिआवे रोवै सखा, खिलिखिलाइ हँसि जाइँ सब॥

ग्वालबालोंकी वनमें विचित्र क्रीड़ाएँ

(८९९)

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या,
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण,
साकं विजहुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० १२ अ० ११ श्लो०

छप्पय

जो कनुआकूँ छुए वीर ताहीकूँ जानें।
पहिले जो छू लेइ विजय ग्वाईकी मानें॥
करहिं अनुकरन भ्रमर सरिस स्वर गुन-गुन गावें।
नाचें खेलें हँसे बाँसुरी मधुर बजावें॥
नभमहँ कछू दिखाइकें, जिहका जिहका कहि बकें।
बोलें छम्मक परि गई, कान भाद्रपदमहँ पकें॥

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार जो श्रीकृष्णचन्द्र तत्वज्ञानी पुरुषोंके लिये तो ब्रह्मानन्द स्वरूप हैं। भक्तोंके लिये जो परदेवता रूप हैं और मायामोहित पुरुषोंके लिये जो साधारण मानव बालक रूप हैं, भगवान् व्रजके उन बड़भागी बाल गोपालोंके साथ ऐसी ऐसी विचित्र क्रीडाएँ करते थे।"

जीव खेलता है। बिना खेले तो कोई रह ही नहीं सकता। संसार तो क्रीड़ा भूमि है, किन्तु अन्तर इतना ही है, वह मरण-धर्मा प्राणियोंके साथ खेलता है, इसीलिये बार-बार जन्मता है बार-बार दुख पाता है। यदि वह शाश्वत सनातन सच्चिदानंद स्वरूप श्यामसुन्दरके साथ खेले, तो संसारसे सदा उसका आवागमन भी मिट जाय और वह स्वयं सुख स्वरूप तथा शाश्वत बन जाय। इन मर्त्यधर्मा प्राणियोंके खेलमे यही मांस, रक्त, मूत्र, कफ, विष्ठा ये ही वस्तुएँ मिलती हैं। यह खेल तो अशुद्ध खेल है। खेल उन्हींका शुद्ध है, जो शुद्ध रूपके साथ खेलते हैं। उन्हें ही अपना सखा, स्वामी, सुत या पति मानकर उनकी क्रोड़में क्रीड़ा करते हैं। जो खेलमें सम्मिलित हो गया, उसका जीवन धन्य हो गया, व्रजके बड़भागी बालगोपाल आनंद-घन नंदनंदनके खेलमे सम्मिलित हुए थे, इसीलिये विश्व-वन्दित बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके साथ ग्वालबाल यमुना-पुलिनमें बैठे हँसी विनोद कर रहे थे। अब श्रीकृष्ण वनकी शोभा देखनेके लिये वनमे भ्रमण करने लगे। बच्चे भी इधरसे उधर हँसते हुए घूमने लगे। श्रीकृष्ण शोभा निहारते निहारते दूर निकल गये। अब बच्चोंमें होड़ लगी—"देखें, कनुआ भैयाको कौन पहिले जाकर छुये?" अब सब दौड़ने लगे। जो दौड़नेमे सबसे अधिक पटु थे वे आगे दौड़कर भगवान्से लिपट गये और हँसते हुए बोले—"हमने छुआ हमने सबसे पहिले छुआ।" श्रीकृष्ण उनके दौड़नेकी प्रशंसा करते। फिर दूसरे दूसरे हँसी विनोदके खेल करने लगते।

श्रीकृष्णचन्द्र सबसे कहते—'अच्छा भाई तुम लोग वंशी बजा बजाकर तो दिखाओ, कैसीवंशी बजाते हो?" तब सब वंशी

सुनाते। भगवान् कहते—"ऐसे नहीं भाई, सब एक स्वरमें एक साथ बजाओ। सबका ताल स्वर एक होनेसे यही मूर्तिमान प्रेम प्रकट हो जाता है। प्रथकता ही प्रेममें घातक है एकता ही स्नेहकी जननी है।" यह सुनकर सब मडल बाँधकर खडे हो जाते और एक स्वरमें सब वशी बजाने लगते। भगवान् सबके बीचमे खडे होकर वशी बजाते और सबसे कहते—"तुम सब मेरे स्वरमे अपना स्वर मिला दो।" गोप ऐसा ही करते। आनद की एक प्रबल धारा बहने लगती। जीवको निरानद अनुभव तभी होता है, जब वह भगवान्के स्वरमें स्वर नहीं मिलाता। अपनी प्रथक् बेसुरा राग अलापता है। जिसने अपना स्वर भगवान्के स्वरमे मिला दिया—आत्मा समर्पण कर दिया—उसे फिर कभी निरानदका अनुभव नहीं करना पडता। इस प्रकार बहुत देर तक बाँसुरी वादन होता रहता।

फिर भगवान् कहते—'अच्छा, नरसिंहे बजे" तब सब अपने अपने नरसिंहे निकालते। नरसिंहोंकी ध्वनि होती। इतनेमें ही बहुत-से भौंरे पुष्पोका मधु पीने आ जाते। अब लडके नरसिंहेको बजाना तो भूल जाते। गुन गुन करके उनके स्वरोंका अनुकरण करते। भौंरोंकी भाँति गुजार करते। कोई कहता—"हट, सारे! तू भौंराकी भाँति गुँजना नहीं जानता। देख, ऐसे भौंरा गुँजार करता है' यह कहकर वह गुजार करने लगता। इतनेमें ही आमकी डालपर कोकिला कूकने लगती। तब उसकी बोलीका अनुकरण करके ,कु कू कूकू कूकू' करके बोलते। लडके जितने ही उच्च स्वरसे बोलते, कोकिला भी उसी प्रकार कूजती रहती। यशोदा और कोकिलाका कठ प्राय एकसा ही मिल जाता है। श्रीकृष्णभी अन्य बालकोंकी भाँति कोयलोंके साथ कूकू कूकू करके आनन्दित होते।

कोई किसी पक्षीको आकाशमे उडती हुई देखते और

पृथिवीपर उसकी छायाको देखते, तो वे भी छायाके सहारे सहारे दौडे जाते। हिरनोको दौडते देखकर स्वयं भी उनकी भाँति छलांगे मारकर दौड़ते। बहुत लडके हंस आदि जंगली जीवोंको आते देखते तो उनकी चालका अनुकरण करते। बहुत से बगुलोंको मछलियोंको पकडनेके लिये एक टांगसे खडे होकर, नेत्र बन्द करके समाधि लगाये देखते तो, बच्चे भी बगुला भगत बनकर उनके ही समान मिथ्या समाधि लगाते। दूसरोंसे कहते—"राम नाम जपना, पराया माल अपना।"

उसपर दूसरे कहते—"बडे बगुला भगत बने हो। 'मुखमें राम बगलमें छूरी'। इसपर सब हँस जाते और भूमिमे लोट कर मिथ्या दंडवत् करके कहते "बगुला भगतजी! डडौत। तुम्हे डंडौते तुम्हारी समाधिको डडौत।"

कोई कोई जब मयूरोको नाचते देखते तो उनके समान ही वस्त्र फेलाकर उनके साथ साथ नाचते। पैकू पैकू करके मोरकी बोली बोलते। कोई मोर अपनी पख डाल जाता तो बच्चे उठाकर लाते और श्रीकृष्ण उसे अपने मुकुटमे धारण कर लेते। श्रीकृष्ण को मोरके पंखोंका मुकुट बहुत प्रिय है।

इस पर शौनकजीने पूछा—'सूतजी! भगवान् मोरके ही पखका मुकुट क्यों पहनते हैं। मोरपंख तो कोई अच्छी वस्तु नहीं। मोरकी एक प्रकारकी पूँछ है। ऐसी वस्तुको भगवान् सिरपर क्यों धारण करते हैं।"

इसपर सूतजीने कहा—'अब भगवन! श्रीकृष्ण की बात तो श्रीकृष्ण ही जाने। जिसपर कृपा हो जाय। मुख्य कारण तो भगवान्‌की कृपा ही है जिसपर भी रीझ जायँ। भगवन्! मोरपंख बड़ी अच्छी और गुणकारी वस्तु है। जिसे मृगीका रोग हो, मोर पंख जलाकर शहदमें चटा दे। मृगी दूर हो जाय भूत बाधा इससे दूर होती है। मोर सबमे शुद्ध पक्षी है। यह

जीवन भरमें कभी मैथुन नहीं करता। नाचते समय इसके हृदय में प्रेम उमडता है। उसी प्रेमके वेगमें इसके नेत्रोंसे अश्रु निकलते हैं उन अश्रुओंको मोरनी पीती हैं। उससे उनके गर्भ रह जाता है।

एक दिन श्रीकृष्ण जंगलमे घूम रहे थे, एक मोरने अपने पंखको उखाडकर फेंक दिया। श्रीकृष्णने उससे कहा—"भाई, उसे क्यों फेंकता है, इसे गिरावे मत अपना ले।" उसने एक भी बात न सुनी। तब श्रीकृष्णने उसे उठाकर सिरपर धारण कर लिया और कहा—"जिसे सब ठुकरा देते हैं, उसे मैं अपनाता हूँ, अपने सिरका मुकुट बनाता हूँ।" उसी दिनसे श्रीकृष्ण मोरकी पंखको सदा सिरपर धारण किये रहते हैं।

कोइ कोई कहते हैं—"श्रीकृष्णकी गुणग्राहकतापर रीझकर मयूरने इन्हे पारितोषिक दिया था। इस विषयमे एक कथा है। एक बडा भारी संगीतज्ञ था, उसके संगीतकी बहुत ख्याति थी। किसी समाजमें उसे गानेके लिये बुलाया गया। बहुतसे श्रोता बैठे थे। उसने अपना संगीत सुनाया। उसी सभामें एक विरक्त महात्मा बैठे हुए थे। उनपर एक कौपीन मात्र थी। संगीतके वे बडे विशेषज्ञ थे। उस गानेवालेने ऐसा सुन्दर संगीत सुनाया, कि विरक्त महात्मा विमुग्ध हो गये। वे कुछ पारितोषिक देना चाहते थे, किन्तु उनके पास कुछ था ही नहीं। तुरन्त उन्हें अपनी लँगोटी याद आयी। लँगोटी उतारकर उन्होंने गानेवाले पर फेंक दी। इतने बडे महात्माकी ऐसी गुणग्राहकता देखकर गानेवालेके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। कलाकारकी कलाकी कोई विशेषज्ञ हृदयसे प्रशंसा कर दे, इससे बढकर उसके लिये दूसरा और कोई पारितोषिक ही नहीं। कलाकारने भरी सभामें सबके देखते देखते बडी श्रद्धा भक्तिके साथ उस लँगोटीको सिरमें बाँध लिया। ऐसी ही घटना श्रीकृष्ण चन्द्रके साथ भी घटी।

मोर नाच रहा था, श्रीकृष्णचन्द्र उसके नाचपर वंशी
ाते रहे। वंशी बजानेमें तो ये प्रवीण ही ठहरे। नाचके बोलों
ऐसी ताल और लयके साथ वंशी बजायी, कि मोर इनके वंशी
ानेकी कलापर रीझ गया। उसने अपना एक पंख उखाड़कर
हें पारितोषिक रूपमें दिया। उन्होंने भी उसकी गुणग्राहकताके
रितोषिकका सम्मान किया और उसे सिरपर सदा धारण करते
।

इस प्रकार भगवान्‌के मोरमुकुट धारण करनेके विषयमें
द्वान् बहुत-बहुतसे कारण बताते हैं, किन्तु मैं तो समझता हूँ।
रपख सुन्दर होती है, जंगलमें रहनेवाले गोपोंको वह सुन्दर
गती है, वे मोर पंखोंको एकत्रित करते रहते हैं, उनसे अपने
य भैंस आदि पशुओंके लिये गड्डे बनाते हैं। स्त्रियाँ नाकके
को बढ़ानेके लिये सेंठाके स्थानमें छीलकर नाकमें पहिनती हैं।
नोंके छेद बढ़ानेको कानोंमें पहिनती हैं। गोपोंके बच्चे उनका
कुट बनाकर सिरपर पहिनते हैं। भगवान्‌ने भी गोप वेष
रण किया था, अतः वे अपनी गैयोंको भी मोरमुकुट
हेनाते थे और स्वयं भी मोर मुकुट धारण करते थे।
! महाराज! यह तो भगवान्‌का गोपवेष है। अपने ऊपर
ैश्वर्यको छिपानेका उपकरण है। भगवन्! अखिलकोटि
ब्रह्माण्डनायक परात्परप्रभुने कैसी-कैसी मनुष्योंको मुग्ध करने
ली लीलाएँ कीं। इन्हीं सर्वान्तर्यामी प्रभुको तत्वज्ञानी पुरुष
ब्रह्मानन्द रूपसे अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्डको
हण करनेसे ये ज्ञानी लोग इन्हें ब्रह्म कहते हैं और निर्गुण
राकार रूपमें इन्हें प्राप्त करते हैं। जो दास्यभावके उपासक हैं।
नका सिद्धान्त है, मैं अकेला सेवक हूँ, श्रीकृष्ण ही अकेले
रे स्वामी हैं. वे इन्हें सबसे श्रेष्ठ परदेवता मानकर पूजा
र्चा करते हैं। कोई इन्हें ही ब्रह्म कहता है, कोई परमात्मा

कहता है और कोई भगवान् कहता है। आज वे वृन्दावनमें गोपबालक बने हुए हैं। माया मोहित साधारण अज्ञ पुरुष होते हैं, जैसे और गोप बालक थे, वैसे ही ये भी हैं। इनमें बलवीर्य अधिक होगा। उनका ज्ञान अज्ञानसे आवृत है, इसलिये वे मोहको प्राप्त हो जाते हैं और परात्पर प्रभुके विषय ऐसी बातें कहने लग जाते हैं।

भगवानकी यही भगवत्ता है, कि अपार ऐश्वर्यके अधीश्वर होकर आज गोपोंका जूठा खाते हैं, उन्हें कंधोंपर चढ़ाते, उनके साथ खेलते हैं, हँसते हैं, चंचलता करते और भाँति-भाँतिके विनोदयुक्त चरित्र दिखाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"भगवन्! व्रजमें भगवान् भोरे बनकर प्राकृत शिशुओंके सदृश सुखद क्रीड़ाएँ करते हैं। यद्यपि उनकी क्रीड़ाएँ अनंत हैं, फिर भी आगेमें कुछ और क्रीड़ाओंका दिग्दर्शन कराता हूँ आप समाहित चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

नरसिंहाको शब्द करें श्वाननि सँग भूके।
सुनि कोकिलकी कूक ताहि सँग कोई कूकें॥
कोई बनिकें व्यास कथा वेदनिकी बाँचें।
कोई पट फैलाइ विहँसि मोरनि सँग नाँचें॥
कोई खग छाया लखें, सँग-सँग दौड़े दूर तक।
हंसचाल अनुकरण करि, कोई पहुँचे प्रभु तलक॥

व्रजवासी बालकोंका सौभाग्य

(६००)

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो-
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यगम्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः,
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥*

(श्र भा० १० स्क० १० अ० १२ श्लो०)

छप्पय

कोई बगुला बने ध्यानको ढाग बनावे ।
कहि कहि बगुलाभगत अन्य गोपाल चिढावें ॥
कोई बन्दर बने चढे तरु ताहि हिलावें ।
कोई खा-खां करे कपिन लखि मुँह मटकावें ॥
बकरी बकरा भेड बनि, चेंमचेंमें कछु करें ।
करि धुनि प्रति धुनि सुनि शपै, कोई ऊँचेतें गिरे ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन भगवान्‌की पावन पादरजका प्राप्त होना उन योगियोंके लिये भी महान् दुर्लभ है, जो अनेक जन्मों तक कष्ट सहकर अपना इन्द्रियों और मनका संयम करने वाले हैं, वे ही भगवान् जिनकी दृष्टिके सम्मुख साक्षात् विद्यमान रहते हैं, उन व्रजवासियोंके भाग्यका वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है ।"

खेलका कोई अर्थ नहीं, जिस खेलका कोई अर्थ है, वह खेल खेल नहीं। खेल खेलके ही लिये खेला जाता है, उससे बुद्धि बढ़ेगी, शरीर पुष्ट होगा, व्यावहारिक ज्ञानकी वृद्धि होगी साधारण वस्तुओंसे परिचय होगा। ये तो उसके आनुसंगिक फल हैं। खेल किसी फलकी इच्छासे नहीं खेले जाते। उसका परम फल है—आनन्दकी वृद्धि। आनन्दमें खेल ही हो सकता है भोला बालक फलकी कुछ भी इच्छा न रखकर खेलता है। परमहंस ज्ञानी मुनि ज्ञान प्राप्तिके अनन्तर समस्त फलोंकी आशा छोड़कर बालवत् क्रीडा करता है। भगवद्भक्तोंके प्रारब्धकर्म भुने चनेके सदृश हो जाते हैं, वे भी जो करते हैं खेलके ही लिये करते हैं। भगवान् भी अवतार लेकर और क्या करें, विश्वका कार्य तो त्रिदेव चलाते हैं। प्राणियोंकी उत्पत्ति करनी हुई तो उस विभागके अध्यक्ष चतुर्मुख ब्रह्मा हैं ही। सब देखते भालते हैं। पालन करनेका काम चतुर्भुज (विष्णु) करते हैं। असुरोंको वे ही मारते हैं, वे ही धर्मकी स्थापना करते हैं, दुष्टोंका नाश शिष्टोंका उद्धार उन्हींका काम है। संहार करना हुआ, त्रिनेत्र शिव हैं ही। वे डमरू बजाकर त्रिशूल घुमाकर जब अपने त्रिशूल से सभी दिशाओंके दिग्गजोंको उनमें छेदकर छत्राककी भाँति उठा लेते हैं, ब्रह्माण्डका संहार हो जाता है। भगवान इन छोटे छोटे कामोंके लिये अवतार नहीं लेते। उनके अवतारका एक मात्र हेतु तो भक्तोंके साथ खेल खेलना है। खेलमें सुख होता ही है, हँसी आती ही है। कभी हँसते-हँसते आँखोंमें आँसू भी आ जाते हैं। अतः हँसना और आँखोंमें आँसू आ जाना यही खेलका प्रयोजन है। श्रीकृष्णावतारमें भगवान् ने ऐसे ऐसे प्राकृत खेल खेले, कि मायामोहित मनुष्योंकी तो बात ही क्या ब्रह्माजी भी मोहित हो गये। उन्हें भी उनकी भगवत्तामें संदेह होने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वृन्दावनके वनोंमें सखाओंके

सहित श्यामसुन्दर बडी बडी सुन्दर लीलाएँ करते थे। वे ग्वाल-बालोंको बन्दर बनाकर स्वयं भी बंदरोंकी सी आकृति बना लेते और बदरोंकी ओर खों-खों करके घुडकी देते। वृक्षों पर

चढकर उनकी ओर मुँह बनाते, कभी बन्दरके बच्चोंकी लटकती हुई पूँछको ही पकड लेते। तब वह बच्चा चीं चीं करके भाग जाता। आप वृक्षकी एक शाखासे दूसरी शाखापर उछलते फिरते।

कभी कोई सखा किसी सखासे अकस्मात् कहता—"अ देखो ! वह क्या है ?" वह आश्चर्यके साथ देखने लगता। त वह कहनेवाला कहता—"छम्मक पड़ गयी, छम्मक पड़ गयी बड़े दिननिमें कान पकेंगे।"

कान पकनेके भयसे जिसे 'छम्मक' लगी थी वह उससे कहता है—"भाई ! हमारी छम्मकको उतार दे।"

तब वह लड़का दोनों हाथोंकी हथेलियोंको परस्परमें मिलवा लेता और दोनों हाथोंके पीछे चुटकी भरकर कहता—"तातो उतारूँ या सीरी ?"

लड़का 'सीरी' अर्थात् ठंडी कहता तो कम नोंचते, यदि ताती अर्थात् गरम कहता तो अच्छी तरह नोंचते फिर कान पकड़वाकर हिलाते। अथवा छम्मक लेनेका एक यह भी प्रकार है, कि जिसे छम्मक लगी है उसकी छम्मक उतारनेवाला अपने एक हाथकी तजनी और मध्यमा दोनों उँगलियोंको फैलाकर उन पर दूसरे हाथकी तर्जनी और मध्यमा दो उँगलियोंको फैलाकर आड़े तिरछे रखता। इससे चारों उगलियोंके बीचमें एक चौकोने छेद बन जाता, उस छेदमे छम्मकवाले लड़केकी उँगलीको प्रवेश कराते फिर उसमे अँगूठेका नख गड़ाते। लड़का सी-सी करता। सी-सी करनेसे ही छम्मक उतर जाती।

कभी कोई लड़के नदीके कछारमें थोड़ेसे बहते हुए जलमें गोता लगाते। उसमें मेढ़क टर्र टर्र करते। तो लड़के भी उनका अनुकरण करके मेढ़क बनकर टर्र टर्र शब्द करते। कभी जलसे बाहर निकलकर मेढ़क फुदकते तो आप भी उनके साथ फुदकने लगते। मेढ़कचाल चलने लगते।

कोई जलमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर मुँह मटकाते, सैन चलाते, गालोंको भींचकर उन्हें मुखमें ले जाते लम्बा-सा मुख बन जाता आँखें निकल आतीं। जलमें भी अपना ऐसा ही प्रतिबिम्ब

देखकर हँसते हँसते लोट पोट हो जाते। फिर आपसमें मुँह बनाते आपसमें होड लगाते। 'देखो, कौन कितने प्रकारसे विचित्र-विचित्र मुख बनाता है, कोई नीचेके ओठको खींचकर दाँतोंको बार-बार ऊपर ले जाते। कोई एक गालको चिपकाकर मुँह मटकाते। कोई मुखको चोंचकी भाँति बनाकर उसे दोनों ओर बराबर घुमाते। कोई अपनी बत्तीसीको दिखाकर आँखोंको मटकाकर दूसरोंको डराते, कोई लम्बी-जीभ निकालकर आँखोंको फाड देते। विचित्र मुख बना लेते। दूसरे उनकी ऐसी मुखाकृतिको देखकर हँसते हँसते भूमिपर गिर जाते, फिर ये भी हँसने लगते इस प्रकार बडी देर तक मुख बनानेका ही खेल होता रहता।

फिर कोई अँधेरे कूपमें—"जिसमें पानी न हो—जाकर ओ-ओकी ध्वनि करते। भवनमें कूएमें ध्वनि करनेसे प्रतिध्वनि आती ही है। तब लडके कहते—"क्यों सारे हमें चिराता है?" फिर वहाँसे भी ऐसी ही ध्वनि सुनायी देती। तो सब उस प्रतिध्वनिको गाली देते। कूएँकी ध्वनि ही जो ठहरी जैसा कहोगे वैसी प्रतिध्वनि आवेगी।

कभी किसी पेडके पत्तेकी पीपनी बनाकर उसे बजाते। कभी अपने बायें हाथकी उँगलियोंको कुछ मोडकर उसमें अँगूठा मिलाकर आधी मुट्ठीसे बाँधते उसमें एक बडा छिद्र बन जाता। उस छिद्रपर कोई पत्ता रखकर दूसरे हाथकी हथेलीको ऊपर बलपूर्वक पटकते, इससे वह फट्ट शब्द करता हुआ फट जाता। तब दूसरे भी उसका अनुकरण करने लगते। फट्ट फट्टका शब्द सुनकर सब हँसने लगते। कभी कोई अपनी बगलमें हाथ रखकर बगलको ले जाते। अपानवायु छोडनेका-सा शब्द होता। सब उसे सुनकर लोट पोट हो जाते। कभी गालपर हाथ रखकर गाने लगते। कभी दो लडके हाथोंको मिलाकर उसपर श्रीकृष्णको बिठाकर उन्हें दूर ले जाते। और कहते—"नन्दके आनन्द

भयो,, जै कन्हैयालालकी, हाथी दीन्हें घोडा दीन्हे और दी पालकी।" बहुत दूर ले जाकर श्रीकृष्णको उतारते फिर उन विवाह करते। बहू आती, गीत गाते और न जाने कितनी अने प्रकारकी क्रीडाए करते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इन ब्रजवासी ग्वालबालोंक क्या सराहना की जाय। महर्षियो! हमे जब अपना कोई अत्यन्त प्यारा मित्र मिल जाता है, तो हृदयमे प्रेमकी कैसी हिलोरें उठने लगती हैं, चित्त चाहता है, सदा इसके मुखको ही देखते रहें। मन चाहता है एकान्तमें बैठकर इससे घुल-घुलकर अनन्तकाल तक प्रेमकी मीठी-मीठी बाते करते रहें। मनमें होता है इसस हृदय सटाकर सदा एक ही स्थानपर बने रहें। जब ससारी प्रेमनें इतना अधिक आकर्षण है तो प्रभु प्रेममे तो न जाने कितना आकर्षण होगा।

हम किसी सत महात्मा तथा महापुरुषकी जीवनी पढ़ते या सुनते हैं, उसमें जब ये प्रसङ्ग आते हैं, कि वे अपने भक्तोंन अनुयायियोंसे कितना प्यार करते थे। एकान्तमें उनक ऊपर कितना स्नेह प्रदर्शित करते थे, उनके साथ कैसी मधुमयी रहस्य भरी लीलाएँ करते थे, तो हमारे मनमे एक हूक-सी उठती है—"हाय! उस समय हम न हुए। उन महत्पुरुषकी लीलामे हम सम्मिलित न हो सके। हम उनके चारु चरित्रोंको अपने नेत्रोंन नहीं निहार सके।" जब महापुरुषोंके चरित्रमें अब तक इतना आकर्षण बना रहता है, जो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक हैं, उनके चरित्रोंमें यदि हृदयको विह्वलकर देनेवाली, इन तत्रीके तारोंको झकृतकर देनेवाली विद्युत है, तो इसमें आश्चर्यकी ही कौन-सी बात है।

जिन प्रभुके चरण कमलकी रजके लिये ब्रह्मादि देव तरसते रहते हैं, जिनके भुवन मोहन स्वरूपकी केवल झाँकीके लिये यहाँ

बड़े योगी, विरागी तेजस्वी तपस्वी मुनि असंख्यो जन्मों तक जप तप करते रहते हैं, वे आनन्दघन विग्रह, परात्पर प्रभु बालक बनकर वृन्दावनके गँवार ग्वारियोंके छोकरोंके साथ सदा सुख पूर्वक खेलते रहते हैं। बालक उन्हें मारते हैं, गाली देते हैं, उनके ऊपर चढ़ जाते हैं। प्यार करते हैं, पुचकारते हैं, साथ खाते है, अपना जूठा खिलाते हैं, उनका जूठा खाते हैं। उन बालकोंके भाग्योंकी क्या प्रशंसाकी जाय ? जिन ब्रजवासिनियोंके घरोंमे वे जा-जाकर हँसते खेलते हैं, नाचते गाते हैं, दूध मलाई खाते और अपनी अलौकिक लीलाओं द्वारा रिझाते हैं, उन गोपाङ्गनाओंकी जो भी प्रशंसाकी जाय, वही न्यून है। जिन गोपोंको श्रीकृष्ण बाबा, चाचा, ताऊ, दादा और भैया आदि कहते हैं, उनकी आज्ञाओंको मानते हैं। उनके बार-बार मुख चूमनेपर संकोचसे मुख नीचा कर लेते हैं, उन गोपोंकी किनसे उपमा दी जाय। महाभाग ! अब मैं बाललीलाओंका वर्णन कहाँ तक करूँ अब एक असुर उद्धारकी भी चटनी चख लीजिये।"

छप्पय

कोई मेढक बनें मलिन जलमहँ घुसि जावे।
कुदकि कुदकिकें चलें टर्र करि शब्द सुनावे॥
जलमहँ लखि प्रतिबिम्ब हँसे इत-उत भगि जावें।
लखि लखि लीला ललित लाल अति हिय हरषावे॥
भक्तनिके भगवान् जो, ज्ञाननिके जो ब्रह्म हरि।
कहें अज शिशु आज ते, ब्रज विहरे नर-वेष धरि॥

अघासुरका आगमन

(६०१)

अथाघनामाभ्यपतन्महासुर-
स्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः ।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः,
पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥१

(श्रीभा० १० स्क० १२ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

जिनकूँ ग्वालगँवार खेलमें खेलि हरावें ।
तिनि ग्वालनिके भाग्य इन्द्र विधि शम्भु सरावें ॥
या करि क्रीडा कृष्ण सबनिको चित्त चुरायो ।
तबई तहँ अघ असुर बकी बक भाई आयो ॥
बहिन बन्धु मेरे हने, सोचे खल जा श्यामने ।
मारूँ गोपनिके सहित, अब अरि आयो सामने ॥

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन्! जिस समय भगवान् बालकोंके साथ ऐसी ऐसी आनन्दमयी क्रीड़ाएँ कर रहे थे, उसी समय उन क्रीडाओं को न सह सकनेवाला अघनायक महाअसुर वहाँ आया वह ऐसा भयंकर असुर था, कि अमृत पीकर अमर हो जानेपर भी देवगण उससे भयभीत होकर अपने प्राणोंकी रक्षाके निमित्त, उसकी मृत्युके अवसरकी प्रतीक्षामें बने रहते थे।"

श्रीकृष्णकी प्रधान लीला है क्रीड़ा, फिर वह चाहे गोपोंके साथकी जावे या गोपियोंके साथ, कृष्ण क्रीडाके ही निमित्त अवनिपर अवतरित होते हैं। क्रीड़ाप्रिय-रागभोगप्रिय—होने पर भी वैष्णवी शक्ती तो उनके श्रीअङ्गमें सन्निहित ही है। श्रीकृष्णके साथ पालक प्रभु श्रीविष्णुने भी तो अवतार लिया ही है। श्रीविष्णुका काम है, दुष्टोंका दमन शिष्टोंका पालन। अतः बीच-बीचमें जैसे अभिनयके मध्यमें रुचि बदलनेको हास परिहास मनोरंजन हो जाता है, वैसे ही क्रीड़ाके मध्यमे असुर संहार भी होता रहता है, इससे श्रीकृष्णके प्रति अनुरागकी वृद्धि होती है। यह लीलायें ऐश्वर्यकी प्रदर्शिनी न होकर माधुर्यकी पोषक होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण तो भोरे बने इधर क्रीड़ा कर रहे थे, उधर कंस चिन्ता में निमग्न था। उसने पूतना को भेजा, कृष्णने उनकी सद्गति कर दी। बकको भेजा वह भी इहलीला समाप्त करके परमपदको प्राप्त हुआ। अब उसका एक भाई अघ नामक असुर और अवशिष्ट रहा। श्रीकृष्ण जिसे अपनाते हैं, जिसका उद्धार करते हैं, उसके पूरे परिवारको तारते हैं। प्रह्लादजीपर प्रसन्न होकर प्रभुने उनसे वर माँगनेको कहा। प्रह्लादजीने कहा—'प्रभो! मेरे पिता आपका प्रभाव नहीं जानते थे, वे सदा आपकी निन्दा करते थे, आपसे द्वेष रखते थे। उनकी दुर्गति न हो यही वर आप मुझे दें।" यह सुनकर नृसिंह प्रभु हँस पड़े और बोले—"अरे, भैया! यह तुमने क्या वर माँगा। तुमतो अपने पिताकी ही बात कहते हो, तुम्हारी तो सात आगेकी सात पीछेकी और सात मातृकुलकी इस प्रकार इक्कीस पीढ़ियाँ तर गईं। तुम जैसे भगवद् भक्त जिस कुलमें उत्पन्न हुए है, उसके पिताके तरनेमे क्या संदेह? जिसके अंगका स्पर्श मुझे हो जाय, उसकी तो बात क्या उसके कुलके लोग भी तर जाते हैं।"

बकी पूतनाके दो भाई थे एक बक एक अघ। बक तो बक बनकर वासुदेवके हाथसे मारे जानेके कारण तर गया। रह गया अघ। यह भी द्वेष बुद्धिसे ही भगवान्‌का भजन क था। सर्वेश्वर प्रभुको शत्रु भावसे ही भजता था। उसने अपनी बहिन तथा भाईके वधकी बात सुनी, तो वह वंशीधर बहुत बिगड़ा। उसने क्रोधमें भरकर कहा—"मैं अपनी बहि और भाईके मारनेवालोंको मारूँगा।" कंस तो यह चाहता था। उसने अघको बुलाकर कहा—"भैया! नन्द—व्रजमें मेरे शत्रु है, तुम्हारी बहिन तथा भाईको भी उसीने मारा है, अत वह तुम्हारा भी शत्रु है, उसे जैसे हो तैसे मारना चाहिये।

अघासुरने कहा—"राजन्! आप चिन्ता न करें। मेरी बहिन तथा भाईको उस मायावीने छलसे मार दिया होगा। मैं ऐसा रूप बनाऊँगा, कि मेरे पेटमें आते ही ग्वालबाल और बछड़ों सहित तुम्हारा शत्रु मर जाय। मैं अभी वृन्दावन जाता हूँ।" ऐसा कहकर वह शत्रु वृन्दावनकी ओर चल दिया।

वृन्दावनमें जाकर उसने देखा। असंख्यों सुन्दर-सुन्दर बछड़े यमुनाजीके पुलिनमें हरी हरी दूब चर रहे हैं। आनन्द कन्द व्रजचन्द्र श्रीकृष्ण भगवान् सखाओंके सहित वन विहार कर रहे हैं। श्रीकृष्णको अत्यन्त ही प्रसन्नताके साथ सखाओं सहित सुख पूर्वक क्रीडा करते देखकर उसका तन मन जल गया। उसे अत्यन्त ईर्ष्या हुई। भगवान्‌को देखते ही वह समझ गया—"यही मेरे सहोदर भाई तथा बहिन दोनोंका नाश करने वाला है। अतः इसे मैं आज इसके साथियों सहित मार डालूँगा। मुझे अपने भाई तथा बहिनका श्राद्ध तथा तर्पण भी करना है, तो इन ग्वालबालोंको ही तिलोदकके स्थानमें मैं दूँगा। सखा सहित श्रीकृष्णको मारनेमें मेरे दो लाभ हैं, एक तो मैं अपने मृत भाई बहिनके शत्रुसे बदला ले लूँगा, दूसरे

तब ग्वालबालोंके मरनेसे समस्त व्रजवासी भी मृतक तुल्य हो जायँगे। क्योंकि प्राणियोंके यथार्थ प्राण सन्तान ही हैं। आत्मा ही पुत्र रूपमें उत्पन्न होता है। अपने आत्मामे और पुत्रमें कोई अन्तर नहीं होता। इन प्राणोंके नष्ट हो जानेपर शरीरको चिन्ता ही क्या रहेगी ?"

इस प्रकार सोचकर वह उस मार्गमे बैठ गया—जहाँसे बछड़े निकलनेवाले थे। उसने सोचा—"अब कौनसा रूप बनाऊँ।" बहुत सोच समझकर उसने निश्चय किया—"मैं बडा भारी अजगर विषधर बन जाऊँ। जिससे ग्वालबालोके सहित श्रीकृष्णचन्द्र मेरे मुखमे आते ही भस्म हो जायँ।" यही सब सोचकर उस दुष्ट दैत्यने महापर्वतके समान चार कोश लम्बा अपना अत्यंत स्थूल शरीर बना लिया। वह बडा ही विचित्र बन गया था। कोई उसे देखकर पहिचान ही नहीं सकता था, कि यह कोई प्राणधारी जीव है। सभी दूरसे देखकर उसे कोई छोटा मोटा पर्वत ही समझते थे।

अजगर वायु पीकर रहता है। वह कुछ श्रम नहीं करता। आलसियाकी भाँति चुपचाप पडा रहता है। जब उसे बहुत भूख लगती है, तो अपने स्थानपर पडे ही पडे मुँह फाडकर साँस लेता है। जहाँ उसने साँसली, भगवान्‌ने उसकी साँसमे ऐसी शक्ति दी है, कि उसके आस-पास शशक, शृगाल, मृग, पशु, स्त्री, मनुष्य तथा और भी कोई जीव होता है, वह अपने आप उसके मुखमें खिंचा हुआ चला जाता है, उसे वह निगल जाता है और चुपचाप फिर पड जाता है। यह अघासुरतो चार कोश लम्बा चौडा अजगर बना था। इसका मुख कितना बडा होगा, कि पहाडकी बडी गुफाके ही समान वह लम्बा चौडा प्रतीत होता था। उसी मुखको फाडकर वह मार्गमे सो गया।

आकाशमें कुछ-कुछ मेघ छाये हुए थे। श्रीकृष्णको धूप न

लगे, इस विचारसे मेघोंने मानों उनके ऊपर आतपत्र लगा दि हो। उस अजगर बने अघासुरका ऊपरका ओष्ठतो मेघ मण्डल मिला हुआ प्रतीत होता था और उसका अधर धरासे सटा हु था। मुख फाड़नेसे जो उसके दोनों जबड़े थे वह एक क कन्दराके समान प्रतीत होते थे। उसकी बड़ी-बड़ी दाढ़ें ऐस लगती थीं, मानो पहाड़के छोटे-छोटे शृंग हों। वह जो बड़ी सं लम्बीसी अपनी जिह्वाको बाहर निकाले हुए था, वह ऐसी लगत थी, मानों कन्दराके भीतर जानेकी लाल-लाल सड़क बनी हो। मुखके भीतर ऐसा ही अंधकार था जैसा पहाड़की बड़ी गहरी गुफाओंमें होता है। उसके दो नेत्र चमक रहे थे, मानों पहाड़के शिखरपर दो स्थानोंमें दावानल लग गई हो। पहाड़ोंपर बहुधा दावाग्नि लग जाती है! जब प्रचण्ड वायु चलती है, तो वह गुफामें भर जाती है, उसमेंसे एक प्रकारका साँ-साँ शब्द निकलता है। उस अजगर बने अघासुरकी श्वांसका शब्द भी प्रचण्ड वायुके सदृश प्रतीत होता था।

इस विचित्र जन्तुको देखकर बालगोपाल परम विस्मित हुए। कोई कहने लगा—"इतना बड़ा कौन जन्तु है। हमने तो ऐसा जन्तु आज तक कभी देखा नहीं।

यह सुनकर सब बालक हँस पड़े और बोले—"तू बौड़ा भौंदू है रे। इतना बड़ा कहीं जन्तु होता है? यह तो वृन्दावनकी शोभा है।"

दूसरा बोला—"भैया! पहिले तो हमने यहाँ कभी ऐसी विचित्र वस्तु देखी नहीं थी।"

इसपर कोईअन्य बोला—"यह कोई गोवर्धन पर्वतकी ही शाखा है।"

इसपर पहिला ही बोला—"यह न वृन्दावनकी शोभा है, न गोवर्धन पर्वतकी कोई शाखा है। हमें तो यह सजीव कोई

अजगर जैसा जीव प्रतीत होता है। मुख फैलाये हम सबको खानेके लिये बैठा है। क्या यह चौड़ा-चौड़ा खुला हुआ अजगर का मुख नहीं मालूम देता ?

इसपर एकने कहा—'यह अजगर-फजगर कुछ नहीं है। गोवर्धन पर्वतकी कोई शाखा है, यह खुली हुई उसकी कोई भारी कन्दरा है।"

इसपर एक बालक बहुत गम्भीर होकर बोला—"हो सकता है पर्वत ही हो, किन्तु इसका आकार प्रकार ऐसा बन गया है, मानों कोई बड़ा भारी अजगर ही लेट रहा हो। अच्छा इस पर्वत शिखरकी अजगरके साथ उत्प्रेक्षा करो।"

एक वाचाल सा बालक बोला—"इस गुफाका मुख अजगर के समान क्या नहीं प्रतीत होता ? सूर्यकी किरणोंके संसर्गसे रक्त वर्णका बना मेघ मण्डल क्या अजगरके ऊपरके ओठके सदृश दिखाई नहीं देता ? लालवर्णके मेघकी परछाईं से भूमि भी लाल-सी दिखाई देती है, वह ऐसी लगती हैं मानों अजगरका अधर भूमिपर रखा हो। इस बडी गुफाकी दाईं या बाईं गिरि गुहायें ऐसी लगती हैं जैसे अजगरके जबड़े हों। इन ऊँची-ऊँची गोवर्धनकी शिखर-पंक्तियोंको देखकर किसे अजगरकी दाढ़ोंका भ्रम न होगा ? यह जो इस गुहाके भीतर लाल-लाल चौड़ी-सी सडक गई है, इसे देखकर कोई कह सकता है, कि यह अजगरकी जिह्वा नहीं है ? इस गुहाके भीतरका अन्धकार अजगरके मुखका आन्तरिक शून्य भाग-सा प्रतीत होता है। दावानलकी उष्णताके कारण उष्ण हुआ यह वायु सर्वथा अजगरकी श्वास-सा जान पड़ता है। दावानल लगनेसे बहुत मृग वराहादि अरण्य पशु जल गये होंगे, उनकी मांसकी दुर्गन्धिसे गुहाका वायु भी दुर्गन्धित हो गया होगा, किन्तु यह

ऐसा प्रतीत होता है, मानों जन्तुओंका मांस खाकर अजगर स्व
छोड़ रहा हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! बालगोपाल जो इस अघ
अघासुरको पर्वत शिखर समझकर उत्प्रेक्षा कर रहे थे। व
उत्प्रेक्षा न होकर यथार्थ बात थी, किन्तु वे सब तो बालक ही
ठहरे, उपमेयको 'उपमा' मानकर जो वे कल्पनाकर रहे थे। व
झूठी थी। वास्तवमें वह अजगर बना असुर ही था। उसने क
क्या माया की उसे आगे कहूँगा।

छप्पय

यों करि निश्चय बन्यो असुर अजगर अतिभारी।
मुख गिरिगुहा समान सड़क सम जीभ निकारी॥
अधर धरापै धरयो ओठ घन नभमहँ लाग्यो।
बालनिके उर दृश्य निरखि कौतूहल जाग्यो॥
उपमा अजगरते करें, गिरिकी गुहा बताइकें।
कोई कछु कहि-कहि हँसे, तुलना करें सिहाकें॥

———

अघासुरके मुखमें बालक बछड़े तथा बनवारी

(९०२)

कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनम्,
न वा अमीषां च सतां विहिंसनम् ।
द्वयं कथं स्यादितिसंविचिन्त्य तत्,
ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० १२ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

बाल सुलभ चाचल्य कहँ जाम घुसि जावें ।
होहि असुर बक सरिस मरे लखि सब सुख पाव ॥
यों कहि अहि मुख घुसे बजावत बालक तारी ।
पुनि बछरा घुसि गये भये चिन्तित बनवारी ॥
अन्तयामी असुरको, जानि सकल छल बल गय ।
बालक बछरा बचें कस, मर असुर सोचत भये ॥

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीभगवान् सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए। काम ऐसा हो जिससे इस दुष्टका जीवन भी न रहे और इन सरल बालकोंकी हिंसा भी न हो। कैसे ये दोनों काम हों, इसकी चिन्तना करते-करते अशेषदृक् भगवान् वासुदेव अपना कर्तव्य स्थिर करके स्वयं भी उसके मुखमें घुस गये।

बिना आत्म समर्पण किये सख्य सौहार्द्र होता नहीं। अपने सखापर जब तक पूर्ण विश्वास न होगा, तब तक वह यथार्थ मैत्री नहीं कही जा सकती। हमारा सुहृद् जो भी करेगा, हमारे हितके ही लिये करेगा, यह भावना दृढ़ बनी रहे तब ही मित्रता में सुख है। जहाँ संदेह है, संशय है, विश्वासकी कमी है, वहाँ मित्रता नहीं, सख्य नहीं, स्वार्थ है, व्यापार है, अदला-बदली है, व्यवहार है। इस सम्बन्धकी एक कथा है। दो मित्र कहीं साथ साथ वनमें जा रहे थे। घूमते घूमते वे थककर एक स्थानमें बैठ गये। संसारमें यदि सबसे सुन्दर सबसे सुखकर सबसे आकर्षक यदि कोई शैया है तो अपने प्रेमीकी गोदी ही है। एक मित्र दूसरे मित्रकी गोदीमें सिर रखकर सो गया। इतनेमें ही एक बड़ा भारी सर्प आया और वह गोदीमें सोये हुए व्यक्तिको काटने दौड़ा। जिस मित्रकी गोदीमें वह मित्र सोया हुआ था उस मित्रने सर्पसे विनयपूर्वक पूछा—"तुम इसे क्यों काटना चाहते हो?"

सर्पने कहा—"मेरा इसका पूर्वजन्मका वैर है।"

मित्रने कहा—"तुम्हें तो काटना ही है न, इसके स्थानमें मुझे काट लो।"

सर्पने कहा—"तुमसे तो मेरी शत्रुता नहीं। मनुष्य अपने किये कर्मोंका फल अपने आप ही भोगता है। मैंने पूर्वजन्ममें प्रतिज्ञा की थी, कि मैं इसके कंठके रक्तको पिऊँगा। अतः मुझे तुम इसके रक्तको पीने दो—रोको मत।"

मित्रने सोच समझकर पूछा—"तुम्हें केवल इसका रक्त ही पीना है न और तो कुछ नहीं करना है?"

सर्पने कहा—'हाँ, मुझे रक्त ही पीना है।"

तब मित्रने कहा—"देखो, तुम रक्त पियोगे तो तुम्हारी दाढ़ोंमेंसे विष निकलकर इसके रक्तमें मिल जायगा, यह मर जायगा। यदि मैं ही तुम्हें इसके कंठका रक्त निकाल कर दे दूँ

तो तुम्हारा रक्त पीनेका प्रण भी पूरा हो जायगा और इसके प्राण भी बच जायँगे। बोलो, इसमें तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है ?"

सर्प सज्जन था। उसने कहा—"अच्छी बात है, मुझे इसमें भी कुछ आपत्ति नहीं।"

सर्पने जब इस बातको स्वीकार कर लिया तो मित्रने एक तीक्ष्ण खड्ग निकाली और अपनी गोदमें सोये हुए मित्रका रक्त निकालनेको उद्यत हुआ। मित्र अब तक गहरी निद्रामें सो रहा था, उसके साथीसे और सर्पसे क्या बातें हुईं—इसका उसे पता भी नहीं था। जब तीक्ष्ण खड्गसे उसके कंठको वह काटने लगा और एक हाथमें रक्त लेनेको उद्यत हुआ तो कष्टसे उसकी निद्रा उचट गई उसने नेत्र खोलकर देखा, कि कंठको काटने वाला मेरा मित्र ही है, तो तुरन्त उसने पुनः नेत्र बन्द कर लिये। उसे पूर्ण विश्वास था, कि मेरा मित्र मेरे कंठको भी काटेगा, तो मेरे हितके ही लिये काटेगा। मित्रने रक्त निकालकर सर्पको दिया, सर्प रक्त पीकर चला गया। मित्रने अपना वस्त्र फाड़कर पट्टी बाँध दी। दोनों उठकर चल दिये, न उसने कुछ पूछा न उसने कुछ बताया। कुछ दिनमें घाव अच्छा हो गया।

एक दिन उस कंठ काटने वाले मित्रने अपने दूसरे मित्रसे कहा—"भाई ! उस दिन मैं तुम्हारे कंठको काट रहा था, तुमने आँखें खोलकर फिर बंद कर लीं। मुझसे तुमने आज तक कभी पूछा भी नहीं मैं तुम्हारे कंठको क्यों काट रहा था।"

उसने हँसकर कहा—"मुझे पूछनेकी क्या आवश्यकता थी। मुझे कुछ सन्देह होता, शङ्का होती तो पूछता भी। आपके पैर में काँटा लग जाय, और लोहेकी सुइयोंसे अपने मांसको काटे, तो आप अपनेसे प्रश्न तो न करेंगे। आप स्वयं जानते हैं काँटा निकालनेके लिये मांसको कुरेदना आवश्यक है। मेरे कंठके

रक्त निकालनेमें आपने कोई कल्याण ही सोचा होगा। उसमें हस्तक्षेप करने का मुझे क्या अधिकार था। यह सुनकर मित्रने उसे कसकर छातीसे चिपटा लिया और बोला—"भैया! तुम ही धन्य हो, जो तुम्हारा मेरे ऊपर इतना विश्वास है। मेरे ऊपर ऐसी बीतती तो सम्भव है मेरे मनमें संदेह हो सकता।" यह कहकर उसने सर्पकी सब बात सुनाई।

अपने मित्रके ऊपर पूर्ण विश्वास होना यही मैत्रीकी पराकाष्ठा है। एक मित्र सदा सोचता रहे—मेरा मित्र सदा मेरा हित ही करेगा, उसके रहते मेरा अहित कोई कर ही नहीं सकता। दूसरा मित्र सदा सोचता रहे, मैं अपने प्राणोंका पण लगाकर भी मित्रके दुखको हरूँगा।" ऐसे परस्परमें विचार रखनेवाले ही सच्चे सखा हैं, सुहृद् हैं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्रका अपने ब्रजवासी ग्वालबालोंके साथ ऐसा ही सम्बन्ध था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब बाल गोपालोंने उस अजगर बने अघासुरके मुखको पर्वतकी एक गुफा समझा तो एकने कहा—"चलो, इस गुफामें घुस चलें।"

दूसरे ने कहा—"यदि गुफा न हुई और किसी अजगरका मुख ही हुआ तो?"

इसपर एक चुलबुला-सा बालक बोल उठा—"तो क्या, यदि यह कोई असुर अजगर बना हुआ पड़ा होगा, तो कनुआ भैया तो है ही। काल जैसे उसने बगुलाको बीचसे फाड़ दिया था वैसे ही इसे मार गिरायेगा। कनुआ भैयाके रहते हुए हमें किसका भय है?"

सबने एक स्वरसे कहा—"हाँ, ठीक है ठीक है। चलो, इस गुफामें घुसें। यह कहकर वे सबके सब ताली बजा-बजाकर दौड़े और उस अजगर बने असुरके मुखमें घुस गये। वह-

हाओंने भी जब बालकोंको ताली बजाते हुए दौड़ते हुए देखा, तो वे भी उनके पीछे-पीछे उस अजगरके मुखमें घुस गये।

दूरसे भगवान् इस दृश्यको देख रहे थे और बालकोंकी बातोंको भी बड़े ध्यानसे सुन रहे थे। भगवान् के मुखकमल कमनीय शोभाको निहारते हुए ही वे अजगरके मुखमें घुसे थे। उन भोले-भाले अनजान सरल ग्वालबालोंकी विनोद पूर्ण बातोंको सुनकर वृन्दावनविहारी सोच रहे थे—"देखो, इन बच्चोंको कैसा भ्रम हो गया है। ये उपमेयको उपमा समझ रहे हैं। सत्य सर्पको मिथ्या समझकर इसे वृन्दावनकी शोभा मान रहे हैं और इसके अंगोंको गोवर्धनकी गुहा मानकर अजगरके अंगोंसे उपमा दे रहे हैं। भगवान्से तो कोई बात छिपी थी ही नहीं। वे तो सर्वदृक् सर्वदृष्टा तथा सर्वान्तर्यामी ही हैं। वे तो यह सब जानते ही थे, कि न यह वृन्दावनकी शोभा है न गिरिगुहा है, न यह यथार्थ अजगर ही है। अजगरका रूप रखे अघ नामक कंसका सखा, बकी और अघका भाई अघ है। जब इसके भाई बहिनका उद्धार हो गया, तो यही क्यों रह जाय। इसको भी परमपदकी प्राप्ति होनी चाहिये, यह भी अपने भाई बहिनके पथका अनुसरण करे।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! भगवान्ने अपने सखाओंको असुरके मुखमें जानेसे रोका क्यों नहीं?"

सूतजीने कहा—"महाराज, रोकनेका भगवान्ने निश्चय तो किया। अरे, ठहर जाओ, ठहर जाओ, यह दूरसे कहा भी, किन्तु भगवान् कुछ दूर थे, कुछने सुना नहीं, कुछने सुनकर भी अनसुनी कर दी। बाल चापल्य ही जो ठहरा। बच्चोंको जब जो धुनि सवार हो जाती है, उसे करके ही मानते हैं। भगवान्के मना करते-करते ही वे सबके सब उसके उदरमें घुस गये।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! भगवान् उन्हें अपने ऐश्वर्य शक्तिसे रोक देते।

हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! खेलमें कहीं ऐश्वर्य का प्रयोग किया जाता है ? खेल तो खेल ही ठहरा। फिर यह सब भगवान्‌की इच्छासे ही तो हुआ। भगवान्‌को क्रीड़ा करनी थी, अघासुरका उद्धार करना था, इसीलिये यह सब हुआ। जहाँ भगवान् हैं, वहाँ अनिष्टकी तो कोई संभावना ही नहीं।

शौनकजीने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कहना यथार्थ है, भगवान् ही यह सब कुछ करा रहे हैं। यह सब लीलाधारीकी लीला है, कौतुकीकी क्रीडा है, विनोदीका विनोद है। भगवान् तो हर्ष-विस्मयसे पृथक् हैं, उन्हे तो कोई न कोई खेल चाहिये। क्रीडा प्रिय होनेसे क्रीडा किये बिना रह नहीं सकते। अच्छा, तो फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—'भगवन् ! वे बालक बछडे अघासुरके मुख मे चले तो गये, किन्तु उसने उन सबको लीलनेके लिये अपने मुखको बन्द नहीं किया। उसने सोचा जो मेरा प्रधान शत्रु है, वह तो अभी आया ही नहीं। जिस श्रीकृष्णने मेरे भाई बहिनको मार डाला है उस स्वजन सहारीके भी मुखमें आने पर मैं अपने मुखको बन्द करूँगा। यही सोचकर वह भगवान्‌के मुखमें प्रवेश करनेकी बाट जोहने लगा।

भगवान् तो सदा भक्तोंके पीछे-पीछे रहते हैं। भक्त जहाँ भी जाते हैं, भगवान उनका वहीं पीछा करते हैं। सबको अभय प्रदान करनेवाले भक्त भयहारी भगवान्‌ने सोचा—"ये बालबाल मेरा ही विश्वास करके इस असुर अजगरके मुखमे प्रवेश कर गये हैं। इन्हे मेरा ही भरोसा है। मेरे अतिरिक्त इनका कोई अन्य रक्षक नहीं। ये दान बालक मेरे हाथोसे निकलकर मृत्युके जठरानलके ग्रास बन चुके हैं। अब इनका उद्धार होना चाहिये।

भगवान् उस समय चिन्ताग्रस्तसे दिखाई दे रहे थे मानों वे दैवकी विचित्र लीला पर विस्मय प्रकट कर रहे हों और उन दीन दुखी ग्वालबालोंके प्रति दयाके भाव प्रदर्शित कर रहे हों, वे तो लीलाके अनुसार ही भाव बना लेते हैं। नटवर ही जो ठहरे। वे चिन्तितसे हुए सोचने लगे—"अब मुझे क्या करना चाहिये। काम ऐसा हो, कि ये ग्वालबाल और बछडे भी बाल-बाल बच जावें, इस असुरका भी उद्धार हो जावे।" बहुत साचते-सोचते अन्तमें भगवान्ने अपने आप ही कहा—"अच्छा, यों करें।" अपने कर्तव्यका निश्चय करके श्रीहरिने सोचा—"जो मेरे सखाओंकी गति वह मेरी भी गति मैं तो अपने अनुगतोंके सदा पीछे ही रहता हूँ, इसीलिये वे भी ग्वालबाल और बछडोंके पीछे-पीछे अघासुरके मुखमें घुस गये।

सूतजी कहते है—"मुनियो! भगवान्के मुखमें प्रवेश करते ही अघासुरको बडी प्रसन्नता हुई। आकाशमें जो छिपे हुए असुर इस दृश्यको देख रहे थे, वे मार प्रसन्नताके उछलने लगे। अघासुरके अत्याचारोंसे दुखी हुए देवगण इस कारुणिक दृश्यको देखकर दुखी हुए मेघ मडलमें अपने विमानोंपर छिपकर देखनेवाले समस्त अमर हाहाकार करने लगे। अब असुरके मुखमें जाकर जो असुरारीने लीलाकी उसका आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

नदनँदन सरवज्ञ सबनिके घटकी जानें।
असुर अघासुर तिन्हें बन्धुघाती रिपु मानें॥
अघ मुख प्रविशे तुरत दयासागर बनवारी।
सब सुर हाहाकार करें सुख असुरनि भारी॥
अनुगत दासनि के निमित, सब कारज नटवर करहिं।
भक्त चरन रजलोभतैं, नित पीछे-पीछे फिरहिं॥

अघासुर-उद्धार

(९०३)

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि—
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १२ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

मुखमहँ हरिकूँ निरखि अघासुर अति हरषायो ।
सुर मुनि चिन्तित लखे श्याम तनु तुरत बढायो ॥
श्वाँस रुकी स्वर रुद्ध नेत्र निकसे फाट्यो सिर ।
नछरा बाल जिवाइ करे अघ मुखतें बाहर ॥
असुर बदनतैं ज्योति इक, दिव्य निकसि ठाढ़ी भई ।
मुखतैं हरि निकसे तबहिँ, श्याम अङ्गमहँ मिल गई ॥

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन भगवान्‌की मनोमयी प्रतिमाको एक बार भी अन्तःकरणमें धारण करनेसे भक्तोंको भागवती गति प्राप्त हुई है, उन्हीं नित्य आत्मानन्दानुभव स्वरूप मायातीत भगवान्‌ने जिस अघासुरके मुखमें स्वयं प्रवेश किया, उसके उद्धारमें तो किसी प्रकारका सन्देह हो ही नहीं सकता है ।

जिन्होंने अपना सर्वस्व श्यामसुन्दरके चरणारविन्दोंमे समर्पित कर दिया है। जो नन्दनन्दनको सब कुछ समझते हैं, श्रीहरि सदा उनके साथ साथ रहते हैं, यदि भाग्यवश भक्त किसी अशुचि स्थानपर चले जाते हैं, तो भगवान् भी उनका अनुगमन करते हैं। भक्तका पीछा वे छोड नहीं सकते। भक्त जहाँ जायगा, भगवान् भी वहीं जायँगे। भगवान् जहाँ चले जायँगे वहाँ अशुचिता रहेगी ही कैसे? भक्त भयहारी भगवान् जिस स्थानपर पहुँच जायँ, फिर भला वहाँ भयका क्या काम? दुःख तभी तक दुःख है जब तक हमारे साथ श्याम सुन्दर न हो। श्यामसुन्दरके साथ विपत्ति भी सम्पत्तिसे बढकर है, दुःख भी सुखसे अधिक आनन्द देने वाला है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अघासुर तो चाहता ही था, कि किसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र मेरे मुखमें आ जायँ, जब सर्वान्तर्यामी प्रभु स्वय ही उसके मुखमें प्रवेश कर गये, तब तो उसके हर्षका ठिकाना ही न रहा। अब उसने अपने कार्यकी सफलता मानी उसने चाहा—"अब मुख बद करके इन सबको स्वाहा कर जाऊँ।" इधर अघासुर प्रसन्न हो रहा था, उसके सभी साथी आनन्दमे विभोर होकर नाच रहे थे, कसको भी किसी सूक्ष्म शरीरवाले असुरने सूचना दे दी थी, कि तुम्हारे शत्रुको अघासुर निगल गया। इसके विरुद्ध जो देवगण उस असुरकी मृत्यु चाहते थे, जो आकाशमे मेघमंडलोंमें छिपे यह लीला देख रहे थे वे हाय हाय करके डकराने लगे।

अब तक श्रीकृष्णचन्द्रको एक ही चिन्ता थी, ग्वालबाल और बछडोंकी अघासुरके मुखमें रक्षा करना। अब देवताओंके हाहाकारसे दूसरी एक नई चिन्ता व्याप्त हो गई। भगवान इस लीलाको इतना कारुणिक बनाना नहीं चाहते थे, किन्तु लीला शक्तिभी प्रेरणामे ऐसी बन गई। लीला शक्ति भी तो इन्हींका रूप देखकर

काम करती है। अब भगवान् शीघ्रतामें अपने बालकपनके भाव भूल गये। भूल क्या गये, उन्होंने सोचा होगा—"बालक तो वृन्दावनकी भूमिमें हैं, असुरोंके लिये तो हम सदा षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् ही हैं। अब हमारे समस्त ग्वालबाल सखा इस असुरके मुखकी विषाक्त वायुसे मृत-तुल्य हो गये हैं, भीतर हमें देखने वाला भी कौन है, यहाँ ऐश्वर्य शक्ति भी सदा छटपटाती रहती है, हमसे तो अब बोलते भी नहीं। ये सिद्धियाँ सदा लालायित बनी रहती हैं, लालजी की लीलामें हमारा कोई भी उपयोग नहीं। इष्टके चरणोंके निकट रहे और इष्ट उससे कुछ भी काम न ले तो यह तो लज्जाकी बात है। इन सब बातोंको सोचकर छोटेसे मुनमुना बने श्यामसुन्दरने अपनी महिमासे काम लिया। उन्होने अपने श्रीअङ्गको बढ़ाना आरम्भ किया।

अघासुरने तो अपने शरीरको चार कोश लम्बा बढ़ा ही लिया था। सोचा उसने यही था कि इतने बड़े शरीरमें सब ग्वालबाल बछड़े आ जायँगे। इस बातका उसने अनुमान भी नहीं किया था, कि इस छोटेसे कृष्णका छोटासा शरीर भी भूतकी भाँति बढ़ जायगा। भगवान्का श्रीअङ्ग बढ़ते ही उसका कंठ रुद्ध हो गया। अब तो अघासुर बाबू हुच्च-हुच्च करने लगे। जैसे किसी शीशीमें डाट लगा दो तो उसकी सन्धिसे शब्द पूर्वक वायु निकलती है, किन्तु डाँटको कस दो तो वायु उसीमें भर जाता है, वैसे ही श्रीकृष्णने शरीरको और अधिक बढ़ा दिया। अब तो उस महान् डील डौल वाले अजगर बने असुरके प्राण रुक गये। श्वास प्रश्वासकी गति बंद हो गई। उसके नेत्र बाहर निकल आये और वह व्याकुल होकर छट-पटाने लगा। कंठके ऊपर ही तो मुख, नाक, आँख तथा कानों के छिद्र है। प्राण इन्हीं द्वारोंसे शरीरसे बाहर होता है। कंठमें श्रीकृष्णका बढ़ा हुआ श्रीअङ्ग विद्यमान था, अतः प्राण रुकनेमें

उसका दशमद्वार—ब्रह्मरन्ध्र फट गया। जिसमें योगियोंके प्राण निकला करते हैं। उस द्वारसे निकलकर दशों दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ उसका दिव्य शरीर तेज पुंज होकर आकाशमें स्थित हो गया।"

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! मुख, नाक, आँख और कानोंके छिद्रोंके अतिरिक्त शरीरमें नीचेके मल और मूत्रके भी तो दो द्वार हैं, उन द्वारोंसे भी तो प्राण निकल सकता था, उनसे असुरका प्राण क्यों नहीं निकला।"

इसपर सूतजीने कहा—"भगवन्! मल और मूत्रके मार्ग से पापियोंके प्राण निकलते है। मलद्वारसे प्राण निकलेंगे तो बहुत-सा मल निकल पडेगा और मूत्रद्वारसे निकलेंगे तो मूत्र तथा शुक्र शोणित निकल पड़ेगा।"

इसपर शौनकजीने कहा—"सूतजी? इस अघासुरके पापी होनेमे भी कुछ सन्देह भी है क्या? महाभाग! बछड़ा भूलसे मर जाय, तो उसके पीछे लाखों वर्षों तक घोर नरकोंकी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। इस दुष्टने तो इतने बछड़ोंको उदरस्थ कर लिया कि जिनकी संख्या भी नहीं। कितने ग्वालबालोंको निगल गया। इससे भी बढ़कर कोई अन्य पाप हो सकता है क्या? क्या यह असुर पापी नहीं था?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज। जब यह पापी रहा होगा तब रहा होगा। अब तो यह पापी नहीं है, यही नहीं बड़े-बड़े योगियोंसे भी अब यह बढ़कर है। मरते समय कण्ठमें भगवान्का दो अक्षरवाला नाम आ जाय तो उनकी सद्गति हो जाती हो, तो इस असुरके कण्ठमें तो साक्षात् नामी परात्पर प्रभु अपने श्रीअङ्ग से विद्यमान हैं। भगवान्के चिन्मय श्रीअङ्गका साक्षात् दर्शन तो किसी भाग्यशालीको ही होता है, हम लोग तो उनकी प्रतिमा की रचना करके मनोमयी भावमयी मूर्ति बनाकर ही उसका ध्यान

करते हैं। भगवानकी उस मनोमयी मूर्तिका भी किसी भाग्यशाली को एक बार दर्शन हो जाय, तो वह समस्त अशुभोंसे मुक्त होकर परम पदका अधिकारी बन जाता है। जब भगवान्‌की भावमयी एकबारकी बाँकी झाँकीका ही इतना प्रभाव है, तो जिसके शरीर मे स्वयं साक्षात् श्रीहरि घुसकर कण्ठमें अटके हुए हैं उसे पापी कहना पाप करना है, वह तो कोटि कोटि पुण्यात्माओंसे भी बढ़कर है।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए शौनकजीने कहा—"हाँ,सूतजी! भूल हो गई। मुनि गण कोटि कोटि जन्मोमे यत्न करते रहते है, किन्तु अन्तमें भगवानका नाम नहीं आता। किसी पुरुषको स्त्रीको एक बार देख लेते हैं, तो उसकी मूर्ति हृदयमें गड़-सी जाती है, यदि उसके प्रति आकर्षण हुआ तबतो निरन्तर उसकी मूर्ति नयनोके सम्मुख नाचती रहती है, किन्तु भगवानके चित्रपटका, मनोमयी मूर्तिका जीवन भर चित्रपट आगे रखकर ध्यान करते हैं, वह मूर्ति ध्यानमे नहीं आती। ऐसे परात्पर प्रभु मरते समय जिसके कण्ठको रोके हैं उसकी अधो गति कैसे हो सकती है, उसके प्राण नीचेके अशुद्ध छिद्रोसे कैसे निकल सकते हैं। हाँ तो फिर क्या हुआ? अघासुरके शरीरसे ज्योति निकलकर आकाशमे खडी क्यो हो गयी। सर्वव्यापी ब्रह्म विलीन क्यों नहीं हो गयी?"

सूतजीने कहा—"महाराज! जीव जिसका ध्यान करता है उसीके रूपमें वह विलीन होता है। हम स्त्री बच्चोंका ध्यान करते हैं, तो हमें अतमे स्त्री बच्चा ही बनना पड़ेगा। संत महात्माओंका ध्यान करे—सन्त महात्मा बनेंगे। पशुओंका ध्यान करें पशु बनेंगे। देवताओंका ध्यान करें देव रूप हो जायँगे। ब्रह्मका ध्यान करें ब्रह्म रूप हो जायँगे। अघासुर कोई ब्रह्मवादी था ही नहीं। निर्गुण निराकार ब्रह्मका तो वह ध्यान करता

ही नहीं था, जो सर्वव्यापक ब्रह्ममें वह लीन हो जाता। वह तो वृन्दावनचन्द्र नन्दनन्दन, यशोदा-जीवनधन श्यामसुन्दरका ध्यान करते करते मरा था। वे अभी तक अघासुरके मुखमें ही छिपे हुए हैं, जब वे बाहर आवे तो अघासुरकी दिव्य ज्योति उनके श्रीअंगमे विलीन हो। इसीलिसे उसकी ज्योति आकाश मंडलमें प्रभुकी प्रतीक्षामें खडी रही।

जब अघासुरके शरीरसे प्राणोंके साथ सम्पूर्ण इन्द्रियोंको लेकर उसका सूक्ष्म शरीर पृथक् हो गया, तब श्रीकृष्णके प्रवेशसे उसका पापमय विषमय शरीर परम पावन बन गया। तब भगवान्‌ने उसके उदरमें मृततुल्य ग्वालबाल और बछडोंको अपनी अमृतमयी दृष्टिसे देखा। भगवान्‌की सुधामयी आनन्द-मयी तथा चिन्मयी दृष्टिके पडते ही, वे सब ग्वालबाल बछडे एक साथ जीवित हो उठे। उन सबको साथ लेकर नन्दनन्दन श्यामसुन्दर अघासुरके मुखसे बाहर निकले। अब तक भग-वान् अघासुरके मुखमें घुसे हुए थे, अब भगवान्‌के निकलते ही उस महासर्प अघासुरकी ज्योति देवताओंके देखते ही देखते उन्हींमे घुसकर विलीन हो गयी।

इस अद्भुत काण्डको देखकर विमानोंमे जो देवता नन्दनके कमनीय कुसुम भरे गगनमें खडे थे, उन्होंने प्रभुके ऊपर उन दिव्य पुष्पोंकी वृष्टिकी, अप्सराओंने ठुमक-ठुमककर हाव भाव दिखाकर नृत्य करना आरम्भ किया। गन्धर्व सुरीले कण्ठसे गोविन्दके गीत गाने लगे। विविध वाद्योंमें विशारद विद्याधर बड़ी बुद्धिमत्ता से बाजे बजाने लगे। ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणोंने विष्णु प्रीत्यर्थ वेदपाठ किया, भगवान्‌के नन्द, सुनन्द, विष्वक्सेन तथा गरुड प्रभृति पार्षदोंने जय जयकार किया। इस प्रकार देवता, पार्षद तथा अन्यान्य उपदेवोंने अपना कार्य करने वाले

आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका अत्यन्त आनन्द-पूर्वक आदरसत्कार तथा बहुमान किया।

अघासुरके अत्याचारोंसे अमर-गण अत्यन्त ही अकुलाये हुए थे। आज उसकी सहसा सद्गति देखकर भुवर्लोकके सिद्ध भूत प्रेतोंने, स्वर्गलोकके देवताओंने महर्लोकके महर्षियोंने जन लोकके भगवान्‌के निज जनोंने तथा तपलोकके तपस्वियोंने अत्यंत ही आनन्द प्रकट किया। इतने उच्च स्वरसे जय जयकारका शब्द हुआ, कि ब्रह्माजी अपनी सभामें बैठे बैठे लोककी व्यवस्था का कार्य कर रहे थे। उनके भी कानोंमें यह शब्द पड़ा। उन्होंने लेखनीको रोककर सुना अति अद्भुत स्तुति पाठ हो रहे हैं, विविध प्रकारके विचित्र-विचित्र बाजे बज रहे हैं। सुन्दर संगीत हो रहा है, बीच बीचमें जय जय शब्द, नमोनमः नमोनमः ऐसे शब्द हो रहे हैं। ब्रह्माजी बड़े चक्करमें पड़े। पृथिवीपर ऐसा कौन-सा महान् आनन्दोत्सव हो रहा है, किस मंगल कृत्यके उपलक्षमें यह मंगल ध्वनि हो रही है। ब्रह्माजीकी उत्सुकता आवश्यकतासे अधिक बढ़ गयी। कार्यालयके कार्य को ज्योंका त्यों ही छोड़ दिया। तुरन्त अपने वाहन हंसको बुलाया। उसपर शीघ्रताके साथ चढ़े और चुटकी बजानेमें जितना समय लगता है, उससे भी थोड़े समयमें वे यहाँ आ पहुँचे। समस्त देवता, ऋषि, मुनि, गन्धर्व विद्याधर, नाग, गुह्यक तथा अन्यान्य देव उपदेवोंको उत्सव करते देखकर उन्हें विस्मय हुआ। भगवान् काली कमलीको लकुटके ऊपर लटकाकर कंधेपर डाले थे। कमरमें मुरली खुरसी हुई थी, वे बालकोंके साथ हँसते-खेलते आनन्द पूर्वक प्रेमकी बातें करते एक दूसरेको सारे कहते हुए जा रहे थे। ब्रह्माजी उनकी ऐसी चाल ढाल और गोप वेषको देखकर सब ज्ञान-ध्यान भूलगये। वे इस चक्करमें पड़ गये, कि यह हैं कौन जो न देवताओंकी ओर देखता है न इतनी सुन्दरी सुन्दरी अप्सराओं

की ओर दृष्टिपात करता है। इन गाँवके गँवार ग्वालोंके छोकराओंके साथ ग्राम्य-कथाएँ करता हुआ निरपेक्ष भावसे जा रहा है।"

देवता तो भगवान्‌को तथा ब्रह्माजीको प्रणाम करके अपने-अपने स्थानको चले गये, किन्तु ब्रह्माजी कुतूहलवश गुप्तचरकी भाँति गुप्त रूपसे आकाशमें ही चक्कर काटते हुए भगवान्‌की गति विधिका अध्ययन करने लगे। उनके मनमें जिज्ञासा थी, कि इनके ऐश्वर्यकी थाह तो लें, कितना इनका ऐश्वर्य है। मैं चौदहों भुवनोंका स्वामी हूँ। सुर असुर सभीसे नमस्कृत्य हूँ, यह अहीर-का छोकरा मेरी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। इसमें कुछ तो ऐश्वर्य होगा। बिना ऐश्वर्यके इतना घमंड थोड़े ही हो सकता है। यही सब सोचकर वे श्रीकृष्णके कृत्योंका अध्ययन करनेकी अभिलाषासे अपने लोकको नहीं गये। भगवान्‌को ही देखते रहे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह लीला भगवान्‌ने ५ वर्षकी कुमारावस्थामें की थी, किन्तु बाल गोपालोंने उनकी जब छै वर्षकी पौगण्डावस्था थी—तब अपने अपने घर जाकर कथा कही, कि श्रीकृष्णचन्द्रने आज एक बड़े भारी सर्पको मारा है। ग्वालबालों ने उस अजगर बने अघासुरको गुफा बताया था। भगवान्‌के सखाओंके मुखसे जो वचन निकल जाय, वह असत्य तो कभी हो ही नहीं सकता। सचमुचमें उसका चर्म सूखकर एक प्रकारकी गुफा सी ही बन गई। ग्वालबाल जब वहाँ आँख मिचौनी खेलते थे, तो उसमें छिप जाते थे। उसका चार कोश लम्बा शरीर एक गिरिगुहाके आकारमें ही परिणत हो गया।

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! आपने एक बड़ी ही अद्भुत बात कही। भगवानने पाँच वर्षकी अवस्थामें अघासुर-को मारा और ये सब कथाएँ बालकोंने व्रजमें जाकर छै वर्षकी

अवस्थामें कही—तो एक वर्ष कहाँ रहा। उसी दिन उन्होंने जाकर क्यों नहीं सब वृत्त बताया। फिर छठे वर्षमें भी जाकर कहा—"आज श्रीकृष्णने महासर्पको मारा।" इस विषयमें हमें बड़ी शंका है। कृपा करके हमारी इस शंकाका समाधान कीजिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवन्! यही शंका मेरे गुरुदेव भगवान् शुकस भगवन् भक्तोंमें श्रेष्ठतम महाराज परीक्षित्ने भी की थी। उनकी शङ्का करनेपर व्यासनन्दन भगवान् शुकने जो रहस्यमयी आनन्दमयी तथा परम भावमयी जो अद्भुत कथा सुनायी थी, उसे मैं आप सबके सम्मुख कहूँगा। आप इस कथा प्रसङ्गको समाहित चित्तसे श्रवण करनेकी कृपा करें।"

छप्पय

अघ-उद्धार निहारि अप्सरा सुर मुनि आये।
नृत्य वाद्य संगीत श्यामकूँ मधुर सुनाये॥
वेद पाठ द्विज करें देव जय शब्द उचारें।
ब्रह्मलोक बिधि बैठि वाद्य की बात बिचारें॥
होंहिं कहाँ चलिकें लखें, आनन्दोत्सव अवनिमहँ।
तुरत हंस चढ़ि चलि दये, आये ब्रजमहँ कृष्ण जहँ॥

महाराज परीक्षित्‌की शङ्का

(६०४)

ब्रह्मन्कालान्तरकृतं तत्कालीन कथं भवेत् ।
यत्कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० १२ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

यह कुमार-वय-चरित शिशुनि पौगण्डवयसमहँ ।
कह्यो आइ ब्रज श्याम आज अहि मारयो वनमहँ ॥
शुकतें बोले भूप परीक्षित् प्रभु ! शकि जाओ ।
गयो कहाँ इक वर्ष कृपा करि भेद बताओ ॥
कर्म दूसरे छिन करयो, ग्वाई छिन कहि सकहिँ नहिँ ।
कौतूहलमम हृदयमें, समाधान गुरुवर ! करहिँ ॥

हम कहते हैं, एक वर्ष हो गया, एक दिन हो गया । न तो वास्तवमें वर्ष है न दिन है, हमने अपनी सुविधाके लिये एक कल्पना मात्र कर ली है । समय तो नित्य है, निरवधि है । यह गुण प्रवाह कबसे चल रहा है, इसे कोई कह नहीं सकता । कब

---

१ महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजीसे पूछा—"ब्रह्मन् ! जो कार्य दूसरे समय किया गया हो, उसे उसी समय किया हुआ कैसे कह सकते हैं । श्रीकृष्णने जो कर्म पाँचवर्षकी अवस्थामें किया, उसे ग्वालबालकोंने छै वर्षकी अवस्थामें एकवर्ष पश्चात् आज किया, यह क्यों कहा ?"

तक चलेगा, इसे कोई बता नहीं सकता। हम अनादि अनन्त कहकर पिंड छुडाते हैं। समुद्र तटपर बैठकर उसकी लहरोंको गिनने लगे और कहे—समुद्रमे सहस्र लहरें आयीं, तो यह हमारी कल्पना मात्र है, न जाने कबसे लहरें आ रही हैं, कब तक आती रहेंगी, यह हमने अपनी बुद्धि और सामर्थके अनुसार कुछ सख्या कुछ सकेत निश्चय कर लिये है। हम जिसे एक घडी कहते हैं, उसमे ऐसे भी छोटे-छोटे जन्तु हैं, जो सैकडों बार मर जाते है। उनके कितने जीवन बीत जाते हैं। जिसे हम तीस दिनका एक मास कहते हैं, वह पितरोका एक दिन रात्रि है। जिसे हम एक अयन कहते हैं वह देवताओका एक दिन है, जिसे हम वर्ष कहते हैं वह देवलोकका एक रात्रि दिन है। जिसे हम एक युग कहते हैं, ब्रह्माजीकी एक घडी भी नहीं-जिसे मन्वन्तर कहते हैं, ब्रह्माजीके एक दिनमे ऐसे चोदह मनु बीत जाते है, अत काल की कोई निश्चित गणना नहीं। जैसे तौल मापको सभी देशमें अपनी सुविधानुसार बना लिया उसी प्रकार भिन्न भिन्न श्रेणीके जीवोंने अपनी अपनी सुविधानुसार कालकी गणना कर रखी है। श्रीकृष्ण कालसे परे हैं, वे तो कालके भी नियामक है, उन्हें देशकालकी अवधि बाँध नहीं सकती। वे देश कालसे परे हैं। ब्रह्माजीका भी काल है। काल उनका स्वरूप है। उनका एक नित्य अङ्ग है, इसलिये उनकी लीलामे भूत, भविष्य, वर्तमान आज तथा कलका कोई अर्थ नहीं। उन्होने कभी किसी भी काल में लीलाकी हो, वह नित्य है, शाश्वत है। उसमे आगे पीछेका भेद भाव करना अज्ञान मात्र ही है। जिनकी दृष्टि कालके कवलित हो जाते हैं, वे लीला श्रवणके अधिकारी ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान शुकने अघासुर उद्धार के प्रसङ्गमे यह बात कही कि—'अजगर रूप कालके मुखमे अपना बचाव होना तथा अजगरकी मुक्ति होनी ये सब बातें भगवानने

पाँच वर्षकी अवस्थामें की थी, किन्तु बालकोंने उनकी पौगण्डा-वस्था अर्थात् छै वर्षकी अवस्थामें व्रजमें जाकर अपने माता पिता तथा भाई बन्धुओंसे कहा, कि "आज श्रीकृष्णने एक अजगर को मारा।" इस बातको सुनकर महाभागवत महाराज परीक्षित् के हृदयमे बडी भारी शका उत्पन्न हो गयी। वे ऐसे वैसे श्रोता तो थे नहीं, कि जहाँ कोई हँसी विनोदी चटपटी कथा आयी उसे सुन लिया और फिर ऊँघते रहे। वह तो उत्तम श्रोता थे। होना स्वाभाविक ही है। जिन्हें यदुवंशियोंके कुलदेव परमाराध्य भगवान् वासुदेवने उनकी माताके उदरमे प्रवेश करके जीवन दान दिया था। जिनकी रक्षा स्वय जगत्पतिने की थी, उन अपने प्राणदाता प्रभुके परमपावन विचित्र चरित्रोंके विषयमें अनुराग होना अवश्यम्भावी है, यह कृतज्ञोंका प्रथम कर्तव्य है। फिर महाराज तो कुलीन, कृतज्ञ परम भगवद्भक्त थे। भगवत् चरि-त्रोंमें श्रद्धा-पूर्वक शका करनेसे और रस आता है, जैसे आमको बार-बार मसल मसलकर चूसनेसे अधिकाधिक स्वाद आता है। इसी दृष्टिसे श्रोता अपनी शङ्काओंको वक्ताके सम्मुख उप-स्थित करते हैं। उत्तरानन्दन महाराज परीक्षित्का चित्त तो इस समय राज पाट, कुल परिवार सबसे हटकर हरिचर्चामें ही आसक्त हो रहा था, अतः हरिलीलाको और भी अधिक रस-मयी बनानेकी भावनासे उन्होंने व्यासनदन भगवान् शुकदेवजी के सम्मुख अपनी शङ्का उपस्थित करते हुए कहा—"प्रभो! अघा-सुर उद्धार चरित्रमे मुझे एक शङ्का रह गयी है, आज्ञा हो तो उसे निवेदन करूँ?"

अत्यन्त ही अनुरागके साथ भगवान् शुकने कहा—"कौन-सी शङ्का रह गयी है, राजन्! आप प्रसन्नता-पूर्वक उसे प्रकट करें, मैं यथामति यथासामर्थ उसका समाधान करूँगा।"

राजाने कहा—"ब्रह्मन् ! आपने कहा—"पाँचवें वर्षका किया हुआ कर्म गोपोंने छठे वर्षके अंतमें घरमें जाकर कहा—'आज श्रीकृष्णने ऐसा किया।" तो इस विषयमें मेरे कई प्रश्न हैं।"

पहिला प्रश्न तो यह है, कि जिस दिन भगवान्‌ने अघासुरका उद्धार किया, उस दिन शामको जब लड़के अपने अपने घर गये ही होंगे, उसी दिन उन्होंने अपने घरोंमें जाकर यह बात क्यों नहीं कही। एक वर्षके पश्चात् क्यों कही ?

दूसरा प्रश्न यह है कि यदि एक वर्षके पश्चात् कही, तो उन्हें कहना चाहिये—'आजसे एक वर्ष पूर्व श्यामसुन्दरने अजगर को मारा।" यह न कहकर उन्होंने कहा—"आज श्यामसुन्दरने अजगरको मारा।" जो काम हमने एक या दो वर्ष पूर्व किया है, वह कर्म आज किया यह कैसे कहा जा सकता है। कालान्तरका किया कर्म तत्कालीन माना ही नहीं जा सकता। बालकोंने ऐसा क्यों कहा ? इसमें अवश्य ही कोई न कोई रहस्यकी ही बात है।'

यह सुनकर श्रीशुकदेवजीने कहा—"राजन् ! उन परात्पर प्रभुके विषयमें "इत्थं भूत" ऐसा ही कारण है यह कोई कह नहीं सकता। आप ही सोचें जिनके अंग संग मात्रसे निष्पाप होकर अघासुर जैसे घोर पापी असुरने भी सद्‌गति प्राप्त की। जो सद्‌गति असत् पुरुषोंको अत्यंत दुर्लभ ही नहीं असंभव है, उन मायासे मनुज बने सम्पूर्ण परात्पर जगत्‌के विधाता भगवान् वासुदेवके लिये यह कोई विचित्र बात नहीं। हम लोग उनकी लीलाके सम्बन्धमें कह ही क्या सकते हैं।"

यह सुनकर गद्‌गद कंठसे राजाने कहा—"भगवान् ! ऐसे काम न चलेगा। आप इस लीलामें जो रहस्यकी बात हो और यदि मुझे उसके सुनानेका अधिकारी मानते हों, तो इसका रहस्य

बताइये। आप तो कह नहीं सकते, कि मैं जानता नहीं। आप तो सर्वज्ञ हैं। महायोगी हैं, योगियोंके लिये कुछ भी असंभव नहीं। यह तो निश्चय ही है, कि इसमें भगवान्‌की कोई गूढ़ माया छिपी हुई होगी। और इसी प्रकार तो यह बात संभव हो नहीं सकती। नाथ! आप हमें अनाधिकारी समझकर इस प्रश्नको टाल न दें, इसे जाननेको मेरे मनमें महान् कौतूहल हो रहा है।"

श्रीशुकदेवजीका यह सुनकर हृदय भर आया और बोले—"राजन्! आप अनधिकारी अपनेको क्यों बताते हैं। आप तो बड़े भाग्यशाली हैं, जो इतने स्नेहसे श्रीकृष्णकी कथाओंको सुन रहे हैं।"

इसपर महाराज परीक्षित्‌ने कहा—"प्रभो! मेरी नीचतामें तो कोई संदेह ही नहीं। क्षत्रिय शब्दका अर्थ है, जो प्राणियोंकी कष्टोंसे रक्षा करे। मैंने तो जानबूझकर ब्रह्मज्ञानी महर्षिको कष्ट दिया, उनके कंठमें मृतक सर्प डाल दिया। मैं क्षत्रियोंमें अधम हूँ, मैं नीच क्षत्रिय-क्षत्रिय कहलानेके भी योग्य नहीं। मैंने महर्षियोंका अपराध किया है, मैं विप्रशापसे शापित हूँ। इतना सब होनेपर भी मैं आपको महान् भाग्यशाली समझता हूँ। संसारमें मेरे समान सौभाग्यशाली और कौन होगा, जो आपके मुखचन्द्रसे चूते हुए कृष्ण कथा रूप अमृत रसका बारम्बार निरन्तर पान करनेपर भी मेरी तृप्ति नहीं होती। यही नहीं मेरी तृष्णा और अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है, सो हे कृपालो! मुझे कृष्ण कथा रूप सागरमें डुबा दो, मेरी शङ्का रूप अज्ञान पादप की जड़को अपने ज्ञान रूप कुल्हाड़ेसे काट दो।" इतना कहते-कहते प्रेमके आवेशमें भरकर महाराज परीक्षित् रुदन करने लगे।

सूतजी शौनकजीसे कह रहे हैं—"हे समस्त भगवद् भक्तोंमें श्रेष्ठतम कुलपति शौनकजी! महाराज परीक्षित्‌के कृष्ण लीला

के सम्बन्धमें इस प्रकार आग्रह और प्रेम-पूर्वक प्रश्न पूछनेपर मेरे गुरुदेवकी विचित्र दशा हो गयी। भगवन्! उस समयकी अपने गुरुदेवकी दशाको मैं याद करता हूँ, तो अब तक मेरे रोमाञ्च हो जाते हैं। न जाने महाराजके इस प्रश्नमें कौन-सा जादू था, कि मेरे गुरुदेवके खिले हुए कमलके समान विशाल नेत्रोंसे झर-झर आँसू बहने लगे। वे अश्रु उनके कपोलोंपर लीक बनाते हुए व्यासासनपर गिरकर वस्त्रोंमें विलीन होने लगे। उनके समस्त शरीरमें पुलक होने लगे। शरीरके सब रोएँ क्रुद्ध स्याहीके काँटेके समान खड़े हो गये। रोमोंके मूलमें झरबेरियाके सदृश बड़े-बड़े फोड़े से प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे। उनका हृदय ऐसा द्रवीभूत हो गया, कि उनकी मुखकी आकृति देखते ही बनती थी। समस्त ऋषियोंके देखते देखते अनन्त प्रभुकी उस भावमयी रसमयी माधुर्यमयी लीलाका स्मरण हो आनेके कारण उनकी समस्त इन्द्रियाँ वृत्तिशून्य हो गयीं। वे स्तब्धसे बन गये। प्रेमकी भाव समाधिमें निमग्न हो गये। फिर कथा कहनेकी सद्भावनाके सहारे बड़े कष्टसे कठिनताके साथ उन्होंने शनैः शनैः उस दिव्य लीलालोकसे अपनी दृष्टि हटाकर पुनः बाह्य दृष्टि प्राप्ति की। सम्मुख हाथ जोड़े हुए विकलताके साथ महाराज परीक्षित् प्रेमके अश्रु बहा रहे थे। भगवान् व्यासनन्दनकी समाधिको देखकर महाराज छटपटा रहे थे, कि कहीं इनकी दश बीस दिनकी समाधि न लग जाय, जिससे मैं कृष्ण कथासे वञ्चित रह जाऊँ, किन्तु भगवद् रसके रसिक शुक जैसे महाभागवत मुनि भगवद् चरित्रोंके सम्मुख समाधिको तुच्छातितुच्छ समझते हैं, अतः शीघ्र ही वे अपनेको सम्हालकर राजाकी शङ्काका समाधान करने लगे। प्रथम उन्होंने महाराज परीक्षित्के प्रश्नका अभिनन्दन किया, उनकी बड़ाई की, तब उस-रसमयी कथाको कहना आरम्भ किया।"

छप्पय

सुनि भूपतिको प्रश्न हृदय शुकको भरि आयो।
गद्गद वानी भई नीर नयननिमहँ छायो॥
कुपित नेहके सरिस पुलकि तनु श्वेदयुक्त जन।
भयो प्रेममहँ मग्न इन्द्रियाँ शिथिल भईं सब॥
उतरे लीला लोगते, कृष्ण कथा सकल्प करि।
बाह्य दृष्टि जब कछु भई, बोले प्रभु छवि हृदय धरि॥

श्रीशुक द्वारा परीक्षित् और उनके प्रश्नकी प्रशंसा

(९०५)

सतामयं सारभृतां निसर्गो,
यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्,
स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १३ अ० २ श्लो०)

छप्पय

राजन् ! करि करि प्रश्न कथाकूँ नई बनाओ ।
सुनहु सतत हरि चरित तबहुँ नहिँ नृपति ! अघाओ ॥
मन मनमोहनमाँहिँ लग्यो बानी गुन गावे ।
श्रवन कथा रस मत्त तिनहिँ कछु नाहिँ सुहावे ॥
जार पुरुष ज्यों कामिनी, कथा सुनहिँ हिय बढ़त रस ।
बार बार सुनि तृप्त नहिँ, होवें तुमहू रसिक अस ॥

---

* महाराज परीक्षित्के प्रश्नको सुनकर उनकी प्रशंसा करते हुए भगवान् श्रीशुक बोले—"हे महाभाग ! राजन् ! जिन्होंने अपने मनको वाणी तथा कानोंको कृष्णकथा श्रवण मनन तथा कथनमें ही लगा दिया है, उसका यह स्वभाव ही होता है, कि उन्हें अच्युत की कथाएँ क्षण क्षणमें नवीन ही नवीन जान पड़ती हैं, जैसे जार पुरुषोंको अपने मनके अनुकूल स्त्रियोंकी चर्चामें नया ही नया रस अनुभव होता है ।"

यह जीव सुखके लिये—आनन्दके लिये—तड़प रहा है। प्रेमका प्यासा यह प्राणी चारों ओर आशाभरी दृष्टिसे देख रहा है। यह जो भी जानमें अनजानमें चेष्टा करता है आनन्द प्राप्तके लिये करता है। संसारमें विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दो ही आनन्द प्रसिद्ध हैं। संसारी विषयोंमें यदि आनन्द न होता, तो ये सभी प्राणी विषयोंकी प्राप्तिमें क्यों चिपटे रहते। इस संसारमें क्या सुख है, शरीरमें नित्य नयी व्याधियाँ होती रहती हैं, गृहस्थकी सैकड़ों चिन्ताएँ सदा सिरपर लदी रहती हैं, पुत्र मर गया, स्त्री रुग्ण हो गई, धन नष्ट हो गया, चोरी हो गयी। शत्रुओंने अपमान कर दिया, राजदण्ड हो गया। दुष्टोंने नीचता कर दी। एक नहीं लाखों चिन्ताएँ हैं, फिर भी मनुष्य गृहस्थको छोड़ना नहीं चाहता, क्योंकि उसमें उसे विषय सुख प्राप्त है। संसारी विषय अनित्य हैं उनका सुख अशाश्वत है। ब्रह्म नित्य हैं, सत्य हैं, अविनाशी हैं, अज हैं, अमर हैं, शाश्वत हैं, अतः उनके सम्बन्धसे जो सुख प्राप्त होगा, वह नित्य होगा, अविनाशी होगा, शाश्वत होगा। निराकार ब्रह्मकी प्राप्तिमें अपूर्व आनन्द है, किन्तु जिन्हें साकार ब्रह्मकी लीलाओंमें उनके, चरित्रोंके श्रवणमें, उनकी सेवा अर्चामें, जो सुख प्राप्त होता है, वह अनुपमेय है। जिनका चित्त कृष्णकथा श्रवणमें, कृष्णनामगुण कीर्तनमें लग गया है, वे बड़भागी हैं। उनकी चरणकी धूलिसे त्रैलोक्य पावन बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित्ने जब अपनी अघासुर सम्बन्धी शङ्काएँ कीं, तो मेरे गुरुदेवको भावसमाधि हो गयी। फिर कुछ बाह्य ज्ञान होनेपर वे राजाकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे।

श्रीशुकदेवजी बोले—"हे महाभाग! हे समस्त भागवतोंमें श्रेष्ठ नृपवर्य! तुमने यह बहुत ही उत्तम प्रश्न किया। हे कुरुकुल तिलक! तुम जैसे श्रोताको पाकर मैं कृतार्थ हो गया। तुम्हारे

अतिरिक्त इतनी, सावधानीके साथ दूसरा और कौन कथा सुन सकता है ? तुमने कथाके बीचमें से कैसा एक शब्द पकड लिया। यदि तुम प्रश्नको न करते, तो मैं आगेकी कथा कहता ही जाता। इस रहस्यमयी कथाको तो छोड ही जाता।

कथामे बुद्धिमान् श्रोता कोई रहस्ययुक्त प्रश्न करता है, तो कथामे नवजीवन आ जाता है। तुम बडे ध्यानसे नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरित्रोंको श्रवण करते हो और बारम्बार नये नये प्रश्न करके उसे पुनः नवीन बना देते हो। क्यों न हो आप अच्युत प्रिय हैं, भगवान्! आपके कुल देवत हैं, उनकी कथायें भी रसमयी है। आप रस शेखर ही ठहरे। जिन्होंने अपने मनको मनमोहनके रूपमाधुरीमे ही निमग्न कर दिया है। जिनकी वाणीसे भगवन्नाम और भगवान्के गुणोंके ही पद निकलते हैं, जिनके कानोंको कृष्णकथा सुननेकी ही बान पड गयी है। जिनके कण कृष्णकथा श्रवणके ही लिये सदा लालायित बने रहते हैं, ऐसे सारग्राही भगवद्भक्त साधु पुरुषोंका यह सहज स्वभाव ही होता है, कि उन्हे भगवान्की कथाएँ नित्य नवीन सी ही प्रतीत होती हैं। जो भगवत्चरित्रोंको एक बार सुनकर यह कह देता है—'अजी एक ही बातको बार बार क्या सुनना। इसे तो हम सुन चुके हैं। तो समझना चाहिये, उसने कुछ भी नहीं सुना। भगवद्भक्त तो एक कथाको असख्यों बार सुनते हैं, फिर तृप्त नहीं होते, जैसे जार पुरुष स्त्री विषयक चर्चा मे नया-नया रस अनुभव करता है।"

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! परमहस चक्रचूडामणि वीतराग त्यागी विरागी भगवान् शुकने कथा रसिकों की जार पुरुषोंसे उपमा क्यो दे दी। ऐसी घृणित उपमा देना तो साहित्यमे सदाचारम दोष माना जाता है। किसी अन्यकी उपमा देते और भी तो अनुराग सम्बन्धी अनेकों उपमाएँ हैं।"

यह सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये और फिर कुछ सोचकर बोले—"भगवन्! दृष्टान्तका एक ही अंश ग्रहण किया जाता है। सर्वांशमें उपमा नहीं घटायी जाती। यहाँ जारके अनुरागका ही अंश ग्रहण करना चाहिये। जारका जितना अन्य स्त्रीमें अनुराग होता है, उतना निज पत्नीमें नहीं होता। जिसमें साधिकार निजत्व है, उसमें उतनी उत्कण्ठा नहीं होती जो वस्तु स्वतः प्राप्त है, समीप है, उसमें तन्मयता नहीं होती। मिलनमे जितनी ही बाधायें होगी अनुराग उतना ही बढ़ेगा। जितनी ही अधिक प्रतीक्षा होती है, इच्छा उतनी ही प्रबल होती है। जार पुरुषोंको अपनी प्रेयसीसे बातें करनेमें नित्य नव-नव अनुराग बढ़ता ही जाता है, उसकी इच्छा भरती ही नहीं। एक ही बातको बार-बार सुनता है, नित्य नित्य सुनता है, फिर भी नई-नई सी ही लगती है। एक ही मूर्तिका निरन्तर चिन्तन करनेपर भी उसका चित्त नहीं भरता। संसारमें ऐसा कोई दूसरा उदाहरण है ही नहीं। यदि दूसरा उदाहरण होता तो भगवान् शुक ऐसे लोक-निन्दित उदाहरणको कभी न देते। यही भाव यदि भगवान्में हो जाय, तो बेड़ापार ही हो जाय। इसीलिए वैष्णव-शास्त्रोंमें परकीया भावको सर्वोत्कृष्ट माना गया है। भाव तो न कोई अच्छे हैं न बुरे। उन्हें संसारमें लगाओ तो सब बुरे हैं, भगवान्में लगाओ तब सभी अच्छे हैं। कामको संसारमें लगाओ तो बुरी वस्तु है। वही काम यदि धर्मसे अविरुद्ध हो, तो भगवान्का रूप है। उसी कामको भगवान्में लगा दो तो संसारसागरसे पार होनेका सरल सुगम साधन है, द्वेष बुरी वस्तु है, संसारमें द्वेष बुद्धिसे मरो तो प्रेत होना पड़ता है उसी द्वेषको भगवान्से करो तो मुक्ति मिल जायगी। शिशुपाल आदि राजा भगवान्से द्वेष करके ही उनमें तन्मय हो गये। भय यदि संसारमें हो तो आदमी पतनकी ओर जाता है। भगवान्का भय बना रहे, तो

उसके कल्याणमें संदेह ही नहीं। कंस सदा भगवान्से भयभीत रहनेसे ही परम पदका अधिकारी हो गया। स्नेह यदि संसारमें किया जाय, इन मरणधर्मा स्त्री पुरुषोंसे किया जाय, तो फिर इनमें ही उत्पन्न होना पड़ता है,भगवान्में भगवद् बुद्धिसे सद्गुरुमें किया जाय, तो वह स्नेह मोक्षका द्वार है। भक्ति धनिकोंके प्रति कामियोंके प्रति दिखाई जाय तो वे कुछ अंशोंमें कामनाओंकी पूर्ति करेंगे, जिन्हें पाकर और पतनकी ओर जाना पड़ता है। यदि वही भक्ति भगवान्में की जाय, तो फिर आनन्द ही आनन्द है। इसीलिये भगवान्को किसी भावसे भजो कल्याण ही कल्याण है, जो जिस भावसे भगवानको भजता है, भगवान उसको उसी भावसे दर्शन देते हैं। अतः भगवान्के सम्बन्धमें सभी उपमायें श्रेष्ठ हैं। क्योंकि भगवान् श्रेष्ठतम हैं।

शौनकजीने कहा—"हाँ, सूतजी! सत्य है आपका कथन। जार पुरुषोंका अनुराग अत्युत्कट होता है। हाँ तो फिर क्या हुआ, कथा सुनाइये।"

सूतजी बोले—"भगवन्! इस प्रकार मेरे गुरुदेवने प्रथम तो राजाके प्रश्नकी प्रशंसाकी, फिर उनकी इतनी रुचिसे कथा श्रवण करनेकी प्रणालीको सराहा। तदनन्तर उन्होंने राजाके प्रश्नोंका उत्तर देना आरम्भ किया।"

श्रीशुकदेवजी बोले—"हे राजन्! आपने बहुत अच्छा प्रश्न किया, बहुत अच्छा प्रश्न किया। मैं अब तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ, उसे तुम सावधान होकर श्रवण करो। वैसे तो यह बड़ी गूढ़ बात है। ऐसे-वैसेके सम्मुख तो कहनेकी हैं नहीं, किन्तु मैं तुम्हारे सम्मुख कहूँगा।"

महाराज परीक्षित्ने हाथ जोड़कर कहा—"जब सबको बताने योग्य बात नहीं है, तो आप मुझ अनधिकारी क्षत्र बन्धुको बतानेके लिये क्यों उद्यत हो गये?"

इसपर हँसते हुए भगवान् शुक बोले—"राजन्! तुम्हीं तो इस गुह्य रहस्यके श्रवण करनेके अधिकारी हो तुम तो मेरे अत्यन्त प्यारे शिष्य हो। गुरुजन अपने अनुगत प्रिय शिष्यको गुप्तसे गुप्त बातें भी बता देते हैं। इसलिये इस परमपावन प्रेम प्रसङ्गको मैं आपको सुनाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर भगवान् शुक राजाकी शङ्काका समाधान करते हुए आगेके चरित्रका वर्णन करने लगे।"

छप्पय

राजन् अब हम गुह्य चरित अति ताहि सुनाव।
भक्त शिष्य गुरु पाइ रहसहू नाहिँ छिपावें॥
करि अघको उद्धार तुरत हरि बाहर आये।
विस्मित गोपनि निरखि विहँसि, प्रभु वचन सुनाये॥
यह अजगर अघ असुर है, समुझि घुसे गिरि गुहा तुम।
चलो भयो सो भयो अब, वनभोजन मिलि करहिँ हम॥

सखाओं सहित वनवारीका वनभोज

[९०६]

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवारूढं क्षुधार्दिताः ।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥[१]

(श्रीभा० १० स्क० १३ अ० ६ श्लो०

छप्पय

यह यमुनाको पुलिन बालुका कोमल कैसी ।
जैसी सुन्दरघास छटाहू अनुपम तैसी ॥
खिले सरनिमहँ कमल तरुनिपै पक्षी फुदकें ।
लागी भाई भूख उदरमहँ मूसे फुदकें ॥
हम सब पावें छाककूँ, पी पानी बछरा चरें ।
बैठो गोलाकार सब, प्रीतिभोज वनमहँ करें ॥

भगवान्‌के तथा भगवद् भक्तोंके चरित्र तो वे ही होते हैं जो संसारी लोग करते हैं। खाना-पीना खेलना और परस्पर मिलना-जुलना। अन्तर इतना ही होता है, कि ससारी लोगों

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अघासुरके मुखसे निकलकर भगवान्‌ने ग्वालबालोंसे कहा—"आओ भैयाओ! हम सब यहाँ बैठकर भोजन करें। अब दिन भी बहुत चढ गया है और सब भूखसे व्याकुल भी हो रहे हैं। हम लोग वनभोज करें, बछड़े जल पीकर शनै-शनै घास चरें।"

कार्य माया-मोह तथा रागद्वेष से पूर्ण होते है और भगवान् तथा भक्तोंके कार्य प्रेम पूर्ण तथा स्नेह सिक्त होते हैं। वे जो करेंगे प्रेम के लिये करेंगे, प्रेमका ही व्यवहार करेंगे वे प्रत्येक कार्यमें प्रेम का पुट लगा देंगे। प्रेमका पुट लगानेसे विष भी अमृत हो जाता है। यदि प्रेमकी साकार घनीभूत मूर्ति श्रीनंदनंदन ही जिन कार्योंको स्वयं करे तो उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। उन बड़भागी व्रजवासियोंके भाग्यके सम्बन्धमे तो कहनी ही क्या है जिनके साथ श्यामसुन्दर सदा सुन्दरातिसुन्दर क्रीड़ाये किया करते हैं, हम तो उनको भी धन्यातिधन्य परम धन्य मानते हैं, जिनकी इन लीला-कथाओंके श्रवणमे अभिरुचि उत्पन्न हो गयी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित्ने जिस प्रकार अघासुर उद्धार सम्बन्धी कथाके कथनके विषयमे शंका की और उसका जिस प्रकार मेरे गुरुदेवने उत्तर दिया उस कथाको अब मैं सुनाता हूँ।"

अघासुरके उदरसे निकलकर सब ग्वालबाल और बछरे वनवारीके सहित बाहर आये। उन बच्चोंने कहा—"कनुआ भैया! यह गुफा कैसी हो गयी?"

भगवान् हँसकर बोले—'अरे, सारे! यह गुफा थोड़े ही थी—यह तो एक असुर था, इसने महासर्प अजगरका रूप रख लिया था, तुम सब तो इसे गिरि गुहा समझकर इसके मुखमें चले गये। मैंने सारेका गला घोटा। हुच्च-हुच्च करने लगा। आँखें निकल आयीं और अब यह मर गया।"

सबने कहा—"कनुआ भैया! तू बडा वीर है, तैंने इस अजगरको मारकर बड़ा ही अद्भुत काम किया है, तू धन्य है तू तो कोई देवता मालूम पड़ता है।"

भगवान् बोले—"अरे! रहने भी दो, क्यों मेरी प्रशंसाके पुल

बाँध रह हो। इसे तो मरना ही था, मर गया। अब यह बताओ भोजनका भी कुछ डौल-डाल है। देखा, सबके भूखके कारण मुख कुम्हिला गये हैं, सबके पेट पीठमें सट गये हैं। मेरे पेटमें तो मानो मूसे कुदक रहे हों। अब तो भैया पेट पूजा होनी चाहिये। गोपोंने पूछा—"किस स्थान पर हो ?"

कृष्ण बोले—"अरे, इस विषयमें क्या पूछना। वृन्दावनकी तो सभी भूमि परम पावन है। यहाँ तो चौरासी कोशमें चौका है। चौरासी कोशमें कहीं भी रोटी दाल ले जाकर खाओ—कोई दोष नहीं। यहाँका तो कण कण पवित्र है। सामने देखो, यह यमुनाका कैसा रमणीय पुलिन है। यहाँकी बालुका कितनी कोमल और गुद-गुदी है। ऐसी रसमयी है, कि शरीरसे स्पर्श होते ही सुख होता है। यहाँ पेड़ भी बहुत हैं, इनपर चढ़कर लभेर बंशी खेलेंगे। यहाँके वृक्ष भी सघन हैं, टीले भी हैं, छिपकर आँख मिचौनी खेलेंगे। गुल्ली डंडाके लिये प्रशस्त भूमि है। गेंद बल्ला भी सुखसे खेल सकते हैं। खेल कूदकी सभी सामग्री तो यहाँ समुपस्थित है। यह स्थान वनभोजके लिये और क्रीडाके लिये सर्वथा उपयुक्त है। आस पास यहाँ छोटे बड़े सरोवर भी हैं, जिनमें रंग बिरंगे नाना भाँतिके कमल खिल रहे हैं। इन कमलों की भीनी-भीनी सुखद गंध सुवाससे आकर्षित भ्रमरगण, इनके ऊपर मँडराते हुए गुञ्जार कर रहे हैं। मानों गुन-गुनका स्वर भरके गीत गा रहे हों। सभी सघन वृक्षोंपर भिन्न-भिन्न प्रकारके पक्षी अपनी प्रेममयी वाणी बोलकर प्रभु प्रार्थना-सी कर रहे हैं इनके कमनीय कलरवसे दशों दिशाएँ प्रतिध्वनित-सी प्रतीत होती हैं। वृक्षोंके बाहुल्यसे हरा-भरा यह स्थान अत्यंत ही रमणीय जान पडता है। मेरी इच्छा तो यही है, कि यहीं, वनभोजका ठाठ जमाया जाय फिर जैसी तुम सबकी सम्मति हो। स्थान एकान्त है, सुन्दर सुगन्धियुक्त है, सरस है, सुखद है, स्वच्छ

है और सब सुविधाओंसे सयुक्त है। हम सब बैठकर यहाँ भोजनका आनन्द लें। यह सामने कैसी हरी-हरी कोमल कोमल बडी-बडी घास है, बछडे यमुना जल पीकर शनैः शनैः घास चरें। जब तक ये चरते चरते दूर निकल जायँगे, तब तक हमारा भोजन भी समाप्त हो जायगा। दौड़कर घेर लावेंगे। बोलो क्या कहते हो ?"

यह सुनकर सब एक स्वरमे बोल उठे—"बहुत सुन्दर, अति उत्तम सर्वश्रेष्ठ बात है। यही हो। कनुआ भैया! हमसे पूछने की हमसे सम्मति लेनेकी तो कोई बात ही नहीं। तू जो कर दे—वही हम सबको स्वीकार है। अच्छा तो अब फिर देर करनेका काम नहीं। मारे भूखके अब आँतें बाहर निकलना ही चाहती हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सबकी सम्मति समझकर श्यामसुन्दरने समस्त गोपोंके सहित बछडोंको यमुनाजीमें ले जाकर जल पिलाया। अघासुरके मुखमे पहुचनेसे इधर-उधर कुछ रक्त आदि लग गया होगा, इसलिये सबको स्नान कराया और फिर सम्मुख ही हरी हरी घासमें उन्हें छोड़ दिया। ऐसी सुन्दर हरी-हरी घासको पाकर बछडे अत्यन्त उल्लासके साथ घासको चरने लगे। गोपोने भी यमुनाजीमे दौड़कर बुडकी लगायी। छींके सभीने पहिलेसे ही पेडोपर टाँग दिये थे, अत. सबने अपने अपने छींके उतारे और सब पक्तिबद्ध बैठ गये।"

भगवान् बोले—भाई, ऐसे नहीं, इस ढँगसे बैठो, जिससे मुझे सबका मुख दीखता रहे और मेरा मुख सबको देखता रहे। बिना मुख दर्शन किये स्नेह प्राबल्य नहीं होता।"

यह सुनकर ग्वाल बड़े उल्लाससे भगवान्को घेरकर बैठ गये। भगवान् बोले भाई, यह भी बानक बना नहीं। तुम सब मेरे सम्मुख अर्द्धचन्द्राकार गोल वृत्त बनाकर बैठो। जो छोटे-

बालक हो, वे सबसे आगे, जो उनसे बड़े हो वे उनके पीछे इस प्रकार सबसे बड़े सबके पीछे बैठे।"

सूतजी कह रहे हैं—"भगवन्! यह बड़ा बनना ही जीवको भगवान्से दूरकर देता है, जिसे अपने बड़प्पनका जितना ही अधिक अभिमान होगा, वह उतना ही, भगवान्से दूर चला जायगा। जो अपनेको जितना ही अधिक छोटा तृणसे भी अधिक नीच समझ लेगा, उतना ही भगवान्के समीप रहेगा। इस प्रकार बैठनेसे सभीको सुखपूर्वक भगवानके मुख कमलके दर्शन हो रहे थे वे इस प्रकार एक दूसरेसे सटकर बैठे थे, कि परस्परमें एकका दूसरेसे अङ्ग स्पर्श हो रहा था। छोटे बड़ेके क्रमसे परस्परमे सटे वे सभी ग्वालबाल ऐसे लगते थे मानो कमलकी कर्णिकाके चारो ओर कमलके दल खिल रहे हों। भगवान्ने कहा भाई अपनी-अपनी पत्तले परस लो। हाँ इस बातका सब ध्यान रखें,कि सबकी पत्तलोंमे कुछ न कुछ पृथक्ता होनी चाहिये।

भगवान्की बात सुनकर बच्चे अपनी अपनी पत्तलें लेने दौडे। सबने अपनी अपनी पत्तले चुन लीं थी। पत्तलोंको लेकर पुनः अपने अपने स्थानों पर पूर्ववत बैठ गये। किसीने तो सूर्य-मुखीके फूलोंको तोड़कर उसीकी पत्तल बना ली, किसीने कमलके बड़े बड़े फूलोंको ही पत्रावलीके आकारमे सटाकर रख लिया। किसीने केलेके पत्तोंकी ही पत्तल बना ली। किसीने, वैजयन्तीकी किसीने वट,महुआ, विधारा, सतपर्णी, शाल, ढाक तथा कमल आदि अन्यान्य बडे बडे वृक्षों लताओं आदिके पत्ते तोडकर उनकी पत्तले बनायीं। कोई पत्ते न लाकर वृक्षोंकी कोमल-कोमल नूतन कोपलोंको ही तोड़ लाये—उन्हींसे पत्तलका काम लिया। कोई बीजोंके अंकुरोंको ही उखाड़ लाये। किसीने तरबूजेको बीच से काटकर उसका गूदा-गूदा खा लिया। उस छिलकाकी जो बड़ी

कटोरी-सी बन गयी, उसकी पत्तल बना ली। किसीने बेलका गूदा निकालकर उसीकी पत्तल बनायी, किसीने केलेके छिलकेकी किसीने काशीफलकी तथा किसीने अन्य किसी बड़े फलकी पत्तल बना ली। किसीने अपने छींकेको ही फैलाकर कह दिया—"भैया! मेरी तो यही पत्तल है। किसीने केलेकी, भोजपत्रकी तथा अन्य वृक्षोंकी छालोंकी पत्तल बनायी। कोई बड़े बड़े पतले पतले पत्थर ही उठा लाये और उन्हें धोकर बोले—"हमारी तो यही पत्तल है। पत्थलकी पत्तल पर ही हम पदार्थोंको पावेंगे।" सबने अपनी अपनी पत्तलों पर पदार्थ परोस लिये और भोजन करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भोजनके समय प्रेमका प्रवाह बहने लगा, हँसीके फुव्वारे छूटने लगे। उस गोष्ठीका सर्वाङ्ग वर्णन कौन कर सकता है, फिर भी आपको उस वनभोज की एक झाँकीका मैं दिग्दर्शन कराता हूँ।"

छप्पय

सुनि नटवरके बचन बाल बैठे सुनियमतैं।
छोटे छोटे प्रथम बड़े पुनि बैठे क्रमतैं॥
कमलकर्णिका आस पास फैले मानों दल।
सबने पत्तलि करी पत्र बल्कल कोटल फल॥
पत्तलि परसीं प्रेमतैं, प्रिय पदार्थ पावन लगे।
हँसत हँसावत ग्वाल सब, प्रेम सरसतामहँ पगे॥

—:०:—

वनभोज-छटा की एक झाँकी

(९०७)

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृंगवेत्रेचकक्षे,
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यंगुलीषु ।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिःस्वैः,
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १३ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

नटवर गोपनि सहित करत भोजन वर वनमहँ ।
मुरली पटमहँ खुसी बेंत अरु ऊँग बगलमहँ ॥
माखन दधि मधु भात हाथमहँ [illegible] सलोनों ।
हँसत हँसावत सतत, सखनिकूँ सुख अति दीनों ॥
विधि विधानतैं मखनिमहँ, भाग गहहिँ जे नेमतैं ।
ते ग्वालनि सँग बैठिकैं, जूठो खावैं प्रेमतैं ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो श्रीहरि यज्ञोंमें भोजन करनेवाले हैं, वे आज ग्वालोंके बीचमें बैठे विनोद पूर्ण मधुर बातोंसे सबको हँसाते हुए वनमें भोजन कर रहे हैं। उस समय उनकी फेंटमें मुरली खुरसी थी, बगलमें बेंत और सींग दबाये थे। बाँये हाथ में चिकना कौर लिये हुए थे, उँगलियोंमें अचारके फल भींचे हुए थे। भगवान्‌की उस समयकी उस बाललीलाको स्वर्गवासी देवगण भी देख रहे थे।"

जहाँ नियमका साम्राज्य होता है, वहाँ छोटे बड़े ऊँच नीचका व्यवहार बना रहता है। कौन कौन बैठेगा। किसे कहाँ स्थान मिलेगा, किन्तु जहाँ प्रेमका साम्राज्य है, वहाँ सब बराबर मे बैठ जाते है। यज्ञादि कर्म विधिके अधीन हैं। विधिहीन यज्ञ निष्फल ही हो जाय, सो बात नहीं। विधिहीन यज्ञका कर्ता भी शीघ्र ही विनाशको प्राप्त हो जाता है। जो यज्ञ विष्णु प्रीत्यर्थ किये जाते हैं, उनमें भगवान् विष्णुका विशुद्ध सस्वर मंत्रोंसे विधि विधानपूर्वक आवाहन किया जाता हैं। यदि मन्त्रमे स्वरसे, मात्रासे या वर्णसे या उच्चारणसे कोई त्रुटी रह जाती है, तो फिर भगवान् नहीं आते। यज्ञमें कोई अशुद्धि हो गयी, किसी क्रियाका लोप हो गया, कोई आगे पीछे हो गयी तो भी भगवान् नहीं आते। जो भगवान् इतने पट्रागी हैं, वे ही जब प्रेमके साम्राज्य मे आ जाते हैं, तो गाँवके गँवार ग्वारियोंके साथ भूमिपर बैठकर उनका जूठा खानेवाले भगवान्की लीलाके सम्बन्धमें कोई क्या कह सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब वनमे सब गोपोंके सम्मुख, पत्तले परस गयीं। अब लगने लगा गप्पा, होने लगा हँसी विनोद, छूटने लगे हँसीके फुव्वारे। बहने लगी सरसताकी धारा, उमगने लगा आनदका स्रोत, उस समयकी भगवान्की शोभा अनुपम थी। भगवान्ने गोप वेष बना रखा है, उसीके अनुरूप वे लीला करते हैं गोपोंके बालक जैसा वेष बनाते हैं, जैसे खेल खेलते हैं जैसी जैसी चेष्टायें करते हैं, श्रीहरि उनका अनुकरण करते हैं। उनकी पीताम्बरके फेंटमे सबके चित्तोंको चुरानेवाली अच्युतके अधरामृतका पान करनेवाली सुरीली रँगीली मुरली खुरसी हुई है। एक बगलमें नरसिंहाको दबाये हुए हैं और दूसरी बगलमे बछरोंको हाँकनेका बेत दबा हुआ है। बायें हाथमें अत्यंत चिकना बड़ा-सा ग्रास है। श्रीकृष्णका मुख बड़ा था, अतः वे बड़ा ही

ग्रास खाते थे। अतः उनकी हथेलीमें जितना माखन दही-भात तथा मीठा आ सकता था, सानकर उसका गोला बनाकर रख रखा है। मीठा खाते खाते बीचमें स्वाद बदलनेके लिये उँगलियों मे आम, नीबू, टैंटी, मिरचा तथा अदरक आदिके अचार खोस

रखे हैं। मुख भरके खा लेते हैं। बीचमे कोई हँसीकी बात कह देते हैं, सब हँस जाते हैं, तब भगवान् दूसरा ग्रास उठा लेते हैं। सब अपने अपने पदार्थोंका स्वाद दिखा रहे थे। आधा लड्डू खानेके अनन्तर किसीने कहा—"कनुआ, भैया! देख हमारा यह लड्डू कितना सुन्दर है?"

भगवान् कहते—"दिखाना, कैसा है?"

तब वह श्रीकृष्णके करकमलपर रख देता, भगवान् उसे तुरन्त चट कर जाते और कहते—"अरे, भैया! बडा मीठा है।"

किसीसे कहते—"भैया ! अपने सकलपारे तो दिखाना।" उससे छीन लेते और खाकर कहते—'तेरी मैया तो भैया ! बडी फूहरिया है। देख ये सकलपारे कैसे टेढे मेढे बनाये हैं।"

किसीके पूएको ले लेते और पूछते—"किसने बनाये हैं ?"

वह कहता—"मेरी बड़ी भाभीने बनाये हैं।"

भगवान् कहते—"तेरी भाभी अवश्य कानी होगी तभी तो यह आधा पका है, आधा कच्चा है।"

यह सुनकर सब हँस पडते।

भगवान् अपने पदार्थोंमें से भी सबको बाँट रहे थे। मधुमंगलपर लड्डू नहीं आये। वह तो विनोदी ही ठहरा। बोला—"अरे, भैया ! यहाँ ऊपरसे बिजली गिर जाय तो ?"

भगवान् हँसकर बोले—"बिजली गिरेगी तो तू क्या बच जायगा।"

मधुमङ्गलने कहा—"हाँ बच क्यों नहीं जायँगे, अवश्य बच जायँगे। देखो, हम लड्डूसे ही बच गये।"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और भी सबने भगवान्की हँसीमें हँसी मिलायी और फिर भगवान्ने कहा—"दो भाई, इसे दुगुना भाग दो।"

मधुमङ्गल बोला—"दुगुना नहीं चौगुना। एक तो मैं तुमसे बडा हूँ, इस नातेसे दुगुना मिलना चाहिये। दूसरे मैं ब्राह्मण हूँ, ब्राह्मणोंको मीठा तो अत्यन्त प्यारा लगता है।" यह सुनकर भगवान् चार लड्डू उसकी पत्तलपर रखवा देते।

एक लडका निर्धन था वह सत्तूमें नमक मिलाकर ले आया था, भगवान् समझ गये। उसके सब सत्तुओंको उठा लिया और कहा—"अहा ! ऐसी स्वादिष्ट वस्तु हम अकेले ही खा रहे हैं ? सब बाँटकर खायँ यह कहकर उसके सब सत्तू उठा लिया और उसकी पत्तलपर लड्डू, मोहनभोग, घीबरे रबडी तथा खीर

मालपूआ आदि रख दिये। फिर एक एक मुट्ठी सत्तू समीपके सब सखोंको बाँटे और सबसे कहा—"एक साथ मत इनका फक्का मार जाओ।" यह कहकर आप भी एक मुट्ठी सत्तू फाँक गये तदनंतर गोपोंने भी उनका अनुकरण किया। सूखे सत्तू कंठ से नीचे उतरते ही नहीं थे। उसपर मधुमंगल खड़ा हो गया और मुँह बनाकर अपने डंडेको मुखमें घुसेड़ने लगा और ऐसा अभिनय करने लगा मानों डंडेसे सत्तुओंको कंठके नीचे ढकेल रहा है। किन्तु वे गीले होते तो कंठके नीचे उतरते। इधर-उधर गलपटोंमें चिपट गये थे और मुखमें सूखे भरे थे। तब वह बोला—"दुहाई कनुआ भैयाकी सत्तू सत्याग्रह कर रहे हैं उन्होंने मेरे मुखमें धरना दे रखा है।" वह इतना कह रहा था, कि उसके मुखसे सत्तू निकलकर वायुमें उड़ रहे थे उसकी ऐसी दयनीय दशा देखकर सब हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये, सबके मुखसे फर्र फर्र करके सतुआ निकल रहे थे। सब दौड़कर यमुना जी गये और सबने जल पिया तब कहीं जाकर वे सत्तू कंठके नीचे उतरे फिर सब मिलकर हास परिहास करते हुए भोजन करने लगे।

सभी लड़के हँसते खेलते विनोदकी बातें करते हुए भोजन करनेमें इतने तन्मय हो गये थे, कि उन्हें घर द्वार-कुटुम्ब परिवार तथा अन्य किसी बातका स्मरण ही न रहा। वे इस बातको भी भूल गये, कि वनमें हम बछड़ोंको चरानेके निमित्त आये हैं। श्रीकृष्णके साथ वनभोजका आनन्द लूटते हुए हँसते हँसते प्रसाद पा रहे थे। बछड़े नयी नयी दूबके लोभसे वनमें दूर निकल गये थे।

इधर भगवान् तो यह क्रीडा कर रहे थे, उधर आकाशमें हंसपर चढ़े चतुरानन चारों दिशाओंमें चक्कर लगा रहे थे। अब उनकी बुद्धिमें भगवान् की ऐसी माधुर्यमयी लीलाको देखकर मोह

उत्पन्न हो गया। कमलयोनि भगवान् ब्रह्मा सोचने लगे—"यह कैसा ब्रह्म है, ग्वालबालोंके साथ उनका जूठा खा रहा है। तेरी माँ फूहरिया है, तेरी भाभी काली है, तेरी चाची चोट्टी है ऐसी प्राकृत असभ्य बालकोंकी-सी ग्राम्य बातें कर रहा है, स्वयं खिल खिलाकर हँस रहा है, सबको हँसा रहा है। इसमें ऐसा क्या ऐश्वर्य है इसकी परीक्षा लेनी चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान्की कैसी भुवन मोहिनी माया है। जो ब्रह्माजी समस्त ब्रह्माण्डके उत्पन्न करने वाले हैं, जो सबके पितामह कहे जाते हैं। जो त्रिदेवोंमें से एक देव हैं, ईश्वर हैं, जनक हैं, वेदगर्भ हैं, भगवान्के नाभि कमल से जिनका जन्म हुआ है, वे भी भगवान् की मायाके चक्करमें फँस गये, उन्हें भी परात्पर प्रभुकी माधुर्यमयी लीला देखकर संदेह हो गया फिर हम प्राकृत पुरुष मायामें फँसकर जो अंट संट व्यवहार कर जाते हैं, इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है। ब्रह्माजी ने सोचा—"कुछ इनकी परीक्षा लेनी चाहिये।" यह सोचकर ब्रह्माजी जितने असंख्यो बछड़े चर रहे थे उन सबको अपने प्रभाव से उठा ले गये और माया से अचेत करके—उन्हें सुषुप्ति अवस्थाके सदृश बनाकर अपने लोकमें बिठा आये।

इधर एक गोपने आँख उठाकर चारों ओर देखा तो बछड़े कहीं भी दिखायी न दिये। यही नहीं उनके कंठोंमें जो घंटियाँ बँधी थीं, उनके भी शब्द सुनाई नहीं देते थे। यह देखकर उसे बड़ी चिन्ता हुई। अपनी चिन्ताको अन्य गोपोंपर प्रकट करते हुए वह कहने लगा—"अरे, सारेओ! तुम सब तो यहाँ माल उड़ा रहे हो। बछड़ोंका भी कुछ पता है, वे तो देखते ही नहीं, आँखोंसे ओझल हो गये है।"

यह सुनकर सभीको बड़ी चिन्ता हुई। अब तक समस्त ग्वालबाल भगवान्में चित्त लगाये भोजन कर रहे थे। जब उस

बालकने बछड़ोंके ओझल होनेकी बात बतायी तो सब चिन्तित और भयभीत से हो गये। भोजनका सब आनन्द जाता रहा। क्षणभर पहिले जिनका मुख कमलहास्यके कारण प्रफुल्लित और विकसित हो रहा था। अब क्षणभरमें ही सबके मुखोंपर चिन्ता और विषादकी रेखाये स्पष्ट झलकने लगी। श्रीकृष्णने सोचा—"यह तो रङ्गमे भङ्ग पड़ गयी। कैसी सुन्दर गोष्ठी लगी थी, बीचमें बछड़ोंकी चिन्ता करके सब आनन्द इस छोकरे ने किर-किराकर दिया। उठी पैंठ आठवें दिन लगती है। यदि अब ये सबके सब बछरोंको खोजने उठ जायँ, तो फिर ऐसी गोष्ठी नहीं लग सकती। "यह सब सोच विचारकर भगवान्ने सबको आश्वासन देते हुए कहा—"देखो, भाइयो! कोई अपने स्थानसे उठना मत। ऐसी गोष्ठी फिर न लग सकेगी। तुम सब तो अपने-अपने स्थानपर बैठे रहो, मैं अकेला ही जाता हूँ, अभी तुरन्त बछड़ोंको घेरकर लाता हूँ। तुम भोजन करते ही रहना। बन्द करनेकी आवश्यकता नहीं।

सबने एक स्वरसे कहा—"कनुआ भैया! तेरे बिना तो हमे भोजन अच्छा लगता नहीं है, तू जब तक बछड़ोंको घेरकर न लावेगा, तब तक हम बैठे तो यहीं रहेंगे, किन्तु एक ग्रास भी मुखमे न देंगे, तेरी प्रतीक्षा करते रहेंगे।"

श्रीकृष्णके एक हाथमे बड़ा-सा ग्रास था। उस ग्रासको लिये ही लिये बोले—"अर, देखो! मैं अभी बछरोंको बुलाता हूँ अभी लेकर आता हूँ।" यह कह वे हाथमे कौर लिये ही लिये अपने साथियोंके बछरोंको ढूँढ़नेके लिये चल दिये। भगवान् बहुत दूर तक निकल गये, बछड़ोंका कुछ पता ही नहीं। कुछ दूर तक तो बछड़ोंके खुरोंके चिह्न दिखाई दिये, आगे चलके वे चिह्न भी विलीन हो गये। भगवानने सोचा—"गोवर्धन पर्वतपर तो नहीं चढ़ गये?" पर्वतपर देखा। वहाँ भी नहीं है। फिर सोचा—

कहीं पर्वतकी कन्दराओंमे जाकर तो नहीं छिप गये ? सब कदराये देख डालीं, एक भी बछडा न मिला। फिर सोचा—पेट भर जानेके कारण वृन्दावनकी सघन कुजोंमे छिपकर बैठकर बछरे पागुर तो कहीं नहीं कर रहे है।" इस विचारसे उन्होंने सब कुजाको खोज डाला। गिरि गह्वरोंको, खडहरोंको, ऊँचे नीचे सभी स्थानोको श्याम सुन्दरने खोज डाला, किन्तु बछडे न मिले न बछडोंके चिह्न ही। इस बातसे विश्ववित् भगवान् वासुदेव कुछ चिन्तितसे हुए। फिर भगवान्ने सोचा—"चलो, जहाँ, हम भोजन कर रहे थे, वहीं बछडे न पहुँच गये हो ?" यह सोचकर वे पुन पुलिनमें आये। वहाँ आकर देखा कि न कोई बालक है और न उनकी पत्तलें ही है। स्थान वही है, सब सूना पडा है। भगवान् यह देखकर और भी विस्मित हुए।"

शौनक जीने पूछा—"सूतजी ! बालक कहाँ चले गये थे ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! जहाँ बछडे चले गये, वहा बालक भी चले गये। बालक तो बछडोंके पीछे ही रहते हैं। इसीलिये वे वत्सपाल ग्वालबाल कहलाते हे"

शौनकजीने पूछा—"बालकोंको कैसे पता चला, कि बछडे वहाँ हैं।"

सूतजी बोले—"ग्वालबाल अपने आप थोड़े ही गये। ब्रह्माजी बछडोंको मायाम अचेत करके सुलाकर ज्योंही आये, त्योंही उन्होंने देखा श्रीकृष्ण बछडोंको ढूँढते हुए इधर उधर अज्ञानीकी भाँति भटक रहे हैं, तो उन्हें और भी विस्मित करने को अबके वे ग्वालबालोंको भी उठा ले गय और उन्हें भी वहीं मायासे मोहित करके सुला आये।

भगवान्ने जब बालकोंको भी यहाँ न देखा, तो वे फिर बालकोंको खोजने चले। अब वनमें न बालक मिलते हैं न बछडे। कुछ देर ध्यान करके विश्ववेत्ता भगवान् सब रहस्यको समझ

गये कि यह सब बूढ़े बाबा ब्रह्माकी करतूत है, उनकी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये है। अच्छा उन्हे ऐश्वर्य देखनेकी लालसा है, तो मैं उन्हें अपना अचिन्त्य ऐश्वर्यही दिखाऊँगा। ऐश्वयके उपासक आज मेरी माधुर्यलीला दर्शनके अनधिकारी हैं। यह सोचकर भगवान्‌ने अपना अपार ऐश्वर्य प्रकट करनेका विचार किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जो माधुर्यके सामने ऐश्वर्यकी चर्चा भी सुनना नहीं चाहते, उन गोपाल बने श्यामसुन्दरकी परीक्षा करना, ब्रह्माजीका मोह ही कहा जा सकता है। वह भी उन्हें स्वतः नहीं हुआ—प्रभुकी इच्छासे ही हुआ। अब जो हुआ उसका वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

विधिने लीला लखी मोह अति मनमहँ छायौ।
करूँ परीक्षा भाव चित्त चतुरानन आयौ॥
बछरा लये चुराइ छिपाये निजपुर जाकें।
पुनि बालनि लै गये भोजके थलपै आकें॥
सोचें—अब-का करतु है, जिह जसुमतिको छोहरा।
बछरनिकूँ ढूँढत फिरें, इति हरि गिरि गुह कदरा॥

सर्वं विष्णुमयं जगत्

(९०८)

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च ।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० १३ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

पुनि नहिँ निरखे बाल लाल विधिकृत सब जान्यो।
कृष्ण कुपित नहिँ भये मोह माया को मान्यो ॥
होवै नहिँ विधि ग्वालबाल बछरनि जननिनि दुख ।
बालक बछरा बने विष्णु सबकूँ देवैं सुख ॥
शोभा शील स्वभाव स्वर, नाम रूप बय बेष सब ।
जैसे जितने सब हते, तितने तस हरि बने तब ॥

गोमुखकी गुहासे जो जल निकल गया, वह कभी न कभी समुद्रमे पहुँच ही जायगा। बहुतसा जल तो सीधा प्रवाहमे बहता हुआ गंगा सागरमें पहुँचता है। बहुत-सा नहरों द्वारा खेतोंमें चला जाता है, बहुत-सा गड्ढोंमें सड़ता है। किन्तु वह सभी भिन्न भिन्न

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तब विश्वकृत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने ब्रह्माजीका प्रिय करनेकी इच्छासे तथा ग्वालबाल और बछड़ोंकी माताओंका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने आपको ही सब बछड़े और बालक रूपमें बना लिया।

स्थानोंसे वहीं पहुँचेगा, वहीं उसका विश्राम स्थान है, वहीं उसका धाम है, वहीं उसका प्राप्य स्थान है। जो जीव भगवान्‌से पृथक् होकर विश्वब्रह्माण्डमे भटक रहे हैं, वे कभी न कभी भगवानसे जाकर मिलेंगे। चाहे जब हो, चाहे जितनी योनियोंके पश्चात् हो, सभी की एक दिन इस असार संसारसे मुक्ति होनी है। भगवान् ही अपनी मायासे सबको नचा रहे हैं। ब्रह्मासे चींटी पर्यन्त सभी उनके संकेत पर नाच रहे हैं। प्रभु इनके साथ खेलते हैं। साधारण जीवगण गुणमयी जन-मोहिनी मायाके चक्करमे फँसकर कर्म कर रहे हैं। भगवद्भक्त भक्तमोहिनी मायाके चक्करमें फँसकर प्रभुके साथ खेल रहे हैं। जीव जब भगवान्‌के मर्म को जान जाता है, तो भगवान् हँस जाते हैं, वे उपेक्षा कर जाते हैं, यह तो मेरी मायाका खेल है। किन्तु भगवान्‌को भी वशमें करने वाली एक अचिंत्य माया है, उसके सामने भगवान्‌की भी नहीं चलती। औरोंकी स्तुति प्रार्थना सुनकर भगवान् अकड़ जाते हैं, कुछ उत्तर भी नहीं देते। जब स्वयं फँस जाते हैं, तो सब हेकड़ी भूल जाती है। 'स्वयं कहते हैं—"भगवती! मैं तुम्हारा ऋणियाँ हूँ, तुमसे कभी उऋण नहीं हो सकता। जीव जहाँ भी आकर्षित होता है, देह सम्बन्धसे नहीं, भगवद् विभूतिके सम्बन्ध से आकर्षित होता है। आत्म रूपसे भगवान् सभीमे समान रूपसे व्याप्त है, किन्तु जहाँ उनकी जिस रूपमें जितनी ही अभिव्यक्ति होगी, वहाँ उतना ही आकर्षण अधिक होगा। अन्तःकरण जितना ही स्वच्छ होगा, आत्मा उसमे उतना ही अधिक प्रकाश प्रतीत होगा। सूर्य समान रूपसे सबको प्रकाश प्रदान करता है किन्तु पाषाणमे लोहे आदिमें घनता अधिक है, अतः उसमें आर-पार उसका प्रकाश नहीं जाता। शीशेमें स्वच्छता अधिक है उसमें प्रकाश चमकने लगता है। यह विश्व विष्णुमय है। विष्णु जगत्मय है। इस रहस्यको श्रीकृष्णावतारमें भगवान्‌ने

अपने निज जनोंको प्रत्यक्ष करके दिखा दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब ब्रह्माजी भगवान्‌की परीक्षा करनेके निमित्त उनके बछड़ोंको और ग्वालबालोंको हर ले गये, तब भगवान्‌ने सोचा—"अब क्या करें। यदि सायंकालमें ग्वाल-बाल बछड़े लेकर व्रजमें नहीं गये—तो बछड़ों और ग्वालबालोंकी माताएँ अत्यन्त दुखी होंगी। व्रजवासी तड़प-तड़पकर मर जायँगे। सब सोचेंगे—"मैंने ही उन सबको कहीं छिपा दिया।" यह सोच-कर भगवान्‌ने स्वयं ही बालक और बछड़ो का रूप रख लिया।

इसपर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भगवान्‌ने स्वयं बालक और बछड़ोका रूप क्यों बनाया? वे तो सर्वसमर्थ थे, सब कुछ कर सकते थे। सर्वत्र जा सकते थे, जहाँ ब्रह्माजीने मायाके प्रभाव से अचेतन करके उन सबको सुला रखा था, वहाँ जाकर उन सबको ले क्यो नही आये?"

इसपर सूतजीने कहा—"महाराज! भगवान्‌के लिये तो कोई बात कठिन नहीं। उन्हे वहाँ जानेकी भी आवश्यकता नहीं थी, वे तो अपने सङ्कल्प मात्रसे उन सबको तुरन्त बुला सकते थे। किन्तु इससे ब्रह्माजीका मोह दूर न होता। वे भगवान्‌के दिव्य मायातीत परमैश्वर्यके दर्शनोंसे वञ्चित रहते। फिर गौओंको और व्रजकी बूढ़ी गोपियोंको भी तो वात्सल्य सुख देना था। वे सब सोचती थीं—"लालाजी यशोदा मैयाकी ही बोयो पीते हैं, हमे स्तन-पानका सुख नहीं देते। अतः उनकी भी बालक बनकर मनो-कामना पूरी करनी थी। स्वयं जाकर ले आते—तो खेल सरस बनता ही नहीं। वह तो शासकोंका-सा कटु-शासन होजाता, उसमे प्रेम, करुणा और स्नेहका प्रवाह प्रवाहित न होता। भगवान् रूखे तो हैं नहीं, वे तो सरस हैं। जिसमे सरसता होती है, उस लीलाको वे बड़े उल्लासके साथ करते हैं।

इस पर शौनकजीने कहा—"अच्छा तो हाँ, फिर क्या हुआ ! भगवान् कैसे सब बन गये ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रके लिये कैसे और क्योंका क्या प्रश्न, वे तो सर्वज्ञ हैं, सर्ववित् हैं, घट-घट नियामक हैं। जितने गोप थे, उतने ही रूप रख लिये, जितने बछड़े थे, उतने ही भगवान्ने स्वरूप बना लिये। उन बछड़ों और बालकोंका जैसा शरीर था, जैसा रङ्गरूप था, वैसा ही

भगवान्ने बना लिया, उनमें तिलमात्र भी अन्तर प्रतीत नहीं होता था। जो काला था—भगवान् काले बनगये, जो गोरा था—गोरे बन गये, छोटा था—छोटे बन गये, मोटा था—मोटे बन गये, ठिगना था—ठिगने बन गये। लम्बा था—लम्बे बन गये। कोई काना था आप काने ही बन गये। किसीकी नाक लम्बी थी आप लम्बी नाकवाले बन गये, किसीका गोल मुख था आपने भी गोल

मुख बना लिया। जिसके जैसे हाथ, पाँव, मुँह, आँख, कान, नाक तथा बाल थे वैसे ही भगवानने बना लिया। जिसकी जैसी छडी थी आप वैसे ही छडी बन गये। जिसकी जैसी वंशी थी—आप वैसी ही वंशी बन गये। जिनके जैसे नरसिंहा, वस्त्र, आभूषण, पत्तल-छींके थे। वैसे ही भगवान् भी बन गये। जिनके जैसे स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्था तथा आचार-विचार थे सर्व स्वरूप भगवान् वैसे ही बन गये। जो तुतलाकर बोलते थे, भगवान भी तुतलाने लगे। जो चिड़चिडे स्वभावके थे भगवान् भी चिड़चिड़े बन गये। कहाँ तक कहें भगवान्ने "सम्पूर्ण जगत् विष्णु स्वरूप है" इस कथनको मानों मूर्तिमान् करके दिखा दिया।

आज सब स्वरूपोंमें श्रीकृष्ण ही कृष्ण थे। जैसे चीनीके खिलौने सजीव होकर व्यवहार करने लगे, वैसे ही भगवान् स्वयं ही तो बछडे बने थे, स्वयं ही बछडोंको चरानेवाले गोपाल बने थे. स्वयं ही तो बाँसुरी बने थे, स्वयं ही बाँसुरी बजानेवाले बने थे। स्वयं ही लाठी बने थे और स्वयं ही अपने स्वरूपोंको घेरकर सायंकालके समय वृन्दावनकी ओर चल दिये। जिस जिस ग्वालके जितने जितने बछडे थे, उन्हें उसी उसीके रूपसे पृथक् पृथक् ले जाकर उनके वास स्थानोंमें प्रवेश करा दिया। फिर जैसा जिसका बालक था, उस रूपसे उसके घरमे भी घुस गये।

समस्त ग्वालबालोंकी माताएँ सायंकालके समय श्रीकृष्ण दर्शन लालसासे तथा अपने बच्चोंका स्वागत करनेके निमित्त अपने अपने द्वारोपर खडी हो जाती थीं। आज भी जब उन्होंने वंशीकी ध्वनि सुनी, तो वे घरसे बाहर निकलीं। वहाँ उन्होंने साक्षात् परब्रह्म परात्पर प्रभुको ही अपने अपने बालक मान कर उन्हें स्नेहसे छातीसे चिपटाया। अत्यन्त स्नेह पूर्ण हृदयसे

चिपटानेसे उनके स्तनोंसे स्वतः ही दूध चू पड़ा। यद्यपि ये बच्चे पाँच पाँच वर्षके ही थे, फिर भी माताओंने स्नेहाधिक्यके कारण अपने स्तनोंका दूध उन्हें पिलाया। उन्हें गलेसे लगाकर छातीसे चिपटा लिया। वैसे तो वे नित्य ही उन्हें छातीसे चिपटातीं थीं, किन्तु आजके आलिंगनमें तो उन्हें अनिर्वचनीय आनन्द आया। क्योंकि साक्षात् आनन्दघन-विग्रह प्रेमस्वरूप परब्रह्मको ही उन्होंने हृदयसे लगाया था। माताओंने रात्रिमें ब्यालू कराके बच्चोंको सुख पूर्वक सुलाया। मीठी मीठी प्रेमकी कहानियाँ सुनायीं। उन्हें लेकर शयन कर गयीं। प्रातःकाल उठकर ग्वालबाल और बछड़ा बने प्रभु पुनः चरानेके लिये वनमें गये। सायकाल-को लौटकर फिर आ गये। इस प्रकार नित्य भगवान् पूर्वकी भाँति सब कार्य ज्योंके-त्यों करने लगे। गौओंको, माताओंको कुछ भान ही न हुआ, कि ये हमारे यथार्थ बच्चे नहीं हैं। भगवान् गोपालबाल बने अपनी सभी सामयिक क्रीड़ाओंसे माताओंको प्रमुदित करते रहते थे। माताएँ जैसे स्नेह पूर्वक उनके अङ्गोंमें पहिले उबटन लगाती थीं, वैसे ही उबटन लगाया करती थीं, जैसे पहले न्हिलाती थीं, वैसे ही न्हिलाया करती थीं। चन्दनका लेप करना, तिलक लगाना, वस्त्रोंको धारण करना, आभूषण पहिनाना, सब प्रकारके भयोंसे उनकी रक्षा करना तथा भोजन आदि कराना जितने भी कार्य थे, सभीको कराती थीं। उनका विविध उपायोंसे पूर्ववत लालन-पालन करने लगीं। माताओंकी भाँति गौओंकी भी यही दशा थी। जब वे वनसे चरकर शीघ्रता पूर्वक आतीं—तो रम्हाती हुई तुरन्त अपने बच्चोंके समीप आ जातीं, उन्हें प्रेमपूर्वक चाटने लगतीं। स्नेहके कारण उनके स्तनोंसे जो दूध बहता उसे बच्चेको पिलातीं। बालक बने भगवान भी उनके बड़े-बड़े थनवाले स्तनोंमें हुड्डमार कर घुसुर-घुसुर करके दूध पीने लगते। और सब व्यवहार तो

पूर्ववत ही था, केवल एक बातमें विलक्षणता हो गयी। गौओंका तथा माताओंका पहिले जितना प्रेम अपने बालकोंपर था, उससे असख्यों गुना प्रेम इन बालक वत्स बने बनवारीमें बढ गया। वैसे गौओंको तथा माताओंको यह भान स्वप्नमे भी नहीं हुआ, कि ये हमारे सगे पुत्र नहीं हैं। उनका मातृभाव तो पूर्ववत् ही था। अन्तर केवल इतना ही था, कि अपने यथार्थ पूर्व पुत्रोंकी अपेक्षा इन पुत्र प्रभुमे स्नेहका आधिक्य अत्युत्कट था। भगवान्‌ने भी उनके सम्मुख कभी भूलसे भी अपनी भगवत्ता प्रकट की हो—सो भी बात नहीं। वे भी भोले भाले शिशु ही बने रहे, किन्तु इसमें सम्बन्ध जनित मोहका अभाव था।

पहिले गोपियोंका अपने पुत्रोंकी भी अपेक्षा यशोदानद-वर्धन नंदनन्दन श्रीकृष्णमें प्रेम अधिक था। अब जैसा प्रेम पहिले श्याम सुन्दरमें था, वैसा ही अपने इन पुत्रोंमें भी हो गया। उन बड़-भागिनी गोपियोंके अपने स्तनके दुग्ध से सिञ्चित—पुत्र बने पर-ब्रह्ममें उत्पन्न हुई—प्रेमलता प्रति दिन आशातीत रूपसे अभिवृद्धि को प्राप्त होकर एक वर्षमें असीम-सी हो गयी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार सर्व स्वरूप भगवान् स्वयं ही बछडे बनकर वृन्दावनके अरण्योंमें—यमुनाके पुलिनोंमे हरी-हरी दूब चरते थे और स्वयं ही वत्सपाल बनकर उन्हे चराते थे, घेरकर घर लाते थे। इस भाँति एक वर्ष पर्यन्त वे व्रजके वनोंमे स्वच्छन्द विहार करते रहे। अपने आप अपने ही से विविध भाँतिकी क्रीडाएँ करते रहे।

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! फिर भगवान्‌की कलई खुली या नहीं?

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! खुलती क्यो नहीं। जिस कारण उनकी कलई खुल गयी, एक वर्ष पश्चात् बलदेवजीने जैसे उन्हे ताड़ लिया, उस प्रसङ्गको मैं अब आगे कहूँगा।

छप्पय

बनिकें पालक ग्वाल पाल्य बछरा हरि बनिकें।
वृन्दावनकी ओर चले प्रभु बनतें चरिकें॥
बछरा बालक मातु उठी, हियतें चिपटावें।
चूमें चाटें बदन प्यारतें अंक बिठावें॥
असन, बसन, उबटन, शयन, करवावें सुत समुझिकें।
बाल बने बन जाहिं हरि, बछरनि लावें घेरिकें॥

श्रीबलदेवजी द्वारा रहस्योद्घाटन

[९०९]

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते
त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि ।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात्कथं वदे-
त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत् ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १३ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

जैसी पहिले प्रीति कृष्णपै माँ यसुमतिकी ।
तैसी ब्रजमहँ भई सुतनिपै सब गोपिनिकी ॥
बाढ़ैं छिन छिन प्रेम बेलि सब मरम न जानैं ।
उमड़ै अति अनुराग ब्रह्मकूँ सब सुत मानैं ॥
बरष माँहि कछु दिन बचे, समुझे श्री बलराम तब ।
कृष्ण ! कहा माया रची, श्याम बतायो वृत्त सब ॥

❀ भगवान्‌के रहस्यको समझकर बलदेवजीने उनसे कहा—"हे श्रीकृष्ण ! ये ग्वालबाल और बछड़े यथार्थ तो हैं नहीं । ये कोई देवता या ऋषि हों सो भी बात नहीं । मुझे तो भिन्न भिन्न उपाधियोंमें एक मात्र आप ही दिखाई दे रहे हैं । कृपा करके स्पष्ट बताइये यह नाना भाव किस कारणसे हुआ ? तब भगवान्‌ने ब्रह्माजीके मोहका वृत्तान्त बता दिया । उसे सुनकर बलदेवजीको सब वृत्त विदित हुआ ।

प्रेम और कस्तूरीकी गंध छिपानेसे नहीं छिपती। प्रेमको जितना ही छिपाया जाय उतना ही वह बढ़ेगा। जीव पूर्ण प्रेमास्पद चाहता है, किन्तु संसारमे मिलते हैं अधूरे। जीव नित्य प्रेमकी अभिलाषा करता है, किन्तु जगत्में मिलता है अनित्य नाशवान्। प्राणी निस्वार्थ प्रेमके लिये छटपटाता है, किन्तु संसारमें सर्वत्र स्वार्थका ही साम्राज्य है। स्वार्थ रहित, कैतव शून्य प्रेम संसारमे दीखता ही नहीं। इसीलिये संसारी सम्बन्धियोंसे पूर्ण प्रेम हो नहीं सकता। किसी भाँति जानमें अनजानमे भगवान अपनी गोदमें आ जायँ, भगवान्को गाढ़ालिंगन करनेका अवसर प्राप्त हो जाय—तो जीव कृतकृत्य हो जाता है। जीवकी तृष्णा तब तक शांत न होगी, जब तक ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त न होगा। ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त करनेमें क्या सुख है, वह कहा नहीं जा सकता। गूंगे का गुड़ है। अनुभवगम्य विषय है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक वर्ष तक भगवान् व्रजमें बालक बछड़े बनकर वन-वनमें विहार करते रहे। माताओंके मनमें यह बात तो बार बार आती थी, कि हमारा अनुराग इतना अधिक पुत्रोंमे क्यों पल-पल पर बढ़ता जाता है, किन्तु यह उन्हें कभी स्वप्नमे भी भान नहीं हुआ कि ये हमारे पुत्र नहीं हैं। उसी समय एक और भी विचित्र बात हुई। ज्योतिषियोंने बताया, कि आगामी पाँच वर्षोंमें विवाहके साहे नहीं हैं, जिन्हें विवाह करना हो, इसी वर्ष कर लो। माताओंको यह लालसा सदा उत्कट बनी रहती है, कि हमारे घरमे शीघ्रसे शीघ्र छम्म-छम्म करती हुई बहू आ जाय। उन्होंने सोचा—"पाँच वर्ष किसने देखे हैं, तब तक मरे या जिये। यद्यपि अभी हमारे बच्चोंकी अवस्था छै से दश तक की है, किन्तु कोई बात नहीं, विवाह हो जाय, गौना तीन या पाँच वर्षमे करलेंगे, बहूका मुख तो देख लेंगे।" यह विचार करके समस्त गोपोंने अपने बच्चोंका विवाह कर लिया। व्रजमे एक भी पाँच

वर्षसे ऊपरके वर कन्या क्वारे नहीं रहे, मानो सभी कन्याओंका श्यामसुन्दरने ही ग्वालबाल रूपसे पाणिग्रहण किया। व्रजमें जितनी नव विवाहिता थीं, उनके साथ नन्द-नन्दनका ही विवाह हुआ। यद्यपि विवाह होकर आनेवाली बहुएँ छोटी-छोटी थीं, किन्तु सबको ऐसा प्रतीत हुआ मानों हमारे पति किशोरावस्थापन्न पन्द्रह-पन्द्रह वर्षके हैं। क्योंकि भगवान् श्यामसुन्दर अवस्थाके बन्धनमे तो कभी बँधते नहीं, वात्सल्य भावके उपासकों के लिये सदा पाँच वर्षके रहते हैं और माधुर्य भावके उपासकोंको सदा सर्वकालमे किशोरावस्थापन्न होकर दर्शन देते है। सभी कन्याओंने पति रूपमें परात्पर प्रभुके ही दर्शन पाये। सभी अपने पतिको किशोरावस्थापन्न देखकर प्रमुदित हुईं और वे भी अपनेको उसी अवस्थाकी अनुभव करने लगीं।

पहिले तो नन्दजीके आँगनमे ही प्रेमका प्रवाह बहता था, अब घर-घर बहने लगा। अब सखियोंको कृष्ण दर्शनकी पहिले जैसी चटपटी नहीं लगती थी, अब तो वे अपने इन बालकोको ही देखकर आत्मविस्मृत हो जातीं। निरन्तर निहारते रहने पर भी उनकी तृप्ति न होती। उनकी ऐसी ही इच्छा बनी रहती—ये हमारे सामने ही बने रहें और हम इन्हें निरन्तर निहारा करें। एक वर्ष तक यह प्रेम प्रवाह व्रजकी वीथियोमें घर घर निरन्तर अव्याहत गतिसे प्रवाहित होता रहा। सबके लिये सुलभ हो गया।

एक दिन जब वर्षमे पाँच छै दिन शेष थे, उस दिन सदा की भाँति बलदेवजी भी वनमें बछरोंका चराने गये। जिस दिन अघासुर मारा था और वन भोज हुआ था, उस दिन बलदेवजी वनमें नहीं गये थे। अत. उन्हे इन सब बातोका पता ही नहीं था। इधर बलदेवजी एक वर्षसे देख रहे हैं, व्रजमें घर-घर प्रेमका सागर सा उमड़ रहा है। सब मंत्र मुग्धकी भाँति हो रहे हैं और अपनी सन्तानों पर अत्यधिक अनुरक्त हो रहे हैं। यह प्रेम प्रवाह

कुछ कम होता हो सो भी नहीं—यह तो प्रतिक्षण बढ़ता ही जाता है। यद्यपि बलदेवजी ईश्वर थे, फिर भी अब तक इस रहस्यको न समझ सके। जब उनपर किसी प्रकारसे रहा ही न गया, तब उन्होंने उस दिन दिव्य दृष्टिसे देखा। उनके आश्चर्यका ठिकाना ही न रहा। उन्होंने देखा और बालकोंका वेष बनाये वनवारी ही विहार कर रहे हैं। हाँ, इसके पूर्व एक घटना उसी दिन और भी घटित हो गई। बड़े-बड़े गोप लोग तो गौओंको लेकर गोवर्धन के शिखरपर चरा रहे थे और ग्वाल बने श्रीकृष्णके साथ बलरामजी गोवर्धनकी तलहटीमें बछड़ोंको चरा रहे थे। ये बछड़े डेढ़-डेढ़ दो-दो वर्षके हो चुके थे, सभी गौओंको एक-एक बच्चा और भी हो चुका था। नया बच्चा हो जानेपर गौओंका बड़े बच्चों पर प्रेम कम हो जाता है, सब प्रेम छोटे पर ही बटुरकर चला आता है। परन्तु ये बछड़े तो साक्षात् ब्रह्म थे। अतः गौओं का अपने नये बछड़ोंकी अपेक्षा इनपर अनन्तगुणा अधिक अनुराग था, गोवर्धनके शिखरपर चरती हुई गौओंने दूरसे तलहटीमें चरते हुए, इन बछड़ोंको देखा। बस फिर क्या था, उनपर रहा नहीं गया। बछड़ोंको देखते ही उनका मन स्नेह वश आपेसे बाहर हो गया। अब वे अपने प्यारे बच्चोंको देखकर छटपटाने लगीं, उनके बदनोंको चाटनेके लिये हुँ-हुँ शब्द करती हुई पूछें उठा-उठाकर दौड़ीं, गोपोंने बहुत रोका, किन्तु जब हृदयमें प्रेमका तीव्र प्रवाह उमड़ता है, तो फिर किसीके रोके वह रुकता नहीं। सब बन्धनोंको वह छिन्न भिन्न कर देता है। गोप लट्ठ लेकर गौओंके मार्गमें आगे खड़े हो गये। गोवर्धन पर्वतका मार्ग बड़ा दुर्गम था। गिरते ही चकना चूर होनेकी संभावना थी, किन्तु गौओंने इसपर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। वे रम्हाती हुई इतने वेगसे दौड़ीं मानों वे चारों पैरोंसे न दौड़कर दो ही पैरोंसे छलांगें मारती हुई जा रही हों। उनके थनोंसे दुग्धकी धारायें बह रहीं

थीं। मार्गकी समस्त कठिनाइयोंका सामना करती हुई वे अपने बछड़ोंके समीप पहुँचकर उन्हें दूध पिलाने लगीं। यह एक आश्चर्य की बात थी, कि नये बछड़ोंको छोड़कर बड़े बड़े दो दो वर्षके बछड़ोंको दूध पिलावे। वे प्रेमसे उनके अंगोंको चाटने लगीं। ऐसा हृदय उमड़ रहा था। मानों वे उन बच्चोंको हृदयमें छिपाले और सदा अनन्त काल तक छिपाये ही रहें। उनके चाटने के भावको देखकर बलरामजी विस्मित हुए उन्होंने अनुभव किया कि गौओंका हृदय इतना द्रवीभूत हो रहा है, कि वे चाहती हैं इन बछड़ोंको पेटमें रखलें। आँखोंमें छिपाले।

बड़े-बड़े गोप तो अभी गोवर्धन पर्वत पर ही खड़े थे, गौएँ इतने वेगसे आई थीं कि वे उन्हें भली-भाँति देख भी न सके। गोपोंको बड़ी लज्जा आई, कि हम कैसे ग्वारिया हैं, जो गौओंको भी न रोक सके। उन्हें गौओंपर भी क्रोध आरहा था, बालकोंपर भी क्रोध आ रहा था, कि ये इतने मूर्ख हैं, कि बछड़ोंको गौओंके समीप ही ले आये। दूर चराते तो यह दुर्घटना घटित न होती। गौओंने अपने स्तनोंका सब दूध पिला दिया होगा।"

इस प्रकार लज्जा और क्रोधमें भरे बड़े-बड़े गोप बड़ी कठिनतासे उस गोवर्धन पर्वतके दुर्गम मार्गको पार करके उस स्थानपर आये जहाँ बछड़ा बने वंशीवाले अपनी माताओंका पयपान कर रहे थे और ग्वालबाल बने वनवारी उनकी लीलाको देखकर हँस रहे थे। जहाँ उन्होंने उन बछड़े और बालकोंको देखा कि उनका चित्त पानी-पानी हो गया। हृदय द्रवीभूत होकर बहने लगा। अन्तःकरणमें प्रेमकी हिलोरें मारने लगीं। उस आवेगमें क्रोध कर्पूरकी भाँति कहाँ उड़ गया, किसीको कुछ पता ही न चला। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ क्रोध रह ही कैसे सकता है। क्रोधकी उत्पत्ति तो कामसे होती है। उन्होंने आते ही अपने बालकोंको किच-किचाकर जेंट भरली। उन्हें कसकर हृदय

से चिपटा लिया। उनका ऐसा प्रेम उमड़ा कि बालकोंको छोड़ने की इच्छा ही नहीं होती थी। चाहते थे सदा इसी प्रकार इन्हें हृदय से चिपटाये रहें, बार-बार वे उनका सिर सूँघने लगे, मुख चूमने लगे। बालकोंके आलिंगनसे उन बूढ़े-बूढ़े गोपोंको ब्रह्मानन्द के सदृश सुख प्राप्त हुआ। सदृश क्या कहें—साक्षात् ब्रह्मानन्द तो वह था ही। बड़ी कठिनतासे उन्होंने बालकोंको अपने शरीरसे पृथक् किया। उनकी ओर बार-बार अनुराग भरी दृष्टिसे निहारते हुए, नेत्रोंसे नेहका नीर बहाते हुए पुनः पुनः उनके सुन्दर स्वरूपका स्मरण करते हुए गौओंको लेकर वे जा सके।

इस घटनाका बलरामजी के हृदयपर बड़ा प्रभाव पड़ा। अब वहाँ दो ही तो रह गये—एक तो बलदेवजी और दूसरे ग्वालबाल तथा बछड़े बने श्यामसुन्दर। अब बलदेवजी का वात्सल्य भाव विलीन हो गया। उनके हृदयमें दास्य भावका सञ्चार हुआ। वे उन मायासे गोपबाल बने परात्पर प्रभुको अपना स्वामी समझने लगे। वे गौओं और गोपोंके प्रेमाधिक्यके कारणको किसी प्रकार भी न समझ सके। वे विस्मित होकर सोचने लगे—"यह कैसी विचित्र बात है, व्रजवासियोंका अपने बच्चोंपर क्षण-क्षण प्रेम बढ रहा है और इन गौओंने तो अपने व्यवहारसे प्रेमकी पराकाष्ठा ही दिखा दी। पहिले जो स्नेह व्रजवासियोंका मेरे इन छोटे भाई बने स्वामीके प्रति था। वही प्रेम वैसा ही प्रेम इनका अपने बच्चोंमें भी बढ़ गया है। यह कोई माया है, या जादू टौना है। यह मोहनी माया व्रजमे कहाँसे आगयी। यह मानवी माया है, दैवी है अथवा राक्षसी है। और की बात जाने दो, मेरा भी इन सब ग्वालबाल और बछड़ोंमें दिन दूना रात्रि चौगुना स्नेह बढ़ता ही जाता है। इन अहीरोंको भले ही कोई दैवी या राक्षसी माया वशमें करले। मेरे सामने तो माया फटक भी नहीं सकती। इससे प्रतीत होता है कि यह

दैवी, आसुरी, राक्षसी तथा मानवी मायाका प्रभाव नहीं है। यह तो मेरे स्वामी सच्चिदानन्दघन परात्पर प्रभु सर्वान्तर्यामी श्रीहरि की ही माया है। जिसने मुझको भी मोहित कर रखा है।" यही सब सोचकर शेषावतार भगवान् संकर्षणने अपनी दिव्य दृष्टि से देखा, तो उन्हें प्रत्यक्ष वे सब ग्वालबाल और बछड़े विष्णु रूप दिखाई दिये। इससे परम विस्मित होकर बलरामजीने करुणा भरी वाणीमें दीनताके साथ पूछा—"भगवन्! मुझे ऐसा लगता है ये यथार्थ ग्वालबाल और बछड़े नहीं हैं इनमें किसी देवता ऋषि या असुरका आवेश हो सो भी बात नहीं है। मुझे तो इन भिन्न-भिन्न उपाधियोंमें एक मात्र आपही दिखाई दे रहे हैं। यदि मैं इस विषयके श्रवणका अधिकारी होऊँ—तो कृपा करके इसके रहस्यको मुझे समझाइये। स्पष्ट करके बताइये ये नाना भाव किस कारण और कब हुए।

अपने बड़े भाईकी ऐसी बात सुनकर श्यामसुन्दर अट्टहास करते हुए खिल-खिलाकर हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"भैया! भैया! एक दिनकी बात है, तुम उस दिन नहीं थे। यह एक मौतका मारा अघासुर अजगर बनकर हम सबको लील गया। मैंने सारेका गला घोंट दिया। मर गया। मैंने कहा मर सारे। तैंने बहुत पापर बेले हैं, जा अब सदाके लिये छुटकारा पा जा। फिर हम सब मिलकर भोजन करने लगे। उसी समय हंस पर चढ़कर कोई चार मुँहवाला देवता आया। देवता होगा, अपने घरका होगा। मैंने सारे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। भैया, वह तो चोर निकला। बछड़ोंको चुरा ले गया, ग्वालबालोंको उठा ले गया। मैंने कहा—"ले जा सारे! मेरे यहाँ कुछ कमी तो है ही नहीं—और रूप रख लूँगा। तबसे मैंने ही ग्वालबाल बछड़ोंके सब रूप बना लिये हैं। क्यों दाऊ भैया! मैंने कोई बुरा काम तो नहीं किया, जब वह चोरीपर ही उतारू

हो गया, तो मैंने कहा—"चलो लालचीका पीछा क्या करना। उसीका पेट भरे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान्‌के मुखसे ब्रह्माजीके मोहकी बात सुनकर भगवान् संकर्षण बार-बार विस्मित हुए और भगवान्‌की मायाको पुनः पुनः प्रणाम करने लगे। उन्होंने मनसे भगवान्‌को प्रणाम किया और शरीरसे उन्हें हृदयसे चिपका लिया।"

शौनकजीने उत्सुकताके साथ कहा—"सूतजी! यह सब तो हुआ, ब्रह्मा बाबाका मोह दूर हुआ या नहीं?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज? अब उसी कथा प्रसङ्गको तो मैं कहूँगा। आप इसे सुस्थिर होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भैया! चढि अज हस चारि मुखवारो आयो।
देख्यो मेरो खेलमाल सारो घबरायो॥
लैकें बछरा ग्वालबाल चोरीतैं भाग्यो।
जानि ताहि कगाल न मैं फिरि पीछै लाग्यो॥
मैं बछरा बालक भन्यो, मेरो प्रेम स्वरूप है।
करैं प्रेम मोतैं सकल, भव तो अधो कूप है॥

ब्रह्माजीको भगवान्‌की महिमाके दर्शन

(९१०)

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके,
परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति,
चछादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम् ॥*
(श्रीभा० १० स्क० १३ अ० ५७ श्लो०)

छप्पय

समुझि रहस बल कृष्ण चरनमहँ प्रीति दृढाई ।
इत अज आये लौटि बुद्धि तिनकी चकराई ॥
ज्योंके त्यों सब लखे ग्वाल बछरा घबराये ।
दौरि गये तहँ लखे लौटि पुनि बनमहँ आये ॥
बछरा बालक बाँसुरी, बेत निरखि सब रूप हरि ।
निरखैं इत उत विकल बनि, तुरत हसतैं अज उतरि ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् जो महिमा माया से अतीत है, स्वयं प्रकाशानन्द स्वरूप हैं तथा अनात्म पदार्थका बाध करनेवाली श्रुतियोंसे जाने जाते हैं। उस अपनी महिमाके विषयमें ब्रह्माजी को "यह क्या यह क्या" इस प्रकार कहते हुए मोहित होते देखकर तथा उसके दर्शनोंमें भी अपनेको असमर्थ हुआ जानकर उनकी बढ़ी हुई विकलताको अनुभव करके परम पुरुष प्रभुने तुरन्त ही अपनी मायाका पर्दा छिपा दिया।"

भगवान्‌की महिमाको कोई बड़ा बनके जानना चाहे, तो असंभव है। क्योंकि उनकी महिमा इतनी बड़ी है, कि उसके समान बड़ा कोई बन ही नहीं सकता। या तो उनकी महिमामें मिल जाय या उस महा महिमाके चरणोंको पकड़ ले। इसके अतिरिक्त उसे पानेका अन्य कोई साधन है ही नहीं। जो ऐसा न करके अहंकारवश अपनेको सिद्ध, बलवान्, ईश्वर या सर्वज्ञ मानकर भगवान्‌की महिमाको अपने बल पुरुषार्थसे थाह लेना चाहते हैं, उन्हें अन्तमें नीचा देखना पड़ता है और उन्हींके चरणोंका आश्रय लेना पड़ता है। जीव तनिक-सा अधिकार पाकर अभिमानमें चूर हो जाते हैं, उन भौमा पुरुषकी महिमाके सम्मुख भूमंडलका राज्य, इन्द्रपद तथा ब्रह्मापद आदि तुच्छातितुच्छ है। उस महामहिमकी महिमाकी चिन्ता न करके उनके चारु चरित्रोंका उनकी सुमधुर लीलाओंका तथा उनके जगमोहन स्वरूपका जीव चिन्तन मनन करे तो उसका बेड़ा पार हो जाय।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर भगवान्‌को तो ग्वाल बाल बछड़ा बने पाँच छै दिन कम पूरा वर्ष हो गया, किन्तु जिन ब्रह्माजी का सहस्रचतुर्युगीका एक रात्रि दिन होता है उनके लिये वह त्रुटि मात्रका ही काल हुआ। ब्रह्माजी बालक और बछड़ोंको मायासे मोहित करके ज्यों ही लौटे त्यों ही क्या देखते हैं, कि भगवान् ग्वालबाल और बछड़ोंके सहित पूर्ववत् लीलाएँ कर रहे हैं। ब्रह्माजी बड़े आश्चर्यमें पड़ गये, कि ग्वालबाल और बछड़ोंको तो मैं वहाँ मायामें मोहित करके सुला आया हूँ, ये यहाँ कैसे आ गये। फिर दौड़े-दौड़े वहीं गये। वहाँ जाकर देखते हैं—ग्वाल बाल बछड़े ज्योंके त्यों माया मोहित हुए पड़े हैं। अब ब्रह्माजी इस चक्करमें पड़ गये, कि इसमें सत्य कौन-से हैं? बनावटी कौन हैं? उनकी बुद्धि कुछ काम ही नहीं करती थी। वे सोचने लगे—

वृन्दावनके जितने बालक बछरा सत्य थे, प्रत्यक्ष थे, उन्हें तो मैं उठाकर मायासे अचेत कर आया था। वे अभी तक ज्योंके त्यों अचेत हुए पडे भी हैं। सचेत भी नहीं हुए, किन्तु यहाँ फिर ज्यों के त्यों उपस्थित हैं। ये बनावटी हो ऐसा भी प्रतीत नहीं होता इनमे ढूढनेपर भी कोई बात बनावटी दिखायी नहीं देती। ये इतने बालक और बछड़े ज्योंके त्यों आ कहाँसे गये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! चतुरानन भगवान् ब्रह्मा बहुत देर तक विचार करते रहे। उन्होंने इस विचारमे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी, किन्तु यह निर्णय करनेमे वे असमर्थ ही रहे, कि इन दोनोंमे से सत्य कौन से हैं और मिथ्या कौनसे हैं। चौबेजी चले तो थे छब्बे जी बननेके लिये, किन्तु रहे दुब्बे जी भी नहीं। ब्रह्माजी विश्वको विमोहन करनेवाले मोहहीन मदन-मोहनको मोहने चले थे, किन्तु स्वय ही उनकी मायामे मोहित होकर मतवाले-से बन गये। बताइये एक घडेमे समुद्रका जल आ सकता है? बकरेकी पीठपर सुमेरु लद सकता है? डिबियामे सपूर्ण आकाश आ सकता है? कुहरेका अन्धकार रात्रिके अन्धकारको आच्छादित कर सकता है? दीपकका प्रकाश सूर्यके प्रकाशको दबा सकता है? दिनके प्रकाशमे जिस प्रकार जुगुनूके प्रकाशका कुछ महत्व नहीं—उसी प्रकार ब्रह्माजी की मायाका उन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी श्रीकृष्णके सम्मुख क्या महत्व है जिस प्रकार छोटी ध्वनि बड़ी ध्वनिमें विलीन हो जाती है। उसी प्रकार महान् पुरुषोंपर की जानेवाली तुच्छ माया, प्रयोग करनेवालेकी सामर्थ्यको गँवा देती है। उन महापुरुषोंका तो वह कुछ बिगाड कर नहीं सकती।

ब्रह्माजी इसी चिन्तामें निमग्न थे, कि—ये ग्वालबाल तथा बछडे सत्य हैं या जिन्हें मैं मायासे मोहित करके सुला आया हूँ, वे सत्य हैं। सहसा उसी समय वे क्या देखते हैं कि अब उनके

सम्मुख न बछड़े हैं न ग्वालबाल। जितने ग्वाल बाल और बछड़े थे, उतने ही रूप श्रीकृष्णचन्द्रके दिखायी देने लगे। अर्थात सभी ग्वालबाल और बछड़े श्रीकृष्ण रूपमें परिणत हो गये। सभीका वर्ण नवीन सजल जलधरके सदृश श्याम वर्ण का था। सभीके श्रीअङ्गोंपर सुवर्ण वर्णके सदृश चमकीला पीतवर्णका रेशमी पीताम्बर शोभायमान था। सभीके चार चार भुजाएँ थीं। उनमें सभीके शङ्ख, चक्र, गदा और पद्ममें परम पावन आयुध थे। सभीके सुन्दर शोभायमान सिरोंपर मनोहर मुकुट झलमला रहा था। सभीके कानोंमें कमनीय कुंडल हिल-हिलकर कपोलकी श्री-वृद्धि कर रहे थे। सभीके कंठोंमें बहुमूल्य हार सुशोभित हो रहे थे। सभीकी सुन्दर सुगंधियुक्त, भ्रमरोंके शब्दोंसे सुशोभित, घुटनों तक लटकती हुई वनमालायें हिल रही थीं। सबके बृहद् वक्षःस्थलोंमें श्रीवत्सके चिह्न सुशोभित थे, सबकी सुन्दर सुडौल चिकनी आजानु लम्बित भुजाओंमें मणिजटित बाजूबन्द बँधे हुए थे। सभीके कोमलकर-कमलोंमें शंखाकार रत्न जटित कमनीय कंकण क्रीड़ाकर रहे थे, सभीके चारु चरणोंमें सुमधुर ध्वनिवाले नूपुर रजतके इँठे हुए कड़ोंके सहित प्रेम कलह हँसी करते हुए प्रतीत होते थे। कमरमें कनककी कलरव करती हुई कर्धनी हिल रही थी। पतली-पतली लाल-लाल कोमल उँगलियोंमें हीराकी जड़ी अँगूठियाँ चमक रही थीं। वे सबके सब, श्रद्धालु भक्तों द्वारा अर्पित परम सुगन्धियुक्त नवीन तुलसीकी मालाओंसे आवृत थे। उनके श्वेत श्याम रतनार-नयन मानों त्रिदेवोंके प्रतीक थे। नेत्रोंके डोरे अरुणवर्णके थे, मानों वे रजोगुणके कार्य श्री चतुराननके प्रतीक हों। उनकी पलकें काली थीं, मानों वे संहार कारीका प्रतिनिधित्व कर रही हों। स्वच्छ शुभ्र नेत्रोंका विकास हास सत्व गुणवाले भगवान् विष्णुके मानों पालन कार्य

करनेके लिये व्यग्र बने हों। चंचल नेत्रोंके अवलोकनसे ऐसा प्रतीत होता था, मानों त्रिदेव अपने तीनों गुणोंसे स्थिति, पालन और सृजन कार्य कर रहे हों।

ब्रह्माजी सबका श्रीविष्णुके ही रूपमें निहारकर परम विस्मित हुए। उन्होंने यह भी देखा, कि ब्रह्मासे लेकर स्तम्भ पर्यन्त समस्त चराचर जीव साक्षात् सजीव मूर्तिमान बनकर नृत्यगीत आदि अनेक पूजोपयोगी साधनोंसे उन एकसे अनेक बने प्रभुकी पृथक् पृथक् उपासना कर रहे हैं। जितनी अणिमा-महिमा, लघिमा तथा गरिमा आदि अनेक सिद्धियाँ हैं, वे अजा आदि विभूतियाँ तथा महत्तत्व अहतत्व, प्रकृतितत्व, मनस्तत्व, पञ्चभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्रायें चौबीस तत्व इन सभीसे वे घिरे हुए हैं। महामहिम्न माधवकी महान् महिमासे जिनकी महिमा नष्ट हो गयी है वे काल, कर्म, स्वभाव, संस्कार, काम, तथा गुण आदि भी मूर्तिमान् होकर उनकी उपासना कर रहे हैं।

ब्रह्माजी किंकर्तव्यविमूढ से बने भगवान्‌की विभूतियोंके दर्शन कर रहे थे, उन्होंने देखा वे विष्णु बने समस्त ग्वालबाल और बछड़े सत्य, ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप हैं। वे यह मेरा सजातीय है, इससे मेरा सम्बन्ध है। यह विजातीय है, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं—के सब भेद भावसे रहित एक रस स्वरूप हैं और की तो बात ही क्या उनकी महा महिमाके माहात्म्यको उपनिषदादिके विद्वान् भी नहीं जान सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्माजीने उन सबको एक ही साथ उस परब्रह्मके रूपमें देखा। जिनकी कान्तिसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् भास रहा है।

भगवान्‌की ऐसी महिमाको देखकर ब्रह्माजी अपने ब्रह्मापनेको भूल गये। अत्यन्त कुतूहल और विस्मयके

उनकी समस्त इन्द्रियाँ क्षुब्ध और स्तब्ध हो गयी थीं। अच्युतकी अनुपम अपार ऐश्वर्यकी आभासे अभिभूत होकर अज अवाक् रह गये। उस समय उनके अङ्ग जड़वत् प्रतीत होते थे। ऐसा लगता था मानों मदनमोहनकी महिमा ही वृन्दावनकी अधिष्ठात्री देवी है, उस देवीके सम्मुख शोभाके लिये किसीने चार मुखवाली एक कठपुतली खड़ी कर दी हो। ब्रह्माजी उस मनवाणीसे भी अचिन्त्य मायाके प्रभावको देखकर बारम्बार उसके विषयमें तर्कणा करने लगे—यह क्या है? यह क्या है? किन्तु कुछ निर्णय करनेमें समर्थ न हुए। तब तो वे अत्यन्त अधीर हो गये उनकी विकलता बहुत बढ़ गयी। वे किंकर्तव्यविमूढ़ बने—वनमें चारों ओर निहारने लगे।

भगवान्‌ने जब देखा कि अब तो ब्रह्माजीको बहुत कष्ट हो रहा है, तो उन्होंने अपनी मायाको हटा लिया। अब ब्रह्माजीको बाह्य ज्ञान हुआ। अब उनके सम्मुख न बछड़ा थे, न ग्वालबाल, न असंख्यों चतुर्भुज श्रीकृष्ण थे और न उनकी स्तुति करने वाले देवता, यक्ष, गन्धर्व तथा अन्यान्य उपदेव। अब तो उन्हें सम्मुख दृष्टिको सुख देनेवाली वृन्दावनकी शोभा दिखायी दी। जीवोंको जीवनदान देनेवाले हरे-भरे पादपोंसे पूर्ण वृन्दावन की सर्वप्रिय भक्ति भावको उत्पन्न करनेवाली भव्य भूमि दिखाई दी। जिस परम पावन भूमिमें श्रीकृष्णके सान्निध्यके कारण राग द्वेष, लोभ, मोह मद-मत्सर, काम, क्रोध आदि अशुभ वासनाओंका जीवोंके मनमें अस्तित्व ही नहीं रहा है। जहाँ वन्यपशु सिंह, व्याघ्र, मृग सर्प मयूर आदि अपने स्वाभाविक वैर भावको भूलकर साथ-साथ स्वच्छन्द विहार करते हैं। जहाँ सिंह, बकरी, व्याघ्र, गौ, चूहे, बिल्ली, नकुल और सर्प तथा अन्यान्य परस्परमें वैर रखनेवाले जीव हिल मिलकर निवास करते हैं, उस निर्वैर प्रशान्त, सुखद, मनोज्ञ,

हृदय और इन्द्रियोंको सुख देनेवाले वृन्दावनको ब्रह्माजीने निहारा। उनके सम्मुख अब कालिन्दीका पुण्य पुलिन था, हरी-हरी कोमल दूर्वा थी और गिरि गोवर्धन पर्वतकी अद्भुत छटा थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्माजीकी अब आँखें खुलीं। उन्होंने अनुभव किया मैंने बड़ी भारी भूल की। इतने महामहिम प्रभुकी परीक्षा लेनी चाही, चलो चलकर उनके चरणोंमें पड़कर क्षमा याचना करें। फिर सोचा—मैं चोर हूँ, पहिले सब ग्वालबाल और बछड़ोंको लाकर जहाँके तहाँ बैठा दूँ, तब कहीं वनमें विचरण करनेवाले वनवारीके चरणोंमें पड़कर विनय करूँ।" यह सोचकर वे आगे बढ़े। आगे उन्हें एक और भी अद्भुत दृश्य दिखायी दिया। उसका वर्णन भी मैं करता हूँ।"

छप्पय

सबई निरखे श्याम चतुर्भुज शोभा सागर।
शंख चक्र अरु गदा पद्म धारे नटनागर॥
सबके सिरपै मुकुट कंठमहँ माला सोहैं।
विचरहिं अगणित कृष्ण भुवनमोहन मन मोहैं॥
जीव चराचर मधुर स्वर, करहिं प्रार्थना वेष धरि।
सेवैं काल स्वभाव गुण, पूजा अर्चा सविधि करि॥

भगवान्‌के अपार ऐश्वर्यकी झाँकी

(६११)

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू—
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या—
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥

(श्रीभा० १० स्क० १४ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

अगणित निरखे कृष्ण पितामह मुनि मनरञ्जन ।
सबई सत्य स्वरूप ज्ञान मय नित्य निरञ्जन ॥
नित्यानन्द सुरूप अगोचर अलख एकरस ।
भासे जिनमें विश्व चराचर अग जग सरवस ॥
शङ्कर विष्णु असख्य अज, लखि अज मन अति होत सुख ।
निरखे ब्रह्मा त्रिविध विधि, दशमुख, शतमुख, सहसमुख ॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—"राजन् ! भगवान्‌की महामहिमाको देखकर ब्रह्माजी विनय करते हुए कह रहे हैं—"हे प्रभो ! कहाँ तो प्रकृति, महत्तत्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी रूप सप्त आवरणोंसे घिरा हुआ सप्त वितस्ति शरीरवाला मैं, और कहाँ जिनके रोमकूप रूपी झरोखेमेंसे ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड परमाणुके समान आते जाते रहते हैं उन आपकी महिमा !"

। " इस सृष्टिको बनाये रखनेको स्वयं साक्षात् भगवान् ही विविध वेष रख लेते हैं। जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्यम्भावी है। इस विश्व ब्रह्माण्डको प्रभु उत्पन्न करते हैं तो इसके पालनका और संहारका भी प्रबन्ध करना ही चाहिये, अतः भगवान् स्वयं ही उत्पन्न करनेको ब्रह्मा बन जाते हैं, पालन करनेको विष्णु और संहार करनेको शङ्कर। ये सब एक ही भगवान्‌के गुण और कार्योंके अनुसार भिन्न-भिन्न रूप हैं, फिर भी एक इन तीनों रूपोंसे भी विलक्षण रूप है, जिनको इन कार्योंसे कोई प्रयोजन नहीं। वह क्रीड़ाप्रिय है, उसे खेल चाहिये, वह सखा और सखियोंके सहित खेलता रहता है। भगवान्‌की माया तो देखिये, जीव तो मोहित होते ही हैं, स्वयं भी अपने आप अपनी मायासे मोहित हो जाते हैं। अपने आप अपनी महिमाका विस्तार करके विस्मयको प्राप्त होते हैं, कैसी विडम्बना है। इसमें किसीका दोष नहीं। दोष दें भी तो किसे दें। सब उनके ही तो रूप हैं अब यही समझना चाहिये, कि वे खेल कर रहे हैं। उनकी क्रीड़ा ही है, जैसे आमने सामने बड़े-बड़े शीशे लगे हों तो उसमें अपनी ही असंख्यों आकृतियाँ दिखायी देंगी। हम उन आकृतियोंको देखकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं, विस्मित हो जाते हैं, मुँह बनाते हैं, तो उनमें भी वैसे ही मुख दिखायी देते हैं। इसे आप क्रीड़ाके अतिरिक्त और कुछ कह सकते हों—तो मुझे बतावें ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ब्रह्मा बाबाने जब ग्वालबालोंके रूपमें श्रीकृष्णके ही असंख्य रूप देखे, तो विकल हुए। भगवान्‌ने अपनी मायाकी जवनिका हटा ली। फिर उन्हें वही वृन्दावनकी अनुपम अवनि दृष्टिगोचर हुई। ब्रह्माजी आगे बढ़े तो उन्हें एक दिव्य महल दिखायी दिया। उसे देखकर ब्रह्माजी बड़े आश्चर्य में पड़ गये, कि मैं पहिले अभी आया था, तब तो यहाँ ऐसा

कोई महल नहीं था, अब इतनी ही देरमें यह कहाँसे बन गया। उन्होंने सोचा—"यह भी भगवानकी योगमाया है। चलो इसके भी दर्शन करें। ब्रह्माजी उसके द्वारपर पहुँचे तो—उन्होंने देखा द्वारपर उनके ही समान चार मुखवाले दो व्यक्ति पहरा दे रहे हैं। ब्रह्माजीने उनसे विनयके साथ पूछा—"आप दोनों कौन हैं? यह किनका भवन है?"

उन दोनोंने कहा—"हम दोनोंका नाम ब्रह्मा है, आजकल हमारी इसी कामपर नियुक्ति है, यह भगवान् नन्दनन्दन आनन्द-कन्द श्रीकृष्णचन्द्रका भवन है, आप कौन हो?"

ब्रह्माजी बड़े चक्करमें पड़े। कुछ सोचकर बोले—"मुझे भी लोग ब्रह्मा ही कहते हैं।"

इसपर उनमें से एकने पूछा—"आप किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं?"

ब्रह्माजी चक्करमें पड़ गये। अब तक वे अपने एक ब्रह्माण्ड को ही सब कुछ समझते थे। अब जब यह प्रश्न हुआ, तो उन्हें प्रतीत हुआ मेरे ब्रह्माण्डके अतिरिक्त भी और ब्रह्माण्ड हैं। उत्तर देनेमें भूल न हो इसलिये ब्रह्माजीने उन द्वारपाल ब्रह्माओंसे ही पूछा—"आप किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं?"

उन्होंने कहा—"हम भी एक एक ब्रह्माण्डके ब्रह्मा थे। फिर वहाँ दूसरे ब्रह्मा भेज दिये गये, हमें आज्ञा हुई तुम यहाँ पहरेका काम करो। इसे हमने अपना अहोभाग्य समझा, अब आजकल इसी स्थानपर हमारी नियुक्ति है। फिर कहीं भेज दिये जायँगे।"

ब्रह्माजीने उनसे पूछा—"अच्छा, मैं भगवानके दर्शन कर सकता हूँ?"

उन दोनोंने कहा—"आप भीतर चले जायँ, सामने जो दूसरी ड्योढ़ीके पहरेदार हैं उनसे पूछें।"

यह सुनकर ब्रह्माजी आगे बढ़े तो वहाँ दो दस मुखवाले ब्रह्मा पहरा दे रहे थे। ब्रह्माजीका ब्रह्मापनेका अभिमान अपने आप चूर हो रहा था। दस मुखवाले ब्रह्माओंसे भी पूछकर वे भीतर गये, तो दो सौ सौ मुखवाले ब्रह्मा मिले। फिर सहस्र-सहस्र मुखवाले। ऐसे सात ड्योढ़ियोंके पश्चात् उन्हें पहरेपर दो अत्यन्त ही सुन्दर युवतियाँ मिलीं। ब्रह्माजीने उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। ऐसा सौन्दर्य उन्होंने अपने समस्त ब्रह्माण्डमें कभी भी नहीं देखा। हाथ जोड़कर काँपते हुए हाथोंसे ब्रह्माजीने पूछा—"देवियो! यह किनका भवन है?"

उन्होंने मंद-मंद मुस्कराते हुए कहा—"यह श्रीजीका अन्तःपुर है।"

ब्रह्माजीने पूछा—"भगवान् यहीं हैं?"

यह सुनकर वे हँस पड़ीं और बोलीं—"यह आपका क्या प्रश्न हुआ? क्या भगवान् कहीं अन्यत्र भी जाते हैं? भगवान् तो निरन्तर यहीं रहते हैं।"

ब्रह्माजीने कहा—"क्या मैं दर्शनोंके लिये जा सकता हूँ?"

यह सुनकर वे हँस पड़ीं और बोलीं—"आपके वेषसे ऐसा प्रतीत होता है कि आप किसी अधिकारपर आरूढ़ हैं?"

ब्रह्माजीने सरलताके साथ कहा—"हाँ, मैं ब्रह्माके पदपर नियुक्त हूँ। एक ब्रह्माण्डका काम देखता हूँ।"

इसपर उनमेंसे एक हँसती हुई बोली—"तब यह तो आपका विभाग नहीं, उधर ऐश्वर्यके विभागकी ओर पधारिये। यह तो माधुर्यका विभाग है, इसमें दाढ़ी मूँछोंवालोंका प्रवेश नहीं, ऐसे विकृत वेषसे कोई पदाभिमानी इसमें प्रवेश नहीं कर सकता। इसमें तो भव्यवेष बनाकर छाती बढ़ाकर प्रवेश करना होता है। आपको अपनी बदली करानी हो, पद प्रतिष्ठा बढ़वानी

हो या और कुछ बात कहनी हो, तो उस ओर जाइये भगवान् वहाँ बैठकर आपकी सब सुनेंगे।"

ब्रह्माजी ऐश्वर्य विभागकी ओर चले। जैसे जहाँ देश विदेशों से असंख्यो समुद्र पोत आते जाते रहते हैं, उस समुद्र तटपर जैसी भीड़ रहती है, वैसी भीड़ ऐश्वर्य विभागकी ओर थी। जैसे बहुत-से यात्री जानेके लिये बिस्तरे बाँधते रहते हैं। बहुतसे बड़े-बड़े पोत आकर किनारे लग जाते हैं, उनमेंसे बहुतसे लोग उतरते हैं। उनमें छोटे बड़े बहुतसे अधिकारी होते हैं, बहुतसे श्रमजीवी होते हैं। वैसा ही दृश्य वहाँ था। ब्रह्माजीने देखा—"वहाँ असंख्यों ब्रह्मा, विष्णु, महेश इधरसे उधर घूम रहे हैं। बड़ी भारी शेष शैयापर भगवान् महाविष्णु आनंदके साथ सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं। महालक्ष्मीजी अपने कोमल-कोमल करोंसे उनकी चरण-सेवा कर रही हैं। बीच-बीचमें भगवान् अनुराग भरी दृष्टिसे उनकी ओर देख लेते हैं, फिर अपने नयनोंको बन्द कर लेते हैं। जैसे हम लोग बिना प्रयासके बिना किसी विशेष सङ्कल्पके स्वाभाविक श्वास प्रश्वास लेते रहते हैं, वैसे ही भगवान् श्वास प्रश्वास ले रहे हैं। जब वे प्रश्वास लेते हैं, तो एक ब्रह्माण्ड निकल पड़ता है। उसमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, प्रजापति, मनु, मनुपुत्र, युगावतार, इन्द्र, देवता तथा ऋषि सभी होते हैं। भगवान्के प्रश्वासके साथ निकलकर वे अपने एक ब्रह्माण्डका निर्माण करते हैं। भगवान् जब श्वास लेते हैं, तब एक ब्रह्माण्डवाले बोरिया बिस्तर बाँधे तैयार रहते हैं, वह ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है। इस प्रकार अगणित ब्रह्माण्ड उत्पन्न और विलीन हो रहे हैं।

ब्रह्माजीकी तो इस दृश्यको देखकर सिटिल्ली गुम्म हो गयी। वे सोचने लगे—"इन असंख्य ब्रह्माओंके मध्यमें मेरी क्या गणना हो सकती है। मेरा क्या महत्व है। यह तो ऐश्वर्य विभागका दृश्य है।"

ब्रह्माजी यह सोच ही रहे थे, कि यह दृश्य क्षणभरमें विलीन हो गया। फिर उन्होंने अपनेको वृन्दावनकी भूमिपर ही विचरते हुए पाया। अब उन्हें भगवान्‌से क्षमा याचनेकी चटपटी लगी। तुरन्त उस स्थानमें गये—जहाँ ग्वालबाल और बछड़ोंको योग-निद्रामें सुला आये थे। वे इन सबको ज्योंके त्यों ले आये और जहाँके तहाँ छोड़कर श्रीकृष्णको खोजने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब ब्रह्माजीने दूरसे गोप वेष-धारी भगवानको बछड़े खोजतेहुए देखा। वे दौड़कर उनके समीप गये।"

छप्पय

अहिशैयापै विष्णु निरन्तर सुखतें सोवें।
कमला पैर पलोटि प्रेमतैं श्रीमुख जोवें॥
निकसें बहु ब्रह्माण्ड श्वास प्रश्वास माँहिँ नित।
वामें कितने लीन होंहिँ नित प्रविसें अगणित॥
परमैश्वर्य निहारि अज, हक्के बक्के-से भये।
लाये बछरा बाल सब, नन्दनँदन पग परि गये॥

ब्रह्मस्तुति

(९१२)

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय,
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १४ अ० १ श्लो०)

छप्पय

लकुट सरिस अज गिरे नयनतें नीर बहावें।
पुनि पुनि करें प्रनाम उठें पुनि पुनि परि जावें॥
रोमाञ्चित तनु भयो श्याम छवि सभय निहारें।
गद्गद् बानी भई कष्टतें वचन उचारें॥
कछु आवेग घट्यो जबहिँ, मानों सोवततें जगे।
करि नत मस्तक जोरि कर, बहुरि विनय करिवे लगे॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान्की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे ईश! मैं आपके उस नन्दनन्दन स्वरूप के लिये नमस्कार करता हूँ; जिनका शरीर सजल जलधरके समान श्याम वर्णका है, जो विद्युत्के सदृश पीताम्बर पहिने हैं, गुञ्जासे और मोर मुकुटसे जिनका आनन उद्भासित हो रहा है, जो वनमाला पहिने हैं, वेत, शृङ्ग और मुरली आदि चिह्नोंसे जिनकी अपूर्व शोभा हो रही है।"

जब तक जीवको, अपने पदका, धनका, ऐश्वर्यका तथा अधिकार आदिका अभिमान रहता है, तबतक उसमें विनय नहीं आती, उसका मस्तक नत नहीं होता। जब उसे अपनी विवशताका ज्ञान हो जाता है। अपनी क्षुद्रता और उस परात्पर प्रभुकी महत्ताका अनुभव हो जाता है, तब उसमें दीनता आती है, तब उसे अपनी भूलपर पश्चात्ताप होता है और दीनता पूर्वक प्रभुके सम्मुख पड़कर नतमस्तक होकर—उनकी विनय करता है। हृदयसे निकली विनय प्राणियोंके समस्त कल्मषोंको धो देती है। सच्चे हृदयसे की हुई स्तुति मनकी मलिनताको नष्ट कर देती है। स्तुतिमें प्रार्थनामें बड़ा बल होता है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! ब्रह्माजी ने जहाँसे बछड़ा चुराये थे, वहाँ बछड़ा छोड़ दिये, जहाँसे ग्वालबाल उठाये थे, वहाँ उन्हें ज्योंका त्यों बिठा दिया। अब वे श्यामसुन्दरके पीछे दौड़े। देखा, श्यामसुन्दर उसी प्रकार हाथमें कवल लिये हुए बछड़ोंको खोज रहे हैं। जो पूर्णब्रह्म परात्पर प्रभु, परमपुरुष, अद्वितीय, अनादि, अनन्त तथा अगाधबोध हैं। वे ही आज गोपबालकका विचित्र वेष बनाये वृन्दावनकी भूमिमें नंगे पैरों विचर रहे हैं और एक अज्ञ बालककी भाँति करमें कवल लिये अपने खोये हुए बछड़ोंका अन्वेषण कर रहे हैं। जिनके लिये कुछ भी अज्ञेय नहीं है, जो सबके बाहर भीतरकी सभी बातोंको जानते हैं, वे ही आज अनजानकी भाँति भटकते-से प्रतीत होते हैं। भगवान्‌को देखते ही ब्रह्माजी तुरन्त अपने हंससे कूद पड़े और मुकुटोंको भगवान्‌की चरण रजमें लगाकर प्रणाम करने लगे, तथा श्रीकृष्ण-चरणारविन्दोंसे परमपावन बनी व्रजरजको अपने समस्त शरीरमें मलने लगे। वे सुवर्ण दण्डके सदृश भूमिपर लोटकर श्रीहरिके चरणारविन्दोंको अपने रत्न जटित चारों मुकुटोंके अग्रभागोंसे स्पर्श करते हुए ऐसे प्रतीत हुए मानों प्रणामके मिस-

से वे रत्नजटित मुकुटोंका आसन प्रदान कर रहे हों। अपने आठों नेत्रोंसे निरन्तर अश्रुजल बहाते हुए और प्रभुके पाद-पद्मोंपर डालते हुए ऐसे प्रतीत होते थे—मानो पादपद्मोंमें पाद्य अर्घ्य तथा आचमनीय अर्पित कर रहे हों।

अब वे इस बातको तो भूल गये, कि मैं एक ब्रह्माण्डका स्वामी ब्रह्मा हूँ, ये एक अभीर गोपके कुमार वत्सपाल हैं। उन्हें तो भगवानकी पूर्व देखी हुई महिमा पुन पुन स्मरण आगई

थी, उनके नेत्रोंके सम्मुख वही नृत्य कर रही थी। अतः वे भावावेशमें आकर बार-बार उठकर खडे हो जाते और पुनः लेटकर प्रणाम करने लगते। अन्तमे हृदय अत्यन्त ही द्रवीभूत होनेसे वे पुनः उठ न सके। बडी देर तक प्रभुके पुनीत पाद-पद्मोंमें प्रेमपूर्वक पडेके पडे ही रह गये। कुछ कालके अनन्तर आवेग कम हुआ, कुछ-कुछ उनकी बाह्य दृष्टि हुई। फिर वे शनैः शनैः उठकर खडे हुए। नेत्रोंसे निरन्तर नेहका नीर निकल रहा था। उन्हे अपने पटुकाके छोरसे पोछकर, श्रीहरिके अनुपम शोभा युक्त आननको निहारते हुए, अपने चारों मस्तकोंको झुका-कर, हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर अत्यन्त नम्रता, विनय, सम्मान सावधानीके सहित, भयसे थर-थर काँपते हुए अत्यन्त ही करुणा भरे शब्दोंमे भगवान नन्दनन्दनकी स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते है—"मुनियो! ब्रह्माजी तो वेदगर्भ ही ठहरे। वे तो ज्ञानके भडार ही हैं। उनके चारो मुखोंसे ही तो चारों वेदोंका आविर्भाव हुआ है। उन्होंने जो स्तुतिकी है, वह समस्त वेद शास्त्र तथा धर्म ग्रन्थोंका सार है। श्रीमद्भागवतकी ब्रह्मस्तुति एक अनुपम वस्तु है। उसमें सक्षेपमें सभी सिद्धान्तोंका समावेश है, उस महत्वपूर्ण स्तुतिका मैं यहाँ विस्तार करने लगूँ, तो कथा प्रसङ्ग रुक जायगा। अतः उस स्तुतिकी चर्चा मैं अन्यत्र स्तुति प्रकरणमें करना चाहता हूँ, फिर आपकी जैसी आज्ञा हो, वही मैं करूँ?"

शौनकजीने कहा—"अच्छी बात है—सूतजी! ब्रह्मस्तुतिका वर्णन आप स्तुति प्रकरणमें ही करें। अब आप आगेके कथा-भागको ही सुनावें।"

सूतजी बोले—"हाँ, तो महाराज! ब्रह्माजीने स्तुति करते हुए भगवान्की महिमाका बखान किया। अपनी अल्पज्ञता और मूर्खताके लिये पश्चात्ताप प्रकट किया, भगवानके नाना, रूप,

लीला और धामकी महिमा बतायी। इस प्रकार ब्रह्माजी बड़ी देर तक स्तुति करते रहे। श्यामसुन्दरने आख उठाकर भी उनकी ओर नहीं देखा। कुशल प्रश्न पूछनेकी बात तो पृथक् रही, यह भी नहीं पूछा—तुम कौन हो और क्यों तबसे ये गीत गा रहे हो। स्तुति करते-करते जब ब्रह्माजीका कंठ रुद्ध हो गया और आगे कुछ भी कहनेमें जब समर्थ न हुए, तो वे भगवान्‌की तीन परिक्रमा करके अपने लोकको चले गये।

भगवान्‌ने सोचा—अच्छा हुआ इज्जत कटी। यह तो कुशल हुई कि यह चार मुखवाला यहाँ एकान्तमें ही बडबड़ाता रहा, यदि ग्वालबालोंके सामने यह आता, तो वे सबतो इसके चार मुखोंसे और बडी-बडी दाढियोंको ही देखकर डर जाते। 'इस प्रकार सोचकर भगवान् सम्मुख चरते हुए बछडोंको घेरकर पुन पुलिन में पधारे। जिस यमुनाजीको कमल गुदगुदी बालूपर बैठकर वन-भोजन हो रहा था, जहा सखाओंको एक वर्ष पूर्व छोड गये थे वहा भगवान् आये। भगवान्‌को देखते ही सब बालक अत्यंत ही आनन्द, उत्साह, उल्लास और उत्सुकतापूर्वक कहने लगे—"अरे भैया, तू भला आया। तेरे बिना तो सब गुड़ ही गोबर हो गया। तू समझता होगा हमने तबसे बहुत खा लया होगा। हम तेरी शपथ खाकर कहते हैं, तबसे हमने एक कौर भी नहीं खाया। तुझे तो बछडे लानेमें बडी देर हो गई।

यह सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् हँस पडे। वे सोचने लगे—"देखो, ये बालक कैसे भोरे हैं, इन्हे तो गये एक वर्ष हो गया, ये समझ रहे हैं, आज ही यह घटना हुई है।"

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! ग्वालबालोंको यह सब बातें स्मरण क्यों नहीं रहीं। और सब बातोंको भले ही भूल जाते, किन्तु भूतभावन भगवान्‌से उनका जो एक वर्ष वियोग रहा, उसे वे कैसे भूल गये?

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"अब महाराज! याद करानेवाला स्वय ही भुलानेपर कमर कस ले, तो फिर किसकी सामर्थ्य है, जो याद रख सके। भगवानकी यह मोहिनी माया ऐसी है, कि प्राणी जान बूझकर भी सब कुछ भूल जाता है। ज्ञानवान् होनेपर भी अज्ञानियोंके से आचरण करने लगता है। सब कुछ जानता हुआ भी चक्करमे फँस जाता है। यद्यपि उन बच्चोंको एक वर्ष बीत गया था, फिर भी मायाधारी मनमोहनकी मोहिनीमायाके प्रभावसे उन्हें वह समय आधे क्षणके सदृश प्रतीत हुआ। भगवन्! इस विषयमे आप आश्चर्य न करे। भगवान्की माया बडी प्रबल है। यह सम्पूर्ण जगत् जिस मायासे मोहित होकर औरकी तो बात ही क्या—अपने आपको भी भूले हुए है, ऐसी बलवती मायाने जिनके चित्तोंको चुरा लिया है, वे ससारमे क्या क्या नहीं भूल सकते? मायाके चक्कर में पडकर प्राणी भगवानको भूल जाते हैं, भजनको भूल जाते हैं, धर्म, कर्म और कर्तव्यको भूल जाते हैं, उस भगवती माया देवीके पादपद्मोंमे पुन पुनः कोटि कोटि प्रणाम है। ये ग्वाल-बाल जग मोहिनी मायाके चक्करमे नहीं थे, ये तो भक्त-विमोहिनी मायाके चक्करमें उन्हींकी इच्छासे फँसे थे, जैसे स्वय श्यामसुन्दर अपने आपको मोहनेवाली मायाके अधीन हो जाते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! भोजन जहाँसे छोडा था, पुन. वहींसे आरम्भ हुआ। फिर हँसी विनोद होने लगा, फिर हँसी की तुमुल ध्वनिसे दशों दिशायें गूँजने लगी, फिर अट्टहाससे वहाँका वायुमण्डल प्रतिध्वनित होने लगा। इस प्रकार हँसते हँसते वन भोज समाप्त हुआ। सबने यमुनाजीमे जल पिया। अघासुर का सूखा हुआ ढाँचा वहाँ पडा था। भगवान्ने सबको दिखाकर कहा—"देखो, सारेका शरीर वैसा सूख गया है।" तब गोपोंने कहा—"कनुआ भैया! आज बडी देर हो गयी चलो

गोष्ठको चलें।" भगवान्‌ने उनकी बातोंका अनुमोदन किया और वे बछड़ोंको आगे करके व्रजकी ओर चल दिये।

छप्पय

बहु विधि विनती करी ब्रह्म निज लोक सिधाये।
तब बछरनिकूँ घेरि श्याम भोजन थल आये॥
माया वश सब भूलि कालकी जानी नहिँ गति।
निरखि कृष्णकूँ भये ग्वाल सबई प्रमुदित अति॥
बोले—कनुआ! च्यों करी-देर कहाँ तक तू गयो।
तेरी सूँ हमने नहीं, एक कौर मुँह में दयो॥

ब्रह्मा मोहलीलाका उपसंहार

(८१३)

एतन्मुहुर्विश्वरितं मुरारे—
रघार्दनं शाद्वलजेमनं च ।
व्यक्तेतरद् रूपमजोर्वभिष्टवम्,
शृण्वन् गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् ॥❀
(श्रीभा० १० स्क० १४ अ० ६० श्लो०)

छप्पय

हरि हँसि भोजन करयो सबनि सँग लै ब्रज आये ।
समुझि आजके खेल सबनि ब्रजमाँहि बनाये ॥
हरि मायावश जीव भूलि सब सुधि बुधि जाने ।
जातैं होवै बन्ध ताहि तजि हिये लगावे ॥
एक कृष्ण पुनि बनि गये, ग्वाल-बाल बछरा भये ।
प्रेम पूर्ववत पुनि भयो, बिसरि भाव पहिले गये ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो पुरुष भगवान् नन्दनन्दनकी ग्वालबालोंके साथ की हुई वनक्रीडा, अघासुर उद्धारका वृत्तान्त, हरित दूर्वा युक्त स्थानपर बैठकर ग्वालबालोंके सहित जीमना, जड प्रपञ्चसे व्यतिरिक्त शुद्ध सत्वमय बछडा तथा बालकोंका वेष बनाना तथा ब्रह्माजी द्वारा की हुई महती स्तुति आदि इन सभी लीलाओंको जो सुनेगा अथवा कहेगा उसकी समस्त मनोकामनाएं पूर्ण हो जायेंगी ।

जीव आत्माको खोजने चलता है—अनात्मामें फँस जाता है। पाटलके पुष्पको तोड़ने चलता है—करोंमें काँटे गड़ा लेता है। प्रेम करने चलता है—मोहमें फँस जाता है, प्याससे छटपटाता हुआ मृग-तृष्णाकी ओर दौड़ता है—बालूमें पैरोंको जला लेता है जीव अपने पुरुषार्थसे न प्रभुको पा सकता है न उनके पुनीत प्रेमका ही रसास्वादन कर सकता है। प्रभु ही जब कृपा कर दें। वे ही जब किसी रूपसे दर्शन दे दें, तभी जीव उनके प्रेमका अधिकारी बन सकता है। असुरोंने तो भगवानमें शत्रुभाव ही रखा था. किन्तु भाग्यवश यह भाव उनका भगवान्में हुआ। कुब्जाने तो कामभाव से ही वनवारीको वरण किया था, किन्तु सौभाग्यसे उसका वह भाव परात्पर प्रभुके ही प्रति हुआ। जीव अंधा हुआ इस भवाटवी में भटक रहा है। भाग्यवश इसके हाथों बटेर लग जाती है। जीव जब अपने सब पुरुषार्थ करके थक जाता है, जब वह अपना सब कुछ उन्हींको अर्पण कर देता है, तब उसके सम्मुख श्यामसुन्दर प्रकट होते हैं। जीवकी अनन्त कालकी तृष्णा शान्त हो जाती है, उसकी चिरकालकी विकलता नष्ट हो जाती है। वह आत्मानन्द सागरमें निमग्न हो जाता है। जब तक यह स्थिति प्राप्त न हो तब तक भगवत् लीलाओंके श्रवण मनन और कथनको करते हुए काल क्षेपण करते रहना चाहिये उनकी कृपाकी, प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। कृपालु कृष्ण कभी न कभी तो कृपा करेंगे ही।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बछड़ा और बालक बने बाल-कृष्ण नित्यप्रति ही सायंकालके समय घर लौटते थे। एक वर्ष तक भगवान ही सब रूपोंमें आते जाते रहे। ये बालक बछड़े ब्रह्माजी की मायामें अचेत हुए पड़े थे. आज ये सब पहिले के ही बछड़े बालक थे। ये समझ रहे थे. आज ही हम घर से भोजन लेकर चले हैं और सायंकालको घर लौट रहे हैं. इसलिये ये सब बड़े प्रसन्न थे। उन्हें यही अनुभव होता था, कि यशोदानन्द-

वर्धन श्यामसुन्दरने आज ही अघासुरका उद्धार किया है। भगवान्‌ने आज भी उसी दिनका सा शृङ्गार किया था। माथे पर मयूर मुकुट शोभा दे रहा था। सिरपर कण्ठमे भुजाओ और मणिबन्धों तथा कटिमे सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी मालायें धारण किये हुए थे। श्रीअङ्ग स्थान-स्थानपर पीतरज, सेरखड़ी, तथा गेरू आदि नवीन धातुओंसे मण्डित हो रहा था, जो कभी तो अपनी मनमोहिनी मुरलीको मधुर स्वरमे बजाते थे और कभी नरसिंहाको लेकर तु-तु-तु करके उच्च स्वरसे बजा देते थे। भगवान्‌की चलन, चितवन, उठन-बैठन, मुसकान सभी चेष्टाये प्राणिमात्रके अन्तःकरणमे उल्लासकी अभिवृद्धि करनेवाली थीं। ऐसे पवित्र कीर्ति परात्पर प्रभु सखाओं द्वारा अपने सुयशका श्रवण करते हुए व्रजकी ओर बढ़ रहे थे।

सहस्र सहस्र गोपिकाये अनुराग भरित हृदयसे स्नेहमे भीगी दृष्टिसे जिनके दर्शनोंके लिये गृह-द्वारोंपर खड़ी थीं। उन प्रेम पियासी महाभाग्यवती गोपिकाओंकी ओर मुड़ मुड़कर निहारते हुए उनके कुटिल कटाक्षोंसे युक्त कुमुदिनी कुसुमोके सदृश नयनो को अपने अमृतपूर्ण मुखचन्द्रकी किरणोंसे विकसित तथा आह्लादित करते हुए गोष्ठकी ओर आ रहे थे। उन्होंने अपने बछड़ोके नाम रख रखे थे। उन्हीं नामोसे उनको पुकारते हुए मंद-मंद मुस्कानसे सबके चित्तोंको चुराते हुए चित्तचोर बछड़ो को बाँधकर घरमे आये। नित्यकी भाँति गोपिकाओंने पुनः अपने अपने बालकोको हृदयसे चिपटाया, उनका गाढ़ालिङ्गन किया—किन्तु आजके आलिङ्गनमे वह आनंद नहीं था। अब तक तो वे साक्षात् ब्रह्मका स्पर्श करती थीं, आज तो वे उनके आत्मज ही थे। सभी बालकोंने अपनी-अपनी माताओंसे अत्यंत उत्सुकता और आनन्दके साथ कहा—"मैया! मैया! कनुआ भैयाने आज एक बड़े भारी अजगरको मारकर उससे हमे बचाया है।

सूतजी कहते हैं— मुनियो ! यही कारण है, कि पाँच वर्षकी अवस्थामें श्यामसुन्दरने अघासुर को मारा और छै वर्षकी अवस्थामें बालकोंने अपने अपने घर आकर यह बात कही कि आज ही श्यामसुन्दरने असुर अघको मारा है।' वे भगवान की मायामें एक वर्ष अचेत पडे रहे, इस बातका उन्हें भान ही न हुआ।

यह सुनकर गद्गद् कण्ठसे अश्रुओंको पोंछते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी ! "कुमारावस्थाके किये कृत्यको पोगण्डावस्थामें आज क्यों कहा" हमारी इस शङ्काका तो समाधान हो गया, किन्तु महाभाग हमें एक नई शङ्का उत्पन्न हो गई। यदि आप उसे अप्रासङ्गिक और शुष्क न समझें तो हमसे कहें ?"

सूतजीने कहा—"कहिये महाराज ! शङ्का करनेसे तो कथाका रस और भी अधिक बढता है। आपकी शङ्का तो शास्त्रीय होगी। ऐसी-वैसी उट-पटाँग व्यर्थकी शङ्का तो आप कर ही नहीं सकते बताइये—क्या शङ्का रही।"

शौनकजीने कहा—"महाभाग ! शङ्का यह हुई, कि आपने यह कहा कि 'जब श्रीकृष्ण ग्वालबाल बन गये थे, तब गोपियों का भगवान्में अपने सगे पुत्रोंसे अधिक स्नेह हो गया था। यह बात कुछ तर्क के विरुद्ध पडती है। अपना पुत्र चाहे जैसा भी कुरूप हो और दूसरेका पुत्र चाहे कितना भी अधिक सुन्दर हो, माताओंका जो स्नेह अपने सगे पुत्रोंमें होगा उससे अधिक तो क्या उतना भी दूसरेके उदरसे उत्पन्न हुए पुत्रमें नहीं हो सकता। महाराज ! प्रेम कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं कि जिसमें चाहे उसमें हो जाय। वह कोई बाहरका वस्त्र अथवा आभूषण तो है नहीं, जिसके चाहे शरीरमें पहिना दिया जाय। प्रेम तो हृदयकी वस्तु है, माताके पेटमें सन्तान रहती है, तो उसके रक्तसे उसका पालन पोषण होता है। माताके हृदयमें सन्तानका हृदय मिल जाता है,

इसलिये गर्भवती स्त्रीको द्विहृद् कहते हैं। अपने उदरसे उत्पन्न होनेवाले बालकमें स्नेह होना स्वाभाविक है। क्योंकि अपनी आत्माही पुत्ररूपमें प्रकट होती है। वह सबसे अधिक प्यारा लगता है। इस विषयमें एक दृष्टान्त है। एक गुरुजी की चटशाल में बहुतसे बालक विद्याध्ययन करते थे। उनमें एक अत्यंत कुरूप बालक था, उसकी माता विधवा अत्यंत दरिद्रा थी, अतः वह मैले कुचैले कपडे सदा पहिने रहता था। और बहुतसे लड़के श्रीमानों क थे। अत्यत सुन्दर थे, स्वच्छ सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत होकर आते थे।

एक दिन गुरुजीने उस विधवा स्त्रीको चार लड्डू दिये और कहा—"इन लड्डुओंको तुम उस बच्चेको दे दो जिसे तुम सबसे सुन्दर समझती हो।"

माताने उन लड्डुओंको अपने पुत्रको देते हुए कहा—"सत्य बात तो यह है कि,इससे सुन्दर मुझे कोई भी बालक दिखाई नहीं देता।" सो, सूतजी! हमारी शङ्का यही है, एक गोपीको ऐसा होता तो अपवाद भी समझा जाता, सब गोपियोंको यशोदाके गर्भसे उत्पन्न यशोदानन्द के प्रति अपने पुत्रोंसे भी बढ़कर प्रेम क्यों हुआ? यही हमारी शङ्का है, इसका आप समाधान करें।

शौनकजीकी शङ्काको सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये। वे कुछ काल तक मौन रहे और फिर शनैः शनैः बोले—"भगवन्! मेरे गुरुदेव भगवान् शुकसे भी महाराज परीक्षितने ऐसे ही शङ्का की थी। इस विषयका समाधान जैसा मेरे गुरुदेवने किया था, उसीको मैं आपके सम्मुख निवेदन करता हूँ। पहिले तो आप गम्भीरता पूर्वक इस बातपर विचार करें, कि प्राणी प्रेम किससे करता है! संसारमें जितने जीव हैं सभी किसी न किसीके पुत्र हैं, यदि पुत्र होना ही प्यारका कारण होता तो सभीके पुत्रोंमें समान प्यार होता, किन्तु ऐसा होता नहीं 'अपना ही पुत्र' अधिक प्यारा

लगता है। संसारमें कोई ही ऐसा अभागा होगा, जिसका कोई मित्र न हो, किन्तु सभी मित्रोंमें तो प्रेम नहीं किया जाता, अपना ही मित्र प्यारा लगता है। संसारमें सभीके देह पाञ्चभौतिक हैं, किन्तु सभीकी देहमें तो प्यार नहीं किया जाता, 'अपनी ही देह' सबसे प्यारी लगती है। इन सब बातोंसे सिद्ध यह हुआ कि प्राणियोंको अपना आपा ही सबसे अधिक प्रिय है। जिसमें अपनापन है वह पुत्र हो वित्त हो पशु हो, पत्नी हो, वृक्ष हो, भवन हो तथा और भी जो हो वह प्यारा लगेगा। जिसमें अपनापन नहीं वह उतना प्यारा नहीं। देखिये, हमारे पास सौ रुपये हैं, उन्हें हम बड़े यत्नसे रखते हैं उनकी बड़ी चिन्ता रखते हैं, क्योंकि उनमें अपनापन है, जहाँ हमने उन्हें किसी वस्तुके बदलेमें अन्य व्यक्तिको दे दिया, वहाँ हमारा उनमें कुछ भी ममत्व नहीं रहता। वे नष्ट हो जायँ गिर जायँ चोरी हो जायँ—हमसे कोई प्रयोजन नहीं।

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! अपना आप क्या है?"

सूतजीने कहा—"हाँ महाराज! विचारणीय विषय यही है, कि अपना आपा क्या है। हम किवाड़ खटखटाते हैं-भीतरसे कोई पूछता है—"कौन है?'

बाहर वाला कहता है—"कोई नहीं मैं हूँ।' वह मैं क्या वस्तु है?" किसीके साथ कोई व्यक्ति होता है—"हम पूछते हैं—"ये कौन हैं?" इसपर वह कहता है—"ये मेरे मित्र हैं,मेरे चाचाके लड़के हैं,मेरे ताऊके लड़के के सालेके बहनोई हैं।" अब सोचिये, यह मेरा क्या वस्तु है। पहिले में और मेरे पर ही विचार कीजिये।"

शौनकजीने कहा—"मैं तो यह शरीर है और शरीरका जिन वस्तुओंसे सम्बन्ध है, जिन्हें किसी भी कारणसे इसने अपना समझ लिया है' वह मेरी वस्तु है।"

सूतजी यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"महाराज! यह पांचभौतिक शरीर तो "मैं" है नहीं। इस शरीरको आत्मा तो अज्ञानवश देहात्मवादी नास्तिक बताते हैं। अच्छा, थोड़ी देरके लिये मान लो, यह शरीर ही 'मैं' है, इस 'मैं' और 'मेरी' इन दो मे से बड़ा कौन हुआ?"

शौनकजीने कहा—"मेरी" से 'मैं' बड़ा है।

सूतजी बोले—हां महाराज! यही बात है, जिसमे मेरा पन अधिक होता जायगा उसमें प्रेमकी भी अधिकता हो जायगी। परिवारमे सभी अपने हैं, किन्तु जिनके प्रति ममता अधिक है वे अधिक प्रिय होते हैं। प्रायः देखा गया है कि देह धारियोंका सबसे अधिक प्रेम अपने शरीरसे होता है। जितना प्रेम अपने शरीरसे होता है—उतना अपने कहलानेवाले पुत्र, धन और भवन आदिमे नहीं होता। यह तो हुई देहात्मवादियोंकी बात, किन्तु जिन्होने साधन द्वारा देह और आत्माका विवेक कर लिया है, जो अनुभव करने लगे हैं, कि यह पांचभौतिक देह आत्मा नहीं है, तो फिर उनकी इस देहमें भी ममता नहीं रहती। देह रह तो उत्तम, छूट जाय तो उत्तम। ज्ञानी पुरुष धन आदिकी भाँति देहसे भी उदासीन हो जाते हैं। अर्थात् देहात्मवादियोंको जो देह अत्यत प्यारी लगती है, ज्ञानी उस देहसे भी अधिक प्यारी वस्तु आत्माको समझते हैं। तब देह ही आत्मा है यह अहता न रहकर यह प्रतीत होने लगता है, जैसे धन, घर, भूमि तथा अन्य वस्तु है वैसे ही देह भी है। फिर देह अहंताका आस्पद न होकर ममताका आस्पद बन जाती है। इससे सिद्ध यही हुआ कि समस्त देहधारियोंको अपना आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है। और उसी आत्माके सम्बन्धसे यह चराचर जगत् भी प्रिय प्रतीत होता है। इस जगत्से आत्म सत्ताको पृथक् कर दिया जाय, तो सब निरानन्द हो जायगा, जगत्में

जो भी कुछ आनन्द है वह आत्मसत्ताके ही कारण। आत्म-सत्ताके पृथक्कर देने पर जगत्का अस्तित्व ही न रहेगा, क्योंकि आत्माका स्वरूप नित्य चैतन्य है। संसार तो जड़ है, इसमें चैतन्यता प्रदान तो आत्मसत्ता ही करती है।

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! उस आत्माका स्वरूप क्या है? उस आत्माका अनुभव कैसे हो?"

सूतजी बोले—"महाराज! आत्माका और भी कोई स्वरूप होगा, किन्तु मैं तो इन सच्चिदानन्द घन विग्रह, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डाधिनायक वृन्दावन विहारी नन्दनन्दन आनन्दकन्द यशोदानन्द-वर्धन भगवान श्यामसुन्दरको ही आत्मा समझता हूँ। ये ही परमात्मा है।

शौनकजीने कहा—"सूतजी! परमात्मा तो नाम रूप देहादि उपाधियोंसे रहित है।"

इसपर हँसकर सूतजीने कहा—"महाराज! भगवान् संसारी प्राणियोंके कल्याणके ही निमित्त अपनी मायासे देहधारी-के सदृश प्रतीत होते हैं। इनका देह साधारण प्राकृत पुरुषोंके समान नहीं है। इनका देह तो चिन्मय है। इनके ही कारण जगत्में चैतन्यता दृष्टि गोचर होती है। अज्ञानी पुरुषोंको भगवान्का भुवनमोहन श्रीअङ्ग प्राकृत पुरुषोंका सा प्रतीत होता है। उनके ही अनुग्रहसे जो उनके वास्तविक तत्वको समझ गये हैं, रहस्य वस्तुसे अवगत हो गये हैं उनकी दृष्टिमें तो यह स्थावर जंगम सब कृष्णस्वरूप है। अतः उनका सिद्धान्त है, सम्पूर्णजगत् कृष्णमय है, कृष्णसे अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है। केवल दृष्टिका भेद है।

इसपर शौनकजीने कहा—"सूतजी! यह बात तो कुछ हमारी समझमें आयी नहीं। जैसे लोकमें मिट्टीके बर्तन हैं, तो उनका मुख्य कारण तो पृथिवी है, तो पृथिवी ही आत्मा है।

समस्त देह पंचभूतोंसे उत्पन्न होते हैं' तो पञ्चभूत ही कारण हैं ?"

इसपर सूतजीने कहा—"महाराज ! यह सत्य है कि समस्त देह पञ्चभूतोंसे बने हैं, किन्तु इन भूत, तन्मात्रा तथा इन्द्रियोंका कारण भी तो त्रिवृत्त अहङ्कार है, अहङ्कारका कारण भी महत्तत्व है, महत्तत्वका भी कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है और इन समस्त कारणोंके कारण एक मात्र श्रीकृष्णचन्द्र है, इनका कोई कारण नहीं, ये कारण रहित हैं। समस्त कारणोंका पर्यवसान इन भगवान वासुदेवमें ही होता है। अब बताइये जब सबके कारण ये श्रीकृष्णहा हैं, मिट्टीके बने सभी पात्र मृण्मय ही कहे जाते हैं, तो फिर ये सब वस्तुएँ कृष्ण रूप होनेके अतिरिक्त और कही ही क्या जा सकती हैं ?

यह सुनकर गद्गद् कण्ठसे शौनकजीने कहा—"सूतजी ! आपने तो बहुत बडी बात कह दी। हम तो इस अथाह संसार सागरमे पडे गोते खा रहे हैं, इस इतने गूढ तत्वको समझनेमे हम समर्थ कैसे हो सकते हैं, कोई सरलसा सुन्दर साधन बताइये, जिससे इस संसार सागरको सुगमताके साथ तर जायँ। उसपार पहुँच जायँ।"

यह सुनकर सूतजीके नेत्रोंसे आनन्दके अश्रु बहने लगे और बोले—"भगवन ! समुद्रको तैरनेके बहुतसे साधन है, कोई काष्ठ और लोहेके पोतों द्वारा यत्न पूर्वक तैर जाते हैं, संभव है कोई साहसी पुरुषार्थी हाथोंसे तैरकर भी उस पार पहुँच सकते हों, किन्तु इस संसार सागरका जल प्रबलताके साथ उमड़ता रहता है, पोतोंके डूबनेका भय सदा ही बना रहता है। एक वस्तु ऐसी है जो कभी डूब नहीं सकती, जिसका आश्रय लेनेसे संदेहके लिये स्थान रह ही नहीं जाता। वह वस्तु सदा जलमे ही रहती है। बडे कमलका आश्रय लेलो। जलमे कभी डूबोगे ही नहीं

भगवान् कृष्णचन्द्रजीके चरण ही भवसागरसे पार करानेवाले कमल हैं। इन चरण कमलोंकी ही नौका बनाकर इन्हीं का आश्रय लेकर-साधक इस संसार सागरको गौके खुरके गढ्ढेके समान बातकी बातमें तैर जाते हैं। सबसे महापुरुषोंने इन्हीं चरण कमलों का आश्रय ग्रहण किया है। इसीके सहारे वे विपत्तियोंसे भरे सागर-को सुगमताके साथ पार करके परम पदपर प्रतिष्ठित हुए हैं। जैसे कमल जलमें रहते हुए भी सदा उससे निःसंग बना रहता है, वैसे ही भगवद्भक्त भी भगवान्के चरण-कमलोंका आश्रय लेनेपर इस संसारमें लिप्त नहीं होते और फिर उन्हें जन्म मरणके चक्करमें फँसना नहीं होता। मुनियो! आप लोगोंका ही जीवन धन्य है, जो गृहस्थियोंके झंझटोंसे दूर रहकर—विषयोंके आकर्षणपर विजय प्राप्त करके—निरन्तर कथा कीर्तनके ही रसमें निमग्न रहते हैं।" इस प्रकार मेरे गुरुदेवने राजाकी शंकाका समाधान किया। अब श्रीकृष्णचन्द्रने सातवें वर्षमें प्रवेश किया। अब वे वत्सपाल न रहकर गोपाल बन गये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस अघासुर उद्धारके प्रसङ्ग-में मैंने भगवान्की वनक्रीड़ाका भी कुछ दिग्दर्शन कराया, अघा-सुरके कंठको कैसे रुद्ध किया यह भी बताया, कैसे हरी-हरी दूब-पर बैठकर हँसते हुए भोजनका आनन्द लूटा इसका भी वर्णन किया। ब्रह्माजीके ग्वालबाल और बछड़ोंके हर ले जाने पर स्वयं भगवान् कैसे जड़ प्रपञ्चसे भिन्न शुद्ध सत्वमय बछड़े और बालक बन गये, इसका भी वृत्त बताया, पुनः मोह भंग होनेपर ब्रह्माजी ने कैसी सार युक्त स्तुति की उस प्रसङ्गको भी संक्षेपमें कहा। इन सब लीलाओंको जो श्रद्धाभक्तिके साथ श्रवण करेंगे, उनकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जायँगी। इस बातको मैं डंकेकी चोटपर कहता हूँ, किन्तु इन कथाओंको सुनना चाहिये नित्य नियमसे और श्रद्धा भक्तिका पुट लगाकर। इन्हें प्राकृत बालकोंकी व्यर्थ क्रीड़ा न

समझे। इस प्रकार भगवान् नित्य ही वनमें उन्हीं पुराने आँख मिचौनी, पुल बाँधना, बन्दरकी भाँति उछलना कूदना आदि खेलोंको खेला करते थे। कभी-कभी कोई नया भी खेल-खेल लेते थे। अब जिस प्रकार भगवान बछड़ोंको छोड़कर गौओंको चराने लगे, उस गोचारण लीलाका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

देह आत्मा समुझि जीव जगमाहीं भटक्यो।
मैं मेरी महँ फँस्यो मोह घाटीमहँ अटक्यो॥
कृष्ण कृपा जब करैं घड़ा मायाको फूटै।
पावै प्रभुको प्रेम जाल जगको तब छूटै॥
कही अघासुरकी कथा, मोहनाश अजको सुखद।
पढ़ैं सुनैं जे प्रेमतैं, कटै सकल तिनिकी विपद॥

—:❀:—

गोचारण लीला

(६१४)

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे,
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदै-
र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १५ अ० १ श्लो०)

छप्पय

अब जब कछु हरि बढे सखनि संग गोपालन हित ।
गौअनि ले बन जाहिं करयो बलदेव सहित चित ॥
कातिक शुकला बहुल अष्टमी जबहिं आई ।
लै गौअनि हरि चले सखा सँग महँ बल भाई ॥
कुसुमित कानन अति सुखद, प्रविशि करहिं क्रीडा तहाँ ।
खगमृग विहरहिं सुख सहित, अलि कमलनि गूँजें जहाँ ॥

स्वच्छन्द वनोंमें विहार करनेमें क्या सुख है, क्या आनन्द है, उसे सघन बस्तियोंसे घिरे उच्च-उच्च अट्टालिकाओंवाले बड़े-बड़े नगरोंके निवासी बालक क्या जान सकते हैं। मनुष्यका जितना ही प्राकृत जीवनसे अधिक संसर्ग रहेगा, वह उतना ही सौंदर्य-प्रिय भोला भाला तथा सरलजीवन-प्रिय होगा। जीवन जितना

❀श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पौगण्ड अवस्थामें प्रवेश करनेपर श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों व्रजमें गौएँ चराने योग्य हो गये। तब वे अपने समवयस्क सखाओंके साथ गौएँ चराते हुए अपने पादपद्मोंसे पुण्यमयी वृन्दावन भूमिको और भी पुण्यमयी बनाने लगे।

ही कृत्रिमताके पाशमें आबद्ध होता जायगा, उतना ही उसका आनन्द नष्ट होता जायगा। उसके जो ध्यान, धर्म, सत्य, अनुराग, प्रेम, उदारता आदि स्वाभाविक सद्गुण हैं, वे नष्ट होते जायँगे। उनके स्थानमें दम्भ, छल, कपट, बनावट और मिथ्या शिष्टाचार ये दुर्गुण आते जायँगे। प्राकृतजीवन प्रकृतिकी गोद मे ही बिताया जाता है। प्रातःकालीन उदित सूर्यकी आभा कैसी होती है। अस्त होते समय उसकी लालिमा कैसी होती है। शान्त एकान्त वृक्षोंके झुरमुटमें जो सन्-सन्का शब्द सुनाई देता है, उसका हृदयकी धड़कनपर कितना प्रभाव पड़ता है, घोर वनमें अपने स्नेहियोंको पाकर स्नेह कितना उमड़ता है, हृदयकी कैसी दशा होती है, ये बातें कहनेसे समझमें नहीं आती। एकान्तमें गौ बछड़े अपनी मूक भाषामें कितनी बातें करते हैं, वृक्ष कितना स्नेह करते हैं, वे स्पर्श पाकर कितने प्रमुदित होते हैं, इसका अनुभव कोलाहल पूर्ण नगर निवासी नहीं कर सकते। हमारे जितने अवतार हुए सब बहुत दिनों तक वनोंमें ही भ्रमण करके हमे इस बातकी शिक्षा देते रहे। श्रीकृष्ण भगवान्का बाल्यकाल भी वनमे विहार करते हुए गौओंको चराते हुए बीता। वे लगभग एक वर्ष तक तो बछड़ोंको चराते रहे, तदनन्तर गौओंको चरानेवाले बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र कुछ दिनों तक तो बछड़ोंको चराते रहे। जब वे छः वर्षके होकर सातवींमें लग गये, तब सोचने लगे—"अब मैं छोटा बच्चा तो हूँ नहीं—जो छोटे बछड़ोंको ही चराता फिरूँ अब तो मैं बड़ा हो गया हूँ, बड़ी गौओंको चराने क्यों न जाया करूँ, ?" यह सोचकर एक दिन भोजन करते-करते उन्होंने मैयासे कहा—"मैया! अब तो मैं बड़ा हो गया हूँ, अब गैयोंको चराने ले जाया करूँगा।"

माताने अत्यन्त प्यारसे श्यामकी ठोढ़ीको उठाकर उनके मुख को चूमकर कहा—"न, बेटा ! अभी तो तू बहुत छोटा है। अभी तुझसे गैया न घेरी जायँगी।" आप अपनी बातपर बल देते हुए बोले—"मैया ! तू मान तो सही, मेरी बातपर विश्वास कर, मैं गौओंको घेर लूँगा। बलदाऊ भैया भी मेरे साथ रहेंगे और गोप भी रहेंगे। गौएँ भागने न पावेंगी।"

मैयाने कहा—"देख, कनुआ ! मुझे तेरी ये ही बातें तो अच्छी नहीं लगतीं। तू जो बात कहता है उसपर अड़ जाता है। दूसरकी सुनता ही नहीं। बेटा ! अभी इतना उतावला तू क्यों हो रहा है। अभी दो चार वर्ष और इसी तरह बछड़ोंको चरा। फिर तो गौएँ चरानी ही हैं। गोपालके बेटाका तो काम ही गौओं-का चराना है"

इस प्रकार माताने बहुत समझाया, किन्तु श्याम नहीं माने, नहीं माने। रोने लगे। भोजन करना बंद कर दिया। धूलिमें लोट गये। माताने प्रेमसे उन्हे उठाया। पुचकारा और कहा—"देख, कल मैं तेरे बाबासे कहूँगी। ऐसे थोड़े ही है, पहिले पहिल तू गौ चराने जायगा। मुहूर्त दिखाऊँगी, उत्सव करूँगी, तेरे बाबासे दान-दक्षिणा दिलाऊँगी। ग्वालबालोंको भोजन कराऊँगा, तब तुझे बड़ी धूम-धामसे गौओंके पीछे भेजूँगी।"

आप प्रसन्न होकर बोले—"मैया ! तो अति शीघ्र मुहूर्त निकलवादे।

मैया अत्यन्त ही प्यारसे बोलीं—"अरे, कनुआ ! तू तो भैया बावरा है। अरे, मुहूर्त कुछ मेरे हाथकी बात थोड़े ही है। वह तो पंडितोंके पत्रामें जब भी निकल आवे—तभी मानना होगा।"

श्यामको सन्तोष हो गया, कि मैया मेरी बातको बाबा तक पहुँचा देगी। दूसरे दिन माताने अपने वचनको पूरा किया वे बाबासे एकान्तमें बोलीं—"महर ! सुनते हो, कनुआ गौएँ चराने

को हठ पकड़ रहा है। मैंने बहुत समझाया—वह मानता ही नहीं। पंडितजीको बुलाकर कोई अच्छा सा मुहूर्त दिखाकर इसका गोचारणका नेग कर दो।"

बाबा बोले—"अभी इतनी शीघ्रता करनेकी क्या आवश्यकता है? अभी तो कनुआ बहुत छोटा है।"

मैयाने प्यारके रोषमें भरकर कहा—"अब वह मानता ही नहीं तो क्या किया जाय? बलराम साथ रहेगा ही, कोई बात नहीं, बच्चोंका मन नहीं मारना चाहिये।"

मैयाकी भी सम्मति समझकर बाबाने कहा—जब तुम माँ पूत एक मत हो तब फिर पूछनेकी क्या आवश्यकता थी, मैं पंडितजीको बुलाकर आज ही मुहूर्त पूछूंगा।"

यह कहकर बाबा अथाँई (चौपाल) पर चले गये। छिपे-छिपे श्यामसुन्दर सब सुन रहे थे, उन्होंने दौड़कर मैयाकी जेट भर ली और उत्सुकता पूर्वक बोले—मैया! मैया! कबका मुहूर्त निकला।"

मैयाने प्यारसे श्यामके मुखपर बिथुरी लटाओंको हटाते हुए कहा—"अरे, बावरे? अभी मुहूर्त कहाँ निकला। अभी तो तेरे बाबाने अनुमति दी है। देख आज तो अभी हमारे यहाँ जो वार्षिक-पूजा-यज्ञ होता है, उसकी धूमधाम है। आज पंडितजी आवेंगे तो तेरा गोचारणका मुहूर्त निकलेगा।

यह सुनकर श्यामसुन्दर बड़े प्रसन्न हुए। वे बड़ी उत्सुकता से निर्णयकी प्रतीक्षा करने लगे। कब मेरा गोचारणका मुहूर्त निकलता है। बूढ़े पंडितजी यज्ञावशिष्ट कृत्य करानेके निमित्त घरपर आये, तभी बाबाने उनके सम्मुख दक्षिणा रखकर कहा—"महाराज! यह कनुआ बहुत हठकर रहा है, इसके गोचारणका मुहूर्त निकाल दो।"

यह सुनकर पंडितजीने पञ्चाङ्ग खोला। श्रीकृष्णकी जन्मराशि

मिलाई। कौनसे चन्द्रमा हैं, ये सब बातें देखीं। बड़ी देर तक उँगलियोंपर मेष, वृष, मिथुन कर्क आदि गिनते रहे और अन्तमें गिन-गिनाकर बोले—"यह जो कार्तिक शुक्ला बहुलाष्टमी है, यह अति उत्तम तिथि है, इसी दिनसे श्रीकृष्ण गौएँ चराने जाया करें।"

यह सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे मैयाके अङ्गोंसे सटकर उनकी गोदीका सहारा लेकर बैठ गये और हाथोंकी उँगलियोंपर गिनकर बोले—"अरी, मैया ? अभी तो अष्टमीके सात दिन हैं।"

मैयाने प्यारसे कहा—"अरे, तो भैया ! मेरे तो कुछ वशकी बात थी ही नहीं। मैंने अपनी ओरसे तो कुछ कहा नहीं। पत्रामें जबका मुहूर्त निकला—तबका हमें मानना पड़ेगा। हम सब तो शास्त्रके अधीन हैं। जैसे इतने दिन रहा है, सात दिन और रह। उस दिन मैं बड़ा उत्सव करूँगी। गौओंको सजाकर उनका पूजन करूँगी ब्राह्मणोंको भोजन कराके दान दक्षिणा दूँगी, तेरे सब साथी ग्वाल-बालोंको सुन्दर-सुन्दर भोजन कराऊँगी, तेरी लकुटीका पूजन कराऊँगी। तेरे मस्तक पर रोली की श्रीकाढ़कर तब तुझे छातीसे लगाकर गौओंके साथ भेजूँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! शास्त्र तो भगवान्‌के वाक्य ही हैं, उन्हें माताकी यह बात माननी पड़ी। ये सात दिन उन्होंने बड़ी उत्सुकता और प्रतीक्षाके सहित बिताये। सात दिन तक रात्रि दिन गौओंके ही विषयमें वे सोचते रहे। उनके समीप जाते, उन्हें हिलाते, उनकी सेवा करते, प्यार करते, उनका गोबर उठाते। ये कैसे मोटी हों, कैसे इनकी संतति अधिक बढ़े, इसीपर वे विचार करते रहे। इसी आधारपर लोकमें आजकल गोसप्ताह मनाते हैं। गोवर्धन पूजा करके भ्रातृ द्वितीयासे आरम्भ होता है और गोपाष्टमीको समाप्त होता है।

प्रतीक्षा करते-करते कार्तिक शुक्ला अष्टमी आयी। आज

श्रीकृष्णको प्रसन्नताके कारण निद्रा नहीं आयी। वे बार-बार उठ-उठकर मैयासे पूछते—"मैया, अभी सवेरा नहीं हुआ ?" मैया कहती—"अरे, कनुआ ! आज तेरी नींद क्यों उचट गई है। सोजा सोजा, अभी तो बड़ी रात्रि है। किन्तु श्रीकृष्णकी आँखोंमें नींद कहाँ। वे तो गौओंके ही विषयमें सोच रहे थे। उन्हें गोपाल जो बनना था। मेरी गैयाँ कैसे सुखी रहेंगी, कैसे इनका दूध बढ़ेगा। इनकी संततिकी वृद्धि कैसे होगी। यही वे रात्रिभर जागकर सोचते रहे।

प्रातःकाल हुआ मैयाने उठकर उत्सवकी तैयारियाँ कीं। घर भरमें, खिरकमें तोरण वन्दन वार बाँधे गये। गौएँ आज अच्छी प्रकार न्हिलाई गयीं, उनके शरीरपर गेरूके दींवले बनाये गये। सींगोंमें माखन लगाया गया। सिरपर मोर मुकुट बाँधे गये। मोर पंखोंकी लकड़ियोंके गंडे पहिनाये गये। सुवर्णके हार उनके कंठोंमें डाले गये। रंग बिरंगी झूलें उनपर डाली गयीं। पैरोंमें बजनेवाले घुँघरू पहिनाये गये। इस प्रकार गौओंको सजाकर मैयाने श्रीकृष्णके हाथोंसे उनका पूजन कराया। वे सहस्रों गौएँ ब्राह्मणोंको दान करायीं। ब्राह्मणोंको भोजन कराके दान दक्षिणा दी। श्रीकृष्णको आशीर्वाद दिलाये। फिर समस्त गोपोंकोसाथ बिठाकर श्यामसुन्दरको भोजन कराया। नई लकुटीका पूजन हुआ। मैया ने नई कारी कमरी उन्हें दी। श्यामसुन्दरने उसे लाठीपर लटका कर कंधेपर रख लिया। कसकर पीताम्बरकी फेंट बाँधी, मुरलीको फेंटमें खुरसकर अब वे चले गौओंको चराने।

मैयाका हृदय भर रहा था, नेत्रोंसे नेहका नीर बह रहा था। बछड़ोंको तो यहीं घरके आस-पास डुलाता था। जब चाहती दौड़ कर देख आती थी। गौओंको तो बहुत दूर चराने जाना पड़ता है। कभी-कभी ४।४ ५।५ कोश तक गौओंके पीछे पीछे जाना पड़ता है और सायंकालमें लौटकर घर आना पड़ता है। मेरा छोटा

सा सुकुमार बच्चा है, धूपमें इसका मुख कुम्हिला जायगा। बड़ा हठी है, किसीकी सुनता ही नहीं। माताका हृदय भर रहा था। रोते-रोते उन्होंने बलदेवको छातीसे चिपटाकर कहा—"बेटा! बलदेव! देख तू बलमें भी सबसे बड़ा है और अवस्थामें भी बड़ा है। तू कृष्णकी देख रेख करना, यह बड़ा चंचल है। किसी बड़े पेड़पर, ऊँची पतली डालीपर न चढ़े, अँधेरे कूआमें बहुत ओ ओ न करे। कँकरीली भूमिमे बहुत घूमे नहीं, जिधर काँटे हों उधर न जाय। मैंने इससे कहा था—तू जूता पहिनकर वनमें गौएँ चराने जा, किन्तु यह तो किसी की मानना सीखा ही नहीं। कहता था—"मैया, जब मेरी गैयाँ ही जूता नहीं पहिनतीं, वे भी नंगे पैरों जाती है, तो मैं जूता कैसे पहिनूँ। मैं भी नंगे पैरो जाऊँगा।" इसकी सभी बातें विचित्र ही हैं, मुझसे तो ढीठ हो गया है, तुझसे कुछ डरता है। तू सदा इसको साथ रखना, पलभरको भी अपनेसे पृथक् न करना।" इतना कहते कहते माताका कंठ रुद्ध हो गया, वे मूर्छित होकर भूमिपर गिर गयीं। बलदेवजीने उन्हें उठाया और बार-बार कहा—"मैया! तू कुछ चिन्ता मत कर, मैं कृष्णको प्राणोंसे भी अधिक प्यारसे रखूंगा। श्रीकृष्णने भी माताको धीरज बँधाया तब श्रीकृष्ण गौओंको आगे करके ग्वालबालोंके सहित वंशी बजाते हुए गौओं के पीछे पीछे चले। वे अपने चरण चिह्नोंसे समस्त वृंदावनकी पावन भूमिको और भी अधिक पावन बनाने लगे। विश्व ब्रह्माण्डमे वृंदावनकी भूमि अनुपमेय बन गयी। इस भूमंडलको इस बातका गर्व था कि हमारे अन्तर्गत वृंदावन भी है। जैसे नायिकाके वक्षःस्थलपर नायक चरण स्थापित करता है, तो उसका समस्त शरीर रोमाञ्चित हो जाता है और वह उसे अपने-मे छिपा लेती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र जो अपना वज्र, अंकुश, ध्वज तथा कमल आदि चिह्नोंसे चिन्हित चरण वसुन्धरा

देवीके वक्षःस्थलपर रखते, तो वह उन चरण चिह्नोको कंगालके धन की भाँति अपने भीतर छिपा लेती। वृंदावनकी रसमयी भूमिमे कभी कभी अब भी वे चरणचिह्न प्रकट होते है और भाग्यशाली भक्तोको उनके प्रत्यक्ष दर्शन इन चर्मचक्षुओसे होते हैं।

अबतक श्रीकृष्ण वत्सपाल थे। कार्तिक शुक्ला अष्टमीसे वे गोपाल हो गये। इसीलिये लोकमें यह अष्टमी 'गोपाष्टमी' के नामसे विख्यात हुई। इस गोपाष्टमीके दिन सभीको गोपाल गोविन्दकी तथा गौओकी विशेष रूपसे—धूमधामके साथ—पूजा करनी चाहिये। आजके ही दिन श्यामका नाम 'गोपाल' प्रसिद्ध हुआ।

श्यामसुन्दर प्रातःकाल कलेवा करके ग्वालबाल और बलदाऊके साथ गौओंको आगे करके उन्हे चरानेके निमित्त आस-पासके वनोंमें दूर तक जाते। मैया वहीं दोपहरमे छाक लेकर

जाती। छन्नामें रोटी दाल साग बाँधकर दूध दहीकी मटकीको सिरपर रखकर ठंडा जल साथमें लेकर जाती। साथमें दासियाँ भी रहतीं, किन्तु वे तो स्वयं श्यामको वनमें देखनेको लालायित बनी रहती थीं। वहाँ सबके साथ श्याम सुन्दरको भोजन करातीं। फिर बार-बार उन्हें छातीसे लगाकर प्यारसे पुचकारकर घर आतीं और सायंकालकी प्रतीक्षा करती हुई, वनकी ओर देखती रहतीं—मेरा लाल गौओंको लेकर आ तो नहीं रहा है। तनिक भी देर हो जाती, तो उनका हृदय भाँति-भाँतिकी व्यर्थ शंकाओं से भर जाता, वे व्याकुल हो जातीं, स्नेहमें पग-पगपर शंका भरी रहती है। प्रेममें सदा शंका बनी रहती है। इसीलिये प्रेमकी गतिको सर्पकी गतिके सदृश कुटिल बताया है। श्यामसुन्दर सबके नयनोंको आनन्द देते, जब मंद-मंद मुस्कराते हुए बाँसुरी बजाते गौओंके पीछे ग्वालबालोंके साथ व्रजमें आते तो उनके देव दुर्लभ दर्शनोंसे दिन भरके संतप्त व्रजवासी निहाल हो जाते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार गोपाल बने श्याम वनोंमें जाकर विविध भाँतिके विहार करने लगे। नाना क्रीड़ायें करके व्रजवासियोंको सुख पहुँचाने लगे, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कोमल किसलय अरुण चरण शाखातें झुकिकें।
कृष्ण और बल चरन छुएँ जनु वृक्ष सकुचिकें॥
'भैया' देखो करें सफल जीवन ये पादप।
बोले बलतें श्याम करयो का इनने जप तप॥
तुमहिं अतिथि अनुपम समुझि, झुकि झुकिकें स्वागत करें।
पत्र, पुष्प, फल नम्र है, सब तव पद-तलमहँ धरें॥

भगवान्‌की भ्रातृभक्ति

(६१५)

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्-
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १५ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

अलिगन गुन गुन करे सुयश तुमरो जनु गावे ।
मुनि जन वेष छिपाइ भ्रमर बनि चरननि आवें ॥
अतिथि अलौकिक जानि प्रेमतें केकी नाचें ।
चकित चकित करि दृष्टि प्रणय रस हरिनी याचें ॥
कल कठनितें कोकिला, कूजि कूजि कौतुक करहिं ।
रूप माधुरी तव सुखद, जीव नेत्र रध्रनि भरहिं ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अपने भाई बलदेवजी-के प्रति भक्ति भाव प्रदर्शित करते हुए प्रभु कह रहे हैं—"हे भाई! आज आपके चरण स्पर्श होनेसे तृण तथा लता गुल्मो सहित वृन्दावन की यह भूमि, करकमलोंके नखोंका स्पर्श होनेसे यहाँके वृक्ष तथा लताएँ तथा आपके कृपाकटाक्षोंको पाकर यहाँके पर्वत, नद, नदी, मृग पक्षी आदि सभी जीव धन्य हो गये। आपके दोनों भुजाओंके

जब हमे अपने सम्बन्धकी कोई बात कहनी होती है, तो उसे घुमा फिराकर दूसरेके ऊपर डालकर कहते हैं। बहुतसे आदमी साथ साथ भोजन कर रहे हो, हमें पूडी माँगनी हो—तो हम सीधे न माँगकर समीपमे अदमीको दिखाकर कहेगे—"अरे, भाई! इनको पूडी दे जाना।" जब उसे देने लगेंगे और देनेवाला पूछेगा—"आपको भी दे?" तब हम कहेंगे—"अच्छी बात है, आप नहीं मानते हैं, तो दे जाइये, दो।" इसी प्रकार जब भगवान्‌को अपनी स्तुति सुनानेकी इच्छा होती है, तो अपने आप ही अपनी स्तुति बलदेवजीके मिससे करते हैं। ऐश्वर्यमे तो ब्रह्मादि देव सदा हाथ जोड़े स्तुति करते रहते हैं। यहाँ वृन्दावनमे जहाँ सबका श्रीकृष्णमे सख्य भाव है, वहाँ स्तुति कौन करे। यहाँ तो—"सारे कनुआ, तू बड़ा ठग है।" यही स्तुति है। भगवान् देखते हैं, यहाँ जब मेरी कोई स्तुति नहीं करता तो, लाओ मैं ही स्तुति करूँ। मैं चाहे जिसकी भी स्तुति करूँ—हिर फिरकर वह मेरी स्तुति होजायगी। आकाशमे कहीं भी जल क्यों न बरसे, वह घूम फिरकर समुद्रमें ही आवेगा। क्योंकि जलका भंडार समुद्र ही है, इसी प्रकार किसीकी भी स्तुति करो, वह होगी भगवान्‌की ही। क्योंकि सबकी स्तुतिके योग्य वे ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब श्रीकृष्ण वत्सपालसे गोपाल बन गये। एक दिनकी बात है, भगवान् प्रातःकाल उठे। उन्होंने गौओंको खिरकसे वनके लिये खोल दिया। गौएँ आगे-आगे अपने ऐंनके भारसे मंद गतिसे चलने लगीं। उनके पीछे-पीछे वंशी बजाते हुए बलराम तथा अन्य बालकोंके सहित वनवारी

मध्यभाग—वक्षःस्थल—का आलिंगन प्राप्त करनेके लिये सदा लक्ष्मीजी भी लालायित बनी रहती हैं, उस आलिङ्गनको ये साधारण ग्वालिनी पाकर कृतार्थ हो गयीं।

वनकी ओर बढ़ रहे थे। आज श्रीकृष्णकी इच्छा वन विहारकी थी, अतः गौओं और ग्वालोंके सहित उन्होंने एक परम पुण्यप्रद पुष्पित वनप्रदेशमें प्रवेश किया। गोपग्वाल भगवान्‌के अद्भुत-अद्भुत यशस्वी कृत्योंकी चर्चा करते जाते थे। श्यामसुंदर अपनी मंद-मंद मुस्कानसे उनके ऊपर अमृतकी वर्षा करते जाते थे। वह फल और पुष्पोंसे युक्त वन बड़ा ही मनोहर था। उसमें हरी-हरी बहुत-सी घास थी, गौओंके लिये वह परम सुखदायी था। पशुओंके लिये वहाँ सब प्रकारका सुपास था। जल पीनेको समीप ही कालिन्दीका कमनीय कूल था। गौएँ अत्यंत उल्लासके सहित हरी-हरी कोमल घासको चरने लगीं। सखाओंके सहित श्याम-सुन्दर इधर-उधर घूमते हुए वनकी शोभा निहारने लगे। उस वनमें सुन्दर स्वरवाले षट्पद-भ्रमर-गुंजार कर रहे थे। मृग-गण इधर से उधर क्रीडा करते हुए कुदक रहे थे। पक्षीगण एक डाली से दूसरी डालीपर कूदते हुए फुदक रहे थे और कलरव कर रहे थे। स्थान-स्थानपर सुन्दर स्वच्छ हरित मरकत मणिके सदृश जलवाले सरोवर थे, जिनमें कमल खिल रहे थे। कमलोंके आमोदको लिये हुए वायुदेव उस वनमें स्वच्छन्द विहार कर रहे थे। ऐसे सुखद, शीतल, सुगन्धियुक्त सुन्दर वनको देखकर भगवान्‌ने वहीं क्रीडा करनेका निश्चय किया।

भगवान् जिधरसे अपने करकमलोंसे लता-द्रुमोंको स्पर्श करते हुए निकल जाते। उधरके ही वृक्ष झुककर झूमकर सुमनोंकी बरसा करते मानों प्रभुके पादपद्मोंको चूम रहे हों। उनपर श्रद्धाके सुमन चढ़ा रहे हों। नव पल्लवोंकी अरुण कान्तिसे तथा फल फूलोंके भारी भारसे नत होकर मानों पादपगण प्रभुके पादपद्मों में प्रणाम कर रहे हों उन वृक्षोंकी ऐसी शोभा निहारकर मन्द मन्द मुस्कराते हुए माधव अपने अग्रज श्रीबलरामजीसे कुछ कहने लगे। क्यों कहने लगे जी, क्योंकि प्रेममें कुछ कहे बिना रहा

नहीं जाता।

भगवान् बोले—"हे बल भैया! तुम इन फल फूलोंके भारसे नमित हुए पादपोंको निहार रहे हो न? देखो, किसी पापकर्मके कारण इन्हे पादपयोनि प्राप्त हुई। अपनी पापपंकके प्रक्षालनार्थ ये आपके पादपद्मोंमे पुष्प चढ़ाकर मानों प्रेमके लिये प्रार्थना कर रहे हो। इनकी फल फूलोंसे झुकी हुई शाखायें ही मानों इनकी विशाल बाहुएँ हैं। इनमे ये पत्र, पुष्प तथा फल आदि पूजोपयोगी सामग्रियाँ लिये हुए आपकी पूजा करनेके लिये समुत्सुकसे प्रतीत होते हैं।

देखिये, ये भ्रमरगण आपके सुन्दर स्वरूपको देखकर ही समझ गये हैं, कि आप आदि पुरुष हैं, अतः ये गुन-गुन शब्द क्या कर रहे हैं—मानो आपके त्रैलोक्य पावन सुयशका श्रद्धा सहित गान कर रहे हो, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, कि ये वास्तवमे भ्रमर नहीं हैं। ये श्रद्धाभक्तियुक्त आपके प्रमुख भावुक भक्त हैं। आप गूढ़ भावसे वनोंमे विचरण कर रहे हैं, इस बातको अपने अनुभवसे जानकर भ्रमरोंका वेष बनाकर यहाँ भी आपका पीछा नहीं छोड़ते। आपके यशोगानसे अपनी वाणीको पावन बना रहे हैं, नेत्रोसे आपके दर्शन करके अपने जीवनको सफल कर रहे हैं।

आप इन चित्र-विचित्र रङ्गके बड़ी बड़ी पूछोंवाले मयूरों को तो देखिये। सद् गृहस्थियोंके द्वारपर जब कोई भगवद्भक्त आ जाता है, तो उनका रोम-रोम खिल उठता है, वे अपने दुपट्टाओंको फैलाकर प्रेमके आवेगमे नृत्य करने लगते हैं, उसी प्रकार आप जैसे अलौकिक अद्भुत अतिथिको पाकर ये सब मयूर अपने पंखोंको फैलाकर आनन्दमें विभोर होकर नृत्य कर रहे हैं।

इन मृगियोंको तो आप देखें, ये अपने बड़े-बड़े कमलके

समान खिले हुये अनुराग रससे भरे हुये नेत्रोंसे आपको उसी प्रकार निहार रही हैं जैसे सायंकालके समय उत्सुकतासे खड़ी हुई मृगनयनी व्रजाङ्गनायें आपके विश्वविमोहन अनुपम आनन-को निहारती हैं। ये हरिणियाँ अपनी चंचल चितवनसे—प्रेमपूर्ण कटाक्षोंसे—आपके अन्तःकरणमे अनुरागको उद्भासित करती हुई आपका मानो प्रिय कार्य कर रही हो।

आम्रकी मंजरीपर बैठी हुई ये कोकिलायें कुहू-कुहू शब्दसे दशो दिशाओंको प्रतिध्वनित करती हुई मानो आपके स्वागतमे गीत गा रही हो।

इन वनवासी पशुपक्षियोमे और सत्पुरुषोंमे मैं तो कुछ भी अन्तर नहीं समझता। क्योंकि सत्पुरुष घरपर आये महापुरुषो तथा पूजनीय पुरुषोंको अपना सर्वस्व दान कर देते है, यही दशा इन वृन्दावनके पशुपक्षियोकी है। आज आपके विश्ववन्दित चरणारविन्दोंका स्पर्श पाकर ये व्रजके लता गुल्म कृतार्थ हो गये, यहाँकी पावन पृथिवी और भी अधिक पावन बन गयी। यहाँके ये बड़भागी वृक्ष सौभाग्य शालिनी लताएँ तथा अन्य छोटे-छोटे पादप धन्य हो गये, इनका जन्म सफल हो गया, जो आप अपने करकमलोंसे इनके पुष्पोंको तोड़ते हैं। आपके नख स्पर्शसे इनके रोमाञ्च होते हैं। आप यमुनादि व्रजकी नदियोको अपने नयनोंसे निहार देते है, गोवर्धन आदि पर्वतोका प्रेमपूर्वक अवलोकन कर लेते हैं तथा दौड़ते हुए मृगवराहादि पशुओंको, उड़ते हुए शुक, पिक, मयूर तथा पारावत आदि पक्षियोको देख लेते है, तो ये धन्य हो जाते हैं।

हे अनघ! हे आदि पुरुष! हे स्तुत्य! मै तो इन व्रजाङ्गनाओं के भाग्यकी भूरि भूरि प्रशसा करूँगा। क्योंकि आपकी दोनो विशाल भुजाओंके मध्य भाग अर्थात् उभरे हुए विशाल वक्षःस्थल के आलिंगनके निमित्त त्रैलोक्य [illegible]

बनी रहती हैं, उसी आपके वक्षःस्थलको अपने वक्षस्थलमें सटाकर ये गाँवकी गँवारिनि ग्वालिनियाँ अनुराग सहित आलिंगन करती हैं, तो इनसे बढ़कर संसारमें सौभाग्यशाली और कौन होगा। आपका जो प्रेमालिंगन उमा, रमा, ब्रह्माणी किसीको प्राप्त होना दुर्लभ है—उसीको ये व्रजवनिता वात्सल्य भावसे, मधुर भावसे सहज ही प्राप्त कर लेती हैं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् बलदेवजी को उपलक्ष बनाकर मानों अपनी ही महिमा गा रहे हों, अपने छोटे भाईके मुखसे अपनी प्रसंशा सुनकर मनही मन उनके प्रति श्रद्धाभक्ति प्रकट करते हुए, ऊपरसे हँसते-खेलते बलदेवजी वंशी-धारी बनवारीके साथमें विचरते हुए विविध भाँतिके विहार करने लगे।

छप्पय

धन्य धन्य तृन गुल्म लता पादप ये वनके।
पावें कर पद परस सफल जीवन ही इनके॥
विचरत निरखत तुमहिं धन्य ये खग मृग आलिंगन।
सरिता पर्वत पुलिन धन्य पावन वृन्दावन॥
लालायित नित श्री रहहिं, तव आलिंगन अति सरस।
व्रजवनिता बड़भागिनी, पावें तव हिय हिय-परस॥

आगेकी कथा चालीसवें खण्डमें पढ़िये

मुरली मनोहर श्री श्याम

श्री भागवत-दर्शन—

भागवती कथा

(चालीसवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता ये प्रमुदस्तेन माला 'भागवती-कथा' ॥

लेखक
श्रीमधुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

द्वितीय संस्करण] आषाढ़ [illegible] [illegible]

मुद्रक—भागवत प्रेस, झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरिः ॥

(ब्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य पाठ के योग्य अनुपम महाकाव्य)

श्रीभागवतचरित

[रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी]

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रंथ हैं। हिन्दी भाषामें रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रंथ ब्रजभाषा को छप्पय छंदों में लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी है। सप्ताह क्रम से सात भागों में विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल, सरस तथा प्रांजल छंदों में गाया गया है। सैकड़ों नर-नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पण्डित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पंडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठकी पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़ेकी टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उसपर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजारमें ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधार लें। न्योछावर केवल ५।) सवापाँच रुपये मात्र, डाकव्यय पृथक्।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

विषय-सूची

विषय

९१६—पौगण्डावस्थाकी कुछ कमनीय क्रीड़ाएँ ... १७
९१७—धेनुकासुर उद्धारलीला ... २५
९१८—धेनुकासुरके शापकी कथा ... ३०
९१९—धेनुक वधान्तर व्रजमें प्रवेश ... ४४
९२०—कालिय दमन प्रस्ताव ... ५०
९२१—वृन्दावनमें कालियनागके आनेकी कथा ... ५६
९२२—कालियदहमें श्रीकृष्ण कूदे ... ६४
९२३—नागपाशमें आबद्ध श्रीकृष्णको देखकर व्रजवासियोंका विलाप ... ७०
९२४—कालियकी फणावलीपर वनवारीका नृत्य ... ७८
९२५—कालियनागका व्रजसे निष्कासन ... ८७
९२६—श्रीहरिका बन्धुओंसे सम्मिलन तथा दावानल पान ... ९३
९२७—घुड़चड़ी लीला ... १००
९२८—प्रलम्बासुर उद्धारलीला ... ११०
९२९—श्रीहरी द्वारा वनाग्निसे गौ और गोपोंकी रक्षा ... ११६
९३०—गोपियोंका अनुपम अनुराग ... १२२
९३१—वेणु-वादन ... १३५
९३२—रूपमाधुरी और वेणुमाधुरी ... १४३
९३३—तपस्विनी बाँसुरी ... १४८
९३४—महामोहक मुरलीध्वनि ... १५९
९३५—वेसुधि बनाने वाली बाँसुरी ... १६६
९३६—अचरको सचर करने वाली वेणु ... १७२
९३७—व्रज कन्याओंका कात्यायनी व्रत ... १८४
९३८—चीरहरण लीला ... १९१
९३९—व्रजबालाओंके व्रतकी सफलता ... २०१
९४०—व्रजबालाओंको वरकी प्राप्ति ... २१०

वृन्दावन विहारीकी वेणु

अक्षएवतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टम्,
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥*
(श्रीमा० १० स्क० २१ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

कान्ह ! दये यदि कान गान निज बेनु सुनाओ ।
जगके करकस शब्द कृष्ण ! नयननि न भराओ ॥
सब थल पेखूँ तुमहिँ पगनितें तब थल जाऊँ ।
सब कछु तुम हित करूँ जीभतें तव यश गाऊँ ॥
बहरो मोइ बनाइ दैं, ब्रजतें नातो जोरिकें ।
अपर शबद कबहूँ न सुनूँ, मुरली धुनिकूँ छोरिकें ॥

संसारकी अवस्थिति द्वन्द्वपर ही अवलम्बित है। जब तक संसारका भान है, तब तक सर्वात्मभावसे शुद्ध सुख कभी प्राप्त

---

* वृन्दावनकी व्रजाङ्गनायें परस्पर कह रही हैं—"सखियो ! हम तो नेत्रवालोंके नेत्रोंका परम लाभ यही समझती हैं कि श्रीकृष्णचन्द्र अपने सखाओंके सहित गौओंके पीछे-पीछे चलकर वनसे लौटकर व्रजमें प्रवेश कर रहे हों। राम श्याम दोनों नन्दजीके कुमारोंका प्रणय कटाक्षयुक्त मुख, बजती हुई वंशीसे सुशोभित हो रहा हो उस सुधामृतका जिन्होंने नेत्रों द्वारा पान किया हो; वे ही धन्य हैं इसके अतिरिक्त नेत्रोंकी सार्थकता और कुछ नहीं है।

ही नहीं हो सकता। अधिकांश दार्शनिक इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि यह संसार दुःख प्रधान है। सुख दुख दोनोंका संसारमें ऐसा समिश्रण हो गया है, कि अधिकांश लोग दुखको ही सुख समझकर उसकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न करते रहते हैं और अंतमें दुख ही दुख उनके हाथमें रह जाता है। वसन्त ऋतुके आरम्भमें सेमरपर बड़े लाल लाल फूल खिल जाते हैं। और आम्रकी शाखाओंपर भी छोटी छोटी मंजरी आती हैं। उसमें भीनी भीनी गंध तो रहती है, किन्तु सेमरके सुमनके सदृश शोभा और चाकचिक्य नहीं होता। इसीलिये सुग्गा प्रथम सेमरके ही वृक्षपर बैठता है। वह सोचता है—"अहा! जब इसका पुष्प ही इतना चित्ताकर्षक मनहर है, तो इसपर फल न जाने कैसा रसीला रंगीला लगेगा। इसी आशासे वह सेमरका सेवन करता है शनैः शनैः पुष्पोंके स्थानमें परम मृदुल लंबा-सा चिकना सा फल लगता है, उसको और भी अधिक सुखकी आशा रहती है, वह और भी अधिक उत्साहित होता है। ज्येष्ठ आषाढ़में वह सेमरका फल पक जाता है। अनन्त आशाओंके घनीभूत केन्द्र उस फलमें वह सुखकी इच्छासे चोंच मारता है, उसमेंसे रुई उड़ जाती है, वह निराश हो जाता है, हाथ मलता है। पादपको कोसता है, उड़कर आम्रपर बैठता है, तब तक आम्र पक जाते हैं। पीले पीले पके आमोंमें ज्यों ही चोंच मारता है उसे मधुरातिमधुर रस मिलता है। सोचता है—"सुखदाता आम्र ही है। अब सेमरका सेवन न करूँगा।" किन्तु जहाँ आम्रके अवसरका अवसान हुआ, फिर उसे फूली फूली सेमर दिखायी दी, तो फिर उसी ओर जाता है, फिर उसीका सेवन करता है। यही मायाका चक्कर है। मनुष्य समझता भी है इन संसारी सुन्दर वस्तुओंसे आज तक कोई सुखी नहीं हुआ। वेश्याओंके समीप कितने सुन्दरसे सुन्दर युवक नित्य जाते हैं, उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित करते हैं,

उनके सर्वथा अधीन हो जाते हैं, क्या कोई वेश्या कह सकती है, कि उसको तृप्ति हुई। राजाओंके समीप कितनी सुन्दरसे सुन्दर सुकुमारियाँ रानियाँ रहती हैं, क्या कोई कामी राजा कह सकता है, कि उसकी काम वासना पूरी हो गयी। सभी जानते हैं काम सेवनसे काम बढ़ता है। सांसारिक इच्छापूर्तिसे इच्छा और अधिक प्रबल होती है। यह सब जानते हुए भी कोई सांसरिक आकर्षणसे विरत नहीं होता अधिकाधिक अनुरक्त ही होता जाता है। सर्वसुखधाम रामको पाकर भी सुग्रीवने उनका सत्संग न किया। रामके समीप रहनेपर भी वह उनके दर्शनोंको नहीं गया। जिन रामकी कृपासे उसे संसारी सुख प्राप्त हुए थे। उनके वश वर्ती न होकर मदिरा और मदिरेक्षणाओंके वशीभूत हो गया। शत्रुविनाशक सर्वसुखदाता रामको—उनका प्रबल पराक्रम जानकर भी—भूल गया। इसमें उस विचारेका दोष भी नहीं। भगवानने अपनी इस चेरी मायाको इतना मुँह लगा रखा है कि यह भगवान्‌की ही भाँति अनेक रूप रख लेती है। जीव इसके चाकचिक्यमें फँस जाता है। समीपमें बाँसुरी बजाते हुए बिहारी की ओर दृष्टिपात नहीं करता? उनकी ओरसे मुख मोड़ लेता है। कानोंकी वृत्ति दूसरी ओर लगा लेता है, जिससे समीपमें बजती हुई बाँसुरीको भी यह नहीं सुनता।

जिनका चित्त बिगड़ जाता है, उन्हें दूसरी वस्तुका स्वाद नहीं आता। इसी प्रकार जिनके कानोंको विषयवार्ता सुननेका व्यसन लग जाता है, उनको वृन्दावनबिहारीकी वेणु सुनायी नहीं देती। कोलाहलमें भला मधुर मधुर वेणुरव कैसे सुनायी दे सकता है। नगरोंमें जहाँ सहस्रों, लक्षों नर नारी निरन्तर विषय वार्ता ही बोलते रहते हैं वहाँ वृन्दावनबिहारी न तो वेणु बजाते ही हैं और न सुननेवाली साधिकायें उसे सुन ही सकती हैं। वेणु को सुननेके लिये स्थान, पात्रता, काल, वेष भूषा सभी पृथक

चाहिये। बाँकेविहारी वृदावन में ही विहार करते हैं। वन चाहिये वन। वन भी बहेड़ेका वन न हो। बहेड़े के नीचे बैठनेसे तो नरक की प्राप्ति होती है। वन भी हो तो वृन्दावन का हो।

वृन्दाको कृतार्थ करने के लिये कृष्ण सब कुछ कर सकते हैं। ऋषि मुनि त्यागी, तपस्वी कृष्ण को पाने के लिये कितने जप, तप यज्ञ अनुष्ठान तथा पुण्य करते हैं, किन्तु कृष्ण टस से मस नहीं होते। उनके लिये कर्म विधान बना देते हैं, उनको स्वर्गादि का वर देकर पिंड छुड़ा लेते हैं। पुण्य का फल तो सुखही है। श्रीकृष्णको पुण्य कर्म प्रिय हैं किन्तु पुण्य कर्म वालों को अपना ही लें सो बात नहीं। जिसे वे अपनाते हैं उसके पुण्य पाप सभी कर्मों को नाशकर देते हैं। उसे अकर्मण्य बना लेते हैं। वृन्दाको वे अपनाना चाहते थे किन्तु वृन्दा को धर्म का आग्रह था। वह अपने आसुर भावसम्पन्न पति में ही अनुरक्त थी। प्रभुने असुरका ही रूप रख लिया। वे वृन्दाको अपनाने के लिये असुर जालंधर बन गये। वे सब कुछ बन सकते हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं। भगवान् ने सोचा वृन्दा मेरे मधुरातिमधुर रूप को भूल गयी है। आग्रह वश उसने असुर में ही मेरा भावकर लिया है, कोई बात नहीं मैं इसे अपनाऊँगा। और इसके हठ को छुड़ाऊँगा इसे अपनी नित्य सहचरी बनाऊँगा। इसे अपने अंग से सटाऊँगा। भगवान तो धर्म अधर्म दोनों से परे है, वे धर्म अधर्म दोनों के आग्रहको छुड़ाकर निर्द्वंद्व बनाते हैं तब अपनाते हैं। व्रजकुमारियों के मन में द्वैधी भाव था। उनके वस्त्रों का अपहरण करके—उन्हें नग्न बनाकर—श्यामसुन्दर ने उनकी अज्ञान यवनिका को हटा दिया। ऐसा बनाकर तब उन्हें रासमें अपने कंठसे लगाया। इसी प्रकार वृन्दा को भी धर्म भ्रष्ट किया।

"धर्म स्वरूप भगवान् ने धर्माचरण करने वाली सती को धर्म भ्रष्ट क्यों किया जी?" अजी, जो हठधर्मी हमें प्रभु से विमुख

करके आसुर भाव की ओर ले जाय. उसे तो सद्गुरु छुड़ाते ही हैं। नन्दगोपादि इन्द्रयाग करके कोई बुरा काम नहीं कर रहे थे किन्तु इस दुराग्रह के कारण वे इन्द्रों के भी इन्द्र भगवान को भूलकर इन्द्र को ही सब कुछ समझने लगे थे। इधर इन्द्र को भी अभिमान हो गया था। इन्द्र याग जैसे पुण्य कर्म को रोक कर भगवान ने दोनों का ही कल्याण किया। वृन्दा उस असुर में ही अनुरक्त रहती तो जन्म-जन्मान्तरों तक उस असुर की ही पत्नी बनती रहती, उसे भगवानका निरंतर स्पर्श कैसे प्राप्तहोता। भगवान अपने नित्य स्वरूप से उसे कैसे अपनाते। इसीलिये भगवानने उसके साथ छल किया, उसे मिथ्या सतीत्वसे विचलित किया। उसे तो दुराग्रह हो गया था। यथार्थ भेद ज्ञात होने पर उसने भगवान् को शाप दिया—'विष्णु! तुमने मेरा धर्म नष्ट किया है तुम पाषाण हो जाओ।'

भगवान् बोले—"वृन्दे! मुझे सब कुछ बनना स्वीकार है किन्तु मैं तुझे अपनाना चाहता हूँ। तुम तुलसी हो जाओ और सदा मेरे अंग से सटी रहो। जो पुरुष मुझे कभी भी तुमसे पृथक करेगा उसे घोर पाप लगेगा।" यह कह कर भगवान् शालिग्राम रूप में पाषाण हो गये। वृन्दा भी तुलसी हो गयी। इसलिये कभी भी शालिग्राम भगवान को तुलसी से विहीन न करना चाहिये। स्नान कराते समय भी तुलसी डाल दे और स्नान कराके तुरंत नयी तुलसी चढ़ा दे। नयी न मिले तो पुरानी को ही धोकर चढ़ा दे वृन्दा से विष्णु कभी विलग नहीं होते उसे सदा अपने ऊपर धारण किये रहते हैं। उसी के वन में वंशी बजाया करते हैं। वृन्दावन श्यामसुन्दर को अत्यंत प्रिय है इसलिये वे वृन्दावन को छोड़कर अन्यत्र कहीं जाते नहीं। दूसरे स्थानमें वंशी बजाते नहीं।

उसी वृन्दा के वन में बनवारी विहार करते हैं। विहार क्या होता है जी?

जो आत्मतोषके लिये किया जाय, आमोद प्रमोद के लिये सुख संतोषके लिये किया जाय वही विहार है। सांसारिक विषयी विहार क्या जानें विहार करना तो विहारी ही जानते हैं। अखिल ब्रह्माण्ड उनकी विहारस्थली है, इसमें विहारी विहार कर रहे हैं, उनके रोम रोममें अगणित ब्रह्माण्ड व्याप्त है। वे स्वयं वृन्दावन में विहार करते हैं। उनके ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये रूप तो जगत्के सृष्टि, स्थिति तथा संहारके निमित्त हैं। श्रीकृष्ण तो सर्वगत हैं, सर्वज्ञ हैं, इन रूपोंको तो वे माया का आश्रय लेकर रख लेते हैं। जो ऊपरी रूपों में फँस जाते हैं वे श्रीकृष्णको प्राप्त नहीं हो सकते बाहरी वस्तु देखने पर माया का पसारा ही दिखायी देगा नेत्रोंको बन्द करने पर—संसारकी ओरसे दृष्टि हटानेपर श्रीकृष्णकी मुरली सुनायी देगी।

राजा अश्वशिराने बड़े-बड़े यज्ञ याग किये बहुत दान दिये। शुभ कर्म किये किन्तु उन्हें विष्णु भगवानके दर्शन नहीं हुए। एक दिन राजा मंत्री, पुरोहित तथा सभासदोंके सहित अपनी सभामें बैठे थे कि इतनेमें ही उनकी सभामें महर्षि कपिल और जैगीसव्य ये दो मुनि आये। राजाने दोनोंका विधिवत् स्वागत सत्कार किया और हाथ जोड़कर कहा—"भगवन! आप मुझे बतावें मैं विष्णु भगवानका कैसे आराधन करूँ, कैसे उनके दर्शन पाऊँ?"

इसपर वे दोनों महर्षि बोले—"राजन! तुम विष्णुको कहाँ खोजोगे हम दोनों ही तो विष्णु हैं, हमारा दर्शन कर लो। हमारी पूजा करलो सब काम हो जायगा।"

राजाने विनीत भावसे कहा—"महर्षियो! आप तपस्वी हैं, योगी हैं, ज्ञानी हैं, निष्पाप हैं, माननीय हैं, पूजनीय हैं किन्तु आप विष्णु कैसे हो सकते हैं। भगवान विष्णु तो चतुर्भुज हैं। शंख, चक्र, गदा और पद्म को धारण किये रहते हैं, गरुड़ पर चढ़ते हैं। मैं तो ऐसे विष्णुके दर्शन करना चाहता हूँ।"

यह सुनकर महर्षि कपिल उसी क्षण शंख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी विष्णु बन गये, जैगीशव्य मुनि गरुड़ बन गये उनके ऊपर विष्णु बने कपिल चढ़कर बोले—"राजन्! अब आप गरुड़स्थ चतुर्भुज विष्णुके दर्शन करें।"

यह सुनकर राजा बोले—"भगवन! आपने तो रूप मायासे बना लिया है, आप विष्णु नहीं हैं मैं तो उन विष्णु के दर्शन करना चाहता हूँ, जिनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ है और उस कमलसे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई है।"

इतना सुनते ही महर्षि कपिल तत्क्षण पद्मनाभ विष्णु बन गये और जैगीशव्य ब्रह्मा बन गये। विष्णु बने कपिल महर्षिकी नाभिसे एक कमल निकला उसपर चार मुख बनाये जैगीशव्य मुनि बैठ गये। तब कपिल मुनि बोले—"राजन! आप पद्मनाभ विष्णुके दर्शन कीजिये।"

इतना सुनकर राजा विस्मित होकर कहने लगे—"महाराज! आप लोगोंने यह भी रूप मायासे ही बना लिया है। विष्णु भगवान् तो सर्वव्यापक हैं। वे सबमें रम रहे हैं। सबके अन्तःकरण में विहार कर रहे हैं।"

राजा के इतना कहते ही, वहाँ राजवनमें असंख्यों नाना भाँतिके जीव जन्तु दिखायी दिये। राजा ने पूछा—"भगवन! ये कौन हैं?"

महर्षि कपिलने कहा—"राजन! इन सबमें सर्वात्मा श्रीहरि रम रहे हैं। वे कामरूप हैं। उन्हें खोजने बाहर नहीं जाना होता। वे सबके समीप ही हैं। वे चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र करने से अपने आपमें ही भीतर ही दिखायी देते हैं।

काम रूपी कृष्णको कोई बाहर खोजे तो वह नहीं मिलता। वृन्दावनके बाहर वह जाता ही नहीं। वह तो गोष्ठ (शरीर)

के समीप ही वृन्दावन में (हृदयकमल मध्य में) वंशी बजाता है। उसकी वंशी मादकता पूर्ण होती है, जिसने भी एकाग्रचित्त से उसे सुन लिया फिर वह अपने आपे में नहीं रह सकता। देह गेह की उसकी समस्त ममता छूट जाती है। जब तक देहाध्यास है। मैं कुलीन हूँ, श्रेष्ठ हूँ, विद्वान हूँ, सुन्दर हूँ, ऐसा हूँ, वैसा हूँ, तब तक मोहन की मनोहारिणी मुरली कैसे सुन पड़ेगी। उन काम रूप कामी की कमनीयाँ काम क्रीड़ायें कैसे देखने को मिलेंगी। कामी कृष्ण से कामिनियाँ (गोपियाँ) ही मिल सकती हैं वे ही उनकी मुरली धुनि को सुनकर उनके रास विलास में सम्मिलित हो सकती हैं। बाह्य दृष्टिवालों की वहाँ गम नहीं।

वंशी के श्रवणपात्र भी सभी नहीं। जिनका हृदय सरस न होकर कठोर है वे वंशीश्रवण के अधिकारी नहीं. "भैंस के आगे बीन बजाओ भैंस खड़ी पुहनाइ" जिनका हृदय कोमल हो, सरस हो, आर्द्र हो राग रंजित हो, अनुराग पूरित हो, भक्ति भाव से भावित हो, प्रेम से प्लावित हो माधुरी में भीगा हो उत्कंठा में अनुस्यूत हो, प्रतीक्षामें पगा हो, लालसामें लाल हो और प्यारेकी स्मृतिसे परिपूर्ण हो उसीमें वृन्दावनविहारी की वेणु सुनायी देती है। जिनको पुरुषपने का अभिमान है या जो स्त्री अपने को सास समझ कर दूसरी स्त्रियों पर शासन करना चाहती है। इनको वंशीध्वनि सुनाई न देगी। इसीलिये वनवारी की वंशी न तो गोपों को सुनाई दी और न बूढ़ी बूढ़ी गोपियों को। यह तो युवती गोपियों के ही श्रवणों ने सुनी। उन्हीं की वंशी का सुमधुर रव सुनायी दिया। उसे सुनकर वे गोष्ठ छोड़कर वन जाने को उद्यत हो गयीं।

वनके लिये वे क्यों चल दीं जी ? वन में ही तो एकांत होता है। प्रेम की बातें एकांत में ही तो होती हैं। प्रेमलीला सबके

सामने नहीं प्रदर्शित की जाती। प्यारे से एकांत में ही मिला जाता है। वेणु को सुन कर ऐसा कोई नहीं है जो अपने स्थान पर डटा रहे। उस वेणु के उद्गम स्थान—श्यामसुन्दर—के समीप जाना ही होगा। यदि भौतिक शरीर को कोई रोक भी ले तो दिव्य शरीर से संगम करना पड़ेगा। बिना संगम के रहा नहीं जा सकता।

श्यामसुन्दर की वेणु हर समय बजती रहती है। उसके बजने के समय नियत नहीं है। रात्रि में भी बजती है और दिनमें भी दोपहर में बजती भी है और अर्धरात्रि में भी। सायंकालीन संध्या के समय भी और प्रातःकालीन संध्या के समय भी। फिर भ उसकी ध्वनि रात्रि में परम मोहक होती है। रात्रिमें वह बजती ही जाती है बजती ही जाती है। क्षण क्षण में उसकी मधुरता, उन्मादमता, सरसता तथा प्रियता बढ़ती ही जाती है बढ़ती ही जाती है। गोपिकायें सुनती हैं, विकल होती हैं विवश होती हैं, फिर चल देती हैं, उसके उद्गम के अन्वेषण के लिये वे चलती जाती है तब तक चलती ही रहती हैं जब तक मुरलीवाला मिल नहीं जाता। मिलने पर वह दुरदुराता है मुरली से भी मोहक बातें करता है। अधिक अनुरक्त बनानेके लिये—पूरी तरह फँसानेके लिये—वह दया नहीं दर्शाता प्रथम निष्ठुरता दिखाता है। स्वयं मुरली बजाकर बुलाता है। फिर बुलाकर ठुकराता है। कैसा है वह निष्ठुर मुरली वाला। फिर भी गोपिकायें नहीं जातीं, उसके सम्मुख अश्रु बहाती हैं। उसे ही अपना सर्वस्व बताती हैं, उसी के सम्मुख गिड़गिड़ाती हैं दीन होकर विनती सुनाती हैं और उसी के अरुण चरणों पर गिर जाती हैं। उसी को रो रोकर समझाती हैं अपनी विवशता बताती हैं और शरणागत के त्याग का भय दिखाती हैं। श्याम सुन्दर सब सुनते हैं और मुस्कुरा जाते हैं।

मुस्कराते क्यों हैं जी ? मुस्कराते इस लिये कि मेरी मुरली कैसी मधुर है। यह सबको बुला लाती है और चुप हो जाती है। इस मुरलीके पीछे मुझे कितना सुख मिलता है। जिन्हें मैं चाहता हूँ इसी मुरलीके द्वारा बुला लेता हूँ, इसी बातको बार बार विचार कर बनवारी मुस्कराते हैं। कुछ कुछ हँस जाते हैं, किन्तु गोपिकायें रो जाती हैं।

गोपिकायें रोती क्यों हैं जी ? गोपियोंके रोनेका कारण है। वे सोचती हैं मुरली आनंद सागरके पार बज रही है। हमारी चित्त वृत्ति रूप नौका सूखे स्थानमें अड़ गया है। यदि कहींसे पानी आ जाय और इस शुष्कताको डुबोदे तो हमारी नौका भी बहकर उस पार लग जाय। मुरलीकी ध्वनि तक पहुँच जाय, उद्गम स्थानमें पहुँचकर उसकी उत्ताल तरंगोंमें नृत्य करे। ताथेई करके रास रचे। वे मुरलीसे द्वेष करती हैं।

प्रेममें द्वेषका क्या काम ? गोपिकायें मुरलीसे द्वेष क्यों करती हैं जी ! अजी, यह द्वेष कोई शत्रुता जन्य द्वेष थोड़ा ही है। प्रेमयुक्त द्वेष है, प्रणयसे संमिश्रित कोप है, यह तो प्रेम वृद्धिमें बाधक न होकर साधक है। सभी मुरली बनना चाहती हैं। सभी श्यामसुन्दरके अधरोंको चाटना चाहती हैं, सभी उनके कर कमलोंकी थपकियोंसे गुदगुदी गद्दियोंपर सोना चाहती हैं। यह तो बाँसुरीकी बड़ाई है, उसके भाग्यकी सराहना है। वेणुकी विजय की स्वीकृति है। श्यामसुन्दरसे प्रेम कौन न करेगा। वे तो साक्षात् मन्मथके मनको भी मथने वाले हैं। यदि वे गोपिकाओंके मनको मथते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। कमनीय कृष्णको देख कर कामिनियोंके मनमें कामका उदय होना स्वाभाविक है।

काम भाव कुछ अच्छी बात थोड़े ही है ? गोपियोंके मनमें काम भाव उत्पन्न ही क्यों हुआ जी ?"

कामभाव उत्पन्न क्यों हुआ, इस तो काम जाने और कामका बाप जाने। किन्तु काम अच्छी बात है या बुरी इसे तो शास्त्र भी निर्णय करता है। यह सम्पूर्ण संसार काम द्वारा ही संचालित है। काम न हो तो सृष्टि वृद्धि न हो। संसारकी रक्षा न करके तारक हो प्रजाभक्षक बन जायँ, निष्काम शिवके मनमें भी काम उत्पन्न कराने के लिये ब्रह्मादि देवोंने कितना प्रयत्न किया। संसार के लोग निरन्तर काममें ही लगे रहते हैं। किसीसे पूछो—"कहाँ जा रहे हो?" वह तुरन्त कहेगा "एक कामसे जा रहा हूँ।" किसीसे कहो—"तनिक बैठिये।" वह कहेगा—"अजी, कैसे बैठें बहुत काम है।" कोई लड़का काम नहीं करता, तो उसके अभिभावक कहते हैं—"काम न करोगे तो खाओगे क्या?" सारांश यह है, चराचर विश्वका संचालन कामसे ही हो रहा है। कामसे ही बंध है कामसे ही मोक्ष है किन्तु काममें कुछ अन्तर है। काम कहते है कामनाको, संसारमें बिना किसी कामनाके कोई काम होता नहीं। हमें जीवनकी कामना है इसलिये सांस लेते हैं। हमें परिचयकी कामना है इसलिये देखते हैं। हमें पेट भरनेकी शरीर पोषणकी कामना है इसलिये खाते हैं। हमें संसारको चलाये रखने की कामना है इसलिये सन्तानोत्पत्ति करते हैं। अकेली सांसारिक कामनायें हमें पुनः पुनः संसारमें घसीट घसीटकर लाती है। श्रीकृष्णके सम्बन्धकी कामना हमें हठात् संसारसे खींचकर वृन्दावनकी ओर ले जाती हैं। संसारी काम बन्धन कराता है। श्रीकृष्णके सम्बन्धका काम संसारसे मुक्ति कराता है। अकेला काम यदि शंकरके समीप भी अपने बल भरोसे जायगा, तो जल कर भस्म हो जायगा। वही काम श्रीकृष्ण पुत्र प्रद्युम्न (परम प्रकाशवान) बन कर जायगा तो सम्बर (परम मोहक) को मारकर लौट आवेगा। इसीलिये भगवानने अपने सुहृद सखा पार्थसे कहा है—धर्माविरुद्धेषु भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।"

ये भरत कुल में श्रेष्ठ प्राणियोंमें धर्म से अविरुद्ध जो काम है वह और कोई नहीं मैं ही हूँ, धर्महीन काम ही संसार में बाँधता है स्वर्ग नरक ले जाता है, जो काम कृष्णके समीप ले जाय—संसारी कामों को छुड़ादे—उसमें और कृष्णमें कोई अन्तर नहीं। जो ऐसे कामको हृदयमें उत्पन्न करदे वही सद्गुरु है।

वृन्दावन विहारी की वेणु बजते ही श्रीकृष्ण विषयक कामना हृदय में उत्पन्न कर देती है। मनको मथकर संसारी कामनाओं को छुड़ा देती है। गोपिकायें जब उस धुनि को सुनतीं, तो अकाम हो जातीं। दूध दुहना, दूध बिलोना, चक्की चलाना, आटा निकालना, झाड़ू देना, लीपना पोतना, आटा छानना, आटा गूंथना, धान कूटना, धानों को फटकना, धोना, रोटी बनाना, भोजन परसना, चौका बर्तन करना, चरखा कातना, वस्त्र सीना, बालकों की देख रेख करना, शरीर को सजाना, शृंगार करना, शैया बिछाना सेवा करना तथा और भी गृहस्थी के सब कामों को यह मुरली ध्वनि तत्काल छुड़ा देती है। कान में पड़ते ही बेकाम बना देती है। यह मुरली की ध्वनि सबको सुनाई नहीं देती। किसी भाग्य-शालिनी को ही सुनाई देती है। जिसे यह सुनाई दे गई वह धन्य हो गयी कृतार्थ बन गयी। उसकी संसार से मुक्ति हो गयी। इसीलिये यह वेणु सबकी गुरु है। सबको श्रीकृष्ण चरणों में पहुँचाने वाली है। क्या हम भी कभी समस्त संसारी काम—पैसे की चिंता करना लिखना, पढ़ना, छपाना, संशोधन करना, विज्ञापन करना, सुख सामग्री जुटाना, लोगों का संग्रह करना, इकट्ठा करना, अहंकार करना, दूसरों को अपने अधीन करना चक्कर में फँसाना, स्वार्थ साधन करना—इन सभी को भूलकर मनमोहन की मुरली की ध्वनि सुन सकेंगे? वृन्दावन विहारी की वेणु सुनकर सभी कामों को अधूरे छोड़कर क्या कभी हम भी विह्वल हुए—बेसुधि बने—लड़खड़ाते पागलोंकी भाँति गिरते परते

उन बाँकेबिहारीके चरणोंमें पहुँचेंगे ? मुरलीदेवी ! प्रणाम प्रणाम ! कभी हमें भी पुकारोगी क्या ? कभी हमारा भी नाम लेकर बुलाओगी क्या ? कभी अपनी ध्वनिका मन्त्र हमारे भी कर्णकुहरोंमें फूँकोगी क्या ? कभी हमें भी अपना शिष्य करके स्वीकारोगी क्या ? देवि ! हम निर्बल हैं, साधनहीन हैं। प्रतिज्ञा करके उसका पालन नहीं कर सकते। नियमको निभा नहीं सकते। कामको रोक नहीं सकते श्रीकृष्णको पुकार नहीं सकते। सब ओरसे निराश हो गये है पुरुषार्थका अभिमान चूर चूर हो गया अब देवि ! तुम्हारा ही सहारा है तुम कृष्णके मुँहलगी ही जो ठहरी। मुँहलगे व्यक्ति न कराने योग्य कामोंको करा लेते हैं। एक बार हमारा भी नाम पुकार लो। दाढ़ीसे क्यों डरती हो वीर! ये तो सब बाह्य चिह्न हैं। तुमने जहाँ पुकारा तहाँ ये बाह्य चिह्न तो सब उड़ जायँगे। गुरुदेवका मन्त्र कानमें पड़ते ही शरीर चिन्मय हो जाता है। सुना दो हमें मोहिनी मन्त्र, जिससे मदन मोहनकी माधुरी मूर्तिको मनमें बसाकर उनके चरणोंमें लोट पोट हो जायँ। वृन्दावनकी निभृत निकुञ्जोंमें उनके साथ घूम सकें। रासविलासके सुखका अनुभव कर सकें। हृदय कलुषित होनेसे तुम्हारे शब्दमें भी हम संसारी कामना देखते हैं। कैसी यह विडम्बना है। देवि ! दया करो। दयामयी अपनाओ वेणुरानी ! बज जाओ, बज जाओ ! अपनी मीठी मीठी मधुर मधुर मदमत्त बनानेवाली तानको सुनाओ फिर सुनाओ।

छप्पय

मुरली ! करूँ प्रनाम सरस-सी तान सुनाओ।
बंसी ! बंसी बनो श्याम दृगमाँहि फँसाओ॥
वेणु ! रेणु ब्रजभूमि अङ्ग मेरे लिपटाओ।
वंशवासुरी ! वीर विपिन-वृन्दा बुलवाओ॥
सम्मोहिनि ! आकर्षिनी, प्यारी प्रिय-आनन्दिनी।
करनकुहर रवते भरी, हे अधरामृतवर्षिनी॥

पौगण्डावस्थाकी कुछ कमनीय क्रीड़ाएँ

(९१६)

एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया
गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन्।
रेमे रमालालितपादपल्लवो
ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १५ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

यों करि बलकी विनय बननि विहरे बनवारी।
शिशु सम क्रीडा करें सरस सुन्दर शुभ प्यारो॥
हंसनिकी चलि चालि कूजिकें हँसे हँसावें।
मोरनिके सँग नाचि सखनिकूँ श्याम रिझावें॥
धौरी धूमरि धूसरी, धेनुनिके लै नाम हरि।
टेरि बुलावे दूरितें, छुएँ खुजावे प्यार करि॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार जिनके चरणारविन्दोंकी सेवा स्वयं साक्षात् लक्ष्मीजी करती हैं, वे ही भगवान् आज अपने वास्तविक स्वरूपको छिपाकर अपने आचरणोंसे गोप कुमारत्वका अनुकरण कर रहे हैं। वे उन ग्रामीण ग्वारियोंके साथ यद्यपि उन्हींके सदृश क्रीड़ा करते हैं, किन्तु फिर भी बीच-बीचमें उनकी भगवत्ता प्रकट हो ही जाती है।

बाल्यकालके वे प्यारे प्यारे खेल सदाके लिये हमसे दूर चले जाते हैं, किन्तु जाते जाते हृदयपर ये अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं, उनकी सुखद स्मृतियोंसे किस सहृदय पुरुषके हृदयमें हूक न उठने लगेगी। श्रीकृष्ण जब राजा हो गये और सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियोंके पति होकर सुवर्णके महलोंमें सुख पूर्वक रहने लगे, तो कभी-कभी रानियाँ देखतीं—उनके नेत्रोंमें जल भर आता और वह टपटप करके बहने लगता। एक दिन अत्यन्त प्यारसे अपने प्राणनाथके कंठमें बाहु डालकर श्रीमती भगवती रुक्मिणीजीने पूछा—"प्राणनाथ ! कभी-कभी मैं आपको एकान्तमें रोते देखती हूँ, कभी-कभी आप हमारे सामने भी अपने आँसुओंको नहीं रोक सकते। इसका कारण क्या है? अवश्य ही आपको कोई आन्तरिक व्यथा है। यदि हमारे सुनने योग्य हो तो हमें अवश्य बतावें। हम प्राणोंका पण लगाकर उस दुःखको मेटनेका प्रयत्न करेंगी।" इतना सुनते ही श्याम सुन्दरको हिचकियाँ बँध गयीं। वे भर पेट रोये। और रोते-रोते बोले—"मेरा दुख ऐसा है जिसे तुम मेट नहीं सकतीं। मुझे अपने बाल्यकालकी बातें याद आ जाती हैं। वे ही मेरी हृदयमें हूक उत्पन्न करके उसे मथ देती हैं। वे कितने सुखके दिन थे न कोई चिन्ता थी न क्लेश। चारों ओरसे प्यार ही प्यार प्राप्त था। प्रातःकाल होते ही हम गौओंको चराने ले जाते। गौएँ हमसे कितना प्यार करती थीं, हम उनका नाम लेकर पुकारते थे, पूँछ उठाये वे नाम सुनते ही दौड़ी आती थीं। मैया छाक लेकर आतीं, सामने प्रेमसे बैठकर खिलाती, उस छाकमें जो आनन्द आता, वह यहाँके छप्पन भोगोंमें कहाँ। वे ब्रजकी भोरी भारी ब्रजाङ्गनायें अपने मैले कुचैले गोबर लगे वस्त्रोंको पहिने हमें अपने हृदयसे सटा लेतीं, उनके स्नेहालिङ्गनमें जो सुख था, वह इन केशर कस्तूरी और विविध प्रकारके सुगन्धि-

युक्त वस्त्रोंमें कहाँ है हम सब ग्वाल-बाल वनकी घुँघचियोंको पहिनते थे, उन्हें पहिनकर जो सुख होता था—वह इन मणि माणिक्यकी मनोहर मालाओंमें कहाँ मिल सकता है। सखाओंसे एकान्तमें कैसी मधुर मधुर बातें होतीं, वे हमें अपने हाथोंसे खिलाते पिलाते थे, हम उन्हें अपने हाथोंसे खिलाते, उनके स्पर्शमें जो सुख था, यहाँ उसका आभास भी नहीं। गोप ग्वाल कितने स्नेहसे हमारी सेवा करते ऐसा निश्छल स्नेह अब जीवनमें कहाँ मिलेगा। मैं अपने बालकपनको याद करके रोता हूँ, उसकी स्मृति ही मुझे विकल बना देती है। अब मैं व्रजमें जाऊँ तो मुझे कोई पहिचान भी न सकेगा क्योंकि मेरा व्रजका जो धन था—बालकपन—वह मुझसे खो गया। वह मुझे छोड़कर दूर चला गया। उसीके लिये मैं रोता हूँ।" रुक्मिणी आदि रानियाँ यह सुनकर चुप हो गयीं। अब वे व्रजके बालकपनको कहाँसे खोजकर लौटा ला सकती हैं। यथार्थमें बात ऐसी है, बाल्य-कालमें जिस भावसे खेल खेले थे, वे अब आ ही नहीं सकते। अब उन्हें खेलेंगे बनावट हो जायगी। वे भाव अब कहाँ। भावना ही तो आनंद निरानंदमें प्रधान कारण है। बालकोंको अनुकरण बड़ा प्रिय होता है। जिसका चाहो अनुकरण करा लो, उन्हें सबका अनुकरण करनेमें एक प्रकारके आनंदका अनुभव होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपाल बने श्याम अब वनोंमें विहार करते हुए भाँति-भाँतिकी कुमारावस्थाकी क्रीड़ाएँ करने लगे। वे यमुनाजीके पावन पुलिनोंमें गिरिराज गोवर्धनकी ऊँची उपत्यकाओंमें अपनी गौओंको चराने लगे। उनका गोपवेश बड़ा ही विचित्र और चित्ताकर्षक होता था। कंठमें बड़ी सी वन-माला सदा धारण करते रहते थे, वह हिलहिलकर रसिकोंको श्रीकृष्ण चरणोंमें आनेका निमंत्रण-सा देती रहती। वे बलदेवजी

के सहित एक वनसे दूसरे वनमें दूसरे वनसे तीसरे वनमें गौओंके पीछे-पीछे विचरते रहते। उन्हें भ्रमरोंसे बड़ा प्रेम था। प्रेम होना स्वाभाविक ही था। अपने समान गुणवालोंमें प्रेम हो ही जाता है। श्रीकृष्ण भी रसप्रिय हैं और भौंरे भी रसके लोलुप हैं। जिस प्रकार भौंरे रसपान करके अपना स्वार्थ साधकर निष्ठुर बन जाते हैं, यही स्वभाव इन टेढ़ी टाँगवाले श्रीकृष्ण का है। दूसरे के हृदयकी पीरको ये निष्ठुर कृष्ण नहीं जानते इन्हें अपने स्वार्थसे काम, दूसरा चाहे मरौ या जिओ। इन्हें भी गायन बहुत प्रिय है और भौंरे भी गुन-गुन करते हुए निरन्तर गाते रहते हैं। भौंरे भी मधुपान करके मतवाले हो जाते हैं और ये माधव तो सदा प्रेममें मतवाले बने ही रहते हैं। इन सभी कारणोंसे नटवरकी इन भ्रमरोंसे मित्रता है। जहाँ भी ये भ्रमरों के झुंडोंको गुन-गुन करते हुए देखते, तहाँ झट ये भी उनके पीछे लग लेते और उनके स्वरमें स्वर मिलाते गुनगुनाते हुए साथ साथ चलते।

कभी सरोवरोंके समीप विचरण करनेवाले राजहंसोंको देखते, तो उनकी चाल का ही अनुकरण करने लगते। उनके कूजमें कूज मिलाकर स्वयं कूजते, और हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। स्वयं हँसते सभी साथियोंको भी हँसाते। ग्वालबाल जब दूर चले जाते, तब आप मेघगंभीर वाणीसे उनका नाम ले लेकर पुकारते—"हे तोक! हे दाम! हे सुदाम! हे सुबल! आओ आओ।" कभी दूर गयी गैओंके नाम लेकर पुकारते, हे नन्दिनी! हे चम्पे! हे गंगे! हे काली! हे धौरी! हे सुबले! आओ, आओ। उनकी धीर गंभीर वाणीको सुनकर मयूरोंको भ्रम हो जाता। समझते—'कोई श्याम घन गरज रहा है, अतः मेघकी गर्जना समझकर वे कूकने लगते। प्रेममें भरकर नाचने लगते। तब आप भी अपने पीताम्बरको फैलाकर मयूरोंके नृत्यका अनुकरण

करते, ठुमुक-ठुमुककर नाचते। गोपोंको भी नचाते, स्वयं उनके नृत्यकी 'साधु-साधु' कहकर प्रशंसा करते।

कभी कहते—"चकोरकी बोली कौन-सा बालक बोल सकता है? चक्रवाकके स्वरका अनुकरण कौन ग्वाल कर सकता है? सारस और मयूरके स्वरमें स्वर कौन मिला सकता है? सबके स्वरोंको सुनते, फिर स्वयं सबकी बोली बोलकर सखाओंको सुखी करते, उन्हें हँसाते। इतनेमें ही किसी सिंहकी दहाड़ सुनते तो भययुक्त आकृति बनाकर भागनेका अनुकरण करते और चिल्लाते—"अरे सारे ? भागिओ ? सिंह आया।" बताइये? जिसके भयसे भय भी भयभीत होकर भाग जाता है, वे सिंहके शब्दसे भयभीत होकर भागें, यह केवल क्रीड़ा नहीं तो और क्या है, इसे आप विनोदीके विनोदके अतिरिक्त और कह ही क्या सकते हैं।

कभी-कभी थककर किसी बड़भागीकी गोदमें लोट जाते। प्रभुका सुखद स्पर्श पाकर वह गोपाल निहाल हो जाता और इनके मस्तकको शनैःशनैः अपनी गुद-गुदी कोमल हथेलियोंसे दबाने लगता। कभी जब बलरामजी किसी गोपकी गोदीमें सिर रखकर लेट जाते, तो आप उनके दोनों गोरे-गोरे चरणोंको अपनी गोदीमें रख लेते और शनैः शनैः उन्हें सुहलाने लगते। जब आप अपनी गुद-गुदी गद्दियोंसे उनके पदतलको मींचकर दबाते, तो बलदेव-जीको अत्यंत ही सुख होता, आनंदसे उनका मुख खिल उठता। गोप अनुभव करते कि पैरका पंजा दबानेसे उँगलियोंको चट खानेसे सुख होता है, तो वे भी श्रीकृष्णकी चरणसेवा करनेके लिये उत्सुकता प्रकट करते।

आपको द्वंद्व-युद्ध करनेमें बड़ा आनंद आता था। प्रत्येक वनमें उन्होंने मल्लयुद्ध करनेके निमित्त अखाड़े बना रखे थे। उनमें आप लँगोट कसकर उतरते। डंड पेलते, बैठक लगाते और ताल ठोकते हुए वे अपने साथियोंसे लड़ते। और भी गोपोंके जोड़ छुड़ाते।

कभी-कभी लड़ते-लड़ते अधिक व्यायाम करनेसे थक जाते, तो किसी बड़े वृक्षका सहारा लेकर श्रम मिटानेको लेट जाते। उसी समय कोई बड़भागी गोप दौड़कर उनके दोनों चरणोंको गोदमें

रखकर दबाने लगता। जंघा और जानुओंमें मुट्ठी भरता। पंजोंको दबाता, उँगलियोंको चटखाता। कोई कोमल-कोमल आमके, वटके लाल-लाल पत्ते तोड़ लाते उसकी शैया बनाकर श्यामको उसपर

सुलाते, कोई कमलका पत्ता तोड़कर उसीको पंखा बनाकर उनकी बयार करते, कोई वस्त्रसे ही पंखेका काम लेते। किसीकी ओर देखकर श्यामसुन्दर मुस्कराते हुए कहते—"भैया! तेरा स्वर बड़ा अच्छा है, कोई गीत तो गाकर सुना।" तब वह परम भाग्यशाली गोपकुमार स्नेहार्द्र चित्तसे मंद-मंद स्वरमें भगवानकी लीलाओं-के अनुरूप-उनको अत्यंत ही प्रिय लगनेवाले-गीतोंको गाता।

कभी कभी दोनों भाई प्रेमसे हाथमें हाथ मिलाकर साथ-साथ घूमते। कभी श्यामसुन्दर किसीकी गलेमें गलबैंया डालकर उसके साथ-साथ घूमते। कभी आप नाचने लगते, कभी ताल स्वरके सहित वंशी बजा-बजाकर उसमें गीत गाने लगते।

भगवानकी समस्त चेष्टाएँ सरस सुखद स्निग्ध तथा भाव-मयी थीं। भगवान्के यहाँ ऐश्वर्यकी तो कुछ कमी ही नहीं। जो समस्त ऐश्वर्यकी एकमात्र अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मीजी हैं, जो सदा उनके पैरोंको पलोटती रहती हैं, उन्हें किसी वस्तुकी आकांक्षा तो हो ही नहीं सकती। आप्तकाम होनेसे उन्हें स्पृहा भी नहीं। केवल भक्तोंको सुख देनेके निमित्त सांसारिक लोगोंकी दृष्टिमें अपने वास्तविक स्वरूपको छिपाकर वे प्राकृत शिशुवत् समस्त क्रीड़ाएँ करते थे। यद्यपि वे अपने ऐश्वर्यको छिपाये रहते थे, किन्तु असुर लोग आ आकर उन्हें विवश करते, वे उन्हें मारें। तब क्या करते, वे भी तो एक प्रकारके भक्त ही हैं, द्वेष बुद्धिसे ही सही, सदा उनका चिन्तन करते रहते हैं। उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें मारना पड़ता। जब इतने बड़े बड़े भारी राक्षसोंको मारते तो छिपानेपर भी इनका ऐश्वर्य न छिपता, ईश्वरीय लीला प्रकट हो ही जाती। भगवत्ताका आभास लोगोंको मिल ही जाता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् बालवत् चेष्टाएँ करते हुए वनमें विचरा करते थे। उसी समय बलरामजी-ने एक धेनुक नामक असुरको मारा।"

शौनकजीने पूछा—सूतजी ! धेनुक कौन था और बलरामजी ने उसे कैसे मारा ?"

सूतजी बोले—"भगवन ! धेनुक असुर गधाका रूप रखकर रहता था। बलदेवजीने जैसे उसे मारा, उस कथाको मैं आगे सुनाता हूँ।"

छप्पय

कबहूँ बलके करैं पादसंवाहन स्वामी।
कबहूँ डरिके भगैं ग्वाल सँग अन्तर्यामी॥
मल्लयुद्ध करि कबहुँ सखनिकूँ पकरि पछारैं।
कबहूँ जावैं जीति कबहुँ गोपनितैं हारैं॥
ब्रज ऐश्वर्य भुलाइकें, त्रिभुवनपति हरि रमापति।
बालसुलभ क्रीड़ा करहिं, सुख ब्रजजीवनि देहिं अति॥

धेनुकासुर उद्धारलीला

(६१७)

राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।
इतोऽविदूरे सुमहद्वनं तालालिसंकुलम् ॥
फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।
सन्ति किन्त्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना ॥*

(श्री.भा० १० स्क० १५ अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

एकदिवस बन गये गोप बोले सुनि कनुआँ ।
बलुआ भैया सुनो आज मचल्यो अति मनुआँ ॥
पके ताल की गन्ध मत्रनिको चित्त चुरावे ।
मनमहँ उठे उचंग जीभ पानी भर लावे ॥
पके पके फल परे खर, रहे धेनुकासुर तहाँ ।
मारे पिछले पगनितें, जो जावे प्रानी वहाँ ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ग्वालबालों ने राम और कृष्णको सम्बोधित करते हुए कहा—" हे महाबाहो राम ! हे दुष्टों के नाश करने वाले श्रीकृष्ण ! यहाँ से कुछ ही दूर पर तालके वृक्षों से पूर्ण एक बड़ा भारी बन है । वहाँ पके पके ताल के बहुत से फल नित्य ही गिरा करते हैं । अब भी वहाँ बहुत-से गिरे हुए हैं किन्तु दुष्ट धेनुकासुरने उन सबको अपने वश में कर रखा है ।"

भगवान्‌को जब जैसी लीला करनी होती है, प्राणियोंके हृदयोंमें तब तैसी प्रेरणा कर देते हैं। वे ही सबको अपनी इच्छानुसार नचा रहे हैं। असुर भी उनकी प्रेरणासे चेष्टा करते हैं और सुर भी। सबके नियामक वे ही घनश्याम हैं। सबके प्रेरक वे ही प्रभु हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान अब नित्य प्रति प्रातः ग्वालबालोंके सहित वनमें गौओंको लेकर आते और सायंकालको लौटकर घर चले जाते। एक दिन भगवान ताल वनके समीपके वनमें बलदेवजीके साथ गौओंको चरा रहे थे। साथमें श्रीदामा, सुबल, तोक कृष्ण आदि और भी बहुतसे बालक थे। वे बालक अब श्रीराम बलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्रजीके बलको कुछ कुछ जान गये थे। बहुत-से असुरोंके मार देनेसे उन्हें विश्वास हो गया था, कि ये दोनों भाई अपराजित हैं। इन्हें न कोई हरा सकता है, न मार सकता है। अतः वे अत्यंत ही स्नेहके साथ दोनों भाइयोंसे बोले—"हे बड़ी बड़ी भुजाओंवाले बल भैया! हे दुष्टदर्पघ्न कृष्ण! हम एक बात कहना चाहते हैं, कहो तो कहें—

भगवान्‌ने सरलताके साथ हँसते हुए कहा—"कहो भाई! क्या बात है?"

सखाओंने कहा—"यहाँसे समीप ही एक बड़ा सुन्दर तालोंका बन है, उसमें बड़े सुन्दर सुन्दर पके-पके फल पेड़ोंपर लगे हैं, बहुतसे अपने आप पककर पृथिवीपर गिर पड़े हैं?"

भगवान बोले—"फल तो गिरते ही रहते हैं अपना प्रयोजन बताओ।"

सखा बोले—"क्या प्रयोजन बतावें भैया! उन पके फलोंकी सुवासको लाकर पवनदेव वायुमंडलमें फैला देते हैं, उन्हींकी गन्धसे तो चारों ओर सुगन्धि फैल रही है।"

भगवान बोले—"पके फलोंमें सुगन्धि तो होती ही है, तुम

चाहते क्या हो, स्पष्ट कहो। बातको घुमा-फिराकर अधूरी क्यों कहते हो ?"

सखा बोले—"अब स्पष्ट क्या कहें, तू सब जानता है, हमारी जीभ उन फलोंके लिये लपलपा रही है, उसमें पानी भर आता है। ऐसे फल हमने पहिले कभी खाये नहीं, उनकी सुगन्धिसे ही हमारा चित्त चंचल हो रहा है।"

भगवान् बोले—"तब चलो, क्या बात है, आज वहीं गौएँ चरें, हम सब पेट भरके तालके फलोंको खायँ।"

सखा अन्यमनस्क होकर बोले—"अरे, भैया ! ऐसा ही सुगम होता, तो अब तक वहाँ फल बचे रहते। लोग कबके खा पीकर समाप्त कर देते। वहाँ तो एक दुष्ट असुर रहता है असुर। वह किसीको उस वनमें झाँकने भी नहीं देता। जो आता है उसे खा जाता है उसने बहुत-से मनुष्योंको खा डाला है। मनुष्योंकी बात तो पृथक रही वहाँ कोई पशु पक्षी भी नहीं जाता।

भगवान् बोले—"वह कौन असुर है ? कैसा उसका रूप है क्यों वह लोगोंको खाता है ?"

सखा बोले—"भैया, वह असुर गधाका रूप बनाये रहता है। उसके और भी बहुत-से परिवार कुटुम्बी हैं। वे सब गधाके ही रूपमें रहते हैं। वह धेनुकासुर बड़ा ही बली है। वहाँ अपने बलवान् साथी असुरोंसे सदा घिरा रहता है। उसीके भयसे वनमें कोई मनुष्य पशु पक्षी तक नहीं जाता। हम लोग जायँगे तो वह हमें भी खा जायगा।"

भगवान् बोले—"अरे, जाओ सारेओ ? जंगली गधासे डर गये। ऐसे रेंगटा तो न जाने कितने घूमते फिरते हैं। चलो—तुम मैं सारेके पैर पकड़के पछाड़ दूँगा।"

सभी गोप प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"भगवान् करे भैयाओ ? तुम जुग-जुग जियो। उन फलोंकी सुगन्धिसे हमारा

चित्त उन्हें पानेके लिये अत्यन्त लालायित हो रहा है। चलो भैया, आज भरपेट ताल फल उड़ाये जायँ।"

भगवान् और बलदेवजी दोनों एक स्वरसे बड़े उत्साहके साथ बोले—"अच्छी बात है, चलो। देखें सारे उस गधाको भी।" यह कहकर वे अपने सुहृद् सखाओंका प्रिय करनेकी इच्छासे उनके साथ हँसते खेलते तालवनमें पहुँचे।

वनमें पहुँचकर महाबलशाली बलरामजीने तालोंके वृक्षोंको पकड़कर जैसे हाथी वृक्षोंको हिला देता है, वैसे ही उन्होंने उन्हें हिला दिया। वृक्षोंके हिलाते ही उनपरसे पट्ट पट्ट करके असंख्यों फल गिर पड़े।

गदहा बना वह धेनुक असुर एकान्तमें अपने साथियोंके साथ बैठा था। उसने जब वृक्षोंसे गिरते हुए फलोंका पट्ट पट्ट शब्द सुना, तो वह तुरन्त पृथ्वीको पर्वतोंके सहित कँपाता हुआ गर्जन तर्जन करता हुआ श्रीकृष्ण और बलरामके ऊपर दौड़ा। आते ही उसने न आव गिना—न ताव, बलदेवजीके वक्षःस्थलमें अपने दोनों पैरोंसे दो लातें मारी और आघात करके वह अपने गर्दभ स्वभावानुसार पीछे हट गया। हटकर और क्रोधमें भरकर वह गधाओंकी भाँति हेंचू हेंचू शब्द करने लगा। बलरामजी उसकी ओर क्रोधभरी दृष्टिसे देख ही रहे थे, कि उसने फिर घोर शब्द करते हुए दूसरी बार बड़े वेगसे बलरामजीकी पीठपर पैरोंका प्रहार किया। वह दुलत्ती झाड़कर फिर गर्जना करने लगा।

संकर्षणावतार भगवान् बलदेवजीको भी क्रोध आगया। उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे उसके पिछले दोनों पैर पकड़ लिये और अन्तरिक्षमें गोफनकी भाँति कई बार घुमाया। घुमाते समय ही उसके प्राण शरीरसे निकल गये। तब बलरामजीने उस असुरके मृत शरीरको एक तालके वृक्षके ऊपर पटक दिया।

उसके वेगके आघातसे वह बड़ा भारी तालवृक्ष कम्पित हो गया और वह टूटकर गिर गया। उसके आघातसे दूसरा टूट गया। दूसरेके आघातसे तीसरा और तीसरेके आघातसे चौथा। इस प्रकार बहुत से वृक्ष टूटकर गिर पड़े। श्रीबलदाऊजीके द्वारा लीला-पूर्वक ही मारकर तालवृक्षपर पटका हुआ उस असुरका शरीर भूकम्पके कारणके सदृश बन गया। जैसे बवंडर या भूचाल आनेसे बहुतसे वृक्ष गिर जाते हैं, वैसे ही वहाँ तालके भी बड़े-बड़े वृक्ष फलों सहित गिर गये। इस प्रकार भगवान्‌के सम्मुख उनके दर्शन करता हुआ वह गधा बना धेनुक असुर महामुनि दुर्वासाके शापसे छूटकर परम पदका अधिकारी बन गया।"

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! यह धेनुक असुर कौन था? यह गधा कैसे बना? दुर्वासाजीने इसे शाप क्यों दिया? कृपा करके हमारे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये और इस प्रसंगमें कोई कथानक हो, तो उसे भी सुनाइये।"

इसपर सूतजी अत्यन्त गम्भीर होकर बोले—"भगवन्! यह धेनुक असुर पूर्व जन्ममें महाराज असुरराज बलिका पुत्र था। जिस कारणसे दुर्वासाजीने इसे शाप दिया उस कथाको मैं आपको सुनाता हूँ। आप अब इस शिक्षाप्रद कथाको सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

हरि हँसि बोले चलो तालफल सब मिलि खावें।
जो कछु बोले असुर मारिकें ताहि गिरावें॥
यों कहि बल अरु श्याम तालवनमाँहि सिधाये।
पादप पकरि हिलाय तालफल बहुत गिराये॥
सुनत शब्द धेनुक असुर, आइ दुलत्ती झाड़िकें।
भग्यो फिर्‌यो बल पकरिकें, वृक्षनि फेंक्यो मारिकें॥

धेनुकासुरके शापकी कथा

(९१८)

सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक् ।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १५ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

असुर साहसिक बली युवक बलिसुत अति सुन्दर ।
गयो एक दिन दैत्य गन्धमादन गिरि ऊपर ॥
लखि तिलोत्तमा तहाँ कामसर आहत कीन्हों ।
सोऊ ब्याकुल भई साहसिक संगम दीन्हों ॥
गये गिरि गुहामहँ उभय, करें काम क्रीड़ा तहाँ ।
दुर्वासा मुनि प्रथम ही, ध्यान मग्न बैठे तहाँ ॥

संसारी विषयोंमें जीवकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। इन इन्द्रियों द्वारा भोगे जानेवाले पदार्थोंका ध्यान करते करते जीवकी इनमें भोगबुद्धि हो जाती है—अर्थात् आसक्ति बढ़ती है। फिर मनमें कामभाव जागृत होता है। मनमें कामभाव उत्पन्न होनेसे

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! समस्त बालगोपाल श्रीबलदेव जी तथा श्रीकृष्णचन्द्रजीसे कह रहे हैं—हे बलराम! हे श्रीकृष्ण! इस तालवनमें रहनेवाला गधाका रूप बनाये हुए धेनुकासुर स्वयं भी बड़ा बली है और अपने ही समान और भी बहुत-से बली असुरोंसे घिरा रहता है।"

इन्द्रियाँ चंचल हो जाती हैं, वैसे तो सभी इन्द्रियाँ प्रबल हैं। किन्तु रसना और उपस्थ इन दो इन्द्रियोंको अत्यंत प्रबल कहा है। मनमें काम भाव उत्पन्न होते ही प्राणी किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा बन जाता है। जैसे तीक्ष्ण वायु कदलीके वृक्षको झकझोर डालती है, वैसे ही कामके मनमें प्रवेश करते ही सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। जैसे रई गाढ़े दधिके रग-रगको मथ देती है, उसी प्रकार यह अनंग प्राणियोंके—विशेषकर युवक-युवतियोंके—मनकोबलपूर्वक मथ देता है। इसीलिये कामका दूसरा नाम मन्मथ है। कामाधीन होनेपर प्राणी धर्म, कर्म, लज्जा, साहस, प्रतिज्ञा, कर्तव्य, मर्यादा तथा सदाचार सबको भूल जाता है। वह विवश हो जाता है। जो बली कभी भी कहीं भी पराजित नहीं हुए, वे कामके सामने झुक जाते हैं, नतमस्तक हो जाते हैं, उसके वशमें हो जाते हैं। एक नारायण ऋषिको छोड़कर सभीको इसने अधीन कर रखा है। संसारमें ऐसा कोई विरला ही होगा जिसके मन में यह उत्पन्न न हुआ हो। मनसिज इसका नाम ही है। मनमें उत्पन्न होकर यह इन्द्रियोंको अपने अधीन कर लेता है। इसके कारण ब्रह्मादि देव, इन्द्रादि लोकपाल, विश्वामित्र पराशर जैसे महान् ऋषि सभी दुखी हैं। इसने सबपर अपना अधिपत्य स्थापित कर रखा है। मनुष्य करने चलता है कुछ हो जाता है कुछ। ऋषि-मुनि सर्वस्व त्यागकर वनोंमें जाते हैं, वहाँ इस दुष्टके चक्करमें फँस जाते हैं। भूल जीवोंसे ही होती हो सो बात नहीं, कभी-कभी ईश्वरोंसे भी बड़ी भारी भूल हो जाती है। भोले बाबा शंकरने इस दुष्ट कामको क्रोध करके मार तो डाला, किन्तु फिर दयाके वशीभूत हो गये। अंग-रहित करके भी इसे पुनः सब प्राणियोंके हृदयमें रहनेका वर दे दिया। अंग-वाला होकर जितना बली था, अनंग होकर यह और भी बली हो गया। सब अनर्थोंकी जड़ यही दुष्ट है। इसका कोई रूप

नहीं, रंग नहीं, आकार नहीं, प्रकार नहीं, समय नहीं, यह संकल्प-से उठता है। जो संकल्पहीन हो गये हैं, जिनके मनमें कभी संकल्प-विकल्प उठता ही नहीं, उनके पास तो यह फटकता ही नहीं। अजी, मिट्टीसे ही तो घड़ा बनता है। मिट्टी न हो तो घड़ा बने कैसे। संकल्प न हो तो काम कैसे पैदा हो, किन्तु संकल्पहीन तो इस संसारमें विरले ही होते हैं। यह काम, भक्त अभक्त दोनोंको ही कष्ट देता है, अन्तर इतना ही है, कि अभक्त तो इसके चक्करमें फँसकर चौरासीके चक्करमें घूमते हुए असंख्यों जन्मों तक दुख भोगते हैं। भक्तोंके मनमें यह होता है, तो कुछ दिन क्लेश सहकर किसीसे शाप दिवाकर अति शाप या अति प्रसाद कराकर प्रभुके पाद पद्मोंमें पहुँचा देता है। भगवानमें यदि इसे लगा दिया जाय, तो मोक्षका श्रेष्ठ साधन बन जाता है, इसीलिये इसकी देवसंज्ञा है। यज्ञादिमें इसका पूजन होता है। वसंत ऋतुमें इसकी पूजाका पर्व होता है और आम्रकी मंजरीसे पूजन करनेका अनंत फल बताया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पूछा था, कि धेनुकको दुर्वासा मुनिका शाप क्यों हुआ, इस प्रसङ्गको मैं आपको सुनाता हूँ, आप शिक्षाप्रद पुण्य प्रसङ्गको समाहित चित्तसे श्रवण करनेकी कृपा करें।

धर्मात्मा असुरराज महाराज प्रह्लादजीके पुत्र हुए महा-यशस्वी विरोचन। ये इतने सत्यप्रतिज्ञ और ब्राह्मण भक्त थे, कि देवता ब्राह्मणोंका वेष बनाकर इनके प्राणोंकी याचना करने आये। ये जान भी गये थे, कि ये ब्राह्मण वेषधारी मेरे शत्रु देवता हैं, फिर भी वेषपर श्रद्धा रखकर इन्होंने अपने प्राणोंको उन्हें दे दिया। उनके पुत्र हुए परम यशस्वी महाराज बलि। जिन्होंने वामन वेषधारी विष्णुको जानते हुए भी तीनों लोकोंका राज्य दे दिया और स्वयं श्रीहरिकी आज्ञासे सुतललोक चले

गये। इन्हीं हरिभक्तिपरायण दैत्यराज महाराज बलिका एक पुत्र था। जिसका नाम साहसिक था। वह बड़ा ही सुन्दर स्वरूपवान् भगवद्भक्त वृद्धसेवी और युवावस्थापन्न बली असुर था। उसने अपने बल पुरुषार्थसे समस्त देवताओंको जीत लिया था। संसारमें उसे मान, सम्मान, धन, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा तथा अधिकार आदि सभी वस्तुएँ प्राप्त थीं।

एक दिन वह वनमें विहार करनेके निमित्त हिमालय पर्वतके अन्तर्गत उस गन्धमादन पर्वतपर गया, जहाँ भगवान् नर नारायण आकल्पान्त तपस्या करते रहते हैं। जहाँकी, प्रत्येक जड़ी बूटीमें एक प्रकारकी विचित्र गन्ध आती है। मुनियो! जिस कल्पकी बात मैं कह रहा हूँ, उस कल्पमें गंधमादन पर्वतकी शोभा अवर्णनीय थी। वहाँके कुसुमित काननोंसे स्वर्गके नन्दनादि उद्यान लजा करते थे। यह पाद्मकल्पकी कथा है, जिस कल्पमें भगवान्के नाभिकमलसे पद्म हुआ था। जिस कल्पमें नारदजी उपबर्हण गन्धर्व थे। उस कल्पमें गंधमादन पर्वतपर विहार परम पुण्यवानोंको ही प्राप्त होता था। हाँ, तो वसन्तकी ऋतु थी, सभी वीरुध, लता, औषधियाँ अपनी सुवाससे सदा सुवासित गन्धमादन गिरि प्रान्तको और भी अधिक सुवासित बनाये हुए थीं। वहाँ पुष्पोंसे सौरभ और सुवास लेकर पवनदेव इठलाते हुए शीतल बने मन्द-मन्द गतिसे इतस्ततः विहार कर रहे थे। कोकिला कूज-कूजकर कामियोंके हृदयमें हूक पैदा कर रही थीं। प्रकृतिदेवी एकान्त पाकर सौन्दर्यके साथ क्रीड़ा कर रही थीं। उस प्राकृत सौन्दर्यको देखकर साहसिकका मन मुकुर खिल उठा। वह अत्यन्त ही प्रसन्न होकर पुण्य पर्वतकी रमणीयताका अवलोकन करता हुआ विचरण करने लगा।

उसी समय भाग्यवश समस्त अप्सराओंमें श्रेष्ठ तिलोत्तमा वहाँ आ पहुँची। इसके सौन्दर्यके विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त

होगा, कि इसके अङ्गमें एक तिलमात्र भी ऐसा स्थान नहीं था, जिसमें अपूर्व सौंदर्य न हो। पुराणोंमें इसकी कथा इस प्रकार है, कि प्रह्लादजीके ही कुलमें एक निकुम्भ नामक बली दैत्य हो गयाहै, उसके सुन्द उपसुन्द दो पुत्र थे। दोनोंमें इतना अधिक स्नेह था, कि एक दूसरेके बिना पलभर भी नहीं रह सकते थे। साथ ही खाते पीते थे, साथ ही सोते बैठते थे। उन दोनों भाइयोंने घोर तपस्या करके ब्रह्माजीसे कभी न मरनेका वर माँगा।

ब्रह्माजीने कहा—"जो जन्मा है वह मरेगा, इसलिये तुम अपनी मृत्युका कोई कठिनसे कठिन कारण मांग लो। तब उन्होंने सोचा हमे दोनों भाइयोंमें इतना प्रेम है, कि साक्षात् ब्रह्माजी भी इसे नहीं हटा सकते, अतः उन्होंने यही वर माँगा, कि हमारी मृत्यु किसी प्राणीसे न हो, यदि हो तो आपसमे ही लड़कर हो।" ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कह दिया। अब तो मदमें भरकर देवता, ऋषि, मुनि सबको दुख देने लगे। सबने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की। ब्रह्माजीने विश्वकर्माको बुलाकर कहा—"तुम एक ऐसी सुन्दरी स्त्री बनाओ, कि उसे जो भी देखे वही रीझ जाय।" तब विश्वकर्माने सम्पूर्ण संसारकी वस्तुओंसे सौंदर्य लेकर एक स्त्री रत्नकी रचना की। उसके दमकते हुए अङ्गमे मानों असख्यो रत्न विश्वकर्माने जड़ दिये हों। सम्पूर्ण विश्वसे तिल-तिल सौन्दर्य बटोरकर इस कामिनी रत्नकी रचना हुई थी, अतः इसका नाम तिलोत्तमा रखा गया।" फिर यह ब्रह्माजीकी आज्ञासे सुन्द उपसुन्दके समीप गयी दोनों चाहने लगे यह मेरी स्त्री बने। इस बातको लेकर दोनोंमें कलह हुई दोनो मर गये। तबसे यह स्वर्गकी सर्वोत्तम अप्सरा गिनी जाने लगी।

कोई कहते हैं—जब कामदेव नर नारायण ऋषिको अपनी सेना सहित मोहित करने आये थे, तब भगवानने अपनी ऊरुसे एक अत्यन्त ही सुन्दरी अप्सरा निकाली। ऊरुसे उत्पन्न होनेसे

उसका नाम उर्वशी पड़ा। उसके सौन्दर्यके सम्मुख स्वर्गकी समस्त अप्सराओंका सौन्दर्य फीका-फीका दिखायी देने लगा। तब भगवान्‌ने स्वर्गकी शोभा बढ़ानेको उसे इन्द्रके लिये दे दिया। उसके अङ्गके तिल-तिल स्थानमें उत्तमता थी, इसलिये उर्वशीका ही नाम तिलोत्तमा है। कुछ भी हो कल्प भेदसे दोनों ही कथाएँ सत्य हैं। यहाँ हमारे कहनेका सारांश इतना ही है, कि वह श्रेष्ठ सुर-सुन्दरी अप्सरा थी। उस अप्सराने एकान्तमें विचरण करनेवाले युवावस्थापन्न परम सुन्दर शोभासे युक्त बलि पुत्र साहसिकको देखा। देखते ही उस सुर-सुन्दरीका मन विचलित हो गया। उसने अनुराग भरी दृष्टिसे धर्मात्मा बलि पुत्रकी ओर निहारा।

सोलहों शृङ्गारसे युक्त त्रैलोक्य विमोहिनी परम सुन्दरी युवती अप्सराको एकान्तमें अनुरागपूर्वक निहारते देखकर साहसिकका मन भी खो गया। अवसर पाकर मन्मथने उसके मनको मथन कर दिया। वह अपलक भावसे उस ललना ललाम सुर-सुन्दरीको निहारताका निहारता ही रह गया। जितना ही वह उसकी ओर देखता, उतना ही उसका मन उसकी ओर आकर्षित होता जाता। उसका मन व्याकुल हो गया और शनैः शनैः वह मूर्छित हो गया। कुछ कालमें उसे चेतना हुई, इधर तिलोत्तमाकी दशा भी दयनीय थी। वह आगे बढ़ना चाहती थी, किन्तु बढ़ नहीं सकती थी, उसका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो रहा था, आननकी रक्ताभा और भी अधिक रक्त होगयी थी। वह अनुराग और प्रणय भरित दृष्टिसे बलि पुत्रकी ओर उसी प्रकार निहार रही थी, जिस प्रकार चकोरी चन्द्रको निहारती रहती है। जब साहसिक उसकी दृष्टि से दृष्टि मिलाता, तब वह दृष्टि फेर लेती अपने मुखको नीचा कर लेती। इससे वह और भी अधिक व्यथित हुआ।

मुनिवर-भगवानने प्राणियोंके हृदयमें अनुरागको क्या उत्प
कर दिया है, एक विपत्तिको रख दिया है। स्नेहवान-रात्रि दि
जलता रहता है। उसे सुख नहीं, शान्ति नहीं, स्थिरता नहं
भूख नहीं, नींद नहीं, वह औरसे और बन जाता है। ना
हृदयमें अनुराग तो पुरुषकी अपेक्षा अत्यधिक होता है, किन
साथ ही उसमें लज्जाकी मात्रा भी अधिक होती है। पुरु
निर्लज्ज होता है, वह अपने भावोंको भाषामें व्यक्त करता है नार
अनुराग भरित दृष्टिसे ही सब कुछ कह देती है। साहसिकव
साहस छूट गया। वह तिलोत्तमाके समीप गया और अत्यन्त ह
स्नेहके स्वरमें कहा—"मैं तुम्हें स्वर्गकी सर्वोपरि अप्सरा शिरो
भूषण तिलोत्तमा देवी समझता हूँ।"

लज्जासे कटाक्षपात करती हुई वह सुर-सुन्दरी बोली—
"प्रभो! मैं आपके पादपद्मोंमें प्रणाम करती हूँ। आपका अनुमान
सत्य है। तिलोत्तमा ही मुझ वार वनिताका नाम है।"

साहसिकने कहा—"देवि! तुम्हारा स्वागत है। मैं इस समय
कामबाणोंसे व्यथित हूँ, तुम मेरा प्रिय कार्य करो।"

सिर नीचा करके शनैः शनैः उसने वीणा विनिन्दित स्वरमें
रुक-रुककर स्खलित वाणीमें कहना आरम्भ किया—"देव मेरा
सौभाग्य जो आपने दासीको इस योग्य समझा। प्रभो! आ
जैसे रूपवान्, गुणवान, तेजस्वी, तपस्वी, यशस्वी, कुलीन
सच्चरित्र, कृतज्ञ, शृंगारनिपुण, कामशास्त्रविशारद, सदा मनोह
तथा चित्ताकर्षक वेष भूषावाले युवक राजपुत्रको पाकर कौन
कामिनी अपने सौभाग्यकी सराहना न करेगी, किन्तु···

साहसिकने कहा—"किन्तु क्या! उसे भी कह दो।"

कुछ देर रुककर व्रीड़ाका भाव प्रदर्शित करती हुई चिन्ता
को व्यक्त करती हुई वह बोली—"प्रभो! रजनीकान्त चन्द्रने मुझे
आज अपने यहाँ आमन्त्रित किया है। आज मैं चन्द्रलोकमें

उनकी सेवाके निमित्त जा रही हूँ। रति सुखप्रदान करके उन्होंने मुझे सदासर्वदा सन्तुष्ट किया है। आप जानते ही हैं, मैं कोई पतिव्रता तो हूँ नहीं। किसी एक पतिमें तो मेरा अनुराग है नहीं। मैं तो बहुभर्तृका पण्यस्त्री हूँ। जिनसे मैं पणकर लेती हूँ उस दिन उन्हींकी हो जाती हूँ, यही मेरा धर्म है, यदि पण करके भी मैं रजनीकान्तकी सेवामें समुपस्थित न होऊँ तो मेरा धर्म लोप होगा। पातक की भागिनी बनूँगी यही मुझे चिन्ता है।"

साहसिकने कहा—"देवि! दीन दुखियोंपर दया करना यह सबसे श्रेष्ठ धर्म है, अनुगत आश्रितोंके ऊपर कृपा करना यह कारुणिक जनोंका प्रथम कर्तव्य है।"

बलिपुत्रके ऐसे करुणा भरे हीन वचनोंको सुनकर उसके अनुरागको बढ़ानेके निमित्त वह स्वैरिणी बोली—"प्रभो! आप कुलीन हैं, धर्मात्मा हैं, मुझ बहुभर्तृका वार वनिताके प्रति आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं। भगवन! चाहे प्राणी सर्वज्ञ हो जाय, सब कुछ जान जाय, किन्तु स्वैरिणी कामिनियोंके मनोगत भावोंको कोई जान नहीं सकता। ये पुरातन पतिका परित्याग करके पुनः नूतन पतिसे प्रेम करने लगती हैं। इनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। आप ऐसी मुझ वार वनिताके प्रति इतना प्रेम प्रदर्शित क्यों करते हैं?"

साहसिक बोला—"प्रिये! बड़े बड़े देवगण, विश्ववन्दित प्रजापतिगण तुम्हारी अभिलाषा करते हैं।"

उसने कहा—"अच्छी बात है, आज तो मैं चन्द्रलोक जाती हूँ पुनः किसी दिन आकर आपकी सेवामें अवश्य समुपस्थित होऊँगी।"

यह सुनकर साहसिक सहम गये। वह अनुरागयुक्त कटाक्ष मोक्षण करती हुई उनके मुख कमलके सौन्दर्य रूपी मकरन्दका अपने दोनों नेत्र रूपी चसकोंसे निरन्तर पान करने लगी। जब

उसे बलिनन्दन साहसिकने अत्यन्त अनुरागवती अनुभव कि
तब वे साहस करके बोले—"देवि ! मैं आपके सम्मुख
प्रयोग तो कर नहीं सकता। यदि मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं
मेरे प्रस्तावसे सहमत नहीं हो, तो तुम स्वेच्छासे अपने गन्तव्य
स्थान निमित्त प्रसन्नता-पूर्वक प्रस्थान कर सकती हो। य
द्विविधा स्थिति उचित नहीं विलम्ब करनेसे अघटित घट
घटनेकी संभावना हो सकती है, अतः तुम जाना चाहो तो जा
सकती हो, रहना चाहो तो मुझे कृतार्थ कर सकती हो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! उसे जाना तो था ही नहीं
उसका चित्त तो साहसिकके सौन्दर्य जालमें उलझ गया था
उसने साहसिकका प्रस्ताव स्वीकृत किया। संकेत पाकर एक गिरि
गुहाके विविक्त प्रदेशमें दोनोंने प्रवेश किया।"

संयोगकी बात उसी गिरि गुहाके एक कोनेमें रुद्रावतार
भगवान् दुर्वासा तपस्या कर रहे थे। वे चिरकालसे ध्यान मग्न
थे। उनके शरीरपर दीमकोंने अपना घर बना लिया था। उन
दोनोंकी उनपर दृष्टि ही न पड़ी। वे दोनों काम क्रीड़ामें संलग्न
बने रहे। कुछ कालमें रहस्यमयी प्रेमभरी बातोंके श्रवणसे, हास
परिहास ध्वनि प्रतिध्वनिसे तथा नूपुर, कंकण किंकिड़ियोंके
कलरवसे मुनिकी समाधि भंग हुई। सम्मुख उन्होंने साहसिक
को संगमावस्थामें निहारा।

क्रोधके तो वे अवतार ही हैं। अपने आगे ऐसी अशिष्टता
देखकर मुनिने रोषमें भरकर दोनोंको शाप दिया। वे साहसिकसे
बोले—"रे निर्लज्ज दुष्ट ! अपने जातिके जीवको देखकर पशु
पक्षियोंके अतिरिक्त सभी लज्जा करते हैं। तैंने बुद्धिहीन होकर
मेरे सम्मुख गधेका-सा व्यवहार किया जा, तू गधा हो जा।
और हे तिलोत्तमे ! तैंने मानवी भावका आचरण किया, अतः
जा तेरा जन्म पृथिवी पर मानव योनिमें हो।"

मुनिका शाप सुनकर दोनोंका मद उतर गया। दोनों मुनिके पादपद्मोंमें पड़कर क्षमा याचना करने लगे और अपने अज्ञान को बार बार धिक्कारने लगे। क्षणार्धमन्यु भगवान् दुर्वासा बोले—"देखो, मेरा वचन तो असत्य होगा नहीं। जब श्वेत बारह कल्पमें अट्ठाइसवें कलियुगके अन्तमें नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अवतरित होंगे, तब उनके सम्मुख उनके अंशभूत बलदेवजीके हाथों मारे जाकर तुम्हें परम पदकी प्राप्ति होगी। तुम संसार बन्धनसे मुक्त हो जाओगे।" इतना कहकर फिर वे तिलोत्तमासे बोले—"तू पृथिवीमें बलिपुत्र बाणकी पुत्री होगी। श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्धके साथ काम क्रीड़ा करके उनकी पत्नी बनकर तू भी संसार सागरसे पार हो जायगी। तुम दोनों को भगवानके दर्शन होंगे और उन्हींकी कृपासे तुम्हारा संसार बन्धन सदाके लिये छूट जायगा। बिना कष्ट सहे बोध होता नहीं।"इतना कहकर मुनि दुर्वासा मौन हो गये। वे दोनों मुनिके पादपद्मोंमें प्रणाम करके अपने अपने स्थानोंको चले गये। कालान्तरमें वह साहसिक धेनुकासुर नामक गन्धर्व हुआ जो बलदेवजीके हाथसे मरकर मुक्त हुआ। तिलोत्तमा बाणपुत्री ऊषा हुई, जिसका विवाह भगवान्के पौत्र प्रद्युम्नजीके पुत्र चतुर्व्यूहोंमें से चित्तके अधिष्ठाता श्री अनिरुद्धजीकी पत्नी हुई।

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! बलिपुत्र साहसिक कुलीन था, गुणवान् था, विवेकी था। उससे ऐसा अनुचित कार्य कैसे बन गया। अस्तु, भावावेशमें आकर हो भी गया, तो सम्मुख बैठे हुए मुनिको उसने क्यों नहीं देखा। यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।"

इसपर अत्यन्त दुःख ही प्रकट करते हुए करुणा भरे स्वरमें सूतजीने कहा—"भगवन् ! जब जीव कामान्ध हो जाता है, तो उसे कुछ भी दिखायी नहीं देता। सामने रखी वस्तु उसे

दिखायी नहीं देती, वह विवेक और विचारसे हीन हो जाता है। मुनि यद्यपि सम्मुख बैठे थे, एक तो उनके शरीरपर दीमक लग गयी थी। दिखायी नहीं देते थे, दूसरे उन दोनोंमें से किसीने ध्यान भी नहीं दिया। वे अपनी धुनिमें मस्त थे।

शौनकजी बोले—"सूतजी! आपने तो साहसिको भगवद् भक्त बताया था। भगवद्भक्तके मनमें ऐसी बात कैसे आयी?"

सूतजी बोले—"महाराज! किसी अदृष्ट कर्मके कारण क्षण भर को उसका ऐसा भाव हो गया। वह उसमें लिप्त नहीं हुआ। दूसरे ही क्षण उसे अपनी भूल मालूम हो गयी, उसने पश्चात्ताप किया। उसीका फल यह हुआ कि मरते समय उसके मनमें पूर्व संस्कारोंके कारण भगवद्भक्ति उत्पन्न हुई। असुर होनेसे असुर भाव था ही। अन्तमें श्रीकृष्णका मुख निहारते हुए उसने परमपद प्राप्त किया। महामुनि दुर्वासापर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा। इतने त्यागी विरागी तपस्वीके मनमें भी उस घटनाको देखकर कामभाव उत्पन्न हो गया। इसीलिये शास्त्रकारोंने इस बातपर स्थान स्थानपर बल दिया है, कि कभी असत् पुरुषोंका साथ न करना चाहिये। विषयोंकी चर्चा न करनी चाहिये, कामियोंसे संसर्ग न रखना चाहिये। किसीको स्पर्श न करना चाहिये। सदा सावधान होकर भगवन्चिन्तन और भगवद् गुण श्रवणमें ही लगे रहना चाहिये। जो लोग रात्रिदिन संसार में ही फँसे रहते हैं, उनका चित्त तो स्त्री, बच्चे, व्यापार, पशु, भवन, भूमि तथा अन्यान्य पचासों बातोंमें बँटा रहता है। जो एकान्तमें ध्यान करते हैं सबसे सम्बन्ध छोड़कर मनवाणीका निरोध करके चित्तको एक विषयमें—भगवद् ध्यानमें—लगाते हैं उनका चित्त यदि दुर्भाग्यवश कहीं चला जाय, तो भगवान ही उसे उस ओरसे हटाते हैं। चित्त एकाग्र होनेसे वे सत्य सङ्कल्प हो जाते हैं। मनमें जो संकल्प हुआ, तुरंत वह पूर्ण हो जाता है,

अतः मनमें असत् संकल्प न आवें इसके लिये भगवान्‌की ही एकमात्र शरण ग्रहण करनी चाहिये मनमें कोई सङ्कल्प उठे तो उस सङ्कल्प पर ध्यान न देकर विशेष जप अनुष्ठानमें कठोरताके साथ लग जाना चाहिये। महामुनि दुर्वासा शाप देनेके अनन्तर उस विषयको विचारते रहे, अन्तमें उन्हें विवाह करना पड़ा।"

यह सुनकर आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी! दुर्वासाजीने किसके साथ विवाह किया? कृपा करके इस कथाको हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! जब बलिपुत्र साहसिक तथा तिलोत्तमा अपने अपने स्थानको चले गये, तो मुनि उसी विषयको सोचने लगे। उन्होंने दोनोंको मिथुन धर्ममें देखा था। उनके भी चित्तमें आया हम भी विवाह करें। मुनि तो सत्य सङ्कल्प थे तुरन्त एक और्व ऋषि अपनी युवती कन्याको लेकर आ पहुँचे। महामुनि और्व ब्रह्माजीकी ऊरुसे उत्पन्न हुए थे। उनकी जानुसे एक कन्दली नाम्नी कन्या उत्पन्न हुई थी। जब वह कन्या युवावस्थापन्न हुई तो उसने महामुनि दुर्वासाकी तपस्याकी बड़ी ख्याति सुनी। उसने निश्चय कर लिया, यदि मैं विवाह करूँगी, तो दुर्वासा मुनिसे करूँगी। वह निरन्तर दुर्वासा मुनिका ही ध्यान करती रहती थी। ध्यानसे जब भगवान वशमें हो जाते हैं, तो अन्य जीवोंकी तो क्या कथा। तन्मय होकर एकाग्र चित्तसे जिसका ध्यान किया जाय उसपर उसका अवश्य प्रभाव पड़ेगा, इस जन्ममें नहीं तो जन्मान्तरमें उसकी प्राप्ति अवश्य होगी।

महामुनि और्वको कन्याके साथ देखकर दुर्वासाजीने उठकर मुनिका स्वागत-सत्कार किया। दोनों ओरसे कुशल प्रश्न होनेके अनंतर दुर्वासाजीने मुनिसे आनेका कारण पूछा। मुनिने कहा—"यह मेरी अयोनिजा त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या है। इसमें सब गुण ही गुण हैं एक इसमें अवगुण है, यह कटुभाषिणी है। यह

आपको अपना पति बनाना चाहती है। यदि आप इसके कटु वचनोंको सहन कर लें, तो इसके साथ विवाह करके इसकी इच्छाको पूरी करें।"

मुनिने पहिले तो ऊपरके मनसे नाहीं-नूहीं की, किन्तु अंतमें कह दिया—"अच्छी बात है कोई बात नहीं इसके सौ अपराधों को मैं क्षमाकर दिया करूँगा। सुन लूँगा इसकी कड़वी बातोंको।"

विवाह हो गया। अब वह दुलहा दोनों एकसे मिल गये। दुर्वासा भी क्रोधी और वह भी कटुभाषिणी होने लगा महाभारत। मुनि तो सहते रहे, किन्तु सहनेकी भी कोई सीमा होती है। मुनि अब गृहस्थी हो गये थे. तप-फप तो छोड़ दिया। गृहस्थी को बात बातमें स्त्रीसे सम्मति लेनी होती है। ये जब भी बोलें—तभी वह इन्हें काटने दौड़ी। मुनिने सोचा—"अच्छे फंदेमें फँसे' परन्तु क्या करते। सौ अपराध नित्य सहनेकी ससुरसे प्रतिज्ञाकर चुके थे। इसलिये मन मारकर सहते गये। एक दिन सौ से अधिक अपराध हो गये। मुनि अपने क्रोधको न रोक सके, शाप देकर उसे भस्मकर दिया। कन्दली बिचारी मर गयी।

शिशुरूपमें श्रीमन्नारायण प्रकट हुए उन्होंने वर दिया—"यह कन्दली पार्वती लक्ष्मीकी अंश थी. अपने रूपमें मिल गयी। यह कल्प कल्पमें उत्पन्न हुआ करेगी। इसके एक अंशसे पृथिवीमें कदलीका वृक्ष होगा। जो कदली सुख देनेवाली, शुभदा, फलदा, कान्ता, सकृत सूता तथा सुदुर्लभा समझी जायगी।'

उसी समय कन्दलीकी साड़ी योग प्रभावसे उड़कर और्व मुनिके ऊपर पड़ी। अपनी पुत्रीकी साड़ी देखकर ध्यान लगाकर वे सब बात समझ गये और दुर्वासा मुनिके समीप आये। दुर्वासाजी ससुरको देखकर सटपटा गये। दोनों ओरसे कहा-सुनी हुई। अन्तमें ससुरने शाप दिया—"जैसे मेरी पुत्रीको मार

कर तुमने मेरा अपमान किया है, उसी प्रकार तुम्हारा भी अपमान एक राजर्षिके द्वारा होगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामुनि और्वके ही शापका यह परिणाम हुआ, कि अत्रिपुत्र शङ्करावतार दुर्वासाको राजर्षि अम्बरीषके पैरों आकर गिरना पड़ा और एक वर्ष तक सब लोकोंमें भयभीत होकर मारे मारे फिरना पड़ा। यह मैंने अति संक्षेपमें धेनुकशाप और दुर्वासा विवाहकी कथा सुनायी। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।"

शौनकजीने कहा—"हाँ, तो धेनुकासुरको मारकर भगवान् ने क्या किया? धेनुकासुरकी कथाको पूरी कीजिये।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है अब मैं धेनुकासुरकी कथाको ही पूरी करता हूँ।"

छप्पय

अभय बने कामान्ध अत्रिसुत नहीं निहारे।
समुझि तिन्हें निर्लज्ज होहु खर वचन उचारे॥
सुरवनिता बनि बानसुता ऊपा धरनीपै।
सुनत शाप मुनि परे पैर बिलखैं करनीपै॥
पुनि मुनिवरने वर दयो, कृष्ण कृपा सद्गति लही।
भये मुक्त हरि संगतैं, धन्य कथा धेनुक कही॥

धेनुक वधान्तर व्रजमें प्रवेश

(६१६)

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह—
वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिम् ,
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्समेताः ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १५ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

इत धेनुकबध सुनत कुपित खर दौरे आये ।
बन्धु विघाती राम श्यामपै बहुत रिस्याये ॥
पकरे दोनों टांग खरनिकूँ मारि गिरावें ।
मारि मारिके फेंकि ताल तरुवरनि हलावें ॥
सकल कर्यो बन खर रहित, वृन्दावन हरि चलि दये ।
आवत मुरलीधर सुने, नर नारी हरषित भये ॥

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! व्रजमें प्रवेश करते समय जिन भगवान्‌की अलकावली गौओं की पद्धूलिसे धूसरित हैं, जिनके मस्तकपर मयूरपुच्छ और वन्यप्रसून सुशोभित हैं, जिनकी कमनीय कटाक्षभङ्गी और मनोहर मुसकान से अद्भुत शोभा है, जिनकी विरुदावलीका बखान ग्वालबाल पीछे-पीछे करते आ रहे हैं, जो मधुर मुरली को बजा रहे हैं, ऐसे भगवान् के दर्शनार्थ उत्कंठित नेत्रोंवाली गोपिकाएँ दर्शनों की अभिलाषासे झुंडकी झुंड व्रज के बाहर आयीं ।"

सम्मुख रहनेपर पलक मारनेका जो दर्शनोंमें व्यवधान होता है, वह भी जब असह्य प्रतीत होता है, तो जो दिनभर वनमें जाकर गौएँ चराते हैं, उनके दिनका वियोग कितना असह्य होता होगा, उस वियोगके समयको वे व्रजवनिताएँ कैसे काटती होंगी, इसका अनुभव स्नेहहीन प्राणी कैसे कर सकते हैं। अत्यन्त प्रतीक्षाके अनन्तर चिरवियोगके पश्चात् जो संयोग होता है, वह कितना सुखद आनन्दयुक्त होता है, उसके बिना वियोगिनी बने अनुभव किया ही नहीं जा सकता। व्रजवनिताओंके लिये वनसे लौटनेपर गोष्ठमें प्रवेश करते समय श्यामके दर्शन नित्य नये नये ही दिखायी देते थे। नित नवाइवान उन दर्शनोंको पाकर बड़भागिनी कृष्ण दर्शनानुरागिनी व्रजाङ्गनाएँ धन्य बन जातीं, कृतार्थ हो जातीं। श्यामसुन्दरकी लौटते समय की मुरलीध्वनि सुनकर निहाल हो जातीं, आत्मविस्मृत बन जातीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संकर्षणावतार भगवान् बलरामने लीला ही लीलामें उस धेनुकासुरको मार गिराया। उन जगत्पति शेषावतार अनन्त प्रभुके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी। सम्पूर्ण विश्व उनसे ही उत्पन्न होता है उन्हींमें स्थित रहता है और अन्तमें उन्हींमें विलीन भी हो जाता है। कंकण कुण्डलादिमें कनकके समान, घट सरावादिमें मृत्तिकाके समान, हाथी घोड़ा ऊँट बछेरा आदि शक्करके खिलौनोंमें शर्कराके समान तथा पटमें तन्तुके समान, जो इस विश्वमें व्याप्त हैं, सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड जिनमें ओतप्रोत हो रहा है, उन शेष प्रभुके लिये तुच्छ गदहेको मारना केवल खेलमात्र है।

धेनुकका वध सुनकर उसके अन्य भाई बन्धु अत्यंत कुपित होकर रेंकते हुए राम श्यामके ऊपर बड़े वेगसे लातोंको चलाते हुए दौड़े। श्रीबलदेवजी तथा श्यामसुन्दर दोनों ही सुमेरु और

अंजनके दो शिखरोंके सदृश अविचल भावसे खड़े थे। जो भी गधा सम्मुख आता, उसीके पैर पकड़कर घुमाकर दूर फेंक देते। उस समयका दृश्य दर्शनीय था। मरे हुए गधे इतस्ततः मुँह बाये पड़े हुए थे। उनके वेगसे फेंकनेसे बहुतसे बड़े-बड़े लम्बे-लम्बे ताड़के वृक्ष टूट-टूटकर गिरे हुए थे। उनके बड़े बड़े लाल-लाल फलोंसे पृथिवी रक्तरंजित-सी प्रतीत होती थी। ताड़के वृक्षोंसे जो रस निकलता था। उस ताड़ीकी गन्धसे वहाँका वायुमंडल गंधयुक्त बन गया था। मरे हुए गर्दभोंके शरीर, टूटे हुए तालोंके वृक्ष, भाँति-भाँतिके कच्चे पक्के फल, ये सब ऐसे प्रतीत होते थे, मानों मेघमालासे आच्छादित आकाशमंडल सुशोभित हो रहा हो।

देवताओंने देखा दयासागर देवकीनन्दनने दैत्यराज धेनुकको तथा उसके जाति कुलवालोंको परलोक पठा दिया, तो वे सब परम प्रमुदित होकर दोनों प्रभुओंपर पुष्पोंकी वृष्टि करने लगे। तथा शंख, दुन्दुभि, मृदंग तथा पणवादि वाद्योंको बजाने लगे। व्रजवासी बालकों, वृद्धों तथा युवकोंके हर्षका ठिकाना नहीं था। सबके सब उन पके-पके तालके फलोंको खानेके लिये समुत्सुक थे, किन्तु धेनुकके कारण खा नहीं सकते थे। अब तो उस वनमें सबका स्वच्छन्द स्वराज्य हो गया, जो चाहता वहीं जाकर इच्छानुसार फल खा सकता था। पशुगण जाकर उसमें घासको सुखपूर्वक चर सकते थे।

आज गोपोंने पेट भर-भर कर तालके पके-पके फल खाये। सबका चित्त भर गया, खड़ी-खड़ी डकारें आने लगीं, सबने कहा—"कनुआ भैया! अब चलो चलें। भगवान् भुवन भास्कर अब अस्ताचलमें प्रस्थान करनेके लिये व्यग्रसे बने प्रतीत होते हैं, हम लोग भी अपने-अपने घर चलें।"

सखाओंकी ऐसी बात सुनकर बलदेवजीके सहित श्यामसुन्दरने गौओंको हाँका। लाखों गौएँ मन्थर गतिसे व्रजकी ओर चलने लगीं उनके पीछे-पीछे बाँसुरीको बजाते, सखाओंसे बतराते, मन्द मन्द मुस्कराते, सबको हँसाते, वनकी शोभा दिखाते आनन्दकन्द भगवान नन्दनन्दन जा रहे थे। उस समय की उनकी शोभाको निरखकर शोभा भी सहमकर सकुचा जाती।

जिनके दोनों नयन विकसित कमलके सदृश हैं ऐसे पुण्य श्रवण कीर्तन भगवान् गौओंके पीछे-पीछे गोष्ठमें प्रवेश करने लगे। बाँसुरी बजानेसे उनके कपोल झलमल-झलमलकर रहे थे। गौओंके सहस्र-सहस्र खुरोंसे रज उड़ रही थी। वह गोपीजनवल्लभ व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरके अलकोंपर, पलकोंपर, कपोलोंकी झलकोंपर उड़कर पड़ रही थी धूल धूसरिताङ्ग माधवके मयूरमुकुटमें स्थान-स्थानपर वन्यपुष्प खुरसे हुए थे। इससे उनकी शोभा विचित्र ही हो रही थी। जैसे सुरापी बन्द दुकानके खुलनेकी प्रतीक्षामें उत्सुकतापूर्वक इधरसे उधर चक्कर लगाते रहते हैं, उसी प्रकार दिन भरके विरहतापसे सन्तप्त दर्शनों की प्यासी व्रजाङ्गनाएँ उनके आगमनकी प्रतीक्षामें स्नेहभरित हृदयके भारको कठिनतासे थामे हुए खड़ी रहती थीं। जब श्याम सुन्दर दिखायी दे जाते, तो मानो उनकी सब साधें पूरी हो गयीं। जैसे अत्यन्त बुभुक्षित सम्मुख स्वादिष्ट अन्न आनेसे अति शीघ्र-शीघ्र खाने लगता है, जैसे धूपमें आया हुआ चिरकालका पिपासित प्याऊपर आकर पस भर-भरकर पानी पीने लगता है, उसी प्रकार अपलक भावसे वे व्रजाङ्गनाएँ व्रजविहारीकी रूपमाधुरी का पान करने लगीं। उनके भ्रमरके सदृश चञ्चल नेत्र श्रीकृष्ण मुखकमल मकरन्दमें मानों चिपकसे गये। उनकी वाणी रुद्ध थी, अनुरागकी बाढ़में वाणी व्यर्थ बन जाती है, उसमेंसे एक शब्द भी नहीं निकलता। वे अपने सलज्ज हास्यपूर्ण विनय

प्रणय कटाक्ष रूप उपायन द्वारा श्यामसुन्दरका सत्कार कर रही थीं। गौओंको खरकमें बाँधकर बल सहित श्याम भीतर माता यशोदा और रोहिणी देवीके समीप गये।

वे पुत्रवत्सला माताएँ अपने प्राणोंसे भी प्यारे पुत्रोंको वनसे आया हुआ देखकर अधीर-सी हो गयीं और नेत्रोंके नीरसे उनके केशोंपर मानों अभिषेक कर रही हों, उनकी गोरजको धो रही हों, इस प्रकार भाव प्रदर्शित करती हुई वे बार-बार उन्हें हृदयसे लगाकर अपने दिनभरके विरहतापको शान्त करने लगीं। अपने अञ्चलसे उनकी गोरजको पोछती हुई माताएँ समयानुसार यथेष्ट आशीर्वाद देने लगीं। मेरे लाला शीघ्र ही बड़े हो जायँ, ब्याह हो जाय, बहू आ जाय।"

इस प्रकार प्यारऔर आशीर्वादके अनन्तर उनके श्रीअङ्गको माताओंने स्वयं स्वच्छ किया। उनमें तेल उबटन लगाकर सुन्दर सुगंधित स्वच्छ सलिलसे उन्हें स्नान कराया, धुले हुए सुन्दर वस्त्र पहिनाये, फिर सुगंधित दिव्य मालाओंसे तथा इत्र चंदनादि से उनके शोभायुक्त शरीरको और भी सुशोभित किया। माताओं ने न जाने कितने प्यारसे सुन्दर-सुन्दर षड्रस पूर्ण पदार्थ बनाये थे, उन्हें अपने बालकोंको लाड़ प्यारपूर्वक परोसा दिनभर स्वच्छ वायुमें वन उपवनोंमें गौओंके पीछे-पीछे घूमनेसे भूख भी बहुत लगी हुई थी, माताओंके स्नेह सत्कार और आग्रह पूर्वक परसे हुए सुस्वाद अन्नसे बुभुक्षा पियास, शोक, मोह तथा जरा मृत्यु इन षड्ऊर्मियोंसे रहित होनेपर भी दोनोंने अपनी बुभुक्षाको शान्त किया। तदनन्तर बगुलेके पंखोंके समान-दुग्ध फेनके समान, कर्पूरके समान सुन्दर स्वच्छ, सुखकर शय्यापर श्यामसुन्दर अपने अग्रजके साथ शयन करने गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार राम श्यामने धेनुक तथा उसके अन्य साथी असुरोंका वध करके उपवनको भयरहित

बना दिया और व्रजमें आकर सब व्रजवासी नर-नारियोंको सुख दिया। अब आगे जैसे कालियनागका दमन किया, उस कथा प्रसङ्गको मैं आपके सम्मुख कहूँगा।"

छप्पय

साँझ समय श्रीश्याम सखनि सँग मुखतैं आवत।
मन्द-मन्द मुसकान मधुर स्वर वेनु बजावत॥
अलकनि पलकनि और कपोलनिकी झलकनिपै।
गोरज छाई मुकुट पीतपर लकुट लटनिपै॥
करि प्रवेश व्रजमहँ सकल—विरह ताप सबको हर्यो।
भोजन करि दाऊ सहित, श्याम शयन शय्या कर्यो॥

कालियदमन प्रस्ताव

(६२०)

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन्सर्वं तमुदवासयत् ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १६ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

लिये ग्वाल अरु गाय गये यमुनातट ब्रजपति।
आज न सँग बलराम ग्रीष्म ऋतु घाम विकट अति॥
कालिय ह्रदके निकट प्यासतैं सब घबराये।
करि विषयुत जलपान ग्वाल गो प्रान गँवाये॥
अमृतमयी लखि दृष्टितैं, जीवित प्रभु ने सब करे।
करी कृपा करुनायतन, दुःख आश्रितनिके हरे॥

सबके साथ श्यामसुन्दर सदा विहार कर रहे हैं। वे अपने आश्रितोंसे दूर रह ही नहीं सकते। उनके न रहनेसे किन्हींका अस्तित्व ही नहीं। श्यामसुन्दरके साथ रहते हुए भी यह जीव विषयरूपी विषका स्वेच्छासे पान कर लेता है। संसारी सन्तापोंसे संतप्त भोगेच्छारूपी पिपासासे व्याकुल हुआ जीव, अनित्य क्षण

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीयमुना जी के जलको कालियनाग के विषसे दूषित हुआ देखकर उसकी विशुद्धि करने की इच्छा से उस सर्पको वहाँ से हटा दिया।"

भंगुर विषयोंको अपनी पिपासाके शान्त होनेका साधन समझ कर बिना भगवान्से पूछे उन्हें पेटभरके पी जाता है। अपना ले जाता है, पीछे दुःख पाता है, विषके प्रभावसे मर जाता है। जन्म मृत्युके चक्करमें फँस जाता है। उस विषयरूप विषको पी लेनेके अनन्तर उससे बचनेका एकमात्र उपाय है, श्रीकृष्णकी कृपामयी अमृत दृष्टिकी वृष्टि। श्यामसुन्दर हा कृपाक दृष्टिसे देखकर जीवको बचाना चाहें तो बच सकता है, अन्यथा विषय-विषप्रिय प्राणीकी कोई अन्य चिकित्सा नहीं, उपचार नहीं, औषधि नहीं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! वृन्दावनसे कुछ दूरपर यमुनातट पर एक ह्रद था। वर्षाके दिनोंमें तो वह यमुनाजीकी धारामें ही आ जाता किन्तु वर्षाके पश्चात् वह यमुनाजीसे कुछ पृथक् सा प्रतीत होता। वैसे उसका जल यमुनाजीमें आता था, यमुनाजीका जल उसमें जाता था। वह यमुनाजीका ही ह्रद था। उसमें एक कालिय नामक नागोंका राजा सर्प रहता था। वह साधारण सर्प नहीं था। नाग एक उपदेवोंकी संज्ञा है, ये पृथिवीके सात पातालोंमें नीचे रहते हैं। इनके पास बड़ा बड़ी मणियाँ होती हैं, उन्हींके प्रकाशसे इनके भवन प्रकाशित होते हैं, वहाँ पातालमें सूर्यका प्रकाश नहीं रहता। पहिले कुछ नाग पृथिवीपर भी रहते थे अब तो जैसे ऋषि, मुनि, असुर आदि पृथिवीको छोड़कर चले गये, वैसे ही नाग भी चले गये। ये वैसे सर्पके आकारके होते थे—किन्तु ये इच्छानुसार रूप बना सकते हैं, देवताही जो ठहरे। इनकी स्त्रियाँ मानवी स्त्रियोंके सदृश होती थीं। इनके मुखमें विष रहता था और माथेपर मणियाँ। कालियनागके सहस्र फण थे। वह बड़ाबली था, अपने बलके मदमें इसने पक्षियोंके इन्द्र श्रीगरुड़जीसे भी टक्कर ली किन्तु जैसे घास गौसे टक्कर नहीं ले सकती, उसी प्रकार यह उनसे टक्कर न लेसका। यह कालियनाग वृन्दावनके समीप

यमुनाजीके ह्रदमें रहता था। इसके वहाँ रहनेसे वह ह्रद इसके नामसे विख्यात हो गया। उसे सब कालियदह कहते थे। वह कालियनाग उस ह्रदमें अपना एक विशाल भवन बनाकर अपने स्त्री बच्चोंके सहित सुखपूर्वक रहता था। उसके विषसे उस ह्रदका समस्त जल विषपूर्ण बन गया था। इसीलिये कोई उसके जलको नहीं पीता था। उस ह्रदमेंसे जल बह बहकर यमुनाजीमें जाता था। अतः वहाँ यमुनाजीका जल भी विषैला हो गया था। कालियनागके भयसे वहाँ कोई पशु पक्षी भी पानी पीने नहीं जाते थे। औरकी तो बात ही क्या, आस पासके वृक्ष भी उसके विषसे जल गये थे। एक कदम्बका वृक्ष शेष था।

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! जब विषसे सभी वृक्ष जल गये, तो वह कदम्ब कैसे बच गया?"

सूतजीने कहा—"महाराज! जब गरुड़जी स्वर्गसे अमृतका घट लेकर नागोंके कहनेसे आये थे, तब वे इस कदम्बपर कुछ देर विश्राम करने बैठे थे। उसी समय उसपर कुछ अमृतके बिन्दु पड़ गये थे। इसी कारण विषका प्रभाव उसपर नहीं पड़ा। मुख्य बात तो भगवन्! यह कि उस वृक्षपर भगवान् नन्दनन्दनको क्रीड़ा करनी थी, सृष्टिका कोई कार्य उनकी प्रेरणा के बिना नहीं होता। जो भगवान्को क्रीड़ाका साधन है, उसका उनकी इच्छासे ही जन्म और विनाश होता है।

कंस भी इस बातको जानता था, कि कालिय ह्रदमें जो जाता है, उसकी मृत्यु हो जाती है। उसने सोचा—"कालिय ह्रदमें कुछ विषयुक्त कमल भी हैं, वे कालियके विषसे विनाश न होकर और बढ़ते हैं क्योंकि वे भी विषयुक्त हैं। मैं व्रजराज नन्दसे उस ह्रदके कमल मँगाऊँ। श्रीकृष्णको अपने बल पौरुषका बड़ा गर्व है। जब नन्द ह्रदसे कमल लानेका प्रस्ताव गोपोंके सम्मुख रखेंगे। तो, सबसे पहिले कृष्ण ही बोल उठेगा कि मैं

लाऊँगा।" उसने मेरे बहुतसे असुरोंको मार दिया है, इससे उसे बड़ा घमंड हो गया है। वह जायेगा तो अवश्य ही मारा जायगा।" यही सब सोचकर उसने नन्दजीके पास संदेश भेजा। नन्दजीने।" अन्यमनस्क भावसे मथुरेश कंसका संदेश सुन लिया और संदेश वाहकको विदा किया।

एक दिन नंदजी एकान्तमे यशोदा मैयासे कह रहे थे—"सुनती है? यह कंस हमारे न जाने क्यों पीछे पड़ा है। आज उसने कालिय ह्रदके कमल भेजनेका संदेस भेज दिया है। यदि कृष्णके कानोंमें यह बात पड़ जाय, तो वह बड़ा हठी है, मानेगा नहीं, कालिय ह्रदमें अवश्य जायगा। उसका जल विषसे ऐसा खौलता रहता है, कि जो उसका स्पर्श करता है, वही मर जाता है, अतः इस बातको किसीसे कहना मत। जो होगा सो देखा जायगा, हम कह देंगे—"वहाँ अपने प्राणोंको देने कौन जाय।"

सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण शय्यापर पड़े-पड़े अपने पिता माता की बातोंको सुन रहे थे। उन्होंने उसी समय निश्चय किया, कि मैं कल कालिया ह्रदमें जाऊँगा, कालियनागका दमन करूँगा और वहाँसे कमलोंको लाऊँगा।" भगवान् ऐसा निश्चय करके सो गये।

प्रातःकाल उठकर उन्होंने नित्यके अनुसार ग्वालबालोंको इकट्ठा किया, गौओंको खिरकसे खोला और वनको ओर चल दिये। आज उन्होंने अपने बड़े भाई बलदेवजीको साथ नहीं लिया। वे जानते थे, बलदाऊको साथ लेनेसे यह करुणापूर्ण क्रीड़ा साङ्गोपाङ्ग न उतर सकेगी। इसीलिये किसी उपायान्तरसे आज वे बलदेवजीको व्रजमें ही छोड़ गये। आज उन्होंने गोपोंसे कहा—"देखो भाई आज अपने लोग इधर गौएँ चराने चलेंगे।"

ग्वालबाल तो श्रीकृष्णके वचनोंमें ननु नच करना जानते ही

नहीं थे। उन्होंने तो अपनी समस्त इच्छाएँ श्रीकृष्णको ही समर्पित कर रखा थीं, अतः उन सबने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'अच्छी बात है, चला जाय, इधर ही।' यह कहकर वे गौओंको बढ़ाते हुए कालियह्रदकी ही ओर चले।

ज्येष्ठ वैशाखका महीना था, कड़ाकेकी धूप पड़ रही थी. गौएँ चरते चरते शनैःशनैः चल रही थीं। चलते चलते मध्याह्न के समय सभी ग्वालबाल गौओंके सहित कालियह्रद पर पहुँचे। सभी घामसे पीड़ित थे, पिपासाके कारण सभीके कंठ सूखे हुए थे। उन सबने अत्यंत तृषित होनेके कारण वह विष मिश्रित यमुना जल पान कर लिया।

भवितव्यताके वशसे सबके सब इस बातको भूल ही गये. कि यह विष मिश्रित जल है, उस जलके पान करते ही गौएँ तथा समस्त ग्वाल बाल प्राणहीन होकर जलके किनारे ही मृतक होकर गिर गये।

भगवान्‌ने देखा, यह तो अद्भुत घटना हो गयी। जिनका मैं ही एक मात्र ईश्वर हूँ, उन मेरे आश्रितोंकी विषयुक्त जलके पानसे मृत्यु हो जाय, तो मेरी शरणागतवत्सलताको धिक्कार है। भगवान् तो योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं, उनके लिये तो कोई बात असंभव या कठिन है ही नहीं। उनकी तो दृष्टिमें ही सृष्टि है। जहाँ उन्होंने मृतक ग्वालबाल तथा गौओंपर अपनी अमृत वर्षिणी दृष्टि घुमायी, तहाँ, वे सबके सब पूर्ववत् जीवित होकर सब क्रियाएँ करने लगे। जैसे कोई निद्रासे जागकर इधर उधर. देखने लगे, उसी प्रकार वे स्मृति लाभ होनेपर परस्परमें एक दूसरेको आश्चर्य चकित भावसे निहारने लगे। वे तो भगवान के प्रभावको जानते ही थे, उन्हें निश्चय हो गया, कि हम जो विषयुक्त जल पान करके मर गये थे, ऐसे हम सब मृतकोंको मदनमोहन माधवने ही पुनः जीवित कर दिया है। वे सब

श्रीकृष्णकी ओर कृतज्ञता भरी दृष्टिसे देखने लगे। कुछ ही कालमें वे भगवान्‌की योगमायाके प्रभावसे इन सब बातोंको भूलकर अब वे उन्हें अपना सखा ही समझकर क्रीड़ा करने लगे। भगवानने निश्चय कर लिया कि आज मुझे इस कालिय नागको यहाँसे निकालना है। इसने यहाँके समस्त जलको वायु मंडलको दूषित बना रखा है। इस विदेशीको जहाँसे यह आया है वहीं भेजकर मैं इस स्थानको निरापद और सर्वगम्य बना दूँगा। यहाँ यमुना किनारे इस विषैले जन्तुका रहना उचित नहीं।

यह सुनकर शौनकजीने पूछा— सूतजी! यहाँ कालिय नाग कौन था? पहिले कहाँ रहता था? वह यहाँ यमुनाजीके ह्रदमें किस कारण आकर बस गया, कृपा करके इन सभी बातोंको हमें बताइये। इस विषयमें जो भी कथा हो हमें सुनाइये"

यह सुनकर सूतजी बोले— अच्छी बात है महाराज! पहिले मैं कालियनागके वृन्दावन आनेकी कथाको ही सुनाता हूँ। आप सब इस पुण्य प्रसङ्गको समाहित चित्तसे श्रवण करें"

छप्पय

रमनक नामक द्वीप नाग सब बास करहिं जहँ।
विष बलतें उनमत्त नाग कालियहु रहे तहँ॥
गरुड़ आइ कछु खाइ कछुनिकूँ मारि गिरावें।
विनतासुत को कृत्य निरखि अहि अति भय पावें॥
सब नागनि सम्पति करी, सन्धि गरुड़जीतें करो।
रोकि जाति विध्वंसकूँ, सब सर्पनिको भय हरो॥

वृन्दावनमें कालियनागके आनेकी कथा

(६२१)

नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः ।
कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १७ अ० १ श्लो०)

छप्पय

अरुणानुजके निकट सर्प सब मिलिकें आये ।
प्रति मावस बलि देहिं सबनि मृदुबचन सुनाये ॥
हरिवाहन ने बात अहिनिकी सब स्वीकारी ।
पर्व पाईकें सर्प आहिँ सब बारी-बारी ॥
कालिय अति बलवीर्य मद, युक्त भयो नहिँ देहि बलि ।
स्वय गरुड बलि खाइकें, पहिलेही खल जाहि चलि ॥

धनमद बलमद तथा अधिकार आदिके मदमें भरकर प्राणी बड़ोंका अपमान करता है, अपनेसे बड़ोंसे भी भिड़ जाता है और अन्तमें उसका पराभव होता है। यदि किसी भावसे भी जीव साधु शरणमें आजाय, उनके द्वारपर पड़ जाय, तो उसपर

---

*राजा परीक्षित् श्रीशुकदेवजी से पूछते हैं—"भगवन् ! कालियनागने नागों के निवासस्थान रमणकद्वीपको क्यों त्याग दिया । उस अकेले ने ही गरुड़जी का ऐसा कौन सा अपराध किया था ।

भगवान्‌की कभी न कभी कृपा अवश्य ही होगी। संतोंका समागम, संतोंके समीप निवास कभी व्यर्थ नहीं जाता, स्वभाव न भी छूटे और संकल्प-पूर्वक धाममें निष्ठा रखकर सन्तोंका सामीप्य न छोड़े, तो कृपालु कृष्ण अपने आप आकर, उसके मदसे उन्नत मस्तकको अपने पाद-प्रहारोंसे मर्दन करके नत बना देंगे। भुवनपावन अपने पाद पद्मोंके स्पर्शसे, खलको भी विश्ववन्दित तथा पुण्यश्लोक बनादेंगे। संत पुरुषोंका सान्निध्य क्या-क्या नहीं कर सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसे आपने मुझसे नागराज कालियकी कथाके सम्बन्धमें प्रश्न किया है, उसी प्रकार मेरे गुरुदेव भगवान् शुकसे भी महाराज परीक्षित्‌ने पूछा था, कि भगवन्! कालिय रमणकद्वीपको छोड़कर यहाँ कालिय दहमें आकर क्यों रहने लगा? गरुड़जीका उसने कौन-सा अप्रिय कार्य किया? इसपर मेरे गुरुदेवने जो कथा सुनायी थी उसे ही मैं यहाँ सुना रहा हूँ।

कश्यपजीकी पत्नी विनता और कद्रूमें सूर्यके घोड़ोंकी पूँछको लेकर जो वैर भाव हुआ और गरुड़जीने स्वर्गसे अमृत लाकर स्वयं अपनेको और अपनी माताको नागोंके दासत्वसे मुक्त कर लिया, यह कथा तो मैं पीछे कह ही चूका हूँ। तभीसे गरुड़जीमें और नागोंमें भोक्ता और भोज्यका सम्बन्ध हो गया। जैसे गौका भोजन तृण है वैसे ही विष्णुवाहन गरुड़जीका भोजन सर्प है। वे जहाँ नागोंको देखेंगे खा जायँगे। इस सागरके अन्तमें जो क्षीर समुद्र है उसके बीचमें एक रमणक नामक द्वीप था, उसमें नागोंकी ही बस्ती थी। बहुतसे नागवंशीय उपदेव ही उस द्वीपमें वास करते थे। गरुड़जी वहाँ आते, कुछको खाते कुछको मारकर व्यर्थ ही फेंक जाते। इससे नागोंको बड़ा क्लेश हुआ। नागोंने एक पंचायत की। सबोंने कहा—"गरुड़जी हमें बिना खाये तो

मानेंगे नहीं क्योंकि हम ही उनके आहार हैं। जब उन्हें खाना ही है, तो वे एक व्यवस्थासे खायँ। जब भी वे यहाँ आते हैं। कुछको खा जाते हैं, कुछको व्यर्थ ही मारकर फेंक जाते हैं। इसमें उन्हें भी व्यर्थ श्रम करना पड़ता है, हमारे भी कुलका संहार होता है, अतः श्रेष्ठ तो यह है, कि हम ही पारी-पारीसे स्वयं उनके लिये नियत तिथिपर आहार भेज दिया करें, इससे हमारे कुलका नाश भी बच जायगा, गरुड़जीका काम भी हो जायगा। इस प्रस्तावका पंचायतमें समुपस्थित समस्त नागोंने हृदयसे अनुमोदन समर्थन किया। सर्व सम्मतिसे यह निश्चय मान्य हुआ। एक शिष्ट मंडल जिसमें वृद्ध ज्ञानी और अनुभवी नाग थे। वह गरुड़जीकी सेवामें समुपस्थित हुआ! गरुड़जीने शिष्ट मंडलकी सभी बातें बड़ी शिष्टतासे धैर्यके साथ श्रवण की और अन्तमें उनके प्रस्तावको सुनकर कहा—"अच्छी बात है, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं। आप एक समय निश्चित करलें।"

नागोंने कहा—"हम प्रत्येक अमावस्याको अमुक वृक्षके समीप आपको पारी-पारीसे बलि भेजा करेंगे। उसमें आपके लिये बहुतसी उपहारकी वस्तुएँ हुआ करेंगी। एक नाग उन्हें लेकर आया करेगा। आप उन वस्तुओंको भी खा लिया करें और उस एक नागको भी खालें। उसके अतिरिक्त आप अन्य किसी नागपर प्रहार न करें! कार्तिकी पूर्णिमाके अवसरपर हम पुष्कर क्षेत्रमें जाकर आपकी बड़ी भारी वार्षिकी पूजा किया करेंगे, उसमें आपको बलि भेंट दिया करेंगे। आप हमपर प्रसन्न रहें।"

गरुड़जीने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"आप लोग अपनी प्रतिज्ञाको पूर्ण करते रहेंगे, तो मैं कभी आपसे न बोलूँगा।"

यह सुनकर सभी नाग गरुड़जीको प्रणाम करके चले आये, उस दिनसे वे पारी-पारी पर्व-पर्वपर गरुड़जीको बलि भेंट और

एक-एक नाग भेजते रहे। गरुड़जी प्रसन्नतापूर्वक आते और बलि भेंटको पाकर चुपचाप लौट जाते। सब अपनी अपनी पारीपर प्रसन्नता-पूर्वक भेंट दे देते थे। इन नागोंमें एक गणनायक कालिय नाग भी था। यह बड़ा बली था। इसका विष बड़ा उल्बण था, सहस्र इसके सिरपर फण थे, यह अपने सम्मुख किसीको कुछ समझता ही नहीं था। जब इसकी पारी आयी और वृद्ध नागोंने इसे जानेको कहा, तो यह अहंकार-पूर्वक बोला—"मैं गरुड़-फरुड़को कुछ नहीं समझता। गरुड़ हमारा क्या कर लेगा। हम नहीं जाते, न उसे बलि भेंट ही देते हैं। यही नहीं अब तुम लोग जो भेंट रखोगे उसे भी हम खा जायँगे, यदि गरुड़ कुछ तीन पाँच करेगा, आँख दिखावेगा, तो हम उसे भी उसका फल चखावेंगे।"

यह नागोंमें सबसे बली था, सबने उसकी बात सुनली! सब जानते थे, यह हठी है किसीकी सुनेगा नहीं इसलिये चुप हो गये! अब कालियके मनमें गरुड़जीके प्रति ईर्ष्या हुई। गरुड़जीने लोगोंसे पूछा। सबने जो बात सत्य थी, वह बता दी। उसे सुनकर गरुड़ जीको कालियपर बड़ा क्रोध आया। अगले पर्वपर वह कुछ प्रथम ही आगये। उन्होंने देखा कालिय बलि खाने आ रहा है। गरुड़ जीने उसे ललकारा। उनकी ललकारको सुनकर कालिय भागा नहीं, वह उनसे युद्ध करनेको उद्यत हो गया और उनका अप-मान करते हुए बोला—"तुम हमसे बलि उपहार लेनेवाले कौन होते हो? भाग जाओ।"

यह सुनकर भगवान्‌के परम प्रिय पार्षद उनके मित्र तथा वाहन गरुड़जी कद्रू पुत्र कालियपर परम कुपित हुए। वे उस विषवीर्य से उन्मत्त नागको मारनेके लिये उसके ऊपर झपटे।

गरुड़जीको बड़े वेगसे अपने ऊपर आक्रमण करते देखकर,

वह अपने दाँतोंसे भयंकर विषको उगलता हुआ उनकी ओर दौड़ा। विष और दाँत ही उसके परमास्त्र थे, इधर गरुड़जीके एक मात्र अस्त्र थे—उनके बड़े बड़े पंजोंके तीक्ष्ण नख। अब होने लगी दोनों ओरसे चटाचट, पटापट सटासट। वह अपनी दो सहस्र कराल जिह्वाओंको लपलपा रहा था। उसके छोटे छोटे चमकीले दो सहस्र नेत्र मानों अग्निकी ज्वालाओंको उगल रहे हों। वह अपने अनेक मस्तकोंको उठाकर गरुड़जीकी ओर बढ़ा तथा अपने विषयुक्त तीक्ष्ण दाँतोंसे उनके अंग-प्रत्यंगमें दंशन करने लगा।

यह देखकर परम प्रचण्ड वेगशाली, उग्रपराक्रमी, भगवान् मधुसूदनके प्रिय पार्षद और वाहन तार्क्ष्यपुत्र भगवान् गरुड़जी ने उस दुरात्मा कद्रूपुत्र कालियको बलपूर्वक अपने शरीरसे पृथक् कर दिया। उसे अपने शरीरसे हटाकर अपने सुवर्णके सदृश वर्णवाले दायें पीत पंखसे अत्यंत रोष पूर्वक उसपर आघात किया। जिन अकेले गरुड़जीका सामना अमृत लाते समय समस्त देवता भी मिलकर नहीं कर सके थे, उनके पंखके आघातको भला वह बेचारा कालिय नाग कैसे सहनकर सकता था। वह मुखसे रक्त वमन करता हुआ बड़े वेगसे उड़ा और यहाँ वृन्दावनमें कालिय ह्रदमें आकर छिप गया। यहाँ तो गरुड़जी आ नहीं सकते थे, अतः इसके प्राण बच गये। गरुड़जी लौट गये।"

इसपर शौनकजीने पूछा—महाराज इस यमुनाजीके ह्रदमें गरुड़जी क्यों नहीं आ सकते थे?"

इसपर सूतजी बोले—"महाराज इस कथाको तो मैं पीछे सुना आया हूँ, इस कुण्डमें भगवान् सौभरि ऋषि तपस्या करते थे। उन्हें मछलियोंसे बड़ा प्रेम था। वे अपनी संतानके सदृश उन

कालको कुण्डके आस पास टहलते थे, तब मछलियाँ अपनी अपनी पूँछोंको उठा-उठाकर उनकी परिक्रमा किया करती थीं। मुनि भी उन्हें खानेकी वस्तु देते। मछलियाँ बहुत बड़ी-बड़ी हो गयी थीं। उनके चमकीले पर धूपमें बड़े ही सुन्दर प्रतीत होते थे। गरुड़जी उसी समय आकाशमें उड़ते रहते। जहाँ किसी मछलीने पूँछ उठायी कि एक झपट्टा मारकर वे उसे अपनी चोंचमें दबाकर उठा ले जाते और प्रेमपूर्वक पेड़पर बैठकर उसे पा जाते।

मुनिने कई बार कहा—"भैया गरुड़! भोजनके लिये इतना बड़ा संसार पड़ा है, तुम चाहे जहाँ पेट भर सकते हो। देखो, ये मछलियाँ मेरी सन्तानके सदृश हैं, मेरे सामने तुम ऐसा अन्याय मत किया करो।" किन्तु गरुड़जी किसकी सुननेवाले थे। जिन दाढ़ोंको मोटी सुन्दर स्वच्छ सरकी मछलियोंका स्वाद लग जाता है, उनके मुखमें उन्हें देखते ही पानी भर आता है। मुनिकी बातपर उन्होंने ध्यान ही न दिया। वे घात पाकर मछलियोंको पकड़ ले जाते।

एक दिन मुनिके सम्मुख ही उन्होंने अपनी इच्छित रुचिके अनुकूल भक्ष्यरूप एक मछलीको पकड़ा। उस समय गरुड़जीको बहुत भूख लगी हुई थी, मुनि मना करते रहे, किन्तु गरुड़जीने उसे चोंचमें दबा ही लिया। वह बहुत बड़ी मछली थी, गरुड़जीकी चोंचमें वह बिलबिलाने लगी, तड़पने लगी और जलसे पृथक् होनेके कारण कुछ ही कालमें वह कालकवलित बन गयी। उसका प्राणहीन शरीर गरुड़जीकी चोंचमें रह गया। उसके प्राण पखेरू अपने प्रिय पानीके वियोगमें परलोक प्रयाण कर गये। वह मत्स्य सभी मछलियोंका राजा था, उसके मर जानेपर सरोवरकी अन्य सभी मछलियाँ तड़पने लगीं। उन सब मछलियोंको अत्यन्त ही दीन और व्याकुल देखकर दया-

वश उस कुण्डमें रहनेवाली मछलियों तथा अन्यान्य जीवोंकी कुशलताके लिये क्रोधमें भरकर महर्षि सौभरिने कहा—"आजसे यदि कभी गरुड़ यहाँ आकर इस सरोवरमें घुसकर किसी मछली या अन्य जीवको पकड़ेगा तो वह मेरे शापके प्रभावसे तुरन्त ही प्राणहीन हो जायगा।"

भगवान् सौभरि श्रीकृष्णभक्त थे, गरुड़जी उनके शापको सुनकर डर गये और तुरन्त मुनिके चरणोंमें प्रणाम करके वहाँ से चले गये। उस दिनसे वे शापके भयसे वहाँ कभी भूलकर भी नहीं जाते थे। उन्होंने जाना ही छोड़ दिया। क्योंकि विषय सम्मुख आ जानेसे चित्त चञ्चल हो ही जाता है। सुन्दर मछलियोंको देखकर कहीं मुँहमें पानी भर आया और झपट्टा मार दिया तो तुरन्त ही प्राणोंसे हाथ धोने पड़ेंगे। इसीलिये वह स्थान गरुड़जीके लिये अगम्य था।"

इसपर शौनकजीने कहा— तब फिर और भी नाग वहाँ जाकर क्यों नहीं रहने लगे।"

सूतजी बोले— एक तो इस शापकी बात सबको विदित नहीं थी। केवल कालिय ही इस रहस्यको जानता था। दूसरे वह ह्रद अत्यंत गंभीर होनेसे अन्य प्राणियोंके लिये दुर्गम था।

कालान्तरमें भगवान् सौभरि तो संसार छोड़कर परम पदके अधिकारी हुए। वह शाप गरुड़के लिये तो बना ही रहा। उससे लाभ उठाया कालियनागने। इसीलिये वह रमणक द्वीपको छोड़कर उस ह्रदमें रहता था और उसीके नामसे वह कालिय ह्रद अथवा कालिय दह इस नामसे विख्यात हो गया। श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्ने कालियका दमन करके उसे वहाँसे निकाल दिया।"

शौनकजीने कहा— सूतजी! हमने कालियके रमणकद्वीपसे वृन्दावन आनेकी कथा तो सुनली अब आप कालियदमनकी ही लीला सुनाइये श्रीकृष्णने किस प्रकार कालियका दमन किया?"

सूतजी बोले "अच्छी बात है, भगवन् ! अब आप कालियदमनकी ही कथा सुनें।

छप्पय

गरुड़ कुपित अति भये दुष्टकूँ दौरि दबायो।
कालियहू भिड़ गयो, बहुत विषवीर्य चलायो॥
जब नहिं लाग्यो दाव भागि काली दह आयो।
सौभरि मुनिके शाप कवचतें प्रान बचायो॥
रहै तहाँ विष वमन करि, जल अपेय सब करि दयो।
मरहिं अचर चर जीव सब, हरि कौतुक अद्भुत कियो॥

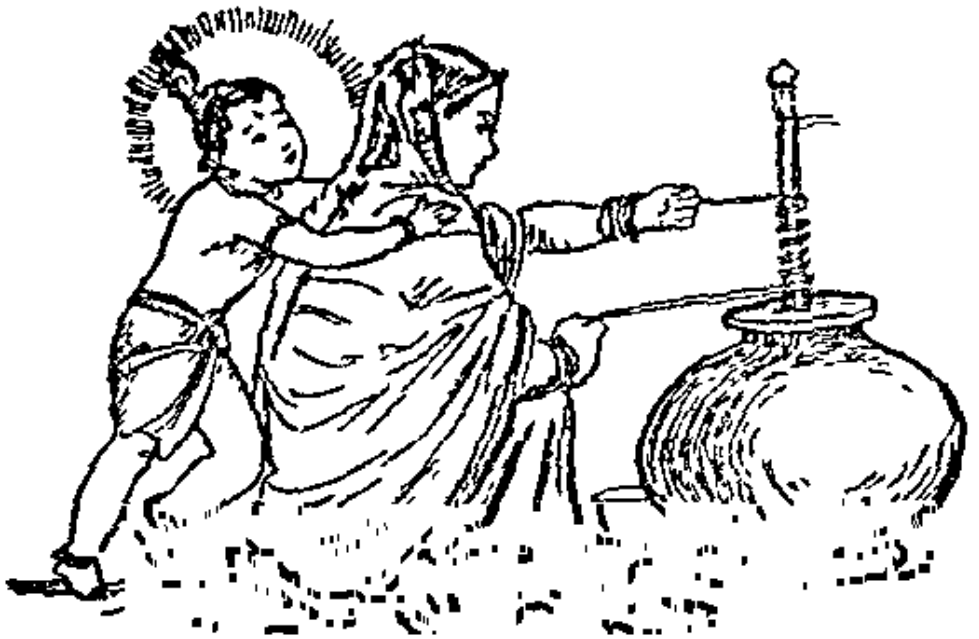

कालियदहमें श्रीकृष्ण कूदे

(९२२)

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः ।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्ग-
मास्फोट्य गाढरसनोन्यपतद्विषोदे ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १६ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

चढ़े कँदबपै कृष्ण कूदि कालीदह माहीं ।
उठि उत्ताल तरंग उछलि जल तटनि डुबाहीं ॥
सागरमहँ जनु तरी करैं डगमग त्यों नटवर ।
नीचे ऊपर उछरि करैं क्रीड़ा विश्वम्भर ॥
निकरि भवनतें अहि लख्यो, शिशु सुकुमार सुहावनो ।
कर, पद, सब अँग अति मृदुल, मुख प्यारो मनभावनो ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जिनका अवतार दुष्टोंका दमन करनेके ही निमित्त हुआ है, उन्होंने प्रचण्ड वेगयुक्त विषकी शक्ति से बलवान् कालियनाग को तथा उसके द्वारा दूषित की हुई यमुनाको देखा। तब वे कमरके फेंटे को कसकर ताल ठोकते हुए एक बहुत बड़े कदम्ब वृक्षपर चढ़कर उसपर से उस विषैले जलवाले हृदमें कूद पड़े।"

कोई प्राणी शक्तिभर अपना पराभव सहन नहीं कर सकता। जब प्राणी अवश हो जाता है तब वह आत्मसमर्पण करता है, तब दूसरोंके सम्मुख नतमस्तक हो जाता है। जब तक कोई छल-से, बलसे, प्रभाव, प्रलोभन तथा प्रेमसे हमें विवश नहीं कर लेता तब तक हम नमते नहीं, दीन नहीं होते, हाथ नहीं पसारते। स्वेच्छासे हीन कौन होता है। श्रीकृष्ण अपनी रूपमाधुरी वेणु-माधुरी तथा लीलामाधुरी से जिनके चित्तको चुरा लेते हैं, अथवा अपने बल पुरुषार्थसे जिन्हें दबा देते हैं वे उनकी शरणमें आ जाते हैं। उनके अपने बन जाते हैं। प्रभु उन्हें अपना-लेते हैं, क्योंकि वे सर्व भूतोंके एकमात्र सच्चे सुहृद् हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सब गौएँ तथा ग्वालबाल जीवित हो गये, तब भगवान वहाँ ग्वालोंके साथ गेंद खेलने लगे। गेंद थी श्रीदामाकी। खेलते खेलते भगवान्‌ने जानबूझकर श्रीदामाकी गेंदको कालिय ह्रदमें फेंक दिया। अब तो श्रीदामाने श्रीकृष्णचन्द्रकी फेंट पकड़ ली और रोषके स्वरमें बोला—"हमारी गेंद दे दे।"

भगवान्‌ने कहा—"भैया! गेंद तो इस कालियदहमें चली गयी। इसमें कालियनाग रहता है, विषैला इसका जल है, घर चलकर मैं तुझे एक नहीं दो गेंद बनवा दूँगा।"

श्रीदामाने कहा—"मुझसे तू चाहे एक बार कहला ले, चाहे सौ बार कहला ले-मुझे अच्छी नहीं चाहिए, मेरी उसी गेंदको ला दे।"

अपने सखाके हृदयमें भगवान्‌ने ही ऐसी प्रेरणा कर दी थी। भगवान्‌ने एक बार उस यमुनाजीके अन्तर्गत कालिय कुंडको निहारा, जिसका जल कालिय के मुखसे निकले विषकी ज्वालासे सदा खौलता सा रहता था। उसमें रहनेवाले जीवोंकी बात तो पृथक् रही, उसके ऊपरसे जो पक्षी उड़ जाते थे, वे भी उसकी

लपटसे झुलसकर उसमें गिर जाते थे। उस ह्रदके जलकी उत्ताल तरङ्गोंको स्पर्श करके बहते हुए आर्द्र समीरके संसर्गसे तटके वृक्ष तथा गुल्म लतायें और उनपर निवास करनेवाले विहंगवृन्द निर्जीव होकर भस्मसात हो गये थे।

भगवान्‌ने अपने मनमें सोचा—"यह दुष्ट कालियनाग इस प्रचण्ड वेगयुक्त विषकी शक्तिसे विशेष बलवान् बना हुआ है। इस विषसे ही इसने ह्रदको तथा यमुनाजीके जलको विषैला करके दूषित बना दिया है। मुझे इस दुष्टका दमन भी करना है। कंसमामाके लिये कमल भी लाना है और श्रीदामाकी गेंदको भी निकालना है। मेरा मुख्य काम तो इस दुर्दमनीय दुष्ट कालियके दर्पको चूर करना ही है, क्योंकि मेरा अवतार ही इस निमित्त हुआ है।"

यही सब सोच समझकर श्यामसुन्दर उस बड़े भारी कदंबके वृक्षके ऊपर चढ़ गये, जो अमृतके प्रभावसे कालिय ह्रदके तटपर रहता हुआ भी हरा भरा बचा हुआ था। उन्होंने कसकर अपने पीतपटकी फेंटको बाँधा। बड़े शब्दके साथ उन्होंने अपनी तालोंको ठोका तथा उस विषैले सरोवरमें धड़ामसे कूद ही तो पड़े। उस सरोवरका सलिल सर्पके विषके कारण स्वयं ही उबल-उबलकर उछल सा रहा था, अब श्रीकृष्णके वेगके साथ कूदनेसे वह सम्पूर्ण जल राशि क्षुभित हो गयी।

जिस जलमें विष मिल जाता है, उसके बबूलोंमें उसकी उत्ताल तरंगोंमें लाल पीले रंगकी चमकसी दिखायी देती है, वह सूर्यकी किरणोंके संसर्गसे टूटे हुए इन्द्र धनुषके सदृश प्रतीत होती है। इस प्रकारकी वे रंग बिरंगी लहरें तरंगोंके सहित चार सौ हाथ ऊपर उछलीं तथा सरोवरके चारों तटोंको डुबाकर दूर तक जलको फैलाने लगीं। उस समय उन उत्ताल तरंगोंके ऊपर विहार करते हुए भगवान् ऐसे प्रतीत होते थे मानों किसी महान

सरोवरमें कोई गजराज क्रीड़ा कर रहा हो। अथवा ऊँची-ऊँची तरङ्गों वाले समुद्रमें कोई पोत डगमगा रहा हो। अथवा प्रलय कालीन समुद्रमें बालमुकुन्द भगवान् विहार कर रहे हों, अथवा मथे जाते हुए समुद्रमें विष निकलते समय कच्छप भगवान् प्रकट होकर हिल रहे हों।

भगवान् अपनी दोनों विशाल भुजाओंको पटक-पटककर जलकी तरङ्गोंको चीरते हुए सरोवरमें इधरसे उधर स्वच्छन्द विहार कर रहे थे। हाथोंके चलानेसे जलमें बड़ा भारी शब्द हो रहा था जिससे दिशायें तथा विदिशायें प्रतिध्वनित हो रही थीं।

इस भीषण शब्दको सुनकर कालिय नागके कान खड़े हुए। आज तक किसीने उसके सरोवरमें आनेका साहस नहीं किया था। वह विदेशी होनेपर भी इस प्रदेशपर अपना आधिपत्य जमाये हुए था। कोई उसके सम्मुख नहीं आता था। इस शब्द को सुनकर ही सर्पने समझ लिया किसीने मेरा तिरस्कार किया है, किसीने मुझे युद्ध के लिये चुनौती दी है। इस अपमानको सहन न कर सकनेके कारण वह अपने भवनसे बाहर निकला। घरसे निकलकर वह भगवान् वासुदेवके सम्मुख उपस्थित हुआ।

भगवान्की भुवनमोहिनी बाँकी-झाँकीको निहारकर वह निहाल हो गया। उसने देखा नूतन जलधरकी द्युतिके समान सुन्दर सुकुमार सुगठित सुखद सलोना शरीर है, जिनके विशाल वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है। विद्युत्के समान जिनका पीताम्बर कृष्णवर्णके श्रीअङ्गपर झलमल झलमल करता हुआ फहरा रहा है, जिनका मनोहर मधुर मुख मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त है, जिनके युगल चरण कमलकोषके सदृश अत्यन्त ही सुकुमार और कोमल हैं, ऐसा एक अत्यन्त दर्शनीय मनोज्ञ मनहर बालक निर्भय होकर जलपर क्रीड़ा कर रहा है। उसके मुखमण्डलपर विषादकी एक रेखा तक नहीं है, विषका

शरीरपर कोई भी प्रभाव दिखायी नहीं दे रहा है। वह हँसता हुआ, ताल ठोकता हुआ इधरसे उधर विचरण कर रहा है।

सर्प एक तो स्वभावसे ही क्रोधी होते हैं, फिर वह तो अपने विषवीर्य तथा बलके कारण अत्यन्त ही अभिमानी हो रहा था, अतः उसने शीघ्रतासे आकर कृष्ण भगवान्को चारों ओरसे

अपने शरीरसे इस प्रकार लपेट लिया, मानों उन्हें नागपाशमें बाँध लिया हो। इस प्रकार उन्हें अपने शरीरके बन्धनसे जकड़ कर वह अपने शत फणोंसे श्यामसुन्दरके मर्मस्थानोंमें दंशन करने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार अपने सखा-सुहृद् तथा सर्वस्व आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रको कालियनागके शरीर बन्धनसे बँधा हुआ तथा निश्चेष्ट सा देखकर समस्त ग्वाल-बाल अत्यन्त ही पीड़ित हुए। वे श्रीदामाको बार-बार धिक्कारने लगे, श्रीदामा भी बार-बार पश्चात्ताप करता था, कि मैंने श्रीकृष्णसे ऐसा आग्रह क्यों किया। सभी अत्यन्त भयभीत होकर मूर्छित हो गये और अचेतावस्थामें धड़ाम्से धरती पर गिर पड़े। क्योंकि उन्होंने तो अपना शरीर, धन तथा परिवार सभी श्रीकृष्णको समर्पित कर रखा था। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी समस्त इच्छाएँ भी श्रीकृष्णकी इच्छामें ही मिला दी थीं। ऐसे अनन्यगति सुहृदोंको इतना अधिक दुःख होना स्वाभाविक ही है। गोपोंकी ही यह दशा हो सो बात नहीं। जितनी गौएँ थीं, बैल, बछिया, बछड़े और भी जो सब थे—वे सब अत्यन्त दुःखसे डकराने लगे। सभी श्रीकृष्णकी ओर टकटकी लगाये निश्चेष्ट होकर चित्र लिखेके समान हो गये। उन्हें अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रही।

छप्पय

दहमहँ क्रीड़ा करे न कछु भय मनमहँ माने।
मेरो विष अति उग्र अज्ञ बालक नहिँ जाने॥
ऐसो मनमहँ सोचि क्रोध करि कालिय आयो।
डसे दुष्ट करि कोप कृष्ण तनु अँग लपटायो॥
अहि बन्धनमहँ श्यामकूँ, निरखि बाल ब्याकुल भये।
गौ बछरा अरु ग्वाल तहँ, मूर्छित सबरे ह्वै गये॥

नागपाशमें आबद्ध श्रीकृष्णको देखकर व्रजवासियोंका विलाप

[९२३]

अन्तर्ह्रदे भुजग भोगपरीतमारात्,
कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।
गोपांश्च मूढधिपणान्परितः पशूंश्च,
संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० १६ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

इत व्रजमहँ उत्पात होहिँ अति उग्र भयङ्कर ।
तन, मन, भू, आकाश सबनिमहँ उठै बवंडर ॥
आज बिना बल गयो श्याम वन गाय चरावन ।
नर-नारी अति दुखित लगे सब बन-बन खोजन ॥
ध्वज अङ्कुश वज्रादितैं, चिह्नित पद पहिचानिकैं ।
पहुँचे कालिय दह निकट, डरे मृतक सब जानिकैं ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उन व्रजवासियों ने जब दूर से ही कालिय दहमें सर्प-शरीरके बन्धनमें जकड़े हुए श्रीकृष्णचन्द्रको निश्चेष्ट देखा, ग्वालबालों को भी जलाशयके किनारे अचेतावस्थामें देखा तथा सब ओर गौओंको भी आर्त्तस्वरसे डकराते देखा तो वे अत्यन्त ही व्याकुल होकर मूर्छित हो गये।

अपने शरीरमें दुःख होनेसे उतना क्लेश नहीं होता, जितना अपने प्रियके कष्टको देखकर कष्ट होता है, जिन्हें हम प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते हैं, उनका दुःख प्राणोंका पण लगाकर भी हटाया जा सके, तो प्रेमका मर्म जाननेवाले हँसते-हँसते अपने प्यारेका प्रिय करनेके लिये प्राणोंका उत्सर्ग कर देते हैं। यही नहीं अपने प्रियके प्राणोंके बचनेकी कोई आशा दिखायी न देती हो और स्वयं सब प्रकारसे विवश हों, तो उसके मरनेके पूर्व स्वयं मर जाना प्रेमीगण श्रेष्ठ समझते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण सुनने और देखनेमें आते हैं कि जो पत्नी अपने पति परमेश्वरको प्राणोंसे भी अधिक प्यार करती थी, जब उसके पति किसी असाध्य रोगमें व्याप्त हो गये और चिकित्सकोंने निश्चित रूपसे कह दिया कि अब ये नहीं बचेंगे, तो पत्नीने जल या विषके प्रयोगसे उसके मरनेके पूर्व ही प्राणोंका परित्याग कर दिया। यह तो भावनासे पति माननेवालोंके सम्बन्धकी बात है, किन्तु जो स्वयं साक्षात् जगत्पति हैं, परात्पर हैं, उनको ही जिन्होंने अपना सर्वस्व समझ लिया है, उन व्रजाङ्गनाओंकी श्रीकृष्णको विपत्तिमें फँसा देखकर कैसी दशा हुई होगी, इसे वाणी या लेखनी द्वारा व्यक्त करना असंभव है, पाठक मनसे ही उस दुःख का अनुमान कर लें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो श्रीकृष्णचन्द्र जब गौएँ लेकर वनको चले जाते थे, तो गोपिकाओंके हृदय उनके वियोगमें संतप्त हो जाते थे, उन तप्त हृदयोंके लिये एकमात्र औषधि थी—श्रीकृष्णकी ही चरचा। कृष्णकथा मृतके सिञ्चन और पान रूप उपचारसे वे जैसे-तैसे अपने समयको बिताया करती थीं। कोई श्रीकृष्णकी रूप माधुरीका ही वर्णन कर रही हैं, दूसरी गोपिकाएँ उसे श्रद्धा सहित तन्मय होकर सुन रही हैं, कोई लीलामाधुरीका ही वर्णनकर रही हैं। कोई वेणु माधुरीकी ही महिमा गा रही है।

इस प्रकार कहते सुनते वे दिनको बिता देती थीं। सायंकालको श्रीकृष्ण दर्शन करके अपने श्रमको सफल समझतीं।

प्रेमका सम्बन्ध दोनों ओरसे होता है, जिसकी जो याद करता है, दूसरा उसकी याद न करता हो यह असंभव है। दो प्रेमियोंका मन ही एक नहीं हो जाता, कभी-कभी तो तनमें भी एकसी क्रियायें होने लगती हैं, उसके सुई चुभोओ—तो दूसरेके रक्त निकलेगा। श्रीकृष्ण जब नागके पाशमें बँध गये तथा गौएँ और ग्वाल मूर्छित हो गये, तब व्रजमें भी सबके मन एक साथ क्षुभित हो गये। कथा कीर्तनमें किसीका मन ही न लगने लगा। पृथिवीमें बड़े-बड़े उत्पात दिखाई देने लगे, आकाशसे रक्तकी वर्षा होने लगी। सबके शरीर जलने लगे, मानों किसीने विषका प्रयोगकर दिया हो। सबके मनमें घबड़ाहट उद्विग्नता तथा अशान्ति छा गयी। आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकारके भयङ्कर उत्पात दृष्टिगोचर होने लगे। एककी ही यह दशा हुई हो सो भी बात नहीं। समस्त व्रजवासी आबाल वृद्ध नर-नारियोंकी यह दशा थी। नन्दादि समस्त गोपगण इसका कारण खोजने लगे। उनके तो एकमात्र आधार श्रीकृष्ण चन्द्र ही थे, प्रेममें तो पग-पगपर शङ्का बनी ही रहती है, सबकी दृष्टि श्रीकृष्णचन्द्रकी ही ओर गयी। सब परस्परमें पूछने लगे—"आज श्रीकृष्णचन्द्र गौओंको लेकर किधर गये थे?"

किसीने कहा—"आज तो कुछ पता नहीं। कालियदहकी ओर कुछ गौओंके घंटोंकी-सी धुनि सुनाई देती थी।"

इस बातको सुनते ही सबके सब सन्नसे हो गये। यह जानकर कि आज श्यामसुन्दर बल भैयाके बिना अकेले ही गौओंको चराने गये हैं, इसे स्मरण करके तो वे भयसे और भी अधिक व्याकुल हुए। उनका भगवानमें माधुर्यभाव था। माधुर्यमें ऐश्वर्य विलीन हो जाता है। जिनको हम हृदयसे

अपना सगा सम्बन्धी मान लेते हैं, फिर चाहें वे कैसे भी ऐश्वर्य-शाली क्यों न हों, उनकी महत्ता हमें स्मरण ही नहीं आती। ब्रजवासी भगवानके अनेक अद्भुत अलौकिक कार्योंको यद्यपि देख चुके थे, फिर भी प्रेममें उन सबको भूल गये। उनके मनमें यह बात बैठ गयी कि ये भयङ्कर उत्पात घोर अनिष्टके सूचक हैं। अवश्य ही श्रीकृष्णके प्राणोंका भय उपस्थित हुआ है, क्या हम अब फिर श्रीकृष्णको जीवितावस्थामें देख सकेंगे, इस विचारके आते ही वे सबके सब दुख, शोक तथा भयसे व्याकुल होकर अत्यन्त ही अधीर बन गये। उन सब ब्रजवासियोंके प्राण तथा मन सदा सर्वदा श्यामसुन्दरमें ही लगे रहते थे। गौएँ जिस प्रकार तुरन्त उत्पन्न हुए बच्चेसे प्यार करती हैं उसी प्रकार सभी ब्रजाङ्गनायें श्रीकृष्णको प्यार करती थीं। श्रीकृष्णके अनिष्ट की बात याद आते ही समस्त ब्रजवासी बालक, वृद्ध, युवा तथा नरनारी अपने अपने घरोंसे अत्यन्त दीन होकर निकल पड़े। अब उनका एकमात्र ध्येय श्रीकृष्णके दर्शन करनेका ही था। जैसे हो तैसे हमें श्रीकृष्णके जीवितावस्थामें दर्शन हो जायँ, हम उनके मन्द मन्द मुसकानसे युक्त कमल मुखको निहार सकें यही उन सबकी अत्युत्कट अभिलाषा थी। उन सबके साथ संकर्षणावतार भगवान् बलदेवजी भी थे। श्रीकृष्णके लिये ब्रजवासियोंको इस प्रकार अधीर होते देखकर वे मन ही मन हँसने लगे। क्योंकि वे तो अपने छोटे भाईके प्रभावको भली भाँति जानते थे, उन्हें तो विश्वास था, उन परात्पर प्रभुका, कोई कुछ अनिष्ट कर ही नहीं सकता। वे भयको भी भय देने वाले मृत्युके भी मृत्यु तथा कालके नियामक हैं, फिर भी उन्होंने ब्रजवासियोंसे कुछ कहा नहीं। उन्होंने सोचा—"अच्छी बात है, हृदयमें जितना ही अधिक विरह बढ़ेगा, दर्शनोंकी लालसा जितनी ही अधिक उत्कट होगी, अंतःकरण उतना ही अधिक

शुद्ध होगा। बाह्य संयोगसे विरहमें मनका संयोग सर्वश्रेष्ठ होता है। इसीलिये रोते हुए नरनारियोंके पीछे ये भी वैसा ही भाव प्रदर्शित करते हुए उनके साथ साथ चले।

श्रीकृष्णको ढूँढ़ना कोई कठिन कार्य तो था नहीं। एक तो गौओंके खुरोंके चिह्नसे हीसहजमें जाना जा सकता है, कि आज गौओंका झुण्ड किधर गया है, फिर सबसे प्रामाणिक बात तो यह थी, कि श्रीकृष्णके चरणोंमें ध्वज, वज्र, अंकुश तथा कमल आदिके ऐसे चिह्न थे, जिनसे समस्त व्रजवासी भलीभाँति परिचित थे। उन परम पावन पुण्यप्रद पादपद्मोंके चिन्होंका अनुसरण करते हुए व्रजवासी उसी ओर बढ़े। मार्गमें उन्हें गौओंके आजके ही असंख्यों खुर उभरे हुए दिखाई दे रहे थे। समस्त ग्वालबालोंके पैरोंके भी चिन्ह थे और उनके बीच बीचमें गोपालक गोविन्दके चरण-चिन्ह सुशोभित हो रहे थे। उन सबसे शीघ्रता पूर्वक चलते चलते दूरसे ही कालिय-ह्रदमें सर्पके शरीरमें कसे हुए उसके बन्धनमें बँधे हुए दामोदरको देखा। उन्होंने अनुभव किया, कि श्यामसुन्दर उस सर्पके शरीरसे जकड़े होनेके कारण निश्चेष्ट हो गये हैं, उनका बल पौरुष अब कुछ काम नहीं दे रहा है। इधर श्रीकृष्णचन्द्रकी तो यह दशा थी। समस्त ग्वालबाल जलाशयके निकट ही तटपर अचेतनावस्थामें मृतप्रायः पड़े हैं। समस्त गौएँ नेत्रोंसे नीर बहाती हुई आर्त स्वरसे डकरा रही हैं। इन सबकी ऐसी दुर्दशा देखकर तथा श्यामसुन्दरको सर्प शरीरसे बँधा देखकर वे सबके सब मूर्छित हो गये।

गोपियोंकी दशा दयनीय थी उनका उन अच्युत अनन्तके प्रति अत्यन्त ही अपुपम अनुराग था। जिन्हें हम अपने बाहु-पाशमें बाँधकर अनुराग भरित हृदयसे सटाकर आलिंगन करती थीं वे ही हमारे प्रियतम प्राणवल्लभ आज नागके पासमें कसे

हुए पड़े हैं। इस बातको विचारकर तथा उनकी मन्द-मन्द मुस-कान, अत्यन्त आकर्षणसे युक्त टेढ़ी चितवन, प्रेमपूर्वक मिलना जुलना तथा बोलना आदि सौहार्द्रकी बातोंको बार-बार स्मरण करके—अत्यन्त ही अधीर हो उठीं। उनका हृदय अत्यधिक संतप्त था। प्राणाधिक प्रिय व्रजवल्लभके बिना उन्हें समस्त संसार सूना-सूना-सा दिखाई देने लगा।

जब अन्य गोपियोंकी ऐसी दशा थी, तब यशोदाजीकी दशा का वर्णन करना तो असम्भव ही है। उनके दोनों नयनोंसे झर-झर करके नीर बह रहा था, वे अपने दोनों हाथोंसे छातीको पीट रही थीं, आर्तस्वरसे कुररीकी भाँति श्रीकृष्णके सुमधुर नामोंको लेकर डकरा रही थीं। वे बलपूर्वक अपने प्राणोंको छोड़नेके लिये कालियदहमें प्रवेश करनेका प्रयत्न कर रही थीं। अन्य गोपी-गोप उन्हें रोते-रोते निवारण कर रहे थे। माता शोकसे अत्यन्त ही छटपटाती हुई विलाप करती हुई कह रही थीं—"बहिनाओ! मुझे छोड़ दो—छोड़दो। अपने प्यारे कृष्णके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती। मैं उसके मुख कमलको म्लान नहीं देख सकती। इसने बड़े-बड़े असुरोंको पछाड़ा था, किन्तु आज कालियके फंदेमें फँसकर यह विवश-सा बन गया है। अब यह हाथ पैर भी नहीं चला सकता। इस सर्पने इसे कैसे कसकर जकड़ रखा है।" इस प्रकार मैया यशोदा मृतकके सदृश बनकर व्रज जीवन घनश्यामसुन्दरके गुणोंका विलाप करते करते गान करती जाती थीं और शोकके कारण अङ्गोंको हिलाती हुई रोती जाती थीं।

गोपिकायें तो यशोदाजीको पकड़े हुए थीं किन्तु नन्दादि गोपों की दशा तो और भी बुरी थी, वे किंकर्तव्यविमूढ़-से बने श्रीकृष्ण को छुड़ानेके लिये कालियदहमें कूदने लगे। सहस्रों गोप अपने प्राणोंकी कुछ भी चिन्ता न करके कालियपर आक्रमण करनेके

निमित्त आगे बढ़े उन सबको कालके मुखमें उद्यत देखकर और सबसे आगे नन्दजीको कूदनेके लिये उद्यत देखकर दौड़कर बलदेवजी उनके समीप पहुँचे और बड़े धैर्यके साथ बोले—"बाबा! बाबा! तुम यह क्या कर रहे हो? आप ही जब इस प्रकार अधीर होंगे, तो फिर हम सब लोगोंकी क्या दशा होगी। आपको तो हमें समझाना चाहिये। आप श्रीकृष्णकी महिमाको क्या नहीं जानते? क्या आप सर्वज्ञ भगवान् गर्ग मुनिके वचनोंको भूल गये। मेरे छोटे भाईका यह दुष्ट कालिय क्या बिगाड़ सकता है? आप धैर्य धारण करें। आप कुछ ही देरमें देखेंगे कृष्ण इस सर्पके दर्पको दमन करके सकुशल ह्रदसे अभी निकलता है। श्रीकृष्णके प्रभावको मैं जानता हूँ। आप उसके लिये चिन्ता न करें।" यह कहकर तब बलदेवजीने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—"कृष्ण! तुम यह क्या मानुषी लीला कर रहे हो? देखो, तुम्हारे वियोगके कारण ये सभी व्रजवासी कितने व्याकुल हो रहे हैं। अब इस दृश्यको अधिक कारुणिक मत बनाओ। अब शीघ्र ही इस दुष्टका दमन करके जलसे बाहर आ जाओ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने बड़े भाईकी ऐसी बात सुनकर श्यामसुन्दर हँस पड़े। वे नटवर ही जो ठहरे। उन्हें दूसरोंके दुःखकी तो चिन्ता ही नहीं, उन्हें तो खेल चाहिये। क्रीड़ाप्रिय हैं। नाचना, गाना, खेलना-कूदना यही उनका व्यापार है। अब उन्हें कालिय कुण्डमें नाचनेकी याद आयी। उन्होंने सोचा—"बहुत लोग बतासोंपर नाचते हैं, बहुतसे तलवारोंकी धारपर नाचते हैं, बहुतसे सिरपर घड़ा रखकर नाचते हैं। हम सर्पके फणोंपर ही नाचें तभी तो हमारा नटनागर नाम सार्थक होगा।" यह सोचकर सभीको सुख देने वनवारी कालियकी फणालीपर ताली देकर नाचनेको उद्यत हुए। भगवानने जैसे कालीकी फणाली पर नृत्य किया उस प्रसंगको मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

लखि अहि अंगनि बँधे श्याम गोपिन दुख दूनो।
भयो निरखि अति करुन दरप सबरो जग सूनो॥
परि परि हरिको यादि दुखित होवें डकरावें।
दौरि दौरिके मातु छुविबे दहमहँ जावें॥
है मूर्छित सब गोपगन, गिरें परें दहमहँ धँसे।
बार-बार बल बरजिकें, हरिलीला लखिकें हँसे॥

कालियकी फणावली पर बनवारीका नृत्य

(९२४)

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरस्सु
यद् यत्समुन्नमति निःश्वसतोरुपोच्चैः ।
नृत्यन्पदानुनमयन्दमयाम्बभूव
पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान्पुराणः ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० १६ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

समुझे हरि सब दुखी सुनी बलदाउ बानी ।
कालिय फनपै नृत्य करन नटवर मन ठानी ॥
समुझि श्याम संकेत सुमन सुरगन बरसावें ।
बीणा पणव बजाइ तालमहँ ताल मिलावे ॥
मधुर-मधुर नूपुर बजहिं, नाचें नटवर फननिपै ।
जो न नवें रौंदें तिनहिं, चरन चलावें सबनिपै ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् नटनागर कालिके फणोंपर नृत्य करने लगे । वह नाग अपने नयनोंसे विषवमन करता हुआ क्रोधके कारण वेगके साथ फुफकारें छोड़ने लगा । वह अपने सहस्र शिरोंमें से जिस-जिसको ऊँचा उठाता, उसी-उसीको नृत्य करते हुए नटवर अपने चरणोंकी ठोकरसे रौंदकर नत कर देते थे । देवता पुष्पों द्वारा उनकी पूजा कर रहे थे । उस समय वे पुराण पुरुष सुरों द्वारा पूजित होकर शेषशायी श्यामके समान सुशोभित हुए ।

जिनका अवतार ही लीलाके लिये, क्रीड़ाके लिये हुआ है, उन्हें और कुछ सुहाता नहीं, वे तो प्रत्येक कार्यमें क्रीड़ा ही देखते हैं। जहाँ भी जाते हैं, वहीं क्रीड़ा करते हैं। क्रीड़ामें अच्छे बुरेका स्थान-अस्थानका कोई भेद भाव नहीं। भूमि तो सभी गोपालकी है। गोपाल जहाँ जायँगे वहीं क्रीड़ा करेंगे। यह विश्वही उनकी क्रीड़ास्थली है। नटवरके लिये सभी नाट्य स्थान हैं। सभी रंगमंच हैं, वे जहाँ भी जायँगे, जहाँ भी अपने चरणोंको रखेंगे वहीं नृत्य करेंगे। नृत्य ही तो उनका कृत्य है। तभी तो वे नटवर, नटनागर, नटराज और नटेश्वर कहलाते हैं। उनके नृत्यसे निरंतर विश्वका कल्याण ही होता रहता है, क्योंकि वे कल्याणके धाम हैं। उनके प्रत्येक कार्यमें कल्याण छिपा हुआ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो, ! भगवान्ने अपने आश्रित समस्त व्रजवासियोंको शोक चिन्ता दुःखमें रुदन करते और विलाप करते देखा, तब उन्होंने सोचा—"अरे, यह लीला तो आवश्यकतासे अधिक कारुणिक हो गयी। अब बहुत मैंने मनुष्य भावका अनुकरण किया। इस समय मुझे अपना कुछ बल वीर्य प्रकट करके इन सबको प्रसन्न करना चाहिये। नृत्य एक ऐसी कला है, जिसमें सबका मन रीझ जाता है। नृत्यमें संगीतके गायन, वाद्य और अंगों द्वारा भाव भंगी प्रदर्शित करना ये तीनों अंग आजाते हैं। इसीलिये सभीका नृत्यसे मनोरंजन होता है। मैं आज इस कालियके फणोंपर नृत्य करके ही इन व्रजवासियोंको प्रमुदित और आश्चर्यचकित करूँ।" ऐसा सोचकर मुहूर्त पर्यन्त तो भगवान् कालियके बन्धनमें जकड़े रहे तदनन्तर उन्होंने उसके फंदेसे निकलनेका संकल्प किया।

भगवान्ने अपने श्रीअंगमें वायुका निरोध करके उसे फुलाना आरंभ किया। श्रीअंगके फूलनेसे कालियका शरीर अत्यंत ही व्यथित हुआ। अब तक वह कुंडली मारे हुए भगवान्को

हुए था। अब जब भगवान्‌का श्रीअंग फूलने लगा तो, वह कुंडलीको मारे न रह सका, तुरन्त उसने अपनी गुड़मुड़ी खोल दी। भगवान् तुरंत उसके फंदेसे छूट गये और उसे व्यथित करनेके निमित्त कौतुक करने लगे।

सर्पका स्वभाव होता है, वह सहसा मुड़ नहीं सकता। उसकी गति तो टेढ़ी होती है, सीधा जा रहा है, तो सीधा ही चला जायगा। जाते जाते उसे मुड़ना होगा, तो सहसा मुड़ न सकेगा। घूमकर मुड़ेगा। भगवान् जब उसके फन्देसे निकल गये तब उनपर आघात करनेकी इच्छासे वह क्रोधमें भरकर, फणोंको उठाकर तथा लम्बी-लम्बी फुफकारोंको छोड़ता हुआ टकटकी लगाये भगवान् बालकृष्णकी ओर सरोष निहारने लगा। उस समय उसकी नासिकाओंसे विष निकाल रहा था। उसके लाल-लाल अपलक अचंचल नेत्र भाड़में तपाये हुए खपड़ेके समान, लुहारकी भट्ठीमें तपाये लोहेके समान, प्रलयकालमें तीक्ष्ण हुए सूर्यके समान, तथा शंकरके तीसरे नेत्रके समान लाल हो रहे थे।

उसके समस्त मुखोंसे प्रज्वलित अग्निके समान लपटें निकल रहीं थीं। वह अपनी बीचसे फटी सैकड़ों जिह्वाओंसे बारबार ओठोंके किनारोंको चाट रहा था। भयङ्कर विषाग्निमयी दृष्टि-वाले उस सर्पके चारों ओर कृपालु कृष्ण क्रीड़ा कर रहे थे।

भगवान् तो क्रीड़ाप्रिय नटवर ही ठहरे, उनके अंग-अंगमें अद्भुत स्फूर्ति थी, वे तुरंत इधरसे उधर घूम जाते। कालिय ज्योंही चोट करने की इच्छासे उधर मुड़ता तो ये फिर दूसरी ओर चले जाते। जैसे अत्यंत चंचल घोड़ेको शिक्षक अश्वारोही दौड़ा दौड़ाकर प्रथम उसे थका लेता है और तदनंतर शिक्षा देता है, इसी प्रकार पहिले भगवान्‌ने उसे इधरसे उधर घुमा घुमाकर निर्बल बना दिया। बार बार इधरसे उधर घूमनेसे उसका बल क्षीण हो गया। भगवान् तो माताके उदरसे ही चौंसठ कलाओंमें

निपुण होकर पैदा हुए थे। उन्होंने सोचा लाओ यहाँ अपनी नृत्यकलाका प्रदर्शन करें। यह सोचकर वे तुरंत उछलकर कालिय के फणोंपर चढ़ गये तथा थेई-थेई करके उनपर नाचना आरंभ कर दिया।

समस्त विद्याओंके आदिगुरु भगवान् वासुदेव, बलवीर्यसे दीप्त, दर्पसे उन्नत मस्तकवाले उस सर्पके सिरको नवाकर तथा स्थूल और गुदगुदे उसके फणोंपर चढ़कर अपने चरणोंके घुँघरुओंको बजाते हुए नृत्य करने लगे। भगवान्के चरण अरुण कमलके सदृश कोमल तथा लाल थे। उस कालियके फणोंपर मणियाँ दमक रही थीं, उन मणियोंके प्रकाशमें भगवान्के चरणोंकी लालिमा और भी अत्यधिक अरुण वरणकी बन गयी थी।

ऊपर आकाशमें विमानोंपर बैठे हुए देव, गन्धर्व, किंपुरुष तथा सिद्धगण इस दृश्यको देख रहे थे। उन्होंने सोचा—"सेवा करनेका अब यही सुंदर सुअवसर है। भगवान् नृत्य तो ताल स्वरमें कर रहे हैं, किन्तु उनकी तालमें ताल मिलानेवाले वाद्य न हों तो नाचनेवालेका उत्साह बढ़ता नहीं। यही सोचकर वे पहिले जो बहुत दूरसे दृश्य देख रहे थे अब भगवान् के निकट ही आ गये। भगवानकी तालमें ताल मिलाकर मृदंग, पणव, आनक, वीणा, वेणु, मंजीर तथा और भी विविध भाँतिके बाजों-को बजाने लगे। अप्सरायें मुखसे—एक दो तीन एक दो तीन—इस प्रकार बोल निकालती हुई भगवान्के नृत्यका अनुकरण करने लगीं। कालियके फणोंपर तो वनवारी नृत्य कर रहे थे और आकाशमें विमानोंपर बैठी हुई स्वर्गकी अप्सरायें तान छेड़ रही थीं। देवगण बीच बीचमें जय जय, नमो नमः, साधु साधु आदि ध्वनियोंको करते हुए पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे और अपने सिरोंको कृतज्ञताके कारण बारबार झुका रहे थे।

जैसे सितारके तारोंको उँगलियोंसे दबाकर विचित्र स्वर निकालते हैं, उसी प्रकार कालियके उन्नत फणोंको अपने चरणोंके प्रहारसे दबाते हुए अखिल कलाओं के गुरू श्यामसुंदर नृत्यकी एक विचित्र आभा दिखा रहे थे। वह अभिमानी नाग अपने जिस-जिस फणको नहीं झुकाता था, प्रचण्ड दण्डधारी भगवान् उसके उसी-उसी फणको अपने पाद-प्रहारसे कुचल डालते। उसके गर्वको खर्व कर देते।

अब तो नागका अभिमान चकनाचूर हो गया। वह बार बार विष वमन करता, लम्बी-लम्बी फुफकारें छोड़ता, प्रहार करनेका अवसर खोजता, किन्तु वह अपने कृत्यमें सर्वथा असफल ही रहा। भगवान्के पाद प्रहारोंसे वह मृतकतुल्य बन गया, मुख और नासिकाओंसे रक्तकी वमन करने लगा, उसे चक्कर आने लगे और वह चेतनाशून्य होकर गिर गया। उसका बल पुरुषार्थ पुराण पुरुष प्रभुके सम्मुख कुछ भी काम न आया। उसके फण रूप छत्र छिन्न भिन्न हो गये। समस्त अंग-प्रत्यङ्ग चकनाचूर हो गये। देवताओंने इतने पुष्प बरसाये कि भगवान् पुष्पोंसे मानों ढक गये। वे ऐसे लगे मानों शेष शय्यापर पुष्पोंके आस्तरण लगे हों। अब वह कर ही क्या सकता था। निर्बलके बल राम, जब उसका समस्त बल पुरुषार्थ समाप्त हो गया, तब अन्य कोई शरण न समझकर वह अशरणशरण दयाके सागर, चराचर जगत्के गुरू पुराण पुरुष भगवान् श्रीहरिकी ही शरण में गया।

भगवान्के चरणोंके तले दबा हुआ वह स्वयं तो कुछ कह नहीं सकता था, अनेकों ब्रह्माण्ड जिनके उदरमें परमाणुके समान विहार कर रहे हैं, उनके भारको तुच्छ कालिय कैसे सह सकता था, वह तो उनकी ही शक्तिसे—उन्हींकी कृपासे—ऐसा करनेमें कुछ कालके लिये समर्थ हो सका था। उसकी सैकड़ों

पत्नियाँ सोलहों शृङ्गार किये हुए इस दृश्यको दूरसे देख रहीं थीं। उन्होंने जब देखा, अब तो हमारे पति अचेत हो गये हैं। इन्हें दमन करनेवाले ये कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। ये तो साक्षात् अखिलकोटि ब्रह्माण्डनायक पुराण पुरुष श्रीमन्नारायण ही हैं, तो वे शीघ्रताके साथ भगवान्‌के समीप आयीं। पतिके दुःखके कारण वे सबकी सब अत्यंत व्याकुल हो रही थीं। अधीरता और आतुरतावश उनके बहुमूल्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा सुगंधित पुष्पमालाओंसे सुशोभित केशपाश शिथिल हो रहे थे।

मनुष्य कितना भी क्रोधमें भरा हुआ हो यदि दीन होकर अश्रु विमोचन करती हुई स्त्री उसके सम्मुख आजाय, तो उसका क्रोध कपूरके सदृश उड़ जायगा। यदि उसकी गोदमें नन्हें नन्हें फूल से भोले भाले बच्चे भी हों, तो पाषाण हृदय भी बिना पिघले न रहेगा। नाग पत्नियोंने देखा चराचरके स्वामी भगवान् वासुदेव हमारे स्वामीके अपराधके कारण उनपर कुपित हैं, तो करुणासागरके हृदयमें हमें विनय द्वारा इनके प्रति करुणा उत्पन्न करनी चाहिये।" यही सोचकर वे सबकी सब अपने छोटे बड़े बाल बच्चोंको आगे करके अत्यंत उद्विग्न चित्तसे भगवान्‌के समीप आयीं। आकर उन्होंने निखिल भूतपति भगवान् विश्वम्भरके पादपद्मोंमें—पृथिवीमे लोटकर—प्रणाम किया। यद्यपि स्त्रियोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करनेका विधान नहीं है, प्रणाम करते समय उनके स्तन पृथिवीसे स्पर्श हो जायँ, तो यह दोष माना जाता है, किन्तु अधीरता और आतुरताके कारण वे सब इस नियमको भूल गयीं। अत्यंत उद्विग्न होनेसे अपनी अति तुच्छता दिखाने तथा भगवान्‌के हृदयमें क्रूरके प्रति भी करुणा उत्पन्न करनेके निमित्त उन्होंने संभ्रममें सहसा ऐसा आचरण किया। साष्टाङ्ग प्रणाम करनेके अनंतर अपने अपराधी पतिको बन्धन मुक्त करनेकी इच्छासे वे दोनों हाथोंकी

अञ्जलि बाँधकर श्रीहरिके सम्मुख खड़ी हो गयीं। शरणागत-वत्सल श्यामसुन्दरका शरणागतिको स्वीकार करके वे सबकी सब दीनवाणीमें गद्गद् कंठसे स्तुति करने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन नागपत्नियोंने भगवान्‌की जो दिव्य स्तोत्रसे स्तुति की है, उससे उनका अगाध ज्ञान प्रकट

होता है, वह स्तुति समस्त वेद शास्त्रोंका सार है। इससे प्रतीत होता है, कि वे सब स्त्रियाँ परम विदुषी थीं। उनके एक-एक अक्षरमें अगाध ज्ञान भरा है, उस स्तोत्रको मैं प्रसंगानुसार स्तुति प्रकरणमें कहूँगा। उनकी स्तुति लम्बी है। स्तुतिके अन्तमें उन्होंने यही कहा—"हे सबके आश्रयदाता भगवन्! हम सब अबलायें आपकी शरणमें हैं, आपके द्वार-पर भिक्षा माँगने आई हैं, आप हमें हमारे सुहागकी भिक्षा दीजिये, हमारा सिंदूर हमारी माँगमें भरा रहे ऐसा वर दीजिये। स्त्रियाँ तो सदासे ही साधुपुरुषोंकी दयापात्र मानी गई हैं। सज्जन पुरुष स्त्रियोंका कभी अपमान नहीं करते उनके भारीसे भारी अपराधको भी क्षमा कर देते हैं। हमारे प्राण तो पति ही हैं, पतिके बिना हम सब पतिव्रतायें कैसे जीवित रह सकती हैं, अतः प्राण रूप जो हमारे प्राणनाथ पति हैं उन्हें आप हमें प्रसन्नता पूर्वक प्रदान करें। अब बहुत दण्ड इन्हें मिल चुका, अब आप इन्हें अधिक दण्ड न दें।"

नागपत्नियोंकी इस प्रकार प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने—जो उनके चरण प्रहारसे चेतना शून्य हो गया था, उस कालियको छोड़ दिया। तदनन्तर छोड़ देनेपर शनैः शनैः कालियके प्राणोंमें प्राण आये, वह कुछ कुछ सचेत हुआ और फिर बड़ी दीनताके साथ भगवान्‌की स्तुति करने लगा।

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! उन रोते हुए ब्रजवासियोंका क्या हुआ?"

सूतजी बोले—'अब जो हुआ होगा, वह सब मैं आगे बताऊँगा ही, जिस प्रकार समस्त ब्रजवासी प्रसन्न हुए और कालियका ब्रजसे निष्कासन हुआ इन प्रसंगोंको अब मैं आपको सुनाता हूँ, आप सावधान होकर इस सुखद प्रसंगको श्रवण करें।

छप्पय

बहत मुखनितैं रक्त भयो कालिय मूर्छित तब।
छिन्न भिन्न ह्वै गये नागफण छत्ररूप सब॥
अनत शरन नहिं निरखि शरन हरिकी अहिआयो।
अखिल भुवनपति पादपद्ममहँ चित्त लगायो॥
पत्नी सबरी नागकी, आइ पतिकूँ बिकल लखि।
शिशु सम्मुख करि नयन भरि, श्रीहरितैं बोलीं बिलखि॥

कालियनागका व्रजसे निष्कासन

[९२५]

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमन्धेर्जगाम ह ।
तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् ।
अनुग्रहाद् भगवतः क्रीड़ामानुषरूपिणः *॥

(श्रीभा० १० स्क० १६ अ० ६७ श्लो०)

छप्पय

हम सबके पति प्रान प्रानपति भिक्षा दीजे ।
हैं अबला भयभीत अभय अखिलेश्वर कीजे ॥
नाग बहुनिकी विनय करुन स्वर मुरलीधर सुनि ।
करयो न पाद प्रहार फननिपै नटनागर पुनि ॥
नाग तज्यो तब सो कहे, नाथ ? तुमहिँ सब कछु करो ।
तुम ही डारो जगत्महँ, जीव विपति तुमही हरो ॥

जिनकी संस्कृति पृथक् है, ऐसे विदेशी आर्यभूमिपर आकर वहाँके अन्न जलको ही दूषित नहीं करते, अपितुवहाँके वायु

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कालियनाग अपने समस्त पुत्रों मित्रों तथा कलत्रोंके सहित अपने पूर्वस्थान समुद्रके बीचमें स्थित रमणक द्वीपमें चला गया । उसी दिनसे लीलासे ही मनुष्य बने भगवान् वासुदेवकी कृपासे यमुनाजी निर्विषा बन गयीं । उनका जल अमृतके सदृश सुस्वादु हो गया ।

मंडलको भी विषैला कर देते हैं। वहाँके समाजमें संकरता दोष भी उत्पन्न कर देते हैं। अतः पृथक् संस्कृति वालोंको रखना ही आवश्यक हो, तो उन्हें अपनी संस्कृतिमें विलीन कर लेना चाहिये। अपना पृथक् आधिपत्य स्थापित करके वे यहाँकी विशुद्ध परम्पराको दूषित बना देंगे, अतः ऐसे लोगोंका निष्कासन ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। उनका यही दमन है, कि उन्हें अपने देशमें लौटा देना चाहिये। ऐसे विष-वमन करनेवाले व्यक्ति वायु मंडलमें विद्वेष तथा विग्रहका बीज वपन करके विद्रोह खड़ा कर देते हैं। दुष्टोंका दमन करनेवाले श्रीहरि उनके सिरपर पैर रख कर उन्हें देशसे निकाल देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब नागपत्नियोंने अपने पतिकी परात्पर प्रभुसे याचना की, तब भगवान्‌ने उस नागको छोड़ दिया। दोनोंमें युद्ध हो रहा था। भगवान्‌ने उसे मसल दिया था। उसके अंग प्रत्यङ्गोंको मर्दन कर दिया था। कुछ काल में उसे चेतना प्राप्त हुई। सम्मुख उसने सजल जलधरके समान श्रीश्यामसुन्दरको निहारा। तब वह दीर्घ निश्वास छोड़ता हुआ बड़ी कठिनताके साथ दीन वाणीमें आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र से कहने लगा—"प्रभो! मैंने जान बूझकर कोई अपराध नहीं किया है।"

भगवान्‌ने कहा—"अरे भाई! इससे बड़ा और अपराध क्या होगा, तैंने अपने विषसे सम्पूर्ण यमुनाजीको दूषित बना रखा है।"

कालियने कहा—"भगवन्! यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। कोई स्वभावसे सात्विक होते हैं, कोई राजसिक और कोई तामसिक। सर्प जातिके जन्तु जन्मसे ही बड़े क्रूर, तमोगुणी और महाक्रोधी होते हैं। हम तो जहाँ भी रहेंगे, वहीं दुष्टता ही करेंगे।"

भगवान्‌ने कहा—"जब तुम यह जानते हो, तो अपने तमोगुणी स्वभावको बदलो।"

कालिय बोला—"भगवन्! केवल जानने मात्रसे ही तो स्वभाव नहीं बदला जा सकता। जीवोंको दुःखमें सुखका, अनित्यमें नित्यका मिथ्याभिनिवेश हो गया है, अनात्ममें जो आत्म प्रतीति हो रही है, उसका छोड़ना जिस प्रकार कठिन है, उसी प्रकार सभी जीवोंके लिये अपने स्वभावको छोड़ना अत्यन्त कठिन है। मनीषियोंने स्वभावको दुरतिक्रम बताया है। सभी अपने स्वभावसे विवश हैं। यदि महराज अपराध क्षमा हो, तो मैं एक बात और कहूँ?

भगवानने कहा—हाँ, कहो। क्या कहना चाहते हो?

कालिय नागने कहा—"दीनबन्धो! मैं यह निवेदन कर रहा था, कि सबके स्वभावोंके बनानेवाले भी तो आप ही हैं। आपने ही तो इस त्रिगुणात्मक जगत्‌की रचना की है। सबके स्वभाव आपने ही भिन्न-भिन्न बनाये हैं। सबके बलवीर्य भी पृथक्-पृथक् हैं। आप यद्यपि हाथी तथा चींटीके शरीरमें समान रूपसे स्थित हैं फिर भी चींटी और हाथीके बलवीर्यमें अन्तर होता ही है। इसी प्रकार आपने नाना योनियोंकी रचनाकी है। सबकी योनियाँ पृथक्-पृथक हैं। सबके आकार पृथक् हैं, सबकी चित्तवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इस पृथक्ताके रचयिता भी तो आप ही हैं। हम सर्पोंको आपने क्रोधी ही बनाया है, फिर हम माया मोहित जीव आपकी दुस्त्यज मायाको बिना आपकी कृपासे अपने आप स्वयं कैसे छोड़ सकते हैं? आपसे कुछ कहना सूर्यको दीपकसे दिखानेके समान है। आप तो सर्वज्ञ हैं। हम निखिल विश्वब्रह्माण्डके एक मात्र अधीश्वर हैं। हम तो आपकी मायासे ही समस्त चेष्टायें कर रहे हैं। उसमें बाँधनेवाले भी आप ही हैं और छुड़ानेवाले भी। हमने जो दुष्टता की है, उसके लिये आप

चाहे दण्ड दें या क्षमा करें। आप निग्रह अनुग्रह सभी कुछ करनेमें समर्थ हैं। आपकी शरणमें आ जानेपर फिर जीव की दुर्गति नहीं होती, यह तो निश्चित सिद्धान्त है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कालियके ऐसे युक्तियुक्त वचन सुनकर श्यामसुंदर हँसे और हँसते हुए बोले—"देखो, भैया कालिय! मैं तुम्हें मारना नहीं चाहता, किन्तु तुम्हें मेरी एक बात माननी होगी?"

कालियने दीनताके स्वरमें कहा—"प्रभो! आज्ञा करें, अब तो आपकी कृपासे-आपके पादचिह्नोंके प्रहारसे—मेरा मद उतर गया है। अब तो मेरा एक मात्र कर्तव्य आपकी आज्ञाओंका पालन करनाही रह गया है।"

भगवान बोले—"देखो, नागराज! यह वृन्दावनकी पावन भूमि है। यहाँ तुम्हारा अपने बन्धु बान्धवों तथा स्त्री बच्चोंके साथ रहना उचित नहीं। तुम क्रोधी स्वभावके हो, विजातीय हो, तुम्हारे रहनेसे यहाँका वायुमण्डल दूषित और विषाक्त बनता है। तुम समुद्रके बीचके देशके रहने वाले हो। अतः अपने बाल बच्चों और परिवार वालोंके सहित अपने द्वीपमें ही चले जाओ। "हाँ, परन्तु एक प्रतिज्ञा तुम्हें और करनी होगी।"

कालिय नागने कहा—"हाँ, प्रभो! उसकी भी आज्ञा हो जाय?"

भगवान् बोले—देखो, हमारे तुम्हारे इस पूरे कथा प्रसङ्ग को—जो श्रद्धा भक्तिके साथ श्रवण करें, उन्हें तुमसे ही नहीं तुम्हारी समस्त नाग जातिसे किसी प्रकारका भय न हो, तुम लोग उसे कभी मत काटना।"

कालियने कहा—'अच्छी बात है भगवन्! कालिय दमन प्रस्तावसे लेकर कालियनाग निष्कासन तककी कथाको जो समय

समय पर श्रद्धासे पढ़ेंगे सुनेंगे, उन्हें हमारी जातिसे किसीभी प्रकारका भय न होगा।"

भगवान् बोले—"एक वर मैं अपनी ओरसे देता हूँ—जो मेरे इस क्रीड़ास्थल कालियदहमें आकर स्नान, ध्यान, पूजन करेंगे, देवता पितर तथा ऋषियोंका जलसे तर्पण करेंगे। उपवास करके मेरा ध्यान अथवा पूजन करेंगे। वे सभी पापोंसे छूटकर निष्पाप हो जायँगे। अब तुम अपने समस्त जाति वालोंके साथ, पुत्र, स्त्री तथा अन्य स्वजनोंके साथ यहाँसे समुद्रसे अपने टापूमें चले जाओ।"

कालियने दीनताके स्वरमें कहा—भगवन्! मुझे अपने देश लौटनेमें तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु गरुड़जीसे मेरा द्वेष हो गया है। वे जाते ही मेरे ऊपर प्रहार करेंगे मेरे बन्धु बान्धव तथा परिवार वालोंको क्लेश देंगे।"

भगवान् प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"तुमने जिन गरुड़ के भयसे अपने देशको छोड़ा था अब उनसे तुम्हें कुछ भी भय न होगा। मेरे चरण चिन्होंसे चिह्नित फणोंको देखकर गरुड़ तुम्हें देखते ही भाग जायगा, वह तुम्हें भक्षण न करेगा।

भगवान्ने कालिय नागको जीता था, वे विजयी थे, दूसरे उसके घरपर पधारे थे, अतः सर्वश्रेष्ठ अतिथि थे। इसलिये अपनी पत्नियों और पुत्रोंके सहित प्रसन्नता पूर्वक कालियने उनका शास्त्रीय विधानसे पूजन किया। नागोंके पास बड़ी-बड़ी बहुमूल्य मणियाँ होती हैं। भाँति-भाँतिके आभूषण होते हैं। देवताओंके जैसे वस्त्र आभूषण, मालायें तथा दिव्य गन्धमय चन्दनादि लेप होते हैं। नागने ये सब वस्तुएँ उपहारमें दीं, भगवान्को रेशमी वस्त्र पहिनाये, मुक्ता मणियोंसे युक्त दिव्य आभूषण पहिनाये तथा महामूल्यवान् मणियोंकी मनोहर मालायें उन्हें पहिनायीं। कमलके पुष्प और कमलकी मालाओंसे भी उनकी पूजा अर्चा की।

भगवान्‌ने कालिय द्वारा की हुई पूजाको विधिपूर्वक स्वीकार किया और अन्तमें कालियसे कहा—"अच्छी बात है। अब तुम सुखपूर्वक यहाँसे जा सकते हो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान्‌की आज्ञा पाकर कालिय नाग अपने बन्धु बान्धव पुत्र तथा पत्नियोंके सहित उनकी परिक्रमा करके अपने परिवारके साथ यमुनाजीके मार्गसे रमणक द्वीपकी ओर चल दिया। वह मार्गमें कुछ दिन प्रयागमें भी ठहरा था। अबतक बरुआ घाटके समीप यमुनाजीमें कालिय-ह्रद तीर्थ विख्यात है और उसीके नामसे 'अहियापुर' एक मुहल्ला भी प्रयागमें विद्यमान है।

इस प्रकार भगवान्‌ने उस दुष्ट सर्पको यमुनाजीके ह्रदसे बाहर निकाल दिया। उसी दिनसे उस कुंडका तथा वहाँके आस-पासकी यमुनाजीका जल विषहीन अमृतके समान सुस्वादु बन गया। उस दिनसे गौएँ, बछड़े तथा ग्वालबाल निर्भय होकर उस जलका पान करते थे। कालिय नागके निकलनेसे समस्त व्रजवासियोंको बड़ा आनंद हुआ। कालियको ह्रदसे निकालकर अब भगवान् सज बजकर बड़े आनंदके साथ सरोवरसे निकले। उनको देखकर व्रजवासियोंको कितना आनंद हुआ इसका कुछ दिग्दर्शन आगे कराया जायगा।

छप्पय

मुनि बोले घनश्याम महाँतैं अहि तुम जाओ।
अब स्वदेश महँ रहो सदा मेरे गुन गाओ॥
मम पद अङ्कित शीश गरुड लखि ढिग नहिं आवैं।
कालियदह महँ न्हाय सुकृतकरि नरसुख पावैं॥
कालियदह अरु कृष्णको, अति पावन सुखकर चरित।
रहहिं अभयते अहिनितैं, पढ़हिं सुनहिं श्रद्धासहित॥

श्रीहरिके बन्धुओंसे सम्मिलन तथा दावानलपान

(९२६)

तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः ।
ऊषुर्व्रजौकसो गावःकालिन्द्या उपकूलतः ॥❀
(श्रीभा० १० स्क० १७ अ० २० श्लो०)

छप्पय

दिव्य वस्त्र मणिमाल पहिन हरि दहतैं निकसे ।
मनहु उदधिमहँ नील सरोरुह मणियुत विकसे ॥
मृतक देह जनु प्रान लौटिकैं फिरितैं आये ।
त्यों उठि सबने प्रेम सहित हरि हृदय लगाये ॥
आलिङ्गन पुनि पुनि करैं, दये दान प्रमुदित भये ।
भूखे प्यासे ग्वाल गौ, ग्वा दिन तट पै बसि गये ॥

चिरकालके वियोगके अनंतर प्राणांतक विपत्तिके पश्चात् जो अपने प्रियसे भेंट होती है, उसमें अत्यन्त उत्कण्ठा तथा उत्सुकता सन्निहित रहती है। उस समय सभी अङ्ग चाहते हैं—हम उनके अंगोंमें मिल जायँ। नेत्र चाहते हैं हम इन्हें पी जायँ, रसना

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजेन्द्र! जिस दिन भगवान्ने कालिय नागका दमन किया था, उस दिन सभी व्रजवासी और गौएँ क्षुधा पिपासा तथा श्रमके कारण अत्यन्त दुर्बल हो रहे थे। अतः उस रात्रिको वे सबके सब वहीं यमुना तटपर ही रह गये।

चाहती है हम इनके सौन्दर्यका स्वाद चखें। माता पिताका प्रेम सन्तानके प्रति अत्यधिक होता है। हृदय रोता रहता है, वियोगमें संयोगमें सदा सन्तानके निमित्त अश्रु बहते रहते हैं, अंतर केवल इतना ही होता है, कि वियोगमें जो आँसू निकलते हैं, वे शोकके होते हैं और संयोगमें जो अश्रु आते हैं, वे हर्ष तथा प्रेमके आते हैं। संतान किसी भारी दुःखसे छूट जाय तो माता पिताको इतना हर्ष होता है, कि उस हर्षमें वे धन रत्नको तुच्छ समझते हैं और उसकी मंगल कामनाके निमित्त उसे दोनों हाथों से लुटाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कालियको व्रजसे निकालकर अब नटवर स्वयं भी दहसे बाहर निकले। उस समय उनका श्रीअंग तेज, प्रभाव, कान्ति, विजय तथा दिव्य वस्त्राभूषणोंके प्रभावसे दमदम दमक रहा था। नाग और नागपत्नियों द्वारा पूजामें दिये हुए चमकीले दिव्य पीले वस्त्रोंको भगवान् धारण किये हुए थे। कंठमें महामूल्यवाली मणियोंकी मनोहर मालायें सुशोभित हो रही थीं। सम्पूर्ण श्रीअङ्ग दिव्य गन्धसे अनुलिप्त था। सुवर्ण-मय आभूषण जिनमें स्थान स्थानपर बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे, वे उनके शरीरको पाकर स्वयं सुशोभित हो रहे थे। दिव्य मणियों के चाकचिक्यसे दशों दिशाएँ आलोकित हो रही थीं।

भगवान्को कालिय दहसे निकलते देखकर मृतकके सदृश निश्चेष्ट पड़े हुए व्रजवासियों तथा समस्त गौओंके शरीरोंमें मानों एक साथ नवजीवनका संचार हो गया। मृतक शरीरमें जैसे पुनः प्राण आनेसे उसकी समस्त इन्द्रियाँ पूर्ववत् चेष्टायें करने लगती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण दर्शनसे मूर्छा भंग होनेपर व्रजवासी सहसा उठकर खड़े हो गये। उन सबके नेत्र आनन्दके अश्रुओंसे आपूर्ण थे। अभी भगवान् उनके निकट नहीं आये थे, फिर भी वे मनसे मानों उनका आलिङ्गन कर रहे हों। यशोदा

जी, रोहिणीजी, नन्दजी तथा उनके सभी भाइयोंको कितना आनन्द हुआ इसका वर्णन करना कविकी कृतिके बाहरकी बात है। श्रीकृष्णको पाकर आबाल वृद्ध सभी सफल मनोरथ होकर सचेत हो गये। उन सबको ऐसा लगा मानों हमारे सर्वस्व अभी मृत्युके मुखसे लौटकर आये हों।

बलरामजी तो भगवानका प्रभाव जानते थे, उनका तो विश्वास था, कि चाहें एक मशक सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको ग्रस ले, चाहें सातों समुद्रका जल एक चींटीके बिलमें विलीन हो जाय, किन्तु कालिय नाग इन विश्वम्भर वनवारी विहारीका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। इसीलिये उन्होंने हँसते हुए श्रीकृष्णका आलिंगन किया। वे मन्द मन्द मुसकराते हुए श्रीकृष्णकी ओर निर्निमेष दृष्टि से निहार रहे थे। मानों सैनों ही सैनोंमें कह रहे हों, कि यह क्या आपने लीला रच डाली।

इस दृश्यको देखकर पर्वतकी दूब हरी भरी हो गयी। मानों स्वयं गिरिराज गोवर्धनका शरीर प्रसन्नतासे रोमाञ्चित हो रहा हो। गौओंके हर्षका तो कुछ ठिकाना ही नहीं था, वे अपने प्यारे गोपालको पाकर कानोंको उठाकर उनके अपार सौंदर्यका मानों अपलक दृष्टिसे पान कर रही हों। बैल तथा साँड़ रम्हा रहे थे, बछड़े इधरसे उधर हर्षके कारण फुदक रहे थे। श्रीकृष्णके श्रीअंगोंमें सट रहे थे।

गोपोंके जो कुलगुरू पुरोहित थे—जो कि सदा उनके सुख दुखमें साथ ही रहते थे—उन्होंने अपनी पत्नियों सहित आकर नंदजीको आशीर्वाद दिया। श्रीकृष्णकी मंगल कामनाकी और हर्ष प्रकट करते हुए नन्दजीसे बोले—"व्रजराज ! आज तुम्हारे बालकका मानों पुनर्जन्म हुआ है। आपने जैसे पहिले जन्मोत्सव मनाया था वैसे फिर मनायें। बड़े आनन्दके साथ छने-घुटे। ब्राह्मणोंको दान-दक्षिणा दीजिये। हलुआ, मालपुआ, मोदक

चाहती है हम इनके सौन्दर्यका स्वाद चखें। माता पिताका प्रेम सन्तानके प्रति अत्यधिक होता है। हृदय रोता रहता है, वियोगमें संयोगमें सदा सन्तानके निमित्त अश्रु बहते रहते हैं, अंतर केवल इतना ही होता है, कि वियोगमें जो आँसू निकलते हैं, वे शोकके होते हैं और संयोगमें जो अश्रु आते हैं, वे हर्ष तथा प्रेमके आते हैं। संतान किसी भारी दुःखसे छूट जाय तो माता पिताको इतना हर्ष होता है, कि उस हर्षमें वे धन रत्नको तुच्छ समझते हैं और उसकी मंगल कामनाके निमित्त उसे दोनों हाथों से लुटाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कालियको व्रजसे निकालकर अब नटवर स्वयं भी दहसे बाहर निकले। उस समय उनका श्रीअंग तेज, प्रभाव, कान्ति, विजय तथा दिव्य वस्त्राभूषणोंके प्रभावसे दमदम दमक रहा था। नाग और नागपत्नियों द्वारा पूजामें दिये हुए चमकीले दिव्य पीले वस्त्रोंको भगवान् धारण किये हुए थे। कंठमें महामूल्यवाली मणियोंकी मनोहर मालायें सुशोभित हो रही थीं। सम्पूर्ण श्रीअङ्ग दिव्य गन्धसे अनुलिप्त था। सुवर्ण-मय आभूषण जिनमें स्थान स्थानपर बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे, वे उनके शरीरको पाकर स्वयं सुशोभित हो रहे थे। दिव्य मणियों के चाकचिक्यसे दशों दिशाएँ आलोकित हो रही थीं।

भगवान्को कालिय दहसे निकलते देखकर मृतकके सदृश निश्चेष्ट पड़े हुए व्रजवासियों तथा समस्त गौओंके शरीरोंमें मानों एक साथ नवजीवनका संचार हो गया। मृतक शरीरमें जैसे पुनः प्राण आनेसे उसकी समस्त इन्द्रियाँ पूर्ववत् चेष्टायें करने लगती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण दर्शनसे मूर्छा भंग होनेपर व्रजवासी सहसा उठकर खड़े हो गये। उन सबके नेत्र आनन्दके अश्रुओंसे आपूर्ण थे। अभी भगवान् उनके निकट नहीं आये थे, फिर भी वे मनसे मानों उनका आलिङ्गन कर रहे हों। यशोदा

जी, रोहिणीजी, नन्दजी तथा उनके सभी भाइयोंको कितना आनन्द हुआ इसका वर्णन करना कविकी कृतिके बाहरकी बात है। श्रीकृष्णको पाकर आबाल वृद्ध सभी सफल मनोरथ होकर सचेत हो गये। उन सबको ऐसा लगा मानों हमारे सर्वस्व अभी मृत्युके मुखसे लौटकर आये हों।

बलरामजी तो भगवानका प्रभाव जानते थे, उनका तो विश्वास था, कि चाहें एक मशक सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको ग्रस ले, चाहें सातों समुद्रका जल एक चींटीके बिलमें विलीन हो जाय, किन्तु कालिय नाग इन विश्वम्भर वनवारी विहारीका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। इसीलिये उन्होंने हँसते हुए श्रीकृष्णका आलिंगन किया। वे मन्द मन्द मुसकराते हुए श्रीकृष्णकी ओर निर्निमेष दृष्टि से निहार रहे थे। मानों सैंनो ही सैनोंमें कह रहे हों, कि यह क्या आपने लीला रच डाली।

इस दृश्यको देखकर पर्वतकी दूब हरी भरी हो गयी। मानों स्वयं गिरिराज गोवर्धनका शरीर प्रसन्नतासे रोमाञ्चित हो रहा हो। गौओंके हर्षका तो कुछ ठिकाना ही नहीं था, वे अपने प्यारे गोपालको पाकर कानोंको उठाकर उनके अपार सौंदर्यका मानों अपलक दृष्टिसे पान कर रही हों। बैल तथा साँड़ रम्हा रहे थे, बछड़े इधरसे उधर हर्षके कारण फुदक रहे थे। श्रीकृष्णके श्रीअंगोंमें सट रहे थे।

गोपोंके जो कुलगुरू पुरोहित थे—जो कि सदा उनके सुख दुखमें साथ ही रहते थे—उन्होंने अपनी पत्नियों सहित आकर नंदजीको आशीर्वाद दिया। श्रीकृष्णकी मंगल कामनाकी और हर्ष प्रकट करते हुए नन्दजीसे बोले—"व्रजराज ! आज तुम्हारे बालकका मानों पुनर्जन्म हुआ है। आपने जैसे पहिले जन्मोत्सव मनाया था वैसे फिर मनायें। बड़े आनन्दके साथ छने-घुटे। ब्राह्मणोंको दान-दक्षिणा दीजिये। हलुआ, मालपुआ, मोदक

तथा, तरमै आदिका भोज हो, मन तो मीठा हो ही गया—मुँह और मीठा हो।"

उदारमनवाले नन्दजीने अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छी बात है। ब्राह्मणो! आप सबके सफल आशीर्वादों से ही आज मेरे लालाके प्राणोंकी रक्षा हुई है। आप जो कहेंगे वही होगा। मेरे यहाँ धन, रत्न तथा गौओंकी तो आप सबके आशीर्वादसे कमी ही नहीं है। यह सुवर्ण और गौओंका संकल्प तो अभी छुड़ाइये। शेष गोष्ठमें चलकर सब विधि विधान पूर्वक करेंगे।" ऐसा कहकर नन्दजीने तुरन्त वहीं बहुतसे सुवर्ण तथा गौओंका संकल्प किया।

यशोदाजीके हृदयमें मानों प्रेमका समुद्र हिलोरें मार रहा हो, वे बार-बार श्रीकृष्णको गोदीमें बिठाकर उनका आलिंगन करतीं मुख चूमतीं और उनके श्रीअंगपर अपने कम्पित करको फिरातीं। बड़ी देर तक यह लीला होती रही। इन सब बातोंमें कब भगवान् भुवनभास्कर अस्ताचलमें प्रस्थान कर गये, इसका पता किसीको भी नहीं लगा। सभी बाह्य ज्ञान शून्य हुए आत्म-विभोर बने हुए थे। जब कुछ चेतना हुई तो आपसमें कहने लगे—"अरे, अब तो बड़ी रात्रि हो गयी, हम सब लौटकर घर कैसे जायँगे। साथमें स्त्रियाँ हैं, छोटे छोटे बच्चे हैं।"

नन्दजीने कहा—"देखो, भाई हम अपने गोष्ठसे बहुत दूर आ गये हैं। आज इन गौओंने एक तृण भी मुखमें नहीं दिया है, हम सब भी भूखे प्यासे हैं, अतः आज अब गोष्ठमें लौटनेका विचार छोड़ दो। जैसे बन सके तैसे सुखसे-दुखसे आजकी रात्रि यहीं बिताओ, प्रातःकाल व्रजको चलेंगे।"

नन्दजीकी इस सम्मतिका सभीने सहर्ष अनुमोदन किया। अब वहीं कालियदहके निकट यमुना तटपर सबके आसन लगे। ग्रीष्म ऋतु थी। यमुना किनारे शीतल मन्द सुगन्धित वायु

चल रही थी, यमुनाजीकी कोमल गुदगुदी सीतल वायुमें बड़ा आनन्द आ रहा था, बातों ही बातोंमें आधी रात्रि हो गयी। आस पास बड़ा भारी सघन वन था। वनमें ग्रीष्म ऋतुके कारण सूखे पत्ते झड़े हुए थे। वायु लगनेसे वे खड़ खड़ शब्द कर रहे थे। कुछ दूर पर बाँसोंका भी वन था। वायुके झोंकेसे परस्परमें संघर्ष होनेके कारण बाँस चर्र मर्र-चर्र मर्र कर रहे थे। सहसा बाँसोंके संघर्षसे वनमें दावानल लग गयी। चारों ओरसे प्रलयाग्निके समान बड़ी बड़ी लपटोंवाली अग्नि व्रजवासियोंको जलानेके लिये आ रही थी। बहुतसे ग्वालबाल माताओंकी गोदियोंमें सो गये थे। बहुतसे गोप भी दिनभरके श्रमसे पड़ते ही सो गये। अब सहसा आधी रात्रिके समय यह अप्रत्याशित विपत्ति सम्मुख आ गयी, इससे वे सबके सब घबड़ा कर उठ खड़े हुए। उन्होंने देखा अब अग्निसे बचनेका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। चारों ओरसे अग्नि बढ़ी चली आ रही है। इन स्त्री बच्चों और गौओंको लेकर किधर जायँ, जब उन्हें कोई भी उपाय न सूझा, तो वे सोचने लगे—"जिस कृष्णने हमारी अघासुर, बकासुर तथा धेनुकासुर ऐसे बड़े बड़े असुरोंसे रक्षा की, जिसने इतने बलशाली कालिय नागका अभी अभी दमन किया, क्या वह कृष्ण हमें इस भयंकर दावानलसे नहीं बचा सकता? क्यों नहीं हम उसीकी शरणमें जायँ।" यह सोचकर वे मायासे मानुष बने अशरण शरण श्यामसुन्दरकी शरणमें गये। उनके समीप जाकर वे दुःखके साथ कहने लगे—"हे श्रीकृष्ण! तुम ही हम अशरणोंकी शरण हो। हे अमित-विक्रम! बलराम जी, तुम ही चाहो तो हमें इस विपत्तिसे बचा सकते हो। तुम दोनों हमें मनुष्य प्रतीत नहीं होते! तुम हमारे ही नहीं, इस चराचर जगत्के स्वामी भी हो। देखिये, आपने हमें अपना स्वजन करके स्वीकार किया है, आप दोनोंके रहते, हमपर ऐसी घोर विपत्ति

पड़े यह उचित नहीं है। आपने सदा हमारी बड़े बड़े क्लेशों रक्षाकी है। आज इस संकटसे भी हमें बचाइये। इस भयङ्कर दावाग्निसे हमारी रक्षा कीजिये। आपके श्रीचरण कमल अकुतो भय हैं। जो इन चरणोंकी शरण आ जाता है, उसे इन छोटे मोटे दुःखोंकी तो बात ही क्या संसारका दुःख नहीं होता। अब हमारी इस विपत्तिसे रक्षा करें।"

अपने ग्वालबाल और गोपोंकी ऐसी दीन और कातर वाणी सुनकर श्यामसुन्दर हँस पड़े और बोले—अरे, जाओ सारेओ तनिक सी चिनगारीसे डर गये। अच्छा सबके सब आँख मींच लो।"

सूतजीने कहा—"महराज! भगवान्‌की आज्ञा पाते ही सभी गोपोंने दोनों हाथोंसे कसकर अपनी अपनी आँखें मींच लीं तब अनन्त शक्तिधारी सर्वसमर्थ जगदीश्वर श्रीकृष्णचन्द्र उस अग्निको पान कर गये। जो विश्व ब्रह्माण्डोंको श्वास-श्वासमें पान कर जाते हैं, उनके लिये तनिकसी दावाग्निका पान करना कोई कठिन बात नहीं है। पान करनेके अनन्तर भगवान्‌ने कहा—"अच्छी बात है, खोलो सब अपनी-अपनी आँखें।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर सबने आँखें खोली, तो न वहाँ अग्नि, न धूँआ। यह देखकर सभी बड़े विस्मित हुए। तदनंतर सभी तान दुपट्टा सोये! प्रातःकाल होते ही सब व्रजमें आये। आते ही व्रजमें खीर घुटी, चकाचक मालपूआ छने। ब्राम्हणोंको भोजन कराया और समस्त गोप गोपियोंने मिलकर प्रभुके साथ प्रसाद पाया। यह मैंने अत्यंत संक्षेपमें कालिय-निग्रहकी कथा कही, अब भगवान्‌ने जैसे प्रलम्बासुरका उद्धार किया, उस कथाको आगे कहूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

शीतल मंद सुगन्ध पवन बालू अति कोमल।
सोये आधी राति, उठी बनमहँ दावानल॥
देखि अगिनिकी लपट गोप सबरे घबराये।
दीन दुखी अति भये शरन श्रीहरिकी आये॥
ब्रजवासिनिकूँ सभय लखि, हँसि मोहन ठाढ़े भये।
नयन मुँदाये सबनिपै, तुरत अगिनि सब पी गये॥

घुड़चढ़ी लीला

(९२७)

तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ ।
कृष्णसंघट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे ॥
आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्ययवाहकलक्षणाः ।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १८ अ० २०-२१ श्लो०)

छप्पय

करि कालिय उद्धार प्रात आये वृन्दावन ।
नित नित जावें श्याम सबल बन धेनु चरावन ॥
मोर मुकुट सिर धारि गले वैजन्ती माला ।
बनि ठनि बनकूँ जाहि करें क्रीड़ा नँदलाला ॥
दादुर, केकी, हंस, अहि, चाल चलें चंचल चपल ।
समर करहिं नृप बनिकबहुँ, करहिं खेल नितनव नवल ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वनमें जाकर गोपोंने खेलमें श्रीकृष्णचन्द्रजी तथा बलरामजीको अपने अपने दलका प्रधान बनाया। गोपोंमें से कुछ श्रीकृष्णकी ओर हो गये, कुछ बलरामजीकी ओर। फिर वे घोड़ा बनकर चढ़ने चढ़ानेको बहुतसे खेल खेलने लगे। इन खेलोंमें जो दल हार जाता, उसे विजित दलके लोगोंको पीठपर चढ़ाकर ले जाना पड़ता।

लोग कहा करते हैं, एक बातको बार बार क्या कहना, कोई नयी बात कही जाय। वे भोले भाई यह नहीं जानते, संसारमें नयी कोई बात ही नहीं। सदा सर्वदा उन्हीं-उन्हीं पुरानी घटनाओंकी आवृत्ति होती रहती है। हम नित्य ही शौच जाते हैं, नित्य ही स्नान करते हैं, नित्य ही भोजन करते है, नित्य ही दैनिक व्यापार करते हैं। वे ही सोलह स्वर और चालीस व्यंजन हैं, चाहे तुम कितना भी बड़ा ग्रन्थ लिखो, कितनी भी खोज पूर्ण बातें लिखो, सबको इन्हीं स्वर व्यंजनोंमें लिखना होगा। एक भी शब्द ऐसा न होगा, जो इनसे भिन्न हो। इसी प्रकार भगवान्‌की लीलाओंका भी कई स्थानपर बार बार वर्णन हुआ है। इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं होता। वे तो भक्तोंको, जितनी बार सुनते हैं उतनी ही बार नयी-नयी सी प्रतीत होती हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् आनंदकन्द व्रजचन्द्र छैऊ ऋतुओंमें व्रजमें निवास करते हैं। उनके निवाससे व्रजमें सभी ऋतुएँ सुखदायिनी बन जाती हैं। भगवान्‌ने तो लीलाके निमित्त गोपाल वेष धारणकर रखा है। वे उसी वेषसे व्रजमें विचित्र विचित्र क्रीड़ाएँ किया करते हैं। कालियदमन और दावानल पानकी ये ललित लीलायें लावण्यधाम श्यामने ग्रीष्म ऋतुमें की थीं। ग्रीष्म ऋतु प्राणियोंको कुछ विशेष सुखदायिनी तो होती नहीं। दिनभर अग्नि बरसती है, सबके शरीर तप जाते हैं। रोमोंके छिद्रोंसे सदा स्वेद निकलता रहता है। भूख कम हो जाती है, प्यास बढ़ जाती है, नींद कठिनतासे आती है। घास सूख जाती है, भूमि तप जाती है, बालूमें बाहर निकलना मृत्युके सदृश प्रतीत होता है। दंश-मच्छर बहुत हो जाते हैं, खाटोंमें खटमल पड़ जाते हैं, नदियोंका जल सूख जाता है। अग्निके समीप जानेमें भी भय लगता है। वायु भी उष्ण हो जाती है, लू चलने लगती है, धूलि उड़ती है। कहाँ तक कहें ग्रीष्म

ऋतुमें सभी संतप्त हो जाते हैं। कुछ काम नहीं होने पाता। वैसे ग्रीष्मके बिना वरषा नहीं होती। वर्षाके बिना अन्न नहीं होता अन्नके बिना जीवन नहीं। इसलिये ग्रीष्म—उष्णता—आवश्यक है, फिर भी प्राणियोंको यह ऋतु अधिक सुखकर प्रतीत नहीं होती किन्तु वृन्दावनमें यह बात नहीं। वहाँ तो सभी ऋतुएँ भगवान्‌का मुख देखकर ही सरदी गरमी करती हैं। जहाँ अपने अंशभूत बलदेवजी के सहित बाँके विहारी विहार करते थे, उस वृन्दावनकी रसमयी पावन भुमिमें तो बारहों महीने वसंतकी-सी छटा छायी रहती थी। वहाँके झरने तब कभी सूखते नहीं थे। सदा कल-कल नाद करते हुए कृष्णलीलाका सतत गान करते हुए से प्रतीत होते थे। सघन वनमे जो झिल्लियोंका झनझन शब्द होता रहता था, उससे झरने प्रतिस्पर्धा करते थे और अपने कल-कल निनादसे उस शब्दको दबा देते थे। यद्यपि ग्रीष्मकी उष्णतासे सब स्थानोंकी भूमि तप जाती है, शुष्क हो जाती है, वायु गरम हो जाती है, किन्तु वृन्दावनके झरनोंके कणोंको लेकर अनिल वहाँकी दूर्वा को आर्द्र बना देता था। वहाँके वृक्ष शीतल हो जाते थे और वहाँकी वायु सुखद स्पर्श बन जाती थी। वहाँकी वायु शीतल ही नहीं हो जाती थी, किन्तु वह न बहुत मंद चलती थी न बहुत वेगसे। नदी, सरोवर, झरनों तथा अन्य क्षुद्र जलाशयोंकी तरङ्गोंके संसर्गसे और उनमें खिले हुए लाल, सफेद तथा नील आदि कमलोंके परागके कारण वह सुगन्धित भी होती थी। ऐसी शीतल मन्द सुगन्ध वायुके कारण पथिकोंको वृन्दावनकी वीथियोंमें विचरनेसे न श्रम होता था, न स्वेद, वे संतापसे बचकर सुखपूर्वक इधर से उधर डोलते रहते थे। व्रजमें बहने वाली नदियोंका जल सुन्दर सुस्वादु स्वच्छ और अगाध था, उनके ऊँचे ऊँचे तटों पर टक्कर मारती हुई लहरें उसके समस्त कछार-प्रदेशको आर्द्र बनाये रहती थीं। इससे वहाँकी

घास अत्यंत हरी और चिकनी होती थी। समान भूमिपर एक सी हरी हरी घास ऐसी प्रतीत होती थी, मानों किसीने हरे रंगका रेशमी गुदगुदा गलीचा बिछा दिया हो।

वृन्दावनके बन्दर, मयूर, खग-मृग तथा अन्य स्थलजन्तु सारस, चक्रवाक, जल कुक्कुट बक तथा अन्यान्य जलजन्तु सभी क्रीड़ा प्रिय और दर्शनीय थे। वे पशु पक्षी क्या थे, गूढ़ रूपसे बड़े बड़े सिद्ध योगी मुनि श्रीकृष्ण सेवा करनेके निमित्त इन रूपोंमें विचरण कर रहे थे। अपनेको इन योनियोंमें छिपाकर श्रीकृष्ण मुखकमल मकरन्दका मत्त होकर पान कर रहे थे। श्रीवृन्दावन, बाँकेबिहारीके विहार करनेकी विशेष क्रीड़ास्थली है। श्रीकृष्ण जैसे क्रीड़ा कौतुक प्रिय हैं उसी प्रकार वहाँके समस्त जीवजन्तु भी क्रीड़ाप्रिय हैं, वे सबके सब श्यामसुन्दरकी सुमधुर मुरलीकी धुनि सुनकर चित्र लिखेसे रह जाते हैं और वनमें प्रवेश करते ही उनके पीछे-पीछे लग जाते हैं। छैल चिकनिया कन्हैया सदा बने ठने रहते थे। उनके मुखपर सदा मन्द-मन्द मुसकान ही छिटकती रहती थी। विषाद करना तो वे जानते ही नहीं थे। गौओंको आगे करके बलदेवजी और अन्य गोपोंके साथ वनमें गौएँ चराने जाते थे। यही उनका नित्यका व्यापार था, यही कार्य था, यही उनकी दैनिक लीला थी। एक दिनकी बात है, कि भगवान ने उसी नटवर वेषसे, मुरली बजाते हुए पल्लवित पुष्पित तथा फलित सुन्दर-से एक वनमें प्रवेश किया। वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर तो सबके सब अपने अपने घरोंसे ही आये थे। यहाँ आकर वनका नाटक करना है न ? गोपलीलाका अनुकरण करना है न ? इसीलिये घुँघची, गेरू, सेलखड़ी, मोरपंख, फूल-फलोंके स्तवक, फूलोंकी मालाएँ आदि वस्तुएँ ले आये। इन सबसे गोप परस्परमें एक दूसरेका शृंगार करने लगे, एक दूसरेको सजाने लगे।

भगवान्‌के साथ सहस्रों ग्वालबाल थे। उन सबके अधिनायक ये दोनों भाई श्याम और राम ही थे। अतः ये सबको विचित्र-विचित्र खेल खिलाते थे। श्रीकृष्णचन्द्रजीने आज सबसे पूछा—"भाई देखो, आज विचित्र-विचित्र खेल-खेलने हैं, अब अपनी-अपनी रुचिकी बात बताओ, किसे कौनसा खेल अधिक प्रिय है। सबसे पूछनेका कारण यह भी है, कि मुझे फिरसे सब खेल याद आ जाय। सब अपना एक-एक प्रिय खेल बताओ।

यह सुनकर किसीने कहा—"हमें तो भैया! तेरा नाच बड़ा अच्छा लगता है, जब तू घुँघरुओंको बजाकर भावोंको दिखाकर सैनोंको चलाकर ताल स्वरसे नाचता है और हम सब तेरे साथ गाते हैं, तेरी तालमें ताल मिलाकर वंशी, नरसिंहा तथा हाथकी तालियोंको बजाते हैं, तो आनन्द आ जाता है। इस खेलके सम्मुख हमें तो सब खेल फीके लगते हैं।"

किसी ने कहा—"नाच तो अच्छा ही है, किन्तु सच्ची बात यह है, कि हमें नाच गानसे द्वन्द्व युद्ध अत्यंत प्रिय है। जब कछनी कसकर। ताल ठोंकते हुए परस्परमें बराबरके जोड़ अखाड़ेमें लड़ते हैं, तो उनके दावपेचोंको देखकर हमें बड़ा आनंद आता है। दोनों ओरसे चटाचट-पटापट होती है। वह उसे पटकता है, वह उसके नीचेसे इधर उधर सटकता है। अतः और चाहे खेल कम हों—मल्लयुद्ध नित्य हुआ करे।"

किसीने कहा—"हमें तो भैया, गेंद-बल्लीका खेल अच्छा लगता है। गेंद चक्कर काटती हुई सन्न-सन्न करती हुई ऊपर उछलती है। फिर गिरती है उसे बीचमें ही लपक लेने में बड़ा आनन्द आता है। गेंदका खेल लाभदायक भी है, सुन्दर भी है सुखकर भी है। अतः कंदुकक्रीड़ा सदा हुआ करे।"

किसीने कहा—"हमें तो दौड़कर लाँघना, ठेका मारना,

उछलना कूदना ये खेल बहुत प्रिय हैं। जो जितना ही दौड़कर कूद जायगा उतना ही उसका शरीर स्फूर्तिदायक होगा।"

किसीने कहा—"हमें तो बेलोंका खेल बहुत प्रिय है। बेल बहुत गुणदायक फल हैं। पेटके समस्त रोगोंकी औषधि भी है, इसका मुरब्बा भी सुंदर बनता है, हम तो समझते हैं—नित्य बेलोंको तोड़कर उन्हें उछालकर उनसे खेला जाय, खेल समाप्त होनेपर आगमें भूनकर खा लिया जाय, एक पन्थ दो काज। खेलका खेल और भोजनका भोजन।"

किसीने कहा—"हमें तो बेलकी अपेक्षा आँवलेका खेल अत्यंत प्रिय है। वैद्य लोग कहते हैं आँवलेसे बढ़कर लाभदायक कोई फल नहीं, धर्मशास्त्रवाले कहते हैं—आँवला खानेसे ही मोक्ष हो जाती है। हमारा कहना है—आँवलोंसे खेलनेसे ही मोक्षकी नानी मिल जायगी। आँवलोंको तोड़ो, उछालो, एक दूसरेको मारो। खेलकर अपनी अपनी जेबमें रखकर ले जाओ मैयासे चटनी बनाकर चट्-चट् रोटीके संग खा जाओ।

किसीने कहा—"ये सब तो स्थलके खेल हैं। हमारा विचार ऐसा है, कि घड़ोंकी घिटनी बनाकर उन पर चढ़कर यमुनाजीके इस पारसे उस पार चला जाय और उस पारकी बालूमें कबड्डी खेली जाय।"

किसीने कहा—"अरे, कहाँ उस पार जाना। यहीं सब मिलकर आँख मिचौनी खेल खेलो। हमारा तो निश्चित सिद्धान्त है आँख मिचौनी खेलके सदृश खेल न हुआ है न आगे होगा।

एक बोला—"चील झपट्टा हो, लभेरवशी हो, कोई भी खेल हो—ऐसा हो जिसमें छूनेके लिये सबको भागना पड़े। सबको समान श्रम करना पड़े।

भगवान् बोले—" इन सब खेलोंको तो खेलते ही हैं। आज

भी खेलेंगे। अब यह बताओ ? कौन-कौन किस पक्षीकी चाल चलना, बोली बोलना जानते हैं ?"

इसपर एकने कहा—"कनुआ भैया ! हम तो देख मोरकी चाल कैसी चल लेते हैं।" यह कहकर उसने हाथोंको भूमिपर रखकर दोनों पैर ऊपर कर दिये और हाथोंके बल मयूरकी भाँति चलने लगा।" किसीने कहा—"देख, हम हिरन की भाँति उछल-उछल कर कैसे दौड़ते हैं।' यह कहकर वह हिरनोंकी भाँति उछलने लगा। किसीने कहा—हम मेढ़क चाल जानते हैं किसीने मगरचाल किसीने सर्पचाल और किसीने कुक्कुट चालोंको दिखाया। कोई कुत्ताकी बोली बोलने लगे कोई बिल्लीकी। कोई कोकिलकी भाँति कूजकर हँसने लगे, कोई गधेकी भाँति हेंचू हेंचू करके रेंकने लगे।

इसपर श्रीदामा बोला—"अब भैया कोई खेल हो।"

श्रीकृष्ण बोले—"तुझे कौनसा खेल अच्छा लगता है ?'

श्रीदामा बोला—"हमें तो सभी खेल अच्छे लगते हैं, किन्तु हाथोंकी डोली बनाकर दुलहा बनाकर जो व्याहका खेल है, वह हमें सबसे अच्छा लगता है।'

श्रीकृष्णने हँसकर कहा—"चल सारे ! तुझे सदा व्याहकी ही चटपटी लगी रहती है।

श्रीदामाने झूठी गंभीरता दिखाते हुए कहा—"व्याहकी चटपटी तो भैया तुझे भी लगी रहती है। किन्तु अब तू सबके सामने बाबाजी बनता है—देखें तू कभी विवाह न करेगा।

श्रीकृष्ण बोले—"अरे करेंगे तब करेंगे। अभीसे क्या ?' फिर बलदाऊजीकी ओर देखकर भगवान् बोले—"दादा ! तुम बताओ तुम्हें कौनसा खेल प्रिय है ?"

बलदेवजी बोले—"हमें तो भैया, वही राजा वाला खेल अच्छा लगता है। एक राजा बने, उसके बहुतसे मंत्री बने, बहुत सैनिक हों। एक दूसरा राजा बने, उसकी भी सेना हो, दोनोंमें

तयुद्ध हो। इस एकही खेलमें सब लड़के सम्मिलित हो सकते हैं।"

यह सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रजीने कहा—"दादा! तुम ही हम सबके राजा हो। यही खेल हो। तब बहुत देर तक यही खेल

होता रहा। किसी गोपको नाचनेवाली बना दिया, वह राजा बने बलदेवजीके सम्मुख नाचने लगा। श्रीकृष्णको प्रधान मंत्री बना दिया। वे बलदेवजीके साथ बैठकर राजकाज करने लगे। बहुतसे गोप राय भाट बनकर आये, राजा और मंत्रीकी प्रशंसा करने लगे। ये गोप तो सबके सब देवता ही थे। सब जानते थे। खेलमें भी ज्योंकी त्यों वही स्तुति करते थे। दोनोंके सुंदर कटे हुए, कढ़े हुए चिकने बाल थे। वनोंमें स्वच्छन्द होकर गोपोंके साथ नाना भाँतिकी क्रीड़ाएँ किया करते थे। जब जो जिस खेलकी याद दिला देता तब आप उसी खेलको खेलने लगते। इस प्रकार लोकमें जितने बालकोंके खेल प्रसिद्ध हैं, उन सबको वृन्दावनके

नदी, पर्वत, कन्दरा, वनों और कुञ्ज निकुञ्जोंमें सदा खेलते रहते खेलते खेलते श्रीकृष्णचन्द्रको एक खेलकी याद आ गयी। वे बोले भाई 'घुड़ चड्डी" का खेल बहुत दिनोंसे नहीं किया।

सबने कहा—"हाँ, उसमें बड़ा आनन्द आता है वह खेल हो।"

श्रीकृष्णने पूछा—"खेलके दो दलोंके दलपति कौन होंगे।

श्रीदामा बोला—"एक दलका तो भैया! तू दलपति बन जा और दूसरे के बलदाऊ बन जायँ।"

सबने एक मतसे स्वीकार किया। दोनों भाई बैठ गये। अब दो दो लड़के अपना गुप्त नाम रखकर आने लगे। आकर कहते-"चीरा फारी" यह सुनकर दोनों दलपतियोंमेंसे कह देता "अर फर" तब उन दोनोंमें से जिसने चीरा फारी नहीं कही है, वह गुप्त नामोंको लेकर पूछेगा—"आम लोगे या जामुन" तो इसपर दूसरा दलपति कह देगा—"आम" तो जिसका आम नाम होगा। वह उस दलमें चला जायगा, बचा हुआ इसमें। इस प्रकार बड़ी देर तक बटवारा होता रहा।

जब सब गोप इस प्रकार क्रीड़ा कर रहे थे, उसी बीचमें एक असुर श्रीकृष्ण और बलरामजीको मारनेकी इच्छासे वहाँ आ गया। उसने श्रीकृष्णके बल पुरुषार्थकी प्रशंसा बहुत सुनी थी, इसलिये उसने सोचा—"पहिले मैं बलदेवजीको मार डालूँ। बलदेवजीके मार देनेमें श्रीकृष्णका बल आधा हो जायगा। निर्बल हो जानेसे फिर इन्हें भी मार दूँगा।" ऐसा निश्चय करके उसने एक गोपका वेष बना लिया। जो गोप नहीं आया था, उसी का ज्योंका त्यों रूप उसने रख लिया। और कोई गोप तो समझ ही न सके, भगवान उसे जान गये। उसकी इच्छा भी थी, मैं श्रीकृष्णके पक्षमें होकर खेलूँ।" श्रीकृष्ण तो सबके घट घटकी जानते हैं, जो उनके साथ खेलना चाहता है, उसे सहर्ष अपने

खेल में सम्मिलित कर लेते हैं। इसलिये उस गोप बने छद्म वेष धारी असुरको भी अपने दल में मिला लिया। जब दोनों दल बँट कर पृथक् हो गये, तब होने लगा खेल।"

शौनकजीने शंकायुक्त होकर पूछा—"सूतजी! उस असुर प्रलम्बने कुछ खेल में गड़बड़ सड़बड़ तो नहीं की?"

हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! वह अघासुर भगवान्के खेलमें क्या गड़बड़ सड़बड़ करेगा। उसका आना यह भी एक खेल ही था। जैसे खेल ही खेल में बलदेवजी ने उसे अघासुर बकासुर तथा धेनुकादि असुरोंका मार्ग दिखा दिया। उस प्रसङ्गको मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

घुड़चढ़ीको खेल होहि बोले बालक सब।
दलपति बनि बलश्याम उभयदल बँटे ग्वाल तब॥
शुभ अवसर लखि असुर गोप बनिके तहँ आयो।
प्रभु प्रलम्ब पहिचान पक्ष निजमाँहि मिलायो॥
हारे हरि निज दल सहित, जीते बल आगे बढे।
श्रीदामा हरिपै चढ्यो, बल प्रलम्ब ऊपर चढ़े॥

प्रलम्बासुर उद्धारलीला

(९२८)

पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः ।
अभ्यवर्षन्बलं माल्यैः शशंसुः साधु साध्विति ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १८ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

श्रीदामाकूँ लिये श्याम निरखैं मुरिमुरिकैं ।
बलकूँ लीये असुर वेगतैं चले उछरिकैं ॥
हँसि श्रीदामा कहे हमारो घोड़ा अड़ियल ।
बलदाऊको भगे देखिवेमहँ जो सड़ियल ॥
संकर्षनकूँ लै असुर, दाईतैं आगे बढ़्यो ।
गोपरूप तजि रूप निज, धारन करि नभमहँ उड़्यो ॥

कौन सुर है, कौन असुर है, ऊपरी रूप देखकर कोई नहीं पहिचान सकता, जिसका मन सदा मनमोहनसे मिला रहता है, वह तो सुर हैं और जो ऊपरसे चाहे कितना भी सुन्दर वेष बनाये हुए हो, जिसके मनमें कपट है, जो ठगनेके लिये सुन्दर

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! बलरामजीके द्वारा पापी प्रलम्बासुरके मारे जानेपर देवगण परम प्रमुदित हुए और संकर्षण भगवान्पर फूलोंकी वर्षा करने लगे तथा उनकी प्रशंसा करते हुए बार बार साधु साधु कहने लगे ।

वेष बनाये हुए है, असुर है, वध्य है। असुर बनकर भी जो भगवान्‌से द्वेष करता है, भगवान्‌के साथ खेलता है, भगवान्‌को छलना चाहता है, भगवान्‌को पीठपर चढ़ाकर भागता है, वह भगवान्‌के संसर्गसे मुक्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ग्वाल-बालों के साथ भगवान् घुड़चड्डीका खेल खेल रहे थे। दो दल हो गये थे। एक दलके दलपति तो स्वयं दामोदर थे और दूसरे दलके अधिपति संकर्षणावतार भगवान् बलदेवजी थे। बलदेवजीके दलवालोंने कोई प्रश्न पूछा। श्रीकृष्णके दलवालोंमेंसे किसीपर उसका उत्तर ही न आया। घट घटके जाननेवाले सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव भी न बता सके। श्रीकृष्णके दलवालों की हार हो गयी। बलदेजीके पक्षके लोग जीत गये। यह पहिले ही नियम हो चुका था कि जो पक्ष हार जायगा, उस पक्षके सब लोगोंको विजयी पक्षवालोंको पीठपर चढ़ाकर भांडीर नामक वट तक पहुँचाना होगा। वहाँ से भांडीर वट कुछ दूर था। अब बलदेवजीके पक्षके ग्वालबाल तो विजयके उल्लासमें ताली बजा बजाकर नृत्य करने लगे, श्रीकृष्णके दलवालोंका मुख मुरझा गया। किन्तु करते क्या प्रतिज्ञानुसार सबको लादकर भांडीर वट तक तो ले जाना ही था। दौड़कर श्रीदामाने भगवान श्रीकृष्णचन्द्रका हाथ पकड़ लिया और बोले—"इसे तो मैं अपना घोड़ा बनाऊँगा।"

एक गोपने कहा—"हट, सारे! नँदलालको घोड़ा बनावेगा?"

श्रीदामा अकड़कर बोला—"नँदलाल राजकुमार होंगे, तो अपने घरके होंगे। खेलमें कौन किसका स्वामी, कौन किसका सेवक। खेलमें सब समान हैं। जिसका दाव लग जाय वही बड़ा है। दस गैयाँ अधिक होने से ही कोई बड़ा थोड़े हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा—अच्छी बात है भैया! तुझे मैं अपनी

पीठपर चढ़ाकर भांडीर वट तक ले चलूँगा, किन्तु बलराम भैया को कौन पीठपर चढ़ावेगा ?"

इतने में ही गोप बना प्रलम्बासुर बोल उठा—"बलदेवजीको चढ़ाकर मैं चलूँगा।"

श्रीकृष्णचन्द्र तो यह चाहते ही थे—"उन्होंने साधु-साधु कहकर महर्ष सम्मति दे दी। इतनेमें ही शीघ्रतासे वृषभने कहा—"भद्र सेन पर मैं चढ़ूँगा। इसी प्रकार बलदेवजीके दलके समस्त विजयी गोपोंने पराजित श्रीकृष्णके पक्षके समस्त बालकोंको घोड़ा बना लिया। श्रीकृष्ण भगवान्की दृष्टितो प्रलम्बासुर पर ही लगी थी, वे बराबर कनखियों से प्रलम्बको ही देखते ही रहते थे। भगवान् श्रीदामाको चढ़ाकर आगे चल दिये। यह दुष्ट प्रलम्बासुर सब देख रहा था। इसने जब देखा, कि श्रीकृष्ण आगे निकल गये हैं तब यह बलदेवजी को पीठपर चढ़ाकर दौड़ा।

बलदाऊजीके हृदयमें तो भङ्गकी तरंगें उठ रही थीं। हँसते हुए बोले—"भैया, औरोंके घोड़े तो फिसिड्डी हैं, कोई अड़ियल हैं। घोड़ा तो हमें मिला है। जो पवनसे बातें कर रहा है।

यह सुनकर हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—"दादा! आप देखिये आपका घोड़ा कैसे रङ्ग बदलता है। तनिक सावधानीसे इस घोड़ेको हाँके।"

भगवान् श्रीदामाको चढ़ाये ही चढ़ाये ये बातें कह रहे थे, कि इतनी देरमें वह असुर बहुतदूर निकल गया। चढ़ाकर ले जानेका स्थान भाण्डीर वट ही था। उसे ही सबने दाईं मान रखी थी। वह प्रलम्बासुर बलदेवजी को वहाँ से भी आगे ले गया। यद्यपि धरणीधर को धारण करना साधारण काम नहीं था, फिर भी वह तो असुर ही था। जब उसने देखा मैं गोपको

आँखोंसे ओझल हो गया हूँ, तो उसने अपना स्वाभाविक यथार्थ दैत्य रूप धारण कर लिया।

उसका रङ्ग काला था, देखनेमें वह पंखयुक्त अंजन पर्वत के समान प्रतीत होता था। उसके काले अंगोंपर सुवर्णके आभूषण ऐसे प्रतीत होते थे, मानों सौदामिनी सुदामा पर्वतसे प्रकट न होकर अंजन पर्वतसे प्रकट हो रही हो। उस पर्वत शिखरके समान असुर के ऊपर बैठे हुए बलदेवजी ऐसे प्रतीत होते थे, मानों शरदके पूर्णचन्द्रको विद्युद्दाम मण्डित कृष्ण वर्णका मेघ अपनी पीठ पर चढ़ाये आकाशमें भागा जा रहा हो। अब वह पृथिवीपर पैरोंसे न चलकर आकाशमें उड़ने लगा। अब बलरामजीको चेत हुआ। वे सोचने लगे—"कृष्ण का कहना सत्य ही हुआ। यह घोड़ा तो रङ्ग बदलने लगा। भूमिको छोड़कर आकाश में उड़ने लगा। छोटेसे बड़ा हो गया। गोपसे असुर बन गया। इसके काले अंगकी कान्ति कनकके कटक, किरीट और कुण्डलोंसे दिशाओंको उद्भासित कर रही है। इसके नेत्र विद्युत्के सदृश जल रहे हैं, इसकी बड़ी बड़ी लम्बी पैनी दाढ़ें भ्रुकुटितट तक पहुँची हुई हैं, इसके लाल लाल खड़े हुए केश अग्निशिखाओं के सदृश प्रतीत हो रहे हैं। अवश्य ही यह कोई मायावी दैत्य है।" इस विचारके आते ही बलदेवजी कुछ सटपटा गये।

फिर सोचने लगे—"अरे, मैं तो संकर्षणावतार हूँ, मुझे इस तुच्छ असुर से क्या भय हो सकता है।" यह सोचकर वे असुरके ऊपर बैठे ही बैठे सम्हले और उसे धनापहारी चोरके सदृश दौड़ते देखकर बलरामजीने उसे रोका, किन्तु अब घोड़ा रुकनेवाला थोड़े ही था, वह बलदेवजीको देखकर गुर्राया।

बलदेवजीने कहा—"अरे, घोड़े मार्गभ्रष्ट हो गया है क्या? पीछे लौट।"

यह सुनते ही वह लाल लाल आँखें निकालकर बलदेवजीकी ओर क्रूरता भरी दृष्टिसे देखने लगा। बलदेवजीने कहा—"देख घोड़े! तू घोड़ेकी भाँति रहेगा, तब तो तेरा कल्याण है, यदि तैंने कुछ तीन पाँच करी, तो बच्चूजी! मारे मारे कोड़ोंके तेरी गति बना दूँगा।"

असुरको अब किसका भय था, वह तो समझता था, बलदेवजी मेरे पंजेमें फँस गये। उसने उछल कूद आरम्भ की। अब बलदेवजी सम्हले और उन्होंने हाथकी मुट्ठीको बाँधकर बड़े वेगके साथ उसके सिरपर एक मुक्का मारा। मुक्के लगते ही उस असुरका सिर पकी फूँटके समान बीचसे फट गया और मुखसे रुधिर वमन करता हुआ भूमिपर गिर पड़ा। बलदेवजीजीका मुक्का साधारण मुक्का तो था नहीं, उसे सब सहन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। वह पहाड़ के सदृश डीलडौल वाला असुर इन्द्रके धनुषके समान भयङ्कर शब्द करता हुआ आकाशसे नीचे गिर गया और तुरन्त ही मर गया। बलदेवजी उतरकर उसे देखने लगे।

इतनेमें ही पीछे सभी ग्वालबाल अपने अपने सवारको चढ़ाकर भाण्डीरकवटके समीप पहुँचे। वहाँ बलदेवजीको न देखकर तथा असुर के मरनेका भयंकर शब्द सुनकर सब दौड़े-दौड़े बलदेवजीके निकट आये। वहाँ आकर सबने देखा वह क्रूरकर्मा असुर भयंकर वेष बनाये मरा हुआ पड़ा है। सब लोग रहस्य को समझ गये। हँसते हुए श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—"दादा! तुम्हारा घोड़ा तो क्षणभरमें ही छोटेसे बड़ा और पतलेसे मोटा हो गया है।"

बलदेवजीने हँसकर कहा—"अरे, भैया! तू घोड़ोंका बड़ा पारखी है, तैंने इस घोड़ेकी चाल ढालको देखकर पहिले ही कह दिया था, कि यह रङ्गबदल घोड़ा है। सो, इसने यहाँ आते ही

रूप बदल दिया। मैंने भी फिर इसे परलोक ही पठा दिया।"

गोप आश्चर्यके साथ उसे देखकर कहने लगे—"अरे, यह तो असुर निकला। बलदाऊजी! आपने बड़ा ही सुन्दर कार्य किया, अच्छा हुआ यह दुष्ट आपका घोड़ा बना, यदि हममें से किसी को ले जाता, तबतो यह मार ही डालता। आप बड़े बली हैं। भगवान् करें, आप जुग-जुग जीवे और इसी प्रकार सदा हमारे संकटोंको दूर करते रहें और देवताओंके कंटक इन असुरोंको पछाड़ते रहें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार सभी ग्वालबालोंने बलशाली बलदेवजी की बहुत प्रशंसा की, उन्हें अनेकों धन्यवाद दिये, सब प्रेममें विह्वल होकर उन्हें हृदय से चिपटाने लगे, आनंदमें विभोर होकर उनका आलिङ्गन करने लगे। उस पापी दुष्ट असुर के मारे जानेसे स्वर्गके देवता भी बड़े सन्तुष्ट हुए, वे भी बलदेवजीके ऊपर पुष्पों की वृष्टि करके अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगे।

प्रलम्बको मारनेके अनंतर वे सबके सब भाण्डीर वटके नीचे आकर फिर खेलने लगे। खेलते-खेलते वे सब खेलमें ऐसे तन्मय हो गये, कि गौओंकी किसी को सुधि ही न रही। गौएँ चरते-चरते बहुत दूर चली गयीं। अब जो एक अद्भुत लीला हुई उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अंजन परबत सरिस उड़ै नभमहँ जनु सित घन।
प्रथम डरे बलदेव फेरि सम्हरे सङ्करषन॥
मस्तक मुक्का मारि असुरके सिरकूँ फारयो।
यों प्रलम्बकूँ तुरत रोहिनीनन्दन मारयो॥
ग्वालबाल सब आइकें, साधुवाद बलकूँ दयो।
लखि बल द्वारा असुर बध, अति विस्मिय सबकूँ भयो॥

श्रीहरि द्वारा वनाग्निसे गौ और गोपोंकी रक्षा

(९२९)

तमापतन्तं परितो दवाग्निम्,
गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना,
यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥१
(श्रीभा० १० स्क० १९ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

पुनि भांडीरक निकट आइ खेले सब बालक।
गोएँ निकसीं दूरि खेलमहँ तन्मय पालक॥
आई पुनि जब यादि ढूँढ़िबे गौअनि भागे।
दावानलकूँ देखि ग्वाल सब रोमन लागे॥
विपद सघन वन मूँजके, दावानलतैं सब जरें।
डकरावें फँसि धेनु तहँ, ग्वाल लपट लखि अति डरें॥

यह संसार भुजाटवी है। इसमें जीव स्वादके लिये, आनन्दके लिये, प्राणोंको तृप्त करनेके लिये जाता है और फँस

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब गौओंने तथा गोपोंने चारों ओरसे दावानलको अपनी ही ओर आते देखा, तो उसी प्रकार श्रीकृष्ण और बलरामकी शरणमें आकर पुकारने लगे, जिस प्रकार मृत्युके भयसे भयभीत हुए जीव श्रीहरिकी शरणमें आते हैं।

जाता है। इसमें की वस्तुओंको अपनी मानकर उनकी रक्षाके लिये—उन्हें बचानेके लिये—दौड़ता है, उद्योग करता है, किन्तु उन्हें बचाना दूर रहा, स्वयं भी उसमें फँस जाता है। इस संसार रूपी मुञ्जाटवी में सुख कहाँ—शान्ति कहाँ। चारों ओर अग्निकी—दुःख, शोक अशान्तिकी—लपटें उठ रही हैं। जीव स्वयं इन लपटोंसे बच नहीं सकता। दूसरे व्यक्ति उसकी सहायता कर नहीं सकते, क्योंकि वे भी तो इन लपटोंसे बचे हुए नहीं हैं। तपे हुए भाड़में जो भी रहेगा वही जलेगा। जो स्वयं जल रहा है, वह दूसरोंको कैसे बचा सकता है, जिसे स्वयं सर्पने काट लिया है, वह दूसरे की सर्पसे कैसे रक्षा कर सकता है। जो स्वयं जल में डूब रहा है, वह दूसरे डूबते हुएको कैसे उबार सकता है। जो सर्वात्म भावसे भगवान् की शरण जाता है, उन्हींको आर्त होकर पुकारता है, वह इस भवाटवीसे पार हो जाता है। उसके सभी दुःख दूर हो जाते हैं। शरणागतवत्सल प्रभु शरणमें आये हुए अपने से सेवकोंकी सभी संकटों से सदा रक्षा करते हैं, जलते हुए जीवों की रक्षा करते हैं, उन्हें संतापसे छुड़ाकर शान्ति प्रदान करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रलम्बको मारकर बलदेवजी श्रीकृष्ण और ग्वालबालोंके सहित पुनः भाण्डीरक वटके निकट आये। वटके नीचे कोमल बालू बिछी हुई थी सघन वृक्ष की सुन्दर शीतल छाया में बैठकर सभी ग्वालबाल पुनः क्रीड़ा करने लगे। बालकोंको खेलना सबसे अच्छा लगता है, श्रीकृष्ण तो मानों क्रीड़ाप्रिय ही ठहरे। बच्चे खेलमें इतने तन्मय हो गये, कि उन्हें गौओं का ध्यान ही नहीं रहा। वे चरती चरती जमुना किनारे से बहुत दूर निकल गयीं। बहुत से गड़रियोंके बालक भी श्रीकृष्णके साथ अपने पशुओंको चराने आ गये थे, उनकी बकरियाँ तथा भैंसे भी गौओंके साथ लग लीं थीं, वे भी चरती

चरती साथ ही चली गयीं। ग्रीष्म ऋतु थी, सघन वन थे, वहाँ कोई जलाशय भी नहीं था। पशुओं को तापके कारण प्यास लगी हुई थी, वे प्यास के कारण डकराने लगीं, दुखी होकर पानी की खोज में एक वन से दूसरे वनमें फिरने लगीं।

कुछ काल के पश्चात् श्रीकृष्णने कहा—"अरे, सारे ओ! तुम सब तो यहाँ आनन्द से खेल रहे हो, गौओं की भी कुछ सुधि है?"

गौओं का नाम सुनते ही सबके कान खड़े हो गये, अब वे खेल-फेल तो सब भूल भाल गये। चारों ओर पेड़ों पर चढ़कर गौओं को निहारने लगे। वे ऊँचीसे ऊँची डाली पर चढ़ गये। किन्तु गौओं का कुछ भी पता न चला। इससे सभी ग्वालबाल बहुत चिंतित हुए। श्री बलराम तथा श्रीकृष्ण भी—सर्वज्ञ होने पर—इन्हींके समान चिंता प्रकट करने लगे सब मिलकर इधर उधर अपने पशुओं की खोज करने लगे। उन गोपों का सर्वस्व गौएँ ही तो थीं। गोधन के कारण ही तो उनकी जीवन यात्रा चलती थी, आज गौएँ कहाँ चली गयीं, इस बात से उनका मुख सूख गया था। वे एक वनसे दूसरे वन में घूमने लगे, किन्तु गौओं का कुछ पता ही न चला। इससे उनकी चिन्ता अत्यधिक बढ़ गयी। वे अचेतसे होकर इधर से उधर भटकने लगे। सहसा उन्हें बहुत-सी गौओं के खुरोंके चिन्ह दिखाई दिये इससे उन्हें सन्तोष हुआ। वे गौओं के खुरोंके चिन्हों के सहारे सहारे खोज लगाते हुए आगे बढ़े। गौओंके खुरों को देखकर तथा पशुओं के दाँतों से छिन्न भिन्न हुए तृणोंको देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि गौएँ इधर ही गयी हैं और अभी गयी हैं, इसीलिए वे सब आशा लगाये वेग के साथ आगे बढ़े चले जा रहे थे। जाते जाते उन्हें आगे अत्यन्त सघन मूँजके वन दिखायी दिये। वहाँ इतनी घनी मूँज खड़ी थी, कि हाथों हाथ दिखाई नहीं देता था। उन

मूँज के वनमें उन्होंने गौओं का डकराना सुना। गौओं के शब्दको सुनकर उन्हें संतोष हुआ, आशा बँधी, वे उत्साहके साथ ध्वनिका अनुसरण करते हुए आगे बढ़े। आगे उन्होंने अपनी गौओं को प्यासी डकराती इधर से उधर भटकते देखा। गोप भी चलते चलते थक गये थे, उन्हें भूख भी लगने लगी थी और प्यासके कारण भी उनके कंठ सूख गये थे। भाण्डीरक वटसे कई कोस दूर निकल आये थे। श्रीकृष्णचन्द्र अपनी गौओं का नाम ले लेकर पुकारने लगे। अपना नाम सुनकर गौएँ कानों और पूँछों-को खड़ी करके रम्हाती हुई श्रीकृष्णके समीप आने लगीं। चारों ओर मूँजके ही वन थे। उनमें बहुत से वृक्ष सूखे थे—बहुतसे हरे। सहसा ग्वालबालों ने देखा, उस मूँजके वनके पूर्व की ओर से अग्नि की लपटें उठ रही हैं। सघन वनों मे बाँसोंके संघर्षसे कभी कभी अपने आप अग्नि लग जाती है। पूर्व की ओर से अग्निको देखकर वे पश्चिम उत्तर दक्षिण सभी ओर देखने लगे। उन्होंने देखा चारों ओर अग्नि की लपटें उठ रही हैं। जैसे लकड़ी में कीड़े बीचमें हों और दोनों ओरसे लकड़ीमें आग लगी हो, तो वे किधर भागें। इसी प्रकार चारों ओरसे अग्निके कारण घिर जानेसे गोप अत्यन्त ही भयभीत हुए। वायुका सहारा पाकर अग्नि और भी अधिक प्रचण्ड बन रही थी। उसके सम्मुख स्थावर जंगम जो भी आ जाता, उसे ही वह स्वाहा करती हुई आगे बढ़ रही थी। अब क्या किया जाय, गौएँ भी घबड़ाने लगीं और गोप भी मारे डर के थरथर काँपने लगे। किसी एक दिशामें भी मार्ग होता तो भाग जाते। अग्निने तो उन्हें चारों ओर से घेर लिया था। अब उन्होंने अपने बचनेका जब दूसरा कोई भी मार्ग न देखा तो उन्हें भगवान्‌की याद आई। वे सोचने लगे—"अरे, भय करने की क्या आवश्यकता है? हमारे रक्षक तो हमारे साथ हैं।" इस विचार के आते ही उन्हें आन्त-

रिक शांति हुई। वे दूरसे ही बड़े उच्चस्वरसे दीन होकर राम श्यामको सम्बोधन करके पुकारने लगे—"हे श्यामसुंदर! हे व्रजजीवन धन! हे अमित बल शाली बलराम जी। हम सब ग्वालबाल दीन दुखी होकर आपसे दया की याचना कर रहे हैं। हम सब दावानलके संताप से संतप्त हैं। हम सबके सब आपकी शरण हैं, आप शरणागतवत्सल है, हमारी आप रक्षा करें। जिन्होंने आपकी शरण लेली है, जिनके आप ही एक मात्र रक्षक और पालक हैं, उन आपके शरणागत अनन्य शरण अनुगतोंको ऐसा कष्ट होना उचित नहीं है। हमारी मति आप के ही चरणारविन्दोंमें है, हमारी एक मात्र गति आपही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब इस प्रकार गोपों ने करुण स्वरमें करुणानिधान भगवान की प्रार्थना की, तो भगवान तुरन्त उनकी पुकार सुनकर मेघ गम्भीर वाणी में उन्हे अभयदान देते हुए बोले—"गोपो! तुम घबराओ नहीं, डरने का कोई काम नहीं, यह दावाग्नि तुम्हारा कुछ भी नहीं कर सकती। तुम सब चिन्ताओं को छोड़ दो। बाहरकी ओर से दृष्टि हटा लो। इस दृश्य जगतको मत देखो बाहरी चक्षुओं को बंद करके भीतर की ओर मेरा ध्यान करो। मेरा ध्यान करते ही तुम जहाँ भी खड़े होगे—वहींसे बिना चले—बिना श्रमके—अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाओगे।"

भगवान्के ऐसे आश्वासन पूर्ण सुमधुर गम्भीर वचन सुनकर ग्वालबालों को ढाँढस हुआ और वे वहींसे बोले—"अच्छी बात है हम सब बाहरी दृष्टिको बंद किये लेते हैं। हम बाहरकी ओर देखनेवाले चक्षुओं को आवृत करके अमृत स्वरूप तुम्हारा ध्यान करते हैं।" यह कहकर सबने अपने-अपने नेत्र बंद कर लिये सबके नेत्र बंदकर लेनेपर सर्वान्तर्यामी प्रभु उस अनलको पान कर गये। क्षणभरमें प्रचण्ड लपटोंवाली अग्नि सर्वात्मा श्यामसुन्दरके संकल्प

मात्रसे शान्त हो गयी। यही नहीं गौएँ गोप जहाँ खड़े थे—वहाँ से सबके सब भाण्डीरवट के निकट आ गये।

भगवानने कहा—"अब खोल लो अपने अपने नेत्र।"

ज्यों ही सबने अपने अपने नेत्र खोले—"त्यों ही क्या देखते हैं, कि न वहाँ अग्नि है न धूँआ। न मूँजका वन है न भयंकर लपटें। वे सब तो यमुना किनारे भाण्डीरकवट के नीचे अपनी गौओं के साथ खड़े हैं। इस प्रकार गौओं के सहित अपने को दावानलसे सुरक्षित तथा सकुशल देखकर सभी सखा परम विस्मित हुए। भगवान्के ऐसे अद्भुत सामर्थ्य को देखकर उनके मन में क्षणभर को ऐश्वर्य का भाव उदय हुआ। वे श्रीकृष्ण को अपने से विलक्षण कोई देवता समझने लगे।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अपने सखाओं को विस्मित देखकर सर्वान्तर्यामी श्यामसुन्दर हँस दिये, उनका हास्यतो मानो जनोन्मादकरी माया ही है, बच्चे सब बातों को भूल गये, फिर ज्यों के त्यों श्रीकृष्णको अपना सखा समझने लगे। सायंकाल को गौओं को लौटाकर वे भगवानके साथ गोष्ठमें आये और आकर सब बातें अपनी माताओं को उन्होंने सुनाई।

छप्पय

रक्षा अनत न समुझि शरण माधवकी आये।
सभय शब्द सुनि श्याम अभय वर वचन सुनाये॥
मींचो तुम सब आँखि सुनत मींचीं सब गोपनि।
दावानल करि पान कहें हरि—निरखो गौअनि॥
भाण्डीरक नीचे निरखि, सकुशल गौअनिके सहित।
भये सुखी पुनि चलि दये, लै गैयनि ब्रजकूँ तुरत॥

—:०:—

गोपियोंका अनुपम अनुराग

(९३०)

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्द दर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥१

(श्रीभा० १० स्क० १९ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

निरखे आवत श्याम हृदय गोपिनिके हरषे।
गीले भये कपोल श्याम-घन रस जनु बरषे॥
पलछिन जिन बिनु समय कोटि बरसनि बीत्यो।
श्याम दीठितैं दीठि मिली सब जग जीत्यो॥
मुरलीको रव श्रवन सुनि, कुञ्चित कच पटबीत बर।
अँग-अँग लखि पुलकित भये, नटवरकी छवि अतिसुघर।

जीवनकी सार्थकता अनुरागमें ही है। जिस जीवनमें प्रेम नहीं, वह जीवन नहीं जञ्जाल है। जो समय किसीकी मधुर स्मृतिमें, किसीकी पुण्य प्रतीक्षामें, प्रियकी उत्कट आकांक्षामें न बिताया जाय, वह समय क्या है। किसीके मिलनेकी प्रतीक्षामें पल-पल छिन-छिन गिना जाय, यही समयकी सार्थकता है।

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! सायंकालके समय गौओंको चराकर श्रीगोविन्द जब लौटे, तो उनके दर्शन पाकर गोपियोंको परमानन्दकी प्राप्ति हुई। उन गोपियोंको भगवान्‌के वियोगमें एक-एक क्षण सौ-सौ युगके समान लम्बा दिखायी देता था।'

आँखें किसीको चितवनके लिये प्यासी बनी रहें, यही इन आँखों-का उत्तमसे उत्तम उपयोग है, श्रवण किसी के सुखद शब्द सुनने को सतत-उत्कंठित बने रहें, यही श्रवणोंका श्रवणत्व है। हृदय किसीके लिये तड़पता रहे, किसी के लिये व्याकुल बना रहे, किसीकी मीठी-मीठी स्मृति चुभती रहे, उसे भीतर ही भीतर कोई गीले वस्त्र की भाँति ऐंठता रहे और उसमें से नीर निचुड़ता रहे, वही हृदय हृदय है, ऐसे ही हृदयवाला सहृदय कहलाता है। स्मृतिशून्य जीवन क्या कोई जीवन है। उत्कंठा बिना कालयापन करना क्या काल की सार्थकता है। व्रजकी वे व्रजाङ्गनाएँ विश्ववन्दनीया और भाग्यशालिनी हैं, जिनके मन में सदा मन-मोहनकी मधुर-मधुर मूर्ति नृत्य करती रहती थी, जिनका पल-पल क्षण-क्षण श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी, लीलामाधुरी और रेणु-माधुरी की ही स्मृति में व्यतीत होता था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! व्रजजीवन सर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति व्रजाङ्गनाओंका कितना अनुराग था, उसके वर्णन करने की सामर्थ्य शेष शारदा तथा कमल-योनि आदि कवि चतुरानन ब्रह्माजी में भी नहीं है। फिर हम जैसे साधारण लोगों की तो बात ही क्या है। प्रातःकाल श्यामसुन्दर गौओं को लेकर वन को जाते, वंशी बजाते हुए व्रजसे निकलते, मानों व्रजाङ्गनाओंके प्राण शरीर से निकल रहे हों। उनके बिना वे अचेत हो जातीं। मृतक-वत् बन जातीं। उन्हें छिन-छिन पल-पल भारी हो जाता।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! जब व्रजाङ्गनाओं का श्याम-सुन्दरके प्रति इतना प्रेम था, तो वे श्रीकृष्णके बिना जीवित कैसे रहती थीं?"

सूतजी बोले—"भगवन्! श्रीकृष्ण के बिना उनका जीवन तो उसी प्रकार असम्भव था, जिस प्रकार जलके बिना मछली। किन्तु जब श्याम वनको चले जाते, तो उनके संतप्त मृतकवत

गोपियोंका अनुपम अनुराग

(९३०)

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्द दर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥१

(श्रीभा० १० स्क० १९ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

निरखे आवत श्याम हृदय गोपिनिके हरषे।
गीले भये कपोल श्याम-घन रस जनु बरषे॥
पलछिन जिन बिनु समय कोटि बरसनि बीत्यो।
श्याम दीठितैं दीठि मिली सब जग जीत्यो॥
मुरलीको रव श्रवन सुनि, कुञ्चित कच पटवीत बर।
अँग-अँग लखि पुलकित भये, नटवरकी छवि अतिसुघर।

जीवनकी सार्थकता अनुरागमें ही है। जिस जीवनमें प्रेम नहीं, वह जीवन नहीं जञ्जाल है। जो समय किसीकी मधुर स्मृतिमें, किसीकी पुण्य प्रतीक्षामें, प्रियकी उत्कट आकांक्षामें न बिताया जाय, वह समय क्या है। किसीके मिलनेकी प्रतीक्षामें पल-पल छिन-छिन गिना जाय, यही समयकी सार्थकता है।

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! सायंकालके समय गौओंको चराकर श्रीगोविन्द जब लौटे, तो उनके दर्शन पाकर गोपियोंको परमानन्दकी प्राप्ति हुई। उन गोपियोंको भगवान्‌के वियोगमें एक-एक क्षण सौ-सौ युगके समान लम्बा दिखायी देता था।"

आँखें किसीकी चितवनके लिये प्यासी बनी रहें, यही इन आँखों-का उत्तमसे उत्तम उपयोग है, श्रवण किसी के सुखद शब्द सुनने को सतत-उत्कंठित बने रहें, यही श्रवणोंका श्रवणत्व है। हृदय किसीके लिये तड़पता रहे, किसी के लिये व्याकुल बना रहे, किसीकी मीठी-मीठी स्मृति चुभती रहे, उसे भीतर ही भीतर कोई गीले वस्त्र की भाँति ऐंठता रहे और उसमें से नीर निचुड़ता रहे, वही हृदय हृदय है, ऐसे ही हृदयवाला सहृदय कहलाता है। स्मृतिशून्य जीवन क्या कोई जीवन है। उत्कंठा बिना कालयापन करना क्या काल की सार्थकता है। व्रजकी वे व्रजाङ्गनाएँ विश्ववन्दनीया और भाग्यशालिनी हैं, जिनके मन में सदा मन-मोहनकी मधुर-मधुर मूर्ति नृत्य करती रहती थी, जिनका पल-पल क्षण-क्षण श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी, लीलामाधुरी और रेणु-माधुरी की ही स्मृति में व्यतीत होता था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! व्रजजीवन सर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति व्रजाङ्गनाओंका कितना अनुराग था, उसके वर्णन करने की सामर्थ्य शेष शारदा तथा कमल-योनि आदि कवि चतुरानन ब्रह्माजी में भी नहीं है। फिर हम जैसे साधारण लोगों की तो बात ही क्या है। प्रातःकाल श्यामसुन्दर गौओं को लेकर वन को जाते, वंशी बजाते हुए व्रजसे निकलते, मानों व्रजाङ्गनाओंके प्राण शरीर से निकल रहे हों। उनके बिना वे अचेत हो जातीं। मृतक-वत् बन जातीं। उन्हें छिन-छिन पल-पल भारी हो जाता।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! जब व्रजाङ्गनाओं का श्याम-सुन्दरके प्रति इतना प्रेम था, तो वे श्रीकृष्णके बिना जीवित कैसे रहती थीं?"

सूतजी बोले—"भगवन्! श्रीकृष्ण के बिना उनका जीवन तो उसी प्रकार असम्भव था, जिस प्रकार जलके बिना मछली। किन्तु जब श्याम वनको चले जाते, तो उनके संतप्त मृतकवत

शरीर को उनका कथामृत जीवनदान देता। उनकी कथा इतनी श्रुति-मधुर और जीवनदान देने वाली थी, कि उसका पान करते-करते वे मरना भी चाहतीं, तो भी नहीं मर सकती थीं। इस श्रीकृष्णावतार में भगवान् ने जैसी मोहकता प्रकट की है, वैसे कहीं भी नहीं मिलती। उसी रूपमाधुरी, लीलामाधुरी और वेणुमाधुरीका पान ये व्रजाङ्गनायें किया करती थीं। इन सबके मनमें बँधे हुए थे। प्रेम का सुख जितना परोक्षमें होता है उतना सम्मुखमें नहीं होता जो रात्रि दिन आकर गंगा तटपर ही बस जाते हैं, उन्हें गङ्गा का उतना स्मरण नहीं रहता इतनी उत्कंठा उत्पन्न नहीं होती, जो गंगासे दूर मरुभूमिमें रहता है गङ्गाजीका अत्यन्त भक्त है, एक कण गङ्गाजल पाकर धन्य-धन्य हो जाता है, उसके मनमें दूरसे अत्यन्त प्रेम उमड़ता है। अपना प्रियतम सम्मुख होने से नेत्र भरके उसकी ओर देखा भी नहीं जाता। लोक-लाज का भय लगा रहता है, 'कोई हमारे भावको ताड़ न जाय, कोई हमें देख न ले, बार-बार देखने से कोई क्या कहेगा, ये भाव उठते हैं। यदि इन भावों को तिलाञ्जलि भी दे दी जाय, तो ये निगोड़े नयन प्यारेको देखकर गीले हो जाते हैं, बहने लगते हैं, अश्रुबिन्दु आ-आकर देखनेवाली पुतलियों को आच्छादित कर लेते हैं। प्यारेके दर्शन में व्यवधान डाल देते हैं। परोक्ष में ये सब झंझट नहीं हैं। या तो एकान्त में बैठकर उसीका मनमें आलिंगन करते रहो, उसीसे बातें करते रहो, उसीका चिंतन करते रहो। अथवा अपने ही जैसे रसिक मिल जाय, तो उनके साथ बैठकर उसीके सम्बन्धकी बातें करते रहो, उसीकी लीलाओं को गाते रहो, उसी के रूपका वर्णन करते रहो। इन सब बातों में चित्त तन्मय होता है इसीलिये रसशास्त्रके आचार्यों ने प्रेमरूप पादपका फल विरहको बताया है।

श्रीकृष्ण सदा गौओं को चराते जाते। वसंतके चैत्र-वैशाख

नंगे पैरों कहाँ गौओं के पीछे पीछे भटक रहे होंगे। उनके कोमल चरण कमलों में कुश, काश तथा कंकण चुभते होंगे। यमुनाजीकी बालुका उसी प्रकार संतप्त हो रही होगी, जिस प्रकार हमारा हृदय संतप्त हो रहा है। हमारे हृदय पर श्यामसुन्दर का चरण पड़ जाय, तो वह शीतल हो जाय, किन्तु तप्त बालुका तो चरणोंको ही तपा देती होगी, उन भोली व्रजाङ्गनाओं को यह पता ही नहीं था, कि विश्वको शीतलता प्रदान करनेवाला वह चरण जहाँ भी पड़नेवाला होगा वहाँ का संताप प्रथम ही जाता रहेगा। पृथिवी उन चरणों की—चरण चिह्नों की—कृपणके धनके सदृश रक्षा करतीं।

जब आषाढ़में उमड़ घुमड़कर आकाशमें काले-काले बादल छा जाते, तब गोपिकाओंकी चिन्ता और भी बढ़ जाती। श्रावण और भादौं में वर्षा होने लगती। समस्त भूमि हरी भरी नवविवाहिता वधू के समान बन जाती। जगका जीवन ही जल है, इसलिये जल पड़ते ही सभी हरे भरे हो जाते। हरी हरी दूब पर इन्द्रवधूटियाँ—समलगुड़ियाँ—चलती हुईं—रेंगती हुईं—ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो हरे रङ्ग के रेशमी गलीचेपर लाल लुढ़क रहे हों। बिजली की चंचलता को देखकर वे चमक उठतीं और सोचतीं—"श्रीकृष्ण भी ऐसे ही चंचल हैं, उनका प्रेम भी कहीं ऐसा ही चंचल न हो, वे हम अबलाओं का परित्याग न कर दें। हमारा जीवन भी चंचल है यह यौवन भी चंचल है, फिर श्रीकृष्णकी स्मृति हमें और भी अधिक चंचल कर रही है। इस प्रकार चपलाकी चंचलता और चमकको देखकर निरन्तर सोचती ही रहतीं।

मन्द मन्द गर्जन करनेवाले जलधरों के शान्त और गंभीर रवको सुनकर उनका शरीर रोमाञ्चित हो उठता, उन्हें भ्रम होने लगता, कि मेघ-गंभीरवाणी में श्यामसुन्दर ही तो अपनी गौओं-

को नहीं पुकार रहे हैं। रात्रिमें खद्योतोंका प्रकाश, मेढ़कोंका टर-टर्र शब्द, झींगुरोंकी झनकार, डंस और मच्छरोंका रहस्य-मय शब्द—ये सबके सब उनके मनोंमें वैराग्यका सञ्चार करते, किन्तु श्रीकृष्णके अनुरागका इतना गाढ़ा लेप उनके अन्तःकरणों में हो गया था, कि यह वैराग्य स्थायी नहीं होता, अपितु अनुराग की और वृद्धि ही करता। जब वे द्रुतगतिसे समुद्रकी ओर दौड़ती हुई किसी सरिताको निहारतीं, तो आत्मविस्मृत-सी बन जातीं और कहतीं—"हाय! इसीका अनुराग धन्य है, अपने प्रियतमसे मिलनेके लिये यह कैसी दौड़ी जा रही है, हम श्याम-सुन्दरसे खुलकर मिल भी नहीं सकतीं। उनसे हृदयकी दो बातें भी नहीं कह सकतीं, कैसी विवशता है, कैसी परतन्त्रता है।

आकाशमें उदित इन्द्रधनुषको देखकर उन्हें श्यामसुन्दरकी छवि याद आजाती। जिस प्रकार नील आकाशमें यह रङ्ग विरङ्गा इन्द्रधनुष शोभित हो रहा है, इसी प्रकार श्यामके उभरे विशाल वक्षस्थलपर रङ्ग विरङ्गी वनमाला शोभित होती है। जब वे बादलोंसे ढके फीके-फीके चन्द्रमाको निहारतीं, तो उन्हें अपनी विवशतापर रोना आ जाता, जैसे आज यह कान्तियुक्त चन्द्रमा मेघोंके आवरणसे आभासित नहीं होता, उसी प्रकार श्रीकृष्णके विरहरूपी आवरणसे हम सबका मुख म्लान हो रहा है। मयू-रिनियोंसे घिरे मयूरोंको प्रेममें नृत्य करते हुए देखकर तथा मयू-रिनियोंको उसके अश्रुपान करते देखकर गोपिकायें उन पक्षिणियों, के भाग्यकी सराहना करने लगतीं और सोचतीं, ऐसा कब समय आवेगा, कि हम सब भी नृत्य करते हुए नन्दनन्दनके कण्ठमें अपनी-अपनी भुजाओंको डालकर उनके साथ नृत्य करेंगी। कब अपने अश्रुओंसे भीगे नयनोंको उनके कपोलोंमें संघर्ष करेंगी।

सायंकालके समय जब चक्रवाकीको रुदन करते हुए वे देखतीं-तो स्वयं भी रोने लगतीं और उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करतीं

हुई कहतीं—"बहिन ! रोवे मत। देख, इन वियोगकी घड़ियोंको धैर्यके साथ बिता दे। कभी न कभी तो भगवान् भुवनभास्कर उदित होकर तेरे सन्ताप को हरेंगे ही। तेरे मिलनकी तो एक निश्चित सीमा है, सूर्यके उदय होते ही तुझे तेरे प्राणधन-जीवन सर्वस्व मिल ही जायँगे, किन्तु हम अभागिनियोंके मिलनकी तो कोई सीमा नहीं, कोई निश्चित समय नहीं। कब श्यामघन बरस जाय, कब वह शुष्क हृदयोंमें आर्द्रता कर दे, यह सब तो उसीकी इच्छापर निर्भर है। अतः तू है तो हमारी ही भाँति वियोगिनी, किन्तु तेरे वियोगकी सीमा है, सम्मिलनका निश्चित काल है। हम तो निस्सीममें भटक रही हैं।

वनके सघन वृक्षोंको देखकर कहतीं—"वृक्षो तुम्हारा ही जीवन सफल है, तुम कहीं जाते नहीं, अपने ही स्थानपर अड़े रहते हो, श्याम स्वयं आकर तुम्हारे नीचे बैठते हैं, हम तो छटपटाती रहती हैं, बिलबिलाती रहती हैं, इधरसे उधर भटकती रहती हैं, श्याम हमारे समीप आकर बैठ जायँ किन्तु हाय ! हमें ऐसा सुअवसर नहीं प्राप्त होता। फिर पाषाणोंको निहारकर कहतीं—पाषाणो ! तुम ही धन्य हो, जो तुम्हारे ऊपर बैठकर श्यामसुन्दर दही भात खाते हैं, अपना उच्छिष्ट अन्न तुम्हारे ऊपर डालते हैं, अपने हाथोंसे प्यारेको खिलानेमें कितना सुख है, उनके अधरामृतमें उच्छिष्ट प्रसादमें कितना स्वाद है, ये कुछ कहनेकी बातें नहीं हैं, हाय ! हमब्रजकी शिलायें ही होतीं—तो कृतार्थ होजातीं। श्यामसुन्दर हमारे ऊपर लेट तो जाते, गौएँ चराते-चराते थककर विश्राम तो करते, अब तो हम उनके किसी भी काममें नहीं आयीं

फिर गौओं को देखकर उनके हाथ जोड़तीं, उन्हें दण्डवत् करतीं और कहतीं—"गौओ ! जीवन तो तुम्हारा ही सफल है। श्यामसुन्दर का सुखद स्पर्श तुम नित्य प्रति पाती हो, वे तुम्हारी पीठ्को थपथपाते हैं, हमारे ऐसे भाग्य कहाँ, वे तुम्हारा नाम

लेकर पुकारते हैं, तुम दौड़ी दौड़ी उनके निकट चली जाती हो, हमें न वे पुकारते हैं न बुलाते हैं, हमारे तो नामों को भी वे न जानते होंगे। हमें उनका रोमाञ्चकारी दिव्य स्पर्श कैसे प्राप्त हो सकता है। हम उनके निकट भी निर्भय होकर नहीं जा सकतीं। ये सास नँनद, देवर, जेठ सब चारों ओर से बाढ़ बनाये खड़े हैं।

फिर वर्षा में हुई कीच को मस्तक पर लगातीं और कहतीं—"व्रज की कीच! तुम ही धन्य हो, जो श्यामसुन्दर के चरणों से लिपट जाती हो, सट जाती हो उनमें चिपक जाती हो। हम अपने तप्त वक्षःस्थल पर गाढ़ी गाढ़ी कुंकुमकी कीच लगाती हैं, कि इन पर श्यामसुन्दर के अरुण चरण पड़ जायँ तो वे पीत वर्णके बन जायँ, किन्तु लगाते ही वह कीच सूख जाती है, उनके चरण कमल उन पर पड़ते भी नहीं, पड़ें भी तो वह उनके चरणों में चिपक नहीं सकती लग नहीं सकती। हाय! हम व्रज की रज भी न हुईं। व्रजकी रज होती तो वसंत और ग्रीष्म में उड़ उड़कर श्यामके पलकोंमें, अलकोंमें, कपोलोंमें, वक्षःस्थलमें बाहुओं में लग जातीं और वर्षामें कीचड़ बनकर उनके चरणोंमें चिपक जातीं।

इस प्रकार प्राणिमात्र को जीवन दान देनेवाली वर्षा ऋतुके दो महीनों को वे गोपिकायें विलाप करते हुए नेत्रोंसे नीर बहाते हुए बितातीं मानों स्वयं भी सबकी सब वर्षा ऋतु बन जातीं। शनैः शनैः अनंत चतुर्दशी बीत गयी, वर्षा कुछ थम गयी। आकाश स्वच्छ होने लगा, शरद ऋतुने प्रवेश किया। चातुर्मास्य व्रत करने वाले अब व्रत को समाप्त करके बन्धन को त्याग कर स्वच्छन्द होकर विचरण करने लगे। श्रावणमें अपने अपने पिताओंके घर में आई हुई लड़कियाँ अपनी अपनी ससुराल को जाने लगीं। व्यापारी बैलों को लादे व्यापारके लिए निकल पड़े। राजागण युद्ध के लिये सुसज्जित होकर दिग्विजय के लिये सेना सहित जाने लगे। गोपिकायें कहाँ जातीं वे जिसे भी देखतीं

उसीको देखकर रोने लगतीं। नदियों के जलको स्वच्छ देखतीं तो कहतीं—"बहिनो! तुम्हारा जल तो निर्मल हो गया, किन्तु हमारे मनका मैल नहीं कटा। हमारा मन और भी अधिक मलिन हो गया है। मोहन जब तक अपने तन से तन और अपने मनमें मन न मिलायें तब तक हम मलिन मन वाली ही बनी रहेंगी। देखो, तुम्हारे भीतर के कमल खिल गये, किन्तु हमारा मन मुकुर अभी विकसित नहीं हुआ। वह अभी बन्द है। श्याम रूप सूर्यका दिव्य प्रकाश जब तक प्राप्त न हो, तब तक वह खिल ही कैसे सकता है।

शरद ऋतु में पृथिवीकी पंक धुल गयी। पृथिवी पंकसे रहित हो गयी, उसे देखकर गोपिकायें कहतीं—"धरनी! तुम ही धन्य हो, जो प्यारेके पादारविन्दोंके पड़नेसे तुम पंकरहिता बन गयीं। पद्म कीचड़ में ही विकसित होते हैं, इसीलिये हम अपने हृदय पर नित्य कीचड़ का अनुलेप करतीं कि कहीं इसमें भी अरुण चरण कमल उदित हो जायँ, किन्तु हम देखती हैं, हमारे हृदयकी कुंकुम कीचमें वे चरण उदित न होकर कीच रहित तुम्हारे वक्ष स्थलपर श्यामसुन्दरके पादपद्म अंकित हैं। तुम्हारा वक्षस्थल उन चरण चिह्नोंसे चिह्नित है। फिर हरी हरी घास को देखकर कहतीं—"शाद्वल! श्यामसुन्दर के चरणों के स्पर्श से तुम हरी हो गयी। हम अभागिनी इतनी वर्षा होने पर भी सूखीकी सूखी ही बनी रहीं।

छोटे छोटे पोखराओंमें रहनेवाली मछलियोंको शरद कालीन सूर्यके प्रखर तापमें संतप्त देखकर गोपिकायें कहतीं—"मछलियो! हमारा तुम्हारा दुःख समान है, तुम भी ताप से संतप्त होकर तड़प रही हो और हम भी, किन्तु हममें और तुममें कुछ अंतर है, तुम हम से अधिक भाग्य शालिनी हो। एक तो वर्षा में तुमने अपने जीवनधनकी अगाधता और प्रचुरता का सुख भोग लिया

है, हम सब अभी उससे वंचित हैं, दूसरे तुम्हें रात्रि में तो शांति मिलती है, हम तो रात्रि दिन तड़पती रहती हैं। यह तड़पन कब मिटेगी, इसे श्यामसुन्दर ही जानें।

वृक्षों के ऊपर चढ़ी हुई फूली फूली लताओं को देखकर वे कहतीं—"लताओ! स्त्री जाति होनेका जितना सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है, उतना लक्ष्मीको भी प्राप्त न हुआ होगा। तुम अपने प्राणनाथ से आठों प्रहर लिपटी रहती हो। हम एक बारके उनके आलिङ्गन के लिये व्याकुल बनी रहती हैं। तुम अपनी बाहुपाशों में सदा प्रियतम को बांधे ही रहती हो। देखो, तुम्हारे रोम रोमसे प्रसन्नता फूटी पड़ रही है। तुम ऊपर से नीचे तक फूल रही हो, सिहा रही हो, इठला रही हो, मिल रही हो हिल रही हो और हम अभागिनियों को देखकर हँस रही हो। ये जो तुम्हारे सिरोंसे पुष्प गिर रहे हैं ये तुम्हारे सात्विक भाव के उदय होने के चिह्न हैं।

मुग्धा सखी लताओं से कहने लगीं—"लताओ! जल रूप जीवन पाकर तुम कच्चीसे पक्की हो गयीं, छोटीसे बड़ी बन गयीं, उस प्रकार हम बढ़ तो गयीं किन्तु श्यामसुन्दरका स्पर्श न पाकर अभी जैसी की तैसी ही बनी है।

शरद् कालीन चन्द्रको देखकर वे कहतीं—"हे निशानाथ! संसारमें तुम सर्वश्रेष्ठ सुन्दर माने जाते हो। कवियों ने शारदीय शशिकी सुन्दरताके वर्णनमें सीमोल्लंघन कर दिया है। तुम शरद् कालीन सूर्य की प्रखर किरणों से संतप्त प्राणियोंको रात्रिके समय शान्ति प्रदान करते हो, किन्तु हमें तुम और भी अधिक संताप पहुँचाते हो। हमें तुम विरहव्यथामें अधिकाधिक जलाते हो! हमारे संताप को तुम नभचन्द्र नहीं मिटा सकते, इसे तो व्रजचन्द्र ही मिटाने में समर्थ हैं, किन्तु वे हमें अपनाते नहीं ठुकराते हैं।

निकट आने नहीं देते दुरदुराते हैं, हम उन्हें चाहती हैं, वे हमें नहीं चाहते।

चन्द्रमाके साथ खिली हुई ताराओं को देखकर कहतीं—"तारिकाओ! नभ में रहनेका फल तुमने ही पाया है, जो शशांक निशाके नाथ होनेपर भी तुम सबके नाथ बने हुए हैं, तुम सबको खिला रहे हैं, रिझा रहे है, प्रमुदित बना रहे हैं। हमारे नाथ तो हमें खिजाते हैं, रुलाते है, समीप भी नहीं आते। वंशी बजाते हुए टेढ़े टेढ़े निकल जाते हैं। मंद मंद मुसकराते हुए कटे पर नमक सा बुरकते हुए समीपसे ही चले जाते हैं। जैसे तुम सबके बीच में बैठकर विधुवर खिल खिलाकर हँस रहे हैं, वैसे श्यामसुन्दर हम सबके मध्यमें बैठकर कब हँसेंगे? ज्योतिषी तुम्हारी ही गणना करके फल बताते हैं, भविष्य कथन करते हैं, तुम भी हमें हमारे सौभाग्यके दिन को बता दो। कब हमारा भाग्योदय होगा। कब श्यामसुन्दर की कृपादृष्टि की वृष्टि से आर्द्र होकर हम सर्वाङ्ग शीतलता युक्त बन सकेंगी। पुरुष पुरुष से भले ही कोई बात छिपाले, किन्तु स्त्री स्त्रीसे कोई बात नहीं छिपाती। तुम तो हमारी जाति की हो, अंतर इतना है कि तुम सौभाग्यशालिनी हो, तुम्हें पतिका संयोग प्राप्त है, हम उसके लिये लालायित हैं, इच्छुक हैं।"

वन्यपुष्पोंके सौरभ को साथ लिये हुए समीरको आते देखकर गोपिकायें कहने लगीं। समीर! शरद काल में तुम्हारी बड़ी प्रशंसा की जाती है। यद्यपि तुम इस समय न अधिक ठंडे हो न अधिक उष्ण, समशीतोष्ण हो। इस समय तुम ज्येष्ठ आषाढ़ की भाँति प्रचण्ड वेगसे भी नहीं बह रहे हो। सुगन्धिको लिये हुए मन्द मन्द बह रहे हो। अपने सुखद स्पर्श से सब प्राणियों के सन्तापको हर रहे हो, फिर भी तुम हमारे साथ पक्षपात करते हो। हमें तो विरहताप से संतप्त ही कर रहे हो। तुम

कहोगे, कि तुम तो अंड बंड सोचती रहती हो, व्यर्थ के विचारोंमें निमग्न बनी रहती हो; मेरी ओर चित्त दो, जब तक किसी सुखद वस्तु में प्राणी चित्त नहीं लगाता, तब तक वह उसके सुखको अनुभव नहीं कर सकता।" सो हे पवनदेव! तुम्हारी ये बातें सत्य हो सकती हैं, किन्तु हम अपने चित्तको तुममें लगावें कैसे? चित्त हमारे पास हो, तो उसे लगावें भी। हमारे चित्त को तो चित्तचोर श्यामसुन्दरने चुरा लिया है। जो अपने पास है ही नहीं, उसका प्रयोग कर ही कैसे सकते हैं।

फिर सूर्यकी किरणों से मुदी हुई सकुची हुई कुमुदिनी को देखकर कहने लगीं—"कुमुदिनी! न जाने भगवान् ने इस स्त्री जातिको इतना हेय क्यों बनाया है। इसके हृदयको तो बूढ़े बाबा ब्रह्माने इतना सरस और सेवापूर्ण बना दिया, किन्तु फिर व्यर्थका संकोच इसके हृदय में क्यों भर दिया। तुम सूर्य की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकतीं। क्योंकि तुम्हारा यह धर्म है कि निशानाथ के हास को देखकर खिलो। निशारानी की उपस्थितिमें ही तुम अपने मुख को खोल सकती हो। इस समय तो तुम्हें हमारे ही समान मन मारकर सिकुड़ कर अपने मुख को छिपाये रखना है। इस विवशता की भी कोई सीमा है?

गौओं मृगियों और पक्षिणियों को देखकर वे विरह संतप्ता गोपिकायें कहने लगीं—"बहिनाओ! इस ऋतु में आकर तुम सब ऋतुमती बन गयी हो। तुम्हारा ऋतुकाल सार्थक है, जो तुम्हारे पति अनाहूत भी तुम्हारा अनुसरण कर रहे हैं। हम अभागिनी तो इस सुख से वञ्चित हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रीकृष्ण अनुरागमें अनुरक्ता वे व्रजाङ्गनायें जलाशयों के जलको स्वच्छ करनेवाली जिस शरद् ऋतुमें इस प्रकार तड़प रही थीं, उसी शरद् ऋतुमें श्यामसुन्दर ने गोपाल और गौओं के साथ कुसुमित कानन

में प्रवेश किया। उस वन की शोभा अनुपम थी, शरद कालीन कमल खिल खिलकर हिल रहे थे, सुगन्धियुक्त पुष्पों और फलोंके भारसे नमित पादपोंपर सुनायी देनेवाले पक्षियोंके कलरव से ऐसा प्रतीत होता था मानों वे अपने हाथों को हिलाकर मधुर स्वर में पथिकों को विश्राम के निमित्त बुला रहे हों। भिन्न-भिन्न करके भौंरे मानों भिन्न-भिन्न स्वरोंमें गा रहे हों। पक्षियोंका कलरव गिरिगुहाओंमें, नद नदी तथा सरिता सरों के स्वच्छ सलिल में प्रतिध्वनित होकर वन्य प्रदेशमें एक प्रकार की विचित्र गूँजको भर रहा हो। ऐसे सुखद समय में, ऐसे शोभायुक्त वन में वनवारीने वंशी बजायी। उस वंशीके शब्दको सुनकर व्रजाङ्गनाओं को कैसी दशा हुई उसका वर्णन मैं आगे रुक-रुक कर करूँगा। मुनियो! आप मेरी इन बातों से ऊब तो नहीं गये?"

शौनकजीने कहा—"सूतजी! इसमें ऊबनेकी कौनसी बात है। यह तो बड़ा सरस साहित्यिक प्रसङ्ग है। आप जितने भी विस्तार के साथ इस प्रसङ्गको सुनावेंगे उतना ही हमें आनन्द आवेगा।"

सूतजीने कहा—"भगवन्! विस्तार तो भला मैं कर ही क्या सकता हूँ, फिर भी इस प्रसङ्गको मैं कुछ रुक-रुक कर धैर्यके साथ सुनाऊँगा। आप ऊबे नहीं और समाहित चित्तसे श्रवण करें।"

छप्पय

सुखद शरदको समय सरित् सर स्वच्छ भये सब।
गोगोपाल समेत श्याम प्रविशे वनमहँ तब॥
सघन सफल द्रुम सुमन सहित कोमल पल्लवयुत।
शुक पिक केकी आदि उड़े खग जिनपै इत उत॥
शारदीय विकसे कमल, प्रकृतिवधू सब विधि सजी।
हिय मनसिजकूँ उदय करि, तब मोहन मुरली बजी॥

वेणु-वादन

(९३१)

वर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारम् ।
विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २१ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

श्रवण शब्द सुनि रहीं ठगी-सी सब ब्रजनारी ।
कछु गुन बरनन करैं बधुनि मन बात बिचारी ॥
कर्यो कछुक आरम्भ यादि मोहनकी आई ।
तब चित चञ्चल भयो देहकी सुरति भुलाई ॥
अपर सम्हरि बोली—अली, मुरली अधरामृत भरहिं ।
पुनि झुकि फूँके नँदनँदन, छिद्रनितैं वितरित करहिं ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिनके सिरपर मोरमुकुट है, जो कानोंमें कर्णिकारके पुष्प खुरसे हैं, जो कनकके सदृश कान्तिमान पीताम्बर पहिने हुए हैं, जो कंठमें वैजयन्तीमालाको धारण किये हुए हैं। जो ग्वालबालोंके मुखसे गाये हुए अपने सुयशको सुनते आते हैं उन श्रीकृष्णचन्द्रने बाँसुरीके छिद्रोंको अपने अधरामृतसे पूर्ण करते हुए निज चरणचिह्नोंसे सुशोभित वृन्दावनमें प्रवेश किया।"

रूपका आकर्षण तो होता ही है, स्वरका, शब्दका, ध्वनिका संगीतका भी एक प्रबल आकर्षण है, यदि उस ध्वनिका उद्गम स्वयं भी आकर्षक हो, तब तो कहना ही क्या ? विष देकर तो सभी मार सकते हैं। अमृत पिलाकर जो मृतक बनादे उसीकी विशेषता है। अस्त्र शस्त्रोंसे तो सभी घायल कर सकते हैं, जो सुखद शब्द सुनाकर मूर्छित करदे वही सच्चा शूरवीर है। एक बार भक्तों में अपने अपने उपास्य देवों के विषयमें वाद विवाद हुआ। बात बढ़ गयी मार पीट तककी नौबत आयी। अभियोग राजा के समीप पहुँचा। राजाने कहा—"भाई ! हम ऐसे तुम्हारे अभियोगका निर्णय न करेंगे। तुम अपने अपने इष्टों की मूर्ति बनाकर लाओ।" आज्ञा होते ही सब अपने इष्टोंकी आयुध और वाहन सहित मूर्तियाँ बनाकर लाये। कोई बल पर चढ़े थे, हाथमें त्रिशूल, खड्ग, चाप आदि लिये थे। कोई सिंहपर, भैंसेपर, गधेपर तथा कुक्कुटपर चढ़ी थीं उनके हाथमें लपलपाती करवालें ढालें थीं मुंडोंकी मालायें पहिने थीं। कोई चूहेपर सवार थे, हाथ में फरसा लिये थे। किसी के चार हाथ थे उनमें चक्र गदा आदि लिये हुये थे, कोई धनुषबाणको ही धारण किये थे। एक टेढ़ी टांगवाले देवता थे, जो तीन स्थानों से टेढ़े होकर एक पोले बाँस को आठ छिद्रों वाली छोटी बाँसुरीको बजा रहे थे। राजाने सब इष्टों को देखा और पूछा—"ये सब भाँति भाँतिके अस्त्र शस्त्रोंको क्यों लिये हुए हैं ?"

भक्तोंने कहा—"दुष्टोंका दमन करने के लिये हमारे इष्ट अस्त्र शस्त्रोंको सदा, धारण किये रहते हैं। दुष्टोंका दमन किये बिना शिष्टोंका रक्षण कैसे हो सकता है ?"

राजाने जब मुरलीधारीकी मनोहारिणी मूर्तिको देखा, तो उसने पूछा—"इनका अस्त्र आयुध क्या है ?

भक्तोंने कहा—"महाराज ! इनका अस्त्र समझो आयुध

समझो जो भी कुछ है, यह मुरली ही है ? इसी की ध्वनि से बड़े बड़े सहृदयोंको आकर्षित कर लेते हैं, विह्वल और विकल बना देते हैं।"

राजाने कहा—"तो, हमें तो ये ही इष्ट अच्छे लगते हैं, जो मधुर मधुर मुरली बजाते रहते हैं। जिनसे भय नहीं, संकोच नहीं। सख्य रसवालोंके साथ सखा बन जाते हैं, वात्सल्य रस-वालों के लिये बेटा और मधुर रसवालों के लिये प्रेष्ठ।"

सारांश कहने का यही हुआ कि श्रीकृष्ण बिना अस्त्र आयुध-के मुरली द्वारा ही सबके हृदयको जरजर बना देते हैं। इनके त्रिभुवन मोहन रूपमें जितना आकर्षण है, उतना ही आकर्षण उनके वेणुनाद में है। इसीलिये गोपिकायें वंशी से सौतिया डाह करती थीं और उसके सौभाग्यकी सदा प्रशंसा किया करती थीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्राणियों को सुख देनेवाली शरद ऋतुमें गोप वेष बनाकर गौओं को साथ लिये हुए श्याम सुन्दरने वृन्दावन में प्रवेश किया। सायंकाल में वे लौटे, गोष्ठ के निकट आकर उन्होंने वंशी बजायी, मानों व्रजांगनाओं को अपने आनेकी शुभ सूचना दी। श्यामसुन्दर अभी व्रजसे दूर हैं, आँखें उनकी रूपसुधाके निमित्त लालायित बनी हुई थीं किन्तु वेणु-नाद की माधुरी से उनका शरीर विकसित-सा हो गया। वह वेणुनाद तो उन व्रजवल्लभ का है जो कोटि कन्दर्पों के दर्प को दलन करनेवाले हैं, इस भावके मनमें आते ही उनका प्रेमभाव उद्दीप्त हो उठा। उनमेंसे एककी इच्छा हुई कि 'इस वेणुवादनके विषय को लेकर कुछ चर्चा की जाय, यह सोचकर वह कहने को उद्यत हुई उसने कहा—"सखियो ! देखो तो सही श्यामसु.....

.....बस, वह श्याम, इतना ही वाक्य कह पायी थी 'सुन्दर' शब्द को पूर्ण न कह सकी। चलचित्रोंके सदृश चितचोर के चारु चरित्र स्मरण आते ही उसका चित्त चञ्चल हो उठा। स्मर

वेगके कारण उसकी वाणी रुद्ध हो गयी, कंठ भर आया, वह कुछ कहना चाहती थी, किन्तु वाणी ने साथ नहीं दिया स्वर गद्गद् होने से वह रुक गयी आगे कुछ भी कहने में समर्थ न हुई।

हृदय के भाव मुख पर स्पष्ट झलकने लगते हैं और ताड़नेवाले भुक्तभोगी उन्हें ताड़ जाते हैं, गोपीकी ऐसी प्रेमोद्रेककी दशा देखकर दूसरी सखीने उसे सुख पहुँचानेके लिये श्रीकृष्णके ऊपरी वेषका वर्णन किया। भाव समाधिमें-प्रेमकी प्रबलतामें—प्रियतम के गुण श्रवण में एक प्रकारका मधुर मधुर सुख होता है। प्रेमकी हिलोरें जिसके हृदयमें जितनीही तीव्रताके साथ उठेंगी, उसे उतनी ही अधिक मूर्छा होगी। जो सखी अभी कहने को उद्यत हुई थी, वे इन सब सखियों में सर्वश्रेष्ठ थीं। इनका अच्युत के प्रति अनुराग अनुपम था। अन्य सब सखियाँ तो उनकी किंकरी थीं। अपनी स्वामिनीको प्रेममें विकल देखकर सब बारी बारी से उन्हें श्रीकृष्ण की रूपमाधुरीके सहित वेणुमाधुरी के रसका पान कराने लगीं। यह वेणुगीत रासलीलाकी पृष्ठभूमिका है। रासोत्सवके निमित्त जैसे प्रथम रङ्गभूमि की रचना की जाती है, उसी प्रकार वेणु बजाकर बनवारी को तो रासके लिये चेतावनी देनी है, कि तुम सब तैयार हो जाओ, एक दिन ऐसी ही वेणु बजेगी उस संकेतको पाते ही तुम अपने अपने घरों से चल पड़ना। इधर ये गोपिकायें वेणुगीत गाकर अपनेको तैयार कर रही हैं। अभिनय के पूर्व अभ्यास कर रही हैं, क्योंकि सहसा उस परमानन्द दिव्य सुख को सहन करनेकी सामर्थ्य किस सुन्दरीमें हो सकती है। प्रेम की मधुरिमा क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। कहाँ तक बढ़ती है, इसकी कोई सीमा नहीं, मर्यादा नहीं, पार नहीं, बढ़ती ही जाती है बढ़ती ही जाती है।

हाँ, तो उन प्रेम भावमें भावित-भाव समाधि में स्थित-प्रधाना

(जी)को सुनाती हुई एक अनुरागवती सखी कहने लगी—
'सखियो! इस सुमधुर मोहक स्वर को सुनकर मुझे तो ऐसा
तीत होता है, कि अपनी पोली छिद्रोंवाली चिकनी मुरली में
दिनमोहन मोहन ने अपने अधरों का अद्भुत अमृत ऊपर तक

भरकर, फिर उसमें फूँक मारकर, उस रस को उदारता पूर्वक
वायुमण्डलमें बिखेरते हुए, गौओं के पीछे पीछे व्रजमें प्रवेश
किया होगा।

यह सुनकर सबके रोमाञ्च होगये। सभी श्यामकथा सुनने
को अधीर हो उठीं। एकने पूछा—"श्यामसुन्दरने मुरली कैसे
बजायी होगी सखी?"

वह बोली—"सखि ! श्यामकी एकसे एक अद्भुत छटायें हैं। वे तो नित नये रङ्ग बदलते हैं, किन्तु हमें तो उनका गोपवेष ही सर्वश्रेष्ठ लगता है। माथे पर मोरमुकुट हो, कानों में कर्णिकार के कमनीय कुसुम खुरसे हों, प्रभायुक्त पीताम्बर पहिने हों, सुहृद सखा संगमें उनके सुयशका गान करते हों। गौएँ ऐंनके भार से आगे आगे चल रही हों वे वेणु बजाते मुसकराते, सबको रिझाते, प्रेमरस बरसाते व्रजमें प्रवेश कर रहे हों, यही शोभा उनकी ध्यान करने योग्य है। मैं समझ रही हूँ, उसी नटवर वेष से विहारी वन से लौटकर व्रज में प्रवेश करते होंगे।" इतना कहते कहते वह भी मूर्छित हो गयी।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! हृदय में अपने प्रियतम की तीव्र स्मृति हो, तो ध्यान में प्यारे के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। प्रतीत ऐसा होता है, ध्यानमें हम उनकी मनोमयी मूर्तिका आलिङ्गन कर रहे हैं। वह मानसिक मिलन कितना सुखद होता है, इसकी कल्पना वे कभी नहीं कर सकते, जिन्होंने कभी एकान्त में एकाग्र चित्त होकर अपने इष्ट का ध्यान न किया हो। वे गोपिकायें तो नित्य सिद्धा थीं, इन्हें कुछ सिखाना तो था ही नहीं वे तो सब कुछ सीखी ही हुई थीं। अतः वे आपसमें श्रीकृष्णकी ही रूपमाधुरी वेणुमाधुरी की चर्चा करती हुई मन ही मन मोहन की मनोहर मूर्ति का आलिङ्गन करने लगीं। मुनियो ! गोपियोंने जो वेणु को उपलक्ष्य करके अपने मनोभावों को व्यक्त किया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह विषय इतना गंभीर और सरस है; कि इसमें जहाँ प्राकृत भोग बुद्धि हुई तहाँ सब गुड़ गोबर हो जायगा। यह साधारण स्त्री पुरुषोंकी-सी बातें नहीं—प्राकृत भाव नहीं। यह तो दिव्याति दिव्य मधुराति मधुर अलौकिक अप्राकृत रस है, इसमें विषयवासना की गन्ध भी नहीं। विशुद्ध प्रेमकी चर्चा है। सरस कृष्ण कथा है।

छप्पय

ग्रेपर कहे—जगमाँहिं सफल जीवन ही उनके।
कृष्ण मुखामृत पान करें नित लोचन जिनके॥
आवत धेनु चराइ सखनि सँग वेनु बजावत।
सुषमा श्याम सिहाइ लुटावत सुख सरसावत।
मुरली अधरनिपै धरें, इत उत निरखत दृग चपल।
चोट करत कछु गाइकें, वेनु माधुरी अति प्रबल॥

रूपमाधुरी और वेणुमाधुरी

(६३२)

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टम्,
यैर्वा निपीतमनुरक्त कटाक्षमोक्षम् ॥*
(श्रीभा० १० स्क० २१ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

एक कहे बलराम श्याम दोऊ ही नटवर।
रङ्ग भूमि अति सुघर सरस वृन्दावन सुखकर॥
नित नव अभिनय करें ग्वालबालनि सँग आवें।
किसलय नूतन सुमन धातुतैं वेष बनावें॥
स्वर सब मुरलीमहँ भरहिं, नाचें गावें हँसि परें।
नील पीत पट धारिकें, धेनुनि लै कौतुक करें॥

---

* श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन्! एक गोपी श्रीकृष्णकी वेणुमाधुरीका वर्णन करती हुई कह रही है—"सखियो! हम उन नेत्रवाले प्राणियोंके नेत्रोंकी सार्थकता तो इसके अतिरिक्त और कुछ समझती ही नहीं। जिन्होंने ऐसे राम और श्यामके प्रणय कटाक्षयुक्त मुखामृतका नेत्रों द्वारा सेवन और पान किया है, जिन दोनों व्रजराज कुमारोंका मुख बजती हुई वंशीसे सुशोभित है। जो अपने साथी बालकों के सहित गौओंके पीछे प्रवेश कर रहे हैं। उन्हें देखनेवाले ही धन्य हैं।"

लगती है। इस प्रकार यह रसपान प्रसङ्ग चिरकाल तक चलता रहता है। यद्यपि इस रसमें लीला, रूप और वेणु तीनों का ही संमिश्रण है, किन्तु वेणु माधुरीका इस रसमें आधिक्य है। इस समय सबको यही रस विशेष रुचिकर है।

एक सखी रस को सबके श्रोत्ररूप पानपात्रोंमें उड़ेलती हुई कहने लगी—"सखियो! संसार में एक से वस्तु एक सुन्दर है। ये आँखें सुन्दर वस्तुको देखकर खिल जाती हैं, चमकने लगती हैं, किन्तु हमारी आँखोंने तो एक सर्वश्रेष्ठ दृश्य को देखा है, उस दृश्यको देखकर ये निहाल हो गई हैं, उस दृश्य को देखकर इन्होंने एक सिद्धान्त स्थिर कर लिया है, कि जिन आँखोंने इस दृश्यको देखा है, वे ही आँखें कहाने योग्य हैं, जो उस दृश्यसे वञ्चित हैं, वे तो नाममात्र की आखें हैं, जैसे मृतक के देह में भी तो फटी हुई आँखें होती हैं, मोरके पंखोंमें भी तो आँखों की आकृति बनी है, चित्रोंमें भी तो बड़ी बड़ी आँखें होती हैं, किन्तु ये सब आँखें कहलाने पर भी यथार्थ आखें नहीं।"

उन सखियोंमें से एकने पूछा—"आली! वह कौन सा दृश्य तुम्हारी आँखों ने देखा है, जिसे तुम भुलाही नहीं सकती, जिसके देखने से ही नेत्रों की सफलता है, हम भी तो उसे सुनें। हम भी तो अपने नेत्रोंको सफल करें।"

वही सखी बोली—"सखियो! वह दृश्य तो तुमने देखा है, उसी दृश्य को देखकर तो तुम बेघरबारकी बनी मारी मारी इधर उधर भटक रही हो, रो रही हो, छटपटा रही हो। सांयकाल के समय श्यामसुन्दर गौओं को चराकर घर आते हों। बलराम-जी तथा अन्य सखा उनके साथ हों, आगे आगे गौओं का झुन्ड चल रहा हो। उनके पीछे मंद मंद मुसकाते मुरली बजाते बलराम और श्याम चल रहे हों, उनके पीछे पीछे उनकी लोक विश्रुत विरुदावलीका बखान करते हुए ग्वालबाल चल रहे हों।

उस प्रणय कटाक्षयुक्त मुरली से सुशोभित कमल और इन्द्र को भी तिरस्कृत करनेवाले मुखामृतका जिन्होंने अपलक नयनों से पेट भरके पान किया है, नेत्र तो उन्हींके सार्थक हैं। इस दृश्यके देखनेवाले नेत्र ही नेत्र हैं। क्यों है न यही बात? श्याम सुन्दर वनमें कैसे बनठन के आते हैं।" इतना कहते कहते श्यामसुन्दर रूपासवके अधिक पान करनेसे वह सखी उन्मत्ता हो गयी उसका कंठ अवरुद्ध हो गया, वह आगे कुछ न कह सकी।

तब एक दूसरी सखी बोली—" राम और श्यामकी शोभाका तो कहना ही क्या है। हमें तो ऐसा लगता है, ये दोनों गोप नहीं दिव्य नट हैं, क्रीड़ा करने के ही लिये ये इस सरस सुखद वृन्दावन की भूमिपर अवतीर्ण हुए हैं। यह सम्पूर्ण व्रजमंडल ही मानों रङ्गभूमि है—नाट्यस्थली है। इस पर नित नव अभिनय करनेवाले ये प्रधान नट हैं, ये गोप ग्वाल इनके सहायक अन्य दूसरे दूसरे अभिनय करनेवाले पात्र हैं। सांयकालके समय कैसे सज बजकर आते हैं। व्रजमें पधारने का उनका वेष कैसा मनोज्ञ तथा सुखकर है। दोनों के माथेपर मोर पंखोंके मुकुट शोभायमान हैं, कण्ठ में सुन्दर सुगंधित पुष्पों की मालाएँ हैं। एक तो ऐसी माला है। जिसमें तुलसी, कुंद, मंदार, पारिजात कमल तथा अन्य देववृक्षों के पुष्पों से बीच बीच में आम्रके नूतन नूतन पल्लव लगाये गये हैं। जल कमल और स्थल कमलोंके द्वारा वे मालाएँ अत्यंत ही भली मालूम पड़ती हैं। उनके मधुके लोभसे भ्रमर उनपर गुंजार कर रहे हैं मानों मालाएँ गीत गा रही हों। बलदेवजी के वस्त्र नीले रेशमी हैं और श्यामसुन्दर पीताम्बर को धारण किये हुये हैं। दोनों ही गाते हुए बांसुरी बजाते हुए गोष्ठ में मंद मंद गति से आते हैं, जैसे सजेवजे नट रङ्गमञ्च पर आकर गाते हैं, अभिनय करते हैं। इनका गोपों का अभिनय दर्शनीय है।

इसपर शौनकजीने कहा—"सूतजी ! सखी तो श्यामकी शोभा का वर्णन कर रही थी, उसने बलदेवजी की शोभा उसमे और क्यों मिला दी ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! इस प्रेमकी ऐसी ही टेढ़ी चाल है। इसमें बात बातपर अपने भावको छिपाया जाता है, यह सत्य है, गोपीका उद्देश्य श्रीकृष्णकी ही रूपमाधुरी तथा वेणुमाधुरी के वर्णन करने में था, किन्तु भावगोपन के लिये उसने दोनोंका ही नाम ले दिया। प्रेम की भाषा दूसरी है। इसमें कहा कुछ जाता है, उसका अभिप्राय दूसरा ही होता है। वे गोपिकाएँ श्रीकृष्णकी वेणुकी प्रशंसा कर रही थीं। वह फिर कहने लगी—"सखियो ! हम तो संसारमें दो को ही परम भाग्य शालिनी समझती हैं, एक तो व्रजकी रेणुको, दूसरे इस सौतिवेणु को दोनों ही ये श्रीकृष्ण के अंगों में लिपट जाती हैं। श्यामसुन्दर जब वनको जाते है, लौटकर आते हैं, तो व्रजकी रेणु उड़-उड़कर उनके श्रीअंगमें उनके काले काले कुंचित केशों में लग जाती है, उनमें सट जाती हैं, किन्तु वेणु तो उनके अधरामृत का हम सब के सामने—सबके देखते-देखते निर्लज्ज होकर पान करती रहती हैं। इसके भाग्यकी क्या सराहनाकी जाय। हाय वेणुके भाग्य की क्या प्रशंसाकी जाय। एक बार जिस अधरामृत का पान करके मन उन्मत्त-सा हो जाता है, उसका वह सतत पान करते करते अघाती नहीं, मतवाली नहीं होती। कैसी यह ढीठ है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! श्रीकृष्ण के अधरामृतकी स्मृति आते ही वह सखी मूर्छित होकर गिर पड़ी और अचेत हो गयी। तब दूसरी सखी कहने के लिये उद्यत हुई।"

छप्पय

वेनु रेनु अति धन्य श्याम—अँगमहँ जो चिपटैं।
वेनु अधरपै रहे रेनु सब अङ्गनि लिपटैं॥
वेनु बाँसकी सुता रेनु धरनीकी दुहिता।
पुत्रिनि भाग सराहि मातु दोउनिकी मुदिता॥
यद्यपि व्रजरजके निमित्त, लालायित सुरगन रहहिँ।
तदपि वेनुकूँ ही परम, भाग्यवती हम सब कहहिँ॥

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ॥
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० २१ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

जा मुरलीने करयो कौन तप श्याम रिझाये।
मुरलीधर जिहि हेतु जगत घनश्याम कहाये॥
अधरनि शय्यामाँहि वेनुकूँ विहँसि सुआवें।
हौले हौले कमल करनितें चरन दबावें॥
करें वायु मुखकमलतें, एक पैर ठाढ़े रहें।
प्राननि प्यारी मुरलिका, मैयातें नित हरि कहें॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक दूसरी गोपी वेणुके सौभाग्यको स्मरण करके गोपियोंसे कह रही है—"अरी, गोपियो! भला बताओ तो सही इस बाँसुरीने ऐसा कौन-सा पुण्य कर्म किया है, जिसके फलस्वरूप यह गोपिकाओंके पीने योग्य दामोदरको अधरसुधाका प्रथम स्वयं पान करके तब उच्छिष्ट औरोंके लिये छोड़ देती है। जिस प्रकार सत्पुत्रसे वंशवाले आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार इसे उत्पन्न करनेवाले इसके वंशवाले बाँस तथा धातृ स्थानीय नदियाँ खिलकर और प्रेमाश्रु बहाकर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं।"

किसी संतके चरणों में चरणपादुका देखकर कोई भक्त बहुत रोये बहुत रोये। किसी ने उनके रोने का कारण पूछा, तो उन्होंने बताया, मैं इन चरणपादुकाओंके भाग्यको निरखकर रो रहा हूँ। हाय! हम लकड़ी भी होते,तो संतके किसी काममें तो आते। इस शरीर से कुछ भी संतसेवा न हो सकी। जीवन खाने पीने और सोनेमें बीता, मरकर यह शरीर सड़ जायगा, गल जायगा अथवा कीड़ा पड़ जायँगे। यह लकड़ी ही धन्य है जो सूखकर भी संत चरणोंसे चिपटी रहती है! सन्तों के किसी काममें आ रही है।" इस शरीर की सार्थकता सेवामें ही है। जो वस्तु भगवान के तथा भक्तोंके किसी भी उपयोगमें आ जाय उसी का, जन्म सफल है। भगवान् के साथ जिन वस्तुओंका सम्बन्ध है, वे सब दिव्य हैं, चिन्मय हैं। श्रीकृष्ण का पीतपट, उनका लकुट, मोरपङ्ख तथा मुरली ये सब जड़ नहीं चिन्मय है, पूर्व जन्म में जिन्होंने अनन्त तप किये होंगे. उन्हें ही भगवान के श्री अंग का नित्य संसर्ग प्राप्त होता है। भगवान् के सानिध्य में उनके नित्य पार्षद ही रह सकते है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्णानुरागमें आर्द्र हुई गोपिकाएँ परस्पर में वेणुनाद श्रवण करके वेणुमाधुरी के ही सम्बन्ध में चर्चा कर रही है।" एक सखीने कहा—"सखियो! देखो हम श्री कृष्णके अधरामृत पान के लिये कितनी लालायित बनी रहती हैं। एक बार भी हमारे ओष्ठोंमें वह अमर कर देनेवाला रस लग जाय, तो हम कृतार्थ हो जायँ। हम उस दिव्यातिदिव्य रस के लिये निरन्तर उत्कंठित ही रहती हैं और यह बाँसकी मुरलिका निर्भय होकर उसका पान करती है। प्रायः अधरामृतका पान एकान्तमें जनशून्य स्थानमें किया जाता है, किन्तु यह निर्लज्जा तो देशकाल किसी का ध्यान नहीं रखती। सब समय, सबके सम्मुख शील संकोच छोड़कर निर्भय होकर

श्रीहरि के अधरामृत का पान करती है। इसके माता पिता को धन्य है, इसका कुल धन्य है, जो इसने श्यामसुन्दर को इस प्रकार वश में कर लिया है। श्यामसुन्दर तो इसके हाथों मानो बिक-से गये हैं। पलभर भी इसे अपने शरीर से पृथक नहीं करते। रात्रिमें भी साथ ही लेकर सोते हैं, वन में जाते हैं तो बगल में दबाये रहते हैं। जब यह चाहती है अधरों की शैयापर सो जाती है। श्याम इसका इतना संकोच करते हैं, कि जब तक यह उनके अधरों को शैया बनाकर लम्बी होकर सोती है तब तक ये एक पैरसे खड़े रहते हैं। कोमल कोमल उँगलियोंसे शनैः शनैः इसके पैरों को पलोटते रहते हैं। अपने मुखकी वायु से इसको व्यार करते रहते हैं। ऐसा सौभाग्य तो किसी कुलवती शीलवती नारी को भी प्राप्त नहीं हो सकता, इसीको अपनानेसे-इसके अधीन होने से—नन्दनन्दन के "मुरलीधर, वंशीधर, मुरलीमनोहर, आदि नाम पड़ गये हैं।"

एक सखीने पूछा—"आली! यह मुरली किस वंश में उत्पन्न हुई है?"

वही सखी बोली—"बहिन! वंश तो इस कुलटाका कोई बहुत बड़ा है नहीं। बाँसोंका लगाना अशुभ समझाजाता है। कोई भी बुद्धिमान् पुरुष अपने यहाँ जान बूझकर बाँस न लगावेगा। उसी बाँसके वंश में तो यह वंशी पैदा हुई है। पृथिवी से उत्पन्न होने के कारण पृथिवी ही इसकी माता है, बादलों के जलबिन्दु से बढ़ने के कारण घन ही इसके पिता हैं। नदियाँ ही नदियों तथा सरोवरोंके जलोंका पान करके बढ़ने के कारण इसकी धातृ स्थानीय हैं। पहिले इसकीमाताको ही करतूत सुन लो। नित्य ही चराचर जीवों को उत्पन्न करती हैं, फिर यह कुमारी की कुमारी ही बनी रहती है। एक बार इसे असुर पातालमें भगा ले गये थे। तो जैसे तैसे सूअरका वेष बनाकर

भगवान् इसे फिर उनके घरोंमें से निकाल लाये। इसभूमिके एक नहीं अनेकों पति हैं। सभी इसे मेरी मेरी कह कर मर जाते हैं, किन्तु यह किसीकी होती नहीं। बहुभनूका कभी किसी एककी हो सकती है? वह कभी एकसे प्रेम न करेगी, नित्य नूतन पति चाहेगी, एकको छोड़ते ही दूसरे की बन जायेगी, फिर उसे भी छोड़ देगी। यह तो इस मुरलिका की माता की दशा है। इसके पिता मेघोंकी भी बात सुन लो ये बड़े निष्ठुर होते हैं। शरणागतका ध्यान नहीं करते। चातक कितनी आशा लगाये 'पीउ पीउ' पुकारता रहता है। उसकी अनन्यगति ये घन ही हैं, किन्तु ये उसपर पत्थर बरसाते है, प्यासके कारण वह तड़प तड़पकर मर जाता है, किन्तु ये निष्ठुर उसके मुखमें स्वाँतकी बूँद डालते नहीं। इसके वंशको देखो। इसके वंशवाले परस्पर में ही लड़ लड़कर जल मरते हैं। स्वयं ही जलते हों सो बात नहीं। सम्पूर्ण वन को जला देते हैं। जीव जन्तुओंको जला देते हैं। घरके बन्धनों को ये बाँस ही बाँधते हैं। मृतकको ये ही स्मशान पहुँचानेवाले हैं। यह इसके वंशवालों की करतूतें हैं। नदियों को देखो ये सदा टेढ़ी ही बहती हैं। किसी पर दया नहीं दिखातीं, खेतों को डुबा देती है, जो इनके भीतर जाता है उसे डुबा देती हैं। यह तो इस मुरली के वंशका परिचय है। इसलिये यह कोई उच्च कुलोत्पन्ना कुलवती कामनी हो, सो बात तो है नहीं, किन्तु इसे श्यामसुन्दर ने अपना लिया है, इसलिये इसके सब दोष ढक गये हैं। बड़े लोग जिसे अपना लेते हैं, उसके गोत्र को कोई पूछता नहीं।"

उसगोपीने कहा—"तो वीर! ये कृष्ण ही कौनसे कुलीन हैं। कोई इन्हें नन्दनन्दन कहता है कोई वसुदेवनन्दन। कोई देवकी-नन्दन कहता है कोई यशोदानन्दन। कोई गोपाल, आभीर कहता है कोई यदुनन्द, वार्ष्णेय। अहीरकी जाति कोई बड़ी जाति थोड़े

ही है। द्विजातियों के लिये दूध, दही, घृत आदि रसों को बेचना निषेध है यही हमारी आजीविका है, अतः जोड़ी तो एक सी ही बनी है। "जैसी अहो तैसी महो। उनके चूल्ही न इनके तओ" परन्तु फिर भी इसके द्वारा दुर्लभ पदार्थ अधरामृतका पान करना किसी साधारण पुण्यका फल नहीं है। देखो,यदि सच पूछा जाय, तो श्यामके अधरामृतपर सम्पूर्ण अधिकार हम गोपियोंका ही है। हम उसे यथेष्ट पेट भरके पान करलें और फिर कुछ अवशिष्ट रह जाय, तो किसी दूसरी को दे सकती हैं, यह हमारी कृपा पर निर्भर है। दयालु लोग अपना उच्छिष्ट अपने आश्रितोंको दे ही देते हैं। यहाँ यह बात विपरीत हो रही है। यह हमारी सौत मुरली सबसे पहिले स्वयं पेटभरके अधरामृतको पी लेती है, फिर कुछ बचाकुचा उच्छिष्ट रह जाता है उसे हमारे लिये छोड़कर अधरोंसे हट जाती है जो धन की यथार्थ स्वामिनि है उसे जूठा कूठा मिले और जो दासी है वह पहिले यथेष्ट उसका उपभोग कर ले। श्यामसुन्दर के यहाँ यह उलटी ही गंगा बह रही है। देखने में सुन्दर हो हरी भरी हो सो भी बात नहीं सूखी साखी है। यह कोई चरित्रवान निश्छिद्र हो सो भी नहीं एक नहीं आठ आठ इसमें छिद्र हैं, इतने सब दोष होने पर भी जो इसे इतनी बड़ी पदवी प्राप्त हो गयी है,इतनी अमूल्य निधिकी उपभोग करने वाली बन गयी है, इसमें अवश्य ही कोई हेतु होगा। बिना पूर्व जन्मकी तपस्या के इतना सौभाग्य प्राप्त हो ही नहीं सकता।"

इसपर वही सखी बोली—"हाँ, बहिन! तुम्हारा कहना सत्य ही है। तपस्याका ही तो यह फल है, कि दुसरों के धनकी स्वतंत्र स्वामिनी बन गयी है। तपस्या तो इस वंश ने ऐसी की है जैसी कोई कर नहीं सकता। बाँसोंकी जड़ कठोर होती है, उस कठोर जड़को फोड़कर यह पोली हो गयी। अर्थात् इसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-मत्सर दंभ अहंकार तथा अन्य भी समस्त दोषों

को अपने भीतर से निकाल दिया. यह पोली होकर एकान्त वनमें वास करती हुई चिरकाल तक घर में ही रह कर साधना करती रही। पहिले इसकी साधना कच्ची थी, वन प्रदेशमें एकान्तमें साधना करते करते यह पकगयी। अब इसकी परीक्षा आरंभ हुई किसी कठिन करोंने तीक्ष्ण शस्त्रसे इसे काटा। अपने वंश से पृथक् किया। तिसपर भी यह न रोयी न चिल्लायी। कटकर भूमि में गिर गयी। उन्हीं निर्दय हाथोंने इसके शरीर पर जो पत्रोंके वस्त्र थे उन्हें उतारकर फेंक दिया। इसे सर्वथा नंगी कर दिया। उस नग्नावस्थामें भी इससे कोई आपत्ति नहीं की। काटनेवालेने आँखपर रखकर इसे देखा। कितनी भी तपस्या करें कुछ न कुछ टेढ़ापन तो रह ही जाता है, अतः इसमें जो भी कुछ टेढ़ापन था, उसे अग्निमें तपाकर—अग्निपरीक्षा करके—निकाल दिया। ऊपर की गाँठोंको छील दिया। बीचसे काट कर धूप में सुखाया। इसने मुखसे 'सी' भी नहीं निकाली। नंग धड़ंगी कटी हुई धूपमें चिरकाल तक पड़ी रही। सूख गयी। इतने पर भी इसके काटनेवालेको दया नहीं आयी। इसके अंग प्रत्यंगको बरमासे छेदा। एक दो नहीं आठ छेद इसके शरीर मे किये। इसने अपने सूखे अंगको छिदवा दिया। अब यह परीक्षा में उत्तीर्ण हुई समझी गयी। प्यारे ने परीक्षा के निमित्त इसे अधरपर रखकर इसका मान बढ़ाते हुए देखा—"इतने कष्ट सहकर यह उदास तो नहीं हुई, कोई दुःखकी बात तो मुख से न निकालेगी। इसीलिये प्राणवल्लभने इसके कटे हुए अंग में फूँक मारी। प्यारेकी फूँक लगते ही यह हँस पड़ी गाने लगी मधुर स्वर निकलने लगी।" प्यारे इसकी इस तपस्या से रीझ गये, अपना तन मन सर्वस्व इसको अर्पण कर दिया। इसके किंकर बन गये। बिना कष्ट सहे इतना अपनापन नहीं हो सकता। कष्ट सहिष्णुता पत्थर के हृदय को भी पिघला देती है फिर श्यामसुन्दर तो सहृदय हैं। इस मुरली को वह

सौभाग्य प्रदान किया, जो आजतक किसीको भी प्राप्त नहीं हुआ। लक्ष्मी जी भी उस सौभाग्य के लिये तरसती रहती हैं। इसीलिये इसके कुल के सभी लोग परम प्रमुदित हैं। अपने वंशमें किसीको सौभाग्यशाली देखकर आर्यपुरुष गर्व करते हैं, प्रसन्न होते हैं, कि हमारे कुल में ऐसा पुरुष उत्पन्न हुआ। इसने हमारे वंश को विख्यात कर दिया।

जिस वंशमें यह बाँसुरी उत्पन्न हुई है उन बाँसों की जड़ रूप मुखों के द्वारा उन्होंने नदियों के जल रूप दुग्धका पान किया है। धाई जिसे अपना दुग्ध पिलाकर पाल पोसकर बड़ा करती है, यदि वह राजरानी पटरानी बन जाय, तो धाईके रोम रोम खिल जाते हैं। इसी प्रकार ये नदियाँ अपनी पालिता पुत्रीको गोपालकी अधरामृत अधिकारिणी प्राणप्रिया समझकर अपने खिले हुए कमलों के कारण मानों रोमाञ्चयुक्त दिखायी दे रही हैं जिस बाँस के वंशमें इसने जन्म लिया है, वे बाँसके वृक्ष में मदकी धारा बहा रहे हैं, मानों बाँसुरीको सौभाग्यशालिनी देखकर प्रेमाश्रु विमोचन कर रहे हों। हरी भरी दूब रूप रोमों द्वारा पृथिवी अपनी पुत्रीके प्रभावपर प्रसन्न होकर मानों रोमाञ्चित हो रही हो। मेघ गरज गरजकर छोटी छोटी फुलझरियाँ बरसाकर बेटी के सौभाग्यपर सिहा रहे हों। एक विष्णु प्रियाके पीछे सभी को सुख प्राप्त होता है, सभी प्रमुदित होते हैं।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! आप जो यह गोपियोंके अनुपम अनुराग का वर्णन कर रहे हैं, यह कानोंको तो बड़ा सुखद प्रतीत होता है, किन्तु इसका अर्थ क्या है, यह हमारी समझमें नहीं आता।"

यह सुनकर सूतजी खिल खिलाकर हँस पड़े और हँसते हँसते बोले—"भगवन ! प्रेमकी बातों का कोई अर्थ थोड़े ही हुआ करता है, वे बातें निरर्थक होती हैं, प्रेमकी बातें प्रेमकी वृद्धि के

ही लिये की जाती हैं। ये इतने नर नारी रात्रि रात्रि भर बातें करते रहते हैं, एक दो दिन नहीं वर्ष दो वर्ष नहीं जीवनभर बातें करते हैं। इनसे पूछो इतनी देर तुमने बातें कीं इनका क्या अर्थ है।

श्रीकृष्ण चरित्र का प्राण रासलीला। रासलीला प्रेम की पराकष्ठाकी लीला है,आगे मुझे उसीका वर्णन करना है, श्रीकृष्ण की बाललीलाएँ तो अब समाप्त प्रायः हो चुकीं, अब तो उनकी रसमयी प्रेमलीलाओं का सूत्रपात है वेणुगीत रासलीलाओं की भूमिका है। मधुररस के उपासक इन लीलाओं को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। असुरों के उद्धार की लीलाएँ, बाललीलाएँ तथा और अन्य स्फुटलीलाएँ हैं, तो उनके लिये एक प्रसङ्गानुसार उपलीलाएँ हैं, इन लीलाओंसे मधुर लीलाओंका पोषण होता है। महाराज! प्राणिमात्रकी इच्छा प्रेम प्राप्तिकी है, जीव प्रेमके बिना भटक रहा है, प्रेमके बिना ही प्राणी विकल हो रहा है। यह जीवकिसीसेप्रेम करना चाहता है, किन्तु जिनका प्रेम स्थायी नहीं, आज हममें कोई गुण देखा, प्रेम करने लगे। कल वह गुण न रहा द्वेष करने लगे, यह प्रेम नहीं गुणोंके प्रति आकर्षण है। प्रेम ऐसा हो कि वह कभी मिटे नहीं घटे नहीं दिन दूना बढ़ता जाय। प्रति क्षण वर्धमान ही प्रेमका स्वरूप है। वह संसारी पुरुष स्त्रियों में असंभव है। मधुररस के उपासकों का कहना है। वह प्रेम एक मात्र नंदनंदनमें ही हो सकता है और उसे गोपिकाएँ ही कर सकती हैं। गोपी किसी शरीर का नाम नहीं, उनमें स्त्री, पुरुष नपुंसकका भेद नहीं। गोपी एक भाव है, गोपी स्त्रीलिङ्ग शब्द है, अतः स्त्रीवाची ही प्रयोग होता है। नंदनन्दन में जो प्रेम होता है, वह किसी कारणसे नहीं होता, वह तो स्वाभाविक होता है और दिन दिन बढ़ता ही जाता है। प्रेम कोई विचित्र वस्तु हो सो बात नहीं। हम नित्य प्रति भाई, बहिन, माता, पिता, पत्नी,

मित्र तथा बन्धु बान्धवोंमें जो प्रेम करते हैं वही प्रेम है, अन्तर इतना है नाशवान् वस्तुके साथ किया हुआ प्रेम मोह कहलाता है और वही प्रेम अविनाशी श्रीकृष्णमें होनेसे वह 'प्रेम' के नाम से पुकारा जाता है। प्राकृत स्त्री पुरुषोंमें किया हुआ प्रेम काम होता है, उसी प्रेमको गोपी श्रीकृष्णमें करें तो उसकी प्रेम संज्ञा हो जाती है। गोपियोंका काम ही प्रेम है। अतः मधुररसवाले, गृहस्थीको प्रेमकी चटसाल समझते हैं। जैसे चटसालमें पट्टीपर बुद्धिकाकी खड़ियासे अक्षर लिखने का अभ्यास करते हैं। जब पट्टीपर लिखनेका अभ्यास हो जाता है, बारबार लिखकर मिटाते मिटाते हाथ सध जाता है, तो उन्हीं अक्षरोंको कागदपर लिखते हैं, स्थायी भाव हो जाते है। गृहस्थी गृहस्थमें रहकर प्रेम करते हैं, उसे ही श्रीकृष्णमें मोड़ देते हैं। इस रास और गोपी प्रेममें शब्द और भाव तो वे ही आते हैं, जो प्राकृत स्त्री पुरुषोंके काम भावमें व्यवहृत होते हैं, किन्तु यह श्रीकृष्णके सम्बन्धका भाव अप्राकृत है। जीवोंकी विषयोंमें स्वाभाविक रुचि है, अतः भगवान् व्यासने इस प्रेम प्रसंगको इस प्रकार वर्णन किया है, कि सबका मन इस ओर खिंच जाय। जैसे बच्चेको कड़वी औषधि देनी होती है तो उसके ऊपर चीनी लपेटकर देते है। चीनी खिलाना अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय तो कड़वी औषधि खिलानेमें ही है, किन्तु कड़वी वस्तुमें स्वाभाविक अरुचि होती है। मीठी वस्तुमें स्वाभाविक रुचि होती है। इसीलिये ये कथाएँ प्राकृत स्त्री पुरुषोंके प्रेमके सदृश ऊपरसे दिखायी पड़ती हैं, किन्तु इनके भीतर गूढ़ रहस्य भरा है, जिससे जीव इस मायिक जगत्से ऊपर उठकर चिन्मय जगत्में प्रवेश करता है। जिनके हृदयमें घट, पट, अहङ्कार, प्रकृति, पंचभूत, पंचीकरण ये ही सूखी बातें भर रही हैं उन शुष्क हृदयवालों को ये सब बातें कुछ अटपटी-सी लगती हैं। क्योंकि ये सब बातें तो सरसतामें

सनी हुई हैं। अच्छा तो आप मुझे स्पष्ट बता दीजिये। आपकी आज्ञा हो तो गोपियोंके इस निरर्थक प्रलापको और आगे बढ़ाऊँ नहीं तो फिर कोई कथा प्रसङ्ग कहूँ ?"

इसपर शौनकजी शीघ्रताके साथ बोल उठे—"नहीं सूतजी ! यह आपने कैसी बात कह दी। यद्यपि हम गृहस्थी नहीं हुए हैं, फिर भी हमारा हृदय नीरस नहीं है। हमारे लिये यह नयी कथा भी नहीं है। भगवान् नारदजीके मुखसे हम रागानुगा भक्तिकी विधिवत् शिक्षा प्राप्तकर चुके हैं। श्रीकृष्णकी रहस्यमयी लीलाओं को हम अनेकों बार सुन चुके हैं।"

यह सुनकर कानोंपर हाथ रखते हुए सूतजी बोले—"भगवन ! भगवन् ! मेरा यह अभिप्राय नहीं है, कि आप शुष्क हृदयके विमुक्तमानी ज्ञानी हैं। यदि मैं आपको ऐसा समझता तो इस रहस्यमय प्रसङ्गको छेड़ता ही क्यों। यह कोई बात नहीं है, कि रागानुगा भक्तिका अधिकारी गृहस्थ ही हो। मेरा कहनेका अभिप्राय इतना ही था, कि गृहस्थमें मनुष्य सब जान लेता है कि भाईसे कैसे प्रेम किया जाता है, पितासे कैसे प्रेम किया जाता है, पत्नीसे कैसे प्रेम किया जाता है। पत्नी पतिसे कैसे प्रेम करती है। इस मार्गमें तो पत्नी बनना पड़ता है न। कामी तो इस मार्ग की ओर फटक नहीं सकते। जबतक हृदयमें कामभाव है, तब तक श्रीकृष्णका प्रेम हो ही नहीं सकता। जो काम भावसे ऊँचे उठ गये हैं, वे ही इस मार्गके सच्चे अधिकारी हैं। आप ही तो इन लीलाओंके श्रवणके वास्तविक अधिकारी हैं, मेरे गुरुदेव भगवान शुक बाल-ब्रह्मचारी थे, वे ही इस रसशास्त्रके आचार्य हैं। वे ही परमहंस चक्रचूड़ामणि इस दिव्यातिदिव्यरसके पान करने और करानेके अधिकारी हैं। मेरे बाबा गुरुके भी गुरु भगवान् नारद सृष्टिके आदिसे विरक्त हैं, किन्तु इस रसका प्रचार प्रसार संसारमें उनके ही द्वारा हुआ। उनके भी गुरु सनक,

सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन ये चारों कुमार बाल-ब्रह्मचारी हैं, सदा पाँच वर्षके ही बने रहते हैं। भगवान्‌की मधुर-लीलाओंमें जितनी आसक्ति इन कुमारोंकी है उतनी और किनकी होगी। आप तो महाराज आचार्य हैं। मेरे कहनेका अभिप्राय इतना ही है, कि आप यदि इन सरस प्रसङ्गोंको लोक संग्रहके विरुद्ध समझें तो मैं इन्हें छोड़ दूँ?"

शौनकजीने कहा—"नहीं सूतजी! छोड़नेकी क्या आवश्यकता है। नास्तिक कुतर्की तो इन्हें पढ़ेंगे ही नहीं। विषयी पुरुष श्रीकृष्णको प्राकृत पुरुष समझकर इन लीलाओंको प्राकृत लीला समझकर पढ़ेंगे, तो उनका मनोरञ्जन होगा, सांसारिक प्रेम बढ़ेगा, उनका हृदय सरस होगा और श्रीकृष्णको साक्षात् स्वयं भगवान् मानकर उनकी लीला समझकर पढ़ेंगे, उनका तो कल्याण ही कल्याण है, वे इस मायिक जगत्‌से छूटकर अप्राकृत दिव्य-लोकके अधिकारी होंगे. अतः ये लीलाएँ मुक्त, मुमुक्षु, ज्ञानी और विषयी सभीके लिये हितकर और मनोरञ्जक होंगी। आप जितने भी विस्तारसे चाहें उतने ही विस्तारसे वर्णन करें। हमें तो इनके श्रवणमें ब्रह्मानन्द सुखका अनुभव हो रहा है।

सूतजीने कहा—"अच्छी बात है महाराज! वेणुके संबंधमें अन्य गोपियोंने जो उत्प्रेक्षाएँ की हैं अब मैं उन्हींका वर्णन करूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लखि बंशी सौभाग्य वंशकुल अति सुख पावें।
सरिता धाई सरिस रोम जनु कमल खिलावें॥
पादप प्रमुदित होहिं फूलि जावें वन उपवन।
निज दुहिताके करें गान गुन गरजि गरजि घन॥
मदधारा तरु बाँसके, आनन्दाश्रु बहाहिं जनु।
वृद्धनि कुलमहँ भक्त लखि, बहे नयन जल पुलकितनु॥

महामोहक मुरलीध्वनि

(६३४)

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० २१ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

यह वृन्दावन धन्य धराको धन जनु अनुपम ।
चरननि नूपुर धारि चलैं हरि जामें छम-छम ॥
वेनु बजावत श्याम मोर समुझे जनु घनरव ।
गरजि रहे हिय जानि मत्त ह्वै नृत्य करे सब ॥
मोहन मुरली मधुर सुनि, नाचैं केकी तालमहँ ।
हम सब तरफत दिवसनिशि, फँसी निठुरके जालमहँ ॥

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन सखियोंमें एक बोली—"अरी, सखी ! ये मृगियाँ मूढ़ मतिवाली होनेपर भी धन्य हैं, जो विचित्र वेषधारी नन्दनन्दनके समीप वेणुकी ध्वनि सुनते ही अपने पति कृष्ण-सार मृगोंके सहित आकर अपने प्रणय कटाक्षों द्वारा उनकी पूजा करती हैं ।"

प्रेममें प्राणी अंड-बंड बकनेको, अंड-बंड सोचनेको विवश हो जाता है। वह क्या करता है, क्या सोच रहा है, उसे स्वयं पता नहीं रहता। उसकी दृष्टिमें जड़ चेतन अचर सचरका भेद भाव नहीं रहता। जैसे भङ्गकी तरङ्गमें आदमी सोचता ही जाता है, सोचता ही जाता है, हँसता है तो हँसता ही जाता है, रोता है तो रोता ही जाता है। जो भी धुन बँध जाय, जो भी अपने प्रियकी बात याद आजाय, उसीपर प्रहरों सोचता रहेगा। उत्प्रेक्षा करता रहेगा, मनमोदक खाता रहेगा। प्रेम मार्गमें जितना सुख सोचनेमें है, चिंतनमें है, स्मृतिमें है उतना सम्मिलनमें नहीं है। शारीरिक सम्मिलन सुख क्षणिक होता है अस्थायी होता है। मानसिक मिलन नित्य निरंतर होता रहता है उसे कोई नाश नहीं कर सकता, उसीको ध्यान धारणा समाधि किसी भी नामसे पुकारो। सब ओरसे चित्तवृत्ति हटकर प्रियतममें ही निरन्तर अविच्छिन्न तेल धारावत लगी रहे यही प्रेमकी परागति है यही पराकाष्ठा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीकृष्णकी मुरलीकी धुनि सुनिके मतवाली हुई गोपिकाएँ परस्परमें कथनोपकथन कर रही हैं। उनमेंसे एक बोली—"सखि ! हम तो इस वृन्दावनकी अति सरस पावन भूमिको संसारमें धन्यतममे भी धन्यतम समझती हैं। अहा ! इस भूमिके सौभाग्यके सम्बन्धमें क्या कहा जाय, जो भी कुछ कहा जाय वही थोड़ा है। जिस समय देवकीनन्दन अपने अनावृत अरुण चरणोंको इसके वक्षःस्थलपर स्थापित करके इसे दबाते हैं, तो समस्त वन उपवन फूल जाते हैं। मानों वृन्दावन प्रदेशकी भूमिका समस्त अङ्ग रोमाञ्चित हो गया हो। सखियो ! जब ये उसी पुण्यमयी पावन भूमिपर त्रिभङ्ग ललित गतिसे खड़े होकर मुरली बजाते हैं, कपोलोंको विचित्र बनाकर इसमें फूँक मारते हैं और वह बैरिनि गाने लगती है, तब तो कुछ

पूछो ही नहीं, वनमें विचरनेवाले मयूरोंको भ्रम हो जाता है, मानों मन्द-मन्द स्वरमें मेघ गरज रहा हो। मेघकी गरजन सुन कर हृदयमें प्रेमकी हिलोरें उठने लगती हैं, मन वशमें नहीं रहता बिना नाचे रहा नहीं जाता अतः वे अपने चित्र विचित्र पङ्खोंको उठाकर नृत्य करने लगते हैं। उनके नृत्यको देखकर और विचित्र वेणुरवको सुनकर सभी चराचर प्राणी स्तब्ध हो जाते हैं, उनकी गति रुक जाती है, जहाँके तहाँ खड़ेके खड़े ही रह जाते हैं। इस वैरिनि बाँसुरीकी धुनिमें ऐसा कुछ जादू है, कि जो भी इसे सुनता है वही आत्मविस्मृत बन जाता है। यह कुलटा तो ब्रह्मा बाबासे भी सब बातोंमें बढ़ गयी।"

इसपर एक सखी बोली—"वीर! तू इस मुरलीको ब्रह्मा बाबाकी उपमा किस प्रकार दे रही है। ब्रह्माजीके तो चार मुख है, वे चार मुखोंसे चार वेदोंका उपदेश देते हैं?"

यह सुनकर वही सखी कहने लगी—"अरी सखी! ब्रह्माजी के तो चार ही मुख है, इस रॉड़के तो चारके स्थान पर ये आठ छिद्र ही आठ मुख है। इन आठों मुखोंसे जो यह मुख मटका मटका कर गरजती है इससे सम्पूर्ण विश्व विमोहित हो जाता है।"

उस सखीने फिर पूछा—"नाभिकमल पर बैठे ब्रह्माजीको तो सृष्टिके आदिमें भगवान्‌ने उपदेश दिया था, इस मुरलीको इतना मोहक उपदेश किसने दिया?"

इसपर कहनेवाली गोपी बोली—"अली! ब्रह्मा बाबाको तो नाभिकमल पर एक ही बार भगवान्‌ने उपदेश दिया, तब वे इतने भारी ज्ञानी हुए। इस जलमुहीको तो श्यामसुन्दर सदा मुख कमल पर बिठाकर निरन्तर उपदेश करते रहते हैं, फिर इसके ज्ञानकी क्या थाह लग सकती है।"

पूछनेवाली सखीने पूछा—"अच्छा, सखि! यह बताओ ब्रह्माजीने तो कमलपर बैठकर इस चराचर सृष्टिकी रचनाकी यह मुरली किस कमलपर बैठकर सृष्टि करती है?"

कहने वाली बोली—"अरी बावरी! तू इतना भी नहीं जानती। ब्रह्मा बाबा तो एक ही कमल पर बैठे थे। यह तो श्री कृष्णके दो करकमलोंमें सदा बैठी रहती है और सुख कमलकी शय्या बनाती है।"

पूछनेवालीने पूछा—"अच्छा, ब्रह्माजीका वाहन तो हंस है, उसपर वे चढ़कर उड़ते हैं। इस बाँसुरीका वाहन कौनसा हंस है?"

कहनेवाली गोपी बोली—"वीर, ब्रह्माजी तो एक ही हंस पर चढ़ते थे। यह स्वैरिणी तो हम समस्त गोपिकाओंके मानस हंसोंको अपना वाहन बनाये हुए है। उनपर चढ़कर जहाँ चाहती है घुमाती रहती है।"

पूछने वालीने पूछा—"हमने सुना था, कि ब्रह्माजी ने तो अपनी पुत्री सरस्वतीके पीछे कुलव्रतका त्याग कर दिया था।"

खीजकर सखीने कहा—"तो यह कौनसी ऐसी व्रत वाली है, इसने भी तो अधरसुधाके लोभसे अपने कुलका व्रत त्याग दिया है। यहाँ तक कि शिखा सूत्र,वस्त्र सब त्याग दिये हैं। दिगम्बर बनी अधरसुधाका सबके सम्मुख स्वादसे पान करती रहती है। इन सब कारणोंसे मैं तो इस बाँसुरीको ब्रह्मा बाबाकी भी मौसी समझती हूँ।

पूछनेवालीने पूछा—"सखि! इसका नाम वंशी क्यों है?"

गोपीने कहा—"बाँसोंसे उत्पन्न होनेके कारणही इसे वंशी कहते हैं। वास्तवमें वंशी कहते हैं मछली फँसानेके यन्त्रको।

एक बाँसमें डोर बाँधकर उसमें एक काँटा लगा देते हैं। उस काँटेपर कोई खानेकी वस्तु आटा या मांसका टुकड़ा लगा

कर उसे जलाशयमें फेंक देते हैं। मछली खानेके लोभसे उस वस्तुको काँटे सहित निगल जाती है, उसके गलेमें काँटा फँस जाता है। मछली मारनेवाला उसे खींच लेता है वशमें कर लेता है। इसी प्रकार यह वृन्दावनविहारी वनवारीकी वंशी अपनी तानकी डोरसे मधुर स्वरूप भोज्य पदार्थके लोभसे जीवोंको फँसाती है, जहाँ कानमें यह शब्द सुनाई दिया कि प्राणी फँस जाता है। इसलिये यह फँसानेवाली वंशी है।

पूछनेवालीने पूछा—"सखि! यह वंशी सबको ही फँसाती है या स्त्री जातिको ही?"

गोपीने कहा—"वैसे तो इसका जादू सबपर चलता है, किन्तु स्त्रियोंका हृदय अधिक कोमल होता है। इसीलिये शास्त्रकारोंने इनकी "अबला" संज्ञा बतायी है। ये उस मादक ध्वनिको सुनकर शीघ्र अचेत हो जाती हैं, इस माधुरी जालमें फँस जाती हैं। एक बार जहाँ फँसीं, कि फिर निकलना असंभव है। फँसाकर छोड़ना तो इस वंशीधारी वनवारीने सीखा ही नहीं। यह फँसाना ही जानता है छोड़ना नहीं। रुलाना ही जानता है हँसाना नहीं। तड़पानेमें ही इसे आनन्द आता है। सखि! यदि ब्रह्माको हमें स्त्री ही बनाना था, तो पुरुष जातिकी स्त्री क्यों बनाया। यदि पुरुष जातिकी ही स्त्री बनाना था, तो हमारे हृदयमें लोकलाज, कुललाज वेदलाज तथा और भी अनेकों व्यर्थकी लाजें क्यों भरदीं। हमसे तो मृगियाँ ही अच्छी हैं, कि बाँसुरीकी माधुरीका निश्चेष्ट होकर चुपचाप खड़ी हुई पान कर रही हैं। बड़े-बड़े सींगोंवाले इनके पति ये कृष्णसार मृग भी इनके साथ ही खड़े हैं। इन्हें न उनका कुछ शील सङ्कोच है, न इन्हें इनपर अविश्वास अथवा ईर्ष्या ही। पति पत्नी दोनों साथही साथ वेणु माधुरीका मत्त होकर पानकर रहे हैं। ये भी तो स्त्रियाँ ही हैं। हमें तो कोई असमयमें वनकी ओर जाते देखले, तो पचास प्रश्न पूछेगा। क्यों गई? वहाँ क्या

था ? इस समय जानेका क्या काम था ?" इन अभागोंसे कोई पूछे—"क्या श्यामकी वंशीधुनि सुनना कोई काम नहीं है ? अपने तड़पते हुए हृदयमें सरस वेणु ध्वनिको धारण करना कोई अनुचित कार्य है ? जिस रूपमाधुरीने हमें अपने वशमें कर लिया है, जिस वंशीके काँटेने हमें फँसा लिया है, उसकी ओर यदि अवश होकर हम दौड़ती हैं, तो क्या अपराध करती हैं। जब ये मूढ़मति वाली पशु जातिमें उत्पन्न जंगली हिरनियाँ अपने अपने प्रणय कटाक्षों द्वारा अपने पतियोंके सम्मुख ही पशुपाल प्रभुकी प्रेमपूर्वक पूजा कर सकती हैं, उन नन्दनन्दनको अपना प्रणयोपहार समर्पित कर सकती हैं, तो हम मनुष्य जातिमें उत्पन्न होकर भी उनकी अर्चा न कर सकें, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित न कर सकें यह कैसी विडम्बना है, कैसी विवशता है, इस लोक-लाज और कुलमर्यादाकी भी कोई सीमा है। अच्छा, मानलो मुरलीका शब्द सुनकर उसकी तानमें बँधकर हम जाती हैं, तो हमारा अपराध नहीं है, मुरलीका अपराध है, उसे तोड़ दो, उसे व्रजसे निकाल दो। अथवा चोरको न मारकर चोरकी माताओंको ही मार दो। अकेली बाँसुरीको न तोड़कर व्रजमेंसे बाँसोंके वंशोंको ही मिटा दो न रहेंगे बाँस न बाजेगी बाँसुरी। लोग करने योग्य यथार्थ उपायको तो करते नहीं हमें लांछित करते हैं। भला, इतनी मोहक मुरलीकी ध्वनिको सुनकर किसका हृदय न पिघल जायगा, कौन पानी पानी न हो जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह कहते-कहते उस सखीको श्यामसुन्दरके त्रिभुवन रूपकी स्मृति आ गयी उसी समय वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। अब दूसरी सखी कुछ कहनेको प्रस्तुत हुई।

छप्पय

है त्रिभङ्ग दै फूँक बजावें वेनु विहारी।
बंशी बंशी बनी फँसाई सब ब्रजनारा॥
मृगी पतिनि सँग सुनत तुरत जड़वत बनि जावें।
प्रनय कटाक्ष चलाय श्याम प्रति भक्ति दिखावें॥
चढ़ि विमान सुनि वेनु धुनि, सुरनि सहित सुर सुन्दरीं।
भईं विवश नीवी खिसी, शिथिलकेश माला गिरीं॥

बेसुधि बनानेवाली बाँसुरी

(६३५)

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० २१ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

चरत-चरत तृन धेनु सुनी मादक मुरली धुनि ।
श्रवनपुटनितैं पान करें हरषित ह्वै पुनि पुनि ॥
नयननि नीर बहाइ हृदयमहँ छवि लै जावैं ।
आलिङ्गन करि होहिँ सुखी सुधि तन बिसरावैं ॥
बछरा मुखमहँ कौर धरि, ज्योंके त्यों ठाढ़े रहैं ।
झाग गिरैं मोती सरिस, धुनि प्रवाहमहँ सब बहैं ॥

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक सखी कह रही है—देखो ये गौ और बछड़े ही धन्य हैं। ये गौएँ अपने उन्नत श्रवणपुटोंसे श्रीकृष्णमुखनिसृत वेणुरूपी अमृतका पान करती हुई तथा अपने नेह-नीर पूरित नयनों द्वारा उनकी मधुर मूर्तिको हृदयमें लेजाकर उसका आलिङ्गन करती हुई निश्चेष्ट खड़ी हैं। और ये इनके बछड़े भी दूध झरते हुए स्तनोंका घूँट मुखसे टपकाते हुए स्तम्भित खड़े हैं।

यह कहावत है प्रेमको पशु-पक्षी भी पहिचानते हैं। पशु-पक्षी ही नहीं पादप पाषाण तक प्रेमके वशीभूत हो जाते हैं। कहते हैं—"भरतजीके अलौकिक प्रेमको देखकर कामदचित्रकूट पर्वतके पाषाण पिघल गये। मदनमोहन मुरलीधरकी मुरलीकी ध्वनि सुनकर गिरि गोवर्धनकी शिलायें कोमल हो गयीं पिघल गयीं—अद्यावधि उनपर ग्वालबाल, श्रीकृष्ण और गौओंके चरणचिह्न विद्यमान हैं। गोवर्धनपर्वतकी परिक्रमा करनेवाले महाभाग यात्रियोंको उन सौभाग्यशालिनी शिलाओंके दर्शन होते हैं। श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि साधारण ध्वनि नहीं थी, वह तो विश्वको विमोहित करनेवाली मधुरातिमधुर ध्वनि थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे बाँसुरीकी ध्वनिसे पगली बनी व्रजाङ्गनायें परस्परमें एक दूसरेको सुनाती हुई भगवान्‌की रूपमाधुरी लीलामाधुरी और वेणुमाधुरीका वर्णन कर रही हैं। उनमेंसे एक कहने लगी—"सखि! भगवान्‌ने स्त्री जातिमें इतना डाह क्यों पैदाकर दिया है। इनके मनमें छिनभरमें ही सौतिया डाह आजाता है, ये अपनी प्रतिस्पर्धिनीको नीचा दिखानेको तुल जाती हैं। अथवा स्त्रियोंमें ही क्या प्राणिमात्रका ही यह स्वभाव है, कि जब एकको चाहनेवाले बहुत हो जाते हैं, तो उनके मनमें यह भाव उत्पन्न हो जाता है, कि अमुकसे हमारे प्रेष्ठ अधिक प्रेम करते हैं। कुछ लोग अपनी चञ्चलता, चपलता, वाक्पटुता, सेवा सुश्रूषा तथा अन्य अनुकूल आचरणों द्वारा स्वामीके मुँह लग जाते हैं। मुँहलगे लोगोंको शील सङ्कोच नहीं रहता, वे जब चाहे कह देते हैं, जिसका चाहें अपमान कर देते हैं। स्वामी उनसे दबते हैं—उनका शील सङ्कोच करते हैं—मुँहलगे लोग उन्हें सर्वथा अपने अधीन कर लेते हैं। स्वामी मनसे किसीको प्यार करना भी चाहे तो ये मुँहलगे ऐसा नहीं करने देते। यह मुरली मोहनके मुँहलगी है। इस जल-

मुहीने श्यामको अपने वशमें कर लिया है। बुद्धिमानोंने नीतिशास्त्रोंमें सब बातें सोच समझकर लिखी हैं। नीतिशास्त्रका वचन है, अपने छोटेसे छोटे प्रतिस्पर्धीको दुर्बलसे-दुर्बल शत्रुको कभी छोटा न समझे। हम पहिले सोचा करती थीं—"यह बाँसकी तनिक सी अनेकों छिद्रोंवाली लकड़ी हमारा कर ही क्या लेगी। कहाँ हम और कहाँ यह नन्ही-सी लकड़ी। किन्तु इसने तो हम सबके कान काट लिये। श्यामका अधरामृत पी-पीकर यह तो पुष्ट बन गयी, छोटीसे खोटी हो गयी, पतलीसे मोटी बन गयी। इसमें तो जादू भर गया। श्यामकी रूपमाधुरीही पहिले हमें सदा विकल बनाये रहती थी अब रूपमाधुरीके साथ यह वेणु माधुरी भी मिलगयी। दोनों सौतोंने मिलकर दिग्विजय करनेका सङ्कल्प कर लिया है। ये संसारको अपने अधीन करनेपर तुली हुई हैं। हम सब तो मर्त्यलोककी स्त्री हैं। हममें तो ऐसा कोई सौंदर्य ही नहीं। किन्तु इन श्यामसुन्दरका स्वभाव सुखकर है इनका अनूप रूप इतना मोहक तथा आकर्षक है, कि जो भी नारी इन्हें देखती है, वह रीझ जाती है, आनन्दित तथा प्रफुल्लित हो जाती है अपना सर्वस्व निछावर कर देती है। फिर तिसपर यह निपूती बाँसुरी और भी कटेपर नमक बुरक देती है। देखो, यह सामने विमानोंपर सुरसुन्दरियाँ अपने पतियोंके साथ बैठी हैं। हमारे पति हमारे सामने होते, तो हम तो एक शब्द भी मुखसे न निकाल सकती थीं, न घूँघटमें से आँखें उठाकर देख ही सकती थीं। किन्तु इन देवाङ्गनाओंके सौभाग्यकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है। ये श्यामसुन्दरकी रूप सुधाका नयनों द्वारा अपलकभावसे पान कर रही हैं, कान रूपी पानपात्रोंमें वेणुध्वनिरूपी आसवको उड़ेल-उड़ेलकर उन्हें कण्ठसे नीचे उतार रही हैं। इन दोनों दिव्यरसोंके पान करनेसे इनका हृदय द्रवित हो रहा है, शरीर रोमाञ्चित हो रहा है।

कामने इनके अङ्ग प्रत्यङ्गमें प्रवेश करके इन्हें लताकी भाँति झक-झोर दिया है। इसके परिणाम स्वरूप इनके केशबन्ध अपने आप खुल गये हैं, मुखमण्डलपर स्वेदबिन्दु मोतियोंके सदृश चमक रहे हैं, केशोंमें गुँथे हुए पुष्प स्वतः ही गिर रहे हैं, इनके कटि वस्त्र खिसक गये हैं। सिरकी साड़ी कंधोंपर आ गयी है, यह सब हो रहा है अपने पतियोंके सम्मुख ही, किन्तु इन्हें कुछ पता ही नहीं ये तो मदनमोहनकी मधुरातिमधुर-माधुरीपर मोहित हो गयी हैं।" इतना कहते-कहते उस सखीका भी हृदय धड़कने लगा, शरीरमें कँप-कँपी उठने लगी। उसने अपने आप ही अपने सरीरको कसकर भींचा और वह मूर्छित-सी होकर गिर पड़ी, उसे अपने शरीरकी सुधि नहीं रही।"

उसकी यह दशा देखकर एक अन्य सखी बोली—"हाय! मेरी सखीकी कैसी दशा हो गयी। होनी ही चाहिये। यह तो सहृदयानारी है, बुद्धिमती है मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुई है। इन-इन पशु जातिकी गौओंको देखो। ये मदनमोहनके मुखनिसृत वेणुगीत रूप अमृतका अपने ऊँचे उठे हुए श्रवणपुटों द्वारा पान करके आत्मविभोर-सी बनी खड़ी हैं। इन्हें अपने शरीरकी सुधि बुधि नहीं। नयनोंसे निरंतर नेहका नीर निकालती हुई नीरव तथा निस्तब्ध बनी खड़ी हैं। इनके शरीरके समस्त रोम स्याहीके काँटोंके सदृश खड़े हैं, इससे प्रतीत होता है ये श्यामसुन्दरकी मधुरातिमधुर मूर्तिको नयनों द्वारा अन्तःकरणमें ले जाकर उसका कसकर आलिङ्गन कर रही हों, क्योंकि बिना अन्तः स्पर्शालिङ्गनके इस प्रकार रोम खड़े हो ही नहीं सकते। ये बछड़े अपने मुखके कौरको मुखमें ही रखे, चुपचाप सन्न हुए खड़े हैं, इनके मुखसे दुग्धके बिन्दु उसी प्रकार टपक रहे हैं, मानों वृक्षसे श्वेत पुष्प झर रहे हों। ये गौएँ और बछड़ेही धन्य हैं जो श्रीकृष्णका मनसे आलिंगनकर रहे हैं।" भगवान्‌के आलिंगनका

स्मरण आते ही उस गोपिकाके शरीरमें भी फुरहरी-सी आने लगी। शरीर काँपने लगा, हृदयकी धड़कन बढ़ गई और वह भी मूर्छित होकर गिर गयी।

तब एक अन्य सखी बोली—"इन बूढ़े विधाताने समस्त विवशतायें इन वनिताओंके लिये ही बनाई हैं क्या ? पुरुष जाति को विधाताने कैसा कठोर बनाया है। हम सब जानती हैं कठोर हृदयवालोंकी ओर देखना भी पाप है। ये कृष्ण भी कुछ कम कठोर नहीं हैं, न जाने इनका हृदय किन वस्तुओंसे बना है, न यह कोमल ही होता है न पसीजता ही है। अब देखो, वह तो तन्मय होकर वीणा बजा रहा है, अपनी धुनिमें मस्त है उसे संसारका कुछ भान ही नहीं किसीके ऊपर क्या बीत रही है। हम सुभीताके साथ इस मोहक मुरली रवको सुन भी नहीं सकती। समाजके अनेक प्रतिबन्ध हमारे ऊपर लगे हैं। हमसे तो ये वृन्दावनके वृक्षोंपर रहनेवाले पक्षी ही धन्य हैं। देखो, ये कैसे चुपचाप बोलना बंद करके श्रीकृष्णके वेणुनादको एकाग्र चित्तसे श्रवण कर रहे हैं। उनकी ओर निर्निमेष दृष्टिसे देख रहे हैं। शांतता, दांतता, एकाग्रता, तन्मयता तथा निर्निमेषताको निहारकर हमें तो ऐसा प्रतीत होता है ये कोई पूर्वजन्मके मुनीश्वर हैं। बड़े सौभाग्यशाली हैं, वृन्दावनके पादपोंपर इन्होंने जन्मग्रहण किया है। नित्य-प्रति यमुनाजल पान करनेको मिलता है और जहाँसे श्यामसुन्दरके सुभीतेसे दर्शन हो सकें,उन मनोहर पल्लवोंसे युक्त शाखाओंपर बैठकर श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका यथेष्ट आहार प्राप्त होता है, इनके सौभाग्यकी क्या सराहनाकी जाय। हम तो विकलताके कारण भली भाँति न तो श्यामसुन्दरकी मुरली ध्वनि को ही सुन सकती हैं और न उनके अनुपम सौंदर्यमाधुयका ही सावधानीके साथ अपलक भावसे पान ही कर सकती हैं।" इतना कहते कहते उसे भी भावसमाधि हो गयी।

इसे देखकर अन्य सखी बोली—"इन वृन्दावनके पक्षियोंको श्यामसुन्दरकी रूप माधुरीके कारण जो समाधि हो जाती है, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं। कैसे भी सही पक्षी होनेपर भी ये प्राणधारी जीव तो हैं। सचेतन प्राणियोंको प्रेम होना स्वाभाविक है, इन अचेतन नदियोंको भी देखो, मुझे तो ऐसा लगता है, श्रीकृष्णकी रूपमाधुरी और वेणुमाधुरीके कारण ये भी काम विकारसे पीड़ित-सी प्रतीत होती हैं।"

दूसरीने कहा—"सखि! तैंने कैसे समझा?

वह बोली—"अरे, पगली! स्त्री होकर भी तू इतनी बातको नहीं पहिचान सकती। ये अपनी तरङ्ग रूपी भुजाओंसे कमल कुसुमकी भेंट समर्पण करती हुई ही सी दिखाई देती हैं। मानसिक आलिंगनके कारण अवसन्न हुए प्राणनाथके पादपद्मोंका स्पर्श ये अपनी तरंगोंसे कर रही हैं। मानों वे उनके युगलचरणोंका प्रक्षालन कर रही हों, उन्हें धो रही हो। खिले हुए कमल रूप नेत्रोंसे उन्हें निहार रही हों, भ्रमर रूप नाभिको सलज्ज भावसे उपायान्तरसे दिखा रही हों।" इस प्रकार कहतेकहते उस सखीकी दशा भी विचित्र हो गयी और वह आगे कुछ भी न कह सकी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आप ऊबें नहीं। बस, एक प्रसंग और कहकर मैं इस मधुरातिमधुर वेणुमाधुरी रसको बहता हुआ छोड़कर, दूसरे इससे भी अधिक स्वादिष्ट रसकी बानगी आपको चखाऊँगा।

छप्पय

सखि इन विहँगनि लखो बने मौनी बाबा मनु।
अपलक निरखत रहत करत साधक चाटक जनु॥
बैठि तरुनिकी डार सुनें वंशी धुनि नितप्रति।
हम लालायित रहें रूप रसकी प्यासी अति॥
बड़भागी सरिता सकल, भुजतरङ्गतैं सुमन धरि।
आलिङ्गन हियमें करें, रूप माधुरी नयन भरि॥

अचरको सचर बनानेवाली वेणु

(९३६)

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो-
यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० २१ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

घोर घाममहँ श्याम निरखि उमड़े घुमड़े घन ।
फुलझरियाँ बरसाइ करें छतरी छाया तन ॥
कुच कुंकुमकी कीच सने पग बन विहरें हरि ।
दूबनिपै लगि जाइँ बनचरिनि हृदय जाइँ मरि ॥
हिय, मुख कुच कुंकुम मलें, प्रेम व्यथा भेरें अलीं ।
स्वर्ग सराहें सुरवधू, हमतें तो भीलिनि भलीं ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक अन्य सखी कह रही है—"सखियो! हाय! हम कुछ नहीं। यह गोवर्धन पर्वत ही हरिदासोंमें सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि श्रीरामकृष्णके चरणारविन्दोंके स्पर्श से प्रमुदित होकर श्रीकृष्णकी गौओंकी तथा गोपोंकी पानीसे, सुन्दर हरी घास से, कन्दरा तथा कन्द मूलोंसे सम्मान करके सेवाकर रहा है।

जीवका श्यामसुन्दरके साथ स्वयं संबंध हो जाय या परम्परया हो जाय, तभी उसका जीवन सफल हो सकता है। साधकका जीवन तभी सफल है, जब उसे अपने सच्चे पतिका पूर्ण प्रेम प्राप्त हो, अथवा उससे प्रेम करनेवालेका ही संग हो जाय। बड़े बड़े महापुरुषोंकी चरणपादुकाओंको हम सिरपर क्यों चढ़ाते हैं, उन्हें आँखोंमें क्यों लगाते हैं, इसीलिये कि इनके साथ कभी उस महापुरुषके चरणोंका स्पर्श हुआ है। इन बड़भागिनियोंके ऊपर महापुरुषके पैर पड़े हैं। जिन वस्तुओंसे साक्षात् नन्दनन्दनका संसर्ग हो उन वस्तुओंके सम्बन्धमें क्या कहना। एक कोई भक्त थे, श्रीकृष्ण प्रेममें व्याकुल होकर बार बार रुदन करने लगे। रोते रोते वे बार बार कहते—"मैं वृन्दावन जाऊँगा, वृन्दावन जाऊँगा।" किसीने कहा—"वृन्दावनमें अब क्या रखा है नन्दनन्दनने अपनी प्रकटलीला तो संवरण करली, वहाँ अब श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन होने तो कठिन हैं। उन्होंने रोते रोते कहा—"भगवान्की लीला तो नित्य है, वह निरंतर होती ही रहती है। मानलो मुझे श्यामसुन्दरके प्रत्यक्ष दर्शन न हुए, तो मुझे उस गोवर्धन पर्वतके तो दर्शन हो ही जायँगे, जिसपर अपने चरणोंसे चलकर नन्दनन्दन गौओंको चराते थे, उस कालिन्दीके दर्शन तो हो ही जायँगे, जिसमें श्यामसुन्दर नहाते थे, अपनी गौओंकोजल पिलाते थे, उस वृन्दावनकी परम पावन भूमिके तो दर्शन तो हो जायँगे जिनपर अच्युत अपने अरुण चरणकमलोंसे सदा चलते थे। मेरे लिये इतना ही क्या कम है। इतना सौभाग्य भी तो सभी को प्राप्त नहीं होता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इन महाभाग्यवती गोपियोंके अनुरागका वर्णन मैं कहाँ तक करूँ, ये तो भगवान्की मुरली धुनिको सुनकर ऐसी तन्मय हो गयीं थीं, कि कुछ कहनेको उठतीं और फिर प्यारेकी रूप माधुरीकी याद आती तो आत्मविभोर

बन जातीं। सबका लक्ष्य उस भावमयी प्रधानाको सुख देने का था। इसीलिये सबकी सब उसे ही सुनाकर कहतीं और कहते-कहते सब अनुराग रससागरमें निमग्न हो जातीं, तो रुक जातीं। फिर दूसरी कुछ कहनेको प्रस्तुत होतीं। पहिलीके आत्मविभोर हो जानेपर दूसरी बोली—"सखियो! देखो, नभमें काले-काले मेघ इस प्रकार क्यों उमड़ घुमड़ रहे हैं?

एक बोली—"नहीं सखि! हमें तो पता नहीं तुम्हीं उसका कारण बताओ।

इसपर वही बोली—"इन मेघोंने देखा ग्वालबाल और बलरामजीके सहित घनमाली नंगे पैरों वनमें गौओंके पीछे-पीछे भ्रमण कर रहे हैं। शरद ऋतु है, शरद ऋतुकी क्वार कार्तिककी घाम इतनी घोर होती है, कि उसीके कारण हरिण काले पड़ जाते हैं। मेघोंने सोचा—"श्यामसुन्दर नंगे पैरों घूम रहे हैं। साथ ही निरन्तर वंशी भी बजाते जाते हैं। वंशी बजानेसे उनके मस्तकपर स्वेद बिन्दु झलकने लगे हैं। एक तो घनघोर घाम और दूसरे इतना श्रम। श्रीकृष्ण हमारे सजातीय हैं, एक वर्णके हैं। हम भी घनश्याम हैं और नन्दनन्दन भी घनश्याम हैं। हमारे रहते हमारे सजातीयको कष्ट हुआ, तो हमारे जीवनको धिक्कार है।" इसीलिये ये उमड़ घुमड़कर अपने शरीरकी छाया करते हुए श्यामसुन्दरके पीछे-पीछे मानों अपने तनका छत्र लगाये चल रहे हों। ऊपरसे अत्यंत छोटी छोटी फुलझरियाँ बरसा कर मानों उनके ऊपर सुमनोंकी वृष्टि कर रहे हों। अहा! इन्हींका जीवन धन्य है, इनका ही जलधर नाम सार्थक है, जो अपने जलका और तनका श्रीकृष्ण कैंकर्य करके सदुपयोग कर रहे हैं, हम हतभागिनी तो ऐसी हुईं, कि श्यामके किसी काममें न आयीं। यह मुरली ही धन्य है जो मदनमोहनका मनोरञ्जन तो करती

है। इतना कहते कहते सखीका कण्ठ रुद्ध हो गया। शरीर रोमाञ्चित हो गया और नेत्रकी पुतलियाँ चढ़ गयीं।"

तब एक अन्य बोली—"सखियो! हम तो इन वनविहारिणी जंगली भीलिनियोंके सौभाग्यकी सराहना करती हैं, हम ही क्या सराहना करती हैं, इनके सौभाग्यपर तो स्वर्गकी सुरसुन्दरियाँ भी विस्मित हो जाती हैं?"

एक सखीने पूछा—"आली! इन भीलिनियोंने ऐसी कौनसी निधि पाली है?"

वही सखी बोली—"सखि! इनके भाग्यको तुम कुछ पूछो मत। हमारी जो ये प्रधाना श्रीजी भावविभोर हुई पड़ी हैं। इनके हृदयपर जब हम गाढ़े-गाढ़े कुंकुमकी कीच लगा देती हैं और उनपर श्यामसुन्दरके चरणारविन्द पड़ते हैं। श्यामसुन्दरके चरणारविन्द वैसे ही नूतन किसलयके सदृश अरुण वरणके हैं, फिर वे कुंकुमके रागसे और भी रञ्जित हो जाते हैं, उस कुंकुम कीचमें सन जाते हैं, कुंकुम कीच उनमें सट जाती है, चिपक जाती है। उन्हीं चरणारविन्दोंसे वे वृन्दावनकी कोमल-कोमल हरी-हरी घासपर घूमते हैं। घूमते-घूमते वह कुंकुम स्वतः ही घासमें लग जाता है। उसकी दिव्य गन्धको सूँघते ही वे पुलिन्द जातिकी जङ्गली कामिनियाँ काम ज्वरसे विकल-सी बन जाती हैं। उस कुंकुमको बड़े उल्लासके साथ ओसके जलमें भिगो भिगोकर मुखपर मलती हैं वक्षःस्थलपर बार-बार लगाती हैं। इस प्रकार वे अपनी काम व्यथाको शान्त किया करती हैं। उस कुंकुममें युगल जोड़ीकी अनन्त स्मृतियाँ हैं। एक तो वह श्रीजीके काम संतप्त हृदयपर लेपा गया था, फिर वह श्यामसुन्दरके चरणारविन्दोंमें लगा। उसे लगाते ही ब्रह्मानन्द सुखका अनुभव करने लगती हैं।" कुच कुंकुम और श्यामसुन्दरके अरुण कोमल चरणों की स्मृति होते ही सखी बाह्य ज्ञान शून्य हो गयी।"

तब एक अन्य सखी बोली—"सखियो! श्रीश्यामसुन्दरसे जिनका किसी भी प्रकार तनिक भी सम्बन्ध हो जाय, वही धन्य है। किन्तु हम तो इस गिरिराज गोवर्धन पर्वतको सबसे अधिक धन्यतम मानती हैं, इसके सौभाग्यको तो कोई दूसरा प्राप्त कर ही नहीं सकता। और सब नारद सनकादि तो हरिदास ही हैं, किन्तु यह पर्वत तो हरिदासवर्य है।

एकने पूछा—"सखि! इस पर्वतमें ऐसी क्या विशेषता है। यह कोई पर्वतोंमें पर्वत है। तनिक-सा छोटा-सा टीला है। इसकी इतनी बड़ी महिमा क्यों बताती हो?"

यह सुनकर वही सखी बोली—"बहिन! यद्यपि इस पर्वतको सब लोग जड़ कहते हैं। किन्तु मेरे मतमें यथार्थ चैतन्यताका लाभ इसने ही प्राप्त किया है। इसकी प्रत्येक शिलापर बलरामके सहित वनोंमें गौओंके संग विचरण करनेवाले श्यामसुन्दरके पाद पद्म पड़े हैं। श्रीकृष्ण चरणारविन्दोंसे यह कृतकृत्य हो गया है। फिर घरपर जब कोई योग्य अतिथि पधारता है तो गृहीका शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। इसी प्रकार इस पर्वतका शरीर श्रीकृष्णके पादस्पर्शसे उनके दर्शनोंसे रोमाञ्चित हो जाता है। यह भगवान्‌का सखाओंका गौओंका हृदयसे स्वागत सत्कार करता है, गौओंको खानेके लिये सुन्दर सुन्दर हरी हरी दूब देता है। गोपालोंके लिये मधुर स्वादिष्ट कंदमूल फल देता है। सबको पीनेके लिये सुन्दर स्वच्छ अपने झरनोंका अमृत तुल्य जल देता है बैठनेके लिये अपनी कन्दराओंको देता है। अतिथिको विश्राम करनेको स्थान भोजन और जल यही स्वागतमें आवश्यक है, सो यह अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है। कुछ भी बचाकर नहीं रखता। इससे बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन होगा?"

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! ये महाभाग गोवर्धन पर्वत कौन हैं, इन्हें इतना सौभाग्यप्राप्त क्यों हुआ? हम देखते हैं,

सभी इनकी श्रीकृष्ण बुद्धिसे पूजा करते हैं। इनकी शिलाओंकी शालग्राम बुद्धिसे पूजा करते हैं। शालग्रामशिला और गोवर्धन की शिलामें कोई भेद ही नहीं मानते। लक्षों नरनारी दंडवत करते हुए इसकी परिक्रमा करते हैं। इसे श्रीकृष्णका तादात्म्य रूप कैसे प्राप्त हुआ? कृपा करके इस बातको हमें बताइये।"

इसपर सूतजी बोले—"भगवन्! नित्य गोलोक विहारी श्रीकृष्णके संसर्गमें जो भी है सब चिन्मय है। जड़ताका तो वहाँ नाम भी नहीं। जैसे यहाँपर वृन्दावन है वैसेही गोलोकमें भी दिव्य वृन्दावन है। यहाँकी भाँति वहाँ भी कालिंदी है, गिरिराज गोवर्धन पर्वत है। जब अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीकृष्णचन्द्र गोलोक से अपने समस्त परिवारके सहित पृथिवीपर अवतरित हुए, तब यह गोवर्धन पर्वत भी आया। यह भगवानका नित्य सहचर है, इसके बिना भगवान् रह ही नहीं सकते। जैसे भगवान्के अवतार में हेतु बताते हैं कि स्वायंभुवमनु और शतरूपाने तपस्या करके वर प्राप्त किया कि भगवान् हमारे पुत्र हों। द्रोण और धराने वर माँगा कि सर्वेश्वर हमारे सुत हों। वैसे ही इस पर्वतके व्रजमें पधारनेके कारण बताते हैं। ये सब कारण गौण हैं, लीलाविस्तार के लिये तथा संगति मिलानेके लिये हैं। वास्तविक बात तो यह है कि यह सब लीलाधारीकी लीला है, गोलोकविहारीका खेल है। जब वे अपनी श्रुत लघुलीलाओंको भक्तोंके कल्याणार्थ पृथिवीपर प्रकट करना चाहते हैं, तब वे ये सब उपकरण खड़े कर देते हैं। करने करानेवाले ये ही वृन्दावनविहारी हैं।

हाँ, तो गोवर्धन पर्वतके व्रजमें अवतीर्ण होनेकी कथा यह है, कि विन्ध्य पर्वतने चिरकाल तक घोर तपस्याकी कि मुझे एक परम भगवद्भक्त पुत्र प्राप्त हो, जो भक्तिमें भगवानके ही सदृश हो, भगवान उसे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते हों। अब विन्ध्य तो ठहरा पर्वत। पर्वतका पुत्र पर्वत ही हो सकता है। श्रीकृष्णको

गोवर्धनसे बढ़कर कोई पर्वत प्रिय नहीं है। अतः भक्तिवश होकर भगवानको वर देना पड़ा गोवर्धन ही तुम्हारा पुत्र होगा। भगवान् को भी व्रजमें प्रकट लीला करनी थी, श्रीकृष्ण लीलाके प्रधान उपकरणोंमें गिरिराज गोवर्धन भी हैं। गोवर्धन न हो तो गोचारण लीला साङ्गोपाङ्ग नहीं घट सकती। अतः गोवर्धनका भूमिमें अवतरित होना अत्यावश्यक था, ये विन्ध्यपर्वतके पुत्र रूपमें प्रकट हुए।

भगवानको लीला करनी थी व्रजमें, गोवर्धन पर्वत प्रकट हुए विन्ध्य प्रदेशमें। अब काम कैसे चले। काम चलानेवाले तो भगवान् हैं, उन्हें जब जैसा करना होता है, तब तैसा ही स्वाँग रच देते हैं, वैसे ही लोगोंकी बुद्धि बना देते हैं। काशीपुरीमें एक बड़े ही शान्त दान्त, तेजस्वी तपस्वी ब्राह्मण थे उनकी तपस्या बड़ी ही उग्र थी, वे बाल ब्रह्मचारी थे, भगवान् नन्दनन्दनके अनन्य उपासक थे, उनके मनमें एक दिन बैठे ही बैठे एक सङ्कल्प उठा कि हम एक पावन पर्वत यहाँ काशीपुरीमें लावें। जिसपर बैठकर सुखसे तपस्या करते रहें। इसके लिये उन्होंने भगवानकी घोर आराधनाकी। उन्हे आकाशवाणी हुई कि तुम विन्ध्यपर्वतके समीप जाओ। तपस्वी ब्राह्मण विन्ध्यपर्वतके समीप गये उनसे प्रार्थना की। विन्ध्यपर्वत बड़े धर्मसङ्कटमें पड़े। गोवर्धनको वे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे,साथ ही अतिथियोंका आतिथ्य करनेका भी उनका व्रत था। इतना योग्य अतिथि मेरे द्वारसे निराश होकर लौट जाय, तो मेरे जीवनको धिक्कार है, किन्तु मैं अपने प्राणोंसे प्यारे पुत्रको कैसे दे सकता हूँ। इसी धर्मसङ्कटमें पड़कर विन्ध्य मारे प्रेमके रोने लगे। झरनोंके रूपमें उनके नेत्रों का नेह नीर नीचे बहने लगा।

तब गोवर्धनने अपने पिताको समझाया—"पिताजी! आप इतने दुखी न हों, इस प्रकारकी विकलता आप जैसे महान

व्यक्तिको शोभा नहीं देती। पिताजी! इस शरीरकी एकमात्र सार्थकता सेवामें ही है। इस नश्वर पञ्चभूतोंके बने शरीरसे यदि साधुसंत और अतिथियोंकी सेवा नहीं हुई, तो यह व्यर्थ है। देखिये, अतिथिके लिये कपोतने अपना सिर दे दिया। राजा विरोचनने ब्राह्मण रूपमें आये हुए देवताओंको अतिथि समझकर—उनके यथार्थ रूपको जानकर भी—अपने प्राण दे दिये। अतिथि सेवामें धन, जन, पत्नी पुत्र, यहाँ तक कि अपने प्राणोंकी भी आहुति देनी पड़े तो बुद्धिमान् पुरुषको इसमें भूल न करनी चाहिये। आप मुझे देकर अपने धर्मकी, अपने सत्यव्रतकी रक्षा कीजिये।"

यह सुनकर विन्ध्यको धैर्य हुआ, उसने गोवर्धनको देना स्वीकार कर लिया। उसने बड़ी नम्रताके साथ ब्राह्मणसे कहा—"अच्छी बात है भगवन्! आप मेरे प्राणोंसे भी प्यारे परम पावन प्रभु प्रेमी पुत्रको प्रसन्नतापूर्वक ले जायँ।"

इसपर गोवर्धन पर्वतने कहा—"ब्रह्मन्! मैं चलता तो हूँ आपके साथ, किन्तु आपको भी एक प्रतिज्ञा करनी होगी।"

ब्राह्मणने कहा—"वह क्या?"

गोवर्धन बोला—"यह यह कि मुझे आप काशी तक बीचमें कहीं भी न रखें। बीचमें आप मुझे जहाँ रख देंगे, फिर वहाँसे मैं उठूँगा नहीं।" ब्राह्मणको तो अपनी तपस्याका अभिमान था। उसने कहा—"अच्छी बात है, मैं तुम्हें बीचमें कहीं भी न रखूँगा।"

बात निश्चित हो गयी। विन्ध्यने रोते-रोते अपने प्राणोंसे प्यारे पुत्रको ब्राह्मणके लिये दे दिया। गोवर्धन भी फूलके सदृश हलके हो गये। ब्राह्मण उन्हें लेकर चल दिये। जब वे व्रजमें पहुँचे तो उन्हें पर्वत बहुत ही भारी प्रतीत होने लगा। हाथ दुख गये अब उन्हें एक पैर भी आगे बढ़ना कठिन प्रतीत होता था, अन्त

में थककर उन्होंने वहीं पर्वतको रख दिया। गोवर्धन पर्वत हँस पड़ा और बोला—"ब्रह्मन्! अब मैं आगे न चलूँगा। मेरी आपको प्रतिज्ञा हो चुकी है।"

तपस्वी ब्राह्मण भगवद् भक्त थे, उन्होंने ध्यान लगाकर देखा, "यह तो श्रीकृष्ण भगवान्‌की लीलाका उपकरण है, यह तो दिव्य चिन्मय गोलोकका गोवर्धन पर्वत है, यह तो भगवान्‌का अभिन्न तनु है।" इसलिये उन्होंने गोवर्धनसे फिर आग्रह नहीं की। वहीं उसपर रहकर तपस्या करते हुए उन्होंने परम पदकी प्राप्ति की। तबसे ये गोवर्धन व्रजमें रहकर ही भगवान्‌के अवतार की प्रतीक्षा करते रहे। व्रजमें उत्पन्न होकर भगवान्‌ने इसपर क्रीड़ायें कीं, इसे अपने नखपर धारण किया, जिससे गिरधारी गोवर्धनधारी आदि नाम पड़े। इस प्रसंगको मैं यथास्थान कहूँगा। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर इन्हें अपना स्वरूप ही प्रदान किया, इसीलिये गोवर्धन पर्वतके दर्शन करना भगवान्‌के दर्शन करनेके समान है। निष्ठावान् वैष्णव इनकी शिलाओंपर पैर नहीं रखते और उनका भगवद् बुद्धिसे पूजन अर्चन करते हैं। इसलिये अत्यन्त छोटे होनेपर भी ये गिरिराज कहलाते हैं, जहाँ पर्वतोंकी गणना होती है, वहाँ इनका भी नाम आता है। ये संसारमें परम भाग्यशाली हैं। गोपिकायें इसीलिये इनकी इतनी महिमा गा रही हैं।"

इसपर शौनकजीने कहा—"सूतजी! हमने गिरिराज गोवर्धनकी लीला तो सुनी, अब यह बताइये कि इस वेणुमाधुरी रससरिताके प्रवाहको आप कब तक बहायेंगे? आगे कोई कथा कहेंगे या इसी प्रकार उत्प्रेक्षायें ही करते रहेंगे।"

सूतजी शीघ्रतासे बोले—"महाराज, इस माधुरी रसका तो न आदि है न अन्त। यह तो अनन्त रसार्णव है। इसका वर्णन

कौन कर सकता है। बस, अब मैं इस प्रसङ्गको समाप्त करके अत्यन्त सरस चीरहरणलीलाके प्रसङ्गको कहूँगा।

हाँ, तो वे सभी सखियाँ आपसमें क्रमशः वेणुमाधुरीका वर्णन करते-करते मूर्छित होती जाती थीं। उनकी मूर्छाकी औषधि भी यही माधुरी थी, अतः उपचारकी दृष्टिसे अन्य सजग गोपिकायें कुछ अवश्य कहतीं। न कहतीं तो सब मूर्छित ही पड़ी रहतीं। मूर्छामें भी वे सब सुनती रहतीं और इसीसे उनका संतप्त हृदय शीतलताका अनुभव करता। जब एक सखी गोवर्धनकी महिमा गाकर मूर्छित हो गयी, तब अन्य बोली—"सखि! इस बाँसुरीकी महिमा हम अधिक कुछ कह भी नहीं सकतीं, इसने तो ब्रह्माजीके विधानको भी विपरीत बना दिया। जब श्यामसुन्दर अपने बड़े भाई बलदेवजी तथा समस्त साथियोंके सहित गौओंको आगे आगे करके एक वनसे दूसरे वनमें जाते हैं, तो उस समय मधुरपदावली युक्त उदार वंशी ध्वनिको सुनकर अचर सचरसभी जीवोंकी विचित्र दशा हो जाती है। अचर तो सचरसे दिखायी देने लगते हैं और सचर अचर बन जाते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी जितने भी सचर प्राणी हैं, वे तो वेणुनादको सुनते ही स्तब्ध स्तम्भित हो जाते हैं और जो वृक्ष आदि अचर हैं उनके शरीर रोमाञ्चित हो जाते हैं।" इतना कहते कहते वह भी मूर्छित हो गयी।

कुछ कालमें सभीकी मूर्छा भंग हुई, सम्मुख गौओंको बाँधते हुए दूध दुहनेके लिये उद्यत श्यामसुन्दरको सभीने निहारा। उनकी बाँकी-झाँकी करके सब निहाल हो गयीं। कुछ दूध दुहाने लगीं कुछ बछड़ोंको बाँधने लगीं, कुछ इधर-उधरकी व्यर्थ बातें श्यामसुन्दरसे पूछने लगीं। श्यामसुन्दर सखाओंके साथ बातें करते जाते थे, ठठाका मारकर हँसते जाते थे और बीच बीचमें कनखियोंसे उन अनुरागवती गोपिकाओंकी ओर भी देखते

थे उनकी यह प्रेमभरी चितवन ही उन व्रजांगनाओंके जीवनकी आधार थी। उसी चितवनके सहारे तो वे जी रही थीं।

श्रीकृष्ण दूध दुहनेवालोंसे कह रहे थे—"बछड़ोंको पेट भरके पी लेने देना। तब दूध निकालना। बछड़ोंको बाँधकर गौओंके थनोंको शीतल जलसे अवश्य धो लेना। दोहनी घुटुअनके बीचमें ऐसी रहे कि धार उसीमें पड़े। देखना भूमिपर दूध न गिरने पावे। जो कूदनेवाली गैयाँ हैं उनके पैरोंमें बछड़ोंकी रस्सी बाँध दो।"

हँसकर गोप कहते—"अरे, कनुआ भैया! तू तो अभीसे पंडित हो गया। सबको सीख देने लगा है। हमारे सामने तो तू नङ्गा डोलता था।

तब श्रीकृष्ण कहते—"जाओ सारेओ! यह कोई बात हुई। लाओ मैं अब नङ्गा हो जाऊँ।"

सब हँसते हँसते कहते—"दयाकर भैया तू। तुझे कुछ शील-संकोच तो है ही नहीं। तू महा नङ्गा है और मुँहफट है। जो तेरे मनमें आता है, फट कह देता है। बातको पहचानना तो तू जानता ही नहीं। जो मनमें आजाती है, फटकर डालता है। तैंने तो लोई ओढ़ ली है। "जिसने ओढ़ ली लोई। उसका क्या करेगा कोई।" कहावत है—"नङ्ग बड़ा परमेश्वरसे"

श्रीकृष्ण बोले—"भैया! मैं तो जिसे भी अपनाता हूँ उसे ही नङ्गा बना देता हूँ। जो अपना सर्वस्व त्यागकर जब तक धनहीन नङ्गा नहीं हो जाता, तब तक मैं उसे कैसे अपना सकता हूँ? जबतक बीचमें अंतर है—व्यवधान है—तबतक एकता कहाँ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार हँसते खेलते श्याम-सुन्दर गौओंको दुहकर घर चले गये। गोपिकायें निरन्तर श्याम सुन्दरका ही मनसे चिन्तन करती हुई गृहकार्योंमें लग गयीं।

छप्पय

गिरि गोवरधन धन्य श्रेष्ठ सब हरि भगतनितें।
जा पै श्रीहरि फिरें नित्य नंगे चरननितें॥
हरषें हियमहँ निरखि ग्वाल गौअनि सँग नटवर।
दै तृन, जल, फल, मूल करै सत्कार निरन्तर॥
हरि मुरलीकी तान सुनि, होहिं अचर चर-चर अचर।
पान करहिं वेसुधि बनहिं, वेनुमाधुरी परस्पर॥

व्रजकन्याओंका कात्यायनी व्रत

[९३७]

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥१

श्रीभा० १० स्क० २२ अ० १ श्लो०)

छप्पय

कहैं सूत—मुनि ! सुनहु कुयारिनिकी लीला अब ।
कृष्णप्रेममहँ पगीं करें मिलि व्रत जप तप सब ॥
व्रत कातिकको करहिँ प्रेमतैं यमुना न्हावें ।
न्हाय बालुकामयी भगवती मूर्ति बनावें ॥
माला चन्दन धूप वर, अक्षतदल ताम्बूल फल ।
पूजा सब विधिवत करहिँ, अरपि अन्न सुस्वादु जल ॥

रसशास्त्रोंमें कृष्णप्रियाओंके अनेक भेद वर्णन किये गये हैं। व्रजकी जितनी कृष्ण प्रेमवती गोपिकायें हैं उन सबके पृथक् पृथक् विलक्षण विलक्षण भाव हैं। साधारणतया अनुरागवती गोपियोंके सिद्धा और नित्यसिद्धा ये दो भेद हैं। सहचरी तो सदा श्यामसुन्दरके साथ रहती हैं। उन्हें कृष्णप्राप्तिके लिये प्रयास

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! हेमन्त ऋतुके प्रथम मासमें श्रीनन्दजीके व्रजमें रहनेवाले गोपोंकी कुमारी कन्याओंने हविष्यान्न भोजन करते हुए कात्यायनी देवीके पूजनका नियम किया ।

नहीं करना पड़ता। जिनके मनमें बहुतसे मनोरथ हैं, जो भाँति भाँतिकी उपासनाओंमें लगी हुई हैं, फिर उन्हें श्रीकृष्णप्रसादकी प्राप्ति हो चुकी है, वे सिद्धा हैं। इनमें भी ऊढ़ा अनूढ़ा मुग्धा प्रमुग्धा आदि अनेक भेद हैं। मुग्धा वह है जिसने अभी तक पतिसंगम प्राप्त नहीं किया है कन्या है और प्रमुग्धाको पतिप्रेम प्राप्त हो चुका है। गोपियोंमें कोई वेदकी ऋचायें हैं। उन्होंने इच्छा की थी, हम श्रीकृष्णकी पत्नी बनें वे गोपिकायें हुईं। कोई देवाङ्गनायें हैं भगवान्‌की आज्ञासे व्रजमें अवतीर्ण हुईं, कोई मुनिरूपा हैं। ये जो कन्या हैं वास्तवमें तो ये स्वरूपसिद्धा हैं। श्रीकृष्णके लीला विलासको बढ़ानेके लिये इन्होंने साधिकाओंसे अनुकरण किये। श्रीकृष्ण हमारे पति हों, इसके लिये उन्होंने घोर साधनायें कीं। ये पूर्वानुरागवती कन्यायें जो भी जप, तप, व्रत अनुष्ठान करतीं, एकमात्र व्रजवल्लभ नन्दनन्दनकी प्रसन्नताके ही निमित्त करतीं। किसी भी देवताकी पूजा करतीं, उससे यही वर माँगतीं—"हमें श्रीकृष्णप्रेम प्राप्त हो।" इनके साध्य तो श्यामसुन्दर थे। अन्य देवोंकी पूजा साध्यकी प्राप्तिके हेतु साधन मात्र थी। श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ जो कर्म किया जाता है प्रारब्ध उससे नहीं बनता। वह तो समस्त सञ्चित शुभ अशुभ कर्मोंको नाश करके प्रभु प्राप्ति करा देता है। प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं और उसे वरण कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने पीछे शरद ऋतुके प्रसङ्गमें महा अनुरागवती गोपिकाओंके प्रेमका—उनके द्वारा वर्णित वेणु माधुरीका—प्रसङ्ग अत्यंत संक्षेपमें आपको सुनाया। अब मैं उन पूर्वानुरागवती कुमारी कन्याओंके प्रेमका एक प्रसङ्ग सुनाता हूँ, जिनका हृदय निरन्तर नन्दनन्दनमें ही आसक्त रहता था। श्रीकृष्ण हमें पतिरूपसे कैसे प्राप्त हों, यही जिनकी एकमात्र उत्कट अभिलाषा थी, इसीके लिये जिनका समस्त व्रत अनुष्ठान

था। मुनियो! इस बातको मैं पीछे भी अनेक बार कह आया हूँ, अब भी कहता हूँ और आगे भी निरन्तर कहता ही रहूँगा, कि श्रीकृष्ण लीलाओंको प्राकृत पुरुषोंकी-सी लीला समझकर पढ़नेसे कोई पारमार्थिक विशेष लाभ न होगा। लौकिक प्रेमकी एक धर्मविहीन घटना हो जायगी। जो विषयियोंका कुछ कालके लिये मनोरंजन भले ही करदे, किन्तु जो जीवका चरम लक्ष्य है—श्रीकृष्ण प्रेमकी प्राप्ति—वह तो नहीं होगा। जब श्रीकृष्णको सर्वान्तर्यामी घटघटवासी परात्पर प्रभु मानकर, गोपियोंको उनका ही एक अभिन्न स्वरूप मानकर श्रद्धा सहित इन अत्यन्त सरस मधुरभावकी पोषक लीलाओंको पढ़ेंगे तभी कल्याण होगा। अतः कन्याओंकी साधना और फिर प्रभुके प्रसादकी कथाको कामदृष्टिसे नहीं उपासना दृष्टिसे श्रवण मनन और पठन करना चाहिये।

हाँ, तो व्रजमें कुछ कन्याये थीं। उन्होंने श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीकी प्रशंसा सुनी थी। श्रीहरिके गुणश्रवण मात्रसे ही उनके मनमें मदनमोहनकी मनमोहिनी मूरत गड़-सी गयी, सबका एक साथ एक ही संकल्प हुआ, श्यामसुन्दर हमारे पति हों, वे हमें अपनी अनुचरी किंकरीके रूपमें वरण करलें स्वीकार करलें। यदि किसी एक प्राकृत पुरुषमें अनेक कन्याओंका अनुराग होता और वे सभी उन्हें चाहतीं, तो उनमें सापत्न्य भाव—सौतिया डाह—की भी संभावना थी, किन्तु सर्वेश्वरके सम्बन्धमें तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही नहीं सबका समान उद्देश्य होनेसे उन सबमें परस्परमें अत्यधिक अनुराग था। वे सब मिलकर अपनी इष्टसिद्धिके निमित्त प्रयत्नशील थीं। सामूहिक साधनमें सर्वदा संलग्न रहतीं, वे नित्य नये व्रत अनुष्ठान करतीं। उन सबका फल यही चाहतीं कि श्रीकृष्ण हमें अपना लें।

स्त्रियोंके लिये कार्तिक मासके स्नानका बड़ा माहात्म्य है। वैसे तो स्त्री पुरुष सभीके लिये कार्तिकस्नान परम पुण्यदायक है, किन्तु स्त्रियाँ इस व्रतको अत्यधिक करती हैं। जिन देशोंमें पूर्णिमाके पश्चात् महीना आरम्भ होता है, उन देशोंमें आश्विन की शरत् पूर्णिमासे यह स्नान आरंभ होकर कार्तिकी पूर्णिमाको समाप्त होता है। जिन देशोंमें अमावास्याके अनंतर महीना आरंभ होता है, उन देशोंमें दीपावलीसे आरम्भ होकर मार्गशीर्षकी अमावास्याको यह स्नान समाप्त होता है। इस व्रतमें यह आवश्यक है, कि सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व अरुणोदयमें अवश्य स्नान हो जाना चाहिये। अपने समीप कोई नदी हो, जलाशय हो तो उसमें स्नान करे, दोनोंके अभावमें कूपमें स्नान करे। हविष्य अन्नका एकबार भोजन करे, नमक न खाय, नियमसे ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे। व्रतके समस्त नियमोंका पालन करे। वृन्दादेवी तथा पार्वतीजीका विधिवत पूजन करे, गीत गावे और ग्रामकी अथवा देवमंदिरकी परिक्रमा दे। और भी इसी प्रकारके नियम हैं।

नन्दव्रजकी कुमारी कन्याओंने सोचा—"कात्यानी देवी सुनते हैं सभी अभीष्टोंको पूर्ण करनेवाली हैं। कुमारी कन्याओं की एकमात्र आन्तरिक इच्छा यही होती है, कि हमें सर्व सद्गुण सम्पन्न पति प्राप्त हो। श्यामसुन्दरसे बढ़कर सर्वगुण सम्पन्न पति और कहाँ प्राप्त होगा। अतः उनकी प्राप्तिके लिये हम विधिवत् कार्तिक स्नान करें और कात्यानी देवीका पूजन करें। इस प्रकार विचारकर और परस्परमें सम्मतिकर उन सब ने एक महीनेके व्रतका निश्चय किया। दीपावलीके दीपक जलाकर उन्होंने इस व्रतको आरंभ कर दिया। वे प्रातःकाल अरुणोदयमें उठतीं सब उच्च स्वरमें सभीको घर-घर जा जाकर जगातीं और उनका नाम ले लेकर पुकारतीं—"हे सुशीले! उठो उठो।

हे शशिकले ! हे चन्द्रमुखि ! हे माधवी ! हे कदम्बवाले ! हे कुन्ती, हे यमुने, हे पद्ममुखी ! हे सावित्री ! हे पारिजाते ! हे जान्हवी ! हे सुधामुखी, हे शुभे ! हे पद्मे ! हे गौरि ! हे स्वर्ण प्रभे ! हे कालिके, हे कमले ! हे दुर्गे ! उठो उठो, चलो यमुना स्नान को चलें। देखो अरुणोदयमें स्नान न हुआ तो हमारा व्रत भंग हो जायगा। हे दुर्गे ! हे सारस्वति ! हे भारति ! हे गंगे ! हे अम्बिके ! हे सति, हे सुन्दरि ! हे कृष्णप्रिये ! हे मधुमति ! हे चम्पे ! दे चन्दननन्दिनी ! तुम सब भी अपनी सहेलियों को बुलालो। जो अभी सो रही हों उन्हें तुरन्त जगा दो।" इस प्रकार अरुणोदयमें सम्पूर्ण व्रजभरमें हल्ला मच जाता। मातायें दधि मथने लगतीं और अपनी कुमारी कन्याओंको जगाकर कहतीं—"बेटी ! देख, तेरी सहेलियाँ खड़ी हैं, तुरन्त वस्त्र लेकर जाओ यमुनास्नान कर आओ। रेशमी साड़ी पहिन जाओ।

सभी कन्यायें श्रीकृष्णका ध्यान करती हुईं, उनके सुखद संगमकी लालसासे रोमाञ्चित शरीरसे, उन्हींके नाम और गुणों का गान करती हुईं यमुनामें जाकर—सब मिलकर—हँसतीखेलती किलोलें करती स्नान करतीं। वस्त्र पहिनतीं, फिर किनारेपर आकर सब कात्यायनी देवीकी बालुकामयी मूर्ति बनातीं। सभी अपनी मूर्तिको आगे रखकर विधिपूर्वक आवाहन करतीं, फिर पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और स्नानके लिये सुगंधित जल देतीं। वस्त्र, सूत्र, चन्दन, अक्षत, पुष्प, पुष्पमाला, धूप, दीप, विविध भाँतिके नैवेद्य, ऋतुफल, पुङ्गीफल, ताम्बूल, जल दक्षिणा तथा सभी छोटे बड़े उपहारोंसे उनकी पूजा करतीं। अन्तमें अत्यन्त भक्ति भावसे दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर विनती करतीं—"हे कात्यायनि ! हे महामाये ! हे महायोगिनी ! हे अधीश्वरी ! नन्दगोपकुमार श्यामसुन्दर हमारे पति बन जायँ वे हमें अपनी अनुचरी मानकर अपनालें ऐसा वर हमें आप

दीजिये। हम आपके पादपद्मोंमें पुनः पुनः प्रणाम करती हैं। इसी भावके मन्त्रसे प्रार्थना करतीं और इसी भावके मन्त्रका वे जप भी करतीं।

अन्तमें देवीकी प्रतिमाका विसर्जन करतीं। उस वनकी अधिष्ठातृ देवी वृन्दाका पूजन करतीं उनकी परिक्रमा करतीं, दीपोंकी पंक्तियाँ उनके आगे रखतीं और सूर्योदयके पूर्व ही कृष्णकीर्तन करती हुई घर लौट आतीं। घरमें आकर यद्यपि वे तनसे घर गृहस्थीके काज करती रहतीं, किन्तु उनका मन सदा मनमोहनकी रूप माधुरीमें ही निमग्न रहता। घरपर आकर वे बिना नमक हविष्यान्नका एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का भोग लगाकर प्रसाद पातीं। इस प्रकार वे नित्य ही बड़े भावसे नन्दनन्दन हमारे पति हों, इस संकल्पसे स्नान करतीं और भद्रकाली देवीकी पूजा करतीं। इस प्रकार करते-करते उन्हें एक महीना बीत गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्णके निमित्त जो कोई कुछ करता है, उनसे जो प्रेम करता है, वह उनसे कुछ छिपा तो रहता ही नहीं है, घट-घटमें रहनेवाले घनश्याम सबके मनकी बात जानते हैं और उत्कंठा तीव्र होनेपर उसे पूर्ण भी करते हैं। ये कुमारियाँ बड़े कष्टसे जाड़ेमें काँपती हुई नित्य स्नानके लिये जातीं। श्रीकृष्ण उनके आन्तरिक प्रेमको समझते थे, अतः उनकी इच्छा पूर्ति करनेका उन्होंने निश्चय किया। जैसा सरस खेल उन्होंने खेला उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

करि पूजा सब नियम करें दुर्गा! जगदम्बे।
नन्दनँदन पति होहिँ देहु वर वरदे अम्बे॥
यों हविष्य करि असन नियम व्रतके सब साधें।
श्रद्धा भक्ति समेत भगवतीकूँ आराधें॥
सुखद सरस लीला करी, प्रेम निरखि निष्कपट हरि।
अपनाईं चिरसङ्गिनी, सब दोषनिकूँ दूरि करि॥

चीर हरण लीला

(९३८)

एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः ।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० २२ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

पट यमुना तट धरें न्हायें नित नङ्गी जलमहँ ।
करन कृतारथ कृष्ण गये छलतैं तिहि थलमहँ ॥
जल विहार मिलि करें उलीचें सलिल परस्पर ।
लै सबके पट चढ़े कदंबपै नागर नटवर ॥
सङ्ग सखनिके हँसत हरि, धरि अधरनि पै बाँसुरी ।
डरति लजति थर-थर कँपति, सब सुकुमारी सुन्दरी ॥

जीव उन्नति करना तो चाहता है, किन्तु जीवपनेको छोड़ना नहीं चाहता। मनुष्य कुलीन और प्रतिष्ठित तो बनना चाहता है, किन्तु इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरसे यह सब नहीं चाहता। जो शरीर प्राप्त है, वही श्रेष्ठ कहावे, उसीकी प्रशंसा

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! इस प्रकार जिनका चित्त श्रीकृष्णमें ही लगा है, ऐसी कुमारियोंने एक महीने तक व्रत किया और नन्दकुमार श्यामसुन्दर हमारे पति हों, इस भावनासे भगवती भद्रकाली का भली-भाँति पूजन भी किया।

करें। इसी प्रकार साधक आत्मसमर्पण तो करना चाहता है, किन्तु अपने 'अहं' को बचाये रखना चाहता है। दाता धनको दान कर देगा, किन्तु दातापनेके अभिमानको—सर्वस्वदान करने पर भी—बचाये रखेगा। उसे दान करना वह जानता भी नहीं उसके अधिकारकी बात भी नहीं। दातापनेके अभिमानको तो गृहीता ही छुड़ा सकता है। वही सर्वस्व लेकर अनावृत-नग्न-कर सकता है। जबतक बीचमें वस्त्रों पटोंका रदा है, तब तक आत्म-समर्पण कहाँ ? प्रेम व्यवधान नहीं चाहता, प्रेमी और प्रियतमाके बीचमें कुसुमकी एक मालाके अन्तरायको भी प्रेम सहन नहीं कर सकता। जिसे हमें अपना सर्वस्व सौंपना है। तन, मन तथा धन सब कुछ उनके चरणोंमें समर्पित करना है, उससे एकान्तमें भी परदा करना यह समर्पणका स्वरूप नहीं। किन्तु इस परदेको हटाना साधककी सामर्थ्यके बाहरकी बात है, वह स्वेच्छासे निरावृत नहीं हो सकता। श्याम ही उसके वस्त्रोंको उठा ले जायँ उसे वसनविहीन बना दें, तभी सर्वात्मसमर्पण हो सकता है। श्रीकृष्णको पति बनाकर भी आवरण न हटा, तो वे यथार्थ पति नहीं कहलाये जा सकते और न वे मिथ्या लज्जावती सच्ची सह-चरी भी नहीं हैं। श्रीकृष्ण जिसे अपनाते हैं। पहिले उसे विवस्त्र बना देते हैं। पुनः उन्हीं पटोंको प्रसादी बनाकर लौटा देते हैं, फिर वे अपने पट न होकर पीतपटधारीके प्रसादी पट बन जाते हैं। उनके प्रसादको पाकर तो जीव कृतार्थ ही हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उन कन्याओंने शरदऋतुमें अन्य गोपिकाओंके साथ बैठकर बनवारीकी वेणुमाधुरीका पान किया था, रूपमाधुरीका पान तो वे करती ही रहती थीं। जबसे वे जनमी हैं तभीसे निरन्तर लीलामाधुरीका पान करनेसे उनके कान तृप्त ही नहीं होते थे। वेणुमाधुरीने तो उनके रोम-रोममें मादकता भर दी। वे श्रीकृष्णके प्राप्तिके लिए व्रत अनुष्ठान करने

लगीं। हेमन्त ऋतुमें वे अरुणोदयमें स्नान करने जातीं। सभी भोली बालिकायें थीं। इस पापी प्रेमने उनके अन्तःकरणमें एक प्रकारकी खलबली मचा दी थी, नहीं तो वे संसारी बातोंको कुछ जानती ही नहीं थीं। मातायें कह देतीं—"बेटी! रेशमी साड़ी पहिन जाना ऊनी चादर ओढ़ जाना। ऊनी और रेशमी वस्त्रोंमें छूआछूत नहीं। सूती वस्त्र तो एक बार पहिन लेनेपर जहाँ शरीर से पृथक् हुआ कि फिर उसे धोकर ही पहिनते हैं, किन्तु रेशमी और ऊनी वस्त्रोंको जितनी बार चाहें उतारें जितनी बार चाहें बिना धोये पहिन लें कोई दोष नहीं। उन्हें पहिनकर भोजन भी कर सकते हैं, उन्हींसे शौच भी जा सकते हैं। जाड़ेके दिन थे, कन्यायें रेशमी धोतियोंको पहिनकर जातीं, ऊपरसे ऊनी चद्दरें ओढ़ जातीं। नंगे पैरों कृष्णकीर्तन करती हुई यमुना किनारे पहुँचतीं। सब एक ही अवस्थाकी थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी वर्णोंकी व्रजकुमारिकायें थीं किन्तु अधिकांशमें सब गोपिकायें ही थीं। और तो ऐसे ही एक दो नाम मात्रको थीं। वे सबकी सब यमुना किनारे घाट पर अपने वस्त्रोंको रखकर नंगी होकर जलमें घुस जातीं स्नान करतीं। परस्परमें एक दूसरीकी भुजाओं को पकड़कर, गीत गातीं, क्रीड़ा करतीं, जल विहार करतीं और कुछ देर तक इसी प्रकार एक दूसरीपर पानी उलीचती हुई आनंद में तन्मय हो जातीं। फिर जाड़ा लगनेपर जलसे बाहर निकलकर वस्त्रोंको पहिनतीं और देवीकी पूजा करके सूर्योदयसे पहिले-पहिले अपने-अपने घर आ जातीं।

स्त्रियोंके स्नान करनेका घाट पृथक् था, अतः वहाँ कोई पुरुष तो जाता नहीं था, इतने सवेरे बड़ी गोपिकायें भी नहीं आती थीं अतः वे निःसंकोच होकर खिलवाड़ करती रहतीं। कुमारावस्था के लड़कोंमें तो परस्परमें कुछ शील सङ्कोच दुराव किन्तु लड़कियोंमें कुछ नहीं रहता। वे अपने

भी आपसमें व्यक्तकर देती हैं। इस प्रकार विधि विधानपूर्वक व्रत करते हुए उन्हें पूरा एक महीना हो गया। उनके व्रतमें यह बड़ा छिद्र रह गया, कि वे अरुणोदयमें जाकर वरुण देवताका अपमान करतीं। नियम ऐसा है, स्नान करने जाय तो पहिले वरुण देवताकी स्तुति करे, उनसे स्नानकी आज्ञा ले। सचैल जलमें प्रवेश करे, डुबकी मारकर निकल आवे, पुनः जलका पूजन करे यथाधिकार सन्ध्या तर्पण करके निकल आवे। ये नंगी ही जलमें घुस जातीं। यह वरुणदेवकी अवहेलना थी, अनुष्ठानमें बड़ा छिद्र था।

यह सुनकर शौनकजीने चिन्तित होकर पूछा—"सूतजी! विधिहीन कर्म तो निष्फल हो जाता है। विधिहीन यज्ञके कर्ताका शीघ्र ही नाश हो जाता है। विधिहीन व्रत, अनुष्ठान सब व्यर्थ बन जाता है, तो उनका यह सब निष्फल हुआ क्या?

इसपर सूतजी बोले—"भगवन्! जो स्त्री, धन, पुत्र तथा अन्यान्य सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके निमित्त सकाम कर्म किये जाते हैं, ऐसे कर्म तो विधिके अधीन होते हैं, किन्तु जो कर्म कृष्ण प्रीत्यर्थ केवल श्रीकृष्णको पानेकी इच्छासे ही किये जाते हैं ऐसे निष्काम कर्म कैसे भी किये जायँ वे कभी निष्फल नहींहोते। श्रीकृष्णके प्रेमकी याचना करना उन्हें पति रूपमें वरण करनेका निश्चय करना, ये कोई सांसारिक कर्म नहीं हैं। इन सबमें यदि कोई विधिकी त्रुटि रह भी जाती है, तो श्यामसुन्दर उसे स्वयं पूरी कर देते है। छोटी बच्ची पिताको माला पहिनाती है और वह सिर तक नहीं पहुँच पाती, तो पिता स्वयं ही सिरको नीचा करके माला पहिन लेता है। श्रीकृष्णके निमित्त कुछ करना चाहिये वह सदोष हो, निर्दोष हो, टेढ़ा हो, सीधा हो कैसा भी क्यों न हो, अन्तमें श्रीकृष्ण उसे स्वीकार कर ही लेते हैं।

उन कन्याओंने स्वच्छ हृदयसे—सच्ची लगनसे—एक मास

साड़ियाँ लटका दीं वे रंग बिरंगी साड़ियाँ उस वृक्षपर बड़ी ही भली प्रतीत होती थीं।

सब ग्वालबाल नीचे खड़े खड़े हँसने लगे। भगवान्‌के वैसे तो सहस्रों सखा थे, किन्तु उनमें बारह प्रधान थे। उनके नाम श्रीदामा, सुदामा, वसुदामा, सुबल, सुपार्श्व, सुभाङ्ग, सुन्दर, चन्द्रभानु, वीरभानु, सूर्यभानु, वसुभानु तथा रत्नभानु थे। इनसे भगवान्‌का कोई छिपाव नहीं था। ये सब छायाकी भाँति श्यामसुन्दरके साथ रहते थे।

नीचे खड़े खड़े ही श्रीदामा बोला—"अहा! इस वृन्दावनकी शोभा कैसी अनुपम है, यहाँ एकसे एक विचित्र घटना घटित होती है।"

इसपर वसुदामा बोला—"तुमने यहाँ कौन-सी विचित्र घटना देखी?"

श्रीदामा बोला—"अरे, भाई! तुम प्रत्यक्ष नहीं देख रहे हो। कदम्ब पर पुष्प और फल तो सर्वत्र लगते हैं, किन्तु यहाँ कदम्ब पर वस्त्र फले हैं। डार डार पर पात पात पर रेशमी साड़ियाँ फर रहीं हैं। अब कोरियोंके यहाँ जानेकी आवश्यकता न पड़ेगी। किन्तु यह सारा कदम्ब तो लुगाइयोंका पक्षपात करता है। इस पर जितने वस्त्र फर रहे हैं, सब लुगाइयोंके ही हैं, यदि ऐसा ही कोई लोगोंके लिये फरने लगे, तो आनन्द आ जाय। मैं तो नित्य धोती बदला करूँ।"

इस पर चन्द्रभानु बोला—"अरे सारे! तू तो पोंगा ही रहा। अरे, कदम्ब पर कहीं वस्त्र फरते हैं, यह तो किसी धोबीने धोकर कदम्ब पर सुखा दिये हैं। देख इसके ऊपर एक काले रंगका धोबी बैठा है।"

यह सुनकर सभी तालियाँ बजा बजाकर चिल्लाने लगे—"धोबी है, धोबी है।"

श्रीकृष्ण भी ठठाका मारकर हँस रहे थे और वंशी बजा रहे थे। ग्वालबालोंकी हँसी और मुरलीकी मधुरध्वनि सुनकर गोपिकाओंका ध्यान उधर आकर्षित हुआ। उन्होंने कदम्बपर अपने वस्त्रोंको देखा। किनारेकी ओर दृष्टि दौड़ायी। जहाँ वस्त्र रखकर वे गयी थीं, वहाँ एक भी वस्त्र नहीं है। कदम्बपर मन्द मन्द मुसकराते हुए माधव मधुर स्वरमें मुरली बजा रहे हैं, ग्वालबालोंको हँसा रहे हैं। अब तो वे सब रहस्यको समझ गयीं। 'श्यामसुन्दरने हमारे साथ विनोद किया है, हमें छकाया है क्या श्यामसुन्दर हमारे मनोगत भावोंको जानते हैं? क्या हम से उतना प्यार करते हैं। बिना प्यारके कोईइतनी मधुर खिलवाड़ कर ही नहीं सकता। इस भावके आते ही सबके रोम रोम खिल उठे। किन्तु इन्होंने हँसी बड़ी भौंड़ी की। भला बताइये हमें बिना वस्त्रकी बना दिया।'

भीतर तो उनके आनन्द उमड़ रहा था, किन्तु ऊपरसे प्रेमका कोप प्रकट करती हुई वे बोलीं—"श्यामसुन्दर! यह बात अच्छी नहीं है। ऐसा हास परिहास शोभनीय नहीं है। हमारे वस्त्रोंको जहाँसे उठाया है वहीं रख दो।"

श्रीकृष्ण हँसते हुए बोले—"मैं तुम्हारा कुछ नौकर तो हूँ ही नहीं जो तुम्हारी बेगार करूँ। तुम्हें अपने वस्त्र लेने हैं, तो यहाँ आकर ले जाओ।"

गोपियाँ बोलीं—"नौकर नहीं तो चोर तो हो, हमारे पीठ पीछे हमारे वस्त्रोंको चुरा ले गये। यह कुछ अच्छी बात है?"

श्रीकृष्ण बोले—"समय बड़ा बुरा आगया। किसीके साथ उपकार करो, तो वह उलटा उपकारीको ही अपराधी ठहराता है। यदि हमें चोरी करनी होती, तो चोरी करके भाग जाते, यहाँ बैठकर वंशी क्यों बजाते। हमने तो सोचा—तुम्हारे वस्त्र यहाँ बालूमें रखे हैं, इतने सुन्दर वस्त्र हैं मैले हो जायेंगे लाओ इन्हें

अच्छी प्रकार टाँग दें। सो, हमें धन्यवाद देना तो पृथक् रहा उलटी हमें चोर बता रही हो।"

गोपिकायें बोलीं—"हमारे तो धूलिमें ही अच्छे हैं, जहाँ से तुमने उठाये हैं वहीं रख दो।"

श्रीकृष्ण बोले—"जिस वस्तुको मैं एक बार उठा लेता हूँ, फिर उसे वहाँ उस रूपसे नहीं रखता। माँगने वालेको प्रसाद

रूपमें उसे देता हूँ। तुम्हें प्रसाद लेना हो, तो मेरे पास आकर अपने अपने वस्त्रोंको को ले जाओ।"

गोपिकाओंने कहा—"श्यामसुन्दर; देखो! बहुत छेड़खानी अच्छी नहीं होती। गुलगुली उतनी ही करनी चाहिये जितनी से आँखोंमें आँसू न आवें। बहुत हँसी हो गयी अब हमारे वस्त्र हमें दे दो।"

भगवान् गम्भीर होकर बोले—"कैसी हँसी। मैं तो हँसी करना जानता ही नहीं। मैं हँसी नहीं कर रहा हूँ, तुमसे सत्य सत्य कह रह रहा हूँ। तुम देर मत करो, जाड़ेके दिन हैं, अधिक जलमें रहना उचित नहीं। तुम सबकी सब काँप रही हो। सबके दाँत बज रहे हैं, आ जाओ और अपने अपने वस्त्र ले जाओ।"

कुपित होकर गोपिकाओंने कहा—"बड़े साँचाधारी बने हो; झूठे कहीं के। अब तुम हमें बहुत खिजाओ मत, चुपचाप हमारे वस्त्रोंको दे दो।"

श्रीकृष्ण बोले—"व्रजबालाओ! तुम मेरी बातपर विश्वास नहीं करती हो, तो मेरे इन सखाओंसे पूछ लो। कोई कह दे कि मैंने आज तक कभी भूलमें भी झूठ बोला हो। न मैंने पहिले कभी झूठ बोला, न अब ही बोल रहा हूँ। तुम एक एक करके मेरे पास आओ अपने अपने वस्त्रोंको ले जाओ। एक एक आने में असुविधा प्रतीत होती हो, तो सब एक साथ ही आकर वस्त्र ले जाओ। यहाँ बैठे बैठे मैं सबको वस्त्र दूँगा, किन्तु जलसे निकलकर मेरे निकट आना होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपियोंने देखा, कि श्रीकृष्ण तो अपने वचनोंपर दृढ़ हैं, वे हँसी नहीं कर रहे हैं। उनके वचनोंमें दृढ़ता है, ये मानेंगे नहीं। हमें ये नग्न देखना चाहते हैं, किन्तु हम स्त्री होकर पुरुषके सम्मुख अनावृत कैसे जा सकती हैं। हाय! इनके आगे बिना वस्त्रके जाना होगा। इस कि

आते ही उनके रोम रोम खिल उठे। अंगोंमें सिहरन और ऐंठन होने लगी। इतने सरस विनोदके स्मरणसे ही वे प्रेममें निमग्न हो गयीं। वे लज्जावश एक दूसरीको ओर रहस्यमयी दृष्टिसे देखकर मुसकराने लगीं, किन्तु जलसे नग्न होकर निकलनेका उनका साहस न हुआ। भगवान् क्रोध नहीं कर रहे, गम्भीर होकर नहीं कह रहे थे। हँसते हँसते सरसतामें पगे हुए प्रेमपूर्वक मन्द मन्द मुसकराते हुए कृपा कटाक्ष करते हुए कह रहे थे। इससे उन सबका चित्त उनकी ओर और भी अधिक खिंच गया। दोनों ओरसे जब प्रेमाकर्षण होता है, तो उसमें एक अद्भुत विवशता सी अनुभव होने लगती है। जाड़ेके दिन थे कंठ पर्यन्त जलमें वे खड़ी थीं। छातीको जलसे बाहर निकाल नहीं सकती थीं। केवल उनके केशपास और कमलके समान खिले हुए मुख ही दिखाई दे रहे थे। मानों कमलके ऊपर काली सिवार लहरा रही हो। वे काँपती हुई श्रीकृष्णसे पुनः कुछ कहनेको उद्यत हुईं।

छप्पय

सब बोलीं ब्रजबाल—लाल ! मति पाप कमाओ।
हे हम नङ्गी नारि न ऐसी हँसी उड़ाओ॥
काँपति नीरमहँ खड़ीं दया हम सबपै कीजे।
उतरि कदँब तें कँवर बसन हम सबके दीजे॥
कहें कृष्ण—जलतें निकरि, अपने-अपने लेउ पट।
सुनुरि ! सुनहु सखी सकल, सखा करहुँ नहिं छलकपट॥

व्रजबालाओंके व्रतकी सफलता

(९३९)

दृढं प्रलब्धा स्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुम्,
ता नाभ्यसूयन्प्रियसंगनिर्वृताः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० २५ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

सुनी श्यामकी सरस रहसमय अनुपम बानी ।
एक-एककी ओर निरखि मनमहँ मुसकानी ॥
पुनि बोलीं—घनश्याम ! निपट हम दासी तुमरी ।
अरपन सरबसु करैं लाज लेओ मत हमरी ॥
कहहिँ श्याम—सुन्दरि ! सुनहु, यदि दासी तो क्यों डरो ।
जैसो जो कछु कहहुँ हौं, तुम तैसो निर्भय करो ॥

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! भगवान्‌ने उन कन्याओंको ठगा, उनकी लोकलाजको तिलांजलि दिलायी, उनसे हँसी की, उन्हें कठपुतलियोंकी भाँति नचाया तथा उनके वस्त्रोंको भी चुराया । इतना सब करनेपर भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं, यही नहीं उनकी इस क्रीडासे उनके साथ ऐसी मीठी-मीठी बातें करनेसे—वे परम प्रसन्न हुईं ।

भगवान्‌की प्राप्तिमें लज्जा, संकोच और भय ये ही अन्तराय हैं। जीव जबतक लोकलाज, सांसारिक संकोच के अधीन बना रहता है, तब तक उसे यह चिन्ता व्यथित करती रहती है, कि कोई क्या कहेगा। तबतक उसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। जो कुछ शेष रखकर भगवान्‌की शरणमें जाता है, उसे भगवान् पूर्ण रीत्या नहीं अपनाते। जिसके मनमें कुछ दुराव है वहाँ भगवान् कैसे रहेंगे, जो निर्व्यलीक भावसे सर्वात्मना श्यामसुन्दरकी शरण जाता है, उन्हें सम्पूर्ण अपनापन सौंप देता है, उसकी इच्छा वे अवश्य पूर्ण करते हैं। उन्हें वे अभीष्ट वर देते हैं। अपनाते हैं और अपनी मधुराति मधुर लीलामें उन्हें सम्मिलित कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्णलीला प्रसङ्गमें मैं एक ही बातको बार बार कहूँगा। इसे आप पुनरुक्ति दोष न मानें। श्रीकृष्णकी लीलायें गोपिकाओंके संगसे अत्यंत ही सरस हैं, इनमें प्राकृत कामकी गंध न आने पावें, इसीलिये मुझे पुनः पुनः चेतावनी देनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। ऊपरसे देखनेमें तो ये प्रसंग साधारण स्त्री-पुरुषोंके प्रेम प्रसंगसे ही प्रतीत होते हैं। किंतु ये तो भगवान्‌की प्रकृतिसे परेकी दिव्य चिन्मयी लीलायें हैं। ये तो आत्मा और वृत्तियोंकी क्रीड़ायें हैं। आत्मारूप श्रीकृष्ण अपने आपमें ही जब क्रीड़ा करते हैं, तो वे आत्मक्रीड़ कहाते हैं जब वे अपने अभिन्न स्वरूपमें रमण करते हैं तो वे आत्मरति कहाते हैं। साधक जब अपनेमें उनके संस्पर्शको प्राप्त करता है, तो वह कृतार्थ हो जाता है। अतः यह अनन्य साधना स्वीकृतिकी एक अति सरस लीला है।

श्रीकृष्ण उनका सर्वस्व अपहरण करके कदम्बपर बैठे हँस रहे हैं। गोपिकायें जलमें बैठी-बैठी आनन्दमें विभोर हो रही हैं, उनके रोम रोमसे आनन्द फूट रहा है, किन्तु लज्जावश वे जलसे बाहर आना नहीं चाहतीं। श्रीकृष्ण उनकी इस लज्जाको भी मिटा

देनेपर तुले हुए हैं। वे बीचमें व्यवधान नहीं चाहते। गोप कन्यायें दुखी नहीं थीं प्रसन्न थीं खीजी नहीं थीं, प्रेममें भीजी हुई थीं। वे विनय करती हुई बोलीं—"प्राणवल्लभ! देखो, ऐसा अन्याय मत करो। भला, तुम हमें नंगी ही कर दोगे, तो तुम्हें क्या मिल जायगा। यह बात तुम्हें शोभा देती है? तुम इतने बड़े व्रजराजनंदजीके लाड़िले लड़ते लाला हो। यह भी नहीं तुम्हेंलोग बुरा कहते हों, सर्वत्र तुम्हारे गुणोंकी ख्याति है। तुम्हें दया नहीं आती? देखो, हम जाड़ेमें थरथर काँप रही हैं?"

भगवान् बोले—"तुम अपने आप काँप रही हो, मैं वस्त्र देने को मना करता, तो तुम कहती भी। मैं तो तुम्हें देनेको तैयार हूँ, तुम मेरे पास आना ही नहीं चाहतीं। प्यासा कूएँके पासआता है, कूआ तो प्यासेके पास नहीं आता कि लो, पानी पी लो।"

उन कन्याओंमें चारों ही वर्णकी थीं। शूद्र किसीको वश करना चाहें, तो सेवाके द्वारा—विनयके द्वारा—दास वृत्ति करके वशमें कर सकते हैं। अतः जो शूद्र कन्यायें थीं, वे कृष्णसे वस्त्र प्राप्त करनेके लिये कहने लगीं—"श्यामसुन्दर! देखो, हम सब तुम्हारी दासियाँ हैं, हमारे ऊपर दया करो हमारे वस्त्रोंको हमें दे दो। बहुत रुलाओ मत।"

यह सुनकर श्यामसुन्दर कुछ बोले नहीं। उन्होंने निषेधात्मक सिर हिला दिया। तब उनमें जो वैश्य कन्यायें थीं वे विनय करने लगीं। वर्णाश्रमी प्रजामें वैश्य सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। इसीलिये इनकी श्रेष्ठ या सेठ संज्ञा है। वर्णाश्रम धर्ममें क्षत्रिय तो जन्मसे ही शासक माने जाते थे, पूज्य होनेसे ब्राह्मणोंकी प्रजामें गणनाही नहीं होती थी। अब प्रजा कहलाने वाले वैश्य और शूद्र ये ही दो रह गये। उनमें श्रेष्ठ वैश्य होते थे। इनका मुख्य काम है व्यापार। व्यापार क्रोधसे बिगड़ जाता है। इसीलिये व्यापारीको क्रोध नहीं करना चाहिये। उसे जिससे स्वार्थ साधना हो, उसके

ऊपरसे—अनुकूल हो जाना चाहिये, मीठी मीठी बातें करके उससे अपना कार्य निकाल लेना चाहिये, इसीलिये कहावत है—"बनिया गुड़ न देगा गुड़से मीठी बात कह देगा।" इसलिये जो वैश्य जातिकी कन्यायें थीं, वे कहने लगीं—व्रजचन्द्र! देखो, तुम हमारे वस्त्र दे दो, तुम जो भी कहोगे वही हम करेंगी।"

श्रीकृष्ण यह सुनकर मुसकरा गये, वे कुछ बोले नहीं। उनकी मुस्करानका भाव था, तुम जब मेरी सब बात माननेको तत्पर हो, तो निकलकर आती क्यों नहीं।"

उन कन्याओंमें जो क्षत्रिय कन्यायें थीं, उनकी आँखें लाल हो गयीं। क्षत्रियका स्वभाव है, वह अपने प्रतिकूल आचरण देख नहीं सकता। अतः वे कहने लगीं—"देखो, श्यामसुन्दर! यह बात अच्छी नहीं है। आप सीधेसे हमारे वस्त्रोंको जहाँ रखे थे, वहीं रख जाओ। अभी तो हम सीधेसे विनयपूर्वक कह रही हैं। यदि तुम सीधेसे न माने, तो हम तुम्हारे बाबासे जाकर कहेंगी। वे भी न सुनेंगे, तो जिसके अधीन वे हैं उन महाराज कंससे जाकर कहेंगीं, तब तुम सब हेकड़ी भूल जाओगे।"

हँसकर श्यामसुन्दर बोले—"इस जलमें न तो मेरे बाबा तुम्हें पूछने आवेंगे, न कंस राजा। जाना तो तुम्हें ही उनके पास होगा, फिर उतनी दूर जानेसे लाभ क्या? मैं वस्त्र देनेको मना तो कर ही नहीं रहा हूँ, जब तक तुम सब मेरे अत्यन्त निकट न आओ, तब तक तुम्हें प्रसादी पट प्राप्त नहीं हो सकते।"

उनमें जो ब्राह्मणकन्यायें थीं, वे धर्मका भय दिखाते हुए कहने लगीं। ब्राह्मणको जिससे कुछ कराना होता है, धर्मका भय दिखाता है। कोई अन्याय करता हो, तो उसके यहाँ धर्मके नामसे धरना देकर उसे अन्यायसे रोकता है। उसकी आजीविका ही धर्मसे है। अतः वे बोलीं—"हे नन्दनन्दन!

तुम धर्मके मर्मको जाननेवाले हो। यह तुम अधर्म कर रहे हो। नग्न स्त्रीका दर्शन निषेध है। इसलिये तुम धर्मकी मर्यादाको छिन्न-भिन्न मत करो हमारे वस्त्र हमें दे दो। हम तो तुम्हारे अधीन हो ही गयी हैं। हम तो आपकी किंकरी बन ही गयी हैं। आपकी सेवा प्राप्त करनेके लिये ही तो हमने यह सब किया है।

इसपर नंदनंदन बोले—"अच्छा यदि तुम मेरे अधीन हो, मेरी दासी हो, मेरी आज्ञा माननेको तत्पर हो, तो मैं आज्ञा देता हूँ मेरे समीप आ आकर अपने अपने वस्त्रोंको ले जाओ।"

कुमारिकायें अब क्या करतीं। इधर जाड़ेके कारण उनका शरीर थरथर काँप रहा था, उधर सूर्यदेव अपनी प्रिया प्रातः कालीन सन्ध्याके अञ्चलमें से निकलनेका उपक्रम कर रहे थे। कन्याओंने सोचा—"देर होनेसे सब गुड़ गोबर हो जायगा। अब श्रीकृष्णकी ही बात मानो यही सोचकर वे लजाती हुई हाथ से अपने गुह्य स्थानोंको ढककर जलके बाहर निकलीं और कदम्ब के नीचे खड़ी होकर बोलीं—"श्यामसुन्दर! अब बहुत हो चुका, अब हमारे कपड़े दे दो। हमने तुम्हारी आज्ञाका पालन कर दिया।"

आसपासमें जो सखा खड़े थे, उनसे भगवान्‌ने कहा—"देखो, इनका जो नैवेद्य रखा है उसे उठाकर एकान्तमें जाओ भोग लगाओ।'

गोपोंने कहा—"ले भैया! हम जाते हैं तू अपनी कानाफूँसी कर।" यह कहकर गोप सब दूर चले गये।

भगवान् उनके शुद्ध भावको देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए, उन्होंने बहुतसे वस्त्रोंको वृक्षकी शाखाओंसे उतारकर अपने कंधों पर रख लिया।

लड़कियोंने कहा—"हाय! श्यामसुन्दर! तुम कैसा अन्याय

कर रहे हो। लुगाइयोंके पहिने वस्त्रोंको अपने सिरपर चढ़ा रहे हो ?"

भगवान् बोले—"जो मेरे अपने निजके हो जाते हैं, उनमें स्त्री-पुरुषका भेद मैं नहीं देखता। ये तो वस्त्र ही हैं मैं उनकी चरणकी धूलिको अपनी आँखोंमें आँजता हूँ।"

गोपबालायें तो ये प्रेममें पगे अत्यन्त मधुर वचन सुनकर सिहर उठीं। उन्होंने गद्गद कंठसे कहा—"प्राणवल्लभ ! अब हमें अधिक लज्जित न करो, हमारे वस्त्रोंको हमें दे दो।"

भगवान् मंद-मंद मुसकराते हुए बोले—"दे तो देता किन्तु एक अब भी त्रुटि रह गयी ? गोपबालाओंने पूछा—"वह क्या ?"

भगवान् बोले—"वह यह कि तुम सबसे एक बड़ा अपराध बन गया। तुम्हारा सब इतने दिनका किया कराया व्रत चौपट हो गया। जलमें वरुणका निवास रहता है, अतः उसमें नग्न नहाना निषेध है। एक तो वैसे ही नग्न नहीं नहाना चाहिए। फिर तिसपर तुम अनुष्ठानमें थीं, व्रत कर रही थीं। तुम महीनेभर तक नंगी नहाईं इससे तुम्हारे द्वारा वरुणजीका बड़ा भारी अपराध हो गया है। उसका तो तुमने कुछ प्रायश्चित्त किया ही नहीं।

यह सुनकर कन्यायें तो डर गयीं। वे सबकी सब धर्मभीरु थीं। इस बातकी ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया था, वे चिन्तित होकर बोलीं—"हाँ, प्राणवल्लभ ! यह अपराध तो हमसे बन गया है, किन्तु हमने जान बूझकर यह अपराध नहीं किया है। अज्ञानमें अनजानमें यह अपराध बना है, इसका क्या प्रायश्चित्त करना होगा ? आप तो सर्वज्ञ हो, हमें इसका प्रायश्चित्त बता दें।"

भगवान् बोले—"देखो, पाप दो प्रकारके होते हैं, एक शुष्क दूसरे आर्द्र। जो जान बूझकर हठपूर्वक वासनाओंका पूर्तिक

लिये पाप किये जाते हैं, वे आर्द्र पाप हैं। उनमें भी छोटे बड़े का भेद है। बड़े पापोंके लिये गरम काँचको पीकर प्राण छोड़ना पर्वतसे कूदकर, अग्निमें जलकर, उपवास करके प्राणोंको छोड़ना ये प्रायश्चित्त हैं। उनसे कम पापोंके लिये कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत, जप, तप अनुष्ठान बताये हैं। जो अज्ञानसे अनजानमें पाप बन जाते हैं वे शुष्क पाप हैं, उनका प्रायश्चित्त भी थोड़ा होता है। जैसे किसी न देखने योग्य वस्तु पर दृष्टि चली गयी, न छूने योग्य वस्तु छू ली। ऐसे पापोंका सचैल स्नान करना या सूर्यदेवको देखकर उन्हें प्रणाम करना इतना ही प्रायश्चित्त पर्याप्त है। मुख्य प्रायश्चित्त तो है पश्चात्ताप। पाप करके जिसे पश्चात्ताप नहीं होता है, उसके सब प्रायश्चित्त व्यर्थ हैं। पाप करनेके पीछे जो मनमें पछतावा—पश्चात् संताप—होता है, उसे ही पश्चात्ताप कहते हैं। जिनका पाप करनेका स्वभाव होता है। पुरुष कामी हो, स्त्री स्वैरिणी व्यभिचारिणी हो, उन्हें नित्य पाप करके भी पश्चात्ताप नहीं होता। उनका प्रायश्चित्त तो यमराज करेंगे। नरकके कुण्डोंमें पचा-पचाकर चिरकाल तक उन्हें वे ही यातनायें देंगे। तुमसे जो भूलमें पाप हुआ है, उसका यही प्रायश्चित्त है, कि तुम भक्ति भावसे सूर्यदेवको नमस्कार करो और

"नमो विवस्वते ब्रह्मन भास्वते विष्णुतेजसे
जगत् पवित्रे शुचये नमस्ते कर्मसाक्षिणे।

इस मंत्रको पढ़कर उनसे पवित्रताके लिये प्रार्थना करो।

कुमारियोंने श्रद्धा भक्तिपूर्वक पूर्वकी ओर देखकर सिर झुका कर प्रणाम किया। हँसते हुए भगवान् बोले—"अब भी त्रुटि रह गयी।"

"अब क्या त्रुटि रह गई? श्यामसुन्दर!" उन सबसे दीन-वाणीसे कहा।

भगवान् बोले—"प्रणाम करनेकी यह विधि थोड़े ही है, कि

एक हाथ कहीं रुका है, दूसरा कहीं रखा है भारतीय संस्कृतिमें बड़े लोगोंको प्रणाम करनेका नियम यह है, कि दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर, अञ्जलिको सिरपर रखकर, अपना नाम गोत्र लेकर, उनके चरणोंमें सिर रखकर अभिवादन करना चाहिये। तुम्हारी प्रणाम भी पूरी नहीं हुई।"

यह सुनकर उन्हें चेत हुआ। वे सोचने लगीं—"जबहम इन्हें पति रूपमें वरण करनेको व्रत कर रही हैं और ये हमें अपनानेके लिये उद्यत हैं, तो फिर इनसे क्या लज्जा। "लाग लगगई तबलाज कहाँ री।" उनके हृदयका अंधकार दूर हो गया। उन्होंने सबकुछ श्यामसुन्दरको अर्पण कर दिया। उन्होंने सोचा—"जब हमने अपना सब कुछ इन्हें अर्पणकर दिया, तो मुख तो इन्हें दिखाती हैं, दूसरे अंगोंको छिपाती हैं, यह भेदभाव अपनी आत्मासे नहीं किया जाता। अपने आप नंगे होनेमें कोई संकोच नहीं करता। ये तो हमारी आत्माके भी स्वामी हैं।" इस विचारके आते ही उनका संकोच छूट गया। भगवान्के वचनोंमे उन्होंने श्रद्धाभक्ति पूर्वक विश्वास किया। उन्होंने अनुभव किया कि वस्त्रहीन होकर स्नान करनेसे अवश्य ही हमारा व्रत खंडित हो गया है। व्रत खंडित होनेपर हमारे मनोरथकी पूर्तिमें देर होगी। अतः व्रतको निर्विघ्न पूर्ण करनेके निमित्त उन्होंने समस्त कर्मोंके साक्षी भगवान् नन्दनन्दनको प्रणाम किया, क्योंकि उनकी दृष्टिमें तो वे ही समस्त पापोंको दूर करनेवाले हैं। उन्हें प्रणाम करनेके अनन्तर उनकी आज्ञासे सूर्यको भी प्रणाम किया।

भगवान्ने जब देखा, इनके मनमें अब किसी प्रकारका भेद भाव नहीं है। ये मेरी आज्ञानुसार सब कुछ करनेको उद्यत हैं, तो उन्होंने प्रेमपूर्वक सबके वस्त्र दे दिये। वस्त्रोंको पहिनकर वे लज्जासे सिर नीचा किये हुए हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर श्याम सुन्दरके सम्मुख खड़ी हो गयीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आप इन गोपकन्याओंके प्रेम को तो देखिये। इनकी उत्कट साधनाकी ओर तो दृष्टिपात कीजिये। संसारमें कोई किसीसे प्रेम करे, जिससे प्रेम करे यदि वह उसके अनुकूल व्यवहार न करे, तो प्रेम द्वेषके रूपमें परिणित हो जाता है। यह प्रेम नहीं स्वार्थ है, वासनापूर्तिकी लालसा है। श्रीकृष्णने उनसे कैसी कैसी छल कपटकी बातें कीं। वे प्रसन्नता पूर्वक नहा रहीं थीं, चुपकेसे उनके वस्त्रोंको चुरा ले गये। उनसे कितनी देर तक हँसी विनोद करते रहे। स्त्रियोंके लिये जिस लज्जाका छोड़ना अत्यंत ही कठिन है उसे उन्होंने छुड़ाया। नग्नावस्थामें उन्हें जलसे बाहर निकाला। जैसे नट कठपुतलियोंको नचाता है उसी प्रकार उन्हें नचाते रहे। यह करो, वह करो ऐसे प्रणाम करो। वे बेचारी सब कुछ करती रहीं। इन बातोंसे रुष्ट होनेकी तो कौन कहे, प्रत्येक बातमें उनका हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता और वे प्रियतमकी प्रत्येक चेष्टायें दिव्य सरसताका अनुभव करतीं। उनके हृदयकमलकी कलियाँ खिल जातीं और प्रेममें विभोर होकर श्यामसुन्दरकी एक-एक चेष्टापर अपना सर्वस्व वार देतीं। ऐसा प्रेमका अलौकिक उदाहरण कहीं भी नहीं मिल सकता। वे तो नित्यसिद्धा थीं, उनके बिना इतना प्रगाढ़ प्रेम और कौन कर सकता है।

छप्पय

जानि विवशता निकरि बारितैं बाला आईं।
गुह्य अङ्ग कर ढाँकि सहमि सबरी सकुचाईं॥
हरि बोले—अपराध बरुनको कीयो तुम सब।
न्हाई नङ्गी करहु विनय करपुट सिरधरि अब॥
निज व्रतकूँ खण्डित समुझि, धर्मधीर सब डरि गईं।
पाप प्रनाशक प्रभुचरन, कमलमाँहिं प्रनमत भईं॥

व्रजबालाओंको वरकी प्राप्ति

(६४०)

यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० १५ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

प्रभु प्रसन्न ह्वै गये तुरत पट सबके दीये ।
पाइ वसन प्रिय परस पहिन निजनिज तिनिलीये ॥
प्रेम विवश बनि गईं सकुचिकें श्याम निहारें ।
पूजन चाहें चरन न मुखतैं बचन उचारें ॥
जानि मनोगत भाव हरि, बोले बाबा डरहु मति ।
शरद्निशिनिमहँ रमन मम, संग करोगी सुखद अति ॥

एक कहानी है। दो तपस्वी तप कर रहे थे, एक था कच्चा एक था पक्का। कच्चेने तपस्याको गुड़का पूआ समझ रखा था,

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! व्रजबालाओंके व्रतसे सन्तुष्ट होकर भगवान् बोले—"हे साध्वियो! अब तुम सब व्रजमें अपने-अपने घर जाओ। तुम्हारा यह व्रत पूर्ण हो गया। जिस उद्देश्यसे तुमने यह व्रत लेकर कात्यायनी देवीका पूजन किया है, उसकी पूर्ति शरद् ऋतुकी रात्रियोंमें होगी। उन आनेवाली रात्रियोंमें तुम मेरे साथ रमण करोगी।"

उसने सोचा होगा, दस पाँच दिन तपस्या करनेसे भगवान् मिल जायँगे, उनसे सुख सामग्रीका वर पाकर आनंद उड़ावेंगे, चैनकी वंशी बजावेंगे। अतः देखा देखी वह तपस्या करने एक पीपलके वृक्षके नीचे बैठ गया। दूसरा साधक सच्चा था, उसका उद्देश्य भगवान्को पाना ही था, प्रभु प्राप्तिकी उसके अन्तःकरणमें उत्कट अभिलाषा थी। अपने सब सुखोंको छोड़कर एक इमलीके पेड़के नीचे तप कर रहा था। दोनों ही तपस्या करते थे। जो इमलीके नीचे था, उसने बहुत पहिले तपस्या आरंभकी, उसको देखा देखी पीपलके पेड़के नीचेवालेने प्रारम्भकी थी, कुछ दिनोंके पश्चात् वीणा बजावत हरिगुण गावत भगवान् नारदजी उधर आ निकले। सच्चे साधकने उठकर प्रणाम किया और विनय की—भगवन! आप सदा भगवान्के लोकमें आते जाते रहते हैं, भगवान् से यह पूछियेगा कि वे मुझे कब दर्शन देंगे?" इतनेमें ही वह दूसरा बोल उठा—"महाराज, मेरे लिये भी पूछ लेना।"

नारदजीने कहा—"अच्छी बात है, मैं विष्णुलोकको ही जा रहा हूँ। पूछकर आप दोनोंको बताऊँगा। यह कहकर वे वैकुण्ठ को चले गये। वैकुण्ठमें जाकर उन्होंने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया। पुनः प्रसंगानुसार उन दोनोंके प्रश्नोंको पूछा। भगवान् हँसे और बोले—"तुम उन दोनोंसे कह देना, जिन वृक्षोंके नीचे बैठकर तुम तप कर रहे हो, उनमें जितने पत्ते हैं उतने जन्मोंके अनन्तर मेरी तुम्हें प्राप्ति होगी।"

यह सुनकर नारदजी पहिले पीपलवाले तपस्वीके निकट आये और बोले—"भैया! जितने इस पीपलके वृक्षमें पत्ते हैं, उतने जन्मोंके अनन्तर तुम्हें भगवान्के दर्शन होंगे।" यह सुनकर उसे बड़ी निराशा हुई। सोचने लगा—"इतने दिन प्रतीक्षा कौन करे, चलो घरमें तबतक संसारी सुख ही भोग लें फिर देखा जायगा।" यह सोचकर वह तपस्या छोड़कर चला गया।

तब नारदजी इमलीके पेड़वाले साधकके पास आये और बोले—"भगवान्‌ने कहा है, जितने इमलीके पेड़में पत्ते हैं उतने जन्मके अनन्तर तुझे मेरी प्राप्ति होगी।" यह सुनकर साधकके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। वह बारबार पूछने लगा—"सच बताइये, भगवान्‌ने स्वयं यह बात अपने श्रीमुखसे कही है" नारदजीके आश्वासन देनेपर वह तपस्या छोड़कर हँसने लगा, उछलने लगा, कूदने लगा। आनन्दमें विभोर होकर पागलोंकी सी चेष्टा करने लगा।

नारदजीने पूछा—"भाई! तुम इतने प्रसन्न क्यों हो रहे हो?"

उसने कहा—"भगवन्! अब एक अवधि तो निश्चित हो गयी। यह विश्वास तो होगया, कि भगवान् मुझे अवश्य मिलेंगे। इमलीके पत्तोंके बराबर जन्मोंको बिताना क्या कठिन है इस आशासे कि इसके अनंतर भगवान् मिलेंगे यह सब समय उनकी प्रतीक्षामें सुन्दर कटेगा।" उसका दृढ़ विश्वास और अत्युत्कट लगनको देखकर भगवान् तुरन्त प्रकट हो गये।

यहाँ इस कथाके कहनेका अभिप्राय इतना ही है, कि साधक जप, तप, अनुष्ठान, भजन, पूजन तथा अन्यान्य साधन तभी तक करता है, जब तक उसे भगवत् प्राप्तिका आश्वासन नहीं मिलता। अवधिका ज्ञान नहीं होता। दृढ़ आश्वासन मिलनेपर अवधिका ज्ञान होनेपर उसके समस्त साधन छूट जाते हैं फिर वह एकमात्र दिन गिनता हुआ प्रियतमकी प्रतीक्षामें ही काल यापन करता है। प्यारेकी प्रतीक्षामें पल पल कितना सुखद प्रतीत होता है। दिन गिनते-गिनते अनेक आशाओंको लगाते-लगाते समय बीतता है, कोई पल, क्षण ऐसा नहीं बीतता जिसमें अपने प्रियतमकी उत्कट स्मृति दिनों दिन अत्युत्कट न होती जाती हो। पूर्वानुरागके अनंतर मिलनकी अवधिका ज्ञान होनेपर जो उत्कंठा

होती है, उसमें कितनी मधुरिमा है, कितनी तन्मयता है इसे बिना अनुभव किये कोई समझ ही नहीं सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवानने गोपियोंके वस्त्र दे दिये। वस्त्र देकर मदनमोहनने उनका मन हर लिया। वह नीचा सिर किये हुए श्यामसुन्दरको और लज्जा और संकोचके साथ उनकी ओर निहार रही थीं। वे बड़ी विवशताका अनुभव कर रही थीं उनके रोम रोमसे अनुराग निकल रहा था, प्रिय दर्शनसे उनके खिले हुए कमलके सदृश मुख अधिक रक्तवर्णके हो रहे थे। उनकी बार बार इच्छा थी प्यारके अति कोमल अरुण चरणोंको अपने हृदयपर धारण करें। प्यारे अपने चरणोंको हमारे हृदयकी धुकधुकीपर धरकर उसे दबादें। हम उनके चरणों को कसकर दबाकर बैठ जायँ, उनका विधिवत् पूजन करें किन्तु ऐसा करनेका उनका साहस नहीं होता था। अबलाही जो ठहरीं। पुरुषकी स्वीकृतिके बिना नारी स्पर्श करनेका साहस नहीं करती, क्योंकि दैवने पुरुषसे चौगुनी लज्जा उसके हृदयमें जो भर दी है। वे सब कुमारी वस्त्र पहिनकर वहाँसे हटीं नहीं। वे चाहतीं थीं चली जायँ किन्तु श्यामसुन्दरने अपनी मीठी मीठी बातोंसे प्रेमपूर्वक चितवनसे उनके चित्तको ऐसा हर लिया था, कि प्यारेको छोड़कर उनके पैर वहाँसे उठते ही नहीं थे। प्रियतमके समागममें आसक्त हुआ उनका चित्त इतना अनुरक्त होगया था कि वे वहाँसे एक पग भी आगे न बढ़ सकीं। लजीली दृष्टिसे उन्हींकी ओर निहारती हुई वहाँकी वहीं खड़ी रहीं।

भगवानको अभी और प्रतीक्षा करानी थी। उन्होंने देखा इनके मनमें अभी कामभाव है। भगवान् जिसे अपनाते हैं और उसके मनमें कामभाव देखते हैं, तो स्वयं भी कामियोंकी-सी चेष्टा करके उसके कामको और बढ़ाते हैं। जब उनकी भावना उत्कट हो जाती है, प्रतीक्षा करते करते मनसे मलिन वासनायें

निकल जाती हैं, अन्तःकरण विशुद्ध बन जाता है—कामके स्थानमें हृदय प्रेमसे परिपूर्ण होजाता है—तब भगवान् सदाके लिये अपना लेते हैं। पहिले कामको भड़का देते हैं, जिसकी तड़पनसे समस्त अशुभ नष्ट हो जायँ। भगवान् समझ गये इन व्रतशीला कुमारियोंका कात्यायनीपूजनका संकल्प मेरे चरणस्पर्शकी कामना से ही है, तो वे उन अबलाओंसे बोले जिनका बल एक अकार रूप वासुदेव ही हैं।

भगवान्ने कहा—"साध्वियो! कुमारियो! व्रतशीलाओ! देखो, मैं तुम्हारे संकल्पको जानता हूँ, तुम मुझे यह मत समझो कि मैं किसीके मनके भावोंको न पहिचानता होऊँ। तुम्हारी इच्छा मुझे मालूम है। तुम मुझे पति बनाना चाहती हो न? यह कोई बुरी बात नहीं, मैं तो प्राणीमात्रका पति हूँ। तुम्हारे संकल्पका समर्थन और अनुमोदन करता हूँ। तुम्हारा संकल्प अवश्य सत्य होगा। तुम्हें मेरी प्राप्ति होगी।"

"कब होगी प्राणवल्लभ! हम तो मर रही हैं। इस प्रकार की विवशता तो अच्छी नहीं होती।" निराशा और दुःखके स्वरमें वे गोपबालायें बोलीं।

भगवान्ने कहा—"देखो, निराश होनेकी कोई बात नहीं। जब तक शरीर है तब तक इसमें काम भी रहता है क्रोध भी रहता है। काम संसारी बद्ध पुरुषोंके हृदयमें भी उठता है और भक्तोंके हृदयमें भी काम उत्पन्न होता है। अंतर इतना होता है। संसारी लोगोंके मनमें जो काम उठता है, वह संसारी विषय भोगोंको चाहता है और भक्तोंके हृदयकी कामनाका विषय मैं होता हूँ। वे अपने काम भावको मेरी ओर लगा देते हैं। जो काम भावको मेरी ओर लगा देता है, उसके काम भावको मैं अपनी महिमाके प्रभावसे भस्मसात् कर देता हूँ।"

गोपिकाओंने कहा—"श्यामसुन्दर! तुम तो बड़ी गूढ़ बात

कह रहे हो, यह बात हम अबलाओंकी बुद्धिमें भली भाँति बैठती नहीं।"

भगवान्‌ने कहा—"अच्छा, यह बताओ काम कहाँ होता है?"

गोपिकाओंने कहा—"महाराज! वह तो संकल्प द्वारा अन्तःकरणमें होता है।"

भगवान्‌ने कहा—"हाँ, यथार्थ है। काम संकल्पसे ही होता है। जैसे हम जो कर्म करेंगे उसका पाप या पुण्य कुछ फल होगा, वह फल संचितमें मिल जायगा। उससे प्रारब्ध बनेगी जन्म मरणका चक्कर चलता रहेगा किन्तु मेरे निमित्त जो कर्म किये जायँगे उनसे कर्मबन्धन रूप बीज उत्पन्न न होगा।"

गोपिकाओंने कहा—"भगवन्! यह कैसे हो सकता है। बीजको पृथिवीमें बोयें और अनुकूल खाद पानी मिलने पर भी उससे अंकुर उत्पन्न न हो। कर्म करेंगे तो उसका कुछ न कुछ फल तो अवश्य ही मिलेगा।"

भगवान्‌ने कहा—"ऐसी बात नहीं। बीजको तुम भूनकर या उबालकर पृथिवीमें बोओ, फिर चाहे उसमें कितनी भी खाद डालो कितना भी जल दो, उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार जो कर्म मेरे निमित्त किये जायँगे उनसे बंधन नहीं होगा, वे पुनः प्रारब्धको पैदा करनेवाले न होंगे। मेरा निरन्तरका चिन्तन समस्त अशुभ वृत्तियोंको नाश कर देता है। मेरे भक्तके हृदयमें प्रथम तो काम उत्पन्न ही नहीं होता, होता भी है तो वह नष्ट होनेके निमित्त होता है जैसे बुझनेवाला दीपक एक बार वेगसे जल उठता है।"

गोपकुमारियोंने कहा—"तब अब हम करें क्या? हम तो व्याकुल हो रही हैं, कब तक प्रतीक्षा करें?"

भगवान् बोले—"इस समय तो तुम अब अपने २ घर लौट जाओ। व्रत तो तुम्हारा पूर्ण हो गया। अब तुम्हें कोई व्रत

अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं। अब तुम मेरे संगमकी प्रतीक्षा करो।"

निराशा और वेदनाके स्वरमें गोपकन्यायें बोलीं—"कब तक प्रतीक्षा करें, प्राणवल्लभ।"

भगवान् बोले—"अधिक नहीं, दस महीने और प्रतीक्षा करो। आश्विनकी पूर्णिमा आनेपर उन शरदकी सुहावनी रात्रियों में तुम मेरे साथ रमण करोगी।"

सूतजी कहते हैं—"इस प्रकार भगवान्की आज्ञा पानेपर उन व्रजबालाओंकी दशा सुख और दुःख, आशा और निराशाके बीचमें विचित्र ही हो गई। आशा तो इस बातकी थी कि दस महीने पश्चात् श्यामसुन्दरका संग होगा, निराशा इस बातकी थी कि आज वे अपने वक्षःस्थलपर श्यामके चरणारविन्दोंको रखकर अपने काम संतापको शान्त करना चाहती थीं, उसे श्यामसुन्दरने

स्वीकार नहीं किया। सुख तो श्यामसुन्दरकी स्वीकृतिका था और दुःख उनके वियोगका। वे जाना नहीं चाहती थीं किन्तु करतीं क्या? श्यामसुन्दर जानेको शीघ्रता कर रहे थे। उनका मनोरथ सफल हो गया था, प्रिय मिलनकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ गयी थी। इसलिये वे चितचोर श्रीकृष्णके चरणोंका ही चिन्तन करती हुई व्रजमें लौट आईं और उसी शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिकी प्रतीक्षा करने लगीं। एक-एक दिन गिनकर श्यामसुन्दरके चिन्तनमें ही कालयापन करने लगीं।

इसपर शौनकजी बोले—"सूतजी! यह लीला कुछ आवश्यकतासे अधिक सरस हो गयी। इसमें कुछ अश्लीलता आ गयी। भगवानको ऐसा करना उचित नहीं था।'

गंभीर होकर सूतजी बोले—"क्यों महाराज! अश्लीलताकी तो कोई बात नहीं। जब श्रीकृष्ण सर्वान्तर्यामी परात्पर प्रभु हैं, तो उनसे तो कोई बात छिपी नहीं रहती। अपने आपसे कोई संकोच करता है? यह शरीर पञ्चभूतोंका बना है, इसमें सर्वत्र पंचभूत ही व्याप्त हैं। हम कहें कि हमारे मुखको तो पृथिवी,जल, वायु और आकाश देखें। मल मूत्रको न देखें, तो यह क्या संभव हो सकता है? पञ्चभूतोंके बिना शरीरकी स्थिति नहीं। भगवान तो सभीमें समान रूपसे व्याप्त हैं, उनसे क्या दुराव। क्या जिस जलमें वे अपनेको नग्न नहीं समझती थीं, उस जलमें श्यामसुन्दर नहीं थे। फिर क्या हुआ। जलसे निकलकर वे आकाशमें आ गयीं इसमे अश्लीलताकी क्या बात?

दूसरी बात यह है, कि जब वे सब ही उन्हें पति बनाना चाहती थीं, तो पतिसे तो कोई छिपानेवाली बात रह नहीं जाती।

तीसरे भगवान्‌की समस्त लीलायें तो भक्तोंको सुख देनेके ही लिये होती हैं। भगवान्‌के यहाँ माखनकी कुछ कमी नहीं थी, गोपिकायें चाहती थीं कि श्यामसुन्दर हमारे घर आकर

माखन चुरावे, इसलिये वे उनके सुखके लिये चुराने जाते थे। इन गोपिकाओंकी आन्तरिक इच्छा थी, नन्दनंदन हमारे लज्जाके आवरणको हटा दें, तो भगवान्‌ने उनकी इच्छा पूर्ति की।

चौथे उन्हें लोक मर्यादा भी स्थापित करनी थी। नंगी न नहानेका उपदेश भी देना था, इसलिये यह ललित लीला रची। यदि कहो कि वैसे ही मना कर देते तो वैसे उनपर उसका प्रभाव ही न पड़ता। प्रत्यक्ष करके दिखानेसे प्रभाव अधिक पड़ता है।

पाँचवे व्रजबालाओंको अपने प्रगाढ़ प्रेमकी स्वीकृति देनी थी। उनके हृदयमें सरसताका संचार करना था, लौकिक कामको नष्ट करके उन्हें प्रेम प्रदान करना था इसलिये भी लीला करनी थी। भगवान्‌की लीलाएँ सभी ललित होती हैं। वे जो भी करते हैं, अच्छा ही करते हैं।

जो लोग भगवान्‌को ईश्वर नहीं मानते उनके लिये तो शंका को स्थान ही नहीं। भगवान्‌की उस समय अवस्था आठ साढ़े आठ वर्षकी होगी। अबकी बात छोड़ दीजिये पहिले ७।८ वर्षके लड़की लड़के नंगे डोला करते थे, नंगे नहाते थे। इस अवस्थामें कोई दूषित विचार उठते ही नहीं। इस प्रकार भी अश्लीलता नहीं। संकोच तो महाराज! द्वैधीभावमें होता है। हृदय जिसे एक बार अपना मान लेता है, वहाँ संकोच छूट जाता है।

शौनकजीने कहा—"सूतजी! आपका कथन तो यथार्थ है किन्तु लोकदृष्टिसे यह अच्छा नहीं लगता।

सूतजीने कहा—"महाराज! ये लौकिक लीलाएँ थोड़े ही हैं, दिव्य चिन्मय अप्राकृत लीलायें हैं। यह तो प्रेमकी पराकाष्ठा है। जैसे जीव प्रेमके लिये तड़पता रहता है। प्रेमकी खोज करता रहता है, वैसे ही भगवान् भी तड़पते रहते हैं। जीव उनकी ओर एक पग बढ़ाता है, तो वे ९९ पैर बढ़कर उसे छातीमे चिपटा

लेते हैं। भगवान् जो वनोंमें, गोष्ठोंमें, गाँवोंमें, गौओं और गोपियोंके पीछे पीछे घूमते रहते हैं, वह केवल प्रेमीकी ही खोजमें घूमते हैं। जो उनसे प्रेम करता है, वह कितनी भी दूर क्यों न हो, उसे वे समीप बुलाकर अपना लेते हैं, दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। देखिये, मथुराके ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके मनोरथको उन्होंने किस प्रकार पूर्ण किया।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! मथुराकी विप्र पत्नियोंका क्या मनोरथ था और भगवान्ने उसे किस प्रकार पूरा किया, कृपा करके इस कथाको भी हमें अवश्य सुनाइये। भगवान्की प्रेमकी कथाओंमें तो बड़ा आनन्द आता है।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! जिस प्रकार भगवान्ने मथुराकी विप्र पत्नियोंपर कृपाकी उस प्रेम प्रसंगको भी मैं सुनाता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

सुनत श्याम वर वचन भयो सुख-दुख सँगमनमहँ।
हरि आयसु सिर धारि चलीं सब हठवश व्रजमहँ॥
आइ नियम व्रत भूलि प्रतीक्षा करहिँ सदाहीं।
कब मनमोहन मोद भरें सबके मनमाहीं॥
इत व्रजबाला व्रज गईं, श्याम सखनि सँग वन गये।
निरखि सफल पुष्पित द्रुमनि, तिनहिँ संत समुझत भये॥

कीर्तनीयः सदा हरिः

सचित्र

"भागवत चरित"

सप्ताह

—:०:—

लेखक—श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

जिन लोगों ने श्री ब्रह्मचारीजी द्वारा लिखित "भागवती कथा" पढ़ी होगी, उन्हें विदित होगा कि इसमें प्रत्येक अध्याय के आदि में और अन्त में एक एक छप्पय होती है। ये छप्पय परस्परमें सम्बन्धित होती हैं। केवल छप्पयों को ही पढ़ते जाओ, तो पूरी कथायें क्रमबद्ध आ जायँगी। कहना चाहिये 'भागवती कथा' इन छप्पयों का भाष्य मात्र ही है। इन सब छप्पयों को सात भागों में बाँटकर उनमें भी अध्याय बना दिये गये हैं। बीच बीच में जोड़ने को कथा प्रसंग दोहा, सोरठा, छन्द तथा पद भी सम्मिलित कर दिये गये हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और उनके भक्तोंके चरित्रसे युक्त यह पद्य काव्य साहित्य की एक अपूर्व वस्तु हो गयी है। भगवद्भक्तों के लिये तो रामायण की भाँति पाठ करने के लिये यह अलौकिक वस्तु है। सात दिनों में पारायण करने से भागवत सप्ताह का पूर्ण फल इससे प्राप्त हो जायगा। विलायती सुन्दर चिकने कागज पर इसे छपा रहे हैं। साधनों के अभाव में अभी पाँच सहस्र प्रतियाँ हम छाप रहे हैं लगभग ८००।९०० पृष्ठ इसमें रहेंगे। सैकड़ों सादे और रंगीन चित्र भी रहेंगे। न्योछावर लगभग ५.२५ न० पै० सजिल्द आज पत्र लिखकर प्रति सुरक्षित करा लें।

पता—संकीर्तनभवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी [प्रयाग]

॥ श्रीहरिः ॥

श्री बदरीनाथ-दर्शन

(श्रीब्रह्मचारीजीका एक अपूर्व महत्वपूर्ण ग्रन्थ)

श्रीब्रह्मचारीजीने चार पाँच बार श्री बदरीनाथजीकी यात्रा की है। यात्रा ही नहीं की है वे वहाँ महीनों रहे हैं। उत्तराखण्डके छोटे बड़े सभी स्थानोंमें वे गये हैं उत्तराखण्ड कैलाश, मानसरोवर, शतोपन्थ, लोकपाल और गोमुख ये पाँच स्थान इतने कठिन हैं कि जहाँ पहाड़ी भी जानेसे भयभीत होते हैं। उन स्थानोंमें ब्रह्मचारीजी गये हैं वहाँका ऐसा सुन्दर सजीव वर्णन किया गया है, कि पढ़ते-पढ़ते वह दृश्य आँखोंके सम्मुख नृत्य करने लगता है। उत्तराखण्डके सभी तीर्थोंका इनमें सरस वर्णन है, सबकी पौराणिक कथायें हैं। किंवदन्तियाँ हैं, इतिहास हैं और यात्रावृत्त है। यात्रा सम्बन्धी जितनी उपयोगी बातें हैं सभीका इस ग्रन्थमें समावेश है। बदरीनाथजीकी यात्रा पर इतना विशाल महत्वपूर्ण ग्रंथ अभी तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ। आप इस एक ग्रंथसे ही घर बैठे उत्तराखण्डके समस्त पुण्यस्थलोंके रोमाञ्चकारी वर्णन पढ़ सकते हैं। अनुभव कर सकते हैं। यात्रामें आपके साथ यह पुस्तक रहे तो फिर आपको किसीसे कुछ पूछना शेष नहीं रह जाता लगभग सवा चार सौ पृष्ठकी सचित्र सजिल्द पुस्तकका मूल्य ४. रुपया मात्र है थोड़ी ही प्रतियाँ हैं, शीघ्र मँगावें।

—:o:—

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

शोक शान्ति

(*श्रीब्रह्मचारीजीका एक मनोरञ्जक और तत्वज्ञानपूर्ण पत्र*)

इस पुस्तकके पीछे एक करुण इतिहास है। मद्रासके गुन्टूर प्रान्तका एक परम भावुक युवक श्रीब्रह्मचारीजीका परम भक्त था। अपने पिताका इकलौता अत्यन्त ही प्यारा दुलारा पुत्र था। त्रिवेणी संगमपर अकस्मात् स्नान करते समय डूबकर मर गया। उसके संस्मरणोंको ब्रह्मचारीजीने बड़ी ही करुण भाषामें लिखा है। पढ़ते-पढ़ते आँखें स्वतः बहने लगती हैं। फिर एक सालके पश्चात् उसके पिताको बड़ा ही तत्वज्ञानपूर्ण ५०। ६० पृष्ठोंका पत्र लिखा था। उस लिखे पत्रकी हिन्दी और अँगरेजीमें बहुत सी प्रतिलिपियाँ हुई उसे पढ़कर बहुतसे शोकसन्तप्त प्राणियोंने शान्ति लाभ की। इसमें मृत्यु क्या है इसकी बड़े ही सुन्दर ढंगसे मनोरञ्जक कथायें कहकर वर्णन किया गया है, लेखकने निजी जीवनके दृष्टान्त देकर पुस्तकको अत्यन्त उपादेय बना दिया है। अक्षर-अक्षरमें विचारक लेखककी अनुभूति भरी हुई है उसने हृदय खोलकर रख दिया है। एक दिन मरना सभीको है अतः सबको मृत्युका स्वरूप समझ लेना चाहिये, जिन्हें अपने सम्बन्धीका शोक हो, उनके लिये तो यह रामबाण औषधि है। प्रत्येक घरमें इस पुस्तकका रहना आवश्यक है। ४० पृष्ठकी सुन्दर पुस्तकका मूल्य .३१ न० पै० मात्र है। आज ही मँगानेको पत्र लिखें समाप्त होनेपर पछताना पड़ेगा।

—:❀:—

पता—संकीर्तन भवन प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरिः ॥

हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति, हिन्दी भाषा का सरस सुबोध और सरल सर्वोपयोगी बृहद् ग्रन्थ

"भागवती कथा"

लेखक—श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

श्री ब्रह्मचारीजी हिन्दी भाषा में एक अत्यन्त ही उपादेय बृहद् ग्रंथ लिख रहे हैं। इसमें समस्त वेद, शास्त्र, पुराण तथा धर्म ग्रन्थों का सार सिद्धान्त रहेगा। पुराणों की चुनी हुई सरल, रोचक शिक्षाप्रद कहानियाँ बड़ी ही ललित भाषा में लिखी जा रही हैं, यह ग्रंथ खंडशः प्रकाशित हो चुके हैं। प्रति मास लगभग ढाई सौ पृष्ठका प्रायः एक खण्ड प्रकाशित होता है। जिसमें एक रंगीन चित्र ७-८ सादे चित्र भी रहते हैं। एक खण्ड का मूल्य १.२५ न० पै० और .९० न० पै० डाकव्यय पृथक्। जो सज्जन १५.१२ न० पै० भेजकर स्थायी ग्राहक बन जायँगे, उन्हें सभी खण्ड रजिष्ट्री से भेजे जायँगे। पूरा ग्रंथ लगभग १०८ भागों में प्रकाशित होगा। प्रथम खण्ड पढ़कर आप इसकी उपयोगिता समझ जायँगे। सभी श्रेणी के विद्वानों ने इस ग्रंथकी भूरि भूरि प्रशंसा की है, विशेष विवरण जानने के लिये .३१ न० पै० के टिकट भेजकर "भागवती कथा की बानगी" मँगावें। सूचीपत्र बिना मूल्य मँगवाइये।

सब प्रकारके पत्र व्यवहारका पता —

पता—संकीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी [प्रयाग]

श्रीभागवत चरितकी आरती

भागवत चरित अमृत पीजे।
आरती सब मिलिके कीजे॥

दयाके सागर हैं यदु चन्द, गहे अजने तिनिपद अरविन्द।
कमलमुख झरें सुधाके विन्दु, तिनहिँ पीपीके नित जीजे॥१॥आरती०

नामको रसना करिकें गान, करै मन मोहन मूरति ध्यान।
नयन निरखें सबथल भगवान्, कृष्णको कीर्तन नित कीजे॥२॥आरती०

यादि जब चरितन की आवे, पुलक तनु सबरो है जावे।
प्रेम सब अंगनिमें छावे, भावमें भक्त रहें भीजे॥३॥आरती०

हियेपै चढ़े भक्तिको रङ्ग, मिलै भक्तनिको नित सतसंग।
काज सबकरें कृष्णहित अंग, व्यरथ नरजीवन नहि छीजे॥४॥आरती०

प्रेम अरु लयतें सब गाओ, पार भव सागर है जाओ।
पदुम-पद-रज प्रभुकी पाओ, आरती भक्त वृन्द लीजे॥५॥आरती०

❀ श्रीहरिः ❀

श्रीभागवत-दर्शन-

भागवती-कथा

(इकतालीसवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:०:—

लेखक

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक

सङ्कीर्तन-भवन

प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

—:❀:—

तीय संस्करण] श्रावण सं० [illegible] [मू० [illegible]
००० प्रति

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ सं०
	श्रीभागवत चरित भूमिका ...	१
९४१—	सुभुक्षित ग्वाल बाल	३३
९४२—	विप्र पत्नियोंसे अन्नकी याचना ..	४५
९४३—	द्विज पत्नियोंको दामोदरके दर्शन ...	५६
९४४—	द्विज पत्नियोंका अनुपम प्रेम ...	६९
९४५—	याज्ञिक विप्रोंका पश्चात्ताप ...	७८
९४६—	गोपोंका इन्द्रयागके लिये उद्यम ...	९०
९४७—	भगवान द्वारा कर्मवादका उपदेश	९७
९४८—	गोवर्धनपूजाका प्रस्ताव ...	१०९
९४९—	गिरिराज गोवर्धनकी पूजा	११६
९५०—	इन्द्रका व्रजवासियोंपर रोष ...	१२२
९५१—	गोवर्धनधारी घनश्यामी ..	१२८
९५२—	इन्द्रका अभिमान चूर हुआ	१३५
९५३—	श्री कृष्णके सम्बन्धमें गोपोंकी शंका ...	१४०
९५४—	नन्दजीके वचनोंसे गोपोंका समाधान ..	१४८
९५५—	इन्द्रका नन्दनन्दनसे क्षमा याचना ...	१५७
९५६—	गोपोंका इन्द्र गोविन्द —	१६०
९५७—	[illegible] ...	१६१
९५८—	गोपोंको वैकुण्ठके दर्शन ...	१७२

श्रीभागवतचरित

(भूमिका)

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते,
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ८७ आ० २१ श्लो०)

छप्पय

विमल भागवतचरित स्वयं श्रीहरिने गायौ ।
शुद्ध सनातन ज्ञान मनुजने नहीं बनायौ ॥
मुनिवर ! सोचें आपु मनुजका चरित बनावें ।
यह समाधिको चरित चलित चित कैसे ध्यावें ॥
हरि, अज, नारद, व्यास शुक,क्रम-क्रमतैं विस्तृत बन्यों ।
लिखवायौ प्रभु-दत्ततैं, भाषामें मैंने भन्यों ॥

❀श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन् ! भगवान्‌की स्तुति करती हुई वेदकी श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे ईश्वर ! आप जो शरीर धारण करते हैं, वह इसलिये कि आत्मतत्व अत्यंत दुर्बोध है उसका ज्ञान लोगोंको होजाय । ऐसे आपके चरित्ररूप महामृतसागरमें जो स्नान कर लेते हैं वे श्रम रहित होजाते हैं ऐसे जो विरले भक्तजन हैं वे मुक्तिकी भी इच्छा नहीं रखते । वे लोग आपके चरणकमलोंका, हंसके समान सेवन करने-वाले भक्तोंके संगसे अपने पूर्वप्राप्त घरबार का भी परित्याग कर देते हैं ।

छप्पय, दोहा, सोरठा, स्तुति, भजन, पद तथा अन्यान्य छन्दों में जो नौसो पृष्ठ से अधिक का सुन्दर सचित्र सजिल्द भागवतचरित संकीर्तन-भवनसे प्रकाशित हुआ है, आजकी भूमिकामें मुझे उसीके सम्बन्धमें बताना है, उसीका संक्षिप्त इतिहास सुनाना है, उसका महात्म्य गाना है उसीका पुण्य परिचय पाठकोंको कराना है। आप कहेंगे, कि यह तो विज्ञापन है आत्म प्रशंसा है। पासमें पैसा हो चाहें जैसी अंट सन्ट पुस्तक छपा दो इसका इतिहास क्या बताना, इसके विषय में विशेष क्या बताना, कोई भगवान्‌की बात बताओ भक्त और भगवान्‌का गुण गाओ।

बात तो सत्य है, विज्ञापन तो है ही, इस विज्ञापनमें आत्मप्रशंसा से बच सकें सो भी बात नहीं। आत्मप्रशंसाको शास्त्रकारों ने मृत्युके तुल्य बताया है यह भी पता है, फिर भी इस कथनमें एक लोभ है, इस इतिहास पर पग पगपर प्रभु-कृपाकी अनुभूति है उस अनुभूति से पाठकों को अवश्य ही स्फूर्ति होगी वे भगवत्कृपाके महत्वको समझेंगे। मेरे विषयमें जो होता हो वह होता रहे। मैं तो किसीका यन्त्र हूँ, यन्त्री जो कराता है, करताहूँ बताने वाला जो बताता है जो संकेत करता है उसे लिखता हूँ। अब वह जाने उसका काम जाने।

सूत्रपात

बाल्यकाल ही ब्रजमंडल में जन्म होनेसे तथा परम्परागत संस्कारोंके कारण श्रीकृष्णने मेरे मनपर अपना सिक्का जमा दिया बाल्यकालमें जब मैं पाँच सात ही वर्षका हूँगा न जाने कहाँसे टेढ़ी टाँगवाली मुरलीमनोहरकी ताम्रमयी मूर्ति मेरी पूजामें आगयी। छोटी-सी वह सलोनी मनहारिणी मूर्ति कितनी दिव्य थी अब भी वह छटा मेरे मनसे नहीं हटती। श्रीकृष्णके सम्बन्ध की कितनी ही कविताएँ मैंने कठस्थ

करली थीं उनमें रसिक रसखान की सवैया मुझे अत्यन्त प्रिय थीं पीछे मैंने उनका संग्रह करके "रसखान पदावली" के नाम से टिप्पणी सहित छपाया भी था। स्यात् प्रयाग के हिन्दी प्रेस से वह पुस्तक अब भी मिलती है।

श्रीतुलसीकृत रामायण को देखकर बाल्यकाल से ही मेरी ऐसी इच्छा थी, कि इसी प्रकार यदि ब्रजभाषा के पद्यों में श्रीभागवत भी निकल जाय तो श्रीकृष्ण उपासकों के लिये एक सर्वोत्तम पाठ्य पुस्तक मिल जाय। श्रीसूरदास जी का सूरसागर श्रीमद्भागवत के ही आधार पर लिखा गया है, किन्तु वह गायन ग्रन्थ है, क्लिष्ट है सर्व साधारण के लिये वह नित्य पाठ के उपयोगी नहीं और ब्रज के रसिकों के जो लीला ग्रन्थ हैं, उनमें इतना अधिक मधुर रस है, कि अज्ञ लोग उसमें अश्लीलता का आरोप करते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है, श्रीकृष्णावतार मधुर लीलाओं के ही लिये हुए हैं। श्रीरामावतार मर्यादा पुरुषोत्तम अवतार है और श्रीकृष्ण साकार मधुर रस के रसावतार हैं, फिर भी आवश्यकता से अधिक मीठा होने से मुँह भर जाता है और जिन्हें मीठा खाने का अभ्यास नहीं उन्हें अधिक मीठे से अरुचि हो जाती है। ब्रज के वीतराग रसिकों ने जो बानियाँ लिखी हैं उसमें इतना अधिक मीठा डाल दिया है, कि सर्व साधारण तो उसे पचा भी नहीं सकते अतः वे बानियाँ उच्चकोटि के भागवतों की निधि है हम जैसे साधारण लोगों का तो उन्हें पढ़ने का भी अधिकार नहीं।

श्रीमद्भागवत रसार्णव है, रस का इसमें सर्वत्र प्रवाह बहाया गया है। सभी रस इसमें अपने अपने स्थान पर उत्कृष्ट हैं, किन्तु मधुर रस तो षोडश कलाओं से इसमें विकसित हुआ है। इतना सब होने पर भी लोक मर्यादा का

निर्वाह किया है। अर्थात् मर्यादा के बाहर उसे नहीं जाने देने का प्रयास किया है। यद्यपि मधुर भाव का रस समुद्र जब उमड़ता है तब वह तटों का संकोच नहीं करता तब बन्धनों को छिन्न भिन्न कर देता है फिर भी भगवान् व्यास ने उसे बहुत सम्हाला है अधिकाधिक मर्यादा में रखा है। मेरी आन्तरिक इच्छा थी कि इसी पद्धति का अनुसरण करके व्रजभाषा में एक पद्य भागवत हो। यह तो मैं कभी स्वप्न में भी सोच ही नहीं सकता था, कि भगवान् मेरे इस काम को मेरे द्वारा सम्पन्न करावें। क्यों कि एक तो मैं विशेष पढ़ा लिखा भी नहीं, दूसरे जो भी आज तक मैंने लिखा है गद्य में लिखा है। पद्य का तो आज तक मैंने कोई ग्रन्थ ही नहीं लिखा।

जब 'भागवती कथा' लिखने की प्रभु प्रेरणा हुई, तो आरम्भ के दिन श्रीगणेश करने के लिए मैंने निम्न छप्पय लिखी—

श्रीनारायण विमल विशालापुरी निवासी।
नर नारायण ऋषी तपस्वी अज अविनाशी॥
माता वीणापाणि सरसुती वाणी देवी।
कियो वेदको व्यास पराशर सुत गिरि सेवी॥
धरि सिर सबके पादकी, पावन पुण्य पराग अति।
भनूँ भागवत-भव्य भव-भयहर भाषा यथामति॥

छप्पय स्वतः बन गयी मानों किसी ने बता दी हो, इसके लिये कुछ भी प्रयास न करना पड़ा। विशेष काट छाँट भी न करनी पड़ी। ज्यों ज्यों उसे पढ़ते त्यों त्यों वह अत्यन्त ही सुन्दर प्रतीत हुई। अपने हाथ की बनी रोटी जली भुनी, कच्ची पक्की कैसी भी हो वह भी स्वादिष्ट

लगती है, क्योंकि उसमें अपनापन जो है। इसी प्रकार अपनी बनायी कविता चाहे, अशुद्ध अथवा नीरस ही क्यों न हो बड़ी अच्छी लगती है—

'निज कवित्त केहि लाग न नीका'

इस एक छप्पय लिखने से ही बड़ा साहस हुआ और ऐसी प्रेरणा हुई, कि प्रत्येक अध्यय के आदि अन्त में एक कविता रहा करे, आदि में छप्पय रहे अन्त में दोहा सोरठा कुछ भी रहे। ऐसे दो चार अध्याय लिखे एक अध्याय के अन्त में दोहा भी लिखा अन्त में निश्चय यही रहा कि आदि अन्त में छप्पय ही रहा करें। अब छप्पयों का क्रम आरम्भ हुआ। एक अध्याय लिख लेने के अनन्तर दो छप्पय लिखी जातीं, एक तो उस अध्याय के अन्त की और एक आगे के अध्याय की। जब आगे का अध्याय समाप्त हो जाता तो फिर दो लिखी जातीं। इस प्रकार अध्याय के आदि अन्त में छप्पय लिखी जाने लगीं। कुछ लिखने के अनन्तर केवल छप्पयों को ही पढ़ा गया, तो वे परस्पर में सम्बन्धि पायीं गयीं। केवल छप्पय ही छप्पय पढ़ते जाओ तो सम्पूर्ण कथा का क्रम लग जायगा। सम्पूर्ण अध्याय का सार उन दो छप्पयों में भली प्रकार आ जाता था। अब तक इसके लिये कुछ प्रयास नहीं किया गया था, उधर ध्यान भी नहीं दिया था। जब देखा यह तो एक स्वतन्त्र नया ग्रन्थ ही अपने आप बन रहा है, तो इधर ध्यान भी आकर्षित होने लगा और इस बात की सतर्कता बरती जाने लगी कि छप्पय सब क्रम बद्ध हों। इस प्रकार बिना प्रयास के स्वतः ही यह भाषा छन्दों में भागवत बनने लगी।

छप्पय ब्रज भाषा की विशिष्ट छन्द है, अन्य भाषाओं में भी छप्पय छन्द लिखी जाती हैं। चार पद रोला छन्द के दो

पद उल्लाला छंद के—इस प्रकार छै पद मिलने से छप्पय छन्द हो जाता है। रोला और उल्लाला ये दो छन्द पृथक् पृथक् भी लिखे जाते हैं दोनों मिलने पर छप्पय कहलाते हैं। व्रज भाषा के अनेक कवियों ने छप्पय छन्दों में ही काव्य किया है। परम भगवत् भक्त श्रीनाभाजी की 'भक्त माल' छप्पय छन्दों में ही है। परम रसिक नन्ददास जी की रासपंचाध्यायी रोला छन्दों में है।

इनके अतिरिक्त श्रीभगवत्‌रसिक, सहचरीशरण तथा प्रायः सभी व्रज के रसिकों ने इस छप्पय छन्द को अपनाया है। व्रज रस की यह सिद्ध छन्द है और सभी राग रागनियों में यह उत्तमता के साथ गाई जा सकती है। भागवती कथा तो हिन्दी में लिखी जाने लगी और भागवत सार इन छप्पयों में व्रज भाषा में लिखा जाने लगा। भाषा में तो समय समय पर परिवर्तन होता ही रहता है। इसी नियमानुसार प्राचीनव्रज-भाषा से इसमें कुछ भिन्नता स्वाभाविक ही है और आवश्यकता-नुसार, अन्य प्रान्तीय बोलियों के शब्द भी इसमें आ ही गये हैं।

छपाई की कथा

जब भागवती कथा के १५।२० अङ्क निकल गये और दशमस्कन्ध की लीलायें लिख गयीं, तब इच्छा हुई कि समस्त छप्पयों को संग्रह करके नित्य पाठ के लिए इसे पृथक् छपा दिया जाय, किन्तु यह कार्य था द्रव्यसाध्य। भागवती कथा का ही कार्य अत्यन्त संकोच से मन्थर गति से हो रहा है, यह कैसे हो। फिर सोचा—'जिनका काम है, वे स्वयं ही कुछ प्रबन्ध करेंगे। इससे सन्तोष करके बैठ गये। जीवन में भगवान् का अवलम्ब कितना भारी अवलम्ब है। जीव जितनी चिन्ता करता है, भगवान् को भूलकर ही करता है। जिसे

जितना ही अपने कर्तृत्वका अभिमान होगा उसे उतनी ही अधिक चिन्ता होगी। जो सब काम में भगवान का हाथ देखते हैं, वे बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर भी चिन्तित नहीं होते। हम जब भगवान् की महत्ता को बिसारकर अपने को ही कर्ता मान लेते हैं तभी हमें चिन्ता होती है। इसी लिये भगवान् हमें अभावका दिग्दर्शन कराके पुनः पुनः सचेत करते रहते हैं। यह उनकी परम अनुग्रह है। यदि वे हमें अभाव के दर्शन न करावें, तो हम श्रीमदान्ध होकर उन्हें भूल जायँ। इसीलिये जिन्हें अपनाते हैं उन्हें स्वयं ही निष्किञ्चन बना लेते हैं। भगवान् किस प्रकार छोटी छोटी बातों का भी स्वयं ध्यान रखते हैं, इसके जीवन में अनन्त अनुभव हैं, उन्हीं कृपाकी बातों का स्मरणकर करके तो हम जी रहे हैं, उनका विज्ञापन करना उनके महत्व को घटाना है, किन्तु भागवत चरित के सम्बन्ध में जो उन्होंने पग पगपर अपनी कृपा दिखायी है उसका तो विज्ञापन करना ही है, उसमें आत्मप्रशंसा हो पाप हो, पुण्य हो सबका फल उन्हीं के श्रीचरणों में समर्पित है।

हाँ, तो छप्पयों का संग्रह मिश्रजी करते गये। उसी समय एक व्यक्ति ने हमें ८।९ रिम कागद भेज दिया। वैसे ही स्वतः ही बिना किसी सूचना के इसे हमने भगवत् आज्ञा ही समझी। चार पाँच फरमे छाप डाले। कागद बड़ा सुन्दर था। दो फरमे सुन्दर छपे फिर कुछ संशोधन की भी ढील रही ३।४ फरमे अशुद्ध भी छप गये। कागद चुक गया। छपाई का काम बन्द हो गया और लगभग एक वर्ष बन्द पड़ा रहा। हमने सोच लिया अभी इसके प्रकाशन का समय नहीं आया।

जीव जब तक चिन्ता करता है तब तक भगवान् निश्चित होकर बैठे बैठे हँसते रहते हैं। जब जीव अपनी चिन्ता छोड़कर निश्चिन्त हो जाता है तब—भगवान् को चिन्ता व्यापती है। यह रॉड़ चिन्ता भगवान् को भी नहीं छोड़ती। अब आप जानते ही हैं अपना जीवन चरित्र छपाना तो सभी को अच्छा लगता है। "स्तोत्रं कस्य न रोचते" अपनी स्तुति किसे प्यारी नहीं लगती। श्रीकृष्ण को भी अपना चरित छपाने की चटपटी लगी वे किसी के सिर पर सवार हुए। उसने छापना आरम्भकर दिया। कहते हैं जिनके ऊपर सवार हुए उन्हें भगवान् ने प्रत्यक्ष दर्शन दिये। अब दर्शन दिये या न दिये इसे तो भगवान् जाने या वे जाने हम तो सुनी सुनाई बात कहते हैं। भगवान् के यहाँ कोई नियम विधि विधान तो है ही नहीं कि इतना जप करो इतना तप करो तो दर्शन हो ही जायेंगे। उन्हें दर्शन न देना हो लाखों वर्ष के जपतप से भी नहीं देते। देना हो तो एक गाली से रीझ जाते हैं। अस्तु यह विवेचन तो बड़ा है इस पर तो कभी फिर स्वतन्त्र विचार होगा, यहाँ तो मुझे भागवत चरितका संक्षिप्त इतिहास सुनाना है। कहने का सार यही कि भगवान् ने छपाई, कागद आदि का प्रबन्ध स्वतः ही कर दिया मुझे इसके लिये कुछ भी प्रयास न करना पड़ा। पुस्तक छप गयी। हमें कितना हर्ष हुआ इसे शब्दों में हम व्यक्त नहीं कर सकते।

अब तक ६०।७० पुस्तकें मेरे नाम से छप चुकी होंगी और अधिक भी हों, किन्तु जितनी प्रसन्नता इस "भागवतचरित" के छपने पर हुई उतनी स्यात् ही किसी पर हुई हो। हमें ऐसी अन्तः प्रेरणा हुई मानों यह श्रीमद्भागवत् का भाषा में पुनः अवतरण हुआ। इसलिये इस ग्रन्थ को

बहुमानपुरस्सर प्रतिष्ठानपुर लाया जाय; इसलिये इसके उपलक्ष में एक महोत्सव मनाया जाय। हाँ, महोत्सव मनाने के पूर्व एक और भी विचित्र दैवी घटना घटित हो गयी। उससे इस ग्रन्थ का माहात्म्य सभी को प्रकट हो गया। उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। नयी विचारधारा के लोग तो इस पर विश्वास संभवतया न करें, किन्तु वे न करें जो घटना हुई है उसे तो बता देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

श्रीभागवतचरित सप्ताह श्रवण से प्रेतमुक्ति।

भागवतचरित अभी पूरा छपा नहीं था, किन्तु कम्पोज हो गया था। इसके अंतिमप्रूफ आ रहे थे, एक दिन नित्य नियमानुसार मैं त्रिवेणी के बीच में स्नान करके नौका में चढ़ रहा था, कि उसी समय दो लड़के मेरे पास आये। उनमें एक की अवस्था १८, २० की होगी दूसरे की २४, २५ की छोटा कुछ सबल लम्बा हृष्ट पुष्ट और नवशिक्षित प्रतीत होता था, बड़ा लड़का ठिगना सरल पुराने विचार का था। वह एक सफेद कुर्ता सफेद टोपी और सफेद धोती पहिने था। कंठ में तुलसी की माला पड़ी थी, आँखें कुछ चढ़ी हुई थीं, मुख मंडल पर विषण्णता छायी थी, दोनों ने ही आकर मेरे पैर छूए।

मैंने अपने स्वभावानुसार हँसते हुए पूछा—"कहो, भैया! कैसे आये?"

उनमें से बड़ा बोला—"महाराज! हम आपके दर्शनों के लिये आये हैं।"

मैंने कहा—"तुम मुझे कैसे जानते हो, तुमने मेरा नाम किससे सुना है।"

उसने कहा—"महाराजा ! मैं आपका नाम बहुत दिन से सुनता हूँ, आपके लेख आपकी पुस्तकें भी पढ़ीं। बहुत दिनों से आपके दर्शनों की इच्छा थी, संयोग की बात अभी तक हो नहीं सके। इस समय एक प्रेतराज हमें आपके पास ले आये हैं।"

प्रेतराज का नाम सुनकर मैं चौंक पड़ा। प्रायः ऐसे लोग मेरे यहाँ अधिक आते हैं। कोई भगवान् के दर्शनों की या ऐसे ही भूत प्रेत की अलौकिक घटना सुनाता है, तो मैं सब काम छोड़कर उस बात को बड़े चाव से सुनता हूँ। कुछ लोग झूठी भी बातें सुनाते होंगे, कुछ सच्ची भी किन्तु जो अचिन्त्य भाव हैं उन्हें तर्क की कसौटी पर खरा खोटा नहीं बताया जा सकता। लोग बड़ी बड़ी विचित्र विचित्र बातें बताते हैं। हाँ, तो इनकी बातें सुनने को भी मैं बड़ा उत्सुक हुआ। मैंने पूजा पाठ बन्द कर दिया और कहा प्रेतराज तुम्हें यहाँ कैसे ले आया, यह सब वृतान्त मुझे सुनाओ।"

इस पर उसने कुछ वृतान्त मुझे वहाँ सुनाया कुछ आश्रम में आकर सुनाया, सबका सार मैं यहाँ पाठकों को बताता हूँ।

उसने बताया—मैनपुरी जिले में भदान नामक एक गाँव है डाकखाना भदान में ही है। हम जाति के सनाढ्य ब्राह्मण हैं। मेरा नाम रामसेवक शर्मा है। पिता का नाम पं० दर्शीलाल शर्मा है। हमारे पिता (पं० दर्शी लाल) पं० मदनमोहनजी की गोदी गये। मदनमोहनजी की स्त्री का नाम गौरीदेवी था। उनके कोई संतान नहीं थी। १८ वर्ष की अवस्था में मदनमोहनजी का देहांत हुआ। उनकी सम्पत्ति के अधिकारी हमारे पिता हुए। हमारे पितामह पं० मदन

मोहन जी की अकाल मृत्यु हुई। किसी भी कारण से वे प्रेत हुए। पहिले पहिल वे हमारे माता के ऊपर आये। हमारे पिता (दर्शी लाल) भूत प्रेत आदि को नहीं मानते हैं, अतः उन्होंने इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। कुछ काल के अनन्तर जब मेरी अवस्था १२ १४ वर्ष की थी एक दिन सहसा उन प्रेतराज (हमारे बाबा) का मेरे ऊपर आवेश हुआ। मैं अपने पिता का कभी नाम नहीं लेता था, किन्तु जब मुझ पर उन प्रेतराज का आवेश हो गया तो मैं अपने पिता का आधा नाम लेकर बोला—"तू मेरे उद्धार का उपाय कर नहीं मैं तेरा सर्वनाश कर दूँगा। मेरे निमित्त भागवत सप्ताह करा।" किन्तु हमारे पिता तो भूत प्रेत को मनाते ही नहीं थे। उन्होंने कह दिया—"मुझे इन बातों पर तनिक भी विश्वास नहीं।"

अब तो उन प्रेतराज का समय समय पर आवेश होने लगा। उस समय मुझे शरीर का तनिक भी भान न रहता। जब आवेश उतर जाता तब शरीर की सुधि आती। उस समय मैंने क्या कहा इसका भी मुझे स्मरण नहीं रहता। कोई इसे मृगी बताते कोई हृदय की दुर्बलता, किन्तु मैं स्पष्ट जानता था कि यह प्रेत का आवेश है। इसी आवेश में एक बार मैं गङ्गा किनारे किनारे राजघाट नरौरा के पास नरवर पाठशाला में चला गया और वहाँ के अध्यक्ष पं० जीवन दत्त जी ब्रह्मचारीजी की सेवा में कुछ दिन रहा। मैंने अपनी दयनीय दशा उन्हें सुनायी और प्रेतराज की श्रीमद्भागवत के सप्ताह की आज्ञा सुनायी। सब सुनकर ब्रह्मचारीजी ने कहा—"यहीं भागवत का सप्ताह कराओ। प्रेत के निमित्त सप्ताह तो कराना ही चाहिये।" किन्तु ऐसा

हुआ कि सप्ताह हो ही नहीं सका, वहीं मुझे नरौरा ग्राम के श्री अग्निहोत्री जी महाराज के दर्शन हुए। अग्निहोत्री जी के दो पुत्र हैं। अमृत लाल शास्त्री बड़े और वाचस्पति छोटे। अमृत लाल का विवाह हो चुका था। वाचस्पति क्वारे थे। मेरी एक बहिन दीप शिखा देवी विवाह योग्य थी। संयोग की बात अग्निहोत्री जी से प्रार्थना की गयी उन्होंने हमारी बहिन का सम्बन्ध स्वीकार कर लिया और वाचस्पतिजी के साथ हमारी बहिन का सम्बन्ध हो गया। यह सब हो गया, किन्तु हम प्रेतराज के निमित्त सप्ताह न करा सके। अब तो प्रेत राज का आवेश मेरी बहिन दीप शिखा देवी पर भी वहाँ आने लगा और भाँति भाँति की हानि पहुँचाने लगा। अग्निहोत्री जी भी भूत प्रेत के विरोधी थे, उनका कहना था, कि हमारे यहाँ नित्य अग्निहोत्र होता है यहाँ भूत प्रेतों का क्या काम? हमारी बहिन के जेठ अमृत लाल की स्त्री पर भी आवेश होता और वे प्रेतराज भाँति भाँति की आज्ञा देते। वे बार बार भागवत सप्ताह कराने का आदेश देते किन्तु हमारे पिता किसी प्रकार उसे स्वीकार नहीं करते। हमारी आर्थिक हानि बहुत होने लगी। बहुत सा लेन देन था, वह नष्ट हो गया, चूड़ियों का कारखाना था वह भी समाप्त हो गया, खेती बारी नष्ट होने लगी लगभग ४०।५० हजार की हानि हो गई और मैं तो पागलों की भाँति इधर उधर घूमता ही हूँ, जहाँ वे प्रेतराज ले जाते हैं, वहाँ जाता हूँ।

आज से दो दिन पहिले प्रेतराज का फिर मेरे ऊपर बड़े वेग से आवेश हुआ। उन्होंने मेरे पिता को सम्बोधन करके कहा—"दर्शी! हमने बड़े क्लेश उठाये हैं, तुम लोगों ने हमारे उद्धार का कोई उपाय नहीं किया। अब यदि तू कुछ

करता है, तो कर नहीं मैं इस लड़के को मार डालूँगा पीछे तू इसकी तेरहीं तो करेगा ही। ऐसे ही मेरे लिए कुछ कर दे। मुझे इस योनि में बड़ा कष्ट है।"

फिर इसके पश्चात् उन प्रेतराज ने अपना सब वृत्तान्त बताया कि मैं पूर्व जन्म में बड़ा पंडित था प्रयाग से ८-१० कोश पर सोनापुर नामक मेरा गाँव था, हम दो भाई थे, मेरा नाम अरुणदेव शास्त्री और मेरे भाई का नाम शालिगराम था। मेरे दो लड़के और एक लड़की थी। एक लड़का तो तू (सेवकराम) है। दूसरा लड़का (नरवर के याज्ञिकजी का बड़ा लड़का सेवकराम की बहिन का जेठ) अमृत लाल था। और लड़की सेवकराम की बहिन है। मैंने बहुत धन पैदा किया, किन्तु कुछ भी सुकृत मुझसे नहीं हो सका तब मेरा जन्म मैंनपुरी के भदान गाँव में हुआ। मेरे पास धन तो बहुत था, किन्तु उससे मैंने कुछ पुण्य-कर्म नहीं किया। वहाँ मेरी अकाल मृत्यु हुई और मुझे यह प्रेत योनि प्राप्त हुई। इसमें मैं जलता रहता हूँ। अपने आप मैं कोई शुभ कर्म नहीं कर सकता। मेरे ऊपर बड़ा शासन रहता है। प्यास लगती है पानी नहीं पी सकता। हम परिवार वालों से ही आशा रखते हैं, वे कुछ हमारे लिये पुण्य करें तो मिल जाय, हमारा रूप बड़ा भयङ्कर है हम दूसरों का अनिष्ट तो कर ही सकते हैं। मैं कब से कह रहा हूँ, मेरे लिये भागवत सप्ताह करा दो। इससे मेरा उद्धार हो जायगा। तुम स्वयं नहीं करा सकते, तो मेरे साथ प्रयाग चलो। मैं अपने सप्ताह का सब प्रबन्ध करा लूँगा।"

उस लड़के सेवकराम ने मुझसे कहा—"सो, महाराज! वे प्रेतराज ही मुझे यहाँ आपके पास ले आये हैं। हमारे

पिता तो अब भी नहीं मानते थे। यह मेरा छोटा भाई है। आगरा कालेज में पढ़ता है इसने कहा—"मैं आपके साथ प्रयाग चलूँगा, सो यह मेरे साथ आया है। अब आप जैसी आज्ञा दें।"

प्रेत की कथा सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा—"हमारे यहाँ तो वर्ष में कई सप्ताह हो जाते हैं, होते ही रहते हैं, तुम्हारे लिये भी करा देंगे। तुम कोई चिन्ता मत करो। हमारा भागवत चरित छप रहा है, उसकी कथा हम प्रेतराज को सुनवावेंगे और प्रातः मूल संहिता का पाठ करावेंगे।" इतना आश्वासन देकर उन दोनों को मैं आश्रम पर ले आया। यह मार्गशीर्ष के महीने की बात है और कृष्ण पक्ष की। निश्चय हुआ मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष में यहीं सप्ताह हो। प्रातःकाल मूल संहिता पाठ हो सायंकाल को भागवत-चरित की कथा हो।" ऐसा निश्चय होने पर वे दोनों भाई सप्ताह के लिये अपने परिवार वालों को बुलाने अपने गाँव चले गये।

प्रेत योनि पाप का परिणाम है। मनुष्य लोभवश पाप तो कर डालता है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा उसे टोंचती रहती है। मरने पर जीवात्मा तो मरता नहीं। प्रेतयोनि होने पर संस्कार वे ही बने रहते हैं। उस समय सूक्ष्म देह होने से सूक्ष्म से सूक्ष्म वासनायें उभड़ पड़ती हैं और वे बड़ी पीड़ा देती हैं। मेरे पास सभी प्रकार के लोग आते हैं और अपने गुप्त से गुप्त पाप बताते हैं। अभी कल ही एक व्यक्ति आया उसने बताया—महाराज मेरा मन एक स्थान में फँस गया है। मुझे बड़ा कष्ट है मेरी इच्छा पूरी होगी या नहीं?" जब मैंने उसका परिचय पूछा तब उसने बताया मेरी वह एक सम्बन्धिनी है। मैंने उसे बहुत समझाया; अरे! वह तो तेरी

पुत्रीके सदृश है। उसने कहा—"तो आप मेरे मन को फेर दीजिये। जिससे उसका मुझे स्मरण न आवे।"

वह व्यक्ति अत्यन्त अधीर हो रहा था! विवाहित था भले घर का था। उसका शरीर मूर्तिमान वेदना बना हुआ था। उसे कोई शरीरिक कष्ट नहीं था, मानसिक विकार था उसी में घुला जा रहा था। इस समय तो उसमें इतनी सामर्थ्य है, कि बलात्कार भी कर सकता है। वही मरकर यदि प्रेत हो जाय, तो उसकी वासना तो इससे भी अधिक तीव्र होगी, किन्तु वह कुछ कर्म नहीं कर सकेगा। उस समय उसके परिवार वाले उसके निमित्त कुछ पुण्य करें तो वही काम आ सकता है। पुराणों में ऐसी भी बहुत कथाएँ हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध सन्त श्रीविजयकृष्णजी गोस्वामी के जीवनचरित्र में भी एक ऐसी ही कथा का उल्लेख मिलता है; वह इस प्रकार है।

गोस्वामीजी जब वृन्दावन में रहते थे तो प्रायः श्रीवृन्दावनजी की परीक्रमा किया करते थे। एक दिन वे परिक्रमा कर रहे थे, कि उन्हें अपने सम्मुख एक व्यक्ति माला झोली में हाथ डाले जप करता हुआ अपने आगे आगे दिखायी दिया। तनिक वे आगे बढ़े, कि वह नहीं दिखायी दिया। कुछ आगे बढ़कर फिर उसकी छाया दिखायी दी। अब तो वे समझ गये, कि यह कोई प्रेत योनिका व्यक्ति है। आगे चलकर उन्होंने उस पर मन्त्र पढ़कर जल छिड़का और पूछा—"भाई! तुम कौन हो?"

उसने कहा—"महाराज! मैं एक प्रेत हूँ।"

गोस्वामीजी ने पूछा—"भैया! तुम किस पाप के कारण प्रेत हुए?"

उसने कहा—"महाराज ! मैं अमुक मन्दिर में पुजारी था। ठाकुरजी के रुपये चुराकर मैंने अमुक स्थान में गाड़ दिये, इसी से मैं प्रेत हो गया।"

गोस्वामीजी ने कहा—"भैया ! तुम तो भगवन्नामका जप कर रहे हो, श्रीवृन्दावन धामकी परिक्रमा कर रहे हो। एक नाम से अनन्त पाप कट जाते हैं।"

उसने कहा—"महाराज ! थैली में हाथ डालकर जप करते रहना, परिक्रमा करना यह मेरा स्वभाव था। वह स्वभाव मेरा अब भी नहीं छूटा है, इन कामों ने मन को इतना स्पर्श नहीं किया, जितना भगवान् के धन चुराने के पाप ने मन को स्पर्श किया। यदि उस पाप का प्रायश्चित्त हो जाय, तो मेरी प्रेत योनि छूट जाय।"

गोस्वामीजी ने कहा—"भैया ! तुम इसका प्रायश्चित्त भी बताओ, जिससे तुम इस प्रेत योनि से छूट जाओ। मेरे करने योग्य होगा, तो मैं उसका प्रबन्ध करूँगा।"

उसने कहा—"महाराज ! अमुक स्थान पर मेरे रुपये रखे हैं। उन्हें निकलवाकर मेरे निमित्त एक श्रीमद्भागवत का सप्ताह करा दें, साधु ब्राह्मणों का भन्डारा करा दें, तो मैं प्रेत योनि से छूट जाऊँ।"

गोस्वामीजी ने अपने शिष्य सेवकों से कहकर उसके धन से भन्डारा आदि करा दिया, वह प्रेत योनि से छूट गया।"

धनका उपयोग यह नहीं है, कि उसे जोड़ जोड़कर रखा जायँ। इस जन्म में भी सदा जोड़ने में रक्षा करने में कष्ट उठावें और मरकर सर्प होकर उस पर बैठें या प्रेत होकर उसी का चिन्तन करें। हमारी जन्म भूमि के पास में

एक जाटों का बहुत पुराने किले का खेड़ा था। जब हम बहुत छोटे थे, तो सुना करते थे कि दिवाली के दिन उस खेड़े के भीतर से माया चिल्लाती है—"जिसे मुझे लेना हो वह अपना जेठा पुत्र नीला साँड़ एक बोरी उड़द चढ़ा जाओ और मुझे ले जाओ। अपने जेठे पुत्र को और नीले साँड़ को कौन चढ़ावे, इसलिये कोई माया को लेता नहीं है। हमने तो माया की यह बात अपने कानों से सुनी नहीं, किन्तु बड़ों के मुख से ऐसा सुनते आये हैं। यह तो प्रत्यक्ष है, माया सबको नहीं मिलती। बिहार में गदर के नेता कुमारसिंह के यहाँ सुवर्ण मुद्राओं से भरे बहुत—से कलश थे पीछे लोगों ने उन्हें निकालना चाहा तो वे कलश बड़ी तेजी से वहाँ से भागे और वहाँ से कई मील की दूरी पर गङ्गाजी थी उसमें आकर विलीन हो गये। इसी धन से जितना धर्म स्वयं कर ले। पीछे कौन करता है। वासना शेष रह जाती है वे नाना योनियों में कष्ट देती हैं।

हाँ तो मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष में सेवकराम अपने माता पिता, बहिन बूआ बहनोई (वाचस्पति) और अमृतलाल के साथ सप्ताह कराने यहाँ आ गया। सब मिलाकर १० १५ आदमी होंगे। अमृतलाल शास्त्री जो खुरजे के सुप्रसिद्ध व्यापारी सूरजमल बाबूलाल जाटिया के यहाँ पूजा पाठ करते हैं और सेवकराम के बहनोई के बड़े भाई हैं और पूर्व जन्म में जो दोनों सगे भाई थे, उन्होंने ही सप्ताह बाँची। प्रातः काल पाठ करते। सयंकाल को भागवत चरित की कथा करते।

पहिले दिन सेवकराम की बहिन पर प्रेतराज का आवेश हुआ। उन्होंने बताया—"भैया! तुम बहुत अच्छी जगह

आ गये हो महाराजजी के यहाँ मेरा उद्धार हो जायगा। तुम ऐसे ही मुझे सुनाओ।"

सात दिन सप्ताह हुआ। पूर्णिमा के दिन अवभृत स्नान करने त्रिवेणीजी में गये, तो वहाँ त्रिवेणीजी के बीच में ही सेवकराम की माता के ऊपर आवेश हुआ और प्रेतराज ने कहा—"भैया ! तुम लोगों ने मेरा उद्धार कर दिया, मेरी प्रेत योनि से मुक्ति हो गई। अब मैं वैकुन्ठ को जाता हूँ।" यह कहकर वे चले गये।"

यहाँ इस कथा के कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि सर्व-प्रथम (जब तक भगवात चरित पूरा छपा भी नहीं था। केवल प्रूफों से) एक प्रेतराज ने इसे सप्ताह क्रम से सुना और उसकी मुक्ति भी हुई बतायी जाती हैं। प्रयाग जिले का मानचित्र मँगाकर प्रयाग के दक्षिण के गाँव मैंने देखे उनमें सोनपुर या सोनापुर कोई गाँव नहीं मिला। हाँ आनापुर मिला। सम्भव है आनापुर हो आनापुर तो रियासत है और वह प्रायः संगमसे है पश्चिम ही। इस विषय में और कुछ विशेष जान पड़ा तो फिर उसकी सूचना दी जायगी।

हाँ, तो अब आगे का प्रसंग सुनिये। किस प्रकार "भागवत चरित" को बहुमान पुरस्सर प्रतिष्ठानपुर लाया गया।

पौष मास में यह पूर्णग्रन्थ छपकर तैयार हुआ। निश्चय यह हुआ कि माघ कृष्णा पंचमी रविवार को बड़ी धूमधाम से समारोह पूर्वक ग्रन्थ को लाया जाय और संकीर्तन-भवन में इसी निमित्त एक महीने तक 'श्रीभागवत चरित महोत्सव मनाया जाय

"श्रीभागवत—चरित महोत्सव"

उत्सव का नाम सुनते ही आश्रम में तथा नगर में एक प्रकार का अभूत पूर्व उत्साह फैल गया। निश्चय हुआ कि कम से कम सौ मोटरें माँगी जावें और पच्चीस बड़ी लारियाँ। लारियों में प्रयाग नगर की समस्त संकीर्तन मंडलियाँ रहें, उनमें ध्वनि पूरक यन्त्र (लाउडस्पीकर) लगे रहें। मोटरों में विशिष्ट विशिष्ट व्यक्ति बैठे रहें या शोभा के लिये खाली चलें शेष लोग संकीर्तन करते हुए त्रिवेणी तक सवारी को ले चलें। वहाँ सभा होकर झूसी में आकर उस दिन का समारोह समाप्त हो। इसके लिए एक समिति बना दी गयी। पंडित मूलचन्दजी मालवीय उसके अध्यक्ष हुए और लीडर प्रेस के प्रधान व्यवस्थापक श्री बिन्दा प्रसाद जी ठाकुर प्रधान मन्त्री हुए। स्वरूपरानीपार्क (जीरोरोड) पर उद्घाटन समारोह रखा गया। निश्चय यह हुआ कि ब्रह्मावर्त (बिठुर के) सुप्रसिद्ध सन्त श्रीसरकार स्वामी (पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज के) कर कमलों से उद्घाटन कराया जाय।

माघ कृष्ण पंचमी रविवार (सं० २००७) को मध्याह्न के समय कानपुर से ५०। ६० भक्तों के साथ श्रीसरकार स्वामी पधारे। विशिष्ट विशिष्ट व्यक्तियों ने स्टेशन पर उनका स्वागत किया। सम्मान के सहित वे सभा मण्डप में लाये गये। अग्रवाल सेवा समिति के स्वयं सेवकों ने तथा विभिन्न विद्यालयों के छात्रों ने उनके सम्मानार्थ अभिवादन किया और वेद घोष के साथ उन्हें मञ्च पर लीलास्वरूपों के समीप बैठाया गया। उन्हीं के करकमलों द्वारा नवीन भागवत चरित का पूजन हुआ। जिस वेदपाठी ब्राह्मण सस्वर वेदपाठ कर रहे थे, उस साकार रूप में दृष्टिगोचर होता था जनता की

अपार भीड़ थी। पूजन के अनन्तर सरकार स्वामी ने कुछ काल कीर्तन किया. फिर होने लगी सवारी की तैयारी।

सवारी

कितनी लारियाँ थीं, कितनी मोटरें थीं इसकी गणना करने का अवसर किसे था। श्रीगजाधर प्रसाद भार्गव, मालवीयजी, रामकृष्णशास्त्रीजी, ठाकुर साहब तथा अन्य महानुभाव लारियों में मण्डलियों को बिठा रहे थे। एक ओर लारियों का तांता लगा था, एक ओर दूर तक मोटरें ही मोटरें खड़ी थीं। एक मोटर पर श्रीभागवत चरित की सवारी थी। आगे आगे हम सब लोग संकीर्तन करते हुए चल रहे थे। पीछे लारियों में समस्त मंडलियाँ अपनी अपनी ध्वनि में संकीर्तन कर रही थीं। सम्पूर्ण शहर के नर नारी उमड़ पड़े थे। उस समय सर्वत्र शान्ति का वातावरण छा गया था। अटा, अटारियों, ओखा, मोखा, झरोखा, सभी में से नारियाँ निहार रही थीं। संकीर्तन की तुमुल ध्वनि वायु मण्डल में व्याप्त होकर समस्त अशुभों का निराकरण कर रही थी। उस समय का दृश्य अभूतपूर्व था। सभी लोग कह रहे थे। इतना बड़ा धार्मिक जुलूस आज तक नहीं निकला। सड़क पर मीलों लम्बी मोटर लारियों तथा स्त्री पुरुषों की भीड़ ही भीड़ दिखायी देती थी। बड़े बड़े रईस उनकी स्त्रियाँ सब आनन्द में विभोर हुए, संकीर्तन के प्रवाह में बहे हुए पैदल ही चल रहे थे। इसके कुछ दिन पूर्व ही मेरा पैर टूट गया था, किन्तु मुझे पैर की सुधि ही नहीं थी। सर्वप्रथम इतना पैदल चला था। इस प्रकार नगर कीर्तन

होता हुआ संकीर्तन दल त्रिवेणी बाँधपर आया। वहाँ जैसा अपूर्व दृश्य हुआ उसे वर्णन करने की लेखनी में शक्ति नहीं। उसका अनुभव तो देखने से ही हो सकता था।

अपूर्व सम्मिलन

जब सवारी बाँध से नीचे उतरी तो खाक चौ
बैरागी वैष्णव अपने झंडी निशानों को लेकर सवारी का स्वागत करने आये। अहा! यह कैसी अपूर्व छटा थी। सैकड़ों महात्मागण जटा बाँधे सम्पूर्ण शरीर पर भस्म लगाये, जय सियाराम, जय सियाराम का, सुललित कीर्तन करते हुए गाजे बाजे के साथ उधर से आये। इधर से नगर के समस्त नर नारी कीर्तन करते हुए पहुँचे। गङ्गा यमुना का-सा संगम हो गया। भरत मिलाप का दृश्य प्रत्यक्ष दिखायी देने लगा। मेरे नेत्रों में जलभर आया। भूमि में लोटकर झंडे निशान तथा समस्त सन्त मन्डली को साष्टांग प्रणाम किया। सम्पूर्ण मेला बटुर आया था। कुंभका-सा दृश्य हो गया। बिना ठेले कोई निकल ही नहीं सकता था। सन्तोंको आगे करके सवारी संगम की ओर बढ़ी। आगे चलकर देखा पन्डाल खचाखच भरा है अतः सबको साथ लेकर सीधे संगम गये। वहाँ माधव जी का पूजन किया। भागवत चरित संगमराज को अर्पण किया। लौट कर पन्डाल में आये। महामहोपाध्याय पं० उमेश मिश्र मालवीय जी- स्वामी चक्रपाणीजी तथा भक्तमालीजी आदि के भाषण हुए। सभा समाप्त होनेपर सब झूसी आये इस प्रकार बड़े सम्मानके साथ हम माघ कृष्णपञ्चमी के दिन श्री भागवत चरित को झूसी लाये।

पाक्षिक पारायण

माघ भर "श्रीभागवत चरित महोत्सव" मनाया गया। श्री सरकार स्वामी एक महीने संकीर्तन भवन में अपने कुछ शिष्यों तथा भक्तों के सहित विराजे। नित्य ही आप विनय पत्रिका की सरस सङ्गीतमय कथा कहते। उसी समय पं० कृष्णकुमारजी मिश्र ने बाजे तबले पर श्री भागवत चरित का पाक्षिक पारायण किया। जो सभी लोगों को अत्यन्त रुचिकर हुआ।

एकाह पारायण

कुछ बच्चियों ने मिलकर माघ की एकादशी के दिन भागवत चरित, का अखन्ड एकाह पाठ किया! एक दिन में पारी पारी से सभी ने उसे समाप्त किया। उसमें बीस घन्टे के लगभग लगे। अब वे प्रायः प्रत्येक एकादशी को अखन्ड एकाह पाठ करती हैं, जिसमें १८-१९ घन्टे लगते हैं।

श्रीत्रिवेंणी जी में सप्ताह पाठ

जब श्रीद्वारका जाने का संकल्प उठा और न जा सके तभी संकल्प किया था, कि त्रिवेंणीजी को श्री भागवत सप्ताह सुनाया जाय। जब भागवत चरित छपने लगा तब सोचा छप जानेपर भागवत चरित को भी त्रिवेंणीजी को सुनाना है। जब माघ में छप गया और भागवत चरित भी समाप्त हो गया, तब फाल्गुन शुक्लपक्ष में त्रिवेंणी को सुनाने का निश्चय हुआ। पहिले विचार यह था, कि जो सात दिन तक केवल जलपर रहकर त्रिवेंणीजी के बीच में सप्ताह सुने उसी-को सम्मिलित किया जाय, अन्य किसी को नहीं। इसकी

सूचना किसी को भी नहीं दी गयी और बहुत निजी रूप से सुनने का निश्चय हुआ। पीछे यह भी छूट देदी गयी, कि दिन भर कुछ न खाकर जो रात्रि में फलाहार पर रहें वे भी सुनें। पहिले दो दिन तो १०। १२ आदमी ही सम्मिलित हुए। बीच त्रिवैंणी में चौकियाँ लगाकर नौका के ऊपर फाल्गुन शुक्ला सप्तमी से आरम्भ हुआ। प्रातःकाल पं० व्रजकिशोरजी मिश्र संहिता करते और मध्याह्नोत्तर उनके बड़े भाई पं० कृष्ण-कुमार मिश्र बाजे तबलेपर 'श्रीभागवत चरित' का पाठ करते। शनैः शनैः लोगों को पता लगने लगा और अन्त के ३ – ४ दिन तो बड़ी भीड़ हो गयी। चतुर्दशी के दिन रात्रि को बारह बजे बिना किसी बिघ्न बाधा के सप्ताह समाप्त हुआ। त्रिवैंणी के बीच में निराहार रहकर एकाग्र चित्त से सप्ताह सुनने में जो आनन्द आया उसे सुननेवाले ही जानते हैं। दूसरे उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। इस प्रकार श्री त्रिवैंणीजी ने भी श्रीभागवत चरित के सप्ताह को उल्लास के साथ श्रवण किया। श्रोताओंपर श्रीत्रिवैंणीजी ने कितनी कृपा प्रदर्शित की, किस प्रकार सात दिन अपनी अनुग्रह का वरद हस्त रखकर पालन पोषण अनुप्रीणन तथा लालन किया, ये सब कहने की बातें नहीं।

इस प्रकार इस ग्रन्थ का एकाह, सप्ताह तथा पाक्षिक पाठ हुए। बहुत से लोग नित्य नियम से सप्ताह पाक्षिक तथा मासिक पाठ करने लगे हैं। इस प्रकार मेरी पुरानी इच्छा तो पूर्ण हुई अब इसे सर्व साधारण जनता अपनाती है या नहीं, यह बात तो भविष्य के गर्भ में छिपी है,

इसे तो वे ही भगवान् जान सकते हैं, जिनका यह चरित है। मानवबुद्धि क्षुद्र है, सीमित है, वह तो थोड़े को बहुत समझ लेता है और बहुत को थोड़ा। भगवान् का दास जिसमें अपना हित समझता है, यदि उसमें उसका हित नहीं होता, तो भगवान् उसे वह वस्तु नहीं देते। जिसमें दास का हित और उसे वह अहितकर भी प्रतीत हो तो भगवान् उसे देते हैं। भगवान् अपने दासों की सदा सुधि रखते हैं। इसलिये हे प्रभो! मेरा जिसमें हित हो वही करें। मैं मान प्रतिष्ठा और नाम के चक्कर में फँसकर तुम्हें न भूल जाऊ। जो भी कर्म करूँ तुम्हारी प्रीति के लिये ही करूँ। भागवत चरित में जो भी मेरा अनुभाव हो उसे भी आप लेलें। मैं देना भी न चाहूँ तो बल-पूर्वक छीन लें। इस प्रकार यह भूमिका तो समाप्त हो गयी, किन्तु बिना एक चटपटी कहानी के इति करदूँ तो मेरे पाठक असन्तुष्ट होंगे, इसलिये एक कहानी कहकर इस भूमिका को समाप्त करूँगा।

बहुत पुरानी बात है अयोध्या नगरी में एक अम्बरीष नाम के राजा रहते थे। ये अम्बरीष एकादशीवाले राजा अम्बरीष से पृथक् थे। वे तो यमुना किनारे के राजा थे। ये अयोध्या के राजा थे। इनकी एक अत्यन्त ही सुन्दरी कन्या थी। उसका नाम था श्रीमती। उस समय संसार में श्रीमती के सौंदर्य की सर्वत्र ख्याति थी। एक दिन श्रीनारदजी और पर्वत मुनि अयोध्या के राजा के समीप आये। श्रीमती

के सौंदर्य को देखकर दोनों ही मुनि मन्त्रमुग्ध-से बन गये। दोनों की ही इच्छा उससे विवाह करने की हुई। शीघ्रता से नारद मुनि ने राजा से कहा—"राजन! आपकी यह कन्या जैसी ही गुणवती है, वैसी ही रूपवती है। इसके हस्त की रेखायें साक्षात् लक्ष्मी के सदृश हैं। आप इस कन्या का विवाह मेरे साथ कर दीजिये।"

राजा कुछ कहना ही चाहते थे, कि बीच में ही बात काटकर पर्वत मुनि बोले—"राजन्! आप पहिले मेरी भी बात सुनलें। सबसे पहिले मैंने आपकी कन्या को मन से वरण कर लिया था, अतः मैं इसका प्रथम अधिकारी हूँ, इसलिये मेरे साथ इसका विवाह कर दें।"

दोनों तेजस्वी तपस्वी मुनियों की बात सुनकर राजा बड़े असमञ्जस में पड़े। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—"मुनियो, मैं आप दोनों का सेवक हूँ, कन्या मेरे पास एक ही है, आप याचना करने वाले दो हैं। दोनों ही मेरे पूज्य हैं। आप दोनों मिलकर निर्णय करलें, मैं किसे कन्या दूँ।"

इसपर दोनों मुनियों ने कहा—"राजन्! हम तो दोनों अर्थी हैं। हम दोनों ही इसपर तुले हुए हैं, कि यह कन्यारत्न हमें मिले। हम दोनों कैसे निर्णय कर सकते हैं। आप राजा हैं, आप ही हम-में से किसी को दे दें।"

राजा ने कहा—"अच्छा, मैं एक को दे दूँ तो आप दूसरे बुरा तो न मानेंगे?"

पर्वत मुनि ने कहा—"राजन्! यदि तुमने नारद को अपनी कन्या दी, तो मैं अभी आपको घोर शाप दे दूँगा।"

इसपर नारदजी भी बोले—"महाराज! यदि आपने पर्वत को अपनी कन्या दी तो मैं भी आपको शाप दूँगा।"

राजा ने कहा—"तब महाराज ! मैं आपमें से किसी एक को कैसे कन्या दूँ ? हाँ, अच्छा एक बात है। मेरी कन्या युवती है उसे भले बुरे का विवेक है आप दोनों में से वह जिसे वरण करले उसी को मैं उसे दे दूँगा।"

इस बात पर दोनों मुनि सहमत हो गये। एक तिथि निश्चित हुई कि अमुक दिन कन्या जिसे वरण करले उसी के साथ उसका विवाह हो। इस निर्णय से ही प्रसन्न होकर चले गये।"

जब मनुष्य का किसी वस्तु में अत्यन्त अभिनिवेश हो जाता है। तो उसे प्राप्त करने के लिये वह उचित अनुचित सभी उपायों को करता है। वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है। नारदजी ने सोचा—"कन्या ने यदि मुझे वरण न किया, तो कन्या से तो मैं वञ्चित हो ही जाऊँगा, संसार में मेरी बड़ी हँसी होगी। इसलिये ऐसा पक्का उपाय कर लेना चाहिये, कि पर्वत मुनि को कन्या वरण ही न करे विष्णु भगवान् सर्व समर्थ हैं। उनकी मेरे ऊपर कृपा भी बहुत है, उनसे यदि सहायता ले ली जाय, तब तो मेरी विजय निश्चित ही है।" यही सब सोचकर वे चुपचाप वैकुण्ठ की ओर चल दिये।

भगवान् विष्णु सबके साथ सभा में विराजमान थे। नारदजी ने जाकर लम्बी डन्डौत झुकाई।

नारदजी को देखते ही हँसते हुए भगवान् बोले—"आइये ! नारदजी ! आइये। कहिये कहाँ कहाँ से आये ? क्या समाचार हैं संसार के ? कोई नयी बात हो तो बताइये।"

नारदजी ने संकोच के स्वर में कहा—"नयी तो महाराज ! कुछ बात नहीं है। मैं आपके चरणों में एक निवेदन करना

चाहता हूँ ।"

भगवान् ने उल्लास के साथ कहा—"हाँ हाँ, कहिये, क्या बात है ? जो आपको कहना हो निःसंकोच कहिये ।"

नारदजी ने कहा महाराज गुप्त बात है तनिक एकान्त में पधारें तो निवेदन करूँ ।"

भगवान् ने कहा—"हम यहीं एकान्त किये देते हैं ।" यह कहकर लक्ष्मीजी को भीतर जाने को कह दिया और लोगों को बाहर जाने की आज्ञा दे दी । लक्ष्मीजी मुस्कराती हुईं कड़े छड़े और नूपुरों को झनझनाती हुईं छम्म छम्म करके भीतर घुस गयीं ।

एकान्त हो जाने पर नारदजी ने आदि से अन्त तक सब समाचार सुनाकर प्रार्थना की "भगवान् ! मैं चाहता यह हूँ, कि पर्वत मुनि का मुख आप बन्दर का कर दें ।" यह सुनकर भगवान् ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"मुनिवर ! हम आपके हित का काम अवश्य करेंगे पर्वत मुनि का मुख बन्दर का अवश्य हो जायगा ।" यह सुनकर नारद मुनि प्रसन्न हुए चले गये ।

पर्वत मुनि को या तो किसी गुप्तचर से समाचार मिल गया या उनके मन में भी चटपटी लग रही थी, इसीलिये वे भी अपनी शिफारिस कराने वैकुंठ को चल दिये । एकान्त में जाकर उन्होंने भी भगवान् से सब बात कह दी और प्रार्थना की "आप नारदजी का मुख लंगूरका-सा बना दें ।" यह सुनकर हँसते हुए भगवान् ने कहा—"मुनिवर, जिसमें आपका कल्याण होगा, उसको हम अवश्य करेंगे, नारद का मुख लंगूरका-सा हो जायगा ।" यह सुनकर पर्वत मुनि भी प्रसन्नता प्रकट करते हुए प्रस्थान कर गये ।

नियत तिथि पर दोनों मुनि राजा के यहाँ पहुँचे। राज-सभा में दोनों जाकर ठाठ बाठ से बैठे। सोलहू शृंगार करके हाथ में जयमाल लेकर राजकुमारी आयी। राजा ने कहा—"बेटी! ये दोनों मुनीश्वर बैठे हैं। दोनों ही बड़े तेजस्वी तपस्वी हैं, तू इनमें से किसी एक को वरण कर ले। यह सुनकर कन्या आगे बढ़ी वह भयभीत होकर वहीं की वहीं खड़ी रह गयी।

राजा ने बार बार कहा—"बेटी! इन दोनों मुनियों में से एक को वरण कर ले।" तब कन्या ने लजाते हुए कहा—"पिताजी यहाँ मुनि कहाँ हैं। एक तो बन्दर है एक लंगूर है, इन दोनों के बीच में एक बड़े सुन्दर पुरुष बैठे हैं।"

इतना सुनते ही नारद और पर्वत दोनों ही समझ गये, भगवान् ने हमारे साथ छल किया। तुरन्त पर्वत मुनि बोले—"कुमारी! वह पुरुष कैसा है?"

राजकुमारी ने कहा—"वह पुरुष नीलवर्ण का है।"

पर्वत मुनि ने पूछा—"उसके हाथ में क्या है?"

कन्या ने कहा—"उनके कमल के समान हाथ में धनुष-बाण है। गले में सुन्दर घुटुटनों तक लटकती हुई माल पहिने हैं।"

राजा ने कहा—"तुझे यदि वे अच्छे लगें तो उन्हें ही तू माला पहिना दे।"

इतना सुनते ही लड़की ने उनके कंठ में माला डाल दी वे उस कन्या को लेकर चले गये। अब तो नारद और पर्वत दोनों ही मिल गये। दोनों निराश और पराजित हो चुके थे। दोनों ही भगवान् के पास क्रोध में भरकर पहुँचे और बोले—"क्यों महाराज! आपने हमारे साथ छल किया?"

भगवान् ने कहा—"कैसा छल ? मुनियो ! मैं तो कुछ जानता नहीं।"

पर्वत बोले—"आपने हम दोनों को तो बानर लंगूर बना दिया और हमारे बीच में बैठकर कन्या को उड़ा लाये।"

भगवान् ने कहा—"मुझे कन्या से क्या काम ? मेरे पास तो लक्ष्मी है ही। उस बीच के पुरुष के हाथ में क्या था ?"

पर्वत बोले—"उसके हाथ मे धनुष बाण था।"

भगवान् ने कहा—"तब बताइये मैं कैसे हो सकता हूँ, मेरा नाम तो चक्री है, मैं तो सब समय शंख, चक्र, गदा, और पद्म इनको धारण किये रहता हूँ। वह कोई और पुरुष होगा।"

यह सुनकर दोनों मुनि राजा को शाप देने चले, वहाँ तेज पुञ्ज होकर भगवान् ने राजा की भी रक्षा की कहानी बड़ी है। सारांश इतना ही है, कि भगवान अपने दासों का सदा हित ही करते रहते हैं, वे यदि किसी प्रलोभन में फँस भी जाते हैं, तो अपनी कृपा से श्रीहरि उन्हें निवारण कर देते हैं, मेरे मन में अपने महत्व को प्रकाशित करने, अपनी मान प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये अपना नाम करने के लिये ईर्ष्यावश दूसरों को नीचा दिखाने के भाव उदित हों, दूसरों की कीर्ति को लोभ करने की मनसे भी भावना हो तो हे भवभयहारी भगवान उसे जड़ मूल से मेट दो। "भागवत चरित" आपकी ही प्रेरणा और भावना का फल है। उसमें मेरा कभी अपनापन हो भी जाय, तो तुम जैसे चाहो, वैसे उसे मिटा देना। भला ! मेरे मन में अहंकार के वृक्ष को बहुत बढ़ने न देना अच्छा ! तुम्हारा चिन्तन करूँ तुम्हारे सम्बन्ध में लिखूँ और तुम्हारे ही चारु चरितों का गायन करूँ ऐसा

आशीर्वाद आप दें। ऐसा अनुग्रह इस अधम पर करें। अधिक क्या! शुभं भूयात्?

हे देवेश्वर! दयित! दयानिधि! दाता! दानी!
है सेवक प्रभुदत्त अल्प मति अवगुनखानी॥
धन, जन, वैभव, राज, विषय सुख नाथ! न चाहूँ।
पद पद्मनि की भक्ति जनम जनमनि में पाऊँ॥
का कहिकें बिनती करूँ, अश अकिञ्चन दीन हूँ।
कृपा प्रतिज्ञा करि रह्यो, सब विधि साधन हीन हूँ॥

संकीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर
(प्रयाग)
चैत्र-कृ० ४।२००७ वि.

प्रभु

बुभुक्षित ग्वाल बाल

(९४१)

राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथः ॥*
(श्री भा० १० स्क० २३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

कहैं सखनि तें श्याम वृक्ष ये अति उपकारी ।
घाम, वायु, जल सहहिं करहिं परहित नित भारी ॥
सबहीं इनकी वस्तु काम सबके हीं आवें ।
इनदिग अरथी आइ विमुख कबहूँ नहिं जावें ॥
छाया ईंधन कोयला, पत्र, पुष्प फल मूल दल ।
साधत सबके काज नित, जीवन इनको है सफल ॥

जब तक देह है तब तक देह धर्म भी हैं अन्तर इतना ही है कि जो तदीय हैं प्रपन्न हैं अनन्य भक्त हैं शरणागत हैं आश्रित हैं। उनके सब काम श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ होते हैं। भक्ति मार्ग में पुरुषार्थ को इतना महत्व नहीं दिया गया है यदि कुछ पुरुषार्थ का,

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! भूखे ग्वाल बाल श्री रामकृष्ण के समीप आकर कहने लगे—"हे महापराक्रमी बलरामजी ! हे दुष्टों को दलन करने वाले कृष्ण ! यह भूख हमें बड़ी बाधा पहुँचा रही है, इसको आप दोनों मिलकर शान्त करें ।"

अर्थ है तो यही कि सर्वात्म भाव से हम श्रीहरि को ही अपना सर्वस्व समझें। यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। भगवद्भक्त को भूख, प्यास, सरदी, गरमी आधि व्याधि तथा और भी किसी प्रकार की चिन्ता होती है, तो उसे भगवान् के ही सम्मुख निवेदन कर देता है। जाड़ा तो संसारी लोगों को भी लगता है भक्त को भी लगता है। संसारी लोग इसके लिये रात दिन सोचते हैं, उद्योग करते हैं, रजाई या कम्बल प्राप्त होने पर सबसे कहते हैं—"इसे मैंने बड़े परिश्रम से बनवाया, इस प्रकार मुझे इसके लिये प्रयत्न करना पड़ा दूसरा तो कोई कर ही नहीं सकता।" भक्त को जाड़ा लगा, उसने भगवान् से कह दिया—"तुरन्त कहीं से वस्त्र आ गया, उसे प्रभु प्रसादी समझ कर बारम्बार सिर पर चढ़ाया, भगवान् की कृपालुता को स्मरण करके शरीर रोमाञ्चित हो गया, नेत्रों से अश्रु बहने लगे। यदि नहीं आया, तो मनमें सन्तोष कर लिया—"प्रभु मुझे जाड़े में ठिठुराने में ही मेरा हित समझते हैं, यदि मेरा हित न समझते, तो उनके यहाँ कम्बल रजाइयों की तो कुछ कमी है ही नहीं। वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के नायक हैं। उनसे मेरी कोई शत्रुता हो सो भी बात नहीं वे मेरे प्रिय से भी प्रिय हैं। मेरे ही क्या सम्पूर्ण भूतों के वे सुहृद हैं। उनको मेरी आवश्यकता का पता न हो सो भी बात नहीं वे सर्वान्तर्यामी हैं। वे मेरा अनिष्ट करना चाहते हों सो भी बात नहीं। वे तो मंगलमय हैं, कल्याणों के निधान शंकर हैं, सुख स्वरूप हैं, सबके सगे सम्बन्धी हैं।

जीव का एक मात्र कर्तव्य है, अपनी सब बातें भगवान से निष्कपट होकर भोले बालक की भाँति कह दे। और वे जो कहें उसे करे, उनकी हाँ में हाँ मिलाता रहे। उनसे मिलने को छट-पटाता रहे। अन्त में उन्हें अपनाना तो होगा ही।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रजबालाओं को वर देकर वन-

वारी अपने सखाओं के सहित गोष्ठ में आये गौओं को खोलकर बलदेव और सखाओं से घिरे हुए वृन्दावनसे दूर निकल गये। वन में जाकर भगवान् ने देखा सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ है, प्रकृति स्तब्ध है। वृक्षों की शाखाओं पर बैठे पक्षी गण कलरव कर रहे हैं, कोई आकाश में उड़ रहे हैं, कोई भूमि पर बैठकर कण चुग रहे हैं, कोई वृक्षों पर लगे फलों को कुतर रहे हैं। भ्रमर इधर-उधर मधु के लोभ से पुष्पों को झकझोर रहे हैं, उनके मुख को नत करके मत्त होकर रस का पानकर रहे हैं। कमल खिलकर हिलकर परस्पर में मिलकर कुछ मन्त्रणा से कर रहे हैं, अथवा भ्रमरों का तिरस्कार कर रहे हैं। उन्हे मधुपान करने को मना कर रहे हैं। किन्तु ये ढीठ नायक की भाँति उनके निषेध की ओर ध्यान न देकर उनसे लिपट जाते हैं। अपने स्वार्थ साधन में लग जाते हैं। भगवान् ने देखा स्थान स्थान पर सघन कुन्ज निकुन्ज बनी हुई हैं लतायें वृक्षों से लिपटी हुई फूल रही हैं। मानों प्रिय आलिंगन से प्रसन्न होकर खिल रही हैं। सघन निकुन्ज में फूली हुई मालती, माधवी, मल्लिका, विष्णुकान्ता, विधारा तथा अन्याय लताओं के पुष्पों की सुखद सुगन्धि चारों ओर फैल रही है। उनकी शीतल छाया बड़ी ही आनन्द दायिनी है। भगवान् ने देखा बहुत से वृक्षों में नवीन कोमल कोमल पत्ते निकल रहे हैं। उनके पुराने पत्ते वृद्ध होकर जीर्ण शीर्ण बनकर स्वतः ही भूमि पर गिर पड़े हैं। उन गिरे हुए पुराने शुष्क पत्तों को भड़भूजे भाड़-में जलाने के लिये एकत्रितकर रहे हैं। बहुत से वृक्षों पर सुन्दर सुन्दर खिले हुए पुष्प लगे हैं। उन पुष्पों के मधु को भौंरें पी रहे हैं। माली गण उन्हें माला बनानेके निमित तोड़ रहें हैं। बहुत-सी व्रज बालायें पूजा के लिये उन्हें एकत्रित कर रही हैं। पारिजात के पुष्पों से भूमि ढक-सी गई है। उनकी डंडी तो लाल वर्ण की है।

और खिली हुई पंखुड़ियाँ सफेद हैं। इससे उनकी शोभा अनुपम है।

बहुत से वृक्ष फलों के भार से नत हैं। उनके फलों को पक्षी खा रहे हैं। जंगली काले भील उन्हें एकत्रित करके अपनी आजीविका चलाने को ले जा रहे हैं। फलोंपर ही निर्वाह करने वाले ऋषि मुनि पक्के पक्के फलों को संग्रहकर रहे हैं। भगवान् ने बड़े बड़े वट के पीपल के सघन तथा प्राचीन पादप देखे। जिनकी छाया में सहस्रों मनुष्य बैठ सकें। पानी पड़ने पर भी जिनके नीचे भीग न सकें। जिनकी छाया में जंगली जीव तथा पथिक आकर विश्राम करते हैं। बहुत से ऋषि छोटे छोटे वृक्षों को खोदकर उनमें से कन्दमूल निकाल रहे हैं। कुछ रंग बनाने वाले तथा औषधि निर्माण करने वाले वृक्षों की छालों को उतार उतारकर एकत्रितकर रहे हैं। बहुत से ब्रजवासी सूखे-सूखे वृक्षों को काट काटकर भोजन बनाने तथा अन्यान्य कार्य करने को लिये जा रहे हैं। कुछ लोग गीले ही वृक्षों को काट रहे हैं। कुछ धूप बेचने वाले अगर, तगर, छार छबीला आदि छोटे छोटे वृक्षों को काट कूटकर धूप बना रहे हैं। कुछ वृक्षों से गोंद ही एकत्रितकर रहे हैं। कुछ सूखे वृक्षों को जलाकर उनके कोयले बना रहे हैं। कुछ पुरानी राख को खाद बनाकर खेतों में डालने को लिये जा रहे हैं। कुछ स्त्री पुरुष छोटे छोटे अंकुरों को तोड़कर साग बनाने के लिये ही ले जा रहे हैं।"

इन सब दृश्यों को देख कर दामोदर अपने सभी सखाओं से प्रेमपूर्वक उनका नाम ले लेकर बोले—"हे स्तोक कृष्ण! हे भैया! देखो! ये वृक्ष कैसे तपस्वी परोपकारी साधु और सज्जन हैं। मैं तो समझता हूँ, संसार में इन्हीं का जीवन धन्य है।

स्तोककृष्ण ने कहा—"कनुआ भैया! तू इन तम प्रधान अचर वृक्ष को तपस्वी क्यों कहता है?"

भगवान् बोले—"अरे, भैया! अचर होने से ही कोई बुरा थोड़े ही होता है। देखो ये सदा एक पैर से खड़े रहते हैं। धूप हो, वर्षा हो, जाड़ा हो, चाहे जो ऋतु हो सबको नंगे होकर अपने सिरपर सहते हैं। वानप्रस्थी तपस्वी को वायु, वर्षा, तथा धूप आदि को सहन करना इसी तपस्या का तो विधान है, ये इन बातों को बिना सिखाये, जन्म से ही अपने आप करते है, अतः ये जन्मजात तपस्वी हैं।"

इसपर पुनः स्तोककृष्ण ने पूछा—"अच्छा! तू इन्हें साधु सन्त परोपकारी क्यों कहता है। ये तो व्याख्यान देने परोपकार करने कहीं जाते ही नहीं।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे, भैया! जाने से या बोलने से ही परोपकार होता हो सो बात नहीं। परोपकार तो मनुष्य जहाँ भी रहे वहीं से कर सकता है। जो परकार्यों को सदा साधता रहे उसे साधु कहते हैं। परोपकार ही उसका व्रत है, उसकी समस्त चेष्टायें दूसरों के उपकार के ही निमित्त होती है। देखो, ये वृक्ष अपने लिये कुछ भी संग्रह नहीं करते। इनकी सब वस्तुएँ दूसरों के ही काम आती हैं। ये स्वतः बरसे हुए वर्षा के जल को पीते हैं। सड़ी गली दुर्गन्धियुक्त वस्तुओं को अपनी जड़ों से खाकर शरीर को बनाये रहते हैं। और निरन्तर उपकार में ही रत रहते हैं। इनकी एक भी ऐसी वस्तु नहीं जो किसी न किसी के काम में न आती हो।"

यह सुनकर अंशुनामक गोपबोला—"अच्छा, भैया! इन वृक्षों के जो सूखे पत्ते अपने आप झड़ जाते हैं। ये किसी काम में आते है भला?

भगवान् बोले—"अरे! तुम इतना भी
ये सूखे पत्ते तो बहुत काम देते हैं। सड़ाकर इनकी
है। भड़भूजे इनसे चबैना भूनते हैं। जिसे

निर्धन अपने दिन काटते हैं। बहुत से पत्ते सूखकर ओषधि के काम आते हैं। हरे पत्तों को बकरी भेड़ भैंसें, गौ आदि पशु चरते हैं। इन सूखे पत्तों के कागद बनते हैं। कुटी छाने के काम में आते हैं, छप्पर बनते हैं। हरे सूखे पत्तों से बहुत काम निकलते हैं। भूसा, घास आदि को सुखाकर रख लेते हैं। पशु खाते हैं।"

इसपर श्रीदामा बोला—"भैया! तू बात तो बड़ी पते की कह रहा है। हम देखते हैं, वृक्षों की एक भी वस्तु ऐसी नहीं जो काम में न आवे। इनके फल फूलों का भी बड़ा उपयोग है।"

भगवान् कहा—"यह भी कुछ पूछने की बात है। फूल देवताओं के पूजन के काम में आते हैं। उनकी मालायें बनती हैं। देवताओं के राजाओं के तथा प्राण प्रियाओं के कन्ठ उन मालाओं से सुशोभित होते हैं। फूलों की शैया बनती हैं, सुकुमारी कामिनियाँ इनके विविध आभूषण बनाकर शरीरों को सजाती हैं। महुए आदि के बहुत से फूल खाये जाते हैं, गोभी आदि के बहुत से फूलों के साग बनते हैं। बनपसा आदि बहुत से फूल ओषधि के काम में आते हैं। इसी प्रकार फल भी खाने के काम में आते हैं। वनवासी तो वन के फलों पर ही निर्वाह करते हैं। फलों का साग बनता है। अचार, मुरब्बे, बनते हैं। सुखाकर कच्चे पक्के सभी प्रकार के ओषधियों के काम में आते हैं। इनकी कौन-सी वस्तु ऐसी है जो काम में न आती हो।

इसपर अर्जुन नामक सखा बोला—"भैया! कुछ वृक्षों की वस्तुएँ तो अवश्य ही मनुष्यों के बहुत उपयोग में आती हैं। और कुछ तो वैसे ही भूमि को घेरे खड़े रहते हैं। अब देखो, बट है, पीपर है; पाकर है, इनपर फूल तो लगते नहीं। फल भी बहुत छोटे छोटे होते हैं, जो मनुष्यों के किसी काम के नहीं। इनसे तो ऐसा कुछ मनुष्यों को विशेष लाभ होता नहीं।"

यह सुन कर भगवान् बोले—"ना, भैया! यह बात नहीं। ऐसा कोई भी वृक्ष न होगा, जिससे मनुष्यों का प्राणिमात्र का कुछ न कुछ काम न निकलता हो। इन अश्वत्थ और वट आदि वृक्षों की तो वनस्पति संज्ञा है, इनके फलों को पक्षी खाते हैं, इनके पंचपल्लव देव पूजनादि काम में आते हैं। इनके दूध से अनेक गुणकारी ओषधियों का निर्माण होता है। हाथी आदि बड़े बड़े जीव इनके ही पत्तों से जीते हैं। इनकी छाया इतनी सघन होती है, कि श्रमित पाथिक इनके नीचे बैठ कर विश्राम करते हैं। ऋषि मुनि इनके आश्रम में ही जप, तप करते हैं। कैसा भी वृक्ष हो उसकी छाया से तो सभी को सुख होगा।"

इसपर विशाल नामक सखा बोला—"बहुत से सूखे वृक्ष भी तो खड़े रहते हैं, सूखे वृक्षों की तो छाया नहीं होती।"

भगवान् बोले—"छाया न भी हो तो भी सूखे वृक्षों से संसार का कितना काम निकलता है। सूखी लकड़ी न हो, तो भोजन किससे बने, जाड़े में जलाकर किससे शीत निवारण करें। तुम्हारी लकुटी वंशी सब सूखी लकड़ियों की ही तो हैं। घर-सूखी लकड़ियों से ही बनते हैं। हर, फावड़े, खाट, कुल्हाड़ी, पेटी, नौका कहाँ तक कहें विविध भाँति की आवश्यक वस्तुएँ वृक्ष की सूखी लकड़ियों से ही बनती हैं। इनके वल्कलों को लोग पहिनते हैं, भोजपत्र की पत्तल बनाकर उन पर खाते हैं। विविध भाँति के रंग वल्कलों से निकलते हैं। रस्सियाँ बनाई जाती हैं सुखाकर धूप आदि धूनी देने की वस्तुएँ बनती हैं।"

यह सुनकर तेजस्वी देवप्रस्थ बोला—"भैया! तुम्हारा कहना यथार्थ है, वृक्षों की कोई भी वस्तु व्यर्थ नहीं जाती। सूखने पर ईंधन का काम देते हैं। अपने आपको जलाकर भी प्राणियों को सुख पहुँचाते हैं।"

भगवान् बोले—"सूखकर ही काम में नहीं आते। जलकर भी बड़े काम के बन जाते हैं। कहावत है:—"जीता हाथी लाख का, मरा हुआ सवा लाखका।" लकड़ियों को जला दो उनके कोयले कर दो, तो कोयले लकड़ियों से अधिक मूल्यवान् होंगे। भस्म होने पर भी निरर्थक न जायगीं। उससे भी खाद आदि अनेक वस्तुएँ बन जायँगी।"

यह सुनकर वरूथ नामक सखा बोला—"पेड़ों में से जो रस चूता है वह भी काम में आता है। सींकें भी काम में आती हैं। इनका तो रोग भी जनता के लिये हितकर है।"

भगवान् बोले—"स्त्रियों का मासिक स्राव, पानी के बुलबुले, ऊसर भूमि और वृक्षों का गोंद ये चार ब्रह्म-हत्या के चिन्ह हैं। ये तीन वस्तुएँ तो चाहे किसी काम न आवें किन्तु वृक्षों की ब्रह्म-हत्या भी बड़े काम की होती है। सब वस्तुएँ गोंद से चिपकाई जाती हैं। राल गोंद ही है जिसकी धूप बनती है। बहरोजा गोंद है जो सारंगी के तारों को ठीक करता है। हींग गोंद ही है जिससे दाल साग आदि पदार्थ छौंके जाते हैं।"

भगवान् कह रहे हैं—"भाइयो! कहाँ तक बतावें इन वृक्षों के अंकुर से लेकर बीज तक सभी परोपकार में ही काम आते हैं। ये वृक्ष अपने फलों को स्वयं नहीं खाते, ईंट मारने वाले को भी फल देते हैं। काटने वाले का भी उपकार करते हैं। इनसे कोई प्यार करे या द्वेष ये सबसे समान बर्ताव करते हैं। सबकी कामनाओं को पूर्ण करते हैं। चाहिये भी यही, संसार में देहधारियों के बीच में जन्म लेने पर देह वाले के देह की सफलता इसी में है, कि वह अपने प्राणों से, धन से, बुद्धि से, तथा वाणी में सदा श्रेय का ही आचरण करता रहे। सबका जितना हो सके भला करता रहे। कभी किसी का मनसे भी अनिष्ट न चाहे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् वृक्षों को ग्वाल, बालों से बड़ाई करते हुए, वन में विचरण कर रहे थे। वे अपनी कृपा भरी दृष्टि से वृक्षों के नव पल्लवों को, गुच्छों को डालियों पर लदे हुए फलों को, सुन्दर खिले हुए फूलों को पत्तों को देखते जाते थे। किसी को अपने करकमलों से छू लेते। किसी को तोड़ लेते, किसी को सूंघते, किसी को खाते हुए आगे बढ़ रहे थे। जो शाखायें पत्र पुष्प और फलों के भार से झुकी हुई थीं जो अन्य बहुत-सी शाखाओं से सटकर सघन निकुञ्ज के रूप में बन गई थीं उनके बीच में होकर श्यामसुन्दर सखाओं के साथ जा रहे थे। वे उन कुंज निकुञ्जों में होते हुए यमुना तटपर आये।

यमुना तटपर आकर मध्यान्ह काल हो गया था। उस दिन घर से कलेऊ करके भी नहीं चले थे। बातों ही बातों में भटकते हुए बहुत दूर निकल आये थे अतः सब चलते चलते थक गये। छाक देने वाली गोपियों ने समझा दूसरे वन में होंगे, अतः वे भोजन लेकर दूसरे वन में चली गई थीं। गौएँ प्यासी थीं गोप भी भूख प्यास के कारण व्याकुल हो रहे थे। सब ने गौओं को यमुनाजी का स्वादिष्ट (शीतल) स्वच्छ तथा अति मधुर जल पिलाया। स्वयं भी सब ने घुसकर हाथ, पैर मुख धोये और पेट भर के जल पीया।

जल पिलाकर गौओं को चरने छोड़ दिया। गौएँ स्वच्छन्दता पूर्वक यमुनाजी के तटवर्ती वन में हरी हरी घास चरने लगीं। गोपों के पेट में भूख के कारण चूहे कुदकने लगे। खाली पेट पानी पी लेने से भूख और भी भड़क उठी। छाक लेकर अभी गोपिकायें आई नहीं थीं आवें कैसे वे तो दूसरे वन में भटक रहीं थीं। गोपों ने कुछ देर तो भूख को सहा किन्तु जब असह्य हो गई, तब वे भगवान के पास जाकर बोले—"भैया, कनुआ ! जैसे ये वृक्ष परोपकारी हैं। वैसे ही भैया तू भी बड़ा परोपकारी

है। ये बलदाऊ भी बड़े परोपकारी हैं। भैया तुम लोगों ने अघासुर, बकासुर, धेनुकासुर, व्योमासुर, प्रलम्बासुर तथा और भी अनेकों असुरों को मारकर ब्रज का बड़ा उपकार किया। हमने यह भी सुना है जब तू छोटा था तो एक जलमुही कोई पूतना राक्षसी आई थी उसे भी तैंने मार दिया किन्तु भैया! एक उपकार तैंने नहीं किया। यदि उसे भी कर देता तो संसार का बेड़ा पार हो जाता, सबके दुख दूर हो जाते।"

भगवान् ने कहा—"वह कौन-सा उपकार है। सुनें भी तो सही।"

गोप बोले—"भैया! इस रांड़ भूख को तू और मार देता तो सब झंझट ही दूर हो जाते। इस रांड़ ने संसार को बड़ा दुखी कर रखा है। इसी के पीछे लोग मारे मारे फिर रहे हैं। समुद्र को पार करके जाते हैं। पर्वतों में भटकते फिरते हैं। प्राणों का प्रण लगाकर व्यापार, चोरी तथा अन्यान्य साहस के काम करते हैं। इस राक्षसी को तू और पछाड़ दे।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे तुम अपने मनकी बात बताओ ऐसी लम्बी चौड़ी भूमिका क्यों बाँध रहे हो?"

गोपों ने कहा—"अब भैया! क्या कहें तू संकेत में ही समझले। पेट में चूहे कुदुक, कुदुक रहे हैं। आतें कर मर कर मर कर रही हैं। कुछ पेट पूजा का डौल डाल होना चाहिये।"

भगवान् हँसकर बोले—"जाओ, सारेओ! तुम जन्म के भूखे ही रहे। यहाँ वन में क्या रखा है। वृन्दावन से तो हम कई कोश दूर हैं। यह तो मधुवन है। यहाँ खाने पीने का ढंग कहाँ यमुना जल पान करो डंडपेलो बहुत भूख हो तो वृक्षों के फल तोड़ कर खाओ।"

गोप बोले—"अरे, भैया! अब तू भी ऐसी निराशा की बातें करने लगा। यहाँ फल कहाँ हैं। टैंटी हैं कच्चे बेल हैं, झरबेरियाँ

के बेर हैं। इन कड़वे कच्चे कसैले फलों से पेट थोड़े ही भरेगा इन फलों को तो शरीर को जलाने वाले तपस्वी खायँ हम तो वैष्णव हैं। हमें तो प्रभु की प्रसादी कुरकुरी मुरमुरी, लुच लुची सुन्दर सुन्दर स्वादिष्ट वस्तुएँ चाहिए। आज तो भैया! कुछ माल उड़े।

भगवान् तो आज भुलावा देकर लाये ही इसी लिये थे, उन्हें तो आज अपनी परम भक्ता मथुरा निवासिनी विप्र पत्नियों पर कृपा करनी थी। अतः इधर उधर देखकर बोले—"यमुना किनारे यह धूँआ किस बात का उठ रहा है। देखना कोई भैया।"

कई लड़के पेड़ों पर चढ़ गये और वे धूएँ की ओर देखकर वहीं से बोले—"भैया! स्वाहा स्वाहा हो रही है। ऐसा लगता है कोई बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है।"

गोप यह कह ही रहे थे, कि एक पथिक उधर से निकला। भगवान् ने उससे पूछा—"भैया! यह धुँआ किस बात का उठ रहा है। उसने बताया—"व्रजराजकुमार! यहाँ से कुछ ही दूरी पर बहुत से वेदपाठी ब्राह्मणगण स्वर्ग की कामना से एक बड़ा भारी अङ्गिरस नामक यज्ञ कर रहे हैं?"

तब भगवान् ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए गोपों से कहा—"देखो भाई! यदि तुम्हें बहुत भूख लग रही है, तो यज्ञशाला में ब्राह्मणों के पास चले जाओ और भोजन के लिये कुछ माँग लाओ।"

गोपों ने कहा—"अरे कनुआ भैया! हम लोग अहीर की जाति, हमारे बाप दादों ने भी कभी भीख नहीं माँगी, हमसे भीख क्यों मँगवाता है?"

हँसकर भगवान् बोले—"भैया! भूख बुरी वस्तु होती है। भूख में सब कुछ करना पड़ता है, तुम संकोच मत करो।"

गोप बोले—"अरे, भैया! संकोच की क्या बात है, जब तू कहता है, तो सब कुछ करेंगे। तेरे कहने से तो हम कूआ में भी कूद पड़ेंगे, किन्तु भैया! हम गोपों को यज्ञशाला में कुछ देगा कौन? हमें तो वे भीतर भी न घुसने देंगे।"

भगवान् बोले—"भीतर घुसने का काम क्या है बाहर से ही माँग लेना। तुम्हें स्वयं माँगने में संकोच हो तो बड़े भैया बलदाऊ जी का नाम ले लेना। मेरा नाम लेना, कहना उन्होंने हमें भेजा है। वहाँ जो भी दाल, भात, रोटी, कढ़ी, साग हो वही ले आना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान्की आज्ञा पाकर वे भूख से व्याकुल हुए गोप ब्राह्मणों से भोजन माँगने के लिये यज्ञशाला की ओर चले।"

छप्पय

गोप कहैं सब सत्य बृद्ध सम तू उपकारी।
भैया! जैसे बने मेंटि तू बिपति हमारी॥
आज लगी अति भूख छाक अब तक नहिं आई।
सुनि बालनिके बचन बिहँसि बोले बलभाई॥
सब आङ्गिरस करहिं द्विज, जाओ मखशाला तुरत।
करो याचना अन्नकी, सब विनम्र ह्वैके प्रनत॥

विप्र पत्नियोंसे अन्नकी याचना

(९४२)

नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः ।
इतोऽविदूरे चरता कृष्णेनेहेषिता वयम् ॥
गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः ।
बभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० २३ अ० १६, १७ श्लो०)

छप्पय

हरि आयसु सब पाइ गयो विप्रनि ढिँग बालक ।
कहैं सुनहु द्विज निकट कृष्ण आये पशु पालक ॥
होहिं अन्न कछु देहु खाइ ते भूख बुझावैं ।
यश शेष चरु पाइ ग्वाल सबतुमहिँ सरावैं ॥
करी न नाही नहिँ दयो, मौनी सब द्विज बनि गये ।
लौटि सखनि हरि तैं कही, नहिं निराश नटवर भये ॥

जिसका हम निरन्तर चिन्तन करते हैं, उसके आने का कोई सम्वाद देता है, तो हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। उसके,

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपोंने जाकर विप्रपत्नियोंसे कहा "हे विप्रपत्नियो ! हम सब तुम्हें पैलगी करते हैं । आप हमारी बात सुनिये यहाँसे कुछ ही दूर पर श्रीकृष्ण गौओंके पीछे विचर रहे हैं; उन्होंने

सम्बन्ध की कोई कथा कहता है, तो कान कृतार्थ हो जाते हैं वे उत्सुक होकर उसी की चर्चा सुनना चाहते हैं, नेत्र उसके दर्शनों के लिये छटपटाने लगते हैं। अङ्ग उनके सुखद स्पर्शके लिये लालायित हो उठता है। प्रेम में पड़े पड़े गोपन होता है, बात ऐसे सामान्य ढँग से कही जाती है कि सर्व साधारण लोग तो उसे व्यापक समझते हैं, किन्तु वह होती है उनके प्रति ही।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! भगवान् को कृपा तो करनी थी उन यज्ञ करने वाले विप्रों की पत्नियों पर किन्तु सीधे कैसे कहते। यहाँ बलदेवजी भी थे और भी गोप थे, एक साथ पहिले कह देते कि तुम स्त्रियों के पास चले जाओ, तो सब पूछ बैठते—"कनुआ! तेरी उनसे कबकी साँठ गाँठ है, तू उन्हें कैसे जानता है?"

यद्यपि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी हैं किन्तु यह तो नरनाट्य कर रहे हैं। ग्वालबालों के साथ ग्रामीण ग्वालों का-सा अभिनयकर रहे हैं, इसमे यथा शक्ति ऐश्वर्य प्रकट न हो इसकी चेष्टा करते रहते हैं। इसीलिये पहिले गोपों से कहा—"तुम लोग याज्ञिक ब्राह्मणों के निकट अन्न माँगने जाओ।"

भगवान् की आज्ञा पाकर गोप गये और जाकर उन ब्राह्मणों को भूमि में लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। ब्राह्मणों ने समझा ये तो कोई बड़े श्रद्धावान् भावुक भक्त हैं। अतः उन्होंने बड़े शिष्टाचार से कुशल पूछी। तब हाथ जोड़कर गोपों ने नम्रता पूर्वक कहा—"हे ब्राह्मणो! हम आपके समीप एक आवश्यक कार्य से आये हैं।"

हमें भेजा है। वे ग्वाल बालों और बलरामजी के साथ गौएँ चराते हुये वृन्दावन से बहुत दूर निकल आये हैं। उन्हें बड़ी भूख लगी है अतः उनके लिये और उनके साथियों के लिये कुछ भोजन दीजिये।"

ब्राह्मणों ने कहा—"कहो भाई, क्या बात है ?

गोपों ने कहा—"हम वृन्दावन के रहने वाले ग्वाल-बाल हैं। हम सबके स्वामी श्रीकृष्ण हैं। हम सदा उनकी आज्ञा मानते हैं। उन्हीं की आज्ञा से हम आपके समीप आये हैं। उन्होंने तथा उनके बड़े भाई बलदेवजी ने हमें आपके समीप भेजा है।"

ब्राह्मणों ने पूछा—"वे राम और कृष्ण कहाँ हैं, किस लिये उन्होंने तुम्हें हमारे समीप भेजा है ?"

गोपों ने कहा—"यहाँ से समीप ही वे जो हरे हरे वृक्ष दिखाई देते हैं, वहीं वे गौओं को चरा रहे हैं। उन्हें बड़ी भूख लग रही है, आपसे उन्होंने कुछ भोजन के लिये अन्न माँगा है, यदि आप दे सकते हों, तो कुछ बना बनाया अन्न दीजिये।"

ब्राह्मणों ने कहा—"हमारी उनसे जान नहीं, पहिचान नहीं उन्होंने हमारे पास ऐसे ही तुम सबको क्यों भेज दिया ?"

गोप बोले—"हे भूदेवगण !! सज्जन पुरुष गुणों के कारण ही सबके परिचित बन जाते हैं। जो सत्कर्म करते हैं, उस से सभी आशा रखते हैं। जो परोपकार करते हैं, उनमें सभी की आत्मीयता होती है। आप इतना भारी यज्ञ कर रहे हैं। आपके कार्य को ही देख सुनकर उन्होंने अनुमान लगा लिया होगा, कि आप सभी धर्मात्माओं में श्रेष्ठ हैं। धर्मात्मा से सभी आशा रखते हैं। फलवान वृक्ष के निकट ही लोग फल की आशा से जाते हैं, जो स्वयं सूखा है उस पर तो पक्षी भी नहीं बैठते। आपके धर्म कार्य को देखकर ही हम राम-श्याम की आज्ञा से आपकी सेवा में उपस्थित हुये हैं, यदि आपकी श्रद्धा हो, तो उन भोजनार्थियों के लिये थोड़ा भात दे दें।"

इस पर ब्राह्मणों ने कहा—"अरे, गोपो ! तुम तो गँवार ही रहे। तुम्हें शास्त्रीय विधि का ज्ञान नहीं। हम यज्ञ में

व्यक्त हैं। शास्त्र की आज्ञा है, दीक्षित के अन्न को न खाना चाहिये, फिर तुम लोग हमारा अन्न कैसे खा सकते हो ?"

इस पर एक वाचाल-सा गोप बोला—"ब्राह्मणो ! हम लोग तो अवश्य गँवार हैं, किन्तु हमारा साथी श्रीकृष्ण इन सब बातों को बहुत जानता है। उसी के मुख से हमने सुना है, दो प्रकार के यज्ञ हैं, पशु यज्ञ और सोम यज्ञ। पशु यज्ञ में जिस दिन दीक्षा ले और जिस दिन अग्निषोमीय पशु का बलिदान हो उस दिन तक उसका अन्न न खाने का विधान है। पशु-बलिदान हो जाने पर उसके अन्न खाने में कोई दोष नहीं। आपके यहाँ सुना पशुबलि कल ही हो चुकी, अतः आपके अन्न खाने में कोई शास्त्रीय दोष तो हमें दीखता नहीं, हाँ, यदि आप सोमयाग करते होते सौत्रामणी यज्ञ की दीक्षा लिये होते, तो आपका अन्न दीक्षा पर्यन्त सर्वदा ही अग्राह्य माना जाता। सो, आप सौत्रामणी यज्ञ तो कर नहीं रहे हैं। आप तो अङ्गिरस नामक पशु यज्ञ कर रहे हैं। बलिदान समाप्त ही हो गया, अब आप अन्न दे सकते हैं, हम ले सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वे फल के हेतु से कर्म करने वाले क्षुद्र प्रकृति के थे। वे तो कर्मासक्त स्वर्ग की स्वल्प इच्छा रखने वाले कर्मठ थे। यद्यपि वे थे, तो सीमित और संकीर्ण विचार के ही, किन्तु अपने को बहुत बड़ा मानते थे। उन याज्ञिकोंने गोपों की बात सुनकर भी अनसुनी कर दी। उनकी युक्त युक्त बातों को सुनकर वे सिटपिटा गये। उन्होंने न गोपों से हाँ देंगे, यही बात कही और यही न कहा कि भाग जाओ हम नहीं दे सकते। वे पीठ फेरकर दूसरे काम में लग गये; कुछ बोले नहीं।

मना करने के कई प्रकार होते हैं। एक तो स्पष्ट मना करना, दूसरे कोई ऐसी असंभव बात लगा देना कि वह पूरी ही न हो,

तीसरे किसी और के ऊपर टाल देना, चौथे चुप हो जाना, हाँ, ना कुछ भी न कहना। पाँचवें बात को टालकर इधर उधर की अप्रासंगिक बातें करने लगना। गोपों ने जब देखा, इन ब्राह्मणों की अन्न देने की इच्छा नहीं है, तो वे सब निराश होकर लौट गये। जाकर उन्होंने भगवान् से कहा—"कनुआ भैया ? किन दरिद्रियों के पास तैंने हमें भेज दिया। अरे, वे तो बड़े सूमड़े निकले। वे तो बात को पी गये। अन्न देना तो कौन कहे, मधुर वाणी भी नहीं बोली।

भगवान् ने देखा, भूख के कारण गोपों का मुख कुम्हिला गया है, वे बड़े निराश हो रहे हैं। तब उन्होंने कहा—"अरे, तुम लोग निराश हो गये क्या ?"

गोपों ने कहा—"अरे, भैया ! निराशा की तो बात ही है, जनम करम में तो माँगने गये, सो भी रिक्त-हस्त लौटे। कुछ भी मिला नहीं। हमारी तो अन्तरात्मा जल भुन गई।"

गोपों को दुखित और क्रोधित देखकर भगवान् न दुखी हुए न उन्होंने उन अज्ञ ब्राह्मणों पर क्रोध ही किया। यद्यपि उन मूर्खों ने अनुचित व्यवहार किया। भगवत् आज्ञा का तिरस्कार किया भगवान् यज्ञ से भिन्न थोड़े ही हैं देश, काल, यज्ञीय छोटे बड़े समस्त द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विज, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म ये सब भगवान् की ही तो मूर्ति हैं ये भगवान् के ही तो अंग हैं। इन सबके अंगी स्वयं साक्षात् परम ब्रह्म अधोक्षज श्रीहरि को उन अज्ञों ने साधारण व्यक्ति समझकर उनका सम्मान नहीं किया, फिर भी भगवान् ने उनकी अज्ञता का क्षमा कर दिया। वे गोपों को आश्वासन देते हुए बोले—"अरे, भैयाओ ! निराशा की कोई बात नहीं। भीख माँगने जब जाय, तो मान अपमान को घर खुंटी पर ही टाँग कर जाना चाहिए। भीख माँगने

यह पहिले ही सोचकर जाय, कि जिसके समीप माँगने जाते हैं वह मना करने में स्वतन्त्र है। किस माँगने वाले का तिरस्कार नहीं हुआ। वामन भगवान् भी जब बलि के यहाँ माँगने गये तो छोटे बौना, बनकर गये थे। मनस्वी और कार्यार्थी को सुख दुःख की मान अपमान की चिन्ता न करनी चाहिये। मेरे कहने से तुम एक बार और जाओ। अब के ब्राह्मणों के पास न जाकर उनकी पत्नियों के पास जाना।"

गोपों ने भूख के मारे दीनता के स्वर में कहा—"अरे, भैया कनुआ! तू हमें लुगाइयों के पास क्यों भेजता है। ये लुगाइयाँ तो बड़ा सूमड़ी होती हैं। जिनमें इनका ममत्व होता है, उसे तो अच्छी अच्छी वस्तु खिलाती हैं। ऐसे वैसे को वैसे ही टरका देती हैं। अपना पति हो पुत्र हो सगा भाई हो उसे तो चुपके चुपके सुन्दर सिकी चुपड़ी चुपड़ी पतली पतली रोटी दे देंगी। शेष जेठ ससुर, देवर या अन्य ऐसे ही लोगों को जैसी तैसी देकर पिंड छुड़ावेंगी।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और उनमें से जो गोप बहुत बोल रहा था, उससे बोले—"प्रतीत होता है, तेरी भाभी तुझे बासी, कूसी, जूठी, कूठी रोटी दे देती है। भैया! सब स्त्रियाँ एक-सी कजूसिनी नहीं होती। कुछ गृहलक्ष्मी भी होती हैं, यों तो पुरुषों में, स्त्रियों में सभी में कृपण होते हैं। अच्छा थोड़ी देर को मानलो ये स्त्रियाँ कृपण भी हो, तो भी तो उन्हीं से माँगना होगा। दूध तो गैया ही देगी बैल तो दूध देता नहीं। भोजन माँगने तो लुगाइयों के ही पास जाना होगा। वे विप्र पत्नियाँ ऐसी नहीं हैं। उनकी मुझ में अत्यन्त प्रीति है, यद्यपि उनका तन वहाँ रहता है, किन्तु मन सदा मेरे में ही लगा रहता है। तुम चिन्ता मत करो तुम बलदाऊभैया का तथा मेरा नाम लेना वे तुम्हें अवश्य अन्न देंगी।"

हमारे कनुआ भैया की उन लुगाइयाँ से जान पहिचान है यह सुनकर गोपों को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उल्लास के स्वरमें बोले—"अच्छा, भैया तेरा उनका मेल जोल है? कब से तेरी उनकी जान पहिचान है।"

भगवान् ने प्रेम के रोष में उन्हें कुछ झिड़कते हुए कहा—"अरे, तुम तो बाल की खाल निकालने लगे। तुम्हें आम खाने या पेड़ गिनने। मेरी कब की भी जान पहिचान हो, इस बात से तुम्हें क्या प्रयोजन? तुम मेरा बलदाऊ का नाम लेना अब के तुम्हें अन्न अवश्य मिलेगा।"

गोपों ने कहा—"अरे, भैया! हम तेरी बात टाल तो सकते नहीं, जाते हैं, किन्तु ऐसा न हो, फिर हमें निराश होकर लौटना पड़ा। तेरी तो उनसे जान पहिचान है ऐसा न हो तेरे लिये और बलदाऊ के लिये दो पत्तलें लगा दें चार चार पूड़ियाँ और तनिक तनिक-सा भात साग रखकर देदें तुम दोनों तो उड़ा-जाओगे। हम सब फिर भी ठठनपाल मदन गुपाल ही रह जायँगे।"

यह सुनकर भगवान ठठाका मारकर हँस पड़े और हँसते हँसते बोले—"अरे, सारे ओ! क्यों घबड़ाते हो। अब के ऐसे माल मिलेंगे कि तुम वर्षों को तृप्त हो जाओगे। लुचलुचे चमुर-मुरे गरमा गरम माल मिलेंगे। जाओ, देरी करने का काम नहीं है।"

भगवान् की बात सुनकर वे प्रसन्नता पूर्वक फिर यज्ञ मंडप-की ओर चले। अब के वे दूसरे मार्ग से गये, कि ब्राह्मण उन्हें देख न लें। सबसे पीछे जो पाक शाला बनी थी, उसमें जाकर उन्होंने भूमि में लोटकर द्विज पत्नियों को प्रणाम किया और कहा—"मैया ओ डंडोत।"

उस समय सभी द्विज पत्नियाँ घर से सब काम करके

शृङ्गार किये हुए स्वस्थ चित्त से सुख पूर्वक बैठी हुयीं परस्पर कृष्ण कथा कह रही थीं और आनन्द में विभोर हो रही थीं समय और परिस्थिति का भी याचना पर बड़ा प्रभाव पड़ता है यदि चित्त व्यग्र हो, किसी चिन्ता में निमग्न हो, अपने किसी अत्यन्त प्यारे से प्रेम की बातें कर रहे हों, शौचादि को जा रहे हो, साधारण वस्त्रों में या नंगे बैठे हो, कोई ऐसा वैसा साधारण काम कर रहे हों, ऐसे समय माँगने जाय तो उसे निराश होकर लौटना होगा। ऐसे याचक को ऐसे समय जाना चाहिये जब दाता अव्यग्र चित्त से सुख पूर्वक बैठा है, अच्छी प्रकार सज बज कर अपने पद के अनुरूप वस्त्रों भूषणों से अलंकृत हो कोई धर्म सदाचार के अच्छे कार्य कर रहा हो, उस समय जो याचना की जाती है, वह प्रायः निष्फल होती ही नहीं। गोप सौभाग्य से ऐसे ही समय गये। फिर वे तो भगवान् के भेजे गये थे, चाहे जब भी जाते भक्त तो भगवान् की आज्ञा का पालन सर्वदा ही करने को प्रस्तुत रहते हैं।

गोपों को देखकर लजाते हुए उन द्विज पत्नियों ने पूछा—"कहो, भैया! क्या बात है?"

इस पर गोपों ने कहा—"देवियो! हम जो निवेदन करते हैं उसे आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें। हमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने भेजा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भगवान् ने तो कहा, तुम बलदाऊजी का मेरा दोनों का नाम लेना। कहना दोनों ने हमें भेजा है।" गोपों ने अकेले श्रीकृष्ण का ही नाम क्यों लिया?"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज ये सब तो कहने की तिकड़म बाजी है। गोप भी समझते थे, भगवान् ने आदर सम्मान करने के लिये बलदेवजी का नाम ले दिया है। बलदाऊजी भी समझते थे, मेरी उनसे जान नहीं पहिचान नहीं।

वे देंगीं तो श्रीकृष्ण के ही नाम से देंगी। कुछ शिष्टाचार की बातें कही जाती हैं और ढँग से उनका अर्थ और व्यवहार होता अन्य ढँग से।"

यह सुनकर हँसते हुए शौनकजी बोले—"अब सूतजी! इन तिकड़मकी बातों को तो तुम ही समझो। प्रेम का मार्ग बड़ा विचित्र है इसकी उठन, बोलन, चितवन, भाषा सभी में रहस्य भरा होता है। हाँ, तो फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! आनन्दकन्द नन्दनन्दन व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र का नाम सुनते ही वे सबकी सब द्विज पत्नियाँ चौंक पड़ीं और बोलीं—"क्या कहा ग्वाल बालो! श्यामसुन्दर यहाँ कहीं समीप में आये हैं? कहाँ हैं? क्या कर रहे हैं? कब तक रहेंगे? कितनी दूर हैं?

द्विज पत्नियों को इस प्रकार उत्सुकता पूर्वक प्रश्न करते देख कर गोपों का हृदय बाँसों उछलने लगा। वे बोले—"यहाँ से समीप ही वह देखो उस वट के समीप ही श्याम सुन्दर अपने बड़े भाई बलदेवजी के साथ गौएँ चरा रहे हैं। आज भूल भूल में बात करते करते बहुत दूर निकल आये हैं। दो पहर ढल गया आज उनकी छाक भी नहीं आई। उन्हें बहुत भूख लग रही है। यदि तुम दे सकती हो, तो उनके लिये कुछ अन्न हमें देदो।"

"श्याम सुन्दर समीप ही आये हैं और वे भूखे हैं, इतना सुनते ही द्विज पत्नियों की विचित्र दशा हो गई। हाय! श्याम-सुन्दर हमारे समीप आये भी तो भूखे आये। धन्य है, आज हम अपने हाथों से परोस कर उन्हें खिलावेंगी। हमारे ये हाथ सफल हो जायँगे। इतने दिन से जो भोजन बनाने में श्रम करती रहीं हैं आज हमारा सब श्रम सार्थक हो जायगा। श्यामसुन्दर सखाओं सहित हमारे बनाये भोजन को पावेंगे।" इस।

आते ही उनके रोम रोम खिल उठे। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर तो वे बैठी थीं। भगवान् के दर्शनों की लालसा ने उनके चित्त को अत्यन्त चञ्चल बना दिया था। नित्य निरन्तर उन पुण्य कीर्ति प्रभु की कीर्ति सुनते सुनते उनका मन उनमें मिल गया था।

इतने दिन से जो तपस्या की, आज उसके फल मिलने का समय आ गया। वे परस्पर में कहने लगीं। अहा! आज हमारा जीवन सफल हो जायेगा। श्याम हमारे हाथ का बना प्रसाद पायेंगे।"

गोपों ने देखा ये तो बार बार श्यामसुन्दर का ही नाम ले रही हैं। ऐसा न हो कि एक पत्तल थमाकर कह दें ले जाओ।" इसलिये वे बोले—"देवियो! श्रीकृष्ण के साथ बहुत से ग्वाल बाल हैं, सबके सब भूखे हैं। श्याम-सुन्दर अकेले नहीं खाते हैं, अपने सखाओं को साथ बिठाकर तब गोष्ठी करते हैं।"

द्विज पत्नियों ने कहा—"भैया! तुम चिंता मत करो। उनका दिया हुआ हमारे यहाँ सब कुछ है बहुत है। हम सब के लिये स्वयं ही लेकर चलती हैं, तुम तनिक हमें मार्ग बताते चलना कि श्याम कहाँ हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर गोपों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। भूख के कारण वे व्याकुल हो रहे थे। सोच रहे थे भोजन हमें वहाँ तक ढोना पड़ेगा। बीच में जीभ से लार गिरने लगी और मार्ग में ही उड़ा गये, तब राम-कृष्ण देखते के देखते ही रह जायँगे।' यही सोचकर वे बोले—देवियो! आप भोजन के थालों को सम्हाल लो तब तक हम खड़े हैं।"

यह सुनकर शीघ्रता से जो भी कुछ उनके यहाँ रोटी, पूड़ी, हलुआ, खीर, मालपुआ, लड्डू, दाल, भात, साग, चटनी, फल-

फूल जितने प्रकारके भी भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य पदार्थ थे सबको सजाकर श्रीकृष्णके समीप जानेको उद्यत हुईं।

छप्पय

बोले अबकें जाउ विप्रपत्निनि के ढिँग तुम।
अन्न देहि ते अवसि स्वादतैं खावैं सब हम॥
सुनि बोले गोपाल-यार ! क्यों हँसी करावे।
क्यों उन कृपननि नारि निकट अब हमें पठावे॥
नंदनँदन हँसिकें कहैं, दूध बेल देवे नहीं।
लात दुधारहु गायकी, खाइ मनुज लेवे नहीं॥

द्विज-पत्नियोंको दामोदरके दर्शन

(९४३)

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह—
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम्,
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० २३ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

चले फेरि सब ग्वाल गये द्विजपत्निनि पाहीं ।
हरिकी सबहीं बात विनयतैं तिनहिं सुनाहीं ॥
अति प्रसन्न सब भईं धन्य निज जीवन जान्यो ।
आज होहिं हरि दरश सुदिन सबने अति मान्यो ॥
मीठे खट्टे नमकयुत, कटुक कसैले चरपरे ।
अति उज्वल बर थाल सब, षडरस व्यञ्जनतैं भरे ॥

जीवोंके समस्त पुरुषार्थ भगवान्‌के दर्शनोंके ही लिये हैं। नन्दनन्दनके दर्शन हो जायँ, जीवन सफल हो जाय, किन्तु उनके

❀ श्रीशुकदेवजी करते हैं—"राजन्! द्विज-पत्नियोंने गोपोंसे घिरे श्यामसुन्दरको देखा उनका शरीर श्याम था, स्वर्ण वर्णका पीताम्बर वे पहिने थे, वनमाला, मोरपङ्ख, विविधि धातु तथा नवीन पल्लव आदि वस्तुओंसे नटवर वेष बनाये हुए थे, उनका एक हाथ तो सखाके कंधेपर था, दूसरेसे क्रीड़ा-कमलको घुमा रहे थे। कानोंमें कमलपुष्पोंकी कपोलोंपर अलकोंकी और मुखारविन्दपर मनोहर मुसकानकी अद्भुत छटा थी।"

दर्शन कहाँ जाने से हो सकेंगे, क्या करने से होंगे, कब होंगे, कैसे होंगे; इसका कुछ निश्चय नहीं। वे एक स्थान में रहते नहीं। एक वन से दूसरे वन में दूसरे वन से तीसरे वन में घूमते रहते हैं। वे साधन साध्य हैं भी नहीं जो किसी एक साधन से मिल जायँ। वे किसी एक स्थान के बन्धन में भी नहीं, कि वहाँ जाने पर मिल जायँ। उनकी प्राप्ति तो एकमात्र सच्ची लगन से होती है। तुम कहीं भी मत जाओ, जहाँ हो वहीं रहो, निरन्तर मन से उनका ही चिन्तन करते रहो, कान से उनके ही गुणों को सुनते रहो। परस्पर में बातें करो तो उन्हीं के सम्बन्ध की करो। इस प्रकार तद्गत होने से—समस्त चित्त की वृत्तियों को उनमें ही लगा देने से—वे स्वयं ही अपने आप आ जायँगे। आकर अपने आने की सूचना अपने अनन्य जनों द्वारा देंगे। उनके तदीय अनन्य जन आगे चल कर उनके समीप पहुँचा देंगे। जहाँ प्रभु के आगमन का शुभ समाचार सुना, जहाँ तदीय आगे आगे हमें लेकर चल पड़े तहाँ श्रीकृष्ण-दर्शन में फिर देरी नहीं होती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कृष्ण का आगमन सुनते ही वे द्विज पत्नियाँ सोने चाँदी के सुन्दर सुन्दर पात्रों में सुन्दर स्वादिष्ट अनेक गुण युक्त चार प्रकार के हृद्य अन्न रखकर वे उत्सुकता के साथ चलीं। उन्हें प्रियतम के मिलने की चटपटी लगी हुई थी। जैसे अत्यन्त प्यासा पपीहा स्वाति बूँद की आशा से वर्षा में इधर से उधर दौड़ता है, जैसे रात्रि भर की वियोगिनी चकवी दिन होते ही उस पार बैठे अपने पति की ओर दौड़ती है, जैसे नदियाँ बड़े वेग से टेढ़ी मेढ़ी चल के अपने प्राण वल्लभ पयोनिधि के पास उससे सङ्गम करने दौड़ती हैं; उसी प्रकार वे, स्वयं सज-धजकर भोजनों को सजा बजाकर श्यामसुन्दर के समीप शीघ्रता से जा रही थीं।"

ब्राह्मणों ने देखा—ये सब झुण्ड की झुण्ड इतनी तैयारियाँ करके कहाँ जा रही हैं। वे उन्हें व्यग्रता से वन की ओर जाते देखकर दौड़कर उनके समीप आये। उनके पति, भाई, बन्धु, पुत्र तथा अन्यान्य सगे सम्बन्धियों ने उनका मार्ग रोक लिया। सबने कहा—"कहाँ जा रही हो।"

इन सबने कहा—"श्यामसुन्दर गौएँ चराते हुए यहाँ समीप आये हुए हैं, हम सब उन्हें भोजन कराने साथ साथ जा रही हैं।"

उनके सम्बन्धियों ने कहा—"यहाँ कितना कार्य पड़ा है। कल यज्ञ की पूर्णाहुति है। कितना सामान बनाना है। तुम इधर उधर जाने में ही व्यर्थ समय बिता रही हो।"

उन्होंने कहा—"व्यर्थ नहीं यही तो सार्थक समय है। हमारा सब कुछ श्यामसुन्दर के ही लिये है।"

वे क्रोध करके बोले—"श्यामसुन्दर ही सब कुछ हो गये। हम कुछ भी नहीं रहे, हमारे लिये मानों तुम्हारा कोई कर्तव्य ही ही नहीं।"

उन द्विज पत्नियों ने कहा—"तुम सबके लिये कर्तव्य उन्हीं के सम्बन्ध से है। वे ही सबके पूजनीय हैं सर्वस्व हैं, जो उनसे प्यार करते हैं, उनके उपासक उनसे भी प्यार करते हैं। सब नाते संसार को लेकर नहीं हैं कि ये हमारी बहिन के पति हैं देवर हैं नाते तो नन्दनन्दन के सम्बन्ध से ही हैं।"

उनमें से बहुतों ने क्रोध करके कहा—"अच्छी बात है, जब वे ही तुम्हारे सब कुछ हैं, तो अब उनके ही पास रह जाना, लौटकर यहाँ आने का काम नहीं है।"

सम्बन्धियों की इस प्रकार धमकी देने पर भी वे अपने संकल्प से विचलित नहीं हुईं। उन्होंने गोपीजन-वल्लभ ब्रज-जीवनधन श्यामसुन्दर के निकट जाने में तनिक भी शिथिलता

नहीं की। वे उनकी बातों की ओर कुछ भी ध्यान न देकर श्याम-सुन्दर के समीप चल ही तो दीं। चलते समय उनके पैरों के कड़े, छड़े, पाइजेब आदि आभूषण छम्म छम्म करके बज रहे थे। एड़ी तक लटकती हुई फुन्दोंदार चोटियाँ हिल रही थीं। हाथों पर स्वच्छ शुभ्र वस्त्रों से ढके हुए पात्र रखे थे। वायु वेग से उनके वस्त्र हट जाते और उनमें से सुगन्ध फैलकर दशों दिशाओं को सुगन्ध मय बना देती। उनकी स्वाँस से सुगन्ध निकल रही थी, उनके शरीर से, वस्त्रों से तथा षडरस व्यञ्जनों से भी सुगन्ध निकल रही थी। उनके विचारों की भी बड़ी सुन्दर सब ओर फैलने वाली सुगन्धि थी।

इधर श्यामसुन्दर भी प्रतीक्षा में बैठे थे, उन्हें भी अपनी अनुरक्ता भक्ता यज्ञ-पत्नियों से मिलने की चटपटी लगी थी। भक्त भगवान् के लिये उतना उत्सुक नहीं होता, जितना भगवान् भक्त से मिलने को समुत्सुक बने रहते हैं। भगवान ने सोचा—"गोपों को गये तो बड़ी देर हो गयी। वे अब तक लौटे क्यों नहीं। सम्भव है अन्न न रहा हो। फिर से बना रही हों। यह तो हो नहीं सकता कि वे सुनें और मेरे समीप न आवें। भगवान् को भी विकलता पड़ रही थी, वे भी एक सखा के कंधे पर हाथ रखे इधर से उधर घूम रहे थे। बार बार झाँक कर देख रहे थे, कि कहीं इधर से तो नहीं आ रही हैं कभी टीले पर चढ़ जाते कभी दूर तक दृष्टि दौड़ाते इसी समय उन्हें छम्म छम्म की ध्वनि सुनायी दी। भगवान् का हृदय बाँसों उछलने लगा। अपने अनुरक्त भक्त के मिलने में ऐसा ही सुख होता है।

द्विज पत्नियों ने भी दूर से सखा के कंधे पर हाथ रखे नटवर को देखा। अब तक वे श्यामसुन्दर की प्रशंसा केवल कानों से सुनती ही रही थीं, उन्होंने आज तक उन्हें देखा नहीं था। अहा इस साँवरी सूरत मोहनी मूरत को देखकर वे अमलायें सकुचा गयीं

गयीं, उनके नेत्र तृप्त हो गये, वे अपलक भाव से मनमोहन के मुख की मधुर माधुरी का मत्त होकर पान करने लगे। नवीन जलधर के समान श्याम का श्रीअङ्ग श्यामवर्ण का था, चटकदार, सुवर्ण वर्ण का पीताम्बर उनके श्रीअंग में लिपट रहा था, मानों श्याम घन से बिजली लिपट गयी हो। उनके शिर पर मोरमुकुट शोभा दे रहा था। श्रीअंग में गेरू, सेलखड़ी, यमुना-रज, घिसे कंकड़ ये गोपों ने शृङ्गार के लिये लगा दिये थे, इससे उनकी शोभा विचित्र बन गयी थी। उनके चरण, मुख, तथा कर कमलों के सदृश कोमल लाल और सुहावने थे, कमलों की माला वे धारण किये हुए थे, कानों भी कमल लगाये हुए थे। हाथ से भी क्रीड़ा कमल घुमा रहे थे। कपोलों पर अलकावली बिथुर रही थी, मानों पंक्ति बद्ध अटके हुए मधुकर कमल के रस का पान कर रहे हों। मनोहर मुखारविंद पर मन्द मन्द मुसकान छा रही थी।

श्यामसुन्दर की उस भुवन-मोही मूरति को वे सब अंतःकरण में ले गयीं और मन से ही उनका बड़ी देर तक आलिङ्गन करती रहीं। चिरकाल तक मन से आलिङ्गन करते करते वे तन्मय हो गयीं और इस प्रकार वे अपने हृदय के सन्ताप को शान्त करने लगीं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मन से आलिङ्गन करने से हृदय का संताप शान्त कैसे होता होगा?"

सूतजी बोले—"भगवन्! यह सब मन का ही तो विलास है; जो हम मन से सोचते हैं, वही कर्मेन्द्रियों से करने लगते हैं। यथार्थ मिलन तो मन का ही है। शारीरिक मिलन तो अत्यन्त हेय है, वह तो मन की स्मृति को जागृत करने के लिये है। मन न मिला हो तो शरीर के मिलने से कोई लाभ नहीं। मन मिला है तो शरीर कहीं भी पड़ा रहे; मन से सदा एक ही बने

रहते हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थायें हैं, इन तीनों से पृथक् करने के निमित्त चौथी तुर्यावस्थाकी भी कल्पना की है। वास्तव में अवस्थायें तीन ही हैं। इन तीनों अवस्थाओं के अभिमानी क्रमशः विश्व, तैजस् और प्राज्ञ ये तीन हैं। जाग्रत अवस्था में उसके अभिमानी विश्व को पाकर अहं वृत्तियाँ विश्व को देखती हैं उसी का मनन करती हैं, किन्तु सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ को पाकर अहं वृत्तियाँ उसी में तन्मय हो जाती हैं। प्रगाढ़ निद्रा में न तो स्वप्न ही देखता है न कोई स्मृति ही रहती है, एक प्रकार के अपूर्व सुख का अनुभव होता है। जब जागते हैं, तब कहते हैं "आज बड़े सुख से सोये; बड़ी मीठी नींद आयी। कुछ भी भान नहीं रहा।"

अब सोचिये कुछ भी भान नहीं रहा, तो यह किसने बताया कि बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ।" वास्तव में दुःख तो प्राज्ञ को न पाकर इधर उधर भटकने में ही है। अहं वृत्तियाँ जब तक असत् पदार्थों में सांसारिक सम्बन्ध में भटकेंगी, जब तक वे हाड़ मांस के शरीरों के आलिङ्गन के लिये उत्सुक बनी रहेंगी तब तक चैतन्यघन स्वरूप श्यामसुन्दर की प्राप्ति कैसे होगी। जब जीव इन सब संसारी सम्बन्धों को, इन भौतिक पदार्थों की भोगवासना को छोड़कर श्यामसुन्दर की ओर बढ़ेगा, तो उसे ब्रह्मसस्पर्श प्राप्त होगा। श्यामसुन्दर तो दिव्य हैं, चिन्मय हैं, उनका मानसिक संस्पर्श ही समस्त संताप को नाश करता है। फिर जो दिकलता बढ़ती है, वह प्रेम वृद्धि के निमित्त होती है। जब तक जीव धन में विषयों के भोगों में संसारी सम्बन्धों में आसक्त रहता है, तब तक श्यामसुन्दर उसे नहीं बुलाते। जब वे देखते हैं सब प्रकार की कामनाओं को छोड़कर केवल मेरे दर्शनों की ही लालसा से आया है तो वे हँस जाते हैं उसे अपना लेते हैं, उसका सुस्वागतम्' कहकर स्वागत करते हैं।

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! ठीक है। कथा कहिये।"

सूतजी बोले—"हाँ, तो जब थाल सजाये बिजली-सी चमकती हुई उन चन्द्रवदनियों को भगवान् ने आते देखा तो मन्द मन्द मुसकराते हुए हँसते हँसते वे बोले—"आइये। आइये स्वागतम् स्वागतम्। मंगलम् मंगलम्। साधु साधु। आप सबका आना शुभ हुआ। हम आप सबका स्वागत करते हैं। थालों को घासपर रखिये।' यहाँ हमारे समीप आकर बैठिये। हमारे योग्य कोई कार्य हो तो बताओ। हम तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करें। कहो कैसे कष्ट किया ?"

अमृत में सने हुए मदनमोहन के मधुरातिमधुर हास्य युक्त वचनों को सुनकर द्विजपत्नियों का रोम रोम खिल उठा। अहा, ये कितने सरस हैं, कितने आकर्षक हैं कितने हँसमुख हैं, कितने विनोदी हैं। कैसे आत्मीयता से प्रश्न पूछते हैं। इन्होंने हमारे मन को मथ दिया। प्रतिक्षण ये ही हमें व्याकुल बनाये रहते हैं, इनकी ही मीठी मीठी स्मृति हमारे हृदय में चुभ चुभ कर एक न एक मधुमयी वेदना को बनाये रखती है। ये पूछ रहे हैं क्यों आयीं। बताओ इसका क्या उत्तर दें ? ये ही तो खींचकर ले आये हैं। नहीं हमारे सम्बन्धी तो बार बार मना कर थे, उधर मत जाना। किन्तु पैर अपने आप इधर ही चले आये। कुछ तो इन्हें उत्तर देना ही होगा। अतः लजाती हुई वे नीचे देखते देखते ही बोलीं—"आपके दर्शनों के लिये आई हैं।"

यह सुनकर दामोदर दशों दिशाओं को अपने अट्टहास से प्रतिध्वनित करते हुए बोले—"अच्छा, मेरे दर्शनों के लिये आई हो बड़ी सुन्दर बात है, पेट भरकर मेरे दर्शन करलो। मेरे दर्शन करना यही तो जीव का परम पुरुषार्थ है। अज्ञ मूर्खों की बात तो छोड़ दो। ज्ञानी विवेकी पुरुष मुझे ही अपना सच्चा साथी

समझते हैं इसीलिये वे मुझे अपना अत्यन्त सुहृद समझकर प्रियजन के समान–सच्चे सुहृद के समान–मुझमें ही निष्कपटभाव से निरन्तर अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।" लोग कहते हैं, ये हमें प्राणों के समान प्यारे हैं। मैं प्राणों का भी प्राण हूँ। मन, बुद्धि, देह, स्त्री, पुत्र, पति तथा धन ये सब मेरी सन्निधि से ही प्रिय प्रतीत होते हैं। क्योंकि मैं आत्मा का भी आत्मा परमात्मा हूँ। मुझसे प्यारा और इस संसार में दूसरा कौन हो सकता है? प्यारे के दर्शन करना यह तो उचित ही है। दर्शन तुम पेट भर करलो और फिर अपने डेरे का मार्ग पकड़ो। दर्शन करके लौट जाओ।"

यह सुनते ही मानों द्विजपत्नियों के ऊपर तो वज्र पड़ गया हो ये पुरुष कितने वज्र हृदय के होते हैं, इतने सौंदर्य में इतनी सुकुमारता में इतनी कठोरता भी छिपी रहती है। ये कहते हैं यहाँ से चली जाओ।" यह सोचकर वे बड़े दुःख से बोलीं—"कहाँ लौट जायँ, श्यामसुन्दर! अब हमारे लिये कोई लौटने को स्थान शेष रह गया है क्या?"

भगवान् सरलता से बोले—"अपने पतियों के पास यज्ञशाला में ही लौट जाओ जहाँ से तुम आई हो।"

—वहाँ जाकर हम क्या करेंगी, प्राणवल्लभ! भर्राये हुए गद्गद कंठ से द्विजपत्नियों ने कहा।

भगवान् बोले—"देखो, जिसके साथ बैठकर गाँठ जोड़कर यज्ञ किया जाय उसी स्त्री में पत्नीत्व होता है। पत्नी के बिना पुरुष यज्ञ करने का अधिकारी नहीं। पत्नी के बिना यज्ञ पूरा भी नहीं होता। तुम्हारे पति यज्ञ कर रहे हैं, यज्ञ की पूर्णाहुति में उन्हें तुम्हारी आवश्यकता है। पत्नी के बिना गृहस्थ धर्म हो ही नहीं सकता। तुम्हारे पति तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठे होंगे।"

द्विजपत्नियों ने अत्यन्त दुःख के साथ अश्रु विमोचन करते

हुए कहा—"श्यामसुन्दर! तुम इतने सुन्दर होकर ऐसी कठोर बात अपनी प्यारी वाणी से कैसे निकाल रहे हो। हाय! हम तो सब छोड़ कर तुम्हारे चरणों की शरण में आयी हैं, तुम हमें दुतकार रहे हो। कह रहे हो यहाँ से चली जाओ। भला, यह भी कोई अच्छी बात है। इसी का नाम अपनाना है क्या? सज्जन पुरुष जिसे एक बार अपना लेते हैं, उसे जीवनपर्यन्त कभी छोड़ते नहीं। हम और कुछ नहीं चाहतीं आपका उच्छिष्ट प्रसाद चाहती हैं आपके चरणों में चढ़ी तुलसी की माला को अपने जूड़ों में खुरसना चाहती हैं।

भगवान् बोले—"देखो, अभी तुम्हें गृहस्थ में ही रहना चाहिये। तुम्हारे पति, पुत्र तथा बन्धु बान्धवों को तुम्हारी अभी आवश्यकता है।"

द्विजपत्नियों ने रोते रोते कहा—"उन्हें आवश्यकता हो, हमें तो उनकी आवश्यकता नहीं है। जब यथार्थ पति आप हमें मिल गये, तो फिर उन्हें लेकर हम क्या करेंगी। आपका धाम तो वह है, जहाँ जाकर किसी को लौटना नहीं पड़ता फिर आप हमें लौटाकर अपने वेद वाक्यों को असत्य क्यों कर रहे हैं। रही पति पुत्र तथा स्वजनों की आवश्यकता की बात। सो, उन्हें हमारी आवश्यकता नहीं है। हम उनकी इच्छा के विरुद्ध—उनकी आज्ञा की अवहेलना करके—यहाँ आयीं हैं। आप हमें बल पूर्वक वहाँ भेज भी देंगे तो भी वे हमें अब ग्रहण न करेंगे उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया है। अब यहाँ मत आना वहीं रहना। इसलिये अब आप ही अपने चरणों में हमें शरण दीजिये। आप ही हम निराश्रिताओं को आश्रय प्रदान कीजिये।"

भगवान् ने कहा—"ऐसी बात नहीं है। उन लोगों ने बिना समझे बूझे रोष में भर कर ऐसी बात कहदी होगी। अब जब

तुम मेरी आज्ञा से वहाँ लौटकर जाओगी, तो तुम्हारे पति, माता, पिता, भाई और पुत्रादि तथा अन्य स्वजन कुटुम्बी सगे सम्बन्धी तुम्हारी अवज्ञा नहीं करेंगे। प्रत्युत आदर ही करेंगे।'

द्विजपत्नियाँ उदास हो गयीं। वे कुछ न बोलीं अश्रु बहाती हुई नीचे देखने लगीं। तब भगवान् ने अपनी शक्ति से स्वर्गीय देवताओं का आह्वान किया जो सब कर्मों के साक्षी हैं। उन्हें दिखा कर भगवान् बोले—"देखो, देव गण भी मेरी बात का अनुमोदन कर रहे हैं। घर जाने पर कोई तुम्हारी निन्दा न करेगा, तुम निर्भय होकर लौट जाओ।

अत्यन्त ही लजाते हुए द्विजपत्नियों ने कहा—"घर वाले प्रसन्न हो जायँ, हम इतना ही तो नहीं चाहतीं। हम तो आपके श्रीअंग का सङ्ग चाहती हैं।"

भगवान् ने कहा—"देखो, यह लोगों की धारणा भ्रम-मूलक है, कि अनुराग या प्रेम अङ्गसङ्ग से ही होता है, अंग संग तो अत्यन्त निकृष्ट सुख है, क्षण भर का है, अन्त में उससे दुःख ही दुःख होता है। यद्यपि मेरा अङ्ग-सङ्ग संसारी पुरुषों के अङ्ग सङ्ग के सदृश नहीं है। मेरा दिव्य चिन्मय वपु है। मेरे अङ्ग सङ्ग से अत्यधिक अनुराग बढ़ता है, किन्तु केवल अङ्ग सङ्ग ही प्रीति या अनुराग का प्रधान कारण हो सो बात नहीं है। मन से मुझ में अनुराग करो। अपने मन को मुझमें मिला दो। सदा चित्त में मेरा चिन्तन करती हुई मेरे ध्यान में निमग्न रहो। मुझमें चित्त लगाने से अविलम्ब मुझे प्राप्त हो जाओगी।"

द्विजपत्नियों ने कहा—"आपकी आज्ञा तो शिरोधार्य है, किन्तु हमारी इच्छा है अपने हाथ से आपको भोजन परस कर खिला कर तब जायँ।"

भगवान् ने कहा—"कोई बात नहीं थी, किन्तु तुम्हारे पति प्रतीक्षा में बैठे हैं, तुम्हारे बिना उनका कार्य हो नहीं सकता। इसलिये जाकर तुम उनका यज्ञ समाप्त करो।"

द्विजपत्नियों ने कहा—"प्रभो! हम मन से तो कभी जा नहीं सकतीं, यह शरीर है इसे आप चाहें जहाँ भेज दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके वे द्विजपत्नियाँ इच्छा न रहने पर भी फिर लौटकर अपने सम्बन्धियों के समीप यज्ञशाला में चली गयीं। अपनी पत्नियों को पाकर वे वेदपाठी द्विज परम प्रमुदित हुए, उन्होंने न उनका निरादर किया न एक भी अप्रिय शब्द ही कहा। बड़े प्रेम से उन्हें साथ लेकर यज्ञ की पूर्णाहुति की। बड़ी धूमधाम से यज्ञ समाप्त हुआ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब द्विजपत्नियाँ सब कुछ छोड़कर भगवान् की शरण में गयी, तो फिर भगवान् ने उन्हें लौटा क्यों दिया। भगवान् तो शरणागत वत्सल हैं, जो उनकी शरण में जाता है, उसे अपना लेते हैं। उसे कभी निराश नहीं करते।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! निराश तो भगवान् ने नहीं किया। उन्हें अपना लिया। एक स्थान में तो ऐसा वर्णन आता है, कि जब द्विजपत्नियों ने बहुत आग्रह किया, तो उसी समय गोलोक से दिव्य विमान आये, उनमें उन सबके दिव्य देह को गोलोक भेजकर अपनी सहचरी बना लिया। उनकी छाया बनाकर द्विजों के यज्ञ में भेज दिया। कर्मकांडी द्विज इस रहस्य को क्या समझ सकते थे, उन्होंने उन्हें ही अपनी यथार्थ पत्नी समझा। जैसे भगवान् ने छाया की सीता बनाकर रख दी थी उसे रावण हर ले गया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् यह छाया की फिर

क्यों बनाते हैं।"

सूतजी बोले—"महाराज। भगवान् का विनोद भी तो किसी प्रकार चलता रहे। संसार कर्मवासनाओं से ही चल रहा है। कर्मवासना न हों, तो संसार का खेल एक दिन भी न चले। संसार में सभी जीव कर्मों के अधीन बद्ध हों, तब तो संसार रौरव नरक बन जाय। बद्ध जीव इन संसारी भोगों को ही सब कुछ समझते हैं। पैसों के लिये चाहें जितना पाप करालो। धन इकट्ठा करने को चाहें जितना झूठ बुलवालो। कामवासना की पूर्ति के लिये लोग अनेक प्रकार के वेष बनाते हैं, धोखा देते हैं ठगते हैं। कामिनी, कांचन और कीर्ति के लिये पाप करने से भी नहीं चूकते। यदि सभी स्वार्थी ही हो जायँ, तो संसार से दया धर्म, परोपकार, प्रेम, भक्ति आदि सद्गुण लुप्त ही हो जायँ। स्वेच्छा से अतिथि सत्कार करे कौन, भगवान् का नाम ले कौन, उनकी कथा कौन कहे। इसीलिये बद्ध जीवों के साथ कुछ ऐसे मुक्त जीव भी भगवान् की आज्ञा से इस पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं। जैसे राजा के गुप्तचर साधारण लोगों के वेष में रहकर साधारण लोगों में ही मिल जाते हैं। जेल में जाकर जेली बन जाते हैं। उन्हें कोई पहिचान नहीं सकता कि ये राजकर्मचारी हैं किन्तु भेदिया उन्हें जानते हैं, इसी प्रकार भगवान् के जो अनन्य हैं उनके हृदय में भी भगावान् जान बूझकर कुछ वासनायें भर देते हैं। वे अपने यथार्थरूप से तो भगवान् के साथ विहार करते हैं छाया-रूप से यहाँ मनुष्यों में रहकर मनुष्यों के-से आचरण करते हैं। लोगों को सेवाका पाठ पढ़ाते हैं, परोपकार सिखाते हैं। स्वयं कष्ट सहकर दूसरों का कार्य करते हैं। भगवान्-की सेवा पूजा करते हैं। जय, विजय के मन में युद्ध की वासना भगवान ने देदी। इसलिये उनके छाया-शरीर से रावण कुंभ-करणका जन्म हुआ। एक गोपी के मन में प्रेम की वासना देदी॥

वह मीराबाई बनकर पृथिवी पर प्रेम का प्रसार करती रही। इसी प्रकार उन यज्ञ-पत्नियों की भी कुछ वासनायें शेष थीं, अतः उनमें से बहुत-सी पृथिवी पर फिर उत्पन्न होकर भगवत् पूजा परोपकार करके पुनः अपने प्रतिबिम्बको बिम्ब में मिलाती हैं। भगवान् की सोलह सहस्र पत्नियाँ थीं। भगवान ने उन्हें अपनाया ही था, पाणिग्रहण किया फिर भी गोपों ने उन्हें छीन लिया। एक स्थान में आता है वे फिर सबकी सब वेश्या बन गयीं; वेश्या-वृत्ति करने लगीं। किसी मुनिने उन्हें उपदेश दिया तो वेश्या-वृत्ति करते करते उनके बताये साधन से अपने बिम्ब में मिल गयीं। यह सब भगवान् की क्रीड़ा है। भगवान् जैसे रखें वैसे रहना चाहिये; उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिला देनी चाहिये। भगवान् ने उन्हें छाया रूप से या जैसे रखा वैसे वे रहीं। एक ब्राह्मण ने अपनी स्त्री को आने ही नहीं दिया, बाँधकर रख दिया। इससे वह इस पांचभौतिक शरीर को ही छोड़ गयी।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस विषय को विस्तार से सुनाइये। फिर भगवान् ने क्या किया यह भी सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब आगे की कथा आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

ले व्यञ्जन चलि दई निहारे आगे नटवर।
छैल चिकनियाँ बने सजे शोभित अति सुन्दर॥
द्विज-पतिनिनि लखि हँसे कहैं-हे भामिनि आओ।
आई दरशन हेतु करे अब दरशन जाओ॥
सुनि अप्रिय अच्युत वचन, बोली तुम प्रिय शिरोमनि।
प्रथम बुलावत खींचिके, दुतकारो पुनि कठिन बनि॥

द्विजपत्नियों का अनुपम प्रेम

(९४४)

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥*

(श्री भा० १० स्क २३ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

पुनि बोले घनश्याम-सुमुखि! मखशाला जाओ।
यज्ञ काज करि सतत चित्त मम चरन लगाओ॥
हृदय हृदयते मिले एकता मनके माहीं।
अङ्गसङ्ग अनुराग प्रीतिको कारन नाहीं॥
हरि आयसु सुनि मन तहाँ, धरि तनतें मखमहँ गईं।
दरश श्यामके पाइके, धन्य विप्र पत्नी भईं॥

शरीर को बन्धन में डाल लेनेसे हृदय को बन्धनमें नहीं डाला जा सकता। जब तक जीव अज्ञानवश शरीर को ही आत्मा मानकर उसीके सुख में सुखी और उसी के दुख में दुखी होता रहता है तब तक ही वह शरीर की चिन्ता करता है। जब वह शारीरिक स्थिति से ऊँचा उठ जाता है, अपने को देह से पृथक

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"मुनियो! उन द्विजपत्नियों में से एक को उसके पति ने बल पूर्वक रोक लिया था। तब उसने भगवान् का स्वरूप जैसा सुना था। उसे ही हृदय में धारण करके कर्मके परिणामभूत अपने शरीर का परित्याग कर दिया।"

अनुभव करता है, तो शरीर को वस्त्र की भाँति जब चाहे उतार कर फेंक दे। प्रेम का सम्बन्ध शरीर से न होकर मन से है। मन जिसमें रम गया उसका हो गया। अंतर इतना ही है, कि अनित्य वस्तुओं में मन स्थाई नहीं होता, टिकता नहीं। एक से दूसरे पर दौड़ता रहता है, किन्तु नित्य से प्रेम करने पर सदा के लिये उसी का हो जाता है। श्रीकृष्ण अपने निज-लोक में निरन्तर प्रेम की ही क्रीड़ा किया करते हैं, वहाँ के समस्त उपकरण समस्त लीलायें नित्य हैं, चिन्मय हैं, अविनाशी हैं। कभी वे अपने नित्य परिकरके साथ अवनि पर अवतरित होकर यहाँ भी उन्हीं लीलाओं का अनुकरण करते हैं। बहुत से साधक सिद्ध भक्त जो उनसे मिलने को न जाने कब से छटपटा रहे हैं, उन्हें अपने में मिलाते हैं, उनके नाशवान् प्राकृत शरीर को दिव्य चिन्मय बनाकर अपने परिकर में प्रविष्ट कर लेते हैं उसका फिर आवागमन सदा के लिये छूट जाता है। उसका नित्य लीला में प्रवेश हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इन यज्ञीय विप्रों की पत्नियोंका प्रेम अलौकिक था। इनकी निष्ठा परिपूर्ण थी। ये कोई इधर उधर घूमने वाली स्वैरिणी तो थीं नहीं, कि जिसका सुन्दर रूप देखा रीझ गईं। ये तो कुलवती सती साध्वी धर्म पत्नियाँ थीं। पूर्वजन्मों के संस्कारों से अनेक जन्म के सुकृतों से इसका अनुराग नन्दनन्दनके चरणारविन्दोंमें हो गया। किसी सन्तके मुखसे सुन लिया, कि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा व्रज में व्रजराज नन्दके यहाँ अवतीर्ण हुए हैं। सुनते ही उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया। तर्क का अवसर ही न मिला, कि क्या ऐसा सम्भव हो सकता है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक अहीरों के यहाँ कैसे अवतरित होगा, ऐसे कुतर्क तो पूर्वजन्म के किन्हीं अंतरायों के कारण होते हैं; उनका अन्तःकरण तो जन्म से ही शुद्ध था। किन्तु प्रारब्ध वश उन्हें

पति ऐसे मिले, कि वे कर्मों को ही सब कुछ समझते थे, अभी तक उनके हृदय में भक्ति का अंकुर उत्पन्न नहीं हुआ था। बीज तो उनके अन्तःकरण में था ही।

भक्ति का सम्बन्ध हृदय से होता है। किसी के अन्तःकरण में भक्ति है, दूसरे के में नहीं है, किन्तु वह उसका विरोध नहीं करता, तो दोनों में कोई कलह नहीं होती। जहाँ एक व्यक्ति अपने अधीन पुरुषों को बलपूर्वक अपनी बात मानने को विवश करता है, वहाँ कलह होती है और कभी कभी प्राणान्त तक की नौबत आ जाती है। हिरण्यकशिपु प्रह्लादजी से बलपूर्वक अपनी बात मनवाना चाहता था। इसी पर कलह हुई हिरण्यकशिपु की मृत्यु हुई। मन से जो बात न मानी जाय, ऊपर से विवश करके हाँ हूँ कराई जाय, तो वह मान्यता चलती नहीं। जिनका मन मोहन की माधुरी में उलझा हुआ है, उन्हें शारीरिक बन्धन सुलझा नहीं सकते।

यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों की पत्नियों ने एक बार श्यामसुन्दर के रूप की चर्चा सुनी थी, सुनते हैं, उनका चित्त उधर खिंच गया अब उठते बैठते, चलते फिरते, खाते पीते, उन्हीं का चिन्तन करती रहतीं उन्हीं के रूप का ध्यान धरती रहतीं, बैठती तो परस्पर में उन्हीं के सम्बन्ध की कथायें कहतीं उन्हीं के गुणों का गान करतीं। यज्ञ के समय उनकी साधना पूरी हुई। श्यामसुन्दर उन्हें दर्शन देने स्वतः ही पधारे। स्वयं ही उन्हें कृतार्थ करने भूखे बन कर पहुँचे और अपने अनन्याश्रित आत्मीय सखाओं द्वारा बुलवाया स्त्री कहीं भी आने जाने में धर्मशास्त्र के अनुसार स्वतंत्र नहीं है। बाल्यकाल में उसे पिता से पूछकर कार्य करना होता है। युवावस्था में पति के अधीन रहना पड़ता है और वृद्धावस्था में पुत्र के। इसके विपरीत वह स्वतन्त्र हो जाती है करने लगती है तो धर्मभ्रष्ट हो जाती है। सभी सांसारिक

में उसे सबकी सम्मति से ही कार्य करना पड़ता है, किन्तु भगवान् का सम्बन्ध हो और उसमें घर वाले रोड़े अटकावें तो, उसे विवश हो जाना पड़ता है।

भगवान् का आगमन सुनकर वे द्विजपत्नियाँ विवश हो गईं उनके चरणोंमें जाने के लिये। घरवाले उन्हें रोक रहे थे, किन्तु वे रुकी नहीं। उन लोगों ने बहुत अधिक विरोध भी नहीं किया। वाणी से ही मना करते रहे, शारीरिक बल का प्रयोग नहीं किया। वे सब बड़ी सयानी थीं, पुत्रवती थीं। इस अवस्था में बल प्रयोग करना उचित नहीं होता है।

एक उनमें अत्यन्त क्रोधी ब्राह्मण थे। उनकी पत्नी तो सती साध्वी और भगवद्भक्ता थी। वह निरन्तर श्रीकृष्ण के रूप का ही चिन्तन करती रहती। साथ ही घर के कार्यों को भी करती रहती।

जिस दिन भगवान् पधारे और सब उसकी सखी सहेली थालों को सजा सजाकर उनके लिये भोजन ले जा रही थीं, उस दिन वह भी कृष्ण के समीप जाने को उद्यत हुई। उसने थाल में सब वस्तुएँ सजा लीं ऊपर से स्वच्छ सफेद वस्त्र भी ढक लिया। सोलह श्रृङ्गार करके वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत होकर, थाल उठाकर वह ज्यों ही चली, त्यों ही उसका पति आ गया। उसने अभी तक भोजन नहीं किया था। एक तो वह स्वभाव से ही क्रोधी था, दूसरे भूख में क्रोध और भी अधिक बढ़ जाता है। उसने पूछा—"आज सज धजकर कहाँ की तैयारियाँ हो रही हैं?

उसने सरलता के साथ कहा—"यहाँ समीप में ही सखाओं के सहित श्यामसुन्दर आये हैं। मेरी सब सखी सहेलियाँ वहीं जा रही हैं मैं भी उनके दर्शन कर आऊँ।"

उसने क्रोध में भर कर कहा—"कौन श्यामसुन्दर, वह नन्द अहीर का छोकरा! हाँ, लोग उसे भगवान् भगवान् तो कहते हैं,

किन्तु मैं उसे नहीं मानता।"

सरलता के साथ उसकी धर्म पत्नी ने कहा—"आप न मानें यह दूसरी बात है, किन्तु मुझे दर्शनों से क्यों रोकते हैं। मैं सबके साथ जाऊँगी। सबके साथ दर्शन करके लौट आऊँगी।"

उस ब्राह्मण ने कहा—"स्त्रियों को पर पुरुष को देखना पाप है। फिर अभी मैंने भोजन भी तो नहीं किया। बिना मुझे भोजन कराये तू कैसे जायेगी?"

उसने कहा—"श्रीकृष्ण परपुरुष नहीं हैं वे तो परात्पर पुरुष हैं, सबके आत्मा हैं, सबके पति हैं। भोजन मैं परसे देती हूँ। आप भोजन कर लें, मेरी सहेली तैयार होकर बाहर खड़ी है। मैं पिछड़ जाऊँगी। आप कृपा करो, मुझे जाने की आज्ञा प्रदान करो।"

उस क्रोधी ब्राह्मण ने क्रोध में भरकर कहा—"नहीं, मैं आज्ञा कभी नहीं दे सकता। मैं तुझे कदापि वहाँ न जाने दूँगा। और सब जाती हैं तो जायँ। तू नहीं जा सकती।"

इसने दृढ़ता के स्वर में कहा—"श्यामसुन्दर के दर्शनों को तो मैं अवश्य जाऊँगी, अवश्य जाऊँगी, किसी के रोकने से भी न रुकूँगी।"

ब्राह्मण ने कहा—"जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं, तब तक तू किसी भी प्रकार नहीं जा सकती। मैं औरों की भाँति कहकर ही रुक जाने वाला नहीं। मैं करके दिखा दूँगा। तुझे बाँधकर डाल दूँगा।"

स्त्री ने गंभीरता पूर्वक कहा—"स्वामिन्! मिलन तो आत्मा से होता है; आत्मा इन जंजीर और रस्सियों के बन्धन से परे है। आप मेरे शरीर को बाँध सकते हैं। आत्मा को तो आप बाँध ही नहीं सकते। उसी से मैं जाकर मिल जाऊँगी।"

उसने क्रोध में भरकर कहा—"अच्छी बात है, देखें तू कैसे

जाकर मिलती है।" यह कहकर उसने बलपूर्वक अपनी पत्नी को पकड़ कर एक रस्सी से उसके हाथ पैर बाँधकर एक कुटी के खंभे में रस्सी बाँध दी और बाहर से ताला लगा दिया।"

शरीर बँध जाने पर उसकी आत्मा श्रीकृष्ण में ही लग गई। वह बार बार सोचने लगी—हाय! मेरी सखी सहेलियाँ ही बड़ी भाग्यशालिनी हैं जो नन्दनन्दन के चरणों का स्पर्श करेंगी। मैं अभागिनी उन तक न पहुँच सकी।' इस प्रकार उसके हृदय की पश्चात्ताप रूपी अग्नि तीव्र हो उठी। उसने भगवान् का जैसा रूप सुना था उसी को हृदय में धारण करके ध्यान में निमग्न हो गई यह शरीर तो प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त होता है, श्रीकृष्ण के ध्यान से समस्त संचित, प्रारब्ध और क्रियमाणकर्म उसके समाप्त हो गये। कर्मों का बन्धन समाप्त होने पर यह शरीर टिक ही नहीं सकता क्योंकि शरीर तो कर्मों का परिणाम है। तुरन्त उसके प्राण शरीर को छोड़कर सबसे पहिले जाकर श्रीकृष्ण से मिल गये। उसका पांच भौतिक मृतक शरीर यहाँ पड़ा रह गया। श्रीकृष्ण को और उनके प्यारे सखाओं को अपने हाथ के भोजन कराने की कामना उसकी रह गई। उसे भगवान् ने उसके प्रतिबिम्ब से कभी अवश्य ही पूरा किया होगा। उसका बिम्ब श्याम सुन्दर के नित्य परिकरमें मिल गया। वह उनकी किंकरी बन गई। सबसे पहिले वही अपनी सूक्ष्म आत्मा से श्यामसुन्दर से मिली। तदनन्तर अन्य द्विजपत्नियाँ भोजन लेकर पहुँची।

श्रीकृष्ण ने भोजन लेकर सब द्विज पत्नियों को पुनः यज्ञशाला में लौटा दिया और आपने कहा—"आओ! सारे ओ! अब उड़ाओ माल! तब से तुम भूख भूख चिल्ला रहे थे।"

गोपों ने कहा—कनुआ भैया! सच्ची कहते है, हम तेरे डर के कारण अब तक नहीं बोले थे, नहीं तो तू इन पंडितानियों से

बातें कर रहा था—हमारा हृदय धुकुर धुकुर कर रहा था हे भगवान्! कब ये यहाँ से टलें और कब हम भर पेट भात उड़ावें लड्डुओं को सटकें हलुए को गटकें और रबड़ी पीपीकर कुल्लड़ों को पटकें।"

भगवान् बोले—"मैं क्या! इस बात को जानता नहीं था? मैं तुम्हारे मन की बात जान गया, इसीलिये उनको तुरन्त बिदाकर दिया। अब देरी करने का काम नहीं है। आ जाओ और गोल पंक्ति लगाकर बैठ जाओ।"

गोप तो इसके लिये लालायित ही बैठे थे तुरन्त बैठ गये। भगवान् परसने लगे, पूरा परसने भी नहीं पाये कि गोप बोले—"भैया, अब हमसे तो रहा नहीं जाता, तू परसते रहना। जिसपर जो आ जाय वही उड़ाओ, सब खाने लगे। भगवान् बड़े प्रेम से उदारता पूर्वक परसने वाले बन गये, उन्हें कमी किस बात की रह सकती है। इस प्रकार सभी ने अत्यन्त स्वादिष्ट सभी भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य इन चार प्रकार के पदार्थों को पेट भर के पाया। जब उनका पेट कंठ तक भर गया। उठने को सामर्थ्य न रही तो उन्होंने कहा—"कनुआ भैया! अब पेट भर गया। पत्तल पीछे फेंकेंगे हम तो यहीं लेटते हैं।" यह कहकर सब गोप वहीं लेट गये।

भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे, सारे ओ! अन्न तो पराया था, पेट भी पराया था क्या? इतना क्यों खाये।" यह कहकर जो कुछ बचा कुचा अन्न था, उसे भगवान् ने स्वयं पाया। भक्त तो पहिले भगवान् को पवाकर तब प्रसाद पाते हैं और भगवान् पहिले भक्तों को पवाकर उनके शेष बचे प्रसादी को पाते हैं। भक्त और भगवान् की ऐसी लीलायें अनादि काल से होती आई हैं और अनन्त काल तक होती रहेंगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार आनन्दकन्द ब्रज-

जीवन धन श्रीश्यामसुन्दर माया से मानव-रूप धारण करके वृन्दावन में मनुष्यों जैसे खेल करते रहते थे। देखने में तो वे मनुष्योंके से बालक दिखाई देते थे, किन्तु उनके चरित्र सभी अद्भुत और अलौकिक थे। उनके रूप में इतना अधिक आकर्षण था, कि चर अचर सभी उसे देखकर विमुग्ध बन जाते, उनकी वाणी इतनी मधुर थी, कि जो एक बार सुन लेता वह उनका क्रीत दास बन जाता, सदा के लिये उनके हाथों बिक जाता। उनके कर्म इतने सरस और अनुपम थे, कि उन्हें देखते देखते नेत्र तृप्त नहीं होते थे, सुनते सुनते कान नहीं अघाते थे। व्रज में रहकर वे निरन्तर गोप गोपी तथा गौओं को आनन्दित करते रहते थे। उन्होंने अपनी लीला से द्विजपत्नियों को भी कृतार्थ किया। उन्हें अपने दर्शन भी दिये और उनके सम्बन्धियों से भी विग्रह न होने दी।"

शौनकजी ने पूछा—"हां, तो सूतजी! उन स्त्रियों के पति तथा अन्यान्य सम्बन्धी क्रुद्ध क्यों नहीं हुए। उन सबने तो उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया था।"

सूतजी बोले—"महाराज! जिसपर श्यामसुन्दर की कृपा हो जाती है, उसपर सभी कृपा करते हैं। जिसके अनुकूल नन्दनन्दन हैं, उसके प्रतिकूल कोई हो ही कैसे सकता है। इन स्त्रियों के जाने से वे इनपर प्रसन्न ही नहीं हुए अपितु वे सबके सब भी भक्त बन गये। उन्हें अपने कृत्य पर दुःख हुआ। उन्हें अपनी भक्ति हीनता पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! पापकी पश्चात्ताप से बढ़कर दूसरी कोई औषधि नहीं। यदि अपने कुकृत्य पर हृदय से सच्चा पश्चात्ताप हो जाय, तब तो सब बेड़ा पार ही हो जाय। उन ब्राह्मणियोंको कैसे पश्चात्ताप हुआ और पश्चात्तापमें उनके हृदय

से कैसे उद्गार निकले, कृपा करके इस प्रसङ्गों को हमें और सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं उन याज्ञिक विप्रों की पश्चात्ताप की ही कथा सुनाता हूँ, आप इस प्रसङ्ग को समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

एक जाइ नहिं सकी रोकि निज पतिने लीन्हीं।
करि तैयारी चली बाँधि रस्सीतैं दीन्हीं॥
दरशनमहँ व्यवधान परयो अतिशय घबराई।
श्यामरूप हिय धारि त्यागि तनु स्वर्ग सिधाई॥
मन मनमोहनके निकट, तन मखशालामहँ परयो।
प्रेम प्रबलताने यहाँ, अति अद्भुत कौतुक करयो॥

याज्ञिक विप्रोंका पश्चात्ताप

(६४५)

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः ।
यद् विश्वेश्वरयोर्याञ्चामहन्म नृविडम्बयोः ॥
दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् ।
आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० २३ अ० ३७, ३८ श्लो०)

छप्पय

इत सब आइ लौटि द्विजनि अति प्रेम दिखायो ।
यज्ञकाज लै संग पूर्ण विधि सहित करायो ॥
विप्रनि को हू हृदय शुद्ध हरिने करि दीन्हों ।
सबने पश्चाताप कृत्य अपनेपै कीन्हों ॥
ये अबला ई धन्य हैं, हाय ! अभागे हम रहे ।
आये प्रभु पूजे नहीं, कठिन वचन उलटे कहे ॥

अपराध करना—भूल करना—यह जीव का स्वभाव है। जो अपने बनावटी स्वभावसे ऊपर के चाकचिक्य से अपने को दूधका

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इधर जब उन यज्ञ करने वाले विप्रों ने यह अनुभव किया कि हमने मनुष्यरूपधारी दोनों जगदीश्वरोंकी याचना का अनादर करके बड़ा अपराध किया है, तो उन्हें बड़ा

भुला सिद्ध करते हैं। जो अपने पापों को छिपाने को झूठ बोल-कर पाप के ऊपर पाप करते हैं। अपनी भूल को घुमा फिर-कर सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, उनका उद्धार होना अत्यन्त कठिन है। सुधार का श्रीगणेश पाप की स्वीकृति में है। संसार में पाप किससे नहीं होता। जो पाप पुण्य से रहित प्रभु हैं, उनकी बात तो छोड़ दो, वे तो कुछ करते ही नहीं। किन्तु जिसने कर्मानुसार शरीर धारण किया है, उससे पाप भी होंगे. पाप करके जो उन्हें अनेक प्रकार के दम्भ करके छिपाते हैं, मानों वे पापों को कृपण के धनकी भाँति एकत्रित करते हैं। आगे सर्प होकर वे पापों की रक्षा करेंगे और नरक की यातनायें सहेंगे। भूलसे या प्रमाद से पाप हो गया और करने के अनन्तर उसके लिये हृदय से पश्चात्ताप हो, तो यह आशा की जाती है, कि पश्चात्ताप की अग्नि से पापों के पुंज अवश्य ही भस्म हो जायँगे।

पश्चात्ताप से भीतर का जितना कूड़ा करकट होता है वह सब जलकर भस्म हो जाता है, हृदय विशुद्ध बन जाता है। इस-लिये पाप हो जाना यह कोई उतनी बुरी बात नही है सबसे बुरी बात तो यह है कि पापको छिपाये रखना और ऊपर से ऐसी चेष्टा करना मानों हमने तो कुछ किया ही नहीं। समझलो कि इनकी पाप में आसक्ति हो गई है। अतः हृदय में पश्चात्ताप होना यह भगवान् की बड़ी कृपा है। यह बिना भक्तों के संपर्क के बिना सत्संग के-नहीं होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे विप्रपत्नियाँ लौटकर यज्ञ-शाला में आ गई। पतियों के सहित समस्त कार्य किये। वे तो

पश्चात्ताप हुआ। अपनी स्त्रियों में भगवान् की अलौकिक भक्ति देखकर तथा अपने को उससे हीन समझकर वे पछताते हुए अपने आपही अपनी निन्दा करने लगे।"

भगवद् दर्शन करके कृतार्थ हो चुकी थीं। कृतार्थ हुए पुरुष से जो सम्बन्ध रखता है, वह भी कृतार्थ हो जाता है। उनके सम्पर्क से ब्राह्मणों को भी ज्ञान हो गया। अब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। वे सोचने लगे—"हाय! हमने यह कैसा पाप किया। दोनों राम कृष्ण तो साक्षात् जगदीश्वर हैं। मनुष्य रूप रखकर पृथिवी पर लीलाकर रहे हैं। हाय! हमने उनके माँगवाने पर एक मुट्ठी अन्न भी नहीं दिया। उनकी आज्ञा की अवहेलना कर दी। उनकी याचना का अनादर किया। देखो, हमारी ये स्त्रियाँ ही धन्य हैं। पूर्वजन्म में इन्होंने ऐसे कौनसे पुण्य कर्म किये हैं, जिसके द्वारा इनकी भगवान् में ऐसी अलौकिक भक्ति उत्पन्न हो गई। हम तो वैसे ही मूढ़ रहे। ये हमारी स्त्रियाँ जगद्पूज्य बन गईं।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ये याज्ञिक द्विजों की पत्नियाँ पूर्वजन्म में कौन थीं इनकी भगवान् में ऐसी स्वाभाविकी प्रीति कैसे हुई?"

शौनकजी बोले—"महाराज! सत्संग में प्रेम, साधुसन्तों के चरणों में अनुराग, शुभकर्मों में प्रवृत्ति, तथा भगवान् में भक्ति होना कोटिजन्मों तक पुण्य क्रियायें करने के अनन्तर शुद्ध अन्तःकरण वाले लोगों के हृदय में ही ये सब होती हैं। कोई ऐसा अन्तराय आ जाता है, कि पुनर्जन्म लेना पड़ता है, उसमें कुछ पाप कर्म भी बन जाते हैं। इससे और अधिक पश्चात्ताप होता है, भगवान् में भक्ति अधिक बढ़ती है। ये विप्र पत्नियाँ पूर्व जन्म में बड़ी तपस्विनी थीं। सप्तर्षियों की पत्नियाँ थीं, एक अपराध से इन्हें जन्म लेना पड़ा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह कौन-सा अपराध बन गया। उसे भी हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"भगवन्! एक बार समस्त सप्तर्षि मिलकर

एक यज्ञकर रहे थे, उसके समीप ही उनकी गुणवती, सुशीला, धर्म परायण पत्नियाँ वस्त्रालंकारों से अलंकृत हुई बैठीं थी। वे सबकी सब सुन्दरी थी, तपाये हुये सुवर्ण के समान उनके शरीर का वर्ण था। अत्यन्त सुन्दर रेशमी वस्त्र वे पहिने थीं उनके मुख की कान्ति सैकड़ों शारदीय चन्द्रों को तिरस्कृत करने वाली थी। वे सुवर्ण आभूषणों के पहिने प्रसन्नचित्त से अपने अपने पतियों के निकट बैठी थी। उनके ऐसे दिव्य रूप को देखकर अग्निदेव उन पर मोहित हो गये। वे बार बार अपनी शिखाओं से उनके अङ्गों को स्पर्श करने लगे। उस देव के स्पर्श से उन स्त्रियों के चित्त में चंचलता होनी स्वाभाविक थी। उनका मुख भी लाल पड़ गया, आँखे चमकने लगीं अंगों में कंप होने लगी, और अंग भी शिथिल से होने लगे, किन्तु वे समझ न सकीं हमारी ऐसी दशा क्यों हो रही है।

उस कल्प में अङ्गिरा मुनि भी सप्तर्षियों में से थे। क्योंकि सप्तर्षि तो प्रत्येक कल्प में बदलते रहते हैं। अङ्गिरा मुनि अग्नि के भाव को ताड़ गये। उसके काम भाव को समझ गये उन्होंने शाप दिया—"अग्निदेव! इतने भारी देवता होकर तुमने यज्ञ के समय ऐसी कुचेष्टा की है, तुम सर्वभक्षी हो जाओ।"

अग्नि को शाप देकर वे पत्नियों को देखकर बोले—"यज्ञ के समय तुम्हारी ऐसी काम युक्त चेष्टा हो गई अतः जाओ तुम पृथिवी पर मानुषी योनि में उत्पन्न हो और हमारे वंश वाले याज्ञिक ब्राह्मण तुम्हें ग्रहण करेंगे। उनकी तुम पत्नी बन जाओगी।"

मुनि को क्रुद्ध होते देखकर उन मुनिपत्नियों ने भूमि में सिर टेककर उन्हें प्रणाम किया और रोते रोते बोलीं—"मुनिवर! इसमें हमारा तो कोई अपराध नहीं था। हम तो जानती भी नहीं थी, अग्निदेव का हमारे प्रति ऐसा भाव है, फिर आपने

दारुण शाप हमें क्यों दिया ? स्त्रियों के लिये प्राणपति से वियोग होना मृत्यु से भी बढ़कर है। स्त्रियाँ दूसरे के भय से स्वामी की शरण में जाती हैं यदि उनका स्वामी ही क्रुद्ध हो जाय, तो किसकी शरण जायँ ? इसलिये आप हम पर कृपा करें।"

यह सुनकर महामुनि अङ्गिरा बोले—"देखो, स्त्रियाँ जब अत्यन्त काम पीड़िता हो जाती हैं, तो उनके अङ्ग अशुद्ध हो जाते हैं, वे देव पितृ कार्य की अधिकारिणी नहीं रह जाती इसलिए तुम हमारे साथ अब यज्ञ करने की अधिकारिणी रहीं नहीं।"

मुनि पत्नियों ने कहा—"हमने जान बूझ के तो ऐसा किया नहीं है। जो स्त्री जान बूझकर पर पुरुष से संपर्क करती है वह नरक गामिनी होती है। हमारे बिना जाने अग्नि ने ऐसी कुचेष्टा करदी। भगवान् ! महामुनि गौतम की पत्नी के साथ इन्द्र ने छल किया था। उसे भी पुनः अपने पति की प्राप्ति हो गई। आपका वचन असत्य तो होगा नहीं, आपकी प्राप्ति हमें कब होगी ?"

यह सुनकर और सबका पति में प्रेम देखकर मुनि को भी दया आ गई और वे भी, रोने लगे। उन्होंने कहा—"देवियों ! संसार में न कोई किसी पर अनुग्रहकर सकता है, न शाप दे सकता है। ये सब तो पूर्व जन्मों के संस्कारों के अनुसार प्रारब्ध के वश होता है, ऐसा प्रतीत होता है, हमारा तुम्हारा इतने ही दिन का संस्कार था। संस्कार समाप्त होने पर कोई किसी के साथ रह ही नहीं सकता। किया हुआ कर्म बिना भोगे समाप्त होता ही नहीं। कर्मों के भोग तो भोगने ही होंगे। अब तुम्हारे साथ सम्बन्ध रखना हमारा धर्म नहीं है।

दीनता के स्वर में मुनि पत्नियों ने कहा—"भगवन् ! हमने तो कोई पाप किया नहीं।"

मुनि ने कहा—"तुमने न किया हो, तुम्हारे प्रारब्ध से हो गया हो। दूसरों के द्वारा भुक्त स्त्री को जो पति अपने पास रखता है, वह नरक गामी होता है। ऐसी स्त्री के हाथ के हव्य को देवता ग्रहण नहीं करते, कव्य को पितर ग्रहण नहीं करते। इसीलिये शास्त्रकार भोजन बनाने की हन्डी की और यज्ञ में साथ बैठने वाली धर्मपत्नी की बड़े यत्न से रक्षा करते हैं। ये दोनों वस्तुएँ दूसरे के द्वारा छूई जाने पर अशुद्ध हो जाती हैं। अपने द्वारा छूने पर विशुद्ध बनी रहती हैं। अतः अब तुम्हें पृथिवी पर जन्म लेना ही होगा।"

इस पर उदास होकर मुनि पत्नियों ने कहा—"तब प्रभो! हमारे उद्धार का उपाय बताइये।"

इस पर अङ्गिरा मुनि बोले—"तुम्हारा जाकर व्रजमण्डल में जन्म होगा, तुम याज्ञिक विप्रों की पत्नी बनोगी। वहाँ श्रीकृष्ण के दर्शन मात्र से ही तुम गो लोक की अधिकारिणी बन जाओगी।"

मुनि पत्नियाँ बोलीं—"भगवान्! आप तो कहते हैं वासनाओं का अन्त भोग से होता है। हमारे मन में अभी आपको पाने की वासना बनी हुई है वह कैसे पूरी होगी।

मुनि बोले—"तुम अपने बिम्ब रूप से तो गो लोक की अधिकारिणी बन जाओगी, किन्तु भगवान् तुम्हारी एक छाया बनाकर ब्राह्मणों के पास भेज देंगे, उसी से तुम उनकी पत्नी बनी रहोगी और उसी के अंश से आकर फिर हमारी पत्नी बनोगी।"

यह सुनकर वे दुखी हुईं, वे ही आकर ये यज्ञ पत्नियाँ हुईं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उन मुनि पत्नियों का कोई दोष तो था नहीं, फिर भी मुनि ने उन्हें शाप क्यों दिया?"

इस पर शीघ्रता के साथ सूतजी बोले—"महाराज! यह शाप कहाँ था, यह तो अनुग्रह थी। वहाँ यज्ञ का धूँआ सूँघते सूँघते ही मर जातीं। भगवान् की प्राप्ति न होती। यहाँ तो भगवान् के दर्शन मात्र से ही वे गोलोक की अधिकारिणी हुई। भगवान् जो करते हैं। सब मङ्गल ही करते हैं यही सोचकर शक्ति भर विषयों के प्रलोभन से बचकर निरन्तर कथा कीर्तन में ही अपने समय को व्यतीत करे। जो अपने को श्रीकृष्ण के लिये समर्पित कर देगा, भगवान् उस पर कभी न कभी अवश्य ही कृपा करेंगे। भक्तों का संग कभी निष्फल नहीं जाता। उसका कभी न कभी सुपरिणाम अवश्य होता है। देखिये, ये विप्र पत्नियाँ कितने दिनों से इन ब्राह्मणों के साथ थीं। इनके साथ रहते रहते इनके बाल बच्चे हुए इनके साथ कितने यज्ञ याग किये, फिर भी ये शुष्क कर्मठ के कर्मठ बने रहे और ये निरन्तर श्रीकृष्ण की लीलाओं के चिन्तन में उनके यथाश्रुत रूप के ध्यान में ही निमग्न बनी रहीं। अन्त में इन्हें भगवान् के दर्शन हुए। भगवद् दर्शन पाकर जब ये कृतार्थ हो गईं, तो इनके संसर्ग से इनके पतियों को भी अपने पूर्व के अपराधों के लिये पश्चात्ताप हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ सूतजी! क्या पश्चात्ताप हुआ। यही सुनाइये यह कथा तो बीच में प्रसंगवश आ गई।"

सूतजी बोले—"महाराज! ये याज्ञिक-ब्राह्मण यज्ञ समाप्त करने के अनन्तर परस्पर में बैठकर सोचने लगे—"हाय! हम अपनेको सब वर्णों में श्रेष्ठ समझते थे। हमारी धारणा थी हम द्विजन्मा ही नहीं त्रिजन्मा हैं। माताके गर्भसे जन्मना और गायत्री उपदेश को ग्रहण करना ये दो जन्म तो द्विजों के प्रसिद्ध ही हैं। यज्ञ करने वाले ब्राह्मणोंका एक दैव जन्म तीसरा होता है जिसमें बड़े बड़े यज्ञों की दीक्षा ली जाती है। हमारे तीन जन्म होने पर भी भगवद् भक्ति से शून्य होने के कारण ये सब व्यर्थ बन गये।

जो विद्या नन्दनन्दन के चरणारविन्दों में अनुराग उत्पन्न न कर सके वह विद्या विद्या नहीं, अविद्या है। इसीलिये भक्ति शून्य होने के कारण हमारी विद्या भी व्यर्थ बन गई। हमने जो इतने दिन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, वह भी भक्ति हीन होने से केवल दम्भ मात्र ही सिद्ध हुआ। हमने जो इतने कृच्छ्र चन्द्रायणादि व्रत किये वे भी भक्ति के बिना केवल शरीर सुखाने के श्रम मात्र ही सिद्ध हुए। हम समझते थे हम ज्ञानी हैं, किन्तु ज्ञानी न होकर ज्ञान मानी ही निकले, अज्ञानी के सदृश हमारा आचरण हुआ।"

इस पर एक वृद्ध से विप्र बोले—"भैया! इसमें हमारा अपराध भी क्या है। करने कराने वाले तो वे श्रीहरी ही हैं। जब वे जिससे जो कराना चाहते हैं, उसे वह कार्य विवश होकर करना पड़ता है, किसी का वश नहीं चलता। अच्छे अच्छे ज्ञानी चौकड़ी भूल जाते हैं। चिरकाल तक, जप, अनुष्ठान, मौन ब्रह्मचर्य, साधन, भजन करने पर भी लोग फिसल जाते हैं, उनके भाव दूषित हो जाते हैं। यह भगवान् की गुणमयी दैवी माया इतनी प्रबल है, कि बड़े बड़े योगियों के मन को भी मथन कर डालती है। नहीं तो देखो हमारा जन्म विशुद्ध ब्राह्मण कुल में हुआ है, सदा से सदाचार का पालन करते आये हैं। यथा शक्ति वेदपाठ, जप, यज्ञ, परोपकार भी करते हैं। सब वर्णों के गुरु हैं, सभी हमारा विद्वान् समझकर आदर करते हैं। फिर भी हम भगवान् की माया में मोहित हो गये। अपने अभिमान के वशीभूत होकर अपने परम स्वार्थ को भूल गये।" भगवान् हमारे समीप आये फिर भी उनमें हमारा अनुराग ही नहीं हुआ।"

इस पर एक अन्य ब्राह्मण बोला—"भैया! हम लोग तो अभिमान में ही मर गये। दश आदमियों ने पंडितजी पंडितजी

कहा, पैर छूए फूलकर कुप्पा हो गये। समझने लगे हम सबसे बड़े हैं। जिन स्त्रियों को हम अपने अधीन समझते थे, हमसे तो ये लाखगुनी अच्छी हैं। इनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ। इन्होंने गुरुकुल में वास करके हवन, वेदाध्ययन, तथा गुरुसुश्रुषा आदि शुभकर्म भी नहीं किये। इन्होंने कृच्छ्र चान्द्रायणादि तप भी नहीं किये, शरीर को भी नहीं सुखाया। इन्होंने आत्मतत्त्व की खोज के लिये शास्त्रों का ऊहा पोह भी नहीं किया। इनमें कोई बड़ी भारी पवित्रता होती हो सो भी बात नहीं। स्त्री के लिये शास्त्रों में भी पुरुषों की अपेक्षा शौच के आधे नियम बताये हैं। उसका भी ये पालन नहीं करती, इनके अंगों की बनावट ही ऐसी है, कि शौच के नियम पालन ही नहीं हो सकते, अपवित्र जलादि से इनके अंग भीगे ही रहते हैं। पतियों के साथ में जो शुभ कर्म करले उन्हीं में इनका भाग होता है, नहीं तो इनकी प्रवृत्ति सांसारिक कार्यों में ही अधिक होती है इतना सब होने पर भी इनका जगद्गुरु परात्पर प्रभु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में इतना अनुपम अनुराग हो गया ये ही धन्य हैं, हम इस मान प्रतिष्ठा और स्वर्ग के लोभ में ही फँस गये। जीव का चरम लक्ष्य भगवत् प्राप्ति जो इससे वञ्चित रह गया वह मानों जान बूझकर, मृत्यु के मुख में घुस गया। जिसने नन्दनन्दन के चरणारविन्दों में चित्त को लगा दिया वह मृत्यु के पाशरूप गार्हस्थ्य सम्बन्ध को तोड़कर संसार बन्धन से विमुक्त बन गया। यह अत्यन्त दुःख, आश्चर्य, खेद और लज्जा की बात है इन संस्कार हीन हमारी स्त्रियों की योगेश्वरों के भी ईश्वर पुण्य श्लोक भगवान् वासुदेव में ऐसी सुदृढ़ भक्ति है और हम संस्कारादि से युक्त होने पर भी कोरे के कोरे ही रह गये। हमारा हृदय प्रभु प्रेम से शून्य ही बना रहा। हम भगवद् भक्ति से वंचित ही रहे। देखो, हमसे भगवान् ने भूख के कारण मुट्ठी भर अन्न मांगा, वह भी हमने लोभ

चश नहीं दिया।"

इस पर एक अत्यन्त भावुक विप्र रोते रोते बोला—"अरे, भैया! भगवान् ने याचना नहीं की। उन आप्तकाम प्रभु को भला याचना की क्या आवश्यकता पड़ी थी। जो विश्व को खाने को देता है, उसे भूख क्या कष्ट दे सकती है। यह तो भगवान् ने हमारे ऊपर कृपा की। हमें सचेत करने को यह लीला रची। हम लोग अपने यथार्थ स्वार्थ को भूलकर इन नाशवान सातिशय आदि दोषों से युक्त स्वर्गीय सुखों को ही सब कुछ समझकर उनके लिये सतत प्रयत्न करते रहते थे। गृहस्थ के सुखों में उन्मत्त होकर वे सब हमें स्वर्ग में भी प्राप्त हों इसके लिए चिन्तित होकर यज्ञ दान आदि कर रहे थे। सज्जनों के एक मात्र गति नन्दनन्दन ने गोपों को भेज कर हमारी मोहिनिद्रा भंग की हमें गृहस्थ सुख से आगे भी कोई वस्तु है, यह सोचने का अवसर दिया। नहीं तो जो स्वयं पूर्ण काम हैं, जो स्वयं ही चराचर जीवों की इच्छित कैवल्यादि कामनाओं को भी देने वाले हैं। जो वांच्छा कल्पतरु कहाते हैं उन ईश्वरों के ईश्वर वृन्दावन विहारी को हम भक्तों से क्या लेना था? इसी मिससे उन्होंने हमें सावधान करने को ही यह सब कुछ किया।"

इस पर आश्चर्य चकित होकर एक वृद्ध ब्राह्मण जो यज्ञ के आचार्य थे वे बोले—"हाँ, भैया! सत्य कहते हो यही बात है। इस लक्ष्मी को अत्यन्त चंचला कहा जाता है। जिसकी छाया की तनिक सी कृपा के लिये ब्रह्मादि देव तरसते रहते हैं। वह मूर्तिमती साक्षात् लक्ष्मी अपनी चंचलता तथा अहंता आदि अवगुणों को त्यागकर निरन्तर जिनके पैरों को पलोटती रहती हैं, उन पूर्ण काम प्रभु की अन्न की याचाना हम लोगों को मोहित करने के लिये थी। हमारे मन को अपनी ओर खींचने के ही लिये यह लीला थी। हमने वेदों में यह बात सुनी भी थी कि नंद

नन्दन के ही यज्ञ, देशकाल, समस्त द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विज अग्नि, देवता यजमान तथा धर्म ये सब रूप हैं। वे चराचर विश्व के स्वामी हैं, वे धर्म संस्थापनार्थ अवनिपर अवतार धारण करते हैं। आजकल वे यदुकुल में अवतीर्ण हो भी चुके हैं। ये सब जान बूझकर भी हम अनजान बन गये। भ्रम हो गया, कि जो एक मुट्ठी अन्न की याचना करता है वह क्या अवतार होगा ?' हाय ! हमारी कैसी कुबुद्धि हो गई।"

यह सुनकर एक याज्ञिक बोला—"अरे, भाई ! जो हुआ सो हुआ। हम सब भगवान् की माया में भटक रहे हैं। उन्होंने ही हमारी बुद्धि को ऐसा बना दिया। इसीलिये हम पर ऐसा अपराध बन गया। फिर भी हम बड़े बड़भागी हैं, हम भक्त नहीं तो हमारी अर्धाङ्गिनी तो भगवान् की भक्त हैं। हम उनके ही संसर्ग से पार हो जायेंगे। देखो उन्हीं के अनुग्रह का यह फल है कि हमारी बुद्धि भी उनकी भक्ति के प्रभाव से भगवान् नन्द नन्दन में निश्चल हो गयी है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार वे याज्ञिक सच्चे हृदय से अपने अपराध के प्रति पश्चात्ताप प्रकट करते हुए सब मिलकर बार बार भगवान् के पाद पद्मों में प्रणाम करने लगे और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना करते हुए सब मिलकर कहने लगे—"जिनकी मोहिनी माया से मोहित होकर हम मन्द गति कर्म मार्ग में इधर से उधर भटक रहे हैं ऐसे अकुण्ठ बुद्धि वाले भगवान नन्द नन्दन के चरणारविन्दों में हमारी नमस्कार है। वे भगवान् अपनी माया से मोहित हम अज्ञ नाम मात्र के द्विजों पर प्रसन्न हों, हम अज्ञानियों के अपराध को क्षमा करें। हम उनके चरणों में प्रणाम करते हैं।" इस प्रकार सबने मिलकर भगवान् से क्षमा याचना की।

इस पर एक ने कहा— भैया, सब लोग चलकर भगवान् के

दर्शन करो, उनके समीप जाकर ही अपने अपराध की क्षमा याचना करो।"

इस पर एक वृद्ध से ब्राह्मण बोले—"देखो, भाई! भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, वे घट घट की जानते हैं। यह कंस बड़ा दुष्ट है, हम इसकी नगरी में रहते हैं। यह दुष्ट भगवान् को मरवाने के लिये उद्योग कर रहा है। उन्हें तो क्या मरवा सकेगा स्वयं ही मारा जायगा किन्तु इस समय हमारा जाना उचित नहीं। लोग भाँति भाँति की शंका करेंगे। किसी ने जाकर उस दुष्ट से कह दिया, तो एक नया झंझट होगा, स्त्रियों की बात दूसरी है। इस समय जाना उचित नहीं, फिर कभी भगवान् कृपा करेंगे तो दर्शन होंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् के दर्शनों की इच्छा होने पर भी वे कंस के भय से वहाँ न जा सके। यज्ञ समाप्त करके वे मथुरा को लौट गये। भगवान् भी ग्वाल बालों को साथ लिये हुए सायंकाल समझकर वृन्दावन को चले गये। अब जैसे भगवान् ने इन्द्र के गर्व को हरण किया। उस लीलाका वर्णन मैं करूँगा।"

छप्पय

करुना सागर कृष्ण कबहुँ तो कृपा करिगे।
मलिन वासना दुःख शोक आसक्ति हरिगे॥
माया मोहित जीव करम मारग महँ भटकैं।
क्षुद्र स्वर्ग सुख हेतु अनल महँ सिर नित पटकैं॥
नदनदन हम अधम अति, अधम उधारन नाथ तुम।
करहु क्षिमा अपराध प्रभु! तव चरननि की शरन हम॥

गोपों का इन्द्रयाग के लिये उद्यम

(९४६)

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः ।
अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥*

(श्री० भा० १० स्क० २४ अ० १ श्लो०)

छप्पय

दै द्विजपत्निनि दरश दयानिधि ब्रज पुनि आये ।
बसि वृन्दावन नंद-नँदन बहु चरित दिखाये ॥
एक दिवस हरि लखे गोप इततें उत जावैं ।
जौ तिल चाँवर घीउ, सबहिँ घर घरतैं लावैं ॥
बाबा ! का उत्सव करो, प्रभु पूछैं ब्रजराजतैं ।
धूम धाम अति मचि रही, होवैगो का आजतैं ॥

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की शोभा उत्सव से है। मनुष्य की उत्सवों में स्वाभाविक रुचि रहती है। एक-सी परिस्थितिमें या तो पशु रह सकते हैं, या अति उच्च कोटि के ज्ञानी महापुरुष। साधारण लोगों को कुछ परिवर्तन चाहिये।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृन्दावन में जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र बलदेवजी के साथ वास करते थे, तब उन्होंने एक दिन समस्त गोपों को इन्द्रयाग के लिये सामग्री जुटाने में व्यस्त देखा।"

कुछ उत्सव, धूम धाम, नाच-गान चहल पहल चाहिये। उत्सवों में सभी सगे सम्बन्धी इष्ट मित्र तथा प्रेमी एकत्रित होते हैं। सबसे मिलना जुलना हो जाता है। सब मिलकर देव-पूजन करते हैं। साथ साथ बैठकर प्रसाद पाते हैं घर द्वार सजाये जाते हैं, शुभ कार्यों के अनुष्ठान होते हैं। सुन्दर स्वादिष्ट विविध प्रकार के पदार्थ खाने को मिलते हैं। बड़ा विचित्र आनन्द होता है। सबके मन में उत्साह होने से उसे उत्सव कहते हैं। भारतीय सदाचार में नित्य उत्सव है। कोई ऐसा मास नहीं, कोई ऐसा पक्ष नहीं कोई ऐसा दिन नहीं जिसमें कोई न कोई पर्व या उत्सव न हो। आर्यों के यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उत्सव ही उत्सव हैं। इस प्राणी का जन्म आनन्द से हुआ, आनन्द में ही रहना चाहता है, इसीलिये पर्व और उत्सवों को लोग बड़े उत्साह से मनाते हैं, बड़ी बड़ी तैयारियाँ करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी व्रज में रहकर ग्वाल बालों के साथ नित्य ही भाँति भाँति की क्रीड़ायें करके गोपियों तथा ग्वालों को सुख देते थे। उनके सभी चरित्र अलौकिक होते थे। खेल तो सब प्राकृत बालकों के ही सदृश करते थे, किन्तु उनमें कोई ऐसी विलक्षणता होती थी, कि सभी का चित्त उस ओर खिंच जाता।

एक दिन भगवान् ने देखा "नन्दबाबा बड़े व्यग्र हो रहे हैं। सभी गोप चौपाल पर एकत्रित हैं। पुरानी पुरानी बहिया खोली जा रही है। पुरोहितजी कह रहे हैं, इतने चावलों के बोरे लाओ चावल टूटे न हों, अक्षत हों। जौ के इतने बोरे लाओ उनको पानी में धोकर सुखलेना बीनलेना देखलेना घुन न हों। तिलके इतने बोरे चाहिये, वे सब काले हों नये हो, उनमें जीव-जन्तु न हों। सबको फटकलो, बीनलो, चुनलो धोलो। चीनी इतनी लाओ, घृत गौका ही होना चाहिये। भैंस आदि का उसमें

न मिला हो। अमुक वस्तु इतनी चाहिये। समिधा उस वृक्ष की चाहिये। अमुक वस्तुएँ वहाँ मिलेंगी सब वस्तुओं को शीघ्र ही एकत्रित करो।" पुरोहितजी की बात सुनकर गोप इधर से उधर दौड़ रहे थे। कोई कुछ लाता, कोई कुछ उठाकर रखता। गोप गोपियों में एक प्रकार की खल बली मच रही थी, मानों समुद्र में ज्वार भाटा आ गया हो।

भगवान् ने देखा यह सब किस बातकी तैयारियाँ हो रही हैं? वे कुतूहल वश जाकर व्रजराज के समीप बैठ गये। और बोले—"बाबा! बाबा! आज क्या बात है ये सब तैयारियाँ किस बात की हो रहीं हैं, आज कौन—सा उत्सव है? उस उत्सव का क्या नाम है? उसमें क्या किया जाता है?"

नन्दजीने सोचा—"यह कनुआ बड़ा कुतर्की है। ऐसी ऐसी बातें पूछ बैठता है, कि उसका उत्तर मुझे भी नहीं सूझता। मुझे क्या बड़े बड़े ऋषि मुनि चुप हो जाते हैं; अतः इसे टाल देना चाहिये। यही सोचकर वे बोले—"बेटा! यह बड़े बूढ़ों का है, मुझे इन बातों से क्या। जा तू जाकर ग्वालबालों के साथ खेल।"

यह सुन भगवान् अड़गये और बोले—"नहीं बाबा! मैं तो आज इस बात को जानकर ही जाऊँगा। तुम कहते हो, यह बड़े बुढों का काम है। अब तुम बूढ़े हो गये। भगवान् करे, कहीं तुम्हारी आँख गिर जाय तो फिर सब मुझे ही तो करना होगा। इसलिये अभी से सब समझ बूझ लेना ठीक है।

नन्दजी ने देखा यह मानेगा नहीं; अतः बोले—"बेटा! यह इन्द्रभगवान् की वार्षिकी पूजा का उत्सव है।"

उत्सुकता के साथ श्यामसुन्दर बोले—"इस उत्सव में क्या होता है!"

प्यार से नन्दजी बोले—"इसमें भैया यज्ञ होता है।

सब सामग्री एकत्रित की जाती हैं। पिछले वर्ष भी तो हुआ था। तुमे याद तो रहती नहीं खेल में मस्त रहता है। बड़ा भारी यज्ञ-मण्डप बनता है। उसे सजाया जाता है। उसमें तिल, चावल, जौ, दूध, दही, घृत, मट्ठा, नवनीत, गुड़' शहद और सब सामग्रियाँ लायी जाती हैं। मंडप सजाया जाता है बड़ी धूम धाम से यज्ञ होता है।"

श्रीकृष्ण ने पूछा—"बाबा! उसे कराते कौन हैं?

नन्दजी बोले—"अरे, बेटा! बड़े बड़े ऋषि मुनि आते हैं। गर्ग, गालव, शाकल्य शाकटायन, गौतम, करुप, कण्व वात्स्य, कात्यायन, सौभरि, वामदेव, याज्ञवल्क्य, पाणिनी, ऋष्यशृङ्ग, गौरमुख, भरद्वाज, वामन व्यास, शृङ्गी, सुमन्तु, जैमिनी कच, पराशर, मैत्रेय,तथा वैशम्पायन ये सभी ऋषि मुनि पधारते हैं, ये ही विधिवत् इन्द्रयाग कराते हैं।"

भगवान् ने पूछा—"बाबा! यह किस उद्देश्य से किया जाता है?"

नन्दजी ने झिड़ककर कहा—"अरे, उद्देश फुद्देश पूछ के क्या करेगा। यज्ञ होता है, बस इतना ही समझ ले।"

नम्रता के साथ भगवान् ने कहा—"देखिये, पिताजी! आप क्रुद्ध न हों, कोई बात छिपावें भी नहीं। देखिये संसार में तीन ही प्रकार के लोग होते हैं। शत्रु, मित्र और उदासीन। जो अपने सुख दुःख में सदा साथ रहते हैं अपना सदा भला चाहते हैं, वे तो मित्र कहाते हैं, जो अपने से द्वेष रखते हैं, अपना अनिष्ट चाहते हैं, वे शत्रु कहलाते हैं। जो न इष्ट चाहते हैं न अनिष्ट सामान्य रीति से रहते हैं वे उदासीन कहाते हैं। अहंता ममता से शून्य समदर्शी साधु पुरुष तो सबके साथ समान व्यवहार करते हैं, उनके लिये किसी के सम्मुख कोई बात छिपाने योग्य नहीं रहती। सबके सामने अपने मनो-

भावों को व्यक्त कर देते हैं।"

इस पर नन्दजी बोले—"देखो, बेटा! कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो किसी से कही जाती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो छिपाई जाती हैं।"

इस पर भगवान् ने कहा—"देखिये पिताजी! जहाँ तक हो, अपने मनोगत भावों को शत्रु से सदा छिपाता रहे। यदि कोई ऐसी बात हो, जिसका छिपना आवश्यक ही हो, तो उसे शत्रु से भी छिपावे उदासीन से भी छिपावे। जो अपने अन्तरङ्ग हैं, सुहृद् हैं, पुत्रादि हैं वे तो अपने आत्मा के ही सदृश हैं उनसे तो कोई बात छिपायी ही नहीं जाती।"

नन्दजी ने कहा—"अरे, भैया! छिपाने और प्रकट करने की तो ऐसी कोई बात नहीं, किन्तु हम एक वंशपरम्परागत उत्सव—इन्द्रयाग कर रहे हैं सदा से होता आया है, हम भी कर रहे हैं।"

भगवान् ने कहा—"सदा से होता आया है, इतना ही कहना पर्याप्त नहीं मनुष्य जो भी कार्य करता है उसका कुछ न कुछ तत्व समझकर तब करता है कोई कोई ऐसे भी काम होते हैं, जिनके विषय में कुछ समझते बूझते तो हैं नहीं, वैसे ही कर लेते हैं। पाप और पुण्य-कर्म चाहे समझकर किये जायँ, अथवा बिना समझे बूझे, फल तो दोनों का ही कुछ न कुछ होगा, किन्तु समझकर किये हुए कर्मों का जैसा फल होता है वैसा बिना समझे किये हुए कर्मों का नहीं होता। इसलिये आप जो यह यज्ञोत्सव करने वाले हैं, इसके फल के सम्बन्ध में कुछ जो जानते हो, उसे मुझे भी बता दें। यह जो आप यज्ञ कर रहे हैं, वह शास्त्र सम्मत है या लोक परम्परा से चला आया लौकिक कर्म है। इस विषय को जानने के लिये मेरे मन में बड़ा कुतूहल हो रहा है, आप इसके

सम्बन्ध की जितनी बातें हों, उन्हें मुझे स्पष्ट करके समझा दें। मैं आपका आज्ञाकारी पुत्र हूँ पुत्र को तो बिना पूछे ही उपदेश देना चाहिये, फिर जब वह श्रद्धा से पूछ रहा हो तब तो कहना ही क्या ?"

भगवान् की ऐसी नम्रता और प्रेम में सनी वाणी सुनकर नन्दजी बोले—"अच्छा, मैं इस विषय को बताता हूँ। देख, बेटा ! इस यज्ञ का नाम इन्द्र याग है। ये जो आकाश में मेघ दिखायी देते हैं भगवान् इन्द्र इन सबके अधिष्ठातृदेव हैं। मेघ उनकी आत्म मूर्ति ही हैं जल की वर्षा इन्द्र ही करते हैं; जिससे प्राणियों का जीवन चलता है। वर्षा से सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं, मेघों के पति भगवान् इन्द्र जो जल की वर्षा करते हैं उससे अन्न आदि उत्पन्न होते हैं। उसी अन्न से हम प्रति वर्ष जल बरपाने वाले अमराधिप इन्द्र की पूजा करते हैं। यज्ञ से जो शेष अन्न बचता है, इससे हम धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी अपने समस्त व्यवहारों को चलाते हैं। हम लोग तो केवल श्रम ही कर सकते हैं, उस श्रम का फल तो मेघपति इन्द्र ही देते हैं। इस यज्ञ को हमारे पूर्वज भी करते आये हैं, हम भी करते हैं। इस परम्परागत धर्म को जो पुरुष किसी के भय से धनादि के लोभ से या देवताओं से द्वेष करने के कारण त्याग देते हैं, उनका कभी कल्याण नहीं होता। यही भैया हमने तो सुना है समझा है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् तो सर्वज्ञ थे, वे सब कुछ जानते थे, उन्हें तो इन्द्र का अभिमान चूर करना था, जैसे ब्रह्माजी भगवान् की महिमा को नहीं समझ सके थे, वैसे इन्द्र भी उनकी महिमा को नहीं समझे थे। उसे अभिमान हो गया था, कि मैं ही तीनों लोकों का एक मात्र ईश्वर हूँ। अतः उसके इस अभिमान को चूर करने, उसे क्रोध

निमित्त भगवान् एक विचित्र ही तर्क उपस्थित करने लगे। उन्होंने युक्तियों द्वारा जो तर्क दी है, इन्द्र का यज्ञ करने में अपनी असम्मति प्रकट की है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

तब बोले ब्रजराज इन्द्रकी पूजा भैया।
जो बरसावें नीर होहिं तृन खावें गैया॥
जल ही जीवन कह्यो इन्द्र हैं जीवन दाता।
त्रिभुवन पति सर्वेश स्वर्गपति विष्णु विधाता॥
नन्द वचन सुठि सरल सुनि, हँसि बोले ब्रज चन्द्र तब।
जड़ चेतन चर अचर जग, पिता कर्म-वश भ्रमहिं सब॥

भगवान् द्वारा कर्मवाद का उपदेश

(९४७)

देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा ।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥
तस्मात् सम्पूजयेत् कर्मस्वभावस्थः स्वकर्मकृत् ।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० २४ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

जीव कर्मवश होहि कर्मवश ही मर जावै ।
करे शुभाशुभ कर्म दुःख सुख तैसो पावै ॥
बँधे कर्ममहँ जीव इन्द्र का करे विचारो ।
तैसो तब तनु मिले कर्म जस होहिं हमारो ॥
कोउ न सुख दुख दै सकै, सब तै कर्म विशिष्ट है ।
जाकी जातें जीविका, चले तासु सो इष्ट है ॥

संसार में जितने भी वाद हैं सब भगवान् को ही तो लेकर हैं। कोई कहता है भगवान् हैं, कोई कहता है भगवान्

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! श्रीनन्दजी से भगवान् कह रहे हैं—'पिताजी! यह जीव अपने कर्म के अनुसार ही उत्तम और अधम शरीरों को ग्रहण करता है और छोड़ता है। वह कर्मों के अनुसार ही शत्रु, मित्र और उदासी का व्यवहार करता है। इसीलिये कर्म ही सबका गुरु है वही ईश्वर है। इसलिये मनुष्यों को कर्म की ही पूजा करनी चाहिये और पूर्व संस्कारों के अनुसार अपने वर्णाश्रम धर्म का

नहीं हैं। जो कहता है भगवान् हैं वह भी भगवान् के ही गुण गाता है, जो कहता है भगवान् नहीं हैं, वह भी भगवान् के ही सम्बन्ध में चर्चा करता है। एक उन्हें आस्ति रूप से मानता है दूसरा उन्हें नास्ति रूप से मानता है। उनकी सत्ता स्वीकार किये बिना आस्ति, नास्ति कुछ कहना बनता ही नहीं। जो कहते हैं 'आस्ति' उनमें भी बड़े वाद हैं। कोई कहता है वे शिवरूप है, कोई विष्णु रूप बताता है। कोई दुर्गा, सूर्य, गणेश, कर्म, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत आदि आदि अनेक प्रकार से उनकी मीमांसा करते हैं। इस प्रकार जितने वाद विवाद हैं उन्हीं को लेकर है पक्षी आकाश के भीतर ही उड़ेगा। वह सोचे—"इस आकाश ने तो हमें बंधन में बाँध रखा है। अब हम इसे मानेंगे ही नहीं। पक्षी माने चाहे न माने उड़ना उसे आकाश मे ही होगा। आकाश छोड़ कर वह कहीं जा नहीं सकती। इसी प्रकार कुछ लोग कहते हैं—'संसार में जितने झंझट हैं ईश्वर को ही लेकर हैं, अतः ईश्वर का ही बहिष्कार करो। ईश्वर को ही मानना छोड़ दो। भले ही छोड़ दो, किन्तु ईश्वर के बिना रह नहीं सकते। जो भी कल्पना करोगे, जो भी वाद खड़ा करोगे उसका आधार तो ईश्वर ही होगा। मीमांसक लोग कर्म को ही ईश्वर मानते हैं। जो जैसा कर्म करेगा वह वैसा फल पावेगा। कर्म के अतिरिक्त वे किसी अन्य ईश्वर को नहीं मानते, अतः उन्हें कोई कोई नास्तिक भी कहते हैं, किन्तु कहनेसे क्या हुआ नास्तिक भी हो तो उसका भी मूल आधार तो भगवान् ही हैं। भगवान्को ही लेकर तो उनका वाद आरंभ होता है, भगवान ने कुछ ऐसी मोहनी माया फैला रखी है कि सभी

पालन करते रहना चाहिये। जिसकी जिसके द्वारा सुगमता से आजीविका चलती है वही उसका इष्ट देव है।

अपने अपने वाद को सत्य मानते हैं। अद्वैतवादी कहते हैं भगवान् एक अद्वैत हैं। भगवान् चुपके से उनके कान में कह देते हैं-"हाँ, मैं अद्वैत ही हूँ।" दूसरा कहता है, नहीं भगवान् द्वैत हैं, तो आँख बचाकर उनके भी कान में भगवान् कह देते हैं—"तेरा ही कथन यथार्थ है मैं द्वैत ही हूँ।" ऐसे ही आस्तिक नास्तिक दक्षिणमार्गी वाम मार्गी, शैव, शक्त, गणपत्य, सौर तथा वैष्णव सभी को वे फँसाये हुए हैं।

सूतजी कहते हैं-"मुनियों! भोले भाले गोप इन्द्र को ही समस्त कर्मों का फलदाता मानकर उसकी पूजा करते थे और इन्द्र को भी अभिमान हो गया था, कि मैं ही सबका स्वामी हूँ, अतः दोनों के कल्याण के निमित्त भगवान् कर्मवाद की प्रशंसा करने लगे, वे सब गोपों को सुनाते हुए नन्दजीको सम्बोधित करते हुए बोले—"पिताजी! आप कहते हैं इन्द्र जीवनदाता है, यह बात सत्य नहीं है जीव तो कर्मों के अधीन है। सभी प्राणी अपने अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न होते हैं और कर्मानुसार ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सुख, दुख, भय, शोक, हानि, लाभ, यश, अपयश, क्षेम तथा मान प्रतिष्ठा ये सभी सबको कर्मानुसार प्राप्त होती हैं।"

नन्दजी ने कहा—"अरे, भाई! कर्म तो जड़ हैं वे भला स्वतः सुख दुख क्या दे सकते हैं। कोई लोहका यन्त्र है किसी विधि से वह चलता है यदि उसे कोई चलाने वाला न हो तो चलेगा नहीं। चलेगा तो चलता ही रहेगा। इसी प्रकार फल कर्मानुसार मिलता है, यह बात तो सत्य है किन्तु इन कर्मों का फल देने वाला भी तो कोई होगा। तब वह कर्म फल देने वाला बड़ा हुआ या कर्म बड़े हुए?"

भगवान् बोले—"फल देने वाले की तो कोई आवश्यकता नहीं यह सब प्रपञ्च काल, कर्म और स्वभाव के अनुसार चल रहा है।

जिस काल में जीवों के कर्म भोगोन्मुख होते हैं, तो स्वभावानुसार जीवों की ऐसी ही प्रवृत्ति हो जाती है। स्वातिकी बूंद गधे की लीद में पड़े तो उससे स्वभावानुसार अपने आप बिच्छू पैदा हो जाते हैं। जल भी जड़ है, गोबर भी जड़ है उन दोनों के संयोग से स्वभावानुसार चैतन्य जीव हो जाते हैं। अच्छा थोड़ी देर को मानलो फल देने के लिये सुख दुःख आदि फलों को देनेवाला कोई ईश्वर है, तो रहे। उसके रहने से कर्म का अश्रेष्ठत्व तो सिद्ध नहीं होता, फलदेने वाला जो भी होगा, वह कर्म के ही अनुसार तो फल देगा। जिसने कर्म किया होगा उसीको तो फल देगा। जिसने कर्म नहीं किया है, उसे तो फल देने में वह समर्थ नहीं है। एक आदमी प्रवेश पत्र बेच रहा है। जो नियत मूल्य देता है, उसे वह प्रवेशपत्र थमा देता है, तो बड़ा द्रव्य हुआ या बेचने वाला। बिना द्रव्य के वह दे नहीं सकता। वह भी द्रव्य के ही अधीन होकर बेचने का काम कर रहा है, अतः प्रधानता तो द्रव्य की ही रही। इसी प्रकार कर्मों के फल देने को तुम किसी की कल्पना कर भी लो, तो वह भी तो कर्माधीन होकर ही फल देगा।"

नन्दजी ने कहा—"भाई, देने वाला तो वही है।"

भगवान् ने कहा—"देनेवाला वह कहाँ है। पूर्व संस्कारों के अनुसार जिसके जो भाग्य में बदा है उसे तो वह फलदेने वाला भी अन्यथा नहीं कर सकता। कर्मानुसार प्राप्त वस्तु तो हमें अवश्य मिलेगी। जब जीव कर्मों के ही अनुसार अनुसरण करते हैं, कर्मों के फल स्वरूप ही सुख दुख भोगते हैं, तो फिर इन्द्र से क्या प्रयोजन ?"

नन्दजी ने कहा—"भाई, यह बात तो हमारी बुद्धि में बैठती नहीं। एक दिन एक समय में दो बच्चे पैदा हुए। एक तो अत्यन्त दरिद्र के घर उत्पन्न हुआ, दूसरा अत्यन्त धनी के यहाँ। पैदा होते

ही एक को तो समस्त सुख की सामग्रियाँ प्राप्त होने लगी दूसरे को भर पेट दूध भी प्राप्त नहीं होता। उन दोनों ने कोई कर्म तो किया नहीं, फिर एक को जन्मते ही सुख क्यों प्राप्त है और उसी काल में उत्पन्न दूसरे को दुख क्यों मिल रहा है ?

भगवान् ने कहा—"इस जन्म के कर्म न सही, पूर्व जन्मों में किये हुए कर्मके ही अनुसार उन दोनों का जन्म धनी और दरिद्र के यहाँ हुआ। एक का कर्म दूसरे को तो मिल नहीं जायगा। एक गौशाला में सहस्र गौएँ एकसी हैं। उनमें से जिसका बच्चा होगा, वह अपनी माता को पहिचानकर उसी का दूध पीने लगेगा। इससे सिद्ध हुआ जीव अपने पूर्व स्वभाव के पूर्व संस्कारो के अधीन है। देवता हों, असुर हों, मनुष्य हों, पशु, पक्षी, कीटपतंग तथा और भी समस्त चराचर जगत् के प्राणी सभी स्वभाव में, स्थित हैं। कोई उत्तम कर्म करने से उत्तम योनि को प्राप्त होता है, दूसरा अधम कर्म करके अधम योनि में जाता है। संसार में हमारा न कोई शत्रु है न मित्र न उदासीन। कर्म के ही अनुसार शत्रुता, मित्रता उदासीनता होती है, गुरु भी कर्मानुसार ही प्राप्त होता है। प्राप्त क्या होता है कर्म ही गुरु का रूप रखलेता है, कर्म ही गुरु है और ईश्वर भी कर्म ही है। सबसे अधिक आदरणीय कर्म ही है।"

नंदजी ने कहा—"अरे, बेटा ! कर्म तो हम कर ही रहे हैं। क्या यज्ञ करना कर्म नहीं है ?"

भगवान् बोले—"कर्म क्यों नहीं है, कर्म अवश्य है। मैं यह थोड़ेही कहता हूँ, आप यज्ञ न करें। यज्ञ अवश्य करें किन्तु कर्मका आदर करके यज्ञ करें। आपतो इन्द्र के भय से उसका आदर कर रहे हैं। इन्द्र को ही सब कुछ समझ रहे हैं। कर्म करने को तो मैं मना नहीं करता। कर्म तो सभी को करना ही चाहिये अपने पूर्व जन्मोंके

संस्कारानुसार जिसे जो वर्ण प्राप्त हो, जिसे जो आश्रम प्राप्त हो उसके अनुसार कर्म करे सदा कर्म का ही आदर करे।"

नन्दजी ने कहा—"अच्छा यह तो ठीक है, कर्म का आदर करे, किन्तु यज्ञादि में किसी को इष्ट मानकर ही तो पूजा की जाती है। अब इस यज्ञ में इष्ट किसे माने। पूजन किसका करें।"

भगवान् ने कहा—"देखिये, पिताजी! सबका एक इष्ट नहीं होता। कर्मानुसार सबके इष्ट पृथक पृथक होते हैं। जिसके कारण जिसकी जीविका सुगमतासे चले, उसके लिये वही उसका इष्टदेव है उसीका उसे पूजन करना चाहिये। एक मल्लाह है, उसकी आजीविका नौका से चलती है, तो उसे नौका को ही इष्ट मानकर पूजन करना चाहिये। ब्राह्मण है उसकी पुस्तक से आजविका चलती है उसे पुस्तक की पूजा करनी चाहिये क्षत्रिय है उसकी अस्त्र शस्त्र तथा हाथी घोड़ों से आजीविका चलती है तो उसे उन्हीं का पूजन करना चाहिये। वैश्य है उसकी तुला (तराजू) से आजीविका चलती है उसे तराजू का पूजन करना चाहिये। स्त्री की पति से आजीविका चलती है उसे पति की पूजा करना चाहिए। इष्ट को भोगलगाकर प्रसाद पाना चाहिये। किन्तु इष्ट बनावटी न हो, स्वभावानुसार हो। यह नहीं कि गंगा गये गंगादास यमुना गये यमुनादास अपने स्वभाव कर्मानुसार इष्ट हो।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बनावटी इष्ट कैसा होता है?"

सूतजी बोले—"सुनिये महाराज इसपर मैं एक हँसीका दृष्टान्त सुनाता हूँ। एक किसान था किसान बड़ा सरल था, किन्तु उसकी स्त्री बड़ी तिकड़मी थी। जीभ की बड़ी चटोरी थी। जो स्त्री जीभ की चटोरी होती है, वह अच्छी अच्छी वस्तुएँ बना बना कर चुपके चुपके उड़ा जाती है। अपने पति को तथा देवर जेठ को

पूछती भी नहीं। वह घरमें अकेलीथी। पति दिनभर खेतपर काम करता। पतिको प्रथम वह रूखी सूखी रोटी बनाकर खिलादेती और उसे हर बैल लेकर खेतपर भेज देती। पीछे अच्छी सी मैदा को माड़ती। माड़ते समय उसमें घी भी मिला देती उसका एक अंगा बनाती, उसे आगकी भूभरमें गाड़देती। शनै शनै राखमें पककर वह लाल हो जाता। पककर फूटकी भाँति खिल जाता तब उसे निकालती। उसकी राख झाड़ती। गीले कपड़ेसे उसे पोंछती। उसमें फिर टटका आजका बनाया सुन्दर सुगंधित घी मिलाती। बूरा मिलाती। प्रसाद तैयार होगया। अब किसीको इष्ट मानकर भोग भी लगाना चाहिये। वह अपने यथार्थ इष्ट पतिको तो ठगनाही चाहती थी, इसलिये उसने घरकी देहली को बनावटी इष्टदेवी बनालिया। उस प्रसादका नाम उसने रखा था "भूभरिया भोग" क्योंकि यह भोग भुभरमें ही पकता था। इसलिये वह अपनी इष्ट देवी देहलीके ऊपर बैठ जाती और इस मन्त्रको पढ़ती—'सुनि सुनि री देहरिया रानी। मेरे नहीं सास जिठानी। जो तेरी आज्ञा पाऊँ, तो भुभरिया भोग लगाऊँ।" इस मंत्रको पढकर अपने ही आप फिर कह देती हाँ लगाइले लगाइले" बस जल छिड़क कर उस भूभरिया भोगको मट्ट मट्ट खा जाती। ऐसा सुन्दर नित्य भुभरिया भोग पाते पाते वह लाल पड़ गई। किसान बेचारा दुबला पतला होता जाता था। उसने सोचा घरमें तो रोटी और सागही बनता है उससे यह लाल क्यों पड़ती जाती है। कुछ न कुछ इसमें कारण है। वह इसकी खोज लगाने लगा।

शत्रु मित्र तो सभीके होते हैं, किसीने किसान से कहा—"तेरी बहू तो नित्य भुभरिया भोग उड़ाती है। एक दिन वह चुपकेसे खेतमें से लौटकर घर आया। संयोगकी बात उसी समय उस स्त्रीका 'भुभरिया भोग' तैयार हुआ था। अपनी

इष्ट देवी देहरी पर बैठकर वह इस मंत्रको पढ़रही थी "सुनि सुनि री देहरिया रानी,मेरे सास न जिठानी। जो तेरी आज्ञा पाऊँ तो भूभरिया भोग लगाऊँ, फिर अपने ही आप बोली "लगाइले लगाइले" इतना कहकर मट्ट मट्ट उस भोग को खागई। किसान लौटकर खेतपर चला आया। उसने सोचा—"मेरी स्त्री तो बड़ी तिकड़मिनि है, मालभी उड़ाती है और भोग लगाकर खाती है। उहने देहलीको बनावटी इष्टदेवी बना रखा है। मैं भी ऐसा ही एक बनावटी इष्ट देव बनाऊँ और इसे इसकी करनी का फल चखाऊँ। यह सोचकर उसने अन्न भरने के अरे (कुठला) को अपना बनावटी इष्ट बनाया।

दूसरे दिन नियमानुसार उस स्त्रीने फिर भूभरिया भोग बनाया। आज किसान पहिलेसे ही आकर छिपा था। जब उस ने भोग लगाकर देहली पर बैठकर यह मन्त्र पढ़ा—"सुनि सुनि री देहरिया रानी, मेरे सास न जिठानी।" जो तेरी आज्ञा पाऊँ तो भूभरिया भोग लगाऊँ और अपने ही आप लगाइले लगाइले" कहकर खाने लगी तभी किसान डंडा लेकर निकला और सामने के अरे को हाथ जोड़कर बोला—"सुनि सुनि रे भैया अरे, मेरे ससुर न सारे। जो तेरी आज्ञा पाऊँ, तो जा– "ठगिनी पै कुतक बजाऊँ फिर–अपने आपही बोला—"बजाइलै बजाइलै" ऐसा कहकर—फिर उसने उसकी अच्छी प्रकार डंडोंसे पूजा की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसे बनावटी इष्ट कहते हैं। यह दम्भ है पाप है। जिससे अपनी आजिविका चले उसीको इष्ट मानकर पूजना चाहिए। भगवान् कर्मवाद की पुष्टि करने को ये सब बातें कह रहे हैं। गोपोंको समझाते हुए कह रहे हैं— "देखो, भाई! जिससे अपनी आजिविका चले उसी एक देवताकी पूजा उपासना करनी चाहिये। जो आज एक की उपासना कर

रहा है; कल दूसरे की परसों तीसरे की—इस प्रकार करने वाले को कभी शान्ती नहीं होती। जैसे व्यभिचारिणी स्त्री है, आज एक से प्रेम किया, कल दूसरे से परसों तीसरे से। उसका किसी में स्थाई प्रेम नहीं होता वह नित्य नये पति बनाती है और उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करती है। जैसे उसे कभी शान्ति नहीं मिलती उसी प्रकार इधर से उधर नित्य इष्ट बदलने वाले को शान्ति नहीं मिलती।

नन्दजी ने कहा—"तो भैया! किसी का इष्ट कौन हो सकता है? हमें किसकी पूजा करनी चाहिए?"

भगवान् बोले—"देखो, ब्राह्मण की वृत्ति वेद से है अतः वेद ही ब्राह्मण का इष्ट है। क्षत्रिय की वृत्ति पृथिवी का पालन है, अतः पृथिवी ही उसकी इष्ट देवी है। वैश्य की वृत्ति व्यापार है, अतः लक्ष्मी उनकी इष्ट है। शूद्र की वृत्ति सेवा है अतः द्विजाति ही उनके इष्ट है। वैश्यों की वृत्ति चार प्रकार की बताई है, खेती करना व्यापार करना गोरक्षा करना तथा व्यापार से रुपये कमाना। इनमें एक से दूसरी निकृष्ट है। अर्थात् खेती करना सर्वोत्तम है, उससे नीचे व्यापार है, व्यापार से भी नीचे रस आदि की बिक्री है और सबसे नीच वृत्ति है व्याज से आजीविका चलाना।"

नन्दजी ने कहा—"तो फिर भैया। हम लोग किस में रहें?"

भगवान् ने कहा—"हम लोग खेती, व्यापार या लेन देन तो करते नहीं हमारी तो एक मात्र आजीविका गोरक्षा ही है। गौएँ ही हमारी इष्ट देवी हैं। अतः हम लोगों को गौओं की पूजा करनी चाहिये और गौओं को जहाँ से आहार मिलता है, उस गोवर्धन की पूजा करनी चाहिये।"

नन्दजी ने कहा—"अरे, भैया, गोवर्धन तो गौओं को घास देता ही है, किन्तु यदि इन्द्र वर्षा न करें तो गोवर्धन पर घास होगी कैसे ? वर्षा करने वाले तो इन्द्र ही हैं।"

भगवान् ने कहा—"पिताजी ! मैं पहिले ही बता चुका, इन्द्र भी एक कर्मानुसार देवता है। एक कल्प में चौदह मनु और चौदह इन्द्र बदल जाते हैं। जो स्वयं कर्म प्राप्त भोगों को भोग रहा है, वह क्या वर्षा कर सकता है ?" इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के द्वारा होती है। यह नाना योनियों वाले जीव स्त्री पुरुष के समागम द्वारा होते हैं। जब स्त्री तथा पुरुष के हृदय में रजो गुण जन्य काम की उत्पत्ति होती है तो रजवीर्य के सम्बन्ध से शरीर बन जाता है। इसी प्रकार जो गुण से प्रेरित होकर मेघ गण वर्षा करते हैं।"

नन्दजी ने पूछा—"मेघ वर्षा अपने आप कैसे कर सकते हैं, उनसे इन्द्र ही तो वर्षा कराते हैं।"

भगवान बोले—"पिताजी ! आप देखते हैं, प्रत्येक सम्वत् सर के जलेश, धन्येश, राजा तथा मंत्री पृथक् पृथक् होते हैं। सूर्य अपनी किरणों द्वारा समुद्र से, नदियों से, कूप तथा सरोवरों से तथा समस्त प्राणियों के शरीर से उष्ण काल में जल खींचते हैं। वर्षाकाल में उस जल को वे बादलों को दे देते हैं। वायु की प्रेरणा से मेघ आपस में टकराते हैं जिससे गर्जना होती है, फिर वे स्थान स्थान पर जल वर्षाते हैं। उस जल से तृण, वृक्ष, गुल्म लतायें तथा ओषधियाँ होती हैं, उन पर फल लगते हैं। उन्हीं से अन्न होता है, जिससे प्राणियों का जीवन चलता है। सब अपने अपने प्रारब्ध कर्मों के अनुसार भोग भोगते हैं। कर्मों से ही दुःख, जन्म, मरण, रोग, शोक, उत्पत्ति, विपद्, संपत्, विद्या, बुद्धि, कविता, कला, यश, अपयश, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग, मुक्ति, मुक्ति तथा

भगवान् में भक्ति होती है। कर्मानुसार ही समय समय पर वर्षा होती है, फिर इसमें इन्द्र की क्या आवश्यकता है ?"

नन्दजी ने कहा—"भैया ! वंश परम्परा से यह पूजा चली आई है। सब लोग इसे करते आये हैं। कुलागत धर्म को कैसे छोड़े ?"

भगवान् बोले—"पिताजी यह सब बातें तो नगर निवासी नागरिकों के लिये या पुरवासियों अथवा नगर वासियों के लिये हो सकती हैं। हमारे न कोई पुर हैं, न नगर है और न ग्राम ही। हम तो वनवासी हैं, नित्य ही वनों में पर्वतों की कन्दराओं में रहते हैं। शकट ही हमारे घर हैं। जहाँ इच्छा हुई गाड़ा जोत दिये गौओं को बाँध दिया हमारा निवास स्थान बन गया। हम कोई एक स्थान में घर बना कर तो रहते नहीं। जिस वन में गौओं के लिये सुन्दर घास देखी जल का सुपास देखा यहीं डेरा डाल दिया। हमारे तो इष्ट ये हमारे पुरोहित ब्राह्मण हैं, ये गौएँ हैं और यह गिरिराज गोवर्धन पर्वत है। यही हमारे पूज्य हैं, इन्हीं की पूजा करनी चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने इस प्रकार अनेक युक्तियाँ देकर इन्द्र के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ का खण्डन किया। तो सभी गोप आश्चर्य चकित हो गये। प्रतिवर्ष यज्ञ करते थे, अतः यज्ञ किये बिना रह भी नहीं सकते थे, साथ ही उन्होंने श्रीकृष्ण के अनेक अलौकिक कर्म देखे थे। अनेकों असुरों को भगवान् ने बात की बात में मार दिया था। भगवान् के दर्शनोंको बहुत से ऋषि-मुनि आते थे, वैसे भी भगवान् की रूप माधुरी वेणुमाधुरी और लीलामाधुरी के कारण सभी व्रजवासी आकृष्ट थे अतः वे उनकी इच्छा के विरुद्ध भी कुछ करना नहीं चाहते थे। इसलिये उन्होंने भगवान से ही पूछा कि

क्या ? जो हमें करना हो, जिसके करने से अनिष्ट न हो सुख शान्ति की प्राप्ति हो, उसी कर्म का हमें उपदेश करो। इस पर भगवान् ने जो गोवर्धन पूजन का प्रस्ताव किया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

विप्रवेद तैं करें जीविका क्षत्रिय महि तैं।
वैश्य वनिज कृषि धेनु व्याजके मिले धनहि तैं॥
करिके सेवा शूद्र द्विजनिकी वृत्ति चलावें।
जो स्वधर्म महँ रहें अन्त महँ सद्गति पावे॥
देहिं घास, जल मूल फल, गोप इष्ट गिरिराज हैं।
पूजो गिरिवर धेनु द्विज, पूरन सबही काज हैं॥

—:०:—

गोवर्धन पूजा का प्रस्ताव

(९४८)

तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः ।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० २४ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

पूरी छुन छुन छनें कचौरी खस्ता सुन्दर ।
रबड़ी लच्छेदार खीर केशरिया सुखकर ॥
हलुआ मोहनथार जलेबी पेरा मठरी ।
टिकिया पूआ बड़े सोंठ पापर अरु पपरी ॥
व्यञ्जन सब सुन्दर बनें, दाल, भात, रोटी कढ़ी ।
साग रायते विविध विधि. उड़द मूँग आलू बड़ी ॥

वास्तवमें पूजा वही सुन्दर सुखकर और रुचिकर होती है, जिसमें तर माल मिले । जहाँ सूखे शङ्ख बजते हों, ऐसी पूजाको तो घर बैठे ही हाथ जोड़ दे । जिसमें प्रसादका डौलडाल नहीं वह पूजा ही

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान नन्दजी से कह रहे हैं—"देखो पिताजी ! हम लोग वनवासी हैं, इसलिये सब लोगों को मिलकर गौओंकी ब्राह्मणोंकी और गोवर्धनपर्वतकी पूजा करनी चाहिये । जो सामग्री आपने इन्द्रयाग के लिये एकत्रित की है इसीसे यह गोवर्धन-पूजन यज्ञ हो ।"

क्या ? शुभकर्मका फल शुभ प्रसाद है। मनकी परम प्रसन्नता ही सबसे बड़ा प्रसाद है, जिस कर्ममें मन आह्लादित होता हो। जिस पूजामें सभीको समान उत्साह हो, वही पूजा पूजा है। शेष तो पेटपूजा है अपने व्यवसायके ढङ्ग हैं। केवल आजीविकाके लिये की हुई पूजा व्यवसाय चलानेका उपकरण मात्र है। पूजाकी सफलता इष्टके प्रकट होनेमें है। जिस पूजासे इष्ट प्रकट हो जाय, वही यथार्थ पूजा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अनेक युक्तियोंसे भगवान्‌ने इन्द्रकी पूजाका निराकरण किया, तो नन्दजीने पूछा—"अच्छा, भैया ! अब तू ही बता, किसका पूजन करें ? किसके उद्देश्यसे यज्ञ करें ?"

भगवान् बोले—"पिताजी ! प्रत्यक्ष देवोंको छोड़कर परोक्ष देवोंके पीछे क्या पड़ना ? पृथिवीपर गौ, ब्राह्मण और गोवर्धन-पर्वत ये ही तीन प्रत्यक्ष देव हैं। इन तीनोंका ही पूजन हो। गिरिराजका तो भोग लगे। वेदपाठी ब्राह्मण आवें, विधि विधान पूर्वक अग्निहोत्र करें। नाना प्रकारके द्रव्य, अन्न, वस्त्र तथा गौएँ दान दक्षिणामें पावें। गौओंको सजाया जाय, उन्हें हरी हरी घास खिलायी जाय। मेरी बुद्धिमें तो ऐसा ही उत्सव मनाना चाहिये।"

नन्दजीने पूछा—"तो भैया ! इस तेरे यज्ञके लिये फिरसे नयी सामग्री इकट्ठी करनी होगी क्या ?"

भगवान् बोले—"अजी, नहीं पिताजी ! नयी सामग्रीकी क्या आवश्यकता है, आपने जो यह इतनी सामग्री इन्द्रयागके निमित्त एकत्रित की है, उसीसे इस यज्ञका अनुष्ठान होने दीजिये। किन्तु एक बात है, मेरा देवता इन कच्चे जौ तिल चावलसे स्वाहा-स्वाहा करनेसे सन्तुष्ट होनेवाला नहीं है। इसके लिये तर माल चाहिये।

नन्दजी ने कहा—"हाँ, भैया ! यही तो हम पूछते हैं, क्या क्या माल चाहिये। तेरे देवताओं का तो हम स्वभाव अभी जानते भी नहीं, यह भी नहीं जानते वह कौन-सी सामग्री से सन्तुष्ट होगा। अब तक तो हम प्रति वर्ष इन्द्र की ही पूजा करते थे। हमारे लिये तो गोवर्धन नया ही देवता है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, आपने आज तक अपने देवता को कभी प्रत्यक्ष भोग लगाते देखा है ?"

नन्दजी ने कहा—"भैया ! देवता तो परोक्ष प्रिय होते हैं। अग्नि देवताओं का मुख है, वे ही सब देवताओं को हवि पहुँचाते हैं। हमने अग्नि में शाकल्य जलते तो देखा है। इन्द्र को प्रत्यक्ष खाते तो देखा नहीं। खाते क्या, आज तक हमने तो कभी इन्द्र के दर्शन भी नहीं किये।"

भगवान् बोले—"आप मेरे देवताओं को देखें, वह प्रत्यक्ष होकर आप सबके सम्मुख प्रसाद पावेगा। आप सब उसे प्रसाद पाते हुए देखेंगे।"

इस पर सब गोप आनन्द के साथ बोल उठे—"बाबा ! बाबा ! अबके कनुआ के ही देवता की पूजा करो। इन्द्र को इतने दिनों से पूजा कर रहे हैं, इन्होंने तो कभी दर्शन दिये नहीं। कनुआ का देवता सबके सम्मुख प्रकट होगा, यह बड़े आनन्द की बात है, हम सब उसके दर्शन करेंगे।"

यह सुनकर नन्दजी बोले—"अच्छी बात है, यदि आप सबकी ऐसी ही सम्मति है, तो ऐसा ही हो, किन्तु देवता नया है, कनुआ ही उसकी नस नाड़ी को पहिचानता होगा, इससे पूछ लो, वह क्या खाता है। वे ही वस्तुएँ उस देवता के लिये तैयार की जायँ।"

भगवान् बोले—"मेरे देवता के खाने की बात मत पूछो, वह खाता बहुत है और नाना भाँति के खट्टे, मीठे, चरपरे, कसैले,

कड़वे तथा नमकीन इन षडरसों से युक्त भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य इस प्रकार चारों प्रकार के पदार्थों को उड़ाता है। अब सब लोग इन पदार्थों को यथेष्ट बनावें।

नन्दजी ने कहा—"अरे, कुछ के नाम तो बता दे।"

भगवान् बोले—"नाम क्या बताऊँ, कच्चे, पक्के, फलाहारी, दूध चरके सभी पदार्थ बनें। टकोरेदार सुन्दर पतली-पतली फूली फूली पूड़ियाँ छनने दो। रबड़ी के समान अधौटा दूध की खीर घुटने दो। सभी प्रकार के पदार्थ बनें। पूड़ी, पूआ, कचौड़ी, सकलपारे, टिकियाँ, बड़े, गुँजियाँ, लड्डू, तिकोना, समोसे सभी बनाये जायँ। दूध का खोया बनाकर उससे लड्डू, पेड़ा, बरफी, गुलाबजामुन, गुँझियाँ आदि खोये की मिठाइयाँ बनायी जायँ। दूध को फाड़कर उसके छैंने से रसगुल्ला, चमचम, लॉवगलता आदि मिठाइयाँ बनें। छैंना का नमकीन साग भी बने। दूध की खीर बने, रबड़ी बने, खुरचन बने। मलाई की पूड़ियाँ बने मलाई के पूए बनें और भी मलाई की जो मिठाई बनती हों सब बने। दही से श्रीखण्ड बने, पंचामृत, दही बड़े बने, सौंठ बने। कद्दू धोया, बथुआ, निकुती, ककड़ी, पोदीना आदि के रायते बने। मूँग उड़द की दाल की पकोड़ियाँ बड़े, इमरतियाँ आदि बनें। मूँग की दाल की कढ़ी भी बने। बेसन के लड्डू, निकुती, नमकीन, पपड़ी, सकलपारे आदि अनेक व्यंजक बनें। गेहूँ के आटे की जितनी वस्तुएँ बना सको बनाओ। सूजी का स्वादार संयाव-हलुआ-बने जिसमें गोवर्धन को दाँत लगाने की भी आवश्यकता नहीं। मुख में रखा, कि सट्ट गले से नीचे उतर गया। यह बात नहीं कि हमारे देवता के यहाँ पक्की रसोई कच्ची रसोई का विचार हो। यह कच्ची पक्की में भेद-भाव नहीं मानता। आप पतले पतले फूले फूले फुलका बनायें। मिस्सी नमकीन रोटियाँ बनावें। मूँग उड़द की दाल की

चुनी मिलाकर नमकीन हाथ की गोचादार रोटियाँ बनावें। बढ़िया सुगन्धित बाँसमती चावल भी बने। फिलौरी और पकौड़ीदार कढ़ी भी बने। जितने प्रकार के साग मिलें सबको पृथक् पृथक् भी बनाओ और एक में मिलाकर भी बनाओ। अन्नकूट ही जो ठहरा। बाजरे को कूटकर उसका भी भात बनाओ। मेरा देवता फलाहार भी उड़ाता है; अतः कूट के रामदाने के भी जितने पदार्थ बना सको उनको भी बनाओ। ऋतु के जो भी फल मिल सकें सबको एकत्रित कर लो। कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि जितने भी पदार्थ बना सकते हो सब बनाओ। कम से कम छप्पन प्रकार के पदार्थ तो हों ही। अधिक जितने भी हों उतने ही अच्छे। दाल भात से लेकर खीर, पूड़ी पूआ, हलुआ सभी बनें।

गिरिराज गोवर्धन की पूजा करके उनका भोग लगाकर, प्रसादी पदार्थों से ब्राह्मण से लेकर चांडाल पतित पर्यन्त, गौ से लेकर कुत्ते तक सभी को तृप्त करो। सबको यथायोग्य देकर फिर तुम सब भी अपने बन्धु बान्धव तथा जाति कुटुम्ब वालों के सहित प्रसाद पाओ। प्रसाद पाने के अनन्तर सभी स्त्री पुरुष आबाल वृद्ध अच्छे अच्छे नये वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर गिरिराज गोवर्धन की जय जयकार बोलते हुए उनकी प्रदक्षिणा करो। गौओं और ब्राह्मणों की भी प्रदक्षिणा करो। पिताजी! मेरी तो सम्मति यही है, फिर आप सब बड़े हैं, जो उचित समझें वही करें। इस यज्ञ से गौएँ बहुत प्रसन्न होंगी। ब्राह्मणों का पूजन होगा, उन्हें दान दक्षिणा मिलेगी, अतः वे भी प्रसन्न होंगे। गिरिराज गोवर्धन पर्वत प्रत्यक्ष होकर आपको दर्शन देंगे और आपकी की हुई पूजा को ग्रहण करेंगे। मुझे भी इस गोवर्धन पूजा से बड़ी प्रसन्नता होगी।"

यह सुनकर नन्दादि गोप बोले—"भैया! हमें तो तेरी ही

प्रसन्नता चाहिये। जिस बात में तू प्रसन्न रहे, उसे तो हम प्राणों का पण लगाकर करने को तत्पर हैं; और चाहें जो रूठ जायँ तू न रूठना चाहिये। हमें तो तुझे प्रसन्न करना है। तुझे प्रसन्न कर लिया तो, मानों विश्व ब्रह्माण्ड को प्रसन्न कर लिया।"

इस पर कुछ दुर्बल हृदय के गोप बोले—"भाइयो! सब बात समझ बूझ लो। इन्द्र सभी देवताओं के राजा हैं। पूजा न होने से ऐसा न हो, वे क्रुद्ध हो जायँ। क्रुद्ध होकर उन्होंने वर्षा बन्द कर दी, तो हमारा तो सर्वनाश हो जायगा।"

इस पर दूसरे भगवत् विश्वासी गोप बोले—"अरे, तुम लोग इतने दिन से कृष्ण के बल पुरुषार्थ को देख रहे हो, फिर भी तुम्हें विश्वास नहीं होता। जिसने बाल्यकाल में ही पूतना, तृणावर्तासुर, शकटासुर आदि को मारा अघासुर, बकासुर, धेनुकासुर आदि दैत्यों को बलदेवजी के साथ मारा, इतने प्रचंड पराक्रमी कालिय को यमुना हृद से निकाला, क्या वह इन्द्र के मान को मर्दन नहीं कर सकता। क्या वह क्रुद्ध हुए शक्र के गर्व को खर्व करने में समर्थ नहीं हो सकता। जिसने हम सबकी आँधी से वायु से तथा वर्षा से रक्षा की। जो दावानल को बातकी बात में पान कर गया, उसके आगे इन्द्र क्या करेगा। अब सब शङ्का को हृदय से निकाल दो और कृष्ण के कहे हुए देवता की निर्भय और निःशङ्क होकर पूजा करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार गोपों ने श्रीकृष्ण भगवान् की आज्ञा मानकर इन्द्र यज्ञ के स्थान में गिरिराज गोवर्धन की पूजा का निश्चय किया।"

छप्पय

व्यञ्जन सरस बनाइ शैलकूँ भोग लगाओ।
भोजन द्विजनि कराइ प्रेमतैं माल उड़ाओ॥
पावैं सब परसाद महोत्सव मधुर मनावें।
गिरि परिकम्मा करें गीत गोपी मिलि गावें॥
मेरी तो सम्मति जिही, जिह मख मम मतिमहँ खरो।
सुनि सब बोले गोप तब, कृष्ण कहे सोई करो॥

गिरिराज गोवर्धन की पूजा

(९४९)

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ।
शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरि बलिमाददृहद्वपुः ॥*
(श्री भा० १० स्क० २४ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

त्यागि इन्द्र मख गोप करें पूजा गिरिवरकी ।
भई विप्र, गिरि धेनुयज्ञमहँ सम्मति सबकी ॥
लागे छप्पन भोग श्याम गोवरधन बनिकें ।
करि करि लम्बे हाथ उड़ाये व्यंजन तनिकें ॥
खिचरी, पूरी, मिठाई, सटकें सट सट साग सब ।
देखि देव प्रत्यक्ष गिरि, भयो सबनि विश्वास अब ॥

भगवत् वचनों में विश्वास यही साधन की प्रथम और अंतिम सीढ़ी है। जो कर्म करे, भगवान् की आज्ञा समझकर करे। उसमें सुख हो उसे भगवान् को सौंप दे, दुख हो तब भी उन्हीं

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! गोपों को विश्वास दिलाने के निमित्त नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने एक अत्यंत डील डौल वाला वृहद्काय दूसरा स्वरूप धारण किया और यह कहते हुए कि मैं ही गिरिराज गोवर्धन पर्वत हूँ, उन्होंने सब भेंट पूजायें ग्रहण कीं।"

की शरण में जाय। ऐसे अनन्य उपासक के दुख सुख को मेंटकर श्यामसुन्दर परात्पर सुख देते हैं। जीव को रूढ़ियों में मोह हो गया है। वह अलौकिक वैदिक परम्पराओं को त्यागकर लोक वेद से परे निस्त्रैगुण्य होना चाहता नहीं। उन्हीं लोक मर्यादा आदि में फँसा रहना चाहता है। जब तक जीव सर्व धर्मों का मोह छोड़कर एकमात्र श्रीहरि का आश्रय नहीं लेता, तब तक श्रीहरि उसके सम्मुख प्रकट नहीं होते। जब तक देव प्रत्यक्ष नहीं होते, तब तक साधना पूरी नहीं होती अतः अपने को सर्वात्मभाव से भगवान् के अर्पण कर देना यही जीव का परम पुरुषार्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब इन्द्र याग की बात को तो गोप गण भूल गये। अब सभी गोवर्धन की पूजा की तैयारियाँ करने लगे। यज्ञों में इन्द्र का मद चूर्ण करना था। इसलिए उन्होंने ऐसी ऐसी अटपटी बातें स्वीकार कर लीं। उन्होंने जैसा कहा वैसा उन्होंने काम किया। सब लोग भाँति भाँति के व्यंजन बना बनाकर छकड़ों में लाद लादकर गिरि गोवर्धन पर्वत के समीप आये। वहाँ आकर विधिवत् संकल्प किया, स्वास्तिवाचन पूर्वक गिरिराज की षोडशोपचार पूजा की। पूजा के समय ही ब्राह्मणों ने कहा—गंगाजल स्नानं समर्पयामि।" हे व्रजराज! गिरिराज को अब गंगाजल से स्नान कराइये।"

तब घबराकर नन्दजी बोले—"ब्राह्मणो! गंगाजल की शीशी लाना तो हम भूल ही गये। अब क्या किया जाय, कहो तो जल से ही स्नान करावें।"

इस पर भगवान् बोले—"पिताजी! गंगादेवी तो सर्व व्यापक हैं। हमारा हार्दिक प्रेम होगा तो गंगाजी यहीं प्रकट हो जायँगी। जब प्रेम से परमात्मा प्रकट हो जाते हैं, तो गंगादेवी प्रकट न होंगी। आप प्रेम पूर्वक मन से गंगाजी का ध्यान करें।

यह सुनकर व्रजराज मन से पतितपावनी भगवती सुरसरि का ध्यान करने लगे। मन से ध्यान करते ही प्रभु की प्रेरणा से मानसी गंगा का स्रोत वहीं गिरिगोवर्धन से निकल पड़ा। काँच के समान स्वच्छ सुन्दर निर्मल नीर वहाँ हिलोरें लेने लगा, सबने कहा—"भैया! कनुआ का देवता तो बड़ा चत्मकारी है, देखो यहाँ गंगाजी बुलालीं। अब हम सब सदा इसी की पूजा किया करेंगे, किन्तु कनुआ कहता था, देवता प्रत्यक्ष प्रकट होगा, सो अब तक प्रत्यक्ष तो प्रकट नहीं हुआ।"

ब्राह्मणों ने जब पंचामृत स्नान, गंधस्नान, शुद्ध गंगाजलस्नान कराके, यज्ञोपवीत वस्त्र, अलंकार, धूप तथा दीप आदि देकर सब गोपों से नैवेद्य रखने को कहा, तो समस्त गोपों को विश्वास दिलाने के निमित्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वयं अपना एक विशालकायरूप प्रकट किया। बड़ा भारी डील डौल का स्वरूप बनाकर पर्वत के ऊपर खड़े होकर कहने लगे—"मैं ही गिरिराज गोवर्धन पर्वत हूँ।"

एक रूप से तो भगवान गोपों में ही मिले थे, दूसरे रूप से गोवर्धन बने पर्वत पर खड़े थे। गोप रूप से अब अपने सभी व्रजवासियों से बोले—"अरे, देखो! कैसा आश्चर्य है भाइयो! तुम्हारे प्रेम को धन्य है, तुम्हारी पूजा से प्रसन्न होकर गिरिराज स्वयं प्रकट हो गये हैं। उन्होंने मूर्तिमान होकर हम सब पर कृपा की है। हमारा बड़ा सौभाग्य है।"

गोपों ने देखा ये गिरिराज देखने में रूप रंग में, चितवन में कनुआ की ही भाँति दिखाई पड़ते हैं आश्चर्य चकित होकर गिरिराज की उस मनोहर मूर्ति को देखते के देखते ही रह गये। बार बार कहते—कनुआ के देवता का स्वरूप भी कनुआ की ही भाँति है।"

यह सुनकर भगवान् कहने लगे—"अरे, तुम लोग इतने

विस्मित क्यों हो रहे हो। ये गोवर्धननाथ सर्वशक्तिमान हैं। ये जैसा चाहे वैसा रूप धारण कर सकते हैं। ये पूजा करने वालों को इच्छानुसार फल देते हैं और जो वनवासी इनकी पूजा नहीं करते, निरादर करते हैं उन्हें ये यथेष्ट दंड देते हैं। नष्ट कर देते हैं इसलिये आओ हम सब मिलकर अपना और गौओं का कल्याण करने वाले इस प्रत्यक्ष देव को प्रणाम करें।"

यह कहकर अपने आप ही अपने रूप को प्रणाम करने लगे। समस्त गोपों ने भी उनका अनुकरण किया।

तब ब्राह्मणों ने कहा—"अच्छी बात है अब भोग लगाओ।"

यह सुनकर सभी गोप, पूड़ी, हलुआ, खीर, मोहन भोग आदि पदार्थ गोवर्धन के आगे रखने लगे। गिरिराज ने अब प्रसाद पाना प्रारम्भ किया। वे एक दो लड्डू नहीं उठाते। पूरी-की पूरी लड्डूओं की डलिया उठाई, सबको एक साथ चटकर गये। हलुए का पूरा थाल उठाया और गप्पा मार गये। खीर की कढ़ाई की कढ़ाई को सर्र से सपोट गये। सामने साग पड़ गया तो साग का ही सफाया कर दिया। रायते की हंडी आई तो उसे ही पी गये। गोपों ने देखा—"भैया! यह ऐसे ही खाता रहा, तो हमारे लिये तो कुछ प्रसाद छोड़ेगा नहीं। इसलिये कुछ लड्डूओं की डलियों को हलुए के थारों को गाढ़ों के नीचे सरकाने लगे। गोवर्धननाथ ने लम्बे हाथ किये और गाढ़ों के नीचे से ही लड्डूओं के टोकरों को उठाने लगे। तब गोप आपस में कहने लगे—"आनो और आनो अर्थात् और लाओ और लाओ।" इसीलिये गोवर्धन के समीप आनौर नामक ग्राम अभी तक विद्यमान है।

नन्दजी देख रहे थे, कि यह देवता तो बड़ा खाने वाला है, इसका मुँह बंद ही नहीं होगा। इसकी चाल में भी शिथिलता नहीं कब का भूखा है यह।

भगवान बोले—"देखो, तुमने बहुत दिनों से इसकी पूजा नहीं की, यह देवता बहुत दिनों का भूखा है, इसे भर पेट खाने दो, खाकर यह फिर तुम्हारे सब पदार्थों को ज्यों का त्यों पूरा कर देगा।"

नन्दजी ने कहा—"ना, भैया! हम रोकते थोड़े ही हैं भर पेट खाले।"

इधर गोवर्धन देव बिना रुके उड़ा रहे थे। खाते खाते वे रुक गये और बार बार दाँतों को जीभ से कुरेदने लगे। नन्दजी समझ गये, कोई लड्डू गिरिराज के दाँतों में हिटक गया। इस पर नन्द जी ने कहा—"अरे, भैया, कोई दाँत कुरेदने के लिये नीम की सींक दे दो।"

यह सुनकर कुछ ग्वाल बाल सींक लेने दौड़े। इसपर भगवान् बोले—"अरे, सारे ओ! सींक से उसके इतने बड़े मुख में क्या मालूम पड़ेगा। कोई बड़ी सी बल्ली उठाकर दो जिससे दाँत कुरेद सके।" यह सुनकर सब हँसते हँसते लोट पोट हो गये। एक ने बड़ी सी बल्ली गोवर्धन देव के हाथ में थमा दी। उन्होंने बल्ली से जो दाँतों को कुरेदा, तो मनो हलुआ नीचे गिर पड़ा फिर वे व्यञ्जनों को उड़ाने लगे।"

पेट भरकर प्रसाद पाकर गिरिराज बोले—"गोपों! मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ, तुम जो चाहो, सो वर माँग लो।"

यह सुनकर सभी ने हाथ जोड़कर कहा—"हे गिरिराज! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं तो यही वर दीजिये, कि हमारा यह कनुआ सदा सुखी बना रहे। हम सब सदा इसे प्रसन्न चित्त देखते ही रहें।"

'तथास्तु' कहकर गिरिराज अन्तर्धान हुए। फिर गोपों के पदार्थों के पात्र ज्यों के त्यों भर गये। गोवर्धननाथ के प्रसाद से गोपों ने पहिले ब्राह्मणों को तृप्त कराया। उन्हें सुन्दर सुन्दर

वस्त्र, आभूषण, सुवर्ण मुद्राएँ तथा गौएँ दानमें दीं। फिर गौओं को हरी हरी घास खिलायी। ब्राह्मणोंने आशीर्वाद दिये। तब भगवान् बोले देखो, भाई पहिले गिरिराजकी परिक्रमा और देलो, तब सब मिलकर प्रसाद पावेंगे।"

यह सुनकर सभी गोप गोपी बड़े उत्साहके साथ सज बजकर वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर गोवर्धनकी परिक्रमा करने लगे। सबने पूरी परिक्रमा दी। परिक्रमा करके सभीने मानसी गङ्गाके आस पास डेरा डाले, फिर सबने गोवर्धन नाथकी जयजयकारसे आकाश मण्डलको गुँजा दिया। हाथ पैर धोकर सबने प्रेमपूर्वक प्रसाद पाया। फिर सब विश्राम करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन दिनों समस्तगोप गिरिराज की तलहटीमें ही अपनी गौओंके सहित ठहरे हुए थे। इस प्रकार भगवान्की आज्ञा मानकर उन सबने विधिपूर्वक गोवर्धन का गौओं और ब्राह्मणों का पूजन किया, प्रसाद पाया आराम किया और श्रीकृष्णचन्द्रको साथ लेकर अपने निवास स्थान पर आ गये। अब जैसे इन्द्रने व्रजवासियों पर कोप किया, उस कथाको आगे कहूँगा।

छप्पय

पूजाके ई समय मानसी प्रकटीं गङ्गा।
सुन्दर निर्मल नीर निकट गिरि तरल तरङ्गा॥
गोवर्धनकूँ पूजि द्विजनि परसाद पवायो।
परिकम्मा पुनि करी हर्ष हियमहँ अति छायो॥
पायो प्रेम प्रसाद पुनि, पय पी सब व्रजमहँ गये।
गिरिवर पूजातैं सकल, प्रमुदित व्रजवासी भये॥

इन्द्र का व्रजवासियों पर कोप

(९५०)

इन्द्रस्तदाऽऽत्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप ।
गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोपसः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २५ अ० १ श्लो०)

छप्पय

इत सुरपति जब सुनी नन्द मम भाग न दीयो ।
समुझ्यो निज अपमान कोप गोपनिपै कीयो ॥
सोचे सुरपति कृष्ण कालिहको छोरा छोटो ।
मानि गोप तिहि बात काज कीयो अति खोटो ॥
अच्छा इनके गर्वकूँ, अबई खर्व कराउँगो ।
वर्षा विकट कराइकें, व्रजकूँ आज डुबाउँगो ॥

भगवान्‌ने छोटेसे लेकर बड़ेतक सबके मनमें ऐसा अभिमान भरदिया है, कि वह अभिमान करने वालेको भूलकर अपनेको ही सब कुछ समझता है। भगवान्‌के बिना किसीकी सत्ता नहीं जिसकी सत्ता है, उसे अभिमान है। संसारमें ऐसा कोई प्राणी नहीं

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब इन्द्र ने देखा, कि इन व्रजवासी गोपोंने मेरी पूजा करनी छोड़ दी है जिनके श्रीकृष्ण ही एकमात्र नाथ हैं तो उन गोपों पर देवराज ने अत्यन्त कोप किया।"

दिखायी देता, जिसे अपनेपन का अभिमान न हो छोटे से छोटे को, दरिद्र से दरिद्र को दुखी से दुखी को देखो पूछो। वही कहेगा हम किसी से कम थोड़े ही हैं। चींटी को दबाओ वह भी क्रोध करके काटती है, वह भी अपमान से क्रुद्ध हो जाती है। क्रोध का कारण है मिथ्याभिमान। हमने देह को ही आत्मा मान रखा है। आत्मा तो सबसे श्रेष्ठ है ही उसी की सत्ता से सभी अपने को श्रेष्ठ समझते हैं किन्तु वे भ्रमवश देह को ही आत्मा मानकर उसके सुख दुख में सुखी दुखी होते हैं। आत्मा का कोई क्या अपमान कर सकता है, वह तो मान अपमान से रहित है किन्तु शरीर को आत्मा मानने वाले अज्ञान वश देह के अपमान को ही अपना अपमान समझते हैं। क्रोध करते हैं, दुखी होते हैं। यही अज्ञान है यही भ्रम है। संसार में क्रोध किया जाय, तो यह बन्धन का कारण है, यदि वही क्रोध भगवान् के साथ किया जाय, तो बन्धन मुक्ति का हेतु हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्रीकृष्ण की आज्ञा से व्रजवासी गोपों ने इन्द्र की वार्षिकी पूजा न करके गोवर्धन की पूजा की तो इस बात से इन्द्र अत्यन्त कुपित हुआ। किन्तु जिनके रक्षक नन्दनन्दन हैं, जिनके सुख दुख का भार विश्वम्भर ने वहन कर रखा है, उनका कोई अनिष्ट ही क्या कर सकता है।"

इन्द्र को बड़ा अभिमान हो गया था, वह अपने को ही सबसे श्रेष्ठ ईश्वर समझता था। वह सोचता था, मैं तीनों लोकों का स्वामी हूँ, मेरे समान और कौन है। उसने सोचा—"ये गोप मेरे प्रभाव को भूल गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गत वर्षों से मैंने समय पर यथेष्ट वर्षा की है। जिससे व्रजवन में बहुत घास हो गयी। गोपों की गायें बढ़ गयी हैं, मोटी हो गयी हैं, अधिक दूध देने लगी हैं। अधिक आय होने से गोप धनी हो गये हैं। धन बढ़ने से मद बढ़ गया है। मुटाई छा गई है। प्रभुता पाकर सभी

को मद हो जाता है। इन गाँव के गँवार गोपों की मूर्खता तो देखो एक छोटे से बालक कृष्ण की बात मानकर मुझ इतने बड़े देवता का अपमान कर डाला। इसलिये मैं इन सबके मद को चूर करूँगा। इन्हें इनके किये का फल चखाऊँगा।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मेघों के गण होते हैं। जो समय समय पर इन्द्र की प्रेरणासे वर्षा किया करते हैं। उन गणों में एक सांवर्तक नामक गण हैं। ये सदा बन्द रहते हैं। जब प्रलय का समय आता हैं, तब ये खोले जाते हैं। प्रलय के समय बहुत काल तक तो वर्षा ही नहीं होती, प्रलय कालीन प्रचंड सूर्य तपते हैं जिनके ताप से सब चराचर जीव नष्ट हो जाते हैं, फिर हाथी की सूँड़ की धारा के समान सांवर्तक नामक मेघ वर्षा करते है, जिससे सातों समुद्र एक हो जाते हैं। पृथ्वी जलमयी बन जाती है। सांवर्तक मेघ बीच में कभी नहीं खोले जाते, किन्तु आज तो इन्द्र क्रोध के कारण आपेसे बाहर हो रहे थे। उन्होंने सांवर्तक मेघों को बुलाकर कहा—"देखो, तुम लोग जाओ गिरिराज गोवर्धन पर्वत पर इतनी वर्षा करो कि उसे जल से डुबा दो। नन्द का जितना व्रज है, सबका नाश कर दो। वहाँ के गोपों की एक भी गौ न बचने पावे न कोई गोप ही। सबका सर्वनाश कर दो। जहाँ नन्दादि—गोपों ने डेरे डाल रखे हैं, उसे जलमग्न बना दो।"

सांवर्तक मेघों ने कहा—"प्रभो! हम तो प्रलयकाल के समय खोले जाते हैं। सब इन्द्र हमें खोलते भी नहीं कल्प के अन्त के जो चौदहवें इन्द्र होते हैं, वे ही हमें आज्ञा देते हैं, तब हम प्रलय करते हैं।"

इन्द्र ने कहा—"तुम लोग हो तो मेरे ही अधीन। बीच में भी काम पड़ने पर तुम्हारा उपयोग किया जा सकता है। इस समय ऐसा ही अवसर आ गया है।"

मेघों ने पूछा—"ऐसी क्या बात हुई ?" यह सुनकर इन्द्र बोला-बात क्या हुई। ये गोप एक तो वैसे ही मूर्ख हैं, फिर इनमें एक बड़ा बतूना बालक उत्पन्न हो गया है। वह छोकरा कुछ पढ़ा लिखा तो है नहीं, परन्तु अपने को लगाता बहुत बड़ा है, अभिमान का तो मानों वह पुंज ही है। ज्ञान से तो वह परे है। अपने को बड़ा बुद्धिमान समझता है। उस छोकरे ने गोपों को बहका दिया है, कि तुम इन्द्र की पूजा मत करो। बताओ अब ये गोप जीवित रह सकेंगे। मर्त्यधर्मा कृष्ण की बात मानकर मुझ अमराधिप का इन अज्ञोंने अपमान किया है।"

सांवतर्क मेघों ने पूछा"—श्रीकृष्ण ने कुछ समझकर ही तो आपकी पूजा बन्दकी होगी ?"

इन्द्र ने क्रोध में भरकर कहा—"अरे, उसमें कुछ समझने सोचने की शक्ति ही होती, तो ऐसा अनर्थ करता ही क्यों ? वह मर्त्यलोक का रहने वाला मुझ स्वर्गाधिप को कुछ समझता ही नहीं। गोप भी उसके एक दो छोटे मोटे चमत्कारों को देखकर उसके प्रभाव में आ गये हैं। गोप भी समझने लगे हैं, कि जब हमारे रक्षक श्रीकृष्ण हैं, तो इन्द्र हमारा क्या करेंगे। यह तो वही बात हुई कि मेढ़क चूहे के बल पर सर्पका अपमान करे। जैसे कोई सुदृढ़ नौका के बिना केवल कुत्ते की पूँछ पकड़कर समुद्र को पार करना चाहता हो, जैसे कोई मन्दमति पुरुष ब्रह्मविद्या को छोड़कर अन्य नाम मात्र की अदृढ़ नौका रूप कर्ममय यज्ञों से इस भवसागर को पार करना चाहता हो, उसी प्रकार कृष्ण का आश्रय लेकर ये सब गोप अपने को सुरक्षित मानते हैं। मैं इन्हें इनकी करनी का फल चखाऊँगा। इनसे अपने अपमान का बदला लूँगा। तुम लोग निःशंक होकर जाओ और इन कृष्ण के द्वारा

अभिमान बढ़ाये हुए धनोन्मत्त ग्वालों के ऐश्वर्य मद को धूल में मिलादो। इन सब के पशुओं का संहार कर दो।"

सांवर्तक मेघों ने कहा—"तो प्रभो! हम अकेले तो वहाँ जायँगे नहीं, एक तो हम श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानते नहीं, दूसरे आप हमें असमय में भेज रहे हैं। अतः आप भी हमारे साथ चलें।"

इन्द्र ने कहा—"तब तक तुम चलो, मैं तुम्हारे पीछे पीछे ऐरावत हाथी पर चढ़कर उनंचास मरुद्गणों को साथ लेकर आता हूँ, तुम वर्षा करना मरुद्गण तीक्ष्णवायु चलावेंगे' व्रजका नाश निश्चित हो जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेघगण तो इन्द्र के अधिकार में ही होते हैं। जब इन्द्र ही उन्हें ऐसा अनर्थ करने के लिये प्रेरित कर रहे हैं, तो फिर वे क्या करते। अब तक तो वे प्रलय कालके लिये एक स्थान में बन्द थे। जब इन्द्रने स्वयं ही चाभी लेकर ताला खोल दिया, तो वे सब बन्धनमुक्त हो गये और व्रजपर जाकर मूसलाधार पानी की वर्षा करने लगने लगे। उनकी धारायें हाथी की सूँड़के समान तथा खम्भोंके समान मोटी थीं। मेघोंकी गड़ गड़ाहट, बिजली की तड़ तड़ाहट से व्रजवासी अत्यन्त भयभीत हो रहे थे। वर्षा निरन्तर हो रही थी। प्रचण्ड पवन से प्रेरित—होकर मेघ जल के सहित बड़े ओलों की भी वर्षा करने लगे। निरन्तरकी वृष्टि से समस्त सब विषम भूमि एक-सी हो गयी। सब जल से भर गयी, जिधर दृष्टि दौड़ाओ उधर जल ही जल दिखायी देता था। यह देखकर गोप ग्वाल परम विस्मित हुए।

छप्पय

करयो इन्द्र अति कोप भयङ्कर मेघ बुलाये।
करिबेवारे प्रलय मेघ सांवर्तक आये॥
बोले तिनतैं शक्र—शीघ्र तुम व्रजमहँ जाओ।
गोपनिको धन धान धेनु सर्वस्व डुबाओ॥
गरजत तरजत घन चले, प्रलय सरिस बरषा करें।
प्रेरित पवन प्रचण्ड हिम, नर, पशु पक्षिनिपै परें॥

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ॥
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० २५ अ० १८, १९ श्लो०)

छप्पय

थर थर काँपैं गाय हाय सब लोग पुकारें ।
ठिठुरत इत उत फिरत कहत—हरि हमें उबारें ॥
अनत शरन नहिं लखी शरन सब हरिकी आये ।
शरनागतके निकट दीन ह्वै वचन सुनाये ॥
भक्तवछल भगवान् हे, हरि हम सबके दुख हरो ।
कुपित इन्द्रके कोप तैं, प्रणतपाल रक्षा करो ॥

जीव भगवन् शरणमें जानेसे डरता है, अपना सर्वस्व सौंपनेमें हिचकता है, तनिकसी विपत्ति आनेसे ही घबरा जाता है। समर्पणमें सन्देह करने लगता है। जो सर्वात्मभावसे

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी इन्द्रके कुपित होकर वर्षा करने पर सोच रहे हैं—"इसलिये जिनका मैं ही एक मात्र आश्रय और रक्षक हूँ, उन उन शरणागत व्रजवासियोंकी मैं अपनी योग सामर्थ्यसे रक्षा करूँगा, यही मेरा धारण किया हुआ व्रत है। ऐसा

समर्पण कर देते हैं, भगवान् उनके सुख दुख की चिन्ता स्वयं करते हैं। जीव अविश्वास न करे, कि मुझे तो लाख रुपये का काम है यहाँ तो एक पैसा भी नहीं कैसे काम चलेगा ? यदि तुमने सर्वात्मभाव से अपने को भगवान् पर छोड़ दिया है, तो उन लक्ष्मीपति के लिये लाख करोड़ क्या बात है। जो वसुन्धरा के स्वामी हैं, वे चाहे जहाँ से वसु-धन-दे सकते हैं। उनकी तो दृष्टि में सृष्टि है। उनके लिये कहीं भी कभी भी कुछ भी असम्भव नहीं। उनके लिये सब संभव है। वे जड़ को चैतन्य और चैतन्य को जड़ कर सकते हैं। अचर को चर और चर को अचर कर सकते हैं। मायापति के आगे असंभव कुछ भी नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गोवर्धन पर्वतकी तलहटीमें ठहरे हुए गोपों के ऊपर सांवर्तक नामक मेघों ने आकर सहसा मूसला धार वृष्टि आरम्भ करदी। सभी सुख पूर्वक सो रहे थे, आनन्द विहार कर रहे थे, प्रेम की कमनीय क्रीड़ायें कर रहे थे। बाल बच्चों तथा स्त्रियों के साथ हँसी विनोद की बातें कर रहे थे, उसी समय बड़े वेग से वर्षा होने लगी। पहिले तो उन्होंने समझा—"साधारण जल है, निकल जायगा, किन्तु जब देखा बड़ी बड़ी मोटी धारें निरंतर बह रही हैं। प्रतीत ऐसा होता है। आकाश में बड़े बड़े छेद हो गये हैं, जिनमें आकाश गंगा फूट पड़ी है।

कुछ ही काल की वर्षा से तथा साथ ही प्रबल प्रचण्ड पवन के प्रलयकारी झोंकों से गोप, गोपी, ग्वाल, बाल तथा गायें काँपने लगीं। गोपियाँ अपने बच्चोंको गोद में छिपा कर रोने लगीं धारा वाहिक वृष्टि से व्याकुल हुई गौएँ अपने बछड़ों को अपने अंगों में

सोचकर भगवान् ने लीला से ही अपने एक ही हाथ से गोवर्धन पर्वत को उखाड़ कर इस प्रकार उठा लिया, जिस प्रकार बालक छत्राक पुष्पको उठाले।"

सटाने लगी। सिर को मोड़े हुए काँपती हुई वे ऐसी लगती थीं मानो वे सिकुड़ कर अपने अङ्गों में घुस जाना चाहती हों। तलहटी में चारों ओर जल भर गया था। छकड़ों के ऊपर तक जल आ रहा था, गौओं के छोटे छोटे बच्चे जल के प्रवाह में बहने लगे। बछड़ों का मुख शीत और भय के कारण दयनीय हो रहा था। वायु के वेग से वे केले के पत्ते के सदृश थर थर काँप रहे थे।

गोपियाँ आपस में कहने लगीं—"हाय! यह सब इन्द्र के यज्ञ न करने का फल है। हमने इस वर्ष इन्द्र की पूजा नहीं की इसी से कुपित हो कर वे वर्षा कर रहे हैं। अवश्य ही वे हमारा सर्वनाश कर देंगे। हाय! गोपोंने इन्द्र का यज्ञ छोड़ कर गोवर्धन का पूजन क्यों किया। खाने के लिये तो गोवर्धन देवता ने ऐसा विकट वेष बना लिया था, अब रक्षा करने क्यों नहीं आता। जिसका देव है उसी की बात मानेगा, कृष्ण के समीप चलें यह कह कर सब गोपियाँ रोती हुई श्रीकृष्ण के छकड़े के समीप आईं। गोप भी भयभीत होकर श्रीहरि की शरण गये। गौओं ने भी डकराते हुए चारों ओर से श्रीकृष्ण को घेर लिया। सभी एक स्वर में कहने लगे—"हे व्रजचन्द्र! हे नन्दनन्द! हे प्रणतदुख भंजन। हे भक्त वत्सल! हे गोकुलेश! हे व्रजके एक मात्र जीवनधन श्यामसुन्दर! हमारी इस विपत्ति से रक्षा करो, रक्षा करो। हम तुम्हारी शरण में हैं।"

गोप गोपी ग्वाल बाल तथा गौओं को प्रचण्ड वायु ओलों के सहित घनघोर वर्षा के कारण पीड़ित और अचेत देखकर भगवान् सब कुछ समझ गये, कि यह सब इन्द्र की करतूत है। उसी ने कुपित होकर यह कृत्य किया है। इस समय वर्षा का तो कोई काल नहीं है। इसे अपने इन्द्रपने का बड़ा अभिमान है। मैं इसके अभिमान को मेटूँगा।"

इधर भगवान् तो यह सोच रहे थे, उधर नन्दजी की दशा विचित्र थी, वे सोच रहे थे—"हमने इन्द्र की पूजा न करके अपने आप यह विपत्ति मोल लेली। इन्द्र की भी पूजा कर लेते। गोवर्धन को भी पूजलेते। वे हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे थे—"हे सुरपति! आप हमारे अपराध को क्षमा करें। हमें डुबाने का विचार छोड़ दें।"

इसपर भगवान् ने कहा—"पिताजी! आप यह क्या कर रहे हैं। आप अपने इष्ट देव गोवर्धन से प्रार्थना क्यों नहीं करते, वे आपके सब कष्ट को दूर करेंगे।"

नन्दजी ने कहा—"अरे, भैया! गोवर्धन तो हमारी सुनते ही नहीं, उनके सामने ही तो यह सब कृत्य हो रहा है।"

भगवान् ने कहा—"मुझे गोवर्धननाथ ने स्वप्न में बताया था, कि वर्षा हो तो तुम मुझे उठाकर मेरी छतरी बना लेना। मेरे नीचे सब गौओं और ग्वालों को बिठा देना।"

नन्दजी बोले—"अरे भैया! सात कोश लम्बा पहाड़ कैसे उठ सकता है। यह बात तो असम्भव सी है।"

श्रीकृष्णचन्द्रजी ने कहा—"पिताजी! जो देवता इतना भोजन करलेता है, उसके लिये असम्भव क्या है?"

नन्दजी ने कहा—"अरे, भैया! जल से और अग्नि से किसी का वश नहीं चलता।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े। उन्होंने सोचा—"मैं अपनी योगमाया से असंभव को भी संभव कर दिखाऊँगा। इन्द्र के गर्व को मेटूँगा। अज्ञान वश यह इन्द्र अपने को सब लोकपालों से श्रेष्ठ समझता है नियमानुसार सत्वगुण की प्रधानता होने से देवताओं को अभिमान न होना चाहिये किन्तु अज्ञान वश उनसे ऐसा मद हो गया है। इन्द्र मेरे ऐश्वर्य को भूल गया है। मेरे द्वारा मान भंग होने पर भी उसका कल्याण ही होगा।" यही

सब सोचकर भगवान् ने अपने योग प्रभाव से गोवर्धन पर्वत को छूआ। छूते ही सात कोश लम्बा पर्वत पृथिवी से उछलकर ऊपर उठ गया। भगवान् ने अपने बायें हाथ की उँगली पर उस पूरे पर्वत को धारण कर लिया। उसके नीचे सात कोश लम्बी चौड़ी सुन्दर सी समान गुहा बनगयी। तब भगवान् बोले—"तुम सब अपनी अपनी गौओं को, गृहस्थी को तथा बाल बच्चों और छकड़ों को लेकर इस पर्वत के नीचे आ जाओ। यहाँ तुम्हें कोई भय न होगा।"

भगवान् की बात सुनकर समस्त गोपाल अपनी गौओं तथा सभी वस्तुओं को लेकर पहाड़ के नीचे आ गये। भगवान् ने देखा मेरे अंगुली पर गोवधन धारण करने पर ये सब गोप बड़े चकित हो रहे हैं, तब आप सबसे बोले—"अरे, भाइयो! यह तो सबका काम है। सात 'पाँच की लाकड़ी एक जने का बोझ 'तुम सभी अपनी अपनी लाठियों को लगालो। सभी इसे थामे रहेंगे तो पर्वत गिरेगा नहीं।"

यह सुनकर ग्वाल बालों को बड़ा हर्ष हुआ सबने अपनी अपनी लाठियाँ लगायी। उन्हें भी अभिमान हो गया, कि गोवर्धन धारण में हम भी श्रीकृष्ण की सहायता कर रहे हैं।

कुछ गोप कहने लगे—"भैया, कनुआ! तुझे पर्वत को उठाये बहुत देर हो गयी है। तू जब तक कुछ विश्राम करले, हम तब तक इसे लिये खड़े रहेंगे।"

यह सुनकर भगवान् हँसे उन्होंने ज्यों ही तनिक हाथ ढीला किया, कि पर्वत गिरने लगा। तब सब बोले—"अरे, भैया! तू मत छोड़ना। तेरा देव तेरी ही बात मानेगा। हमसे इसकी भटक न झिलेगी।"

यह सुनकर भगवान् उसे लिये खड़े रहे।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ऊपर से तो पर्वत वर्षा

को रोके हुए था, किन्तु चारों ओर तो वर्षा के कारण जल भर ही गया होगा वह तो नीचे आ गया होगा।"

सूतजी बोले—"महाराज भगवान् ने जल को पृथिवी पर आने ही नहीं दिया। जाज्वल्यमान सुदर्शन चक्र को उन्होंने आज्ञा दी, वह पहाड़ के ऊपर बैठ गया। जैसे अग्नि से लाल हुए तवे पर बिन्दु बिन्दु जल डालो तो वह तुरन्त जल जाता है, जैसे बड़वानल समुद्र के जल को शोष लेता है, वैसे ही वर्षा के समस्त जल को सुदर्शन चक्र बीच में ही जला देता था। इस प्रकार सात दिनों तक निरन्तर वर्षा होती रही। भगवान् की योग माया के प्रभाव से किसी को यह समय मालूम ही नहीं हुआ। सब बड़े आनन्द से हँसते खेलते आनन्द करते रहे। खीर उड़ाते रहे। यशोदा मैया, को बड़ी चिन्ता थी, वह बार बार श्याम सुन्दर के हाथ में मक्खन मलती और पूछती—"बेटा! हाथ दुखने तो नहीं लगा।" श्रीकृष्णचन्द्र हँस जाते और कहते—"मैया! तैंने जो मुझे इतना माखन खिलाया है उसका कुछ भी तो बल होना चाहिये। और सब गोप तो उठते बैठते तथा सोते लेटते भी थे, किन्तु श्रीकृष्ण खड़े ही रहे और उनके सामने उनकी आँखों में आँखें मिलाये गोपराज वृषभानु की एक छोटी-सी गोरी-सी छोरी भी खड़ी थी। वह भी सात दिन नहीं बैठी। जब कोई उससे बैठने को कहता, तो वह कह देती—"स्वप्न में गोवर्धननाथ ने मुझसे कहा है, श्यामसुन्दर के साथ तू भी खड़ी रहना, तू न खड़ी होगी तो कभी श्यामसुन्दर के हाथ से पर्वत गिर जायगा, सब लोग दब जायँगे, बड़ा अनर्थ होगा।" इसलिए मैं सबकी भलाई के लिये खड़ी हूँ। यह सुनकर सब लोग कहते—इन छोरी छोरा की जोरी तो बड़ी सुन्दर है। अवश्य ही इस छोरी में कोई चमत्कार है, तभी तो कनुआ पलक नहीं मारता भूला सा भटका-सा एकटक इसी की ओर देखता हुआ खड़ा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गोपों को तो भगवान् के वचन पर पूर्ण विश्वास था, अतः भगवान् के यह आश्वासन देने पर कि तुम किसी बात का न भय करो न पर्वत गिरने की आशंका करो।' मैं सब की रक्षा करूँगा।" वे सब के सब अपने छकड़ों गौओं, तथा भृत्य, पुरोहित और परिवार के लोगों के साथ आनन्द के साथ सात दिनों तक पर्वत के नीचे बैठे रहे। इतने समय तक अपनी योगमाया के प्रभाव से भगवान् एक ही स्थान पर खड़े रहे। तनिक भी इधर उधर विचलित नहीं हुए।

छप्पय

सुरपति की करतूत समुझि हरि मन मुसकाये।
कुछ चिन्ता मत करो सबनि कूँ वचन सुनाये।
करपै गिरिवर धरयो फूल सम ताहि उठायो।
चक्र सुदर्शन जल सोखन हित शैल बिठायो॥
मैया कर माखन मले, लकुट लगावें गोप गन।
सात दिवस गिरि कर धरयो, भयो न नेकहु मलिन मन॥

—:o:—

इन्द्रका अभिमान चूर हुआ

(९५२)

कृष्णयोगानुभावं तं निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मितः ।
निःस्तम्भो भ्रष्टसंकल्पः स्वान् मेघान्संन्यवारयत् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० २५ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

प्रलयकालके मेघ शक्तिभर पूरे बरसे ।
नीचे गिरिके गोप गाय सब सुखतें निवसे ॥
जलतैं खाली भये गये सुरपतिके पाहीं ।
बोले—बरषा करी नन्दव्रज डूबत नाहीं ॥
मद सब उतरयो इन्द्रको, सुनत चकित-सो रहि गयो ।
रोके घन सब ब्रज चलो, गिरिधर गोपनितैं कह्यो ॥

जब तक जीव को अपने बल, पुरुषार्थ का अभिमान है, जब तक वह अपनी अल्प शक्ति के मद में मत्त है, तब तक वह सर्वशक्तिमान् की शरण में नहीं जाता । जब अपनी सब शक्तिको

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्णचन्द्रजी की ऐसी सामर्थ्य को अवलोकन करके इन्द्र को परम विस्मय हुआ । वह गर्वशून्य बन गया । उसने अपने मेघों को वर्षा करने से निवारण कर दिया ।"

सम्पूर्ण बल पुरुषार्थ को लगाकर भी अपने संकल्प को पूरा नहीं कर सकता, तब उसका मद उतर जाता है। तब उसे अनुभव होता है, कि मुझसे भी बड़ी कोई शक्ति है। अपने पुरुषार्थ से जीव जब तक हार नहीं मानता, तब तक वह हरि की शरण नहीं जाता; अतः परमात्मा द्वारा पुनः पुनः पुरुषार्थ का विफल होना, यह उनकी कृपा है, अनुग्रह है, परम दया है। भगवान् जिसे अपनाना चाहते हैं, उसके बल, पुरुषार्थ, तप, प्रभाव, धन तथा अन्यान्य मदों को चकनाचूर कर डालते हैं। आँखों में पड़े अभिमान रूपी जाले को वे मानभङ्ग रूप अस्त्र से काटकर ज्ञान रूप आलोक प्रदान करते हैं। उनकी प्रत्येक चेष्टा में जीव का कल्याण निहित है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अमराधिप इन्द्र ने प्रथम सांवर्तक मेघों को भेजा, पुनः उनचास मरुद्गणों के सहित ऐरावतपर चढ़कर वह स्वयं आया। वह खड़ा खड़ा देखता रहा कब गोवर्धन पर्वत के सहित ये सभी गोप डूबते हैं, किन्तु सात दिनों तक निरन्तर ओलों सहित वर्षा होने पर भी एक बूँद पानी भी गोपों के पास नहीं गया। वे आनन्द पूर्वक सुख-से बैठे रहे, अपने नित्य के कार्य करते रहे। मद के कारण वह तो अंधा हो रहा था। अभिमान के वशीभूत होकर जब कोई व्यक्ति अपनी मिथ्या हठ पर अड़ जाता है, तो उसका सब विवेक विलीन हो जाता है, वह सभी उचित अनुचित उपायों से अपने हठ को पूरा करना चाहता है। इन्द्र ने सोचा—यदि वर्षा के कारण गोपवंश नष्ट नहीं होता, तो मैं अपने अमोघ वज्र द्वारा इन सबको नष्ट कर डालूँ। मेरा वज्र महातपस्वी दधीचि की योगतपोमय अस्थियों से निर्मित है। यह कभी व्यर्थ होने का नहीं। इन नन्दादि गोपों को इनके अभि-मान का फल तो चखाना ही चाहिये।" यही सब सोचकर उसने

अपना अमोघ अस्त्र गोवर्धन के ऊपर चलाने को ज्यों ही उठाया, त्यों ही उसका हाथ स्तम्भित रह गया। उसका संकल्प नष्ट हो गया। सम्पूर्ण शक्ति नष्ट हो जाने से उसका इन्द्रपने का अभिमान चूर हो गया। तुरन्त उसने मेघों को वर्षा करने से रोक दिया और मन ही मन श्रद्धा भक्ति के सहित गुरुप्रदत्त श्रीकृष्णमन्त्र जाप करने लगा। मन ही मन वह समाहित चित्त से श्रीकृष्ण की शरण में गया। निर्व्यलीक—निराभिमान-होकर जब वह प्रपन्न हुआ, भगवान् की शरण गया, तब उसे तन्द्रा-सी आ गयी। उसे तन्द्रावस्था में यह सम्पूर्ण विश्व कृष्णमय दिखायी दिया। उसे चराचर विश्व में बाँसुरी बजाते वनमाला धारण किये, मोर के पङ्खों का मुकुट पहिने हुए द्विभुज श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण दिखायी दिये। वे अपनी शक्ति के सहित नाना प्रकार की कमनीय क्रीड़ाएँ कर रहे हैं। अब उसे चेत हुआ। वह समझ गया, मैंने मूर्खतावश निखिल-कोटिब्रह्माण्डाधिनायक श्रीनन्दनन्दन का अपमान किया है। वे ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। इसी भावना से वह मन से पुनः पुनः प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम करने लगा। प्रपन्न समझकर भगवान ने तुरन्त उसे अभय कर दिया। उसका स्तम्भित हुआ हाथ अच्छा हो गया, मेघ और मरुद्गणों के साथ वह लज्जित होकर स्वर्गको चला गया मेघों के हट जाने से आकाश स्वच्छ हो गया। वायु शान्त हो गयी। सूर्यदेव चमकने लगे। धूप होने से जाड़ा भी जाता रहा। बड़ा ही सुहावना समय हो गया। उस समय गोवर्धन को धारण किये ही किये नन्द-नन्दन नन्दादि समस्त गोपों से बोले—"आप लोगों की पूजा से प्रसन्न होकर गोवर्धन ने कैसी कृपा की। इतनी वर्षा होने पर भी एक बूँद जल हमारे समीप नहीं आया। अब तो वर्षा भी निकल गयी, सूर्य भी उदय हो गये। अब किसी प्रकार का भय नहीं रहा।

तुम सब निर्भय होकर अपने स्त्री, बाल बच्चे गोधन तथा अन्यान्य धनों के सहित छकड़ों को लेकर पर्वत के नीचे से निकल कर बाहर हो जाओ। अब गिरिराज गोवर्धन लेटना चाहते हैं, उन्हें भी कुछ कुछ निद्रा-सी आने लगी है।"

यह सुनकर घबड़ाकर गोप कहने लगे—"अरे, भैया! अभी से गोवर्धन को निद्रा आ गयी, तो हम सब तो चकनाचूर हो जायँगे। अभी हाथ को ढीला मत करना। डाँटे रहना। ऐसा न हो गोवर्धन के सोते ही हम सब भी इसके नीचे सदा के लिये सोते रह जायँ। यद्यपि अब वर्षा नहीं हो रही है, फिर भी नद-नदियों का जल तो अभी उमड़ ही रहा है।"

भगवान् बोले—"अजी, नहीं, जब तक तुम सब निकलकर बाहर न होगे, तब तक मैं हाथ ढीला नहीं कर सकता। अब बाहर कोई भय की बात नहीं। धूप होने से भूमि भी सूख गयी, अब तक जो प्रचण्ड वायु बह रही थी, वह भी शान्त हो गयी, नदियों का जल भी उतर ही गया है। अब सब बाहर हो जाओ।"

भगवान की आज्ञा पाकर समस्त गोपगण अपने अपने छकड़ों पर सब सामान लादकर स्त्री, बच्चे तथा गौओं को साथ लेकर पर्वत के नीचे से निकले। भगवान् वहीं से खड़े खड़े पूछते थे—"कहो, भाई! किसी की कोई वस्तु छूटी तो नहीं है? छूटी हो तो फिर ले जाओ। यदि गोवर्धन लेट गये, तो फिर वह वस्तु यहाँ की यहीं रह जायगी।"

यह सुनकर लड़के चिल्लाये—"मेरी गेंद रह गयी है, कनुआ भैया! उसे और निकाल लेना।" बुढ़िया चिल्लातीं—"बेटा! मेरी लाठी छूट गयी है।" गोपियाँ चिल्लातीं—"लालजी! हमारी सुई डोरा तथा कपड़ों की डोलची छूट गयी है, उन्हें भी लेते आना।" कोई कहता—"कनुआ भैया! तेरी मुरली है या नहीं देख लेना।"

भगवान् बोले—"मेरी मुरली की तो तुम चिन्ता मत करो। वह तो मेरी फेंट मे खुरसी हुई है, अब मेरे हाथ तो घिर रहे हैं, जिसकी जो वस्तु छूटी हो उसे आकर ले जाओ।"

यह सुनकर सब आकर पुनः अपनी अपनी वस्तुओं को ले गये। लाठियाँ लेकर गोप आये और बोले—"कनुआ भैया! कैसे रखेगा, अब तू इसे। एक साथ रखने से तो तू बीच में ही रह जायगा।"

हँसकर भगवान् बोले—"तुम मेरी चिन्ता मत करो। गोवर्धननाथ ने मुझे सब उपाय बता दिये हैं। तुम सब बाहर निकल चलो।"

गोपों ने कहा—"भैया, हम तो तुझे छोड़कर जायँगे नहीं। हम तेरे पीछे पीछे चलेंगे।"

प्रेम मे सने उनके वचन सुनकर आनन्द कन्द श्रीकृष्ण-चन्द्र हँसकर बोले—"अच्छी बात है, चलो मैं भी चलता हूँ।" यह कहकर वे आगे बढ़े और बाहर आकर सब गोपों को उसके नीचे से निकालकर समस्त प्राणियों के देखते देखते उस सात कोश के पर्वत को लीला से ही पूर्ववत् उसके प्राचीन स्थान पर रख दिया।

बाहर निकलकर सबको अत्यन्त प्रसन्नता हुई। श्रीकृष्ण के ऊपर वैसे ही समस्त व्रजवासियों का अत्यन्त प्रेम था, किन्तु आज तो वह प्रेम अनन्त गुणा बढ़ गया। सबके हृदय में प्रेम की हिलोरें मारने लगीं प्रेम जब उमड़ता है, तो आदमी से रहा नहीं जाता। सम्मुख अपने प्रेमास्पद को देखकर चित्त विवश हो जाता है, उसे छाती से चिपटा लें हृदय से हृदय सटाकर मिलते। गोपों ने श्रीकृष्ण का बार बार आलिंगन किया। माताओं ने बार बार उनके मुख को चूमा। लजाती हुई गोपिकाओं ने श्यामसुन्दर के मस्तकपर दधिअक्षत और कुकुंम के तिलक लगाये।

माखन मिश्री का भोग रखा। गोपियों ने वृषभानुनन्दिनी का भी बहुत आदर किया। उन्हें भी गोदी में लेकर सप्त सुहागिनी होने का आशीर्वाद दिया और मन ही मन भगवान् से कुछ गुप्त रहस्यमयी प्रार्थना भी की। प्रथम यशोदाजी ने आकर श्रीकृष्ण को हृदय से लगाया, उनके स्तनों से प्रेम के कारण दुग्ध बह रहा था। रोहिणीजी से भी नहीं रहा गया उन्होंने भी श्रीकृष्ण को बलपूर्वक उठाकर अपने हृदय से लगाया। नन्दजी आ गये। गोपियों ने आंचल सम्हाला, श्रीकृष्ण माता की गोद से खड़े हो गये। व्रजराज नन्दजी ने उनकी पीठ थपथपायी और बड़े देर तक उन्हें हृदय से चिपटाये रहे। उनकी इच्छा ही नहीं होती थी, कि मैं इसे हृदय से अलग करूँ। प्रेम की यही तो एक अद्भुत गति है, हृदय से सदा मिले रहने पर भी चित्त चाहता है शरीर से भी सदा मिले रहें।

इतने में ही हँसते हुए बलदेवजी आ गये और बोले—"वाह भैया! कनुआ! तैने तो आज चमत्कार कर दिया।" अपने बड़े भाई की ऐसी बात सुनकर श्रीकृष्ण उनके पैर छूने आगे बढ़े, किन्तु बीच में ही बलभद्रजी ने उन्हें बलपूर्वक पकड़कर अपने हृदय से लगा लिया। बूढ़ी बूढ़ी गोपियाँ भगवान् को आशीर्वाद देने लगीं वृद्ध उनके गुणों का गान करने लगे। व्रजाङ्गनाएँ उनकी लीलाओं के गीतों को मधुर स्वर से गाने लगीं। सर्वत्र आनन्दोत्सव मनाया जाने लगा।

इधर पृथिवी पर तो व्रज में इस प्रकार आनन्द हो रहा था, उधर स्वर्ग के देवगण भगवान् के ऐसे अद्भुत प्रभाव को देखकर विस्मित हो रहे थे। वे भी आनन्द में विभोर होकर भाँति भाँति से अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगे। आकाश स्थित देव, साध्य, सिद्ध तथा चारणादि आनन्द में

उन्मत्त होकर गिरिधारी के गुणों का गान कर रहे थे। कुछ अमर-गण अपनी अपनी झोलियों में भरभरकर नन्दनकानन के अम्लान कमनीय कुसुमों की विमानों से वर्षा कर रहे थे। शङ्ख, भेरी तथा दुन्दुभी आदि वाद्यों की तुमुल ध्वनि से दशों दिशाएँ मुखरित-सी प्रतीत होती थीं। अप्सराएँ नृत्य करने लगीं और तुम्बुरु, सुदर्शन, चित्राङ्गदादि अनेकों मुख्य मुख्य गन्धर्व गान करने लगे। सारांश यह, कि भू लोक में भुवर्लोक में तथा स्वर्गादि लोकों में इस अद्भुत घटना से अपूर्व आनन्द छा गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार इन्द्रके कोपसे अपने अनुरक्त भक्त अनन्याश्रयी गोपों की सकुटुम्ब श्यामसुन्दर ने रक्षा की। इन्द्र के मद को चूर्ण किया, गोवर्धन की महिमा बढ़ायी और अपनी अद्भुत योगशक्ति भी दिखायी। गोपगण अत्यन्त प्रेम में विभोर हुए चारों ओर से श्यामसुन्दर को घेरकर व्रज की ओर चले और उनके पीछे पीछे अपने ऊँचे ऊँचे जूरों को रंग-बिरंगी ओढ़नियों से ढककर, घूमघुमारे लहँगाओं को हिलाती हुई नन्दनन्दन की पूर्वोक्त ललित लीलाओं को गाती हुई गोपियाँ चलीं। इस प्रकार वे सब आनन्द और उल्लास के सहित अपने पूर्व के निवास स्थान व्रज में पहुँचे।"

छप्पय

कुशल सबनि लखि गोप अधिक हियमहँ हरषावें।
हरि आलिङ्गन करें प्रेमतें उर चिपटावें॥
पूजन गोपी करें कृष्णकी कुशल मनावें।
सुरगन सादर सुमन गगनतें वर बरषावें॥
आनँद त्रिभुवनमहँ भयो, सुखी सकल सुर नर भये।
चढ़ि छकरनिपै गोप सब, वृन्दावनकूँ चलि दये॥

———

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें गोपों की शङ्का

(९५३)

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम् ।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥
क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम् ।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे ॥*
(श्री भा० १० स्क० २६ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

प्रभु प्रभावतैं परम प्रभावित भये गोप अब ।
नन्द तनय नहिं श्याम करैं शंका मिलि जुलि सब ॥
कैसे जाने सात दिवस गोवर्धन धारयो ।
कैसे कालिय, क्रूर कुण्डते मारि निकारयो ॥
जाके सबई काज अति, अद्भुत परम विचित्र है ।
करै अलौकिक काज नित, मधुमय दिव्य चरित्र है ॥

जब इस देश में जातीय संगठन सुदृढ़ थे, तब यह कहावत प्रसिद्ध थी, कि जाति से और राम से किसी का बश

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोवर्धन धारण के अनन्तर सब गोपों ने श्री कृष्ण की पुरानी लीलाओं को स्मरण करके उनके प्रभाव को बताते हुए अन्त में कहा—"नन्दजी ! तुम्हारे इस लाल में हमारा अनुराग भी दुस्त्यज है और इसका भी हम पर सहज स्नेह है। बताइये इसका क्या कारण है। फिर आप ही सोचें—"कहाँ सात वर्ष का यह बालक और कहाँ महान् गिरिराज गोवर्धन को धारण करना, इन्हीं सब कारणों से हे व्रजराज ! हमें तुम्हारे बच्चे के विषय में सन्देह होता है।"

नहीं चलता। जाति में कोई छोटा बड़ा नहीं। जाति भाई सब एकसे हैं। जाति के किसी भाई से भी अनुचित कार्य हो जाय, तो छोटे से छोटा जाति भाई उसे दण्ड दे सकता है। पहिले बड़प्पन धन से विद्या से या प्रभाव से नहीं माना जाता था, कुलीनता शालीनता तथा सदाचार ही बड़े होने का कारण था। इसीलिये जाति के भय से कोई अनुचित कार्य नहीं कर सकता था। अपनी जाति में कोई निर्धन है, तो सब मिलकर उसकी सहायता करते उसे भी धनवान बना देते। तब समाज का शासन जातीय पुञ्जों पर ही था। कोई आपस में मन मुटाव की बात हुई, तो उन्हें नित्य प्रति न्यायालयों में नहीं दौड़ना होता था। उचित अनुचित बातें गाँव वालों से, जाति वालों से तो छिपती नहीं, वे लोग सब सोच समझकर यहीं निर्णय कर देते। घर की छोटी से छोटी बात से लेकर बड़ी से बड़ी बात तक का निर्णय जातीय पंचायतों में ही हो जाता। इस कारण जाति का गौरव बना रहता। उसमें वर्णसंकरता, वृत्ति संकरता तथा आचार विचार की संकरता न आने पाती। लोग रोटी बेटी के व्यवहार में विशुद्ध बने रहते। यही सदाचार पालन की प्रधान भित्ति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो भगवान् ने गोवर्धन को धारण किया, इसीलिये उनके गोवर्धनधारी, गिरधारी, गिरवरधारी तथा गोवर्धननाथ आदि नाम प्रसिद्ध हुए। गोवर्धन धारण लीला के अनन्तर जब गोप व्रज में आ गये तो भी उन्हें वह अलौकिक लीला भूलती नहीं थी। उस समय विपत्ति में तो ऐसा विशेष ध्यान दिया नहीं, अब जब सब विपत्तियों से पार होकर घर आ गये, तो वे इसी घटना के विषय में सोचने लगे। सबको इसी बात का कुतूहल था, कि श्रीकृष्ण की सात ही वर्ष की तो अवस्था है, इस सात वर्ष की अवस्था में सात कोश लम्बे पर्वत को सात

दिनों तक एक उँगली पर धारण किये रहना यह गोप के बालक के लिये संभव नहीं।"

गोपगण श्रीकृष्ण के अमित प्रभाव से तो अनभिज्ञ ही थे। वे उनके अपार ऐश्वर्य को तो जानते ही नहीं थे। उनका तो स्नेह माधुर्ययुक्त था। अतः सभी को शंका होने लगी कि श्रीकृष्णचन्द्र नन्द के पुत्र नहीं हैं। ये हमारी गोप जाति में एक विलक्षण पुरुष कहीं से आ गये हैं।" प्रेम में पग पग पर शंका बनी ही रहती है। कोई प्रभावशाली पुरुष हमसे अत्यधिक प्रेम करे तो हम सोचते हैं—"हम तो इसके योग्य हैं नहीं। ये इतना प्रेम प्रदर्शित करते हैं, तो यथार्थ है या बनावटी।" गोपों के मन में यही शंका हुई, श्रीकृष्णचन्द्र के काम तो अलौकिक है, किन्तु वे हम वनवासी गँवार गोपों के साथ भाई बन्धु का बर्ताव करते हैं, बराबर का समझकर हमारे हृदय से सट जाते हैं, स्नेह करते हैं। ये हमारी जाति के ही हैं या हमसे विलक्षण कोई देवता हैं।" यह शंका एक के ही मन में उठी हो, सो बात नहीं सभी के मन में समान रूप से ऐसी शंका उठने लगी। श्रीकृष्ण की सभी पिछली लीलाओं का स्मरण करने लगे। ज्यों ज्यों वे उनकी पिछली लीलाओं को याद करते, त्यों त्यों उन्हें और भी शंकायें होतीं।

एक दिन समस्त गोपों ने मिलकर पंचायत की उस पंचायत में यही प्रश्न प्रधान था, कि श्रीकृष्ण चन्द्र हैं कौन ?" एक बूढ़े से गोप ने अपनी सफेद पगड़ी को सम्हालते हुए कहा—पंचो ! ये नन्दजी के लाला श्रीकृष्णचन्द्र हम सबमें विलक्षण हैं। बालकपन से ही इनके समस्त कर्म बड़े विचित्र हैं। इनके ऐसे कर्मों से तो ये देवताओं के भवनों में रहने योग्य हैं, किन्तु ये हम वनवासियों के बीच में सामान्य बालकों की भाँति

निवास करते है, यह इनके लिये प्रतिकूल बात है। तुम लोगों ने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष ही देखा। सात कोश लम्बे इतने भारी पर्वत को ये सात दिनों तक उसी प्रकार धारण किये रहे, जिस प्रकार गजराज कमलपुष्प को बिना श्रम के धारण करता है, अथवा बालक जैसे वर्षाकाल में भूमि में उत्पन्न कुकुरमुत्ता के फूल को छतरी की भाँति धारण करते हैं, अथवा जैसे सिंह आक की बौड़ी में से निकले बबूले को धारण करता है। सात वर्ष का बालक बिना विश्राम के सात दिन तक एक उँगली पर पर्वत को उठाये रहा, क्या यह कम आश्चर्य की बात है ?"

इस पर एक अन्य गोप ने कहा—"भैया, हम तो आरम्भ से ही इस बच्चे में ऐसी अद्भुत अद्भुत अलौकिक शक्तियों का दर्शन कर रहे हैं। अब तो यह सात वर्ष का हो गया; जब यह बहुत छोटा था, दस दिन का भी नहीं हुआ था। तभी इसने अति विकराल रूप रखनेवाली पिशाची क्रूर कर्म करनेवाली राक्षसी पूतना को उसी प्रकार पछाड़ दिया, जिस प्रकार एक सिंहशावक बड़े डील डौलवाली हथिनी को पछाड़ दे। जिस प्रकार मृत्यु बड़े से बड़े शरीर को बात की बात में निर्जीव कर दे उसी प्रकार शैशवावस्था में नेत्रों को मूँदे मूँदे ही उस यातुधानी के स्तनों को पीते पीते उसके प्राणों को हर लिया। उसके तो मृतक शरीर से सात कोश के वृक्ष चकनाचूर हो गये थे। कोई सद्यःजात शिशु इतना कठिन कार्य कर सकता है क्या ?"

इस पर दूसरा बोला—"इनकी सब बात सोचो, तो बड़ा विस्मय होता है। जब ये तीन महीने ही के थे, तभी पैर के अँगूठे से इतने भारी छकड़ा को अपने ही ऊपर गिरा लिया

और इनका बाल भी बाँका नहीं हुआ।"

इस पर अन्य ने कहा—"छकड़े की बात तो उतनी आश्चर्य-जनक नहीं भी हो सकती है, किन्तु तृणावर्त जो इन्हें ऊपर उड़ा ले गया था, यह कितनी विलक्षण बात है। तब ये पूरे एक वर्ष के भी नहीं हुए थे, तभी आँगनमें से इन्हें भभूड़े में बैठाकर असुर उड़ा ले गया इन्होंने गला घोंटकर उसे मार डाला।"

इस पर एक युवक-सा गोप बोल उठा—'अरे, भैया हमें तो वह यमलार्जुन की घटना अभी तक भूलती नहीं। माता ने माखनचोरी के कारण उदर में रस्सी बाँधकर इसे उलूखल में बाँध दिया था। उसे ही गाड़ी की भाँति खींचकर दोनों वृक्षों के बीच से निकला, कि अड़ड़ड़धम करके इतने बड़े युगादि पेड़ गिर पड़े। यह कम आश्चर्य की बात है।"

इस पर एक छोटे से गोपाल ने कहा—"अजी, पंचो इसने एक पर्वत के डील डौलवाले बगुला की चोंच को उसी प्रकार फाड़ दिया, जिस प्रकार बच्चे मटर की फली को फाड़ देते हैं। ऐसे ही बछड़े का रूप बनाकर वत्सासुर आया था, उसे पूँछ पकड़कर घुमाकर कैथे के पेड़ों में दे मारा। बलरामजी ने भी धेनुकासुर के पैरों को पकड़कर यम सदन पठा दिया। अकेले उसे ही नहीं, उसके भी कुटुम्ब परिवार वालों को स्वाहा कर दिया। देखो, उस दिन दावानल से हमें कैसा बचाया।"

यह सुनकर एक युवक-सा गोप बोला—"यह सब तो सत्य ही है, किन्तु हमें तो आश्चर्य उस कालिय नाग के फणों पर नृत्य करने पर होता है। बताइये जब कालिय-ह्रदके समीप जो भी जाता वही मर जाता। रमणक द्वीप में आये हुए कालिय ने इस वृन्दावन की भूमि पर अपना उपनिवेश बना लिया, यमुनाजी के जल को ही दूषित नहीं किया। उसने वायुमंडल को भी विषैला बना दिया था। उस इतने बड़े प्रबल पराक्रमी शत्रु को

इस बालक ने हँसते हँसते, अपने वश में कर लिया। उसके सैकड़ों फणों पर नटवर ने नृत्य दिखाया। उसे बल-पूर्वक कालि-यदह से निकालकर कालिन्दी को विषहीन बना दिया। ये सब क्या बातें हैं? कैसे इस बालक में ऐसी ऐसी अलौकिक बातें आ गयीं?"

इस पर एक बूढ़े गोप बोले—"व्रजराज नन्दजी से ही इन सब बातों का कारण पूछना चाहिये। हमारे गोप वंश में आज तक एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ, जिसने एक भी ऐसा अलौ-किक कार्य किया हो। यह तो हमारी जाति के लिये बड़ी विचित्र बातें हैं।"

तब एक बूढ़े से पंच ने पूछा—"नन्दजी! आप सत्य बतावें अब घुमा फिराकर क्या पूछे हमें यह संदेह हो रहा है, कि यह आपका सगा लड़का नहीं। आपने इसका दष्ठौन भी नहीं किया। नामकरण उत्सव में जातीय वालों को भोज भी नहीं दिया। इस बच्चे को आप कहाँ से ले आये हैं। यद्यपि हमें इसके जन्म कर्मों के विषय में शंका हो रही है, फिर भी हम इससे घृणा करते हों सो भी बात नहीं। व्रज के नर नारी इसे अपने सगे पुत्र से भी अधिक प्यार करते हैं। इसके प्रति सबका सहज स्वाभाविक अनुराग है। हम सब व्रजवासियों की इच्छा यही बनी रहती है, कि सदा इसके मुखारविन्द को देखते ही रहें। फिर भी हमें इसके विषय में संदेह है। यह हमारी जाति का बालक नहीं हो सकता। आप इतने दिनों तक इस रहस्य को छिपाये रहे, आज सत्य सत्य बता दीजिये। नहीं आज से हमारी आपकी रोटी बेटी अलग हो जायगी। हम अपना राजा और बना लेंगे। आपको पंचायत की जाजिम पर न बैठने देंगे। आप हमारी शंका का समाधान कीजिये। अपने बच्चे की उत्पत्ति की कथा सुनाइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब पंचायत में श्रीनन्दजी के ऊपर यह अभियोग लगाया गया, कि यह बच्चा तुम्हारा नहीं हो सकता, तब तो नन्दजी डर-से गये। उन्होंने अपने मुख पर आये हुए स्वेद को वस्त्र से पोंछा और खाँस मठारकर कंठ को साफ करके पंचों को उत्तर देने के निमित्त प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

दश दिनके नहिँ भये पूतना मारि पछारी।
तृणावर्त अरु शकट, काक, बक हने मुरारी॥
खल अघ, धेनुक, वत्स विविध वेपनितैं आये।
आइ असुरता करी श्याम यम सदन पठाये॥
दामोदर वनि यमज तरु, खैंचि गिराये बालने।
सात दिवस अब खेलमहँ, धरयो शैल कर लालने॥

नंदजीके वचनोंसे गोपोंका समाधान

(९५४)

श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्का च वोऽर्भके ।
एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥*

(श्री भा० १० स्क० २६ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

पूछैं मिलि सब गोप नन्दतैं को ये गिरिधर ।
कहो सत्य ब्रजराज कौनके सुत ये नटवर ॥
सुनि बोले ब्रजराज सत्य मैं बात बताऊँ ।
मेरो ई सुत कृष्ण रहस परि तुम्हें सुनाऊँ ॥
गर्ग प्रथम मोतें कही, अवतारी तेरो तनय ।
गुन सब नारायण सरिस, ह्री श्री, बल, तप, नय बिनय ॥

किसी शंकासंभव बात को देखकर शंकित होना स्वाभाविक ही है। जीव सर्वज्ञ तो हैं नहीं, वे अनुमान के बल पर ही बहुत-सी बातों को स्थिर करते हैं, जीवों की विषय भोगों की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है। एकान्त में कोई भाई अपनी सगी युवती

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! गोपों की शंका पर नन्दजी ने उनसे कहा—हे गोपों! तुम्हें जो इस बालक के विषय में शंका हुई

बहिन से हँसकर बातें कर रहा हो, तो देखने वालों की सर्वप्रथम दृष्टि अवैध सम्बन्ध की ही ओर जायगी। उनमें जो नीच प्रकृति के खल होंगे वे तो उसी समय निश्चय कर लेंगे कि यह व्यक्ति सदाचारहीन है, उसी समय वे निन्दा करने लगेंगे। खल पुरुष तो तनिक-सा छिद्र पाते ही झूठा अनुमान लगा कर सर्वत्र बुराई करनी आरम्भ कर देते हैं, किन्तु जो गम्भीर पुरुष हैं, धर्म से भगवान् से डरते हैं, वे तो दूसरों के विषय में शंका होने पर कोई बात निश्चय नहीं करते, किसी के सामने उसे प्रकट भी नहीं करते। जिसके सम्बन्ध में शंका उत्पन्न हुई है, यदि वह ऐसा ही सामान्य पुरुष है, जिससे अपना कोई सम्बन्ध नहीं तब तो वे उस शंका को पी जाते हैं। सोच लेते हैं, कुछ भी हो, हमें इससे क्या प्रयोजन और यदि शंका अपने किसी घनिष्ट सम्बन्धी आत्मीय पुरुष के सम्बन्ध में हुई है, तो अवसर पाकर प्रेम-पूर्वक उसी पर उसे प्रकट करते हैं। शंका को प्रकट इसलिये करते हैं, कि शंका बनी रहने पर पूर्ण प्रेम होता नहीं। यह अत्यन्त आत्मीयता का चिह्न है। जब उसके द्वारा शंका का समाधान हो गया, तो फिर सज्जन पुरुषों को पश्चात्ताप होता है, हाय! इतने पवित्र विशुद्ध बन्धु पर हमने ऐसी व्यर्थ की शंका क्यों की? किन्तु शंका का समाधान होना अच्छा ही है। जब तक चित्त में तनिक भी शंका बनी रहती है, तब तक हार्दिक प्रेम होता नहीं। स्वार्थी लोगों की दूसरी बात है। स्वार्थी तो किसी से प्रेम कर ही नहीं सकते।

है, इस विषय में मेरा कथन श्रवण करो। इसे सुनकर तुम्हारी शंका दूर हो सकती है। गर्गजी ने इस बच्चे के विषय में जो बातें बताईं थीं, उन्हें आप सबको सुनाता हूँ।"

उन्हें तो अपने स्वार्थ से प्रयोजन ? जब तक जिससे अपना स्वार्थ निकलता है, वह अच्छा हो बुरा हो अपना स्वार्थ सिद्ध करना स्वार्थ न निकला तुम अपने घर हम अपने घर शंका वास्तव में प्रेम में ही होती है, समाधान होने पर प्रेम और बढ़ता ही है।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब गोपों ने नन्दजी के मुख-पर ही भरी पंचायत में यह शंका प्रकट की, कि श्रीकृष्ण हमें आपके पुत्र प्रतीत नहीं होते, तब नन्दजी ने कहा—"पञ्चो ! आप मेरी बात पर विश्वास करें, श्रीकृष्ण मेरा ही पुत्र है।" इस पर एक अधेड़ से वाचाल गोपने कहा—व्रजराज ! देखिये, अब आप बुरा न मानें। पहिले तो शंका होना ही बुरी बात है। यदि शंका मन में हो भी जाय, तो उसे छिपाना यह महापाप है। हमें जिन जिन कारणों से शंका हुई है, उन्हें बतावें तो आप बुरा तो न मानेंगे ?" नन्द जी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"बुरा मानने की कौन-सी बात है। मोरी का पानी और पेट के भीतर की बात का तो निकल जाना ही अच्छा है। भीतर ये वस्तुएँ रहेंगी तो सड़ेंगी। आप अपनी शङ्काओं को स्पष्ट कहें।" उसी गोप ने कहा—"देखिये हमें इन बातों से शंका हुई है। प्रायः पुत्र माता के या पिता के अनुरूप ही होता है। लड़के प्रायः पिता के अनुरूप होते हैं लड़कियाँ प्रायः माता के अनुरूप होती हैं। कभी इसके विपरीत भी हो जाता है। श्रीकृष्ण का मुख न आपसे मिलता है, न नन्दरानी के मुख से मिलता है। आप का मुख कुछ लम्बा और भारी है, श्री कृष्ण का मुख चन्द्रमा के सदृश गोल गोल है। वर्ण भी नहीं मिलता। आप भी गोरे हैं, नन्दरानी जी भी गोरी हैं। फिर आप का यह पुत्र काला कैसे हुआ। काला भी सामान्य नहीं है। ऐसे काले रंग का व्यक्ति तो संसार में

हमने देखा ही नहीं। जहाँ अत्यन्त हरापन होता है वह काला नीला एक विचित्र-सा रंग हो जाता है। जल भरे मेघों के समान, मयूर, के कंठ के समान, नीले कमल के समान अलसी के पुष्प के समान, वर्षा कालीन सघन दूर्वादल के समान तथा इन्द्रनील मणि के समान इस बालक का विचित्र रंग है। ऋषि मुनि आते हैं, इसे वासुदेव कह कर पुकारते हैं। वसुदेव के पुत्र को वासुदेव कहते हैं। इसमें भी सन्देह होता फिर स्वभाव भी आपका इसका नहीं मिलता। आप भोले भाले यह महाचंचल। आकृति भी नहीं मिलती। आप सरल सीधे हैं। यह तीन स्थान से टेढ़ा है, दृष्टि भी नहीं मिलती। आपकी चितवन सीधी है, यह जब देखता है टेढ़ी दृष्टि से देखता है। कर्म भी नहीं मिलते। आपको तो हमने कभी ढाई मन के नाल को उठाते नहीं देखा, किन्तु यह तो सात दिनों तक सात कोश लम्बे पर्वत को एक उँगली पर उठाये रहा। पहिले हमारे ब्रज में कभी भेड़िया भी आ जाता था, तो आप सब गोपों की सहायता से उसे घिरवाकर मरवाते थे, किन्तु इसने इतने बड़े बड़े राक्षसों को बात की बात में ही पछाड़ दिया। इन सभी बातों को देखकर हमारे मन में शङ्का हो गयी है, कि यह आपका पुत्र नहीं है। या तो आप इसे कहीं से ले आये हैं, या कुछ गड़बड़ सड़बड़ है। कुछ दाल मे काला है।"

यह सुनकर सब लोग हँसने लगे। नन्दजी गम्भीर हो रहे थे। वे हँसे नहीं, उन्होंने सम्हलकर कहना आरम्भ किया—"पंचो! आपने जो शङ्का मेरे सम्मुख प्रकट की यह मेरे ऊपर बड़ी कृपा की हितैषियों का यही काम होता है, कि जिसके सम्बन्ध में शंका हो, उसीसे कहे। आपको शंका होना स्वाभाविक है। जो कारण आपने बताये हैं, उनसे ऐसी शंका सभी को हो सकती

है, यह दूसरी बात है कोई स्वार्थवश प्रकट न करे, किन्तु आपने स्नेहवश ये बातें कह ही दीं, अब इस विषय में मेरा जो वक्तव्य है उसे सुनिये। जब यह बच्चा पैदा हुआ था तो इसके जन्म के कुछ ही दिनों पश्चात् ज्योतिष शास्त्र के आचार्य, यदुवंश के राज पुरोहित गर्ग घूमते फिरते मेरे यहाँ आ गये। मैंने उनसे राम श्याम का नाम संस्कार करने को कहा।" इस पर एक वृद्ध गोप ने पूछा—"आपने गर्ग मुनि से नामकरण संस्कार करने के लिये क्यों कहा? हमारे कुल पुराहित तो शाण्डिल्य मुनि हैं?"

धैर्य के साथ नन्द जी ने कहा—"उस समय शाण्डिल्य-मुनि व्रज में थे नहीं कहीं बाहर गये थे। सहसा महामुनि गर्ग आ गये। ब्राह्मण तो जन्म से ही सबके गुरु होते हैं, मैंने सोचा—"इतने भारी विद्वान् त्रिकालदर्शी ज्योतिषाचार्य महामुनि गर्ग स्वतः ही—बिना बुलाये—आ गये हैं, तो इन्हीं के द्वारा नाम करण संस्कार क्यों न करालूँ। ये त्रिकालज्ञ हैं। ये जन्मपत्री बनाकर मुझे बालक का सब सत्य सत्य भविष्य भी बता देंगे। इसलिए मैंने उनसे प्रार्थना की।" उन्होंने कहा—"यदि आप धूम धाम न करें बड़ा भारी उत्सव न करें, तब मैं तुम्हारे बच्चों का नामकरण कर सकता हूँ।" मैंने सोचा—"धूम धाम महोत्सव तो जब चाहें तब कर सकते हैं। यह तो घर की बात है। इस अवसर से लाभ उठाना चाहिए।" यही सोचकर मैंने बिना जाति भोज किये उन महामुनि से नामकरण संस्कार करा लिये। पीछे मैंने तीसरे महीने जन्म-नक्षत्र के दिन उत्सव भी किया था। जातीय भोज भी दिया था, यदि आप उसे न मानें, तो मैं आज फिरसे जातीय भोज देने को तत्पर हूँ।" इस पर एक वृद्ध से गोप बोले—"हाँ,

जी ! इसमें कोई बुराई की बात नहीं, महामुनि गर्ग को नामकरण कराना उचित ही था। हाँ, आगे कहिये उन्होंने क्या कहा ?"

नन्दजी बोले—"हाँ, तो गर्गजी ने दोनों बच्चों का संस्कार किया। फिर वहाँ बैठे बैठे ही उन्होंने दोनों की जन्म पत्री बनायी। जन्म पत्री बनाकर उन्होंने इस कृष्ण को उद्देश्य करके ये बातें मुझसे कहीं। वे कहने लगे—'नन्द ! यह तुम्हारा बालक साधारण बालक नहीं है। प्रत्येक युग में यह प्रकट होता है। सत्ययुग में यह श्वेतवर्ण का होता है, त्रेतायुग में रक्तवर्ण का, द्वापर में पीतवर्ण का और द्वापर के अंत में कलियुग के आदि में यही कृष्ण वर्ण का हो जाता है। यह तुम्हारा पुत्र जीव नहीं ईश्वर है। यह अवतार धारण करता है। प्रत्येक युग में इसके अवतार होते हैं, पहिले कभी यह वसुदेव का भी पुत्र रहा था, इसलिए ऋषि महर्षि ज्ञानीमुनि इसे वासुदेव भी कहेंगे। इससे तुम बुरा मत मानना। तुम्हारे इस पुत्र के अनन्त गुण हैं, अनन्त कर्म हैं। उन गुण कर्मों के अनुसार इसके नाम भी अनन्त हैं, अतः इसे कोई पूतनारि बकासुर संहारि, वनमाली, गिरवरधारी, कुञ्जविहारी, लीलाधारी तथा और भी अनेकों नामों से पुकारे तो तुम कुछ और मत समझना इस रहस्य को कुछ कुछ त्रिकालज्ञ होने से मैं ही जानता हूँ, अन्य साधारण लोग तो समझ ही नहीं सकते। मैं भी पूर्णरीत्या नहीं समझ सकता। तुम्हारा यह बच्चा बड़े यशस्वी नक्षत्र में उत्पन्न हुआ है, इसलिए संसार में इसका बड़ा भारी यश होगा। यह समस्त गौओं को और गोकुल के गोप गोपियों को सुख देने-वाला होगा। इसके द्वारा तुम सब व्रजवासी बड़ी बड़ी विपत्तियों से बात की बात में तर जाओगे।" इस पर एक गोपने कहा—"गर्गजी की भविष्यवाणी तो सोलह आने सत्य उतरी है इसके बालकपन से अब तक जितनी विपत्तियाँ

ब्रज पर आयी हैं, यदि उनसे यह रक्षा न करता तो ब्रज का तो नाम भी शेष न रहता। हम सब कबके स्वाहा हो जाते।"

नन्दजी ने कहा—"गर्गजी ने मुझे ये सभी बातें पहिले ही बता दी थीं, उन्होंने यह भी कहा था कि, अबके ही यह दुष्टों का संहार करे सो बात भी नहीं पूर्वयुगों में भी अराजकता के समय दुष्ट दस्युओं ने प्रजा को पीड़ित किया था। तब वे सब इसकी शरण गये। साधुओं को दुखी देखकर इसने उनका पक्ष लिया। इसके द्वारा सबल और सुरक्षित होकर सज्जन पुरुषों ने दुर्जनों का दमन किया। तुम्हारा यह पुत्र सामान्य नहीं है। इसकी महिमा का तो वर्णन कोई कर ही नहीं सकता। जो इससे प्रेम करेंगे वे भी जगत् पूज्य बन जायँगे। सौभाग्यशाली पुरुष ही इससे प्रेम कर सकते हैं। उन्हें कोई दबा नहीं सकता धमका नहीं सकता।" आगे उन्होंने अत्यन्त दृढ़ता के साथ कहा था—"नन्द! तुम्हारा यह पुत्र अलौकिक है। गुण, श्री, कीर्ति और प्रभाव की दृष्टि से यह साक्षात् श्रीमन्नारायण के सदृश है। यह जो भी सम्भव असम्भव कर्म करे, उस पर आप लोग आश्चर्य प्रकट न करें। यह सब कुछ करने में समर्थ है, इसके लिये संसार में कुछ भी असम्भव नहीं।" सो, पंचो! यह बात मुझे गर्गजी ने पहिले ही बतायी थी। बतायी ही नहीं थी।" ये सब बातें इसकी जन्मपत्री में लिखकर मुझे वे दे भी गये थे। वे तो यह कहकर अपने घर मथुरा में चले गये और मैं ब्रज में ही रह कर उनकी बातों को सोचता रहा, तभी से मैं इन अक्लिष्टकर्मा श्रीकृष्णचन्द्र को श्रीमन्नारायण का अंश ही मानता

हूँ। आपको विश्वास न हो, तो यह मेरे पास जन्मपत्री है इसे देख लें। इस पर भी विश्वास न हो आप सोचते हों यह वैसे ही झूठ बोलना है, तो आप सब चल कर गर्गजी से पूछ लें, कि यह बात सत्य है या नहीं। यदि इसमें एक भी बात मैंने बनावटी कही हो, तो जो कारे चोर को दंड हो, वह मुझे देना।" यह सुनकर समस्त गोप बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने नन्दजी को उठकर गले से लगाया। और सब एक स्वर से कहने लगे—"व्रजराज! हमारी शंका का समाधान पूर्णरीत्या हो गया। आप सत्यवादी हैं। हमारी शंका के कारण हमसे अप्रसन्न न हों, हमारे ऊपर पहिले के ही समान कृपा बनाये रखें। हमारा सब विस्मय दूर हो गया। श्रीकृष्णचन्द्र धन्य हैं, जो सदा हमारी बड़ी विपत्तियों से रक्षा करते रहते हैं। आप भी संसार में धन्य हैं, जो आपने ऐसा पुत्ररत्न पाया, हम सब भी धन्य हैं, जो ऐसे अवतारी महापुरुष के साथ रहने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जब गोपों की शंका का समाधान हो गया, तब समस्त व्रजवासी परम प्रमुदित हुए। वे भगवान् की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। भगवान् भी सुख-पूर्वक उसमें रहकर नाना भाँति की अनेकों और भी अद्भुत अद्भुत क्रीड़ायें करते हुए व्रज वासियों को सुख देने लगे। अब इन्द्र ने आकर जिस प्रकार भगवान्का अभिषेक किया उस कथा प्रसङ्गको मैं आगे सुनाऊँगा, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

करि मोकू आदेश गये घर गर्ग महामुनि।
हौं अति विस्मित भयो पुत्रके ग्रहफल शुभ सुनि॥
तबतैं जो जिह करे मोइ होवे नहिँ विस्मय।
नारायन सुत समुझि सतत विहरौं हौं निर्भय॥
समाधान सबको भयो, करैं प्रशंसा नन्दकी।
जय बोलें मिलिकें सकल, नन्दनँदन ब्रजचन्दकी॥

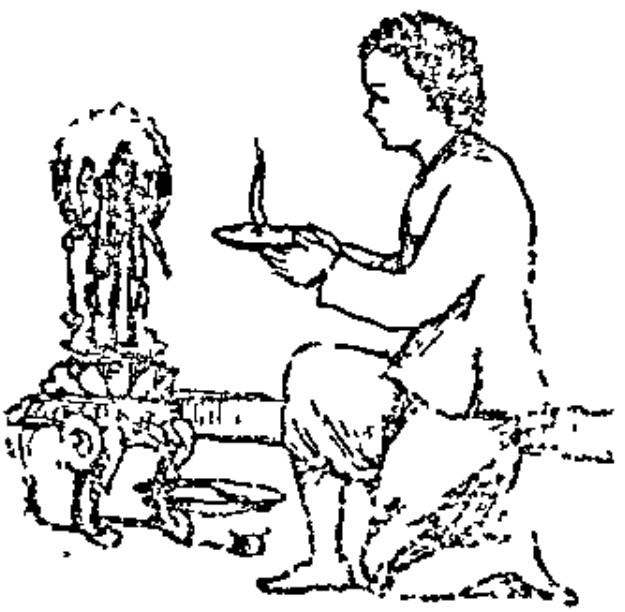

इन्द्र की नन्दनन्दन से क्षमा याचना

(९५५)

गोवर्धने धृते शैले आसाराद् रक्षिते व्रजे।
गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥*

(श्री भा० १० स्क० २७ अ० १ श्लो०)

छप्पय

व्रज की रक्षा करी कृष्णने यश जग छायो।
लज्जित ह्वैकें इन्द्र स्वर्गतें प्रभुढिँग आयो॥
कामधेनु गोलोक त्यागि सेवामहँ आई।
आय शक्र अति सकुचि मधुर स्वर विनय सुनाई॥
कर जोरें शतक्रतु कहे, शुद्ध सत्वमय नाथ तुम।
प्रभो ? छिमहु अपराध अब, माया मोहित जीव हम॥

सुरा के मद में जब आदमी मत्त हो जाता है, तो फिर उसे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। कौन-सी बात करनी चाहिये कौन-सी न करनी चाहिये इसका विवेक नहीं रहता। इस गुड़, जौ, महुए, अंगूर तथा अन्य वस्तुओं की बनाई मदिरा का मद तो एक दो दिन में उतर जाता है किन्तु

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब गोवर्धन पर्वत को धारण करके भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रज की मूसलाधार वृष्टि से रक्षा की। तब उनके समीप गोलोक से सुरभि गौ और अपने लोक से इन्द्र आये।"

काम का मद, मोह का मद तथा ऐश्वर्यादि का मद बहुत दिनों में जब भगवान् ही कृपा करें तब उतरता है। धन के कारण यदि अत्यधिक मद हो जाय, तो उसकी एक मात्र औषधि है दरिद्रता इसी प्रकार ऐश्वर्य का मद हो जाय, तो वह ऐश्वर्य नाश से ही शान्त होता है। हम लोगों का धन नष्ट हो जाता है, ऐश्वर्य कम हो जाता है, तो हम समझते हैं, हम पर बड़ी विपत्ति आ गयी, वास्तव में यह विपत्ति नहीं भगवान् की बड़ी कृपा है। धन रहता तो न जाने और कितने अनर्थ बनते, दुष्ट लोगों का साथ होता। धन नष्ट करके भगवान् ने हमारे हृदय में दीनताका संचार किया। हमें यह सोचने का अवसर दिया, कि धनहीन कैसे जीवन बिताते हैं। मद चूर होने पर जो ऐश्वर्य मिलता है, उसका प्रभु-प्रसाद समझकर उपभोग करे तो उसमें कभी मोह नहीं होता। हमारा शरीर है, यदि हम पथ्य पूर्वक उतना ही आवश्यक भोजन करे तब तो नीरोग बना रहेगा। जहाँ हमने जिह्वा-लोलुपतावश अनाप सनाप खाना आरम्भ कर दिया, तहाँ पेट बढ़ जायगा। शरीर स्थूल हो जायगा। मेद अधिक हो जायगा। रोग आ आकर शरीर में निवास करने लगेंगे। बाह्य दृष्टि वाले तो समझते हैं, ये बड़े आदमी हैं, मोटे हैं नीरोग और स्वस्थ हैं, किन्तु वास्तव में वे रोगी हैं। उन्हें यदि ज्वर आ जाय, तो वह विकारों को पचावेगा। वह ज्वर दुख के लिये नहीं है सुख के ही लिये है। उनसे बढ़े हुए विकार पचेंगे। बढ़ी हुए धातुओं का शमन होगा। जब ज्वर पच जाय और फिर शनैः शनैः पथ्य भोजन करे, कभी कुपथ्य न करे तो शरीर स्वस्थ रहेगा अतः भगवान् जिसे भी धन सम्पत्ति से भ्रष्ट करते हैं, उसके ऊपर कृपा ही करते हैं।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! इन्द्र को बड़ा अभिमान था, कि मैं तीनों लोकों का एक मात्र अधीश्वर हूँ। इसी अभिमान में

भरकर उसने भगवान् के लिये भी न कहने योग्य बातें कहीं। अपने यज्ञ के न करने से गोपों पर क्रोध भी किया और सम्पूर्ण व्रज को डुबा देने का भी प्रयत्न किया। जब वह अपने प्रयत्न में विफल हो गया, तब तो वह मेघों को लौटाकर अत्यन्त लज्जित होकर अपने लोक को चला गया। भगवान् जब लौटकर व्रज में आ गये तब इन्द्र ने सोचा—"चलकर भगवान् से अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करें, किन्तु सबके सम्मुख कैसे जायँ, गोप क्या सोचेंगे, यह देवताओं का राजा कैसा दीन हो रहा है। यही सब सोचकर वह इस घात में लगा रहा, कि भगवान् को कभी एकान्त में पावें, तो उनसे क्षमा प्रार्थना करें।"

संयोग की बात एक दिन भगवान् वन में एकाकी विचर रहे थे। कहीं साकेत स्थान की ओर अकेले जा रहे होंगे, कि इतने में ही इन्द्र ऐरावत की पीठ पर से उतरकर अपने सूर्य के स्पर्श करते हुए, उनके सम्मुख दंडवत् पड़ गया। भगवान् ने देखा, यह कौन मेरे पैरों में साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा है। मैं अपने गन्तव्य स्थान को जा रहा था। ये अर्थार्थी कंगले आकर बीच में मेरे मार्ग में विघ्न उपस्थित करते हैं। वे वेष भूषा देख कर ही समझ गये, यह देवताओं का राजा इन्द्र है। वह बड़ी देर से पैरों पर पड़ा है। यद्यपि देवता गण पृथिवी का स्पर्श नहीं करते अधर में ही रहते हैं, किन्तु आज इन्द्र इस नियम को भूल गया भगवान् ने कहा—"उठो भाई, उठो कौन हो? क्या चाहते हो?"

भगवान् के बार बार कहने पर भगवद् अवज्ञा करने से मन ही मन अत्यन्त लज्जित हुआ इन्द्र नीचा सिर किये हुए उदास मन से भगवान् के सम्मुख खड़ा हो गया। उसका त्रिलोकाधिपति होने का मद उतर गया था। अब वह मद रहित होकर अश्रु बहाता हुआ भगवान् की स्तुति करने लगा—"आप शुद्ध सत्वमय हैं, गुणातीत हैं, अज्ञान से यह जगत् आपकी

सत्ता से सत् सा भासता है, आपका जगत् से कोई सम्बन्ध न रहने पर भी आप धर्म की स्थापना के निमित्त युग युग में अवतार धारण करते हैं। आप सबके सर्वस्व हैं, मुझ जैसे मानियों के मान का मर्दन करके उन पर कृपा करते हैं, आप शिष्टों का पालन और दुष्टों का शासन करते हैं। आपका अवतार केवल भक्तों की प्रीति के ही निमित्त होता है, आप कृष्ण हैं, जगदीश्वर हैं, हरि हैं। आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।"

भगवान् ने कहा—"बात बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं। अपना प्रयोजन कहो! तुम चाहते क्या हो?"

देवेन्द्र ने कहा—"भगवन्! मैं आपका ही बनाया हुआ इन्द्र हूँ। मुझे अपने ऐश्वर्य का बड़ा अभिमान हो गया था, यज्ञों में निरन्तर भाग खाते खाते मैं यह मान बैठा था, कि सभी यज्ञों का अधीश्वर एकमात्र मैं ही हूँ। सबको मेरा ही यज्ञ करना चाहिए। जब गोपों ने आपकी आज्ञा से मेरा मख नहीं किया, इसमें मैंने अपना बड़ा अपमान समझा। गोपों से इस अपमान का बदला लेने के निमित्त मैंने अत्यन्त क्रोध-पूर्वक वर्षा और वायु से व्रज को नष्ट करने की चेष्टा की, किन्तु कृपालो! आपने मुझ पर और व्रज-वासियों पर बड़ी कृपा की।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"व्रज-वासियों पर कृपा तो कही भी जा सकती है, कि उनकी वर्षा से रक्षा की किन्तु तुम पर क्या कृपा की। तुम्हारा तो मैंने उलटा यज्ञ ही भंग कर दिया।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"भगवान! कृपा तो मेरे ही ऊपर सबसे अधिक हुई। यदि आप मेरे अभिमान को चूर्ण न करते तो मैं और भी बड़े बड़े अनर्थ करता।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—"हाँ, भैया! यथार्थ बात,

यही है। तुम अपने ऐश्वर्य के मद से अत्यन्त ही मतवाले हो रहे थे। मैंने सोचा—"वैसे तुमसे कहूँगा, तो तुम मानोगे नहीं। क्योंकि जिसे अपने धन का, ऐश्वर्य का, प्रभाव का, तपस्या तथा सिद्धियों का अभिमान हो जाता है, वह दूसरों की बात सुनता ही नहीं जो ऐश्वर्य और लक्ष्मी के मद से अन्धा हो रहा है, वह पुरुष मुझ दण्डपाणि प्रभु को देखता ही नहीं। इसीलिये मैं जिस पर कृपा करना चाहता हूँ उसको ऐश्वर्य भ्रष्ट कर देता हूँ, जिससे वह मेरा निश्चिन्त होकर भजन कर सके।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् की यह क्या कृपा, कि भक्तों का धन, ऐश्वर्य तथा स्वजनों से पृथक् करके उसे कष्ट पहुँचाते हैं।"

यह सुनकर सूतजी गंभीर हो गये। वे बोले—"भगवन् संसारी वस्तुएँ तो नाशवान हैं, क्षणिक हैं। इसके आने न आने में क्या कष्ट? विपत्ति तो उसी का नाम है, जब भगवान् भूल जायँ और सम्पत्ति वही है, जब भगवान् याद आवें। भगवान् को भूलकर संसारी विषयों में आसक्त होना यह सुख नहीं महान् दुख है। भक्त को जिसमें अधिक आसक्ति होती है भगवान् उसी से उसका विछोह करा देते हैं। पुराणों में इस विषय के अनेकों दृष्टान्त हैं। नलकूवर मणिग्रीव को अपने ऐश्वर्य में अभिमान हो गया था, नारदजी द्वारा उनको ऐश्वर्य से भ्रष्ट करके उन्हें भगवान ने वृक्ष योनि में डाल दिया। अंत में उन पर कृपा की अपनी भक्ति प्रदान की। महाराज चित्रकेतु को अपने इकलौते पुत्र में अत्यन्त आसक्ति हो गयी थी, उनकी विमाताओं से विष दिलाकर उसकी मृत्यु करा दी अंत में उसे संकर्षण भगवान की प्राप्ति हुई। नित्य ही हम संसार में देखते हैं, जिनके हृदय में भक्ति का कुछ अंकुर होता है, उनका प्यारे से प्यारा सर्वगुण

सम्पन्न पुत्र मर जाता है। उस समय तो उन्हें अत्यन्त दुख होता है, निरन्तर रोते ही रहते हैं, किन्तु उसी के विषाद में उनके अन्तःकरण से सब मल धुल जाते हैं, वे पहिले से भी अधिक भक्त बन जाते हैं, नित्य ही हम ऐसी घटनाओं को देखते हैं।

जिस समय भगवान् बुद्ध इस पृथिवी पर विचरण करते थे उन दिनों में सर्वत्र वैराग्य में ही सुख है, इसी का उपदेश करते। सहस्रों पुरुष उनके चरणों में आकर शान्ति लाभ करते थे उनकी बड़ी ख्याति थी। सभी उन्हें शान्ति का दूत मानते थे।

उन्हीं दिनों एक अत्यन्त धनिक महिला एक बड़े नगर में रहती थी। उस पर अटूट धन सम्पत्ति थी। उसका एक अत्यन्त ही सुन्दर लड़का था, उसे वह प्राणों से अधिक प्यार करती, उसके लिये वह सब कुछ करने को तैयार रहती। लड़का भी बड़ा सुन्दर, सुशील होनहार और मातृभक्त था। सहसा उसे एक बार ज्वर आया। माताने प्राणोंका पण लगाकर उसकी चिकित्सा करायी। उसने घोषणा कर दी, जो मेरे बच्चे को बचा देगा, उसे मैं अपना सर्वस्व दे दूँगी।" किन्तु मृत्यु के मुख से बचाने की सामर्थ्य किसमें है। बच्चा बच न सका वह मर गया। माता के दुख का पारापार नहीं था। उसने बच्चे के मृतक शरीर को छाती से चिपटाया रोती ही रही। पल भर को भी उसे अपने से पृथक् न किया। इस प्रकार उसे दो दिन हो गये।

उसी समय उसने सुना भगवान बुद्ध मेरे नगर में पधारे हैं। वे मृतक को जिला सकते हैं। अपने बच्चे के शव को छाती से चिपटाये ही चिपटाये वह उनके समीप गयी और बोली—"आप मेरे बच्चे को जिला देंगे, तथागत ?"

भगवान बुद्ध उसके ऐसे मोह को देखकर समझ गये यह कोई संस्कारी है। जो अनित्य वस्तु में इतनी आसक्ति और रागमयी

है, यदि इसकी यही आसक्ति वैराग्य में हो जाय तो संसार सागर से इसका बेड़ापार हो जाय। यही सोचकर वे बोले—"हाँ, मैं इसे जिला सकता हूँ, किन्तु तुम्हें एक वस्तु लानी होगी।"

अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ उसने कहा—"आप आज्ञा करें चाहे जितना भी द्रव्य व्यय करना पड़े, मैं आपकी बतायी वस्तु को अवश्य लाऊँगी।"

भगवान् बोले—"नहीं, मुझे मूल्यवान् वस्तु की आवश्यकता नहीं। मुझे केवल एक मुट्ठी सरसों चाहिये। किन्तु वह सरसों गृहस्थी के घर से लानी होगी, जिसके घर में कभी किसी की मृत्यु न हुई हो।"

वह तो पुत्र के प्रेम में पगली हो रही थी, उसे कुछ ध्यान तो था ही नहीं तुरन्त उठी और चल दी। प्रत्येक घर में जाती और कहती मुझे एक मुट्ठी सरसों दे दो।" इतनी धनमती महिला को एक मुट्ठी सरसों माँगते देखकर सभी आश्चर्य चकित हो जाते। उसके लिये सरसों लेकर आते। वह पूछती—"तुम्हारे घर में किसी की मृत्यु तो नहीं हुई है?" तब वे कहते—"हमारे यहाँ तो मृत्यु हुई है।" इतना सुनकर वह वहाँ से चल देती, दूसरे के घर जाती। वहाँ भी ऐसा उत्तर पाकर तीसरे के घर जाती। इस प्रकार वह दिन भर भटकती रही। चलते समय वह थक गयी। कोई घर उसे ऐसा न मिला जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। कोई ऐसा व्यक्ति न मिला जिसका कोई सम्बन्धी न मरा हो। वह लौटकर भगवान् बुद्ध के निकट आयी।

भगवान ने पूछा—"तुम सरसों लायी?"

उसने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! कहीं मिली ही नहीं।"

बनावटी विस्मय के स्वर में भगवान् बोले—"तुम्हें एक मुट्ठी कहीं सरसों नहीं मिली ?"

उसने कहा—"मिली क्यों नहीं ! सरसों तो बहुत मिली, किन्तु कोई घर ऐसा नहीं मिला, जिसमें मृत्यु न हुई हो, कोई व्यक्ति ऐसा नहीं मिला, जिसका कोई सम्बन्धी न मरा हो।"

इस पर हँसकर भगवान् ने कहा—"जब सभी घरों में मृत्यु होना अनिवार्य है, तो तुम्हारे घर में मृत्यु हो गयी, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? जब सभी के सम्बन्धी सदा कैसे जीवित रह सकते हैं। जो जन्मा है, वह मरेगा। उत्पन्न होने वाले की मृत्यु अवश्यम्भावी है।" इतना सुनते ही उसे ज्ञान हो गया। अपना सर्वस्व त्याग कर वह भिक्षुणी बन गई। भगवान् की उसके ऊपर कृपा हो गयी।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश अपयश ये सभी दैव की देन हैं। भगवान् धन हानि सगे सम्बन्धी प्रिय बन्धु की मृत्यु तथा अपयश देकर भी कृपा करते हैं। इन्द्र का जो ऐश्वर्य नष्ट किया, वह उसके ऊपर अनुग्रह ही की। जब इन्द्र इस रहस्य को समझ गया, तो भगवान् की शरण में आया और उनसे अपने अपराध के लिये क्षमा याचना की। भगवान् तो भक्तवत्सल हैं शरणागत प्रतिपालक हैं। इन्द्र को दीन देखकर उन्होंने आज्ञा की—"कोई बात नहीं, देवेन्द्र ! अब तुम अपने लोक में जाओ। आनन्दपूर्वक स्वर्ग का शासन करो। मेरी आज्ञा का पालन करते हुए अभिमान रहित होकर अपने अधिकार पर स्थित रहो।" भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर इन्द्र अपने लोक को चला आया। अब कामधेनु ने आकर भगवान् को जैसे गोविन्द की उपाधि दी उसका वर्णन आगे करूँगा।

छप्पय

जनक अंकमहँ करहि तनय नित अगनित अविनय।
पितु ताड़न हू करहिँ तदपि हिय रहहि प्रेममय॥
मेरे गुरु पितु मातु बन्धु तुम सब कछु स्वामी।
समुझि शक्र मद रहित कहैं हरि अन्तरयामी॥
इन्द्र! जाहु निज लोककूँ, मम आयसु पालन करो।
कबहुँ न करियो गर्व अब, मम सिख यह हियमहँ धरो॥

गौओं के इन्द्र श्रीगोविन्द

(९५६)

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मवर्षानिलैः ।
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन् ॥
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा ।
बिभ्रद् गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० २६ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

तब पुनि बोली सुरभि श्याम तुम लीलाधारी ।
मम सन्ततिकी विपति धारि गिरि हरि तुमटारी ॥
अज अनुमति तैं आज आप अभिषेक करावें ।
शक्र सुरनि के इन्द्र आप 'गोविन्द' कहावें ॥
निज पयतैं प्रभु रुख निरखि, करयो धेनु अभिषेक पुनि ।
हरषे हरि अभिषेक लखि, इन्द्र सहित सुर सिद्ध मुनि ॥

हम अपनी श्रद्धा जताने के लिये बड़ों के सम्मुख छोटी छोटी वस्तुओं का उपहार रखते हैं। बड़ों को अपनी बुद्धि के अनुसार छोटे नामों से सम्बोधित करते हैं। हमारी दृष्टि में वह बहुत बड़ा आदर है, किन्तु उनके लिये वह कुछ भी नहीं है,

---

❀-श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन्होंने समस्त यज्ञ भङ्ग होने के कारण कुपित हुए इन्द्र के द्वारा वर्षा करने पर व्रजवासियों

तो भी वे हमारी प्रसन्नता के निमित्त उस क्षुद्र उपहार को उस अल्प उपाधि को ग्रहण करते हैं। इससे अर्पण करने वालों को सुख होता है। महत पुरुषों के समस्त कार्य दूसरों के ही निमित्त होते हैं। स्वयं तो वे आप्त काम होते हैं, किन्तु भक्तों के लिये अनुगतों के लिये वे सब कुछ करते हैं। उनके साथ हँसते खेलते हैं, शिष्टाचार की बातें कहते हैं, उनकी की हुई पूजा को ग्रहण करते हैं। यही महत्पुरुषों की महत्ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! इन्द्र के क्षमा-याचना करने पर समस्त गोजाति की आदि माता सुरभि श्रीकृष्ण के समीप आई। उस महामनास्विनी कामधेनु ने आकर प्रथम गोपवेषधारी भगवान् श्रीकृष्ण के पादपद्मों में प्रणाम करके तथा उन्हें सुन्दर सम्बोधनों से सम्बोधित करके अपनी संतानों सहित कहना आरम्भ किया। कामधेनु बोली हे कृष्ण! हे कृष्ण! आप सम्पूर्ण चराचर जगत के एक मात्र अधीश्वर हैं। हे महायोगिन्! आप सम्भव असम्भव सब कुछ करने में समर्थ हैं। हे विश्वात्मन्! आप घट घट की जानने वाले हैं। हे विश्व की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के एक मात्र स्थान! यह जगत् आपका लीला विलास मात्र ही है। हे अच्युत आप वास्तव में लोकनाथ हैं। आपके द्वारा गौजाति भी सनाथ हो गई। इन्द्र तो क्रोध में भरके मेरी सन्तानों को मारने के लिये उद्यत ही था। आपने ही अपने

को स्त्री और पशुओं के सहित वज्रपात तथा ओलों की बौछार और प्रचण्ड पवन से पीड़ित होकर शरण में आने पर सम्पूर्ण व्रज की रक्षा की। उस समय जिन्होंने गोवर्धन पर्वत को लीला पूर्वक हँसते हँसते एक हाथ से उखाड़कर उसी प्रकार उठा लिया जिस प्रकार कोई निर्बल बालक क्रीड़ा में कुकुरमुत्ता को उठा लेता है ऐसे इन्द्र के मद को चूर्ण करने वाले गौओं के इन्द्र श्री नन्दनन्दन हम पर प्रसन्न हों।"

योग प्रभाव से गिरिराज गोवर्धन को छतरी की भाँति उठाकर गौजाति की रक्षा की। हे जगत् पते! आप हमारे परम पूजनीय देव हैं। आप हमारी एक प्रार्थना स्वीकार करें। हम आपके चरणों में कुछ निवेदन करना चाहती हैं।"

भगवान् ने कहा—"हे कामधेनु! तुम जो कहना चाहती हो, वह निर्भय होकर कहो। संकोच करने का काम नहीं है।"

यह सुनकर सुरभि का साहस बढ़ा उसने विनय के साथ भगवान् से कहा—"प्रभो! आप सदा ही गौ, ब्राह्मण देवता तथा साधु सन्तों की रक्षा के लिये अवतार धारण करते हैं। हम चाहती हैं आप गौओं के इन्द्र बनें। हम आपको "गोविन्द" की उपाधि से विभूषित देखना चाहती हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"हे सुरभि—"तीनों लोकों के इन्द्र तो ये शतक्रतु देवेन्द्र हैं ही, फिर तुम मुझे गौओं का पृथक् इन्द्र क्यों बनाना चाहती हो। ये ही समस्त ऋषि मुनियों को देवताओं के तथा तीनों लोकों के इन्द्र हैं।"

कामधेनु ने कहा—"प्रभो! इन्द्र तो वही होता है, जो विपत्ति से रक्षा करे। इन्द्र ने तो जान बूझकर और गौओं को विपत्ति में डालने का प्रयत्न किया। रक्षा तो आपने ही की। अतः! हम अपनी श्रद्धा भक्ति व्यक्त करने के लिये निमित्त आपको इन्द्र बनाना चाहती हैं। कृपा करके आप हमारी इस विनय को स्वीकार करलें।"

भगवान् ने कहा—"गौमाता! ब्रह्माण्ड में इन्द्र आदि तो लोक पितामह ब्रह्माजी बनाया करते हैं, उनकी अनुमति के बिना किसी को इन्द्र बनाने का अधिकार ही नहीं। "ऐसा सृष्टि का सनातन नियम है।"

शीघ्रता के साथ कामधेनु ने कहा—"हम लोकपितामह ब्रह्मा जी की आज्ञा से ही तो यह प्रस्ताव कर रही हैं। उन्होंने ही तो

हम इन देवताओं की माता अदिति के सहित आपकी सेवा में भेजा है। भगवान् आपने भूमिका भार उतारने के निमित्त भू-मण्डल पर धारण किया है। अतः हम आज आपका विशेषाभिषेक करके आपको "गोविन्द" की उपाधि से विभूषित करना चाहती हैं।"

भगवान् ने सरलता के साथ कहा—"अच्छी बात है, जिसमें तुम्हारी प्रसन्नता हो। किन्तु ये इन्द्र तो इसमें अपना अपमान न समझेंगे?"

इस पर इन्द्रादि समस्त देवताओं की माता भगवती अदिति देवी ने कहा—"भगवान्! आप तो चराचर विश्व के इन्द्र हैं। गौओं का इन्द्र होना यह तो आपके महत्व को घटाना है। इन्द्र तो इसमें अपना सौभाग्य समझेगा। इससे उसका गौरव और बढ़ेगा। वह स्वयं अपने ऐरावत की सूंड द्वारा लाये हुए आकाश गंगा के जल से आपका अभिषेक करेगा।"

सबकी ऐसी इच्छा देखकर भगवान् ने अभिषेक की अनुमति दे दी। कामधेनु ने अपने दिव्य दूध से यशोदानन्दन का अभिषेक किया। तदनन्तर ऐरावत का सूंड से लाये हुए गंगा जल से इन्द्र ने भगवान् का अभिषेक किया। सभी ने मिलकर विधिवत् भगवान् की पूजा की। उस समय अपने अपने विमानों में बैठकर देवता, सिद्ध, गन्धर्व, गुह्यक, विद्याधर तथा चारण आदि वहाँ उपस्थित हुए। अभिषेक के निमित्त बड़ा भारी समाज लगा। भगवान् को एक दिव्य सिंहासन पर बिठाया गया। सर्वप्रथम नारदजी ने स्वर ब्रह्म विभूषिता वीणा के तारों पर तान छेड़ते हुए "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव। आदि भगवान के सुमधुर नामों का कीर्तन किया। तदनन्तर तुम्बुरु आदि गन्धर्वों ने गोविन्द भगवान की स्तुति के और भी गीत गाये। अन्य गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध तथा चारणगण भी भगवान् का संसार

दोषापहारी निर्मल यश गान कराने लगे। स्वर्ग की समस्त अप्सरायें भगवान् के अभिषेक के उपलक्ष्य में नृत्य करने के निमित्त समुपस्थित हुई थीं। देवेन्द्र का संकेत पाते ही वे अति आनन्दित होकर भाँति भाँति के हाव भावों को दिखाती हुई नृत्य करने लगीं। आज उन्होंने अपनी नृत्य कला को सार्थक समझा। जो कला भगवत् सेवा में काम आवे वास्तव में वही कला है, शेष कलायें तो कुकलायें हैं—उदर पूर्ति की साधिका मात्र हैं। आज अप्सराओं ने अपने नृत्य से सभी को विमुग्ध बना दिया।

अवसर पाकर मुख्य मुख्य देवता तथा लोकपालों ने भगवान् की स्तुति करके उनके ऊपर नन्दन कानन के सुमनों की वृष्टि की तीनों लोकों में परमानन्द छा गया। गौओं के स्तनों से अपने आप ही दुग्ध बहने लगा। जिससे सम्पूर्ण पृथिवी दुग्ध मयी बन गई। मानों गौएँ भगवान् की प्रिया पृथिवी का भी अभिषेक कर रही हों। नदियों का जल अमृत तुल्य हो गया, उनके जल में नाना प्रकार के रसों का स्वाद आने लगा। वृक्ष अपने कोटरों से मधु चुआकर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। असमय में ही सभी में पुष्प फल आने लगे। बिना जोते बोये ही ओषधियाँ उत्पन्न होने लगीं। पर्वतों के भीतर जो बहुमूल्य मणियाँ छिपी हुई थीं वे प्रत्यक्ष प्रकट दिखाई देने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् का बड़े ठाठबाट तथा समारोह के साथ अभिषेक हुआ। सर्वप्रथम इन्द्र ने भगवान् को 'गोविन्द' कहकर पुकारा। तदनन्तर सभी गोविन्द कह कर भगवान् को प्रणाम करने लगे। उस समय जो जीव स्वभाव से ही क्रूर थे वे भी वैरहीन हो गये। इस प्रकार गोप रूपधारी श्रीहरि का 'गोविन्द' पद पर अभिषेक

भगवान् की आज्ञा लेकर कामधेनु, देवेन्द्र तथा समस्त देव उपदेव प्रभु के पाद पद्मों में प्रणाम करके अपने अपने लोकों को चले गये। भगवान् भी जहाँ जा रहे थे, वहाँ के लिये चले गये। उन्हें इस उपाधि से हर्ष क्या होना था, वे निखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक स्वयं ही हैं। इस प्रकार भगवान् का नाम गोविन्द पड़ा। सुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में गोवर्धन धारी गिरधारी भगवान् नन्द नन्दन की गोवर्धनधारी धारण लीला इस लीला में भगवान् ने इन्द्र का मदचूर्ण करके उनका उद्धार किया। अब जिस प्रकार जलेश वरुण को दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ किया, उस कथा को आगे कहूँगा। आशा है आप सब समाहित चित्त से श्रवण करेंगे।

छप्पय

यों गिरिवर हरि धारि इन्द्र मख भङ्ग करायो।
करि मदमर्दन फेरि क्षमा करि मान बढ़ायो॥
हरि आयसु लै इन्द्र सुरभि निज लोक सिधाये।
कुञ्ज विहारी करत केलि वृन्दावन आये॥
जे श्रद्धातैं सुनहिं नर, जा चरित्र कूँ नेमतैं।
काम क्रोध नसि जाँइ रिपु, प्रभु पद पावें प्रेमतैं॥

भगवान् की वरुण के ऊपर अनुग्रह

(९५७)

चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः ।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ।
तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० २८ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

हरिवासर व्रत करें सबहि व्रजमहँ नर नारी ।
निर्जल कछु फल खाइँ रहें कछु दूधाधारी ॥
एकादशी पुनीत सुदी कातिककी आई ।
निराहार व्रजराज रहे दिन दयो विताई ॥
जानि प्रात उठि चलि दये, स्नान करन यमुना निकट ।
धरि पट जलमहँ घुसि गये, जानी नहिँ वेला विकट ॥

वैष्णव धर्म में एकादशी व्रत का बड़ा महात्म्य है। ऐसा वर्णन है कि एकादशी के दिन सभी पाप अन्न में आकर निवास करते हैं, अतः एकादशी को जो अन्न खाता है, वह पापों को खाता है। एकादशी को हरिवासर

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! द्वादशी को स्नान के लिये गये नन्दजी को लौट कर आते न देख कर गोप गण, हे राम! हे

भी कहा है। पुराणों में हम प्रधानतया चार बातों को ही देखते हैं। भगवान् के नाम और गुणों की महिमा, तुलसी की महिमा, गंगाजी की महिमा और एकादशी व्रत की महिमा। ऐसा स्यात ही कोई पुराण हो जिसमें इन बातों का उल्लेख न हो। एकादशी व्रत पर तो पुराणों में बहुत लिखा गया है। एक स्थान पर तो एकादशी व्रत की अत्यन्त महिमा बताते हुए कहा गया है। जैसे देवताओं में श्रीकृष्ण हैं, वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, देवताओं में जैसे गणेश, शास्त्रों में वेद, तीर्थों में गंगा, धातुओं में सुवर्ण, जीवों में वैष्णव, धनों में विद्या, साथियों में जैसे धर्मपत्नी, प्रमथों में रुद्र, श्रेय करने वालों में जैसे बुद्धि, इन्द्रियों में जैसे आत्मा, चंचलोंमें जैसे मन, गुरुओं में माता, प्रियों में जैसे पति, बलवानों में जैसे दैव, गणना करने वालों में काल, मित्रों में जैसे सौशील्य, शत्रुओं में रोग, कीर्तिमन्तों में कीर्ति, घरवालों में जैसे घर, हिंसकों में खल, दुष्टों में जैसे पुञ्चली, तेजस्वियों में सूर्य, सहिष्णुओं में पृथिवि, खाने वाले पदार्थों में अमृत, जलाने वालों में अग्नि, धन देने वालों में लक्ष्मी, सतीसाध्वियों में जैसे शिव प्रिया सती, प्रजा पतियों में ब्रह्मा, जलाशय में सागर, वेदों में सामवेद, छन्दों में गायत्री, वृक्षों में पीपल, पुष्पोंमें तुलसी मंजरी, मासों में मार्गशीष, ऋतुओं में वसंत, आदित्यों में सूर्य, रुद्रों में शङ्कर, वसुओं में भीष्म, वर्षों में भारतवर्ष, देवर्षियों में नारद, ब्रह्मर्षियों में भृगु, राजाओं में राजा रामचन्द्र, सिद्धों में कपिल, ज्ञानी योगियों में सनत्कुमार, हाथियों में ऐरावत, पशुओंमें शरभ, पर्वतों में हिमालय, मणियोंमें

कृष्ण ! ऐसा कह कर चिल्लाने लगे। स्वजनों को अभय दान करने वाले श्रीहरि उनका करुण क्रन्दन सुनकर और पिता को वरुण ले गया है इस बात को जान कर वे वरुण के समीप गये।"

कौस्तुभमणि, पुण्यस्वरूपिणी नदियों में जैसे सरस्वती, गन्धर्वों में चित्ररथ, यक्षों में कुबेर, राक्षसों में सुमाली, स्त्रियों में शतरूपा, मनुष्यों में स्वायम्भुवमनु, सुन्दरी अप्सराओं में रम्भा, और जैसे समस्त माया करने वालियों में माया सर्व श्रेष्ठ है वैसे ही समस्त व्रतों में एकादशी व्रत सर्व श्रेष्ठ है। पुराणों में एकादशी व्रत सर्व श्रेष्ठ है। पुराणों में एकादशी व्रत विधानों का विस्तार से वर्णन है। दशमी के दिन एक समय हविष्यान्न भोजन करे, एकादशी को निर्जल रहे, द्वादशी को एक समय पारण करे। इस प्रकार उसकी विधि का वर्णन है। व्रज वासी सभी एकादशी व्रत करते हैं। कहते हैं श्रीकृष्ण का प्राकट्य भी एकादशी व्रत के ही कारण हुआ। इसलिये नन्द जी सदा एकादशी व्रत किया करते हैं। दिन भर व्रत करते रात्रि में जागरण करते और [illegible] धाम से पारणा करते।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! [illegible] पृथिवी निवासियों पर ही अपनी [illegible] थे, अपितु देवताओं और लोकपालों के [illegible] धूलि से कृतार्थ करते थे। [illegible] मद को चूर किया। ये सब [illegible] पाल वरुण तो आरम्भ से ही [illegible] भी संकल्प हुआ कि [illegible] दर्शन हो। हम भी [illegible] ऐश्वर्य को सार्थक करें। [illegible] करने का विचार किया।

कोटि का व्रत है। सिंघाड़े, कूट्टू, रामदाने का आटा, साग, फल आदि खाना यह केवल अन्न का बचाव मात्र है। नन्दजी सदा निराहार व्रत करते थे। दिन भर व्रत करते और रात्रि में जागरण करते। उस दिन कार्तिक शुक्ला देवोत्थापिनी एकादशी थी। शास्त्रीय विधि से उन्होंने घर को लिपाकर शालग्राम जी की स्थापना करके उनका पूजन अर्चन किया। रात्रि में जागरण करते भूख में नींद भी कम ही आती है। और जागरण की रात्रि भी बड़ी प्रतीत होती है। आधिरात्रि बीतने के अनन्तर ही नन्दजी को ऐसा लगा मानों अरुणोदय हो गया है। वे तुरन्त अपना रेशमी मुकुटा और जल की झारी लेकर एक सेवक के साथ यमुना किनारे पहुँचे। नित्यकृत्यों से निवृत्त होकर उन्होंने जल में प्रवेश किया। उस समय रात्रि शेष थी, आसुरी वेला थी, जल पर वरुण के दूतों का पहरा था। उस समय जल में प्रवेश करना निषेध था, किन्तु नन्दजी ने उधर ध्यान नहीं दिया। संयोग की बात कि उसी समय कोई वरुण का दूत जल के भीतर बैठा था वह उन्हें साधारण मनुष्य समझकर जल मार्ग से पकड़कर वरुण लोक में ले गया। वरुणजी ने जब देखा, मेरा भृत्य बिना जाने आनन्द कन्द श्रीकृष्ण चन्द्र जी के पिता को पकड़ लाया है तब वे उस पर बड़े क्रुद्ध हुए। सेवक ने कहा—"प्रभो! मैं तो बिना जाने आसुरी वेला में स्नान करते हुए इन्हें पकड़ लाया।"

वरुण ने सोचा—"कोई बात नहीं, भगवान् जो भी करते हैं, मङ्गल के ही निमित्त करते हैं। इसी कारण मेरे गृह को भगवान् अपने पादपद्मों का पराग से पावन बनावें। पिता को लेने जब वे मेरे लोक में आवेंगे तब मैं परिवार सहित उनकी पूजा कर सकूँगा।" यही सोचकर उन्होंने नन्दजी को बड़े आदर से अपने यहाँ रखा। इधर जब सेवक ने व्रजराज को डुबकी लगाये बड़ी देर हो गई वे जल से बाहर नहीं

निकले, तब तो उसे संदेह हुआ। वह भी जल में घुसा इधर उधर देखा, नन्दजी का कुछ पता ही न चला। तब तो वह बड़ा घबराया। दौड़ा दौड़ा व्रज में गया। सब गोप इकट्ठे हो गये, क्षण भर में बात व्रज भर में फैल गयी। सबने देखा—"अब श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई भी हमारी इस विपत्ति से रक्षा नहीं कर सकता। उन्होंने ही हमारी बड़ी बड़ी विपत्तियों से रक्षा की है, इस विपत्ति से भी वे ही बचावेंगे।" यह सोचकर वे राम कृष्ण का नाम ले लेकर करुण स्वर में क्रन्दन करने लगे। यशोदाजी और रोहिणीजी ने भी जब सुना, तो वे हाय हाय करके डकराने लगीं।

बलरामजी और श्रीकृष्णजी सुखपूर्वक शैया पर शयन कर रहे थे। माता तथा गोपों के करुण क्रन्दन को सुनकर भगवान् जगे और माता के समीप आकर बोले—"मैया! तू इतनी दुखी क्यों हो रही है? तू अपने दुःख का कारण मुझे बता।"

माता ने कहा—"बेटा! तेरे पिता जल में डूब गये। यमुना स्नान करने गये थे। गोता लगाने के अनन्तर उछले ही नहीं।"

श्रीकृष्ण ने क्रुद्ध होकर कहा—"जल का ऐसा साहस कि मेरे पिता को डुबा दे। माँ! तुम चिंता मत करो, मैं अभी पिताजी को लाता हूँ।"

इतना कहकर भगवान् गोपों के साथ उस घाट पर गये। वहाँ जाकर वे अपने योग प्रभाव से उसी शरीर द्वारा वरुण लोक में गये।

भगवान् हृषीकेश को अपने लोक में आते देखकर वरुण के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह आनन्द में विभोर होकर नृत्य करने लगा। जीव के समस्त कर्म प्रभु प्राप्ति के ही निमित्त हैं भगवान् कृपा करके जिसके मन्दिर में पधार जायँ,

फिर कौन सा कृत्य शेष रह जाता है। लोकपाल जलेशने प्रभु दर्शनों से परम प्रमुदित होकर पूजन सामग्रियों द्वारा प्रेमपूर्वक उनका पूजन अर्चन किया। फिर दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर गद्गद वाणी से कहने लगा—"प्रभो! आज मेरा शरीर धारण करना सफल हुआ। आज मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हुए, क्योंकि समस्त सिद्धियों को देने वाले आपके चरणारविन्द ही हैं। जो आपके चरण कमलों की श्रद्धाभक्ति सहित सेवा करते हैं वे संसार सागर से बिना प्रयास के पार हो जाते हैं। अब मेरे उद्धार में संदेह ही क्या रहा। आपके चरण दर्शनों से मैं कृतार्थ हो गया। आपकी भावमयी मनोमयी मूर्ति के चिंतन से ही सब शोक शान्त हो जाते हैं, मैंने तो आपके प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं। लोक सृष्टि की कल्पना करने वाली माया के आप ईश हैं। आप षडैश्वर्य सम्पन्न हैं, सर्वत्र हैं तथा सबके परम आत्मा हैं। मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ" केवल आपके चरण कमलों में श्रद्धा सहित प्रणाम ही करता हूँ" भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! प्रणाम नमस्कार तो हो गयी, यह बताओ हमारे पिताजी कहाँ हैं सुना है उन्हें तुम अपने लोक में पकड़ लाये हो?" वरुण देव ने कहा—"नहीं, भगवन्! मैं तो नहीं पकड़ कर लाया, हाँ मेरे एक अज्ञानी भृत्य से भूल में यह अपराध अवश्य हो गया है। उसने जान बूझकर यह अपराध नहीं किया है। भ्रम वश-अज्ञान-वश-उससे ऐसा अनुचित कार्य हो गया है। आप तो शरणागत वत्सल हैं कृपा के सागर हैं। उसके अज्ञान कृत अपराध को क्षमा कर दें।"

यह कह कहकर वरुण भीतर बैठे हुए नन्दजी को सत्कार पूर्वक लिवा लाये और हाथ जोड़कर बोले—"हे पितृवत्सल प्रभो! ये आपके पूजनीय पिता हैं। मेरे भृत्य के कारण इन्हें कष्ट हुआ। किया तो उसने अक्षम्य अपराध ही, किन्तु इससे मेरा तो लाभ

ही हो गया। मुझे घर बैठे आपके देवदुर्लभ दर्शन हो गये। मेरा गृह आपकी चरणधूलिसे पवित्र हो गया। आप तो घट घटकी जाननेवाले हैं। प्राणि मात्र के साक्षी हैं; अतः मुझ पर आप क्रुद्ध न हों। सदा सेवक जानकर कृपा दृष्टि बनाये रखें।"

अपने पिताको देखकर भगवान् उठकर खड़े हो गये, उन्हें ऊँचे सिंहासन पर बिठाया। वरुणजी ने विधि-पूर्वक भगवान् की तथा नन्दजीकी भी पूजाकी। वरुणजी द्वारा भगवान् का ऐसा स्वागत सत्कार देखकर नन्दजी को बड़ा विस्मय हुआ। वे श्रीकृष्ण के ऐसे अमित प्रभाव और महान् ऐश्वर्यको देखकर चकित रह गये। भगवानने वरुणसे कहा—"जलेश! अब हम जाना चाहते हैं, तुम आनन्दपूर्वक अपने पदपर स्थित रहकर मेरा स्मरण किया करो।'

भगवान् की आज्ञा पाकर वरुणजी ने नन्द सहित भगवान् को साश्रुनयनोंसे प्रेम-पूर्वक विदा किया। भगवान तुरन्त उसी घाट पर आकर नंदजी के सहित प्रकट हो गये। सब उन्हें देखकर उसी प्रकार प्रसन्न हुए, जिस प्रकार अत्यन्त प्रिय मृतक बन्धुके जीवित होने पर उसके सम्बन्धी प्रसन्न होते हैं। सबने नन्दजीकी चरण वन्दना की, कोई उनसे गले लगकर मिले किसी का उन्होंने आलिंगन किया। गोपों ने पूछा—"बाबा! कहाँ चले गये थे?"

नंदजीने कहा—"भैया क्या बतावें। एक वरुणका सेवक मुझे पकड़कर वरुण लोक में ले गया। जब उसने मुझे अपराधी की भाँति वरुण के आगे उपस्थित किया तो मुझे पहिचानकर वरुण अपने आसन से उठकर खड़ा हो गया। उसने मेरा बड़ा भारी स्वागत सत्कार किया। वह बड़ा दिव्यलोक था। [illegible] का बड़ा ऐश्वर्य है, वे पश्चिम दिशा के लोकपाल हैं उन्हें। मैं कृष्ण भी वहाँ पहुँच गया। इसे देखकर तो वरुण ने

विनय दिखायी। सेवककी भाँति हाथ जोड़े इसके सम्मुख खड़ा विनती करता रहा, पीछे पीछे फिरता रहा। बड़ी भारी पूजा की। इसके पीछे मेरी भी पूजा हो गयी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी के मुख से जब गोपों ने उनके महान् ऐश्वर्य और प्रभाव की बातें सुनी, तो सभी उन्हें अब ईश्वर ही मानने लगे। अति उत्सुक होकर वे मन ही मन सोचने लगे—"यदि श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, तो कभी हमपर भी कृपा करेंगे क्या? कभी हमें भी अपने अपार ऐश्वर्यका दर्शन करावेंगे क्या? हमें तो यह अभी तक असुरों की मार धाड़ ही दिखाता रहा है। अपना ऐसा दिव्य प्रभाव तो कभी दिखाया नहीं। हमें भी कभी अपनी सूक्ष्मगति तक पहुँचावेंगे। हमें भी कभी वैकुण्ठके दर्शन करावेंगे।" भगवान् तो भक्तवांच्छा कल्पतरु हैं उनके भक्त मन से जो इच्छा करते हैं, उसे ही पूर्ण करते हैं। जिस प्रकार गोपोंको वैकुण्ठके दर्शन कराये उस कथाको मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

दूत पकरि लै गयो तुरत जलपति के पाहीं।
इत ब्रजमहँ नँदराय लौटिके आये नहीं॥
समाचार सुनि दुखद वरुन के पास गये हरि।
सौंपे श्रीव्रजराज वरुनने बहु पूजा करि॥
पिता संग घनश्याम लै, आये ब्रजमहँ सुखसदन।
सुनि अति वैभव कृष्णको, भयो सबनिको मन मगन॥

गोपों को वैकुण्ठ के दर्शन

(६५८)

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥१

(श्री भा० १० स्क० २८ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

गोप विचारें श्याम हमें वैकुण्ठ दिखावें ।
गोता हमहू बैठि ब्रह्मसरमाहि लगावें ॥
सबकी इच्छा जानि विष्णु निजलोक दिखायो ।
सुखमहँ सबई मग्न भये सब जगत भुलायो ॥
ब्रह्मानन्द चखाइ हरि, पुनि वैकुण्ठ दिखाइकें ।
भये चकित सब गोपगन, हरिपुर दर्शन पाइकें ॥

सुख, शान्ति, सन्तोष तथा आनन्द का एकमात्र स्थान प्रभु का लोक-परम पद ही है । उसे न जानकर जीव अज्ञानवश विषयों के सम्पादन के निमित्त ऐसे ऐसे काम्य कर्म करता है, कि उन्हें स्वयं ही करके रेशम के कीड़े के

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपों का संकल्प देखकर भगवान् ने सोचा—'इन्हें मेरे धाम के दर्शन हों । विचारकर परम कारुणिक भगवान् ने उन गोपों को अपने ज्ञानातीत धाम के दर्शन कराये ।"

सदृश उनमें फँस जाता है और फिर चौरासी के चक्कर में पड़कर संसार मे भटकता रहता है। यदि जीव को अपनी वास्तविकि गति का ज्ञान हो जाय, यदि वह अपने यथार्थ स्वरूप को समझ जाय, तो फिर इन विषयों के आने से उसे न हर्ष हो न विषाद। अरे, यह संसार तो आगमापायी है। इसमें कौन-सी वस्तु स्थिर है। जो उत्पन्न हुई है वह नष्ट होगी। जो जन्मा है वह मरेगा। वह पञ्चभूतों क बने पदार्थों में स्थायित्व कहाँ ये तो नाशवान् हैं ही। जो नाशवान् हैं वे सुखदायी हो नहीं सकते। सुख तो शाश्वत वस्तु में है और शाश्वत है केवल प्रभु का धाम, प्रभु का नाम, प्रभु का रूप और प्रभु की ललित लीलायें। जो इनके ही देखने, सुनने तथा कहने की इच्छा रखेगा, वह तो सुखी होगा, अन्यथा उसे दुःख ही उठाना पड़ेगा; अतः अपनी कोई इच्छा हो भी तो वह प्रभु के ही सम्बन्ध की ही और उसकी पूर्ति के लिये प्रभु से ही प्रार्थना भी करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी ने द्वादशीव्रत किया था। कार्तिक शुक्ला-त्रयोदशी के प्रातः उन्हें वरुण का दूत पकड़ कर ले गया। उसी दिन भगवान् कृष्ण वरुणलोक में जाकर नन्दजी को लिवा लाये। आते ही उन्होंने गोपों से भगवान् के परमैश्वर की बात कही। उसी समय सबके मन में भगवान् के वैकुण्ठ धाम देखने की इच्छा हुई। उस दिन देर हो गयी थी। मैया यशोदा बहुत व्याकुल हो रही थीं; अतः सब गोप घर गये। वह दिन आनन्दोत्सव में श्रीकृष्ण की महिमा वर्णन में बीत गया। अब चतुर्दशी का दिन आया। सब गोपों के मन में एक साथ ही वैकुण्ठ दर्शन की लालसा उत्कट हो उठी। सबने आकर श्रीकृष्ण से कहा—"कृष्ण! सुना है तुम्हारा लोक वरुणलोक से भी सुन्दर है, तुम उसी लोक में विराजते

ही। हमें अपना लोक दिखाओ।"

भगवान् बोले—"अरे, तुम लोगों ने आज भाँग तो नहीं पी ली है। भैया मेरा लोक तो यही वृन्दावन है। जहाँ गौएँ हैं, मैया और बाबा हैं, ये गोपियाँ हैं, और तुम सब ग्वाल हो। जहाँ यमुनाजी हैं गोवर्धन पर्वत है वही वृन्दावन मेरा धाम है। तुम कैसी सिड़ी पागलपने की बातें कर रहे हो।" गोपों ने कहा—"अरे, भैया! तू हमें बहकाता क्यों है, हमने सुना है वैकुण्ठलोक बड़ा अच्छा है। वहाँ की भूमि रमणीक अमृत के वापी, कुप तड़ाग हैं। वहाँ की सरितायें दिव्यामृत बहाती हैं। उनके तट दिव्य मणियों से बने हैं। वहाँ कल्प वृक्षों के दिव्य बाग हैं। खगमृग पशु पक्षी जो भी वहाँ हैं, दिव्य चिन्मय हैं। वहाँ के मन्दिर चिंतामणियों से बने हैं। वहाँ के निवासी शुद्ध सतोगुणी होते हैं। वहाँ के लोगों के वस्त्र आभूषण, मुकुट जो भी हैं सब दिव्य हैं।"

भगवान् बोले—"अरे, होंगे भैया दिव्य, दिव्यों में क्या रखा है। ये सब वृन्दावन से बढ़कर थोड़े ही हैं।"

गोप बोले—"अरे, ना भैया! देख, अपने बाप को तो तैंने वरुण लोक का ऐसा ऐश्वर्य दिखा दिया। अब हमारे लिये टाल मटोल करता है।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े। उन्होंने सोचा—"देखो, यह जीव अज्ञान के कारण नाना भाँति की छोटी बड़ी कामनाओं के कारण तथा काम्य कर्मों के कारण निरन्तर छोटी बड़ी ऊँची नीची योनियों में भ्रमण करता रहता है। कभी भौम स्वर्ग के सुखों को चाहता है, कभी पाताल स्वर्ग के सुखों को कभी इन्द्र लोक वरुण लोक कभी जनलोक कभी तपलोक और कभी ब्रह्मलोक, इसी प्रकार एक लोक के दूसरे लोक की इच्छा करते हुए घूमता रहता है। मेरा जो परमपद है, जिसकी बराबरी कोई भी

लोक नहीं कर सकता, उसमें मन को स्थिर नहीं करता। अपनी वास्तविक गति को पहिचान कर उसी में आरूढ़ हो जाय, तो इस जीव के समस्त शोक मोह तथा दुःखादि दूर हो जायँ।" यही सब सोचकर भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है चलो, मैं तुम्हें वरुण लोक से भी एक दिव्यलोक दिखाता हूँ।" यह कहकर उन्हें यमुना किनारे ले गये।"

यमुनाजी में एक ह्रद था जिसका नाम "ब्रह्मह्रद" था। भगवान् ने कहा—"तुम सब अपने वस्त्र उतार कर इस ह्रद में घुस जाओ और डुबकी लगाओ। फिर देखना क्या चमत्कार दिखाता है।"

यह सुनकर समस्त नन्दादि गोप उत्सुकता—पूर्वक अपने अपने वस्त्रों को उतार कर उस ब्रह्मह्रद में घुस गये। भगवान् ने कहा—"अब क्या देख रहे हो। मारो डुबकी।"

सबने भगवान् के कहने से जो डुबकी मारी तो सबके सब वैकुण्ठ लोक में पहुँच गये। वह अपूर्व लोक था। वहाँ की शोभा अवर्णनीय थी। वहाँ सभी चतुर्भुजी थे। सबका मुख कोटि चन्द्रमाओं के सदृश प्रकाशवान् था। सबके सिरों पर दिव्य मणियों से जटित परम प्रभाववान् मुकुट थे। उन सबके भूषण वसन अनुपम थे। सभी प्रकार की चिन्ताओं से वे रहित थे। ब्रह्मनन्द सुख में सभी नित्य निमग्न थे शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हुए थे। गोपों ने वहाँ बलरामजी के सहित श्री कृष्ण को भी देखा। वे रत्नजटित मणिमय उच्च सिंहासन पर विराजमान थे। ब्रह्मादि देव इन्द्रादि लोकपाल सूत मागध वन्दियों की भाँति उनकी स्तुति कर रहे थे। सर्वत्र चहल पहल आनन्द और उत्सव हो रहा था। गोपों को देखकर श्रीकृष्ण सिंहासन से न उठे न जैसे व्रज में गहक कर छाती

से सटाकर मिलते थे वैसे मिले ही। गोपों ने देखा—"अरे भैया! हमारे कनुआ को यहा यह क्या रोग हो गया। इसके तो दो के स्थान में चार भुजाएँ हो गयीं। इसके सिर पर मोर पंख का मुकुट भी नहीं। लकुट भी नहीं, मुकुट भी नहीं, वंशी भी नहीं, गौएँ नहीं वृन्दावन नहीं। हाय! हमारा कृष्ण यहाँ कैसा कंगाल बन गया। चमकीले पत्थर मुकुट में लगा रखे हैं। गुंजाओं की माला नहीं, काली कमरी नहीं। हमसे यह मित्रों की भाँति मिलता नहीं। "सारे, कहके बोलता नहीं। ऐसे वैकुण्ठ को लेकर हम क्या करेंगे। वे सब तो मोर मुकुटधारी, वृन्दावनविहारी वंशीधारी द्विभुज श्रीकृष्ण के उपासक थे। यहाँ उन्हें चतुर्भुज रूप में देखकर डर गये इसके रूप में जब व्यवधान पड़ जाता है, तो भक्त का चित्त विचलित हो जाता है। यद्यपि वह ज्ञानातीत लोक था। वह सत्य, ज्ञान, अनन्त और सनातन ब्रह्मज्योति स्वरूपधाम था। उसके दर्शन सभी को प्राप्त नहीं हो सकते। गुण सम्बन्धों को सर्वथा त्याग कर मुनिगण एकाग्रचित्त होकर ही बड़े यत्न से उसको प्राप्त करते हैं। गोप वहाँ जाकर आनन्द में मग्न हो गये, किन्तु द्विभुज कृष्ण को न देखकर तड़पने लगे। यद्यपि वह धाम ऐसा है, कि वहाँ जाकर कोई लौटता नहीं, किन्तु उन गोपों के मन में तो द्विभुज श्रीकृष्ण बसे हुए थे, उनका चित्त तो उनमें लगा था, अतः सर्वान्तर्यामी प्रभु ने उन्हें उनमें से निकाला। गोप जब उस ब्रह्महृदमें से उछले तो यमुना तट पर उन्हें विभंग ललित गति से कदम्ब के नीचे खड़े वंशीबजाते मोर मुकुटधारी वनवारी दिखायी दिये। तुरन्त जल से निकलकर सबने उनकी चरणवन्दना की। वैकुण्ठलोक के दिव्य दर्शनों से सभी को संभ्रम हो रहा था। मूर्तिमान् वेद जिनकी स्तुति कर रहे थे, उन भगवान् को चतुर्भुज रूप में देखकर सब आश्चर्य चकित हो गये थे अब

जब उन्होंने द्विभुज श्रीकृष्ण को गोप वेष में मुरली बजाते देखा तो सभी को बड़ा हर्ष हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने ऐसी मोहिनी मुसकान से सबकी ओर देखा, कि वे सब वैकुण्ठ की बातें भूलकर श्रीकृष्ण को पूर्ववत् अपना संगी सम्बन्धी समझकर प्राणों से भी अधिक प्यार करने लगे।"

छप्पय

द्विभुज कृष्ण नहिं देखि भई तिनकी विभ्रम भति।
लख्यो चतुर्भुज रूप भयो सबकूँ विस्मय अति॥
ब्रह्मानन्द निमग्न गोप पुनि श्याम निकारे।
नटवर यमुना निकट निरखि सब भये सुखारे॥
यों वैकुण्ठ दिखाइकें, विस्मय कीयो दूर हरि।
नित नूतन अभिनय करें, छद्मललित अति वेष धरि॥

—::—

आगे की कथा बयालीसवें खण्ड में पढ़िये

मेरे महामना मालवीयजी

और

उनका अन्तिम संदेश

अधिकारियों ने श्रीब्रह्मचारीजी को विजयादशमी के अवसर पर रामलीला के जुलूस के सम्बन्ध में कारावास भेज दिया था। देश के कोने-कोने से उत्तर प्रदेश के प्रधान मन्त्री के पास सैकड़ों तार पत्र गये। रोग शय्या पर पड़े पड़े महामना मालवीय जी ने प्रधान मन्त्री और गृह मन्त्री को तार दिये। वे ही उनके अन्तिम तार थे, ब्रह्मचारीजी को छुड़ाने को उन्होंने श्रीपन्तजी और मिस्टर किदवई को जो पत्र लिखे वे ही अन्तिम पत्र थे। इन पत्रों को लिखकर और ब्रह्मचारीजी को छुड़ाकर उसके आठवें दिन वे इस असार संसार से चल बसे। इस पुस्तक में उन पत्रों के लिखने का बड़ा ही सरस, रोचक और हृदय-ग्राही इतिहास है। महामना मालवीयजी के सम्बन्ध के श्री ब्रह्मचारीजी महाराज के अनेकों सुखद संस्मरण हैं। अन्त में उनका पूरा ऐतिहासिक सन्देश भी है। पुस्तक बड़ी रोचक और ओजस्वी भाषा में लिखी गयी है कागज की कमी के कारण बहुत थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं। गुटका के आकार के लगभग १३० पृष्ठ हैं। मूल्य २५ पैसे मात्र १ रु० से कम की वी० पी० न भेजी जायगी। स्वयं पढ़िये और मँगाकर वितरण कीजिये। समाप्त होने पर द्वितीय संस्करण शीघ्र न हो सकेगा।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री बदरीनाथ दर्शन

(श्रीब्रह्मचारीजी का एक अपूर्व महत्वपूर्ण ग्रन्थ)

श्रीब्रह्मचारीजी ने चार बार श्री बदरीनाथजी की यात्रा की है। यात्रा ही नहीं की है वे वहाँ महीनों रहे हैं। उत्तराखंड के छोटे बड़े सभी स्थानों में वे गये हैं। उत्तराखंड कैलाश, मानसरोवर, शतोपन्थ, लोकपाल और गोमुख ये पाँच स्थान इतने कठिन हैं कि जहाँ पहाड़ी भी जाने से भयभीत होते हैं। उन स्थानों में ब्रह्मचारीजी गये हैं वहाँ का ऐसा सुन्दर सजीव वर्णन किया गया है कि पढ़ते पढ़ते वह दृश्य आँखों के सम्मुख नृत्य करने लगता है। उत्तराखण्ड के सभी तीर्थों का इसमें सरस वर्णन है, सबकी पौराणिक कथायें हैं। किंवदन्तियाँ हैं, इतिहास हैं और यात्रावृत हैं। यात्रा सम्बन्धी जितनी उपयोगी बातें हैं सभीका इस ग्रन्थ में समावेश है। बदरीनाथ जी की यात्रा पर इतना विशाल महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ। आप इस एक ग्रन्थ से ही घर बैठे उत्तराखण्ड के समस्त पुण्य स्थानों के रोमाञ्चकारी वर्णन पढ़ सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। यात्रा में आपके साथ यह पुस्तक रहे, तो फिर आपको किसी से कुछ पूछना शेष नहीं रह जाता। लगभग सवा चार सौ पृष्ठ की सचित्र सजिल्द पुस्तक का मूल्य ४.०० मात्र है थोड़ी ही प्रतियाँ हैं, शीघ्र मँगावें।

व्यवस्थापक

सङ्कीर्तन भवन, झूसी, (प्रयाग)

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

पञ्चम संस्करण

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्षका एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्व—श्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३४५ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल २·७५ दो रुपया पचहत्तर पैसा है, शीघ्र मँगाइये।

मतवाली मीरा

चतुर्थ संस्करण

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा। उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढंग से आलोचना की है, भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या, प्रेम के निगूढ़ तत्त्व को मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन बेटियों माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढंग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गयी। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २) दो रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये चित्र बड़ा कला-पूर्ण है।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

शोक–शान्ति

(श्रीब्रह्मचारीजीका एक मनोरंजक और तत्व ज्ञान पूर्ण पत्र)

इस पुस्तक के पीछे एक करुण इतिहास है। मद्रास के गुन्टूर प्रान्त का एक परम भावुक युवक श्रीब्रह्मचारीजी का परम भक्त था। अपने पिता का इकलौता अत्यन्त ही प्यारा दुलारा पुत्र था। वह त्रिवेणी सङ्गम पर अकस्मात स्नान करते समय डूबकर मर गया। उसके संस्मरणों को ब्रह्मचारीजी ने बड़ी ही करुण भाषा में लिखा है। पढ़ते-पढ़ते आँखें स्वतः बहने लगती हैं। फिर एक साल के पश्चात् उसके पिता को बड़ा ही तत्वज्ञानपूर्ण ५०।६० पृष्ठों का पत्र लिखा था। उस लिखे पत्रको हिन्दी और अँगरेजी में बहुत-सी प्रतिलिपियाँ हुईं उसे पढ़कर बहुत-से शोक संतप्त प्राणियों ने शान्ति लाभ की इसमें मृत्यु क्या है इसको बड़े ही सुन्दर ढंग से मनोरञ्जक कथायें कहकर वर्णन किया गया है, लेखक ने निजी जीवन के दृष्टान्त देकर पुस्तक को अत्यन्त उपादेय बना दिया है। अक्षर-अक्षर में विचारक लेखक की अनुभूति भरी हुई है। उसने हृदय खोलकर रख दिया है। एक दिन मरना सभी को है, अतः सबको मृत्यु स्वरूप समझ लेना चाहिए, जिन्हें अपने सम्बन्धी का शोक हो, उनके लिये तो यह रामबाण औषधि है। प्रत्येक घर में इस पुस्तक का रहना आवश्यक है। ८० पृष्ठ की सुन्दर पुस्तक का मूल्य ३१ पैसे मात्र है। आज ही मँगाने को पत्र लिखें, समाप्त होने पर पछताना पड़ेगा।

पता—संकीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी, (प्रयाग)

भारतीय संस्कृति और शुद्धि

क्या अहिन्दू हिन्दू बन सकते हैं ?

आज सर्वत्र बलात् धर्म परिवर्तन हो रहे हैं। हिन्दू समाज से लाखों स्त्री, पुरुष सदा के लिये निकलकर विधर्मी बन रहे हैं, कुछ लोगों का हठ है कि जो अहिन्दू बन गये वे सदा के लिये हिन्दू समाज से गये, फिर वे हिन्दू हो ही नहीं सकते। श्री ब्रह्मचारीजी ने पुराण, स्मृति इतिहास और प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण से यह सिद्ध किया है, कि हिन्दू समाज सदा से अहिन्दु को अपने में मिलता रहा है। जब से हिन्दू सामाज ने अन्य सम्प्रदाय वालो के लिये अपना द्वारा बन्द किया है, तभी से उसका ह्रास होने लगा है। बड़ी ही सरल, सुन्दर भाषा के शास्त्रीय विवेचन पढ़कर अहिन्दुओं को हिन्दु बनाइये। अपने समाज की उन्नति कीजिये। सुन्दर छपाई सफाई युक्त ७५ पृष्ठ की पुस्तक केवल ३१ पैसे मात्र।

पता—संकीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी, प्रयाग

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६६ खण्ड छप चुके हैं। खण्ड का मू० १.२५ पै० डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५.२५

३—सटीक भागवत चरित—बारह बारह सौ पृष्ठ के सजिल्द दोनों का मू० १३.००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४.००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० सं० ३५६ मू० २.७५

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.००

७—कृष्ण चरित—मू० २.००

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.००

१०—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें प्रथम खंड का मू० १.०

११—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ६६ मू० ०.५०

१२—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.५०

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखदसंस्मरण पृ०सं०१३० मू

१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३

१७—प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१२

१८—राघवेन्दु चरित—मू० ०.३१

१९—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५

२०—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछंदोंमें) मू० ०.१५

२१—आलवन्दार स्तोत्र—छप्पयछन्दों सहित मू० ०.२५

२२—प्रभुपूजा पद्धति मू० ०.२५

२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.८

२४—गोपीगीत—अमूल्य।

मुद्रक—पं० बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगञ्ज इलाहाबाद

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(खण्ड ४२)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

तृतीय संस्करण १००० प्रति] माघ कृष्णा संवत् २०२९ जनवरी १९७३ [मूल्य २)

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय		
१. रास रसामृत के अधिकारी (भूमिका)	...	१
२. रासेश्वर की रासेच्छा	...	१३
३. शारदीय शशि की सुषमा	...	३४
४. आह्वान	...	४१
५. कृष्णान्तिक अभिगमन	...	४९
६. गमनौत्सुक्य	...	५६
७. तीव्रताप का परिणाम	...	६३
८. श्रीकृष्ण में कामभाव ही कल्याणप्रद है	...	७०
९. प्रेमाधिक्य-प्रस्ताव	...	७७
१०. व्रजाङ्गनाओं की विवशता	...	८५
११. प्रियत्व आत्मा में ही है	...	९३
१२. कामाभितप्ता व्रजवल्लभी	...	१०१
१३. स्वीकृति	...	११२
१४. आत्माराम का रमण	...	१२१
१५. अन्तर्धान	...	१२७
१६. विरहोन्मादिनी व्रजाङ्गनायें	...	१३४
१७. लता पतादिकों से प्रभु का पता पूछना	...	१४०
१८. श्रीराधा	...	१४८
१९. निरस्त साम्यातिशया श्रीराधा	...	१६९
२०. प्यारी के संग प्रियतम कहाँ	...	१९३
२१. श्रीकृष्णलीलानुकरण	...	१९९
२२. सात्विकी ईर्ष्या	...	२०४
२३. कामियों का दैन्य और स्त्रियों की दुरात्मता	...	२१०

...०(७)०...

॥ श्रीहरिः ॥

रास-रसामृत के अधिकारी

[भूमिका]

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० ३७ श्लोक)

छप्पय

समुझै रास—रहस्य करै सेवा सन्तनिकी ।
सुनै भागवत धरै धूरि सिर गुरुचरननिकी ॥
विषय वासना त्यागि देहकी सुधि बिसरावै ।
जगके नाते तोरि हरषि वृन्दावन धावै ॥
तजै भेद नर नारिको, गोपी भाव दृढ़ाइकें ।
अपनावै रासेश्वरी, ताकूँ हिये लगाइकें ॥

श्रीकृष्णावतार में भगवान् ने जितनी दिव्यातिदिव्य लीलाएँ की हैं, उनमें रासलीला अत्यन्त ही रहस्यमयी है। इसके विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। बहुत से तो यहाँ तक कहते हैं, कि यह प्रसंग भगवान् व्यासकृत नहीं है। प्रक्षिप्त है,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जीवों पर अनुग्रह करने के निमित्त श्रीहरि मानव देह में स्थित होकर ऐसी-ऐसी क्रीड़ाएं किया करते हैं, जिन्हें सुनकर लोग उन्हीं के स्वरूप में रंग जायं, अर्थात् भगवत् परायण हो जायं।"

पीछे से किसी ने जोड़ दिया है, इसे भागवत से निकाल दे चाहिये। कुछ लोगों का कथन है, कि भागवतरूप देह में पंचाध्यायी पंचप्राण हैं। जैसे शरीर में से प्राण निकल जाने वह शव हो जाता है, उसी प्रकार श्रीमद्भागवत में से पाँच निकाल दिये जायँ तो सम्पूर्ण भागवत निर्जीव-मृतक सदृश जायगी। भागवत में रासपंचाध्यायी ही जीवन है।

वास्तविक बात यही है, मैंने पुराणों का बड़े मनोयोग अध्ययन किया है, अन्य पुराणों में भी रास का प्रसंग आया किन्तु जिस उत्तमता के साथ श्रीमद्भागवत में वर्णन है वैसा कहीं भी नहीं मिलता। यहाँ तो मधुर रस की कर दी गयी है। इतना सजीव, इतना सुखद, ऐसा सरस, भाव पूर्ण तथा इतना क्रमबद्ध वर्णन और कहीं भी नहीं मिलता क्या साहित्य की दृष्टि से, क्या कला, संगीत तथा पद-विन्यास की दृष्टि से ऐसा अनुपम वर्णन दुर्लभ है। सरसता सजीव होकर नृत्य करने लगती है।

कुछ लोगों का कथन है, कि इस वर्णन से लोगों को दुराचरण करने में उत्साह मिलता है। युवक युवती इन अत्यन्त सरस प्रसङ्गों को पढ़ सुनकर कदाचार में प्रवृत्त होते हैं। ऐसा सम्भव है, किन्तु जिनको दुराचरण से प्रेम है, वे ही अपने दुराचरण को छिपाने के लिये श्रीकृष्ण के रास की आड़ लेकर ऐसा करते हैं। श्रीमद्भागवत में तो बार-बार बल दे देकर यह बात कही गयी है—बड़े लोगों के लोकविरुद्ध दीखने वाले आचरणों का कभी अनुकरण न करें। जो करेगा वह कष्ट पावेगा मर जायगा।

बात यह है, कि गुणी के ही पास जाकर गुण यथार्थ गुण होता है। निर्गुण के पास जाकर गुण भी दोष हो जाता है। स्वाति का जल सीप में पड़ने से मोती होता है। समुद्र में पड़ने

वे वह खारी अपेय हो जाता है। अनधिकारी विषयी पुरुष रास-लीला का अनुकरण करने लगें, तो वे अवश्य ही पतित हो जायँगे। मधुर रस की उपासना सबके लिये नहीं है। जिन्होंने घोर संयम कठिन तपश्चर्या करके अपने मन को वश में कर लिया है—जो देह की लिंग उपाधियों से ऊँचे उठ गये हैं—वे ही मधुर रस की रस दीक्षा में दीक्षित हो सकते हैं। जिनके मन में संसारी विषय वासना भर रही है, वे तो भगवान् की अप्राकृत चिन्मय लीलाओं को भी विषयी स्त्री पुरुषों की-सी काम क्रीड़ा समझेंगे और उन्हीं का चिन्तन करके च्युत हो जायँगे।

वृन्दावन के पुराने रसिकों के मुख से मैंने एक कहानी सुनी थी। वह इस प्रकार है—

श्रीवृन्दावन धाम श्रीरासेश्वरी श्रीजी का अन्तःपुर है। वहाँ श्रीकृष्ण की पूछ नहीं है। श्रीकृष्ण गौएँ चरा लावें व्यालू कर लें बैठ लगावें। स्वामिनी श्रीराधा जी ही हैं। श्रीकृष्ण जिनकी आज्ञा के बिना निकुञ्ज में पैर भी नहीं रख सकते। समस्त परिकर की स्वामिनी श्रीवृषभानुनन्दिनी ही हैं। उनकी उपासना करने से निकुञ्ज में प्रवेश होता है। निकुञ्ज में प्रवेश उन्हीं का हो सकता है जिनका अन्तःकरण साधन करते-करते विशुद्ध बन गया हो। श्री वृन्दावन रसभूमि है, अन्य धाम तथा तीर्थ साधनभूमि हैं। सहस्रों जन्मों तक जो तप समाधि द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध कर लिते हैं उन्हें वृन्दावन वास का अधिकार होता है। जो अनधिकार चेष्टा करते हैं उनका पतन अनिवार्य है। एक कोई साधक थे। उनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ था। मनमें सांसारिक मलिन वासनाएँ छिपी हुई थीं। उन्हें भ्रम हो गया कि मैं रासेश्वरी के दर्शनों का अधिकारी हो गया हूँ। उन्होंने अपने दीक्षा गुरु से कहा—"मुझे स्वामिनीजी के दर्शन करा दो।"

गुरुदेव ने कहा—"भैया! स्वामिनीजी के दर्शन साधनसाध्य

नहीं, वे तो कृपासाध्य हैं। जब कृपा करेंगी, अपने आप दर्शन योग्य बनाकर दर्शन दे देंगी। तुम हठ मत करो, उनकी कृपा की प्रतीक्षा करो।"

गुरुदेव की बात उसने नहीं मानी। वह एकान्त वन में चला गया। और वहाँ श्रीजी के दर्शनों के संकल्प से अन्न जल त्याग-कर उपवास करने लगा। ८-१० दिन हो गये। दयामयी रासे-श्वरी को उसके ऊपर दया आ गयी। अभी वह दर्शनों का अधि-कारी तो था नहीं। लोग सन्तों की कृपा को ही नहीं सम्हाल सकते, तो जो अनन्त सौन्दर्य माधुर्य की खानि हैं उन रासेश्वरी के अपार सौन्दर्य को कैसे सम्हाल सकता है। श्रीजी ने केवल अपने वाम हस्त की उँगलियों के ही दर्शन उसे कराये। वह श्रीहस्त इतना सुन्दर था, कि उसके दर्शन करते ही उसका शुक्र स्खलित हो गया। तब उसे अपनी भूल प्रतीत हुई। गुरु के समीप जाकर वह बहुत रोया। तब गुरुजी ने उससे अन्तःकरण की शुद्धि के लिये मन्त्र जपादि साधन कराये।

कहने का सार यही है, कि जो अनधिकार चेष्टा करते हैं वे उभय भ्रष्ट हो जाते हैं। उपदेश अधिकारी के हृदय में ही ठहर सकता है। साधना के बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। कुछ अनुग्रह सृष्टि के जीव होते हैं, इन्हें इस जन्म में कुछ भी साधन नहीं करना पड़ता, वे जन्म से ही सिद्ध होते हैं। पीछे के जन्मों में वे साधन की भूमिका को समाप्त कर चुके हैं, ऐसे कोई विरले लाखों में एक आध होते हैं। मधुर उपासना का-रास विलास के रसास्वादन का-भी सभी को अधिकार नहीं होता। जैसे ज्ञान की सात भूमिकाएँ बतायी हैं, वैसे ही रसरीति की भी व्रज के परम रसिक श्रीभगवद्रसिकजी ने सात भूमिकाएँ बतायी हैं। वे कहते हैं—

प्रथम सुनै भागौत भक्त मुख भगवतबानी ।
द्वितीय अराधै भक्ति व्यास नव भाँति बखानी ॥
तृतीय करै गुरु समुझि दत्त सर्वज्ञ रसीलौ ।
चौथे होइ बिरक्त बसै बनराज जसीलौ ॥
पाँचै भूलै देह निज, छठे भावना रासकी ।
सातें पावै रीति रस, श्रीस्वामी हरिदास की ॥

वृन्दावन में परम रसिकाचार्य श्रीहरिदासजी इस रसरीति के आचार्य हो गये हैं। वे विरक्त ऐसे थे, कि एक गुदरी और करवा मात्र रखते थे। निधिवन में परम विरक्तों की भाँति निवास करते। संगीत में उनके सदृश सम्पूर्ण भारत में कोई नहीं था। सुप्रसिद्ध तानसेन उनके शिष्य थे। वे ललिता सखी के अवतार ही माने जाते हैं। मधुररस की उपासना की परम्परा उनका आदर्श है। उसी परम्परा में श्रीभगवत रसिक हुए हैं। ये भी परम विरक्त थे। इन्होंने ही रसरीति की साधना का क्रम बताया है। वे कहते हैं।

१—भागवत श्रवण—रसरीति में दीक्षित होने वाले साधक का सर्वप्रथम कर्तव्य है, कि प्रथम वह भागवत का श्रवण करे। क्योंकि जब तक जिस विषय का श्रवण न करेगा, तब तक चिन्तन कैसे करेगा। मन का स्वभाव है, जिसे देखता है, सुनता है। उसी के विषय में ऊहापोह करता है। भागवत को भी यह नहीं, कि कुछ सोने चाँदी के ठीकरा देकर ऐसे ही अहरे गहरे पञ्चकल्यानी से सुन ले। भक्त के मुख से भगवतबानी को सुने। भक्त जो कहेगा, वह हृदय से कहेगा। केवल शब्दों का प्रभाव नहीं पड़ता, वे जिस भाव से कहे जाते हैं उसी का प्रभाव पड़ता है। एक असत्यभाषण करने वाला है, वह कहे—"सत्य बोला करो।" तो उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। दूसरा सदा सत्य बोलता है, तो उसकी वाणी से जो शब्द निकलेंगे सत्य से सने हुए निकलेंगे, उनका

तुरन्त प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार भक्त के मुख से भागवत सुनने से अन्तःकरण में स्वतः भक्ति करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। भागवत सुनने के अनन्तर आराधना की लालसा बढ़ती है। इसलिये दूसरा साधन है—आराधना।

२. आराधना—आराधना के अनन्त भेद हैं, किन्तु श्रीव्यासादि मुनियों ने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, साख्य और आत्मनिवेदन इस प्रकार नौ भाँति की आराधना बतायी है। इनमें से किसी भी प्रकार से भगवान् की आराधना करे। क्योंकि जीवन का सार आराधना ही है जिस जीवन-में आराधना नहीं वह शुष्क जीवन है। उसमें सरसता आ नहीं सकती। आराधना से हृदय द्रवीभूत हो जाता है, उसकी अशुभ वासनाएँ, भोगों के भोगने की इच्छाएँ, शान्त हो जाती हैं। जब उपासना करते-करते हृदय विमल बन जाय, रसरीति के जानने वाले गुरु की शरण ले।

३. गुरुशरण—जैसे उपासना होती है, उसके अनुरूप ही गुरु करना होता है। जो जिस उपासना को जानता ही नहीं, यदि वह लोभवश झूठ-मूठ को कान फूँक ही दे तो उससे लाभ क्या? जैसे और व्यापार हैं, वैसे ही शिष्य बनाने का भी एक व्यापार हो गया है। उसमें आध्यात्मिकता न रहकर लौकिकता आ गयी है। मनुष्य गुरु के अनुरूप न बनकर अपने अनुरूप ही गुरु खोजते हैं, इसीलिये रजोगुणी लोगों को गुरु भी रजोगुणी मिलते हैं, जो कृपण हैं उन्हें गुरु भी ऐसे कृपण और व्यापारी मिलेंगे, जो पैसे के तीन अधेला बनाने वाले हों, जिनके सब व्यापार पैसे के ही निमित्त हों। जो व्यभिचार प्रिय नर-नारी होंगे उन्हें गुरु भी वैसे मिलेंगे, विरक्त को विरक्त गुरु मिलेगा। जो उपासना नहीं करते, केवल नाम के लिये गुरु बनाते हैं, उन्हें झूठा वेष बनाने वाले

व्यापारी गुरु मिलते हैं। श्रीभगवतरसिक जी ने बड़ा बल देकर ऐसे वेषधारी गुरुओं के सम्बन्ध में कहा है—

वेषधारी हरिके उर सालैं।
लोभी, दम्भी, कपटी, कामी सिस्नोदर को पालैं॥
गुरू भये घर घर में डोलैं नाम धनी को बेचैं।
परमारथ सपने नहिँ जानैं पैसनि ही को खैचैं॥
कबहुँक वक्ता ह्वै बन बैठैं कथा भागवत गावैं।
अर्थ अनर्थ कछू नहिँ भाषैं पैसनि ही को धावैं॥
कबहुँक हरि-मन्दिर को सेवैं करैं निरन्तर बासा।
भाव भक्ति को लेश न जानैं पैसनि ही की आशा॥
नाचैं गावैं चित्र बनावैं करैं काव्य चटकीली।
साँच बिना हरि हाथ न आवैं सब रहनी है ढीली॥
बिनु विवेक वैराग्य भक्ति बिनु सत्य न एको मानौ।
'भगवत' विमुख कपट चतुराई सो पाखंडी जानौ॥

ऐसे वेषधारी गुरु भक्ति भाव क्या सिखावेंगे। उनसे तो लोक परलोक में हानि ही हानि है, परन्तु तुम्हारी भावना तो कपट की है निष्कपट गुरु कैसे मिलेंगे। जैसा धन होता है वैसे ही व्यय होता है। कपट का धन है तुम चाहो उससे परमार्थ सधे सो तो हो नहीं सकता। धर्म से उपार्जित धन ही धर्म में लगेगा। अधर्मोपार्जित धन चोरी, झूठ पाखण्ड, राजद्वार या रोगादि में व्यय होगा। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

एक वेश्या थी। उस पर पाप का बहुत धन इकट्ठा हो गया था। उसकी इच्छा हुई पितृपक्ष में हम भी श्राद्ध करें, ब्राह्मणों को भोजन करावें, किन्तु कोई ब्राह्मण वेश्या के यहाँ भोजन करने को सहमत ही न हुआ। किसी बूढ़े भाँड को यह बात मालूम हो गयी। वह लम्बे तिलक लगाकर पोथी पत्रा बाँधकर पहुँचा और जाकर बोला—"बाईजी! आसिरबाद।"

पण्डित समझकर बाईजी ने पालागन की और अपना अभिप्राय बताया। बड़ी देर तक भाँड देवता सोचते रहे और फिर बोले—"अब बड़ा धर्म संकट मेरे सामने आ गया। आप लोगों का धन तो जैसा है सभी जानते हैं, फिर हमें आपका भी तो उद्धार करना है, तुम्हारे हाथ का तो हम खायँगे नहीं। सूखा सामान ले जाकर अपने हाथ से बनावेंगे।"

वेश्या को बड़ी प्रसन्नता हुई। यह नित्य घी, खाँड, दूध तथा और बहुत-सी सामग्री देती। भाँड़ देवता नित्य खीर उड़ाते। जब सोलह कनागत (पितृपक्ष के १६ दिन) बीत गये, तब वेश्या ने कहा—"पण्डितजी! आशीर्वाद तो दें?"

यह सुनकर भाँड देवता बोले—

सोलहू कनागत बित गये, खाई खीर औ खाँड़।
पौं का धन पौं ही गयो, तुम वेश्या हम भाँड़॥

इसीलिये जो उपासना के बिना गुरु बनाते हैं, उन्हें सद्गुरु मिलते भी नहीं और चाहें संसारी विद्या आ जाय रस की रीति नहीं आती, इसलिये भगवत रसिकजी कहते हैं—दक्ष, सर्वज्ञ और रसीली गुरु बनावे। यह तीसरी भूमिका हुई। अब चौथी है वैराग्य।

४. वैराग्य—रासोपासना में संसारी विषयों से विराग अत्यावश्यक है। विरक्त होकर वृन्दावन में बास करे। अनधिकारी वन में बास करेगा, उसे वहाँ भी पाप करने की ही सूझेगी, अतः संसार के वास से मुख मोड़कर वृन्दावन में वास करे। तब पाँचवीं अवस्था देहाध्यास की विस्मृति।

५. देह की विस्मृति—जब तक मैं पुरुष हूँ, अमुक स्त्री है। स्त्री भोग्या है, पुरुष भोक्ता है, यह भेदभाव हृदय में है, तब तक रास-रस का आनन्दानुभव होना कठिन ही नहीं असम्भव है।

गोपी एक भाव है। गोपी न स्त्री हैं, न पुलिङ्ग; न नपुंसक लिंग। वह तो लिंगातीत एक भावना है। अशुद्ध चित्त में वह भावना हो नहीं सकती। सद्गुरु की कृपा से जब विषयों से विराग हो जाय–देह का अध्यास छूट जाय, तब वह रास की भावना का अधिकारी होती है, इसीलिये भगवत रसिकजी कहते हैं—"छठे भावना रासकी।"

६—रासकी भावना—"जब लिंगाभिमान छूट जाता है तब उसे रास-थली में प्रवेश का अधिकार होता है। अर्जुन रास के लिये अर्जुनी सखी कैसे बने, नारदजी को नारदी कैसे बनना पड़ा। शिवजी गोपीश्वर कैसे हुए, ये प्रसंग आप रास के प्रकरण में 'भागवती कथा' में पढ़ेंगे ही। फिर से यहाँ भूमिका में उनका उल्लेख अनावश्यक है। रासस्थला में प्रवेश होने पर ललिता विशाखा आदि सखियाँ उसे रास की रीति को बताती हैं, इसीलिये कहा है—"सातें पावै रीतिरस, श्रीस्वामी हरिदास की।"

ये ही सात भूमिकाएँ हैं। जिन्हें पार करने पर रास-रसार्णव में मज्जन करने का अधिकार प्राप्त होता है। सबल के हाथ में खड्ग दो तो वह उससे शत्रुओं का संहार करके आत्मरक्षा कर सकता है। विजय प्राप्त कर सकता है। यदि उसी को बालक के हाथ में दे दी जाय, तो उसी से वह अपने अंगों को काट लेगा। मधुर रस की उपासना की चटसार गृहस्थ है, घर में रहकर रास रस का अनुसन्धान करे। जब देह गेह कुछ भी अच्छा न लगे, संसार के सभी विषय विषवत् प्रतीत हों, लौकिक व्यवहार काटने दौरें तब जाकर वृन्दाविपिन में बास करे। ऐसे मधुर रस के उपासकों के लिये श्यामा श्याम के अतिरिक्त कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। उनके सब क्षण अष्टयाम सेवा पूजा और उपासना में ही व्यतीत होते हैं। महाभागवत

रसिकजी ने ऐसे रसिकों की एक छप्पय में दिनचर्या वर्णन की है। वे कहते हैं—

कुञ्जनि में उठि प्रात गात जमुना में धोवै।
निधिवन करि दण्डौत विहारी को मुख जोवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर घर लेइ प्रसाद लगै जब भोजन स्वाधा॥
संग करै 'भगवत रसिक' कर करवा गूदरि गरे।
वृन्दावन विहरत फिरै, जुगल रूप नैननि धरे॥

ब्रजरस के रसिक विरक्त वैष्णव को नित्य वृन्दावन की कुन्जों में वास करना चाहिये। प्रातःकाल होते ही कुन्जों से उठे। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर श्रीयमुनाजी में स्नान करे। फिर निधिवन में (जहाँ रसिकशिरोमणि श्रीहरिदास स्वामी प्रिया-प्रियतम को नित्य लाड़ लड़ाते थे, उस स्थान में) आकर उसे दण्डवत् करे। तदनन्तर श्रीबाँके बिहारी के दर्शनों को जावे। दर्शन करके फिर कुन्जों में लौट आवे। वहाँ बैठकर एकान्त में प्रिया प्रियतम की लीलाओं का अनुसन्धान करे। ऐसे शान्त एकान्त स्वच्छ स्थल में आकर बैठे जहाँ किसी प्रकार की उपाधि न हो। फिर ब्रजवासियों के घर-घर से टुकड़ा माँगकर लावै। जब भली प्रकार भूख लगे तब श्यामा श्याम को अर्पण करके प्रसाद पावै। जिससे वे टुकड़े अमृतोपम स्वादिष्ट लगें। फिर जो रास रस के मर्मज्ञ हों, उन भगवत रसिकों का संग करे, उनसे रसकी बातें सुने। अधिक संग्रह करने का काम नहीं। टोंटीदार एक मिट्टी का करवा रखे और एक फटे पुराने वस्त्रों की गुदरी रखे। इस प्रकार संसारी सभी प्रपञ्चों से विरक्त होकर जुगल छवि को नयनों में धारण करके वृन्दाविपिन की वीथियों में विहरा करे। ऐसे ही भक्तगण रास के रहस्य को समझ सकते

हैं। हम लोग जो विषयों के कीड़े हैं। जिनकी सभी चेष्टायें मिथ्या मान प्रतिष्ठा के लिये हैं, सच पूछा जाय, तो हम लोग तो रास की बात करने के भी अधिकारी नहीं हैं। फिर भी इसमें प्रवेश करने के लिये मन से, बेमन से निरन्तर श्रवण करना ही उपाय है, इसलिये भागवत के इस महाभाव के श्रवण करने के तो सभी अधिकारी हैं।

लोग जो कहते हैं, कि रास की बात सुनते-सुनते कामवासना की वृद्धि होती है, यह सर्वथा मिथ्या भावना है। रास की भावना से तो काम भाव की शान्ति होती है। जिन्हें काम का वेग अधिक कष्ट देता हो, उन्हें बार-बार रास पञ्चाध्यायी को श्रद्धा सहित सुनना चाहिये, गाना चाहिये। इससे काम रोग की शान्ति होती है और शनैः-शनैः काम रोग नष्ट होता है। इस विषय पर मैं अपने जीवन का विशेष अनुभव तथा अन्यान्य बातें अगले खण्ड की भूमिका में लिखने का प्रयास करूँगा। पाठक पाठिकाएँ इस परम पुण्यतम दिव्य प्रसंग को बार-बार पढ़ें और जहाँ तक हो, इसे अप्राकृतिक भाव ही समझें। पढ़ते-पढ़ते जब प्राकृत स्त्री पुरुषों के सम्मिलन भावना होने लगे, तो पुस्तक को बन्द कर दें और ध्यान करें कि कदम्ब के नीचे ललित त्रिभंग गति से टेढ़े होकर प्रियतम घनश्याम खड़े हैं, उनसे सटी हुई श्रीप्रियाजी खड़ी हैं, उनके कण्ठ में प्रियतम गलबैया डाले हुए हैं। मोर मुकुट की लटकन में चन्द्रिका सट रही है। ओढ़नी और पीताम्बर परस्पर में मिल रहे हैं। प्यारे वीणा बजा रहे हैं, प्रिया उन्हें एक टक निहार रही हैं। इस छवि का बार-बार ध्यान करने से प्राकृत भावना नष्ट होगी। यह भाव नया नहीं है। पति-पत्नी नित्य ही इसका अनुभव करते हैं, इसे केवल भगवान् में बदल देना है। भगवान् तो लोगों पर कृपा करने को ऐसी ही सरल सरस क्रीड़ाएँ करते हैं, जिसे सब सुखपूर्वक समझ सकें, उसी भावना से उन्हें भज सकें।

भगवान् अलौकिक-भाव प्रदर्शित करें, तो उन्हें समझ ही कौन सकेगा और उनसे लोगों का कल्याण ही क्या होगा ?

छप्पय

कब हौं वृन्दाविपिन धूरिमें लोट लगाऊँ।
कब कुञ्जनि में बैठि प्रिया प्रियतम छवि ध्याऊँ॥
कब घर घर तैं टूँक माँगि परसादी पाऊँ।
कब ललितादिक लिये लड़ैती लाड़ लड़ाऊँ॥
कब लखि श्यामा श्याम छवि, होहि हरौ यह दुखितचित।
कब इन नयननि तैं लखूँ, रसमय रास विलास नित॥

संकीर्तन भवन,
प्रतिष्ठानपुर प्रयाग
चैत्र कृष्णा—५। २००७ वि०

विनीत
प्रभु

रासेश्वर की रासेच्छा

[९५९]

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० १ श्लोक)

छप्पय

ब्रजबनितनि अनुराग नवलमहँ नित नव विकसत ।
गिरधर नटबर नाम सुनत अतिशय हिय हुलसत ॥
प्रथम स्रवन फँसि गये नयन पुनि भये पराये ।
मन अटक्यो लखि रूप जगत् के काज भुलाये ॥
नाम श्रवन पुनि दरश करि, चित्त परस हित अड़ि गयो ।
परस पाइ पुनि केलि हित, सुरति भाव जाग्रत भयो ॥

प्रेम का पथ बड़ा ही अटपटा है। प्रेम मनके अनुकूल मार्ग है संसार में ऐसा कोई नहीं है, जो प्रेम न चाहता हो, जिसके मन में प्रेम करने की अभिलाषा न हो। प्रेम कोई अपरिचित वस्तु नहीं है। प्रेम को सभी जानते हैं। पशु-पक्षी, कीट पतंग प्रेम करना तो सभी जानते हैं। अन्तर इतना ही है, एक नित्य से प्रेम एक अनित्य से प्रेम। एक बिम्ब से प्रेम एक प्रतिबिम्ब से

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् ने भी शरद ऋतु की उन रात्रियों को देखकर जिनमें मल्लिका के कुसुम खिले हैं योगमाया का आश्रय लेकर रमण करने की इच्छा की।"

प्रेम। एक सत्य से प्रेम एक असत्य से प्रेम। सत्य से किया प्रेम भी सत्य होता है और असत्य से किया हुआ प्रेम असत्य होता है। उसे ही मोह भी कहते हैं। सत्य से किया प्रेम मुक्ति का कारण है। असत्य से किया हुआ मोह बन्धन का कारण है। प्रेम करने से नहीं होता वह दैवेच्छा से, पूर्व-जन्मों के संस्कारों से—हो जाता है। लोक में भी सभी से प्रेम थोड़ा ही हो जाता है। जिनसे मन मिल जाता है उन्हीं से प्रेम होता है। मन न मिलने पर पास में रहने पर भी प्रेम नहीं होता। जो प्रक्रिया प्रेम की संसार में है वही परमार्थ में भी है। अन्तर इतना ही है, कि संसारी प्रेमास्पद नाशवान् अनित्य है, परमार्थ पथ का प्रेमास्पद नित्य है शाश्वत है। भगवान् के भिन्न-भिन्न कार्यों के निमित्त भिन्न-भिन्न अवतार होते हैं, कोई अवतार ज्ञान के प्रसार के लिये, ज्ञान की महत्ता के लिये होते हैं, जैसे हंस कपिलादि अवतार। कोई अवतार बोध प्रसार के निमित्त होते हैं जैसे व्यासादि अवतार। कोई अवतार धर्म की स्थापना के लिये होते हैं जैसे युगावतार। कोई अवतार मर्यादा स्थापनार्थ होते हैं जैसे श्रीरामादि अवतार, किन्तु श्रीकृष्णावतार का एकमात्र उद्देश्य प्रेम का प्रसार करना है। श्रीकृष्णावतार में जैसी प्रेम की उत्कर्ष लीलायें दिखायीं हैं, जैसी प्रेम की सुखदायिनी सरिता बहाई है, वैसी कहीं भी किसी भी अवतार में न मिलेगी। इसीलिये यह अवतार परिपूर्णतम माना गया है। रासलीला प्रेम की पराकाष्ठा है। प्रेम की प्रधानतया तीन अवस्थायें हैं। पूर्वानुराग अंकुर है। मिलन हरा-भरा पुष्पित पूर्ण वृक्ष है और वियोग उसका मधुराति-मधुर पका हुआ फल है। पूर्वानुराग की पराकाष्ठा है दर्शन सुख, मिलन की पराकाष्ठा है रासविलास और विरह की पराकाष्ठा है दशमी दशा मृत्यु। यह साधारण रीति से ऊपरी भेद बताये। वास्तव में तो प्रेम में कभी वियोग

होता ही नहीं। नित्य संयोग का ही नाम तो प्रेम है। विरह एक मिलन की अवस्था विशेष ही है। "मिले रहत मानों कबहुँ मिले ना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं श्रीकृष्णचन्द्रजी की परम दिव्यातिदिव्य रासलीला का वर्णन करना चाहता हूँ। आप मुझे अनुमति दें, तो मैं वर्णन करूँ। एक मन में आता है, इस विषय को छोड़ ही दूँ, इसके वर्णन में मुझे भय लग रहा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भगवत् चरित्रों के वर्णन में भय का क्या काम? भगवान् के चरित्रों का तो निर्भय होकर वर्णन करना चाहिये। भगवत् चरित तो भय को नाश करने वाले होते हैं। आप परम मधुरातिमधुर रासलीला के वर्णन में भय क्यों करते हैं?"

इस पर सूतजी आवश्यकता से अधिक गम्भीर हो गये। वे कुछ देर तक बोले नहीं, फिर कुछ सम्हल कर बोले—"भगवन्! भगवच्चरित्रों के वर्णन में तो भय की कोई बात ही नहीं, किन्तु यह रासलीला का प्रसङ्ग ऐसा गूढ़ातिगूढ़ है कि इसका वर्णन वैखरी वाणी में करना अत्यन्त ही कठिन है। जहाँ इसके वर्णन में प्रवृत्ति बुद्धि हुई कि मानों श्रोता वक्ता दोनों ही गिर गये। जैसे सिंहनी का दुग्ध सुवर्ण के ही पात्र में ठहर सकता है, अन्य पात्र में रखने से वह पात्र ही फट जायगा, इसी प्रकार निर्मल मन में ही यह लीला ठहर सकती है। जो इसे साधारण स्त्री-पुरुषों की-सी काम क्रीड़ा समझ लेंगे, उनका तो पतन ही होगा। अतः मुझे भय लग रहा है, कि मैं इसका यथार्थ वर्णन कर भी सकूँगा या नहीं। आपकी ओर से तो मुझे कोई भय है नहीं। आप तो काम क्रोधादि से रहित बाल ब्रह्मचारी हैं। भगवान् नन्दनन्दन के कृपापात्र हैं। मुझे तो भय अपने ही ऊपर है, मैं कहीं दूसरी ओर न बह जाऊँ।

इस पर हँसते हुए शौनकजी ने कहा—"नहीं, सूतजी! आप चिन्ता न करें। मङ्गलमय भगवान् सब मङ्गल ही करेंगे। हृदय में बैठकर भगवान् अपनी भुवन पाविनी मङ्गलमयी कथा का स्रोत बहा रहे हैं, उनके मन में काम क्रोधादि के विकार आ ही कैसे सकते हैं। किसी कारण विशेष से आ भी गये, तो वे तुरन्त नष्ट हो जायँगे।" आप चिन्ता न करें। पहिले आप मुझे पूर्वानुराग का स्वरूप बताकर फिर रास सम्मिलन की लीला सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! यह विषय इतना गहन है और विशाल है, कि इसका यथावत वर्णन करना कठिन ही नहीं असंभव है। यह विषय तो अनुभव का है, वैखरी वाणी में वर्णन करने से इसका स्वारस्य नष्ट हो जाता है, जैसे दैववाणी का पूर्णभाव प्राकृत भाषा में नहीं आ सकता, उसी प्रकार प्रभु प्रेम का वर्णन इस लौकिक भाषा में किया ही नहीं जा सकता। यदि करेंगे, तो उसमें लौकिकता आ जायगी। जो वर्णन करेंगे वही प्रेम नहीं है। जैसे उँगली से चन्द्रमा को दिखावें 'देखो वह मेरी उंगली के सम्मुख उस पेड़ के ऊपर चन्द्रमा है।' तो न तो उस पेड़ पर चन्द्रमा है न उँगली के सम्मुख। केवल इन दो संकेतों से दृष्टि को चन्द्रमा की ओर आकर्षित करना है। इसी प्रकार प्राकृत भाषा में जो मैं प्रेम के सम्बन्ध में कहूँगा, वह केवल प्रेम की छाया मात्र होगी। उसी के द्वारा उस अद्भुत रस का अनुमान करके अनुभव किया जा सकता है।"

प्रेम किसके हृदय में उदय होगा, कब उदय होगा, किस कारण उदय होगा, कहाँ उदय होगा इन बातों का कोई नियम नहीं। किसी के सम्बन्ध में सुनकर पढ़कर या अन्य किसी द्वारा परिचय पाकर हृदय में उसके प्रति आकर्षण होता है। जिसके

प्रति आकर्षण होता है, उसका नाम प्यारा लगने लगता है। किसी के मुख से उसकी चर्चा सुनें, उसका किसी भी प्रसंग में नाम आ जाय, तो सुनते ही अनुरागी चौंक उठता है। कान चाहते हैं, उसकी चर्चा ही सुनने को मिले। प्रेम का स्वरूप है एक स्थिति में सन्तुष्ट न रहना। प्रेम नित्य नवीनता चाहता है। प्रेम प्रति क्षण बढ़ने वाला होता है। प्रेम और मोह की यही पहिचान है। किसी से मोह हुआ वह कुछ दिन में घट जाता है-टूट जाता है। मोह के क्षय का ही नाम मोक्ष है। ज्ञान होने पर मोह सभी का नाश हो जाता है, किन्तु प्रेम तो बढ़ता ही जाता है। उसमें ह्रास कभी होता ही नहीं। कहाँ तक बढ़ता है उसकी कोई सीमा भी तो होगी, कहीं उसका पार भी तो होगा। नहीं, उसकी कोई सीमा नहीं, निस्सीम है, उसका पार नहीं। बढ़ता ही जाता है, बढ़ता ही जाता है। बढ़ते रहना ही उसका स्वभाव है, धर्म है, प्रकृति है। जैसे लोभी के पास कितना भी धन आ जाय, उसकी तृप्ति ही नहीं होती। नित्य ही उससे अधिक प्राप्त करने की अभिलाषा उसके हृदय में बनी ही रहती है। हृदय में जब प्रेम उत्पन्न हो जाता है, तब इच्छा होती है एक बार उसे देख लें बस, और हम कुछ नहीं चाहते। जहाँ उसको देखा, तहाँ मन खो जाता है, नेत्र पगले हो जाते हैं। चित्त चाहता है एक बार उसे आँखें भरके और देख लें, किन्तु प्रेमास्पद को देखने से कभी आँखें भरती ही नहीं, प्रत्युत और अधिक विकल बन जाती हैं। चित्त चाहता है, सदा इसे निहारा करें, पल भर भी यह हमसे पृथक् न हो हमारे सम्मुख खड़ा ही रहे। किन्तु जिससे हम प्रेम करते हैं, वह हमारी चाही बात को करे ही ऐसा कहने का हमें अधिकार ही क्या है। वह भी तो स्वतन्त्र है। वह हमें चाहता भी है या नहीं इसमें भी सन्देह है। वह चाहो, मत चाहो। प्रेम को सदा एकाङ्गी कहा है और अन्धा भी। प्रेम किसी गुणों की अपेक्षा

नहीं रखता। जो गुणों की अपेक्षा रखकर प्रेम होता है उसका नाम है श्रद्धा। किसी का बड़ा प्रभाव है, उसके प्रभाव को देखकर हमारी उस पर श्रद्धा हो गयी, कोई बड़ा त्यागी है, तपस्वी है, सुन्दर है, विद्वान् है। जहाँ उसमें वे गुण न रहे, त्यागी से रागी हो गया, कुरूप हो गया, तपस्वी से भोगी बन गया अथवा बुरे कर्मों से प्रभाव घट गया, तो हमारी श्रद्धा भी घट जायगी। किन्तु प्रेम में ऐसी बात नहीं। प्रेमी तो कहता है वह सुन्दर हो या कुरूप हो, गुणी हो, निर्गुण हो, हमें प्यार करे चाहे ठुकरावे। अपनावे चाहे घृणा करे हमारा तो सर्वस्व वही है, इतना सब होने पर भी सम्भव नहीं, कि जिसे हम प्यार करते हों, वह सदा हमसे तटस्थ ही बना रहे। लोक में भी देखा गया है, बड़े-बड़े त्यागी विरागी भी प्रेम के आकर्षण के सम्मुख झुक जाते हैं, तो फिर नन्दनन्दन तो रसिक-शेखर ही ठहरे। वे तो प्रेम के एकमात्र स्वरूप ही हैं। प्रेम ही उनका आहार है। उनकी समस्त चेष्टायें अपने प्रेमियों के निमित्त हैं। प्रीति की रीति को वे जानते हैं।

जिसके प्रति हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसे, देखने को आँखें अधीर बनी रहती हैं। जिस मार्ग से वह निकलता है, वहाँ प्रहरों खड़े-खड़े उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। यद्यपि यह भी विदित है, कि इधर से वह नित्य नहीं निकलता, कभी-कभी जाता है, किन्तु उसे कभी का निश्चय तो नहीं अभी आ जाय, अतः तनिक पत्तों की खड़खड़ाहट हुई कि चित्त धड़कने लगता है, नेत्र उसी ओर अपने आप मुड़ जाते हैं, इस प्रतीक्षा में कितना सुख है, इसे वही अनुभव कर सकता है जिसने कभी किसी की प्रतीक्षा की हो।

व्रज की समस्त गोपाङ्गनाओं का श्यामसुन्दर के प्रति सहज अनुराग था। जिनका वात्सल्य भाव था वे बालक समझकर प्यार करतीं। जिनका मधुरभाव था, वे श्रीकृष्ण को प्रेष्ठ समझकर

प्यार करतीं। इन व्रजाङ्गनाओं में बहुत-सी ऐसी थीं, जो कुमारी थीं। और श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त करना चाहती थीं। कुछ ऐसी थीं कि उनके लौकिक पति भी थे। एक पति को छोड़कर जो दूसरे पति से सम्बन्ध स्थापित करती है उसे व्यभिचार दुष्टा कहते हैं। उपपति का नाम जार है। इसीलिये इस सम्बन्ध को जार सम्बन्ध कहते हैं। किन्तु यह बात साधारण लोगों के सम्बन्ध में है। सर्वान्तर्यामी प्रभु में जिनका पति सम्बन्ध है वह तो वास्तविक ही सम्बन्ध है। लौकिक दृष्टि से इसे जार सम्बन्ध कहते हैं। भाषा तो लौकिक ही बात कह सकती है। प्रेम के मर्म को व्यक्त करने के लिये तो उसके समीप शब्द कोष ही नहीं।

गोपियों में कई प्रकार की गोपियाँ हैं, कुछ तो नित्य परिकर की जो श्रीकृष्ण के यथार्थ स्वरूप को समझती है, वे जानती हैं—श्रीकृष्ण गोपिकानन्दन ही नहीं, वे अखिल प्राणियों की अन्तरात्मा रूप हैं। कुछ ऐसी हैं जो श्रीकृष्ण को परमश्रेष्ठ समझकर प्यार करती हैं। कुछ ऐसी हैं, जो उनके यथार्थ स्वरूप को भलीभाँति न जानकर उनके ऊपर आसक्त हैं। उनकी रूपमाधुरी वेणुमाधुरी और लीलामाधुरी से आकृष्ट हैं। वे श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिये अहिर्निशि व्याकुल बनी रहती हैं। लोक दृष्टि में तो श्रीकृष्ण की अवस्था ९-१० वर्ष की ही है, किन्तु मधुर भाव की उपासिकाओं के लिये वे नित्य किशोर हैं, इस रहस्य को वात्सल्य भाव की उपासिका गोपिकायें नहीं समझ सकतीं।

घर के भीतर रहने वाली गोपिकायें इच्छा रहने पर भी निरन्तर श्रीकृष्ण से नहीं मिल सकतीं। श्रीकृष्ण ठहरे स्वच्छन्द-विहारी, वे ठहरीं अंतःपुर में रहने वालीं। श्रीकृष्ण की झाँकी के तीन ही अवसर थे। एक तो जब वे घर से मटुकिया लेकर पनघट पर जल भरने जायँ तब, दूसरे गोशाला में गोबर उठाने दूध दुहने जायँ तब और तीसरे दधि बेचने जायँ तब। इन तीन अव-

घरों के अतिरिक्त समय में निकलें तो सास, ननद अनेक प्रकार की शंका करेंगीं। एक की दश बातें बनावेंगीं। लोग भी बुरा भला कहेंगे। घर द्वार में भाँति-भाँति की चकल्लस होने लगेगी। यद्यपि प्रेम की उत्कटता इन बन्धनों को महत्व नहीं देती फिर भी ये बन्धन प्रेम के पोषक ही हैं। प्रेम की सब बातें रहस्यमयी होती हैं, उनका वर्णन संकेत में ही होता है। पत्नी पति को अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है। इस बात को सभी जानते हैं, फिर भी सबके सम्मुख पत्नी पति को नहीं देखेगी। जब देखेगी भी तो घूँघट की आट से देखेगी। उस घूँघट की ओट से देखने में भी एक अपूर्व सौन्दर्य है।

हाँ, तो जब दर्शन हो गये फिर स्पर्श की इच्छा होती है। लाभ से लोभ बढ़ता है। चित्त चाहता है किसी प्रकार श्याम के श्रीअङ्ग का स्पर्श हो। उनकी प्यारी मधुर वाणी सुनने को मिले। वे यह जानती हैं श्याम कभी-कभी पनघट की ओर जाते हैं। व्रज में व्रजवासी स्त्रियाँ ही पानी भरने जाती हैं। यमुनाजी समीप होने से यमुनाजी से जल भरकर लाती हैं। दूर होने से कूप से लाती हैं। व्रज में पनघट का जैसा दृश्य होता है वैसा संभवतया किसी भी देश में न होता होगा। व्रज की मृत्तिका अत्यंत चिकनी है। वहाँ खपरैल तो कोई जानता ही नहीं। वहाँ मिट्टी के ही घर होते हैं। लकड़ी की सोटकड़ी लगाकर मिट्टी से ही छाये जाते हैं। और वे मिट्टी की छतके ही घर सैकड़ों वर्ष चलते हैं। जल भरने और जल खींचने के बर्तन भी सब मिट्टी के ही होते हैं। लोहे या टीन के डोलों की अब प्रथा चली है। पहिले मिट्टी की कलशी से ही पानी खींचते थे। मिट्टी के माटों में ही सब पानी भरकर रखते थे। स्त्रियाँ आटा पीसकर, दही बिलोकर तब जल भरने जाती हैं। चूल्हा चक्की का काम तो घर के भीतर होता है, वह मैले कपड़ों से भी हो सकता है। पानी भरने तो बाहर जाना है, अतः नवीन

वस्त्र पहिनकर जाती हैं। बड़ी बूढ़ी स्त्रियों का काम होता है—बहुओं पर आज्ञा चलाना। उनके काम में दोष देखना। ऊपर के काम भी हैं। बहू रोटी बनाती जायगी, तो सास परसती जायगी। सास के रहते बहू परस नहीं सकती। जल भरने बूढ़ी तभी जायँगी जब उनके घर में बहू न हो। एक तो यह श्रम का काम है दूसरे जल भरना, रोटी बनाना यह युवती बहुओं या सयानी लड़कियों के ही भाग का काम है। जल भरने जायँगी, तो सुन्दर घूमघुमारा लँहगा पहिनेंगी। चटकीली रङ्ग बिरङ्गी चुनरी ओढ़ेंगी। जूड़े को कसकर बाँधेंगी। एक हाथ लम्बा घूँघट निकालेंगी। सिर पर ईंढुरी रखकर उस पर एक चपटा (बड़ा मिट्टी का) घड़ा रखेंगी। उस पर दूसरा फिर उस पर एक छोटी कलशी। एक कलशी बगल में दबावेंगी। रस्सी गगरी के ऊपर रखकर कमर को लचाती हुई दो उँगलियों से घूँघट में से देखती हुई जायँगी। प्रायः एक ही समय सब जाती हैं। रङ्ग-बिरङ्गी साड़ियों को ओढ़े व्रज की नारियाँ पनघट पर ऐसी लगती हैं मानो स्वर्ग के सरोवर के समीप बहुत-सी अप्सरायें बैठी हों। यही समय मिलता है कि उन पर सास ननद का शासन नहीं रहता। पानी भरने जाते और आते समय वे पेट भर परस्पर में बातें कर लेंगी। अपना दुख सुख एक दूसरी को सुना देंगी। अतः यह समय बड़ा सुखद समझा जाता है।

अब समस्त व्रज में एक ही चर्चा थी, श्रीकृष्ण के सौन्दर्य माधुर्य की। श्रीकृष्ण जिस समय पनघट की ओर जाते, दर्शनों के लालच से व्रजांगनायें भी उसी समय जल भरने जातीं और प्रहरों प्रतीक्षा करती रहतीं। जिस दिन श्यामसुन्दर के दर्शन हो जाते, उस दिन वे अपने जीवन को धन्य समझतीं। जिस दिन दर्शन न होते उदास हो जातीं और फिर दूसरे दिन उसी समय तक प्रतीक्षा करती रहतीं। अब दर्शनों से ही शान्ति न होती।

एक दिन किसी ने कहा—"श्यामसुन्दर ! हमारी गगरी तो उठा दो।" श्याम ने बड़े चाव से गगरी उठा दी। रस्सी थमा दी और भूल में उनका हाथ भी गोपी के अंग से छू गया।

अब तो सबको साहस हुआ, सभी गगरी उठवाने लगीं। अब श्याम भी लोटा डोर लेकर जल खींचने लगे। वे यमुनाजी को छोड़कर लोटा डोर से जल क्यों खींचते हैं जी ?

अब क्यों खींचते हैं, यह तो उनसे ही पूछो। प्रेम में कुछ काम प्रेम के ही लिये किये जाते हैं। उनमें क्यों का प्रश्न उठता ही नहीं। कभी-कभी कृष्ण गगरी उठाते समय कलशी को टेढ़ी कर देते गोपियाँ भीग जातीं, वे श्याम को बुरा-भला कहतीं श्याम हँस जाते। इससे उनका साहस और बढ़ा। अब केवल दर्शन स्पर्श से ही सन्तोष न होता, प्रेम कलह भी होती। प्रेम में बातें करने से कभी मन नहीं भरता। चित्त यही चाहता रहता है दिन रात बात ही करते रहें। उन बातों का कोई अर्थ नहीं। कोई भी बात क्यों न हो। इस प्रकार पनघट की लीला अनेक प्रकार की होती है। मुनियो ! ब्रज के रसिक भक्तों ने पनघट लीला को अनेकों प्रकार से वर्णन किया है। उसका मैं विस्तार करूँ, तो वर्षों इसी में बीत जायँ, फिर भी वह पूरी न होगी, अतः मैं इस प्रसंग को यहीं छोड़ता हूँ।

जब चित्त में किसी की सूरत गड़ जाती है, तो फिर चित्त निरन्तर उसी का चिन्तन करता रहता है। अब गोपियाँ घर के काम-काज तो सब करतीं। गृहिणी होकर घर के कामों से अवकाश मिल ही कैसे सकता है, किन्तु चित्त सबका चितचोर की ही ओर लगा रहता। किसी भी काम से बाहर जातीं। गोबर पाथने, गोशाला बुहारने, दूध दुहने अथवा किसी के घर से दही मठा लाने या कोई वस्तु देने, तो इधर-उधर देखती रहतीं, कहीं श्याम तो नहीं आ रहे हैं। आ जाते, एक बार दीख जाते तो नेत्र हरे हो

जाते। 'क्यों जी! श्याम तो देखे-भाले हैं उन्हें बार-बार देखने से क्या लाभ? देखी वस्तु के लिये इतनी अधीरता क्यों? देख ही लिया तो क्या मिल गया? अब तुम्हारे इन सूखे प्रश्नों का क्या उत्तर दें। छोटे-छोटे दो-दो चार-चार वर्ष के बच्चे बच्चियों की बुद्धि में प्रणय संकेत आ ही नहीं सकते। प्रेम में प्रतिक्षण नवीनता होती है। आँखों का आहार प्रिय वस्तु को देखना ही है। नाक फूलों को खाती नहीं उनकी सुगन्धि लेकर ही तृप्त हो जाती है, इसी प्रकार नेत्रों को प्रिय के दर्शन हो जायँ, मानों सब कुछ मिल गया। जैसे लोभी को कितना भी धन दे दो, उसकी तृप्ति न होगी। अग्नि में कितना भी ईंधन डालते जाओ उसकी तृप्ति न होगी, इसी प्रकार नेत्र प्रिय दर्शन से कभी तृप्त नहीं होते। अभी पनघट पर देख लिया है। घर के द्वार पर आकर फिर एक बार झाँककर मुड़कर देखा कहीं आते तो नहीं। जब भी घर से निकलना हुआ इधर-उधर देख लिया। कहीं मुरली की धुनि सुनाई दी दौड़कर छत पर चढ़ गई। सास चिल्लाती है—"बहू रसोई छोड़कर कहाँ गयी?" वह वहीं से कहती है—"गीले कंडों में आग नहीं जलती। छत पर देखने गई हूँ कोई सूखा कंडा हो तो ले आऊँ।" हाथों से कंडों को भी उलटती पलटती है, किन्तु नेत्र चञ्चलता पूर्वक इधर-उधर देख रहे हैं। यदि श्याम दीख गये, तब तो श्रम सफल हो गया, जब तक दीखते रहे देखती रही। जब आँखों से ओझल हो गये, तब उतर आई। यदि न दिखाई दिये तो अन्यमनस्क भाव से आकर फिर घर के कामों में लग गई।

एक अवसर दही बेचने के समय भी मिलता था। पहिले समय में जो जिस काम को करता था, राजा उससे उसी वस्तु का शुल्क लेता था। जैसे तेली है, तो राजा उससे शुल्क तेल के रूप में ही लेगा। कृषक है तो उससे उपज का छठा अंश अन्न लेगा।

साक बोता बेचता है, तो उसे राजकर के रूप में साक ही देना पड़ेगा। व्रज के राजा नन्दजी थे। अब तक उनके कोई बच्चा नहीं था, अतः वे राजकर की ओर ध्यान नहीं देते थे। कोई घर आ कर दूध, दही, माखन दे गया तो ले लिया। न दिया तो किसी से माँगते नहीं थे। अब तो नन्दजी के लाला हो गया। लाला भी बड़ा सयाना। किसके घर में कितनी रोटियाँ बनी हैं, किसका साग बना है, इन सबका उसे पता रहता। वह ऐसा अंधेर क्यों होने देने लगा, नन्द के लाला ने आज्ञा प्रसारित कर दी—"कोई गूजरी बिना दधि का दान (शुल्क) दिये बेचने न जा सकेगी।" आज्ञा निकालकर ही आप सन्तुष्ट न हुए, ग्वालबालों की सेना लेकर आप स्वयं प्रधान मार्ग पर जा बैठते और जो भी गूजरी निकलती, उसी से छेड़खानी करते। गोपियाँ तो यह चाहती ही थीं। इसीलिये वे स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक श्रीकृष्ण को दान नहीं देती थीं। श्रीकृष्ण भी सीधे साधे लेना नहीं चाहते थे। वास्तव में न तो श्रीकृष्ण को ही दूध, दही, मक्खन का लोभ था और न गोपिकाओं को देने में ही कोई आपत्ति थी। जब वे अपना तन, मन, धन सर्वस्व श्रीकृष्ण को अर्पण कर चुकी हैं, तो फिर दूध दही तो उन्हीं का है। वे दूध दही के लोभ से मना नहीं करती थीं। श्रीकृष्ण से कलह करने में इन्हें आनन्द आता था। इसी बात को उपलक्ष्य बनाकर वे उनसे बहुत-सी बातें कर सकती थीं। कोई कहती—"तुम्हें दान लेने का अधिकार ही क्या है। तुम्हारे बाप तो कंस को वार्षिक कर देते हैं। वास्तविक राजा तो कंस हैं, वे ही हमसे कर ले सकते हैं। बीच में तुम माँगने वाले कौन?" कोई कहती—"तुम हमारा क्या शासन करते हो, दान ही लेने को हो, कि हमारे दुःख भी दूर करते हो।" कोई कहती—"तुम आधे से अधिक तो दूध दही दान में ले लेते हो। हम बेचेंगी क्या? कोई-कोई इनके सम्मुख ही बिना दान दिये चली जाती। आप

दौड़कर उसका पोंहचा पकड़ लेते और कहते—"बिना दान दिये ही चली जा रही है।" तब वह बनवारी से झूठा रोष दिखा कर कहती—"देखोजी, तुम राजकुमार होगे, तो अपने घर के होगे। यह बात अच्छी नहीं होती। तुम्हें जो कहना हो, दूर से कहा करो। आगे तुमने कभी मेरे शरीर से हाथ लगाया, तो फिर बात अच्छी न होगी।" तब आप हँस जाते और उसके अंचल को पकड़कर कहते—"अरी, भाभी! बुरा मान गयी क्या?" इस प्रकार यह नित्य ही एक अत्यन्त सरस मधुमय लीला होती। दस गाली श्रीकृष्ण देते दस गालियाँ गोपियाँ देतीं। ये प्रेम की मीठी गालियाँ मधु से भी अधिक मीठी और हलुआ से भी अधिक कोमल होतीं। इस प्रकार मुनियो! प्राचीन कवियों और रसिकों ने इस रस-दान लीला का बड़े ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। मैं यदि इस विषय का विस्तार करूँ, तो दान लीला में ही कथा समाप्त हो जायगी। अतः इस प्रसंग को यहीं समाप्त करता हूँ।

गोपियाँ ही श्रीकृष्णचन्द्र से मिलने को उत्सुक रहती हों, सो बात नहीं। श्रीकृष्ण भी उनसे मिलने को सदा लालायित बने रहते, किन्तु जो कठिनाइयाँ गोपियों के सामने थीं, वे ही श्रीकृष्ण के सामने भी थीं। जिनसे पनघट पर, गोशाला में तथा दधिदान लेते समय भेंट हो जाती, उनसे तो मन की बात कह लेते, उन्हें आँख भरकर देख भी लेते। किन्तु जो बड़े घर की बेटी हैं। जो इन कामों के लिये बाहर जातीं ही नहीं, उनसे भेंट कैसे हो? किसी के घर जायँ, तो चौपाल पर बैठे गोप ही बुलाकर बिठा लेंगे। घर में भी जैसे तैसे घुस गये, तो पोपले मुख को बार-बार हिलाती हुई बुढ़ियाँ ही प्रश्नों की झड़ी लगा देंगी "बेटा! किस लिये आया? नन्दरानी अच्छी है? तेरा विवाह कब होगा?" उन आपत्ति की मारी डोकरियों से पूछे—"अरे, हम

आये हों, तू अपना काम देख, तुझे नन्दरानी से प्रेम है, तो स्वयं जाकर उसकी कुशल क्षेम पूछ आ। हमारे काम में रोड़े क्यों अट-काती है।" किन्तु बड़े बूढ़ों से पूछे कौन। सफेद बालों के सम्मुख काले बाल वाले बोल नहीं सकते। इन्हीं सब झन्झटों के कारण श्रीकृष्ण को छद्मवेष बनाने पड़ते। वे भी छद्म ऐसे कि बिना रोक-टोक अन्तःपुर में प्रवेश कर सकें। कभी देखते मेरी प्यारी देवी पूजन को गई हैं, तो आप भी लुगाई का वेष बनाकर घूँघट मारकर पूजा घर में घुस जाते। कभी नई दुलहिनि बनकर पैरों के कड़े-छड़े और पाइजेबों को बजाते नाइन के साथ घर में घुस जाते। कभी गोदने वाली बनकर गोदने के लिये चले जाते। कभी सुनारिनि बनकर आभूषण देने नया गहना बनाने को निर्भय होकर अन्तःपुर में घुस जाते। कभी मनहारिनि बनकर चुरी पहिनाने चले जाते, इसी मिस से उनके करों का स्पर्श कर लेत। कभी मालिनि बनकर गजरे हार बेचने चले जाते। कभी बिसायितिनि बनकर कंघी, दर्पण, सुरमा आदि वस्तुएँ दिखाने भीतर ले जाते। मोल भाव में ही उनसे प्रेम की बातें कर लेते। कभी चुटीला बेचने वाली पटविनिका वेष बनाकर झब्बादार चुटीला बेचने भीतर घरों में घुस जाते। बूढ़ी डुकरियाँ चुटीलाओं का क्या करेंगी। यह तो युवतियों के ही काम की वस्तु है। कभी तमोलिनि बनकर पान बेचने ही आ जाते। कभी नाइन बनकर चोटी करते। वेणी में फूल लगाते, पैर दाब देते। पीठ मल देते। कभी वैद्यनि बनकर नाड़ी देखते, औषधि बना देते और हाथों से आँखों की पलकों को उठा, उठाकर, बात, पित्त, कफ की परीक्षा करते, छाती की धड़कन पर हाथ रखकर बड़ी देर तक उसकी परीक्षा करते रहते। कभी तोता मैना लेकर घर-घर खेल दिखाने वाली बन जाते। कभी नटी बनकर गाते बजाते और नाच दिखा-कर प्यारी को रिझाते। कभी गन्धिनि बनकर तेल फुलेल

बेचते। ढाँढिनि बन जाते, कभी बीना वाली बनकर घर-घर बीना बजाते फिरते। सारांश यही, कि अपनी प्यारी से मिलने को ये भी नाना वेष बनाते और अपने नेत्रों को तृप्त करते। इस प्रकार दोनों ओर अनुराग होने से उत्सुकता बढ़ती ही जाती थी।

श्यामसुन्दर का रूप इतना अधिक आकर्षक था, कि जो देखती वहीं बिना मूल्य के बिक जाती, बहुत-सी मूर्छित हो जातीं। कोई कहती—"श्याम! मेरी सखी मूर्छित हो गयी है, तुम कुछ जन्त्र, मन्त्र, झाड़, फूँक, जादू, टोना जानते हो तो बताओ।" श्याम कहते—"हाँ मैं एक मन्त्र जानता हूँ। उससे उसे तुरन्त चेत होगा।" यह कहकर वह उसके समीप जाते और उसके कान में कह देते—"आगामी शरद्ऋतु की रात्रियों में तुम मेरे साथ रास विलास करोगी।" इतना सुनते ही उसे चेत हो जाता। वह बड़ी उत्सुकता से शरद् की उन सुहावनी रात्रियों की प्रतीक्षा करती। अब सर्वत्र हल्ला हो गया। नन्द-नन्दन को एक ऐसा मन्त्र सिद्ध है, कि कोई कितनी भी मूर्छित हो, वह तुरन्त अच्छी हो जाती है। अब तो जिसे भी विकलता-मूर्छा होती, झट सखियाँ श्यामसुन्दर को बुला ले जातीं, ये उसके कान में इसी मन्त्र को पढ़ देते। वह उसी समय चंगी हो जाती।"

एक बुढ़िया थी, उसे सन्देह हुआ कि यह नन्द का छोरा न जाने बहुओं के कान में कौन-सा मन्त्र पढ़ता है। मन्त्र क्या है जादू है। तुरन्त अच्छी हो जाती हैं, लाओ, मैं भी तो देखूँ। एक दिन वह भी झूठ-मूठ को मूर्छित हो गयी। उसकी बहू दौड़ी-दौड़ी घनश्याम के पास गयी और बोली—"लालजी! आज मेरी सास मूर्छित हो गयी है उसके कान में भी मन्त्र फूँक दो।"

श्यामसुन्दर बोले—"मेरा मन्त्र सफेद बालों पर लगता नहीं।"

बहू ने कहा—"लालाजी ! टालमटोल मत करो। चलो, देखो वे तो संज्ञा शून्य पड़ी हैं।"

उसके आग्रह को श्यामसुन्दर कैसे टाल सकते थे। गये, उसके पास जाकर देखा उसे। उन सर्वान्तर्यामी से क्या छिप सकता है। सब समझ गये। बोले—"इस पर तो भूत चढ़ा है। भूत को भी मैं औषधि जानता हूँ, देखो भूत अभी चिल्लाता है।" यह कहकर आपने बुढ़िया की पीठ में जोर से नोंच लिया। बुढ़िया चीख उठी। बहू ने कहा—"लालाजी ! यह क्या कर रहे हो ?"

आप झूठी गम्भीरता दिखाते हुए बोले—"तू बोले मत। यह तो भूत चिल्ला रहा है। एक टोकरी लाओ। उसमें इसे बिठाकर बाँधकर कूँए में लटकायेंगे। और एक साथ १००-५० गोते लगायेंगे तब भूत भागेगा।"

जाड़े के दिन थे, बुढ़िया डर गयी। उसने चिल्लाकर कहा—"मेरे ऊपर भूत फूत कुछ नहीं है, मैं तो भली चंगी हूँ। मुझे बाँधकर कूँए में मत लटकाओ।"

यह सुनकर आप हँस पड़े और बोले—"देखो, भूत कहते ही भाग गया।"

इस प्रकार सम्पूर्ण व्रजमण्डल की युवतियों में यह बात फैल गई, कि श्यामसुन्दर शरद् की रात्रियों में रास आरम्भ करेंगे और यह आश्विन की शरद्पूर्णिमा से आरम्भ होगा। वे श्यामसुन्दर के संगम की प्रतीक्षा में उन घड़ियों को युग के समान बिताने लगीं। श्रीकृष्ण के संगम की तिथि की अत्यन्त उत्सुकता के साथ बाट जोहने लगीं, दिन गिनने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैं बार-बार सावधान करता रहूँगा, वे किसी साधारण व्यक्ति से मिलने को उत्कण्ठित नहीं

थीं। जिनसे मिलना चाहती थीं, जिनके साथ क्रीड़ा करने को लालायित थीं, वे भगवान् हैं। सर्वान्तर्यामी ईश्वर हैं।"

गोपी ही उत्सुक हों, सो बात नहीं, भगवान् भी बड़े उत्सुक थे। वे भी शरद् की उन रात्रियों की प्रतीक्षा में दिन गिन रहे थे। कात्यायिनी व्रत करने वाली कन्याओं को भी वही तिथि बता रखी थी।

दिन गिनते-गिनते वर्षा बीत गयी। क्वार में आकाश स्वच्छ हो गया। कीच सूख गयी। यमुनाजी का जल जो वर्षा के कारण मट मैला हो गया था, अब उसकी मिट्टी बैठ गयी। वह निर्मल हो गया। वृन्दावन में चारों ओर श्वेतमल्लिका (सफेद चमेली) सुवर्ण मल्लिका (पीली चमेली) की सुगन्धि फैल गयी। न बहुत गरमी थी न जाड़ा, बड़ा ही सुखद रमणीय समय था।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वैसे शरद्ऋतु में मल्लिका फूलती है, किन्तु शरद् में मल्लिका का वर्णन काव्यों में अप्राप्य है, फिर आपने मल्लिका का वर्णन क्यों किया?"

सूतजी बोले—"महाराज! भगवान् तो लोक वेद दोनों से परे हैं। शरद् में मल्लिका न भी फूलती हो, तो भी भगवान् की इच्छा होते ही फूल जायगी। ये सब सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे तथा चराचर विश्व के जीव उनके ही संकेत से घूम रहे हैं। प्रकृति उनकी इच्छा में ही इच्छा मिलाकर हँसती है। जब उस दिन की प्रतीक्षा में समस्त व्रजाङ्गनाओं के मनमुकुर खिल रहे थे, तो मल्लिका बिना खिले कैसे रह सकती थी, सबको प्रसन्न देखकर वह भी प्रसन्न हो उठी, वह भी खिल गयी। उसने भी अपनी सुगन्धि से समस्त वृन्दावन की रासस्थली को सुगन्धिमय बना दिया। भगवान् किसी साहित्य, संगीत या कला के अधीन होकर काम नहीं करते, वे सब तो उनका अनुसरण करते हैं। उस रासपूर्णिमा के आने पर जो पुष्प नहीं भी खिलते थे—जिनके

खिलने की वह ऋतु नहीं भी थी—वे भी खिल गये। वृन्दावन का वायुमण्डल सुगन्ध से भर गया।

गोपियों का मन उस दिन बाँसों उछलने लगा। आज श्यामसुन्दर हमारी चिर दिन की अभिलाषाएँ पूर्ण करेंगे। आज उनके हृदय से हृदय सटाकर हम सम्मिलित सुख का रसास्वादन करेंगी। आज हमारे समस्त मनोरथ मिट जायँगे, आज हमारी चिरकाल की साध पूरी हो जायगी। वे अकेली ही उन शारदीय रात्रियों को देखकर उत्सुक हो रही हों, सो बात नहीं। भगवान् भी उसी प्रकार उत्सुक हो रहे थे। उनके मन में भी रमणियों के साथ रमण करने की उत्कट इच्छा जागृत हो रही थी। शरद् की पूर्णिमा को देखकर आप्तकाम, परिपूर्ण आत्माराम भगवान् ने भी रास करने की इच्छा की।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इच्छा तो उसे होती है, जिसे उस विषय से तृप्ति न हो। जैसे हमने रबड़ी खायी। बड़ी स्वादिष्ट लगी। इच्छा हुई फिर खावें। अथवा किसी से रबड़ी की प्रशंसा सुनी, तो हमारे मन में भी इच्छा हुई हम भी उसका रस चखें। इच्छा होना अपूर्णता का चिह्न है। जो परिपूर्ण है—आप्तकाम है, उसे इच्छा क्यों हुई? आप कह देते हैं—बालक की भाँति वे क्रीड़ा करते हैं, किन्तु बालक को भी तो खेलने की इच्छा होती है। खिलौने आदि सामान जुटाता है, वह भी यह अपूर्णता ही है। श्रीकृष्ण तो परिपूर्ण हैं उनको इच्छा होना तो बनता नहीं।"

हँसकर सूतजी बोले—"क्यों महाराज! पूर्ण हैं तो उसके मन में पूर्णता की इच्छा है, वह पूर्ण के साथ खेलेगा। उसको अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं। मकड़ी अपने आप जाला बनाकर उसमें विहार करती है। जब चाहती है उसे निगल जाती है।

कृष्ण निर्गुण ब्रह्म के समान गुम्म-सुम्म सत्तू के लड्डू तो हैं ही नहीं। वे तो निर्गुण होकर भी सगुण हैं, सरस हैं, मधुर हैं। अपने आप में रमण करते हैं, हँसते खेलते हैं, क्रीड़ा करते हैं। इसमें उनकी परिपूर्णता में अथवा आत्मकामता में तो कोई विघ्न नहीं पड़ता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! परिपूर्णता में चाहे कुछ विघ्न न पड़े, किन्तु जो एक है, अद्वितीय है, निरीह निर्विकल्प है उसमें खेल बनता ही नहीं। अकेला भला कहीं खेल सकता है। एकाकी कहीं रमण हो सकता है।"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज! यह तो सत्य है, एकाकी नहीं होता, कुछ न कुछ आश्रय चाहिये। भगवान् ने अपनी माया का आश्रय लेकर ही रमण की इच्छा की।"

यह सुनकर चौंककर शौनकजी बोले—"अजी, सूतजी! यह क्या कह रहे हो तुम! मायातीत भगवान् में माया कहाँ से आ गयी। इस राँड माया ने हमें ही जमूड़ा बना रखा है। भगवान् का भी इसने पिंड नहीं छोड़ा क्या?"

यह सुनकर सूतजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"भगवन्! आप माया से बहुत डरते हैं। वास्तव में लोग माया को जितनी बुरी वस्तु समझते हैं, उतनी बुरी वह है नहीं। यह जितना खेलमाल, लीला क्रीड़ा व्यापार है सब माया के ही आश्रय से तो है। जो भी कुछ सम्भव है माया के आश्रय से ही सम्भव है। वह माया तीन प्रकार की होती है। एक जगन्मोहिनी माया। जिससे मोहित हुआ जगत् बिना सोचे समझे कार्य में लगा है। यह मैं हूँ, यह मेरा है जिस माया से ऐसी बुद्धि होती है वह रजोगुण और तमोगुण प्रधान माया है। एक भक्त मोहिनी माया होती है, जिससे मोहित होकर भक्त भगवान् को चाहते हैं, वे उसी के अधीन होकर भगवद्भक्ति करते हैं, वह शुद्ध

प्रधान माया है। एक तीसरी भगवान् को भी मोहने वाली माया है, जिसमें गुणों का लेश भी नहीं। उसे 'सीता' कहो, 'राधा' कहो श्रीजी कहो। जो चाहो सो कहलो। यह माया भगवान् को भी वन-वन घुमाती है। इसी के आश्रय से भगवान् कठपुतली की भाँति नाचते हैं। इन्हीं के आश्रय लीला है, क्रीड़ा है, रास है, विलास है, हास है, परिहास है। कथन है, श्रवण है। इनके बिना श्रीकृष्ण "ठन ठनपाल मदन-गुपाल कहलाते हैं।" इसी योगमाया का आश्रय लेकर रासेश्वर भगवान् ने रास करने की इच्छा की। आप माया से इस संसार को चलाने वाली रजोगुणी तमोगुणी माया को न समझें।

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! अब बात समझ में आ गयी। हाँ, तो फिर क्या हुआ। यह प्रसंग तो बड़ा सरस है। सूतजी! देखिये, इसके वर्णन में शीघ्रता न करें। हमें कुछ और काम काज तो है ही नहीं। कृष्ण कथा ही सुननी है। इसे ही सुनकर कालक्षेप करना है। अतः इस विषय को विस्तार के साथ वर्णन करें।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! इस विषय का विस्तार कौन कर सकता है। रास एक दिन हुआ हो तो उसका वर्णन किया जाय। श्रीकृष्ण का रास तो नित्य है। वह तो अनादि काल से हो रहा है, अनन्त काल तक होता रहेगा और उसमें नित्य ही नवीनता है। वह तो वर्णन की वस्तु नहीं, अनुभव की वस्तु है। फिर भी गुरु कृपा से मैं यथामति यथाशक्ति अपनी वाणी को पवित्र करने के निमित्त इसका वर्णन करूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

—०—

छप्पय

इत गोपिनि को चित्त कृष्णके रूप लुभायो।
करिबे रास विलास श्याम उत मन ललचायो॥
अति सुखदायिनि शरद् पूर्णिमा की निशि आई।
सुषमा अति रमनीक दशहु दिशिमाँहि सुहाई॥
मनमोहन ने मोहिनी, माया को आश्रय लयो।
आप्तकाम परिपूर्ण को, मन क्रीड़ा के हित भयो॥

शारदीय शशि की सुषमा

[९६०]

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखम्
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २९ अ० २ श्लोक)

छप्पय

अति निर्मल नभ भयो नीलिमा गहरी छाई ।
शारदीय शशि विहँसि चन्द्रिका शुभ छिटकाई ॥
प्राची दिशिकी ललित लालिमा लागे ऐसे ।
पति विदेशतैं आइ रँग्यो प्यारी मुख जैसे ॥
प्रिया रक्त पटतैं निकसि, पूर्ण चन्द्र निकसित भये ।
सूर्य ताप संताप दुख, निरखत शशि सब भगि गये ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शरद्पूर्णिमा के दिन अपनी शान्त किरणों के द्वारा लालिमा से प्राची दिशा के मुख को रंजित करता हुआ शशि उसी प्रकार उसे आनन्दित करता हुआ, जिस प्रकार बहुत दिनों में विदेश से लौटा नायक अपनी प्रिया के मुख कमल को कुंकुम रंग से रंजित करके उसे सुखी करता है । चन्द्र के उदय होते ही जीवों का सूर्य सन्ताप जनित ताप दूर हो गया ।"

संसार में सुख, दुख, अनुकूल प्रतिकूल, सभी कुछ सहना पड़ता है, द्वन्द्व का ही नाम तो संसार है। संसार की स्थिति के लिये सुख की भी आवश्यकता है और दुख की भी आवश्यकता है। दुख न हो तो सुख का अनुभव ही कैसे हो। प्रतिकूल न हो तो अनुकूल में आनन्द ही कैसे आवे। ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर सभी ऋतु आवश्यक हैं। इन सबमें सुख भी है दुख भी है। गरमी न पड़े तो सूर्य अपनी किरणों से जल कैसे सोखें। वे जल न सोखें तो वर्षा कैसे हो। शीत न पड़े तो अग्नि प्रदीप्त कैसे हो? गरमी आवश्यक है, किन्तु गरमी में कितना कष्ट होता है प्यास लगती है, पसीना छूटता है, रहा नहीं जाता। इसी प्रकार जल जीवन है, किन्तु वर्षा होने से चारों ओर कीच हो जाती है। सील हो जाती है, अग्नि मन्द पड़ जाती है। सदा नभ में मेघ छाये रहते हैं, किन्तु वर्षा निकल जाने पर जब आकाश स्वच्छ निर्मल हो जाता है, कीच सूख जाती है, नदियों का जल स्वच्छ हो जाता है, पृथ्वी हरी-भरी शस्य श्यामला बन जाती है, तो उस समय का दृश्य अनुपम हो जाता है। इसी-लिये साहित्य में सर्वत्र शारदीय पूर्ण चन्द्र की ही उपमा दी गई है। शरद् ऋतु का चन्द्रमा निर्मल स्वच्छ और परम सुखद होता है। सुनते हैं उस दिन चन्द्रमा में से विशेष अमृत स्राव होता है। उस दिन के चन्द्र के दर्शन का विशेष माहात्म्य होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! क्वार कार्तिक की धूप अत्यन्त कड़ी होती है। कारण यह है कि आकाश तो निर्मल हो जाता है, उष्णता तो बनी ही रहती है। वर्षाकाल में आकाश में मेघ छाये रहने से छाया रहती थी। अब तो मेघ बरसकर—रीते होकर—भाग गये। अब सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं। उस ताप से पौधे मुरझा जाते हैं, हिरन काले पड़ जाते हैं, नर

ज्वर आ जाता है। भैंसे जीभ निकालकर हाँपने लगते हैं। पक्षी विकल हो जाते हैं। सभी उस सूर्य ताप से संतप्त-बन जाते हैं, दिन में निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। किन्तु जब चन्द्रमा अपनी कलाओं से युक्त प्राची दिशि में उदित होते हैं, तो उनके उदय होते ही समस्त प्राणियों के संताप मिट जाते हैं। जो दूसरों के सन्ताप को मेटें वे संत कहलाते हैं। उनका कैसा भी रूप रङ्ग हो, किसी वर्ण में जन्म हो, पहिले उनसे कैसे भी कार्य बन गये हों, यदि उन्होंने वर्तमान को सुधार लिया है, परोपकार का व्रत ले लिया है, तो उनके पिछले सभी अवगुण भुला दिये जाते हैं, वे सर्वप्रिय बन जाते हैं। चन्द्रमा को ही देखिये उसकी उत्पत्ति समुद्र से हुई है। इसका बड़ा भाई कालकूट विष है, क्योंकि समुद्र मन्थन के समय सर्वप्रथम विष ही निकला था। अमृत भी इसका भाई है किन्तु वह इससे छोटा है। इसे ससुर का शाप भी है। इसके शरीर में क्षय रोग भी है, नित्य घटता-बढ़ता रहता है। वियोगिनियों का तो यह वैरी ही है। इसे देखते ही वियोगिनियों का विरह दूना हो जाता है, उन्हें अपने प्राणपतियों की अत्यन्त स्मृति हो आती है, वे रो पड़ती हैं, इसे कोसती हैं। इसे कलंकी समझकर कमल इसका मुख भी देखना नहीं चाहता। इसके उदित होते ही वह मुद जाता है, सिकुड़ कर नेत्र बंद कर लेता है। इसके बिना प्राचीदिशि विधवा के सदृश हो जाती है, उसका मुख काला पड़ जाता है। जिस स्त्री का पति समीप न हो, उसका मुख भला कैसे खिलेगा। मुख तो अनुराग से खिलता है। अनुराग वहीं प्रकट होता है जहाँ चार आँखें होती हैं।

गोपिकाओं को तो इस चन्द्रमा से वैर था। इसके कई कारण हैं, दिन में तो वे कभी पनघट पर, कभी गोशाला में, कभी गौओं को लावे ले जाते, कभी दधि बेचने जाते समय

श्याम को देख भी लेतीं। जहाँ निशा हुई, जहाँ निशानाथ ने अपने हाथ फैलाये, तहाँ मानों गोपियों को कारावास हो गया। रात्रि में स्त्री बाहर कैसे निकल सकती हैं। आँगन में बैठी-बैठी वे रोती रहती थीं। ऊपर आकाश की ओर देखतीं तो वहाँ हँसता हुआ चन्द्रमा दिखाई देता। उन्हें ऐसा लगता मानों यह हमारे ही ऊपर हँस रहा है। फिर श्रीकृष्ण के मुख की आभा भी चन्द्रमा से मिलती-जुलती ही है। समान वस्तु को देखकर अपने प्रिय की स्मृति जाग उठती है। रूप में ही साम्य हो सो बात नहीं। नाम में भी साम्य है। श्रीकृष्णचन्द्र, व्रजचन्द्र तथा वृन्दावनचन्द्र इन सभी नामों में चन्द्र लगा है। चन्द्रमा को देखते ही श्यामसुन्दर की स्मृति और भी अधिक जागृत हो उठती है। श्रीकृष्ण का जो पीतांबर है वह चन्द्रकिरणों के सदृश चमकीला है। जिस आकाश में चन्द्रमा विचरता है, उसके रङ्ग से घनश्याम के श्रीअंग का रङ्ग मिलता जुलता है। ये सभी स्मृतियाँ उन्हें रात्रि भर सोने नहीं देती थीं। यह कलंकी चन्द्रमा आकाश से टले, तो हमें नींद भी आवे। चन्द्रमा इन गालियों को सहते-सहते नित्य-नित्य मलिन होता जाता था। अन्त में –अमावस्या के दिन–छिप जाता। फिर इस आशा से द्वितीया के दिन प्रकट होता कि गोपिकायें अब मेरा आदर करेंगी। द्वितीया के चन्द्र को देखकर वे नमस्कार करतीं। तब उसका साहस बढ़ता। इनका रोष कम हो गया है। वह बढ़ता ही जाता। गोपियाँ मन ही मन खीजतीं। पूर्ण हो जाता, तो फिर रोतीं, झींकतीं, गालियाँ देतीं, बेचारे का मुख म्लान हो जाता, उत्साह भंग हो जाता, फिर शनैः-शनैः प्रभाहीन–तेजहीन बनता जाता।

शरद पूर्णिमा के दिन उसने अपना समस्त साहस और दृढ़ निश्चय किया, आज मैं समस्त जीवों के

जनित ताप को दूर करूँगा। आज चराचर विश्व को अपनी कमनीय किरणों द्वारा आह्लादित करूँगा। यह सोचकर प्रथम उदित होते ही उन्होंने प्राची दिशा के मुख को सिंदूरिया रङ्ग से रङ्ग दिया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बेचारी प्राची दिशा ने ऐसा कौन-सा पाप कर दिया, कि चन्द्रमा ने उदय होते ही अपनी शुभ्रकिरणों से प्राची दिशा के मुख को रक्तरञ्जित-सा बना दिया?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! आप बाबाजी ठहरे, ऐसे सरस प्रश्न आप क्यों कर देते हैं। या तो आप सर्वदा भोले हैं इसलिये ऐसे प्रश्न कर देते हैं। या आप जान बूझकर प्रसंग को सरस बनाने को ऐसे रहस्यमय चुभते प्रश्नों को उठा देते हैं। अंतिम बात ही हो सकती है। बात यह है भगवन्! किसी अत्यन्त प्यारी पत्नीका पति परदेश चला गया था। जाते समय वह एक अवधि दे गया था कि उस दिन मैं आ जाऊँगा। वह बेचारी भोली भाली थी। उसने उतनी ही लकीरें खींच रखीं थीं। नित उठकर एक लकीर को मिटा देती। जिस दिन सब मिट गयीं उस दिन उसकी उत्सुकता अत्यधिक बढ़ गयी। क्षणभर में भीतर जाती फिर बाहर आती। पति को भी वैसी ही उत्कण्ठा थी। वे समय पर आ ही गये। हृदय फूट पड़ा। प्रेम का स्रोत उमड़ पड़ा, नेत्र अपने आप बहने लगे। वह पैरों पर पड़कर रोने लगी। मुख विरह ताप से संतप्त हो रहा था। हृदय धड़क रहा था। पति का सुखद शीतल स्पर्श प्राप्त हो तो चिरकाल का सन्ताप दूर हो। पत्नी ने पति के पूजन के लिये कटोरा भरके कुंकुम रख रखा था। किन्तु पति को पाकर वह सब सुध-बुध भूल गयी। पति ने वह चंदन, कपूर मिश्रित केशर की गाढ़ी-गाढ़ी कीच अपने करों से लेकर उसके

मुखारविन्द पर मल दी। एक तो पति के कर का सुखद स्पर्श दूसरे केशर कपूर चंदन की शीतलता उसका सभी सन्ताप दूर हो गया। वह निहाल हो गयी। प्रणयभरी दृष्टि से वह प्राणनाथ के मुखचन्द्र को निहारती ही रह गयी। इसी प्रकार प्राची दिशि के सन्ताप को हरने के ही निमित्त पूर्ण चन्द्र ने अपनी प्रशान्त किरणों के द्वारा नभ की लालिमा से उसके मुख को रञ्जित कर दिया। सीधी सादी भाषा में है कि पूर्व दिशा की लालिमा को फाड़कर चन्द्र उदित हुए। आज वे खिल खिलाकर हँस रहे थे। समस्त प्राणियों को सुखकर प्रतीत हो रहे थे। आज वे सभी को प्यारे लग रहे थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! चन्द्रमा हँस क्यों रहे थे?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! इस बात को तो चन्द्रमा ही जान सकते हैं वे क्यों हँसे, हम लोग तो अनुमान ही लगा सकते हैं। चन्द्रमा ने सोचा होगा—ये गोपिकायें मुझे सदा गालियाँ ही दिया करती हैं, आज मेरी चाँदनी में अपने चितचोर को पाकर ये अवश्य ही मुझे आशीर्वाद देंगी, इसी प्रसन्नता में वे हँस पड़े होंगे अथवा आज समस्त प्रकृति को सजी-बजी नववधू के समान लज्जा से घूँघट मारे देखकर उसकी शोभा पर वे विमुग्ध हो गये होंगे। अथवा कुमुदिनियों को हँसती देखकर वे हँस पड़े होंगे, अथवा चिन्मय वृन्दावन की रासस्थली की अपूर्व शोभा देखकर हँस पड़े होंगे। अथवा आज रासेश्वर की परम रहस्यमयी लीला देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त होगा। उस लीला में मैं आलोक प्रदान कर्ता-मसाल दिखाने वाला बनूँगा इस प्रसन्नता में हँसे होंगे, अथवा श्रीकृष्ण के आज अद्भुत जग मोहन शृङ्गार को देखकर हँसे होंगे। कुछ भी हो, उनका यह हास्य आन्तरिक प्रसन्नता द्योतक था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब शरद्पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र

अपनी समस्त कलाओं के साथ कुमुदिनियों को विकसित करते हुए, निशारानी की बगल में गुलगुली करके उसे हँसाते हुए, अपनी शान्त किरणों से सभी को सुखी बनाते हुए, शरद् कालीन स्वच्छ नभ में उदित हुए, तब श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रमण करने की इच्छा की।"

छप्पय

नभकूँ झारि बुहारि रँग्यो नीलम तैं मानों।
मोती दये बिखेर खिले तारागन जानों॥
श्रीमुखमण्डल सरिस सुखद शोभायुत निशिपति।
रक्ताञ्चल तैं निकसि करत जगकूँ प्रमुदित अति॥
प्राचीदिशि कुंकुम रंगी, वर उडुगनपति शुभ्र अति।
मनहुँ प्रिया परिधान मुख, झाँपि हँसत, प्रिय प्रानपति॥

आह्वान

[९६१]

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलम्
रमाननाभं नवकुंकुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितम्
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥*
(श्रीभा० १० स्क० २९ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

हृदय भरत अनुराग चलत शशि सबकूँ हेरत ।
मनहुँ किरन कर कमल राग चहुँ ओर बिखेरत ॥
फेंकी कोमल किरन भयो वृन्दावन रञ्जित ।
जपाकुसुमकूँ पाइ फटिकमनि जन अति हरषित ॥
वृन्दाबन अति मनहरन, आये गोपीजनरमण ।
नटनागर सजि बजि तुरत, रास करन यमुनापुलिन ॥

जैसे तिलों के अणु-अणु में तेल व्याप्त है, जैसे दुग्ध में घृत, पुष्प में गन्ध, गन्नों में रस और ईंधन में अग्नि सर्वत्र व्याप्त है,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! नभ में नवकुंकुम के समान अरुण वर्ण तथा लक्ष्मीजी के मुख के सदृश शोभायमान अखंड मण्डलाकार निशा नाथ को तथा उनकी कोमल किरणों से रञ्जित वृन्दावन को देखकर श्यामसुन्दर ने व्रजरमणियों के मन को हरने वाला मधुरगान आरम्भ किया ।"

उसी प्रकार विश्व ब्रह्मांड में मोहन की मुरली का मधुरस्वर व्याप्त है। जैसे ये सब वस्तुएँ युक्ति से, श्रम से प्राप्त की जाती हैं, वैसे ही बनवारी की बाँसुरी का शब्द भी प्रेम उत्कण्ठा और प्रतीक्षा के द्वारा सुना जाता है। स्वाति का जल सर्वत्र समान बरसता है, किन्तु उससे अधिक सुख तो पपीहा को ही होता है। मोहन की मुरली अबाधित रूप से बजती रहती है, किन्तु उसे सुनती तो युवती गोपिकायें ही हैं। दूसरे अनेक व्यवसायों में फँसे रहने से उसे सुन नहीं सकते। कुछ सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं, किन्तु अनुरागवती गोपियों को तो वह ध्वनि उन्मत्त बना देती है। वैसे वंशी तो नित्य ही बजती है, किन्तु प्रतीक्षा के पश्चात्–उत्कण्ठा के अनन्तर–निश्चित समय पर जो बजती है, वही उन्मादिकारिणी होती है। आँख कान बन्द करके जो चिरकाल तक अनहद शब्द श्रवण करने का अभ्यास करते हैं, उन शब्दब्रह्म के उपासकों को मुरली की मधुर ध्वनि अवश्य ही सुनाई देती है, स्पष्ट सुनाई देती है। उन्हें मुरली ही नहीं रास के समस्त वाद्य सुनाई देते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिन रात्रियों की प्रतीक्षा में गोपिकायें व्यग्र थीं, श्रीकृष्ण भी छटपटा रहे थे, व्याकुल हो रहे थे, दिन गिन रहे थे, वे शरद की सुन्दर रात्रियाँ आ गयीं।

शरद के चन्द्रमा को नवकुंकुम के सदृश अखण्ड मंडलाकार देखकर तथा उनकी कमनीय कोमल किरणों से वृन्दावन के तरुओं, लताओं, पताओं, कुंजों, निकुंजों को रञ्जित देखकर नन्दनन्दन का हृदय बाँसों उछलने लगा। प्राची दिशि की लालिमा के झीने अञ्चल से शशि को झाँकते देखकर श्यामसुन्दर के हृदय में अपनी प्यारी सहचरी कमला के मुख की स्मृति जागृति हो उठी। उस स्मृति ने अनन्त सुख चन्दों के चलचित्र सम्मुख उपस्थित कर दिये। व्रजवल्लभ अधीर हो उठे,

उन्होंने रास के योग्य वेष बनाया। पञ्चरंगा जामा पहिनकर उस पर पीले रंग का पटुका कसा। एक पीताम्बर कण्ठ में डाला। पाग के ऊपर मोरमुकुट पहिना और उसके ऊपर चटकना चीरा बाँधा। इस प्रकार सज बजकर हाथ में मुरली लेकर वे संकेत स्थान की ओर चले। प्रकृति देवी ने सम्पूर्ण शृंगार किया था। अभिसारिका के समान वह सजी-धजी प्यारे की प्रतीक्षा में खड़ी थी। वृन्दावन की वनश्री भी आज प्रसन्नता से फूल रही थी, उसका भी शरीर रोमांचित हो रहा था, वृन्दावन के तरुओं पर निवास करने वाले पशु-पक्षी आज सोये नहीं थे, किन्तु उन्होंने कलरव करना बन्द कर दिया था। वन्य पशु भी स्तब्ध हुए अपने-अपने बिलों में चुपचाप बैठे थे। आज सभी शान्त चित्त से हँस रहे थे। भूमिदेवी ने अपनी विषमता त्याग दी थी, वह सीधी और सम हो गयी थी। पवनदेव ने स्वयं आकर झाड़ू लगा दी थी, एक भी कंकड़ी वहाँ नहीं रह गयी थी। शारदीय हिमकणों ने आकर वहाँ छिड़काव कर दिया था। प्रकृति देवी ने शाद्वल का हरा सुन्दर गुद्गुदा विस्तृत गलीचा बिछा दिया। आकाश ने रासस्थली पर नील रंग का वितान तान दिया। चन्द्र हाथ में आलोक लेकर खड़े हो गये। पवन चँवर लेकर खड़े हो गये। जब रंगस्थली की सम्पूर्ण सजावट हो गयी। जब लीला के समस्त संभार समुपस्थित हो गये, तब सर्वप्रथम श्यामसुन्दर ने एकाकी ही प्रवेश किया।

इतनी विस्तृत रंगभूमि उसमें अकेले ठंठनपाल मदनगुपाल शोभित न हुए। अकेले—केवल अद्वैत—वहाँ बैठे-बैठे क्या करते। तब उन्हें नादब्रह्म प्रवाहिनी रसवर्षायनी अपनी बाँसुरी की स्मृति आयी। स्मृति आते ही उन्होंने उसका आदर किया। नाभि के समीप जो फेंट में खुरसी हुई थी, उसे हृदय, कण्ठ और ओठों से लगाया। चूमकर उसे प्यार किया।

शैया पर उसे सुलाया। अत्यन्त कोमल गुदगुदे रसीले रँगीले अधरों के उप वर्हण (तकिये) लगाकर उसे सुखपूर्वक सुलाया, पुनः श्यामसुन्दर अपनी मुखकमल की दिव्य गन्धयुक्त फूँक उसके मुख में भरने लगे। मानों उसे प्रणय का पाठ पढ़ाने लगे। स्वयं जिस काम को करने में असमर्थ थे उसे मुरली द्वारा करवाने लगे। जब किसी से कोई काम कराना होता है, तो उसका अत्यधिक आदर किया जाता है, उसके प्रति आवश्यकता से अधिक आत्मीयता बरती जाती है। इसीलिये श्यामसुन्दर ने उस काठ की पोली सूखी बाँसुरी का इतना अधिक स्वागत सत्कार किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वह मुरली क्या थी, विषभरी पिटारी थी, उन्माद प्रवाहिनी सरिता थी, विश्व को अपनी ओर आकर्षित करने वाली अचूक ओषधि की पुड़िया थी। जिनके कर्णों में भी इसकी ध्वनि पड़ गयी, वे सब कुछ भूल गयीं। अपनी तान रूपी सुधामधुरिमा को वर्षाकर वह सभी के संतप्त हृदयों को शीतल करने वाली थी। ध्यान धारणा में निमग्न योगिजनों के ध्यान को भी बलात् अपनी ओर आकर्षित करने वाली उसकी स्वर लहरियाँ थीं, एक से अनेक बनने की अभिलाषा से, रास विलास सुखास्वादन की इच्छा से, कंदर्प के दर्प को दलन करने की कामना से श्यामसुन्दर ने उसके मुख में फूँक मारी। प्रिय के मुख में फूँक मारने में एक अनिर्वचनीय सुख होता है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने कन्दर्प के दर्प को दलन करने का विचार क्यों किया? इन्द्र ने तो सांवर्तक मेघों की वर्षा करने की आज्ञा देकर धृष्टता की थी। इसलिये दामोदर ने उसके दर्प को दूर किया। कामदेव ने ऐसी कौन-सी धृष्टता की थी, जिसके लिये भगवान् ने यह सब लीला की?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! बात यह थी, कि इस काम को ब्रह्माजी ने उत्पन्न किया। उत्पन्न होते ही इसने ब्रह्माजी को भी अपने वश में कर लिया। वे भी इस काम के अधीन हो गये। इसने ऋषि, मुनि, देवता, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य तथा पशु, पक्षी, कीट-पतङ्ग सभी को अपने अधीन कर लिया। बड़े-बड़े वीतरागी त्यागी तपस्वी भी इससे पार न पा सके। वे और सभी बन्धनों से मुक्त होकर तो वन को चले जाते, किन्तु इससे वे भी हार मान जाते। शंकरजी को भी इसने बड़ा नाच नचाया। बाल ब्रह्मचारी नारद बाबा को भी चक्कर में फंसाया। शिवजी ने इसके पुत्र क्रोध की सहायता से इसे भस्म कर दिया। किन्तु जब इसकी बहू बहुत रोई पीटी तो भोले बाबा ही ठहरे। दया के वशीभूत हो गये। कह दिया—"तेरा पति अनङ्ग होकर भी सबके हृदय में व्याप्त रहेगा और सभी के मन को मथता रहेगा।" उसी दिन से इसका नाम अनंग और मन्मथ हो गया। अब इसका बल और भी बढ़ गया। पहिले तो शरीर वाला था। आता हुआ दिखाई देता था। अब तो इसका सूक्ष्म शरीर है। कब मन में घुस आता है, पता नहीं चलता। पता तब चलता है जब मन खो जाता है। बड़े से बड़े योगियों को इसने चारों कोने चित्त करके पछाड़ दिया। इससे युद्ध करके आज तक कोई जीता नहीं। एक बद्री नारायण निवासी 'नारायण' मुनि को छोड़कर।

इस कामदेव ने देखा श्रीकृष्ण का तो बड़ा भारी प्रभाव है, मैंने अपने बाप ब्रह्मा को भी अपने अधीन कर लिया है, वे ब्रह्मा जी भी इन श्रीकृष्ण की सूत मागधबन्दियों की भाँति स्तुति करते हैं, इन श्रीकृष्ण को भी जीतना चाहिये।" यही सोचकर वह अपने ईख के दंड और फूलों के बाणों को लेकर सज-बजकर

एकांत में श्रीकृष्ण के समीप आया। भगवान् को न प्रणाम किया न नमस्कार, सामने खड़ा हो गया।

भगवान ने पूछा—"कौन है रे तू ?"

अनंग बोला—"मेरा नाम काम है।"

भगवान् ने कहा—"अरे, सारे ! काम है तो क्या किसी के ऊपर चढ़ेगा ? हट, एक ओर। मेरे सामने लठ्ठ-सा क्यों खड़ा है ?"

काम ने कहा—"महाराज ! मैं आपसे लड़ूँगा।"

भगवान् ने कहा—"तू अपना काम देख, बिना बात मुझसे क्यों उलझना चाहता है। इतना बड़ा संसार पड़ा है, चाहे जिससे युद्ध कर।"

उसने कहा—"महाराज ! मैंने सम्पूर्ण संसार को तो जीत लिया। बस, आप ही शेष रहे हैं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, यह बता तू कैसे लड़ता है ?"

काम ने कहा—"मेरा एक मन्त्री है संकल्प। पहिले मैं स्त्री पुरुष दोनों के मन में उसे प्रवेश करा देता हूँ। जहाँ मन में उसने प्रवेश किया, कि मैं तुरन्त जाकर स्त्री पुरुषों के मन को मथ देता हूँ। उस समय कैसी भी प्रतिज्ञा करो, कितना भी रोओ झींको सब व्यर्थ हो जाता है। यदि उस समय पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष मिल जाय तो मैं प्रकट होकर दोनों को पराजित कर देता हूँ। इसी रीति से सबको मैंने पराजित कर दिया है।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, हम तेरी चुनौती को स्वीकार करते हैं। एक नहीं हम सहस्रों स्त्रियों के साथ रमण करेंगे। आना तू अपनी पूरी सेना लेकर। हम भी अपनी समस्त सेना के साथ आवेंगे और खुलकर विस्तृत रणक्षेत्र में हमारा तेरा युद्ध होगा। यदि तैंने हमें जीत लिया, तब तो हम तेरे अधीन

हो ही जायँगे, यदि मैंने तुझे जीत लिया, तो सारे तुझे बेटा बना-कर छोड़ूँगा।"

उसने कहा—"अच्छी बात है, शरद की पूर्णिमा के दिन हमारा आपका युद्ध होगा। आप भी अपनी रमणियों के साथ वृन्दावन यमुना पुलिन पर रहना। मैं भी मलयानिल, वसन्त, रति तथा संगीत आदि के सहित उपस्थित हूँगा।" यह कहकर कामदेव चला गया।

आज शरद्पूर्णिमा ही थी, दोनों ही सज बजकर युद्ध के लिये आये। रङ्गस्थली प्रकृति ने स्वयं सजायी थी। श्यामसुन्दर ललित त्रिभंग गति से कदम्ब के नीचे वंशी लेकर खड़े हो गये। उन्होंने उसमें फूँक मारी। मारते ही गये, मारते ही गये, उसे अपनी त्रिभुवन मोहनी फूँक से भरते ही गये भरते ही गये। वह रव विश्वमोहन होकर व्रज सुन्दरियों के मन को हरने वाला नाद बनकर-व्रजमण्डल में बिखर गया। उन गोपांगनाओं के कर्ण कुहरों में व्याप्त हो गया। जैसे मादक वस्तु पान करते समय तो कुछ प्रतीत होती नहीं, पान करने के अनन्तर उसका प्रभाव प्रतीत होता है, उसी प्रकार उन गोपिकाओं को वह विश्वमोहिनी वंशी का मधुर गान प्रथम तो बड़ा ही सुखद प्रतीत हुआ, किन्तु कुछ काल में वह उस शब्द को सुनते-सुनते आत्मविस्मृत सी बन गयीं। उनके मन में अतीत काल की अनन्तस्मृतियाँ जागृत हो उठीं। वे उस शब्द के स्रोत के समीप जाने को व्याकुल हो उठीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्यामसुन्दर ने जिस संकल्प से मुरली बजायी थी, जिन्हें मोहित करने के संकल्प से वह मोहिनी मन्त्र फूँका था, वे सबकी सब व्रजांगनाएँ उस शब्द को सुनकर मोहित हो गयीं। मन्त्र ने अपना प्रभाव तत्क्षण दिखाया।"

छप्पय

है त्रिभंग मनहरन फैंटतैं वेनु निकारी।
कर कमलनितें परसि प्रेमतैं पौंछि सम्हारी॥
पुनि अधरनिपै धरी करी कछु तिरछी प्यारी।
दाबे उंगलिनि छिद्र फूँक पुनि मुखमहँ मारी॥
स्वरलहरी प्रकटित भई, विश्व निखिल रव भरि गयो।
मधुर गान काननि परयो, युवतिनि चित चञ्चल भयो॥

कृष्णान्तिक अभिगमन

[९६२]

निशम्य गीत तदनङ्गवर्धनम्
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

मनमोहन महँ प्रथम चित्त आसक्त सबनिको ।
करत प्रतीक्षा परयो श्रवन रव वंशी धुनिको ॥
ज्यों जलनिधितैं मिलन जाहि द्रुतगतितैं सरिता ।
अकबकाइ सब चली श्याम ढिंग त्यों व्रजबनिता ॥
तन, मन, घर, परिवार की, सुरति त्यागि सब चलि दई ।
काम काज बिसरे सकल, मन्त्रमुग्ध-सी बनि गई ॥

प्रेम में पग-पग पर गोपन होता है। प्रेम का गोपन असत्य नहीं। प्रेम में भावगोपन तो एक स्वाभाविक प्राचीन परिपाटी

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिनका चित्त श्रीकृष्ण में आसक्त हो रहा है ऐसी गोपिकाएँ उस कामोद्दीपक वेणुगीत को सुनते ही, एक दूसरी से अपनी चेष्टा को छिपाती हुई अपने प्यारे के निकट आयीं। अत्यन्त वेग के कारण चलते समय उनके कानों के कमनीय कुण्डल झोटा खा रहे थे।"

है। जैसे ऊँट पर चढ़ा हुआ आदमी बार बार मटकता है, तो वहाँ वह बनता नहीं। ऊँट पर जो चढ़ेगा वही मटकेगा। भाव गोपन से प्रेम का स्वाद और बढ़ता है। कोई हमारे भाव को न जानने पावे। यद्यपि प्रेम और कस्तूरी छिपाये से छिपते नहीं, फिर भी लोग इन्हें यत्नपूर्वक छिपाने की ही चेष्टा करते हैं। इससे उनका महत्व बढ़ता ही है, घटता नहीं। दूसरे चाहे कोई न भी समझें, किन्तु जो एक ही पथ के पथिक हैं, वे तो समझ ही जाते हैं। उनसे भी छिपाव करना पड़ता है। सर्प के सदृश कैसी इस प्रेम की कुटिल गति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण की अति मधुर वंशी की ध्वनि को सुनकर व्रज की वे गूजरी सूतरी में बँधी कबूतरी की भाँति खिंची हुई भगवान् के समीप चल दीं। क्यों चल दीं जी? चल इसलिये दीं, कि कृष्ण ने उनका सर्वस्व हरण कर लिया था। 'कृष्ण तो वन में बैठे थे वहाँ बैठे-ही-बैठे उन्होंने सर्वस्व कैसे हर लिया जी?' अजी, महाराज! राजा लड़ने थोड़े ही जाता है, लड़ने तो उसके सैनिक ही जाते हैं। सैनिक जिस देश को जीत लेते हैं वह राजा का ही जीता हुआ देश कहलाता है। इसी प्रकार चोर डाकुओं के सरदार अपने अन्य चोरों को लूटने भेजते हैं। लूटकर वे सब धन अपने अधिनायक को लाकर देते हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण महाचोर हैं, चोरों के शिरोमणि हैं। उन्होंने चोरी में चतुर वंशी की ध्वनि को व्रजांगनाओं के समीप भेजा। संयोग की बात कि उन गोपिकाओं के कर्ण-कपाट उस काल खुले पड़े थे, वे अभी सोई नहीं थीं। चुपके से वंशी धुनि उनके कानों के द्वार से मनमन्दिर में प्रवेश कर गयी। वहाँ सबसे गुप्त पिटारी में धृति, स्मृति, विवेक, लोक-लाज, भाति और मति ये बहुमूल्य रत्न रखे हुए थे। सबसे प्रथम तो उसने उन रत्नों को उनके मनमन्दिर से हर लिया और लेकर

भागकर उन सबको श्रीकृष्ण के समीप पहुँचा दिया। "घर में धन था। स्त्रियों के बहुमूल्य आभूषण थे, ये सब वस्तुयें वेणु-नाद ने क्यों नहीं चुराईं जी ?" अजी, जब चोर को बहुमूल्य वस्तुएँ मिल जाती हैं, तो अल्पमूल्य की वस्तुओं से वह हाथ नहीं लगाता। जब उसे सुवर्ण रत्न मिल गये, तो घास फूँस को बाँध-कर व्यर्थ में बोझा क्यों बढ़ावेगा। जब मनमन्दिर में छिपे रत्न मिल गये, तो सोने, चाँदी, के आभूषण में क्या रखा है। यही सोचकर उसने हाथ नहीं लगाया।

गोपिकायें सो तो रही नहीं थीं। सेंद मारकर किसी ने चोरी तो की नहीं। यह तो डाका था। आँखों के सामने सर्वस्व लूट-कर चोर भागा था। चोर भी दश-बीस नहीं थे। अकेला चोर था, उनका साहस बढ़ा वे उसके पीछे भागीं। वे जानती थीं, इसको भेजने वाला कोई महाचोर यमुना तट पर अकेला बैठा है। यह चोर हमारा सर्वस्व हर कर उसे ही देगा। हम उससे प्रार्थना करेंगीं, तो सम्भव है, वह हमारे रत्नों को लौटा दे। यही सब सोचकर उस चोर के पदों का अनुसरण करती हुईं वे उसी ओर भागीं। जाते समय व्यग्रता में उनके कानों के कुण्डल हिल रहे थे। वे एक दूसरी को बता भी न सकीं, जो जहाँ बैठी थीं वहीं से ज्यों-की-त्यों उठकर चल दीं। एक तो व्यग्रता से जाने का भाव यह हो सकता है।

कुछ लोगों का कहना है, चोरी की बात नहीं थी। वेणु ने प्रलय करने का विचार कर लिया। कहावत है, जो अपने वंश का नहीं होता वह किसी का भी नहीं होता। वंशी जिन बाँसों से उत्पन्न हुई है, वे बाँस परस्पर रगड़कर अपने वंश को ही जला-कर भस्म कर देते हैं। वंश परम्परागत कुछ गुण तो वंशी में आने ही चाहिये। इसीलिये श्याम के मुख की वायु से प्रज्वलित होकर यह अग्नि गोपिकाओं के कानों द्वारा उनके हृदय में

पहुँची। वायु से ही तो अग्नि उत्पन्न होती है। उस अग्नि ने गोपिकाओं के हृदयों को दग्ध करना आरम्भ कर दिया। वे व्याकुल बन गयीं। अग्नि के जले को घन ही शान्त कर सकता है, अतः शान्ति की अभिलाषा से वे घनश्याम के समीप दौड़ीं।

किसी का कहना है। यह कामदेव बड़ा क्रूर है। इसकी क्रूरता से ही क्रोधित होकर कैलाशवासी कपर्दी ने इसे जला दिया। पत्नी के प्रयत्न से यह पापी पुनः जीवित हो उठा। शिव जी का तो यह कुछ बिगाड़ ही नहीं सकता था। किन्तु जिन जीव रूप पशुओं के वे पति हैं, उन पशुपति की प्रजा हम पुरुष स्त्रियों के हृदय में प्रवेश करके इसने उन्हें जलाने का निश्चय किया। यह कामदेव भी अनंग है और वेणु का जो शब्द है उसके भी अंग नहीं। दोनों की साँठ-गाँठ हो गयी। इस काम ने व्रज युवतियों के हृदय में चुपके-से प्रवेश किया। अब तक वह ऐसे छिपा जैसे मांस के भीतर फोड़ा रहता है। जब वह सूजकर ऊपर उठ जाता है, तब उसमें असह्य पीड़ा होती है। गुप्त चिनगारी रूप में जब अनंग हृदय में छिप गया, तब वेणुनाद रूपी वायु ने आकर उसे प्रदीप्त कर दिया। गोपियों का हृदय जलने लगा। स्त्रियों के हृदय में कामाग्नि प्रज्वलित हो जाय, तो उसे पुरुष ही शान्त करने में समर्थ है। पुरुष एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं। जीव जितने हैं वे प्रकृति होने से स्त्री लिंगवाची हैं, इसलिये जीवों के हृद्रोग को श्रीकृष्ण ही शान्त कर सकते हैं। वे मन्मथ के भी मन को मथन करने वाले हैं। कोटि कंदर्पों के दर्प को भी दलन करने वाले हैं। इसी आशा से कामाग्नि से व्याकुल होकर गोपिकायें श्रीकृष्ण की ओर दौड़ीं। उन्होंने एक दूसरी को अपने मन का अभिप्राय बताया नहीं।

"जब उनमें परस्पर इतना प्रेम था, फिर एक दूसरी ने अपने मन की बात अपनी सखी सहेलियों को बतायी क्यों नहीं जी ?"

अब इस बात को हम क्या जानें। उनके मन की बात को वे जान सकती हैं या मदनमोहन जान सकते हैं। अपने लोग तो अपनी अल्पमति से अनुमान ही लगा सकते हैं। एक तो यह कारण हो सकता है, कि मोहन की मुरली की धुनि ने उनके चित्त को ऐसा व्याकुल बना दिया था, कि वे किसी को जताना बताना भूल ही गयीं। जो जैसी बैठी थी, वह तैसी की तैसी ही उस ध्वनि का अनुसरण करती हुई उसी ओर दौड़ पड़ी अथवा प्रेम में यह होता है,प्रथम मैं ही अपने प्रियतम का प्रेमप्रसाद प्राप्त कर सकूँ, इस उत्कण्ठा से किसी को बिना बताये, सर्वप्रथम समीप पहुँचने के संकल्प से सब चल दीं। अथवा चलने में उनका चित्त इतना तन्मय हो गया, कि उन्हें इतनी सामर्थ्य ही न रही कि किसी को बता सकें। प्रेम में वाणी रुद्ध हो गयी पैरों की गति रुक गयी। पैर बिना प्रयत्न के अपने आप उसी ओर चल दिये। वे प्रयत्न करने पर भी इधर-उधर मुड़ने को सहमत न हुए। यन्त्र की भाँति उधर ही अव्याहत गति से दौड़ पड़े। कुछ भी क्यों न हो. वे सबकी सब उस कामोद्दीपक वेणुनाद को सुनकर श्रीकृष्ण की ओर चल दीं। चलते समय उनके कानों के कुण्डल हिल रहे थे झोटा खा रहे थे। "कुण्डल हिल क्यों रहे थे जी ?" वाह जी ! बड़ा विचित्र प्रश्न किया। चलने से कुण्डल हिलेंगे नहीं। वेग से चलो तो कानों के कुण्डल अपने आप हिलेंगे। फिर इसके कहने का प्रयोजन क्या ?" प्रयोजन यह कि श्रीकृष्ण के मिलने की व्यग्रता उन चैतन्यमयी गोपियों को ही नहीं थी, कानों में पड़े जड़ कुण्डल भी उनसे मिलने को व्यग्र थे, लालायित थे, अधीर थे, उत्सुक थे। वे गोपिकाओं के कानों में हिल हिलकर कह रहे थे। 'देखो' तुम तो सुकुमारी हो। तुम्हारा कटिप्रदेश स्थूल है। वक्षःस्थल पर भी दो भार विद्यमान हैं। उदर कृश है इससे तुम शीघ्र चलने में लग जाती हो। नितम्बों के भार से

एड़ियाँ यमुनाजी की बालू में धँस जाती हैं, अतः तुम शीघ्रता से दौड़ नहीं सकतीं। हाँप जाती हो, मुख पर स्वेद बिन्दु झलकने लगते हैं। उन्हें पोंछने में समय लगा देती हो। इसलिये तुम तो न जाने कब पहुँचोगी। हमें अपने कानों में से छोड़ दो। हम दौड़कर श्रीकृष्ण के समीप शीघ्र पहुँच जायँ। उनके चरणों में जाकर लोट जायँ।" किन्तु गोपिकायें तो आत्मविस्मृत बनी हुई थीं, उनका ध्यान तो कुण्डलों की ओर था ही नहीं। वे उनकी बात सुनती ही नहीं थीं। कुण्डल क्रुद्ध हो रहे थे और बार-बार हिल-हिलकर अपनी व्यग्रता प्रकट कर रहे थे। इससे प्रतीत होता है जड़ चेतन सभी श्रीकृष्ण से मिलने को अधीर हैं, व्यग्र हैं, किन्तु उन्हें विशुद्ध पन्था नहीं मिलती। वे कँटीले मार्ग की ओर चल पड़ते हैं, उसमें जाने से वे न तो आगे बढ़ सकते हैं न श्रीकृष्ण के समीप ही पहुँच सकते हैं। एक काँटा लगा, उसे निकालने में कुछ समय लगा, काँटा निकालने से कुछ सुख हुआ, तब तक दूसरा काँटा गड़ गया। उनका समस्त समय काँटे निकालने में ही बीतता है। इस आशा से वे एक के पश्चात् दूसरे काँटे को निकालते हैं कि अब सुख मिलेगा, अब सुख मिलेगा किन्तु सुख मिलता नहीं। दुःख निवृत्ति का सतत प्रयत्न करते हैं, किन्तु आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होती नहीं। यदि कुण्डलों की भाँति किसी भावमयी गोपी के चरण चिन्हों का अनुसरण करके उस ओर बढ़े, तो अवश्य ही श्रीकृष्ण के समीप पहुँच सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् की मुरली-ध्वनि को सुनकर अत्यन्त व्यग्रता के साथ घर में सभी कामकाज छोड़कर गोपिकायें शरद की रात्रि के समय वन में श्रीकृष्ण के समीप चलीं।"

छप्पय

दूध दुह्यो को दुह्यो गाय के नीचे पटक्यो।
रही पालनो खोलि तज्यो ज्यों को त्यों लटक्यो॥
दही मथत ही छोड़ि चलीं माखन न निकारयो।
छोड़ चूल्हि पै दूध चलीं नीचे न उतारयो॥
पति भोजन तजि चली इक, प्रेम चटपटी हियलगी।
हलुआ घोटति रही इक, छोड़ि कढ़ाई मह भगी॥

गमनौत्सुक्य

[९६३]

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

कछुक अङ्क बैठाइ पूतकूं दूध पियावैं।
कछुक प्रानपति हेतु फूल की सेज बिछावैं॥
कछु भोजन करवाइ सबनिके बासन माँजैं।
कछु उबटन करि न्हाइ नेत्रमहँ अंजन आँजैं॥
कछु कुंकुम चन्दन घिसति, कछु तन माहिं लगावतीं।
कछुक केश काढ़ति रहीं, कछु बेंदी चिपकावतीं॥

कोई हमसे किसी के लिये कहता है, तो हम पर सीधा सादा उत्तर है 'हमें समय नहीं है, किन्हीं के पत्र पर पत्र आते हैं, हम उत्तर नहीं देते। जब वह बहुत विवश करता है, तो हम दो शब्द लिख देते हैं। 'दुःख है समयाभाव से उत्तर न दे सका,

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कोई गोपी तो दूध दुह रहीं थीं, वे अत्यन्त उत्सुकता वश दूध दुहना छोड़कर चल दीं। कोई-कोई उबलते हुए दूध को छोड़कर चल दीं और कोई अधबने मोहनभोग को चूल्हे पर ही छोड़कर चल दीं।"

क्षमा करें।" अब आप सोचें समयाभाव का अर्थ क्या ? क्या आप कागद लेखनी लेकर लिखते नहीं ? हाँ लिखते हैं, दिन भर लिखते हैं, तो फिर एक छोटी-सी पत्री लिखने को तुम्हें समय क्यों नहीं ? इसलिये कि उसका उत्तर देना हम आवश्यक नहीं समझते। किसी से कुछ प्राप्ति का डौल डाल हो तो सब काम छोड़कर हम उसे प्रेमपूर्वक पत्र लिखेंगे। संसार में प्रेम ही आवश्यक वस्तु है, जिसमें भी हमारा अधिक प्रेम होगा, उसके लिये हम सब कुछ छोड़ देंगे। जिन्हें कीर्ति से प्रेम है, वे कीर्ति के लिये प्राणों का भी बलिदान दे देते हैं। व्यापारी व्यापार के लिये सब कामों को छोड़ देता है। यदि कोई अपने ऊपर राज-अभियोग हो तो उसे अत्यावश्यक समझकर व्यापार की हानि को भी स्वीकार कर लेते हैं। यदि अपने प्राणों से प्यारी पत्नी को, अत्यन्त प्यारे पुत्र को कोई असाध्य रोग हो रहा है, तो धन की ममता नहीं की जाती। इसलिये कि उससे हमें अत्यन्त अनुराग है। घरवाली स्त्रियों को घर के कामों में अत्यन्त अनुराग होता है, किन्तु कोई अत्यन्त प्यारी सहेली आ जाती है, तो उनको भी वे छोड़ देती हैं। प्रेम में नेम रहता ही नहीं। संसारी वस्तुओं में, संसारी लोगों में प्रेम तभी तक होता है, जब तक श्रीकृष्ण में प्रेम नहीं होता। जहाँ श्रीकृष्ण प्रेम की तनिक-सी भी झाँकी दिखाई दे गयी, तहाँ ये सभी सम्बन्ध फीके-फीके दिखाई देंगे। फिर ये विष के समान, शरीर से पृथक हुए मलमूत्र के समान, वमन किये हुए अन्न के समान, फोड़े में से निकले हुए मवाद ये समान, कटे हुए नख, केश और दाँतों के समान, कंठ से निकले श्लेष्मा के समान, तथा कान से निकले मैल के समान घृणास्पद और त्याज्य दिखाई देंगे। फिर कोई कितना भी आग्रह करे, कितना भी प्रलोभन दे, उनमें उसकी आसक्ति न होगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अपने गृह कार्यों में लगी हुयी

गोपियों ने शरद रात्रि की पूर्णिमा के दिन सहसा मुरली की मधुर ध्वनि सुनी, सुनते ही वे प्रेम में विह्वल हो गयीं। इतने दिनों से जिस समय की प्रतीक्षा कर रही थीं, वह समय सन्निकट आ गया है। श्रीकृष्ण हमें आह्वान कर रहे हैं। क्रीड़ा के लिये पुकार रहे हैं। अहा! आज चिर प्रतीक्षा के अनन्तर प्रिय मिलन का अनुपम सुख प्राप्त होगा। इसकी स्मृति मात्रा से ही उनके रोमाञ्च हो उठे। वे समस्त सुधि बुधि भूल गयीं। जिस काम को कर रहीं थीं। वह ज्यों का त्यों ही रह गया। बहुत-सी गौशाला में गौओं को दुहने को उद्यत थीं। उन्होंने बछड़ों को छोड़ दिया था, गोएँ पुहना गयी थीं। बछड़े को बाँधकर दूध दुहने ही वाली थीं, कि उसी समय मुरली की धुनि सुनाई दीं। तुरन्त बछड़े को बिना बाँधे ही वहीं दुहनी छोड़कर चल दी। बहुत-सी आधा दूध दुह चुकी थीं, वे मुरली की तान सुनकर दुहनी और दूध को वहीं छोड़कर श्रीकृष्ण की ओर चल दीं। बहुतों ने दूध दुह लिया था, उन्होंने उसे वहीं छोड़ दिया। बहुत-सी घर ले जाकर बरोसी में कंडे सुलगाकर गरम करने रख रही थीं, वे बिना अँगीठी पर रखे ही वेणु गीत सुनकर चल दीं। बहुतों का दूध उफन रहा था, वे उसे उफनता हुआ ही छोड़कर चल दीं। बहुत सी मोहनभोग बना रही थीं शक्कर को गरम जल में घोलकर उसे छान लिया था, आटे को घी में भून रही थीं, उसी समय कानों में वंशी ध्वनि पड़ गयी। आटा चूल्हे का चूल्हे पर ही है, सीरा कोयलों पर रखा है, सबको जहाँ का तहाँ छोड़कर झटपट उस ध्वनि का अनुसरण करती हुई उधर की ही ओर चल दीं। बहुत-सी घूँघट मारकर रोटी बनाती जाती थीं और गरम-गरम वहीं से पतियों देवरों को थालियों में फेंकती जाती थीं। सब लोग रसोई जीम रहे थे, कि उन्मादकारिणी वंशी बज उठी सब गुड़ गोबर हो गया। वे कठौती की लोई को कठौती में ही छोड़-

कर, तवे की रोटी को तवे पर और घई की रोटी को घई में ही जलती छोड़कर ज्यों की त्यों उठकर चल दीं।

कोई अपने आत्मजों को—छोटे-छोटे बालकों को—गोदी में लिटाकर अपने आंचल का दूध पिला रही थीं, कोई अपने छोटे-छोटे भाई, बहिन तथा भतीजे आदि को गौ के औटे दूध में मिश्री मिलाकर चमचे से उसे पिला रही थीं, उन्होंने ज्यों ही वंशी की ध्वनि सुनी तुरन्त सबको ज्यों का त्यों छोड़कर श्रीकृष्ण के समीप यमुना तट की ओर चल दीं। कोई-कोई शैया पर शयन करते हुए अपने स्वामी की श्रद्धा सहित सेवा कर रही थीं, उनके चरणों को दबा रही थीं, सिर में घृत तैल लगा रही थीं, वे भी मन्त्र मुग्ध-सी बनी ज्यों की त्यों घृत तैल लगे हुए हाथों से ही उठकर चल दीं।

कोई-कोई अपने सास, ससुर, देवर, जेठ, भृत्य नौकर-चाकर सबको भोजन कराके स्वयं पति की थाली में बैठकर प्रसाद पा रही थी, प्रसाद पाते-पाते ही उनके कर्ण कुहरों में बावरी बना देने वाली वंशी की मोहिनी तान ने प्रवेश किया। फिर क्या था, हाथ का ग्रास हाथ में ही रह गया। मुख का मुख में ही बना रहा। वे बिना उसे निगले, बिना कुल्ला आचमन किये जैसी की तैसी ही उठ धायीं और श्रीकृष्ण के समीप आयीं।

कोई उबटन लगा रही थीं। "रात्रि में उबटन लगाने का क्या काम जी ? उबटन लगाकर तो स्नान करना पड़ता है, रात्रि में स्नान करने से तो कष्ट होगा ?" अपने प्रियतम को रिझाने के लिये सब कुछ करना होता है। देह अपने लिये नहीं सजाई जाती है, इसे देखकर प्रेष्ठ प्रसन्न होगा, सुखी होगा यही भावना रहती है। उबटन लगाकर उष्ण जल से बन्द स्थान में स्नान करने से शरद ऋतु में सुख ही होता है। वे सायंकाल में

में उबटन लगाकर शृंगार करती थीं। स्नान करके अपने वक्षःस्थल पर तथा अन्य अंगों में केशर कस्तूरी युक्त सुगन्धित चन्दन का, अंगराग का लेप करती थीं। लेप के लिये कोई चन्दन घिस रही थीं, वे चन्दन को आधा ही घिसा छोड़कर चल दीं। कोई अंगराग लगा रही थीं, शरीर में केशर की कीच का लेप कर रही थीं। आधे अंग पर कर चुकी थीं आधे पर करना शेष था, वे उसे बीच में ही छोड़कर चल दीं। कोई शरीर को स्वच्छ करके वस्त्रों को पहिन रही थीं। मुरली की धुनि सुनते ही उनकी मति मारी गयी, वे बावरी-सी बन गयीं। ओढ़नी लँहगा की भाँति कमर में लपेट ली। लँहगा को ओढ़नी के स्थान में ओढ़ लिया। कंचुकी को कण्ठ में लटका लिया। कुच पट्टिका को उदर से ही बाँध लिया, इस प्रकार अस्त-व्यस्त भाव से वे उन्मादिनी की भाँति भगवान् के समीप चलीं। कोई आभूषण पहिन रही थीं, उसने कहीं के कहीं आभूषण पहिन लिये। मुंदरी को पैरों में पहिन लिया। बिछुओं को हाथ की उँगलियों में उरस लिया। कड़े-छड़े पाइजेबों को हाथों में पहिन लिया। बंगली, बाजूबन्द, पहुँची और कंकणों को पैरों में पहिन लिया। कटि की कर्धनी को कण्ठ में डाल लिया हार को कर्धनी के स्थान में कटि में पहिन लिया। इस प्रकार कहीं के कहीं अस्त व्यस्त भाव से वे भावावेश में आभूषण पहिनकर निड़ी पागलों की भाँति उठ धाईं।

कोई बेंदी लगा रही थीं, कोई आँखों में अञ्जन आँज रही थीं, कोई माँग में सिन्दूर भर रही थीं, कोई मुखपर पत्रावली की रचना कर रहीं थीं, कोई कुंकुम का तिलक दे रही थीं, कोई डिबिया में से निकालकर पान खा रही थीं, कोई दर्पण में मुख देखकर अपने मुख के मुहासों को ठीक कर रही थीं, कोई नखों को रँग रही थीं, कोई महावर लगा रही थीं, कोई मेंहदी लगा

रही थीं। कोई रोओं को विशुद्ध बना रही थीं, कोई दाँतों में मिस्सी लगा रही थीं, कोई दाँतों से चोंपों को निकालकर उसे रगड़-रगड़ कर चमकीली बना रही थीं। कोई मैली चूड़ियों को निकालकर चमकीली चूड़ियाँ पहिन रही थीं, सारांश यह कि घर गृहस्थी के सगे सम्बन्धियों के, अपने शरीर सजाने तथा पुष्ट करने के जितने भी काम होते हैं, उनमें से जो जिस काम में लगी थी, वह उस काम को वैसा ही अधूरा छोड़कर भगवान् की बाँसुरी की ध्वनि का अनुगमन करने लगी। सब कुछ छोड़कर घर से निकल पड़ी।

उन सबको अकी-सी, जकी-सी, भूली-सी, भटकी-सी, पगली-सी, सिड़ी-सी, मन्त्रमुग्ध-सी बिना विचारे वन की ओर जाते देखकर उनके पतियों ने, पिताओं ने, भ्राताओं ने, बन्धु-बान्धवों स्वजनों तथा परिवार वालों ने बहुत रोका, बहुत मना किया, किन्तु उन्होंने किसी की एक नहीं सुनी। सबकी बातों को अनसुनी करके बिना कुछ उत्तर दिये चल ही तो दीं। उन्हें प्रयत्न करके भी कोई रोक न सका। मरते को और जाते को कौन रोक सकता है। जो प्राणों का पण लगाकर सर्वस्व का मोह त्यागकर जाने को तत्पर है, उसे बलपूर्वक बाँधकर कोई कब तक रख सकता है। जिसने प्राणों को हथेली पर रख लिया है, उसे फिर भय किसका हो सकता है। उनका चित्त तो चितचोर ने चुरा लिया था। जो सबका कर्षण करनेवाला है जो सबको बलात अपनी ओर खींचता है, वह कृष्ण जिसे वरण करना चाहे, वह जिसे अपनी ओर बुलाना चाहे, तो ऐसा कौन प्राणी होगा जो विवश होकर उनकी ओर खिंचा हुआ न चला जायगा। सबको विवश होकर उधर जाना ही होगा। गोपिकायें आत्मविस्मृत बनीं उनकी ओर बढ़ रही थीं। वे रुकीं नहीं, लौटी नहीं, थकी नहीं, चलती ही गयीं, चलती ही गयीं और

चलते-चलते अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गयीं। श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में समुपस्थित हुईं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे सब एक साथ ही साथ जा रही थीं, किन्तु सभी यह समझती थीं कि मैं अकेली ही जा रही हूँ, मेरे भाव को दूसरी नहीं जानती। एक साथ जाते-जाते भी भावगोपन है। प्रेम की यह कैसी अद्भुत लीला है। बहुत-सी तो चली गयीं, कुछ न जा सकीं, उनकी क्या दशा हुई इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कछु पट पहिनति रहीं कछुक आभूषन धारति।
कछु दर्पनमहँ देखि माँग सिंदूर सम्हारति॥
जो जो कारज करति रहीं त्यागो सो तिनने।
चलीं वेनु सुनि, काज अधूरे छोड़े उनने॥
बरजीं पति पितु बन्धुने, रोकीं बहु परि नहिं रुकीं।
कही बहुत परि ते नहीं, लोकलाज सम्मुख झुकीं॥

—:—

तीव्र ताप का परिणाम

[९६४]

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० २९ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

कछुक रही घर माँहि गमन की करीं तयारी ।
किन्तु चलि नहीं सकीं पिता पति बन्धु निवारी ॥
करिबे हठ जब लगीं दयो बाहरतैं तारो ।
भीतर सोचैं विवश—नाथ ! वश नाहिं हमारो ॥
कृष्ण भावना महँ सकल, तब तन्मय ते ह्वै गईं ।
नयन मूँदि मनहरन के, मग्न ध्यान महँ सब भईं ॥

शरीर परवश है, प्रारब्ध वश है। वह अभिभावकों के अधीन है, किन्तु मन तो अपना है। मन जहाँ फँस जाता है, वहाँ, से उसका निकलना कठिन हो जाता है। ऊपर से वेष किसी का मन से ध्यान किसी का यह तो कुछ अनुचित-सा है, किन्तु करें क्या, कोई बलवान् बलपूर्वक मन को चुरा ले, उससे किसका वश चलता है। जिसकी लाठी उसकी भैंस।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! कुछ गोपिकायें घरों के भीतर थीं, वे बाहर न जा सकीं। अतः वे वहीं श्रीकृष्ण की भावना में युक्त होकर नेत्रों को बन्द करके उनके ध्यान में तन्मय हो गईं।"

श्रीवृन्दावन के चीर घाट पर एक त्रिपुण्ड लगाये रुद्राक्ष की माला पहिने 'नमःशिवाय' छापे का दुपट्टा ओढ़े कोई शैव श्रीमद् भागवत का पाठ कर रहे थे। उस समय कोई भावुक भक्त स्नान के लिये आये। श्रीकृष्ण के ध्यान मग्न वे शैव भक्त बड़े स्वर के साथ पाठ कर रहे थे, श्रीकृष्ण की लीलाओं को पढ़ते समय उनके रोमाञ्च हो रहे थे, नेत्रों से झर-झर आँसू बह रहे थे। यह देखकर वे भावुक वैष्णव चिल्ला उठे—"चलियो चलियो रे, चोरी हो गयी। चोरी हो गयी।" स्नान करने वाले दस-बीस भक्त और भी एकत्रित हो गये। वे पूछने लगे—"भाई! क्या चोरी हो गई? किसने तुम्हारा क्या धन चुरा लिया?"

तब वैष्णव बोले— 'श्रीमद्भागवतं पुराण तिलकं यद् वैष्णवानां धनम्" श्रीमद्भागवत तो वैष्णवों का धन है, इसे यह शैव चुरा रहा है, इसका बड़े प्रेम से रसास्वादन कर रहा है। देखने में तो यह शैव ही मालूम पड़ता है।"

यह सुनकर वे शैव भक्त गद्गद हो उठे और बोले—"बन्धुवर! वास्तव में मैं शैव हूँ, इसमें शंका करने का कोई स्थान ही नहीं। मैं रुद्राक्ष को धारण करता हूँ, त्रिपुण्ड लगाता हूँ, मैंने शिव मंत्र की दीक्षा ली है। पञ्चाक्षरी मंत्र का जप भी करता हूँ। इतना सब होने पर भी किसी गोप के साँवरे-से सुन्दर-से छोरा ने मेरे चित्त को चुरा लिया है। यहाँ वस्त्र चुराये जाते हैं, दूध माखन चुराया जाता है, पाप चुराये जाते हैं तथा मन भी चुराया जाता है। जब किसी महाचोर ने मेरे मन को चुरा लिया है, तो फिर मैं वैष्णवों के धन की चोरी क्यों न करूं? वेष से मैं शैव हूँ किन्तु मन पर तो मेरा अधिकार ही नहीं रहा, उसे तो मदन मोहन ने चुरा लिया है।" कहने का सारांश यह है, कि जब मन कहीं और फँस जाता है और शरीर कहीं किसी दूसरे स्थान पर बन्दी हो जाता है और विरह की अग्नि प्रबल हो जाती है, तब

इस शरीर के बन्धन को छोड़ना ही पड़ता है। स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर से अपने प्यारे के समीप जाने को विवश होना पड़ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सब गोपिकायें घर,द्वार,कुटुम्ब, परिवार की समस्त मोह ममता को छोड़कर श्रीकृष्ण की ओर चल दीं। वे घरवालों के रोकने पर भी नहीं रुकीं, किन्तु कुछ ऐसी भी थीं जो घर के भीतर थीं। वे घर के भीतर तन से तो गृहस्थी के काम कर रही थीं, किन्तु मन मदनमोहन की माधुरी में मतवाला हो रहा था। मन से वे मदनमोहन का ही निरन्तर चिन्तन कर रही थीं। सहसा उनके कर्णकुहरों में मुरली की मधुर तान सुनाई दी। वे समस्त कामों को छोड़कर चलने को उद्यत हुईं।

जो पिता के घर में थीं उनके माता पिता ने, भाई बन्धु ने पूछा—"कहाँ जा रही हो?"

जो ससुराल में थीं उनकी सास ने, ननद ने, पति ने पूछा—"कहाँ की तैयारियाँ हैं?"

उन सबका एक ही उत्तर था। हम इस मुरली-ध्वनि के उद्गमस्थान को खोजने चली हैं। उनके अविभावक कहते—"तुम्हारी मति तो नहीं मारी गयी है। अच्छा, तुम मुरली के उद्गमस्थान को खोज ही लोगी, तो तुम्हें क्या मिल जायगा। मृगतृष्णा के अनुभव करने को जेठ बैशाख की दोपहरी में मरु-भूमि की बालू में भटकती फिरो और मृगतृष्णा को देख लो, तो उससे लाभ ही क्या?"

अब वे इसका उत्तर क्या देतीं? जिसका मन जिसमें रम जाय, उसको वही सब कुछ है। विष का कीड़ा विष को ही खाने में सुख मानता है। चकोर को अग्नि खाने में ही सुख है। सुख तो मन की वस्तु है। मन ने जिसको मान लिया वही सुख है।

मन तो श्यामसुन्दर में रम गया है, हमारे नेत्र तो निरन्तर उनके दर्शनों को लालायित रहते हैं। वे विमुख इस बात को क्या जानें, हम तो उनके समीप जायँगी, अवश्य जायँगी, किसी के रोके न रुकेंगी। उन्होंने अविभावकों के प्रश्न के उत्तर में दृढ़ता के स्वर में इतना ही कहा—"कुछ भी क्यों न हो सब जा रही हैं, हम भी जायँगीं। अवश्य जायँगीं। हम रह नहीं सकतीं।"

जो जिस पर अपना अधिकार समझता है, उसके अपने विरुद्ध उत्तर को सहना नहीं चाहता। वह सदा यही आशा रखता है, मेरा आश्रित मेरे संकेत पर चले, मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण न करे, मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन न करे। आज अपनी बहू बेटियों के ऐसे अधिकार पूर्ण उत्तर को सुनकर वे क्रुद्ध हुए। उनके मन में ईर्ष्या का संचार हुआ। हम इनसे बड़े हैं, संरक्षक हैं, भरण पोषण करने वाले हैं, हमारे सामने ये ऐसा विरुद्ध आचरण करती हैं, और धृष्टता से उत्तर देती हैं। उन्हें क्रोध आ गया। क्रोध में भरकर वे बोले—"तुम जा कैसे सकती हो। सब जाती हैं, जायँ, सब निर्लज्ज हो गयीं हैं, किन्तु हम तुम्हें निर्लज्ज न होने देंगे। बलपूर्वक तुम्हें जाने से रोकेंगे। देखें, तुम कैसे जाती हो। यह कहकर उन्होंने घरों की किवाड़ें लगा दीं, उनमें ताला ठोक दिया। वे घर के भीतर अवरुद्ध हो गयीं। उनका पाँच-भौतिक शरीर एक घर की दीवारों में सीमित हो गया।

इस पर उन्हें मर्मान्तिक दुःख हुआ। हाय! आज ही तो प्रियतम के मिलन का दिवस था। आज ही संयोग सुख का आस्वादन करतीं, आज ही यह विघ्न! फिर सोचा—"शरीर का मिलना तो तुच्छ है। मन से मिले रहना ही सुख है। घर वालों ने हमारे शरीर को ही तो घर में बन्द कर रखा है। मन पर तो मन-मोहन का ही अधिकार है। क्यों न हम मन से ही जाकर उनसे मिलें।" यह सोचकर उन्होंने अपनी उत्कट भावना को भक्तमय

हारी भगवान् नन्दनन्दन के चरणारविन्दों में लगायी। भावना की तीव्रता से वे तन्मय हो गयीं। वे बाह्य प्रपञ्च को सर्वथा भूल गयीं। संसार की ओर से उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। अब उनके सामने एक श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण अवशेष थे। वे उन्हें ध्यान में मग्न हो गयीं। उनका चित्त एकाग्र हो गया। उन्हें भावसमाधि लग गयी। "क्यों जी, भाव समाधि से शुभ और अशुभ जब दोनों प्रकार के कर्मों का नाश हो जाता है, उस समय लगती है। उनके शुभ या अशुभ कर्म कुछ तो होंगे, कुछ पाप न हों, तो शरीर की प्राप्ति ही न हो। शरीर तो शुभ अशुभों के सम्मिश्रण का ही फल है?"

कुछ भोग शेष रहते हैं। भोगों के समाप्त होते ही शरीर भी समाप्त हो जाता है।

यद्यपि उन गोपियों की जिन्हें उनके घर वालों ने रोक रखा था, उनकी नन्दनन्दन में भगवद्बुद्धि नहीं थी। भगवद्बुद्धि होती, तब तो उन्हें रोकने की किसी को सामर्थ्य ही न थी, वे साधन सिद्धा गोपियाँ थीं। साधन करते-करते इस जन्म में श्रीकृष्ण के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। फिर भी उनके शरीर में कुछ प्राकृत अंश अवशिष्ट था। प्राकृत शरीर से तो श्री कृष्ण मिलते नहीं। वे तो दिव्यवपु हैं, साधक को दिव्य बना लेते हैं, तब मिलते हैं। सहस्रों जन्मों के पुण्य प्रभाव से—शुभ कर्मों के अनुष्ठान से—इन्हें श्रीकृष्ण के देव दुर्लभ दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। किन्तु पुण्य पापों के प्रभाव से उन्हें श्रीकृष्ण के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न था। मिश्री का ज्ञान न भी हो और संयोग से उसका जिह्वा से संस्पर्श हो जाय, तो वह मीठी तो लगेगी ही। इसी प्रकार ये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, यह ज्ञान उन्हें न रहा हो, तो भी श्रीकृष्ण परात्पर प्रभु तो हैं ही। वे उनके सौंदर्य माधुर्य पर लट्टू थीं। यद्यपि उनके लौकिक पति थे, उनके अधीन उन्होंने शरीर तो कर दिया था, किन्तु मन को मनमोहन के हाथों बिना मूल्य बेच दिया था। उन्हें ही अपना सच्चा पति मान लिया था। लोक दृष्टि से उसे जारभाव कहते हैं। अपने पति के रहते दूसरे पुरुष से प्रेम करना यही जारभाव है। लोक दृष्टि से उनका श्रीकृष्ण में जारभाव ही था, किन्तु परमात्मा श्रीकृष्ण का संग होने से उनके समस्त शुभ अशुभ कर्म बन्धन टूट गये। बन्धनों के टूटते ही उन्होंने अपना यह पंचभौतिक त्रिगुणमय शरीर त्याग दिया। वे दिव्य देह से परात्पर प्रभु श्रीनन्दनन्दन से जाकर मिल गयीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर विष्णुरात महाराज

परीक्षित् को एक बड़ी शंका हुई। उन्होंने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से हाथ जोड़कर पूछा—"प्रभो! ये व्रजांगनायें तो श्याम-सुन्दर मदनमोहन नन्दनन्दन को परम प्रेष्ठ कान्त ही मानती थीं। उनका चित्त तो उनके सौन्दर्य माधुर्य के ही कारण आकृष्ट था। उनका उनमें ब्रह्मभाव तो था नहीं। बिना ब्रह्मभाव के सुदृढ़ हुए यह संसार बन्धन छूटता नहीं। उनकी बुद्धि में तो संयोग सुख की कामना थी, वे श्रीकृष्ण का पतिभाव से आलिंगन करना चाहती थीं, अर्थात् उनके मन में कामभाव तो था ही। फिर गुण-मयी बुद्धि से युक्त होने पर भी उनका यह गुण प्रवाहरूप संसार कैसे छूट गया? वे किस प्रकार कर्म बन्धनों से मुक्त हो गयीं? उन्हें सुरदुर्लभ परमपद की प्राप्ति कामभाव रहने पर भी कैसे हुई?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव बड़े उल्लास के साथ तन्मय होकर रासलीला का वर्णन कर रहे थे, राजा के इस शुष्क प्रश्न से उनका प्रवाह रुक गया, वे प्रसन्न नहीं हुए। कोई वक्ता धाराप्रवाह से तन्मय होकर किसी विषय को समझा रहे हों और बीच में कुतर्क करके उसे कोई टोक देता है, तो उसकी भाव शृङ्खला टूट जाती है। वह उस प्रश्न का उत्तर तो देता ही है, किन्तु फिर उसके कथन में उतनी तन्मयता नहीं रहती। इस प्रकार भगवान् शुक का भी (जो धाराप्रवाह रूप में व्याख्यान कर रहे थे) धारा रुक गयी। उन्होंने जिस प्रकार राजा की शंका का समाधान किया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय—कृष्णविरह अति दुसह वेदना भई तीव्र जब।
सकल अशुभ मिटि गये भावमहँ मग्न भईं सब॥
भावालिङ्गन करत मिटे शुभ बन्धन टूटे।
त्रिगुण देह तजि दई जगत् के बन्धन छूटे॥
दिव्य देहतैं तुरतई, कृष्ण संग संगम कर्यो।
भवहारी भगवान् ने, भवबन्धन तिनको हर्यो॥

श्रीकृष्ण में कामभाव भी कल्याणप्रद है

[९६५]

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः * ॥

(श्रीभा० १० स्क० ७९ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

कहैं परीक्षित्—प्रभो ! कान्त ते मानत हरिकूँ ।
ब्रह्मभाव नहिँ भयो मिली ज्यौं शुभगति तिनिकूँ ॥
उपटि कहैं शुक—भूप ! भूलि का बात गये तुम ।
भई मुक्ति शिशुपाल बताई बात प्रथम हम ॥
बैरभाव करि तरि गयो, कर्यो कृष्ण महँ प्रेम नहिँ ।
सदा बसत हिय श्यामघन, ते गोपी ज्यौं नहिँ तरहिँ ॥

पात्र और अनुपान के कारण फल भी भिन्न हो जाता है। स्वाति की बूँद हाथी के मस्तक पर पड़ने से गजमुक्ता के रूप में हो जाती है और नदी में पड़ने से पीने योग्य पानी और यदि वही समुद्र में पड़ जाय तो अपेय खारा जल बन जाती है। यह तो

---

* श्री महाराज परीक्षित् की शङ्का करने पर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् ! मैंने तुमसे पहिले कह तो दिया, भगवान् को चेदिराज शिशुपाल द्वेष बुद्धि से चिन्तन करता था, उसी से उसे सिद्धि प्राप्त हो गई। फिर जो व्रजाङ्गनायें व्रजबिहारी को अत्यन्त प्रिय थीं, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।"

पात्र भेद से फल हुआ। इसी प्रकार अनुपान और युक्ति से भी परिणाम भिन्न होता है, यद्यपि विष का धर्म मारना है, किन्तु जङ्गम विष जिसके शरीर में हो, उसे स्थावर विष युक्ति के साथ दिया जाता है। वह जङ्गम विष के प्रभाव को नष्ट करके जीवन प्रदान करता है। विष का काम है मारना, किन्तु वही पात्र विशेष में प्रयोग होने पर अमृत का काम कर जाता है। ओषधि को जानकर खाओ अनजान में खाओ वह गुण करेगी ही। जिस रोगी को विष की ओषधि की आवश्यकता है, संयोग से उसे वह वैसे ही मिल जाय और अनजान में वह उसे खा ले तो क्या वह रोग का नाश न करेगी। अवश्य करेगी। इस विषय में एक यथार्थ घटना है।

एक बड़े नामी वैद्य थे। उनके समीप एक निर्धन असाध्य रोगी गया। वैद्यजी ने उसके रोग का निदान करके पूछा—"भाई तुम्हारा रोग असाध्य है।"

उसने दीनता के साथ कहा—"वैद्यजी! आप सब रोगों की चिकित्सा करते हैं, बड़े-बड़े रोगों को अच्छा करते हैं, मेरे रोग की आप पर कोई ओषधि ही नहीं।"

वैद्यजी ने कहा—"भाई! ओषधि है क्यों नहीं। काल को छोड़कर शेष सभी रोगों की ओषधि हैं। किन्तु तुम्हारी ओषधि बनाने में देर लगेगी। सर्प को मारकर उसके फण के ऊपर ऊख उगानी पड़ेगी। उसके सेवन से तुम अच्छे होगे। इसमें छै महीने लगेंगे और तुम छै महीने किसी भी प्रकार नहीं जी सकते। अतः विवशता है। भगवान् को स्मरण करो। हरि स्मृति ही सब रोगों की अचूक दवा है।"

इतने बड़े वैद्य ने कह दिया, अब उसे विश्वास हो गया कि मैं बचूँगा नहीं। वह जीवन से निराश होकर अपने गाँव की ओर चल दिया। गङ्गाजी के कछार का देश था। वहाँ ऊख

होती है। मार्ग में उसे भूख प्रतीत हुई। एक ऊख का खेत खड़ा था। उसमें से उसने एक बड़ा-सा मोटा-सा गन्ना उखाड़ा और वहीं बैठकर उसने सबको चूस लिया। चूसने के अनन्तर वह दो बार शौच गया। शौच के मार्ग से उसका सब रोग निकल गया। शरीर स्वस्थ और निरोग हो गया। लौटकर वह पुनः वैद्यजी के पास गया और बोला—"वैद्यजी! अब मेरी नाड़ी देखिये।" वैद्यजी ने पुनः उसके शरीर की परीक्षा की और बोले—"तुम तो स्वस्थ हो गये। क्या खाया था तुमने?"

उसने कहा—"महाराज! मैंने कुछ नहीं खाया, एक खेत से ऊख का गन्ना उखाड़कर खाया था।"

वैद्यजी ने कहा—"चलो, हमें दिखाओ।" वह वैद्यजी को साथ लेकर गया, स्थान दिखाया, वैद्यजी ने उसे खुदवाया तो वहाँ एक मरा हुआ काला सर्प निकला उसके फण पर ही यह ऊख का पेड़ उपजा हुआ था। वैद्यजी ने कहा—"तुम्हारे किसी पूर्वजन्म के पुण्यों से भगवान् ने स्वयं ही तुम्हारे लिये औषधि भेज दी।"

अब सोचिये। उस रोगी ने जानकर तो वह ऊख खायी नहीं थी, उसने तो भूखवश उसे खाया था। साधारण गन्ना होता, तो उससे और हानि ही होती, वह सर्प के फण पर उगा था, उससे उसका रोग दूर हो गया। किसी अन्य के सौन्दर्य पर आसक्त होकर गोपिकायें उससे प्यार करतीं, तो उन्हें पाप ही लगता। यदि वे दैवयोग से बिना जाने भी श्रीकृष्ण के सौन्दर्य पर रीझ गयीं, तो क्या उनका संसार बन्धन रह सकता है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब मेरे गुरु भगवान् शुक धारा प्रवाह से रासपञ्चाध्यायी की कथा कह रहे थे, उसी बीच में "भगवान् में बिना ब्रह्मभाव किये गोपियों का गुण प्रवाह रूप संसार कैसे निवृत्त हो गया?" यह शुष्क प्रश्न राजा ने कर दिया, तो श्रीशुकदेवजी उन्हें झिड़कते हुए बोले—"राजन्! मैं इस

विषय को तुम्हें पहिले बता तो चुका हूँ, फिर तुम इस विषय में बार-बार शंका क्यों करते हो ?"

राजा ने दीनता के स्वर में हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो ! मैं अल्पमति हूँ, भूल गया था, आपने किस प्रसंग में गोपियों के इस भाव के विषय में बताया था, मुझे स्मरण नहीं रहा।"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"गोपियों का नाम लेकर तो मैंने नहीं बताया, किन्तु प्रह्लाद का चरित्र आरम्भ करते समय देवर्षि नारद और धर्मराज के सम्वाद के आरम्भ में शिशुपाल की मुक्ति की बात बतायी थी। शिशुपाल चेदि देश का राजा भगवान् की बूआ का लड़का था। उसका भगवान् में ब्रह्मभाव तो था नहीं, वह तो उन्हें अपना प्रतिस्पर्धी शत्रु ही समझता था और निरन्तर उन्हें गाली ही दिया करता था। जन्म से लेकर अन्त तक वह भगवान् को बुरा-भला कहता रहा, द्वेष भाव से ही उनका चिन्तन करता रहा। किसी अन्य साधारण आदमी से द्वेष करता तो उसे नरक में जाना पड़ता, किन्तु संयोग की बात जिनसे वह द्वेष करता था, वे परब्रह्म परमात्मा थे। बिना जाने भी अमृत को पी जाय, तो अमर तो हो ही जायगा। इसी प्रकार भगवान् का द्वेषभाव से भी चिन्तन करने से उसे परमपद की प्राप्ति हुई।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"महाराज ! ये गोपिकायें तो भगवान् से द्वेष नहीं करती थीं।"

हँसकर शुकदेवजी बोले—"अरे, भाई ! द्वेष से शिशुपाल तर गया, तो भगवान् से प्रेम करने से गोपिकायें न तरेंगी ? गोपिकायें ही भगवान् से प्रेम करती हों, सो बात नहीं। वे भगवान् नन्दनन्दन को भी अत्यन्त प्रिय थीं, गोपीजनवल्लभ वृन्दावन विहारी भी उनसे प्यार करते थे। अब बताइये, जो भगवान् को प्राणों से अधिक प्यार करें और भगवान् भी जिनसे मिलने को छटपटाते रहें, उनकी संसार निवृत्ति में कोई संदेह हो सकता है ?

राजा ने पूछा—"भगवन्! मुक्ति तो निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से होती है। ये गोपिकायें तो सगुण साकार श्रीकृष्ण से प्रेम करती थीं?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! जो लोग मूर्ख हैं, वे ही सगुण निर्गुण के विषय को लेकर व्यर्थ की वितण्डा बातें करते रहते हैं। वास्तव में जो भगवान अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण हैं वे गुणों के अधिष्ठान भी हैं। जीवों के कल्याण के ही निमित्त उनका सगुण रूप से अवतार होता है। सगुण निर्गुण में कोई भेद नहीं, अन्तर नहीं। उन सर्वेश्वर से कैसे भी कोई सम्बन्ध कर ले। किसी भाव से भी सम्बन्ध रखने से उनका संसार बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! जब तक मन में कामवासना है, क्रोध है, लोभ है, तब तक भगवान् की कैसे प्राप्ति होगी?"

दृढ़ता के स्वर में श्रीशुक ने कहा—"कोई बात नहीं। काम भाव है तो उसे बना रहने दे। काम में यही होता है न कि स्त्री सुन्दर पुरुष को चाहती है, पुरुष सुन्दर स्त्री को। उस काम भाव को भगवान् में लगा दे, भगवान् से बढ़कर, सुन्दर पुरुष कौन होगा, जिन्हें देखकर पशु पक्षी भी मोहित हो जाते थे, उन्हीं में पतिभाव रखकर उनका निरन्तर चिन्तन करे। उनसे बढ़कर कोई सुन्दरी स्त्री भी नहीं। उनके 'मोहिनी' रूप को देखकर कामारि कपर्दी भी मोहित हो गये। इसलिये कामभाव रखना हो तो भगवान् में रखे, उन्हीं का निरन्तर कामभाव से चिन्तन करे। गोपिकायें इसी भाव से तर गयीं।

यदि अपने भीतर क्रोध हो, तो इन अल्प वीर्य वाले मनुष्यों से क्या क्रोध करे, सर्वसमर्थ सर्वेश्वर से क्रोध करे अपने क्रोध को उनमें लगावे। हिरण्यकशिपु भगवान् के प्रति क्रोध करके ही तर गया। इसी प्रकार भय हो, तो भगवान् से भय करे। कंस

निरन्तर भगवान् से ही भयभीत रहता था। भय के कारण उसे रात्रि में निद्रा भी नहीं आती थी, उन्हीं का मन से चिन्तन करता था। भगवान् को जो जिस भाव से भजता है वैसा ही रूप बनाकर उसकी मनोकामना को वे पूर्ण करते हैं। कंस काल रूप से उनका चिन्तन करता था। भगवान् ने काल बनकर उसे मार दिया। गोपिकायें पति भाव से निरन्तर भजती रहती थीं, जिस रूप से वे भजती थीं उसी रूप से उनके साथ रमण करके उन्होंने उनकी इच्छा पूर्ति की। प्रह्लाद नारद भक्तिभाव से प्रेमपूर्वक उनका चिंतन करते थे, उनको भगवान् ने प्रेम से कृतार्थ किया। कुछ ऋषि मुनि ब्रह्मभाव से 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस रूप से उनका चिन्तन करते हैं, तो भगवान् उन्हें उसी भाव से भजते हैं। ऐक्य रूप में ही अपनाते हैं। पांडव आदि उन्हें सुहृद सम्बन्धी मानकर भजते थे, भगवान् ने उन्हें उसी भाव से कृतार्थ किया। सारांश यह कि भगवान् में जो जैसा भाव रखते हैं, वे उसी भाव से तन्मयता को प्राप्त हो जाते हैं, भगवान् सर्वसमर्थ हैं।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! मुझे शंका यह रही कि जब तक मन में काम क्रोधादि शत्रु हैं, तब तक संसार बन्धन छूट कैसे सकता है?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"अरे, फिर वही बात। अरे भाई! जब ये काम क्रोध भगवान् में लग गये, तो शत्रु रहे कहाँ? एक युवक है, उसे युवती लड़कियों की ओर देखना पाप है, उन्हीं लड़कियों में उसकी भावी बहू भी है, उसकी ओर भी देखना वह पाप समझता है। जब उसका उसके साथ पाणिग्रहण हो गया, तब वह त्याज्य कहाँ रही। जब काम क्रोध भगवान् में लग गये, तो भगवान् सब स्वयं सम्हाल लेते हैं। भगवान् के विषय में तो शंका करनी ही न चाहिये। वे कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं सर्व समर्थ हैं। वे योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, अजन्मा हैं, सबको अपनी ओर

आकर्षित करने वाले हैं। वे चाहें तो आज सम्पूर्ण जगत् को-कीट पतंग कंकण पत्थर सबको-मुक्त कर दें। फिर उनके लिये जार बुद्धि से चिन्तन करने वाली गोपियों के संसार बन्धन को नाश कर देना यह कौन-सी बड़ी बात है।"

हाथ जोड़कर महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो! मेरी शंका का समाधान हो गया, कृपा करके अब आगे के प्रसंग को कहें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा परीक्षित् के इस प्रश्न से मेरे गुरुदेव के कथन की प्रणाली अब कुछ बदल गयी। वे इस विषय को सुस्पष्ट न कहकर कुछ रहस्यमय ढङ्ग से वर्णन करने लगे। जो गोपिकायें अपने-अपने घर के काम काजों को छोड़कर मुरली की धुनि सुनकर-श्यामसुन्दर के समीप गयी थीं, वे उनके समीप पहुँच गयीं। उन्हें देखकर निष्ठुर श्रीकृष्ण ने जैसी कठोर-कठोर बातें कहीं, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

काम, क्रोध, भय, लोभ, नेह, सौहार्द भावतैं।
कैसे हू हरि भजो शुद्ध वा असद्भावतैं॥
जे तन्मय ह्वै जायँ तरहिं भवसागर ते नर।
जो चाहे सो करहिं सिद्धिदाता वे नटवर॥
राजन्! हरि की दया तैं, संशय सब मिटि जाइगी।
ककरी चाकू पै गिरै, ककरी ई कटि जाइगी॥

—o—

प्रेमाधिक्य का प्रस्ताव

[९६६]

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः ।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचःपेशैर्विमोहयन् ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

नृप बोले—गुरुदेव ! रही अब शङ्का नाहीं ।
हरिचरित्र सो कहें गईं गोपी प्रभु पाहीं ॥
शुक बोले—ब्रजबाल गईं ब्रजवल्लभ ढिग जब ।
है ऊपरतें निठुर कपटतें बोले हरि तब ॥
आओ, बैठो, कुशल सब, करयो कष्ट किहि कामतें ।
राति अँधेरी, वन विकट, क्यों आईं निजधामतें ॥

जिनसे हम जिस व्यवहार की आशा नहीं रखते हैं, यदि वे हमसे वैसा व्यवहार करें, तो हमें मर्मान्तिक पीड़ा होती है। कोई बच्चा है सदा हम उसे तू कहकर पुकारते हैं, यदि उसे कभी हम 'आप' कह दें तो वह समझेगा कुछ दाल में काला है। मुझसे कुछ अपराध बन गया है, वह 'आप' शब्द को सुनकर भयभीत हो जायगा। इसके विपरीत जिन्हें हम सदा सम्मान से

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकाओं को अपने समीप आई देखकर वक्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् नन्दनन्दन अपनी वाक् पटुता से उन्हें विमोहित करते हुए कहने लगे।"

'आप कहकर पुकारते हैं, यदि उन्हें कभी 'तुम' कह दें, तो इसमें वे अपना अपमान अनुभव करने लगेंगे।

जो सदा प्रेम पाने का अधिकारी है, उससे हम शुष्क बातें कहने लगें, तो यह उसके साथ अन्याय है, किन्तु प्रेम में प्रायः अन्याय कुछ बुरी भावना से नहीं होता। प्रेम को और बढ़ाने के लिये होता है। लड्डू खाने से मुँह भर जाय, मीठे से कुछ अनिच्छा हो जाय तो कड़वी दो मिरच खा लेते हैं, उसकी कटुता से मुख में दाह होने लगती है, आँखों में पानी भर आता है, शरीर में कंप हो जाता है, किन्तु फिर लड्डू खाने की उत्कट इच्छा हो जाती है। इसलिये बीच में मिरचा खा लेना अधिक लड्डू खाने के निमित्त होता है। प्रेम की कठोर भाषा में अनन्त प्यार छिपा रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकायें अपना सर्वस्व छोड़कर श्रीकृष्ण के समीप आयीं। उन्हें आशा थी श्रीकृष्ण हमें देखते ही हृदय से चिपटा लेंगे, आत्मीयता का व्यवहार करेंगे, किन्तु उनकी आशा लता पर तुषाराघात हुआ। उनकी इच्छा पर पाला पड़ गया। श्रीकृष्ण ने उन्हें देखकर आत्मीयता का व्यवहार नहीं किया। उन्होंने एक अपरिचित व्यक्ति जैसे शिष्टाचार का बर्ताव करते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार उनसे किया। खड़े तो वे थे ही। गोपियों को देखकर बड़ी मधुर वाणी में अपरिचित की भाँति बोले—"आइये, आइये! स्वागतम्-स्वागतम्" महाभागो! कहिये कैसे कष्ट किया? आप सबका मुझसे कुछ काम हो तो निवेदन कीजिये। आपकी जो आज्ञा होगी उसे करने को मैं सर्वदा तत्पर हूँ।"

इन बातों को सुनकर गोपिकायें तो हक्की-बक्की रह गयीं। श्रीकृष्ण हमारे साथ ऐसा शिष्टाचार का बर्ताव करेंगे, इसकी उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं थी। उन्होंने सोचा—"श्यामसुन्दर

हँसी कर रहे होंगे। इनका स्वभाव विनोदी है। अब कुछ प्यार की बातें करेंगे, किन्तु कृष्ण तो उन्हें निखारना चाहते थे, वे फिर बोले—"सुन्दरियो! इस घोर रात्रि के समय बिना पुरुषों के तुम्हें यहाँ अकेली आते देख मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। व्रज में तो सब कुशल है न? कोई भूत, प्रेत राक्षस तो नहीं आया। अथवा अग्नि, जल या चोर आदि का तो कोई भय उपस्थित नहीं हो गया। यदि ऐसी कोई बात हुई हो और मेरी सहायता की आवश्यकता हो, तो बताओ। यदि ऐसी कोई बात नहीं है, तुम वैसे ही चली आयी हो, तो इस वन में सिंह व्याघ्र तथा अन्यान्य हिंसक जन्तु इधर से उधर घूमते हैं, तुम्हारा यहाँ अधिक ठहरना उचित नहीं। तुरन्त अपने-अपने घर को लौट जाओ।"

'लौट जाओ' इस शब्द को सुनते ही सबकी सब सन्न हो गयीं। श्यामसुन्दर परिहास नहीं कर रहे हैं। अवश्य ही ये हमें ठुकरा रहे हैं। आज इन्हें हो क्या गया है। हाय! कितनी सुंदर चुन-चुनकर ईंटें लगाकर तो हमने एक मनोहर आशा का महल बनाया था, उसे इन्होंने एक ही कठोर बात से ढहा दिया, गिरा दिया। हाय! भोली-भाली आकृति में बधिक भी होते हैं। वे कुछ बोलीं नहीं। श्यामसुन्दर के कमल के सदृश विकसित प्रफुल्ल नेत्रों की ओर निहारती रहीं। उनमें अनन्त अनुराग भरा था, किन्तु मुख से वे विष उगल रहे थे। वे गोपियों को चुप देखकर फिर बोले—"देखो, स्त्रियों का एकान्त में परपुरुष के समीप अधिक देर ठहरना उचित नहीं। तुम अपने घरों से बिना कहे ही चली आयी हो। वहाँ तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, सास, ससुर, सगे, सम्बन्धी, भाई बन्धु, पति तथा पुत्र आदि तुम्हें खोज रहे होंगे। रात्रि में तुम्हें न पाकर वे चिन्तित हो रहे होंगे। उन सबको तुम चिन्ता में मत डालो। व्यर्थ यहाँ ठहरने का कोई

काम नहीं। अकारण रात्रि के समय वन में ठहरने को शास्त्रकारों ने निषेध किया है। अतः तुम अपने-अपने घरों को चली जाओ।"

गोपिकायें अब समझ गयीं ये हमें भगाना चाहते हैं। अब तक जो इन्होंने प्रेम प्रदर्शित किया था, वह प्रेम नहीं था प्रेम का ढोंग था। ये हमसे घृणा करते हैं। हाय! स्त्री जाति की कैसी दुर्दशा है। वे कुछ बोलीं नहीं। सोचने लगीं—"इतने सुन्दर सुचिक्कण मधुर मुख में से ये विष भरी बातें निकल कैसे रही हैं। चन्द्रमा में से तो अमृत चूना चाहिये, इस चन्द्र मुख से विष की धारा क्यों बह रही है।"

श्यामसुन्दर बोले—"अच्छा, मैं अब समझा। आज की निशा अत्यन्त सुहावनी है, इसे वन्य प्रदेश में खड़े होकर देखने की लालसा सभी के मन में होती है। सम्भवतया तुम उसी लालसा से यहाँ दौड़ी आयी हो। वह लालसा तो तुम्हारी पूरी हो गयी। तुम चन्द्रमा की रश्मियों से रञ्जित, और यमुना जल की उत्ताल तरङ्गों के स्पर्श से शीतल तथा मन्द सुगन्धित पवन की गति से हिलते हुए नव पल्लवों से सुशोभित, इस शारदीय सुषमा से विकसित वृन्दावन की शोभा को देख ही चुकीं। तुम्हारा शारदीय निशा देखने का संकल्प तो पूरा हो ही चुका, अब देर करने का काम नहीं। अब तुम सब तुरन्त मिलकर ब्रज को लौट जाओ। गृहस्थियों के यहाँ यही समय तो काम का होता है। प्रतीत होता है, अभी तुमने गौएँ भी नहीं दुही हैं। जो बछड़े घास नहीं चुगते केवल दूध के ही आधार पर रहते हैं, वे भूखे होंगे, डकरा रहे होंगे, रम्हा रहे होंगे। तुरन्त जाकर उन्हें दूध पिलाओ। दूध पर ही रहने वाले बच्चे, भूखे रो रहे होंगे, वे अभी सोये भी न होंगे। उन्हें जाकर दूध पिलाकर शैया पर सुलाओ। तुम्हारे पति दिन भर थके होंगे। उनकी जाकर सेवा

करो। इन सब गृहस्थियों के कामों को छोड़कर तुम सब यहाँ आ क्यों गयीं ?"

गोपियों का साहस टूट गया। किस निष्ठुर से प्रेम किया। इतने सौंदर्य माधुर्य में इतनी निष्ठुरता भी रह सकती है क्या, इसका हमें पहिले से पता होता, तो कभी प्रीति ही न करतीं, किन्तु करें क्या अब तो फँस गयीं। छछून्दर की-सी गति हो गयी न निगलते बनता है न उगलते ही। ये बढ़ते ही जाते हैं, हमें भगाने पर उतारू हैं। प्राण रहते हुए हम यहाँ से टल नहीं सकतीं। जिसको एक बार हृदय सौंप दिया, अब तो सदा के लिये उसी के हो रहे।

श्यामसुन्दर रुके नहीं वे कहते ही गये। उन्होंने कहा—"हो सकता है तुम मेरे स्नेह से आसक्त चित्त होकर यहाँ आयी हो, तो भी कोई बात नहीं। मुझसे स्नेह करना कोई दोष नहीं। क्योंकि परम स्नेहास्पद मैं ही हूँ। सभी प्राणी मुझसे स्नेह करते हैं और करना ही चाहिये। किन्तु प्रेम दूर का ही अच्छा होता है। अधिक निकट आने से उसमें गड़बड़ी हो जाती है। फिर अधर्म होने की सम्भावना हो जाती है। तुम सती हो, तुम्हारा धर्म है पति की सेवा। स्त्रियों के लिये पति ही परमेश्वर हैं, निष्कपट भाव से पति की सेवा करना ही उनकी परमाराधना है। पति की तथा पति से सम्बन्ध रखने वाले देवर, जेठ, सास, ससुर तथा अन्यान्य बन्धुओं की शुद्ध भाव से सेवा करना और सन्तानों का प्रेमपूर्वक पालन-पोषण करना यही स्त्रियों का परमधर्म है। परपुरुष से प्रीति करना पाप है।

पति का त्याग करना आर्य ललनाओं के लिये बड़ी कलंक की बात है। पति का त्याग किसी भी दशा में उचित नहीं। चाहे वह महाक्रोधी हो, दुष्ट स्वभाव का हो, भाग्यहीन हो सतियों को स्वयं कष्ट उठाकर उसे निभाना चाहिये। इसी में उनकी बड़ाई है,

महत्ता है। पति के त्याग की कभी कल्पना भी न करनी चाहिये। हाँ, वह सर्वथा पतित हो गया हो, विधर्मी बन गया हो, तो ऐसी दशा में तो त्याग करने को विवश ही होना पड़ता है।

गोपिकाओं ने सोचा—"ये कल के छोकरे श्यामसुन्दर हमें धर्मोपदेश देने को खड़े हुए हैं। यहाँ हम धर्मोपदेश सुनने को आयीं हैं क्या। धर्मोपदेश सुनने को तो ये भूरी-भूरी दाढ़ी वाले वेदज्ञ ब्राह्मण ही बहुत हैं। इतने त्रैलोक्यमोहन सौन्दर्य में से यह धर्मोपदेश सुवर्ण के कलश में विष के समान प्रतीत होता है।

श्यामसुन्दर रुके नहीं वे कहते ही गये कहते ही गये। बोले—"जो सती साध्वी कुलवती पतिव्रतायें हैं, उनके लिये जार सेवा सर्वत्र निन्दनीय है। जारों से आज तक किसी ने सुख पाया है? ये जार बड़े स्वार्थी होते हैं। अपने ही सुख को देखते हैं। जहाँ इनका स्वार्थ सिद्ध हुआ फिर ये बात नहीं करते। फिर स्त्री दूसरे जार को खोजती है, इस प्रकार उसे कभी शांति नहीं होती। विषय कभी भी भोग से शान्त नहीं होते। जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने से वह और अधिक बढ़ती है ऐसे ही जारों के समीप कभी किसी को शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं, और अधिक अशान्ति बढ़ती है। अतृप्ति होती है। जार पति को सेवन करने वाली को न इस लोक में शान्ति होती है न परलोक में। इस लोक में उसे अपयश मिलता है, परलोक में नरक की यातनायें भोगनी पड़ती हैं। यह अत्यन्त ही तुच्छ, नीच, निन्दनीय, भयदायक और कष्टकारक कर्म है।"

गोपियों ने सोचा—"जिन्हें हम भगवान् मानती हैं, क्या उनसे प्रेम करना कोई पाप है? क्या उन्हें जार कहना यह अन्याय नहीं है? भगवान से प्रेम करने में कुछ दोष है क्या? जब हम उन्हें अपना सर्वस्व सौंप चुकीं, तब हमारे मन में यदि काम भाव है, तो उसे शांत कराने किसके समीप जायँ। वे हमारे

भावों को विशुद्ध बनावेंगे। हम उनसे प्रेम ही तो करती हैं।"

भगवान् फिर भी चुप नहीं हुए। वे बोले—"अच्छा, मानलो तुम मुझसे अनन्य प्रेम करती हो, तो प्रेम में अंग संग की तो अपेक्षा नहीं। नित्य नियम से मेरा गुण श्रवण करो, नित्य दोनों समय आकर श्रद्धा भक्ति से मेरे दर्शन किया करो, मेरी मूर्ति का ध्यान किया करो तथा नित्य मेरे सुमधुर नामों का कीर्तन किया करो। इन बातों से जितना मुझमें प्रेम होता है उतना मेरे समीप रहने से नहीं होता। समीप में अधिक रहने से तो अश्रद्धा हो जाती है। अति परिचय से अवज्ञा के भाव आने लगते हैं। अतः तुम सब अपने-अपने घरों को जाओ। वहीं बैठे-बैठे मेरा ध्यान, मनन और कीर्तन किया करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के ऐसे कठोर वचन सुनकर गोपियों को महान् दुःख हुआ, वे थर-थर काँपने लगीं, उनका हृदय धड़कने लगा। वे केले के पत्ते की भाँति काँपने लगीं।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने उन परम भावमयी गोपियों से ऐसी कठोर बातें क्यों कहीं?"

सूतजी बोले—"महाराज! ये बातें कुछ भीतर से थोड़े ही कही थीं। ये तो बनावटी बातें थीं। भीतर तो उनके प्रेम भरा था, ऊपर से केवल प्रेम परीक्षा के निमित्त ये बातें कहीं थीं, देखें, इनका मुझमें कितना प्रेम है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! गोपिकाएँ तो अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण को अर्पण कर चुकीं थीं, उनके प्रेम में सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने शंका क्यों की? किसी अनन्य प्रेमी के ऊपर शंका करना तो पाप है। श्रीकृष्ण तो घट-घट की जानने वाले हैं उन्हें परीक्षा लेने की क्या आवश्यकता थी?"

सूतजी हँसकर बोले—"अजी, महाराज! इसे परीक्षा नहीं कहते हैं। यह तो प्रेम की रीति है। प्रेमास्पद अपने प्रेमी के

मुख-से यह बात सुनने को सदा समुत्सुक बना रहता है कि 'जितना प्रेम मैं आपसे करता हूँ, उतना और किसी से नहीं करता।' इसी को सुनने को वह भाँति-भाँति की शंका करता है। उसके मुख से यह बात सुनकर उसका हृदय खिल उठता है। उससे प्रेम और बढ़ता है, दोनों ओर से बढ़ता है। ये बातें प्रेम को बढ़ाने वाली हैं घटाने वाली नहीं। प्रेम का बीज हृदय में उगता है, आँखों के जल से सींचने पर उसमें अंकुर उत्पन्न होता है और प्रेम की मीठी-मीठी बातों से वह बढ़ता है, पल्लवित पुष्पित होता है। प्रेमराज्य की अटपटी गति है। मुनियो! प्रेमी के बिना दूसरा इसे कौन समझ सकता है। ये रहस्य की बातें हैं।"

शौनकजी ने हँसकर कहा—"सूतजी! अब तुम्हारी इन प्रेम की टेढ़ी-मेढ़ी बातों का अर्थ हम क्या समझें, हम तो प्रेमहीन हैं।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! आप सब जानते हो, आप ही तो सच्चा प्रेम करना जानते हो। ये विषय कीचड़ में फँसे संसारी लोग प्रेम करना क्या जानें। प्रेम तो विषयहीन चित्त में ही होता है।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! इन बातों को छोड़िये, आगे की कथा सुनाइये। उन बिचारी गोपिकाओं की क्या दशा हुई, उन्होंने क्या कहा?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! सुनिये अब मैं गोपियों की दशा ही सुनाता हूँ।"

छन्द—*अनल अनिल जल जनित कष्ट कछु ब्रजमहँ आयो।*
क्यों निशि वेला सरिस पुलिनमहँ चित्त चलायो॥
शीतल मन्द सुगन्ध पवन पल्लव वन विकसित।
अथवा सुषमा शारदीय अवलोकन के हित॥
आई अथवा नेहवश, प्रेम करहिँ मोमें सबहिँ।
पातिव्रत पालन करहु, जाओ निज निज घर अबहिँ॥

व्रजाङ्गनाओं की विवशता

(९६७)

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्,
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्,
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

सुनत श्याम के कठिन बचन व्रजवनिता रोईं ।
भयो हृदय दुख दुसह सबनि तन मन सुधि खोईं ॥
नयननि निकसत नीर कालिमा काजर की सँग ।
ढरकि हृदयपै गिरत मिलत कुचकुंकुमके रँग ॥
गङ्गा यमुना के सरिस, उमड़त हिय मुख मलिन अति ।
बनें भलें हीं कठिन हरि, हमरी तो वे एक गति ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान के रूखे वचनों को सुनकर गोपिकायें कहने लगीं—"हे विभो ! आपके द्वारा ऐसे नृशंस वचन कहना योग्य नहीं। हम समस्त विषयों को त्यागकर आपके ही चरणारविन्दों में अनुरक्त हैं। हे दुरवग्रह ! हमें त्यागिये मत, आप हमें उसी प्रकार अङ्गीकार कीजिये, जिस प्रकार आदि पुरुष नारायण मुमुक्षुओं को भजते हैं।"

जीवन भर प्रेम को निभाना यह अत्यन्त ही कठिन कार्य है। चित्त सदा एक-सा तो रहता नहीं, इसमें निरन्तर सात्विक, राजस् तथा तामस् ऊर्मियाँ उठती रहती हैं। पति पत्नी का जो जीवन भर निर्वाह हो जाता है, इसमें धर्म का, तथा परलोक का भय बना रहता है। इसलिये कर्तव्य पालन की दृष्टि से निभ जाता है। संसार में एक-सी तो कोई वस्तु रहती ही नहीं। सम्पूर्ण संसार परिवर्तनशील है, कोई घटती है कोई बढ़ती है, किन्तु प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही है, इसमें घटने का नाम नहीं। जो घट जाता है, वह प्रेम नहीं मोह या विषयाकर्षण है। प्रेम में क्षण-क्षण पर परीक्षा देनी होती है। क्योंकि कुछ रुककर जो जल प्रवाहित होता है, उसका प्रवाह अत्यन्त तीव्र होता है। प्रेम में एक प्रेमास्पद होता है एक प्रेम करने वाला प्रेमी होता है। प्रेमास्पद—अपना प्रेष्ठ—तो स्वतन्त्र है, वह जो चाहे सो बके, जो चाहे सो कहे प्रेमी उसकी ओर ध्यान नहीं देता। वह अपने मन में यह कभी नहीं सोचता, कि उन्होंने यह बात क्यों कही। उसे तो सर्वदा एक ही चिन्ता बनी रहती है हमारे प्रियतम हमसे अप्रसन्न न हों। अप्रसन्नभी हो जायँ, तो यह तो हो नहीं सकता इन्हें छोड़कर किसी दूसरे से प्रेम कर लें। जैसे होगा रोकर-धोकर, पैर पकड़कर हमें उन्हें ही मनाना होगा, उन्हें ही प्रसन्न करना होगा, सौ-सौ शपथ खाकर उनकी शङ्का का निवारण करना होगा, उन्हें विश्वास दिलाना होगा, हमारी तुम्हीं गति हो, हमारी मति तुममें ही है। तुम्हें छोड़कर हमारा कोई सहारा नहीं। ठुकराओ, चाहे अपनाओ इन चरणों को छोड़कर जीवन में हमारी कोई अन्य गति नहीं। इन अनुनय विनय की बातों से प्रेम में अत्यधिक मिठास आ जाता है। हृदय और अत्यधिक द्रवित हो उठता है। जब मन नहीं मानता दोनों ओर से हृदय उछलने लगता है तभी रास होता है। लोक में भी देखा गया है जब

प्रेम सीमा को उल्लङ्घन कर जाता है, तभी मनुष्य नाचने लगता है। जिनका नाचने का व्यवसाय ही है, जो अभिनय करके ही अपनी आजीविका चलाते हैं, उनकी बात दूसरी है। घी शक्कर का लड्डू सुन्दर हो, असुन्दर हो, टेढ़ा हो, सीधा हो, गोल हो, लम्बा हो स्वादिष्ट ही होता है। इसी प्रकार प्रेम की बातें कठोर हों, सरस हों, सीधी हों, कैसी भी क्यों न हों, प्रेम को बढ़ाने ही वाली होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्यामसुन्दर ने आई हुई गोपियों से प्रथम ही ऐसी प्रेमहीन, नीरस कठोर बातें कहीं, तब गोपियों का समस्त उत्साह भङ्ग हो गया। उनका मुखमंडल म्लान हो गया। उनकी आशा लता मुरझा गयी, प्रेमालिङ्गन की आशा निराशा में परिणित हो गयी। वे अगाध दुस्तर चिन्ता सागर में निमग्न हो गयीं।

मुनियो! उस समय उन प्रेमपिपासिता अबलाओं की दशा परम दयनीय थी। दूसरा कोई सहृदय देख ले, तो उसका हृदय विदीर्ण हो जाय। वे शोक के कारण दीर्घ और उष्ण निश्वास ले रही थीं। नासिका के उष्ण उच्छ्वासों के कारण उनके बिम्बा-फल के सदृश कोमल अधरोष्ट मुरझाकर सूख-से गये थे। बिना जल के जैसे कमल का विकसित पुष्प कुम्हिलाकर नीचे झुक जाता है, उसी प्रकार निराशा के कारण वे नीचा मुख किये निर-न्तर पृथ्वी की ओर निहार रही थीं। "पृथ्वी की ओर क्यों निहार रही थीं जी?" इसलिये कि पृथ्वी भी स्त्री है। स्त्री ही स्त्री की वेदना का अनुभव कर सकती है। पुरुष तो स्वार्थी होता है, वह प्रेम भी करता है, तो स्वार्थ से। फिर वह ऐसी कठोर बातें कह देता है, कि कोमलांगी अबलायें उसे सहन करने में समर्थ नहीं होतीं, फिर भी सहनी ही पड़ती हैं। न सहें तो जायँ कहाँ? कहीं भी जायँ, पाला पुरुषों से ही पड़ेगा। सभी पुरुष एक तराजू

के चट्टे बट्टे हैं। कोई छोटा कोई बड़ा। प्रकृति तो सभी की कठोर है। गोपिकायें पृथ्वी से कह रही हैं। देवि! इन काले ने तुम्हारी पुत्री सीता के साथ भी ऐसी कठोरता की थी। राजपुत्री राजरानी होकर वन-वन इन काले रङ्गवाले के साथ भटकी। रावण उन्हें ले गया। उसे मारकर जब ये छुड़ाकर लाये तो उनका मुख खिल उठा—"राघव! मुझे कितना प्यार करते हैं।" किन्तु ये कीर्तिलोलुप पुरुष प्यार करना जानते ही नहीं। ये तो वधिकों की भाँति तीक्ष्ण बाण मारकर घायल करना जानते हैं। लाल-लाल आँखें करके वे नीलमणि के सदृश वीर बोले—"सीते! सुनती है, मैं तुझे प्रेम के कारण छुड़ाकर नहीं लाया हूँ। अपनी कीर्ति स्थापित करने-अपना कलंक दूर करने के निमित्त मैंने तुझे छुड़ाया है। तू नौ महीने रावण के घर में रही, अब तू मेरे योग्य नहीं रही। अब तू चाहे जहाँ चली जा। जिसे चाहे अपना पति बना ले। भरत के संग रह या लक्ष्मण को पति बना ले। या इन वानरराज सुग्रीव के संग चली जा या विभीषण को भज।" सीताजी यह सुनकर सन्न रह गयीं। "हाय! ये पुरुष जाति के लोग कितने कठोर हृदय के होते हैं। स्वप्न में भी कभी-मन से भी मैंने परपुरुष का चिन्तन नहीं किया, फिर ये भरी सभा में सबके सम्मुख मुझे लांछित करते हैं। अच्छा, अब इस शरीर को न रखूँगी।" यह सोचकर चिता चुनकर वे जलने लगीं। राघव ने उन्हें रोका नहीं। वे चिता में बैठ ही गयीं। सुवर्ण की भाँति खरी उतरीं। तब राम ने उन्हें अपनाया, फिर जब गर्भवती थीं तभी किसी ने कह दिया—"राम कामी है। रावण के घर में रही हुई सीता को फिर अपने घर में रख लिया।" इससे फिर उन्होंने समझा मेरी कीर्ति में बाधक यह सीता ही है। फिर उसे हिंसक पशुओं से भरे घोर जंगल में छुड़वा दिया। राजरानी होकर गर्भवती अवस्था में एक दाने-दाने अन्न को भटकती रहीं।

अयोध्या से वाल्मीकी आश्रम कुछ दूर नहीं था। बारह वर्षों तक एक दिन भी राम ने उनकी सुधि नहीं ली। फिर उन्हें बुलाया। इतना अपमान सहकर भी कोई प्राणी आ सकता है या जी सकता है? किन्तु इस स्त्री जाति के हृदय में बूढ़े बाबाब्रह्मा ने इतनी सहनशीलता भर दी है, कि उसे सब कुछ सहना पड़ता है। वाल्मीकजी ने शपथ के ऊपर शपथ खाईं। ऋषियों से हाँ कराई, राम को डाँटा डपटा, उस समय मुख नीचा किये साक्षात् लज्जा के समान सिकुड़ी हुई सीताजी आईं। कठोर राम ने इतने दिन के पश्चात् भी उनसे प्रेम की दो बातें नहीं कीं। आते ही कहा—"अपनी परीक्षा दो।"

पहिले उन्होंने अग्नि की गोद में बैठकर परीक्षा दी थी। अब के सोचा—"यह अग्नि भी तो पुरुष ही है। इसके द्वारा दी हुई परीक्षा विफल हुई। अब किसी स्त्री की गोद में बैठकर परीक्षा दूँ। इसलिये नीचा मुख करके हे देवि पृथ्वी! उन्होंने तुम्हारी ओर देखा, तुमने उन्हें विवर दे दिया। वे उसमें समा गयीं, विलीन हो गयीं। तब कहीं जाकर राम का हृदय पिघला। सो हे माता! अब हमें तुम बिल दे दो। उसमें हम समा जायँ।" इसीलिये बार-बार पृथ्वी की ओर देख रही थीं, किन्तु पृथ्वी ने बिल नहीं दिया, नहीं दिया। वह न फटी न उसमें से सुवर्ण सिंहासन ही निकले।

जब पृथ्वी फटी नहीं, तो वे अपने कोमल चरणों के लाल-लाल नखों से उसे कुरेदने लगीं, कि देवी फट जाओ, फट जाओ, किन्तु नखों से कितनी पृथ्वी खुद सकती है, वे निराश होकर रोने लगीं। घर से बड़े चाव से मोटा-मोटा काजर लगाकर चली थीं। काजर अभी तुरन्त का ही लगाया था, आँसुओं के साथ वह भी बहने लगा। उनके गोल-गोल अरुण उभरे हुए कपोलों पर से लीक करता हुआ वह कज्जल मिश्रित अश्रुजल उनके

वक्षःस्थल पर गिरने लगा। अभी तक वक्षःस्थल पर जो चन्दन मिश्रित कुंकुम का लेप किया था, वह सूखा नहीं था। नेत्रों का काला जल जब कुचकुंकुमों पर पड़ा, तो उसके रङ्ग में मिलकर वह होली-सी खेलने लगा। वस्त्रों को काला-पीला रँगने लगा। गोपियों को इसका ध्यान ही नहीं था। वे कुछ बोलीं नहीं, बैठीं नहीं, चुपचाप नीचा मुख किये खड़ी रहीं।

वे सोचने लगीं—"हाय! जिनके निमित्त हमने अपने समस्त संसारी विषय छोड़ दिये, वे आज इतने निष्ठुर बन गये हैं। स्त्री जाति का जीवन विवशता से भरा हुआ है। उसमें पग-पग पर विवशता का अनुभव करना पड़ता है। मनुष्य अपने को दूध का धुला समझता है। स्वयं चाहे रावण का व्यवहार करे किंतु स्त्री से वह यही आशा रखता है वह सती सीता ही सदा बनी रहे। पुरुष के लिये स्त्री कितना भी त्याग करे, किन्तु पुरुष निष्ठुर ही बना रहता है। फिर भी यह प्रेम-बन्धन इतना सुदृढ़ है कि स्त्री प्रियतम को छोड़कर मन से भी किसी की कल्पना नहीं कर सकती। पुरुष की कठोरता उसे और भी अधिक उसकी ओर आकर्षित करती है। प्यारे चाहें कुछ कहें, हमें रोकर उनके हृदय को कोमल बनाना है। अनुनय विनय करके उनके अन्तःकरण में दया को उदय करना है।" यही सब सोचकर उन्होंने अपने-अपने कोमल करों की गुदगुदी गद्दी से, नेत्रों से बहते हुए आँसुओं को पोंछकर गद्गद वाणी से, प्रणयमिश्रित कोप के स्वर में अप्रिय भाषण करने वाले श्यामसुन्दर के प्रति कुछ कहना आरम्भ किया। वे लज्जा, प्रेम अनुराग और संकोच के स्वर में भराई हुई वाणी से कहने लगीं—"हे विभो! और कोई कहे तो कहे। किन्तु आप सर्वान्तर्यामी को तो हमसे ऐसे कठोर वचन न कहने चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"क्यों ? मैंने इसमें कठोर बात कौन-सी कही ?"

गोपियों ने कहा—"आप संदेह करते हैं, कि हम किसी दूसरों से प्रेम करती हैं। आप सोचते होंगे हमारा लौकिक पतियों में, पुत्रों में, बन्धु बान्धवों में चित्त फँसा हुआ है। हम शपथ खाकर कहती हैं, हम सब एकमात्र आपके चरणकमलों में ही अनुरक्त हैं। हमारी दूसरी कोई गति नहीं। जब से हमें आपके दर्शन हुए हैं, तब से हमारा चित्त आपकी ही ओर खिंच गया है। हमने अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्व आपके चरणों में ही समर्पित कर दिया है। आप तो स्वच्छन्द हैं। बहुवल्लभ हैं। आपके लिये प्रेम करने को इतना बड़ा संसार पड़ा है। आप किसी एक के हो नहीं सकते, किन्तु हमारे तो एकमात्र आप ही हैं। हमारी विनय यही है, कि आप हमारा परित्याग न करें। आपकी प्रतिज्ञा है कि "मैं शरणागत का सदा प्रतिपालन करता हूँ, उनका त्याग कभी नहीं करता।" हमने भी तो सब कुछ छोड़कर आपके ही चरणों की शरण गही है, फिर आप हम सबका परित्याग क्यों कर रहे हैं ? क्यों ऐसी कठोर बातें कह रहे हैं। जो मुमुक्षु मुक्ति की इच्छा से मुक्तिदाता आदि पुरुष श्रीमन्नारायण की शरण जाते हैं उनकी वे इच्छा पूरी करते हैं, उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं। इसी प्रकार प्रेम की इच्छा से सबका सम्बन्ध छोड़कर जो हमने आपके चरणों की शरण गही है, तो आप हमें प्रेम प्रदान क्यों नहीं करते ? आप हमें कठोर बातें कह-कहकर ठुकराते क्यों हैं, अपनाते क्यों नहीं, अपने हृदय से क्यों नहीं सटाते, प्रेमालिंगन प्रदान करके हमारे हृदय के संताप को दूर क्यों नहीं करते ? क्यों हमें निराश कर रहे हैं ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मधुर शब्दों में विनय करने के अनन्तर अब गोपिकायें भगवान् के कहे हुए

वचनों का खंडन करने लगीं। उनकी सभी बातों का मधुर वचनों में उत्तर देने लगीं। अपनी अनन्यता सिद्ध करने लगीं और भगवान् को सर्वगत सर्वसाक्षी सर्वेश्वर सिद्ध करने लगीं। उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। यह बड़ा गूढ़ और गहन विषय है। अतः आप इस सब भली-भाँति समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

पुनि कछु धीरज धारि पोंछि आँसू बोलीं सब।
प्रेमपाश महँ फाँसि निठुर अति कहहु वचन अब॥
जाओ-जाओ बार-बार जिह बात कही है।
जाइँ कहाँ सब त्यागि शरन तव चरन गही है॥
शरनागत को त्यागिबो, दुसह पाप वेदनि कह्यो।
तव चरननि महँ आइ हम, धरम करम सब कछु लह्यो॥

—:—

प्रियत्व आत्मा में ही है

(९६८)

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरिङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २९ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

सुत पति सेवा करन दयो उपदेश हमें तुम ।
परि समझें सर्वस्व प्रानपति तुमकूँ सब हम ॥
प्रियता जगमहँ होहि सबनि महँ तुमरे कारन ।
कैसे हम करि सकें आपुकी शिक्षा धारन ॥
कुशल शास्त्रविद् सकलजन, करहिँ प्रेम तुम प्रेष्ठमहँ ।
का पति सुत जगप्रेमतैं, होवे यदि रति श्रेष्ठमहँ ॥

प्रियता आत्मा में ही है। आत्मीयता में ही प्रीति होती है। प्रीति का कारण सौंदर्य, धन, विद्या, यश तथा कुलीनतादि गुण नहीं

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें भगवान् से कह रही हैं—"हे प्यारे ! आप धर्म को जानने वाले हैं। आपने जो 'पति, पुत्र और बन्धु बान्धवों की सेवा करना ही परम धर्म है' यह उपदेश दिया है, तो यह उपदेश आप ईश्वर में ही हों। आप ही देहधारियों के प्रियतम बन्धु और आत्मा हैं।"

हैं। कोई कितना भी सुन्दर है, उसमें हमारी आत्मीयता नहीं है, हमारे लिये वह सर्वसाधारण के समान है। इसके विपरीत कोई अत्यन्त कुरूप है, उसमें हमारी आत्मीयता हो गयी है, तो वह प्रिय से भी प्रिय है। इसी प्रकार कोई कितना भी धनी हो, यशस्वी अथवा कुलीन हो, जब तक उसमें ममत्व नहीं, अपनापन नहीं तब तक उसके धन, यश, विद्या और कुलीनता से क्या प्रयोजन ?

स्त्री के लिये संसार में पति से प्यारा कोई नहीं। सत् स्त्रियों को जितना प्रिय सत्पति होता है, उतना वे प्यारा संसार में किसी को नहीं समझतीं। अब सोचिये, स्त्रियाँ क्या पति के शरीर से प्यार करती हैं। यदि शरीर से ही प्यार करती होतीं, तो मृतकावस्था में भी तो वही शरीर रहता है आँख, कान, मुख, नाक, हाथ, पाँव तथा अन्यान्य अङ्ग प्रत्यङ्ग वे ही हैं, केवल जीवात्मा के शरीर को त्याग देने से वह शरीर घृणास्पद हो जाता है, उसे अधिक घर में रखते नहीं जला देते हैं। इससे सिद्ध हुआ प्रियता शरीर में नहीं थी आत्मा में थी। चैतन्य में थी। सम्पूर्ण शरीरों में चैतन्यता एक ही स्थान से आती है जिसका प्रेम उस केन्द्रीय स्थान से हो जाय, उसे फिर अन्य पृथक् पृथक् स्थानों में प्रेम करने की क्या आवश्यकता। जिसका स्नेह राजा से हो जाय, उससे राजा के अनुयायी प्रेम करने को विवश हो जायँगे। मट्ठे की याचना तो घर-घर वही करता फिरेगा। जिसके यहाँ विपुल मात्रा में दूध न हो। जिसके यहाँ पर्याप्त दूध होता है, वह चाहे उसी का दही बना ले, मक्खन बना ले, खोया बना ले, छैना बनाकर रसगुल्ला बना ले। इसी प्रकार ये संसारी माता, पिता, भाई, पति, मित्र, बन्धु-बान्धव तथा कुटुम्ब परिवार वाले तभी तक प्रिय लगते हैं, जब तक सर्वान्तर्यामी—सबके आत्मस्वरूप—प्रभु में प्रेम नहीं होता। उनसे प्रेम हो जाय, तब ये सब व्यर्थ से

हो जाते हैं। उनसे प्रेम हो जाय फिर उन्हें चाहे स्वामी मान लो, सखा मान लो, पुत्र अथवा पति मान लो कोई सम्बन्ध मानकर उनसे प्रेम करो, सुख ही सुख है। आनन्द ही आनन्द है। निरानन्द का लेश भी नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपियों के आने पर श्रीकृष्ण ने इतने प्रश्न पूछे थे। व्रज में कुशल तो है, तुम अँधेरी रात में यहाँ क्यों आयीं? व्रज पर कोई आपत्ति तो नहीं आ गयी? क्या तुम शारदीय रात्रि की सुषमा का अवलोकन करने आयी हो? मेरे स्नेह से आयी हो? या मुझमें पति भाव रखकर मेरे साथ क्रीड़ा करने की इच्छा से आयी हो?" इन सब बातों को उन्होंने उचित बताकर अन्त में यही कहा—"ये सब यथार्थ ही हैं, किन्तु अब लौट जाओ। तुम यदि मुझमें जारभाव रख कर आयी हो, तो यह कुलवती स्त्रियों के लिये कलंक की बात है।"

व्रजांगनाओं ने इन सभी प्रश्नों का उत्तर एक ही बात में दे दिया। उन्होंने संक्षेप में यही कहा—"हम अन्य सम्पूर्ण विषयों को छोड़कर एक मात्र आपके ही चरणकमलों में अनुरक्त हैं। अतः आप हमारा त्याग न करें।"

भगवान् ने कहा—"तुम मुझमें ईश्वर बुद्धि रखती हो, यह उचित ही है, किन्तु स्त्रियों का धर्म यह है, कि वे पति, पुत्र तथा बन्धु-बान्धवों की निरन्तर सेवा करती रहें।"

व्रजांगनाओं ने कहा—"जैसी प्रीति सबकी पति में, पुत्रों में तथा बन्धु-बान्धवों में होती है, वैसी प्रीति हमारी आप में है।"

भगवान् ने कहा—"होने में तो कोई हानि नहीं, किन्तु सती स्त्रियों का धर्म तो पति की सेवा है, पति को ही परमेश्वर मानना है।"

इस पर एक गोपी ने कहा—"श्यामसुन्दर! हम एक कथा सुनाती हैं, सुनोगे? हम एक प्रश्न पूछती हैं, उत्तर दोगे?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, सुनाओ। उत्तर देने योग्य बात होगी, तो उत्तर देंगे ही।"

गोपी बोली—"एक पतिव्रता स्त्री थी। पति को प्राणों से अधिक प्यार करती थी। सदा पति की सेवा में ही लगी रहती थी। संयोग की बात एक बार पति को आवश्यक कार्यवश परदेश जाना पड़ा। पतिव्रता ने कहा—"प्राणनाथ! मैं आपके बिना कैसे जीवित रह सकूँगी। मेरा तो एकमात्र व्रत आपकी सेवा करना ही है। मुझे जीवन का अवलम्ब बताइये।"

पति भी अपनी पत्नी को हृदय से प्यार करता था। उसने अपनी एक मृत्तिका की प्रतिकृति-सुन्दर मूर्ति-बनवाकर पत्नी को दी और कहा—"तू इसी को मेरा रूप मानकर सेवा करना। इतने समय में मैं लौट आऊँगा।" यह कह कर वह चला गया।

यद्यपि वास्तव में वह मृत्तिका की मूर्ति पति नहीं थी, किन्तु उसमें पति की आज्ञा से पति की भावना रखकर वह श्रद्धाभक्ति से उसकी पूजा किया करती थी। उसी के सामने रोती, उसी का चरणामृत लेकर पान करती, उसी को भोग लगाकर प्रसाद पाती।"

एक दिन वह उस पति-प्रतिमा की प्रेमपूर्वक पूजा कर रही थी। सहसा उसके पति ने किवाड़ें खटखटाईं, उसे प्रेमपूर्वक पुकारा। अब बताइये उसका धर्म क्या है वह उस मृत्तिका की प्रतिमा के पूजन में लगी रहे या पति का आह्वान सुनकर-सब कुछ छोड़कर-द्वार पर दौड़ी जाय?"

भगवान् ने कहा—"इसमें भी क्या पूछने की बात है। जब उसका यथार्थ पति आ गया। वही जब उसे प्रेमपूर्वक बुला रहा है, तो फिर मृत्तिका के माने हुए पति की पूजा की क्या आवश्यकता है?"

गोपी ने कहा—"तो देखिये, अब आपके मुख से ही आपकी

बात का खण्डन हो गया। आपने कहा था 'पति में परमेश्वर भावना करके उसकी सेवा करो।' इससे यही सिद्ध हुआ कि परमेश्वर कोई दूसरा है। हाड़-मांस के बने पति में उसकी भावना की जाती है। जब हमें यथार्थ परमेश्वर ही मिल गये और उन्होंने ही वंशी बजाकर हमें हठात् अपने समीप बुला लिया, तो फिर हम अब लौटकर कहाँ जायँ ?"

भगवान् ने कहा—"तुम्हारे सगे सम्बन्धी तुम्हारे लिये चिन्तित हो रहे होंगे ?"

गोपियों ने कहा—"वे चिन्तित क्यों हो रहे होंगे, इसीलिये कि हमने उनमें अपनापन कर रखा है। अब हम सब चाहती हैं कि उन सबमें जो हमारा अपनापन है, वह सब बटुरकर आपमें ही लग जाय, क्योंकि प्राणीमात्र के प्रिय से भी प्रिय बन्धु आप ही हैं। जीव मात्र के अन्तरात्मा आप ही हैं। आपके ही द्वारा सबका जीवन है। जब हमने सर्वान्तर्यामी जीवनाधार की शरण ले ली, तब हमें और किसी के समीप जाना नहीं चाहिये। मूर्खों की बात तो हम कहती नहीं। वे अज्ञानी तो इस हाड़-मांस के बने पांचभौतिक शरीर को ही आत्मा मानते हैं, किन्तु शास्त्रकुशल पुरुष आत्मस्वरूप आपमें ही प्रेम करते हैं। संसार में किया हुआ प्रेम तो अनित्य है। यदि रूप के कारण है तो रूप के नष्ट होने पर प्रेम भी नष्ट हो जाता है, यदि देह के कारण है, तो भी नाशवान् है, किन्तु आप तो अविनाशी हैं, अतः आप ही नित्य प्रिय हैं, आपसे ही प्रेम करने में सुख है। जिनका आपसे प्रेम हो गया, उन्हें तो ये पति पुत्रादि मिट्टी के पुतले प्रतीत होते हैं। पुत्र से प्रेम करो दुःख ही दुःख है। छोटा है तो निरन्तर उसके मलमूत्र को धोते रहो। कहीं कथा सत्संग में गये, बच्चा रो पड़ा चिल्ला उठा अपनी भी कथा छूटी अन्य श्रोताओं को भी कष्ट हुआ। आठों पहर उसी का मुँह जोहते रहो, अस्वस्थ हो जाय,

रात्रिभर जागकर उसकी सेवा करो। बड़ा हो जाय, उसे पढ़ाओ लिखाओ। फिर उसके लिये सुन्दर-सी बहू खोजो। बहू आ गयी तो दोनों की सेवा करो। उनकी दिन रात बातें सुनो। उनके सुख दुख में सुखी दुखी हो। लड़का कहीं मर जाय, तो रोते-रोते अंधे हो जाओ। बताइये इसमें क्या सुख है। व्यर्थ की मोह ममता है। अतः हे परमेश्वर! आप हम पर प्रसन्न हो जायँ, हमारी आशा लता पर तुषाराघात न करें, हमें ठुकरावें नहीं। अपना लें, अपनी दासी बना लें, अपने हृदय से सटा लें। देखिये, हम कब से आशा लगाये बैठी थीं, कब से दिन गिन रहीं थीं। कब से इस रात्रि की प्रतीक्षा कर रही थीं। आप हमें मँझधार में लाकर डुबो रहे हैं, क्या यह कोई अच्छी बात है? कब से हम फिरकनी की भाँति आपके घर की खिड़की के आस-पास चक्कर लगाया करती थीं। जब भी आपके घर की ओर से निकलतीं मन चाहता था, चलें आपके समीप चलके आपके दर्शन कर लें, आपसे प्रेम की दो मीठी-मीठी बातें कर लें। माता-पिता परिजनों के घिरे रहने से हमें कभी ऐसा अवकाश नहीं मिलता था, कि आपसे हृदय की बात कह सकें। अपनी वेदना व्यक्त कर सकें। आज जब आप एकान्त में मिले भी तो ऐसी निष्ठुरता की बातें कहने लगे। ऐसा धर्मोपदेश देने लगे। यह धर्मोपदेश अपनी मैया यशोदाजी को देना। समझे लालजी! हम पोथी लेकर तुमसे धर्मशास्त्र का पाठ करने नहीं आयी हैं। हम तो आपको प्रेष्ठतम-परम प्रेमास्पद-समझकर प्रेम की याचना करने के निमित्त आयी हैं। हमें प्रेम प्रदान करो। हमें बहुत व्याकुल मत बनाओ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकाओं के मुख से ऐसी स्नेह में भीगी प्रेम की बातें सुनकर श्रीकृष्ण के हृदय में प्रेम सागर के समान हिलोरें उठने लगीं। फिर भी वे प्रेम को और

बढ़ाने के लिये बोले—"गोपियो! यह तुम्हारा कथन सब सत्य है, फिर भी तुम्हें इस समय इस घोर वन में न रहना चाहिये। अब तुम लौटकर अपने-अपने घर को चली जाओ।"

इस पर प्रेम कोप में भरी हुई गोपिकायें अश्रुपूर्ण लाल-लाल नेत्रों से श्रीकृष्ण की ओर निहारती हुई गद्गद वाणी से बोलीं—"आप बार-बार जाने को कहते हैं, सो हम कहाँ जायँ? गमन क्रिया तो पैरों से होती है, अब पैर हमारे अधीन नहीं रहे, वे एक डग भी आगे नहीं चल सकते। आप कहते हो, जाकर घर के काम-काज करो, काम-काज तो करों से होते हैं, कर हमारे व्यर्थ बन गये। उनसे कुछ काम होता नहीं। इसमें हमारा अपराध नहीं। अपराध तो तुम्हारा है। हम सुखपूर्वक घर के कामों में लगी हुई थीं। घर के सब काम धन्धों को कर ही रही थीं। आपने मधुर मुरली बजाकर चित्त को हर लिया, अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अब कहते हो, जाओ-जाओ। जायँ कैसे? हमारे पैर तो चिपक गये हैं, वे आपके समीप से एक तिल भी खिसकना नहीं चाहते, यदि आप हमें बलपूर्वक अपनी सामर्थ्य से भेज भी देंगे, तो हम क्या कर सकती हैं, अबला हैं, विवशा हैं चली जायँगी। हमारे मुख में एक ग्रास अन्न, एक बूँद जल भी न जायगा। हम रात्रि-दिन रोती रहेंगी। रोते-रोते सब समय को बिता देंगी। न हमसे घर के काम होंगे न किसी की सेवा सुश्रूषा होगी, जिस नरक से निकलकर हम आयी हैं, वापी में आप हमें फिर भेजना चाहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"तुम सब मेरे दर्शनों के ही निमित्त तो आयी थीं, दर्शन हो गये। बातें भी हो गयीं। अब जाओ, देर करने का काम नहीं।"

गोपिकाओं ने कहा—"आज बिना दर्शनों से तृप्त होने नहीं है। मुरली की मनोहर तान हमारे हृदयस्थ

ईंधन में एक चिनगारी डाल दी, उससे बड़ा धूँआ उठा। हम उससे व्याकुल होकर मुरली के उद्गम स्थान की खोज में चलीं। यहाँ आकर आपकी मंद मुसकानमयी चितवन ने एक फूँक मार-कर उस कामानल को प्रज्वलित और प्रबल बना दिया। अब उसे शान्त करना आपके ही हाथों में है। ये जो तुम्हारे कोमल रसीले लाल-लाल अधर हैं, इसमें से जो अधरामृत चू रहा है, इसके वेग को प्रबल करके उसके प्रवाह से हमारी कामाग्नि को शान्त कर दीजिये। हमारे काँपते हुए कपोलों पर उन्हें स्थापित करके इस ताप सन्ताप को शान्त कर दीजिये। यदि आपने दया न की, हमारी उपेक्षा कर दी, तो आपके विरह से उत्पन्न होने वाले अनल से हमारे शरीर भस्म हो जायँगे। और हम सब आपका ही चिन्तन करती हुई परलोक प्रयाण कर जायँगी। दिव्य शरीर से आपके चरणों की सन्निधि प्राप्त करेंगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहते-कहते गोपिकायें मूर्छित हो गयीं, किन्तु कठोर कृष्ण नहीं पसीजे, नहीं पसीजे। वे ज्यों-के-त्यों निष्ठुर बने ही रहे।"

छप्पय

कमलनयन! अब कठिन हृदय बनि मत दुकराओ।
फूली आशा लता ताहि नहिं नाथ जराओ॥
जाहिं कहाँ का करें चित्त नहिं बशमहँ प्यारे।
कर, पद अब गतिहीन अङ्ग सब भये हमारे॥
अरे, निर्दयी! प्रथम तो, जाल प्रेम को डारिकें।
अब फँसाइ व्याकुल करत, क्यों नहिं डारे मारिकें॥

—०—

कामाभितप्ता व्रजवल्लभी

[९६९]

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलम्
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥*

(श्रीमा० १० स्क० २९ अ० ३८ श्लोक)

छप्पय

मन्द-मन्द मुसकाय हृदयमहँ बान चुभोयो ।
करी प्रज्वलित आगि कामकी सरवसु खोयो ॥
प्यासी बनमहँ फिरहिँ दया हिरदेमहँ लाओ ।
अधरामृत अतिसुखद रमण ! भरिपेट पिआओ ॥
धिक ! विरह विषबानतैं, नहिँ हम सब मरि जाइँगी ।
दिव्य देहतैं ध्यान धरि, चरन शरन तब पाइँगी ॥

रोग दो प्रकार के होते हैं, एक शारीरिक दूसरे मानसिक। शारीरिक रोग वात, पित्त, कफ की विषमता से होते हैं। शरीर

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें कह रही हैं—"हे वृजिनार्दन ! आप हम पर प्रसन्न हों, हम अपने घर-द्वार को छोड़कर आपकी सेवा के निमित्त ही आपकी शरण में आयी हैं। हे पुरुष-भूषण ! आपकी चारुचितवन और मन्द मुस्कान से हमारा चित्त अत्यन्त कामतप्त हो रहा है। आप हमें अपनी दासी बना लीजिये।"

को जितने कफ की आवश्यकता है, उससे अधिक ही और पित्त, वात कम हो जायँ तो कफज रोग होंगे। वैसे तो ये तीनों ही सम्पूर्ण देह में व्याप्त हैं किन्तु कफ का प्रधान स्थान कंठ है। पित्त का स्थान कंठ से नाभि तक है और नाभि से नीचे वात का स्थान है। वात, पित्त, कफ जब घट-बढ़ जाते हैं, तो वे ही दोष कहलाते हैं और उनसे ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, शोथ, शोष, प्रमेह, कुष्ट आदि रोग होते हैं। वातप्रधान पुरुष को वायु सम्बन्धी रोग अधिक होते हैं, जैसे खाज, दाद, अपानवायु का बहुत निकलना, शरीर में रूक्षता, मल का कठोर होना आदि, पित्त-प्रधान पुरुष को पित्त सम्बन्धी रोग अधिक होते हैं। तृषा का लगना दाह, धातु सम्बन्धी रोग आदि कफ प्रधान पुरुष को कफ सम्बन्धी रोग होते हैं। कफ की ग्रन्थि पड़ जाना। काक बढ़ जाना, श्लेष्मा होना आदि। इनके शमन के शास्त्रों में अनेक उपाय हैं। जैसे शारीरिक रोग वात, पित्त, कफ से होते हैं, वैसे ही मानसिक रोग सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के कारण होते हैं। मन में जब सत्वगुण की प्रधानता होती है तो सत्व-गुण से शान्ति होती है। चित्त शान्त हो जाता है, सद्-असद् का विवेक होता है। चित्त में जब रजोगुण तमोगुण की प्रबलता होती है, तब उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अभिमान, मद, शोक चित्तोद्वेग तथा हर्षादि ये रोग उत्पन्न होते हैं। चित्त के इन सब रोगों में काम सबसे प्रबल रोग है। काम से ही क्रोध, लोभ-मोह-आदि की उत्पत्ति होती है। काम रोग स्त्री और पुरुष दोनों के मन में उत्पन्न होता है। काम की उत्पत्ति ब्रह्माजी से हुई है। उत्पन्न होते ही उसने ब्रह्माजी पर ही अपना प्रयोग किया। उस समय ब्रह्माजी ने यह नियम बना दिया कि छोटे बालकों को काम पीड़ा न देगा। अतः बालकों को छोड़कर काम-रोग सभी को पीड़ित करता है। काम की प्रबलता होने पर वह

मानसिक रोग ही न रहकर शारीरिक रोग भी बन जाता है। स्त्रियों को काम ज्वर होता है। उसकी इष्ट वस्तु की प्राप्ति ही औषधि है। पुरुषों को वीर्योन्माद रोग हो जाता है। उसकी भी औषधि इष्ट वस्तु की प्राप्ति ही है या एक नश से रक्त निकाल देने से भी वह शान्त हो जाता है। काम का वेग बड़ा प्रबल होता है। इतना प्रबल वेग किसी भी रोग का नहीं होता। स्त्रियों के बालों में, नेत्रों में, मुख में, वक्षःस्थल में, नाभि में, गुह्य और जंघनों में काम का निवास विशेष रहता है। अतः श्रेयस्कामी को इन स्थानों का कामभाव से कभी भी अवलोकन न करना चाहिये। पुरुष के हृदय में काम रोग उत्पन्न हो जाता है, तो उसका चित्त चंचल हो जाता है, नेत्रों में अनुराग छा जाता है, शरीर में पुलक होने लगती है और इष्ट वस्तु का निरन्तर चिंतन करता रहता है, किसी भी काम में मन नहीं लगता। वह अपने कर्तव्य को भूल जाता है। और जो काम न भी करना चाहिये उसे करने को उद्यत हो जाता है। इसी प्रकार स्त्रियों को काम-वेग प्रबल हो जाय, तो उनमें अत्यन्त दीनता आ जाती है, अंग-अंग में अनुराग फूट पड़ता है बार-बार रोमाञ्च होते हैं। इष्टवस्तु की प्राप्ति से वह शान्त होता है। यही भाव यदि भगवान् में हो जाय, तो इसकी प्रेम संज्ञा हो जाती है। साधारण स्त्री पुरुष की अंग-संग इच्छा का नाम काम है। यही काम प्रबल-वेग से परमात्मा में लग जाय, परमात्मा को अपना प्राणपति मानकर ये सब भाव उनमें हों, तो फिर यह परमपद प्राप्ति का प्रधान साधन बन जाता है। स्वाति का जल गोबर में पड़ने से ही बिच्छुओं को उत्पन्न करता है। सीप में पड़ने से तो मोती हो जाता है। इसीलिये गोपियों के कामभाव को विशुद्ध प्रेम कहा है। कामपीड़िता कामिनी की जैसी दशायें होती हैं, वे सभी उनकी वैसी ही हुईं, किन्तु भगवान् में होने से वे दूषण न कहा-

कर भूषण ही कहलायीं। अतः अब जो वर्णन होगा गोपियों की काम संतप्त अवस्था का ही होगा, पाठक उसमें प्राकृति बुद्धि न करके भगवद्भावना ही करें। यह तो प्रभु का रास-विलास है। अपने ही प्रतिबिम्बों के साथ क्रीड़ा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रेम एकान्त में व्यक्त होता है। ध्यान, भजन, पूजन तथा प्रेम सबके सम्मुख बढ़ता नहीं। इसीलिये साधक संसार का कोलाहल छोड़कर एकान्त वन में जाकर ध्यान करते हैं। समूह में रहने से चित्तवृत्ति बिखर जाती है। लोक में भी देखा गया है, दस-बीस स्त्री पुरुषों के साथ कोई आओ, कोई जाओ मन पर इसका कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। एक तो शील संकोच होता है। गुह्य भावों को व्यक्त नहीं कर सकते, दूसरे चित्त की वृत्ति भी बिखर जाती है। यदि विजन में, एकान्त में, स्त्री पुरुष को, पुरुष स्त्री को देख ले, तो विकार उत्पन्न हो ही जाता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने बार-बार चेतावनी दी है अपनी सगी माता हो, बहिन हो, युवती पुत्री हो, इनके साथ में भी कभी एकान्त में न रहे, क्योंकि इन्द्रिय ग्राम बलवान् है, यह विद्वानों के मन को खींच लेता है। पति-पत्नी अपने भावों को एकान्त में—ऐसे स्थान में जहाँ बड़े बूढ़ों को—गुरुजनों के सुनने की आशंका न हो, वहाँ प्रकट करते हैं। इसीलिये इसे एकान्तिक भाव कहा है। जिसके मन में आशंका बनी रहती है उन्हें एकान्तिक सुख का यथार्थ रसास्वादन नहीं होता। प्रेम क्रमशः दर्शन से, स्पर्श से तथा अंग-संग से अधिकाधिक उत्तरोत्तर बढ़ता है। लोक में जो पति-पत्नी में भाव होता है, वही भाव गोपियों का भगवान् में था। प्रेम में जितनी ही आत्मीयता की बातें होंगी, उतना ही बढ़ेगा। प्रेमास्पद बार-बार यह सुनना चाहता है, आपके चरणों के अतिरिक्त मेरी कोई गति नहीं, इससे उसके हृदय में उसी प्रकार प्रेम का उफान

उठता है,जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र में चन्द्रमा को देखकर उफान उठता है। प्रेमास्पद के हृदय में प्रेम की अभिवृद्धि होने से प्रेमी का उत्साह और भी बढ़ता है, फिर वह अपने प्रस्ताव को निःसंकोच अनावृत भाव से रखता है। जब दोनों ही ओर से प्रेम समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन करके उमड़ने लगता है, तभी रास विलास होता है। उसके पूर्व जो होता है, वह क्षणिक इन्द्रिय विकार है, तुच्छ है, उसमें सुख नहीं, शान्ति नहीं, हृदय दौर्बल्य है।

गोपिकाओं ने अनुभव किया, हम जो इतनी देर से श्यामसुन्दर की अनुनय विनय कर रही हैं, वह व्यर्थ नहीं जा रही है। श्यामसुन्दर के हृदय में अनुराग का उफान आ रहा है। यद्यपि ये ऊपर से तो ना-ना कर रहे हैं, कहावत है "मन-मन भावै, मूँड़ हिलावै"! मन तो इनका अनुराग में भीग रहा है। ये कितने चाव से तन्मय होकर हमारी बातों को सुन रहे हैं। इसलिये उनका साहस और बढ़ा वे कहने लगीं—"श्यामसुन्दर! देखो, हम अबलाओं के साथ अन्याय मत करो। सोचो तो सही। इस बीहड़ वन में हमारा क्या रखा है, हम घर बार, कुटुम्ब परिवार का मोह छोड़कर यहाँ क्यों पड़ी हैं। एकमात्र तुम्हारे लिये ही न? हे कमलनयन! तुम तो वनवासी मुनियों के प्यारे हो, सुनते हैं वन में रहकर भजन करने वालों से तुम प्रसन्न होते हो, इसीलिये हम घर छोड़कर वन में आयीं हैं? क्या तुम हमें प्यार न करोगे? सुनते हैं आप जब शेषशैया पर सुख से शयन करते हैं, तो लक्ष्मीजी चंचल होने पर भी आपके चरणों को निरन्तर पलोटती रहती हैं; क्या इन चरणों को पलोटने का अवसर हमें दोगे। आप सोचते होंगे, हम आपसे नया ही प्रेम करती हैं। बात ऐसी नहीं है। हम आपके चरणों की शपथ खाकर कहती हैं, जिस दिन से हमने आपके कमल के सदृश कोमल नवनीत

से भी अधिक स्निग्ध इन चरणों का स्पर्श किया, उसी दिन से हम आपके हाथों बिना मोल के बिक गयीं, आपकी क्रीतदासी हो गयीं। हमसे आप बीच यमुना में खड़े होकर कहला लो आप सर्वान्तर्यामी परमात्मा में हमारा पति भाव है और इस भाव को हम पाप भी नहीं समझतीं। क्योंकि जो आपको पुत्र बना लेती हैं, वे बच्चों की भाँति आपके मुख में स्तन दे देती हैं, या नहीं और आप भी उनकी भावनानुसार बेटा बनकर उनके स्तनों को चूसने लगते हैं या नहीं? तो हम आपको पति रूप में स्वीकार करती हैं, आप हमारे वक्षःस्थल पर अपने चरणों को रखिये। आप एक बार कहें लाख बार कहें आपके अतिरिक्त हम अन्य किसी लौकिक पति पुत्रादि के सम्मुख ठहर नहीं सकतीं।"

भगवान् ने अत्यन्त भोलेपन से कहा—"तो तुम चाहती क्या हो, अपने वक्षःस्थल को तो मैंने लक्ष्मी को सौंप दिया है। उस पर तो उनका अधिकार है।"

गोपिकाओं ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"हो उनका अधिकार हमें लक्ष्मीजी से कोई डाह नहीं। वे आपके हृदय पर विहार करें। हम उनके अधिकार को छीनना नहीं चाहतीं। किन्तु आप तो नाथ! बहुवल्लभ हो न? देखो, तुलसीजी आपके चरणों की सेवा करती हैं, भक्त आकर चरणों में गिरते हैं। जो आता है उसे ही आप अपने चरणों की शरण देते हैं। हृदय पर लक्ष्मीजी का अधिकार हो तो बना रहे, किन्तु ये चरण तो पछायती हैं। जो आता है वही चरणों में पड़ जाता है। इससे चपला चञ्चला लक्ष्मीजी का चित्त चंचल हो उठता है, वे भी चरणों की सेवा करने को लालायित हो उठती हैं, उनसे भी आप मना नहीं करते, उन्हें भी चरण सेवा का अधिकार देते हैं, फिर हमें आप क्यों ठुकरा रहे हैं? हमारे लिये आप इतने कठोर क्यों बन

रहे हैं ? हम लक्ष्मीजी की भाँति कोई अनधिकार चेष्टा तो कर ही नहीं रहीं हैं। जो चरण समस्त भक्तजनों द्वारा सेवित हैं, जिन पर सर्व साधारण का अधिकार है, हम उन्हीं चरणों की रज की इच्छुका हैं। हम यहाँ पर वन देखने, ध्यान करने, शारदीय सुषमा का अवलोकन करने घरबार छोड़कर नहीं आयीं हैं। हमारा एकमात्र हेतु आपकी सेवा करना ही है। हमें आप सेवा का सुअवसर दें, सेविका समझकर अपनावें, शिष्टाचार की बातें कहकर, कुशल प्रश्न और क्षमा याचना ऊपरी बातें करके ही हमें ठुकरावें नहीं, टरकावें नहीं। अपने चरणों की सन्निधि में रहने दें।

अच्छा देखिये। इसमें हमारा अपराध क्या है। हम तो गृहस्थी के जंजाल में फँसी ही थीं। आपने हमें दर्शन क्यों दिये ? "आप कहोगे, तुम इतने लोगों के दर्शन करती हो सबसे स्नेह क्यों नहीं करतीं ?" तो और सब लोग तो सज्जन होते हैं। तुम तो चोर शिखामणि निकले। तुमने अपनी मन्द-मन्द मनोहर मुसकान से तथा चारु चितवन से हमारे चित्त को चुरा लिया है। तुमने अपने अनुराग भरे अवलोकन से कामबाण मारकर हमारे हृदय में दाह उत्पन्न कर दी है, हमारा हृदय काम सन्तप्त हो रहा है। यदि आप दया करके हमें अपनी दासी बना लें, सेविका समझकर अपनालें, तो यह दाह शान्त हो जाय। वेदना निर्मूल हो जाय। तुम तो हमें अधर में लटकाये हुए हो। न मारते ही हो न जिलाते ही हो।"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"गोपियो ! मेरे पास ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसके लोभ से तुम ऐसी पगली-सी बन गई हो। अरो, मैं तो एक निर्धन सीदा-सादा गोप-कुमार हूँ।"

गोपिकायें बोलीं—"तुम्हें सीदा-सादा कौन कहता है, तुम तो

तो स्त्रियाँ यदि अपनी आर्य मर्यादा से विचलित हो जायँ, तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ?

हम बात को अधिक बढ़ाना नहीं चाहतीं। बोलने की हममें शक्ति भी नहीं, योग्यता भी नहीं। संसार में निर्बलों की रक्षा सदा सबल करते हैं। देवताओं पर जब दुःख पड़ता है, तो दयासागर विष्णु अपने चक्रसुदर्शन से उनकी रक्षा करते हैं। प्रजा पर आपत्ति विपत्ति आती है तो अपने अस्त्र-शस्त्रों से राजा उनकी रक्षा करते हैं। व्रजमण्डल पर जब-जब विपत्ति आई, तब-तब आपने उन सबसे उसकी रक्षा की। गोप गोपियों के दुःखों को दूर किया। अब हमारे ही लिये इतने निष्ठुर क्यों बन गये हो ? काम के द्वारा पीड़िता हम दासियों की भी आप रक्षा करो। हमारे वक्षःस्थल में एक प्रकार की दाह हो रही है। घिसकर चन्दन लगाया, वह तुरन्त सूख गया। खस का सार लगाया उससे दाह और बढ़ी, सिवार को पीसकर रखा, कमल की जड़ भी लगायी किन्तु दाह मिटती नहीं। आप अपने सुखद शीतल कोमल कर कमल को हमारे वक्षःस्थल पर कुछ देर को रख दें। इस कमल की शीतलता से वह अवश्य ही शीतल हो जायगा। संसार को अभय प्रदान करने वाले अपने वरदहस्त को आप हमारे सिरों पर रख दें। इससे हमारे सिर की पीड़ा शान्त हो जायगी। श्याम-सुन्दर ! इतने निष्ठुर क्यों बन गये हो ? शरण में आयी हुई हम अबलाओं के साथ एकान्त में ऐसा अनाचार अत्याचार क्यों कर रहे हो ? अच्युत ! हमें अपनाते क्यों नहीं ? यदि हम विशुद्धा नहीं हैं, तो तुम तो विशुद्ध हो। सुनते हैं, भृङ्गी कीट को अपना-सा बना लेता है। तुम भी तो भृङ्गी के समान काले हो। अपनी शक्ति से हमें भी अपने अनुरूप बना लो, तुम कहो कि 'तुम तो दूसरे की हो तो दूसरा तुम्हारे अतिरिक्त कौन है ? तुम ही तुम तो हो, हमें दूसरों की न मानकर अपनी बना लो। प्रपन्न को

अपनाना यही तो परमेश्वर का काम है। हम प्रपन्न हैं, आपकी शरण में हैं। हमारी सेवा स्वीकार करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनुनय विनय की भी पराकाष्ठा होती है। गोपियों को अत्यन्त विह्वल देखकर कठोर कृष्ण का भी हृदय पसीज गया। अब उन्होंने जैसे प्रेम स्वीकृति प्रदान की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जा दिनतैं अति मृदुल परमपद हमने परसे।
ता दिनतैं अनुराग हृदय सर सरसिज सरसे॥
चरनकमलरज चहहिं किंकरी करि अपनाओ।
दीनबन्धु दुखदलन दया करि हृदय लगाओ॥
बाहु कण्ठ को हार करि, करसरोज सिरपै धरो।
वक्षःस्थल पदकमल धरि, हृदयताप गिरधर हरो॥

स्वीकृति

[९७०]

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥*

(श्रीभा०. १० स्क० २९ अ० ४२ श्लोक)

छप्पय

ब्रजबनितनिकी बिनय बिहारी सुनि हरषाये।
प्रेम अलौकिक जानि नयन हरिके भरि आये॥
योगेश्वर मुसकाय कह्यो हौं रमण करुंगो।
चिरदिन को सन्ताप सबनिको आज हरुंगो॥
यों कहि गोपिनि मध्यमहँ, उडुगन सम शोभित भये।
श्याम परसतैं सबनिके, चन्द्रवदन विकसित भये॥

खेल सभी को प्यारा लगता है, संसार क्रीड़ामय है। खेल होता है खेल की सामग्री से, दो चार साथियों से, संसार में ध्यान देकर देखो सब खेल रहे हैं। बालक का तो प्रत्यक्ष खेल ही आहार है। वह तो निरन्तर क्रीड़ा ही करता रहता है। अन्तर इतना ही है, कि खेल की सामग्रियों में परिवर्तन हो जाता है

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन्! योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् व्रजवल्लभ व्रजाङ्गनाओं की ऐसी विह्वलतापूर्ण बातें सुनकर दयापूर्वक मुस्कराये। फिर उन्होंने आत्माराम होकर भी उनके साथ रमण किया।"

बालकपन में भौंरा, चकई, खिलौना, झुन्झुन्ना तथा अन्य मिट्टी धातु के बने खिलौने से खेलते हैं, कुछ बड़े होने पर वह खेल लेखनी कागद पुस्तकों तथा अन्य व्यवसाय की वस्तुओं से हो जाता है। फिर युवावस्था में एक दूसरी ही क्रीड़ा आरम्भ होती है। कोई स्त्री पुरुष परस्पर में रहस्यमयी दृष्टि से–कनखियों में–देखा करें और कोई ताड़ने वाले उनके भाव को ताड़ जायँ, तो वे यही कहते हैं—"अजी, उनमें तो 'प्रणय क्रीड़ा' होने लगी है।" वह इसलिये होती है कि प्राणी क्रीड़ा के बिना रह नहीं सकता। कैसा भी गम्भीर पुरुष हो, एकान्त में जब अपने बाल-बच्चों से मिलता है तो बालकों में बालक बन जाता है, तुतलाकर उन्हीं के समान बोलता है। उनका घोड़ा बनता है। बहुत-से आचार्य साधु-सन्तों को देखते हैं। वे अपने आसन पर दर्शकों के सामने ऐसे गुम्म बने बैठे रहते हैं, मानों पाषाण की प्रतिमा हों, किन्तु जब वे एकान्त में अपने साथियों से मिलते हैं, तो कितने हँसते हैं, विनोद करते हैं, गप्प-सप्प लगाते हैं। कोई अंतरङ्ग भक्त पूछता है। 'यह क्या महाराज ?' तब कह देते हैं—"ये हमारे बालसखा हैं, खेल कर रहे हैं।' वे इस बात को भूल जाते हैं कि अब तक जो सिंहासन पर तुम बैठे थे। वह भी खेल ही था। यह सब खेल-माल है। जीव क्रीड़ा प्रिय है। खेल सबके साथ नहीं होता। जिससे आत्मीयता होती है उसी के साथ खुलकर खेला जाता है। यों अन्यों के साथ शिष्टाचार बरता जाता है। शिष्टाचार भी एक खेल ही है, नाटक ही है। इसमें भी जीव को आनन्द आता है। नाटक अभिनय में सबकी रुचि क्यों होती है। उसमें प्रत्यक्ष खेल है। साधुओं को हम नित्य देखते हैं। हमें कुतूहल नहीं होता, नाटक में जब साधुओं को देखते हैं, तो कुतूहल होता है। क्योंकि वह नाटक का साध है। खेल दो प्रकार के होते हैं। एक सुखान्त दूसरा

करुणापूर्ण खेल दुःखान्त होते हैं। मिलन, हास्य तथा शृङ्गारादि पूर्ण खेल सुखान्त। किन्तु सुखान्त दुखान्त दोनों से ही सुख होता है। सुख न होता तो श्रीरामचन्द्र, पांडव, द्रौपदी आदि की दुःख की कथायें बार-बार क्यों सुनी जातीं। उस रोदन में भी सुख है। सारांश यह है कि जीव क्रीड़ाप्रिय है। वह नित्य नूतन क्रीड़ा चाहता है। भगवान् भी क्रीड़ाप्रिय हैं। वे अकेले हैं। अकेले तो खेल होता नहीं अतः वे अपने आत्मा में ही रमण करते हैं। स्वयं ही अपनी मोहिनी माया से क्रीड़ा करते हैं। इसी लिये वेद उपनिषदों में उन्हें 'आत्मक्रीड़' आत्मरति के नाम से कहा गया है। खेल कहो, क्रीड़ा कहो, रति कहो सब एक ही बात है। खेल में सब उचित अनुचित बातों का समावेश हो जाता है। कोई अच्छे प्रतिष्ठित साधु सन्त हैं, उनसे कोई ऐसा-वैसा लोक विरुद्ध व्यवहार हो जाता है, तो उनके भक्तगण यह कहकर बात को टाल-मटोल कर देते हैं—"अजी यह तो महाराज का खेल माल है।" अर्थात् खेल में सब कुछ हो जाता है। जहाँ छोटे बड़े पन का, उचित अनुचित का विचार होता है वहाँ प्रेम खेल न होकर शिष्टाचार का खेल होता है।

खेल, क्रीड़ा अथवा रति में पहले इच्छा होती है। उसी का नाम है पूर्वानुराग। पूर्वानुराग में जिनके साथ क्रीड़ा करनी होती है, उनसे मिलने की इच्छा प्रबल हो जाती है। पूर्वानुराग के अनन्तर होता है मिलन। मिलन में पूर्वानुराग की अपेक्षा अधिक आनन्द आता है। फिर होती है विरह, विरह में होता है संताप, वह संताप ही सर्वश्रेष्ठ सुख है। जैसे सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये युग तो चार ही हैं, किन्तु सत्ययुग बीतते ही सहसा त्रेतायुग नहीं आ जाता है। बीच में कुछ समय होता है। जिसे न सत्ययुग का समय कहते हैं न त्रेता का। उसका नाम है सन्धि सन्ध्यांश काल। इसी प्रकार पूर्वानुराग और मिलन के बीच का

एक समय होता है उसे 'रत्योद्बोधक' कह सकते हैं। उसमें प्रेम की अभिवृद्धि करनी होती है। जैसे हमें बच्चे के साथ खेलना है। खेलने को इच्छा करना यह पूर्वानुराग है। बच्चा सामने आ गया तो यह मिलन हुआ। किन्तु वास्तविक मिलन अभी कहाँ। हमने गोद में लेने को अपने हाथ उठाये। बच्चा थोड़ी देर देखता रहा। फिर झट भाग गया कुछ दूर जाकर सिर हिलाता रहा। हँसता रहा, सैंन मटकाता रहा। हम उससे कहते हैं। "आओ आओ!" वह आता नहीं सिर हिलाता है। गोदी में आने की उसकी इच्छा न हो सो बात नहीं। वह भी गोदी में आना चाहता है। किन्तु वह प्रेम को और बढ़ा रहा है, मचल-कर रति का उद्बोधन कर रहा है। हम उसे भाँति-भाँति के प्रलोभन देते हैं। अन्त में वह या तो हाथ उठाकर या किसी दूसरी प्रकार से स्वीकृति देता है। तो हम उसे कसकर छाती से चिपटा लेते हैं। उसके मुख में अपना मुख सटा देते हैं। इसका नाम है मिलन। जहाँ तक द्वैत है तहाँ तक सच्चा मिलन नहीं व्यभिचार है। एकत्व होना ही मिलन है। मिलन में स्वीकृति आवश्यक है। मिलने के पश्चात् होती है क्रीड़ा। बच्चे को हृदय से लगाकर फिर उससे क्रीड़ा करते हैं। उसकी बगल में गुल-गुली करके उसे हँसाते हैं। आटे बाटे दही चटाखे बर फूले, बन बारी फूले, बारहमास करेला फूले आदि व्यर्थ की बातें करके उसके कुतूहल को बढ़ाते हैं। बार-बार उसका आलिंगन करते हैं। कोई मिठाई या अन्य वस्तु उसके मुख में डालते हैं। वह भी अपने छोटे-छोटे हाथों से हमारे मुख में डालता है, तो डालते समय हम उसके हाथों को ओठों से या दाँतों से दबा लेते हैं। उसके कान में 'कुरु' करके उसे हँसाते हैं। उसके बालों में उँगली डालकर उन्हें सुहलाते हैं। गोदी में लेकर ऊपर उछाल देते हैं। गेंद की भाँति फिर उसे लेते हैं। उसे पकड़कर घुमाते

हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हैं। इसमें बालक को भी अत्यधिक सुख होता है और खेलने वाला भी आत्म-विभोर हो जाता है। उस समय उसका सब शोक संताप शान्त हो जाता है। खेल में आत्मविस्मृत हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं गोपियों के पूर्वानुराग की दशा तो वेणुगीत आदि प्रसंग में वर्णन कर ही चुका हूँ। अब मैं मिलन प्रसंग का ही वर्णन कर रहा हूँ। मोहन की मुरली की मधुरमनोहर तान सुनकर व्रजांगनायें अपने गृहकार्यों को परित्याग करके श्यामसुन्दर के समीप आयीं। वे उनके अंक में आसीन होकर क्रीड़ा करने को समुत्सुक थीं। श्रीकृष्ण के समीप आ गयी हैं। नेत्रों से नेत्र मिल गये। किंतु नयनों का मिलना ही यथार्थ मिलना नहीं, हृदय-से-हृदय मिलने का ही नाम मिलन है। यद्यपि किसी-किसी ने नयनों के मिलन को ही नीक बताया है, किंतु वह उपालंभ मात्र है। व्यंग है, नेनों का मिलन पूर्वानुराग की अभिवृद्धि करता है, वह मिलन नहीं। श्रीकृष्ण मिलना न चाहते हों, सो बात नहीं। ताली एक हाथ से थोड़े ही बजती है। गोपिकाओं की मिलने की उत्कट इच्छा थी, किन्तु श्रीकृष्ण ने मिलन की स्वीकृति प्रदान नहीं की। अपनी अनुरक्तभक्ता गोपियों को मिलने की श्यामसुन्दर ने स्वीकृति प्रदान क्यों नहीं की जी?" अब तुम्हें बार-बार तो बता चुके भाई! सहसा कोई वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उसकी प्राप्ति में उतना सुख नहीं होता, जो अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ, चिरकाल की प्रतीक्षा के साथ प्राप्त की हुई वस्तु की प्राप्ति में सुख होता है। बिना भूख के जो पेट में चटपटी चटनी की सहायता से भोजन ठूँसा जाता है, उसमें उतना रस नहीं, स्वाद नहीं, तुष्टि पुष्टि नहीं। भूख जितनी ही उत्कट होगी, भोजनों में उतना ही अधिक स्वाद आवेगा। गोपिकाओं की मिलने की इच्छा उत्कट तो थी-उसे

अत्युत्कट बनाने को ही भगवान् ऊपर से सिर हिलाते रहे, निस्पृह बाबाजी बने रहे। जब उन्होंने देखा इनकी अभिलाषा अत्युत्कट हो गयी है, तब कठोरहृदय कृष्ण के भी हृदय में दया का संचार हुआ। उन व्रजांगनाओं की दीनता, विनय और विवशता से पाषण भी द्रवीभूत हो गया। आत्माराम होकर भी उन गोपियों के साथ भगवान् ने रमण किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! व्रजवल्लभ नन्दनन्दन तो आत्माराम तथा आप्तकाम हैं, वे तो अपनी आत्मा में ही नित्य रमण करते रहते हैं, वे तो नित्य तृप्त हैं, आप्तकाम को क्या स्पृहा? जो आत्मतुष्ट हैं, उन्हें गोपियों के साथ रमण करने की क्या आवश्यकता थी? श्रीकृष्ण तो अकेले थे, गोपिकायें असंख्य थीं, अकेले ने उन सबके साथ कैसे रमण किया?"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन्! पहिले आप व्रज, आत्माराम तथा आप्तकाम का अर्थ समझ लें। 'व्रज' शब्द का अर्थ है व्याप्ति। व्यापक होने के कारण ही नन्दनन्दन की क्रीड़ा भूमि का नाम 'व्रज' पड़ता है। वह व्यापक त्रिगुणातीत है। क्योंकि वही तो तीनों गुणों में व्याप्त है। सबका अधिष्ठान वही एकमात्र है। इसलिये सर्वव्यापक परब्रह्म का भी नाम परिपूर्ण और व्याप्त होने के कारण 'व्रज' कहा गया है। वह सदानन्द स्वरूप, परमज्योतिर्मय और अविनाशी है। जो व्रज साक्षात् परब्रह्म स्वरूप है उसमें नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य निवास है। वह उनका स्वरूप ही है, इसलिये नन्दनन्दन का नाम व्रजवल्लभ कहा है। उन व्रजवल्लभ का अनुभव ,सत्तू खाकर भूख शान्त करने वाले दुर्बल शुष्क प्रकृति के पुरुष नहीं कर सकते। रसीले सुस्वादु तरमाल उड़ाने वाले, रसगुल्ला की भाँति भीतर-बाहर से प्रेमरस में पगे हुए प्रेमी रसिक जन ही रसिक-शेखर के मधुर रस का अनुभव कर सकते हैं।"

अब इस पर विचार करना है, कि भगवान् को आत्माराम और आप्तकाम क्यों कहा। नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की आत्मा हैं, श्रीराधिकाजी। भगवान् उनके साथ नित्य रमण करते रहते हैं, दोनों ओर से प्रेम का समुद्र उमड़ता रहता है। नित्य नव-नव प्रेम की अभिवृद्धि होती है। निरन्तर मिले रहने पर भी दोनों ओर से सदा यही अनुभव होता है। मानों हम पहिले कभी मिले ही नहीं, अभी मिल रहे हैं। इस प्रकार रमण करने से वे आत्माराम कहलाते हैं।

अच्छा, फिर आप्तकाम का क्या अर्थ? कामना कहते हैं इच्छा को, इच्छित वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा का ही नाम काम है। व्रज में रहकर भगवान् की कामना क्या है? गौओं का पालन-पोषण करना, ग्वालवालों के साथ क्रीड़ा करना, गोपियों के साथ मधुर रस की खिलवाड़ करना, तथा सरसलीला विहार करना। ये सब भगवान् को व्रज में पूर्णमात्रा में प्राप्त है। इसीलिये उनका नाम 'आप्तकाम' है। इस लीला के रहस्य को प्राकृत पुरुष उनकी कृपा के बिना अनुभव नहीं कर सकते। क्योंकि ये तो प्रकृति से परे की बातें हैं। हाँ, जब भगवान् प्रकट रूप में अवतार लेते हैं, तो उसका अनुभव प्राकृत पुरुष भी कुछ कर सकते हैं। कुछ इसलिये कहा कि भगवान् की अवतार-लीलायें भी दो प्रकार की होती हैं। एक वास्तवी दूसरी व्यावहारिकी। वास्तवी लीला तो स्वसंवेद्य है। उसका अनुभव तो स्वयं भगवान् और उनके परमरसिक अनन्योपासक भक्तजन ही कर सकते हैं। व्यावहारिकी लीला तो बिना प्रकृति को साथ लिये बनती नहीं, इसलिये प्रकृति के साथ होने से प्राकृत पुरुष उसे देखते हैं, किन्तु यह वास्तवी लीला से सर्वथा भिन्न है। यह तो हुई आत्माराम और आप्तकाम की व्याख्या।

अब आपने शंका की, कि एक श्रीकृष्ण ने असंख्यों गोपियों के

साथ रमण कैसे किया। सो इसका भी उत्तर सुनिये। योगी अपनी इच्छा से अनेक रूप रख सकता है। सभी जानते हैं महर्षि सौभरि ने योगबल से पचास रूप रखकर महाराज मान्धाता की पचास कन्याओं के साथ रमण किया। योगी को योग प्रभाव से सभी सामर्थ्य प्राप्त होती हैं। समस्त योगों के ईश्वर शिवजी हैं। इसीलिये उन्हें योगेश्वर कहते हैं। उन शिवजी के भी जो ईश्वर हैं। उन योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र के लिये उतने रूप रख लेना यह कौन-सी आश्चर्य की बात है? सभी गोपियों ने यही अनुभव किया कि श्यामसुन्दर हमारी ही ओर बाहु फैलाकर हमें ही आलिंगन दान देने को उत्सुक हो रहे हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हाँ हमारी शंका का समाधान हो गया। अब आगे की कथा कहिये। आगे क्या हुआ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज, अब आगे की कथा कहने की सामर्थ्य है ही नहीं। आगे हुआ क्या अब जो करने को शेष था, वही हुआ। रमण हुआ, रासविलास हुआ। उसका वर्णन मैं इतनी लम्बी दाढ़ी से कैसे करूँ। वहाँ तो बिना दाढ़ी मूछों वालियों का प्रवेश है। न श्रीकृष्ण के ही दाढ़ी मूछें थीं, न एक भी गोपी के दाढ़ी मोंछें थीं। सब सफाचट थीं, सबके सिर पर काले-काले घुँघराले बाल थे। सफेद बालों के तो वहाँ दर्शन ही नहीं थे। मेरी भूरी-भूरी दाढ़ी को कोई वहाँ की गोपी देख ले, तो डरकर भाग जाय, यह किस लोक का जन्तु आ गया। सो प्रभो! रासविलास का वर्णन मेरी शक्ति के बाहर है, सामर्थ्य के परे की बात है। इसका वर्णन मैं नहीं कर सकता, नहीं कर सकता, आप मुझसे आग्रह न करें। आगे की कथा मैं कहता हूँ।"

नम्रता के साथ शौनकजी ने कहा—"नहीं सूतजी! ऐसी कोई बात नहीं है। भगवान् की समस्त लीलाओं का यथार्थ

वर्णन तो ब्रह्माजी भी नहीं कर सकते। फिर अन्य लोगों की तो बात ही क्या ? गंगाजी के समस्त जल को पात्र में भरकर कौन ले जा सकता है। फिर भी पात्र में भरकर ले जाते हैं, तो सब कहते हैं, हम गंगाजी लाये हैं। क्या अनन्त आकाश का पार पक्षी पा सकता है। फिर भी वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार उड़ता है। आप जूआ न डालें, रासलीला का वर्णन अवश्य करें, कहीं आप भी तो बालकों की भाँति खिलवाड़ नहीं कर रहे हैं ? कहीं ना-ना, कहकर आप भी हमारी अभिलाषा को तो बढ़ा नहीं रहे हैं ? महाभाग ! हम तो पहिले से ही इस प्रसंग को सुनने को अत्यन्त उत्सुक हैं।"

यह सुनकर हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! यह बात नहीं। सचमुच यह विषय बड़ा गम्भीर है। मुझ जैसे विषयी को इसे कहने का अधिकार भी नहीं है। फिर भी जब आप आज्ञा दे रहे हैं, इतना आग्रह कर रहे हैं, तो आपकी आज्ञा पालन करूँगा ही, यथामति यथाशक्ति मैं इसका वर्णन करूँगा ही। अब आप सब समाहित चित्त से इस पुण्य प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

बाहुपासमहँ जकरि फिरै बन रतिपति सम हरि।
ज्यों हरिनिनि सँग हरिन करिनि सँग मदमातो करि॥
कृष्ण कीरतन करति कंठ कल सब मिलि गावें।
नटवर वेनु बजाइ तालमहँ ताल मिलावें॥
बन बन विचरत सखिनि सँग, आये गिरधर पुलिन महँ।
यमुनातट शीतल सुखद, सरस बालुका रम्य जहँ॥

आत्माराम का रमण

[६७१]

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामु-
त्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २९ अ० ४६ श्लोक)

छप्पय

चंचल तरल तरंग संग शीतल मलयानिल ।
कुसुम कुमुदिनी गंध पवन सँग खेले हिलमिल ॥
तहँ रासेश्वर आइ रमण रमणिनि सँग कीन्हों ।
काम कलातैं सबनि अलौकिक सुख अति दीन्हों ॥
तनु पुलकित हुलसित हृदय, हँसहिँ हाथ फैलाइकें ।
मिलहिँ परस्पर प्रेमतैं, भरमामें चौंकाइकें ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र व्रजांगनाओं के कामरस को उद्दीप्त करने के निमित्त विविध चेष्टायें करने लगे। जैसे आलिंगन के लिये बाहुओं को पसारना, हृदय से सटा लेना, करों को, केशों को, कटिवस्त्र बन्धन को, ऊरुओं को तथा स्तनों को छूना, हँसी करना, नखक्षत करना, विनोद पूर्ण चितवन से अवलोकन करना तथा मुस्काना। इस प्रकार उन्हें सुख देते हुए क्रीडा करने लगे।"

जो बात अनुभव की है, रहस्यमय है उसका वर्णन भाषा में हो ही नहीं सकता। कुछ रूढ़ि रहस्यमय शब्द होते हैं, जो उसी विषय में व्यवहृत होते हैं। उसका अर्थ परम्परा से ही समझा जाता है। जैसे 'पिंड' शब्द है। कोई कहे 'हमें पिताजी के पिंड करने हैं।' हमारे यहाँ का छोटे से छोटा बच्चा इसका अर्थ समझ जायगा। किन्तु जिन देशों के लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते। जहाँ श्राद्ध तर्पण होता ही नहीं उन्हें पिंड का अर्थ समझाओ, उनसे कहो–'आटे का गोला' आटे की गेंद। मरे हुए पितरों को दिया जानेवाला सना आटा। 'तो इन सबका वे कुछ भी भाव नहीं समझ सकते। उपनिषदों में बहुत-से यन्त्र हैं, जिनकी परम्परा नष्ट हो गयी है। अब उन्हें कोई बनाना चाहे, तो नहीं बना सकता। क्योंकि उनमें जो प्रचलित शब्द बताये गये हैं, उनका स्वरूप हम नहीं जानते। आज सर्वतोभद्रचक्र बनाने को कहें, तो छोटे से छोटा कर्मकाण्डी बिना श्रम के बना देगा, लिखकर समझावें तो समझ नहीं सकते। इसी प्रकार मुद्राओं की बात है। जिन्होंने परम्परा से मुद्राओं को सीखा है वे शीघ्रता से मुद्राओं को सिखा देंगे, किन्तु पढ़कर ही कोई मुद्रा बनाना सीखना चाहे, तो वह अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार गोपियों के साथ किया हुआ भगवान् आनन्दकन्द का रमण यह वाणी और लेखनी के परे का विषय है, बिना गोपी भाव भावित हुए प्राणी उसका अनुभव कर नहीं सकता। अतः यह कहने का विषय नहीं और सुनने का भी नहीं, अनेकों जन्मों की साधना के अनन्तर इस विषय को अनुभव करने की योग्यता प्राप्त होती है। यह हम बार-बार बता चुके हैं, गोपी न स्त्री हैं, न पुरुष और न नपुंसक, यह एक भाव है जो लिंगाभिमानी की परे की वस्तु है। फिर भी लोकलीला के निमित्त गोपियों का स्त्री वेष है, श्यामसुन्दर का

पुरुष। स्त्री पुरुषों में जो परस्पर में प्रेम की क्रीड़ायें होती हैं, वे ही गोपियों और श्रीकृष्ण के बीच में होती हैं। अतः इस उपासना का अधिकार स्त्री जाति को ही विशेष है, क्योंकि वे लोक में पति से प्रेम कर चुकीं हैं। उसे ही उन्हें भगवान् में मोड़ना है। जिसने कभी किसी से प्रेम किया ही नहीं, वह भगवान् से प्रेम कर ही नहीं सकता। जिस खेत में आक, धतूरा, एरण्ड, करील, बबूर ये उत्पन्न होते हैं, उसमें संभावना हो सकती है, गेहूँ भी पैदा हो जायँगे, किन्तु जो सर्वथा ऊसर भूमि है। जिसमें कुछ पैदा होता ही नहीं, उसमें क्या संभावना की जा सकती है। 'किसी सन्त के समीप कोई जिज्ञासु गया, कि मुझे प्रेम मार्ग की दीक्षा दे दो।'

सन्त ने पूछा—"संसार में तुमने आज तक किसी से प्रेम किया है ?"

उसने कहा—"नहीं, महाराज ! मैंने तो किसी से भी प्रेम नहीं किया।"

संत ने कहा—"तो जाओ, पहिले संसार में किसी से प्रेम करना सीखो। पहिले पट्टीपर लिखना सीखो। हाथ सधने पर फिर कागद पर लिख सकोगे।" सारांश यह कि संसारी प्रेम प्रेममहाविद्यालय का प्राथमिक पाठ है। यह संसार आरंभिक पाठशाला है। पहले हमारे यहाँ नेत्रों के चिकित्सक आँखें बनाने की शिक्षा इस प्रकार से देते थे, कि किसी जल के पात्र में नीबू का समूचा फल डालकर विद्यार्थी से कहते-इसमें ऐसे सुई मारो जिससे फल में तो सुई चुभ जाय, किन्तु जल न हिले।" यहाँ फल में सुई मरवाने से तात्पर्य केवल आँखों में सुई डालने के अभ्यास से है। हाथ इतना हलका हो जाय, कि आँखों की चीर फाड़ में कोई अनर्थ न हो। जो बिना शिक्षा के अनाधिकार चेष्टा करते हैं, वे सफल होते।

प्रेमसाधना अनुभव की वस्तु है, सभी इसके कहने सुनने के अधिकारी नहीं होते। इसीलिये मुनियों ने इस विषय को बहुत ही गुप्त रखा है। इसका जहाँ भी वर्णन किया है, बड़े रहस्यमय ढँग से किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। आप मुझे आज्ञा तो दे रहे हैं, कि मैं भगवान् के गोपियों के साथ किये हुए रमण का वर्णन करूँ, किन्तु सच्ची बात तो यह है, मेरा साहस नहीं हो रहा है। महाभागो! गूँगा गुड़ खाकर भी उसका स्वाद वर्णन नहीं कर सकता। किसी से भी पूछो—"नवनीत में कैसा स्वाद है?" तो अच्छा है, इसके अतिरिक्त वह क्या कह सकेगा। इसीलिये मेर गुरुदेव भगवान् शुक ने इस विषय का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में संकेत के साथ किया है। उन्हीं के पदों का अनुसरण करके मैं कुछ कहूँगा। परन्तु मैं इसमें सफल न हो सकूँगा, क्योंकि मुझमें इतनी योग्यता नहीं है।

हाँ तो भगवान् की स्वीकृति मिलने पर उन व्रजांगनाओं के मुखकमल खिल उठे। वे प्रफुल्लवदन वाली बालायें अपने कमनीय कटाक्षों से कोटि कँदर्पों के दर्प को दलन करने वाले श्रीकृष्ण की ओर अनुराग भरी दृष्टि से निहारने लगीं। मदन-मोहन अपनी मनहरन मुसकान और कुन्दफली समान दाँतों की कमनीय कान्ति से उन व्रजवल्लभियों से घिरे ऐसे सुशोभित हुए मानों तारामंडल से घिरे हुए चन्द्रमा सुशोभित हो रहे हों।

भगवान् उन व्रजांगनाओं के कंठ में गलबैयाँ डाले रति-पति के सदृश प्रतीत हो रहे थे। वे वैजयन्तीमाला को धारण किये हुए उन सबके संग यूथपति के सदृश इधर से उधर वन में विचरण कर रहे थे। वे कृष्णप्रिया कामिनी अपने कोकिल कूजित कमनीय कंठों से कृष्ण की कलित कीर्ति का गान कर रहीं

थीं। श्रीकृष्ण भी उनके स्वर में स्वर और लय में लय मिलाकर उनके गाने का अनुकरण कर रहे थे। उनकी ताल में ताल मिलाकर स्वयं भी गा रहे थे। अपने सुखद संस्पर्श के साथ उन्हें वन की शोभा दिखा रहे थे। व्रजांगनाओं के अनुराग की अनुक्षण अभिवृद्धि हो रही थी। अतः विचरण के अनन्तर रमण की अभिलाषा अत्युत्कट हो रही थी, उसकी पूर्ति के हेतु यशोदानन्दन यमुनाजी के पावन पुलिन के सन्निकट आये। वहाँ की बालुका सरस थी, सुन्दर थी, स्वच्छ थी, कोमल और गुदगुदी थी। मानों किसी ने अति मृदुल शैया पर अति सुखद आस्तरण बिछा दिये हों। वहाँ जितनी गोपियाँ थीं, उतनी कुंजों का निर्माण नन्दनन्दन ने अपनी योगमाया के द्वारा किया, फिर प्रत्येक रमणी के साथ राधारमण ने रमण की अभिलाषा से निकुञ्ज में प्रवेश किया। उस समय का दृश्य अलौकिक था। काम का सखा मलयानिल कालिन्दी की उत्ताल तरङ्गों के संसर्ग से शीतल और परमसुखद बन रहा था। कुमुदिनी के कुसुमों की गन्ध से वह सुगन्धित बन रहा था और श्रीकृष्ण के भय से पैरों की पैछर बचाकर मन्द-मन्द गति से चल रहा था। उस अलौकिक आनन्दमय अवसर पर अच्युत ने अपनी अनन्योपासिका गोपिकाओं के संकल्प को पूर्ण किया। काम कला में परम प्रवीण प्राणपति प्रेष्ठ ने अपनी प्रियतमाओं की चिरकालीन अभिलाषा की पूर्ति की। बाहु प्रसार, परिरम्भ, कर, अलक, जघन, कटिपटबन्धन-मोक्षण, हृदय, स्पर्श, नर्म नख-दन्तक्षत, चारु चितवन, मन्द मन्द मुस्कान तथा और भी जो कुछ हुआ करता है सब कुछ कर करा के उनके काम संतप्त हृदय को शान्त किया। उनको सुख दिया, उनके अधीन-से हो गये, दीनता-सी दिखाने लगे। बार-बार उनसे प्रणय की याचना करने लगे। अब तो उन गोपिकाओं का अभिमान बढ़ा। अब

तक जो भीगी बिल्ली-सी बनी म्याऊँ-म्याऊँ कर रही थीं, अब वे सिंहनी की भाँति गरजने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मनुष्यों को अपनी पूर्व स्थिति स्मरण बनी रहे, तो न उसे कभी अभिमान हो और न भगवान् को भूले। पूर्व स्मृति को भूलकर ही जीव अपने को भगवान् से विलग समझने लगता है, अशान्त हो जाता है और फिर अपने सुखदाता सच्चिदानन्द की भीतर खोज न करके बाहर खोज करता है। किन्तु वे तो दूर नहीं पास ही हैं हृदय की कोठरी में छिपे हैं। वहाँ न खोजकर बाहर खोजता है। ये सब अनर्थ अभिमान से होते हैं। गोपियों के मन में जब अभिमान आ गया, तो भगवान् ने सोचा—"अरे, यह दूसरे किस जार ने इनके हृदय पर आकर अधिकार जमा लिया। उस जार को नाश करने के लिये उसे मारने को भगवान् ने एक उपाय सोचा।"

छप्पय

कबहूँ बिनवें दीन होहिँ पुनि कबहूँ अकरें।
हिय, मुख, कर, कटि, केश करनितैं पुनिपुनि पकरें॥
करि-करि क्रीड़ा ललित प्रेमरसमाहिँ भिगोईं।
कुसुम कली सम सकल सरसतामाहिँ डुबोईं॥
जगपति परबस-से भये, करी तृप्त अति सुख दयो।
पाइ मान अति श्यामतैं, मान सबनि हियमहँ भयो॥

—:—

अन्तर्धान

[९७२]

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥*

(श्री भा० १० स्क० २९ अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

जिहि हियमहँ मनहरन मान तहँ रिपु घुसि आयो ।
समुझि गये घनश्याम दृश्य अति दुखद दिखायो ॥
करन कृपा मदहरन रमनतैं बिरत भये तब ।
अन्तर्धान सुजान भये बिलखैं गोपी सब ॥
पति बिनु नारी बिकल ज्यों, हथिनी ज्यों बिनु यूथपति ।
त्यों व्याकुल गोपी भईं, निरखि निकुञ्ज न प्रानपति ॥

लोक में जिन वस्तुओं को बुरा बताया जाता है, यदि वे ही भगवान् में लग जायँ, तो अच्छा हो जाती हैं। काम, क्रोध तथा भय आदि लोक में बुरे हैं, यदि वे भगवान् के प्रति हों, तो ये ही परमपद प्राप्ति के साधन बन जाते हैं। लोक में अभिमान करना, अपने सौभाग्यपर मद करना यह बुरी बात है। यही मान मद भगवान् के प्रति हो जाय, तो विरह उत्पन्न करता है, जिससे

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र यह देखकर कि इन्हें मान और सौभाग्यमद हो गया है, तो वे उसे करने तथा उनके ऊपर कृपा करने के निमित्त वहीं अन्तर्धान हो गये

हृदय द्रवीभूत होता है, अन्तःकरण विशुद्ध बनता है, जिससे मुसकाते हुए माधव सम्मुख प्रकट हो जाते हैं। लोक में भी देखा गया है, पति-पत्नी में जो प्रेम का मान होता है, वह प्रेम को और बढ़ाने के ही निमित्त होता है। भक्तिरस शास्त्रों में जो प्रेम के व्यभिचारी भाव बताये हैं। जैसे निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीड़ा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल, निद्रा, सुप्ति तथा बोध इनमें से अधिकांश लोक में निन्दित माने जाते हैं, किन्तु जब ये भक्ति सम्बन्ध से होते हैं, तो अति आदरणीय रस के पोषक माने जाते हैं। रस वृद्धि के ही लिये मान और मद गोपिकाओं के हृदय में उत्पन्न होते हैं। ऐसा न हो तो जिस तन मन में मनमोहन बसे हुए हैं, उसमें लौकिक मद मान का प्रवेश ही कैसे हो सकता है। मान मद का होना यह भी एक क्रीड़ा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब व्रजांगनाओं का भगवान् ने अत्यधिक सम्मान किया, अपने हाथों उनके केशपाशों को सुलझाया, उनमें पुष्प मालायें गुम्फित कीं, उनके तिलक लगाया और भी सब प्रकार से उनका आदर किया, तो वे मानवती अपने को संसार में सम्पूर्ण स्त्रियों से श्रेष्ठ समझने लगीं। वे सोचने लगीं—"लोग जिनके दर्शन के लिये लालायित बने रहते हैं, सुन्दरी से सुन्दरी स्त्रियाँ जिनके तनिक से कृपा कटाक्ष के लिये कातर-सी व्याकुल-सी बनी रहती हैं। वे ही आज हमारी इस प्रकार सेवा कर रहे हैं, वे ही आज ऐसी दीनता दिखा रहे हैं।" भगवान् ने देखा, इनको तो अपने सौभाग्य का मद हो गया है। यह प्रेम में घातक है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मद क्या होता है?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! 'मद' की क्या व्याख्या की जाय, मद तो संसार में प्रसिद्ध ही है, सभी जानते हैं। अपने सौभाग्य पर कृतकृत्यता हो जाय, अहा हम कैसे सौभाग्यशाली हैं, इतने बड़े आदमी हमारे वश में हैं। इस प्रकार अपने रूप का, युवावस्था का, गुणों का, सर्वोत्तम आश्रय का, तथा इष्ट लाभ पर गर्व हो जाय, यही मद कहलाता है। गोपिकायें अपने सौभाग्य की भी सराहना करने लगीं और उन्हें अपने रूप यौवन का भी गर्व हो गया। सर्वोत्तम आश्रय पाकर तथा चिरभिलाषित इष्ट को पाकर वे अपने को सर्वश्रेष्ठ गुणवती समझने लगीं। वैसे रस शास्त्रकारों ने मद में और गर्व में भेद किया है। मद तो यौवन के अधिक उफान में और मधुपान से होता है। उसमें विवेक नहीं रहता, हृदय में उल्लास अधिक होता है। वाणी स्खलित हो जाती है। कुछ का कुछ बकने लगता है। उसमें कोई हँसते गाते हैं, चिल्लाते हैं, गाली देते हैं तथा रोते पीटते हैं आदि। किन्तु यहाँ सौभाग्य मद से अभिप्राय गर्व से ही है। उन्हें मान भी हो गया। मान से यहाँ अभिप्राय प्रेम में जो मान होता है, वह नहीं। यहाँ मान से अभिप्राय है अभिमान से। भगवान् ने देखा, मेरी प्रियाओं के हृदय में मद और मान ने प्रवेश किया तो यह बात तो उचित नहीं है। इसे शान्त करना चाहिये। यदि अत्यन्त निर्धन को सहसा विपुल धनराशि मिल जाय और उसके कारण उसे अत्यधिक मद हो जाय, तो उसका एकमात्र यही उपाय है उसके धन को नष्ट कर देना चाहिये। नष्ट कहते हैं अदर्शन को। अतः भगवान् उन पर कृपा करने के लिये तथा मद मान को शान्त करने के लिये वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। गोपियाँ उनके कण्ठ में जो बाहु डाले हुए थीं, वह बाहु ज्यों की त्यों शून्य में शून्य-सी खड़ी ही रहीं। अपने समीप श्याम को न निहारकर उन सबका मान, उसी

कहा—"बेटी तनिक दही तो बिलो दे। मन तो मनमोहन की मूरति में मग्न है। माँ के कहने से शरीर के भार को अनिच्छापूर्वक उठाकर दधि मथने के स्थान पर लाडिलीजी आ गयीं। वहाँ दधि मथने की मथानी रखी थी, जिससे दही बिलोया जाता है वह रई रखी थी, उसमें रस्सी बँधी थी। अब करना यह था, कि खिड़की में जो जमा हुआ दही रखा है उसे मथने के पात्र में उड़ेलकर उसमें रई डालकर मथे। किन्तु श्रीकृष्ण की स्मृति में वे तो पगली हो रहीं थीं। खाली मथनी में रई डालकर उसे ही बिलोती रहीं। कुछ देर में माता आई और बोली—"राधा! तेरी मति तो नहीं मारी गयी है, तू पगली तो नहीं हो गयी है। बिना दही डाले खाली वर्तन में रई फिरा रही है।" राधाजी को अब सुधि आयी वे लज्जित हुईं। इसी का नाम है प्रौढ़ानन्दोन्माद। यह दोनों ही ओर से होता है। राधाजी की ही यह स्थिति हो, सो बात नहीं। कृष्ण भी राधाजी की स्मृति में ऐसे तन्मय हो जाते थे, कि गौओं को दुहना भी भूल जाते। एकान्त में बैठकर प्यारीजी के गोल-गोल सुन्दर मुख का चिन्तन करते रहते। मैया कहतीं—"अरे कनुआ! कैसे तू उदास हो रहा है, जा गौ दुह ला।"

माता के कहने से गौ दुहने जाते, किन्तु प्यारीजी के प्रेमोन्माद में इतने बेसुधि हैं, कि गौ के नीचे न बैठकर साँड़ को दुहने लगे। इतने में ही कोई सखा आ गया। उसने पूछा—"कनुआ! क्या कर रहा है?"

वहाँ बैठे ही बैठे आप बोले—"अरे, सारे! तेरी आँख फूट गयीं हैं क्या? गौ दुह रहा हूँ।"

हँसकर गोप बोला—"मेरी तो आँख फूटी नहीं हैं। प्रतीत होता है तुझे किसी गोरे मुख ने उन्मादी बना दिया है। तू गौ दुह रहा है या साँड़ को दुह रहा है।" अब श्रीकृष्ण को सुधि

आयी, बात बनाते हुए कहा—"अरे, मैं तो साँड़ की कलीलियों को छुड़ा रहा हूँ, ये चिपटकर इसे काटतीं होंगी।" गोप मुस्कराता हुआ चला गया। यही दोनों ओर के प्रौढ़ानन्दोन्माद के लक्षण हैं।

आपत्तियों में भी उन्माद हो जाता है। आपत्ति में पड़कर लोग कंकड़ पत्थर को भी पूजने लगते हैं, जो न करने योग्य होता है, उसे करने लगते हैं, विरह में भी उन्माद होता है। गोपियों का यह उन्माद श्रीकृष्ण के विरह में हुआ था।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! अब आप हमें गोपियों के विरहोन्माद की ही दशा सुनाइये।',

सूतजी बोले—"मुनिवर! गोपियों की श्रीकृष्ण के विरह में विचित्र दशा हो गयी। वे आनन्द में मग्न हुईं श्रीकृष्ण के सम्मिलन सुख का आस्वादन कर रही थीं, कि सहसा श्यामसुन्दर वहीं अन्तर्धान हो गये। उस समय यूथपति के खो जाने पर जैसे हथिनियाँ व्याकुल हो जाती हैं, जैसे कालेमृग के चले जाने पर हरिणियाँ व्याकुल हो जाती हैं, वैसे ही वे सबकी सब व्याकुल हो गयीं। अब वे मन से ही भगवान् की चेष्टाओं का चिन्तन करने लगीं। श्यामसुन्दर कैसी ललित गति से विलासपूर्वक मन्द-मन्द चलते थे। किस प्रकार अमृत में सनी हुई अपनी मनोहर मुस्कान द्वारा हमारे संतप्त हृदयों को सुशीतल बनाया करते थे। कैसी सुखद शीतल विलासमयी चितवन से हमारे चित्त को चुराया करते थे। उनकी प्रेम भरी मीठी-मीठी बातों को सुनकर श्रवण तृप्त ही नहीं होते थे। वे बातें क्या करते थे, मानो कानों में अमृत उड़ेलां करते थे। उनकी बातों में कितनी मिठास, कितनी मादकता, कितनी तन्मयता भरी रहती थी। कहाँ तक कहें, उनके समस्त लीला विलासयुक्त कार्यों में एक प्रकार की मादकता भरी रहती थी। इन बातों के कारण हम

सबके चित्त उनकी ओर हठात् आकर्षित हो जाते थे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं कहाँ तक कहूँ, वे समस्त व्रजांगनायें श्रीकृष्ण के भाव में भावित होकर—उन्हीं में तन्मय होकर—उनकी भिन्न-भिन्न चेष्टाओं का स्वयं ही अनुकरण करने लगीं। वे ऐसी तन्मय हो गयीं कि सब अपने को श्रीकृष्ण ही समझने लगीं। प्रेम की उन्मादावस्था में जो उन्होंने चेष्टायें कीं, उनका कुछ संक्षिप्त वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

है चिन्तातुर करहिँ यादि हरिके कामनिकी।
मधुर-मधुर मुसकान चलन चितवन सुहँसनिकी॥
लीला मधुर विलास यादि करि करिकें रोवें।
है तन्मय उन्मत्त सरिस तनु सुधि बुधि खोवें॥
उच्चस्वरतैं हरिगुननि, गावें रोवें सिर धुनें।
खग, मृग, गिरि, तरु, लतनितैं, पूछैं हरि कोई न सुनें॥

विरहोन्मादिनी व्रजांगनायें

[९७३]

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३० अ० ४ श्लो०)

छप्पय

वृक्षनिके ले नाम कहें—हे ! पीपर ! पाकर !
हे कदम्ब ! हे वकुल ! नीम ! वट ! चंपक ! गूलर ॥
हे रसाल ! रसराज श्याम इत तौ नहिं आये ।
चितवन जाल बिछाय हमारे चित्त चुराये ॥
समुझि स्वारथी नरनिकूँ, सब मिलि तुलसीढिंग गईं ।
करि अतिशय अनुनय विनय, प्रेष्ठ पतो पूछति भईं ॥

सिद्धान्तः तो वृन्दावन के समस्त वृक्ष लता गुल्म तथा पाषाण चिन्मय हैं, किन्तु लोक लीला में तो वे जड़ ही हैं। जो

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् के अन्तर्धान होने पर वे व्रजांगनायें उन्हीं के गुणों का उच्च स्वर से गान करती हुई उन्मत्त के समान एक वन से दूसरे वन में फिरने लगीं और वृक्षों के समीप जाकर, आकाश के समान समस्त भूतों के बाहर भीतर रहने वाले सर्वान्तर्यामी श्रीहरि का उनसे पता पूछने लगीं।"

करती थीं कि बावरे ब्रह्मा ने हमारी आँखों पर ये पलक क्यों बना दिये। पलक बनाने ही थे, तो इन पर निमि को क्यों बिठा दिया। जिससे पलक मारने के समय श्यामसुन्दर का वियोग हो जाता है। मछली के पलक नहीं होते, वह अपलक भाव से अपने प्रियतम पय को निरन्तर देखती रहती है। प्रिय के अङ्क में स्थित रहने पर भी वियोग की अनुभूति होती है। यह वियोग की अति उच्चावस्था है। सामान्यतया प्रियतम का दृष्टि से दूर हो जाना वियोग है। यद्यपि चकई-चकवा सदा साथ रहते हैं, किन्तु रात्रि में दोनों साथ नहीं रह सकते, उनके लिये रात्रि भर का वियोग ही असह्य है। एक इस पार रात्रि भर तड़फता रहता है, एक उस पार वियोग की अग्नि में जलती रहती है। वियोग में प्रायः ये दशायें होती हैं। समस्त अंगों में ताप होना, दुर्बलता आ जाना, रात्रि में नींद न आना, आ जाय तो बीच में निद्रा का उचट जाना और उसी का स्मरण बना रहना, आलम्बशून्यता का अनुभव करना अर्थात् यह सोच होना—"हाय! उन्होंने हमें छोड़ दिया तो हम किसका अवलंब ग्रहण करेंगे, कैसे जीवन बिताएँगे, किसके सहारे संसार में रहेंगे" धैर्य का छूट जाना, शरीर में जड़ता, अंगों में शिथिलता का अनुभव होना, उनकी स्मृति आते ही शरीर जड़वत् पाषाणवत् बन जाना, शरीर में व्याधि होना, उन्मादावस्था हो जाना, कुछ का कुछ काम करना, जो कर रहे हैं उसे भूल जाना, उठते-बैठते मूर्छा आ जाना तथा मृतकवत् अवस्था हो जाना, इस प्रकार वियोग में ऐसी दशायें होती हैं। गोपियों को प्रिय मिलन की आशा थी, अतः उन्हें मूर्छा और मृति तो हुई नहीं, किन्तु उन्मादावस्था में वे पगलियों की भाँति इधर-उधर भटकने लगीं।

चलते-चलते आगे वन में उन्होंने बड़ा-सा पीपल का वृक्ष देखा। उसकी सुखद शीतल छाया थी, हरा-भरा लहलहा रहा

था। उसके कोमल पत्ते वायु में हिल रहे थे। उसके नीचे पहुँचकर गोपियों ने शीतलता का अनुभव किया। अब उन्हें सन्देह हुआ, शीतलता तो एकमात्र श्यामसुन्दर की छत्रछाया में ही है। इसकी छाया में जो शीतलता है, यह इसे कहाँ से मिली। 'ओहो! श्यामसुन्दर अभी इधर से ही निकले होंगे। निकलते समय इसके पसारे हुए हाथों में कुछ शीतलता डाल गये होंगे, अतः वे अश्वत्थ को सम्बोधन करके कहने लगीं—"हे पीपर देवता! तुम सभी वृक्षों में श्रेष्ठ हो, भगवान् की विभूति हो, सब तुम्हारा पूजन करते हैं। हम भी तुम्हारा पूजन करेंगी, किन्तु जब तुम हमारे प्राणधन का पता बता दोगे तब, हमें तुम बता दो नन्दनन्दन हमें छोड़कर कहाँ चले गये हैं। उनके उदर की आकृति तुम्हारे पत्ते से कुछ मिलती-जुलती है।"

जब पीपल ने कुछ भी उत्तर न दिया, तो वे वट के समीप गयीं और उससे बोलीं—"हे वट! तुम्हारी जड़ें सुदृढ़ हैं, तुम्हारे फलों के समान श्यामसुन्दर के लाल-लाल अधरोष्ठ हैं, तुम्हारे कोमल पल्लवों के समान उनके चरणतल और करतल हैं। तुम्हारे समान ही वे त्रितापहारी हैं। उनका तुम पता जानते हो तो बताओ।" उससे भी कुछ उत्तर न पाकर वे आम्र के समीप गयीं और बोलीं—"हे रसाल! तुम रस के समुद्र हो, तुम्हारे फल सभी फलों में श्रेष्ठ समझे जाते हैं। तुम्हें यह मधुरता अवश्य ही नन्द-नन्दन के अधरामृत से प्राप्त हुई होगी। श्यामसुन्दर अपनी प्रणय मुसकानमयी चितवन से हम सबके चित्त चुराकर चोरी से चतुरता पूर्वक चले गये हैं। हम सब उन्हीं को खोज रही हैं, यदि तुम उनका पता हमें बता दोगे, तो हम जन्म-जन्मान्तरों तक तुम्हारी ऋणी रहेंगी। उससे उत्तर न पाकर वे फिर गूलर के समीप गयीं उससे भी निराश होकर वे की शरण में गयीं।

अशोक के समीप जाकर वे बोलीं—"अशोक ! सुनते हैं, तुम सबके शोक को हरने वाले हो। हमारे भी शोक को हर लो। हमें मदनमोहन माधव का पता बता दो। उनसे हमें मिला दो। फिर बिल्व से कहने लगीं—"हे बिल्व ! तुममें लक्ष्मीजी का निवास है। लक्ष्मीजी से मिलने कमलाकान्त तुम्हारी नीण में तो आकर नहीं छिप गये हैं। तुम हमें उनका पता ही बता दो। हम उनसे बोलेंगी नहीं। उनके कार्य में हस्तक्षेप न करेंगी, केवल एक बार उन्हें दृष्टि भरके देखना चाहती हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कहाँ तक नाम गिनाऊँ, वन में वे जिस वृक्ष को भी सम्मुख देखतीं, उसी को दंडवत् प्रणाम करतीं और अत्यन्त स्नेह और आदर के साथ उससे श्यामसुन्दर का पता पूछतीं। वृक्ष भला क्या उत्तर दे सकते थे, उनसे उत्तर न पाकर फिर आगे बढ़ जातीं। न्यग्रोध, कुरबक, नाग, पुन्नाग, महुआ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मौलश्री, नीम, कटहर, जामुन, प्रियाल, असन, कोविदार, अर्क, खजूर, हिंगोटा, बाँस तथा फरास आदि सभी वृक्षों से उन्होंने एक-एक करके पता पूछा। जब किसी ने उत्तर न दिया, तो उनके मन में एक भाव उठा—'अरे ये सब वृक्ष तो पुरुषवाची हैं। ये पुरुष तो बड़े निठुर होते हैं। देखो, श्यामसुन्दर कितना सुख देकर हमें तृण के समान छोड़कर चले गये। दया तो स्त्रियों के ही हृदय में होती है। दूसरे के दुख को देखकर इनका हृदय द्रवीभूत होता है। परोपकार के लिये सर्वस्व को उत्सर्ग करने का पाठ तो नारी जाति ने ही सीखा है। लाओ, इन लताओं से प्रियतम का पता पूछें। यह सोचकर वे लताओं और स्त्री जाति के पादपों से प्रभु का पता पूछने लगीं।

छप्पय

हे वृन्दे ! हे तुलसि ! श्याम को पतो बताओ ।
कहाँ छिपाये श्याम बहिन टुक तनिक दिखाओ ॥
हतभागिनि हम भईं त्यागि हम हरिने दीन्हीं ।
रमन संग श्रीप्रिया गईं तुमने का चीन्हीं ॥
सौति समुझि आगे बढ़ीं, पतो सबनि पूछन लगीं ।
ललित लता पुष्पित लखीं, समुझीं सब सजनी सगीं ॥

लतापतादिकों से प्रभु का पता पूछना

[९७४]

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके ।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३० अ० ८ श्लो०)

छप्पय

हे मालति तुम सदा बसो श्रीजी केशनिमहँ ।
स्वर्ण मालती रंग बसै प्यारी अंगनिमहँ ॥
माधव लये छिपाय माधवी कहाँ बताओ ।
अरी, मल्लिके ! जाति ! यूथिके श्याम दिखाओ ।
प्रेम परस बिनु होहि नहिं, मन प्रमोद अरु पुलक अँग ।
श्याम अवसि करतें परसि, निकसे इततें प्रिया सँग ॥

हे भगवान् ! यदि तुम्हें बुद्धि देनी हो, तो ऐसी बुद्धि दो जो नित्य निरन्तर धारा प्रवाह से नटवर के श्रीचरणों में लगी रहे, यदि हमें बुद्धिहीन पागल ही बनाना हो, तो प्रभु के प्रेम में पागल बना दो। प्रभु प्रेम के पागलपन में कितना सुख है, कितना आनन्द है, इसे सांसारिक व्यवहार चतुर पुरुष अनुभव

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें लताओं से प्रभु का पता पूछती हुई कह रही हैं—"हे मालति ! हे मल्लिके ! हे जाति ! हे यूथिके ! तुमने क्या माधव को देखा है ? प्रतीत होता है वे तुम्हें अपने करस्पर्श से प्रमुदित करते हुए इधर से पधारे हैं।"

कैसे कर सकते हैं। अहा! जब सब जड़चेतन में अपने इष्ट का ही स्वरूप दिखायी दे। चर, अचर, स्थावर, जंगम तथा सजीव निर्जीव का भेदभाव ही मिट जाय, उस समय की द्वन्दातीत स्थिति में कैसी रसानुभूति होती होगी, उसे हम नीरस हृदय वाले अनुभवशून्य व्यक्ति क्या समझ सकते हैं। ये तो रस की बातें हैं, रसिक ही इन्हें समझ सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रेम में पगली बनी वे व्रजबालायें व्रजविहारी का अन्वेषण करती हुई पादपों से उनका पता पूछने लगीं। जब वृक्षों ने परमप्रेष्ठ प्राणपति का पता नहीं बताया, तो वे तुलसीजी के समीप गयीं और बोलीं—"हे कल्याणि! तुलसी! देखो, तुम हरिप्रिया कहलाती हो। प्यारे तुम्हें अत्यधिक प्यार करते हैं। तुम भी सदा उनके चरणों में लिपटी रहती हो, उनके कंठ से सटी रहती हो। श्यामसुन्दर कहीं भी चाहें छिपे क्यों न हों, तुम्हें उनका पता अवश्य होगा। देखो, तुम हम से दुराव मत करो। हमें उनका पता बता दो। हमें उनके एक-बार केवल एक बार-ही दर्शन करा दो। हे चितचोरचरणप्रिये! तुम हमसे सौतियाडाह मत करो। हम तुम्हारा स्थान छीनना नहीं चाहतीं, हम तो उनकी झाँकी की भूखी हैं। वे कंठ में तुम्हें धारण किये हुए और वनमाला की दिव्य मकरंद के लोभ से चारों ओर गुन गुनाते मधुकरों को करों से वारण करते हुए अभी-अभी अवश्य ही इधर से निकले होंगे।"

छोटी-सी श्यामा तुलसी ने जब कुछ भी उत्तर न दिया, तो गोपी परस्पर में कहने लगीं—"बहिनो! ये छोटी बड़ी खोटी होती हैं। यह भी तो श्याम की प्रिया श्यामा है। यह भी अपने प्रियतम कृष्ण की भाँति कठोर है। स्त्री जाति में चाहे जितने सद्गुण हों, किन्तु इनमें यह सौतियाडाह का बड़ा भारी दुर्गुण है। इनकी सदा यही इच्छा बनी रहती है, मेरा प्रियतम किसी

अन्य से प्रेम की दो मीठी बात भी न करे। इस तुलसी को तो श्याम ने सिर पर चढ़ा रखा है। इसे तो इतना आदर दे रखा है, कि चाहे छप्पन भोग क्यों न हों, बिना तुलसी के श्याम एक ग्रास नहीं तोड़ते। जहाँ तुलसी कानन होता है वहाँ नन्द-नन्दन नित्य निरन्तर निवास करते हैं। इसलिये वे होंगे, तो कहीं यहीं तुलसी के बन में ही। यहीं कहीं वृन्दावन की निकुञ्जों में लुके-छिपे बैठे होंगे, किन्तु इस तुलसी से पता पाना कठिन है, असम्भव है। चलो, आगे चलकर इन फूली-फली लताओं से पूछें। क्योंकि ये सब परम प्रमुदित हो रही हैं, आनन्द में विभोर बनी फूल रही हैं। प्रभु के सुखद संस्पर्श के बिना प्राणी को प्रसन्नता होती ही नहीं।' यही सब सोचकर वे खिली हुई लताओं के समीप गयीं।

सबसे पहिले वे मल्लिका (चमेली) के समीप गयीं और बोलीं—"बहिन मल्लिके! देखो, तुम तो किसी स्त्री में भेदभाव करती नहीं, सबके केशपाशों की शोभा बढ़ाती हो। सभी अंग-नायें तुम्हारा अत्यधिक आदर करती हैं; तुम्हें सिर पर चढ़ाती हैं, अपने कुटिलकेशों में—धम्मिलों में—तुम्हें गूँथती हैं, तुम्हें कंठ का हार बनाती हैं। तुम्हें अपनी प्रिया की प्यारी समझकर प्रिय-तम श्यामसुन्दर भी तुम्हें प्यार करते हैं। तुम हमें यह बता दो, कि हम सबको अकेली बिलखती छोड़कर श्यामसुन्दर अपनी अकेली प्रियतमा को लेकर इधर से निकले हैं क्या?"

शुभ्र मल्लिका ने जब कुछ भी उत्तर न दिया, तो वे पीली सुवर्ण मल्लिका के समीप गयीं और बोलीं—"सुवर्ण मल्लिके! तुम्हारा रंग सर्वथा श्रीजी के अंग के रंग के सदृश है। प्रिया के रंग के सादृश्य से श्यामसुन्दर तुम्हें सबसे अधिक प्यार करते हैं। तुम्हारे हार को कंठ में बड़े उल्लास के साथ धारण करते हैं। प्रियाजी की तो मानो तुम सहचरी ही हो। तुम्हें किसी

का पक्षपात भी नहीं है। हमारे सौभाग्यमद और अभिमान के कारण मदनमोहन हमसे रूठकर हमें अनाथ निरालम्ब बनाकर कहीं चले गये हैं। कहाँ चले गये हैं, इसका अभी तक हमें किसी ने पता बताया नहीं। तुम जानती हो तो हमें बता दो।"

जब स्वर्णमालती भी मौन ही बनी रही, मोहन का कुछ भी पता न बताया, तो फिर वे माधवी लता की कुञ्जों में गयीं। माधवी को सम्बोधित करके कहने लगीं। हे माधवी! तुम माधव की परम प्रिया हो, इसीलिये तुम्हारा नाम माधवी है। तुम्हारी कुञ्जों में केलि करना कृष्ण को अत्यन्त प्रिय है, यद्यपि तुम माधव की प्यारी माधवी लता हो, फिर भी हमें तुम्हारा विश्वास नहीं होता, क्योंकि तुम सदा रंग बदलती रहती हो, तुम्हारे पुष्प उत्पन्न होते समय बाल्यकाल में तो स्वच्छ शुभ्र हो जाते हैं, जहाँ यौवन का मद चढ़ा, तहाँ वे लाल हो जाते हैं। जो परिवर्तनशील हैं, जिसमें स्थिरता नहीं, उसकी बात का विश्वास ही क्या किया जाय। यह सोचकर वे आगे बढ़ीं, आगे बढ़कर उन्होंने सफेद फूलों से लदी मल्लिका की लता को देखा और उससे बोलीं—"मल्लिके! तुम सर्पों को भी शरण देती हो। भौंरा भी तुम्हारे समीप आकर सुखी होते हैं, देखो, हम निराश्रया होकर भटक रही हैं, हमारे ऊपर कृपा करो। हमें नन्दनन्दन का पता बता दो।"

मल्लिका से भी कुछ उत्तर न पाकर वे फिर चम्पा के पास गयीं और बोलीं—"चम्पे! तुम तो हमें कृष्ण का पता अवश्य ही बता दोगी, क्योंकि तुम्हें तो कृष्णवर्ण से घृणा है, इसीलिये भौंरा तुम्हारे समीप नहीं आता। तुम तो पक्षपात न करोगी। पीत चम्पा की कली के सदृश वृषभानुलली के अंगों की आभा है। कटहली चम्पा के सदृश उनकी साड़ी है। श्यामसुन्दर उन्हें अकेली ही बहकाकर न जानें वन में कहाँ ले गये हैं। तुम्हारे

पुष्पों को अपनी प्रिया को प्रसन्न करने के निमित्त तोड़ा हो, तो हमें बता दो। हमें उस मार्ग को दिखा दो।

जब चम्पा ने भी कुछ उत्तर न दिया, तो जाति (बेला) की लता के समीप गयीं और कहने लगीं—"बहिन जाति! हमारी तुम्हारी जाति एक है, तुम भी स्त्री जाति हो और हम भी। अन्तर इतना ही है, तुम फूली हुई हो, हम मुरझाई हुई हैं, हम भी फूल जायँ, यदि हमें मदनमोहन मिल जायँ। एक बार वे हमें हृदय से लगालें तो हम निहाल हो जायँ। जीवन में जितना अधिक सुख प्रियतम के प्रेमालिंगन में है, उतना अन्य किसी भी वस्तु में नहीं है। तुम जो फूल रही हो, इसका यही कारण प्रतीत होता है, कि इधर से निकलते हुए श्यामसुन्दर ने तुम्हारा स्पर्श किया है। क्योंकि प्यारे का सुखद करस्पर्श पाकर शरीर रोमांचित हो जाता है, उसमें कँपकँपी उठने लगती है। रोएँ खड़े हो जाते हैं और हृदय में आनन्द की हिलोरें उठने लगती हैं। हम देखती हैं, तुममें ये सभी लक्षण घटित हो रहे हैं, अवश्य ही अपनी प्रिया का श्रृङ्गार करने के लिये उन्होंने तुमसे पुष्पों की याचना की होगी और तुमने सहर्ष स्वीकृति प्रदान करके अपने अंगों से उनके कोमल करों का संस्पर्श प्राप्त किया होगा।"

जब जाति ने भी कुछ न बताया, तो वे यूथिका (जूही) की लता के निकट गयीं और बोलीं—"यूथिके! हम देखती हैं, एक से प्रेम करने वाली दो स्त्रियाँ परस्पर में हृदय से हृदय सटाकर मिलती नहीं, किन्तु हम तुममें इससे विपरीत भाव पाती हैं, तुम्हारी लतायें परस्पर में ऐसी सट जाती हैं, कि इन्हें कोई हठात् पृथक् करना चाहे तो पृथक् न होंगी, चाहे बीच से टूट जायँगी। तुम्हारी गन्ध उत्कट भी नहीं, तीक्ष्ण भी नहीं, मीठी-मीठी मन्द-मन्द सुगन्ध है। तुम्हारे हार गजरे प्रियाओं को अत्यन्त प्रिय हैं। प्रायः तुम सदा फूली रहती हो। तुममें हमने

कभी पतझड़ भी नहीं देखा, सदा हरी भरी रहती हो। तुम्हारी लता सुन्दर, सघन, शीतल और सुखद होती है। अपनी सखी के साथ श्यामसुन्दर ने तुम्हारे नीचे विश्राम तो नहीं किया है ?"

जब यूथिका भी मौन ही बनी रही, तब गोपिकाओं ने करुणा भरी वाणी में सभी स्त्री पुरुषवाचक वृक्ष, लता और गुल्मों को सम्बोधित करके कहा—"हे यमुना तटवर्ती तरुवरो ! हे परोपकार के ही लिये जीवन धारण करने वाले पादपो ! हे घाम, शीत और वर्षा के कष्टों से बचाने वाले वृक्षो ! हम अबला हैं, निराश्रिता हैं, प्रियतम द्वारा परित्यक्ता हैं, आपमें से कोई भी हमारे ऊपर दया करो, कृपा करो, अनुग्रह करो। हम सब चेतनाहीन हो रही हैं। हमें कोई श्यामसुन्दर को एक बार दिखा दो, हमें उनसे क्षणभर को मिला दो, नहीं तो वे जिस मार्ग से निकले हैं, उनके उस मार्ग को ही बता दो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! लता वृक्षों से भगवान् का कुछ भी पता न पाकर वे गोपिकायें निराश हुईं। तब उन्होंने पृथ्वी से पूछना आरम्भ किया। वे धरणी को सम्बोधित करके बोलीं—"हे बहिन वसुन्धरे ! तुम ही सब धनों को धारण करती हो, इसीलिये तुम्हारा नाम वसुन्धरा है। हमारे हृदयधन के भी चरणों को तुम अपने वक्षःस्थल पर धारण करती हो, इसीलिये घास रूप में तुम्हारे रोमाञ्च हो रहे हैं। जब तुम पाताल में चली गयी थीं, तब ये ही श्यामसुन्दर वाराह रूप रखकर तुम्हें अपने ऊपर बिठाकर लाये थे। तब तुमने भयभीत-सी होकर उनका गाढ़ालिंगन कर लिया था। तुम जानती हो प्रियालिंगन में कितना प्रमाद है, वामनावतार में भी एक ही पैर से उन्होंने तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर को दबा दिया था। तुम तो उनकी प्रिया हो, तुम्हारे कठिन वक्षःस्थल पर वे निरावरण अपने अरुण चरणों को निःसंकोच रख देते हैं और तुम उन्हें कृपण के धन के सदृश

छिपा लेती हो, उनकी चरणकमलों की पावन पराग से अपने को धन्य बना लेती हो, हमें भी धन्य बना दो, हमें भी प्यारे का पता बता दो, वे अकेले नहीं हैं, अपनी प्रिया को साथ लिये हुए हैं।"

पृथ्वी से कुछ भी उत्तर न पाकर वे इधर-उधर देखने लगीं। इतने में ही सामने से डह-डहे नयनों वाली हरिनियाँ अपने पति-हरिन के साथ आती हुई दिखाई दीं। उन हरिनियों को देखकर वे कहने लगीं—"बहिनाओ! स्त्री जाति में जन्म लेकर तो तुम ही कृतार्थ हुईं। तुम सदा अपने पति के साथ लगी रहती हो। तुम्हारे पति कभी तुम्हें छोड़ते नहीं। देखो, हमारे प्राणपति श्यामसुन्दर तो हमें छोड़कर चले गये। तुम्हारे नेत्रों से अनुराग फूट-फूटकर निकल रहा है, इससे प्रतीत होता है, तुमने श्याम-सुन्दर को अपनी प्रियतमा के साथ इधर से जाते हुए अवश्य ही देखा होगा। उनकी प्राणप्रिया के कमलनयन तुम्हारे नयनों से मिलते-जुलते-से हैं। हमें इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है, कि वे यहाँ न आये हों, क्योंकि अपनी प्राणप्रिया के अंग-संग से उनके कुच कुंकुम से रञ्जित कुन्दकली की माला की मनोहर गन्ध आ रही है। अवश्य ही यह गंध कुलपति कृष्ण के कंठ की माला की ही है। तुम हम पर कृपा करके उनका पता बता दो।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया कौन हैं? ये गोपिकायें बार-बार उनका नाम ऐसे संकेत से क्यों लेती हैं?"

सूतजी ने कहा—"श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया ये श्रीराधिकाजी हैं। श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण का समस्त आह्लाद, रास, विलास, तथा सर्वसुख इन्हीं के कारण है। श्रीकृष्ण इन्हीं के संकेत से नाचते हैं। भगवान् व्यासदेव ने श्रीमद्भागवत में इनका नाम स्पष्ट रूप से नहीं लिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये श्रीराधिकाजी कौन हैं ? किनकी पुत्री हैं, श्रीकृष्णजी से इनका क्या सम्बन्ध है, अब तक आपने इनका उल्लेख क्यों नहीं किया। भगवान् व्यास ने श्रीमद्-भागवत में इनका स्पष्ट नाम क्यों नहीं लिया, कृपा करके पहिले हमारे इन प्रश्नों का उत्तर दें, तब आगे की कथा कहें।"

यह सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये और बोले—"भगवन् ! राधातत्व तो बहुत गम्भीर है, इसका वर्णन शुक सनकादि, शेष, शारदा तथा नारद, ब्रह्मादि भी नहीं कर सकते। ये सब बहुत रहस्य की बातें हैं, सबके सम्मुख प्रकट करने की भी नहीं हैं। शास्त्रकारों ने बड़े कौशल से—परोक्ष रीति से—इन बातों का वर्णन किया है, मैं यथामति यथाशक्ति अत्यन्त संक्षेप में आपके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

हे धरनी ! तू धन्य पाद प्रभु के धारति नित।
लिये लाड़िली संग लाल गिरधर निरखे इत॥
हे मृगबधुवर ! नयन नेहमहँ भीजे तुमरे।
बहिना ! देउ बताइ गये इत प्रियतम हमरे॥
राधा कन्धा कर धरे, क्रीड़ा कमल घुमावते।
निरखे नँदनन्दन नयन, खग मृग कुल सरसावते॥

—०—

श्रीराधा

[९७५]

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतोवः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥*

(श्रीमा० १० स्क० ३० अ० ११ श्लोक)

छप्पय

शौनक पूछें—सूत ! कौन राधा ये प्यारी ।
सूत कहें—मुनि ! शक्ति स्रोत सुख भरिबेवारी ॥
श्रीवृषभानु कुमारि कीर्तिपुत्री सुकुमारी ।
बरसाने की लली किशोरी भोरी भारी ॥
गोपी, कान्ता राधिका, प्रिया प्रेयसी कामिनी ।
नित्यकिशोरी लाड़िली, मनमोहन मनभावनी ॥

प्रेम मार्ग में अति रहस्य बात को संकेत से समझाया जाता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें हरिनियों से पूछ रही हैं—"हे सखी मृगियो ! श्रीकृष्णचन्द्र अपनी प्रियतमा के साथ अपने अङ्गों की आभा से तुम्हारी आँखों को आनन्दित करते हुए इधर से गये हैं क्या ? वे अवश्य गये होंगे, क्योंकि यहाँ प्रिया के अंग-सङ्ग से उनके कुचकुंकुम से रञ्जित उन कुलपति श्रीकृष्णचन्द्र की कुन्दकली की माला की मनोहर गन्ध आ रही है ।"

है। देवता भी परोक्षप्रिय ही होते हैं, फिर प्रेम तो हृदय की वस्तु है। हम किसी से प्रेम करते हैं, जब तक वह ढका रहता है, आँखों और संकेतों में ही होता है, तभी तक उसमें स्वारस्य अधिक रहता है। जहाँ वाणी से व्यक्त किया, तहाँ उसका वह स्वारहस्य चला जाता है। प्रेम कहने की वस्तु नहीं वह अनुभव की है। प्रेम की वस्तु बताई नहीं जाती। प्रेम तो बहुत बड़ी वस्तु है। किसी से उसके धन को पूछो, तो वह भी अपने पूरे धन को न बतावेगा। यही कह देगा "किसी तरह पेट भर लेते हैं।" जब कोई अपने तुच्छ लौकिक धन को नहीं बताता, तो प्रेम को कैसे बता सकता है, कि हम इनसे प्यार करते हैं। लोग चाल-ढाल देखकर अनुमान लगाते हैं। किसी का अनुमान कुछ सत्य निकलता है, कोई मिथ्यानुमान के ही पीछे पड़ जाते हैं। क्योंकि अनुमान तो अनुमान ही है। जो अत्यन्त बहुमूल्य धन होता है वह सबके सम्मुख नहीं बताया जाता, उससे न्यून मूल्य की वस्तु रखकर संकेत में कह देते हैं, इससे भी एक मूल्यवान वस्तु है। वह क्या वस्तु है, इसमें उसका संकेत मात्र है। रास विलास लीला में सबसे प्रधान हैं श्रीकृष्णचन्द्रजी। श्रीकृष्णचन्द्रजी ने रास रचा, यही सर्वत्र प्रसिद्ध है, प्रसिद्धि तो श्रीकृष्णचन्द्रजी की है, किन्तु क्या वे एकाकी रमण कर सकते हैं। बिना रासेश्वरी के रास कैसा ? बाहर जाते हैं—तो पूछते हैं यह किसका लड़का है ? सब उसके पिता का नाम ले देते हैं। जहाँ भी लिखा जायगा, पिता का नाम लिखा जायगा। पिता के नाम को सब जान जायँगे। किन्तु क्या अकेला पिता पुत्र को उत्पन्न कर सकता है। पुत्रोत्पत्ति में माता पिता दोनों की आवश्यकता है। पिता से भी अधिक माता का गौरव है, किन्तु माता का नाम गुप्त है, उसे कोई-कोई ही जानते हैं, लिखने वाले पिता का ही नाम लिखते हैं, माता का नाम सभी अनुमान ही करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आपने मुझसे श्रीराधाजी के सम्बन्ध में प्रश्न किया है। भगवान् व्यासदेव ने समस्त श्रीमद्भागवत में श्रीराधाजी का कहीं स्पष्ट नाम नहीं लिया, केवल संकेत से ही वर्णन किया है। मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेवजी ने भी कहीं श्रीमती राधिकाजी का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ तो सूतजी ! यही तो हमें शंका है, कि जिन्हें आप रासेश्वरी कहते हैं, जिनके संकेत पर ही श्यामसुन्दर नाचते हैं उनका नाम व्यासजी ने कहीं स्पष्ट क्यों नहीं लिया ?" सूतजी ने कहा—"महाराज ! मैं इस बात को कई बार बता चुका हूँ, प्रेम में जितना ही भावगोपन होता है उतना ही उसमें रस बढ़ता है। "काचित्"कहकर व्यासजी ने संकेत कर दिया। अपनी-अपनी कथन की पृथक-पृथक प्रणाली होती है, श्रीराधिकाजी का ही क्या व्यासजी ने ललिता, विशाखा आदि किसी भी सखी का नाम नहीं लिया। सबका वर्णन 'कोई एक' कहकर ही किया है। प्रिया, प्रेयसी तथा गोपी आदि कहकर ही श्रीराधाजी का उल्लेख किया है।"

शौनकजी ने कहा—"तो सूतजी ! हम प्रिया प्रेयसी से राधाजी का ही ग्रहण क्यों करें ? प्रेयसी प्रिया तो कोई भी गोपी हो सकती है।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! कोई कैसे हो सकती है 'पंकज' शब्द का अर्थ है, कीच से जो उत्पन्न हो। तो कीच से तो सिवार भी होता है, जोंक भी होती हैं, इन सबको पंकज नहीं कहते। जो जिसके उद्देश्य से व्यवहृत होगा, उससे उसी का बोध होगा। श्रीराधिकोपनिषद् में जहाँ श्री राधाजी के सर्वप्रधान सत्ताईस नाम बताये गये हैं उनमें उनका एक नाम गोपी भी है। इसके अतिरिक्त राधा दिव्य सहस्रनामों में 'प्रेयसी' प्रेमकामिनी

ये नाम भी श्रीराधाजी के आते हैं।* इन नामों का तो श्रीमद्-भागवत में उल्लेख है ही।

इसके अतिरिक्त भगवान् व्यास की रचित केवल श्रीमद्भागवत ही तो नहीं है। शेष सत्रह पुराण, उपपुराण और दूसरे पुराण उन्हीं के बनाये हुए हैं। प्रायः इन सभी पुराणों में श्रीराधिकाजी के चरित्र का विस्तार के साथ वर्णन है। गर्गसंहिता ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्मपुराण, स्कन्धपुराण तथा अन्यान्य सभी छोटे बड़े पुराणों में कहीं संक्षेप में, कहीं विस्तार से श्रीराधाजी के चरित्र का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में उसी धन को इस प्रकार छिपा कर रखा है कि पढ़ने को तो सब पढ़ जायँ, किन्तु इसका गूढ़ रहस्य कोई विरले ही ज्ञानी भगवद्भक्त पुरुष समझें। अन्य पुराणों में तो स्पष्ट वर्णन है, किन्तु यहाँ बीजक रूप में छिपाकर रखा है। उस बीजक को पढ़ते सब हैं, किन्तु उसका रहस्य न समझकर उस सुख से वञ्चित रहते हैं। कोई अनन्योपासक उन्हें समझावे तब उसका रसास्वादन कर सकते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"गूढ़ बीजक क्या होता है, सूतजी। इस विषय को स्पष्ट समझावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! ये जो व्यापारी होते हैं उनके यहाँ तीन बही प्रधान होती हैं, एक रोकड़ बही, एक खाता बही, एक बीजक बही। रोकड़ में तो जो नित्य का व्यय हो वह लिखा

---

* वृषभानुसुता गोपी मूल प्रकृतिरीश्वरी।
गांधर्वा राधिका रम्भा रुक्मिणी परमेश्वरी॥
(राधिकोपनिषद्)

* प्रेमकला परा भद्रा प्रेयसी प्रेमकामिनी।
प्रभावती च प्रेमाङ्गी परा च परदेवता॥
(श्रीराधा दिव्य सहस्रनाम स्तोत्र)

जाता है। किसके नाम कितना गया, कितना आया, खाता बही में पृथक्-पृथक् खाता बनाकर लिख दिया जाता है। जिसका आय-व्यय देखना हो समूची रोकड़ बही को उलटने की आवश्यकता नहीं, खाता बही में उसका खाता निकालकर देख लो। किन्तु बीजक को तो वही समझ सकता है जिसने आय-व्यय किया हो, या जो इन बहियों के मर्म को जानता हो, अनाड़ी के सामने बीजक को रख दो वह कुछ भी नहीं समझेगा। इस विषय को मैं एक दृष्टान्त देकर स्पष्ट करता हूँ।

एक कोई बहुत बड़े करोड़पति भगवद्भक्त सेठजी थे। उन्होंने दस बीस लाख रुपये की सुवर्ण मुद्रायें सुवर्ण के कलशों में भरकर भूमि में गाड़ दीं। ताम्रपत्र पर उसका बीजक बना दिया और मरते समय अपने पौत्रों से कह गये-"मैंने कुछ धन भूमि में गाड़ दिया है, उसका यह बीजक है जब तुम्हें बहुत आवश्यकता हो और भगवान् की पूजा भली-भाँति न हो, तब उसे खोदना।" ऐसा कह कर सेठजी परलोक सिधार गये। उनके पुत्र बहुत धनिक थे। अतः उन्होंने उस बीजक की ओर ध्यान नहीं दिया। वे जानते थे धन कहीं मन्दिर में ही गड़ा होगा। कालांतर में वे लोग निर्धन हो गये। अब भगवान् का जो मन्दिर था उसकी पूजा भी विधिपूर्वक न होती थी, तब उन्हें उस बीजक की याद आयी। ताम्रपत्र पर लिखे हुए उस बीजक को निकाला। उसमें लिखा था-चार सुवर्ण कलश, मन्दिर की बुरजी, रामनवमी, ठीक मध्याह्नकाल, बारह बजे। बीजक, उन लोगों ने उसे पढ़ा। मन्दिर की बुरजी को इधर-उधर की ईंटें निकलवाकर खुदवाया। सोने के चार कलश कहीं नहीं मिले, मन्दिर खुदवाया कहीं कुछ नहीं। वे बड़े निराश हुए। गाँव के सब लोगों ने पढ़ा, किसी की समझ में कुछ बात आती नहीं थी। सेठ के पुत्र पौत्र निराश हो गये। उन्हें इस बात का

तो विश्वास था, हमारे पिता ने कहीं यहीं धन गाड़ा है, उसका बीजक भी है, किन्तु वह इतने रहस्यमय ढँग से है, कि उसे हम समझ नहीं सकते। बेचारे दुख से दिन काटने लगे।

संयोग वश कोई महात्मा उधर आ निकले। मन्दिर की ऐसी दुर्व्यवस्था देखकर उन्होंने पूछा—"भाई, यह किसका मन्दिर है ?"

लोगों ने बताया—"महाराज अमुक सेठ का है, उनके वंशज निर्धन हो गये हैं। वे पूजा करने में असमर्थ हैं।"

महात्मा ने सेठजी के पुत्र पौत्रों को बुलाया और पूछा—"भाई! तुम लोग भगवान् की पूजा भली-भाँति क्यों नहीं करते ?"

उन लोगों ने कहा—"महाराज! क्या बतावें हमारा पेट ही नहीं भरता। सोना उठाते हैं, मिट्टी हो जाता है, समय का फेर है। हमारे पूर्वज कुछ धन गाड़ गये थे, उसका बीजक हमारे पास है, किन्तु धन कहाँ है, हमें उसका कुछ पता ही नहीं चलता।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा, उस बीजक को यहाँ लाओ।"

महात्मा के कहने से वे बीजक को घर में से ले आये। महात्मा ने उसे पढ़ा और पढ़कर सब रहस्य समझ गये। बोले—"यदि तुम इस धन में से चौथाई भाग भगवान् की सेवा में लगाने का वचन दो, तो हम तुम्हें बता दें।"

उनमें से जो बड़ा था, उसने कहा—"महाराज! चौथाई नहीं इसमें का सभी धन भगवान् की ही सेवा में लगे। पृथ्वी में गड़ा रहने से तो अच्छा यही है, कि वह भगवान् की पूजा में लगे। हम तो अपने प्रारब्ध के भोगों को भोगेंगे ही। हमारे प्रारब्ध में धन होता, तो इतना धन नष्ट क्यों हो जाता।"

गाँव के सब पंच भी जुड़ आये थे, बात यह तै रही, कि जो धन मिलेगा, आधे से तो ये सेठ लोग अपना व्यापार करेंगे और आधे को भगवान् की सेवा में लगावेंगे।"

यह निश्चय होने पर महात्मा बोले—"हम अभी नहीं बतावेंगे। छै महीने तुम सब मिलकर भगवान् की प्रेमपूर्वक आराधना करो। छै महीने पश्चात् हम आवेंगे। तब बतावेंगे।"

महात्मा सौम्य थे, तेजस्वी तथा सत्यवादी प्रतीत होते थे, सबने विश्वास किया, महात्मा चले गये, सब लोग बड़ी उत्सुकता के साथ छै महीने प्रतीक्षा करने लगे। महात्माजी जब पधारे थे तब कार्तिक का महीना था। छै महीने पश्चात् चैत्र में वे पुनः पधारे। बात बहुत दूर-दूर तक फैल गयी थी। महात्मा के दर्शनों को और धन के कुतूहल के कारण बहुत लोग एकत्रित हो गये थे। रामनौमी को मन्दिर में, बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। जब घंटिका में बारह बजे, तब महात्मा बाहर निकले। मन्दिर की बुरजी की जहाँ छाँह पड़ती थी वहाँ उन्होंने ध्यान से देखा एक स्वस्तिक का चिन्ह बना है। महात्मा ने कहा—"यहाँ खोदो, तुरन्त खोदा गया। सुवर्ण के चार कलश सुवर्ण मुद्राओं से भरे हुए निकले। सबके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। सब लोग महात्मा को सिद्ध अन्तर्यामी बताने लगे।

महात्मा ने कहा—"न मैं सिद्ध हूँ, न अन्तर्यामी। मैंने कोई नई बात भी नहीं बताई। जो इस बीजक में है उसी की प्रसंगानुसार व्याख्या कर दी है। इसमें लिखा था—"चार सुवर्ण कलश, मन्दिर की बुरजी, रामनवमी, ठीक मध्याह्न काल बारह बजे।"

चार सुवर्ण कलश से तो स्पष्ट है, चार सोने के कलशों में धन है, मन्दिर की बुरजी का अर्थ लगाओ, मन्दिर की बुरजी में वो चार कलश चुने नहीं जा सकते, इसका अर्थ है, मन्दिर की

चुरंजी की जहाँ छाँह पहुँचे। रामनवमी। ठीक मध्यान्ह बारह बजे यदि धन गड़ा होता, तो उसमें सम्बत् का उल्लेख अवश्य रहता। केवल रामनवमी और मध्याह्न लिखने से यही अभिप्राय है, कि रामनौमी को मध्यान्ह में मन्दिर की बुरजी की जहाँ छाँह पहुँचे वहाँ धन है। मैंने देखा मध्यान्ह के समय जहाँ छाँह पहुँची वहीं स्वस्तिका चिन्ह मिल गया। धन तो तुम्हारे पूर्वजों का ही गाड़ा हुआ है। बीजक में उसका उल्लेख है तो सही, किन्तु गुप्त रूप से है। मैंने गुरु कृपा से उसे समझकर तुम्हें बता दिया। इसमें कोई मैंने नई बात तो बतायी नहीं। यह कहकर महात्मा चले गये। सेठ के पुत्रों ने आधा धन भगवान् की सेवा में व्यय किया, आधे से व्यापार किया, फिर वे पहले की भाँति माला-माल हो गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! समस्त वेद पुराण व्यासजी का धन है। इसीलिये संपूर्ण ज्ञान को व्यासोच्छिष्ट कहा जाता है। श्रीमद्भागवत समस्त शास्त्रों का बीजक है। जिसने समस्त पुराण तथा शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है अथवा ऐसे ज्ञानियों का सत्संग नहीं किया है, वह इसके यथार्थ रहस्य को समझ नहीं सकता। इसमें बहुत-सी बातें तो अत्यन्त ही गुप्त रूप से कही गयीं हैं, उनमें एक श्रीराधातत्त्व भी है। कहीं भी श्रीराधाजी के नाम का स्पष्ट उल्लेख किये बिना ही समस्त रहस्यमयी लीलाओं का संकेत कर दिया है।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! आपके पिता श्रीलोमहर्षणजी ने तो भगवान् व्यासदेवजी की कृपा से समस्त पुराणों को पढ़ा है। पैतृक धन की भाँति वह समस्त ज्ञान ऋषियों और संकर्षणावतार भगवान् बलदेवजी की कृपा से आपको प्राप्त हुआ है। कृपा करके आप अन्य पुराणों के आधार से हमें श्रीराधातत्त्व को विस्तार के साथ समझावें।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज! श्रीराधाजी के तत्त्व का विस्तार के साथ वर्णन भला कौन कर सकता है। श्रीकृष्ण के चरित्रों का पार तो संभव है, श्रीकृष्ण पा भी लें, किन्तु श्रीराधाजी के चरित्रों का पार तो श्रीकृष्ण भी नहीं पा सकते। समस्त वेद पुराणों में श्रीराधाजी के तत्त्व का वर्णन है। व्रज के रसिक भक्तों ने श्रीराधाकृष्ण केलि और निकुञ्ज विहार के सम्बन्ध में इतना अधिक लिखा है, कि स्यात् ही किसी विषय पर इतना साहित्य उपलब्ध हो। इन रहस्यमयी लीलाओं का इतनी सरस भाषा में वर्णन किया है कि सब उसके श्रवण के भी अधिकारी नहीं। मैं यथामति यथाशक्ति अत्यन्त संक्षेप में पुराणों और संतों की वाणी का सारातिसार भाग कहता हूँ, आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

मुनियो! रमण एकाकी नहीं होता और असमानशीलवालों में भी नहीं होता। अतः जब भगवान् को क्रीड़ा करने की कामना होती है, तो वे एक के दो हो जाते हैं। क्योंकि बिना शक्ति के कोई भी कभी भी किसी का कार्य होता नहीं। शक्तिहीन का ही नाम शव है। शक्ति के सहित ही शिव-शिव हैं। जो जैसा होता है, उसकी शक्ति भी वैसी ही होती है। यद्यपि हाथी और चींटी में एक ही जीवात्मा है; फिर भी हाथी के शरीरानुरूप उसकी शक्ति पृथक् है, चींटी की शक्ति पृथक् है। भगवान् की शक्ति का ही नाम राधा है। उसे राधा कहो, दुर्गा कहो, लक्ष्मी कहो, सरस्वती कहो, सावित्री कहो सब एक ही बात है। भिन्न-भिन्न रूपों में भगवान् की भिन्न-भिन्न शक्ति हैं। कोई इन्हें प्रकृति के नाम से पुकारते हैं कोई माया कहते हैं। भिन्न-भिन्न लीलाओं में इनके भिन्न-भिन्न नाम रूप हो जाते हैं। साधारणतया जैसा शक्तिमान होता है वैसी ही उसकी शक्ति भी होती है। भगवान का रूप जग-मोहन है, तो उनकी शक्ति भी जगन्मोहिनी है। भगवान् रासेश्वर

हैं तो उनकी शक्ति रासेश्वरी हैं। भगवान् अचिन्त्य लीला वाले हैं तो श्रीराधाजी की भी महिमा अचिन्त्य है। भगवान् आनन्द स्वरूप हैं, तो वे भी आनन्द की वर्षा करने वाली हैं। इस प्रकार संसार में जितनी लीला हैं सब श्रीराधाजी की ही लीला विलास है। वे श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं केवल रसास्वादन करने को दो होकर एक होते हैं। एक कथा ऐसी है, कि गोलोक में जब श्रीकृष्ण की रास करने की इच्छा हुई, तो उनकी इच्छा ही मूर्तिमती किशोरी बनकर उनके वामापार्श्व से प्रगट हो गयी। रास में उत्पन्न होकर अपने शक्तिमान् की सेवा के निमित्त-आरम्भिक अर्घ्य देने के निमित्त पुष्प चयन के लिये उन्होंने धामन-गमन किया, इसीलिये उनका नाम राधा पड़ा। अथवा श्रीकृष्ण इनकी आराधना करते हैं और ये श्रीकृष्ण की आराधना करती हैं, इस हेतु भी इन्हें राधा कहते हैं। राधा कहो, राधिका कहो, राधस कहो सब एक ही बात है। इनका प्राकट्य रासविलास के ही निमित्त हुआ, अतः ये रासेश्वरी हैं। इनका प्रादुर्भाव क्रीड़ा के ही निमित्त हुआ अतः ये क्रीड़ाप्रिया हैं, अपने शक्तिमान् के साथ नित्य नूतन-नूतन लीलायें रचती हैं, प्रधान शक्तिमान् की प्रधान शक्ति के द्वारा ही समस्त शक्तियों का विकाश होता है, श्रीराधिकाजी के रोम कूपों से—अल्पशक्ति से ही—अन्य असंख्य गोपियों का प्राकट्य हुआ। यह सब लीला में ही प्रादुर्भाव तिरोभाव है, वास्तव में तो शक्ति शक्तिमान् सदा अभिन्न हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं, उनका आविर्भाव नहीं, तिरोभाव नहीं। उत्पत्ति नहीं, विनाश नहीं। ह्रास नहीं, उल्लास नहीं। सभी जानते हैं कण-कण जल से छोटी-छोटी जल की राशि बनती है। गड्ढा, कूप, तालाब तथा नदी सभी में जल होता है, सभी से प्यास बुझती है, सभी जीवों का जीवन है, किन्तु यह समस्त जल-जल की महाराशि समुद्र से आता है, अन्त में किसी

न किसी मार्ग से वहाँ चला जाता है इसी प्रकार संसार में जो हमें यह आनन्द रस अथवा प्रेम दिखायी देता है, यह सब श्रीराधाकृष्ण महासागर के कुछ कण हैं, वह दिव्यआनन्द दिव्य लोक में निरन्तर उमड़ता रहता है। उसका आदि नहीं, अंत नहीं, अवसान नहीं। ऐसे ही वह हिलोरें लेता है।

दिव्यलोक में निरन्तर रास विलास करते-करते श्रीराधाजी के मन में एक पुत्र पैदा करने की इच्छा उत्पन्न हुई। "समस्त इच्छाओं से परिपूर्ण श्रीराधाजी के मन में इच्छा क्यों उत्पन्न हुई जी ?" बस, तुम क्यों का प्रश्न न किया करो। क्रीड़ा केवल आनन्द के ही निमित्त होती है, इसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता। क्रीड़ा ही क्रीड़ा में हो गयी इच्छा। इच्छा होते ही पुत्र हुआ। परम सुन्दरी का पुत्र भी परम सुन्दर हुआ। एक दिन उसने जम्हाई ली। उसके पेट में पञ्चभूत, आकाश, पाताल, वन, पर्वत, वृक्ष, महत्तत्व, अहङ्कार, प्रकृति पुरुष सभी दिखायी दिये। उसके मुख में ऐसी अलाइ-बलाइ देखकर सुकुमारी राधिकाजी को बड़ा बुरा लगा। कैसा विराट् छोकरा हुआ। उन्होंने नारजल में उसे रख दिया। वही विराट् पुरुष हुआ। उसी से समस्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति है। श्रीकृष्ण ने शाप दिया—"अब तुम्हारे बच्चा न होगा। तुम अनपत्या रहोगी। तभी से राधिकाजी का नाम कृशोदरी पड़ा। इनका पेट कभी बढ़ता नहीं।

एक दिन श्रीराधाजी श्रीकृष्णचन्द्रजी से रूठ गयीं। 'रूठी क्यों जी ?' फिर वही क्यों वाली बात। अजी, रूठना भी एक लीला है। प्रेम के रूठने में बड़ा आनन्द आता है। श्रीकृष्ण उन्हें पैर पकड़कर मनाने लगे। नहीं मानी नहीं मानी। तब सुदाम गोप ने समझाया "क्यों इतनी अकड़ रही हो, हो गया सो हो गया। अब मान जाओ।" आज तो उन्हें दूसरी लीला करनी थी। सुदाम को शाप दिया—"तू भरत खण्ड में जाकर

असुर हो जा।" बदले में उसने भी कहा—"तुम भूमि पर गोप-कन्या हो जाओ।" तभी से श्रीराधिकाजी वृषभानु गोप के यहाँ कीर्तिदेवी से प्रकट हुईं।"

श्रीकृष्णजी से ११ महीने पन्द्रह दिन पूर्व भाद्र शुक्ला अष्टमी को वृषभानुनन्दिनी का गोकुल के समीप रावल में प्रादुर्भाव हुआ। बिना राधे के श्रीकृष्ण तो आधे भी नहीं, देवर्षि नारदजी जब श्रीकृष्ण जन्म के अवसर पर भगवान् के दर्शन करने आये थे, तब उन्होंने स्वयं ही सोचा था—"जब व्रज में गोलोकविहारी का जन्म हुआ है, तो उनकी शक्ति गोलोकविहारिणी ने भी अवश्य ही यहीं कहीं किसी गोप के यहाँ जन्म ग्रहण किया होगा, अतः वे वृषभानुजी के भवन में गये। वहाँ श्रीराधिकाजी को गोलोकविहारिणी समझकर स्तुति की। तब उन्होंने अपने नित्य किशोरी रूप से दर्शन दिये। वे चौदह वर्ष की दिव्य सुकुमारी अलौकिक शोभायुक्त सुन्दरी देवी बन गयीं। इससे यही सिद्ध होता है, कि ये जन्म लेना, शिशुक्रीड़ा करना केवल लोगों के सम्मुख जवनिका मात्र है। इनमें न घटाव है न बढ़ाव, दोनों ही नित्य किशोरावस्थापन्न रहते हैं। निरन्तर रास विलास में मग्न रहना ही इनका काम है। सृष्टि, स्थिति तथा संहार आदि के कार्य त्रिदेव करते रहते हैं। असुर आदिकों का संहार भी विष्णु का कार्य है। श्रीकृष्ण का तो एकमात्र कार्य अपनी शक्ति के सहित निरन्तर क्रीड़ा करते रहना ही है। कभी-कभी वह दिव्यलोक की लीला इस मर्त्यलोक में भी होने लगती है। वही लोक ज्यों-का-त्यों यहाँ प्रकट हो जाता है। वह प्रकट लीला भी दो प्रकार की होती है, बाह्य और आन्तरिक। बाह्य लीला के भी तीन भेद हैं, गोष्ठलीला, वनलीला और कुञ्जलीला। आन्तरिक लीला निकुञ्जलीला है। उसमें सब सखियों का भी प्रवेश नहीं। उसमें कुछ अत्यन्त अन्तरंग सखियाँ ही सम्मिलित हो

सकती हैं। शेष गोष्ठ और वन की लीलाओं में महाभाग्यशाली गोपों का, गोपियों का, सभी का प्रवेश है, वह जगत् के आनन्द की वृद्धि करने वाली हैं। वर्णन जहाँ होगा, वहाँ बाह्य लीलाओं का ही होगा। आन्तरिक लीलाओं का कुछ थोड़ा बहुत कोई वर्णन कर भी सकता है, तो भीतर का भेदिया ही कर सकता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में ऐसा उल्लेख है, कि नन्दजी एक दिन वन में श्यामसुन्दर को लिये हुए थे, उस समय श्रीराधाजी उनके समीप आयीं। नन्दजी ने दिव्य दृष्टि से सब समझ लिया, यह इनकी नित्याशक्ति हैं, अतः बालकृष्ण को श्रीराधाजी की गोदी में दे दिया। वे उन्हें लेकर वन में गयीं। तब भगवान् ने बालरूप त्यागकर नित्यकिशोर रूप धारण किया। ब्रह्माजी ने आकर दोनों का वैदिक विधि से विवाह कराया। फिर भगवान् बालक बन गये। तब श्रीराधाजी उन्हें नन्दजी को दे गयीं। इन सबसे यही जताना है, कि ये दोनों नित्य किशोर हैं, एक दूसरे के प्राण हैं। ये कभी विलग नहीं हो सकते, किन्तु कुछ काल में दोनों ही इन बातों को भूल गये। "सर्वशक्तिमान् होकर भूल क्यों गये जी ?" अपनी शक्ति से ही भूल गये। भूल भी तो उन्हीं की शक्ति है, उसका भी तो उपयोग होना चाहिये। योगमाया को जो उन्होंने बीच में खड़ी कर रखा है। जो भी लीला करते हैं, योगमाया का आश्रय लेकर करते हैं। इस प्रकार श्रीनन्दनन्दन आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र नन्दभवन में बढ़ने लगे और वृषभानु-नन्दिनी सर्वेश्वरी श्रीराधा वृषभानुजी के भवन को आलोकित करती हुई सबको सुख देने लगीं। इस प्रकार वे ५-६ वर्ष की हो गयीं और श्यामसुन्दर ४-५ वर्ष के।

प्रथम मिलन

श्रीकृष्ण बड़े चंचल हैं, माखन चुरा-चुराकर खाते हैं, गोपियों को छकाते हैं, यह बात व्रज में सर्वत्र फैल गयी। श्रीराधाजी

भी इन सब बातों को सुनतीं। न जानें क्यों, श्रीकृष्ण का नाम सुनते ही, उनके अंग-अंग में सिहरन उठने लगती। वह नाम उन्हें अत्यन्त ही प्यारा लगता। श्रीकृष्ण की जहाँ चर्चा चलती, वहाँ उनके लोभी कान मधुलोलुप भ्रमर की भाँति चिपक जाते। 'कृष्ण कृष्ण' कितना सुन्दर, कितना मधुमय, कितना श्रुतप्रिय सुखदायक नाम है। कभी-कभी वे कदम्ब के ऊपर से वंशी की मधुर ध्वनि सुनतीं। सयानी-सयानी गोपिकाएँ कहतीं—"यह नन्द का लाला वंशी बजा रहा है।"

श्रीराधाजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहता। 'हाय! जिसका इतना सुन्दर मधुमय नाम है, वह इतनी सुन्दर वंशी भी बजा लेता है क्या?" इस प्रकार उनका प्रेम वंशी ध्वनि को सुनकर और भी अधिक बढ़ता। स्वाभाविक प्रेम में अवगुण दिखायी ही नहीं देते। प्रेम की यह मोटी पहिचान है, जिसमें भी अवगुण दिखायी दे, उसमें प्रेम का अभाव ही समझना चाहिये। यह नहीं प्रेम में अवगुण भी गुण ही दिखायी देते हैं। गुणों की तो बात ही क्या? किसी कृष्णभक्त ने किन्हीं रामभक्त संत से कहा—"आप श्रीकृष्ण की उपासना क्यों नहीं करते? श्रीकृष्ण तो सोलह कला परिपूर्ण अवतार हैं। श्रीरामचन्द्रजी तो द्वादश कला के ही अवतार हैं।" यह सुनकर वे संत चौंककर बोले—"क्या कहा, श्रीरामचन्द्रजी बारह कला के अवतार भी हैं क्या? हम तो अब तक कौशलकिशोर दशरथनन्दन मानकर ही उनकी भक्ति करते थे। अब आपके मुख से अवतार सुनकर हमारी भक्ति और भी दृढ़ हो गयी"। सारांश यह कि मदनमोहन मनोहर मुरली बजाते हैं, इसलिये राधाजी का उनकी ओर आकर्षण हुआ हो, सो बात नहीं, उनका उनके प्रति स्वाभाविक सहज स्नेह हो गया था, नाम श्रवण से वह बढ़ गया था और मुरली ध्वनि से वह पराकाष्ठा को पहुँच गया था।

एक दिन यमुना किनारे राधाजी आयीं। छोटी-सी भोली-सी

गोरी-सी बड़ी सुन्दरी, अर्धस्फुटित कलिका के समान, नीली साड़ी ओढ़े हुए सकुचाती हुई अपने में ही अंगों में सिमिटी-सी वे बड़ी ही भली लगती थीं। संयोग की बात, कि वे अकेली ही थीं। सहसा श्यामसुन्दर आ गये। चार पाँच वर्ष के बालक कछनी काँछे, मोरमुकुट बाँधे, मुरली हाथ में लिये हुए वृषभानुनन्दिनी के आगे खड़े हो गये। दो-दो आँखें मिलकर चार हो गयीं। दोनों ही सुधि-बुधि भूल गये। श्यामसुन्दर ने पूछा—"लली! तुम कहाँ रहती हो?"

"हम बरसाने रहते हैं जी?" वीणा विनिन्दित स्वर में किशोरीजी ने कहा।

"मैंने पहिले तो तुम्हें कभी नहीं देखा था, तुम्हारे पिता का नाम क्या है?" श्यामसुन्दर ने पूछा।

सकुचाती हुई चकित-चकित दृष्टि से मदनमोहन के मुखारविन्द मधु का अपनी आँखों से पान करती हुई वृषभानुलली बोलीं—"मैं अपने पिता का नाम नहीं लूँगी। वे वहाँ के राजा हैं। बैल और सूर्य पर उनका नाम है।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण बोले—"ओहो! तुम वृषभानुनन्दिनी हो, तुम्हारा नाम राधा है।"

एक अजनबी किन्तु आकर्षक छोकरे के मुख से अपना नाम सुनकर उनके हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी। सम्भ्रम के साथ उन्होंने कहा—"तुम कौन हो जी, मेरा नाम तुम कैसे जानते हो?"

श्यामसुन्दर का अन्तःकरण ही नहीं खिल रहा था, उनके रोम-रोम से आनन्द फूट रहा था, मुखमण्डल मोद के कारण विकसित हो रहा था। अपनी मंद-मंद मुसकान की किरणों को उनके कपोलों पर पड़ी कानों की कुण्डल की आभा में हिलाते हुए मदनमोहन बोले—"तुम्हारे रूप की ख्याति तो समस्त ब्रज-

मण्डल में फैली हुई है, तुम्हारा नाम भला ऐसा कौन अभागी होगा, जो न जानता होगा। मेरा नाम कृष्ण है, मैं नन्दरायजी का पुत्र हूँ।"

राधाजी का हृदय बाँसों उछल रहा था। वे एक हाथ से उसे कसकर थामे हुई थीं। अपने आन्तरिक भावों को छिपाने का वे सतत प्रयत्न कर रही थीं। वे बिना ही विचारे आपसे आप कह उठीं—"ओहो! मैं भी सुना करती थी, श्यामसुन्दर बड़े चोर हैं?"

हँसकर श्यामसुन्दर बोले—"तुम्हारा मैंने क्या चुराया जी! बड़े घर की बेटी होकर ऐसी बुरी बात अपने मुख से निकालती हो? मुझे चोर बताती हो?"

भोरी-भारी सुकुमारी राजकुमारी डर गयीं, उन्हें अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ—"हाय, मेरे मुख से यह क्या निकल गया। चोर तो ये हैं ही, प्रथम दृष्टि में ही मेरा मन चुरा लिया, किन्तु अप्रिय सत्य को भी प्रकट न करना चाहिये। वे कुछ कह न सकीं। उन्होंने कहा—"मैं जाती हूँ।"

श्यामसुन्दर सिटपिटा गये। अरे, यह तो रंग में भंग हुई। उन्होंने सम्पूर्ण ममता बटोर कर कहा—"जाती क्यों हो, तनिक ठहरो। बुरा मान गयीं क्या? मैंने तो हँसी में कह दी। हाँ सब लोग मुझे माखनचोर माखनचोर कहते हैं। यद्यपि मैं किसी का चुराता-फुराता नहीं, किन्तु जिसका नाम निकल जाय। तुमसे भी किसी ने कह दिया होगा। चलो, थोड़ी देर यमुना किनारे मिलकर खेलें।"

राधिकाजी ने मन में सोचा—"यह नन्द का छोरा जितना ही आकर्षक है उतना ही ढीठ है। कितने प्यार से बोलता है, इसकी वाणी में कितनी मोहकता है, किन्तु वे लज्जावश श्याम

को बातों का उत्तर न दे सकीं। वे बोलीं—"मेरी माँ बिगड़ेगी, इसलिये अब मुझे जाने दो, फिर मैं कभी आऊँगी।"

श्याम ने इधर-उधर देखकर उनकी नीली रेशमी साड़ी पकड़ ली और बोले—"मेरी शपथ खाओ, कि फिर आओगी।"

राधिकाजी ने साड़ी छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया। अपने बड़े-बड़े विशाल कजरारे नयनों से शंकित दृष्टि से इधर-उधर देख कर बोलीं—"छोड़ दो, छोड़ दो। हाँ मैं अवश्य आऊँगी।"

"कल आवोगी इसी समय" श्याम ने बात पर बल देकर कहा।

शंकित चित्त से वृषभानुनन्दिनी ने कहा—"अब कल की तो नहीं कह सकती। मैं तुम्हारी भाँति छोरा तो हूँ नहीं, छोरी हूँ। माता से पूछकर, किसी को साथ लेकर, कोई बहाना बनाकर तब आना होता है।"

श्यामसुन्दर बोले—"तुम्हारा खिरक और हमारा खिरक पास ही पास तो है, माता से कह देना गौओं को दुहने जाती हूँ।"

शीघ्रता से किशोरीजी बोलीं—"अब तुम मुझे छोड़ दो, तुम्हें यह सब सिखाना न होगा, मैं सब अपने आप कोई युक्ति सोच लूँगी।"

श्याम ने झटककर उनकी नीली साड़ी खींच ली। नागिन की भाँति उनकी चोटी फहराने लगी। वे कुपित होकर बोलीं—"तुम बड़े नटखट हो जी! ऐसी छेड़-छाड़ करोगे, तो फिर मैं न आऊँगी।" आपने तुरन्त भूल में अपना पीताम्बर उन्हें उढ़ा दिया। यद्यपि वे मुख से तो बातें कर रही थीं, किन्तु उन्हें तन-मन की सुधि-बुधि नहीं थी। उन्हें यह पता ही न चला कि यह नीली साड़ी है या पीताम्बर है। इधर श्रीकृष्ण ने भी जान बूझकर ऐसा नहीं किया था। किशोरीजी लैंया पैंया गोष्ठी की ओर

भाग गयीं। श्यामसुन्दर लुटे व्यापारी की भाँति खड़े-खड़े उनकी शोभा को निहारते रहे। जब वे आँखों से ओझल हो गयीं, तो कुछ खोये हुए व्यापारी की भाँति लौटकर घर आये। आते ही मैया ने कहा—"अरे, कनुआ! तू यह किस छोरी की ओढ़नी ओढ़ आया रे! अरे, पगले! अब तू छोरा से छोरी हो गया?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पुरुष के मन में जब स्त्री का चिंतन होता है, तो तदाकार स्त्री रूप हो जाता है, इसी प्रकार स्त्री जब पुरुष का चिन्तन करती है, तब वह पुरुष रूप हो जाती है। बिना देवता बने देवपूजन होता नहीं। मनुष्य जिसका चिन्तन करता है उसी का रूप हो जाता है। इसीलिये राधाजी श्रीकृष्ण का चिन्तन करते-करते अपने को श्रीकृष्ण कहने लगती हैं और श्रीकृष्ण राधा का चिन्तन करते-करते उन्हीं के भावों का अनुकरण करने लगते हैं। अपने शरीर पर राधाजी की साड़ी देखकर माता के सामने श्याम सिटपिटा गये। बात बनाते हुए बोले—"मैया! आज एक बड़ी भारी घटना हो गयी।"

माता ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्या घटना हो गई बेटा?"

आप भोली सूरत बनाकर बोले—"देख, मैया! अपनी वह जो मरखनी गैया है, वह बिदुक गयी। वह एक छोरी की साड़ी सींग में लगाकर भाग गयी। छोरी रोने लगी, तो मैंने उसे अपना पीताम्बर उढ़ा दिया। गौ से छुड़ाकर मैं यह उसकी साड़ी लाया हूँ। खोने का डर नहीं है। मैं तो उसे जानता हूँ। कालि मैं उसकी साड़ी उसे दे आऊँगा। अपना पीताम्बर ले आऊँगा।"

मैया ने कहा—"अच्छा किया भैया! अब छोरी के ओढ़े हुए को तू क्या करेगा लाकर। मेरे यहाँ पीताम्बरों की कमी थोड़े ही है, तुझे और नया निकाले देती हूँ।" यह कहकर मैया ने

दूसरा पीताम्बर दे दिया। श्यामसुन्दर ने उस साड़ी को कृपण के धन की भाँति छिपाकर सुरक्षित रख दिया।

इसी प्रकार जब देर होने के कारण डरती हुई, कीर्तिकिशोरी ने घर के भीतर पैर रखा, तो उसी समय बड़ी देर से क्रुद्ध बैठी हुई माता ने डाँटकर कहा—"कौन राधा! अब तू बड़ी स्वतन्त्र हो गयी है। लोकलाज, कुललाज सब खो दी है। बड़े घर की बेटी को ऐसे अकेले घूमना चाहिये? कोई क्या कहेगा, मेरे यहाँ सेवक नहीं, सेविकाएँ नहीं। तू कहाँ गयी थी? कितनी देर हो गयी। अभी तक कुछ खाया भी नहीं।" इस प्रकार न जाने मैया क्या-क्या अंटसंट बहुत देर तक बकती रहीं। जब उसने श्रीजी के शिर पर पीत पट देखा तब तो वह और क्रुद्ध हुईं और डाँटने लगीं।

उस समय बड़े-बड़े नेत्रों से आँसू बहाते हुए कोप में भरकर कीर्तिलली ने कहा—"मैया! तू मेरी तो कुछ सुनेगी नहीं। अपनी ही कहती जायगी। मुझे पता नहीं था। मुझे कारावास की भाँति सदा घर में बन्द रहना चाहिये। अभी कुछ देर हुई ललिता के साथ मैं खिरक देखने गयी थी। गौओं को देखा न कोई दुहता है, न कोई गोबर उठाता है। गौओं के नीचे घोंटू-घोंटू कीच हो रही है। वहाँ से यमुना किनारे चली गयी। वहाँ बहुत-सी गोपियाँ थीं, कोई नहा रहीं थीं, कोई जल भर रहीं थीं। मैं भी नहाने लगी। नहाकर ज्यों ही मैं निकलकर अपना लँहगा पहिनने लगी, त्यों ही वहाँ एक कारियल भुजंग सर्प आया। आते ही उसने मेरे पास की एक गोपी को चट्ट से डस लिया। मैं डरकर भागी। मैं तनिक-सी ही बच गयी, नहीं वह मुझे भी काट लेता। उसी हड़-बड़ी में मेरी ओढ़नी यमुनाजी में बह गयी। वह गोपी मूर्छित होकर गिर गयी।"

माता का सब रोष कपूर की भाँति उड़ गया। वह बोली—

"हाय ! बेटी ! भगवान् ने ही तुझे बचाया। वह गोपी मर गयी या जीती रही।"

मन-ही-मन प्रसन्न होकर लाड़िलीजी कहने लगीं—"सुन तो सही मैया ! उसी समय एक कोई कारो-सो छोहरा वहाँ आ गया- मैं तो उसे जानती नहीं थी, उसने बाबा का नाम ले दिया और मुझे खुले सिर देखकर यह पीला कपड़ा ओढ़ने को दे दिया। मैं लेती नहीं थी, किन्तु सबने कहा—"लैले, लैले, कोई बात नहीं। यह तो नन्दकुमार है।" अम्मा ! वह छोरा बड़ा जादूगर है। उसने उस गोपी के कान में ऐसा मन्त्र फूँका, कि वह तुरन्त उठ कर खड़ी हो गयी और हँसने लगी। मैं तो नारायण की ही कृपा से बच आयी।"

यह सुनकर मैया ने श्रीराधाजी को पकड़कर छाती से चिपटा लिया। गोद में बिठाकर मुख चूमकर सिर पर हाथ फेरती हुई बोलीं—"भगवान् ने बड़ी कृपा की, बेटी ! मैं तो डर रही थी तू कहाँ चली गयी।"

मैया को अपने अनुकूल देखकर श्रीजी ने कहा—"मैया ! यह कारो-सो छोहरा किनका है, वह बार-बार मुझसे कहता था, हमारे घर खेलने आना, हमारे घर खेलने आना। मैंने तो कुछ कहा नहीं।"

मैया ने कहा—"बेटी ! वह नन्दराय का छोटा है। उसका नाम है कृष्ण। वह बड़ा नटखट है। यशोदा रानी से मेरा भायेला है। उनके यहाँ जाने में कोई बात नहीं। वह अपना घर ही है। अब इस पीताम्बर को तैंने ओढ़ लिया। कल एक नया उनके यहाँ दे आना।" सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यहीं से श्रीकृष्ण प्रेम का आरम्भ होता है। वैसे तो इन दोनों में सनातन का प्रेम है उसमें न आरम्भ है न अन्त, किन्तु लौकिक दृष्टि से इसका नाम पूर्वानुराग है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब दोनों ओर से नित्य प्रति मिलन की उत्कट इच्छा बनी रहने लगी। दोनों ही निरन्तर मिलन के अवसर खोजने में लगे रहते। जब भी अवसर मिलता किसी भी बहाने से मिल जाते। कभी श्रीकृष्ण अनेक रूप रखकर राधाजी के अन्तःपुर में चले जाते, कभी राधाजी अनेक रूप रखकर श्रीकृष्ण को संभ्रम में डालतीं। स्नेह बढ़ने लगा, उसने मान का रूप धारण किया फिर वही प्रणय रूप में परिणत हो गया। राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव ये स्नेह की क्रम-क्रम से सीढ़ियाँ हैं। राधा श्रीकृष्ण की प्राणेश्वरी हैं, हृदयेश्वरी हैं। उनके बिना श्रीकृष्ण रह नहीं सकते।"

छप्पय

दिव्य लोकतें धरनि धामपै राधा आई।
निज परिकर पुर लाइ अवनिकूँ दई बड़ाई॥
धनि-धनि श्रीवृषभानु कीर्ति जननीहू धनि-धनि।
जिनकी दुहिता बनी राधिका विहरै भवननि॥
यह अवनी पावन बनी, राधा पदरज परसिकें।
जिहि रज सुरगन, इन्द्र अज, शिव सिर धारहिँ हरषिकें॥

—o—

निरस्तसाम्यातिशया श्रीराधा

(९७६)

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वताम्
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥*
(श्रीभा० २ स्क० ४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

राधा रसकी खानि सरसता सुखकी बेली ।
नन्दनँदन मुखचन्द्र चकोरी नित्य नवेली ॥
नित नव नव रचि रास रसिक हिय रस बरसावे ।
केलि कलामहँ कुशल अलौकिक सुख सरसावे ॥
गोरी भोरी सुन्दरी, रामा सुषमा श्याम की ।
सती शिरोमनि स्वामिनी, श्रीवृन्दावन धाम की ॥

जो चराचर विश्व के एकमात्र स्वामी हैं जिनकी भ्रुकुटि विलास से यह सब प्रपञ्च पसरा हुआ है उनके लिये क्या स्वकीय

---

* श्रीशुकदेवजी भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"जो भगवान् ऐकान्तिक भक्तजनों के रक्षक हैं तथा कुयोगियों की जो दृष्टि से दूर हैं, जो अपने अक्षर ब्रह्मधाम में विराजकर, जिसके समान अथवा जिससे अधिक किसी का ऐश्वर्य नहीं उन शक्ति श्रीराधाजी के साथ जो रमण करते हैं, उन श्रीहरि को बारम्बार नमस्कार है।"

क्या परकीय, पर उनके लिये कोई है ही नहीं। सब 'स्व' ही 'स्व' है। अपने स्वधाम में स्थित होकर वे क्रीड़ा कर रहे हैं, रस बरसा रहे हैं, सुख सरसा रहे हैं। स्वयं ही तरल बनकर रस रूप हो जाते हैं और उसका आस्वादन करते हैं। जैसे अपने प्रतिबिम्ब के साथ क्रीड़ा करने को अपने ही मुख को सजाते हैं। अपनी ही मुख श्री को बढ़ाते हैं फिर दर्पण में सजे हुए अपने प्रतिबिम्ब को देखकर सिहाते हैं। उनकी न कोई परकीया है न स्वकीया। दोनों भावों से रहित वे सच्चिदानन्द रस रूप आनन्द के निलय निखिल गुण-गणार्णव तथा भावरस सिन्धु हैं। क्रीड़ा के निमित्त जितनी भी शक्तियों का सृजन करते हैं, वे सब स्वकीया हैं। धर्माविरुद्ध काम में स्वकीया भाव सर्वश्रेष्ठ है तथा धर्मविरुद्ध काम में परकीया भाव अत्यन्ताकर्षक और परम सुखकर माना गया है। श्रीभगवान् की क्रीड़ा धर्म अधर्म दोनों से परे की होती हैं। वे तो विशुद्ध रसरूपा आनन्द वर्षिणी विमल प्रेमप्रवाहिनी होती हैं। लौकिक भावों से उनकी समता नहीं, उपमा नहीं, फिर भी उनका वर्णन लौकिक भाषा में करना है, अतः लौकिक उदाहरण देने पड़ते हैं।

लोक में देखा गया है, प्रेम का जितना ही छिपकर अत्यन्त प्रतीक्षा के अनन्तर रहस्यमय भाव से आस्वादन किया जाता है, उतना ही वह आकर्षक और चित्तोल्लासकारक होता है। जितनी ही विघ्नबाधाओं के अनन्तर मिलन होगा, उतना ही उसमें स्वारस्य बढ़ेगा। अपने घर की प्रेयसी तो अपनी है ही, उसके पाने में कोई प्रयत्न नहीं, कोई असुविधा नहीं, किन्तु परकीया से प्रेम करने में कितनी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, चित्त में कितनी निरन्तर उत्कंठा बनी रहती है, इसका अनुभव जार ही कर सकते हैं। "परकीया भाव में अत्यधिक आकर्षण है।" केवल एतावन्मात्र दिखाने के निमित्त ही कुछ वैष्णवगण श्रीराधाजी के

प्रेम में परकीया भाव की कल्पना करते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त है। एक कोई भगवद्भक्त थे, उनकी सती साध्वी पति-परायणा पत्नी थी। एक दिन वह यमुना किनारे जल भरने गयी, संयोग की बात, कि उसी समय उसके पति को भी किसी कार्य-वशात् यमुनाजी की ओर जाना पड़ा। आज उनकी पत्नी ने विचित्र शृङ्गार किया था। दूर से देखकर वे उसे पहिचान नहीं सके। उनके मन में उस अत्यन्त रूप लावण्यवती युवती के दर्शनों की उत्कट इच्छा हुई। वे उसे देखने को शीघ्रता से आगे बढ़े। आगे बढ़कर देखते हैं, यह तो अपनी धर्मपत्नी है यह देखकर उन्हें बड़ी लज्जा आयी। वे सिर नीचा किये हुए चले गये।

अब यहाँ इसी भाव पर विचार करना है उत्कण्ठा परकीया में ही अधिक हुई। यह उत्कण्ठा धर्मपूर्वक है या अधर्मपूर्वक यह प्रश्न हम प्राकृत जीवों के लिये है और होना ही चाहिये। जो प्रकृति से परे की लीला हैं, उनमें तो प्रेम धर्म एक विलक्षण ही धर्म है। जो परकीया भाव से श्रीराधाकृष्णकेलिका रसास्वादन करते हैं, उनका एकमात्र भाव अत्युत्कण्ठापूर्वक आनन्दानुभूति से ही है। भगवान् व्यास को भी जब दूसरा कोई अत्युत्तम उदाहरण कथा श्रवण वालों के लिये नहीं मिला तो उन्हें भी यही कहना पड़ा "स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता" जैसे जारों को स्त्रियों के सम्बन्ध की बातें अत्यन्त रसीली आकर्षक लगती हैं, वैसे ही भगवद्-भक्तों को भगवान् की लीलाएँ नित्य नयी-नयी-सी-लगती हैं। यहाँ परकीया से अत्यन्त उत्कण्ठा और तन्मयता के साथ रति-सुख की अनुभूति में है। नहीं जो श्रीहरि चराचर विश्व के स्वामी हैं उनका पर कौन हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब श्रीराधाजी का श्रीकृष्ण के प्रति और श्रीकृष्ण का राधाजी के प्रति नित्य नव-नव अनुराग बढ़ने लगा। यह प्रेम प्रवाह होता है, कि इसमें नित्य-नित्य वृद्धि

ही होती रहती है, ह्रास तो इसमें कभी होता नहीं। कहाँ तक बढ़ता है, इसकी कोई सीमा नहीं असीम है, अनन्त है, अपार है, अज्ञेय है, बढ़ता ही जाता है, बढ़ता ही जाता है, बढ़ते रहना ही इसका व्यापार है।

रेशमी पीताम्बर लेकर भोरी-भारी राधा चकित-चकित दृष्टि से इधर-उधर देखती हुई नन्दभवन के द्वारपर खड़ी हो गयीं। अब उनकी दशा विचित्र थी। संकोच उन्हें भीतर जाने से रोकता था और चित्त बार-बार आग्रह करता था, चलो, भीतर चलो। श्यामसुन्दर अपनी माता से कुछ प्रेम कलह कर रहे थे, किसी बात पर मचल रहे थे, उनके मधुमय वचन बाहर सुनायी दे रहे थे, उन्होंने वृषभानुनन्दिनी के पैर वहाँ चिपका दिये थे। लोभी कान उन्हीं में तन्मय हुए टकटकी लगाये हुए थे। सहसा उनके मुख से अपने आप ही निकल गया—"श्यामसुन्दर! यह तुम्हारा पीताम्बर है।"

श्यामसुन्दर तो आज प्रातःकाल से ही चौकन्ने हो रहे थे। न जाने कै बार बाहर गये और आये। एक अद्भुत परमश्रुत मधुर शब्द सुनकर वे सब कुछ भूलकर द्वार पर दौड़े आये। सहसा उन्हें देखकर राधाजी सहम गयीं। वे बोलीं—"लो, यह तुम्हारा पीताम्बर है, कल भूल से चला गया था।"

श्यामसुन्दर ने पीताम्बर के ही वर्ण के उनके अत्यन्त कोमल कर को पकड़ते हुए कहा—"यह मेरा पीताम्बर तो है नहीं।"

अत्यन्त लजाते हुए सुकुमारी कीर्तिकुमारी ने कहा—"मैया ने कहा है, पुराना क्यों देगी, जा नया दे आना।"

संभ्रम के साथ श्यामसुन्दर ने पूछा—"तुमने कल की बात मैया से कह दी क्या?"

विवशता से स्वर में श्रीराधा बोलीं—"मैं क्या करती कल भूल

से तुम्हारा पीताम्बर मेरे साथ चला गया। जब उसने पूछा तो मुझे सब बात कहनी ही पड़ी। झूठ कैसे बोलती।"

श्यामसुन्दर बोले—"तब तुम भी मेरी मैया के पास चलो, तुम्हें भी मेरी मैया नयी साड़ी देगी।"

आग्रह के साथ श्रीजी बोलीं—"ना, मैं भीतर नहीं चलूँगी। मुझे बड़ी लज्जा लगती है, अब मुझे जाने दो।" यह कहकर वह पीताम्बर को श्याम के ऊपर फेंककर भगीं। श्यामसुन्दर ने सम्पूर्ण बल लगाकर उन्हें पकड़ लिया और आग्रह करते हुए बोले—"नहीं, यह नहीं होने का, तुम्हें मेरी शपथ है, मैया के पास चलना ही होगा। परवश हुई हरिनी की भाँति कीर्ति-किशोरी खड़ी हो गयीं। संकोच के कारण उनके अरुण कपोल और अरुण हो गये थे। वे न भीतर जाना चाहती थीं और न श्याम को छोड़ने को चित्त कहता था। अन्त में वे श्याम के आग्रह को टाल न सकीं। श्याम उनका हाथ पकड़े ही पकड़े भीतर ले गये। वे छाया की भाँति विवश बनी चली गयीं।

श्यामसुन्दर ने शीघ्रता के साथ कहा—"मैया! मैया! यही वह छोरी है, जिसे मैंने कल पीताम्बर उढ़ा दिया था। आज इसकी मैया ने मेरे पुराने पीताम्बर के बदले, नया कैसा सुन्दर जड़ाऊ पीताम्बर भेजा है। देख तो सही कैसा अच्छा है।" यह कहकर श्यामसुन्दर ने पीताम्बर मैया की गोदी में फेंक दिया। मैया ने पीताम्बर को देखा तक नहीं। उसकी दृष्टि पीताम्बर लाने वाली सुवर्ण की प्रस्फुटित कली के समान श्रीराधाजी के मनोहर मुखारविन्द पर गड़ गयी थी। वे उनके सौन्दर्य माधुर्य को देखकर मंत्रमुग्ध-सी हो रही थीं। मैया ने व्यङ्ग के स्वर में कहा—"ललो! यह तो मुझे पता है, तेरी मैया रानी है, उनके बहुत धन सम्पत्ति है, किन्तु भीख माँगने वालों को देनी चाहिये। जब तेरी मैया को वस्त्र ही भेजने थे, तो गाड़ी

दो गाड़ी भेजती। एक पीताम्बर पर हम क्या धर्म बिगाड़ें।"

श्रीराधाजी ने मैया की बात का कुछ भी उत्तर न दिया। वे लजाती हुई भूमि की ओर देखती हुई चुप-चाप खड़ी रहीं। बीच-बीच में कनखियों से श्यामसुन्दर को बड़े कौशल से मैया की दृष्टि बचाकर देख लेती थीं। मैया ने जब देखा, लड़की अत्यन्त सकुचा रही है, तो उन्होंने उठकर उसे पकड़कर छाती से चिपटा लिया। मुख चूमकर अपनी गोद में बिठाकर कहा—"तेरी मैया ने मेरे लिये कुछ नहीं भेजा?"

श्रीराधा मैया की गोदी में सिर नीचा किये बैठी रहीं। मैया ने अपने लाल-लाल भारी हाथों की गुदगुदी गद्दी से उनकी ठोढ़ी को ऊपर उठाते हुए कहा—"बता तेरा क्या नाम है।"

श्रीजीने कंपित स्वर में संकोच के साथ हौले से कहा—'राधा'।

"राधा, राधा" कैसा अच्छा नाम है। कैसी भोली-भाली लड़की है।" मैया ने अपने आप ही ये शब्द कह दिये। उनका हृदय उमड़ रहा था। वे कुछ कहना चाहती थीं, किन्तु क्या कहें? यह सब सोचने का उन्हें अवकाश नहीं था, जो मुँह में आ जाता, उसे ही बिना विचारे कहने लगतीं—"कीर्तिरानी ने लल्ला के लिये नया पीताम्बर भेजा है। उसे लौटाती हूँ, तो भी अपशकुन है, घर आयी लक्ष्मी को लौटाना उचित नहीं।" फिर मन-ही-मन सोचने लगीं—"यह तो मेरी बहू बनती तो मेरे जीवन की सभी साध पूरी हो जाती। कैसा मलूक छोरी है, कैसी भोरी-भारी है।" फिर राधाजी से बोलीं—"तेरी मैया तो बड़ी भौंड़ी है! क्यों ललो है न? वह है तो रानी, किन्तु बड़ी फूहरिया है। देख तेरे बालों को भी वह अच्छी तरह नहीं बाँधती। आ बेटी! तेरी चोटी कर दूँ।"

श्रीराधाजी नहीं चाहती थीं, वे यशोदा मैया से चोटी करावें, किन्तु करें क्या लड़कियों को तो कुछ कहने का अधिकार ही नहीं। वे या तो 'हाँ' कह सकती हैं या रो सकती हैं। मैया ने बिना उनके उत्तर की प्रतीक्षा के उनके सिर की ओढ़नी अलग कर दी। बँधे हुए बालों को खोल दिया। तेल कंघी ले आयीं। अपनी गोदी में बिठाकर वे उनकी चोटी करने लगीं। मोतियों से उनकी माँग को सजाया। भाल के ऊपर सुन्दर लाल बिन्दी लगायी। बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहिनाये और फिर हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना की—"कीर्तिलली मेरे कनुआ की दुलहिनि हो जाय।" इतने में ही और भी गोपियाँ आ गयीं। नन्दरानी को ऐसे प्रार्थना करते देखकर वे सब हँस पड़ीं और बोलीं—"नन्दरानी! न बतासे बाँटे न खीखरी खिलायीं। ऐसे सूखी ही सगाई कर ली।"

हँसकर नन्दरानी बोलीं—"अरी, मैंनाओ! सगाई कहाँ कर ली। हमारे ऐसे भाग्य कहाँ। लड़की क्या है लक्ष्मी है। यदि यह मेरी बहू हो जाय, तो इस कनुआ के भाग्य खुल जायँ। वैसे इस काले कलूटे की सगाई कौन करेगा?"

उनमें से एक बोली—"बहू तनिक बड़ी रही।"

उनमें से एक चंचल-सी गोपी बोली—"अच्छी है, बड़ी बहू बड़े भाग। यह कनुआ बड़ा चंचल भी है। बड़ी बहू रहेगी, तो इसके कान गरम कर दिया करेगी।"

यह सुनकर सब खिलखिलाकर हँस पड़ीं। श्यामसुन्दर ऐसे भोले-भाले बने बैठे थे, मानो वे कुछ जानते समझते ही न हों। श्रीराधाजी मैया की गोदी में विवश बनी बैठी थीं।

राधाजी ने कहा—"मैया बहुत बिगड़ेंगी। उन्होंने मुझसे कहा था—"तू तुरन्त पीताम्बर देकर लौट आना।"

मैया बालिका की विवशता का बड़ी देर से अनुभव कर रहीं थीं। वे बोलीं—"बेटी ! तू कुछ खा ले।"

सम्पूर्ण साहस बटोरकर वृषभानुनन्दिनी ने कहा—"नहीं मैया ! मैं कुछ खाऊँगी नहीं।"

मैया समझ गयीं, लड़की खायगी नहीं, अतः उन्होंने अधिक आग्रह भी नहीं किया। तिल, चावल और लड्डुओं से उन्होंने उनकी गोद भर दी। भरे गोद और भरे हृदय से उठकर वे चलने लगीं। मैया ने कहा—"फिर आना, नित्य आना, इसे भी अपना ही घर समझना, तू इतनी सकुचाती क्यों है, जैसे ही कीर्तिरानी तेरी मैया है, वैसे ही मुझे समझ। तेरी मैया तो भौंड़ी है। तेरा बाप तो अभी लौंठरा बना है, किन्तु तेरी मैया तो बूढ़ी हो गयी है। बोल, फिर आवेगी न ?"

स्वीकृति सूचक सिर हिलाकर श्रीराधाजी शीघ्रता से चल दीं। श्याम अपना कर्तव्य स्थिर कर न सके, मुझे क्या करना चाहिये। तब तक मैया ने कहा—"कनुआ ! बच्ची को मार्ग बता देना। देखना, भूल न जाय।"

अन्धे को मानों दो आँखें मिल गयीं। श्यामसुन्दर उनके पीछे-पीछे चले। दोनों में क्या-क्या बातें होती रहीं, इसे तो भगवान् जानें, किन्तु श्यामसुन्दर उन्हें उनके घर तक पहुँचा आये। अब यह मिलन का रोग दोनों के ही हृदय में उत्पन्न हो गया। दोनों का आठ पहर का एक ही काम रह गया। श्रीराधाजी आठ पहर चौंसठ घड़ी यही सोचती रहतीं—"श्याम से कैसे भेंट हो ?" और श्याम सदा यही युक्तियाँ लगाते रहते, कि प्यारी के दर्शन कैसे हों। इन दोनों ओर की चाह में कितनी अगणित लीलाएँ हुईं यही अनुराग की अपार गाथा है। अगणित कवियों ने अनेकों प्रकार से इसका वर्णन किया है, किन्तु वह सब अधूरा है अल्प है। महासागर की कुछ सीमित बिन्दुमात्र हैं।

संकेत

प्रेम मार्ग में संकेत का बड़ा महत्व है। कहना चाहिये प्रेम की भाषा संकेत लिपि में लिखी जाती है। संकेत दो प्रेमियों के बीच में दुभाषिये का काम करता है। इसीलिये संकेतवट नन्द-गाँव और बरसाने के ठीक बीचों बीच में है। संकेत सैनों में होता है, नैनों में होता है और बैनों में होता है। सैनों में जो संकेत होता है, वह स्वीकृति और अस्वीकृति का होता है। नैनों में जो संकेत होता है वह अनुराग और कोप का होता है तथा बैनों में जो संकेत होता है, वह चलने का और रुकने का होता है। संकेत शास्त्र बड़ा गहन शास्त्र है, इसका वर्णन हो भी नहीं सकता। यह तो अध्ययन की अनुभव की वस्तु है। इन तीनों का एक-एक उदाहरण देकर ही इस विषय को समाप्त करना है। श्यामसुन्दर गोपों से घिरे बैठे हैं गोपिकाएँ दही बेचने जाती हैं। श्याम सबसे कर दधि दान लेते हैं। वे अपने अनुराग को सबके सम्मुख प्रकट नहीं करना चाहते। भावगोपन प्रेम का आच्छादन है। जैसे शरीर वस्त्राभूषणों से ढका रहने से ही शोभा पाता है, वैसे ही प्रेम दबा ढका रहने पर ही बढ़ता है। निर्लज्जता से उसमें अश्लीलता आ जाती है। सबके साथ श्रीराधिकाजी भी दही बेचने जाती हैं। वे बोलतीं नहीं, श्याम की ओर देखतीं नहीं। श्याम उनके साथ की एक सखी से बातें करते हैं। वे तो बिना अर्थ की होती हैं, कही किसी से जाती हैं उनका अर्थ कोई समझता है। श्याम ने बातों ही बातों में समीप खड़ी हुई श्यामा से सैनों में संकेत कर दिया—"लौटकर आना।" बात समाप्त हो गयी।

नैनों में संकेत जहाँ दो-दो नेत्र मिलकर चार हुए वहाँ बहुत-सी बातें हो जाती हैं, उसकी व्याख्या असम्भव है।

बैनों में संकेत का एक विचित्र ढङ्ग है। सबके सम्मुख ही सैनों में श्याम ने संकेत कर दिया. कल मध्याह्न में वंशीवट पर

आना है। नैनों में ही स्वामिनीजी ने स्वीकृति दे दी। रात्रि भर दोनों को निद्रा नहीं आयी, कब प्रातः हो कब मिलन हो, किन्तु मिलना भी सहज नहीं। लोकलाज, समाज बन्धन, घर वालों की घेराघारी सभी का तो ध्यान रखना पड़ता है। लोक में रहकर लोक व्यवहार की तो अवहेलना खुलकर नहीं की जा सकती।

कीर्तिलली आज प्रातःकाल भोर में ही उठी। अपना मोतियों का हार तोड़कर उसे लँहगा में छिपा लिया। बार बार आँगन में आती हैं, फिर घर के भीतर जाती हैं, यहाँ खोज वहाँ खोज। शैया के नीचे खटर-पटर करती हैं, बिस्तरे को हिलाती हैं।

मैया ने पूछा—"बेटी! क्या खोज रही है?" मुख पर भय से बनावटी भाव धारण करके कुछ बताती नहीं। कण्ठ को सूना-सूना देखकर मैया पूछती हैं—"तेरा मोतियों का हार कहाँ गया? कल सायंकाल में तो मैंने तुझे पहिने देखा ही था। अवश्य ही तू कहीं उसे खो आयी है। डर के कारण बताती नहीं। सत्य बता, किसी को दे आयी या कहीं डाल आयी।"

श्रीजी रोनी सूरत बना लेती हैं—कहती हैं—"मैया! मैंने किसी को दिया नहीं।"

"दिया नहीं तो गया कहाँ?" माता ने बात पर बल देते हुए क्रुद्ध होकर कहा।

श्रीराधा ने बनावटी चिन्ता की मुद्रा बनाकर कुछ देर सोचकर कहा—'कल मैं यमुनाजी गयी थी, वहाँ सबने स्नान किया, मैंने भी किया। तब तक की तो मुझे स्मृति है, हार मेरे कण्ठ में ही था। एक गोपी दृष्टि गड़ाकर देख रही थी। वहाँ कई थीं। यदि तू ललिता विशाखा को मेरे साथ भेज दे, तो मैं उसे चीन्हकर पता लगा सकती हूँ।"

बहुमूल्य हार था, माता ने तुरन्त ललिता विशाखा को साथ

कर दिया। जाते समय श्रीजी मैया से कहती गयीं—"मैया, यदि मुझे कुछ देर सबेर भी हो जाय, तो कोई चिन्ता मत करना। यह कहकर वे संकेत की ओर चलीं। नन्दभवन के नीचे होकर ही निकलीं। "नन्दभवन की ओर होकर संकेत का मार्ग कहाँ है जी ? यह तो उलटा मार्ग हुआ ?" प्रेम का मार्ग उलटा ही होता है। इसका कोई एक निश्चित मार्ग नहीं। इसमें प्रेमी पथ का अनुसरण नहीं करता, पथ को ही प्रेमी के अनुरूप बनना पड़ता है।

हाँ, तो इधर श्यामसुन्दर आज प्रातःकाल से ही व्यग्र हो रहे थे। न जाने क्यों वे बार-बार घर के भीतर जाते फिर बाहर आते। मैया ने तुरन्त रसोई बनाई। बलदेवजी को बुलाया—"आओ भैया ! नारायण का भोग लग गया, प्रसाद पा लो।"

बलदाऊ ने कहा—"भैया, मुझे आज अभी भूख नहीं है। कनुआ पहिले खा ले, फिर मैं खाऊँगा।"

भगवान् को इसमें क्या आपत्ति होनी थी, वे ग्वाल बालों के संग भोजन करने बैठ गये। शीघ्र-शीघ्र बड़े-बड़े ग्रास खाने लगे। मैया बोलीं—"कनुआ ! अरे भैया ! भोजन करने में ऐसी हड़-बड़ाहट नहीं की जाती। धीरज के साथ हौले-हौले खा।"

इतने में ही नन्दभवन के द्वार पर वृषभानुलली ने अपनी सखी ललिता को सम्बोधन करके कहा—"ललिते ! तनिक खड़ी रह खदिरावन की ओर मुझे भी चलना है।" ये शब्द यद्यपि ललिता के लिये कहे गये थे, इनमें श्याम का संकेत का नाम भी नहीं था, किन्तु भीतर भोजन करने वाले श्याम के कान तो बाहर ही लगे हुए थे। इन वीणाविनिन्दित वचनों को सुनते ही श्याम खाना पीना सब कुछ भूल गये। जो ग्रास मुख में था, वह मुख में ही रहा। बिना आचमन किये ही दौड़े।

मैया ने पूछा—"कनुआ ! कनुआ ! अरे कहाँ जाता है,

बेटा ! रोटी तो खा ले क्या बात है। ऐसी हड़बड़ी क्यों मचा रहा है।"

अत्यन्त व्यग्रता प्रकट करते हुए नन्दनन्दन बोले—"अरी मैया ! एक भारी काम याद आ गया।"

मैया ने प्यार से कहा—"सुन तो सही, क्या काम है, काम सब पीछे हो जायँगे, तू रोटी तो खा ले।"

आप क्रुद्ध होकर बोले—"तुझे रोटी की पड़ी है। अभी कुछ देर हुई, एक गोप कह गया था, कि वह हमारी मरखनी गौ जङ्गल में ब्याहि पड़ी है। ब्याते समय बड़ी कूद फाँद करती है। मैं न जाऊँगा, तो वह सब गौओं को मारेगी।"

इतना कहकर आप लकुटी और वंशी बगल में दबाकर भागे, मैया रसोई घर से उठकर खड़ी हो गयीं—"अरे, सुन तो सही। गौ कहीं भगी नहीं जाती है, तू रोटी तो खा ले।"

जो गोप समझते थे, उन्हें तो सब पता ही था, अपनी हँसी रोककर वे बोले—"मैया, अब तू इसे जाने दे, इसकी गौ बड़ी बिदुकनी है। यह न गया, तो न जाने वह किधर भाग जायगी।'

उन गोपों को नेत्रों ही नेत्रों में डाँटते हुए श्याम यह गये, वह गये और अति शीघ्र श्रीजी से जाकर मिल गये। यह नैनों का संकेत है। बात कही कुछ गयी, कही किसी से गयी और समझी किसी ने। इसका और भी एक उदाहरण लीजिये।

यमुनातट पर बड़ी भीड़भाड़ है, स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका, युवती, युवा, बड़े-बूढ़े सभी हैं। वृषभानुकिशोरी भी स्नान करके जा रही हैं। इधर गोपों से घिरे नन्दनन्दन भी आ रहे हैं। कुलवती राजकुमारी सबके सम्मुख आँख उठाकर तो देख नहीं सकती। चलते ही चलते उन्होंने पुकारा—"अरी, ओ ललिते ! आगे बढ़ गयी क्या ? अरी साँझ के समय अवश्य आना।" न

वहाँ ललिता थी न विशाखा। शून्य में ये शब्द किसी को उद्देश्य करके कह दिये।"

इधर श्यामसुन्दर समझ गये और बोले—"अरे, भैया! मनसुखा! अच्छा, तू अप्रसन्न हो गया। शाम को मैं तेरे घर अवश्य आऊँगा।" स्त्री, पुरुष, बूढ़े-बड़े सभी सुन रहे थे. इस बात की ओर ध्यान देने की किसे आवश्यकता थी, कि ये किस मनसुखा के लिये कहे जा रहे हैं। ताड़ने वाले ग्वाल-बाल ताड़ गये और हँसकर बोले—"कनुआ भैया! मनसुखा तो यहाँ है नहीं, आज आया भी नहीं। हाँ, मनसुखी अवश्य है।" यह सुनकर श्यामसुन्दर क्रुद्ध हुए और बोले—"तुम लोग बड़े धूर्त हो रे! चलो, चलें।" सब घर आ गये और सायंकाल के समय नियत समय पर वृषभानुजी के भवनों में दोनों का मिलन हुआ।

इस प्रकार दोनों ओर से नित्य प्रति नवानुराग बढ़ने लगा। प्रेम छिपाये से तो छिपता नहीं। मन के भाव बिना कहे वायु-मंडल में बिखर जाते हैं। गोपों में और गोपियों में गुपचुप-गुप-चुप काना फूँसी होने लगी। नन्दजी, वृषभानुजी, कीर्तिरानी तथा यशोदारानी किसी से भी यह बात छिपी न रह सकी, कि दोनों ओर से अनुराग बढ़ रहा है। वृषभानुजी चाहते थे, नन्दजी हमारे समधी बनें, नन्द यशोदा की भी हार्दिक इच्छा थी, राधा हमारी पुत्रबधू बने। दोनों ओर से नेग जोग भी आरम्भ हो गये। सगाई के पहिले जो कुछ भेजना होता है, वह भी सब भेजा जाने लगा। प्रतीत ऐसा होता है, वृषभानु जी नन्दजी से कुछ अधिक धनी थे। साक्षात् श्री ही जब उनके यहाँ पुत्री के रूप में अवतीर्ण हो गयीं हैं, तो उनसे अधिक धनी और कौन हो सकता है। आठों सिद्धियाँ नवों निधियाँ निरन्तर हाथ बाँधे उनकी सेवा में खड़ी रहती थीं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो दो आदमियों का काम हो रहा होगा, तो उसमें भाँजी मार देते

हैं। किसी ने कीर्तिरानी से कह दिया—"नन्द के घर में तो भूँजी भाँग भी नहीं, तुम अपनी बेटी का विवाह उसके बेटा के साथ क्यों करना चाहती हो ?"

अब क्या था, कीर्तिरानी अड़ गयीं। वे तो घर वर दोनों को ही सुन्दर देखना चाहती थीं। अब तक लोग वर में ही दोष बताते थे। उसका रंग काला है, चोरी भी करता है, तीन स्थान से टेढ़ा भी है।" फिर भी राजा का लड़का है, कैसा भी टेढ़ा सीधा हो घर तो अच्छा है, किन्तु जब घर के विषय में भी संदेह होने लगा, तब तो अड़ गयीं। वृषभानुजी से बोलीं—"मैं अपनी बच्ची का ऐसे कोरे घर में विवाह न करूँगी।"

वृषभानुजी ने बहुत समझाया—"तुझे किसने यह कह दिया है। नन्दरायजी तो हम सब गोपों के राजा हैं। चार पैसा अधिक होने से ही कोई धनी नहीं हो जाता। उनका कितना प्रतिष्ठित कुल है।" किन्तु स्त्री हठ के सम्मुख ब्रह्मा बाबा को भी हार माननी पड़ती है। कीर्तिरानी नहीं मानी, नहीं मानी। अन्त में वृषभानुजी ने पूछा—"अच्छा, तुझे विश्वास कैसे हो, कि वे हमसे अधिक धनी नहीं हैं ?"

कीर्तिरानी ने कहा—"देखो, मेरे पास ये पाँच बहुमूल्य मुक्ता हैं। ऐसे मुक्ता यदि उनके यहाँ दो भी हों, तब तो मैं बच्ची का विवाह उनके यहाँ करूँगी नहीं तो मैं कोई दूसरा वर खोजूँगी।"

वृषभानुजी ने कहा—"अच्छी बात है, तुम किसी त्यौहार पर्व पर उनको भेजना और कहना अबके वे भी बच्ची के लिये ऐसे ही मुक्ता भेजें।" कीर्तिरानी ने यह बात स्वीकार की। सलूने पर वे पाँच मुक्ता भेजे और कहला दिया—"ऐसे ही मुक्ताओं की माला अब के भेजें।"

नन्दजी ने जब यह समाचार सुना तो बड़े घबराये। उन्होंने

इतने बड़े-बड़े मुक्ता देखे भी नहीं थे। माला की कौन कहे, उनके यहाँ तो ऐसा एक भी नहीं था। यशोदाजी भी बड़ी उदास हो रही थीं। इतने में ही श्यामसुन्दर आ गये और मैया को उदास देखकर वे उनसे लिपटकर बोले—"मैया! मैया! तू क्यों दुखी हो रही है।"

निराशा के स्वर में माता ने कहा—"अरे, भैया! क्या बताऊँ जैसे-तैसे तो मुझे ऐसी सुन्दरी बहू मिलने की आशा हुई थी, अब देखती हूँ, हाथ से बहू भी जा रही है और जाति में जो अपमान हो रहा है वह अलग रहा।"

संभ्रम के साथ श्यामसुन्दर ने कहा—"क्यों! क्यों! क्या हुआ? क्या हुआ?"

मैया ने कहा—"अरे, भैया! क्या हुआ? तेरी ससुराल से ये मुक्ता आये हैं। कीर्तिरानी ने कहलाया है, ऐसे मुक्ताओं की माला लड़की के लिये भेजो। हमारे यहाँ तो ऐसा एक भी मुक्ता नहीं।"

श्यामसुन्दर सरलता के साथ बोले—"तो मैया! इसमें चिन्ता करने की कौन-सी बात है, इन्हें खेत में बो दो। बहुत-से हो जायँगे।"

यह सुनकर सूखी हँसी हँसकर मैया बोलीं—"अरे, तू तो पागल है लल्लू! अरे बेटा! ये तो किसी-किसी हाथी के मस्तक में होते हैं। खेत में थोड़े ही पैदा होते हैं।"

श्यामसुन्दर बोले—"अरे, मैया! वृन्दावन की भूमि का ऐसा प्रभाव है, कि इसमें जो कहीं न हो वह यहाँ पैदा हो जाय। तुझे कुछ पता तो है नहीं। तुझे तो रसोई चौका बर्तन से ही समय नहीं मिलता। देख मैं अभी बोता हूँ, यह कहकर श्याम ने वे पाँच मुक्ता उठा लिये। नन्दजी कुपित हुये, कहीं इन्हें भी खो देगा तो हमारी अपकीर्ति होगी, किन्तु श्याम नहीं माने। वे

उन्हें लेकर यमुना किनारे चले गये। कुतूहल वश नन्दजी तथा अन्यान्य बहुत-से गोप भी साथ गये। जाकर भगवान् ने खेल-खेल में ही बालू की क्यारियाँ बनाईं, उनमें वे मुक्ता गाड़ दिये। यमुनाजी से लाकर पानी दिया। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ, उनमें से तुरन्त अंकुर निकले, बात की बात में बड़ी-बड़ी बेलें हो गयीं। उनमें मोटी-मोटी फलियाँ लगीं, वे पककर फूट गयीं। उनमें उनसे भी बड़े-बड़े मुक्ता निकले। उन सबको श्यामसुन्दर ने फिर बहुत-सी क्यारियाँ बनाकर बो दिया। उनमें फिर अंकुर निकला फिर बेल हुई और मनों मुक्ता हो गये। फिर उन्होंने नंद जी से कहा—"बाबा! अब छकड़े मँगवाओ और दस-बीस छकड़े वृषभानुजी के यहाँ भेज दो और कहला दो—"अब तो हमारे यहाँ मुक्ताओं की खेती होने लगी है आप जितने चाहें उतने मँगा लिया करें।"

नन्द बाबाजी ने हर्षित होकर छकड़ों में भरवाकर मुक्ता वृषभानुजी के यहाँ भिजवा दिये। मुक्ताओं के छकड़े देखकर कीर्तिरानी को अत्यन्त विस्मय हुआ, फिर उन्हें शङ्का करने का कोई स्थान ही न रहा। श्रीराधाजी का श्यामसुन्दर ने यथासमय पाणिग्रहण किया।

किन्हीं-किन्हीं का कथन है कि, श्यामसुन्दर ने श्रीराधाजी का पाणिग्रहण किया तो अवश्य, किन्तु छद्म रूप से किया। किसी गोप ने घोर तपस्या करके यह वर माँगा कि श्रीराधिकाजी मेरी पत्नी हों।" भगवान् ने वर दिया—"अच्छी बात है, पत्नी तो तुम्हारी हो जायँगी, किन्तु तुम्हारी पत्नी होकर भी वे मेरी ही बनी रहेंगी।"

ब्रह्माजी के मोह के समय श्यामसुन्दर ही बछड़ों और गोपों के रूप में एक वर्ष तक रहे। व्रज के सब गोप और बछड़े ब्रह्माजी के लोक में माया से अचेतन हुए पड़े रहे। उसी समय भग-

वान् ने गोप का भी रूप रखा और उसी रूप से श्रीराधाजी का पाणिग्रहण किया। बाह्य दृष्टि से तो लोगों को दिखाने के निमित्त उन्होंने उस गोप का रूप रख लिया था, किन्तु वास्तव में तो वे श्यामसुन्दर ही थे। जो जिसकी वस्तु है, उसे दूसरा कोई ग्रहण ही कैसे कर सकता है। इस रहस्य को श्रीराधाजी जानती थीं श्रीकृष्णजी जानते थे या वर्ष भर के पश्चात् उन्हीं की कृपा से ब्रह्माजी और बलदेवजी भी जान गये। पाँचवें किसी को भी इस रहस्य का पता नहीं था। इसीलिये कुछ लोग ऊपर से परकीया भाव की कल्पना करते हैं। यह केवल ऐकान्तिक रसास्वादन का भाव मात्र है। अन्तर में तो स्वकीया ही है। स्वकीय बिना हुए स्नेह कहाँ?

कुछ भी हो श्रीराधा और श्रीकृष्ण का अद्भुत अलौकिक प्रेम एक पहेली बन गया। अबकी बात तो पृथक् है उस समय ही कोई कुछ कहता, कोई कुछ कहता। कोई श्रीराधाजी के चरित्र पर शङ्का करते कोई उनके पातिव्रत में दोष लगाते। इसीलिये सुना श्रीराधाजी को अपने पातिव्रत की परीक्षा भी देनी पड़ी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्रीराधा तो सर्वेश्वरी हैं। निखिल विश्व ब्रह्मांड की एकमात्र अधीश्वरी हैं, उनकी परीक्षा ली किसने?"

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! जिसने संसार में शरीर धारण किया है वह चाहे सर्वेश्वर हो या सर्वेश्वरी। जीव हो या ईश्वर परीक्षा सभी को देनी पड़ती है। भगवान् तो उत्तीर्ण ही हैं। जो जीव परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया, वह पार हो गया। जो अनुत्तीर्ण हुआ वह लटकता का लटकता ही रह गया। सर्वेश्वरी की परीक्षा लेने की सामर्थ्य सर्वेश्वर के बिना और किसकी हो सकती है। सर्वेश्वर ने ही सर्वेश्वरी के पातिव्रत की परीक्षा ली।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! सर्वेश्वर ने सर्वेश्वरी जी की परीक्षा क्यों ली और कैसे ली ? इस प्रसंग को कृपा करके हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, सुनिये महाराज ! मैं इस प्रसंग को आपको सुनाता हूँ। संसार में लोगों को गुलाबजामुन भी इतनी रसीली और मीठी नहीं लगती जितनी परचर्चा परनिन्दा मीठी लगती है। जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, लेन नहीं, देन नहीं उनकी भी हम घण्टों तक चर्चा करते रहेंगे। किसी से तनिक किसी के सम्बन्ध में कुछ सुन भर लें। उसी का राई का पहाड़ बना देंगे। इससे प्रतीत होता है, मनुष्य को परचर्चा अत्यन्त प्रिय है। हम लोग छोटे-मोटे आदमी ही परचर्चा या परनिन्दा करते हों सो बात नहीं, बड़े बड़ों को यह रोग होता है। किसी महात्मा से किसी अन्य महात्मा की कोई चर्चा करेगा तो वह छूटते ही कहेगा—"अजी हम सब उसकी नस-नस जानते हैं। आज वह महात्मा बन गया है, पहिले ऐसा था वैसा था।" प्रतीत ऐसा होता है कि परचर्चा किये बिना मनुष्य का अन्न पचता नहीं। जो परचर्चा से रहित हैं, कभी किसी के दोष गुणों का चिन्तन नहीं करते, वे मनुष्य नहीं ईश्वर हैं। नर रूप में नारायण हैं।"

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में परचर्चा की प्रवृत्ति अधिक होती है। स्त्रियों को एक अपच का रोग होता है उसमें यदि पानी भी पिलाओ तो नहीं पचता। इसी प्रकार स्त्रियों के पेट में बात पचती नहीं। धर्मराज युधिष्ठिर का शाप भी है इसीलिये स्त्रियों को तनिक भी किसी के सम्बन्ध में कुछ शङ्का होगी, तो वे अवश्य ही काना फूँसी आरम्भ कर देंगी। ब्रज में आजकल स्त्रियों में एक ही चर्चा थी। श्रीराधा और माधव के प्रेम सम्बन्ध की। कोई पक्ष में बोलता कोई विपक्ष में, किन्तु आजकल श्रीराधा सबकी

समालोचना का केन्द्र बनी हुई थीं। कोई उन्हें परकीया मानते कोई स्वकीया। स्वकीया परकीया का यह भेद सनातन है और सदा रहेगा।

यदि कुत्ता कुतियों के भूकने से हाथी डर जाय, तब तो वह कभी गाँव में आ ही नहीं सकता, क्योंकि हाथी को देखकर कुत्ते भूकते ही हैं, किन्तु वह उनकी उपेक्षा करता रहता है। मेरे सम्बन्ध में कोई क्या कहता है इस ओर वृषभानुनन्दिनी ध्यान ही नहीं देती थीं। फिर भी बात सीमा को उल्लंघन कर गयी। अब श्यामसुन्दर को स्वयं ही चिन्ता हुई। वे सबके सम्मुख किशोरीजी को निर्दोष सिद्ध करना चाहते थे। जिसको अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है हमारे यश अपयश की चिन्ता भी उसे ही होगी। आश्रित तो एकमात्र सर्वात्मभाव से समर्पण ही करना जानता है।

वैसे तो बहुत-सी स्त्रियाँ श्रीराधाजी के चरित्र पर लांछन लगाती थीं किन्तु उनमें दो प्रधान थीं, एक बुड्ढी और एक युवती। दोनों ही सदा पर पुरुष की ओर कभी नहीं देखती थीं। किन्तु देखना ही तो कोई पाप नहीं। पाप तो होता है मन से, कभी-कभी यह सदाचार का मिथ्याभिमान भी साधना में बड़ा भारी विघ्न हो जाता है। जब तक यह अभिमान चूर्ण नहीं होता, तब तक मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं आती। उन दोनों को अपने सतीत्व का अभिमान था इसी अभिमान में भरकर वे सबको असती मानती थीं और उनकी ऊपरी घटना देखकर निन्दा भी करती थीं, दूसरों की बुराई वही देखेगा जिसके भीतर बुराई भरी होगी। जिन्हें बुराइयों की आवश्यकता होगी। संसार में तो सदा से अच्छे बुरे रहे हैं, सदा रहेंगे। पंसारी की दूकान पर विष भी है, रसायन भी है, हमें मरना होगा, तो विष की खोज करेंगे। कायाकल्प करना होगा, तो विष की ओर ध्यान

न देकर त्रिफला आदि जो द्रव्य आवश्यक होंगे, उनकी ही चर्चा करेंगे।

हाँ, तो एक दिन श्रीकृष्ण रुग्ण हो गये। रोग ऐसा हो गया, कि माता-पिता सभी घबरा गये। गोप गोपी गोविन्द को घेर कर रोने लगे। मन्त्र, जन्त्र, जादू, टौना, झाँड़-फूँक तथा जड़ी बूटी सभी से उपचार किया, किन्तु किसी से कुछ लाभ नहीं हुआ। यशोदाजी के धैर्य का बाँध टूट गया, वे ढाह मारकर रोने लगीं। सहसा एक सुन्दर-सा वैद्य एक हाथ में झोली दूसरे में डंडा लिये हुए वहाँ आ उपस्थित हुआ। झोली डण्डा रखकर उसने कहा—"मैं मधुपुरी से आया हूँ, मैंने सुना नन्दकुमार कुछ अस्वस्थ हैं, मैं अभी इन्हें अच्छा करता हूँ।"

यशोदा मैया पर तो मानों किसी ने अमृत चिन्तन कर दिया। बोलीं—"वैद्यराज! मेरे लाला को तुम अच्छा कर दो, जो भी तुम माँगोगे वही मैं दूँगी। अपना सर्वस्व तुम्हें समर्पित कर दूँगी।"

वैद्य ने गम्भीरता के साथ कहा—"मेरे गुरु की आज्ञा है, मैं जिसकी चिकित्सा करता हूँ, उसके घर का जल भी नहीं पीता। यदि मैं रोगी से कुछ लेने लगूँ, तो मेरी विद्या विफल हो जाय। मैं निःशुल्क चिकित्सा करता हूँ।"

मैया ने व्यग्रता के साथ कहा—"आप जैसे भी चाहें तैसे करें। मेरे बच्चे को अच्छा कर दें। क्या-क्या वस्तु आपको चाहिये।"

वैद्य ने कहा—"मुझे कुछ नहीं चाहिये। केवल एक घड़ा यमुना जल चाहिये।"

मैया ने कहा—"मैं जितना कहो, उतना जल स्वयं ला सकती हूँ।"

वैद्यराज गम्भीरतापूर्वक बोले—"आपके लाने से काम न

चलेगा। आपके अतिरिक्त और जो भी सती स्त्री हो, वह भर-कर लावे। जिसे अपने पातिव्रत पर पूर्ण विश्वास हो। यदि कोई असती जल लावेगी, तो उससे श्यामसुन्दर अच्छे न होंगे।"

सबका हृदय धड़कने लगा। मन से जिसने कभी परपुरुष का चिन्तन न किया हो ऐसी स्त्री सर्वत्र नहीं मिल सकती। सब सहम गयीं। मैया ने कहा—"यह प्रतीत कैसे हो, कि यह जल सती का ही लाया हुआ है। सभी अपने मन से तो अपने को सती समझती हैं।"

हँसकर वैद्यराज ने कहा—"अपने मन से समझने से काम थोड़े ही चलेगा। सती की एक परीक्षा है। उस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर जो कलश को यमुना से भर लावे वही सती है, जो न भर सके वही असती है।"

मैया बोलीं—"अब तुम तो अड़ंगा लगा रहे हो। उसे भी बताओ। उसके लिये क्या-क्या करना होगा।"

वैद्यराज बोले—"उसके लिये कुछ नहीं। एक मिट्टी का कच्चा घड़ा मँगा दो।"

तुरन्त मिट्टी का कच्चा घड़ा आया। वैद्यराज ने अपनी झोली से सुवर्ण की एक कील निकाली। उससे उसमें सौ छिद्र कर दिये। एक कैंची निकाली। उससे श्यामसुन्दर की काली-काली घुँघराली बड़ी-सी लटकती हुई एक लट काट ली। उसके प्रत्येक बाल को बाँधकर एक बालतन्तु का निर्माण किया। उसे यमुनाजी के इस पार से उस पार तक बाँध दिया और कहा—"इस घड़े को लेकर जो इस बाल पर चलकर इस पार से उस पार जाकर यमुना जल भर लावे और एक बूँद भी जल न गिरे, वही सती है। उसी के लाये हुए जल से श्यामसुन्दर अच्छे हो जायँगे।"

यह सुनकर सभी स्त्रियों का साहस छूट गया। अब सब

मिलकर उन दोनों को उसकाने लगीं। उन्हें भी अपने सतीत्व का गर्व था। दोनों ही बारी-बारी से घड़ा लेकर गयीं किन्तु पैर रखते ही तन्तु टूट गया, दोनों ही दोनों बार बुरी तरह औंधे मुख गिर गयीं और यमुनाजी में गिरते-गिरते बचीं। अब जिनका कुछ साहस था भी वह भी छूट गया। अब किसी ने घड़ा उठाने का साहस न किया। जब किसी ने भी घड़े को न उठाया तो माँ रोकर बोलीं—"वैद्यराज! तुम्हें मेरे बच्चे को अच्छा नहीं करना है तो स्पष्ट कह दो। ऐसी असंभव बात क्यों कर रहे हो?"

वैद्य ने गम्भीर होकर कहा—"माता! संसार में असम्भव कुछ नहीं। सती साध्वी सब कुछ कर सकती हैं?"

माँ ने कहा—"तो तुम्हीं बताओ, कौन है ऐसी सती?"

वैद्य ने कहा—"मैं क्या जानूँ। हाँ, मैं ज्योतिष भी जानता हूँ। कहो तो गणना करके नाम बता दूँ।"

सबके मन में एक साथ बड़ा कुतूहल हुआ और सबने बल देकर आग्रहपूर्वक कहा—"नाम बताइये, नाम बताइये।"

वैद्यराज कुछ देर तक मेष, वृष, मिथुन, कन्या करते रहे अन्त में बोले—"यहाँ कोई राधा है?"

मैया ने कहा—"हाँ, है। हाय! उसे श्याम के रोग की बात मालूम न हुई होगी नहीं वह तो सबसे पहिले आती।" तुरन्त दौड़कर एक सखी श्रीमती राधिकाजी को बुला लाई। वैद्य ने देवी को दूर से ही देखकर उनकी अभ्यर्चना की और कहा—"देखो, यह घड़ा उस पार से भरकर केश तन्तु पर चलकर लाना होगा।"

"इससे क्या होगा, वैद्यराज?" वीणाविनिन्दित स्वर में श्रीकिशोरीजी ने कहा।

"अच्छा, श्यामसुन्दर मेरे लाये जल से अच्छे हो जायँगे।" उन्होंने तुरन्त घड़े को उठाया। स्त्री पुरुषों में कोलाहल मच गया। सभी का हृदय धड़क रहा था। कुछ स्त्रियाँ मन-ही-मन हँस रही थीं, कुछ परिणाम के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहीं थीं। श्रीवृषभानुनन्दिनी धीर गम्भीर भाव से सरलता के साथ शतछिद्रों वाले घड़े को लेकर यमुना तट पर आयीं। पीछे-पीछे अपार भीड़ थी। श्रीकृष्ण की जटा से निर्मित केशतन्तों को उन्होंने प्रणाम किया, फिर वे सरलता से उसके ऊपर से गयीं, घड़ा भरकर फिर उसके ऊपर से सरलता से चली आयीं, इस अद्भुत घटना से सभी के हृदय आनन्द से भर रहे थे, सब उनका जय जयकार कर रहे थे। देवता उन पर पुष्पों की वर्षा कर रहे थे। जल लाकर वे सरल बालिका के सदृश श्यामसुन्दर के समीप खड़ी हो गयीं।

वैद्य ने कहा—"देखो, तुम ही श्यामसुन्दर के ऊपर तीन चुल्लू जल डालो, तीन बार इनके सिर में फूँक मारो। अभी तुरन्त इनका रोग दूर होता है। बिना कुछ आपत्ति किये सरलता के साथ श्रीराधाजी ने तीन चुल्लू जल श्यामसुन्दर के ऊपर डाल दिया और तीन बार उनके मस्तक पर फूँक मारी। तुरन्त श्यामसुन्दर का रोग दूर हो गया। वैद्यराज अपना झोली डण्डा उठाकर जिधर से आये थे, उधर ही चले गये। उसी दिन से सबको विश्वास हो गया, कि व्रज में एक ही सती साध्वी पतिव्रता है और वह है कीर्तिनन्दिनी श्रीराधा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं कुछ श्रीमती राधाजी का जीवन चरित्र आप से नहीं कह रहा हूँ। उनके अपार चरित्र का कथन कर ही कौन सकता है, मैं तो उनकी महती महिमा के समुद्र से कुछ कण लेकर आपके सम्मुख उदाहरण उपस्थित कर रहा हूँ। वे श्यामसुन्दर की प्रधानशक्ति हैं। श्यामसुन्दर इन्हीं

के सहारे क्रीड़ा करते हैं, रास विलास करते हैं। ये ही रास की प्रधान रासेश्वरी हैं। रास के समय जब गोपियों को अपने ऐश्वर्य का मद हो गया था, उनके मन में मान उदय हो गया था, तब रासेश्वर इन्हीं अकेली रासेश्वरी अपनी प्रियतमा राधाजी को लेकर अन्तर्धान हो गये थे। इसीलिये गोपिकायें, लता-वृक्ष, खग मृग तथा अन्य चर अचर जीवों से प्रिया के सहित श्रेष्ठ का पता पूछती थीं। वे कहती थीं—"प्रिया के कन्धे पर कर रखे हुए श्यामसुन्दर इधर से जाते हुए तुम लोगों ने देखे तो नहीं हैं।'

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी! फिर क्या हुआ? अब आप हमें जो महारास की लीला सुना रहे थे, उसे ही सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं रास लीला के ही प्रसंग को आगे सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

प्यारीप्रभु की परम स्वामिनी सुखकी सरिता।
श्याम-सिन्धु प्रति बहति भाव भावित रस भरिता॥
लै तिनिकूँ हरि छिपे लतनितैं पूछति नारी।
निरखे इत कहुँ कृष्ण कन्हैया कुञ्जबिहारी॥
नारी तुमहू नारि हम, निष्ठुर नरने ठगि लई।
चोर चोरिके चित चल्यौ, गयो बिना चित के भई॥

—०—

प्यारी के संग प्रियतम कहाँ ?

[९७७]

चाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणाम ।
किं वाभिनन्दति चरन्प्रणयावलोकैः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३० अ० १२ श्लो०)

छप्पय

अरी, बेलि सुखकेलि करत निरखे इत गिरिधर ।
मन्द-मन्द मुसकात मदनमोहन मद मनहर ॥
अवसि तुमहिँ प्रभु परसि प्रिया सँग इतहिँ सिधाये ॥
तोरे तुमतें सुमन कामिनी केश सजाये ॥
नख क्षतनें अनुराग अति, उमहि रह्यो तुम अँगनितें ।
पायो आलिंगन अवसि, तुम सबने प्रिय भुजनितें ॥

जीव न जाने कब से अपने स्वामी से बिछुड़ गया है।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें कृष्णान्वेषण करती हुई वृक्षों से कह रही हैं—"हे तरुओ ! जिन श्रीकृष्णचन्द्र ने एक हाथ अपनी प्रिया के कंधे पर रख रखा है तथा दूसरे हाथ से क्रीड़ा कमल घुमा रहे हैं और जिनके पीछे-पीछे तुलसी की गन्ध के लोभी मदान्ध मधुकर जा रहे हैं, उन श्रीकृष्णचन्द्र ने यहाँ विचरते हुए तुम्हारे वदन का अपने प्रणयकटाक्षों से अभिनन्दन किया है क्या ?"

जीव कहाँ बिछुड़ सकता है, स्वामी ही छिप जाता है। उसे ढूँढना-खोजना यही जीव का एकमात्र व्यापार है। वह अपने स्वामी को खोजता है, खोजता है। निरन्तर खोजता ही रहता है। जिसे सम्मुख देखता है, उसी से आशा करता है, सम्भव है स्वामी का पता इसी से लग जाय। किन्तु जिससे आशा रखता है। वह भी तो भटक रहा है। वह भी तो उन्हें ही खोज रहा है। वह आगे बढ़ता जाता है। चौरासी लाख चक्कर लगाता है। यदि इस चक्कर में द्वार मिल गया तो निकल जाता है, नहीं पुनः भटक जाता है; इसे शान्ति ही नहीं, सुख नहीं, विश्राम नहीं, अवसान नहीं। चलता ही रहता है, खोजता ही रहता है। तो क्या इसके प्रयत्न से प्यारे मिल जाते हैं?' अजी, इसके प्रयत्न से क्या मिल जाते हैं। वे पहिले ही प्रकट हो जाते हैं। "अजी जब प्रकट ही होना था, तो पहिले ही क्यों छिपे? इतना प्रपञ्च क्यों बढ़ाया।" खेल के लिये, लीला के लिये योगमाया का आश्रय लेकर बाल-विनोद कर रहे हैं, आँख मिचौनी खेल रहे हैं। खेल में उन्हें आनन्द आता है, अतः इच्छा करते हैं। प्रजा हो जाती है। वंशीध्वनि सुनते ही सब संभार एकत्रित हो जाते हैं। फिर खेल आरम्भ हो जाता है। चोर छिप जाते हैं, दूसरे खेल वाले उन्हें ढूँढ़ते हैं। उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब अपने को खो देते हैं, तो वे मिल जाते हैं। वे ही अवशेष रह जाते हैं। फिर नयी क्रीड़ा आरम्भ होती है। इस प्रकार की अनन्त क्रीड़ायें अनन्त-काल से होती आ रही हैं, अन्तकाल तक होती रहेंगी। इनका आदि नहीं, मध्य नहीं, अन्त नहीं, अवसान नहीं। ऐसे ही चल रही हैं। यह गुणप्रवाह सतत बह रहा है। इसमें रसास्वादन करना ही परम पुरुषार्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकायें श्रीकृष्णान्वेषण के व्यापार में जड़ चेतन के भेदभाव को सर्वथा भूल गयीं। वे वृक्षों

को सम्बोधित करके बार-बार कहतीं—"हे तरुवरगण ! परोपकार ही तुम्हारा महान् व्रत है, तुम निरन्तर ही सबका उपकार करते रहते हो, तुमने बाल न बनवाने का व्रत ले रखा है, पतझड़ तुम्हारे पत्तों को गिरा देता है, तुम कुछ बोलते नहीं, कोई तुम्हारे अंगों को काट दे तो तुम उसका प्रतिकार भी नहीं करते। तुमने बिना संकेत का मौन व्रत ले रखा है। किन्तु मौनव्रती भी कभी अवसर आने पर मौनव्रत को तोड़ देते हैं तुम भी परोपकार के लिये अपने व्रत को भंग करके हमें श्रीराधाकान्त का पता बता दो। देखो, वे घन के सदृश श्याम हैं। उनके कन्धे पर चमकता हुआ पीताम्बर पड़ा है। अवश्य ही वे अपनी प्रिया के कन्धे पर कर रक्खे हुए चल रहे होंगे। उनकी प्रिया उनसे उसी प्रकार लिपट रही होंगी जैसे घन से सौदामिनी लिपटी रहती है। किन्तु वे गरजते न होंगे, रस की वर्षा अवश्य कर रहे होंगे। हमारा अनुमान है, घनश्याम के अमृत रस के कुछ बिन्दु अवश्य ही तुम्हारे ऊपर पड़े हैं। बिना उन बिन्दुओं के पड़े इतनी प्रसन्नता हो ही नहीं सकती। तुमने जब झुककर झूमकर उनके चरणों को चूमा होगा, तो अवश्य ही उन्होंने तुम्हारे अभिवादन का अभिनन्दन किया होगा, क्योंकि वे कृतज्ञ हैं, नम्र हैं, गुणग्राही हैं, हमसे वे किसी एक अपराध पर रूठ गये हैं। दोष हमारा ही है, उनका नहीं। वे तो निर्दोष हैं, सम हैं, व्यापक हैं, बृहत् हैं, परिपूर्ण हैं, सर्वगत हैं।

सम्मुख फूली लताओं को देखकर वे बोलीं—"इन पुरुष वृक्षों की सम्भव है श्यामसुन्दर ने उपेक्षा भी कर दी हो, क्योंकि पुरुष जाति कठोर होती है, किन्तु ये लतायें तो बड़ी लचीली हैं। तनिक वायु लगते ही हिल जाती हैं, तनिक रस बरसते ही खिल जाती हैं। बिना बुलाये ही वृक्षों से मिल जाती हैं, उनसे लिपट जाती हैं, लिपटकर फिर टूट भले ही जायँ छूटती नहीं। ये

अनुरागवती हैं इनको पूछो। यद्यपि ये आप्तकामा हैं, इनकी सब कामनायें पूर्ण हैं। ये आठों पहर अपने प्राणपतियों के प्रेमालिंगन सुख को प्राप्त करती हैं, फिर भी इनका शरीर रोमांचित हो रहा है, इससे विदित होता है, कि इन्हें भगवान् के लाल-लाल सुकोमल नखों का स्पर्श अवश्य ही प्राप्त हुआ है। श्यामसुन्दर ने अपनी स्नेहमयी सखी को सजाने के लिये इनसे सुमनों की याचना की होगी और इन्होंने उदारतापूर्वक अपनी शाखा रूपी भुजाओं को फैला दिया होगा और हँसकर कह दिया होगा—"हे व्रजवल्लभ! तुम्हें इनमें से जो भी अच्छे लगें अपनी चुटकी से तोड़ ले जाओ।" तब अनुराग भरित हृदय से हरि ने इनकी शाखा को झुकाकर झकझोर करके उनसे सुमन तोड़ लिये होंगे और शीघ्रता में स्वतः ही वे शाखायें उछलकर उनके कपोल से छू गयी होंगी। क्योंकि प्यारे के कमनीय कपोल के सुखद स्पर्श बिना इतनी प्रफुल्लता आ नहीं सकती। अहा! इनका कितना भारी सौभाग्य है। जिस प्रेमालिंगन के लिये लक्ष्मीजी कमल वन में जाकर एकान्तवास करके कैसी घोर तपस्या करती हैं। जिस आलिंगन के लिये तुलसीजी वृक्ष बनकर वर्षा, हिम तथा आतप आदि को सहन करके दुष्कर तप तपती रही हैं, वही आलिंगन इन लताओं ने अपने पुष्पों के कारण अनायास ही प्राप्त कर लिया है। इससे यह लोकोक्ति सत्य ही प्रतीत होती है, कि प्यारे को प्रसन्न करने की अपेक्षा प्यारे के प्यारे को प्रसन्न करने की सतत चेष्टा करे। यदि प्यारे का प्यारा प्रसन्न हो जाय, तो उसे प्रसन्नता प्रदान करने से प्यारे भी प्रसन्न हो जाते हैं। ये लतायें धन्य हैं जिनके सुमनों से श्यामसुन्दर ने अपनी प्यारी के केशों को सजाया है। हाय! हम अभागिनी लताओं से भी गई बीती हो गयीं। हम यदि व्रज की अबला न होकर वृन्दावन की किन्हीं कुञ्ज की लता ही होतीं तो श्यामसुन्दर अपने साँवले सलोने

करों से हमारे सुमनों को तो तोड़ लेते, हमारी सघन शीतल छाया में अपनी प्रिया के संग क्रीड़ा तो करते। अपने प्रणय कटाक्षों से हमारी ओर निहारकर अपनी प्रिया को प्रसन्न करने को हमारी शोभा तो दिखाते, हमारे गुणों का गान तो करते।

हाय! इस सुन्दर मानव शरीर से क्या लाभ ? जिससे श्यामसुन्दर का साक्षात्कार न हो। हमसे तो ये वृन्दावन की कंकड़ियाँ ही भाग्यशालिनी हैं जो श्यामसुन्दर के चरणों के स्पर्श से कठोर होने पर भी मृदुल हो जाती हैं। श्यामसुन्दर के चरणों का स्पर्श होने पर फिर भला किसी में कठोरता कैसे रह सकती है ? वृन्दावन के ये सूखे पत्ते जो घर द्वारविहीन होकर इधर-उधर पड़े रहते हैं। वायु जिन्हें जहाँ चाहती है वहीं उड़ाकर ले जाती है ये हमसे तो भाग्यशाली हैं ही। जो कभी न कभी प्रिया प्रीतम के पादपद्मों के स्पर्श का सौभाग्य प्राप्त करते ही हैं। भटकना तो इन सूखे पत्तों का ही सार्थक है। हम सरसता होने पर भी भटक रही हैं किन्तु हमें श्यामसुन्दर का साक्षात्कार नहीं होता। क्या करें, कहाँ जायँ, किससे पूछें, कौन हमें श्याम का पता बतावेगा, कौन हमें उनसे मिलावेगा, क्या करने से नन्दनन्दन मिल सकेंगे। किस साधन से किस युक्ति से वे हमारे हृदय के हार बन सकेंगे। कैसे वे हमें अपनावेंगे, कब वे हमें हृदय से चिपटावेंगे। कब वे हमें अंक में सटावेंगे ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार श्रीकृष्ण विरह में व्याकुल हुई व्रजांगनायें विरह की वेदना में विह्वल बनी एक वन से दूसरे वन में भटकने लगीं, श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की खोज करने लगीं। खोज करते-करते वे तन्मय हो गयीं और श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का अनुकरण करने लगीं।"

छप्पय

ऐसे कहि-कहि बैन नैनतें नीर बहावें।
कबहूँ करें प्रलाप कबहूँ रोवें पछतावें॥
करें कृष्णको ध्यान पुकारें नाम निरन्तर।
नाम ध्यानतें भई गोपिका तन्मय सत्वर॥
कृष्ण सरिस क्रीड़ा करें, बनी पूतना अपर हरि।
ज्यों को त्यों अभिनय करें, नयन मूँदि पयपान करि॥

श्रीकृष्ण लीलानुकरण

[९७८]

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३० अ० १४ श्लोक)

छप्पय

एक बनि गई शकट कृष्ण बनि अपर गिरावे ।
तृनावर्त बनि हरहि अपर हरि बनि हरि जावे ॥
बनि वत्सासुर एक कृष्ण बछरनि बिदुकावे ।
कृष्ण बनी तिहि मारि परमपद ताहि पठावे ॥
बनि बनवारी ब्रजवधू, वेनु बजावें वननिमहँ ।
कछू गोप गैयाँ बनीं, सुनि धुनि आवें रमनजहँ ॥

लोक में देखा गया है, जो जिसका निरन्तर चिन्तन करता रहता है, वैसा ही बन जाता है। विचारों का प्रभाव मन के ऊपर बहुत पड़ता है। मनुष्य जैसा संकल्प करता रहेगा वैसा ही हो जायगा। यह संसार ही संकल्प के अधीन है। हमारे विचार ही आकृति का निर्माण करते हैं। भीत पर, पाषाण की शिला पर, कागद पर चित्रकार वैसी ही आकृति बनावेगा जैसी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की खोज में व्याकुल हुई गोपिकायें उन्मत्तों के सदृश प्रलाप करती हुई उनकी लीलाओं का तादात्मिक होकर अनुकरण करने लगीं।"

कि वह कल्पना करेगा। इसीलिये वेदों में बार-बार कहा गया है। हमारे संकल्प शिव हों, सुन्दर हों, कल्याणकारी हों। एक घटना है, कोई स्त्री अपने पति को अत्यन्त प्यार करती थी। युवावस्था में उसका पति कहीं परदेश चला गया, वह उससे शीघ्र आने को कह गया था। दैवयोग से परदेश में जाकर उसकी मृत्यु हो गयी। यहाँ उसकी पत्नी निरन्तर उसकी प्रतीक्षा करती-करती पगली हो गयी। पागलपन में उसका यही संकल्प रहा कि मैं युवती हूँ, मेरे पति अभी आने वाले हैं। पागलपन में ही उसकी ७०-८० वर्ष की अवस्था हो गयी, किन्तु उसका एक भी बाल सफेद नहीं हुआ, क्योंकि वह सर्वदा यही अनुभव करती रहती थी कि "मैं युवती हूँ।" भावों का मुखाकृति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बहुत-से पुरुष मुख की आकृति ही देखकर मनुष्यों के अन्तःकरण के भावों को समझ लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीकृष्ण चिन्तन करते-करते वे व्रजांगनायें कृष्णमय बन गयीं। अब वे अपने आप ही श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। वे आन्तरिक प्रेरणा से श्रीकृष्ण चरित्रों का अभिनय-सा करने लगीं। एक गोपी बालकृष्ण बन गयी। दूसरी पूतना बनकर आयी। वह उसके स्तनों का पान करने लगी। तब वह विष का-सा अनुभव करके धड़ाम से धरती पर गिर गयी। एक शकटासुर बन गयी। दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसके नीचे लेट गयी और उसे पाँव की ठोकर मारकर गिरा दिया।"

एक गोपी ने अपनी फरिया फैलाकर तृणावर्त का अनुकरण किया, दूसरी जो श्रीकृष्ण बनी थी उसे उठाकर उड़ा ले गयी। फिर श्रीकृष्ण बनी ने खेल ही खेल में झूठ-मूठ में उसे मार दिया। एक कहती—"मैं श्रीकृष्ण हूँ, दूसरी कहती—"मैं बलराम हूँ, दोनों साथ-साथ वंशी बजाने का अनुकरण करतीं। कुछ

को गौएँ बना लेतीं, कुछ बछड़े बन जातीं। उन बछड़े बनी गोपिकाओं में कोई वत्सासुर बनकर मिल जाती और सबको पैरों से मारती, तब श्रीकृष्ण जाकर उस वत्सासुर बनी गोपी को पछाड़ते। सब मिलकर कहते—"धन्य-धन्य भैया! बड़ा अच्छा काम किया, यह तो कोई दुष्ट असुर था, जो बछड़ों में आकर मिल गया था। तैंने इसे भला मारा-भला मारा।"

कोई गोपी मुरलीधर बनकर मुरली बजाती। बहुत-सी गोपिकायें गौएँ बनकर घास चुगने का अभिनय करतीं। उन्हें दूर जाते देखकर श्रीकृष्ण वंशी की तान छेड़ते। बाँसुरी की धुनि सुनकर रम्हाती हुई गौएँ बनी गोपियाँ दौड़ी आतीं और श्रीकृष्ण बनी गोपी से लिपट जातीं, इस प्रकार वियोग में भी लीला अनुकरण द्वारा वे संयोग सुख का अनुभव करने लगीं।

कोई श्रीकृष्ण की चाल का अनुकरण करती, अपने शरीर को कुछ टेढ़ा करके मन्द-मन्द गति से बाँसुरी को बजाती हुई चलती और कहती—"देखो, मैं श्रीकृष्ण हूँ, मेरी ललित गति का तो अवलोकन करो। मैं राधारमण हूँ, मुझे ही लोग गोपीजन-वल्लभ कहते हैं।"

फिर सब मिलकर गोवर्धन-धारण लीला का अनुकरण करतीं। कुछ इन्द्रयज्ञ करने को उद्यत होतीं, एक श्रीकृष्ण बनके उनसे यज्ञ का कारण पूछती। बताने पर इन्द्र का यज्ञ न करके गिरि गोवर्धन यज्ञ करने की सम्मति वह कृष्ण बनी गोपी देती। तब सब गोवर्धन याग करने लगते। देवेन्द्र उन पर ओलों की वर्षा करते। तब व्रजवासी बनीं व्रजांगनायें भय से विह्वल होकर व्रजराज बनी बनिता की विनय करतीं। तब व्रजवल्लभ बनी व्रजांगना हाथ उठाकर कहती—"अरे व्रजवासियो! तुम वायु और वर्षा से भयभीत मत हो। इन्द्र तुम्हारा कुछ भी नहीं कर सकता। मैं दुष्टों का शासन करने वाला तुम्हारे सम्मुख उपस्थित

तुम्हें सभी संकटों से छुड़ा दूँगा। तुम सोच मत करो। मेरा अवतार शिष्टों के पालन और दुष्टों के संहार के निमित्त हुआ है।" यह कहकर वह अपनी ओढ़नी को फैला देती। दूसरी गोप बनी गोपिकायें लकुट लगाकर उसकी सहायता करतीं, इस प्रकार वह गोवर्धन धारण लीला का अभिनय होता।

तदनन्तर कालियदमन लीला करने लगतीं। कोई गोपी कालिय नाग बन जाती बहुत-सी गौएँ बनकर कालियह्रद में जल पीने को जातीं और विषमिश्रित जल पीकर मर जाने का अभिनय करतीं दूसरी श्रीकृष्ण बनकर कालियदह में कूदती और कालिय को ललकार के डाँट डपटकर कहती—"अरे, दुष्ट! तू खड़ा तो रह! तैंने यहाँ बहुत उपद्रव किया है। आज मैं तुझे यहाँ से निकालकर ही छोड़ूँगा।" यह कहकर कालिय बनी गोपी के ऊपर श्रीकृष्ण का अनुकरण करने वाली गोपी चढ़ जाती और उसके फणों पर नृत्य करने का अभिनय दिखाती। फिर कुछ गोपिकायें नाग पत्नी बनकर श्रीकृष्ण की स्तुति करतीं। तब श्रीकृष्ण बनी हुई गोपी कालिय को छोड़ देती।

इतने में ही सब अग्नि की लपटों से जलकर इधर-उधर भागने का अभिनय करतीं। सब चिल्लातीं—"चलियो रे, भगियो रे, वन में दावानल लग गयी है। श्रीकृष्ण हमारी रक्षा करो, रक्षा करो।" तब एक गोपी श्रीकृष्ण बनकर कहती—"गोपगण! घबराने की कोई बात नहीं। समस्त विपत्तियों से बचाने वाला मैं तुम सब लोगों के सम्मुख उपस्थित हूँ। तुम सब लोग अपने-अपने नेत्रों को मूँद लो। मैं अभी सहज में ही तुम सबकी दावानल से रक्षा करूँगा।" यह सुनकर सब अपने कोमल-कोमल करों से अपनी कजरारी बड़ी-बड़ी आँखों को मूँद लेतीं। श्रीकृष्ण बनी गोपी दावानल पान करने का अभिनय करती।

फिर कोई गोपी यशोदा बनकर दही मथने लगती। दूसरी

श्रीकृष्ण बनकर उनसे माखन माँगती। दूध उफना समझकर यशोदा बनी गोपी उसे उतारने दौड़ती तब तक श्रीकृष्ण बनी गोपी मटुकी फोड़कर भाग जाती। फिर यशोदा बनी गोपी श्रीकृष्ण की चंचलता से खीजकर उन्हें पकड़ने दौड़ती। पकड़कर अपने कंठ की पुष्पों की माला से श्रीकृष्ण बनी गोपी को बाँध देती। इस प्रकार दामोदर लीला का अनुकरण करतीं। श्रीकृष्ण के भय का वह सुनयनी गोपी बड़ा ही स्वाभाविक अनुकरण करतीं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मैं कहाँ तक वर्णन करूँ। श्रीकृष्ण प्रेम में पगली हुई ये व्रजांगनायें श्रीकृष्ण भाव में भावित होकर उनकी छोटी मोटी बड़ी अनेकों लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। इस वन से उस वन में जातीं, जहाँ जातीं वहीं लीला अनुकरण करतीं। कभी वृक्षलता गुल्मों से पुनः प्रभु का पता पूछतीं। इस प्रकार जब वे अधिक विह्वल हुईं तो उन्हें वहाँ भूमि पर वज्रांकुशादि चिन्हों से चिन्हित बालू में उभरे हुए श्यामसुन्दर के चरण चिन्ह दिखाई दिये। उनके दर्शनों से उनकी जैसी विचित्र दशा हुई, उसका यत् किंचित दिग्दर्शन मैं आगे कराऊँगा। आप सब समाहित चित्त से इस परम पावन पुनीत प्रसंग को श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

बनि कालिय फुफकार एक गोपी जब मारे।
बनि नँदनन्दन अपर नाथिके ताहि निकारे॥
एक कृष्ण बनि गोवर्धनकूँ धारे बलतैं।
बनि यशुमति हरि बनी ताहि बाँधे ऊखलतैं॥
देह गेहकी सुधि न कछु, अमति प्रेम रसमहँ पगी।
तन्मय ह्वैके अनुकरण, नटवर को करिबे लगीं॥

—o—

सात्विकी ईर्ष्या

[९७९]

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३० अ० २८ श्लो०)

छप्पय

निरखे प्रभुके चरण चिह्न अवनीपै उभरित ।
वज्रांकुश, ध्वज, कमल यवादिक चिन्हनि चिन्हित ॥
बिच-बिच प्यारी चरन निरखि अतिशय अकुलावति ।
करें सौतिया डाह प्रियाको भाग्य सराहति ॥
है अनुपम अनुराग अति, राधाको ही कान्तमहँ ।
करहिँ भ्रमर सम पान हरि, अधरामृत एकान्तमह ॥

यह बात बार-बार बताई जा चुकी है, कि जैसे गुण निर्गुणी को प्राप्त करके दोष बन जाते हैं, वैसे ही अवगुण भी प्रेम के संसर्ग से गुण बन जाते हैं। जैसे चिन्ता, उन्माद तथा जड़ता आदि लौकिक दृष्टि से दोष हैं किन्तु प्रेम के सात्विक अनुभाव होने से ये

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"वनों में भटकती हुई गोपिकायें जब श्रीकृष्ण के चरणों के साथ श्रीराधाजी के चरणचिन्हों को देखती हैं, तो कहती हैं—"निश्चय ही इसी सखी ने भगवान् की आराधना की है। इसीलिये तो इससे प्रसन्न होकर, हम सबको छोड़कर अकेली इसी को एकान्त में ले गये हैं।"

गुण ही माने जाते हैं, उसी प्रकार लोक में किसी के ऐश्वर्य आदि को देखकर ईर्ष्या करना बड़ा भारी दोष है, किन्तु इस प्रेममार्ग में ईर्ष्या का भी महत्व है। इस ईर्ष्या में एक प्रकार का सुख है। श्रीराधाजी की प्रतिस्पर्धिनी श्रीमती चन्द्रावली मानी जाती हैं। सुनते हैं एक दिन वे भाद्रपद की चतुर्थी के चन्द्रमा का पूजन कर रही थीं, किसी गोपी ने आकर पूछा—"वीर! यह क्या कर रही हो, भादों की चौथ के चाँद को तो देखने में ही दोष लगता है, तुम तो इसका भक्तिभाव से पूजन कर रही हो, इसका कारण बताओ।"

चन्द्रावलीजी ने पूछा— 'भाद्रशुक्लाचतुर्थी के चाँद को देखने से क्या दोष लगता है? सखी!"

सखी बोली—"इस दिन चन्द्र से एक बहुत ही निंदित काम बन गया था, अतः जो इस दिन चन्द्रमा का मुख देखता है, उसे कलङ्क लग जाता है।"

चन्द्रावलीजी ने कहा—"तो मैं इसीलिये तो इसका पूजन कर रही हूँ, कि श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से मुझे भी कलङ्क लग जाय, सभी मुझे श्रीकृष्ण कलङ्किनी कहने लगें।"

सारांश कहने का इतना ही है कि प्रेममार्ग में ईर्ष्या होना भी बहुत ही भाग्य की बात मानी जाती है। जो भी भाव हो, यदि उसका सम्बन्ध संसारी सुख से है तो वह निन्द्य है और यदि उसका सम्बन्ध भगवान् से ही है तो सभी भाव सराहनीय हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रेममार्ग कितना अटपटा है, प्रेमी को सम्बन्धित कोई भी वस्तु मिल जाय, वही उद्दीपन हो जाती है। प्रेम जड़ चेतन सुन्दर असुन्दर नहीं देखता। उसे तो प्रियतम चाहिये और उनसे भी अधिक चाहिये उसकी प्यारी-प्यारी मधुर-मधुर स्मृति। प्रिय स्मृति जिससे निरन्तर बनी रहे,

यही प्रेम पथ के पथिक की सबसे अन्तिम और एकमात्र इच्छा है। इसी के लिये उसके तन-मन की समस्त चेष्टायें हैं।"

व्रजाङ्गनाओं ने जब वृन्दावन की लहरियादार यमुना पुलिन की विचित्र बालुओं पर नन्दनन्दन के उभरे हुए चरण चिन्ह देखे तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन चरणचिह्नों को देखकर वे परस्पर में कहने लगीं—"देखो ये चरणचिन्ह अवश्य ही चितचोर श्यामसुन्दर के हैं?"

यह सुनकर एक जो सखी उन चरणचिन्हों से दूर थी, वह कहने लगी—"सखियो! तुमने कैसे जाना ये श्यामसुन्दर के ही चरणारविन्दों के चिन्ह हैं?"

इस पर एक बोली—"ओहो! इसमें भी कुछ शंका के लिये स्थान हो सकता है क्या? भगवान् के चरण क्या सर्वसाधारण पुरुषों के समान हो सकते हैं? भगवान् के चरणों में जो ये ध्वजा, वज्र, कमल, अंकुश और यवादि के चिह्न हैं वे क्या किसी अन्य के चरणों में हो सकते हैं। एक नहीं ये तो क्रमशः पंक्तिबद्ध बहुत से चरणचिन्ह हैं, इनमें ये सब भगवता द्योतक लांछन स्पष्ट उभरे हुए हैं।"

फिर आगे बढ़कर और चौंककर बोली—"यह देखो, यह देखो यह छोटे छोटे चरण इन चरणों से सटे हुए किस स्त्री के चरण हैं। अवश्य ही श्यामसुन्दर अपनी प्रिया के कंठ में गलबाही डालकर इधर से गये हैं। जैसे हथिनी अपने हाथी के साथ जाती है। साँड़ जैसे गौ का अनुसरण करता है, मयूरी जैसे मयूर के संकेत से नाचती है उसी प्रकार श्यामसुन्दर के संकेतानुसार उनकी प्रिया भी उनके साथ-साथ गयी होंगी। अहा! वे श्रीराधा जी कितनी बड़भागिनी हैं जो अपने प्रियतम के कन्धे पर रखे, उनके अंगों में अपने अंगों को सटाकर, उनके मोर मुकुट में अपनी चंद्रिका को छुआकर उनकी लटकती लटाओं में अपने

केशपाशों को उलझाकर, अपनी नीली साड़ी में उनके पीताम्बर को मिलाकर उनके चरणचिन्हों को बचाकर उनके साथ-साथ गयीं होंगी। जीवन का लाभ तो उन्होंने ही पाया। अपनी सेवा से श्यामसुन्दर को सब प्रकार से सन्तुष्ट उन्होंने ही किया है। हाय! हम तो अभागिनी ही रह गयीं। हमें तो वे तनिक सुख देकर, हमारी लालसा को बढ़ाकर, तनिक-सा रतिसुख दिखाकर अन्तर्हित हो गये।"

इस प्रकार की राधाजी के भाग्य की सराहना करती हुई अपने भाग्य को धिक्कारती हुई वे रो रही थीं। श्रीकृष्ण की चरण-धूलि को पलकों से उठाकर सिर पर धारण कर रहीं थीं, वक्षःस्थल से मलकर तन के ताप को मिटा रही थीं और बारम्बार उन्हें अंगों में मल रही थीं। इस पर एक बोली—"सखियो! तुम अपने को इतनी हतभागिनी क्यों कह रही हो? अरी वीर! तुम विचारो तो, सही। यह वृन्दावन की परम पावन रज कोई साधारण वस्तु नहीं है। जिस रज पर नन्दनन्दन ने अपने चरणारविन्दों को रखा है, उस रज के भाग्य की सराहना जितनी भी की जाय, उतनी ही कम है, ब्रह्मा, शङ्कर तथा अन्यान्य बड़े-बड़े लोकपाल इस रज के दर्शनों के लिये सदा तरसते रहते हैं, जिन लक्ष्मीजी के कृपा कटाक्ष के निमित्त बड़े-बड़े अधिकारी लालायित रहते हैं, वे लक्ष्मीजी भी इस चरणरज को सिर पर चढ़ाने के निमित्त सदा व्यग्र बनी बैठी रहती हैं और इस रज के कण को पाकर अपने आपको कृतार्थ मानती हैं। उस रज को तुम सब स्वेच्छा पूर्वक शरीर से मल रही हो। अपने अनङ्ग ताप को शांत कर रही हो। तुम सब भी कुछ कम भाग्यशालिनी नहीं हो।"

इस पर एक अन्य सखी बोली—"बहिनाओ! तुम बुरा मानो चाहे भला। मैं जानती हूँ तुममें से बहुत-सी मेरी बात से

बुरा मान जाओगी, किन्तु मुख पर आयी बात को कह देना ही उचित है। श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों के चिन्हों से तथा उनके संस्पर्श से पावन हुई रज से तो हमारा चित्त प्रसन्न होता है, किन्तु यह जो उनके चरणों के समीप छोटी छोटी धँसी हुई एड़ी वाले चरणचिन्ह हैं, उन्हें देखकर हमारे मन में क्षोभ हो रहा है, हमें ईर्ष्या हो रही है।"

उनमें से एक गोपी बोली—"क्यों बहिन ईर्ष्या की कौन-सी बात है, यह तो श्रीकृष्ण की प्रिया के चरणचिन्ह हैं, प्यारे के सम्बन्ध की तो सभी वस्तुएँ प्यारी होती हैं, फिर हमारे प्यारे जिन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करें, वे तो हमारी सर्वस्व हैं, उनका आदर तो प्यारे से भी अधिक करना चाहिये।"

इस पर उसी गोपी ने कहा—"तुम उसका आदर प्यारे से अधिक भले ही करो। इसके लिये मैं मना तो करती नहीं। यह तो अपने मन की बात है, किन्तु अपनी मानता को बलपूर्वक दूसरों पर लाद देना उचित नहीं। हम जो मानते हैं, दूसरा भी वैसे ही माने। हम जिसे जैसा समझते हैं, दूसरा भी उसे वैसा ही समझे ऐसा आग्रह करना उचित नहीं। श्रद्धा कुछ दूसरे के करने से तो होती नहीं। वह तो अन्तःकरण की प्रेरणा से होती है। तुम प्यारे की प्यारी का आदर करो। मैं तो उसे स्वार्थपरा मानती हूँ जो सबकी सम्पत्ति है, जिसके उपभोग का सभी को समान रूप से अधिकार है। उन श्रीकृष्ण के अधरामृत का वह एकान्त में अकेली ही पान करती है, यह उसकी स्वार्थपरता नहीं तो क्या है। इस कारण हमें तो उससे डाह होता है।"

इस पर उस गोपी ने कहा—"देवि! सबका अधिकार एक-सा नहीं होता। आप उनकी प्राणप्रिया हो, आप श्रीजी के साथ सापत्न्य भाव रख सकती हो, किन्तु हम तो उनकी दासियों की दासी होने की भी अपने को अधिकारिणी नहीं मानतीं। हमारा तो एक

मात्र अवलम्बन श्रीकृष्ण-कृपा ही है। वे हमें चाहें अपनावें चाहें ठुकरावें चाहें पकड़कर हृदय से लगालें, या अपना छोटे से छोटा कैंकर्य करालें। हम तो उनकी किंकरियों की भी किङ्करी हैं। उन्होंने हमें आशातीत सुख दिया, अब उसी सुख को स्मरण कर करके रो रही हैं, इधर से उधर भटक रही हैं।"

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वे व्रजांगनायें परस्पर में बातें करती हुईं और श्रीकृष्ण के चरणचिन्हों का अनुसरण करती हुईं आगे बढ़ी चली जा रही थीं। आगे अकेले श्रीकृष्ण के ही चरणचिह्न देखकर वे आश्चर्य चकित होकर भाँति-भाँति के अनुमान लगाने लगीं।"

छप्पय

करत बिबिधि अनुमान बढ़ीं कछु आगे बाला।
एकाकी पदचिह्न निरखि बोलीं इहँ लाला॥
अवसि यान वे बने राधिका कन्ध चढ़ाई।
यहाँ तोरिके फूल श्याम ने प्रिया सजाई॥
फूली-फूली लतनितें, उचकिसुमन तोरे अवसि।
एड़ी बिनु पंजे बने, पुनि इततें आये निकसि॥

—०—

कामियों का दैन्य और स्त्रियों की दुरात्मता

[९८०]

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥*

(श्रीमा० १० स्क० ३० अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

अरी निहारो अली ! बनी बैठक दोउनिकी ।
प्रिया अंकमें धारि गुँथी है बेनी तिनिकी ॥
मोती सुमन पुरोइ प्रियाकी माँग सम्हारी ।
अवसि यहाँ तिहि संग करी है क्रीड़ा प्यारी ॥
अवसि यहाँ हरिवश भये, अवसि व्यथा दोउनि बढ़ी ।
श्याम दिखाई दीनता, अवसि सखी सिरपै चढ़ी ॥

यह पापी काम नर-नारी दोनों को दीन बना देता है । मनुष्य के मन में काम न हो, तो उसमें श्याम में कोई अन्तर नहीं । ईश्वर में यही विशेषता है, कि उसके मन में काम नहीं । उसे दूसरे के साथ रमण की इच्छा नहीं, अपने आप में ही रमण करने से वह 'राम'

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें परस्पर में कह रही हैं—"सखियो ! अवश्य ही यह अपने आपमें ही सन्तुष्ट रहने वाले तथा आत्मा में रमण करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने कामियों की दीनता और स्त्रियों की दुरात्मता दिखाने के निमित्त उस गोपी के साथ रमण किया होगा ।"

अथवा 'आप्तकाम' कहलाता है। जीव को रमण की इच्छा है, उसके मन में कामना है, काम से ही दीनता आती है और दीनता ही दुःख की जननी है। मनुष्य के अन्तःकरण में काम न हो, तो वह सिंह की भाँति गरजता रहेगा। सिंह हाथी से बड़ा तो है ही नहीं। हाथी में यही दोष है, कि वह अत्यधिक कामी होता है, इसीलिये वह बँध जाता है, वाहन बन जाता है। सिंह में काम की मात्रा कम होती है, कहते हैं वह वर्ष में एक ही बार रति करता है, किसी-किसी का कथन है, कि वह जीवन में एक बार करता है! कुछ भी हो, वह भी काम के वश हो जाता है, इसीलिये वह भी कभी-कभी पकड़ा जाता है, पिंजड़े में बन्द हो जाता है। यदि उसमें उतना भी न हो तो, कोई उसे स्पर्श भी न कर सके। काम स्त्री पुरुष दोनों के ही हृदय में होता है, जो जितना ही अधिक कामी होगा, वह उतना ही अधिक हीन होगा। इच्छा मात्र का नाम काम है, चाहे वह इच्छा धन, स्त्री, पुत्र, मान, प्रतिष्ठा किसी की भी क्यों न हो। काम के वश होने पर दीनता आ ही जायगी। जिसका पलड़ा भारी होगा, वही अधिक दीन होगा। यदि पुरुष का पलड़ा भारी है, तो वह स्त्री को कठपुतली बनाये रहेगा। यदि स्त्री का पलड़ा भारी है, तो वह पुरुष को जमूड़ा बनाकर उसे अपने संकेत पर नचाती रहेगी। श्रीकृष्ण इन्हीं लीलाओं को दिखाने को ऐसी मधुर-मधुर लीलायें किया करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे गोपांगनायें प्रिया के साथ श्यामसुन्दर के चरणचिन्हों का अनुसरण करती हुई बड़ी दूर तक चली गयीं। आगे चलकर उन्होंने देखा श्यामसुन्दर के चरण चिन्ह तो हैं, किन्तु प्रियाजी के चरणों के चिन्ह दृष्टि-गोचर नहीं होते। तब वे आपस में कहने लगीं—"अरी, बहिनो! देखो, कैसी आश्चर्य की बात है, यहाँ तो अकेले श्याम-

सुन्दर के ही चरण हैं। प्रियाजी यहाँ से कहाँ चली गयीं ?"

इस पर एक प्रगल्भा-सी गोपी बोली—"प्रतीत होता है, यहाँ दूर्वा कुछ कठिन है, अतः अत्यन्त स्नेह के वशीभूत होकर प्यारे ने यहाँ प्रियाजी को अपने कंधे पर चढ़ा लिया होगा, जिससे उनके अत्यन्त सुकुमार चरणों को कष्ट न हो। ओहो! अवश्य यही बात है। तुम देख नहीं रही हो, ये चरण धँसे हुए हैं। बोझ के कारण पूरे के पूरे बालू में गड़कर उभरे हुए हैं।"

इस प्रकार कहतीं-कहतीं और उन भाराक्रान्त चरणचिन्हों की पदावली को निहारती हुईं आगे बढ़ीं। कुछ दूर और चलकर उन्होंने देखा—"जाती, चंपा, मालती, तथा कुन्द की कलियाँ फूली हुई हैं। बड़ी-बड़ी लताओं के विस्तृत वितान बने हुए हैं, वहाँ चरणों का चिन्ह न देखकर वे खोजने लगीं और कहने लगीं यहाँ तो कई प्रकार के चरण हैं, कुछ आगे हैं, कुछ पीछे हैं। प्रियाजी के भी हैं, प्रीतम के भी हैं। ओहो! श्यामसुन्दर से प्यारीजी ने पुष्प तोड़ने के लिये आग्रह किया होगा। प्रतीत होता है, यहाँ श्यामसुन्दर प्यारीजी के सर्वथा वश में हो गये हैं। तभी तो उन्हें कंधे पर बिठाकर यहाँ तक लाये हैं। यह देखो, यह देखो। यहाँ उन्होंने उन्हें कन्धे से नीचे उतारा है। यह देखो, वृक्ष को पकड़कर इसके सहारे उतरकर प्रियाजी यहाँ बैठी होंगी। यहाँ केवल बालुका में उनके बैठने का चिन्ह स्पष्ट बना हुआ है। यहाँ कुछ पुष्प भी गिरे हुए हैं। प्रतीत होता है। प्रिया की प्रसन्नता के निमित्त प्यारे ने यहाँ पुष्पचयन किया है। ये इतनी फूली-फूली लतायें ही बड़भागिनी हैं, जिनकी डाली को झुकाकर स्नेह पूर्वक नन्दनन्दन ने इन पर से फूल तोड़े होंगे। हाँ ये कुछ ऊँची लतायें हैं। यहाँ उचककर मदनमोहन ने सुमनों को तोड़ा होगा। यह बिना एड़ी के पञ्जों के उभरे हुए चिन्ह स्पष्ट इस बात की सूचना दे रहे हैं।"

इस पर एक ने उत्सुकता पूर्वक कहा—"देखो, देखो, ये टूट के टूटे हुए फल हैं, प्रतीत होता है, मदनमोहन यहीं कहीं प्रिया के लिये हार गूँथ रहे होंगे।"

यह सुनकर कई गोपियाँ इधर-उधर हारों के चिन्ह खोजने लगीं। एक ने चिल्लाकर कहा—"यहाँ आओ, यहाँ आओ। एक बात का पता चला। देखो, ये सुन्दर काले-काले घुँघराले बड़े-बड़े दो तीन बाल पड़े हैं। अवश्य ही ये प्रियाजी के सिर के बाल हैं। यहाँ भी श्रीकृष्ण ने उनके बाल सम्हाले होंगे, यहाँ उनके बालों में कंघी करके उनकी वेंणी बाँधी होगी। देखो, ये पुष्प पड़े हैं, छोटे-छोटे मोती भी बिखरे हुए हैं। मोती और सुमन से अपनी प्यारी सहेली के केशपाशों को विभूषित किया होगा। ओहो! देखो, ये दोनों के ही बैठने के स्पष्ट चिन्ह बने हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं रहा, कि यहीं बनवारी ने प्यारी की वेंणी गूँथी है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वेंणी गूँथना तो नाइन का काम है, स्त्रियाँ ही स्त्रियों की वेंणी गूँथती हैं। पुरुष होकर भी श्रीकृष्ण ने प्यारीजी की वेंणी क्यों गूँथी?"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! जब पुरुष स्त्री के अधीन हो जाता है, तो उसमें पुरुषत्व रहता ही नहीं। उस समय तो वह काठ की पुतली बन जाता है, उस समय उससे नाई का नाइन का, धोबी का धोबिन का, माली का मालिनि का, भंगी का भंगिन का, जो चाहे सो करा लो, वेंणी गुँथवा लो, तैल मलवा लो, चरणसेवा करालो, उस समय यह करना चाहिये यह न करना चाहिये ऐसा भेदभाव वहाँ रहता नहीं। प्रेम तो नेम से परे की वस्तु है न? उसमें कोई काम निन्द्य नहीं माना जाता। अपना प्रेमी जिससे प्रसन्न हो, जिससे उसका अधिक स्पर्श हो उसमें अधिकाधिक सुख होता है। प्रेम

का मार्ग बड़ा अटपटा है। उसके कुछ नियम हैं तो सही किन्तु वे निःसीम हैं, अमर्यादित हैं। उनकी सीमा नहीं, मर्यादा नहीं, इयत्ता नहीं। जिससे रसवृद्धि हो वही वहाँ कर्तव्य है।

मुनियो! गोपिकायें तो भेदिया थीं, वे तो रस की सब रीतियों से परिचित थीं। सभी के चिन्ह जानती थीं। वे समझ गयीं श्याम ने यहाँ श्याम के साथ समस्त सुख की क्रीड़ायें की हैं। यहाँ दोनों बहुत देर तक खेलमाल करते रहे होंगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने ऐसी अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध क्रीड़ायें किस कारण कीं?"

इस पर सूतजी ने कहा—"अब महाराज! भगवान् के कारण को जीव कैसे समझ सकता है, फिर भी यह तो निश्चित ही है, कि भगवान् त्रिकाल में भी कभी काम के वश में नहीं हो सकते। यह लीला तो उन्होंने काम पर विजय प्राप्त करने के लिये अनंग को चुनौती देकर की है। जो अपने आप में ही सदा सन्तुष्ट रहते हैं उन्हें किसी के सम्मुख दीनता प्रकट करने की, उसके संकेत पर नाचने की आवश्यकता ही क्या है? जिसके पास स्वयं सुख की सामग्री न होगी, वही दूसरों से याचना करेगा, दूसरों की अधीनता स्वीकार करेगा, जो नित्य सुखस्वरूप हैं, वे सुख के लिये दूसरों का मुख क्यों ताकेंगे। दूसरों की अपेक्षा क्यों रखेंगे? जो आत्मा में ही रमण करने वाले हैं उन्हें रमण के लिये दूसरी रमणी की दासता करने की आवश्यकता ही क्या है? फिर भी लोकलीला दिखाने को कामियों की दीनता का दिग्दर्शन कराने को तथा स्त्रियों की दुरात्मता दर्शाने को दामोदर ने यह लीला प्रदर्शित की।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! कामियों की दीनता तो इसमें स्पष्ट ही है, कि काम के वशीभूत होकर न करने योग्य

काम करने पड़ते हैं, किन्तु इसमें स्त्रियों की दुरात्मता क्या हुई ?"

सूतजी बोले—"महाराज, दुरात्मता से अभिप्राय यहाँ अधीन कर लेना ही है। जब तक पुरुष काम के अधीन नहीं, तब तक तो स्त्री दीन बनी रहती है। देखिये, बाँसुरी की ध्वनि होती सुनकर जब गोपियाँ आई थीं, तब कैसे दीनवाणी से रो-रोकर प्रार्थना करती रहीं। जब श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना लिया, तो फिर उन्हें अभिमान हो गया। संसार में अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगीं। जब पुरुष काम के वशीभूत हो जाता है, तो स्त्रियाँ उसे ऐसे-ऐसे नाच नचाती हैं, कि सब दाल आटे का भाव भूल जाता है। उसे ऐसे कसकर बाँध लेती हैं, कि कोई विरला ही भाग्यशाली उस बन्धन से छूट सकता है, नहीं तो जो इस ओर आया, फिर उसका उद्धार असम्भव हो जाता है। फिर तो वे उसके सिर पर सवार हो जाती हैं, उसे जमूड़ा बनाकर जैसा चाहती हैं, वैसा नाच नचाती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"क्या सूतजी ! पुरुष का कुछ दोष नहीं, क्या पुरुष दुरात्मता नहीं करता ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! यहाँ दोष का प्रश्न थोड़े ही है। यहाँ तो केवल विवशता वर्णन करने में तात्पर्य है। यों दोष की बात पूछी जाय, तो दोष तो सब पुरुष का ही है। चन्द्रमा यदि अपनी किरणों को न फैलावे, तो चन्द्रकान्त मणि कभी द्रवित हो ही नहीं सकती। चन्द्रमा अपनी किरणों को न फैलावे यह असम्भव है। किरणों के बिना वह रह ही नहीं सकता, उसका स्वभाव है। मनुष्य काम चेष्टा प्रदर्शित न करे यह असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। नारी जाति पुरुष का रुख देखती है तो द्रवित हो जाती है। जब उसके मन में भी वैसे भाव आते हैं, तभी उसका कामिनी नाम सार्थक हो जाता है। उस अवस्था,

में वह जो चाहे कर सकती है। अर्थ अनर्थ सब कुछ हो जाती है। मनुष्य को वश में करके वह सब कुछ करा लेती है। जो काम किसी भी उपाय से न हो, वह कामिनी के द्वारा कराया जा सकता है। स्त्री का नाम अबला क्यों है? अ कहते हैं अनङ्ग को। अर्थात् अनङ्ग का ही बल है जिसमें उसे अबला कहते हैं। अनङ्ग का बल संसार में सबसे बड़ा बल है। इसीलिये नारी जाति को सबसे आकर्षक और सबसे बलवती बताया जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! क्यों प्रसंग को नीरस बना रहे हो। यह अत्यन्त ही सरस प्रसंग है। हाँ, तो आगे क्या हुआ? आगे की कथा कहिये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है भगवन्! अब मैं आगे की कथा कहता हूँ। आगे इससे भी सरस कथा है। उसे सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

अरी, रमन ने रमन कर्‌यो रमनी सँग तरुतर।
अत्तो पत्तो मिल्यो श्याम श्यामाको गुरुतर॥
धन्य लाड़िली भाग करे वशमहँ बनवारी।
मनोकामना पूर्ण भई नहि वीर! हमारी॥
कृष्णान्वेषण कातरा, इत रमनी बन-बन फिरहिं।
उत प्रियतम संग राधिका, कामकेलि कौतुक करहिं॥

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये।

संगीत प्रिय श्याम

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवत-दर्शन—

भागवती-कथा

(तैंतालीसवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक

सङ्कीर्तन-भवन

प्रतिष्ठानपुर (झूंसी) प्रयाग

—:❀:—

द्वितीय संस्करण १००० प्रति] वैशाख—२०२३ विक्र० [मू० १-२५ पै०

प्रकाशक
संकीर्तन भवन धार्मिक न्यास (ट्रस्ट)
प्रतिष्ठानपुर (झूसी प्रयाग)

मुद्रक
भागवत प्रेस
१८५२ मुट्ठीगंज (प्रयाग)

भागवती कथा खण्ड ४३

की विषयसूची

अध्याय सं०	विषय	पृष्ठ सं०
	रासलीला और धर्ममर्यादा (भूमिका)	१
९८१	श्रीराधाजी को मान	१७
९८२	विरहविह्वला कृष्णप्रिया	२४
९८३	व्रजाङ्गनाओं की कृष्णविरहमें तन्मयता	३१
९८४	गोपिका गीतकी प्रस्तावना	४२
९८५	श्रीकृष्ण कटाक्ष-बाण	५२
९८६	हे रक्षक ! रक्षा करो	६०
९८७	हे सर्वसाक्षी हमारी विनय सुनो	६७
९८८	कर्णकुहरोंको कृतार्थ कर दो	७४
९८९	गोपिकाके मध्यमें प्रभुका प्राकट्य	२८
९९०	श्यामसंस्पर्शजन्य सुख	९८
९९१	व्रजवनिताओंके व्यंगपूर्वक प्रश्न	९८
९९२	श्रीभगवान्द्वारा गोपियोंके प्रश्नका उत्तर	१०५
९९३	रहसि केलि	१२०
९९४	रासलीला प्रस्ताव	१३४
९९५	रासारम्भ	१५८
९९६	रासेश्वर का महारास	१७३
९९७	बिम्ब प्रतिबिम्बकी स्थलक्रीड़ा	१८०
९९८	आत्मारामकी जलकेलि	१८९
९९९	वनवारीका उपवनोंमें रासविलास	१९६
१०००	गोपियोंके साथ नित्य रासविलास	२०४
१००१	महाराज परीक्षितकी रास सम्बन्धी शंकायें	२३१
१००२	भगवान्को धर्माधर्म स्पर्श नहीं करते	२३८
१००३	भगवान्का कोई पर नहीं	२४८
१००४	भगवान्की समस्त लीलायें श्रेयस्कर ही हैं	२५६
१००५	रास दिव्य देहसे होता है	२६५

रासलीला और धर्म-मर्यादा

(भूमिका)

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥
(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

कामी, जड़मति, अज्ञ, धर्मद्वेषी, व्यभिचारी।
ढोंगिनि रचि रचि रास धरम मरियाद बिगारी ॥
बनें कलियुगी कृष्ण कामिनिनि चित्त चुरावें।
पाप करम छिपि करें रूप अगनितन बनावें ॥
कृष्ण बनें दुष्कृत करें, नरकहु निरखि लजात है।
कहें—'शैल धारन करो' तब नानी मर जात है ॥

---

*महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजी से कह रहे हैं—"भगवन्! जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण तो धर्म की संस्थापना और अधर्म के प्रशमनार्थ अपने अंशों सहित अवनिपर अवतरित हुए थे। फिर उन्होंने धर्ममर्यादा के वक्ता धर्ममर्यादाके रचयिता और धर्ममर्यादा के रक्षक होकर भी परस्त्रीगमन जैसा धर्मविरुद्ध आचरण क्यों किया?"

भगवान् की रासलीला साधारणतया धर्म मर्यादा के विपरीत-सी प्रतीत होती है। बड़े लोग जिस काम को करते हैं, जिसे वे प्रमाण मान लेते हैं, अन्य लोग भी उसका अनुवर्तन करते हैं। रासलीला का प्रसंग सुनते-सुनते राजा परीक्षित् को शंका हुई, कि यदि सब लोग भगवान् की रासलीला को प्रमाण मानकर उसका अनुकरण करने लगें, तब तो धर्म की कोई मर्यादा रहेगी ही नहीं, सर्वत्र कदाचार व्यभिचार फैल जायगा। पातिव्रत, तथा एकपत्नीव्रत ये धर्म की बातें तो नष्ट ही हो जायँगी, इसीलिये उन्होंने एक शंका तो रास के आरम्भ में की और उसे ही प्रकारान्तर से रास के अन्त में दुहराया।

परम भगवद्भक्त महाराज परीक्षित् को तो शंका होनी ही क्या थी, उन्होंने जन साधारण का प्रतिनिधित्व करते हुए शंका की। उसका भगवान् शुकने किस प्रकार समाधान किया इस तो "भागवत कथा" के पाठक कथा के अगले अध्यायों में पढ़ेंगे ही, उसे यहां भूमिका में दुहराने की आवश्यकता नहीं। हमें तो यहां महाराज परीक्षित् की शङ्का पर विचार करना है। उनके कथन का सार यह है कि भगवान् चाहे पाप पुण्य से रहित हों, किन्तु फिर भी वे जब अवनि पर अवतीर्ण होते हैं; तो धर्म संस्थापनार्थ होते हैं। वे अपनी वाणी से धर्म को ही कहते हैं, धर्म के ही कार्य करते हैं, और धर्म मर्यादा की रक्षा करते हैं। ऐसे होते हुए भी भगवान् ने यह अधर्म का कार्य क्यों किया? अधर्म कार्यों में भी तारतम्य होता है, किन्तु चोरी और पर स्त्री-गमन ये तो बहुत बड़े पाप हैं। भगवान् ने पर स्त्रियों के साथ ऐसी रसीली क्रीड़ायें क्यों की? दूसरे लोगों को इससे अवसर मिल जायगा, वे भी रासका अनुकरण करेंगे।

महाराज परीक्षित् की शङ्का निर्मूल नहीं थी। उसका परिणाम आज प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है। धूर्त, ढोंगी, व्यभिचारी लोग

कुछ महिलाओंको फँसाकर उनके कानमें कह देते हैं—'तुम गो
हो मैं कृष्ण हूँ।' इसका परिणाम वही होता है जो होना चाहि
व्यभिचार बढ़ता है, घरमें कलह होती है तथा भ्रूण हत्या
बड़े-बड़े पाप होते हैं। जो स्वार्थी हैं वे दोषको तो देखते न
कि हमारे इस कार्यका परिमाण क्या होगा, वे तो अप
तनिक-सी स्वार्थसिद्धिके लिये जघन्यसे जघन्य पाप क
डालते हैं।

एक यवन राजा था। उसने सैकड़ों स्त्रियों को अपने अन्त
पुरमें रख रखा था। अपनेको कृष्ण कहता था और उनके साथ
सब प्रकारकी घृणित क्रीड़ायें करता था। भारतके प्रत्येक प्रान्त में
ऐसी घटनायें सुननेमें आती हैं, कि अमुक व्यक्तिके पास बहुत-
सी स्त्रियाँ जाती हैं और वह उनके साथ रासका अनुकरण
करता है। अभी थोड़े ही दिन पूर्व गुजरातमें ऐसा ही एक कलि-
युगी कृष्ण पैदा हुआ। उसने कितनी कन्याओंको दूषित किया,
अन्त में वह पकड़ागया, जेल गया, क्या क्या हुआ। अपनी जान-
कारीमें मैंने भी ऐसे ढोंगी मिथ्या कृष्ण बने ठगोंको देखाहै, किन्तु
हम उनका कुछ कर नहीं सकते। यह काम तो राजाका है, कि ऐसे
धर्मद्वेषी धूर्तोंको दण्ड दे। किन्तु हमारे धर्म निरपेक्ष शासकों
के विधानसे बलात्कार तो दोष है, किन्तु परदाराभिगमन कोई
पाप ही नहीं। इसलिये उनसे तो आशा ही नहीं। सदासे यह
कार्य समाजका रहा है, जिस समाजके नियम-बन्धन जितने ही
कड़े होंगे, वह समाज दुराचारसे उतना ही बचा रहेगा। आज
हमारे सामाजिक बन्धन अत्यन्त शिथिल हो गये हैं लोग
मनमानी करने लगे हैं। साधुका वेष कितना पवित्र समझा
जाता था, साधुपर समाजका कितना विश्वास था। था ही नहीं
अब तक है, किन्तु कुछ स्वार्थी धूर्तोंने मिथ्या वेष बनाकर
इस पवित्र वेषको कलंकित कर दिया। समाजने साधुओंकी

साधुतापर कभी शङ्का नहीं की। उनकी पवित्रतापर विश्वास किया। कोई ऊँच नीच काम बन भी गया, तो उसे समाजने क्षमा कर दिया। आज भी भारतवर्षमें साधुवेषका जितना आदर है उतना किसीका नहीं। साधुको देखकर प्रायः सभीका मस्तक स्वाभाविक झुक जायगा। एक सज्जन मुझे बताते थे, कि किसी सड़कसे एक बड़ा भारी शासक जा रहा था। सब लोगोंने खड़े होकर उसका अभिवादन किया, उसके पीछे ही एक वृद्ध दण्डी महात्मा आ रहे थे। वे विशेष पढ़े लिखे भी नहीं थे, फिर भी सब लोगोंने उठकर उनके चरण छुए। तब उस शासक ने कहा—"यथार्थ शासक तो ये साधुही हैं। हिन्दुओं के हृदयमें इनका आदर है। हमें तो ये भयवश अनिच्छा पूर्वक एक हाथसे प्रणाम करते हैं। इन साधुओंका हृदयसे आदर करते हैं।"

वास्तविक बात ऐसी ही है। वंशपरम्परासे हमारी ऐसी धारणा हो गयी है, कि साधुसे कभी किसीका अकल्याण न होगा। "साधुतें होहि न कारज हानी" इसलिये साधु गृहस्थियोंके घरोंमें निर्भय होकर घुस जाते हैं, उनसे कोई परदा-नहीं कोई संकोच नहीं। हमारी बहिन बेटी तथा घरकी अन्य स्त्रियाँ उनसे चाहें जैसी बात करें हमारे मनमें कभी शङ्का उठती ही नहीं। औषधि बेचनेवाले जब अपनी औषधिके विज्ञापनमें किसी महात्माका उल्लेख कर देते हैं। तो सर्वसाधारण उसका अधिक विश्वास करते हैं। किसी औषधिके विज्ञापनमें कोई लिखते हैं "महात्माप्रदत्त श्वेतकुष्टकी दवा" लोग मुझसे पूछते हैं—"क्या महाराज श्वेतकुष्टकी दवा आपकी है?" वे प्रदत्तके स्थानमें प्रभुदत्त समझते हैं। बहुत-सी औषधि बेचने वाली स्त्रियाँ विज्ञापन करती हैं—"ऐसे-ऐसे उदास बैठी थी उसी समय एक महात्मा भिक्षा लेने मेरे घर आये। मुझे उदास देखकर उन्होंने

पूछा—"बेटी ! उदास क्यों है ?" तब मैंने बताया—"मुझे प्र
रोग है।" तुरन्त उन्होंने मुझे एक औषधि बतायी। मैंने उसे
तीन दिनमें मेरा प्रदर चला गया।" कोई कहती है—"मेरे स
नहीं होती थी, एक महात्माने जड़ी दी। उससे मेरे तीन
हैं। वह औषधि लागत दाम पर हमारे यहाँ मिलती है।'
प्रकार पुरुष औषधि बेचने वाले लिखते हैं—'मुझे धातुक्षीणक
रोग था। एक दिन अमुक पहाड़ पर मुझे महात्मा मिले, उन्होंने
अमुक औषधि बतायी, उससे मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया।' कोई
अपने सुरमेका नाम रखते हैं "फकीरी सुरमा" इनमें बहुत-से
कुछ सत्य भी लिखते होंगे बहुत-से झूठ भी, किन्तु मेरे कहने
का सारांश इतना ही है, कि साधुके प्रति अब भी लोगों की श्रद्धा
है, किन्तु अब वह शनैः शनैः घटती जा रही है। अधिकांश
व्यवसायी धूर्त, स्वार्थी, कपटी लोग साधुवेष बनाकर लोगों को
ठगते हैं और इस पवित्र वेषको कलंकित करते हैं।

पहिले वर्णाश्रम धर्मकी एक निश्चित मर्यादा थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण थे। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम थे। ब्राह्मण को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास-चारों आश्रमों में जाने का अधिकार था। क्षत्रियके लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीन ही आश्रमों का विधान था। क्षत्रियके लिये सन्यासका विधान नहीं। वर्णाश्रम धर्मके अनुसार क्षत्रिय अपने धर्मका विधिवत् अनुष्ठान करे तो वह दूसरे जन्ममें ब्राह्मण होकर सन्यास ग्रहण करेगा और अन्तमें मुक्ति प्राप्त करेगा। क्षत्रिय कोई सन्यास नहीं लेते थे। उनके लिये वीर सन्यासका विधान है अर्थात् अन्नजल छोड़कर उत्तरा खंडकी ओर चलता ही रहे। तब तक चलता रहे जब तक शरीरपात न हो जाय। जैसा कि पांडवोंने किया था। क्षत्रियों के लिये कहीं सन्यासका उल्लेख आवे भी तो उसे अलिंग

सन्यास समझना चाहिये। वैश्योंके लिये ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो ही आश्रमोंका विधान है। उनके लिये वानप्रस्थ या सन्यासका विधान नहीं है। वह चाहे तो कार्पटिक वेष धारणकर सकता है। तीर्थयात्रा करनेके लिये काषायवस्त्र पहिनकर कंधेपर काँवर रखकर वह तीर्थयात्रा करे। विधिवत् वानप्रस्थी नहीं हो सकता सन्यासकी तो बात ही पृथक्। शूद्रके लिए एक गृहस्थाश्रम का अधिकार है। संस्कार करानेका यज्ञकरानेका तथा दीक्षादि देनेका अधिकार वर्णाश्रम धर्ममें केवल ब्राह्मणको ही है, दूसरे वर्णके लोग न संस्कार करा सकते हैं, न दीक्षा दे सकते हैं। आज यह वर्णाश्रम की मर्यादा छिन्न-भिन्न हो गयी है। लोग मनमानी घर जानी करने लगे हैं। सभी वर्ण के लोग कपड़े रंग कर साधु वेष बनाकर अपनी आजीविका चलाने लगे हैं। मंत्रदीक्षा देने के पवित्र कार्य को लोगों ने व्यवसाय बना लिया है। एक सज्जन मुझसे कहते थे, कि हमारे गाँव का एक चमकार था, वह साधु का वेष बनाकर मध्यप्रान्त की ओर जाता, उसने बहुत से गाँव के लोगों को मंत्र देकर शिष्य बना लिया उनमें बहुत-से ब्राह्मण भी थे। पीछे वे लोग किसी कारण से अकस्मात् उसके घर आए और उसे चमकारका कार्य करते देखकर चकित रह गए। ऐसी एक नहीं अनेकों घटनायें हैं। जिसमें तनिक बोलने की-बात बनाने की शक्ति होती है, वह भोली-भाली जनताको सबसे पहिले फँसाने को मंत्रदीक्षा ही देते हैं। ऐसा करके वे स्वयं तो नरक के अधिकारी बनते ही हैं, अपने उन शिष्यों को भी नरक ले जानेका प्रयत्न करते हैं। जो लोग वेद और वर्णाश्रम को मानते नहीं जैसे सिक्ख आदि। उनके यहाँ तो यह प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु जो कहते हैं, कि हम वर्णाश्रम को मानते हैं और फिर ऐसी धर्मविरुद्ध बातें करके लोगों को ठगते हैं उन स्वार्थियों को कौन रोक सकता है। यदि शास्त्रोंको मानते हो तो शास्त्रोंमें कहीं भी ब्राह्मणके अतिरिक्त दूसरेको

दीक्षा देने का अधिकार नहीं, किन्तु वे स्वार्थ के वश ऐसे अन्धे जाते हैं, कि शास्त्रकी इन बातों की अवहेलना कर जाते हैं वर्णाश्रम धर्म में केवल ब्राह्मणको ही सन्यास का अधिकार उसीको ज्ञान होता और ज्ञानसे मुक्ति। भक्ति मार्गमें सभी और सभी आश्रमियोंका अधिकार है, उसमें भगवत् भ- परमगति प्राप्त कर सकते हैं, उसमें किसी का निषेध नहीं। भी वैष्णव धर्म में दीक्षा लेने का परमगति प्राप्त करने का सबको अधिकार होनेपर भी दीक्षा देनेवाले आचार्य प्रथम वर्ण के ही होते थे अब यह मर्यादा भी टूट रही है। कालका प्रभाव है। लोग स्वार्थ मे अन्धे होकर गुरु बन जाते हैं।

स्वार्थी लोग गुरु बनकर स्त्रियों से प्रथम तन, मन और धन सर्वस्व अर्पण करा लेते हैं, अपनेको भगवान् बता- कर पापकर्म करते हैं। और इसमें गोपियों का और श्रीकृष्णका दृष्टान्त देते हैं। कुछ लोग कहते हैं—"प्रेममें कोई नियम नहीं रहता।" अरे, भाई प्रेममें तो नियम नहीं रहता यह सत्य है, प्रेम हो तब न? यह तो कामवासना है। कामकी पूर्तिके लिये तुम प्रेम शब्द को कलंकित क्यों करते हो?

कुछ लोग कहते है—"यदि उनमें कुछ तत्व न होता, तो उनकी ओर हमारा इतना आकर्षण क्यों होता। एक आदमीके पीछे इतने स्त्री पुरुष क्यों घूमते हैं?"

आकर्षण कई प्रकारका होता हैं, यह बात नहीं कि सात्विक आकर्षण ही हो। राजस और तामस आकर्षण भी होता है। इतना संयमी, सदाचारी, कुलीन तथा कर्मकाण्डी अजामिल वेश्याके रूपपर इतना लट्टू हो गया, कि उसने कुलमर्यादा तथा वेद मर्यादा सभीको तिलाञ्जलि देदी। यह धर्म-विरुद्ध रूपका आकर्षण था। इसी प्रकार किसी सुन्दर, सुवेष, युवकको देखकर असती स्त्रियों का आकर्षण होता है, अपने पापको छिपानेको वे ऊपरसे

भक्ति कथा कीर्तन का ढोंग बनाते हैं और भीतर ही भीतर अपनी कामवासना को व्यक्त करते हैं। स्वर्गकी अप्सराओं का जब पुण्य क्षीण हो जाता है, कुछ यत्किंचित् पुण्य शेष रह जाता है, तो वे पृथिवीपर आकर अत्यन्त सुन्दरी वेश्याये होती हैं। उस पुण्यके प्रभावसे उन्हें सौंदर्य की प्राप्ति होती है,उसीके आकर्षण से बहुतसे कामी युवक उनके आस पास घूमते हैं। इसी प्रकार गन्धर्व, किंपुरुष या मनुष्य किसी पुण्य के प्रभाव से स्वर्गादि लोकों का सुख भोगकर जब अपने पुण्य पापकर्मोंका फल भोगने पृथिवी पर आते हैं, तो कुछ पुण्य शेष रहनेसे वे सुन्दर,गायक,वक्ता या कोई और वाक्चातुरी आदि कला से युक्त होकर जन्म लेते हैं। उनकी कलाके आकर्षणसे कामिनियाँ और पथभ्रष्ट पुरुष उन्हें घेर लेते हैं। इसीसे उन्हें अभिमान हो जाता है—"मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् हूँ,मैं सुखी हूँ, मैं धन सम्पत्ति तथा शक्तिवान हूँ मेरे सदृश दूसरा कौन हो सकता है।" वे अभिमानमें भरकर बड़े-बड़े लोगों का अपमान कर देते हैं, किसीको कुछ समझते ही नहीं। उनके अनुयायी भी ऐसे मिल जाते है, कि उनकी मिथ्या प्रशंसा कर करके उन्हें और बढ़ावा देते रहते हैं, इससे वे समाज में और कदाचार बढ़ाते रहते हैं। उनकी एक टेक रहती है, हम अपने अनुभवसे कहते हैं। वे अपने मूढ़ अनुयायियों को नित्यप्रति पढ़ाते रहते हैं। "साधुकी महिमा वेद न जाने।"वे स्वयं तो वेद शास्त्रसे कोरे रहते ही हैं। अपने अनुयायियों को भी कोरा रखते हैं। अपनी ही पूजा कराते हैं अपना ही महत्व बढ़ाते हैं। पाप पुण्यमें कुछ भेदभाव नहीं करते मनमाना आचरण करते हैं। उनसे कोई कुछ कहे, तो उसे धूर्त ढोंगी, ईर्ष्यालु और न जाने क्या क्या बताते हैं। ऐसे शास्त्रविरुद्ध आचरण करनेवालों का ढोंग बहुत दिनों तक नहीं चलता। अन्तमें उनके अनुयायियों में से ही कुछ लोग स्वार्थ सिद्धि न

से, या उनके दुराचरणसे ऊबकर अथवा अन्य किसी उनसे पृथक् हो जाते हैं, उनके विपक्षमें दलबन्दी होने लगती है, उसके परिणामस्वरूप या तो उनपर राजअभियोग चलता है या उन्हीं दुराचारी पुरुष स्त्रियों द्वारा मार डाले जाते हैं, असाध्य भयंकर रोग हो जानेसे उन्हें सब छोड़ देते हैं, वे दुर्गतिके साथ मरते हैं। कोई इस लोकमें बच भी गया,तो उन्हें कभी भी न छोड़ते होंगे। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, आखों देखे हैं। फिर भी लोग इन पापकर्म पाखंडों का करते हैं, क्योंकि वे विवश हैं उन लोगों से हमें कुछ भी नहीं कहना है, जो अपनी इन्द्रियतृप्ति के निमित्त उनके अनुयायी बनते हैं, उनसे भी हमें कुछ कहना नहीं है। कहना तो हमें उन साधकोंसे है जो साधनाकी भावनासे जाते हैं और उनके दुराचरणको देखकर भी यह सोचकर चिपटे रहते हैं कि ये महापुरुष हैं इनके लिये विधिनिषेध कुछ नहीं है। उनको मैं सचेत किये देता हूँ कि यह उनका भ्रम है। जहाँ भी ऐसे दुराचरण देखें वहाँ समझलें कि यह ढोंग है। जहाँ श्री कृष्ण और गोपियोंकी आड़ लेकर रासका अनुकरण किया जाय, वहीं समझ लो यह कामवासनाका जाल है।

यह कार्य है यह अकार्य है, यह कर्तव्य है यह अकर्तव्य है इसमें तो शास्त्र ही प्रमाण है। इस लिये शास्त्रीय विधानको जानकर साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। यह तो मोटी पहिचान है, जहाँ सदाचार है वहाँ सात्त्विक साधना है। जहाँ दुराचार है वहाँ कामवासना है। भगवान् शिवजीसे बढ़कर कौन सिद्ध होगा। सतीजीने कुछ क्षणको झूठमूठ मायाकी सीताका रूप रख लिया था। केवल इसी कारण फिर उन्होंने सतीजीका पत्नी भाव से कभी भी स्पर्श नहीं किया। जब उन्होंने अपने शरीरको भस्म करके दूसरा पार्वतीका शरीर धारण किया, तभी उन्हें स्वीकार किया। शिवजीके लिये विधिनिषेधका क्या बन्धन था ?

किन्तु उन्होंने धर्ममर्यादाका पालन किया। लोकमर्यादाका भी ध्यान रखना होता है। भगवान् रामचन्द्रजीने केवल लोकमर्यादा-को बनाये रखनेके लिये ही निष्कलंक निष्पाप सीताजी का परित्याग कर दिया था। जो शास्त्रकी मर्यादाको छोड़कर मनमाना आचरण करता है, उसको कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। न उसे इस लोकमें सुख मिलता है, न परलोकमें उसकी सुगति ही होती है; अतः शक्ति भर धर्म-मर्यादाका पालन करना ही चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं—"कलियुग में तो धर्ममर्यादाका पालन हो ही नहीं सकता। सभी शास्त्रोंमें लिखा है। कलियुगमें धर्म नहीं रहेगा। मर्यादा न रहेगी, वर्णाश्रमधर्म नहीं रहेगा। नीच लोग गुरु बनकर—उच्चासनपर बैठकर-उपदेश देंगे। ब्राह्मणोंसे सेवा करावेंगे। जब सब अवश्यम्भावी है, तो फिर इन वर्णाश्रम धर्मके पीछे क्यों पड़े रहें? क्यों धर्ममर्यादा धर्ममर्यादा चिल्ला चिल्लाकर असफल प्रयास करें।" यह सत्य है कलियुगमें वर्णाश्रम धर्म न रहेगा। यह भी सत्य है कि कलियुगी स्त्री पुरुष मनमानी करेंगे। ये धर्म मर्यादाको नहीं मानेंगे। फिर भी हमें अपनी शक्तिके अनुसार जब तक जितनी कर सकें उतनी धर्ममर्यादाका पालन करना ही चाहिये। हम जानते हैं हमारा वृद्ध पिता एक दिन अवश्य ही मरेगा, वह सदा जीवित न रहेगा, फिर भी ज्वर आनेपर रुग्ण होने पर-यथाशक्ति औषधि करनी ही चाहिये। अपनी शक्तिभर उपेक्षा करना उचित नहीं, होगा तो वही जो भगवान्का विधान होगा।

कुछ लोगोंका कहना है कि कुछ भी हो, श्रीकृष्णने प्रेमके वशीभूत होकर गोपियोंके साथ रास तो किया ही था। हमारा भी जिनसे प्रेम है उनके साथ हम प्रेमवश रासक्रीड़ा करते हैं तो इसमें हानि ही क्या है?

अब करनेवालोंको तो कोई रोक नहीं सकता, करते ही हैं।

किन्तु हमारी प्रार्थना इतनी है, कि वह धर्म के नामपर, [illegible] के नामपर न किया जाय। अधर्म और कामके ही नामपर [illegible] जाय। यदि श्रीकृष्ण के ही रास का अनुकरण किया जाय [illegible] इतनी बातों पर ध्यान रखा जाय।

(१) श्रीकृष्ण भगवान् ने जब रास किया था तब उनकी [illegible] नौ-दश वर्ष की थी।

(२) भगवान् ने रास अवरुद्ध सौरत अर्थात् अस्खलित होकर किया था।

(३) भगवान्ने जितनी गोपियाँ थीं उतनेही रूप बना लिये थे।

(४) भगवान् ने गोपियों के दिव्य देहसे रास रचा था, उनके स्थूल देह तो घरमें पतियों के पास पड़े रहे। सबने उन गोपियोंको अपने पास ही देखा।

(५) भगवान्ने इतनी मर्यादाके साथ रास किया कि उन भाग्यवती गोपियों और परमभक्तोंके अतिरिक्त किसीको उसका भान भी नहीं हुआ। शिशुपालने भगवान्को इतनी गालियाँ दीं, किन्तु रासका उल्लेख करके कहा भी लांछित नहीं किया।

यदि इन सबको करने की सामर्थ हो, तब तो रास का अनुकरण कीजिये, नहीं अपनी कामवासना पूर्तिके लिये 'रास' शब्द को कलंकित न कीजिये। भागवती कथाके पाठकोंसे मेरी आत्मीयता है। आत्मीयताके नाते मैं उन्हें सम्मति देता हूँ, कि ऐसे शास्त्र विरुद्ध जहाँ आचरण देखे, वह चाहे कितना भी प्रभावशाली व्यक्ति हो, उससे शक्तिभर दूर रहने की चेष्टा करें। जिनका ऐसे लोगोंसे स्वार्थ सधता है वे तो मेरी सम्मतिको मानेंगे ही क्यों? उनके लिये यह सम्मति है भी नहीं, किन्तु जो परमार्थके पथिक हैं और किसी भ्रमवश भूलसे ऐसे धर्मविरुद्ध आचरण करनेवालों के फंदेमें फँस गये हैं, उन्हें पुनः स्वस्थचित्त होकर अपने आचरण पर विचार करना चाहिये। भूल तो सबसे ही हो,

जाती है, बड़े बड़ों से हो जाती है, किन्तु उस भूलको भूल समझकर उसके लिये पश्चात्ताप करना—प्रायश्चित्त करना—यह उन्नतिका लक्षण है। पाप करके उसे छिपाना, गर्व करना और अनेक युक्तियों से उसका समर्थन करना, यही पतनका निष्कंटक राजमार्ग है।

कुछलोगों का कथन है कि इस अनाचर कदाचारका मूल कारण है रासपंचाध्यायी। यदि इस रासपंचाध्यायीको ही भागवतसे निकाल दिया जाय, तो सब झंझट दूर हो जायँ। इस रसीली कामवर्धक कथाको ही पढ़कर लोगों की ऐसी प्रवृत्ति होती है।

यह तो वही बात हुई कि नाकपर मक्खी आकर बैठती है इस लिये नाकको ही काट दो। ईश्वरके कारण ही अनेक मतमतांतर होते हैं, इसलिये ईश्वरको ही मिटा दो। धर्मके नामपर ही कलह होती है, अतः धर्मको ही तिलाञ्जलि दे दो। ईश्वर धर्मको कोई मिटाना भी चाहे, तो नहीं मिटा सकता। इसी प्रकार श्रीमद्-भागवतमें से रासपञ्चाध्यायी निकाली ही नहीं जा सकती। वही तो भागवतके पंचप्राण हैं। रासपंचाध्यायीके पढ़ने से काम भावना की वृद्धि नहीं होती, अपितु कामवासनाका शमन होता है। मैने पाठकोंको ब्यालीसवें खण्डमें अश्वासन दिलाया था, कि मैं इस सम्बन्धमें अपने जीवनकी एक सत्य घटना सुनाऊँगा, उसे चौवालीसवें खण्डमें पाठक पढ़ें। भगवानकी रासलीला एक आत्मरमणकी लीला है। वह तर्क से नहीं जानी समझी जा सकती। रासपंचाध्यायी का नित्य श्रद्धासे पाठ करने से ही जानी जा सकती है। रासके नामपर कदाचार करने व्यक्तियों का उल्लेख करना भी पाप है, पवित्र कार्यों के सदासे स्वार्थी लोग अनाचार करते आये हैं कर रहे आगे करेंगे। जिसका जिससे स्वार्थ सधता है

लाख समझावे तो भी वह मानेगा नहीं। उन्हें तो ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते। इस कथन का अभिप्राय इतना ही है, कि जिज्ञासु साधक ऐसे ढोंगी सिद्ध सद्गुरुओं से सावधान रहें। अन्त में रास-रसिकेश्वर आनंदकन्द श्रीकृष्णचन्द्र प्रभु के पादपद्मोंमें प्रार्थना है, कि हम दिव्य रास का जीवन में कभी अनुभव कर सकें। भगवान् के दिव्य रास का आस्वादन कर सकें।

छप्पय

जे त्यागें निज धरम विषय में चित्त लगावें।
परधनमहँ मन रखहिँ व्यरथकी बात बनावें॥
जे साधन अपवर्ग स्वार्थ साधैं नित तिनतें।
सावधान नित रहें प्रेम साधकगन उनतें॥
कथा कीरतन कृष्ण को, करैं नियमतें नारिनर।
फँसे न ते जगफंद में, यही मार्ग है सुगतिकर॥

संकीर्तन भवन, झूसी
आषाढ़ कृ० १०।२००८

प्रभुदत्त

श्रीराधाजी को भी मान

[९८१]

सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥❀
(श्री भ० १० स्क० ३० अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

उनकेहू मन मान बढ़्यो सोचैं—हौं सरबस ।
अखिलभुवनपति श्याम करे अब मैंने निजबश ॥
जहाँ मान तहँ वास करैं कैसे गिरधारी ।
परबशवत् घनश्याम लखे तब बोली प्यारी ॥
पैदल अब नहि चल सकों, कितब ! कहाँ लै जात हैं ।
पग चाँपौ घोड़ा बनौं, प्यारे ! पाँइ पिरात हैं ॥

मान वियोग का पूर्व रूप है । जिसको लेकर मन में मान हो अहंकार आ जाय, समझो वह हमसे पृथक् होने वाला है । धनका मान, रूपका मान, ऐश्वर्य का मान, सुन्दरता का मान तथा औरभी गुणों का मान उस गुण की न्यूनता प्रकाशित करने के ही निमित्त

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् सब गोपियों के बीच से जिस गोपी को एकान्त में ले गये थे, अब उसे मान हुआ । उनने समझा मैं ही सब गोपियों में श्रेष्ठ हूँ, इसीलिये प्यारे समस्त कामातुरा कामिनियों को छोड़कर मेरा ही भजन करते हैं ।"

होता है, किन्तु प्रेम मार्ग में यह बात नहीं। प्रेम की तो मान से और वृद्धि होती है, प्रेम तो मान से और निखरता है। यद्यपि यहाँ भी मानके अनन्तर विरह होता है और विरहजन्य दुःख भी सहन करना पड़ता है, किन्तु वह विरह दुःख कोटि सुखों से भी अधिक सुखकर है। उन विरह में निरन्तर प्यारे की स्मृति बनी रहती है। प्रेम मार्ग में शरीर सम्मिलन को उतना महत्व नहीं दिया गया है। शरीर का मिलन तो तुच्छ है। यथार्थ मिलन तो मन का है। मन से जिससे सदा मिलेरहें, जिसकी स्मृतिनिरन्तर बनी रहे, सोते जागते उठते बैठते जिसकी मधुरमूरति नयनों के आगे नाचती रहे वही नित्य संयोग है। विरह में हृदय द्रवीभूत हो जाता है। हृदय में दीनता आ जाती है, प्यारे की एक-एक बात एकान्त में याद आने लगती है। उस अवसर पर उन्होंने ऐसा कहा था, ऐसा उन्होंने क्यों कहा? क्योंकि वे मुझे अत्यधिक प्यार करते थे, हाय! मैंने अभिमान के वशीभूत होकर उनका सम्मान नहीं किया। आने पर अभ्युत्थान नहीं दिया। इस प्रकार की उनकी अतीत की स्मृतियाँ चल चित्रों के सदृश हृदय पलटपर आती हैं, विलीन हो जाती हैं, पुनः नूतन आती हैं, फिर स्मृति नूतन वेष बनाकर आ जाती है। इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता रहता है; अतः प्रेम मार्ग में पूर्वराग मिलन और मिलन के अनन्तर मान का स्थान है। मान होने पर ही मदन मोहन अन्तर्धान होते हैं और तभी विरह ज्वाला उत्पन्न करके समस्त अशुभों को भस्मसात करके अन्तःकरण को विशुद्ध बना देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मन्मथ के भी मनको मथन करने वाले मदन मोहन अपनी परम प्रेयसी श्रीमती राधिकाजी को लेकर सब सखियों के बीच से अन्तर्धान हो गये। सखियाँ तो उनकी खोज में उन्मत्त हुई इधर भटक रही हैं और श्रीराधिकाजी एकान्त में उनके साथ सुखद क्रीड़ायें कर रही हैं। जो

जितना ही बड़ा होता है, उसका आवेग भी उतना ही बड़ा होता है। छोटे की भावना भी छोटी होती है। छोटों का आकर्षण भी छोटा होता है। बड़े लोग पहिले तो किसी की ओर आकर्षित नहीं होते। यदि कदाचित् हो जाते हैं, तो फिर उनका वह आकर्षण सहज में हटता नहीं। बड़ों की सभी बातें बड़ी होती हैं। बड़े हों चाहे छोटे जो जिस मार्ग पर पैर रखेंगे, उन्हें उसके सुख दुःख सहने ही होंगे। गिलहरी का मुख कपास के एक टेंट से ही भर जाता है। हथिनी का मुख एक बोझ ऊख से भी नहीं भरता। पात्र जितना ही बड़ा होगा, रस भी उसमें उतना ही अधिक आवेगा।

अन्य गोपिकायें तो प्रेम की निचली ही सीढ़ियों पर थीं, अतः उन्हें तो थोड़े ही सौभाग्य पर मान हो गया। वे ऐश्वर्यमद में मदमाती हो गयीं, अतः श्यामसुन्दर ने सब को एक साथ ही अन्तर्हित होकर विरह का अनुभव कराया, किन्तु श्रीमती राधिकाजी के लिये इतना सार्वजनिक सम्मिलन सुख कोई विशेष महत्व की वस्तु नहीं थी, अतः श्यामसुन्दर सबका परित्याग करके एकाकी ही उन्हें ऐकान्तिक रति सुख का अनुभव कराने सघन निकुंजों में दूर ले गये। वहाँ उन्होंने उनके साथ कितनी सुखद, कितनी मनोज्ञ कितनी अलौकिक लीलायें कीं ये अनिर्वचनीय हैं, उनका कथन करना तो पृथक रहा, अनुभव करना भी मानवीय बुद्धि के परेकी बात हैं। उनका अनुभव तो वही भाग्यशाली भक्त कर सकता है, जिसे भक्त भावन भगवान् कृपा करके स्वयं ही करा दें; अतः उसके विषय में यहाँ कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

प्रेम महासागर में तो एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी ऐसे निरन्तर हिलोरें आती रहती हैं। वह बिना बढ़े रह नहीं सकता। निरन्तर बढ़ते रहना ही उसका स्वभाव है। लीला एक सी तो रहती नहीं उसमें नित्य नूतनता प्रतीत

होती है, नूतनता का ही नाम लीला है। सम्मिलन सुख के अनंतर मान की हिलोर आती है। इस बात का हम बार बार स्मरण दिलावे हैं, इसे आप लोग पुनरुक्तिदोष न मानें क्योंकि यह मान प्राकृत, निकृष्ट मान कभी हो नहीं सकता। यह तो प्रेम वृद्धिका प्रकार है।

श्रीप्रियाजी ने जब देखा-"श्यामसुन्दर तो मेरे संकेत पर नाचते हैं। मेरे पैरों को कष्ट न हो, इसलिये मुझे कंधे पर चढ़ाते हैं। मैं जो माँगती हूँ, उसे तुरन्त लाकर देते हैं। अपने पीताम्बर से मेरे पसीने को पोंछते हैं। अपने हाथ से मुझे खिलाते हैं। स्वयं मेरी वेंणी गूंथते हैं। बार बार मुझे दर्पण दिखाते हैं, मेरे वस्त्राभूषणों को सम्हालते हैं। मुझे अंक में स्थित करके मेरे मुख को दीनता के साथ जोहते रहते हैं। मेरे मुखकी आकृतिका अध्ययन करते रहते हैं। हर समय शंकित से बने रहते हैं। मुझे जिससे प्रसन्नता हो, उस काम को हठ पूर्वक करते हैं। सारांश यह कि वे मेरी कृपा के निरन्तर इच्छुक बने रहते हैं। अहा! मैं कितनी बड़-भागिनी हूँ। जिनकी कृपा के लिये ब्रह्मादिक देवता तरसते रहते हैं, जो बड़ी-बड़ी स्तुति करने पर उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते वे ही आज छोटी से छोटी नीच से नीच सेवा कर रहे हैं। कितनी ललनायें इनके दृष्टिपात के लिये तरसती रहती हैं, वे उन सबको तुच्छ समझकर मुझे ही सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी मानकर मुझे यहाँ एकान्त में ले आये हैं और आज्ञाकारी अनुचर की भाँति मेरी प्रेम पूर्वक परिचर्या कर रहे हैं। जिन कामिनियों को ये रोती बिलखती छोड़कर आये हैं, वे सब इनमें अनुरक्ता थीं, इनकी भक्ता थीं, फिर भी मेरे कारण उनकी उपेक्षा कर दी। मेरा उन सबसे अधिक सम्मान किया।" इस प्रकार के विचार उठते ही उनके मन में प्रेम का गर्व उत्पन्न हुआ। प्रेम गर्विता वनिता को नायक को नचाने में एक प्रकार के अद्भुत

आनन्दकी अनुभूति होती है। अधिकाधिक उसे अधीन करना चाहती है; अतः प्यारेके अधिक संस्पर्श सुखकी अनुभूतिके लोभसे श्रीमतीजी उनसे बोलीं—"प्यारे! तुम मुझे कहाँ यहाँ बीहड़ वनमें लिये डोलते हो?"

अत्यन्त ही अनुरागके साथ श्यामसुन्दर बोले—"प्रिये! मैं तुम्हें रिझानेके लिये, तुम्हारी कृपा पानेके लिये ये सब कार्य कर रहा हूँ। यहाँसे अति निकट ही एक गहवर है, वहाँ तुम्हें ले जाकर सुन्दर-सुन्दर दृश्य दिखाऊँगा। तुम्हारे लिये सुन्दर-सुन्दर सुमन लाकर सभी अंगोंके स्वयं आभूषण बनाऊँगा। पुष्पोंका शृङ्गार करके तुम्हें सजाऊँगा और तुम्हारे लिये अति कोमल पुष्पोंकी शैया बनाऊँगा।"

तुनककर प्रेमके कोपके स्वरमें प्यारीजी बोलीं—"न जाने कितना दूर है आपका गहवर वन। मुझसे तो चला नहीं जाता।"

ममताभरी वाणीमें मदनमोहन बोले—"थक गयीं क्या? अब तो समीप ही आ गये, देखो कैसी सुन्दर-सुन्दर भीनी-भीनी गंध आ रही है। वह जो सामने सघन लताओंका वितान दिखायी देता है, वहीं तो चलना है। अति सन्निकट ही है। चली चलो।"

श्रीजी डाँटकर बोलीं—"चली कैसे चलूँ, मुझसे तो अब एक पैर भी नहीं चला जाता। कहाँ ऊबड़-खाबड़में ले आये हो? चलते-चलते पैर पिराने लगे। सभी अंग शिथिल हो गये हैं।"

अनुराग भरित स्वरमें श्यामसुन्दर बोले—"लाओ चरण सेवा कर दूँ।"

तुनककर श्रीमतीजी बोलीं—"चलो, हटो मुझे तुम्हारी सेवा नहीं चाहिये।"

अधीन होकर प्यारे बोले—"अप्रसन्न हो गयीं

मुझसे कुछ अपराध बन गया क्या ? मेरे अपराधको क्षमा करो, यहाँकी भूमि सम नहीं है। आगे बड़ा सुखद स्थल है। मेरे कंधेको पकड़कर चली चलो।"

इसपर प्यारीजी बोलीं—"देखो, तुम मुझसे बहुत वाद-विवाद मत करो। मैं एक डग भी नहीं चल सकती। यदि तुम्हें उस सघन निकुञ्जमें चलना है, तो मुझे अपने कंधेपर चढ़ाकर जहाँ चाहो तहाँ ले चलो। पैदल तो मैं जानेकी नहीं।"

श्यामसुन्दर प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"अहा ! मेरा अहो भाग्य। मेरा शरीर प्यारीजीके ऐसे सुखद कैंकर्यमें आवेगा। आपको उछलकर चढ़नेमें कष्ट होगा यह टीला है इस-पर मैं तुम्हें जेट भरके चढ़ाये देता हूँ, मैं इसके नीचे खड़ा हो जाऊँगा। इसपरसे तुम सहजमें ही मेरे कंधेपर चढ़ सकती हो।"

प्यारीजी यह सुनकर गर्वके साथ बोलीं—"अच्छी बात है यही सही तुम मुझे इस टीलेपर चढ़ा दो।"

श्यामसुन्दरने उन्हें अंकमें भरकर उस टीलेपर खड़ाकर दिया और आप तनिक झुककर उनके चरणोंके समीप कंधेको ले जाकर विनम्रता पूर्वक खड़े हो गये। प्रियाजीका गर्वपरा-काष्ठापर पहुँच चुका था। उन्होंने नूपुर, पाइजेब, कड़े, छड़े, सॉकर, बिछुआ तथा छल्ली छल्ला और पगपानसे मंडित अपने दायें चरणको श्रीकृष्णके कन्धेपर चढ़ानेको ज्यों ही उठाया त्यों ही श्रीकृष्ण तुरन्त वहाँके वहीं अन्तर्धान हो गये।

सूतजी कहते हैं—'मुनियों ! जब प्रियाजीका रमझोल और छम-छमकी ध्वनि करता हुआ चरण ज्योंका त्यों ही अधरमें रहा आया और नीचे श्रीकृष्णको जब उन्होंने नहीं देखा तो वे भौचक्की-सी रह गयीं। उन्होंने पैरको पुनः पृथ्वीपर रखकर नीचे देखा, नन्दनन्दन वहाँ नहीं हैं। इधर देखा उधर देखा

श्यामसुन्दर कहीं भी दिखायी नहीं दिये। तब तो उनका सौन्दर्य-का अभिमान, रूपका गर्व तथा सम्पूर्ण स्त्रियोंमें श्रेष्ठ होनेका मद चकनाचूर हो गया। वे भूली-सी भटकी-सी ठगी-सी अपनेको असहाय अनुभव करने लगीं और आँखोंसे आँसू बहाती हुई बिलख-बिलखकर रोने लगीं। जिनके ऊपर अभिमान था, जब वे ही अन्तर्हित हो गये, तो अब अभिमान किसपर करतीं। जड़के बिना वृक्ष रह कैसे सकता है। अभिमान भग गया और उसका स्थान दीनताने ले लिया। वे अत्यन्त दीन [illegible] करने लगीं।"

छप्पय

तब हँसि बोले श्याम चढ़ो [illegible]।
सुनि अति हरषित भईं चढ़नहीं [illegible]॥
त्यों ही अन्तरधान भये [illegible]।
इत उत खोजहिं फिरहिं [illegible]॥

नाथ! रमन! प्रियतमपरम! [illegible]
देहु दरस अब दुखहरन, [illegible]

विरहविह्वला कृष्णप्रिया

(९८२)

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३० अ० ४० श्लो०)

छप्पय

हाय ! कहाँतजिगये रमन ! मुखकमल दिखाओ।
भयो दर्प मम दलन दयानिधि आओ आओ॥
भ्रमरी भूखी फिरहिं कमल ! मधु अधरपिआओ।
मरति चातकी प्यास श्यामधन रस बरसाओ॥
यों प्यारी प्रिय बिरहमहँ, कुररी सम रोवति फिरति।
सम्मुख निरखति चर अचर, पूछति पति बिलखति गिरति॥

अहा ! इन विरहियोंका साहस भी धन्य है। भगवान् जिसे जितना बड़ा दुख देते हैं, उसे उतनी ही दुख सहनेकी शक्ति भी दे देते हैं। नहीं तो आप अनुमान लगावें। जिनके दर्शनोंको आँखें सदा प्यासी बनी रहती हैं। चित्त चाहता रहता है इनकी

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विरहविह्वला श्रीराधिकाजी विलाप करती हुई कह रही हैं—"हा नाथ ! हे रमण ! हे प्रियतम ! हे महाबाहो ! तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? इस दीना दासीपर दया करके दर्शन दो प्यारे !"

मधुरिमाको अपलक भावसे पान ही करते रहें। आँखें चाहती हैं इन्हें पुतलियोंकी भाँति सदा पलकोंके भीतर छिपाये रहें। जिनका एक पलभरका वियोग भी कोटि कल्पोंके सदृश प्रतीत होता है ऐसे प्रियतमके बिना इतनी लम्बी लम्बी अँधेरी रात्रिया बिना सोये करवट बदलते आह भरते बिता दी जाती हैं, सचमुच विरहिनियोंके हृदयको भगवान् अश्मसारका बना देते हैं। इसीलिये वह न फटता है न टूटता है। संसारमें सबसे बड़ा सुख क्या है? प्रियदर्शन! जिस समय प्यारेसे साक्षात्कार हो जाय, मानों स्वर्ग, अपवर्ग वैकुण्ठ सब कुछ यहीं मिल गया। संसारमें दुःख क्या है? प्यारेका वियोग। जो क्षण प्यारेके बिना बिताये जायँ, वे क्षण नहीं, स्वासोंको पूरा करना है, प्रारब्धके भोगोंको भोगना है।

वियोगके अनेक भेद हैं, किन्तु मुख्य दो भेद हैं। एक संभावित वियोग दूसरा असंभावित वियोग। संभावित वियोग तो वह है, जैसे चकवा चकवीका होता है। दिनमे मिल जाते हैं, किन्तु रात्रिमें साथ-साथ नहीं रह सकते। सायंकाल हुआ कमलोंको संकुचित करते अरविन्दैकबन्धु भगवान् भुवनभास्करने जहाँ अस्ताचलकी ओर प्रस्थान किया, तहाँ चकवी उस पार चली जाती है, चकवा इस पार पड़ा रह जाता है। इसमें किसीका कुछ वश नहीं, ऐसा होना ही है, दूसरा असंभावित विरह है। जैसे सारस सारसीका। सारस सारसी सदा ही साथ रहते हैं। वे पल भरको भी एक दूसरेसे पृथक् नही होते। सहसा कोई लुब्धक वहेलिया आया उसने चुपके से आकर सारसको विष बुझे बाणसे मार दिया। अब सारसी अकेली तड़फड़ाती रहती है। उसे संभावना नहीं थी, मैं कभी अपने प्रियतमसे पृथक् हो जाऊँगी, किन्तु संभावना न होनेपर भी दैव उसके प्रतिकूल हो गया। उसने उसके पतिको उसकी दृष्टि से ओझल कर दिया।

संभावित विरहसे असंभावित विरह अत्यन्त ही दुखदायी होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! श्रीराधिकाजीको गर्व हो गया था, कि मैं सबसे अधिक सुन्दरी हूँ, तभी तो श्यामसुन्दर सबको छोड़कर अकेली मुझे ही यहाँ एकान्तमें ले आये हैं और मुझे समस्त सुख प्रदान कर रहे हैं। मेरे अधीन हो गये हैं। मेरी छोटीसे छोटी सेवाको भी वे उल्लास और उत्साहके साथ कर रहे हैं। मुझसे बढ़कर सौभाग्यशालिनी कामिनी और संसारमें कौन होगी। अब तो मैंने प्रियतमको अपनी प्रेमफँसरीसे कसकर बाँध लिया है। अब यह संभव नहीं वे पल भर भी मुझसे पृथक् रह सकें। अब हम सदा इसी प्रकार मिले रहेंगे।" इन विचारोंमें वे विरहजन्य व्यथाको भूल ही गयी थीं। इस बातका उन्हें स्मरण ही नहीं रहा, कि संयोग सदा वियोगके ही लिये होता है। जीवन मरणके ही लिये होता है। जो अंकुर उत्पन्न हुआ है और उसे खाद तथा जलादि सम्बन्धी अनुकूल परिस्थिति प्राप्त है, तो वह अवश्य ही फूलेगा फलेगा। संयोगसुख रूप वृक्षका वियोग ही फल है। वियोगके बिना संयोगकी मिठास बढ़ती नहीं, उसमें नूतनत आती नहीं। प्रेमका स्वरूप है नित्य नूतन होना। वियोगसे संयोगकी प्यास और बढ़ती है। जैसे पिपासा रोगमें ठहर ठहरकर जितना ही जल पिया जाता है उतनी ही जलकी तृषा और बढ़ती है। अतः देखा जाय, तो वियोग कोई बुरी वस्तु नहीं। जिसको जितना ही अधिक स्नेह होगा, उसे उतना ही अधिक वियोगजन्य दुःख होगा। श्रीराधिकाजीको असंभावित विरहकी प्राप्ति हुई। कहाँ तो वे प्यारेके कन्धेपर कुदककर चढ़नेवाली थीं, कहाँ वहाँ प्यारे ही न रहे। अधिक प्यास शान्त करने क्षीरसागरके समीप गये वहाँ जाकर ज्यों ही अंजुली भरनेको उद्यत हुए कि क्षीरसागर ही सूख गया। सुमेरुके शिखरपर चढ़ना चाहते थे, सहसा

देखते हैं हम तो रसातलमें खड़े हैं। दैवकी कैसी विडम्बना है। कहाँ वे नित्य संयोगके स्वप्न देख रहीं थीं, कहाँ सहसा वियोग-जन्य दुःख के गर्त में गिर गयीं। श्यामसे उनका विछोह हो गया। अब तक अयोगजन्य उत्कंठा थी, अब वियोगजन्य वेदना हो गयी।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अयोग और वियोगमें क्या अन्तर है?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! जिसके रूप तथा गुणोंको सुन-कर, पढ़कर तथा अन्य किसी प्रकार जानकर जिससे प्रेम हो जाय, किन्तु उसके दर्शन न हो सकें, उससे कभी संयोग न हो, उसके लिये सदा तड़पते रहें इसीका नाम अयोग है। इसमें बड़ी व्याकुलता होती है। सर्वप्रथम व्यावहारिक लीलामे श्रीराधिकाजी ललितादि सखियोंके सहित पुष्पचयनके निमित्त श्रीवृन्दावनकी रासस्थलीके निकट गयीं। वहाँ उन्होंने ललिताजीसे पूछा—"सखि! यह कौन सी भूमि है? बड़ी सरस है बड़ी सुखद है, बड़ी मनोज्ञ है। मेरा चित्त स्वतः ही इस लहरियादार बालूसे आवृत विविध भाँतिके पुष्पोंके भारसे नमित निकुञ्ज बाहुल्य अवनिको देखकर खिंच रहा है। इस स्थलका नाम क्या है भला?"

ललिता बोलीं—"इसका नाम है रासस्थली।"

"रासस्थलीका अर्थ क्या? रासस्थली किसे कहते हैं? यहाँ क्या होता है?" भोलेपन के साथ वृषभानुनन्दिनीने पूछा।

ललिता बोली—"यहाँ श्रीकृष्ण रास रचते हैं।"

"श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण!! श्रीकृष्ण कौन भला?" अकबकाकर श्रीजी ने पूछा।"

"श्रीकृष्ण नन्दनन्दन हैं। यदुमतिसुत हैं। व्रजवल्लभ हैं। रासेश्वर हैं श्रीकृष्ण।"

बस, श्रीकृष्ण नाम कानोंमें पड़ते ही, श्रीजी मूर्छित हो गयीं। मनही मन श्रीकृष्ण नामका मंत्रकी भाँति जप करने लगीं। "जिसके नाममें ऐसा जादू है उसकी मोहिनी मूरति कैसी होगी। श्रीकृष्णके दर्शन कैसे हों? मेरे ये नेत्र सार्थक कैसे हों? हाय! श्रीकृष्णदर्शन मुझे कब होंगे? श्रीकृष्ण कब कृपा करेंगे, कब मेरे इन नयनोंको सफल करेंगे।" इस प्रकार निरन्तर दर्शनों के लिये उत्कंठित रहना यही अयोग कहलाता है। इसमें सदा उत्सुकता बनी रहती है, संभव है आज दर्शन हो जायँ। दिनभर प्रतीक्षा करनेपर भी दर्शन नहीं होते तो अपने को धिक्कारते हैं। हाय? आजका दिन व्यर्थ चला गया। प्यारेके दर्शन नहीं हुए। चित्तमें बड़ी दीनता आजाती है, कोई प्यारेकी चर्चा करता है तो नेत्र हरे हो जाते हैं, वे बहने लगते हैं। मन ही मन बड़ी आत्मग्लानि बनी रहती है। निरन्तर निर्वेदकी अनुभूति होती रहती है। दर्शनों के लिये चित्तमें चिन्ता बनी रहती है। दर्शनों के लिये चपलता बढ़ जाती है। प्रिय के विषय में सोचते-सोचते शरीरमे जड़ता-सी आ जाती है। उन्माद तथा मोह आदि भी दर्शन न होनेसे हो जाते हैं। इसी का नाम अयोग है। दर्शन न होनेके पूर्व जो विरहकी अनुभूति है उसे अयोग कहते हैं।

वियोग होता है संयोग के अनन्तर। प्यारेसे भेट हो गयी। उनके साथ कमनीय क्रीड़ायें भी कीं। संयोग सुखका अनुभव किया। तदनन्तर सहसा वे हमसे पृथक् हो गये हैं। इसीका नाम वियोग है। वियोग के अनन्तर जो सहयोग होता है उसमें और भी अधिक मिठास बढ़ जाती है। संयोगके अननन्तर जो विछोह होता है, उसमे बड़ी मर्मान्तक पीड़ा होती है। निरन्तर संयोग सुख की स्मृति बनी रहती है। सम्मुख चाहे स्मरण न भी हो उनके पीठ के पीछे वे सभी बातें याद आती हैं। उन बातोंको याद कर करके

बड़ा भारी मनमें संताप होता है। शरीर कृश हो जाता है। निद्रा या तो कम हो जाती है या आती ही नहीं। तनिक झपकी लगी कि फिर उसीकी बातें याद आने लगती हैं। आलम्ब शून्यताका अनुभव होने लगता है। हाय! उनके बिना हम कैसे जीवेंगे। उनके दर्शनों के बिना इस संसारमें किसके आश्रयसे जीवन बितावेंगे। किनका मुख देखकर धैर्य धारण करेंगे। धैर्यका सुदृढ़ बाँध टूट जाता है। शरीरमें जड़ता आ जाती है। किसी काम में मन नहीं लगता। शरीर रोगग्रस्त-सा हो जाता है। घर वाले वैद्य बुलाते हैं। वैद्य वात,पित्त और कफका निर्णय करता है, किन्तु यह व्याधि त्रिदोष जन्य नहीं होती। विरहकी व्याधिकी चिकित्सा तो प्यारा ही अपने हाथ रखकर कर सकता है। विरह में उन्माद, मूर्छा और यहाँ तक कि मृतक सदृश अवस्था हो जाती है। उसीका निरन्तर ध्यान रहता है, जिह्वा उसीके नामका सतत उच्चारण करती है, नेत्र उसीके लिये जल बहाते रहते हैं। श्रीकृष्णके विरहमें श्रीराधिकाजीकी ऐसी ही सब दशायें हुईं।

श्रीकृष्णके अन्तर्हित होते ही वे संयोग सुखको स्मरण करके तथा अपने गर्वके लिये बारबार पश्चात्ताप करती हुईं,रुदन करने लगीं। वे वन वनमें रात्रिके समय भटकती हुईं चिल्ला रही थीं हा नाथ! ओ मेरे प्राणोंके प्यारे! मुझ अबलाको इस बीहड़ वनमें अकेली छोड़कर कहाँ चले गये? प्यारे! आओ! आओ! दरश दिखाओ! हृदय लगाओ! मत तड़पाओ, रस बरसाओ, हिय सरसाओ! अमृत पिलाओ! प्यारे! क्या तुम रूठ गये? कहीं अपनोंकी बातपर ध्यान दिया जाता है। मुझसे अपराध हुआ! अवश्य हुआ। किन्तु अब न होगा,अब तो मैंने अपने किये का फल पा लिया।तुम्हारी माधुरी मूरति नेत्रोंके सम्मुख है, किन्तु तुम हृदयसे मुझे नहीं लगा रहे हो,दूर दूर हो ऐसा मत करो मेरे जीवन सर्वस्व! आ जाओ आ ...

तुम्हारी बाहुएँ कितनी बड़ी हैं। उन दोनों बाहुओंके बीच में मुझे कस लो। ऐसी कसो की फिर मैं तुमसे कभी विलग न होऊँ। श्यामसुन्दर आ जाओ आ जाओ! देखो, गुदगुदी उतनी ही अच्छी होती है जब तक हँसी हो, आँखोंमें पानी न आवे। अति सर्वत्र वर्जित है, तुम अति कर रहे हो मुझे आवश्यकतासे अधिक क्लेश दे रहे हो। यहाँ लाकर मुझे बीहड़ वनमें पटक दिया। तुम्हारे सान्निध्यमें तो बीहड़वन भी नन्दनकाननसे बढ़कर है,किन्तु तुम्हारे बिना तो वैकुण्ठ गोलोक भी सूना सूना है कोटि कोटि नरकोंसे भी अधिक क्लेशदायक है। नन्दनन्दन! अब देरी करने से काम न चलेगा। जब ये प्राण ही न रहेंगे तब तुम्हारे आनेसे लाभ ही क्या? जब खेती सूख जाय, तब चाहे इन्द्र अमृत ही क्यों न बरसावें सब व्यर्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार सुकुमारी कीर्तिकुमारी रोती रोती व्याकुल हो गयीं। चिल्लाते-चिल्लाते उनका गला पड़ गया। उन्हें शरीरकी सुधि बुधि नहीं रही। वे मूर्छित होकर धड़ामसे धरतीपर गिर गयीं। उन्हें शरीरकी तनिक भी सुधि नहीं रही। कृष्ण विरहमें उनकी दशवीं दशा हो गयी, मृततुल्या बनकर लम्बी लम्बी साँसें लेने लगीं उनके जीवनकी कोई आशा नहीं रही।"

छप्पय

करि-करि सुमिरन संग श्यामको रोवति राधा।
बन-बन विहरत विकल विरहको बाढ़ी व्याधा॥
दीखति दशमी दशा दुखी दरसन बिनु प्यारी।
व्याकुल बिलखति विरहमाँहि तनु दशा बिसारी॥
इत प्यारी मूर्छित परी, उत आई ढूँढ़त सखीं।
अति अचेत आकुल अधिक, उत राधाजी सबने लखीं॥

व्रजाङ्गनाओं की कृष्णविरह में तन्मयता

[९८३]

तन्मनस्कास्तदालापास्तद् विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३० अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

गोपी बैठीं घेरि प्रियाकूँ सब समुझावें ।
गोदीमाँहि लिटाइ कमल दल व्यजन डुलावें ॥
कछुक चेतना भई रसिककी बात चलाई ।
अपु बीती सब बात दुखित ह्वै प्रिया बताई ॥
एक प्रान मन मिलि सकल, मानरहित अति दीन सब ।
गावत गुन गोविन्द के, भईं ध्यान महँ लीन सब ॥

एक बार इस जीवने कभी सुख स्वरूप सर्वेश्वर के संग सुखका अनुभव किया था उसी सुखको यह रात्रि दिन खोजता है। अच्छी सुन्दर गुदगुदी शैया देखता है, तो भ्रमवश समझता है, संभव है इसमें सुख हो, किन्तु उसमें कहाँ। कभी उसे

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उन सब गोपिकाओं का मन श्रीकृष्ण में ही लगा था, उन्हीं की सब बातें कह रहीं थीं, उन्हीं की चेष्टाओं का अनुकरण कर रहीं थीं तथा उन्ही के ध्यान में लीन थीं। इस कारण वे सब उन्हीं के गुणों का गान कर रहीं थीं, वे घर द्वारकी समस्त चिंताओं को भूल गयीं, तन्मय हो गयीं।"

नारी के अधरामृत में उसका आभास दिखायी देता है, किन्तु उससे इसकी प्यास नहीं बुझती। प्यास तो तब बुझे जब वह जल हो, वह तो मृगतृष्णा थी। मृगमरीचिका से आज तक किसी की प्यास बुझी भी है। सीपीमें रजत का भानहोने से उसे लेने दौड़ता है, *संभव है इसी में सुख सन्निहित हो, किन्तु जो स्वयं मिथ्या है,* अशाश्वत है, उसमें शाश्वती शान्ति की प्राप्ति संभव नहीं। जीव दशों दिशाओं में भटकता है, चक्कर लगाता है-सम्मुखजो भीवृक्ष, पशु, पक्षी मिलता है, उसी से उस सुख स्वरूप का पता पूछता है, किन्तु वे स्वयं भी सब इसकी खोज में व्यग्र हो रहे हैं। जो स्वयं अन्धा है वह दूसरों को क्या मार्ग बतावेगा। जीव इसी प्रकार भटकते रहते हैं। भटकते-भटकते जब उन्हें बोध होता है "अरे, श्यामसुन्दर तो हमारे भीतरी अभिमान के कारण अन्तर्हित हुए हैं। जो सुई घर में खोई हुई है, उसे खेतों में खोजना मूर्खता है, वे छिपे हैं भीतर हम उन्हें खोज रहे हैं बाहर। वे घर में दुबके बैठे हैं हम उन्हें वन में पुकारते हैं। अब कहीं भटकने का काम नहीं, यात्रा की आवश्यकता नहीं। जहाँ से ढूँढनेचले थे, वहीं लौट चलो। चंचलता छोड़कर स्थिर हो जाओ। पुनः पुलिन में आ जाओ। बाह्य दृष्टिको बंद कर लो। बाहरी नेत्रोंको बंद करो। *भीतर ही उनका अनुभव करो। वे कहीं गये थोड़े ही* हैं, मान से डरकर कहीं छिप गये हैं। तुम मानको निकाल दो, वहीं के वहीं प्रकट हो जायँगे। उन्हें दूर से कहीं आना न पड़ेगा। मणि के ऊपर आवरणपड़गया है प्रकाशित नहींहोती। आवरण हटाते ही स्वयं भी प्रकाशित होगी और भवन की समस्त वस्तुओं, को प्रकाशित करेगी। बाहरी खोज को बंद करो। भीतर खोजो, भीतर खोजो। तुम्हें सुखस्वरूप श्यामसुन्दर मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे। फिर संयोग सुख देंगे, फिर अपने हृदय से सटावेंगे, फिर तनकी तपन बुझावेंगे। जिसे एक बार प्यारे का आलिङ्गन

प्राप्त हो चुका है, वह क्या जीवनभर उस सुखको भूल सकता है। एक बार सुख देकर श्याम तृष्णाको और बढ़ाते हैं। फिर योगी ध्यानमें अपने आपमें ही उन्हें अनुभव करते हैं, ब्रह्म संस्पर्श सुखको प्राप्त करते हैं। तन्मनस्क होकर तदालापमें ही कालयापन करो, घर द्वार कुटुम्ब परिवार स्वतः ही भूल जायँगे। मणि माणिक्य प्राप्त होनेपर कौड़ियों की याद कौन करता है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह श्रीराधाकृष्ण विहार लीलारस प्राकृत पदार्थ नहीं। इसके पान करनेके अधिकारी विरले ही होते हैं। "फिर इसे सबके सम्मुख प्रकट क्यों करते हैं ?" प्रकट इसलिये करते हैं, कि जिन्हें अधिकारी समझकर उनसे कहते हैं, उनमें कोई एक तो ग्रहण कर ही लेगा। जो अनधिकारी है वह तो व्यर्थ समझकर उससे उपरत ही हो जायगा। श्रीराधाजीके सम्मुख से अन्तर्हित हो जाना उनकी क्रीड़ा मात्र ही है, रसकी अभिवृद्धिके लिये ही यह अभिनय है। जो श्रीराधिकाजी मदनमोहनकी माधुरी की मधुपात्री हैं। जो चितचोर चन्द्रकी मदचकित चकोरी हैं उनका भला वृन्दावनविहारीसे वियोग कभी संभव हो सकता है ? वे तो उनकी हृदयेश्वरी हैं, प्राणोंसे भी अधिक प्यारी हैं, किन्तु नित नव नव लीलाभिनयसे रसवृद्धि होती है, प्रेमरूप अनंत सागर में उत्ताल तरङ्गें आती रहती हैं, जिससे वह शब्द करता हुआ प्रवृद्ध होता हुआ-सा प्रतीत होता है। उसमें नव चेतनता स्फूर्ति दिखायी देती है, इसीलिये लीला विलास है।

मुनियो ! जब श्रीराधिकाजी 'हा नाथ ! रमण ! प्रेष्ठ ! कहाँ गये ? कहाँ गये ?' कह कहकर रोने चिल्लाने लगीं और मूर्छित होकर गिर पड़ीं। अचेत हो गयीं, तो उसी समय घूमतीं फिरतीं वे सब श्रीकृष्णकी विरह व्यथामें व्याकुल बनी व्रजङ्गनायें भी वहाँ आ पहुँचीं। प्रियाजीकी ऐसी दशा देखकर उन्हें दुःख भी हुआ। किसी-किसीको आन्तरिक सुख भी हुआ।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! दूसरेको दुखी देखकर सुखका अनुभव करना, यह तो खलोंके लक्षण हैं। उन कृष्णप्रेयसी इतनी उच्च कोटिके भाववाली व्रजाङ्गनाओंको मूर्छित हुई श्रीराधिकाजी को देखकर आन्तरिक सुख किस कारण से हुआ ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! यह प्रेमका मार्ग है ही ऐसा टेढ़ा। जिन्हें अब तक श्रीराधाजीके इतने बड़े सौभाग्यपर ईर्ष्या हो रही थी, उन्हें ही अपने समान तड़पते देखकर आत्मतोष होना स्वाभाविक है। किसीको हम ऐश्वर्यमें मत्त हुए कभी देखते हैं, वह हमसे बोलता भी नहीं। कालान्तरमें जब उसे भी अपने ही समान भीख मांगते दीन वचन कहते देखते हैं, तो एक प्रकार की आत्मतुष्टि-सी होती है। तब उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। फिर उससे आन्तरिक स्नेह हो जाता है। क्योंकि स्नेह समानशीलोंमें ही होता है। जहाँ छोटे बड़ेका, धनी निर्धनका पंडित मूर्खका, उच्च नीचका भेद भाव है वहाँ प्रेम नहीं रह सकता। शिष्टाचार भले ही रह सकता है। एक ही पथके पथिक हों। दोनोंका एक ही उद्देश्य हो। एक-सी ही स्थिति हो तब स्नेह बढ़ता है, तब मिलकर उद्देश्यप्राप्तिके लिये सम्मिलित साधन हो सकता है। तब संघशक्ति संगठित होती है। तब पुकारमें बल आता है, तब श्यामसुन्दरको विवश होकर आना पड़ता है; अतः जिन गोपियोंको ईर्ष्या हुई या आत्मसन्तोष हुआ वह कृष्णप्राप्तिके निमित्तसे ही हुआ, कि इतनी भाग्यशालिनी जब हमें संगिनी मिल गयीं, तब तो हम श्यामसुन्दरको अवश्य ही खोज निकालेंगी; अतः वे सबकी सब आकर श्रीजीके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने लगीं। कोई उनकी धूलि झाड़ने लगी। किसीने उन्हें उठाकर अपनी कोमल-कोमल सुकुमार जंघाओंपर लिटा लिया। किन्हींने उनके सुकुमार चरणोंको अपनी गोदीमें ले लिया और उन्हें पोले पोले हाथोंसे दबाने

लगी। कोई दौड़कर पुष्करिणीसे कमलके पत्ते तोड़ लायी, उन्हींसे उनकी वायु करने लगी। सुन्दर सुगंधित शीतल जल उनके श्रीअंगपर छिड़कने लगी। कोई अपनी कोमल-कोमल कमल पंखुड़ियोंके सदृश पतली-पतली उँगलियोंसे उनकी ठोढ़ीको तनिक उठाकर कानमें 'श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण' इस महामन्त्रकी ध्वनि करने लगी।

कानमें कृष्णनामकी ध्वनि पड़ते ही श्रीजीको ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों कोई मेरे कर्णकुहरोंमें अमृत उड़ेल रहा है। अकबकाकर उन्होंने नेत्र खोल दिये और सहसा बोल उठीं—"प्यारे कहाँ हैं ? प्यारे कहाँ हैं ? प्यारे तुम कहाँ चले गये थे।"

प्यारीजीके मुखसे ऐसे शब्द सुनकर सभीको सन्तोष हुआ। सबको भरोसा हो गया, प्यारीजीके प्राण अभी शरीरमें शेष हैं। उनकी दशा मृतकके सदृश है। साक्षात् मृतक दशा उन्हें प्राप्त नहीं हुई है; अतः उन्हें चेत करानेके लिये वे कहने लगीं—"प्यारीजी ! उठो उठो, हमें तुम प्यारेका पता बताओ। प्यारे तो हम सबको बिलखती छोड़कर एक मात्र तुम्हें ही साथ लेकर वहाँ से चले आये थे। वे कहाँ हैं ?"

सहसा श्रीजीके मुखसे अपने आप ही निकल पड़ा—"वे मुझे भी छोड़ गये।"

"आपको तो वे कभी छोड़ सकते नहीं। आप तो उनकी प्राणोंसे भी अधिक प्यारी हो, आपके ही मुखको जोहनेके लिये तो उनका जीवन है। आपकी चिन्ता करनेको ही तो उनका चित्त है। वे गोचारण आदि बाह्य कार्य करते हुए भी निरन्तर आपके ही सुन्दर मुखका चिन्तन करते रहते हैं। आपको भला वे कैसे छोड़ सकते हैं। असंभव है, सर्वथा असंभव है, हम त्रिकालमें भी इस बातपर विश्वास नहीं कर सकतीं।"

"हैं, श्यामसुन्दर मुझे इतना प्यार करते हैं। मुझे तो इसपर

विश्वास नहीं होता 'संभव है करते हों' इन विचारोंके उठते ही श्रीकृष्णके प्रेमकी याद आते ही श्रीजीकी मूर्छा भङ्ग हो गयी। वे उठ कर बैठ गयीं। पूछने लगीं—"बहिनाओ! तुम यहाँ कहाँसे आ गयीं? प्यारे कहाँ चले गये?"

श्रीजीको सचेत देखकर सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। जिस सखीने उन्हें गोदीमें बिठा रखा था, उसीने मन्द-मन्द मुसकराते हुए श्रीजीके हृदयकी वेगसे चलती हुई धुकधुकीपर अपने कोमल शीतल कर रखते हुए कहा—"प्यारेको तुमने यहाँ छिपा रखा है, जिससे वे हमें दिखायी न दें।"

श्रीजी यह सुनकर लज्जित हुईं। उनके बड़े-बड़े कमलके जैसे नेत्रोंकी कोरसे मोतियोंके समान स्वच्छ अश्रुबिन्दु निकलकर उनके गोल-गोल लोल कपोलोंपर लकीर करते हुए हृदयपर लुढ़क पड़े मानो हृदयस्थ हृदयेशको अर्घ्य प्रदान कर रहे हों। वे सब सखियोंपर दृष्टि डालती हुई बोलीं—"सखियो! मैंने मान किया था, मुझे अपने सौभाग्य सुखपर गर्व हो गया था। मैं प्रेमगर्विता बनिता बन गयी थी। मैंने सौभाग्यके मदमें भरकर मदनमोहनका अपमान किया इसीसे वे रूठ गये, मुझ अभागिनीको छोड़कर चले गये।" यह कहते-कहते श्रीजी पुनः विह्वल हो गयीं और पुनः सखीकी गोदीमें लुढ़क गयीं। सभी सखियाँ ढाह मारकर रोने लगीं। "श्यामसुन्दर आओ-आओ। अब अधिक न तरसाओ।"

श्यामसुन्दरका नाम सुनते ही श्रीजीकी मूर्छा पुनः भंग हुई वे बोलीं—"सखि! श्यामसुन्दर आ गये क्या?"

एक चतुर-सी सखी बोली—'श्यामसुन्दर वहीं बैठे हैं, जहाँ उन्होंने पहिले पहिल वंशी बजायी थी।"

"रासस्थलीमें?", सहसा ये शब्द श्रीजीके मुखसे स्वतः ही निकल पड़े।

सखीने कहा—"हाँ रासस्थलीमें रासेश्वर अवश्य होंगे। वहाँ बैठे हुए हमारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे ?"

"तो हम इस समय कहाँ हैं ? हम क्या रासस्थलीमें नहीं हैं ? रासस्थली कितनी दूर है सखि !" श्रीजीके मुखसे अपने आपही ये वचन प्रकट हो रहे थे।

सखीने कहा—"हम तो गह्वर वनके निकट हैं। रासस्थली तो यहाँसे दूर है। दूर भी नहीं समीप ही है।"

"अच्छा चलो, वहीं चलें, किन्तु मार्गके और वनोंको भी खोजती चलना। संभव है यहीं कहीं छिपे हों। वे बड़े छलिया हैं। समीप छिपे रहनेपर भी दूर दिखायी देते हैं। कभी-कभी दूर रहने पर भी समीप हो जाते हैं। अभी तो प्रकाश है। वे काले-काले दिखायी दे जायँगे। अंधकार में तो वे उसीके रूपमें मिल जायँगे। तब उन्हें खोजना अत्यंत कठिन हो जायगा। प्रकाशकी सहायतासे उनका पता लगावें। चन्द्रिकाके आलोक में उन्हें हम खोजें।"यह सुनकर वे सब एक साथ चल दीं। प्रकाशकी सहायता से खोजने लगीं किन्तु श्रीकृष्ण किसीकी सहायतासे नहीं मिलते। जब वे स्वयं ही मिलनेको उतावले हो जाते हैं, तो अपने आप प्रकटित हो जाते हैं। वे व्रजाङ्गनायें चन्द्रमाकी चाँदनीमें उन्हें एक वनसे दूसरे वनमें खोजती रहीं, श्यामसुन्दर नहीं मिले नहीं मिले।

चन्द्रका प्रकाश मन्द पड़ गया। वनमें तस्कर प्रियतम-का साम्राज्य-सा छा गया। श्यामघन की छायासे शशिका मुख म्लान हो गया। गोपिकायें थक गयीं, उनका ऐश्वर्यमद तो प्रथम ही चकनाचूर हो गया था, अब खोजनेका जो पुरुषार्थ सम्बन्धी अभिमान था, वह भी जाता रहा। श्रीकृष्ण हमारे पुरुषार्थ से प्राप्त न होंगे। वे तो स्वयं ही कृपा करके हमें वरण करलें, अपने आप ही आकर हमें बलपूर्वक उठाकर अपने

हृदयसे लगालें तभी उनकी प्राप्ति सम्भव है। स्वतः वे ही हाथ बढ़ाकर हमारे मुखको फाड़कर अमृत उड़ेल दें तभी अमरता सम्भव है। स्वयं हम अपने पुरुषार्थसे उन्हें न पा सकेंगी। चन्द्रमाके प्रकाशपर जो विश्वास था, वह भी मन्द पड़ गया। वनमें तमका साम्राज्य हो गया। अब तो रासस्थली में ही चलकर बैठें उनकी कृपाकी प्रतीक्षा करें। उनके नाम गुणों द्वारा ही कालक्षेप करें। कभी तो वे कृपा करेंगे। यही सोचकर वे जहाँ से गयीं थीं वहीं लौट आयीं और धैर्यपूर्वक साधना रतिका अनुकरण करने लगीं।

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! साधनारति क्या होती है ?"

सूतजी बोले—'महाराज ! रसशास्त्रोंमें रतिके अनन्त भेद बताये हैं, किन्तु सामान्यतया रति दो प्रकारकी होती है। एक सिद्धारति दूसरी साधनारति। सिद्धारतिमें कोई भी साधना नहीं हो सकती। मूर्छा या मृतकावस्थामें पड़े-पड़े निरन्तर प्यारे के ही भाव में भावित बने रहते हैं। नाम, रूप, लीला, धाम किसीकी भी स्मृति नहीं रहती। जैसी स्थितिमें श्रीराधिका जी को प्रथम पड़े हुए सखियों ने देखा था। यह तो सिद्धारति हुई। साधना-रतिमें उनकी कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए समयको काटने के निमित्त कुछ सामान्यसे साधन होते हैं। वे इस भावनासे नहीं होते, कि हमारे इन साधनोंसे सन्तुष्ट होकर श्यामसुन्दर विवश होकर दौड़े ही आवेंगे। ऐसे भावकी गन्ध भी नहीं, आवेंगे तो वे अपनी इच्छासे ही, किन्तु समय कैसे बितावें अपराध वे तो करना जानते ही नहीं। हमारे ही अपराध से वे छिप गये हैं। अपने अपराधपर साधक को क्षोभ होता है, किन्तु उसे भुला देता है। अच्छा जो हुआ सो हुआ। पहिले जो पाप हो गये सो हो गये। अब ऐसा न करेंगे अब उनके नाम और गुणोंका गान करते ही

शेष समय को बिता देंगे। पहिली भावना तो साधन रतिमें यह होती है।

दूसरी भावना यह रहती है, कि हमारा यह शेष समय व्यर्थ न जाय। एक पल भी ऐसा व्यर्थ न बीते जिसमें प्यारे का चिंतन न हो। इसके लिये साधक निरन्तर जिह्वासे उन्हीं के नामों का उच्चारण करता रहता है। मन से उनके ही रूपका चिन्तन करता रहता है। भगवान् को और उनके भक्तों को बार बार साष्टाङ्ग प्रणाम करता है, उनकी स्मृति में निरन्तर नयनों से नीर बहाता रहता है. फिर भी ऐसा अनुभव मन से होता है, मेरा यह समय व्यर्थ ही जा रहा है हाय ! निरन्तर भगवत् स्मृति नहीं होती।

ऐसी दशा में स्त्री, पुत्र, धन, परिवार तथा समस्त संसारी सम्बन्धों से विरक्ति हो जाती है। पहिले जिस धन के लिये प्राण देते थे हृदय में रति होने पर ये सब तुच्छ प्रतीत होते हैं। प्यारे के ऊपर सब कुछ तृण के सदृश त्यागा जा सकता है, उनके ऊपर सर्वस्व निछावर कर दिया जाता है।

इस दशा में मान सर्वथा नष्ट हो जाता है। सुन्दरता का, कुलीनताका, धन, यौवन तथा अन्य सभी प्रकार के मानोंका अभाव हो जाता है। सब के साथ समान भाव से बैठकर अपने साध्य की प्राप्तिके लिये निरभिमान होकर जुट जाते हैं। जिसेभी देखते हैं उसी की वन्दना करते हैं।

मन में सदा आशा बनी रहती है, कभी न कभी तो प्यारे कृपा करेंगे ही। कभी न कभी तो दया करके दर्शन देंगे ही। कभी न कभी तो वे हमें अपनायेंगे ही। इसी आशा को लगाये वे कालयापन करते हैं।

साधनारति में समुत्कण्ठा सदा बनी रहती है। प्यारे के रूपको याद कर करके, उनके गुणों को याद करके मिलने की जो छट-

पटाहट है उसे ही समुत्कण्ठा कहते हैं। यह उत्कण्ठा प्रतिपल प्रतिक्षण बनी रहती है। प्यारे अब आये अब आये। अब उनके दर्शन होंगे। अब नेत्र सफल होंगे।

उत्कण्ठा के साथ-साथ प्यारेके सुमधुर नामों के गायन में अत्यधिक अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है। हे नाथ! हे रमण! हे महाभुज! हे प्यारे! हे मेरे नयनों के तारे! कब आओगे! कब मेरे तनकी तपन बुझाओगे? इस प्रकार निरन्तर जिह्वा से प्यारे का नाम लेने से एक आन्तरिक सुखानुभूति होती है।

जिस स्थलपर प्यारे ने कमनीय क्रीड़ायें की हैं उन स्थलों में स्वाभाविक प्रीति हो जाती है। उन स्थलों को देख कर उनका स्मरण करके उद्दीपन होता है। यहाँ प्यारे ने यह लीला की थी, इस स्थलपर यह घटना घटित हुई थी। प्यारेके उन उन स्मृति स्थानोंमें जाना, उनका मन वचन तथा करों द्वारा पूजन करना, उन स्थलोंके प्रति आदर करना यह भी रतिका सर्वश्रेष्ठ अंग है।

सबसे अधिक रतिकी वृद्धिमें कारण है तद्गुणाख्यान आसक्ति। प्यारेके सौन्दर्य माधुर्य और उनकी लीलाओंका गान करना उनका अनुकरण करना, उनका श्रवण करना इन सभी कारणों से साधना रतिकी वृद्धि होती है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! वे गोपिकायें लौटकर उसी स्थानपर आ गयीं जहाँ श्यामसुन्दरने सर्वप्रथम बाँसुरी बजाकर व्रजाङ्गनायें बुलायी थीं। वहाँ वे अपनी भूलपर पश्चात्ताप करती हुईं, मानशून्य होकर, उत्कंठापूर्वक श्रीकृष्ण दर्शनोंकी आशासे उस स्थलीके प्रति आदर प्रदर्शित करती हुईं भगवान् के नामोंको उच्चस्वर से लेकर, उनके गुणों का गान करती हुईं घर द्वार कुटुम्ब परिवार की सुधि भुलाकर कृष्ण-स्मृति में ही अपने समयका सदुपयोग करने लगीं। उन सबने परस्पर मिलजुल कर जो श्रीकृष्णगुणगान सम्बन्धी गीत गाये हैं, वे गोपीगीत के

नामसे प्रसिद्ध हैं। उन गीतोंका यत्किंचित् दिग्दर्शन मैं आगे कराऊँगा। आप सब उन मधुरातिमधुर गीतोंको प्रेमपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

सुधि बुधि तजि घर द्वार बारकी कृष्ण पुकारैं।
उत्कंठित अति भईं करुण स्वर नाम उचारैं॥
रूप सुमिरि घनश्याम हृदय पिघिले भरि आवे।
देह कँपी-कँपी उठे चित्त चंचल ह्वै जावे॥
करत प्रतीक्षा पुलिनमहँ, मिलि जुलि गावैं गीतकूँ।
साधनसिद्धा सखी सब, प्रकट करैं रस रीतिकूँ॥

गोपिका गीतकी प्रस्तावना

(९८४)

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावका-
स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३१ अ० १ श्लो०)

छप्पय

गावैं गोपी गीत जयति जय व्रजवनचन्दन।
व्रजजीवन सरवस्व नटवर नँदनन्दन ॥
कमल बदन हम जोहिं मधुकरी जीवन धारैं।
तिनहिं अदरशन वायु बिना बल्लभ! क्यों मारैं ॥
प्राणेश्वर तव दरश बिनु, प्रानहीन हम भईं सब।
खोजि थकीं दश दिशि दयित, देदू दया निधि दरश अब ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! श्रीकृष्ण विरहमे उनके गुणोका गान करती हुई गोपिकायें कह रही हैं—"हे दयित! आपके जन्म लेनेके कारण यह व्रजभूमि सबसे अधिक श्रेष्ठ है। इसीलिये लक्ष्मीजी यहाँ निरन्तर निवास करतीं हैं। हमारा जीवन एकमात्र आपके ही लिये है, हम आपको दशों दिशाओंमें खोज रही हैं। प्यारे! हमें दर्शन दो।"

जन्म लेते ही बच्चा गायनके साथ रोता है। गायन उसे कहते हैं, जिसे सुनकर सुहृदयोंका हृदय खिल उठे। रुदन उसे कहते हैं जिसे सुनकर मृदु हृदय हिल उठे, दयालु पुरुषों का हृदय पिघल उठे। सद्यःजात बच्चा प्रथम रुदन करता है। किन्तु उसका रुदन बेसुरा नहीं होता, बेसुरे शब्द से सुख नहीं होता सुखद रसकी उत्पत्ति नहीं होती। घृणाके भाव जागृत होते हैं। बालकके रुदनसे घरभरमें मोद छा जाता है सर्वत्र आनन्द प्रस्फुटित हो जाता है, इसीसे अनुमान लगाया जाता है। बाल्यरोदन सुस्वर है संगीत शास्त्रके अनुकूल है। इससे निष्कर्ष निकला जन्म लेते ही मनुष्य गाता है और रोता है। इसीलिये कहावत है "रोना और गाना किसे नहीं आता।"

जो महामूढ़ हैं, जड़ हैं तथा त्रिगुणातीत हैं, उनकी बात छोड़ दीजिये। उनकी गणना मानवोंमें नहीं की जाती। मानव की परिभाषा यही है, जो मोक्षके लिये साधन करे, अतः शास्त्रोंमें मनुष्यका एक नाम 'साधक' भी आता है। सभी साधक गाना और रोना जानते हैं। भगवान् भी दो ही साधनोंसे मिलते हैं, गाकर और रोकर। जो रोकर हृदयसे उनके नामका, उनके गुणों का गान करता है, उससे भगवान् दूर रह नहीं सकते। वे अश्रुओं से आर्द्र हुए करुणापूर्ण गायनके तन्तुसे बँधकर विवश होकर साधकके समीप चले आते हैं और उसे बाहुपाशमें बाँध लेते हैं इसीलिये भक्त दो ही काम करते हैं, उनके नाम और गुणोंका निरन्तर गान करते रहते हैं और रोते रहते हैं। रोने से हृदयका मल धुल जाता है, नेत्र निर्मल बन जाते हैं। गाने से वाणी पवित्र हो जाती है और पवित्र वाणीमें ही प्रभुका वास है।

जीव अत्यल्प है, प्रभु सर्वज्ञ हैं। प्रभु जैसी शिक्षा देंगे, जीव वही करेगा। जीवको भगवान्ने अपूर्ण बनाया है, अतः वह

अपूर्ण ब्रह्मकी ही कल्पना करेगा। जब वह उन्हींकी कृपासे पूर्ण ब्रह्मको पहिचान जायगा, तो उसकी अपूर्णता नष्ट हो जायगी वह भी पूर्ण बन जायगा, तो उसका जीव भाव नष्ट हो जायगा। अल्पज्ञ जीवकी सतत चेष्टा सर्वज्ञकी ओर बढ़ने की ही होती है, क्योंकि वह सर्वज्ञका अंश है। यदि उसमें अपूर्णता न होती तो साधनोंकी आवश्यकता ही क्या थी। तब वह प्रयत्न ही क्यों करता। नदियाँ अपूर्ण होने से ही समुद्रकी ओर दौड़ती हैं और उस महान्‌जलराशिको पाकर उसके हृदयसे हृदय सटाकर उससे मिलकर शांत हो जाती हैं चंचलता विहीन बन जाती हैं। जहाँ क्रिया है, वहाँ समझो अंश अंशीको पानेका प्रयत्न कर रहा है। अपने प्यारेकी ओर दौड रहा है। व्यग्रताके बिना शीघ्र प्राप्ति नहीं, शब्दके बिना आकर्षण नहीं। अतः श्याम गाकर निज जनों को अपनी ओर बुलाते हैं। समीप आने पर हृदयमें व्याकुलता उत्पन्न करके—प्रेम प्रदर्शित करके—अन्तर्हित हो जाते हैं। बस, फिर उनके गुणों को गाते रहो, उनका नाम लेकर चिल्लाते रहो रोते रहो यही साधन है, यही उसने अपनी ओर बुलाते समय शिक्षा दी है। रोओ गाओ। रोओ गाओ। गाओ अवश्य सूखे हृदयसे मत गाओ, नेत्रोंके अश्रुओंसे खींचकर हृदयको आर्द्र बनाकर गाओ। रमण करने करानेवाले राम मिल जायँगे। सब दुख दुरित दूर जायँगे। इसीलिये भक्तिमार्गमें गाना और रोना इन दोनोंकी ही प्रधानता है। इसीलिये कुछ ज्ञानाभिमानी महानुभाव कहा करते हैं, कि भक्तिमार्ग तो स्त्रियों का मार्ग है। वास्तवमें यह सत्य है। जिसे अपने पुरुषत्वका अभिमान है वह कभी भक्ति-मार्गमें अग्रसर हो ही नहीं सकता। पुरुष तो एक ही है नन्दनन्दन। और सब या तो स्त्री हैं या नपुंसक। हम सब मनके अधीन होकर व्यापार करते हैं। संस्कृत साहित्यमें

मन को नपुंसक लिंग ही माना जाता है। ब्रह्मको भी नपुंसक लिंग माना है। अवतारों में सबसे प्रथम पुरुषावतार है, जिसकी पुरुषसूक्तसे स्तुति की गई है। उसे प्राप्त करना ही जीवका एक मात्र ध्येय है। कुछ लोग कहते हैं बालक बनकर उसे पा सकते हैं। कोई कहते हैं अपने को उनकी पत्नी मानकर उन्हें पतिभाव मानकर भक्ति हो सकती है। इस वाद विवाद में हमें नहीं पड़ना है कौन सा मार्ग अच्छा है। दोनों में से जिसे जो रुचिकर हो। हमारा कहना इतना ही है; कि चाहे छोरा बनो या लुगाई। स्वर दोनों को ही मधुर बनाना होगा। मधुर स्वर बनाकर चाहे रोओ या हँसो। गान करो या ध्यान करो। वाणी में जब तक मधुरता न होगी तब तक प्यारा रीझेगा नहीं। वाणी आकर्षक या तो बालकों की होती है या स्त्रियोंकी। बच्चों के कंठकी गुठली जब तक नहीं बढ़ती तब तक उनकी वाणी कोमल रहती है। जहाँ वह बालक से बड़ा हुआ। बड़प्पन का भूत उसके सिर-पर चढ़ा तहाँ ही उसकी वाणी भारी हो जाती है, उसमें आकर्षण नहीं रहता। स्त्रियों के कंठों में कभी गुठली होती नहीं। इसीलिए उनका कंठ सदा मधुर और आकर्षक बना रहता है। अतः गायन तो स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। पुरुष चेष्टा करता है, किन्तु वह आकर्षण कहाँ ?

हाँ तो ज्ञान मार्ग में ध्यान और तृप्ति ये दो प्रधान साधन हैं। निरन्तर ध्येय के ध्यान में ध्याता लगा रहे और तीनों त्रिपुटियोंको एक करके सदा आत्मतृप्त बनकर स्थित रहे। इसी प्रकार भक्ति-मार्ग में गान और अतृप्ति दो प्रधान साधन हैं। निरन्तर अपने इष्ट के नाम गुणों का गान करता रहे और सदा प्रेम के लिये तड़पता रहे अतृप्त बना रहे।

भक्ति के शास्त्रों में अनेक भेद बताये गये हैं। यह बड़ी ही अपार जलराशि है। इसमें से जिसने जितनी भी लहर गिन लीं

उसने उन्हीं को अपना सिन्धु मान लिया किन्तु इस जलराशिकी थाह नहीं, गणना नहीं इयत्ता नहीं। सामान्यतया भक्ति के तीन भेद बताये हैं एक साधन भक्ति, दूसरी भावभक्ति तीसरी प्रेमा भक्ति। साधन भक्ति के दो भेद बताये हैं एक वैधी भक्ति दूसरी रागानुगा। वैधी भक्ति उसे कहते हैं जो शास्त्र में भक्ति का आदेश दिया गया है, विधि बताई गई है। उन वचनो पर विश्वास करके विधिविधान पूर्वक भक्ति करना। रागात्मिका भक्ति वह कहलाती है, जो भगवान् मे किसी सम्बन्ध से राग हो जाय। वह राग दो प्रकार से होता है एक तो काम भाव से जैसे कुब्जाका हुआ, दूसरा सम्बन्ध से जैसे देवकी, वसुदेव, नंद, यशोदा, कुन्ती तथा श्रीकृष्ण के अन्य सम्बन्धियों का हुआ। अतः रागात्मिका भक्तिके भी कामरूपा और सम्बन्ध रूपा दो भेद बताये हैं। यह तो सामान्यतया साधन भक्ति का परिचय हुआ।

दूसरी है भाव भक्ति। हृदय मे साधन के सम्बन्ध से स्वतः ही कैसे भी 'भाव' उत्पन्न हो जायँ मन मसोसता रहे, चित्त में उसी का भाव जम जाय यही भावभक्ति है। मन उसके भाव में भावित हो जाय। यह भाव साधन करते करते भी उदय हो जाता है, भगवान् तथा भगवद् भक्तों की कृपा से भी होता है, और सहसा किसी प्रभावशाली के दर्शनों से भी होजाता है उसके वचनों से भी होता है और कोई बिना दर्शन दिये, बिना आशीर्वाद दिये केवल हृदय से ही ऐसी कामना कर देते हैं कि वैसा भाव उत्पन्न हो जाता है। गोपिकाओं में बहुतों ने साधन करके प्राप्त किया था बहुत-सी नित्य परिकर की थीं, बहुतों ने भगवान्की आज्ञा से गोपकुलमें जन्म लिया था। किसी भीप्रकार से हो, उनके मन में कृष्ण हमारे प्रेष्ठ हैं, पति हैं यह भाव सुदृढ़ हो गया था। उन्हें वे अपना प्राणपति मानती थीं जब मन में भाव का अंकुर उत्पन्न होता है, तो संसारी विषयों से विरक्ति

आदि अनुभाव स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। जिनका कुछ दिग्दर्शन पीछे कराया गया है।

तीसरी प्रेमसंगता या प्रेम भक्ति है। भगवान्‌में कैसे भी ममत्व हो जाय प्रेम हो जाय भगवान् के बिना रहा ही न जाय। उसमें विधि निषेध का कुछ भान ही न रहे। श्रीकृष्ण हमारे हैं हम श्रीकृष्ण के हैं। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त संसार में और कुछ है ही नहीं। ये भेद कहने को तीन हैं वैसे जिस किसी प्रकार भी भगवान् के प्रति अनुराग हो जाय उसीका नाम भक्ति है। आचार्यों ने सामान्यतया ऐसा क्रम बताया है, कि पहिले अन्तःकरण में श्रद्धा होनी चाहिये। क्योंकि बिना श्रद्धा के लौकिक पारलौकिक कोई भी कार्य नहीं होता। जब हृदय में श्रद्धा होगी, तो साधुसंग-की इच्छा होगी। साधुओं का संग प्यारा लगने लगेगा। मनुष्य जैसे का संग करता है, वैसे ही गुण उसमें आ जाते हैं। जब श्रद्धावान् पुरुष देखता है, ये साधु सदा भजन में लगे रहते हैं, तो उसकी भजन करने की इच्छा होती है। भजन करने से संसारी अनर्थोंकी निवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। तब उसकी भजन में निष्ठा हो जाती है, रुचि बढ़ जाती है। निष्ठा पूर्वक भजन पूजन करते करते उसमें आसक्ति हो जाती है। फिर कोई कितना भी कहे भजन छोड़ने की इच्छा ही नहीं होती। तब भाव भक्ति की उत्पत्ति होती है। हृदय में भाव उत्पन्न होने से प्रेम बढ़ता है। प्रेमा भक्ति होती है। गोपिकायें प्रेमकी ध्वजा हैं। संसार में प्रेम भक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण व्रजाङ्गनायें ही हैं।

भावों के रसशास्त्र में अनेक भेद बताये हैं। जिन वस्तुओं के दर्शन श्रवण तथा स्पर्शन आदि से भाव उदय हों। रतिकी वृद्धि हो सामान्यतया उन्हें विभाव कहते हैं। उनके विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भाव ये भेद हैं। इनके द्वारा भगवान् में स्थाई भाव होता है। जिनके द्वारा रति सुख

अस्वादन हो उसे विभाव कहते हैं। उसके आलम्बन और उद्दीपन दो भेद बताये हैं। आलम्बन उसे कहते हैं जिसके द्वारा साक्षात् रति सुख प्राप्त हो जैसे श्रीकृष्ण हैं उनके भक्त हैं। श्रीकृष्ण ही रति सुख के प्रधान नायक हैं, वे ही भक्ति के एक मात्र आलम्बन हैं, वे सर्वगुणसम्पन्न हैं। उनका रूपमाधुर्य, वेणु-माधुर्य, लीलामाधुर्य ऐसा है जिसकी संसार में समता नहीं। वह हृदय को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। दूसरा विभाव है उद्दीपन। उद्दीपन उसे कहते हैं, जिसे देखकर प्यारे की याद आ जाय। जैसे भगवान् के कायिक, वाचिक तथा मानसिक गुण। गुण जैसे किशोरावस्था, अनुपम सौन्दर्य, तथा अत्यन्त सुकोमल सुन्दर स्वरूप, मोहनता, उनकी मनोहर रासादिकी चेष्टायें, दुष्टों का वध करना, उनके वस्त्राभूषण, वेणु शृङ्ग, वृन्दावन, तुलसी और भी जिन्हें देखकर भाव उद्दीपन हो वे सब उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। यह सामान्यतया विभावों की बातें हुईं।

अनुभाव उसे कहते हैं, जो चित्त के भाव बाहर क्रियाओं में प्रकट हो जायँ जैसे प्रेम में नाच उठना, कुछ का कुछ बक देना, हँसते-हँसते या रोते-रोते लोटपोट हो जाना, गीत गाना, चिल्ला उठना, अँगड़ाई लेना, हुङ्कार मारना। विभाव हृदय की अनुभव-की वस्तु है। वे ही भाव जब शरीर में प्रकट हो जायँ, उन्हीं भावों में भावित होकर चेष्टा करने लगें वे ही अनुभाव हैं। अब तक गोपिकायें श्रीकृष्ण के भाव में विभोर थीं। उनकी एक-एक बात को यादकर करके दुखी हो रहीं थीं। अब आकर वे अपने भावों को गीत बनाकर गाने लगीं यह उनकी अनुभावकी दशा है। तीसरा सात्विक भाव है। इसमें प्यारे की स्मृति में स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय, आदि अनेक चेष्टायें होती हैं। रस शास्त्रों में इन सबका बड़ा विस्तार से वर्णन है।

चौथा है व्यभिचारी भाव। प्यारेकी स्मृति में जो भावों का व्यभिचार होना है, शरीरमें मनमे जो विकारोंका होना है उन्हें ही व्यभिचारी भाव कहा गया है। इसके भी निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का आदि अनेक भेद बताये हैं।

स्थाई भाव उसे कहते है, जो किसी भी भाव के उदय होने पर न हटे, स्थाई बना रहे। जैसे श्रीकृष्ण विषयकि रति। चाहें जैसी दशा हो जाय, श्रीकृष्णप्रेम सदा बना रहेगा। इस रतिके शास्त्रकारोंने अनेक भेद बताये हैं। उस गहन वनमें प्रवेश करने का हमारा अभिप्राय नहीं है। हमें तो केवल इतना ही बताना है, कि श्रीकृष्ण प्रेममें पगली भई वे गोपिकायें अपने मनोगत भावोंको अनुभाव रूपमें—गीतों द्वारा—प्रकट करने लगीं। सर्वप्रथम उन्हें वृन्दावनकी उस रासस्थली को देखकर उद्दीपन हुआ अतः सर्वप्रथम वृन्दावन धामकी ही प्रशंसा करती हुई गोपियाँ गाने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकायें पुलिन में आकर प्यारेके गुणोंका गान करने लगीं। उनमेंसे एक श्यामसुन्दरको शून्यमें सम्बोधित करके कहने लगी—प्यारे! व्रजवल्लभ! तुम्हें यह व्रजभूमि अत्यन्त ही प्यारी है। क्यों न हो, व्रजके अतिरिक्त गोवर्धन पर्वत कहाँ है? जहाँ तुम रमणियोंके साथ रास रचते हो। ऐसी रासस्थली वृन्दावनके अतिरिक्त तीनों भुवनोंमे और कहाँ मिल सकती है? यह वृन्दावन भूमि का भूषण है, जगत् का मनोज्ञ मुकुट है। वृन्दावन धामके माहात्म्यको समझकर कमला कमलवनका परित्याग करके निरन्तर यहाँ निवास करती हैं। स्वभावसे चंचला होने पर भी यहाँ अचञ्चला होकर आपके मुख को जोहती रहती है। आप बहुवल्लभ हो, उसकी ओर देखते भी नहीं। फिर भी वह तुम्हारे पीछे सूतरीमें बँधी कबूतरीकी भाँति फुदकती फिरती है।

जब आप शेषशैयापर सुखसे शयन करते हैं, तब सापत्न्य भावसे रहित होकर यह आपके पैरोंको पलोटती रहती है किन्तु यहाँ व्रजमें तो इसे आपके पादस्पर्श करने का भी अवसर प्राप्त नहीं होता। यह आपका अनुक्षण अनुगमन संभव तया इस हेतुसे करती रहती है, कि चरणस्पर्श का सौभाग्य न भी हो, तो आपके चरणचिह्न से चिह्नित वृन्दावन की पावन रज मेरे अंगपर पड़ जाय। इसीलिये चंचला होनेपर भी कभी व्रजका परित्याग नहीं करती। लक्ष्मीजीको मद हो गया होगा कि मैं श्यामसुन्दरकी पत्नी हूँ, तुम ठहरे मदहारी इसीलिये तुम उससे न बोलते होगे। तुम्हें प्रसन्न करने, तुम्हारा कृपालाभ करने के लिये उसने निरन्तर व्रजवासका संकल्प कर लिया होगा। क्षेत्र सन्यास ले लिया होगा। तभी तो तुम्हें छोड़कर व्रजके बाहर पैर नहीं रहता। हमसे भी भूल हो गयी। हम भी आप सर्वस्वतन्त्र ईश्वरको अपने अधीन समझने लगीं। हमें आपकी प्राणप्रिया होने का गर्व हो गया। इसलिये आप छिप गये। हमारा अभिमान चकनाचूर हो गया। प्रभो! आप स्वामी हैं, स्वतन्त्र हैं, ईश्वर हैं। हम आपकी दासी हैं। चरणसेवका हैं, किंकरी हैं अधीना हैं। अन्तःपुरकी दासियोंकी सर्वत्र अव्याहतगति होती है। स्वामी उनसे संकोच नहीं करते, उनसे न छिपते हैं न कोई बात छिपाते हैं। निःसंकोच उन्हें दर्शन देते हैं, यथेच्छ आज्ञा देते हैं, दासी भी हम ऐसी वैसी नहीं उच्छिष्ट भोजिनी दासी हैं। तुम्हारी उपयुक्त वस्तु ही हमारा आहार है, उसे ही खाकर हम जीती हैं। तुम्हारे पीये पयको ही पान करके अपनी प्यास बुझाती हैं। हम भूखी प्यासी भटक रही हैं। अपने रूपामृतको पिलाकर—अधरामृत चखाकर—हम मृतकों को जिवालो। अपनी किंकरियोंको मरनेसे बचा लो। व्याधकी भाँति बीन बजाकर हिरनियोंकी भाँति रिझाकर हमें विष भरे बाणोंसे

आपने विद्ध कर दिया है। अब हम अधमरी-सी पड़ी हैं। न भली भाति मरी ही हैं न जीवित ही। हम व्याकुल बनी दशों दिशाओंमें भटक रही हैं, इस बाणको शरीरसे निकालनेकी प्रार्थना कर रही है। अपने दर्शन रूप अमृतको हमारे ऊपर उड़ेलकर हमें नीरोग बनाकर अपना लो। श्यामसुन्दर! हमें दासी न भी मानो तो हमारा एक तुमसे सम्बन्ध भी है।

एक सखीने पूछा—"तुम्हारा श्यामसुन्दरसे सम्बन्ध क्या है?"

वह बोली—"श्यामसुन्दरको व्रजभूमि अत्यन्त प्रिय है। उसी व्रजमें वास करनेवाली हम व्रजवासिनी व्रजाङ्गनायें हैं। प्यारेके सम्बन्धकी सभी वस्तुएँ प्यारी लगती हैं। उनके वस्त्रोंकी गन्धभी सुखकर होती है। व्रजभूमिके सम्बन्धसे ही हमें दर्शन दो। निर्दय होकर हमारा वध मत करो।

इसपर एक गोपी बोली—श्यामसुन्दर तो यहाँ हैं नहीं। उन्होंने किसी अस्त्रका भी प्रयोग नहीं किया? अंगोंमें घाव भी दिखाई नहीं देता। फिर तू बार बार वधका प्रयोग क्यों कर रही है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उस सखीकी बात सुनकर जो कह रही थी, वह तो मूर्छित-सी होकर अचेत बन गई। उसे तो शरीरकी सुधि ही न रही। उसके समीप ही बैठी दूसरी सखीने यह बात सुन ली। वह कुछ देरतक सखीके प्रश्नको सोचती रही, तदनंतर वह उत्तर देनेको प्रस्तुत हुई।

छप्पय

हमरे तन, मन, प्रान, कर्म सब तुम हित प्रियतम।
तव प्रसन्नता हेतु करें धारन जीवन हम॥
जिन नयननि तव रूप लख्यो पुनि और न भावैं।
सुने श्रवण तव वचन अन्य पटतर नहिं आवैं॥
नस्यो प्रियतमा प्रेयसी, को मद अब दासी भईं।
आओ, दरशन देउ अब, बन बन ढूँढ़त थकि गईं॥

श्रीकृष्ण कटाक्ष बाण

[९८५]

शरदुदाशये साधुजातसत्,
सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽसुल्कदासिका,
वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३१, अ० २ श्लो०)

छप्पय

वनितनि बन्धन करन बधिकको बेष बनायो ।
सुन्दर कोमल मृदुल रूपको जाल बिछायो ॥
मोहकता कण फेंकि मधुर स्वर बेनु बजावें ।
गाइ सुखद संगीत मृगिनि सम नारि फँसावें ॥
भ्रुकुटि धनुष विष बुझे सर, सैन नैन सरसाइकें ।
तकि मारे घायल करें—निरखें सतत सिहाइकें ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें गीतगाती हुई कह रहीं हैं—"हे सुरतनाथ ! हम आपकी बिना मोलकी क्रीत दासियाँ हैं । आप अपने शरद कालीन सरोवरमें समुत्पन्न सुन्दर सरसिजोंके मध्य भागकी शोभाको भी हरनेवाले नयनोंकी चोटसे मार गये हैं । हे वर-देनेवाले ! हम तुमसे पूछतीं हैं, क्या यह वध करना नहीं है ?

वध दो प्रकारसे होता है एक तो विषसे, जलसे, अग्निसे तथा शस्त्रादिसे दूसरा वध चेष्टा आदिसे होता है ऐसी-ऐसी औषधियाँ हैं, कि विषसे मरे आदमी उनसे जी सकते हैं। कश्यप नामके मुनिने तक्षक द्वारा जलाकर भस्म किये वट वृक्षको पुनः हरा भरा कर दिया था। शस्त्रसे आदमी मर ही जाय सो बात नहीं। शस्त्र लगने पर भी आदमी नहीं मरते, केवल घाव हो जाता है, कुछ दिनोंमें घाव पुर जाता है, किन्तु किसी प्यारेका कटाक्षबाण हृदयमें चुभ जाय, तो उसका घाव असाध्य हो जाता है, वह बाण प्राणोंके ही साथ निकलता है। उसकी पीड़ा निरंतर बनी रहती है। इसीका नाम अशस्त्र वध है। नीतिकारों ने तीन बातोंको अशस्त्र वध बताया है। गुरुजनोंका "तू" कहकर अपमान करना उनका अशस्त्र वध है। राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करना और पत्नीको शैयासे पृथक् कर देना ये भी अशस्त्र वध कहाते हैं। किन्तु हमारी दृष्टिमें ये भी अशस्त्र वध नहीं हैं इनकी भी चिकित्सा है।

महाभारत युद्धमें कर्णके बाणोंसे व्यथित होकर धर्मराजने अर्जुनके गांडीवको बुरा-भला कहा। अर्जुनकी प्रतिज्ञा थी, "जो मेरे गांडीवको कोसेगा उसका मैं वध कर डालूँगा।" प्रतिज्ञानुसार वे अपने बड़े भाईका सिर काटने चले। भगवान् वासुदेवने उन्हें रोका। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाकी बात कही। भगवान्ने कहा—"बड़ोंको तू कह देना, उनका अपमान कर देना उनका वध है। तुम धर्मराजका अपमान कर दो।" अर्जुनने वैसा ही किया। पीछे उन्हें अपने कर्म पर पश्चात्ताप हुआ। स्वयं आत्मघात करके मरनेको उद्यत हो गये। तब भगवान् ने इसका भी प्रायश्चित्त बताया 'तुम अपनी प्रशंसा अपने आप करो, यह तुम्हारी मृत्युके ही तुल्य है।' अर्जुनने यही किया दोनोंका मनोमालिन्य दूर हो गया। अशस्त्र वधका

भी प्रतीकार हो गया।

बहुतसे राजाओंकी प्रजाके लोगोंने आज्ञा उल्लंघनकी है, राजाओंने उन्हें बुलाकर उनके कष्टोंको दूर कर दिया है कुछ दिनोंमें मनोमालिन्य दूर हो गया। राजा-प्रजामें पुनः प्रेम भाव हो गया। अतः राजाकी आज्ञोल्लंघनकी भी चिकित्सा है।

गौतम मुनिने अपनी पत्नीके मानसिक व्यभिचारको देख कर उसे शैयासे ही पृथक् नहीं कर दिया था, पाषाणवत् बना दिया था। सहस्रों लक्षों वर्षों तक वह शिलाके समान पतिसे पृथक् होकर पड़ी रही किन्तु कौशल्यानन्दवर्धन जानकी जीवन अवधकुलमंडन भगवान् रामचन्द्रकी चरण धूलिके स्पर्शसे वह पुनः पावन बन गयी। महर्षि गौतमने उसे निष्पाप समझकर सहर्ष शैयाका अधिकार दिया, उन्हें पत्नी रूपमें स्वीकार किया। अतः शैयासे पृथक्की हुई मृतक सदृश पत्नी पुनः जिलाई जा सकती है, किन्तु काले कृष्णकी कटाक्ष चोटसे जो घायल हुई हैं उनकी चिकित्सा न आज तक हुई है, न है और न होगी। उन्हें तो जीवन भर तड़फना ही होगा।

श्रीकृष्ण मधुराति मधुर हैं। उनकी ऐश्वर्य माधुरी, लीला माधुरी, रूप माधुरी और वेणु माधुरी ये चारों अनुपमेय हैं। इनकी कहीं समता नहीं उपमा नहीं। उनकी एक-एक चेष्टाएँ मधुर हैं आकर्षक हैं उनका अङ्ग प्रत्यङ्ग सुरम्य है। अत्यन्त मनमोहक रुचिर और आकर्षक हैं। तेज, बल, दया, ऐश्वर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य इन सबसे वे परिपूर्ण हैं। उनकी वाणी मधुराति मधुर हैं। वे दक्ष हैं, कृतज्ञ हैं सुदृढ़व्रत हैं। चतुर हैं, विदग्ध हैं। शुचि हैं वशी हैं, शान्त हैं दान्त हैं। क्षमाशील, गम्भीर, धृतिमान सम, वदान्य, शूर करुण, साधु समाश्रय तथा नारीगण मनोहारी हैं। सारांश यह कि वे सर्वगुण सम्पन्न हैं। उनकी शोभा कोटि कन्दर्पोंसे भी बढ़कर है। उनका नाम ही

इतना आकर्षक है, कि किसी सहृदय पुरुषके सहसा कर्ण कुहरोंमें पड़ जाय, तो वह पागल हो जाय। उनकी बाँसुरीध्वनि इतनी मोहक है, कि उसकी स्वरलहरीमें जो पड़ा वह घर द्वार कुटुम्ब परिवार शून्य बना और जिसने उनका त्रिभुवन मोहन रूप निहार लिया, उसके लिये तो फिर कुछ पूछना ही नहीं, वह तो फिर निष्काम बन गया। उसके रोगकी कोई चिकित्सा नहीं कोई उपाय नहीं। असाध्य व्याधि है।

श्रीकृष्ण कटाक्षबाण स्वभाव से टेढ़े हैं। टेढ़े बाण घुस तो जाते हैं। किन्तु निकलते नहीं। विष बुझे होनेसे वे प्राणोंको लेकर ही निकलते हैं। लौकिक बाण कभी-कभी लक्ष्यभ्रष्ट भी हो जाते हैं, चूक जाते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण का कटाक्ष-बाण अचूक है,वह जिसके उद्देश्य से चलाया जाता है, उसे वेधकरही मानता है। व्यर्थ तो कभी होता ही नहीं। श्रीकृष्णके मुखको कोई चन्द्रकी उपमा देते हैं, कोई कमल की। लौकिक दृष्टि वाले और उपमा कहाँ से लावेंगे। किन्तु वह मुख अनुपमेय है, इतनाही कहा जा सकता है वह सुन्दराति सुन्दर है। मनोज्ञ है, आकर्षक है। श्रीकृष्णका अनुपम आनन कभी म्लान नहीं होता वह सदा मंद-मंद मुसकानसे आवृत रहता है। यदि प्यारीजीके विरहमें कभी म्लान-सा भी दिखाई देता है, तो वह और भी आकर्षक बन जाता है। नहीं तो वह स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसितसे युक्त ही बना रहता है। स्मित कहते हैं मुसकानेको। मुसकानमें यह होता है नेत्र विकसित हो जाते हैं उनमें अनुराग छा जाता है, कपोल तनिक उठ जाते हैं। दाँत दिखाई नहीं देते। इस मुसकानमें ऐसा जादू है कि अच्छे अच्छे धैर्यवालों का धैर्य छूट जाता है। मुसकान सीधी हृदयपर चोट करती है। हसित उसे कहते हैं जिसमें नेत्र कपोल विकासके साथ दाँतोंका अग्रभाग कुछ दीख जाय। विहसित उसका नाम है नेत्रोंमें अनुराग छा

कपोल पीछे की ओर सिकुड़ जायँ दाँत पूरे दीख जायँ और नासिकासे तथा मुखसे वेगसे स्वांस और अस्फुट शब्द निकल पड़ें। अवहसित वह हँसी कहलाती है जिसमें नाकके दोनों नथुने फुल जायँ नेत्र बन्द हो जायँ और स्पष्ट शब्द हों।'अपहसित उसे कहते हैं नथुने फुल जायँ, नेत्र बन्द हो जायँ आँखोंमें आँसू आ जायँ, सिर कंधा हिलने लगे। मुख खुल जाय। अतिहसित उस हँसी का नाम है जिसमें हँसनेवाला अपने शरीरके वेगोंको रोक न सके। स्वतः ही दोनों हाथों की ताली बज जाय नासापुट संकुचित हो जायँ, मुख फट जाय अंग क्षतविक्षत हो जायँ। हँसते हँसते लोटते पोट हो जायँ। बार-बार दीर्घ श्वास लेने लगे। हँसी रुके ही नहीं। इसीका नाम अतिहसित है। ये सब हसित अत्यंत प्रेममें हँसीकी बातों में प्रियजनों की गोष्ठीमें होते हैं। इन सब गोपिकाओंने क्रीड़ामें युवतियोंके साथ एकान्तमें ये सब हँसीकी चेष्टायें देखी हैं। श्यामसुन्दरके नेत्र स्वाभाविक ही विशाल हैं चंचल हैं, किन्तु जब वे स्मित और हास्यकेकारण विकसित हो जाते हैं,तो इतने आकर्षक बन जाते हैं कि फिर उन्हें कोई भुलाना भी चाहे तो नहीं भूलते। जब वे अन्तर्हित हो जाते हैं— छिप जाते हैं, नेत्रोंके सम्मुखसे हट जाते हैं, तो बड़े-बड़े विशाल काली-कली टेढ़ी भौहोंसे युक्त तथा कुटिल कटाक्षों से भरे हुए नयन याद आते हैं। तब हृदयमें हूक-सी पैदाकरते हैं। उस समय विचित्र दशा हो जाती है। उसे न मृत्यु ही कह सकते हैं न जीवन ही। बीच की अर्ध मृतक अवस्था बन जाती है, जैसे विष बुझे बाणसे घायल हुई हरिनी इधर उधर तड़पती हुई दौड़ती है और अन्त में थककर गिर जाती है, वही दशा श्रीकृष्णके अन्तर्हित होने पर उन विरहिणी व्रजाङ्गनाओं की हुई थी। वे श्रीकृष्णकी एक-एक चेष्टाओंकोस्मरण कर करके शून्य मे उन्हें सुना रही हैं। मानों हृदयस्थ हृदयेश्वरको ही वे उपालम्भ दे रही हों।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! गोपिकायें श्रीकृष्णके दिखाई न देने पर भी उनसे कह रही हैं—"हे प्यारे ! तुम सुरत सुखके स्वामी हो। तुमसे हमें जो सुरत सुख प्राप्त हुआ है वह संसार में अन्य कहाँ मिल सकता है ? तुम देखनेमें तो बड़े भोले-भाले सीधे सादेसे लगते हो, किन्तु हो बड़े खोटे। बड़े काइयाँ हो, छिपे हुए बधिक हो। बधिकका बाण कभी व्यर्थ भी हो जाता है किन्तु तुमतो लक्ष्य भेदी हो। जहाँ बाण मार देते हो फिर उसे निकालना सीखे ही नहीं। विशेषकर तुम्हारी शूरवीरता इन अबलाओं परही चलती है। निर्बलोंका मारना उन्हें घायल करना भला यह कोई अच्छी बात है ? तुम कहोगे—मैं वध कहाँ करता हूँ ? मेरे पास न कोई अस्त्र है न शस्त्र है। न जाल है न अन्न कण है।" सो इस बातको तो हमही जानती हैं, तुम साधारण बधिक नहीं, विचित्र बहेलिया हो, तुम्हारी वस्तुएँभी सभी विचित्र हैं। तुमने सुन्दरता, कोमलता, मृदुता, सरलता तथा वशिता आदि तन्तुओंसे एक सुदृढ़ जाल बिछाया है। उसे अपने आनन रूप अरण्यमें तान दिया है। उसमें मोहकतासे भरे मंद मंद मुसकान रूप अन्नकण बखेर दिये हैं और आप भौंहें रूपी धनुष पर कटाक्ष रूप बाणोंको साधे हम हरिनी रूपी ब्रजाङ्गनाओं पर चोटें करने के निमित्त कदम्बकी ओट से मोहक मुरली बजाते हैं। काम वर्धक तान छेड़ते हैं। हम अपने गृह कार्योंमें व्यग्र हुई उस ध्वनिको सुनकर उसके आकर्षण से अवश हुई खिंची चली आती हैं। कोईतो धन देकर दासी खरीदी जाती है, तुम तो लोभी और स्वार्थी दोनोंही हो। न एक छदाम मूल्य देते हो न किसी का दुःखही देखते हो, कटाक्षोंकी चोट मारकर घायल कर लेतेहो और बिना मोलकी दासी बना लेते हो। अच्छा यही सही। से बनें या अनिच्छासे तुम्हारी बिनामोलकी क्रीतदा हम बनही गयीं। अब घरबारके काम की तो हम रही

अबतो तुमने हमें विवश बना लिया। हमारा जो भी कुछ धर्म कर्म रूपी धन था, उसकाभी तुम चोर शिखामणिने अपहरण कर लिया। यहाँ तक कि लज्जाके निवारणार्थ हमारे वस्त्र थे उनको भी तुमने चुरा लिया। सब प्रकार से असहाय बनाकर हमें यहाँ एकान्तमें बुलाकर छोड़ दिया। क्या यह बिना शस्त्रके हम अबलाओंका वध नहीं है? क्या यह तुम्हारा अन्याय नहीं है? प्यारे! कैसाभी स्वार्थी हो अबलाओंपर तो वह भी दया करता है। चोर डाकू हत्यारेभी अपनी प्रियाओंको हृदयसे लगाते है, उन्हें प्यार करते हैं। हम तुमसे और कुछ नहीं चाहती। तुमने हमारा सर्वस्व अपहरण किया अच्छाही किया, हमें घर बार विहीन बनाकर वनमें अपने चरणों के निकट बुला लिया यह भी अच्छाही किया। किन्तु कुछ तो दया करो। इतना निरपराध स्त्रियोंके वधका जो तुम्हें पाप लगा है, उसका कुछ भी तो प्रायश्चित्त करो। हम जलके बिना जैसे मछली तड़फड़ाती है, वैसे तड़प रही हैं, बिलबिला रही हैं। अपने दर्शन रूप जलसे हमारे अंगोंको सिंचन करके हमें जीवन दान दो, तुम्हें बड़ा भारी पुण्य होगा। सब पापों से तुम छूट जाओगे। यदि दर्शन रूप अमृत पिलाकर इतनी मरती हुई अबलाओंको तुम बचालोगे, तो तुम अक्षय पुण्यके भागी बनोगे। श्याम-सुन्दर आओ आओ। आजाओ प्यारे! बहुत हो चुका अब अधिक विकल न बनाओ। यदि तुम्हें हमें मारना ही अभीष्ट था, तो पहिले तुमने हमें क्यों बचाया? हमें तो देव की ही ओरसे कई बार मृत्युका सन्देह मिल चुका था। मृत्यु के हम मुखमें ही चली गयीं थीं। आपने ही दौड़कर हमें मृत्युके मुख से बचा लिया था। हमें मरने नहीं दिया था। जब दूसरेके द्वारा मारे जाने पर तुमने हमारी रक्षा की तो अब तुम स्वयं ही हमारा वध क्यों कर रहे हो? क्यों हमें बिलखा रहे हो। प्यारे अब बहुत हो

गया। अब देरी करनेसे अनर्थ हो जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार गीत गाकर जब यह गोपी चुप हो गयी, तो श्रीकृष्णने कहाँ-कहाँ हमारी रक्षाकी, इस बातके स्मरण आते ही एक अन्य गोपी गोविन्दके गुणोंका गान करने लगी। उसके भी गीतको आप दत्त चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

कायर काटी कुटिल कामिनीघातक कारे।
तीखे बान कटाक्ष ताकि अबलनिमहँ मारे॥
घायल सिसकति फिरहिँ बान तनतैं न निकारें।
छलिया छिपिकैं हँसत न आओ सतत पुकारें॥
दरश सुधा हित दयित हम, दुःख दुसह दारुण सहे।
बिना मोलकी किंकरी, कृष्ण कृष्ण कबतैं कहें॥

हे रक्षक ? रक्षा करो

[९८६]

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसात्,
वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयाद्,
ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३१ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

वध करनो ही हतो हमें ज्यों प्रथम बचायो ।
ज्यों असुरनिकूँ मारि सबनिको दुःख छुड़ायो ॥
कुपित इन्द्रने उपल प्रलयके घन बरसाये ।
ज्यों गोवर्धन धारि नाथ हम सकल बचाये ॥
ज्यों दावानल पान करि, कालिय दहपै दुख हर्‌यो ।
ज्यों अजगरके मुख घुसे, ज्यों वत्सासुर वध कर्‌यो ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन् ! गोविन्दके गुणोंके गीत गाती हुई गोपिकायें कह रही हैं—"हे नर श्रेष्ठ ! आपने-हमारी विषैले जलसे अजगरसे, अघासुरसे, आँधी, वर्षा, बिजली, दावानल, वत्सासुर तथा मयात्मज व्योमासुरसे तथा अन्य अनेक प्रकारके संकटोंसे आनेवाली मृत्युसे हमारी रक्षाकी है ।

अपने प्रेमको प्रदर्शित करनेके अनेक उपाय हैं। हृदयके भीतर प्रेम छिपा हो, फिर मुखसे चाहे जो कहो सब प्रेम ही मिश्रित होगा। बाहर चाहे लू चल रही हो, वायु चाहें जितनी उष्ण हो, पंखेके नीचे बरफकी सिल्ली रखी हो, तो गरम वायु शीतल ही बहेगी। उष्ण ऋतुमें भी जाड़ा लगने लगेगा। इसी प्रकार भीतर प्रेम भरा हो और मुखसे कठोर वचन भी बोले जायँ तो हृदयको और पिघलाते हैं, प्रेमकी वृद्धि करते हैं। जिस वस्तुका प्रेमके साथ संस्पर्श हो जायगा वह सुस्वद् हो जायगी, सरस हो जायगी मनोज्ञ हो जायगी और हो जायगी अत्यन्त आकर्षक हृदय हारिणी तथा अनुराग विवर्धिनी।

प्रेमहीन हृदयसे किसीको उपालम्भ—उलाहना—दो,तो सदाके लिये उससे वैर भाव हो जायगा, किन्तु वही उपालम्भ प्रेम भरित हृदयसे दो, तो उसमें कितनी मिठास आ जाती है। क्रोधमें भरकर किसीसे कहें—"जाओ ! तुमसे हमारा क्या प्रयोजन ! तुम हमारे होते कौन हो ?" तो स्वाभिमानी पुरुष ऐसा कहने वालेका जीवन भर मुख न देखना चाहेगा, किन्तु ये ही ज्योंके त्यों वाक्य प्रेम भरित हृदयसे अपने प्रगाढ़तम स्नेहीसे कहे जायँ, तो उसके हृदयमें कितना अधिक ममत्व उत्पन्न हो जायगा। वह जानेवाला भी होगा, तो इन ममता भरे उपालम्भ वचनोंको सुनकर न जायगा। अतः प्रेममें अपने प्रेमीको खरी खोटी सुनाना—उसे उपालम्भ देना—यह भी प्रेमकी अभिवृद्धिमें प्रधान हेतु माना जाता है। प्रेममें भी जबतक सदा शिष्टाचारका ही ध्यान रखाजाता है तबतक वह निर्मुक्त नहीं। जहाँ सर्वत्र शिष्टाचारकी आवश्यकता प्रतीत न हो खरी, खोटी, भली बुरी, टेढ़ी सीधी जैसी चाहें तैसी एकान्तमें उनसे बातें कहलें समझो वहाँ निर्मुक्त प्रेम है। गोपिकायेंश्रीकृष्णके अपार प्रेमको पाकर उनके मुँह लग गयीं थीं। उन्हें उनसे कुछभी

कहनेमें संकोच नहीं होता था। भगवान् ब्रह्मादि देवोंकी वेदस्तुतियों से उतने प्रसन्न नहीं होते, जितने अपनी प्रेयसियोंके मुखसे छली, कपटी, कितव, धूर्त, कारे तथा औरभी ऐसेही ममत्वपूर्ण शब्दोंको सुनकर सुखी होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन सब गोपिकाओंमें से कोई कोई शून्यमें श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कह रही हैं—"श्याम सुन्दर! सुना है तुम सबमें श्रेष्ठ हो। श्रेष्ठ पुरुषोंका काम यही है, कि दीनों पर दया करना, दुःखियोंके दुःखोंको हटाना, पीड़ित पुरुषोंको पीड़ासे बचाना। आर्तोंका आर्तको हरना, सदा परोपकारमें निरत रहना। किन्तु तुम इसके विपरीत आचरण कर रहे हो। हमें स्वयंही पीड़ा पहुँचा रहे हो। अदर्शन रूप अस्त्रसे हमें घुला घुलाकर मार रहे हो। कटाक्ष बाणोंसे घायल करके तुम छिपकर हँस रहे हो। हम तड़प रही हैं, रो रही हैं। तुम हँस रहे हो, प्रसन्न हो रहे हो। बड़े निर्दयी हो तुम, तुम्हारे हृदयमें तनिकभी दया नहीं। तुमनेही हमारे हृदयमें कामकी चिनगारी डालकर स्नेहकी फूँक मारकर उसे सुलगा दिया है और अब बड़े विरक्त बन गये हो। पहले तो तुमने प्रेम बेलको अपने प्यारे प्यारे मधुर वचनामृतों से उसे सींचा, जब यह बेलि पल्लवित और पुष्पित हुई, तो श्यामघन बनकर अमृतके स्थानमें उनपर उपलकी वर्षा कर रहे हो उसपर तुषारपात कर रहे हो। उसे तुम्हें नष्टही करना है, तो उसकी जड़को काटदो ऐसे पाला डालकर उसे झुलसा क्यों रहे हो? जब तुम्हें उसे जड़मूलसे काटनाही अभीष्ट था, तो उसे पहिले बढ़ायाही क्यों? क्यों अमृत घोलोंसे स्वयं उसे अपने हाथोंसे सींचा? क्यों उसकी आलवाल बनाकर सब भाँतिसे रक्षाकी। रक्षा करके जब उसके फलने फूलनेका अवसर आयातो उसमें विषकी वर्षा दे रहे हो। मूषकके द्वारा उसकी जड़ोंमें विषको पहुँचा रहे हो। क्या यही

साधुता है। सज्जन पुरुष तो अपने हाथसे लगाये हुए विष वृक्षको भी स्वयं नहीं काटते, तुमने हमें बड़े दुःखोंसे पहले दयाकरके बचाया है, मृत्यु के मुखमें घुसकर हमारा रक्षाका है। एकबार नहीं अनेकों बार हम समस्त व्रजवासी मृत्युके मुख में चले गये थे, किन्तु आप हमें हठ पूर्वक अपने बलपुरुषार्थसे निकाल लाये।'

कालियहृदमें महाविषधर कालियनाग रहता था, उसने वृन्दावनके समीपकी समस्त यमुनाका विषयुक्त बना रखा था। भूलसे गौओंने उस हृद्का जल पानकर लिया। तुमभी उस हृद्में घुस गये। कालियने तुम्हारे श्री अंगका अपने अंगसे लपेट लिया था। सुनते ही हम सब वहाँ दौड़ा आईं तुम्हारी ऐसी दशा देखकर हम सबभी उस हृद्में डूबना चाहती थीं, हम सब उसी समय प्राण गँवा रही थीं, किन्तु आपने उस नागको नाथकर नीरसे निकाल दिया। उसे व्रजसे बाहर भगा दिया। आपको हमें मारना ही अभीष्ट था, तो उसी समय हमें मरने क्यों नहीं दिया। हम उस विषैले जलमें डूबकर जब मर जातीं, तब तुम निकलकर सुखकी वंशी बजाते। हमारी हत्या तुम्हें अपने हाँथों भी न करनी पड़ती। हम स्वतः ही मर जातीं, तुम पापसे भी बच जाते। बाण कटाक्ष मारकर घायल करके तुम अदर्शन रूप विष उस घावपर छिड़क रहे हो। विरह रूप विषैली औषधिकी वर्त्ति देकर सूईमें घावसे सम्बन्धित रक्त वाहिनी नसोंमें उस विषैली वस्तुको पहुँचा रहे हो। क्या ऐसा आचरण तुम्हारे अनुरूप है। स्वयं विषैले जलमें डूबकर हम मर रहीं थीं, तबतो हमें बचा लिया अब स्वयंही विष पिला रहे हो। तड़फा तड़फा कर मार रहे हो?

दुष्ट राक्षस अघासुर अजगर बनकर बनमें आगया हमारे भाई, भतीजे, पुत्र, देवर अन्य सम्बन्धी बालक

अजगरके मुखमें घुसकर बछड़ों सहित विषकी ज्वालासे मर गये थे। वे सब मर जाते तो हम सब भी उनके विरहमें तड़पकर मर जातीं, उस समय तुम स्वयं उस मृत्यु रूप अजगरके मुखमें घुस गये और उनसब प्यारे बालकोंको बचालाये। उस समय तुमने हमारे प्राणोंकी रक्षा क्या सोचकर की। मरजाने देते हम सबको,तुम्हें जब एकान्त ही प्रिय है,हमसे घृणा है तो इस चौरासी कोशके व्रजमें तुम अकेले कदंब पर चढ़कर सुखकी वंशी बजाते, हमारी विपत्तियोंसे अब तक रक्षा किस हेतु करते रहे? तुम्हें विरक्तही बनना था, तो हमारे साथ पहिलेसे इतनी अनुरक्ति क्यों बढ़ाई? यह तो वधिकोंका काम है,कि पहिलेतो मेढ़ा को खिला पिलाकर मोटा बनाते हैं, जब वह बढ़कर मोटा हो जाता है, तो सहसा एक दिन उसके कंठपर छुरी चला देते हैं उसका वधकर देते हैं। ऐसा मत करो व्रजरक्षक! अब तक तुमने हमारी रक्षाकी है तो अबभी करो, हमें दर्शन देकर कृतार्थ करो।

एक बार नहीं अनेकों बार हम सब तो मृत्युके मुखमें पहुँच चुकी थीं। वार्षिकी पूजा न करने पर मेघोंके राजा इन्द्र हम सब व्रजवासियों पर कुपित हुए। वे हमारा सर्वनाश करनेपर उतारू हो गये। वे गोप, गोपी, ग्वालबाल, बछड़े तथा समस्त गौओंका सर्वनाशका संकल्प कर चुके थे। उन्होंने प्रलय करनेवाले सांवर्तक नामक भयंकर मेघोंको आज्ञा भी दे दी थी। उन मेघोंने प्रलयङ्कारी वर्षाकी, व्रजमंडलका संहार करनेके लिये बिजली तड़तड़ाने लगी। पवन बड़े वेगसे बहने लगा। आँधीके कारण बड़े-बड़े वृक्ष उखड़ने लगे। हमारे शकटों में जल भर गया। हम सब मृत्युकी अन्तिम घड़ियोंको गिन रही थीं। मरनेके लिये कटिबद्ध थीं, उस समय आपने उँगली पर गोवर्धन धारण करके वर्षा, आँधी और बिजलीसे हमारी रक्षाकी। हमें इन्द्रके कोपसे बचा लिया। सात दिनों तक आप गोवर्धनको बिना विश्रामके

धारण किये रहे। यदि तुम्हें हमें मारना ही था, तो उस समय इतना कष्ट सहने की आवश्यकता ही क्या थी ? हमसे यदि तुम्हें घृणा ही थी, तो उसी समय मर जाने देते। तुम्हारा तो इन्द्र बाल भी बाँका नहीं कर सकता था। तुम तो सर्वेश्वर हो, निर्गुण, निराकार, निरीह निर्लेप और अद्वितीय हो। तुम्हें एकाकी ही रमण करना था, तो हम रमणियोंकी रक्षा आपने क्यों की ?

एक नहीं अनेक असुर आये। उन सबका संकल्प यही था, कि हम व्रजवासियों को मार देगें। वे नाना रूप रखकर आते थे कोई भमूड़ा बनके, कोई वत्स बनके, कोई अजगर बनके, कोई गदहा बनके इस प्रकार वत्सासुर, अघासुर व्योमासुर और न जाने कौन-कौन से असुर आये। सभी को आपने मारकर व्रजकी रक्षा की हमें जीवन दान दिया। क्यों तुमने ऐसा किया ? क्यों हमें सिर पर चढ़ाकर अब पत्थर पर पटक रहे हो ? क्यों हमें स्वर्ग सुख दिखा कर नरक की यातना दे रहे हो ? यदि तुमने दया वश हमारी रक्षाकी, तो अब वह रांड़ दया कहाँ भाग गयी? क्या वह दया सती नहीं थी, कोई इधर उधर की मन चली रखली थी, जो तुम्हारे हृदय मन्दिर से निकल कर भाग गयी ? यदि अब तुम दयाहीन हो गये हो, तो जैसे असुरों का तुमने वध किया है, वैसे ही हमारा भी वध कर दो। हमारे प्राणों को लेलो, हमें सर्वथा मृतक बना दो। मरजीवाकी स्थिति क्यों बना रखी है। इस समय न हम मृतक ही हैं न जीवित ही। बार बार हमारी रक्षाकी है, तो एक बार और भी रक्षा करो। तुममें सामर्थ न हो सो भी बात नहीं। तुम साधारण गोप ही हो, सो भी बात नहीं। तुम गोप होने पर भी विश्वपति हो।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रकार गोपिकायें भगवान् के उपकारों को स्मरण कर करके वे उनके पूर्व कृत्यों के प्रति कृतज्ञता

प्रकट करती हुईं भाँति-भाँति के उपालम्भ देने लगीं। वे भगवान् को गोपकुमार ही नहीं समझती थीं। उनकी दृढ़ धारणा थी, ये अखिल विश्वपति सर्वेश्वर सच्चिदानन्दघन हैं।

छप्पय

बार बार ज्यौं विपति उदधितैं नाथ बचाईं।
ज्यौं नटवर कर पकरि रासमहँ विहँसि नचाईं॥
ज्यौं कुंकुम मुख मल्यो प्रेम को खेला खेल्यो।
ज्यौं गोदी सिर धारि अमृत मुखमाँहि उड़ेल्यो॥
ज्यौं सरसायो नेह अति, दीठ बनाई ज्यौं हमें।
अब दरशन बिनु देउ दुख, लाज न लागति ज्यौं तुमें॥

हे सर्वसाक्षी हमारी विनय सुनो

[९८७]

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्,
अखिलदेहिनामन्तरात्वदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये,
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ।

(श्री भा० १० स्क० ३१ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

नहिं नभमहँ हम कहें सुनो तुम सब कछु स्वामी ।
यशुमति सुतही नहीं आपु तो अन्तरयामी ॥
अबला हम अति दुखित आप चाहे मत मानो ।
अधिक कहा हम कहें आप घट घटकी जानो ॥
जानि हमारो हृदय दुख, दै दरशन जग यश लहो ।
जड़ चेतन जग जीव जे, तुम सबके हियमहँ रहो ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें कह रही हैं—"हे सखे ! यह बाततो निश्चितही है, कि आप केवल यशुमति नन्दन ही नहीं हैं, अपितु अखिल देहियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं । सम्पूर्ण संसारकी रक्षाके निमित्त ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर आपने सात्वतकुलमें अवतार धारण किया है ।

प्रेम वस्तु एक है दो नहीं। भगवान सर्वत्र एक हैं उनमें द्वैतकी गंध नहीं। जीव उन्हीं एकको चाहता है अन्यको नहीं। किन्तु तनिक-सी भूलहो गई। जिसकी ओर उसका स्वाभाविक झुकाव होता है, उसे भगवान नहीं समझता। इसीलिये प्रेम करके भी दुःख पाता है, अशान्त रहता है, व्याकुल बना रहता है। चिन्ता उसे घेरे रहती है। नहींतो कितनी भी ठंड क्यों न हो, अग्नि के समीप जातेही ठंड भाग जायगी। जीवका जहाँभी आकर्षण हो, जिसमें भी उसकी निष्ठा हो जाय, उसे ही भगवान का रूप समझ ले तो उसका बेड़ा पार है। हम लोग विषयोंके लोभसे आकर्षित होकर सुखके लिये दौड़ते हैं, किन्तु संसारी विषयोंमें सुख कहाँ, वे तो दुःखके आलय हैं। उनसे शांति न मिलकर और अधिक अशांति बढ़ेगी। हम प्रेम करें, तो किसी सीमितमें न करें। निःसीमसे प्रेम करें। व्यष्टिमें न करें, समष्टि में करें। एकको देखने वालेसे न करें, सर्वद्रष्टासे करें, तो हमारा वह प्रेम प्रेम है, नहींतो कामवासना है, व्यभिचार है। वही काम भाव यदि कृष्णमें हो जाय, तो उसीकी प्रेम संज्ञा हो जाती है। इसीलिये गोपियोंके सम्बन्धमें जहाँभी काम शब्द आवे, वहाँ उसे विशुद्ध प्रेमके ही अर्थमें समझना चाहिये। श्रीकृष्णके प्रति होनेवाले गोपियोंके प्रेमको काम कहनेकी परिपाटी पहिलेसे ही पड़गयी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकायें कह रही हैं—श्यामसुन्दर! यदि हम तुम्हें सांसारिक जार पुरुष समझकर तुमसे प्रेम करतीं, तो हमारा यह व्यभिचार था, निन्दनीय कार्य था। हम यदि तुम्हें किसी एक माताका पुत्र समझतीं, अविद्योपाधिक एक जीव समझकर चाहतीं, तो यह दोष था। यद्यपि आप नन्दनन्दन कहाते हैं, अपने को यशुमतितनय बताते हैं और आप हैं भी। इस बातको हम अस्वीकार नहीं करतीं कि

आप गोपिकानन्दन नहीं हैं। अवश्य हैं, किन्तु गोपिका नन्द ही नहीं हैं। सबको आनन्द देने वाले हैं आपका आनन्द सीमित न होकर निस्सीम है। संकुचित न होकर विशाल है। आप किसी व्यष्टि क्षेत्रके ही साक्षी नहीं हैं, किन्तु समस्त देह धारी चर अचर प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें समानस्वरूपसे साक्षी होकर वास करते हैं। आपका कोई एक मूर्तरूप नहीं। सभी आपके ही रूप हैं।

यह जो आपका त्रिभंग ललित, मोर मुकुट धारी, वनमाली स्वरूप है यह भी सत्य है। यह भी अविद्या, माया तथा प्रकृतिसे परे है। निर्गुणसे आप सगुण बन गये हैं। अमूर्त भी तुम्हारा ही रूप है, मूर्त होने पर भी उसमें कोई दोष नहीं आता, वह ज्योंका त्यों निर्लेप निर्विकार, सर्वसद्गुणाश्रय बना रहता है।

जब लोकमें विप्लव हो गया था, तब कमलासन ब्रह्माके समीप सभी देवगण गये और उनसे सब अपना दुःखनिवेदन किया। ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—"देखो भाई, तुम जो मुझे इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका—चतुर्दश भुवनोंका—एक मात्र अधीश्वर समझते हो, यह तुम्हारा भ्रम है। मैं भी स्वतन्त्र नहीं। मैं भी किसी की प्रेरणासे किसी के संकेतसे कार्य करता हूँ। तुम्हारा दुखड़ा मैं उनके सम्मुख निवेदन कर दूँगा, वे जो चाहें सो करें। तुम भी चलो मेरे साथ।" यों कहकर ब्रह्माजी सबको लेकर क्षारसागरके तटपर गये, किन्तु वहाँ स्वच्छ धवल दुग्ध के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं दिया। मनुष्य हों, देवता हों, लोकपाल हों चाहें साक्षात् ब्रह्माण्ड नायक ब्रह्माजी ही क्यों न हों, कोई तुम्हें इन चर्मचक्षुओं से नहीं देख सकता है। हमारे ही चक्षुओंको आपने ऐसा बना दिया है, कि उसमें यह रूप निरन्तर बसा रहता है। इसीलिये कजरारी आँखोंमें निरंतर वास करनेसे तुम कारे हो गये हो, कृष्ण तुम्हारा नाम पड़ गया

है, नहीं तो ब्रह्माने तो 'शुक्लाम्बरधरं विष्णुशशिवर्णं चतुर्भुजम्" कहकर आपकी स्तुतिकी थी। उन्होंने सफेद दुग्धमें से आपको चतुर्भुज रूपमें प्रकट किया। हमने आपको द्विभुज बना कर अपनी काली पुतलियों वाली काजरसे युक्त आँखोंमें छिपा लिया। मनुष्य जैसा स्वयं होता है, वैसे से ही प्रेम करता है। हमारे तो दो ही हाथ थे, हमने देखा तुम्हारे चार हाथ हुए तो हम आलिंगन कैसे करेंगी। अपनी बाहुपाशमें आपके चारों हाथोंको कैसे बाँधेगीं। तुम भी हमारी विवशता समझ गये होगे अतः ब्रह्माजीकी प्रार्थना सुनकर तुमने सबको तो दर्शन दिया नहीं। ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें ही प्रकट होकर उनसे अव्यक्त वाणीमें कह दिया। वह वाणी भी सभीने नहीं सुनी। केवल ब्रह्माजी ही उसे सुन सके। उनसे तुमने कह दिया—"मैं सम्पूर्ण जगत्की रक्षाके निमित्त सात्वत कुल में—भक्तोंके वंश-में—अवतार धारण करूँगा!"

सो, हे जनार्दन! तुम अपनी प्रतिज्ञाको याद करो। जब तुम्हारा अवतार ही समस्त जगत्की रक्षाके निमित्त हुआ है तो हमें तुमने जगत्से पृथक् क्यों कर दिया है? हम भी तो इस जगत्में ही जनमी हैं! हमारी रक्षा क्यों नहीं करते? हमारे तनकी तपनको क्यों नहीं बुझाते? हमें आकर अपने हृदयसे क्यों नहीं लगाते?

कुछ लोग इस संसारको तुमसे पृथक् समझते हैं। वे समझते हैं यह संसार हौआ है, हमें खा जायगा। यह हमें चक्करमें घुमाता रहेगा। मारता जिलाता रहेगा। दुःख देता रहेगा। अतः इसे दुःखका कारण समझकर सुखस्वरूप आपकी शरणमें जाते हैं। आप उनको अभय प्रदान करके अपनाते हैं, उनको दुःखसे छुड़ाते हैं, उनके भयको दूर करते हैं। जब तुम सबके भयोंको दूर करते हो, तो हम पर कृपा क्यों नहीं करते? हम भी तो इस

घोर वनमें अकेली भयभीत हो रही हैं। स्त्रियाँ एक तो स्वभाव से ही भीरु होती हैं, फिर अकेली तो और भी डर जाती हैं, रात्रिमें तो सभीको भय लगता है। हम कुछ और नहीं चाहतीं। हमारी केवल यही प्रार्थना है, कि समुद्रसे निकलनेपर लजाती हुई अनुरागवती कमलाका कोमल कर आपने जिस अपने करसे पकड़ा था, उसी कर कमलको सिरोंपर आकर रख दो। उस करके स्पर्शमात्रसे ही हम कृतकृत्य हो जायँगी। इतनेसे ही हमारी समस्त मनोकामनायें पूर्ण हो जायँगी। उस कमनीय कामपूरक कोमल कर कमलके स्पर्शसे हमारी समस्त काम पीड़ा शान्त हो जायगी। हमारा शिर सार्थक हो जायगा वह सर्वश्रेष्ठ बन जायगा। किन्तु इतना ही करके भग मत जाना। सिर तो सौभाग्यशाली बन जायगा, किन्तु ये निगोड़ी अँखियाँ। हाय! ये तो स्पर्शसे सन्तुष्ट होने वाली नहीं। इन्हें तो रूप चाहिये; रूप। रूप भी बुरा बावरा नहीं चाहिये। सुन्दर चाहिये सुकुमार चाहिये, प्यारा-प्यारा सलौना सजीला चाहिये। ये दो आँखे जब किसी दो बड़ी-बड़ी आँखोंमें मिलकर चार हो जाती हैं, तो उनमेंसे झरझर करके अनुराग झरने लगता है। ये आँखें बड़ी चंचला हैं, इन्होंने बहुत आँखोंको देखा, किन्तु ये तुम्हारी आँखों को देखकर निहाल हो गयीं धन्य हो गयीं। सुनते हैं स्त्री स्त्रीके रूपको देखकर मोहित नहीं होती। किन्तु ये हमारी निगोड़ी अँखियाँ तुम्हारी आँखोंपर मोहित हो गयी हैं, निरन्तर ये उन्हें देखते ही रहना चाहती हैं। जो आँखें मनोहर मुस्कान युक्त मुखपर बैठकर चंचलता करती रहती हैं, जिनमें से अनुराग का स्रोत निरन्तर बहता रहता है, जो भक्त जनोंके समस्त अभिमानों पर पानी फेरने वाली हैं। जो स्मित, हसित, प्रहसित और अतिहसितके कारण विकसित और बहती रहती हैं, उन आँखों को उनके आसन रूप कपोल और अवनी रूप आननके

हमें दरशन करा दो नाथ ! अबलाओंके साथ अन्याय क्यों कर रहे हो ? क्यों हमें व्यर्थमें भटका रहे हो ?

अच्छा एक काम और करना, उसे मत भूल जाना भला! वही तो आवश्यक कार्य है। तुम सिरपर हाथ रखकर हमारे नैनोंमे नयन मिलाकर मुँह मटकाकर हमें विकल बनाकर भाग गये, तब तो हम कहीं की भी न रहीं जी ! दुःख तो हृदयकी वस्तु है। अनुभूति तो हृदय से होती है। ब्रह्माबाबाने हम युवतियों के हृदयको स्थूल कठोर तथा उन्नत बनाया है और इस हृदयमे ही कामको ठूँस ठूँस कर भर दिया है। हमने सुनाभी है और हमें अनुभवभी है आपके चरण अत्यन्तही कोमल हैं। कमलकी पंखुड़ियों से,पीपर के अति कोमल पत्तों से भी कोमल हैं नवनीत से भी अधिक स्निग्ध हैं। बालकके मृदुहास्यसे भी अधिक आकर्षित हैं। स्वर्गीय ललनाओंके अधरामृतसे भी अधिक मधुर हैं। वे जब अनावृत अवनिके वक्षःस्थल पर पड़ते हैं तो उसकोभी कठिनता दूर हो जाती है। वहभी अत्यन्त कोमल बन जाती है। आप एक वनसे दूसरे वनमे नंगे पैरों ही पशुओंके पीछेपीछे पैदलही पर्यटन करते रहते हैं। जो इन मृदुल चरणोंके शरण में आजाते हैं। उनके पाप, ताप, संताप सभी कुछ नष्ट हो जाते हैं। टेढ़े सीधे हो जाते हैं, विषैले इनके स्पर्श से निर्विष बन जाते हैं। कालिय नागकी फणावली पर पड़तेही वह विषहीन सीधा सादा बन गया। उन मदभरे मायाभरे चरणोंको हमारे उभरे हुए वक्षःस्थलों पर रख दीजिये। इनके काठिन्यको दूर कर दीजिये। इनमें जो कामरूप काँटा चुभ गया है, उसे अपने सुखद स्पर्शसे निकाल दीजिये। हे श्याम ! इसे मत भूल जाना भला ! हृदयपर चरण अवश्य स्थापित कर देना अच्छा ! इन शीतल, सुखद, अमृतस्रावी चरणकमलोंकी शीतलतासे हमारी विरहाग्निको शान्तकर दीजिये। कर दोगे न, श्यामसुन्दर !"

सूतजी कहते हैं-"मुनियो! इस प्रकार गोपिकायें विरहाग्नि में जलती हुई वृन्दावन बिहारी से विविध प्रकार की प्रार्थनायें करने लगीं। वे प्रार्थनायें इतनी हैं, कि उनका मैं विस्तार करूँ, तो अपने जीवन में पारही न पा सकूंगा, अतः कुछ और कहकर मैं इस गोपी गीत के प्रसंग को समाप्त करूँगा।

छप्पय

कृष्ण! कृतारथ करहु कृपा कीजे कछु हमपै।
धरहु दया करि कान्त कामपूरक कर सिरपै॥
है हमरो हिय कठिन काम कंटकहू जामें।
तब अति कोमल चरन कठिनकूँ मृदुल बनामें॥
धरहु चरन हियपै हुलसि, हरहु कामपीड़ा सकल।
सुने बचन जबतैं सरस, मधुर भईं तबतैं विकल॥

कर्ण कुहरों को कृतार्थ कर दो

[९८८]

तव कथामृतं तप्तजीवनम्,
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततम्,
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ३१ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

प्रिया पिपासित फिरहिँ मधुर कछु पेय पिआओ ।
अधरामृत मुख भरो निठुर ! कछु पुण्य कमाओ ॥
प्याओ प्यारे परम स्वादयुत मीठो मीठो ।
दुखहर अतिशय सुखद सौति वंशी को जूठो ॥
कान कान्ह की कथा सुनि, होहिँ कृतारथ रस लहहिँ ।
बड़भागी ते जगत् नर, कथा तुम्हारी जे कहहिँ ॥

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकायें कह रही हैं—"हे श्यामसुन्दर ! तुम्हारी अमृतमयी कथायें सन्तप्त जीवों को जीवनदान देने वाली हैं, कविजनों द्वारा कीर्तित हैं, समस्त पापों को नाश करने वाली हैं, सुनने में अत्यन्त ही मधुर हैं तथा सुख शान्ति प्रदायिनी हैं । उन कथाओं को जो भूलोक में कहते हैं प्रचार करते हैं, समझो संसार में वे ही सबसे श्रेष्ठदान देने वाले दाता हैं ।

समस्त इन्द्रियों का पृथक् पृथक् आहार है। आँखें सदा यही चाहती हैं, प्यारे को सदा अपलक भाव से निरन्तर उसी प्रकार देखती रहें जैसे मछली जल को देखती रहती है। कभी उससे विलग नहीं होती है। होते ही उसकी आँखें पथरा जाती हैं। घ्राणेन्द्रिय चाहती है, प्यारे के शरीर सुगन्धि को सूँघते रहें। प्यारे के शरीर से प्यारे के वस्त्रोंसे, प्यारेकी पहिनी मालाओंसे तथा प्यारेके शरीर से सम्बन्धित सभी वस्तुओं से एक अनिर्वचनीय गन्ध आती है। घ्राणेन्द्रिय उसे दूर से ही पहिचान लेती है। रसना चाहती है, प्यारेके उच्छिष्ट अधरामृत प्रसादको ही पावें। प्यारेकी सीथ प्रसादी मिले, तो उस पर सब कुछ वारा जा सकता है। उच्छिष्ट प्रसाद उच्छिष्ट ताम्बूल तथा उच्छिष्ट पेय पदार्थ इनसे रसना तृप्त होती है। स्पर्शेन्द्रिय चाहती है, किसी प्रकार प्यारे के श्री अंग का सुखद स्पर्श प्राप्त हो, अपने हाथों उनकी कुछ सेवा कर सकें। उन्हें स्वयं खिला पिला सकें। इससे स्पर्शेन्द्रियको अपार आनन्द प्राप्त होता है। इसी प्रकार कर्ण चाहते हैं, प्यारे केमधुराति मधुर शब्द सदा कानों में पड़ते रहें। प्यारे जब सम्मुख हों, तब तो उनके कमल मुखको जोहते हुए उन्हीं के वचनों को सुनें। वे सम्मुख न हों, तो परोक्ष में उन्हीं के सम्बन्ध की बातें सुनने को मिलें। जब श्रोत्रों को प्यारेसे अत्यन्त अनुरक्ति तथा आसक्ति हो जाती है, तो फिर परचर्चा सुहाती ही नहीं। दूसरे के सम्बन्धकी बातें विषके समान लगती हैं। प्यारे काजहाँ शब्द सुना कि कान हरे हो जाते हैं। मानों किसी ने अमृत उड़ेल दिया। प्यारे की जो चर्चा करता है, उनकी जो प्रेम पूर्वक कथा कहता है, वह भी अत्यन्त प्यारा लगता है। उसकी बात सुनते सुनते कभी तृप्ति ही नहीं होती। यदि शरीरमें कान न होते, केवल नेत्र ही रहते, तो संसार में कोई भी विरही जीवित न रहते। प्रिय वियोग में प्रियतम के आँखों से ओझल होते ही—वे शरीर को त्याग देते। विरहियों

को कण ही जिला रहे हैं, वे ही संजीवनी ओषधिको सम्पूर्ण शरीरमे पहुँचा कर चैतन्यता प्रदान करते हैं। प्यारे सम्मुख बने रहें, तो आँखें भरपेट उनकी रूप-सुधाको पीती रहती हैं। वे अन्य इन्द्रियोंके सम्बन्धमें सोचती ही नहीं। प्यारेके रूपासवका पान कर-करके सब अंगोंमें मादकता भरती रहती हैं। प्यारेके परोक्ष होते ही वे विकल बनके बहने लगती हैं। इनके विकल होते ही अंग प्रत्यङ्ग समस्त विकल हो जाते हैं। उस विकलताको सम्हालनेमें—सब अंगोंकी गतिको बनाये रखनेमें—कर्ण ही समर्थ होते हैं। प्यारेकी कमनीय कथा सुननेको मिलती रहे, तो प्यारेके पीछे भी मनमें गुदगुदी उठती है। चित्त चाहता है प्यारेकी कथा सुनाने वाले को क्या दे डालें। उसके सामने कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हाय! जो प्यारेकी कथा सुनाता है उसे क्या दे डालें? कैसे उससे उऋण हों?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकायें गाती हुई कह रही हैं—"हे कमलनयन! तुम जो शहदसे अधिक मीठी-मीठी बातें बनाते हो, उनसे हमारा मन मोहित हो गया है। तुम्हारे मुख कमलसे जो मधुर वाक्य रूप मकरन्द झरित होता है, उसको पान करके हमारा मन रूप मधुप मत्त हो गया है। उसके उन्माद में इसका अब अन्त ही होना चाहता है, तुम इसपर अपना अधरामृत छिड़क दो, तो यह जीवित हो उठे। क्या इतनी असहाय निरीह अबलाओंको जीवन दान दे कर तुम पुण्य और यशके भागी न बनोगे?

इस समय हम केवल आपकी पापनाशिनी, शान्तिदायनी, मङ्गल विवर्धिनी, अमृतमयी, कविजनकीर्तित कमनीय कथाओं के ही सहारे प्राण धारण किये हुए हैं। ये ही कथायें हमारी अवलम्ब हैं, सहारा हैं, परन्तु इनसे कब तक जीवेंगी? जब तक तुम दर्शन न दोगे, तब तक चित्त तड़पता ही रहेगा। अन्तः

करण उद्विग्न रहेगा, मनमें व्याकुलता ही बनी रहेगी। प्यारे! हमारे साथ अन्याय मत करो।

तुम बड़े ठगिया हो। दूसरों की चिकनी चुपड़ी बातें कहकह कर फँसानेमें बड़े निपुण हो। रोते को हँसा देते हो। हँसतेको रुला देते हो। तुम्हारे मुखपर मुसकान क्या है, एक प्रकारका विचित्र जादू है। जिन्होंने अपनी आँखोंसे उस मंगलमयी मंदमंद मुसकानको देखा है उनकी बात तो छोड़ दीजिये। उनकी क्या दशा होती होगी, यहतो अवर्णनीय विषय है, अजी, जो एकान्त में बैठकर उस प्यारी मुसकानका ध्यानभी कर लेता है, उसका हृदय पानी पानीहो जाता है धैर्य छूट जाता है। उसी मुसकानका जादू तुमने हमारे ऊपर करदिया है। फिर तुम एकही जादू जानते हो सो भी बात नहीं। तुम सर्व विद्या निपुण हो। फँसाने की समस्त चालोंमें तुम पंडित हो। मुसकानके सहित जो तुम्हारे कमनीय प्रणय कटाक्ष हैं, वे तो विष मुझे बाणोंका काम करते हैं। हँसीकी अनेक हृदय हारिणी कहानियाँ कहकह कर तुम हँसाते हो, विविध भाँतिकी ठठोलियाँ कर करके हमारे चित्तोंको चुराते हो। इन सभी बातोंका स्मरण कर करके हम अब अत्यन्त दुखी हो रही हैं। अब प्रकट हो जाओ, रोती हुई रमणियों को हँसाओ। प्यारे हँसाओ!

अच्छा! एक बात हम पूछें आपसे? बताओगे? उत्तर दोगे? देखो, कमलकी कोमल पंखुड़ियोंसे भी अत्यधिक कोमल तुम्हारे चरण कमल जब इस कंटक कंकड़ युक्त ऊबड़ खाबड़ अवनि पर निरावरण पड़ते होंगे, तो क्या उन्हें कष्ट न होता होगा? उन्हें चाहें कष्ट न हो, किन्तु हमेंतो उसके स्मरण मात्रसे ही कष्ट हो रहा है। आपके युगल चरण कैसे गुदगुदे हैं, कैसे कोमल हैं, उनमेंसे कैसी दिव्य सुगन्धि सदा निकलती रहती है। छुई मुईसे भी अधिक लजीले हैं, पकी 'रसभरीसे भी अधिकलाल

को कण ही जिला रहे हैं, वे ही संजीवनी ओषधिको सम्पूर्ण शरीरमें पहुँचा कर चैतन्यता प्रदान करते हैं। प्यारे सम्मुख बने रहें, तो आँखें भरपेट उनकी रूप-सुधाको पीती रहती हैं। वे अन्य इन्द्रियोंके सम्बन्धमें सोचती ही नहीं। प्यारेके रूपासवका पान कर-करके सब अंगोंमें मादकता भरती रहती हैं। प्यारेके परोक्ष होते ही वे विकल बनके बहने लगती हैं। इनके विकल होते ही अंग प्रत्यङ्ग समस्त विकल हो जाते हैं। उस विकलताको सम्हालनेमें—सब अंगोंकी गतिको बनाये रखनेमें—कर्ण ही समर्थ होते हैं। प्यारेकी कमनीय कथा सुननेको मिलती रहे, तो प्यारेके पीछे भी मनमें गुदगुदी उठती है। चित्त चाहता है प्यारेकी कथा सुनाने वाले को क्या दे डालें। उसके सामने कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हाय! जो प्यारेकी कथा सुनाता है उसे क्या दे डालें? कैसे उससे उऋण हों?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकायें गाती हुई कह रही हैं—"हे कमलनयन! तुम जो शहदसे अधिक मीठी-मीठी बातें बनाते हो, उनसे हमारा मन मोहित हो गया है। तुम्हारे मुख कमलसे जो मधुर वाक्य रूप मकरन्द झरित होता है, उसको पान करके हमारा मन रूप मधुप मत्त हो गया है। उसके उन्माद में इसका अब अन्त ही होना चाहता है, तुम इसपर अपना अधरामृत छिड़क दो, तो यह जीवित हो उठे। क्या इतनी असहाय निरीह अबलाओंको जीवन दान दे कर तुम पुण्य और यशके भागी न बनोगे?

इस समय हम केवल आपकी पापनाशिनी, शान्तिदायनी, मङ्गल विवर्धिनी, अमृतमयी, कविजनकीर्तित कमनीय कथाओं के ही सहारे प्राण धारण किये हुए हैं। ये ही कथायें हमारी अवलम्ब हैं, सहारा हैं, परन्तु इनसे कब तक जीवेंगी? जब तक तुम दर्शन न दोगे, तब तक चित्त तड़पता ही रहेगा। अन्तः

करण उद्विग्न रहेगा, मनमें व्याकुलता ही बनी रहेगी। प्यारे! हमारे साथ अन्याय मत करो।

तुम बड़े ठगिया हो। दूसरों की चिकनी चुपड़ी बातें कहकह कर फँसानेमें बड़े निपुण हो। रोते को हँसा देते हो। हँसतेको रुला देते हो। तुम्हारे मुखपर मुसकान क्या है, एक प्रकारका विचित्र जादू है। जिन्होंने अपनी आँखोंसे उस मंगलमयी मंदमंद मुसकानको देखा है उनकी बात तो छोड़ दीजिये। उनकी क्या दशा होती होगी, यहतो अवर्णनीय विषय है, अजी, जो एकान्त में बैठकर उस प्यारी मुसकानका ध्यानभी कर लेता है, उसका हृदय पानी पानीहो जाता है धैर्य छूट जाता है। उसी मुसकानका जादू तुमने हमारे ऊपर करदिया है। फिर तुम एकही जादू जानते हो सो भी बात नहीं। तुम सर्व विद्या निपुण हो। फँसाने की समस्त चालोंमें तुम पंडित हो। मुसकानके सहित जो तुम्हारे कमनीय प्रणय कटाक्ष हैं, वे तो विष मुझे बाणोंका काम करते हैं। हँसीकी अनेक हृदय हारिणी कहानियाँ कहकह कर तुम हँसाते हो, विविध भाँतिकी ठठोलियाँ कर करके हमारे चित्तोंको चुराते हो। इन सभी बातोंका स्मरण कर करके हम अब अत्यन्त दुखी हो रही हैं। अब प्रकट हो जाओ, रोती हुई रमणियों को हँसाओ। प्यारे हँसाओ!

अच्छा! एक बात हम पूछें आपसे? बताओगे? उत्तर दोगे? देखो, कमलकी कोमल पंखुड़ियोंसे भी अत्यधिक कोमल तुम्हारे चरण कमल जब इस कंटक कंकड़ युक्त ऊबड़ खाबड़ अवनि पर निरावरण पड़ते होंगे, तो क्या उन्हें कष्ट न होता होगा? उन्हें चाहें कष्ट न हो, किन्तु हमेंतो उसके स्मरण मात्रसे ही कष्ट हो रहा है। आपके युगल चरण कैसे गुदगुदे हैं, कैसे कोमल हैं, उनमेंसे कैसी दिव्य सुगन्धि सदा निकलती रहती है। छुई मुईसे भी अधिक लजीले हैं, पकी 'रसभरीसे भी अधिकलाल

और मृदुल हैं, हम अपने वक्षःस्थल पर उन्हें डरते डरते धारण किया करतीं थीं क्योंकि हमारा वक्षःस्थल अत्यन्त कठोर है, कहीं इन परम मृदुल चरणोंको कष्ट न हो जाय, किन्तु हाय ! तुमतो उन्हीं चरणोंसे इन इतनी कंकरीली पथरीली भूमिपर इस रात्रिमें कहीं अकेलेही विचर रहे होगे। वे चरण साधारण चरणतो हैं नहीं। वे शरणागत अनन्य भावुक भक्तोंकी भवभीति तथा सकल कामनाओंको परिपूर्ण करने वाले हैं, वे कमलाके कमनीय करों द्वारा प्रेमसे प्रपूजित हैं। वे पृथिवीके भव्य भूषण हैं। वे आपत्ति विपत्तिमें स्मरण आजाने पर सुख शान्ति और संतोष प्रदान करने वाले हैं। उन चरणोंको कठोर पृथिवीपर न रखकर हमारे हृदय पर क्यों नहीं रख देते। पृथ्वीसे कठिन तो हमारे हृदय हैं नहीं। एक पन्थ दो काज हो जायँगे। तुम्हारा चलना भी हो जायगा, हमारी पीड़ाभी शान्त हो जायगी।

देखो, प्यारे ! अबतक हम अपने प्रेमको कृपणके धनके समान गुप्त रखे रहीं। पहिले हम दूर से तुम्हें देख लेती थीं। हृदय हिलोर लिया करता था। देखो, बहुत पुरानी बातें हैं, तुम तो हमें जानतेभी न होगे, किन्तु यह भी कैसे कहें आपतो सर्वज्ञ हो अन्तर्यामी हो, सबके घटघटकी बात जानते हो। हाँ, तो जब तुम मोर मुकुट बाँधकर, लकुट पर कारी कामरी लटकाकर, वंशीको बजाते हुए, गौओंको हाँकते हुए उन्हें चरानेके लिये वनमें जाते थे, तब हम अपने द्वारोंपर खड़ीखड़ी अपलक भावसे तुम्हेंही निहारती रहती थीं। जब तुम दृष्टिसे ओझलहो जाते तो मन मसोसकर घरके कामोंमें लग जातीं, किन्तु मन सदा तुम्हारे लटकते हुए बुलाकके साथही फोटा खाता रहता था। उसीके साथ अठखेलियाँ करता रहता था, जहाँ दिन ढलाकि हम बारबार द्वारपर आतीं, कोठेपर चढ़तीं, दूर तक दृष्टि डालतीं तुम कहीं गौवोंको लेकर लौट तो नहीं रहे हो। आपके बिना देखे हमारा

एकएक क्षण एकएक युगके समान बीतता। जिस दिन जाते समय तुम्हारे दर्शन न होते, तो ऐसा लगता मानो हमारा कुछ खो गया है। कोई आवश्यक वस्तुको कोई उठाले गया है। जब प्रतीक्षा करते करते तुम्हारी बाँसुरीकी मधुर मधुर ध्वनि हमारे रिक्त कर्णोंमें अमृतसा उड़ेलती दूरसे सुनाई देती, तो हम दौड़कर सब काम धंधोंको छोड़कर द्वारपर आ जातीं और तुम्हारे दर्शनोंको अधीरहो उठतीं। उस समय कंधोंतक लटकती हुई तुम्हारी काली काली घुंघराली अलकावलीसे मंडित आपके मृदुल मुखारविन्द की मनोहर मुसकानकी शोभाको निहारतीं हम धन्यहो जातीं। ब्रह्माबाबाकी मूर्खतापर खीज उठतीं।हाय ! इसबूढ़ेकीबुद्धि सठिया गयी, इसने आँखोंमें पलक क्यों बनाये ? उसे पलक ही बनाने थे तो औरोंकी आँखोंमें बनाता। हम व्रजाङ्गनाओंकी आँखोंको तो पलकहीनही बना देता, जिससे बिना व्यवधानके—अपलक भावसे—तुम्हारी शोभाको निहार सकतीं। दिन ढलने पर ग्वाल बालोंसे घिरे गौओंके पीछे पीछे जब आप आते, उस समय धूलि धूसरित नील अलकावलीसे आवृत अपने मनोहर मुखार-विन्दको दिखाकर हमारे हृद्रोगको आप बारबार उत्तेजित करते। हमें व्यथित बनाकर आप गोष्ठमें खिरकमें घुसजाते। हम ठगी-सी चित्र लिखी-सी पाषाण प्रतिमा-सी वहीं द्वारपर खड़ीकी खड़ी ही रह जातीं।

प्यारे ! हे आर्तिनाशन ! हे व्रजवल्लभ ! हमें पता है, तुम गान प्रिय हो। तुम्हें गायनसे अनुराग है। हम कुछ गानाभी जानती हैं। तुम्हें गागाकर रिझावेंगी। सुन्दर ताल, स्वर और लयके साथ तुम्हें गीत गाकर सुनावेंगी। देखो, हम गाना तो कुछ ऐसा ही वैसा जानतीं हैं, किन्तु हमारे कानोंको भी संगीत श्रवणका रोग हो गया है। तुम्हारे दिव्य गानसे मोहित ये कान उन्मत्त हो गये हैं। ये हमें हठ पूर्वक यहाँ प्रेरित

ले आये हैं। हम भी अपने पति, पुत्र, कुटुम्ब, भाई बन्धु, सगे सम्बन्धी सभीकी मोह ममता छोड़कर एक मात्र आपके ही चरणोंकी सन्निधिमें आगयीं हैं। अब हम पुनः लौटकर उस गृहान्धकूपमें जाना नहीं चाहतीं। अब तो सम्पूर्ण जीवनको आपके चरणोंमें ही बितानेका हमने दृढ़ संकल्प कर लिया है। हे कपटी! हे निर्दयी! हम सब तो इतना त्याग करके आयीं हैं, किन्तु तुम इतने निष्ठुर बन गये हो, कि इतनी देरसे पुकार रही हैं तुम दर्शन क्यों नहीं देते। देखो, यह अच्छी बात नहीं है। प्रतीत ऐसा होता है तुम रस शास्त्रके मर्मज्ञ नहीं, अरसिक हो, नहीं सोचो तो सही, इस प्रकारका अन्याय कोई रसिक किसी रमणीके साथकर सकता है?

अच्छा, हम एक बात पूछती हैं। तुमने इस शारदीय रात्रिमें बाँसुरी क्यों बजायी? तुम कहोगे क्या बाँसुरी बजाना भी कोई अपराध है? हमने अपनी इच्छासे बजायी। सो तो ठीक है। बाँसुरी बजाना अपराध तो नहीं किन्तु आपने अनङ्गवर्धन-कामिनियोंके काम भावको उद्दीपन करनेवाला—सर्वश्रेष्ठ कामोद्दीपक गान क्यों गाया? क्या तुम्हें उसके परिणामका पता नहीं था? मेघ राग गाने पर वर्षाका होना निश्चित है। दीपक राग गाने पर बुझे हुए दीपकोंका जुड़ जाना अनिवार्य है, इसी प्रकार कामोद्दीपक गानसे हम व्रजाङ्गनाओंके मनमें आपसे मिलने की कामना होना स्वाभाविक ही था। कामोद्दीपकराग वही अलापेगा, जिसके मनमें मिलनेकी कामना होगी। तुमने मिलनेकी कामनासे ही वह गान गाकर एकान्तमें हमें बुलाया और हम सब उस गायनसे विवश होकर आपके चरणोंके समीप आयीं। आपने हमें दर्शन देकर सुख दिया। यह तो उचित ही किया। परन्तु सर्वस्व त्यागकर घर द्वार कुटुम्ब परिवारसे नाता तोड़कर—भयानक रात्रिमें घोर वनमें आई हुई

हम रमणियोंको एकान्तमें बिलबिलाती छोड़कर कौन रसिक जा सकता है? धर्मको जाननेवाले तो रमणेच्छुका रमणीका साधारण स्थितिमें भी परित्याग नहीं करते। प्यारे! हमें तुम्हारा विशाल वक्षःस्थल याद आ रहा है। इसमें हमारे हृदयको स्थान दो उस उभरे। हुए वक्षःस्थलकी सन्निधिकी उत्कंठासे हमारा मन-मयूर बार बार मोहित होकर नृत्य-सा करने लगता है।

श्यामसुन्दर! तुम्हें सब दुःखहर सुखकर, आर्तिनाशन और न जाने क्या क्या कहते हैं। फिर तुम हमारी आर्तिका नाश क्यों नहीं करते? हमारे दुःखों को दूर क्यों नहीं करते? क्यों हमें दर्शन नहीं देते? क्यों हमें रुला रहे हो? क्यों वनमें भटका रहे हो? क्यों तरसा रहे हो? क्यों बिना मौतके मार रहे हो? क्यों निष्ठुरता दिखा रहे हो। क्यों हमारी परीक्षा ले रहे हो? हम स्वयं परीक्षामें उत्तीर्ण कभी न हो सकेगीं। तुम ही कृपा करोगे तब कुछ काम भले ही बन सके, अतः प्यारे आओ आओ!! अब आ जाओ। अब अधिक मत दुखी बनाओ।

सूतजी कहतेहैं—मुनियों! इस प्रकार सुमधुर स्वर से ताल-लय युक्त गीत गाते गाते भावमयी गोपिकायें श्रीकृष्ण दर्शनकी लालसासे सुबक सुबक कर रोने लगीं। उन्होंने अपना अन्तिम अस्त्र छोड़ दिया। जो कभी व्यर्थ जाता ही नहीं।

छप्पय

धूरि धूसरित नील कुटिल कच कारे कारे।
मुखपै बिथुरे मधुर लगें मनकूँ अति प्यारे॥
भोटा खात बुलाक मोरको मुकुट मनोहर।
ऐसो वेष बनाइ जाउ जब बन तुम गिरिधर॥
तब पल पल युग युग सरिस, बीतत बिनु देखे तुम्हें।
अब निशिमहँ बन छाँड़ि तुम, छिपे छबीले छलि हमें॥

—:०:—

गोपियोंके मध्यमें प्रभुका प्राकट्य

[९८९]

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३२ अ० २ श्लो०)

छप्पय

आओ आओ श्याम हृदयकी तपन बुझाओ ।
चरन कमल हिय धरौं शोक संताप नसाओ ॥
यों कहि रोईं फूटि फूटिके गोपी सत्वर ।
रहि न सके तब श्याम भये प्रकटित तहँ सत्वर ॥
मथन मनोहर वेषतैं, मन्मथके मनकूँ हरत ।
प्रकटे प्रभु तिनि मध्यमहँ, शोक मोह हियकी हरत ॥

अनन्तजीव अनादि कालसे इस भवाटवीमें भ्रमवश भटक रहे हैं। ये सभी प्रभुके अंश हैं, अंशीसे विलग होकर अपनी पृथक् सत्ता स्वीकार करके दुःखोंका अनुभव कर रहे हैं। इन सबने कभी संयोग सुखका अनुभव किया है। उसे अज्ञानवश भूल गये हैं। फिर भी सबके हृदयमें कुछ संस्कार शेष हैं। सभी

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! साक्षात् मन्मथके भी मनको मथन करने वाले पीताम्बरधारी वनमाली भगवान् शौरि श्यामसुन्दर इसी समय (गोपियोंके गीतको सुनकर) मधुर मुसकान युक्त मुखारविन्दसे उन सबके सम्मुख प्रकट हुए।

उसी सुख को पाना चाहते हैं। सभी प्रियतम से—अंशी से—
मिलना चाहते हैं। संयोग सुख का अनुभव करना चाहते हैं
किन्तु उस सुखको भ्रमवश संसारी पदार्थों में खोजते हैं। वन में
खोये हुए ऊँट को घर की छोटी छोटी दिवालों में रखी काजर की
डिबियाओं में बार बार खोल खोलकर खोजते हैं। वन में खोया
ऊँट डिबियों में कैसे मिलेगा? अविनाशी सुख इन नाशवान्
अनित्य संसारी विषयों में कहाँ मिलेगा। जब अपना स्वभाव
ही उसकी प्राप्तिका बन जायगा, स्वभावतः वैसे ही कर्म बनने
लगेंगे। सब चेष्टायें उनके ही निमित्त होने लगेंगी और उनसे
मिलने का जिस जीवका समय आ जायगा उसे प्रथम साधु-संग
होगा। साधु कोई नई बात तो बतायेंगे नहीं, नई बात कोई है
ही नहीं, तुम्हारे घर में गड़े हुए धन का पता बतादेंगे। बतावेंगे
भी जब उन गड़े धन को प्राप्त करने का समय आ जायगा। तभी
साधु में श्रद्धा होगी। वाल्मीकजी डाका मारा करते थे, लूटते थे।
उनके उद्धार का समय आ गया। सप्तर्षि स्वतः पहुँच गये। उन्हें
उलटे नाम का उपदेश दिया। पहिले कानों में नाम ही पड़ता है।
श्रीराधाजी को ललिताजी ने पहिले दो अक्षरों वाला 'कृष्ण' नाम
ही बताया था। नाम लेते लेते अन्तः करण का काठिन्य निवृत्त हो
जाता है। श्रीकृष्ण बड़े सुकुमार हैं। वे कठिन हृदय में प्रकट
नहीं होते। नवनीत प्रिय ही जो ठहरे। ऐसा सरस, अनुरागयुक्त,
कोमल, तथा स्निग्धचित्त होना चाहिये, कि जिसमें नाम लगते
ही पिघलने लगे, वहाँ वे आते हैं। जिसका हृदय नवनीत के
सदृश कोमल हो जाता है उसी को मुरली की ध्वनि सुनाई देती
है। उस मुरलीको सुनकर फिर घरमें रहा ही नहीं जाता।
दुःख से चित्त चंचल हो उठता है। सबको छोड़कर उस
मधुर ध्वनि में आसक्तचित्त होने से उसी का अनुसरण
करता है, फिर उस मुरली बजाने वाले के दर्शन होते

होते ही उनमें आसक्ति बढ़ जाती है हृदय में उनके प्रति प्रे
भाव दृढ़ हो जाता है, संयोग सुख का आस्वादन होता है। संयो
सुख की वृद्धि के लिए उत्कंठा को बढ़ानेके निमित्त प्रियतम अन्त
र्हित हो जाते हैं। अब तक अयोगजन्य दुःख था अब वियोगज
दुःख उससे भी अधिक हो जाता है। उसमें अहर्निशि प्यारे
रिझाने को ही प्रयत्न करना पडता है। उन्हीं के अन्वेषण में व
वन भटका जाता है। वे नहीं मिलते, नहीं मिलते। जब मिलन
आकांक्षा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। बाट जोहते जोहते आँ
पथरा जाती है, क्षण क्षण, पल पल, लव लव, निमेष नि
गिनते गिनते उँगलियों की पोर घिस जाती हैं। गाते गाते
रुद्ध हो जाता है, नाम लेते लेते जिह्वा में छाले पड जाते हैं
जब रोते रहने के अतिरिक्त कुछ करने की सामर्थ्य नहीं रहती
किसी दूसरे साधन का सहारा नहीं रहता, तब श्यामसुन्दर हँस
हुए प्रकट होते हैं। 'रोते को देखकर हँसना कोई अच्छी बात तो
नहीं जी ?" न हो अच्छी बात, इस प्रेम राज्यमें सभी अच्छी
अच्छी बातें हैं। बुरीका तो यहाँ नाम भी नहीं। प्रेमका रोना
अच्छा और हँसना भी अच्छा। श्यामसुन्दर और सब कुछ
सकते हैं, किन्तु उनके दर्शनोंकी लालसामें यदि कोई ढाह
कर मुखर रुदन करे, तो उसे वे नहीं सह सकते। वैसे झूठ
कुछ देरके लिये सुबकियाँ भरकर झूठे आँसू निकालकर हू हू
तो उसे छोटी मोटी वस्तु देकर बहला देते हैं, टरका देते हैं।
जीवको छोड थोडे ही सकते हैं। कहीं दूर जाते ही नहीं उस
अत्यन्त समीप छिपे रहते हैं। परन्तु जीव उन्हें देख नहीं पाता
जैसे आँखोंमें काजर लगा रहता है किन्तु भीतर लगे रह
पर भी आँखें काजरको देख नहीं सकतीं। आँसुओंमें धुल
उसे निकलना पडता है। हथेलियोंमे आँसू मिश्रित आँखें
मीड़नेसे उस काले काजरके दर्शन हो जाते हैं। जीव निहाल

जाता है, कृतकृत्य हो जाता है। उसके साथ रास विलास करता है, होला खेलता है। गहर गँभार बादल से अमृत चूता है जिससे वह भीग जाता है, उसमें निमग्न हो जाता है। एक बार उसे फिर महावियोग का क्लेश सहना पड़ता है, किन्तु वह महावियोग ही नित्य संयोग सुखका जनक है, उसे प्राप्त होने पर फिर कभी वियोग होता नहीं। नित्य सुखका प्राप्त होता है। नित्य रास सुख मिल जाता है। यही कृष्ण प्राप्तिका संक्षिप्त प्रक्रिया है। बिना उच्चस्वरसे रोये श्याम प्राप्त नहीं होते। माता छोटे बालकको पालनेमें सुलाकर गृहकार्योंमें लग जाती है। बच्चा तनिक ऊँ ऊँ करता है, वह बोलती नहीं काम करती रहती है, फिर तनिक रोता है। शीघ्रतासे आकर थपथपा जाती है, फिर काममें लग जाती है। फिर रोता है, तो आकर उसे कोई मीठा मिठाई दे देती है, कोई खिलौना पकड़ा देती है। उसीको पाकर वह रोना भूलकर खेलने लगता है, माता फिर काममें जुट जाती है। जब बच्चा खिलौना-फिलौना, मेवा मिठाई सभीको फेंककर रोता ही रहता है, रोता ही रहता है तो माता आकर उसे छातीसे चिपटालती है मीठा मीठा अपने स्तनका अमृतोपम पयपान कराती है। उसे तृप्तकर देती है। इसलिये हे जीवो! तुम्हें कारे कुटिल छलिया कृष्णको पाना है, तो रोओ निरन्तर रोओ खिलौनोंको फेंक दो। चीनी, घृत, नमक, अधर रस रूप मिठाइयोंको फेंक दो, माता पिता पति रूप कृष्ण हँसते हँसते आविर्भूत होंगे, तुम्हारे साथ रास रचेंगे। रोनेकी शक्तिभी तो श्याम ही देंगे। हम अभागे तो रो भी नहीं सकते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकायें गीत गाते गाते थक गयीं, किन्तु श्रीकृष्ण सुनते सुनते नहीं थके थे। वे कहीं दूर थोड़े ही छिपे थे। रसमयी गोपियोंको छोड़कर वे जाना भी चाहें तो नहीं जा सकते। प्रेम एक ओरसे कभी नहीं होता। दोनों ओरसे आक-

र्पण होता है। श्रीकृष्ण कुछ कम रसिक थोड़े ही हैं। उन्हें कोई एक हाथ चाहता है, तो उसे वे सौ हाथ चाहते हैं। जैसे गोपिकाएँ उनके रूपपर लट्टू थीं वैसे ही वे गोपिकाओंके मुख कमलोंके लोभी भ्रमर बने हुए थे। वे उनके अत्यन्त निकट थे, किन्तु पीताम्बरको छिपाकर उन्होंने साड़ी ओढ़ रखी थी। उन्हें लाज संकोच तो कुछ है नहीं। लोग बननेका अभिमानभी नहीं। लुगाई बनगये थे। तन्मयहो गये थे। गोपि [illegible] खोजती नहीं थीं। उनके गुणगाती थीं। [illegible] प्यारे लगते हैं। स्तुति किसे रुचिकर नहीं है [illegible] उन्होंने चूं भी नहींकी. हुँकारीभी नहीं भरी. [illegible] ने दिया, अपनी सन्निधिकी सूचना भी न [illegible] अपने गुणोंको, अपने श्यामसुन्दर, किनव, धूर्त, छलिया, आदि आदि सम्बोधनोंको सुनते रहे। जब वे गान करते करते थक गयीं दर्शनोंकी लालसासे फूट फूट कर रोने लगीं। तब कहीं दूरसे नहीं आये, उन गोपियोंके बीचमेंसे ही प्रकट हो गये। सब निहाल हो गयीं। समस्त शोक सन्ताप दूरहो गये।

उस समय श्यामसुन्दर या तो अपने समस्त सौन्दर्य धनको अपने श्रीअंग पर स्वयं लादकर लाये थे, अथवा गोपियोंकी उत्कंठाने उन्हें शृंगार करके अत्यन्त सजा दिया था। कुछभी क्यों न हो श्यामसुन्दर उस समय सुन्दरातिसुन्दर—अतिशय सुन्दर—वेष बनाये हुए थे। कोटि कंदर्पोंके दर्पको दलन करने वाले दयित दामोदर मधुर मुसकान युक्त मुखारविन्दसे मंद मंद मुसकरा रहे थे। वे चमचमाते हुए पीताम्बरको ओढ़े हुए थे। घुटनों तक लटकने वाली मोटी और पंचरंगी वनमालाको वे धारण किये हुए थे। वह माला हिलहिलकर तथा श्यामके ऊरुओं और वक्षस्थलका बारबार स्पर्श करके अपने सौभाग्यपर इठला रही थी। नाच रही थी, मोटा खा रही थी। गोपिकाओं को खिला

रही थी, उनके हृदयमें हठपूर्वक सापत्न्य भाव उत्पन्न कर रही थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सहसा प्रियतमको अपने मध्यमें ही मंद मंद मुसकराते हुए देखकर गोपाङ्गनाओंके हृदयमें प्रेमकी हिलोरेंसी उठने लगीं। उन्हें इतना आनन्द हुआ, कि वे उसे सहन करनेमें समर्थ न हो सकीं। अपने आवेगको सम्हाल न सकीं। सहसा सबकी सब संभ्रमके सहित स्वतः ही उठकर खड़ी हो गयीं। जैसे मृतक देहमें पुनः प्राण आजायँ और निश्चेष्ट बनी इन्द्रियाँ पुनः साथही सभी प्रकारकी चेष्टायें करने लगें, इसी प्रकार उनके मुरझाये मुखोंपर एक साथ आनन्द, उत्साह, प्रेम और अनुरागकी चेष्टायें स्पष्ट झलकती हुई दिखाई देने लगीं। उनका संकुचित हुआ मनमुकुर सहसा श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनोंसे खिल उठा। जैसे अत्यन्त भूखा प्राणी सहसा अपने सम्मुख सुखद स्वादिष्ट आहार पाकर उसपर टूट पड़ता है, जैसे अत्यन्त पिपासित मीठा स्वादिष्ट जलपातेही उसे दोनों अंजुलियोंसे भर भर कर पीने लगता है, जैसे लोहेकी सुई चुंबकको देखतेही उससे चिपट जाती है, जैसे सूर्यके उदय होतेही उसपारसे आये हुए चकवासे चकवी लिपट जाती है, उसी प्रकार कृपणके खोये हुए धनको पुनः प्राप्त होनेके समान अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करती हुई वे गोपिकायें चारों ओरसे श्यामसुन्दरको घेरकर उनसे लिपट गयीं। उन्होंने कृपणके धनके समान उन्हें कसकर पकड़ लिया, कि कहीं ये पुनः भाग न जायँ। उस समय उनकी विचित्र दशा थी। सबके अंग रोमाञ्चितहो रहे थे। प्रेमके आवेगमें उनके शरीरमें कँपकपी उठ रही थी। कर थर थर काँप रहे थे। प्रियके स्पर्शसे हृदय बाँसों उछल रहा था। अंगअंगमें सिहरन उठ रही थी। सभी इन्द्रियाँ रसपान करनेको उतावली हो रहीं थीं। संसारमें जिसे प्यारेका सुखद स्पर्श प्राप्त हो गया, उसे प्राप्त करने

को रह ही क्या गया। जिसे प्यारेका स्पर्श प्राप्त नहीं है, उसके जप, तप, योग अनुष्ठान, धारणा, ध्यान समाधि तथा अन्य सभी साधन व्यर्थ हैं, निरर्थक हैं। गोपिकायें अपने हृदय धनको पाकर परमप्रमुदित हुईं, सुखी हुईं, आनन्दित हुईं। उन्होंने श्यामसुन्दरके संयोग सुखका किस प्रकार आस्वादन किया! मुनियो! इसके वर्णनकी मुझमें शक्ति तो है नहीं, योग्यताभी नहीं, फिरभी कहूँगा। आप मनाभी करेंगे तो भी न मानूँगा, क्योंकि उसका स्मरण करना यही जीवका एकमात्र परमातिपरम पंचम पुरुषार्थ है।

छप्पय

मोर मुकुट सिर धारि गरे बैजन्ती माला।
लखे शरद ब्रजचन्द्र भई प्रमुदित ब्रजबाला॥
करें निछावर प्रान सिहावें सब तृन तोरें।
प्रेम न अङ्ग समाय उठें हियमाँहिं हिलोरें॥
खावें पीवें युगलकर, रूपाशव नयननि भरत।
भूखी प्यासी प्रेमकी, आलिङ्गन चुम्बन करत॥

श्याम संस्पर्शजन्य सुख

[९९०]

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २३ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

कोई हरि कर धारि कपोलनि परम सिहावैं ।
कोई पुनि पुनि पकरि प्रेमतैं हिये लगावैं ॥
कोई चर्वित पान कान्हको लेहिं चबावैं ।
कोई हरि पद हृदय धारि संताप मिटावैं ॥
भ्रुकुटि कमान कटाक्ष सर, मारैं काटैं द्विज अधर ।
बींधैं बधिकिनिके सरिस, बाँधत करतैं पकरि करि ॥

सुखानुभूति मनसे इन्द्रियों द्वारा होती है । हाथ, पैर, वाणी, गुदा और शिश्न इन पांच इन्द्रियोंसे कर्म किये जाते हैं, इसीलिये इनको कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं । आँख, कान, नासिका, रसना और

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण दर्शन के परमोल्लाससे परमानन्दित होकर उन व्रजवनिताओंका विरहताप उसी प्रकार दूर हो गया, जिस प्रकार पुरुष सुषुप्ति अवस्थाके अभिमानी प्राज्ञ को पाकर सब तापोंसे छूट जाता है । अर्थात् सुषुप्ति अवस्थामें सभी चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है ।

त्वचा इन पाँचोंके द्वारा विषयोंका ज्ञान होता है इसलिये ये ज्ञानेन्द्रियाँ कहाती हैं। संसार में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचभूत हैं। सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति स्थिति इन्हींसे है। अतः यह जगत् पाँचभौतिक या प्रपञ्च कहलाता है। इन पंचभूतोंके गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच क्रमशः गुण हैं। इन पाँचोंके द्वारा ही पाँच इन्द्रियोंसे जीव सुख दुखका अनुभव करता है। जैसे सुगन्ध दुर्गन्धका अनुभव नासिकासे होता है। रसका रसना, रूपका चक्षुओंसे, शब्दका कानोंसे और स्पर्शका त्वचासे। शब्द, रूप, रस और गंध इन चार विषयोंका उपभोग शरीरके एक-एक ही अंगों से होता है। जैसे शब्द कान ही सुन सकते हैं, आँखें शब्दों को नहीं सुन सकतीं। भली प्रकार कानोंको बन्द कर दो, तो शब्दके होते हुए भी शब्द सुनाई न पड़ेगा। इसी प्रकार रूप को आँखें ही देख सकती हैं। आँखोंको बन्द कर लो तो सुन्दरसे सुन्दर रूप सम्मुख हो, दिखाई न देगा। रसका अनुभव रसना ही कर सकती है। कितना भी स्वादिष्ट पदार्थ हो उसे आँख में भरो या कानमें भरो ये कुछ भी उसका स्वाद नहीं ले सकते। सुगन्ध दुर्गन्धकी अनुभूति नासिका से ही हो सकेगी। कितनी भी सुगन्ध हो नासिकाको कसकर बन्द कर लो कुछ भी प्रतीत न होगा। सारांश यह है, कि शरीरके एक अङ्गमें रहने वाली एक इन्द्रिय एक ही विषयका रसास्वादन करा सकती है। एक ही गोलकसे अपने विषयको ग्रहण कर सकती है हाँथों से दोनों नेत्रोंको मींचलो कुछ दिखाई न देगा। क्योंकि देखनेकी शक्ति सम्पूर्ण अङ्गोंके छिद्रोंमें नहीं है। ललाटके नीचे दो काली-काली कुटिल भौंहोंके नीचे बरौनियोंसे युक्त पलक है। उन पलकों के पीछे दो चमकीले शीशा चढ़े दो छिद्र हैं। नासिका उन दोनोंका विभाग करती है। एक दायाँ नेत्र एक बायाँ नेत्र। जैसे

एक मेढ़ दो खेतोंका विभाग करती है, वैसे ही दो आँखोंकी नासिका मेढ़ है। एक उसके ऊपर पलक है एक नीचे। ये दोनों पलक मानों नेत्र रूप घरोंकी किवाड़ें हैं। पलकोंको मार लो तो भी कुछ दिखाई नहीं देगा। रसनाकी किवाड़े ओठ हैं। नासिका और कान बिना किवाड़ेके घर हैं। इन्हें हाथोंमे बन्द किया जा सकता है, क्योंकि इनके छिद्र शरीरके एक कोने में हैं छोटे हैं परमित हैं। इन चार ज्ञानेन्द्रियोंके उपभोगके लिये शरीरमें बहुत थोड़ा-थोड़ा संकुचित स्थान मिला है, किन्तु स्पर्शेन्द्रियने सम्पूर्ण शरीर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है। पैरकी छोटी उँगली पर चींटी चढ़े तुरन्त स्पर्शेन्द्रिय मनसे कह देगी। आँख कान, नाक, मुँह, हाथ, पैर शिश्न, गुदा, नाभि, हृदय यहाँ तक कि शरीरमें एक तिल भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ स्पर्शेन्द्रिय न व्याप्त हो। बाहर भी और भीतर भी। बरफका शीतल शीतल जल पिओ। मुखसे उदर तक लीक करता हुआ जायगा। स्पर्शेन्द्रिय उसका बोध करावेगी। सम्पूर्ण शरीरमें भीतर बाहर स्पर्शेन्द्रिय उसी प्रकार व्याप्त है जैसे दूधकी रग-रगमें घृत व्याप्त है। शरीरके जिस अङ्गसे भी स्पर्शेन्द्रिय चली जायगी, वही व्यर्थ बन जायगा। उसीका नाम पक्षाघात (लकवा) है। हाथ ज्योंका त्यों बना है। स्पर्शेन्द्रिय चली जाय, हाथ व्यर्थ है काम कर नहीं सकता। इसीलिये सभी इन्द्रियोंमें स्पर्शेन्द्रिय व्यापक है, श्रेष्ठ है। बहुतसे अंधे वस्तुको छूकर उसका रङ्ग बोल देते हैं। जितना भी रति सुख आदि होता है, सब स्पर्श न किया जाय, तो रति सुख प्राप्त ही नहीं हो सकता। इन सब इन्द्रियोंको स्पर्शेन्द्रियकी सहायता लेनी पड़ती है। जैसे गाना हो रहा है। तो उस गायनकी ध्वनि जब तक हृदयसे स्पर्श न करेगी तुम कानोंसे सुनते रहो रस नहीं आयेगा। जब वह गायन हृदयसे स्पर्श करे तभी सुख देगा। लोग कहते भी हैं बड़ा हृदयस्पर्शी

त्वचा इन पाँचोंके द्वारा विषयोंका ज्ञान होता है इसलिये ये ज्ञानेन्द्रियाँ कहाती हैं। संसार में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचभूत हैं। सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति स्थिति इन्हींसे है। अतः यह जगत् पाँचभौतिक या प्रपञ्च कहलाता है। इन पंचभूतोंके गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच क्रमशः गुण हैं। इन पाँचोंके द्वारा ही पाँच इन्द्रियोंसे जीव सुख दुखका अनुभव करता है। जैसे सुगन्ध दुर्गन्धका अनुभव नासिकासे होता है। रसका रसना, रूपका चक्षुओंसे, शब्दका कानोंसे और स्पर्शका त्वचासे। शब्द, रूप, रस और गंध इन चार विषयोंका उपभोग शरीरके एक-एक ही अंगों से होता है। जैसे शब्द कान ही सुन सकते हैं, आँखें शब्दों को नहीं सुन सकतीं। भली प्रकार कानोंको बन्द कर दो, तो शब्दके होते हुए भी शब्द सुनाई न पड़ेगा। इसी प्रकार रूप को आँखें ही देख सकती हैं। आँखोंको बन्द कर लो तो सुन्दरसे सुन्दर रूप सम्मुख हो, दिखाई न देगा। रसका अनुभव रसना ही कर सकती है। कितना भी स्वादिष्ट पदार्थ हो उसे आँख में भरो या कानमें भरो ये कुछ भी उसका स्वाद नहीं ले सकते। सुगन्ध दुर्गन्धकी अनुभूति नासिका से ही हो सकेगी। कितनी भी सुगन्ध हो नासिकाको कसकर बन्द कर लो कुछ भी प्रतीत न होगा। सारांश यह है, कि शरीरके एक अङ्गमें रहने वाली एक इन्द्रिय एक ही विषयका रसास्वादन करा सकती है। एक ही गोलकसे अपने विषयको ग्रहण कर सकती है हाँथों से दोनों नेत्रोंको मींचलो कुछ दिखाई न देगा। क्योंकि देखनेकी शक्ति सम्पूर्ण अङ्गोंके छिद्रोंमें नहीं है। ललाटके नीचे दो काली-काली कुटिल भौंहोंके नीचे घरोनियोंसे युक्त पलक हैं। उन पलकों के पीछे दो चमकीले शीशा चढ़े दो छिद्र हैं। नासिका उन दोनोंका विभाग करती है। एक दायाँ नेत्र एक बायाँ नेत्र। जैसे

एक मेढ़ दो खेतोंका विभाग करती है, वैसे ही दो आँखोंकी नासिका मेढ़ है। एक उसके ऊपर पलक है एक नीचे। ये दोनों पलक मानों नेत्र रूप घरोंकी किवाड़ें हैं। पलकोंको मार लो तो भी कुछ दिखाई नहीं देगा। रसनाकी किवाड़े ओठ हैं। नासिका और कान बिना किवाड़के घर हैं। इन्हें हाथोंसे बन्द किया जा सकता है, क्योंकि इनके छिद्र शरीरके एक कोने में हैं छोटे हैं परमित हैं। इन चार ज्ञानेन्द्रियोंके उपभोगके लिये शरीरमें बहुत थोड़ा-थोड़ा संकुचित स्थान मिला है, किन्तु स्पर्शेन्द्रियने सम्पूर्ण शरीर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है। पैरकी छोटी उँगली पर चींटी चढ़े तुरन्त स्पर्शेन्द्रिय मनसे कह देगी। आँख कान, नाक, मुँह, हाथ, पैर शिश्न, गुदा, नाभि, हृदय यहाँ तक कि शरीरमें एक तिल भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ स्पर्शेन्द्रिय न व्याप्त हो। बाहर भी और भीतर भी। बरफका शीतल शीतल जल पिओ। मुखसे उदर तक लीक करता हुआ जायगा। स्पर्शेन्द्रिय उसका बोध करावेगी। सम्पूर्ण शरीरमें भीतर बाहर स्पर्शेन्द्रिय उसी प्रकार व्याप्त है जैसे दूधकी रग-रगमें घृत व्याप्त है। शरीरके जिस अङ्गसे भी स्पर्शेन्द्रिय चली जायगी, वही व्यर्थ बन जायगा। उसीका नाम पक्षाघात (लकवा) है। हाथ ज्योंका त्यों बना है। स्पर्शेन्द्रिय चली जाय, हाथ व्यर्थ है काम कर नहीं सकता। इसीलिये सभी इन्द्रियोंमें स्पर्शेन्द्रिय व्यापक है, श्रेष्ठ है। बहुतसे अंधे वस्तुको छूकर उसका रङ्ग बोल देते हैं। जितना भी रति सुख आदि होता है, सब स्पर्श न किया जाय, तो रति सुख प्राप्त ही नहीं हो सकता। इन सब इन्द्रियोंको स्पर्शेन्द्रियकी सहायता लेनी पड़ती है। जैसे गाना हो रहा है। तो उस गायनकी ध्वनि जब तक हृदयसे स्पर्श न करेगी तुम कानोंसे सुनते रहो रस नहीं आवेगा। जब वह गायन हृदयसे स्पर्श करे तभी सुख देगा। लोग कहते भी हैं बड़ा हृदयस्पर्शी

गायन हुआ।" "इनकी बात बड़ी मर्मस्पर्शी है।" योगी भी ब्रह्मका अन्तःकरणमें स्पर्श करते हैं 'ब्रह्मसंस्पर्शी भरनते' स्पर्श करने से प्रेममें बड़ा वृद्धि होती है। गौएँ पैदा होते ही अपने बच्चोंको चाटती हैं। ज्यों ज्यों चाटती हैं, त्यों त्यों उनका स्नेह और बढ़ता है। आजकल भौतिकवादी प्रसव करने वाली गौकी आँखों में पट्टा बाँध देते, बच्चे का पैदा होते ही गौको चाटने नहीं देते, न बच्चेको उसके स्तनसे स्पर्श कराते हैं। पृथक् ले जाकर उसे पालते हैं दूसरी गौओंका दूध पिलाते हैं। इससे न बच्चेका गौमें प्रेम होता है न गौका बच्चे में। क्योंकि प्रेम तो स्पर्शसे ही बढ़ता है। मातायें बच्चेको स्पर्श न करें, उन्हें अपने स्तनोंका दूध न पिलावें तो उनका बच्चेमें प्रेम न बढ़ेगा। जितना ही उसे गोदीमें लेकर खिलावेंगी मुख चूमेंगी उतना ही प्रेम बढ़ेगा। सब अङ्गोंके छूनेकी अपेक्षा मुखको छूनेसे प्रेम अत्यधिक बढ़ता है। इसीलिये बच्चोंको प्यार करते समय बारबार उनका मुख चूमते हैं। मातायें सदा बच्चेके मुखको अपने मुखसे सटाये रखती हैं। सोते समय भी उसके मुख पर मुख रखकर ही सोती हैं। कोई कितना भी रुग्ण हो, माता-पिता उसके मुख पर मुख रख कर सोते हैं तो रोगी बच्चेको बड़ा सुख होता है। हम अपने गुरुजनोंके पैरोंको स्पर्श करते हैं, तो हमें कितना आन्तरिक सुख होता है, बच्चे माताकी गोदीमें सटकर क्यों बैठना चाहते हैं ? वे भूमि पर न बैठेंगे गोदी में ही बैठेंगे। लेटेंगे तो गोदोंमें ही लेटेंगे। क्योंकि उन्हें माता-पिताके शरीर स्पर्शमें अत्यत सुख होता है। यही बात शृङ्गार रसमें है। परस्पर रूप देखनेमें, एक दूसरेके शब्द सुननेमें, एक दूसरेके शरीर की गंध सूंघनेमें सुख तो होता ही होगा, किन्तु यदि स्पर्श न किया जाय, तो सब सुख व्यर्थ है। अतः रस शास्त्रमें स्पर्श सुखको ही सर्व श्रेष्ठ सुख माना है। प्रियके स्पर्शमें कितना सुख है यह कहनेकी

बात नहीं है। कहनेसे इसका महत्व घट जायगा। और कहा भी नहीं जायगा। प्रेम साधनाका चरम लक्ष्य है, प्रियका स्पर्श प्राप्त करना। प्यारे हमें स्पर्श कर लें या हमें प्यारेका स्पर्श करनेका सुयोग प्राप्त हो जाय, दोनों एकही बातें है। छू-छू करना, दूर रहो, दूर रहो करना ये सब नियमकी बातें हैं। समाज व्यवस्थामें नियमकी भी आवश्यकता होती है, किन्तु प्रेममें नियम रहता नहीं। प्रेमका तो लक्ष्य ही है, प्रियतमके साथ एक हो जाना। उनके और अपने अङ्गोंको एकमें मिला देना। जहाँ एकत्व नहीं—अद्वैत नहीं—वहाँ सुख नहीं शांति नहीं रसानुभूति नहीं। वहाँ तो भय है द्वैत से भय होता ही है। एकत्वमें ही सुख है। वह एकतत्व बिना ब्रह्मसंस्पर्शके कैसे प्राप्त हो सकता है? वे धन्य हैं जिन्हें चिरकालकी प्रतीक्षाके अनन्तर प्यारेका स्पर्श सुख प्राप्त हुआ है।

सूतजी कहतेहैं—"मुनियो! श्रीकृष्णको सहसा अपने बीच में पाकर वे समस्त गोपिकायें रोना धोनातो सब भूल गयीं। उन्हें स्पर्श करनेके लिये दौड़ीं। प्यारेको छू-छू कर उनके प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित करने लगीं। किसीने दौड़कर अपने दोनों हाथों की गुदगुदी कोमल कोमल लाल लाल कमलकी पंखुड़ियोंके सदृश अपनी हथेलियोंसे उनके करकमलको कसकर पकड़ लिया और प्रेमके कोपसे बोलीं—"छलिया, धूर्त, कितव! देखें अब तुम कैसे भाग सकते हो?"

कोई उनकी सुचिक्कण, सर्पके शरीर के सदृश चंदन चर्चित गुदगुदी भुजाको अपने कंधेपर रखकर स्वयं उनकी बाहुपाशसे बंधकर कहने लगी—"बोलो अबतो नहीं छोड़ोगे?"

किसी ने देखा—सबसे अधिक स्पर्श शक्ति जिह्वामें है प्यारे की जिह्वासे लगी कोई वस्तु इस मेरी लपलपाती जिह्वाको मिल जाय, तो इस जीभकी तपन बुझ जाय। प्यारे मंद मंद मुसकराते

हुए पान चबा रहे थे। उसने आगे अंजलि करदी। यद्यपि अपना उच्छिष्ट किसीको देना शास्त्र में निषेध है, किसीका उच्छिष्ट खाना भी पाप है, किन्तु जो भगवान्‌के उच्छिष्टको उच्छिष्ट बताता है, वह महापापी है। भगवान् के उच्छिष्ट किये बिना—उनका भोग लगाये बिना—जो खालेता है, वह पापको खाता है। कीड़ोंको चबाता है। अपनी भक्ता अनुरक्ता गोपीकी अञ्जलिको देखकर आधा चबाया हुआ पान श्यामसुन्दरने उसकी अंजलिमें उगल दिया। वह उस अधरामृत उच्छिष्ट ताम्बूलको खागयी और धन्य हो गयी।

एकके हृदयमें बड़ी पीड़ा हो रही थी, उसमें से मानों अग्निकी लपटें निकल रहीं हों, उसने देखा यहाँ अब कौनसी औषधि मिलेगी। चरणोंको पसारे हुए श्यामसुन्दर बैठे थे। शरदकी शीतल शीतल बालुकामें नंगे पैरों से आये थे पैर ठिठुर रहे थे। ऐसे हो रहे थे मानों हिमकण हों। उसने उन्हें उठाकर अपनी छाती पर रखलिया। संतप्त हृदय शीतलहो गया। अत्यन्त कोमल वस्तु यदि ठंडी हो और मीठी भी हो, तो वह हृदयमें लकीर करती हुई अत्यन्त सुखको पहुँचाती है, जैसे पिस्ता और केशर-पड़ी हुई मलाई की बरफ दाँतों को कंपाती हुई, मुखको मीठा और शीतल करती हुई कंठमें गुदगुदी—सी करके हृदयको हर्षित बना देती है। उन सुखद, शीतल, कमलसे भी अधिक कोमल चरणों के संस्पर्श से चेरीके चित्तका चांचल्य चला गया।

कोई गोपी प्यारेके प्रति अपना प्रणय कोप प्रदर्शित करने लगी। सैनों ही सैनोंमें संकेत करती हुई भ्रुकुटि रूपी कमानपर कटाक्ष रूपबाण चढ़ाकर, अपने दाँतोंसे अपने नीचेके ओठको काटकर, आँखोंकी पुतलियों को तरेरकर, आधे घूँघटकी ओटसे चोट मारने लगी। वधिकिनीके सदृश बनवारीको बींधनेके लिये बारबार दृष्टि मिलाने लगी।

कोई अत्यन्त भूखी प्यासी अनाथिनी दीना अबलाके सदृश श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्द मकरन्दका पान करनेके लिये अपलक भावसे उनकी ओर देखतीकीदेखती उसी प्रकार आत्मविस्मृत बन गयी, जैसे भक्तगण भगवान्‌के चरण कमलोंको देखते देखते आत्मविस्मृत बन जाते हैं।

किसी किसीने सोचा—"इस बाह्य स्पर्शमें उतना सुख नहीं है, जितना अन्तः स्पर्शमें है। अतः वह मोहनकी माधुरी मनोहर मूर्तिको नयन छिद्रों द्वारा अपने अन्तः करणके भीतर खींच ले गयी और शीघ्रतासे उसने अपने पलकरूपी कपाटों को बंदकर लिया कि ये चोर कहीं निकलकर भाग न जायँ। हृदयके भीतरले जाकर वहाँ उनको कसकर दृढ़ आलिङ्गन करके कहनेलगी—बोलो, अब बताओ अब कैसे भाग जाओगे। मैंने अपने अन्तःकरणकी अँधेरी काल कोठरीमें अपनी भुजारूपी रज्जुसे कसकर तुम्हें बाँधदिया है। चोर शिरोमणि! बहुत दिनोंमें पकड़में आये हो। अब तुम्हारी सब चौकड़ी भूल जायगी।" इसप्रकार श्रीकृष्ण का मानसिक आलिंगन करते करते उनके रोयें खड़े हो गये, वे योगनियोंके सदृश समाधिमें निमग्न होकर इस संसारको भूल गयीं। वे परमानन्दमें तदाकार हो गयीं, तन्मय बन गयीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे पास शब्द नहीं जिनके द्वारा उन महाभाग्यवती गोपियोंके दिव्यातिदिव्य परम आनन्दोल्लासका वर्णन कर सकूँ। मेरे पास कोई ऐसी उपमा नहीं, जिसके द्वारा उनकी शोभा सौभाग्यकी समानता बता सकूँ। मेरे पास वह अनुभूति नहीं जिसे आपके सम्मुख रख सकूँ। प्यारे का दर्शन, स्पर्श और आलिंगन पाकर वे उसी प्रकार प्रमुदित हुयीं जैसे सिद्ध सिद्धिको पाकर, प्यास से मरता हुआ जलको पाकर, भूखसे तड़पता हुआ स्वादु अन्नको पाकर, जाड़ेसे ठिठुरता जीव अग्निको पाकर, जलमें डूबता नौकाको पाकर और संसार

तापसे छूटने वाला मुमुक्षु पुरुष श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता गुरुको पाकर प्रसन्न होता है। वे चाहती थीं प्यारेके रूपाशवको एक साथ ही पी जायँ, उनकी मधुरिमाको रसना द्वारा चाट जायँ। उनको सदा हृदयसे सटाये ही रहें, कभी बिलग न करें, निरन्तर इन्हें निहारती ही रहें, देखती ही रहें, सदा इसी प्रकार ये हमारे पास बैठे ही रहें, कभी उठकर न जायँ। ऐसे ही हमारी ओर देखकर मन्द-मन्द मुसकराते ही रहें।

इस प्रकार वे सब गोपिकायें श्रीकृष्णके आस पास उन्हें घेर कर उसी प्रकार बैठ गयीं जिस प्रकार साँड़को [illegible] जाती हैं, अथवा कुबेरको घेरकर यक्ष कन्यायें [illegible] अथवा संकर्षणको घेरकर नाग कन्यायें बैठ जाती हैं अथवा पुराण पुरुष परमात्माको घेरकर उनकी शक्तियाँ बैठ जाती हैं। इन सबसे घिरे जैसे ये शोभित होते हैं, वैसे ही श्यामसुन्दर भी उन व्रजवनिताओंसे घिरे हुए शोभित हुए।

शौनकजीने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! फिर जो हुआ, उसे वर्णन करने की मेरी शक्ति नहीं है। आपके चरणोंमें प्रार्थना है आप अब उसे मुझसे न पूछें, मैं कह नहीं सकता।

शौनकजीने उत्सुकताके साथ कहा—"अजी, सूतजी! ऐसा मत करो। देखो, यह बात अच्छी नहीं है। जितना कह सको उतना ही कहो। भगवत् चरित्र तो अपार है। उसका सम्पूर्ण वर्णन कर ही कौन सकता है। अच्छा दर्शन पर्सन तो हो गया दर्शन स्पर्श के अनन्तर जो कुछ हुआ हो, उसे सुनायें।"

हँसकर सूतजी बोले—"अच्छा, महाराज! आप ही बताइये दर्शनस्पर्श के अनन्तर क्या होता है?

शौनकजी बोले—"सूतजी! हम लोग तो नीरस आदमी हैं। स्वाहा स्वाहा करते सब रक्त सूख गया है, आँखोंमें यहाँ

धूँआँ भर गया है। तुम इतनी रसीली कथा सुनाकर हमारे हृदयको हरा कर रहे हो, इसे ही हम अपना अहोभाग्य समझते हैं आप ही बताओ, फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"देखिये, महाराज ! दूरसे ही जब हमें अपना कोई अत्यंत प्यारा दिखाई देता है, तो उसकी चाल ढालसे ही हम प्रथम अनुमान लगा लेते हैं अवश्य ही वही है। समीप आते ही दर्शन करके अंग अंगसे प्रसन्नता फूटने लगती है। दौड़कर उसके चरण पकड़ते हैं। उनके पैरोंको छूते हैं। पैर छूकर अंग स्पर्श करके उन्हें सुन्दरसे सुन्दर आसन पर बिठाते हैं। फिर होती हैं आपसमें प्रेमकी मीठी मीठी अनुरागकी बातें, व्यंग भरी ठठोलियाँ। वे ही सब बातें गोपियों और श्रीकृष्णके बीचमें हुईं। मुनियो ! मैं उनकावर्णन नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। आप मुझे विवश न करें, संकोचमें यत् किंचित् कहता हूँ, मेरा कथन अत्यंत अधूरा होगा, किन्तु जैसाभी हो आप सब समाहित चित्तसे श्रवण करें।

छप्पय

कोई हरि मुख कमल माधुरी नयननि भरि भरि।
होंहिं तृप्त नहिं पानप्रेमतैं पुनि पुनि करि करि॥
नयन रन्ध्रतैं मधुर मूर्ति कोई हिय लावैं।
करैं मानसिक परस परम सुख मनतैं पावैं॥
साधक सद्गुरु पाइकें, आनन्दित अति होत ज्यों।
दरशन करि घनश्यामके, गोपी प्रमुदित भईं त्यों॥

व्रजवनिताओंके व्यंगपूर्वक प्रश्न

(९९१)

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥*

(श्री भा० १० स्कं० ३२अ० १६ श्लो

छप्पय

लै सब सखियनि संग श्याम सरिता तट आये ।
कुसुम कुन्द मन्दार कुमुदिनी लखि हरषाये ॥
कालिन्दी निज करनि बिछाई बालु सुकोमल ।
आसन हित पट प्रिया अंगकोडार्‌यो तिहिँ थल ॥
तहँ बैठे राधारमन, व्रजवनितनिके बीचमहँ ।
सने पदुम पद सखिनिकी, कुचकुंकुमकी कीचमहँ ॥

जीव भटक रहा है प्रिय दर्शनके लिये । कैसे भी प्यारे ! जायँ जीवन सार्थक हो जाय । प्रिय जब मिल जाते हैं, तो

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! व्रजाङ्गनायें वनमा व्यंग पूर्वक पूछ रही हैं—"हे धर्मज्ञ ! हम आपसे ये प्रश्न पू हैं । कुछ लोग तो प्रेम करने वालोंसे प्रेम करते हैं । कुछ ऐसे भी हैं जो इसके विपरीत होते हैं । अर्थात् प्रेम न करने वालोंसे करते हैं, कोई ऐसेभी हैं कि कोई प्रेम करो चाहे न करो दोनोंसे प्रेम नहीं करते । इन तीनोंमें कौनसे श्रेष्ठ हैं । किस पक्षको आप उ समझते हैं, इस बात को बताइये ।

विचित्र हो जाती है। चिरकालसे जो बातें सोच रखी थीं कि उनके मिलने पर यह कहेंगे, वह कहेंगे वे सभी बातें भूल जाती हैं। तब चित्त ऐसा अधीर बन जाता है, कि कुछ निर्णय ही नहीं कर पाते क्या करें, कैसे प्यारेको रिझावें। कौन-सा आसन उनके अनुरूप बिछावें, उन्हें क्या खिलावें कैसे उनका स्वागत सत्कार करें। चित्त चाहता है,कि पथमें बरौनी रहित पलकोंके पाँवड़े बिछा दें, जिससे प्यारेके चरणों में बरौनी चुभ न जायँ। हृदय कमलको ही निकालकर आसनके लिये बिछा दें और अपने अधरामृतको पिलाकर ही प्यारेकी प्यासको बुझा दें। उस समय कहना चाहते हैं कुछ और मुखसे निकल जाता है कुछ। शरीरकी दशा विचित्र हो जाती है, वह कहने कहानेकी दशा नहीं है, अनुभव गम्य है। जिसे कभी प्रियका संयोग ही नहीं हुआ, जिसने अत्यंत उत्कंठा, उत्सुकताके साथ प्रियके आगमन पर उनका सर्वस्व समर्पित करके स्वागत सत्कार ही नहीं किया, उसके सम्मुख इस प्रसंगको कहना वैसा ही है जैसे दो चार वर्षकी अबोध बालिकाके सम्मुख सुरति सुखकी बातें कहना। प्रिय मिलनमें दर्शन-स्पर्शके अनंतर बातें होती हैं। वे बातें बिना अर्थ की व्यर्थ होती हैं। उन सबका एक ही अर्थ होता है। तुम मुझे कितना प्यार करते हो ? उनका भी एक ही उत्तर है, मैं तुम्हारे प्रेम भारको सम्हालनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ, तुम्हारा ऋणियाँ हूँ। इन्हीं बातोंको विविध भाँतिसे कहा जाता है। घी, आटा और चीनी तीन ही पदार्थ हैं। इन्हींकी भाँति भाँतिकी मिठाइयाँ बन जाती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जहाँ श्यामसुन्दर सखियोंके मध्यमें प्रकट हुए थे, वह स्थान यमुनाजी के किनारे से कुछ दूर था। एकान्त क्रीड़ाके लिये सलिलका सान्निध्य—यमुनाका पावन पुलिन—आवश्यक है, अतः प्रियाओंके कंठोंमें गलबैयाँ डालकर श्यामसुन्दर उस स्थानसे कुछ हटकर प्रकृति निर्मित रास-

स्थलीके निकट—यमुना तट पर—आये। अपने मुखकी दशों दिशाओं को आलोकित करती हुई वे प्रज्ञाङ्गना श्री भगवान् के आस पास ऐसी ही प्रतीत होती थीं, मानो नीलाकाशमें खिले हुए पूर्णचन्द्रके आसपास तारायें घिर रही हों अथवा कमलकी कर्णिकाको कोमल पंखुड़ियाँ घेरे हुए हों रासस्थलीकी शोभा अपूर्व थी, कालिन्दी भी आज अभिसारिका बनी हुई थीं। उनके भीतर कुमुदनी के पुष्प खिल रहे थे, मानो उनके रोमाञ्च हो रहे हों। वे अपनी तरंगरूपी बाहुओंसे प्रियका आलिंगन करनेको उत्कंठित-सी प्रतीत हो रही थीं। श्यामका निरन्तर चिंता करते करते वे भी श्यामा हो गयीं थीं, वे अपने आवर्त रूपी नाभिको दिखाकर अच्युतका आह्वानकर रहीं थीं चन्द्रकी किरणों के प्रतिबिम्बित होनेके कारण मानों नील जल रूप साड़ीके भीतरसे उनका मुखचन्द्र दिखाई दे रहा था प्यारे को बिठाने के लिये उन्होंने अपनी तरंगरूपी बाहुओंसे मानो बालुका का परम मृदुल सुकोमल आसन बिछा दिया हो पुलिनके चारों ओर सुन्दर कुन्द, मन्दार, केतकी, पाटल आदि सुगंधित सुमन खिल रहे थे। मालती, माधवी, मल्लिका, यूथिका चम्पा, जाति तथा अन्य भी बेल जातिकी लताओं के विस्तृत वितान बने हुए थे। असंख्यों सघन निकुन्जें बनीं हुई थीं जिनमें कोमल, मृदुल, सुखकर, बालुका बिछी हुई थी, जिनमें किसलय और सुगंधित पुष्पोंकी सुखद शैयायें बिछी हुई थीं। शीतल मंद सुगन्धित समीर सशंकित भावसे बह रहा था। चित्र विचित्र विहंग अपने घोंसलोंमें पड़े पड़े प्रभुकी प्रतीक्षाकर रहे थे पादप अपने सिरपर सुमन लादे श्यामसुन्दरके स्वागतकी मानो प्रतीक्षा कर रहे हों। मधुकर अभीसे माधवके आगमन उपलक्ष में गीत गा रहे थे। शारदीय चन्द्रकी कमनीय किरणों वनस्थली चमचम करके चमक रही थी, उस स्थान पर अपने

ाश्रिता व्रजवनिताओंको लेकर व्रज-चन्द्र आये।

श्रीकृष्ण दर्शनाह्लादसे जिनके मुख कमल विकसित हो रहे प्रिय स्पर्शसे जिनके रोंयें खड़े हो रहे हैं। श्यामके सुहलानेसे नके शरीरोंमें सिहरन उठ रही है, कँप कँपी हो रही है। ामके सटा लेनेसे जिनके शरीरका संताप शान्त हो गया है, गोपिकायें ज्ञानकाण्डकी श्रुतियों के समान पूर्ण मनोरथा— त कामा—बन गयीं थीं। श्रीकृष्ण भी उस पुण्य पुलिनकी भा देखकर मुग्ध हुए। स्नेह भरित हृदय से बोले—"यहीं ं देर बैठकर प्रेमकी मीठी मीठी बातें हों? बोलो तुम्हारी ा सम्मति है?"

उनमेंसे एक बोली—"श्यामकी सम्मति और सखियोंकी मति दो थोड़े ही हैं, जो श्यामकी सम्मति वही सखियोंकी मति, यहीं आसन बिछै।"

ीने सोचा—श्यामका आसन भी उनके अनुरूपही हो। का आसन मृदुल सुखकर तथा सुगन्धि युक्त हो। मदनमोहन हृदयपर मली हुई केसरकी कीचकी गंध अत्यन्तही ि.य है।" सब सोचकरप्रियाजीकी जिस पंचरंगी ओढ़नीमें कुचकुंकुम कीच सनी हुई थी। उस ओढ़नीको ही दुहरी करके बालूके : बिछादिया। कामशास्त्रके उपयुक्त आसन पाकर योगियोंके ा कमलपर कुछ कालके लिये कठिनतासे बैठनेवाले कृष्ण क और क्रीड़ाके सहित सहर्ष उस गोपियोंके ओढ़े हुए ानपर बैठ गये। उनसे सटकर सखियाँभी बैठ गयीं। प्रियाजी नके सुन्दर सुकोमल अरुणवरणके चरण अनुराग और ाद सहित अपने अंकमें स्थापित करलिये और वे उन्हें शनैः अपनी सुकोमल उँगलियों से सुहलाने लगीं। जो रकी समस्त शोभाके एकमात्र आश्रय हैं, जो आनन्दके

स्रोत हैं, जो सौन्दर्यकी खानि हैं, जो प्रेमके पयोधि हैं, वे श्यामसुन्दर साकार सुकुमार शरीर धारण किये श्रुतियोंके सा रूप होकर उस रासस्थलीमें सखियोंके संग सुशोभित हुए।

दोनोंही ओरसे प्याले भरे जा रहे थे, एक दूसरेके रूपाश्व पान करते करते किसीकी तृप्ति ही नहीं होती थी, वाणी रुद्ध कौन प्रश्न करे कौन उत्तर दे । फिरभी प्रेममें प्रश्नोत्तर होने चाहिए। प्रश्नोत्तर प्रेमका प्रधान अंग है, इससे प्रेमकी श्रीवृ होती है। गोपिकाओंके लिये कामोद्दीपनकी समस्त सामग्रि समुपस्थित थीं। श्यामसुन्दर उनके अधीन थे । वे अनुराग भ दृष्टिसे व्रजदेवियोंको देख रहे थे। वे भी मधुर मुस्कानमय ली कटाक्ष और भ्रूविक्षेप द्वारा श्यामसुन्दरके आननको अत्यधि चमत्कृत कर रहीं थीं। उनके चरणाविन्दोंको अपनी गोदमें र कर परमसुखदस्पर्शको अनुक्षण अनुभवकर रहीं थीं। उन पाणिपल्लवको सुकोमलकरों से दबाकर अलौकिक रस आस्वादन कर रहीं थीं । इस प्रकार प्यारेसे आशातीत सम्मा पाकर और अपना सर्वस्व समर्पण रूप सम्मान प्रदान कर उन्होंने कुछ प्रश्न करने आरम्भ किये। गोपियोंने कहा—"श्या सुन्दर ! हम तुमसे कुछ पूछें उत्तर दोगे ?"

अनुराग रसको सबके विकसित वदनों पर छिड़कते हुए व वारी बोले—"हाँ ! पूछो ?"

गोपियोंने कहा—"बुरा तो न मनोगे ?"

हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—"बुरामाननेकी कौनसी ब है ? प्रेममें भला, कहीं बुरा माना जाता है। तुम्हेंजो पूछना ह निःसंकोच होकर पूछो। मैं यथामति उसका उत्तर दूँगा।

गोपिकाओं ने कहा—"हम पूछना यह चाहती हैं, कि संसार

तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं। उन तीनोंमे तुम किसे श्रेष्ठ समझते हो ?"

श्यामसुंदरने कहा —"उन तीनोंकी व्याख्या भी तो करो,वे कौन कौन से तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं ?"

गोपियोंने कहा—"देखिये, एकतो ऐसे लोग होते हैं, जो प्यार करनेवालोंसे प्यार करते हैं। अर्थात् तुम हमें चाहते हो हम तुम्हें चाहते हैं। दोनों ओरसे प्रेम होता है। दूसरे प्रकार के ऐसे लोग होते हैं, कि उनसे चाहे कोई प्रेम न भी करो तो भी वे प्रेम करते ही हैं। और तीसरे ऐसे होते है, कि उनसे चाहें कोई प्रेम करो या न करो वे किससे प्रेम करते ही नहीं। इन तीनों में से आप किस पक्षको श्रेष्ठ समझते हैं ? आपके मतमें इनमें से कौन-सा श्रेष्ठ है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो !सर्वान्तर्यामी श्यामसुन्दर सखियों के मनोगत भावोंको समझ गये। उन्होंने समझ लिया, ये मेरे अपराधको प्रश्न करके मेरेही मुखसे सिद्ध कराना चाहती हैं, अतः वे भी प्रश्नोंको सुनकर मुसकरा गये। सम्हलकर उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।

मुनियो ! गोपियोंने कुछ आक्षेपकी दृष्टिसे ये प्रश्न नहीं किये थे। मैं इस बातको बार बार बता चुका हूँ और आगे भी बार बार बताऊँगा, आप इसे मेरे कथनरूप पदकी टेक समझ लें। प्रेममें शब्द कुछ कहे जाते हैं, उनका अर्थ कुछ लगाया जाता है। प्रेमकी वृद्धिके लिये जो बातें की जाती हैं वे ऊपर से देखनेमें तो अटपटी-सी लगती हैं, किन्तु उनके भीतर रसभरा रहता है। महानुभावो, गोपियोंके इन प्रेममें पगे पावन प्रश्नोंका प्रभुने कैसे कौशलसे स्पष्ट और दो टूक उत्तर दिया। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब समाहित चित्तसे इसे श्रवण करनेकी कृपा करें।

छप्पय

पूछें करिके व्यंग श्याम ! इक बात बताओ।
तीन भाँतिके पुरुष साधु को शक मिटाओ॥
एक प्रेम लखि करहिं उभय पत्नन तिनि प्रेमहु।
करें तीसरे नहीं उभय पत्नन तिनि नेमहु॥
इनमें कौन निकृष्ट हैं, को मध्यम को श्रेष्ठतम।
नीति निपुण तुम धर्मविन, तातें पूछें तुमहिं हम॥

———

श्रीभगवान् द्वारा गोपियोंके प्रश्नोंका उत्तर

(९९२)

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्,
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथा धनो लब्धधने विनष्टे,
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ३२ अ० २० श्लो०)

छप्पय

बोले मुनिकें श्याम सुनहु सखि ! सत्य बताऊँ ।
नीति धर्मको मर्म यथावत तुम्हे सुनाऊँ ॥
करें स्वार्थ हिय धारि प्रेम ते नर व्यापारी ।
नहीं तहां सौहार्द प्रेम है यह व्यवहारी ॥
करें प्रेम निरपेक्ष जे, ते कृपालु पितु मात हैं ।
तहाँ धर्म कैतव रहित, बन्धु सुहृद् ते तात हैं ॥

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपियोंके प्रश्न करनेपर भगवान् कह रहे हैं—सखियो ! मुझे जो लोग भजते हैं, मैं उन्हें भी नहीं भजता । इसलिये कि उनकी मनोवृत्ति निरन्तर मेरी ओर लगी रहे, जिस प्रकार किसी निर्धनको बहुत-सा धन प्राप्त हो जाय और फिर विनष्ट हो जाय, तो वह निरन्तर धनकी चिन्तामें निमग्न होकर इस संसारको सर्वथा भूल जाता है, उसीका स्मरण करता रहता है ।

वस्तु या तो सभी बहुमूल्य हैं या सभी अमूल्य हैं। क्योंकि सभीकी उत्पत्ति पंचभूतोंसे है और पंचभूतोंको किसीने मोल नहीं ले लिया है। किन्तु व्यवहारमें इन वस्तुओंका मूल्य देश, काल और पात्रके अनुसार घट बढ़ जाता है। गङ्गा किनारे सम भूमिमें इतने आम होते हैं, कोई पूछता ही नहीं। वे ही जब ऐसे शीत प्रधान देशोंमें ले जाये जाते हैं जहाँ आम होते ही नहीं, वहाँ उनका मूल्य बढ़ जाता है। गङ्गा किनारे गङ्गाजीके जलका कोई मूल्य ही नहीं, किन्तु वही मरुभूमिमें ले जाया जाय, तो उसकी एक-एक बिन्दुके लिये भावुक भक्त तरसेंगे। यह तो देशजन्य दृष्टान्त रहा। कालजन्य जैसे जाड़ेमें कोई बरफ बेचे तो उसे कौन लेगा। उसे ही यदि वैशाख ज्येष्ठ की गरमीमें बेचे, तो सब लोग बड़ी उत्कंठा और आग्रहसे लेंगे। इसी प्रकार पात्रको समझना चाहिये। छोटा साधारण आदमी किसी वैद्यसे कोई ओषधि माँगने जाय, तो वह बिना मूल्य दे देगा। उसीको कोई धनिक माँगने जाय, तो उसका बहुमूल्य ले लेगा। वस्तु एक ही होती है स्थिति और भावनाके अनुसार उसमें भेद हो जाता है। यह सम्पूर्ण संसार प्रेम के ही ऊपर अवलम्बित है। न्याय शास्त्रका सिद्धान्त है संसारमें सबके पृथक् पृथक् परमाणु हैं। जब वे परमाणु परस्परमें घुलमिल जाते हैं आपसमें प्रेम करने लगते हैं, तब सृष्टि हो जाती है। जब वे एक दूसरेसे पृथक् हो जाते हैं, परस्परमें प्रेम करना छोड़ देते हैं, तो प्रलय हो जाती है। आप ध्यान पूर्वक देखें प्रेमके बिना किसी की भी सत्ता रह सकती है? ये जितने भवन खड़े हैं प्रेमके सहारे खड़े हैं। ईंट चूना गारा परस्परमें प्रेम पूर्वक सटे न रहें, बिखर जायँ, विलग हो जायँ तो कोई भवन रह सकता है? जितने वस्त्र हैं उनके ताने बानेके तन्तु आपसमें मिले न रहें, सटे न रहें, तो वस्त्र का अस्तित्व रह सकता है? परिवारके लोग प्रेमपूर्वक न

रहें तो सम्मिलित परिवार रह सकता है? कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि संसारमें जो कुछ हो रहा है, प्रेमके ही सम्बन्ध से हो रहा है। खाना पीना, मिलना, जुलना उठना बैठना, बोलना चालना, व्यापार, खेती-बारी, पठन-पाठन, यज्ञ अनुष्ठान, शासन, सेवा तथा यावन्मात्र व्यवहार है प्रेमके ही सहारे चल रहा है। अन्तर इतना ही है कि देश काल, पात्र परिस्थिति तथा भावना कअनुसार प्रेमके भेद हो जाते हैं। उत्कृष्ट प्रेम, स्वार्थ जन्य प्रेम, निस्वार्थ प्रेम यही अन्तर है। जो प्रेम प्रेमके लिये किया जाता है वही प्रेम है, वही नित्य है वही स्थाई है उसीको हरि, कृष्ण, ईश्वर, परमात्मा कुछ कह लो। जो प्रेम संसारी स्वार्थ साधनके लिये हैं। उसे ही अज्ञान मोह, विषयानुराग, संसारी तथा नश्वर कहते हैं। जिनके हृदयमें प्रेमके लिये प्रेम उत्पन्न हो गया है वे ही प्रेमी हैं ऐसे प्रेमियों के पादपद्मोंकी परागसे विश्व पावन बन जाता है। ऐसे प्रेमके साकार स्वरूप श्रीनन्दनन्दन हैं और उनकी अनन्य उपासिका श्रीव्रजाङ्गनायें। संसारमें गोपियोंने जैसा प्रेमका आदर्श उपस्थि किया है वैसा और कहाँ मिलेगा। उन्होंने किसी संसारी व्यक्तिसे प्रेम नहीं किया, परमात्मासे प्रेम किया सो भी जार भावसे। जार भावमें कितना आकर्षण हैं, यह कहनेकी बात नहीं। उन भाग्यवती व्रजाङ्गनाओंकी समस्त चेष्टायें प्रेमक श्रीवृद्धिके ही निमित्त हैं। उनकी चलन चितवन, उठन बैठन, हँसन मुसकान, प्रश्न उत्तर तथा अन्यान्य सभी चेष्टायें लोकमें प्रेमका आदर्श उपस्थित करने के ही लिये हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब गोपियोने भगवान्से तीन प्रश्न किये। एक तो प्रेमके बदलेमें प्रेम करने वाले, दूसरे बिना प्रेमके भी प्रेम करने वाले और तीसरे प्रेम करने वालोंसे तथा प्रेम न करने वालोंसे दोनोंसे ही स्नेह न करने वाले इस प्रकार

मनुष्योंकी तीन श्रेणी बताकर इनकी उत्तमता, मध्यमता तथा अधमताके सम्बन्धमें पूछा, तो भगवान् इन प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर देनेको प्रस्तुत हुए।

भगवान्ने कहा—"गोपिकाओ! तुमने प्रेम सम्बन्धी प्रश्न करके बड़ा ही सुन्दर कार्य किया। मुझे प्रेमके सम्बन्ध में कुछ चर्चा करने का अवसर दिया। सभी प्राणी प्रेमके भूखे हैं। जीव प्रेमके लिये भटक रहा है। प्रेमकी पिपासा से पिपासित हुआ प्रेम पथकी खोज कर रहा है। संसारमें सभी एक दूसरेसे प्रेम करते हैं प्रेमके बिना व्यवहार चल ही नहीं सकता। तुमने प्रेमियों को तीन श्रेणी में विभक्त करके प्रश्न पूछे हैं, मैं उसीके अनुसार उत्तर देता हूँ।

देखो, जो लोग अपेक्षा रखकर प्यार करते हैं। अर्थात् उससे हमारा यह काम निकलजाय, वह सोचे उससे मेरा यह काम निकल जाय। इस दृष्टिसे जो परस्परमें प्यार करते हैं। वह केवल स्वार्थ का प्यार है। उसमें विशुद्ध धर्म नहीं है व्यापार है, आन्तरिक सौहार्द नहीं, काम चलाने का उपाय है। किसी वाटिका में एक अन्धा बैठा था, उसे पके पके आमोंकी सुगन्धि आ रही थी। आम ऊँचे पर पक रहे थे, उसकी जीभमें बारबार पानी भर आता, किसी प्रकार आम मिलें। नाकके द्वारा सुगन्धि उसके भीतर जा रही थी, किन्तु करता क्या? आँखोंसे तो आम दिखाई नहीं देते। उसी समय एक लूला आ गया। सुन्दर-सुन्दर सिंदूरिया पके-पके आमोंको देखकर उसकी भी जीभ लपलपाने लगी। किन्तु उसके दोनों पैर नहीं थे। सामने उसने अन्धेको बैठा देखा। जहाँ दो का एक-सा स्वार्थ हो जाता है वहाँ परस्परमें स्वार्थ सिद्धिके लिये प्रेम हो जाता है लूलेके तो आँखें थीं, अन्धेकी भाव भङ्गी देखकर ताड़ गया, कि आमोंकी सुगन्धिसे उसके अन्तःकरणमें भी उथल पुथल हो रही है। उसने खाँस

मठार कर कहा—"सूरदासजी! राम राम। कहिये, क्या हाल चाल हैं? अच्छे तो हो? कैसे इधर भटक रहे हो?"

वाणी सुनकर अन्धा समझगया, यह वही मिठुआ लूला है। अन्धे लोग छूकर, वाणी सुनकर तुरन्त पहिचान लेते हैं। बोला—"राम रामजी मिठुआ चौधरी! देखो, ये आम कैसे पक रहे हैं?"

हँसकर लूलेने कहा—"क्या सूरदास जी! आम खानेको मन चल आया है क्या?"

सूरदासने व्यङ्गके स्वरमें कहा—"हाँ, जी मेरा तो मन चल ही रहा है। तुमने तो मानों अस्वादु व्रतकी दीक्षा ले रखी है। धर्मसे कहो, तुम्हारा मन नहीं चल रहा है?

लूला यह सुनकर हँसपड़ा और बोला—"सूरदासजी! आपतो मनकी बातभी ताड़ जाते हैं। इसीलिये आपका नाम प्रज्ञाचक्षु है। इन पके पके सिंदूरिया आमोंको देखकर मेरीभी जिह्वासे पानी टपक रहा है।"

सूरदास बोले—"फिर देखते क्या हो, मारो दो हाथ, अभी टपटप करके गिराते हैं।"

लूला बोला—"हाथ कैसे मारूँ। आमतो हैं दूर। मेरे एकभी पैर नहीं। खड़ा भी नहीं हो सकता।"

सूरदास बोले—'देखो, एक काम करो। तुम मेरे कंधेपर चढ़ जाओ। यह मेरी लाठी लेलो। मारो पेड़में, सभी आम टपक पड़ेंगे। दोनों आनन्दके साथ भरपेट खायँगे।"

लूलेने ऐसाही किया आम गिरे दोनोंने खाये। खा पी कर अंधा अपने घर चला गया। लूला अपने घर। यहाँ आम खानेका दोनोंका स्वार्थ था इसलिये अंधेने लूले को कंधेपर चढ़ालिया इसलिये यह प्रेम निकृष्ट है। संसारमें सर्वत्र ऐसा स्वार्थ जन्य प्रेम देखनेको मिलता है। गाय भैंस जब तक दूध देती

उन्हें दूधके लोभसे खली भूसा बड़े प्रेमसे खिलाता है। जहाँ दूध देना बन्द किया तहाँ ध्यान भी नहीं देता। बैल जब तक हृष्ट पुष्ट हैं हलमें अच्छी तरहसे चलता है, तब तक किसान उसे दानाभी देता है, नमकभी देता है। जहाँ बूढ़ा हुआ, कि फिर सूखा भूसा भी नहीं डालता। घरका नौकर जब तक काम करता है, तबतक सब उससे प्रेम करते हैं। जहाँ बूढ़ा हुआ उसे निकाल बाहर करते हैं। नौकरभी स्वार्थवश वेतनके लोभसे काम करता है, जहाँ उसका वेतन न मिला, गृहस्वामी दरिद्र हुआ तहाँ वह दूसरे स्थानपर जाकर नौकरी कर लेता है।

यजमानको जबतक पंडितजी से यज्ञ करानी होगी, तब तक पंडितजी पंडितजी कहेगा। काम निकल गया। पंडितजी अपने घर हम अपने घर। मार्गमें कहीं मिलेंगे भी तो आँख न मिलावेंगे क्योंकि आँख मिलाने पर पैलगी करनी पड़ेगी। पंडितजीकाभी यही हाल है जब तक दक्षिणा नहीं मिलती, तब तक लालाजी, लालाजी कहेंगे। जब अंटी गरम हुई कि लालाजी होंगे अपने घरके होंगे।

वेश्यागामी पुरुष जब तक वेश्या बूढ़ी नहीं होती, रोगिणी नहीं होती तब तक उसके प्रति कितना प्रेम प्रदर्शित करते हैं। उसपर प्राण निछावर करनेको तत्पर रहते हैं। जहाँ उसे कोई भयंकर रोग हुआ या बूढ़ी हुई तो उसके पासभी नहीं फटकते। यही दशा वेश्याओंकी है। जबतक पुरुष उन्हें पैसा देता है, तबतक ऐसा प्रेम प्रदर्शित करती हैं कि हृदयको निकालकर रख देती हैं। बारबार कहती हैं—"देखना, जहाँ तुहारा पसीना गिरेगा वहाँ मैं रक्त गिराऊँगी।" जबवह निर्धनहो जाता है, पैसा नहीं देता तो उसे धक्का देकर कोठेसे नीचे निकाल देती हैं।

व्यापारीको देखो। गाहकको देखते ही चिल्लायेंगे—"पंडितजी, यहाँ आइये। लालाजी, बातती सुनिये। बाबूजी! लेना चाहें मत

वस्तुको देख तो लो।" जबतक वह वस्तुको खरीदेगा नहीं तब तक कैसी मीठी मीठी बातें करेंगे। दुकान आपकी है, आपसे मुझे कुछ लाभतो करना नहीं। मेरा बीजक देखले। दामके दाम देदें। चार पैसा कम देदे। इतनेमें कहीं और मिले, तो मैं बिना मूल्य दूंगा। आपही सोचिये, आपसे मैं छल कपट कर सकता हूँ। लाभ करनेको इतना बड़ा संसार पड़ा है आपतो घर के आदमी हैं।" इस प्रकार मीठी मीठी चिकनी चुपड़ी बातें करके प्रेम दिखाते हैं। उसे फँसालेते हैं। जहाँ स्वार्थ सिद्ध हुआ तहाँ फिर बातेंभी नहीं पूछते। कहाँतक कहें संसारमें सर्वत्र स्वार्थका ही बोल बाला है। जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध होगा, ऐसा प्रेम दिखावेंगे मानों ये ही सर्वस्व है। स्वार्थ को सिद्ध न होते देखकर उनसेही शत्रुता करने लगेंगे।

भगवान कहरहे हैं—"सखियो! तुमतो मेरी प्राणप्रिया हो। सखी हो, एकान्तमें रहस्यकी बातें सुननेवाली हो। मेरा तुमसे स्वार्थजन्य प्रेम नहीं स्वार्थ का प्रेमतो बहुत अच्छा है। उसमें सौहार्द नहीं होता। उसमें धर्मकी भावना भी नहीं रहती। सदा स्वार्थ परही दृष्टि लगी रहती है। ऐसा जो परस्परका प्रेम है वह धर्म शून्य, सौहार्दसे हीन, प्रयोजन सिद्धिके लिये होता है। नीच का परस्परका प्रेम इसी निमित्त होता है।

सुन्दरियो! दूसरे ऐसे लोग होते हैं, जिनसे तुम चाहे प्रेम करो चाहे न करो वे तुमसे अवश्य प्रेम करेंगे। सेवा न करने वाले से भी प्रेम करते हैं। उनमें दो प्रकारके लोग होते हैं, एकतो परोपकारी कृपालु महात्मा, दूसरे माता पिता। कृपालु परोपकारी महात्मातो धर्मकी प्रेरणासे सबके प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हैं। जलमें बिच्छू बहा जा रहा है परोपकारी संतके हृदयमें दया आ गयी, वह जायगा तो मर जायगा। तुरन्त उन्होंने उसे निकाला, उसने स्वभावानुसार काट लिया, हाथ हिलनेसे फिर

जलमें गिरगया। फिर उनसे नहीं रहा गया, फिर निकाला उसने फिर काटलिया। इस प्रकार कई बार उसने काटा फिरभी संतने उसे बहने नहीं दिया, निकालकर बाहरकर दिया। इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं था, किन्तु कृपाके वशीभूत होकर धर्म समझकर उन्होंने उसे निकाला। यह उनका अकृतज्ञके प्रति किया हुआ प्रेम धर्मकी प्रेरणासे है।

दूसरे माता पिता भी अपनी संतानों पर प्रेम न करने पर भी प्रेम करते हैं। पुत्र कितना भी अयोग्य हो, मूर्ख हो, क्रोधी हो। माता पिता उसके प्रति प्रेम रखते ही हैं। उसकी मङ्गल कामना ही करते हैं। पुत्र चाहे उन्हें गाली भी दे, मारे भी तो भी वे सब सह लेते हैं। यह सौहार्द प्रेमहै। सन्तान अपनी आत्मा रूपमेंही उत्पन्न होती है। यह ऐसी दृढ़ शृंखला है। बन्धुओंके प्रति ऐसा स्वाभाविक स्नेह बन्धन होता है, कि उसे त्यागना अच्छे अच्छे वीतराग मुनियोंके लिये भी कठिन हो जाता है। इस स्वाभाविक सौहार्द प्रेममें अपेक्षा नहीं रहती कि वह हमसे प्रेम करे, तभी हम उससे करें। जिनसे अपना सम्बन्ध हो गया, वे कैसे भी क्यों न हों उन्हें निभाना ही पड़ता है। सज्जन लोग जिसे एक बार अंगीकार कर लेते हैं, उसका प्रतिपालन यावज्जीवन करते ही हैं। यही उनकी साधुता है।

तीसरे वे लोग होते हैं, कि तुम चाहें उनसे कितना भी प्रेम करो वे तुमसे प्रेम करेंगे ही नहीं। जब वे प्रेम करने वालेसे प्रेम नहीं करते, तो प्रेम न करने वालेसे तो करने ही क्यों लगे ?

यह सुनकर गोपिकायें आपसमें सैनोंमें संकेत करने लगीं, कि प्रतीत होता है ये छलिया कृष्ण इस तीसरी ही श्रेणीमें हैं। देखो, हम इनसे कितना प्यार करती हैं, किन्तु ये हमें छोड़कर अन्तर्धान हो जाते हैं। हमें अपने दर्शनोंसे वंचित कर देते हैं।"

सर्वज्ञ भगवान उनके भावको समझ गये और बोले—'हाँ, तो ये जो मैंने तीसरी श्रेणीके पुरुष बताये हैं। इनमें भी चार भेद हैं। ऐसा व्यवहार चार प्रकारके ही लोग करते हैं। एक तो रागद्वेष से रहित वीतरागी आत्माराम परमहंस लोग होते हैं। उनकी दृष्टि में भेद भाव रहता ही नहीं। वे सम्पूर्ण संसार-को प्रकृति पुरुष का क्रीड़ास्थल समझते हैं। उनकी दृढ़ धारणा हो जाती है, गुण गुणोंके साथ वरत रहे हैं। इस गुण प्रवाह पतित संसारमें अच्छा क्या; बुरा क्या ? उपकार क्या, अपकार क्या ? शत्रु कौन, मित्र कौन। जब सब एक ही हैं तो किससे राग करें किससे द्वेष। उनके कंठमें कोई चाहें सर्प डाल जाओ या माला, दोनोंको ही वे समान समझते हैं। चाहें कोई उनके अंगमें चंदन लपेट जाओ या कीच। चंदन लपेटने वाले पर प्रसन्न नहीं होते, कीच लपेटने वाले से क्रुद्ध नहीं होते। ऐसे पूर्ण काम पुरुषों के अन्तः करणमें अप्रेमीका भेद भाव नहीं रहता।

दूसरे होते हैं पूर्ण काम, जो जिस कामको करना चाहते हैं, उनका वह काम पूरा हो जाता है, तो वे न प्रेम करने वालोंसे प्रेम करते हैं और न अपनेसे न प्रेम करने वालोंसे प्रेम करते हैं। हमें चार रोटी की आवश्यकता है, जहाँ चार रोटी मिल गयीं, वहाँ कोई निंदा करो स्तुति करो, मान करो अपमान करो सभीमें समान रहते हैं।

तीसरे होते हैं गुरुद्रोही। पहिले तो गुरुजनोंकी सेवा सुश्रूषा करते हैं, उनका सम्मान करते हैं पीछे पाप उदय होने पर किसी बात पर वे गुरुसे द्रोह करने लगते हैं, उनका अनिष्ट चिंतन करते हैं इस पापसे उनकी बुद्धि ऐसी भ्रष्ट हो जाती है, कि उन्हें अपकारी उपकारी का विवेक ही नहीं रहता। उनका हृदय ऐसा मलिन हो जाता है, कि वे शत्रु मित्र सभीको समान समझने लगते हैं। सब पर शङ्का करते हैं, किसी से प्रेम नहीं करते।

चौथे होते है कृतघ्न। ये गुरुद्रोहियों से पृथक् होते हैं। गुरु द्रोही तो पीछे किसी कारण विशेषसे गुरुद्रोह करता है, किन्तु कृतघ्न तो जन्मसे ही ऐसे होते हैं, कि उनके साथ कोई कितना भी उपकार करे, वे सदा उसका अपकार ही सोचेंगे। जब वे अपने उपकारी के प्रति प्रेम प्रदर्शित नहीं कर सकते, तो शत्रु और उदासीनके प्रति तो करेंगे ही क्या। संसारमें कृतघ्नतासे बढ़कर कोई पाप नहीं। अपने उपकारीके प्रति कृतज्ञता प्रकट न करना इतना बड़ा पाप है, कि इससे जीवका कभी निस्तार हो ही नहीं सकता। जो जिसकी सेवा सुश्रूषा करता है उसके प्रति मनमें आदरभाव न रखना यही कृतघ्नों के चिन्ह हैं। ये लोग बड़े क्रूर होते हैं मैंने तुम्हारे तीनों प्रश्नोंका संक्षेप में उत्तर दे दिया। अब तुम और क्या पूछना चाहती हो?"

कृतघ्न की परिभाषा सुनकर गोपिकायें परस्परमें एक दूसरे की ओर निहारकर मुसकराने लगीं। वे श्रीकृष्ण भगवान्की ओर देखतीं और हँस जातीं। उनकी चेष्टाओंसे प्रतीत होता था कि 'श्यामसुन्दर! देखो, हम तुम्हारे निमित्त घर द्वार कुटुम्ब परिवार सब कुछ छोड़कर आईं और तुम हमें छोड़कर चले गये, क्या यह तुम्हारी कृतघ्नता नहीं है।" भगवान् उनके मनोगत भावों को ताड़ गये और बोले—"सखियो! तुम सोच रही होगी, कि इन तीनोंमे से मैं किस श्रेणीमे हूँ। क्यों यही सोच रही हो न?"

हँसकर गोपियोंने कहा—"अब महाराज! तुम ही जानो। अच्छी बात है, बताओ, तुम इन तीनोंमेंसे किस कोटिमें में हो?"

भगवान् बोले—"मैं इन तीनोंमे से किसी कोटिमें नहीं हूँ। मैं तो परम कारुणिक हूँ।"

गोपियोंने कहा—"वाह जी, परम कारुणिक! बलिहारी है तुम्हारी करुणाके लिये। पहिले अमृत रस पिलाकर फिर विष

देना, यह कहाँ की करुणा है ? पहिले तो हमें बुलाकर हृदयसे लगाया, फिर कहते हो, दूर-दूर। क्या इसीका नाम करुणा है। हमें बलपूर्वक बाँसुरी बजाकर वनमे बुला लिया फिर छिप गये ऐसा विचित्र करुणा को दूरसे ही डंडौत है।"

भगवान् हँसे और बोले—"सखियो! मैंने यह अपराध किया अवश्य, किन्तु कृतघ्नताके वशीभूत होकर नहीं किया। यह सब मैंने प्रेमकी वृद्धिके लिये ही किया था। तुम्हारी उत्कंठा को बढ़ाने के लिये ही किया था।"

गोपियोंने कहा—"बीचमें छिप जाने से प्रेममें वृद्धि होती है या रसभङ्ग होता है ?"

भगवान् बोले—"गोपियों! तुम रस की पंडिता हो। सब जानती हुई भी मेरे मुखसे सुनना चाहती हो तो सुनो। बात यह है, कि यह प्रेम रस ऐसा आसव है, जिसका पान रुक रुक कर ठहर ठहर कर किया जाता है, इससेइसमें अधिक मादकता आती है। वस्तुके प्राप्त होते समय उतना सुख नहीं होता, जितना उसकी मीठी-मीठी स्मृतिमे सुख होता है। केशर, कपूर, गुलाबजल पड़ी हुई केशरिया मेवा पड़ी बरफी खाते समय तो स्वादिष्ट लगती है, पीछे जो उसकी सुगंधि युक्त डकारें आती हैं और उसका स्वाद और स्मरण आता है, उसमें एक अपूर्व ही सुख होता है। वस्तुका यथार्थ गुण उसके परोक्षमें ही प्रकट होता है। एक अत्यन्त निर्धन व्यक्ति है, उसने धनका सुख प्राप्त किया नहीं है, केवल उसकी प्रशंसा ही सुनी है। सहसा उसे धन प्राप्त हो गया। कुछ दिन उस धनका उपभोग भी किया। जब फिर उसका धन नष्ट होता है, तब उसका चित्ततन्मय हो जाता है। निरन्तर उसीको सोचता रहता है। उसकी धन प्राप्तिकी और भी अधिक बढ़ जाती है। क्योंकि जब तक वह धनि जब तक तो वह धनके सुखसे अनभिज्ञ था। अब

धनके सुखको भोग लिया, तो फिर वह उसीकी प्राप्तिके लिये अधीर बना रहता है। उसे खाना-पीना उठना-बैठना कुछ भी नहीं सुहाता। सगे सम्बन्धी कोई अच्छे नहीं लगते। कैसे धन प्राप्त हो यही सोचता रहता है।

वही दशा मेरेवियोग में तुम्हारी हुई। तुमने मेरे निमित्त लोकलाजको तिलाञ्जलि देदी। जिन्होंने धर्मपूर्वक जीवन बिताया और धर्ममें ही जिनकी अत्यन्त आसक्ति है वे सब कुछ छोड़ सकते हैं,किन्तु धर्मको नहीं छोड़ सकते। तुम पतिव्रताओंने मेरे निमित्त लौकिक पतियोंका भी परित्याग कर दिया है। धर्मको भी मेरे पीछे तुच्छ समझा। सबसे अधिक मोह कुटुम्बियोंका होता है। जो अपने प्रेमसे प्राणीको बाँध लें वे बन्धु कहलाते हैं। उन बन्धुओं का त्याग स्वेच्छा से कौन सहृदय कर सकता है। तुमने मेरे लिये अपने बन्धु बान्धवोंको भी छोड़ दिया। गृहस्थी को घरमें सभी प्रकारके सुख होते हैं। उठने बैठनेके नियत स्थान होते हैं। सभी आवश्यक सामग्री घरमें रहती है। सब ऋतुओंकी आवश्यक वस्तुओंका संग्रह सम्पन्नसद्गृहस्थके यहाँ रहता है। तुम्हारे घरमें सब वस्तुएँ उपस्थित थीं, तुम्हारे परिवार वाले तुमसे प्यारभी करते थे, किन्तु केवल एक मात्र मेरे लिये ही तुम घरबार कुटुम्ब परिवारको छोड़कर इस बीहड़ वनमें चली आयीं और मेरे लिये इस कँकड़ीली पथरीली भूमिमें सब कष्ट सह रही हो। तुमने मेरे प्रेमके लिये बहुत त्याग किया है।

मेरीभी हार्दिक इच्छा है, तुम्हारा मन सदा मुझमें लगा रहे तुम अनन्य भावसे मुझेही प्यार करो। तुम्हारी चित्त वृत्तियाँ मेरेमें ही सीमित रहें। तुमसे यदि मैं निरन्तर मिला रहता तो, तुम्हारी मुझे प्राप्त करनेकी इतनी तीव्र उत्कंठा कभी नहीं होती। इसीलिये तुम्हें एकबार आलिङ्गन सुख देकर थोड़ी देरके लिये मैं तुम्हारी अधीरता बढ़ानेको छिप गया। छिपकर कहीं दूर

चला गया होऊँ सो भी बात नहीं। तुम मुझे देख न सको इसलिये समीप—तुम्हारे सामने ही—मैं छिप गया था। इसलिये हे मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्यारियो! हे मेरे हृदयकी अधीश्वरियो! तुम मुझपर क्रुद्ध न होना। कृतघ्न होनेका दोषारोपण भी मत करना। मैं तुम्हारा प्यारेसे भी प्यारा हूँ, प्रेष्ठ हूँ, तुम्हारा अपना ही हूँ।

जो लोग तुम मेरी प्रियाओं में दोष बुद्धि करेंगे, वे नरकके अधिकारी होंगे। तुम्हारा मुझसे मिलन सर्वथा निर्दोष है। तुम मुझे मनुष्य समझकर मेरे समीप आतीं तब तो पाप ही था। तुमने तो मेरी भगवत्ता कई बार प्रत्यक्ष देखी है। तुम्हारी तो मुझमें दृढ़ धारणा है। तुम मुझे प्राकृत पुरुषतो समझती नहीं, इसीलिये तुमने साधारण लोगोंसे किसी भी प्रकार न टूटने वाली घर और कुटुम्बियों की दुस्तर शृंखलाको तोड़कर एक मात्र मेराही आश्रय लिया है। तुम्हारा मुझसे यह मिलन सर्वथा दोषरहित है। इसमें तनिक भी पाप नहीं, स्वार्थ नहीं। तुम जो वस्त्र पहिनती हो, अपने लिये नहीं केवल मेरी प्रसन्नताके लिये ही लिये पहिनती हो। तुम अपने काले काले कुटिल केशोंमें जो सुगंधित तैल डालती हो, मालती माधवी आदिकी मालायें खोंसती हो, अपने सुखके लिये नहीं, मुझे सुख पहुँचानेको तुम यह सब करती हो। तुम जो काजर बेंदी, सिंदूर आदि लगाती हो, पान आदि खाती हो, केवल मेरे निमित्त ही सब करती हो। मैं जानता हूँ तुम्हें स्वयं स्वादकी रुचि नहीं खानेमें तुम्हें आसक्ति नहीं, किन्तु मैं प्रसन्न होऊँगा इसीलिये तुम खाती हो। मेरे उच्छिष्ट प्रसादको पाती हो। सारांश यह कि तुम सब कुछ मेरे ही निमित्त करती हो, मेरे ही लिये जीवन धारण करती हो, मेरी सेवाके निमित्त ही स्वाँस लेती हो। तुमने अपने सदाचार, सद्व्यवहार और सुशीलता आदि गुणोंसे मुझे बिनामोलके खरीद लिया है, मैं तुम्हारा क्रीतदास बनगया हूँ। इस जीवनमें तुम्हारे ऋणसे उऋण नहीं हो सकता। इस

जीवनकी तो बात ही क्या है, देवताओं के समान लम्बी आ पाकर भी मैं तुम्हारे अनन्त उपकारों से एक भी उपकार प्रत्युपकार करनेमें समर्थ नहीं। मैं अपने पुरुषार्थके द्वा तुमसे कभी उऋण नहीं हो सकता। स्वयं ही कृपा क अपनी उदारतासे मुझे उऋण कर दो यह दूसरी बात है। सं मैं उऋण होना भी नहीं चाहता। उऋण होनेसे मेरा तुम्हा सम्बन्ध टूट जायगा। उसे मैं तोड़ना नहीं चाहता, मैं सदा तुम्हा ऋणियाँ बना रहूँ और तुम मेरी सदा ऋण पानेवाली महाज बनी रहो, इसीमें मुझे सुख है। तुम मुझे कृतघ्न मत समझो।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! इस प्रेमका पन्थ कैसा निराल है। जो सर्वेश्वर है, सबका स्वामी है। ब्रह्मादिक देव, इन्द्रादि असंख्यों लोकपाल जिसकी भ्रुकुटि विलाससे थर थर काँप रहते हैं वही आज प्रेमके अधीन होकर गोकुलकी गँवार गोपि लिनियोंके सन्मुख अधीरता प्रकट कर रहा है। उनके उपकारक बदला चुकानेमें अपनेको असमर्थ सिद्ध कर रहा है। प्रेममें दोनों ही ओरसे अधीनता होती है। वह उसे अपना सर्वस्व समर्पि करता है, वह उसे सब कुछ सौंपता है। भगवानकी तो प्रतिज्ञ है जो मुझे जैसे भजता है, उसे मैं भी वैसे ही भजता हूँ। जो मुझे अपना सर्वस्व समर्पित करता है, उसे मैं भी अपना सर्वस्व समर्पित करके उसका दास बन जाता हूँ।

गोपिकायें अपने प्राणधन श्यामसुन्दरके श्री मुखसे ऐसे प्रेम में पगे स्नेह भरे शब्द सुनकर निहाल हो गयीं। कृतकृत्य हो गयीं। उनका हृदय बाँसों उछलने लगा। वे अपने प्रेम वेग को रोकनेमें असमर्थ हो गयीं। श्यामसुन्दरसे लिपटकर प्रेमके अश्रुओंसे उनके पीताम्बरको भिगोने लगीं। भगवानके सुमधुर वचनोंसे उनका रहा सहा विरहजन्य दुःख दूर हो गया और उनका अङ्ग सङ्ग पाकर वे सबकी सब सफल मनोरथ बन गयीं।

छप्पय

प्रेमहीन नरचारि श्रेष्ठ कछु अपर शतघ्नी।
आत्मराम अरु पूर्णकाम गुरुशत्रु कृतघ्नी॥
हौं इन सबतैं पृथक् प्रेष्ठ पति सुहृद कारुनिक।
प्रेम वृद्धिके हेतु कर्‌यो मैंने सब नाटक॥
अति दुस्तर गृह शृंखला, कू आइं तुम तोरिकें।
मम हित पति, सुतगृह कुटुम, तैं आइं मुँह मोरिकें॥

रहसि केलि

[९९३].

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

जनम जनम हौं रही सुन्दरी ऋनी तिहारो !
क्रीतदास बनि गयो प्रेमतैं मोकूँ तारो ॥
करि अर्पन सर्वस्व मोहि सुख अतिशय दीयो ।
तजिके सब सुख सगे संग तुम मेरो कीयो ॥
वचन श्यामके सरस सुनि, दुःख शोक सबके भगे ।
निज करतैं शृंगार हरि, श्रीजीको करिबे लगे ॥

प्रेम ऐकान्तिक विषय है। उसका प्राकट्य एकान्तमें निर्जनमें होता है। सबके सम्मुख प्रेमकी बातें नहीं कही जातीं। प्रेमको शक्तिभर सबके सम्मुख छिपाया जाता है। निर्मुक्त प्रेम तो एकान्तमें ही होता है, सबके सम्मुख शिष्टाचारका पालन होता है, जहाँ एकान्त स्थल हो, एकभी ऐसा व्यक्ति आस पास न हो,

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान्‌के अति मधुर वचन श्रवण करके व्रजाङ्गनाओंका विरहजन्य दुःख दूर हो गया और वे उनके अङ्गोंका स्पर्श पाकर कृतार्थ हुईं।

जिससे तनिक भी संकोच या झिझक हो। वहाँ प्रेम सागरमें बार भाटे आते हैं। ऐसा तूफान उठता है। कि उठता ही जाता है, उसमें निरन्तर अतृप्ति ही बनी रहती है। दोनोंके अंगोंमें कोई भेद भाव नहीं रहता। छोटे बड़ेका अन्तर नहीं रहता। एक दूसरेके शरीरको उसी प्रकार सजाते हैं। जिस प्रकार अपनेको सजाते हैं, प्यारेके शरीरको सजाने में अपने से अधिक सुख होता है। ऐसी सरस मीठी मीठी बातें होती हैं, कि जिनमें किसी प्रकारका दुराव छिपाव नहीं रहता। ये रहस्यकी केलिक्रीड़ायें अत्यन्त गोपनीय है, व्रजके रसिकाचार्योंने इन सबका दिग्दर्शन कराया है, किन्तु ये सब कहने सुननेकी बातें नहीं है। जिनका उस लीलामें प्रवेश है वे ही उसका अनुभव कर सकते हैं। हम प्राकृत पुरुष तो इनका वर्णन करेंगे, तो अपनी लौकिक वासनाका संमिश्रण करके इसे विकृत तथा अश्लील बनादेंगे। ये सब भावराज्य की बातेहैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! श्रीकृष्णने जब इतनी अधीनता प्रकट की, दीन होकर गोपियों से प्रेमकी भिक्षा माँगी, अपनेको उनका ऋणिया बताया, तब गोपियों का चित्त खिल गया। इस रस प्रसङ्गको और आगे बढ़ाना उन्होंने उचित नहीं समझा। उन्हें कुछ नीति शास्त्रका उपदेश तो लेना ही नहीं था, स्मृतियोंकी व्यवस्था नहीं पूछनी थी कर्मकाण्डकी जिज्ञासा नहीं करनी थी। प्रकृति, पुरुष, जड़ चेतन, महत्व आदि जगत्के पदार्थों की संख्या करनेके चक्करमें नहीं पड़ता था। पंचीकरण, अन्वय, व्यतिरेक व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्ताओंकी सिद्धिके पचड़ों में नहीं पड़ना था। उनके प्रश्नोंका एकमात्र उद्देश्य था "तुम हमें कितना प्यार करते हो?" सो, श्यामसुन्दरने स्पष्ट ही कह दिया—"अब मुझे तो प्यार करनेका अधिकार ही नहीं रहा। तुमने अपने प्रेमसे मुझे मोल ले लिया। अब तो मैं तुम्हारा क्रीतदास बन

गया । तुम मुझे जैसे चाहो तैसे नचाओ ।"

यह सुनकर सखियों ने अब प्रसंग को बदला । एक बोली—"अच्छा, श्यामसुन्दर ! तुम वेणी गूंथना जानते हो ?"

श्याम बोले—"मैंने और किया ही क्या है, प्यारीजीकी वेणी ही तो गूंथी है । ललिताजी मेरी इस विषयकी गुरु हैं ।"

एक बोली—"अच्छा, शृंगार करना जानते हो ?"

नन्द नन्दन बोले—"मुझे और काम ही क्या है । सृष्टिकी उत्पत्तिका काम चतुर्मुख ब्रह्मा करते हैं । पालनका काम चतुर्भुज विष्णु करते हैं और संहारका काम पंचमुख रुद्र करते हैं । मैं तो द्विभुज हूँ मेरे दो ही काम हैं । श्रीजीको सजाना और उन्हें निरन्तर रिझाना ।"

इस पर एक बोली—"अच्छा, तो तुम श्रीजी का करो शृंगार शृंगार होने पर रास हो ।"

श्यामको तो मानों निधि मिल गयी । प्रियाजीको तो शृंगार करानेका अभ्यास ही था, कोई नयी बात तो थी नहीं, कोई सख नवीन भी नहीं थी । जिससे संकोच किया जाय । श्यामसुन्दर विधिवत लाड़िलीजीका स्वयं शृंगार किया । अपने हाथों उन कोमल कोमल पैरके नखोंको रँगा । उनमें महावर लगाया पादतलोंमें मेंहदी लगायी । पैरके जितने पाइजेब आदि आभूषण थे उन्हें यथा स्थान किया । फिर अपने हाथसे उनकी वेणी बनाई, उसमें बीच बीचमें सुगंधित पुष्प लगाये, मनोहर मनोहर मालाओंका जाल बनाकर उन्हें चारों ओरसे वेष्टित किया । सुन्दर सुन्दर हार गजरे उनके कंठमें भुजाओंमें, हाथोंमें, कमरमें पहिनाये ललाट पर अर्ध चन्द्राकार केशरका अति सूक्ष्म तिलक लगाया उसके बीचमें केशर कस्तूरी आदि की लाल बिन्दी लगायी मुखपर, वक्षःस्थल पर विविध भाँतिकी पत्रावलियोंकी रचनायें कीं । माँगके भीतर पतली सिंदूरकी रेखा लगायी । नेत्रोंमें सलाका

से अंजन लगाया। स्वभावसे ही बिम्बफलके सदृश अरुण अधरोंको और भी रँगा। मुखमें पान अर्पण किया। इस प्रकार स्वयं ही उनका विधिवत् सर्वाङ्ग शृङ्गार किया।

अब प्यारी और प्रियतम परस्परमें एक दूसरे के कंठमें गलबैयाँ डाले थे, सहसा रंगमें भंग हो गया। एक परम तेजस्वी ब्राह्मण दूर से आता हुआ दिखाई दिया। ब्राह्मणको देखकर श्रीराधाजी सम्हल कर बैठ गयीं, श्रीकृष्ण भी गम्भीर हो गये। उस समय वे अपनी शक्तिके सहित दिव्यैश्वर्य की शोभासे शोभित हो रहे थे।

ब्राह्मणके मुख पर ब्रह्मतेज छिटक रहा था, वह आठ स्थानसे टेढ़ा था। कृष्ण वर्णका था, जटायें बिखरी हुई थीं, शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था दिगम्बर वेषमें वह मूर्तिमान तपके सदृश प्रतीत होता था। भगवान्के समीप आकर भूमिमें लोटकर वह प्रिया प्रियतम के पादपद्मोंमें पुनः पुनः प्रणाम करने लगा। वह बार बार उठता बार बार पुनः लोटकर प्रणाम करता। फिर उच्च स्वरसे स्तोत्र पाठ करता। अन्तमें उसने एक स्तोत्रका पाठ किया, भगवान्के चरणोंमें लीन हो गया, उसका तेज भगवान्के चरणोंमें मिल गया। भगवानके चरणों में ही उसने अपने नश्वर शरीरका परित्यागकर दिया।

भगवान्ने जब देखा, मुनिका प्रणान्त हो गया है तो वे उनके मृतक शरीरको उठाकर दोनों बाहुओंसे आलिंगन करने लगे। ज्योंही उन्होंने अपने हाथसे उनके शरीरको मला, त्योंही उसमें से भस्म ही भस्म निकली। भगवानने रोते रोते चंदनके काष्ट से चिता बनाई और उस पर मुनिके देहको रखकर अग्नि दे दी। जब मुनिका शरीर दग्ध होने लगा तब भगवान् गु[illegible] याद कर करके उच्च स्वरसे रुदन करने लगे। उसी [illegible] गोलोकसे एक दिव्य विमान आया, उसमें बैठकर गु[illegible]

शरीर से गोलोकमें चले गये।

ऐसी आश्चर्ययुक्त घटनाको देखकर श्रीराधिकाजीने श्याम सुन्दरसे पूछा—"प्राणनाथ! ये मुनि कौन थे, इनका दिव्य तेज आपके चरणों में क्यों लीन हो गया? ये आपके दर्शन करते प्राणहीन क्यों हो गये? इनके मृतक शरीरसे भस्म क्यों निकली? ये आठ स्थानसे टेढ़े क्यों थे? इतने दिव्य तेज युक्त महामुनि ऐसे विरूप क्यों बने हुए थे। कृपा करके इन प्रश्नोंका उत्तर देकर मेरे कुतूहलको दूर कीजिये।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"प्रिये! ये अष्टावक्र नामके महामुनि थे। स्वर्गकी सर्वोत्तम रंभा अप्सराके शापसे इनकी ऐसी दशा हो गयी और मेरी भक्तिके प्रभावसे इन्हें मेरी सन्निधि और गोलोककी प्राप्ति हुई।"

इसपर वृषभानुनन्दिनीने पूछा—"प्राणवल्लभ! महामुनि अष्टावक्र किसके पुत्र थे? रम्भाने उन्हें शाप क्यों दिया? इन्होंने ऐसी कौनसी उपासना की, जिसके कारण आपके दर्शन करते करते इन्होंने प्राणोंका परित्याग किया और तुरन्त दिव्य देहसे गोलोक प्राप्त किया? ऐसे अनन्योपासक आपके भक्तके चरित्र सुननेकी मेरी बड़ी इच्छा है।"

भगवान् बोले—"प्रिये! यह विषय बड़ा रहस्यमय है, मैं सबके सम्मुख तो इस प्रसङ्गको कहता नहीं। किन्तु तुम तो मेरी प्राणेश्वरी ही हो, तुमको इस प्रसङ्गको सुनाता हूँ।

पूर्वकालमें जब श्रीमन्नारायणकी नाभि कमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई, तो सृष्टिकी इच्छासे उन्होंने सनक, सनन्दन, सनतकुमार और सनातन इन चार पुत्रोंको मनसे उत्पन्न किया। इनसे सृष्टि बढ़ानेको कहा, किन्तु ये तो मोक्षधर्मावलम्बी थे, इन्होंने इस प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया। तब ब्रह्माजी ने अङ्गोंसे अत्रि, पुलस्त, पुलह, क्रतु, मरीचि, भृगु, अङ्गिरा

वशिष्ठ, वोढु, कपिल, आसुरि, कवि, शङ्क, शङ्ख, पञ्चशिख, प्रचेता तथा अन्य भी बहुतसे तपोधन ऋषि उत्पन्न किये। इन सबने सृष्टिका विस्तार किया। इनके पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्रोंकी संतानों से यह सम्पूर्ण संसार भर गया।

इनमें एक ब्रह्माजीके पुत्र प्रचेता थे। उन प्रचेता के एक पुत्र तो वाल्मीकजी थे और दूसरे असित थे। महामुनि असितने ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके विवाह किया और अपनी पत्नीके सहित पुत्रकी कामनासे देवताओंके सहस्रों वर्षों तक घोर तप किया, किन्तु उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। तब तो उन्हें जीवन भारसा प्रतीत होने लगा और वे प्राणोंको छोड़ने तकके लिये उद्यत हो गये। उसी समय उन्हें अशरीरी दिव्य आकाशवाणी सुनायी दी—"हे तपोधन! तुम शरीर क्यों छोड़ते हो? शंकरजीके समीप जाओ, तुम शङ्करजीसे मंत्रग्रहण करके उसे सिद्ध करो। उस मंत्रकी अधिष्ठातृ देवीका जप करने से तुम्हें तत्काल साक्षात्कार होगा। उससे तुम पुत्र का वर माँग लेना।"

आकाशवाणीकी बात सुनकर महामुनि असित शंकरजीके समीप गये और उनसे मन्त्र दीक्षा लेकर जप करने लगे। उसके जपके प्रभावसे कुछ ही दिनोंमें उनके कंदर्पके समान शिवजीके अंशसे देवल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऐसे सुन्दर पुत्रको पाकर मुनि दम्पत्तिके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। कालान्तरमें देवल सभी शास्त्रोंके ज्ञाता हुए और उन्होंने सुयज्ञनामक राजाकी रत्नमालावती पुत्री के साथ विवाह किया।

राजपुत्री रत्नमालावती अत्यन्त ही सुन्दरी थी, वह परम-साध्वी पतिपरायणा तथा पतिको प्राणों से भी अधिक माननेवाली थी। महामुनि देवल उसके साथ सहस्रों वर्षों तक संसारी सुखों का उपभोग करते रहे। अन्तमें उन्हें संसारसे विराग हुआ। अब उन्हें संसारी सुख विषके सदृश प्रतीत होने लगे। अब वे संसारी

भोगोंसे उदासीन हो गये। किन्तु वे अपनेभावों को अपनी पत्नी के सम्मुख प्रकट नहीं करते थे। उनके व्यवहारसे राजकुमारी समझ गयी कि मुनिका चित्त मेरी ओरसे उदासीन हो गया है। वे मुझे छोड़कर कहीं जाना चाहते हैं, इसलिये वह कभी उन्हें कहीं अकेले नहीं जाने देती। छायाके समान उनके सदा साथ ही बनी रहती। मुनिका चित्त अब एकान्तमें तप करनेको उत्सुक हो रहा था।

एक दिन मुनि रात्रि में सो रहे थे। समीप ही शंकित चित्तसे उनकी धर्मपत्नी भी सो रही थी। यद्यपि राजपुत्री सदा सावधान रहती, किन्तु उस दिन विधिका ऐसा विधान हुआ, कि उसे निद्रा आगयी। मुनिने इसे ही उत्तम अवसर समझा। वे शनैः शनैः शैयासे उठे और रात्रि में ही घोर वनमें चले गये। कुछ देरके पश्चात् मुनिपत्नीकी आँखें खुलीं। अपने प्राणनाथको समीप न पाकर वह उच्चस्वरसे रुदन करने लगी। उसके पुत्रोंने परिवार वालोंने उसे बहुत समझाया, किन्तु प्यारेका वियोग सहना साधारण बात नहीं है। विरहाग्निके कारण वह तप्त बालू में पड़े बीजकी भाँति जलने और उछलने लगी। अन्तमें वह पति वियोगको सहने में समर्थ न हो सकी, उसने इस नश्वर शरीरको त्याग दिया। उसके पुत्रोंने उसके और्ध्वदैहिक संस्कार किये।

इधर महामुनि देवल बदरीवनके समीप गन्धमादन पर्वतकी एक गिरि गुहामें बैठकर घोर तप करने लगे। मुनि एक तो वैसे ही कामदेवके सदृश सुन्दर थे, फिर तपके प्रभावसे उनका सौंदर्य और भी निखर गया था। तप तेजसे उनका मुखचन्द्र दम दम दमक रहा था। उसी समय स्वर्ग की सर्व श्रेष्ठ अप्सरा रम्भा वहाँ होकर निकली। उन तेज पुन्ज अत्यन्त सुन्दर मुनिको देखकर उसका चित्त चंचल हो उठा।

भगवान् श्रीराधिकाजीसे कह रहे हैं—"प्रिये! जो सती नहीं

ऐसी कामनियोंका चित्त सुन्दर पुरुष को एकान्तमें देखकर चल हो जाता है, फिर वे अपने मनको रोकने में सर्वथा असर्थ हो जाती हैं। उस एकान्त शान्त निर्जन वनमें कंदर्पके सदृश न लावण्ययुक्त मुनिको देखकर रम्भा अपने आपेमें न रह की। वह सोलहू शृङ्गार करके वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर म सम्बन्धी अनेक संकेतोंको प्रकट करती हुई मुनिके समीप स्थित हुई। उसी समय मुनिका ध्यान भंग हुआ।

रम्भाने मंद मंद मुसकराते हुए व्रीडाका भाव प्रदर्शित रते हुए कहा—"मुनिवर! भगवान् ने तुम्हे इतना अनुपम रूप या है, तुम्हारे अंग इतने सुन्दर और सुकोमल हैं, तिसपर ाप इतना कठोर तप कर रहे है, यह आपको शोभा नहीं देता। म व्यर्थ शरीरको क्यों सुखा रहे हो?"

मुनिने कहा—"शोभने! हम मुनियोंका तप ही धन है। ह्मणका शरीर क्षुद्र कामवासनाके लिये नहीं होता। वह इस किमें घोर तप करके कष्ट सहता है, परलोकमें अनन्त सुखको प्त करता है।"

रम्भाने कहा—"मुनिवर! परलोक किसने देखा है। गोदके छोड़कर पेटके की आशा करना मूर्खता है। समुपस्थित प्रत्यक्ष वको छोड़कर काल्पनिक सुखकी आशासे शरीर सुखाना मूर्खता है तपोधन! पृथ्वी पर राजे महाराजे बड़े बड़े यज्ञ नुष्ठान इसीलिये करते हैं, कि स्वर्गमें हमें अप्सरायें प्राप्त हों। स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा हूँ, बड़े बड़े तपस्वी तेजस्वी यहाँ ं कि देवेन्द्र भी मेरे कृपा कटाक्षके लिये तरसते हैं। ऐसी मैं यं तुमसे प्रणयकी भिक्षा माँग रही हूँ, मैं तुम्हारी तपस्याकी तमती सिद्धि हूँ। आप मुझे स्वीकार करें।"

मुनिने कहा—"भामिनि! तुम कैसी बातें कर रही हो। समस्त विषयोंको छोड़कर एकान्तमें यहाँ तप करने आया हूँ

तपस्यामें स्त्रीका सङ्ग सबसे बड़ा विघ्न है। अतः देवि! तुम ऊपर कृपा करो। मुझे तप करने दो। तुम अपना रास्ता पकड़ो।

रम्भाने व्यंगके स्वरमें कहा—तुम बड़े रूखे हो जी! पुरुष होकर तुम ऐसी नीरस बातें कर रहे हो। मैं तुम्हारे का पीड़िता हूँ, दुखी हूँ, दुखियों पर दया करना परमधर्म देखो, जो काम पीड़ित नारीका तिरस्कार करता है, उसे बड़ा लगता है। तुमतो मुनि हो। ब्रह्माजी ने काम पीड़िता मोहिनी तिरस्कार किया था, इसीलिये संसारमें उनकी कहीं पूजा होती। एक ओर तो लाखों वर्ष तप करना और एक ओर दुखि के दुखको दूर करना। इसमें दुखियोंके दुखको दूर करने धर्मसे तपस्याका पुण्य अत्यन्त तुच्छ है। अतः मेरे उ कृपा करो।"

मुनिने कहा—"सुन्दरि! तुम ये सब संसारी लोगोंकी कह रही हो। गृहस्थीको कामार्ता स्वपत्नीका परित्याग बताया है। परस्त्रीतो सदाही वर्जनीय है।

रम्भाने कहा—"ब्रह्मन्! मैं परस्त्री तो नहीं हूँ। मेरा एक पति नहीं। हम स्वर्गललनाओंका तो यह धर्म है, सदा है। जो हमें रतिसुख प्रदान करे वही हमारा पति है। स्व कितने पुण्यात्मा राजा आते हैं वे पुण्योंसे हमें प्राप्त करते हैं। पु क्षीण होने पर उनका पतन होता है, फिर हम दूसरे पुण्यात्मा को भजती हैं।"

मुनिने गम्भीरता पूर्वक कहा—"शोभने! तुम्हारा क सत्य है। तुम किसी एककी पत्नी नहीं। फिरभी मुनियोंके लि स्त्रीमात्रका परिग्रह निषेध है। मोहिनीके शापसे ब्रह्मा जगत्मेंअपूज्य हो गये होंगे, इसे मैं मानता हूँ, किन्तु वे भी स्त्री वालेही हैं। मैंनेतो स्त्री बच्चोंको त्याग दिया है। मैं तो त्य हूँ। तुम्हें काम पीड़ा दे रहा है, तो तुम किसी अन्य सु

रुपको भजो। तुम्हें चाहने वाले तो संसारमें बहुत हैं। बड़े बड़े
ोग तुम्हें प्राप्त करनेको जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान आदि साधन
रते हैं। तुम उन्हींके पास जाओ। देखो, मेरेबाल पक गये हैं।
अपनी पतिव्रता स्त्रीका परित्याग करके यहाँ घोर वनमें—
र्वतकी कन्दरामें आकर बैठा हूँ, तुम मुझसे ऐसा अनुचित
स्ताव क्यों करती हो?"

रम्भाने अधीरताके साथ कहा—"ब्रह्मन्! इतना रूखापन
च्छा नहीं। तपस्या करके तुम्हें जितना पुण्य होगा उससे लाख
ना इस अबलाके ऊपर कृपा करनेसे होगा। देखिये, लोग मुझे
नेको कितना जप, तप, करते हैं, फिर भी वे मुझे देख भी नहीं
ते। वही मैं आपसे प्रार्थनाकर रही हूँ आप मेरा तिरस्कारकर
हैं। मुझे ठुकरा रहे हैं। रहा अन्य पुरुषको भजनेकी बात।
, मुनिवर! जिसका मन जिसमें फँस जाता है, वह बूढ़ा हो,
गड़ा हो, लूला हो कुरूप हो, कालाहो उसे वही अच्छा लगता
। आपके चाहें सब बाल पक गये हों, आप चाहें बूढ़े हों मैं
तुम्हें चाहती हूँ।"

मुनिने गंभीर होकर कहा—"देवी! तुम तुझसे अधिक
ग्रह न करो, तुम मेरी धर्मकी माताहो मैं तुम्हारी ओर आँख
ाकर भी न देखूंगा। मैं क्रोध भी न करूँगा। अब तुमसे बात
न करूँगा। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो तहाँ चली जाओ।
ाँ बैठना चाहो यहीं बैठो। मैं तो अपने ध्यानमें लगता हूँ।"

'माता' शब्द सुनकर रम्भाके ओठ फरकने लगे। हाय, ये
स्वी कैसे रूखे स्वभावके होते हैं। इनका हृदय वज्रका बना
ता है, जो इतनी अनुनय विनयसे भी नहीं पिघलता। कितनी
शा लेकर मैं इस रूपवान् तपस्वीके समीप आयी थी। यह हृदय
न मुझे माता कहता है। उसने क्रोधमें भरकर कहा—"तपस्वी!
य ऐसा शब्द फिर कभी भूलसे भी मुखसे मत निकालना।

कामसंतप्ता कामनीसे माता कहना उसे यह सबसे बड़ी गाली है अबके फिर तुमने ऐसा शब्द मुखसे निकाला तो मैं तुम्हें दारु शाप दे दूँगी। अब तुम्हारे सामने दो ही बातें हैं या तो तुम मु स्वीकार करो या मेरे दारुण शापको।"

यह सुनकर भी मुनिको क्रोध नहीं आया। उनके मन इतनी सुन्दरी स्वर्गीय रमणीके इतने प्रणय तथा विनय भरे वचन से कामकी गन्ध भी नहीं आयी। वे गंभीर होकर बोले—"देखो मैं तुम्हें एकबार माता कह चुका हूँ, तुम मुझसे बारबार ऐसी बा मत कहो। मैं ऐसी बात फिर सुननेको उद्यत नहीं।"

क्रोध में भरकर काम व्यथासे संतप्त होकर बारबार अँगड़ा लेती हुई, सम्पूर्ण शरीरको कँपाती हुई वह अप्सरा अत्यन्त म स्पर्शीवाणी में दुःखित होकर बोली—"मुनिवर! कामाग्नि ज्वालासे मेरे प्राण जल रहे हैं, मन जल रहा है, आत्मासंतप्त हो रही है, चित्त क्षुभित हो रहा है, यदि तुम मेरे ऊपर प्रणय-अ छिड़क दो, तो मैं जीवित हो जाऊँगी। यदि तुम हठ करोगे, तो अपने दुःखित अंतःकरणसे तुम्हें घोर शाप दूँगी। अत्यन्त दुः अन्तःकरणसे नेत्रोंमें अश्रु भरकर जो दुखिया किसीको शाप दे है, उसे कमलयोनि ब्रह्माजी भी अन्यथा नहीं कर सकते। ब्रह्मन अब भी सोच लो, या तो मुझे प्रेमपूर्वक अपनाओ! या शा ग्रहण करने को उद्यत हो जाओ।"

मुनिने शांत भावसे कहा—"हे सुरसुंदरी! मैंने जो बात ए बार कह दी है, उससे मैं डिग नहीं सकता। मैं कभी तुम्हा कामभावसे स्पर्श न करूँगा। तुम चाहे रहो या जाओ। मैं अ तुमसे कुछ भी न कहूँगा।"

यह कहकर मुनिने आचमन किया और वे मौन हो गये नेत्र बन्द करके वे भगवान् का ध्यान करने लगे।

रम्भाको अत्यन्त ही मानसिक दुःख हुआ। कामकी पूर्ति

होने से उसकी नस नसमें क्रोध व्याप्त हो गया। क्रोधसे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। वह मुनिको शाप देती हुई बोली—"हे वज्र हृदयके तपस्वी! तुम बड़े क्रूर हो, कुटिल हो, टेढ़े हो। तुमने अपने रूप यौवन और तप के अभिमानमें भर कर मेरा तिरस्कार किया है। अतः तुम्हारा रूप और यौवन नष्ट हो जायगा। तुम कौआके समान, अञ्जन पर्वतके समान, कोयलाके समान कृष्ण वर्णके विरूप बन जाओगे। आठ स्थानसे तुम टेढ़े हो जाओगे। तुम्हारा तप नष्ट हो जायगा। ऐसा शाप देकर रम्भा अपने इच्छित लोकको चली गयी।"

स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का शाप अन्यथा तो हो नहीं सकता। मुनिका शरीर काला हो गया वे आठ स्थान से टेढ़े हो गये। उनका तप नष्ट हो गया। बहुत प्रयत्न करने पर भी भगवान् उनके ध्यानमें नहीं आते।

अपने तप, तेज, रूप यौवन तथा साधनोंको नष्ट हुआ देख कर मुनिको बड़ा दुःख हुआ। उन्हें आठ स्थान से टेढ़े होनेका तथा कुरूप होनेका उतना दुःख नहीं था, जितना ध्यानमे भगवान् के न आनेका था। जिस जीवन में भगवान् का ध्यान न हो, वह जीवन व्यर्थ है। उससे तो मरना ही अच्छा। यही सब सोचकर मुनि ने सूखी-सूखी लकड़ियों को इकट्ठा किया, उनकी चिता बनाई और उसमें अग्नि देकर ज्यों ही कूदनेको उद्यत हुए त्यों ही मैं प्रकट हुआ और मैंने इन्हे वर दिया—"हे मुनि! जो काम पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे मेरी आत्मा ही हो जाते हैं। उन्हें मेरे लोककी प्राप्ति होती है। उनकी ज्योति मेरे साथ तदाकार हो जाती है। तुम शोक मोहको छोड़ दो, अभी कुछ दिन और तप करो। अन्तमे तुम्हें मेरे लोक की प्राप्ति होगी।"

भगवान् श्रीजीसे कह रहे हैं—"प्रिये! इस प्रकार मेरे आश्वासन देने पर मुनिने प्राण त्याग करने का विचार छोड़ दिया।

वे गन्धमादन पर्वतको छोड़कर मलयाचल पर आकर घोर तप करने लगे। बिना कुछ खाये पीये साठ हजार वर्षों तक तप करते रहे। उन्होंने अन्न जल सब छोड़ दिया था। इससे इनका अन्तःकरण जलकर भस्म हो गया था। ये मेरे परम भक्त थे, ये कामके वशमें नहीं हुए थे। इसलिये इन्हें मेरे लोककी प्राप्ति हुई। यह मैंने संक्षेपमें महामुनि अष्टावक्रका चरित्र सुनाया।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! रम्भाने भी कहा और भगवान्‌ने भी समर्थन किया कि मोहिनीके शापसे ब्रह्माजी जगत्‌में अपूज्य बन गये। कृपा करके बताइये, यह मोहिनी कौन थी? क्यों इसने ब्रह्माजी को शाप दिया? कृपा करके हमें इस कथा को सुनाइये। तब आगे का प्रसङ्ग कहिए।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यह कथा तो बहुत बड़ी है। इस कथाके प्रसङ्गमें मुझे और भी बहुतसी कथायें कहनी पड़ेंगी। इससे रसभङ्ग हो जायगा। कहाँ तो कितनी सुखद, सरस, कानोंको अत्यन्त सुख देने वाली रास विलासकी कथायें, कहाँ ये शापा शापी की नीरस, काम क्रोध युक्त कथायें। अब मैं कहने लग जाऊँगा, तो उसी प्रवाहमें बह जाऊँगा। अतः मुझे रासलीलाके प्रसङ्गको समाप्त कर लेने दो, तब आप लोग जो पूछेंगे, उसका मैं उत्तर दूँगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपकी इच्छाके ऊपर ही निर्भर है वैसे रसभङ्ग की तो कोई बात नहीं। इन प्रसङ्गोंको सुनकर सभीकी उत्सुकता बढ़ती है। इन कथाओंको शीघ्र-शीघ्र पढ़कर समाप्त करना चाहते हैं, कारण कि उन्हें आगे क्या हुआ इसे जाननेकी उत्कट इच्छा बनी ही रहती है। अतः रसभङ्गका तो कोई प्रश्न ही नहीं, फिर भगवत् चरित्रोंमें तो कभी रसभङ्ग होता ही नहीं। यह आमकी भाँति नहीं, कि रसरस पीओ छिलका गुठली फेंक दो। भगवत् कथा तो मिश्रीके समान है। ऊपर

नीचे, दायें बायें चाहें जिधरसे तोड़ों उधरसे ही मीठा लगेगा। कथा बढ़ जाय; तो भी कोई हानि नहीं। कथायें सुनाने ही तो आप बैठे हैं।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज। मुझे तो आपकी आज्ञा का पालन करना है। तो अब मैं उसी प्रसङ्ग को सुनाऊँगा जिसमें मोहिनीने भगवान् ब्रह्माको जगत्में अपूज्य होनेका शाप दिया था। उसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

परसि परस्पर प्रेम पुलक अँग अंगनि होवें।
लखि प्यारी हरि रूप देहकी सुधि बुधि खोवें॥
निज कर केश सम्हारि प्रिया की बाँधी बैनी।
भाल तिलक तिलचुबक अधर रँगरँगी सुनैनी॥
अंजन नयननिमहँ दयो, फूलनि के गजरा नये।
पहिरायें उर कटि करनि, बीरा श्रीमुखमहँ दये॥

रासलीला प्रस्ताव

(९९४)

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ३३ अ० २ श्लो०)

छप्पय

कर पद नख रँग रँगे महावर चरन सजाये।
महँदी दिव्य लगाइ अरुन पद अरुन बनाये॥
भूषन बसन सम्हारि इतर अँगअंग लगायो।
मलि हिय केशर कीच, बिहँसि आदर्श दिखायो॥
नवतरंग छिन छिन उठैं, मन दोउनिके नहिं भरैं।
रूपाशवको पान मिलि, दरपनमहँ दोऊ करैं॥

संसारमें अभिमानही सबसे अधिक पतनका कारण है, जिसे जिसवस्तुके कारण अभिमान होगा उसका उसीके कारण अवश्य पतन होगा, यह निश्चित सिद्धान्त है। जो अपने धनके गर्वमें दूसरोंका अपमान करेगा, वह निर्धन होगा। जो अपनी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तदन्तर भगवान् ने वहाँपर उन स्त्रीरत्नोंके साथ रासलीलाका आरम्भ किया। वे गोपिकायें अच्युतके अनुगत थीं, परम प्रसन्न थीं और भगवान्की बाहुओंमें बाहु डाले हुए थीं।

प्रतिष्ठाके पीछे दूसरोंका तिरष्कार करेगा। वह संसारमें कभी न कभी प्रतिष्ठासे हीन होगा। जो सदाचारके अभिमानमें भरकर दूसरोंकी निंदा करेगा वह अवश्य एक दिन व्यभिचारी होगा, जो त्यागके अभिमानमें सबको तुच्छ समझेगा वह अवश्य एक दिन संग्रही होगा। यह निश्चित सिद्धान्त है, इसमें हेर फेर नहीं हो सकता। संसारमें जिसका भी पतन हुआ है अभिमानसे हुआ है, दर्प से हुआ है। कंदर्पको बहुत दर्प हो गया था। उसीके दर्प का दलन करनेके निमित्त भगवान्‌ने रासलीलाका अभिनय किया। एक कंदर्पके दर्पका भगवान् ने दलन किया हो, सो बात नहीं संसार में जिसेभी दर्प हो जाता है, जिसका भी अभिमान बढ़ जाता है। उसीके दर्पको दयालु दामोदर दलन कर देते हैं। दर्प भंग करना ही उनका एक मात्र व्यापार है, अभिमान ही उनका आहार है। उसे ही वे खाते हैं, अपने आश्रितोंके दर्पको भङ्ग करके ही वे सुखी होते हैं। उन्होंने ब्रह्माजीके दर्पको भंग किया। शिवजी के दर्पको भङ्ग किया। इन्द्र, सूर्य, अग्नि, दुर्वासा तथा धन्वन्तरि आदिके अभिमानको उन्होंने खंडित किया। उनके भक्तके हृदयमें जो भी अभिमान हो जाता है, उके वे चकनाचूर करदेते है। अपने भक्तोंके हृदयमें वे अभिमानको ठहरने ही नहीं देते, उनकी जड़ जमने नहीं देते। जहाँ भक्तोंके हृदयमे किसी प्रकारका अभिमान अंकुरित हुआ, कि उसे जड़मूलसे उखाड़कर फेंक देते हैं। इसलिये भगवद्भक्तका अपमान हो जाय, उसका अभिमान चूर्ण हो जाय, तो उसे भगवान की कृपा ही समझनी चाहिए। अपनी इच्छासे न कोई शाप दे सकता है न वरदान। सब भगवान्‌की ही प्रेरणासे होता है और जो भी होता है जीव के कल्याणके ही निमित्त होता है। भक्तोंसे जो प्रमाद भी बन जाता है, उससे भी उनका कल्याण होता है, शिक्षा मिलती है। यदि भगवान् पर विश्वास रखकर, निरभिमान होकर जीव उनके ही आश्रय में रहे-

तो उसका कभी अकल्याण होगा ही नहीं। उसका सदा कल्याणही कल्याण है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महामुनि देवलको अपने रूप त्यागका अभिमान होगया होगा। इसलिये भगवान्‌ने रम्भाको भेजकर उनके रूपके अभिमानको आठ स्थानोंसे टेढ़ा करके कुरूप बनाकर भंगकर दिया। जब वे अभिमान शून्य होकर भगवान्‌की शरण में गये,तब उन्हें भगवत् लोककी प्राप्ति हुई। मुनियो ! धनका रूप का तथा विद्या आदिकाही अभिमान नहीं होता, त्याग और सदाचार का भी बड़ा अभिमान होता है। हमने अपनी आँखों ऐसे लोगोंको देखा है जो अपने ब्रह्मचर्य और सदाचारी होने के अभिमानमें सदा दूसरों की निन्दा किया करते थे। स्त्रियोंसे घृणा करते थे। पास भी नहीं आने देते थे, दूसरोंको देखकर हँसते थे, अंतमें वे ऐसे स्त्रीलम्पट हुए, कि स्त्रियोंके हाथोंके क्रीड़ामृग बनगये, उनके क्रीतदास हो गये। मनुष्य और अभिमानोंको चाहें सरलतासे छोड़ भी सके, किन्तु यह त्यागका इतना सुदृढ़ अभिमान है,कि इसका छोड़ना अत्यन्त कठिन है। जबतक त्याग, ग्रहण, सत्य, असत्य तथा धर्म अधर्म दोनों ही प्रकारके अभिमानोंका त्याग न होगा, तबतक भगवान्‌की प्राप्ति दुर्लभ है। आपने मुझसे ब्रह्माजीको मोहनीका शाप कैसे हुआ, यह प्रसङ्ग पूछा था। यह कथातो बहुत बड़ी है, किन्तु मैं इसे अत्यन्त ही संक्षेपमें आप सबके सम्मुख कहूँगा। प्रतीत होता है ब्रह्माजीको अपने ऐश्वर्यका—ब्रह्माण्ड नायक होनेका—अभिमान हो गया होगा इसीलिये भगवानने यह लीला रची। यह कथा इस प्रकार है।

यह कथा रैवत मन्वन्तरकी है, उस समय सुचन्द्रनामके एक राजा बदरीवनमें घोर तप करते थे। वे दिव्य सहस्रों वर्षों तक भगवान् में मन लगा कर तपस्या करते रहे। उसके तपसे प्रसन्न होकर ब्रह्माजी उसे वर देने गये। उसने अन्य कुछ वर

न माँग कर भगवान्‌की अहैतुकी भक्तिका ही वर माँगा।

राजाको ब्रह्माजीने ईप्सितवर दिया। राजा उसी समय भगवान् का पार्षद होकर—दिव्य चतुर्भुज रूप रखकर—भगवानके लोक को चला गया। ब्रह्माजी हंसपर चढ़कर अपने ब्रह्मलोकको जा रहे थे। संयोगकी बात कि उन्हें मार्गमें मोहिनी नामकी स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा मिल गयी। ब्रह्माजीने तो उसकी ओर देखा भी नहीं, किन्तु विधिका विधान वह मोहिनी ब्रह्माके तेज रूप तथा प्रभावका देखकर उनके ऊपर आसक्त हो गयी। कामके वेगके कारण वह मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर गयी। उसी दशा में वहाँ उसकी सखी रम्भा अप्सरा आयी। उसने चेत कराया और मूर्छाका कारण पूछा। मोहिनीने सब बात बता दी कि मेरा मन ब्रह्माजीमें अटक गया है, यदि उनका आलिंगन प्राप्त न होगा, तो मैं मृत्युका आलिंगन करूँगी तीसरेका आलिंगन मैं नहीं कर सकती।" इस पर रम्भाने कहा—'तुम कामदेवकी उपासना करो। वह स्त्रियों पर शीघ्र दया करते हैं। उनकी सहायतासे तुम अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकोगी।"

रम्भाकी सम्मति मानकर मोहिनीने कंदर्पकी उपासना की। कंदर्पने प्रकट होकर मोहिनीको दर्शन दिये। वर माँगनेको कहा। मोहिनीने अपना अभीष्ट वर माँगा, कामदेव उसे साथ लेकर ब्रह्माजीके समीप ब्रह्मलोकमें गये। संयोग की बात ब्रह्माजी एक अत्यन्त सुन्दर उद्यानमें अकेले बैठे थे। मोहिनीने वहाँ जाकर उनके सम्मुख सुन्दर गायन किया, नृत्य किया और हावभाव कटाक्षों द्वारा लोकपितामहको रिझानेका प्रयत्न किया। कामदेवने भी इसमें अपनी पूरी शक्ति लगायी। ब्रह्माजीका मन चंचल हुआ। उनके नेत्रों में अनुरागके डोरे स्पष्ट दिखायी देने लगे। [illegible] तो आकृति देखकर ही भावको ताड़ जाती हैं। मोहिनी का ठिकाना नहीं रहा। वह और भी अधिक कामकी

दिखाने लगी। ब्रह्माजी अब सम्हले। उन्होंने सोचा—"यह तो बड़ी गड़बड़ हुई। आँखें चार होने से ही अनुराग अधिक बढ़ता है, अतः उन्होंने मोहिनीकी ओरसे अपनी दृष्टि हटाली सिर नीचा कर लिया और बहुमूल्य हार पारितोषिक देकर उसे विदा करना चाहा, किन्तु मोहिनी हारके लोभसे तो आयी ही नहीं थी। ब्रह्माजीको लक्ष्य बनाकर मन्मथ उसके मनको मथन कर रहा था। वह ब्रह्माजी और मृत्यु दो में से एक का आलिंगन करने को कृतसंकल्प थी।

ब्रह्माजीकी ऐसी उदासीनता देखकर वह बोली—"ब्रह्मन्, मैं किसी और वस्तुके लोभसे आपकी सेवामें नहीं आयी हूँ। मैं तो आपकी कृपा चाहती हूँ।"

ब्रह्माजीने उदासीन भावसे कहा—'मेरी तो सभी प्राणियों पर समान कृपा है। मैं तुम्हारे नृत्य गीतसे प्रसन्न हूँ अब तुम चली जाओ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिसका मन जहाँ रम जाता है, फिर उसे स्वेच्छासे कोई छोड़ नहीं सकता। मोहिनीको जब अपना प्रयास विफल होता हुआ प्रतीत हुआ, तो उसने कामदेव की स्तुति की। कामने अपना सुदृढ़ शर संधान करके ब्रह्माजी पर प्रहार किया। वेदगर्भ ब्रह्मा कामके प्रहारसे प्रथम तो मर्माहत हो गये, पीछे ज्ञानदृष्टिसे सब रहस्य समझ गये। उन्होंने कामको शाप दिया 'तू मेरा ही पुत्र होकर मुझपर प्रहार करता है। तेरा शरीर नष्ट हो जायगा।" काम यह सुनकर भाग गया।

अब तो मोहिनीकी विचित्र दशा थी, वह कामके आवेगसे अत्यन्त दुःखी हो रही थी, उसका शरीर काँप रहा था। उसने अनेक प्रकार दीनता दिखाकर, धर्म बताकर ब्रह्माजीको प्रार्थना की, किन्तु वेदगर्भ भगवान् ब्रह्मा नहीं पसीजे। उन्होंने कहा—देख, मैं चराचरका पिता हूँ, तू मेरी पुत्रीके समान है। तू मुझसे

ऐसी बात मत कर। मैं बूढ़ा हूँ, निष्काम हूँ, तपस्वी हूँ, और भगवद् भक्त वैष्णव हूँ। मैं जानता हूँ, कामपीड़ा बड़ी कठिन होती है, किन्तु तुम किसी युवक देवकुमारके समीप जाओ। इन्द्र, वरुण, कुवेर हैं, उनके पुत्र हैं अश्विनीं कुमार हैं, एकसे एक सुन्दर स्वरूपवान् युवा हैं। उनको भजो, मैं तो तुम्हारे पिता के समान हूँ।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! ब्रह्मा बाबाने स्वयं ही तो सृष्टि वृद्धि के लिये इस कामको अपने शरीरसे उत्पन्न किया और स्वयं ही इसके चक्करमें फँस गये। जैसे रेशमका कीड़ा स्वयं ही तो जालेको मुखसे निकालता है, और स्वयं ही उसके चक्करमें फँस जाता है। कामसे बढ़कर संसारमें बली कोई नहीं है। सिंहके मुखमें से लोग दाँत निकाल सकते हैं, सुमेरुको उखाड़ सकते हैं, समुद्रोंको शोष सकते हैं। अग्निका पानकर सकते। वायुको वसमें बाँधकर रोक सकते हैं, किन्तु कंदर्पके दर्पको दलन करने वाले संसारमें दुर्लभ हैं। कामके वेगको रोकना बड़ा असह्य है। मोहिनी तो वेश्या ही थी, वह अपने वेगको न रोकसकी, उसने ब्रह्माजीके वस्त्रको पकड़लिया। ब्रह्माजीका भी चित्त चंचल हो उठा। अब वे क्या करने, ऐसे समय एकमात्र भगवानका ही अवलम्ब होता है। ब्रह्माजी मनसे भगवान्के रूपका ध्यान करने लगे। वाणीसे भगवन्नामोंका उच्चारण करने लगे। भगवानने उनकी प्रार्थना सुनली। उसी समय वहाँ बहुत से ऋषि आगये। उनमें अत्रि पुलस्त्य, पुलह, वशिष्ठ, क्रतु, अङ्गिरा, भृगु, मरीचि, कपिल, वोढ़ु, पञ्चशिख, रुचि, आसुरी, प्रचेता, शुक्र, बृहस्पति, तथ्य, करक, कण्व, कश्यप, गौतम, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, कर्दम, शातातप, पिप्पल, शङ्ख, पराशर, मार्कंडेय, वामश, मृकण्डु, च्यवन, दुर्वासा जरत्कारु, आस्तीक, विभाण्डक, ऋष्यशृंग, भारद्वाज, वामदेव, कौशिक तथा और भी

बहुतसे ऋषि थे, ऋषियोंको आते देखकर मोहिनीको लज्जा गयी। कैसी भी स्त्री क्यों न हो, वह अपरिचित पुरुष को देख लज्जित हो ही जाती है। उसने तुरन्त ब्रह्माजीके वस्त्रको छ दिया और वह उनके समीप बैठ गयी। उसका हृदय धक् धड़क रहा था। शरीर थर थर काँप रहा था, अंगोंसे पसी निकल रहा था, चित्त चंचल हो रहा था, ब्रह्माजीके वामपार वह चुपचाप लजाती हुई बैठ गयी। अपने पुत्र पौत्रोंको देख ब्रह्माजी भी सम्हल कर बैठ गये। सबने आकर पितामहके पद्मोंमें श्रद्धा सहित प्रणाम किया। ब्रह्माजीनेभी सबको यथाय आशीर्वाद किया।

कुशल प्रश्नके अनन्तर मुनियोंने विनयके साथ पूछा "भगवन्! यह स्वर्गकी वेश्या आपके समीप क्यों बैठी है। तो हमने देवलोकमें देखा है। यह तो अप्सराओंमें श्रेष्ठ मोहि प्रतीत होती है?"

इस प्रश्नको सुनकर मोहनीको और भी लज्जा आ ब्रह्माजी समझगये, कि मोहिनी लज्जित हो गयी है। अतः उस लज्जाको मिटानेके लिये वे बोले—"कोई बात नहीं लड़की यहाँ नाचने आयी थी। नाचते नाचते थक गयी मेरे समीप गयी। मेरी तो यह पुत्रीके समान है।" ऐसा कहते कहते ब्रह्म को हँसी आ गयी। उसमें अपने जितेन्द्रियपने का कुछ गर्व था और उस स्त्रीकी परवशताका परिहास भी था। वे मुनि सर्वज्ञ थे, वे भी सब रहस्यको समझ गये। वे भी सब य रहस्यको समझकर हँसने लगे।

सबको हँसते देखकर मोहनीके हृदयमें तो मानों ला बिच्छुओंने एक साथ डंक मार दिया हो, मानों उसके पके हृद किसीने एक साथ असंख्यों सुइयाँ चुभो दी हों। मुनिय

और अत्यंत काम भावसे क्रोध नष्ट हो जाता है। उसने ब्रह्माजीके परिहाससे अपना घोर अपमान समझा। अब काम के स्थान पर उसके हृदयमें क्रोध छा गया। क्रोधके कारण वह थर थर काँपने लगी। उस कुलटाकामिनीका कुटिलानन और भी अधिक कुटिल हो गया, उसके नेत्र क्रोधसे जलने लगे, उनमेंसे लाल लाल लपटें सी निकलने लगीं। अधर फरकने लगे। वह भरी सभामें उठकर खड़ी हो गयी और ब्रह्माजीको सम्बोधन करके कहने लगी—"ओ विधाता! तुम्हें अपने ज्ञानी होने का बड़ा अभिमान है। तुम अपनेको बड़ा जितेन्द्रिय लगाते हो। सरस्वतीके प्रति जो तुमने अनुचित भाव प्रदर्शित किये थे, उसे सभी जानते हैं। मेरे ऊपर आप क्या हँस रहे हैं, मैं तो नर्तकी हूँ, वेश्या हूँ। मुझे तो दैवने ही सर्वगामिनी बनाया है। कहाँ आप कहाँ मैं। मैं आपकी दासियोंकी दासी होनेके तुल्य भी नहीं। तिस पर भी आप मुझे देखकर हँसते हैं, अतः मैं आपको शाप देती हूँ, आप संसार में अपूज्य हो जायँ। आपका न कोई मंदिर बने न आपकी कोई पूजा करे। सबकी जैसे वार्षिकी पूजा होती है, वैसे आपकी कभी न हो। आपका पद सदा बदलता रहे जो ब्रह्मा बदल गया, उसे फिर कोई पूछेगा भी नहीं।" इस प्रकार शाप देकर वह मोहिनी कामदेवके समीप चली गयी वहाँ जाकर उससे उसने अपनी इच्छाकी पूर्तिकी। पीछे जब उसका कामवेग शान्त हुआ तो उसे अपने कर्म पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि स्वर्गकी वेश्या होकर मैंने चौदहो भुवनोंके स्वामी लोकपितामह ब्रह्माको कैसा शाप दे दिया।

इधर उस अप्सराके शापसे समस्त ऋषि मुनि भी खिन्न हुए। सबने भगवान् ब्रह्मासे कहा—"पितामह! आप भगवान् वैकुण्ठ नाथके समीप जायँ वे कुछ उपाय करेंगे।"

सबकी सम्मति मानकर भगवान् ब्रह्मा श्रीहरिके समीप

वैकुण्ठ लोकमें गये। वहाँ प्रणाम नमस्कारके अनन्तर उन्होंने सब वृत्तान्त निवेदन किया। सब सुनकर भगवान् बोले—"ब्रह्माजी! देखिये, कुछ भूल आपसे अवश्य हो गयी। आप तो वेदोंको उत्पन्न करने वाले हैं, गुरुओंके गुरु हैं। सब कुछ जानते हैं। यह स्त्री जाति प्रकृतिका अंश है। जो स्त्रीका अपमान करता है, वह मानों प्रकृतिका अपमान करता है। उसे अपने कृत्यका फल अवश्य भोगना पड़ता है। मनुष्य जब कामके अधीन हो जाता है, जो विवश हो जाता है, विशेष कर स्त्री, ऐसी दशामें उसका परिहास करना, उसके ऊपर हँसना उसका अपमान करना, यह अभिमानका द्योतक है। आपको अपने ब्रह्मापनेका अभिमान हो गया था।"

ब्रह्माजीने नम्रतासे कहा—"महाराज! आपने ही तो मुझे ब्रह्माण्डका एकमात्र अधीश्वर बनाया है।"

अब तो भगवान् समझ गये, ब्रह्माजीको अपने ब्रह्माण्डाधिप होनेका अत्यधिक दर्प हो गया है। सहसा उसी समय भगवान्का द्वार-पाल आया और बोला—"प्रभो! बाहर एक ब्रह्मा खड़े हैं?"

ब्रह्माजी सुनकर चकित हो गये, कि ब्रह्मा तो एक मात्र मैं ही हूँ, दूसरा ब्रह्मा कौन आ गया। तब भगवान्ने पूछा—"किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं।" ब्रह्माजीका मुख फक्क पड़ने लगा। अरे मेरे इस ब्रह्माण्डसे पृथक् भी कोई ब्रह्माण्ड है क्या? भगवान्ने द्वारपालसे कहा—"अच्छा, आने दो।"

उसी समय एक सौ मुखके ब्रह्मा हाथ जोड़े आकर उपस्थित हुए। ब्रह्माजीको अपने चार मुखोंका ही अभिमान था, अब सौ मुखके ब्रह्माको देखते ही उनकी सिटिल्ली भूल गयी। उसी प्रकार सहस्र मुख, लक्षमुखके असंख्यों ब्रह्मा वहाँ आ गये। उन सबको देखकर उनका विष्णुके सदृश होनेका मोह दूर हो गया। वे

मूर्छितसे हो गये। उसी समय उन्होंने देखा, भगवानके जितने रोम कूप हैं, उतने अनंत ब्रह्माण्ड हैं, उन सबके पृथक् पृथक् ब्रह्मा, इन्द्र-मनु, प्रजापति और देवता हैं।" यह देखकर उनका अभिमान जाता रहा और वे भगवानके भक्त बन गये। वे आये हुए समस्त ब्रह्मा भगवान्को प्रणाम करके चले गये।

ब्रह्माजी को बड़ी लज्जा आयी। 'हाय' मुझसे कैसा अपराध हो गया। वे लज्जित होकर भगवानके निकट सिरनीचा करके बैठ गये। भगवानने सोचा—ब्रह्माजीकी लज्जाको किसी प्रकार दूर करनी चाहिये।'

इस पर शौनकजीने पूछा—"हाँ, सूतजी तो फिर क्या हुआ? भगवान् ने ब्रह्माजीके संकोचको दूर किया?"

सूतजी बोले—मुनियो! भगवान की समस्त चेष्टायें समस्त क्रीड़ायें-लोक कल्याणके निमित्त तथा भक्तोंको सुख देने के निमित्त होती हैं। ब्रह्माजी लज्जित बैठे ही थे, कि उसी समय शंकरजी वहाँ आगये। अन्य ऋषि, मुनि,देवता भी आये। उन्होंने वहाँ आकर भगवान की आज्ञासे रास सम्बन्धी दिव्य गान किया। उस गानको सुनकर समस्त देवता ऋषि मुनि यहाँ तक कि स्वयं भगवान् भी द्रवीभूत होकर जल रूप मे होगये। पीछे भगवान्ने अपने योग प्रभावसे सबको ज्योंका त्यों पृथक् पृथक् बना दिया। वह जल धारा रूपमें बहने लगा वैकुंठ से स्वर्ग आया। स्वर्गसे पृथ्वी पर उसीका नाम गङ्गा हो गया। भगवानने कहा—ब्रह्माजी! आप इस गंगाजी में स्नान करलें, शुद्ध तो आप हैं ही आपके स्नान करने मे यह शुद्ध हो जायगी।" भगवान् की आज्ञा से ब्रह्माजीने गङ्गाजीमें स्नान किया। उनकी लज्जा दूर हो गयी। फिर उन्होंने सरस्वती की उपासना की। सरस्वतीने उन्हें अपनाया। उनके साथ सुखपूर्वक रह कर ब्रह्माजी ब्रह्माण्डका पालन करने लगे।

इस पर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! ब्रह्माजी तो वेदगर्भ हैं, सबसे बड़े ज्ञानी हैं,उन्होंने मोहिनीका परिहास क्यों किया ?"

सूतजी हँसकर बोले—"अजी, महाराज ! काहेका परिहास है । यह सब भगवान् की लीला है। ब्रह्माजी कोई पृथक् थोड़े ही हैं। सब भगवान्का ही रूप हैं, उन्हें जब जैसी क्रीड़ा करनी होती है तब तैसा वेष बनाकर क्रीड़ा करते हैं। बड़े क्रीड़ाप्रिय हैं । खिलाड़ी हैं, मायावी हैं।

बात यह है, कि जब तक 'काम' न हो तब तक संसार की उत्पत्ति न हो । संसार न हो, तो क्रीड़ा कैसे हो मकड़ीकी भाँति स्वयं ही जाला बनाते हैं, स्वयं ही उसमें विहार करते हैं। जब चाहते हैं, निगल जाते हैं। सृष्टि की इच्छासे ब्रह्माजीको बनाया। ब्रह्माजीने सृष्टि करनेको पुत्रोंको उत्पन्न किया। वे कोई सृष्टिमें प्रवृत्त होना ही नहीं चाहते थे। तब ब्रह्माजीने एक कन्या उत्पन्न की और एक पुत्र कामदेव उत्पन्न किया। कामदेवको बाण देकर कहा—"तू सर्व विजयी होगा, सब तेरे वशमें होंगे।"

भस्मासुर की भांति कामदेवने सर्वप्रथम ब्रह्माजी पर ही अपने अमोघ अस्त्र की परीक्षा की । ब्रह्माजी का अस्त्र अमोघ ही था। सामने खड़ी हुयी अपनी पुत्री पर उनकी दृष्टि गयी। पीछे उन्होंने लज्जाके कारण शरीर त्याग दिया वह कन्या भी मर गयी। ऋषियोंने भगवानको स्मरण किया । भगवान्ने आकर ब्रह्माजीको योग प्रभावसे जीवित किया और उपदेश दिया—"ब्रह्मन् ! आप सृष्टि करें। कामसे ही तो सृष्टि है, किन्तु वह काम धर्मके अविरुद्ध होना चाहिये। जो धर्म विरुद्ध कामका सेवन करते हैं, वे नरकके अधिकारी होते हैं। संसारमें दो ही बड़े पाप हैं, पर स्त्री पर मन चलाना, पर धन की इच्छा करना। जो लोग आसक्त होकर धर्म विरुद्ध स्त्री सेवन करते है

उन्हें राजयक्ष्मादि भयङ्कर रोग होते हैं। उनका ज्ञान नष्ट होजाता है और इस लोकमें उनकी अपकीर्ति होती है। उत्तम पुरुष सदा भगवान्‌का चिन्तन करते रहते हैं, मध्यम पुरुष सदा सत्कर्मों में लगे रहते हैं और अधम पुरुष स्त्री लंपट होते हैं, वे सदा स्त्रियोंके ही रूप का चिन्तन करते रहते हैं। एकान्तमें स्त्रीको देखकर पुरुषको और पुरुषको देखकर स्त्रीको मोह हो ही जाता है। इस कामदेवको आपने इसीलिये उत्पन्न ही किया। यह लीला जो हुई, वह तो कामदेवके प्रभावको दिखानेके लिये हुई। अब आपका मन कभी विचलित न होगा। यह जो लड़की है, यह पुनः जीवित होकर कामदेव की पत्नी होगी। इसका नाम रति होगा। ये कामदेव और रति दोनों मिलकर संसारको मोहमें डालेंगे उसीसे सृष्टिका व्यापार चलेगा। "अब आप किसी परस्त्रीको काम भावसे न देखें।" ऐसा कह भगवान् अन्तर्धान हो गये। ब्रह्माजी सृष्टिके कार्यमें लग गये, ब्रह्माजीको भगवान्‌का यह उपदेश स्मरण था, इसीलिये बहुत प्रार्थना करने पर भी ब्रह्माजीने मोहिनीके प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया।

इस पर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! तब इसमें ब्रह्माजीका दोष क्या था, उन्होंने तो भगवान की आज्ञाका ही पालन किया। फिर वे एक कुलटा अप्सराके शापसे जगत्‌में अपूज्य क्यों बन गये? यह तो उलटी ही बात हो गयी।"

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"नहीं महाराज! उस वेश्या के परित्यागसे या उसके शापसे ब्रह्माजी अपूज्य थोड़े ही हुए। उन्हें जो 'मैं ब्रह्माण्डनायक हूँ, इस जगत्‌का एकमात्र अधीश्वर हूँ, यह जो अभिमान हो गया था, उसी अभिमानको चूर्ण करने के निमित्त भगवान्‌ने यह लीला रची। मोहिनी के मुखसे शाप दिलाया और स्वयं ही अपने ऐश्वर्यका दर्शन कराया। भगवन्! श्रीहरिका काम ही है लोगों के गर्वको खर्व करना। उनका नाम

मदहारी है। संसारमें जिसे भी गर्व हुआ उसीके गर्वको भगवान् ने चूर्ण किया। जहाँ अभिमान आ जाता है, वहाँ भगवान् नहीं रहते। अभिमानके भगवान् शत्रु हैं। भक्तके हृदयमें किसी भी प्रकारका जहाँ अभिमान आया कि वे उसे तुरन्त माया रचकर चूर्ण कर देते हैं। धनका, ऐश्वर्यका, सदाचारका, प्रभुत्वका तथा और भी कैसा भी अभिमान मनमें आते ही मद बढ़ जाता है। भगवान् देखते हैं, यह तो मेरे भक्तको गिरा देगा अतः वे उसके अभिमानको नष्ट कर देते हैं भगवान्ने जैसे ब्रह्माजीके मदको चूर्ण किया वैसे ही शङ्करजीके, पार्वतीके, चन्द्रमाके, सूर्यके, अग्निके, दुर्वासाके तथा धन्वन्तरिके भी मदको क्रमशः चूर्ण किया था।"

इस पर शौनकजीने कहा—"सूतजी! शङ्कर, पार्वती, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि; दुर्वासा तथा धन्वन्तरिको मद क्यों हुआ और भगवान्ने उनके मदको कैसे चूर्ण किया, कृपा करके इन कथाओं को भी हमें सुनाइये।

इस पर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! आप ऐसे ही प्रश्न में से प्रश्न करते जायँगे तब तो रासलीला हो चुकी। मुझे तो रासलीला वर्णन करने की चटपटी लगी है, आप ये मद भंग होने की कथायें ही पूछते जाते हैं। भगवन्! इन कथाओंका अंत नहीं, पार नहीं। ये अपार कथायें हैं। जिस रासलीलाके गानसे सब ऋषि, मुनि देवता यहाँ तक कि भगवान् भी पिघल कर गंगा रूपमें हो गये उस रासलीला की कथा को ही श्रवण कीजिये।"

इस पर गंभीर होकर शौनकजी बोले—"सूतजी! जैसे आपको रासलीला कहने की चटपटी लगी हुई है, वैसे हमें भी उस दिव्य प्रसंगको सुनने की चटपटी लगी है, किन्तु महा भाग! प्रसङ्ग वश जो कथा आ गयी है, उसे सुननेसे इस विषय

में और भी उत्कंठा बढ़ेगी। आप इन कथाओंका विस्तार न करें। अत्यंत संक्षेपमें सार रूपसे सुना दें। देखिये, इन कथाओंसे बड़ी शिक्षा मिलती है। अब ब्रह्माजी की कथासे ही यह शिक्षा मिली कि किसी को विवशता देखकर उसकी हँसी न उड़ानी चाहिये। न उस पर व्यंग करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह चाहे साक्षात् ब्रह्मा हो क्यों न हो, अपूज्य हो जाता है। संसारमें उसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है। इन कथाओंका सार उपदेश लेना चाहिये, सोचना चाहिये इससे क्या शिक्षा मिलती है। यह कभी न सोचना चाहिये कि जब ब्रह्माजी भी फिसल गये, तो हमारी क्या बात है। यह तो भगवान् शिक्षा देनेके लिये ऐसी लीलायें करते हैं। आप हमारी प्रार्थना स्वीकार करें। इन कथाओं को संक्षेपमें हमें अवश्य सुनावें। तदनंतर रास विलासकी सरस सुन्दर सारमया सरिता बहावें।

सुतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! जैसी आज्ञा। मुझे तो कथा ही कहनी हैं। ये भी परम शिक्षाप्रद भगवत चरित्र हैं। पहिले मैं इन्हें ही सुनाता हूँ।

श्रीशिवदर्पभङ्ग

(१)

मुनियो ! एक बार शिवजी के मनमें यह भाव आगया, कि मुझे सब महादेव कहते हैं, मैं सभी देवोंसे श्रेष्ठ हूँ आशुतोष हूँ। वरदानियों में श्रेष्ठ हूँ। इसलिये भगवान्ने लीला रची। महानुभावो ! शिव और विष्णु दो तो हैं नहीं। शिवजी के हृदयमें सदा विष्णु रहते हैं और विष्णुके हृदयमें सदा शिव। शिवजीके इष्ट विष्णु हैं और विष्णुके इष्ट शिव। जब कोई लीला करनी होती है तो दोनों में से एक स्वामी बन जाता है एक सेवक। नाटक में यही तो होता है। बाप बेटा बन जाता है

बेटा बाप। हाँ तो एक वृक नामका असुर था। उसने शिवजीकी आराधना करके यह वर माँगा कि मैं जिसके सिर पर हाथ रख दूँ, वही मर जाय। शिवजी ने तथास्तु कह दिया। उस दुष्टने गौरी हरणकी लालसासे शिवजीके ही सिरपर हाथ रखना चाहा तब शंकरजी भगवान्‌की शरणमें गये। भगवान्‌ने बड़ी युक्तिसे उस असुरसे उसके सिरपर हाथ रखवाकर उसे भस्म करा दिया। इस प्रकार शिवजीका दर्प दूर हुआ वे भगवान्‌को ही सर्वश्रेष्ठ समझने लगे। यहाँ मैंने इस कथाका संकेत मात्र कर दिया है। आगे इसका विस्तारके साथ वर्णन करूँगा।

(२)

दुर्गा दर्पदलन

भगवती दुर्गा दुष्टोंका वध करके दक्षकी पुत्री सतीके रूप में प्रकट हुई थीं। उन्होंने भूलसे सीताजी का रूप रख लिया था। इससे शंकरजीने उनका परित्याग कर दिया था। इधर उनके पिता दक्ष प्रजापतिको प्रजापतियोंका पति होनेसे बड़ा गर्व हो गया था। उसके गर्वको नाश करनेके लिये सतीजी ने उसके यज्ञ में शरीर त्याग दिया। शिवजीने वीरभद्रके द्वारा दक्षके गर्वको खर्व कराया। यह कथा मैं पीछे विस्तार से वर्णन कर ही आया हूँ। वे ही सती हिमालयके यहाँ पार्वती रूपमें प्रकट हुई। हिमालय अपनी कन्याका विवाह शिवजीसे करना चाहते थे। किन्तु शिवजी ठहरे निस्पृह त्यागी, विरागी। वह विवाह क्यों करने लगे। हिमालय ने सोचा—मेरी पुत्री त्रैलोक्य सुन्दरी है शिवजी उसे देख लें तो अवश्य विवाह करनेको सहमत हो जायँगे। उन्होंने शिवजीसे प्रार्थना की—"मेरी पुत्री आपकी सेवा कर जाया करे तो कोई हानि तो नहीं है।" शिवजी ने कहा—"कोई हानि नहीं।"

अब तो पार्वतीजी नित्य ही सेवा करने आने लगीं। शिव जी उनकी सेवासे अत्यन्त सन्तुष्ट हो गये। वे सर्वथा उनके अधीनसे हो गये। पार्वतीजी को गर्व हो गया, शिवजी मेरे रूप पर आसक्त हो गये हैं। ये काम के अधीन हो गये हैं। शिवजी ने सोचा—मेरी प्रिया के हृदयमें ऐसा अभिमान होना उचित नहीं है उसी समय उन्होंने अपने तीसरे नेत्रसे कामदेवको भस्म कर दिया। और पार्वतीजीसे उदासीन हो गये। यह देखकर पार्वतीजी का समस्त अभिमान चकनाचूर हो गया। उन्होंने घोर तप करके शिवजीको प्रसन्न किया और उन्हें पुनः प्राप्त किया। पीछे मैं इस कथाको विस्तार के साथ कह हो चुका हूँ।

(३)

इन्द्र दर्प नाश

देवेन्द्रके दर्प नाशकी कथा भी मैं पीछे कह आया हूँ। देवेन्द्रको भी अभिमान हो गया था, कि मैं तो तीनों लोकोंका स्वामी हूँ, बृहस्पतिजीको देखकर क्यों उठूँ। एक दिन गुरुके आने पर अहंकार वश सिंहासन से नहीं उठे। इससे उनकी समस्त श्री नष्ट हो गयी और पदभ्रष्ट होकर इधर-उधर भटकते रहे। अभिमानके वश मे उन्होंने गौतमकी पत्नी अहल्या के साथ अनुचित व्यवहार किया। अपने पुरोहित विश्वरूपका वध किया। इससे उन्हें ब्रह्महत्या लगी। ऋषियोंने यज्ञ कराके उन्हें निष्पाप बनाया। वे पुनः स्वर्ग के ऐश्वर्यको भोगने लगे। अबके उन्होंने विश्वकर्माको एक ऐसा नगर निर्माण करनेकी आज्ञा दी कि ऐसा नगर कहीं न हो। अब रात दिन कन्नी बसूला खटकने लगा। सौ वर्ष हो गये इन्द्रको तृप्ति ही न हो। भवनके ऊपर भवन बनते जायँ। विश्वकर्मा नापते नापते थक गये। वे जब भी घर जानेकी आज्ञा माँगें, तभी इन्द्र उन्हें डाँट दें, कि काम पूरा करके ही कहीं जा सकते हो।

विश्वकर्मा बड़े घबड़ाये, उन्होंने सोचा—"न जाने इसका काम कब समाप्त होगा। वे भगवान् का ध्यान करने लगे—"हे प्रभो! मुझे इस इन्द्रसे अवकाश दिलाइये।" भगवान् तो सब सुनने वाले हैं वे एक छोटे ब्राह्मण बालक का वेष बनाकर इन्द्रके समीप आये। इन्द्रने बालकका सत्कार किया और आनेका कारण पूछा।

ब्राह्मण ने कहा—"हे सुरेन्द्र! आप यह नगर तो बड़ा सुन्दर बनवा रहे हैं। ऐसा नगर तो आपके पहिले किसी इन्द्रने नहीं बनवाया न किसी दूसरे विश्वकर्मा ने ऐसा नगर बनाया।"

छोटे बच्चेके मुखसे ऐसी बड़ी बात सुनकर इन्द्रको हँसी आ गयी और वह व्यंगके स्वरमें हँसी करते हुए बोला—"अच्छा बूढ़े बाबा! तुम यह बताओ कि तुम कितने इन्द्रों को जानते हो"

बालक गंभीर होकर बोला—"देवेन्द्र! तुम इन्द्रकी बात कहते हो। मैं तुम्हारे बाप कश्यपको जानता हूँ, उनके भी बाप मरीचिको जानता हूँ, मरीचिके बाप ब्रह्माको भी जानता हूँ और उनके भी बाप नारायणको जानता हूँ। ब्रह्माके एक दिन में चौदह इन्द्र होते हैं। उनके ३६० दिनका एक वर्ष होता है, उन वर्षोंसे ब्रह्मा एक सौ आठ वर्ष जीते हैं। फिर दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं ऐसे असंख्यों ब्रह्मा हो गये हैं। उन सब को मैं जानता हूँ। जैसा यह ब्रह्माण्ड है ऐसे असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं। महाविष्णुके एक एक रोमकूपमें अगणित ब्रह्माण्ड फैल फूटकर पड़े हैं। उन सब ब्रह्माण्डोंमें पृथक्-पृथक् ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र मनु, देवता प्रजापति तथा ऋषिगण हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! उस छोटे बच्चेके मुखसे ऐसी बात सुनकर इन्द्र बड़े विस्मित हुए। उसी समय वहाँ एक बिलसे करोड़ों असंख्यों छोटी-छोटी चींटियाँ निकलने लगीं। उन झुन्ड की झुन्ड चींटियों को देखकर वह विप्रबालक हँसने लगा।

इन्द्र ने पूछा—"अरे, बालक ! तुम हँसते क्यों हो ?"

बालक रूप हरि बोले—"मैं हँसता इसलिये हूँ, कि जितनी ये चींटियाँ हैं, तुम्हारे पश्चात् क्रमशः ये सबकी सब इन्द्र होंगीं।"

इन्द्रको बड़ा आश्चर्य हुआ उसी समय लोमश मुनि आ गये। भगवान् ने उनसे पूछा—"तुम कौन हो ?"

उन्होंने कहा—"महाराज। मेरा नाम लोमश है। जब एक ब्रह्माका अन्त होता है, तो मैं अपने एक लोमको गिरा देता हूँ। असंख्यों ब्रह्मा मेरे सामने बदल गये।"

यह सुनते ही इन्द्रको बोध हो गया। उन्होंने वटु रूपी भगवान्को प्रणाम किया। विश्वकर्मा को तुरन्त घर जानेकी आज्ञा दी, और वे ब्रह्मज्ञानी बन गये। उनका त्रैलोकाधिप होने का मोह दूर हो गया।

(४)

सूर्य दर्प भङ्ग

इसी प्रकार एक बार सूर्यको भी अभिमान हो गया था कि मैं तीनों लोकोंको प्रकाश प्रदान करता हूँ, मेरे बराबर संसार में कौन है ? उसी समय माली सुमाली नामक दो प्रबल पराक्रमी दैत्य हुए। उन्होंने शिवजीको प्रसन्न करके उनसे एक ऐसा विमान प्राप्त किया, कि जब सूर्य अस्त हो जायँ, तो वे दोनों उस विमान के प्रकाशसे रात्रिको भी दिनके सदृश बना दें। सूर्यदेवने क्रोध करके अपने वज्रसे उन्हें मारकर गिरा दिया। कृपालु शंकरने आ करके अपने दोनों असुर भक्तोंको जिला दिया और वे सूर्य को मारनेको उनके पीछे भागे। सूर्यदेवने जब अपने बचनेका कोई उपाय न देखा, तो ब्रह्माजीकी शरण गये। ब्रह्माजीने दिव्य स्तोत्रसे शिवजीकी स्तुति की उन्हें प्रसन्न किया। शिवजी ब्रह्मा

जी की विनयसे सन्तुष्ट होकर बोले—"अच्छी बात है, मैं आप के कहनेसे सूर्यको छोड़ देता हूँ। आगे ये ऐसा अभिमान न करें।" शिवजीके उपदेशको सुनकर सूर्यदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने अभिमानका त्यागकर दिया। इस प्रकार सदाशिवके द्वारा सूर्यदेवका दर्प दलन हुआ।

(५)

अग्निके अभिमानका खंडन

अग्निको भी एक बार ऐसा ही अभिमान हो गया। बात यह थी कि भगवान् भृगुने उन्हें सर्वभक्षी होनेका शाप दे दिया था। इससे उन्हें बड़ा क्रोध आया। वे कहने लगे—"मैं ही तो देवताओंका मुख हूँ, सबको आहार पहुँचाता हूँ। प्राणियोंके शरीरमें रहकर सबको जीवन दान करता हूँ। मुझे इस छोटेसे मुनि ने ऐसा दारुण शाप दे दिया। अच्छी बात है, मैं तीनों लोकोंको भस्म किये देता हूँ।" ऐसा सोच कर वे सौ ताल वृक्षोंसे भी ऊँची-ऊँची लपटें उठा कर तीनों लोकोंको भस्म करनेके लिए उद्यत हो गये। उनके ऐसे अभिमानको देखकर भगवान् बालक वेष बनाकर उनके सम्मुख आये और लपटोंसे कुछ भी न डरकर हँसते हुये अग्नि से पूछने लगे—"हे हुताशन! तुम इतने रुष्ट क्यों हो रहे हो?"

अग्निने क्रोधमें भरकर कहा—"भृगु मुनिने मुझे सर्वभक्षी होने का शाप दे दिया है, इससे मैं तीनों लोकोंको भस्म कर दूँगा।

हँसकर बालक रूपी हरि बोले—"यह अच्छी रही। देवदत्त चोरी करे यज्ञदत्त फाँसी पर लटकाया जाय। अरे, भाई? भृगु ने तुम्हें शाप दिया है, भृगुको भस्म कर दो। त्रैलोक्यने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? बिना अपराध तीनों लोकोंको क्यों जलाना

चाहते हो ? देखो, यह त्रैलोक्य तो ब्रह्माजी ने उत्पन्न किया है, विष्णु इसका पालन करते हैं, रुद्र संहार करते हैं। तुम्हें इसे जलाने का क्या अधिकार है ?"

अग्नि ने कहा—"पालन तो मैं ही करता हूँ। मैं अन्नको न पकाऊँ तो कोई प्राणी जी सकता है ? मेरी शक्तिसे ही तो संसार के सम्पूर्ण कार्य चल रहे हैं।"

भगवान् ने कहा—"तुममें क्या शक्ति है ?"

अग्नि ने कहा—"मुझमें वह शक्ति है कि मेरे सम्मुख जो भी वस्तु आ जाय, उसे मैं जला सकता हूँ।"

यह सुनकर वटु रूपी भगवान् ने अपने हाथ पर एक सूखा सरपत का पत्ता रखकर कहा—"अच्छा अब इसे तो जलाकर दिखाइये।"

अग्नि ने अपना सम्पूर्ण बल लगाया, किन्तु उस पत्ते को तिल भर भी झुलसा नहीं सके। तबतो अग्निको बड़ी लज्जा आयी। उनका सम्पूर्ण दर्प भंग हो गया। वे थर-थर काँपने लगे और भगवान्को ही अपनी शक्तिका मुख्य कारण समझने लगे।

(६)

दुर्वासा दर्प भंग

महामुनि दुर्वासाको भी अपने शाप देनेका बड़ा अभिमान था। ये शिवजीके अंशावतार हैं। इनका भी राजा अम्बरीषके यहाँ अभिमान भंग हो गया, इनकी कथा मैं पीछे कह ही चुका हूँ।

(७)

धन्वन्तरि दर्प दलन

एक बार भगवानके अंशावतार भिषक्तम धन्वन्तरिको भी अभिमान हो गया था, कि मुझे कोई परास्त नहीं कर सकता।

शिवजीसे गरुड़जीने विषहारिणी विद्या प्राप्त की थी और गरुड़जीसे धन्वन्तरिजीने। इस सम्बन्ध से धन्वन्तरिजीके गुरु गरुड़जी थे और बाबा गुरु भोले बाबा थे। एक बार धन्वन्तरि जी अपने बहुतसे शिष्योंको साथ लिए हुए अपने बाबा गुरु शंकरजीके दर्शनोंके लिये कैलाश जा रहे थे, कि मार्ग में उन्हें तक्षक नाग पड़ा हुआ मिला। उसके फणों पर दिव्य मणियाँ चमक रही थीं, उसे अपने उल्बण विषका बड़ा अभिमान था। उसके साथ और भी बहुतसे लाखों नाग थे। वे सब सशिष्य धन्वन्तरिजीको देखकर उन्हें डसने के लिये दौड़े। धन्वन्तरिजी उनकी ऐसी मूर्खताको देखकर हँस पड़े। उनका एक दम्भी नामक शिष्य था। उसने मंत्रोंके द्वारा तक्षकको जम्भित कर दिया। वह मंत्र प्रभावसे मूर्छित हो गया। दम्भीने उसे उठाकर रस्सीकी भाँति घुमाया और उसके फणोंसे मणि हर ली। फिर ज्योंका त्यों मार्गमें मृतकके समान डाल दिया। वह अचेत पड़ा रहा। उसके साथियोंने नागोंके राजा वासुकी को सूचना दी। समाचार सुनकर वासुकीने द्रोण, कालीय, कर्कोटक पुण्डरीक और धनञ्जय इन पाँच नागराजोंके सेनापतित्व बहुत से नागोंको भेजा। धन्वन्तरिजीने उन सबको मंत्र प्रभाव से निश्चेष्ट बना दिया।

वासुकी ने जब यह बात सुनी तो उसने अपनी बहिन मानसा को भेजा। वह भी शिवजीकी शिष्या थी। उसने जाकर धन्वन्तरिजीसे अनेक अस्त्र शस्त्रोंके द्वारा युद्ध किया। वह कुमारी कन्या थी। अन्तमें जब उसने धन्वन्तरिजी के सब अस्त्र शस्त्र मंत्र और ओषधियाँ व्यर्थ बना दीं, तो उन्होंने क्रोधमें भर कर शिवजीके शूलको उठाया। उसी समय वहाँ शिवजी, ब्रह्माजी तथा गरुड़जी आ गये। ब्रह्माजीने कहा—"धन्वन्तरिजी! तुम क्या कर रहे हो? इस मानसा देवीको तुम नहीं जीत सकते

तुम इनकी पूजा करो।"

ब्रह्माजीकी आज्ञा मानकर धन्वन्तरिजीने शास्त्रोक्त विधिसे देवीका पूजन किया, स्तुति की। उनकी पूजासे प्रसन्न होकर मानसा देवीने उन्हें वर दिया। इस प्रकार धन्वन्तरिजीका मद भी उस कन्याके द्वारा चूर्ण हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने आपकी आज्ञासे ब्रह्माजी, शिवजी, पार्वतीजी, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, दुर्वासा तथा धन्वन्तरिजी के मानभङ्गकी कथायें अत्यन्त ही संक्षेपमें सुनायीं। महाभागो! जिन अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक सर्वेश्वर श्रीकृष्णने इन सब अपने भक्तोंके दर्पका नाश किया। उन्होंने ही श्री वृन्दावनमें कंदर्पका दर्प भी दलन किया। रासलीलाका एक यह भी उद्देश्य था, कि कामदेवके बढ़े हुए अभिमानका नाश हो जाय। रास-लीलामें भगवानने कामदेवको चुनौती देकर बुलाया था।

इस पर शौनकजीने पूछा—"सूतजी। रास किसे कहते हैं?"

इसपर सूतजी बोले—"महाराज! जिसमें रस आ जाय वही रास है।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! रस किसे कहते हैं?"

सूतजी बोले—"भगवान्! जो मनके द्वारा, चाटकर, देखकर, सुनकर, सूँघकर, छूकर आनन्द आ जाय वही रस है। इसकी अभिव्यक्ति आठ प्रकार से होती है। इसीलिए रस शास्त्रवालोंने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और शान्त ये आठ रस बताये हैं। इन सबमें शृंगार प्रधान है। कहना चाहिये कि एकमात्र शृंगार ही रस है। शृंगार के ही ये रूपान्तर मात्र हैं।

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! शृंगार किसे कहते हैं?"

हँसकर सूतजीने कहा—"अब महाराज! शृंगार क्या बताऊँ? आप तो ऐसे खोद खोदकर पूछ रहे हैं। शृंगार कहते हैं, रंगीले,

रसीले, चटकीले, स्वच्छ सुघर, मनोज्ञ, जो भी संसारमें सुन्दर आकर्षक स्वच्छ और हृदयको सुख देने वाले पदार्थ हैं सबका सम्बन्ध शृंगार रस से है। जो रूखे सूखे बाल बढ़ाये, लँगोटी लगाये, राख भभूत लपेटे डोलते हैं ये सब रसहीन नीरस हैं।"

हँसकर शौनकजीने पूछा—तो सूतजी। ये शिवजी नीरस हैं क्या ?"

सूतजी बोले—"अजी, तुम इन शिवजीकी कुछ मत पूछो महाराज! ये भी बड़े रँगीले हैं। कहना चाहिये रसके साक्षात् स्वरूप तो ये ही हैं। रासमें इन्होंने जटाओंकी वेणी बना ली थीं, भभूतका अंगराग बना लिया, बाघम्बरकी साड़ी और फटे कानोंके कुंडलोंके झूमका और कुंडल लटकाकर, लँहगा पहिन कर, चूरी बिछुआ धारण करके लोगसे लुगाई बन गये। महाराज शृंगार रसकी अनुभूति स्त्रीके बिना होती नहीं शृंगारको उद्दीप्त करता है संगीत।

संगीत क्या होता है सूतजी!" उत्सुकताके साथ शौनकजी ने पूछा।

सूतजी बोले—"भगवान्! नाचना, गाना और बजाना इन तीनोंका नाम संगीत है। वाद्य और गायनके साथ नट और नटी मिलकर जो नृत्य करती हैं। एक दूसरेको पकड़कर विचित्र प्रकारसे जो हाव भाव कटाक्षोंका प्रदर्शन किया जाता है। उसका नाम रास है। इस रसमें रँगा रँगीला अपनी रँगीली सखियों के साथ ही रास करता है। जितने अवतार हैं कोई तो मार धाड़ करता है, कोई सदा तीर कमान ही ताने रहता है, कोई भीख माँगता है, कंगालोंके पीछे पड़ा रहता है। हमारे ये टेढ़ी टाँग वाले रँगीले रसीले रासेश्वर ही एक मात्र ऐसे हैं जो इन सबसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रखते, सदा मुरलीकी तान छेड़ा

करते हैं। मंद मंद मुसकराते रहते हैं। प्यारीके साथ नाचते हैं, गाते हैं रास क्रीड़ा करते हैं। अतः मूर्तिमान शृंगार रस श्याम सुन्दर हैं। प्रियाजीके साथ उनकी जो क्रीड़ायें हैं वे ही रास कहलाती हैं। और महाराज! मैं इसमें अधिक रासकी क्या व्याख्या बताऊँ?

शौनकजी बोले—सूतजी! आप पहिले हमें संगीतका स्वरूप बताइये, तब रासका रसयुक्त प्रसंग सुनाइये।

हँसकर सूत जी बोले—"अजी, महाराज! संगीत शास्त्र तो बड़ा गहन विषय है। मुझ जैसे नीरसका उसमें प्रवेश भी नहीं हो सकता। उसका विस्तारसे वर्णन तो चतुर्मुख ब्रह्माजी भी नहीं कर सकते। फिर भी जो मैंने कुछ गुरु मुखसे सुना है, उसे अत्यंत संक्षेपमें—सूत्र रूपमें—आपको सुनाता हूँ, आप दत्त-चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

दोऊ रसमहँ पगे प्रेमकी बँधे डोरतैं।
करें हियेमहँ ध्यान निहारें नैन कोरतैं॥
झुकि झुकि चूमत बदन विरह संताप मिटावैं।
ऊपर गिरि गिरि परत परसिके प्रेम बढ़ावैं॥
अरसत परसत परस्पर, बहत तरंगनिमहँ उभय।
पीवत ज्यों ज्यों नेहरस, त्यों त्यों छूटत सकुच भय॥

रासारम्भ

[९९५]

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल मण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥*

(श्री भा० १ स्क० ३३ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

श्यामा श्याम सजाइ रास मंडलमहँ लाये ।
जै निरखीं तहँ नारि श्याम तै रूप बनाये ॥
द्वै गोपिनिके बीच बीच हरि सोहत कैसे ।
स्वर्ण मणिनिके मध्य नील मणि दमकत जैसे ॥
गलबैयां डारें चपल, नटवर वेष बनाइकें ।
ताता थेई करि हँसत, नाचत ताल मिलाइकें ॥

साहित्य और संगीत संसारमें दो ही रस अभिव्यक्तिके साधन हैं। जो इनसे हीन हैं वे पशु सदृश हैं। पशुओं पर साहित्यका कुछ प्रभाव पड़ता है या नहीं यह कहना तो कठिन है, किन्तु

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! गोपियोंके मंडलसे मंडित रासका उत्सव आरम्भ हुआ। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उन स्त्रियोंमेंसे दो-दो के बीचमें एक-एक रूप बनाकर उनके कण्ठोंमें कर डालकर खड़े हो गये।

ंगीतका प्रभाव तो पशुओं पर अवश्य पड़ता है। गान्धारमें गाने-
ी सब गौएँ एकत्रित हो जाती हैं और कान खड़े करके गान
ुनने लगती हैं। हरिन गानके लोभसे ही प्रान गँवाते हैं। व्याध
ीठे स्वरसे बीन बजाते हैं। हरिन उस गानको सुनकर आत्म
विस्मृत हो जाते हैं उस दशामें व्याध उनका वध कर देते हैं,
कड़ लेते हैं। सर्प आँखोंसे ही सुनता है, उसके कान नहीं होते,
कर भी संगीत सुनकर वह झूमने लगता है। इसी प्रकार संसार-
ं समस्त प्राणी प्रकृतिके इस मनमोहक संगीत के चक्करमें ऐसे
ंसे हुए हैं, कि अपने आपको भूल गये हैं। जिस संगीतसे
ात्मविस्मृति न हो—अपना आपा भुलाया न जा सकता हो—
ह सङ्गीत सङ्गीत नहीं, बेसुरा रुदन है। रुदन भी हो तो सुस्वर
ो। कोई भी देवता सङ्गीतके बिना नहीं रह सकता। सङ्गीत
ास्त्रोंमें बड़े विस्तारके साथ वर्णन आता है कि कौन देव किस
वरमें गाते हैं। लिखा है अग्नि षड्ज स्वरमें गाते हैं। ब्रह्माजी
ेषभमें गाते हैं, चन्द्रमा गांधारमें और विष्णु मध्यम में। पंच-
ं नारद और धैवत और निषादमें तुम्बुरु गन्धर्व गाते हैं। कोई
ैसा देवता न होगा जिसका कोई न कोई विशेष वाद्य न हो।
रस्वती सदा वीणा लिये रहती हैं। भोले बाबा डमरू बजाते
ं। विष्णु भगवान् अपने पांचजन्य शङ्खको कभी हाथसे छोड़ते
ी नहीं। नारदकी वीणा विश्वमें प्रसिद्ध है। श्रीकृष्णकी मुरली
ि विषयमें तो कुछ कहा ही नहीं जाता। भगवान्की प्राप्ति करनेके
ी ही साधन हैं। ध्यान और गान। जो ध्यान गान दोनोंमें से
ेक भी नहीं जानता उसका इस लोकमें और परलोकमें सर्वत्र
अपमान होता है। यह संपूर्ण विश्वमें ही व्याप्त है।

नाचना गाना और बजाना इन तीनोंका ही नाम सङ्गीत है।
तीनों मिलकर ही सङ्गीत कहाते हैं। भली भाँति जो गाया जाय
उसीका नाम सङ्गीत है। संसारमें संगीतके अतिरिक्त कुछ है ही

नहीं। सभी अपना अपना नाच. नाच रहे हैं। सभी अपनी अपनी पृथक ढपली पृथक राग लेकर अपने-अपने पृथक गीत गा रहे हैं। घोर शान्त एकान्तमें चुपचाप बैठो तो तुम्हें मधुर-मधुर मुरलीकी मनोहारिणी मंद-मंद ध्वनि सुनाई देगी। उसी पर मन को स्थिर करो तो तुम्हें दिव्य सङ्गीत सुनाई देगा। समुद्रकी लहरियों को ध्यान पूर्वक देखो तो वे तुम्हें नाचती हुई सी दिखाई देंगी। उस पर अपने चित्तकी वृत्तिको केन्द्रित करो। सम्पूर्ण मानसिक संकल्पको उस पर सीमित करदो, तो तुम्हें यह सम्पूर्ण विश्व एक दिव्य नृत्य करता हुआ दिखाई दे[illegible] करके एकान्तमें बैठ जाओ तो तुम्हें एक [illegible] देगा, उसीमें मनको अटका दो तो चारों प्रकारके बाजे सुनाई देंगे। सङ्गीत कहींसे लाना थोड़े ही है यह सम्पूर्ण विश्व सङ्गीतमय परिप्लावित है। केवल उसकी अनुभूति करनी है, उसे समझना है, अनुभव करना है।

सङ्गीत शास्त्र उसी प्रकार अनन्त है जिस प्रकार भगवान अनन्त हैं। सङ्गीत जीवोंको ही प्यारा हो सो बात नहीं। भगवान को भी बहुत प्रिय है। एक दिन नारदजीने भगवान्से पूछा—"महाराज! कोई कहता है आप वैकुण्ठमें अधिक रहते हैं। कोई कहता है श्वेत द्वीपमें, क्षीरसागरमें तथा योगियोंके हृदयके अष्ट-दल कमलमें आप रहते हैं। कोई आपको सर्वव्यापक बताता है। अब मुझे तो आपके दर्शनोंकी नित्य ही चटपटी लगी रहती है। मैं कभी वैकुण्ठ गया वहाँ आप न मिले तो मुझे बड़ा दुःख होगा। अपना कोई एक निश्चित स्थान बता दीजिये जहाँ जानेसे आपके दर्शन हो ही जायँ, निराश होकर न लौटना पड़े।" यह सुनकर भगवान हँस पड़े और बोले—"नारद! वैकुण्ठ तो मेरा लोक ही है, वहाँ मुझे जाना तो पड़ता ही है, न जाऊँगा तो मेरी घर वाली लक्ष्मी अप्रसन्न हो जायगी। इच्छा न

होनेपर भी बहूके डरसे घरमें तो जाना ही पड़ता है किन्तु वहाँ मैं रहता नहीं। ऐसे ही घूम घाम करके, लक्ष्मीजीको बहलाकर इधर-उधरकी बातें बनाकर—भाग आता हूँ।

और भैया, ये योगी तो बड़े रूखे हृदय के होते हैं। इनकी जटायें दाढ़ियाँ सब रूखी रूखी होती हैं। नाकके वेगसे वायुको खींचने छोड़नेसे शरीर भी रूखा हो जाता है। अब मेरे लिये ये सब कष्ट सहते हैं, इसलिये इनके हृदयोंमें कर्तव्यवश जाना तो पड़ता ही है, किन्तु मैं वहाँ बैठता नहीं, खड़े खड़े दर्शन देकर लौट आता हूँ। किन्तु भैया नारद! देख जहाँ मेरे भक्त मिलकर ताल स्वरके सहित संगीत शास्त्रके अनुसार गाते हैं, वहाँ तो मैं चुटकी मारकर बैठ जाता हूँ, जब तक वह होता रहता है, मैं उठता नहीं, इसलिये जहाँ शुद्ध संगीत हो रहा हो, वहाँ तुम मुझे निर्भय होकर खोज लिया करो। वहाँ मैं अवश्य मिल जाऊँगा।" नारदजीने सोचा—'मैं कहाँ संगीतज्ञोंको खोजता फिरूँगा'। वे अपने पिता ब्रह्माजीके पास गये और बोले—"पिता जी! मुझे संगीत सिखा दो।' ब्रह्माजी तो वेदगर्भ ही ठहरे। उन्होंने नारदजीको विधिवत् संगीतकी शिक्षा दी और एक "स्वर ब्रह्म विभूषिता" वीणा दी और कहा—"इसे बजाकर जहाँ तुम भगवान्‌के नामोंको गाओगे, वहीं भगवान तुरन्त उसी प्रकार चले आवेंगे जैसे कोई समीपकी कोठरीका जागता पुरुष नाम लेकर बुलानेसे तुरन्त आ जाता है।' उसी दिनसे नारदजी वीणा को बजाकर भगवान् के नाम और गुणोंका गान करते हुए चौदह भुवनोंमें स्वच्छन्द होकर विचरने लगे। गायन ऐसी विद्या है, कि सभी सहृदय पुरुष गायकसे प्रेम करते हैं। संगीतमें सर्वप्रथम गाना फिर बजाना, अन्तमें गाये बजायेको भाव प्रदर्शित करके—नाचकर—दिखाना, तीनोंकी मिलकर ही संगीत संज्ञा है।

बात यह है कि सर्वप्रथम शब्द ब्रह्म प्रणवकी उत्पत्ति हुई है।

उसीका नाम अनहद है। उस ओंकार शब्दसे ही समस्त वेद शास्त्रोंका विस्तार हुआ। जीव उसीकी संज्ञा है जो प्राणोंको धारण करे। प्राणोंमें स्पंदन रागसे होता है, तभी तो राग सबको प्रिय है। राग कहते हैं आसक्तिको। जिसमें मन तल्लीन हो जाय वही समझो राग है। यह होता है संगसे। संसार में मनका रंजित हो जाना, वह राग कहलाता है, वही राग भगवान्‌में हो जाय, तो उसकी प्रेम संज्ञा है। रागमें और प्रेममें तात्विक कोई भेद नहीं। राग ही रसको प्रकट करता है। सर्व रसोंमें शृङ्गार रस सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिये दो ही मनको तल्लीन करनेवाले आनन्द हैं, विषयानन्द और ब्रह्मानन्द। संसारी शृङ्गारमें राग होगा तो मन संसारी विषयोंमें रँग जायगा। वही राग श्रीराधाकृष्णके शृंगार रसमें रङ्ग जायगा तो वह नित्य रासका अधिकारी होगा। राग बिना रूपके होता नहीं। जहाँ राग और रूप दोनों मिल जाते हैं वहीं रास आरम्भ हो जाता है। संसारमें श्रीकृष्ण और गोपियोंसे बढ़कर कोई रूपवान् नहीं। उनका सा राग—अनुराग—संसार में कहीं नहीं। रागका यथार्थ मर्म विरही ही जान सकता है। जिसके हृदयमें कसक नहीं, टीस नहीं वह राग क्या समझेगा। 'भैंसके आगे बीन बजाये भैंस खड़ी पगुराई।"

आर्य शास्त्रकारोंने समस्त रागोंको छै भागोंमें विभक्त कर दिया है। इसीलिये हमारे यहाँ भैरो, मालकोस, हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ ये छै ही राग माने गये हैं। इन छै रागोंकी पाँच-पाँच स्त्रियाँ हैं इस प्रकार ये तीस रागनियाँ हैं। इन्हींमें कुछ हेर फेर करके अनन्त रागिनी हो गयीं हैं, वे सब संकर जातिकी हैं। शुद्ध राग रागिनी कोई विरले ही गा सकते हैं, नहीं तो सब संकर रागिनियोंको ही गाते हैं। शुद्ध राग गानेसे जड़ भी चैतन्य हो जाते हैं। जैसे भैरों राग है उसे कोल्हूके सामने गाओ। जब उस गानेको सुनकर काठका कोल्हू अपने आप चलने लगे, तो

समझो भैरों राग शुद्ध गाया गया। इसी प्रकार मालकोसको सुनकर पत्थर अपने आप पिघल जाय, हिंडोल रागको सुनकर हिंडोला अपने आप झूलने लगे, मेघ रागको सुनते ही विना बादलोंके वर्षा होने लगे, श्रीरागको सुनकर सूखा वृक्ष हरा हो जाय और दीपक रागको सुनकर बुझे हुए दीपक अपने आप जलने लगे तब समझना चाहिये ये राग शुद्ध गाये गये।

आर्यशास्त्रोंमें सभी वस्तुओंके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन रूप वर्णन किये गये हैं। इन छै राग और तीस रागिनियोंके शास्त्रोंमें रूप, रङ्ग, वाहन आदि सबका वर्णन है। यहाँ विस्तार भयसे उनका वर्णन नहीं किया जाता। सब राग सब समय नहीं गाये जाते और सब ऋतुओंमें नहीं गाये जाते। सबका समय निर्धारित है; सबकी ऋतुएँ निर्धारित हैं। जैसे पिछले पहरमें भैरों राग गाना चाहिये और उनकी रागिनी भैरवी, बङ्गाली, वैराटी, मधु, माधवी तथा सिंधवी इनको भी गाना चाहिये। प्रातःकाल जब सूर्य निकल आवे, उस समय मालकोस राग और उसकी टोढ़ी, गौरी, गुनकली तथा खम्भायत रागिनियोंको गाना चाहिये। जब एक प्रहर दिन चढ़ जाय, तब हिंडौल रागको गाना चाहिये और उसकी रमकली, पट, मञ्जरी, देवसाख, ललित और विलायत इन रागिनियों को भी गाना चाहिये। ठीक मध्यान्हके समय दीपक रागको तथा नट, कान्हरो, केदारो, कमोद और प्रमोद इनको गाना चाहिये। चौथे प्रहरसे सूर्यास्त पर्यन्त श्रीरागका और उसकी धनाश्री, आसावरी, मारू, वसन्त और मालसिरी इन रागनियोंके गानेका समय निर्धारित है। कुछ ऐसे राग रागिनी हैं जो सब समय गाये जा सकते हैं। कुछ ऐसे राग हैं जो किसी विशेष समय पर गाये जाते हैं। जैसे मेघ रागको तभी गावे जब बादल हों। फाल्गुनके महीनेमें सभी राग सभी समय गाये जा सकते हैं। उस समय तो होली

है। वसन्त ऋतुमें सभी राग रात भर गाये जाते हैं, एक प्रहरका विश्राम देकर। भैरों राग का उत्तम समय शरद् ऋतु है। मालकोसका शिशिर, हिंडोलका वसंत, दीपका हेमन्त और ग्रीष्म तथा मेघ रागका सर्वश्रेष्ठ समय वर्षा ऋतुको बताया है।

स्वरकी उत्पत्तिके शास्त्रकारों ने तीन स्थान बताये हैं हृदय, कण्ठ और शिर। मन्द्र, मध्य और तार ये तीन स्वर हैं। मन्द्र स्वर हृदयसे उत्पन्न होता है, मध्यकण्ठसे और तार विशेषकर शिरकी सहायता से। षड्ज मध्यम और गान्धार ये तीन ग्राम बताये हैं। सात-सात स्वरों का एक सप्तक होता है षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाध और धैवत ये सात स्वर हैं। इक्कीस मूर्च्छना हैं। प्रत्येक ग्रामकी सात-सात मूर्च्छना बतायी हैं। उन सबका यहाँ विस्तार नहीं किया जा सकता।

स्वरोंकी पहिचान अत्यन्त कठिन है। यह बड़ा ही गहन शास्त्र है। मयूर सदा षड्ज स्वर में कूकता है, गौ सदा ऋषभ स्वरमें रम्हाती है। बकरी गान्धारमें मिमियाती है, क्रौंच पक्षी मध्यम स्वरमें बोलता है. वसंत ऋतुमें कोकिला पंचम स्वरमें कुहू-कुहू करती है, घोड़ा धैवत स्वरमें हिनहिनाता है और हाथी निषाद स्वरमें बोलता है। इन सब स्वरों की पृथक् पृथक् जाति हैं, वर्ण हैं। संगीत शास्त्रोंमें स्वरोंका विशेष विस्तार किया गया है। शुद्ध संगीतसे रसकी उत्पत्ति होती है और रस ही ब्रह्मका एक मात्र रूप है। वह रसरूप साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं। जब तक साथ में श्री नहीं होती, तब तक कृष्ण कृष्ण नहीं ठंठपाल मदन गोपाल हैं। श्री साथमें होनेसे ही वे रस रूप श्रीकृष्ण कहाते हैं।

गायनके साथ वाद्य आवश्यक है। संसारमें सहस्रों भाँतिके बाजे हैं, उन सबको शास्त्रकारोंने चार भागोंमें विभक्त करके उनकी चार संज्ञायें बना दी हैं। संस्कृतमें इनकी तत, सुषिर, घन, और

अवनद्ध ये संज्ञायें हैं। जो तारसे बजनेवाले बाजे हैं जैसे वीणा, तानपूरा, सारंगी। इनमें भी दो भेद हैं एक तो ठोकरसे बजने वाले जैसे सितार तानपूरा, वीणा आदि। दूसरे गजसे बजनेवाले जैसे सारंगी मोरबीन आदि। सुषिर वे बाजे कहलाते हैं जो फूँकसे बजते हैं, जैसे वंशी, मुरली, वेणु, अलगोजा तथा बीन आदि। घन उन बाजोंका नाम है जो ताल देते हैं। कांसे आदिके मजीरा, करताल आदि। अवनद्ध वे बाजे कहलाते हैं जो खालके मढ़े हुए होते हैं और हाथसे बजाये जाते हैं जैसे पखावज, मृदंग, तबला, ढोलक तथा नगाड़े आदि।

गायनमें स्वर ताल और लय तीनों नियमानुसार मिलनी चाहिये। अमुक गीत किन-किन स्वरों में गाया जायगा, उसका ठाठ बनाकर उसे मुखसे उच्चारण करना उसे अलाप कहते हैं। बाजोंमें जो स्वर कहे जायँ वे ज्योंके त्यों निकाले जायँ उन्हें गमक कहते हैं। बाजे बजाने की चातुरी यही है, कि स्वरोंके गमक स्पष्ट प्रकट किये जायँ। पहले सभी बाजे मिलाये जाते हैं। जब स्वर ताल और लय एक हो जाय, तब संगीतमें रस आता है। तालोंके बीचके कालका नाम लय है। लय तीन प्रकारका होता है। द्रुत, मध्य, और विलम्बित। जैसे १६ मात्रा हैं, उन्हें ही ३२ मात्राके समयमें शीघ्र ही बजा देना यह मध्य हुआ। उसे ही ६४ मात्राके समयमें बजा देना द्रुत हुआ। इस प्रकार कंठ और बाजोंका स्वर ताल और लय एक हो जानेसे जो बोल मुखसे निकले, वे ही स्पष्ट बाजेसे भी सुनायी दें। उन्हींको भावोंके द्वारा व्यक्त करें तो उसका नाम नृत्य है।

दूसरोंके कृत्योंका अनुकरण करनेका नाम नाटक है। उसीके संस्कारको नृत्य कहते हैं। नृत्यमें मनके सभी भाव चेष्टा द्वारा प्रकट किये जाते हैं। नवों रसोंको बिना बोले केवल अङ्ग विक्षेपों द्वारा ही व्यक्त किया जाता है। यह शास्त्र भी बड़ा

गहन है। नृत्य दो प्रकार का होता है। एक नाट्य नृत्य दूसरा लास्य नृत। नाट्य नृत्य नाटक अभिनयोंमें किया जाता है। उसके लिये रंगमञ्चकी आवश्यकता होती है। वह रंगमञ्च-नाट्य मंडप—में ही होता है। लास्य नृत्य जहाँ भी चाहें किया जा सकता है। जो नृत्य भाव और रससे समन्वित हो, ताल-काव्य और गीतके अनुसार चलनेवाला हो वही सुखप्रद नृत्य रसकी वृद्धिमें हेतु बताया गया है। नृत्यकी भावभंगीके [illegible] इन सबका वर्णन भरत नाट्य शास्त्रमें विस्तारसे [illegible] विष्णु धर्मोत्तर तथा नारदादि पुराणोंमें भी इनका यथा स्थान वर्णन आया है। यहाँ हमने केवल विषयको समझने के निमित्त संकेतमात्र कर दिया है। रासमें गायन, वाद्य और नृत्य तीनोंकी ही आवश्यकता होती है। संगीतका साकार स्वरूप तो रासमें ही व्यक्त होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह प्रेमका मार्ग ऐसा अनोखा है, कि इसमें जैसे नित्यनूतनता आती है, वैसे ही नित्य नया संकोच भी उत्पन्न हो जाता है। संकोच प्रेम बढ़ानेका एक यन्त्र है नया संकोच नये प्रेमकी वृद्धि करता है। गोपिकायें मुरलीकी ध्वनि सुनकर घरसे दौड़ी आयीं थीं। यहाँ आकर त्रिभंग ललित गति खड़े हुए मुरली मनोहरको देखा। उन्हें संकोच हुआ। श्याम सुन्दरने इनका संकोच छुड़ानेको ऐसी कुछ अटपटी बिना अ की बातें कीं। प्रेमकी सब बातोंका एक ही अर्थ होता है; प्रे बढ़ाना। कृष्णने कहा—"रात्रिमें तुम यहाँ क्यों आयीं? चन्द्र देखने आयीं क्या? वनकी शोभाके लिये मनललचा उठा क्या? व्रजमें कोई आपत्ति-विपत्ति तो नहीं आ गयी?"

श्रीकृष्ण कोई दूध पीनेवाले बच्चे तो थे नहीं जो न जानते हों कि ये क्यों आयीं हैं। जानते क्या थे, स्वयं ही उन्होंने मोहि मंत्र पढ़कर वंशी द्वारा उन्हें बुलाया था। गोपिकायें भी जानत

थीं, कि ये जान बूझकर अनजान बन रहे हैं। हमें दुख देनेके लिये—ऐसी व्यर्थकी चेष्टायें दिखा रहे हैं। ऐसी भोली भाली बातें कर रहे हैं। किन्तु संकोच दूर करनेके लिये बातें करना आवश्यक है। बिना बातें किये रहा भी नहीं जाता और संकोच भी दूर नहीं होता। गोपियोंने श्रीकृष्णको मीठी-मीठी झिड़कियाँ देकर डाँटा अपनी विवशता दिखायीं। श्याम हँस गये। उनके कंठोंमें अपनी भुजायें डाल दीं, संकोच दूर हुआ मिलन हुआ। एक अध्याय समाप्त हुआ। सहसा श्याम छिप गये—अन्तर्हित हो गये। प्रेमका दूसरा अध्याय आरम्भ हुआ। पिछली सब बातें अनंतमें विलीन हो गयीं। श्यामसुन्दर नये हो गये, गोपिकायें नयी हो गयीं। प्रेममें नित्य नया परिचय करना पड़ता है। नित्य संकोच होता है। फिर वे ही बातें करके संकोच दूर करना पड़ता है। फिर मिलन होता है। जहाँ वियोग हुआ कि फिर नया खेल आरंभ होता है। यही तो प्रेमकी क्रीड़ा है। बच्चे खेलमें करते क्या हैं? बड़े परिश्रमसे घरुआपाती बनावेंगे। गीली मिट्टीके नाना भाँतिके खिलौने बनायेंगे। रसोई घर बर्तन, लड्डू, पूड़ी सब एक ही रसीली मिट्टीके बनालेंगे। जब खेलको समाप्त करना होगा, तो यह नहीं करेंगे इसे कलके लिये ज्योंका त्यों छोड़ दो। खेलमें ज्योंका त्यों रहता ही नहीं। "मनुआ मरि गयो, खेल बिगर गयो।" दूसरे दिन फिरसे सब नया बनाते हैं। प्रिया प्रियतमकी रासक्रीड़ा कबसे हो रही है, किन्तु अभी तक आपसमें पूरी चिन्हारी भी नहीं हुई। एक दिन मिल जाते हैं जहाँ तनिक अलग हुए फिर श्यामसुन्दरजीको श्री जी नयी नयी-सी दिखायी देती हैं, श्रीजीको श्यामसुन्दर नित्य नये नये दीखते हैं। इतना तो उन्हें ज्ञान रहता है, कि ये मेरे कोई हैं, किन्तु इनसे परिचय कब हुआ, ये वे ही हैं यह सुधि नहीं रहती, जिस दिन देखती हैं, उसी दिन सबसे अधिक सुन्दर दीखते हैं,

यही दशा प्यारेकी भी है।

अन्तर्धान होनेके अनन्तर फिर नया परिचय करना पड़ा। गोपियोंने प्रश्न पूछे, श्यामसुन्दरने उत्तर दिये। क्षमा प्रार्थनाकी पिछली सब बातों को भुला देनेको कहा। अब नया परिचय हुआ जैसे धनलोलुप नित्य अधिक धन चाहता है, उसको धनसे कभी तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार प्रेमी नित्य नया प्रेम चाहता है। कलसे कुछ आजके प्रेममें विशेषता हो, क्योंकि कलके प्रेमीसे आजके प्रेमीमें विशेषता हो गयी है। आज वह कलसे भी अधिक मोहक आकर्षक और प्यारा हो गया है।

स्त्रियोंका स्वभाव स्वतः संकोची होता है। पुरुषके बिना संकेत पाये वे कुछ करती नहीं; मनमें चाहे उनके कुछ भी हो। मनके भाव तो छिपे रह नहीं सकते। विशेषकर प्रेमीसे तो छिपाना चाहो तो भी नहीं छिपते। श्यामसुन्दरकी भी इच्छा रास करनेकी थी और गोपियाँ भी यही चाहती थीं किन्तु दोनोंमें से पहिले कहे कौन ? जो अधिक निर्लज्ज हो, जो अधिक मुँह फट हो वही कह सकता है। नटखट श्रीकृष्णसे अधिक चंचल मुँहफट और कौन हो सकता है ? अतः वे बोले—"चलो रास करें।"

अब तक गोपियोंसे घिरे श्रीकृष्ण बैठे थे। अब सर्वप्रथम वे रासके लिये उठ खड़े हुए। गोपिकायें तो श्रीकृष्णकी अनुगत ही हैं। छायाके समान हैं। जो वे करावें वह करना है। श्रीकृष्ण-ने अपने आप उनके कंठमें अपनी बाहुओंको डाल दिया। उनके संकोचको दूर कर दिया। उनके रोमाञ्च हो गये। सुन्दर सुडौल चिकनी भगवानकी बाहुको उन्होंने मुख झुकाकर चूम लिया। अत्यंत कोमल अधरोंके स्पर्शसे श्यामसुन्दरकी बाहुके जो रोम गिरे हुए थे वे सब खड़े हो गये और उनमें स्पंदन आरम्भ हो

गया, मानों गोपिओंने अपने अधरोंके द्वारा उनमें किसी रसको भर दिया हो।

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! गोपियाँ तो असंख्यों थीं, श्रीकृष्णने किसी एकके ही साथ रास किया, तो यह तो पक्षपात हुआ। और तो सब उस सुखसे वंचित ही रह गयीं होंगी ?"

सूतजी बोले—"देखिये, भगवन् ! साधारण योगी भी योग प्रभावसे अपने जितने चाहें रूप बना सकते हैं, सो भगवान् तो योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं, उन्होंने पक्षपात नहीं किया, जितनी गोपियाँ थीं उतने ही उन्होंने रूप बना लिये। एक गोपी एक कृष्ण, एक गोपी एक कृष्ण इस प्रकार बड़ा भारी मंडल बन गया। भगवान् अपनी दोनों भुजाओंसे एक एक भुजासे दायीं ओरकी गोपीके कंधेमें हाथ डाले हैं, एक भुजासे बाईं ओर वालाके। इस प्रकार सभीको दोनों ओरसे श्यामसुन्दरका सुखद आलिंगन प्राप्त हो रहा था। सभी समझती थीं कि श्यामसुन्दर मारे ही साथ हैं।"

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! जब भगवान्के दोनों थ घिर गय, तब वे मुरली कैसे बजाते होंगे ? मुरली बिना जाये रासमें आनन्द ही क्या आवेगा। फिर जिस मुरलीने पा करके सब गोपियोंको घर घरसे बुलाया, उसे रास सुखसे चित रखना यह तो कृतघ्नता होगी। बिना मुरलीकी ध्वनि ने गोपियोंका उत्साह कैसे बढ़ेगा, उनके नाचनेको पैर कैसे ठगे ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! आप बड़ी रहस्यकी बात ह लेते हो ? भगवन् ! श्रीराधिकाजी तो सब गोपियोंके समान ही थीं। वे तो उन सबकी अधीश्वरी थीं, अतः वे सबके बीचमें ही हुईं। सबकी इच्छा भी यही थी वे बीचमें खड़ी हों, तो हम एक साथ उनके दर्शन करें। जब प्यारीजी बीचमें खड़ी

गयीं तो श्यामसुन्दर उन्हें अकेली कैसे छोड़ते, अतः उनके साथ ही खड़े हो गये, उनके भी कण्ठमें बाहु डाल दी। एक हाथ वहाँ खाली रह गया, उससे वे मुरली बजाने लगे। मुरलीकी ध्वनिमें नूपुर, करधनी, पाइजेब, कंकण तथा चूड़ियोंकी ध्वनि मिलाकर वे सब ताल देने लगीं।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! चूड़ियाँ तो काँचकी होती हैं, यह भी कोई बाजा है क्या?"

खिलखिलाकर हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज! कुछ मत पूछो। यदि आप मुझसे धर्मकी बात पूछते हैं, तो मैं तो कहूँगा, संसारमें चूड़ियोंसे सुन्दर कोई बाजा ही नहीं। हमकेसा भी कामकर रहे हों, जहाँ कानोंमें चूड़ियोंकी झनक पड़ी तहाँ मनमें कैसा भाव उठता है, उसे अब आप बाबाजियोंको क्या बतावें। भगवन्! वह बाजा तो अनुभवगम्य है। कहने सुननेकी बात नहीं। हाँ, तो श्रीकृष्णकी मुरलीके साथ नूपुरकी ध्वनियोंमें चूड़ियोंकी खनखनाहट और झनझनाहट भी सुनाई देने लगी। इससे श्यामसुन्दरका मयूरपिच्छ ऊपर सिरपर झोटा खाने लगा और भीतर उनका मन-मयूर नृत्य करने लगा।"

शौनकजीने कहा—"सूतजी! अब आपकी बातको हम काटें कैसे? आप कहते हो, कड़े, छड़े, पाइजेब, नूपुर और विशेष कर चूरियोंकी झनकार सबसे मधुर वाद्य हैं, किन्तु हमें तो वीणा, वेणु, मृदङ्ग तथा पखावज इन बाजोंकी ही ध्वनि अत्यन्त मधुर लगती है। बाजे तो हमें ये ही प्रतीत होते हैं, इनके बिना नृत्यमें क्या आनन्द आता होगा। नूपुर आदि तो बोलोंकी सहायताके लिये हैं।"

शीघ्रताके साथ सूतजीने कहा—"हाँ, महाराज! बाजे तो ये हैं ही, इन चुरी आदिकी झनकारकी जो मैंने प्रसंशा की, वह तो शृङ्गार रसकी वृद्धिके अभिप्रायसे कही। वैसे दुन्दुभी, वीणा

पणव तथा अन्याय वाद्योंकी मधुरिमाके विषयमें क्या कहना ? इन बाजोंका भी वहाँ रास मण्डलमें अभाव नहीं था। भगवान् को रास करनेके लिये उद्यत देखकर स्वर्गसे देवता, गन्धर्व, किं-पुरुष तथा विद्याधरादि अपनी स्त्रियोंके सहित विमानोंमें चढ़ कर वहाँ आ गये। आते ही उन सबने गोपियोंके मण्डलमें रास के लिये खड़े हुए भगवान् और उनकी सखियोंके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा की तथा मधुर स्वरमें वीणा, पणव और दुन्दुभि आदि बाजे बजाये।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! देवता अपनी स्त्रियोंको साथ क्यों ले आये ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! वे स्वयं लाये थोड़े ही, स्त्रियाँ ही पीछे लग लीं। मेला, ठेला, उत्सव पर्वमें सबसे पहिले स्त्रियाँ ही दौड़ती हैं। उन्हींसे शोभा है। फिर श्रीकृष्ण तो गोपी-जन-वल्लभ ही ठहरे। ये तो मूर्तिमान् शृङ्गार रस हैं। उन्हें देखनेकी इच्छा किसी अत्यन्त अभागेके ही हृदयमें न होगी। नहीं तो सभी उन्हें देखना चाहेंगे, फिर उनकी दिव्यातिदिव्य रासलीला के विषयमें तो कहना ही क्या ! स्वर्गीय देवताओंको रासलीलाके दर्शन तो अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। स्वर्गमें भला रास कहाँ हो सकता है ? यह तो गोलोकके अनन्तर पृथ्वीका ही सौभाग्य है। रासका नाम सुनते ही देवता, उनकी स्त्रियाँ, लड़कियाँ सभी एक साथ चल दीं। रासमें कोई प्राकृत कामकी गन्ध तो थी ही नहीं। वह तो अप्राकृत चिन्मय परम दिव्यातिदिव्य क्रीड़ा थी; अतः आकाश मण्डल दर्शकोंकी भीड़से भर गया। अन्त-रिक्षमें देवताओंके विमान ही विमान दिखायी देने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऊपर तो दिव्य संगीतमें गन्धर्व गोविन्दके गुन गा रहे थे, नीचे गोपिकाओंके साथ रासेश्वर व्रज-वल्लभ रास रच रहे थे। भगवान्की मुरली, गोपियोंके आभू-

पर्णों और गन्धर्वोंके गीत वाद्यकी सब ध्वनियाँ मिलकर एक विचित्र स्वर लहरी उत्पन्न कर रहीं थीं।"

छप्पय

तातायेई करें फिरें हियमहँ हरषावें।
होहि परस्पर परस फुरहुरी पुनि पुनि आवें॥
उरझि हारमहँ हार सरसता अधिक बढ़ावें।
मिलें चन्द्रिका मोर मुकुटमहँ लट सटि जावें॥
चमकति चपला सम सखी, अगनित घन सम श्यामछवि।
अनुपम रास विलासकी, उपमा को करि सके कवि॥

रासेश्वरका महारास

[९९६]

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सास्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः

(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

मज युवतिनिके कण्ठ डारि कर नृत्यवर नटवर ।
रुनुझुनु नूपुर बजत झनक चुरियनिकी मनहर ॥
हिलत छीन कटि केश लोल लोचन अति चंचल ।
पीताम्बर सँग मिलत हिलत युवतिनिके अंचल ॥
पग पटकत कुण्डल हिलत, मुख मटकत लचकत कमर ।
हिलत हार मुख मुख मिलत, करत गान इत उत भ्रमर ॥

अरे, आः संसारी जीवों ! संसारी अश्लीलताको हृदय-

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान्‌की प्यारी वे गोपिकायें उन्हींके यशका गान करती हुईं तालके साथ पैरोंको उठाने बाहु विक्षेप करनेसे मधुर मुसकानयुक्त भ्रुकुटि विलाससे कमरकी लचक और चञ्चल अञ्चल तथा कपोलोंके समीप हिलते हुए कुण्डलोंके कारण मेघमण्डलमें चमकती हुई चपलाके समान सुशोभित हुईं। रासमें श्रम करनेसे गोपिकाओंके मुख पर स्वेद बिन्दु झलक रहे थे। उन्होंने अपने कटिबन्धन और केशोंको कस लिया था (तो भी वे ढीले हो गये थे)"

से निकालकर तुम रासेश्वरके रासको देखनेकी चेष्टा करो। इन संसारी अश्लील बातोंमें क्या रस है ? यह तो उस दिव्यातिदिव्य रसकी एक क्षीण-सी छाया है छाया। रस निकाले हुए ईखके छिलके हैं। इनमें जो मिठास है, उस रसके संसर्गसे है। वह यथार्थ रस तो रसिकेश्वरके रासमें है। दिव्य प्रकृतिके साथ दिव्य पुरुष अनादिकालसे रास रच रहा है, कमनीय क्रीड़ायें कर रहा है। अनन्तकाल तक यह रास ऐसे ही होता रहेगा। इसमें व्यवधान नहीं विश्राम नहीं, इसका पर्यवसान नहीं। यह दिव्य क्रीड़ा निरन्तर अव्याहत गतिसे होती रहती है। रासेश्वर थकते नहीं, उनकी प्रियायें अकुलाती नहीं, उन्हें नित्य नूतन उत्साह होता है। प्यारेके संस्पर्शसे भला कौन ऊबेगा, किसकी तृप्ति होगी ? कौन चाहेगा प्यारेके कण्ठसे विलग हो जायँ ? जब तक मनमें मलिन वासनायें हैं, तब तक रास देखनेका अधिकार प्राप्त न होगा। रासेश्वरकी रास मण्डलीमें मिल जाना, उनके परिकरमें सम्मिलित हो जाना यह तो बड़े भाग्यसे होता है। जीवनका एक मात्र लक्ष्य महारासकी झाँकी है। जिसने एक बार उसे पा लिया वह निहाल हो गया, कृतकृत्य हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिस महारासकी इतने दिनोंसे प्रतीक्षा थी, वह महारास यमुनाके पुलिनमें वृन्दावनकी परम पावन अवनिमें शरद्की ऋतुमें निशाकी वेलामें, चन्द्रिकाके आलोकमें आरम्भ हुआ। मंडलाकार गोपी कृष्ण खड़े हुए। मध्यमें श्रीराधाकृष्णकी युगल जोड़ी सुशोभित हुई, अब होने लगा वाताथेई। देवता बाजे बजा रहे थे, गन्धर्व तान अलाप रहे थे, अप्सरायें नृत्यानुकरण कर रही थीं। श्रीकृष्ण गोपियोंको नचा रहे थे, और साथ ही स्वयं भी नाच रहे थे। गोपियाँ कृष्णको नचा रही थीं या कृष्ण गोपियोंको नचा रहे थे, यह प्रश्न जटिल है इसका उत्तर दे देना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है; अतः इ

प्रश्नको उठाना ही व्यर्थ है।

हाँ, तो श्रीकृष्णने सर्वप्रथम अपने चरणोंके नूपुरोंकी ध्वनि की, गोपियोंने उनकी ध्वनिमें अपने नूपुरोंकी ध्वनि मिलायी फिर श्रीकृष्ण थिरकने लगे, गोपिकायें भी थिरकने लगीं। उनके उदर कृश थे, कमर लचीली और पतली थीं। नितम्ब स्थूल थे जब वे पदविन्यास करती हुई नृत्य करतीं, तो लच जातीं। श्रीकृष्णके अंगोंसे सट जातीं, मिल जातीं। उनके सुवर्णहार कृष्णकी वन मालामें उलझ जाते। झोटा खाती वेणी श्रीकृष्णके पृष्ठ देशको सुहलाने लगती। कभी कपोलोंकी आभासे दमकते हुए कुंडल भगवान्के कुंडलोंसे मिल जाते। इस प्रकार निरन्तर भगवान्का सुखद स्पर्श होनेसे सभीके अंगोंमें समस्त सात्विक भाव उदित हो गये थे। सबके अंगोंमें कँपकपी छूट रही थी। सभीके मुखों पर मोतियोंके सदृश नन्हें नन्हें स्वेद विन्दु झलकने लगे। श्यामसुन्दर अपने परम मृदुल सुखद कर कमलसे उनके कपोलों और मस्तकों पर उदित हुए स्वेद विन्दुओंको पोंछ देते, इससे उनके भावोंमें और स्फूर्ति आती। उन्हें नृत्य गायनमें औरभी अधिक उत्साह मिलता। वे दूने चावके साथ बाँके विहारी के गीतमें गीत मिलाकर नृत्य करतीं। कोई बेसुरा राग नहीं अलापतीं। किसीका पैर तालके विरुद्ध न पड़ता। कोई भी लयका अतिक्रमण न करतीं। प्यारेके संग उनका सुखद स्पर्श पाकर वे परम प्रमुदित हो रही थीं। घर द्वार, कुटुम्ब परिवार, शरीर यहाँ तक कि, सम्पूर्ण संसारकी वे सुधि बुधि भूले हुए थीं। दोनोंके अङ्गोंसे अङ्ग, वस्त्रोंसे वस्त्र, आभूषणोंसे आभूषण, सटकर, मिलकर एक हो जाते। मानों द्वैत वहाँ किसीको भी प्रिय नहीं था। सभी अपनेसे मिलनेको समुत्सुक थे। वे क्रीड़ासक्त कलकण्ठनिनादिनी कामिनियाँ कानोंके कमनीय कनक कुण्डलोंके कारण कलित कपोलोंकी कान्तिसे चम-

कती हुई चंचला चपलाके समान प्रतीत होती थीं। अनेक मूर्तियों का धरे हुए श्याम जलभरे नूतन मेघोंके समान रस बरसा रहे थे और मधुर-मधुर स्वरमें गायन कर रहे थे। उस दृश्यका कथन करनेकी सामर्थ्य किस कविमें हो सकती है? कौन उस अनुपम दृश्यका वर्णन कर सकता है।

वे समस्त सखियाँ नृत्य, गायन और वाद्य तीनों काम एक साथ ही कर रहीं थीं। अंगोंको मटकाकर, सैनोंको चलाकर तथा हाव भावोंको दिखाकर नृत्य कर रही थीं। चरणोंके कड़े छड़े और कटिकी कर्धनीके घुँघरुओं तथा हाथोंके आभूषणोंको बजा रहीं थीं और अत्यन्त आनन्दित होकर उच्च स्वरसे राग रागनियोंको गा रहीं थीं। इस प्रकार वे स्वयं श्यामसुन्दरकी शोभा पर रीझ कर उनके पुण्य स्पर्शको पाकर प्रमुदित हो रहीं थीं और अपने संगीत द्वारा उन्हें रिझा रहीं थीं। इस प्रकार उनके दिव्य संगीत की गूँज सम्पूर्ण विश्वमें भर गयी। सम्पूर्ण संसार उस दिव्य संगीतकी स्वर लहरीसे व्याप्त हो गया। अचर सचर हो गये। वृन्दावनके वृक्षोंके पुलक होने लगे। गोपिकायें पूरी शक्ति लगाकर गोविन्दको रिझा रहीं थीं। वे उनके अंग संगसे अत्यंत आह्लादित हो रहीं थीं। भगवान् एक रागको अलापते थे, उसीका अनुकरण दूसरी गोपियाँ करतीं। भगवान्ने जिस गानको मंद्र मध्य स्वरोंमें अलापा उसीको एक गोपी खींचकर तार स्वरमें ले गयी। उसके इतने सुरीले उच्च स्वरके अलापको सुनकर श्यामका रोम रोम खिल उठा। मुरलीकी ध्वनिके साथ उनकी इकतन्त्रीके तार स्वतः ही झंकृत हो उठे, उस झंकृतिकी लयमें अपने आप ही मुखसे "साधु साधु, धन्य धन्य, बहुत अच्छा बहुत अच्छा", ऐसे शब्द निकल पड़े।

उसी लयको दूसरीने "ध्रुव" नामक तालमें गा दिया। तब श्यामसुन्दर चकित रह गये। बारबार उसका आलिङ्गन करके

कहने लगे—"मुझे पहिले यह पता नहीं था, तुम संगीत शास्त्रकी इतनी पंडिता हो, तुमने तो सीमोल्लंघन ही कर दी।" प्यारेका आलिङ्गन पाकर वह निहाल हो गयी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संसारमें यदि कोई सबसे बड़ा पारितोषिक है, तो वह है, प्रियका आलिङ्गन। दंडकारण्यमें जब जानकीजीवन अवधकुल मंडन, कौशल्यानंदवर्धन भगवान् कोशलकिशोर विचरण कर रहे थे, तब पंचवटीमें उनकी आज्ञासे लक्ष्मणने एक कुटी बनायी। जिनके जीवनका एक मात्र उद्देश्य प्यारेको प्रसन्न करना होता है, वे सभी कलाओंमें स्वतः ही निपुण हो जाते हैं उनके सभी काम स्वतः ही सुन्दर होने लगते हैं, लक्ष्मणजीने बड़ी सुन्दर कुटी बनायी। राघव उस कुटीकी शोभाको देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे अपनी प्रसन्नताको प्रकट करते हुए लक्ष्मणजीसे बोले—"सौमित्र! तुमने यह बड़ी ही सुन्दर कुटी बनायी। मैं तुम्हारी इस कलासे अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें कुछ पारितोषिक देना चाहता हूँ, किन्तु मैं राज्यभ्रष्ट हूँ, सब कुछ छोड़ कर वनमें वासकर रहा हूँ मेरे पास देनेको और है ही क्या, फिर भी संसारमें प्रियका आलिङ्गन सबसे बड़ा पारितोषिक है, आओ मैं आज तुम्हें उसीको दूँगा"। यह कहकर भगवान्ने लज्जासे नीचा सिर किये हुए अपने विनयी भाईको दोनों हाथ फैलाकर कसकर हृदयसे चिपका लिया। उनका गाढ़ालिङ्गन किया। लक्ष्मणजीने मानो अनन्त जन्मोंकी सेवाका पारितोषिक इस एक ही आलिङ्गनसे पा लिया। उसी प्रकार जब गोपीने श्रीकृष्णकी लयको 'ध्रुव' तालमें गा दिया तो भगवानने उसे आलिंगन प्रदान करके उसके संगीतके श्रमको सफल बना दिया।

कोई गोपी श्यामसुन्दरको रिझानेको इतनी नाची इतनी नाची कि नाचते नाचते थक गयी। उसके करोंके कंकण तथा

केशपाशोंमें गुँथी हुई मल्लिका मालतीकी मालायें खिसकने लगीं। अंग शिथिलसे हो गये, मुख पर स्वेद बिन्दु छलकने लगे। कटिवस्त्र ढीला हो गया। अंग श्रमितसे प्रतीत होने लगे। तब वह समीपमें खड़े हुए मदनमोहनके स्थूल कमनीय कंधेके सहारे खड़ी हो गयी और उनकी विशाल भुजाओंसे लिपट गयी। भगवान्‌ने भी उसे तनिक बल लगाकर दबा दिया। उसीसे उसका समस्त श्रम दूर हो गया। अंगोंकी पीड़ा शान्त हो गयी। मन मुकुर खिल गया। श्यामसुन्दरने अपने पीताम्बरसे उसके पसीनेको पोंछ दिया। वह कृतकृत्य हो गयी।

किसी गोपीके कन्धे पर बल देकर बनवारी नृत्यसे निवृत्त होकर खड़े थे। वह भी कुछ थकी थी; श्याम भी अँगड़ाइयाँ ले रहे थे। इससे उसका भी धैर्य छूट गया। उसने तुरन्त उनकी विशाल गुदगुदी, चिकनी सुखप्रद भुजाको झुकाकर चूम लिया। जिससे चन्दन और अगुरुकी सुगंध आ रही थी, जो पीत चन्दन चर्चित है। उस कमल कुसुमके सदृश भुजाकी गन्धसे सखी उन्मत्त सी हो गयी। प्यारेके श्रीअंगसे वैसे ही सदा दिव्य गन्ध निकलती रहती है, फिर जिसमें दिव्य अंग राग लगा हो, केशर, कस्तूरी, कपूर तथा चन्दन आदिसे अनुलिप्त हो, उसकी गन्धके विषयमें तो कहना ही क्या। कामसंतप्ता ऐसी कौन सी कामिनी होगी, जो उस अलौकिक गन्धको सूँघकर मतवाली-सी न बन जाय।

किसी गोपीका नाचते नाचते सिर लुढ़ककर श्रीकृष्णके सिरके समीप स्वतः ही चला गया। उनके मुखसे उसका मुख स्वतः ही मिल गया। श्यामके मनोहर मुखने देखा, कि कमलके समान कुंडलोंकी कान्तिसे उद्भासित यह मनोहर मुख मुझसे मिलने आया है, तो इसका कुछ स्वागत सत्कार तो करना ही चाहिये। भोजन न सही तो पान बीरीसे तो सम्मान करना ही चाहिये। अतः श्रीकृष्णके मुखके पास जो पान था, उसने वह अपनेसे सटे

गोपीके मुखमें दे दिया। बस दिव्यप्रसादी पानको पाकर गोपीका आनन खिल गया। अधर फरकने लगे और नयन अनुरागसे रंजित होने लगे। सिर गोदीकी ओर ढुबकने लगा।

किसी गोपीको गाते गाते हृदयमें स्थित काम क्लेश देने लगा। संताप पहुँचाने लगा, तब वह अबला भयभीत होकर अन्य किसीको अपने समीप सहायक न निहारकर पासमें ही विराजमान श्यामसुन्दरकी गोदीमें लुढ़क गयी और उनके अभय देनेवाले कर कमलको उठाकर हृदयपर रखकर संकेत करने लगी कि संतापी दुष्टको तुम दंड दो। मेरे कठिन हृदयमें जो यह उपद्रव मचा रहा है, उसे ताड़न करके शिक्षा दो।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह विषय वर्णन करने योग्य नहीं है। प्राकृत पुरुष इसमें अश्लीलताका आरोप करेंगे। कामी पुरुष इस प्रसंगका दुरुपयोग करेंगे, अतः मैं इस विषय का बहुत विस्तार करना नहीं चाहता। वैसे विस्तार करनेका यथार्थ विषय तो यही है। श्रीकृष्ण चरित्रका हृदय है रास पंचाध्यायी। उसमें भी ये पाँच श्लोक पंच प्राण हैं, जीवन हैं परन्तु करूँ क्या ? मुझमें अब कहनेकी शक्ति रही नहीं, मेरी वाणी रुद्ध हो रही है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि वे कृष्णकान्ता अपने प्रेष्ठ की बाहुपासमें बँधी हुई—परमानंद सुखका अनुभव करती हुई—अपने दिव्य संगीतके द्वारा राधारमणको रिझाती हुई, रास विलास तथा आनंद विहार करने लगीं।"

छप्पय

क्रीड़ा कमलाकान्त करैं कल वेनु बजावैं।
रमनिनि राधारमन रमन करि रहसि रिझावैं॥
पाइ विहारी अङ्ग सङ्ग विहरैं व्रजबाला।
अस्त व्यस्त पट केश भये खिसकी गलमाला॥
पाइ प्रेम प्रियको परम, अति प्रमुदित प्रमदा भईं।
आलिङ्गनतैं शिथिल अँग, मदमाती-सी बनि गईं॥

केशपाशोंमें गुँथी हुई मल्लिका मालतीकी मालायें खिसकने लगीं। अंग शिथिलसे हो गये, मुख पर स्वेद बिन्दु छलकने लगे। कटिवस्त्र ढीला हो गया। अंग श्रमितसे प्रतीत होने लगे। तब वह समीपमें खड़े हुए मदनमोहनके स्थूल कमनीय कंधेके सहारे खड़ी हो गयी और उनकी विशाल भुजाओंसे लिपट गयी। भगवान्‌ने भी उसे तनिक बल लगाकर दबा दिया। उसीसे उसका समस्त श्रम दूर हो गया। अंगोंकी पीड़ा शान्त हो गयी। मन मुकुर खिल गया। श्यामसुन्दरने अपने पीताम्बरसे उसके पसीनेको पोंछ दिया। वह कृतकृत्य हो गयी।

किसी गोपीके कन्धे पर बल देकर वनवारी नृत्यसे निवृत्त होकर खड़े थे। वह भी कुछ थकी थी; श्याम भी अँगड़ाइयाँ ले रहे थे। इससे उसका भी धैर्य छूट गया। उसने तुरन्त उनकी विशाल गुदगुदी, चिकनी सुखप्रद भुजाको झुकाकर चूम लिया। जिससे चन्दन और अगुरुकी सुगंध आ रही थी, जो पीत चन्दन चर्चित है। उस कमल कुसुमके सदृश भुजाकी गन्धसे सखी उन्मत्त सी हो गयी। प्यारेके श्रीअंगसे वैसे ही सदा दिव्य गन्ध निकलती रहती है, फिर जिसमें दिव्य अंग राग लगा हो, केशर, कस्तूरी, कपूर तथा चन्दन आदिसे अनुलिप्त हो, उसकी गन्धके विषयमें तो कहना ही क्या। कामसंतप्ता ऐसी कौन सी कामिनी होगी, जो उस अलौकिक गन्धको सूँघकर मतवाली-सी न बन जाय।

किसी गोपीका नाचते नाचते सिर लुढ़ककर श्रीकृष्णके सिरके समीप स्वतः ही चला गया। उनके मुखसे उसका मुख स्वतः ही मिल गया। श्यामके मनोहर मुखने देखा, कि कमलके समान कुंडलोंकी कान्तिसे उद्भासित यह मनोहर मुख मुझसे मिलने आया है, तो इसका कुछ स्वागत सत्कार तो करना ही चाहिये। भोजन न सही तो पान बीरीसे तो सम्मान करना ही चाहिये। अतः श्रीकृष्णके मुखके पास जो पान था, उसने वह अपनेसे सटे

गोपीके मुखमें दे दिया। बस दिव्यप्रसादी पानको पाकर गोपीका आनन खिल गया। अधर फरकने लगे और नयन अनुरागसे रंजित होने लगे। सिर गोदीकी ओर ढुबकने लगा।

किसी गोपीको गाते गाते हृदयमें स्थित काम क्लेश देने लगा। संताप पहुँचाने लगा, तब वह अबला भयभीत होकर अन्य किसीको अपने समीप सहायक न निहारकर पासमें ही विराजमान श्यामसुन्दरकी गोदीमें लुढ़क गयी और उनके अभय देनेवाले कर कमलको उठाकर हृदयपर रखकर संकेत करने लगी कि संतापी दुष्टको तुम दंड दो। मेरे कठिन हृदयमें जो यह उपद्रव मचा रहा है, उसे ताड़न करके शिक्षा दो।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह विषय वर्णन करने योग्य नहीं है। प्राकृत पुरुष इसमें अश्लीलताका आरोप करेंगे। कामी पुरुष इस प्रसंगका दुरुपयोग करेंगे, अतः मैं इस विषय का बहुत विस्तार करना नहीं चाहता। वैसे विस्तार करनेका यथार्थ विषय तो यही है। श्रीकृष्ण चरित्रका हृदय है रास पंचाध्यायी। उसमें भी ये पाँच श्लोक पंच प्राण हैं, जीवन हैं परन्तु करूँ क्या ? मुझमें अब कहनेकी शक्ति रही नहीं, मेरी वाणी रुद्ध हो रही है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि वे कृष्णकान्ता अपने प्रेष्ठ की बाहुपासमें बँधी हुई—परमानंद सुखका अनुभव करती हुईं—अपने दिव्य संगीतके द्वारा राधारमणको रिझाती हुईं, रास विलास तथा आनंद विहार करने लगीं।"

छप्पय

क्रीड़ा कमलाकान्त करें कल वेनु बजावें।
रमनिनि राधारमन रमन करि रहसि रिझावे॥
पाइ विहारी अङ्ग सङ्ग विहरें ब्रजबाला।
अस्त व्यस्त पट केश भये खिसकीं गलमाला॥
पाइ प्रेम प्रियको परम, अति प्रमुदित प्रमदा भईं।
आलिङ्गनतें शिथिल अँग, मदमाती-सी बनि गईं॥

विम्ब प्रतिविम्बकी स्थल क्रीड़ा

[९९७]

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः
केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो
विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६६ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

पुनि पुनि परसत अधर चुवावत रस बरसावत ।
सहसा चुटकी भरत करत सी-सी हरषावत ॥
दंतक्षत करि हँसत हियेपै नखछत करिकैं ।
पान प्रसादी देहिं मुखनिमहँ रति रस भरिकैं ॥
करें कामिनिनिपै कृपा, स्वेदविन्दु पौंछे करनि ।
सुधामधुर मुसकानतें, लखि मेटत जियकी जरनि ॥

बालक शीशामें अपना ही प्रतिविम्ब देखता है, अपने आप ही हँसता है मुग्ध होता है। स्वयं मुँह बनाता है जब वह

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे कुरुकुलतिलक राजन्! भगवान्के अङ्ग सङ्गके आनन्दसे जिनकी इन्द्रियाँ अत्यंत आकुल हो गयी हैं वे व्रजाङ्गनायें अपनी वेणीको, वस्त्रोंको तथा कंचुकीको सम्हालनेमें समर्थ न हो सकीं। उनके अङ्गोंके आभूषण कण्ठकी मालायें अस्तव्यस्त हो गयीं थीं।"

अपना प्रतिबिम्ब वैसा ही शीशेमें देखता है, तो खिलखिला कर हँस पड़ता है। रस बाहर नहीं है अपने ही रसको हम बाहर पान करते हैं। किन्हींके यहाँ विवाह होता है, तो गृहस्थी कहते हैं—"देखो यह अमुकके विवाहका गिन्नारा आया है, कैसा मीठा है।" वास्तवमें वह गिन्नौरा (केवल सफेद चीनीकी बनी एक गोल मिठाई है) अपनी ही है। हम विवाहमें जिसके घर गिन्नौरा भेजते हैं, वही हमारे यहाँ भेजता है। अधिक व्यवहार पटु तो यहाँ तक करते है कि उसे तोल लेते हैं, जितना बड़ा उसके यहाँसे आया होगा, उतना ही भेजेंगे। यदि उसका कोना टूटा होगा, तो अपने यहाँसे भी तोड़कर भेजेंगे। कहावत है अपना भात ही दूसरेके घरमें बैठकर खाया जाता है, जिसे हमने कभी खिलाया होगा उसीके यहाँ हम खायेंगे। हम जो ये रूप देखते हैं ये सब हमारे भीतर ही हैं। भीतर न हों तो बाहर दिखायी ही न दें। हम जो वस्तुओंमें रस लेते हैं, यह रस हमारे भीतर ही है, बाहर नहीं है। कोई हमें अत्यन्त प्यारा लगता है। उसे देखनेको सदाचित्त चंचल बना रहता है, उसकी वाणी सुनकर चित्त परम प्रमुदित हो उठता है, बड़ी उत्सुकतासे उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। दूसरा उसे देखकर घृणा करता है, उसके हृदयमें उसे देखते ही शूल-सा चुभ जाता है। यदि सुख देनेकी सामर्थ्य उस व्यक्तिमें ही होती, तो सभीको उसे देखकर सुख होना चाहिये। अकेले हमें ही क्यों होता है? इससे सिद्ध होता है, सुख हमारे ही भीतर है, भीतरसे हम जिसे सुख समझ लें वही सुख है, जिसे दुख समझलें वही दुख है। बाहरी वस्तुओंमें सुख नहीं है सुख तो प्रेममें ही है। इसीलिये ज्ञानीको तुष्टिके लिये अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रहती वह अपने आपमें ही सदा सन्तुष्ट बना रहता है। परिपूर्णको क्रीड़ाके लिये बाहरी संभार एकत्रित नहीं करने पड़ते, वह तो आत्मक्रीड़

होता है। अपने आपसे ही खेलता है। गोपिकायें श्रीकृष्णसे भिन्न नहीं हैं। जैसे आमने सामने दो शीशे लगा दो, तो अपने ही सैकड़ों प्रतिबिम्ब उनमें दिखायी देंगे। हम अकेले मुँह मटकावें, तो वे शीशोंमें जितने प्रतिबिम्ब होंगे सभी मुँह मटकावेंगे। इसी प्रकार गोपिकायें श्रीकृष्णसे भिन्न नहीं। केवल रसास्वादन करनेको श्रीकृष्णकी विभिन्न शक्तियाँ ही गोपी रूपमेंव्यक्त हो गयी हैं। अपने आप ही शक्तिमान अपनी शक्तियोंके साथ क्रीडा कर रहे हैं। इन क्रीड़ाओंकोजो दोष बुद्धिसे देखतेहैं। उनकी आँखोंमें ही दोष हैं। इनमें जो प्राकृत कामकी कल्पना करते हैं। उनका मन ही कामपूर्ण है, नहीं तो प्रकृतिसे परे, नित्य, निर्लेप विशुद्ध ब्रह्ममें भला प्राकृत भाव कैसे संभव हो सकते हैं। उनकी समस्त क्रीड़ायें केवल विशुद्ध प्रेममयी ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इच्छा न रहनेपर भी अब मैं इस रासलीलाके वर्णनको समाप्त करके आगे बढ़ना चाहता हूँ महाराज! यह तो ऐसा रस है, कि जिसका इसमें प्रवेश हो गया फिर वह उसीमें घुलमिल जाता है, फिर लौटकर संसारमें बताने नहीं आवेगा। नमककी पुतली समुद्रकी थाह लेने गयी, उसीमें घुलमिलकर रह गयी, फिर बताने नहीं आयी, कि समुद्र कितना गहरा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भूमिका तो इतनी लम्बी चौड़ी बाँधी तबसे हम बड़ी आशा लगाये बैठे थे, कि आप रास लीलाका विस्तारके साथ वर्णन करेंगे, किन्तु आपने तो सब गुड़ गोबर कर दिया। यह तो वही बात हुई कि पाठशालाके विद्यार्थी अपने सेठके यहाँ विवाह की धूमधाम देखकर आशा लगाये बैठे थे कि बढ़िया बढ़िया माल मिलेंगे। पचफैनी मिलेंगी, रसगुल्ले उड़ावेंगे। कई दिनसे भर पेट भोजन नहीं किया। अन्तमें विवाह के दिन एक एक लड्डू देकर उन्हें टाल दिया। जिस प्रकार

उन विद्यार्थियोंको निराशा होती है, वैसे ही हम सब मुनियोंको हुई। श्यामसुन्दरने बाँसुरी बजायी' इस प्रसंगको सुनते ही हम सब बड़े उत्सुक हो उठे, कि अब रासका वर्णन होगा। आप जितना ही विस्तार करते थे, उतनी ही हमारी उत्सुकता बढती जाती थी। हम बीचमें इसी भयसे नहीं बोलते थे, कहीं रस भंग न हो जाय। बड़े धैर्यसे हम आपकी कथाको सुनते रहे, किन्तु आपने तो ऐसे स्थानपर आकर सहसा तान तोड़ दी, जहाँ आत्यधिक आनन्द आ रहा था। महाभाग! रासलीला का कुछ और वर्णन कीजिये। आप संसारी कामी लोगोंकी ओर क्यों देखते हैं? ये तो कुत्ते हैं बिना भूखे मानेंगे नहीं। आपको उनसे क्या काम? आप तो भगवद्भक्त रसिक भावुकोंके लिये इस रास रसकी वर्षा कर रहे हैं। वे भगवान्‌की लीलाओंमें अश्लीलताकी बात सोच भी नहीं सकते। फिर अश्लीलताके मानी क्या? अश्लीलताका आरोप होता है अन्यमें, जहाँ सब अपना ही अपना है, वहाँ तो भयकी कोई बात नहीं।

सूतजीने कहा—"नहीं, महाराज! मुझे संसारी लोगोंका भय नहीं है। अधिकांश लोग धर्मको ही ढकोसला समझते हैं। बहुतसे भगवान्‌को ही नहीं मानते, तो उनके पीछे हम धर्म और भगवान्‌की बातें कहना थोड़े ही छोड़ सकते हैं, किन्तु भगवन्! रासलीलाका विषय है ही ऐसा कि उसका प्राकृत भाषामें वर्णन हो ही नहीं सकता। उसके लिये हम शब्द कहाँसे लावेंगे। शब्द तो वे ही होंगे; जो प्राकृत स्त्री पुरुषोंकी रतिके समय व्यवहृत होते हैं। उन शब्दोंके भावको न समझकर लोग शब्दोंकी ही पकड़ करेंगे और कहेंगे—'श्रीकृष्ण साधारण गोप बालक थे। वे वनचरी गोपिकायें व्यभिचारिणी दुष्टा थीं। उनकी कामक्रीड़ा धर्म विरुद्ध थी।' इसीबातका मुझे भयहै। इसीलिये मैंइस विषय का विस्तार करना नहीं चाहता। नहीं तो महाराज, ब्रजभाषामें

इस रसके रसिकोंने इस विषयका इतना विस्तार किया है, कि कोई जीवन भर भी पढ़ता और सुनता रहे, तो भी पार नहीं पा सकता। मैं अपनेको इस रसके वर्णन करनेका अधिकारी समझता नहीं। अब मैं इस प्रसंगको समाप्त करना चाहता हूँ।"

शौनकजीने कहा—"अच्छी बात है, जैसे आपकी इच्छा। अच्छा, यह तो बता दो, कि गोपिकायें जो भगवान्‌के अंगोंसे लिपटकर, उनके अंगकी दिव्य सुगंधको सूँघकर, उनके त्रिभुवन कमनीय रूपको निहारकर, उनके प्रसादी पानको पाकर, उनके अधरामृतका पान इसी प्रकार करती रहीं या कुछ और हुआ। इस प्रसंगको तो पूरा कर दो देवताजी!"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! अब आप मानोगे नहीं। इन सूखी दाढ़ी जटाओंके भीतर आपके हृदयमें भी श्रीराधाकृष्ण अनुराग रसका समुद्र हिलोरें मार रहा है, आप ऊपर से ही बाबाजी बने हो, भीतर बड़े रंगीले रसीले हो।"

आँखोंमें आँसू भरकर शौनकजी बोले—"सूतजी! हमारा कहाँ ऐसा भाग्य! हम तो नीरस हृदयके हैं। श्रीराधाकृष्ण रस का तो हमारे हृदयसे स्पर्श भी नहीं हुआ है। आप ही ऐसी सरस श्रुतमधुर कथा सुनाकर—रसके छींटे देकर—हमारे सूखे हृदय को उसी प्रकार सरस बना रहे हो, जिस प्रकार गुणी गायक श्रीरागको गाकर सूखे वृक्षको हरा बना देता है।"

सूतजी बोले—"अच्छा, हाँ महाराज! तो फिर अब आप रास प्रसंगको ही सुनिये। भगवान् रमारमण हैं, वे कमलाके साथ निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं। उन्हीं भगवान्‌को गाँवकी गँवारिनि ग्वालिनियोंने पति रूपमें प्राप्त कर लिया। जिनके दर्शनोंके लिये बड़े-बड़े योगी अनेक जन्मों तक जप, करते रहते हैं, उन्हींको भगवानने स्वयं पकड़कर अपने हृदयसे सटा लिया। उन्हें स्वयं माला पहिनायी, अपने हाथसे प्रसादी चंदन लगाया।

अपना प्रसादी पान दिया। अपने हाथों उनके मुखका पसीना पोंछा और कहाँ तक कहें उनके चरणोंको भी दबाया। बताइये इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है ?

गोपिकाओंने भी अपना कुछ भी नहीं रखा। अपना सर्वस्व श्यामसुन्दरके पादपद्मोंमें अर्पणकर दिया। भगवान्‌ने कहा—"यहाँ बैठो" वहीं बैठ गयीं। भगवानने कहा—"उठो" तुरन्त उठ खड़ी हुईं। भगवानने कहा 'नाचो' नाचने लगीं।" भगवानने कहा—"गाओ" गाने लगीं, सारांश कि उन्होंने श्यामके संकेतपर ही नाचनेका अपना दृढ़ संकल्प कर लिया था। श्यामसुन्दरने स्वयं ही समस्त सखियोंको सजाया था। न जाने कहाँसे वे इतने कुमदिनियों के खिले हुए कुसुम ले आये थे। सभीके कानोंमें उन्होंने वे कुसुम खोस दिये थे। दिव्य सुगंधित पुष्पोंकी मालायें उनकी वेणियोंमें बाँध दीं थीं। उनकी गंधके लोभसे भ्रमर चारों ओर मँडरा कर गुनगुना रहे थे। मानों गोविन्दके गुन गा रहे हों। उनकी गुनगुनाहटमें ताल मिलाकर गोपिकायें नाच रहीं थीं भाव दिखा रहीं थीं। उनके मुखोंपर जब श्रमके कारण स्वेदबिन्दु आ जाते तो श्यामसुन्दर उन्हें स्वयं पोंछ देते इससे उनका उत्साह पुनः नूतन हो जाता। हृदयसागरमें भावकी तरंगें उठने लगतीं। सुनियो ! भगवान नाचते नाचते कभी उनके मुखको, वक्षःस्थलको तथा कटिप्रदेशको स्पर्श कर लेते, कभी आलिंगनदान देते, कभी प्रणय कटाक्ष और मंद मंद मनोहर मुसकान द्वारा उनका अभिनंदन करते। इस प्रकार स्वयं खेलने लगे और उन्हें खिलाने लगे। उन रमणियोंको रासमें रमण कराने लगे। इन गोपिकाओंके आनंदकी कोई सीमा नहीं थी। जैसे कोई सुरापी सुरापान करके मत्त हो और फिर भी पीता ही जाय पीता ही जाय, यही दशा इन व्रजवनिताओंकी थी, केशबन्धोंसे मालायें गिरने लगीं। कटिके वस्त्र ढीले होकर

खिसकने लगे। कञ्चुकी की तनी टूट गयीं। वक्षःस्थल अनावृत हो गया। फिर भी उन्हें कुछ भी पता नहीं चला। वे विहारीके साथ विहार करते करते ऐसी विह्वल हो गयी थीं कि देह गेहकी कुछ भी सुधबुध उन्हें न रही।

गोपिकायें ही आत्मविस्मृत हुई हों सो बात नहीं। चन्द्रमा अपनी गति भूल गये। रात्रि भी देवताओंकी रात—छै महीनेकी हो गयी। समस्त ग्रह तारागण गतिहीन होकर स्तब्ध हो गये। आकाशमें अपने पतियोंके साथ जो देवांगनायें विमानोंपर बैठी थीं, उनकी भी तनियाँ तड़कने लगीं। वे सबकी सब सुरसुन्दरियाँ कामातुरा होकर मोहित हो गयीं। उनके वस्त्र खिसक गये, किन्तु उन्हें कुछ सुध ही न थी।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! भगवान्‌के मनमें कुछ काम भाव नहीं उत्पन्न हुआ क्या?"

चौंककर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! कैसी बात कर रहे हैं आप? भगवान् तो आत्माराम ठहरे। उनके मनमें कभी कामभाव उत्पन्न हो सकता है। वे तो आत्माराम हैं, आत्मरति हैं आत्मतुष्ट और आत्मक्रीड़ा हैं। कामको विजय करनेकी ही तो उन्होंने यह क्रीड़ा की थी। देखिये, जितनी गोपियाँ थीं उतने ही रूप भगवान् ने रख लिये, जैसे जितने देह होते हैं, उतने ही रूप देही रख लेता है। जितना छोटा बड़ा देह होता है चैतन्यात्मा वैसा ही छोटा बड़ा बन जाता है। यह सब लीलाधारीकी लीला थी, क्रीड़ाप्रियकी क्रीड़ा थी, विनोदीका विनोद था, विहारीका विहार था। राधारमणका रमणियोंके साथ रमण था।"

जब वे गोपांगनायें रास करते करते थक गयीं, तो उनके शरीरोंको सुहलाकर, मुखपर छाये स्वेदबिन्दुओंको पोंछकर

उन्हें अंकमें लिटाकर थपथपाकर उनके श्रमको दूर किया। प्रेमपूर्वक शान्तिदायक करकमल उनके अंगोंपर फेरा। भगवान्‌के नख स्पर्शसे प्रमुदित होकर वे पुण्यप्रेममयी प्रमदायें अपने झिलमिलाते हुए कमनीय कनककुंडलोंसे तथा काली काली घुँघराली अलकावलीकी कलित कान्तिसे मण्डित लोल कपोलोंकी आभासे और सुधामधुरमयी मंद मुसकानयुक्त चारु चितवनसे चितचोरके चित्तको चुराती हुईं उनके प्रति अनुराग प्रदर्शित करने लगीं और उनकी क्रोड़में पड़ी ही पड़ी उनके गुणोंका गान करने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक तो सम्मिलित रास होता है, जिसमें गोपिकायें राधा कृष्ण सब साथ मिलकर नाचते हैं और एक वैयक्तिक नृत्य होता है। श्रीराधाकृष्ण एक सिंहासन पर विराज जाते हैं, फिर क्रमशः एक एक गोपी आकर अपनी नृत्यकला दिखाती हैं। सबके नाचनेपर श्रीराधाजी नाचती हैं, फिर श्रीकृष्ण भी अपना नृत्य दिखाते हैं। इस प्रकार दोनों ही भाँतिका नृत्य हुआ। नृत्य करते करते सभीको श्रम और गरमी दोनों ही प्रतीत होने लगीं। तब श्यामसुन्दरने सखियोंके सहित जलकेलि करनेकी बात सोची। मुनियो! जलको जीवन कहा है, जलको पाते ही प्राणी प्रसन्न हो जाता है जलमें प्रवेश करते ही शरीर शीतल हो जाता है। गरमीमें तो जलका स्पर्श अत्यंत ही सुखद होता है। स्नान करनेसे शरीर हलका हो जाता है। जलमें स्नान करनेसे प्रसन्नता होती है, यदि अपनी प्रियाओंके संग जलकेलि करनेका अवसर मिले, तो फिर कहना ही क्या? वह सुखकी सीमा है, दोनों को ही परमाह्लाद होता है। अब कुछ मैं उसीका वर्णन करूँगा।"

छप्पय

ह्वैकें गोपी थकित श्यामके अंक विराजें।
ललना ललित दुकूल पीतपट मिल अति भ्राजें॥
मुहरावें तिनि अंग पाँहि मुख पुनि पुनि जोहें।
निरखि चकोरिनि चन्द्र द्रवें त्यों नटवर सोहें॥
भरत न चित चितचोरको, चितवत अपलक अलीगन।
गोपी मुखपंकज निरखि, भयो श्याम अलि मत्तमन॥

आत्मारामकी जलकेलि

[९९८]

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥*
(श्री भ० गी० १ अ० ४२,४३ श्लोक)

छप्पय

चले श्याम जलकेलि करन बनि गायक मधुकर।
करत गान सँग चलत कँपकँपी उठति सखिनि उर॥
वायु डुलावत व्यजन सुशीतल मंद सगंधित।
कृष्णकंठमहँ डारि भुजा प्रमदा अति प्रमुदित॥
करिनि संग जलकेलि ज्यों, करे करी अति हिय हरषि।
त्यों सखियनि सँग श्याम पुनि, करें खेल जल महँ प्रविशि॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जलमें प्रवेश करने पर वे व्रज युवतियाँ भगवान्‌पर चारों ओरसे जल उलीचने लगीं और प्रणय-कटाक्षों द्वारा चोट करती हुईं बार-बार खिलखिलाकर हँसने लगीं। विमानोंमें बैठे देवगण ऊपरसे पुष्प बरसाते हुए स्तुति करने लगे। इस प्रकार स्वयं आत्मरति होनेपर भी भगवान् उन व्रजकामिनियोंके साथ इसी प्रकार क्रीड़ा करने लगे जैसे कुंजरकुंजरियोंके साथ क्रीड़ा करता है।"

संतापके अनन्तर जो शीतलता प्राप्त होती है, वह उसी प्रकार सुखद होती है, जिस प्रकार भूखमें लच्छेदार रबड़ी या गुलाब जल पड़ा खुरचन। शीतल वस्तुके स्पर्श से रोम खड़े हो जाते हैं, भीतरसे कँपकँपी छूटती है। साथ ही प्यारेके स्पर्शसे भी कँपकँपी हुआ करती है। यदि दोनों ही वस्तु साथ मिल जायँ सुशीतल जलमें प्यारेके सुखद संस्पर्श और संग भी प्राप्त हो, साथ ही हास्य विनोद भी हो, तो उस सुखकी फिर क्या सीमा है? वह असीम सुख है। बिना गोपी बने यह सुख प्राप्त हो नहीं सकता। वैसे भगवान् गोपोंके साथ भी नहाते हैं, किन्तु भरोंये कंठवाले गोप हाहा करके हँसते हैं उनके हास्यमें वह स्वारस्य कहाँ जो कोकिलकंठी कामिनियोंके कंठोंमें है। वैसे गोपोंकी चोटियोंमें से भी जलविन्दु गिरते हैं, किन्तु उन जलविन्दुओंमें वह सौंदर्य कहाँ जो काली नागिनिके सदृश झोटा खाती हुई वेणियोंसे वारिविन्दु गिरते हैं। वैसे गोपोंके दाँत नहाते नहाते कभी वज जाते हैं, किन्तु जो नहाते समय चूड़ियोंकी झनकार सुनकर श्यामका मनमयूर नृत्य करता है, वह इन रूखे गोपोंके दंत कटाकटमें आनंद कहाँ? इस लिये सब बातोंपर विचार करके, ऊँच-नीच देख भालकर यही निर्णय देना पड़ता है कि जलकेलिका आनंद तो गोपियोंके साथ ही आता है, वैसे कोई मनको कैसे भी समझा लो, यह सुख तो गोपियोंके ही भाग्यमें बदा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब रासका श्रम प्रिय के अंग स्पर्श और बहुमानसे दूर हुआ, तब श्याम बोले—"चलो, स्थल क्रीड़ाको छोड़कर जलक्रीड़ा करें। रासके श्रमको यमुनास्नान से शांत करें।" गोपिकायें तो शीतलता चाहती ही थीं। इसलिये श्रीकृष्णके सुशीतल करको बार-बार मुखपर, उरपर तथा अन्य अंगोंपर रखतीं। वे अपने संपूर्ण तनकी तपन बुझानेके लिये व्यग्र थीं। प्यारेके प्रस्तावसे उनका मनमुकुर खिल उठा। संपूर्ण

ममता बटोरकर प्यारेका गाढ़ालिङ्गन करके उनकी दृष्टिमें अपनी दृष्टि मिलाकर अनुराग भरितवाणीमें बोलीं "हाँ, चलो चलें। नीलनीरके संस्पर्श से शीतलता प्राप्त होगी।"

फिर क्या था, गोपियोंसे घिरे घनश्याम उसी प्रकार चले जिस प्रकार बिजलीसे लिपटे हुए घन नभमंडलमें चलते प्रतीत होते हैं। घामसे संतप्त यूथपति गजेन्द्र जिस प्रकार अपनी हथिनियों से घिरा हुआ सरिताकी ओर जाता है उसी प्रकार व्रजवल्लभ व्रजाङ्गनाओंसे घिरे हुए कालिन्दीके कलित कूलकी ओर जल-केलिके निमित्त चल दिये। सबके अंगोंपर अत्यंत क्षीणपट थे जिनसे अम्बर स्पष्ट दिखायी दे जाय, उन वस्त्रोंको पहिने प्यारेके कंठको दृढ़तासे जकड़े हुए आती हुई, सी-सी करती हुई, अंगोंको कँपकँपाती हुई, अपने सम्पूर्ण भारको श्यामपर लादती हुईं वे घनश्यामके साथ जलमें घुसीं। ऊपरसे देवता देख रहे थे और पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे। देवताओंके बरसाये पुष्पोंसे यमुना पुष्पमयी बन गयीं। व्रजाङ्गनाओंके सिरोंपर कल्पवृक्षके पुष्प उसी प्रकार शोभित होते थे, जिस प्रकार काले रंग की सहस्रों शिवपिंडियों पर चढ़े हुए पुष्प शोभा देते हों। देवता "साधु साधु, धन्य धन्य, जय हो जय हो, ऐसे शब्द बार-बार कह रहे थे।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! भगवान् सर्व समर्थ हैं, उनके लिये न कुछ अच्छा है न बुरा, न कर्तव्य न अकर्तव्य। फिर भी कुछ मर्यादाका पालन करना चाहिये। देवताओंके सम्मुख गोपियोंके अंगोंसे अंग सटाकर वरुणके निवास स्थान जल में प्रवेश करना कुछ उचित नहीं जान पड़ता। व्रजकुमारिकायें नग्न स्नान करती थीं उनके इस तनिकसे अपराधपर भगवान् ने उन्हें कितना नाच नचाया, कितने प्रकारके व्यायाम कराये। जलसे निकलो, दोनों हाथ ऊपर उठाओ, सूर्यको प्रणाम करो। लड़-

कियाँ धर्मभीरु थीं। धर्मके भयसे सब कुछ उन्होंने किया। अब इन चोरशिखामणिसे कोई पूछे—क्या इस प्रकार स्त्रियों के अंगोंसे अंग सटाये जलमें प्रवेश करना मर्यादाके विरुद्ध नहीं है ?" किन्तु महाराज ! बड़ोंकी बड़ी बात। ये जो करें वही अच्छा। छोटे जो भी करें वही बुरा।

हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! आप इन टेढ़े टाँगवाले देवताकी कुछ बात मत पूछो। इनका अंग ही तीन स्थानोंसे टेढ़ा नहीं है, इनकी सभी बातें टेढ़ी ही टेढ़ी हैं। मर्यादा का काम तो इन्होंने धनुषधारीको सौंप दिया है, क्योंकि मर्यादाका पालन तो शांतदृष्टिसे गंभीरतापूर्वक होता है। ये ठहरे महाचंचल। इनकी दृष्टि एक स्थानपर स्थिर होती ही नहीं। इसलिये आप मर्यादा खोजना चाहते हों, तो जानकी जीवन दशरथनंदन प्रणतपाल अवधकुलमंडन श्रीराघवेन्दुमें देखें। ये तो लोकवेदकी मर्यादारूप बाँधको भी भिन्न करनेवाले स्वच्छन्द इभराज गजेन्द्र हैं। इसलिये मेरे गुरुदेवने इन्हें "इभराज इवभिन्नसेतुः" कहकर पुकारा है। महाराज ! श्रीकृष्णावतारमें तो रसकी अभिव्यक्ति की है। शृंगार रसकी सरिता जैसी इस अवतारमें बहायी है वैसी अन्य अवतारोंमें कहाँ ? यदि यह अवतार अवनिपर न होता, तो श्रीराधाकृष्णकी लीलाओं का प्राकट्य इस मर्त्यलोकमें न होता, यह सम्पूर्ण संसार रसहीन-नीरस-बन जाता। शृंगार और संगीतके प्राण तो श्रीराधाकृष्णकी ललित लीलायें ही हैं। बाँसुरीकी तानने सम्पूर्ण संसार को रसमें सराबोर कर रखा है। मूर्खसे मूर्खको और विद्वानसे विद्वान्को श्यामकी बाँसुरी विह्वल बनाये हुए है। यदि यह रसभरी मुरली न बजी होती तो सबके हृदय सूख जाते। उनमें जो सरस भावना रूपी मछलियाँ थीं, वे सब तड़प तड़पकर मर जातीं। इस सम्पूर्ण जगत्को श्रीराधाकृष्णके कृपा कटाक्षने

सरस बना दिया। महाभागा गोपिकाओंके रासने जगत्में रसकी सरिता बहा दी। महाराज! गोपिकायें तो उनकी नित्य सहचरी थीं यथार्थ धर्मपत्नी थीं। ब्रह्ममोहके समय सभीका श्यामसुन्दरने पाणिग्रहण किया था, सभीको बाईं ओर बिठाया था। पत्नीके साथ गाँठ बाँधकर जलमें प्रवेश करना अपने हाथों उसे मलमल-कर न्हिलाना धर्म विरुद्ध नहीं परमधर्म है। जो पत्नीके रहते गाँठ बाँधकर स्नान नहीं करते वे पुण्यके भागी नहीं रहते। सुनियो! यही तो आप लोगोंमें नीरसता है। यह आपका दोष नहीं आपके कठिन तपका दोष है। कैसा सरस प्रसंग कह रहा था। कैसा प्रश्न उठाकर रसभंग कर दिया।"

शौनकजी शीघ्रतासे बोले—"नहीं, नहीं सूतजी! हमें क्षमा कीजिये। हमने तो वैसे ही पूछ लिया, हाँ तो आप अब भगवान् की गोपियोंके साथ जल क्रीड़ाका ही वर्णन करें।"

अन्यमनस्कभावसे सूतजी बोले—"अजी, महाराज! अब क्या वर्णन करें। प्रसंग उड़ गया सो उड़ गया। चित्तकी वृत्ति सदा एक-सी नहीं रहती। अब जैसा मैं अत्यन्त सरस वर्णन करना चाहता था, वैसा तो संभव है न हो सकेगा फिर भी करता हूँ, सुनिये।"

हाँ, तो उस समय उन युवतियोंके स्नान करनेसे कृष्णवर्ण कालिन्दी पीतवर्णा हो गयी थीं। श्यामसुन्दर उस जलमें स्नान करते-करते अघाते नहीं थे। बार बार अपने पीताम्बरमें उस जल को भरते और गोपियोंके ऊपर उलीचते।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! कृष्णवर्णा कालिन्दी क्या कृष्णके पीताम्बरसे पीली हो गयी थीं?"

खीजते हुए सूतजी बोले—"अब रहने दो महाराज तुम। तुम अरसिकोंके से प्रश्न मत पूछा करो। श्रीकृष्णके पीताम्बरका रंग तो पक्का था, वह जलको पीला कैसे कर सकता है। मान लो

कर भी दे तो उससे गोपियोंका भावोद्दीपन हो सकता ? श्रीकृष्ण के अंगोंमें फुरहुरी तो युवतियोंके वक्षःस्थलपर लिपटी हुई कुंकुमका कीचसे हो सकती हैं। उसकी कीचने कृष्ण जलको पात बना दिया । और भगवानकी पंचरंगी वनमालाको भी पीला बना दिया। भ्रमरोंने सोचा—"भगवान्‌की माला तो इस दिव्य रंगमें रंगकर परम रसमयी बन गयी।" एक तो पुष्पों का रस और फिर कुंकुमकी गन्ध। दोनोंको ही सूँघकर षट्पद मत्त बन गये। उन्होंने सोचा—"श्रीकृष्ण हमारी जातिके हैं। समानशील है। वे भी रसप्रिय हैं हम भी रस पीकर जीते हैं। वे भी काले हैं और हमारा भी कृष्ण वर्ण है। वे भी गानप्रिय हैं हम भी गुनगुनाते रहते हैं। उन्हें भी वनवास अत्यन्त प्रिय है, और हम वनमें वास करते हैं। उनका वस्त्र पीला है हमारे भी पंख पीले हैं, फिर उनके धनके हम भी भोगनेके भागी हैं; अतः उड़ उड़कर उस मालाके मधुको पीने लगे, निर्भर होकर उसकी दिव्य गन्धको सूँघने लगे।" श्यामको घेरकर उन्हें गान सुनाने लगे । गोपिकाओंके आनन्दकी परिधि नहीं थी। जलके स्पर्श से एक तो स्वतः आनन्द आता है, फिर साथ ही प्रियका स्पर्श वे अपने प्रणयकटाक्ष रूप सरोंका प्रहार करती हुई खिल खिलाकर हँसती हुई उस वनप्रदेशको मुखरित बनाने लगीं कालिन्दीकी लहरकी तालमें ताल मिलाकर वे गीत गाने लगीं । चारों ओरसे नटवरको घेरकर उनके ऊपर जल उलीचने लगीं । जलकी बौछारसे वनवारीको विवश बनाने लगीं, उन्हें चिढ़ाने लगीं । उनके अत्यन्त क्षीण पट जलके भीगनेसे अंगोंमें सट गये थे, इससे सुवर्णकी कान्तिके सदृश उनके सभी अंग प्रत्यंग स्पष्ट दिखायी दे रहे थे। वे निर्भय होकर श्यामसे लिपट जातीं और उन्हें लेकर जलमें धुड़की मार जातीं। श्याम उन्हें ऊपर ऊठा देते, वे

विवशता व्यक्त करतीं। जैसे गजराज अपनी सूँड़में जल भर कर हथिनियोंके ऊपर फेंकता है और उनके साथ बड़ी देर तक क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार भगवान् उनपर जल उलीचते हुए—उन्हें सरसतायुक्त जलमें भिगोते हुए—चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे। भगवान्‌को क्रीड़ाके लिये अन्य सामग्रीकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे तो आत्मरति हैं, आत्मक्रीड़ हैं। गोपिकायें उनका स्वरूप ही थीं अपने नाना स्वरूपोंसे नाना भौतिक खेल करने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जलक्रीड़ा करनेके अनन्तर घाटपर आकर सूखे वस्त्र धारण करके युवतियोंके यूथोंसे घिरे हुए और भ्रमरोंके गायनको सुनते हुए श्यामसुन्दर यमुनाके समीपवर्ती उपवनोंमें विचरण करने लगे। गोपिकाओंको पुष्पोंकी शोभा दिखाते हुए उन्हें सब प्रकारसे रिझाने लगे। कभी लता कुंजोंमें बैठकर उन्हें पुष्प तोड़कर स्वयं सुँघाते, कभी उनसे मधुमयी मीठी मीठी बातें करते। इस प्रकार उन्हें श्यामसुन्दरने सभी प्रकारके सुख दिये। सब प्रकारसे उनकी इच्छा पूर्ति की।"

छप्पय

विविध भाँति जलकेलि करी हरि बाहर आये।
पुनि पट पहिरे' प्रियनि संग बन उपबन धाये॥
भद्र, लौह, श्री, ताल, बकुल, भाण्डीर, महावन।
खदिर, कुमुद अरु काम्य, बारहौं श्रीवृन्दावन॥
बारह बन उपबन बहुत, केलि, केतकी, रासथल।
शेषशायिबन केमद्रुम, सुललित, उत्सुक बन विमल॥

वनवारीका वन उपवनोंमें रासविलास

[९९९]

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल-
प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो
यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

धन्य धन्य ब्रज धाम जहाँ पावन वन उपवन ।
वृन्दावन अति धन्य धन्य सब सखा सखीगन ॥
नन्द यशोदा धन्य धन्य हैं वे ब्रजवासी ।
जिन सँग हरि नित करें शयन वन भोजन हाँसी ॥
वृन्दावन ब्रजधाम नित, ब्रजलीला परिहास नित ।
गो, गोपी, गोलोक नित, परिकर रास विलास नित ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ब्रजङ्गनाओं और भ्रमरोंकी भीड़से घिरे हुए उस स्थान पर आये जहाँ सब ओर जल और स्थलके सुमनोंकी सुगंधसे सुवासित वायु बह रहा था। उस यमुनातटके सुरम्य उपवनमें वे उसी प्रकार विचरण करने लगे, जिस प्रकार मद चूता हुआ मत्त हाथी अपनी हथिनियोंके साथ भ्रमण कर रहा हो।"

श्रीकृष्ण नित्य हैं, उनकी आह्लादिनी महाशक्ति नित्य हैं। उनके सखा नित्य हैं, सखी परिकर नित्य हैं, उनका धाम नित्य है, उनका नाम नित्य है, उनकी लीला नित्य है, उनका रास-विलास नित्य है। उसमें देश, काल तथा कार्य कारण भावकी अपेक्षा नहीं। वह तत्व, सनातन तथा शाश्वत सत्य है। जिनकी श्रीकृष्ण नामरूप, लीला और धाममें प्राकृत बुद्धि है। उन्हें प्राकृत पदार्थोंकी ही प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! स्थलक्रीड़ा करनेके अनन्तर भगवान्‌ने व्रजाङ्गनाओंके साथ बहुत देर तक जलक्रीड़ा की। तदनंतर वस्त्र पहिनकर उन गोपियोंको वन और उपवनकी शोभा दिखाने लगे। दिव्य वृन्दावनकी शोभा अवर्णनीय है। वैसे तो व्रजमंडलकी तिल-तिल भूमि दिव्य है, अप्राकृत है। वहाँ के सभी वन परम रम्य चिन्मय और रसयुक्त हैं, किन्तु इन सब वनोंमें श्रीवृन्दावन सर्वश्रेष्ठ है। गोलोकका जो मुकुटमणि स्थान है, वही भूलोकमे ज्योंका त्यों आ गया है, उसके नाम रूपमें कोई अन्तर नहीं, कोई भेद नहीं। जिस गोलोकमें अपनी प्राण-प्रिया श्रीराधिकाजी तथा अन्य गोपियोंके यूथोंके साथ श्याम-सुन्दर निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं, वे ही सब व्रज में प्रकट हुए हैं। गोपियाँ तो श्यामसुन्दरकी सनातनकी सहचरी हैं, जैसे व्रजमंडल नित्य है, सब वन उपवन नित्य हैं, गोप गोपी नित्य हैं वैसे ही यह रासविलास भी नित्य है।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! यह रसभंग न होता हो तो हम एक बात पूछें?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज! पूछिये। रासलीला प्रसंग तो अब समाप्त ही समझिये। स्थलक्रीड़ा जलक्रीड़ा तो अब हो गयीं। अब आप निर्भय होकर प्रश्न करें।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! पूछना हमें यह है कि आप

बार ब्रजके वन उपवनोंका उल्लेख कर चुके हैं, इसलिये हमें यह जाननेकी बड़ी इच्छा है, कि ब्रजमें कितने वन उपवन हैं। भगवानने वहाँ कौन कौन-सी क्रीड़ायें कीं ?"

सूतजी बोले—अजी महाराज ! आपने तो बड़ा गहन प्रश्न कर दिया । यदि विस्तारसे मैं आपके इन प्रश्नोंका उत्तर दूँ, तब तो कभी पूर्ण हो ही नहीं सकता। क्योंकि ब्रजमंडलकी महिमा अनन्त है। पृथ्वीकी महिमा इसीलिये अत्यधिक है। कि उस पर माथुर प्रदेश विराजमान है। शास्त्रकार ब्रजमण्डलकी उपमा सहस्रदल कमलसे देते हैं। ब्रजमण्डलमें बारह वन हैं। जिनके नाम भद्रवन, श्रीवन, लोहवन, भाण्डीरवन, महावन, तालवन, खदिरवन, बकुलवन, कुमुदवन, काम्यवन, मधुवन और वृन्दावन। इस प्रकार ये बारह वन हैं। इनमें सात तो यमुनाजीके पश्चिमीतटपर हैं और पाँच यमुनाजीके पूर्वकी ओर हैं। वैसे सभी एकसे एक श्रेष्ठ हैं, किन्तु महावन (गोकुल) मधुवन (मथुरा) और वृन्दावन इन तीनोंमें विशेष लीलायें की हैं, इसलिये इनका महत्व विशेष माना गया है। इन बारह वनोंके अतिरिक्त बहुतसे उपवन भी हैं, जिनमें कदम्बवन, खण्डकवन, नन्दवन, नन्दीश्वरवन, नन्दनन्दन खण्डवन, पलाशवन, अशोकवन, केतकीवन, सुगन्धि मादनवन, केलिवन, अमृतभोजनस्थल, सुखप्रसाधनवन, वत्सहरणवन, शेषशायिकवन, श्यामपूर्णवन, उदधिग्राम, वक्रवन, भानुपुर, संकेतद्विपद, बालक्रीड़, धूसर, केमद्रुम, सुललितवन, उत्सुकवन, नानाविधरसमय क्रीड़ावन, नानालीलारसस्थल, गविस्तार विष्टम्भ तथा रहस्यद्रुम आदि स्थान हैं।

शास्त्रकारोंने सहस्र दल कमलकी कल्पना करके; प्रत्येक दलमें भगवानकी लीलाओंकी, उनके तत्तद् लीलानुसार नाम रूपकी उनके सखा सखियोंके परिकरकी कल्पना की है। उसका मैं

विस्तार करूँ तो कथा बढ़ जायगी, अतः यही समझो इन वन उपवनोंमें समस्त ऐश्वर्यपूर्ण श्यामसुन्दर नाना प्रकारकी क्रीड़ायें किया करते हैं। जिस वृन्दावनके आश्रयसे अच्युत अत्यन्त रसमयी रास विलासकी क्रीड़ायें करते हैं, उस दिव्यातिदिव्य वृन्दावनकी रचना चिन्तामणि रत्नोंसे हुई है। वहाँके यमुनाजीके घाट दिव्य मणियोंसे बने हैं। यहाँ भगवान् सदा नित्यकिशोर रूपसे विराजते हैं। श्रीजी नित्य किशोरी रूपमें। श्रीकृष्णजी कभी बालक होते हैं न बूढ़े। सदा सोलह वर्षके बने रहते हैं और श्रीजी पन्द्रह वर्षकी। यह युगल जोड़ी निरन्तर रास विलासमें ही लगी रहती है। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। उन सब ब्रह्माण्डोंके एक मात्र अधीश्वर श्यामसुन्दर हैं। सभी ब्रह्माण्डोंमें पृथक्-पृथक् ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। वे अपना-अपना काम देखते हैं। ब्रह्माण्डकी अवधि समाप्त होते ही वह श्यामसुन्दरके श्रीअंग मे विलीन हो जाते हैं, फिर और ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं। जैसे मनुष्य चलते फिरते, उठते बैठते अन्य सभी काम करते हुए श्वाँस लेता रहता है इसके लिये उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार भगवान्के श्वासप्रश्वासोंसे अगणित ब्रह्माण्ड त्रिदेवोंके सहित उत्पन्न होते रहते हैं, विलीन होते रहते हैं, उसके लिये उन्हें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। अपनी रासक्रीड़ा में वे लगे रहते हैं। मुरली ही उनका आकर्षण यन्त्र है। उसीकी सहायतासे वे सबको अपनी ओर खींच लेते हैं। उन्हें अन्य अस्त्र-शस्त्रोंकी आवश्यकता नहीं। केवल एक मुरली बजानेको और एक प्रियाजी के अंकमें डालनेको उन्हें दो ही भुजाओंकी आवश्यकता है; अतः वृन्दावनविहारी श्याम सदा द्विभुज ही रहते हैं। उनका रूप त्रिभुवनमोहन है। उनके नित्यपार्षदके रूपमें सहस्रों सखा और सखी हैं उनके साथ वे विहार करते हैं, इसीलिये उनका नाम विहारी है। वे गोपियोंके अत्यन्त प्रिय हैं, इसलिये उन्हें गोपीजनवल्लभ भी

कहते हैं। श्रीराधाजीके साथ निरन्तर रमण करनेसे वे श्रीराधा-रमण कहाते हैं। उनके सखाओंमें श्रीदामा, वसुदामा, सुदामा, किङ्किणी तथा तोककृष्ण ये मुख्य हैं। वैसे सहस्रों सखा हैं। इसी प्रकार बहुत सी सखी भी हैं। कुछ गोपिकायें तो वेदोंकी ऋचायें हैं, कुछ देवकन्यायें हैं, कुछ ऋषिरूपा हैं और कुछ साधनसिद्धा हैं। इन सबमें श्रीराधिकाजी ही सर्वप्रधाना हैं। ये रासेश्वरी कहाती हैं। ये मूलप्रकृति रूपा हैं। इनकी आठ सखियाँ हैं जो भगवान्के चारों ओर आठों दिशाओंमें रहती हैं। उनके नाम, विशाखा श्यामला, श्रीमती, धन्या, श्रीहरिप्रिया, शैव्या, पद्मा तथा क्रमणिका हैं। ललिता और चारुचन्द्रा ये इन आठोंमें भी प्रधान हैं।

जैसे श्रीराधिकाजी मूलप्रकृतिरूपा हैं वैसे ही चन्द्रावली भी हैं। और सखियोंका तो श्रीराधिकाजीमें स्वामिनी भाव है किन्तु इनका राधिकाजीमें सापत्य भाव है। ये अपनेको श्रीजीसे किन्हीं बातोंमें कम नहीं समझतीं। इनकी प्रधान सखी पृथक् हैं उनके नाम चित्ररेखा, चन्द्रा, मदसुन्दरी, प्रिया, श्रीमधुमती और हरिप्रिया, श्रीमती तथा चन्द्रावलीके सहित ये आठ हैं। इन सबके भी यूथ हैं। ये सब श्रीकृष्णको सुख देती हैं। श्रीकृष्ण वन प्रिय हैं। सब वन उपवनोंमें वे गोपियोंके साथ विहार करते हैं।

इनकी लीलाके दो भेद हैं। एक प्रकट और दूसरी आभ्यन्तर अथवा गोष्ठकी और अन्तःपुरकी। गोष्ठकी तथा वनकी लीलायें तो प्रकट हैं, उनमें गोपी, बालक, युवक तथा वृद्ध सभीका प्रवेश है, किन्तु जो अभ्यन्तर लीला है उसमें तो केवल युवती गोपियोंका ही प्रवेश है। जिन्होंने चिरकाल तक रस मयी साधना की है, उन्हें ही गोपीभावकी प्राप्ति होती है साधारण पुरुषोंका इस भावमें प्रवेश ही नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण को दाढ़ी मूँछोंसे बड़ी चिढ़ है। इसलिये न इनके कभी दाढ़ी मूँछ आती है, न इनके परिकरकी गोपिकाओंके ही मुखपर दाढ़ी

मूँछें हैं। जो इस लीलाके दर्शन करना चाहेगा, उसे सबसे पहिले दाढ़ी मूँछोंको स्वाहा करना पड़ेगा।"

चौंककर शौनकजीने कहा—"सूतजी! हम लोगोंकी दाढ़ी मूँछें, तो बड़ी लम्बी-लम्बी हैं। इसका तो यही अर्थ हुआ, कि हम लोग तो सदा इस रससे वंचित ही रहेंगे। कभी उस रास विलासको देख ही नहीं सकते।"

हँसकर सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! दाढ़ीवालोंका तो वहाँ प्रवेश है नहीं?"

तब शौनकजीने कहा—"तो सूतजी! फिर वहाँ जानेके लिये दाढ़ी मूँछे मुड़वानी पड़ेगी।"

हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज मुड़वानेसे दाढ़ी थोड़े ही जाती है। कैसी भी मुड़वाओ ठुड्डी तो बनी ही रहती है। जहाँ मुख पर एक भी बाल दिखाई दिया वहीं कान पकड़के बाहर निकाल देते हैं। इसलिये भगवन्! छुरासे मुड़ानेसे काम न चलेगा। रास मंडलके बाहर एक ऐसा रसकुन्ड है, कि उसमें डुबकी लगाते ही दाढ़ी मूँछ सब विलीन हो जाती है। नाक छिद जाती है, उसमें अपने आप नथ लटक जाती है, हाथोंमें चूड़ियाँ खनखनाने लगती है। जटाओं की वैणी बन जाती है, माँगमें सिंदूर भर जाता है। रूखा बदन चिकना हो जाता है। समस्त कुरूपता धुलकर करोड़ों रतियोंसे भी सुन्दर स्वरूप हो जाता है। तब उस महामण्डपमें प्रवेश होनेका अधिकार प्राप्त होता है। यह सब होता है गुरुरूप भगवानकी कृपासे। रास शरद की पूर्णिमाको एक दिन ही हुआ हो, सो बात नहीं। वह तो नित्य निरन्तर होता रहता है, जिसे जब भी गोपी भाव प्राप्त हो जाय, तभी उसे उसके दर्शन होते हैं। अर्जुनको बड़ा अभिमान था श्यामसुन्दर मेरे बड़े स्नेही हैं। मेरा रथ हाँकते हैं, मेरे अधीन हैं. मैं जो चाहूँगा, वही करा लूँगा। कहीं उन्होंने किसीसे

उड़ती उड़ती यह बात सुन ली, कि भगवानने गोपियोंके साथ रास किया था। अतः एक दिन एकान्त पाकर उन्होंने रासका प्रश्न पूछ ही तो डाला। पहिले तो भगवान् टाल मटोल करते रहे। जब अर्जुनने बहुत ही आग्रह किया तो भगवान् बोले—"सुन भैया! तू मेरी सच्ची बात। यहाँ गांडीव धनुषसे या अक्षय तूणीरसे तो काम चलनेका नहीं। यह दिव्य स्थान शारीरिक बलसे तो प्राप्त होनेवाला नहीं। यह तो कृपासाध्यलोक है, कृपा भी उसीपर होती है, जो उस लोकके अनुरूप हो जाता है, उसमें प्रवेशका जिसे अधिकार प्राप्त हो जाय।"

अर्जुनने दीनताके स्वरमें कहा—"तो महाराज! अधिकार प्राप्त करानेवाले भी तो आप ही हो, अधिकार प्राप्त करा दो। मुझे उस लीलाके अवलोकनका अधिकारी बना दो।"

हँसकर भगवान् बोले—"यहाँ तो कड़े छड़े चूड़ी बाँहिया पहिनने पड़ते हैं, तिलकके स्थानपर माथेमें चमकीली बेंदी चिपकानी पड़ती है, बेंणी बाँधनी पड़ती है और माँगमें सिन्दूर भरना पड़ता है।"

अर्जुनने कहा—"महाराज! मुझे सब स्वीकार है आप जैसा चाहो रूप बना दो, जैसे चाहो वस्त्राभूषण पहिना दो, किन्तु उस दिव्य रासकी झाँकी करा दो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब अर्जुनने बहुत आग्रह किया, तो भगवान्ने उन्हें विशुद्ध गोपी बनाकर उस दिव्यातिदिव्य रसका आस्वादन करा दिया।"

यह सुनकर अत्यन्त उत्सुकताके साथ शौनकजीने कहा—"सूतजी! भगवान्ने उस अपनी नित्यलीलाका दर्शन कुन्तीपुत्र अर्जुनको कैसे कराया? अर्जुनजीने भगवानने कैसे प्रश्न किये? कौन कौन-सी बातें कहीं, भगवानने उन्हें गोपी कैसे बनाया। कृपा करके इस प्रसङ्गको हमें विस्तारके साथ सुनाइये।

इसे सुननेको हमें बड़ी भारी उत्कंठा हो रही है।"

सूतजी बोले—"महाराज! वह विषय तो अत्यन्त ही रहस्य-का है। मेरे गुरु भगवान वेदव्यासने शपथ दिला दी है, कि इसे परम गोपनीय विषयको सब किसीके सम्मुख कभी भी प्रकट न करना। आप इतना आग्रह न करते, तो मैं तो इसकी चर्चा भी न करता, किन्तु आप अधिकारी हैं, इस विषयके ज्ञाता हैं, सरस हैं, अतः आपके सम्मुख मैं कहूँगा। यदि इसका विस्तार करने लगूँ तब तो यह कभी समाप्त होगा ही नहीं, क्योंकि संसारमें रास विलासके अतिरिक्त और जो भी कुछ दीखता है, मिथ्या है, असत्य है, भ्रम है, दुःख है। रास ही रास सत्य है, शिव है, सुन्दर है; अतः अत्यन्त संक्षेपमें इस विषयको मैं कहूँगा, आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

होवे गोपी भाव रासके दर्शन पावे।
अभिमानी नर नारी नहीं तहँ फटकन पावे॥
नारद गोपी बने बने गोपी त्रिपुरारी।
अर्जुन नर तहँ बने अर्जुनी गोपी प्यारी॥
रास रहस घनश्यामतैं, अर्जुनने पूछ्यो जबहिं।
रस सरमहँ मज्जन कर्यो, पुरुष वेष बदल्यो तबहिं॥

गोपियोंके साथ नित्यरासविलास

[१०००]

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः
स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
रिरेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः
सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

सरत निकसै अंग अंगमहँ यौवन छायो ।
तनुको सुन्दर वर्ण भयो मनु कनक तपायो ॥
बिछुआ नूपुर पैर चुरी कर झनझन बाजें ।
बनी रँगीलो सखी कोटि रति द्युति लखि लाजें ॥
त्रिपुरसुन्दरीने कृपा, करी कामिनी तनु भयो ।
जातें श्रीरासेश्वरी, राधाजी दर्शन दयो ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! चन्द्रमाकी चाँदनीसे चर्चित तथा काव्योंमें वर्णित समस्त शरत्काल सम्बन्धिनी सामग्रियोंसे सम्पन्न उन निशाओंमें अस्खलित वीर्य तथा सत्य संकल्प श्रीश्याम सुन्दरने अपनी अनुगामिनी अबलाओंके साथ इसी प्रकार रास विलास किया ।"

देवके अनुरूप होकर ही देवताकी आराधना करनी पड़ती है। जैसा देवता होता है, उसके अनुरूप ही रूप बनाना पड़ता है। भूत, प्रेत, पिशाचों तथा अन्य तामस देवोंकी उपासनाके निमित्त उन्हें स्मशान आदिमें जाकर जाग्रत करना पड़ता है, वैसी ही तामस वस्तुओंका संग्रह करना पड़ता है, तथा वैसा ही वेष भी बनाना पड़ता है। इसी प्रकार राजस् देवोंकी उपासनामें राजसी ठाठ और सात्विक देवोंकी उपासनामें सात्विक वेष भूषा तथा भावोंका अवलम्ब लेना पड़ता है। हम जैसा ध्यान करेंगे वैसे ही हो जायँगे। यह सृष्टि संकल्पसे है, जगत् भावमय है, जिसकी जैसी भावना होगी, उसे प्रभु उसी रूपमें दिखाई देंगे। शाक्तको उनके शक्ति रूपके ही दर्शन होंगे, शैवको शिव रूपमें और वैष्णवको विष्णु रूपमें। जो मधुर रसके उपासक हैं, संसारमें एक मात्र श्रीकृष्णको ही पुरुष मानते हैं और जितने भी जीव मात्र हैं सबको प्रकृति रूपा गोपी मानकर पति भावसे उनकी उपासना करते हैं, उनका भाव गोपियोंका-सा हो जाता है। शरीर स्त्रीका हो, पुरुषका हो इससे कोई प्रयोजन नहीं। जिनका भीतरसे भाव तो गोपीका होता नहीं, ऊपरसे वेष गोपीका बना लेते हैं, वे तो दम्भी हैं, मिथ्याचारी हैं, वेषको कलंकित करनेवाले हैं। इसके विरुद्ध जिनका भाव गोपिकाओं-सा है, ऊपरसे वे कुछ भी वेष न बनावें जटाजूट धारण किये बाबाजी भी बने रहें, तो भी वे उस रसका निरन्तर आस्वादन करते रहते हैं। व्रजमंडलमें ऐसे बहुतसे रसिक सन्त महात्मा हो चुके हैं या अब भी हैं। ऊपरसे देखनेमें तो वे बड़े विरक्त हैं। 'कर करुआ गुदरी गरे, यही उनकी सांसारिक सम्पत्ति है। मिट्टीका टोंटीदार पात्र पानी पीनेके लिये हैं और ओढ़नेको फटे पुराने चीथड़ोंकी एक गुदरी। सम्पूर्ण अंगोंमें व्रजरज लपेटे पागलोंकी भाँति घूमते रहते हैं, किन्तु मनसे वे अपनेको श्रीजीकी अनुचरी

किंकरी सखी समझते हैं।

कभी-कभी मनके भावानुसार शरीर भी वैसा ही बन जाता है। व्रजमें एक कथा प्रसिद्ध है, कि कोई सन्त विशुद्ध गोपी वेष बनाकर वृन्दावनकी गलियोंमें घूमा करते थे। कोई विदेशी पर्यटक आये। एक पुरुषको सजी सजायी स्त्रीके वेषमें देखकर परम विस्मित हुए उनके लिये यह नयी बात थी। कुतूहलवश उन्होंने उनसे प्रश्न किया--"पुरुष होकर तुमने यह स्त्रीका वेष क्यों धारण किया है?"

संतने कहा—"अपने प्रियतमको रिझानेके लिये।"

विदेशीने पूछा—"किन्तु तुम तो पुरुष हो। पुरुष रूपमें उत्पन्न हुए हो, स्त्री वेष बनानेसे ही क्या लाभ?"

संतने कहा--"प्राणी जैसा उत्पन्न होता है, वैसा ही तो नहीं रहता। भावानुसार उसका वेष, रूप, रङ्ग सभी बदल जाता है। उत्पन्न होते समय बालक थे, फिर बदलकर युवक वृद्ध हो गये। पैदा होते समय, दाँत, दाढ़ी मूछें नहीं थीं, बड़े होने पर ये सब हो गयीं। पैदा होते समय नंगे पैदा हुए थे, अब विविध भाँतिके वस्त्र पहिन लिये। हमारी मधुर भावना है इसलिये अपना तदनुरूप वेष बना लिया।" मनुष्य अपनी भावनासे ही वेष बनाता है।

विदेशीने कहा—"यह तो सब सत्य है, किन्तु लहँगा फरिया पहिनने ओढ़नेसे, कड़े छड़े नथ आदि आभूषण धारण करनेसे सोलहू शृंगार करनेसे ही तो पुरुष स्त्री नहीं हो जाता। स्त्री पुरुषोंके स्वाभाविक चिह्न पृथक् पृथक् होते हैं, वे बदले तब सच्चा भाव हो।"

संतने कहा—"दृढ़ धारणासे वे भी बदल जाते हैं।"

विदेशीने पूछा—"तुम्हारे बदले हैं?"

संतने कहा—"प्रत्यक्षमें प्रमाण क्या? परीक्षा करो। उसका

एक साथी शारीरिक शास्त्रका ज्ञाता चिकित्सक था। उसने विधिवत् परीक्षा की। संतके शरीरमें समस्त स्त्रीचित चिन्होंको देखकर वे सब परम विस्मित हुए। कहनेका सारांश इतना ही है, कि दृढ़ भावना के अनुसार शरीरका भी परिवर्तन हो सकता है। बहुत-से पूर्व जन्मके पुरुष स्त्री बन जाते हैं और स्त्री पुरुष। साधारण नियम तो यही है स्त्री-स्त्री ही योनिमें उत्पन्न होती हैं पुरुष-पुरुष में ही। किन्तु दृढ़ भावनासे विपर्यय भी हो जाता है। इसीलिये शास्त्रकारोंने भावको ही भवका कारण बताया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे भगवान्के रास रहस्य तथा अर्जुनको गोपी भाव कैसे प्राप्त हुआ यह प्रश्न पूछा था, उसे ही मैं संक्षेप में कहता हूँ।

एक दिन अर्जुन श्यामसुन्दरके साथ एकान्तमें बैठे थे। दोनों अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रेमकी मीठी मीठी बातें कर रहे थे। श्यामसुन्दरको अपने अनुकूल और प्रसन्न देखकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने पूछा—"प्रभो! हमने सुना है आप व्रजमें गोपिकाओं के साथ रास करते थे। वह रास क्या है किस प्रकार आपने किन-किनके साथ किस किस वनमें कब कब रास किया है? रास सम्बन्धी सभी बातें आप मुझे बतावें।

भगवान्ने बातको टालते हुए कहा—"अरे, भैया! ये सब तो ऐसी ही सट्ट पट्ट बातें हैं तुम इन सब बातोंको जानकर क्या करोगे कोई और चर्चा छेड़ो।

अत्यन्त अधीर होकर दीनताके स्वरमें अर्जुनने कहा—"दीनदयालु! दीनानाथ! इस दीन हीन पर दया करो। रास विलासके सम्बन्धमें जाननेकी मेरी बड़ी भारी अभिलाषा है, मेरी इस इच्छाको पूर्ण करो।"

भगवान्ने प्रेमके साथ कहा—"भैया, संसारमें कितनी गूढ़ गूढ़ बात है। उन सबको जानो। योग है, सांख्य है, वेदान्त है

कर्मकाण्ड है तथा और भी नाना प्रकारकी विद्यायें हैं, उनका रहस्य पूछो। यह रासका विषय तो अत्यन्त ही गुप्त है औरोंकी तो बात ही क्या ब्रह्मादिदेव भी इसे सुननेके अधिकारी नहीं।"

अर्जुनने गिड़गिड़ाकर कहा—"मैं आपका भक्त हूँ, अनुरक्त हूँ शिष्य और सेवक हूँ, मुझे आप इस रहस्यको अवश्य बतावें।"

भगवान्‌ने कहा—"अच्छी बात है, भैया! तेरी इसे जानने की इच्छा है तो यह कहनेका विषय तो है नहीं, मैं तुझे प्रत्यक्ष दिखा सकता हूँ। प्रथम इसे देखनेके अधिकार प्राप्त करनेके निमित्त तुम्हें त्रिपुरसुन्दरी देवीकी उपासना करनी होगी। जब उस रसके अनुरूप तुम्हें रूप प्राप्त हो जायगा, तब तुम उस रासके दर्शन कर सकोगे। तुम प्रथम त्रिपुर सुन्दरी देवीकी उपासना करो।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर अर्जुन त्रिपुरसुन्दरी देवीकी उपासना करने लगे। कुछ ही काल में देवी प्रसन्न हुई। प्रकट होकर अर्जुनसे वर माँगनेको कहा। देवीकी विधिवत् पूजा करके अर्जुननेने उनसे रास देखनेकी योग्यताकी याचना की। देवीने उन्हें मन्त्र दीक्षा दी फिर एक दिव्य सरोवरमें स्नान करनेको कहा। उसमें स्नान करते ही अर्जुन पुरुषसे स्त्री बन गये। उनका रूप लावण्य अनुपम तथा अवर्णनीय हो गया। उसका प्राकृत भाषामें वर्णन करना असम्भव है! अर्जुन अपने ऐसे रूपको देखकर परम विस्मित हुए। जिन त्रिपुरसुन्दरी देवीने सरोवर में स्नान करनेकी आज्ञा दी थी वे भी अन्तर्धान हो गयीं थीं। अर्जुनी बने अर्जुन लज्जासे सिर नीचा किये हुए वहाँ खड़ेके खड़े ही रह गये। अपने अग्रिम कर्तव्यका वे निर्णय ही न कर सके। उसी समय उन्हें आकाशवाणी सुनायी दी—"हे गोपी तुम चिंता मत करो। इस मार्गमें जाकर सामनेके सरोवरमें

स्नान करो वहाँ तुम्हारी और भी बहुत-सी संगिनी सखी सहेली हैं।" इतना सुनते ही अर्जुनी देवी उस सरोवरके समीप गयी। उस सरोवरमें ज्यों ही उन्होंने स्नान आचमन किया त्यों ही उसमें से अद्भुत रूप लावण्य युक्त असंख्यों सुन्दरियाँ अपने नूपुरोंकी झंकारसे दशों दिशाओंको झंकृत करती हुई वहाँ आयीं। सरोवरके निकट लज्जासे सिर नीचा किये एक अपरिचित ललना को चिन्तामग्न खड़ी देखकर उन सखियोंमेंसे एक प्रियमुदा नाम की सखी मधुरवाणीमें बोली—"हे सुन्दरी! तुम कौन हो किसकी पुत्री और पत्नी हो? तुम इतनी चिंतित क्यों हो रही हो? अपनी चिन्ताका कारण हमसे कहो।"

उसपर अर्जुनी देवीने कहा—"बहिन! मैं किसकी पुत्री हूँ किसकी पत्नी हूँ, इसे स्वयं ही नहीं जानती। इस सरोवरमें स्नान करनेसे मुझे ऐसा रूप प्राप्त हुआ है। यहाँकी एक देवी मुझे जानती हैं। मैं आप सबका परिचय प्राप्त कर सकती हूँ?"

इसपर प्रियमुदाने कहा—"हम सब व्रजवल्लभको रमण करानेवाली रमणियाँ हैं। हममें कुछ श्रुतिरूपा हैं कुछ ऋषि रूपा हैं कुछ भगवान् के अंगोंसे निकली नित्य परिकर की हैं और कुछ हम आभीर कन्यायें हैं जो कोटि जन्मोंकी भक्तिके द्वारा प्राणवल्लभको प्राप्त हुई हैं। तुमने भी रासविहारीकी कृपा से यह रूप प्राप्त किया है। प्रथम मंत्र के प्रभावसे तुम्हें हमारा साक्षात्कार हुआ है अब तुम इस सरोवर में स्नान करो। फिर तुम्हें सिद्धि मंत्रकी दीक्षा देंगी। उससे तुम्हें सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँगी तब तुम रासमें हमारे साथ विहार करनेकी अधिकारिणी बन जाओगी।"

अर्जुनी देवीने उनकी आज्ञा स्वीकार की, स्नान करके विधिवत् दीक्षा ली मन्त्र जप किया तसके प्रभावसे उन्हें रासेश्वरी श्री राधाजी के दर्शन हुए। श्रीराधाजीके दर्शन पाते ही अर्जुनी

मूर्छित हो गयीं। तब श्रीजीने अपनी एक प्रियंवदा सखीके द्वारा उन्हें अपने समीप बुलाया और उसीसे उन्हें मोहनी मन्त्रकी दीक्षा दिलायी जिसके प्रभावसे वे मोहनके मनको मोहित करने में समर्थ हो सकें। अर्जुनी देवीने यथा विधि उस मन्त्रको किया तब रासरसिकेश्वरने इस नूतन सखीको श्रीराधिकाजी द्वारा अपने समीप बुलाया। श्रीजीकी आज्ञासे अर्जुनी यशोदानन्दनके समीप लायी गयीं। भगवानके अद्भुत रूप लावण्यको देखकर अर्जुनी मूर्छित होकर भूमिपर गिर पड़ीं। कुछ काल के अनन्तर जब उनकी मूर्छा भंग हुई, तो उन्होंने सम्मुख एक अत्यन्त ही दिव्य कल्पवृक्ष देखा। जिसके नीचे अमूल्य दिव्य रत्नोंसे बना एक अत्यन्त ही सुन्दर मन्दिर था। उसके चारों ओर उद्यान था, जिसमें मनको लुभानेवाली दिव्यगन्ध आ रही थी। जिसमें खग, मृग, मर्कट, मयूर तथा अन्याय दिव्य सत्व विहार कर रहे थे। उस अनुपम भक्तमें प्रियाजीके साथ प्रियतम विराजमान थे। वहाँ राग भोगकी समस्त दिव्य सामग्रियाँ यथा स्थान रखी हुई थीं। समस्त सखियाँ अपनी अपनी सेवामें संलग्न थीं। श्रीजीने श्यामसुन्दरको सखीका परिचय कराया। श्यामसुन्दरने अनुराग भरी दृष्टिसे अर्जुनीकी ओर देखा। भगवान्की दृष्टि पड़ते ही उनका भाव बदल गया। भगवान्ने उनके साथ रास विलास तथा विविध भाँतिकी क्रीड़ायें कीं। रसिकशेखरके साथ क्रीड़ा करते करते अर्जुनी देवी को कुछ श्रम प्रतीत हुआ। तब श्यामसुन्दरने एक शारदा सखी को बुलाकर कहा—"इस सखी-को समीप सरोवरके सलिलमें स्नान कराओ जिससे इसका श्रम दूर हो।"

आज्ञा पाते ही शारदा देवी अर्जुनीको उस सरोवरके समीप ले गयी। उसमें ज्यों ही उन्होंने स्नान किया त्यों ही वे अर्जुनीसे अर्जुन हो गये। उन्होंने ज्यों ही इधर उधर दृष्टि डाली कि

उन्हें मन्द मन्द मुसकाराते हुए माधव दिखायी दिये। मदनमोहन माधवको देखकर अर्जुन लज्जित हुए तब इनके हाथको पकड़ कर हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—"अर्जुन तुमने मेरे रासेश्वर रूपके दर्शन कर लिये यह बड़े आनन्दकी बात है यह मेरी अत्यन्त परम गुप्त परम रहस्यमयी लीला है तुम किसीसे भी इस बातको मत कहना। तुम्हें मेरी शपथ है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! जैसी कथा आपने हमें श्रीअर्जुनके सम्बन्धकी सुनायी है वैसी ही एक दिन नारद जीने हमें यहाँ आकर अपने सम्बन्धकी सुनायी थी।"

सूतजीने पूछा—"नारदजीने क्या सुनायी थी, भगवान्! कृपया हमें भी उसे बताइये।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! आपके समान कहनेका सरस ढंग तो हमें आता नहीं। संक्षेपमें सुनाते हैं। एक दिन कृपा करके देवर्षि नारद हमारे इस सत्रमें पधारे। हमने पाद्य, अर्घ्य तथा फल फूल भेंट करके उनकी विधिवत् पूजाकी। जब वे हमारी पूजा स्वीकार करके सुख पूर्वक बैठ गये तो हमने उनसे पूछा—"भगवन् इस समय आप कहाँसे पधारे हैं?"

नारदजीने कहा—"मुनियो! इस समय मैं गोलोकसे आ रहा हूँ।"

हमने बड़ी उत्सुकताके साथ कहा—"भगवन्! गोलोकके सम्बन्धमें सुननेकी हमारी बड़ी इच्छा है यदि आप हमें अधिकारी समझते हों तो इस सम्बन्धकी कुछ कथा हमें सुनावें। सुनते हैं वहाँ नित्य वृन्दावन है। भगवान् अपनी सखियोंके सहित वहाँ सदा रास विलास किया करते हैं।"

यह सुनकर वीणापाणि भगवान् नारद बोले—"मुनियो! आपने तो बहुत ही रहस्यमय प्रश्न पूछ डाला। यद्यपि यह बात सबके सम्मुख बताने योग्य नहीं है, फिर भी आप सब कथा प्रेमी

हैं, भगवद्भक्त कृतोपासक हैं आपके सम्मुख मैं इस रहस्यको कहूँगा। मैं मथुराके श्रीकृष्ण तथा द्वारकाके श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें तो जानता था। वृन्दावन और गोकुलकी गोष्ठ-लीलाओंसे भी परिचित था, किन्तु रासेश्वरकी रहस्यमयी निकुंजलीलाके सम्बन्धमें अपरिचित ही था, इसीलिये मैंने अपने पिता लोकपितामह भगवान् ब्रह्माजीसे इस विषयका प्रश्न किया। मेरे प्रश्नको सुनकर वेदगर्भ भगवान् कमलासन मुझसे बोले—"वत्स ! श्रीराधाकृष्णकी वृन्दावनकी लीलाये अत्यन्त ही गोपनीय हैं। मैं भी उनका रहस्य नहीं जानता। तुम महाविष्णुके समीप जाओ, सम्भव है वे कुछ बता सकें।"

मैंने कहा—"महाराज ! अकेले यों मुझे जानेमें भय लगता है। आप भी मेरे साथ पधारें।"

"मेरी बात सुनकर मेरे पिता ब्रह्माजी मुझे साथ लिये हुए महाविष्णुके समीप वैकुन्ठलोक में गये।

हम दोनों पिता पुत्रने आकर वैकुन्ठाधिप भगवान् महाविष्णु के पादपद्मोंमें प्रणाम किया। तब पिताजीने मेरी जिज्ञासा महा-विष्णु भगवान्के सम्मुख कही। पिताजीकी बात सुनकर हँसते हुए वैकुन्ठाधिपति भगवान् बोले—"वेदगर्भ तुम हमारी आज्ञासे नारदको ले जाकर इस अमृतकुण्डमें स्नान कराओ।"

यह सुनकर भगवान् ब्रह्मा मुझे अमृत कुण्डमें ले गये। ज्यों मैंने उसमें डुबकी लगायी त्यों ही मैं नरसे नारी बन गया। अत्यंत रूप लावण्ययुक्त रमणी बन गया। अब वहाँ न तो वैकुन्ठ था, न महाविष्णुजी और न मेरे पिता ही। नूपुरोंकी झनकारसे आकाश मन्डलको मुखरित करती हुई वहाँ बहुत-सी परमरूप लावण्यवती नवयौवना दिव्य नारियाँ आ गयीं। आते ही वे हमारा परिचय पूछने लगीं। मैं अपना परिचय क्या बताता मुझे याद तो था कि मैं नारद हूँ, किन्तु अपनेको स्त्री वेषमें

देखकर मुझे लज्जा भी आ रही थी और भीतर ही भीतर एक विचित्र प्रकारका आनन्द भी आ रहा था। मैंने कहा—"मैं तो इसे स्वप्न-सा समझ रहा हूँ, मुझे तो यह भी ज्ञात नहीं मैं किस लोकमें हूँ।"

यह सुनकर एक सखी मन्द-मन्द मुसकराती हुई बोली—"यह प्रकृतिसे परे दिव्य गोलोक है। जहाँ तुम हो, वह उसका परम रहस्यमय प्रदेश श्रीवृन्दावन है। हम श्रीकृष्णकी प्यारी सखियाँ हैं। नाम ललिता देवी है। मैं श्रीजीकी प्रिय किंकरी हूँ। तुम मेरे साथ आओ।"

मैं मन्त्रमुग्धकी भाँति श्रीललिता देवीके साथ चला गया। वे सब सखियाँ भी पीछे-पीछे चलीं। आगे एक स्थानमें जाकर श्रीमती ललिता देवीजी विधिपूर्वक हमें स्नानादि कराकर चौदह अक्षरोंवाला भगवान्‌का मन्त्र दिया। उस मन्त्रानुष्ठानके प्रभावसे मैं तत्क्षण उनके ही समान हो गया। मेरे हृदयमें प्रेमकी हिलोरें मारने लगीं। मन किसीसे मिलनेको छटपटाने लगा। उसी समय हमें श्रीराधाकृष्ण युगलरूपके दर्शन हुए। भगवान्‌ने स्नेहभरित हृदयसे कहा—"नारदीदेवी! आओ आओ आओ।" यह कहकर भगवानने मुझे आलिङ्गन प्रदान किया। एक वर्ष पर्यन्त वे हमारे साथ केलिक्रीड़ा करते रहे। भगवान्‌के साथ विहार करनेमें कितना सुख है, वह वर्णनातीत है। उसकी कोई सीमा नहीं, अवधि नहीं, इयत्ता नहीं। अन्तमें भगवान्‌ने श्रीराधाजीसे कहा—"इस नारदरूपिणी हमारी प्रकृतिसे कहो, इस अमृतसर में स्नान करे।" श्रीराधिकाजीने हमें आज्ञा दी और भगवानने विहारके अन्तमें हमसे भी यही बात कही।

भगवानने कहा—"देखो हमारा ही नाम कृष्ण है हमें ही वासुदेव कहते हैं। हम ही कामकला हैं। हम ही पुरुष हैं हम ही स्त्री हैं। सनातनी स्त्री हम ही हैं। जो हममें हमारी प्रियाओंमें

भेद मानते हैं उन्हें हमारा ज्ञान असम्भव है। तुममें और हममें भी कोई भेदभाव नहीं। जो हमारे इस अभेद संकेतको समझता है वह हमें ललिताके सदृश प्रिय होता है।" इस प्रकार भगवान् ने हमें उपदेश करके अमृतसरमें स्नान करनेकी आज्ञा दी। कृपामयी श्रीराधिका देवी हमें अमृतसरके समीप ले गयीं। हमने उसमें प्रवेश करके ज्यों ही डुबकी लगायी त्यों ही हम फिर नारद के नारद हो गये। वीणा हमारे हाथमें आ गयी और हम उसे बजाते हुए "रामकृष्ण हरि, जय जय रामकृष्ण हरि" की तान छेड़ने लगे। सामने हमें अपने पिता भगवान् ब्रह्माजी, महाविष्णुजी दिखाई दिये (गौएँ दिखायी दीं) सबको प्रणाम करके हम घूमते फिरते यहाँ नैमिषारण्यमें आगये। शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! सो, जिस प्रकार अर्जुन अर्जुनी हुए थे, उसी प्रकार भगवान नारदजी भी नारदी बने थे।"

सूतजी बोले—"महाराज! आप सब रहस्यकी बातें जानते हैं। नारदजीकी क्या बात है जो भी मधुरभावकी उपासना करेगा, उसे ही गोपी बनना पड़ेगा। बिना गोपी बने कोई रास विलासके दर्शनका अधिकारी ही नहीं बन सकता। मधुर भाव-में फिर यह सम्पूर्ण संसार जैसा अब दीख रहा है, वैसा दिखायी ही नहीं देता। सब मधुर ही मधुर दीखता है। लालकी लाली में रँग जानेपर सब लाल ही लाल दिखाई देता है। निरन्तर नन्द किशोर रासरसिकेश्वर की लीलायें ही भाव जगत्में दिखायी देती हैं। उपासक उन्हींमें विभोर बना रहता है। श्रीकृष्ण का विहार नित्य है। उनकी सखियों का रूप, यौवन, सौन्दर्य तथा सौकुमार्य सदा एक-सा बना रहता है। उसमें कभी ह्रास नहीं, उसकी अनुक्षण वृद्धि होती रहती है। ये सब भाव जगत्की बातें हैं। जैसे आँखें बड़ी बड़ी आँखोंको देखकर सुख पाती हैं, वैसे ही मधुर राम में श्रीकृष्णके संगम मिलनसुखका चिंतन करने से परमाह्लाद होता

है। जिनका इस दिव्यातिदिव्य अलौकिक रसमें प्रवेश हो जाता है, वे रात्रि दिन भगवानकी चर्याका ही चिन्तन करते हैं। अब श्रीजीके साथ श्यामसुन्दर यह कर रहे हैं, अब यह कर रहे हैं इन्हीं भावोंमें भावित रहनेके कारण संसारकी सभी बातें भूल जाते हैं। उनकी दृष्टिमें संसार रहता ही नहीं।"

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! भगवान्‌की लीलाओंका चिन्तन कैसे करें ? भगवान प्रातःकालसे रात्रि पर्यन्त क्या क्या कार्य करते हैं। उनकी दैनन्दिनी चर्याका ज्ञान हो जाय, तभी तो चिन्तन हो सकता है।"

सूतजी बोले—"महाराज ! यह अष्टयाम सेवका विषय इतना गहन है, कि यह सर्वसाधारणके सम्मुख कहा नहीं जाता। यह तो गुरुद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। हाँ वैसे मैं जानकारीके लिये भगवानकी दैनन्दिनी लीलाओंका संक्षेपमें वर्णन करता हूँ।

दिव्य वृन्दावनमे दिव्य कल्पवृक्षोंकी दिव्यातिदिव्य परम रम्य सघन छायामें भगवान्‌की केलि कुंजें हैं। उस सम्पूर्ण वनकी अधिष्ठातृदेवि वृन्दादेवी हैं। उन्हींके नामसे इस वनका नाम वृन्दा वन है। श्रीराधाकृष्णकी लीलाओंका समस्त संसार ये ही वृन्दा-देवी वहन करती हैं। वे वहाँकी प्रधान व्यवस्थापिका हैं। प्यारी और प्रियतमको और तो कोई काम है नहीं। वहाँ ये आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी कंगालोका तो प्रवेश है ही नहीं। इन सब झंझटोंको महाविष्णु निवटाते हैं। उस वनमें तो एक मात्र गोपियोंका प्रवेश है, जिनके जीवनका एक मात्र लक्ष्य कृष्णको सुख पहुँचाना है, श्रीकृष्ण को अबलायें क्या सुख पहुँचायेगी जी ? ऐसा मत कहो। ये अबलायें उनसे भिन्न नहीं आत्मरूपा हैं। अपनी आत्माके साथ ही रति करनेसे वे आत्मरति और आत्म-क्रीड़ कहाते हैं। वृन्दादेवी लीलाओंकी समय समयपर व्यवस्था

करती रहती है। प्रियाजी के साथ प्रियतम सुखपूर्वक शयन करते हैं। प्रातःकाल भोरमें वृन्दा देवीकी आज्ञासे दिव्य पक्षी अपनी मधुर मधुर वाणीसे दोनोंको जगाते हैं, किन्तु मीठी मीठी नींदमें एक दूसरेके वस्त्रोंको ओढ़े हुए ऐसे आनन्दमें विभोर हो जाते हैं कि उठना ही नहीं चाहते। बारबार अँगड़ाई लेते हैं फिर सो जाते हैं, तनिक मुख खोलते हैं, फिर मूँद लेते हैं।

तब वृन्दादेवी सिखाये हुए शुक सारिकादि मधुर-मधुर बोलनेवाले पक्षियोंको निकुंजमें भेजती हैं, इससे दोनोंकी नींद टूटती है। दोनों ही घरसे निकुंजमें छिपकर बहाना बनाकर आये थे। उठते ही दोनोंको अपनी अपनी माताओंका भय होता है, अतः शैयासे दोनों गलबैयाँ डाले उठकर निकुंजसे बाहर होते हैं। इधर दोनोंकी मैया समझती हैं, कि शैयापर सो रहे हैं, अतः वे जाती नहीं। दोनों ही अँधेरेमें आँख बचाकर जाकर अपनी-अपनी शैया पर सो जाते हैं। जब सूर्य निकलने लगता है, तब मैया यशोदा कहती हैं—"अरे कनुआ! दारीके, दिन भर सोता ही रहेगा क्या? अरे, देख तेरे सब साथी उठकर नहा धोकर काजर लगाकर, कलेऊ करके आ भी गये, तू अभी सो ही रहा है। इधर कीर्ति देवी भी उसी प्रकार अपनी लाड़िली ललीको जगातीं हैं—"बेटी! राधा! अरी, तू तो बड़ी सुवक्कड़ है। देख तेरी सखियाँ यमुना स्नान भी कर आयी। तू अभी तानदुपट्टा सो ही रही है। ऐसी भी क्या नींद। उठ बेटी! देख, यशोदा रानीका बुलावा आता होगा वहाँ जाना है।" तब लाड़िलीजी अपने बड़े-बड़े कजरारे नयनोंको मलती हुई उनींदे नयनोंसे चकित चकित निहारती हुई उठती हैं।

इधर श्रीकृष्ण माताके जगानेसे उठकर अति शीघ्र नित्य कर्मोंसे निवृत्त होते हैं, दन्तधावन करते हैं। फिर मैयासे पूछकर बलदेवजीको साथ लेकर खिरकमें जाते हैं, गौओंको देख रेख

करते हैं, गोबर नहीं उठा होता तो गोबर उठवाते हैं, स्वयं दूध दुहते हैं औरोंसे भी दुहाते हैं।

इधर कीर्ति कुमारी, उठकर नित्यकर्मसे निवृत्त होती हैं, दन्त-धावन मंजन करके कुल्ला करती हैं। तब परिचारिका आकर उनके अंगोंमें सुन्दर सुगन्धित चिकना उबटन लगाती हैं। स्नान वेदीपर ले जाकर विधिवत् सुन्दर स्वच्छ सुगन्धित यमुना जलसे स्नान कराती हैं। श्रीजी अपनी पतली-पतली कमलकी पंखुड़ियोंके सदृश उँगलियोंसे अपने कुटिल केशोंको सुलझाती हुई रेशमी वस्त्र पहिने सखियोंसे घिरी हुई शृङ्गार गृहमें जाती है। वहाँ सखियाँ उन्हें भाँति-भाँतिके आभूषण पहिनाती हैं। नयी गुही हुई सुगन्धित पुष्पोंकी मालायें पहिनाती हैं, उनके भाल पर बेंदी लगाती हैं; कपोलोंपर पत्रावलीकी रचना करती हैं। बड़े-बड़े नेत्रोंमें अन्जन लगाती हैं। दिव्य गन्धयुक्त इलायची, कपूर, लोग जाइफल, पुङ्गीफल आदिसे युक्त पान उन्हें देती हैं। अंगोंमें इतर फुलेल लगाती हैं। चरणोंमें महावर लगाती हैं और नखोंको रँग देती है। उसी समय यशोदाजीके यहाँसे सखियाँ राधाजीको भोजन बनाने के लिये बुलानेको आ जाती हैं। तब अपनी माताजीसे आज्ञा लेकर राधिकाजी नन्दभवनमें रसोई बनाने जाती हैं।"

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—'सूतजी! हमने तो सुना था, अभी तक प्रत्यक्ष विवाह नहीं हुआ था। ब्रह्माजीने श्रीराधा और श्रीकृष्णका विवाह कराया था, किन्तु वह एकान्त गुप्त स्थानमें कराया था। उसे किसीने देखा भी नहीं। बिना विवाह हुए रसोई बनानेको यशोदाजी श्रीराधिकाजीको क्यों बुला लेती हैं?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! विवाह न हुआ न सही। सगाई तो हो गयी, सगाई भी कच्ची नहीं पक्की। जहाँ वरने बहूके हाथकी पक्की रसोई पायी, कि सगाई पक्की हो गयी।

पक्की सगाईमें और विवाह में कोई अन्तर नहीं।"

शौनकजीने कहा—"अच्छा, न सही अन्तर फिर भी रसोई बनानेको तो माता यशोदाजी थीं रोहिणीजी थीं। एकसे एक पुत्र वत्सला थीं, सुन्दरसे सुन्दर रसोई बना सकती थीं। इनके रहते हुए मैया राधाजीको नित्य रसोई बनाने क्यों बुलातीं।"

माथा ठोककर सूतजी बोले—"हे भगवन्! इन रूखे जटाधारी बाबाजियोंसे कभी किसी रसिकका पल्ला न पड़े। मुनियो! तुम लोग तो हो बाबाजी तुम्हें स्वाद स्वादसे तो कुछ प्रयोजन नहीं। तुलसी डाले जो भी प्रसाद आ गया पा लिया। महाराज! नयी बहूके हाथकी रसोईमें जो स्वाद आता है वह बूढ़ी माताके हाथकी रसोईमें नहीं आता। यशोदा मैया तो सब समझती थीं, उन्हें तो अपने बच्चेको पेट भरके खिलाना था। जिसमें भी उसकी रुचि देखती उसे ही बार-बार बनाती।

एक दिन की बात थी, कि व्रजमें दुर्वासा मुनि आये। सब उन्हें नित्य भोजन करानेको घरसे बना बनाकर ले जाते। मुनि सब प्रसाद ले लेते किन्तु बहुत खानेपर भी उन्हें डकार नहीं आती भूखे ही बने रहते। एक दिन यशोदा मैया भी बहुत सामान बनाकर दुर्वासाजीके लिए ले गयीं। श्रीकृष्णजी भी मैयाके साथ साथ गये। मैया जितना सामान ले गयीं थीं मुनि सबको खा गये, किन्तु न उनकी तृप्ति हुई न डकार आयी। संयोगकी बात कि उसी समय अपनी माताकी आज्ञासे सुवर्णके थाल में भोजन बनाकर माताजीको साथ लिये हुए राधिकाजी भी मुनि के लिये ले आयीं। श्रीराधिकाजीके बनाये हुए अन्नको मुनि बड़ी रुचि से खाने लगे। वे बारबार उस अन्नकी प्रशंसा करते हुए पेटपर हाथ फिराने लगे। भोजन करके उन्होंने लम्बी डकार ली और अत्यन्त स्नेहसे श्रीराधिकाजीको समीप बुलाकर कहा—"तुम्हारी रसोई अति उत्तम बनी। आजसे मैं तुम्हें आशीर्वाद

देता हूँ, कि तुम आपने हाथसे जो भी बनाओगी वही अमृतके समान मीठा और परम स्वादिष्ट बनेगा। तुम्हारे हाथका बना अन्न जो खा लेगा उसकी परमायु होगी।"

मैया यशोदा तो यह चाहती थीं, मेरे बच्चेकी आयु बढ़े। उन्होंने तुरन्त कीर्तिरानी से कहा—"रानी! मुनि तो सर्वज्ञ हैं, इनका कोई भी वचन मिथ्या नहीं हो सकता। तुम्हारी बच्ची का बनाया भोजन अवश्य ही अमृत तुल्य होगा, उससे खानेवाले की आयु बढ़ेगी। कृपा करके कल अपनी पुत्रीको मेरे घर भेज दे। यह बनावेगी तो कनुआकी भी आयु बड़ी हो जायगी।"

अत्यन्त ममता भरी वाणीमें कीर्तिरानी बोलीं—"रानीजी! आप कैसी बातें कर रही हैं। हम तो अपनी लड़कीको मनसे आपको दे ही चुकीं। इसे आपके ही घरमें रहना है। कल क्या नित्य ही यह बनाने आजाया करेगी।"

यह सुनकर यशोदा मैया प्रसन्न हुईं। सब अपने अपने घर चली गयीं। दूसरे दिन राधिकाजीको वस्त्राभूषणोंसे भली भाँति सजाबजाकर कीर्तिरानीने नन्दभवनमें भेज दिया। राधिकाजीने अपने हाथसे रसोई बनायी। आज जाने श्यामसुन्दर को कहाँसे इतनी भूख लग गयी, कि उनकी तृप्ति ही नहीं होती। बारबार पदार्थोंकी प्रशंसा करते। कटोरा भरवा लेते और सबको सपोट जाते फिर खालीका खाली हो जाता। माताके हर्षका ठिकाना नहीं था। माता चाहती है मेरा बच्चा अधिकसे अधिक खाय, रुचिपूर्वक खाय और वह भोजन उसके स्वास्थ्यके लिये हितकर हो।"

श्यामसुन्दरपर भोजन करते-करते नवयौवन-सा आने लगा। उनका मुखकमल परम प्रफुल्लित हो उठा। चूड़ियोंकी झनकारके साथ राधाजी जब रोटीको थालीमें डालतीं तो श्यामसुन्दरका मन मयूर नृत्य करने लगता। उनकी हृत्तंत्रीके तार अपने आप ही

झंकृत हो उठते। दूसरी रोटी आते आते उसे चट कर जाते। माताने सोचा—"यह लड़की नित्य भोजन बनाने आ जाया करे, तब तो मेरे लालाका स्वास्थ्य कुछ ही दिनोंमें सुन्दर हो जाय।" उन्होंने कीर्तिरानीके सन्मुख अपना प्रस्ताव रखा। उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार किया अपने तथा श्रीराधाके भाग्यकी सराहना की। उसी दिनसे सखियोंको भेजकर माताजी नित्य ही श्रीराधाजीको बुलातीं और उन्हींसे श्यामसुन्दरके लिये रसोई बनवातीं।"

शौनकजीने कहा—"हाँ, सूतजी! तो आप दामोदरकी दैनन्दिनी लीलाका ही वर्णन करें। इधर उधरके प्रसंगोंको छोड़ें।"

सूतजीने चौंककर कहा—"महाराज! मैं तो इधर उधरकी बातें करता ही नहीं। भगवान्‌की दैनन्दिनी लीलाका ही तो वर्णन कर रहा हूँ, यह तो प्रसङ्गवश आपके पूछनेपर मैंने कथा कह दी।

हाँ, तो इधर श्रीराधिकाजी तो हाथ पैर धोकर रेशमी पटुका पहिनकर रसोई घरमें प्रवेश करती हैं श्यामसुन्दर तबतक गौओंको दुहलाते हैं, फिर तेल उबटन लगाकर सखाओंके साथ यमुनाजीमें स्नान करते हैं। कनखियोंमें वे देख लेते हैं, कि सजी बजी राधिकाजी भी आ गयीं हैं। उन्हें सजी बजी देखकर स्वयं भी वे अपना शृंगार करते है अंगोंमें सुगन्धित केशर कस्तूरीयुत चन्दन लगवाते हैं, काली काली कुटिल केशोंको झाड़कर उन्हें आकर्षक बनाते हैं। मस्तकपर चन्दनका तिलक लगाते हैं। बार बार दर्पणमें अपना मुख देखते हैं। कंकण, बाजूबन्द, अँगूठी मोतियोंकी माला तथा वनमाला आदिको धारण करते हैं। माताजी वहीं से चिल्लाती हैं—"कनुआ! आ भैया! नारायणका भोग लग गया, प्रसाद पा ले।"

आप अनसुनी कर जाते हैं। मैया बारबार बुलाती हैं। तब

आप बड़े नखरेसे जाते हैं। श्यामसुन्दर अकेले खाना तो सीखे ही नहीं, किन्तु बलदेवजीके साथ भोजन नहीं करते। उनके सम्मुख गुम्मसुम्म संकोचके साथ भोजन करना पड़ेगा, इसलिये जब वे भोजन करने जाते हैं, तो समवयस्क गोपोंके साथ आप भोजन करने बैठते हैं। भोजन करते समय स्वयं हँसते हैं सबको हँसाते एक एक व्यंजनको लेकर उसकी प्रशंसाके पुल बाँध देते हैं। कहते हैं किसीसे, हृदय प्रफुल्लित होता है किसीका। इस प्रकार बहुत देरतक हँसी विनोदके साथ भोजन होता है। भोजनोपरान्त कुछ देर शरीरसे श्यामसुन्दर विश्राम करते हैं। मन कहीं अन्यत्र अटका रहता है। सेवकोंके दिये ताम्बूल चबाते हैं, फिर गोपवेश धारण करके गौओंको खोलकर बनमें चराने ले जाते हैं।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! इतनी देर तक गौएँ भूखी ही बँधी रहती हैं।"

सूतजी बोले—"अजी" महाराज नन्दजीके यहाँ कुछ कमी थोड़े ही है। उनके यहाँ १००, ५० गौएँ तो हैं नहीं। नौ लाख गौएँ हैं। सबको तो प्रातःकाल सेवक ले जाते हैं। कुछ चुनी हुई गौओंको लेकर वनविहारके निमित्त व्रजविहारी जाते हैं। माता पिता बहुत मना करते हैं, हमारे इतने सेवक हैं, तुम्हें गौ चरानेके लिये वन जानेकी क्या आवश्यकता है?" किन्तु ये मानते ही नहीं। कहते हैं—"गोपकुमार होकर जो स्वयं गौओं को नहीं चराता, वह धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है। इसलिये धर्म समझकर जाते हैं। गौओंको चराना तो उपलक्षण मात्र है। वास्तवमें तो उन्हें वनविहारकी चटपटी लगी रहती है। माता-पिता को नमस्कार करके गौओंको आगे करके वनमें सखाओं के सहित जाते हैं। कुछ काल पर्यन्त सखाओंके साथ कबड्डी गुल्ली डंडा आदि खेल खेलते हैं, फिर दो चार अंतरङ्ग सखाओंको

साथ लेकर संकेतकी ओर प्यारीजीसे मिलने चल देते हैं।

इधर प्यारीजी श्यामसुन्दरके प्रसाद पा लेनेके अनन्तर यशोदा मैयाके आग्रहसे मदनमोहनके थालमेंसे कुछ प्रसादी वस्तु लेकर पा लेती हैं और तुरन्त अपने घरको चली आती हैं। घरमें उनका मन लगता नहीं। इधर उधरकी बातोंमें समय बिताती हैं, फिर मैयासे कहती हैं—"अम्मा मैं सूर्यनारायणकी पूजाके लिये फूल चुन लाऊँ। गुजरियोंको भी देखती आऊँगी, वे दधि बेचकर लौटी या नहीं।"

माता कहती हैं—"बेटी! तुझे दही दूधकी क्या चिन्ता। भगवानका दिया हमारे यहाँ बहुत है, काम करनेको इतने दासी दास हैं। नौकरोंसे पुष्प मँगा ले। बाहर क्यों जायगी। घरमें ही सहेलियोंके साथ खेल।"

वृषभानुकुमारी कहती है—"नहीं, मैया! गोप-कुमारी होकर गोरसको चिन्ता न करना अपने धर्मसे च्युत होना है। देवता की पूजाके लिये स्वयं ही पुष्प तुलसी तोड़कर लानी चाहिये। स्वयं ही मन्दिरको झाड़ना चाहिये।"

धर्मके सम्मुख माता क्या कहती। सखियोंको साथ लिये हुए कीर्ति कुमारी संकेतकी ओर बड़ी उत्सुकतासे जाती है, इधर अत्यन्त उत्सुकतासे श्यामसुन्दर भी उनकी बाट जोहते रहते हैं। नूपुरों और चूड़ियोंकी झनझनाहट सुनकर मदन-मोहनका मन मुकुर खिल जाता है वे उठकर प्रियाजी से मिलते हैं। फिर समयानुसार क्रीड़ायें होती हैं। यदि वसन्त होता है, तो आमकी मंजरियोंसे कामदेवकी पूजा करते हैं। अत्यन्त ग्रीष्मऋतु में शीतल केशर कपूरयुक्त चन्दन परस्परमें एक दूसरे के अंगोंमें मलते हैं। वर्षामें एक दूसरेको झूलेपर झूलाते हैं। दोनोंको एक हिंडोलेपर बिठाकर गोपियाँ हिंडोले गाती हुई झोटा देती हैं। आपसमें दोनों साथ साथ झूलते हैं। कार-

कार्तिकमें सांझीकी रचना करते हैं सांझी गाते हैं नाना प्रकार के वन्यपुष्पोंसे चित्रविचित्र रंगके खेल बनाते हैं। अगहन पौषमें और भी बनकी भाँति भाँतिकी क्रीड़ायें करते हैं। फागुनमें होलीका हुरंगी होता है। दोनों ओरसे पिचकारियाँ छूटती हैं। रंग गुलाल, अबीर लेकर परस्पर एक दूसरेके मुखपर मलते हैं। रंगमें सराबोर कर देते हैं। मीठी मीठी मार भी गोपोंपर पड़ती हैं। सखियोंके कोमल करोंके गुलचे गुलाब-जामुनसे भी अधिक मीठे लगते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न ऋतुओंकी भिन्न भिन्न क्रीड़ायें होती हैं। दोनों मिलकर प्रेमरस का पान करते हैं। पीते पीते अघाते नहीं। अंग लड़खड़ाने लगते हैं प्रियाजी निकुञ्जों में प्रवेश कर जाती हैं। तब सखाओंको छोड़ कर सखियोंके बुलानेपर श्याम अकेले जाते हैं। सखियाँ दोनोंकी सेवा करती हैं। उनके लिये, समयोचित पुष्प शैयाकी रचना करती हैं, कोई पान खिलाती हैं, कोई पंखा डुलाती हैं कोई चरण दबाती हैं इस प्रकार गोपीजनवल्लभ उन सबकी प्रियाके सहित सभी सेवाओंको स्वीकार करते हैं। हृदयमें अनुरागकी हिलोरें उठने लगती हैं। क्षण क्षणपर सभी दिव्य सात्त्विक विकार उत्पन्न होते हैं। निकुंजमें श्याम शैयापर उनी से हो जाते हैं। अपने सम्बन्ध की बातें सुननेके लोभसे वे झूठ मूठ सोनेका अभिनय करते हैं। तब सखियाँ भाँति भाँति की हँसी करती हैं। विचित्र प्रकारके विनोद होते हैं। तब श्याम सुन्दर नेत्र मलते हुए उठते हैं। शैयासे उठकर हाथ पैर धोकर आसनपर बैठते हैं। फिर चौपर होती है। उसमें पण लगता है। पण रुपये पैसका नहीं। पण लगता है प्रेमचिन्हाङ्कित करनेका। श्यामसुन्दर यदि रूँगठ करते हैं तो प्यारीजी प्रेमके रोषमें भर कर उनके मुखपर एक चपत जड़ देती हैं उसे वे बड़ी भाग्य समझते हैं। उसे ही पानेके लिये नटखटपना करते हैं।

मारपीट में कुछ तनातनी कुछ रूठारूठी भी हो जाती है। उसी समय कलरव करते हुए विहगवृन्द इधरसे उधर जाते हुए दिखाई देते हैं। तब समझते हैं अब भगवान भुवन भास्कर अस्ताचल को प्रस्थानकर पश्चिम दिशाकी ओर मुड़ गये श्रीजी माताके भय से भयभीत सी हो जाती हैं। वे शीघ्रताके साथ निकुञ्जसे निकलना चाहती हैं। श्यामसुन्दरको भी सखाओंकी खरी खोटी सुननी पड़ती है, माता तनिक भी देर होनेपर प्रश्नोंकी झड़ियाँ लगा देती हैं। उन सब प्रश्नोंके कृत्रिम उत्तर सोचने पड़ते हैं। इसी भयसे श्यामसुन्दर भी प्यारीजीको विदा करके गोपों के समीप आते हैं। गोप भाँति भाँतिके ताने मारते हैं, श्यामसुन्दर सबकी बातें हँसते हँसते सहते हैं।

इधर श्रीजी सखियोंके साथ फूल लेकर घर गयीं और मैया से आज्ञा लेकर सूर्यनारायणके मन्दिर में पूजा करने आयीं। श्याम सुन्दरको कल कहाँ वे भी ब्राह्मण वेष बनकर सूर्यमन्दिर में पहुँच जाते हैं। या कभी लुगाई बन जाते हैं। वहाँ सखियों और श्रीजीके साथ सूर्यदेवका पूजन करते हैं। जब गोधूलिकी वेला हो जाती है तो गोपियाँ अपने अपने घरोंको प्रस्थान कर जाती हैं और श्यामसुन्दर गौओंके समीप आ जाते हैं अति शीघ्रताके साथ वे गौओंको एकत्रित करते हैं फिर सबको आगे करके मुरली बजाते हुए गोष्ठकी ओर चल जाते हैं। मुरलीकी ध्वनि सुनकर सभी व्रजवासी समझ जाते हैं, कि व्रजचन्द्र वनसे गौएँ चराकर आरहे हैं, सभी आबाल वृद्ध बड़ी उत्सुकतासे भगवानके दर्शनके निमित्त अपने अपने द्वारों पर खड़े हो जाते हैं। गोपिकायें अनुराग भरी दृष्टिसे उठकर प्रणयकटाक्ष छोड़ती हुई उनका स्वागत करती हैं। श्रीकृष्णजी का समस्त श्रीअंग तो धूलिसे धूसरित होता है। अलकों पर पलकोंपर कपोलोंकी झलकोंपर धूलिके कण बड़े ही भले

मालूम होते हैं। गौओंके खुरोंकी उठी धूलिसे आकाश भर जाता है। उसीके बीचमें ग्वाल बालोंसे घिरे मुरली बजाते हुए मुरलीधर सभोको दर्शन देते हैं।

बड़े बूढ़े ब्राह्मणों और पूज्योंको देखकर नमस्कार करते हैं, पैर छूते हैं, किसीको हाथ जोड़ देते है, किसीको गले लगा देते हैं। छोटे छोटे बच्चे दौड़कर आजाते हैं उनका मुख चूमते हैं। गोपिकाओंको नेत्रोंके संकेतसे केवल उनकी ओर तिरछी दृष्टिमे देखकर—ही अभिनन्दन करते हैं। प्यारीजीकी दृष्टि बचाकर चुपकेसे निहार लेते हैं। दोनोंकी दृष्टि मिलते ही बहुत-सी बातें हो जाती हैं। गोशालाके द्वारपर खड़ी हुई माताओंके पैरों पडते हैं, माताएँ उन्हें अनुराग सहित उठाकर छातीसे चिपटा लेती हैं, उनके स्तनोंसे अपने आप दुग्ध चूने लगता है, जिससे श्यामसुन्दरका पीतपट भीग जाता है। गौशालामे गौएँ चली जाती हैं। उन्हें बाँधकर तब आप भाई और ग्वालबालों सहित घर जाते हैं। जाकर ऋतुओंके अनुसार शीतल, उष्ण अथवा शीतोष्ण जलसे स्नान करते हैं। माताएँ तुरन्त जलपान लाती हैं। आप कुछ जलपान करते हैं, फिर माता पितासे पूँछकर उनके साथ दुहनी लेकर गौओंको दुहने गौशालामें जाते हैं। वहाँ जाकर बहुत-सी गौओंको स्वयं दुहते हैं, बहुतोंको दूसरेसे दुहाते हैं। बहुतोंके बछड़ोंको ही सब दूध पिला देते हैं। इस प्रकार सब गौओंको दुहकर, बछड़ाओंको पिलाकर, पिता माता तथा सेवकों से घिरकर, दूधके सहस्रों मटकोंको लिवाये हुए घरमें आते हैं। आकर सब चाचा, ताऊ, भाई बन्धु तथा सगे सम्बन्धी बैठकर इधर उधरकी बातें करते हैं। जाड़ोंमें सब मिलकर अग्नि जलाकर तापते हैं। गौओंकी व्रजकी बातें होती हैं। उसी समय घरसे भोजनका बुलावा आ जाता है। सबके साथ बैठकर रात्रिकी व्यालू होती है। रात्रिमें कच्ची रसोई तो बनती नहीं। पूरी

परामठे, साग भाजी, मठरी, मोहनभोग, रबड़ी तथा और भी भाँति भाँतिके रसीले, चटपटे नमकीन तथा सौंधे पदार्थ बनते हैं।

शौनकजी पूछा—"सूतजी ! इस समय राधाजी रसोई बनाने नहीं आतीं ?"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज ! रात्रिमें भला कैसे आ सकती हैं। हाँ, अपने घरसे ही बहुतसे व्यंजन बना बनाकर—थाल सजा सजाकर—सखियोंके हाथों नित्य ही श्यामसुन्दरके भोजनके पूर्व भेज देती हैं। श्यामसुन्दर उनकी सराहना करते हुए सबके साथ उन पदार्थोंको पाते हैं। कोई ससुरालकी बात कहकर चिढ़ाते है, तो आप लज्जित हो जाते हैं।

जब भगवान् व्यालू कर लेते हैं, तो मैया यशोदाजी भाँति-भाँतिके पक्वान्न उन लानेवाली सखियोंके हाथों राधाजीके लिये भेजती हैं और श्रीकृष्णके थालके उच्छिष्ट प्रसादी अन्नको भी भेजती हैं। प्रसादी पदार्थोंके आजानेपर श्रीराधाजी अपनी मैयाके कहनेसे प्रसाद पाती हैं और शैयापर जाकर सोनेका अभिनय करती हैं। घरके सभी लोग सो जाते हैं किन्तु प्यारी-जीके नयनोंमें तो श्यामसुन्दरने घर कर लिया है। छोटेसे घरमें कोई मुरली लेकर बैठ जाय, तो वहाँ निद्रा कैसे रह सकती है। वे नेत्र बन्द तो कर लेती हैं। दूसरे समझते हैं सो रही हैं, किन्तु वे नयनोंमें बैठे नन्दलालसे बातें करती रहती हैं।

इधर श्यामसुन्दर भी शयनगृहमें जाकर खुर्राटे भरने लगते है। सब लोग समझते हैं, दिनभर गौएँ चरायी है, वन वन भटकता फिरा है थककर सो गया है; अब कोई बातें मत करो सब सो जाओ। गोप भी सब चुप हो जाते हैं और निद्रा देवीके अधीन हो जाते हैं।

तब आप चुपकेसे उठते हैं। वृन्दावनकी अधिष्ठात्र देवी वृन्दा

पहिलेसे ही केलिक्रीड़ाकी सभी तैयारियाँ किये रहती हैं। अपनी एक गुप्त सखी श्रीजीके समीप भेजती हैं। यदि अँधेरी रात्रि होती है, तो काला वस्त्र ओढ़कर और यदि उजियाली रात्रि होती है तो चाँदनीके समान स्वच्छ सफेद वस्त्र पहिनकर श्रीजी आती हैं। सखियाँ भी आती हैं। इधर श्यामसुन्दर भी आते हैं। दोनों का मिलाप होता है। फिर संगीत होता है। गाना बजाना तथा नृत्य सभी होता है। इस प्रकार अर्धरात्रि हो जाती है। तब दोनोंके नेत्रोंमें निद्राके डोरे दिखायी देने लगते हैं। झपकियाँ लेने लगते हैं। तब सखियाँ उन दोनोंको निभृत निकुंजोंमें पहुँचा देती हैं। वहाँ दोनों सुखपूर्वक शयन करते हैं वहाँ तो किसीका प्रवेश नहीं अतः वहाँकी लीलावर्णनातीत है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने आपके पूछनेपर भगवान्‌की दैनन्दिनी लीलाका वर्णन किया, इसे जो श्रद्धा सहित सुनते हैं, उनका भी कल्याण होता है। यह अति रहस्य मय प्रसंग है। इसे जिस किसीके समीप प्रकट न करना चाहिये। जैसे कुलीन विधवायें अपने गर्भको छिपाकर रखती हैं इसी प्रकार इस प्रसंगको छिपाकर रखना चाहिये। क्योंकि जिनको श्रद्धा नहीं वे तो इससे कुछ लाभ उठा नहीं सकते और जिनका मधुररसमें प्रवेश नहीं वे उस गहन विषयको धारण नहीं कर सकते। उनकी बुद्धिमें यह विषय बैठेगा नहीं; अतः अधिकारी के ही सम्मुख इसे प्रकट करना चाहिए।"

इसपर शौनकजीने कहा—"सूतजी ! हम इसपर अश्रद्धा तो करते नहीं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं, जो चाहें कर सकते हैं। किन्तु हम पूछते यह हैं, कि भगवान्‌ने ऐसी अत्यन्त मधुर रसीली लीलायें की ही क्यों ? आप कहते हैं वे स्वतन्त्र हैं, जो चाहें सो कर सकते हैं, उनके लिये कोई विधि निषेध नहीं, मर्यादा नहीं। न हो मर्यादा, फिर भी हमलोग तो संसारी जीव हैं।

समस्त स्त्रियोंकी समस्त पुरुषोंकी परस्परमें वैसे ही स्वाभाविक रति होती है। पुरुषका स्त्रीमें और स्त्रीका पुरुषमें स्वतःही आकर्षण होता है। मिथुन धर्मसे ही तो संसार चल रहा है। सृष्टिमें से स्त्रीको निकाल दिया जाय, तो सृष्टि चले ही नहीं। प्रत्येक बीजमें, फलमें, फूलमें, पशु पक्षी तथा कीट पतंगोंमें स्त्री पुरुषका भेद भाव होता है। ऐसा कोई विरला ही होगा जो स्त्री रूपी मायाके चक्करमें न फँसा हो, नहीं तो कोई भी क्यों न हो सभीका चित्त चंचल हो जाता है। उसीकी भगवान्‌ने भी पुष्टि की, तब तो हम सदा विषयोंमें ही फँसे रहेंगे, कभी हमारा उद्धार ही न होगा। हम भगवान्‌की इन लीलाओंसे क्या शिक्षा ग्रहण करें ?"

सूतजी बोले—"देखिये महाराज ! भगवानने शिक्षा देनेको तो ये लीलायें की नहीं। वे तो इन लीलाओंको निरन्तर करते ही रहते हैं। बिना किये रह ही नहीं सकते। क्या संसारी लोग जानते नहीं कि ये संसारी सुख क्षणभंगुर हैं, नाशवान हैं, फिर भी इनमें इतनी आसक्ति हो गयी है, कि छोड़ना चाहें तो भी नहीं छोड़ सकते। क्योंकि सभी प्राणी मायामोहित हैं। मोहमयी मदिरा पीकर मदोन्मत्त हो रहे हैं। जैसे यह जगमोहिनी माया है वैसे ही एक मोहनमयी माया है। जो इस जगमोहिनी मायाको छोड़कर मोहनमोहिनी मायाकी शरण लेगा उसे नित्य सुखकी प्राप्ति होगी। संसारी सुख अनित्य है, नाशवान है, परिणाममें दुखद है। मोहनमोहिनी मायाका सुख शाश्वत है, नित्य है, अविनाशी है; अतः इन चरित्रोंसे यही सीखना है कि अनित्यको छोड़ो नित्यको पकड़ो। जगमोहिनी मायासे नाता तोड़ो मोहनमोहिनी मायासे सम्बन्ध जोड़ो। संसारी रासविलास में चित्तको मत फँसाओ। दिव्य रासमें मनको जमाओ। संसार राधामाधवकी क्रीड़ास्थली है। वृन्दावन धाममें आसक्ति हो,

युगल नाममें अनुरक्ति हो। श्यामसुन्दरके मनोहर रूपमें चित्त का खिंचाव हो और उनकी मधुररासकी सरस लीलाओंमें ही सदा मन रमा रहे। यही जीवनका चरम लक्ष्य है, यही परम-साधन है, यही प्राप्य स्थान है, यही पराकाष्ठा है यही परागति है। भगवन्! श्रीकृष्णलीलाका रहस्य समझना अत्यन्त गूढ़ है। मूढ़ लोग तो इसमें व्यभिचार तककी कल्पना करते हैं। वे तो कहते हैं, श्रीकृष्णने यह अधर्म किया। औरोंकी बात तो छोड़ दो, परम भगवद् भक्त राजर्षि परीक्षित्‌को भी ऐसा शङ्का हो गयी? जिसका मेरे गुरुदेवने समाधान किया।"

यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी! परम भागवत महाराज परीक्षित्‌का श्रीकृष्ण की दिव्यलीलाओंमें शङ्का कैसे हुई? वे तो ब्रह्मरात थे परम भागवत और प्रभुकृपाप्राप्त थे।"

सूतजी सरलताके साथ बोले—"अजी, महाराज! उन्हें क्या शङ्का होती थी। उन्होंने तो लोककल्याणके निमित्त शङ्का की थी। जैसे आप सब कुछ जानते हुए भी लोगोंके हितके निमित्त शङ्का किया करते हैं, वैसी ही शङ्का महाराज परीक्षित्‌की भी थी। जिस समय भगवान् शुकदेव उन्हें कथा सुना रहे थे, उस समय ऋषि मुनियोंका बड़ा भारी समाज लगा हुआ था। उसमें ज्ञानी, ध्यानी, कर्मकाण्डी, उपासक, योगी तथा विविध साधन करनेवाले एकत्रित थे। राजाने सोचा—"यदि मैं शङ्का नहीं करता, तो लोग श्रीकृष्ण के इस दिव्य चरित्रमें व्यभिचार-का आरोप करेंगे; अतः अपनी ओरसे तो इसका समाधान करा ही दो। जो व्यभिचारी हैं, वे तो श्रीकृष्ण इस लीलाको न भी करते तो भी न मानते। वे तो अपने पापको सिद्ध करनेको भगवान्‌की आड़ लेते हैं, इसीलिये महाराजका प्रश्न अपना निजी नहीं था, पञ्चायती प्रश्न था।"

इसपर शौनकजीने कहा—"सूतजी ! महाराज परीक्षित्‌जीने रासलीलाके सम्बन्धमें कौन कौन-सी शङ्कायें कीं और श्रीशुकदेवजीने उनका किस प्रकार समाधान किया ? कृपा करके इस प्रसंगको आप हमें अवश्य सुनावें, जिससे हमारी भी शङ्काओंका समाधान हो जाय।"

हँसकर सूतजीने कहा—"अजी, महाराज ! शङ्का हो, तभी तो समाधान होगा। आपको तो शङ्का ही नहीं। आप सब रहस्यको जानते हैं। नारदजीसे आपने इस रसकी विधिवत् दीक्षा प्राप्त की है, फिर भी आपकी आज्ञासे महाराज परीक्षित्‌की शङ्का और श्रीशुकदेवजी द्वारा किया हुआ उसका समाधान मैं आप सबको सुनाता हूँ, आप समाहित चित्तसे श्रवण करनेकी कृपा करें।"

छप्पय

हरि सँग रास विलास कर्‌यो पुनि रससर न्हाये।
तुरत अर्जुनी रूप तज्यो प्रभु ढिँग पुनि आये॥
यों हरि कीन्हीं कृपा पार्थकूँ रास दिखायो।
नारद हू बनि सखी मनोवांछित फल पायो॥
समुझि सकें नहिँ नीच नर, रास-रहस अति गूढ़ है।
हरिलीला प्राकृत कहत, ते नर पापी मूढ़ हैं॥

महाराज परीक्षित्‌की रासस्वम्बन्धी शङ्कायें

(१००१)

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

सुनी रासकी कथा परीक्षित् शंका कीन्हीं ।
गुरुवर ! हरि करि रास नरनि का शिक्षा दीन्हीं ?
परनारी सस्पर्श पाप सब शास्त्र बतावें ।
थापन करिबे धर्म अवनिपै अच्युत आवें ॥
ज्यौं अधर्म कारज करयो, रक्षक ह्वैकें धर्मके ।
परनारिनितें रति करी, साक्षी ह्वैकें कर्मके ॥

भरतजी जब अपने पिताके और्ध्वदैहिक कृत्य करके वनसे श्रीरामचन्द्रजीको लौटाने सेनासहित चित्रकूटकी ओर चले और शृंगवेरपुरके समीप आये, तब निषादोंके राजा गुहको

---

* महाराज परीक्षित् रास लीलापर शका करते हुए श्रीशुकदेवजीसे पूछ रहे हैं—"भगवन् ! यदुपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द तो आप्तकाम हैं, फिर उन्होंने परदाराभिमर्शन रूप निन्दनीय कार्य किया ही क्यों ? इसका अभिप्राय क्या है ? हे सुव्रत ! आप हमारा यह संदेह दूर कीजिये ।"

संदेह हुआ, कि भरत कहीं श्रीरामचन्द्रजीपर चढ़ाई करने तो नहीं जा रहे हैं। भरतजी कभी स्वप्नमें भी श्रीरामचन्द्रजीका अनिष्ठ नहीं सोच सकते, किन्तु प्रभुता पाकर मद हो जाना स्वाभाविक है। पीछे गुहको यथार्थ बात ज्ञात हो गयी, तो उसका संदेह दूर हो गया। गुहका सन्देह तो दूर हो गया, किन्तु सन्देहके लिये स्थान तो बना ही रहा। भाईको मनाने जा रहे हैं, तो इतनी बड़ी सेनाकी क्या आवश्यकता है? सेना लेकर तो किसीपर चढ़ाई की जाती है। राज्यके लोभसे भाई भाईकी हत्या कर ही देते हैं। अपने राज्य सुखमें अपना पिता, भाई, सगा सम्बन्धी जो भी कंटक समझा जाता है, राज्यके लोभी भूपति उसे मार देनेमें आगा पीछा नहीं करते। इसीलिये प्रत्येकको यह सन्देह हो सकता है। गुह तो मल्लाहोंका एक छोटा राजा था उसे सन्देह हुआ दूर हो गया। उससे कुछ विशेष अनिष्टकी भी सम्भावना नहीं थी, किन्तु दूसरे अन्य राजाओंको यह सन्देह हो जाय और वे सब मिलकर भरतजीपर चढ़ाई कर देते, तो बीचमें अनर्थ हो जाता। सन्देहपर ही बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं; अतः इस विषयका सार्वजनिक स्पष्टीकरण आवश्यक था।

शृंगवेरपुरसे पार होकर भरतजी ससैन्य तीर्थराज प्रयागमें भगवान् भरद्वाजजीके आश्रमपर आये। वह आश्रम एककी सम्पत्ति नहीं थी, सार्वजनिक स्थान था। बड़े बड़े राजे महाराजे आकर अपने घरकी भाँति उसमें सुखपूर्वक रहते, दरिद्रसे दरिद्र अकिंचनसे अकिंचन बिना संकोच ऋषिके आतिथ्यको ग्रहण करते। चारों दिशाओंमें घूमनेवाले ऋषियोंके ठहरने का यह केन्द्र था। इतने महान् तीर्थराजमें आकर जो भरद्वाज मुनिके आश्रममें न गया, उसकी यात्रा अधूरी ही समझी जाती थी। प्रयागमें पहुँचकर भरद्वाज मुनिके आश्रममें सबको जाना ही चाहिये। मुनि अपने तप, तेज, सदाचार और समताके कारण

दूसरे ब्रह्माके ही समान थे। शापानुग्रहमें समर्थ थे। सभी उनसे आशीर्वाद लेने आते थे। सर्वप्रथम भरतजी भी नियमानुसार मुनिके दर्शनोंको गये। पहुँचते ही मुनिने कहा—"भरत तुम इतनी भारी सेना लेकर श्रीरामचन्द्रजीके समीप क्यों जा रहे हो? तुम्हारा कुछ दुष्ट विचार तो नहीं है, तुम श्रीरामचन्द्रजीका अनिष्ट करना तो नहीं चाहते?"

सर्वज्ञ मुनिके मुखसे ऐसा प्रश्न सुनकर भरतजी तो सन्न हो गये। उनके नेत्रोंसे झर झर अश्रु प्रवाहित होने लगे। वे रोते रोते बोले—"प्रभो! आप सर्वज्ञ होकर भी मुझसे ऐसा प्रश्न कर रहे हैं? नाथ! मैं कभी स्वप्नमें भी—मनसे भी—श्रीरामचन्द्रजीके अनिष्टकी बात सोच सकता हूँ क्या? कोई मूर्ख अज्ञ ऐसी शङ्का कर, तो उपेक्षणीय कही जा सकती है, किन्तु आप त्रिकालज्ञ हैं, सबकी घटघटकी जाननेवाले हैं। आप शङ्का करते हैं, तो मैं समझता हूँ मैं अवश्य ही पापी हूँ। मेरे मनमें अवश्य ही कोई दूषित भावना होगी।"

यह सुनकर भगवान भरद्वाज हँस पड़े और बोले—"भरत! न तो तुम्हारे मनमें कभी स्वप्नमें भी श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें बुरा हो सकता है और न कभी मुझे ही तुम्हारे विषयमें शङ्का हो सकती है। सूर्य चाहे पश्चिममें उदय होने लगे। चन्द्रमा चाहे विष उगलने लगे किन्तु तुम्हारे मनमें श्रीरामके प्रति कभी अन्यथा भाव उदय नहीं हो सकता। मैं तो योगप्रभावसे सबके मनके भावोंको जान सकता हूँ। यह शङ्का मैंने अपनी ओरसे नहीं की। सर्वसाधारण लोगोंको यह शङ्का हो सकती है! मेरे प्रश्न करनेपर आप वक्तव्य देंगे ही। मेरे आश्रममें वक्तव्य देनेसे यह तुरन्त दशों दिशाओंमें प्रकाशित हो जायगा, सब तुम्हारे स्नेहकी सराहना करेंगे, तुम्हारे प्रति श्रद्धा प्रकट करेंगे, इसी अभिप्रायसे—तुम्हें निर्दोष सिद्ध करनेके निमित्त—मैंने यह

प्रश्न किया था। यह शङ्का मेरी अपनी नहीं थी। जनसाधारण की शङ्का थी, उसका स्पष्टीकरण आवश्यक था, इसीलिये मैंने यह प्रश्न किया।"

इस प्रसंगको कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि बड़े लोग जो शङ्का करते हैं वह जनताका प्रतिनिधित्व करते हुए—सर्व-साधारणके भावोंको व्यक्त करनेके निमित्त—करते हैं। महाराज परीक्षित्को तो रासलीलाके सम्बन्धमें कुछ शङ्का काहेको होनी थी, फिर भी सर्वसाधारण इसे धर्मविरुद्ध न समझें, इसका स्पष्टीकरण हो जाय इसी अभिप्रायसे उन्होंने श्रीशुकदेवजीके सम्मुख अपनी शङ्का प्रकट की।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पूछा था, कि राजर्षि महाराज परीक्षित्ने भगवान्की रासलीलाके सम्बन्ध में कौनसी शङ्का की और उसका श्रीशुकने क्या उत्तर दिया, अब मैं इसी प्रसङ्गको कहता हूँ। जब रासलीला की प्रायः समाप्ति हो गयी तो राजाने श्रीशुकसे कहा—"ब्रह्मन्! मेरे मन में एक शङ्का रह ही गयी, आज्ञा हो तो मैं उसे प्रकट करूँ?"

श्रीशुकदेवजीने बड़े उल्लासके साथ कहा—"हाँ राजन्! आप अवश्य अपनी शङ्काको कहें मैं यथाशक्ति यथासामर्थ्य उसका समाधान करूँगा।"

महाराज परीक्षित् बोले—"भगवन्! शङ्का मेरी यह है, कि भगवान् तो साक्षात् धर्मके स्वरूप हैं। अवनिपर उनका अव-तार धर्मकी संस्थापनाके ही निमित्त होता है। साधुओंके परि-त्राणके निमित्त तथा दुष्कृतियोंके विनाशके निमित्त श्रीभगवान युगयुगमें धर्म संस्थापनार्थ अवतार धारण करते हैं। अर्थात् उन्हें धर्म अत्यन्त प्रिय है। ऐसे धर्मप्राण प्रभुने धर्म विरुद्ध आचरण क्यों किया?

अधर्म भी दो प्रकारका होता है। साधारण अधर्म और

महान् अधर्म। स्मृतिकारों ने बताया है लौकी नहीं खानी चाहिये, करेले नहीं खाने चाहिये, गोभी नहीं खानी चाहिये इस प्रकार प्रायः बहुतसे साग फल खानेको मना किया है। यदि उन्हें खाले तो शास्त्र विरुद्ध आचरण तो हुआ ही, किन्तु यह साधारण अधर्म है। एक होता है महान् अधर्म जैसे चोरी करना, झूठ बोलना तथा परस्त्री गमन करना आदि। इनकी शास्त्रकारों ने बड़ी निन्दा की है। साधारण लोगोंके लिये भी ये कार्य अत्यन्त निन्दनीय हैं। समाजमें भी चोरी, जारी और मिथ्या आदि अधर्म लोग करते हैं, तो छिपकर डरकर करते हैं। जब साधारण लोग इन अधर्म कार्योंको डरते डरते करते हैं, तो जो अपने पूर्ण अंशसे एक साथ रामकृष्ण दो रूपोंसे अवतरित हुए हैं उन धर्मकी मर्यादाके वक्ता, रचयिता तथा रक्षक श्रीहरि ने परस्त्रीगमन जैसा विरुद्ध आचरण क्यों किया? यह कार्य अवतारविरुद्ध लोकविरुद्ध और प्रमेयविरुद्ध तीनों ही प्रकारसे विरुद्ध है।

भगवान्का कथन है—"मेरे लिये तीनों लोकोंमें कोई कर्तव्य कर्म नहीं है। मैं विधिवाक्योंमें बँधा न रहनेपर भी धर्मानुकूल कार्य करता ही रहता हूँ। इसलिये करता रहता हूँ, कि मैं यदि कार्य न करूँगा तो मेरी देखादेखी सभी लोग अकर्मण्य बन जायँ। तब इस संसारकी मर्यादा ही छिन्न भिन्न हो जाय, सब मनमानी करने लगें। इसीलिये मैं समय समयपर अवतार धारण करके अपने आचरणोंसे लोगोंको धर्मकी शिक्षा देता हूँ, और स्वयं आदर्श उपस्थित करता हूँ। रामावतारमें नृसिंहावतारमें परशु-रामावतारमें जो भी कुछ किया धर्मकी रक्षा के लिये, दुष्टों के नाशके निमित्त किया। किन्तु यह कहाँका धर्म है, कि दूसरोंकी स्त्रियोंके साथ रात्रिमें—एकान्त वनमें—विहार करना, रास विलास करना यह तो प्रत्यक्ष धर्मके विरुद्ध आचरण है।

लोकमें भी जो पुरुष परस्त्रीगामी होते हैं, उनकी सर्वत्र निन्दा होती है इससे उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये यह कार्य लोकके भी विरुद्ध है।

फिर तर्कसे भी तो सोचिये, किसीकी बहिन बेटी या स्त्री की ओर कोई कुदृष्टिसे देखता है, तो उसे कितना क्रोध आता है। जब तुम दूसरोंकी बहिन बेटी तथा पत्नीको कुदृष्टिसे देखोगे, तो उसे क्रोध नहीं आवेगा? धर्मका सार शास्त्रकारों ने यही बताया है कि दूसरों के साथ आत्मप्रतिकूल आचरण न करें। जो बात तुम्हें बुरी लगती हो, उसका आचरण तुम दूसरों के साथ भी मत करो। इस प्रकार परनारी सेवन सर्वथा निन्दनीय है गर्ह्य है, धर्म विरुद्ध है।

अच्छा, यह कहो कि जब कामका वेग होता है तो प्राणी अंधा हो जाता है, उसे कर्तव्याकर्तव्यका विवेक रह नहीं जाता वह विवश हो जाता है और एकान्तमें दोनोंके मनमें कामभाव की प्रबलवासना उठ गयी हो, तो उस समय तो अपने आपको रोकना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस न्यायसे रात्रिमें एकान्त पाकर काम संतप्ता गोपियोंको देखकर भगवान् कामके वशीभूत हो गये हों, सो भी बात नहीं मानी जा सकती। क्योंकि भगवान् तो आप्तकाम हैं। पूर्णकाम होनेसे उन्हें कोई स्पृहा ही नहीं वे कभी कामके अधीन हो ही नहीं सकते। फिर ऐसा निन्दनीय कार्य उन्होंने क्यों किया? आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। आपका ब्रह्मचर्य व्रत भली-भाँति चल रहा है, आप जितेन्द्रिय हैं यदि भगवान्ने अधर्म किया होता, तो आप जैसे सदाचारी इतने अनुरागसे उनकी रासलीलाका वर्णन कभी नहीं करते। इससे प्रतीत होता है कि भगवान्ने अधर्म तो किया न होगा। फिर भी हमें जो सन्देह हुआ है उसका समाधान तो होना ही चाहिये। हमारी शङ्कायें ये हैं।

१—ईश्वर होकर भगवान्ने अधर्म क्यों किया ?

२—अधर्म भी मनसे नहीं वचनसे नहीं प्रत्यक्ष शरीरसे किया और परस्त्रीगमन जैसा निन्दनीय पाप किया ?

३—भगवान्के ऐसे धर्मविरुद्ध आचरणसे हमलोग क्या शिक्षा लें ?

४—कर्मका सिद्धान्त है, जो जैसा आचरण करेगा उसे वैसा फल मिलेगा, फिर इस निंदित कर्मसे भगवान्को दोष क्यों नहीं लगा, उन्हें इसका फल क्यों नहीं भोगना पड़ा ?

५—उन्हें लीला ही करनी थी तो और लीला करते, यह धर्म विरुद्ध लीला किस अभिप्राय से की ?

६—रात्रिमें अपनी स्त्रियोंको घरमें न देखकर गोप उन्हें ढूँढ़ने वनमें क्यों नहीं गये ? पाप तो कितना भी गुप्त स्थानमें किया जाय। छिपता नहीं है, फिर वे गोप ऐसे अन्याय करनेवाले श्रीकृष्णके विरुद्ध क्यों नहीं हो गये ? उनका जाति बहिष्कार क्यों नहीं कर दिया ?

हमारी इन छै शंकाओंका आप उत्तर दें ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! राजापरीक्षित्के इन प्रश्नोंको सुनकर भगवान् शुकदेव हँस पड़े और फिर मंद मंद मुसकराते हुए राजाके प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर देनेको प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

हँसि बोले शुकदेव—कृष्णकूँ पाप न परसे।
रवि रस उचतैं लेइ शुद्ध करि सब थल बरसे॥
नालो गंगा मिलत नाम गुन अपनो खोवै।
चाहें जो कछु परे अग्निमहँ स्वाहा होवै॥
सब कछु समरथ करि सकें, विधि निषेध तिनिकूँ नहीं।
अनल अशुचि नितप्रति भखत, खाइ मलिन होवै कहीं॥

भगवान्‌को धर्माधर्म स्पर्श नहीं करते

(१००२)

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

समरथको प्रतिकूल आचरण करिहैं प्रानी ।
पावैं दुख इहलोक होहि परलोकहु हानी ॥
कियो शम्भु विषपान हलाहल हमहूँ करिहैं ।
सोचि करैं अनुकरन मौतिके बिनु ते मरिहैं ॥
वेद शास्त्र गुरुवाक्यकूँ, धर्म समुझिकैं जे करहिं ।
सुखी होहिं, विपरीत करि, दुख पावैं नरकनि परहिं ॥

जन्मका कारण है पाप और पुण्य। पाप पुण्य न हों तो शरीर धारण ही न करना पड़े। जिन पदार्थोंको संसारमें हम अपने अपने कहकर एकत्रित करते हैं, उनकी प्राप्तिके लिये लड़ाई झगड़ा करते हैं, झूठ सच बोलते हैं। वे सबके सब यहाँ के यहाँ रह जाते हैं। केवल उनके संस्कार साथ जाते हैं। वे

*श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से कह रहे हैं—"राजन्! समर्थपुरुषों द्वारा धर्मका व्यतिक्रम तथा साहसपूर्ण कार्य देखे गये हैं, किन्तु समर्थ तेजस्वियोंके लिये वे दोष नहीं होते। जैसे सबको स्वाहा करनेवाली अग्नि अच्छे बुरे सभीको जलाकर भस्म कर देती है।"

संस्कार ही संचित होकर प्रारब्ध कर्मोंको बनाते हैं और प्रारब्ध कर्मोंसे ही शरीर प्राप्त होता है। शरीर प्राप्त होने पर भोग्य वस्तुएँ प्रारब्धानुसार ही मिलती हैं, किन्तु उनके उपभोग के समय जो मनमें आसक्ति अनासक्ति हो जाती है वही विशेष है, उसीका नाम क्रियमाण कर्म है, वह संचित कर्मोंकी वृद्धि करता है और उसीसे संसारचक्र सुदृढ़ होता जाता है।

नाना प्रकारके जप, तप, अनुष्ठान सत्कर्म करना वापी, कूप, तड़ाग, खुदवाना धर्मशाला, पाठशाला, गौशाला, औषधालय आदि बनवाना तथा अन्य भी जनोपयोगी कार्योंको करना यह पुण्यके कार्य हैं। हमने जो कुँआ तालाब बनवाया उसके लिये मिट्टी किसी दूसरे लोकसे नहीं लाये, यहींसे ली बनानेवाले किसी अन्य लोकसे आये हों सो बात नहीं, यहींके लोगोंने उन्हें बनाया। द्रव्य भी यहींका लगा। केवल उसमें हमारा संस्कार जम गया, कि यह धर्म कार्य हमारे द्वारा हुआ। मरनेपर कुँआ तालाब साथ नहीं जायगा, यहीं रह जायगा केवल उसका शुभ संस्कार साथ जायगा और उन संस्कारोंके फलस्वरूप स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होगी।

कोई परस्त्री है उसे देखकर किसीका चित्त चंचल हुआ मन में यह समझते हुए भी कि यह पाप है, वासनाके वशीभूत होकर विपरीत कर्म कर डाला। तो वह कर्म तो यहाँ कुछ क्षणोंमें ही हो गया, किन्तु उसकी वासना बनी रही। उसका फल नरकोंमें जाकर करोड़ों वर्षों तक भोगना पड़ेगा। जिस शरीरसे पाप किया था, स्त्री तथा पुरुषोंके दोनों शरीर तो यहीं रह जाते हैं, केवल संस्कार साथ जाते हैं और परलोकमें वैसा ही एक 'यातना शरीर' प्राप्त होता है, उसीसे पाप पुण्य भोगने पड़ते हैं, क्योंकि मनमें संस्कार तो शेष रह ही जाते हैं, अतः संसारचक्रको चलानेका काम पाप, पुण्य, धर्म, अधर्मका है। बड़ेसे बड़ा

पुण्य करो, बड़ेसे बड़ा लोक प्राप्त होगा, बड़ेसे बड़ा पाप करो घोरसे घोर नरक प्राप्त होगा। धर्म क्या है अधर्म क्या है यह किसी वस्तु पर लिखा नहीं रहता। जो काम एकके लिये धर्म है वही दूसरेके लिये अधर्म है। अतः धर्माधर्म निर्णयमें शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण है। शास्त्र जिसे धर्म कहे वह धर्म है, जिसे अधर्म कहे वह अधर्म है। भगवान् धर्म अधर्म दोनोंसे परे हैं; अतः वे धर्माधर्मके बन्धनमें नहीं हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज परीक्षितने ये शंकायें मेरे गुरुदेवसे कीं, तो वे उनका क्रमशः उत्तर देने लगे। राजाने प्रथम शङ्का यह की थी, कि भगवान्ने धर्म विरुद्ध आचरण क्यों किया ?" इसीका उत्तर सर्वप्रथम भगवान् शुकदेवने दिया।"

श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् ! भगवान्की बात तो तुम अभी छोड़ दो। पहिले भगवान्की बनायी सृष्टिके ही सम्बन्ध में विचार करो। शरीरको स्वस्थ बनाये रखनेके लिये किन नियमोंका पालन करना चाहिए इसके लिए आयुर्वेदकी रचना हुई। आयुर्वेद शास्त्रमें पथ्यापथ्यका विवेचन है। यह वस्तु स्वास्थके लिए हितकर है या अहितकर इसका विस्तार के साथ विचार किया गया है, जैसे शरीर वात, पित्त और कफ के आधार पर स्थित है, वैसे ही यह संसार सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके आधारपर अवस्थित है। आयुर्वेदमें सबके लिये एक-सी वस्तु हितकर नहीं है। सामान्यतया भोजनका नियम है कि हलका, पौष्टिक, हृदयको प्रिय लगनेवाला सात्विक भोजन सबको हितकर होता है। उदर में रहनेवाली अग्नि चार प्रकारकी बतायी है मंदाग्नि, समाग्नि, तीव्राग्नि और वडवाग्नि। जिनकी अग्नि मन्द है उन्हें बड़े यत्नसे भोजन करना चाहिए। तनिक भी इधर उधरकी गरिष्ठ वस्तु खा ली तो उनका स्वास्थ बिगड़ जायगा, उन्हें क्लेश होगा; अतः उन्हें

अत्यन्त संयमसे पथ्य भोजन करना चाहिए। जो दिन भर परिश्रम करते हैं ऐसे कृषक आदिकी अग्नि तीव्र होती है। वे कुछ इधर उधर का अपथ्य कर भी लें। भोजन करनेके अनंतर भी पेट भर के फिर भोजन कर लें, तो उन्हें कोई विशेष हानि नहीं होती संयमसे रहना तो उनके लिए भी हितकर ही है, किन्तु उनका संयम मंदाग्निवालेके संयमसे पृथक् है। उनकी पाचनशक्ति तीव्र है। इसलिए उन्हें गरिष्ठ भोजन करना चाहिए। उसकी देखा-देखी मंदाग्नि वाला भी उसी भोजनको करे, तो वह एक दिनमें ही अस्वस्थ हो जायगा। एक रोग होता है, उसमें चाहे जितना खा लो सब भस्म हो जाता है। उसकी चिकित्सा वैद्य लोग खीर हलुआ भैंसका दूध दही आदि गरिष्ठ और बहुत कालमें पचने वाले पदार्थोंसे करते हैं। उसे दिनभर खिलाते ही रहते हैं। खाकर तुरन्त सोना निषेध है, किन्तु वैद्य उसे खिलाकर तुरन्त सुलाते हैं। क्योंकि उसकी अग्निमें पचानेकी सामर्थ्य है।

इसी प्रकार संसारमें भी धर्म अधर्मकी व्याख्या है। एक आश्रमवालोंके लिये जो धर्म है, वही दूसरे आश्रमवालोंके लिये अधर्म है। एक देशमें जो धर्म है दूसरे देशमें वह अधर्म है।

सामान्य नियम यह है, कि अच्छे स्थानका जल पीना चाहिए। यदि गंगाजल भी दे और वह गंगाजीकी धारासे पृथक् हो गया है और फिर गंगाजीमें मिला भी नहीं है, तो ऐसे जलको पीना भी अधर्म है। सुराके पात्रमें गंगाजल भी है तो वह भी अपेय है। इस प्रकार जलके पीनेकी भी मर्यादा है। किन्तु सूर्यनारायण समुद्रमेंसे, नदियोंमेंसे, कूप तालाबोंमेंसे सब प्राणियोंके रक्त मांस आदि शरीरकी धातुओंसे, विष्ठा तथा मूत्र आदि सभी स्थानोंसे जलको अपनी किरणों द्वारा पीते हैं; विष्ठा मूत्रमें से जल खींचनेके कारण उन्हें कोई दोषी नहीं ठहराता। उसी जलको वे बरसाते हैं, उस वर्षाके जलको सभी बड़े प्रेमसे पीते हैं।

अब आप कहें, कि सूर्य नारायण अशुद्ध स्थानोंसे जल पीकर उस अशुद्ध जलको हमें दे रहे हैं, अतः यह जल नहीं पीना चाहिए। अथवा जब तीनों लोकोंके सर्वश्रेष्ठदेव सूर्यनारायण मूत्रके जलको पीते हैं, तो हम भी पीवें, ये दोनों बातें उचित नहीं। सूर्य देव सामर्थ्यवान् हैं वे अशुचिको भी अपनी सामर्थ्यसे शुचि बना सकते हैं। न तो उनके इस आचरणका अनुकरण करो और न उनके इस सब स्थानोंसे जल पीनेकी निन्दा ही करो। बड़ोंकी पवित्र करनेकी शक्ति भी बड़ी होती है।

इसी प्रकार भोजन का भी नियम हैं, अमुक वस्तुको खाना चाहिए अमुक वस्तुको न खाना चाहिए। जो अखाद्य वस्तुको खाते हैं, वे धर्म भ्रष्ट हो जाते हैं। किन्तु देवताओंके मुख रूप अग्निमें जो भी डाल दो उसे ही वे खा जाते हैं वेद मंत्रोंसे पवित्र हविष्यान्नकी आहुति दो; तो उसे भी खा जाते हैं और विष्ठा डाल दो, तो उसे भी स्वाहा कर जाते हैं। सर्वभक्षी होनेपर भी अग्नि पवित्रके पवित्र ही बने रहते हैं।

यदि साधारण पुरुष अपनेमें किसी अन्य जातिके पुरुष को स्वार्थवश मिलाता है, तो सब उसका तिरस्कार करते हैं। बड़े लोग—आचार्य समर्थ पुरुष—शिक्षा दीक्षा देकर किसीको अपने समान बना लेते हैं, तो वह जगत्पूज्य बन जाता है। सभी उसका आदर करते हैं। जैसे जब तक गंदे नालेमें जल रहता है, तब तक उसे कोई छूता भी नहीं जब वह गंगाजीमें मिल जाता है, तो उसका नाम बदल जाता है, सभी उसे श्रद्धासहित मस्तकपर चढ़ाते हैं, नहाते हैं, आचमन करते हैं।

इन सिद्धान्तोंसे यही सिद्ध हुआ कि सामर्थ्यवान् बड़े लोगों के कोई आचरण धर्मविरुद्ध भी दिखायी दें, तो उनकी निन्दा न करनी चाहिए, उनके तेजके प्रभावसे—उनके संसर्गसे बुरा भी अच्छा हो जाता है।"

इस पर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! देखिये, बड़े लोग जो जो कार्य करते हैं, दूसरे लोग इन्हीं कामोंका अनुकरण करते हैं। यह प्राणी अनुकरणप्रिय है। बालक माता पिताका जो करते देखते हैं, वही खेलमें करने लगते हैं। फिर जिन कामोंमें लोगोंकी स्वाभाविक रुचि है, उन्हें ही बड़ोंका करते देखें, तो उन्हें प्रमाण मिल जाता है और उनकी देखा देखी वे भी उन्हें कर्तव्य समझकर करने लगते हैं।"

सूतजीने कहा—"महाराज! यह भूल है। ऐसा नहीं करना चाहिए। ऋषियोंने तो स्पष्ट कर दिया है—जो हमारे सुचरित हों; उन्हींका तुम अनुकरण करो। जो धर्मके विपरीत से कर्म दिखाई दें; उनका कभी अनुकरण न करो।" समर्थ पुरुषोंके विधि वाक्य ही मानने योग्य हैं। जिन बातोंका करनेकी वे आज्ञा दें, उन्हें तो करना ही चाहिए और जो धर्मानुकूल आचरण करें उनका अनुकरण भी करना चाहिए, किन्तु उनका कोई कार्य धर्म-विरुद्ध-सा दिखाई दे और उसे करनेकी वे आज्ञा न दें, तो उसे कभी न करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करते वे धर्मभ्रष्ट हो जाते हैं। जो सामर्थ्यवान् तो हैं नहीं और सामर्थ्यवान् पुरुषोंका सा आचरण करते हैं, उनका परलोक नष्ट हो जाता है और इस लोकमें भी वे अपयशके भागी बनते हैं। इस विषयका मैं कई दृष्टान्त देकर समझाता हूँ।

एक ढोंगी साधु था। उसने देखा एक परमहंस नंगे रहते हैं, सबका दिया हुआ सब कुछ खा लेते हैं। चाहे जहाँ मलमूत्र त्याग देते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् पंडित उनका आदर करते हैं। यह देखकर मान प्रतिष्ठा पानेके लिये वह भी तितिक्षा करने लगा। नङ्गा हो गया। तितिक्षामें आकर्षण होता ही है। नरनारी उसकी तितिक्षाको देखकर उसकी ओर आकर्षित हुए। बहुत-से लोग उसके दर्शनोंको आते, भाँति-भाँतिके पदार्थ खिलाते। वह अपने हाथों-

से खाता भी नहीं था, दूसरे उसे खिलाते थे, वह सब यह कार्य मानप्रतिष्ठाके लिये करता था, उसे परमहंसोंकी स्थिति प्राप्त नहीं हुई थी। सर्वत्र उसके त्याग और तितिक्षाकी प्रसिद्धि हो गयी। एक बुद्धिमती रानी उसकी प्रशंसा सुनकर आयीं। वह देखते ही समझ गया यह रानी है; अतः आकर रानीकी गोदीमें लेट गया। रानीने कुछ नहीं कहा। वह साथमें पेड़ा लायी थीं. उसे खिलाने लगीं। वह खाता रहा। खाते-खाते उसने रानीकी गोदीमें पड़े ही पड़े मलत्याग कर दिया। रानीके सब वस्त्र अपवित्र हो गये। फिर भी उसने कुछ कहा नहीं। उसे पेड़ा खिलाती रहीं। एक पेड़ाको उसने विष्ठामें मिलाकर उस ढोंगी साधुके मुखमें ज्यों ही देना चाहा, त्यों ही उसकी दुर्गंधसे उसने मुख फेर लिया तब तो रानीने उसे अपनी गोदसे हटाते हुए कहा—"चल हट ढोंगी कहींका ? तुझे इतना ज्ञान तो है नहीं कि यह रानीकी गोदी है. खाते समय मलत्याग न करना चाहिए, किन्तु इतना ज्ञान है कि यह पेडा है यह विष्ठा है। तेरा ज्ञान परिपक्व नहीं है, तू किसी ज्ञानीके आचरणका मूर्खतावश अनुकरण कर रहा है।" रानीकी यह बात सुनकर उसे अपनी भूल मालूम हुई और उसने उस ढोंगको छोड़ दिया।

(२)

ऐसी ही एक खानेके सम्बन्धकी और कथा है। कोई मन अपने १०।५ शिष्यों सहित पूर्वके देशोंमें विचरण कर रहे थे सबको भूख लग रही थी, गुरुजी आगे थे, शिष्य पीछे थे नदी किनारे कुछ मल्लाह मछली बना रहे थे। गुरुजीने उनसे भिक्षा माँगी। उन्होंने कहा—"महाराज! मछली है।" गुरु बोले—"मछली ही दे दो।" मल्लाहोंने दे दी। गुरु उन्हें खाकर जल पीकर चल दिये।

पीछेसे शिष्य आये। वे भी भूखे थे। पहिले वे मछली खाते

थे जब वे दीक्षित हुए तो गुरुजीने प्रतिज्ञा करा ली थी, कि कभी मछली मत खाना। आज भूखमें मसालेदार मछलियोंको बनते देखकर उनके मुखमें पानी भर आया। मल्लाहोंसे पूछा—"हमारे गुरुजी इधरसे गये हैं।"

मल्लाहोंने कहा—"हाँ, महाराज! अभी गये हैं हमसे मछली लेकर खा गये हैं।"

यह सुनकर उनके हर्षका ठिकाना नहीं रहा वे बोले—"भाई! हमें भी बड़ी भूख लग रही है, हमें भी मछली दो।"

उनमेंसे एकने कहा—"गुरुजीकी तो आज्ञा है, कभी मछली न खाना।"

तब वे क्रुद्ध होकर बोले—"अरे, भाई! आज्ञासे क्या होता है। जब उन्होंने स्वयं खा ली तो हमें भी खानी चाहिए। जो गुरु करें वही चेलेको करना चाहिए।" यह कहकर उन्होंने भी मछलियाँ भर पेट स्वादपूर्वक खायीं।

आगे गुरुजी मिले। उन्होंने पूछा—"तुम लोगोंने कुछ खाया या नहीं?"

शिष्योंने कहा—"महाराज! हमने उन्हीं मल्लाहोंसे माँगकर मछली खायी हैं जिनसे आपने खायीं थीं।"

गुरुजीने कहा—"हमने तो मछली खानेको मना किया था?"

शिष्योंने कहा—"महाराज! मना करनेसे क्या होता है, जिस कामको आप करेंगे उसे हमें करना ही चाहिए।"

गुरुने कहा—"अच्छी बात है यही सही।" यह कहकर उन्होंने वमन की। वमनमें जीवित मछलियाँ निकलीं उनपर हरी तुलसी थी। मछलियाँ भगकर जलमें चली गयीं। गुरु बोले—"तुम सब भी निकालो इसी तरह।"

तब तो वे चक्करमें पड़े और गुरुके पैरों पड़ गये। तब गुरु

बोले—"गुरु जो कहे उसे करना चाहिए। उसके धर्म संगत कार्योंका अनुसरण भी करे, किन्तु जिसके लिये उसने मना किया है और जो धर्मविरुद्ध आचरण हैं, उसे गुरु करता भी हो, तो भी उसे न करना चाहिए।"

(३)

ऐसी ही एक पीनेके सम्बन्धकी कथा है। एक आचार्य अपने कुछ शिष्योंके साथ जा रहे थे। मार्गमें उन्हें एक मद्यकी भट्टी मिली। आचार्यने मद्य माँगी। लोगोंने श्रद्धासहित उनके कमंडलुमें मद्य दे दी। आचार्य उसे पी गये। उनके पीछे शिष्य थे, उन्होंने भी गुरुकी देखादेखी मद्य माँगकर पी ली। आगे बढ़कर एक काँचकी भट्टी मिली। उसमें काँच गल रहा था। आचार्य ने गला हुआ काँच माँगा। लोगोंने दे दिया, उसे भी वे पी गये। फिर उन्होंने शिष्योंसे कहा—"तुम भी पीओ।" उन्होंने कहा—"महाराज! इसे पचानेकी हममें सामर्थ्य नहीं।" तब गुरुने कहा—"तुमने हमारे धर्मविरुद्ध आचरणका अनुकरण क्यों किया? तुम्हें तो हमारी आज्ञा माननी चाहिए। हमारे धर्म के विरुद्ध आचरणोंका अनुकरण न करना चाहिए।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पृथिवी फूलको मलको सबको अपने में मिला लेती है, गंगाजी सब जलको अपनेमें मिलाकर—गंगाजल बना लेती हैं। सूर्यनारायण सब स्थानोंके जल को खींचकर शुद्ध कर लेते हैं, अग्नि सबको जलाकर भस्म कर देती है। यद्यपि वे सब भी किसी नियममें बँधे हैं इनका भी कोई नियामक है, फिर भी सामर्थ्यवान् होनेसे ये गुण दोषोंमें लिप्त नहीं होते, सदा निर्मल ही बने रहते हैं। जब इनमें इतनी सामर्थ्य हैं, तो जो प्रभु सम्पूर्ण जगत्के नियामक हैं, जो अनंत कोटि ब्रह्माण्डोंके एक मात्र अधीश्वर हैं। उन्हें अधर्म कैसे स्पर्श कर सकता है। वे तो धर्म अधर्म दोनोंसे परे हैं।

यह कार्य देखनेमें अधर्म भी प्रतीत हो, तो भगवान्‌को इससे क्या हानि लाभ हो सकता है। जब मेरे गुरुदेवने यह बात कही तब महाराज परीक्षित्‌जीने उनसे फिर पूछा।"

राजा बोले—"ब्रह्मन ! भगवान् चाहे धर्म अधर्म सबसे परे भले ही हों फिर भी लोकमें पाप तो पाप ही है। जब उन्होंने मनुष्य रूप धारण किया, तो उन्हे मनुष्योंकी मर्यादाका पालन करना ही चाहिये। कुछ पाप तो ऐसे होते हैं, जो अपने मनमें ही आते हैं दूसरे लोग उसे प्रायः नहीं समझ सकते। दूसरे युगोंमें मानसिक पापोंका भी फल भोगना पड़ता है किन्तु कलियुगमें उन्हे इन्द्रियों द्वारा व्यक्त न किया जाय, मनके मनमें ही उठकर शांत हो जायँ, तो उनका फल प्रायः नहीं होता। कुछ पाप वचनसे होते हैं उनका फल भोगना ही पड़ता है किन्तु मन, वचन और शरीर तीनोंसे किया पाप तो घोर पाप है। ऐसे पापको भगवान् ने किया ही क्यों ?"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी इसका भी उत्तर देनेको प्रस्तुत हुए।

छप्पय

है सब दुखको मूल अहंता ममता जगमहँ।
मैं मेरीमहँ फँस्यो जीव भटके भवमगमहँ॥
बुद्धि न होवे लिप्त अहंता जाकूँ नाहीं।
चाहे सो यह करै बधे नहिं बन्धन माहीं॥
अर्थ अनर्थ न विचकूँ, करे अशुभ वा शुभ करम।
अहंकारतें होत है, यह अधर्म यह है धरम॥

भगवान्‌का कोई पर नहीं

[१००३]

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥❀
(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

करिके शुभ अरु अशुभ कर्मफल भोगहिं मानी ।
अनल गग रवि सरिस रहैं निरमल नित ज्ञानी ॥
ज्ञानीहू जग रहैं कमलदल जलमहँ जैसे ।
तब हरि सर्वसमर्थ बँधे बन्धनमहँ कैसे ॥
सबके साक्षी सर्वगत, अखिल जगतपति अज अमल ।
तिनकूँ पर अरु अपर का, घट घटवासी विभु विमल ॥

संसारमें अपना क्या, पराया क्या ? मन जिसे अपना मानले वह अपना, मन जिसे पराया मानले वह पराया । यह मेरा है, यह मेरा नहीं है । यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ । यह द्वैत बुद्धि अहङ्कारसे होती है । सभी शरीर पञ्चभूतोंसे निर्मित हैं जिन भूतोंके

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो भगवान् गोपियोंके, उन गोपियोंके पतियोंके तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें व्याप्त हैं, उन्हीं सर्वसाक्षी सर्वेश्वरने लीलासे ही इस लोकमें शरीर धारण किया था ।"

संमिश्रणसे पशुपक्षी कीट पतङ्गोंका शरीर बना है, उन्हींसे मनुष्यों और देवताओं का बना है। सूक्ष्म और स्थूलका भेद भले ही हो, किन्तु वस्तु एक ही है। यह सम्पूर्ण जगत् पञ्चभूतों से निर्मित है। स्त्री हो, पुरुष हो, नपुन्सक हो, अंडज, स्वेदज उद्भिज अथवा जरायुज कोई शरीर क्यों न हो, सबकी रचना पञ्चभूतोंसे है, अतः शरीर सबके समान हैं, उनमें कोई भेद नहीं। अब रही आत्माकी बात। सभी जानते हैं एक ही परमात्मा सब प्राणियोंके हृदयमें वास करके चैतन्यता प्रदान करते हैं। यह जो जीवोंको चेतना मिल रही है यह एकमात्र आत्माके द्वारा ही अतः आत्मबुद्धिसे भी कोई भेदभाववाली बात नहीं। जिस समय जब ज्ञानी सबको अपनी आत्मामें ही देखता है और अपनी आत्माको ही सबमें व्याप्त अनुभव करता है, तो फिर वह किसीकी निन्दा नहीं करता। निन्दा तो द्वैतमें होती है। जहाँ प्रगाढ़ आत्मीयता है वहाँ निंदाका क्या काम ? प्रेममें-एकत्वमें तो दोष रहते ही नहीं गुण ही गुण दिखायी देते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि स्वपराभिनिवेश अज्ञानकृत है और अज्ञान होता है मिथ्याभिमानसे। जो अहङ्कारसे शून्य है उसके लिये कोई शुभ नहीं कोई अशुभ नहीं। कोई अपना नहीं कोई पराया नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! जब महाराज परीक्षित्ने पर-नारी निसेवन पापके सम्बन्धमें प्रश्न किया, तब श्रीशुकदेव राजाको उत्तर देने लगे।"

श्रीशुकदेवजीने कहा—"राजन्! मैं पहिले ही बता चुका हूँ। कि कर्म बन्धन अहंकरसे होता है। मनुष्य जब शरीरको ही आत्मा मान लेता है तब उसे शरीरमें मिथ्याभिमान हो जाता है। मैं राजा हूँ, मैं पंडित हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, दूसरे मुझसे निकृष्ट हैं। यह मेरा घर है, यह मेरी भूमि है। दूसरा इसपर अधिकार करेगा तो वह मेरा शत्रु है। अहंता ममताके कारण जब ऐसी

बुद्धि हो जाती है और स्वार्थके वशीभूत होकर शुभ या अशुभ कर्म करता है, तो उनका अच्छा या बुरा फल भोगना ही पड़ेगा। स्वर्गकी इच्छासे यज्ञयागादि करेगा, तो उसे स्वर्गादि लोकोंमें सुख मिलेंगे, यदि संसारी स्वार्थोंके वशीभूत होकर ब्रह्महत्या सुरापान आदि अशुभ कर्म करेगा, तो उसे नरकादि लोकोंमें जाकर दुःख उठाना पड़ेगा। सुख दुख ये सब अहंकारके ही कारण होते हैं। जिसे अहंभाव नहीं है, जिसकी बुद्धि शुभ अशुभ कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह चाहे असंख्यों राजसूय अश्वमेधादि यज्ञ करे तो उनका फल भोगने स्वर्ग नहीं जाना पड़ता और यदि शस्त्र लेकर सम्पूर्ण संसारका संहार करदे तो उसे उनका फल भोगने नरक नहीं जाना पड़ता। क्योंकि अहंकारहीन समर्थ पुरुषोंका शुभकर्म करने में अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं इसी प्रकार अशुभ कर्म करनेसे उनका कोई अनर्थ नहीं।

अब आप सोचें जब जिन ज्ञानियोंकी जीवसंज्ञा है, वे जीव भी जब शुभ और अशुभ कर्मोंमें लिप्त नहीं होते तो अखिल कोटि ब्रह्माण्डनायक ईश्वर श्रीकृष्णचन्द्रको शुभअशुभ कर्म कैसे व्याप्त हो सकते हैं? भगवान् तो पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देवता, मनुष्य तथा यावत् प्राणी हैं सभीके एक मात्र शासक हैं। सबके स्वामी हैं, प्रभु हैं, शासक हैं, नियामक हैं तथा संचालक हैं, उन्हें पाप पुण्य कैसे स्पर्श कर सकता है? उनकी बात तो पृथक् रही। जिन्होंने भक्ति आदि साधनों द्वारा उनकी कृपाको प्राप्त कर लिया है। जो श्रीहरिकी चरणधूलिके सेवनसे सन्तुष्ट हो चुके हैं ऐसे नित्यतृप्त भक्तजन तथा योग साधनके प्रभावसे समस्त कर्म बन्धनोंसे विमुक्त योगिजन भी समस्त विधिनिषेध रूप बन्धनोंसे विमुक्त होकर स्वच्छन्द विहार करते हैं तो जो स्वभावसे ही स्वच्छन्द हैं, जिन्हें साधनोंद्वारा सिद्धि लाभ नहीं करनी पड़ती जो स्वतःसिद्ध हैं उन सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर श्रीहरिका पाप

पुरुषोंके साथ किस प्रकार संसर्ग हो सकता है। वे किस प्रकार दोषके भागी हो सकते हैं ?

महाराज परीक्षित्‌ने कहा—"अच्छा, हम मानते हैं, भगवान्‌को दोष नहीं लगा। भगवान् निर्दोष हैं। उन्हें पुण्य करनेसे स्वर्गादिलोकोंकी इच्छा नहीं पाप करने से नरकादिका भय नहीं। फिर उन्होंने रूप तो मनुष्यों जैसा ही धारण किया था न ? मनुष्य रूप धारण करके मनुष्योंके अनुरूप ही चेष्टायें करनी चाहिये। यदि उन्हें ऐसी ही गोलमाल करनी थी, तो पशुपक्षीका रूप रख लेते। पशु पक्षियोंमें तो यह विवेक रहता नहीं कि यह मेरी स्त्री न, यह दूसरे की स्त्री है, यह माता है या बहिन है। यह विवेक तो मनुष्यको ही होता है। मनुष्योंमें भी धर्मात्मा वर्णाश्रमी पुरुष इस बातका बड़ा विचार करते हैं, कि यह स्त्री गम्या है यह अगम्या है। विवाह भी बहुत देख भालकर अपना गोत्र मातृगोत्र बचाकर विवाह करते हैं। परस्त्री गमन तो अत्यन्त निषेध समझा जाता है। मनुष्योंमें रहकर मनुष्य शरीर धारण करके मनुष्योंकी मर्यादाको पालन करना ही चाहिये। परस्त्रीका एकान्तमें काम भावसे स्पर्श सर्वथा पाप है।"

श्रीशुकदेवजी यह सुनकर गम्भीर हो गये और बोले—"राजन् ! भगवान्‌ने रासलीला की, यह बात आपको कैसे मालूम हुई, अपने तो अपनी आँखोंसे लीला देखी नहीं ?"

राजाने कहा—"महाराज ! सब बात देखने ही से थोड़े ही प्रमाण मानी जाती है। हमारे जन्मके पूर्व ही हमारे पिताजी मर गये, उन्हें हमने देखा नहीं। तो इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि हमारे पिता हैं ही नहीं। गर्भाधानके समय हमने अपने पिता को तो देखा नहीं। फिर हम कैसे मान लेते हैं कि ये ही हमारे पिता हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण कोई प्रमाण थोड़े ही है। आकाशमें हम प्रत्यक्ष इन्द्र धनुषको देखते हैं, किन्तु वास्तवमें इन्द्रधनुष कोई

वस्तु नहीं। आकाशको नीला कहते हैं, किन्तु आकाश नीला नहीं है दूरसे प्रत्यक्ष यमुनाजी का जल नीला दिखाई देता है, किन्तु वह नीला थोड़े ही है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही प्रमाण थोड़े हैं। मुख्य प्रमाण तो शब्दप्रमाण है। ज्ञानी लोग ऋषिगण जिसे कह गये हैं वही मुख्य प्रमाण है। कार्य और अकार्यकी व्यवस्थिति में शास्त्र ही प्रमाण है। आप ऋषि हैं सर्वज्ञ हैं आप कह रहे हैं, कि भगवान्‌ने रासलीला की, यही हमारे लिये सबसे बड़ा प्रमाण है। पुराणोंमें सर्वत्र भगवान्‌की रासलीलाका वर्णन है।

प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्रीशुकने कहा—"हाँ, राजन्! यही बात तो मैं आपके मुखसे कहलाना चाहता था, कि रास होने में शास्त्र ही प्रमाण है। जो शास्त्र रासका वर्णन करता है वही यह भी कहता है, कि सर्वसाक्षी सर्वगत सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीहरिने ही मानवस्वरूप लीलासे धारण कर लिया था। अच्छा तो जो सर्वगत हैं सबमें समान रूपसे व्याप्त हैं, उनके लिये अपनी नारी और परनारीका भेदभाव कैसे हुआ? आप स्वयं विचारो वायु सब प्राणियोंके शरीरमें व्याप्त है, वह हमारे खुले हुए हाथ मुख आदि अंगोंको भी छूती है और छिपे गुह्य अंगोंको भी छूती है। उससे बिना जीवन नहीं। जिस प्रकार वे सर्वान्तर्यामी प्रभु गोपियोंके अंगोंमें व्याप्त थे उसी प्रकार उनके पतियोंके अंगों में भी तो व्याप्त थे। उनके पतियोंकी स्थिति भी तो आत्मरूप श्रीकृष्णके ही कारण थी। उनके पति भी जो उनका स्पर्श करते थे, तो क्या उस स्पर्शमें श्रीकृष्ण नहीं थे। सम्पूर्ण अंगोंमें जहाँ भी खुजली होगी हाथ ही जाकर खुजावेगा। आप विद्युत्‌के पंखेसे करो, ताड़के पंखेसे करो, वस्त्रके पंखेसे करो वायु तो वही आवेगी। चाहें गोपी किसीको स्पर्श करें चाहें उन्हें कोई स्पर्श करे श्रीकृष्णके बिना स्पर्श हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्राणि मात्रके हृदयमें वे ही स्थित होकर चेष्टा करा रहे हैं। ऐसे

सर्वान्तर्यामी प्रभुने उन्हें एकान्तमें छू ही लिया तो इसमें पापकी कौन-सी बात है।

महाराज परीक्षित्‌ने कहा—"महाराज! हम इस बातको मानते हैं, भगवान्‌को कोई दोष नहीं लगा। वे घट-घटव्यापी हैं, फिर भी यह बात लोकमें निन्दित ही मानी जाती है। परस्त्री-संस्पर्श लोकविरुद्ध है।

दृढ़ताके स्वरोंमें श्रीशुकदेवजीने कहा—"नहीं राजन्! लोक-विरुद्ध तो नहीं है। लोकमें हम नित्य देखते हैं। सभाओंमें सम्मेलनोंमें, कथा कीर्तन और पर्वोत्सवोंमें स्त्रियाँ पृथक् बैठती हैं, पुरुष पृथक् बैठते हैं। किन्तु बच्चे की जब इच्छा होती है आकर पुरुषोंमें बैठ जाते हैं। जब इच्छा होती है स्त्रियोंमें चले जाते हैं। लड़कोंको कोई स्त्री अछूत नहीं मानती। सब उन्हें उठाकर प्यार करती हैं, छाती से चिपकाती है, मुँह चूम लेती हैं। लोकमें इसे तो कोई दोष मानता नहीं। श्रीकृष्णने भी और क्या किया?"

हँसकर महाराज परीक्षित् बोले—"महाराज! बच्चोंकी बात तो दूसरी है। बच्चे तो सभी एकसे हैं। बच्चोंसे स्त्रियाँ परदा थोड़े ही करती हैं। पर पुरुषका कामभाव से स्पर्श निषेध है।

हँसकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् आप बच्चा किसे कहेंगे। एक दिन सभी बच्चे रहे हैं। सभी बच्चे बनकर ही पैदा हुए हैं। दाढ़ी मूँछ लगाये तो कोई पैदा होता नहीं। सब बच्चे ही हैं।

हँसकर राजाने कहा—"अजी, महाराज! सब बच्चे कैसे हो जायँगे। पैदा होने की बात दूसरी है। जो बच्चेसे युवक या वृद्ध हो गया उसे बच्चा कौन कहेगा? उन्हें देखकर स्त्रियाँ लज्जा से सिर झुका लेती हैं घूँघट मारलेती हैं।"

श्रीशुकने पूछा—"अच्छा तो आप बच्चा कितने वर्ष तकके बालक को कहेंगे।

राजाने कहा—"यही महाराज १०-११ वर्ष तक के बालक को बच्चा कहते हैं। जहाँ वह १४-१५ का हो जाता है फिर उसकी बच्चा संज्ञा नहीं होती स्त्रियाँ नौ दस वर्षके बच्चेसे संकोच नहीं करतीं। उन्हे सभी स्त्रियाँ समान रूपसे अपने बच्चेकी भाँति प्यार कर सकती हैं।

हँसकर श्रीशुकदेवजी बोले—"तो राजन्! रासलीलाके समय श्रीकृष्णजीकी अवस्था तो दश वर्षकी भी नही थी। व्रजमें वे प्रकट रूप से ग्यारह वर्षकी अवस्था तक ही तो रहे ऐसी अवस्था में तो कोई अनुचित बात भी नहीं हुई।"

हसकर राजा बोले—"अब महाराज! अब इस प्रकार तो हमें युक्तियोंसे अपने शब्दजालमें बाँधना चाहते हैं। पीछे तो आप कैसे स्पष्ट शब्दोंमें कामक्रीड़ाका वर्णन कर आये हैं। अब निकलनेके लिये बात बदल रहे हैं। यदि बालक भावसे ही छूना था, तो रात्रिमें एकान्तमें रास क्यों रचा? आपने तो मूर्तिमान शृंङ्गार रसका वर्णन किया है।"

शीघ्रतासे श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! मैं मना थोड़े ही करता हूँ, कि भगवान्ने रास नहीं किया। किया, अवश्य किया, भली भाँति किया, गोपियोंको रसमें डुबा दिया, उन्हें प्रेममें छका दिया, गाना, बजाना, नाचना, परस्परमें सट जाना, कुञ्ज, केलि जलकेलि तथा और भी विविध भाँतिकी क्रीड़ायें हुईं, किन्तु वे प्राकृत नहीं थीं दिव्य थीं, भौतिक नहीं थीं चिन्मय थीं। इस साधारण शरीरसे नहीं की थीं दिव्यातिदिव्य शरीरसे की थीं। अपनी भगवत्ताको स्थिर रखकर की थीं। किसी स्वार्थके वशीभूत न होकर केवल गोपियोंको सुख देनेके लिये की थीं गोपियोंके सम्बन्धमें जहाँ 'काम' शब्द आता है उसका अर्थ दिव्यातिदिव्य प्रेम समझना चाहिये। जहाँ 'जार भाव' 'औपपत्य' ये शब्द आते हैं वहाँ दिव्य रसास्वादनकी प्रक्रिया

समझनी चाहिये। वास्तवमें श्रीकृष्ण गोपियोंके पर नहीं हैं। वे उनके अपने हैं आत्मस्वरूप हैं प्रेष्ठ हैं, पति हैं, स्वामी हैं, सर्वस्व हैं। गोपियाँ उनकी आत्मा हैं। आत्मामें रमणका ही नाम आत्मक्रीड़ा है। स्वयं ही वे रस हैं, स्वयं ही आस्वाद्य हैं, स्वयं ही आस्वादक हैं, लीला, धाम, आलम्बन, अवलम्बन, उद्दीपन तथा और भी काम सम्बन्धी जितने भाव हैं सब वे ही हैं। ये सब मिलकर जहाँ क्रीड़ा करते हैं वही रास है। राजन्! ऐसे ही गोलमाल है सट्टपट्ट है। कुछ कहने सुननेकी बात नहीं। माया है, क्रीड़ा है, खेल है, लीला है और जो है सो है।"

हँसकर राजा बोले—"महाराज! जो हो, पर यह सब प्रपंच भगवान्‌ने किया क्यों? इस इतनी सरस लीलासे हम संसारी प्राणी शिक्षा क्या ग्रहण करें?"

सूतजी कहते हैं—राजन्! जब महाराज परीक्षित्‌जीने यह प्रश्न किया तब मेरे गुरुदेव कुछ देरके लिये मौन हो गये, उनके नेत्रोंमें प्रेमके अश्रु छलकने लगे। अश्रुओंको पोंछकर वे स्वस्थ हुये और फिर राजाके प्रश्नका उत्तर देनेको प्रस्तुत हुये।

छप्पय

जग है दुखकी खानि दुखी सब जग के प्रानी।
पावें दुख अरु मृत्यु जरा ज्ञानी अज्ञानी॥
अज्ञानी जग सत्य समुझि बन्धन बँधि जावें।
ज्ञानी समुझें सत्य कृष्णलीलासुख पावें॥
अज अच्युत हू अवनिपै, मानुषतनुतें अवतरें।
करन अनुग्रह सबनिपै, श्याम सरस लीला करें॥

भगवान्‌की समस्त लीलायें श्रेयस्कर ही हैं।

(१००४)

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥*
(श्रीमा० १० स्क० ३३ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

जीव जगत अरु ब्रह्म बात यद्यपि लगति अलौनी।
तातें क्रीड़ा करें कृष्ण अति सरस सलौनी॥
गोपी अरु श्रीकृष्ण मिलन सुनि हिय सरसावे।
सुनिके प्रेम प्रसंग देह पुलकित ह्वै जावे॥
जो गाँभरपी झीलमें, कैसे हू परि जाइगो।
तौ फिर अपनो रूप तजि, तुरत नौन बनि जाइयो॥

दृष्टान्त सदा एकदेशी होता है। संसारमें ऐसा एक भी दृष्टान्त न होगा जो सर्वाङ्गपूर्ण है। मुखको कहते हैं चन्द्र मुख। तो क्या मुख चन्द्रमाकी भाँति है। यहाँ इतना ही तात्पर्य है कि चन्द्रमा जितना सुखद शीतल और आह्लाद देने वाला है वैसा ही मुख भी है। चरणोंको, करोंको, मुखको तथा नेत्रोंको कमलकी उपमा देते हैं। जहाँ चरणकमल कहते हैं, वहाँ इतना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके निमित्त ही नररूप रखकर उससे ऐसी ऐसी सरस क्रीडायें करते हैं, जिन्हें सुनकर लोग भगवत् परायण हो जायँ।

ही तात्पर्य है जैसे कमल कोमल और मृदु है वैसे ही चरण भी कोमल मृदु हैं। जहाँ करकमल कहते हैं, वहाँ, भी मृदुता और कोमलतासे ही तात्पर्य है। जहाँ कमलनयन कहते हैं, वहाँ समझना चाहिये जैसे कमल प्रसन्न होकर खिल जाता है वैसे ही खिले खिले बड़े नेत्र। जहाँ मुखकमल कहा जाता है, वहाँ कमलकी जैसी सुगन्ध, सौरभ सरसता और सुन्दरतासे अभिप्राय है।

भगवान् परिपूर्ण हैं, जब अपूर्ण वस्तुओंमें ही सर्वथा समता नहीं, तब भगवान्‌की बराबरीकी वस्तु कौन हो सकती है, उन्हें किसकी उपमा दी जा सकती है, उनकी लीलासे किसकी तुलना की जा सकती है। जब परात्पर प्रभु अवनिपर अवतार धारण करते हैं, तब उनकी सर्वव्यापकता और परिपूर्णतामें तो अन्तर आता नहीं। एक राजा है, वह चाहे राजसी वस्त्र पहिन ले या दरिद्रकासा वेष बना ले, उसके स्वरूपमें तो बाह्य वेषसे कोई त्रुटि पड़ती नहीं, फिर भी वह जैसा वेष बना लेता है, वैसे ही कार्य भी करने लगता है। इसी प्रकार भगवान् मानुष रूप रखकर मानवीय क्रीड़ाओंको करते हैं। उनकी सर्वाङ्ग उपमा न ढूँढ़नी चाहिये। केवल यही सोचना चाहिये, कि इस लीलाके करनेका प्रयोजन क्या है, उससे हम क्या शिक्षा ग्रहण करें। सर्वाङ्ग अनुकरण करनेसे तो अनर्थकी संभावना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव भगवान् शुकसे महाराज परीक्षित्‌ने फिर पूछा—"भगवन्! भगवान्‌ने ऐसी अत्यन्त सरस लीलायें की ही क्यों, कोई वीर रसकी क्रीड़ा करते। हम लोग इन अत्यन्त शृंगार रसकी लीलाओंसे क्या शिक्षा ग्रहण करें?"

यह सुनकर मेरे गुरुदेवने जो कुछ कहा उसीके आधार पर मैं कहता हूँ—"मुनियो! भगवान्‌की लीलायें अचिन्त्य

हैं। उनके विषयमें जीव 'इदमित्थम' यह ऐसी ही है, इसका यही अभिप्राय है, ऐसा दृढ़ताके साथ नहीं कह सकता। भगवानने ऐसी सरस लीला क्यों की ? इसका यथार्थ भाव तो भगवान् ही समझ सकते हैं। शास्त्रकारोंने तो इनका एक ही कारण बताया है जीवोंके ऊपर कृपा करनेके ही निमित्त भगवान् ऐसी ऐसी कमनीय क्रीड़ायें करते हैं। जीव जबसे भगवान्से बिछुड़ा है तभीसे वह उनसे मिलना चाहता है। संसारमें जितनी व्याकुलता है, जितनी तड़फड़ाहट है, जितनी अधीरता है सब मिलनेके लिये, सम्मिलित सुख पानेके लिये ही समस्त जीव घबड़ा रहे हैं व्याकुल हो रहे हैं। अपना प्यार प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिलता, उसके दर्शन नहीं होते उसका स्पर्श सुख नहीं मिलता तभी प्राणी दुखी होता है, रोता है। कृपण धनसे मिलनेको व्याकुल होकर देश विदेश भटकता रहता है। उसे सोते जागते यही चिन्ता बनी रहती है, कैसे धन प्राप्त हो, धनके लिये वह शरीर, सुख यहाँ तक कि धर्मको भी कुछ नहीं समझता। बुभुक्षित अन्न पानेके लिये व्याकुल रहता है, पिपासित पानी पीनेको विह्वल बना रहता है। शीतार्त उष्णता पानेको अधीर बना रहता है और कामी कामिनीकी निरन्तर चिन्ता करता रहता है। इन सब इच्छाओंमें काम इच्छा बड़ी प्रबल है। कामका वेग महान् है। यदि जीवके मनमें वही काम भाव कृष्ण के प्रति उदय हो जाय, तो उसके सब दुःख दारिद्र दूर हो जायँ, वह सदाके लिये सुखी हो जाय। अब प्रश्न यह है, कि काम भाव तो स्त्री पुरुष दोनोंके ही हृदयमें उत्पन्न होता है। दोनों ही परस्परमें एक दूसरेको पाना चाहते हैं, तो जीवको किसका अनुकरण करना चाहिये। पुरुष जैसे स्त्रीको चाहता है वैसे, या स्त्री जैसे पुरुषको चाहती है वैसे।

आप ध्यान पूर्वक विचार करें, तो पता चलेगा दोनों ओरसे

आकर्षण अत्यन्त ही प्रबल होता है। पुरुष स्त्रीको जितना चाहता है, स्त्री पुरुषको भी उतना ही चाहती है। दोनों ओरसे समान आकर्षण न हो, तो संसारमें यह आकर्षण सर्वश्रेष्ठ न माना जाता। लोभीको धनके प्रति बड़ा आकर्षण होता है, धनके पीछे वह प्राणोंका पण लगा देता है, किन्तु जितना वह धनको चाहता है धन उतना उसे नहीं चाहता। वह धनको प्यार करता है, किन्तु धन उसे प्यार नहीं करता। इसलिये यह आकर्षण अधूरा है। स्त्री पुरुषोंमें आकर्षण दोनों ही ओरसे होता है और वह अत्यन्त प्रबल होता है। खींचनेकी शक्ति स्त्रीमें अधिक है और खिंच जानेकी शक्ति पुरुषमें अधिक है। स्त्री आकर्षक न होगी तो पुरुष खिंच नहीं सकता। अब यहाँ जीवका काम है भगवान्‌को अपनी ओर खींचना। "अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ भगवान्‌को अपनी ओर कैसे खींच सकता है जी?" उन्हींकी दी हुई शक्तिसे खींच सकता है। स्त्री कितनी भी सुन्दरी हो कितनी भी आकर्षक हो। पाषाण या मिट्टीकी बनी पुरुष मूर्तिको अपनी ओर नहीं खींच सकती। क्योंकि उसमें खिंच आने की शक्ति नहीं। इसी प्रकार जीव कितना ही जप, तप, विद्या और अनेक गुणोंसे सम्पन्न क्यों न हो जब तक भगवान् कृपा न करें, वह उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे जीवका खिंच जाना स्वभाव है, वैसे ही परमात्माका कृपा करना स्वभाव है। जीव उन्हें आर्त होकर पुकारे फिर वे न आ सकें यह कठिन है असम्भव है। ऐसा हो नहीं सकता, कि भगवान् न आवें। वे तो प्रेमके अधीन हैं। सच्चे हृदयसे पुकारनेपर वे न भी आना चाहें तो भी उन्हें आना ही पड़ेगा, उनकी कृपा उन्हें विवश कर देती है वे रह नहीं सकते। अतः जीवके हृदयमें कामपीड़ित कामिनीकी तरह प्रियतमके मिलनेकी जब तक तड़प न होगी। तब तक प्रभुकी कठिन है; असम्भव है। यही सब बतानेको भगवानने

सरस लीला रची।

यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृति पुरुषकी क्रीड़ा है। इस संसारमें दो ही वस्तु हैं एक खेलनेवाला एक खिलाने वाला उसे माया ब्रह्म कह लो, प्रकृति पुरुष कह लो, ईश्वर जीव कह लो। बात एक ही है। पुरुष एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं शेष सब प्रकृति है। भगवान्‌ने जीवको भी अपनी 'प्रकृति' कहा है। जब पुरुष एक मात्रपर ब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं और समस्त जीव प्रकृतिके अन्तर्गत ही हैं, तो, फिर पुरुषका भेदभाव मिथ्या है भगवान्‌के अतिरिक्त जो भी प्राकृत जगत है सभी स्त्री रूप है सभी गोपियाँ हैं, सभी सखियाँ हैं सभी रस बेचनेवाली गूजरियाँ हैं। सभी श्यामको सुख देनेवाली ब्रजाङ्गनायें हैं।

वृंदावनमें एक संत स्त्रियोंसे नहीं मिलते थे। एक गोपीरूपा परम भगवद्भक्ता महिला उनसे मिलने गयी। उन्होंने कहला दिया—"स्त्रियोंसे हम नहीं मिलते।" तब भगवद्भक्ता महिला ने कहला दिया—"हम तो अब तक समझतीं थी वृन्दावनमें एक ही पुरुष नन्दनन्दन हैं, अब उनके ये दूसरे पट्टीदार पुरुष और कौन उत्पन्न हो गये?" संत उन गोपीके भावको समझ गये और तुरन्त बाहर आकर उनसे मिले। कहनेका सारांश यह है कि योनि चाहें पुरुषकी हो, स्त्री अथवा नपुंसककी सभी प्रकृति के अन्तर्गत हैं। सभी उन परात्पर पुरुषोत्तम प्रभुसे मिलने को व्यग्र हैं। अधीर हैं। भगवान्‌को अपना परमश्रेष्ठ समझ कर उन्हींकी प्रसन्नताके निमित्त—उन्हें ही प्राप्त करने के हेतु—जीवकी सभी चेष्टायें होनी चाहिये। इसीकी शिक्षा देनेको भगवानने रासलीला की।

इसपर शौनकजीने कहा—"सूतजी! यह तो रोगको जान बूझकर अपथ्य भोजन देना हुआ। महाभाग! लोग संसारमें वैसे ही कामपीड़ित हैं। कामके अधीन होकर वैसे ही नित्य

नये नये पाप करते हैं। फिर भगवान् भी वैसे ही काम क्रीड़ा करें तब तो लोग और भी दुखी हो जायँगे। कामियोंके सम्मुख काम क्रीड़ा करना तो कामभावनाको और उत्तेजना देना है। इससे जीवोंका कल्याण क्या हुआ। और अनर्थको उत्पन्न करना है।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! विषकी ओषधि विष ही होती हैं। जंगम विषसे स्थावर विष नाश हो जाता है। दिव्य कामसे प्रकृति काम सर्वथा नष्ट हो जाता हैं। इसी भक्ति मार्गमें रागानुगा भक्तिको जीवके अनुकूल साधन बताया गया है।"

शौनकजीने कहा—"सूतजी कामको उत्तेजना देनेकी अपेक्षा वैराग्य विवेकके द्वारा कामको नष्ट ही क्यों न कर दिया जाय।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! कामको नष्ट कर दिया जाय तो और भी उत्तम है। कामारि शंकर आदिने कामको नष्ट किया भी है, किन्तु भगवन्! प्रवाहके विरुद्ध जलको ले जानेमें बड़ा श्रम करना पड़ता है। युक्तियों द्वारा चला तो जाता ही है, किन्तु अवसर पाते ही फिर नीचेकी ओर ढुलक आता है। स्त्रीका पुरुषके प्रति और पुरुषका स्त्रीके प्रति सहज आकर्षण है। इसी आकर्षणको बदल लेनेके लिये मनुष्य भगवान्‌की शक्ति रूप से जगज्जननी रूपसे उपासना करते हैं। जो लोग वैराग्यके द्वारा कामको नष्ट करना चाहते हैं। घृणा उत्पन्न कराके विषयोंसे विराग करते हैं। वे कहते हैं—"स्त्री या पुरुषका मुख क्यहीं। थूक खकार, लारका घर है, दाँतोंसे दुर्गन्ध आती है। छाती क्या है, माँस पिंडोंसे उभरा एक चर्म मांस रक्तका स्थान है। जघन क्या है मूत्रके भीगे अशुचि अपवित्र स्थान है। इनमें जो आसक्ति करते हैं सुखका अनुभव करते है वे अज्ञ है मूर्ख हैं।" ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो इस कथनमें भी आसक्ति है। कहनेवाला जो मुख, हृदय तथा जघन आदिकी निंदा करता है उसके मनमें भीतर उनकी मोहकता छिपी हुई है। वह उनके

स्वाभाविक आकर्षण को स्वीकार करता है, किन्तु मनको बहलानेको वह उनसे घृणा उत्पन्न करता है। अनुकूल भावसे इन आकर्षक स्थलोंका चिंतन तो करता ही है और चिंतन करके उनका अनुभव भी करता है, एक प्रकारकी अनुभूति दृष्टिका भी आन्तरिक अनुभव करती ही है। इस प्रतिकूल भावनासे उसे सन्तोष है। तब तो उत्तम ही है, किन्तु यह मार्ग सबको अनुकूल नहीं पड़ता।

एक व्यक्ति है। उसे गुड़के सेवनका व्यसन पड़ गया है। उसके हितैषी चाहते हैं, कि वह गुड़ खाना छोड़ दे, गुड़के प्रति उसकी जो इतनी आसक्ति है वह निवृत्त हो जाय। एक तो गुड़ छुड़ानेका उपाय यह है, कि उसे समझाया जाय, कि देखो, गुड़ क्या है खेतमें मलमूल विष्ठा, गोबर अपवित्र वस्तुओंकी खाद पड़ती है, उस अशुद्ध खादसे रस लेकर ईख बढ़ती है। उसे काटकर कोल्हूमें पेरते हैं। बहुत से जीव जन्तु मरते हैं। सभी छूते छाते हैं। जाने कौन कौन लोग उसे बुरे गंदे हाथोंसे बनाते हैं। बनाते समय बहुत से चींटा चींटी मक्खी आदि जीव मर जाते हैं। ऐसे अपवित्र गुड़को खानेसे क्या लाभ? खाकर हानि करता है। क्षणभरका स्वाद है, फिर मल बन जाता है। इस प्रकार गुड़की ओरसे विराग कराते हैं।

दूसरा मार्ग यह है, कि उसे सुन्दर सुगन्धित कंदकी एक कली खानेको दे देते हैं। जहाँ जिह्वाको कंदका स्वाद मिला, तहाँ गुड़की ओरसे अनुराग अपने आप कम हो जाता है। फिर तो जिह्वा कंदके लिये ही लपलपाती रहती है। यह साधन स्वाभाविक है, प्रकृतिके अनुकूल है, मधुर है। जीभको गुड़से प्रेम नहीं उसे तो मीठा चाहिये। यदि दिव्य मीठा मिले तो साधारण मीठे की वह इच्छा क्यों करेगी। इसी प्रकार प्रकृतिको पुरुषसे सम्मिलनकी इच्छा स्वाभाविक है। उसे प्रकृतिसे हठपूर्वक हटाकर

पुरुषमें लगाओ तो लग तो जायगा किन्तु वे सुखे सत्तू हैं, कठिनता से कंठके नीचे उतरेंगे। तृप्ति हो जायगी पेट भर जायगा, किन्तु साधारण प्रकृतिको छोड़कर दिव्य प्रकृतिकी शरण ली जाय। विषय गुड़को छोड़कर श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द कन्दमें मनको मग्न कर दिया जाय, तो अत्यंत सरसताके साथ उस दिव्य रसकी प्राप्ति सुगमतासे हो सकती है। इसीलिये इस मार्गका नाम रस मार्ग है। रस शास्त्रोंमें इसकी विस्तारसे प्रक्रिया वर्णन की है। इन सरस लीलाओंको सुननेमें सभीको सुखानुभूति होती है। कैसा भी काव्य हो, कैसी भी कहानी हो, यदि उसमें नायिका नहीं तो वह नीरस है। नायक नायिकाके संसर्गसे ही रसकी अभिवृद्धि होती है। नायक एक मात्र श्रीकृष्ण हैं और नायिका मुकुट मणि श्रीराधिकाजी हैं। इन दोनोंके हास विलास तथा क्रीड़ाका नाम रास है। जो इन लीलाओंसे घृणा करेंगे इन्हें सुनना ही न चाहेंगे उनकी बात दूसरी है। जो श्रीकृष्णको प्राकृत पुरुष समझकर उनकी क्रीड़ाओंमें प्राकृत बुद्धि करेंगे उन्हें प्रकृतिकी प्राप्ति होगी और जो इन्हें अप्राकृत लीला मानकर, श्रीकृष्णको परात्पर प्रभु मानकर श्रद्धा सहित इन लीलाओंका मनन चिन्तन करेंगे, उन्हें प्रकृतिसे परे अप्राकृत दिव्य गोलोककी प्राप्ति होगी, जहाँ नित्य ही भगवान्‌का रास होता रहता है। जो रासका ही लोक है। यदि भगवान मानव रूपके इस अवनिपर अवतरित होकर ऐसी रसमयी दिव्य लीलायें न करते, तो संसारसे सरसताका लोप ही हो जाता। कवि किस विषयपर कविता करता। गायक क्या गाते, लेखक क्या लिखते और संसार किनके चरित्रोंको गाकाकर रसविभोर होता। आज भगवान्‌की बाँसुरीकी तानके विषयके गीत पठित से पठित और मूर्खसे मूर्ख गाकर एक दिव्यानन्दका अनुभव करते हैं, अतः लोककल्याणार्थ ही भगवान्‌ने ये लीलायें की? इनसे हमें यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

कि प्रबल प्रेमके साथ प्रभुको पानेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। सब कुछ उन्हींकी प्रसन्नताके निमित्त करना चाहिये। एक दिन वे स्वयं बाँसुरी बजाकर बुला लेंगे और रासके सुखमें हमें निमग्न कर देंगे।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मैंने तो इतना ही समझा है, किन्तु भगवान्‌की लीलाओंका इतना ही प्रयोजन नहीं है, जिन्हें शास्त्र निरन्तर कहते रहें तो भी नहीं कह सकते।"

छप्पय

चिदानंद घनश्याम देह प्राकृत नहिं तिनकी।
गोपी शक्ति अनंत दिव्य चिन्मय हैं उनकी॥
शक्तिमान्‌तें शक्ति विलग होवे नहिं ऐसे।
ज्यों श्रीशिवतें शिवा विष्णुतें कमला जैसे॥
अपनेतें अपनो मिलै, कितनों सरस प्रसंग है।
मनमोहनतें मन मिल्यो, पुनि नहीं दुसर अंग है॥

रास दिव्य देहसे होता है

(१००५)

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ३३ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

ऊँच नीच, निज अङ्ग हाथ सबहीकूँ परसे,
पावे प्रियको परस हृदय तन मन अति सरसे ॥
विषयनिमहँ फँसि जीव दुखी तिनितें है जावे ।
दिव्य देहतें होहिं दिव्य सुख सब नहिं पावें ॥
जब तक प्राकृत भावना, तब तक होवे रास नहिं ।
दिव्य देह होवे जबहिं, गोपी बनि नाचे तबहिं ॥

सम्मिलन समान शीलोंमें ही होता है। दूधमें पानी ही मिल सकता है, लोहा नहीं। प्राकृत नेत्र प्राकृत पदार्थोंको ही देख सकते हैं। दिव्य वस्तुको देखनेकी दृष्टि भी दिव्य ही चाहिये। प्रकृति मिलनेसे ही मन मिलता है। दोनोंका शील स्वभाव एक-सा हो तभी रसकी अभिवृद्धि होती है। श्रीकृष्ण जगमोहिनी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी व्रजवासियोंने कुछ भी निन्दा नहीं की। वे भगवान्‌की मायासे मोहित हो गये थे। उन्होंने अपनी अपनी स्त्रियोंको अपने समीप ही समझा।"

मायासे परे हैं, अतः उन्हें ये मायिक पदार्थ मोह नहीं सकते। वे तो इनसे निर्लिप्त हैं, दिव्यातिदिव्य हैं; अतः उन्हें मोहनेके लिये दिव्यातिदिव्य माया चाहिये। मोहनको मोहनेवाली माया भी मोहनमोहिनी चाहिये। भगवान्‌का श्रीविग्रह प्रकृतिसे परे है। उसमें प्राकृत शरीरोंकी भाँति स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणका भेद भाव नहीं। वह तो चिन्मय है। उनके साथ रासक्रीड़ा प्राकृत शरीरसे कैसे हो सकती है जैसे वे हैं वैसे ही उनके साथ रास करनेवाली हो तब लीला साङ्गोपाङ्ग उतरे। तब उसमें सरसताका संचार हो, इसीलिये रास प्राकृत शरीरसे नहीं किया जाता। करनेकी बात तो पृथक् है, प्राकृत देहाभिमानीको तो रासदर्शनका भी अधिकार नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मेरे गुरुदेवने महाराज परीक्षित्‌की रास सम्बन्धी शंकाओंका समाधान किया?"

इसपर शौनकजी बोले—"सूतजी एक शंका महाराज परीक्षित्‌की रह ही गयी। उसके सम्बन्धमें आपने कुछ नहीं बताया। महाराजने शंका की थी, कि जब गोपोंने रात्रिमें अपनी स्त्रियोंको घरमें नहीं देखा तो वे उन्हें ढूँढ़ने वनोंमें क्यों नहीं गये? पुण्य और पाप कितने भी एकान्तमें छिपकर किये जायँ, वे छिप नहीं सकते। रासकी बात तो छिपनेवाली थी नहीं। एक दो गोपीकी बात होती तो छिप भी जाती। घर घरसे गोपियाँ गयीं और अपने माता, पिता, भाई, बन्धु सगे सम्बन्धियोंके सामने खुल्लम खुल्ला गयीं और रात्रिभर क्रीड़ा करती रहीं, तो गोपोंने श्रीकृष्णके इस अनुचित कार्यका विरोध क्यों नहीं किया, उनकी निन्दा क्यों नहीं की? जातिसे उनका बहिष्कार क्यों नहीं कर दिया?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! गोप निन्दा तो तब करते, जब भगवान् निन्दाका अवसर देते। भगवान् भी तो

बड़े काँइयाँ हैं। जो चोरी करता है वह भागनेके लिये मोरी भी तो रखता है। भगवान्‌ने गोपियोंके इस बाह्य दीखनेवाले शरीरसे रास किया ही नहीं। उन्होंने तो गोपियोंके दिव्य चिन्मय अप्राकृत शरीरसे क्रीड़ा की, उनका बाह्य शरीर तो उनके घरवालोंके समीप ही रहा। पतियोंने देखा मेरी पत्नी मेरे समीप शयन कर रही है। भाइयोंने देखा हमारी बहिन तो यहीं है। पिताओंने देखा हमारी लड़कियाँ तो भोजनके बर्तनोंको मलकर सुखसे सो रही हैं, फिर कोई वनमें ढूँढ़ने क्यों जाता और क्यों श्रीकृष्ण पर व्यर्थकी शंका करता ?"

शौनकजीने कहा—"सूतजी ! जैसा प्रसङ्ग होता है आप वैसे ही बात बना देते हैं। वहाँ जब बाँसुरी सुनकर गोपियोंके रासमें जानेका प्रसंग था, वहाँ तो आपने कैसा विस्तारसे वर्णन किया था कोई दूध दुह रही थी, वह दूधको ही छोड़कर चल दी, कोई भोजन बना रही थी, कोई आँखोंमें अंजन आँज रही थी, कोई यह कह रही थी, कोई वह कर रही थीं, जो जैसी बैठी थी, वैसी ही चल दी। उनके पति, पिता, भ्राता और बन्धुओंने बहुत कुछ रोका, किन्तु वे नहीं रुकीं, नहीं रुकी। वे सबकी अवहेलना करके चली ही गयीं क्योंकि गोविन्दने उनके चित्तको बलात्कार अपनी ओर खींच लिया था। कुछ गोपियाँ अपने घरके ही भीतर थीं। घरवालोंने उन्हें जाने नहीं दिया, बाहरसे ताला बन्द करके उन्हें घरमें ही रोक लिया, तब वे श्रीकृष्णकी भावनामें तन्मय होकर वहीं बैठे बैठे उनका ध्यान करने लगीं। वहीं बैठे बैठे श्रीकृष्णका मानसिक संस्पर्श करके उन्होंने त्रिगुणमय शरीर त्याग दिया।

इन वर्णनोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गोपिकायें स्थूल शरीरसे गयी थीं। यदि वे अपने दिव्य शरीरसे ही रास करने जातीं, तो पति, पिता तथा बन्धु बान्धवोंको

प्रसङ्ग ही क्यों आता। उन्होंने रोका और वे नहीं रुकीं चली ही गयीं तो यहाँ दिव्य शरीर कहाँ रहा ? फिर जब घरमें रहनेवाला शरीर पृथक् था, रासमें क्रीड़ा करनेवाला शरीर पृथक था, तो फिर जो गोपियाँ रोक ली गयी थीं उन्हें शरीर त्यागकी क्या आवश्यकता थी। यहाँ नहीं आतीं दिव्य शरीरसे रास रचातीं। शरीरके रोक लेनेपर उन्हें अपने त्रिगुणमय शरीरको त्यागना पड़ा इससे तो यही सिद्ध होता है कि वे इसी शरीरसे सबके सामने गयी थीं और इसीसे रास रचा था। जो न जा सकीं वे तड़प तड़प कर मर गयीं। ऐसी घटना तो अब भी देखनेमें आती हैं। अपने प्यारेके अत्यन्त वियोगमें अब भी बहुतसे शरीरको तुरन्त त्याग देते हैं। फिर अब आप दो शरीरोंकी कल्पना क्यों कर रहे हैं ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! गोपियोंका शरीर भी प्राकृत त्रिगुणमय नहीं था। उनपर तो यह त्रिगुणात्मक खोल चढ़ा हुआ था। देह तो उनका भी श्रीकृष्णकी भाँति अप्राकृत दिव्य चिन्मय ही था। किन्तु भगवानकी मायासे वे अपने इस दिव्य रूपको भूले हुए थीं। भगवानकी मोहिनी वंशी सुनकर उनके रोमरोमसे मिलनकी उत्कंठा तीव्र हो उठी। उनका हृदय हिलोरें मारने लगा। वे अपने आवेगको रोक न सकीं। जैसे वर्षा ऋतुमें समुद्रगामिनी नदियाँ अपने वेगको रोक नहीं सकतीं। वे रोकनेसे भी नहीं रुक सकतीं समुद्रकी ओर दौड़ी ही जाती हैं, उसी प्रकार वे गयीं तो इस त्रिगुणमय स्थूल शरीरसे ही, किन्तु श्रीकृष्ण तो दिव्य चिन्मय थे। वे गुणमय शरीरसे क्रीड़ा कैसे करते। इसीलिये जैसे सर्प कैंचुलीमेंसे निकलकर नया हो जाता है वैसे ही वे गोपिकायें श्रीकृष्णके दर्शन करते ही उनकी इच्छासे दिव्य बन गयीं। उनके उस त्रिगुणमय कैंचुलीके समान शरीरोंको भगवानने अपनी योगमायाके प्रभावसे उन उनके घर पहुँचा दिया; अतः जाते समय तो उन्होंने इन सबको देखा था, किन्तु

कब लौटकर आगयीं इसे कोई नहीं समझ सका। सब भगवान्‌की मायासे मोहित हो गये हैं। वे यह भी न समझ सके कि ये केंचुलीके समान है। वे उनके जानेकी बातको भी भूल गये और उन्हें ही अपनी पत्नी, बहिन तथा पुत्री आदि समझकर व्यवहार करने लगे।

जिन्होंने शरीर त्यागा था, उन्होंने तो विरहकी तीव्रताके कारण त्यागा था। उनका प्रेम अत्युत्कट था रासमें सम्मिलित वे भी हुईं। देह उनका भी चिन्मय हो गया था। अन्तर इतना ही रहा, कि उन्होंने अपने इस स्थूल त्रिगुणमय शरीरको सदाके लिये छोड़ दिया था। ये जानेवाली गोपियाँ इच्छा न होनेपर भी भगवान्‌की आज्ञासे अपने इन शरीरोंमें लौट आयीं। उन घरमें तनु त्यागनेवाली गोपियोंको एक बड़ा लाभ हुआ। वे शरीर त्यागतेही तुरंत श्रीकृष्णके समीप पहुँच गईं। ये सब पैदल चलके बहुत पीछे पहुँचीं। इस प्रकार गोपियोंका श्रीकृष्णके रास करनेका प्रसङ्ग प्राकृत नहीं दिव्य है। उसमें श्रीकृष्णकी निंदा करनेका अवसर ही नहीं। जो शास्त्र एक बार इस बातको बताता है, कि भगवान्‌ने गोपियोंके साथ रास किया। वही बार बार चिल्ला चिल्लाकर डंकेकी चोट कहता है कि भगवान् प्राकृत नहीं चिन्मय हैं, दिव्य हैं। अस्खलित वीर्य हैं। अच्युत हैं। प्रकृतिके गुणोंसे परे हैं। उसकी बार बारकी इस बातको न मानकर केवल रासपर ही दोष देना यह तो व्यर्थका छिद्रान्वेषण है। चलनीका सा स्वभाव है। कि अच्छे अच्छे आटेको निकालकर फेंक देना कुछ थोड़ी बहुत भूसी हो, उसे अपने पास रख लेना। इसलिये महाभाग! रासमें शंकाके लिये तो कोई स्थान ही नहीं। जो हठी हैं निन्दक हैं शुष्क आलोचक हैं उनके सामने तो तुम कितनी भी युक्तियाँ दो अपने हठपर अड़े ही रहेंगे, किन्तु जो भगवद्भक्त हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको भगवान् समझते हैं

उनको तो उनकी किसी भी लीलाके सम्बन्धमें शंका न होगी। इस प्रकार मैंने अत्यन्त संक्षेपमें अपने गुरुके मुखसे जो बात सुनी थीं। उसीके आधारपर रासके सम्बन्धमें जो महाराजने छै शंकायें की थीं उनका समाधान किया। अब संक्षेपमें फिर उनका समाधान सुन लें।

१—भगवान्‌ने अधर्म नहीं किया। जीवधर्म और भगवद्-धर्म अन्तर है। जीव मायाके बन्धनमें बद्ध है। भगवान् प्रेमके बन्धनमें बँधे हैं। उनकी सब चेष्टायें प्रेमकी अभिवृद्धिके ही निमित्त होती हैं।

२—भगवान्‌का कोई पर नहीं। सभी उनके हैं। वे जो मनसे सोचते हैं उसे ही वचनसे कहते हैं उसे ही करते हैं। उनका सोचना सृष्टिकी उत्पत्ति है। कथन शास्त्र है और कर्म लीला है। ये सब अप्राकृत हैं।

३—भगवान् शिक्षा देनेकी लीलामें नहीं करते हैं। लीलाधारी होनेसे लीला करना उनका स्वभाव है। अपनी प्रकृतिके अनुसार उनकी लीलाओंसे जो जैसी चाहें शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। उनकी समस्त लीलायें प्रेमके ही निमित्त होती हैं।

४—भगवान् कर्मोंके अधीन होकर शरीर धारण नहीं करते अतः उन्हें किसी भी कर्मसे बन्धन नहीं होता। उन्हें न पाप लगता है न पुण्य।

५—भगवान् रसरूप हैं, अतः रसीली लीला करना ही उनका स्वभाव है। मिश्री मिठास ही देगी।

६—श्रीकृष्णके विरुद्ध तो वह हो जो उनके अधीन न हो। सबको तो वे ही नचा रहे हैं। जब जिसकी जैसी बुद्धि करना चाहें कर दें। वे मायाके अधीश्वर हैं, सबके नियामक हैं। फिर उनके विरुद्ध कर ही कौन सकता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यंत ही संक्षेपमें

रासलीलाके सम्बन्धमें जो शंकायें उठ सकती थीं, जिन्हें महाराज परीक्षित्‌ने उठाया था और जिनका समाधान भगवान् शुकने किया था, उन्हें ही मैंने आप सबके सम्मुख, यथामति प्रकट किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?

श्रीशौनकजीने पूछा—"सूतजी! हमारी शंकाओंका भी समाधान हो गया। सर्वेश्वर सर्वसमर्थ हैं। प्रेम ही जिनका एक मात्र आहार है उन श्रीकृष्णके सम्बन्धमें शङ्का करना शङ्काको भी कलंकित करना है। स्थलक्रीड़ा, निकुंज लीला, जलकेलि तथा वनविहारके अनन्तर क्या हुआ, कृपा करके इसे हमें और बतलाइये।

सूतजी बोले—अब महाराज! बतानेकी बात कुछ रही नहीं। लौकिक दृष्टिसे रासलीलाका अवसान हुआ। वास्तविक दृष्टिसे तो रासका कभी अवसान होता ही नहीं। वह अव्याहत गतिसे निरन्तर होता ही रहता है।"

छप्पय

दिव्य देहतें रास रच्यो—गोपी प्रभुके सँग।
पतिशैयापै परे रहे प्राकृत तिनके अँग॥
तातैं निंदा नहीं करी काहूने उनकी।
समुझि सके को दिव्य रहसमय लीला तिनकी॥
हरिके रास बिलासमहँ, दोषारोपन जे करहिँ।
कहैं जाहि व्यभिचार जे, ते पापी नरकनि परिहिं॥

आगे की कथा चौवालीसवें खण्ड में पढ़िये।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६९ खण्ड छप चुके हैं। खण्ड का मू० १.२५ पै० डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५.२५

३—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ ४.००

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० सं० ३५६ मू० २.७५

५—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.००

६—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.५०

७—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.५०

८—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५

९—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३

१०—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखदसस्मरण पृ०सं०१३० मू

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३।

१२—प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१२ १३—वृन्दावन माहात्म्य—मू०

१४—राघवेन्दु चरित—मू० ०.३१ १५—प्रभुपूजा पद्धति मू० ०.१

१६—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें प्रथम खंड का मू० १.००

१७—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५

१८—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछंदोंमें) मू० ०.१५

१९—कृष्ण चरित—मू० २.०० २०—गोपीगीत—अमूल्य।

२१—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

२२—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.००

२३—सटीक भागवत चरित—बारह बारह सौ पृष्ठ के सजिल्द दोनों खण्ड

२४—आलवन्दार स्तोत्र—छप्पयछन्दों सहित मू० ०.२५ [का मू० १३.०

पता—१—संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)

२—संकीर्तन भवन वंशीवट वृन्दावन (मथुरा)

३—देहली भागवती कथा प्रचारक सङ्घ, मोती निवास, १६।९९५८ सरायरोहिला नई दिल्ली ५

४—कलकत्ता व्यवस्थापक "भागवती कथा" प्रचार कार्यालय, २६ सी कैलास बोस स्ट्रीट कलकत्ता ६

५—श्रीरामशरण नरसैया, भागवतीकथा प्रचारकसंघ मुद्दाम गुन्टूर आन्ध्रप्रदे

❀ श्रीहरिः ❀

श्रीभागवत-दर्शन—

भागवती-कथा

(पैंतालीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

—:❀:—

द्वितीय संस्करण १००० प्रति] पौष सं० २०२३ वि० [संशोधित मूल्य २-०० रुपया मू० १-२५ पै०

मुद्रक—पं० रामराम शुक्ल भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगञ्ज इलाहाबाद।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६६ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.२५ पै० डाकव्यय पृथक्।
२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५.२५
३—सटीक भागवत चरित—बारह बारह सौ पृष्ठ के सजिल्द दोनों खण्डों का मू० १३.००
४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४.००
५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० सं० ३५० मू० २.७५
६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.००
७—कृष्ण चरित—मू० २.००
८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०
९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.००
१०—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडोंमें। प्रथम खंड का मू० १.००
११—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.५०
१२—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.५०
१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५
१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१
१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखदसस्मरण पृ०सं०१३० मू०.१
१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१
१७—प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१२
१८—राघवेन्दु चरित—मू० ०.३१
१९—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.२५
२०—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछंदोंमें) मू० ०.१५
२१—आलवन्दार स्तोत्र—छप्पयछन्दों सहित मू० ०.२५
२२—प्रभुपूजा पद्धति मू० ०.२५
२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२
२४—गोपीगीत—अमूल्य।

मुद्रक—पं० राजाराम शुक्ल भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगञ्ज इलाहाबाद।

श्रीहरि

[ब्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य पाठ के योग्य अनुपम महाकाव्य]

श्रीभागवतचरित

(रचयिता—श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिंदुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषा में रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी; जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागों में विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल, सरस तथा प्रांजल छन्दों में गाया गया है। अब तक इस ग्रंथके चार संस्करण में बीस हजार प्रतियां छपी थीं, जो थोड़े ही दिनों में हाथों हाथ निकल गयीं सैकड़ों नर नारी इसे बहुत रुचिके साथ नित्य नियम से पाठ करते हैं। कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पंडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ की पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ों सादे एक रंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़े की टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उस पर रंगीन कवर पृष्ठ हैं। बाजार में ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक के सुधार लें। न्योछावर केवल ५·२५ पाँच रुपया पच्चीस पैसा इस पुस्तक की टीका भी दो खण्डों में प्रकाशित हो चुकी है। जिसका मू० ६.५० छ रुपया पचास पैसा डाकव्यय पृथक्।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, (झूसी), प्रयाग

संकीर्तन भवन, वंशीवट वृन्दावन

विषय-सूची

अध्याय संख्या	विषय क्रम	पृष्ठ सं०
	कहाँ कहाँ क्या क्या देखा ? (भूमिका)	५ से ३२ तक
१०२९	मथुरामें रामश्याम ...	३३
१०३०	प्रभुका मथुरापुरीमें प्रवेश	४१
१०३१	मथुरामें रजकोद्धार ...	४९
१०३२	वायक भक्त पर कृपा ...	५६
१०३३	सुदामा मालीके ऊपर कृपा ...	६१
१०३४	कुब्जाके ऊपर कृपा ...	६९
१०३५	कुब्जा की कामना ..	७८
१०३६	धनुर्यागके धनुषका भङ्ग	८४
१०३७	कंस और उसकी मल्लशाला ...	९१
१०३८	कुवलयापीड़ हाथी का वध ...	९९
१०३९	रङ्गभूमिमें भगवान्‌के भावानुसार दर्शन ...	१०६
१०४०	चाणूर की ललकार ...	११७
१०४१	राम-श्यामकी चाणूर और मुष्टिकसे भिड़न्त	१२३
१०४२	कामिनियोंकी करुणा ...	१२९
१०४३	चाणूर और मुष्टिकाद मल्लोंकी मुक्ति	१३८
१०४४	कंसोद्धार	१४६
१०४५	भगवान् द्वारा माता पिताका बन्धन मोचन ...	१५५
१०४६	उग्रसेनका राज्याभिषेक ...	१६४
१०४७	नन्दजीकी विदाई ...	१७०
१०४८	राम-श्यामके बिना नन्दजीका व्रज गमन ...	१८०
१०४९	राम-श्यामका उपनयन और गुरुकुल गमन ..	१९०
१०५०	गुरुकुलमें सुश्रूषा ...	१९५
१०५१	विद्याध्ययन	२०५
१०५२	गुरुदक्षिणा प्रस्ताव ...	२२६
१०५३	गुरुदक्षिणा देकर गृहागमन	२३२

॥ श्रीहरिः ॥

कहाँ कहाँ क्या क्या देखा

(भूमिका)

युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तदात्मनि ।
विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसना-
द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ॥*
(श्री भा० १ स्क० १५ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

दुखको कारन नेह नेहतैं शोक, हरष, भ्रम ।
विषयनिमहँ अनुराग होइ चितमहँ नित विभ्रम ॥
बढ़ै लोभ अति अधिक अनृततैं स्वारथ साधै ।
करिकै छल बल कपट जगत बन्धन महँ बाँधै ॥
अघ, हिंसा, परद्रोह करि, विषयनिके हित लड़त हैं ।
कलि प्रभावतैं कलियुगी, नर नरकनिमहँ परत हैं ॥

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधाम पधारने पर कलियुग यहाँ आ गया। जैसी ऋतु आनेवाली होती है वैसे ही लक्षण सर्वत्र

---

* सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियो ! धर्मराज युधिष्ठिर अपने सम्पूर्ण राज्य में, नगर में, अपने घर में तथा अपने आप में लोभ, असत्य, छल, हिंसा आदि अधर्मों की प्रवृत्ति देखकर कलियुग का प्रभाव प्रसार जान लिया, तब उन्होंने महाप्रयाण के लिये निश्चय कर लिया।"

छा जाते हैं। वसन्त ऋतुका आगमन होता है, तो वह कोयलको बुलाने नहीं जाती, कोयल अपने आप आ जाती है, सूखे वृक्षोंमें अपने आप नवीन कोंपलें निकलने लगती हैं। शरद पूर्णिमा समाप्त होने पर शरदी घर घर कहती नहीं फिरती तुम ऊनके कपड़े ले लो, रुई भरवालो, मोटे कपड़े लो, किन्तु स्वतः ही लोगों को उनकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, लोगोंको गरम कपड़े पहिननेमें सुखानुभूति होती है। इसी प्रकार कलियुग आनेपर वह सबसे कहता नहीं फिरता कि तुम लोभ करो, असत्य भाषण करो, सबके साथमें छल कपट का व्यवहार करो तथा हिंसामें मनको लगाओ। इन कार्योंमें अपने आप लोगों-की प्रवृत्ति होती है, लोग इन कार्योंके द्वारा अपनेको सुखी बनाने-का प्रयत्न करते हैं, वे अधर्म को ही भूल,से धर्म मानने लगते हैं। धर्मराजने देखा मेरी प्रजामें लोभ, अनृत छल, कपट आदि बढ़ रहा है। जो लोग उदारताके लिये प्रसिद्ध थे, उनके मनमें लोभ आने लगा है, जो लोग कभी असत्य नहीं बोलते थे, वे राजद्वार-में असत्य साक्षी दे आते हैं, दूसरोंको कष्ट कर आजीविका प्राप्त करनेमें गौरवका अनुभव करते हैं। उन्होंने सोचा—"सम्पूर्ण राज्यमें तो राजा रहता नहीं वहाँ तो उसका आतंक ही कार्य करता है। राजधानीमें तो सदा सर्वदा राजाका निवास है। राजधानीके लोगोंकी तो धर्ममें मति होनी चाहिये, किन्तु लोभ, झूठ, दम्भ, छल, कपट राजधानीके लोगोंमें भी दीखता है। राजधानीकी बात जाने दो अपने घरमें भी अधर्मने पैर जमा लिये हैं। हमारे घर की बहिन बेटियोंके मन दूषित हो गये हैं। जहाँ दश सहस्र ब्राह्मण नित्य सुवर्णपात्रोंमें भोजन पाते थे वहाँ अब उनकी संख्या बहुत कम हो गयी है। लोगोंकी उन्हें भोजन करानेमें आस्था नहीं। केवल लकीर पीटनेको बेमनसे अश्रद्धा पूर्वक उन्हें खिलाते हैं; बात बातमें मैं मेरी तू तेरी का पुकार है। घरमें

सब जाते हैं, तू तू मैं मैं सुन पड़ती है। कहाँ तक कहें, औरोंकी बात पृथक् रही, स्वयं मेरे मनमें भी झूठ बोलनेकी इच्छा होती है, उदारता दुबकती जाती है। बहुत लगानेपर भी कथा कीर्तनमें मन नहीं लगता। इन सब लक्षणोंको देखकर धर्मराजने अनुमान लगा लिया कि अब पृथिवीपर कहीं कलियुग आ गया। उन्होंने सोचा—कलियुगसे और धर्मसे तो वैरभाव है कलियुग तो अधर्मबन्धु है, मैं धर्मका पुत्र हूँ। इस कलियुगमें कलियुग—का बोल बाला है। जिसके अभ्युदयका समय होता है, उस समय कोई भी उसे रोक नहीं सकता। अतः मुझ कलिकालसे अधिकृत इस भूमिको छोड़कर चला जाना चाहिए।" यही सब सोचकर वे हिमालयमें द्रौपदी और अपने चारों भाइयोंके साथ गलने चले गये।

भगवान् आदिशङ्कराचार्यके दादागुरु थे स्वामी गौड़पादाचार्य। ऐसी मान्यता है, कि वे भगवान् शुकदेवके शिष्य थे। उन्होंने जब देखा पृथिवीपर कलिकाल छा गया तो वे निरन्तर गुफामें रहने लगे, उन्होंने सोचा—"मैं कलयुगी मनुष्योंको देखूँगा नहीं, क्योंकि इनके संसर्गसे अन्तरात्मा कलुषित हो जाती है।" जब भगवान् शङ्करका अवतार हुआ और उन्होंने अपने गुरुके भी गुरुकी यह बात सुनी तो उनके दर्शनोंके लिये गये। गुफाके द्वारपर जाकर उन्होंने स्तुति की। परम श्रुतमधुर भावपूर्ण स्तुतिको सुनकर भीतरसे भगवान् गौड़पादाचार्यने कहा—"कौन है ?"

बाहरसे भगवान् शङ्कराचार्यने कहा—"मैं हूँ शङ्कर"।

आचार्यने भीतरसे पुनः पूछा—"क्या शङ्करका अवतार हो गया ?"

आचार्य शङ्कर कुछ भी न बोले। आचार्य गौड़पादने कहा—"क्या चाहते हो ?"

शङ्कर स्वामीने कहा—"दर्शनों की अभिलाषा है।"

आचार्य गौड़पाद बोले—"दर्शन तो असम्भव है।' फिर कुछ सोचकर उन्होंने भीतरसे श्रीविष्णुसहस्रनाम फेंका और कहा—"अच्छा इसपर भाष्य लिखो ?"

भगवान् शङ्करने तुरन्त उसपर भाष्य लिखा, जो अद्यावधि उपलब्ध है। उसे पढ़कर भगवान् गौड़पादाचार्य परम प्रसन्न हुए। फिर भी शंकराचार्य स्वामी को उनके सम्पूर्ण शरीरके दर्शन नहीं हुए केवल चरणोंके ही दर्शन हुए। यह आजसे लगभग दो ढाई सहस्र वर्ष पहिले की बात है। तब से कलियुग का बल बढ़ा ही है, कुछ घटा नहीं है। अब क्या दशा होगी। इसका विज्ञ-पाठक अनुमान करें।

सुनते हैं, धर्मराज युधिष्ठिरसे एक बार कलियुगकी भेंट हुई। उसने धर्मराजसे कुछ वर माँगने को कहा। धर्मराजने कहा—"अच्छा, पाँच सहस्र वर्ष तुम अपना प्रभाव मत दिखाना।" यह बात कलियुगने मान ली। वैसे तो महाभारत युद्ध के समय ही कलियुग आ गया था। द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, कर्ण तथा शल्यादि योद्धाओं की मृत्यु अधर्मपूर्वक ही की गयी। वहाँ स्थान स्थान पर कहा गया है, यह सब कलिका प्रभाव है, फिर भी धर्म के प्रति लोगों की सर्वथा अनास्था नहीं हुई थी। शनैः शनैः अधर्म की वृद्धि होती रही। फिर भी लोगोंकी गौ, ब्राह्मण, देवता वेद, वर्णाश्रमधर्म, साधुसन्त, कथा वार्ता, तीर्थ व्रत, दान पुण्य, शौच स्वाध्याय तथा अन्यान्य पर्व स्नानादि धार्मिक कृत्यों में आस्था बनी रही। विदेशियों का भी आक्रमण हुआ। विदेशी अपना देश त्यागकर यहीं बस गये, फिर भी हमने उन्हें अपनाया नहीं क्योंकि वे हमारे धर्म के शत्रु थे। धर्म त्यागने को उन्होंने हमें भाँति भाँति की यातनायें दीं। हमने प्राणोंको त्यागना स्वीकार किया किन्तु धर्मको नहीं त्यागा।

कलियुग को पाँच सहस्र वर्ष हो गये।—पाँच सहस्र से अधि

५२ वर्ष अधिक हो गये। अब कलिकालने अपना रूप दिखाया है। इन पचास वर्षोंमें धर्म का जितना ह्रास हुआ है, उतना पाँच-सहस्र वर्षोंमें भी नहीं हुआ। गत चार पाँच वर्षों से-जबसे हमें यह मिथ्या स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है, तबसे-तो धर्मपर प्रत्यक्ष प्रहार किया जाने लगा है। समस्त अनर्थोंका मूल धर्मको ही बताया जा रहा है। उन्नतिमें सबसे अधिक बाधक है तो यह धर्म और धर्मका प्रचार करनेवाले ये लंबे तिलकधारी पोंगा-पन्थी। अतः शासकोंकी पूरी शक्ति इन्हींके मिटानेके लिये लगी है। जो प्रत्यक्ष बलात्कार करते हैं, जो दूसरोंकी बहिन बेटियोंका अपहरण करते हैं, जिनके यहाँ बलात्कार, हत्या, लूटपाट बल-पूर्वक धर्मपरिवर्तन न्याय माना जाता है, उन विधर्मियोंसे तो कोई बोलता नहीं, यही नहीं उनकी तो सर्वदा अनुनय विनय करते रहते हैं, और जो मानव-धर्म है' जिसका आधार ही विश्व-कल्याण है उन सार्वजनिक धर्मको सांप्रदायिकता कहकर उसके ऊपर कुठाराघात किया जा रहा है, उसके माननेवालोंको देशद्रोही तथा उन्नतिके शत्रु बताया जा रहा है, इसे हम कलिके प्रभावके अतिरिक्त और क्या कहें। "अधर्मं धर्ममिति वा मन्यन्ते तमसावृताः"।

इधर ६ वर्ष मैं "भागवती कथा" के लेखन कार्यमें ही लगा रहा। भागवतदर्शनके अन्तर्गत भागवती कथाके ६० भाग पूरे हो गये और कथा भाग प्रायः समाप्त हो गया' तो कुछ घूमने घामनेकी इच्छा हुई। मानवस्वभाव कुछ परिवर्तन चाहता है। एक ही परिस्थितिमें रहते रहते ऊब—सी होने लगती है। कार्यके अनन्तर कुछ अवकाश, कुछ विश्राम भी चाहिये। इसीलिये परदेशोंमें कार्य करनेवाले पर्व त्योहारोंपर अपने अपने घर हैं। घरोंमें रहनेवाले अवकाशके दिनोंमें पर्वतोंपर पर्यटन चले जाते हैं, अपने इष्ट मित्र, सगे सम्बन्धियोंसे मिलने

जाते हैं। जलवायुका परिवर्तन हो जाता है, भोजन भी सुन्दर स्वादिष्ट मिल जाता है, कार्यसे भी कुछ दिनका अवकाश मिल जाता है, खेल कूद, हँसी विनोद पर्यटन, मन बहलाव आदिकी सामग्री भी प्रचुर मात्रामें मिल जाती है। कुछ दिन मन बहलाकर फिर अपने कामपर आ जाते हैं, फिर नवशक्ति नूतन उत्साह लेकर अपने कार्यमें जुट जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें कभी अवकाशकी अपेक्षा ही नहीं। निरन्तर—मरणपर्यन्त-अपने कार्यमें समानभावसे जुटे रहते हैं। वे मानुष नहीं अति मानुष हैं या मनुष्येतर। साधारण मनुष्य कुछ अवकाशका इच्छुक रहता है।

मैंने छै वर्षका ही निश्चय किया था। मेरा अनुमान था छै वर्षमें भागवतदर्शन पूरा लिख जायगा। तब ५०। ६० खण्डोंमें ही पूर्ण ग्रन्थके समाप्त होनेका अनुमान था। सो ६० खण्डोंमें तो केवल कथाभाग भागवती कथा-ही समाप्त हुई। अब स्तुति भाग, दर्शनभाग, इतिहासभाग, वेदवेदांगभाग, भूगोल, खगोल' कर्म, उपासना, ज्ञान, स्वर्ग, नरक आदि विविध विषयोंके ऊपर पड़ेगा। इस शास्त्र सागरका कहीं अन्त नहीं, अवसान नहीं, पार नहीं, ओर छोर नहीं। केवल व्याकरण शास्त्रके लिये ही कहा गया है—"ब्रह्मादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः" अर्थात् इस व्याकरण जैसे तो अनंत शास्त्र हैं। बहुतसी न पासके। फिर व्याकरण जैसे तो अनंत शास्त्र हैं। बहुतसी विद्यायें हैं। समय थोड़ा है, जीवन क्षणभंगुर है, पता नहीं कब जीवात्मा इस शरीरसे पृथक् हो जाय। फिर संसारमें नित्य नये विघ्न आते हैं। ऐसी अप्रत्याशित उलझनें आ जाती हैं, जिनका क्षण भर पहिले किसी प्रकारका अनुमान ही नहीं होता। इन सब कारणोंसे शास्त्रकारोंने कहा है—"यत् सार भूतं तदुपासनीयम्" शास्त्रोंमें जो सार सार वस्तु हो उसीको ग्रहण करना

चाहिये। भगवान् व्यासदेवका ही उपवन अनन्त और गहन है उसमें असंख्यों बहु मूल्य सुमन हैं। भाग्यका मारा प्रभुदत्त उस उपवनमें-अपनी वासनाकी पूर्तिके लिये—घुस गया है। अब वह जिस पुष्पको भी देखता है उसे ही चुनना चाहता है। पात्र उसका छोटा है, मर्त्यधर्मा होनेसे समयका भी उसे अभाव है। सुमन लोभी होनेसे छोड़नेको भी चित्त चाहता नहीं। यही सब उलझने हैं। पुत्रेष्णा, लोकेष्णा तथा वित्तेषणा ये तीनों तो ऐसी हैं कि छोड़ी भी जा सकती हैं, किन्तु इन तीनोंसे भी शास्त्रेष्णा अत्यंत कठिन है, इसीलिये वेदान्तके जिज्ञासुको सचेत करते हुए गुरु उपदेश देते हैं—"हे पुत्र! यह शास्त्रजाल एक बड़ा भारी अरण्य है तू इसमें प्रवेश मतकर। जहाँ तू इसमें अधिक घुसा कि भटक जायगा।" अब मुझे तो किसीने भटका दिया है, मेरी वासनाने कहा, मेरे कर्मोंने कहा या दैवने कहा। जब वही हाथ पकड़कर निकालेगा तो निकल सकता हूँ। अभी तो किसी प्रबल शक्तिसे बढ़ता ही जाता हूँ बढ़ता ही जाता हूँ, इस दिव्यातिदिव्य उपवनका आर नहीं छोर नहीं। अरे मैं तो भूल गया। अवकाशकी बात कहते कहते कहाँ बहक गया।

हाँ, वा इसी आषाढ़ी पूर्णिमाको छै वर्ष हुए श्रावण कृष्णा पंचमीको यहाँसे प्रस्थान किया। सब प्रथम नैमिषारण्य गये प्रथम नैमिषारण्य ही क्यों गये जी ? इसीलिये कि सर्व प्रथम सूतजीने यहीं शौनकादि अठासी सहस्र मुनियोंको श्रीमद्—भागवतकी कथा सुनायी, पूरी भागवतमें असंख्यों बार आता है—"सूतजी कहते हैं—"मुनियो।" सो उन सूत और मुनियोंके स्थानमें जाकर उनके ही लिखाये हुए "भागवत चरित" का सप्ताह सुना आवें, अपनी भागवतको व्रजभाषामें सुनकर सूतजी तथा शौनकादि सभी मुनि प्रसन्न होंगे। नैमिषारण्यमें भगवती गोमतीके तटपर घोर वनमें एक "व्यासगादी" है। इसी व्यास-

गादीपर बैठकर सूतजी मुनियोंको कथा सुनाते थे। बड़ा ही शान्त एकान्त रमणीक स्थान है विशाल वटवृक्ष है, । मनु शतरूपाने यहीं तप किया था उनकी समाधि भी है । एक छोटासा मंदिर है विशाल वट वृक्षसे उस आश्रमकी शोभा अनुपम हो गयी है। सघन विशाल वट वृक्षके नीचे अखण्ड कीर्तन हुआ और मंदिरमें भागवतचरितका सप्ताह। वहाँसे पहुँचे श्री वृन्दावन धाम में।

वृन्दावन क्यों पहुँचे जी ? अरे, भाई भागवतमें वृन्दावन विहारीकी ही लीलाओंका तो वर्णन है। अपना चरित्र सुनकर सभीको प्रसन्नता होती है। वृन्दावन विहारी ही तो इसके प्रधान नायक हैं। अतः वेदान्ताचार्य स्वामी चक्रपाणिजीके आश्रममें भागवत चरितका सप्ताह करके गये गोवर्धनको तलहटीमें-गोपी स्थल कुसुम सरोवर पर।

"कुसुम सरोवर पर क्या है जी ?" कुसुम सरोवर वह स्थल है जहाँ गोपिकायें आकर श्रीकृष्णसे मिलती थीं जहाँ रास विलास होता था। जहाँ उद्धवजी अब तक गोपिकाओंकी चरण-धूलिके लोभसे गुल्मलताके रूपमें निवास करते हैं। रासेश्वरी श्रीवृषभानु नन्दिनीकी यह अत्यन्त ही प्रिय क्रीड़ास्थली है। इस स्थानका नाम है रस वृन्दावन, अतः प्रियाजीकी प्रसन्नताके निमित्त यहाँ भी सप्ताह पाठ हुआ। गोवर्धन पूजा छप्पन भोग हुए। यहाँसे गये नन्दगाँव बरसाने जो प्रिया प्रियतमके निवास स्थल हैं। जन्माष्टमी नन्दगाँवमें ही हुई। यहाँसे देहली मुजफ्फरनगर होते हुए गंगातट शुकाश्रमपर पहुँचे जहाँ भगवान शुकदेवने महाराज परीक्षितको श्रीमद्भागवतका सप्ताह सुनाया था। वहाँसे हरिद्वार, ऋषीकेश, देवप्रयाग, रुद्र-प्रयाग, कर्णप्रयाग, नन्दप्रयाग, विष्णुप्रयागोंमें स्नान करते हुए श्रीबद्रीनाथधाममें पहुँचे जहाँ व्यास भगवानने समस्त पुराणोंको

चनाया है । जहाँ सर्व प्रथम श्रीमद्भागवत लिखी गयी है। भगवान् बद्रीनाथने अबके अत्यन्त प्यार किया । उनको "भागवत-चरित" सुनाया । वहाँसे लौटकर फिर शुकाश्रम आये तीस घण्टेमें श्रीशुकदेवजीको "भागवतचरित" सुनाकर देहली होकर पूरे तीन महीनेमें फिर तीर्थराजप्रयागमें लौट आये यही यात्राकी संक्षिप्त तालिका है ।

"आपने तो सूची सुनादी, कुछ विशेष बात सुनाओ, तुमने कहाँ कहाँ क्या क्या देखा ?" भागवतीकथाकी भूमिकाके संकुचित स्थलमें इस इतने बड़े प्रश्नका उत्तर दिया ही कैसे जा सकता है । देखा बहुत कुछ और फिर उसका वर्णन और भी विस्तारसे किया जा सकता है, किन्तु स्थान संकोच तथा अन्य भी कई संकोचोंके कारण इन सबका विस्तृत विवेचन न करूँगा ।

अनुभव ऐसा किया कि हममेंसे सद्गुण सहानुभूति आदि मानवीय गुण दिनों दिन निकलते जा रहे हैं, उनके स्थानमें स्वार्थ-परता, विषय तृष्णा आदि दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं। हम सोचते तो यह हैं, कि हम उन्नति कर रहेहैं, किन्तु वास्तवमें अधिका-धिक अवनतिकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। हम जिस क्षेत्रमें भी जाते हैं, वहीं दम्भ हमारा पीछा करता जाता है । दम्भकी एक कथा है ।

ब्रह्माजीके दो पुत्र हुए। एक धर्म दूसरा अधर्म । धर्म हृदयसे हुआ, अधर्म पीठसे हुआ । दोनों की ही सन्तति बढ़ी। अधर्मका विवाह मृषा (असत्यता) के साथ हुआ । उस मृषाके गर्भसे ही दम्भ नामक पुत्र हुआ । अधर्मने सोचा—"मैं अपने पूज्य पिता भगवान् ब्रह्माजीके चरणोंमें जाकर अपने इस पुत्रको डाल दूं। वे अपने पौत्रका मुख देखकर प्रसन्न होंगे और इसे आशीर्वाद देंगे ।" यही सब सोचकर अधर्मजी कपने पुत्र मृषा-नन्दन दम्भजीको लेकर ब्रह्माजीकी सभामें गये ।

अधर्मने जाकर पहिले लोकपितामह भगवान् ब्रह्माजीको प्रणाम किया और अपने पुत्र दम्भसे भी प्रणाम करनेको कहा। दम्भने दूरसे ही हाथ जोड़ दिये। ब्रह्माजी पौत्रका मुख देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने अत्यन्त स्नेहसे ब्रह्मचारी बने दम्भसे पुचकारकर कहा "आ बेटा! मेरी गोदमें बैठ।"

दम्भने तुरन्त कुशा हाथमें ली। कमंडलु से जल निकाला और ब्रह्माजीकी गोदमें जल छिड़ककर मंत्र पढ़ने लगा—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरशुचिः॥

इस प्रकार ब्रह्माजीकीगोदको जलसे छिड़ककर-मंत्रसे पवित्र करके तब बैठा। यह देखकर ब्रह्माजी खिल खिलाकर हँस पड़े और बोले—"वाह! बेटे! तू संसारमें अवश्य विजयी होगा। जगत्को पवित्र करने वाली मेरी गोदको भी तू पवित्र करके बैठा।"

आज दम्भने सभा क्षेत्रोंमें सभी संस्थाओंमें सभी व्यक्तियोंमें अपना आसन जमा लिया है। पाठक यह न सोचें कि मैं उनसे कम हूँ, मैं औरोंसे दो हाथ बढ़कर हूँ। आज जहाँ देखो तहाँ बातें तो बड़ी लम्बी लम्बी हैं कर्तव्य कुछ नहीं हैं। वर्षात्में मेढ़कोंकी बाढ़ आ जाती है वैसे ही आज अखिल भारत वर्षीय संस्थाओंकी बाढ़ आ गयी है। उनमें और चाहें कुछ न होता हो कागदी घोड़े दौड़ते रहते हैं। समाचार पत्रोंका व्यसन ऐसा बढ़ गया है, कि देहली में प्रातः चार बजे ही नित्य समाचार पत्र बेचने वाले हमारी निद्राभंग करते थे। सत्संगभवन बनानेको आज सब तैयार हैं, किन्तु सत्संग करने वाले नहीं। जो करते भी हैं, उसे सत्संग कहनेमें लज्जा लगती है। एक सत्संगी दूसरे सत्संगियों से जलते हैं बात बात पर लड़ते हैं, उन्हें नीचा दिखानेके विविध उपाय करते हैं। जिसका अधिक ठाट हो, जिसके यहाँ अधिक चमक दमक हो, अधिक उज्वल कपड़े और उज्वल

चमड़ी वाले आते हैं दस बीस हवा गाड़ी खड़ी रहती हों, वही सबसे बड़ा महात्मा सिद्ध माना जाता है। जिन छोटी छोटी बातोंपर साधारण गृहस्थी भी न लड़ते होंगे उनके ऊपर ये सत्संग वाले लड़ते हैं और उनसे कोई पूछता है—तो दोनों ही अपनी हठको सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, भाँति भाँतिके तर्क देते हैं। अपने अधिकारका प्रश्न बताते हैं और अधिकारके लिये मर मिटनेको कहते हैं।" वास्तवमें दुःख तथा अशान्तिके दो ही कारण हैं। विषय भोगोंकी अधिकतृष्णा और अधिकार प्राप्त करनेकी भावना। इसी प्रकार सुख के भी दो ही कारण हैं सन्तोष और अधिकारका परित्याग। जब तक मनुष्य यथा लाभमें संतुष्ट न रहेगा और अपने अधिकारोंका प्रसन्नता पूर्वक परित्याग न करेगा, तब तक उसे वास्तविक शान्ति नहीं। किन्तु आज हम देख रहे हैं, लोग स्वयं तो अशान्त हैं ही दूसरोंकी शान्ति भंग करनेका सतत प्रयत्न करते रहते हैं। दूसरोंको तो त्यागका उपदेश देंगे। स्वयं छोटी छोटी बातोंके लिये लड़ेंगे, तनिकसे लोभके लिये अड़ जायँगे। परस्परमें जो प्रेम सहानुभूति होती थी, वह अब कहीं दिखायी ही नहीं देती। पहिले लोग किस प्रकार हृदय खोलकर मिलते थे, कितना प्रेम प्रदर्शित करते थे। अब बोलमें, चालमें, मिलनेमें, आचारमें, व्यवहारमें सर्वत्र बनावट आ गयी है। समाजमें, साहित्यमें, राजनीतिमें, कलामें, व्यापारमें धर्ममें कर्ममें सबमें स्वार्थपरताने अड्डा जमा लिया है। जो स्वयं आचरण नहीं करते वे दूसरोंको उपदेश देते हैं, जिनको दीक्षा देनेका अधिकार नहीं, उन्होंने दीक्षा देनेकी दुकान खोल रखी है। जो चाहो उनसे दीक्षा ले जाओ, जिसका चाहो मन्त्र ले जाओ। कोई विचार नहीं, पूछ नहीं, ताछ नहीं।

किसी एक व्यक्तिने किसी सन्यासीसे पूछा—"सन्यासीको तो गृहस्थियोंको मन्त्र दीक्षा देना निषेध है। गृहस्थियोंको दीक्षा देने-

वाले तथा लेने वाले दोनों ही नरकमें पड़ते हैं। शास्त्रोंमें अनेक स्थानपर इसका निषेध है। फिर आप मंत्र दीक्षा क्यों देते हैं ?"

इसपर उन्होंने हँसकर कहा—"हाँ भाई ! सत्य है। हम भी जानते हैं सन्यासीके लिये यह उपाधि ही है; किन्तु भैया बिना मन्त्र दिये लोग फँसते नहीं। यों मन्त्र देनेसे लोग बँध जाते हैं। ऐसे न बाँधे तो काम कैसे चले।" इससे यही सिद्ध हुआ कि हमें दूसरोंकी चिन्ता नहीं। दूसरे चाहें भाड़में जायँ हमें तो अपना उल्लू सीधा करना है। दूसरे नरक जायँ चाहे स्वर्ग। हमारे लोग पैर पूजें, हमें चन्दन माला चढ़ावें, हमारी जय बोलें, हमारा मठ, मन्दिर आश्रम बने। कथा वार्ता कहकर उपदेश देकर लोगोंको फँसाये रखें, स्वयं उनपर आचरण न करें। इसका परिणाम यह होता है, कि यहाँ तो हमारी दुकानदारी चल जाती है, किन्तु अन्तमें नरककी यातनायें झेलनी पड़ती हैं। स्कन्दपुराणमें इस विषयकी एक बड़ी सुन्दर कहानी है—

एक नन्दभद्र नामके परम धार्मिक वैश्य थे। वे नित्य नियमसे शिवजीकी पूजा किया करते थे। वे बड़े धर्मात्मा, इन्द्रियजित त्यागी, सन्तोषी, सरल तथा स्वधर्म निष्ठ थे। आजीविकाके लिये वे अपने स्वधर्म का ही पालन करते। अर्थात् वाणिज्य करके ही अपना काम चलाते बहुत ही न्यून-नाममात्रको-वे लाभ लेते। सदा दूसरोंके उपकारमें ही लगे रहते। जो भी कर्म करते निष्काम भावसे प्रभु प्रीत्यर्थ ही करते। वे जैसे धर्मात्मा थे वैसी ही उनकी धर्मपरायणा सती साध्वी कनका नामकी धर्मपत्नी थी। वह अपने पति को परमेश्वर मानकर पूजती और सदा उनकी आज्ञामें रहती। किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसका भी उन्हें कोई दुख नहीं था, वे सोचते थे हमारे भाग्यमें यही बदा होगा।

वृद्धावस्था में आकर नन्दभद्र के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कुछ काल जीवित रहकर वह लड़का मर गया। इसके कुछ काल पश्चात् उनकी सहधर्मिणी भी चल बसी। यद्यपि नन्दभद्र बड़े धैर्यवान् तथा विवेकी थे, किन्तु पत्नी के परलोक गमन से उन्हें दुःख हुआ। गृहस्थाश्रम की जड़ तो धर्मपत्नी ही है। गृहिणी के बिना गृह कैसा। संसार में गृहस्थधर्मावलम्बी पुरुषों के लिये गृहिणी से बढ़कर कोई साथी नहीं, सहायक नहीं, मित्र नहीं, सुख देने वाला तथा प्रेम करने वाला नहीं। बहुत से लोग आकर नन्दभद्र के दुख मे समवेदना प्रकट करने लगे।

उनका एक सत्यव्रत नामक पड़ौसी शूद्र था। नाम तो उसका सत्यव्रत था, किन्तु था वह बड़ा धूर्त, दुराचारी तथा नास्तिक। वह नन्दभद्र की इतनी प्रतिष्ठा तथा प्रशंसा सुनकर सदा मन ही मन जलता रहता। उसे उनकी शिवपूजा, सत्यनारायण, समता सुशीलता आदि बातें अच्छी नहीं लगती थीं, वह चाहता था नन्दभद्र मेरी ही भाँति नास्तिक हो जाय, किन्तु उसे उनसे कहने का कभी साहस नहीं होता था। अब जब उन पर विपत्ति के ऊपर विपत्ति आई तो सत्यव्रत को अवसर मिल गया। वह सहानुभूति प्रकट करने नन्दभद्र के समीप गया और इधर उधर की बातें बनाकर बोला—"नन्दभद्रजी! मैं बहुत दिनों से आप से एक बात कहना चाहता था, किन्तु आपको दुख न हो इससे कह न सका। आज जब अवसर आ गया, तो मेरी कहने की इच्छा है, आप आज्ञा करें तो मैं कहूँ?"

नन्दभद्रजी ने कहा—"कहो भाई! ऐसी कौन-सी बात है, जिसे तुम इतने दिनों तक छिपाये रहे।"

सत्यव्रत ने कहा—"देखिये, आप जो इस पत्थर को महादेव मानकर पूजते हैं, समस्त अनर्थ का हेतु तो यही कार्य है। पत्थर पूजते पूजते आपकी बुद्धि पर भी पत्थर पड़ गये हैं, इस व्यर्थ ये

कर्म से लाभ क्या ? यदि इस पत्थर में कुछ भी शक्ति होती तो आप सन्तान हीन क्यों रहते ? जैसे तैसे वृद्धावस्था में आपके एक पुत्र हुआ वह भी पैदा होते ही मर गया। आपकी धर्मपत्नी कितनी अच्छी थी वह भी चल बसी बुरे कर्मों का बुरा ही फल होता है। देवता, पितर, ईश्वर फीश्वर कुछ नहीं। यह तो स्वार्थी ब्राह्मणों की मन गढ़न्त है। देवता के नाम से चढ़ावा चढ़वाते हैं अपना स्वार्थ साधते हैं। पितरों के नाम से खीर पूड़ी बनवाते हैं, अपनी तोंद में भरते हैं। आप ही सोचो—मरा आदमी कभी खाने आ सकता है। ईश्वर के नाम पर कितने पाप करते हैं। लोग कहते हैं इस जगत् को ईश्वर ने बनाया। संसार में सब कार्य स्वभाव वश हो रहे हैं। इसमें ईश्वर की क्या आवश्यकता है। ये सब मिथ्या बातें हैं, धूर्तों ने अपने स्वार्थ के लिए ऐसी अंट संट बातें बना रखी हैं। आप मेरी बात मानों इस पूजा पाठ को छोड़ो। प्रेम से खाओ पीओ भोग भोगो। यही तो संसार में सार है,परलोक फरलोक कुछ नहीं, जो भी कुछ है सब यहीं है।"

सत्यव्रत की ऐसी बात सुनकर नन्दभद्र हँस पड़े। उसकी इन नास्तिकता पूर्ण बातों का उन पर रञ्चक मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे बड़े धैर्य के साथ हँसते हुए बोले—"बन्धुवर ! आपका कहना युक्ति संगत नहीं। यदि धर्म करने से ही मेरी पत्नी तथा पुत्र की मृत्यु हुई, तो जो नित्य अधर्म करते हैं, सदा खाने पीने और भोग भोगने में ही लगे रहते हैं, उन पर कोई विपत्ति न आनी चाहिये, किन्तु हम देखते हैं ऐसे लोगों पर भी विपत्तियाँ आती हैं उनके भी पुत्र मरते हैं, वे लोग तो अत्यन्त अधीर हो उठते हैं, मैं तो भगवान् की पूजा के प्रभाव से उतना अधीर नहीं हुआ हूँ। भैया ! मरना जीना यह सब प्रारब्ध वश है। तुम कहते हो यह संसार स्वभाव से ही चल रहा है। स्वभाव को भी कोई नियन्त्रण करने वाला चाहिये। कोई जड़यन्त्र है जब तक उसका

कोई परिचालक न होगा वह चलेगा कैसे। यदि चलना उसका स्वभाव ही मान लें तो फिर वह कभी रुकेगा नहीं चलता ही रहेगा। स्वभाव से भोजन तो नहीं बन जाता। उसे कोई न कोई बनाने वाला चाहिये। तुम ये बातें नास्तिकता की कर रहे हो। मेरे तो शिव जी ही इष्ट हैं सर्वस्व हैं, उनके पूजन से ही मेरा कल्याण होगा। आप अपने ज्ञान को अपने पास ही रखिये, मुझे आपके उपदेश की आवश्यकता नहीं।"इतना कहकर नन्दभद्र चुप हो गये सत्यव्रत भी अपना-सा मुख लेकर अपने घर चला गया।

नन्दभद्र की पत्नी मर चुकी थी, उन्हें संसार से वैराग्य हो गया था। उन्हें संसार की गति जानने की अभिलाषा हुई। यह संसार कैसा चलता है। यदि यह संसार सच्चिदानन्द सदाशिव से ही बना है, तो चैतन्य से तो चैतन्य ही वस्तु बननी चाहिये उनसे यह जड़-जगत् कैसे बना।" ऐसी जिज्ञासा होने पर नन्द भद्र अपना घर छोड़कर बहूदक तीर्थ के समीप चले गये वहाँ कॉपलेश्वर नामक एक शिवजी थे। उनकी पूजा करके वे अपनी शंकाओं के समाधान के लिये वहीं खड़े रहे। चार दिनों तक वे इसी प्रकार शिवजी का चिन्तन करते रहे। न तो उन्होंने कुछ खाया पीया ही और न वे बैठे ही।

चौथे दिन वहाँ पर एक अत्यन्त दुबला पतला सात वर्ष का बालक आया। उसके सम्पूर्ण अंग में गलित कुष्ट था, वह [illegible] कष्ट से चलता था, चलते चलते उसे मूर्छा भी आ [illegible] नन्दभद्र को वहाँ इस प्रकार बिना खाये पीये खड़े देखकर [illegible] पूछा—"महानुभाव, आप कौन हैं, क्यों इतने अधीर [illegible]

नन्दभद्र ने कहा—"बालक ! मेरे एक वृद्धावस्था [illegible] था, वह मर गया मेरी पत्नी भी मर गयी। मेरे [illegible] या है। यह संसार कैसे हुआ, इसमें प्राणी इतना [illegible]

बालकने कहा—"मिथ्या विषयोंमें फँसकर [illegible]

नन्दभद्र ने पूछा—"इस दुःख से छूटने का कोई उपाय भी है ?"

बालक ने कहा—"उपाय क्यों नहीं है। अवश्य है। इसका एकमात्र उपाय है, कि चित्त को किसी सांसारिक वस्तु में आसक्त न होने दे। मन किसी स्त्री में या स्त्री का मन किस पुरुष के रूप में फँस जाय, तो विवेक से काम ले। सोचे इसमें प्रियता की कौन वस्तु है। मुख लाल है तो प्रियता हड्डी, मांस, रक्त, थूक, खकार, दाँत या चर्म में है या ललाई में। इस प्रकार सबका विवेचन करे। इस प्रकार जो आसक्ति का त्याग कर देता है वह वैरभाव से रहित हो जाता है, उसकी विषमता नष्ट हो जाती है, सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है। फिर वह विषयों की सामग्रियों को जोड़ जोड़कर अपने समीप भी नहीं रखता। जो मिल जाता है उसीमें सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार के अनासक्त, त्यागी, निर्वैर तथा निष्परिग्रह पुरुष कभी दुखी नहीं होते। इसलिये अधिक किसी में स्नेह या आसक्ति न करनी चाहिये। विषयों की तृष्णा ही बन्धन का हेतु है।'

नन्दभद्र ने पूछा—"बालक ! तुम हो तो बहुत छोटे किन्तु बात बड़ों की-सी करते हो। अच्छा यह बताओ हमने ऐसे पापी पुरुषों को देखा है, जो सदा पाप करते रहते हैं, किन्तु उनके धन भी है, संतानें भी हैं, सुखोपभोग की सामग्री भी हैं। इसमें विपरीत बहुत से ऐसे लोग भी देखे गये हैं जो सदा पुण्य कर्म करते रहते हैं, किन्तु उन पर खाने को अन्न नहीं युवक पुत्र मर जाते हैं तथा भाँति भाँति की विपत्ति सहते हैं। पाप का फल दुख होना चाहिये और पुण्य का सुख किन्तु विपरीत क्यों दिखाई देता है ?"

बालक ने कहा—"श्रेष्ठिप्रवर ! शुभ अशुभ कैसे भी कर्म क्यों न किये जायँ, कर्मों का फल अवश्य ही मिलता है। संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं—

१—एक तो वे जिनको इस लोक में तो सुख होता है किन्तु परलोक में दुख मिलता है।

२—दूसरे वे लोग हैं, जिन्हें इस लोकमें दुख मिलता है, किन्तु परलोक में सुख मिलता है।

३—तीसरे वे लोग हैं जिन्हें इस लोकमें भी सुख प्राप्त होता है और परलोक में भी सुख होता है।

४—चौथे वे लोग हैं, जिन्हें न इस लोकमें सुख होता है न परलोकमें।"

नन्दभद्रने पूछा—"ऐसा क्यों होता है, हम कैसे अनुमान लगालें कि जिसे इस लोकमें सुख नहीं उसे परलोकमें सुख होगा अथवा जो इस लोकमें सुखी है उसे परलोक मे दुख होगा।"

बालक बोला—"जिन्होंने पूर्वजन्ममें दान आदि शुभ कर्म किये हैं, किन्तु उन्हें तमोगुणी भावसे किया है, तो दानके प्रभावसे तो उन्हें संसारी सुखोपभोग प्राप्त होते हैं, किन्तु तमोगुणके प्रभावसे इस जन्ममें उनकी धर्ममें रुचि नहीं होती। पूर्वजन्मकृत पुण्योंका उपभोग करते हैं, किन्तु आगेके लिये सुकृत नहीं करते। वे इस लोकमें तो सुखी-से दीखते हैं, किन्तु परलोकमें उन्हें दुःख ही मिलता है।

दूसरे वे हैं, जिन्होंने पहिले कोई बहुत दान पुण्यादि सत्कर्म नहीं किये हैं, किन्तु बहुत पाप भी नहीं किये हैं। सत्कर्म न करनेसे उन्हें इस लोकमें संसारी भोग प्राप्त नहीं होते, बड़े कष्टसे उनकी संसारयात्रा चलती है, किन्तु सद्भावनाके प्रभावसे उनकी मति सदा जप, तप आदि पुण्यकर्मों में लगी रहती है, निरन्तर वे धर्मका आचरण करते रहते हैं। उनका यह लोक तो दुःखमय बीतता है, किन्तु परलोकमें वे अनन्त सुख भोगते हैं। जो दरिद्री होकर भी सदा सत्कर्मोंमें लगे रहें, उन्हें समझना चाहिये इनका परलोक सुखमय होगा।

तीसरे जिन्होंने पूर्वजन्ममें भी अच्छे कर्म किये हैं और इस जन्ममें भी निरन्तर अच्छे ही कर्म करते रहते हैं। धन धान्य, पुत्र परिवार, मानप्रतिष्ठा होनेपर भी कभी अहंकार नहीं करते, साधु संत गुरुजनोंका आदर करते हैं यथा शक्ति दान धर्म, व्रत उपवास करते ही रहते हैं उनका यह लोक भी सुखमय बीतता है और परलोकमें भी जाकर अक्षय सुख भोग करते हैं।

चौथे वे होते हैं जिन्होंने न पहिले ही सुकृत किये हैं, सदा पापकर्ममें रत होनेसे दरिद्री, क्रूर, हिंसक ईर्ष्यालु हुए हैं, वे इस-लोकमें भी दाने दानेके लिये तड़पते रहते हैं, शरीरमें भाँति भाँतिके रोग होते हैं और परलोकमें भी जाकर नरककी यातनायें सहते हैं। महात्मन्! सब प्राणी कर्मोंके अधिन हैं, हमें दुःख सुख पूर्वजन्म कृत पापोंसे ही प्राप्त होते हैं। इसलिये वर्तमान सुख दुखकी ओर ध्यान न देकर सदा भगवन्नाम कीर्तन भगवत्पूजा और भगवान्के स्मरण भजनमें लगे रहना चाहिये। अति दुर्लभ मनुष तन पाकर एक क्षण भी व्यर्थ न बिताना चाहिये। मनुष्य शरीर बड़ा दुर्लभ है इसीसे साधन भजन होता है। मनुष्य ही नरकमें जाता है वही स्वर्ग भी प्राप्त कर सकता है। यही कर्मयोनि है' शेष सब भोगयोनि हैं।

नन्दभद्रने पूछा—"बालक! प्रतीत होता है तुम सर्वज्ञ हो। अच्छा बताओ तुम कौन हो? तुम्हें यह कष्ट क्यों मिल रहा है, किस पापके कारण तुम्हारे सम्पूर्ण शरीरमें गलित कुष्ट हुआ?"

इस पर बालक बोला—"श्रेष्ठिप्रवर! यह सब भी मैं अपने कृत कुकर्मोंका फल भोग रहा हूँ। महात्मन्! मेरी बड़ी लम्बी कथा है, मैं अपने आठ जन्मोंकी कथा आपको सुनाऊँगा, इस जन्मसे पूर्व आठवें जन्ममें मैं विदिशा नगरीमें एक बड़ा ही प्रसिद्ध पंडित था, ब्राह्मण कुलमें मेरा जन्म हुआ था। मैं समस्त वेद तथा वेदाङ्गोंका तत्वज्ञ था, धर्म शास्त्रज्ञोंमें मैं सर्वश्रेष्ठ समझा

जाता था, मेरी वक्तृत्व शक्तिकी सर्वत्र धाक थी। धर्मशास्त्र, इतिहास तथा पुराणोंके मैं प्रसिद्ध व्याख्याता था। लोग मेरे व्याख्यानको सुनते और मुग्ध हो जाते। इतना सब होने पर भी मेरा निजी आचरण अत्यन्त निन्द्य था। लोगोंको तो मैं धर्मका उपदेश देता किन्तु स्वयं अधर्मका आचरण करता, सबसे सदाचार पालन करनेको कहता किन्तु स्वयं दुराचार करता। मैं मांस भक्षण करता, मदिरापान करता, परस्त्री गमन करता कहाँ तक कहूँ असत्य, दम्भ, पाखंड, कपट, लोभ, दुष्टता, शठता सभीमें मैं निपुण था। हैं धर्मका जाल बिछाकर लोगोंको ठगता था इसी लिये विद्वानोंने मेरा नाम धर्मजालिक रख दिया था। लोगों को उपदेश देकर मैंने धन बटोरा साथ ही पाप भी बटोरा। मैं उपदेश तो भगवान् व्यासजीके शास्त्रोंका करता, किन्तु मेरी दृष्टि धनकी ओर लगी रहती। भोली भाली स्त्रियोंको फँसाकर उनसे प्रेमकी मीठी मीठी बातें करके उनके छिपे धनको ले लेता और पीछे उनके धर्मको भी नष्ट करता आयु शेष होने पर अन्त में भयंकर यमदूत मुझे पकड़ लेगये और उन्होंने मुझे अत्यन्त वीभत्स कूटशामलि नामक नरक में डाला। वहाँ मुझे वे यमदूत मेरे पूर्व पापों को स्मरण कराकर भयंकर दुःख देने लगे। कभी काँटोंमें घसीटते, कभी तालाबोंमें डुबाते, कभी तलवारोंसे मेरे टुकड़े टुकड़े कराये जाते, कभी कुत्तोंसे कटवाया जाता। यातना देह होनेसे मैं मरता नहीं था। महात्मन्! उन नरकके दुःखोंको रक स्मरणके मैं प्रति क्षण तड़पता रहता और सोचता, हाय! मैंने तनिक से सुखके लिये इतने पाप कर्म क्यों किये। दूसरोंको ठगकर जो मैंने द्रव्य बटोरा, जो भवन बनवाये, उनके बनवाने में कितने कितने पाप किये। वे सब वहाँके वहीं रह गये, उस धनका कौन उपभोग करता होगा, कौन उन भवनोंमें रहता होगा। उनका पापही शेष रह गया। श्रेष्ठिन्!

नरकमें जैसा वैराग्य होता है ऐसा यदि यहाँ दो घड़ी हो जाय, तो कौन इस संसार चक्र से न छूट जायगा, जब नरक में यातना सहते सहते मेरे कुछ पाप शेष रह गये, तब मुझे नरक से मुक्त किया गया, कुछ दिन मैं वृक्षादि हुआ। फिर सरस्वती तटपर एक कीड़ा हुआ।

कीड़े की योनि में नाना कष्ट सहे। एक दिन मैंने रथ की घड़घड़ाहट सुनी, अपने प्राण बचानेको मैं मार्ग से भागा इतने में ही भगवान् व्यासने आकर कीड़ेकी भाषा में मुझे समझाया कि तू मरने से डरता क्यों है, इस कीड़ेकी देह में तुझे क्या सुख है।" मैंने कहा—"ब्रह्मन्! मैं इस लिये डरता हूँ, कि कहीं इसके भी खोटी योनि मुझे न मिले।"

व्यासजी ने कहा—"तू घबराये मत, जब तक तुझे ब्राह्मण योनि प्राप्त न होगी, तब तक मैं इसी प्रकार तुझे स्मरण कराता रहूँगा।" यह सुनकर मैंने मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और उसी मार्गपर आकर लेट गया, वहाँ रथके पहियेके नीचे दबकर मर गया। फिर मैं कौआ, गीध आदि बहुत-सी योनियोंमें गया। कृपासागर भगवान् व्यास उन उन योनियों में जाकर उन उन योनियोंकी भाषा में मुझे उपदेश देते रहे। अन्तमें मुझे यह ब्राह्मण योनि मिली। इसमें भी मुझे बड़ा क्लेश है। जन्मते ही मेरे माता पिताने मुझे त्याग दिया। मेरे सम्पूर्ण शरीरमें गलित कुष्ठ है। बाल्य कालमें ही कृपासागर भगवान् व्यासदेव ने मुझे सारस्वत मंत्र दे दिया था, उसके प्रभावसे मुझे समस्त वेदशास्त्र पुनः कंठस्थ हो गये। भगवान् वेदव्यासने ही मुझे आज्ञा दी है कि महीसागर संगमके निकट बहूदक तीर्थमें नन्दभद्र चिन्तित हो रहा है मैं जाकर उसे उपदेश करूँ। व्यासजी की आज्ञासे ही मैं तुम्हारे संशयोंको छेदन करने आया हूँ।"

वैश्यप्रवर नन्दभद्रने कहा—"ब्राह्मण कुमार! तुम्हारे

चरित्रको सुनकर मेरे समस्त संशय दूर हो गये। धर्म में मेरी पूर्ववत् आस्था होगयी। अब मेरी चित्त स्वस्थ है। फिर भी मुझे एक शंका रह गयी आज्ञा हो तो पूछूँ।"

बालक ने कहा—"हाँ पूछिये। मैं आपके सभी प्रश्नों का यथामति उत्तर दूँगा।"

नन्दभद्रने पूछा—"ब्रह्मन्! आप ब्राह्मण थे समस्त वेद-शास्त्रोंका भी आपने अत्यन्त परिश्रम करके अध्ययन किया। ब्राह्मणका तो परम धर्म है वह दूसरोंको धर्मका उपदेश दिया करे। ब्राह्मण होकर आपने स्वधर्मका भी पालन किया। आप अपने उपदेशोंमें भगवान्का नाम भी लेते होंगे, भगवान् के गुणों का भी कीर्तन करते होंगे। भगवान्के नामोंको भाव से कुभाव से कैसे भी कोई लेता है उसका ही मङ्गल होता है। इन सब शुभ कर्मोंका तो कुछ भी फल नहीं हुआ और मांसभक्षण, मदिरापान, परस्त्री गमन इन पापोंका आपको इतना भारी फल भोगना पड़ा कि सहस्रों वर्षों तक आप नरकोंकी अग्नियोंमें पचते रहे, भाँति भाँतिके कष्ट सहते रहे। कीट पतंग ऐसी अधम योनियोंमें गये मनुष्य भी हुए तो कोढ़ी हुए। इससे तो हमें यही प्रतीत होता है कि स्वधर्म पालन व्यर्थ है। हाँ शूद्र होकर आप वेद शास्त्रोंका उपदेश देते, तब तो स्वधर्म च्युत समझे जाते। आपके शुभ कर्मों का क्या फल हुआ ?"

बालक बोला—"वैश्यवर! कर्मों का फल अवश्य ही भोगना होता है, चाहे कोई कैसा भी धर्मात्मा हो। यदि मैं केवल पाप ही करता रहता तो मुझे चौरासी लाख योनियों में नाना क्लेश सहने पड़ते, फिर पुनः पुनः नरकों से आता जाता रहता। किन्तु पापों के अतिरिक्त मुझसे पुण्यकर्म भी बन पड़े। ब्राह्मण जन्ममें मैंने सब लोगोंको जो नाना प्रकारके धर्मोंका उपदेश दिया था, उसीके प्रभाव से कीट जन्म में भी मुझे भगवान् व्यासजीका

संग प्राप्त हुआ। मनें व्यासजीके ज्ञान जनता में प्रचार प्रसार किया था, इसी पर वे जगद्वन्द्य महामुनि मुझ पर प्रसन्न हुए। आठ जमों में वे आ आकर मुझे उपदेश दते रहे। अब इस जन्ममें भी उन्होंने मुझे उपदेश दिया है। यह सब ब्राह्मण होकर धर्मदान रूप पुण्यका तो फल ही है। पापोंकी अपेक्षा मेरे पुण्य अत्याधिक थे। नियम ऐसा होता है, जो न्यून होते हैं, पहिले उन्हीं का भोग करना होता है। पाप बहुत अधिक हों और पुण्य बहुत न्यून हों तो पहिले पुण्यों का स्वर्गादि फल भोगकर तब उन्हें नहुकादि यातनायें दी जाती हैं। मैंने जो वेदज्ञ ब्राह्मण होकर भी छिपकर इतने पाप किये थे उनका फल तो भोगना ही था। लाखों वर्षों तक नरकों में कीट पतंगादि योनियों में मैंने भोगे। अब अगले जन्ममें मैं व्यासजीका शिष्य "मैत्रेय महामुनि" हूँगा, फिर मुझे जन्म न लेना पड़ेगा, मेरी मुक्ति हो जायगी। तुम वैश्य हो वर्णाश्रम धर्मका निष्काम पालन करते हुए शिवजीकी आराधाना करो और अपना पुनः विवाह करलो; तुम्हें इसी जन्ममें शिव सायुज्य प्राप्त हो जायगा।"

कथा बड़ी है नन्दभद्रने बालककी बहुत स्तुति की बालकने वहीं शरीर त्याग दिया। नन्दभद्रने उनके नामसे बालादित्य की स्थापना की, पुनः विवाह करके धर्मपूर्वक निष्कामकर्म करता रहा। अन्त में उसे शिव सायुज्य प्राप्त हुआ। फिर उस तीर्थका माहात्म्य है।

कहने का सारांश इतना ही है, कि हम यह चाहें कि आदमी हमारे पैर पूजते हैं, हम चाहें जो करें जैसा चाहें आचरण करें हमारा कुछ नहीं बिगड़ेगा।' यह हमारी भूल है। हम यहाँ लोगोंकी दृष्टिमें भले ही बड़े बने रहें। सर्वसाधारण से अपने पापोंको भले ही छिपा लें; किन्तु यमराज से यहाँ सबका लेखा है, चित्रगुप्तजी बही में सब अंकित है।

सुना ऐसा जाता है, कि कलियुगमें अधिकांश नरक से ही लौटे जीव उत्पन्न होते हैं उनकी पापकर्मोंमें स्वाभाविक ही रुचि होती है। दम्भका पुत्र है लोभ और लोभका पुत्र हुआ क्रोध तथा क्रोधका पुत्र है कलि।

जहाँ लोग दम्भ करते हैं वहीं लोभ आकर घेर लेता है, लोभी मनुष्य के स्वार्थ साधन में जो विघ्न करता है उसी पर क्रोध आता है। जहाँ क्रोध है वहाँ कलह होना अनिवार्य है।

अधर्मके वंश को हम कई बार बता चुके हैं। फिर भी बताते हैं, क्योंकि अधर्म वंशको बार बार सुनने पढ़ने से पुण्य बढ़ता है। ब्रह्माजी के पुत्र अधर्मकी मृषा नाम्नी पत्नी में दम्भ नामक पुत्र और माया नामकी पुत्री हुई। उन दोनों भाई बहनोंने परस्परमें ब्याह कर लिया उनके लोभ और निकृति दो सन्तानें हुईं। इन भाई बहिनों ने भी परस्पर में विवाह कर लिया। इन दोनों से क्रोध पुत्र और हिंसा पुत्री हुई। ये भी पति पत्नी बन गये। इनसे कलि और दुरुक्ति हुई, फिर इन दोनों के भय और मृत्यु तथा भय और मृत्यु से यातना और नरकों की उत्पत्ति हुई।

कलियुग आजकल उपदेशकों, सुधारकों, शासकों और नेताओंके यहाँ घुस गया है। क्योंकि गृहस्थी आपस में द्वेष करें तो दोनों वे ही कट मरेंगे, कलियुगका विशेष प्रचार न होगा। यदि उपदेशकों और नेताओंमें घुसेगा तो वे परस्पर में अपने अपने अनुयायी बनायेंगे। फिर वे एक दूसरे की बुराई करेंगे, दलबन्दी बनेगी, कलह हिंसा होगी लोग परमार्थ च्युत हो जायेंगे। एक दूसरे की निंदा में लगे रहेंगे। इसके उदाहरण इस यात्रा में अधिक देखे। उनका उल्लेख करना तो कलियुगको और बढ़ाना है। यह भी कलियुग का ही प्रभाव है

कि हम भगवत् चिन्तन छोड़कर ऐसी बातें सोचते और लिखते हैं, किन्तु जब सर्वत्र आग लग रही है तो उसके बीच में बैठे हम ही कैसे बच सकते हैं। हम कर्म तो सुख के लिये करते हैं, किन्तु उससे होता है दुःख ही। जहाँ स्वार्थ है, मेरा ही पेट भरे, मेरा ही नाम हो, मेरा ही पल्ला भारी रहे वहाँ सुख शान्ति नहीं होती वहाँ द्वेष तथा कलहका होना अनिवार्य है। धर्मकी आवश्यकता इसीलिये होती है। हमारे यहाँ करोड़ों ग्रन्थों का सार आधे श्लोकमें यही बताया है कि परोपकार करना पुण्य है, परपीड़न करना पाप है। आज परोपकारके नामसे परपीड़न हो रहा है इसीका नाम दम्भ है।

वेदोंमें एक बड़ी सुन्दर कथा आती है उससे पता चलता है सुख शान्तिका सुगम साधन कौन सा है।

एक दद्ध्याङ्गाथर्वण ऋषि थे। उन्होंने सभी मुख्य मुख्य महर्षियोंको एकत्रित किया। एक सभा हुई। उसमें इसी बात पर विचार हुआ कि "संसार में सुख शान्ति कैसे हो।" इस पर बहुत देर तक विवाद होता रहा। किसी ने कुछ कहा किसी ने कुछ कहा। इन्हीं सब बातों में मध्याह्न हो गया। भोजन का समय हो गया।

एक महर्षि हँसते हुए बोले—"भाई, भूख लगी है, पेट में कुछ पड़े भोजन मिले तब शान्ति हो।"

भोजन तो करना ही था। सभी आमने सामने पत्तलें परोस कर बैठे। जब सब सामग्री परस गयी, तब सब इसी प्रतीक्षा में थे कि अब हरिहर की ध्वनि लगे सब प्रसाद पावें। किन्तु मुनिने कहा—"अभी कोई ग्रास मुख में मत देना। सब रुक गये। मुनिने सबके हाथों में कोहनी से ऊपर एक एक लम्बी लकड़ी बाँध दी जिससे कोहनी मुड़ने न पावे। जब सबके लकड़ी बँध गयीं; तब मुनिने कहा—"अच्छा, अब

सब प्रसाद पाओ।"

सबने दाल भात सानकर ज्यों ही ग्रास मुखमें देना चाहा, कि कुहनी न मुड़नेसे हाथ ऊपर उठ गया, मुखमें ग्रास न जा सका सबने कहा—"हाथमें तो लकड़ी बँध रही है, मुखमें भोजन कैसे जाय। लकड़ी खोली जाय, तब भोजन हो।"

मुनिने कहा—"लकड़ी नहीं खोली जा सकती।"

सबने कहा—"तब भोजन भी नहीं हो सकता।"

मुनिने कहा—"जो भोजन नहीं करेगा, उसे दंड दिया जायगा। कोई उपाय सोचो लकड़ी खोले बिना भोजन हो जाय।"

तब मुनि उपाय सोचने लगे। सोचते सोचते उन्हें एक वेदका मंत्र स्मरण हो आया। उसका भाव यह था—तू मुझे दे मैं तुझे दूँ, तू मेरा कार्य कर मैं तेरा करूँ। तब मुनियोंने कहा—"भाई अपने अपने मुखमें न देकर दूसरोंके मुखमें ग्रास दो।"

अमाने सामने पंक्तियाँ बैठी थीं, उसने उसके मुखमें ग्रास दिया उसने उसके मुखमें। इस प्रकार सभिका पेट भर गया। सभीकी भूख निवृत्ति हो गयी।"

इस कहानीका सारांश यह हुआ कि जो हाथको स्वयं अपने मुखमें न मोड़कर ऊपर हाथ उठाता है—"दूसरोंके मुखमें देताहै। उसका पेट स्वतः भर जाता है।" आज हम सब अपने ही मुखमें डालना चाहते हैं। जो भी करते हैं निजी स्वार्थके वशीभूत होकर करते हैं। जो परोपकर और परोपदेश भी हम करते हैं, उसमें भी क्षुद्र स्वार्थ निहि[illegible] है। इसीसे आज सर्वत्र अशांति है। सभी क्षेत्रोंमें छल, कपट, कलह तथा पाखंडका बोल बाला है।

पाठक यह न समझें कि मैं इससे पृथक् होऊँ, 'हो भी कैसे सकता हूँ'। ऋतुका प्रभाव तो सभी पर पड़ता है। इससे यह न समझा जाय कि मैं किसी व्यक्ति विशेषपर आक्षेप कर रहा हूँ, समयकी महिमा बता रहा हूँ, कि कैसा समय आ गया इन छः सात वर्षों में ही लोगोंके भावों में विचारों में, आचार विचार तथा व्यवहार में कितना परिवर्तन हो गया। अपने ही भाव कितने दूषित हो गये। जिन कार्यों को मैं सोच भी नहीं सकता था, वे विवश होकर—वनसनाके वशीभूत होकर—करने हड़ते हैं। समय का प्रभाव है, कोई करे भी तो क्या करे। इसलिये मैं तो जहाँ गया इसीका प्रभाव देखा। तीर्थों में, सस्थाओंमें व्यापारियोंमें, साधुसंतोंमें, सुधारकोंमें नेताओंमें, राष्ट्रमें सभीमें कलिका—कलहका—प्राबल्य है। लोग सुख शान्तिकी बड़ी बड़ी बातें बनते हैं, सुन्दरसे सुन्दर सुखोपभोगकी सामग्रियाँ जुटाते है, किन्तु वे उनके दुःखको और भी बढ़ती हैं। इसी यात्रामें बड़े घरोंमें गया। वे ऐसे सुन्दर बने हैं जैसे स्वर्गीय भवन। उनमें इतनी सुन्दरतासे बज्रले (सिमेंट आदि) लगाया है, कि आँखे गड़ जाती हैं, वे इतने स्वच्छ चिकने हैं, कि मक्खी का भी पैर रपट जाय, वे इतने विशाल बने हैं उनमें सैकड़ों मनुष्य निवास कर सकते हैं, उनके उद्यान उपवन इतने मनमोहक हैं, कि चिन्ता रहित पुरुष का मन मुकुर खिल उठे। दुग्धके फेन के सदृश स्वच्छ सुन्दर शैयायें वे ऐसी गुदगुदी थी कि बैठने ही एक हाथ नीचे धँस जाओ। कुरसियाँ इतनी प्रकारकी हैं कि उनपर बैठ जाओ, लेट जाओ, पड़ जाओ, ढुलक जाओ। बैठते ही ऐसा लगे मानो धुनी रुईके ऊपर बैठे हैं। स्त्रियाँ इतनी सुकुमारी कि अब उनका क्या वर्णन करूँ। बच्चे इतने सुन्दर और भोले कि उन्हें देखते ही चूमनेकी इच्छा हो। किन्तु उनमें

रहने वाले नर नारी इतने अशांत और दुखी कि हे भगवान् किसी शत्रु को भी इतनी चिन्ता मत देना। कई बार जेल में रहा हूँ, जेल में भी चोर डाकुओं को इतना चिन्तित दुखी मैंने नहीं देखा। हम उनके रहन, सहन वेष भूषा, स्वच्छ कपड़ मोटर, खान पान को देखकर समझते हैं, ये बड़े सुखी होंगे, किन्तु उनका हृदय किस प्रकार दहकता रहता है इसे सब नहीं जानते। ऐसी ही एक बड़ी कोठी मे मैं गया। उसके विशाल भवनों कुरसियों और विचित्र विचित्र शैयाओं को देखकर मैं आश्चर्य चकित की भाँति उन पर लेटने और उछलने लगा। एक से उठकर दूसरी पर बैठने लगा। बात बात पर अट्टहास करने का मेरा स्वभाव है। मेरी हँसी को देखकर उस भवन की स्वामिनी महिला बोलीं—"आप क्षण क्षण पर कैसा निर्मुक्त हास्य कर रहे हैं। आपके भीतर कितना आनन्द भरा है जो छलका पड़ता है। हमारे तो आनन्द का श्रोत ही सूख गया है। हमें तो कभी हँसी भी नहीं आती।"

उसके इन शब्दों में कितनी गहरी वेदना छिपी हुई थी। कोई चाहे हम विषय भोग की सामग्री जुटा कर सुखी हो जायँगे यह असंभव है। सुख शांति तो त्याग में है, संतोष में है। सो, त्याग और सन्तोष की भावना अब दिखायी नहीं देती। यह भी कलि-युग का ही प्रभाव है, कि हमें सर्वत्र दोष ही दोष दिखाई देते हैं। जब अपने में दोष होते हैं तभी दूसरों के दोष दृष्टिगोचर होते हैं। जिनकी दृष्टि सदा इष्ट में लगी रहती है, उन्हें समस्त जगत् सियाराम मय दिखायी देता है, वह अचर सचर सभी को इष्ट बुद्धि से प्रणाम करता है।

हे नन्द-नन्दन ! मेरी ऐसी बुद्धि बना दो। यह संसार तो गुण दोषमय है ही। कभी गुण बढ़ जाते हैं, कभी दोष बढ़ जाते हैं। घटना बढ़ना तो संसार में लगा ही रहता है। इस घटने बढ़ने

वाले अनित्य पदार्थों के विषय में क्या सोचें। कभी न घटने बढ़ने वाले—एक रस रहने वाले—आप रस रूप सुख स्वरूप सर्वेश्वर के ही सम्बन्ध में हम सदा सोचते रहें। आपकी ही कथाओं को कहते सुनते रहें। आपके ही गुणों को गाते रहें, आपके धाम पवित्र तीर्थों में श्रद्धा से परिभ्रमण करते रहें, आपके ही चरणों से निसृत भगवती सुरसुरि के समीप वास करके उसके ही अमृतोपम पयका पान करते रहें और आपके ही जगन्मंगल, श्रुत मधुर दिव्य—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव॥

इन नामों का गान करते रहें। यही प्रार्थना है, यही विनय है, यही भिक्षा है, यही वांछा है। हे वांछाकल्पतरो! प्रभो! हमारी इच्छा को पूरी कर दो।

छप्पय

दुखमय सब संसार तहाँ सुख जीव न पावै।
तरु, पशु, नर, किंपुरुष भले ही सुर बनि जावै॥
जा जा जनमें योनि रहै चिन्ता निज तनकी।
होहि न तब तक सुखी श्याममहँ वृत्ति न मनकी॥
चहूँ न जग सुख मोक्षपद, नरक स्वरगमहँ रहूँ जहँ।
मंगलमय मधुमय सरस, रटूँ तुम्हारे नाम तहँ॥

संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)

आपके इस विश्व नाटक का कृपाभ्र
प्रभुदत्त

मथुरा में रामश्याम

(१०२९)

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव ।
पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्माविद्य गृहं ययौ ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४१ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

दरशन तैं अति चकित तुरत रथके दिग आये ।
पुनि मथुराकी ओर बैठिरथ अश्व चलाये ॥
पहिले तैं ही गोप बागमहँ डेरा डारे ।
करत प्रतिक्षा रामश्याम लखि भये सुखारे ॥
हरि हँसि बोले—चचाजी ! रथ लै मथुरा जाउ तुम ।
कबहूँ चाची हायके, माल उड़ावैं आइ हम ॥

जो हमारे सुहृद् हैं, सम्बन्धी हैं, प्रेमी हैं, श्रद्धेय हैं, वे यदि कहीं से हमारे ग्राम में, हमारे नगर में आते हैं । तो हमारी हार्दिक इच्छा होती है, वे आकर सर्व प्रथम हमारे घर पर उतरें । हम ही सर्व प्रथम उनका स्वागत सत्कार करें । यदि ऐसी इच्छा रखने वाले कई होते हैं, तब तो प्रेम कलह होने तक की नौबत

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् के इस प्रकार कहने पर उदास मन से अक्रूरजी ने मथुरा में प्रवेश किया और कंस को राम श्याम के आने का समाचार देकर अपने घर को चले गये ।"

आ जाती है, भगवान् मिथिलापुरी में गये। वहाँ के राजा भी उनके भक्त थे, और एक ब्राह्मण भी भक्त थे। दोनों चाहते थे। भगवान् सर्वप्रथम आकर मेरा सत्कार ग्रहण करें। जिसके यहाँ भी पहिले जायँगे, वह सुखी होगा। दूसरा दुखी होगा, इस कलह को बचाने को भगवान् ने अपने दो रूप बना लिये और दोनोंके ही घर में एक साथ प्रवेश किया, दोनों ही प्रसन्न हो गये। यदि हमारे प्रेमी सम्बन्धी हमारे नगरके निकट आनेपर भी किसी विशेष कर्तव्य वश हमारे घर नहीं पधारते, तो हमें आन्तरिक कष्ट होता है, किन्तु कर्त्तव्यकी गुरुताकी ओर देखकर उस कष्ट को भी सहना ही पड़ता है। कर्त्तव्य पालन के निमित्त सब कुछ सहना पड़ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनन्ततीर्थ अक्रूरघाट से भगवान्का रथ चला। अक्रूरजी को अब शीघ्र मथुरा पहुँचनेकी चटपटी लगी हुई थी, वे रथको वेगसे हाँकना चाहते थे, किन्तु हाँक नहीं सकते थे। वे देखते झुंड के झुंड नर नारी मार्ग के दोनों ओर खड़े थे, वे भगवान् वासुदेव के पधारने की बात पहिलेसे ही जानते थे, अतः प्रातःकाल से ही मार्ग में खड़े थे। रथ को दूरसे देखते ही वे उसके आगे खड़े हो जाते और दोनों हाथों को ऊपर उठाकर चिल्लाते—"अक्रूरजी! रथ को रोक दो। हम रामश्याम के दर्शन कर लें।" अक्रूरजी क्या करते, उन्हें विवश होकर रथ रोकना पड़ता। वे सब उन दोनों भाइयों को देखते, उनकी रूप माधुरी के पान करने से ऐसे प्रमुदित हो जाते, कि फिर उनके लिये दृष्टि हटाना असम्भव हो जाता, वे अमृत भावसे रामश्याम दोनों भाइयों को निहारते निहारते ही रह जाते। वे बार बार कहते—"हटो, हटो अब जाने दो।" किन्तु नरनारी कहते—"अक्रूर! हमें एक बार नेत्र भरकर देख तो लेने दो। अभी तो हमने भली प्रकार इन्हें निहारा भी नहीं।" जैसे तैसे अक्रूर

रथ को हाँक देते, किन्तु ग्रामवासी जब तक रथ दीखता रहता, तब तक अपनी दृष्टि उधर ही लगाये रहते, उनके लिये उधर से दृष्टि हटा लेना असम्भव हो जाता। इस प्रकार बीच बीच में रुकते हुए, मार्ग में पड़ने वाले ग्रामों के नर नारियों को अपने देव दुर्लभ दर्शनों से कृतार्थ करते हुए, अक्रूरजी के रथ पर बैठकर रामश्याम अपरान्ह काल में मथुरापुरी में पहुँचे।

व्रजराज श्रीनंदजी अपने समस्त गोपों और छकड़ोंके सहित बहुत पहिले से ही मथुरा पहुँच गये थे। उन्होंने मथुरा के बाहर जलका सुपास देखकर एक आमके बगीचेमें अपने डेरे लगा लिये थे। सब छकड़े अर्ध चन्द्राकार खड़े कर दिये थे, बैल चरने छोड़ दिये थे। वे बार बार मार्ग की ओर देखते मनमें विविध भाँतिकी शंका करते—"अभी तक रामश्याम क्यों नहीं आये। अक्रूरजी तो रथको हाँककर हमसे पहिले चल दिये थे, कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि हमारे आने के पूर्व ही वे रथ से आगे निकल गये हों, किन्तु कोई तो बताता, ये नगरशुल्क वाले व्यक्ति तो अक्रूरजीको, कंसके रथको सभी जानते हैं, यदि जाते तो ये अवश्य बताते। ये कहते हैं, रथ अभी गया नहीं। रथ आता भी तो प्रधान फाटकसे हो जाता। ये गोपुरवाले प्रहरी कह रहे हैं, अभी रथ आया नहीं। तो फिर बीचमें कहाँ रुक गया, इतनी देरीका तो कोई काम नहीं था। बीचमें कोई दुर्घटना घटित तो नहीं हो गई।" इस प्रकार नन्दजी तथा अन्यान्य गोपगण भाँति भाँतिके अनुमान लगा रहे थे, कि इतने में ही उन्हें रथकी खनखनाहट सुनाई दी। वे सबके सब दौड़कर सड़कपर आ गये। इतनेमें ही उन्होंने देखा, विशाल ध्वजावाला सुवर्णसे मढ़ा हुआ चार घोड़ों वाला रथ सामने आ रहा है, उस पर रामश्याम विराजमान हैं। अक्रूरजी उसे हाँक रहे हैं। व्रजराज तथा अन्यान्य गोपोंको देखकर अक्रूरजीने तुरंत रथ खड़ा कर दिया। छुटते ही नन्दजी ने कहा—"अरे, भैया!

तुम लोग इतने पीछे कहाँ रह गये। हमें बड़ी चिन्ता हो रही थी सो गये थे क्या ?"

हँसकर श्यामसुन्दर बोले—"बाबा ! न जाने चाचाजी जलमें चुड़की मारकर क्या करते रहे। हमें तो देर हुई नहीं, चाचाजीने ही सब देर की है।"

यह सुनकर सभी गोप खिलखिलाकर हँस पड़े। रामश्याम दोनों रथ परसे उतर पड़े। उनके उतरने पर अक्रूरजी भी घोड़ों की रास को रथ के डंडे से बाँधकर उतर पड़े। वे अत्यन्त विनय और संकोच के सहित सिर नीचा किये श्याम सुन्दर के समीप खड़े थे। उन्हें अत्यन्त विनय और संकोचयुक्त देखकर उनके संकोच को दूर करने के निमित्त प्रेम पूर्वक उनके हाथको पकड़कर मन्द मन्द मुसकराते हुए मदनमोहन बोले—"अच्छा, चाचाजी ! नमस्कार। आप तब तक चलें। महाराज कंस को सूचना दें, कि मैं सब गोपों के लिवा लाया, फिर घर चलकर जलपान करें, थक गये होंगे। चाचीजी प्रतीक्षा कर रही होंगी।"

"सकुचाते हुए अक्रूरजी ने कहा—"तब, प्रभो ! आप संग न चलेंगे ?"

भगवान् शीघ्रताके साथ बोले—"नहीं, चाचाजी ! इस समय आपके साथ हमारा जाना उचित नहीं। अभी हम कुछ देर यहाँ अपने डेरे पर विश्राम करेंगे। फिर हम अपने ग्वाल बाल बन्धुओं के साथ नगरी की शोभा देखने जायँगे। हमने अभी तक मथुरा-पुरी देखी ही नहीं।

अक्रूरजी ने कहा—"महाराज ! रथ पर ही बैठकर चलें। रथ से ही मैं आपको सब हाट बाट दुराहे, तिराहे चौहाहे एकमंजिले, दुमंजिले, तिमंजिले, सतमकान,मन्दिर,सभागृह तथा अन्यान्य भवन दिखाऊँगा। नगरी के बाग बगीचोंमें भी ले जाऊँगा।"

भगवान् बोले—"नहीं, चाचाजी ! रथ से क्या दीखेंगे। बन्दी

की भाँति रथमें बैठकर निकल जायँगे। हम तो पैदल ही सखाओं के सहित हँसते खेलते कबड्डी लगाते हुए नगरके बाजारोंको देखेंगे, जहाँ इच्छा हुई, वहाँ खड़े हो गये, जिससे इच्छा हुई, बात कर ली।"

आँखों में आँसू भरकर अक्रूरजी ने कहा—"प्रभो! मैं नीच, पतित, कायर, कलंकी जैसा भी कुछ हूँ, आपका दास हूँ, आपका शरणागत हूँ, भक्त हूँ, आप शरणागत, प्रतिपाल तथा भक्तवत्सल हो, हे अशरण शरण! हे अनाथों के नाथ! आप मेरा परित्याग न करें।"

भगवान् ने अत्यन्त स्नेह से कहा—"चाचाजी! आप कैसी बातें कर रहे हैं। परित्याग का तो प्रश्न ही नहीं। आप चलें, हम आ रहे हैं।"

अक्रूरजी ने कहा—"हे अधोक्षज! आप मेरे प्रिय अतिथि हैं। बड़े भाग्य से आपके दर्शन मिलते हैं। आप सर्वप्रथम मेरे घर पर पधारें, मुझ अनाथ को सनाथ करें, मेरा आतिथ्य ग्रहण करें।"

भगवान् ने कहा चाचाजी! बहुत भीड़ भाड़ है, ऐसे सबको यहाँ छोड़कर अकेले आपके घर जाना उचित नहीं।"

शीघ्रता के साथ अक्रूरजीने कहा—"अकेले न चलें। अपने बड़े भाई बलदेवजी को भी ले चलें। समस्त अपने ग्वाल बाल सखाओं को भी ले चलें। आपकी दया से किसी प्रकार की कमी नहीं है। आपके चरण कमलों की रज पड़ने से हमारे घर पावन बन जायँगे। हम आपके चरणोंको धोकर, उस चरणामृतको सिर पर चढ़ायेंगे, अपने घर में छिड़कें। श्रीगंगाजी आपके चरण कमलोंका धोवन ही तो हैं, जिनसे अग्नियोंके सहित पितृगण तथा समस्त देवगण तृप्त हो जाते हैं। जिसने आपके चरण कमलों का

आश्रय लिया है, जिसने इन अरुण चरणोंको श्रद्धा पूर्वक पखारा है, वे संसार में यशस्वी हुए हैं। दैत्यराज महाराज बलि इन चरणों को पखार कर ही परम यशस्वी बन गये। उनके लोक परलोक बन गये। इस लोक में सुतल लोक का दिव्य ऐश्वर्य भोग रहे हैं, अग्रिम मन्वन्तर में इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित होंगे और अन्त में आपके परम पद को प्राप्त होंगे। आपके चरण कमलों को वेदगर्भ ब्रह्माजी ने अपने कमंडलु के जल से धोया था, जिससे त्रिपथगामिनी सुरसरि भगवती गंगा उत्पन्न हुई, जिनके जल ने तीनों लोकों को पावन बना दिया। उसी जल को भगवान् सदाशिवने श्रद्धा सहित सिर पर धारण किया, सहस्रों वर्ष के भस्म हुए सगर पुत्रों की राख से जहाँ इस जल का स्पर्श हुआ, तहाँ वे सबके सब तर गये। जिन चरण कमलों का इतना प्रभाव है। ऐसा महान् महात्म्य है, उन्हें द्वार पर आकर मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ? हे मधुसूदन ! आप मुझ मलिन मति पर कृपा करो। हे देवाधिदेव ! इस दीन पर दया करो। हे सम्पूर्ण जगतके एक मात्र स्वामी ! मेरी प्रार्थना को स्वीकार करो ! हे पुण्य श्रवण कीर्तन ! मेरे घरको अपनी पदरज से पावन बनाओ। हे यदुश्रेष्ठ, अपना सगा सम्बन्धी समझकर मुझे सौहार्द्रदान देकर अपनाओ। हे पुण्य कीर्ति ! अपनाकर मुझे न ठुकराओ। हे नारायण ! आप इस नगण्य की विनती स्वीकार करो। आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।"

अक्रूरजी की ऐसी विनीत वाणी सुनकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए, उनका हाथ पकड़े ही पकड़े वे उन्हें एकान्त में ले गये और धीरे से उनके कान में बोले—"देखिये, चाचाजीसे कह देना हमारे लिये सुन्दर सुन्दर बुरजीदार बड़े बड़े लड्डू बनाकर रख छोड़ें। हम भर पेट लड्डू खायँगे। मलाई खुरचनका भी प्रबन्ध रहे।"

अक्रूरजी ने सरलता के साथ कहा—"प्रभो! आपतो सबको खिलाने वाले हैं। प्राणीमात्र आपका ही दिया हुआ खाते हैं, आप को कौन खिला सकता है। मेरी इच्छा है, यदुवंशियों में सर्वप्रथम मुझे ही आपके दर्शन हुए हैं, अतः सर्वप्रथम मेरे ही घर को आप आपनी चरण रज से पवित्र करें।

भगवान् ने धीरे से कहा—"चाचाजी! सब आगे पीछे की बात सोच लेनी चाहिये। अभी मैं आपके यहाँ जाता हूँ, तो न जाने कंस क्या सोच ले। आप पर वह कुछ शंका करने लगेगा। व्यर्थ में बात का बतंगड़ हो जायेगा। दो दिन और धैर्य धारण करें। इस यदुकुल के कलंक रूप कंस को मारकर ही मैं आपके घर जाऊँगा। तब निर्भय होकर अपने बन्धु बान्धव तथा जाति वालों से मिल सकूँगा, सबके मनोरथों को पूर्ण करूँगा। इस समय जाना नीति के विरुद्ध है। आप स्वयं बुद्धिमान है। हठ करना उचित नहीं। मैं तो आपका हूँ ही, अब तो आपकी छत्र-छाया में ही रहना है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की ऐसी नीतियुक्त बात सुनकर अक्रूरजी ने फिर आग्रह नहीं किया। वे रामश्याम को प्रणाम करके रथ पर चढ़ कर सीधे कंस के भवन में पहुँचे। कंस बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था। अक्रूरजी को देखते ही उसने सब प्रथम यही प्रश्न किया—"क्या रामश्याम को आप लाये?"

अक्रूरजी ने कहा—"जी हाँ महाराज! मैं नन्दादि समस्त गोपों के सहित रामश्याम को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये, ले आया हूँ। वे सब पुरके बाहर आमों के बगीचे में ठहरे हैं। संभवतया वे सब के सब कल महाराज के दर्शन करेंगे, और अपनी अपनी भेंट अर्पण करेंगे।"

कंस यह सुनकर प्रसन्न हुआ, किन्तु न जाने

अव्यक्त चिन्ता ने घेर लिया। उसका मुख फक्क पड़ गया। उसने कहा—"अच्छा, अक्रूरजी! आप बहुत दूर से आये हैं, थक गये होंगे, अब अपने घरमें जाकर विश्राम करें, स्नान, सन्ध्या करके भोजन करें, कल फिर सब बातें होंगी।"

अक्रूरजीने कहा—'जैसी महाराज की आज्ञा। मैं अवश्य ही थक गया हूँ, कल सब निवेदन करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"इस प्रकार कंसको सूचना देकर अक्रूरजी अपने घर चले गये और वहाँ नित्य कर्मसे निवृत्त होकर भगवान्‌के ही विषयमे सोचते रहे। इधर रामश्याम जैसे मथुरापुरी की शोभा निहारने चले। उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

समुझि गये अक्रूर श्याम अब ही नहिं जावें।
मारि कंस कूँ बन्धु सहित मेरे घर आवें॥
रथ लै पहुँचे कंस निकट सब वृत्त सुनायो।
रामश्याम आगमन सुनत खल अति हरषायो॥
घर पहुँचे अक्रूर इत, उत हरि अति उत्सुक भये।
ग्वाल बाल बल सहित लै, मथुरा निरखन चलि दये॥

———

प्रभुका मथुरापुरी में प्रवेश

(१०३०)

तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ,
वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना ।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो—
हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृपोत्सुकाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४१ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

देखी मथुरापुरी सजी नव बधू सरिस अति ।
घर घर बन्दनवार पताका ध्वज शुभ सोहति ॥
परम रम्य उद्यान मनोहर घर पथ मन्दिर ।
परिखा चहुँ दिशि खुदी सुघर गोपुर अति सुन्दर ॥
विद्रुम मोती नीलमणि, वेदिनि महँ जगमग करत ।
शुक पिक पारावत मधुर, करि कलरव इत उत फिरत ॥

बालकों को नित्य नूतन वस्तु देखने की बड़ी उत्सुकता होती है। उन्हें यदि किसी नवीन नगर में जाना हो, तो रात्रि में नींद न

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब वसुदेवजी के दोनों पुत्र रामश्याम मथुरापुरी में अपने साथियों के सहित मार्ग से जाने लगे, तब उनके दर्शन से तुरन्त नगर की नारियाँ एकत्रित होकर अत्यन्त उत्सुकता के साथ महलों के ऊपर चढ़ गयीं।

आवेगी। सबसे पहिले उठ पड़ेंगे, बड़े चावसे आगे आगे जायँगे, नगर में पहुँचकर उसकी शोभा को देखकर प्रसन्न होंगे। जिस वस्तु को भी देखेंगे, उसी के सम्बन्ध में पूछेंगे। बड़े बूढ़े हाटबाट में चलने को देरी भी करेंगे, तो वे हठ करेंगे या जिस किसी के साथ भग जायँगे और सबको बड़े ध्यान से देखेंगे। कोई बाजा बजाता सुनाई देगा, तो उसे ही सुनते रह जायँगे। कोई वस्तु बेच रहा होगा, तो उससे ही बहुत से व्यर्थ के प्रश्न पूछने लगेंगे। पैसा होगा तो आवश्यकता न रहने पर भी वस्तुओं को क्रय करने लगेंगे, इस प्रकार बाल सुलभ चंचलता करते हुए वे नगर में भ्रमण करेंगे, यदि कोई साहसी बालक हुआ, तो वह अकारण दूसरों से भिड़ जायँगे, बिना बात छेड़खानी करेंगे। बाल्यकाल की उत्सुकता और चपलता दोनों ही कितनी सुन्दर होती हैं। भाग्यशाली हैं, इन्हें देखकर जो प्रसन्न होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! व्रजराज के समीप डेरा में आकर भगवान् ने हाथ पैर धोये, मैया ने जो टासर बाँध दिया था, बाबा के बहुत कहने पर जलपान किया। फिर नन्दजी से बोले—"बाबा! हम मथुरापुरी को देख आवें।"

नन्दजी बोले—"अरे, भैया! तुम बड़े ऊधमी हो। अकेले जाओगे तो कुछ उपद्रव करोगे। इसलिये कल हमारे साथ चलना तब हम सब दिखा देंगे।"

आग्रह के साथ भगवान् ने कहा—"न, बाबा! हम उपद्रव कुछ भी न करेंगे। मथुरा देखने की हमारी बड़ी इच्छा है, हमने कभी मथुरापुरी देखी नहीं। बलदाऊजी को साथ ले जायँगे और यहाँ आस पास ही घूम फिर कर शीघ्र ही लौट आवेंगे।"

श्यामसुन्दर तथा अन्य ग्वाल बालकोंकी अति उत्सुकता देखकर व्रजराज मना न कर सके, वे बोले—"अच्छा, जाते तो हो, किन्तु देखना वहाँ किसी से लड़ाई झगड़ा मत करना। बहुत देरी

भी मत लगाना, यहीं आस पासमें चौराहे तक घूमकर चले आना।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है बाबा ! आप कुछ भी चिंता न करें, हम पुरी को देखकर सूर्यास्त के पूर्व ही लौट आवेंगे।"

यह कहकर भगवान् ने ग्वाल बालों से चलने का संकेत किया। ग्वाल बाल तो बगलबन्दी, मिरजई और चिलकनी टोपी पहने तैयार ही खड़े थे। वे भगवान् का संकेत पाते ही अपने अपने हाथों मे लठिया लिये चल दिये। उनके पीछे पीछे बलराम जी तथा श्यामसुन्दर भी चल दिये।"

जब तक नंदजी दिखाई देते रहे, तब तक तो सब बड़े समय से अत्यन्त सरलता के साथ चलते रहे। जहाँ वह बगीचा ओट में हुआ, तहाँ सभी स्वच्छन्द होकर उछलने कूदने लगे। कबड्डी मारने लगे। ग्वालबालों के लिये मथुरा का दृश्य अत्यन्त ही आकर्षक था, उन्होंने इसके पूर्व इतनी बड़ी नगरी कभी देखी नहीं थी। सर्व प्रथम वे नगर प्रधान द्वार गोपुर के समीप पहुँचे, वहाँ उन्होंने देखा, बड़ी बड़ी चौड़ी सड़कें बनी हुई हैं। उनके दोनों ओर फल पुष्पों से लदे वृक्ष खड़े हुए हैं। भगवान् अपने ग्वाल-बालों से घिरे जिस राजपथ से पुरी में प्रवेश कर रहे थे, वह प्रधान पथ था, नगर के लोग इसी पथ से आते जाते थे। नगर के चारों ओर परकोटा खिंचा हुआ था। यह नहीं कि जो जिधर से चाहे उधर से ही नगरी में घुस जाय, चारों दिशाओं में चार दरवाजे थे। भगवान् पश्चिम के दीर्घ दरवाजे से प्रवेश करना चाहते थे। इसलिये वे गोपुर (पुरी के प्रधान द्वार) पर आकर खड़े हो गये। वहाँ हाथों में संगीन लिये हुए इधर से उधर प्रहरी घूम रहे थे। नगर के असंख्यों नर-नारी उस द्वार से आते जाते थे। प्रहरी किसी से कुछ बोलते नहीं थे। जिसे अपरिचित देखते, जिस पर कुछ संदेह होता, उससे एक दो प्रश्न पूछ लेते। कंस महाराज के यहाँ बड़ा भारी उत्सव हो रहा है, अतः दूर दूर से बहुत से लोग

आये हुए हैं, नगरी सब ओर से सजाई गई है। परकोटा के चारों ओर पक्की खाई है। जिसमें अगाध जल भरा है। उसके किनारे किनारे पक्की सड़क है। प्रधान द्वार पर एक पुल है, वहाँ पर दो, परकोट के इधर की ओर से तथा एक ओर प्रधान सड़क, इस प्रकार तीन सड़कें मिली हैं, राजद्वार आजतोरण, बन्दनवार आदि से भली भली भाँति सजाया गया है नगर के गगनचुम्बी द्वार स्फटिक आदि मणियों के बने हुए थे। बीच बीच में सोने का काम हो रहा था, घरों में जो बड़ी बड़ी किवाड़ें थीं, वे सुवर्ण की बनी हुई थीं। भगवान ने उसी प्रधान द्वार से ग्वाल-बालों के सहित पुरी में प्रवेश किया। उनके अद्भुत रूप लावण्य को जो भी देखता वही विमुग्ध हो जाता। गोप ग्वालों से घिरे हुए बलरामजी सहित श्यामसुन्दर को आते देखकर प्रहरी सतर्क होकर खड़े हो गये। भगवान् के प्रति उन्होंने सम्मान प्रकट किया। हँसकर भगवान् ने प्रहरियों से पूछा—"कहो, भाई! हम पुरी को देख आवें।"

यह सुनकर प्रहरियों ने कहा—"प्रभो! आपको ही तो पुरी है, पधारिये और अपने दर्शनों से नगर निवासी नरों के तथा नारियों के नयनों को निहाल कीजिये।"

यह सुनकर हँसते हुये श्यामसुन्दर पुरी के भीतर घुस गये। वहाँ उन्होंने देखा, बड़े बड़े पीतल के और ताँबे के कोठा कुठिला बने हुए हैं, जिनमें धन धान्य भरा है। स्थान स्थान पर सुरम्य उद्यान तथा उपवन लगे हुए हैं, जिससे नगर की वायु विशुद्ध बनी रहे। सड़कों के चौराहों पर सुवर्ण की कारीगरी की गई है। राजपथ के दोनों ओर धनिकों के सात, सात खने एक से भवन बने हुए हैं। बीच बीच में दायें बायें बड़ी बड़ी गलियाँ बनी हैं, जिनमें रथ, वाहन जा सकते हैं। सर्वत्र बन्दनवार लगे हैं, सभी घर ध्वज पताका तथा रंग बिरंगे वस्त्रों से सजाये गये हैं। स्थान स्थान पर सार्वजनिक सभा भवन बने हुए हैं। जिनमें सार्वजनिक प्रचार

होते हैं, बारातें आकर ठहरती हैं। सार्वजनिक उद्यान भी हैं, जिनमें रंग बिरङ्गे पुष्प खिले हैं। बैठने के लिये बहुत सी वेदियाँ बनी हुई हैं, बीच बीच में तालाब बने हैं। जिनमें रंग बिरंगे कमल खिले हुए हैं, विविध रंगों की बड़ी बड़ी मछलियाँ किलोल कर रही हैं, कुछ लोग उनको आटे की गोलियाँ खिला रहे हैं, इससे वे जल के ऊपर आकर नाना भाँति की उछल कूद और चंचलता कर रही हैं। वहाँ के सभी भवन विचित्र और दर्शनीय बने हैं, उनमें बहुमूल्य मणियाँ जड़ी हुई हैं। वैदूर्यमणि, वज्रमणि, निर्मलनीलमणि विद्रुम मोती तथा हीरा आदि से जड़े हुए घरों के छज्जे तथा कँगूरे हैं। वेदियों में भी मणियाँ जड़ी हुई हैं, आँखे, मोखे, झरोखे तथा घरों के प्रांगणों में मणि मुक्ता जड़े हुए दमक रहे हैं। घरों के ऊपर जो कँगूरे बने हुए हैं, उन पर शुक, पिक, मयूर तथा पारावत आदि मधुर ध्वनि करने वाले पक्षी बोल रहे हैं। राजपथ पर चंदन-मिश्रित जल का तथा सुगन्धित तैलों का छिड़काव हो रहा है। सुगंधित मालायें पंक्तिबद्ध रँगी हुई हैं। स्थान, स्थान पर अगुरु, चन्दनका चूर्ण, कर्पूर तथा घृत मिलाकर धूप जलाई गई है, उसका धूँआ चारों ओर फैल रहा है। इसी प्रकार गलियाँ तथा समस्त हाट बाट सजाये गये हैं। दूब, खील, बतासे, लावा तथा अक्षत आदि मंगल द्रव्य स्थान स्थान पर रखे गये हैं, सबने अपने द्वारों में फल युक्त दो केले के वृक्ष लगाये हैं। उन पर वन्दनवार तथा रंग बिरंगी झंडियाँ बाँधी गई हैं। दोनों ओर दो सजल मङ्गल-घट स्थापित हैं, जो दधि तथा चंदनादि मङ्गल द्रव्यों से चर्चित हैं। उनके कंठ में लाल वस्त्र तथा सुगंधित पुष्पों की मालायें पहिनाई गई हैं। उनके ऊपर चौमुखे घृत दीप रखे हुए हैं। पंचपल्लव उनमें पड़े हैं। केले तथा सुपारी के पादप क्षुद्र झंडियों, रेशमी वस्त्रों तथा चिकने पल्लवों से भली भाँति सजाये हुए हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सखाओं से आवृत्त वसुदेव-

नन्दन रामश्याम ने जब पुरी में प्रवेश किया, तो सम्पूर्ण पुरी में हल्ला मच गया। उनके रूप लावण्य की क्षण भर में चर्चा फैल गई, नर नारियों के मन में उन अद्भुत रूप लावण्ययुक्त परम सुकुमारी कुमारों को निहारने की उत्कंठा उत्पन्न हो गई। नगर की नवेली नारियाँ नंदनन्दन को निहारने के निमित्त, उत्सुकतावश भवनों की छतों पर चढ़ गईं और सतृष्ण नेत्रों से लज्जा पूर्वक घूंघट की ओट से श्यामसुन्दर की रूप माधुरी का पान करके अपने नेत्रों को सफल बनाने लगीं।

नगर भर में धूम मच गई। हल्ला हो गया कि वसुदेवजी के लल्ला राजपथ पर घूमकर सबके मन को चुरा रहे हैं। सबको बड़ी उत्सुकता हुई, कि ये दो अद्भुत चोर हैं, दिन दहाड़े सबके देखते देखते चोरी करते हैं और पकड़े नहीं जाते। उन्हें देखने को चित्त में चुलबुलाहट होने लगी। शीघ्रता के कारण किसी ने उलटी ही चोली पहिन ली, किसी ने ओढ़नी उलटी ही ओढ़ ली, उसमें गोटे की किनारी और फूल ढक गये, केवल सिलाई ही दिखाई देने लगी। किसी ने कानों के झुमके उलटे ही लटका लिये। आरसी को अँगूठे में न पहिनकर उँगली में पहिन लिया। किसी ने एक ही पैर में छमछम दूसरे में रमझोल पहिन लिये। कोई अपने कपोलों पर पत्रावली की रचना करा रही थी, वह एक कपोल पर ही पत्रावली कढ़वाकर भाग गई। कोई नेत्रों में अंजन आँज रही थी, एक आँख में ही अंजन आँजकर अंजनपात्र को पृथिवी पर पटककर दौड़ी गई।"

कोई कोई भोजन कर रही थीं, अपने मुख का ग्रास मुख में, हाथ का ग्रास हाथ में ही लिये हुए परसी थाली को छोड़कर दौड़ गईं। कोई अपने अंग में उबटन लगा रहीं थीं। वे तेल बेसन सने शरीर से ही बिना स्नान किये ज्यों की त्यों मदनमोहन को निहारने चल दीं। कुछ सो रहीं थीं, वे सोते सोते उन्हीं वस्त्रों से

अस्त व्यस्त भाव से पलंग से उठकर ऊपर चली गईं
र बड़े बड़े करारे नयनों को भीड़ाती हुई श्यामसुन्दर
ने कटाक्ष बाणों को छोड़ने लगीं। कुछ अपने अबोध
दूध पिला रही थीं, उन्हें अतृप्त ही छोड़कर वहीं
श्याम के दर्शनों को दौड़ी गईं।
न से वे सुन रहीं थीं। श्यामसुन्दर ऐसे हैं, वैसे हैं,
देव उनके ऊपर वारे जा सकते हैं। दिन रात्रि नारी
ामसुन्दर के सौंदर्य की ही चर्चा होती रहती थी।
चर्चा से सभी के हृदय में आवश्यकता से अधिक
न हो गई थी। अतः अच्युत का आगमन सुनते ही
हर, हो गईं जब उन्होंने देखा। रामश्याम तो शोभा-
र्य के साकार स्वरूप हैं, लावण्य के सिन्धु हैं, माधुर्य
हैं, तब तो वे एकटक दृश्य से पुनः पुनः सखाओं से
म की सौंदर्य सुधा का पान करने लगीं और उनकी
श्यशुधा से सींची जाकर अपने को सत्कृत हुई सम-
न्होंने उस परम आनन्ददायिनी मनोहारिणी मृदुल
पथ से हृदय में ले जाकर वहाँ भगवान् से कसकर
ालिङ्गन किया। उस मानसिक आलिंगन के भावो-
ए उनका सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो उठा। नयनों से
नकलने लगा। इस प्रकार वे चिरकाल की अनन्त-
ने विमुक्त बनकर, दिनकर के दर्शनों से कमल
श विकसित हुईं। प्यारे के प्रणय कटाक्षों को प्राप्त
ता के कारण प्रफुल्लित हो उठीं। उनका मुख कमल
अपने कमल नयनों से निहारती हुईं, मुख कमल
बोलती हुईं, कर कमलों को उनके ऊपर फेंकती
की पुष्पाञ्जलि समर्पित करने लगीं।
ने श्यामसुन्दर के स्वागत की धूम मचा दी, अपने

आभूषणों की खनखनाहट और सुमनों की वृष्टि से श्यामसुन्दर को चौंका दिया, तब पुरुष क्यों चूकने लगे। उन्होंने भी राजपथ से जाते हुए श्यामसुन्दर और उनके साथियों का पुष्पमाला, पान, इलायची से स्वागत सत्कार किया। द्विजातियों ने दधि, अक्षत, सजल पात्र, फल, फूल, माला और चन्दनादि पूजा सामग्रियों से उन दोनों पुरुषोत्तम की प्रसन्नता के साथ पूजा की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मथुरावासी समस्त नर-नारी भगवान् के अलौकिक रूप लावण्य सिन्धु में उतरने और गोता खाने लगे। वे भगवान् वासुदेव के दर्शन करते करते अघाते ही नहीं थे। वे कहते थे—"अहा! वृन्दावन ही धन्य है, जहाँ ये शोभा के धाम सदा निवास करते हैं। अहा! वे व्रजवासिनी व्रजवनिता ही बड़भागिनी हैं, जो इन आनन्दधाम लावण्यसारसिन्धु श्यामसुन्दर और बलराम दोनों मनोहर मूर्तियों का निरन्तर दर्शन पाती हैं। उन भाग्यशालिनी गोपियों ने ऐसा कौन महान् तप किया था, जिसके फलस्वरूप उन्हें ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ।" इस प्रकार नर-नारियों की बात सुनते हुए, नववधू के समान सजी बजी मथुरा पुरी को उत्कंठा और उत्सुकता के साथ निहारते हुए जा ही रहे थे, कि मार्ग में उन्हें मामाजी का एक बड़ा ढीठ धोबी मिला। उसका जैसे उद्धार किया, उस प्रसंग को आगेके अध्यायमें कहूँगा, मुनियो! यह मामाके पुरमें माधवकी प्रथम दृष्टता पूर्ण लीला है।

छप्पय

शुभागमन बसुदेव सुतनि को सुनि सब नारी।
तन की सुधि बुधि भूलि चलीं जनु चन्द्र उजारी॥
असन बसन परिधान न्हान अंजन तजि भागीं।
चितवति लीला सहित श्याम शोभा अनुरागीं॥
अटा अटारिनि पै चढ़ीं, रूपा सुधा नयननि भरहिं।
मूँदि नयन हिय भाव तैं, पुनि पुनि आलिङ्गन करहिं॥

मथुरा में रजकोद्धार

(१२३१)

रजकं कञ्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः ।
दृष्ट्वायाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानिच ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४१ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

मथुरामहँ हरि रूप सुधाको स्रोत बहायो ।
तबहीं लैकैं धुवे बसन धोबी तहँ आयो ॥
रँगे रँगाये धुवे सुघर पट लखि बोले हरि ।
देहु चौधरी नील पीत पट हमहिं कृपा करि ॥
रङ्गकार उद्धत रजक, बोल्यो आँखिनि लाल करि ।
ज्यों छोरा बौरे भये, अबहिं लेहिंगे चर पकरि ॥

जो लोग दूसरे के बल पर उछलते कूदते हैं, दूसरे के बल पर अपने को बली समझते हैं, जिस के बल पर वे इतराते हैं, ऐंठते हैं, यदि उससे भी कोई बली आ जाता है, और उसके आगे भी वे स्वभावानुसार वैसी ही दर्पकी बातें करते हैं तो उनका सब दर्प चकना चूर हो जाता है।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् ने अपनी ओर आते हुए एक धोबी को देखा जो रङ्गकार भी था। उसे देखकर भगवान् उस से अत्युत्तम धुले वस्त्रों की याचना की।

उनकी सब सिटिल्ली भूल जाती है। यदि दर्प ही करना हो तो भगवान् से करे, क्यों कि वे तो दर्प हारी हैं, जिसके दर्पको वे चकना चूर करते हैं, उसका आवागमन छुड़ा देते हैं। भगवान् से कैसे भी जीवका साक्षात्कार हो जाय, प्रेम से, द्वेष से, स्तुति करता हुआ, गाली देता हुआ कैसे भी उनके आगे आ जाय; उसका कल्याण ही कल्याण है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान मथुरापुरी की शोभा निहारते हुए, नगर निवासी नर नारियों के स्वागत सत्कार को स्वीकार करते हुए राज पथ से जा ही रहे थे कि सामने से उन्हें धुले हुए कपड़े लिवाये मूछों को मरोड़ता हुआ, आँखों को तरेरता हुआ एक धोबी दिखाई दिया। उसके साथ बहुत से सेवक थे। वे सब धुले हुए कपड़ों के गट्ठर अपने अपने सिरों पर लादे हुए थे। बहुत से कपड़े धुले हुए सफेद थे, कुछ सूती रेशमी रँगे हुए थे, प्रतीत होता है, वह धोबी उन सब का चौधरी था, वह कपड़े धोता भी था और रंगता भी था। राजा का धोबी होने से वह धनी भी था। कुछ तो धन की गरमी और कुछ राजाश्रय की गरमी। इन दोनों गरमियों से उसका अभिमान आवश्यकता से अधिक बढ़ गया था। सब उससे डरते थे। वह मूछों को मरोड़ता हुआ। कुछ रेशमी कपड़ों को लिये हुए आगे आगे चल रहा था। पीछे उसके सेवक। जब वह भगवान् के आगे आया तो भगवान् को एक खेल सूझी। भगवान् तो चंचल शिरोमणि ही ठहरे। उसके सम्मुख आकर बोले—"चौधरीजी! राम राम। कहो बाल बच्चे अच्छे हैं?"

चौधरी चौंक पड़ा, उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। आँखे फाड़ फाड़कर भगवान् को तथा सभी गोप ग्वालों को देखता रहा। भगवान् बोले—"चौधरीजी कहाँ कपड़े लिये जा रहे हैं?"

ऐंठकर वह बोला—"क्यों क्या करोगे ? महाराजा के कपड़े हैं।"

भगवान् भोले बालक की भाँति बोले—"अरे, कपड़े तो बड़े सुन्दर हैं। हमें भी इनमें से दो चार दे दो। परन्तु देखना चौधरी ! ऐसे ढीले ढाले मत दे देना हमारे अङ्गों में ठीक ठीक आ जायें, ऐसे नाप के देना। वस्त्र तो हमारे योग्य ही हैं, कल हमें भी राज-सभा में राजा को फल देने जाना है। क्रोध से लाल लाल आँखें करके अकड़ता हुआ धोबी बोला—"जाओ जाओ; भाग जाओ। आये हैं बड़े कपड़े माँगने वाले। तुम्हारे बाप दादों ने भी कभी ऐसे वस्त्र आँखों से देखे हैं ?"

भगवान् हँसते हुए बोले—"हमारे बाप दादों ने आँखों से देखे हैं या नहीं, इसका तो हमें पता है नहीं। किन्तु हमने तो इन्हें आँखों से देखा ही है और तुम देखना, हम इन्हें देखकर ही न छोड़ देंगे, पहिनेंगे और अवश्य पहिनेंगे।"

आपे से बाहर होकर धोबी बोला—"तुम लोग बड़े ढीठ हो रे ? वन-वन में नंगे पैरों घूम घूम गौएँ चराते हो और मन चलाते हो राजा के कपड़ों पर।

भगवान् सरलता के साथ बोले—"कोई बात नहीं। वन में घूमते तो पैरों से हैं, हम पैरों के कपड़े तो मागते नहीं। हम तो पाग, दुपट्टा, अँगरखी, पिछोरा और धोती आदि माँगते हैं। दे दो चौधरी सीधे से देने पर तुम्हारा कल्याण होगा। न दोगे तो भी कल्याण तो होगा ही, किन्तु दूसरे लोक में जाने पर होगा।"

वह राजा का धोबी था, अपने को राजा से कम नहीं लगाता था। भगवान् को माँगने की क्या आवश्यकता, वे तो पूर्ण काम हैं, उन्हें तो इस अभिमानी के अभिमान को चूर करना था। यह असुर भक्त था। असुर भक्त भगवान् के सम्मुख क्रोध करके ही तरते हैं, अतः वह कुपित होकर बोला—"क्यों रे ग्वारियो !

तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे सिर पर नाच रही है क्या ? तभी तो तुम ऐसी बढ़कर बातें बना रहे हो। अरे, मूर्खो ! तुम्हें अपने प्राण प्यारे हैं तो चुपके से भाग जाओ। फिर कभी किसी राज-पुरुष के साथ ऐसी धृष्टतापूर्ण बातें मत करना। तुम्हारी आँखें फूट गई हैं। तुम्हें ये सम्मुख शस्त्र लिये राज पुरुष दिखाई नहीं देते क्या ?

भगवान् हँसकर बोले—"ये राज पुरुष भी दिखाई देते हैं और राजा के धोबी पुरुष भी दिखाई देते हैं। तुम और तुम्हारे ये कर्मचारी हमारा क्या कर लेंगे ?

दाँतों को पीसकर, मुँह को बनाकर अत्यन्त क्रोध के स्वर में धोबी बोला—"क्या कर लेंगे, बच्चू जी। अभी दाल आटे का भाव मालूम पड़ जायेगा। ये राज कर्मचारी तुम जैसे चोर लुटेरों को दंड देने ही के लिये तो नियुक्त हैं। तुम जैसे उचक्का उठाईगीरों को ये बाँध लेते हैं और चूतड़ों पर ऐसे बेंत जमाते हैं कि सब मैया बप्पा याद हो जाते हैं। पास जो कुछ माल मसाला होता है उसे छीन लेते हैं। प्रतीत होता है, तुम भी अपनी ऐसी ही दुर्दशा कराना चाहते हो ?

भगवान् हँसकर बोले—"कोई बात नहीं। राज कर्मचारियों की चिन्ता तुम छोड़ दो। उनसे तो हम निपट लेंगे। तुम हमें वस्त्र दे दो। तुम्हें देने में संकोच हो तो लाओ हम वस्त्र लेलें।" यह कहकर भगवान् वस्त्र लेने उसकी ओर झपटे। वह आपेसे बाहर होकर बोला—"खबरदार कपड़ों से हाथ लगाया तो फिर तुम्हारा कल्याण नहीं। मेरे रहते तुम कपड़ों को छू भी नहीं सकते। तुम बड़े विचित्र चोर हो रे। जो दिन दहाड़े सबके सामने भरे राज मार्ग में चोरी करते हो। यहाँ तुम्हारा उचक्कापन न चलेगा। मेरे जीते जी तुम कपड़े नहीं ले सकते।"

भगवान् बोले—"जब ऐसी ही बात है, तो चौधरी जी !

सूतजी बोले—"महाराज! भगवान सर्वायुध हैं। उनके समस्त अङ्ग, प्रत्यङ्ग, आयुध का काम करते हैं। भगवान् के लिये कोई बात असम्भव नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ सूतजी! मैं भूल गया था, विष्णु सहस्र नाम में ही लिखा है, सर्वप्रहरणायुध सर्वप्रहरणायुधेति" अच्छा तो फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"हुआ क्या महाराज! इस अद्भुत कृत्य को देखकर धोबियों में भगदड़ मच गई। वे सोचने लगे। यह विचित्र पुरुष है, जो हथेली से ही सिर काट लेता है। वे कपड़ों के गठरों को फेंक फेंक कर, ये गये वे गये। न कोई राज-कर्मचारी वहाँ आया न किसी नगर निवासी ने ही भगवान् के कार्य में हस्तक्षेप किया। ग्वाल बाल धोबियों की भगदड़ देखकर हँसने लगे।

हँसते हँसते भगवान् बोले—"अरे सारे ओ! अब क्या देखते हो, मारो हाथ। अब तो हम ही हम हैं, छाँट लो अपने अपने मन के वस्त्र।"

यह कहकर भगवान् स्वयं पीले पीले नये रेशमी वस्त्रों को छाँटने लगे। बलदाऊ जी बोले—"अरे कनुआ! हमारा भी ध्यान रखना भैया।"

भगवान् बोले—"दादा! आहार व्योहार में लजाने का काम नहीं। छाँट लो तुम भी अपनी इच्छा के अनुसार। यहाँ कपड़ों की कमी थोड़े ही है। मामा का माल है। मामा की वस्तु पर भानजे का स्वत्व होता है। लजाओ मत। छाँट लो।"

यह सुनकर बलदेवजी भी सुन्दर नीले रंग के रेशमी वस्त्र छाँटने लगे। उस धोबी से सभी मन ही मन जलते थे। अभिमानियों से प्रसन्न कौन रहता है, इसलिये कोई भगवान् के सम्मुख नहीं आया। ग्वाल-बाल बड़ी देर तक वस्त्रों को छाँट छाँटकर

पहिनते रहे। ये वस्त्र कंस के नाप के थे, इन छोटे छोटे ग्वाल-बालों के अंगों में कैसे आते। पहिले तो ग्वाल बाल अपने नाप के ही ढूँढ़ते रहे। जब नाप के न मिले तो ढीले ढाले ही पहिन लिये। एक दूसरे को देखकर हँसने लगे। मुँह मटकाने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार उस उद्धत धोबी को मारकर उसे परम पद देकर, इच्छानुसार वस्त्रों को लेकर, शेष वस्त्रों को ज्यों का त्यों पथ पर ही पड़ा छोड़कर गोप, ग्वालों के सहित भगवान् आगे बढ़ गये।

छप्पय

बनचारी तुम ग्वाल कबहुँ देखे अस अम्बर।
जाउ चराओ गाय लपेटो कारो कम्बर॥
सुनि धोबी की बात श्याम तकि मुक्का मारयो।
धड़तें सिर करि प्रथक् बीच चौराहे डारयो॥
भगदड़ धोबिनि महँ मची, डारि वस्त्र सबई भगे।
राम श्याम गोपनि सहित, चुनि चुनि पट पहिनन लगे॥

वायक भक्त पर कृपा

(१०३२)

ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत् ।
विचित्रवर्णैश्चैलेपैराकल्पैरनुरूपतः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४१ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

ढीले ढाले पहिन वस्त्र हरि आगे आये ।
वायक निरखे श्याम आइ मृदु वचन सुनाये ॥
काटि छाँटिके प्रभो वेष हौं सुघर बनाऊँ ।
करिकें कछु कैंकर्य मनुज जीवन फल पाऊँ ॥
मानी यदुवरने विनय, वायक पट अनुपम किये ।
सजे सजाये करि कलभ, सम हरि बल शोभित भये ॥

जीव के मन में भगवान् को सजाने की भावना आ जाय तो उसका बेड़ा पार हो जाय । भगवान् तो सजे ही सजाये हैं । उन्हें क्या सजाना फिर भी भगवान् तो भाव के भूखे हैं । जैसे सूर्यदेव नमस्कार से प्रसन्न होते हैं, शिवजी

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! तदनन्तर भगवान् के आगे बढ़ने पर एक वस्त्र सीने वाला वायक मिला । भगवान् के रूप माधुर्य से प्रसन्न होकर उसने उन रंग बिरंगे ढीले ढाले वस्त्रों को यथोचित सजावट के साथ काट छाँट कर, उनके अनुरूप उनका वेष बना दिया ।"

जल धारा से प्रसन्न होते हैं, वैसे ही भगवान् अलंकारों से प्रसन्न होते हैं। उन्हें कोई शक्ति के अनुसार श्रद्धा से सजा दे, वे प्रसन्न हो जायेंगे। सोने चाँदी के अलंकार नहीं हैं, तो श्रद्धा सहित सुमनो से ही सजा दो, कोमल कोमल पत्तों से ही उन्हें मंडित कर दो। वे जीव धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं, जो निरन्तर भगवान् को सजाने में ही लगे रहते हैं। आज फूल बँगला बनेगा, आज फूलों का शृंगार होगा, आज वन का शृंगार है। आज से झांकी की रचना होगी। इस प्रकार प्रभु को ही सजाने बजाने में जिनका समय बीतता है, मनुष्य जन्म पाने का फल उन्होंने प्राप्त किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अपने ग्वाल बालों सहित मामा के माल को मारकर उनके वस्त्रों को पहिनकर आगे चल दिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने दूसरे के पहिने कपड़ों को क्यों पहिना?"

हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! वे कपड़े पुराने थोड़े थे, नये थे। अच्छा, मानलो पुराने ही सही, तो भगवान् के लिये क्या पुराना, क्या नया, कौन अपना, कौन पराया। सब उन्हीं के तो रूप हैं। गोपिकाओं के कुचकुंकम से रंजित वस्त्रों को ओढ़ते ही थे, उन पर बैठते ही थे। भगवान् को तो जूठे कूठेका विचार नहीं है। उन्होंने भीलनी के जूठे बेर खाये। दामा पन्त के लिये ढेड़ बन गये। भगवान् अपने भक्तों के लिये सब कुछ कर सकते हैं। इन वस्त्रों को निमित्त बनाकर कई भक्तों का उद्धार करना था। स्वयं उस धोबी का भी उद्धार करना था, इसलिये यह लीला रची।

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो फिर क्या हुआ? भगवान् फिर कहाँ गये?"

सूतजी बोले—"मुनियो! धोबी को मार कर ढीले ढाले वस्त्रों को पहिनकर बनवारी आगे बढ़े कि एक वस्त्रों को सीने वाला वायक (दरजी) उन्हें आगे मिला। भगवान् के त्रिभुवन मोहन रूप को देखकर वह तो आत्म विस्मृत हो गया। उसने आज तक इतना सौंदर्य, ऐसा लावण्य कभी देखा ही नहीं था। माधव की कैसी मनमोहिनी छटा है, ऐसा उनका भुवन मोहन स्वरूप है। तुरन्त वह अपनी दुकान से उतर कर प्रभु के सम्मुख आया। जो प्रभु के सम्मुख हो गया, उसके उद्धार में क्या संदेह हो सकता है। आते ही उसने भगवान के पाद पद्मों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। भगवान उसके भक्ति भाव से अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और बोले—"कहो, भाई! क्या चाहते हो?"

उसने विनीत भाव से कहा—"प्रभो! मेरी प्रार्थना है, मुझे कुछ सेवा का अवसर दिया जाय।

हँसते हुए भगवान् बोले—"तुम क्या सेवा करना चाहते हो?"

वायक बोला—"प्रभो! मेरी सामर्थ्य ही क्या है, जो कुछ सेवा कर सकूँ। मैं तो अत्यन्त ही दीनहीन मतिमलीन निर्धन व्यक्ति हूँ। हाथ से कुछ सेवा करके जीवन को सफल बनाना चाहता हूँ, जो कुछ सीने की कला जानता हूँ, उसका उपयोग आपके सेवा में करके उस कला को सार्थक बनाना चाहता हूँ। जैसे आपका भुवन मोहन स्वरूप है, उसके अनुरूप ये वस्त्र नहीं हैं। मैं काट छाँटकर ठीक करना चाहता हूँ, आपके अनुरूप बना देना चाहता हूँ।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"वाह भैया! हम भी यही चाहते थे। तुम अच्छे समय से मिल गये। बड़े वस्त्रों को

काट छाँटकर नाप के बना दो जिन वस्त्रों में घुंडी तनी हो उनमें घुंडी तनी टांक दो।"

भगवान् की स्वीकृति पाकर वह फूला नहीं समाया। भगवान् को साथ लेकर वह अपनी दुकान पर गया। वहाँ बड़े आदर सत्कार से भगवान् को बिठाया। यथा लब्धोपचारों से उनकी पूजा की। फिर उनके रंग बिरंगे कपड़ों को काट छाँटकर उनके अनुरूप बनाया। बलरामजी के वस्त्र भी ठीक किये।

ग्वाल-बालों ने कहा—"अरे, भैया वायक! तू इनके ही वस्त्रों को ठीक कर दे। हम तो ऐसे ही रखेंगे क्योंकि जब हम बड़े हो जायेंगे तब ये वस्त्र हमारे ठीक बैठ जायेंगे। हमें तो ऐसे ही ढीले ढाले वस्त्र अच्छे लगते हैं।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे सारेओ! ढीले ढाले कपड़े पहिनोगे तो तुम भी ढीले ढाले हो जाओगे। बहू भी तुम्हें ढीली ढाली ही मिलेगी।

ग्वाल-बाल बोले—"मिलने दे भैया! ढीली ढाली बहू तो अच्छी होती है। तेरी तरह चंचला चपला मिली तो नित्य कान गरम करेगी। तू ही अपने वस्त्रों को कसकर ठीक करा ले। हमारे तो ढीले ढाले ही सुन्दर हैं।"

भगवान् यह सुनकर हँसने लगे। फिर वे उस भक्त वायक से बोले—"सुनते हो सूचीधर भक्त! हम तुम पर बहुत प्रसन्न हैं, जैसे तुमने हमारे वस्त्रों को काट दिया है, वैसे ही हम तुम्हारा संसार बन्धन काट देना चाहते हैं। जाओ, हमने तुम्हें इस लोक और परलोक दोनों लोकों का सुख दिया।"

यह सुनकर वायक बोला—"प्रभो! मुझे सुख कुख न चाहिए। मैं तो आपके चरणारविन्दों की भक्ति चाहता हूँ

भगवान् बोले—"हमारी भक्ति का फल ही तो इस लोक और परलोक का सुख है। मैं स्वयं सुखस्वरूप हूँ। जिस पर मैं प्रसन्न होता हूँ। उसे परलोक में सुख देता हूँ और इस लोक में भी उन्हें किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। तुम्हें इस लोक में लक्ष्मी, बल, ऐश्वर्य, स्मृति और कभी भी शिथिल न होने वाली इन्द्रियों की शक्ति प्राप्त होगी और परलोक में सारूप्य मोक्ष की प्राप्ति होगी। यद्यपि तुम्हारी कुछ इच्छा नहीं है, किन्तु मेरी प्रसन्नता व्यर्थ तो जाती नहीं। उसका फल तो प्राप्त होगा ही।"

हाथ जोड़कर वायक ने कहा—"प्रभो! आप जो भी दें, उसी में सन्तुष्ट रहना और आपकी आज्ञा का यथाशक्ति पालन करना यही जीवों का कर्तव्य है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार उस वायक ने प्रभु की सजावट करके भगवान् की कृपा प्राप्त की। इस लोकमें अनन्त ऐश्वर्य का सुख कर मरकर, परम धाम को प्राप्त हुआ। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में वायक के ऊपर की हुई कृपा का वर्णन किया। अब आगे जैसे मालाकार पर कृपा की, उस प्रसंगको आगे वर्णन करूँगा। आप सब समाहित चित्त से इस पुण्य प्रसंग को श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

अति प्रसन्न हरि भये कृपा वायक पै कीन्हीं।
लक्ष्मी बल ऐश्वर्य भक्ति अनपायिनि दीन्हीं॥
लौकिक सुख परलोक मोक्ष फल दोनों पाये।
वायक भयो कृतार्थ लौटि प्रभु पुनि पथ आये॥
ग्वाल-बाल बलदेव संग, हँसत जात मोहन मदन।
आगे माला हार युत, निरख्यो मालीको सदन॥

सुदामा मालीके ऊपर कृपा

(१०३३)

ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः।
तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम सिरसा भुवि ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४१ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

करन कृतारथ चले सुदामा माली घर हरि।
हड़बड़ाइ सो उठ्यो दंडवत करी भूमिपरि॥
विधिवत पूजा करी विविध विधि विनती कीन्हीं।
सबकूँ चन्दन, फूल, पान अस माला दीन्हीं॥
मालीकी माला गरे, धारें यों राधारमन।
इन्द्रधनुष धारन किये, शोभित मानहु सजल घन॥

सेवक के घर स्वामी के चरण पड़ जायँ तो सेवक को कितनी प्रसन्नता होती है। यदि स्वामी सहसा पधारें, बिना सूचना दिये अकस्मात् आ जायँ, तब तो संभ्रम, विस्मय, प्रसन्नता तथा लज्जा आदि भाव एक साथ उदय होते हैं। स्वयं पधार कर भी

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वायकको वर देकर वनमाली सुदामा माली के घर गये। बलरामजी के सहित भगवान् को आते देखकर सुदामा खड़ा हो गया और उसने सिर से दोनों भाइयों को प्रणाम किया।"

स्वामी सेवा स्वीकार करें या अपने आप ही सेवा करने की आज्ञा प्रदान करें तो उस सेवक से बढ़कर बड़भागी, भाग्यशाली दूसरा कौन हो सकता है। जिस सेवक के घर स्वयं सच्चिदानन्द परात्पर प्रभु पधारकर उसके स्वागत सत्कार को ग्रहण करें, ऐसे सच्चे सेवकके पाद-पद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वायक भक्तको कृतार्थ करके बलदेवजी तथा ग्वाल बालों से घिरे श्यामसुन्दर आगे बढ़े। नई नगरी में ननसाल या ससुराल में जायँ तो नये वस्त्र पहिनकर माला, चन्दन धारण करके ठाठ बाट से जाना चाहिए। भगवान् ने सोचा—"ननसाल में जाना है, सजधजकर जाना चाहिये। नये नये कपड़े तो मिल गये। वायक भक्त ने उन्हें सीसाकर ठीक भी कर दिया। अब चन्दन मालाकी कसर और रह गई।" भगवान् यह सोच ही रहे थे, कि सम्मुख सुदामा मालीका घर दिखाई दिया। बाहर उसकी फूल मालाओंकी दुकान थी, भीतर वह रहता भी था। दुकान पर बड़े सुन्दर सुन्दर हार लटक रहे थे। टटके पुष्पोंकी सुगंधित मालायें रखीं थीं। ग्वालबालोंको तो अब लूटने में कोई संकोच रहा नहीं था। सुन्दर सुन्दर फूलोंकी मालाओंको देखकर वे बोले—"कनुआ भैया! तू कहे तो मारे हाथ। कैसी सुन्दर सुन्दर सुगन्धित सुमनोंकी मनोहर मालायें हैं। इन्हें पहिनकर तो फिर हम लोग हम ही हम दिखाई देंगे। तेरी आज्ञा की देरी है।"

हँसकर भगवान् बोले—"ओ, तुम लोगोंकी दाढ़ गदक गई। भैया! सबके साथ एकसा बर्ताव नहीं होता। लूटपाट तो वहाँ की जाती है, जो अकड़ता है, अपने को क्रुद्ध लगाता है। यह माली तो सीदा सादा है, माँगनेसे ही दे देगा। जो वस्तु माँगने से मिल जाय, तो फिर उसके लिये बलप्रयोग क्यों किया!

जाय। जो गुड़ से ही मर जाय, उसे विष क्यों दिया जाय। चलो इसके घर चलें।" यह कहकर भगवान् उसके घर में घुस गये।

कोटि कंदर्पों के सदृश सुन्दर श्यामसुन्दर को बलराम तथा ग्वाल बालों के सहित सहसा अपने घर में आते देखकर सुदामा माली तो अपने आपको भूल गया। संभ्रम के साथ तुरन्त उठ खड़ा हुआ और भूमि में लोटकर उसने भगवान् को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। भगवान् ने उसे अपने करकमलों से बलपूर्वक उठाया। भगवान् अपने आप ही भूमि पर बैठने लगे। तुरन्त वह दौड़ा दौड़ा गया, सुन्दर आसन ले आया। पहिले राम श्याम को आसनों पर बिठाया। फिर सब ग्वाल बालों के लिए भी आसन दिये। फिर अपनी स्त्री से बोला—"अरे, सुनती है सकटू की माँ! देख घर बैठे गंगा आ गई। जिनके दर्शनों को बड़े बड़े ऋषि मुनि कोटि कोटि जन्मों तक जप तप करते हैं, उन्हें भी कभी हृदय में ही दर्शन होते हैं, वे ही परात्पर प्रभु प्रत्यक्ष हमारे इन चर्म चक्षुओं के विषय हुए। पूजा की सामग्री तो ले आ।"

यह सुनकर सुदामा की घर वाली तुरन्त कोठरी के भीतर गई। लहँगा के नारेसे बँधे हुए तालियों के गुच्छे में से एक ताली से संदूक खोली। उसमें से केशर कपूर निकाला, धूपबत्ती निकाली। तुरन्त उसने केशर कपूर मिलाकर चन्दन घिसा। एक थाल में अर्घ्य की वस्तुएँ, वस्त्र, धूप, दीप नैवेद्य, पान सुपारी फूल तथा माला आदि पूजा की सामग्री सजाकर कलश में जल भरकर ले आई।

सुदामा ने श्यामसुन्दर के सुकुमार चरणों को विधिपूर्वक प्रक्षालन किया। बलदेवजी के चरणों को धोया। फिर विधिवत अर्घ्य दिया, आचमन कराके उनके ऊपर जल छिड़का, सुन्दर

वस्त्र दिये, चन्दन लगाया, धूप सुलगाकर आगे रखी। दीप दिखाया और फिर मथुरा के पेड़े आगे रखे। सुन्दर लगे हुए पान अर्पण किये, सुपारी इलायची आदि मुखशुद्धि के निमित्त दी। फिर हाथ जोड़कर गद्गद् वाणी से विनय करने लगा—"प्रभो! जीव को जब तक आपके दर्शन नहीं होते, तब तक उसका जन्म व्यर्थ है। जिसने आपका दर्शन कर लिया, उसका जन्म सफल हो गया। आप दोनों भाइयों के पधारने से मेरा संसार-बन्धन सदा के लिए छूट गया। मैं सपरिवार कृतार्थ हो गया। भगवान्! मनुष्य जन्म लेते ही पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण इन तीन ऋणों से दबा रहता है। पितृऋण तो पुत्र उत्पन्न करके छुड़ाया जाता है, ऋषिऋण ज्ञानार्जन करके और देवऋण यज्ञादि से छूटता है। किन्तु जिसने आपके दर्शन कर लिये जो सर्वात्मभाव से आपकी शरण में आ गया, उसके सभी ऋण स्वतः ही छूट जाते हैं। वह न किसी का ऋणी रहता है न किंकर। आज मेरे समस्त पितृगण तर गये, ऋषिगण तृप्त हो गये। देवगण तृप्त हो गये।

आपके यथार्थ स्वरूप को तो ब्रह्मादिदेव, इन्द्रादिलोकपाल भी नहीं जानते, फिर मैं साधारण माला बनाने वाला माली तो जान ही क्या सकता हूँ। फिर भी इतना अवश्य ही जानता हूँ कि आप संसार के कल्याण और उन्नति के ही निमित्त इस अवनि पर कलाओं के सहित अवतीर्ण हुए हैं। यद्यपि आप कल्पवृक्ष के सदृश भजने वालों को ही भजते हैं, उनकी भावना के अनुसार फल देते हैं। फिर भी आप में विषम दृष्टि नहीं है। आप चराचर जीवों के परम सुहृद् हैं, जगत् के आत्म स्वरूप हैं और परम कारुणिक तथा कृपा के सागर हैं। सभी जीव आपकी दृष्टि में समान हैं। यद्यपि मैं पूर्ण भक्त नहीं, आपके चरणों में अनन्य भाव से अनुरक्त नहीं, फिर भी मैं आपका

किंकर हूँ, अनुचर हूँ, चरण सेवक हूँ। मेरे योग्य जो सेवा हो उसके लिय आज्ञा प्रदान करें। स्वामी की आज्ञा प्रदान करना, सेवक के ऊपर महती कृपा है।

भगवान हँसकर बोले—"अरे, भैया! इन गाँव के गँवार ग्वारियों ने वन में इतने बड़े बड़े सुगन्धित हार गजरे देखे नहीं तुम्हारे हारों को देखकर इन सबका मन ललचा उठा है, सबको तू हार पहिना दे। तेरे हार बड़े ही सुन्दर हैं।

प्रसन्नता प्रकट करते हुए माली ने कहा—"मेरे काहे के हैं प्रभो ! सब आपके ही हैं। आप ही सबके स्वामी हैं। मैं तो आपका नियुक्त किया हुआ सेवक हूँ। स्वामी अपनी वस्तु को सेवक के द्वारा स्वीकार करते हैं, तो इसमें सेवक का क्या जाता है। केवल स्वामी उसके हाथ से ग्रहण करके उसका गौरव बढ़ाते हैं। ये हार, ये मालायें, यदि आपके अनुयायियों, कृपापात्रों के काम आ जायें तो इससे बढ़कर इनका दूसरा सुन्दर सदुपयोग और हो ही क्या सकता है।"

यह कहकर सुदामा ने प्रसन्न मन से परम प्रशंसनीय सुगंधित पुष्पों की बनी मालाएँ भगवान् को तथा उनके सखाओं को सादर समर्पित की।

अपने सखा साथियों के सहित उन सुगंधित सुन्दर पुष्प मालाओं को पहिनकर भगवान् परम प्रसन्न हुए। उन मालाओं को पहिनकर भगवान् की शोभा बढ़नी ही क्या थी, हाँ भगवान् के श्रीअङ्ग को पाकर वह माला अत्यधिक सुशोभित होने लगी। अपनी प्रसन्नता रूपी सुधा को उस भाग्यशाली पर छिड़कते हुए श्यामसुन्दर कहने लगे—"तुमने हमारे गले में हार पहिनाया, अब हम भी तुम्हें अपने कंठ का हार बनाना चाहते हैं। माँग लो तुम क्या माँगते हो। मैं वर देने के लिए तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हूँ, तुम अपनी इच्छानुसार वर माँग लो। संकोच मत करो।"

भगवान् को प्रसन्न देखकर तथा वर देने के लिये उत्सुक देखकर लजाता हुआ सुदामा माली बोला—"हे वर दानियों में श्रेष्ठ प्रभो ! यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो यह वर दीजिये कि योगिजनों द्वारा पतित विश्व वन्दित आपके अरुण वरण के चरणारविन्दों में मेरी अविचल अहैतुकी भक्ति हो।"

भगवान ने कहा—"अच्छी बात है, इसके अतिरिक्त तुम

और भी कोई वर चाहते हो तो माँग लो।"

भगवान् को परम अनुकूल देखकर सुदामा बोला—"हे वरद्! यदि आप मुझे दूसरा और भी वर माँगने की आज्ञा देते हैं, तो मेरा दूसरा वर यही है कि जो आपके अनन्य भक्त हैं, जिनको आपकी भक्ति के अतिरिक्त कभी अन्य किसी वस्तु की इच्छा ही नहीं, आपके उन निष्काम अनन्य भक्तों के चरणों में मेरी अनुरक्ति हो। आपके प्रिय भक्तों में मेरा निष्छल प्रेम हो।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा यह वर भी दिया। और कोई तीसरा वर माँग लो।"

सुदामा ने दीनता के साथ कहा—"स्वामिन्! और अब वर क्या माँगू। भक्त और भगवान् के चरणों में अनुराग होने पर फिर शेष रहा ही क्या? फिर भी जब आप आज्ञा दे रहे हैं, तो मेरा तीसरा वर यह है कि जितने अण्डज (अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी आदि जीव) उद्भिज (पृथिवी को फोड़कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष आदि जीव) स्वेदज (पसीना से उत्पन्न होने वाले जूँआ खटमल आदि जीव) तथा जरायुज (झिल्ली से बँधकर उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि जीव) इस प्रकार सम्पूर्ण जीवों के प्रति मेरे मन में दया के भाव हों। मैं प्राणिमात्र से प्रेम करूँ, मेरे मन में किसी के प्रति द्वेश भाव न हो।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, यह भी होगा, इसके अतिरिक्त तुम्हें और भी जो वर माँगना हो, माँग लो।"

यह सुनकर सुदामा माली बोला—"प्रभो! मुझे तो जो माँगना था सो माँग लिया, अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् बोले—"अच्छी बात है, ये तीन वर तो तुमने माँगे और हमने उन्हें दिया भी। अब हम अपनी ओर से तुम्हें ये वस्तुएँ और देते हैं। तुम्हारी संतानें सुयोग्य होंगी। तुम्हारे वंश का विच्छेद न होगा, तु

यहाँ लक्ष्मी अपने चंचलता के स्वभाव को छोड़कर निश्चल भाव से रहेगी। तुम्हारी इन्द्रियों में अन्त तक यथेष्ट बल रहेगा। तुम्हारी दीर्घायु होगा। संसार में तुम्हारा बड़ा यश होगा और तुम्हारी कान्ति सदा दिव्य बनी रहेगी। जब तक तुम संसार में रहोगे, संसारी भोगों को सुखपूर्वक भोगोगे। अन्त में मेरे लोक को प्राप्त होगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की ढरन ही तो है, न जाने किस पर कब ढर जायँ, कब किस पर प्रसन्न हो जायँ, कब किस पर कृपादृष्टि की वृष्टि कर दें। इस प्रकार माला पहिनाने वाले उस माली को इहलोक तथा परलोक के परमोत्कृष्ट सुखों का वरदान देकर साथियों और बलदेवजी के साथ उसके घर से चल दिये। अब वस्त्र धारण कर लिये। माला पहिन ली, अब सुगन्धित चन्दन सम्पूर्ण अङ्गों में चर्चित करना और शेष रहा, उसके लिए किसी जिजमानिन की खोज, श्यामसुन्दर और आँखें फाड़ फाड़ कर करने लगे।

छप्पय

पूजा तैं प्रभु तुष्ट कहैं वर मालीं माँगो।
नहिं अदेय कछु मोहिं व्यर्थ लज्जाभय त्यागो॥
माँगी माली भक्ति भक्त भगवन्त चरन महँ।
जीवमात्र पै दया रहूँ नित नाथ शरन महँ॥
इच्छित वर, बल, आयु, यश, श्री लौकिक सुख हू दये।
यों माली पै कृपा करि, पुनि हरि आगे बढ़ि गये॥

कुब्जाके ऊपर कृपा

(१०३४)

अथ व्रजन् राजपथेन माधवः,
स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् ।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननाम्,
पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४२ अ० १ श्लो०)

छप्पय

आगे निरखी श्याम कूबरी युवती नारी ।
कर महँ चन्दन पात्र लिये मनहर मुखवारी ॥
रंग रँगीले रसिक शिरोमनि बोले भामिनि !
चन्दन लैकें जाहु कहाँ सुमुखी गज गामिनि !!
हमें देहु चन्दन सुखद, गंधयुक्त शीतल सरस ।
बोली दासी कंस की, धन्य पाउँ हौं प्रभु परस ॥

यद्यपि ब्रह्माजी के एक अङ्ग के ही दो भाग हो गये थे, एक से स्त्री बनी, दूसरे से पुरुष। फिर भी बीच में वयमाता ने स्त्रियों के साथ पक्षपात किया। पुरुष तो जहाँ पन्द्रह सोलह वर्षका

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मालाकार के घर से भगवान् राज मार्ग में जा ही रहे थे कि उन्होंने एक युवती स्त्री को, जिसका मुख सुन्दर था, किन्तु शरीर से कुबड़ी थी, जाते हुए देखा। वह अपने हाथ में चन्दन भरा पात्र लिये हुए थी। उसे देखकर रसप्रद भगवान् हँसते हुए उससे पूछा।

हुआ कि उसका मुँह काला हो जाता है, किन्तु स्त्रियों का मुँख कभी काला नहीं होता। पुरुष तो जहाँ बड़ा हुआ कि उसकी वाणी भारी हो जाती है, स्त्रियों की सदा एकसी बनी रहती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में सरसता, सुकुमारता, कोमलता, मृदुता, मोहकता, आकर्षण तथा सेवापरायणता अधिक होती है। साहित्य में नवरस बताये हैं किन्तु सब रसों में प्रधान रस है शृङ्गार। शृङ्गार, रस की प्राण नारी है। नारी के बिना शृङ्गार रस अभिव्यक्त ही नहीं होता। शृङ्गार रस का ही नाम मधुर रस है। वह मधुरता नायिका में ही है। इसीलिये उसका नाम कामधुरा है। सरसता को उत्पन्न करने वाली नायिका ही है। ऊसर भूमि में पड़ा बीज तो व्यर्थ हो सकता है, किन्तु कैसा भी नीरस हृदय का पुरुष क्यों न हो अनुरागवती अबला की सरस चितवन से उसका हृदय भी कुछ स्निग्ध सा होने लगता है। फिर जो सरस हृदय वाले हैं, रसिक हैं, उनका हृदय तो अनुरागवती कामधुर को देखकर विचित्र ही हो जाता है। हमारे श्यामसुन्दर तो रसिकशेखर हैं। संसार में रस की रीति तो वे ही जानते हैं। वे निष्ठुर नहीं सदय हैं। वे शुष्क हृदय के नहीं, सरस हैं, उन्हें किसी का भय नहीं, निर्भय हैं। वे प्रेम करना भी जानते हैं और तड़फाना भी जानते हैं। उनके प्रेम में भी अनिर्वचनीय सुख है और उनकी स्मृति में भी एक मीठा मीठा स्वाद है। श्यामसुन्दर तो जीव मात्र के पति हैं। इसीलिये वे चाहें जिससे जैसे सम्बन्ध कर लें, पाप पुण्य स्पर्श नहीं करता। पाप तो परमे सम्बन्ध करने में होता है। उनके लिये कोई पर है ही नहीं। सब उन्हीं के हैं। वे सबके पति हैं। पति से सम्बन्ध करने में तो कोई दोष वाली बात है नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुदामा माली पर कृपा करके उसे इच्छानुसार वर देकर श्यामसुन्दर उसके घर से बाहर हुए। बाहर आकर गोप ग्वालों से घिरे हुए बल भैया के साथ वे राज-पथ पर पुनः हँसते खेलते चलने लगे। उसी समय आपके सामने जाती हुई कुबड़ी स्त्री दिखाई दी। वह तीन स्थानों से टेढ़ी थी। शरीर तो उसका टेढ़ा था, किन्तु मुख सीधा, सरल, सुन्दर और शोभायुक्त था। यद्यपि वह तो अपने को युवती मानती थी, किन्तु कमर लच जाने के कारण लोग उसे बुढ़िया माई कहते थे। यद्यपि वह 'बुढ़िया' शब्द को अपने लिये गाली समझती थी, फिर भी लोगों का मुख तो नहीं पकड़ा जाता। लोगों का भी क्या अपराध? हाथ में डंडा लिये हुए कमर लचाये वह पीछे से बुढ़िया ही लगती थी। लोग पूरा छान बीन तो करते नहीं, अनुमान से जो भी समझ लिया कहने लगते हैं। फिर संसारी लोगों को दूसरों की हँसी उड़ाने में बड़ा आनंद आता है। लोग उसे देखते और हँसते हुए पूछते—"कहो, डोकरी माई! कमर नवाकर क्या खोजती हो? कोई तुम्हारी वस्तु खो गई है क्या?"

कुबड़ी यह सुनकर जल भुनकर राख हो जाती और दाँत पीसकर कहती—"तुम लोगों की बुद्धि खो गई है, उसे ही खोज रही हूँ। लफंगे कहीं के मुझे डोकरी बताते हो। डोकरी तुम्हारी माँ होगी, बहिन होगी।"

लोगों का स्वभाव होता है, जो आदमी जिस नाम से चिढ़ता है, उसी को बार बार कहते हैं। दूसरों को चिढ़ाने में लोगों को आनंद आता है। इसीलिये कुब्जा का नाम डोकरी ही पड़ गया। लड़के जहाँ उसे देखते वहीं कहते 'डोकरी माई! राम राम।' कभी तो वह सिर नीचा करके चुपचाप निकल जाती। किसी को दो चार खरी खोटी सुना देती। इससे

बड़ा आनंद आता। वह लोगों के विनोद की वस्तु बन गई थी। उसका विवाह नहीं हुआ था, कुबड़ी से विवाह कौन करता। फिर वह दासी थी। दासी भी राजा की। इससे उसे अभिमान भी था। लड़के तो स्वतंत्र होते हैं, वे तो जो चाहें जिसे कह दें, उनके तो सब अपराध क्षम्य माने जाते हैं। अन्य लोग राजदासी समझकर उससे डरते थे। सब लोग उसे अभिमानिनी समझते थे इसलिये उससे हृदय खोलकर कोई बात नहीं करता।

वह हृदय हीना नहीं थी। उसके हृदय में भी अनुराग का स्रोत था, किन्तु अनुकूल वातावरण पाकर वह रुक गई थी। हृदय की बात सबके सम्मुख तो प्रकट नहीं की जाती, सरसता सबके सम्मुख व्यक्त नहीं की जाती। हृदय जिसे पकड़ ले, मन में जिसकी मूरत बस जाय, जिसे देखकर अन्तःकरण में अनुराग की हिलोरें मारने लगे, साथ ही जिससे प्रेम किया जाय, वह भी सरस हो, अनुरागी हो, हृदय हीन न हो, तभी अन्तःकरण के भाव व्यक्त किये जाते हैं। कुब्जा को आज तक उससे निष्छल प्रेम करनेवाला कोई मिला नहीं था। इसीलिये वह प्रेम की प्यासी ही बनी रही। उसकी मन की साध मन में ही दबी रही। किसी से हँसकर दो बातें उसने नहीं की। उसका अङ्ग तीन स्थान से टेढ़ा जो था। लोग बाहरी चाकचिक्य देखकर प्रेम करते हैं, हृदय को तो श्यामसुन्दर ही पहिचानते हैं। उन्होंने प्रेम की प्यासी उस कुब्जा को आते देखा। कोई गम्भीर पुरुष होता, तो देखकर चुपचाप निकल जाता। श्यामसुन्दर तो मुँहफट ठहरे। वे बिना छेड़खानी किये मानते नहीं। अतः हाथ में चन्दन के कटोरे लिये हुए जाती उस कुब्जा को देखकर बोले—"देवीजी! राम राम! कहो अच्छी हो न? कहाँ जा रही हो? क्या हम आपका कुछ परिचय जान

सकते हैं ?"

श्यामसुन्दर के वचनों में कितनी मीठास थी, कुब्जा को ऐसा लगा मानों उसके कर्ण कुहरों में किसी ने अमृत उड़ेल दिया हो, भगवान् के रूप में कितनी मोहकता थी, मानों हृदय में किसी ने गुदगुदी कर दी हो। कूबरी खड़ी हो गई। श्यामसुन्दर के अनुपम रूप लावण्य को देखकर उसकी भीतरी बाहरी सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। चिरकाल से जो अनुराग का स्रोत रुँधा हुआ था, वह फूट निकला। मदनमोहन की एक चितवन में ही वह उनकी चेरी बन गई। उसने अपना सर्वस्व श्यामसुन्दर के चरणों में अर्पण कर दिया। उस मोहनी मूरत पर उसने तन, मन, धन सब वार दिया। अत्यन्त अनुराग भरित हृदय से बोली—"हे श्यामसुन्दर ! मेरा क्या परिचय ? मैं सैरन्ध्री हूँ,दासी हूँ। राजा के यहाँ जो दासियाँ स्नान कराती हैं, पैर धोती हैं, तेल उबटन लगाती हैं, वही मैं हूँ।"

भगवान् बोले—"अच्छा, तुम नाइन हो। कोई बात नहीं। नाइन ठकुरानी ! कहो, तुम्हारे हाथ में यह क्या है ?"

कुब्जा बोली—"महाराज ! मैं कूबड़ी हूँ, तेल उबटन लगाने में तो मुझे असुविधा होती है, अतः राजा ने कृपा करके मेरी नियुक्ति चन्दन घिसने में कर दी है। मैं अपने कूबड़ के कारण शीघ्र शीघ्र चन्दन नहीं घिस सकती। बहुत शनैः शनैः मैं चन्दन घिसती हूँ, इससे बहुत महीन चन्दन घिसा जाता है, इसीलिये महाराज कंस को मेरा घिसा हुआ चन्दन बहुत प्रिय लगता है। उन्हीं के लिये मैं यह सुगन्धित चन्दन लिये जा रही हूँ।"

भगवान् बोले—"सुन्दरि ! जैसी तुम परम सुन्दरी हो, वैसा ही परम सुन्दर यह तुम्हारा घिसा हुआ चन्दन है ? तनिक चन्दन हमें भी दे दोगी क्या ?

भीतर ही भीतर अत्यन्त प्रसन्न होती हुई, ऊपर से लज्जाका भाव प्रकट करती हुई कुब्जा बोली—"महाराज! आप मुझे क्यों बनाते हैं। मैं तो कुरूपा हूँ, तीन स्थान से टेढ़ी हूँ। मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ जो आप मेरे घिसे चन्दन को स्वीकार करें।"

भगवान ने कहा—"सुन्दरि! टेढ़े सभी हैं, मैं भी तो टेढ़ा हूँ, किन्तु जिसमें अपनापन हो जाता है, उसका टेढ़ापन दिखाई नहीं देता। सिंह दूसरों को भयानक लगता है, किन्तु उसके बच्चे तो उसके सिर पर चढ़ जाते हैं। सर्प बाहर टेढ़ा दिखता है, अपने बिल में घुसते समय सीधा हो जाता है। मैं जिसे अपनाता हूँ, उसे टेढ़े से सीधा कर लेता हूँ। तुम अपने टेढ़ेपन की ओर ध्यान मत दो। तुम तो मुझे चन्दन चढ़ा दो। अपने घिसे हाथों का चन्दन मेरे तथा मेरे बड़े भाई के अंगों में लेपन कर दो।"

कुब्जा का रोम रोम खिल उठा। आज उसने मानों निधि पा ली। आज वह अपने हाथों से श्यामसुन्दर के कोमल मृदुल श्रीअंग का स्पर्श करेगी, अपने हाथों से उनके शरीर में चन्दन लगावेगी, अहा, मेरे किस जन्म के पुण्य उदय हो गये। वह स्नेह भरित वाणी में गद्गद् कण्ठ से बोली—"प्रभो! इतने दिन जो मैं चन्दन घिसती रही, उसका प्रतिफल आज ही पाया। इतना सुन्दर सुगन्धित महीन चन्दन तो आपके सुकुमार श्री अङ्ग के ही अनुरूप है। इसके लगाने के सर्वश्रेष्ठ पात्र तो आप ही हैं। आज्ञा हो तो मैं आपके श्री अङ्ग में चन्दन लगा दूँ?"

भगवान् हँसते हुए बोले—"भलाई और पूछ पूछ कर" "चुपड़ी और दो दो" लगा दो हम दोनों भाइयों के अङ्गों में।"

ग्वाल बाल बोले—"अरे, कनुआ भैया! अकेले ही अकेले। हम लोगों को कुछ न मिलेगा?

भगवान् हँसकर बोले—"अरे, सारेओ ! तुम चन्दन लगाकर क्या करोगे ? 'बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद, हम चंदन लगाये लेते हैं, आगे कोई मिठाई की दुकान आवे तो तुम सब-लोग भरपेट मिठाई खा लेना।

गोप ग्वाल बोले—"जब तक मिठाई नहीं मिलती, तब तक चन्दन ही चाट लें थोड़ा सा।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—तभी तो मैं कहता हूँ, तुम लोग बन्दर हो। अरे, चन्दन चाटा थोड़े ही जाता है, शरीर पर मला जाता है।

गोपों ने कहा—"अरे, यह बात है, तब तू ही मलवाले शरीर में। हमें तो लड्डू, पेड़ा, खुरचुन और कलाकन्द चाहिये। रसीली गुलाबजामुन हो तब तो कहना ही क्या ?"

गोप यह कह ही रहे थे, कि तब तक कुब्जा ने जो अधिक पीला पीला चन्दन था, जिसमें केशर कस्तूरी कर्पूर आदि पड़ा था, श्यामसुन्दर के श्रीअङ्ग पर नाभि से ऊपर के भाग में लेपन कर दिया और जो रक्त वर्ण का चन्दन था, उसे गौर वर्ण वाले बलदेवजी के अङ्गों में लगा दिया। वह कुब्जा भगवान् के भुवनमोहन रूप पर, उनकी सिरीस-कुसुम के सदृस सुकुमारता पर, उनके विश्वविदित माधुर्य पर तथा उनकी मन्द मन्द मुसुकानमयी चितवन पर और शहद से भी मीठी मीठी उनकी बातों पर वह मुग्ध हो रही थी। प्रेम के कारण उसका अङ्ग थर थर काँप रहा था। नेत्र अनुराग से झुक झुक जाते थे, रोएँ खड़े हो रहे थे, बार बार अङ्गों में पुलक हो रहा था। संसार में वस्तुएँ सुलभ हैं, किन्तु प्यारे के अङ्ग का स्पर्श होना यही दुर्लभ वस्तु है।

भगवान ने देखा, कुब्जा तो हमारे रूप पर लट्टू है, उस हृदय अनुराग में भीगा हुआ है। इसे अपने टेढ़े होने पर

दुःख है। मेरे सम्मुख आने पर भी जीव का टेढ़ापन नहीं गया, तो फिर मेरे दर्शनों का फल ही क्या रहा।" मैं इस टेढ़ी युवती को सीधी कर दूँगा, इस लोकनिन्दित अबला को लोक वन्दित सबला बना दूँगा।

यही सब सोचकर श्यामसुन्दर बोले—"देवीजी! तनिक मेरे समीप तो आना।"

अहा! श्यामसुन्दर मुझे समीप बुला रहे हैं, इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य क्या हो सकता है। यह सोचकर वह श्यामसुन्दर के और समीप चली गई, उनसे सट सी गई।

भगवान ने अपने दोनों चरणों के पंजे तो उस कुब्जा के पैरों पर रख लिये। जिससे वह पैर न उठा सके। बायें हाथ की दो उँगलियाँ उसके सुन्दर चुबुक में लगा लीं। दायें हाथ को उसके कूबर पर रख दिया। और सहसा ऐसा झटका मारा कि तीन स्थान से टेढ़ी उस कुब्जा के सभी अङ्ग सुन्दर, सीधे, सुडौल और प्रशंसनीय बन गये। श्यामसुन्दर के कृपावलोकन से, उनके सुखद संस्पर्श से वह कूबरी तत्काल विशाल नितम्बों वाली तथा पीन पयोधरों से युक्त एक अत्यन्त ही सुन्दरी सुकुमारी नारी बन गई।

इस अद्भुत आश्चर्यमयी घटना को देखकर सभी गोप ग्वाल परम विस्मित हुए। वे बार बार कुब्जा और श्रीकृष्ण को निहारने लगे। गोपों को विस्मित देखकर हँसते हुए भगवान् बोले—"मेरे गुरु ने एक मंत्र बताया था, जिसके प्रभाव से मैं टेढ़ों को सीधा कर सकता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार उस सैरन्ध्री कुब्जा पर कृपा करके केशव जब आगे बढ़ने लगे, तब कुब्जा ने उनका पल्ला पकड़ लिया। अब जैसे कुब्जा ने अपनी कामना श्रीकृष्ण पर प्रकट की, उस प्रसङ्ग को आगे कहूँगा।

छप्पय

चन्दनवारी सहित लेउ यदुनन्दन चन्दन।
अर्पित अच्युत! करूँ तुम्हें सरबसु तन मन धन॥
प्यारे! तुमकूँ पाइ जगत तें हौं मुख मोरूँ।
लोकलाज कुललाज जगत के बन्धन तोरूँ॥
सैरन्ध्री चन्दन दयो, अति आनंदित ह्वै गई।
पग पै पग धरि चुबुक धरि, झटकी अति सीधी भई॥

कुब्जाकी कामना

(१३०५)

एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथित चित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४२ अ० १० श्लो०)

छप्पय

टेढ़ी सीधी भई सुन्दरी अति सुकुमारी।
मधुर मधुर मुसकात निहारे रास बिहारी॥
पल्लो पकरयो कहे कान्त मेरे घर आओ।
मदन ताप ते तपित रमन तन ताप मिटाओ॥
तासु विनय बल ग्वाल मुनि, हँसे श्याम हू हँसि गये।
हौं आऊँगो फिर अवसि, यों कहि आगे चलि दये॥

नर-नारियों के हृदयमें परस्पर में मिलन की कामना न हो, तो संसार बन्धन ही नहो। कामनामें ही सृष्टि बढ़ती है, निष्काम ही सृष्टि चक्र सदा के लिये मेटती है। निष्काम निरीह श्याम के मनमें

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कुब्जा भगवान् से कहने लगी—"हे वीर! चलिये घर चलें। अब मैं आपको छोड़ नहीं सकती। हे पुरुषसिंह! आपने मेरे मन को मथ डाला है, अतः मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिये।

जब सृष्टि की कामना होती है, तो वे ही अपने संकल्प से समस्त सृष्टि की रचना करते हैं। संकल्प का ही सुत काम है, काम की ही उत्पत्ति संकल्प के है। मन मे जैसा भी अच्छा बुरा संकल्प आता है, उसी के अनुसार मन बन जाता है और फिर वह इन्द्रियों को उन विषयों में हठात् प्रेरित करता है। संसारी नर-नारियों से कामना करना यह बन्धन का हेतु है, यदि वही कामना नवल किशोर नटनागर में की जाय, तो संसारी बन्धन कट जाता है। श्रेष्ठ तो यही है, कि हृदय में कोई कामना ही न हो। निष्काम भाव से नटनागर की सेवा की जाय, यदि मन न माने कोई कामना ही हो तो उसे श्यामसुन्दर के सम्मुख प्रकट करे। वे समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कूबरी को श्रीकृष्ण भगवान् ने टेढ़ी से सीधी बना दिया। अब तो वह अप्सरा के समान दिखाई देने लगी। ग्वाल बाल उसके ऐसे अद्भुत रूप, लावण्य, सौंदर्य, माधुर्य और शील स्वभाव को देखकर परम विस्मित हुए। वह लज्जायुक्त मंदमुस्कानमयी चितवन से श्यामसुन्दर की ओर निहार रही थी। उसके हृदय का रुँधा हुआ प्रेम स्रोत सहसा फूट पड़ा था। उसमें अनुराग की अविच्छिन्न धारा बह रही थी। अनुराग के आवेग मे वह लोकलाज को भी भूल गई। बीच चौराहे पर ग्वाल बालों से घिरे श्यामसुन्दर का पल्ला पकड़ लिया और क्रीडा के साथ मुसकराती हुई कहने लगा—"हे वीरवर! आइये घर चलें। प्यारे! तुमने मेरे चित्त को चुरा लिया है। तुम्हारे बिना मैं रह नहीं सकती। प्रभो! सुकृत पुरुष जिसे अङ्गीकार कर लेते हैं उसका अन्त तक प्रतिपाल करते हैं। मैंने अपना सर्वस्व आप के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया। आज से मैं आपकी क्रीत दासी हुई। अब मुझे कंस से कुछ काम नहीं, मेरे सर्वस्व तो आप हैं। कब से मैं कुसुमायुध के प्रबल प्रहारों से संतप्त हूँ। मकरध्वज अबला

समझकर अकारण ही मेरे हृदय में बाण वेधता रहता है। उसने मेरे हृदय को जर्जर बना दिया है। आप मदन को भी दलन करने वाले हो, कृपा करके इस पापी के प्रहारों से मुझे छुड़ाइये। इस

बलशाली के बाणों से मुझ अबला की रक्षा कीजिये। मुझे आज तक ऐसा कोई भी कृपालु नहीं मिला, जिसने मुझ अबला पर दया दिखाई हो। मुझ दासी को अभय दान दिया हो। हे अशरण शरण! मुझे एकमात्र आपका ही सहारा है। आप ही मेरे तन

की तपन मिटा सकते हैं। आप ही इस चिरकालकी पिपासिता नारी की प्यास बुझा सकते हैं। आप मन्मथके मनको भी मथन करने वाले हैं। आप बलवानों में श्रेष्ठ हैं, जैसे कोई गजराज छोटे सरमें घुसकर उसके जलको मथ डालता है, उसी प्रकार आपने मेरे हृदय रूपी सरको अपने सौंदर्य माधुर्य बल से मथ डाला है। हे पुरुषोत्तम! आप मेरे घर चलें। मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।"

कुब्जाकी ऐसी प्रेममें पगी, नेह में सनी, अनुरागमें डुबाई तथा ममता में लपेटी वाणी सुनकर श्यामसुन्दर इधर उधर देखने लगे, पीछे उन्होंने देखा बलदाऊजी मुस्करा रहे है, यह देखकर भगवान हँस पड़े। भगवान् को हँसते देखकर सभी की हँसी फूट पड़ी। हँसते हँसते ग्वाल बाल बोले—"कनुआ भैया! तेरी बृहस्पतीकी दशा आज कल चेत रही है तू जहाँ भी जाता है. वहीं तुझे आदर सत्कार करने वाली मिल जाती है। जा, भैया! माल उड़ा आ। हम तब तक यहीं बैठे हैं।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे, भैयाओ! मैं अकेला ही खा पी आऊँगा, तो फिर तुम सब कहोगे यह बड़ा 'इकखोरा, है। तुम चाहे न भी कहो, बलदाऊ जी तो मानेंगे नहीं।"

कूबरी ने कहा—"नहीं प्राणनाथ! आप सबको लेकर पधारें, बलदाऊजी भी चलें। सब सखा भी आपके साथ चलें।

यह सुनकर कुछ गम्भीर होकर श्यामसुन्दर बोले—"देखो, सुन्दरी! सब कार्योंका समय होता है। असमयका काम अनुचित है, इस समय तुम्हारे घर जाना उचित नहीं। अब मुझे क्षमा करो, मैं फिर कभी आऊँगा।"

प्रेम-कोप प्रदर्शित करती हुई कूबरी बोली—"गोदके को छोड़कर पेटके की आशा क्यों की जाय। उपस्थित अवसर को छोड़कर अगामी अवसर की प्रतीक्षा क्योंकी जाय? मेरा घर तो सभी यही है, चार पग चले चलिये, घर पवित्र हो जायगा,

भी प्रसन्नता होती। ऐसी निष्ठुरता क्यों दिखाते हो जीवनधन!"

भगवान् अधिकाधिक गम्भीर होते जा रहे थे। वे बोले—"देखो, इस समय मुझे एक अत्यावश्यक कार्य करना है। जब तक मैं उस कार्य को न कर लूँगा, तब तक किसीके घर नहीं जाऊँगा।" जब मेरा वह कार्य हो जायगा तो पुरुषों के मानसिक रोग-आधिको नाश करने वाले तुम्हारे सुन्दर स्वच्छ सजे सजाये घर में अवश्य ही आऊँगा। तुम मेरा विश्वास करो।"

कुब्जाने तुनक कर कहा—"अजी, महाराज! आप तो टालमटोलकर रहे हो। फिर आप काहेको आने लगे?"

हँसकर भगवान् बोले—"न आवेंगे, तो जायँगे कहाँ। हमारा कोई यहाँ घर द्वार तो है नहीं। हम तो गृह हीन परदेशी पथिक हैं। बिना आश्रय के बटोही हैं, हमारे लिये तो तुम्हारा ही आश्रय है।" यह कहकर श्यामसुन्दर खिलखिलाकर हँस पड़े। उनकी हँसी में ग्वाल बालोंने भी योग दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रेम पिपासिता कुब्जा को मधुरवाणीसे माधव प्रेमपूर्वक समझाकर आगे बढ़े। वह सैरन्ध्री अनुराग भरितदृष्टिसे श्यामसुन्दरको एक टक निहारती रही, जब तक ग्वालबालों से घिरे गोविन्द दिखाई देते रहे, तब तक वह उन्हें देखती रही। जब आखों से ओझल हो गये, तो मन मसोसकर अत्यन्त व्यग्र चित्तसे घर लौट गई। उसका हृदय धक् धक् कर रहा था, सम्पूर्ण अंग शिथिल हो रहे थे। वह पलंग पर जाकर पड़ गई और श्यामसुन्दरकी सलौनी सूरतका ही ध्यान करती रही।"

इधर मदनमोहन आगे ही बढ़ते जाते थे। नर-नारी उन्हें देखकर खड़े हो जाते, वे पुष्प माला, पान सुपारी तथा चन्दन आदिसे ग्वाल बाल और बलराम सहित वासुदेव का स्वागत सत्कार करते। अटा अटारियों पर चढ़ी कामिनियाँ श्रीकृष्णके कमनीय कटाक्ष बाणोंसे बिधकर शरीर की सुधि बुधि भूलकर

मूर्छित हो जातीं। वे उनके दर्शनों से उदित प्रेम के आवेग में विह्वल सी बन जातीं। उनके केश पाश खुल जाते, उनमें बँधी मल्लिक, माधवी और मालती की मनोहर मालायें खिसककर गिरने लगतीं। उनके वस्त्र ढीले हो जाते और कंकण करों से खिसकने लगते। वे स्तब्ध हुई ज्यों की त्यों कठ पुतलियों के समान, पाषाण की प्रतिमाओं के समान, भीत पर बनी चित्र लिखित कामिनियों के समान खड़ी की खड़ी ही रह जातीं।"

सूतजी कहते हैं—"इस प्रकार भगवान् सभी को अपने दर्शनों से कृतार्थ करते हुए, सबके स्वागत सत्कार को स्वीकृत करते हुए ग्वाल बालों से घिरे आगे बढ़ने लगे। अब उन्हें धनुर्याग की याद आई। वे लोगों से पूछने लगे, धनुर्याग कैसा है, कितना बड़ा है?' भगवान् के इन प्रश्नों का पुरवासी बड़े उल्लास के साथ उत्तर देने लगे।"

छप्पय

प्रिय वियोग तैं दुखित भई कुब्जा अति मन महँ।
गयो काम ज्वर व्याप्त होहि पीड़ा सब तन महँ॥
मूर्छित ह्वै कें परीं पलंग पै करवट बदलति।
करि करि हरि की यादि आह भरि भरिके सिसकति॥
इत नर नारिनिके नयन, सफल करत प्रभु पथ चलत।
बनिज सुमन चंदन इतर, तैं हरिको स्वागत करत॥

धनुर्यागके धनुष का भङ्ग

(१०३६)

करेण वामेन सलीलमुद्धृतम् ,
सज्यं च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् ।
नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो-
यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४२ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

पुरवासिनि तैं पूछि यज्ञ शाला हरि आये ।
देख्यो बलके सहित धनुष प्रभु परम सिहाये ॥
रक्षत रोकत रहे श्याम ने धनुष उठायो ।
करि ज्यों तोरे ऊख तोरि त्यों तुरत गिरायो ॥
धनुष भङ्गको घोर रव, दशहु दिशनि महँ भरि गयो ।
अन्तःपुर महँ कंस सुनि, रिपु भय तैं व्याकुल भयो ॥

वीर रस में धृष्टता और निर्भयता ये ही रस के पोषक हैं। जो वीर शत्रु के सम्मुख संकोच करता है अथवा उसकी हानि

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् ने अपने बायें हाथ से धनुष को उठाकर, चढ़ाकर पल भर में खींचकर उसको उसी प्रकार बीच से तोड़ दिया, जिस प्रकार महापराक्रमी मतवाला हाथी ईख को तोड़ डालता है।"

करने में भय खाता है, वह साहस पूर्ण वीरता के कामकर नहीं सकता। शत्रुकी जितनी भी हानिकी जाय, उसके हृदय को जितना ही भयभीत बनाया जाय, उतना ही उत्तम है। यहाँ तक कि शत्रु के पुरमें प्रवेश करे तो द्वार से न जाय, दीवाल तोड़कर जाय। उसकी आवश्यक वस्तुओं पर अधिकार करले या उन्हें नष्ट करदे, ऐसे साहस पूर्ण कार्य करे, कि शत्रुके मन में भी भय बैठ जाय, उसे अपनी विजय में सन्देह होने लगे। बल उतना काम नहीं देता, जितना कौशल काम देता है। शत्रुका साहस टूट गया, तो वह बली भी होगा, तो निर्बल बन जायगा, यदि शत्रुका उत्साह बना रहा तो निर्बल होने पर भी उसकी विजय हो सकती है। रण में हृदयका उत्साह ही मुख्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुब्जापर कृपा करके कृपालु कृष्ण राजपथ पर आगे बढ़ते ही गये। वे मार्ग में जिससे बातें करते उसीसे पूछते—"हमने सुना है, तुम्हारे राजा एक बड़ा भारी धनुषयज्ञ कर रहे हैं। वह यज्ञ मंडप कहाँ है? वह कैसा धनुष है? कहाँ रखा है? उसमें क्या विशेषता है? लोग कहते—

भगवान्! आप सामने ही चलें जायँ, ये जो राज पथके दोनों ओर झंडियाँ बँधी हुई हैं,- इनके ही सहारे सहारे चले जायँ। आगे एक बड़ा भारी सजा सजाया फाटक आवेगा। उसमें तीन द्वार होंगे, एक सबसे बड़ा बीचका द्वार,उसके आस पास दो छोटे छोटे द्वार। बड़े द्वारसे आपको प्रवेश करते ही सजा सजाया यज्ञ मंडप दिखाई देगा। उसीमें भीतर चले जायँ। वहाँ एक ओर यज्ञ शाला है, दूसरी ओर अखाड़ा है, बड़ी बड़ी मंचें रहती हैं। बीचमें जानेका बड़ा पथ है। आप दाईं ओर न जाकर बाँई ओर जायँ, वहाँ यज्ञ मंडपके समीप ही आपको बड़ भारी धनुष रखा मिलेगा वह बड़ा भारी धनुष है। सुनते हैं, वह शिवजी का धनुष है।"

लोगोंकी बातें सुनकर भगवान् परम प्रसन्न हुए। वे राजपथ

पर हँसते खेलते बढ़ते ही गये। आगे जाकर उन्हें बड़ा भारी सजा सजाया फाटक मिला। उस पर संगीन लिये हुए प्रहरी घूम रहे थे। सहस्रों प्रहरी पंक्ति बद्ध खड़े थे, बहुतसे अस्त्र शस्त्रों को धारण किये प्रहरा दे रहे थे। ग्वाल बालों सहित भगवान्को देखकर वे चकित चकित दृष्टिसे उनकी ओर निहारने लगे। भगवान् सीधे यज्ञशाला में घुस गये। वहाँ भी धनुषकी रक्षाके लिये सैनिक खड़े थे। भगवान् निर्भय होकर धनुषके समीप तक चले गये। सैनिक उनके प्रभाव से ऐसे प्रभावित हो गये, कि किसी ने उन्हें रोका नहीं।

यज्ञशालामें पहुँचकर भगवान्ने देखा, धनुष एक बड़ी ही सुन्दर लिपापुती वेदी पर रखा है। उस पर अनेक सुगंधित पुष्पों की मालायें चढ़ाई गई हैं। अत्यन्त सुगन्धित धूपके जलनेसे वहाँ का सम्पूर्ण स्थान सुवासित हो रहा है। मङ्गल घट स्थान-स्थान पर रखे हुए हैं। गौके घृतके दीपक जल रहे हैं, धनुष बड़ा ही वैभव शाली प्रतीत हो रहा है। भगवान् ने पूछा—"क्या धनुर्याग का धनुष यही है?"

रक्षकोंने कहा—"हाँ, यही है।"

भगवान् ने कहा—"तनिक इसे उठाकर देखलें। सूखी हसी हँसकर सैनिकोंने कहा—"क्या तुम्हें अपने प्राण प्यारे नहीं हैं? तुम जैसे तीन सौ साठ भी लगें तो भी धनुषको नहीं उठा सकते।"

भगवान् ने कहा—" नहीं उठा सकेंगे, तो छोड़ देंगे। तनिक उठाकर तो देखें।"

डाँटकर सैनिकोंने कहा—"सावधान! यदि तुम धनुषकी ओर बढ़े या उसे हाथ लगाया तो फिर उचित न होगा।

भगवान् बोले—"उचित न होगा, अनुचित हो जायगा। कोई बात नहीं, हम तो देखेंगे ही। यह कहकर वे तुरंत घोड़ेको

तोड़कर धनुष के समीप पहुँच गये। सैनिक जब तक छूना मत छूना मत, यही कहते रहे तब तक भगवान् ने बलात्कार से धनुष को उठा ही तो लिया। उठाकर सबके देखते देखते उसे तिनके के भाँति बाँये हाथ से ऊपर चढ़ा लिया. एक पल में ही उसे उसी प्रकार तोड़ डाला, जैसे हाथी ऊख के गन्ने को तोड़ डालता है। अथवा बालक जैसे खेल में सनकी छिलीलकड़ी को तोड़ देता है।

धनुष के टूट जाने से दशों दिशाओं में महान् शब्द हुआ। उसकी ध्वनि से दशों दिशायें शब्दायमान हो गईं। आकाश पाताल में सर्वत्र वह भयंकर शब्द व्याप्त हो गया। कंस अपने अन्तःपुर में लेटा था, और श्री कृष्णचन्द के ही सम्बन्ध में सोच रहा था, कि सहसा इतना भयंकर शब्द सुनकर उसके रोंये खड़े हो गये। भय के कारण उसका शरीर काँपने लगा। उसने सेवकों से पूछा—"क्या हुआ, क्या हुआ ? यह किसका इतना भयंकर शब्द हुआ।" तुरन्त ही सेवकों ने दौड़कर पता लगाया और सूचना दी—"प्रभो वृन्दावन से गोप ग्वालों के साथ दो चंचल छोकरे आये हैं। उनमें से एक काला है, एक गोरा है। वे दोनों अन्य गोप कुमारों को साथ लिये हुए मल्लशाला में आये हैं। उनमें से काले छोकरे ने उठाकर यज्ञीय धनुष को तोड़ डाला है।"

क्रोध में भरकर कंस ने कहा—"अरे, तुम लोग इतने सैनिक हो। ऐसे दुर्विनीत छोकरों को मार क्यों नहीं डालते। तुरन्त उन्हें पकड़कर मेरे पास लाओ। यदि वे कुछ पीचपड़ करें तो उन्हें मार डालो।"

कंस की ऐसी आज्ञा पाकर वे आततायी असुरगण अपने अनुचरों के सहित अत्यंत कुपित होकर राम-श्याम को पकड़ने दौड़े। वे वहीं से चिल्लाने लगे—"देखो, ये धृष्ट बालक न पावें। इन्हें घेर कर पकड़ लो, बाँध दो। यदि ये पाँच करें, तो बिना विचारे गोली मार दो। महाराज की

आज्ञा है।"

भगवान् उन आसुरी प्रकृति के सैनिकों का अभिप्राय समझ गये। उन्होंने सामने पड़े धनुष का एक टुकड़ा उठा लिया। दूसरे को बलराम जी ने उठा लिया। और फिर दै दनादन दै दनादन, सैनिकों को मारने लगे। भगवान् के एक प्रहार में ही सैकड़ों सैनिक चारों कोने चित्त होकर लेट जाते। इस प्रकार सबको सनके पौनों की भाँति सुलाते हुए भगवान् निर्भय होकर आगे बढ़ने लगे, सैनिक उनके प्रभाव से ऐसे प्रभावित हुए कि वे अस्त्र शस्त्र चलाना सब भूल गये। पहिले तो उन्होंने वहाँ के रक्षक सैनिकों को मारा। फिर कंस के भेजे हुए सैनिक को परास्त किया, और निर्भय होकर हँसते हुए ग्वाल बालों के सहित मखशाला से बाहर हो गये, सैना वालों में से किसी का भी साहस न हुआ कि वे उनका पीछा करें।

क्षण भर में यह बात सम्पूर्ण पुरी में फैल गई। धोबी की मृत्यु से ही सब चकित हो रहे थे, जब सबने धनुर्भंग की बात सुनी, तब तो सबके आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा। वे राम-श्याम का प्रबल प्रचण्ड, पराक्रम, अद्भुत ओज तेज, प्रकृष्ट प्रगल्भता और उनका अद्भुत रूप लावण्य देखकर भौंचक्के से रह गये। सब परस्पर में कहने लगे—"भैया! ये मनुष्य नहीं हैं। मनुष्यों में इतना पराक्रम संभव नहीं। ये कोई देवता हैं। कंस का अब कल्याण नहीं। इनके सम्मुख किसकी चल सकती है। टूटे धनुष के खंडों से इतनी भारी सेना को परास्त कर सकते हैं, उनके लिये असंभव कार्य कुछभी नहीं है।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियों! इस प्रकार ग्वाल बालों से घिरे राम-श्याम निर्भय होकर मथुरा पुरी में भ्रमण कर रहे थे, कि उन्होंने देखा भगवान भुवनभास्कर अस्याचल में अपना मुख छिपा रहे हैं सूर्यास्त देखकर भगवान ने बलदाऊ जी से कहा—

भैया ! अब चलना चाहिये, नहीं बाबा बिगड़ेंगे। हम उनसे कह आये थे, कि हम सूर्यास्त के पूर्व ही आ जायँगे।"

गोपों ने भी भगवान् की हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा—"हाँ भैया ! अब चलना चाहिए।"

सबकी सम्मति समझकर शीघ्रता से श्यामसुन्दर सबको साथ लिये हुए सीधे डेरे की ओर चले और कुछ ही क्षणों में उस बगीचा में पहुँच गये जहाँ व्रजराज नंद जी अपने अन्य गोपों के साथ ठहरे हुए श्यामसुन्दर की प्रतीक्षा कर रहे थे।"

ग्वाल बालोंके साथ राम-श्याम को आते देखकर प्रेम के साथ नन्दजीने कहा—"अरे, भाई ! तुम लोग कहाँ चले गये थे। हम कबसे तुम्हारी बाट जोह रहे।"

डर के मारे किसीने मथुराकी कोई बात नहीं बताई। श्याम-सुन्दर शीघ्रतासे बोल उठे—"बाबा ! मथुरा पुरी तो बड़ी सुन्दर है। इसमें बड़े ऊँचे ऊँचे मकान हैं। सब लोग बड़े दानी हैं। देखो, हमें कितने वस्त्र दिये, फूल माला, इतर चंदन आदि से हमारा सत्कार किया, किन्तु किसीने खीर नहीं खिलाई। बाबा ! मैयाने हमारे लिये जो खीर बाँध दी थी, वह हो तो हमें दीजिये। बड़ी भूख लग रही है।"

भूखकी बात सुनकर नंदजी और कुछ पूछना भूल गये। झट पट उन्होंने छकड़ेमेंसे खीर निकाली। सेवकोंने यमुना जलसे राम-श्याम तथा अन्य गोपोंके हाथ, पैर, धुलाये। हाथ, पैर, मुख धोकर सब पंक्ति बद्ध बैठ गये। नंदजी सबको खीर, पूड़ी, मठरी परोसी। सबने प्रेम पूर्वक भर पेट मैयाके हाथके बने पदार्थोंको पाया। फिर कंस क्या करना चाहता है, इसी विषय पर [illegible] करते करते सो गये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! [illegible] ब्रजाङ्गनाओंने जो मथुरापुरीकी महिलाओंके [illegible]

बातें कहीं थीं, वे सब ज्यों की त्यों यहाँ आकर पूरी हुईं। मथुरा निवासिनी नागरियाँ नटनागरकी बाँकी, झाँकी करके कृतार्थ हो गईं। क्यों न हो भगवान् का भुवनमोहन रूप, लावण्य ही ऐसा है। ब्रह्मादिक देव इन्द्रादिक लोकपाल सदा यह कामना करते रहते हैं, कि लक्ष्मीजी तनिक हमारी ओर निहारदें। तनिक हम पर कटाक्ष बात करदें। इसके लिये वे सहस्रों वर्षों तक घोर तप करते हैं फिर भी लक्ष्मीजी उनकी ओर नहीं देखतीं। ऐसी भुवनमोहिनी लक्ष्मीजी भी सबको ठुकराकर जिनके चरणोंमें सदा लोटती रहती हैं। यहाँ आकर वे अपनी चंचलता को छोड़ देती हैं, ऐसे पुरुषोत्तम भगवान् के श्रीअङ्गो को निहारकर मथुरा निवासिनी महिलायें मुग्ध हो गईं, तो इसमें आश्चर्य करने की ही कौन सी बात है। आप जिस प्रकार कंसने राम-श्याम को मरवानेके लिये मल्लशालाको सजवाया और मल्लोंको एकत्रित किया, उस प्रसङ्गको मैं आप सबको सुनाऊँगा।

छप्पय

आये सैनिक भृत्य श्याम बलरामहिँ पकरन।
मारो काटो पकरिलेहु चिल्लावें खल गन॥
राम-श्यामने शस्त्र लै सैनिक आवत।
दोनों भाई धनुष खंड लै चले भगावत॥
सबकूँ मारि भगाइ कें, निज डेरा पै आइ कें।
सोये सुख दैं सखनि संग, खीर सुहारी खाइ कें॥

कंस और उसकी मल्लशाला

(१०३७)

कंसस्तु धनुषो भंङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च ।
वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम् ॥
दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः ।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यिकराणि च ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४२ अ० २६, २७ श्लो०)

छप्पय

कंस धनुष को भंग पराजय सेनाकी सुनि ।
भयो दुखित दुःस्वप्न निहारे डरपे पुनि पुनि ॥
जागत देखे वृक्ष सुनहरे निज सिर धड़ बिनु ।
निशि महँ निरखे स्वप्न दिगम्बर तैल मल्यो तनु ॥
केश, कपास, कुलाल, कुश, काक, कंक, कपि, कृष्णपट ।
नकटी, विधवा, मृतक नर, रुण्डमाल, यमभट विकट ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कंस ने जब यह बात सुनी कि राम और कृष्ण के लिये धनुष का भङ्ग करना, रक्षकों तथा मेरी सेना के लोगों का वध करना एक क्रीडा की सी बात थी। तब तो उस दुर्मति को रात्रि में बहुत देर तक निद्रा नहीं आई, वह बहुत डर गया। उसे सोते और जागते दोनों दशाओं में बहुत से मृत्यु सूचक अपशकुन दिखाई दिये।"

स्वप्न में, जाग्रत में, नित्य ही ऐसी घटना घटती रहती है, जिनसे हम अपने आगामी जीवन का शुभाशुभ समझ सकते हैं। शकुन शास्त्र प्रत्येक घटना का फल बताता है। अमुक व्यक्ति सम्मुख आ गया तो उसका क्या फल है, अमुक वस्तु प्रातः-काल उठते ही दीखी तो उसका क्या फल है। स्वप्न में यह देखा तो उसका क्या फल है। ये फल कभी झूठ भी निकलते हैं और प्रत्यक्ष फल भी देते हैं। अशुभ लक्षणों का अशुभ फल होता है। आस्तिक प्रकृति वाले इन पर विश्वास करते हैं। नास्तिक अपने अहंकार के कारण इनकी ओर ध्यान नहीं देते। जैसा होना होता है, वैसी ही बुद्धि हो जाती है और वैसी ही प्रवृत्ति होनहार के लक्षण प्रथम दिखाई देने पर भी प्राणी उन कार्यों में हठात् प्रवृत्त होता है, इसे भवितव्यता के अतिरिक्त और कह ही क्या सकते ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् तो धनुष को तोड़कर सैनिकों को परास्त करके अपने डेरे पर चले गये और खाकर सो गये, किन्तु कंस को नींद कहाँ। वह तो श्रीकृष्ण के ही सम्बन्ध में सोचता रहा। उसने विचार किया—"अवश्य ही श्रीकृष्ण विचित्र पुरुष हैं। देखो, उसे इतने भारी धनुष को तोड़ने में तनिक भी प्रयास न पड़ा मेरे इतने सेवकों को, इतने शिक्षित सैनिकों को खेल खेल में ही उसने परास्त कर दिया बिना अस्त्र शस्त्रों की सहायता के केवल धनुष के टुकड़ों से ही दोनों भाइयों ने सबको मार भगाया। हो न हो-इसी के हाथ मेरी मृत्यु है।" इस प्रकार अनेक प्रकार की चिन्ता करता हुआ वह रात्रि में बड़ी देर तक जागता रहा।

इसके पूर्व से ही उसे जागते समय, सोते समय, अपनी मृत्यु के लक्षण दिखायी देने लगे। वह जब दर्पण में मुख देखता, तो उसे और अंग तो दिखायी पड़ते, किन्तु धड़ पर

सिर दिखायी न देता। चन्द्रमा उसे बिना किसी रोग के दो दिखायी देने लगे। अन्य तारा भी दो दो दिखाई पड़ते। जलते हुए दीपक की शिखा भी दो दिखायी देतीं। बालू या कीच में चलता तो उसे उसमें अपने पैरों के चिन्ह नहीं दीख पड़ते। अपनी छाया में छिद्र दिखायी देते, दोनों उँगलियों से कसकर कान बन्द कर लेने पर जो सन सन शब्द सुनायी देता, वह नहीं सुनायी पड़ता। वृक्ष उसे सुवर्ण वर्ण के दिखायी देते। आँखों से उसे अपनी नाक न दिखाई देती, उसकी नासिका टेढ़ी हो गई थी। उसे अपने हित की बात प्रिय नहीं लगती थी। इन सबके अतिरिक्त मरने वालों के जितने लक्षण होते हैं, उसमें प्रत्यक्ष दिखायी देने लगे। ये तो जाग्रत के चिन्ह हैं।

इसी प्रकार उसे स्वप्न भी मृत्यु सूचक दिखायी देने लगे। कभी वह देखता, आकाश से सूर्य चन्द्र भी पृथिवी पर उतर आये हैं। उनके अनेकों टुकड़े हो गये हैं। उस रात्रि में पाश हाथ में लिये हुए बड़े बड़े भयंकर कारे भुसुंड यम के दूत दिखाई देते। बहुत से बिना वस्त्र के दिगम्बर पुरुष नाचते, गाते, हँसते, दिखाई देते। भयंकर रूप वाली नग्ना विधवा, बाल, बखेरे नाचती हुई दीख पड़तीं। बहुत सी स्त्रियाँ खड्ग धारण किये, खप्पर हाथ में लिये, जिह्वा निकाले दिखायी देतीं। उनमें से कोई नरमुन्डों की माला पहिने हुए हैं, कोई काले वस्त्र पहिने हैं। कोई तैल लगाये हुए हैं। इनके अतिरिक्त वह स्वप्न में भालू, सूकर, कौआ, गृद्ध, चील, बन्दर, कुक्कुट, नक्र तथा शृगाल आदि अशुभ पशु पक्षियों को निरन्तर देखने लगा। वह राख की ढेरी, ताल फल, केश, कपाश, अङ्गार, उल्कापात, जलती चिता, मृतक पुरुष, कुम्हार का चाक, तैली, अधजली लकड़ी, सूखा काष्ठ, केवल कुशा, ईंधन, दौड़ता हुआ बिना सुर का धड़, गर्जन करता हुआ कटा सिर, बिना जल का तड़ाग, बिना

के जलती हुई, तड़पती हुई मछली, जलता हुआ जंगल, गलित कुष्ट का रोगी, बाल खुले हुए नग्न नृत्य करता चाँडाल, क्रोध में भरकर शाप देता हुआ ब्राह्मण, क्रोध के कारण रोते हुए गेरु कपड़े पहिने योगी, सन्यासी आदि को उसने स्वप्न में देखा।

इन सबके अतिरिक्त विवाह के लिये जाती हुई बरात, दाँत पीसते हुए दौड़ते हुए प्रेतगण, स्वयं अपने को तेल लगाये नग्न होकर दक्षिण दिशा की ओर, जपा कुसुम की माला पहिने, गधे पर चढ़कर दक्षिण की ओर जाते हुए देखा। मरा हुआ गौ का बछड़ा, मृतक मृग तथा अन्य भी मृतक जीव उसे दिखाई देने लगे, अपने नख केशों को गिरते हुए उसने देखा। शिलाओं की, भस्म की तथा रक्त की वृष्टि, कटे हुए वृक्षों का गिरना, आदि अनेक मृतक सूचक स्वप्न उसे दिखायी देने लगे। इस प्रकार सोते जागते इन चिन्हों को देखकर वह बड़ा चिन्तित हुआ। फिर भी उसने राम कृष्ण के मरवा डालने का विचार नहीं छोड़ा।

जिस दिन भगवान् ने धनुर्भंग किया, उस रात्रि में कंस को निद्रा नहीं आई। उसके मन में भाँति भाँति के विचारों का बवंडर उठ रहा था। जब भी तनिक झपकी लगती, तभी वह भयंकर स्वप्न देखता। इस प्रकार बड़े कष्ट से उसने उस रात्रि को बिताया। प्रातःकाल हुआ। भगवान् भुवनभास्कर उदित होकर हँसने लगे। वे आकाश में छाये मेघों को फाड़कर ऊपर उठे। उठते ही उसने आज्ञा दी—"आज मल्ल क्रीड़ा उत्सव मनाया जाय। मल्लशाला को भलीभाँति सजाया जाय।"

राजा की आज्ञा पाकर बहुत से राजभक्त कर्मचारी रंगभूमि को सजाने में लग गये। सड़कों पर सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया। स्थान स्थान पर मालायें लटकाई गईं। परम सुगंधित धूप, सुन्दर कलई किये पात्रों में सुलगाई गई। ध्वजा,

पताका, तोरण, बन्दनवार तथा अन्य मंगल वस्तुयें लटकायी गयीं। द्वार पर शङ्ख, मृदङ्ग, तूरी, भेरी तथा अन्यान्य मंगलमय वाद्य बजने लगे। चारों ओर कोलाहल होने लगा। बड़े बड़े सुन्दर सजे हुए मंच बिछाये गये। उन पर बहुमूल्य सुवर्ण के काम किये हुए रेशमी बिस्तर बिछाये गये। सभी वर्णों के बैठने का सुन्दर प्रबन्ध था। स्त्रियों के बैठने का पृथक प्रबन्ध था। उनकी ओर जाली लगी हुई थी। मंडलीक राजाओं के बैठने की मंचें आकर्षक ढंग से सजायी गई थी। महाराज कंस के बैठने को सर्वोच्च सिंहासन सावधानी के साथ सजाया गया था।

जब सब सजावट हो गई और सभा भर गई, तो सेवकों ने सूचना दी—"प्रभो! रंगभूमि भलीभाँति सजा दी गयी है। प्रजा के लोग भी आ गये हैं, वे अत्यन्त उत्सुकता के साथ महाराज की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

यह सुनते ही कंस ने राजकीय वस्त्र भूषणों को धारण किया, हाथी के हौदे पर छत्र लगा, चँवर लेकर सेवक खड़े हुए। बाजे वाले बाजे बजाने लगे। सुवर्ण की सीढ़ी से सेवकों के सहारे कंस हाथी पर बैठा। पीछे पीछे पुरोहित तथा मंत्रीगण भी अपने अपने यानों में चले। प्रजा के लोग जय जयकार कर रहे थे। बाजे वाले बजाते जाते थे। इस प्रकार कंस ने रंगभूमि में प्रवेश किया। सब लोगों ने उठकर राज को अभ्युत्थान दिया। पुरोहित और मंत्रियों से घिरा हुआ वह अपने सिंहासन पर बैठ गया। मंडलेश्वर राजाओं के मध्य में राजसिंहासन पर बैठा वह इसी प्रकार शोभित हो रहा था, जैसे राहुग्रस्त क्षीण चन्द्र ताराओं के बीच में शोभा पा रहा हो। दुःस्वप्नों के कारण उसका चित्त उद्विग्न हो रहा था। उसका हृदय धक् धक् कर रहा था, उसके बैठ जाने पर सभी वर्ण के लोग, नगर वासी, पुरवासी, ग्रामवासी तथा जनपदवासी लोग अपनी अपनी

योग्यतानुसार अपने अपने आसनों पर आसीन हुए।

उसी समय मल्लशाला का निरीक्षक आया। उसने देखा, अखाड़ा भलीभाँति गोड़ा गया है। उसमें चिकनी मुलायम कंकड़ियों से रहित मिट्टी डाली गई है। उसमें यथेष्ट तेल और घी मिलाया गया है। चारों ओर से यह सुरक्षित है। इस प्रकार देखकर उसने राजा से निवेदन किया—"अन्नदाता! मल्लशाला का सभी कार्य सुव्यवस्थित है, आज्ञा हो तो मल्लों को बुलाया जाय।"

कंस के "हाँ" कहने पर सभी मल्लों को सूचना दी गई। वे सब शरीर में तेल मले हुए लँगोटा, कछनी और जाँघियों को लिये हुए, छातियों को निकाले, हाथों को हिलाते, गाजे बाजे के सहित, बल के मद में अकड़ते हुए आये। उनके साथ उनके सिखाने वाले गुरु भी थे। वे टोली टोली में पृथक पृथक आते थे और राजा को अभिवादन करके नियत स्थान में बैठते जाते थे। उन मल्लों में चाणूर, मुष्टिक, शल, तोशल तथा कूट आदि मुख्य थे। मल्ल सभी अपने अपने यूथों में शिष्टाचार से बैठे थे। वे लड़ने के लिये उतावले हो रहे थे।

उसी समय कंस ने पूछा—"व्रज से नंदादि गोप नहीं आये हैं क्या?

सेवकों ने कहा—"हाँ प्रभो! व्रज से बहुत से गोप आये हैं। वे सब छकड़ों में सामग्रियाँ भरे हुए द्वार पर महाराज की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनके लिये जैसी आज्ञा हो वही किया जाय।"

कंस ने कहा—"उन सबको यहीं बुला लो।"

जो आज्ञा, कहकर सेवक चला गया और कुछ ही देर में वह नंदादि समस्त गोपों को लेकर भीतर आया। गोप अपने हाथों में दही, दूध घृत और नवनीत के बड़े बड़े पात्र लिये

हुए थे। उनके साथ सुवर्ण की मुद्रायें भी थीं। वे सब ला लाकर राजा के सम्मुख रखते जाते थे और एक ओर खड़े होते जाते थे। गोपों की इतनी भेंट को देखकर सभी विस्मित हो रहे थे।

कंस ने गोपों को आज्ञा दी, वे मंचों पर जाकर बैठ जायँ। कंस की आज्ञा पाकर गोपगण यथा स्थान मंचों पर बैठ गये। सेवकों ने भेंट की सामग्री को भंडार गृह मे पहुँचा दिया। वह गोपों में से राम-कृष्ण दोनों भाइयों को आँख फाड़ फाड़कर देखने लगा। किन्तु उसे उनमें राम-कृष्ण दोनों भाई दिखाई न दिये। तब उसने नन्दजी से पूछा—"व्रजराज! तुम्हारे दोनों बालक बलदेव और श्रीकृष्ण नहीं आये क्या?"

नन्दजी ने विनीत भाव से शिष्टाचार पूर्वक कहा—"प्रभो! वे लोग कुछ पीछे रह गये थे। अभी आते होंगे। मैं पुनः एक गोप को भेजता हूँ, वह उन्हें शीघ्र ही रंगभूमि में ले आवेगा।"

कंस ने कहा—"हमने सुना है, तुम्हारे पुत्र मल्ल विद्या में बड़े निपुण हैं। बहुत लड़ते हैं। हम भी उनका मल्लयुद्ध देखना चाहते हैं।"

अवहेलनाके स्वर में नन्दजी ने कहा—"अजी, महाराज! वे तो अभी दुधमुहे बच्चे ही हैं। वे लड़ना भिड़ना क्या जानें। वैसे ही कुछ अखाड़े में दंड बैठक करते हैं। आपस में ही खेलमाल करते रहते हैं। यहाँ इतने बड़े बड़े नामी मल्ल हैं यहाँ वे क्या लड़ सकते हैं।

कंस ने कहा—"अच्छा उन्हें शीघ्र बुला लो।"

नन्दजी ने कहा—"बहुत अच्छा महाराज! मैंने आदमी को भेज दिया है, वे आते ही होंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी की ऐसी बात सुन कर कंस बड़ी उत्सुकता से राम-श्याम की प्रतीक्षा करने लगा।

छप्पय

सुनत कंस धनु भंग निशा निद्रा नहिँ आयी।
प्रातकाल उठि रङ्गभूमि खलने सजवायी॥
गाजे बाजे सहित मल्लशाला महँ आयो।
गोपनि कूँ पुनि भेंट सहित सम्मुख बुलवायो॥
कहे नन्द तैं सुत कहाँ, राम श्याम जो सुदृढ़ अँग।
नन्दराय बोले प्रभो! आवत होंगे सखनि सँग॥

कुवलयापीड़ हाथी का वध

(१०३८)

रंगद्वारं समासाद्य तस्मिन्नागमवस्थितम् ।
अपश्यत्कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४३ अ० २ श्लो०)

छप्पय

रामश्याम वध हेतु प्रथम अम्बष्ठ सिखायो ।
रंग भूमिके द्वार कुवलयापीड़ पठायो ॥
इत सजि-बजि बलश्याम द्वारपै गजढिंग आये ।
'हाथी तुरत हठाउ' वचन हस्तिपहिँ सुनाये ॥
सुनत कुपित हस्तिप भयो, रौंदयो करि हरिपै तुरत ।
गज प्रहार पुनि पुनि करत, हँसत श्याम इत उत फिरत ॥

शक्ति भर जीव मृत्यु से बचने के अनेक उपाय करता है, किन्तु काल रूप भगवान जिसके द्वार पर आ गये हैं, उसे बचा कौन सकता है। फिर भी जीव मानता नहीं। वह अपने बल पुरुषार्थ के भरोसे विधि की रेख पर भी मेख मारना चाहता है,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् रंगशाला के द्वार पर पहुँचे, तो उन्होंने देखा, वहाँ हाथी के हाँकने वाले अम्बष्ठ की प्रेरणा से कुवलयापीड हाथी खड़ा हुआ है।

किन्तु भगवान् जो करना चाहते हैं, उसे कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। जिसका मृत्यु समय आ जाता है, वह जान बूझ कर मृत्यु के मुख में घुस जाता है। जिसकी मृत्यु नहीं आती वह मृत्यु के मुख से भी सकुशल निकल जाता है। जीवन मृत्यु क्या है, भगवान् का खेल है, उनकी क्रीड़ा है। जो उनकी क्रीड़ा का अंग बन जाता है। वह जन्म मृत्यु के चक्कर से छूट जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कल भगवान ने मल्लशाला में बहुत मार धाड़ की थी, अतः आज प्रातःकाल देर तक सोते रहे। व्रजराज ने स्नेहवश उनको जगाया नहीं। वे नित्य कर्मों से निवृत्त होकर भेंट की सामग्री लेकर गोपों के साथ कंस के महोत्सव में चले गये, सेवकों से कह गये—"जब ये उठें, तो उन्हें लेकर वहाँ मल्लशाला में आ जायँ। ये लोग मल्लयुद्ध के बड़े प्रेमी हैं।"

नंदजी के चले जाने पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और बलराम जी सोते से उठे। उठकर वे शौचादि से निवृत्त हुए। यमुनाजी में स्नान किया और अपने मामा का जीवित ही तर्पण भी कर दिया, कि पीछे मामा को कोई जल देनेवाला जाने होगा या नहीं। मार्ग तो उनका देखा ही था, अतः दोनों भाई कल के लूटे हुए सुन्दर स्वच्छ सजीले वस्त्र पहिनकर दो सिंह शावकों की भाँति उछलते कूदते चल दिये। दूर से ही उन्हें शंख, भेरी, दुन्दुभि तथा नगाड़े आदि की सुमधुर ध्वनि सुनाई दी साथ ही मल्लों के ताल ठोकने के भी शब्द सुनाई दिये।

कंस ने श्रीकृष्ण और बलरामजी को मारने के अनेक उपाय सोच रखे थे। उसके यहाँ कुवलयापीड़ नामक हाथी था, वह बड़ा ही मदोन्मत्त था, कंस ने एक कुशल अम्बष्ठ (हाथी हाँकने वाले को) बुलाकर चेतावनी दे रखी थी। तुम उस कुवलयापीड़ मदोन्मत्त हाथी को सुरा पिलाकर द्वार पर रखना। जब रामश्याम दोनों आवें, तो उन्हें जैसे हो तैसे हाथी से

कुचलवा देना। सब समझेंगे, भूल हो गई। इस प्रकार मेरा अपयश भी न होगा और अनायास बिना श्रम के मेरे शत्रु भी मारे जायंगे।" कंस की आज्ञा पाकर हस्तिपने ऐसा ही किया। कुवलयापीड़ एक तो वैसे ही मदोन्मत्त था, फिर तिस पर भी उसने यथेष्ट सुरा पान की थी। इस प्रकार वह अपने गंडों से मद चुआता हुआ द्वार पर अम्बष्ठ के द्वारा इधर उधर घुमाया जाने लगा। हस्तिपक को राजकर्मचारियों ने प्रथम से ही राम कृष्ण को चिन्हा दिया था। अतः उन्हें आते देखकर उसने उनके ही ओर हाथी को बढ़ाया। हाथी बलरामजी तथा श्रीकृष्ण की ओर बढ़ा और उनका रास्ता रोककर खड़ा हो गया।

भगवान् ने देखा—"रंग भूमि के द्वार को रोके मदोन्मत्त हाथी खड़ा है और हस्तिपक बार बार उसे प्रहार करने को प्रेरित कर रहा है, तब तो डाँटकर भगवान् बोले—'ओ! हस्तिपक के बच्चे! तेरी आँखें फूट गई हैं क्या। या मोतियाबिन्दु उतर आया है, जो तू आदमियों के ऊपर हाथी को रौंद रहा है। चल हट। हाथी को द्वार दूर हटा ले जा। नहीं तो बच्चूजी! अभी यमसदन के पथ के पथिक बन जाओगे।"

हस्तिपक को तो राजकर्मचारी होने का मद था, अतः अकड़कर बोला—"चलो, हटो, आये कहीं के यमसदन का मार्ग दिखाने वाले, तुम जैसे यहाँ तीन सौ आठ छोकरे नित्य प्रति आते हैं। यदि हम सबके लिये ऐसे हाथी को हटाते रहें, तो हम तो कर चुके अम्बष्ठ का काम। तुम्हें निकलना हो तो निकल जाओ। अपनी जिह्वा में लगाम लगाओ, फिर कभी किसी राजकर्मचारी से ऐसी बात कही, तो सब ग्वारियापना भूल जाओगे। यह वृन्दावन नहीं है। यह मथुरा है, मथुरा।"

भगवान् बोले—"बच्चाजी ! हमारा काम बछड़ों को नाथने का है, कैसा ही चंचल चपल बछड़ा क्यों न हो; हम उसे नाथ देते हैं। तेरी जिह्वा बहुत चवर चवर कर रही है, या तो तू इसे कोप में रख, नहीं अभी एक तमाचा मारूँगा, तो पीठ की ओर सिर हो जायगा। सब राजकर्मचारीपना भूल जायगा।"

भगवान् के ऐसे वचन सुनकर हस्तिपक परम कुपित हुआ, उसने अंकुश मारकर स्वभाव से ही कुपित मतवाले हाथी को और भी अधिक कुपित कर दिया। वह मृत्युकाल; अन्तक और यम के समान राम-श्याम की ओर झपटा।

भगवान् तो कमर कसकर, अपनी बिथुरी हुई अलकावली को बाँधकर प्रथम से ही युद्ध के लिये तैयार खड़े थे। अपनी ओर आते हुए हाथी को हरि ने एक अवसर दिया। हाथी ने सर्वप्रथम श्यामसुन्दर को अपनी सूँड़ में लपेट लिया। वह उन्हें ज्यों ही उठाकर घुमाना चाहता था त्यों ही भगवान् सट्ट से उसकी सूँड़ से सटककर उसमें सड़ाक से एक चपत जमाकर उसके पैरों में दुबक गये।

हाथी के शरीर में बल तो बहुत होता है, किन्तु उसकी आँखें छोटी होने से उसे दीखता कम है। सामने की वस्तुओं को तो देख लेता है, किन्तु पैरों में छिपी वस्तु को नहीं देख सकता। भगवान् को सम्मुख न पाकर वह सूँड़ से सूँघकर उनका पता लगाने लगा। ज्यों ही उसने उन्हें फिर पकड़ा त्यों ही नवनीत के गोले के समान श्यामसुन्दर फिर उसकी सूँड़ से सटक गये। अबके पीछे जाकर उन्होंने महाबलशाली उस गजराज की पूँछ पकड़कर चकई की भाँति घुमाया। गरुड़ जैसे सर्प को खींच ले जाता है, वैसे ही उस हाथी की पूँछ पकड़कर भगवान सौ हाथ पीछे उसे खींच ले गये।

बड़े टील टौल वाला हाथी वह अपनी चूतड़ों को घुमाता

हुआ इधर से उधर घूमने लगा। भगवान् को तो अभ्यास था। वे तो बालकपन से ही बछड़ों की पूँछ पकड़कर उनके साथ साथ घूमते थे। अतः उसकी पूँछ से लटककर बालक की भाँति घूमने लगे। कभी दायीं ओर घूम जाते कभी बाँयीं ओर। दर्शक इस दृश्य को कुतूहल के साथ देख रहे थे। सहसा श्यामसुन्दर ने उतर कर हाथी के सम्मुख आकर उसमे कसकर एक चपत जमाया। चपत के लगते ही वह तिलमिला उठा। उन्हें पकड़ने दौड़ा। हाथी को ऐसा लगा मानों मैंने मदनमोहन को अब पकड़ा, अब पकड़ा।" किन्तु योगीजन भी जिन्हें सहस्रों वर्षों की समाधि से नहीं पकड़ सकते, उन्हें यह क्षुद्र हाथी कैसे पकड़ सकता है। भगवान् उसकी पकड़ में नहीं आये।

हाथी भी दौड़ते दौड़ते थक गया। भगवान कभी दायीं ओर भाग जाते कभी बायीं ओर। उनका शरीर तो हलका और कसा हुआ था, हाथी का शरीर बड़े डील डौल का भारी था, अतः उसे मुड़ने में कष्ट होता था। एक बार हाथी को ऐसा लगा मानो श्यामसुन्दर नीचे भूमि पर गिर गये हैं। उससे क्रोधित होकर भगवान् को मार डालने के उद्देश्य से अपने दाँतों से पृथिवी पर प्रहार किया, किन्तु भगवान प्रहार से पूर्व ही उठकर चले गये थे, उसका प्रहार उसी प्रकार व्यर्थ हुआ जैसे पत्थर की बड़ी भारी शिला पर करबाल का प्रहार व्यर्थ होता।

हस्तिपक उसे पुनः पुनः प्रभु पर प्रहार करने को प्रेरित कर रहा था। उसे इस प्रकार बार बार झपटते देखकर मधुसूदन ने अपने हाँथों से उसकी सूँड़ को पकड़ कर उसे पट्ट से पृथिवी पर पटक दिया।

हाथी जहाँ गिरा कि फिर उसका साहस नष्ट हो जाता है, उसके गिरते ही उछलकर भगवान् उसके मस्तक पर चढ़ दोनों पैरों से दबाकर उसके दोनों दाँतों को उखाड़ लिया।

तक भगवान् के पास कोई अस्त्र सस्त्र नहीं था। अब, दो हाथी के दाँत मिल गये। एक तो अपने बड़े भाई को दे दिया। और एक से दैदनादन दैदनादन हाथी और हाथी के हाँकने वाले की कुटाई करने लगे। कुछ ही क्षणों में दोनों निर्जीव होकर भूमि पर मृतक होकर गिर गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! भगवान् के ऐसे अद्भुत अमानुषिक साहस और बल को देखकर सभी दर्शक चकित हो गये। सब समझने लगे—"इनसे बढ़कर बली संसार में और कोई नहीं

है। भगवान् हाथी और हाथीके हाँकने वालेको मारकर अपने बड़े भाई से बोले—"बल भैया ! चलो अब रङ्गभूमिका भी आनन्द लो, द्वार पर इस डाँगर को मारकर हमने श्रीगणेश किया। बलदेवजी अपने छोटे भाई की ऐसी वीरता देखकर बड़े प्रसन्न हुए। वे कुछ भी न बोले, हँसते हुए श्यामसुन्दर के साथ रंगभूमि में प्रवेश करने लगे।

छप्पय

दामोदरने दुष्ट देखिकैं दाव दबोच्यो।
किचिकिचाय सिर चढ़े शस्त्र हित मनमहँ सोच्यो॥
लीयेदाँत उखारि दयो इक बल इक धारयो।
हस्तिप हाथी सहित दाँत तैं ही हरि मारयो॥
छोड़ि मृतक गज सभा महँ, प्रविशे नहिं देरी करी।
रही भावना जासु जस, तस ताकूँ दीखे हरी॥

———

रङ्गभूमिमें भगवान्‌के भावनानुसार दर्शन

(१०३९)

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥*

(श्री भा० १० स्क० ४३ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

मल्लनि निरखे वज्र कामिनी काम विचारें।
नर निरखें नररत्न गोपनिज स्वजन निहारें॥
शासक खल नृप लखें जनक जननी निज शिशु सम।
जन साधारन लखें भयकर कंस मनहु यम॥
इष्टदेव यादव गनहिं, परम तत्व योगी लखहिं।
वस्तु एक परि भावतैं भली बुरी प्रानी कहहिं॥

यह संसार भावमय है, इसमें न कोई अच्छा न बुरा न सुन्दर न असुन्दर सब भावना के ऊपर निर्भर है। एक जिस हम

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिस समय अपने बड़े भाई बलदेवजी के सहित भगवान् रङ्गशाला में गये तो वे भिन्न भिन्न प्रकार के लोगों के भावनानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के दिखाई दिये। वे मल्लोंको वज्र, पुरुषों को पुरुषोत्तम, युवतियों को साक्षात् कामदेव, गोपों को स्वजन,

अपना मित्र मान लेते हैं, उसमें बहुत सी बुराइयाँ होने पर भी हमें दिखाई नहीं देतीं, जिन्हें हम अपना शत्रु समझ लेते हैं, उनके गुण भी दोष दिखाई देने लगते हैं। एक ही वस्तु एक पुरुष को बुरी लगती है, दूसरे को अच्छी, यह अच्छाई, बुराई, वस्तु में होती तो अच्छी वस्तु सबको अच्छी लगती, बुरी सबको बुरी लगती, किन्तु संसार में ऐसा नहीं देखा गया है। जिन्हें हम भगवान् मानकर पूजते हैं, दूसरे उन्हें धूर्त, कपटी, नीच, बताते हैं। जिन्हें हम अधम पतित समझते हैं, दूसरे लोग उनपर अपना सर्वस्व वार देते हैं। और की बात छोड़ो कल तक हमारा जिनसे बुरा भाव था, वे बुरे लगते थे, आज भाव बदलने से वे ही सबसे सुन्दर लगने लगते हैं। अच्छाई बुराई का आरोप भावना करती है।

एक राजकुमार एक लड़की पर आसक्त हो गया। उसका मन उसमें फँस गया। उसके पीछे वह पागल होकर वन वन फिरने लगा। उसके सम्बन्ध की अनेकों किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। वह अपनी प्रेयसी को प्रसन्नता के लिये सब कुछ करने को सदा उद्यत रहता और निरन्तर उसीका स्मरण चिन्तन करते हुए रोता रहता। सोते जागते उसे उसीकी स्मृति बनी रहती। रात्रि रात्रि भर वह उसी के लिये रोता रहता। किसी दूसरे राजकुमार ने उसे समझाया—"कुमार! ऐसा भी क्या पागलपन। यदि कोई सुन्दरी हो तो बात थी। भैया वह तो काली कलूटी है। तुम उसके पीछे इतने पागल क्यों हो रहे हो।" राजकुमार ने कहा—"मित्रवर! तुम तो उसका रूप अपनी आँखों से देखकर

दुष्टात्माओं को अपना शासन करने वाले, माता पिता को अपनी मृत्यु, अज्ञों को भयंकर, योगियों को परम तत्त्व यादवों को अपने इष्टदेव के रूप दिखाई दिये।

हो। यदि मेरी आँखों से तुम उसे देखते, तो ऐसी बात कभी मुख से न निकालते। मेरी आँखें तो ऐसा सौंदर्य संसार में कहीं भी नहीं देखतीं।

इस कथा के कहने का अभिप्राय है, कि आँखें तो सबकी एक सी ही हैं, किन्तु जैसा जिसके भीतर भाव होता है, आँखें भावानुसार ही देखती हैं। इसी प्रकार भगवान हैं। जिनकी जैसी भावना होती है, उन्हें भगवान वैसे ही दिखाई देने लगते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुवलयापीड़ हाथी को और उसके हाँकने वाले हस्तिपक को मारकर, मानों द्वार की बलि देकर, ग्वाल वालों से घिरकर बलदेवजी सहित बनवारी ने रङ्ग भूमि में प्रवेश किया। उस समय उन दोनों भाइयों की शोभा विचित्र थी। दोनों ही किशोरावस्थापन्न थे, दोनों ही सुन्दर स्वच्छ धुले हुए वस्त्र पहिने थे, एक के वस्त्र रेशमी नील रंग के थे, दूसरे के पीत वर्ण के थे। दोनों ही मोर मुकुट धारण किये हुए थे, दोनों के ही दोनों बाल बिखेरे हुए थे। बलरामजी एक कान में कुण्डल पहिने थे, और श्यामसुन्दर के दोनों कर्णकमनीय, कनक कुण्डलों से सुशोभित थे। हाथी के मरने से श्यामसुन्दर के श्रीअंग पर जो स्वेद के कण झलक रहे थे, वे ऐसे प्रतीत होते थे मानों किसी ने नन्हें-नन्हें मोती जड़ दिये हों। बीच-बीच में हाथी के रक्त की छोटी छोटी बूँदें ऐसी लगतीं थीं, मानों लालों को चूर्ण करके मोतियों में मिला दिया हो। हाथी के गंडों से निसृत मद बीच-बीच में वस्त्रों से चिपक गया था, वह ऐसा प्रतीत होता था मानों नवनीत छिड़क दिया हो सुन्दर नासिका युक्त मधुर मुख, स्वेद और रक्त बिन्दुओं के कारण ओस और केशर से युक्त कमल के सदृश प्रतीत हो रहे थे। दोनों ही अपने कंधों पर रक्त से सने हाथी दांतों को आयुध के स्थान पर रखे थे। इस प्रकार वे सखाओं से घिरे ऐसे लगते थे, मानों ऋषियों से घिरे नरनारायण हों, अथवा देवताओं से घिरे

अश्विनीकुमार अथवा गन्धर्वों से घिरे कामदेव और वसन्त, अथवा सद्‌गुणों से घिरे साकार सौंदर्यमाधुर्य, जा रहे हों।

गोप ग्वाल उनके पीछे पीछे जा रहे थे, वे दोनों मत्त, गयन्दों की भाँति बड़े उत्साहसे उछलते, कूदते जा रहे थे, दोनों के वेष विचित्र थे, दोनों ही बहुमूल्य आभूषणोंको धारण किये हुए थे। दोनोंके ही कंठोंमें अम्लान पुष्पोंकी सुगन्धित मालायें पड़ी हुई थीं। दोनोंके ही वस्त्र भड़कीले और मनोहर थे, दोनोंकी ही भुजायें विशाल, गोल और लम्बी थीं। वे दोनों ही दर्शकोंके चित्तोंको अपनी चितवनसे चुराने में चतुर थे। वे शरीरसे हृष्ट पुष्ट थे, उनके सभी अंग सुडौल सुगठित और शोभायुक्त थे। वे सजे, धजे ऐसे प्रतीत होते थे, मानो रङ्ग मंचपर नाट्य करने दो नट जा रहे हों। उनके प्रवेश करते ही दर्शकोंमें हड़बड़ी मच गई। सबकी दृष्टियोंके वे ही एक मात्र केन्द्र बन गये। बलरामजीके सहित श्रीकृष्ण एक ही थे। देखने वाले भी सब आँखों से देख रहे थे। सब आँखोंकी पुतलियाँ एक सी ही काली थीं। सबमें दो पलक थी, सबकी बरोनी एक सी थीं। किन्तु भावनामें अन्तर हो जाने से वे एक सी ही आँखों से देखे जाने पर भी भिन्न भिन्न प्रकार के दिखाई देने लगे।

अखाड़ेमें जो लड़नेके लिये मल्ल आये थे, जो अपनेको सर्व श्रेष्ठ योद्धा और द्वंद्वयुद्धमें अद्वितीय लगाते थे, वे भगवान् के सुगठित सुन्दर शरीरको देखकर भौचक्केसे रह गये। वे अनुभव करने लगे, इनका शरीर हाड़ मांस का नहीं बना है। ये वज्र के बने हुए पुरुष हैं। द्वन्द युद्ध में इन्हें कोई भी मल्ल नहीं जीत सकता। वे अनुभव करने लगे, ये अस्मत्कार पुरुष हैं।

सज्जन पुरुषोंको भगवान ऐसे प्रतीत हुए मानों सर्वगुण सम्पन्न ये कोई पुरुष सिंह है, मनुष्योंमें रत्न हैं, नरोत्तम है। पुरुषर्षभ हैं. युवती स्त्रियाँ तो भगवानके अनुपम आनन, उनके भुवनमोहन

सौंदर्य और अंगोंकी सुकुमारताको देखकर उन्हें मूर्तिमान कामदेव समझने लगीं। उनके नेत्र उनकी ओरसे हटाने पर भी नहीं हटते थे। वे बहुत चाहती थीं उन्हें न देखें, किन्तु ऐसा लगता था, मानों किसीने आँखों पर जादू कर दिया हो उनके अनुपम आनन पर चिपक सी गईं थीं।

जो गोप ग्वाल बैठे थे, उन्हें उनमें कोई विशेषता दिखाई नहीं देती थी। इतने बड़े हाथीको खेल खेल में बालक होकर मार आये हैं, इससे उन्हें कुछ आश्चर्य हो रहा हो, सो बात नहीं है। वे उन्हें पूर्ववत अपने जाति भाई स्वजन ही समझते थे। वे वहीं से पुकारने लगे—"कनुआ भैया! यहाँ हमारे पास स्थान खाली है, यहीं आकर बैठ जा। आगे भीड़ भाड़ है। बलुआ भैया तू भी आजा। वहाँ मल्लोंकी भीड़ भाड़में लोगोंकी धक्कम धुक्कीमें तू पिच जायगा।" अपने समवयस्क गोपोंकी ऐसी सीधी सरल, छल, कपटसे हीन बातें सुनकर रामश्याम हँस जाते, और शनैः शनैः आँखोंके संकेत से उन्हें समझाते हुए आगे बढ़ते जाते। वहाँ पर जो कंसके अनुयायी दुष्ट मंडलीक राजा बैठे थे, उन सबको प्रतीत हुआ, कि ये तो हमारे शासक हैं। अवश्य ही हमें इनके आधीन होकर ही कार्य करना पड़ेगा। इनके ओज, तेज और पराक्रमके आगे हम क्या हैं, ऐसा सोचकर वे मन ही मन डरके कारण थर थर काँपने लगे।

दुष्ट कंसने चिढ़ानेके लिये कारावाससे वसुदेवजी और देवकीको भी निकलवाकर उस सभा में बुलाया था। भगवती देवकी देवी तो स्त्रियों में बैठी थी और वसुदेवजी यादवों के बीचमें बैठे। उन दोनोंको भगवान् ऐसे लगे मानों ये वे ही शिशु हैं। जिन्हें जन्मके समय हम गोकुल कर आये थे। माता तथा पिता को वे भोले भाले अबोध शिशुसे प्रतीत हुए। किन्तु इसके विपरीत कंसको वे अपनी साक्षात् मृत्यु दिखाई दिये, उसका हृदय थर थर

काँपने लगा, मानों कोई बलात् मेरे प्राणों को शरीर से निकाल रहा हो। वह डर गया और इधर उधर अपनी रक्षा का स्थान खोजने लगा। यद्यपि वह बड़ा मनस्वी धीर, वीर और साहसी था, किन्तु भगवान् के आगे उसका धैर्य, साहस सब चकनाचूर हो गया। जब उसने कुवलयापीड़ हाथी तथा हस्तिपक की मृत्यु की बात सुनी, तब तो वह और भी अधिक घबराया, किन्तु सबके सम्मुख अपनी प्रतिष्ठा बचाने को वह सिंहासन से उठा नहीं। साहस करके हृदय को थामकर वह बैठा ही रहा।

जो वहाँ पर ज्ञानी, ध्यानी ऋषि मुनि योगी बैठे थे, उन्होंने अपने अपने तप और योग का प्रत्यक्ष फल ही अनुभव किया। जो भोज, दाशार्ह, कुक्कुर, मधु तथा वृष्णिवंशी यादव वहाँ बैठे थे, उन्हें वे अपने दुःख को मिटाने वाले, सभी सुखों को देने वाले इष्टदेव दिखाई दिये। इस प्रकार उनमें पाँच रस और छै उपरस इग्यार हू भाव दिखाई दिये। जैसे मल्लों को तो वे साक्षात् रौद्ररस दिखाई दिये। सज्जन पुरुषों को उनके श्रीअंग में अद्भुत रस का साक्षात्कार हुआ। स्त्रियों को वे मूर्तिमान शृंगाररस जान पड़े। गोप ग्वालों को अपने साथ हँसने खेलने वाला हास्य प्रिय श्याम ही दिखाई दिया। दुष्ट राजाओं को वे मूर्तिमान वीर रस दिखाई दिये। माता-पिता के लिये तो वे वात्सल्यरस की सरिता बहाने वाले शिशु थे ही। कंस ने उन त्रिभुवन मोहन श्यामसुन्दर के सुकुमार शरीर में भयानकरस का अनुभव किया। ज्ञानियों को वे बड़ी बड़ी दाढ़ निकाले पशु पक्षियों को निगलते हुए काल रूप वीभत्सरस के पोषक जान पड़े। परम तत्व की उपासना करने वाले योगियों ने उन्हें साक्षात् शान्तरस समझा। यादवों ने प्रेम तथा भक्ति का मूर्तिमान् विग्रह माना। इस प्रकार अपनी अपनी भावना के अनुसार सभी ने सभी रस का अनुभव किया, क्योंकि भगवान् सर्वगत, सर्वज्ञ और सर्वरस रूप हैं।

कंस के कुछ अनुयायियों और द्वेषियों को छोड़कर उनके दर्शनों से सभी के हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी सी होने लगी। मञ्चों पर बैठे समस्त नगर निवासी तथा देशवासी नर नारियों के नयन नन्दनन्दन के मुखारविन्द की ओर लग गये। वे उन्हें उसी प्रकार निहार रहे थे, मानों आकाश में उदित दो सूर्यों को बड़े भारी सरोवर में खिले कमल निहार रहे हों। वे निरन्तर उन दोनों नटवरों को निहारते रहने पर भी अतृप्त ही बने रहे। नयनों से उनके मनोहर मुख की सरस माधुरी का पान करके वे मदमाते से बन रहे थे, किसी के पलक गिर नहीं रहे थे। अपलक भाव से श्यामसुन्दर को निहार रहे थे। ऐसा लगता था, मानों वे अपने नेत्रों को पानपत्र बनाकर उनकी सम्पूर्ण सरसता को पी जाना चाहते हैं। उन सबकी जिह्वा लपलपा सी रही थी, मानों उनकी मधुरिमा को चाटने के लिए उत्सुक बने हुए हैं। नासिका बार-बार शब्द कर रही थी, मानों उनकी गन्ध को अपने में भर लेना चाहती है। सबकी भुजाओं में कँपकँपी छूट रही थी, उनके भावों से ऐसा प्रतीत होता था, मानों वे कह रहे हों एक बार श्याम मिल जायँ, तो हम इन्हें अपनी दोनों बाहुओं से ऐसे बाँध लें कि फिर कभी छोड़े ही नहीं।"

राम-श्याम के मनमोहक रूप को लखकर उनके अलौकिक गुणों को सुनकर उनके अभूतपूर्व माधुर्य को देखकर तथा संसार में दुर्लभ निर्भयता को निहार कर सबके सब उन्हीं के सम्बन्ध में चर्चा करने लगे।

सूतजीकहते हैं—"मुनियो! स्त्रियों का तो स्वभाव ही होता है, फुस फुस करने का। चाहे घूँघट एक हाथ लम्बा काढ़ लेंगी, किन्तु जहाँ चार मिलकर बैठेंगी, वहाँ बिना फुस-फुसाये मानेंगी नहीं। उनमें से कोई कहती—"देखो, ये कैसे सुन्दर बालक हैं

यशोदा की ही कोख धन्य है, जिसने ऐसे सुन्दर बालकों को जन्म दिया है। जिसे ऐसे बालकों की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस पर एक बाचाल स्त्री अपनी जानकारी दिखाती हुई कहती—"अरी, तुमको कुछ पता तो है नहीं। ये यशोदा के गर्भ से पैदा नहीं हुए हैं।"

इस पर समीप में ही बैठी कोई घूँघट वाली बहू पूछती—"चाचीजी! हम तो सुनते हैं, ये व्रजराज नन्द के ही बालक हैं।

मुँह मटकाकर हाथों को घुमाकर वह अवहेलना के स्वर में कहती—"तुम्हारे सुनने से क्या हुआ। यथार्थ बात यह नहीं है। ये श्रीकृष्ण तो देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं और ये बलराम रोहिणी के पुत्र हैं। दोनों नन्द के पुत्र न होकर वसुदेव के पुत्र हैं।"

इस पर दूसरी पूछती—"चाचीजी! बेचारे वसुदेवजी तो अपनी बहू देवकी के संग कंस के कारावास में बहुत दिनों से बन्द हैं, उनके सब पुत्र तो कंस ने पैदा होते ही मार डाले। ये वसुदेवजी के पुत्र कैसे हो सकते हैं। फिर व्रज में ये पहुँचे कैसे?"

बुढ़िया का मुख चमकने लगा। उसका स्वर कुछ धीमा पड़ गया। वे फुसुर फुसुर करती हुई कहने लगी—"यह सबके सम्मुख प्रकट करने योग्य बात नहीं है। बात यह हुई कि श्रीकृष्ण पैदा तो हुए थे कारावास में ही, किन्तु वसुदेवजी चुपके से रातों रात इन्हें नन्दजी के यहाँ गोकुल में पहुँचा आये। वहीं ये पले पोसे, वहीं बढ़े, नन्द यशोदा ने इन्हें पुत्र के समान पालन किया।

दूसरी मोटी सी बोली—"तो फिर चाचाजी! ये बलराम कैसे हुए?"

बुढ़िया सिर हिलाकर बोली—"बलराम कैसे हुए तो भगवान्

जाने। किन्तु वसुदेव की एक बहू रोहिणी नन्द के गोकुल में पहिले से ही छिपकर रहती थी, उसीसे यह बलदेव हुए। यह कोई बात छिपी थोड़े ही हैं, इसे तो सब जानते हैं। ये दोनों बड़े बली हैं। श्रीकृष्ण ने पूतना को पछाड़ा, तृणावर्त को मारा, यमलार्जुन वृक्षों को तोड़ा, शङ्ख चूण यक्ष को पछाड़ा, केशी का उदर फाड़ा, धेनुक के दोनों पैर पकड़कर, घुमाकर प्राणहीन बनाया, गोपों को दावानल से बचाया, तथा इन्होंने कालिय नाग को नाथा। इन्द्र के मान का मर्दन इन्होंने ही किया, सात दिन तक कनीउँगली पर सात कोष लम्बे गोवर्धन पर्वत को ये ही धारण किये रहे। व्रजवासियों के वर्षा से, वायु से इन्होंने रक्षा की। समस्त गौओं के प्राण आँधी पानी से इन्होंने ही बचाये। ये दूसरे इनके बड़े भाई गौर रंग के नीलवस्त्र पहिने, एक कुण्डल धारण किये बलरामजी हैं। ये भी कुछ कम नहीं है, इन्होंने भी प्रलम्बासुर, वत्सासुर और बकासुर आदि अनेक असुरों को मारा है, सुनते हैं, ये दोनों श्रीमन्नारायण के अंश हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह बुढ़िया कह रही है, कि धेनुकासुर को श्रीकृष्ण ने मारा किन्तु बात तो ऐसी नहीं है, उसे तो बलरामजी ने मारा था। और वत्सासुर,बकासुर का वध तो श्रीकृष्ण ने किया था, यह इनको बलरामजी के द्वारा मरा हुआ कह रही है। यह क्या बात है?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! ये जो बातूनी स्त्रियाँ होती हैं, जैसा भी अंट संट उलटा सीधा सुन लेती हैं, वैसा ही सब के सामने कहने लगती हैं। कहते समय यहाँ तक कह देती हैं, इसे तो हमने अपनी आँखों से देखा है। स्त्रियों को क्या दोष दें, पुरुषों में इससे भी अधिक दोष होता है, किसी की झूठी, सच्ची कोई तनिक सी बात सुन भर लें, उसे तिल का पहाड़ बना देंगे। बिना जड़मूल की बात उड़ा देंगे, वृन्दावन से मथुरा कुछ दूर नहीं

है, दूसरों के मुख से कुछ की कुछ सुनने से लोक में सच्ची बातें झूठी प्रसिद्ध हो जाती हैं, झूठी सच्ची इसलिये सहसा लोकापवाद पर विश्वास न कर लेना चाहिये। लोग छान बीन तो करते नहीं, जो सुनते हैं, उसी को बिगाड़कर कह देते हैं।"

शौनकजीने कहा—"हाँ, सूतजी! बात तो ऐसी ही है, अच्छा और सुनाइये। फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! हुआ क्या, सबका हृदय प्रेम से भरा हुआ था। राम-श्याम की भोली भाली सुन्दर सूरत को देखकर सभी गद्‌गद् हो रहे थे। युवती स्त्रियों का हृदय बाँसों उछल रहा था, उन्होंने गोपिकाओं के साथ श्रीकृष्ण ने जो जो सरस लीलायें की थीं सुन रखी थीं। श्रीकृष्ण के रूप की प्रशंसा सुनते सुनते उनके कान भर गये थे। वे सोचा करती थीं "श्रीकृष्ण कितने सुन्दर होंगे, जिनके सौंदर्य की इतनी अधिक ख्याति है। आज उन्हें प्रत्यक्ष देखकर वे आँखों में प्रेमाश्रु भरकर गद्‌गद् वाणी से कहने लगीं—"अहा, इनके सदा प्रसन्न मनोहर कमलमुख को, जिस पर मन्द मन्द मुसकानमयी चितवन छिटकी रहती है, उसके दर्शनों से आनन्दित हुई व्रजाङ्गनायें बिना प्रयास के ही अपने समस्त संतापों से सदा के लिये छुट जाती होंगी। जब ये गौएँ चराकर व्रज में आते होंगे और अपने सौंदर्य की आभा बखेरते हुए मन्द मन्द मुसकरा कर गोपियों की ओर देखते होंगे, तो वे निहाल हो जाती होंगी। कोटि कोटि जीवन इनकी एक एक चितवन पर वारा जा सकती है।" अहा! यदि ये नन्दनन्दन न होकर वसुदेव नन्दन हैं। यदि ये यशोदा नन्दवर्धन होने के साथ ही साथ देवकी के तनय हैं, यदि ये गोपवंशावतंस न होकर यदुकुल भूषण हैं, तो इनके कारण यदुवंश महान् श्रीयुत, परम यशस्वी और महान् गौरवशाली होगा। इनकी छत्र छाया में रहकर वृष्णिवंश बढ़ेगा। इनके द्वारा सुरक्षित यादव संसार में यशलाभ करेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार सबकी बातें सुनते हुए राम-श्याम बिना राजा को नमस्कार किये नन्दजी के समीप जा बैठे।"

छप्पय

उत्सव महँ हरि फिरत माधुरी सुधा पिआवत।
इत उत चितवत चलत चोर जनु चित्त चुरावत॥
कहैं परस्पर नारि कुमर ये अति बलशाली।
कृष्ण देवकी तनय रोहिनी सुत बल आली॥
मारे इनि अगनित असुर, तेज ओज सह बल निलय।
रक्षित यदुकुल होहि अब, पावै यश गौरव विजय॥

चाणूरकी ललकार

(१०४०)

जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत् ॥
हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीर संमतौ।
नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाहूतौ दिदृक्षुणा ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ४३ अ० ३१, ३२ श्लो०)

छप्पय

राम-श्याम कूँ निरखि नारि नर भये सुखारे।
कंस मल्ल चाणूर गरब तैं बचन उचारे ॥
मल्ल युद्ध महँ निपुण सुने तुम दोनों भैया।
ग्वाल बाल सँग लड़त चरावत बन बन गैया ॥
करे चकित नर नारि सब, रङ्गभूमि महँ आइकै।
आओ नृप को प्रिय करैं, द्वै द्वै हाथ दिखाइकै ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मनुष्य इस प्रकार बातें कर रहे थे और वहाँ तुरही आदि का शब्द हो रहा था, उसी समय चाणूर ने राम और कृष्ण को ललकारते हुए ये वचन कहे—"हे नन्दपुत्र! हे बलराम! तुम दोनों बड़े बली हो, वीरों द्वारा भी तुम प्रशंसित हो। तुम दोनों को युद्ध में कुशल सुनकर राजा ने तुम्हारा कौशल देखने के लिये तुम्हें बुलाया है।

चाटुकारिता भी एक क्षुद्रगुण है। चाटुकार लोग अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिये दिन को रात्रि और रात्रि को दिन बता देंगे। यदि चाटुकार गुणी हुआ या शक्तिशाली हुआ, तो अपनी शक्ति का, अपने गुणों का उपयोग वह स्वामी को सन्तुष्ट करने में ही लगा देगा। जो मनुष्य आश्रित होता है, उसे अपने आश्रयदाता की इच्छा न रहने पर भी उसे गुणी सिद्ध करना पड़ता है और निर्बल होने पर भी उसे बली बताना पड़ता है। उसे प्रसन्न करने को दूसरे की निन्दा करनी हो, दूसरे को हेय हो, दूसरे का अपमान करना हो, तो यह सब भी करना ही पड़ता है। कहावत है 'जिसका खाना, उसका बजाना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बलरामजी के सहित भगवान् के रङ्गभूमि में प्रवेश करते ही नर नारियों में उनके ही सम्बन्ध की चर्चा छिड़ गई, सब भगवान् के ही सम्बन्ध की बातें कर रहे थे। इधर दर्शकों में तो ये बातें हो ही रही थीं, उधर द्वार पर वीणा पणव, भेरी तथा मृदंग आदि बाजे बज रहे थे। भिन्न भिन्न भाँति के बहुत से शब्द एक साथ ही एक विचित्र प्रकार की स्वर लहरी को उत्पन्न कर रहे थे। उसी समय बाजों को बन्द करके तथा सबका ध्यान अपनी ओर खींचकर, बीचमें से उठकर, महाबलशाली कंसका प्रधान मल्ल चाणूर हाथ उठाकर रामकृष्ण को सम्बोधित करता हुआ बोला—"हे नन्दनन्दन कृष्ण! तुम हमारी बात सुनो। हे बलराम तुम भी सुन लो। तुम लोगों को पता है, महाराज ने तुम्हें इतने आदर से विशेष रूप से क्यों आमन्त्रित किया है?"

भगवान् बोले—"हम तो यही समझते हैं, राजा ने हमें मल्ल युद्ध देखने के लिये बुलाया है।

चाणूर गर्व के साथ बोला—"नहीं, केवल मल्ल युद्ध देखने के लिये ही नहीं बुलाया है। दिखानेके लिये भी बुलाया है। महाराज

ने तुम्हारी बड़ी प्रशंसा सुनी है। ऐसे वैसे लोग आकर कहते, तो हमारे महाराज विश्वास भी न करते। बड़े बड़े बलशाली मल्लों ने तुम्हारे बल पराक्रम की प्रशंसा की है। महाराज ने कुतूहलवश तुम्हारा कला कौशल देखने तुम्हें बुलाया है।"

भगवान् अवहेलनाके स्वरमें बोले—"अजी, यहाँ क्या कौशल फौशल दिखाना। आप सब इतने भारी भारी मल्ल तो हैं, आप ही सब दिखाइये, आप ही सब महाराज का मनोरंजन कीजिये।"

क्रोध की मुद्रा प्रदर्शित करते हुए चाणूर बोला—"तुम और हम क्या? हम तुम दोनों ही महाराज की प्रजा हैं, महाराज को प्रसन्न करना हम सबका ही कर्तव्य है। हम सब राजा की प्रजा हैं। प्रजा का धर्म है, कि वह मनसे, वचनसे और कर्मसे राजाका प्रिय करे। ऐसा करने से ही प्रजा का कल्याण होता है, जो प्रजा के लोग ऐसा नहीं करते, इसके विपरीत आचरण करते हैं, उन्हें उसका विपरीत फल भोगना पड़ता है, सदा उन्हें कलेश उठाने पड़ते हैं।"

भगवान् हँसते हुए बोले—"अरे भाई! हम तो गाँवों के गँवार ग्वाल बाल हैं। हम कला, कला, कौशल, फौशल क्या जानें।"

यहाँ राजधानी की बात है, आप बड़े बड़े मल्ल ही जानें।"

डाँटकर चाणूर बोला—"नहीं, ऐसी बात नहीं है। तुम लोग नामी मल्ल हो। यह बात छिपाने से थोड़ी छिप सकती है। सभी जानते हैं, तुम नित्य प्रति गौओं और बछड़ों को लेकर वनों में चराने जाते हो। गौएँ चरती रहती हैं, तुम वहाँ अखाड़ा खोद कर दण्ड बैठक करते हो। आपस में लड़ते हो, प
लिखा-पढ़ी तो करनी ही नहीं। दिन भर सैल
बैठक करते रहे, लड़ते रहे, तभी भाँति भाँति के

रहे। इसलिये टालमटोल मत करो। कछनी काछकर अखाड़े में उतर आओ और दो दो हाथ दिखाओ। महाराज प्रसन्न हो जायँगे, तो तुम्हें धन, ग्रास, वस्त्र, आभूषण तथा अन्यान्य प्रकार के परितोषिक देंगे। एक प्रधान पुरुष को—राजा को प्रसन्न करने से सभी प्रसन्न हो जाते हैं। क्योंकि राजा सर्वभूतमय है।"

भगवान् तो युद्ध करने ही आये थे, अपने गोलोक आदि लोकों में तो चुपचाप बैठे ही रहते हैं। अवनि पर तो वे युद्ध करने ही आते हैं। युद्ध ही उनका इष्ट है, अतः वे युद्धप्रिय करके प्रसिद्ध हैं। फिर भी सबकी उत्सुकता बढ़ाने के लिये कुछ इधर-उधर की बातें कहने लगे। पहिले तो उन्होंने चाणूर के बल की बड़ी प्रशंसा की। "आप धन्य हैं, आप ही इस समय यहाँ के सर्वश्रेष्ठ राजमल्ल हैं, आपके सामने तो हम बालक हैं, कर ही क्या सकते हैं। फिर भी हम कुछ कहना चाहते हैं। आज्ञा हो तो कहें।"

चाणूर ने कहा—"हाँ, कहो। महाराज विराजमान हैं, उनके सम्मुख निवेदन करो।"

भगवान् बोले—"आपका कहना सत्य ही है। हम भी महाराज की वनवासी प्रजा हैं। जैसा अन्य प्रजा जनों का प्रजापालको प्रसन्न करना कर्तव्य है, वैसा हमारा भी है। महाराज को प्रसन्न करने में ही हमारा कल्याण है। किन्तु फिर भी हम कहते हैं, इस इतनी भारी राजसभा में अन्याय न होना चाहिए।"

अकड़कर चाणूर ने कहा—"अन्याय कैसा?"

भगवान् बोले—"देखिये, आप इतने भारी नामी मल्ल और हम बालकों को अपने साथ युद्ध करने को ललकार रहे हैं। यह अन्याय नहीं तो और क्या है। जैसे हम बालक हैं, वैसे ही किसी बालकको हमसे लड़ाइये। जोड़ बराबरका होना चाहिये। बालकों से युवकों को लड़ना यह अन्याय है। जिस सभा में ऐसा धर्म

विरुद्ध अन्याय होता है, उस सभा के राजा को पाप लगता ही है, साथ ही सभासद भी पापके भागी होते हैं। अतः आपके रहते ऐसा अन्याय न होना चाहिए।

यह सुनकर चाणूर व्यंगकी हँसी हँसता हुआ बोला—"अजी, यह आपने अन्याय वाली बाते विचित्र कही। मल्ल युद्ध में छोटा बड़ा शरीरसे नहीं देखा जाता, बलसे देखा जाता है। जिसके शरीरमें बल नहीं, वह बड़ा होने पर भी बड़ा और जिसके शरीरमें बल नहीं, वह बड़ा होने पर भी छोटा है। आप न बालक हैं न युवक। आप हैं बली। बली पुरुषोंकी अवस्था नहीं देखी जाती। इसी प्रकार ये बलराम भी बालक नहीं हैं।

भगवान् बोले—"अजी, आप चाहें मानें, चाहें न मानें। बालक तो हम हैं ही, इसमें ये सभाके सभासद् साक्षी हैं।"

चाणूर बोला—"क्यों व्यर्थकी बातें बनाकर समय को नष्ट कर रहे हो। जिस कुवलयापीड़ हाथीमें सहस्र हाथियोंके बराबर बल था, उसे आपने अभी अभी खेल ही खेलमें मार डाला। ऐसा कार्य कौन बालक कर सकता है। जब तुममें इतना बल है, तो हम बलवानों से लड़ो। बलवानों से बलवानो का लड़ना कोई अधर्म नही, कुछ भी अन्याय नहीं, तनिक भी अनुचित नहीं। उचित है, अनुकूल है और धर्म संगत है। अब देर करने का काम नहीं। आ जाओ मैदानमें।" तुम मेरे साथ युद्ध करो और तुम्हारे ये बड़े भाई बलराम मुष्टिका के साथ अपना पुरुषार्थ प्रकट करके प्रजानाथ को प्रजासहित प्रसन्न करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान तो यह चाहते ही थे। वे बोले—"अच्छी बात है, मल्लजी! जैसी आपकी इच्छा। हम घर से कोई शपथ खाकर तो चले ही नहीं, कि इससे लड़ेंगे, इससे न लड़ेंगे। लाओ, आप नहीं मानते हो तो यों ही यह कहकर दोनों भाई कछनी काछकर उसके ऊपर

चढ़ाकर ताल ठोकते हुए अखाड़ेमें कूद ही तो पड़े। अब जैसे "चटाचट, पटापट सटासट, युद्ध होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सुनि बोले बल अनुज बोल हमे तुम बलसागर।
मल्लयुद्ध तब होहि जोड़ जब होहि बराबर॥
कहे बिहँसि चाणूर चली तो बल तैं होवैं।
जो न होहि बलवान् बड़प्पन अपनो खोवैं॥
नहि शिशु तुम महँ बल अमित, आओ हम तुम तैं भिड़ैं।
हमरो तुमरो जोड़ है, मुष्टिक हलधर तैं लड़ैं॥

राम-श्यामकी चाणूर और मुष्टिकसे भिड़न्त

(१०४१)

एवं चर्चितसङ्कल्पो भगवान् मधुसूदनः ।
आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणी सुतम् ॥

(श्री भा० १० स्क० ४४ अ० १ श्लो०)

छप्पय

हँसि बोले भगवान् नहीं मानो तो आओ ।
तुम अति नामी मल्ल मल्लपन आजु दिखाओ ॥
यों कहि कछनी काछि आखाडे महँ आये हरि ।
शोभित बल सँग मनहु वीर रस द्वै द्वै तनु धरि ॥
ताल ठोकि दोनों बली, लड़िबेकूँ उद्यत भये ।
कृष्ण लड़ैं चाणूर तैं, बल मुष्टिक तै भिड़ि गये ॥

संसारमें कोई काम बलके बिना नहीं होता। बल तीन प्रकार का होता है। शारीरिक बल को बल कहते हैं इन्द्रियों के बलको ओज कहते हैं और मनके बलको तेज कहते हैं। इन तीनों के ही द्वारा विजय प्राप्त हो सकती है। जो इन तीनों से हीन है, उसकी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार निश्चय करके भगवान् श्रीकृष्ण तो चाणूर से और बलदेवजी मुष्टिक से भिड़ गये।"

पराजय निश्चित है। जो अपने बल को भगवान् के बल से भिन्न समझता है या उनसे अपने श्रेष्ठ समझकर उनसे लड़ना चाहता है, भगवान् उसके भी बल अभिमान को चूर्ण करके सद्गति देते हैं, फिर जो इन तीनों बलों को भगवान् के चरणों में समर्पित करके उन्हें ही एक मात्र अपना बल समझ लेता है, उसी निर्बल के राम बल हैं। अन्यथा बल हीन को तो कोई पूछता नहीं। बल का एक मात्र फल यही है, कि इसका उपयोग भगवान् के लिये हो। किसी भी भाव से सही, भगवान् के साथ किया हुआ बल का प्रयोग कभी व्यर्थ नहीं जाता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मल्लविद्या भी एक बड़ी सुन्दर विद्या है। इसमें शारीरिक बल बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जिन उपायों से शारीरिक बल बढ़े, वे सब उपाय मल्ल लोग करते हैं। शारीरिक बल के साथ ही साथ दावपेच भी चाहिये। दावपेच के बिना शारीरिक बल कुछ काम नहीं आता और जब तक शारीरिक बल न हो केवल दावपेच से भी काम नहीं चलता। अतः मल्लविद्या में बल और कला कौशल सभी की आवश्यकता होती है। श्रीकृष्ण और बलराम तो सभी विद्याओं में निपुण थे। इसीलिये वे मुष्टिक, चाणूर के इतने बड़े भारी भारी शरीरों को देखकर डरे नहीं। वे लड़ने के लिये उद्यत हो गये।

इधर चाणूर मुष्टिक भी कछनी कसकर उस पर जाँघिये कसकर अखाड़े में आये। उनके शिक्षकों ने आकर चाणूर, मुष्टिक को मूर्छा और पीड़ा दूर करने वाली ओषधियाँ सुँघाई। माला पहिनाई और मंगल पाठ किये। चाणूर, मुष्टिक दोनों ने अपने अपने शिक्षकों को प्रणाम किया। फिर उन्होंने अखाड़े की मिट्टी को उठाकर सिरसे लगाया। चाणूरने श्रीकृष्ण से और मुष्टिक ने श्रीबलरामजी से हाथ मिलाया। फिर दोनों ही दोनों से भिड़ गये। राम-श्याम के लिये चाणूर और मुष्टिक को मार देना कोई बड़ी

बात नहीं थी। फिर भी लोकवत् लीला करने के निमित्त तथा समुपस्थित दर्शनार्थियों का मनोरंजन कराने के निमित्त दोनों भाई साधारण मनुष्यों की भाँति लड़ने लगे।

पहिले ही चाणूर दौड़कर भगवान की कमर पकड़ ली भगवान् एक झपट्टा में ही सिंह शावक की भाँति उसके मोटे मोटे हाथोंके बीच मेंसे निकल गये। अब दोनोंने फिर पंजोंसे पंजों को मिलाया। चाणूर उनके ऊपर चढ़ गया, और पैरों में पैर डालकर हाथोंसे बाहुओंको कसकर उन्हें चित्त करने लगा। किन्तु ये चित्त

होने वाले थोड़े ही हैं। चाणूर इन्हें रगड़ता ही रहा, किन्तु ये पट्ट ही पड़े रहे। फिर जानुओं से उसने उनकी पीठ में ज्यों ही रगड़ा दिया कि आप उसी प्रकार नीचे से निकल पृथक् हो गये, जिस प्रकार ऊर्वारुक (खरबूजा) बेल से छुटकर अलग हो जाता है। अब के दौड़कर भगवान् ने चाणूर का ऐसे पकड़ लिया, जैसे बाज कबूतर को पकड़ लेता है। भगवान् उससे भिड़ गये। उसकी छातीमें छाती सटाकर उसे मसलने लगे। दोनों हाथों को पकड़कर उसे घुमाने लगे। कभी एक दूसरे को पीछे ढकेलता, कभी चपेट मारकर गिरा देता, कभी कोई दूसरे को थप्पड़ मारकर गिरा देता, भगवान् ने चाणूर को नीचे पटक दिया। अब उसके पैरोंको जंघाओंकी ओर पकड़कर एक हाथमें जाँघिया पकड़कर उसे उठालिया और घुमाकर फेंक दिया। उसका ओठ तनिक कट गया। इससे उसे बड़ा क्रोध आया। वह सहसा श्यामसुन्दर के गले से आकर लिपट गया। श्यामसुन्दर ने भी उसकी जेट भरकर उसे कसकर दबा दिया। भगवान्के दबा देनेसे वह हाथ, पाँव समेटकर अखाड़े में बैठ गया। अब तो भगवान उसे धकेलने लगे। इस प्रकार दोनों ही मल्लयुद्ध के पैंतरे दिखाने लगे। दोनों ही मल्लविद्या में प्रवीण थे। दोनों ही दावपेच जानते थे। बार बार वे ताल ठोक ठोककर दशों दिशाओं को गुंजाने लगे। चाणूर बार बार भगवान को ललकारता और कहता—सम्हल जाना, अबके तुम्हारी कुशल नहीं।" श्यामसुन्दर हँस जाते और कहते—"तुम अपने मन की कर लो। मैं तो पहिले से ही सम्हला हुआ हूँ। अब वे विचित्र विचित्र दाव दिखाने लगे। वे चित्रहस्त (मुट्ठियों को बाँध लेना) कलामन्थ (बाहुओं से कस लेना) गुलगंडा भिघात (घूँसा मारकर हट जाना) बाहुपाश (पीठ से पीठ मिलाकर बाहुओं से बाहुओं को बाँध लेना) अति क्रान्त मर्याद (अखाड़े से बाहर उठाकर पटक देना) पृष्ठ भंग (पैरों को पीठ की ओर मरोड़कर

पीठ को तोड़ना) संपूर्ण मूर्छा (घूँसे मार मारकर मूर्छित करना)
पूर्ण कुंभ (हाथ, पैर समेटकर गुड़मुड़ी से बनाकर जेट में भर
लेना) तथा और भी अनेक दाव चलाने लगे। जब एक दूसरे के
घूँसा मारते तो चिनगारियाँ सी निकलने लगतीं। कभी हाथ
बलाते, कभी खींचा खाची करते, कभी
कभी मुख को मसल देते, कभी एक दूसरे के
ऊपर चढ़ बैठते। दोनों ही जब चाहते शरीर को सिकोड़ लेते,
जब चाहते फैला देते। दोनों के ही शरीर लाल पड़ गये। जब
चाणूर श्रीकृष्ण को उठाकर निर्दयता पूर्वक पटक देता तो सभी
हाय हाय करने करते। जब उत्साह के साथ श्यामसुन्दर उठकर
उसे पुनः दबोच देते और घुमाकर दूर फेंक देते तो सभी तालियाँ
बजाने लगते।

नगर वासी नर नारियों की अपार भीड़ थी। मंच इस ढंग
से बनाये गये थे, कि सभी स्त्री, पुरुष लड़ते हुए मल्लों को भली
भाँति देख लें। नंदादि गोप तो डर रहे थे, कि ये कनुआ, बलुआ
बड़े चंचल हैं। देखो तो सही, कितने बड़े बड़े मल्लों से भिड़ गये,
इस पर श्रीकृष्ण के साथी गोप कहते—"बाबा! तुम चिन्ता मत
करो। जिस कनुआ ने राँड़ पूतना को पछाड़ दिया, अघासुर,
बकासुर, तृणावर्त, केशी तथा और भी असुरों को बात की बात में
मार दिया। उसके लिये यह चींटी क्या वस्तु है। कनुआ इससे
इसी प्रकार खेल कर रहा है, जैसे कारा साँप चूहे से खेल करता
है। तुम देखना अभी सारे को चारों कोने चित्त मारता है। अब
यह बचकर थोड़े ही जायेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ग्वाल बाल नंदजी से ऐसा कह
ही रहे थे, कि उसी समय चाणूरने श्रीकृष्णको उठाकर अखाड़े में
मारा। इस पर वहाँ बैठी हुई स्त्रियाँ जिस प्रकार करुणापूर्ण
वाणी से विलाप करने लगीं, उसे भी आप सुनें। देखिये

में कितनी मोहकता है, जो भी उन्हें देखता है, वही उनका हो जाता है।

छप्पय

चट चट होवै शब्द उठावै पकरि घुमावै।
सटकैं इत उत झपटि लपटि कैं पटकि गिरावैं॥
मारैं उर महँ चोट ढकेलैं पुनि पुनि पकरैं।
चित्त पट्ट ह्वै जायँ तुरत इततैं उत निकरैं॥
कहँ मुष्टिक चाणूर खल, कहँ हलधर हरि अमित बल
करहिं लोकवत काज सब, थापैं जग महँ यश बिमल।
एक एक कूँ पकरि पटकिकैं पेच चलावैं।
कोई मुक्का मारि पकरि कैं टांग गिरावैं।
पाँइनि अंटा डारि करनि तैं कंधनि कसिकैं।
पुनि पुनि ठोकैं ताल निहारैं दोनों हँसिकैं।
होहि चटाचट पटापट, चित्त पट्ट ह्वैकैं गिरैं।
कबहूँ निकसैं दावतैं, पुनि दोनों पकरैं लरैं॥

कामिनियों की करुणा

(१०४२)

प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायम्,
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्यवेणुम् ।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथिभूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ४४ अ० १६ श्लोक०)

छप्पय

मुष्टिक अरु चाणूर वज्रसम कठिन भयंकर ।
अति सुन्दर सुकुमार सरस सुखकर बल नटवर ॥
स्वेद-युक्त मुख निरखि नारि मनमहँ घबरावें ।
बहु विधि करें विलाप कंसकूँ कुटिल बतावें ॥
बाँकी झाँकी श्याम-बल, की करिके होवें मगन ।
व्रजवनितनिके भाग्यकूँ, सब सराहि बोले वचन ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! रङ्गभूमि में बैठी हुई स्त्रियाँ कह रही थीं—"सखियो ! ये श्रीकृष्णचन्द्र प्रातः ही गौओं को चराने के लिए वन में चले जाते हैं, फिर सायंकाल में चराकर व्रज में प्रवेश करते हैं उस समय इनकी मुरली की मधुर ध्वनि सुनकर जो अबलाएँ इनका मधुर मुसकान मय मुख और कृपा पूर्ण कटाक्षों का अवलोकन करती हैं वे परम बड़ भागिनी हैं, उन्होंने अवश्य ही पूर्वजन्मों में बड़े पुण्य किये होंगे ।"

मनुष्यका स्वभाव है कि वह जहाँ रहता है वहीं अपने पराये का भाव स्थापितकर लेता है। हम कुछ ही समयके लिये नौका में बैठते हैं। बैठते ही हम एक विहंगम दृष्टि समस्त नौका में बैठे स्त्री पुरुषोंपर डालते हैं, उनमें हमें कुछ अच्छे लगते हैं, कुछ बुरे। कुछ में अपनापन हो जाता है, कुछमें परायापन। यही बात मार्ग चलते समय मेले ठेले में हो जाती है। सभा में भी गायक उपदेशकोंके प्रति हमारा अपनापन, परायापन होजाता है। कुछ चाहते हैं, अमुकका प्रवचन अधिक हो, अमुकको गायनके लिये समय अधिक दिया जाय। यही दशा मल्लयुद्ध में होती है। दो लड़ने वालों में से कुछका अनुराग एक मल्लपर हो जाता है, कुछका दूसरे पर। कुछ चाहते हैं, अमुक जीत जाय कुछ चाहते हैं अमुक की विजय हो। यद्यपि उनमें बहुत से ऐसे होते हैं, जिनका पहिलेसे कोई परिचय नहीं होता, किन्तु किसी पूर्व संस्कारसे देखते ही अपनापन हो जाता है। जब क्षण भरके सहवासमें यह दशा है, तो जिनके साथ नित्य रहते हैं, उनमें से कुछके साथ अत्यन्त अनुराग और कुछके प्रति उदासीनता होना स्वाभाविक है। यह मनुष्य धर्म है। जिसके प्रति ममत्व होता है, उसके प्रति कोई अन्याय करता है, तो हृदय में पीड़ा होती है। जितना ही मनुष्य सरस हृदयका होगा, उसे उतनी ही अधिक पीड़ा होगी। स्त्रियोंका हृदय अत्याधिक सरस होता है। उनका जिनके प्रति ममत्व हो जाता है, उसके लिये वे विह्वल होजाती हैं, रोने लगती हैं छटपटाने लगती हैं, और परस्पर में उसीकी चर्चा करने लगती हैं

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बलराम और श्रीकृष्ण तो अभी ११-११-१२-१२ वर्षके बालक ही थे, और चाणूर मुष्टिक ४०-४०-५०-५० वर्षके युवक थे। ये दोनों सुन्दर सुकुमार और कोमलाङ्ग थे, उन दोनों के शरीर वज्रके जैसे बने थे। लोहके बनानेकी भाँति उनकी भुजायें थीं। सोलहों महाकाओंको उनके

विरोध में यहाँ से उठकर चल देना चाहिये।"

इस पर एक साथ कई स्त्रियाँ बोलीं—"क्यों क्यों बात क्या है। हमने क्या अन्याय किया है, हम क्यों उठकर जायँ।"

यह सुनकर वहाँ वाचाल बाला बोली—"देखो, जहाँ अधर्म की प्रधानता हो, बात बात पर अधर्म हो रहा हो, वहाँ बुद्धिमान् व्यक्ति का एक क्षण भी न रहना चाहिये। सबसे उत्तम बात तो यह है, कि इन सभा सम्मेलनों में भले आदमियों को जाना ही न चाहिये। क्यों कि इनमें जो सभासद् होते हैं, उनमें से अधिकाँश अपने शासक के अधीन होते हैं। उनकी हाँ में हाँ ही मिलाते रहते हैं। राजा दिन को रात्रि कहे, तो सब तारे दिखाने लगते हैं। जहाँ ऐसे स्वार्थी, भोजन भट्ट पिट्ठू सभासद् हों, उस सभा में न जाना ही सर्व श्रेष्ठ है, किन्तु संसार में रहते हुए जाना ही पड़ता है। यदि जाय और सभा में अन्याय हो रहा हो, तो उसका विरोध करे। अन्याय को जान बूझकर भी जो यह कह देता है, कि मैं कुछ नहीं जानता, ऐसा कहने वाला भी दोष का भागी बनता है। हाय! हाय! इस दुष्ट चाणूर को कोई बरजता भी नहीं। यह किस प्रकार निर्दयता पूर्वक श्यामसुन्दर पर प्रहार कर रहा है, उसके प्रहारों को कौशल से बचाते हुए घनश्याम शत्रु के चारों ओर अलात चक्र की भाँति चक्कर लगा रहे हैं। अधिक श्रम करने के कारण उनका स्वेद-युक्त मुखारविन्द ओस की विन्दुओं से भरे कमल कोश के सदृश प्रतीत होता है। इसी प्रकार मुष्टिक के ऊपर क्रोध करने से बलरामजी के नयन अरुण वरण के बन गये हैं। उनके भी मुख पर स्वेद की विन्दुएँ दिखाई दे रही हैं। सखियो! बड़ा अन्याय हो रहा है। न सहने योग्य अत्याचार हो रहे हैं। हम अबलायें और कर ही क्या सकती हैं, विरोध में सभा को छोड़कर जा ही सकती हैं। अतः चलो यहाँ से सभी एक साथ निकल चलें।"

इस पर एक अत्यंत अनुरागवती युवती बोली—"बहिनाओ! आपका कथन तो न्याय और धर्म युक्त है, किन्तु हम करें क्या हमारा मन तो बागी हो गया है। वह हमारे वश में नहीं रहा। जबसे हमने इन श्यामसुन्दर का अनूप रूप देखा है, तब से हमारा मन खो गया है। आँखें चिपक गयीं हैं, चित्त चाहता है, सदा इस मोहनी मूरति को निहारती ही रहें। कान चाहते हैं, इनकी बातें सुनते ही रहें। बहिनाओ! कहने में लज्जा लगती है, हमारे पैर गति हीन बन गये हैं। जब तक ये हमारे सामने हैं, तब तक हम उठ नहीं सकतीं। जैसे तैसे उठें भी तो पैर साथ न देंगे। लड़खड़ाकर गिर जायँगी।"

इस पर एक अन्य बोली—"आली तुम्हारा कहना सोलह आने सत्य है। न जाने ये कौन सा मोहनी मंत्र जानते हैं। इन्होंने अकारण हमारे मन को मोह लिया है। अहा! बहिनों, यह वृन्दावन की परम रम्य भूमि ही धन्य है। इसी का वसुन्धरा नाम सार्थक है, इसके वक्षस्थल पर इनके कमल से भी कोमल अरुण चरण पड़ते होंगे, तो वह इनको अपने अञ्चल से ढक देती होगी। जहाँ ये पुराण पुरुष छद्म वेष बनाये नर नाट्य करते होंगे। अहा! इनके इन परम पावन पादपद्मों की पूजा पार्वती पति बड़े प्रेम से करते हैं। लक्ष्मीजी इन ललित लावण्यमय मृदुल चरणों को सदा सुहलाती ही रहती हैं। इन्हें उठाकर डरती हुई अपने वक्षःस्थल पर धारण करती हैं, और अपनी मन की व्यथा को दूर करती हैं।"

इस पर एक अन्य बोली—"सखियो! जब ये रंग बिरंगी, घुटनों तक लटकती विचित्र वनमाला को धारण किये हुए, बाँसुरी को बजाते हुए वृन्दावन के उपवनों में बलदेवजी के सहित एक वन से दूसरे वन में विचरते होंगे, तो वहाँ के पशु पक्षी स्तब्ध रह जाते होंगे, गौएँ चरना छोड़ देती होंगी, और उनके मुख की

ओर निहारती की निहारती ही रह जाती होंगी। जब ये सखाओं के साथ भाँति भाँति की क्रीड़ायें करते हुए भूमि पर घूमते होंगे, तो निश्चय ही पृथिवी पुलकित हो जाती होगी।"

इस पर एक अत्यन्त ही सरस हृदय वाली युवती अनुराग भरित वाणी में बोली—"सखियो! न जाने इन व्रज की वनिताओं ने ऐसा कौन-सा तप किया है, न जाने इन्होंने जन्म जन्मांतर में ऐसा कौन-सा पुण्य कर्म किया है, जो ये श्यामसुन्दर के कमल मुख को नित्य निहारती हैं। उनके सौभाग्य की जितनी भी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। अहा, नेत्रवती होने का आनंद तो इन्होंने ही लूटा है, जो ये प्रियतमकी दुर्लभ रूप माधुरी पान अपने नयन पुटों से निरन्तर किया करती हैं। इनका मुख क्षण क्षण में नवीन-सा ही प्रतीत होता है, चित्त कभी भरता ही नहीं। अब देखा है फिर देखने की इच्छा बनी रहती है।"

इस पर अन्य ने कहा—"सखियो! श्यामसुन्दर का अनूप रूप अवर्णनीय है, अनुपम है इससे बढ़कर विश्व में कोई मोहक रूप नहीं, इससे बढ़कर कोई सुन्दर स्वरूप नहीं। यह स्वयं सिद्ध तथा यश, ऐश्वर्य एवं श्री का एकमात्र आश्रय है।"

इस पर वही अनुरागवती युवती बोली—"सखियो! मेरे पड़ोस में एक मुखिया मालिनि रहती है। वह नित्य प्रति वृन्दावन जाया करती है। मैं उसी से नित्य श्यामसुन्दर के गुणों को सुनती रहती हूँ। व्रजवल्लभियों का इनके प्रति कैसा अटूट अनुराग है यह कहते नहीं बनता। सुना है ये चाहें जो काम कर रही हों एक पल के लिये भी इन परम प्रिय श्याम को नहीं भूलतीं। हाथों से गौओं को दुह रही हैं। मन से मदनमोहन का मनन कर रही हैं। धनकुटा लेकर ओखली में धानों को तथा अन्यान्य अन्नों को कूटती जाती हैं चित्त से चित चोर का चिन्तन करती जाती हैं। मथनी में भरे दही को रई से घमर घमर करके बिलोती जाती

हैं, वाणी से वनवारी की विरुदावली को गाती जाती हैं, गाते गाते प्रेम में तन्मय हो जाती हैं, उन्हीं के ध्यान में निमग्न हो जाती हैं। हाथों से घर आँगन को गुबरी और पीली मिट्टी से लीपती जाती हैं हृदय से हरि का सुमरन करती जाती हैं। छोटे छोटे बच्चों को पालने में सुलाकर झुलाती हैं झोटा देती जाती हैं और मुख से गोविन्द के गीत गाती जाती हैं। बाहर कोई बालक रो रहा है, उन्हें पता ही नहीं चलता, क्योंकि उनका मन तो माधव में मग्न है कभी किसी के कहने से या अन्य कारण से उधर ध्यान जाता है, तो दौड़कर उठाती हैं, और उसे थपथपाती हुई ऊपर उछालती हुई कहती हैं, "गोविन्द दामोदर माधवेति" कृष्ण कृष्ण कहो श्याम श्याम रटो।

बच्चों को नहलाते समय, पति आदि के हाथ धुलाते समय, उनका मन इन्हीं में फँसा रहता है। घर झाड़ते बुहारते समय तथा अन्यान्य घर गृहस्थी के सभी कार्य करते समय वे सब तन्मय होकर गद्गद् कण्ठ से इन्हीं के गुणों का गान करती रहती हैं।

ये घनश्याम प्रातःकाल ही खिरक से गौओं को खोलकर उन्हें चराने के लिये वन को चले जाते हैं। गोपाङ्गनायें सब काम छोड़कर इसी प्रतीक्षा में बैठी रहती हैं, वन जाते समय घनवारी के दर्शन कर लो जब ये बाँसुरी बजाते हुए निकलते हैं तो सहस्रों नेत्र एक साथ ही इनके मुखारविन्द पर गड़ जाते हैं। जब तक इनके पीठ, गौएँ और गौओं के खुरों की उड़ती हुई धूलि दिखाई देती है, तब तक वे खड़ी खड़ी निहारती रहती हैं। फिर मन को मसोसकर लौट आती हैं बेमन से घर के कामों को करती हैं। रोटी बनाती हैं, किन्तु मन वहीं फँसा रहता है, अब श्यामसुन्दर . . कर रहे होंगे। अब कहाँ क्रीड़ा कर रहे होंगे। जहाँ . . हुआ कि सबका चित्त उसी पथ पर लगा रहता है, जो . . क आने का है, किसी बहाने से सास ननँद से कहकर

द्वार पर आती हैं उचककर, दूर तक दृष्टि फेंककर भीतर चली जाती हैं, फिर आती हैं। जहाँ कान में मुरली की सुमधुर ध्वनि सुनाई दी, तहाँ सब कुछ छोड़कर वे उसी ओर दौड़ती हैं। आकर द्वार पर खड़ी हो जाती हैं। जब ये गौओं के पीछे पीछे व्रज में प्रवेश करते हैं, तब वे अपनी मधुर मुसकान मयी दृष्टि से इनके मनोहर मुख को, गोरज से ढके प्रेमयुक्त पलकों को, तथा कमनीय कटाक्षों से युक्त इनकी चारु चितवन को निहारती हैं, तो कृतार्थ हो जाती हैं, उनकी दिन भर की साधना पूरी हो जाती है। इस प्रकार नित नित निहारने पर भी इन पुराण पुरुष में प्राचीनता प्रतीत नहीं होती, ये क्षण क्षण में नये ही नये दिखाई देते हैं। वे कभी इनके दर्शनों से तृप्त ही नहीं होतीं, सदा अतृप्त ही बनी रहती हैं।"

इस पर एक बोली—"ऐसे इन रामश्याम के साथ इन मथुरापुरी निवासियों का ऐसा निर्मम क्रूर व्यवहार अशोभन है। निन्द्य है, कष्टकर है, किन्तु किया क्या जाय, हम तो अबला हैं। स्त्री जाति को ब्रह्मा ने बनाया ही ऐसा है। वह भरी सभा में सबके सम्मुख अपना विरोध नहीं कर सकतीं। विरोध की बात तो पृथक् रही, खुलकर अपने प्रेम को प्रकट करने की क्षमता भी तो हममें नहीं है। यदि हमारा वश चलता तो इस मल्ल युद्ध को तुरन्त बंद करा देतीं। भला यह सुकुमार शरीर लड़ने के लिये है? जिन चरणारविन्दों पर व्रजाङ्गनायें सुगंधित चंदनों का लेप करती हैं, जिन्हें अपने कुचकुंकुम की कीच से सिक्त हृदय पर डरते डरते धारण करती हैं, उन्हीं में यह उजड्ड चाणूर चोट मार रहा है, निर्दयता पूर्वक पकड़ रहा है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर मथुरापुरी निवासिनी व्रजाङ्गनायें तो श्यामसुन्दर के सम्बन्ध में ऐसी बातें कह रही थीं. उधर श्यामसुन्दर का भी हृदय अनुराग से भरने लगा। यह तो

सिद्धान्तकी बात है जो जिसे हृदयसे प्यार करेगा तो उस प्रेष्ठका हृदय भी अवश्य पसीजेगा अनुरागवती युवतियोंकी व्याकुलताका अनुभव करके श्यामसुन्दरने चाणूरको मार डालनेका मनमें निश्चय कर लिया। अब जैसे ये दोनों काम क्रोधरूप दुष्ट चाणूर और मुष्टिक मारे जायँगे, उसका वर्णन आगे करूँगा। बड़ी गरमी पड़ रही है, तनिक ठंडासा जल पान-कर लूँ।"

छप्पय

वृन्दावनकी धन्य भूमि जहँ विहरैं ब्रजपति।
ब्रजवनिता अति धन्य धन्य उनकी रति मति गति॥
असन वसन गृह काज करतिजे नहिं बिसरहिं हरि।
सदा रिझावैं ब्रजवल्लभकूँ प्रिय कारज करि॥
बड़भागिनि ये गूजरी, जिनको प्रभुमहँ फँस्यो चित।
मधुर मधुर मुसकान मय, मुख माधवको लखहिं नित॥

चाणूर और मुष्टिकादि मल्लोंकी मुक्ति

(१०४३)

एवं प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः।
शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान्भरतर्षभ ॥❀

(श्रीभा० १० स्क ४४ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

हाय! क्रूर चाणूर न कछु अनरथ करि डारे।
दुष्ट न कहूँ कुठौर चोट माधव के मारे॥
बनतनि कूँ लखि विकल शत्रु वध निश्चय कीन्हों।
तबहूँ रिपुने उछरि श्याम हिय मुक्का दीन्हों॥
हसि हरिने पकरी भुजा, गोफिनि सम चक्कर दये।
प्राण हीन ह्वैकें गिरयो, नर नारी हर्षित भये॥

काम और क्रोध ये दो शत्रु बड़े प्रबल हैं। ये बहुत खाने वाले हैं, पेटू हैं, पापी हैं सदा लड़नेको तैयार रहते हैं। इन्होंने जीवमात्र को परास्त कर दिया है। पहिले तो जीव सुख समझकर इनकी ओर बढ़ता है, किन्तु जब ये सबको पछाड़ देते

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे भरत श्रेष्ठ राजन्! मथुरा पुरी निवासिनी स्त्रियाँ जिस समय परस्पर में इस प्रकार की बातें कर रही थीं, उसी समय योगेश्वर भगवान् श्रीहरिने शत्रुको मारने का निश्चय कर लिया।"

हैं, सबको जीत लेते हैं, तो जीव इनके अधीन हो जाता है। सबको जीत लेने से इनका अभिमान बढ़ता है, तो ये भगवान् से भी भिड़ जाते हैं, भगवान् कुछ देर तक खेल करते हैं। अज्ञानी लोग समझते हैं भगवान् को भी इन्होंने जीत लिया, भगवान् भी इनके वश में हो गये। किन्तु भगवान् की तो क्रीड़ा है। वे तो लोकलीला का अनुकरण करते हुए खेल करते हैं। भगवान् तो अपने भक्तों को बड़े उत्साह से कहते हैं—"हे महाबाहो! इस महाशत्रु काम को जीत लो!" फिर उनके लिये काम को जीत लेना मुष्टिक को मार देना कौन-सी बात है। बलशाली बलदेव के आगे क्रोध रूप मुष्टिक कर ही क्या सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सभा मंडप में बैठी हुई स्त्रियाँ ऐसी बातें कर रही थीं, कि भगवान् ने निश्चय कर लिया कि अब इस मल्ल को मारकर सबके भय को भगा दें, सबकी चिन्ता को मेट दें। स्त्रियाँ अत्यन्त दुख के साथ अश्रु बहाती हुई बातें कर रही थीं। उन स्त्रियों के ही बीच में बन्दिनी भगवती देवकी बैठी थीं। यद्यपि वे कारावास से यहाँ लाकर स्वतन्त्रता पूर्वक बैठाई गई थीं फिर भी उनके आसपास स्त्रियों का पहरा था। वे चुपचाप बैठी श्यामसुन्दर के मुख कमल को निहार रही थीं। स्त्रियों की करुणाभरी बातें उनके भी कानों में पड़ीं। उनको सुनकर वे परम व्याकुल हो उठीं। उनके नेत्रों से जल धारा बह रही थी और वे आशा भरी दृष्टि से सबकी ओर निहार रहीं थीं, कि कोई मेरे बच्चों को इन दुष्टों के फंदे से छुड़ावे। इधर पुरुषों के बीच में बन्दी बने वसुदेवजी बैठे थे, उनका हृदय भी धक्-धक् कर रहा था। वे राम-श्याम के बल से परिचित नहीं थे। वात्सल्य स्नेह में ऐश्वर्य दब जाता है, इसी कारण वे बनवारी को बालक समझकर विलाप कर रहे थे। सतृष्ण नेत्रों से बार-बार नट नागर की ओर निहार रहे थे। कनखियों से भगवान् ने भी माता-पिता की ऐसी

करुणा भरी विवशतापूर्ण दृष्टि देखी। वे उनकी ऐसी दयनीय दशा अधिक देर तक न देख सके। उन्होंने चाणूर का शीघ्र ही अन्त करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी से चाणूर और बलदेवजी से मुष्टिक ये दोनों ही प्राणों का पण लगाकर भिन्न-भिन्न प्रकारके दाव पेचोंसे लड़ रहे थे। भगवान्ने चाणूर को नीचे पटककर जो उसे मसला कि उसके अंग प्रत्यंग सब शिथिल पड़ गये। उसने साहस बटोरकर पूरी शक्ति लगाकर श्यामसुन्दरके वक्षःस्थल में कसकर एक घूँसा मारा। उसे विश्वास था, इस घूँसे के लगते ही श्यामसुन्दर अवश्य ही मर जायँगे, किन्तु उसे महान् आश्चर्य हुआ, भगवान् के वक्षःस्थल में उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। जैसे कोई हाथी को माला से मारे। सिंह के ऊपर फूल फेंक दे और उसे पता भी न चले, इसी प्रकार उसके मुक्के से भगवान् के मुख पर बल भी न पड़ा। अब तो भगवान् ने सोचा—"यह तो मुक्के मारने लगा। यह मुक्का मारता है मैं इस धक्का मारूँ।" यह सोचकर भगवान् ने झपटकर एक धक्का दिया। धक्का लगते ही वह गिरनेवाला था, कि भगवान् ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये और फिर उसे बड़े वेग से घुमाया। वेग से घुमाने के कारण उसके प्राण शरीर से निकल गये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने उसे घुमाया क्यों?"

हँसकर सूतजी बोले—"अब महाराज भगवान् के मन की बात भगवान् ही जाने। छोटे छोटे बच्चों को देखते ही उनके चपत क्यों लगाते हैं, क्यों उन्हें ऊपर को उछाल देते हैं, क्यों उनके गुलगुली कर देते हैं।" यह सब क्रीड़ा के लिये करते हैं। इसी प्रकार भगवान् ने खेल खेल में उसे घुमाया।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि दर्शक समझ रहे थे कि श्री कृष्ण छोटे हैं, इन पर इतना बड़ा मल्ल उठना नहीं इसी-

लिये ये जीत नहीं सकते। सबकी इस शंका को दूर करने को भगवान् ने उसे घुमाकर दिखाया, यह मेरे लिये तृण के समान है।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है, कि श्रीकृष्ण को देखकर कंस का मस्तिष्क घूम रहा था। यदि बिना घुमाये उसे मार देते तो मस्तिष्क घूमने के कारण उसे मरता हुआ चाणूर दिखाई न देता, अतः घूमते मस्तिष्क में घूमता हुआ मल्ल दिखाई दे जाय इसलिये घुमाया।

चौथा कारण यह भी हो सकता है, कि नीचे पटककर मारते, किसी को दीखता किसी को न दीखता, रोती हुई स्त्रियाँ शंकित ही बनी रहतीं। अतः भगवान् ने ऊँचे उठाकर, बार बार घुमाकर यह दिखा दिया, कि देख लो यह मर गया। सोलहू आने मर गया।

ये सब कारण होने पर भी हमें दूसरा ही कारण दीखता है। हमें जब कहीं की यात्रा करनी होती है और मुहूर्त लम्बा बनता है, तो चौघड़ियाँ निकालकर एक दिन में ही सब नक्षत्रों को बिता देते हैं। किसी को चान्द्रायण करना होता है। एक महीने का समय नहीं तो एक दिन में ही छोटे छोटे महीने भर के ग्रास बना कर खा लेते हैं। इस चाणूर का संसार में घूमना बहुत शेष था, भगवान् को आज ही उसे मुक्त करना था। अतः वेग से घुमाकर उसके अनेक जन्मों के प्रारब्ध को नष्ट कर दिया। इससे वह भगवान् के हाथ से मरकर आवागमन के चक्कर से सदा के लिये छूट गया। वह विमुक्त बन गया।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! यही बात है, अब आप आगे की कथा कहें।"

सूतजी बोले—"महाराज! घुमाते घुमाते जब चाणूर प्राणहीन हो गया, तो भगवान् ने उसे फेंक दिया। उसके काले काले बाल अस्त व्यस्त हुए बिखर रहे थे। उसका लाल लँगोटा

ढीला हो गया था। पीला जाँघिया फट गया था। हाथ का काला डोरा टूट गया था। सोने का बाजूबन्द चमक रहा था। इस प्रकार रंग बिरंगी वस्तुओं के कारण वह इन्द्र धनुष के समान दिखाई देता था। उत्सव के अन्त में जैसे इन्द्र ध्वज गिर जाती है, वैसे वह गिर गया था। उसके मरते ही समस्त नर-नारी प्रसन्न हुए। एकमात्र कंस को ही दुःख हुआ।

इस प्रकार भगवान् ने लीला में ही चाणूर को मार डाला। अब मुष्टिक का समाचार सुनिये। अखाड़ा बड़ा था। उसमें चार जोड़ एक साथ छोड़े जा सकते थे। कंस को तो राम-श्याम को ही मरवाना अभीष्ट था। अतः उसने दो ही जोड़ छुड़वाये। बलदेवजी मुष्टिक को रगड़ते जाते थे और श्रीकृष्ण की ओर देखते जाते थे, कि अभी चाणूर को मारा है या नहीं। जब कोई साधारण आदमी बड़े लोगों के भोजन में सम्मिलित हो जाता है, और एक साथ बहुत से पदार्थों को सामने देखता है, तो वह आस पास बैठे हुए बड़े आदमियों को देखता जाता है, वह कैसे खा रहे हैं, कौन-सी वस्तु खा रहे हैं। उन्हीं का अनुकरण करता है। जब बन्द हो जाते हैं, तो पेट न भरने पर भी उनकी देखा देखी बन्द हो जाता है। इसी प्रकार बलरामजी ने सोचा मार धाड़ में तो यह कृष्ण ही निपुण है, जब मुहूर्त होगा, तभी यह चाणूर को मारेगा, तभी मैं अपने प्रतिद्वन्द्वी मुष्टिक को पछाड़ूँगा। जब भगवान् ने चाणूर को मार गिराया, तब बलदेव जी ने भी मुष्टिक के मारने में शीघ्रता की। उस मृत्यु के मारने बलदेवजी की छाती में कसकर एक घूँसा जमाया। अब क्या था मानों भयंकर विषधर सर्प को किसी ने पैर से कुचल दिया हो। बलभद्रजी ने कसकर उसमें एक तमाचा लगाया। तमाचे के लगते ही बच्चूजी की सभी चौकड़ी भूल गयी। जैसे आँधी आने पर बड़ा भारी वृक्ष गिर पड़ता है, उसी प्रकार बलदेवजी का चपत

लगते ही वह निर्जीव होकर पृथिवी पर गिर गया। उसके मुख से रक्त की धारा बहने लगी। रक्त वमन करते-करते ही वह इह-लौकिक लीला समाप्त कर गया।

चाणूर और मुष्टिक के मरते ही हल्ला मच गया। सब लोग "राम कृष्ण की जय" की गगन भेदी ध्वनि करने लगे। इतने में ही एक बड़ा भारी मल्ल ताल ठोकता हुआ उछलकर अखाड़े में आया और बलदेवजी से बोला—"अच्छा तुम मुझसे लड़ो।"

बलदेवजी ने पूछा—"तेरा नाम क्या है?"

वह बोला—मुझे कूट कहते हैं।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छा ला, सारे तेरी भी कुटाई करूँ।" यह कहकर बलभद्रजी ने बायें हाथ से एक ऐसा कसकर घूँसा मारा, कि वह भनभनाता हुआ उसके मस्तक में लगा। मस्तक फट गया और वह निर्जीव होकर गिर गया।"

उसी समय एक दूसरा मल्ल श्यामसुन्दर के समीप आया और बोला—"तुम्हें मुझसे लड़ना ही होगा।"

श्यामसुन्दर ने कहा—"हम तो यहाँ लड़ने के ही लिये खड़े हुए हैं। तेरा नाम क्या है?"

उसने कहा—"मेरा नाम है शल।"

भगवान् बोले—"अरे सारे शल, तू है बड़ा खल, तू भी संसार से चल, देख करना मत छल, प्यास लगी हो तो पी ले जल। अच्छा, सम्हल अभी तुझे करता हूँ विकल। तू भी अपने किये का पा ले फल।" यह कहकर भगवान् ने कसकर एक लात मारी। लात के लगते ही शल बाबू का सिर फट गया और वह संसार से सदा के लिये हट गया। फिर तोशल आया, उसे भी प्रभु ने परलोक पठाया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कंस के पाँच ही अत्यंत बलवान् नामी-नामी मल्ल थे। आज पाँचों ही मर गये। चाणूर, मुष्टिक कूट, शल और तोशल इन पाँचों को मरते देखकर शेष मल्लों के तो छक्के छूट गये। वे अपने प्राणों को लेकर अखाड़े से भागे। मल्लों में भगदड़ मच गई। वे सोचने लगे ये विचित्र मल्ल हैं। चित्त या पट्ट का कोई काम ही नहीं। सबको प्राणहीन ही बनाकर छोड़ते हैं। इनसे लड़ने में कुशल नहीं।" यही सब सोचकर अपने अपने लँगोटा जाँघिया छोड़कर ये गये वे गये।

जब मल्लों में भगदड़ मच गई, तो राम श्याम अखाड़े में घूम घूमकर कहने लगे—"जिसे और लड़ना हो वह और आ जाय। मामा को लड़ाई बहुत प्रिय है।" किन्तु कोई भी सम्मुख न आया। तब तो भगवान् जहाँ ग्वालबाल बैठे थे वहाँ चढ़ गये और अपने समवयस्क गोपबालकों को खींचते हुए बोले—"अरे भैयाओ ! मल्ल तो सब सारे भाग गये। हम सबको राजा का मनोरंजन करना चाहिये। लड़ाई भिड़ाई तो उन्होंने देख ली। अब लाओ अपना नाच दिखाकर इनका मनोरंजन करें।" चलो ब्रज का नाच भी इन्हें दिखावें। रसीले रसिया भी सुनावें। यह कहकर वह अपनी अवस्था के ग्वालों को अखाड़े में खींच लाये। राम कृष्ण दोनों ही भाई एक दूसरे का हाथ पकड़कर नाचने लगे। वे मुँह मटकाकर, सैन चलाकर, कमर को लचाकर तथा भाँति भाँति के भाव दिखाकर, बजती हुई भेरी के शब्द के साथ अपने चरण नूपुरों की ध्वनि मिलाकर ब्रज का नृत्य दिखाने लगे। मल्लों की सरस क्रीड़ाओं को करने लगे। सब उनके अद्भुत बल, पुरुषार्थ, सौन्दर्य माधुर्य तथा कला कौशल को देखकर धन्य-धन्य करने लगे और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। अब मामा को भी जिस प्रकार प्रभु परलोक पठायेंगे वह कथा मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

चल मुष्टिक कूँ मारि अखाड़े में ठाड़े जब।
करिकैं अतिई कोप कूट लडिवे आयो तब॥
इत शल तोशल लड़न श्याम के सम्मुख आये।
तीनों ही मरि गये परम पद सबने पाये॥
मुष्टिक अरु चाणूर शल, तोशल कूट मरे जबहिं।
लै लै अपने प्राण सब, शेष मल्ल भागे तबहिं॥

कंसोद्धार

(१०४४)

स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरम्,
पिबन्वदन्वा विचरन्स्वपञ्छ्वसन् ।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो य—
स्तदेव रूपं दुरवापमाप ॥ ❀

(श्री भा० १० स्क० ४४ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

ग्वाल बाल लै संग श्याम बल नाचत डोलें।
एक कंस कूँ छोड़ि शेष सब जय जय बोलें ॥
कुपित कंस ह्वै गयो कहै इन गोपनि मारो।
राम कृष्ण कूँ पकरि नगर तें तुरत निकारो ॥
समुझि गयो ये परस्पर, मिले जुले सब लोग हैं।
नन्द गोप वसुदेव अरु, उग्रसेन वध जोग हैं ॥

जीव जिसका निरन्तर चिन्तन करेगा, उसीको प्राप्त हो जायगा। हम नित्य ही संसारका शरीरका चिन्तन करते रहते हैं, इसीलिये मर मरकर हमें पुनः पुनः संसारमें शरीरोंकी

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कंस नित्य ही अत्यन्त उद्विग्नता के साथ उन चक्रायुध श्रीपरमेश्वर को भोजन करते, पेय वस्तु पीते, वार्तालाप करते, विचरण करते, शयन करते तथा श्वास लेने आदि समस्त क्रियाओं को करते समय अपनी आँखों के सम्मुख देखता था। इसीलिये दुरताप होने पर वह उसी रूपको प्राप्त हुआ।"

प्राप्ति होती है। जीवनमें जो जिसे याद करता रहेगा, दूसरे जीवनमें वही मिलेगा। संसारी लोग नित्य ही स्त्री, पुत्र, घर, गृहस्थीकी चिन्ता करते रहते हैं, मरने पर वे ही प्राप्त होते हैं। जड़ भरतजीका चित्त मृगके बच्चेमें फंस गया था अतः उन्हें मृग होना पड़ा। जो धनका रक्षामें निरन्तर चिन्तित रहते हैं, उन्हें धनका रक्षक सर्प बनना पड़ता है। जो ईंट पत्थरोंकी चिन्ता करते रहते हैं, वे मरकर जड़ताको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो निरन्तर भगवानका चिन्तन करते हैं, उन्हें भगवान प्राप्त होते हैं। भगवान का स्मरण कामसे क्रोधसे, लोभसे, द्वेषसे, तथा प्रेमसे कैसे भी किया जाय, भगवत् प्राप्ति तो होगी ही। द्वेष से जीवन शुष्क रहेगा। प्रेमसे सरस होगा। केवल रसास्वादका अन्तर है। चाहे रसगुल्ला खाओ या सूखे सत्तू फाँको, पेट दोनोंसे भरेगा। रसगुल्ला जिह्वाको तृप्त करते हुए, कण्ठसे पेटतक लीक करते हुए सुख पूर्वक पेट भरेंगे। सुखे सत्तू कंठको कष्ट देते हुए जलका सहारा लेते हुए नीरसताके साथ पेट भरेंगे। इसी प्रकार प्रेमसे चिन्तन हृदयमें सरसताका संचार करेगा। द्वेषका चिन्तन अशांति चिंता और ग्लानि करेगा अंतिम फल तो एक ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल तथा तोशल, ये मल्ल मारे गये, तब शेष सब मल्ल अपने अपने प्राणोंके मोहसे भाग गये, तब तो कंस किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। उसकी नस नसमें क्रोध व्याप्त हो गया। बाहर जो मधुर मधुर स्वरमें भेरी बज रही थी, उसने तुरंत आज्ञा दी। "भेरी बजाना बंद कर दिया जाय।" तुरन्त राजाकी आज्ञाका पालन किया। भेरीका शब्द तब बन्द हो गया, तो वह क्रोधमें लाल लाल आँखें करके, ओठोंको

चबाता हुआ सेवकोंसे बोला—"अरे, तुम लोग कहाँ गये यहाँ मेरे सम्मुख आओ।"

सुनते ही सैनिकोंके बड़े बड़े अधिकारी तथा अन्य भी रक्षा विभागके प्रधान प्रधान कर्मचारी हाथ जोड़े हुए आकर उपस्थित हुए और नम्रताके साथ बोले—"महाराजकी क्या आज्ञा है?"

कंस बोला—"तुमलोग जानते हो, ये राम-कृष्ण दोनों नंदके पुत्र नहीं हैं। ये वसुदेवके पुत्र हैं। ये बड़े उद्दंड, दुश्चरित्र और असभ्य हैं। इन दोनोंको अभी धरके बाँध लो और इन्हें तुरन्त नगरके बाहर निकाल आओ। ये जितने गोप आये हैं सबके शकट बैल तथा धन आदिको छीनकर राजकोष में रखो। इस नन्द ने राज विद्रोह किया है, मेरे शत्रु को इतने दिनतक छिपा रखा था इसने षडयन्त्रमें प्रधान रूपसे भाग लिया इसलिये इसे तुरन्त यहीं क्रीड़ा स्थानमें गोलीसे मार दो। यह सब षड्यन्त्र वसुदेव का रचा हुआ है। कारावास में रहकर भी, यह छिपकर अपने पुत्र को गोकुल पहुँचा आया। यह नीच है, दुर्बुद्धि है, विद्रोही है, असाधु है तथ राज्य के प्रति अभक्त है। इसे भी अभी यहीं मार डालो। नंद और वसुदेव को प्राण दंड भी थोड़ा है। दोनों ने बड़ अपराध किया है। यह षड्यन्त्र बड़ाभारी है, इसमें मेरे पिता उग्रसेन का भी अवश्य हाथ है। यह शत्रु पक्ष से मिला हुआ है। इसके अनुयायी भी इसके साथ हैं, अतः उग्रसेन से जो जो प्रेम रखते हों, जो जो विरोधी दलके हों, सबको एक पंक्तिमें खड़ा करके गोली से मार दो। कोई भी इनमें से बचने न पावे। ये सब जो राम-श्यामकी विजय पर "जय हो, जय हो, धन्य है, धन्य है" चिल्ला रहे थे, ये सब भी राज-द्रोही हैं। सबको दंड मिलना चाहिये। तुम लोग किसी पर

दया न दिखाना, नहीं तो तुमको भी दंड दिया जावेगा। सर्व प्रथम तो इन दोनों उद्धत छोकरों को पकड़ लो।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान ऊँचे मंचपर खड़े होकर बोले—"सुनलो भैया! मैं वसुदेवजीका पुत्र हूँ। राजा अपने मुखसे कह रहे हैं। इसलिये मेरे ये मामा लगते हैं। मामाजीके वात, पित्त और कफ तीनों ही प्रकुपित हो गये हैं। इन्हें सन्निपातने घेर लिया है। वातका प्रकोप होनेसे ये अंट संट बक रहे हैं। अब सबकी इच्छा हो तो इनकी चिकित्सा कर दूँ। मुझे वात, व्याधकी चिकित्सा करनी आती है, उसमें मुझे इनकी चोटी पकड़नी होगी।"

यह सुनकर सब बोल उठे—"आप जो चाहें सो करें।"

कंस कई हाथ ऊँचे मंचपर बैठा था। भगवानने बलदेवजीसे कहा—"बल भैया! तुम कितना उछल सकते हो?"

बलदेवजी बोले—"जितना तू उछलेगा उससे दुगुना मैं उछल लूँगा। पहिले तू ही उछल।"

यह सुनकर भगवान एक हाथ उछले, तब बलदेवजी दो हाथ उछले। भगवान् चार हाथ उछले, तो बलदेवजी आठ हाथ उछले। भगवान् सोलह हाथ उछले, तो बलदेवजी बत्तीस हाथ उछले। अबके श्रीकृष्ण कंसके मुकुट तक उछल गये और उसके बड़े भारी मंचपर जाकर खड़े हो गये। कंस जितना ही शूरवीर, बली था, उतना ही साहसी भी था, जब उसने देखा कि श्रीकृष्ण तो काल बनकर मेरे सिरपर ही आ धमके, तब उसने तुरन्त कोषसे करवाल निकाल ली और हाथ में ढाल लेकर पैंतरे बदलने लगा। वह युद्ध करने को उद्यत हो गया। भगवान् भी मंचपर घूमने लगे, वह भी दायीं बायीं ओर चक्कर काटने लगा।

उसे पैंतरे बदलते हुए देखकर हँसते हुए श्यामसुन्दर

बोले—"मामाजी ! अभी तक तो बक ही रहे थे, अब हाथ पैर भी पीटने लगे। ऐसा मत करो, ऐसा मत करो।" इतना कहते हुए अत्यन्त दुःसह प्रचण्ड वेग वाले भगवान्‌ने, जैसे

गरुड़ सर्प को पकड़ लेता है, वैसे ही घूमते हुए कंसको पकड़ लिया। इस पकड़ा धकड़ी में भयके कारण कंसका राजमुकुट गिर गया। मुकुटका गिरना अत्यन्त अशुभ माना जाता है। राजाका

मुकुट सिर से गिर जाय, तो समझना चाहिये राजा की मृत्यु समीप ही है। सब लोग समझ गये, अब राजा कुछ ही क्षण के अतिथि हैं।

कंस का जब मुकुट सिर से गिर गया, तो उसके बड़े बड़े बाल अस्त व्यस्त भाव से बिखर गये। भगवान् को तृणावर्तासुर की याद आ गई। वे सोचने लगे मैं तृणावर्त के गले में लटक गया था, इससे वह आकाश से गिर कर भूमि में चारों कोने चित्त गिरा था और पट्ट से मर गया था। लाओ मामा के साथ भी ऐसा ही खेल करें। यही सोचकर भगवान् उसके केशों को पकड़ कर लटके, अब वह तुरन्त भूमि पर गिरने लगा। विश्वाश्रय कमलनाभ भगवान् उछलकर उसके ऊपर चढ़ बैठे और भूमि-पर गिरते गिरते ही कंस के प्राण पखेरु उसके शरीर को त्यागकर उड़ गये। परलोक को प्रयाण कर गये। अब भगवान उसके मृतकशरीर को इधर से उधर कढ़ेरने लगे।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! एक तो मामा को मारना ही अनुचित है। कदाचित उसे दुष्ट समझकर मार भी दिया, तो उसके मृतक शरीर को इधर उधर, टाँग पकड़कर कढ़ेरना तो उचित नहीं। भगवान् ने ऐसा क्यों किया?"

सूतजी बोले—"मुनियो! आप इस बात को गाँठ बाँध लें, कि भगवान् जो भी कुछ करते हैं, जीव के कल्याण के ही निमित्त करते हैं। उनके सभी कामों में जीवों का कल्याण ही निहित है।

भगवान् ने सोचा—"हमारे मामाजी बड़े अभिमानी थे। कभी पैदल कहीं जाते ही नहीं थे। जहाँ जाते थे, सवारी से जाते थे। जहाँ चलना भी होता, पादत्राण पहिनकर, गलीचों से ढकी भूमि पर चलते थे, इसलिए इनके अंग से व्रज की परम पावन, रज काहे को लगी होगी। लाओ मरते समय

शरीर में व्रज की धूलि लगा दें। जिसके लगने से परलोक में कल्याण हो। अतः व्रज रज की महिमा दिखाने के निमित्त ही मामा को टाँग पकड़कर कढ़ेरा होगा।

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो! व्रज रज का प्रभाव जताने को ही भगवान् ने ऐसा किया होगा। जब मृतक कंस का शरीर इधर से उधर घसीटा जाने लगा, तो वहाँ जितने भी नर नारी बैठे थे, सबके मुख से हाय! हाय! शब्द निकलने लगा।

कंस भय के कारण निरन्तर श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करता रहता था। जिसे हम अपना शत्रु समझते हैं, और उससे प्राणों के भय की संभावना रहती है, तो उसकी जैसी प्रगाढ़ स्मृति बनी रहती है, वैसी मित्र की नहीं होती। जो तन्मयता भय के कारण शत्रु में हो जाती है, वह प्रेम के कारण मित्र में नहीं हो सकती। कंस सदा श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में चिन्तित बना रहता। जब वह कुछ खाता-पीता तो, चारों ओर भय से इधर उधर देखता रहता, कहीं कृष्ण न आ जाय, मुझे छल से खाते समय ही मार दे। बातें तो दूसरों से करता, किन्तु मन से सदा सोचता रहता श्यामसुन्दर को। ऐसा न हो पीछे से आकर मुझे पछाड़ दें। कहीं भी घूमने जाता, चारों ओर श्रीकृष्ण को ही निहारता रहता। कभी कभी चौंक पड़ता और बड़बड़ाने लगता—"श्रीकृष्ण आ गया।" सेवक कहते—"महाराज! कहाँ हैं, श्रीकृष्ण?"

वह कहता—"तुम्हें दिखाई नहीं देता? देखो वह आता है।" इस प्रकार वह भावना से श्रीकृष्ण को आते हुए देखता।"

जब वह सोता, तो स्वप्न भी श्रीकृष्ण के सम्बन्ध के देखता। "श्रीकृष्ण आ रहे हैं, वह मुझे मार रहे हैं।" यह देखते देखते वह शैया परसे उठकर खड़ा हो जाता और इधर उधर घूमने

लगता। उसकी रानियाँ उसे समझातीं, सान्त्वना देतीं, किन्तु एक पल को भी वह श्रीकृष्ण को नहीं भूल सकता था। सोते जागते, उठते बैठते, चलते फिरते, नहाते धोते, खाते पीते, अधिक क्या कहें, समस्त क्रियाओं को करते सब काल में उसे श्रीकृष्ण ही दिखाई देने लगते। 'जो जिसका निरन्तर ध्यान करता है, वह उसी के रूप में मिल जाता है, इस न्यायानुसार कंस श्रीकृष्ण के रूप में मिल गया, उसका संसार का आवागमन छूट गया, वह मुक्त हो गया।

कंस के कंक, न्यग्रोध, सुनामा, शंकु सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टि और तुष्टिमान ये आठ छोटे भाई और थे। कंस के मारे जाने पर ये आठों भाई क्रोध करके अपने अपने हाथों में अस्त्र शस्त्र लेकर राम और श्याम को मारने के लिये आये। उन आठों को अपनी ओर आते देखकर श्रीकृष्ण उनकी ओर झपटे। तब बलदेवजी उनसे बोले—"कृष्ण ! अब भैया ! सबको तू ही मारेगा, हमें भी कुछ करने देगा ? ये आठों तो मेरे भाग में हैं।'

भगवान् बोले—"दादा ! अच्छी बात है, इन आठों को मारकर आप ही अपने हाथों की खुजली मिटा लो।" इतना सुनते ही सिंह जैसे पशुओं के झुन्ड पर टूटता है, ऐसे ही बलरामजी उन आठों आततायियों के ऊपर टूट पड़े। वहाँ एक लोहे का परिघ पड़ा हुआ था, बलरामजी ने उसे उठा लिया और आँख मींचकर उन्होंने जो मारना आरम्भ किया कि क्षण भर में ही आठों को मार गिराया। इस प्रकार जब उग्रसेन के कंस आदि नौ के नौऊ पुत्र मर गये तब देवता अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे आकाश से पारिजात के पुष्पों की वर्षा करने लगे, दुन्दुभि आदि बाजे बजाने लगे। ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादि लोकपाल प्रेम पूर्वक प्रभु की प्रशंसा करने लगे। गन्धर्व गाने लगे और

अप्सरायें नृत्य करने लगीं। प्रजा के लोग भी परम प्रमुदित हुए। वे सब मन ही मन कंस से असन्तुष्ट थे, इसीलिए उसके मारे जाने पर कोई दुखी नहीं हुआ। किसी ने श्रीकृष्ण के इस कार्य का विरोध नहीं किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मामा के मारे जाने पर जैसे मामी रोती हुई आईं और उन्हें समझा बुझाकर जैसे भगवान् माता पिता के समीप गये, उस प्रसङ्ग का वर्णन आगे करूंगा।

छप्पय

बक बक मामा करत तुरत हरि उछरे ऊपर।
लीन्हीं चोटी पकरि धम्मर्ते कूदे नटवर॥
मामा नीचे गिरयो भानजो ऊपर आयो।
प्रभु तन परसत तुरत परमपद मामा पायो॥
खान पान नित यानमहँ चलत फिरत सुमिरत प्रभुहिं।
सुमिरन सतत प्रभावतैं, मिल्यो त्यागि तनु सो बिभुहिं॥

—:::::—

भगवान् द्वारा माता-पिताका बन्धन मोचन

(१०४५)

मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात् ।
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसाऽऽस्पृश्य पादयोः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४४ अ० ५० श्लो०)

छप्पय

कंस अनुज पुनि आठ लड़े बल मारि गिराये ।
मामी रोवत लखीं वचन हरि मधुर सुनाये ॥
पुनि पितु माता निकट आइकें काटे बन्धन ।
शिशु सम गोदी बैठि करें करुणामय क्रन्दन ॥
कहें अभागी हम रहे, निरख्यो नहिं पितुमातु सुख ।
हमरे पीछे दिवस निशि, सहे आपुनें दुसह दुख ॥

दुख सुख भाग्य का खेल है। जिसके प्रारब्ध में जितना सुख दुःख बदा रहता है, उतना उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। पुरुषार्थ से प्रारब्ध मेटा जा सकता होता तो पांडव, नल, राम हरिश्चन्द्र तथा अन्यान्य परमधर्मात्मा राजाओं को इतने

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तदनन्तर भगवान् राम-श्याम ने माता पिता को बन्धन से छुड़ाकर उनके चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया।"

क्लेश क्यों सहने पड़ते। जिन देवकी वसुदेव के श्रीकृष्ण और बलराम दो दो अवतारी पुत्र हुए, उनके जीवनभर कारावास के दुख सहने पड़े यह प्रारब्ध की विडम्बना नहीं तो क्या है। जिन परिपूर्णावतार परात्पर प्रभु का बार-बार हृदय में स्मरण होने से समस्त संसार बन्धन कट जाते हैं उन्हीं प्रभु का चिन्तन देवकी वसुदेव कारावास में निरन्तर करते रहे और कंस की दी हुई दुसह यातनाओं को धैर्य के साथ सहते रहे। अन्त में आकर प्रभु ने उनके बन्धन को काटा उन्हें निर्मुक्त बनाया और दिव्य सुखों का अनुभव कराया। प्राणी प्रारब्ध से प्राप्त सुख दुखों को धैर्य पूर्वक सहन करता हुआ, प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा करता रहे, तो किसी न किसी दिन प्रभु अवश्य ही कृपा करेंगे। वे स्वयं आकर हमारी बेड़ियों को काटेंगे और प्रेम पूर्वक अपनावेंगे। जीव का एक मात्र कर्तव्य है, प्रभु की कृपा की निरन्तर प्रतीक्षा करते रहना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राम-श्याम ने उग्रसेनजी के कंसादि नौऊ पुत्रों को मार दिया तो सर्वत्र हाहाकार मच गया। कंस की तथा उसके आठों भाइयों की पत्नियाँ रोती रोती स्थान पर आयीं जहाँ कंसादि सब मरे पड़े थे। वे स्त्रियाँ उनके मृतक शरीरों को गोदी में लेकर कुररी की भाँति रुदन करने लगीं और उनसे लिपट लिपटकर विलाप करने लगीं। वे रोते रोते कहती थीं—"हे प्राणनाथ! आप क्या मरे हम सबको मृतक बना गये। आपके बिना हम कैसे जीवित रह सकती हैं। हमारा तो सर्वस्व नष्ट हो गया प्रियतम! हम आपकी पत्नियाँ ही विधवा नहीं

हुयीं; यह मथुरापुरी भी आपके बिना विधवा हो गई। इसके भी सिर का सिंदुर पुछ गया। यह भी हमारी ही भाँति सम्पूर्ण उत्सव मंगलो से विहीन हो गयी। हे धर्मज्ञ! आप सब धर्मों के जानने वाले थे, फिर आपने ऐसा अधर्म क्यों किया। इन निरपराध रामकृष्ण आदिसे द्वेष क्यो किया? हे करुणा मय! आप ही सोचो, जो प्राणी पर पीड़ा देनेमे सदा निरत रहता है, उसे शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। निरपराध प्राणियोसे द्वेष करनेके कारण ही अन्त मे आपको यह दिवस देखना पड़ा। इसी दुष्कृत्यसे आपकी ऐसी दुर्गति हुई। हे अनाथ वत्सल! हम अब लाओको अब आप इस प्रकार अनाथ छोड़कर अकेले क्यो जा रहे हैं। हम अपनी दासियों को भी साथ लेते चलें। आपके बिना हम इस दुःखपूर्ण संसारमे अकेली रहकर क्या करेंगी। हे नर श्रेष्ठ! ये श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और लयके एक मात्र स्थान हैं। ये सब रक्षक तथा प्रतिपालक हैं, इनसे द्वेष करके कौन प्राणी सुखी रह सकता है। किस शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। कौन उन्नतिके पथकी ओर अग्रसर हो सकता है। जो सदा सुन्दर स्वच्छ सुखद शैयापर शयन करते थ, वे आप आज भूमिमें लोट रहे हैं। कोई आपके समीप भी नहीं आता विद्वेषीकी ऐसी गति होनी स्वाभाविक ही है। हम क्या करें कहाँ जायँ हमें कौन धैर्य बँधावेगा?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपनी मामियोंको रोते देखकर माधव भी उनके समीप गये और वैसे ही आँसू निकालकर ऊँ ऊँ करके रोने लगे और रोते रोते बोले—"मामियो!

मर गये। बड़ा बुरा हुआ, किन्तु करे क्या, भाग्यको कौन मेंट सकता है। सभी प्राणी अपने अपने कर्मोंके अनुसार दुःख सुख भोगते हैं। प्रारब्धको अन्यथा कौन कर सकता है।"

कंसकी प्रधान पटरानीने कहा—"लल्लू। तुमने ही तो अपने मामाको मारा है और अब तुम ही ऐसी बातें कर रहे हो?"

भगवान्‌ने आश्चर्य की मुद्रा दिखाते हुए कहा—"मामी! तुम भी ऐसा कलंक मेरे माथे मढ़ोगी क्या? कौन प्राणी किसे मार सकता है, सब अपने अपने भाग्यसे मरते हैं। मामाका काल आगया था, वे अपने भाग्य से मर गये।"

पटरानीने कहा—"मरे तो भाग्यसे ही किन्तु मारा तो तुमने ही है।"

भगवान् भोले बालक की भाँति बोले—"अरी, मामी! भला, मैं मामाको क्यों मारता। वे तो अपने आप ही अंड बंड बकने लगे।

यह तो भगवानकी बड़ी कृपा हुई, जो मामाजी नीचे रहे। कहीं भानजा नीचे आजाता तो तुम्हारी सब प्रतिष्ठा धूलि में मिल जाती। अब हो गया सो हो गया उसका सोच करने से ही क्या लाभ? मामाजी अब लौटकर तो आही नहीं सकते।"

इस प्रकार भगवान ने उन राजमहिषियों को भाँति भाँति से आश्वासन दिया। फिर भगवान् तुरन्त वहाँ दर्शकों में बैठे हुए अपने मातापिता के समीप गये। जाकर उन्होंने अपने हाथों से

उन्हें बन्धन से मुक्त किया और बड़े भक्ति से उनके चरणों में प्रणाम किया।

देवकी वसुदेव ने अपनी आँखों से श्रीकृष्ण बलराम के अमानुषिक कृत्य देखे थे, अतः राम-कृष्णके प्रणाम करने परभी उन दोनों ने उन्हें आशीर्वाद नहीं दिये। अपितु उन्हें सच्चिदानन्द जगदीश्वर समझकर शंकित चित्त होकर हाथ जोड़े के जोड़े ही श्रद्धापूर्वक खड़े रहे।

भगवान् ने सोचा—"अरे, यह तो सब गुड़ गोबर हो गया। अब तक गोकुल वृन्दावन में हम लाला, कनुआ बच्चा, छोरा और न जाने किन किन प्यार के नामों से पुकारे जाते थे। यहाँ आते ही भगवान् बन गये, तब तो सब गुड़ गोबर हो गया। जिनसे हमारा माता पिता का सम्बन्ध है, वे ही हममें ऐश्वर्य भाव रखने लगे, तब तो सभी मधुर लीला समाप्त हो जायगी। जिस तत्व ज्ञान को लोग बहुत बड़ी वस्तु समझते हैं, वह तो हमारी तनिकसी दृष्टि में हो जाता है। वह तो घर की वस्तु है, किन्तु यह पुत्र-स्नेह माधुर्य वात्सल्य रस की सुखद लीला परम दुर्लभ है। इसी का आस्वादन करने के लिये तो हम अवनि पर अवतरित हुए हैं। यह हो जाय, तो ब्रह्मज्ञान तो जब चाहें तब हो सकता है। इस समय तो ये हमें अपना पुत्र मानकर ही प्यार करें।" यह सोचकर भगवान् ने उनकी बुद्धि पर अपनी जगन्मोहिनी माया की यवनिका डाल दी। माया का पर्दा पड़ते ही अब देवकी वसुदेवजी ऐश्वर्यकी सब बातें भूल गये, उनके

मन में पुत्र स्नेह उमड़ने लगा। तब बलदेवजी के सहित भगवान् हाथ जोड़े हुए उनके समीप गये और अत्यन्त आदर तथा विनय के साथ उनसे बोले—"हे पिताजी! हे माताजी! आप हमसे बोलते क्यों नहीं हम बड़े अभागी हैं, जो आपकी सेवा से सदा वञ्चित रहे।"

वसुदेवजी ने कहा—"भैया! हमने तो सुना है, तुम दोनों भगवान् हो। भूमि का भार उतारने पृथिवी पर प्रकट हुए हो।"

भगवान् बोले—"पिताजी! ये स्वार्थी लोग ऐसे ही कह देते हैं हम तो आपके पुत्र हैं। पुत्र भी सुपुत्र नहीं। कुपुत्र हैं, भाग्य हीन पुत्र हैं। देखिये, आप तो सदा हमारे लिये उत्कंठित ही बने रहते थे। किन्तु हम ही ऐसे भाग्यहीन निकले कि आपकी उत्कंठा पूर्ण न कर सके। माता पिता अपनी सन्तानों की नित्य नई बालक्रीड़ाओं को देखकर सदा प्रमुदित होते रहते हैं। उन्हें गोदी में लेकर सुखका अनुभव करते हैं, उनके अंगों के स्पर्श से उन्हें परम सुख मिलता है। जब उन्हें प्रेम से हृदय से चिपटा लेते हैं, बार बार मुख चूमते हैं तो निहाल हो जाते हैं, अपने को कृतार्थ मानते हैं। माता पिता के लिये संतानों के साथ खेलने से बढ़कर कोई सुख देने वाली वस्तु नहीं है। बालकों का भी यह परम सौभाग्य है, कि वे माता पिता के प्रेमको प्राप्त कर सकें। हम भी ऐसे अभागे निकले कि माता पिता को तड़पते छोड़कर वनों में दिन काटते रहे। हमारी बाल्य पौगण्ड और किशोर ये तीनों अवस्थायें यों ही निकल गयीं। हम दोनों को आपकी छत्रछाया में आपके चरणों में रहने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। आपकी कुछ सेवा न कर सके।"

वसुदेवजी ने कहा—"तुम दोनों जीवित बने रहे और तुम्हें हम आज सकुशल देख रहे हैं, यही हमारे लिये बहुत है। सेवासे

क्या होता है ?"

भगवान् बोले—"सेवा इसलिए नहीं की जाती, कि वे दुःखी हैं, लाओ उनके दुःख को दूर कर दें। सेवा तो कर्तव्य बुद्धि से की जाती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी की प्राप्ति इस शरीर द्वारा किये हुए साधनों द्वारा ही होती है। सम्पूर्ण फलों का साधन भूत यह शरीर माता पिता के द्वारा ही प्राप्त होता है। जिन माता पिता से ऐसा सुन्दर शरीर मिला है, जो नाना क्लेश सहकर इसका पालन पोषण करते हैं, पढ़ा लिखाकर बड़ा करते हैं, सदा संतानों के लिये मंगल कामना करते रहते है, उन माता पिता के ऋण से मनुष्य सौ वर्षों में भी उऋण नहीं हो सकता। अपने जीवित शरीर का चर्म निकालकर उनके पैरों की जूती बना दे, तो भी उनके उपकार का प्रतिशोध नहीं कर सकता। संतान का सर्व प्रथम कर्तव्य है निष्कपट भाव से माता पिता की सेवा करना, सो हम अपने इस कर्तव्य से वञ्चित ही रहे।"

वासुदेवजी ने कहा—"सेवा तो सामर्थ्य रहने पर ही की जाती है, तुम तो यहाँ थे ही नहीं फिर सेवा क्या करते ?"

भगवान् बोले—"इसीका तो हमें पश्चात्ताप है, यही एक मात्र सन्तोष है, कि हम ऐसी परिस्थिति में थे, कि आपकी यहाँ आकर सेवा करना हमारे लिए कठिन ही नहीं असंभव था। हम असमर्थ थे, किन्तु जो समर्थ होने पर भी अपने को पैदा करने वाली माता की, अपने वीर्यदाता पिता की सती साध्वी पत्नी की, छोटे छोटे अपने बालकों की, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतों की सेवा नहीं करता, इनकी उपेक्षा करके स्वयं ही अच्छी अच्छी वस्तुओं को खा लेता है, वह जीता हुआ भी मृतक के समान है। हाय ! हमारे इतने दिन व्यर्थ ही बीत गये। हम आपकी कुछ भी सेवा न कर सके। हम करते भी क्या, हम तो मारे डर के कभी किसी पर इस बात को प्रकट ही

करते थे, कि हम यादव हैं देवकी मैया और वसुदेवजी के पुत्र हैं। हम तो पक्षी का बच्चा जैसे घोंसले में छिपा रहता है, वैसे ही व्रज में छिपे रहते थे। कंस के भय से हमारा चित्त सदा उद्विग्न बना रहता था। इसलिये हे माता! हे पिता! हमारे अपराधों को क्षमा करो। भूल के कारण जो हमसे प्रमाद हो गया, उसे मन में मत लाओ। हमें अपना पुत्र समझकर प्यार से अपनाओ।' दुष्ट कंस ने आप दोनों को कैसे कैसे क्लेश दिये। कैसा कैसा अन्याय आपके साथ किया। आप दोनों को कारावास में रखा। अब जो बात हो गई सो हो गई। कंस ने अपने किये का फल पालिया, अब आप दोनों हमें अपनी संतान समझकर प्यार करें और परवश होने के कारण जो हम सेवा न कर सके, उसको मन में न लावें। हम आपके पुत्र हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान की ऐसी ममता भरी, प्रेम में सनी वाणी सुनकर देवकी वसुदेव का हृदय तो पानी पानी हो गया। उनके अन्तःकरण में पुत्रस्नेह की हिलोरें उठने लगीं। अब उन पर रहा नहीं गया। इन माया से मानव बने माधव की ममतापूर्ण बातों से वे मोहित हो गये। कुछ क्षण पहिले जो उनके मन में तत्वज्ञान उत्पन्न हुआ था, उसे वे उसी क्षण भूल गये। उन दोनों ने बड़े स्नेह से बलराम और श्रीकृष्ण को गोदी में बिठा लिया। पुत्रस्नेह के कारण उनका हृदय आनन्द में भर गया। उस समय उनकी दशा विचित्र हो रही थी। आज चिरकाल के अनन्तर अपने पुत्रों को पाकर वे प्रेम में अधीर हो रहे थे। जिस बालक को उत्पन्न होते ही माता ने अपने स्तन का दूध पिलाया था, आज वह बारह वर्ष का हुआ, उसकी गोदी में बैठा है। माता के हृदय सागर में प्रेम का बवण्डर उठ रहा था। उसका शरीर थर थर काँप रहा था। वह जितना ही अपने पुत्र को छाती से चिपटाती, उतना ही उसे सुख

होता। उसके स्तनों से दो दुग्ध की धारायें बह रहीं थीं। जिनसे उसके तथा श्यामसुन्दर के वस्त्र भीग रहे थे। आँखों से शीतल अश्रुओं की दो धारा बहकर श्यामसुन्दर की कुटिल अलकावली को भिगो रही थीं मानों उनका अभिषेक हो रहा। वे कुछ कहना चाहती थीं, किन्तु कंठ के रुद्ध हो जाने से वाणी के गद् गद् हो जाने से कुछ कह नहीं सकती थीं। यही दशा वसुदेवजी की थी। उन्होंने उत्पन्न होते समय श्रीकृष्ण का तो मुख देखा था, किन्तु बलदेवजी को आज उन्होंने सर्व प्रथम ही देखा है अतः वे बार बार उनके मुख को चुम्बन कर रहे थे। अपलक भाव से दोनों की ओर निरन्तर निहारने पर भी माता पिता की तृप्ति नहीं होती थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अपने माता पिता को धैर्य बँधा दिया, उन्हें पुत्रस्नेह में भिगो दिया, तब आप अपने दुःखी नाना उग्रसेन की खोज करने लगे। अब जिस प्रकार उग्रसेनजी को समस्त यादवों का राजा बनाया, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

गर्भ, प्रसवमहँ सहित मातु दुख नित पालन महँ।
कौन उऋण ह्वै सके मातु पितुतैं शिशु जगमहँ॥
बालक बिरहत फिरहिं किलकिकै हिय सरसावें।
क्रीड़ा जननी जनक लखें अतिशय सुख पावें॥
क्रूर कंस की कुटिलता, बस, हम तुम दुख सब सहे।
नहीं दयो सुख नहिं लह्यो, भयवश छिपि बन बन रहे॥

:——:

श्री उग्रसेनजी का राज्याभिषेक

(१०४६)

एवमाश्वस्य पितरौ भगवान् देवकीसुतः ।
मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम् ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ४५ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

माबापति की सुनी मधुर ममता मय बानी ।
भूलि गयो सब ज्ञान मोह ममता लपटानी ॥
बार बार हिय लाइ करें अनुभव अति सुत सुख ।
गोदी महँ बैठाइ श्याम बल को चूमें मुख ॥
मातु पिता परितोष करि, उग्रसेन के ढिंग गये ।
सिंहासन आसीन करि, पुनि सबके नृप करि दये ॥

कुल में एक भाग्यशाली व्यक्ति उत्पन्न हो जाता है तो पूरे कुल को अजर अमर बना देता है, सभी के दुःखों को काट देता है। इसी प्रकार एक कुल में क्रूर हो जाता है, तो सभी को कष्ट पहुँचाता है, सर्वत्र कुल का अपयश फैलाता है। इसलिये पितृलोक में बैठे हुए पितृगण मनाते रहते हैं, कि हमारे कुल में

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार माता पिता को आश्वासन देकर भगवान् देवकीनन्दन ने अपने नाना उग्रसेन को यादवों का राजा बनाया।"

कोई भगवद्भक्त, सदाचारी, सज्जन, साधु पुरुष उत्पन्न हो जाय, जिसके पुण्य प्रभाव से हम मुक्त हो जायँ। कुल में एक भगवद्-भक्त हो जाता है, तो वह सात ऊपर की, सात नीचे की और सात मातृवंश की इस प्रकार इक्कीस पीढ़ियों को तार देता है। जिस कुल में साक्षात् पूर्णब्रह्म परात्पर प्रभु ही प्रकट हो जायँ, तो उस कुल की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या? यदि उस कुल में पहिला दूषण भी रहा होगा, तो वह मिट कर भूषण हो जायगा। वह कुल किसी कारण से नीच भी समझा जाता होगा, तो भगवान् के प्रभाव से वह कुल सर्वोत्कृष्ट बन जायगा। भगवान् ही तो छोटे बड़े उत्तम तथा कनिष्ट को बनाने वाले हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार चिरकाल से उत्कंठित अपने माता पिता को भगवान ने आश्वासन दिया। फिर उस स्थान पर गये, जहाँ कंस के बूढ़े पिता उग्रसेन बन्दी बने हुए रहते थे।"

भगवान् ने जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया और कहा—"नानाजी! अब मैं आ गया हूँ! मामाजी ने अपनी करनी का फल पा लिया। अब यादवों का सिंहासन खाली है। राजवंश का ऐसा सदाचार है, कि जब तक दूसरा राजा गद्दी पर न बैठ जाय, मृतक राजा का शरीर जलाया नहीं जाता।"

उग्रसेनजी ने कहा—"भैया! बड़े भाग्य की बात है, तुम सकुशल पुनः मथुरा से लौट आये। कंस की दुष्टता सीमा को उल्लंघन कर गई थी। उसने तुम्हारे छै भाइयों को उत्पन्न होते ही मार डाला। मुझे भी बन्दी बना लिया। अब जो हुआ सो हुआ, तुमने इस राज्य को अपनी वीरता से प्राप्त किया है, तुम्हें सिंहासन पर बैठो। अब इस गण राज्य की प्रथा को मिटाकर तुम राजाधिराज बन जाओ।"

भगवान ने नम्रता के साथ कहा—"नानाजी ! आप कैसी बात कह रहे हैं। आप बड़े बूढ़ों के रहते, हम राज्य सिंहासन पर कैसे बैठ सकते हैं। एक तो हमारे पूर्वज महाराज ययाति ने हमारे कुल को शाप दे दिया है, कि तुम्हारे कुल में कोई छत्र चँवर धारी राजा न होगा। इसलिये हमारे यहाँ संघ शासन चलता है। संघ जिसे सभापति चुन दे, वही शासन करे। पहिले हमारे बाबा महाराज शूरसेन सभापति थे, उनके पश्चात् हमारे पिताजी को संघ ने सभापति न चुनकर आपको चुना। आपको अन्याय से मामा कंस ने गद्दी से उतार दिया और स्वयं सभासदों की इच्छा के विरुद्ध अधिनायक बन गया। अब मेरी इच्छा है, यदुवंशियों का भी एक राज्य स्थापित हो जाय।"

उग्रसेनजी ने कहा—"मैं भी तो भैया ! यादव ही हूँ। जब महाराज ययाति का शाप समस्त यदुवंश को है। जब तुम शाप के भय से राजा बनना नहीं चाहते, तो मैं कैसे बन सकता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"नानाजी ! यह सत्य है, कि आप भी यदुवंशी हैं, किन्तु मैं आज्ञा देता हूँ, आप बिना विचार के राजा बन जायँ, छत्र चँवर धारण करें। महाराजाओं का सा राजमुकुट पहिने।"

उग्रसेनजी बोले—"भैया ! हमारे कुल में तो यह नई ही बात होगी। दूसरे विशुद्ध वंश के राजा इसका विरोध करेंगे, मंडलीक राजा हमें कर न देंगे। एक नया विरोध खड़ा हो जायगा।"

भगवान् ने कहा—"नानाजी ! आप कोई चिन्ता न करें। हम सब आपकी प्रजा हैं, आप हम सब यदुवंशियों के स्वामी हैं। हम सेवकों के रहते, अन्य राजालोग क्या कर सकते हैं। पृथिवी के राजाओं की तो बात ही क्या ? देवताओं के

राजा इन्द्र भी आपकी अधीनता स्वीकार करेंगे, समस्त लोकपाल आकर आपके चरणों में भेंट समर्पण करेंगे। आप निःशंक होकर राजसिंहासन पर विराजें और महाराजाओं के अनुरूप छत्र चँवर धारण करें।"

यह सुनकर गद्गद् कंठ से उग्रसेनजी ने कहा—"यदुनन्दन! आप ही समस्त जगत् के स्वामी हैं। आप अपने भक्तों की प्रतिष्ठा बढ़ाने, संसार में उनकी कीर्ति स्थापित करने के लिये शिष्य, सेवक, भृत्य, दूत तथा सारथी आदि सब कुछ बन जाते हैं। आप जो भी बन जाते हैं, उसी में आप शोभा को प्राप्त होते हैं। आपके लिये न कोई छोटा काम है, न बड़ा। यद्यपि मैं इसके योग्य नहीं, आपके सम्मुख सिंहासन पर बैठूँ, किन्तु योग्य अयोग्य बनाने वाले भी तो आप ही हैं। आप मूक से व्याख्यान दिला सकते हैं, पंगु से गिरि लंघन करा सकते हैं, मशक की फूँक से सुमेरु को उड़ा सकते हैं। सीप में सातों समुद्रों को भर सकते हैं। आप जो करना चाहते हैं, उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता। जब आपकी आज्ञा ही है, तो मैं मना कैसे कर सकता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उग्रसेनजी के ऐसा कहने पर उन्होंने सेवकों को आज्ञा दी, तुरन्त सिंहासन सजाया गया। उग्रसेनजी का विधिवत राज्याभिषेक किया। भगवान बलराम तथा श्रीकृष्णचन्द्र छत्र चँवर लेकर उनके पीछे खड़े हुए। उस समय समस्त यदुवंशी आनन्द के अश्रु बहा रहे थे। तदनन्तर कंसादि समस्त मृतकों की भगवान् ने अन्त्येष्टि क्रिया कराई और फिर राज्य की समस्त व्यवस्था की।

कंस के क्लेशों के कारण बहुतसे यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुकुर वंश में उत्पन्न हुए यादव इधर उधर अन्य राज्यों में भाग गये थे। भगवान् ने दूतों को भेज भेजकर उन

सबको आदर पूर्वक बुलाया। वे अपनी धन सम्पत्ति यहीं छोड़ गये थे। दुष्ट कंस ने किसी को कुछ ले जाने नहीं दिया था। वे अन्य राज्यों में शरणार्थी होकर गये थे, जिस किसी प्रकार अपने दिन बिता रहे थे। जब उन्होंने सुना कि भगवान् की कृपा से कंस का कुशासन समाप्त हो गया और मथुर प्रदेश पर पुनः महाराज उग्रसेन का अधिकार हो गया। आनंदकंद भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हम सबकी रक्षा करेंगे। हमें पुनः स्वजन समझकर आश्रय प्रदान करेंगे, तो वे बड़े हर्ष के साथ मथुरापुरी में लौट आये। भगवान् ने देखा उनके समस्त सजातीय स्वजन दुखी हैं, विदेशों में रहने के कारण कष्ट सहते सहते कृश हो गये हैं, तो भगवान्को बड़ी दया आई। उन्होंने उन सबका अत्यधिक स्वागत, सत्कार किया। सम्मान पूर्वक उन्हें सुन्दर भवनों में रखा। जिनके घर गिर गये थे, उन्हें नये बनवा दिये, जिनके जीर्ण हो गये थे, उनका जीर्णोद्धार कर दिया। कंस ने जिनकी सम्पत्ति अपहरण कर ली थी, उनकी उससे दूनी तिगुनी दिला दी। सभी को वस्त्र आभूषण, भवन, दास, दासी, वाहन तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ दिला दीं। सब सामग्री देकर, सम्मान के सहित उन्हें अपने अपने घर, में पूर्ववत बसा दिया। वे अपने घरों को पुनः प्राप्त करके परम प्रमुदित हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यदुवंशी विदेशों में बसते समय अपनेको अनाथ समझते थे, किन्तु अब श्रीकृष्ण और बलरामजी की भुजाओं से सुरक्षित होकर वे अपने को सनाथ समझने लगे। वे राम कृष्ण की कृपा से समस्त कष्टों को भूल गये अब उन्हें न कोई भय रहा न किसी प्रकार की कामना ही रही। निर्भय, निष्काम तथा सफल मनोरथ होकर नित्य प्रति भगवान् वासुदेव के सदयहास तथा कृपा कटाक्षयुक्त नित्य विकसित मुखारविन्द के दर्शनों से परम प्रमुदित हुए अपने अपने घरों में उसी

प्रकार विहार करने लगे, जिस प्रकार स्वर्ग में पुण्यात्मा सुकृति जन अपने अपने विमानों में विहार करते हैं। युवक युवतियों की तो बात पृथक् रही, जो वहाँ के वृद्ध स्त्री, पुरुष थे, वे मदनमोहन के मधुर मनमोहक मुखारविन्दों को निहारकर वृद्धावस्था को त्यागकर तरुणावस्थापन्न हो गये। अब जिस प्रकार भगवान् ने नन्दजी को विदा किया, उस प्रसङ्ग का वर्णन आगे करूँगा।

छप्पय

कंसादिक के मृतक करम विधिवत करवाये।
पुनि परदेशनि गये बन्धु बान्धव बुलवाये॥
असन, बसन, धन, रतन, भवन सबहीं कूँ दीन्हे।
करि सब विधि सत्कार तुष्ट यादव सब कीन्हे॥
राम श्याम को सदय मुख, लखि सब आनन्दित भये।
पीकें प्रभु मुख माधुरी, वृद्ध युवक सम बनि गये॥

नन्दजीकी विदाई

(१०४७)

अथ नन्दं समासाद्य भगवान् देवकीसुतः ।
संकर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ४५ अ० २० श्लो०)

छप्पय

आये दोऊ बन्धु नंद ढिंग अति सकुचावत ।
बोले गद् गद् गिरा नयन तें नीर बहावत ॥
मातु यशोदा सहित करी अति ममता तुमने ।
उऋन हुँ सकें नहीं प्रेम पाया जो हमने ॥
मैया रोवति होइगी, गैया जैसे बत्स बिन ।
बास मधुपुरी महँ करें, आयसु दें तो कछुक दिन ॥

मानव स्वभाव कितना विचित्र है। इसका रहस्य कोई भली भाँति जान नहीं सकता। मनुष्य जितना ही सरस सहृदय होता है, उतना ही क्रूर और निर्मोही बन जाता है। जिसने अपना कोई सम्बन्ध नहीं, उसके साथ रहना पड़ता है तो उनमें ऐसे घुल मिल जाता है जैसे दूध में शक्कर। उस

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"हे राजेन्द्र! इसके अनन्तर भगवान् देवकी नन्दन तथा बलभद्रजी नन्दजी के समीप आकर उनसे प्रेम पूर्वक लिपटकर कहने लगे।"

समय इतना प्रेम हो जाता है,कि दोनोंमें से कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि हमें कभी बिछुड़ना भी होगा। हम कभी विलग भी होंगे। किन्तु दैवकी प्रेरणा से, दो मिले हुए हृदय अलग होते हैं। उस समय कितना कष्ट होता है, हृदयमे कितनी वेदना होती है, यह वर्णनका विषय नह। हृदय फटता नहीं और सब दुर्गति हो जाती हैं। एक दिन वह भी आ जाता है, कि जिनका एक पलका वियोग असह्य होता था, जिन्हें एक दिन बिना देखे हृदय धक् धक् करने लगता था, उनके बिना पक्ष, मास, वर्ष, युग तथा पूरा जीवन बितान पड़ता है। जैसी परिस्थिति सम्मुख आ जाता है, दुखसे, सुखसे, कष्टसे तथा अनुरागसे वह भोगनी ही पड़ती है। संयोग वियोगका बँधा हुआ समय होता है, जब तक जिसका संयोग वियोगका बँधा हुआ समय होता है, जब तक जिसक संयोग बदा है, तभी तक वह साथ रह सकेगा, जब वियोगका काल आ जायगा, तो लाख प्रयत्न करने पर भी कोई संयोग नहीं करा सकता। प्राणी संयोग वियोग में स्ववश नहीं परवश हैं। इच्छा न रहने पर भी उसे सब सहना पड़ता है।

सूतजी कहते—"मुनियो! कंस मारा गया, उग्रसेन राजा हो गये, समस्त यदुवंशी प्रसन्न हो गये। नन्दजी अब सोच रहे थे—"कनुआ बलुआको यहाँ मथुरा में आकर बड़ा परिश्रम करना पड़ा। मुझे यह पता होता, तो मैं इन्हें साथ ही लेकर न आता। अच्छा, नारायण जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं। कंसके कारण सभी प्रजा दुखी थी, वह मारा गया अच्छा हुआ। कृष्णको अधिक परिश्रम करना पड़ा। कोई बात नहीं, अब व्रजमें चलकर उसकी मालिश कराया करूँगा। दूध, रबड़ी और ताजा मक्खन यही खिलाऊँगा। दश-बीस दिन कुछ भी काम न करने दूँगा। इससे इसकी सब

दूर हो जायगी। फिर गाय चराने जायगा।"

नन्दजी इस प्रकार पुत्र स्नेह के कारण अनेक बातें सोच रहे थे, कि उन्हें सामने से राम श्याम आते हुए दिखाई दिये दोनोंको अपनी ओर आते देखकर गोपोंके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। उनके मन में जो दो तीनसे भाँति भाँति के भाव उठ रहे थे, वे सब कपूरके भाँति उड़ गये। सभी को आशा हो गई, कि अब आज राम श्यामको साथ लेकर व्रजको चलेंगे। नन्दजी का भी मुख कमल खिल उठा। आते ही श्यामसुन्दर गहककर नन्दजी से लिपट गये। नन्दजीने उनके सिरपर हाथ फिराया। उनके गोल गोल सुन्दर कपोलोंको हाथसे छूकर बार बार चूमा। श्रीकृष्णकी आँखें डबडबाई हुई थीं, उनमें आँसू छलक रहे थे। वे नीचा सिर किये हुये थे। नन्दजीने उनकी ठोढ़ी पकड़कर मुख ऊपर किया। देखा नेत्र अश्रु पूर्ण हैं। बड़े प्यार से नन्दजीने कहा—'अरे, कनुआ! रोते हैं भैया! राम राम। कोई बात नहीं। काम काज में देरी हो ही जाती है।"

इतना सुनते ही श्यामसुन्दरके नेत्रकी कोर से अश्रु बिन्दु ढुलक ही तो पड़े! नन्दजीने अपने दुपट्टे से आँसुओंको पोंछते हुए कहा—"अरे, कनुआ! अभी तेरा लड़कपन गया नहीं भैया! देख तैंने कैसे बड़े बड़े काम किये हैं। दस हजार हाथियों के बल वाले कंसको तैंने मार दिया है। अच्छा छोड़ो इन बातों को यह बताओ अब व्रज कब चलना है।"

इस प्रश्न को सुनकर श्यामसुन्दर सहम गये। वे कहना चाहते थे, किन्तु मुखसे वाणी निकलती नहीं थी। वे गोपों से आँख नहीं मिला रहे थे। नीचा ही सिर किये हुये वे बोले—"बाबा! आपकी आज्ञा हो, तो हम कुछ दिन मथुरा ही में रह जायँ।"

नन्दजीने कहा—"भैया! हमें तो यहाँ राजधानी में अधिक

दिन रहना अच्छा लगता नहीं। अब अपने लोगों को काम ही क्या है। कंस मर ही गया, उग्रसेन राजा हो ही गये। अब अपना भी तो काम देखना है। तो यहाँ खेल माल में भूल गया। तुझे पता नहीं, तेरे बिना वह कितनी गौएँ दुखी होंगी।"

भगवान् का हृदय धक् धक् कर रहा था। वे सम्पूर्ण साहस को बटोर कर बोले—"बाबा! आप चलें, वहाँ के काम काज हैं। हम फिर आवेंगे।"

नन्दजीने अत्यंत ही ममता के साथ कहा—"अरे, भैया! तुम लोग अकेले कैसे रहोगे। और एक आध दिन रहने की इच्छा हो तो हम ठहर जायें।"

श्रीकृष्ण बोले—"बाबा! अब हमें कहने में तो लज्जा लगती है। आप सोचेंगे ये लोग कैसे कृतघ्न हैं। बात यह है, कि हमारे माता पिता तो आप ही हैं। आपने ही हमें पुत्रों की भाँति पाला पोसा है। हम तो अपने जन्म देने वाले माता पिताको जानते भी नहीं थे।"

नन्दजी ने चौंककर कहा—"अरे, कनुआ! तैंने भाँग पी ली है क्या? तू क्या अंट संट बक रहा है। अरे, भैया! तेरे माता पिता तो हम ही हैं।"

भगवान् बोले—"बाबा! आप तो हो ही। किन्तु गर्गजी ने आपको बताया ही था, कि मेरा जन्म माता देवकी के उदर से हुआ है। इसीलिये गर्गजी ने मेरा नाम वासुदेव बताया था। मैया देवकीजी और पिता वसुदेवजी भी हमारे लिये चिर-काल से उत्कंठित हैं, इसलिये अब कुछ दिन इनके चरणों में रहकर इन्हें सुख देने की हमारी इच्छा है। आप व्रज में जायँ, सबको धैर्य बँधावें। मैया को मेरा चरण छूना कहें। उनको दुःख तो बहुत होगा, किन्तु करें क्या कर्तव्य तथा

हमें ऐसा करना पड रहा है।"

यह सुनकर नन्दजीका तो हृदय धक् धक् करने लगा। उनके नयनोंमें जल भर आया। वे कुछ निर्णय ही न कर सके, क्या कहें। ओहो! यह कनुआ हमारा पुत्र नहीं। इस बातको स्मरण करके उनका अन्तःकरण ऐंठने सा लगा। हृदय हिलने लगा दोनों हाथोंमे कसकर हृदयको थामकर वे रोते रोते बोले—"कनुआ! तू इतना कपटी निकलेगा। इसका हमें पता नहीं था। आज बारह वर्ष तक हमने तुझे दोनों पलक जैसे पुतलियों को रखते हैं वैसे तुझे रखा। हम कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे, कि तू हमारा पुत्र नहीं है। तू भी कितने प्यारसे मुझे बाबा कहता था, तो और महरिको मैया मैया कहकर पुकारता था। आज यहाँ मथुरा में आकर कहता है, तुम मेरे माता पिता नहीं। न सही हम तेरे माता पिता। नौकर ही सही, किन्तु नौकर के प्रति भी कोई इतनी निष्ठुरता नहीं करता। न जायगा तो महरि क्या कहेगी? हाय! वह नित्य दिन गिन रही होगी। आते समय उसने मुझसे बार बार कहा—"देखो, बच्चोंको तुरन्त लौटा लाना, वहाँ देर मत करना। अब जब तुम्हारे बिना मैं जाऊँगा, तो उसका हृदय फट जायगा। वह नित्य मथुरा के मार्ग की ही ओर देखा करती होगी। दूर तक गोपों को भेजती होगी, कि देख आओ कहीं मेरे लाला आ तो नहीं रहे हैं। नित्य तुम्हारे लिये अपने हाथोंसे माखन निकालकर रखती होगी। तुम न जाओगे, तो उसे कितना क्लेश होगा। इसे कौन बना सकता है। जब वह सुनेगी, मैं श्याम की मैया नहीं, उसकी दूध पिलाने वाली धाय हूँ, तो उसका हृदय चूर चूर हो जायगा। भैया! मैं तो तुम्हारे बिना व्रज में पैर भी न रखूँगा। एक बार तुम मेरे साथ चलो। फिर चाहे तुम उसी दिन लौट आना। मुझे सब भला बुरा

कहेंगे। ताने मारेंगे। मुझमें उन्हें सहने की शक्ति नहीं।" इतना कहते-कहते नन्दजी ढाह मारकर बच्चों की भाँति फूट फूटकर रोने लगे। और भी सब गोप मुख ढाँप-ढाँपकर रो रहे थे। श्यामसुन्दर की भी बुरी दशा थी, वे भी नन्दजी की गोदी में मुँह छिपाये रो रहे थे।

दृश्य अत्यन्त ही करुणा पूर्ण हो गया था अक्रूरजी, वसुदेव जी, उग्रसेनजी तथा समस्त यादव वहाँ आ गये थे। सबके ही नेत्र सजल थे। कोई भी कुछ नहीं बोलता था। सर्वत्र स्तब्धता छाई हुई थी। उस स्तब्धता को भंग करते हुए बलदेवजी बोले—"बाबा! आपको इस प्रकार रुदन करना शोभा नहीं देता, जब आप वृद्ध होकर इतना विलाप करेंगे, तो फिर हम बालकों की तो बात ही क्या है। इस समय आप पधारें। यहाँ का काम धंधा करके फिर हम लोग व्रज में आवेंगे। आपकी छत्र छाया में जो हमने सुख पाया है, वह यहाँ कहाँ? उसे क्या हम भूल सकते हैं, उसकी स्मृति हमें विकल बनाती रहेगी। विवश होकर हमें आना ही पड़ेगा। जिन्हें आप अपना पुत्र मानते हैं, वे तो साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। भू का भार उतारने के ही लिये अवनि पर अवतरित हुए हैं। इन्हें यहाँ का काम कर लेने दीजिये। फिर आपके दर्शन करेंगे।"

नन्दजी ने आँसू पोंछते हुए कहा—"बलराम! भैया! तू जो कहता है, वह मैं सब जानता हूँ, किन्तु करूँ क्या, मुझसे रहा नहीं जाता। तुम दोनों को छोड़कर मैं जा नहीं सकता। मेरे पैर व्रज की ओर उठेंगे ही नहीं।"

श्यामसुन्दर ने कहा—"बाबा! अब तो मोह छोड़ना ही पड़ेगा। अब आपको आग्रह न करनी चाहिए।"

रोते रोते नन्दजी ने कहा—"कृष्ण! तेरे यहाँ इतने नौकर

चाकर हैं, फिर मैं ही तेरे लिये इतना भारी क्यों हो रहा हूँ, मुझे भी तू अपना एक नौकर ही समझ लेना। तेरे यहाँ गौएँ हैं, घोड़े हैं, उनकी ही रेख देख करता रहूँगा। मैं और कुछ नहीं चाहता, तेरा मुख कमल नित्य देखते रहना चाहता

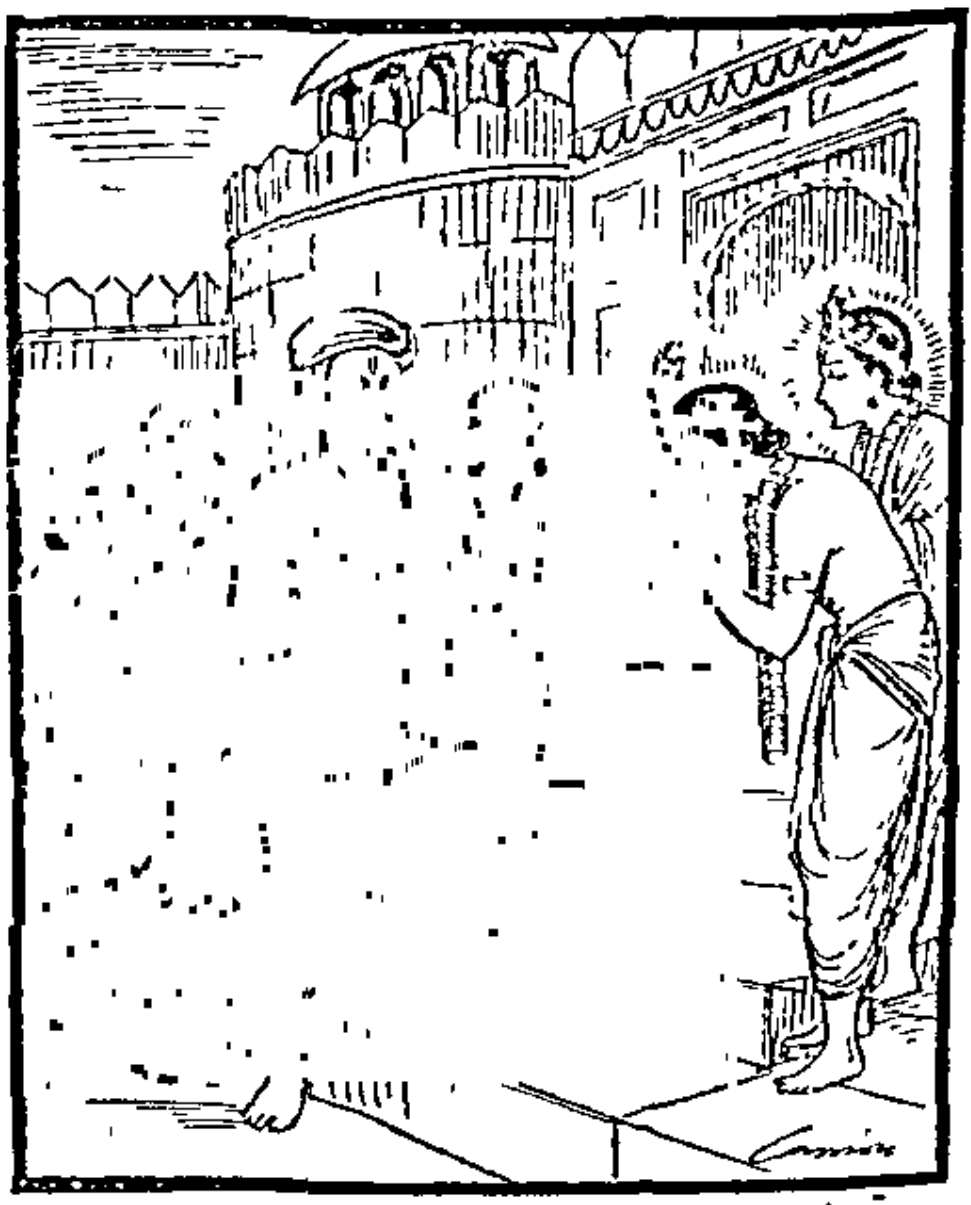

हूँ। मुझे धन, वैभव, कुटुम्ब, परिवार तथा राज्य आदि कुछ नहीं चाहिये।"

रोते रोते श्यामसुन्दर ने कहा—"बाबा! आप हमें लज्जित क्यों कर रहे हैं। यदि हम अपने जीवित शरीर का चर्म

निकालकर आपके पैरों की जूती भी बना दें, तो भी आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकते। हमने तो सदा आपको ही अपना पिता और यशोदा मैया को ही अपनी जननी समझा है और सदा समझते रहेंगे। मेरा सर्वस्व आपका ही है। आपके रहने से मुझे कितना सुख होगा, किन्तु मुझे अपनी स्नेहमयी मैया की बार-बार याद आ रही है। आप न जायँगे तो वह रोती रोती अंधी हो जायगी। आपके जाने से उसे सान्त्वना मिलेगी। सबको मेरा संदेश कहना। मैं अति शीघ्र आऊँगा।"

नन्दजी ने रोते रोते प्रेम के रोष में कहा—"कृष्ण! हम क्या जानते थे, तू हमारे साथ ऐसा छल करेगा। तेरी मीठी मीठी वाणी सुनकर हम संसार को भूल गये थे, मुख देखकर ही जीते थे। हमें क्या पता था, तेरी वाणी में विष मिला है, तेरे हृदय में छुरी छिपी हुई है, तू मुख का मीठा है, किन्तु हृदय का इतना कठोर है। हाय! हम यह जानते कि तू असमय में हमें त्याग देगा, तो हम इतना प्रेम पहिले ही न बढ़ाते। अब तो तैंने हमें बिना मौत के मार दिया। यदि तुझे ऐसा ही करना था, तो सात दिनों तक गोवर्धन पर्वत को उठाकर वर्षा, आँधी से हमें बचाया क्यों। पर्वत को हमारे ऊपर छोड़ देता हम दबकर-पिचकर मर जाते, तब तू निष्कंटक होकर मथुरा का राज्य करता। तैंने हमें कालीयनाग के विष से क्यों बचाया। कालिय ह्रद में कूदकर मर जाते, तब तू अपने को वसुदेव देवकी का पुत्र घोषित करता। विष से, जल से, सर्प से, दावानल से तथा अन्यान्य असुर, राक्षसों से तैंने हमारी रक्षा क्यों की? इसी दुख को दिखाने के लिये हमें बचाया। यही सिद्ध करने को हमें जीवित रखा कि हम तुम्हारे पुत्र नहीं।"

श्रीकृष्णजी ने कहा—"बाबा! आप अब अधिक मुझे लज्जित न करें। मैया के सहित आपने हमारा अत्यन्त ही स्नेह पूर्वक

लालन पालन किया है। जैसा कि नियम है संतान के ऊपर माता पिता का स्नेह अपने शरीर से भी अधिक होता है, उसे आप दोनों ने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। प्राणों से भी अधिक हमें प्यार किया। पुतलियों की रक्षा जैसे पलक करते हैं, वैसे ही आपने हमारी रक्षा की। आपकी प्रशंसा सहस्र मुखों से शेषजी भी नहीं कर सकते। देखिये, संसार में बहुत से ऐसे माता पिता होते हैं, जो अपनी सन्तानों को उत्पन्न होते ही लोक लाज से, भय से, दरिद्रता से तथा अन्यान्य और भी अनेकों कारणों से त्याग देते हैं। उन माता पिता से त्यक्त बच्चों का जो अपने सन्तान के समान लालन पालन करते हैं, उनके वास्तविक पिता तो ये पालक ही हैं। जन्म देनेवाले तो जन्म देकर ही निवृत्त हो गये। अतः यथार्थ माता पिता तो आप ही हमारे हैं, किन्तु इस समय कार्य गौरव से मैं आपके आग्रह को मानने में असमर्थ हूँ। आप हठ न करें। व्रज में जाकर हमारे दुख में दुखी समस्त व्रजवासियों को आप धैर्य बँधावें।"

नन्दजी ने कहा—"श्याम! तेरा चित्त तो बड़ा कोमल था, आज तू इतना निष्ठुर क्यों हो गया। अच्छा, अब तुझे व्रज में रहना अच्छा न लगे, तो एक बार होकर फिर चले आना। मुझे तुम्हारे मैया का सोच है, तुम्हारे बिना उसकी जैसी दशा होगी उसे स्मरण कर करके मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं।"

भगवान् बोले—"बाबा! सुख दुख तो सब सहना ही पड़ता है। जिनके साथ आज संयोग है, उनका वियोग अवश्यम्भावी है। प्रेमीजन अधिक काल तक एक साथ रह नहीं सकते। फिर मैं कुछ दूर थोड़ा ही हूँ। ४-५ कोश का ही तो अन्तर है, जब इच्छा हुई आ गया। इस समय आप आग्रह न करें। मैं फिर आप सब स्वजन, बन्धु बान्धवों को देखने

आऊँगा।"

बलदेवजी बोले—"बाबा! अब आप हमें अधिक संकोच में न डालें। संसार की ऐसी ही गति है। अधिक स्नेह में दुःख भी अधिक होता है। अधिक मीठे में कीड़े पड़ जाते हैं। प्रेम तो आत्मा से होता है। अतः इनका निरन्तर ध्यान करने से ही आपके सब दुःख शोक दूर हो जायेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब बलदेवजी ने ऐसा कहा, तो नन्दजी चुप हो गये। वसुदेवजी ने भी नन्दजी का बहुत अधिक सम्मान किया, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। अपने पुत्रों के प्रति नन्दजी का ऐसा अनुपम अनुराग निहार कर उनका हृदय भर रहा था। प्रेम के कारण उनका रोम रोम विकसित हो रहा था। उन्होंने भी साश्रु नयनों से, गद्गद् वाणी से नन्दजी को समझाया और कहा—"आप यहाँ वहाँ में कोई भेद भाव न मानें, यह भी आपका घर है, जब इच्छा हुई यहाँ आकर रहें।"

सबकी बात सुनकर नन्दजी समझ गये, श्रीकृष्ण बड़े निष्ठुर हैं, वे जो कह देते हैं उसे करके छोड़ते हैं, अब वे ब्रज जायँगे नहीं।" यही सोचकर वे जाने के लिये उद्यत हुए।

छप्पय

अकबकाइ के नन्द कहैं का कहत कन्हाई।
तू न जाय तो मरे विरह महँ तेरी माई॥
अरे निठुर मत बनैं लाल तोकूँ समुझाऊँ।
एक कहै या लाख तोइ तजि नहिं घर जाऊँ॥
कपटी मथुरा महँ भयो, मुख मीठो हिय महँ छुरी।
अरे, सोचि तेरे बिना, होहि दशा ब्रज की बुरी॥

राम-श्याम के विना नन्दजी का व्रज गमन

(१०४८)

इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः ।
पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सह गोपैर्व्रजं ययौ ॥❀

(श्री० भा० १० स्क० ४५ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

मुदित होहि वसुदेव प्रेम की सीमा जानी ।
रुदन करत घनश्याम नन्द की सुनि सुनि बानी ॥
नन्द करयो हठ बहुत श्याम ने एक न मानी ।
गोप सहित अति दुखित गमन की मन महँ ठानी ॥
गोपिन कूँ सम्मान युत, पट आभूषण बहु दये ।
प्रेमाकुल दोनों भये, दोनों हिये तें सटि गये ॥

यह समस्त जीवन आशा पर ही निर्भर है। जीवन में से आशा चली जाय. तो जीवन ही न रहे। जिन्हें हम प्यार करते हैं, उनके दर्शन हो जायँगे, प्रेमियों का जीवव एक मात्र इसी आशा पर टिका रहता है। यह विश्वास हो जाय, कि अब मुझे

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् इस प्रकार भगवान् के बचन सुनकर नन्दजी ने राम-श्याम दोनों भाइयों का प्रेम से विह्वल होकर आलिङ्गन किया। और फिर नेत्रों में जल भर कर गोपों के सहित व्रज की ओर चल दिये।"

मेरे प्यारे के दर्शन न होंगे, तो यह जीवन एक क्षण भी नहीं रह सकता। दशरथजी को आशा थी, सुमन्त्र तीन दिन में वन को दिखाकर श्रीरामचन्द्र को लौटा लावेंगे। जब तीन दिन के पश्चात् सुमन्त राम-लक्ष्मण से हीन रथ लेकर बिलखते हुए लौट आये और महाराज को विश्वास हो गया, कि अब राम के दर्शन मुझे नहीं हो सकते, तो तुरन्त उनके प्राण पखेरू शरीर रूपी पिंजड़े को छोड़कर उड़ गये। वैराग्य में आशा को परम दुःखद बताया है, किन्तु प्रेम मार्ग में आशा को ही जीवन का आधार माना है। समस्त प्राणी सुख की आशा से कर्म करते हैं। सुख न मिलकर चाहे दुःख ही मिले, फिर भी आशा नष्ट तो होती नहीं। आशा तो बनी ही रहता है, आज नहीं कल, कल नहीं परसों हमें सुख मिलेगा अवश्य। इसी आशा पर यह संसार चक्र चल रहा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रेम में बहुत आग्रह भी नहीं किया जाता। जिनके प्रति प्रेम है, अनुराग है, अपनापन है। वे यदि किसी बात पर अड़ जाय, तो उन्हें उससे विचलित करने में स्वयं अपने को कष्ट होता है। अधिक आग्रह की नहीं जाती। श्रीकृष्ण बलदेवजी ने जब मथुरा में रहने की इच्छा प्रकट की तो नन्दजी को बहुत बुरा लगा। उन्होंने उन दोनों से यहाँ तक कह दिया कि यदि तुम न जाओगे तो मैं अकेला कभी भी व्रज न जाऊँगा।" किन्तु जब देखा राम-श्याम की इच्छा है, मैं नन्दग्राम जाऊँ ही, तो वे जाने को सहमत हो गये। वे भर्राई हुई वाणी से बोले—"कृष्ण! बलराम! भैया, तुम लोग यहाँ रहना ही चाहते हो, तो मैं अब अधिक आग्रह न करूँगा। मेरा हृदय तो पत्थर का है, मैं तो तुम्हारा झूठा ही, बनावटी पिता था। सत्य पिता होता, तो मैं अब तक जीवित थोड़े ही रहता। दशरथ की भाँति प्राण त्याग कर देता। किन्तु मेरा हृदय तो अस्मसार (फौलदा)

का बना है. वह न फटता है, न चूर चूर होता है। मुझे सोच महरि का है, वह तुमसे बहुत प्यार करती थी, उसके जीवन की मुझे आशा नहीं। अच्छा, भैया जहाँ रहो, सुख से रहो। यही हमारी कामना है। हमारी अन्तिम विनय यही है, कि व्रज को भूल मत जाना, कभी कभी वहाँ हो आया करना।"

भगवान यह सुनकर नन्दजी से लिपट गये और बोले—"बाबा! कैसी बात कर रहे हैं आप। आप हमें अभी से दूसरा समझने लगे। अभी से शिष्टाचार की बातें करने लगे। हम सदा से आपके हैं, सदा आपके रहेंगे। देखिये, ये यादव अत्यन्त दुखी हैं। कंस मामा के शासन काल में इनमें से अधिकांश अन्य राज्यों में भाग गये थे। ये सब अभी आये हैं, कुछ आने वाले हैं। इन सबकी व्यवस्था करनी है। नानाजी बहुत वृद्ध हो गये हैं। ये ही सब झंझट हैं। इनसे निवृत्त होते ही हम आपके चरणों के दर्शन करेंगे। सबको मेरी याद दिलाना और सबको मेरी ओर से उपहार देना। पाग, दुपट्टा, सिरोपा सब ग्वालबालों को देना। ये तीहलें सब गोपियों को देना।"

यह कहकर समीप में ही सेवकों द्वारा ला लाकर ढेर लगाये हुए वस्त्र, आभूषण, मणि, माणिक्यों को श्यामसुन्दर स्वयं छकड़ों में भरने लगे। यद्यपि नन्दजी की इच्छा नहीं थी, कि इन धन, रत्न, वस्त्र तथा आभूषणों को यहाँ से ले जायँ, किन्तु न ले जाने से राम-श्याम को बड़ा कष्ट होगा।' यही सोचकर वे कुछ बोले नहीं। इनकी प्रसन्नता के लिये उन्होंने सब स्वीकार कर लिया। जितने छकड़े आये, वे सब धन रत्नों से भर दिये।

नन्दजी की दशा बुरी थी। उन्हें संसार सूना सा दिखाई दे रहा था। आँख खुली होने पर भी सामने की वस्तु दिखाई नहीं देती थी, पैर डगमग, डगमग कर रहे थे। कहीं पैर रखते थे, कहीं पड़ते थे। नयनों से निरन्तर नीर बह रहा था। वे राम-श्याम

की ओर देखते नहीं थे। देखते ही उनका हृदय फटने लगता था, ऐसा लगता था मानों उन्हें पक्षाघात हो गया हो। एक ओर से श्रीकृष्ण उन्हें पकड़े हुए थे, दूसरी ओर बलराम दो गोप सहारा दे रहे थे। जैसे तैसे उठाकर उन्हें बहली में बिठाया। बैठते ही वे मृतकके समान पड़ गये। श्यामसुन्दरका संकेत पाकर गोपोंने बैल हाँक दिये। फिर सभी गोप फूट फूटकर रोने लगे। राम-श्यामसे लिपट लिपटकर अश्रु बहा रहे थे। ये दोनों भाई भी रो रहे थे। यादव इस दृश्यको देखकर बिलखने लगे। सबके आँसुओंसे वहाँ की भूमि गीली हो गई। जैसे तैसे गोपोंने छकड़े हाँके। जब तक छकड़े दीखते रहे श्यामसुन्दर यादवोंके साथ खड़े खड़े उन्हें देखते रहे। जब छकड़े आखों से ओझल हो गये, तो सर्वस्व लुटे व्यापारीकी भाँति श्यामसुन्दर मथुराके महलोंमें आये। उन्हें वे रत्न जटित महल काटने दौड़ रहे थे। कहाँ वृन्दावनका ग्राम्य जीवन और कहाँ मथुराका यह तड़क फड़क युक्त नीरस ऐश्वर्य युक्त जीवन। फिर भी कर्त्तव्य पालनके लिये इच्छा न रहने पर भी सब सहना पड़ता है।

इधर व्रजमें जबसे राम-श्याम मथुरा गये थे, तभीसे व्रज-वासी नित्य ही प्रतीक्षा करते रहते थे। संभव है आज आ जायँ, दिन भर देखते रहते। जब रात्रि हो जाती तो मन मसोसकर सो जाते। प्रातःकाल फिर प्रतीक्षा करते। जब दो तीन दिन हो गये, मथुरासे कोई आया नहीं, तो मैया यशोदाने देवी देवताओंकी मनौती माननी आरंभकी—"हे देवी भवानी! मेरे राम-श्याम सकुशल मथुरासे व्रजमें लौट आवें तो लाँगुरा, और कुमारी कन्या जिमाऊँगी।" हे महादेव बाबा! मेरे बच्चे प्रसन्नता पूर्वक आवें तो पंडितोंसे तुम्हारा रुद्राभिषेक कराऊँगी।" हे महावीर जी! राम-श्यामके आने पर सवामन मलीदा ग्यारहमन लड्डू मंगलवारको चढ़ाऊँगी।" हे 'यमुना मैया! ऐसी कृपा करो कि मेरे

बच्चे अब तुरन्त ही ब्रजमें आ जायं। आते ही एक सौ एक दूध के घड़े मैं चढ़ाऊँगी और तुम्हारा पूजन करूँगी।" 'हे शीतला—मैया! हे कल्यानी देवी! तुम कृपा करो। मेरे बच्चे नीरोग होकर आ जायँ।" इस प्रकार मैया मनौती मनाया करती और गोपोंको दूर तक भेजती। वे नन्द ग्राम की सीमाके बाहर तक जाते, वृक्षोंपर चढ़कर देखा करते। जब कोई दो चार गाड़ियाँ आती तो दौड़कर उनके समीप जाते, उन्हें जब देखते ये तो दूसरे गाँवकी हैं, तब निराश हो जाते।

आज मैयाका हृदय भर रहा था। न जाने क्यों उसे आज बहुत रुवाई आ रही थी। उन्हें ऐसा लग रहा था, मानों उनके हृदयको कोई काटकर उसके दो भाग करके कोई बाहर निकाल रहा है। वे आज बहुत विकल थीं कि सहसा गोपोंने दौड़कर हाँपते हुए कहा—'मैया! राम-श्यामको लेकर बाबा मथुरा से आ रहे हैं।"

मैया सहसा इन शब्दों को सुनकर चौंक पड़ी। बातको पुष्ट करने को बोली—"चलो हटो झूठे कहींके, कितने दिनसे मुझे ऐसे ही बहका रहे हो।"

उनमेंसे एक चंचल सा गोप बोला—"मैया तेरी सूँ, हम बहकाते थोड़े ही हैं। देख सामने देख, वह छकड़े आ रहे हैं। आगे बाबाकी बहली है। उसके नागौड़ा बैलोंको तू नहीं पहचानती। तुझे बहलीकी टाल सुनाई नहीं दे रही है। अब सुन अब तो स्पष्ट घंटियों और टालोंकी झनझनाहट सुनाई पड़ रही है।"

माताकी दृष्टि वृद्धावस्था के कारण कुछ मोटी पड़ गई थी, फिर आज कल निरन्तर नयनों से नीर बहते रहने के कारण सामनेकी वस्तुको भी वे नहीं देख सकती थी। उन्होंने अश्रुओंसे गीली अपनी आँखोंको फाड़कर देखा और फिर बोलीं—"मुझे

बहली छकड़े तो दीखते नहीं ! हाँ टालका और बैलोंके घुँघरूओं का शब्द तो सुनाई देता है ।"

यह सुनकर लड़के हँसने लगे—"अरे मैया ! तुझे बहली नहीं दीखती । ले हमें तो चन्दा चाचा हाँकने वाले भी दीख रहे हैं। पीछे सूरज भैयाका छकड़ा है। हमें तो सैकड़ों छकड़े जो गये थे वे दीख रहे हैं ।"

अब मैया को संदेह नहीं रहा। दौड़कर घर में गई। अर्घ्य ले आई। आरती सजायी, और आजके निकाले माखनको सम्हालकर रखा। इतने में ही खन खन करती हुई बहली द्वारपर आ गई। मैया आरती लेकर आगे आई। जिसने सुना वही दौड़ा आया, सम्पूर्ण व्रजमें हल्ला मच गया। श्यामसुन्दर मथुरासे लौट आई। झुन्डके झुन्ड ग्वाल बाल, असंख्यों गोपियाँ दौड़ी आईं। नन्दजीके द्वार पर दर्शनार्थियोंका मेला लग गया। मैयाने दौड़कर बहलीमें देखा। उसमें तो अकेले व्रजराज लेटे हुए हैं। राम-श्याम तो उसमें नहीं हैं। मैयाने सोचा—"दोनों बड़े ऊधमी हैं कहीं ग्वाल बालों के साथ दूसरे छकड़े मे बैठे होंगे। बाबासे सकुचाते हैं, यही सोचकर उसने एक दृष्टि सब छकड़ों पर डाली किन्तु राम श्याम दिखाई नहीं दिये। मैया को आश्चर्य हुआ कृष्ण तो बड़े चंचल है, वह तो चलती गाड़ी से कूदकर, दौड़कर मुझसे लिपट जाता। वह इतनी देर रह नहीं सकता। अब उसके मन में कुछ शंका हुई। उसने व्रजराजको झकझोर कर कहा—"महर ! सो गये क्या ? उठो। अब तो घर आ गया। बच्चे कहाँ हैं ?"

नन्दजी सो नहीं रहे थे, वे अचेत हुए पड़े थे। यशोदा मैया की वाणी सुनकर वे चौंक उठे। तुरन्त वे बहली से उतरकर नीचा सिर किये खड़े हो गये।

मैयाने फिर पूछा—"महर ! बताते क्यों नहीं ? बच्चे कहाँ

हैं ? वे किस छकड़े में बैठे हैं।"

इतना सुनते ही नन्दजी रो पड़े। और रोते रोते बोले—"महरि ! हमारे भाग्य फूट गये।"

यह शब्द माताके हृदयमें तीरके समान लगा। एक साथ हृदयमें असंख्यों बुरी बुरी आशंकायें माताके हृदय में उठने लगीं। हाय ! यह कंस बड़ा क्रूर था। मेरे बच्चोंका कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ।

वह एक साथ चिल्ला उठीं—"बताओ ! बताओ, मेरे बच्चे कहाँ हैं ? उनका कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ। नारायण उनकी रक्षा करें।"

नन्दजी समझ गये और तुरन्त बोले—"राम-श्याम सकुशल हैं। उन्होंने कंसको मार दिया ! अब वे वहीं रहेंगे।"

"राम-श्याम राजा बन गये और अब वे मथुरा ही रहेंगे।" यह सुनते ही मैया यशोदाका हृदय धक् धक् करने लगा। वे कुछ समझ ही न सकीं, बात क्या है, मेरा बच्चा मथुरामें क्यों रहेगा। वे अक बकाकर बोलीं—"वे मथुरामें रहेंगे, तो यहाँ गैयोंको कौन चरावेगा ?"

नन्दजी बोले—"गैयोंको चरानेका उन्होंने कोई ठेका थोड़े ही लिया था। जब तक उनपर आपत्ति, विपत्ति थी, तब तक यहाँ रहे। अब अपने माता, पिताके पास चले गये। संसार स्वार्थका है।"

भोले पनके साथ यशोदा मैयाने पूछा—"वे तो हमारे बच्चे हैं, उनके माता, पिता और कौन हैं ?"

नन्दजी बोले—"इसी भ्रमको मिटानेके लिये तो वे मथुरा गये। वे वसुदेव देवकीके पुत्र हैं। अब अपने बन्धु-बान्धवोंमें राजा बनकर रहेंगे। सुवर्णके मुकुट पहिनेंगे। अब मोर मुकुट धारण न करेंगे। वहाँ वे सिंहासन पर बैठकर आज्ञा दिया करेंगे,

यहाँ की भाँति वन वन गौओं को चराते हुए न घूमा करेंगे।

यशोदा मैया ने कहा—"हाय! हम तो उन्हें अपना ही पुत्र समझते थे। अच्छा, न सही हमारे पुत्र! राजाओं के यहाँ धाय भी तो रहती हैं। हम धाय ही सही। वे यहाँ न आवेंगे, तो मैं ही वहाँ चली जाऊँगी। रानी देवकी से विनय करूँगी, मुझे अपने यहाँ नौकर ही रखलें। उनका गोबर ही पाथा करूँगी, किन्तु अपने श्यामसुन्दर का मुख तो देखने को मिल जाया करेगा। "मैं तुमसे पूछती हूँ, कृष्ण राजा हो गया, तो राजाओं को कहीं जाने की मनाही है क्या! उसे एक दिन के लिए यहाँ ले आते। म उससे दो दो बात तो कर लेती। आज तक तो उसने कभी नहीं कहा—"तू मेरी मैया नहीं। अब तक वह मेरे अंचल का दूध पीता रहा। जब तक मैं खिलाती नहीं, तब तक उसका पेट ही नहीं भरता था, प्रातः उठते ही वह माखन, मिश्री माँगता। अब वहाँ उसे कौन देगा। माँगने में सकुचायेगा। महर! कृष्ण चाहे मेरा पुत्र हो या न हो। मैं उसके बिना रह नहीं सकती या तो मुझे तुम उसके पास पहुँचा दो या तुम ही किसी प्रकार फिर जाकर उसे एक दिन के लिए बुला लाओ।" तुरन्त निकाला कारी कपिला गैया का माखन, उसे वहाँ कहाँ मिलेगा। उसीको तो वह रुचि के साथ खाता है। महर! जाओ मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। मेरे राम-श्याम को ले आओ।"

नन्दजी ने रोते रोते कहा—"महरि! मैंने कितना कहा उनसे आने को। किन्तु बहुत कहने पर भी वे नहीं आये तो क्या करता। हारकार मुझे लौट ही आना पड़ा।"

यशोदा रानी ने झिड़ककर कहा—"फिर तुम ही क्यों लौट आये। न आते वहीं बने रहते। मुझे आशा तो लगी रहती। आज आवेंगे, आज आवेंगे।"

नन्दजी ने कहा—"महरी! तू समझती है मैं राम-श्याम को

प्यार नहीं करता ? मैंने कहने में कसर छोड़ी। मैंने सब कुछ कहा। रोया धोया, बहुत कहा, मैं तेरे मैया से जाकर क्या कहूँगा, किन्तु उसका हृदय तनिक भी न पसीजा।"

रोते रोते मैया ने कहा—"हाय! कनुआ ऐसा निष्ठुर हो गया क्या ? एक दिन को आ ही जाता तो उसका क्या बिगड़ जाता। अब मुझे संसार सूना सूना दिखाई देगा। जब वे दोनों यहाँ थे, तो मुझे पता भी नहीं चलता कब रात हुई कब दिन हुआ, सदा उनके ही काम में लगी रहती। उनके लिये दूध दुहना, गरम करना, जमाना, विलौना, माखन निकालना, रसोई बनाना, साग अमनिया करना, नित्य ताजा आटा पीसना, उनके कपड़े धोना। दिन भर इन कामों में लगी रहती थी। अब मुझे पल पल काटना भारी हो जायगा। ये पहाड़ जैसे दिन हाथ पर हाथ रखे खाली मैं कैसे काटूँगी। किसके लिए रसोई बनाऊँगी ? किसके लिए माखन निकालूँगी ? किसके वस्त्रों को धोऊँगी ? किसका मुख जोह कर जीऊँगी ? हाय! मैंने समझा नहीं। श्याम राम असमय में धोखा दे जायँगे। मेरे ही किसी पाप से वे मुझे छोड़ गये।

नन्द बोले—"तुझे भी महर बहुत गर्व हो गया था, तनिक से माखन के पीछे तैंने उस दिन उसे उलूखल में बाँध दिया था, छड़ी लेकर मारने दौड़ती थी। यहाँ जब रहा तैंने उसे बहुत डराया धमकाया।"

रोते रोते मैया बोली—"हाय! मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। अब मैं ऐसा कभी न कहूँगी। अब कभी भी न मारूँगी। निश्चय ही वे मेरी भूल से ही मुझे छोड़कर चले गये।"

इतना कहते कहते यशोदा मैया मूर्छित हो गईं। सभी ढाढ़ मारकर रोने लगे। गोप गोपी उन्हें उठाकर घर के भीतर ले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रज के वियोग दुःख की कथा

लम्बी है। यशोदा मैया से भी अधिक दुःख श्रीकृष्ण के सखा ग्वाल बालों को हुआ। उनसे भी अधिक दुःख गोपियों को हुआ। और श्रीराधाजी का दुःख तो अकथनीय है, वह तो दुःख की पराकाष्ठा पर पहुँच गई थीं। फिर समय पर इनका यत्किंचित् दिग्दर्शन कराया जायगा। अब तो आप मथुरा का वृत्तान्त सुनें।"

छप्पय

रोवत रोवत चले नन्द गोकुल मँह आये।
राम-श्याम नहिँ लखे गोप गोपी घबराये॥
यशुमति सुनि सब बात बहुत रोई बिललाई।
हाय! कहाँ रह गये कुँवर बलराम कन्हाई॥
नन्दगाँव के नारि नर, व्याकुल ह्वै रोवत फिरें।
डकरावें हा हा करें, मूर्छित ह्वै ह्वै कें गिरें॥

—::—

राम-श्याम का उपनयन और गुरुकुल गमन

(१४६)

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः ।
काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४५ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

इत वियोग तें दुखित श्याम बल महलनि आये ।
ह्वै प्रसन्न बसुदेव विविध मङ्गल करवाये ॥
कनक, धेनु, धन, रत्न, दान, भूदेवनि दीन्हे ।
द्विजनि उचित उपनयन गर्ग आदिक मुनि कीन्हे ॥
ब्रह्मचर्य व्रत धारि कै, गायत्री दीक्षा लई ।
करन वास गुरुकुल चले, अनुमति सबई ने दई ॥

जैसे मनुष्य के संस्कार होते हैं, वैसे ही कर्मों को वह किया करता है। संस्कार माता, पिता के स्वभाव से, गर्भ से, सत्संग से,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इसके अनन्तर राम-कृष्ण दोनों भाई गुरुकुल में वास करने की इच्छा से काशी में उत्पन्न होने वाले उज्जैन निवासी सान्दीपनि नामक आचार्य के समीप गये।"

अध्ययन से तथा क्रियाओं के करने से बनते हैं। इसलिये आर्य वैदिक धर्म में संस्कारों के ऊपर बार बार बल दिया गया है। स्मृतिकारों का कहना है, जन्म से तो सभी बालक शूद्रवत ही होते हैं। संस्कारों के द्वारा ही उन्हें 'द्विज' संज्ञा प्राप्त होती है। शास्त्रकारों ने गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त षोडश संस्कार बताये हैं। इन षोडश संस्कारों में सर्वश्रेष्ठ अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार है, उपनयन संस्कार। यहाँ तक कि द्विजातियों के लिये तो इस संस्कार को दूसरा जन्म ही बताया है। 'द्विज' शब्द का अर्थ है, जिसका दो बार जन्म हो। दाँतों का दो बार जन्म होता है। बालकपन में जो दूध के दाँत होते हैं, वे उखड़ जाते हैं, फिर दुबारा जो जमते हैं, वे वृद्धावस्था तक रहते हैं। इसलिए दाँतों की भी 'द्विज' संज्ञा है। पक्षियों का भी जन्म दो बार होता है। एक तो माता अंडा को उत्पन्न करती है। जब अंडा पक जाता है, तो बालक अण्डे से दुबारा उत्पन्न होता है। इसलिये अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षियों का भी नाम "द्विज" है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इनके भी दो जन्म होते। एक तो माता के उदर से उत्पन्न होते हैं, दूसरे जब उपनयन संस्कार होता है। गुरुकुल में वास करके लौटता है व्रतस्नान करता है, तब उसका दूसरा जन्म होता है। प्राचीन काल में किसी भी द्विज के बालक ऐसे नहीं होते थे, जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके गायत्री की दीक्षा लेकर गुरु से समीप गुरुकुल में वास न करते हों। जो ऐसा नहीं करते थे, वे व्रात्य कहलाते थे। वे देवता, पितर तथा ऋषियों के सर्वकर्मों में बहिष्कृत समझे जाते थे। यहाँ तक कि भगवान् भी मनुष्य रूप में जब अवतार लेते थे, तो वे भी इन नियमों का पालन करके अन्य जनों के लिये आदर्श उपस्थित करते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। जब नन्दादि समस्त गोप व्रज को चले गये, तब यादवों से घिरे हुए वसुदेवजी महलों में

यदुवंशी वीरों के आज हर्ष का ठिकाना नहीं था। जैसे अत्यन्त दरिद्र अनंत धनराशि पाकर प्रसन्न होता है वैसे ही अपने बीच में श्याम-राम को पाकर प्रसन्न थे। वसुदेवजी ने अपने गुरुकुल गर्गजी को बुलाया। अन्य समस्त मुख्य मुख्य यादवों को भी बुलाया और सबके सम्मुख निवेदन किया—"श्रीकृष्ण का जन्म कारावास में हुआ था, बलदेव का व्रज में। हम विपत्ति के कारण इनका जन्मोत्सव नहीं मना सके। उस समय तो हमें इनके प्राण बचाने का ही अत्यधिक चिन्ता थी। नारायण की कृपा से इनके प्राण बच गये। अब ये आप सबके आशीर्वाद से बारह बारह तेरह तेरह वर्ष के हो गये। द्विजों बालकों के दो जन्म कहे जाते हैं, एक माता के गर्भ से जन्म, दूसरा उपनयन के समय जन्म। जन्म के समय तो हम कुछ दान पुण्य कर नहीं सके। उस समय मैंने दस सहस्र गौएँ श्रीकृष्ण के जन्म के समय और दस सहस्र बलदेव के जन्म के समय मन से संकल्प की थीं। ये सब गौएँ अब दान में दी जायँ। अब जन्मोत्सव और उपनयनोत्सव दोनों साथ ही साथ मनाये जायँ।"

सबने एक स्वर में कहा—"हाँ, ऐसा ही हो। उत्सव अत्यन्त ही धूम धाम से मनाये जायँ।" बस फिर क्या था। नगर में उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। स्थान स्थान पर मंडप बने। समस्त पुरी रंग बिरंगी ध्वजा, पताका तथा मालाओं से सजाई गई। सभी ने इस उत्सव को इतनी धूमधाम से मनाया मानों उनके घर ही उत्सव हो रहा है। सभी घरों के द्वारों पर कदली के वृक्ष लगाये गये। पूर्णकुंभ दीपक, फूल, लावा, दधि अक्षत, दूर्वा, हल्दी तथा अन्यान्य मांगलिक द्रव्य द्वारों पर रखे गये थे। समस्त राजकर्मचारी नये नये वस्त्र पहिनकर सम्मान प्रदर्शन करने आये थे। ऐसा लग रहा था, मानों मथुरापुरी का विवाह हो, वह नववधू की भाँति सजाई गई थी।

उत्सव की विधिवत् तैयारियाँ होने पर अनेकों विद्वान् वैदिक ब्राह्मणों से घिरे हुए यदुकुल के कुलपुरोहित भगवान् गर्ग पधारे। उनके आने पर सबने विधिवत् उनका सम्मान किया। फिर शास्त्र की विधि से गर्गजी ने वसुदेवजी के दोनों पुत्र बलराम और श्रीकृष्ण का यज्ञोपवीत संस्कार कराया। वसुदेवजी बड़े उदार मना थे, उन्होंने किसी भी कार्य में वित्तशाठ्य नहीं किया। जहाँ एक वस्तु दान देनी चाहिए वहाँ दस वस्तुएँ दीं। ब्राह्मणों को विविध भाँति के वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके उनका पूजन किया। उन्हें सुन्दर स्वादिष्ट रसीले, मिष्ठान्न पदार्थों से तृप्त किया।

बलराम और श्यामके जन्मके समय जो बीस सहस्र गौओं के दान का उन्होंने मानसिक संकल्प किया था, उसे आज प्रत्यक्ष कार्य रूप में परिणित किया। सींगों को सुवर्ण से मढ़कर तथा खुरों को चाँदी के बनाकर और पूँछ में मोती पिरोकर, पीठ पर साने के काम की रेशमी झूल डालकर उन्होंने कुटुम्बी ब्राह्मणों को वे गौयें दान में दीं। समस्त बन्धु बान्धवों के समक्ष उन्होंने विधिवत् यज्ञोपवीत धारण करके मेखला, दण्ड, कमण्डलु तथा मृगचर्म लपेटकर ब्रह्मचर्य व्रतकी दीक्षा ली तथा सबसे भिक्षा माँगी। इस प्रकार यदुकुल के पुरोहित श्री गर्गाचार्य मुनि से द्विजत्व प्राप्त किया। अब यह प्रश्न उठा कि विद्याध्ययन करके राम-श्याम काशी जायँ या कश्मीर जायँ। मथुरासे काशी भी दूर थी कश्मीर भी दूर थी। लोगोंने बताया एक काशीके ही आचार्य सान्दीपिनी नामके हैं। वे चौंसठ कलाओंमे निपुण है, इस समय वे अवन्तिका नगरी में निवास करते हैं। उनके पास दूर दूर से विद्यार्थी विद्याध्ययन के निमित्त आते हैं, यदि राम-श्याम उन्हीं के समीप जायँ, तो सभी विद्या पढ़ भी लेंगे और समीप भी रहेंगे। उज्जैन यहाँ से दूर भी नहीं। सभी ने एक स्वर से इस बात का समर्थन

किया। भगवान् कृष्ण बलराम तो समस्त विद्याओं के उत्पत्ति स्थान ही हैं। उन्हें पढ़ना लिखना तो क्या था, केवल लोकवत लीला करनी थी। लोगों के सम्मुख गुरु सुश्रूषा का आदर्श उपस्थित करना था, इसीलिए वे यह सब कर रहे थे। सबकी अनुमति पाकर भगवान् बलदेवजी के सहित उज्जैनकी ओर चल दिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार द्विजत्व प्राप्त करके कृष्ण बलराम अवन्तीपुरी (उज्जैन) में जाकर आचार्य सान्दीपनी के घर में निवास करने लगे। अब जिस प्रकार उन्होंने कुछ ही काल में समस्त विद्यायें पढ़ लीं। उसका वर्णन मैं आगे कहूँगा, आप सब श्रद्धापूर्वक इस प्रकरण को सुनें।

छप्पय

मुनि सान्दीपनि सौम्य सरल सुठि काशी बासी।
रहे अवन्ती पुरी तपस्वी विषय उदासी॥
तिन ढिंग पढ़िबे गये कौन समुझे हरिकी गति।
सब विद्यनिके धाम श्याम बलराम जगत्पति॥
भईं सिद्धि विद्या सकल, भाग्य आज मुनिके जगे।
जगदीश्वर हू शिष्य बनि, जिनके घर रहिबे लगे॥

गुरुकुलमें गुरु सुश्रूषा

(१०५०)

यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम् ।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवामिवादृतौ ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ५५ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

गुरुसेवा आदर्श दिखावें करि कें करनी ।
सुश्रूषा नित करें त्यागि भगवत्ता अपनी ॥
समिधा कुश फल फूल मूल घट जलको लावें ।
अति लघु सेवा करें अधिक हिय माहिँ सिहावें ॥
जाहिँ सुदामा संग महँ, ईंधन लावें तोरिकें ।
ब्रह्मचर्य व्रत तें रहें, विषयनि तें मुख मोरिकें ॥

जब हम किसीको अपने वशमें कर लेते हैं, तो उससे उसकी प्रियसे भी प्रिय वस्तुको यों ही प्राप्तकर लेते हैं। मनुष्य धनके द्वारा विद्याके द्वारा अथवा सेवाके द्वारा वशमें किया जा सकता है।

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! राम कृष्ण दोनों भाई गुरु कुल में नियमानुसार निवास करते, वे गुरु द्वारा सत्कृत होते हुए इन्द्रिय दमन पूर्वक श्रेष्ठ गुरु सेवा का आदर्श उपस्थित करते हुए, अपने गुरुदेव की इष्टदेव के समान भक्ति भाव पूर्वक सेवा सुश्रूषा करने लगे।"

इसीलिये विद्या प्राप्तिके तीन ही उपाय बताये हैं। एक तो गुरुकी सुश्रुषा करके विद्या प्राप्त की जा सकती है, दूसरे विपुल धन देकर और तीसरे अदला बदलीसे अर्थात् हम उन्हें एक विद्या सिखादें बदलेमें वे हमें दूसरी विद्या सिखादें। इनके अतिरिक्त,चौथा विद्या प्राप्त करनेका मार्ग नहीं।

विद्या देकर जो विद्या प्राप्त की जाती है, अथवा विपुल धन देकर जो विद्या प्राप्त की जाती है उसमें गुरु भाव नहीं रहता। अहंकार आ जाता है, वह विद्या विनयको प्रदान नहीं करती। किन्तु सेवा करके जो विद्या प्राप्तकी जाती है वह फलवती होती है। गुरुको इष्टदेव मानकर उनकी छोटी से छोटी सेवा करके जो सुख मिलता है, वह किसीमें नहीं मिलता। जिनकी हम सेवा करते हैं, उनके हृदयको पकड़ लेते हैं। संसारमें ऐसा कोई भी काम नहीं है जो सेवासे प्राप्त न होता हो। सेवा करते करते सेवक स्वामी बन जाता है। स्वामी सेवकके सर्वथा अधीन हो जाता है, फिर उसके लिये कुछ अदेय रह नहीं जाता। इसलिये प्राचीन कालमें बड़े बड़े राजपुत्र, दरिद्र ब्राह्मण कुमारोंके साथ गुरुकुलमें समान भावसे रहते थे, और सभी श्रद्धा सहित गुरुकी सेवा किया करते थे। गुरु सुश्रूषा अदला बदलीका व्यवहार नहीं था। शिष्यों का यह धर्म था, कि वे अपना सर्वस्व अर्पण करके निरन्तर गुरु सेवामें निरत रहें। सेवाका महत्व समझ लेना यही सबसे बड़ी विद्या है। जिसने अपनी सेवासे धर्म पूर्वक किसीको सन्तुष्टकर लिया, उसने मानों बड़ीसे बड़ी विद्या प्राप्त करली। इसीलिये शास्त्र पुराणोंमें सर्वत्र सेवाकी इतनी अधिक प्रशंसा है। ऋषि मुनियोंने सेवा पर ही अत्यधिक बल दिया है। कहनेका उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना करके दिखानेका पड़ता है। इसीलिये सेवाका आदर्श उपस्थित करनेके लिये स्वयं साक्षात् भगवान् मानव शरीर धारण करके गुरु सुश्रूषा करते हैं और सबको

सिखाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! रामश्याम दोनों भाइयों का यज्ञोपवीत संस्कार हो गया। कुल पुरोहित भगवान् गर्गने उन्हें गायत्री मंत्रकी दीक्षा दी। गुरुसे दीक्षा पाकर अब दोनों भाइयों को गुरुकुलमें वास करनेकी इच्छा हुई। इसीलिये वे अवन्तीपुरी में रहने वाले आचार्य सान्दीपिनी मुनिके निकट गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! गर्गाचार्य के ही समीप रहकर भगवान्ने विद्याध्यन क्यों नहीं किया?"

सूतजी बोले—"महाराज! एक तो यह बात है, कि घरमें रहकर पढ़ाई होती नहीं। विद्यार्थी जितना ही घरसे दूर रहेगा उतना ही उसका पढ़नेमें मन लगेगा। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि गर्गाचार्य विशेष कर ज्योतिष शास्त्रके ही विद्वान थे। भगवान् चाहते थे, किसी ऐसे आचार्यके चरणोंमें रहें जो सर्वशास्त्रोंका ज्ञाता हो, सभी विद्याओंमें, सभी कलाओंमें निष्णात हो। इसलिये गर्गाचार्यसे उपनयन कराकर वे अवन्तीपुरी चले गये और वहाँ जाकर सान्दीपिनि मुनि के गुरुकुलमें प्रविष्ट होकर उनकी सेवा सुश्रूषा करने लगे।"

शौनकजीने कहा—"सूतजी! भगवान्के गुरुकुलवासकी विशेष विशेष घटनाओंको सुनावें।

सूतजी बोले—"भगवन्! जिस प्रकार भगवान् अनन्त हैं, उसी प्रकार उनके चरित्र भी अनन्त हैं, उनका सर्वाङ्ग वर्णन कर ही कौन सकता है। फिर भी मैं यथा मति आपसे कहता हूँ।"

रामकृष्ण दोनों भाइयोंने अवन्तिपुरीमें पहुँचकर महामुनि सान्दीपिनीके चरणोंमें प्रणाम किया और निवेदन किया—"हम यदुकुलमें उत्पन्न महाराज शूरसेनके पुत्र श्रीवसुदेवजीके आत्मज हैं, आपके चरणोंमें निवास करके हम विद्याध्ययन करना चाहते हैं।"

आचार्य सन्दीपनि मुनिने दोनों भाइयोंके ओज, तेज, प्रभाव और ऐश्वर्यको देखा। वे उनके शुभ लक्षणोंको देखकर परम विस्मित हुए, उन्होंने दोनों भाइयोंको सहर्ष अपने गुरुकुलमें प्रविष्ट कर लिया। ये दोनों भी अन्य साधारण विद्यार्थियोंके साथ रहकर गुरुसुश्रूषा करने लगे।

ये प्रातःकाल उठते। गौओंके गोबरको उठाकर पाथते, गौशाला तथा घरको स्वच्छ करते। फिर गुरुदेवके साथ क्षिप्रानदी में स्नानके लिये जाते। गुरुके वस्त्रोंको धोकर, जलका घड़ा भर कर लाते। आकर सन्ध्या हवन करते। गुरुजीके बुलाने पर हाथ जोड़कर उनके निकट जाते, उनके पढ़ानेपर पढ़ते। भिक्षा माँगने जाते, गुरु जो भी भोजनोंको दे देते, उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते सायंकालको वनमें जाते वहाँसे समिधा, कुश, फल, फूल, तथा इंधन लेकर लौटते। पुनः सायंकालीन संध्या हवन आदि करते, गुरुजीके चरणों की सेवा करते और उनकी आज्ञा पाकर शयन करने जाते। इस प्रकार तनसे तथा मनसे सर्वथा गुरुके अनुकूल रहकर वे आचरण करते। गुरुकुलके किसी भी नियम को वे भंग नहीं करते। अपनी इन्द्रियोंका दमन करते मनको वश में रखते। इस प्रकार शान्त दान्त भावसे उत्तम गुरुसेवाका आदर्श उपस्थित करते। उनका इष्टदेवके समान सम्मान करते और भक्तिभाव पूर्वक श्रद्धासे सुश्रूषा करते। गुरु भी इनके कार्योंसे परम सन्तुष्ट रहते और इनका अत्याधिक सत्कार करते।

वहीं पर गुर्जर प्रदेशके रहने वाले सुदामा नामक एक ब्राह्मण बालक भी पढ़ते थे। श्रीकृष्णकी उनसे बड़ी प्रगाढ़ मैत्री हो गई थी। दोनों साथ साथ ही फल, फूल तथा समित् कुश लेने वनको जाते और दोनों साथ ही साथ उठते बैठते थे। गुरु माता श्रीकृष्ण को अत्यधिक प्यार करती। इनसे उनका कोई संकोच नहीं था, जो कुछ भी कार्य होता वे भगवान् से निःसंकोच होकर कह देतीं,

और भगवान् भी उसे तुरन्त कर लेते।

एक दिनकी बात है, गुरुमाता सायंकालकी रसोई बनानेका समान जुटाने लगी। उसने देखा आज घरमें ईंधन तनिक भी नहीं है। कुछ चिन्तित हो कर उन्होंने भगवान्को बुलाया और कहा—"कृष्ण! भैया आज सायंकालकी रसोईके लिये ईंधन तो है ही नहीं। भगवान्का प्रसाद किससे बनेगा।"

भगवान् बोले—"माताजी! आप कोई चिन्ता न करें, मैं अभी वनमें जाता हूँ, तुरन्त सूखी लकड़ियाँ वृक्षोंसे तोड़कर लाता हूँ।"

माताने कहा—"वत्स! तुम जा तो रहे हो, किन्तु अकेले मत जाओ। किसीको साथ लेकर जाओ।"

भगवानने कहा—"माताजी! मैं और सुदामाजी दोनों जा रहे हैं। हम दोनों आपके लिये यथेष्ट ईंधन ले आवेंगे। अन्य किसी विद्यार्थीकी जानेकी आवश्यकता नहीं।"

माताने कुछ थोड़ा सा चबेना देते हुए कहा—"अच्छा, देखो तुम जाते तो हो। यह चबेना ले जाओ, मार्गमें भूख लगे, तो इसे चबाकर जल पी लेना।' यह कहकर उन्होंने सुदामाजी को चबेना दिया।"

दोनों गुरु भाई साथ साथ हँसते-खेलते हुए चल दिये। चलते चलते वे दोनों एक घोर वनमें पहुँचे। वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्ण एक बड़े पेड़ पर चढ़ गये और उसपरसे सूखी सूखी लकड़ियाँ तोड़ तोड़कर नीचे गिराने लगे। सुदामाजी उन सबको एकत्रित करके रखते जाते थे। सहसा बड़े वेगसे आँधी आई। सुदामाजी ने कहा—"कृष्ण! कृष्ण! भैया! अति शीघ्र वृक्षसे उतर आओ, देखो आँधी आ रही है, आकाशमें मेघ भी छा रहे हैं।"

सुदामाजीकी यह बात सुनकर भगवान् तुरंत वृक्षसे उतर आये और बोले—"अति शीघ्र चलो माताजी हमारी प्रतीक्षा कर

रही होंगी।" यह कहकर तुरन्त ईंधनके दो गट्ठर बनाकर दोनों वहाँसे चल दिये। चलते समय मार्गमें आँधी बड़े वेगसे आई दोनों इधरसे उधर भटक गये मार्ग भूल गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जो सर्वान्तर्यामी प्रभु सबको मार्ग दिखाने वाले हैं, वे भला मार्ग कैसे भूल सकते हैं। केवल गुरु शिष्यका सम्बन्ध दिखानेके लिये ही यह लीला कर रहे हैं। भगवान्‌को न कोई इच्छा होती है न उनका कुछ कर्तव्य ही होता है, केवल लोक शिक्षाके निमित्त तथा भक्तोंको सुख देनेके निमित्त वे ऐसे ऐसे खेल करते हैं, कि अज्ञानी उनके ऐसे खेलोंको देखकर विमोहित हो जाते हैं, उन्हें सन्देह होने लगता है कि ये भगवान् नहीं। हमारे जैसे ही साधारण मनुष्य हैं।

हाँ, तो दोनोंने कसकर एक दूसरे को पकड़ लिया। वायु उन्हें इधर उधर उड़ा ले गई। यद्यपि वर्षाका समय नहीं था, फिर भी घनघोर वर्षा होनी आरम्भ हो गई। दोनों एक घोर जंगलमें एक वृक्षके सहारे खड़े हो गये। वर्षा ऐसी हो रही थी, मान आज ही प्रलय होने वाला है। भगवान् भुवन भास्कर अस्ताचल प्रस्थानकर चुके थे। पक्षीगण अपने अपने घोंसलोंमें मुँह छिपाये दुबके थे।आकाशमे चन्द्रमा तारागण कुछ भी दिखाई न देते थे। चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था, मूसलाधार वर्षा हो रही थी प्रचण्ड पवनके संसर्गसे पानीकी बौछारें मार रही थीं। पानी रुकता ही नहीं था, आकाशमें गड़गड़ान तड़तड़ान हो रही थी, बिजिली चमक रही थी। दशों दिशाओंमें इतना अँधेरा भरा हुआ था, कि हाथो हाथ दिखाई नहीं देता था। वर्षा रात्रि भर रुकी नहीं, वायु बंद नहीं हुई। वे इसी प्रकार सम्पूर्ण रात्रि बैठे रहे। सुनते हैं सुदामाजीने लोभ वश वह चबैना बिना भगवान् को अर्पण किये, अकेले ही लालच वश खा लिया। जो बिना भगवान्‌के अर्पण किये बिना संगी साथियोंको बाँटे, अकेला ही

खा लेता है, उसे दरिद्री होना पड़ता है। इसीलिये सुदामाजीको कुछ दिन दारिद्र दुःखका अनुभव करना पड़ा।

हाँ, इधर तो ये दोनों ब्रह्मचारी घोर वनमें वृक्षके नीचे वर्षा में भीग रहे थे, उधर शिष्य वत्सल गुरुका हृदय अपने शिष्योंके लिये छटपटा रहा था। सायंकालीन सन्ध्या हवन करके जब अन्य ब्रह्मचारी गुरुकी चरण वन्दना करने आये, तो उनमें श्री-कृष्ण सुदामाको न देखकर गुरुजीने पूछा—"छात्रो! आज कृष्ण सुदामा दिखाई नहीं देते, उन्होंने सन्ध्या हवन आदि सायंकालीन कृत्य नहीं किया क्या?

यह सुनकर शिष्य बोले—"गुरुदेव! आज मध्यान्होत्तरसे उन दोनोंका पता ही नहीं लगता कहाँ गये। नित्य तो वे सूर्यास्तके बहुत पूर्व ही वनसे कुशा, समिधा तथा फल, फूल लेकर लौट आते थे।"

गुरुदेवने चिंतित होकर कहा—"आज आँधी चल रही है, पानी पड़ रहा है, संभव है कहीं रह गये हों?" यह कहकर वे बड़ी उत्सुकतासे उन दोनोंकी बाटको जोहते रहे। जब बहुत रात्रि व्यतीत हो जाने पर भी न तो आँधी पानी ही बंद हुआ और न उनके दोनों शिष्य ही आये, तो वे दुखित होकर पाठशालासे घर में गये और अपनी पत्नीसे बोले—"कल्याणी! अभी तक कृष्ण सुदामा वनसे नहीं लौटे, न जाने वे दोनों कहाँ चले गये।"

संकोचके साथ सहमती हुई आचार्य पत्नी बोली—"प्रभो! मैंने ही उन दोनोंको ईंधन लेने भेजा था।"

अत्यन्त दुखित होकर गुरुने कहा—"तुमने उन दोनोंको ऐसे समय क्यों भेजा। हाय! वे इस आँधी पानीमें इस समय कहाँ होंगे। भगवान् मेरे बच्चोंकी विपत्तिसे रक्षा करें। देवि! तुमने यह बहुत ही अनुचित कार्य किया।"

लजाती हुई आचार्य पत्नी बोलीं—"उस समय तो आकाश

स्वच्छ था, न आँधी थी, न पानी। आज घरमें तनिक भी ईंधन नहीं था, मैंने केवल कृष्णसे संकेत ही किया था। वह सुनते ही सुदामा को साथ लेकर चल दिया।"

आचार्यको अब शान्ति नहीं थी। वे बारबार द्वार की ओर देखते, किसीके पैरोंकी आहट पाते ही चौंक उठते। न उन्होंने सायंकालीन भोजन किया और न वे सोये। जागते ही रहे। जब आधी रात तक उनके शिष्य नहीं आये, तो शिष्यवत्सल आचार्य हाथमें डंडा लेकर दो छात्रोंको साथ लिये हुए अपने शिष्योंको खोजने निकले।"

शिष्य वृक्षके नीचे बैठे हुए रात्रि बिता रहे थे, गुरु इधर उधर घूमते हुए—अपने शिष्योंको खोजते हुए एक वनसे दूसरे वनमें भटक रहे थे। सम्पूर्ण पृथिवी जलमयी हो रही थी, नीची ऊँची भूमि जल भरनेसे समानसी प्रतीत होती। उस जल प्रलय और प्रचण्ड पवनको कुछ भी न गिनते हुए गुरु—"ओ कृष्ण! ओ सुदामा, बेटा! तुम कहाँ हो?" यह कहते हुए गुरु इधर से उधर भटक रहे थे। इस प्रकार गुरु को भटकते भटकते प्रातःकाल हो गया। अब जल बरसना बंद हो गया। मरीचमाली भगवान् प्राची दिशिके अंचलको फाड़कर प्रकाशित हुए। सहसा गुरुजीने अपने दोनों शिष्योंको वनमें वृक्षके नीचे अत्यन्त व्याकुल अवस्था में बैठे देखा। दोनों शिष्योंने जब हाथमें लठिया लिये हुए जलमें भीगते हुए अपने गुरुको देखा, तो उन्होंने शीघ्रतामें उठकर गुरुजीके चरण छुए और उन्हें प्रणाम किया।

अपने शिष्योंको सम्मुख देखकर गुरुजीका हृदय भर आया। उनके नेत्रोंसे प्रेमके अश्रु प्रवाहित होने लगे। दोनोंको प्रेम-पूर्वक हृदयसे चिपटाकर वे बारबार उनका सिर सूँघने लगे। उन्हें कसकर बड़ी देर तक छातीसे चिपटाये रहे। जब प्रेमका आवेग कुछ कम हुआ, तो वे भर्राई हुई वाणीसे रुक रुककर बोले—

"पुत्रो! आज तुमने मुझे खरीद लिया। अपनी सेवासे मुझे सन्तुष्ट कर लिया। देखो, प्राणी मात्रको अपना शरीर अत्यंत ही प्यारा होता है। जो प्रेम वश अपने शरीरकी कुछ भी चिन्ता न करके प्रेम-पूर्वक अपने गुरुजनों की सेवामें संलग्न रहते हैं वे बड़े भाग्य शाली होते हैं। सत्शिष्योंका यही सर्वोत्तम कर्तव्य है, कि सम्पूर्ण कामनाओंके साधन भूत इस शरीरको गुरु सेवामें लगा देना। इससे बड़ी न कोई गुरु दक्षिणा है और न कोई अन्य सुश्रूषा ही। तुम दोनोंने हमारे लिये बड़े कष्ट सहे। मैं तुम्हारी इस गुरु भक्तिसे अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ, तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, कि तुम्हारी सम्पूर्ण मनोकामनायें पूर्ण हों तथा तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या इहलोकमें तथा परलोकमें कभी विफल न हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने आचार्यकी ऐसी कृपाको पाकर सुदामाके सहित श्रीकृष्ण कृतार्थ हो गये। गुरुको प्रसन्न पाकर सुदामाके सहित श्रीकृष्ण कृतार्थ हो गये। गुरुको प्रसन्न देखकर उन्होंने अपने जीवनको सफल समझा। सिर झुकाकर और चरणस्पर्श करके उन्होंने गुरुदेवके आशीर्वादको ग्रहण किया। मुनियो! संसारमें जिसपर गुरुकी कृपा हो गई, उनके लिये दुर्लभ पदार्थ शेष ही क्या रहा। जो गुरु कृपासे वंचित रहे, उन्होंने संसारमें रहकर किया ही क्या, केवल अमूल्य मानव जीवन को व्यर्थ गँवाया मनुष्यका संसारमें एक मात्र कर्तव्य है, अपनी सेवाके द्वारा गुरुको प्रसन्न करना। यही आदर्श दिखाने को भगवानने यह लीला रची। गुरुके साथ लौटकर वे गुरुकुलमें आ गये। गुरु माता भी इन पर अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। गुरुको प्रसन्न करके ये वहाँ अध्ययन करने लगे। अब जैसे भगवानने अल्पकालमें सभी विद्याओंको प्राप्तकर लिया उस प्रसंगको मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

गुरु प्रसाद तैं वेद शास्त्र सुनतहिं जाने प्रभु।
चौंसठ कला प्रवीन भये चौंसठ दिन महँ विभु॥
गीत, वाद्य, अरु, नृत्य नाट्य चित्रनिको लिखिवो।
पत्रावलि सिर तिलक धान कुसुमनिको रचिवो॥
फूल सेज पट दसन रंग, मणिमय मही बनामनो।
शयन रचन अरु जल तरँग, चित्र विचित्र दिखामनो॥

विद्याध्ययन

(१०५१)

सर्वे नरवर श्रेष्ठौ सर्व विद्या प्रवर्तकौ।
सकृन्निगद मात्रेण तां संजगृहतुर्नृप ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४५ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

हार केश नैपथ्य कर्ण पत्रादिक रचिवो।
गन्धयुक्ति आभूषन सबकूँ विस्मित करिवो॥
धारे रूप अनेक हस्त लाघव वर भोजन।
आसवादि निर्मान सीमनो डोरा खेलन॥
वीणा डमरू बजावन, ज्ञान पहेली प्रतिकृती।
अत्तो पत्तो बाँचिवो, नाटकादि महँ वर गती॥

विद्याका फल है अमृतत्वकी प्राप्ति विद्या दो प्रकारकी होती है। लौकिकी विद्या पारलौकिकी विद्या। लौकिकी विद्याका भी उद्देश्य धर्मार्जन करते हुए मोक्ष प्राप्ति है। हमारे यहाँ जितने

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! सम्पूर्ण विद्याओं के प्रवर्तक नरवरों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और बलराम ने सम्पूर्ण विद्यायें एक बार बतलाने से ही ग्रहण कर लीं।"

शास्त्र हैं, सबका उद्देश्य मोक्ष प्राप्त ही है। सांख्य शास्त्रका सिद्धान्त है तत्वोंके यथावत ज्ञान हो जानेसे मोक्ष मिलता है। इसी प्रकार काम शास्त्र विधि पूर्वक काम के सेवनसे, मीमांसा शास्त्र कर्मके सम्पादनसे, औपनिषदक ब्रह्म ज्ञानसे, आयुर्वेद शास्त्र आरोग्यसे तथा ज्योतिष शास्त्र भूगोलखगोलके ज्ञानसे मोक्ष मानते हैं। जो शास्त्र अपना सिद्धान्त बताता है, उसका फल वह स्वर्ग सुख तथा मोक्ष ही बताया है। जैसे व्याकरण शास्त्र है, उसका सिद्धान्त एक भी शब्द यथावत शास्त्रीय पद्धतिसे नियमानुसार प्रयोग किया जाय तो स्वर्गमें तथा लोकमें वह सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करने वाला होता है। इसीलिये व्याकरण शास्त्र शब्दोंकी व्युत्पत्ति तथा सिद्धि पर और शुद्धोच्चारण पर बल देता है। विद्याके साथ कलाका भी ज्ञान होना चाहिये। जिस प्रकार विद्या मुक्तिका मार्ग बताती है, उसी प्रकार कला मनोरंजन करना सिखाती है। मानव जीवनके लिये मनोरंजन 'अत्यावश्यक है। हँसना प्रसन्न होना स्वास्थ्यके लिये सौंदर्यके लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। जैसी प्रकृति के पुरुष होते हैं वह अपने लिये वैसा ही मनोरंजन खोज लेते हैं। कलायें अनेक प्रकार की हैं। किन्तु मुख्यतया कला चौंसठ बताई जाती हैं। इन चौंसठ में सभीका समावेश हो जाता है। भगवान् में समस्त विद्यायें समस्त कलायें स्वयं रहती हैं। उन्हें सीखनी नहीं पड़तीं। वे किससे सीखें ? विद्या और कलाओंके जनक—उत्पत्ति स्थान तो वे स्वयं ही हैं।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! श्रीकृष्णजी तथा बलरामजी आवन्तीपुर निवासी महामुनि सान्दीपिनी आचार्यके गुरुकुलमें रहकर सेवा सुश्रूषा करते और विद्योपार्जन करते थे। उन्हें विद्या स्वयं ही प्राप्त थीं अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना होता है। उन्हें स्वयं ही सब कलायें स्वतः प्राप्त थीं, फिर भी लोक शिक्षाके लिये वे ऐसा

अभिनय कर रहे थे। गुरु इनकी तीक्ष्ण बुद्धिके कारण परम विस्मित थे। अब तक वे जिन छात्रोंको पढ़ाते थे उन्हें बहुत समझना पड़ता था। वे दिन भर घोखते रहते थे, दूसरे दिन गुरुजी सुनते तो भूल जाते तो उन्हें फिर बताते। इसलिये जीवन भर अध्ययन करने पर भी कोई एक छात्र एक विद्यामें पारंगत हो सकता था, किन्तु रामश्यामकी बुद्धि विलक्षण थी। इन्हें न तो घोखना ही पड़ता था और न गुरुजीसे दुबारा पूछना ही पड़ता था। गुरुजीने जहाँ एक बार जो बात कहा उन्हें तुरन्त वह याद हो गई।

प्रथम उन्होंने वेदके शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द तथा निरुक्त ये छै अंग पढ़ाये। फिर उपनिषदोंके सहित ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद पढ़ाये। फिर मंत्र और देवता ज्ञानके सहित धनुर्वेद, निदान और चिकित्सा पूर्वक आयुर्वेद, स्वर, लय तालादिके ज्ञान पूर्वक गान्धर्ववेद तथा क्रियात्मक स्थापत्य वेद इन चारों उपवेदोंकी शिक्षा दी। फिर मनु आदि धर्म शास्त्र, जैमिनी, कणाद, गौतम, कपिल, पतञ्जलि तथा बादरायण रचित, पूर्व उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक इन छै शास्त्रोंकी शिक्षा दी। तदनंतर न्याय मार्ग, आन्वीक्षिकी विद्या, आत्मविद्या तथा सन्धि, विग्रह, यान, आसन द्वैधीभाव और समाश्रय रूपा छै प्रकार की राजनीतिकी भी शिक्षा दी।

इस प्रकार शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण होने पर फिर उन्होंने कलाओंका अध्ययन किया। मुनियो! एक एक कलाके सीखने में मनुष्योंकी पूरी आयु बीत जाती है, फिर भी वह कला साङ्गोपाङ्ग नहीं आती। जैसे सङ्गीत कला ही है। उसके गाना बजाना और नाचना ये तीन भेद हैं। अकेले गान विद्याको ही सीखते रहो, तो उसका कोई अन्त नहीं। नाचनेकी कलामें पारंगत होना

चाहो, तो जीवन भर परिश्रम करके उसमें सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इस प्रकारकी दुरूह चौंसठ कलाओंको भगवान्‌ने चौसठ दिनमें साङ्गोपाङ्ग सीख लिया।"

इस पर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! चौंसठ कलायें कौन कौन सी हैं, उनका हमें भी दिग्दर्शन कराइये।"

हंसकर सूतजी बोले—"महाराज! यदि मैं कलाओंका वर्णन करने बैठूँ तब तो यह आपकी भागवती कथा यहीं समाप्त हो जायगी। कला कथा आरम्भ हो जायगी। फिर भी मैं प्रसङ्ग वश सभी कलाओंका नाम निर्देश मात्र किये देता हूँ।

पहिली कला है गाना। इसमें गाना कैसे गाना चाहिये, गीतों के रचने की सामर्थ्य, यह राग किस जातिका है, रागोंके कै भेद हैं, रागिनी कितनी हैं, कौन राग किस समय गाना चाहिये, किस बोलमें कितनी मात्रायें हैं, कौन सी ताल है, साधक बाधक स्वरों का मेल कैसे होता है, इत्यादिक सभी ज्ञान होता है। गायन कला बड़े पुण्यसे आती है। कलाके साथ मधुर स्वर भी आवश्यक है।

दूसरी कला से वाद्य। बाजे चार प्रकार के होते हैं, खालके, तारके, फूँकके और कांस, काठ आदि के। खालके जैसे ढोलक, नगारा, ढप मृदंग तथा पखावज आदि। तारके जैसे वीणा, तंबूरा, रबाब, सारंगी, सितार आदि इनके दो भेद हैं एक तो ठोकरसे बजते हैं जैसे सितार, वीणा आदि। एक गजसे बजते हैं, जैसे सारंगी, मोरचंग आदि। फूँकके बाजे जैसे बांसुरी, अलगोज, मुरली, सहनाई तुरही शंख आदि। चौथे तालके बाजे हैं जैसे मंजीरा, झांझ, करताल आदि। इन चारों प्रकारके बाजोंको ताल, लय और स्वरके साथ मिलाकर विधिवत रागके अनुरूप बजाना ही वाद्य कला है। गायन विद्यामें जो सुरमें गाया जाता है, उसे ही ज्योंका त्यों बाजेमें बजादेना। इससे गान कला प्रस्फुटित होती है।

तीसरी कला है नृत्य। भाव भंगी दिखाकर, अङ्ग प्रत्यंगोंका नियमानुसार संचालन करके जो संगीत शास्त्रके अनुसार भाव व्यक्त किये जाते हैं, उसे नृत्य कहते हैं। सृष्टिके समस्त भाव, सभी प्राणियोंकी चेष्टायें, सभी रसोंके भाव बिना बोले केवल अंग संचालन करके नृत्यमें दिखाये जाते है। नाच करके रसकी अभिव्यक्तिकर देना। नाच नाचमें ही पूरी कथा समझा देना यही नृत्य कलाकी विशेषता है। जो बोल मुखसे गाकर उच्चारण किये जायँ, उन्हें ही बाजेमें बजाया जाय और उन्हें ही अंग प्रत्यङ्ग के संचालनसे नृत्यमें अभिव्यक्त किया जाय, तभी संगीतका सच्चा साकार स्वरूप प्रकट होता है। नृत्य कला सबको अपनी ओर आकर्षित करती है। शंकरजीका तांडव नृत्य प्रसिद्ध है। इन्द्रादि सभी देव नृत्यकलामें पारंगत हैं। श्रीकृष्ण तो नटवर ही हैं। वे नृत्य कलाके परमाचार्य हैं। उनके परिकरमें ऐसी एक भी गोपी नहीं जो नाचना न जानती हो। राजाओंकी, देवताओंकी कोई ऐसी सभा नहीं जिसमें नृत्य न होता हो।

चौथी कला है नाट्य। नृत्यको ही रूपकमें दिखाना आख्यानमय नृत्यका ही नाम नाट्य है। भरतादि आचार्योंने नाट्य शास्त्र पर विस्तारसे विवेचन किया है। नाटकमें नर नारियोंका अत्यधिक मनोरंजन होता है।

पाँचवी कला है आलेख्य। आलेख्य उसे कहते हैं जो जैसा देखा है, सुना है, उसका वैसा ही चित्र बना देना। चित्र कला भी एक अत्यन्त रुचि वर्धक ललित कला है। इसमें बड़े नियम होते हैं। किस देवताका कैसा चित्र बनाना चाहिये, कैसा उसका वाहन होना चाहिये, कैसी मुद्रा होनी चाहिये। चित्रको देखते ही बिना बताये दर्शक समझ जाय, यह अमुकका चित्र है, अमुक भावके समयका है। समस्त मनोगत भावोंको चित्र में व्यक्त देना यह सामान्य बात नहीं।

छठी कलाका नाम है, विशेषकच्छेद्य। इसका तात्पर्य यह है, कि हम जिसके भी भावको जानना चाहते हैं, उसके मुखको प्रथम देखते हैं। मुखाकृति देखकर ही बुद्धिमान लोग भावोंका अध्ययन करते हैं। भावोंकी मुख्य भूमि मुख ही है। उस मुखको आकर्षक बनाना यह भी कला है। भाल पर सुन्दर आकर्षक तिलक लगाना। कपोलों पर केशर कुँकुमकी पत्रावली बनाना। नाना विच्छेद रचना करनेका ही नाम विशेषकच्छेद्य है। पहिले सभी कुलीन महिलायें अपने कपोलों पर पत्रावलीकी रचना करती थीं। नायक नायिकाका शृंगार करता था, नायिका नायकका। दोनों ही पत्रावलीकी रचनामें प्रवीण होते थे। अब यह कला राम-लीला रासलीलाके स्वरूपोंके सजानेमें व्यक्तकी जाती है। स्त्रीपुरुषोंमेंसे इसका चलन उठ गया है।

सातवीं कलाका नाम है 'तण्डुल कुसुम बलि विकार'। चावलों, अन्यान्य धान्यों तथा पुष्पोंके द्वारा पूजाके उपहारानुरूप रचना करना। चावल, उड़द, मूँग, मसूर चनाकी दाल आदि धान्योंसे सर्वतोभद्रादि की रचना करना, चौक बनाना, तथा पुष्पोंसे भाँति भाँतिकी वेदियों पर रचना करना यह पूजा सम्बन्धी परमावश्यक कला है। यज्ञोत्सव तथा पर्वादिके समय ऐसी कलात्मक रचनासे दर्शनार्थियोंको अत्यन्त सुख मिलता है और देव पूजादि भी साङ्गो पाङ्ग सम्पन्न होती है।

आठवीं कला है पुष्पास्तरण। अर्थात् फूलोंकी सेज बनाना। अब तो कलियुगके प्रभावसे कलायें लुप्त प्राय हो रही हैं। सबको उदर भरणकी चिन्ता ही व्यथित किये रहती है। पहिले राजा रानी और राजकुमारियोंके लिये पुष्प शैयाकी रचनाकी जाती थी। अब कभी कभी देव मन्दिरोंमें पुष्प शैयाके दर्शन होते हैं। कभी कभी तो यह रचना इस ढँगसे की जाती थी, कि सोने वाली रात्रिभर पुष्प शैयापर शयन करे और एक भी पुष्प

मुरझावे नहीं। प्राचीन काल में स्वयं स्त्रियाँ पति के लिए फूलों की सेज सजाती थीं। पुरुष भी नायिका को प्रसन्न करने को पुष्प शैया की रचना करते थे।

नवमी कला का नाम है "दशन वसनाङ्गराग"। अर्थात् दाँतों को किस प्रकार रंगना चाहिये जिससे वे आकर्षक हों। कोई मिस्सी से रँगते हैं। कोई पान के पीक से। [illegible] वस्त्रों को रंगने की विद्या। कौन वस्त्र किस [illegible] पर विशेष खिलेगा। शरीर में अंगराग [illegible] को रंगना ये सब इसी कला के अन्तर्गत हैं। [illegible] को आकर्षित करने के लिए, पुरुष [illegible] के लिये भाँति भाँति के रंगों का उपयोग करते हैं।

सुन्दर वेल बूटे और चौफर आदि बनाते हैं, कि मुख से हठात् धन्य धन्य निकल जाती है।

बारहवीं कला है "उदकवाद्यमुदकघात"। जल से भरे सरोवर में घड़ा आदि रखकर उसके द्वारा गायन करना। अथवा बहुत से पात्रों में जल भरकर जल तरंग बाजा बजाना। जल को स्तम्भित करके उसके भीतर भवन की भाँति बैठे रहना। जैसे महाभारत के युद्ध से भागकर दुर्योधन एक सरोवर में जल को स्तम्भित करके छिपकर बैठ गया था। जल के विपरीत उस पर चलना, जल के अनुकूल प्रवाह की ओर चलना। यह जल से सम्बन्ध रखने वाली कला है।

तेरहवीं कला का नाम है 'चित्रयोग'। अर्थात् चित्र विचित्र प्रकार की आकृतियों को बनाना। भाँति भाँति के रूपों की रचना करना।

चौदहवीं कला है "माल्य ग्रथन विकल्प" नाना प्रकार की मालाओं को बनाना, भाँति भाँति के पुष्प हारों की रचना करना। दक्षिण देश में भगवान के लिए अब भी सहस्त्र सहस्त्र रुपयों के मूल्य के पुष्पहार बनते हैं, उनमें भाँति भाँति के कला कौशल दिखाये जाते हैं।

पन्द्रहवीं कला है, 'शेखरापीड योजना—' अर्थात् सिर को सजाना। सिर के ऊपर बालों का शृङ्गार करना, वेणी में पुष्पों का शृङ्गार पुष्प मालाओं का शृंगार करना अथवा सिर को पुष्पों के मुकुटादि से सजाना। अथवा सिर के बालों को ही मुकुट बनाकर उसे पुष्पों से सजाना। प्राचीन काल में वेंणी गूँथने की कला का बड़ा प्रचार था। केश पाशों को पुष्प-मालाओं से सजाने में कभी कभी तो पूरा दिन लग जाता था। प्रातःकाल से आरम्भ करके सायंकाल में यह शृङ्गार समाप्त होता था। बड़े बड़े राजाओं की पटरानियों की वेंणी इसी प्रकार सजाई जाती थी, अथवा राज-

सभाओं में नृत्य करने वाली मंगलमुखी वाराङ्गनायें ऐसा शेखरापीड शृंगार करके नृत्य किया करती थी। श्रीकृष्ण इस कला में बड़े निपुण थे। एक दिन श्रीराधिकाजी से श्रीकृष्ण ने कहा—"लाओ तुम्हारी वेंणी का मैं शृंगार कर दूँ।" राधिकाजी ने कहा—"चलो, हटो। यह काम तो स्त्रियों का है, तुम ठहरे पुरुष तुम वेंणी गूँथना क्या जानो।" यह सुनकर अत्यन्त ही स्नेह से श्रीकृष्ण बोले—"वेंणी गूँथना तो मैं ही जानता हूँ। मेरी जैसी वेंणी कोई स्त्री गूँथ तो ले। मैं निपुण से निपुण स्त्री को चुनौती देता हूँ।"

वे बोले :—

वेंनी गूँथ कहाँ कोई जाने। मेरी सी तेरी सौंह राधे।
बिच बिच फूल श्वेत पत राते। को करि सकै एरा सौंह राधे॥

सोलहवीं कला है नेपथ्य योग। जिस रंगमञ्च पर नाट्य अभिनय होता है उसे भली भाँति आकर्षक ढंग से सजाना यह भी कला प्रशंसनीय कला है। नाटक कितना भी सुन्दर क्यों न हो यदि उसके अनुरूप रंगमञ्च सजाई नहीं गई हो, तो वह दर्शकों का भली भाँति मनोरंजन नहीं कर सकता। सर्वप्रथम दर्शकों पर रंगमञ्च की सजावट का ही प्रभाव पड़ता है। अतः कला की दृष्टि से रंगभूमि को सजाना बड़े महत्व का कार्य है।

सत्रहवीं कला है "कर्ण पत्र भङ्ग"। अर्थात् कानों को सजाना। कानों के जो आभरण हैं, उनके भेदों के सौंदर्य को सजावट को जानकर तदनुरूप उन्हें सजाना।

आठरहवीं कला है "सुगन्धयुक्ति"—सुगन्धित पदार्थों को इस युक्ति से शरीर पर धारण करना कि उनमें से सुगंधि भी आती रहे और उनसे शोभा भी बढ़े। जैसे कपूर का हार बनकर पहिनना। कपूर के बाजूबन्द, कपूर की माला, कपूर की चूड़ी आदि धारण करना। वस्त्रों में सुगन्धित तैलों को लगाना जिससे दूर से ही सुगन्धि आ जाय। सुगन्धित तैल तथा अन्यान्य द्रव्यों

का निर्माण भी इसी कला के अन्तर्गत समझना चाहिये।

उन्नीसवीं कला है "भूषण योजन"। अर्थात् भूषणों के पहिनने की चातुरी।

बीसवीं कला है 'ऐन्द्र जाल'। अर्थात् लोगों की दृष्टि बाँध देना। माया से अनेक कल्पित पदार्थों का निर्माण कर लेना। रावण इस कला में बड़ा निपुण था। उसने श्रीरामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी के बनावटी सिर माया से बना लिये थे और सीताजी को दिखाये थे। शाल्व राजा ने वासुदेवजी का बनावटी शरीर ज्यों का त्यों बना लिया था और श्रीकृष्ण के समीप ले जाकर उसका सिर काट लिया था। इस माया जाल की कला के बहुत से भेद हैं। मायावी दैत्य दानव राक्षस इस कला में निपुण होते हैं।

इक्कीसवीं कला है 'कौचुमार योग'। अनेक रूप रख लेना। इस कला का प्रदर्शन करने वाले बहुरूपिया कहलाते हैं वे ऐसा यथार्थ रूप बना लेते हैं, कि कोई उन्हें पहिचान ही नहीं सकता। पुरुष से स्त्री बन जायेंगे, भिखारी, राजकर्मचारी, सेठ, राजा, साहुकार जैसा चाहे वैसा रूप बना लेते हैं। पहिले राजा के यहाँ बहुत से बहुरूपिया मनोरंजन के लिये आया करते थे।

बाइसवीं कला का नाम है 'हस्त लाघव'। हाथ की ऐसी कुशलता दिखाना कि कुछ की कुछ वस्तु कर देना। बाजीगर इस कला का प्रदर्शन बहुधा किया करते हैं।

'चित्र शाकापूप भक्ष्य विकार क्रिया' यह तेईसवीं कला कहलाती है। नाना प्रकार के सुन्दर स्वादिष्ट साग स्वच्छता के साथ बनाना, मालपुआ, हलुआ, पूड़ी, रसगुल्ला तथा अन्य नाना भाँति के भोज्य पदार्थों को बनाना। भोजन की कला भाग्यशाली को ही आती है। महाराज नल इस कला में अत्यन्त निपुण थे। भीमसेन भी इस कला के ज्ञाता थे। एक ही अन्न है उसे यदि कलापूर्ण ढंगसे बनाया जाय तो वह सुन्दर स्वादिष्ट और हृद्य है

जाता है। उसीको अनाड़ी बनावे तो वह विष तुल्य हो जाता है। इस कालमें स्त्रियाँ अत्यन्त निपुण होती हैं।

चौबीसवीं कला है 'पानक रस रागासव योजन' अर्थात् पीने योग्य सुन्दर रसीली सुगन्धित दर्शनीय शरबत आदि बनाना। मदिरा आसव आदिका निर्माण। सुरा, मदिरा आसव किस समय कैसे पान करने चाहिये, कौनसी सुरा कितनी मादक है, उसका प्रयोग कितनी मात्रामें कैसे कब करना चाहिये, कैसे उसे बनाना चाहिये। इत्यादि सभी पानीय पदार्थोंका निर्माण और पानविधि इस कलाके अन्तर्गत आ जाती है।

पच्चीसवीं कला का नाम है 'सूचीवाय कर्म'। अर्थात् वस्त्रोंको सुन्दर आकर्षक ढंगसे सीना। वस्त्र सीनेकी कला भी अत्यन्त उपयोगी और सर्व प्रिय है। एक ही वस्त्र कलाकी दृष्टिसे सी कर पहिना जाय, तो उसकी और शोभा होती है, उसे ही सामान्य रूपसे लपेट लिया तो उसकी दूसरी शोभा है।

छब्बीसवीं कलाका नाम है, 'सूत्र क्रीड़ा'। अर्थात सूत्रसे नाना प्रकारकी क्रीड़ा करना। चकई भौंरा घुमाना। कच्चे धागेको बाँधकर उस पर चलना, पक्षियोंके पैरोंमें सूत्र बाँधकर उन्हें छोड़ देना। पतंग उड़ाना, कठ पुतली नचाना आदि बातें इस कलाके अन्तर्गत हैं।

सत्ताईसवीं कलाका नाम है 'वीणा डमरुक वाद्यनि'। अर्थात् वीणा डमरू आदिकी विद्यामें विशेषता प्राप्त करना। दूसरी वाद्य कलामें ही सब बाजोंका ज्ञान आ जाता है, यहाँ फिरसे वीणा और डमरूकी कलाका कथन करना इनमें विशेषता प्राप्त करना ही है। अर्थात् आखमें पट्टी बाँधकर वीणा डमरू बजाना या इन्हें बजाते हुए नाना प्रकारकी विस्मयोत्पादक क्रीड़ायें करना। यह भी हो सकता है।

अट्ठाईसवीं कलाका नाम है 'प्रहेलिका' अर्थात् पहेली पूछना

और बताना। पहेली पूछने से बुद्धि बहुत बढ़ती है, विचार करने की शक्ति आती है। पहेली आपसमें मिलकर पूछते हैं। पहिले सोते समय सभी लोग पहेली पूछा करते थे। जैसे किसीने पूछा—

पानीमें निशिदिन रहे, वाकें हाड़ न मास।
काम करे तरवारको, फिर पानीमें वास॥

अर्थात् एक ऐसा है, कि पानीमें तो रहता है, किन्तु उसके शरीरमें हाड़ मांस नहीं है। फिर भी वह तलवारका काम करता है। अर्थात दिनभर दूसरोंके सिर काटता रहता है। सिर काट—कर तुरन्त पुनः पानीमें घुस जाता है। बताइये वह कौन है?"

पूछने वाला सबसे पूछता है, सभी सोचते हैं—ऐसी कौनसी वस्तु है। बहुत सोचनेके पश्चात् कोई कहता है। "कुम्हारका बर्तन काटनेका डोरा है।" सब एक स्वरमें बोल उठते हैं। हाँ हाँ यही है। तुमने कैसा सोच लिया। पहेली पूछनेकी भी एक कला है। सबसे एकसी पहेली नहीं पूछी जाती। विद्वानोंसे कठिन पहेली पूछी जाती है। बच्चोंसे सरल और हँसीकी जैसे—

"बरत टूटि गई कुआ सिकुड़ गयो।"

इसे सुनकर बालक हँस पड़ेंगे।

उन्नीसवीं कला है, 'प्रतिमाला'। अर्थात् सभी वस्तुओंकी प्रतिकृति बनाना। जैसे पाषाणकी मूर्तियोंका निर्माण करना, सुन्दर आदर्श वाक्य रचना करना और भी वस्तुओंकी ज्यों की त्यों प्रतिलिपि कर लेना।

तीसवीं कलाका नाम है 'दुर्वचक' योग। हम जिस बातको सबके सामने कहना चाहते हैं, किन्तु दूसरे लोग न समझ सकें ऐसी भी हमारी इच्छा है, अतः दूसरे न समझ सकें इस युक्तिसे बात करनेका नाम दुर्वचक योग है। बहुतसे अनपढ़ लोग हैं, वहां म्लेच्छ भाषा में या अन्य किसी भाषामें कह दिया। संकेत

से बता दिया। उसमें चार अक्षर हैं, इस प्रकार गोल मोल रूपसे बता दिया। जिससे केवल जिसे समझाना चाहते हैं, वह तो समझ जाय, दूसरे न समझ सकें।

इकत्तीसवीं कला है 'पुस्तक वाचन'। पुस्तक बाँचना भी एक कला है। इस ढँगसे पुस्तकको बाँचना कि श्रोताओं पर उसका प्रभाव पड़े। ऐसी लयके साथ बाँचना कि सुनने वालोंका स्वतः ही चित्त खिंच जाय। पुस्तकमें कोई अक्षर छूट गया है, कोई मात्रा उड़ गई है, तो उसे शुद्ध करके बाँचना। जो बाँचे उसे पहिले स्वयं समझ ले, बाँचते समय जैसा विषय हो वैसा ही स्वर बना ले। वीरताका विषय है तो वीरताकी वाणीमे बाँचे। हास्यका विषय है तो वैसे चेष्टा बनाता हुआ बाँचे। अर्थात् जिस विषयको बाँचे उसमें स्वयं तन्मय हो जाय। पुस्तक बाँचनेकी कला भी सभीको नहीं आती।

बत्तीसवीं कलाका नाम है—'नाटकाख्यायिका दर्शन'। नाटक क्या होता है, आख्यायिका क्या होती है, इसका ज्ञान होना इस कलाके अन्तर्गत है। नाटक आख्यायिकाको स्वयं करके दिखा देना, नाटकोंके पात्र बनकर तदनुरूप अभिनय करना यह भी इसी कलाके अंतर्गत है।

तेतीसवीं कलाका नाम है 'काव्य समस्या पूरण'। किसीने कोई आधा या चौथाई पद दे दिया तो उसके मनोगत भावको समझकर उसकी पूर्ति कर देना। कोई बात संक्षेप में कह दी हो, उसका विस्तार पूर्वक वर्णन कर देना। किसीने तीन ही पद दे दिये तो उस चौथे पदकी पूर्ति कर देना काव्य समस्या पूरण कला है।

चौंतीसवीं कलाका नाम है 'पट्टीकावेत्र बाण विकल्प'। किस स्थान पर कैसी पट्टिका लगानी चाहिये, बेतकी वस्तुओं को बनाना अथवा किसको कैसा बेत धारण करना चाहिये। यह

बाण कैसा है, इस बाणका कहाँ किस अवसर पर प्रयोग करना चाहिये इस प्रकार इनके भेद और विधियोंका पूर्ण ज्ञान होना यह इस कलाके अन्तर्गत है।

पैंतीसवीं कलाका नाम है 'तर्क कर्म'। अर्थात् तर्कके ही द्वारा समस्त विषयका ज्ञान कर लेना। जिस विषयको देखे, अपनी तर्कसे उसके कारणको ढूंढ़ लेना।

छत्तीसवीं कला है 'तक्षण'। लकड़ीकी या अन्य धातुकी चन्द्रावर्तके सदृश आकृति बनाना यह एक शिल्पकलाका भेद है, भाँति भाँतिके बेलबूटे बना लेना।

सैंतीसवीं कलाका नाम है 'वास्तु विद्या'। अर्थात् गृह निर्माण कला। घर कैसी भूमि पर बनाना चाहिये। कैसे कार्यके लिये कैसी भूमि अनुकूल रहेगी। घर कैसे बनाना चाहिये। किस ढँग से बनाना चाहिये। घर बनानेके सम्बन्धकी जितनी बातें हैं वे सब वास्तु विद्या कलाके अन्तर्गत आ जाती हैं।

अड़तीसवीं कला है 'रूप्य रत्न परीक्षा'। अर्थात् चाँदी आदि धातुओंकी, रत्नोंकी परीक्षा करना। यह रत्न कैसा है, इसका क्या मूल्य है, यथार्थ है या बनावटी। सराफ या जौहरी इस कलामें निपुण होते हैं।

उन्तालीसवीं कलाका नाम है 'धातु वाद'। सोना चाँदी यावन्मात्र धातु है, सबकी विधिवत परीक्षा कर लेना, उनके भेद जान लेना, एक धातुको दूसरी धातुमें मिलानेकी विधि जानना। ये सभी कार्य इस विद्याके अन्तर्गत आ जाते हैं।

चालीसवीं कला है 'मणिराग ज्ञान' अर्थात् मणियों के रंगका ज्ञान। लाल, हीरा, मोती पुखराज, नीलम तथा अन्यान्य मणियोंके रंगको जानना। उनकी जातिको पहिचानना। कृत्रिम रंगोंसे रंग देना ये सब मणिके रंग सम्बन्धी बातें इसी कलाके अन्तर्गत आ जाती हैं।

इकतालीसवीं कला है, 'आकर ज्ञान'। भूमि को देखकर ही बता देना यहाँ सुवर्ण की खान है, यहाँ चाँदी की खान है, यहाँ ताँबा है, कोयला, पत्थर तथा अन्यान्य वस्तु हैं। इस कला के प्रभाव से सैकड़ों हाथ नीची गड़ी हुई वस्तुओं को बता देते हैं।

ब्यालीसवीं कला है, 'वृक्षायुर्वेद' योग। अर्थात् वृक्षों को देखकर यह बता देना, इनकी कितनी आयु है। रोगी वृक्ष की चिकित्सा करना। किस प्रकार कैसी खाद देने से वृक्ष जीवित रहेंगे और बढ़ेंगे। कब पानी देना चाहिये, कब खाद देनी चाहिये। इस वृक्ष में किसकी कलम लगाई जा सकती है। गुठली कैसे छोटी की जा सकती है। अमुक फल बिना बीज का कैसे बनाया जा सकता है। अमुक पौदा कब रोपा जाता है। वृक्षों के फलों को कैसे बढ़ाया जा सकता है, कैसे मीठा फल किया जा सकता है। एक फल में दो प्रकार के स्वाद कैसे लाये जा सकते हैं। ये सब बातें इस विद्या के प्रभाव से जानी जा सकती हैं। वृक्षों के सम्बन्ध की समस्त बातें इसी विद्या के अन्तर्गत हैं।

तैंतालीसवीं कला है, मेष कुक्कुट लावक युद्धविधि। दो मेढ़ाओं को लड़ाना। कुक्कुटों का युद्ध कराना, तीतरों को लड़ाना यह भी एक कला है। लड़ानेवाले इनको पालते हैं और पण लगा कर दूसरे के पालतू मेढ़ा, बकरा, कुक्कुट तथा तीतरों से उन्हें लड़ाते हैं। बहुतों की इसी से आजीविका चलती है।

चौवालीसवीं कला है, 'शुक सारिका प्रलापन'। बिना पढ़े तोता तथा मैनाओं को पढ़ाना। उन्हें बोलना सिखाना। उनके स्वर को आकर्षक बनाना यही सब बातें इस कला में सिखाई जाती हैं।

पैंतालीसवीं कला, 'उत्सादन'। उत्सादन कला वह कहलाती है, जैसे किसी दो में परस्पर में अत्यधिक आसक्ति हो गई है, एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकता। ऐसी दशा में मंत्र प्रयोग द्वारा

या अन्य किसी युक्ति से उनके मन को ऐसा फेर देना, कि उनमें से एक छोड़कर अन्यत्र चला जाय। जब आसक्ति परस्पर में अधिक हो जाती है, तो बिना कला कौशल के वह छूटती नहीं।

छियालीसवीं कला है—'केश मार्जन कौशल'। अर्थात् बालों को धोने की चातुरी। किस युक्ति से बाल धोने से सुन्दर, स्वच्छ, मृदुल और सुगंधित होंगे। किन किन द्रव्यों से उन्हें धोना चाहिए और फिर किन सुगंधित द्रव्यों के धूँए से उन्हें सुखाना चाहिये।

सैंतालीसवीं कला का नाम है 'अक्षर मुष्टिका कथन'। आँखों पर गीले आटे को चिपकाकर उसके ऊपर पट्टी बाँध दे। तब पुस्तक को पढ़ दे। अथवा कोई भी मनुष्य मुट्ठी में किसी वस्तु को बन्द कर दे और उसे बता दे कि तुम्हारी मुट्ठी में अमुक वस्तु है और इनका प्रदर्शन भी करते हैं।

अड़तालीसवीं कला का नाम है, 'म्लेच्छित कुतर्क विकल्प'। विविध देश की भाषाओं का ज्ञान होना। अर्थात् विदेशी भाषाओं और लिपियों को समझने की सामर्थ्य आ जाना।

उनचासवीं कला है 'देश भाषा ज्ञान'। अपने देश की विभिन्न भाषाओं का ज्ञान होना। किस देश में कौन सी भाषा बोली जाती है, उसके व्याकरण के क्या नियम हैं, उसके साहित्य में किस विषय के ग्रन्थ अधिक हैं।

पचासवीं कला का नाम है 'पुष्प शकट का निमित्त ज्ञान'। कौआ, पशु, पक्षी आदि को देखकर यह जान लेना कि भविष्य में क्या होगा। अथवा पुष्पक शकट का नामक वायुयान बनाने की विद्या विशेष है, उसके निमित्त का ज्ञान। उड़न खटोला या वायुयान बनाना।

इक्यावनवीं कला है—यन्त्रमातृका धारणमातृका—भोजपत्र

पर या अन्य किसी पर यन्त्र लिखकर देना। ताग गंडे या यन्त्र बनाना और उन्हें धारण करके उनकी सामर्थ्य से कार्य कराना। अथवा प्रतिमाओंका चलाना उनसे बातें कराना आदि आदि क्रियायें इसके अन्तर्गत हैं।

बावनवीं कला नाम है 'सम्पाट्य'। हीरा आदि काटने पर भी नहीं कटते। उन्हें युक्तिद्वारा काटना उनके दो टुकड़े करना आदि बातें इस कलाके अन्तर्गत हैं।

तिरेपनवीं कला का नाम है 'मानसी काव्य क्रिया'। दूसरेके मनमें जो बात हो उसी भावको समझकर छन्दबद्ध कर देना मानसी समस्याको समझकर उसकी पूर्ति कर देना।

चौअनवीं कलाका नाम है 'अभिधान कोश'। अर्थात एक साथ सौ आदमियोंके कहे हुए वाक्योंको पुनः ज्यों का त्यों बता देना। ऐसे लोगोंको शतावधानी कहते हैं अथवा किसी भी पुरुषको देखकर छन्दोबद्ध उसका सब वृत्त बता देना ये सभी बातें इस कलाके अन्तर्गत हैं।

पचपनवीं कलाका नाम 'छन्दो ज्ञान'। विविध प्रकारकी छन्दोंका ज्ञान होना या भाँति भाँति के छन्दोंको बनानेकी शक्ति होना। अथवा छन्दोंके गुण दोष समझकर उनकी अलोचनाकी सामर्थ्य रखना ये सभी बातें इस कलाके अन्तर्गत हैं।

छप्पनवीं कलाका नाम है—'क्रिया विकल्प'। एक ही क्रियाको विविध प्रकारसे सम्पन्न करना। एक ही कार्यको नाना उपायों से करना। स्त्रियोंके मनकी बातको जान लेना।

सत्तावनवीं कलाका नाम है 'छलितकयोग'—दूसरोंको नाना उपायोंसे छल लेना अर्थात् दूसरोंको उल्लू बना कर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेना। दूसरोंको ठग लेना यह भी एक बड़ी भारी कला है। ठग अनेक उपायोंसे ठग विद्या करते हैं। बनावटी सोना डाल देते हैं। फिर उससे मिल जाते हैं। व्यापारी

के यहाँसे चतुरतासे हीरा मोतीकी माला ले आते हैं। इस कलामें निपुण व्यक्ति दूसरोंकी आँखोंमें धूलि झोंककर उसके देखते देखते मालको उड़ा ले जाते हैं। कलियुगमें इस कलाका बड़ा प्रचार है। एक आदमी एक दो घोड़ेकी सुन्दर बहुत गाड़ीमें बैठकर एक जौहरी की दुकान पर गया। उसने सबसे सुन्दर मणियोंकी माला माँगी। जौहरीने साधारण मणियोंकी माला दे दी। उसने कहा—"मैं गाड़ीमें बैठी अपनी पत्नीको दिखा लाऊँ।" दिखाने गया लौटकर कह दिया—"इससे भी अच्छी दीजिये"। उसने इससे भी अच्छी दी। फिर दिखाने गया। फिर कहा—'इससे भी अच्छी दीजिये'। जब जौहरीने सबसे सुन्दर मणि माला दी तो उसे ले गया। उस घोड़ा गाड़ीके पीछे एक ओर वेगवती सवारी लगी थी। उसमें चढ़कर उस बहुमूल्य मालाको लेकर चला गया। जौहरी देख रहा था। घोड़ा गाड़ी, खड़ी है। जब बहुत देर तक नहीं आया तो उसने नौकरोंसे कहा। नौकरोंने देखा उसमें न पत्नी हैं न पति। गाड़ीका हाँकने वाला भी नहीं है। दो चार हजारकी गाड़ी छोड़ कर करोड़ोंके मालको छल ले गया। ऐसे ही अनेक प्रकारसे दूसरों को छलना इस कलाके अन्तर्गत है।

अट्ठावनवीं कलाका नाम है 'वस्त्र गोपन'। अर्थात सूती वस्त्र दिखाया उसका रेशमी बना दिया। रेशमी दिखाया उसका ऊनी बना दिया। अथवा वस्त्रोंके द्वारा भले आदमीको बुरा बना दिया। बुरे लोगोंको वस्त्रादि पहिनाकर प्रतिष्ठितके समान बना दिया।

उनसठवीं कलाका नाम है 'द्यूत विशेष'। जूआ खेलनेकी कला अपना ही दाव आने देना। दूसरोंका पाशा पड़े तो उसे भी कौशलसे उलट देना। जैसे शकुनि दुर्योधन और धर्मराज की द्यूत क्रीड़ामें छल कर देता था।

साठवीं कलाका नाम है 'आकर्ष क्रीड़ा' अर्थात् आकर्षक

क्रीड़ा करना। क्या करने से स्त्री आकर्षित होती है। किस समय कौन सी बात कहनी चाहिये। कैसे भाव प्रदर्शित करने से क्रीड़ा में आकर्षण होता है। नाना प्रकार की क्रीड़ाओं से कामिनियों को अपनी ओर आकर्षित करना यह काम कला कहलाती है। अथवा खेल की सामग्री दूसरे स्थान पर हो उसे भी यहाँ आकर्षित कर लेना यह आकर्षक क्रीड़ा कला है।

इकसठवीं कला का नाम है 'बाल क्रीड़नक'। बालकों को खिलानेकी कला। बालक तनिक-तनिकसी बातों पर अड़ जाते हैं, रो जाते हैं। उन्हें भांति-भांति की बात कहकर हँसा देना। उन्हें बहलाना यह भी कला है। स्त्रियाँ इस कला में बड़ी निपुण होती हैं। एक स्त्री अपने बच्चे को पतिको देकर बाहर किसी काम को गई। लड़का कुछ देर तक तो खेला फिर रोने लगा। पिता ने पूछा—"तू क्या लेगा?" लड़के ने कहा—"मैं गुड़ लूँगा।" पिताने एक डली गुड़ दी। बच्चे ने कहा—"मैं बहुत लूँगा।" पिताने उससे बड़ी दी। लड़का रोने लगा। म तो बहुत लूँगा। पिता जितनी भी बड़ी डली लाता, लड़का कह देता—"मैं तो बहुत लूँगा।" अन्तमें उसने भेली उठाकर रख दी। लड़का फिर भी कहता रहा मैं तो बहुत लूँगा। पिता बड़ा झुँझलाया। यह लड़का बड़ा हठी है। लड़का मानता ही नहीं था, रोता था पैर पीटता था। इतने में ही उसकी माँ आ गई। पति ने कहा—"यह लड़का तोबड़ा हठी है! तुम कैसे इसे रखती हो। तबसे रो रहा है, मैं बहुत गुड़ लूँगा। मैंने भेली दी फिर भी नहीं मानता।"

माता हँसी और बोली—"बालकों को बहलाने की भी एक कला होती है। देखो, मैं अभी चुप करती हूँ। यह कहकर माताने एक बड़ी एक छोटी दो गुड़की डली रख दीं और बोली—"इनमें से तुझे जो बहुत दिखाई दे उसे ले ले।" बालक ने हँसते-हँसते बड़ी डली उठा ली और वह प्रसन्न हो गया।

इस प्रकार बच्चों का भाँति भाँति से मनोरंजन करना यह बाल क्रीडनक कला कहलाती है।

बासठवीं वैनायिकी तिरसठवीं वैजायिकी और चौसठवीं वैतलिकी ये चौसठ कलायें हैं। गरुड़ सम्बन्धी विद्या वैनायिकी कहाती है। सर्पों का विष उतारना, आकाश गमन करना इसके अन्तर्गत हैं। वैजायिकी कला जिससे विजय हो और भूत वैतालोंको सिद्ध करने की विद्या वैतालिकी कहाती है। इनका बहुत विस्तार है। यहाँ संक्षेप में मैंने इनका वर्णन किया है। इनमें से बहुत सी कलायें लुप्त प्राय हो गई हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाइयों ने संयतचित्त होकर ये सबकी सब चौंसठ कलायें चौंसठ दिन मे साङ्गो पाङ्ग सीख लीं। जब सब अध्ययन समाप्त हो गया। तब दोनों भाइयों ने गुरुजी के सम्मुख दक्षिणा देने का प्रस्ताव किया। अब गुरुजी जैसे गुरु दक्षिणा माँगेंगे वह कथा मैं आगे कहूँगा। आप सब संयतचित्त होकर इस परम पुण्यमय प्रसंग को सुनने की कृपा करें। जैसे भगवान् अनंत हैं वैसे ही उनकी विद्या अनन्त है, लीला अनन्त है, उसका पार कौन प्राणी पा सकता है।"

छप्पय

काव्य समस्यापूर्ति पट्टिकावेत्र सुदीक्षा।
तर्क कर्म तक्षण हु शानगृह रत्नपरीक्षा॥
धातु रसायनशान रंगमणि खानिग्यान बर।
तरुविद्या खगयुद्ध जानिवो शुकपिकको स्वर॥
उत्सादन कचमारजन मूँठी वस्तु बतावनो।
भाषा देशी-विदेशी शान विमान बनावनो॥

छप्पय

प्रतिमाचालन मणिभेदन परनिष्ठ [illegible]
पर मन कवितांशान छन्द नारीगान; [illegible]
छलित योग पट गोपन जूथा [illegible]
बालक क्रीड़ा ज्ञान शेष [illegible] [illegible]
चैजयिकी वैनायकी, वैतालिकी [illegible] ।
चौंसठ हू ये सब कला, [illegible] [illegible] ॥

गुरुदक्षिणा प्रस्ताव

(१०५२)

अहोरात्रैश्चतुः षष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः ।
गुरुदक्षिणयाचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५२ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

करि गुरुकुल महँ वास पढ़ी विधिवत विद्या सब ।
दोनों गुरु तैं कहैं दक्षिणा देहिँ कहा अब ॥
अद्भुत महिमा निरखि विचारें मन महँ गुरुवर ।
मागूँ इनतैं कहा करन सम्मान आये घर ॥
गुरुपत्नी बोली विभो ! मेरी यह इच्छा प्रबल ।
लावें सुनहिँ समुद्र तैं, डूब्यो प्रथम प्रभास थल ॥

प्राचीन प्रथा थी, कि जब शिष्य शिक्षा समाप्त करके व्रत स्नान कर, गुरुकुलसे चलने लगता, तो गुरुसे गुरु दक्षिणाके लिये प्रार्थना करता । सामान्यतया आचार्य यही कह देते थे—"भाई ! तुमने यहाँ रहकर मेरी जो इतनी सेवा की है,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! दक्षिणा पाकर गुरु सान्दीपनी मुनि कहने लगे—"वत्स ! तुम दोनों ने अपनी गुरुदक्षिणा भलीभाँति चुका दी । जो तुम्हारे जैसों का गुरु है, उसकी कौ सी कामना शेष रह सकती है ?"

यही पर्याप्त है। मैं तुमसे वैसे ही प्रसन्न हूँ।" इस प्रकार कहकर शिष्य को सन्तुष्ट कर देते थे। शिष्य एक गौ दान देकर स्नातक होकर चला जाता था। किन्तु जब कोई शिष्य विशेष हठ करता, कि मुझसे कोई मनमानी दक्षिणा माँगिये, तो गुरु उसे कोई इच्छित वस्तु लाने को कहते। गुरु अपनी पत्नी से सम्मति करके किसी बहुमूल्य वस्तु को लाने का आदेश करते। शिष्य राजाओं के समीप जाता। उन दिनों ऐसा सदाचार था, कि गुरु दक्षिणा देने के लिए कोई स्नातक किसी राजा से किसी वस्तु की याचना करता, तो वह उसे अपना अहोभाग्य समझता और अपनी शक्ति के अनुसार उसकी इच्छा पूर्ण करता। गुरु दक्षिणा के लिए स्नातक को धन देना परम पुण्यमय कार्य समझा जाता था। महाभारत के आरम्भ में ही कथा आती है कि आचार्य वेद के समीप उत्तङ्क नामक एक छात्र रहता था। जब वह विद्या समाप्त कर चुका तो उसने इच्छित गुरुदक्षिणा देने की गुरु से प्रार्थना की। गुरु ने सरलता से कह दिया—"तुमने धर्म पूर्वक हमारी सेवा की, यही पर्याप्त है।" उत्तङ्क ने बार बार हठ किया। तब गुरु ने कहा—"अपनी गुरुमाता की इच्छा पूर्ण करो। शिष्य गुरुमाता के पास गया। स्त्रियों को तो सुन्दर आभूषण चाहिये। गुरुपत्नी ने कहा—"एक दिन मैं पौष्य राजा के यहाँ गई थी। उसकी रानी कानों में बड़े सुन्दर कुण्डल पहिने थी। उन्हें जैसे हो तैसे मुझे ला दो। उन्हें पहिनकर मैं ब्राह्मणों को भोजन कराऊँगी।" कथा बहुत बड़ी है उत्तङ्क कुण्डल लाने गया, उसे बड़ी बड़ी विपत्तियाँ उठानी पड़ीं। अन्त में जैसे तैसे लाया। इसी प्रकार की एक नहीं अनेकों कथायें हैं सभी सच्छिष्यों की यह आन्तरिक इच्छा होती है, कि चलते समय हम आचार्य को इच्छित वस्तु गुरु दक्षिणा में देकर उन्हें सन्तुष्ट करके—उनका हार्दिक आशीर्वाद लेकर

तब घर जायँ। क्योंकि गुरु के आशिर्वाद से ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब दोनों भाइयों ने अल्प काल में ही समस्त विद्याओं को पढ़ लिया तब आचार्य सान्दीपिनी मुनि ने कहा—"पुत्रो! तुमने अल्पकाल में ही मेरे पास जितनी विद्या थी, सब पढ़ ली। अब तुम व्रत स्नान करके सुख पूर्वक घर जा सकते हो।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—"प्रभो! हमने आपकी कृपा से ही विद्या प्राप्त की है। आज्ञा कीजिये हम आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें। गुरु दक्षिणा में कौन सी वस्तु आपको दें। आप जो संभव असंभव आज्ञा देंगे, हम, उसी का पालन करेंगे। कैसी भी अलभ्य वस्तु की आज्ञा देंगे, उसीको हम लाकर उपस्थित करेंगे।"

गुरुजी ने कहा—"पुत्रो! तुमने अपने शरीर के सुखों को त्यागकर निष्कपट भाव से हमारी सेवाकी है, यही पर्याप्त गुरु दक्षिणा है। तुम्हारा कल्याण हो तुम सुख पूर्वक अपने घर जाओ।"

भगवान् बोले—"नहीं, भगवन्! आप हमें कोई ऐसी आज्ञा दें, जिसके करने से हमें भी प्रसन्नता हो और आपको भी सुख प्राप्त हो।

दोनों भाइयों के अत्यन्त आग्रह को देखकर आचार्य बोले—"भैया! मुझे तो किसी वस्तु की आवश्यकता है नहीं, यदि तुम बहुत ही आग्रह करते हो, तो मैं जाकर तुम्हारी गुरुमाता से पूछता हूँ, वह जो कहे वह तुम कर देना।"

भगावन् बोले—"अच्छी बात है, आप हमारी गुरु माताजी से ही पूछकर आज्ञा दें।" यह सुनकर गुरुजी घर के भीतर गये और अपने पत्नी से बोले—"पंडितानी! सुनती है।

तेरे राम-कृष्ण अब सब विद्या पढ़ गये हैं। वे स्नातक होकर अपने घर जा रहे हैं। मुझसे गुरुदक्षिणा देने को बहुत आग्रह कर रहे हैं। तुझे कुछ आवश्यकता हो, तो उनसे माँग ले।"

गुरुजी बोले—"महाराज! आपकी कृपा से सभी तो है, माँगना क्या है?"

आचार्य बोले—"हाँ, नारायण की कृपा से सभी कुछ तो है। फिर भी तुम्हारी कोई भीतरी इच्छा हो, कोई मूल्य से मौल्यवान वस्तु की अकांक्षा हो, तो कह दो। ये दोनों बालक सामान्य बालक नहीं हैं। ये असम्भव को संभव बना सकते हैं। मृतक को जीवित कर सकते हैं।"

मृतक को जीवित करने की बात सुनकर गुरुपत्नी को अपने मृतक पुत्र की याद आ गई। बहुत दिन की बात है, ये किसी पर्व विशेषपर प्रभास क्षेत्र में गई थी। वहाँ समुद्र स्नान करते हुए उनका लड़का समुद्र में डूब गया। गुरुपत्नी को वह लड़का अत्यन्त ही प्यारा था। अभी तक वे उस बालक की भोली भोली सूरत को भुला नहीं सकी थीं। उनके मन में आई क्यों नहीं मैं राम-कृष्ण से अपने मृतक पुत्र को लाने के लिये कहूँ। 'वे स्वयं श्रीकृष्ण की अलौकिक महिमा को देख चुकी थीं। तभी से उन्हें निश्चय हो गया था, ये साधारण पुरुष नहीं हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आचार्य पत्नी ने भगवान् की कौन सी ऐसी अमानुषी लीला देखी थी?"

सूतजी बोले—"महाराज! एक दिन की बात है, भगवान् बैठे हुए सन्ध्या वन्दन कर रहे थे। समीप में ही गुरु पत्नी गौ का दुहने का उपक्रम कर रही थीं। बछड़े को दूध पिला-कर उसे गौ के पैरों से बाँध दिया। दुहनी दूर पर रखी थी। बछड़े को छोड़कर वे दुहनी लेने जा नहीं सकती थीं। अतः वहीं बैठे बैठे गौ के स्तनों को पकड़े ही पकड़े उन्होंने

"कृष्ण भैया ! तनिक मेरी दुहनी तो उठाकर दे जाना।"

भगवान् उस समय सूर्य नारायण को अर्घ्य दे रहे थे। अर्घ्य बिना दिये बीच में से उठ नहीं सकते थे, साथ ही आचार्य पत्नी की आज्ञा को टाल नहीं सकते थे। अतः दो हाथों से तो वे अर्घ्य देते रहे और दो हाथ और निकाल वहीं से उन्हें बढ़ाकर उनसे आचार्य पत्नी को दुहनी थमा दी। यह देखकर आचार्य-पत्नी को बड़ा आश्चर्य हुआ। तभी से वह समझ गई कि यह कोई साधारण बालक नहीं। कुछ काल में आचार्यपत्नी इस बात को भूल गईं। आज प्रसङ्ग आने पर वह बात पुनः स्मरण हो उठी। तब उन्होंने आचार्य से कहा—"एक मेरी इच्छा है, किन्तु उसे कहने में मुझे संकोच लगता है।"

आचार्य ने बात पर बल देते हुए कहा—"संकोच की क्या बात है, वे तो अपने घर के बालक हैं, तुम्हारी जो इच्छा हो, कह दो। वे तो करने को उद्यत ही बैठे हैं।"

आचार्यपत्नी ने कहा—"आपको स्मरण ही होगा, मेरा जो पुत्र प्रभास यात्रा के समय समुद्र में डूब गया था, उसे मैं अभी तक नहीं भुला सकी। यदि राम कृष्ण मेरे उस बच्चे को किसी प्रकार समुद्र से ला सकें तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

यह सुनकर आचार्य मन ही मन अप्रसन्न हुए। स्त्रियों को यही, बहू बच्चों की चाहना बनी रहती है। इतने बड़े ईश्वर को पाकर उनसे भक्ति माँगती, मुक्ति माँगती, सो तो माँगा नहीं। माँगा क्या, हाड़ मांस का एक पुतला। किन्तु उन्होंने ऊपर से कुछ कहा नहीं। यही कह दिया—"अच्छी बात है मैं उनसे जाकर कहता हूँ।"

बाहर आकर उन्होंने प्रतीक्षा में खड़े हुए राम कृष्ण दोनों से कहा—"भाई, सुनते हो। तुम्हारी गुरुमाता ने प्रभास में मृतक

अपने पुत्र की याचना की है।"

भगवान् ने कहा—"गुरुदेव ! वह बालक कैसे मरा था ?"

आचार्य सान्दीपिनी ने कहा—"हम यात्रा में प्रभास गये थे। यज्ञ कर रहे थे, वह बालक समुद्रमें स्नान करने गया था, डूबकर मर गया। समुद्र ने उसे अपने उदर में छिपा लिया।"

भगवान् ने आवेश के साथ कहा—"समुद्र का ऐसा साहस कि हमारे गुरु-पुत्रको वह अपने उदर में छिपा ले। आचार्य देव ! आप कोई चिन्ता न करें। हम अभी जाते हैं और समुद्र का निग्रह करके उससे उस बालक को लाते हैं। आप और माताजी निश्चिन्त रहें। आप अपने पुत्र को आया हुआ समझें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार कहकर वे दोनों परम पराक्रमी वीर महारथी भाई रथ पर चढ़कर प्रभास में समुद्र के किनारे गये। वहाँ जाकर वे बहुत देर तक समुद्र के तट पर बैठ रहे। समुद्र ने जब देखा कि साक्षात् श्रीमन्नारायण अतिथि रूप में मेरे किनारे पर आये हैं, तो वह मनुष्य रूप रखकर पूजा की बहुत सी सामग्री लेकर दोनों भाइयों के सम्मुख आया। अब दोनों में जैसी बातें होंगी, वह प्रसङ्ग मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

दोऊ रथ चढ़ि चले नीरनिधिके ढिँग आये।
गुरु सुत देहु समुद्र रोपतैं वचन सुनाये॥
दीयो असुर बताय पञ्चजन सो हरि मारयो।
गुरुसुत तहँ नहिं मिल्यो पाञ्चजन शंख निकारयो॥
संयमनी यमकी पुरी, महँ दोउ भाई गये।
राम-कृष्ण कूँ निरखि यम, अति ही आनन्दित भये॥

गुरु दक्षिणा देकर गृहागमन

(१०५३)

सम्यक् संपादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः ।
को न युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ॥❀
(श्री भा० १० स्क० ४५ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

करि पूजा यम कहें नाथ तुम अन्तरयामी ।
कीयो दान कृतार्थ करें कछु आयसु स्वामी ॥
हरि बोले—'गुरु तनय यहाँ आयो तिहि लायो ।
है विशेष यह नियम नहीं अब देर लगाओ' ॥
यमने दीयो तुरत शिशु, राम श्याम गुरु कूँ दयो ।
पाइ मृतक सुत सुख अधिक, गुरु अनजानी कूँ भयो ॥

समस्त नियमोंके बनाने वाले श्रीहरि हैं। जिसमें जिसे बनानेकी शक्ति होती है उसमें उसे तोड़नेका भी सामर्थ्य होता है। एक तो होता है सामान्य नियम, वह सब पर लागू होता है है। एक विशेष नियम होता है, जो सामान्य नियमके विपरीत

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"हे नृप ! श्रीबलरामजी तथा श्रीकृष्ण चन्द्र दोनों भाइयों ने संयतचित्त होकर चौंसठ दिन रात्रि में चौंसठ कलाएँ सीख लीं। तदनन्तर विद्या समाप्ति के उपलक्ष में उन्होंने आचार्य से गुरुदक्षिणा माँगने की विनती की।"

होता है, कि सामान्यसे विशेष सदा बलवान् होता है। विशेष नियम होने पर सामान्य नियममें अपवाद हो जाता है। जैसे सामान्य नियम है, जो आदमी मर गया—यम लोक चला गया—फिर वह लौटकर नहीं आता, किन्तु भगवान् चाहें तो वह लौट भी सकता है। सभी लोक तो उन्हींके बनाये हुए हैं। सभी लोकोंके लोकपाल तो उन्हींके नियुक्त किये हुए हैं। वे जब जिसे जैसी चाहें आज्ञा दे दें।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन! राम और कृष्ण दोनों भाई जब समुद्र तट पर जाकर बैठे थे, तब मनुष्य रूप रखकर और अनेक थालोंमें रत्न आदि पूजाकी सामग्री लेकर समुद्र उनके निकट आया। आकर उसने दोनों भाइयोंके चरणोंमें प्रणाम किया, उनकी विधि पूर्वक पूजा की। भगवान्ने पूछा—"भाई! तुम कौन हो?"

समुद्रने कहा—"प्रभो! मैं इस जल निधि समुद्रका अधिष्ठातृ देव हूँ।"

भगवान् बोले—"अरे, भाई! हम तो तुम्हारे पास ही आये हैं। तुमने हमारे गुरु पुत्रको डुबा लिया था, तुम उसे अपनी तरङ्गोंसे बहा ले गये। उसे हमें ज्यों का त्यों लौटा दो।"

समुद्रने कहा—"भगवन्! मैंने उस बालकको अपनी तरङ्गों से नहीं डुबाया है। वह तो किनारे पर ही खड़ा था। इतनेमें ही मेरे जलमें रहने वाला एक पञ्चजन्य नामक असुर आया। प्रभो! वह बड़ा भारी शंखका रूप रखकर मेरे जलमें रहता है, वही उस बच्चेको निगल गया था! उसके अतिरिक्त मेरे यहाँ आपके गुरु पुत्रको चुराने वाला दूसरा कोई नहीं है।"

भगवान्ने कहा—"लाओ, हम उस असुर शंखासुरको ही मारते हैं!" यह कहकर वे शंखरूप धारी पञ्चजन्य असुर को मारने चले।

इस पर शौनकजीने कहा—"सूतजी ! क्या भगवान् इतने भोले बन गये, कि वे यह भी नहीं जानते, कि असुर खा गया भी होगा, तो बच्चा उसके पेटमें तो बैठा ही न होगा। उसे पचा गया होगा। बिना बात असुरको मारने को भगवान् उद्यत क्यों हो गये ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान्‌की आप कुछ न पूछिये। जब ये भोले बनते हैं, तो ऐसे भोले बनते हैं, कि भोलेपनकी पराकाष्ठा कर डालते हैं और जब चतुर बनते हैं, तो चतुरताकी सीमा तक पहुँचा देते हैं। इनका कोई भी काम व्यर्थ नहीं होता। कोई निमित्त बनाकर ये एकमें अनेक कार्य कर डालते हैं। गुरु-पुत्रको ढूँढने का तो एक उपलक्षण मात्र था, वास्तवमें तो उन्हें शंखासुर को मारना था, वह प्राणियोंको अत्यधिक पीड़ा देता था। दूसरे उसका शरीर शंख रूपमें था। भगवानको एक बजानेके लिये शंखकी आवश्यकता थी, अतः उस असुरको मारकर उससे शंख लेना था। इसीलिये भगवान उसे मारनेको उद्यत हुए।"

शौनकजीने कहा—"हाँ, सूतजी ! बात ऐसी ही है। भगवान् क्या करना चाहते हैं, उनकी लीला वे ही जानते हैं। अच्छा, तो हाँ फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"और महाराज ! होना क्या था, शङ्खासुर का उद्धार करना था। सो हो गया। भगवान जलमें घुस गये और जाकर शङ्खासुरको मार डाला। उसके पेटको फाड़कर देखा, उसमें बालक तो था नहीं। एक बड़ा भारी शङ्ख उसके शरीरमेंसे प्रकट हुआ। भगवानने सोचा—"अच्छा, कोई बात नहीं। जोई राम सोई राम। लाओ इस शङ्खको ही ले चलें। यह सोचकर वे पञ्चजन्य असुरके शरीरसे प्रकट हुए, शङ्खको लेकर दक्षिण दिशामें लोकपाल यमराज की संयमनी नामकी नगरी में गये। नगरीके द्वार पर ही उन्होंने तुमुल ध्वनिके साथ पाञ्चजन्य शङ्खको

बजाया। भगवानके शङ्खका शब्द सुनते ही संयमनी पति यमराज समझ गये, कि यह भगवान्‌के शङ्खकी ध्वनि है। तुरन्त वे उठकर खड़े हो गये। आकर भगवानका चरण वन्दना की है। सुवर्ण सिंहासनों पर दोनों भाइयोंको बिठाकर उनकी पूजा की। तदनन्तर हाथ जोड़कर अत्यन्त विनम्रताके साथ सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णचन्द्र भगवानसे संयमनी-पति यमराज कहने लगे—"हे सर्वान्तर्यामी प्रभो। मेरे योग्य जो कार्य हो उसके लिये आज्ञा प्रदान करें। आज आपके चरणोंकी रजसे यह पुरी परम पावन बन गई। मैं आप दोनोंकी कौनसी सेवा करूँ?"

यह सुनकर यमराजके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए भगवान् बोले—"हे संयमनी-पति महाराज धर्मराज! देखिये, हमारे गुरुका पुत्र आपके दूतों द्वारा यहाँ लाया गया है।"

यमराजने कहा—"हाँ, प्रभो! हमें आपने यही कार्य सौंपा है, पृथिवी पर जिसका समय समाप्त हो जाता है, वह यहाँ लाया जाता है। सभी प्राणी स्वकर्म सूत्रमें आबद्ध हैं। उसी कर्म बन्धन में बंधा आपका गुरु-पुत्र भी यहाँ लाया गया है।"

भगवान्‌ने कहा—"अच्छी बात है, उसे यहाँ ले आओ। हम उसे फिरसे पृथिवी पर ले जाना चाहते हैं।"

यमराजने दीनतासे कहा—"प्रभो! ऐसा तो होगा नहीं, नियम ऐसा ही है, कि जो यमलोकमें आ गया, वह फिर दूसरे शरीरसे ही पृथिवी पर उत्पन्न हो सकता है।"

भगवान् बोले—"हाँ, यह तो हम भी जानते हैं, किन्तु यह हमारी विशेष आज्ञा है। हम अपने विशेषाधिकारसे आज्ञा दे रहे हैं।"

यमराजने कहा—"तब भगवान! मुझे क्या आपत्ति हो सकती है समस्त नियमोंके नियामक तो आप ही हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु तथा समस्त भूत आपकी आज्ञासे ही तो कार्य कर रहे

मैं अभी आपके गुरु-पुत्रको लाता हूँ।" यह कहकर लोकान्तरमें कर्मोंको भोगने वाले गुरुपुत्रसे जीवात्मा को योग प्रभावसे वैसा ही बनाकर यमराज तुरन्त ले आये। लाकर उन्होंने श्रीबलराम तथा श्रीकृष्णको अर्पण किया।

इस प्रकार यमपुरीसे अपने गुरुपुत्रको लौटाकर यमराजको कृतार्थ करके दोनों भाई पुनः अवन्ती पुरीमें लौट आये। गुरुके समीप आकर गुरुमाताके समक्ष उस बालकको देते हुए भगवान् बोले—"गुरुदेव! यह आपका पुत्र है। इसके अतिरिक्त और भी कोई वर माँगे तो उसके लिये भी आज्ञा दीजिये।"

अपने प्राणोंसे प्यारे मृतक पुत्रको पुनः पाकर गुरुदम्पतिको कितनी प्रसन्नता हुई होगी यह कहनेका विषय नहीं है। अनुभव-गम्य ही सुख है। गुरुजीने गद्गद् कंठसे कहा—"पुत्रो! तुम दोनों अपनी गुरु दक्षिणा भली भाँति दे चुके। मेरे लिये यही बड़े सौभाग्यकी बात है, कि मैं आप जैसे ईश्वरोंका गुरु कहलाऊँगा। अब मेरी समस्त कामनायें पूर्ण हो गईं, शिष्य रूपमें तुम्हें पाकर मैं कृतार्थ हो चुका। अब तुम आनन्द पूर्वक प्रसन्नताके साथ अपने घर जाओ। संसार में तुम्हारा सर्वत्र यश फैलेगा। तुम्हारी बड़ी ख्याति होगी। संसारी लोग तुम्हारा परमपावन सुमधुर नाम लेकर इस संसार सागरसे बातकीबातमें तर जायँगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गुरुकी आज्ञा और आशिर्वाद प्राप्त करके दोनों भाई वायुसे भी अधिक वेगशाली रथ पर चढ़कर मथुरा पुरीमें आ गये। लोगोंने जब मेघके समान घर घर करते हुए रथका शब्द सुनातो सबके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। राम-कृष्णको गुरुकुलसे लौटा देखकर मथुरा वासियोंके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। दोनोंके दर्शनोंके लिये भीड़ उमड़ पड़ी। नरनारी नित्य दिन गिन रहे थे, कब रामश्याम आवें, कब उनके दर्शनोंसे हम अपने नेत्रोंको कृतार्थ करें। सभीने हृदयसे दोनोंका स्वागत सत्कार

किया माता, पिता, नाना तथा समस्त पुरजन परिजनों से सत्कृत होकर दोनों भाई सुखपूर्वक मथुरा पुरी में रहकर राजकाज करने लगे। अब मुनियो ! आप कृष्ण वियोग में दुखित ब्रजवासियों की दशा का भी कुछ स्मरण करें। श्रीकृष्ण के वियोग में वे कितने दुखी हो रहे थे। कैसे आँसू बहा रहे थे। अब कुछ विरह की भी कथा श्रवण करें।

छप्पय

आये मथुरा पुरी सुनत सबई उठिधाये।
राम-श्याम के दरश पाइ सब आंत हरषाये॥
द्वै पूरन शशि सरिस सबनि कूँ सुख सरसावैं।
मथुरा मद्दें नित बसैं प्रेम को सोत बहावैं॥
यहाँ छोड़ि कछु काल कूँ, श्री मथुराजी की कथा।
हृदय थामि सोचो तनिक, विरह माँहि ब्रज की व्यथा॥

इससे आगे की कथा छियालीसवें खंड में पढ़ें

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

पञ्चम संस्करण

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्षका एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्व—श्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३४५ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल २·७५ दो रुपया पचहत्तर पैसा है, शीघ्र मँगाइये।

मतवाली मीरा

चतुर्थ संस्करण

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा। उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढंग से आलोचना की है, भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या, प्रेम के निगूढ़ तत्त्वको मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन बेटियों माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढंग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गयी। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २) दो रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला नये चित्र बड़ा कला-पूर्ण है।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

मेरे महामना मालवीयजी

और

उनका अन्तिम संदेश

अधिकारियों ने श्रीब्रह्मचारीजी को विजय दशमी के अवसर पर रामलीला के जुलूस के सम्बन्ध में कारावास भेज दिया था। देश के कोने कोने से युक्तप्रांत के प्रधान मन्त्री के पास सैकड़ों तार पत्र गये। रोग शैय्या पर पड़े पड़े महामना मालवीयजी ने प्रधान मंत्री और गृह मंत्री को तार दिये। व ही उनके अंतिम तार थे। ब्रह्मचारीजी को छुड़ाने को उन्होंने श्रीपन्तजी और मिस्टर किदवई को जो पत्र लिखे वे ही उनके अन्तिम पत्र थे। इन पत्रों को लिखकर और ब्रह्मचारीजी को छुड़ाकर उसके आठवें दिन वे इस असार संसार से चल बसे। इस पुस्तक मे उन पत्रों के लिखने का बड़ा ही सरस, रोचक और हृदयग्राही इतिहास है। महामना मालवीयजी के सम्बन्ध के ब्रह्मचारीजी महाराज को अनेकों सुखद संस्मरण हैं। अन्त मे उनका पूरा ऐतिहासिक सन्देश भी है। पुस्तक बड़ी रोचक और ओजस्वी भाषा में लिखी गयी है, कागज की कमी के कारण बहुत थोड़ी प्रतियाँ छपी हैं, गुटका के आकार के लगभग १३० पृष्ठ हैं। मूल्य ।) मात्र। १) से कम की वी० पी० न भेजी जायगी। स्वयं पढ़िये और मंगाकर वितरण कीजिये। समाप्त होने पर द्वितीय संस्करण शीघ्र न हो सकेगा।

॥ कीर्तनीयः सदा हरि ॥

सचित्र

"भागवत चरित"

[सप्ताह]

जिन लोगों ने श्रीब्रह्मचारीजी द्वारा लिखित "भागवती कथा" पढ़ी होगी, उन्हें विदित होगा कि इसमें प्रत्येक अध्याय के आदि में और अन्त में एक छप्पय होती है, ये छप्पय परस्पर में संबंधित होते हैं। केवल छप्पयों को ही पढ़ते जाओ, तो पूरी कथाएँ क्रमबद्ध आ जायेंगी। कहना चाहिये "भागवती कथा" इन छप्पयों का भाष्यमात्र ही है। इन सब छप्पयों को सात भागों में बाँटकर उनमें भी अध्याय बना दिये गये हैं। बीच में कथा प्रसंग जोड़ने को दोहा, सोरठा, छन्द तथा पद भी सम्मिलित कर दिये गये हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और उनके भक्तों के चरित्र से युक्त यह पद्य काव्य साहित्य की अपूर्व वस्तु हो गयी है। भगवद्भक्तों के लिए तो रामायण की भाँति पाठ करने के लिये यह अलौकिक वस्तु है। सात दिनों मे पारायण करने से भागवत सप्ताह का पूर्ण फल इससे प्राप्त हो जायगा। सुन्दर चिकना कागज पर इसे छपाये हैं। लगभग ९०० पृष्ठ इसमें हैं। सैकड़ों सादे और रंगीन चित्र भी हैं। न्योछावर सजिल्द ५.२५ पैसा है अब तक इसके पाँच पाँच हजार के पाँच संस्करण छप चुके हैं छठा संस्करण छप रहा है थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं। शीघ्रता करें नहीं दूसरे संस्करण की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवत-दर्शन—

भागवती-कथा

(छियालीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)
संशोधित मूल्य २-०० रुपया

—:※:—

संशोधित मूल्य

तृतीय संस्करण
१००० प्रति] ज्येष्ठ—२०२३ विक्र० [मू० १-२५ पै०

प्रकाशक
संकीर्तन भवन धार्मिक न्यास (ट्रस्ट)
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

मुद्रक
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज (प्रयाग)

विषय-सूची

अध्याय संख्या	विषय क्रम		पृष्ठ संख्या
	विरहवेदना	भूमिका	४ से २४
१०५४—	व्रजकी विरहव्यथा	....	२५
१०५५—	विरहकी स्मृतियाँ	...	३२
१०५६—	गोपिकाओंका विरह	...	५६
१०५७—	भगवान् और उद्धवजी	...	७६
१०५८—	उद्धवजीकी व्रजयात्रा	...	८६
१०५९—	उद्धवजी और नन्दयशोदा	...	९३
१०६०—	उद्धवजीद्वारा नन्दयशोदाको सान्त्वना	...	१०४
१०६१—	व्रजाङ्गनाओंकी तर्कना	...	१११
१०६२—	उद्धवजी और व्रजाङ्गनायें	....	११८
१०६३—	भ्रमरगीत	...	१२६
१०६४—	भ्रमरका तिरस्कार	...	१३५
१०६५—	भ्रमरका सत्कार	...	१४२
१०६६—	उद्धवजीद्वारा गोपिकाओंके प्रेमकी प्रशंसा	....	१४८
१०६७—	गोपिकाओंके लिए भगवान्का सन्देश	...	१५४
१०६८—	प्रेष्ठसम्बन्धी प्रियप्रश्न	...	१६१
१०६९—	दर्शनोंकी आशा दुस्त्यज है	...	१६९
१०७०—	उद्धवजीका व्रजवासियोंको सुखद सत्संग	...	१७८
१०७१—	उद्धवजीकी अभिलाषा और गोपियोंकी प्रशंसा	...	१८३
१०७२—	उद्धवजीकी विदाई	...	१९४
१०७३—	उद्धवजीद्वारा व्रजवासियोंका श्यामको सन्देश	...	२०२
१०७४—	कुब्जाको इच्छित वर	...	२११
१०७५—	रामश्यामका अक्रूरगृहगमन	...	२२१
१०७६—	अक्रूर और कुन्ती	...	२३१
१०७७—	अक्रूरजी और धृतराष्ट्र	...	

विरह-वेदना

(भूमिका)

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे ।
विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० २७, श्लो०)

छप्पय

विरह प्रेमको सार हार हिय इक्षु मधुरिमा ।
सुमनगन्ध घृत दुग्ध प्रकृतिकी सुखमय सुषमा ॥
प्रियतमको प्रिय मिलन सरसता सुख सरसावै ।
पुलक अंग हिय हरष नीर नयननिमहँ छावै ॥
किन्तु विरह सुखस्रोत तो, छिन छिन हिय उमड़त रहत ।
होहि वियोग न निमिषभर, मिलै रहत प्रियतम सतत ॥

संगीत और साहित्यमेंसे करुणरस निकाल दिया जाय तो फिर उसमें कुछ भी शेष न रह जायगा । क्योंकि रसशास्त्र कोविदों-का कहना है कि करुणही एकमात्र रस है शेष शृंगार, हास्यादि तो उसके पोषक हैं । करुण रसकी उत्पत्ति विरहसे है । हमारे समस्त सद्काव्यों का पर्यवसान विरह में ही हुआ है । प्रेमरूपी पादपका

---

* श्री उद्धवजी गोपिकाओं से कह रहे हैं—"हे महाभागाओं ! भगवान् नन्दनन्दन के वियोग से तुम्हें उनकी ऐकान्तिक भक्ति प्राप्त होगयी है, उसी वियोग को प्रदर्शित करके तुम सबने मेरे ऊपर बड़ा भारी अनुग्रह किया है ।"

विरहही अत्यन्त मधुर परिपक्वफल है। विरहविहीन प्रेम उस पादपके सदृश है जो हरा-भरा तो बहुत है, सुन्दर भी है सघन भी है किन्तु फलसे रहित है। विरहके परम मर्मज्ञ कबीरजी कहते हैं—

विरहा विरहा मत कहो, विरहा है सुलतान।
जिहिघट विरह न ऊपजै, जो घट जान मसान॥

यथार्थमें वह हृदय श्मशानके तुल्य है जहाँ विरह उत्पन्न न हो। प्रेमका तो निकेतन विरह है। विरहमें ही प्रेम रहता है। विरहके बिना प्रेमकी सत्ता नहीं। विरह परोक्षमें होता है। प्रियतम अपनी आँखोंसे ओझल हो जायँ, तब वे दूसरा रूप रखकर विरह बनकर आते हैं। स्थूल शरीरके मिलनेके लिये तो नेत्र, हस्त, हृदय, मुख आदिकी आवश्यकता होती है, किन्तु विरहके मिलनको तो इनकी भी अपेक्षा नहीं। बाह्य मिलनमें तो विछोहकी भी शंका रहती है किन्तु विरहके मिलनमें तो विछोहकी सम्भावना ही नहीं। हृदयसे निरन्तर मिले रहते हैं, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते सदा प्रियतमसे सटे ही रहते हैं, सदा हृदयसे उनमेंही तन्मय रहते हैं।

शरीर से पृथक् रहने परही विरह होता है। यह भी आवश्यक नहीं। स्थूल शरीर पासमें ही हो तो भी वियोग सुखकी अनुभूति होती है। श्रीवृषभानुनंदिनीको ऐसा विरह प्रायः होता था। एक समय नित्य निकुंजमें श्रीजी श्यामसुन्दरके अंकमें विराजमान थीं। वे प्रियतमके वदनारविन्दको जोह रहीं थीं। श्यामसुन्दरकी चकोरी बनीं आँखें श्रीजीके वदनारविन्दपर गड़ी हुई थीं। सहसा भावजगत में श्रीजीको ऐसा भान हुआ कि प्यारे मुझे छोड़कर चले गये। श्रीजी निद्रामें हों सो भी बात नहीं। उनके नयन खुले थे। सहसा वे चिल्लाने लगीं—"प्यारे! तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले गये?"

श्यामसुन्दर बारम्बार उनके सिरको सुहलाते हैं, छिन-छिन गाढ़ालिङ्गन करते हैं, केशपाशोंको सुलझाते हैं। उनके कान कहते हैं—"प्यारीजी! चेत करो—चेत करो। मैं कहीं गया नहीं हूँ, तुम्हारे पास ही हूँ, तुम्हारे श्री अंगसे सटा हूँ।" किन्तु श्रीजी को चेत नहीं होता, नहीं होता। वे नयनोंसे निरन्तर नीर बहाती हैं, अव्यक्त भाषामें बड़बड़ाती हैं, प्रियतमके अंकमें बारबार करवटें बदलती हैं, हाथ-पैर पीटती हैं, हाय-हाय करके चीत्कार करती हैं। उष्णउष्ण उच्छ्वास छोड़ती हैं। श्यामसुन्दर उन्हें जितनाही धीर बँधाते हैं, वे उतनीही अधीर होती हैं। इसका नाम है प्राप्त संयोगमें भी विरहानुभूति। यह बहुतही ऊँची स्थितिकी बात है। सामान्यतया विरह होता है वियोगमें। दोनों ही ओरसे विरहानुभूति होती है। वेदनाकी तीव्रता जितनीही अधिक होगी, विरहका आनन्द भी उतनाही उत्तोरत्तर बढ़ता जायगा। वियोगकी आर्ति सबको नहीं होती। किसी भाग्यशाली को ही विरह मिलता है। जैसे अपनी ऐकान्तिक निधि अपने प्रियतमको ही दी जाती है, उसी प्रकार भगवान् विरहको भी सभी प्रेमियोंको नहीं देते। अपने परम सुहृद ऐकान्तिक भक्तोंकोही कृपाकर उसे प्रदान करते हैं।

श्यामसुन्दर स्थूल देहसे वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले आये। इधर मथुरामें वे भी विरह सुखका अनुभव करते, उधर गोपिकायें भी निशिवासर श्यामसुन्दरके विरह सागरमें डूबी रहतीं। उसमें निमग्न रहनेसे वे बाह्य जगतको भूल ही गयीं।

अपने पास कोई अमूल्य वस्तु हो और सम्मुख उसका योग्यपात्र आजाय तो उदार चेता महानुभावों पर रहा नहीं जाता, वे उसे दे ही डालते हैं। हम भोजन करने बैठे हैं, ज्योंही कोई अत्यन्त भूखा आ जाय यदि हम अत्यन्त स्वार्थी, क्षुद्र, उदरम्भर नहीं होंगे तो हमसे रहा ही न जावेगा, तुरन्त उसके

सामने थाल सरका देंगे। उसे भोजन देकर हमें अपने भोजन करनेसे भी अधिक तृप्तिका अनुभव होगा।

श्यामसुन्दर ६४ दिनमें ही पढ़-पढ़ाकर मथुराजी आ गये। उनके नाना उग्रसेन तो नाममात्रके राजा थे। राजकाज तो सब भगवान् वासुदेवको ही करना पड़ता। दिन भर लोगोंकी भीड़ लगी रहती। महाराज! हम आपके दास हैं, अनुचर हैं, भक्त हैं, शरण्य हैं, किंकर हैं, सेवक हैं। हमें यह दीजिये, वह दीजिये, कृपा कीजिये, अनुग्रह कीजिये।"

श्यामसुन्दरके यहाँ कमी ही किस बातकी थी। आठों सिद्धियाँ, नवों निधियाँ हाथ जोड़े आज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़ी रहतीं। वे सबपर कृपा करते, सबके ऊपर अनुग्रहकी वृष्टि करते, सबकी इच्छित वस्तुओंको देते। इससे सभी प्रसन्न रहते। याचक नित्य आकर स्तुति करते। स्तुति-विनय करनेवालोंके झुन्डके झुन्ड आते। सब अपनी मनमानी वस्तुओंको पाकर चले जाते।

उन सबमें एक उद्धवजी ही ऐसे थे, जो न कुछ माँगते थे न कुछ चाहते थे। वे निरन्तर श्यामसुन्दरको जोहते रहते। श्याम-सुन्दर अच्छे बुरे कैसे भी काममें जायँ उद्धवजी छायाकी भाँति उनके साथ हो लेते। कुब्जाके घर बहुत लुक छिपकर गये, किन्तु उद्धवजीने वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा। उन्हें कुब्जासे कुछ लेना नहीं था। कुब्जाकी बाततो पृथक् रही कुब्जाके प्रेमी श्यामसुन्दरसे भी वे कुछ नहीं चाहते थे। कुब्जाने बैठनेको आसन दिया। उनको तो आसन-फासनकी आवश्यकता ही नहीं किन्तु छूटते ही यह कैसे कहते—"मुझे तेरा आसन-फासन कुछ नहीं चाहिये।" उसके हृदयको ठेस लगती। अपने स्वामीके प्रेमियोंको ठेस पहुँचाना सेवकका धर्म नहीं। उन्हें श्रद्धा सहित कुब्जाके दिये आसनको छूआ, माथेपर चढ़ाया और उसे छोड़कर भूमिपर ही बैठ गये। अब वहाँ क्या हुआ, इसे तो श्यामसुन्दर जानें, कुब्जा

जानें, उद्धवजी जानें। यह तो अपना विषय नहीं, हम तो उद्धवजी की निस्पृहताकी बात कर रहे थे।

हाँ, तो उद्धवजीने कभी कुछ भी नहीं चाहा वे श्यामसुन्दरके सर्वदा साथ रहते। यही उनकी सेवा थी, यही पूजा, यही अर्च यही वन्दना। कोई वेतन नहीं, कोई पुरस्कार नहीं, कोई धंधा नहीं, कोई वृत्ति नहीं। श्यामसुन्दर भोजनकर चुके तो उनके पत्तल पर जो भी कुछ बच गया उसे ही पा लिया। रानियोंने दास दासियोंने और कुछ देनेको कहा, तो वे कह देते—"बस, मेरे लिये इतना ही पर्याप्त है। इतनेसे ही मेरा काम चल जायगा।"

जो कुछ भी नहीं चाहता, जो कुछ भी नहीं माँगता, उसके स्वामीपर बहुत बड़ा भार पड़ जाता है। जो वैतनिक है, उसे नियत तिथिपर नियत वेतन दे दिया, उत्सव पर्वों पर पुरस्कार दे दिया, इतनेसे ही काम चल जाता है, किन्तु जो कुछ लेता ही नहीं, उसका स्वामीको प्रतिपल ध्यान रखना पड़ता है। उसने खाया कि नहीं। उस पर वस्त्र हैं कि नहीं। उसने माला पहिनी या नहीं। इसी प्रकार श्यामसुन्दरको भी उद्धवजीका निरन्तर ध्यान बना रहता। माला पहिनेको आती तो पहिले आप पहिन लेते। फिर उसे उतारकर उद्धवजीके गलेमें पहिनाते। सम्मुख लगे हुए बड़े आदर्श (शीशे) में स्वयं देखते और उन्हें दिखाते। फिर हँसते हुए कहते—"उद्धव! यह माला तुम्हारे कंठमें बड़ी सुन्दर लगती है, इसे तुम पहिने रहना भला।"

हाथ जोड़कर उद्धवजी कहते—"जो आज्ञा, महाराज।"

भगवानको चन्दन आता। रानियाँ पहिले श्यामसुन्दरको लगातीं। तब श्यामसुन्दर सैनोंसे संकेत करते—"उद्धवजीके भी लगाओ।" स्वामीके प्रसादी चन्दनको मना कैसे करते। रानियाँ श्यामसुन्दरसे भी सुन्दर तिलक उनके लगा देतीं।

कोई वस्त्र आता। १०।५ दिन श्यामसुन्दर उसे पहिनते।

फिर उद्धवसे कहते—"उद्धव ! देखना, यह अंगरखा तुम्हारे ठीक आता है न ? मुझे पहिनकर दिखाओ तो।"

उद्धवजी उसे पहिनते। श्यामसुन्दर स्वयं उठकर अपनी पगड़ी अपने हाथों से पहिनाते उसपर पेचकस कस देते, अपना पीताम्बर उनके गले में डाल देते। फिर हँसकर कहते—"वाह उद्धवजी ! अब तो आप बड़े सुन्दर लगते हैं।" इतने में ही कोई रानी आ जाती और कहती—"उद्धवजी सजे तो बड़े सुन्दर हैं, अब इन्हें एक दुलहिन और ला दो।"

तब श्यामसुन्दर कहते—"एकसे कैसे काम चलेगा इनके लिये भी सोलह सहस्र एक सौ आठ लानी चाहिये।" यह सुनकर उद्धवजी कान बन्दकर लेते।

कोई कंठा सुन्दर बनकर आया है, हाथके कड़े आये है। गोप, तगड़ी चिपकन, मुरकी, कुन्डल कोई भी आभूषण आया है। १०। २० दिन श्यामसुन्दरने पहिन लिया। फिर बोले—"उद्धव ! ये कड़े मेरे कुछ ढीलेसे हैं। देखना, तेरे ठीक बैठते है। इतना कहते-कहते बलपूर्वक उनके हाथों में पहिना दिये।"

इस प्रकार भगवान्‌की उपभुक्त माला, चन्दन, वस्त्र तथा अलङ्कारोंसे तथा उनके उच्छिष्ट महाप्रसादी भोजनसे ही उद्धवजीके सब काम चलते। उनका भी रंग श्याम ही था। वस्त्राभूषण भी श्यामसुन्दरके ही पहिनते थे। उनकी चाल-ढाल, उठन-बैठन सब श्यामसुन्दरकी ही जैसी बन गयी थी, इसीलिये दूरसे कोई यह नहीं कह सकता था कि ये श्यामसुन्दर नहीं हैं। वे तद्‌ाकार हो गये थे। श्यामसुन्दर चाहते थे ये हमसे कुछ क्षणको दूर रहें किन्तु वे सोने, बैठने, घूमने, फिरने, घरमें रहने तथा स्नान, क्रीड़ा और भोजनादिमें सदा साथ ही बने रहते। [illegible] बड़ा सुख मिलता।

जो सर्वथा अपने आश्रित हैं, उनकी [illegible]

आदि इहलौकिक वस्तुओंकी ही चिन्ता नहीं रहती परलोककी भी चिन्ता रहती है। एक दिन हँसते हुए श्यामसुन्दरने कहा—"उद्धवजी! आप तो सर्वथा निश्चिन्त ही बने रहते हैं। कुछ आगे की भी चिन्ता है?"

उद्धवजीने चौंककर पूछा—"कैसी आगे की चिंता प्रभो!"

भगवान्‌ने कहा—"अरे भाई! यही कि हमारी यह माया बड़ी प्रबल है इसे जीतनेका भी कोई उपाय सोचा है?"

उद्धवजीने मेघ गम्भीर वाणीमें दृढ़ता से कहा—

त्वयोपभुक्त स्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥

महाराज! आपकी भोगी हुई मालाओंको पहिनकर, आपके लगाने से बचे हुए प्रसादी चंदनको मस्तकपर लगाकर, आपके धारण करके उतारे हुए वस्त्रोंको पहिनकर, आपके प्रसादी अलंकारोंको धारण करके तथा आपके भोगमे बचे हुए उच्छिष्ट सीथ प्रसादी भोजनको पाकर हम आपके दास आपकी मायाको अवश्यमेव जीत लेंगे। यह राँड़ माया हमारा बिगाड़ ही क्या सकती है?"

यह सुनकर भगवान हँस पड़े। अब उनकी ममता उद्धवजी के प्रति अत्यधिक बढ़ गयी। इसे न संसारका भय है, न कुछ पारिश्रमिक चाहता है, न पुरस्कार, पारितोषिक तथा उपकारकी-ही इसे इच्छा है। इसे कुछ देना चाहिए। दें भी कोई ऐसी अमूल्य वस्तु जो सर्वत्र न मिलती हो, अड़े समयपर काम आवे। अभी तो मेरे दर्शनोंसे इसका क्षण-क्षणमें आह्लाद बढ़ता रहता है। जब मैं स्वधाम पधार जाऊँ, तब भी इसे सन्तोष रहे, इसके लिये मैं इसे अपनी समस्त अमूल्य वस्तु दे जाऊँ। ऐसा विचार श्याम-सुन्दरके मनमें उठा।

सोचते-सोचते उन्होंने निर्णय किया, मेरे पास एक ही वस्तु

अत्यन्त अमूल्य है। उसका नाम है 'विरह' यदि किसी प्रकार उद्धव विरहका रहस्य समझ जाय, तो इसे सब कुछ मिल जाय, किन्तु विरह अत्यंत कठिन है। शुष्क हृदयमें विरह होता नहीं। विरहके लिये सरस हृदय चाहिये। साधारण प्रेम में भी विरह नहीं होता। हृदय प्रेमसे सर्वथा परिपूर्ण हो, प्रेम उसमेंसे छल-छल करके छलकता रहता हो उसी हृदयमें विरह होगा। स्त्रियोंका हृदय स्वभावसे सरस और कोमल होता है—उसमें विरह टिकता है। विरह मेरे हृदयमें भी है, किन्तु व्रजवनिताओंका-सा विरह मुझमें कहाँ? वे व्रजवनिता ही धन्य हैं जो मेरे विरहमें आठों पहर निमग्न रहती हैं। उस विरहमें उन्हें यह दृश्य प्रपंच दिखाई ही नहीं देता। किसी प्रकार उद्धव उन भावमयी विरह वेदनामें विकल बनी व्रजाङ्गनाओंके समीप चला जाय, उनका इसे सत्संग प्राप्त हो जाय तो यह कृतार्थ बन जाय।"

यही सब सोचकर श्यामसुन्दरने उद्धवजीको बुलाया और कहा—"उद्धव! तुम तनिक व्रज तक चले जाओगे क्या?"

उद्धवजीने कहा—"महाराज। ऐसे क्यों पूछते हो, मैं तो जन्म जन्मांतरोंके लिये आपका क्रीत दास हूँ, जहाँ भेजोगे वहीं चला जाऊँगा, किन्तु मुझे दर्शनोंसे वञ्चित न किया जाय।"

भगवान्‌ने कहा—"भैया, ऐसा ही आवश्यक काम है, तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा उसे कर नहीं सकता।"

उद्धवजीने पूछा—"ऐसा कौन-सा कार्य है कृपानिधान?"

भगवान्‌ने कहा—"माता-पिताके लिये सन्देश भी पठाना है और एक गुप्त सन्देश भी है।"

"गुप्त सन्देश किसके लिये है, दीनबन्धो!" उत्सुकताके सहित उद्धवजीने पूछा।

भगवान्‌का हृदय भर रहा था, नेत्र अश्रुओंसे परिपूर्ण हो रहे थे, वाणी अवरुद्ध-सी हो रही थी, वे अपने भावको छिपाना

चाहते थे, किन्तु प्रेम और रोष छिपानेसे छिपता नहीं। भगवान् के रोम-रोमसे अनुराग फूट-फूटकर निकल रहा था, कौशलसे आँसू पोंछकर भरायी वाणीमें बोले—"कुछ व्रजकी गोपिकायें हैं, उनके लिये सन्देश भिजवाना है।"

भौचक्केसे होकर उद्धवजीने पूछा—"उनसे आपका क्या सम्बन्ध ?"

श्यामसुन्दर रो पड़े। उनसे रहा नहीं गया। अत्यन्त कष्टके साथ वे रुक-रुककर बोले—"वे मेरी प्रियतमा हैं।"

उद्धवजीने कहा—"आपका शत्रु कौन है, आप तो प्राणी मात्रके सुहृद हैं।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव ! ज्ञान मत बघारो। गोपियोंके सदृश संसारमें मेरा कोई प्रिय नहीं। वे मेरी सर्वस्व हैं, उन्हें मैं सोते जागते एक क्षणको भी नहीं भूल सकता।"

उद्धवजीने पूछा—"तो क्या वे गाँवकी गँवारिन भी आप अखिलात्मासे प्रेम करती हैं।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव ! प्रेम करना तो गँवारिनिही जानती हैं। जिन्हे अपनी विद्याका अभिमान है, वे क्या प्रेम करेंगी। वे तो भैया पतुरिया हैं, पतुरिया। जिस हृदयमें किसीभी बातका तनिक भी अभिमान है, जिसका किसी दूसरेसे तनिक भी लगाव लपेट है वह चाहे स्त्री हो पुरुष हो प्रेमकर ही नहीं सकता। पुरुष तो प्रेम जानता ही नहीं, प्रेम तो स्त्रियाँ ही करती हैं, वे भी निराभिमानिनी। सभी प्रकारके अधिकारसे रहित सर्वस्वत्यागिनी मेरी व्रजकी गोपिकायें ऐसी ही हैं। उनका चित्त अन्य किसी विषयका चिन्तन करता ही नहीं। सदा मुझमें ही उनका चित्त लगा रहता है। उन्होंने जितने लौकिक सम्बन्ध हैं उन सबको त्याग दिया है। एकमात्र मेराही उन्हें अवलम्ब है।"

उद्धवजीने कहा—"जय महाराज ! वे सब कुछ छोड़कर

आपका ही चिन्तन करती रहती हैं, तो उनका भरणपोषण कैसे होता होगा ? इन्द्रियाँ तो मनके द्वारा काम किया करती हैं। मन दूसरी ओर लगा रहे तो इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं, उनके संसार यात्राके काम कैसे चलते होंगे ?"

भगवान्‌ने कहा—"उनके भरण पोषणका समस्त भार तो मेरे ऊपर आपड़ा है। उनकी इन्द्रियोंमें बैठकर मैं सब काम करता हूँ। जैसे पति धनोपार्जनमें लगा रहता है तो उसके भोजन आदि की समस्त चिन्ता पत्नी करती है, पतिको उधर ध्यान ही नहीं देना होता।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! धृष्टता क्षमा हो आपका उनका सम्बन्ध क्या है ?"

भगवानने कहा—"उद्धव ! क्या बताऊँ। प्रेममें दो सम्बन्ध होते ही नहीं। वे मुझे अपना सर्वस्व समझती हैं। मैं उनका परम प्रियतम हूँ, वे मेरे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकतीं। वे मेरे विरह-व्यथामें विह्वल होकर बिलबिला रही हैं।

उद्धवजीने कहा—"ब्रज यहाँसे दूरही कितना है, यहाँ आ क्यों नहीं जातीं ? आपका जब उनसे इतना प्रेम है तो उन्हें अपने समीप बुला क्यों नहीं लेते ?"

भगवान्‌ने कहा—"अब यह बात भैया ! तुम उन्हींसे कहना। मेरा ऐसा विचार है कि वहाँ उनके पास एक ऐसी वस्तु है कि यहाँ की अपेक्षा वे वहाँ मेरा संगम सुख अधिक अनुभव करती हैं।"

उद्धवजीके लिये यह एक नयी बात थी। वे अब तक संयोग सुखकोही जानते थे, वियोगके परम सुखसे वे वञ्चित थे, श्याम-सुन्दर इसी सुखका अनुभव करना चाहते थे। महाभागा गोपिकाओंसे विरह पाठ उद्धवजीको पढ़वाना चाहते थे।

श्यामसुन्दर जिनसे इतना स्नेह करते हैं और तीन कोसपर

रहती हुई भी वे श्यामसुन्दरके समीप कभी नहीं आतीं, वहीं बैठे-बैठे संयोग सुखका वे यहाँसे भी अधिक अनुभव करती हैं; यह उद्धवजीके लिये नयी बात थी। अत्यंत उत्सुकताके साथ वे पाग दुपट्टा पहिनकर रथपर चढ़कर व्रज आये। व्रजमें व्रजाङ्गनाओंसे जो-जो बातें हुईं उन्हें तो पाठक अगले प्रकरणोंमें पढ़ेंगेही उनका पुष्ट पेषण यहाँ नहीं करना है। किन्तु व्रजमें जाकर उद्धव हक्के-बक्के रह गये।

विरह-व्यथामें व्यथित उन बावरीव्रजाङ्गनाओंकी उन्होंने जो दशा देखी उसे देखकर उनका समस्त ज्ञान चूर-चूर हो गया। गये थे एक दिनके लिये, किन्तु रह गये पूरे छै महीने। श्यामसुन्दरकी लौटनेकी आज्ञा न होती तो संभव है, वे कभी लौटते भी नहीं।

गोपिकायें जब श्यामसुन्दरकी बातें चलातीं तब उद्धवको ऐसा प्रतीत होता मानों श्यामसुन्दर कछनी काछे, मोर पिच्छ-बाँधे, बाँसुरी लिये गोपिकाओंके सम्मुख नाच रहे हैं।

कोई कहती—"उद्धव ! क्या कहें हम कृष्णकी कहानी। वे बड़े ढीठ थे। ऊधो ! उनकी वह ढिठाई कितनी प्यारी थी। उन्हें माखन बड़ा प्रिय था। नित्यही मैं माखन निकालकर पात्रमें अपने पास रख लेती (उद्धवजी देखते सचमुच गोपीने पात्रमें रखा तुरन्तका बनाया माखन निकाल लिया है और उसे हाथपर रख लिया है और नेत्र बन्दकरके कहती जाती है।) उद्धव ! मैं सोचती—"श्यामसुन्दर आ जायँ तो मैं उन्हें माखन खिलाऊँ। किन्तु वे तो नटखट ठहरे। दूसरोंको चिढ़ानेमें, खिजानेमें, सिसकानेमें इन्हें बड़ा आनन्द आता है। मैं बैठी रही हाथपर माखन रखे। मैंने कहा—अच्छा छलिया धूर्त। देखती हूँ तुम कब तक नहीं आते। इतनेमें ही छम्म-छम्म करते हुए श्यामसुन्दर आ गये। मैं उनके मुखमें देने लगी, वे खाने लगे।"

उद्धवजीने सचमुच छम्म-छम्मकी ध्वनि सुनी और ऐसा लगा कोई माखन खा रहा है। माखन देते-देते गोपी मूर्छित होकर गिर पड़ी।

दूसरी कहती—"उद्धव! वे दानलीलाकी बातें इतनी मीठी हैं कि तुम्हें हम युग-युग सुनाती रहें तो भी पूरी नहीं होनेकी। उन्हें न जाने क्यों हमे छेड़नेमें बड़ा आनन्द आता था और हमें भी न जाने क्यों उनकी छेड़छाड़ शहदसे भी मीठी और नवनीतसे भी मृदुल लगती थी। धर्मकी बात यह है कि हम दधि बेचने नहीं जाती थीं श्यामसुन्दरकी छेड़छाड़के लियेही जाती थीं। एक दिन हम कई साथ जा रही थीं, पीछेसे आकर किसीने मेरी ओढ़नी खींची। मैं तो सावधान थी ही। अब मैं सिरपर रखे दहीको तो भूल गयी, तुरन्त बिना पीछे देखे मैंने उनका पटुका पकड़ा मेरी दहीकी मटुकी फटसे फूट गयी।"

उद्धवजीने मटकी फूटनेका शब्द भी सुना और गोपी मानों पटुका पकड़े पड़ी है। इसी दशामें उसे मूर्छितावस्थामें निहारा।

कोई कहती—"उद्धव! इसी कुंडपर मुझे सबसे पहिले श्यामसुन्दर मिले थे।" यह कहते-कहते वह तन्मय हो गयी।

कोई कहती—"ऊधो! इसी कदम्बके वृक्षोंसे पत्ते तोड़कर वे दही खाते थे। कदम्ब भी उन्हें पत्ते न देकर बने बनाये दोने देते थे।" उद्धवजीने ऊपर दृष्टि डाली तो कदम्बके समस्त पत्ते दोनेके आकारके हैं, नीचे दृष्टि डाली तो गोपीको मूर्छित पड़े देखा।

कोई कहती—"उद्धव! कुछ कहनेकी बात नहीं है यह वही निभृतनिकुंज है, यह वही फूली-फूली मालती है।.....इसके आगे गोपी कुछ न कह सकी उसका हृदयभर आया और मालती की लताके ही ऊपर मूर्छित होकर गिर गयी।

इस प्रकार छै महीने रहकर उद्धवजीने देखा कि गोपिकाओं

को सब स्थलोंपर सर्वत्र कृष्णही कृष्ण दिखाई देते हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष तो नहीं देखा, किन्तु अनुभव किया कि कृष्ण भी वहाँ डाल डाल और पात-पातपर विहार कर रहे हैं। जंगलोंमें उन्हें वंशीकी ध्वनि सुनायी देती। मोर-मुकुट दीख जाता और कभी-कभी साँवली सलौनी झलक भी दिखायी दे जाती। उन्हें इस वियोग वेदनाके सम्मुख संयोगसुख तुच्छ दिखाई देने लगा। गोपिकाओं-से उन्होंने विरहकी शिक्षा प्राप्त करली और हाथ जोड़कर गद्गद वाणीसे कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहने लगे—

"विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहःकृतः

हे भाग्यवतियों! विरह दान देकर आपने मुझ मूर्खपर बड़ी भारी कृपा की।"

इस प्रकार विरह पाठ पढ़कर उद्धवजी व्रज से आये। उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्के चरणोंमें प्रणाम करके कृतज्ञता प्रकटकी और गोपिकाओंके प्रेमका विस्तारके साथ वर्णन किया।

व्रजमें जाकर उद्धवजीका भ्रम भग गया। अब गोपिकाओंकी दशा देखकर वे बार-बार सोचते—ऐसा विरह मुझे भी कभी प्राप्त होगा। फिर सोचते—"भगवान्ने मुझे पुरुष बनाया है ऐसा विरह बिना गोपी बने हो नहीं सकता। गोपी मैं बन नहीं सकता, किन्तु इन गोपियोंकी चरण-धूलि मेरे ऊपर पड़ती रहे, तो मैं कृतार्थ हो जाऊ। इन महाभागा व्रजाङ्गनाओंकी चरण-रज तभी प्राप्त होगी, जब व्रजबास मिले। इसलिये उद्धवजीने बड़े करुण स्वरसे कहा—

मइ मिलै व्रजवास बनूँ चाहे तृन पाथर।
व्रज बनितनि पदधूरि परै उड़ि-उड़ि ममऊपर॥
जिनि चरननि अजशंभु योगिजन नितप्रति ध्यावें।
तिनिकूँ ये हिय धारि नारि तनु ताप मिटावें॥

जिनिको जग महँ भर्‌यो यश, तिनिकी का इस्तुति करूँ।
केवल उनिकी चरन-रज, महँ पुनि-पुनि निज सिर धरूँ॥

श्री भगवान् तो भक्त वाञ्छा-कल्पतरु हैं। उद्धवजीने चाहा था मुझे व्रजवास मिले चाहे लता, गुल्म अथवा ओषधि ही बन कर रहूँ। जिससे इधर-उधरसे निकलते समय गोपियोंकी चरण-रज मेरे ऊपर पड़ा करे। इसलिये भगवान्‌ने उद्धवजी-को बदरिकाश्रममें जानेकी आज्ञा दी। क्योंकि उद्धवजी उपासक भी हैं और रसिक भी। उपासना भूमि तो बदरिकाश्रम है और रस-भूमि श्रीवृन्दावन है। अतः उद्धवजी एक रूपसे तो बदरिका-श्रममें विराजकर भगवान् बदरीनारायणकी निरन्तर उपासना करते हैं। वहाँ भगवान्‌ने उन्हें अपना उत्सव स्वरूप दे दिया है। इसीलिये बदरीनारायणके समीप ही उद्धवजीकी मूर्ति विराजमान है। उसे उद्धव मूर्ति कहो, उत्सव मूर्ति कहो एक ही बात है। जब कोई उत्सव समारोह होता है, तो भगवानके प्रति-निधि होकर उद्धवजी जाते हैं। श्रीमन्नारायण तो अचल हैं उत्सवादि कार्योंमें उद्धवजी ही बाहर निकलकर उनका प्रति-निधित्व करते हैं।

उद्धवजी रसिक भी हैं, रस शास्त्रका अध्ययन उन्होंने गोपिकाओंसे किया था, उन्हें वे अपना गुरु मानते हैं, व्रजमें लता बनकर व्रजाङ्गनाओंकी चरण-रजकी कामनाकी थी, इससे गोवर्धन और राधाकुण्डके बीचमें कुसुमसरोवर पर जिसे रस वृन्दावन और गोपीस्थल भी कहते हैं वहाँ अद्यावधि लता बनकर रहते हैं। वह स्थान अत्यन्त रमणीक है। पुराणोंमें ऐसा लिखा है कि उस स्थानपर महामहोत्सवके सहित जो श्रीमद्-भागवतका सप्ताह करते हैं उनके सम्मुख उद्धवजी प्रकट हो जाते हैं। इसी आशासे हमने दो बार वहाँ भागवत सप्ताह किया। एक तो पहिले किया था, एक अभी इसी यात्रामें किया

आनन्द तो बड़ा आया, किन्तु उद्धवजीके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए, किन्तु विरहका अनुभव उसी स्थलपर होता है। ऐसा लगता है मानों किसी कुंजसे अभी प्रियाप्रियातमा गलबाँही डाले निकलने ही वाले हैं। बड़ी-बड़ी सघन कुंजें हैं, उनपर चारों ओर से लतायें चढ़ी हुई है, वे सब लतायें कुसुमोंसे लदी हुई हैं। कुंजोंमें घुसकर चुपचाप बैठ जाओ। "श्रीराधे श्रीराधे" रटते रहो, रोते रहो, रोते रहो। रोना ही यहाँका भजन है। यही यहाँका वरदान है। हृदयमें किसी प्रकार विरह जाग जाय तब श्यामसुन्दरका नित्य संयोग-विरह-प्राप्त हो जाय।

देहलीका एक आदमी था। उसकी स्त्रीका नाम था किशोरी। किशोरी बड़ी ही सुन्दरी थी। वह पुरुष उसे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करता था। प्रेम तो वस्तु एक ही है। उसका आलंबन कोई हो जहाँ वह लौकिक मर्यादासे ऊँचा उठकर अलौकिक हो जाता है, शरीरके मोहको छोड़कर आत्मामें अवस्थित हो जाता है वहाँ दिव्य बन जाता है। संयोगकी बात कि उस पुरुषकी स्त्रीकी सहसा मृत्यु हो गयी। उस पुरुष पर स्त्रीका वियोग सहा नहीं गया। उसे संसारसे तीव्र वैराग्य हो गया। विरहने उसके हृदयको व्यथित बना दिया। वह यमुना किनारे-किनारे किशोरी किशोरी चिल्लाता हुआ चल दिया। उसके मुखमें एक ही शब्द था किशोरी। उसके हृदयमें एकही रूप था किशोरीका मनोहर मुख। उसके नयनोंसे निरंतर नीर बहता रहता और लोकलाज छोड़कर 'किशोरी किशोरी' चिल्लाता रहता। पैर अपने आप जिधर चल पड़ते उधर ही चला चलता।

संयोगकी बात, यमुना किनारे-किनारे चलते-चलते वह श्रीवृन्दावनमें आ गया। जहाँ भी निभृत निकुंज देखता, रोता रहता और 'किशोरी किशोरी' चिल्लाता रहता। एक दिन नित्य रासमें श्री प्रियाजीके कानोंमें भी भनक पड़ी। उन्होंने ललिता-

जीसे पूछा—"ललिते ! यह कौन दुखी व्यक्ति है, जो मेरे नामको इतनी तन्मयतासे रट रहा है ?"

ललिताजीने कहा—"किशोरीजी ! यह आपके नामको थोड़े ही रट रहा है, इसकी बहूका नाम किशोरी है, उसीके वियोगमें यह रो रहा है।"

श्रीवृषभानुनंदिनीने कहा—"इसकी स्त्रीका किशोरी नाम कहाँसे आया। नित्य किशोरी तो मैं ही हूँ। किशोरी तो मेरा ही नाम है।"

ललिताने कहा—"उसके माता-पिताने उसका नाम किशोरी रख दिया था।"

श्रीजीने पूछा—"माता पिताने किशोरी नाम इसका क्यों रखा ? जब किसी बड़े आदमीका नाम होता है और अपने बच्चेका वही नाम रखते हैं, तो इसीलिये रखते हैं कि उनका नाम बारबार स्मरण आवे। जैसे रामचन्द्र दशरथनंदन भगवान् हुए हैं। कोई अपने लड़केका नाम रामचन्द्र रखता है, तो रखते समय उसे स्मरण हो आता है कि रामचन्द्र रूपसे अयोध्यामें भगवान् अवतीर्ण हुए थे। हम भी अपने बच्चेका नाम "रामचन्द्र", रखें तो उनके नामका इसी बहाने स्मरण तो हो जाया करेगा। इस न्यायसे रामचन्द्र नाम भगवान्का हुआ कि उसके बच्चेका ?"

ललिताजीने कहा—"यथार्थ नाम तो दाशरथी श्रीरामचन्द्र-का ही हुआ। बच्चेका नाम तो उसने भगवान्के स्मरणके लोभसे रखा है।"

श्रीजीने कहा—"इस स्त्रीके माता-पिताने जब इसका नाम रखा होगा, तब किशोरी करके मेरा ही तो स्मरण किया होगा। मेरी स्मृतिमें तो लड़कीका किशोरी नाम रखा होगा। तो नाम मेरा हुआ या उस स्त्रीका ?"

ललिताजीने कहा—"हाँ ! लाड़िलीजी आपका ही नाम हुआ।"

श्रीजीने कहा—"अच्छा अब रूपकी बात सुन। मेरा ही रूप सब स्त्रियोंमें व्याप्त है। मेरे ही रूपसे सब रूपवती हैं। जब तक यह पाँच भौतिक देहसे-हाड़मांसके बने मुखसे प्रेम करता था तब तक इसका मोह था। उसका भौतिक शरीर भस्म हो गया अग्निकी दाहतासे काष्ठ अग्निके समान लाल दीखता है। अग्नि बुझ गयी तो वह जला कोयला व्यर्थ हो जाता है। काष्ठकी अग्नि अपनी महा अग्निमें फिर मिल गयी। इसी प्रकार उस किशोरी नामकी स्त्रीमें जो सौंदर्य था मेरे ही सौंदर्यका एक कण था। उसका शरीर नष्ट हो गया, वह सौंदर्य आकर मुझमें मिल गया। जब तक उसको पंचभूतकी बनी स्त्री थी उसके मुखमें जो उसकी आसक्ति थी वह तो था मोह। अब जब वह मुख नहीं रहा केवल उस सौंदर्यका चिंतन करता है तो मानों मेरा ही चिन्तन करता है। मेरे ही सौंदर्यके लिये तड़प रहा है। इसलिये इसे मेरे नामका, रूपका दोनोंका विरह है। अब तक इसने नाम रूपका आलंबन मिथ्या वस्तुको मान रखा था, अब विरहके कारण इसके सब पापताप धुल गये, हृदयकी कालिमा आँसू बनकर नयनों द्वारा बह गयी अब इसका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया। इसे तन्मयता प्राप्त हो गयी। बुलाकर इसे अपने परिकरमें मिला लो इसे भी गोपियोंमें सम्मिलित कर लो।"

श्रीजीकी आज्ञा पाकर ललिताजी उसके पास गयीं और बोलीं—"चल तुझे श्रीकिशोरीजी बुला रही हैं।"

किशोरीजीका नाम सुनते ही उसके आनन्दकी सीमा न रही वह तुरन्त दौड़ पड़ा। बारबार कहता—"मुझे किशोरीने बुलाया है, सत्य कहती हो, चलो चलो किशोरीजी कहाँ हैं ?"

ललिताजी उसे किशोरीजीके समीप ले गयीं। जो उसने रूप

ी साकार सजीव स्वामिके दर्शन किये। वह मूर्छित होकर गिर गया। उसका पांच भौतिक शरीर नष्ट हो गया। दिव्य रूपसे वह प्रियाजीके परिकरमें मिल गया। वह भी प्रियाजी की किंकरी बन गयी।

कहनेका सारांश इतना ही है कि यह विरह-वेदना आरंभमें चाहें किसी भी कारणसे उत्पन्न हो जाय उसकी परि समाप्ति दिव्यमें ही है। जल कहीं भी क्यों न हो वह देर सबेर कभी न कभी समुद्रमें मिल ही जायगा।

विषयोंका उपभोग करते-करते यह जीव विषयोंमें इतना फँस गया है कि इसे विरहका अनुभव ही नहीं होता। क्षण भरको स्वजन मिलते हैं। मिलनका सुखभास होता है। पृथक हो जाते हैं, उन्हें भूल जाते हैं, उनकी मुखाकृति भी स्मरण नहीं रहती। प्रेममें भूलना बनता ही नहीं। विशेषकर विरहमें तो सदा सर्वदा अपना प्रियतम समीप रहता है। किसी गोपीने एक दूसरी सखीसे पूछा—

एक जो मेरे नयननिमें निसिबास करि रह्यो भौंन।
धेनु चरावत जात सुन्यो सखि सो धौं कन्हैया कौंन॥

"सखि! एक श्यामसुन्दर तो रात्रि दिन मेरे नयनों में निवास किया करता है। आठ पहर चौंसठ घड़ी मेरे ही समीप रहता है, क्षण भरको अनत नहीं जाता। फिर भी मैं सुनती हूँ कि श्याम सुन्दर गैया चराने गये। तो यह गैया चरानेवाला श्यामसुन्दर कोई दूसरा है क्या? क्योंकि नंदनन्दन श्याम सदा मेरी आँखोंमें ही बैठा रहता है।"

इसीसे मिलती-जुलती बात गोपियोंने भी उद्धवजीसे कही। उद्धवजी जब योग की शिक्षा देने, प्रेम पाती लेकर दौरे दौरे व्रज गये और गोपिकाओंसे बोले "वे योगेश्वर हैं, तुम ध्यान योगके

द्वारा ही उन्हे प्राप्त कर सकती हो।" तब गोपियोंने कहा—सुनिये श्याम सखा ऊधो जी!

श्याम नन श्याममन श्याम ही हमारो धन,
आठों याम ऊधो हमें, श्याम ही सों काम है।
श्याम हिये श्याम जिये श्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधे की सी लाकरी अधार श्याम नाम है॥
श्याम गति श्याम मति श्याम ही हैं प्रानपति,
श्याम सुखदाई सो भलाई शोभाधाम है।
ऊधो तुम भये बौरे पाती लैकें आये दौरे,
योग कहाँ राखें यहाँ रोम रोम श्याम है॥

योग को रखने को हमारे यहाँ अब ठौर ही नहीं। हृदयकी कोठरी बड़ी छोटी सी ही है। उसमें एकका ही बड़ी कठिनतासे निर्वाह हो सकता है उसमें साँवरी सलौनी सूरतने आसन जमा लिया है, उसमें एक ताख भी नहीं, झरोखा भी नहीं जहाँ योगको रख सकें। अब तुम ही बताओ योग को लेकर हम क्या करें—

नाहिं न रह्यो मनमें ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत स्वप्न सोवत रात।
हृदय ते वह श्याम मूरत छिन न इत उत जात॥
श्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदुहास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

ऊधो! न जाने हमें क्या हो गया। हमे तो संसारमें श्यामके अतिरिक्त कुछ दिखायी ही नहीं देता। तुम कहते हो यह करो, वह करो, शुभ्र ज्योति का ध्यान धरो, आसन लगाओ। अग्नि शिखाके सदृश ज्योतिके दर्शन होंगे। हमें तो चराचर जगत श्यामके ही रूपका दिखायी दे रहा है—

जित देखों तित श्याम मई है। दिनांक.....
श्याम कुञ्ज घन यमुना श्यामा, श्याम गगन घन घटा छई है॥
सब रंगनि में श्याम भरयो है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरिनि के लोगनि की हो, श्याम पुतरिया बदलि गई है॥
चन्द्रसार रविसार श्याम है, मृगमद श्याम काम विजई है।
नीलकण्ठ को कण्ठ श्याम है, मनों श्यामता भेलि बई है॥
श्रुति को अक्षर श्याम देखियत, दीपशिखा पै श्याम तई है।
नर देवनि की मोहर श्यामा, अलख ब्रह्म छवि श्याम भई है॥

ऊधो यह तो सीधी सी बात है। आँख पर जैसा काँच चढ़ा लो वैसे ही संसार दीखता है। हमारी देखने की पुतरियाँ श्याम रँग की हैं इसलिये हमें तो श्याम ही श्याम दिखायी देता है। प्रतीत ऐसा होता है इन संसारी लोगों की आँखकी पुतरियाँ पलट गयी हैं, इसीलिये इन्हें श्याम के अतिरिक्त भी कोई दूसरा रङ्ग दिखायी देता है।

धन्य हैं वे व्रजकी विरह वेदनामयी व्रजाङ्गनाये जिन्हें श्यामके अतिरिक्त कुछ दिखलाई ही नहीं देता। श्यामसुन्दरने उद्धवको संदेश लेकर थोड़े ही भेजा था। वह तो बहाना था। यथार्थमें तो उन्हें विरह पाठ पढ़ने भेजा था, इसीलिये वे आज व्रजमें लता बनकर विरह सुखकी अनुभूति कर रहे हैं और इन अभिमानी प्राणियोंको प्रेमका पाठ पढ़ा रहे हैं। क्या कभी हमें भी उद्धवजी मिल जायँगे? क्या कभी हमारे सिरपर भी व्रजाङ्गनाओं की चरण रेणु उड़-उड़कर पड़ेगी, क्या कभी वज्रसारसम पाषाणके सदृश हमारे शुष्क हृदयमें भी मृदुता आवेगी, कभी इसमें भी विरहकी कसक उठेगी, कभी इसमेंभी मीठी-मीठी टीस होगी? श्यामसुन्दर तुम जानों तुम्हारे सखा उद्धव जानें अथवा तुम्हारी प्रेयसी गोपाङ्गनायें जानें। हम तो हृदयहीन मतिमलीन मंदमति मानुष हैं।

छप्पय

का कबहूँ मन मलिन-वासना तजि बदलैगो।
का कबहूँ यह कठिन हियो मेरो पिघलैगो॥
का कबहूँ करुनेश कुटिल पै कृपा करिहैं।
का ये झर-झर नयन विरहमहँ सतत झरिहैं॥
का कबहूँ बहुरंग तजि, नयन श्याम रँगमहँ रँगें।
कब झखझोरें नँदनँदन, कब हम सोवत तैं जगें॥

संकीर्तनभवन, प्रतिष्ठानपुर
कार्तिक शु० ६।२००८ वि०

प्रभुदत्त

व्रजकी विरहव्यथा

[१०५४]

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १२ अ० १० श्लो०)

छप्पय

हलधर गिरिधर बिना लगे ब्रज सूनो सूनो ।
लखि मैया की व्यथा बढ़ै सबको दुख दूनो ॥
खोई खोई रहै यशोदा कछु नहि सूझै ।
देखे आवत पथिक बात बत्सनि की बूझै ॥
बार बार मैया कहै, बुढ़िया पै किरपा करो ।
अरे दिखाओ सुतनि मुख, होवे मेरो हिय हरो ॥

---

*श्रीभगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं—"हे उद्धव ! जिस समय बलरामजीके साथ अक्रूरजी मुझे मथुरा ले आये, उस समय अत्यन्त प्रेमके कारण मेरेमें ही अनुरक्त हुई वे व्रजाङ्गनायें मेरे वियोग की विषम व्यथाके कारण संसारकी कोई भी दूसरी वस्तु उन्हें सुखदायिनी नहीं दिखाई देती थी। ऐसी गोपियोंके प्रेमके विषयमें क्या कहा जाय, क्या न कहा जाय।'

जिन्हें हम अपना समझते हैं वे ही पराये हो जाते हैं। जिनसे हम हृदयसे प्यार करना चाहते हैं वे पहिले प्रेम दिखाते हैं, फिर निष्ठुर बन जाते हैं। जिनको हम सदा हृदयसे सटाये रखना चाहते हैं, दूर भाग जाते हैं, जिन्हें हम आँखकी पुतलियोंमें रखना चाहते हैं, वे आँखोंसे ओझल हो जाते हैं। उत्तम तो यही है कि किसीसे प्यार किया ही न जाय, किन्तु यह होता नहीं, मन मानता नहीं। कोई बलपूर्वक हृदयको पकड़ लेता है। पकड़कर वह तो चला जाता है, छोड़ जाता है अपनी मधुर-मधुर स्मृति। उस स्मृतिमें ऐसी मादकता होती है, कि वह हृदयको मथती रहती है। प्रेमका फल रोना-धोना है, विलाप-प्रलाप है, छटपटाना और बिलबिलाना है; शरीरको सुखाना और आँसू बहाना है। प्रेमियों की ऐसी दुर्दशा देखकर भी लोग उनसे शिक्षा नहीं लेते, प्रेम करना छोड़ते नहीं। यही भगवानकी माया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मथुरामें आकर श्यामसुन्दर सबको सुख देते हुए राज-काज करने लगे। अब उस व्रजकी कथा आप सुनें, जिसे सूना करके श्यामसुन्दर चले आये थे।

शौनकजीने कहा—"सूतजी! आपकी बड़ी आयु हो। महाभाग! हम यही सोच रहे थे, कि आप व्रजकी बात भूल गये क्या। हम प्रश्न करने ही वाले थे, सो आपने स्वयं ही प्रस्ताव कर दिया। हाय! जिस नन्दव्रजमें रामश्याम बारह वर्ष रहे, उसे सहसा छोड़कर चले गये। प्रेमका फन्दा डालकर निर्मोही बन गये। उन बेचारे व्रजवासियोंकी क्या दुर्दशा हुई होगी। उसका कुछ दिग्दर्शन तो कराइये।"

सूतजी बोले—"मुनियो! व्रजवासियोंकी दुर्दशाका वर्णन वाणीका विषय नहीं। वह तो अनुभवगम्य विषय है। मेरी वाणीमें इतनी शक्ति नहीं कि इस विषयमें कुछ कह सकूँ। वात्सल्य, सख्य और मधुर व्रजमें तीनही रसोंकी प्रधानता है।

शान्त और दास्यका प्रायः यहाँ अभाव है। नन्द यशोदा तथा अन्यान्य वृद्ध गोप-गोपियोंका श्रीकृष्णमें वात्सल्य प्रेम था। दाम-सुदाम तोककृष्ण तथा श्रीदामा आदि का उनसे सख्य सम्बन्ध था और युवती व्रजाङ्गनाओंका उनके साथ मधुर सम्बन्ध था। जिस प्रकार दूधमें जितनी ही मिश्री मिलाई जायगी वह उतना ही अधिक मीठा होगा। सख्यसे अधिक मधुरिमा वात्सल्यमें है और मधुर तो मधुर है ही। जो जितना ही अधिक मीठा होगा उसके वियोगमें उतना ही अधिक दुख होगा। यद्यपि सखाओंसे अधिक सम्बन्ध माता-पितासे था, फिर भी माता-पितासे अधिक दुःख सखाओंको हुआ। गोपियोंके दुखका तो कुछ कहना ही नहीं।

नंदजी लौटकर आ गये। यशोदा मैया रामश्यामके न आने-का समाचार सुनकर मूर्छित हो गईं। कुछ कालमें उनकी मूर्छा भंग हुई। उन्होंने चारों ओर चकित चकित भावसे निहारते हुए शून्यमें कहा—"मेरे कनुआ बलुआ कहाँ हैं? महर! मैं उनके बिना कैसे यहाँ रह सकती हूँ।"

नन्दजीने कहा—"रानी! तू समझती होगी, मैं जान-बूझकर उन्हें छोड़ आया। सभी यदुवंशी चाहते थे वे वहाँ रहें। उनके तो वेही जीवनदाता हैं।"

यशोदा मैया बोली—"उनके तो जीवनदाता हैं, हमारे जीवन को हरण करनेवाले हैं। वसुदेवजी तो तुम्हारा बड़ा सम्मान करते हैं। तुम उनके पैरोंमें पड़ जाते, दुपट्टे को कंठमें बाँधकर, दाँतोंमें तृण दबाकर उनसे भीख माँगते, मेरे बच्चोंको दे दो, मैं तुम्हारी गैया हुँ।" तबतो उन्हें दया आही जाती।

नन्दजीने कहा—"महर मैंने सब किया।"

मैया ने पूछा—"अच्छा, चलते समय श्यामने मेरे लिये कुछ संदेश नहीं दिया?"

नन्दजीने कहा—"हाँ, दिया क्यों नहीं। उसने

कहा—"मैयासे मेरा प्रणाम कहना। कह देना कुछ देवताओंका बहुत आवश्यक काम आ पड़ा है, उसे करके मैं अति शीघ्र आऊँगा। मैया दुःख न माने। कहते-कहते उसकी आँखें भर आईं और मुझसे लिपटकर सुबक-सुबककर रोने लगा।"

यह सुनकर मैयाने कहा—"हाय! वह मेरे लिये रोया था। निश्चय मेरे बच्चे पर किसी ने जादू टौना कर दिया है, नहीं मेरा बच्चा इतना निठुर कभी नहीं था। वह तो अबतक मेरे आंचलमे मुख पोछता था। मुझे न देखकर वह रो पड़ता था। मेरे बिना वह मथुरामें कैसे रहता होगा? किससे मचल-मचलकर मीठा माखन माँगता होगा। किसके साथ लड़ता-झगड़ता होगा। किसके सामने धूलमें लोटता होगा। बलुआने भी कुछ कहा था क्या?"

नन्दजी बोले—"कृष्ण जब रोने लगा, तब बलदेव ने कहा—"बाबा! तुम मैयासे कह देना वे हमारे अपराधोंको क्षमा करें। हम यहाँ आकर फँस गये हैं। शीघ्रही सब झंझटोंसे दूर होकर आवेंगे।"

यशोदा मैयाको यह सुनकर कुछ कुछ सन्तोष हुआ। अब उसकी ऐसी दशा हो गई कि द्वार पर कौआ बोले तो दौड़ी जाय और कहे—कौआ देख मेरे कनुआ बलुआ आते होयँ तो तू उड़ जइयो। जैसे कौआ तू हरी डालपर बैठा काउँ काउँ कर रहा है वैसा कब मेरा हृदय हरा होगा। कब मेरे छगन मगन लौट कर आवेंगे। देख कौआ! मेरे बच्चे लौटके आजायँ तो मैं तेरी चोंच सोनेसे मढ़वा दूँगी। सोने के पींजरे में तुझे रखूँगी। मेवा मिठाई अपने हाथ से खिलाया करूँगी। सोनेके बर्तनोंमें अधौटा दूध पिलाऊँगी। कौआ उड़ जाता, माता निराश होकर मथुराकी ओर निहारती रहती।

प्रातःकाल उठकर दूध बिलौती। दही निकाल कर रख देती

सम्भव है शाम तक श्याम सुन्दर आ जाय। दहीको बिलोती जाती श्यामके गीत गाती जाती और रोती जाती। जब माखन का लौंदा निकल आता तो उसकी छाती फटने लगती। हाय श्यामने यदि यह मेरे हाथका निकाला मक्खन न खाया तो फिर इस मक्खन का उपयोग ही क्या है। मक्खन को निकालकर जलमें रख देती, सम्भव है रामश्याम आजायँ। आते ही माखन माँगेंगे तो मैं क्या दूंगी।

जब गौओंको दुहाने जाती, तो गौओंको उदास रोते हुए पाती, तब मैया मूर्छित हो जाती हाय! इन गौओंको गोपाल कितना प्यार करता था। बछड़ोंके साथ कैसी खिलवाड़ किया करता था। तब ये बछड़े कैसी चंचलता करते थे। अब ये न कुदकते हैं न फुदकते हैं नेत्रों से अश्रु बहाते रहते हैं। अपनी माताओंका दूध भी नहीं पीते। ये गैयायें कितनी लट गई हैं। कितनी दुबली पतली हो गई हैं सूखकर काँटा हो गई हैं। मैयापर गैयोंकी दशा देखी न जाती वह लौटकर घर आ जाती फिर सामने ऊखलको देखती, उसे देखते ही रो पड़ती। हाय! इसी ऊखल से मैंने एक दिन श्यामको बाँध दिया था। छोटी सी बात पर। मेरी मटुकिया फोड़ दी थी। माँटीकी मटुकियाका मूल्य ही क्या? किन्तु उस दिन मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी।

फिर माँ थाली लोटा कटोरा तथा अन्यान्य बर्तनोंको देखती 'सोचती—'इसमें श्याम खाता था, इसमें राम। एक दिन इस कटोरेपर दोनों में कैसी लड़ाई हो गई। श्याम कहता था इसमें मैं दूध पीऊंगा, राम कहता था मैं। तब मैंने दोनोंको गोदीमें बिठा कर अपने हाथ से दोनों को दूध पिलाया था पीतेपीते ही दोनों मेरी गोदी में सो गये।

फिर माँ घबरा जाती। घरमें जिस वस्तु को भी देखती,

उसे ही देखकर उसकी छाती फटने लगती। घर का कण कण प्रतिपल राम श्यामकी स्मृतिको नया नया बनाता रहता। मैया बाहर जाकर बैठ जाती। मथुरा की ओर से कोई पाथिक आता तो उसी से पूछने लगती—"तुमने मेरे श्यामको तो मथुरामें नहीं देखा? सुनती हूँ वह अब राजा बन गया है। तुमने श्यामको देखा हो तो पता बता दो। मुझे उन दोनों के पास पहुँचा दो मैं उनकी दूध पिलानेवाली धाय हूँ।"

फिर वह ग्वालबालों को रोते देखती उन्हें गोदमें लेकर मुख चूमती और कहती बेटाओ! घबराओ मत! रोओ मत! श्याम शीघ्र ही आवेंगे। आने ही वाले हैं।" इस प्रकार बालकोंको तो मुख से रोने को मना करती, किन्तु स्वयं कहते कहते रोने लगती।

कोई पथिक मथुरा की ओर जाता तो उसे खड़ा करके कहने लगती—"देखो, पथिक तुम मथुरा जाना। कृष्ण से कह आना। तेरे बिना तेरी गौएँ भूखी हैं। और किसी के दिये तृण का वे खातीं नहीं एक बार गौओं के निमित्त कृष्ण यहाँ आ जाय।"

जिस दिन मैया स्वप्न में श्याम सुन्दर को देखतीं उस दिन पूरे दिन रोती रहती बार बार व्रजराज से कहती—"महर! तुम एक बार फिर व्रज जाओ। एक दिन में क्या बिगड़ता है, एक दिन के लिये राम श्यामको ले आओ। मैं उन्हें आँखें भर कर देख लूँगी। अभी तक तो मैंने नेत्र भर कभी उन्हें देखा ही नहीं। अच्छा, तुम्हें वहाँ जाने में संकोच हो तो मुझे ही वहाँ ले चलो। मैं अपने बच्चोंका मुख देख आऊँगी। वे राजा हो गये हैं तो हो जाने दो। मैं उनकी हँसी न कराऊँगी। किसी से यह न कहूँगी—मैं इनकी मैया हूँ। कोई पूछेगा तो कह दूँगी। मैं उनकी गोबर थापनेवाली हूँ। इनकी दूध पिलानेवाली धाय हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! माता की ऐसी विकलता देखकर

गोपिकायें ढाह मारकर रोने लगतीं। गोप रोते रोते विकल हो जाते, उनकी आँखें सूज जातीं। ब्रजकी लतायें रोती हुई दिखाई देतीं। जिस माता के साथ केवल कुछ समय रहते थे, उसकी तो यह दशा थी।' जिन गोपों के साथ सदा खाते थे, सदा गौएँ चराने जाते थे, एक साथ ही नहाते धोते तथा खेलते कूदते थे; उनकी क्या दशा हुई होगी। उसका कुछ दिग्दर्शन मैं आगे कराऊँगा।

छप्पय

कोई करुना करो मोह मथुरा पहुँचाओ।
कौन गली महँ बसत श्याम बल पतो बताओ॥
नित माखन दै आउँ चूमि के मुख फिरि आऊँ।
इनकी मैया लगूँ भूलि कें नाहिं बताऊँ॥
लुकि छिपि कें कबहूँ मिलूँ, नैन न नीर बहाउँगी।
कनुआ बलुआ हाय! सुत, कहि कें नहिं डकराउँगी॥

विरहकी स्मृतियाँ

[१०५५]

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासाम्
हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १२ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

यों पगलीसी फिरै मातु ब्रजमहँ इततें उत ।
ग्वालबाल अति दुखित जाइँ बनकूँ रोवत नित ॥
जहँ जहँ क्रीड़ा करीं कृष्णने अति सुखकारी ।
करि करि तिनकी यादि करें मनमहँ दुख भारी ॥
अब कब निरखें श्यामसुन्दर, विलपि विलपि पुनि पुनि कहैं ।
हरिसँग हँसिबो खेलिबो, सुमिरि सुमिरि रोवत रहैं ॥

शरीरसे मिलना स्थाई नहीं। एक शरीर दूसरे शरीरसे न जाने कब पृथक् हो जाय। यथार्थ मिलना तो मनका मिलना

---

* भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! जब मैं वृन्दावनमें था, तो उन ब्रजाङ्गनाओंने जिन पूरी रात्रियोंको मुझ प्रियतमके साथमें रहकर एक क्षणके समान बिताया था, वे ही रात्रियाँ मेरे बिना उनके लिये कल्पके समान बन गयीं।"

है। हमारे प्रेमीका शरीर कहीं हो, हमारा कहीं हो। यदि हम मनसे मिले हैं, निरन्तर उसका स्मरण करते रहते हैं, तो वास्तवमें यही मिलन सच्चा है। विरहमें मानसिक संयोग होता है। उस समय सोते, जागते, उठते, बैठते, खाते, पीते तथा समस्त क्रियायें करते अपना प्यारा ही दीखता है। दूसरोंसे बातें करनी अच्छी नहीं लगतीं। नाचगान रागरंग नहीं सुहाते। चित्त यही चाहता रहता है एकान्तमें पड़कर उसीकी याद करते रहें। प्रियतमकी स्मृतिमें ऐसी मीठी-मीठी वेदना होती है, जैसे पके फोड़ेको शनैःशनैः सुहलानेसे होती है। यद्यपि पके फोड़ेमें दर्द होता है, किन्तु उसका सुहलाना भला लगता है। इसी प्रकार विरहमें बड़ी विकलता होती है, किन्तु उस विकलतामें भी एक अनिवर्चनीय सुख होता है, वह यह कि अपने प्यारेकी मूरति मनमें गड़ी रहती है, वह एक क्षणको भी अपनेसे पृथक् नहीं होता। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिवाले अष्टाङ्ग योगमें तो बड़ा श्रम है किन्तु इस योगमें कुछ भी करना नहीं पड़ता। प्यारेको याद करते रहे अखंड समाधि लग जायगी इसीलिये इसे विशेष योग अर्थात् वियोग कहते हैं। वियोग जितना ही तात्कालिक होता है उतना ही अधिक दुखद होता है। पुराना होनेसे सहन शक्ति बढ़ जाती है, उसमें गंभीरता आ जाती है। जिसका हृदय जितना ही कोमल होगा विरह दुःख उसे उतना ही अधिक अधीर करेगा। स्त्रियों का हृदय अत्यंत कोमल होता है अतः उन्हें विरह भी अधिक व्यापता है। बालकोंका भी हृदय सरल और मृदुल होता है। वे भी विरहमें बहुत रोते हैं। बूढ़ोंको भी विरह वेदना होती है, किन्तु वे अपनी गंभीरतासे उसे व्यक्त नहीं होने देते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोप लोग अपनी गौओं और परिवारके समस्त लोगोंको साथ लिए हुए एक वनसे दूसरे वनमें

घूमा करते थे। वृन्दावनके समीपके वन उपवनोंमें वे
घूमते रहे। इसीलिये भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न वनोंमें भिन्न-
लीलायें की थीं। कुछ काल घूमनेके अनन्तर नन्दजीने नन्दगा
वृषभानुजीने बरसानेमें अपनी राजधानी बना ली। अब
स्थायी होकर रहने लगे। अब गोप कहीं दूर गौओंको चराने
भी जाते, तो अपने बालबच्चोंको यहीं छोड़ जाते। स्त्रि
घरोंमें रहतीं। दसबीस कोसमें गौएँ चराकर गोप फिर
आजाते कुछ दिन रहकर फिर दूसरी दिशाको चले जाते।
प्रकार गोप चौरासी कोसके व्रजमंडलमें गौओंको चराते
घूमते। जबसे श्रीकृष्ण मथुरा चले गये हैं, तबसे गोपोंका कि
भी काममें मन नहीं लगता। वे सदा उदास बने रहते हैं। उ
की मुसकान मानों माधवके साथ मथुरा चली गई। उनके न
सदा भरे रहते हैं। व्रजमण्डलके चौरासी कोसके सभी स्थ
श्रीकृष्णके चरण चिन्होंसे चिह्नित हैं। वे जिधर भी देखते, उ
ही श्यामसुन्दर की स्मृति आ जाती। यहाँ बलदाऊके साथ श्या
सुन्दरने यह ललित लीला की थी। यहाँ अमुक खेल खेला था
बस, स्मरण आते ही उनका हृदय फटने लगता। वे सब रो
लगते। जिन स्थानोंपर परम प्रेमास्पद श्यामसुन्दरके सा
प्यारी-प्यारी क्रीड़ायें की थीं, उस स्थानको देखकर वे सब बा
याद हो जातीं। जब गोपों की विरहव्यथा अधिक बढ़ गई,
किसीने सम्मति दी "तुम लोग इतने क्यों रोते हो भैया! मथु
कोई दूर थोड़े ही है। उधर ही अपनी गैयोंको ले जाओ, श्याम
सुन्दरको देख भी आना, अपने दुखकी दो बातें भी कर आना।
गोपोंने कहा—"मथुराके कृष्णसे हमें क्या काम? जिस
कृष्णके शरीर पर काला कम्बल नहीं। हाथमें गौओंके हाँकने
की लकुटी नहीं। सिर पर मोरपिच्छका मुकुट नहीं। कंठमें घुँघु
चियों की माला नहीं। हाथ में वंशी नहीं। आगे-आगे

गौओंका झुंड नहीं। ऐसे कृष्णसे हमारी तृप्ति न होगी। सुवर्णके राजसिंहासन पर बैठे कृष्णसे मिलनेमें भी हमें संकोच होगा। मथुरावाले कृष्णसे हमें कोई प्रयोजन नहीं। हम तो अपने ग्वारिया कृष्णका ही स्मरण करते-करते अपने शरीरको त्याग देंगे। इस व्रजसे हमें इसीलिये मोह हो गया है, कि इसका कण-कण हमें कृष्णकी स्मृति कराता है। यह पावन भूमि श्रीकृष्णकी पदरजसे लांछित है। कृष्ण-कृष्ण रटते हुए, उसके लीलास्थलों की यात्रा करते हुए इस जीवन का अंत कर देंगे। अपने जीवन को हम इसी आशा पर टिकाये हुए हैं, श्रीकृष्ण शीघ्रही आनेको कह गया है। देखें वह दिन कब आता है? हमारा तो वनवासी कृष्णसे ही सम्बन्ध है। नगरवासी कृष्ण को तो हम पहिचान भी न सकेंगे। जब वह कृपा करे, जब भी वह आकर मिले। जबतक वह स्वयं नहीं आता तबतक ऐसे ही भटकते रहेंगे। उसके नामकी रट लगाते रहेंगे। उसके लीलास्थलों पर माथा रगड़ते रहेंगे। दशों दिशाओंमें घूम-घूमकर उसकी स्मृति को नूतन बनाते रहेंगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही सब सोचकर ग्वाल बाल रातदिन कृष्णबलरामका स्मरण करते। रातमें उन्हें निद्रा नहीं आती प्रातः उठकर गौओंको लेकर दूर निकल जाते और कृष्णलीला स्थलोंमें जाकर सदा श्रीकृष्ण की चरचा करते रहते। वे आपसमें कहते—

देखो, भैया यह मधुवन है। एक दिन यहाँ हम रामश्यामके साथ गौओंको चरानेके लिये आये थे। उस दिन कैसी भूख लगी थी? तब न जाने कहाँसे श्यामने कटोरा भर भरके हमें माखन मिश्रीकी छाक दी थी। कैसा मीठा था उस मदनमोहनके हाथका दिया हुआ माखन। अब जीवनमें ऐसा माखन कहाँ मिलेगा? कौन कटोरा भरभरके छाक खिलायेगा

देखो यह तालवन है। यहाँ दुष्ट धेनुक रहता था। हमने कृष्णसे कहा—"भैया! बड़े पके पके ताल हैं इस तालवन में। या सारे गदहड़ेका मारदे और हमें ताल खिला दे। बलदाऊ भैयाने उस धेनुकासुरको मार दिया और हमें तालके फल खिलाये। अब कौन इतना प्यार करेगा? कौन हमारी छोटी-छोटी इच्छाओंको पूरा करेगा। हाय हम कृष्णसे कितना लड़ते थे, वह कभी बुरा नहीं मानता था।

देखो, यह सतोहा गाँव है, सान्तन कुंड है। यहाँ जब गौओंको चराते चराते आय थे, तो श्रीकृष्णके साथ इसी कुंडपर बैठकर सबने सतुआ खाये थे। इतने मीठे सतुआ अब कहाँ मिलेंगे? गुड़ शक्करमें वह मिठास कहाँ वह तो मदनमोहनकी दृष्टिमें मिठास था। उसके हाथोंमें मधुरिमा थी।

यह खैचरी गाँव है। बूढ़े-बूढ़े लोग बताते हैं, यहाँ कृष्णने बालकपनमें पूतना मारी थी। उसने छै कोशके पेड़ तोड़ डाले। कैसी वह राक्षसी थी। हाय! हम उसी समय क्यों नहीं मर गये। रांड़ पूतना ने हमें अपने जहर लगी चूची क्यों नहीं पिला दी। तब मर जाते तो ये दुखके दिन तो न देखने पड़ते। अब तो हम मर भी नहीं सकते। श्यामके मिलनेकी आशा जो लगी है। यह गणेशरा गाँव है, सुनते हैं पूतनाके मरनेपर यहाँ गन्धर्वोंने गीत गाये थे। आज तो हमें सर्वत्र रुदन ही सुनाई देता है। गन्धर्व भी मर गये। अब वे भी गाने को नहीं आते।

यह बहुलावन है। बहुला गायको यहाँ सिंहने पकड़ लिया था। श्रीकृष्णने उससे छुड़ाया था, आज हमें विरह रूप सिंहने जकड़कर पकड़ लिया है, कृष्ण कैसा निष्ठुर हो गया, हमें आकर अब नहीं छुड़ाता। यह रार घाटी गाँव है इसके पास यह सकना गाँव है। बलभद्र इस कुंडके समीप बहुत बैठते थे।

तोष ग्वाल बोला—"देखो, भैया यह मेरा गाँव है। मेरे

बापका इसमें क्या है। श्रीकृष्णने मेरे नामसे इस गाँवको प्रसिद्ध कर दिया था। एक दिन मुझसे कहा—"भैया लोप! तू नाचना बड़ा सुन्दर जानता है। ये गोपिकायें मुझे पकड़ लेती हैं और कहती हैं—"नाच दिखाओगे तब छोड़ेंगी।" सो भैया तू मुझे नाच सिखा दे। उस सर्वज्ञको मैं नाच क्या सिखाता। फिर भी मैंने उसे नाच सिखाया था। कैसे थे वे सुखके दिन। मैं उसे नाच सिखाता था, तुम सब हँसते थे। वह नाच नाचकर सबको हँसाता सबका मनोरंजन करता है। हाय! अब हमें कौन नाच दिखावेगा। धिक्कार है ऐसे जीवनको। कृष्णके बिना संसार सूना-सूना है।

देखो, यह विहारवन है, इस कुंडमें कृष्ण कैसी-कैसी क्रीड़ायें किया करता था। हम सबको साथ लेकर तैरता जल-क्रीड़ा करता। सबके ऊपर जल उलीचता छींटें देता। हाय! वे सब बातें शूलकी भाँति हृदयमें चुभ रही हैं। अब कृष्ण कब आकर इस कुंडमें हमारे साथ स्नान करेगा।

यह बसोंती गाँव है। यहाँ उस दिन बड़ी भूख लगी थी, सखी ने आकर छाक दी थी। वह रोटी कैसी मीठी लगी थी। अब वह स्वाद कहाँ?

यह अड़ीग गाँव है। इसके पासही यह किलोल कुंड है, कृष्ण इसमें कैसे किलोलें किया करता था।

इसपर एक मुखरा नामक गोप बोला—"देखो, इस सामने के गाँवका नाम श्रीकृष्णने मेरे नामसे रख दिया था। यहाँ हम सब मिलकर पेड़ोंपर चढ़कर लवेरवंशी खेल खेलते थे। सामने यह राधाकुंड है, श्रीराधाजीने जब अपने नामसे कुंड बना लिया तो हम सबने कृष्णके नामसे कुंड बनाया। लेकर गोपियोंमें कितनी हँसी हुई थी। हम [illegible]

हारना पड़ा था। कैसी-कैसी लीलायें रची थीं उन लीलाधारीने अब वे सब स्वप्नकी बातें हो गईं।

देखो, यह कुसुम सरोवर है, यहाँ मदनमोहनने—प्यारीजीका हाथोंसे शृंगार किया था। सब गोपियाँ कुसुमकली हो गई थीं। श्यामने भ्रमर बनके सबका रस पान किया था। यहीं नारदजीको ज्ञान हुआ। वे नरसे नारी हो गये थे। कृष्णकी लीलायें अपार हैं। उनका कोई पार नहीं। अबतो केवल कथा-मात्र अवशेष रह गई है। यह ग्वाल पोखरा है यहाँ हम सब ग्वालोंके साथ गोवर्धनधारीने छाक आरोगी थी। इस गोवर्धनको श्रीकृष्ण सात दिनों तक उँगली पर उठाये रहा। हाय! उसी समय हमें मर-जाने देता तो ये दुख तो न भोगने पड़ते। या तभी कृष्ण हमारे ऊपर गोवर्धन गिरा देता। देखो, यह मानसी गंगा है, श्रीकृष्णके मनसे स्मरण करते ही यह प्रकट हो गई थी। उसकी सभी बातें विचित्र थीं।

यह चन्द्र सरोवर है, पारसौली ग्राम है, सुनते हैं रासमें यहीं चन्द्रमा छै महीने तक ठहरा रहा। उसके नामका यह सरोवर है। रास वृन्दावन सखी स्थल यह गोवर्धनके निकट ही है, यहाँ कृष्णने असंख्यों क्रीड़ायें कीं और एकसे एक सरस सुन्दर और मनको हरने वालीं। हाय! अब उनको स्मरण करके हृदय फटता है।

यह वत्सवन है, यहीं जब हम सब बछराओंको चरा रहे थे, तो एक असुर बछरा बनके हमारे बछराओंमें आ मिला था। सर्वज्ञ श्रीकृष्णने उसे देखते ही पहिचान लिया और तुरन्त मार दिया। वही कृष्ण हमारे वियोगरूप असुरको कब पछारेगा? कब हमें पहलेकी भाँति कसकर हृदयसे सटावेगा। देखो यह बलदाऊ के नामसे अड़वारो कुंड है। यहाँ कृष्णने गोपिकाओंके हाथकी दी हुई मेरी राबड़ी खाई। उसी दिन हम सब इसे राबड़ी कुंड

देने लगे। इन शिलाओंपर बैठकर श्यामके साथ हम सदा जन करते थे। इन आन्यारकी शिलायें अब भी श्यामकी याद ला रही हैं इनमें अब भी चिह्न बने हुये हैं।

देखो, यह गोविन्दकुंड है। कनुआने जब कनी उँगलीपर वर्धनको उठाकर इन्द्रका मानमर्दन किया और गौवंशकी ताकी, तो इसी कुंडके समीप स्वर्गकी कामधेनुने गोविन्दपद र गोकुलेन्द्रका अभिषेक किया। आज हमारा गोविन्द गौओं ा रोती बिलखती छोड़कर मथुरा चला गया। जो सात दिन मारी और गौओंकी रक्षाके लिए गिरिराजको लिया खड़ा रहा ाज वह कितना निष्ठुर हो गया है, गौओंने तृण जल छोड़ देया है वह आता नहीं।

देखो यह पूँछरीको लौठा है। इसके आगे यह श्याम ढाक है। यहाँ हम श्यामके साथ कितनी बार गौएँ चराने आये थे। सखियोंने कितनी बार यहाँ हमको छाक खिलाई है, कितनी बार दही लूट लूटकर खाया है। उसके साथ दही लूटने में कितना आनन्द आता था। यह सुरभिकुंड है यह हरे हरे कदंबोंकी खंडी है। वर्षा बंद होनेपर गिरिराजको अपने स्थान पर [illegible] कर सब गोपियोंने दधि अक्षतसे कृष्णकी पूजा की थी। [illegible] उसे छातीसे चिपटाकर बारबार मुख चूमा था, [illegible] थे। मैयाने बाँह में नारायण तेलकी मालिश [illegible] पूछा—"कनुआ भैया! हाथ तो नहीं दुखने लगा [illegible] हँसकर कहा—अरे, तुम कैसी बात करते हो, [illegible] हमने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया [illegible] है संभव है ईश्वर ही हो, ईश्वरके बिना [illegible] हाय! ईश्वर होकर उसने हमारे साथ [illegible] वह जन्मका है।

देखो, सामने यह बिछुआवन [illegible]

लीला रची। वह लीलाधारी था जब चाहता वैसा ही रूप बन लेता। उसने देखा कुंडमें बहुतसी सखियाँ स्नान कर रही हैं उनमें श्रीजी भी थीं श्रीजी किलोल कर रही थीं। सखियाँ उनपर जल उलीच रही थीं। श्यामको कैसा कौतुक सूझा। हमें वे कदम्बोंकी ओट में खड़ा कर गया और स्वयं बन गया गोपी हम तो पहिचान भी न सके। कड़े छड़े पहिनकर उन गोपियोंमें रलमिल गया। उन्हींके साथ हँसने खेलने लगा। कोई पहिचान ही न पाई कि यह गोपी नहीं गोप है। श्रीजीका बिछुआ जल में गिर गया। सौभाग्यवती स्त्रीका बिछुआ खोजाना बड़ा अशुभ माना जाता है? श्रीजी बड़ी घबराई। तब सखी बने श्यामने कहा—"कोई तुम्हारी बिछुआको ढूँढ़ दे तो उसे क्या दोगी।"

श्रीजीने कहा—"उसे मैं जो वह माँगेगी वही दूँगी। मुँह माँगी वस्तु दूँगी।"

उसके लिये तो कोई काम कठिन ही नहीं था। तुरन्त हमारे देखते देखते सैकड़ों बिछुआ निकाल लाया और श्रीजीके चरणों में पहिनाने लगा। स्पर्श पाते ही श्रीजी समझगई यह तो छलिया है।

श्रीजीने कहा—"बोलो क्या माँगते हो?

तब आपने दीन होकर कहा—तुम्हारी कृपा चाहता हूँ, तुम कभी मुझपर क्रुद्ध न होना सदा मुझे तुम्हारे दर्शन मिलें।"

हाय! आज हम भी उसकी कृपाके इच्छुक बने हैं। आज हम भी उसके दर्शनोंको लालायित हैं। वह निर्दयी हम सबको रोता हुआ छोड़कर चला गया।

यह टोड़ का घनो है। इस कुंडका नाम बलरामने कृष्ण-कुंड रख दिया था। यह दीर्घपुर है। एक बार नन्दबाबाकी इच्छा हुई हम उत्तराखंडके बदरीनाथ केदारनाथके दर्शन कर

आवें। यह सुनकर कृष्ण तुरन्त बोल उठा—"बाबा! तुम इतनी दूर कष्ट क्यों करोगे? कहो तो मैं उत्तराखन्ड के समस्त तीर्थों को यहीं बुलादूँ।"

बाबा तो चुप हो गये हमने कहा—"हाँ भैया बुला दें। तब उसने तुरन्त बातकी बातमें न जाने किस जादूके प्रभावसे उत्तराखन्ड के सब तीर्थ बुला दिये। देखो, ये आदिबदरी हैं, ये बूढ़े केदार हैं, यह हरिद्वार है। यह भागीरथी हैं, यह अलकनन्दा है यह ऋषिकेश है, यह लक्ष्मण झूला, यह गंगोत्री है, यह यमुनोत्री है।

हाय! उस समय उसे हमारे सुख दुखका कितना ध्यान रहता था, जो हम कह देते थे उसीको मान लेता था। अब वह हमारी एक भी नहीं सुनता हमें कीचमें पड़ी मछलीकी भाँति तड़फा रहा है। अब हम समझे यह तो मुख देखे की प्रीति थी। हाय हमारे बीचमें कृष्ण नहीं तो ये उत्तराखन्ड के समस्त तीर्थ सूने सूने से दिखाई देते हैं। नदियाँ सूखी और श्रीहीन दिखाई देती हैं।

देखो, यह आनन्दाद्री है, यह इन्द्रोली है। इन्द्रने यहीं से गिरिराज पर चढ़ाई की थी। अब हमारे ऊपर श्रीकृष्ण विरह ने चढ़ाई की है। यह काम वन है। इसमें कितने कुंड हैं, कितने स्थल हैं इन सभी स्थलों में श्यामकी स्मृतियाँ निहित हैं। हाय! उन दिनों कभी स्वप्न में भी इस बातकी कल्पना नहीं थी, कि हमें ये भी दिन देखने पड़ेंगे। हम सोचते थे सदा इसी प्रकार रामश्यामके साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करते रहेंगे। ऐसे ही छाक खा खाकर गौएँ चराते रहेंगे। श्यामको हम अपना समझते थे, किन्तु वह तो पराया निकला। हमें बिलखता छोड़ गया। हम उसे सहृदय समझते थे, वह तो निकला। हम उसे सदय समझते थे वह तो निर्दयी

इन शिलाओंसे हम सिर फोड़ते रहेंगे और उन बातोंको याद कर करके रोते रहेंगे। वह असंभवको संभव कर देता था। यह विमलकुंड है सब तीर्थ चतुर्मास करने व्रजमें आते थे, पुष्करराज तीर्थों के पुरोहित होनेके अभिमान से नहीं आये। तब श्रीकृष्णने सबके देखते देखते वहीं पुष्करतीर्थ को उत्पन्न कर दिया। उसमेंसे एक विमल स्त्री प्रकट हुई। वे ही ये विमला-देवी हैं।

यहाँ दक्षिणके सब तीर्थ हैं। लंका पलंका है। यह लुकछिप-कुंड है। यहाँ हम सब गोप लुकते छिपते थे आँख मिचौनी खेला करते थे। अब किसके साथ आँख-मिचौनी खेलेंगे। अब रोते रोते हमारी आँखें ही फूट जायँगी। देखो, यह मोर कुंड है, यहाँ कृष्ण मोरों के साथ कैसा नाचा करता था? मोर भी उससे कैसे हिल मिल गये थे? आज मोर भी हमें देखकर भाग जाते हैं। यह कहावत सत्य है, विपत्ति में सभी विपरीत हो जाते हैं, अपने पराये बन जाते हैं। यह शीतलादेवी है मैया यशोदा सब गोपियोंके साथ बासी पूड़ी बासी महेरीसे इसका पूजन करती थीं। हम सब ग्वालबालों को यहाँ बिठाकर बासेड़ा खिलाती थीं। कृष्णके साथ वे बासी वस्तुएँ कितनी मीठी लगती थीं। कृष्ण चला क्या गया हमारे स्वादको भी ले गया।

देखो, यह गोपालकुंड है उस दिन कैसी सरस लीला यहाँ हुई। फागुनका महीना था श्रीजी अपनी सहस्त्रों सहेलियोंके साथ यहाँ नहाने आई थीं। सबके पास दो दो वस्त्र थे नहाकर पहिननेके। सब ग्वालबाल गौएँ चरा रहे थे। श्रीजीने सब सखियोंको सैनोंके संकेतसे कुछ समझा दिया। सखियोंने आकर सबको पकड़ लिया। श्रीजीने श्याम सुन्दरको पकड़ा। सबको लँहगा पहिना दिया फरिया उढ़ा दी। अब होने लगी होरी। उस दिन कैसा रस बरसा था? भेद भाव रहा ही नहीं था।

[illegible] उसे पकड़कर पानी में दबोच देती वह उसके मुख पर कीच [illegible] देती। हाय! कृष्ण ने जितनी ही सरसता दिखाई आज वह [illegible] तना ही नीरस बन गया। अब ये गोपियाँ लोकलाजके कारण [illegible] म से बोलती तक नहीं। यह तो सब उसीकी माया थी उसकी [illegible] होनी थी। भगवान की माया और पुरुषकी छाया साथ साथ [illegible] लती है।

देखो, यहाँ सेतुबन्ध, मर्कटोत्सवन आदि लीलाएँ की थीं। यह काशी विश्वनाथ हैं, यह मणिकर्णिक घाट है। श्रीकृष्णके प्रभावसे सभी तीर्थ यहाँ स्वतः आते थे। अब तो इनके नाम मात्र शेष रह गये हैं। कृष्णके साथ ये भी गुप्त रूपसे चले गये। यह सुनहरा कदमखण्डी है। श्रीकृष्णके सामने सुवर्ण रंग, की चमेली कितनी फूलती थी? श्यामसुन्दर उन फूलोंसे प्यारीजीके अङ्गकी उपमा दिया करता था। यह सामने देहकुंड है। उस दिन श्रीकृष्णने यहाँ कैसी लीला रची। हम सब कृष्णके साथ गेंदबल्ला खेल रहे थे। श्रीजी ललिताजीके साथ इस कुंडमें स्नान कर रहीं थीं। उसकी आखें श्रीजीको देखकर खिल जातीं। उन्हें देखते ही उसके हृदयमें गुदगुदीसी होने लगती सब खेल-फेल भूल जाता। श्रीजीको देखते ही बोला—"मुझे प्यास लग रही है।" हम तो उसकी प्यासका अर्थ समझते थे। हमने कहा—"भैया! सामने यह कुंड है, इसमें जाकर जल पीआ।"

वह बोला—"अरे, इसमें तो लुगाइयाँ नहा रही हैं।"

हमसब हँस पड़े और बोले—"छी छी! पुरुष होकर लुगाइयोंसे डरता है। लुगाइयाँ तेरे सिरपर तो चढ़ नहीं जायँगी। चला जा। वह ब्राह्मणका वेष बनाकर गया और ललिताजीसे बोला—"हमें दान दो।" ललिताजी तो समझ गईं ये छ[illegible] हैं। उन्होंने अपने सब आभूषण इन्हें पहिना दिये।

श्रीजीसे बोले—"अब तुम इससे अधिक कुछ दान दे सकती हो तो बताओ।"

तब श्रीजीने हाथमें जल लेकर कहा—"मेरा मन, धन, देह सब श्रीकृष्णार्पण है। श्रीजीने यहाँ श्यामको अपनी देह अर्पण की थी। और यह वर माँगा था, 'कि एक क्षण भी मेरा तुम्हारा वियोग न हो। जिस क्षण मेरा वियोग हो, उस क्षण शरीर न रहे।"

हाय! श्रीजी इस छलियाकी सब बातें जानती होंगी। इन्हें पता होगा, एक दिन यह छल करेगा हमें छोड़कर चला जायगा।' तब कृष्णने कहा था 'मेरा एक छोटा सा रूप तुम्हारे दोनों पलकोंके सम्मुख सदा बना रहेगा। एक क्षणको भी हमारा तुम्हारा वियोग न होगा। तब हम इसका अर्थ नहीं समझे थे। अब बात समझमें आयी। श्रीजी उसी सूक्ष्म रूपको देखकर जीवित हैं। हमें तो कृष्णका न सूक्ष्मरूप दीखता है न स्थूल। हमारी आँखोंके सामने तो अँधेरा छाया हुआ है। कृष्णने हमें ठग लिया जो इतना सुख देकर हमें विपत्तिके सागरमें ढकेलकर मथुरा भाग गया।

देखो, यह प्यारीजीका गाँव बरसानो है। यहाँ श्रीकृष्णने कैसी कैसी सरस लीलायें की हैं? कभी जोगिनि बनके अलख जगाया है, कभी मनिहारिनि बनकर चूड़ी बेची है। कभी मोर बनकर प्यारीजीको रिझानेके लिये नाचे हैं और बादल बनकर बरसे हैं। यह साँकरी गली है। एक ओरसे गोपियाँ आतीं दूसरी ओरसे श्याम आते। साँकरी गली होनेसे एक दूसरेके शरीर सट जाते थे। यहाँ गोपियोंसे लूट लूटकर कितना दही माखन हम सबने खाया है?

-यह दोहनी कुंड है यहाँ वृषभानुजीकी गौएँ बँधती थीं। अब भी बँधती तो हैं, किन्तु वे बातें कहाँ? कृष्ण यहाँ प्यारीजीके

मिलनेके लिये लुक छिपकर सदा बैठा रहता था। कभी सखीका रूप रखकर प्यारीजीको गौदोहन सिखाते। सैंनोंमें ही सब समझाते। कहाँ तक कहें यहाँके कणकणमें मधुर मधुर स्मृतियाँ भरी हुई हैं। देखा, यह रत्नकुंड है। इसमेंसे श्रीजाने बहुतसे रत्न निकालकर नन्दजीके यहाँ भिजवाये थे। हमारा तो एक ही काला रत्न कृष्ण था। वह हमसे खो गया। हम वनवन भटकते हुए उसी रत्नको खोज रहे हैं। ये पत्थरके रत्न हमारे किस कामके?

यह गहवर वन है, यहाँ कृष्ण पेड़ोंपर चढ़कर कोकिलाकी भाँति कूजता था। उसके स्वरके सामने कोकिलाका स्वर भी फीका पड़ जाता था। इस गहवर वनमें हमने कितनी गोपियोंको दानके लिये पकड़ा था। कृष्णका संकेत पाते ही हम गूजरियों को पकड़ लेते। कृष्ण उनसे हँसी करता, ठठौली करता, गोरस माँगता। वे बुरा मानतीं गाली देतीं। कैसे यहाँ नौक झोंक हुआ करती थी? अब यह स्थान सूना सूना लगता है। दान विहारी ही नहीं तो दान कौन ले, विहार कौन करे? कोकिला बनकर कुहू कुहू कौन करे?

यह प्रेमभरी प्रेम सरोवर है। लाड़लीके पग रखनेको लालजी यहाँ पलकोंके पांवड़े बिछाते थे। आज यह प्रेम सरोवर प्रेम नहीं बहा रही है। यह रीठोरा गाँव है। श्यामके साथ हम कितनी बार इस गाँवमें आये हैं। इसमें श्यामकी प्राणप्यारी चन्द्रावली सखी रहती है। अब कृष्णके बिना वह हमसे बात भी न पूछेगी। हम यह नहीं जानते थे। हमें जो आदर मिलता है कृष्णके ही सम्बन्धसे मिलता है। कृष्णके बिना हमें कोई दो कौड़ीमें भी न पूछेगा। यह महरानों है। यशोदा मैयाका यही गाँव है। ननसालके नाते कितनी बार हम यहाँ आये हैं। कैसी हमारी यहाँ आव भगत होती थी। कैसे माल खानेको मिलते

थे। नाना हम सबका कृष्णकी ही भाँति आदर अ
करते थे।

बरसानेकी भाँति नन्दगाँवकी भी ये कदम्ब खण्डी
सूनी लगती हैं। एकदिन श्रीजीको कारियल साँपने डस
था। तो कृष्ण सफेरा बनके उनका विष उतारने गया था। आ
हम सबको कृष्णविरह रूप कारे सर्पने डस लिया अब
हमारा विष उतारने क्यों नहीं आता। देखो, उस दिन श्या
गैया पौहारसे विदुककर कैसी भागी थी। कृष्ण भी मुट्ठी बाँ
उसके पीछे पीछे भागा था। भागते भागते जब हाँपने लगा,
उसी कुंडके किनारे आकर उसने स्वांस ली। तभीसे हम सब इ
कुंड को 'सांसको कुंड' कहने लगे। हाय! आज हम
बिना उष्ण सांस ले रहे हैं। दुखी हो रहे हैं, किन्तु कृष्ण
ही नहीं। यह कदम्ब टेर है। उसी कदम्ब पर चढ़कर वंशीमें श्य
गौओंको टेरा करता था। इसपर चढ़कर हम उसे टेरें तो भ
वह न आवेगा। मथुरामें जाकर यादवोंने उसे कोई ऐसा मन्त्र
पढ़ा दिया है कि हमारी उसे याद ही न आती होगी। यह
छछियारी देवी है। व्रजवासी छाछसे इसे स्नान कराते हैं, यह
भी श्रीकृष्णको नित्य छाछ पिलाती थी। अब तो यह हमसे
मुखसे बोलती भी नहीं, अब पत्थरकी मूर्ति बनी बैठी है। ज
हमारा कृष्ण ही हमसे रूठ गया तो और देवी देवताओंकी तो
बात ही क्या? हमारा तो परम देवता श्रीकृष्ण ही है। श्रीकृष्ण
को छोड़कर हमने तो और किसी देवता में ऐसी शक्ति देखी
नहीं। उसके पीछे देवता भी हमें प्रणाम करते थे। बूढ़े अक्रूरने
भी हमारी चरण धूलि ली थी। अब मथुरा जायँ, तो
बात भी न पूछेगा। जो हमारी क्षण-क्षणमें बात पूछता था,
वही विपरीत बन गया तो औरों की तो बात ही क्या कहें।
देखो, देखो यही निर्दयी मार्ग है। इसी मार्ग से कृष्ण रथ पर

चढ़कर मथुरा गया था। इसी कुंडपर उसने गोप-ग्वारियोंके वस्त्र उतारकर फेंके थे। हाय! अब वह ग्वारिया नहीं रहा। यहीं अक्रूर को सर्वप्रथम श्रीकृष्णके चरणचिह्नके दर्शन हुये थे। देखो, ये हाऊ बिलाऊ हैं। कृष्ण जब दूर खेलने जाता तो मैया कह देती—"देख, बेटा! दूर खेलने मत जाना। वहाँ हौआ बिलौआ बैठे हैं; वे बच्चों को उठा ले जाते हैं।" कृष्ण छोटा था, तब किसी हाऊ बिलाऊने उसे नहीं उठाया, किन्तु जब बड़ा हुआ तो अक्रूर रूपी हौआ उसे सदा के लिये उठा ले गया।

यह पनिहारी कुंड है। कृष्ण कंकर मारकर गोपियोंकी जलकी मटुकीमें फोड़ देता था, अब उसने हमारे हृदयको फोड़ दिया। यह सामने डोमिलवन है, इसमें प्रिया-प्रीतम दोनों आकर मिलते थे और प्रेमकी बातें करते थे। इसकी कुञ्ज कुञ्ज हमने खोज डाली कि कहीं लुका छिपा कृष्ण बैठा हो, किन्तु वह दिखाई देता नहीं। यह करहला है, यह कमई है, पियासो है ये सब गमके स्थान हैं, श्रीकृष्णने सखियों के साथ यहाँ शरदकी अनेक रात्रियों में रास-क्रीड़ायें की हैं।

यह खदिरवन है, यहीं शंखचूड़ [illegible] श्रीकृष्णने वध करके उसके माथेकी मणि निकालकर [illegible] दी थी और बलदाऊ-ने फगुआकी खिलाईमें वह मणि [illegible] दी थी। वह मणि श्रीजीपर अब भी है; किन्तु [illegible] दिखाई नहीं देता। हाय उसी के बिना दशों दिशायें सूनी-सूनी दिखाई दे रही हैं। यह 'जाव' स्थान है इसमें [illegible] है। कृष्णने चूड़ी बनकर श्रीजीको चूड़ी पहनाई थी, [illegible] यहीं कहीं कोई विचित्र [illegible] रहा होगा [illegible] रुदन को सुनकर [illegible] आता है। दूसरे [illegible] था। यहाँ गोपियों के [illegible]

था। कृष्ण को होरी ठठोली अत्यन्त प्रिय थी। क्या कभी कृष्ण फिर आवेगा, हमसे ठठोली करेगा, गोपियोंसे होली खेलेगा ?

देखो, यहाँ कृष्णने नटका रूप रखा था। जब वह जो रूप बना लेता, तब तैसाही लगने लगता था, वह बहुरूपिया था, देखो, यह कोकिला वन है, यहाँ कोकिलाके स्वरमें स्वर मिलाकर श्याम सदा कूकता था। अब कोकिलकी कूकतो सुनाई दे रही है, किन्तु उसे चिढ़ानी हुई कृष्णके कलित ध्वनि सुनाई नहीं देती। कृष्ण तो कही मथुरामें किसी से बातें कर रहा होगा।

यह चरण पहाड़ी है, इसके नीचे यह चरणगंगा है। इन पहाड़ोंकी शिलाओंपर बैठकर श्याम राम गाते थे, गौएँ चराते थे, हम सबको हँसाते थे। अबतक इन पहाड़ोंके पाषाणोंपर राम श्यामके चरणचिह्न बने हुए हैं। यह विहारकुंड है इसके समीप जो यह चबूतरा है, इसपर बैठकर उस दिन कृष्ण कितना रोया था, जब गोपिकाओंने उसकी काली कमली चुरा ली थी। आज इस पर बैठकर हम उस काली कमलीवाले कृष्णके विरह में रो रहे हैं। हम उस दिन हँस रहे थे। यशोदा उसे मना रही थी हम उसे चिढ़ा रहे थे "छीं छीं रोमनो कृष्ण है।" रोमनो रोमनो कह कह कर हम हँस रहे थे वह ढाह मारकर रो रहा था। आज वह राजमहलोंमें सोनेके सिंहासनपर हँस रहा होगा हम यहाँ रो रहे हैं। अब वह काली कमली क्यों रखता होगा। शाल दुशाले ओढ़ता होगा। शाल दुशालेवाले कृष्णसे हमें क्या प्रयोजन ? हमें तो कालीकमलीवाला काला कृष्ण चाहिये।

देखो, यह दधिगाँव है, यहाँ हम सबने मिलकर श्रीकृष्णके साथ भरपेट दही खाया था। यह कोटवन है। जब मैयाने सुना कृष्ण तो गोपियोंके साथ नाचता है, रास करता है तब उसने कहा—"कनुवा बेटा ! मैंने सुना है तू रासलीला किया करता है,

तनिक मुझे भी तो एक दिन दिखा। भगवान् ने सोचा—'ये गोपिकायें मैयाके सम्मुख तो नाचेंगी नहीं।' यह सोचकर आपने कोटि कोटि चौक रचे, कोटि कोटि लीलायें दिखाईं। वह लीलाधारी था, जो चाहता वही कर डालता उसे कोई रोकने टोकने वाला नहीं था। जो चाहता वही बना देता, जो इच्छा होती वही रच देता। अब उसने हमें विरही बना दिया है, यह भी उसीकी लीला है। हम और क्या कहें। देखो, यह शेषसाई स्थान है, यह लोटनकुंड है। यहाँ श्रीकृष्ण गौओंकी रज से लोटे थे, यह कोसी है, यह पय गाँव है। खेलनवनसे खेलते खेलते हम सब लोग श्रीकृष्ण के साथ यहाँ आये थे। गाँववालोंने हम सबको भरपेट दूध पिलाया था। जिस कुंडमें कृष्णका पीया पय गिरा था, उसीका नाम हम सबने पयकुण्ड रख दिया। अब हमें कोई पानी भी पीनेको न देगा। श्रीकृष्णके बिना हमारा कोई महत्व नहीं, अस्तित्व नहीं।

देखो, यह वही मुञ्जाटवी है जहाँ हमारी सब गैयाएँ मूंजके वन में रास्ता भूलकर खो गई थीं। जब हम उन्हें ढूँढ़ने गये, तो चारों ओरसे वनमें दावानलभी लग गई। श्रीकृष्ण उस अग्निको पान कर गया था। हाय! उन दिन कृष्ण हमें जल जाने देता; तो आज हमारा हृदय भीतर ही भीतर क्यों जलता। एक बारका जल जाना अच्छा है, किन्तु इस प्रकार घुट घुटकर जलते रहना अच्छा नहीं। हम तो श्रीकृष्ण रूप विरहानलमें आज-कल रात-दिन जलते रहते हैं।

देखो, यह गुंजावन है, यहाँ श्रीकृष्णने गुंजा की मालाओं का शृंगार किया था। हम सबने भी गुंजाकी मालायें पहिनी थीं। अब श्रीकृष्ण सुनते हैं मणि मोतियों की माला पहिनता है, सुवर्णके सिंहासनपर बैठता है। उस कृष्ण से हमारा सख्य भाव कैसे हो सकता है। सख्य भाव समानके साथ होता है। गुंजामालाधारी कृष्ण ही हमारा सखा है, उसीके लिये हम रो

रहे हैं। हमें वृन्दावनविहारी ग्वालबाल कृष्णके दर्शन चाहिए मथुरावासी राजकुमार कृष्णसे तो हम डर जायँगे। उसे कर तो हम दूर खड़े हो जायँगे। उसके कंधेपर कैसे चढ़ हैं, उनसे चड्डी कैसे ले सकते हैं। उसे 'सारे' कहकर कै सम्बोधित कर सकते हैं।

देखो, यह विहारवन है, यहाँ विहारकुण्ड है, यह है, सामने यह अक्षयवट है, इन सब स्थानोंमें कृष्णने बड़ी सुन्दर सुन्दर क्रीड़ायें की थीं। इस चीरघाट पर तो श्री सरसताकी सरिता ही बहा दी थी। हम दस बीस ही गोप साथ थे। बड़ी बड़ी मलूक छोटी छोटी छोरियाँ कात्यायिनीव्रत करती हुई यमुनाजीमें नंगी नहा रही थीं। श्यामको एक लीला सूझी। उसकी उमंग ही जो ठहरी उसे जब जो धुनि सवार हो जाय, जब जो क्रीड़ा सूझ जाय, तुरन्त सबके वस्त्रोंको समेटकर कदंबपर चढ़ गया और वंशी बजाने लगा। कुमारी कन्याओंने जब इसका नटखटपन देखा तो, वे हाहा खाने लगी, बिनती करने लगी किन्तु वह टससे मस नहीं हुआ। कदंब पर चढ़ा हँसता रहा और कुमारियोंसे निकलनेको कहा। वे नङ्गी निकलने में लजाती रहीं। वह कहता ही रहा। हमें तो लाज लग रही थी, किन्तु वह तो लोकलाजके परे था वह जो कह देता, उसे करके छोड़ता। अन्त में सब कुमारियाँ नंगी होकर उसके सामने आईं। कपड़ा बिना क्या नंगापना। नंगा तो वास्तवमें वही है, जिसके हृदयसे श्यामसुन्दरकी माधुरी मूरत निकल गई हैं। कृष्ण के बिना नंगे तो हम हैं, उन कुमारियोंको तो उसने वस्त्र भी दिये। हमें कब निहाल करेगा। कब कारी कामरिया ओढ़कर धौरी धूसरी पुकारता हुआ हमारे आगे आवेगा।

यह नन्दघाट है, यहींसे नंदबाबा को पकड़कर वरुणके दूत वरुणलोक ले गये थे। हम सब कितने घबरा गये थे। सब

रोते-रोते कृष्णके पास चले गये। कृष्णने कड़ककेकहा—"उस सारे वरुणकी ऐसी तैसी। मैं अभी अपने बाबाको छुड़ाकर लाता हूँ।" सचमुच वह जलमें घुस गया और बाबाको न जाने कहाँसे ले आया। बाबाको तो खोज लाया, किन्तु स्वयं बाबाका मोह छोड़-कर चला गया। अब हम उसे कहाँ खोजें उसने तो राजापनकी खाई बीचमें खोद दी है। यह वैकुण्ठपुर गाँव है यहीं हम सबसे नेत्र बन्द कराके उसने वैकुण्ठ लोकके दर्शन कराये थे। हमनेतो अपने गोपालकृष्णके सम्मुख वैकुंठके ऐश्वर्यको तुच्छातितुच्छ समझा था, फिर मथुराके ऐश्वर्यकी तो बात ही क्या? हमें ऐश्वर्य नहीं चाहिए माधुर्य चाहिए। हमें तो ग्वारिया कृष्णसे कुस्ती लड़ते अच्छी लगती है। "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" इसे तो कंगला-दरिद्री भिखारी गाते हैं। "जय जगदीश हरे" कहकर अर्थार्थी आरती करते हैं। हमतो उसे जेठमें भरकर छाती से चिपटा लें यही हमारी पूजा है। हाय! हमारी पूजा छिन गई। कृष्ण हमें छोड़कर चला गया।

देखो यह भद्रवन है, यह भान्डीरवन है, यह श्यामवन है, यह मॉट है। यहीं अघासुर, वत्सासुर, बकासुर और प्रलम्बासुर आदि दैत्योंको श्रीकृष्ण बलरामने मारा था। यह वत्सवन है यहीं हमारा पुनर्जन्म हुआ था। दुष्ट अघासुर हम सब गोपोंको बछड़ोंके साथ निगल गया था। हम तो उसके उदरमे जाकर मर ही गये थे, श्रीकृष्णने ही हमें फिरसे जीवित कर दिया। हाय! हम तभी मर जाते तो सब दुख दूर होजाते। ये वियोगके दिन न देखने पड़ते। यह सेई गाँव है। यह सैमरी है। यह नरीगाँव है यहाँ श्रीजीकी सहचरी रहती है। नरी श्यामला दोनोंही श्रीजी-की सखी रामश्यामको छाक खिलाकर जगत पूज्य बन गईं। यह चौमुहा गाँव है। चतुर्मुख ब्रह्माजीने यहीं अपने चारों मुखोंसे चारों दिशायें देखी थी।

देखो. यह जैत गाँव है, यहीं कोपकुंज है। श्रीजी जब कर कोपकुंजोंमें आ बैठती तो श्यामला सखी उन्हें मनाने करती थी। आज कृष्ण हमसे रूठकर मथुराकी राजधानीमें जा बैठा है, उसे मनाने किसे भेजें। राजधानीमें जानेका किसीका साहस ही नहीं पड़ता।

यह भांडीरवन है, यहीं दाऊ भैयाने प्रलम्बासुर दैत्यको था। वह भद्रवन है भार खंडेस्वर महादेव हैं। यहाँ बैठकर दोपहर में छाक कितने बार श्रीकृष्णके साथ खाई थी।

देखो, यह बेलवन है। इन बेलोंके वृक्षोंसे कितने पके पके बेल तोड़ तोड़कर हमने खाये थे। बेल कितने मीठे और स्वादिष्ट लगते थे। कृष्णके बिना ये सब नीरस हो गये। लक्ष्मीजीने इस वनमें श्रीकृष्णको पानेको कितनी तपस्याकी थी? यदि तपस्यासे कृष्ण मिल जाय, तो हम भी यहाँ तपस्या करें। किन्तु कृष्ण तो सरस है उसे नीरस तपस्या क्यों अच्छी लगेगी। वह तो प्रेमका भूखा है। प्रेम हमारे पास नहीं है तभी तो वह हमें छोड़कर चला गया। प्रेम कहाँसे लावें। हाय! हम कृष्ण बिना जी रहे हैं ऐसे जीवनको धिक्कार है। प्रेम तो मछली का सच्चा है जो जलसे बिछुड़ते ही प्राण त्याग देती है। हम रो तो रहें हैं अश्रु तो त्याग रहे हैं किन्तु प्राणों को नहीं त्यागते यही हममें कमी है। इस कर्म को भी कृष्णही पूरी कर सकता है। दूसरे के वशकी बात नहीं!

देखो यह वृन्दावन है इसकी कण कणमें कृष्णकी असंख्यों स्मृतियाँ भरी पड़ी हैं। कहाँ तक स्मृतियोंको गिनावें। स्मरण शक्ति भी तो हमें छोड़कर चली गई। यह दान गली है यह मान गली है यह गुमानगली है यह सेवा कुन्ज है। उस दिन की बात हमें कभी न भूलेगी।

श्रीजी यमुना स्नानके लिये जा रहीं थीं। साथमें सखी सहेलियाँ थीं। उसे तो हर समय नटखटपन ही सूझता रहता था।

एक साँकरी सी गलीमें आकर श्रीजीका अंचल पकड़ लिया और कहा हमारा दान दो ।"

श्रीजीको क्रोध आ गया और डाँटकर बोलीं—"चलो हटो, आये दान माँगनेवाले। बड़े दान लेने वाले बने हैं। अभी कंस राजाको पता पड़ जायगा, तो लालाजी बापके सहित बँधे हुए जाओगे। किस ठसकमें फूले घूमते हो ?

श्रीजीकी बात सुनकर उसे भी रोष आगया और बोला—"मैं सारे कंसको अभी पछाड़कर आता हूँ।" और वह तुरन्त रोष में भरकर चल दिया। उस समय तो श्रीजीने हाथ पकड़कर उसे रोक लिया था। तब तो वह नहीं गया। किन्तु पीछे चला ही गया। कंस भी मर गया, किन्तु कृष्ण लौटकर वृन्दावन नहीं आया। कैसा निष्ठुर बन गया है वह।

यह वंशीवट है, यहाँ कृष्णने रासके लिये वंशी बजाई थी। शरदपूर्णिमाके दिन रास किया था। देखा, यह भतरौड़ है यहाँ ही याज्ञिक ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे, हम सब उनसे अन्न माँगने गये थे, उनकी पत्नियाँ कैसे सुन्दर-सुन्दर अन्न लाई थीं ? सबने कितने स्वादसे खाये थे। सुना है यहीं अक्रूरजीको जलमें चार भुजावाले कृष्णके दर्शन हुए। चार भुजाका कृष्ण तो हमने सुना ही नहीं। हमें कभी चतुर्भुजी कृष्ण दीख जाय, तो हम तो डरकर भाग जायँ। हमें तो द्विभुजकृष्ण चाहिये।

यह यमुनापार मानसरोवर है। यहाँ प्यारीजीने प्यारेसे मान किया था। कृष्ण होता तो हम भी उससे मान करते अब किससे मान करें कौन हमें मनावेगा ? यह लाहवन है, यहाँ श्रीकृष्णने लोहासुर को मारा था। यह देखो आनन्दकुन्ड है। यह सानन्दी मौसीका गाँव है। यहाँ जब भी आते मौसी हमें माल खिलाती थी। हम जब छाक लेकर नहीं चलते थे तो हमारी मातायें कहा

करती थी—"छाक न ले जाओगे, तो वहाँ खाओगे क्या ? गैलमें तुम्हारी मौसी थोड़े ही बैठी है। सो, इस सानन्दीको कृष्णकी मौसी होनेके कारण हम सब मौसी ही कहा करते थे। मौसी अब जाने जीवित है या मर गई। जीवित भी होगी तो कृष्णकी याद कर करके अंधी हो गई होगी। हा ! कृष्ण सभीको प्यारा था, जितना ही प्यारा था, उतना ही वह निष्ठुर भी निकला।

देखो, यह दाऊजीकी जन्मभूमि है। कितनी बार हम यहाँ आये हैं। यह महावन गोकुल है। यहीं कृष्णका जन्म हुआ था। जो निष्ठुर अपनी जन्मभूमिको भी त्याग गया। उसकी हम अब याद न करेंगे। देखो सामने यह रावल है, राधाजीका जन्म इसी गाँव में हुआ था। गोकुलमें कितने दिनों हम साथ-साथ रहे, साथ-साथ खेले। यमलार्जुन पेड़ोंके गिरनेसे ही हम इस स्थानको छोड़कर वृन्दावन चले गये और फिर वन वन विचरते रहे। अब भी हम एक वनसे दूसरे वनमें विचरते हैं, किन्तु अब हमें शान्ति नहीं, सुख नहीं, उल्लास नहीं, उत्साह नहीं, सन्तोष नहीं, कृष्णके बिना हम तड़प रहे हैं। बलरामके बिना हम बिलबिला रहे हैं। हा श्याम ! कब आओगे। हे बलभैया ! हमें ऐसे ही जीवन भर रुलाओगे ? हमारे लिये कोई मार्ग बता जाओ। हम कबतक ऐसे ही भटकते रहेंगे ? कबतक छटपटाते रहेंगे ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रकार विरहमें व्याकुल हुए गोप एक वनसे दूसरे वनमें जाते और वहाँ कृष्णकी लीलाओंका स्मरण करके दिन दिनभर रोते रहते। उन्हें संसार सूना सूना दिखाई देता। श्रीकृष्णके बिना सर्वत्र उन्हें अंधकार दिखाई देता। गोपियोंकी दशा इनसे भी बुरी थी, उनके लिये पल-पल काटना भारी हो गया था, वे रातभर रोती रहती थीं। अब मैं कुछ गोपियोंके ही विरहका दिग्दर्शन कराऊँगा।

छप्पय

बन, उपबन, द्रुम, सरित, सुमन सरवर लखि रोवें।
लीलनि की करि सुरति देहकी सुधि बुधि खोवें॥
गाँव गाँव थल कुंड लखें लीला सुधि आवें।
कृष्ण कृष्ण कहि गिरें दुःखको पार न पावें॥
जब गोपनिकी जिह दशा, तो गोपिनिकी का कहें।
जो प्रियतमके पेममहँ निशिवासर डूबी रहें॥

गोपिकाओं का विरह

(१०५६)

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥
(श्री भा० ११ स्क० १२ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

निशि निशि गोपी फिरति गये कहँ कृष्ण कन्हाई ।
तिनकूँ तजिके नींद कृष्ण के संग सिधाई ॥
विरह रोग अति दुसह सबनिके हिय महँ लाग्यो ।
रोवत ही नित रहे शयन भोजन जल त्यागो ॥
पछितावें सुमिर करें, रासविलास मनाइबो ।
दान मान होरी हँसी, संग नाचिबो गाइबो ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं कि हे उद्धव ! उन गोपिकाओं का मन निरन्तर मुझमें ही लगे रहनेसे तथा मुझमें अतिशय आसक्ति होने से उन्हें अपनी शरीरादिकी सुधि बुधि उसी प्रकार नहीं रही जिस प्रकार समाधिमें स्थित होनेपर मुनियोंको अपने शरीर की सुधि नहीं रहती अथवा समुद्रमें मिल जानेपर जैसे नदियाँ अपने नाम रूप को भूल जाती हैं ।

जिनके साथ में सुखकी घड़ियाँ बिताई हैं। शून्य आकाशमें एकान्तमें बैठकर रात्रि भर तारे गिने हैं, जिनकी जंघाओंका तकिया लगाकर सोये हैं, जिनके साथ घुलघुल कर बातें की हैं, जिनके अंगोंको सुखसे सुहलाया है, बालोंको सुलझाया है। जिन्हें स्वयं खिलाया है, जिनके हाथसे खाया है। जिनके साथ साथ स्वरमें स्वर मिलाकर गाना गाया है, जिनकी तालमें ताल मिलाकर बाजा बजाया है, जिन्हें स्नेहसे कंधेपर उठाया है। अनेकों बार जिनका स्नेहभरित हृदयसे आलिंगन किया है, प्रेममें भरी हुई बहुत व्यर्थकी बातें की हैं, अपने और उनके अङ्गमें अणुमात्रका भी कभी अंतर नहीं समझा है, जिनके मधुर मुखको निहारकर, अंग अंगमें एक अनिवर्चनीय स्फूर्तिका सदा अनुभव किया है, जिनको देखते देखते कभी तृप्त ही नहीं हुई है। जिनके अंगोंमें अपने अंगोंको सटाकर एक सुखद सरसता का स्वारस्य लिया है, वे ही भाग्यवश अपने से विलग हो जायँ, तो कैसी मर्मान्तिक पीड़ा होती होगी, इसका वर्णन वाणी कैसे कर सकती है, लेखनी उसका उल्लेख कैसे कर सकती है। यह विषय कहने सुनने और लिखने पढ़ने का नहीं अनुभवगम्य है, किन्तु करें क्या बिना कहे रहा भी तो नहीं जाता। जब लेखनी हाथ में दे ही दी जाती है, कोरे कागदपर कुछ भी तो कारी लकीरें करनी ही हैं, किन्तु वे उन विरहिणियों-के भाव व्यक्त करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। हृदयको निकालने पर वह कैसे तड़पता है कैसे उसमें कंपन होती है उसे आँखें देख भले ही लें वाणी कह नहीं सकती। सबसे बुरी वस्तु है प्यार किन्तु प्यार किये बिना रहा नहीं जाता, प्यारसे भी बुरी वस्तु है विरह किन्तु प्रेममें विरह अनिवार्य है। विरहसे भी बुरी वस्तु है उसका कथन, किन्तु बिना कथन किये कल पड़ती ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! विरह विथामें बिलबिलाती यशोदा मैयाकी दशाका दर्शन आपने कर ही लिया। कृष्ण वियोगमें वन वन भटकते रोते चिल्लाते ग्वालवालोंकी दशाका यत्किंचित् अवलोकन आपने किया ही। अब कुछ उन गोपिओं-की दशाको श्रवण कीजिये। जिनके सर्वस्व श्यामसुन्दर ही थे. जिन्होंने श्यामके प्रेमके पीछे लोक वेद सभीकी मर्यादाको त्याग दिया था। जिनके हृदयधन नन्दनन्दन ही थे। मनमोहनके बिना उनकी कैसी दशा हुई है उसीका यत्किंचित दिग्दर्शन करानेका दुस्साहस मैं करता हूँ, है तो यह मेरी धृष्टता तथा अनाधिकार चेष्टा ही किन्तु आप मुझे क्षमा करें, अनिवर्चनीय विषयका निर्वचन करनेका मैं साहस कर रहा हूँ।

श्रीकृष्ण मथुरा चले गये मानों गोपियोंका सर्वस्व लुट गया। अब उनके लिये श्रीकृष्णकी मधुर-मधुर स्मृतियाँ ही अव-शिष्ट हैं, उन्हींका स्मरण करती हुई वे कष्टसे अपने दिनोको बिताती हैं। अब उनका एक मात्र यही कार्य रह गया है, कि परस्पर मिलकर श्रीकृष्णके सम्बन्धकी ही चरचा करते रहना। इससे उन्हें सुख मिलता है, समय कट जाता है। बिरहियोंके लिये प्रियकी स्मृति ही तो अवलम्ब है, प्यारेने जो लीलायें की हैं, उनका बार बार स्मरण करना, जिन-जिन स्थानोंमें की है उन उन स्थानोंको जाकर पुनः पुनः देखना। जिन-जिन समयोंमें की हैं, उन-उन समयोंकी सुरति करके रोना, यही समय काटनेके साधन हैं। नहीं तो पहाड़ जैसे दिन इतनी बड़ी-बड़ी वियोगकी रात्रियाँ कैसे कटतीं। कृष्णको जाते देखकर गोपियोंकी निद्रा भी उनके साथ भग गई। निद्रा तो निर्लज्जा है, वह पीछे-पीछे लग ही गई। लज्जावती गोपिकायें कैसे जातीं वे व्रजमें ही रोती रहीं।

जब एक ही दुःखके दुखिया बहुतसे मिल जाते हैं, तो दुःख कहते सुनते समय कट जाता है। संघका जीवन इसीलिये तो

सुखमय बताया उसमें सुख भी बँट जाता है और दुख भी। गोपिकायें झुंडकी झुंड बैठ जातीं और वहीं कृष्णकी चरचा करने लगतीं।

कोई कहती—"सखि! अबतो आशा निराशामें परिणित हो रही है। नन्दनन्दनकी निष्ठुरता पराकाष्ठाको पहुँचती जाती है। देखो, परसों आनेको कह गये थे, कितनी परसों तबसे हो गईं। मथुराका मग जोहते जोहते आँखे पथरा गईं। दिन गिनते गिनते उँगलियोंकी रेख घिस गई। कृष्ण कृष्ण कहते कहते जिह्वा छलनी हो गई। किन्तु वह छलिया नहीं आया नहीं आया। उसे नहीं ही आना था, तो झूठी आशा क्यों दे गया, समय निर्धारित क्यों कर गया। सजनि! कृष्ण कपटी निकला।

इसपर दूसरी कहती—"सखि! कारे सभी कपटी ही होते हैं। कारेकेश कुटिल ही तो होते हैं, भौंरा भी तो काला ही होता है। बड़ा स्वार्थी होता है। कलिकाओंके रसको चूसकर उन्हें झकझोर-कर उड़ जाता है, फिर बात भी नहीं पूछता। जो पपीहा रातदिन काले बादलों की ओर देखता रहता है, उसके ऊपर वे निष्ठुर ओले बरसा देते हैं। कारे किसीके मित्र नहीं होते। हाय! हम समझती थीं, कृष्ण ऊपरसे ही काले हैं, किन्तु अब पता चला, वे तो भीतर बाहर दोनों ही ओरसे कारे हैं। जब यहाँ रहते थे, कैसा प्रेम दिखाते थे। एकांतमें कैसी घुल घुलकर बातें करते थे। तनिक भी हमारी भृकुटिको टेढ़ी देखते डर जाते। एकान्तमें आ-कर बारबार विनय करते, दीनता दिखाते। बार-बार पूछते तुम मेरे ऊपर अप्रसन्न तो नहीं हो। मेरे ऊपर कृपा रखना तुम्हारा मुझे भरोसा है, संसारमें तुम्हारे बिना मेरा और कौन है। उनकी यह विनय अब हृदयमें शूलकी भाँति चुभ रही है। हाय! इतना सरस इतना सदय ऐसा निष्ठुर भी हो सकता है, इसकी तो हम कल्पना भी नहीं कर सकतीं।

इसपर एक अन्य कहती—"वीर! कृष्ण तो ऐसे नहीं थे। प्रतीत होता है, मथुरामें किसीने उनपर जादू टौना कर दिया। किसीने मोहिनी मंत्र पढ़कर उन्हें मोह लिया, वशीकरण मन्त्र की सहायतासे अपने वशमें कर लिया। नहीं तो कभी तो हमारी याद करते। कभी तो आते। न भी आते तो पाती तो पठाते, अपने कुशल क्षेमके समाचार तो बताते। अवश्य ही किसी नारीने यन्त्र मन्त्र तथा तंत्र करके उन्हे अपने अधीन कर लिया है।

इसपर दूसरी कहती—"और कौन होगी। उसी सौति कुब्जाने यह जाल रचा। उस कूबड़ीको मथुरामें पहिले कौन पूछता था, अब तो वह दासीसे रानी बन गई। वह कब चाहती होगी, श्याम ब्रजमें लौट जायँ, उसीने कोई जादू टौना किया होगा। पुरुष स्वार्थमें अन्धा होकर पर पीरको नहीं देखता। हम कृष्णके बिना कितनी दुखी हो रही हैं इसे कुलटा कुब्जा क्या जान सकती है। वह सौति कहीं हमें मिल जाय, तो हम उसका सब कूबड़ तोड़ दें। उसे उसके कियेका फल चखा दें।

कोई कहती—"वीर! दूसरेको दोष क्यों दे? 'अपना ही दाम खोटा न होता, तो परखने वाले उसे खोटा कैसे बता सकते थे।"—कृष्ण निश्चय ही निष्ठुर हैं। पहिले वे जो मीठी-मीठी चिकनी चुपड़ी बातें किया करते थे, वे सब बनावटी थी, दिखावटी थी, मुँह देखेकी प्रीति थी। अब उन सब बातोंको भूल जाओ। समझ लो कृष्णसे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है।"

इसपर एक आँखोंमें आँसू भरकर बोली—"सखि! उस कालेको किसी प्रकार भूल सकती तो सब झंझट ही दूर हो जाते। किन्तु हम जितना ही उसे भुलाना चाहती हैं, वह उतना ही और हृदयके भीतर घुसता जाता है, उसकी स्मृतिमें मधुर मधुर वेदना है। गरम खीरके ग्रासकी भाँति है जो मुखको जलाने पर भी सुखद प्रतीत होता है, जिसे उगलनेको जी नहीं चाहता।

उसने जो-जो सरस लीलायें रची हैं वे भला भुलाई जा सकती हैं। व्रजके कण कणमें उसकी स्मृतियाँ निहित हैं। यहाँ की भूमिमें, यहाँके जलमें यहाँके प्रकाश, यहाँके वायुमंडलमें तथा यहाँके आकाशमें सर्वत्र श्रीकृष्ण की मधुर मधुर स्मृतियाँ व्याप्त हैं व्रजमें रहते हुए व्रजवल्लभको भुला देना ऐसे ही है जैसे आकाशमें उड़नेवाला पक्षी आकाशको भुला दे। देखो, यह साँकरी गली है। इसमें श्याम नित्य ही छेड़छाड़ किया करते थे, दान लेनेके लिये सदा अड़ जाते थे, अकड़ जाते थे, हमारा अंचल पकड़ लेते थे। हम डाँटकर कहतीं—"देखो, यह अच्छी बात नहीं। दूरसे बात करो शरीरको छूआ तो अच्छी बात न होगी; तब वे कहते—"अच्छी हो या बुरी हम तो बिना गोरस का दान लिये छोड़नेके नहीं। उस समय की उनकी प्यारी प्यारी बातें हृदयमें हूक उत्पन्न कर देती हैं। हाय! वे कैसी ममता भरी बातें करते थे। कभी तो अकड़ जाते, कभी विनय दिखाते, कभी पैयाँ पड़ जाते। वे सब कुछ जानते थे। वे रँगीले थे, रसीले थे। प्रीति की रीतिको वे ही जानते थे। किस मर्म स्थान पर मृदुल चोट करनेसे गुदगुदी होगी, उसका ज्ञान उन्हींको था। हमारी कठोर बातोंका वे ऐसा सरस उत्तर देते थे, कि वे बातें लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं भुलाई जा सकतीं।

एक बोली—"सखि! तुम्हारा कथन सत्य है बोलना तो बनवारी ही जानते थे। उस दिन दो चार ही गोपियाँ दही बेचने जा रही थीं। इतनेमें ही कहींसे आ धमके और बोले—"हमारा दान दो।"

मैं नई बहू ठहरी—"घूँघटमें से ही मैंने कहा—लल्ला! तुम लड़ाई झगड़ा मत करो। कैसा तुम्हारा दान। तुम बड़े नये राजा बने हो। चलो हटो हमें जान दो।"

वे हँसते हुए बोले—"हम नये राजा, तुम नई

की भली बनी जोड़ी।" यह कहकर उन्होंने अंचल पकड़ लिया। मैंने डाँटते हुए कहा—"देखो, दूरसे बात करो। शरीर से हाथ लगाया तो तुम, ही जानते हो, फिर अच्छी बात न होगी।"

तब आप बोले—"भाभी! मैं तो तेरे दुलहासे छोटा हूँ, मुझसे तू घूँघट क्यों मारती है। भला देवरोंसे भी लाज की जाती है।"

मैंने कहा—"चलो हटो। आये देवर कहींके। मुँह देखनेको देवर हो और दान लेनेको राजा हो। मैं तुम्हारी सब धूर्तता जानती हूँ।"

तब बोले—"अरी, भाभी! जाननेवालेको ही जनाया जाता है।" यह कहकर मेरे आँचलसे अपने मुँहके पानकी पीक पोंछ दी। मैंने कहा—"हाय! लल्ला! यह तुमने क्या किया। मेरी साड़ी बिगाड़ दी। देखो इसमें पीक पोंछ दी।"

तब आप हाथ जोड़कर बोले—"भाभी! भूल हो गई। तुम अपने मुखकी पीकको मेरे पलकोंसे पोंछ दे।" मैं तो सुनकर सहम गई, उनकी वे बातें अब याद आती हैं, हृदय विकल हो जाता है। अनुरागमें भरकर वे कैसे बातें किया करते थे, उन्हें सुनते सुनते चित्त ही नहीं भरता था।

एक सखी आँखोंमें आँसू भरकर बोली—"सखि! उनकी चितवनमें माधुरी थी। पहिले ही पहिले जब मुझे वे यमुना तटपर मिले, तो मुझे ऐसा लगा मानों मन ही सजीव होकर खड़ा है। मैं आँखोंको उनकी ओरसे हटाती, किन्तु निगोड़ी हटती ही न थीं। इतनेमें ही और भी गोपियाँ आ गईं। मैं लजाती-लजाती वहाँसे चलती। हृदय जाने कैसा हो रहा था। मैंने देखा वे भी मेरे पीछे पीछे आ रहे हैं। एक स्थानपर एकान्त देखकर चारों ओर दृष्टि

दौड़ाकर मेरे कानके समीप आकर बोले—"तुमसे मैं प्यार करना चाहता हूँ, तुम भी मुझे प्यार करोगी क्या ?"

ऐसा मुँहफट पुरुष तो मैंने आजतक देखा ही नहीं। मैं निर्णय ही न कर सकी, क्या कहूँ। वे अपने आप ही कहने लगे—"जब से मैंने तुम्हें देखा है, मेरा मन पानी-पानी हो गया है। चित्त चाहता है, तुम्हें सदा देखता रहूँ। तुम्हें आँजन बनाकर आँखोंमें आँज लूँ। तावीज बनाकर कंठमें बाँध लूँ। हार बनाकर कंठमें पहिन लूँ। हृदयसे सदा सटाये रहूँ।"

मैंने समस्त साहस बटोरकर कहा—"कौन हो तुम! क्या बक-बक कर रहे हो, यह कुछ अच्छी बात है ?"

वे बोले—"बुरी ही बात सही। बुरीको भी तो कोई लेगा। वह मेरे ही पास रहे। तुम मुझे चाहे प्यार न करो मैं तो तुम्हें सदा प्यार करूँगा। तुम मेरे घर आना। मेरे घर आनेमें लजाती हो, तो मैं ही तुम्हारे घर आऊँगा।" सामने उन्होंने देखा बहुत-सी गोपियाँ आ रही हैं। वे तुरन्त दूसरे मार्गसे चले गये। उस दिन से नित्य ही मेरे घरके चक्कर काटते रहते। कितनी सुखद रात्रियाँ निभृत निकुंजोंमें मैंने सखियोंके सहित उनके साथ बिताई थीं। कितनी कमनीय क्रीड़ायें उनके क्रोडमें लुढ़कर मैंने की थीं, उन्होंने कितना स्नेह मुझसे किया, कितना प्रेम प्रदर्शित किया। अति परिचयसे अवज्ञा हो जाती है। मैं ढीठ हो गई, उनके मुँह लग गई, मेरा संकोच जाता रहा। मैं उन्हें छली, कपटी, मुँहके मीठे अंतरमें विष की बुझी छुरी, बताती रही। बार बार उनसे कहती तुम मुझे इतना दुख क्यों दे रहे हो, तुम मुझे क्यों चक्करमें फँसाये हो। मुझे उनसे तनिक भी शील सकोच न रहा। यही मेरे दुःखका कारण हुआ। वे सदा दीन बने रहते। मेरे सामने अत्यन्त रिरियाकर बोलते। कहते—'मैं तुम्हारे अधीन हूँ, तुमही मेरी अवलम्ब हो, संसारमें मुझे तुम्हारा ही

सहारा हैं, मैं तुम्हारी कृपाका भूखा हूँ। वे मेरे चरण पकड़ लेते और उन्हें सुहलाते रहते।' इससे मेरा मान और भी बढ़ गया। मैंने कोपमें भरकर उनसे कैसी कैसी न कहने योग्य बातें कहीं आज वे शूलकी भाँति मेरे हृदयमें चुभ रही हैं।

उस दिन मेरी बुद्धिपर पत्थर पड़ गये। न जाने क्यों मैं एक तनिकसी बातपर उनसे रूठ गई। मचल गई। वे जितना ही मनाते मैं उतनी ही तनती जाती। यहाँ तक कि मैंने कह दिया—"तुम यहाँसे चले जाओ।" वे सदा मेरा रुख देखकर काम करते। जब वे सब उपाय करके थक गये तो उदास होकर निकुंज से बाहर आ गये। वहाँ मेरी सखियोंके पैर पकड़ पकड़कर रोने लगे। उनकी चिरौरी करने लगे। विनीत वचनोंसे उनसे प्रार्थना करने लगे—"प्यारीजीसे मेरे अपराधको क्षमा कर दो।" उस दिन मैंने कितना उन्हें झिड़का था. कितनी भली बुरी बातें कहीं थीं। उन्होंने एकका भी उत्तर नहीं दिया। यही कहते रहे, मुझसे भूल हो गई, क्षमा कर दो, फिर ऐसा कभी न करूँगा।" हाय! मेरे उन्हीं सब पिछले अपराधोंको स्मरण करके वे चले गये। मुझे ऐसा पता होता, तो उनसे ऐसी कठोर बातें क्यों कहती, उन्हें अपने पलकोंके भीतर रखती। हा! श्यामसुन्दर आ जाओ! आ जाओ! हमारे पुराने अपराधोंको भूल जाओ।" यह कहते कहते सखी रोने लगी।

इसपर दूसरी बोली—"श्यामके बिना अब यह वृन्दावन वह पुराना वृन्दावन नहीं रहा। अब तो यह विरहवन बन गया। पहिली जैसी शोभा कहाँ है। ऋतुराज वसंतकी वह छबीली छटा अब व्रजके बगीचाओंमें कहाँ छिटकती है। इन शाल, ताल, तमाल, कदम्ब. कुटज, आम्र, महुआ और सभी द्रुमों पर अबभी नवीन नवीन कोपल आते हैं, किन्तु इनमें प्रथम जैसी सुन्दरता नहीं, सुकुमारता नहीं। प्रथम जैसा शीतल मंद सुगन्धित सुखद

समीर बहता था, वह अब कहाँ है। तब सब लतायें हरी भरी हो जातीं, पुष्पोंसे नत हो जातीं। श्यामसुन्दर झुककर झूमकर उनके सुमनोंको, कोमल पल्लवोंको अपने सुकुमार कोमल अधरोंपर रखकर बार बार चूमते। वसंतमें भ्रमणको पथ्य बताया है, वे हमारे गलोंमें बाहें डालकर एक वनसे दूसरे वनमें दूसरे वनसे तीसरे वनमें इस प्रकार घूमते ही रहते। वह समय न अधिक ऊष्ण होता था न शीतल। आमके बौर पर बैठकर कोकिला बोलती, तो वे उसका अनुकरण करते। कोकिला जब आमको अपनी चोंचसे कुतर कुतरकर गिरा देती तब आप कहते हमें तो भौंराही अच्छा लगता है, जो रस तो पी लेता है, किन्तु पुष्पोंके रूपको विकृत नहीं बनता। वह क्षत विक्षत नहीं करता। इस कोकिलाकी कुटिलता तो देखो, इसने काटकर इसे गिरा दिया। तब हम कहतीं—"कारे रंगवाले सभी बुरे होते हैं, उन्हें अपना स्वार्थ ही प्रिय है, दूसरोंके कष्टको वे जानते ही नहीं।" तब वे खिलखिलाकर हँस जाते। उनके हास्यमें कैसी मोहकता थी, कैसी मादकता थी। उनके हास्यपर सर्वस्व वारा जा सकता था। पीली पीली सरसों फूल जाती थीं, उसे देखते ही उनके पीतपटकी याद आ जाती। गुंजायें भी पक जाती थीं। गेहूँ जौ के खेत हरे-से पीले हो जाते, जिन किसानोंने उन्हें उमंगसे बोया था और जल देकर सींचा था, वे ही उन्हें शस्त्र लेकर काटने लगते। कृष्ण भी ऐसे ही निष्ठुर कृषक निकले। जिस प्रेम बेलको उन्होंने प्राणपनसे बोया था, नयनोंके नेहनीरसे जिसे सींचा था, उसे ही अब वे जड़ से काट गये। हमारे लिये रोना धोना और छटपटाना ही छोड़ गये। वसंतके दिनोंमें ये कुमुदिनियाँ अपने कांत चन्द्रको देखकर जैसे खिल जाती थीं वैसे ही हम अपने कांत श्रीकृष्णको देखकर खिल जाती थीं। जैसे ये लतायें पुष्पोंसे फूल जाती थीं वैसेही हम आनन्दसे फूल जाती थीं। महुआ हमारे ऊपर पुष्पोंकी वरषा

करता। हम महुए बीनतीं और उन्हें हरी हरी दूबमें पिरोकर उनकी माला बनाकर प्यारेके कण्ठमें उन मालाओंको डालतीं। मधुकके पुष्पोंको वे ओठोंसे लगाकर चूसते और कहते—"कितने मीठे हैं ये महुयेके फूल।" हम कहतीं—"तुम तो श्याम सुन्दर नमकीन हो, तब वे हँस जाते और हमें हृदयसे सटा लेते। ऋतुराजके आनेपर वनकी श्री बढ़ जाती। शोभा बिखर जाती। हमारे मन मुकुर खिल जाते। श्यामका सुखद स्पर्श पाकर हम मदमाती बन जाती और उनका प्रेमालिंगन पाकर निहाल हो जातीं। वसन्त अबभी व्रजमें आता है, किन्तु बनवारीके बिना वसंत फीका फीका लगता है, उसमें वह शोभा नहीं, आभा नहीं।

यद्यपि ग्रीष्म ऋतु की सब निन्दा करते हैं, बड़ी गरमी पड़ती है, प्यास बहुत लगती है, शरीरसे पसीना छूटता है निद्रा बहुत आती है डांस मच्छर हो जाते हैं, ओठ सूख जाते हैं, शरीरसे हाथ पैरके तलुओंसे आग निकलने लगती है, छोटी नदियाँ सूख जाती हैं, उष्ण वायु बहने लगती है, कहीं हरियाली दृष्टिगोचर नहीं होती। घास सूख जाती है, केवल आक जवासे ही हरे-हरे दिखाई देते हैं, किन्तु कृष्णके रहनेसे ये सब असुविधायें हमें कुछ भी कष्ट नहीं देती थीं उनका वर्ण घनके सदृश श्याम था। घनोंसे उनकी मैत्री थी, जहाँ जहाँ वे जाते घन उनके ऊपर छाया करते जाते। हम उनकी छत्र छायामें निर्भय होकर विचरण करतीं। कहाँ की घाम, कैसी उष्णता; हम कुछ जानती ही नहीं थी। किन्तु अब हमें उष्णता प्रतीत हो रही है। यथार्थ ग्रीष्म तो अब ही हमारे लिये बीत रही है। हमारा रोम रोम कृष्ण विरहमें संतप्त हो रहा है, हमारी श्वांससे उष्णता फूट फूटकर निकल रही है। हमारे रोमोंके छिद्रोंसे ही पसीना नहीं निकल रहा है आँखोंसे भी पानी बह रहा है। कृष्ण दर्शनोंकी पिपासासे हम छटपटा रही हैं। पहिले उनके अधरामृतको पान

करनेसे हमारी भूख प्यास सभी भग जाती थी, किन्तु आज न अधरामृत ही मिल रहा है न पानी ही। यमुना भी आँसुओंकी बाढ़से खारी हो गई है। खारा पानीका पीया भी तो तृप्ति नहीं। हमारे ओठ तब श्यामके अधरोंसे सटकर हरे रहते थे अब ये भी सूख गये हैं, झुलस गये हैं, काले पड़ गये हैं। तब तलुओंसे आग निकलती तो उनके विशाल वक्षःस्थलपर हाथ रखते ही शीतल हो जाते, अब तो हमारे रोम रोमसे विरहानलकी चिनगारियाँ निकल रही हैं। श्रीकृष्णके प्रभावसे ग्रीष्ममें भी झरने झरते रहते थे, क्षुद्र सरितायें भी नहीं सूखती थीं, किन्तु आज तो कृष्णवियोगमें हमारी धमनियाँ शुष्क हो गई हैं। स्नेहकी सरिता सूख गई है। ग्रीष्मका कष्ट तो हमें अब ही प्रतीत हो रहा है, उनके साथ तो ग्रीष्म ऋतु भी सुखदायिनी और मनभावनी प्रतीत होती थी।

वर्षा लगते ही नन्हीं नन्ही बूँदियाँ पड़ने लगतीं। बादल उमड़ घुमड़कर आते, बिजली चमकती, मयूर मत्त होकर नृत्य करते। वर्षाको देखकर श्यामसुन्दरका रोम रोम खिल जाता, उन्हें हिंडोले हिलानेका साथ साथ झूला झूलनेका बड़ा चाव था। कदंब की फूली फूली डालों पर वे स्वयं अपने हाथोंसे हिंडोला डालते। और प्रियाजीको अंकमें भरकर चढ़ाते और स्वयं झोटा देते। प्रियाजी जब डरतीं तो आप हँसते हँसते लोटपोट हो जाते फिर स्वयं भी उनके साथ हिंडोलेपर बैठ जाते। हम सब झोटा देने लगतीं। प्रियाजी तो स्वभावसे भीरु थीं। बड़े बड़े झोटा लगाते ही वे श्यामसे लिपट जातीं उस समय ऐसा लगता मानो जलभरे घनसे विद्युत लिपटी हुई झूल रही हो। अहा! श्रावणके वे सुखद दिन फिर कभी आवेंगे क्या? सम्पूर्ण भूमि हरीभरी हो जाती, मानों किसीने हरी मखमलका गलीचा बिछा दिया हो। वीर बहूटी निकल निकलकर भूमिपर ऐसे चलती मानो

किसीने लाल बिखेर दिये हों और वे सजीव होकर चल रहे हों। स्थान स्थानपर छत्रक जम जाते मानों वीर वधूटियोंको मेघसे बचानेके लिये भूमिने उनके लिये छाते उपजा दिये हों। वर्षामें श्याम वनोंमें चले जाते फल तोड़कर खाते, आमोंको चूसते, उनके अधरामृतसे सटकर वे फल मधुरातिमधुर बन जाते। हाय! अब श्यामके अधरामृतसे सिक्त प्रसाद कब प्राप्त होगा। वे काली कमली ओढ़े भीगते हुए वनसे गौओंके पीछे पीछे आते हुए दिखाई देंगे? हाय! वे दिन स्वप्न हो गये।"

इसपर एक सखी बोली—"सखि! वर्षा ऋतुमें श्यामका संस्पर्श कितना सुखद होता था। वह भुलानेपर भी नहीं भूलता। वर्षा की ऋतु थी, मैं उस दिन दही बेचकर आ रही थी, मेरी संगिन सब आगे बढ़ आई थीं। मैं अकेली पड़ गई और वनमें मार्ग भी भूल गई। सूर्य भी अस्ताचलको प्रस्थान कर चुके थे। अँधेरी रात्रि थी। तिस पर भी घनघोर घटायें उठ रही थीं। मेघकी गर्जन सुनकर मैं थर थर काँपने लगी। मैं मन ही मन सोच रही थी यहाँ अच्छी आकर फँसी। उसी समय मुझे एक अत्यंत ही मधुर स्वर सुनाई दिया—"डरो मत, मैं तो हूँ।" मुझे बल मिला। मैंने पुकारा—"श्यामसुन्दर!"

वे बोले—"हाँ मैं ही तो हूँ।" यह कहकर वे मेरे पास आ गये। उस समय मैं काँप रही थी। शरीरके वस्त्र भीग गये थे। उन्होंने आते ही मुझे अपनी काली कमलीसे ढक लिया। हृदयसे सटाकर मेरे कानमें प्यारसे बोले—"डर गईं क्या?" अहा! उस समय उनके मृदुल अधरोंके स्पर्शसे मुझे कितना संबल मिला। मेरा समस्त श्रम, भय, शोक, मोह और दुःख कपूरकी भाँति उड़ गया। उन्होंने मुझे सरसतामें हिला दिया। रस वर्षाकर आर्द्र हुई मुझे और भी अधिक आर्द्र कर दिया। एक नहीं ऐसी न जाने कितनी कितनी अतीत की सुखद स्मृतियाँ हैं।

वे सुखके निधान थे, सरसताके समुद्र थे। इतना सुख देकर आज वे ही दुख दे रहे हैं वे सुख ही अब हृदयमें हूल उत्पन्न कर रहे हैं। वे किस प्रकार हँसकर बोलते थे। कितनी आत्मीयतासे मिलते थे, कैसी मधुर ममताभरी वाणीसे बोलते थे। वे स्वयं घन थे। ये बादल तो वर्षा ऋतुमें ही जलकी वर्षा करते हैं, किन्तु वे श्यामघन बारहा महाने रसका वर्षा किया करते थे। आज इन उमड़ती घुमड़ती घटनाओंको देखकर श्यामका स्वरूप याद आता है, छाती फटी जाती है। क्या कभी राम श्याम पुनः आकर व्रजमें वर्षा बितावेंगे? क्या वे पुनः कभी आकर हमारे तनकी तपन बुझावेंगे। अपनी रसवर्षासे हमारे, नीरस और शुष्क हृदयको सरस बनावेंगे। हरियाली तीज, नागपंचमी, रक्षाबन्धन सभी तो बीत गये। कृष्णाष्टमी है, यशोदा मैया आजके दिन कैसा उत्सव मनाती थी। घर घरमें उत्सव होता है। किन्तु हमारा उत्सव तो नित्योत्सव स्वरूप श्यामसुन्दरका मुख था। उस वदनारविन्दको जब हम जोह लेतीं तो हमारा क्षण क्षणमें उत्सव होता। श्यामके बिना जब उत्साह ही नहीं तो उत्सव कैसा।"

एक सखी बोली—"सखियो! वर्षा ऋतु तो बीत रही है, किन्तु हमारे लिये तो सदा वर्षा ही बनी रहती है। हमारे हृदयमें घनश्याम प्रतिपल उमड़ता घुमड़ता रहता है। गरजकर ही रह जाय, सो बात नहीं वह नयनों द्वारा निरन्तर नीर बरसता रहता है। वर्षामें तो कभी पानी बन्द भी हो जाता है, कभी कभी सूर्य चन्द्रमाका प्रकाश भी दिखाई देता है, किन्तु हमारे नयनोंका नीर तो कभी रुकता ही नहीं। निशिवासर बरसाता ही रहता है। सदा घनघटा छाई रहती है। दादुर, मोर, पपैया, सारस, चक्रवाक, जल कुक्कुट तथा अन्यान्य जलप्रिय पक्षी अपनी अपनी वाणीमें बोल रहे हैं। घनोंको बुला रहे हैं। उनकी वाणी

सुनकर मेघ आते हैं और बरस जाते हैं, किन्तु हमारे घनश्याम निर्दयी हैं, वे दया नहीं दिखाते, वे नहीं आते। वे हमें तरसाते हैं। दुःख देते हैं, कैसी विपत्ति है।"

एक बोली—"सखियो! वर्षा तो बीत गई अब तो शरद ऋतु आ गई। देखो ये वनके कांस सरकंडे कैसे फूल रहे हैं। श्यामके संग हम भी पहिले शरदके आगमनपर फूली फूली डोलती थीं। अब तो हमारा मदनमोहनके मुख जोहे बिना मन मुरझा गया है। देखो, यह शारदीय कमल कैसा खिल गया है, किन्तु कृष्णके बिना हमारा मनमुकुर और भी सिकुड़ गया है, देखो, वर्षाका गँदला जल कैसा स्वच्छ हो गया है, इसकी धूलि मिट्टी सब नीचे जम गयी है, किन्तु कृष्णविरहमें गँदला हुआ हमारा चित्त अभी तक स्वच्छ नहीं हुआ। इसमें विषाद रूपी गँदलापन ज्योंका त्यों बना हुआ है। देखो, इस पृथिवीकी कीच सूख गई है। किन्तु हमारी आँखोंकी कीच नहीं सूखी। वह आँखोंकी कोरोंमें जमती जाती है। आज ये चन्द्रमा अपनी पत्नियोंसे घिरे कैसे हँस रहे हैं। कभी हम भी श्रीकृष्णको घेरकर ऐसे ही बैठती थीं, स्वयं हँसती थीं उन्हें हँसाती थीं। श्रीकृष्णके साथ हमारी हँसी भी मथुरा चली गई। अब हम दिनरात विरह-में रोती ही रहती हैं। वह दिन कब होगा जब इन शरदकी रात्रियोंमें राधारमण पुनः आकर पूर्ववत् रास रचेंगे। हमारे साथ नाचेंगे, गावेंगे। ताता थेई करेंगे शरदके दिन तो उतने सुखकर नहीं होते, क्योंकि आकाशके स्वच्छ होनेसे धूप कड़ी हो जाती है, इसी धूपसे हरिन काले हो जाते हैं, किन्तु दिनभरके ताप संताप-को रात्रिमें चन्द्रमाकी शीतल किरणें शान्त कर देती हैं, किन्तु हमारे लिये तो जैसा ही दिन वैसी ही रात्रि। हमारे पीछे तो यह पापी विरहा पड़ा हुआ है। यह हमारे रक्तमास को खाता जाता है। जब शरीरमें रक्तमास न रहेगा, तो यह कूकर हाड़ चबा-

वेगा। कृष्णवियोगरूपी संताप सदा हमें जलाता रहता है, निरन्तर कालेकी चिंतना करते-करते हमारा हृदय भी काला पड़ गया है। हाय! ये शरद्की सुखदायिनी निशायें भी विना कृष्णके बीत जायँगी। रासकी वे रात्रियाँ क्षणके समान बीत जाती थीं, अब ये पहाड़ जैसी रात्रियाँ कैसे कटेंगी।

शरद् समझकर वे बनजारे व्यापारको जा रहे हैं, राजा लोग सेना सजाकर युद्धके लिये जा रहे हैं। सन्यासीगण चातुर्मास्यव्रत समाप्त करके पर्यटनके निमित्त जा रहे हैं। श्रावणमें पितृगृहमें आयी हुई लड़कियाँ अपनी-अपनी ससुरालोंको जा रही हैं। हमारे लिये जाने का कहीं ठिकाना ही नहीं। हमारे जानेका तो एक ही स्थान है मथुरा। वहाँ हमारे ऊपर रोक लगी हुई है। हमारी सौति कूबरीने पहरा बैठा दिया है। सौति तो कच्चे चूनकी बुरी होती है, सो वह तो टेढ़ी है, कुटिल है। कूबरी है। वह हमें हमारे हृदयधनके समीप क्यों जाने देगी। वैसे मथुरा कुछ दूर तो नहीं है। सामने जो बड़े बड़े वृक्ष यमुनाके तटपर दिखाई देते हैं वही तो मथुरा है। किन्तु हमारे लिये तो वह सात समुन्दर पार है। कैसे हम वहाँ तक जायँ। पंख होते तो उड़कर चली जातीं। देखो ये पक्षी उड़कर उधर ही जा रहे हैं। निश्चय ही ये श्यामसुन्दरको देखने ही जा रहे होंगे। हाय! हम पक्षी होतीं तो प्यारेके छज्जे पर बैठकर उनके मुखको जोहती रहतीं। हमें उनका स्पर्श प्राप्त न हो तो कोई बात नहीं। हम तो दर्शनोंकी भूखी हैं।"

अन्य सखी बोली—"बहिनाओ! शरद बीत गई। हेमन्त ऋतु आ गई। शीतल वायु तीरके समान शरीरमें चुभ जाती है। गरम वस्त्र, गरम अन्न, अग्नि, धूप और मधुर वस्तुएँ अत्यंत प्यारी लगती हैं। रुई धुई और दुई जाड़े जानेके तीन उपाय हैं। किन्तु इन तीनोंके बिना ही हमारा जाड़ा तो वैसे चला गया।

जाड़ा भी अब हमारे सम्मुख आनेमें डरता है। अब तो हमारा हृदय सदा श्रीकृष्ण विरहानलमें जलता रहता है। जहाँ अग्नि है वहाँ शीत कहाँ? ये कितने सुहावने दिन लगते थे श्यामसुन्दर के साथ। जैसे अग्नि जला लेनेपर अंधकार, भय और जाड़ा तीनों एक साथ भग जाते हैं, वैसे ही श्रीकृष्णकी छत्र छायामें हमारे आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुख भग जाते थे। शारीरिक, वाचिक और मानसिक संताप दूर हो जाते थे। उनकी अंक गरमियोंमें शीतलता और जाड़ोंमें उष्णता प्रदान करने वाली थी। लोकमें कहावत तो ऐसी है।

नारि पतौआ कूप जल, अरु बरगदकी छायँ।
गरमीमें शीतल रहें, जाड़ेमें गरमायँ॥

किन्तु यह उक्ति हमें तो श्यामसुन्दरकी छत्र छायामें अक्षरशः उक्ति प्रतीत होती थी। आज तो निशिदिन बारह महीने हमारा हृदय जलता रहा है। हमारे लिये तो सदा एक ही ऋतु हो गई है, वह है उष्णता। श्यामके साथ रुचिर स्वादिष्ट भोजन कुन्जोंमें करके कितनी सुखानुभूति की थी। आज हम श्यामसे रहित होकर सिर धुन धुनकर सी सी करती हुई इन जाड़ेके दिनोंको बिता रही हैं। इन्हीं दिनोंमें श्यामने हम कुमारी कन्याओं के चीर हरण किये थे और शरदकी रात्रिमें रास-विलासमें सम्मिलित होनेका वर दिया था। वह वरदान अब हमारे लिये अभिशाप हो गया। वे सुखद घड़ियाँ हमें दुख देने वाली बन गईं।

शिशिर ऋतुमें तो उनके रोम रोमसे सरसता फूट निकलती। वे गुलालकी झोली भरे रंगकी पिचकारी लिये घूमते ही रहते। घाटमें बाटमें हाटमें जहाँ भी देखते वहीं वे हमें रंगमें सराबोरकर देते। निर्भय होकर मुँहमें अबीर गुलाल मल देते। हम उन्हें पकड़ लेती। लँहगा फरिया पहिनाकर नचाती। वे बेधड़क होकर

नाचते और हमें हँसाते-हँसाते लोट-पोट कर देते। कभी उनमें परायापना तो हमने समझा ही नहीं। जैसे अपने प्राणोंसे ममता है उससे भी अधिक उनमें ममता हो गई थी। उन्हें छूनेमें उन्हें हृदयसे सटानेमें कभी हमने संकोच नहीं किया। अधर्म नहीं समझा। जब वे हमारी आत्मा हैं, प्राणोंके प्राण हैं तब संकोचकी कोई बात ही नहीं थी। फिर भी उन्होंने अंत तक निभाया नहीं। हमें अधरमें छोड़कर चले गये। एकान्तमें जब वे बातें करते, तो ऐसा लगता था, मानों कानोंमें अमृत उड़ेल रहे हों। वे जो भी बात करते वही उनकी बड़ी प्यारी लगती थी। उनकी सभी बातोंमें बड़ा भोलापन था। वे हँसते हुए बातें करते। उनका मुख सदा मुसकराहटसे युक्त रहत था। जैसा उनकी वाणीमें आकर्षण था वैसेही उनकी आँखोंमें जादू था। एक बार उन्हें कोई देख भर ले। चार आँखें भर हों जायँ, फिर वह उनकी दासी बन ही जाती थी। उनसे मान तभी तक निभ सकता था, जब तक उनसे आँखें न मिलाई जायँ। आँखें मिलते ही रोष, क्रोध, मान तथा रूठना सब कपूरकी भाँति उड़ जाता था।

इसपर दूसरी बोली—"हाँ बहिन, तुम्हारा कथन सत्य है। उनके नेत्रोंमें ऐसा ही कोई वशीकरण था। उस दिन न जाने कौन सा पर्व था। ग्वालबालों की गोष्ठी करनी थी, वन भोजन था। हम सब सखियोंने सभी सामग्रियाँ बना के सजा के रखीं। ग्वालबाल हा हा हू हू करते हुए छाक खाने बैठे। न जाने उन्होंने क्या कह दिया, मैं रूठ गई। मैंने कहा—"मैं ग्वालबालोंके समीप परसने न जाऊँगी, न जाऊँगी।" सखियोंने समझाया ऊँचा नीचा बताया किन्तु मेरी हठ ही जो ठहरी। मैंने कह दिया चाहे जो हो मैं जाने की ही नहीं। सखियाँ निराश हो गईं। जिस उमंगसे उत्सव मनाना था, उसमें शिथिलता आगयी। वातावरणमें

उदासीनता आ गई। उन्हें तो उदासीनता भाती ही नहीं थी। चहल पहलहो, धूम धड़ाका हो, हँसी विनोद हो माखन मिश्री उड़े, ज्योनार हो ये ही सब बातें उन्हें प्रिय थीं। मैं मुँह लटकाये अकेली निभृत निकुंजमें बैठी थी। वे चुपकेसे मेरे समीप आये और गुलगुली करने लगे। मैंने कहा—"हटो मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती, हर समय की छेड़ छाड़ उचित नहीं। मैंने कह दिया मैं न जाऊँगी।" ये सब बातें मैंने नीचा मुख किये हुए कहीं। मैं जानती थी इनकी चितवन में जादू है। किन्तु वे माने ही नहीं। मैंने तुनककर कहा—"देखो, तुम न मानोगे तो मैं अभी चिल्लाती हूँ।" उन्होंने मेरे मुखपर हाथ रखकर मेरी दृष्टि में अपनी प्यारी प्यारी दृष्टि घोल दी। चार आँखें होतेही मैं सब कुछ भूल गई और पालतू हिरनी की भाँति उनके पीछे पीछे होली। हाय! कैसा उनका मनोहर मुख था। कैसी उनकी रसीली रसभरी बड़ी बड़ी आखें थीं। वे देखते क्या थे मानों अमृत छिड़कते थे। जीवनमें अब ये सब बातें काहे को मिलेंगी। ऐसे ही उन बातोंको याद करके तड़फ तड़फ कर हम मर जायँगी। ऐसे अपने प्राणोंको गँवा देंगी। पापी प्राण शरीरको छोड़कर निकलते भी नहीं। हाय हमें अमृत पिलाकर अब विष के समुद्रमें डुबो दिया है। सुखकी वे घड़ियाँ स्वप्नके समान हो गईं। उनकी एक एक बात स्मरण करके छाती फटती है, हृदय धक धक करता है। कहाँ जायँ, क्या करनेसे श्याम मिलेंगे। जीवनकी यह जीर्ण शीर्ण नौका कैसे पार लगेगी। कैसे ये विपत्ति के दिन कटेंगे। हाय! उस दिन हमारी बुद्धि मारी गई। उसी दिन श्यामको पकड़ लेती जाने ही न देती, तो ये दिन काहेको देखने पड़ते उनसे लिपट जाती। अक्रूर तो अकेला ही था। हम इतनी थीं, हमारी इच्छाके विरुद्ध वह ले कैसे जा सकता था, किन्तु उस समय हमें कुछ सूझाही नहीं। पाषाणकी मूर्ति बनी

भगवान् और उद्धवजी

(१०५७)

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगार्धिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४६ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

इत ब्रज बनिता विरह वारि महँ डूबति उतरति ।
उत यदुपति करि यदि सखिनिकी होत दुखित अति ॥
परम सुहृद निज सखा सचिव उद्धव ढिँग आये ।
निरखि परम एकान्त रहसमय वचन सुनाये ॥
सखे ! करो इक काज तुम, वृन्दावन महँ जाइकें ।
करो सुखी सब सखिनि कूँ, शुभ सन्देश सुनाइकें ॥

हम जो शब्द बोलते हैं, वह सम्पूर्ण वायुमंडलमें व्याप्त हो जाता है, उसे या तो योगी लोग योग प्रभावसे ग्रहण करते हैं, या आधुनिक यन्त्रमें कहनेसे जहाँ जहाँ उससे सम्बन्धित यन्त्र होता

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने सखा और मंत्री उद्धवजी से कह रहे हैं—"हे उद्धवजी ! तुम व्रजको जाओ । हमारे जो माता पिता नंद यशोदाजी हैं उन्हें प्रसन्न करो । और हे सौम्य ! जिन गोपिकाओंको मेरे वियोगके कारण मानसिक व्यथा हो रही है, उनको भी मेरा सन्देश सुनाकर शान्त करना ।"

हैं वे लोग ग्रहण कर लेते हैं। वायुमंडल एक है। शब्द एक है नित्य है केवल उसे ग्रहण करनेको एकता चाहिए। एकताके बिना वह ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हृदय सबका एक है और, प्रेम एक है। जहाँ दो हृदय मिल जाते हैं, वहाँ देश कालका व्यवधान रहता नहीं। दूर रहनेपर भी हृदय हृदय की गति को पहिचान लेता है। जैसे चन्द्र को देखकर चन्द्र कान्तमणि स्वाभाविक ही द्रवित हो जाती है, वैसे ही जो दो प्रेमी एकान्तमें बैठकर जो विचार करते हैं, उन दोनोंके विचार टकराते हैं और दोनों का ही हृदय अतीत की स्मृति करते करते एक हो जाता है। यह कभी हो ही नहीं सकता कि एक प्रेमी जिसका निरन्तर चिन्तन करे और दूसरे पर उसका कुछ प्रभाव न पड़े जिसको हम स्मरण करेंगे उसका चित्त स्वभाविक हमारी ओर खिंचेगा। इस खिँचाव में ही तो जगतकी स्थिति है। सूर्य पृथ्वी को अपनी ओर खींच रहे हैं और पृथ्वी सूर्यको। दोनो ओरके खिँचावके कारण ही यह पृथ्वी अधरमें लटकी हुई है। प्रेमकी पुकार बड़ी सबल होती है। वह व्यवधानोंको मिटा देती है। प्रेमकी मधुर मधुर स्मृतिओंमें इतना भी बल न हो, तो प्रेमी एक दूसरेकी मधुमयी स्मृतिसे इतने सुखी क्यों हो। क्यों कोई किसी को स्मरण करे। कारण जितना ही प्रबल होगा उतनी ही एकाग्रता बढ़ेगी। फिर वियोग जन्य दुख विलीन हो जायगा। अखण्ड प्रेम समाधि लगेगी। ध्यान धारण और समाधि इन तीनों का ही नाम तो संयम है। भाव की समाधिमें क्या सुख है कैसा स्वारस्य है, इसे भावुक भक्त ही जान सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ताली एक हाथसे नहीं बजती प्रेमकी अग्नि दो हृदयोंमें एक साथ उत्पन्न होती है। और दोनों ओर सुगलती रहती है। जिस प्रकार नन्दयशोदा, ग्वालबाल तथा अन्यान्य ब्रजवासी कृष्ण वियोग में दुखी हो रहे थे जिस प्रकार

व्रजवनितायें विरह वेदनासे विकल बनी हुई थीं उसी प्रकार श्यामसुन्दर का हृदय भी अपनी प्रेयसियों के लिये छटपटा रहा था। किन्तु आन्तरिक वेदना, मन की व्यथा, सबके सम्मुख तो प्रकट की नहीं जाती। वह तो अत्यंत अंतरंग सखा सखियोंसे कही जा सकती है एक रोगके दो रोगी ही आपसमें पीड़ा का अनुभव कर सकते हैं। जिसके पैरमें बिवाई फटी ही नहीं वह पराई पीर को क्या समझ सकता है जिसने रसगुल्ला खाया ही नहीं उसकी जिह्वामें उसके स्मरणसे पानी कैसे भर सकता है? जिसने कभी प्रेम किया नहीं उसे विरह की विकलता का अनुभव कैसे हो सकता है। जिस प्रकार गोपिकायें दुखी थीं, उसी प्रकार श्यामसुन्दर भी दुखी थे। गोपिकायें अनेक थीं वे अपने दुखको आपसमें कह सुनकर बाँट लेती थी। रो धोकर समय को काट लेती थी, किन्तु कृष्ण क्या करते वे तो प्रेमके राज्य-व्रज को छोड़कर नियकके राज्य-मथुरा में आगये थे। यहां तो यह नियम यह उप नियम यह विधि यह विधान यह उचित यह अनुचित यह ग्राह्य यह त्याज्य ये सब पचड़े थे। रसिक की बात रसिक ही समझ सकता है। विधि निषेध में धर्म पाला जा सकता है, रसिकता का निर्वाह उसमे कैसे हो यहां तो सब नियमी थे। श्रीकृष्ण अपनी आन्तरिक वेदना को किसी सहृदयके सम्मुख व्यक्त करने को उत्सुक थे किन्तु उन्हें उस पुरीमें ऐसा कोई पात्र दृष्टिगोचर ही न हुआ।

यदुवंशियोम एकसे एक ज्ञानी थे, बड़ेसे बड़े बुद्धिमान थे ऊँचेसे ऊँचे शास्त्रज्ञ थे। सुन्दरसे सुन्दर सद्गुणोंसे युक्त सज्जन थे किन्तु मन गुणों को देखकर नहीं मिलता प्रकृति मिलने से मन मिलता है। दही भी खट्टा होता है और कांजी भी खट्टी होती है। खट्टे दहीसे दूध जम जाता है, किन्तु खट्टी कांजीसे वह फट जाता है। दूध दही की प्रकृति मिली हुई है।

यादवों के राज्यसंघमें जो सदस्य या सामन्त होते थे, उन सबका एक एक निजी मंत्री रहता था। संघसचिव पृथक होते थे और व्यक्तिगत मंत्री पृथक। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के पिता १० भाई थे वसुदेवजी से छोटे देवभाग थे। भगवान् के वे सब से बड़े चाचा थे। उन्हीं के पुत्र श्रीउद्धवजी थे। इनका नाम बृहद्बल था, किन्तु अत्यन्त उत्सव स्वरूप होने से इन्हें सब 'उद्धव' कहने लगे थे। पूर्व जन्म में ये बृहस्पतिजी के पुत्र तथा शिष्य रहे। बृहस्पतिके ही समान ये बुद्धिमान थे। पूर्व जन्मके ही सद्गुण दुर्गुण दूसरे जन्ममें प्रकट होते हैं। इसीलिये वृष्णि वंशमें सबसे अधिक बुद्धिमान माने जाते थे। भगवान् के समवयस्क थे भगवान की माता देवकीजी और उद्धवजीकी माता कंसा दोनों चचेरी बहिन थीं। दोनों के पिता भी भाई भाई थे। अतः दोनों का रंग रूप भी एक सा ही था। बालकपन से ही उद्धवजी की तीक्ष्ण बुद्धिकी प्रशंसा चारों ओर फैल गयी थी। ये परम भगवद्भक्त थे। बालकपन में जब ये बालकों में खेलते थे तो भगवान की प्रतिमा बनाकर ही खेलते थे भगवान्की खेल खेलमें ही पूजा करते करते ऐसे तल्लीन हो जाते कि माता मध्याह्न के समय भोजन करने बुलाती तो भी ये पूजा छोड़कर नहीं जाते थे। बड़े सुशील, बड़े शान्त अत्यन्त दान्त, महान् तपस्वी तथा परम तेजस्वी थे। कहना चाहिए गुणोंमें और स्वभाव में प्रायः भगवान् के समान ही थे।

आते ही भगवान् इन्हें ताड़ गये, इनके गुणों पर इनके सरल स्वभाव और भक्तिमय जीवन को देखकर रीझ गये और इन्हें अपना निजी मंत्री बना लिया! इनकी बुद्धिमता और नीति पटुताके लिये तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि ये देव गुरु बृहस्पतिजी से पहिले विद्या प्राप्त चुके थे। भगवान् ने इन्हें

अपना निजी मन्त्री बना लिया। मन्त्री भी ऐसा वैसा वेतनभोगी नहीं। इन्हें अपना आन्तरिक सखा स्वीकार कर लिया। यद्यपि ये ज्ञाननिष्ठ थे, किन्तु फिर भी भगवान् के प्रति भक्ति तो उनकी थी ही। ज्ञानी हो, कर्मकांडी हो, योगी हों अथवा भक्तिमार्ग का पथिक भगवान् योग ज्ञान तथा विद्या नहीं देखते। वे तो अन्तर्भाव देखते हैं। वे तो सभी के हैं, जो उन्हें जिस भाव से भजेगा। उसे वे उसी भावसे दर्शन देंगे। वे तो भावग्राही ठहरे।

एक तो उद्धवजी वैसे ही समस्त यदुवंशी तथा वृष्णि वंशियों में श्रेष्ठ थे तिसपर भी भगवान् ने उन्हें अपना करके स्वीकार कर लिया था। वे उनके सखा थे, सुहृद् थे, सम्मतिदाता थे। अनुचर थे और थे हार्दिक मित्र। भगवान इनसे कोई बात नहीं छिपाते थे। रहस्य से रहस्यमयी बातें इन्हें बता देते थे।

उद्धवजी ने देखा, भगवान् अनमने से बने रहते है। कई दिन एकान्तमें उन्हें रोते भी उद्धवजी ने देखा। इससे उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। सर्वव्यापक, पूर्णकाम, परात्पर प्रभु रोते क्यों हैं, इन्हें क्या कष्ट है, इनके लिये कौनसी वस्तु अप्राप्य है। यह उनके सम्मुख एक जटिल समस्या आकर उपस्थित हो गई।

एक दिन भगवान एकान्तमें बैठे थे, उद्धवजी उनके दोनों अरुण मृदुल चरणोंको अपनी गोदीमें रखकर सुहला रहे थे. भगवान् अत्यन्त प्रेमभरी चितवनसे उनकी ओर निहार रहे थे। आज भगवानको अपने परम अनुकूल देखकर और एकान्त समझकर उद्धवजीने पूछा—"प्रभो! मैं एक बात पूछना चाहता हूँ, किन्तु पूछनेमें संकोच लगता है।"

सम्पूर्ण ममता बटोरकर अत्यन्त प्यारसे भगवान् बोले—

"उद्धव ! भला अपनोंसे भी संकोच किया जाता है क्या ? संकोचकी कौन सी बात है, तुम्हें जो पूछना हो, निस्संकोच होकर पूछो।"

रुक रुक कर उद्धवजी बोले—"प्रभो ! मैं पूछना यह चाहता हूँ, कि आप सदा अनमनेसे क्यों बने रहते हैं ? कई बार मैंने आपको एकान्तमें रोते भी देखा है ? आपको ऐसी कौन सी मर्मान्तक वेदना है ? यही मैं जानना चाहता हूँ।"

इतना सुनते ही भगवान् के बड़े बड़े कमलके सदृश विशाल नेत्रोंकी कोर से टपटप करके अश्रु गिरने लगे। वे अपने को सम्हाल न सके और उद्धवजी की गोदी में सिर रखकर बालकों की भाँति फूट फूट कर रोने लगे। उद्धवजी ने अपने प्रसादी पीताम्बर से प्रभुके अश्रु पोंछे और उनके सिरको सुहलाने लगे। उनकी भी आँखें आर्द्र हो रही थी।

कुछ काल में भगवान् स्वस्थ हुए मुख पोंछकर गद्गद वाणी से बोले—"उद्धव ! तुम ही मेरी मानसिक पीड़ा को समझ सकते हो। इन स्वार्थी अन्य यादवों में से कुछ तो आर्त हैं, कुछ अर्थार्थी हैं, कुछ जिज्ञासु हैं और कुछ ज्ञानी ध्यानी भी। मेरी पीड़ाको तो भक्त ही समझ सकता है। तुमने सचमुच में मेरे मर्मस्थान को पकडा है। मुझे विरह जन्य दुख है।"

आश्चर्यके साथ उद्धवजीने पूछा—"प्रभो ! आपको और विरह ? विरह तो अपने से कोई पृथक हो और दूर देश में स्थित हो उसकी होती है। आपसे पृथक तो कोई है ही नहीं। विश्व ब्राह्माण्ड आप के उदरमें है। आपको किसका विरह है ?"

यह सुनकर शरणागत भयहारी भगवान्ने अपने परमभक्त अत्यन्त सुहृद, सच्चे सचिव, एक परम आत्मीय श्रीउद्धवजी के कोमल हाथ को अपने श्रीकरकमल से दबाते हुए

बोले—"उद्धव ! मुझे व्रजवासियों की याद आती है। मेरी मैया यशोदा मुझे कितना प्यार करती थी। नन्द बा मुझसे कितना स्नेह करते थे। ग्वाल बाल मुझे कितना चाहते और उन व्रज वनिताओंने तो मेरे ऊपर सर्वस्व वार दि था। वे तो अपना सब कुछ मुझे ही समझती थीं। आज उन बिना मैं दुखी हूँ, मेरा हृदय निरन्तर रोता रहता है। कर्म वश होकर मुझे इन महलोंमें रहना पड़ता है, नहीं मुझे व्रज के गोप्ठ अत्यन्त प्यारे हैं। इन सभ्य कहलाने वाले स सदों से दिन भर राज सभा मे रक्षा, न्याय, राजकर और न जाने किन किन शुष्क विषयों पर व्यर्थका वाद विव करना पड़ता है। गोपिकाओंकी वे रसभरी प्यारी प्यारी ब सुनने को नहीं मिलती। जब वे प्रेमकोप मे भरके मुसकरा हुई अपने कोकिल कूजित कंठों से बाते करती थीं तो ऐ लगता था मानो कोई परम सुस्वादु सुधाको कानों मे उड़ेल र हैं। हृदयमे उनके सहवास से कितनी सुखानुभूति होती थी। अ यहाँ उन गोपाङ्गनाओंके दर्शन भी नहीं। वे भी मेरे लिये रो र होंगी। छटपटा रही होंगी, निरन्तर अश्रु बहा रही होंगी।"

उद्धवजीने कहा—"यह तो उनकी भूल है। आप तो घ घटमें रहने वाले हैं, अन्तर्यामी हैं। सबके हृदयप्रदेश समानभाव से विराजते हैं। जैसे प्राणी पंचभूतोंसे पृथक न रह सकता, वैसेही आप किसीसे कभी पृथक नहीं हो सकते आपके बिना किसी की सत्ता ही नहीं। गोपियोंके हृदयमे भ आप सदा सर्वदा निवास करते हैं। वे इसका अनुभव न करतीं, तो यह उनका अज्ञान है। वे तो स्त्री हैं, अनपढ़ है गाँवकी गँवारिन हैं। वे भूल करें तो करें, आप ऐसी भूल क्यं करते हैं।"

भगवान् बोले—"क्या करूँ ? जब वे मेरी याद करती हैं, त

मुझसे रहा नहीं जाता। उनका प्रभाव मुझपर पड़ता ही है। जो मेरे लिये रोता है, उसके लिये मैं बिना रोये रह नहीं सकता।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! उनका रोना तो पागलपन है। किसीके कंठमें माला पड़ी है वह उसे भूल गया। अब रोता है, चिल्लाता है हाय! मेरी माला खो गई। कोई उसे दिखा भर दे, कि माला तो तेरे कंठमें ही है। इतना ज्ञान होते ही, उसका समस्त शोक संताप दूर हो जायगा। गोपियोंको यही समझानेकी आवश्यकता है, कि जिन श्यामसुन्दरके लिये तुम रोती हो, वह तो सर्वगत सर्वान्तर्यामी तथा सर्वव्यापक हैं। उन्हें तुम भूलसे बिछुड़ा हुआ समझती हो वह तो तुम्हारे भीतर ही बैठे हैं।"

भगवान् अत्यन्त प्यारसे बोले—"तो भैया! तुमसे अच्छा और समझानेवाला मुझे कौन मिलेगा तुम व्रजमें चले जाओ। जाकर मेरे वियोग दुखमें दुखी माता पिताको प्रमुदित करो। गोपग्वालोंको मेरी कुशल कहो और जिन गोपिकाओंको मेरे वियोगके कारण अत्यन्तही मानसिक वेदनाहो रही है उन्हें समुझा कर सन्तोष देकर, मेरा संदेश सुनाकर शान्त करो, सुखी करो।"

उद्धवजीने पूछा—"वे व्रजाङ्गनायें कुछ पढ़ी लिखी भी हैं?"

भगवान्ने भोलेपनसे कहा—"यह तो मुझे पता नहीं भैया! किन्तु इतना मैं जानता हूँ, कि उनका चित्त हर समय मुझमें ही लगा रहता है। सोते जागते, उठते बैठते, चलते फिरते, घरका काम काज करते वे मेरे ही सम्बन्धमें सोचती रहती हैं। मैं ही उनका मन हूँ, मैं ही प्राण हूँ, मेरे लिये ही वे जीती हैं, मेरे निमित्त ही उन्होंने लौकिक पति पुत्रोंको, सगे सम्बन्धियोंको, सुहृद स्वजनोंको तथा अन्यान्य सभी प्रियजनोंको त्याग दिया है। इसी लिये मुझे उनकी हर समय चिन्ता बनी रहती है। जो लोग मेरे

लिये अपने सम्पूर्ण लौकिक तथा पारलौकिक धर्मोंको छोड़ .
उनका निर्वाह तो मुझे करनाही पड़ता है, उनके समस्त .
पोषणका भार मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ, उनका योगक्षेम
अधीनहो जाता है।

उद्धवजी बोले—"आपने उन्हें समझाया नहीं मैं घट घटव
हूँ, सबके अन्तःकरणमें समान भावसे रहता हूँ।"

भगवान् प्यारसे बोले—"देखो, भैया ! उद्धव ! प्रेममें उप
नहीं दिया जाता। उपदेश देना तो एक व्यवहारकी बातें हैं। प्रे
मे तो प्यार किया जाता है। मैं उन गोपियोंका परम प्रियतम
मै उनसे दूर चला आया हूँ। इससे वे व्रजाङ्गनायें निरन्तर
स्मरण करती हुई विरहव्यथा से विह्वल होकर मोहित हो
होंगी। वे मेरे आने की आशा लगाये बैठी होगीं। उन्हें पल
भारी हो रहा होगा।"

उद्धवजीने कहा—"तो क्या उन्हे आशा है आप फिर ल
कर उन गाँवकी गँवरिनियोंमें जाकर बसेंगे ?"

भगवानने कहा—"यही तो मुझसे भूल हो गई। च
समय मैं उनसे कह आया था, कि मैं लौटकर अवश्य आऊँ
मैं अभी तक गया नहीं। यदुवंशियोंमें ऐसा भीतर ही भी
विरोध बढ़ रहा है, कि मैं अब जा भी नहीं सकता। मेरी
से तुमही जाओ उन्हें ज्ञानका पाठ पढ़ा आओ और मेरा सं
सुना आओ।"

उद्धवजीने कहा—"जैसी आपने उनकी स्थिति बताई
उससे तो मुझे सन्देह होता है, कि उन्होंने प्राण न त्याग दि
हों ?

भगवान् बोले—"नहीं ऊधो ! यह बात नहीं है। वे प्रा
का परित्याग नहीं कर सकतीं। उन्हें मेरे आनेकी आशा
लगी हुई है। उसी आशाके सहारे वे अभी तक जीवित होंगी

वे पल पलको युग युगके समान बिताती हुई मथुराकी ही ओर देख रही होंगी। यद्यपि उन्हें प्राण धारण करनेमें कोई अब आनन्द न रहा होगा फिर भी जैसे तैसे मेरा संदेश सुननेको वे शरीरोंको रखे होंगी। तुम जाकर उन्हें मेरी स्थिति बताना। मेरा कुशल क्षेम कहना और यह भी ज्ञान उन्हें करा देना कि मैं सर्वात्मा हूँ, तुमसे कभी पृथक नहीं हो सकता।"

उद्धवजीने कहा—"अच्छी बात है महाराज! आपकी आज्ञा है, तो मैं आजही नन्दजीके व्रजमें जाऊँगा और यथामति उन गोपिकाओंको आपका रहस्य बताऊँगा। ज्ञानका पाठ पढ़ाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कहकर उद्धवजी व्रज जाने की तैयारियाँ करने लगे।"

छप्पय

स्वामीको सन्देश सुन्यो सिर उद्धव धारयो।
नन्दगाँवकूँ जाउँ सोचि रथ सुघर निकारयो॥
पाग दुपट्टा पहिन चले रथ चढ़ि व्रज ऊधो।
वृक्ष लतनितैं घिरयो निहारयो दगरो सूधो॥
सरस भूमि व्रजरज मृदुल, सघनकुञ्ज वन विटपवर।
वरसावत द्रुम सुमन शुभ, गुञ्जतवर मधुकर निकर॥

उद्धवजीकी व्रजयात्रा

(१०५८)

इत्युक्त उद्धवो राजन् संदेशं भर्तुरादृतः ।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४६ अ० ७ श्लो०

छप्पय

धेनु खुरनिकी धूरि उड़ति रस सो बरसावति ।
ढाँकति रथकूँ मनहु श्याम अनुराग दिखावति ॥
ऐंन भार तें नमित धेनु इततें उत जावें ।
गैयनिके हित साँड़ लड़ैं पुनि पुनि डकरावें ॥
ग्वालबाल बछरा लिये, बाँधत गोपी दुहति पय ।
कृष्ण विरह महँ व्यथित सब, दीखत व्रज अति दुःखमय ॥

किसी विशेष प्रयोजनसे किसी नवीन स्थानकी यात्रा करन पड़ती है, तो यात्रीके मनमें दो ही विषय घूमते रहते हैं। व प्रदेश कैसा होगा, उसकी शोभा कैसी होगी, वहाँ जाकर मैं अप कार्यमें सफलता प्राप्त कर सकूँगा या नहीं। वहाँ जाकर मु क्या करना चाहिये। इस प्रकारके विचारोंमें मग्न हुआ यात्रं

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कहकर और और अप स्वामी श्रीश्यामसुन्दरके सन्देशको लेकर रथपर चढ़कर श्रीउद्धवजी नन्दगाँवकी ओर चल दिये।"

चला जाता है। जब उस नवीन स्थानको देखता है, तो उसे कुतूहल होता है और वह प्रत्येक वस्तुको आश्चर्य, उत्सुकता और संभ्रमके साथ निहारता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान्‌की आज्ञा पाकर उद्धव जी व्रजकी यात्रा करनेकी तैयारियाँ करने लगे। आकार प्रकारमें-वे भगवान्‌के ही समान थे। उनके ही प्रसादी पीताम्बरको, वे धारण करते थे और उनकी ही प्रसादी मालाको पहिनते थे। भगवान्‌का ही उच्छिष्ट प्रसाद पाते थे, उन्होंने अपना पृथक् अस्तित्व रखा ही नहीं था। वे भगवान्‌में ही घुलमिल जाना चाहते थे। तभी तो भगवानने उन्हें इतना गुरुतर कार्य सौंपा था।

भगवान् जिस कंसके रथपर चढ़कर व्रजसे आये थे। जिस रथके पहिये, धुरा, जूआ, कील, काटें सभी गोपियों द्वारा छूए गये थे। जिस रथके आगे गोपिकायें लोट गयीं थीं, जिसके पीछे पीछे वे भागी थीं, उस रथको स्मृति स्वरूप भगवानने अपनी सवारीमें रख लिया था। वे जब भी उस रथमें बैठते तभी बिदाई का दृश्य उनकी आँखोंका सम्मुख उपस्थित हो जाता और उन विरहमें व्याकुल हुई व्रजाङ्गनाओंकी भोली भाली आकृतियाँ चल-चित्रोंके सदृश उनके नेत्रके सम्मुख नृत्य करने लगतीं। प्रेमसे जिस वस्तुका सम्बन्ध है वही प्रेमको उद्दीप्त करता है। जिस स्थानमें प्रेमीसे समागम हुआ हो, जिस वस्तुका उसने व्यवहार किया हो, जिसपर वह बैठा हो तो वे सब उन बातोंको सदा सजीव करती रहती हैं। आज उद्धवको अपना प्रतिनिधि बनाकर व्रज भेज रहे हैं अतः भगवान्‌ने उन्हें उसी रथको दिया और कहा—"उद्धव! इस रथमें अनेक स्मृतियाँ निहित हैं। व्रजवासी इस रथ से भलीभाँति परिचित हैं। व्रजाङ्गनाओंकी आँखोंमें यह रथ निरन्तर गड़ा-सा रहता है, तुम इसी रथपर चढ़कर जाओ और उन्हें धैर्यके साथ मेरा सन्देश सुनाओ। आनेकी शीघ्रता मत

करना। जितने भी दिन लग जायँ, जब तक उन सबका भली-भाँति सन्तोष न हो जाय, तब तक तुम वहाँ बने रहना और यह पत्र मेरा लेते जाना। वे पढ़ी लिखी तो हैं नहीं तुम्हीं पढ़कर सुना देना।"

यह सुनकर उद्धवजी ने "जो आज्ञा" कहकर दोनों हाथ फैलाकर पत्र लिया, उसे सिरपर चढ़ाया और यत्नपूर्वक अँगरखा के खोसामें रख लिया। भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और रथकी परिक्रमा करके वे उसपर चढ़ गये। भगवान् खड़ेके खड़े ही रह गये। रथ चल दिया और आगे चलता ही चला गया।

रथ नन्दगाँवकी ओर जा रहा था। उद्धवजी चकित-चकित दृष्टिसे चारों ओर देखते जाते थे। कुछ कालमें नगरकी सीमा समाप्त हो गई, अब उन्होंने वन प्रदेशमें प्रवेश किया। सघन वृक्ष पथके दोनों ओर पंक्ति बद्ध खड़े थे। मानों वनकी रक्षाके लिये सशस्त्र सैनिक खड़े हों। और छोटे छोटे गाँव पथके इधर-उधर बसे हुए थे। कच्ची मिट्टीकी दीवालें उठाकर उनके ऊपर फूसके छप्पर डाल दिये थे। उन्हींमें ग्रामीण कृषक सुखपूर्वक निवास करते थे। वहीं उनके गाय, भैंस, घोड़ा, बकरी तथा अन्यान्य पशु रहते थे। कहीं कहीं बोए हुए खेत खड़े थे। कहीं नीमोंके नीचे बालक धरुआपाती गुल्लीडंडा और लभेर वन्शी आदि खेल खेल रहे थे। कहीं गोपाल गौओंको चरा रहे थे, कहीं कृषक कन्धोंपर हल रखे बैलोंको हाँकते हुए जा रहे थे। कहीं ग्रामीण स्त्रियाँ घास खोद रही थीं कुछ घासके झोंकों और लकड़ीके गट्ठरोंको लिये हुए लौट रही थीं। कहीं कूओंसे पुरोंके द्वारा जल निकाला जा रहा था, कहीं खेत निराये जा रहे थे। इस प्रकार किसानों और गायोंको देखते हुए उद्धवजी चले जा रहे थे।

गाँवोंका जीवन और गाँवोंकी शोभा देखकर उन्हें कुतूहल हो रहा था। जहाँ भी वे गोबरके कंडोंके बने बिटौरा देखते,

भूसे की ऊँची-ऊँची फूँसोंकी बनी बुरजियोंको देखते, वही समझ जाते कोई गाँव आ गया, तुरन्त खेलते हुए बालक दिखाई दे जाते। सुन्दर रथको देखकर बच्चे चारों ओरसे उसे घेर लेते और पूछते—"किस गाँवका रथ है, कहाँ जायगा।" उद्धवजी छोटे छोटे बच्चोंके मुखसे यह प्रश्न सुनकर हँस जाते और प्यारसे कहते—"मथुराका रथ है नंदगाँवको जायगा।"

बच्चे चुप हो जाते कौतूहलपूर्वक रथको देखते रहते, तब उद्धवजी आगे बढ़ जाते। कोई कोई नन्दगाँवका नाम सुनकर उद्धवजीद्वारा अपने सम्बन्धियोंको सन्देश भी पठाते। "उनसे हमारी रामराम कह देना। और कह देना हम लड़कीको बिदा कराने आवेंगे।" उद्धवजी सबके नाम लिख लेते और उन्हें आश्वासन दिलाते तुम्हारा सन्देशा हम पहुँचा देंगे।

उद्धवजी सोचते जाते। "कैसा सरल जीवन है, इन ग्रामीणों का। न कोई चाक चिक्य है न तड़क भड़क। दिनभर श्रम करना। दूसरोंके लिये अन्न उत्पन्न करना और शामको सुख पूर्वक सो जाना। इन्हें न मुद्राकी चिन्ता न, राजनैतिक दाव पेचोंसे प्रयोजन प्रकृतिके साथ ये मिल गये हैं। सभी ऋतुओंके धर्मोंके सहनेके अभ्यस्त हो रहे हैं।" इस प्रकार सोचते सोचते वे चलते जाते। मार्गमें कहीं प्याऊं देखकर स्वयं जल पी लेते घोड़ोंकोको पिला देते और फिर चलने लगते। इस प्रकार चलते चलते उन्हें सायं-काल हो गया। वे नन्दगाँवके निकट पहुँच गये।

गोधूलिका समय अभी बीता था, भगवान् भुवनभास्करको अस्ताचलमें प्रस्थान किये अभी कुछ ही क्षण बीते थे। गौएँ वनसे चुगकर गोष्ठमें चली गईं थीं, किन्तु उनके खुरोंकी उड़ी धूलि अभी ज्योंकी त्यों आकाश मंडलमें व्याप्त थी। उद्धवके रथको देखते ही व्रजकी धूरिने उसे घेर लिया। मानों श्रीकृष्ण दर्शनके लिये धूलिका कण कण उत्सुक था। पहिले भी श्रीकृष्ण

को लेकर यही रथ इसी धूलिमें होकर गया था। उस रथको पहिचानकर रज रथके चारों ओर इस आशासे व्याप्त हो गई कि संभव है श्यामसुन्दर लौट आये हों। जब उसने रथमें नन्दनन्दनको न देखा तो वह उद्धवजीकी आँखोंमें पड़ गई। मानों वे कह रही थीं कि तुम्हारी आँखोंमें धूलि पड़ जाय, जो तुम बिना श्यामके इस रथको लेकर आ गये हो। अथवा चारों ओर धूलि उद्धवजीसे लिपटकर घनश्यामके समाचारोंको पूछ रही हों। उद्धवजीने जब देखा, कि इस धूलिने तो मुझे चारों ओरसे घेर लिया। इनसे मैं क्या बातें करूँ, वे अवाक् रह गये। उन्होंने आँखें बन्द कर लीं और घोड़ोंको भगा दिया।

अब वे नन्दगाँवमें पहुँच ही गये। वहाँ उन्होंने साँड़ोंके बाँ बाँ शब्द सुने। गौओंके लिये साँड़ परस्परमें युद्ध कर रहे थे। छोटे छोटे सुन्दर सफेद रंगके बछड़े इधरसे उधर फुदक रहे थे। उन बछड़ोंमें अधिकांश सफेद ही रंगके थे। कुछ लाल थे। कुछ काले और कुछ चितकबरे। गोप उन्हें दूध दुहनेके लिये गौओंके स्तनोंसे पृथक् करना चाहते थे, वे स्तनोंको छोड़ना नहीं चाहते थे। मानों कह रहेहों, मेरी माँके स्तनोंसे पृथक् करनेवाले तुम कौन होते हो? बड़े बड़े ऐंन वाली गौएँ ऐनके भारसे दबी हुई साँड़ोंके उपद्रवसे इधरसे उधर दौड़ रही थीं। बहुतसी गौएँ दुही जा रहीं थीं। गोदोहनके शब्दोंसे दिशाएँ प्रतिध्वनित-सी हो रही थीं। दुहनेवाले गोपोंके शब्दोंसे कुछ सुनाई ही नहीं देता था। कोई कह रहा था, बछड़ेको छोड़दो, कोई कहता था देखना बछड़ा सब दूध न पी जाय। गौ पुहना गई हो तो उसे बाँध दो। थनोंको ठंडे जलसे धो लेना। कोई कह रहा था दुहनी लाओ, दूध ले जाओ। उस गौको दुह ली उस माटमें दूध उड़ेल दो, देखो दूध छलकने न पावे। वह माट फेंनसे भर गया। फेंनको मारकर तब भरना।

इस प्रकार शौशालाओंमें शब्दोंको सुनते हुए उद्धवजी रथ को लेकर निकल गये, किन्तु उस कोलाहलमें किसी को रथ का शब्द ही सुनाई न दिया। आगे उन्होंने कान लगाकर सुना सभी राम और कृष्ण के गुणोंको ही गा रहे हैं। सब एकही विषयपर वाद विवाद कर रहे हैं। सब बलराम और कृष्णके चरित्रोंका ही मनन कथन और श्रवण कर रहे हैं। बहुतसे ग्वालबाल बाँसुरी बजाकर ही उसमें श्री कृष्ण सम्बन्धी गीतों को गा रहे हैं गोपिकायें सुन्दर वस्त्राभूषणों को धारण करके भगवान्के आगमन की प्रतीक्षा कर रही हैं। उन्हींके नामोंका तन्मय होकर कीर्तन कर रही हैं। घर घर से धूँआ निकल रहा है। वह धूँआ मानों आकाशसे कुछ कहने जा रहा है। उद्धवजी सबको शनैः शनैः देखते हुए जा रहे थे।

नन्द गाँवके गोप बड़े भक्त थे वे श्रीकृष्ण की विरह व्यथामें व्यथित थे। श्रीकृष्ण की उन्हें पुनः प्राप्ति हो भगवान्के दर्शन हों इस लालसा से, अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, पितरों तथा देवताओं की पूजा कर रहे थे। उनकी मनौती मानकर अर्चन वंदन कर रहे थे। पूजाके समय जो धूप जलाई जा रही थी उसका धूँआ कपोतों की भाँति टेढ़ी मेढ़ी गतिसे उड़ रहा था। चौमुखे दीपक जल रहे थे। स्थान स्थान पर पूजा के लिये मण्डप बने हुए थे। उनमें सुगन्धित पुष्पोंकी मोटी मोटी मालायें लटकी हुई थीं। बिखरी हुई पूजाकी सामग्रियोंसे तथा माला बन्दनवारोंसे उन गोपोंके घर अत्यन्त ही मनोहर प्रतीत होते थे। मालाओंकी गंधके लोभसे रसलम्पट भ्रमर इधर उधर भ्रमण कर रहे थे। गाँवके आस पास सुन्दर फलवाले सघन वृक्षोंके बाग थे जिनमें पक्षी कलरव करके अपने अपने घोंसलोंमें सो रहे थे। उन उपवनोंके बीचमें छोटी छोटी पुष्करिणियाँ थी, जिनके किनारे हँस, सारस, चक्रवाक तथा अन्यान्य जलके आश्रय

में रहनेवाले पक्षी निवास करते थे। उन पुष्पकरिणियोंमें शुभ्र, स्वच्छ लाल और नीले कमल खिलते थे जो सूर्यास्त के समय सिकुड़ कर मूँद जाते और उनके ह्राद पर हसती हुई सफेद लाल कुमुदिनियाँ विकसित हो जातीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार लौकिक वैदिक आभासे आभापित उस नन्दगाँव की शोभा को निहारते हुए उद्धव जी व्रजराज नन्दजीके द्वारपर पहुँच ही तो गये। उद्धवजीने रथ एक ओर खड़ा कर दिया और वे चुपकेसे चोर की भांति ज्योंही रथसे से कूदे त्यों ही अथाँईसे घरमें जाते हुए नन्दजीकी उनपर दृष्टि पड़ गई नन्दजी तो इन्हें जानते ही थे। पहिले तो उन्हें भ्रम हुआ कि श्रीकृष्ण ही आ गया। फिर ज्यों ही आगे बढ़कर उन्होंने उद्धवजी को देखा त्योंही उन्हें कसकर छातीसे चिपटा लिया।"

छप्पय

गोपी बैठीं लखीं नयन तें नीर बहावति।
रामश्यामके चारुचरित तन्मय ह्वै गावति॥
अतिथि, अग्नि, रवि, धेनु, विप्र, सुर पितरति पूजत।
को आवे को जाइ भाव महँ तिनहिं न सूझत॥
उद्धव निरखत जात सब, अति प्रभाव तिनिपै पर्‌यो।
नन्द पौरि ढिँग आइ के, हौलें रथ ठाढो कर्‌यो॥

उद्धवजी और नन्दयशोदा

[१०५९]

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥*
(श्री भा० १० स्क० ४६ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

रथको सुनिके शब्द नन्द ह्वैके आनन्दित ।
आइ गये बलश्याम बढ़े आगे मन सोचत ॥
उद्धवजी जब लखे प्रेमतैं हिये लगाये ।
पुनि पुनि सिरकूँ सूँघि विकल ह्वै अश्रु बहाये ॥
मानों आयो श्याम ही, सुत समान आदर करयो ।
पाद्य अर्घ्य मधुपर्क दै, दिव्य अन्न आगे धरयो ॥

चिरकालमें अपने स्नेही आते हैं, तो मन न जाने कैसा हो जाता है। हृदय भर आता है अश्रु अपने आप ढुलक जाते हैं। चित्त चाहता है इसे हृदयसे सटाये रखें। क्या इसे खिला दें, क्या पिलादें उन्हें देखकर भूख नींद भाग जाती हैं। बात करते करते चित्त भरताही नहीं। अपने हृद्गत भावोंको उनके सम्मुख प्रकट करनेमें एक प्रकारका अनिर्वचनीय सुख होता है। संसारमें सब वस्तुएँ सुलभ हैं, किन्तु प्रेमीका दर्शनही

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब उद्धवजीने नन्दजी तथा यशोदामैयाका भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में ऐसा गूढ़ अनुराग [illegible] अति प्रसन्न होकर श्रीनन्दजी से कहने लगे।"

दुर्लभ है। प्रेमीकी बात तो पृथक् रही, जिससे अपने प्यारेका सन्देश मिलता है, जिससे प्यारेके सभी समाचार मिलनेकी आशा होती है, उसे देखकर ही महान् आनन्द होता है। प्यारेका दर्शन हो जाने या उसके समाचार मिल जाना इससे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई सुख है ही नहीं। यही परमलाभ है, महान् सुख है और सर्वोत्कृष्ट लाभ है। जिसे यह प्राप्त हो गया उसे सब कुछ मिल गया। जिसे यह प्राप्त नहीं उसे मिला ही क्या? संसारी भोग तो सूकर कूकर योनियोंमें भी प्राप्त हो जाते हैं। प्रिय दर्शन रूप अमृतही ससारमें दुर्लभ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजीके उतरते ही उन्हें नन्दजी मिल गये। नन्दजीको पहिले तो भ्रम हुआ कि यह श्रीकृष्ण ही हैं ज्योंही वे आगे बढ़े त्योंही वे पहिचान गये ये तो श्रीकृष्णके सखा बन्धु उद्धव हैं। उद्धवजीको भी देखकर उन्हें महान् प्रसन्नता हुई। पुत्रका मित्र पुत्रसे भी प्यारा लगता है। पुत्रसे तो सकोच वश खुलकर प्यार नहीं कर सकते। किन्तु पुत्रके मित्रसे प्यार भी कर सकते हैं पुत्रकी भाँति दुलार भी कर सकते हैं और मित्रकी भाँति बातें भी कर सकते हैं। उद्धवजी नन्दजीको देखकर ज्योंही प्रणाम करने आगे बढ़े त्योंही लपककर उन्हें नन्दजीने अपनी दोनो बाहुओंमें बाँधलिया और कस कर छातीसे चिपटा लिया। अबोध बालककी भाँति उद्धवजी उनके हृदयसे सटे रहे। नन्दजीने अपने नयनोंके नेहनीरसे उन्हें न्हिला दिया, उनके बालोंको, वस्त्रोंको भिगो दिया। भावावेश कम होनेपर उनका हाथ पकड़कर अत्यन्त स्नेहके साथ भीतर ले गये। सेवकोंने नौहरेमें ले जाकर रथको खोल दिया। घोड़ोंको घुड़सालमें बाँध दिया। नन्दजी यशोदाजीके पास उद्धवजीको ले गये और दूरसे ही बोले—"महरि! सुनती है, देख ये उद्धवजी आगये, श्रीकृष्णके अभिन्न सखा हैं; उसके बाहरी प्राणही हैं। ये ही उसके सम्मति

दाता, साथी, सचिव तथा सर्वस्व हैं।" उद्धवजीका परिचय पाकर मैयाको संतोष हुआ उन्होंने उद्धवजीको आशीर्वाद दिया। जल लाकर उनके हाथ पैर धुलाये। वस्त्र बदले और मैयाने कहा—"पहिले भोजनहो जाय, तब बातें होंगी।"

उद्धवजीने कहा—"माताजी! मैं अभी थका हुआ आया हूँ, तनिक विश्राम कर लूँ। अभी सन्ध्या भी नहीं की है। सन्ध्या करलूँ, तब भोजन करूँगा।" यह कह कर उद्धवजी नन्दजीके साथ दूसरे घरमें चले गये।

श्रीरामश्याम जबसे व्रजसे गये हैं, तबसे मैयाको भोजन बनानेमें कभी भी उत्साह नहीं हुआ। आज उसके हृदयमें फिर पूर्ववत् उत्साह छा गया। उसने बातकी बातमें सुन्दर सुन्दर छप्पन भोग तैयार कर लिये। खीर, रबड़ी, मठरी, पपड़ी, हलुआ तथा अन्याय सुन्दर सुन्दर भोजन उसने बना लिये। रोहिणीजी तो कुछ दिन पहिले चलीही गई थीं। अतः आज मैयाने अन्यान्य सेविकाओंकी सहायतासे ही समस्त सामग्री बनाई। उद्धवजी जब सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मों से निवृत्त हो गये, तो नन्दजी उन्हें चौका में लाये। मैयाने अत्यन्त स्नेहसे उन्हें भोजन परोसा। उन्होंने बड़ी रुचिके साथ उस उत्तम भोजनको किया। मैया बड़े उत्साहसे आग्रह पूर्वक उन्हे परस रही थीं। भोजन हो जानेपर नन्दजीने स्वयं जल लेकर हाथ पैर धुलाये कुल्ले कराये। शैया प्रथमही तैयार थी। भोजन करके उन्हे शैया पर बिठाया। नन्दजी भी बैठ गये। बोले—"भैया! थक गये होगे, लाओ तुम्हारे पैर दबा दूँ।

उद्धवजीने कहा—"बाबा! आप कैसी उलटी गंगा बहा रहे हैं। पैर हमें आपके दबाने चाहिये या आप हमारे दबावेंगे तो आपके बच्चे हैं।"

नन्दजीने बड़े स्नेहसे कहा—"बच्चे तो हो ही

बच्चोंके पैर नहीं दबाते।" यह कहते कहते नन्दजी उनके पैर दबाने लगे। वे बहुत मना करते रहे, किन्तु ये माने ही नहीं कुछ देरमें उद्धवजीने कहा—"बाबा! यह आप क्या कर रहे हैं। मैं पैदल थोड़े ही आया हूँ, रथ पर चढ़ कर आया हूँ। हाँ, अब कुछ बातचीत हो। शिष्टाचार तो बहुत हो गया।"

यशोदा मैया चौकेको ज्योंका त्योंही छोड़कर वहाँ आ बैठीं। वे श्रीकृष्णकी एक एक बात सुनना चाहती थीं। आज बहुत दिनों में रामश्यामके सच्चे समाचार सुननेको मिलेंगे। इसी आशासे उन्होंने घरका कुछ भी काम न देखा। भोजन भी नहीं किया। न व्रजराजसे ही भोजन करने को कहा। वे तो सब कुछ भूल गईं थीं।

अब नन्दजीने बात चलाई। बात चलानेका भी एक सदाचार शिष्टाचार होता है, पहिले घरमें सबसे बड़ेकी कुशल पूछी जाती है, फिर बाल बच्चोंकी तदनन्तर और सब बातें। उसी नियमके अनुसार नन्दजीने उद्धवजी से पूछा—"कहो भैया! उद्धव! हमारे परम प्यारे बन्धु सुहृद सखा वसुदेवजी अच्छे तो हैं, उनके और सब छोटे भाई तुम्हारे पिताजी तथा चाचाजी सब अच्छी तरहसे तो हैं? देखो, कैसी भाग्यकी विडम्बना है। शूर वंशमें वसुदेवजी ही सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं, उन्हें कितने दिनों तक कंसके कारावासमें रहना पड़ा। कितने दिनोंके पश्चात् उनको बन्धनसे मुक्ति हुई। अब तो वे बन्धनसे मुक्त होकर एक प्रकारसे राजा ही बन गये हैं। उनका शरीर तो अच्छा है। उनके सुहृद्गण बाल बच्चे तथा परिवारके लोग आनन्द पूर्वक तो हैं न?"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, बाबा! सब आपकी कृपा है। आपके आशीर्वादसे सब लोग कुशलपूर्वक हैं। सबने आपकी कुशल पूछी है। कंसके कारण ताऊजीको ही नहीं हम सबको बड़े क्लेश सहने पड़े। समस्त परिवारके लोग तीन तेरह हो गये। कोई

कहीं चला गया कोई कहीं। अब कंस मामाके मरनेपर सब लोग अपने अपने घरोंको लौट आये हैं।"

नन्दजीने कहा—"भैया! कंस वैसे था तो अपना सम्बन्धी ही, किन्तु मर गया, यह अच्छा ही हुआ। उसके पापका घड़ा भर गया था। भगवान्‌के यहाँ देर भले ही हो अन्धेर नहीं। कंसने जैसा उत्पात मचाया था, वैसा ही उसने फल पा लिया। अपने अनुगामियों सहित वह अपने पापसे मारा गया। क्यों न हो उसने काम ही ऐसे जघन्य किये थे। वह धर्मशील और साधु-स्वभाव वाले यादवोंसे सदा अकारण द्वेष करता था। कृष्ण ने उसे मार दिया अच्छा ही किया। कृष्ण अच्छी तरहसे है न? बलदेव तो अच्छा है?"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ बाबा! सब अच्छे हैं। कृष्णचन्द्र जी ने आप दोनोंको प्रणाम कहा है।"

अत्यन्त उत्सुकताके साथ नन्दजीने कहा—"सच कहते हो, उद्धवजी! कृष्णने हमारे लिये प्रणाम कहा है। कभी हमारी चर्चा होती है क्या? कृष्ण कभी हमारी याद करता है?"

उद्धवजीने कहा—"अजी, बाबा! आप कैसी बात कर रहे हैं। भला आपको भी याद न करेंगे तो और किसे याद करेंगे। उन्होंने ही तो मुझे आपके पास भेजा है।"

यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर नन्दजी कहने लगे—"कृष्ण अभी तक हमें भूला नहीं यह बड़े सौभाग्यकी बात है। यहाँकी कभी वहाँ चर्चा छिड़ती है क्या? कभी अपनी इस दुःखिनी मैयाकी कृष्ण याद करता है? हम सब जो उसके सुहृद हैं सम्बन्धी हैं, उनकी कभी वह बातें करता है? जिनके साथ बालकपनसे अब तक वह खेला है, उन अपने इन ग्वालबालों का कभी स्मरण करता है? जिनको उसने जलसे, अग्निसे, विषसे, असुर तथा राक्षसोंसे बचाया था उन अपने स्वजनोंको

वह भूल तो नहीं गया है ? जिस व्रजकी रक्षामें वह सदा तत्पर रहता था उस व्रजको, जिन गौओंको उसने नंगे पैरों चलकर वनोंमें चराया है उन गौओंको जिस वनमें उसने निरन्तर विहार किया है उस वृन्दावनको, तथा जिस पर्वत पर उसने गौएँ चराई है, जिसे सात दिनों तक अपनी एक उँगलीपर धारण किया था उस गोवर्धन पर्वतको श्रीकृष्ण कभी याद करता है ? कभी यहाँ का प्रसङ्ग चलता है ?"

उद्धवजीने कहा—"बाबा ! आपतो कभी की कहते हैं। श्रीकृष्ण तो निरन्तर व्रजका ही चिन्तन करते रहते हैं। आप ही तो उनके माता पिता हैं। आपको ही सान्त्वना देने तो मुझे यहाँ भेजा है। वे स्वयं आपके दर्शनोंको लालायित हैं।"

यह सुनकर आँखोंमें आँसू भरकर नन्दजी बोले—"ऊधो ! वह कौनसा शुभ दिन होगा, जब हम अपने मदनमोहनका मनोहर मुसकानमय मुखमण्डल निहार सकेंगे। कृष्ण हमें अपनी चारु चितवनसे प्रेमयुक्त देखेगा। उसके सुन्दर नासिका युक्त बड़े-बड़े नेत्रोंवाले मुखारविन्दको देखकर कब हम अपने नयनोंको सफल करेंगे।"

उद्धवजी ने कहा—"बाबा ! इतने अधीर क्यों होते हैं ? श्रीकृष्ण अवश्य ही आकर आपके दर्शन करेंगे।"

नन्दजी ने कहा—"उद्धव ! क्या करें। कृष्णने हमें अपने उपकारके भारोंसे इतना दबा दिया है, कि हम भूलना भी चाहें तो जन्मजन्मातरों तक उसके एक-एक उपकारको नहीं भूल सकते। हमें अब पता चला है।"

वह साधारण मनुष्य नहीं था। वह तो महात्मा था। उसने ऐसे ऐसे कार्य किये जिनकी साधारण लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। देखो, उसने हमारी दावानलसे रक्षा की, व्रजमें एक बड़ा भारी बवण्डर आ गया था, वह सब व्रजको उड़ा ले जाना

चाहता था, उससे उसने बचाया। इन्द्रने कुपित होकर व्रजको बहा देने के संकल्पसे सात दिनों तक घनघोर वर्षा की; उस वर्षा से गोवर्धन धारण करके उसने हमारी रक्षा की। वृषासुर, अघासुर बकासुर और न जाने कौन कौन असुर आये उन सबको मार कर उसने हमें जीवनदान दिया। हाय! हम ऐसे कृतघ्न निकले कि उस अपने जीवनदाता महात्माके बिना जी रहे हैं, खा रहे हैं, पी रहे हैं। हमें तो उनके बिना एक क्षण भी जीवित न रहना चाहिये। मुझे भी लोग कृष्णका पिता कहते हैं, किन्तु मैंने पितापने का प्रण कहाँ निबाहा? पिता तो दशरथजी थे, जिन्होंने रामके वियोगमें अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया। उद्धवजी हमारे प्राण शरीरसे निकलते नहीं। वे कृष्ण दर्शनकी लालासासे अटके हुए हैं।"

उद्धवजीने कहा—"बाबा! तुम ही तो व्रजके आधार हो। तुम तो सबको धैर्य बँधाने वाले हो, जब तुमही इतने अधीर होगे, तो कैसे काम चलेगा।'

रोते रोते आँसुओंको दुपट्टाके छोरसे पोंछते हुए हिचकियाँ लेते हुए नन्दजी बोले—"ऊधो! हम क्या करें। हमारा मन हमारे वशमें रहा नहीं। श्रीकृष्णकी प्यारी प्यारी लीलाओंने उसे हर लिया। जब हमें उनकी बालकपनेकी लीलायें याद आ जाती हैं, तो मन न जाने कैसा हो जाता है। उसकी चलन, [illegible], उठन बैठन सभीमें आकर्षण था। वह अपनी मातासे [illegible] था। उसकी मैया अब बार बार उसीको स्मरण [illegible] है मुझसे झगड़ा कौन करेगा? कौन मचल [illegible] माखन माँगेगा? कौन मेरा आंचल पकड़कर [illegible] जब उलाहना लेकर इसके पास आतीं [illegible] कैसा भोला बनकर सब कुछ सहता था। [illegible] रहें अपने घर गृहस्थीके काम काज [illegible]

विचित्र चरित्र, लीला कटाक्षमयी प्यारी प्यारी चितवन, मंद मंद मनोहर मुसकान, अट्टहास उसकी प्यारी प्यारी भोली भोली बातें जब याद आती हैं तो हमारा सब विवेक नष्ट हो जाता है। धीरताका बाँध टूट जाता है, साहस चकनाचूर हो जाता है उत्साह भंग हो जाता है और हमारे सब अंग शिथिल हो जाते हैं, हम किसी भी कामके नहीं रहते।" यह कहते कहते नन्दजी अधीर होकर लुढ़कने लगे। उद्धवजीने दोनों हाथोंसे उन्हें सम्हालते हुए कहा—"बाबा! बाबा! आप क्या कर रहे हैं। धैर्य धारण कीजिये। इतनी अधीरता आपको शोभा नहीं देती।"

नन्दजी रोते रोते बोले—उद्धव! कैसे धारण करूँ। मुझे कोई व्रजसे बाहर फेंक आवे तो सम्भव है मैं धैर्य भी धारण कर सकूँ। व्रजके तो कणकण में कृष्णकी अनन्त स्मृतियाँ निहित हैं। हमारी दृष्टि जिधर ही जाती है उधर ही कृष्णकी मूर्तिमती स्मृति दिखाई देती है। यहाँ कृष्ण खेलता था, यहाँ खाता था, इन वनोंमें गौएँ चराने जाता था। इस पर्वतकी गुफाओं में छिपता था।' यहाँ उसने यह लीला की, यहाँ अमुक असुरको मारा, यहाँ अमुक दैत्यको पछाड़ा। तिलभर भी तो व्रजमें ऐसी भूमि नहीं जो उसके चरणचिन्होंसे चिन्हित न हो। एक भी मही तो ऐसी नहीं जो उसके अंग स्पर्शसे पावन न हुई हो। ये पर्वत, वन, उपवन, द्रुम, लतायें, ये क्रीड़ास्थल सभी तो श्रीकृष्ण की स्मृति दिलाकर हमारे हृदयमें हूक उत्पन्न करते हैं। हमें तो दशों दिशाओं में कृष्णही कृष्ण दिखाई देता है, निरन्तर कृष्णकी स्मृति होने से हमारा चित्त कृष्णमय हो गया है।"

अवरुद्ध कंठसे उद्धवजीने कहा—"बाबा! बड़े भाग्यशाली हैं आप? जो श्रीकृष्णको पुत्र मानकर आप उनसे इतना प्रेम करते हैं।"

आह भरकर व्रजराज बोले—"उद्धव ! वे हमारे पुत्र होनेके योग्य नहीं थे। मैं तो समझता हूँ कृष्ण कोई देवता थे। मनुष्यमें इतना पुरुषार्थ होना असंभव है। जब कृष्णका जन्म हुआ था, तो उन्होंने कहा था—"तुम्हारे लड़के में नारायणके समान गुण होंगे।" मैंने समझा गर्गजी बढ़ाकर बात कह रहे हैं। पीछे उसके काम देखकर तो मै समझ गया यह कोई देवताओंमें भी श्रेष्ठ देवता हैं। बलराम भी देवता ही हैं। देवताओंका काम करने वे दोनों पृथिवीपर पैदा हुए हैं। आप ही सोचें उद्धवजी ! बालकपनमें असुरोंको वे दोनों ऐसे मार देते थे जैसे सिंह पशुओंको बिना प्रयासके मार देता है। कंसमें बताते हैं दश सहस्र हाथियोंके बराबर बल था, उसे बात की बातमें प्राणहीन बना दिया। चाणूर मुष्टिक इन जगत् प्रसिद्ध मल्लोंको हँसते-हँसते क्रीड़ामें ही मार गिराया। कुवलयापीड़ हाथीको सहजमें ही निर्जीव बना दिया। दो सौ हाथ लम्बे धनुषको ऊखके गन्नेके सदृश तोड़ डाला। सात दिनों तक सात कोश लम्बे गोवर्धन पर्वतको बिना विश्रामके उठाये रहा। जो जो देवता व्रजमें आये सब कृष्णके पैरों पर ही पड़कर गये। वरुणलोकमें मैंने उसका वैभव देखा था। लोकपाल वरुण भृत्योंकी भाँति उसकी पूजा कर रहा था। प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त, बकासुर तथा अन्याय मायावी असुरोंको उसने बिना प्रयासके मार डाला। उस कृष्णको हम साधारण मनुष्य कैसे कहें। किन्तु कुछ भी क्यों न हो, हमारा तो उसमें वात्सल्य है स्नेह है। हमें तो सदा उसने बाबा ही कहा है। हम भी उसे सदा लाला कहके जानते मानते रहे हैं। हमारा तो लाला है, बच्चा है, बेटा है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार जब नन्दजी विकल हो गये, तो रोते रोते यशोदाजीने उन्हें उठाया। समीपमें बैठी बैठी वे सब बातें सुन रही थीं और नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहा रही

थीं। उन्होंने रोते रोते उद्धवसे कहा—"उद्धव ! तुम हमें धैर्य धरनेको कहते हो, हम कैसे धैर्य धारण करें। व्रजमें इतने स्त्री पुरुष हैं, किन्तु हमें तो सम्पूर्ण व्रज सूना ही सूना लगता है। जब मैं रसोई बनाने बैठती हूँ तो आँसुओं की धारासे आटा गीला हो जाता है। दाल पतली हो जाती है, सागमें पानी पानी हो जाता है, जब खाने बैठती हूँ, तो मुखमें कौर नहीं जाता। कृष्णके जूठे अन्न की लत इस जीभको पड़ गई थी। जिस अन्न को कृष्णने नहीं खाया, उसे कंठ नीचे उतारता नहीं। घंटों एक कौरको लिये रोती रहती हूँ। ग्वालबाल आकर 'मैया मैया, पुकारते हैं मेरा हृदय फटने लगता है, हाय ! कृष्ण ऐसे ही पुकारता था, अब वह कब मुझसे मुँह भरकर मैया कहेगा। यह इतना बड़ा घर मुझे काटने दौड़ता है। गौशालामें अब मैंने जाना छोड़ दिया है। गौओं की दशा देखकर छाती फटने लगती है। वे सब दुबली हो गई हैं। लट गई हैं, तृण खाना उन्होंने छोड़ दिया है। वे जो कोई आता है उसे देखकर डकराने लगती हैं। मुझसे उनकी ऐसी दुर्दशा देखी नहीं जाती। अतः गोष्ठ की ओर जानेमें मेरा हृदय काँपता है। जब मोर पंखोंको देखती हूँ, मेरी छाती फटने लगती है, नित्य घरके वृक्षोंपर मोर बोलते हैं, बोलते क्या हैं रोते हैं मुझे ऐसा लगता है, वे कृष्ण कृष्ण कहकर विलाप कर रहे हैं। मानों पूछ रहे हैं—"हमारे पुच्छके मुकुटको पहिननेवाले हमारे साथ नाचनेवाले श्यामसुन्दर कहाँ गये ?" ये बन्दर अब न माखन लूटते हैं, न किसीको घुड़की ही देते हैं। कृष्ण इनको अपने हाथोंसे माखन खिलाता था। इनकी पूँछें पकड़कर कैसे कैसे खेल करता था। कहाँ तक कहूँ उद्धव व्रजमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, कोई स्थान नहीं, कोई घटना नहीं जिसमें कृष्ण की स्मृति निहित न हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार कहते कहते मैया

यशोदा ढाह मारकर रोने लगीं। पुत्रस्नेहके कारण उनके स्तनों से दूध झरने लगा। मैया बाबाका श्रीकृष्णके प्रति ऐसा प्रगाढ़ प्रेम देखकर उद्धवजीका हृदय बाँसों उछलने लगा। ऐसा निष्छल निष्कपट प्रेम पहिले उन्होंने कहीं देखा नहीं था। नन्दजीके विरह दुःखको देखकर वे भी दुखी हुए और उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहने लगे।"

छप्पय

वर भोजन करवाइ बिछाई सुन्दर शैया।
दोनों बैठे पास नन्द अरु यशुमति मैया॥
कुशल प्रश्न करि कहें कृष्ण ब्रज क्यों नहिंआयो।
परदेशी बनि गयो स्वजन घरबार भुलायो॥
लीलाके संस्मरण सब, ब्रजरज कणकणमहँ निहित।
निरखत नितप्रति ही रहत, मथुरापथ ह्वैके चकित॥

उद्धवजीद्वारा नन्द यशोदाको सान्त्वना

[१०६०]

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४६ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

निरखैं जा-जा ठौर यादि लीला ह्वै आवति ।
चित्त कृष्णमय होहि आँखि नित नीर बहावति ॥
बोले उद्धव धन्य-धन्य दम्पति बड़भागी ।
कृष्ण प्रेम महँ छके रहो अतिशय अनुरागी ॥
घटघट व्यापी भुवनपति, दैवैं दरशन आइ हरि ।
वासुदेव ब्रजचन्द प्रभु, प्रकटे नटवर रूप धरि ॥

जिसकी जिस भावमें निष्ठा हो जाती है, वह उसी भावको सत्य समझता है। अपने भावानुसार दूसरोंको उसी भावसे समझानेका प्रयत्न करता है। जिसके लिये जो भाव अनुकूल होता है, वह उसे सबके ही लिये सुगम समझता है। किन्तु

* उद्धवजी नन्द और यशोदाजीको सान्त्वना देते हुए कह रहे हैं—"हे मान देनेवालो ! आप दोनों स्त्री-पुरुष सम्पूर्ण शरीरधारियोंमें अत्यंत ही प्रशंसनीय हैं, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि अखिल जगत्के गुरु श्री नारायण भगवान्में आपने अपनी इस प्रकार मति लगादी है।"

वास्तवमें यह बात नहीं। हमारे लिये जो भाव स्वाभाविक है। सुगम है, वही दूसरोंके लिये दुष्कर हैं दुरूह है। शिष्टता इसीका नाम है कि दूसरेके भावोंका आदर करते हुए अपने भावकी रक्षा करना। जो असहिष्णु पुरुष अपनी मान्यताके सामने दूसरोंकी निन्दा करते हैं, उन्हें भला बुरा कहते हैं, अब उनके लिये हम क्या कहें। भगवान तो भावमय हैं, जिसकी जैसी भावना होती है उसे उसी भावनाके अनुसार फल देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब नन्दजी और यशोदाजी अत्यन्त ही दुखित हुए तो उन्हें समझाते हुए उद्धवजी कहने लगे—"व्रजराज! आप राम कृष्णको साधारण पुरुष न समझें। ये सम्पूर्ण जगत के मूल कारण प्रधान पुरुष रूपसे अवस्थित हैं। ये समस्त जीवोंके अन्तःकरणमें सर्वव्यापी होनेसे निवास करते हैं। ये पुराण पुरुष हैं। अनादि हैं, सर्वगत हैं, सबके कारण हैं। ये अद्वितीय हैं, इन्हीं से यह सम्पूर्ण प्रपञ्च हैं।"

नन्दजीने कहा—"एक होकर सबमें क्रिया कैसे करते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"बाबा! यह विषय गूढ़ है। आप ध्यान पूर्वक सुनेंगे और समझेंगे, तो आपका समस्त शोक मोह दूर हो जायगा। एक होकर भी ये भिन्न भिन्न प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट हैं। जैसे अग्नि एकही है, वही नाना स्थानोंमें नाना रूपसे प्रतीत होती है। लकड़ी टेढ़ी होती है, तो अग्नि भी टेढ़ी होकर उसमें प्रतीत होती है। गोल होने पर गोल रूपमें, मोटे होनेसे मोटे रूप और छोटी होनेसे छोटे रूपमें। इसी प्रकार नाना योनियोंमें भिन्न-भिन्न उपाधियोंको धारण करके ज्ञान स्वरूपसे जीवनका नियमन करते हैं। वैसे ही प्रतीत होते हैं। जीवनका एक मात्र कर्तव्य है इन्हीं सर्वान्तर्यामी श्री कृष्णकी शरणमें जाना। जिनका प्राणान्तके समय भी एक क्षणके लिये ही विशुद्ध हुआ मन इनके चरणा-

रविन्दोंमें लग जाता है, वे इन समस्त कर्म वासनाओंको छोड़कर ब्रह्ममय बन जाते हैं। सहस्र सूर्योंके सदृश वे परम तेजस्वी रूप धारण करके परमपदके अधिकारी बन जाते हैं। जिनकी इतनी महिमा है, उन सबके आत्मा और कारण श्रीकृष्णमें आपका ऐसा सुदृढ़ अनुराग है। वे भगवान् भूमिका भार उतारनेके लिये ही नर रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। उनसे प्रेम करना ही जीवका सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है वह आपको स्वतः ही प्राप्त है, फिर आपके लिये कौन सुकृत करना शेष रहा। आप सब कुछ कर चुके।"

नन्दजीने कहा—"उद्धव! आपकी ये गूढ़ ज्ञानकी बातें मेरी बुद्धि में आती नहीं। आपका कथन सत्य ही होगा, किन्तु हम कृष्णको अन्तःकरणमें देख नहीं सकते। हमें तो उसकी साँवरी सलौनी सूरत देखने की ही इच्छा है। आप हमें यह बतावें कि श्रीकृष्ण व्रजमें कब आवेगा?"

इस पर उद्धवजी बोले—"देखिये बाबा! हम यादवोंके वे ही एकमात्र प्रभु हैं। वे अपने कर्तव्यसे कभी च्युत होनेवाले नहीं हैं। यादवोंकी भलाईके अभी उन्हें बहुतसे कार्य करने हैं। उन्हें समाप्त करते ही वे अति शीघ्र व्रजमें आवेंगे और आप जो उनके माता पिता हैं उन्हें आकर प्रसन्न करेंगे।"

निराशाके स्वरमें नन्दजीने कहा—"अरे, भैया! ऊधो! आवेंगे कब? कंसको मारनेके पश्चात् मैंने उससे कहा था "अब भैया व्रजको चल।" उसने गोल माल उत्तर दे दिया "बाबा! मैं यहाँका सब समाधान करके शीघ्र आऊँगा" सो अभी तक तो वह आया नहीं। मैं समझता हूँ, वैसे ही उसने झूठमूठ मुझे बहकानेके लिये कह दिया होगा।"

अपनी बातपर बल देते हुए उद्धव कहने लगे—"नहीं, बाबा! ऐसी बात नहीं है। उन्होंने कंसके मारनेके अनन्तर रङ्ग-

भूमिमें आपके पास आकर जो भी कुछ कहा है, उसे वे अवश्य ही व्रजमें आकर सत्य करेंगे। आप उन्हें अवश्य देखेंगे।"

नंदजीने उत्सुकताके साथ कहा—"कहाँ देखेंगे? किस स्थल पर कृष्णसे भेंट होगी?"

उद्धवजीने कहा—"बाबा! जैसे ईंधनमें अग्नि व्याप्त है, वैसे ही श्रीकृष्ण तो सबके अन्तःकरणमें स्थित हैं। जहाँ ध्यान किया, उनके दर्शन हो जाते हैं। आप शोकका परित्याग करें। कुछ ही कालमें श्रीकृष्णको पास ही निहारेंगे।"

यशोदा मैया बोली—"उद्धव जब कृष्ण छोटा था, तो वह बहुत चंलता करता था। मैंने उसे उलूखलमें बाँध दिया था, छड़ी लेकर धमकाया था। मुझे लगता है, वह उन्हीं बातोंको याद करके मान कर गया है, मुझसे अप्रसन्न हो गया है, इसीलिये वह लौटकर नहीं आया।"

हँसकर उद्धवजीने कहा—"अजी, माताजी! आप कैसी बातें कर रही हैं? भगवान् तो मान अपमान दोनोंसे रहित हैं। उनके लिये न कोई प्रिय न अप्रिय न कोई शत्रु न मित्र। वे तो समदर्शी हैं। उनके लिये ऊँच नीच, उत्तम अधम, सम विषम हेय ग्राह्य तथा त्याज्य अत्याज्य कुछ भी नहीं है। वे जन्ममरण से रहित हैं।"

यशोदा मैयाने कहा—"जन्मसे रहित कैसे है भैया! उसने तो मेरे ही यहाँ जन्म लिया। मैं तो उसकी मैया हूँ। तुम चाहे न मानो वह तो मुझे अपनी मैया मानता ही था।"

उद्धवजीने कहा—"माताजी! उन सर्वात्माकी न कोई माता है न पिता। वे स्त्री पुत्र घर द्वार अपने पराये सभीसे रहित हैं। वे देह गेह जन्म मृत्यु सबसे रहित हैं। उनके लिये न कोई कर्तव्य है न अकर्तव्य। वे यदि जन्म लेते हैं, तो केवल साधुओंकी रक्षाके ही निमित्त लेते हैं। वे मनुष्य शरीरमें ही

अवतार धारण करते हों, सो भी बात नहीं। वे कभी देवता बनकर याचना भी करते हैं और कभी कच्छ मच्छ बनकर तमो गुणी लीलायें भी करते हैं। कभी मनुष्य रूप रख कर मनुष्यों जैसी चेष्टायें करते हैं। वे अजन्मा होकर भी जन्म धारण करते हैं, निर्गुण होकर भी लीलाके लिये सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंको स्वीकार करते हैं। गुणातीत होनेपर भी वे मायाके गुणोंसे संसारकी रचना, रचे हुए संसारका पालन और अन्तमें संहार करते हैं। वे कुछ काम करते नहीं। करते हुए से दिखाई देते हैं।"

नन्दजीने कहा—"उद्धवजी! न जाने आप किस भगवान् की बात कह रहे हैं। हमारा कृष्ण तो सभी काम करता था। नित्य गौओंको चरानेके लिये वनमें जाता था। हमारे घरका सब काम काज वही तो करता था। हमने तो उसे निरन्तर काममें ही लगे देखा है। वह निठल्ला बेकाम होता, तो इतने बड़े बड़े असुरोंको कैसे मार सकता है।"

उद्धवजी हँसकर बोले—"बाबा! इसी का नाम तो भगवान् की माया है। अकर्ता होने पर भी भगवान् कर्तासे दीखते हैं। देखिये, बालक खेल मेल मे चॉई माई चॉई माई कहकर घूमते हैं, वेगसे चक्कर लगाते हैं। चक्कर लगानेसे पृथिवी वृक्ष सभी घूमतेसे दिखाई देते है। इसी प्रकार वेगसे चलती नौकासे नदीके किनारेके वृक्ष चलते से दिखाई देते हैं। वास्तवमें वृक्ष पृथिवी घूमते नहीं बालकोंके घूमने से वे भी घूमतेसे प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार चित्तके कर्ता होनेपर अहंकारके कारण आत्माही कर्ता प्रतीत होने लगती है। नहीं तो आत्मामें कर्तापन कहाँ है। सबके आत्मा तो श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं।"

यशोदाजीने कहा—"उद्धव! न जाने तुम आत्मा, भगवान्,

सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी किसे बता रहे हो हम तो इतना ही जानते हैं कि श्रीकृष्ण हमारा पुत्र है।"

उद्धवजीने शीघ्रतासे कहा—"मान लो, वे आपके पुत्रही हैं, वे केवल आपके ही नहीं। पुत्र हैं तो वे सभीके पुत्र हैं। सभीके आत्मा हैं, सभीके पिता हैं, सभीके माता हैं तथा सभीके ईश्वर हैं। संसारमें जितनी दिखाई देने वाली वस्तु हैं, जितनी सुनी जानेवाली वस्तुएँ हैं। जितनी हो गई हैं, जितनी आगे होंगी। स्थावर जंगम, छोटी बड़ी जितनी भी वस्तुओंकी कल्पना की जा सकती है, वे सब अच्युतसे पृथक नहीं हैं। संसारमें एकमात्र वे ही परमार्थ वस्तु हैं।"

नन्दजीने कहा—"हाँ उद्धव! हमारा भी सर्वस्व श्रीकृष्ण ही था, हमें भी उसके विना संसार सूना सूना दिखाई देता है। उद्धव तुम बड़े ज्ञानी हो, किन्तु हम तो कृष्णवियोगमें दुखित हैं हमारी मोटी बुद्धिमें तुम्हारी बातें बैठतीं नहीं। हमें तो सन्तोष तब हो जब मोर मुकुट बाँधे, कारी कमरी कंधेपर धारण किये, बाँसुरी बजाता हुआ श्रीकृष्ण हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाय।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रीकृष्णके ही सम्बन्धमें बातें करते करते अरुणोदय हुआ। व्रजाङ्गनाओंने उठकर घरोंमें दीपक जलाये। झाड़ू दी देहलीपर वास्तु पूजा करके दही मथने लगीं। जब घरोंसे आटा पीसनेकी चक्कीकी और दही मथनेकी ध्वनि सुनाई पड़ी तब उद्धवजीने समझ लिया कि अब अरुणोदय हो गया। अब उद्धवजी उठे और चुपके चुपके गोपियोंके घरोंको झाँकते हुए यमुनाजीकी ओर चले। पूरी रात्रिभर वे जागते ही रहे। कृष्णकथामें उन्हें पता ही न चला, रात्रि कब बीत गई। नन्दनशोदाजी भी सम्पूर्ण शरीरको भुलाकर कृष्णकथामें ही तन्मय हो गये। वे खानापीना सब

कुछ भूल गये थे। वे रात्रियाँ ही धन्य हैं जो प्यारेके चिन्तनमें व्यतीत हों। जो रात्रियाँ सोकर कटी वे तो व्यर्थ बीतीं।

छप्पय

बाबा! धारो धीर बेगि सुधि यदुपति लैंगे।
करें प्रतिज्ञा सत्य दयानिधि दरशन देंगे॥
को तिनिके हैं पिता सुहृद् सुत माता भ्राता।
अखिल विश्वके बीज विनोदी सब जग त्राता॥
सुख साधुनि कूँ देन हित, सरस सुखद क्रीड़ा करें।
देव, मनुज, पशु, पक्षि, अज, विविध रूप नटवर धरें॥

व्रजाङ्गनाओंकी तर्कना

[१०६१]

भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः ।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥ *

(श्री भा० १० स्क० ४६ अ० ४७ श्लोक)

छप्पय

करत करत यों बात रात बीती सब जागत ।
अरुनोदय ह्वै गयो गोपिका द्वीप जलावत ॥
मथिवे लागीं दही वलय कंकन धुनि करहीं ।
कुंकुम मंडित गंड चन्द्रविद्युति द्युति हरहीं ॥
चारुचरित चितचोरके, कलकंठनितैं गाइके ।
दशहु दिशनिकूँ भरति मनु, अनुपम भाव जनाइकें ॥

सहसा कोई आशायुक्त घटना दिखाई दे जाती है या कानोंमें भनक पड़ जाती है, तो उस विषयमें हृदयमें ऊहापोह होना स्वाभाविक है। हृदय तो आशासे ही भरा रहता है। प्रेमीका जीवन आशाके आधारपर ही टिका रहता है, किन्तु प्रेम शंकाशील है। हमारा प्रेमी हमें भी उतना ही प्यार करता है, जितना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् सूर्य नारायण उदय हो गये तब व्रजाङ्गनाओंने नन्दजीके द्वारपर एक सुवर्णमंडित रथ देखा, तो वे परस्परमें कहने लगीं—"यह रथ किसका है?"

हम उसे करते हैं इस विषयमें प्रेमियोंका हृदय निर्णय नहीं कर पाता। डाँवाडोलसा बना रहता है। कभी तो मन मान लेता है, कभी संदेह करने लगता है। हमारा प्रिय हमारे लिये चिंतित होगा यह निर्णीत विषय नहीं है। शंकास्पद है। फिर भी घटनाओं को देखकर तर्कना किये बिना रहा ही नहीं जाता। प्रथम प्रेममें अनिष्ट की ही शंका होती है। इन्हीं सब भावोंमें प्रेम निरन्तर बढ़ता रहता है। प्रेमकी वृद्धिकी कोई सीमा नहीं, इयत्ता नहीं। वह बढ़ता ही जाता है, बढ़ता ही जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्द यशोदाजीके साथ बातें करते करते उद्धवजीने वह रात क्षणके समान बिता दी। उन्हें पता ही न चला रात्रि कब बीत गई! पता तो उन्हें तब चला, जब उन्हें घमर घमरका शब्द सुनाई दिया। उद्धवजीने नन्दजीसे पूछा—"बाबा! यह क्या हो रहा है?"

आकाशके तारोंकी ओर देखकर नन्दजी बोले—"उद्धवजी! प्रातःकाल हो गया। देखो, रात कुछ मालूम ही न पड़ी कब व्यतीत हो गई। कृष्ण वियोगमें ये ही रातें हमारी रोते रोते युगके समान व्यतीत होती थीं, आज कृष्णकथामें पूरी रात्रि पलके सदृश प्रतीत हो गई। अरुणोदय हो गया। यह घर घर दही मथा जा रहा है। हमारे यहाँ व्रजमें सूर्योदयके पूर्व ही स्त्रियाँ घरभरके लिये आटा पीसकर दही मथकर रख देती हैं। तब गृहस्थीके अन्य काम काज करती हैं।"

उद्धवजीने आश्चर्यके साथ कहा—"बाबा! यह तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों ताल स्वरमें बहुतसे बाजे एक लयमें बज रहे हों?"

सूखी हँसी हँसकर नन्दजीने कहा—"ये गाँवोंकी गँवारिनि गोपियाँ ताल स्वर क्या जानें। सबको दही मथनेका अभ्यास है। सबके हाथ सधे हुए हैं। सब एक ही गतिसे मथ रही हैं। मथते

समय इनके हाथोंकी चूड़ियाँ, कंकण तथा अन्यान्य आभूषण हिल हिलकर खनखन शब्द करते हैं। अनजान पुरुष इन्हे बाजा ही समझते हैं। ये बाजे बजाये नहीं जा रहे हैं। आभूषण अपने आप बज रहे हैं। दही मथते समय, आटा पीसते समय, तथा अन्न आदि कूटते समय गीत गाते रहनेसे श्रम नहीं मालूम पड़ता, इसलिये ये व्रजाङ्गनायें दही मथते समय कुछ गुनगुनाती रहती हैं, गीत गाती रहती हैं।"

उद्धवजीके जीवनमें व्रजमें निवास करनेका यह प्रथम ही अवसर था। उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ। वे बोले—"बाबा! अब अरुणोदय हो गया। अब तो मैं कुछ दिनों तक यहाँ रहूँगा। फिर बातें होंगी। अब मैं स्नानादिसे निवृत्त होने तथा आह्निक कृत्य करने जाता हूँ।"

नन्दजीने कहा—"अच्छी बात है, भैया! जाओ सेवकको साथ ले जाओ।"

उद्धवजी बोले—"नहीं, बाबा! सेवक की क्या आवश्यकता है, मैंने देखा है।" यह कहकर वे अकेले ही हाथमें पात्र लेकर चल दिये।

उद्धवजी बड़े कुतूहलके साथ गोपोंके घरोंको झाँकते जाते थे। वहाँ उन्हें एक विचित्र सरस संसार दिखाई दिया। गोपोंके घरोंमें दीपक जल रहे हैं। गोपाङ्गनायें घरोंको झाड़ बुहारकर उनमें जल छिड़ककर तथा वास्तुपूजा करके दही मथ रही हैं। घरकी दीवालोंकी खिड़कियोंमें छोटी-छोटी रस्सी डालकर उनके बीचसे रई निकाली गई है। सामने बड़े-बड़े माट रखे हैं, छोटे छोटे पात्रोंसे उस माटमें दही उड़ेल लिया गया। उसमें रई डाल दी है। रईमें एकदाम लपेटी हुई है। दामके दोनों छोरोंपर काठकी छोटी-छोटी हाथसे पकड़नेको खुंडी लगी हैं। मटकाके नीचे छोटे छोटे पत्थरोंके टुकड़े लगे हैं, जिससे माट हिलने

डुलने न पावे। वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हुईं गोपिकायें पीढ़ापर बैठकर दहीको मथ रही हैं। उनके वक्षःस्थल और पीन उभरे हुए हैं। करोंकी उँगलियाँ कोमल और पतली-पतली हैं उनसे वे बार-बार रस्सीको दायें-बायें खींच रही हैं। खींचनेसे घमर-घमरका शब्द हो रहा है। दही पतली होकर उसमें झाग उठ रहे हैं। झाग उठनेसे मथनेका शब्द गम्भीर हो गया है। जब ये इधर से उधर रस्सीको खींचती हैं, तो उनके करोंमें जो कंकण, छल्ल, पछेली, दुआ, मठिया, परीबन्द तथा चुड़ियाँ हैं ये हिलनेसे परस्परमें रगड़ खानेसे बजती हैं। कंठमें जो गुलूबन्द, कण्ठा, कण्ठश्री, दुमनियाँ, तिमनियाँ, पंचमनियाँ, एकलरी, दुलरी, तिलरी, चौलरी, पचलरी, सतलरी, जौमाल, चम्पकली, चन्द्रहार, पूरन-माल, मोहनमाल तथा नाना प्रकारके हार पड़े हैं ये भी खनखन शब्द करते हैं। पैरोंके पाइजेब, कड़े, छड़े, बिछुआ तथा नूपुर आदि भी बीच बीचमें बज जाते हैं। उनके नितम्ब और स्तन पीन होने से मंथरगतिसे हिलते हैं। अतः ताल स्वर और लय सब सम में अवस्थित रहते हैं। हाथोंके हिलनेसे उनका कान्ति-मय मुख भी हिलता रहता है। कानोंके कनक कुंडलोंकी कमनीय कान्तिसे कुमकुममंडित कपोल कुछ अरुण वर्णके बनकर विचित्र छटा छिटका रहे हैं। दीपककी दीप्तिसे दमकती हुईं तथा आभूषणोंके मणियोंकी कान्तिसे चमकती हुईं वे व्रजाङ्गनायें बिजुलियोंके समान शोभायमान प्रतीत होती थीं। ये अपनी कम-नीय कंठसे कृष्णकी कलित कथाओंका गान करती जाती थीं। मानों वे गानकी दिव्य सुगन्धिसे संसारके समस्त अमंगलोंको नष्ट कर रही हों। दशों दिशाओंको पावन कृष्णचरित्रसे भर रही हों। उनका वह दधिमथनका निनाद तथा आभूषणोंकी ताल लयके सहित झंकार और परम सुखमय संगीत भूलोकमें ही नहीं स्वर्गलोक तक व्याप्त हो रहा था। स्वर्गमें बैठे बैठे देवता

दिव्य संगीतसुधाका सुखपूर्वक पान कर रहे थे और गोपाङ्ग-
ओंके सौभाग्यपर सिहा रहे थे। इनकी प्रशंसा कर रहे थे।
वजी इस शोभाको निहारते हुए जलाशयकी ओर चले गये।
र गोपिकायें अपने दधिमंथन आदि कर्मोंसे निवृत्त होकर
ने-अपने घरोंके द्वारोंपर आईं।

भगवान् तमारि मरीचमाली रक्तवसन धारण किये प्राची
शेसे अनुमति लेकर उदित हुए। गोपिकाओंने दूरसे ही नन्द-
के द्वारपर एक सुवर्णमंडित रथ खड़ा देखा। देखते ही उन्हें
म आश्चर्य महान् विस्मय हुआ। एकने दूसरीको दिखाया,
रीने तीसरीको क्षणभरमें बात फैल गई। झुन्डकी झुन्ड गोपि-
ें उस रथको देखने एकत्रित हो गईं। गोपियोंको रथ पहि-
ननेमें देर नहीं हुई। किसीने पूछा—"यह किसका रथ है।"
ी बोल उठी, "नहीं पहिचानती यह तो वही अक्रूरका क्रूर
है।"

इसपर कई एक साथ बोल उठीं—"इसमें कौन आया है?
ा श्यामसुन्दर आये हैं?"

यह सुनकर दूसरी दाँत पीसकर बोली—"श्यामसुन्दर क्यों
ने लगे। अब तो वे राजा हो गये, व्रजमें उनका रखा ही क्या
। अब तो वे नागरिक हो गये। पढ़ लिख गये, पढ़े लिखोंका
पालोंके गाँवमें क्या काम?"

इसपर एक अन्य बोली—"तो प्रतीत होता है, वही क्रूर
क्रूर फिर आया।"

दूसरीने पूछा—"अब अक्रूर किसे लेने आया है? हमारे
णोंको तो वह प्रथम ही हर ले गया। अब उसे किसकी
वश्यकता है। हम सब व्रजवासी तो प्राणहीन हैं।"

इसपर एक बोली—"अक्रूर बड़ा स्वामिभक्त है। पहले
ामीके कहनेसे हमारे प्राणनाथको ले गया, हमें मृतकतुल्य

बन गया। यह काम करके उसने अपने जीवित स्वामीका कार किया, अब उसका स्वामी मर गया है, तो मृतकको मां पिंड देने हमें लेने आया होगा। इस प्रकार हमारे मांससे मरे हुए स्वामीके पिन्डदानादि और्ध्वदैहिक कर्म करके ऋणसे उऋण हो जायगा।"

इसपर सब बोलीं—"हम तैयार हैं, अक्रूर हमें ले उसी मथुरामें चलकर मरेंगी जहाँ हमारे मदनमोहन हैं। है मरते समय उनके दर्शन ही हो जायँ या हमारे मृतक शरी ही वे आकर छूवें। इतनेसे ही हम कृतार्थ हो जायँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपिकायें इस प्रकार उह कर ही रही थीं, कि उन्हें सामनेसे नित्य कर्मोंसे निवृत्त उद्धवजी आते हुए दिखाई दिये। उन्हें देखते ही पहिले तो दूरसे श्यामसुन्दरका भ्रम हुआ, फिर वे समझ गईं यह सुन्दरका भेजा हुआ कोई आदमी है। यह रथ इसीका है। रथमें यह मथुरासे आया है।" ऐसा निश्चय करके वे उह को ध्यानपूर्वक देखने लगीं।

गोपियोंने देखा, इसकी चाल, ढाल, चलन, चितवन रंग अवस्था सब श्यामसुन्दरके सदृश ही है। उन्हींका प्र यह पीताम्बर पहिने हुए है। उन्हींकी प्रसादी कमल कुस अम्लान माला धारण किये हुये हैं। इसके कानोंमें मणि कुंडल शोभित हो रहे हैं। जिनकी आभासे इसका आ आनन देदीप्यमान हो रहा है। इसकी विशाल बाहु भी वनम के सदृश जानुपर्यन्त लटकी हुई हैं। तो वे तर्कना करने ल चाल-ढाल और रथको देखकर तो यही अनुमान होता है, मथुरासे आया है, कोई राजवंशका ही कुमार है। यह साधारण पुरुष नहीं है। श्रीकृष्णका अत्यन्त ही निकटतम रङ्ग अनुचर है। श्रीकृष्णका कृपाप्रसाद इसने प्राप्त कर

। श्यामसुन्दरकी प्रसादी वस्तुओंसे इस बातका सहजमें ही
नुमान लगाया जा सकता है। यदि यह श्रीकृष्णका अत्यन्त
रङ्ग है, तो अवश्य ही उन्होंने दूत बनाकर इसे हमारे पास
ा है, कोई शुभ सन्देश इसके हाथों हमारे लिये पठाया
ी' ऐसा अनुमान करके वे अत्यन्त उत्कण्ठावश पवित्र कीर्ति
हरिके चरणकमलाश्रित श्रीउद्धवजीके निकट गईं उन्हें चारों
रसे प्रेमपूर्वक घेरकर पूछने लगीं—"क्या आप मथुरासे
ये हैं। व्रजको देखनेके लिये, आपने कष्ट किया है। देखिये
मुख जो हरी-हरी कदमखंडी है, वहाँकी शोभा बड़ी ही अद्-
है। आप वहाँ पधारें तो हम आपसे कुछ बातें करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रेमियोंके संकेतोंको प्रेमी ही
झ सकते हैं। उद्धवजी उनके भावको समझ गये, ये श्रीकृष्ण
बातें एकान्तमें पूछना चाहती हैं। अपने दुख सुखकी बातें
न्त में बैठकर कहना चाहती हैं। अतः उन्होंने कहा—"मैं
ऊँगा" यह सुनकर गोपिकायें परम उत्कंठाके साथ कदम
डियोंकी ओर चली गईं।

छप्पय

दिनकर निजकर किरन प्रसारत उदित भये जब।
नन्दपौरि पै लख्यो कनकमय गोपिनि रथ तब॥
ह्वैकें बिस्मित कहे परस्पर को रथ लायो।
का श्वफल्कसुत फेरि मधुपुरी तैं व्रज आयो॥
करति तर्कना परस्पर, उपमा दै दै कें सबहिँ।
नित्य कर्म तैं निबटिकें, आये उद्धवजी तबहिँ॥

उद्धजी और व्रजाङ्गनायें

[१०६२]

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतम्,
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ॥
(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० ३ श्लो

छप्पय

निरखे उद्धव कमलनयन पीताम्बरधारी ।
कमलकुसुम वनमाल अलकवर चितवन प्यारी ॥
समुझी कछु सन्देश श्यामको लैकें आयो ।
मातु पिता संतोष हेतु घनश्याम पठायो ॥
करि आदर एकान्तमहँ, उत्कंठित ह्वै लै गईं ।
समाचार सब श्यामके, सहम सकुचि पूछति भईं ॥

हृदयमें प्रेम भरा हो और ऊपरसे अटपटी बातें कही
तो वे ऐसी लगती हैं मानो नारियलका फल, ऊपरसे देखने

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब व्रजाङ्गनाओंको
हुआ, कि ये उद्धवजी रमापति श्रीकृष्णचन्द्रके सन्देशको लाने
दूत हैं, तो उन्होंने लजीली मुसकानमयी चितवन तथा सुमधुर
आदिसे विनयावनत होकर उनका भलीभाँति सत्कार किया । फिर
एकान्त स्थानमें आसन पर बिठाकर श्रीकृष्णकी बातें पूछने लगीं ।"

ऊबड़ खाबड़ सूखा सा लगता है किन्तु भीतर उसमें मीठी गिरी छिपी रहती है। इसके विपरीत जो बनावटी चिकनी चुपड़ी बातें होती हैं, वे इन्द्रायनके, फरफेदुए के फलके सदृश होती हैं, जो देखनेमें ऊपरसे सुन्दर होता है, भीतर उसमें कड़वाहट भरी रहती है। घी का लड्डू चाहे ऊपरसे सुन्दर न बना हो, किन्तु उसके स्वादमें कोई अन्तर नहीं आता, इसी प्रकार प्रेमकी बातें कैसे भी कही जायँ, उनसे कहने सुनने वाले दोनोंको ही सुख होता है। दो प्रेमियोंकी बातें सुननेको मिल जायँ, तो जीवनमें इससे बड़ा लाभ कोई और हो नहीं सकता। प्रेमियोंका संवाद सुनना ही संसारमें सर्वश्रेष्ठ सुख है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब गोपियोंने समझ लिया कि ये श्रीकृष्णका सन्देश लेकर आये हैं, तो उन्हें कदम्बखंडी में आनेके लिये कहकर गोपिकायें वहाँ जा बैठीं और बड़ी उत्सुकतासे उद्धवजीकी प्रतीक्षा करने लगीं। उद्धवजी घरमें आये। मैयाने उन्हें जलपान कराया। फिर उद्धवजी व्रजराजसे बोले—"बाबा ! मैं तनिक व्रजमें घूम आऊँ श्यामसुन्दरके सुहृद सखा आदिकोंसे मिल आऊँ। व्रजकी शोभा भी देख आऊँ।"

नन्दजीने कहा—'बड़ी अच्छी बात है भैया ! जाओ सभी श्रीकृष्णके समाचार सुननेको समुत्सुक हैं। घूम फिरकर शीघ्र ही आ जाना।"

"हाँ बाबा ! मैं शीघ्र ही आऊँगा" यह कहकर उद्धवजी अँगरखा पहिनकर पगड़ी बाँधकर कंधेपर दुपट्टा डालकर कदंब-खंडियों की ओर चल दिये। गोपिकाओंके लिये पलपल भारी हो रहा था वे दूर तक आ आकर देखती थीं। जब उद्धवजी न दिखाई देते, तो वे निराश हो जातीं। कुछ कालमें उन्हें उद्धवजी सामनेसे आते हुए दिखाई दिये; सभीने संभ्रमके

उनका स्वागत किया। बैठनेका सुन्दर आसन दिया। सभी चारों ओर से उन्हें घेरकर बैठ गईं। वे अपनी मधुर मुसकानमयी चितवनसे लज्जापूर्वक उद्धवजीको देख रही थीं। वे चाहती थीं, सर्वप्रथम उद्धवजी हमसे कुछ पूछें, किन्तु उद्धवजी तो उनकी प्रेम-मयी दृष्टि और अनुपम उत्सुकताको देखकर ही आश्चर्य चकित हो गये। वे निर्णय ही न कर सके, कि इनसे सर्वप्रथम क्या पूछूँ।

उद्धवको दुविधामें फँसा देखकर व्रजाङ्गनायें उनकी विवशता को समझ गईं। इसलिये सर्व प्रथम उन्होंने ही कहना आरम्भ किया "महानुभाव! हम अनुमान लगा रही हैं, कि आप यदुवंश विभूषण श्रीकृष्णजीके दूत बनकर व्रजमें आये हो?"

धीरेसे उद्धवजीने कहा—"आपका अनुमान कभी अन्यथा हो सकता है क्या? अवश्य ही मुझे यदुनाथने यहाँ व्रजमें सन्देश देनेके लिये पठाया है।"

गोपिकाओंने कहा—"हाँ, उनके माता पिता यहाँ रहते हैं, अतः तुम्हारे स्वामीने कुछ लोकलाजसे डरकर उनकी कुशल क्षेम पूछने आपको भेजा होगा?"

उद्धवजीने कुछ अस्पष्ट स्वरमें कहा—"नहीं ऐसी बात नहीं है। केवल माता पिताकी कुशल लेनेही मुझे नहीं भेजा है। उनके अतिरिक्त भगवान् औरोंके लिये भी चिन्तित हैं।"

आश्चर्यकी मुद्रा दिखाते हुए व्यंगके स्वरमें व्रजाङ्गनायें बोलीं—"माता पिताके अतिरिक्तो व्रजमें और कोई ऐसा दिखाई देता नहीं, जिसकी उन्हें याद आवें। जिसके लिये वे दूत भेज कर सन्देश पठावें। माता पिताके अतिरिक्त अन्य किसीसे उन्हें क्या प्रयोजन? अपने माता पिता, भाई बहिन जिनसे रक्तका सम्बन्ध है, इनके स्नेहबन्धनको काटना तो मुनियोंके लिये भी कठिन हो जाता है। कैसे भी त्यागी विरागी हो जायँ माता पिता भाई बहिनको देखकर हृदय भरही आता है। श्रीकृष्णको

मथुराका वैभव पाकर भी माता पिताकी याद आ जाना आश्चर्य की बात नहीं है।"

उद्धवजीने कहा—"भगवान्‌को माता पिताकी याद नहीं आती है। औरोंकी भी वे बहुत याद करते रहते हैं। वे तुम्हारी मैत्रीकी बात याद करके भी अधीर हो जाते हैं।"

यह सुनकर व्यंगके स्वरमें गोपियाँ कहने लगीं—"अजी, उद्धवजी! क्यों तुम मुँह देखी बात कह रहे हो? क्यों हमें फुसला रहे हो। अपने सगे सम्बन्धियोंमें स्नेह तो स्वाभाविक होता है उसे तो मेटना भी चाहें तो नहीं मिटता। स्वजनोंके अतिरिक्त जो अन्योंके साथ मैत्री की जाती है, वह किसी न किसी स्वार्थको सम्मुख रखकर की जाती है। वह मैत्री नहीं। प्रयोजन की प्रीति है स्वार्थका स्नेह है अदले बदलेका व्योहार है। प्रेमका स्वांग है। जबतक अपना प्रयोजन निकलता है, तब तक तो प्राण देने का ढोंग रचते हैं। जहाँ स्वार्थ सिद्ध हुआ, प्रयोजन पूर्ण हुआ, तुम अपने घर हम अपने घर। कहाँकी प्रीति कैसी मैत्री?"

उद्धवजीने कहा—"ऐसी बात नहीं, सब स्वार्थसे ही स्नेह नहीं करते, कुछ बिना स्वार्थके केवल प्रेम करनेके लिये भी प्रेम करते हैं।"

गोपियोंने गम्भीरताके साथ कहा—"ऐसा प्रेम संसारमें तो देखा नहीं जाता। देखिये संसारमें स्त्री पुरुषोंका प्रेम सबसे अधिक घनिष्ट माना जाता है। यौवनके उफानमें एक दूसरेपर प्राण देनेको तत्पर रहते हैं। सौन्दर्यके पीछे यौवनके पीछे पागल हो जाते हैं। जहाँ सुन्दरता नष्ट हुई, यौवन ढल गया, वहाँ वैसा प्रेम नहीं रहता। किसी प्रकार गाड़ी ढकेली जाती है। भौंरोंको देखिये फूलोंपर प्राण देते हैं उनके ऊपर गुनगुनाते हुए मड़राते रहते हैं। उनके बन्धनमें बँध जाते हैं। कमलोंके साथ मुँ

हैं। किन्तु जहाँ पुष्पोंमें मधु नहीं रहा, वहाँ उनके समीप झाँकते भी नहीं। क्यों है न यही बात ?"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, यह तो है, किन्तु सब पुरुष भ्रमरोंके समान ही स्वार्थी नहीं होते। पाँचों उँगली एक सी नहीं होतीं। संसारमें सभी प्रकारके लोग होते हैं।"

गोपिकाओंने कहा—"हमें तो सम्पूर्ण संसारमें ही स्वार्थका बोल बाला दिखाई देता है। देखिये वेश्यायें प्रेमका कैसा ढोंग रचती हैं। दूरसे वे सजीवजी कैसी सुन्दरी दिखाई देती हैं। अपने धनिक प्रेमियोंके कंठमें बाहु डाकर उसे अपना शरीर समर्पित कर देती हैं। इतना स्नेह प्रदर्शित करती हैं, कि मनुष्य पागल हो जाता है, किसी भी प्रकार उनके फंदेसे छूटनेमें असमर्थ हो जाता है, अपना तन, मन, धन, बलवीर्य तथा सर्वस्व उनके ऊपर निछावर कर देता है। किन्तु जहाँ वह उनका प्रेमी धनहीन हुआ। उनकी इच्छानुसार धन देनेमें असमर्थ हुआ, कि फिर उससे मुँहसे बोलतीं तक नहीं। कोठेपर पैर नहीं रखने देतीं।"

उद्धवजीने कहा—"तुमने भी कैसा बुरा दृष्टान्त दिया। वेश्या तो वेश्या ही ठहरीं। वे तो पण्यस्त्री कहाती ही हैं। धनके लिये ही वे प्रेमका जाल बिछाती हैं। सब जानते हैं, उनका प्रेम स्वार्थका होता है।"

बीचमें ही गोपियाँ बोल उठीं—"उन्हींका प्रेम स्वार्थका नहीं होता, सभीका स्वार्थका ही प्रेम होता है। अच्छा वेश्याओंकी बात छोड़ दो। शास्त्रकार कहते हैं—"आठों लोकपालोंके अंशसे राजा होता है। राजाके शरीरमें सभी देवताओंका वास होता है अतः प्रजाको राजाका सदा आदर करना चाहिये। उससे निरन्तर प्रेमका व्यवहार करना चाहिये।" किन्तु क्या समस्त प्रजा सभी राजाओंसे प्रेम करती है। राजा जबतक दस्युओंको भगाने

समर्थ रहा, पालन करनेके योग्य रहा, तब तक उससे सब प्रेम करते हैं। जहाँ वह बलहीन हो गया। प्रजापालनमें असमर्थ हुआ, वहाँ प्रजा उस राजाका परित्याग कर देती है। उसे आय-का षष्ठांश नहीं देती। राजाप्रजामें प्रेम भी स्वार्थसे ही है। विद्यार्थियोंको देखिये। जब तक विद्या पढ़ते हैं तबतक गुरुजीकी सेवा करते हैं, पैर छूते हैं जहाँ पढ़ लिख गये, कहाँके गुरु कैसे आचार्य। अपने स्त्री बच्चोंमें ऐसे घुलमिल जाते हैं, कि कभी गुरुके दर्शनोंको नहीं जाते। इन बड़े-बड़े यज्ञ करानेवाले दैविक ब्राह्मणोंको देखो। जबतक यजमानसे काम निकलता है, उससे दक्षिणा नहीं मिलती, तबतक लालाजी, सेठजी, श्रीमान् और न जाने क्या क्या कहते हैं। जहाँ दक्षिणा मिल गई टेंट गरम हो गई। तहाँ यजमान अपने घर यजमानी अपने घर। सीधा-सामान बाँधा घरकी ओर चल दिये।"

उद्धवजीने कहा—"ये सब तो अजीविकाके लिये एक दूसरे से प्रेम करते हैं। प्रेमके लिये प्रेम तो ये नहीं करते ?"

गोपियोंने दृढ़ताके साथ कहा—"हमें आप एक उदाहरण दें प्रेमके लिये प्रेम कौन करता है, हमें तो संसारमें स्वार्थका ही प्रेम दिखाई देता है। पक्षी भी उसी पेड़से प्रेम करते हैं, जो पेड़ फल वाला हो। उसीपर रहेंगे, दिन भर उसीके गीत गायेंगे। जहाँ फल समाप्त हुए कि फुर्र-फुर्र करके उड़ जाते हैं। फिर उसको देखते भी नहीं। अच्छा ये तो पशु पक्षी ठहरे। ये जो घरबार छोड़े लँगोटी लगाये साधु महात्मा घूमते हैं क्या इनका प्रेम हृदय-से होता है ?

दोपहरको जहाँ भूख लगी कि ये गृहस्थियोंके घर जायँगे। कितना प्रेम दिखायेंगे। तुम्हारे बाल बच्चे अच्छे हैं। बड़ा लड़का कहाँ है, कुछ पढ़ता है या नहीं। लड़की विवाह योग्य हो गई, उसके लिये कोई योग्य वर ढूँढ़ना चाहिये।" ऐसी

कर बातें करते हैं मानों हमारे ये परम हितैषी हैं। आत्मीय हैं हमसे बड़ा प्रेम करते हैं। जहाँ पेट भरके रोटी खाई। अपना प्रयोजन सिद्ध हुआ, फिर चाहे लड़का भाड़में जाए, लड़की चूल्हे में पड़े उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। दूसरे दिन दूसरे गृहस्थसे जाकर ऐसी ही चिकनी चुपड़ी बातें बनावेंगे। संसारमें जिधर देखो उधर ही स्वार्थका प्रेम दीखता है। जीवनभर जिस वनमें मृग रहते हैं, जहाँ उसमें आग लगी कि उस वनको छोड़कर भाग जाते हैं। व्यापारी धनके लिये अपनी जन्मभूमिको छोड़ जाते हैं। पत्नी अपने स्वार्थके लिये पतिकी हत्याकर देती है। राज्यके लिये भाई-भाईका गला काट देता है। सम्पत्तिके लिये पुत्र पिता को जहर दे देता है। स्वार्थसिद्धिके लिये मनुष्य स्वाभाविक प्रेमको भी तिलाञ्जलि दे देते हैं। जार पुरुष परनारीके प्रति कितना प्रेम प्रदर्शित करता है, किन्तु अपना स्वार्थ सिद्ध होनेपर वह उस अनुरागिणी स्त्रीका तनिक भी ध्यान नहीं करता। स्वार्थ साधके चला जाता है। सो, उद्धवजी! कृष्ण तो स्वार्थी हैं। उनकी मैत्री दिखावटी है। जब कोई उनसे प्रेम करनेको नहीं था, तब उन्होंने हमसे झूठा बनावटी प्रेम किया। अब तो उन्हें नगर-की रहनेवाली सुन्दरियाँ मिल गई हैं। अब वे हमारी क्यों याद करेंगे। शिष्टाचारके लिये लोक दिखावेके निमित्त माता-पिता की सुधि लेने आपको उन्होंने भेजा होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रीकृष्णकी चर्चा करते-करते उन गोपाङ्गनाओंकी मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्ति श्रीकृष्णचन्द्रके ही चरणोंमें लग गई। भगवान्‌का स्मरण करते-करते उन्हें भावसमाधि हो गई। वे घर-द्वारकी समस्त चिन्ताओंको भूल गईं और तन्मय होकर मूर्छित हो गईं। उद्धवजी उनकी ऐसी प्रेमकी दशा देखकर परम विस्मित हुए।"

छप्पय

प्यारेको सन्देश कहन व्रज आप पधारे।
हो कारेके सखा रंगके तुमहू कारे॥
समुझति हीं हम सदा प्रेम घनश्याम करैंगे।
छाया तन मन प्रान सरिस नित सङ्ग रहैंगे॥
फलहित खग मधुहित भ्रमर, विटप सुमन सँग प्यार है।
निकसे कपटी कुटिल हरि, स्वारथको संसार है॥

भ्रमरगीत

[१०६३]

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

उद्धव बैठे चुप्प व्यग सुनि हिय भरि आयो ।
मधुलोलुप इक भ्रमर सहजही तहँ उड़ि आयो ॥
करि उद्धवकूँ लक्ष्य प्रेमको पाठ पढ़ायो ।
ताहि मानि हरिदूत कोप अरु मान दिखायो ॥
गुनगुन करि आयो भ्रमर, कहति कुपित पद पकर मत ।
तू मधुकर माधव सरिस, मधु लोलुप स्वारथनिरत ॥

उत्प्रेक्षा व्यञ्जनाके द्वारा किसीके सम्बन्धकी बात किसीपर डालकर कही जाती है, तो उसे व्यङ्ग करते हैं। काकु वचनोंसे भी व्यंग किया जाता है, दूसरोंपर डालकर भी कहा जाता है और प्रत्यक्षमें शब्दोंके चातुर्यसे भी कहा जाता है। व्यंगवचन जितना ही सरस होगा, उसमें जितना ही ममत्व होगा, वह

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कोई गोपी ध्यानमें श्रीकृष्ण-संगम सुखका अनुभव कर रही थीं, उसी समय उसे कोई भ्रमर दिखाई दिया। उसे देखकर और उसमें अपने प्यारेके भेजे हुए दूतकी कल्पना करके वह इस प्रकार कहने लगी।"

उतना ही मोहक और आनन्ददायक होगा। जैसे सरस मिष्ठान्नोंमें शक्करका प्रधान स्थान है, वैसे ही जिनमें सरस प्रसंग हैं, उनमें विरहनिमित्त व्यंग वचनोंका ही प्राधान्य है। प्रेमीके प्रति व्यंग वचन कहकर अपने हृदयके भावोंको व्यक्त करना है। हमारे मनमें उनके प्रति कितना अनुराग है, कितना प्यार है, कितना ममत्व है, किन्तु वे कितने कठोर निर्मोही रूखे और निस्पृह हैं यही इन प्रेमके वचनोंका तात्पर्य होता है। अपनी विवशता और उनकी अनीतिको सिद्ध करना है। यही प्रेमका स्वरूप है, क्योंकि प्रेम सीधा नहीं चलता, उसकी गति सर्पकी भाँति कुटिल होती है, इसलिये प्रेमके वचन सीधे और सरल नहीं होते। वे टेढ़े मेढ़े घुमाव-फिरावके होते हैं। समझने ही वाले उनका अर्थ समझते हैं। दूसरे नीरस हृदयवाले मुँह ही ताकते रह जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! दुख-सुख अपने आलोगसे कहनेसे कुछ हलका हो जाता है। इसी प्रकार जब हृदय प्रेमसे भरा हो और उस प्रेमके उफानको अपने प्रेमीके सम्मुख, या ऐसे व्यक्तिके आगे जो जाकर प्रेमीसे कह दे, इनके सम्मुख व्यक्त करनेसे चित्त शांत हो जाता है। भावोंका उफान कुछ कालको स्थिर हो जाता है। प्रेमियोंके समय काटनेका यही तो एकमात्र साधन है। प्यारेकी चर्चा करते रहना। अपनी विवशता और उनकी निष्ठुरताका बखान करते रहना। इतनी भी औषधि न मिले तो प्रेमका रोगी कितने दिनों जीवित रह सकता है। उसे तो अखंड समाधि लग जायगी या इस शरीरका अंत ही हो जायगा। प्यारेके सम्बन्धमें कुछ कहते रहना यही प्रेमीका व्यापार है। निरन्तर दर्शनोंकी चटपटी लगी रहे। उत्कंठा प्रतिक्षण प्रबल होती रहे और उसमें जो उसपर खीज होती रहे इसीमें प्रेमियोंका समय कट

गोपिकायें जब उद्धवजीसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी निष्ठुरता की चर्चा कर रही थीं, तब उनकी आँखोंके सम्मुख श्रीकृष्णकी वे सभी कमनीय क्रीड़ायें जो उन्होंने किशोरावस्था तथा कुमारावस्थामें की थीं नाचने लगीं। उन सभी लीलाओंके स्मरणसे उनका हृदय भर आया। अन्तःकरणमें प्रेमका बवंडर सा उठने लगा। वे अपने भावोंको संवरण न कर सकीं इसलिये लोक-लाजको तिलाञ्जलि देकर ढाह मारकर रोने लगीं। रोते रोते वे मूर्छित हो गईं और भाव जगत्में श्रीकृष्ण संग पाकर निवृत्त हो गईं।

उन सखियोंमें जो सबसे प्रधाना थीं श्रीकृष्णकी परमप्रेयसी थीं, वे श्यामसुन्दरके समागम सुखका समाधिमें अनुभव कर रही थीं। सहसा उनके चरणोंके सम्मुख एक काला भ्रमर आकर गुनगुन करने लगा। वह भ्रमर और कोई नहीं था। वही छलिया, बहुरूप प्रिय, कपटी कृष्ण भ्रमरका रूप रखकर प्रेम भावके उद्दीपनके निमित्त उद्धवजीको प्रेमकी शिक्षा दिलानेके निमित्त आया था और कुछ कहकर गुनगुना रहा था। भावमें प्यारीजी प्रियतमसे मान कर रही थीं। सहसा मधुकरकी गुनगुनाहट सुनकर उनका ध्यान भंग हुआ। उन्हें ऐसा लगा मानों मदनमोहनने मुझे मनानेको इस मधुकरको दूत बनाकर भेजा है और यह उनकी ओरसे मेरे पैरोंको छू रहा है, तथा प्यारेकी निष्ठुरताके लिये क्षमा याचना कर रहा है। इससे उनका वही भाव बना रहा और उस भ्रमर दूतपर कुपित होकर उससे व्यंग वचन बोलने लगीं। भौंरा भी कुछ गुनगुन शब्द बोलता था, किन्तु उसकी भाषाको प्यारीजीके अतिरिक्त कोई समझता ही नहीं था। उसके गुनगुन शब्दका अर्थ समझकर वे भी उसका उत्तर देतीं। इसी प्रकार वे भ्रमरको उपलक्ष्य करके श्रीकृष्णके संबंधमें बहुत सी खरी खोटी बातें कहने लगीं।

प्यारीजी कहने लगीं—"हे धूर्तके सखे, भौंरे ! देख सावधान तू हमारे पैरोंको मत छूना।"

भौंरा बोला—"गुन गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी मैंने क्या अपराध किया है, जो आप मुझे चरण स्पर्शसे वञ्चित रख रही हैं ?)"

प्यारीजीने कहा—"कपटीके सखा कपटी ही होते हैं। कारे सभी कुटिल होते हैं। कृष्णवर्ण ही बुरा होता है, एक कृष्णने हमारे साथ छल किया है। दूधका जला छाछको फूँक-फूँककर पीता है। श्यामसुन्दरने हमें ठगा है, हमारे साथ विश्वासघात किया है। क्षणभर प्रेम करके हमें तड़पाया है। तबसे हमें कारोंसे घृणा हो गई है। तू हमारे शरीरसे हाथ मत लगाना।"

भौंरेने कहा—"गुन गुन गुन। (अर्थात् प्यारीजी आप मुझे हाथसे न छूने देंगी, तो मैं अपनी मूँछोंसे आपके चरणों को छूऊँगा।)"

चौंककर श्रीजी बोलीं—"देखना, तेरी इन बड़ी बड़ी मूँछोंसे मुझे बड़ी घृणा है। क्योंकि पहिली बात तो यह है कि तेरी मूँछें लम्बी हैं। लम्बी दाढ़ी मूँछोंवाले कपटी होते हैं। फिर ये काली हैं। काले प्रायः कुटिल होते हैं, तीसरे तेरी मूँछें कड़ी हैं। कड़े बालवालोंका हृदय भी कड़ा होता है, चौथे इन मूँछोंमें जो केशर लगी हैं उससे मुझे अत्यन्त ही घृणा है।"

भ्रमरने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी केशर तो बड़ी सुगन्धित वस्तु होती है, उससे तो चित्त प्रसन्न होता है, आपके वक्षःस्थलमें भी तो केशर लगी है ?)"

प्रियाजीने कहा—"मुझे केशरसे घृणा थोड़े ही है। तेरी मूछोंकी केशरसे मुझे घृणा है। वह इसलिये कि श्रीकृष्णके कंठमें अम्लान पुष्पोंकी माला पड़ी रहती है, उसी मालासे कुब्जा आदि दासियोंका आलिंगन करते हैं, इससे उसके वक्षःस्थलकी

केशर उस मालामें लिपट जाता है। उसी मालापर [illegible] तू बैठता है, तेरी मूँछोंमें वह केशर लग जाती है। इसलिये केशरको देखकर हमें डाह होती है, घृणा होती है। क्षत्रिय यादव की सभामें क्या यह प्रशंसाके योग्य है। दासीके संसर्गके सूचित करनेवाले चिह्न क्या सभ्य समाजमें हास्यास्पद नहीं हैं। समझना होगा यह हमारे प्यारेका प्रसाद है। हमें ऐसा प्रसाद नहीं चाहिये। इस प्रसादको वे अपनी मानिनी कामिनियोंको प्रदान करके उन्हें प्रसन्न करें। अतः तू हमारे पैरोंको मत छूना।

भौंरेने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी हम [illegible] भी तो सही श्रीकृष्णने तुम्हारा क्या अपकार किया है, [illegible] तुम्हारे साथ विश्वासघात किया?"

प्यारीजी बोलीं—"तुम्हारे कारे स्वामीने हमारे साथ वधिक-सा, बहेलियेका-सा, जुआरीका-सा तथा सुरापीका सा [illegible] किया है। जैसे वधिक सर्वप्रथम पशुको हरी हरी घास खिला प्रेमसे थपथपाकर विश्वास उत्पन्न करा लेते हैं, फिर सहसा उसके कंठपर छुरी चला देते हैं, उसका वध कर देते हैं, [illegible] बहेलिया बीन बजाकर दाने बखेरकर पशुपक्षियोंको लाल देकर बुला लेता है, फिर फँसाकर मार डालता है। जैसे जुआरी पहिले कुछ जिताकर लोभ उत्पन्न करा देते हैं और फिर सब अपहरण कर लेते हैं। जैसे सुरापी प्रथम एकएक चुल्लू [illegible] पिलापिलाकर प्रथम लत डाल देते हैं, जब वह सुरापी [illegible] जाता है, तो उसे छोड़ देते हैं। वैसे ही श्रीकृष्णने हमें फँसा कहींकी नहीं रखी। प्रथम हमें अपने अधरामृतका लाल देकर फँसा लिया। प्रथम तो उस अत्यंत मधुर परममादक रस [illegible] हमें पिला दिया उसका आदी बना दिया। जब हम उसमें मदमाती हो गईं, तो परदेशीकी भाँति छोड़कर सदाके लिये चला गया। प्रतीत होता है, तैंने ही उसे यह विद्या सिखाई है। तू भी

तो ऐसी ही कुटिलता किया करता है। प्रथम तो तू अधखिली कलियोंके ऊपर बैठ जाता है। उन्हें झकझोर देता है, उनके मधुका मत्त होकर पान करता है। जब तू पान कर लेता है तृप्त हो जाता है, तो फिर उनकी ओर आँखे उठाकर भी नहीं देखता। ऐसे ठगिया, छली, कपटी, विश्वासघाती, धूर्त, स्वार्थी मधु लोलुप व्यक्तिका विश्वास कौन करेगा। कौन उनकी चिकनी चुपड़ी बातोंको सुनेगा? अतः तू जा, लौट जा हमें तेरा सन्देश नहीं सुनना है।"

भौंरा बोला—"गुन गुन गुन (अर्थात् श्रीजी! आप तो श्रीकृष्णको ठगिया, छली, कपटी, विश्वासघाती, धूर्त, स्वार्थी और न जाने क्या क्या कह रही हैं, किन्तु लक्ष्मीजी तो उनके सदा पैर पलोटती रहती हैं, वे भी तो स्त्री ही हैं?)"

श्रीजीने आश्चर्यके साथ कहा—"न जाने यह चंचला लक्ष्मी इन चितचोरके चरणोंसे क्यों चिपटी रहती है? प्रतीत होता है इन चतुर चूडामणिने अपनी चिकनी चुपड़ी चटकीली बातोंसे इस चञ्चलाके चित्तको चुरा लिया है। स्त्रियाँ तो भोलीभाली होती हैं, वे कपटी पुरुषों की कुटिलता क्या समझती हैं। लक्ष्मीजीको अवश्य फुसला लिया है। नहीं तो श्रीकृष्ण प्रीति करने योग्य नहीं। प्रीतिकी रीतिको वे क्या जानें।"

भौंराने कहा—"गुन, गुन, गुन, गुन (अर्थात् प्रियाजी! वे प्राणपुरुष तो अज हैं, अच्युत हैं, अनादि हैं, अखिलेश हैं। पुण्यकीर्ति हैं, पुण्यश्लोक हैं। वेद भी उनका भेद नहीं जानते वे भी उनको नेति नेति कहकर ही चुप हो जाते हैं।)"

प्रियाजी बोलीं—"अरे, भाटके भाई भौंरे! तू हम वनवासियोंके सामने उन बनवारीकी बारम्बार लड़ाई क्यों कर रहा है? क्या हम उन कपटीकी कुटिल चालोंको जानती नहीं। कारे कृष्णकी कीर्तिकथा हमें अपनी ओर न खींच सकेगी।

यहाँ तेरी दाल नहीं गलनेकी। जो उन्हें जानती न हों, वे तेरी चिकनी चुपड़ी बातोंमें भले ही आजायँ। हम तो उनकी नसनस पहिचानती हैं। तू उनका यश सुनाकर हमसे कुछ पारितोषिक प्राप्त करना चाहता होगा, सो यह तेरा प्रयास वृथा है। हम तो उनकी छठी तककी बात जानती हैं, तबकी बातें जानती हैं जब तेरा जन्म भी न होगा। नानीके आगे ननसालकी बातें बनाना व्यर्थ है। हाँ, तुझे ठगना ही है तो मथुरावासिनी नवेली नागरियोंको ठग। उनका नटवरसे नेह नवीन है। वे अभी उनकी करतूतोंसे अनभिज्ञ हैं। अभी नई ही उनकी मनमोहनसे मैत्री हुई है उनके दर्शनोंसे वे अपने मनोभव हृद रोगको शांत हुआ समझती हैं। वे तेरी लच्छेदार बातोंमें आजायँगी। वे तेरी इच्छा पूर्ण करेंगी, तुझे मुँहमाँगा पारितोषिक देंगी। हमारे सामने तेरा परिश्रम अरण्यरोदन मात्र है।"

भ्रमरने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् लाड़िलीजी! आप मेरी बातपर विश्वास करो। कृष्णको कपटी कुटिल कृतघ्न मत कहो। उन्होंने बड़े प्रेमसे अनुरागभरित हृदयसे मुझे आपके पास मनानेके लिये भेजा है। तुम उनपर प्रसन्न हो जाओ। उनके अपराधोंको क्षमा कर दो।)"

इसपर वे बोलीं—"तू सिरपर सालग्राम रखकर मुखमें सोना देकर बीच गंगाजीमें खड़े होकर भी इस बातको कहे तो भी तेरी इस बातको मान नहीं सकतीं। उन्हें हम गाँवकी गँवारिनि अहीरिनियोंसे प्रयोजन ही क्या? पुरुष सेवासे, सौंदर्यसे और सुकुमारता, सरलता तथा सरसता तथा गुणोंसे रीझता है। हममें तो इनमेंसे एक भी नहीं है। न हममें सेवा करनेकी योग्यता है, भला लक्ष्मीजी जिनके निरन्तर पैर पलोटती रहती हैं उनकी हम अबला सेवा ही क्या कर सकती हैं। सौंदर्य हम गाँवकी ग्वालिनियोंमें है नहीं। नगरकी नवेली युवतियोंके

सम्मुख हम कुछ भी नहीं। दिनभर घरका कामकाज करते-करते हमारा शरीर कठोर हो गया। नारी सुलभ सुकुमारता हममें है ही नहीं। पढ़ना लिखना हम जानती नहीं। श्रीकृष्ण हमारे किस गुणपर रीझकर हमें याद करेंगे? उन्हें कमी किस बातकी है? संसारमें ऐसी कौन सी स्त्री होगी जो उन्हें प्राप्त न हो सके। भूलोकमें, पाताल तथा स्वर्गमें ऐसी एक भी सुन्दरी न निकलेगी, जो उनकी कपटभरी मनोहर मन्द मन्द मुसकानरूप जालमें फँसकर वक्रभ्रुकुटि विलासरूप बाणसे बिंधकर घायल न हो सकती हो? ऐसे शक्तिशाली, प्रभावशाली वधिकको प्रयोजन ही क्या कि हम गुणहीनोंकी याद करे उनके लिये सन्देश भेजे? हम तो मतिमलीना हैं, दीना हैं, अकिंचना हैं, हमारी याद वे क्यों करने लगे?"

भौंरेने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी जब आप विश्वास ही नहीं करतीं, तो मैं जाता हूँ कुछ उनके लिये सन्देश तो दे दें। मैं जाकर उनसे कहूँगा क्या?)"

प्यारीजी बोलीं—"तू जाकर हमारी ओरसे यही कहना, कि हममें ऐसा एक भी गुण नहीं है कि आप हमें स्मरण करें। हम अबला हैं, दीना हैं, मतिमलीना हैं, कुरूपा हैं, कुलटा हैं सब कुछ हैं। हमारे गुणोंकी ओर ध्यान देनेसे तो हम सर्वथा त्यागके योग्य ही हैं। किन्तु आप अपने नामको स्मरण करलें। सब लोग आपको 'उत्तमश्लोक' कहते हैं। उत्तमश्लोक वे ही कहाते हैं जो दीन दुखियोंपर दया दिखाते हैं। दीनोंपर दया करनेसे ही तुम्हारा नाम दीनदयाल है। दीनोंके सम्बन्धी होनेसे ही तुम दीनबन्धुके नामसे प्रसिद्ध हो। अपने नामको सार्थक करो। हमसे अधिक दीन इस संसार में और कौन होगा। हमारी ओर देखकर तुम व्यवहार करते हो, सो तो ठीक ही है इसके हम योग्य ही हैं, किन्तु तुम्हारी जैसी प्रसिद्धि है, उसके अनुरूप

आपका व्यवहार नहीं है। यह हमारे साथ अन्याय है, छल है, कपट है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! व्रजाङ्गनाओंके ऐसे विनीत और प्रेममें भरे वचनोंको सुनकर भ्रमर रुक गया। पहिले तो उसने जाने का निश्चय कर लिया था, किन्तु जब उसने देखा व्रजाङ्गनाओंकी दीनता पराकाष्ठापर पहुँच गई है। वे श्यामसुन्दरसे अत्यधिक रूठी हुई हैं, तो उसने एक बार पुनः प्रयास किया। फिर श्रीजीके चरणोंके समीप मँड़राने लगा। बारबार गुनगुनाने लगा क्षमा याचना करने लगा। इसपर जो श्रीजीने उसे झिड़का उस प्रसंगको मैं आगे कहूँगा॥'

छप्पय

जिन कुंजनि सुख दयो न ते अब तनिक सुहातीं।
अधरामृत कूँ प्याइ बनाईं हम मदमातीं॥
गये त्यागि मधुपुरी न अब व्रजवास सुहावे।
तू हू करि मधुपान त्यागि सुमननि कूँ जावे॥
स्वामी सेवक एकसे, चोर चोर भाई सगे।
निज घर जा, हम अति व्यथित, हरि कटाक्ष सर हिय लगे॥

भ्रमर का तिरस्कार

[१०६४]

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

धरि चरननिपै शीश विनय अति भ्रमर दिखावे ।
बार बार हरि चरित मधुर अति गाइ सुनावे ॥
क्रूर कृष्णकी कथा कामिनी नाहिँ सुनैंगी ।
नकटी को तिहि अधिक निकट हरि जाहि बनैंगी ॥
खाइ छेद पत्तल करे, वामन बनि बलि नृप ठग्यो ।
करें कहा परवश भईं, कठिन कुटिल महँ मन लग्यो ॥

---

* श्रीजी भ्रमरसे कह रही हैं—"भौंरे ! तू अपने शिरको मेरे पैरों परसे हटा ले । मैं जानती हूँ तू अनुनय विनय करनेमें बड़ा निपुण है, चिकनी चुपड़ी बातोंसे अपने दूतकर्ममें दक्ष है, यह सब तैंने उन कृष्ण से ही सीखा है । तू सोच जिन्होंने उसीके निमित्त अपने पति, सुत तथा समस्त परलोकादि धर्मोंको त्याग दिया है ऐसी हम अबलाओंको जिस अकृतज्ञने त्याग दिया है, उसका फिर भी विश्वास किया जा सकता है क्या ?"

प्रेमका फन्दा अत्यन्त ही सुदृढ़ होता है। मन जिसमें फँस जाता है, फिर उसका निकलना अत्यन्त कठिन होता है। जैसे मछलीका काँटा शरीरमें घुस तो तुरन्त जाता है, किन्तु उसे जितनाही निकालना चाहो, उतना ही वह और भीतर घुसता जाता है। जिसमें मन उलझ गया है, उससे जितना ही मन हटाना चाहते हैं उतना ही और अधिक उसमें चिपट जाता है, जितना ही भुलानेका प्रयत्न करते हैं, उतनाही वह अधिक याद आता है. जितनेही उसके अवगुण देखते हैं, उतनेही वे अवगुण परम मधुर और आकर्षक प्रतीत होते हैं। जितना ही उसे कुरूप सोचते हैं उतनाही वह सुन्दर प्रतीत होता है। उसकी चर्चासे जितने ही विरक्त होना चाहते हैं उतनाही उनमें अधिकाधिक अनुरक्ति बढ़ती जाती है। इसीलिये कहा है प्रेमकी सभी बातें उलटी ही होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भ्रमरने जब देखा व्रजाङ्गनाओं का प्रणय कोप पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है, तो वह उन सबकी स्वामिनी श्रीजीके पैरोंमें पड़ गया। अर्थात् उसने पंख फटफटाना तथा गुनगुनाना बन्द कर दिया और अपने सिरको झुकाकर श्रीजीके चरणोंका आश्रय लिया। भ्रमरको चरणोंपर सिर रख कर अनुनय विनय करते देखकर श्रीजी कहने लगीं—"अरे, मधुकर! तू अपनी कपटमायाका ताना बाना यहाँ मत पूर। हम तेरी सभी चालोंको जानती हैं। जो मुँहके मीठे होते हैं, वे हृदयके खोटे होते हैं। जो जितनीही नम्रता दिखाते हैं, उनके हृदय में उतनी ही पैनी विषभरी छुरी छिपी रहती है। तैंने जो अपना सिर हमारे पैरोंपर रख दिया है, इसे तुरन्त हटा ले। तेरी ठग विद्या यहाँ न चलेगी। हम तेरे गुरुकी ये सब करतूतें देख चुके हैं। जिस कारे का तू चेला है। जिस अध्यापकसे तैंने यह चिकनी चुपड़ी बातें करना सीखा है, उससे हमारा भी परिचय

है। हम एक बार उसके फंदेमें फँसकर उसकी परीक्षा ले चुकीं। वह निर्मोही अकृतज्ञ निकला। पहिले जो वह मीठी मीठी बातें बनाता था, उन्हीं पर विश्वास करके हम उसके चक्करमें आ गईं। जिससे न घर की रहीं न घाटकी उसने हमें विश्वास दिलाकर हमारे साथ विश्वासघात किया। तू स्वयं सोच हमने तेरे गुरुगोविन्दके लिये क्या नहीं किया। संसारमें पति सुत सगे सम्बन्धियों का मोह छोड़ना अत्यन्त कठिन है। उसके लिये हमने सब कुछ छोड़ा, लोक परलोककी चिन्ताका परित्याग किया। संसारी सुखोंको तिलाञ्जलि दी. किन्तु इसके बदलेमें उसने हमारे साथ क्या किया, हमें बटाऊकी भाँति छोड़कर चला गया। नेहके नातेको अंत तक नहीं निभाया, हमे विरह व्यथामें तड़पाया। ऐसे निष्ठुर निर्मम विश्वासघातीका कभी विश्वास किया जा सकता है ?"

भौंराने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् महारानीजी वे तो सदा साधुरक्षण करते रहते हैं। वे तो दयाके समुद्र हैं, दुखियोंका दुख दूर करनेको ही उन्होंने दशावतार धारण किये। फिर आप उन्हें निर्दय निष्ठुर कैसे बता रही हैं।)"

इसपर श्रीजीने कहा—"ऐसे भयंकर अवतारोंको दूरसे ही डंडौत है। समुद्रमें कछुआ बने। कछुआ कौनसा अच्छा जन्तु है, सब देखते ही डर जाते हैं। काट लेता है। मत्स्य बनकर समुद्रमें तैरते रहे स्त्रियोंके लिये क्या किया। सूअर बने, जिन्हें देखकर ही पृथिवी डर गई। सूअर भी कोई छूने योग्य जन्तु है। आधे मनुष्य और आधे सिंह बने, जिनकी बड़ी बड़ी ठाढ़ों को देखकर देवता भी डर गये। लक्ष्मीजीकी ओर जहाँ दहाड़ मारी कि वे तो मारे डरके थरथर काँपने लगीं। परशुराम बने जिन्होंने स्त्रियोंके गर्भ गिरा दिये भ्रूण हत्यायें कीं। स्त्रियोंके साथ उन्होंने किस अवतारमें दिया दिखाई।"

भौंराने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् रामावतारमें तो भगवान्‌ने कैसा सुन्दर रूप धारण किया था, जनकनन्दिनीके प्रति कैसा प्रेम प्रदर्शित किया था ?")

डाँटकर श्रीजी बोलीं—"अरे, भौंरे! जो जानता न हो उसके सम्मुख ऐसी झूठी बातें कहना। हमतो तेरे स्वामीके दश ही नहीं चौबीस जन्मोंकी बातें जानती हैं। सीताजी को ब्याहकर लाये। उसे घरमें ही छोड़कर चौदह वर्षके लिये वन जा रहे थे। वह पतिव्रता हठ करके उनके साथ लग ली। वनमें उसकी वे रक्षा भी न कर सके। राक्षसराज रावण उन्हें चुरा ले गया। उसके मरने पर जब सती सीता सम्मुख आई, तो सबके सामने कहते हैं तू दूसरेके घरमें रही है, तुझे मैं स्वीकारूँगा नहीं कोई उन कुटिलसे पूछता, कि रावणके घरमें रही है तो किसके दोषसे। भर्ता तो वही कहाता है जो भार्याका भरण पोषण करे। जब तुम अपनी स्त्रीको राक्षस के फंदेसे नहीं बचा सके, तो तुम भर्तापद से च्युत हो गये। अब जब वह आती है तो तुम उसके मत्थे दोष क्यों मढ़ते हो ? दोष तो तुम्हारा ही है। अस्तु जैसे तैसे अग्निमें तपा तपूकर उसे लाये फिर गर्भवती होनेपर उसे जंगलमें छुड़वा दिया। ऐसी क्रूरता अपनी अनुरक्ता पत्नीके साथ कोई कर सकता है। बेचारी सूर्पणखाने उनका क्या बिगाड़ा था। कामिनीको जब काम पीड़ा देता है, तो उसे पुरुषकी ही शरण लेनी पड़ती है। किन्तु शरणमें आई उस अबलाको स्त्रीजित होनेके कारण तिरस्कृत किया। केवल तिरस्कार ही किया हो, सो बात नहीं, नाक कान काटकर उसे नकटी बूची बना दिया। यह तुम्हारे पुरुषोत्तम की करतूत है। इससे बढ़कर क्रूरता, कठोरता क्या हो सकती है ? बलिने उन वामन बने कपटी का क्या बिगाड़ा था। उसका सर्वस्व हरण भी किया और उलटे बाँध भी लिया। यह तो कारे कौएका

सा व्यवहार किया. कि यज्ञमें आकर हविको जूठा भी करदे और वहीं विष्ठा भी कर दे। अतः हमने तो अब कान पकड़ा है, कारेकी कभी चर्चा भी न करेंगी। कारेसे कभी मैत्री भी न करेंगी ?"

भौंरेने कहा—"गुन गुन गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी ! बुरा मत मानना। तुम केवल मुँहसे कह ही रही हो मैं तो जबसे आया हूँ, यहाँ तभीसे उसी कारेकी चर्चा सुन रहा हूँ। आप एक क्षणको भी उसकी बात कहे बिना नहीं रहतीं।")

यह सुनकर विवशताके स्वरमें श्रीजी बोलीं—"भ्रमरवर ! तुम्हारा कहना सत्य है। हम चाहतीं नहीं कृष्णकी कथा कहें, किन्तु बिना कहे हमपर रहा नहीं जाता। न जाने उसकी चर्चामें क्या अमृत भरा हुआ है, कैसा उसमें वशीकरण मन्त्र है, कि वाणी उसके बिना कुछ बोलना ही नहीं चाहती। कर्ण उसकी कथा सुनकर इस प्रकार मुँह फाड़े हो रह जाते हैं, मानों उनके मुखमें कोई अमृत उड़ेल रहा हो। उनकी ललित लीलाओंमें ऐसा आकर्षण है, कि जिसने भी एक बार उन्हें ध्यानपूर्वक सुन लिया उसे फिर घरद्वार, कुटुम्ब परिवार कुछ ही नहीं भाता। राग द्वेष, लोभ मोह, सुखदुख, शीत उष्ण तथा मानापमान आदि राग द्वन्द्वोंसे छूटकर वह कपोती वृत्ति धारण कर लेता है। निष्किञ्चन और अनिकेत होकर पक्षियोंके समान भिक्षावृत्तिपर आश्रित हो जाता है। इसी प्रकार हम भी फंस गईं। अब हम उसकी चर्चा छोड़ना चाहती हैं। किन्तु चर्चा हमें नहीं छोड़ती। बड़ी विपत्ति है। हम ऐसा नहीं जानती थीं यह ऐसा बुरा रोग है। यदि हम जानतीं, तो इस प्रेमके सुग्गेको पालतीं ही नहीं। भीतरका फोड़ेके समान यह रोग कभी अच्छा नहीं होता। भीतर फिर फूट जाता है, फिर भर जाता है।"

भ्रमर ने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् महारानी जी ! आप सब जानबूझ क्यों प्रेमक फंदेमें फँस गयीं।")

श्रीजी बोलीं—"अरे, भ्रमर ! भूल मनुष्य से ही होती है। जिस समय व्याध हाथमें बीन लेकर सुन्दर स्वरमें लयके साथ उसे बजाता है, तो कृष्ण मृगकी भोली भाली हिरनियाँ उस रागको सुनकर आत्मविस्मृत हो जाती हैं। कानोंको खड़ा करके ये नेत्र बन्द करके उस सुरीली तानको सुनती रहती हैं। उसी बीचमें वधिक उनपर बाणवर्षा कर देता है। उन्हें घायल बना देता है। विश्वास उत्पन्न करके वधिक विश्वासघात करता है। यही दशा हमारी हुई। हम तुम्हारे कृष्णको पहिले से जानती तो थीं नहीं। उसकी चिकनी चुपड़ी मीठी-मीठी रसीली रँगीली हृदय और मनको सुख देनेवाली लच्छेदार बातोंमें आ गईं। हमने उनकी कपट भरी बातोंको सत्यके समान मान लिया। हमें भी उन्होंने जैसे वधिक हरिनियोंको वधता है और उनकी पीड़ाका अनुभव नहीं करता उसी प्रकार वे हमें बारम्बार अपने नखस्पर्श से होनेवाली कामव्यथाका अनुभव करा चुके हैं। उस समय तो वह पीड़ा प्यारी प्यारी थी, किन्तु अब तो वह शूलकी भाँति हमारे हृदयमें चुभ रही है। इसलिये अब तुम कृष्णकी चर्चा छोड़ो उन कुटिलकी कथा न कहकर और कथा कहो। नहीं तो तुम यहाँसे भाग जाओ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! यह सुनकर भौंरा गुन गुन करता हुआ उड़कर अन्यत्र चला गया। उसके जाते ही प्रियाजीका हृदय धक्-धक् करने लगा। प्रेमीको किसी भी दशामें सन्तोष नहीं। क्षण क्षणमें उसका भाव बदलता है। फिर फिरकर उसे अपना प्यारा ही याद आता है। श्रीजी सोचने लगीं हाय ! मैंने बड़ा बुरा किया। कितने प्यारसे तो श्यामसुन्दरने दूत भेजा था, मैंने उसका अपमान किया। तिरस्कार किया। बड़ी भूल

हुई अब ऐसा न करूँगी।" यह सोचकर वे पुनः भौंरे की प्रतीक्षा करने लगीं।

छप्पय

चाहैं भूल्यो तऊ यादि आवे श्रीहरि नित।
करै नित्य मन मत्त मनन माधवकी मूरत॥
सोचें अवगुन सतत किन्तु चित तिनि गुन जानें।
कान्ह कथा बहिं सुनें कान परि सीख न मानें॥
फँसी बधिकके जालमहँ, घरकी रहीं न घाटकी।
परि न दुबारा चढ़ि सके, चूल्हे हण्डी काठकी॥

भ्रमरका सत्कार

(१०६५)

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किम् ,
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वम् ,
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० २० श्लो०)

छप्पय

अच्छा, मधुकर ! फेरि पठायो प्रियतम तुमकूँ ।
प्यारेको सन्देश सुनाओ अब तुम हमकूँ ॥
कैसे हरितैं मिलैं भ्रमर वर युक्ति बताओ ।
उन पर पद्मा बसति सौतितैं पिंड छुड़ाओ ॥
कुशल कहो कंसारिको, करत कबहुँ ब्रजकी सुरति ।
कब दासिनिपै दया करि, दरशन देंगे प्रनतपति ॥

---

* श्रीजी भ्रमरसे पुनः कह रही हैं—हे प्यारेके सखा ! क्या तुम पुनः लौट आये । सच बताओ तुम्हें हमारे प्रियतमने ही पठाया है क्या ? अच्छा हे अङ्ग ! माँगो तुम क्या माँगते हो ? तुम्हारी इच्छा पूरी करेंगी तुम हमारे माननीय हो । हे सौम्य ! जिन श्रीकृष्णचन्द्रका सग छोड़ना अत्यन्त ही कठिन है, उनके समीप तुम हमें कैसे ले चलोगे ! क्योंकि उनके वक्षःस्थलपर तो सदा नववधू लक्ष्मी विराजमान है ।"

प्रेमियोंकी और पागलोंकी एकसी ही दशा होती है। कभी वे अप्रसन्न हो जायँगे, फिर तनिकसी ही देरमें अनुनय विनय करने लगेंगे। कभी निराश हो जायँगे, फिर प्रियमिलनकी आशासे आनन्दित हो उठेंगे। कभी किसीको दुतकार देंगे, फिर प्यार करने लगेंगे। उनमें दृढ़ता नहीं रहती उनका ध्यान अपने वचनोंपर अपने विचारोंपर तथा अपनी क्रियाओंपर नहीं रहता। उनकी तो समस्त चेष्टायें प्रियतमके ऊपर केन्द्रित हो जाती हैं। किसी तरह प्यारे प्रसन्न हो जायँ, कैसे भी उनका दर्शन हो जाय, यही उनका एकमात्र लक्ष्य है। उन्हें कोई छोटा कहे, मोटा कहे, खरा कहें, खोटा कहे इस ओर वे ध्यान देते ही नहीं। उनका ध्यान तो निरन्तर प्यारेकी मनमोहिनी मूरतमें ही लगा रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भौंरा जब उड़ गया, तो श्रीजी-को विचारधारा परिवर्तित हो गई । वे सोचने लगीं—"मैंने बड़ा पाप किया। मैं अपने धर्मसे च्युत हो गई। अपने यहाँ अतिथि आवे तो उसका पाद्य अर्घ्य आदिसे स्वागत करना चाहिये, उसकी सब भाँतिसे सेवा करनी चाहिये, मैंने यह सब तो किया नहीं, उलटे उसे डाँटा डपटा। अतिथि भी वह ऐसा वैसा सामान्य नहीं था, प्यारेका प्रतिनिधि था, उनका पत्रवाहक दूत था। कोई सुखद सन्देश लाया होगा। क्रोधमें भरकर मैंने उसका स्वागत नहीं किया सन्देश नहीं सुना कान्तकी कुशल क्षेम नहीं पूछी। अपनी ही गाती रही। हाय! मेरी बुद्धिपर पत्थर पड़ गये वह निराश होकर लौट गया। अबके वह आवेगा, तो मैं उसका स्वागत करूँगी, कुशल पूछूँगी दो मीठी मीठी बातें करूँगी, अपना दुख सुनाऊँगी। प्यारेके उपहारको हृदयसे लगाऊँगी, कुछ उनके पास पठाऊँगी, किन्तु अब जाने वह फिर लौटकर आवेगा या नहीं।" प्यारीजी यह सोच ही थीं कि फिर उन्हें कानोंमें

गुन गुन गुनका सुमधुर संगीतमय सुखद शब्द सुनाई दिया उसे सुनते ही वे चौंक पड़ीं। आँखोंको उठाकर जो उन्होंने देखा, कि उन्हें वही भौंरा गुन गुन करते हुए मथुराकी ओरसे आता हुआ दिखाई दिया।

देखते ही श्रीजी उठकर खड़ी हो गईं। उनके उठते ही, समस्त व्रजाङ्गनायें उठ गईं, उद्धवजी भी सबके साथ उठकर खड़े हो गये।

श्रीजीने भ्रमरको सम्बोधित करते हुए कहा—"हे प्रियतमके सखे! तुम्हारा स्वागत है स्वागत है, आओ आओ। इस आसन पर बैठ जाओ। तुमसे हम एक बात पूछें?"

भ्रमरने कहा—"गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी मेरा अहो भाग्य पूछिये।")

प्यारीजीने कहा—"हम यह जानना चाहती हैं, तुम सत्य सत्य बता दो, कि तुम्हें श्यामसुन्दरने ही भेजा है। या तुम हमें धैर्य बँधाने चले आये हो?"

भौंरेने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी! मैं सत्य सत्य कहता हूँ, श्यामसुन्दरने ही मुझे भेजा है। मैं आपका दास अनुचर तथा किंकर हूँ।")

प्यारीजीने कहा—"यदि तुम्हें मदनमोहनने ही भेजा है, तो तुम हमारे परम माननीय हो, अत्यंत आदरणीय हो वन्दनीय तथा प्रशंसनीय हो। अब बताओ, तुम्हारी इच्छा क्या है? हमसे तुम क्या चाहते हो?"

भौंरेने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी! मैं आप सबको श्यामसुन्दरसे मिलना चाहता हूँ। मेरी बड़ी इच्छा है, एक बार आप सबका मिलन देखूँ?"

प्यारीजीने कहा—"भ्रमर! यह तो तुमने हमारे मनकी ही बात कह दी। तुम हमें धैर्य बँधानेको तो नहीं कह रहे हो।

अच्छा, बताओ तुम हमें हमारे प्राणनाथके समीप कैसे ले चलोगे ?"

भ्रमरने कहा—"गुन गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी ! अभी तो आप कह रही थीं "अब खाई सो खाई अब खाऊँ तो राम दुहाई।" फिर अभी उनके समीप चलनेको तैयार हो गई हो ?")

प्यारीजीने कहा—"अरे, मधुकर ! वह बात तो हमने आवेश में आकर कह दी थी, वास्तविक बात तो यह है, कि उनका संग छोड़ना अत्यंत ही दुस्त्यज है। हम छोड़ना भी चाहें, तो उनके संगकी लालसाको छोड़ नहीं सकतीं। कोई हमें उनके समीप ले चले तो हम जन्मजन्मों तक उसकी ऋणी बनी रहेंगी।"

भौंरेने कहा—"गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी मेरे साथ चलें ?)"

आहभरकर श्रीजी बोलीं—"चलें कैसे भैया ! उन श्यामसुन्दरके वक्षःस्थलमें तो निरन्तर नववधू लक्ष्मीजी क्रीड़ा करती रहती हैं। सौतको देखकर तो सौतका रक्त उबलने लगता है। इसलिये हमारा मथुरा चलना तो असंभव है। हम तो उनसे वृन्दावन की निभृत निकुञ्जोंमें ही मिल सकती थीं, सो वे वृन्दावनसे चले ही गये, अब मिलना कैसे हो। पैरोंमें लोकलाजकी जंजीर पड़ी है। अच्छा, हाँ, आने जानेकी बातें तो पीछे होंगी। तुम आर्य पुत्र की कुशल क्षेम तो सुनाओ। वे अच्छी प्रकार तो हैं ? गुरुकुलसे सब विद्याओंको पढ़कर लौट तो आये हैं। वैसे तो वे पहिले से ही पढ़े लिखे थे। सभी विद्याओंमें निपुण थे, अब तो चौंसठकला प्रवीण हो आये होंगे।"

भौंरेने कहा—"गुन गुन गुन गुन (अर्थात् हाँ, प्यारीजी ! श्यामसुन्दर अवन्तीपुरीसे सब शास्त्रोंमें पारङ्गत होकर मथुरा पुरी लौट आये। वे आजकल मथुरापुरीमें ही विराजमान हैं, उन्हीं का सन्देश देने तो मैं आया हूँ।")

इसपर गोपियोंने कहा—"अच्छा, भ्रमर! यह बात सच-सच बताओ, वे कभी अपने माता पिताकी याद करते हैं, गोष्ठकी, वनकी, गौएँ चरानेकी अथवा वृन्दावनकी कभी याद करते हैं? अपने सखा ग्वाल बालोंका कभी प्रसङ्ग चलाते हैं?"

भ्रमरने कहा—"गुन गुन गुन गुन (अर्थात् क्या बताऊँ। व्रजबालाओं भगवान तो यहाँकी निरन्तर याद करते रहते हैं। व्रजकी चर्चा करते करते वे तृप्त ही नहीं होते। माता पिताके वात्सल्य प्रेमकी वे भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।")

श्रीजीने कहा—"हाँ, माता पिताकी तो याद करते ही होंगे, कभी हम दासियोंके सम्बन्धमें भी तुमने कुछ कहते हुये उन्हें सुना है क्या? सचसच बताना, मुँह शोभी बात मत कह देना। हमारा उन्हें स्मरण है?"

भ्रमर बोला—"गुन गुन गुन (अर्थात् प्यारीजी! आप सबकी ही तो वे चरचा करते हैं। आपके निःस्वार्थ निश्छल प्रेमको याद कर करके ही तो वे अधीर हो जाते हैं। आपके लिये ही तो उनके प्राण तड़फते रहते हैं।")

इतना सुनते ही गोपियोंके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। श्रीकृष्ण की पहिले प्रेमकी बातें स्मरण कर करके वे ढाह मारकर रोने लगीं। रोते रोते वे बोलीं—"भ्रमर। तुम्हारा मुख घी शक्कर से भरे। तुम्हारी बड़ी आयु हो। वह कौन सा शुभ दिन होगा, जब श्यामसुन्दर अपने अति अरुण वरद करकमलको, जिसमें से निरन्तर अगुरुकी सुगन्ध निकलती रहती है उसे हम विरह-व्याथासे व्यथित अबलाओं के सिरपर कब रखेंगे? कब वे हमारा गाढ़ालिङ्गन करेंगे? कब हमारे स्वेदकणोंको अपने पीताम्बरसे पोछेंगे? कब हमारे बालोंको सुलझायेंगे कब हमें अपने कण्ठसे लगायेंगे? हम सब केवल उसी दिनकी प्रतीक्षामें जीवित है, नहीं तो अब तक कबके हमारे प्राण पखेरू उड़

जाते। अबतक हम इस तनुको त्यागकर सदाके लिये संसारसे चली जातीं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भ्रमरको उपलक्ष्य बनाकर गोपियोंने जो उद्धवके सम्मुख श्रीकृष्णके लिये अपनी बिकलता दिखाई इसका उद्धवजीके हृदयपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वे सोचने लगे—"मैं जिन्हें अनपढ़ी मूर्खा अबला समझता था, ये तो प्रेमकी साकार सजीव मूर्तियाँ हैं। अनुरागकी प्रतिकृति हैं। इनके सम्मुख मेरा ब्रह्मज्ञान दो कौड़ीका भी नहीं। इनसे अब श्यामका क्या सन्देश कहूँगा। फिर भी जिस काम के लिये यदुनन्दनने मुझे भेजा है उसे तो करना ही चाहिये" यह सोचकर वे श्यामका सन्देश सुनानेको उद्यत हुए।

छप्पय

भूलि गये घनश्याम हमें प्यारे बनवारी।
करत हमारी यादि कबहुँ का कुंजबिहारी॥
उद्धव लखि अस नेह कहैं—तुम अति बड़भागी।
श्यामचरनमहँ सुरति सबनिकी निशि दिन लागी॥
जप, तप, मख, व्रत धर्मको, यह ही अन्तिम फल कह्यो।
सार भक्ति भगवन्तकी, सो फल तुम सहजहिं लह्यो॥

उद्धवजीद्वारा गोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा

(१०६६)

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।
सान्त्वयन् प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० २२ श्लो०

छप्पय

करयो कठिनतम काज त्यागि सब हरि अपनाये ।
कृष्ण प्रेम हित देह, द्रव्य पति स्वजन भुलाये ॥
संसारी सुख तजे प्रीति प्रभुचरन लगायी ।
प्रीति रीति करि प्रकट दीनपै दया दिखायी ॥
विनय करहुँ कर जोरिकैं, हौं प्रभुपद अनुरक्त हूँ ।
अनुचर सेवक सचिव प्रिय, किंकर अति लघु भक्त हूँ ॥

हमें उपदेश देने की वासना तभी तक रहती है, जबतक हम दूसरों को अज्ञानी समझते हैं, उन्हें भूला भटका पथभ्रष्ट मानते हैं। हमारा यह भाव दूर हो जाय और हम किसी भी प्रकार किसी अनन्य प्रेमीके दर्शन पा जायँ, तो हमारा समस्त अभिमान धूलि में मिल जायगा। हमारा सब मोह दूर हो जायगा। समस्त ज्ञान

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उद्धवजी उन श्रीकृष्णदर्शनाभिलाषिणी गोपियोंके ऐसे वचन सुनकर उन्हें प्रियतमके संदेशसे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहने लगे।"

मद उतर जायगा। ज्ञान प्राप्त कर लेना यह बड़ी बात नहीं, किन्तु प्रेमका प्राप्ति बड़े भाग्यसे होती है। प्रेमके दर्शनोंसे ही हृदय भर जाता है और हम उसके सम्मुख अपने ज्ञान ध्यानको तुच्छ समझने लगते हैं। प्रेमियोंके दर्शन न हो जायँ और उनका कुछ काल सत्संग प्राप्त हो सके, तो जीवमें नम्रता विनय अवश्य ही आ जायगी। प्रेमियोंका सत्संग पाकर भी जिनकी हेकड़ी बनी रही, तो समझना चाहिये या तो ये प्रेम ग्रहण करनेमें उपयुक्त पात्र नहीं या इन्हें जिन प्रेमियोंका सत्संग प्राप्त हुआ है, वे यथार्थ प्रेमी नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजी बड़े अभिमानसे मथुरापुरीसे व्रजमें आये थे। उन्हें अपने ज्ञानी होने का अभिमान था। वे सोचते थे—"गोपिकायें गाँवकी गँवारी ही तो हैं। उन्हें समझाना कौन सा कठिन बात है। दुःख होता है मोह से। मोह अज्ञानका चिह्न है मैं उन्हें अपने ज्ञानद्वारा उनके दुःखको दूर कर दूँगा, किन्तु यहाँ आकर बात उलटी हुई। गोपिकाओंकी विरह दशा देखकर उनका ही भ्रम दूर हो गया। वे अपनेको ही अज्ञानी अनुभव करने लगे। भ्रमरको उपलक्ष्य बनाकर जो उन्होंने प्रेमका चित्र चित्रण किया। उससे उनके नेत्र खुल गये ज्ञान का अभिमान प्रेमके प्रबल प्रवाहमें बह गया। विनयने आकर उन्हें वरण किया। जिस हृदयमें विनय आ जाती है उसमें प्रेम उत्पन्न होता। जैसे धुएँको देखकर अग्निका अनुमान होता है वैसे ही नम्रता तथा दीनता को देखकर प्रेम भक्ति का अनुमान किया जाता है।

उद्धवजीका हृदय भरा हुआ था, वे दीनताके स्वरमें बोले—"गोपियो! तुम ही धन्य हो। संसारमें तुम्हारा ही जन्म सफल है, तुमने ही मनुष्य जन्म पानेका फल पाया है। तुमने ही संसार को प्रेमका सन्देश सुनाया है। संसारमें तुम ही सबकी पूजनीया

और माननीया हो गई। मैं तो भ्रममें था, कि तुम्हें मोह है, किन्तु तुम्हारी तो भगवान् वासुदेवमें अनन्य भक्ति है। तुम्हारा चित्त श्यामसुन्दरके चरणोंमें ही लगा हुआ है। तुम धन्य हो।"

गोपिकाओंने कहा—"उद्धवजी हमें आप ऐसी बातें कह कह कर क्यों लज्जित कर रहे हैं। हम गाँवकी गँवार अबलायें भला क्या सुकृत कर सकती हैं। न तो हमने दान धर्म ही किया जिससे अन्तःकरण पवित्र होता। न कुछ चान्द्रायण आदि व्रत किये जिनसे पाप कटते। हमने कोई तपस्या भी नहीं की। दिनभर घर गृहस्थीके कामोंमें जुटे रहे, पेट भरके खा लिया। नींद भरके सो लिया। यही सब किया है। कोई यज्ञयाग जप अनुष्ठान भी नहीं किया। पढ़ीलिखी हम कुछ हैं नहीं। शास्त्रोंका स्वध्याय भी नहीं किया! हम अपनी इन्द्रियोंका दमन भी नहीं कर सकीं। मन हमारे अधीन नहीं हुआ। हमारी आप इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं।"

उद्धवजीने कहा—"देवियो! आपने जो करना था, सब कुछ कर लिया। बड़े बड़े दानों का, कठिन कठिन व्रतोंका, घोरसे घोर तपोंका, महानसे महान यज्ञोंका, स्वध्याय तथा इन्द्रियदमन आदि समस्त कल्याणकारक अन्यान्य, साधनोंका एक मात्र फल श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंमें भक्ति होना ही है। यदि इन सब कर्मोंके करने पर भी भगवानमें भक्ति नहीं हुई, तो ये सब कर्म व्यर्थ हैं, और इन सबके बिना किये ही भगवानमें भक्ति हो गई तो फिर इन सबकी आवश्यकता ही क्या रही। समस्त शुभ कर्मोंका एकमात्र फल श्रीकृष्णचरण अनुरक्त ही है। तुम्हारा भगवान वासुदेवके चरणोंमें अनन्य अनुराग है, इससे बढ़कर और चाहिए ही क्या? इसीलिये तुम संसारमें परमपूजनीया हो।"

गोपिकाओंने कहा—"उद्धवजी! हम भक्ति फक्ति क्या

जाने। केवल हमारे चित्तकी वृत्ति न जाने क्यों बलात् श्रीकृष्ण की ओर खिंचती है। श्रीकृष्णके अतिरिक्त संसार हमें कुछ अच्छा ही नहीं लगता। हमें यह कुछ रोग सा हो गया है।"

उद्धवजीने कहा—"देवियो! इसी रोगके लिये तो योगी जन बड़े-बड़े साधन करते हैं। एक संसार चित्तसे निकल जाय और चित्तमें भगवान् ही भगवान् रह जाय, समस्त साधन इसीलिये किये जाते हैं। सौभाग्यसे तुम्हें यह स्थिति स्वतः ही प्राप्त हो गई। योगिजन वन्दित पुण्यश्लोक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी परम दुर्लभ सर्वोत्कृष्ट प्रेमलक्षणा भक्ति आपको सुलभ हो गई। उस भक्तिको प्राप्त करके तुम स्वयं ही सुखी नहीं हुई अपितु उसका प्रचार और प्रसार करके संसारको भी सुखी बना दिया। तुम्हारे समान त्याग दूसरा कौन कर सकता है।"

गोपिकाओंने कहा—"उद्धवजी! हमने तो कुछ भी त्याग नहीं किया। श्रीकृष्णकी मनमोहिनी मूरति हमारे मनमें हठ-पूर्वक बस गई है। हम उसे निकालना भी चाहें तो अब वह नहीं निकलती। उसके पीछे हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता।"

उद्धवजीने कहा—"देखो, जिनका चित्त देहके सुख दुखमें फँसा है। जो सोचते हैं हाय मैं इतना दुर्बल हो गया, रुग्ण हो गया, निरन्तर जिनका चित्त पति, पुत्र, स्वजन तथा परिवारके अन्य जनोंमें फँसा है, ऐसे लोगोंका मन कभी स्वप्न में भी भगवानकी ओर नहीं जा सकता। इन सबका मोह त्यागना सामान्य बात नहीं है। तुमने इन सबका मोह त्याग कर श्रीकृष्णको ही वरण किया है। इससे बढ़कर सौभाग्यकी बात और क्या हो सकती है। ममताका त्याग ही सबसे बड़ा त्याग है। बाहरसे भोगों को छोड़ देना वस्त्रोंको त्याग देना यह तो बाहरी त्याग है। तुमने तो मुझ अकिंचन दासपर बड़ी कृपा की। प्रेमकी शिक्षा देकर मेरी तो काया पलट करदी।"

गोपिकाओंने कहा—"उद्धवजी ! हम शिक्षा देना क्या जानें! हमने तो न व्याख्यान दिया, न आपको पाठ पढ़ाया, आप यह कैसी बात कह रहे हैं।"

उद्धवजीने कहा—"देवियो ! व्याख्यान देना ही शिक्षा नहीं है। उपदेश, व्याख्यान तथा प्रवचनोंका तबतक प्रभाव नहीं पड़ता जबतक कहनेवाला स्वतः वैसा आचरण न करता हो। कहनेका उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना करके दिखानेका पड़ता है। श्रीकृष्णका वियोग तुम्हारे लिये अभिशाप न होकर वरदान ही सिद्ध हुआ। उस वियोगके कारण तुम्हें ऐकान्तिक भक्तिकी प्राप्ति हुई है। आज उस अव्यभिचारिणी निष्काम परा भक्तिका प्रत्यक्ष दर्शन करके मैं तो कृतकृत्य हो गया। आज उस अनिर्वचनीय भावको प्रत्यक्ष दिखाकर तुमने मेरा महान् उपकार किया। मेरे ऊपर बड़ा भारी अनुग्रह किया। अब कहनेको तो कुछ बात शेष रही नहीं। फिर भी स्वामीने जिस कार्यके लिये मुझे भेजा है, उसे मैं आपसे निवेदन करूँ ?"

गोपिकाओंने कहा—"हाँ उद्धवजी ! हम तो यही सुनने को समुत्सुक हैं। हमारे हृदयधन प्राणनाथ श्यामसुन्दरने हमारे लिए क्या सन्देश भेजा है ? हमारे लिये उन्होंने क्या कहा है ?"

उद्धवजी बोले—"मैं श्यामसुन्दरका अन्तरङ्ग सेवक हूँ। उनका गुप्त से गुप्त कार्य मैं ही करता हूँ। उनका मुझसे कोई दुराव नहीं छिपाव नहीं। इसीलिये उन्होंने आपको सन्देश देनेका परम गुरुतर कार्य मुझे सौंपा है। मैं आप सबके लिये उनका प्रेम सन्देश लेकर यहाँ आया हूँ। आप अपने प्रियतमके उस परमानन्ददायक सुखद सन्देशको शान्ति तथा सन्तोषके साथ श्रवण करनेकी कृपा करें। उन्होंने एक पत्र भेजा है। आज्ञा हो तो मैं उसे पढ़कर व्याख्यासहित सुना दूँ ?"

गोपियोंने कहा—"हाँ, उद्धवजी ! हम कुछ पढ़ी लिखी तो

हैं नहीं। आपही हमें हमारे प्यारेके सन्देशको समझा समझा कर सुना दीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपियोंकी आज्ञा पाकर उद्धव जी श्यामसुन्दरके सन्देश को सुनानेके लिये प्रस्तुत हुए। अब उन्होंने जिस प्रकार श्यामका सन्देश सुनाया उस प्रसंगको आगे कहूँगा। आप सब दत्त चित्तसे उसे श्रवण करें।

छप्पय

जा अयोग्यके हाथ श्याम सन्देश पठायो।
ज्ञान मानमहँ भरयो दौरिकैं हौं ब्रज आयो॥
कृष्णभक्ति ही सार दशा तुमरीतैं जानी।
निरखि अलौकिक भक्ति भयो मेरो हिय पानी॥
पढ़ौ प्रेमपाती स्वयं, पठयो जो सन्देश हरि।
गोपी बोलीं—"आपुही, हमहिं सुनावैं कृपा करि॥

गोपियोंके लिये भगवान्‌का सन्देश

[१०६७]

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ॥
तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ४५ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

करिकें शिष्टाचार सखिनिके आये आगे ।
प्यारेको सन्देश पढ़न पुनि उद्धव लागे ॥
हौं सर्वात्मा रहौं सकल प्रानिनिके घटमहँ ।
सब वस्तुनिमहँ भूत सूत ज्यों व्याप्यो पटमहँ ॥
स्वप्न सरिस जगके विषय, मिटै मोह भ्रम ज्ञान तैं ।
रजत सीप अहि रज्जु महँ, दीखे तम अज्ञान तैं ॥

संसारमें प्राणी जो भी कुछ करते हैं, अपने सन्तोषके निमित्त, सुख शान्तिके निमित्त, फिर भी लोग अशान्त बने रहते

---

* श्रीभगवान् गोपियोंको सन्देश देते हुए कह रहे हैं—"गोपियो! मेरा और तुम्हारा कभी भी वियोग नहीं हो सकता, क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ। जिस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, उसी प्रकार मैं भी मन, प्राण, भूत, इन्द्रिय और गुणोंके आश्रय रूपसे सर्वत्र व्याप्त हूँ।"

हैं, दुखी रहते हैं और दूसरोंको दोष देते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो दुख सुख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है। रेशमका कीड़ा अपने मुखसे ही सूत निकालता रहता है और स्वयंही बँध जाता है वह रेशमको दोष दे, कि इसने मुझे बाँध लिया, तो यह उसका अज्ञान है भ्रम है। हम स्वयं ही वासनाओंको उत्पन्न करते हैं वासनाओंकी पूर्तिके लिये भौतिक विषयोंके पीछे दौड़ते हैं जब वे क्षणभंगुर नाशवान विषय लुप्त हो जाते हैं अदृश्य हो जाते हैं, तो हम रोते हैं, हमारी इष्ट वस्तु हमें नहीं मिली, दूर चली गई खो गई। तुमने इष्टता अनिष्टताकी कल्पना अपने मनसे ही की है। यह शत्रु है यह मित्र है इसका कल्पित विभाग अपने आपही तुमने कर लिया है। जो एक है अद्वय है, उसमें मिलन विछुरन, शत्रुता मित्रता कहाँ? वह तो अनादि, अनन्त, प्रशान्त, परिपूर्ण, आवागमनसे रहित तथा शाश्वत है। जिनको ऐसा ज्ञान हो गया है, उनका शोक, मोह, भ्रम तथा अज्ञान सभी दूर हो गया है। ऐसा ज्ञान उन्हींको होता है जिनपर ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्दघन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपा हो जिनके लिये उन्होंने अपने सखाके हाथों सन्देश पठाया हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपियोंकी आज्ञा पाकर उद्धव जी श्यामके सन्देशको सुनाने लगे। वे बोले—"भगवानने कहा है, गोपियो! तुम मुझसे अवश्य ही अप्रसन्न होगी, क्योंकि मैं तुमसे अति शीघ्र आनेको कह आया था और अबतक न आ सका। तुम मेरे वियोगके कारण अवश्य दुखी होगी। लौकिक दृष्टिसे देखा जाय, तो दुखकी बात भी है, किन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय, तो हमारा तुम्हारा वियोग कभी हो ही नहीं सकता। क्योंकि वियोग होता है दो में। किन्तु मुझमें द्वैत है ही नहीं मैं अद्वय ही सबका आत्मा हूँ।

तुम कह सकती हो—"हम तो सब पृथक पृथक दीखते हैं। आप पृथक हैं हम पृथक हैं। आप मथुरामें हैं हम नन्दगाँव में।" सो इसका उत्तर सुना अच्छा तुम्हें जो अंडज, स्वेदज और उद्भिज जीवोंसे युक्त नाना पदार्थोंवाला यह चराचर जगत अनेक रूपोंमें दिखाई देता है, उन सबमें है क्या ? ये ही पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच भूत हैं। भूतोंके अतिरिक्त इन पदार्थों में और कुछ नहीं है। इसी प्रकार प्राणियोंमें मन, प्राण, भूत, इन्द्रिय और गुणोंके आश्रम रूपसे मैं ही व्याप्त हूँ। मैं ही नाना रूप रखकर क्रीड़ा कर रहा हूँ।"

इसपर तुम कह सकती हो कि "सत्व, रज और तम ये तीनों गुण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच भूत, दस बाह्यकरण, चार अन्तःकरण ये वस्तुएँ पृथक हैं, इनको रचने वाला पृथक है और रचकर इनको व्यवस्थामें रखने वाला पृथक होगा। फिर आपही कर्ता, करण और कार्य एक कैसे हुए ?" सो, इसे तुम यों समझो, मैं ही अपनी योगमायाके प्रभावसे भूत, बाह्यकरण और अन्तःकरण तथा त्रिगुण रूप हो गया हूँ। ये सब मेरे ही रूप हैं। मैंने ही अपनेमें अपने ही द्वारा अपने आपको रचा है। रचकर इस प्रपंचका पालन भी मैं ही करता हूँ और अन्तमें अपनेमें ही इसे विलीन कर लेता हूँ। जैसे मकड़ी अपने भीतरसे ही जाला निकालती है, निकालकर उससे अपने आप ही तानाबाना बुनती है, बुनकर उसमें अपने आप ही इच्छानुसार क्रीड़ा करती है। जब इच्छा होती है, तब अपने आप ही जैसे मुखसे निकाला था वैसे ही उसे निगल जाती है, अपनेमें ही विलीन कर लेती है। अतः मेरे अतिरिक्त इस जगत्में दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

तुम कह सकती हो "कि जब मायाके आश्रयसे तुम इन मायिक पदार्थोंमें क्रीड़ा करते हो, तो मायामें तुम भी लिप्त हो

जाते होंगे।" सो बात नहीं, मैं जो आत्मरूप हूँ, माया और मायाके कार्योंसे सर्वथा पृथक हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप विशुद्ध और गुणातीत हूँ। मायाकी जो ये जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन वृत्तियाँ हैं उनके अभिमानीके रूपमें आत्मा ही विश्व, तैजस और प्राज्ञ रूपमें प्रतीत होता है। आत्मामें न ये वृत्तियाँ हैं न उसमें भेद है, वह तो इन सबसे परे हैं। ये सब मनकी कल्पना हैं, बन्धनका कारण मन ही है। अतः मनुष्यको चाहिये कि इन मिथ्या पदार्थोंको इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषयोंको उसी प्रकार मिथ्या समझे जैसे जागनेपर स्वप्नमें देखे पदार्थोंको मिथ्या समझता है। विषयोंका जब मन चिंतन करता है, तो तदाकार हो जाता है, फिर इन्द्रियाँ उन विषयोंका मनके द्वारा उपभोग करती हैं, उनमें प्रियता अप्रियताका मिथ्या आरोप करने लगती हैं। अतः इस मनको विषयोंके चिन्तनसे रोके साथ ही इन्द्रियोंको भी रोकना रहे। यह न सोचे इन्द्रियाँ गुणोंमें वर्तती रहें तो क्या हानि। इन्द्रियोंके सहित मनको रोके। फिर जैसे निद्रा त्याग देनेसे मनुष्य मिथ्या पदार्थोंकी आसक्तिसे रहित हो जाता है, वैसे ही वासना ही न होनेपर मनुष्य अज्ञान जन्य मोहको त्यागकर स्वस्थ हो जाता है, उसे मेरा साक्षात्कार होता है।

तुम कह सकती हो, "जब सब मनका ही खेल है, तो फिर ये लोग साधन, भजन, अनुष्ठान तथा सत्कर्म आदि क्यों करते हैं।" सो इसका यही उत्तर है, कि जितने भी साधन अनुष्ठान जितने भी सत्कर्म हैं, उन सबका लक्ष्य भगवत् प्राप्ति है। अन्तःकरणको शुद्ध करनेके ही निमित्त समस्त सत्कर्म हैं। जैसे नदी नाला तालाबका जल कहींसे भी चले, अंतमें वह किसी न किसी प्रकार समुद्रमें ही पहुँच जायगी। बड़ी नदियाँ सीधी जाकर समुद्रमें मिल जाती हैं। छोटी नदियाँ बड़ी नदियोंमें मिलकर

तब समुद्रमें मिलती हैं। तालाबोंका जल छोटी नदियों नालों तथा महानदियोंमें होकर समुद्रमें पहुँचता है। इसी प्रकार मनस्वी पुरुषोंके किये हुये वेदाध्ययन, अष्टाङ्गयोग, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तप, इन्द्रियदमन तथा सत्यादि समस्त साधन मेरी प्राप्तिमें ही समाप्त होते हैं। सब धर्मोंका पर्यवसान मुझमें ही होता है।"

तुम कह सकती हो, कि "जब आप सर्वगत हैं सर्वसमर्थ हैं, तो फिर आप हमें छोड़कर चले क्यों गये? हमसे दूर क्यों हट गये, हमारी आँखोंसे ओझल क्यों हो गये?" सो इसका भी उत्तर सुनो। छोटी वस्तुका त्याग बड़ी वस्तुके लिये ही किया जाता है, जब मैं तुम्हारी आँखोंके आगे रहता था, तब तुम्हारा मुझमें उतना अनुराग नहीं था। जो वस्तु सुलभतासे प्राप्त हो जाती है, उसका उतना महत्व नहीं होता। गंगा किनारे रहने वाले गंगाजलका महत्व नहीं जानते। जो गंगाजीसे बहुत दूर मरुप्रदेशमें रहते हैं, वे गंगाजलका महत्व जानते हैं। सदा समीप रहनेसे वस्तुओंमें सामान्य बुद्धि हो जाती है। दूर रहनेसे चित्तकी वृत्ति उसीमें लगी रहती है। जैसे पतिव्रताका पति परदेशमें रहता है, तो पतिव्रताको सोते जागते, उठते बैठते निरन्तर उसीकी चिन्ता बनी रहती है। मैं तुम्हारे नयनोंका तारा होकर भी जो तुमसे दूर हट गया हूँ, वह तुम्हारा प्रेम बढ़ानेके लिये, तुम्हारे मनमें अधिक भीतर घुसनेके लिये हटा हूँ। शरीरसे दूर रहनेपर भी तुम्हारा चित्त मुझमें ही लगा रहे, तुम्हारा मन मुझमें ही रमा रहे, निरन्तर तुम मेरा ही ध्यान करती रहो, इसीलिये मैं शरीरसे कुछ दूर हो गया हूँ। आँखोंके आगे रहनेपर उतनी तन्मयता हो ही नहीं सकती। जैसा मेरे विरहमें तुम्हारा मन निश्चल भावसे मुझमें ही लगा रहता है, वैसे सम्मुख कभी संभव भी नहीं था।

इसीलिये तुम न तो मुझे दोष देना, न किसी प्रकारकी चिंता

ी करना। देखो, तुम्हारा जो मन निरन्तर मुझ प्रेष्ठमें ही लग
या है, जिसकी समस्त संकल्प विकल्पादि रूप वृत्तियाँ शान्त हो
ई हैं उस अपने चित्तको पूर्णरूपसे मेरा ही ध्यान करती हुई,
मुझमें ही लगाकर तुम सब मेरा ही चिन्तन करती हुई अन्तमें
मुझमें ही मिल जाओगी, मुझे ही प्राप्त कर लोगी।"

तुम पूछ सकती हो 'इसमें प्रमाण क्या? कैसे हम विश्वास
करें, कि हम आपको ही प्राप्त हो जायँगी, सो इसका भी उत्तर
सुनो। यह तो तुमने प्रत्यक्ष ही देखा था, कि जिस समय शरदकी
उन रमणीया रात्रियोंमें वृन्दावनकी रासस्थलीमें तुम सबके साथ
तो मैंने सरस क्रीड़ायें की थीं रासविलास किया था, उस समय
बहुतसे गोपोंने अपनी रमणियोंको रोक रखा था, घरके भीतर
बन्द करके ताला लगा दिया था, उस समय वे मेरी लीलाओंको
स्मरण करनेसे ही मुझे प्राप्त हुई थीं। इसलिये मैंने जो भी कुछ
किया है तुम्हारे कल्याणके निमित्त किया है, तुम्हारी मुझमें
निरन्तर प्रीति बढ़े, तुम्हारे मनमें मैं समा जाऊँ, इसलिये बाहरसे
मनसे वियोगसा कर लिया है। मन तो हमारा तुम्हारा एकही
है, मिला ही हुआ है। जैसे सबके हृदयमें मैं अन्तर्यामी रूपसे हूँ,
वैसे ही तुम्हारे हृदयमें हूँ। अतः दूर न होकर अधिकसे अधिक
नेकट हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपियोंने बड़े धैर्यसे प्यारेका
सन्देश सुना, उन्हें इस बातसे बड़ी ही प्रसन्नता हुई, कि प्यारेने
हमारा स्मरण किया है और हमारे लिये सन्देश भिजवाया है।
सन्देश सुनकर उनके रोंगटे खड़े हो गये। प्यारेका स्मरण हो
आनेसे उनके हृदय और नेत्र भर आये, कुछ देर तक तो वे कंठ
रुँध जानेसे कुछ भी बोल नहीं सकीं, फिर धैर्य धारण करके
[illegible]। गोपिकाओंने जो कुछ कहा

छप्पय

सब साधनको श्रेष्ठ साध्य हौं ही जा जगमहँ।
मैं अरु तुम सब एक भेद नहि तुममें हम महँ॥
प्रेमवृद्धिके हेतु भयो हौं तुम तें न्यारो।
ज्यों परोक्ष महँ प्रेष्ठ लगे प्राननितें प्यारो॥
जितनो पाइ वियोग कूँ, सतत चित्त प्रियमहँ रहै।
उतनो नहि संयोग सुख, महँ मन तन्मयता लहै॥

प्रेष्ठसम्बन्धी प्रियप्रश्न

(१०६८)

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि—
र्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या—
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

प्रियको सुनि सन्देश भईं सब हर्षित नारी ।
प्रेम प्रकट अति करैं श्याम सुधि लईं हमारी ॥
पूछति पुनि पुनि कुशल कहो उद्धव हरि सुखतैं ।
उन बिनु ब्रजमहँ कटत हमारे सब दिन दुखतैं ॥
बृन्दावनमहँ शरदकी, निशा बिताई रासमहँ ।
यादि करत हरि पियनि संग, कबहुँ हास परिहासमहँ ॥

---

*गोपिकायें उद्धवजी से कह रही हैं—"उद्धवजी ! बताओ, क्या श्यामसुन्दर उन रात्रियोंको भी कभी याद करते हैं, जिन रात्रियोंमें रासमण्डल बनाकर जिन्होंने हम अपनी प्रियाओंके साथ, कुमुद और कुन्दकुसुमसे शोभित तथा चन्द्रिका चर्चित बृन्दावनमें, अपने चरण-नूपुरोंकी ध्वनि करते हुये हमारे साथ रमण किया था और हम उन्हींकी मनमोहिनी कथाओंका गान किया करती थीं उन्हें भूले तो न होंगे ?"

प्रेममें उपदेश नहीं दिया जाता, प्रेममें साधन नहीं, अनुष्ठान नहीं कर्तव्य नहीं नियम नहीं केवल एकमात्र आत्मसमर्पण है। अपनेको सर्वात्म भावसे प्यारेको सौंप देना है। निरन्तर चित्त प्यारेका स्मरण करता रहे, कान प्यारेके ही सम्बन्धमें सुनते रहें, यही प्रेमकी पराकाष्ठा है। जिस दशामें निरन्तर प्यारेकी ही स्मृति बनी रहे, पलभर भी वह न विसरे वही प्रेमकी परमोत्कृष्ट दशा है। विरहमें ऐसी ही दशा होती है। भगवान्‌के मथुरा पधारनेपर गोपियोंकी ऐसी ही दशा हो गई थी। प्रेमका इतना उत्कृष्ट उदाहरण संसारमें कहीं भी नहीं मिलेगा, इसीलिये गोपियोंको प्रेमकी ध्वजा बताया गया है, मानव शरीरमें इतना प्रेम कहीं भी प्रकट नहीं हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान्‌ने उद्धवजीके हाथ हमारे लिये क्या सन्देश भेजा इसपर किसीने विचार ही नहीं किया। गोपियोंको तो सबसे अधिक प्रसन्नता इस बात से थी, कि भगवान्‌ने हमें स्मरण किया हमारे लिये सन्देश भेजा। इसी बात-को स्मरण कर करके उनके रोमाञ्च हो रहे थे। उस सन्देशमें इन्होंने हमें क्या कर्तव्य बताया है, क्या उपदेश दिया है, किस साधनका निर्देश किया है, इस विषयमें उन्होंने कुछ सोचा ही नहीं, क्योंकि प्रेममें उपदेश आदेश तथा साधन आदि कुछ होते ही नहीं। प्रेम की बातोंका कोई अर्थ नहीं होता, वे निरर्थक होती हैं, वे तो प्रेम बढ़ानेके ही लिये की जाती है। गोपियोंसे पूछा जाय, कि शरदकी उन सुखद रात्रियोंमें जिनमें प्रकृति वृन्दवनकी भूमिमें आकर अनावृत नृत्य करती थी, जो चन्द्रिकासे चर्चित होनेसे तथा कुन्द-कलियोंकी गन्धसे परमसुखद बन गई थीं उनमें रात्रि रात्रि जागकर श्रीकृष्ण क्या क्या बातें करते थे, तो स्यात् वे एक भी बात न बता सकें, किन्तु उन बातोंको स्मरण कर करके हृदयमें निरन्तर हूक उठती रहती है, क्योंकि उन बातोंमें सरसताका सम्पुट था, वे प्रेममें

पगी अर्थहीन बातें थीं। इसी प्रकार भगवान्‌ने हमारे लिये क्या सन्देश पठाया, हमें सर्वात्मा निर्गुणनिराकारकी उपासना करनी चाहिये, ये भाव उनके मनमें आये ही नहीं। उनकी प्रसन्नताका प्रधान कारण यह था, कि प्यारेने हमें याद किया है, अपने हाथ हमारे लिये संदेश भेजा है, वे हमें सर्वथा भूल नहीं गये उनका हममें अभी अपनापन शेष है। सन्देश सुनाकर उद्धवजी चुप हो गये। अब श्रीकृष्णचर्चा बन्द हो गयी। उसके प्रवाहको अविच्छिन्न बनाये रखनेके निमित्त गोपियोंने कुछ कहना आरम्भ किया। प्यारे के सम्बन्धमें ही सोचते रहना, उनके ही सम्बन्धमें कुछ कहते सुनते रहना यही तो प्रेमियोंके समय काटनेका साधन है। अतः गोपिकाओंने उद्धवजीसे कहना आरम्भ किया। वे श्यामसुन्दरके ही सम्बन्धमें पूछती हुई बोलीं—"उद्धवजी! सन्देश तो आप सुना चुके, आप श्यामसुन्दरके सम्बन्धकी बात सुनाइये। हाँ, तो यहाँसे जाकर उन्होंने क्या काम किया?"

उद्धवजीने कहा—"देवियो! यहाँसे जाते ही भगवान्‌ने एक बड़ा भारी काम किया। हम यादवोंको दुख देनेवाला जो दुष्ट कंस था, सर्वप्रथम उन्होंने उसीको जाकर मारा। फिर उसका पक्ष लेकर उसके भाई अनुयायी आये उन सबको भी परलोक पठा दिया।"

गोपियोंने कहा—"उद्धवजी! यह तो भगवानने बड़ा सुन्दर काम किया। यहाँ भी बहुतसे असुर दुष्ट आते थे, तो भगवान उन सबको पछाड़ देते थे, मार देते थे, किन्तु हमारे हृद्रोगको समूल नष्ट न कर सके। उसे ज्योंका त्यों छोड़कर चले गये। अस्तु यह बताओ अब वे अच्छी तरहसे तो हैं। कुटुम्ब परिवार-के सहित धनधान्यसे परिपूर्ण तो हैं न?"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, अब तो कोई विरोधी रहा नहीं जो यादव दुखी होकर परदेशोंमें चले गये थे, वे भी सब लौट

आये। उन सबको भगवानने धन भवन आवश्यक सामग्री देकर सन्तुष्ट कर दिया है। उन सबके सहित श्यामसुन्दर सुखपूर्वक समय व्यतीत कर रहे हैं।"

गोपियोंने कहा—"उद्धवजी ! हमारे लिये सबसे अधिक सुखद समाचार यही है, कि श्यामसुन्दर सुखी हैं। किन्तु एक बात बताओ उन्होंने प्रेम करना छोड़ तो नहीं दिया है? वे सर्वथा निर्मोही तो नहीं बन गये हैं ? जिस प्रकार वे हमारी स्नेह-मयी लजीली मुस्कान और मनोहर चितवनसे पूजित होकर हमसे प्रेम करते थे; उसी प्रकार मथुराकी सुन्दरी नगरनिवासिनी नारियोंसे प्रेम करते हैं या नहीं ? प्यारे सर्वथा निष्ठुर तो नहीं हो गये ? वे रूखे स्वभावके तो थे नहीं। मथुरामें जाकर रूखे तो नहीं बन गये !"

उद्धवजीने स्नेहभरित हृदयसे कहा—"देवियो ! आप मेरे स्वामीपर इतना सन्देह क्यों कर रही हो। मैं सत्य सत्य शपथ पूर्वक कहता हूँ, उनका तुम्हारे प्रति जैसा स्नेह है, वैसा किसीके प्रति भी नहीं। ऐसा प्रतीत होता है, तुमने उन्हें अपने प्रेमपाश में इतना कसकर बाँध लिया है, कि वे उतना प्रेम किसीसे कर ही नहीं सकते। आप उन्हें कृतघ्न न समझें !"

शीघ्रताके साथ गोपियोंने कहा—"उद्धवजी ! कृतघ्नताकी बात नहीं है। चुम्बक लोहे को खींच ही लेता है। कली खिलते ही मधुप उसपर मँडरानेही लगता है। यह संभव नहीं कि अग्नि और रुई पास पास रहें और परस्परमें सम्बन्धित न हों। श्री कृष्ण रसिक हैं, आकर्षक हैं तथा रतिचतुर हैं। वे मथुराकी माननीया महिलायें सभ्या हैं सुशिक्षिता हैं, सरस हैं, वे सबके पति हैं प्रेष्ठ तथा प्रेमास्पद हैं, सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ उन्हें प्यार करती हैं, जो जिसे सहृदयसे प्रेम करता है, उसका भी चित्त उसकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है फिर उन नवीली नागरियोंके

वाग्विलास और केलिकलापोंसे सम्मानित होकर वे रसिक चूड़ामणि उनमें आसक्त क्यों न होंगे ? इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है ?"

उद्धवजीने कहा—"नहीं, देवियो ! यों तो भगवान् सभीके स्वामी हैं, सभीके प्रिय हैं, प्राणिमात्र उनसे प्रेम करते हैं। वे ही एक मात्र सबके प्रेष्ठ हैं। यह सब होनेपर भी तुम्हारे प्रति उनका भाव विलक्षण है, वे तुम्हारे गुणोंका याद करके एकान्तमें आँसू बहाते रहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्रेमी अपनी प्रशंसा सुनना नहीं चाहता। उसे तो प्रति क्षण यही चिन्ता लगी रहती है, हमारे प्रियतम हमें कभी याद करते हैं या नहीं ! जिस प्रकार हम उनके दर्शनोंके लिये अधीर बने रहते हैं वैसे उन्हें भी हमारी कभी याद आती है क्या ? इस बातको लाख बार सुनकर भी बारबार सुननेकी इच्छा बनी रहती है। प्यारे कभी हमारा नाम लेते हैं, हमारी चर्चा करते हैं, किसीसे कभी हमारे सम्बन्धमें कुछ कहते हैं यही प्रेमियोंकी बातोंका मुख्य विषय रहता है। जैसे शरीरमें कहीं भी खुजली हो, हाथ तुरन्त वहीं पहुँच जाता है, उसी प्रकार प्यारके सम्बन्धमें कैसी भी बातें हो रही हों, फिरफिरकर बात वहीं आ जाती है, कि प्यारे हमें भूले तो नहीं, कभी हमारी चर्चा होती है। उद्धवजी जब गोपियोंके गुणोंकी प्रशंसा करने लगे, तो बातको टालती हुई वे अपने मुख्य विषयपर आ गईं और बोलीं—"अच्छा वे किनसे प्रेम करते हैं। किनसे नहीं करते, इन व्यर्थकी बातोंमें पड़नेसे हमें क्या प्रयोजन ? वे सर्वसमर्थ हैं जो करते होंगे उचित ही करते होंगे, अब आप ही साधो! यह बताइये कि वे कभी हमारी भी याद करते हैं। अपनी परम प्रवीणा कुब्जा आदि प्रेयसियोंके मंडलमें बैठकर कभी हम गाँवकी गवारिनि ग्वालिनियोंका भी स्मरण करते हैं। जब बातोंके ऊपर

बातें होती रहती होंगी तब अपने स्वच्छन्द वार्तालापमें वहाँ वृन्दावनकी भी कोई बात छिड़ती है ?"

उद्धवजीने कहा—"देवियो ! अब मैं बारबार कैसे कहूँ, आप तो उसी एक प्रश्नको पुनः पुनः पूछती हैं, मैंने कह तो दिया वे दिन भर आपकी ही बातें करते रहते हैं आपके साथ की हुई क्रीड़ाका ही कथन करते रहते हैं ?"

गोपिकाओंने कहा—"अच्छा क्या क्या कहते हैं ? कुछ सुनाइये तो ?"

उद्धवजी कुछ सोचकर बोले—"अब मुझे सब बातें तो याद नहीं हैं, वे माखनचोरीकी, होरीकी, दानकी और पनघटकी बहुत सी बातें करते रहते हैं।"

इसपर गोपिकायें बोलीं—"अच्छा उद्धव यह बताइये, कभी वे रासलीलाकी भी चर्चा करते हैं ? अहा ! वृन्दावनकी वह शोभा जब शारदीय शशि अपनी समस्त कलाओंके सहित उदित होकर समस्त वनमें चन्द्रिकाको बिखेर देते थे। जब कुंजोंकी लताओंपर खिली हुई कुन्दकी कलियाँ अपनी सुवाससे उस प्रान्तको सुवासित बना देती थीं, जब कुमुदिनियाँ अपनी शोभासे रासस्थलीकी पुष्करिणियोंको भर देती थीं उस समय वे बाँसुरी बजाते थे, हम सब वंशीकी ध्वनि सुनकर दौड़ी हुई उनके समीप आती थीं तब वे रासमण्डल बनाकर हम अपनी किंकरियोंके साथ नृत्य करते थे। अपने चरणोंके नूपुरकी ध्वनिमें हमारे नूपुरोंकी ध्वनिको मिलाकर रमण किया करते थे, भाँति भाँतिकी लीलायें करते थे, क्या कभी इन बातोंका भी वे स्मरण करते हैं ?"

उद्धवजीने कहा—"इन बातोंका स्मरण करते करते तो वे अधीर हो जाते हैं।"

गोपिकायें अनुरागभरित वाणीसे पूछने लगीं—"उद्धवजी !

सत्य सत्य बतावें जब वे रासलीलामें हमारे कंठोंमें अपनी विशाल बाहुओंको डालकर थिरकते थे और हम उल्लासमें भरकर उन्हींकी मनमोहिनी कथाओंका गान किया करती थीं क्या उन रसभरी मीठी मीठी रात्रियोंको वे याद करते हैं ?"

उद्धवजीने कहा—"देवियो ! तुम धन्य हो, हाय ! तुमने भगवान्‌के साथ ऐसी ऐसी क्रीड़ायें कीं ? बड़े बड़े योगियोंको भी जिनके दर्शन दुर्लभ हैं, उनका आपने गाढ़ालिंगन किया है। आपके भाग्यकी सराहना कौन कर सकता है ?"

गोपियोंने रोते रोते कहा—"उद्धवजी हमें यह सुख न मिलता, यही अच्छा था। हाय ! हम इस सुखसे अपरिचित ही रहतीं, तो इतना क्लेश तो सहन न करना पड़ता। सुखसे पेट भरके खातीं, नींद भरकर सोतीं। वे तो हमें एक बार सुख देकर हमारे मनको बिगाड़ गये, हमारे स्वादको कलुषित कर गये। जिन्हें एक बार भी श्रेष्ठ पुरुषका प्रेमालिंगन प्राप्त हो चुका है, क्या जीवनभर वे उस सुखको भूल सकते हैं। उनके संगसे हमें जितना ही अधिक सुख मिला था, आज उतना ही अधिक दुख हो रहा है। वे सुखके दिन हृदयमें पके फोड़े की भाँति टीस उत्पन्न कर रहे हैं। उद्धव ! क्यों हमारी व्यर्थ बड़ाई करते हो, हम अपने हृदयकी पीरको किससे कहें। संसारमें सहृदय पुरुषोंका अभाव है। जिसके सम्मुख भी हम कहेंगी, वही सुनकर हँसेगा। खिल्ली उड़ायेगा। तुम सहृदय हो, प्यारेके सखा हो, सचिव हो, साथी हो, स्नेही हो, सन्देशवाहक हो और हो उनके अभिन्न मित्र। अतः तुमसे हम अपने दुखको कहती हैं। हम सब तो उन्हीं श्यामसुन्दर घनश्यामके विरहानलमें संतप्त हो रही हैं ? सखे ! सच सच बताओ इन्द्रदेव जैसे जल बरसाकर सूखे वनको हराभरा कर देते हैं, वैसे ही नेहका नीर बरसाकर घनश्याम अपने अरुण मृदुल सुखद वरद करकमलको हमारे हृदयोंपर रखकर कब जीवनदान देंगे ?

कब हमारे सूखे हृदयको हरा करेंगे ? कब वृन्दावन आकर हमारे विरहानलको बुझावेंगे ? वे कभी यहाँ आवेंगे क्या ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहते कहते सभी ढाह मारकर रोने लगीं। भगवान् भुवन भास्कर उनके रुदनकी ध्वनि सुनकर छिप गये। रात्रि होते देखकर कल फिर इसी समय आनेका निश्चय करके गोपियाँ अपने अपने घरोंको चली गईं उद्धवजी नन्दजीके घरमें आ गये। अब कलकी कथा कल होगी।"

छप्पय

कहो कबहुँ घनश्याम आइ ब्रजपै बरसैंगे।
नेहनीरतैं कबहुँ हमारे हिय हरसैंगे॥
कब कोमल अति मृदुल कमल कर तैं परसैंगे।
आये ब्रज ब्रजनाथ सुनत कब सब हरषैंगे॥
नंदनँदन अतिशय कठिन, निर्मोही निष्ठुर निपट।
किन्तु करें का फँस्यो मन, प्रेमफन्द अति ही विकट॥

दर्शनोंकी आशा दुस्त्यज है

[१०६९]

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला ।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

आशामहँ अति दुःख निराशा सुखकी जननी ।
जानि बूझिकैं बिगरि गई भोरी मति अपनी ॥
जिनि प्रभु पायो परस सरस कैसे नहिँ भजिहैं ।
कृष्णकथा जिनि श्रवन सुनी ते कैसे तजि हैं ॥
कमला अति ही चचला, किन्तु परस पिय पाइकें ।
होहि न पलभरकूँ पृथक, श्याम सिन्धुमहँ आइकें ॥

जिसको जिस वस्तुका व्यसन पड़ जाता है, उसके लिये उसे छोड़ना असंभव हो जाता है। मादक वस्तुओंके व्यसनी इच्छा होने पर भी उन व्यसनोंको नहीं छोड़ सकते, किन्तु उनमें कुछ ऐसे साहसी होते हैं, जो चिरकालके व्यसनको क्षण भरमें

---

*गोपिकायें कह रही हैं—"उद्धवजी ! पिङ्गला नामकी वेश्याने कहा कि किसीकी आशा न करना यही परम सुख है" इस बातको जानते हुए भी हमारे लिये श्रीकृष्ण चन्द्रकी आशाका त्यागना तो अत्यन्त ही कठिन है ।

छोड़ देते हैं। घर द्वार, कुटुम्ब परिवार तथा पद प्रतिष्ठाका त्यागना भी अत्यंत कठिन है, किन्तु वैराग्यवान् पुरुष इन सबको तृण के समान त्यागकर परिव्राजक बन जाते हैं और फिर इनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, किन्तु कृष्णानुराग ऐसा दुस्त्यज है, कि जिस हियेमें यह घुस जाता है उसमें घर कर लेता है, जितना ही इसे निकालनेका प्रयत्न करो उतनाही यह और अधिकाधिक बढ़ता जाता है। संसारके अन्य समस्त बन्धन तो तोड़े भी जा सकते हैं, किन्तु प्रेमरज्जुका यह दृढ़बन्धन किसी प्रकार भी नहीं तोड़ा जा सकता। प्रेमका सरोवर ऐसा आकर्षक है, कि एक बार जो इसके ढिँग आ जाता है, फिर वह लौटकर नहीं जा सकता। रोते रहो, तड़पते रहो यही प्रेमका उपहार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! सायंकाल होते ही गोपिकायें घर लौट तो आईं किन्तु उनका चित्त श्यामसुन्दरमें ही लगा था। उद्धवजीके सत्संगसे उन्हें शान्ति मिली। प्यारेकी चर्चा करते करते जो समय व्यतीत हुआ वह प्रतीत ही न हुआ कब कट गया। अब तो उन्हें उद्धवजीसे मिलनेकी चटपटी लगी रहती। हमारे हृद्गत भाव उद्धवके द्वारा श्याम तक पहुँच जायँगे इस बातको स्मरण करके उनके रोमरोम खिल जाते। उनकी ऐसी इच्छा बनी रहती निरन्तर उद्धवजीके ही निकट बैठकर प्यारेकी चर्चा करते रहें। उद्धवजीसे कुछ सुनती रहें कुछ उन्हें सुनाती रहें।

दूसरा दिन हुआ। घर गृहस्थीके कामोंसे निवृत्त होकर वे पूर्व निश्चयानुसार नियत स्थानपर पहुँच गयीं। उद्धवजीके जीवनमें भी यह प्रथम ही प्रसंग था। इतना सरस समाज उन्होंने आज तक कभी देखा ही नहीं था। जिन हृदयोंमें निरन्तर श्री कृष्णपीयूषका प्रवाह बहता ही रहे ऐसे भावुक भक्तोंका सत्संग उन्हें प्रथम प्राप्त नहीं हुआ था, अतः वे भी उनकी अनुरागमें

पगी, प्रेममें सनी नेहमें प्यारी प्यारी बातोंको सुननेको समुत्सुक हो रहे थे, अतः वे भी नियत समय पर उसी स्थानपर पहुँच गये। परस्परमें शिष्टाचार होनेके अनन्तर फिर बात छिड़ गई। गोपिकाओंने कहा—"हाँ तो उद्धवजी ! श्याम सुन्दर कभी हमारी याद करते हैं ?"

उद्धवजी को अब इस प्रश्नका उत्तर देनेका अभ्यास हो गया था, अतः वे बिना झुँझलाये बोले देवियो ! श्रीकृष्णके लिये याद करने के लिये और विषय है ही क्या ? निरन्तर आपकी ही तो याद वे किया करते हैं।"

इस पर एक उत्सुकता पूर्वक बोली—"अच्छा, याद करते हैं, तो वे यहाँ आते क्यों नहीं ? क्यों हमें इतना तड़फाते हैं ? क्यों नहीं आकर हमें सुखी बनाते हैं, क्यों नहीं हम अपनी आश्रिता अबलाओंके तनोंकी तपनोंको आकर बुझाते हैं ?

इसपर दूसरी बोली—"सखियो ! अब प्यारके आनेकी आशा छोड़ो। अब उन्हें हम गाँवकी गँवारिनी गोपिकाओंसे क्या काम अब वे गोपालकृष्ण तो रहे नहीं। अब तो शत्रुको मारकर राजा बन गये हैं। लकुटी फेंककर शस्त्र रखने लगे हैं, ब्रजरजको छोड़कर सिंहासनपर बैठने लगे हैं। अब तो वे सुकुमारी राजकुमारियों से विवाह करके उनसे प्यार करेंगे। उन्हें अपने हृदयको अर्पित करेंगे। उनके अधीन होकर उनके कथनानुसार चलेंगे। अब वे ब्रज क्यों आने लगे, क्यों हम अबला कुरूपाओं को याद करने लगे।

इसपर एक अन्य बोली—"अरी, बावरी ! उन्हें कौन अपने वशमें कर सकता है। वे ही सबको कठपुतरियोंकी भाँति नचा रहे हैं। वे तो पूर्ण काम हैं, कृतकृत्य हैं उन्हें किसीकी स्पृहा नहीं। जिस लक्ष्मीको चंचला चपला कहते हैं जो कहीं स्थिर नहीं रहतीं, वह उनके चरणोंमें जाकर अपने स्वभावको त्याग देती है।

निरन्तर प्यारेके पैरोंको पलोटती रहती हैं। उन्हें राजकुमारियोंसे अथवा हम वन बासिनियोंसे क्या प्रयोजन ? उन्हें कोई अपने गुणोंसे थोड़े ही रिझा सकती हैं, जिनपर वे रीझ जायँ, जिनपर उनकी कृपा दृष्टिकी वृष्टि हो जाय।

उद्धवजीने कहा—"देवियो ! तुमपर तो भगवान्‌की निरन्तर कृपाकी वृष्टि होता रहती है।"

निराशाके स्वरमें एक गोपी बोली—"कहाँ कृपा होती है, उद्धवजी ! कृपा न होनेपर भी हम इसी आशासे जीवित हैं कि प्यारे संभव है आ जायँ। दर्शनोंकी आशामें ही प्राण अटके हैं।"

उद्धवजीने कहा—"देवियो ! आशापर ही संसार अवलम्बित है। जीवनमें जिसे कोई आशा ही नहीं वह जियेगा ही क्यों ?

इसपर एक गोपी बोली—"उद्धवजी ! आशामें दुःखके अतिरिक्त सुख नहीं। इस विषय में हमने एक कहानी सुनी है, कहें तो उसे सुना दें।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ सुनाइये। आपकी कही हुई कहानी तो शिक्षाप्रद ही होगी।"

गोपी बोली—"शिक्षाप्रद क्या होगी, उद्धव ! हमने तो बड़ोंके मुखसे यह कथा सुनी है, कि प्राचीन कालमें विदेह राजाकी राजधानी मिथिलामें पिङ्गला नामकी वेश्या रहती थी। एक दिन वह शृंगार करके अपने कोठेपर इस आशासे बैठी थी, कि कोई धनी मेरे पास आये और मुझे विपुल धन दे। जिसे भी अपनी ओर आते देखती, उससे आशा लगाती, संभव है यह आ जाय, जब वह निकल जाता तो दूसरेकी आशा करती। आशामें ही बैठे बैठे उसकी सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत हो गई, किन्तु कोई धन देनेवाला नहीं आया। अन्तमें उसे वैराग्य हुआ। उसने निष्कर्ष निकाला कि "संसारमें किसीसे आशा न करना ही परमसुख है, आशामें ही दुःख होता है" इसीलिये उद्धवजी ! आशा कोई

अच्छी वस्तु थोड़े ही है। इस बातको हम सब जानती हैं तो भी हमसे श्रीकृष्णके दर्शनोंकी आशा नहीं छोड़ी जाती। और आशाओंको हम भले ही छोड़ दें, किन्तु प्यारेके दर्शनोंकी लालसाको त्यागना हमारे लिये अत्यन्त कठिन है। और सब चर्चायें त्यागी जा सकती हैं किन्तु पुण्यकीर्ति श्रीहरिकी एकान्तचर्चा त्यागने का साहस कौन कर सकता है ?"

उद्धवजी ने कहा—"जैसे आप सबके लिये श्यामसुन्दरकी चर्चा त्यागना कठिन है, वैसे ही उन परात्पर प्रभुको आप सब की चर्चा त्यागना असंभव है, वे निरन्तर आप सबकी ही चर्चा करते रहते हैं और नयनोंसे नीर बहाते रहते हैं। दोनों ही ओरसे ऐसी बात है।"

गोपियोंने कहा—"उद्धवजी ! उन सर्वसमर्थ स्वामीके लिये कुछ भी कठिन नहीं, कुछ भी असंभव नहीं। उनके लिये सब संभव है। वे तो निस्पृह हैं, आप्तकाम हैं, उनमें ऐसा आकर्षण है, कि एक बार जिनका चित्त उनकी ओर खिंच जाता है, वह उन्हें छोड़ नहीं सकता। देखो लक्ष्मीकी भगवान् इच्छा नहीं करते, फिर भी वह अपनी चंचलता त्यागकर उनसे लिपटी ही रहती हैं। उनके अङ्ग सङ्गको कभी छोड़ ही नहीं सकती।

उद्धवजीने कहा—"देवियो ! अब भगवान्की उन सगुण लीलाओंको भूल जाओ। अब उनका निर्गुण निराकार रूपसे अपने अन्तःकरणमें ही ध्यान करो।"

अश्रुविमोचन करते हुए गोपिकाओंने कहा—"उद्धवजी हाय ! हम उन श्यामसुन्दरकी की हुई अति मधुर परम सरस लीलाओंको भूल सकती, तबतो अत्यन्त ही उत्तम था, किन्तु हमारे लिये उन्हें भूलना अत्यन्त ही कठिन है, जिधर भी हमारी दृष्टि जाती है, उधर ही थिरकती हुई नृत्य करती हुई नंदनन्दनकी सजीव स्मृति दिखायी देती है। भानुतनया कालिन्दीकी

ओर निहारती हैं, तो हृदय फटने लगता है, ये उन्हींके शरीरके रंगवाले नीरको निरन्तर बहाती रहती हैं। इनके कलित फूलोंपर उन्होंने कितनी-कितनी कमनीय क्रीड़ायें की थीं। जब हम जल भरने यमुनातीर पर आती थीं तो हमारे साथ वे कैसी मीठी-मीठी बातें किया करते थे। इसके निर्मल नीरसे कितनी बार हमारे अंगोंको उन्होंने भिगोया था। कितनी बार उन्होंने हमें अपने करकमलोंसे पकड़ पकड़कर न्हिलाया था, कितनी बार हँसते हँसते हमें डुबाया था। कालिन्दीके कणमें उनकी स्मृति सजीव होकर बासकर रही है। कालिन्दीको हम कैसे भुला सकते हैं। इसे ब्रजसे कैसे भगा सकती हैं। इसके नीले जलको रक्त कैसे बना सकते हैं उद्धव ! तुम ही बताओ ?

उद्धवजी ने कहा—"कुछ दिन यमुनाजीकी ओर जाना छोड़ दो।"

गोपियाँ बोलीं—"अच्छा, मान लो ऊधोजी ! यमुनातट जाना छोड़ दें तो यह दूरसे दिखाई देने वाला गोवर्धन पर्वत तो हमारे हृदयमें टीस उत्पन्न करता है। इसी पर्वत पर वे प्रति-दिन गौओं को चराते थे, सात दिनों तब इसे ही वे अपनी छोटी अँगुलीपर धारण किये रहे, हम सबको इसे ही धारण करके आँधी पानी से बचाया था। तभी से हम उन्हे गिरधारी गोवर्धन-धारी आदि नामोंसे पुकारने लगीं थीं। इस पर्वतको देखते ही उनकी सभी लीलायें चल-चित्रोंकी भाँति हमारे हृदय पटलपर अंकित हो जाती हैं। इस पर्वत को ब्रजसे कैसे उखाड़कर फेंक दें या अपनी इन फूटी हुई आँखोंमे सूजा चुभो लें।"

उद्धवजीने कहा—"ऐसा क्यों करोगी, कुछ दिन पर्वतकी ओरसे दृष्टि हटा लो।"

गोपिकाओंने कहा—"हाय ! उद्धव ! तुम कैसे कृत्रिम उपाय बता रहे हो ? देखो, जिस वस्तुको भुलानेका प्रयत्न किया जाता

है वह और भी अधिक याद आती है। तुम कहते हो, घरमें बन्द रहो। घर हमारे हैं कहाँ ? आज इस वनमें हैं कल दूसरे में। वनवासिनी तो हम हैं ही ! वनोंमें बिना जाये हमारा काम चलने का नहीं। प्रत्येक वनके कण कणमे कृष्णकी स्मृतियाँ संनिहित हैं। कोई वनकी तिलभर भी भूमि शेष नहीं जहाँ उन्होंने कुछ कौतुक न किया हो। फिर इन भोरे ग्वालवालोंको कौन बरजे। ये गौओंको ले जाते हुए लाते हुए बाँसुरी बजाते ही हैं। जहाँ हमारे कानोंमे वंशीकी मधुर मधुर ध्वनि सुनाई दी, कि हमारा मन हमारे वशमें नहीं रहता। मुरलीधरकी अनन्त स्मृतियाँ एक साथ ही जागृत हो उठती हैं। हम भूली-सी भटकी-सी ठगी-सी मथुराकी ओर जोहने लगती हैं, कहीं श्यामसुन्दर ही तो बाँसुरी बजाते हुए नहीं आ रहे हैं ?" फिर अभी अमूल्य धन समझकर धरनीने उन श्रीनिकेतन श्रीनिवासके चरणचिह्नोंको सुरक्षित छिपा रखा है। जब उन वज्र, अंकुश, ध्वज तथा कमलादि चिह्नों से चिह्नित धारण चिह्नोंको हम निहारती हैं, तो वे परममृदुल चरण जिनसे हमारे हृदयकी पीड़ाको वे शान्त करते थे, स्मृति-पथपर आआकर भूचाल सी मचा देते हैं। हमें आत्मविस्मृत बना देते हैं।

उद्धवजीने कहा—"आप उन्हे अन्तर्यामी रूपसे अपने हृदयमें ही स्थित अनुभव करें।"

खीजकर गोपियोंने कहा—"कैसे करें उद्धव ! तुम हमारी विवशताको अनुभव नहीं कर सकते। देखो, जब वे मटक-मटक-कर चलते थे उनकी मदभरी चाल क्या कभी भुलाई जा सकती है ? ललित त्रिभंग गतिसे जब वे खड़े होते थे, उस समय उनके जिन्होंने दर्शन किये हैं वह झाँकी लाख प्रयत्न करनेपर भी चित्त-से नहीं हट सकती। जब वे कुन्दकलियोंके सदृश, दाड़िमके दानोंके सदृश, निर्मल कीर्तिके सदृश अपने शुभ्र स्वच्छ दर्शनों-

को निकालकर हा हा करके हँसते थे, तो, उनका वह उदारहास्य अन्तःकरणमें घरकर लेता था। उसकी प्रतिच्छाया अब भी हमारे चित्तमें बसी हुई है। उनकी एक एक लीलामें जादू था, यही नहीं कि लीला हुई समाप्त हो गई, उसे भूल गये। उनकी समस्त लीलायें चिन्मय अप्राकृत तथा नित्य होती थीं। वे किसी प्रकार भुलाई नहीं जा सकतीं। उनकी मदभरी नेहरी चारु-चितवन जिस चित्तमें चढ़ गई, फिर वह प्रयत्न करनेपर भी उतर नहीं सकती। उद्धव! उनकी चितवनमें टौना था, उसमें वशीकरणकी सम्पूर्ण शक्ति निहित थी। हम तो उसी रोगकी रोगिणी हैं भुक्त भोगी हैं। अहा! उनकी वाणी कैसी प्यारी-प्यारी मधुर और संगीतमय थी! वह अभी तक हमारे कर्णकुहरोंमें गूँज रही है। उसकी प्रतिध्वनिसे अभी तक हमारे रोमाञ्च हो रहे हैं। उसे अपने अन्तःकरणसे बाह्यकर्णोंसे कैसे निकाल सकते हैं। उद्धव! तुम ही बताओ, हम क्या करें, कहाँ जायँ, क्या करनेसे शान्ति मिल सकती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहते कहते गोपिकाओं-को श्रीकृष्णकी प्रबल स्मृति हो उठी। वे उन्हें सम्बोधन करके करुण स्वरमें चीख मारकर रोती हुई पुकारने लगीं—"हे नाथ! हा रमानाथ! ओ! व्रजके एकमात्र रक्षक और आर्तिभंजन! हे गोविन्द! आओ आओ हमें पार लगाओ! बचाओ। तुम्हारा यह प्यारा गोकुल दुःखसागरमें डूबा जाता है। जैसे पहिले आपने गोवर्धनधारण करके इसकी रक्षा की थी, इसी प्रकार अब आकर इसकी रक्षा करो। इसे डूबनेसे बचाओ! हमें जीवनदान दो। हमारा इस विपत्तिसे एकबार और भी उद्धार करो।" इस प्रकार से सब मिलकर ढाह बाँधकर रोने लगी। उनके रुदनकी करुण ध्वनि दशों दिशाओंमें भर गई। वे मूर्छित होकर भूमिमें गिर गईं।

छप्पय

कालिन्दीको सलिल श्याम सुधि सतत दिवावै ।
गिरि गोवर्धन लखत हियो हमरो भरि आवै ॥
श्याम ललित गति हँसी सुखद लीला शुभचितवन ।
यादि दिवावैं धेनु बेनु-रव गिरि वन उपवन ॥
करि करि सुमिरन श्यामको, करन लगीं गोपी रुदन ।
हाय! नाथ अशरन शरन, हा दुख भञ्जन नँदनँदन ॥

उद्धवजीका व्रजवासियोंको सुखद सत्संग

[१०७०]

उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदञ्छुचः ।
कृष्णलीलाकथां गायन् रमयामास गोकुलम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० ५४ श्लो०)

छप्पय

उमड़्यो सागर विरह बह्यो व्रज सबरो जावै ।
तुम बिनु राधारमन कौन अब आइ बचावै ॥
हे मनमोहन ! रमन ! वेनु पुनि मधुर बजाओ ।
अधरामृत भरि पेट आइ घनश्याम पिआओ ॥
व्रजवनितनिके विरहकूँ, लखि ऊधो व्याकुल भये ।
कृष्णकथाके लालची, कछु दिन व्रजमहँ बसि गये ॥

हमारे साथ कोई दुखमें सहानुभूति प्रकट करनेवाला हो, हमारी मनकी बातोंको उदारतापूर्वक कोई सुननेवाला हो तो हमें आन्तरिक शान्ति होती है। उसे मनोव्यथा कहनेसे हृदय हलका हो जाता है। समय सुखपूर्वक कट जाता है। उनके

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार उद्धवजी गोपियोंकी विरहव्यथाको शान्त करते हुए कई मास व्रजमें रहे। वे व्रजवासियोंके सम्मुख श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्‌की लीलाकथाओंको कह कहकर उनका मनोरञ्जन करते रहे।

सम्मुख बातें करते-करते ऐसा प्रतीत होता है मानो हमारे इष्ट हमारे सम्मुख उपस्थित होकर हमारी सब बातोंको सुन रहे हैं। एक प्रकारके संयोग सुखका अनुभव होने लगता है। ऐसे सहृदय पुरुषोंका सत्सङ्ग कुछ दिन मिल जाय तो विरहदुख कुछ-कुछ शान्त हो जाता है। चित्त स्वस्थ होकर आनन्दका अनुभव करने लगता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब गोपिकायें श्रीकृष्ण विरहमें मुक्तकण्ठसे रुदन करने लगीं, तब उद्धवजीका भी हृदय भर आया, वे उन्हें भाँति-भाँतिसे सान्त्वना देने लगे। वे बोले—'व्रजबालाओं! अधीर होनेकी कोई बात नहीं। श्यामसुन्दर आवेंगे अवश्य आवेंगे, वे आपको दर्शन देकर शान्त करेंगे।"

गोपियोंने रोते-रोते कहा—"उद्धव! तुम जुग-जुग जियो। एकबार किसी प्रकार हमारे हृदयधनका हमारे पास ले आओ। हम उन्हें मनभरके देख तो लें। तुम छलसे बलसे कलासे कौशलसे कैसे भी उन्हें ले आओ।

उद्धवजी बोले—"देवियों! वे तो घट-घटके वासी हैं, उनसे छलबल नहीं चलेगा। वे तो प्रेमसे ही वशमें हो सकते हैं।"

गोपिकाओंने कहा—"हमारे साथ तो वे नित्य ही छल करते थे। वेष बदल-बदलकर बरसाने जाते थे और भाँति-भाँतिके ढोंग बनाते थे। हमने भी उन्हें छलसे छकाया था। वे भोरे बनकर हमारी हाहा खाते, पैर पकड़ते हमें मनाते। यदि वे न आ सकें तो तुम हमें ही वहाँ ले चलो हम उन्हें मनाना जानती हैं।

उद्धवजीने कहा—"चलो, मैं तुम सबको मथुराले चलूँगा।"

इतनेमें ही एक बोली—"ना, बाबा! हम मथुरा न जायँगी। वहाँ तो वह सौत कूबरी दासी है। मर जायँगी, किन्तु उसकी चिरौरी हम न करेंगी। किसी प्रकार यहीं तुम श्यामको लाओ। यहाँ भी वे पहिले रूठ जाते थे, तब हम उन्हें अनेक युक्तियोंसे

प्रणाम करते। एक दिन इन्होंने गोपियोंके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि प्रकट करते हुए अपने हृदयके जो जो उद्गार व्यक्त किये जो इन्होंने आशा प्रकट की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

नित कालिन्दीकूल कदँबकी छाँह सिधारें।
हरिलीला थल कुंज कन्दरा नदी निहारें॥
लखि गोपिनि की दशा कहँ ऊधो ह्वै प्रमुदित।
अहो! धन्य ब्रजबधू इन्द्र अज हर पद बन्दित॥
इनहींको जीवन सफल, डूबे हम अभिमानमहँ।
बीतत इनको सब समय, हरिसुमिरन गुनगानमहँ॥

उद्धवजीकी अभिलाषा और गोपियोंकी प्रशंसा

(१०७१)

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० ६१ श्लो०)

छप्पय

कहाँ अलख अखिलेश कहाँ ये ब्रजकी नारी ।
करि हरिपद अनुराग भईं सब जग तें न्यारी ॥
जुग जुग जोगी करें जोग नहिं हरिपद पावें ।
तिनहिं गँवारिनि गोपवधू नित हिय चिपटावें ॥
जो प्रसाद पायो नहीं, कमला, अज सुर सुन्दरी ।
ताकूँ नित सेवति रहति, ब्रजकी भोरी नागरी ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपियोंके अलौकिक प्रेमको देखकर उद्धवजी कहने लगे—"अहो ! यदि मैं वृन्दावनकी किसी ऐसी लता, ओषधि या झाड़ियोंमें से कोई एक होता, जिनके ऊपर ब्रजबालाओंकी चरण रज पड़ा करती तो क्या ही अच्छा होता । अहा ! ये गोपिकायें ही धन्य हैं, जिन्होंने अपने दुस्त्यज बन्धुबान्धवोंको, आर्यपथ को त्यागकर, श्रुतियों द्वारा खोजी जाने योग्य मुकुन्दपदवी पथका अनुसरण किया है ।

समस्त साधन संस्कारोंका एक मात्र फल है श्रीकृष्ण के चरणारविन्दोंमें अनुरक्ति। जिन साधनोंसे भगवान्के चरणोंमें अनुराग न हो, वे सब साधन व्यर्थ हैं और जिन साधनोंसे मन मदनमोहनकी माधुरीमें अनुरक्त हो जाय, वही साधन सार्थक है। श्रीकृष्ण कृपा किसी वर्ग विशेषकी बपौती नहीं है। उसपर सबका समान अधिकार है। जिसपर कृष्णकृपा हो गई, वह चाहे पदमें, प्रतिष्ठामें, जातिमें, वर्ण तथा आश्रमादिकमें छोटा ही क्यों न हो सबसे मोटा है, सबसे श्रेष्ठ है। वे जगद्बन्धु हैं और सबके पूजनीय हैं। सहस्रों जन्मोंके अनन्त साधनोंसे ही श्रीकृष्ण भक्ति प्राप्त होती है और जिसे प्राप्त हो जाती है, वह कृतार्थ हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवद्भक्त जन दूसरे भक्तकी प्रेमदशा देखते हैं, तो अधीर हो जाते हैं, उसके प्रेमकी सराहना करते हैं और अपनेको बार बार धिक्कारते हैं। उन्हें अपनी दशापर ग्लानि होती है उन भक्तोंके चरणोंमें श्रद्धा होती है। यही आत्मग्लानि और भागवतश्रद्धा उन्हें उन्नतिके शिखर ले जाती है। कितना भी भगवद्भक्त क्यों न हो, यदि वह भागवतोंमें अनुराग नहीं रखता भक्तोंकी भक्ति नहीं करता, तो भगवान् उनकी भक्तिसे प्रसन्न नहीं होते। इसके विपरीत चाहे भगवान्की भक्ति न भी करे, भगवद्भक्तोंके प्रति श्रद्धा रखे उनकी हृदयसे सेवा करे, तो भगवान् उसपर प्रसन्न होते हैं।

उद्धवजी जबसे व्रजमें आये थे, निरन्तर गोपियोंकी प्रेम दशा देख रहे थे। उनके ऐसे अनुपम अनुरागको देखकर वे मन ही मन गोपियोंके प्रति श्रद्धा करने लगे। पहिले जो उनका गाँवकी गवारिनि और स्त्री होनेसे उनके प्रति हेय भाव था वह सर्वथा नष्ट हो गया। अब शनैः शनैः मनमें उनके प्रति भक्ति उत्पन्न

होने लगी। पहिले कोई भाव मनमें आता है, फिर वह वाणी द्वारा व्यक्त होता है और तदनन्तर वह इन्द्रियों द्वारा कर्ममें परिणित होता है। भावोद्रेकमें वाणी और कर्मों द्वारा मनोगत भाव व्यक्त हो ही जाते हैं। गोपियोंके प्रति श्रद्धा भक्ति होनेपर उद्धवजी प्रथम तो उन्हें मन ही मन प्रणाम करते। अब वे अपनेको रोक नहीं सके। एक दिन सब गोपिकायें बैठी थीं वे श्रीकृष्णकी चर्चा करते करते विह्वल हो रही थीं। उनके नेत्रोंसे जो निरन्तर नेहका नीर निकल रहा था। वह ऐसा प्रतीत होता था मानो इनका हृदय द्रवित होकर नयनों द्वारा बह रहा हो। वाणी गद्गद हो रही थी! सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। प्रेमकी ऐसी सर्वोत्कृष्ट दशा देखकर उद्धवजी अब अपनेको रोक न सके। अब तक वे मनसा और वाचा से ही अपनी श्रद्धाको व्यक्त करते थे आज उसे वे कर्मणा से भी प्रकट करने लगे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा भक्तिसे गोपिकाओंके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उनके चरणकी धूलको मस्तकपर चढ़ाकर अधीर होकर रुदन करने लगे। सहसा वीणा बजाते हरिगुण गाते देवर्षि नारदजी भी वहाँ उपस्थित हुए। भगवानके सचिव और सखा यदु श्रेष्ठ उद्धवजीको गाँवकी गँवारिनि ग्वालिनियों के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए देखकर उन्होंने हँसकर कहा—"उद्धवजी! यह क्या? आप यह कैसी वर्णाश्रम धर्मके विरुद्ध बात कर रहे हैं। कहाँ आप यादवोंके भी परम माननीय श्रेष्ठ क्षत्रिय और कहाँ ये गाँव की गँवारिनि। आप इन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम क्यों कर रहे हैं?

नयनोंसे नीर बहाते हुए देवर्षि नारदजीको पुनः पुनः प्रणाम करते हुए गद्गद कंठसे उद्धवजी बोले—"नारदजी! मैं तो इन महाभागा गोपिकाओंकी चरणधूलिको भी स्पर्श करनेका अपनेको अधिकारी नहीं समझता। आप मुझे श्रेष्ठ बता रहे हैं,

किन्तु मैं तो कहता हूँ, भूलोकसे सत्यलोक तक संसारमें जितने प्राणी हैं, उन सबसे ये व्रजकी गोपाङ्गनायें ही श्रेष्ठ हैं।"

नारदजीने कहा—"आप इन अनपढ़ अहीरिनियोंको सर्वश्रेष्ठ क्यों बता रहे हैं ?"

उद्धवजी बोले—"श्रेष्ठता कोई शरीरसे या बाहरी वेष भूषासे वर्णसे नहीं होती। प्राणियोंमें सबसे बड़े ब्रह्माजी हैं, वे निरन्तर तप करते रहते हैं। आप सब सनक सनन्दनादि ब्रह्म पुत्र भी निरन्तर तपमें निरत रहते हैं। जितने संसारभयसे भयभीत मुनिजन हैं तथा भगवद्भक्तिमें तल्लीन भक्तजन हैं, इन सभीका एक मात्र उद्देश्य उन सर्वात्मा श्रीहरिमें चित्तकी वृत्तियोंका योग कर देना ही है। सभीके साधनोंका अन्तिम लक्ष्य शरीरा-शक्तिको छोड़कर प्रभुचरणारविन्दोंमें अनुरक्ति होना ही है। इन गोपिकाओंको अत्यंतासक्ति स्वतः ही प्राप्त है। इनका चित्त सर्वात्मा श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें स्वतः ही लगा हुआ है। फिर बताइये इनसे बढ़कर श्रेष्ठ और कौन हो सकता है ?"

नारदजीने कहा—"उद्धवजी ! आपका कथन तो सत्य है, किन्तु इन स्त्रियोंके द्विजातिसंस्कार तो हुए ही नहीं। श्रेष्ठता तो संस्कारोंसे ही होती है। मातृगर्भसे उत्पन्न होनेपर सर्वप्रथम शौक्रसंस्कार होता है। पिताके द्वारा द्विजोचित जातकर्मादि संस्कार कराये जाते हैं फिर कुछ बड़े होनेपर सावित्र संस्कार होता है, यज्ञोपवीत कराकर गायत्री मंत्रकी दीक्षा दी जाती है। जब वेदाध्ययन समाप्त करके व्रतस्नान किया जाता है तब दार परिग्रह पूर्वक यज्ञकी दीक्षा ली जाती है, अग्निहोत्रका व्रतधारण करना पड़ता है, ये तीनों संस्कार मानों द्विजातियोंके तीन जन्म हैं। इन तीनों द्वारा उसकी श्रेष्ठता होती है, तभी वह वैदिक कर्मोंका अधिकारी माना जाता है। इन गोपिकाओंका तो इनमेंसे

एक भी संस्कार नहीं हुआ फिर आप इन्हें सर्वश्रेष्ठ मानकर साष्टाङ्ग प्रणाम क्योंकर रहे हैं ?"

उद्धवजीने कहा—ब्रह्मन् ! इन सब कर्मोंका एकमात्र-उद्देश्य भगवानमें भक्ति होना ही तो है। इन सब कर्मोंके करने पर भी भगवान्में भक्ति नहीं हुई तो इनका क्या फल ? और यदि इन कर्मोंके न करनेपर भी भगवानमें आसक्ति हो गयी श्रीकृष्ण चरणारविन्दोंमें अनुरक्ति हो गयी तो, फिर इनका प्रयोजन ही क्या ? श्रीकृष्ण प्रेमके कारण गोपिकायें संपूर्ण संसारकी पूजनीया और वन्दनीया बन गयी हैं।"

नारदजीने कहा—"उद्धवजी ! अज्ञानपूर्वककी हुई भक्तिका फल क्या ? मिश्री मिश्री कहनेसे मुँह मीठा तो नहीं होगा। इन्होंने तो भगवान्से जो प्रेम किया है, वह रूपाशक्तिके कारण किया है। ये प्रकृतिसे परे सच्चिदानंदघन परात्पर प्रभु हैं, ऐसा ज्ञान तो इन सब गोपियोंको था नहीं। ये तो भगवान्के रूपपर उनकी भुवनमोहिनी वंशीकी धुनिपर मुग्ध हो गयीं। इनका मन तो उनकी माधुरीपर अज्ञान पूर्वक खिंच गया। फिर इन्हें आप बड़े-बड़े ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ क्यों बता रहे हैं ?"

उद्धवजीने कहा—"नारदजी ! ज्ञानसे पियो अज्ञानसे पियो अमृत तो अपना फल देता ही है। रोगीको यह ज्ञान नहीं होता यह चन्द्रोदय है, यह मकरध्वज है यह सुवर्णपर्पटी है। सम्बन्धियोंके कहनेसे खालेता है, अचेतावस्थामें वैद्य उनके मुखमें डाल देते हैं, फिर भी वे अपना प्रभाव तो दिखाती ही हैं। ये जड़ वस्तुएँ चाहे अपना प्रभाव न भी दिखावें, किन्तु चैतन्यघन घनश्यामसे तो कोई जानमें प्रेम करो; अनजानमें प्रेम करो, वे उसे अवश्य ही अपना लेते हैं। कामनासे प्रेम करो, बिना कामनाके प्रेम करो, वे प्रेम करने वालेकी जाति पाँति कुलशीलका विचार नहीं करते। नहीं तो आपही सोचिये अपने पति पुत्रादिकोंको त्याग कर कुल

मर्यादाको जलाञ्जलि देकर एकमात्र जार बुद्धिसे श्रीकृष्णसे प्रेम करनेवाली ये जंगलमें रहनेवाली वनचरी ये गोपिकायें कहाँ ? और कहाँ ये अखिलकोटि ब्रह्माण्डनायक अखिलात्मा परात्पर प्रभु, किन्तु उनमें इनका रूढ़भाव हो गया। उनके चरणारविन्दोंमें इनका सुदृढ़ अनुराग हो गया, इसीलिये ये सबसे श्रेष्ठ हो गयीं। श्रीकृष्णने इन्हें अपना लिया। अपनी प्रेयसी कहकर स्वीकार कर लिया। इनके सामने संसारके भारी से भारी क्लेश आजायँ, ये उनकी ओर देखतीं भी नहीं। संसार की ओरसे इन्होंने मुख मोड़ लिया हैं। इनका कोई भी समय व्यर्थ नहीं जाता, सब समय सब दशाओंमें निरन्तर उन सर्वात्मा हरिका ही स्मरण करती रहती हैं। वाणीसे उन्हींके गुणोंका गान करती हैं, मनसे उन्हींके मनोहर रूपका चिन्तन करती रहती हैं, मस्तकसे निरन्तर उनको ही नमन करती रहती हैं। नेत्रोंसे निरन्तर उनके ही लिये नीर बहाती रहती हैं अधिक क्या कहें इनकी समस्त चेष्टायें भगवान्‌के ही निमित्त होती हैं। इनकी संसारी विषयोंमें स्वाभाविक विरक्ति है, ये जो शृङ्गारादि करती हैं अपने लिये नहीं करतीं, केवल श्रीकृष्णकी प्रीतिके हेतु करती हैं। इन्हें मान नहीं, किसी प्रकारका अभिमान नहीं, श्रीकृष्ण प्राप्तिके लिये ये भिखारिनि बनकर घर-घर बड़ी प्रसन्नतासे भीख माँग सकती हैं, भस्म रमा सकती हैं, सब कुछ कर सकती हैं। इन्हें जीवनसे भी मोह नहीं, किन्तु एक दृढ़ आशाबन्धन इनके प्राणोंको बाँधे हुये हैं, कि श्यामसुन्दर आवेंगे हमें हृदयसे आकर सटावेंगे, प्रेम प्रदान करेंगे, इसीलिये ये अत्यन्त उत्कंठा के साथ मथुराकी ओर निहारती रहती हैं, सम्भव है अब प्राणनाथ आजायँ अब हृदय धन आजायँ, इसी उत्कण्ठामें ये नयनों से नीर बहाती रहती हैं।

इनको एक ही व्यसन है, ये निरन्तर हा नाथ ! हा रमण !

हा प्रेष्ठ ! हे व्रजनाथ ! हे गोविन्द ! हे व्रजकी आर्ति हरनेवाले इन नामोंका ही गान करती रहती हैं, अपने प्यारेको प्रेमपूर्वक पुकारती रहती हैं।

नाम गानकी ही भाँति उनके गुणों में भी इनकी अत्यन्त ही आसक्ति है। जबसे मैं व्रज आया हूँ तबसे निरन्तर ये भगवान-के गुणोंको ही गाती हैं, ये कभी थकतीं नहीं श्रमित नहीं होतीं, जितना ही गुणगान करती हैं; उतना ही इन्हें अधिक रस आता है।

जिन स्थलोंमें श्यामसुन्दरने क्रीड़ायें की हैं उन स्थलोंमे इनकी इतनी अधिक आशक्ति हो गयी है, कि उन स्थलोंको छोड़कर ये कहीं जाना भी नहीं चाहतीं। निरन्तर यही सोचती रहती हैं, यहाँ श्यामने अमुक लीलाकी थी, यहाँ अमुक लीलाकी थी। ये भाव इनके दृढ़ हो गये हैं, इनकी दृष्टिमें श्यामसुन्दरके अतिरिक्त संसारमें कुछ भी नहीं है। जिन गोपियोंका ऐसा दृढ़ भाव है, उनको हम संसार में सर्वश्रेष्ठ मानकर प्रणाम करते हैं तो कौन सा पाप करते हैं ?

नारदजीने कहा—"हाँ, उद्धवजी ! आपका कथन सर्वथा सत्य है। अखिलात्मा श्रीहरिमें ऐसा दृढ़ भाव होना बड़े भाग्यकी बात है। भगवान्‌की ऐसी कृपा पृथिवीपर भाग्यशाली पुरुषोंको ही प्राप्त होती है।"

उद्धवजीने कहा—"नारदजी ! पृथिवीपर ही नहीं मैं तो कहता हूँ, जैसी कृपा इन गोपियोंने श्रीहरिकी प्राप्त की वैसी उन सुरसुन्दरियोंने भी प्राप्त नहीं की; जिनकी कान्तिकमलके सदृश है और जिनके शरीरसे सदा कमलकी-सी दिव्य गन्ध निकलती रहती है, उनकी बात छोड़ दीजिये जो लक्ष्मीजी भगवानकी अर्धाङ्गिनी हैं जो निरन्तर उनके वक्षःस्थलपर स्वच्छन्द विहार करती रहती हैं, जो पलभरको भी प्रभुसे पृथक् नहीं

उन्होंने भी यह प्रसाद प्राप्त नहीं किया। आप ही सोचें जो आत्माराम और पूर्ण काम हैं, ऐसे अखिलात्मा प्रभु रासोत्सवमें जिनके कंठोंमें भुजाओंको डालकर नृत्य करें, यह कोई साधारण कृपाका चिह्न है? कोई भी इतनी कृपाका लाभ अपने पुरुषार्थसे कर सकता है? कोई कोटि जन्म तक जप, तप साधन करे, तो भी इतनी कृपाका अधिकारी नहीं बन सकता। यह उन्हींकी कृपाके ऊपर निर्भर है।

नारदजीने कहा—"उद्धवजी! भगवान्‌की कृपासे एक बार हम भी गोपी बने थे, तुम भी गोपी बन जाओ। तुम्हें भी यह सौभाग्य प्राप्त हो जायगा।"

उद्धवजीने अश्रु विमोचन करते हुए गद्‌गद कंठसे कहा—"ब्रह्मन्! गोपी कोई अपने आप तो बन नहीं सकता। ऊपरसे गोपियोंका-सा वेष बना लेनेसे ही कोई गोपी नहीं हो सकता। जो भी मुकुट पहिन ले, छत्र चँवर धारणकर ले, वही राजा हो जाय, सो बात तो नहीं है। नाटक अभिनयमें कितने नट राजाका वेष बनाते हैं, अपनेको राजा दर्शाते हैं, किन्तु वे राजा तो नहीं हो जाते। इसी प्रकार केवल लहँगा फरिया ओढ़नेसे ही कोई गोपी नहीं बन सकता। जिसे वे वरण करलें, अपनी सखी कहकर स्वीकार करलें, वही गोपी भावको प्राप्त हो सकता है। गोपी होना तो बड़ी दूरकी बात है, वह तो अत्यन्त सौभाग्यका चिह्न है। मेरी तो इच्छा है, यदि मैं यहाँ वृन्दावनकी कुंजोंमें कोई कँटीली झाड़ी ही हो जाऊँ, करील, पीलू अथवा और कोई छोटा सा वृक्ष हो जाऊँ, घास ही हो जाऊँ तो अपनेको कृतकृत्य अनुभव करने लगूँ? तब मैं धन्य हो जाऊँ कृतार्थ हो जाऊँ?

नारदजीने कहा—"उद्धवजी! मान लो आप व्रजमें लता, ओषधि या झाड़ी ही हो गये, तो उससे आपको भगवान् रास-[illegible]का आलिङ्गन तो प्राप्त होगा नहीं, फिर आप वृक्ष बनने-

की अभिलाषा क्यों करते हैं ? यदि वृक्ष बननेकी अभिलाषा ही है तो वट, पीपर, पाकर, आम तथा गूलर आदि बड़े बड़े वृक्ष बननेकी अभिलाषा क्यों नहीं करते, जिससे प्रियतम कभी उन्हींकी छाँहमें आकर बैठें औरोंको भी सुख हो ?"

आह भरकर उद्धवजीने कहा—"हम उन रासेश्वरके आलिङ्गनके अधिकारी ही कहाँ हैं, हमारे द्वारा दूसरोंका उपकार ही क्या हो सकता है। बड़े वृक्ष बनकर गोपियों तथा गोविन्दको अपनी छायामें बिठा सकें इतने पुण्य हमारे कहाँ। हम तो छोटी-छोटी कँटीली झाड़ी, छोटे छोटे वृक्ष तथा घास आदि ही बन जाते, जिन पर आते जाते, इन महाभागा गोपियोंके चरणोंकी धूलि उड़ उड़कर पड़ जाती, तो इसीमें हम कृतार्थ हो जाते। बड़े वृक्षोंपर चरण धूलि कठिनतासे पहुँचेगी। हमें तो इन व्रजाङ्गनाओंकी चरणरज मिल जाय, तो इतनेसे ही कृतार्थ हो जायँ। नारदजी ! आप ही सोचें इन व्रजाङ्गनाओंने कैसा महान् त्याग किया है। पति, सुत, बन्धु, बान्धव तथा अन्य सम्बन्धियोंको त्याग देना अत्यन्त ही कठिन है। इससे भी कठिन लोकलाज तथा कुलधर्मको छोड़ देना है। इन सबको त्यागकर इन्होंने श्यामसुन्दरके चरणकमलोंका अनुसरण किया, सब ओरसे अपने चित्तकी वृत्तिको हटाकर एकमात्र नंदनंदनमें ही अपना मन लगाया ऐसी व्रजाङ्गनाओंकी जितनी भी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है। जिनकी कृपादृष्टिके लिये बड़े बड़े लोकपाल तरसते हैं, वे ही श्रीकृष्ण अनुरागभरी दृष्टिसे उत्सुकतापूर्वक जिनकी ओर निरन्तर निहारते रहते हैं उन गोपिकाओंका हम क्या करके सत्कार कर सकते हैं। भगवान्‌के चरण-चरण कितने मृदुल तथा सुखद हैं। योगिगण समाधिमें जिन चरणोंका [illegible] करते रहते हैं, ब्रह्मादि देव जिन चरणोंमें अपने [illegible] से युक्त मस्तकको रगड़ते रहते हैं, जिन चरणोंकी

बनी कमला श्रद्धा भक्ति सहित करती रहती हैं, उन्हीं चरणोंको ये गोपिकायें निश्शंक होकर अपनी गोदीमें लिये रहती थीं, उन्हें अपने वक्षःस्थलपर धारण करके विरह व्यथाको शान्त करती थीं। रासविलासके अनंतर उन्हीं मृदुल चरणोंको अपने कोमल करकमलोंसे दबाती थीं, ऐसी इन गोपिकाओंसे बढ़कर भाग्यशाली और कौन हो सकता है। इनकी यदि मैं चरणवन्दना करता हूँ, तो इनका सत्कार नहीं करता अपने मस्तकको सार्थक बनाता हूँ। देवर्षे! जो मिथ्याभिमानवश भगवदाश्रित अनन्य भागवतोंका आदर नहीं करते, उनके प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित नहीं करते उन लोगोंका जीवन वृथा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना सुनकर नारदजीका हृदय भर आया वे भी उद्धवजीके स्वरमें स्वर मिलाकर कहने लगे—"मैं इन नन्दगाँवकी गोपाङ्गनाओंकी चरणरजको पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ जिनका हरिकथामय ललित गान त्रिभुवनको पावन करता है जिनकी अमल विमल कीर्ति चतुर्दिक व्याप्त है जो भूलोकमें प्रेमका पाठ पढ़ानेके लिये ही प्रकट हुई हैं।" इस प्रकार उद्धवजीके सहित नारदजीने गोपाङ्गनाओंकी चरणवन्दना की फिर वे उद्धजी और व्रजाङ्गनाओंसे अनुमति लेकर इच्छानुसार अन्य लोकोंमें चले गये। इधर रात्रि देखकर गोपाङ्गनायें अपने-अपने घरोंको चली गयीं। इस प्रकार उद्धवजी अब गोपिकाओंमें गुरुभाव मानने लगे। उन्हें नन्दगाँवमें रहते रहते बहुत दिन हो गये थे, उनकी इच्छा तो नहीं थी कि व्रज छोड़कर जायँ, किन्तु मथुरामें जाकर भगवान्‌को भी गोपियोंका सम्वाद देना था, अतः मथुरा जानेकी सोचने लगे।

छप्पय

मोइ मिलै ब्रजवास बनूँ चाहें तृन पाथर।
ब्रजबनितनि पदधूरि परै उड़ि उड़ि मम ऊपर॥
जिनि चरननि अज शंभु योगिजन नितप्रति ध्यावें।
तिनिकूँ ये हिय धारि नारि तनु ताप मिटावें॥
जिनिको जगमहँ भरयो यश, तिनिकी का इस्तुति करूँ।
केवल उनकी चरन रज, महँ पुनि-पुनि निज सिर धरूँ॥

उद्धवजीकी विदाई

[१०७२]

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ४७ अ० ६४ श्लो०)

छप्पय

यों उद्धव कछु दिवस रहे ब्रज अति सुख पायौ।
'कहूँ सन्देशो जाइ श्यामतैं सबनि सुनायौ॥
सुनि उद्धवको गमन नयन सबके भरि आये।
ऊधो हू चलि दये लौटि वे ई दिन आये॥
कहि न सकें कछु मलिनमुख, फटत हियो हाहा करहिं।
सिर धुनि धुनि रोवत फिरहिं, भेंट लाइ रथमहँ धरहिं॥

जिनके साथ एकान्तमें रहस्यमयी बातें हुई हैं, जिन्होंने प्रियका सन्देश सुनाया है, हमें धैर्य बँधाया है हमारा दुख सुख सुना है, अपना दुख सुख सुनाया है, जो हममें घुलमिल गये हैं, जिनके सत्संगसे नित्य प्रति प्रियस्मृति होती है, वे यदि हमसे पृथक् हो जायँ, तो ऐसा लगता है, मानों कोई प्राणोंको देहसे पृथक्

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उद्धवजी गोपियोंसे, नन्दजी यशोदा तथा अन्यान्य गोपोंसे आज्ञा लेकर मथुरा जानेके लिए रथपर आकर बैठ गये।

कर रहा हो। यह जीव एकके अभावमें एकको पाकर कुछ कुछ धैर्य धारण करता है, जब उस दूसरेका भी वियोग होता है तो और भी अधिक अधीर होता है। संसारमें संयोग, वियोगके ही लिये होता है। जो मिला है वह अवश्य एक दिन बिछुड़ेगा। मिलना और बिछुड़ना यही प्रकृतिका नियम है। यही विधिका विधान है। इसे कौन टाल सकता है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजी को व्रजमें रहते रहते बहुत दिन हो गये। वे व्रजवासियोंमें ऐसे घुलमिल गये थे, कि सभी उन्हें आत्मीय अनुभव करते थे। व्रजकी दशा देखकर उद्धवजीका हृदय द्रवित हो गया, गोपियोंके अलौकिक प्रेमके आगे उन्होंने सिर झुका दिया। वे उनके भक्त प्रशंसक तथा अनुगत बन गये। गोपियोंके लिये उनके हृदयमें अत्यधिक आदर भाव बढ़ गया। व्रजमें निवास करनेकी उनकी इच्छा प्रबल हो गई।

व्रजमें रहते रहते उनकी तृप्ति ही नहीं होती थी, किन्तु वे अपने स्वामी श्यामसुन्दरकी इस आज्ञाको नहीं भूले थे, कि "तुम गोपियोंको सन्देश देकर उन्हें धैर्य बँधाकर तुरन्त मथुरा लौट आना।" अतः अब उन्होंने मथुरा जाने का विचार किया।

एक दिन जब सायंकालीन गोष्ठी समाप्त हुई तब उद्धवजीने अत्यंत विनीत भावसे कहा—"देवियो! मुझे यहाँ रहते हुए बहुत दिन हो गये, भगवान् मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, तुम्हारी ही भाँति वहाँके सन्देश सुननेको वे भी सब समय समुत्सुक बने रहते होंगे। अतः मुझे आप सब मथुरा जाने की अनुमति दें। वैसे मेरी इच्छा तो व्रज त्यागकर कहीं जानेकी होती नहीं, किन्तु कर्तव्यपालनके निमित्त इच्छाके विरुद्ध भी कार्य करना पड़ता है।"

गोपियोंने आह भरकर कहा—"ये पुरुष सभी निर्मोही होते

हैं क्या, पहिले तो प्रेम प्रदर्शित करके चित्तको अपनी ओर खींच लेते हैं, फिर उदासीन हो जाते हैं। बड़े लोगोंने सत्य ही कहा है, कि परदेशीसे प्रेम करना और फूँससे तापना इसमें सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक होता है। फूँसको जलाकर जाड़ोंमें तापो तो प्रथम तो बड़ा सुख होगा, जाड़ा भाग जायगा। किन्तु फूँसकी अग्नि स्थाई तो होती नहीं, उसके कोयले होते नहीं। एक बार जलकर बुझ जाता है, फिर क्लेश ही क्लेश हाथमें रह जाता है। इसी प्रकार परदेशीकी प्रीति प्रथम तो बड़ी अच्छी लगती है, किन्तु जब वह घटाऊकी भाँति नेहके नातेको तोड़कर चला जाता है, तो जीवनभर रोना ही रोना शेष रह जाता है। देखो, श्यामसुन्दरसे प्रीति करके हम कितना क्लेश सह रही हैं। आपके आनेसे कुछ कुछ संतोष हुआ था। आशा थी इसी प्रकार साथ बैठ बैठकर युग युगान्तरों तक ऐसे ही परस्परमें प्रियकी कथा कहते हुए काल यापन करेंगी। सो तुम भी जानेको कह रहे हो। हाय! उद्धव, श्यामसुन्दरने तुम्हें निर्मोहीपनेका ही पाठ पढ़ाया है क्या? तुम्हारे साथ ये दिन कितने सुखपूर्वक कटे। अब अपना सुख दुख किन्हें हम सुनावेंगीं। किसके सामने अपने मनोगत भावोंको व्यक्त करेंगी। कौन हमें धैर्य बँधावेगा? कौन हमें प्यारेकी बातें बतावेगा। उद्धव! तुम्हारे हृदयमें हमारे प्रति कुछ भी अपनापन हो तो तुम मत जाओ। जाना ही हो, तो हम सबको यमुनाजी में डुबाकर तब जाओ।

उद्धवजीने अश्रुविमोचन करते हुए कहा—"देवियो! आप सब ऐसा आशीर्वाद दो, कि मुझे किसी प्रकार व्रजवास प्राप्त हो। मैं स्वेच्छासे इस 'पुण्यभूमिको त्यागकर अन्यत्र कहीं भी जाना नहीं चाहता, किन्तु मैं स्ववश नहीं परवश हूँ। मेरी अपनी कोई इच्छा नहीं। मैंने अपनी इच्छा मदनमोहनकी इच्छामें मिला दी है। मैं तो उन यन्त्री रूप यदुनन्दनका यन्त्र हूँ,

वे मुझे जैसे घुमावेंगे, वैसे विवश होकर घूमना पड़ेगा। मैं अपने मनसे नहीं जा रहा हूँ। मुझे श्यामसुन्दरकी ऐसी ही आज्ञा थी।"

आह भरकर गोपियों ने कहा—"जाओ भैया! हमारे भी राम हैं। तुम्हारा भी इसमें क्या दोष, सब अपने भाग्यका ही दोष है। जिसे अपना समझा था, जिसके ऊपर सर्वस्व निछावर कर दिया था, जब वही अपना नहीं हुआ। वही छोड़कर चला गया, तो तुमसे किस मुखसे कहें। हम जानती हैं तुम रोकनेसे भी न रुकोगे। मथुरा अवश्य जाओगे। अच्छा, जाओ किन्तु देखना; हमें भूल मत जाना। कभी कभी हमें स्मरण कर लिया करना, कि व्रजमें कुछ गँवारिनि ग्वालिनियाँ भी रहती हैं। सज्जनोंकी मैत्री सप्तपदी कही गयी है। जिसके साथ सज्जन लोग सात पग चलते हैं उसे मित्र मानते हैं, सो आप तो महीनों हमारे साथ रहे हो।"

उद्धवजी रोते रोते बोले—"श्यामसुन्दरसे जाकर क्या कह दूँ?"

छटपटाते हुए गद्गद वाणीसे अधीर होकर गोपिकाओंने कहा—"क्या कहोगे उद्धव! उनसे यही कह देना कि वे सुखसे रहें, राज्य करें। हमें भूल जायँ। प्रयत्न तो हम भी वैसा ही कर रही हैं, किन्तु हमारे लिये यह असम्भव है।"

उद्धवजीने कहा—"कोई चिट्ठी पत्री देनी हो; तो वह भी दे दो।"

गोपिकाओंने कहा—"हम पढ़ीं नहीं, लिखी नहीं, हमपर कागद नहीं, स्याही नहीं, लेखनी नहीं आवरण नहीं, पत्र लिखनेके कुछ भी साधन नहीं। पत्र क्या लिखें। हम तुम्हें एक वस्तु देती हैं, जिनमें अनन्त स्मृतियाँ अंकित हैं श्यामसुन्दर उन्हें युगों तक पढ़ते रहें तो भी पूरा न पढ़ सकेंगे।" यह

कहकर उन गोपिकाओंने श्रीजीकी वह छपी हुई रंग बिरंगी चूनरी उद्धवजीको दी जिसमें अश्रु पोंछनेसे स्थान स्थानपर काजल लगा था, जो वक्षःस्थलकी केशरकी सुवाससे सुवासित थी। जिसमें अनेक बार प्यारेके पीताम्बर से गोपियोंने गाँठ बाँधी थीं, जो रास के अनन्तर प्यारेके बैठनेके लिये बिछाई गई थी। जिसके छोरकी वायुसे वनमाली व्याकुल हो जाते थे, जिसे सूँघकर वे अपनेको कृतकृत्य समझते। उस सुन्दर सुगन्धित चूनरीको एक अन्यवस्त्रमें लपेटकर उद्धवजीको दिया।" उद्धवजीने बड़े गौरवसे उसे सिर-पर चढ़ाया और अपनी गोदीमें रख लिया। फिर उद्धवजी बोले—"तो मुझे आज्ञा है न?"

गोपियोंने कहा—"कैसे कहें उद्धव! अब हमींसे कहलाना चाहते हो? क्या यह गोष्ठी अन्तिम है?"

उद्धवजीने कहा—"अंतिम कैसे है? आप सब आशीर्वाद देंगी तो मुझे व्रजवास प्राप्त हो सकेगा, फिर तो निरन्तर आपका सत्संग प्राप्त हो ही सकेगा।"

गोपियोंने कहा—"भगवान् करें आपको निरन्तर व्रजवास प्राप्त हो।"

यह सुनकर उद्धवजीने भूमिमें लोटकर सब गोपाङ्गनाओंको प्रणाम किया, उनकी चरणधूलि सिरपर चढ़ाकर कुछ अपने दुपट्टेके छोरमें बाँधकर प्यारीजीकी प्रसादी चूनरीकी पुटलीको सिरपर रखकर व्रजमें आगये। गोपिकायें भी अपने घरोंमें चली गयीं। आज वे रात्रिभर उद्धवजीके ही सम्बन्धकी बातें करती रहीं—"उद्धव इस प्रकार जाकर श्यामसुन्दरसे हमारा सन्देश कहेंगे, श्यामसुन्दर हमारे सम्बन्धमें उनसे यह पूछेंगे। हमारी चर्चा करेंगे।" इसी सम्बन्धकी बातें करते करते प्रातःकाल हुआ व्रजभरमें हल्ला मच गया। उद्धवजी कल चले जायँगे अतः सभी

दुखी हो गये। आज प्रातःकालसे ही व्रजवासी आ आकर नन्द पौरिपर एकत्रित हो गये।

उद्धवजीका सुवर्ण मंडित रथ निकालकर मार्गपर खड़ा किया गया। सेवकोंने उसमें घोड़े जोते। उद्धवजी अन्यमनस्क भावसे जाकर रथपर बैठ गये। नन्दजी तथा यशोदा मैयाके नेत्रोंसे नीर बह रहा था और भी सब ग्वालबाल रो रहे थे, गोपिकाओंकी दशा बुरी थी, उनका धैर्य छूट गया था. उद्धवजी इस अत्यन्त करुणापूर्ण दृश्यको अधिक न देख सके, उन्होंने भर्राई हुई वाणी-से कहा—"मुझे अब जानेकी अनुमति मिलनी चाहिये। अब मैं इस दृश्यको देखनेमें असमर्थ हूँ।" यह कहकर उन्होंने रथको हाँक दिया। घोड़ा रथको लेकर दौड़ने लगे। जिस दिन श्रीकृष्ण मथुरा गये थे, वैसा ही दृश्य उस समय उपस्थित हो गया।

उद्धवजीका रथ कुछ दूर ही चला होगा, अभी वे गाँवसे बाहर भी नहीं हुए थे, कि उसी समय पीछेसे हाथ उठाकर नन्द-जी तथा अन्यान्य गोपोंने कहा—"उद्धवजी! उद्धवजी! तनिक रथको खड़ा करो। हमसब तो ऐसे भूल गये, कि रामश्यामके लिये कुछ उपहार भी न दे सकें कुछ सन्देश भी न कह सके। हमारे इन तुच्छ उपहारों को लेते जाओ और साथ ही कुछ सन्देश भी।"

उपहार और सन्देशकी बात सुनकर उद्धवजीने रथको खड़ा-कर दिया। दौड़कर गोप और गोपियोंने पुनः रथको चारों ओरसे घेर लिया। नन्दजीने बड़े-बड़े मटकोंमें मक्खन, दही, घृत तथा अन्यान्य पदार्थ लाकर रथमें रखवाये, बहुमूल्य वस्त्राभूषण रखकर उन्होंने बताया यह हमारी ओरसे महाराज उग्रसेनको देना, यह वसुदेवजीको देना, यह उनके भाइयोंको देना। यह राम श्यामको देना।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, उपहार तो आ गये, मैं सबको दूँगा

किन्तु आप जो सन्देश देना चाहते थे, वह संदेश तो दीजिये।" आज समस्त गोप विकल हो रहे थे, अधीरतामें वात्सल्य रस बह गया, उनके मनमें दास्य रसका प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि व्रजमें सख्य, वात्सल्य और मधुर इन तीन रसोंकी ही प्रधानता है, किन्तु आज न जाने दास्य यहाँ कहाँसे आगया। दास्य सभी रसों में इसी प्रकार व्याप्त रहता है, जिस प्रकार सभी वस्तुओंमें आकाश व्याप्त रहता है, जैसे आकाशके बिना कोई वस्तु नहीं वैसे ही दास्यके बिना कोई रस नहीं। वात्सल्यमें भी दास्य रहता है। मधुर तो दास्यके बिना टिकता ही नहीं। अन्य सब रसोंमें दास्य छिपकर रहता है, शोकमें अत्यन्त हर्ष और संभ्रममें दास्य प्रस्फुटित हो जाता है। आज नन्दादिक गोप अपनेको न सम्हाल सके उनका दास्य भाव वात्सल्यको दबाकर उमड़ ही तो पड़ा। वे रोते रोते बोले—"उद्धव! अब क्या सन्देश कहें, यही कह देना कि हे बालकृष्ण! हमारे मनकी समस्त वृत्तियाँ निरन्तर आपके ही चरणारविन्दोंमें लगी रहें। हमारी वाणी सदा आपके ही नामोंका संकीर्तन करती रहे, और हमारा शरीर आपको ही प्रणामादिक करनेमें लगा रहे। प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार संसार चक्रमें घूमते हुए हमारी आपकी इच्छासे जहाँ जहाँ भी जन्म हो हमारे दान पुण्यादि कुछ भी सुकृत हो, तो उनके परिणाम-स्वरूप हमें उन-उन योनियोंमें आपकी अहैतुकी भक्ति प्राप्त हो।" यही संदेह हमारा तुम उनसे कह देना।"

सूतजी कहते हैं—"सन्देश सुनकर उद्धवजीके नयन बहने लगे, वे वहाँ और अधिक खड़े न रह सके। उन्होंने घोड़ोंको हाँक दिया घोड़े वायुसे बातें करने लगे और व्रजवासी वहाँ खड़े खड़े रोते रहे। जब तक उन्हें उद्धवजीका रथ दिखाई देता रहा तबतक वे खड़े-खड़े देखते रहे, फिर कुछ कालमें रथ न दीखकर उड़ती हुई धूल ही दीखती रही, कुछ कालमें धूल भी दुरित

होकर बैठ गयी। उसमें भी जब उड़नेकी शक्ति न रही, तो ब्रजवासी भी निराश होकर लौट आये। उधर उद्धवजी गोपों के प्रेम और सम्मान की बातें याद करते हुए भगवान वासुदेवपालित श्रीमथुरापुरीके निकट आ गये। अब वे जैसे भगवानसे मिलकर ब्रजवासिओंका संदेश सुनायेंगे उपहारादि देंगे। उसकी कथा मैं आगे कहकर इस उद्धव प्रसङ्गको समाप्त करूँगा।

छप्पय

रामश्यामकूँ सबनि सँदेशो निज निज दीन्हों।
ऊधो रथपै चढ़े सबनिको आदर कीन्हों॥
ब्रजवासी मिलि कहैं—हमें अब जिह ही भावै।
कृष्णचरन मन रमैं नाम रसना नित गावै॥
तन हरि सेवामहँ निरत, सत्संगतिमहँ होइ मति।
जहँ जहँ जनमें करमवश, होहि तहाँ हरि चरन रति॥

उद्धवजी द्वारा व्रजवासियोंका श्यामको संदेश

(१०७३)

एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥
कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० ६८ ६९ श्लो०)

छप्पय

सबको सुनि संदेश चलायो ऊधो रथ तब ।
व्याकुल ह्वै के गिरे नारिनर भये विकल सब ॥
उद्धव रथकूँ लिये फेरि मथुरामहँ आये ।
व्रजवासिनिके वृत्त श्यामकूँ सकल सुनाये ॥
कुंकुम कज्जलतैं सनी, प्यारीकी चूनरि दई ।
लखि रोये राधारमन, हिय लगाइ सिर धरि लई ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार गोपोंके द्वारा कृष्ण भक्तिसे सम्मानित होकर उद्धवजी श्रीकृष्णपालिता मथुरापुरीमें लौट आये । वहाँ उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम करके व्रजवासियों की भक्तिके बाहुल्यका वर्णन किया और नन्दजीने जो जो उपहारकी सामग्रियाँ दी थीं वे वसुदेवजीको बलरामजीको तथा उग्रसेनजीको

अतीतकी स्मृतियोंमें ही अनंत भाव भरे रहते हैं। उन्हींको याद कर करके प्राणी सुखी होता है, दुखी होता है प्रेमकी स्मृतियों का दुख भी सुखसे बढ़कर है। कहना चाहिये कि 'प्रियमिलनकी घटनाओंका स्मरण करके दुखी होना' यही सबसे बड़ा संसारमें सुख है। देहका मिलन तो अति निकृष्ट मिलन है। यथार्थ मिलन तो मनसे। शरीरके वियोगमें मनसे मिले रहनेपर एक अनिर्वचनीय सुख होता है, वह मिलन ऐसा है. उसमें विछोह नहीं, अपना प्रिय रोम रोममें रमा रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजी मथुरा में लौट आये। आकर उन्होंने महाराज उग्रसेनको, वसुदेवजीको अपने पिता तथा चाचाओंको और बलदेवजीको व्रजके कुशल-समाचार सुनाये। व्रजराजके भेजे उपहार उन्हें दिये। सभीने नंदजीकी तथा समस्त व्रजवासियोंकी कुशल पूछी। उद्धवजीने सब बातें बताईं।

उद्धवजीको आया देखकर भगवानकी उत्सुकता अत्यन्त बढ़ गई, वे उद्धवजीको एकान्तमे ले गये और उनका आदर करके पूछने लगे—"उद्धवजी कहो व्रज हो आये? वहाँके समाचार सुनाइये। सब व्रजवासी भली प्रकारसे तो हैं।"

उद्धवजीने कहा—"क्या कुशल बतावें महाराज! आपने तो उन सबके साथ बड़ा अन्याय किया है।"

आश्चर्यकी मुद्रा प्रकट करते हुये भगवान् बोले—"क्यों क्या हुआ उद्धवजी! आपका तो स्वर ही बदल गया। आपतो गोपियों को शिक्षा देने गये थे, उलटे मुझे ही दोष लगाने लगे?"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, महाराज! गया तो था मैं शिक्षा देने, किन्तु उलटे उन्होंने मुझे शिक्षा दे दी। मेरा पाठ पढ़ने-के स्थानमें उन्होंने ही मुझे पाठ पढ़ा दिया। मेरी चेली न बनकर उन्होंने ही मुझे चेला मूड़ लिया?"

भगवानने कहा—"तुमने वहाँ ज्ञानकी चर्चा नहीं की?"

उद्धवजी बोले—" जहाँ कोई ग्राहक हो वहाँ वस्तु दिखाई भी जाती है। प्रेमके आगे वहाँ तो ज्ञानको कोई टकासेर भी न पूछता। वे सब तो समझी समझाई हैं, मेरा ही अज्ञान था, सो वहाँ जाकर दूर हो गया। वास्तवमें वे भूली नहीं हैं, भूला तो मैं ही था। आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की जो मुझे व्रज भेजकर प्रेम का अनिर्वचनीय दृश्य दिखाया।"

भगवान् बोले—"कुछ तो बताओ! तुम गये तो प्रथम कौन मिला? कोई हमारा स्मरण करता था या सब हमें भूल गये?"

उद्धवजी बोले—"महाराज! व्रजवासी और सब कुछ भूल गये हैं, निरन्तर आपहीका तो स्मरण करते रहते हैं। मैं कुछ रात्रि बीतते बीतते चुपके चुपके चोरकी भाँति व्रजमें पहुँचा था। मैंने देखा घर घर आपकी ही चर्चा हो रही है, आपके ही गीत गाये जा रहे हैं, आपके ही नाम गुणोंका कीर्तन हो रहा है। मैं रथसे उतरा ही था कि बाबा मिल गये। वे बड़े आदरसे मुझे घरमें ले गये। मैया यशोदा और बाबा रातभर मेरे पास बैठे रहे। पल-भरको उनके पलकसे पलक नहीं जुटे। पूरी रात उन्होंने रोते-रोते आपकी चर्चा करते करते ही बिताई। प्रातःकाल समस्त व्रजमें मेरे आनेका हल्ला मच गया। मैंने देखा, सबकी रोते-रोते आँख बैठ गई हैं, शरीर पीले पड़ गये हैं सब दुबले पतले हो गये हैं। गोपिकाओंकी दशा बड़ी ही दयनीय है। उनकी दशा कहनेसे हृदय विदीर्ण होता है। वे सब मुझे एकान्तमें ले गईं। निरन्तर मेरे सम्मुख बैठी हुई नयनोंसे नीर बहाती रहीं। उन सबमें एक अत्यन्त सुन्दरी थीं, सभी उनका बड़ा मान करतीं थीं, उनकी दशा तो अवर्णनीय थी। वे निरन्तर ऊर्ध्व श्वाँस सी ले रही थीं। शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था चूड़ियाँ कंधे तक जातीं। वस्त्रोंका भी भार वे नहीं सह सकती थीं। वे कुछ

कहने खड़ी हुईं किन्तु उनपर खड़ा नहीं हुआ गया, लड़खड़ाकर गिर गईं।"

भगवान्‌ने कहा—'तुमने मेरी पाती उन्हें सुनाई थी ? उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, महाराज ! आपकी पाती मैंने उन्हें सुनाई। उन सबने उसे धैर्यपूर्वक सुना। इस बातसे तो उन्हें आन्तरिक प्रसन्नता हुई, कि प्रियतमने हमको प्रेमपाती पठाई है, किन्तु उसमें लिखा क्या है, उसकी ओर किसीने भी ध्यान नहीं दिया। वे अपना ही दुखड़ा रोती रहीं। अपने ही विरहके गीत गाती रहीं।"

भगवान्‌ने पूछा—"तो तुम उन्हें समझाते ? उपदेश देते ?"

उद्धवजीने कहा—"उनके भावावेपको देखकर तो भगवन् ! मेरी बोलती बन्द होगई,मैंने तो उनमे गुरुबुद्धि कर ली। उनकी सी दशा तो मैंने आजतक किसी की देखी ही नहीं, उनका समस्त शरीरका रक्त पानी बन बनकर नेत्रों द्वारा निकल रहा है। जहाँ वे बैठती—वहाँकी भूमि गीली हो जाती है, उनके वस्त्र भीग जाते हैं। ऐसा लगता है, मानो व्रजमें वर्षाने आकर वास कर लिया है। वे निरन्तर मथुराकी ओर देखती रहती हैं। कौएको देखते ही उसे उड़ाती है। नित्यकी सगुनौटी डालती है, जो भी पथिक मथुराकी ओरसे आता जाता है,उससे आपकी कुशलता पूछती हैं, यदि मथुरा जा रहा हो तो उसके हाथ संदेश पठाती है। उन्होंने समस्त शरीरके सुख त्याग दिये हैं। केश जूरा बन गये हैं। तेल फुलेल लगाना, सबने छोड़ दिया है। सबके वस्त्र मलीन हो गये हैं। भोजन पान उन्हें कुछ भी नहीं सुहाता है। गौओंकी दशा सबसे बुरी है, वे तृण नहीं चरतीं यमुनाके नीले जलको देखते ही मूर्छित हो जाती हैं, मोरको नाचते देखकर वे पूँछें उठा उठाकर बाँ बाँ चिल्लाती हुई दौड़तीं हैं। कोई भी

गोप वंशी बजा दे तो सबके कान खड़े हो जाते हैं। क्या कहूँ महाराज ! कुछ कहते बनता ही नहीं।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धवजी जब उन सबकी ऐसी बुरी दशा है, तो आप इतने दिनोंतक रहकर वहाँ करते क्या रहे ? कुछ उनका उपचार करते, चिकित्सा कराते ?"

उद्धवजी आह भरकर बोले—"महाराज ! उनका रोग असाध्य है। बाहरी चिकित्सासे वह शान्त होने वाला नहीं। उसकी एकमात्र औषधि है, आपके दर्शन। आप दश दिन के लिए व्रज चले चलें तो सब ठीक ठाक हो जाय।"

भगवान् सूखी हँसी हँसकर बोले—"अब उद्धवजी ! आप भी उन्हीं सबका पक्ष लेने लगे। मैंने भेजा इसलिये था कि आप उन्हें ज्ञानका उपदेश देकर अपना सा बना लोगे। किन्तु आप तो स्वयं ही उनकेसे बन गये।"

उद्धवजी बोले—"महाराज ! बहुमत अल्पमतको अपनेमें मिला लेता है। मैं ठहरा अकेला, वे ठहरीं सहस्रों। उन सबने अपनी शक्तिसे मुझे अपनी ओर खींच लिया। अब मेरी प्रार्थना यही है, कि निष्ठुरता छोड़ो और व्रज चलकर उनके तनमनकी तपन बुझाओ। उन्हें सनाथ बनाओ।"

यह सुनकर श्यामसुन्दर रो पड़े। वे अपने हृद्गत भावोंको और अधिक न छिपा सके। उन्होंने कहा—"ऊधोजी ! सच्ची बात यह है, मुझे व्रजके वे सुवर्ण दिवस भूलते नहीं। जितना लाड़ प्यार मैंने व्रजमें पाया है, उतना अन्यत्र कहीं कहाँ मिल सकता है ? माताका वह प्यार। बाबाका वह अपनापन। गोपोंकी वह मैत्री, गोपिकाओंका वह अनन्य अनुराग, ये सभी अनुपम वस्तुएँ थीं, संसार में उनकी समानता कहीं भी हो नहीं सकती। किस प्रकार उठते ही मैया हमें माखन मिश्री खिलाती थी। कैसे हम कलेऊ बाँधकर गौओंको लेकर ग्वालबालोंके साथ

बन जाते थे, कैसे कैसे खेल हम सब खेलते थे। गोपियोंके साथ कुंजकुटीरोंमें कैसी कैसी रहस्यमय क्रीड़ायें होती थीं उन सबको स्मरणकर करके मेरे रोमाञ्च होते हैं। गोपिकाओंने मेरे पीछे सर्वस्व त्याग दिया था, उनकी एकमात्र गति मैं ही था। मेरे बिना वे किसी अन्यको जानती ही नहीं थीं। भाग्यकी विडम्बना है, कि उन सबको मुझे छोड़ना पड़ा।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! आप तो सर्वसमर्थ हैं, उनसे पृथक क्यों रहते हैं, चलकर उन्हें दर्शन दें, या उन्हें यहीं बुला लें। आप यहाँ अधीर हो रहे हैं, वे सब वहाँ तड़प रही हैं यह सब अच्छी बात थोड़े ही है। इतने दिन हो गये आप गये ही नहीं यह निष्ठुरता नहीं तो और क्या है?"

भगवान ने कहा—"उद्धव! तुम तो इतने दिनोंकी बात कह रहे हो, मैं तो उनसे पलभर भी पृथक् नहीं रह सकता। देखो, मेरे रोमरोममें गोपिकायें रमी हुई हैं।" यह कहकर भगवान्‌ने उद्धवजीको अपना व्रजका दिव्य सरस रूप दिखाया। नंद, यशोदा, ग्वाल-बाल तथा असंख्यों गोपियाँ उनके श्रीअङ्गमें निवास कर रही हैं और वे ही सब लीलायें निरन्तर हो रही हैं। भगवान्‌के ऐसे दिव्य रूपको देखकर उद्धवजी उनके पैरोंमें पड़ गये और बार बार अधीर होकर वे व्रजवासकी याचना करने लगे। भगवान्‌ने 'तथास्तु' कहकर अपना वह सरस स्वरूप छिपा लिया। उद्धवजीको उठाकर हृदयसे लगाया। अब उद्धवजीकी शंका दूर हो गई। वे समझ गये व्रजवासी और व्रजवल्लभ दो नहीं, बिम्ब प्रतिबिम्बकी भाँति एक ही होकर सरस क्रीड़ायें कर रहे हैं।"

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! उद्धवजीने बार-बार व्रजके वासकी याचना की, वे व्रजमें लता बनकर रहनेके बड़े उत्सुक थे। गोपियोंने भी उन्हें वर दिया और भगवान्‌ने भी

'तथास्तु' कहकर उनकी अभिलाषाका समर्थन किया। फिर उन्हें व्रजवास प्राप्त हुआ या नहीं ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! होता क्यों नहीं। भगवानके भक्त जो भी कामना करते हैं वही उन्हें प्राप्त होती है, फिर उद्धवजी तो अनन्य ठहरे उनकी इच्छा पूर्ण क्यों न होगी। गोवर्धन और राधाकुंडके बीचमें एक कुसुमसरोवर स्थान है उसे सखीस्थल या रसवृन्दावन भी कहते हैं। वहीं पर उद्धवजी गोपियोंकी चरणरजकी अभिलाषासे लता रूपमें अबतक विराजते हैं और किसी भाग्यशालीको उनके अब भी दर्शन होते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप पीछे तो कह आये हैं, कि उद्धवजी भगवान्‌की आज्ञासे उनकी चरणपादुका लेकर तप करने बदरी वन चले गये और अद्यावधि वहाँ तप कर रहे हैं। अब आप कहते हैं, कि वे लता बने गोवर्धनके समीप कुसुम सरोवरपर निवास करते हैं। इन दो विपरीत बातोंकी संगति कैसे बैठेगी ?"

सूतजीने कहा—"देखिये, महाराज! बदरिकाश्रम साधन-भूमि है। और यह वृन्दावन फलभूमि है। लोकसंग्रहकी दृष्टिसे साधन करनेके निमित्त एक रूपसे तो उद्धवजी बदरिकाश्रममें रहते हैं। उद्धवका अर्थ है भगवान्‌का 'आत्मोत्सवस्वरूप' मंदिरोंमें—दिव्य देशोंमें भगवान्‌के दो विग्रह होते हैं। एक तो अचल विग्रह, एक उत्सव विग्रह। उत्सवोंमें अचल मूर्ति मंदिरमें ही विराजती है, उनकी उत्सव मूर्ति रथ आदि पर चढ़ाकर बाहर निकाली जाती है। उन्हीं उत्सव मूर्तिका नाम उत्सवमूर्ति उद्धव भगवान्‌के उत्सव स्वरूप ही हैं। भगवान बदरीनाथने अपनी माता मूर्ति देवीको वर दिया था, कि वर्षमें एक दिन हम आपके दर्शनोंको आया करेंगे। इसीलिये अब भी भाद्रपदमें वामन-

द्वादशीके दिन भगवान्‌की सवारी मातामूर्ति तक जाती है, उसमें श्रीबदरीनाथजीका विग्रह न जाकर उद्धवजी ही जाते हैं। इस प्रकार भगवान्‌के उत्सवस्वरूप होकर एक रूपसे तो वे बदरीवनमें विराजते हैं। दूसरे रूपसे वे गोपियोंकी चरणरजकी कामनासे लता बनकर कुसुमसरोवर पर रहते हैं। जो कोई वहाँ भागवत सप्ताह करे, बड़ा भारी सात्विक महोत्सव करे तो उस लतासे उद्धवजी प्रकट भी हो जाते हैं। महाराज परीक्षित् ने और महाराज वज्रने पहिले उत्सव करके उद्धवजीको प्रकट भी किया था और उद्धवजीने वज्रजीको कथा भी सुनाई थी।"

शौनकजीने कहा—"हाँ, सूतजी! हमारा संदेह दूर हो गया। आपने यह उद्धवजीकी कथा तो बड़ी सरस सुनाई, इसे सुनते सुनते तो मन भरता ही नहीं। आपने तो इसे ऐसे सरस स्थानपर समाप्त किया कि अब नीरस प्रश्न करनेको चित्त ही नहीं चाहता। अच्छा उस कथाको तो आप छोड़ ही गये, भगवान्‌ने कुब्जाको काम वर दिया था, उसे उसके घरपर आनेका वरदान दिया था। फिर भगवान् उसके घर गये या नहीं?"

सूतजी बोले—"महाराज! एक समयमें एक ही कथा कही जा सकती है। अब व्रजकी कथा तो समाप्त ही हो गई। अब मथुराकी ही लीलाओंको श्रवण करें! हाँ तो, अब मैं उसी परम सरस कथाको कहूँगा जिसमें भगवानने कुब्जाके ऊपर कृपा की थी। आप सब तपस्वी हैं इसलिये आपके सामने उसका विस्तार न करूँगा। संक्षेपमें ही सुनाऊँगा। आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

बिलखि कहैं यदुनाथ न ऊधो ! ब्रज बिसरतु है ।
गैयाँ गोपी ग्वाल यादि करि हिय दहलतु है ॥
कहँ वे कुंजकुटीर कहाँ ये पाथरके घर ।
कहँ क्रीड़ा कमनीय कहाँ ये चिन्ता दुस्तर ॥
कहाँ रास रस अति सुखद, माखन मिसिरी खाइबो ।
कहाँ चरावन धेनु वन, ग्वालबाल सँग जाइबो ॥

कुब्जाको इच्छित वर

[१०७४]

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
सैरन्ध्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन् गृहं ययौ ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४८ अ० १, श्लो०)

छप्पय

करि करि व्रजकी यादि श्यामने दुख अति पायो ।
उद्धवने बहु भाँति युक्ति करि धीर बँधायो ॥
कुब्जाकूँ जो दयो प्रथम वर सो सुधि आई ।
ताकूँ पूरन करने गये तिहि भवन कन्हाई ॥
दासीके घर जगत्पति, गये प्रकट प्रन निज करयो ।
जोहति छिन छिन बाट जो, हृदयताप ताको हरयो ॥

जब वेदगर्भ ब्रह्माजीने सृष्टि चक्र की वृद्धि नहीं देखी, तो भगवत् प्रेरणासे उन्होंने पंचपर्वा अविद्याका निर्माण किया। प्राणी उसी मायाके चक्करमें पड़कर सृष्टि कार्यमें अग्रसर हुये। सृष्टि होती है कामसे, इच्छासे, वासनासे, रागसे। अकाम पुरुषको जब सृष्टिकी कामना हुई तो ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। इसीलिये

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कामतप्ता कुब्जाका प्रिय करनेकी इच्छासे सर्वात्मा समदर्शी भगवान् श्यामसुन्दर उसके घर गये।

ब्रह्माजीका सृष्टि कार्यमें इतना अभिनिवेश है, उन्हें रात्रि दिन सृष्टिवृद्धिकी ही कामना बनी रहती है। सनकादि कुमारोंकी उत्पत्ति मायाके पूर्व ही हुई है, इसीलिये वे कभी बड़े नहीं होते, सदा पाँच वर्षके ही बने रहते हैं। जो जितना ही बड़ा होगा, उसकी कामना भी उतनी ही बड़ी होगी। काम क्रोधकी भावना सभीके हृदयमें होती है। उनपर विजय पानेके प्रयत्नका ही नाम साधन है। जो कोई कुछ भी कर्म कर रहा है उसके मनमें कुछ भी कामना अवश्य है। कामनाके बिना कर्म नहीं। भक्तिमार्गमें कामनायें नष्ट नहीं की जातीं, उन्हें भगवान्‌की ओर लगाया जाता है। मायिक पदार्थोंकी कामना करना बन्धनका हेतु है, उन्हीं कामनाओंको जानमें अनजानमें भगवानमें लगा देना यही मुक्तिका, भगवत्प्राप्तिका प्रधान हेतु बन जाता है। भगवान्‌से हमारे कोई भाव छिपे हुए नहीं हैं, वे घटघटकी जानते हैं। शरीरमें ऐसा एक भी अंग नहीं जिसके भीतर बाहर भगवान् न रम रहे हों। हमारे रक्तके बिन्दु बिन्दुको रोमरोमको वे स्पर्शकर रहे हैं। हमारी प्रत्येक इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ रूपसे वे उनका उपभोग कर रहे हैं। उनसे हम कुछ छिपाना भी चाहें तो नहीं छिपा सकते। अतः सर्वश्रेष्ठ साधन यही है, कि अपनी भली बुरी जैसी भी इच्छायें हैं सब उन्हें ही समर्पित कर दें। वे चाहे उन्हें पूर्ण करके मिटावें या वैसे ही जड़ मूलसे मिटा दें। हमें तो उन्हें अपने आपको समर्पित कर देना है। यद्यपि भगवान्‌को उत्तम वस्तु ही अर्पण करना श्रेयस्कर है, किन्तु जो दुर्भग है जिसके पास उत्तम है ही नहीं वह जो है उसीको अर्पण कर दे। जैसे गंगाजीमें जाकर नालेका जल भी विशुद्ध बन जाता है, वैसे ही भगवान्‌के संसर्ग से हमारी दुर्वासनायें भी सुवासना बन जाती हैं। भगवान् जिसे अपना लें फिर उसके मनमें दुर्वासनायें चिरकाल तक टिक ही कैसे सकती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान्‌ने मथुरापुरीमें प्रवेश किया था, तो कंसकी एक दासी चन्दन लेकर जा रही थी, भगवान्‌ने उससे चन्दन माँगा। भगवान्‌को देखते ही उसके मनमें उनके प्रति अत्यधिक अनुराग उत्पन्न हो गया। उसने भगवान्‌को पति रूपमें मन ही मन वरण कर लिया। भगवान्‌ने कृपा करके उसकी सेवा स्वीकार की, उसके अङ्गरागको अपने श्री अंगोंमें लगाया। उसके प्रदत्त चन्दनसे अपने श्रीविग्रहको चर्चित किया। वह जन्मकी कुब्जा थी समाजसे तिरस्कृता थी, त्रिवक्रा थी, उसने अभी तक किसी का प्रेम प्राप्त नहीं किया था, जिसकी अभिलाषा मानवहृदयमें स्वाभाविक होती है। अनंत रूपराशि श्यामसुन्दरके दिव्यरूप पर वह विमुग्ध हो गई। क्यों विमुग्ध हो गई, क्योंकि वे विश्वविमोहक हैं। आत्माराम गुणकर्षी हैं, आकर्षण करनेसे ही वे कृष्ण कहाते हैं। वह त्रिवक्रा थी, भगवान् ने तत्काल अपने दर्शनोंका फल दिखाया, उसे वक्रासे सरला बना दिया वह सुर सुन्दरियोंकी भाँति रूप यौवनसे युक्त बन गयी। उस रमणीने अपने सम्मुख परमश्रेष्ठ आत्माराम रमणविहारी-को निहारा, मन्दमन्द मुसकराते हुए व्रीड़ा और अनुरागके सहित उनके पीताम्बरका छोड़ पकड़ लिया और प्रेमभरित वाणी से बोली—"मेरे घर पधारो। मुझे सनाथ करो, मेरे ऊपर कृपा करो मेरे हृत्ताप को शांत करो।"

सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् देशकालके मर्म को जानने वाले यदु-नन्दन बोले—"अभी नहीं, अभी नहीं। सहसा सुखवस्तु प्राप्त हो जाय तो उसमें सुख नहीं, दिव्यानुभूति नहीं। अभी प्रतीक्षा करो साधना करो, निरन्तर अनन्य भावसे मेरा चिन्तन करो। तुम्हें मेरा संगम सुख अवश्यमेव प्राप्त होगा, मेरे शरणागतोंकी समस्त इच्छायें पूर्ण होती हैं, कल्पवृक्षके नीचेसे कोई विफल भले ही लौट सके, मेरे आश्रित पुरुष कभी विफल नहीं लौटते। वे जो

कामनाये' करते हैं उन्हें वे अवश्य प्राप्त होती हैं।"

प्रेष्ठके वचनोंपर अच्युतके आश्वासनपर उस दासीने विश्वास किया। अब उसने अन्यकी दासताका परित्याग कर दिया। अब वह अहर्निशि कोटि कन्दर्पोंकी द्युतिको तिरस्कृत करनेवाले आनन्दघन मदनमोहनकी कृपादृष्टि वृष्टिकी व्यग्रता के साथ प्रतीक्षा करने लगी।

श्यामसुन्दरने कोई कालकी निश्चित अवधि तो बाँधी ही नहीं थी। सम्भव है श्यामसुन्दर आज ही आ जायँ, अतः वह ब्राह्म मुहूर्त में अत्यन्त उत्सुकता से उठती अपने भवनको झाड़ती बुहारती, चौक पूरती, बेल बूटे बनाती, दासियों से उसे आकर्षक ढंगसे सजवाती, बहुमूल्य सुन्दर शोभयुक्त सुखद सामग्रियों से उसे सुशोभित बनाती, मोतियों की झालरें दिव्य वितानों द्वारा उसे अलंकृत करती। ध्वजा, पताका, वन्दनवार और कदली-स्तम्भ लगाती। सुन्दर सुगन्धित दिव्य धूप स्थान स्थानपर जलाती, उससे समस्त भवनको सुवासित बनाती। मणियोंके प्रकाश में स्वच्छ शुभ्र मृदुल उपबर्हणोंसे युक्त उसकी सुखद शैया जगमगाने लगती। श्यामसुन्दर इस शैयापर आकर शयन करेंगे, इस आशासे ही उसके रोमाञ्च हो जाते और भावजगत्में ऐसा अनुभव करने लगती मानों हृदयधन आ गये। अम्लान पुष्पोंकी माला वह शैयाके समीप ही टाँग देती और सोचती 'प्राणनाथ को इन दिव्य हारोंको पहिनाऊँगी, उनके प्रसादी प्राप्त-हारसे अपने कंठको अलंकृत करूँगी।" शनैः शनैः वह सुन्दर सुगंधित चन्दन घिसकर सुवर्णके पात्रमें रखती और सोचती—"इस चन्दनके द्वारा ही मुझे प्रेष्ठकी प्राप्ति हुई है; इसीके कारण मुझे इतना रूप यौवन, सौंदर्य और वैभव प्राप्त हुआ है। इसमें इच्छानुरूप चितचोरके चरणोंमें तथा सर्वाङ्गमें लेपन करूँगी।

चन्दनचर्चित चरणारविन्दकी घ्राणसे अपने हृत्तापको शान्त करूँगी।

अब तो इस शरीरको श्यामसुन्दरने अपना लिया। उन्होंने नखसे शिखतक स्पर्श करके इसे सरल और सीधा बना दिया। जिस शरीरको घनश्यामने अपना लिया उसे फिर जीवनमें अन्य कोई स्पर्श कैसे कर सकता है। अब तो यह हृदयधनकी वस्तु है, वे अभी आगये और उन्होंने इस अपनी वस्तुको मलिन या अशोभनावस्थामें पाया, तो उन्हें प्रसन्नता न होगी, यही सब सोचकर वह दिव्य सुगंधित उबटन लगाती, स्वच्छ सलिलसे स्नान करती, बहुमूल्य रंगरागका लेपन करती, धुले हुए बहुमूल्य परम रमणीय वस्त्रोंको धारण करती, प्रत्येक अंगमें आभूषणोंको पहिनती, दिव्य गंध वाले इत्र तैलोंसे केशपाशोंको सम्हालती; मनोहर चन्दन लगाती, मालाओंको धारण करती और श्याम-सुन्दरकी प्रतीक्षामें बैठी रहती। मनसे श्यामसुन्दर के रूप का अनन्य भावसे चिंतन करते रहना, मुखसे श्यामसुंदर, मदन-मोहन, आर्तिहर, दुःख भंजन, प्राणनाथ, रमण, प्रेष्ठ प्राणवल्लभ, हृदयधन, चितचोर तथा अन्यान्य श्रीहरिके सुखद सरस अमल विमल नामोंका सतत उच्चारण करते रहना और इन्द्रियोंसे उन्हींकी प्रसन्नताके निमित्त कृत्य करते रहना यही उस सैरन्ध्रीका नित्यका व्यापार बन गया था। पल पल पर प्राणनाथकी प्रतीक्षा करते रहना, क्षण क्षणमें उनके आगमनका अनुभव करते रहना तथा उनमें ही अपनी चित्तकी वृत्तिको लगाये रहना यही उसकी बँधी दिनचर्या थी। अरुणोदयसे अर्धरात्रि पर्यन्त इन्हीं भावोंमें भावित रहना यह उसका स्वभाव हो गया था। अर्धरात्रि बीतने-पर सोचती—"अब वे आज न आवेंगे। कोई बात नहीं, सर्व-समर्थ हैं, यद्यपि हमारे लिये वे एक हैं, किन्तु उनके लिये हमसी अनेक हैं, कल कृपा करेंगे, कल अवश्य आवेंगे कल मुझ

दुखियाको अवश्य ही सनाथ बनावेंगे। ऐसा सोचते सोचते उसकी आँखें झप जातीं। स्वप्नमें भी वह यही देखती श्यामसुन्दर आ गये हैं, मैं उनकी सेवामें संलग्न हूँ, वे मुझे प्रेम प्रदान कर रहे हैं। आँखें खुलते ही अपने समीप श्यामसुन्दरको न पाकर नयनोंसे नीर बहाती और सोचती—"मेरे प्यारे कहाँ चले गये, मुझ अनुरक्ताको अतृप्त ही छोड़कर वे अन्तर्धान हो गये।" फिर सोचती—"अरे, यह तो स्वप्न है, जब वे स्वप्नमें पधारे हैं तो आज जाग्रतमें भी कृपा करेंगे। यही सोचते सोचते वह पुनः अपने नित्यके कर्मोंमें व्यस्त हो जाती, फिर भवनको झाड़ने बुहारने और शैयादिको सजानेमें लग जाती। यही सेवा है, यही पूजा है, यही चर्चा है, यही साधना है। सब कुछ प्रियतमके ही निमित्त करना और उनकी कृपाप्रतीक्षामें बैठकर कालयापन करना, अनुकम्पाकी बाट जोहते रहना, यही इस शरीर पानेका उपयोग है।

इस प्रकार प्रतीक्षा करते करते कुब्जाको बहुत दिन व्यतीत हो गये। उसने अपनी आशालताको नेहके नीरसे सींचकर पल्लवित तो कर लिया, किन्तु अभी उसमें पुष्प आने अवशेष थे। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरी लताकी कलिका अब खिली अब खिली। यह अभिलाषा ही उसे प्रतीक्षाके लिये प्रोत्साहित करती रहती थी। सहसा उसने सुना, अपने सचिव उद्धवजीके सहित श्यामसुन्दर पधार रहे हैं। इन शब्दोंने उसके कर्णकुहरोंमें मानो पर्याप्त अमृत उड़ेल दिया हो। उस अमृतके आधिक्यके कारण वह अपना कर्तव्य निर्णय न कर सकी, वह परम संभ्रमके सहित अपने आसन से उठ पड़ी। सखियोंके सहित श्यामसुन्दर और उनके सचिवका संकोचके साथ स्वागत किया। वह प्रियतमकी पूजा करने को प्रस्तुत हुई। किन्तु प्रेमाधिक्यके कारण पूजाका क्रम विस्मृत हो गया। जैसे तैसे चन्दन, धूप, दीप, माला तथा पुष्पोंसे अपने प्राणनाथ हृदयधनकी पूजा की।

उद्धवजीकी भी पूजा की। वे आसनका स्पर्श करके प्रभुको प्रणाम करके बैठ गये।

भगवान् उसकी सुखद शैयापर विराजमान हुए। आज चिरकालकी प्रतीक्षाके अनन्तर अपने प्रेष्ठको पाकर सैरन्ध्रीके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। भगवान्ने उस नवसंगमोच्छुका, विशङ्किता, व्रीड़िता सुरतोत्सुका रमणीके कंकणभूषित कर कमलको ग्रहण करके अपने चरणोंकी सन्निधिमें आश्रय प्रदान किया।

भगवान्की कृतज्ञता और भक्तवत्सलता तो देखिये। इस सैरन्ध्रीने केवल अन्यका चन्दन ही अर्पण किया था, इस लेशमात्र पुण्यके प्रतिफल स्वरूप प्रभुने उसे अपना लिया, अपने आपको ही अर्पित कर दिया। कमलाकान्तने उस कामिनीको कृतार्थ कर दिया। उसकी चिरकालकी अभिलाषाको पूर्ण किया। आज वह अपने हृदयधन, जीवन-सर्वस्वके अरुण मृदुल चरणकमलोंको प्राप्त करके आत्मविस्मृत बनी हुई थीं। उन चन्दन-चर्चित चरणारविन्दोंको अपने कुंकुमानुलिप्त वक्षःस्थलपर धारण करके बारम्बार उन्हें सूँघने लगी। उनकी दिव्य सुगन्धिसे उसके रोमाञ्च हो रहे थे। उन अखिल कोटि ब्रह्माण्डनायक आनन्दघन सिन्धु प्रेममूर्ति प्रियतमको पाकर और उनका गाढ़ालिङ्गन प्राप्त करके उसने अपनी चिरकाल की विरहव्यथा शान्त की।

सर्वात्मा भगवान ने उस लोकत्यक्ता, परसेवावानिरता कुरूपा कुब्जा को सुरसुन्दरियों के सदृश सुरूपा और लोकवन्दिता बना दिया। उसने प्रभुसे प्रार्थना की—"प्रियतम! आप कुछ कालकिंकरीको अपनी कृपाद्वारा कृतार्थ करें। हे अरविन्दाक्ष! मुझसे आपका वियोगदुख सहन नहीं हो सकता। आप अपने समागमसुखसे सेविका को सनाथ बनावें।" भगवान्ने कहा—"प्रिये! तुम मेरी नित्यलीलाकी अधिकारिणी बनगई। मुझे जो किसी भी

भाव से आत्म समर्पण कर देता है, उसका संसार-बन्धन सदा के लिये छूट जाता है।" यद्यपि उस मन्दभाग्या दुर्भगा ने अत्यन्त दुष्प्राप्य मोक्षके अधीश्वर अखिल कोटि ब्रह्माण्डनायक परात्पर प्रभुको प्रसन्नकरके तुच्छ काम वर की याचनाकी, किन्तु उसका सांसारिक बन्धन छिन्न भिन्न हो गया। वह दिव्य विमान पर चढ़कर भगवान्‌के नित्यधाम वृन्दावनवासकी अधिकारिणी बनी। वह अद्यावधि वीणाबजाकर सुन्दर सुललितवाणीमें गीत गाग कर गोविन्दका मनोरञ्जन करती रहती है। नित्यसखिपरिकरमें वह भी सम्मिलित हो गई है।

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! आप महाभागा कुब्जा-को बारबार दुर्भगा दुर्भगा क्यों कहते हैं ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! आप ही विचार करें जो भगवान् दुराध्य हैं, जो ब्रह्मादिक ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, इन्द्रादि लोक-पालों के भी नियामक हैं और जो शंकर आदि योगीश्वरों के भी ईश्वर हैं, उनकी आराधना करके, उन्हें प्रसन्न करके-उसके बदलेमें जो मिथ्या विषय सुखोंकी याचना करते हैं, उनसे बढ़कर कुमति और कौन होगा। तनिकसे चन्दन अर्पण करनेके फल स्वरूप उसने सर्वेश्वरसे संगमकी याचनाकी ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! भगवान का संग तो दुस्त्यज है। व्रजाङ्गनायें भी तो निरन्तर यही अभिलाषा करती रहती थीं। कुब्जाने ही कौनसा अपराध किया ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! गोपाङ्गनाओंमें और कुब्जामें कुछ अन्तर है। गोपाङ्गनाओंकी तो समस्त चेष्टायें श्यामसुंदर को सुख देनेकी होती थीं। वे श्यामसुन्दर की आराधना इसलिये करती थीं कि हमारे द्वारा वे सुखी रहें। हम उनकी सेवामें सदा संलग्न रहें। इसने अपने सुखकी याचनाकी। इसीलिये व्रजमें तो गोपिकायें स्वयं अनेक युक्तियोंसे श्यामसुन्दरके समीप जाती थीं।

यहाँ श्यामसुन्दर उसे वर देने स्वयं उसके समीप गये। किन्तु कोई बात नहीं। भगवान्‌से अकाम सकाम कैसे भी सम्बन्ध रखा जाय, वह सुखप्रद ही होता है। भगवान्‌के संसर्गसे कुब्जा भी कृतार्थ होगई।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उन श्यामसुन्दरको तो सहस्रों सुन्दरियों ने देखा था, फिर इस कुब्जाके ही मनमें इतना अनुराग सहसा उत्पन्न कैसे होगया।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! सहसा कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। हम देखते हैं, एक खेत सूखा हुआ शून्य पड़ा है। कुछ दिन पश्चात् देखते हैं वर्षा होनेपर उसमें सर्वत्र हरी-हरी घास उत्पन्न होगई है। वह घास कहीं अन्य स्थान से आ थोड़े ही गई। पहिलेसे ही उस खेतमें घासकी जड़ छिपी हुई थी। अनुकूल काल और जल पाकर वह अंकुरित और प्रस्फुटित हो उठी। इसी प्रकार कुब्जाके मनमें ये संस्कार जन्मान्तरीय थे। समय आनेपर भगवान्‌को देखते ही पूर्व जन्मोंके संस्कार उदित हो गये। यह पूर्व जन्ममें सूर्पणखा थी, पंचवटीमें यह काम भावसे भगवान्‌को भजना चाहती थी, तब तो मर्यादा पुरुषोत्तम होनेके कारण प्रभु इसकी इच्छा पूर्ति कर नहीं सके। अब लीलापुरुषोत्तम होकर उन्होंने उसकी जन्मान्तरीय इच्छा को पूर्ण किया। उसे सदाके लिये अपने परिकरमें मिला लिया। इस प्रकार कुब्जाको कृतार्थ करके करुणासागर कृष्णचन्द्र अपने सचिव उद्धवजीके सहित पुनः अपने भवनको लौट आये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जैसे भगवान्‌ने कुब्जाके घर आनेका वचन दिया था, वैसेही अक्रूरजीसे भी तो कहा था कि मैं यदुवंश द्रोही कंसको मारकर बलरामजीके सहित आपके घर पर

अवश्य ही आऊँगा। सो, भगवान् अक्रूरजीके घर गये या नहीं ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! भगवान् तो सत्यसंकल्प और सत्यप्रतिज्ञ हैं, वे जो संकल्प कर लेते हैं, वह तुरन्त हो जाता है, जिस बातकी वे प्रतिज्ञा करते हैं, उसको पूरा करते हैं। वे अक्रूरजीके भवनको भी कृतार्थ करने गये। अब मैं उसी प्रसङ्ग को कहूँगा। आप सब समाहित चित्तसे श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

निरखि प्रानप्रिय भवन तुरत दासी उठि धाई।
कंकन युत कर कमल पकरि हरि निकट बिठाई॥
पाइ मृदुल प्रभु चरन कमल मन माँहि सिहाई।
मूँदि हिये बिच धारि नारि तन तपन बुझाई॥
हाय! पाइ प्रभु विषय सुख, माँग्यो दासी तुच्छ अति।
करि कृतार्थ उद्धव सहित, आये घर पुनि जगतपति॥

रामश्यामका अक्रूर गृहगमन

(१०७५)

अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः ।
किञ्चिच्चिकीर्षयन् प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया ॥❀
(श्री भा० १० स्क० ४८ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

इक दिन प्रभु अक्रूर भवन बल सहित पधारे ।
श्वफलक-सुत अति मुदितनयन जलचरनपखारे ॥
चरनोदक सिर धारि करी पूजा सुख पायौ ।
अंक धारि पद कमल पुलक तनु भाग सराह्यौ ॥
सिर नवाय अति बिनययुत, बार बार इस्तुति करी ।
करुणाकर कीन्हीं कृपा, यदुकुलकी बिपदा हरी ॥

पुरातन पुण्योंके प्रभावसे ही सेवकके भवनमें स्वामीका आगमन होता है। गृहकी सार्थकता इसीमें है कि वह भगवान् और भागवतोंके चरणके धोवनसे सींचा जाय, जिसमें स्वामीके धोये जलकी कीच हो। जो हमारे रक्षक हैं, प्रतिपालक हैं सर्वस्व हैं वे सहसा हमारे आवास पर पधारें तो उस समय कितनी

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र एक दिन अक्रूरजीका प्रिय करनेके निमित्त तथा कुछ आवश्यक कार्य करानेके निमित्त उद्धवजी और बलरामजीके सहित उनके घर पर गये ।"

प्रसन्नता होती है, यह वर्णनातीत विषय है। चित्त चाहता है इन्हें अपने हृदय-कमलके आसनपर बिठावें, पलकोंके पाँवड़े बिछाकर इन्हें लावें। वे धन्य हैं जिनके घर उनके स्वामी पधारे हैं और उनका उन्होंने भली-भाँति स्वागत सत्कार किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुब्जाको कामवर देनेके अनंतर एक दिन भगवान् ने सोचा—"अब तो सब काम हो गये। चाचा अक्रूरको विश्वास दिलाया था कि हम आपके घर आवेंगे, किन्तु अभी तक गये नहीं। आज चलें, यही सोचकर उन्होंने बलदाऊजीको बुलाया, अपने सचिव उद्धवजीको बुलाया, दोनोंको साथ लेकर वे अक्रूरजीके घर गये।

अक्रूरजीको पता तो था ही नहीं कि भगवान् आज हमारे घर पधारेंगे। वे तो सुखपूर्वक आसनपर बैठे श्यामसुन्दरकी मनमोहिनी मूरतिका ही ध्यान कर रहे थे, सहसा उन्हें कुछ लोग इधरसे उधर दौड़ते हुए दिखाई दिये। उनकी आँखें खुल गईं। सामने क्या देखते हैं, कि बलदेवजी और उद्धवजीके साथ पीताम्बरको धारण किये मन्द-मन्द मुसकराते हुये माधव आ रहे हैं। उन्हें देखते ही सहसा संभ्रमके सहित अक्रूरजी खड़े हो गये। उद्धव सहित दोनों भाइयोंका अभिनंदन किया। रामश्याम ज्योंही उन्हें प्रणाम करनेको उद्यत हुये, त्योंही दोनोंको पकड़कर छाती से चिपटा लिया और बड़ी देर तक चिपटाये ही रहे। तब दोनों भाइयोंने चाचाके नाते उनका अभिवादन किया, उनके दिये हुये दिव्य आसनोंपर विराजमान हुये। समीप ही एक छोटेसे आसन पर उद्धवजी भी विराजे। अक्रूरजीके पैर पृथिवीपर नहीं पड़ते। उनका मन चाहता था न जाने क्या कर डालें। पूजाकी सामग्री मँगाकर दोनों भाइयोंकी विधिवत् पूजा की। उनके त्रिभुवनपावन पादोदकको श्रद्धा-प्रेमसहित सिरपर धारण किया। चन्दन, अक्षत, मधु, दुग्ध, घृत, कुशा तथा पुष्पोंसे युक्त अर्घ्य

उन्हें प्रदान किया। सुवासित जलसे आचमन कराया। सिरपर जल छिड़ककर यज्ञोपवीत, बहुमूल्य वस्त्र, दिव्य चन्दनानुलेपन अक्षत, सुगन्धित पुष्प, मनोहर मालायें, रत्न जटित आभूषण, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुंगी, फल, इत्र, सुगन्धित तैल तथा दक्षिणा आदि समर्पित करके अपनी भक्ति प्रदर्शितकी। फिर उनके परम मृदुल अरुणवरणके सुखद चरणारविन्दोंको अपनी गोदी में धारण करके वे उनकी विनय करने लगे।

अक्रूरजीने कहा—"भगवान्! आप दीनवत्सल हैं, प्रणत प्रतिपालक हैं। आपने जो वचन दिया था, उसे पूर्ण किया। मुझ अनाथको सनाथ बनाया, इस अकिंचनके गृहको पावन बना दिया। आपने आज्ञा की थी, यदुवंशके शत्रु कंसको मारकर मैं तुम्हारे भवनमें आऊँगा, सो यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वह दुष्ट पापी कंस आपके द्वारा मारा गया। उसके सब संगी साथी सहायक भी मारे गये। इन सब कुल कलंकों और जाति द्रोहियोंको मारकर आप दोनोंने यदुकुलको बहुत बड़े संकटसे निकालकर इसे उन्नति पथकी ओर अग्रसर किया। आपकी छत्र-छाया में प्रतिपालित यह कुल अब समुन्नत और समृद्धिशाली बन गया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। आप दोनों प्रधान पुरुष हैं, जगत्के हेतु हैं, जगन्मय हैं। कार्य कारण रूप किसी भी वस्तुकी आपसे पृथक् सत्ता नहीं।"

भगवान बोले—"चाचाजी! आप कैसी बातें कर रहे हैं। अजी, हम तो आपके बालबच्चे हैं, आप तो हमारे बड़े हैं, चचा हैं, हमें आपकी प्रशंसा करना चाहिये कि आपको हमारी। आप तो उलटी गंगा बहा रहे हैं।"

हँसकर अक्रूरजी बोले—"प्रभो! मुझे अब अधिक भ्रममें न डालें। मुझे अब भरमामें नहीं। आपका कौन चाचा, कौन ताऊ सबके चाचा और बाबा तो आप ही हैं। आप अपनी ही शक्तिसे

रचे हुए इस विश्व ब्रह्माण्डमें अपनी कालमायादि शक्तियोंसे युक्त होकर इस प्रपञ्चको चला रहे हैं। कालकर्म स्वभावके संहारसे निर्मित इस विश्व चक्रको घुमा रहे हैं, जितने ये प्रत्यक्ष देखे जानेवाले, सुने जाने वाले तथा अनुमान लगाये जानेवाले पदार्थ हैं वे सब आपसे अभिन्न हैं। आप इन सबमें आकाश, वायुकी भाँति विद्यमान हैं। जैसे मालाकी प्रत्येक मणिमणिमें सूत्र व्याप्त है, वैसे ही आप सबमें अनुस्यूत हैं। जैसे इन समस्त स्थावर जंगमोंमें कारण तत्व रूपसे पृथिवी जल, तेज, वायु और आकाशमें व्याप्त हैं वैसे ही समस्त भूतोंमें आपभी आत्मरूपसे आकृति भेदके कारण अनेकसे प्रतीत होते हैं।"

भगवान् बोले—"चाचाजी आप कह क्या रहे हैं। आप हमें लज्जित क्योंकर रहे हैं? हम तो आपके पाल्य हैं, हमारा पालन-पोषण करो। अपना पुत्र समझकर रक्षा करो। हमतो आपकी कृपाके इच्छुक हैं।"

सरलताके साथ अक्रूरजी बोले—"अजी महाराज! आपपर कौन कृपाकर सकता है। यह चराचर विश्व ही आपकी कृपापर निर्भर है। आप ही तीनों गुणोंकी शक्तियोंसे ब्रह्मरूपसे इस जगत्की सृष्टि करते हैं। सृष्टि करके विष्णुरूपसे इसका पालन करते हैं और अंतमें रुद्ररूपसे इसका संहार भी कर लेते हैं। इतना सब करते हुए भी आप निर्लेपके निर्लेप ही बने रहते हैं। उन गुणोंसे तथा उन गुणोंके उत्तम, मध्यम और निकृष्ट कर्मोंसे बन्धनमें नहीं पड़ते। क्योंकि आपतो सत्यस्वरूप हैं, चैतन्यघन हैं, आनन्दके-निलय हैं। आप परम विशुद्ध हैं, बन्धन तो अशुद्धको होता है। आपके बन्धनका कारण तो कोई प्रतीत होता नहीं।"

भगवान् बोले—"ब्रह्ममें भेद न हो तो भी जीवरूपसे तो जन्म, जरा तथा क्लेशादि प्रत्यक्ष दिखाई देते ही हैं। शरीर धारियोंको बन्धन होता ही है।"

अक्रूरजीने कहा—"ये देहादि उपाधियाँ सत्य नहीं, मिथ्या हैं। जब देह मिथ्या है तो जीवात्मामें भी जन्म अथवा जन्मसे होने वाले भेदभाव साक्षात् सिद्ध नहीं होते। मिथ्या प्रतीत होते हैं। आप तो विशुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं। अतः आप बन्धनमें हैं ही नहीं। जिसे बन्धन नहीं उसके लिये मोक्षकी कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि बन्धन और मोक्ष तो अन्योन्याश्रित हैं। प्राणी अविवेक के कारण आपमें बन्धन मोक्ष की कल्पना करते हैं।"

भगवान्‌ने कहा—"चाचाजी! आज आपको हो क्या गया है। हम बालकोंके प्रति ऐसी बातें कहकहकर हमें ज्ञानका उपदेश दे रहे हैं क्या? हमने तो आपके सामने ही जन्म लिया है। व्रजमें बड़े हैं, आप सबने ही हमारा प्रतिपालन किया है, फिर आप हमें अजन्मा बता रहे हैं।"

हँसकर अक्रूरजी बोले—"महाराज आपको कौन उदरमें धारणकर सकता है, विश्व ब्रह्माण्ड आपके उदरमें हैं। आपका कौन पालनकर सकता है, सबके पालक तो आप ही हैं। आपने संसारके कल्याणके हेतु यह भुवन मोहन रूप धारण किया है। आप धर्म की रक्षाके निमित्त समय-समय पर अवनि पर अवतरित होते हैं और सनातन वैदिक आर्य धर्म की रक्षा करते हैं। यह सनातन वेद मार्ग आपने ही प्राणियोंके सुखके निमित्त प्रकट कया है। जब जब धर्मकी ग्लानि होती है, इस विशुद्ध वैदिक धर्मको मिथ्या पाखण्डपूर्ण पन्थोंसे क्षति पहुँचती है। उस समय आप विशुद्ध सत्वमय सुन्दर शरीर धारण करके साधुरक्षण और दुष्ट-दमन करते हैं। यह आपका प्रण है। आप जन्म मरण आदि देह धर्मोंसे सर्वथा रहित हैं। आपका कोई पिता नहीं, माता नहीं कुल नहीं गोत्र नहीं। सखा नहीं मित्र नहीं। आप ही सबके सर्वस्व हैं।"

भगवान् बोले—"चाचाजी! अब आप भी ऐसी

बात कहेंगे। हमतो यदुवंशी हैं। आपके भाई वासुदेवजीके घरमें माता देवकीके उदरसे उत्पन्न हुए हैं। इन बातोंको भूल गये क्या आप ?"

अधीर होकर अक्रूरजीने कहा—"मैं भूला नहीं प्रभो! सब जानता हूँ। असंख्यों असुर राजाओंके रूपमें इस अवनिपर उत्पन्न हो गये है। देखनेमे तो वे मनुष्य प्रतीत होते हैं, किन्तु पूर्व जन्मके हैं सब असुरही। बाना तो उन्होंने रक्षकोंको बना रखा है, किन्तु कर रहे हैं प्रजाका भक्षण। उनके पास सैकड़ों अक्षोहिणी सेनायें हैं। आप उन सब असुरोंके अंशसे उत्पन्न हुए क्षत्रियोंका, उनकी भारी सेनाका संहार करनेके निमित्त तथा भूमिके बढ़े हुए भारको उतारनेके निमित्तही इस शापित यदु-कुलका यश बढ़ानेके लिये भैया वसुदेवजीके घर प्रकट हुए हैं। ये बलरामजी आपके अंश हैं आप दोनोंका अवतार भूभार उतारनेके ही निमित्त है। आप कर्म बन्धनोंके कारण उत्पन्न नहीं हुए हैं। कर्म तो आपको स्पर्श भी नहीं कर सकते।"

भगवान्‌ने कहा—"चाचाजी! आप ऐसीही वे सिर पैरकी बातें करते रहेंगे, कि कुछ कामकी भी बातें होंगी। यही सब सुननेके लिये हम आपके घरमें आये हैं क्या ?"

अक्रूरजीने कहा—"हे दीनबन्धो! घरतो आपका ही है, सबके अधिष्ठातृदेव तो आपही हैं। ये जितने पञ्च यज्ञके देवता हैं, पितृगण हैं, तथा सम्पूर्ण भूत हैं ये सब आपकी ही तो मूर्ति हैं। राजाओंमें जो पालनकी शक्ति है, वह आपकी ही तो दी हुई है। भगवती सुरसरि आपके ही चरणोंकी तो धोवन हैं, जो तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं। आप सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी हैं चराचरके गुरु हैं। इतना होनेपर भी आप यदुनन्दन कहलाते हैं। वृष्णिवंशावतंस कहकर ऋषिमुनि आपकी स्तुति करते हैं। आप स्तुति सुनने नहीं पधारे हैं। हम जैसे

अल्पज्ञ जीव आपकी स्तुति कर ही क्या सकते हैं। आप तो अपने चरणारविन्दोंसे इन घरोंको पावन बनानेके निमित्त पधारे हैं। हम सब यादव आपकी शरणमें हैं आपके अतिरिक्त हमारा और कौन अवलम्ब है।"

भगवान्‌ने कहा—"चाचाजी ! भगवानका भजन करो। देवताओंकी शरणमें जाओ। पितरोंकी आराधना करो। देवता पिता, ऋषि तथा अन्यान्य वृद्धोंकी सेवा करना यही गृहस्थियोंका मुख्य धर्म है।"

अक्रूरजीने कहा—"इन सभी रूपोंमें हे अधोक्षजी आपही तो विद्यमान् हैं। सब आपके ही तो रूप हैं। मूलमें जल देनेसे शाखा, फल, पुष्प, पल्लव सभी हरे हो जाते हैं। सभीकी तृप्ति हो जाती है। एकमात्र आप ही तो समस्त प्राणियोंके सुहृद्‌हितकारी भक्तोंके प्रिय, उनके वचनोंका आदर करनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ और परम कृतज्ञ हैं। आपकी शरण लेनेसे प्राणियोंके समस्त दुख दूर हो जाते हैं। आप अपने शरणागत भक्तोंकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करते हैं। वे जो जो माँगते हैं वही वही आप उन्हें देते हैं। यहाँ तक कि अपने आपको भी दे डालते हैं। क्षति और वृद्धिसे रहित अपने आत्माको देनेमें भी आप संकोच नहीं करते।"

भगवान् बोले—"अच्छा, चाचाजी बहुत हुआ अब कल्याणकारी अन्य आवश्यक बातें होनी चाहिये।"

अक्रूरजीने कहा—"भगवान् ! आपके गुणानुवादोंके अतिरिक्त अन्य कोई कल्याणकारी बात है ही नहीं। हे जनार्दन ! आपकी जिन मनोमयी मूर्तिकी क्षण भरकी झाँकीके लिये बड़े-बड़े योगेश्वर तथा लोकपालगण चिरकाल तक घोर तप करते रहते हैं, फिर भी आपकी गतिको वे प्राप्त नहीं होते, उनके लिये आपके दर्शन दुर्लभ हैं। ऐसे सर्वेश्वर आपका हम प्रत्यक्ष

साक्षात् दर्शन कर रहे हैं, इससे बढ़कर हमारा और क्या सौभाग्य होगा ? प्रभो ! हमें ऐसा आशीर्वाद दें कि हमारी धनमें, भवनमें, स्वजनों और परिजनोंमें पुत्र और कलत्रोंमें आसक्ति न हो। जिस मायाने हमारे विवेकको नष्ट करके इन असह पदार्थोंमें सद्बुद्धि कर रखी है, उस मोह पाश रूप अपनी बहुरूपिणी गुणमयी दुरत्यया मायाको आप तुरन्त नष्ट कर दें। हमें अपने चरणोंकी शरणमें ले लें।"

भगवान्‌ने कहा—"देखिये चाचाजी ! आप ऐसी बातें कह कह कर हमें अप्रत्यक्ष रूपसे उपदेश कर रहे हैं। वास्तविक बात तो यह है, जो उन्नतिका इच्छुक हो, अपना आत्यन्तिक कल्याण करना चाहता हो, उसे आप जैसे परमपूजनीय महानुभावोंकी श्रद्धा भक्ति सहित सेवा करनी चाहिये। आप जैसे साधु प्रकृतिके पुरुष तो परमदेवता और तीर्थस्वरूप हैं। देवता तो स्वार्थी होते हैं। उनका पूजन करो तो फल देंगे। कोई विधि विपरीत कार्य हो गया तो उसके लिये दंड देंगे। कोप भी करेंगे। किन्तु आप जैसे संत जन कभी किसी पर कोप नहीं करते हैं। सदा सबके उपकार में ही संलग्न रहते हैं। जलमय ही तीर्थ नहीं, धातु मृत्तिका तथा पाषाणमयी मूर्तियाँ ही देवता नहीं। आप जैसे परोपकारी संत भी देव स्वरूप हैं। तीर्थोंमें जाकर चिरकाल निवास करो, अर्चा विग्रह की बहुत काल तक सेवा करो, तब ये सब फल देते हैं। किन्तु आप जैसे साधुजनोंके तो दर्शनमात्रसे ही सब फल प्राप्त होजाते हैं। इसलिये हम तो अपनेको कृतार्थ करने ही आपके दर्शनोंके लिये यहाँ आये हैं। मुझे आपसे एक आवश्यक कार्य भी था।"

उत्सुकतापूर्वक अक्रूरजीने कहा—"आज्ञा कीजिये प्रभो ! मैं आपकी कौन सी सेवा करूँ ?"

भगवान्‌ने कहा—"चाचाजी ! कल मैं पिताजीसे बातें कर

रहा था। बातों ही बातोंमें कल उन्होंने बताया—"हमारी एक कुन्ती नामकी बुआ है। उसका विवाह महाराज पांडुके साथ हुआ था। उनका वनमें स्वर्गवास हो गया! उनके पाँच पुत्र थे, उन्हें लेकर हमारी बुआ हस्तिनापुर आ गई। पांडुके बड़े भाई अंधे धृतराष्ट्र अपने दुष्ट पुत्र दुर्योधनके वशमें हैं। इसी लिये वे अपने भाईके लड़कोंके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते। जब तक हम असमर्थ थे तब तो विवशता थी, अब तो हम समर्थ हैं, सम्पन्न हैं। सगे सम्बधियोंसे सब यही आशा रखते हैं कि वे हमारे दुःख सुखमें सम्मिलित हों। समर्थ होने पर भी जो अपने सगे सम्बन्धियों की सहायता नहीं करता वह नरकका अधिकारी होता है। अतः हमें अपनी बुआ और उसके पुत्रोंकी सहायता करनी चाहिये।"

अक्रूरजीने कहा—"प्रभो! आप सर्वसमर्थ हैं। आप क्या करना चाहते हैं, इसे कोई नहीं जान सकता। प्रतीत होता है आप अपनी बूआके पुत्रोंको निमित्त बनाकर इस भू का भार उतारना चाहते हैं। अस्तु यह बताइये मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

भगवानने कहा—"आप हमारे कुलमें सर्वश्रेष्ठ हैं, परम बुद्धिमान और नीति निपुण हैं। अतः आप पाण्डवोंके हितकी इच्छासे हस्तिनापुरको जाइये। हमारी बुआसे, उसके पुत्रोंसे तथा धृतराष्ट्र आदिसे हमारी कुशल कहे। आप वहाँ जाकर कुछ दिन रहें और उनका सब भीतरी समाचार जानें। धृतराष्ट्र को भी समझावे। उसके मनोगत भावोंका भी अध्ययन करें, वहाँके कर्मचारियोंसे भी मिले। जब आप वहाँके सब समाचार लेकर लौट आवेंगे तो आपके द्वारा उनके सब समाचार पाकर मैं इस बातपर विचार करूँगा कि हमें कौनसा काम ऐसा करना चाहिये जिससे हमारे उन सुहृद सम्बन्धियों का कल्याण हो, उन्हें सुख हो।"

अक्रूरजीने कहा—"प्रभो ! आप सर्वज्ञ हैं। सबकी घट घट की बात आप जानते हैं। यह सब आप नर नाट्य कर रहे हैं। राजनीति का आदर्श उपस्थित कह रहे हैं, व्यवहारकी शिक्षा दे रहे हैं। मेरे लिये जैसी आज्ञा होगी, उसका मैं अवश्य पालन करूँगा। कल प्रातःकाल मैं हस्तिनापुर जाऊँगा और वहाँके सब समाचार जानकर आपके चरणोंमें निवेदन करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! इसप्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अक्रूरजी को आज्ञा देकर बलरामजी तथा उद्धवजीके साथ अपने भवनको चले गये। वहाँ जाकर अन्य राजकाजोंको देखने लगे। इधर अक्रूरजी हस्तिनापुर जानेकी तैयारियाँ करने लगे।"

छप्पय

बिनय बचन सुनि श्याम कहैं—चाचा ! तुम गुरुवर।
कुन्ती बूआ दुखी तुरत जावैं हथिनापुर॥
नेत्रहीन धृतराष्ट्र खलनि मिलि बशमहँ कीन्हें।
पितृहीन असहाय पांडुपुत्रनि दुख दीन्हें॥
कछु दिन बसि सब मरम लै, आवैं तब कछु करिंगे।
समुझि बलाबल बुआको सुतनि सहित दुख हरिंगे॥

अक्रूर और कुन्ती

(१०७६)

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन् ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ४९ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

हथिनापुर अक्रूर चले हरि आयसु सिर धरि ।
पहुँचत कुन्ती मिलीं गहकि नयननिमहँ जलभरि ॥
करि बिपतनिकी यादि बन्धु दिँग भइँ दुखारी ।
पुनि पुनि पूछति तात श्याम सुधि लई हमारी ॥
हे यदुनन्दन अखिलपति, शरणागत बत्सल-बिभो ।
सहति सुतनि सँग दुख दुसह, आइ उबारो हे प्रभो ॥

दुखमें जब कोई आकर हमारे प्रति सहानुभूति दिखाता है, तो हृदय भर आता है और करुणाका स्रोत उमड़ने लगता है। जैसे पके फोड़ेसे पीव निकल जानेपर कुछ कुछ शान्ति हो जाती है, वैसेही रोकर अश्रुविमोचन करके अपने दुखोंको स्वजनोंके सम्मुख कहनेसे चित्तमें शान्तिसी आ जाती है। इसीलिए दुःखमें

* कुन्तीजी अपने भाई अक्रूरजीके सम्मुख दुखित होकर भगवान् की स्तुति करती हुई कह रही हैं—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वरूप ! हे विश्वपालक ! हे गोविन्द ! मैं अपने सुतोंके अत्यन्त कष्ट पा रही हूँ। मुझ प्रपन्ना की आप रक्षा करें।"

स्वजन घर पर जाते हैं और सान्त्वना देते हैं। यदि सान्त्वना देनेवाले साक्षात् सर्वेश्वर हों, तब तो पूछनाही क्या, उनकी स्तुति करनेसे ही कल्याण होता है। हमें यह विश्वास बना रहे कि भगवान् हमें देख रहे हैं, उन्हें हमारे दुखोंकी चिन्ता है तो दुःख दुःख नहीं। कोटि सुखोंसे भी बढ़कर है। और भगवान्को भुलाकर उन्हें कारावास में बन्द करके—हम सुखोपभोग करना चाहें तो वे सुख चिन्ता, ग्लानि व्याकुलता, भय और क्रोधादिके कारण असंख्यों दुःखोंसे भी बढ़कर हैं। इसीलिये भगवान् दुख पड़नेपर साधुस्वभावके गुरुजनोंको भेजकर इस बातका स्मरण दिलाते हैं कि तुम साहसको मत त्यागना, हमें तुम्हारा स्मरण है, तुम्हारे साथ हम हैं। भगवत् भक्त इसी आशाके सहारे बड़े से बड़े कष्टोंको हँसते हँसते झेल लेते हैं। दुःख उन्हें दुःखप्रतीतही नहीं होता। निरन्तर भगवत् कृपाका अनुभव होते रहनेके कारण वे ऐसी विपत्तियोंकी निरन्तर याचना करते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान्की आज्ञा पाकर अक्रूरजी रथमें बैठकर मथुराजीसे हस्तिनापुरको चले। यमुनाजीको पार करके,पाञ्चालादि देशोंमें होते हुए वे गंगातट पर स्थित पुरुवंशी राजाओंकी राजधानी हस्तिनापुरमें पहुँचे। उन्होंने राजा धृतराष्ट्रके समीप अपने आनेका सम्वाद भेजा। धृतराष्ट्र अक्रूरजीका आगमन सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और उनसे प्रेमपूर्वक मिले। तदनन्तर वे कौरवोंमें सर्वश्रेष्ठ वृद्ध भीष्मपितामहसे मिले। धृतराष्ट्र और पांडुके छोटे भाई दासी-पुत्र विदुरजीसे भी भेंट की। तदनंतर भीष्मपितामहके चाचा बाह्लीक, उनके पुत्र सोमदत्तजीसे भी मिले तथा उनके भूरि, भूरिश्रवा, शल नामक तीनों पुत्रोंसे भी उन्होंने भेंट की। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण दुर्योधन, अश्वत्थामा तथा कुन्ती सहित पांडवोंसे भी उन्होंने भेंट की। अक्रूरजीको देखकर सभीको प्रसन्नता हुई। सभीने समस्त यदु

वंशियोंकी कुशल पूछी। अक्रूरजीने सबकी कुशल बताई और यहाँके सबलोगोंकी भी कुशल पूछी। अक्रूरजीने अपने आनेका कारण किसीको बताया नहीं। वे वहाँ कुछ काल तक रह गये। वे गुप्त रीतिसे सबसे मिलकर शनैः शनैः सबके मनका भेद लेने लगे। कौन क्या चाहता है, किसके मनमें क्या है, पांडवोंके कौन शत्रु हैं, कौन मित्र हैं। अक्रूरजी तो बड़े बुद्धिमान् थे। वे कुछ ही कालमें सब रहस्यको समझ गये कि विदुरजीको छोड़कर पांडवोंका यहाँ कोई हितैषी नहीं है। यद्यपि धृतराष्ट्र हृदयका बुरा नहीं है, किन्तु वह अल्पवीर्य है, अंधा है। उसके दुष्ट पुत्र दुर्योधनने उसे अपने अधीनकर रखा है। दुर्योधन पांडवोंको फूटी आँखसे भी देखना नहीं चाहता, वह उनपर नित्य नूतन अन्याय करता है और पुत्रस्नेहके वशीभूत होकर अंधाराजा उसके कृत्योंमें हस्तक्षेप नहीं करता। दुर्योधनको कर्ण, दुःशासन तथा शकुनि आदि ऐसे मन्त्री मिले हुए हैं जो सदा उसकी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं और उसके पाप कर्मोंमें भी सम्मिलित रहते हैं। यद्यपि अक्रूरजी धृतराष्ट्रके ही पास ठहरे थे, किन्तु वे अपनी बहिन कुन्ती के ही यहाँ विशेष रहते थे। उन्हींसे तो सब पूछने आये ही थे। विदुरजीने और महारानी कुन्तीने अक्रूरजीको सब भीतरी बातें बता दीं। दुर्योधन किस प्रकार पांडवोंकतेज, ओज, पराक्रम, कलाकौशल, बल, वीर्य, विनय तथा विद्यादि सद्गुणोंको देखकर जलता है, डाह करता है और किस प्रकार मन ही मन द्वेष रखता है। किस प्रकार दुर्योधनने भीमको विष खिला दिया था, किस प्रकार वह नागलोकमें जाकर बच गया। ये सभी बातें कुन्तीजीने अक्रूरजीको बता दीं। अक्रूरजीने अनुभव किया कि पांडवों पर प्रजाके लोगोंका तो अत्यधिक अनुराग है। वे पांडवोंसे प्रेम करते हैं, उन्हें राजा बनाने के पक्ष में हैं किन्तु दुर्योधन उन्हें सभी उपायों से नष्ट करना चाहता है।

अक्रूरजीको पाकर कुन्ती को बड़ा सहारा हो गया था, वह अपना दुखड़ा रोकर मनकी व्यथाको अक्रूरजीको सुनाकर कुछ स्वस्थ हो जाती ! एक दिन अक्रूरजीने कहा—"बहिन। अब मुझे यहाँ रहते रहते बहुत दिन व्यतीत हो गये हैं। भगवान् वासुदेव मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। मुझे उन्हें यहाँके सब समाचार सुनाने हैं। उन्हें तुम्हारी तथा तुम्हारे पुत्रोंकी बहुत चिन्ता है। वे तुम्हारा बहुत स्मरण करते हैं।"

यह सुनकर आँखोंमें आँसू भरकर महारानी कुन्ती बोली—"भैया ! जबतक तुम थे, तबतक मुझे बड़ा सहारा था। अपने दुख-सुखकी बातोंको तुमसे कहकर अपने हृदयको हलकाकर लेती थी। यह बात सत्य ही है, दुःखमें कोई किसी का होता नहीं। देखो, भैया तुम भी हमें भूल गये। यह बताओ हमारे माता पिता हमारी कभी याद भी करते हैं ? वसुदेवादिक हमारे सभी भाई कभी हमारी चर्चा चलाते हैं। हमारी और सभी बहिनें तो राजरानी हैं सभी सुखी हैं, एक मैं ही अभागिनी हूँ, कभी हमारी बहिनें आती हैं, तो कुलकी अन्यान्य स्त्रियोंके साथ। अपनी सखी सहेलियोंके साथ हमारा भी कभी स्मरण करती हैं। और करें न करें मेरे भाईके पुत्र लोकनाथ सर्वेश्वर शरणागत वत्सल भक्त-भयहारी भगवान वासुदेव तो कभी मेरा स्मरण करते हैं ? मेरे इन पितृ-हीन अनाथ बच्चोंका उन्हें ध्यान है न ? कमलनयन बल-रामजी भी हमारी याद करते हैं क्या ? भैया ! हमें तो उन्हीं श्यामसुन्दर घनश्याम का भरोसा है। जैसे बत्तीस दातोंके बीचमें जीभ रहती है, उसी प्रकार मैं यहाँ रहकर अपने दिन काट रही हूँ। जैसे भेड़ियोंके बीचमें भयभीता मृगी पड़ी रहती है वैसेही रहकर मैं अपने शत्रुओंके बीच में रह रही हूँ। दुर्योधन मेरे बच्चोंसे सदा द्वेष रखता है, वह जिस किसी प्रकार मेरे बच्चों-का अनिष्ट करना चाहता है।"

अक्रूरजी ने कहा—"बहिन ! इन्हीं सब बातों को जानने के लिये तो भगवान ने मुझे भेजा है। उन्हें आपकी तथा आपके पुत्रोंकी बड़ी चिन्ता है।"

कुन्तीजीने कहा—"उन्हें तो सम्पूर्ण विश्वकी चिन्ता है। वे तो विश्वम्भर हैं, उन्हींकी कृपाकी आशा पर तो मैं जीवित हूँ। नहीं मेरा संसारमें कौन है। यह बताओ भैय्या! क्या कभी श्यामसुन्दर अपनी इस अभागिनी दुःखिनी बुआको दर्शन देंगे। कभी फुफेरे भाइयोंके नाते इन बच्चोंपर कृपा करेंगे? कभी हस्तिनापुर आकर वे हमें धैर्य बँधावेंगे?"

अक्रूरजी ने कहा—"बहिन ! भगवान् से कोई भी बात छिपी नहीं है, वे सबके अन्तःकरण की बातों को जानते हैं। वे अवश्य ही तुम्हें दर्शन देंगे। विपत्ति सागर में डूबे हुए अपने भाई इन पाँचों पाँडवोंका वे उद्धार करेंगे। तुम्हारे पुत्र देवताओं द्वारा उत्पन्न हुए हैं, ये सबके सब बड़े धर्मात्मा हैं, इनकी संसार में विपुल कीर्ति फैलेगी, ये जगत् में बड़े यशस्वी होंगे।"

दीनताके स्वरमें कुन्तीजी बोलीं—"भैया ! मैंनेतो एक मात्र उन्हींके चरणोंकी शरण ले रखी है। वे ही हमारे रक्षक हैं।" यह कहकर महारानी कुन्ती फूट-फूट कर रोने लगीं। रोते रोते वह रुद्ध कण्ठसे भगवान्के नामोंको लेकर स्तुति करने लगीं। ऐसा प्रतीत होता था, मानों भावगम्य भगवान् उसके सम्मुख ही खड़े थे। वह उनके दर्शन करते करते ही मानों अधीर होकर स्तुति कर रही है—"हे महायोगिन ! यदुनन्दन तुम्हारे पाद-पद्मोंमें पुनः पुनः प्रणाम है। हे कृष्ण ! आप मेरे क्लेशों का कर्षण करो। हे विश्वरूप ! हमें अपने देवदुर्लभ दर्शन देकर कृतार्थ करो। हे विश्वपालक ! ये अनाथ बच्चे शत्रुओंके पंजे में पड़े हुए हैं। इनका आकर पालन करो। अपना

धरद कर कमल इनके सिरों पर रखो। हे परब्रह्म परमात्मन्! मुझ दुखिया के प्रणाम को स्वीकार कीजिये। हे विशुद्ध ज्ञानस्वरूप! स्वयं प्रकाश प्रभो! मैं आपकी शरणागत हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुन्ती की ऐसी करुण पुकार सुनकर अक्रूरजी का हृदय भर आया उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। उन्होंने भाँति भाँतिसे कुन्तीको समझाया। भगवान्की भक्तवत्सलता बताई, पांडवों के महान् गुणों का वर्णन किया। विदुरजी ने भी अक्रूरजी की बातों का समर्थन किया। इस प्रकार सब प्रकारसे अपनी बहिनको धैर्य बँधाकर वे मथुरा को लौटने लगे। चलते समय उन्होंने सोचा—"लाओ, धृतराष्ट्र को भी सचेत करते चलें। यदि वह स्थिर हो जाय, वह अपने दुष्ट पुत्रोंकी बातोंका समर्थन करना छोड़ दे तो कुन्ती और पांडवोंको इतना क्लेश न हो।" यही सब सोचकर वे सभा में बैठे धृतराष्ट्र के समीप गये।"

छप्पय

विदुर सहित अक्रूर पृथाकूँ धीर बँधायौ।
सुतनि प्रभाव सुनाइ समयको फेर बतायौ॥
यों बहु बिधि समुझाइ चले मथुरा सुफलक-सुत।
अन्ध अम्बिका-तनय निकट पहुँचे सनेहयुत॥
जाइ धरमयुत बचन बर, सब सचिवनि सम्मुख कहे।
कठिन बचन हितकर समुझि, अन्धराजने सब कहे॥

अक्रूरजी और धृतराष्ट्र

(१०७७)

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदम् ,
सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥ ❀
(श्री भा० १० स्क० ४९ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

निरभय ह्वै अक्रूर अन्धकूँ डाँट बताई ।
पांडु भूमिपति रहे तुम्हारे छोटे भाई ॥
तिनिके पुत्रनि संग करैं तव तनय लडाई ।
कौरव पाण्डव द्वेष बढ़ै नहिं होहि भलाई ॥
परपीडा दै पापको, आपु घड़ा नित नित भरो ।
तुमहु मोहवश सुतनिको, देहु साथ अधरम करो ॥

मनुष्य पापको समझकर भी मोहवश पुनः पुनः पापमें प्रवृत्त होता है । हम जानते हैं, यह काम अच्छा नहीं है । इसके

❀ धृतराष्ट्र भगवान्‌की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"जो भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति-माया के द्वारा इस दृश्य जगत् को उत्पन्न करके इसमें अनुप्रविष्ट हो जाते हैं और कर्म तथा कर्मफलों का पृथक्-पृथक् विभाग कर देते हैं, उन लीलाधारीकी अगम्य लीला ही इस संसार चक्रगति का प्रधान कारण है । उन परमेश्वर के लिये नमस्कार है

करनेसे लोकमें निन्दा और परलोकमें नरककी यातनायें सहनी पड़ेंगी, किन्तु जिनमें अपनापन हो जाता है, जिनमें चित्त फँस जाता है, उन्हें प्रसन्न करने को मोहवश हम अनुचित समझते हुए भी उन कामों को करते हैं। यही भगवान् की माया है। यही उन लीलाधारी की लीला है, यही उन क्रीड़ाप्रिय कृष्णकी क्रीड़ा है। मोह में पड़कर प्राणी अपने कर्तव्य को भूल जाता है। चढ़ी हुई कीर्ति को नष्ट कर देता है, चिरकाल के संचित तपको खो देता है हाथ कुछ लगता नहीं। इस मोह नाशका भगवान्के शरण जानेके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं। भगवान् ही कृपा करें और हमारी इस मोहशृंखला को काटें तभी कल्याण हो सकता है, नहीं तो यह भगवान्की माहिनी माया बड़ी दुस्तर है। इसमें फँसा प्राणी उनकी कृपाके बिना छूट नहीं सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अक्रूरजीने भाँतिभाँतिसे कुन्ती जी को समझाया। उन्हें धैर्य बँधाया। तब वे सबसे विदा लेकर मथुरा को चले। चलते समय अंधे धृतराष्ट्रसे मिलकर सब सत्य सत्य बात कह दें, यही सोचकर वे धृतराष्ट्रके समीप गये। उस समय अंधे राजा अपने मंत्रियोंसे घिरे हुए राजसभा में बैठे थे। उनके दुर्योधनादि पुत्र भी समीप में ही बैठे थे। अक्रूरजी के आने पर उनका आदर किया और राजाने उन्हे अपने समीप ही बिठा लिया। इधर उधरकी शिष्टाचार सम्बन्धी बातें होने के अनन्तर अक्रूरजी ने कहा—"राजन्, अब मुझे हस्तिनापुर में रहते हुए बहुत दिन हो गये, अब मैं मथुरा जाना चाहता हूँ।"

धृतराष्ट्रने स्नेहवश कहा—"अक्रूरजी! आप कुछ दिन और निवास करें। आपके रहने से हमें बड़ा सुख मिलता है। आप बड़े धर्मात्मा हैं, आप की बातें नीतिधर्मयुक्त और हितकर होती हैं।"

अक्रूरजी ने कहा—"नहीं, महाराज ! अब तो मुझे जाना ही चाहिये। भगवान् वासुदेव मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। आपने बड़ी कृपाकी, मेरे प्रति बड़ा प्रेम प्रदर्शित किया। मैं आपकी कृपाका आभारी हूँ। चलते समय मैं आप से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, यदि आप बुरा न मानें तो ?"

धृतराष्ट्रने अत्यन्त स्नेह से कहा—"अक्रूरजी ! बुरा मानने की कौनसी बात है। आपको जो कहना हो निर्भय होकर कहें।"

यह सुनकर अक्रूरजी बोले—"देखिये महाराज ! आप कौरवकुलकी कीर्तिको बढ़ाने वाले है। आप धर्मके मर्मको जानने वाले हैं। यद्यपि आप महाराज विचित्रवीर्य के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र हैं, बड़े होनेसे राज्यके अधिकारी आपही थे किन्तु अन्धे होनेके कारण आपको राज्य नहीं मिला। आपके छोटे भाई पांडु राजा हुए। दैव की विचित्र गतिसे आपके छोटे भाई भी अपने छोटे छोटे पाँच बच्चों को छोड़कर परलोकवासी हुए। नियमानुसार महाराज पाँडुके परलोकवासके अनन्तर उनके ज्येष्ट पुत्र युधिष्ठिर को राजा होना चाहिये था, किन्तु वे अभी छोटे हैं। इसीलिये आपको राज्य सिंहासन पर बिठा दिया गया।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"अक्रूरजी ! मुझे राज्य की इच्छा तो है नहीं, यह तो मेरे सिर पड़ गया। पांडु जब तक था, वह राज्य करता ही था। जब वह परलोकवासी हो गया तो राजकाज देखने वाला कोई रहा नहीं। विदुरजी दासी पुत्र होनेसे सिंहासनपर बैठ नहीं सकते। बच्चे सब छोटे हैं इसीलिये विवश होकर मुझे राजसिंहासन पर बैठना पड़ा, राजा बनना पड़ा।"

अक्रूरजी ने कहा—"यह तो आपको करना ही चाहिये। राज्यसिंहासन पर आपके अतिरिक्त और कोई बैठ ही नहीं

सकता, किन्तु राज्यसिंहासन पर बैठकर उसके अनुसार कार्य कीजिये। धर्मका आचरण कीजिये, अधर्मको प्रश्रय न दीजिए। आप अपने सुन्दर स्वभावसे प्रजाका पालन कीजिये। प्रजा का रंजन करनेसे ही भूपतिकी राजा संज्ञा होती है। अतः आप प्रजाओंकी भावनाका सम्मान कीजिये। राजा प्रजासे षष्ठांश कर ही लेकर अपने कर्तव्यसे पृथक् नहीं हो जाता। उसे उनकी इच्छाओंका भी आदर करना पड़ता है। उसके पाप पुण्यमें भी वह भागीदार हो जाता है। आप अपने स्वजनोंके साथ धर्मका व्यवहार करें उनमें विषमता न देखें।"

धृतराष्ट्रने कहा—"अक्रूरजी! पांडुके मरनेके पश्चात् अब पांडवोंका मैं ही पिता हूँ। जैसे मेरे ये सौ पुत्र हैं वैसे ही ये पाँचों भी हैं।"

अक्रूरजीने कहा—"नहीं, महाराज! आप ऐसा नहीं करते। आपके मनमें भेदभाव है। आप कौरवों और पांडवोंमें विषम बर्ताव करते हैं। यह न्यायके, धर्मके, नीति और सदाचारके विरुद्ध है। आपका तो कर्तव्य है कौरव और पांडवोंका पालन समान भावसे करें। आपके पुत्र जो उनके साथ अन्यायका व्यवहार करते हैं, उन्हें दंड दें। ऐसे करनेसे आपका कल्याण होगा, संसार में आपका यश व्याप्त हो जायगा और इसके विपरीत आचरण करनेपर लोकमें निन्दा होगी और मरनेपर नरकमें जाना पड़ेगा। मनुष्य चाहे धर्मसे धन उपार्जन करे या अधर्मसे सब यहाँका यहीं रह जाता है, कोई उसे साथ बाँधकर नहीं ले जाता। जिन स्त्री, पुत्र, परिवारवालोंके लिये पाप किये जाते हैं वे सब भी अन्तमें बिछुड़ जाते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या यह शरीर भी यहीं रह जाता है। पंचभूतोंमें पंचभूत मिल जाते हैं। मनुष्य अकेलाही मुट्ठी बाँधकर जन्मता है और अकेला ही हाथ पसार कर मर जाता है। जिन स्त्री, पुत्रों और प्रेमियोंके लिये पापकर

करके धन कमाता है, अधर्म अन्याय करता है, मरते समय वे इसका साथ नहीं देते। इसे अपने सुकृत दुष्कृतोंका अकेले ही फल भोगना पड़ता है।"

धृतराष्ट्रने कहा—"अक्रूरजी! मैं अन्धा हूँ। मेरे पुत्रने अपने आप राज्यपर अधिकार जमा लिया है। मैं क्या करूँ?"

अक्रूरजीने कहा—"राजन्! अपने आप नहीं जमा लिया है। पुत्र अपने पिताकी वस्तुपर अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझता है। मत्स्यके पुत्र पौत्र उसके रहनेके स्थान जलको अपना समझ कर उसपर अधिकार करलेते हैं। आप सोचें संसारमें अपना कौन है। धर्मही अपना बन्धु है। जो धर्ममें रत है वह चाहें हमारा शत्रुही क्योंन हो, बन्धु है, पूज्य और माननीय है। इसके विरुद्ध जो अधर्ममें निरतहै वह चाहें हमारा सगा पुत्रही क्यों न हो उसे उसी प्रकार निकालकर फेंकदेना चाहिये जैसे बुद्धिमान दूधमेंसे मक्खी को निकालकर फेंक देते हैं। आपतो बुद्धिमान है वृद्धसेवी है। आप इस दृश्य जगत्को स्वप्न माया और मनोराज्यवत समझकर अपने चित्तका स्वयंही संयम कीजिये। आप कौरव और पांडवोंमें जो विषम बर्ताव करते हैं उसे छोड़कर समदर्शी हो जायँ। राजन्! अधर्म कितना भी छिपकर एकान्तमें क्यों न किया जाय वह कभी न कभी अवश्यही प्रकट होजाता है। औरों पर प्रकट न भी तो-अपनी अन्तरात्मा ही टोंचती रहतीहै। चित्त सदा अशान्त और उद्विग्न बना रहता है। सदा भय बना रहता है। कोई हमारे पाप को देख न ले, कोई हमारी चेष्टासे हमारे मनोगत भावोंको जान न लें। राजन् अपने मनके चोरको निकाल दीजिये। आप स्वयं शान्त हो जायँगे। आपकी उद्विग्नता दूर हो जायगी।"

यह सुनकर अधीर होकर गद्गद वाणीसे धृतराष्ट्रने कहा—"हे दानपते! यदुनन्दन! आपका कथन यथार्थ है। आपके उपदेश बड़े ही सुन्दर हैं, प्रिय हैं, हितकर हैं और धर्मयुक्त हैं। आपके

कथनकी शैली बड़ी मधुर है। आपके मुखारविन्दसे इन अमूल्य कल्याणकारी वचनोंको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है। चित्त चाहता है सदा तुम्हारे इन वचनोंको सुनताही रहूँ, तुम मेरे कर्ण कुहरोंमें अपना मधुर वचनामृत निरन्तर उड़ेलतेही रहो। मैं तुम्हारे उपदेशोंसे प्रभावित हूँ।"

अक्रूरजीने कहा—"राजन्! प्रभावित होनेसे ही काम थोड़ेही चलेगा। आप इन उपदेशोंके अनुसार कार्य कीजिये।"

धृतराष्ट्र बोले—"क्या करूँ अक्रूरजी! सब जान बूझकर भी मोहवश मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। दिनभर सोचता हूँ मैं पाँडवोंके साथ अन्याय न करूँगा, किन्तु जब मेरा पुत्र मेरे सामने आ जाता है, तो पुत्र प्रेमके कारण मेरा चित्त ऐसा विषम और चंचल हो जाता है कि फिर शास्त्रोंके सुखकारी वचन, आपकी यह सुन्दर शिक्षा इसी प्रकार हृदयमें नहीं टिकती जैसे चिकने घड़ेपर जलकी एक बूँद भी नहीं ठहरती। जैसे चंचला चपला विद्युत् चमककर फिर छिप जाती है वैसेही ये धर्मकी बातें आती हैं और फिर मोहके कारण छिप जाती हैं। जिस कामको नहीं करना चाहता उसे आसक्तिवश मुझे करना पड़ता है। हे दानपते! मेरा मन मेरे वशमें नहीं रहा। मैं एकतो ऊपरसे ही अंधा हूँ। फिर पुत्रके दुस्त्यज अनुरागने मुझे भीतरसे भी अंधा बना लिया है।"

अक्रूरजीने कहा—"राजन्! आप इतने विवेकी बुद्धिमान् होकर ऐसा धर्म विरुद्ध आचरण करतेही क्यों हैं?"

दुखित होकर धृतराष्ट्र ने कहा—"दानपते! मैं नहीं चाहता ऐसा करूँ, किन्तु मैं ऐसा करनेको विवश हो जाता हूँ। ये कोई पूर्वजन्मके संस्कार हैं जो अब उदय हो रहे हैं। कालरूप भगवान् मुझसे जो कराना चाहेंगे, अवश्य करावेंगे। जो उन्होंने विधान बना रखा है, वह अवश्य होकर रहेगा। कौन

चाहता है लोग मेरे ऊपर उँगली उठावें, मेरे कार्यों में सन्देह करें। संसारमें मेरी अपकीर्ति हो। न चाहनेपर भी भाग्यवश हो ही जाती है। ईश्वरके विधानको बदल देनेकी भवितव्यताको पलट देनेकी किसमें सामर्थ्य है? मैं उन भगवान्‌को जानता हूँ, ऐसा नहीं कि मैं सर्वथा मूर्ख ही हूँ। वे ही भगवान् भू का भार उतारनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं; वे आजकल देवकी वसुदेवजीके पुत्र कहलाकर मथुरामें निवास कर रहे हैं। करने करानेवाले सब वे ही हैं। उन्हें जो करना होगा, उसे वे अवश्य करेंगे। उनका अवतार ही भू का भार उतारनेके लिये हुआ है। अतः मैं तो उन्हीं सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वगत, सत्यसंकल्प अच्युत, अविनाशी तथा अगम्यलीला वाले अनादि निधन भगवान् वासुदेवके पादपद्मोंमें प्रणाम करता हूँ। वे ही मुझे सद्बुद्धि प्रदान करेंगे, वे ही मेरा कल्याण करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसके आगे अक्रूरजी और कहही क्या सकते थे। यही अंतिम उत्तर है। विवशताकी पराकाष्ठा है। आस्तिक प्राणी जब अपने समस्त प्रयत्नोंमें असफल हो जाता है, तो अन्तमें उसे यही कहना पड़ता है। यह सुनकर अक्रूरजी सबसे मिल भेटकर अपने सभी कुरुवंशीय सुहृद् सम्बन्धियोंसे विदा होकर मथुरामें पहुँचे। वहाँ उन्होंने जाकर हस्तिनापुरमें जो जो देखा था, सबको विस्तृत सूचनायें दीं। पांडवोंके साथ धृतराष्ट्र किस प्रकार विषम व्यवहार करते हैं, कुन्ती किस प्रकार दुखी हो रही हैं, दुर्योधन किस प्रकार पांडवोंके नाशकी बातें सोचता रहता है, ये सभी बातें ब्योरेवार अक्रूरजीने रामकृष्ण तथा सभी यादवोंको सुनाईं। अक्रूरजीकी बातें सुन कर भगवान्‌ने भू भार उतारनेकी दृढ़ प्रतिज्ञाकी। उन्होंने सोचा—"इन राजाओंको अपनी अपनी विपुल सेनाका ही गर्व है, पहिले सैनिकशक्तिको ही नष्ट करें। फिर कालयवन,

सन्ध, दुर्योधन तथा अन्यान्य दुष्ट राजाओंको जो पूर्वजन्मके तो असुर हैं, किन्तु पृथिवीपर मनुष्य रूपमें उत्पन्न होकर शक्तिशाली राजा बन गये हैं, इन सबका नाश किया जाय। जब सब दुष्ट राजा मारें जायँगे, तभी भू का भार हलका होगा। तभी संसारमें सुख शान्तिकी स्थापना होगी। जब तक ये शक्तिशाली दुष्ट विचार के राजा बने रहेंगे तब तक शान्ति स्थापित होना असंभव है। यही सोचकर वे असुर संहार करनेका विचार करने लगे। भगवानका सङ्कल्प होते ही दीपककी ज्योतिमें पतंगे अपने आप आकर प्राण गँवाने लगते हैं वैसेही दुष्ट राजा आने लगे। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

भये दुखित धृतराष्ट्र कहें—हे दानपते! सुनि।
करता कारन काल कृष्णकूँ कहें सकल मुनि॥
नाचूँ ह्वैके अवश नाच जो श्याम नचावैं।
अधरम अथवा धरम करूँ सब वे करवावैं॥
अन्ध-ज्ञान अक्रूर सुनि, मथुरा लौटे सब कही।
हरन भार भू हरि गदा, असुर बिनासिनि कर गही॥

आगे की कथा सैंतालीसवें खण्ड में पढ़िये।

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीभागवत-दर्शन

भागवती-कथा

(सैंतालीसवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

—:॥:—
संशोधित मूल्य

द्वितीय संस्करण १००० प्रति] कार्तिक सं० २०२३ वि० [मू० १-२५ पै०

मुद्रक—पं० राजाराम शुक्ल भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगञ्ज इलाहाबाद ।

विषय अनुक्रमणिका

१०७८—जरासन्ध की मथुरा पर चढ़ाई ५
१०७९—श्रीकृष्ण बलरामसे जरासन्धका सत्रह बार युद्ध ... १
१०८०—कालयवन की यादवों पर चढ़ाई २
१०८१—रणछोड़का रणछोड़कर भागना और कालयवनका अंत ३
१०८२—महाराज मुचुकुन्द का परिचय ४
१०८३—मुचुकुन्द और माधव ४
१०८४—महाराज मुचुकुन्दकी स्तुति और भगवान्‌का उन्हें वर ५
१०८५—जरासन्ध की अठारहवीं बार चढ़ाई ६
१०८६—श्रीरुक्मिणीजी ६
१०८७—श्रीरुक्मिणीजी का भगवान् को संदेश ... ५
१०८८—श्रीरुक्मिणीजी का प्रेम पत्र ८
१०८९—विवाहार्थ श्रीहरिका कुण्डिनपुर को प्रस्थान .. ९
१०९०—श्रीरुक्मिणीजी की निराशा में आशा १०
१०९१—श्रीरुक्मिणीजी द्वारा गौरीपूजन ११
१०९२—श्रीरुक्मिणीजी का हरि द्वारा हरण १२
१०९३—भगवान् के साथ रुक्मीका युद्ध १३
१०९४—द्वारकामें भगवान्‌का रुक्मिणीजीके साथ विवाह.... १४
१०९५—रुक्मिणीजीसे प्रद्युम्न की उत्पत्ति १४
१०९६—स्यमन्तकोपाख्यान १५
१०९७—मणिके कारण माधवको मिथ्या कलङ्क ... १६
१०९८—जाम्बवती के साथ भगवान् का विवाह ... १७
१०९९—सत्यभामाजी के साथ भगवान् का विवाह ... १९
११००—सत्राजित् की हत्या १९
११०१—शतधन्वा का वध २०
११०२—अक्रूर और कृतवर्माका पलायन २१
११०३—स्यमन्तकोपाख्यान की समाप्ति २२
११०४—भगवान्‌का चौथा विवाह २३
११०५—भगवान्‌का पाँचवाँ और छठा विवाह २५

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

'भगवती कथा' का यह ४७ वाँ खण्ड है, ४८ वाँ भी इसके साथ साथ जा रहा है। इन अङ्कों के पहुँचने पर आपकी चतुर्थ वर्ष की दक्षिणा समाप्त हो जाती है। अतः इन अङ्कों के पाते ही आप अगले वर्ष की—१५=) दक्षिणा शीघ्राति शीघ्र भेजिये।

रुपया मनीआर्डर से आने में हमें भी सुविधा रहती है और ग्राहकों को भी सुविधा रहती है। जिनके रुपये आ जाते हैं, उन्हें हम पहले पुस्तक भेजते हैं, हमारा खाता भी ठीक रहता है और कोई असुविधा नहीं होती। वी. पी. से भेजने में देरी होती है, जब तक वी. पी. छूट कर नहीं आती दूसरे खण्ड भेजे नहीं जाते, किसी किसी वी. पी. को लौटने में तो वर्ष दो वर्ष लग जाते हैं, इन्हीं सब कारणों से आप मनीआर्डर से ही रुपये भेजें।

वी. पी. अवश्य छुड़ालें

जिनके रुपये नहीं आवेंगे उन्हें तो हम वी. पी. भेजेंगे ही। कुछ ग्राहक ऐसा करते हैं कि न तो मनीआर्डर भेजते हैं और न ग्राहक न रहने की सूचना ही देते हैं, वी. पी. पहुँचाने पर उसे लौटा देते हैं। यह इस पवित्र धार्मिक संस्था के साथ घोर अन्यान्य है। यदि आपको ग्राहक नहीं रहना है, तो छ पैसे के कार्ड पर सूचना दे दें। आपके छ पैसे के लोभ से कार्यालय की छै सात आने की हानि होती है और जाने आने में पुस्तक बुरी बन जाती है। अतः—

जिन्हें ग्राहक न रहना हो वे तुरन्त सूचना दे दें!

क्षमा प्रार्थना

ये अङ्क बहुत दिनों के पश्चात् पाठकों के पास पहुँच रहे हैं। इसके दो कारण हैं, एक तो अर्थाभाव दूसरे श्रीमहाराज जी

(श्रीब्रह्मचारी जी) का चुनाव में खड़ा होना। सब लोग चुनाव के चक्कर में फँस गये, इसलिये इन लेखों के निकालने में देर हुई, पाठक पाठिकायें क्षमा करें।

एक एक नया ग्राहक अवश्य बनावें।

हम बार बार प्रार्थना करते हैं कि सभी पाठक पाठिकायें कम से कम एक एक नया ग्राहक अवश्य बनावें। इससे हमारी आर्थिक कठिनाई बहुत कुछ दूर हो सकती है। हम चाहते हैं 'भागवती कथा' का घर घर प्रचार हो।

संकीर्तन-भवन, झूसी (प्रयाग) { भवदीय—
व्यवस्थापक

जरासन्धकी मथुरा पर चढ़ाई

(१०७८)

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ ।
मृते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुःस्म पितुर्गृहान् ॥
पित्रे मगधराजाय जरासंधाय दुःखिते ।
वेदयांचक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ।❀

(श्री भा० १० स्क० ५० अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

जरासन्धकी सुता अस्ति अरु प्राप्ति सयानी ।
परम सुन्दरी सुघर कंसकी दोऊ रानी ॥
कंस मरत ससुराल त्यागि पितु घर अपनायौ ।
जरासन्धतें सकल कंस को वृत्त बतायौ ॥
सुनत कुपित अति खल भयो, भारी सेन सजाइकें ।
आयो यदुकुल नाश हित, अति बलवस गरबाइकें ॥

भगवान्‌को जब जैसा करना होता है, तब वैसा ही कारण उपस्थित कर देते हैं। लोग व्यर्थमें दोष देते हैं, अमुकने ऐसा

❀शौनकदेवजी कहते हैं—'राजन्! अस्ति और प्राप्ति ये दो कंसकी रानियाँ थीं। दोनों अपने पति के मारे जाने पर दुखी होकर अपने पिताके घर चली गईं। वहाँ जाकर उन्होंने दुखित होकर अपने पिता जरासन्धको अपने विधवा होने का कारण बता दिया।'

क्या, अमुक ऐसा न करता तो ऐसा न होता। करने वालेने तो ही किया, जो होने वाला था। ऐसा होने वाला न होता तो वह करता ही क्यों? भगवान् क्रीड़ा-प्रिय हैं। असुर भी उनके ही उत्पन्न किये हुए हैं और सुर भी। जब उन्हें जिसके साथ क्रीड़ा करनी होती है, तब उसे ही बल प्रदान कर देते हैं। कभी असुर बली हो जाते हैं यहाँ तक कि वे अपराजित भगवान्को भी पराजित कर देते हैं। भगवान् का भला कोई क्या पराजित करेगा, किन्तु वे क्रीड़ा के निमित्त नर नाट्य किया करते हैं। अबलको बली और बलीको अबल बना देना उनका विनोद है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अक्रूरजी हस्तिनापुरसे पाण्डवों का समाचार ले आये, तो भगवान् सोचने लगे अब युद्ध होना चाहिये। पृथिवी पर बहुत जन संख्या बढ़ गयी है। दुष्टलोग मनमानी करने लगे हैं। किन्तु युद्ध हो कैसे, सहसा किसी पर चढ़ाई की भी नहीं जाती। भगवान् को चाहे तो अपना शत्रु मान ले, किन्तु वे किसी के शत्रु नहीं, वे तो प्राणिमात्र के सुहृद् हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब भगवान् प्राणिमात्र के सुहृद् हैं, तो कंस और उसके अनुयायियों को उन्होंने मारा क्यों?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने कोई द्वेषवश इन सबको थोड़े ही मारा था। उनके कल्याण के ही लिये भगवान् ने उनका वध किया। साधुओं का रक्षण और दुष्टोंका दमन, यही तो भगवान् के अवतारका प्रयोजन है। कंस बड़ा दुष्ट था। अपने कुलवालों का सदा क्लेश पहुँचाता रहता था, इसी-लिये भगवान् ने उसका वध किया।"

शौनकजीने पूछा—"अच्छा, सूतजी! यह बताइये कंस क्या था, भगवान्ने भरी सभामें उसे मार दिया, किन्तु किसीने

इसका विरोध नहीं किया। कंसका पक्ष लेकर किसीने श्रीकृष्णसे युद्ध नहीं किया ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! कंसके अत्याचारों से समस्त प्रजा मन ही मन उससे दुखित थी। सभी उसकी मृत्यु चाहते थे। सभीके मनकी बात होने से सबको आन्तरिक प्रसन्नता हुई, इसीलिये सबने भगवान् के इस कार्यकी प्रशंसा की, उनका अभिनन्दन किया। हाँ, मगधके राजा जरासंधने उनके इस कार्यका विरोध अवश्य किया। उसने क्रोध में भर कर यादवोंकी राजधानी मथुरा पर चढ़ाई कर दी।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! कहाँ मगध कहाँ मथुरा जरासन्धने कंसका इतना पक्ष क्यों लिया ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! कंस जरासंधका जामाता था। जरासन्धकी अस्ति और प्राप्ति नामकी दो बड़ी ही सुन्दर कन्यायें थीं। उनका विवाह वह किसी परम शूरवीर राजा से करना चाहता था। कंसने अपनी शूरता दिखाकर जरासन्ध को प्रसन्न कर लिया। तब उसने अपनी कन्याओं का विवाह इसके साथ कर दिया। भगवान्ने जब कंसको मार डाला तो ये दोनों दुखित होकर अपने पिताके यहाँ गईं और रो रो कर अपने पतिके मार जानेका सब वृत्तान्त बताया। रोते रोते उन्होंने कहा—"पिताजी ! छोटेसे कृष्णने आकर भरी सभामें उन्हें मार दिया। किसी ने इस बातका विरोध तक नहीं किया। अब वही छोटा सा छोरा अपने भाईके सहित मथुरा का सर्वे सर्वा राजा बनकर बैठा है। नाममात्रको कठपुतलीकी भाँति ससुरजी को राजा बना लिया है। वे तो बूढ़े हैं। अपने सब पुत्रोंके मारे जानेसे दुखी हैं, उनमें कुछ करनेका सामर्थ्य नहीं। सब करते धरते तो कृष्ण और बलराम ये दोनों भाई हैं। ससुरजी तो नाममात्रके राजा हैं।"

यह सुनकर जरासन्ध को बड़ा क्रोध आया। उसने दाँतों से

ओठको काटते हुए क्रोध में भरकर कहा—"अच्छा, उस छोटे से कृष्णका ऐसा साहस ? मैं माथुर और शूरसेन देशको यादवों से रहित करता हूँ। मैं हाथ में खड्ग लेकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि पृथिवी पर एक भी यादवको नहीं छोड़ूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करके उसने सैन्य सजाने की आज्ञा दी। बातकी बातमें चतुरङ्गिनी सेना सजकर तैयार हो गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जरासन्ध बड़ा बली था। उस समय पृथिवी पर वही सबसे बली था, पृथिवी के समस्त राजाओंको वशमें करके उसने सम्राट पद प्राप्त कर रखा था। सभी राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। जिन राजाओंने उसकी अधीनता नहीं मानी उन सबको पशुओं की भाँति पकड़ पकड़ कर उसने बंदी बना रखा था। जितने सूर्यवंशी चन्द्रवंशी नृपतिगण जो अपने को कुलीन और चक्रवर्ती मानते थे, वे सबके सब उसके अधीन हो गये थे। परम प्रतापी चेदि देशका राजा शिशुपाल उसका सेनापति था। करूपराज, महाराज वक्र, वक्रदन्त, मेघवाहन, करभ, यवनराज युरु, भगदत्त, चन्देरी नरेश मिथ्यावासुदेव, भोजवंशी भीष्मक, आकृति तथा अन्यान्य सहस्रों नरपति उसके यहाँ सेवकोंकी भाँति रहते थे। हंस और डिम्भक नामके दो बड़े बली राजा थे। वे दोनों सगे भाई थे। वे दोनों आकर जरासन्ध के समीप ही शिष्य भावसे रहते थे। उन्हें ब्रह्माजीका वरदान था कि किसी भी अस्त्र शस्त्रसे समर में न मारे जायँ। जरासन्धकी सेनाका संचालन ये दोनों भाई ही करते थे। इन दोनोंमें इतना प्रेम था कि एक दूसरे के बिना जीवित नहीं रह सकता था। इन दोनोंकी सहायता से ही जरासन्ध ने समस्त पृथिवी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कोई भी राजा उसके सम्मुख सिर नहीं उठा सकता था। प्रायः सभी बड़े बड़े राजा उसके अधीन रहकर कर देते थे।

ऐसे प्रबल प्रतापी राजाके दामादको श्रीकृष्णचन्द्रने मार दिया, उसकी पुत्रियोंको विधवा बना दिया. इससे उसके क्रोधका ठिकाना नहीं रहा। समुद्रके समान उमड़ती हुई सेना लेकर उसने चारों ओरसे मथुरापुरीको घेर लिया।

भगवानको अभीतक समर में सेना के सम्मुख युद्ध करने का तो काम पड़ा नहीं. अबतक तो जो भी असुर आया, किसीको घूँसे से मार दिया, किसीका पेट फाड़ दिया. किसीके मुँह में हाथ डाल दिया, किसीका चपतसे ही सिर उड़ा दिया, यहाँ तक कि दश सहस्र हाथियोंके बलवाले मामा कंसको भी चोटी पकड़ कर ही परलोक पठा दिया, किन्तु अब तो तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर जरासन्धने मथुरापुरीको घेर लिया है। अब लात घूँसा, थप्पड़ों से तो काम चलने का नहीं। अब तो युद्धकी सभी सामग्री चाहिये। यादव थोड़े थे युद्धोपयोगी सामग्री भी उनके पास नहीं थी। जरासन्ध की सेनाने उन्हें चारों ओर से घेर लिया था। इस कारण वे सबके सब बड़े भयभीत हो रहे थे। अपने बन्धु बान्धवोंको भयभीत देखकर लीला मनुष्य भगवान वासुदेव अपने अवतारके प्रयोजनको स्मरण करके देशकालानुसार सोचने लगे—"यह जरासन्ध ही पृथिवीका भार बढ़ाये हुए है। यह ऊपर से तो धर्मात्मा बना है, किन्तु मुझ सर्वात्मासे द्वेष करता है, चतुरंगिणी सेना लेकर अपने सहायक साथियोंके सहित इसने हमारी पुरीको घेर लिया है। मैं इसकी समस्त सेनाको मार डालूँगा। किन्तु अभी इसे नहीं मारूँगा, क्योंकि पराजित होकर यह पुनः पुनः सैन्य संग्रह करके हम पर आक्रमण करता रहेगा। इस प्रकार बिना प्रयासके सेना यहाँ आती रहेगी और हम उसका संहार करते रहेंगे। इस प्रकार सैनिक शक्ति का ह्रास होने पर फिर इन असुर प्रकृतके राजाओंको भी मरवा देंगे। आज सभी राजाओंका सैन्य बल

बहुत बढ़ गया है, सब अभिमानमें भर कर लड़ते हैं। राजा सब दुष्ट हो गये हैं, जरासन्धका पक्ष लेकर वे भी अन्याय कर रहे हैं। अतः एक बार सबका संहार हो जाय यही उत्तम है। मैं कालरूपसे दुष्टोंका संहार करने और शिष्टोंका पालन करनेको ही अवतीर्ण हुआ हूँ। धर्मकी रक्षा और अधर्म का ह्रास करना ही मेरे अवतारका प्रयोजन है, किन्तु मेरे पास समरोचित दिव्य अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं। अब उनको मेरे समीप उपस्थित हो जाना चाहिये।"

भगवान् ऐसा सोच ही रहे थे कि तुरन्त ही आकाश से सारथियोंके सहित दो दिव्य रथ तथा युद्धोपयोगी अन्य सामग्री, अस्त्र, शस्त्र, दिव्य आयुध कवचवम सभी उपस्थित हो गये। दोनों भाइयोंने अपने सनातन दिव्य चैतन्य अस्त्रों को देखा भगवानने बलदेवजी को उनका परिचय कराया। दोनों ने उनके समय पर आने पर हर्ष प्रकट किया। बलदेवजी के सहित भगवान्ने दिव्य कवचों को धारण किया अपने शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, खड्ग, धनुष और बाण इन अस्त्रायुधोंको धारण किया। दोनों वीर युद्ध के लिये सुसज्जित हुए। भगवान् ने बलदेवजी से कहा—"भैया! अब देरी क्या है, चलो शत्रुकी सेनासे युद्ध करके भू का भार उतारें, अपने दुखी स्वजनोंको सुखी बनावें और जरासन्ध को पुनः सैन्य संग्रह करके यहाँ आने का प्रतिरोध करें।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है, चलो। यह भी खेल हो जाय हमारी जातिके नरनारी अत्यन्त तंग हुए हैं। इस जरासन्धको भी अपने विजयी होने का गर्व है, अतः इसे पराजित करके इसके गर्वको भी खर्व करें और अपने बन्धु बान्धवों को भी सुखी करें।"

यह कहकर दोनों भाई अस्त्र शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर जरासन्ध

के समीप गये। सेनामें घुसते ही भगवान्‌ने अत्यन्त वेगके साथ अपने पांचजन्य शङ्खको बजाया। उसकी तुमुल ध्वनि को सुनकर विपक्षी वीरोंका समस्त उत्साह भंग हो गया। मारे भयके उनके हृदय थर थर कांपने लगे।

जरासन्धने देखा कृष्ण और बलराम दोनों युद्धके लिये रथों पर चढ़े समुपस्थित हैं। तब वह भी रथ पर चढ़कर इनके सम्मुख आया। भगवान् श्रीकृष्णने सर्व प्रथम उसे युद्धके लिये ललकारा। तब उसने कहा—"देख, कृष्ण! तेरे बड़े भाईके रहते हुए मैं तेरे साथ युद्ध नहीं कर सकता।"

भगवान् ने पूछा—"मुझसे युद्ध क्यों नहीं करोगे?"

जरासन्धने कहा—"तू अभी बलदेवके सम्मुख बच्चा है। बड़ोंका युद्ध बड़ोंके ही साथ होना चाहिये। क्षत्रिय क्षत्रियके ही साथ युद्ध करता है। तेरी जातिका भी पता नहीं। तुझे कोई नन्द-कुमार कहता है, कोई वासुदेव कोई देवकीनन्दन कहता है कोई यशोदानन्दन। यदि तू नन्दनन्दन है, तो जातिका बनिया है। बनियों से क्षत्रिय युद्ध करना ही नहीं। यद्यपि तू मारने योग्य है, तैंने छलसे मेरे दामादकी हत्याकी है, किन्तु मैं अभी तुझे मारूंगा नहीं। पहिले मैं तेरे बड़े भाई बलदेवको समर में मार डालूँ। तब तुझे देखूँगा।"

यह कहकर वह बलदेवजीसे बोला—"बलराम! यदि तू मुझसे लड़ना चाहता हो, तो आजा। हमारे तेरे दो दो हाथ हो जायँ, तुझमें बल हो तो मुझे मार, नहीं तो मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर सम्मुख समरमें मरकर उत्तम लोकों को प्राप्त कर।"

उसकी ऐसी बातों को सुनकर भगवान् बोले—"सुनते हो राजाजी! तनिक अपने आपेमें आकर बातें करो! यहाँ व्याख्यान मंच नहीं है, जो मुखमें आया बक दिया। यह तो समर भूमि है, यहाँ कहनेसे काम न चलेगा। कर्तव्य करके दिखाना होगा।

यहाँ वाक्बाणोंसे काम न चलेगा, अस्त्र-शस्त्रोंका कला कौशल दिखाना होगा। जैसे सन्निपातमें पड़ा पुरुष अंड बंड संड बकता रहता है, वैसे ही तू बक रहा है। तू मुझसे मत लड़। मेरे भाईसे ही लड़। वे ही तेरे दाँतोंको खट्टा कर देंगे। वे ही तेरे गर्वको खर्व कर देंगे, तेरी सब हेकड़ीको मेरे ये बड़े भाई भुला देंगे। यदि तैंने अपनी माँका दूध पिया हो, तो आजा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवानके ऐसे वचन सुनकर जरासन्ध अत्यन्त ही क्रुद्ध हुआ और वह बलदेवजीसे युद्ध करने लगा। भगवान उसकी सेनाका संहार करने लगे। भगवानने देखा उसकी सेनाकी कोई संख्या नहीं, टिड्डी दलकी भाँति चारों ओर सेनाही सेना दिखाई देती है। उसके जो हंस और डिम्भक नामके दो राजा सेनापति हैं, वे महान बली हैं। देवता भी उन्हें युद्ध में परास्त नहीं कर सकते। शस्त्रों से न मरनेका उन्हें वर प्राप्त है। भगवान उनकी सेनाको मारने लगे। किन्तु कहाँ तक मारते। भगवानने सोचा ऐसे धर्म युद्ध करते रहेंगे, तो तीन सौ वर्षों में भी हम इसकी सेनाका संहार नहीं कर सकते। फिर जब तक ये हंस डिम्भक दो इसके सहायक जीवित हैं, तब तक इसे कोई परास्त भी नहीं कर सकता। ये दोनों अस्त्र शस्त्रोंसे मारे नहीं जा सकते। अतः कोई तिकड़म करनी चाहिये छल बल से इन दोनों को मरवा देना चाहिये। जरासन्धके ये दोनों ही दायें बायें हाथ हैं। हाथोंके कट जाने पर फिर यह क्या युद्ध करेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हमारे टेढ़ी टाँग के पीताम्बर धारी वनमाली योद्धा तो जैसे हैं वैसे ही हैं, किन्तु तिकड़म करनेमें ये सर्वश्रेष्ठ हैं। छलना, ठगना, फँसाना तिकड़म करना ये सबसे उत्तम जानते हैं। इन्होंने एक छल किया। जरासन्धकी सेनामें हंस नामका एक दूसरा राजा था। उसे बलदेवजीसे मरवा दिया और हल्ला कर दिया—"हंस मारा गया, हंस मारा गया।

यहाँ तक कि डिम्भक के निजी परिचारकों तक को विश्वास करा दिया। डिम्भक की बुद्धि भ्रष्ट हो गई। हरि ने उसकी मति हर ली। उसने सोचा—"जब मेरा भाई हंस ही मारा गया, तो मैं जीवित रहकर क्या करूँगा।" उसने शोक में भरकर यमुना जी में कूदकर अपने प्राण गँवा दिये। यह समाचार सम्पूर्ण सेना में फैल गया। हंस पर भी न रहा गया, अपने भाई के वियोग में वह भी डूबकर मर गया। उसने भी अपने भाई के पथ का अनुसरण किया। इस प्रकार छल से इन दोनों को तो भगवान् ने समाप्त कर दिया। अब रह गया जरासन्ध, सो उससे बलदेव जी को भिड़ा दिया। दोनों में जैसे युद्ध हुआ, अब लड़ाई भिड़ाई की बात मैं आगे की कथा में सुनाऊँगा।"

छप्पय

घेरी मथुरापुरी सकल यादव घबराये।
रामश्याम के दिव्य अस्त्र रथ सुमरत आये॥
चले साजि रन साज समरकूँ दोऊ भाई।
जरासन्ध बल लड़े भयंकर भई लड़ाई॥
इत हरि अतिशय छल करयो, रिपु सेना मइँ आइकें।
मागध बल आधो करयो, डिम्भक हंस मराइकें॥

———

श्रीकृष्ण बलराम से जरासन्ध का सत्रह बार युद्ध

(१०७६)

एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः ।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ५० अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

मनुज चरित हरि करत लड़त बल विपुल दिखावत ।
सिंह पकरि जिमि हरिन छोड़ि पुनि खेल खिलावत ॥
चतुरंगिनि रिपु सैन्य मारि यमसदन पठाई ।
कर्यो शत्रु संहार रक्त की नदी बहाई ॥
भयो पराजित मगधपति, रथ टूट्यो सेना मरी ।
लगे शत्रु बध बल करन, तब तिनतें बोले हरी ॥

वीर क्षत्रिय योद्धाओं के लिए समर भी एक प्रकार का यज्ञ है। उसमें शत्रुओं की बलि दी जाती है। युद्ध के उद्यत और सुसज्जित शत्रु को सम्मुख देखकर वीरों के हृदयों में उत्साह की हिलोरें उठने लगती हैं। अंग अङ्ग में स्फूर्ति आ जाती है। उस

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जरासन्ध ने सत्रह बार इतनी ही इतनी सेना एकत्रित करके श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा प्रतिपालित यादवों से युद्ध किया।"

समय वे प्राणों का पण लगाकर समर भूमि में उतर पड़ते हैं और निर्भय होकर युद्ध करते हैं। वे सोचते हैं हमारे दोनों हाथों में लड्डू हैं। यदि हमने शत्रु को परास्त कर दिया तो विजय का आनन्द लूटेंगे। यदि लड़ते लड़ते समर में शत्रु के सम्मुख शस्त्रों से मारे गये, तो स्वर्ग का द्वार हमारे लिए खुला ही है। इसी विश्वास पर वे युद्ध करते है। यही विश्वास उन्हें समर से पग पीछे नहीं हटाने देता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जरासन्ध की और यादवों की सेना में घमासान युद्ध होने लगा। दोनों ओर के वीर विजयाकांक्षी थे, दोनों ही ओर के सैनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित थे। दोनों ही ओर रथ, हय, गज और पदाति इस प्रकार चतुरङ्गिनी सेना थी। भगवान् के रथ की ध्वजा पर गरुड़ का चिह्न था और बलदेवजी का ध्वजचिन्ह ताल वृक्ष का था। ये ध्वजायें दूर से ही दीखती थीं। दोनों ओर ये चिन्ह अङ्कित थे, अतः सामने के लोग भी देख सकते थे और पीछे के लोग भी। दोनों भाई अपने दिव्य रथों पर चढ़कर जरासन्ध की सेना में उसी प्रकार घुस गये, जैसे दो तैराक समुद्र में घुसते हों। जरा जैसे गर्भ को ढक लेती है, जैसे मेघ मंडल को रजमिश्रित वायु ढक लेती है, जैसे राहु सूर्य चन्द्र को ढक लेता है, उसी प्रकार रामकृष्ण के रथों को जरासन्ध की चतुरङ्गिनी सेना ने ढक लिया। जो स्त्रियाँ भगवान् के मुख को ही देखकर जीती थीं, ऐसी मथुरा की नारियों ने जब देखा कि राम कृष्ण रथ पर चढ़कर समर के लिये गये हैं, तब वे व्याकुल होकर अटा अटारियों पर चढ़कर उनके रथों को निहारने लगीं। उन सबकी दृष्टि गरुड़ और तालकी ध्वजाओं पर केन्द्रित हो गई। वे अपलक भाव से उन ध्वजाओं को ही देख रही थीं। मगधराज की प्रचण्ड सेना के प्रवाह से तथा महारथियों और अधिरथियों के रथ, सारथी, अश्व, ध्वज, पताका और रथों के

उड़ी धूलि से दोनों भाइयों के ध्वजा सहित रथ उस समर सागर में विलीन हो गये। दोनों की ध्वजाओं को न देखकर वे मथुरापुरी की नारियाँ व्याकुल हो गईं और मूर्छित होकर गिर गईं।

भगवानने जब देखा हम शत्रु सेनासे सब ओरसे उसी प्रकार घिर गये हैं जिस प्रकार आकाश जल भरे नूतन मेघमंडलों से घिर जाता है, शत्रु सेना के वीर हम पर बारम्बार बाणों की उसी प्रकार वर्षा कर रहे हैं जिस प्रकार सम्वर्तक नामक मेघ प्रलय के समय त्रिलोक को नष्ट करने के निमित्त मूसलाधार वर्षा करते हैं, तो लीला से ही मनुष्य रूप धारण करने वाले श्रीहरि ने अपना विश्वविदित, लोकवन्दित, सुरासुरपूजित परम प्रसिद्ध शार्ङ्ग नामक धनुष उठाया और उसका टङ्कार की। उस भीषण टङ्कार को सुनकर सभी के हृदय काँपने लगे। सभी उस दिव्य धनुष के रव से दहल गये। अब भगवान् ने स्वयं शत्रु सेना पर वर्षा करनी आरंभ कर दी। वे कब तरकस से बाण निकालते थे, कब धनुष पर चढ़ाते और कब छोड़ते इसे कोई देख ही नहीं सकता था। ऐसा प्रतीत होता था मानों असंख्यों तूणीर स्वयं ही बाण बरसा रहे हों। जिस प्रकार बड़े बड़े ओलों की वर्षा होने पर पेड़ों से पत्ते झर झर कर गिरने लगते हैं, वैसे ही भगवान् की बाण से शत्रु सैन्य के सैनिक, रथ, गज और हय कट कट कर गिरने लगे। भगवान् का धनुष अलात चक्र के समान निरन्तर घूम रहा था। उसका एक मंडल ही मंडल दिखाई देता था, धनुष कहाँ है, डोरी कहाँ है, बाण कहाँ लगते हैं, यह किसी को भी नहीं दीखता था। घोड़ों के सिर कट जाते थे, हाथियों के मस्तक कट जाते थे। योद्धाओं से घोड़े और हाथियों से हाथी कट जाते थे। मृतकों के शरीरों से बड़े-बड़े गड्ढे पट जाते थे, इस भीषण बाण वर्षा से शत्रुओं के दल पट जाते थे। इधर भगवान् तो अपने धनुषसे बाणों की वर्षा कर रहे थे, उधर बलरामजी अपने हलसे खींच खींच कर मूसल से

मानी वीरोंके मानको मर्दन कर रहे थे। असंख्यों वीरोंको परलोक पठा रहे थे। सैनिकोंके रक्तसे वहाँ उन शोणित सरिताओंमें सैनिकों के सिर ही सिर मानों कछुए तैर रहे हों। कटी हुई भुजाएँ भुजङ्गमोंसी प्रतीत होती थीं। बड़े बड़े डील डौल वाले मृतक हाथी उस शोणित सरिता में पड़े हुए थे, उनका आधा-अङ्ग रक्त में धँसा था, चारों ओर से रक्त बह रहा था, वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो नदी में छोटे छोटे काली मिट्टीके द्वीप निकल आये हों। कटे हुए घोड़े रक्तमें बहते हुए ऐसे लगते थे मानों मकर जल में डूबते उतराते बहते हुए जा रहे हों। कटे हुए कर, पद तथा अन्यान्य अङ्ग ऐसे प्रतीत होते थे मानों नदी में मछलियाँ किलोल कर रही हों। सैनिकों और राजाओंके कटे हुए सिरों के बड़े बड़े लम्बे केश ऐसे लगते थे मानों नदीमें शैवाल उतर रहा हो। प्रत्यंचा कटे धनुष तरंगोंके सदृश दिखाई देते थे। टूटे टाटे अस्त्र शस्त्र ऐसे लगते थे, मानों वृक्षों की डालियाँ, लता गुल्में टूट टूट कर जल में बह रही हों। कटी फटी ढालें भँवरों सी दिखाई देती थीं। महामूल्यमयी मणियाँ बिखेरे हुए रंग बिरंगे पत्थरों की रोड़ियोंके समान चमक रही थीं। कायर सैनिक उस भयावही नदी को देखकर भयभीत हो रहे थे। उसे दुस्वार समझ कर डर कर भाग रहे थे, वीरों के बल वीर्य को वह वर्धन कर रही थी।

यद्यपि जरासन्धकी सेना असंख्य थी, युद्धकी सभी सामग्रियों से सुसज्जित थी, फिर भी राम श्याम दोनों भाइयोंने उसका अंत कर दिया। छिन्न भिन्न करके सबको धराशायी कर दिया। केवल जरासन्ध ही रह गया। विमानों में बैठे देवता इस दृश्यको देखकर आश्चर्य चकित हो रहे थे। भगवान्के बलवीर्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। यद्यपि इसमें प्रशंसा करनेकी कोई बात था नहीं। जो भगवान् विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने में

समर्थ हैं, उनके लिये जरासन्धकी सेनाका संहार कर देना साधारण सी बात है। तथापि उन्होंने मानव रूप रख रखा था। इसी दृष्टिसे उनका यह कार्य आश्चर्य भरी दृष्टिसे देखा गया।

जरासन्धकी सम्पूर्ण सेना मारी गई, स्वयं भी वह समर में पराजित हो गया। श्री संकर्षणने उसका विशाल रथ तोड़ दिया। सारथीको मार दिया और घोड़ोंको यमपुर पठा दिया। जब वह निशस्त्र और विरथ बन गया तो बलदेवजीने रथसे उतर कर उसे पकड़ लिया और वे वारुण तथा पाशोंसे बाँध कर उसे मारने को उद्यत हो गये। तब भगवान् बोले—"हैं, हैं भैया! तुम क्या कर रहे हो। इसे मारो मत।"

बलदेवजीने कहा—"कृष्ण! तू समझता नहीं भैया! इस दुष्टने बहुत निरपराध विपक्षी राजाओं का अकारण निर्दयता पूर्वक वध किया है, अतः यह भी मारने योग्य है। इसे मैं मार कर पृथिवीके समस्त राजाओंके दुखको दूर करूँगा।"

भगवान् ने कहा—"देखो, दादा! यह तो असुरों को घेर बटोर कर लाने वाला दलाल है। आप इसे यहीं मार देंगे, तो हमें न जाने कहाँ कहाँ जाना पड़ेगा। यह रहेगा तो असुरों को एकत्रित कर करके यहाँ ले आया करेगा, इसलिये आप इसे मारें नहीं छोड़ दें।"

भगवानकी बात बलदेवजीने मान ली और उसे तुरंत निरस्त्र करके छोड़ दिया। वह अपने को समस्त राजाओंमें बली शूरवीर और मानी समझता था, अतः उसे अपनी पराजय पर पर दुख हुआ। वह अत्यन्त ही लज्जित हो गया। उसने किसी को अपना मुख न दिखानेका निश्चय किया और वह तपस्या करने के निमित्त उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। जब यह समाचार उसके अन्य हितैषी मित्र राजाओंने सुना तो वे सबके सब उसके समीप दौड़े दौड़े गये। उसे रोककर वे सब नम्रता पूर्वक बोले—

"राजन्! आप इतने दुखी क्यों होते हैं। हम आपके सेवक समुपस्थित हैं। आप हमें आज्ञा दें। हम प्राणों का पण लगाकर आपका साथ देंगे।"

जरासन्धने कहा—"भाइयों! आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की किन्तु अब आप मुझे रोकें नहीं। मैं घोर अरण्य में जाकर उग्र तपस्या करूँगा। मुझे इन छोटे छोटे यादवों के छोकरोंने परास्त कर दिया, तो मैं अब राजाओंको क्या मुख दिखाऊँगा। अब तो मैं इस शरीर को सुखा सुखा कर इसका अन्त ही कर दूँगा।"

राजाओंने कहा—"हे नर नाथ शिखामणे! आप कैसी भूली भूली बातें कर रहे हैं। महाराज! युद्ध में जय विजय तो लगी ही रहती है। जो घोड़े पर चढ़ेगा वही गिरेगा। पीसना पीसने वाली तो घोड़ेसे गिर नहीं सकता। जो स्वयं पतित है, उसका पतन क्या होगा। पतन तो उसीका होगा, जो उत्थान के लिये सतत प्रयत्न करता रहता है। जो ऊँचे मञ्चपर सो रहा है, उसीके गिरने की सम्भावना है। जो आरम्भसे ही भूमि पर सो रहा है, वह गिरेगा कहाँ? मनुष्य पूर्व जन्मोंके संस्कारोंके कारण अवश हो जाता है। जिसकी तनिक भी सम्भावना नहीं होती, वह कार्य भी प्रारब्धवश हो जाता है। आपको सदा विजय होती रही है। किसीको स्वप्नमें भी यह सम्भावना नहीं थी कि आपकी पराजय होगी। किन्तु प्रारब्धवशात् आपको इन तुच्छ यादवोंसे हारना पड़ा। यहभी बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप सकुशल हैं। आप शरीर सुखानेके संकल्पको छोड़िये। आप जीवित रहेंगे तो सैकड़ों कल्याण कृत्योंको देखेंगे। कभी इन यादवोंको आप परास्त भी कर देंगे। ये तुच्छ अल्प वीर्य यादव हैं ही कितने। अबके हम सब लोग मिल कर इन पर चढ़ाई करेंगे। आप अपनी राजधानी को लौट चलें।"

राजाओंकी धर्म-शिक्षा पूर्ण लौकिक नीतियोंसे युक्त आश्वासन वचनोंको सुन कर पराजयके दुखसे दुखी जरासन्ध उदास मन से अपने देश मगधको लौट आया और आकर पुनः सैन्य संग्रह करनेमें जुट गया। उसने निश्चय कर लिया, "मैं जब तक इन यादवोंका नाश न कर दूँगा जब तक इन्हें पराजित न कर दूँगा तब तक विश्राम न लूँगा।" इसलिये फिर उसने प्रयत्न पूर्वक उतनी ही सेना जुटाई।

इधर जरासंध की सेनाका संहार करके तथा अपनी निर्व्रण सेनाको सकुशल साथ लेकर श्रीकृष्ण बलरामजीके सहित मथुरा पुरीमें लौट आए। सभीने समझा समर रूप सागरको समस्त सैनिक श्यामसुन्दर की सहायता से अनायास ही पार कर गये।

विजयी हुए भगवान् अपने बड़े भाई संकर्षण सहित जब पुरीमें पधार रहे थे, तो प्रसन्न होकर विमानोंसे अमरगण सुमनों की वर्षा कर रहे थे। गन्धर्वगण गा रहे थे और अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। यादवोंके वंशपरम्परागत सूत, मागध और बन्दी गण उनकी विजय कीर्तिके गीत बना बना कर गा रहे थे। चारों ओर शङ्ख, दुन्दुभी, भेरी, तूर्य, मृदंग, वीणा, वेणु, पणव, बाँसुरी तथा अन्यान्य मंगलमय बाजे बज रहे थे। वे मधुर मधुर बाजे विजयके उल्लासको मानों दशों दिशाओंमें बिखेर रहे हों। नगर निवासियोंने विजयके उपलक्ष्यमें पुरीको भली भाँति सजाया था। राजपथ पर सुगन्धित जलका छिड़काव किया गया था। स्थान स्थान पर तोरण वन्धनवार तथा अन्याय शोभाकी वस्तुएँ लगाई गई थीं। चारों ओर ध्वज पताकायें हिल हिल कर भगवानका मानों स्वागत कर रही हों। ब्राह्मणगण वेदध्वनि कर रहे थे, उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों दिशायें ही वेद पाठ कर रही हों।

भगवान् जब खुले रथ में बैठकर राजपथ से होकर निकले, तब अटाओं पर चढ़ी प्रीति प्रफुल्लित नयनों से स्नेह पूर्वक निहारने वाली नवेली नागरियों ने उन्हें मनोहर मालाओं, सुगंधित पुष्पों, दधि, अक्षत, अंकुर तथा खील बतासों से ढक दिया। सैनिक भगवान् की जय जयकार करते हुए पीछे पीछे चल रहे थे। नागरिकों की चहल पहल से वह पुरी चलती फिरती और बातें करती सी दिखाई देती थी।

जरासन्ध को विजय करके भगवान् उसका बहुत सा धन लूट कर लाये थे। वह लूट का माल उन्होंने यादवों के अधिप अपने नाना उग्रसेन जी के सम्मुख ज्यों का त्यों लाकर रख दिया। उग्रसेन ने भी उसे सम्मान के साथ ग्रहण किया और फिर यादवों में उसे बाँट दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जरासन्ध यादवों पर जला हुआ था। उसके मन में डाह उत्पन्न हो गई थी, कि हाय! पृथिवी पर मुझसे भी बली पुरुष पैदा हो गया। इसीलिये वह यादवों के नाश करने का सतत प्रयत्न करता रहता था। उसने पुनः सैन्य संग्रह की और फिर बड़े उत्साह के साथ यादवों पर चढ़ाई कर दी।

भगवान् तो उसके बल को देख ही चुके थे। बलदेवजी ने भी समझ लिया कि बच्चूजी कितने पानी में हैं। उन दोनों भाइयों ने जरासन्ध से लड़ने का यही एक नियम बना लिया था कि उसके समस्त सेना को तो मार देना और उसे निरस्त्र करके छोड़ देना। छोड़ देने पर वह फिर नई सेना एकत्रित करता और फिर चढ़ाई करता। इस प्रकार उसने सत्रह बार श्रीकृष्ण-पालिता मथुरा पर चढ़ाई की और सत्रहों बार उसे मुँह की खानी पड़ी। वह पराजित होकर अपनी पुरी को लौट गया। अब के उसने हठ, प्रतिज्ञा

कर ली, कि बिना यादवों को जीते मैं अपनी पुरी में लौटूँगा ही नहीं। यही हठ प्रतिज्ञा करके उसने अठारहवीं बार फिर चढ़ाई की। उसी समय महाबली कालयवन ने भी चढ़ाई कर दी। दोनों से डर कर जिस प्रकार भगवान् भगे वह प्रसङ्ग मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

छोड़ो भैया! जाइ घेरि लावे असुरनि कूँ।
बिनु प्रयास परलोक पठावें सब पापिनि कूँ॥
सुनि बल छोड़्यो चल्यो करन तप नृपनि निवार्यो।
आयो सत्रह बार सेन सजि पुनि पुनि हार्यो॥
पुनि तप करि हर वर लह्यो, द्विजनि विजय आशिष दई।
कालयवन मथुरा तबहिं, घेरी हरि चिन्ता भई॥

कालयवन की यादवों पर चढ़ाई

(१०८०)

अष्टादशमसंग्रामे आगामिनि तदन्तरा ।
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५० अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

सोचैं माया मनुज यवन जीत्यो नहिँ जावै ।
जरासंध हू आज कालि में पुनि चढ़ि आवै ॥
हर भर तैं खल बढ़्यो घेरि सब बन्धुनि मारे ।
कालयवन सुत गर्ग यादवनि तैं नहिँ हारे ॥
तातैं तजि पुर द्वारका, महँ दृढ़ दुर्ग बनाइँगे ।
भागि चले रन छोड़िकें, तो रन छोड़ कहाइँगे ॥

भगवान् का एक नाम ब्रह्मण्य देव है। इसका अर्थ है, जो ब्राह्मणों को अपना देवता माने। भगवान् सबकी बात टाल सकते हैं, किन्तु ब्राह्मणों की बात को नहीं टालते। एक भृगु ब्राह्मण ने उनकी छाती में लात मारी, उसके चरण चिह्न को वे अभी तक अपने

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिस समय अठारहवाँ संग्राम छिड़ने वाला था, उसी समय नारदजी का भेजा हुआ वीर कालयवन मथुरा के समीप दिखाई दिया।"

वक्षःस्थल पर धारण किये रहते हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि यदि मेरी बाहु भी ब्राह्मणों के विरुद्ध आचरण करे, तो मैं उसे अविलम्ब अपने शरीर से पृथक् कर दूँगा। इसीलिये वे ब्राह्मणों के वचनों को सत्य करने के लिये अपनी कीर्ति की भी चिन्ता नहीं करते। उनकी कीर्ति तो स्थाई है नित्य है, उसे कोई मेट ही नहीं सकता। अपकीर्ति अपयश तो, उन्हें स्पर्श ही नहीं कर सकता। फिर भी वे दिखावे को लोक विरुद्ध कार्य भी करते हैं, इससे उनका महत्व और बढ़ ही जाता है। जो स्वभाव से सुन्दर है उनकी सभी बातें सुन्दर होती हैं। 'सुन्दरे किं न सुन्दरम्'।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब जरासन्ध सत्रह बार हार गया, तो उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई उसने एकान्त में जाकर शिवजी की आराधना की। आशुतोष भगवान् भोले बाबा स्वल्प काल में ही उसके तप से सन्तुष्ट हो गये और दर्शन देकर उससे वर माँगने को कहा। उसने हाथ जोड़कर कहा—"हे वरद्! हे विश्वनाथ! हे आशुतोष! आप यदि मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे यही वर दीजिये कि मैं कृष्ण सहित समस्त यादवों को जीत लूँ। अबके मेरी विजय हो।"

शिवजी ने सोचा—"श्रीकृष्णचन्द्र तो हमारे भी स्वामी हैं। यदि इसे वर देते हैं, तो इष्ट का अपमान है, नहीं वर देते हैं तो हमारे वचन असत्य होते हैं। यही सब सोच विचार कर वे बोले—"देखो, भाई! तुम यदि ब्राह्मणों को प्रसन्न करके उनसे विजय का आशीर्वाद प्राप्त कर लो, तो अबके तुम्हारी अवश्य ही विजय हो जायगी।" शिवजी ने सोचा—"और चाहे किसी की बात भगवान् टाल भी दें ब्राह्मणों के वचनों को वे कभी न टालेंगे क्योंकि उनका नाम ब्रह्मण्य देव है।" इसीलिये उसे ऐसी युक्ति बता दी।

जरासन्ध यह सुनकर अपनी राजधानी में लौट आये। अब

उसे ब्राह्मणों को प्रसन्न करने की धुनि सवार हुई। ब्राह्मणों को वह विधि विधान से पूजा करता, उन्हें सुवर्ण के सिंहासन पर बिठाता, जो भी जिस वस्तु की याचना करता, उसे तुरन्त देता, चाहे वह कितनी दुर्लभ क्यों न हो। ब्राह्मण तो हाथ जोड़ने से ही प्रसन्न हो जाते हैं, फिर इतनी सेवा से प्रसन्न कैसे न होते। ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर उसे आशिर्वाद दिया—"अबके आपकी विजय अवश्य होगी।"

यह सुनकर उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई अबके उसके हृदय में अत्यन्त उत्साह था। उसे पूर्ण विश्वास था "कि अबके मेरी विजय निश्चित है। शिवजी का और ब्राह्मणों का वचन कभी मिथ्या नहीं होने का।" यह सोचकर वह मथुरापर पुनः चढ़ाई करने की तैयारियाँ करने लगा।

इधर मथुरा में एक और भी अद्भुत घटना घट गई। पश्चिम देश से कालयवन नामक यवनों के राजा ने तीन कोटि सेना लेकर मथुरापुरी को घेर लिया। उस यवन के घेरे से भगवान् भी चिंतित से हो गये। वे सोचने लगे—"यादवोंके द्वारा तो कालयवन जीता नहीं जा सकता। इससे युद्ध करना अपनी हानि करना ही है। जरासन्ध भी आने वाला है। अब किया क्या जाय?"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह कालयवन इतना बली कैसे हो गया। जो भगवान् अच्युत और अपराजित कहलाते हैं, वे भी इससे युद्ध करने में क्यों संकोच करने लगे!"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! भगवान् का तो यह सब खेल है! वे दूसरों का सम्मान देने को अपनी हार स्वीकार कर लेते हैं। बात यह थी कि कालयवन् यादवों के पुरोहित वृद्ध गर्ग का पुत्र था। वह गर्गजी ने इसी संकल्प से पैदा किया था कि यादवों के लिये भयावह हो, यादव उसे किसी प्रकार भी न जीत सकें। इसीलिये भगवान् ने उसका

किया।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महर्षि गर्ग का पुत्र यवन कैसे हो गया? फिर वे तो यादवों के कुलगुरु ही थे, उन्होंने यादवों को भय देने वाला पुत्र क्यों पैदा किया? कृपा करके इन बातों को बतावें तब आगे की कथा कहें।"

सूतजी बोले—"महाराज! भवितव्यता सब करा लेती है, उसके सम्मुख मनुष्य की कुछ भी नहीं चलती। कभी कभी हँसी विनोद में ऐसी घटना घटित हो जाती है, जिसका प्रभाव बहुत भयंकर हो जाता है। बात यह थी, कि ये वृद्ध गर्ग मुनि यादवों के कुलगुरु थे। बड़े प्रतापी तपस्वी सत्यवादी और धर्मात्मा थे। ज्योतिष शास्त्र के तो आचार्य ही थे। एक बार इन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करके घोर तप आरम्भ किया। वे अपनी पत्नी से पृथक रहते थे और नियमानुसार अनुष्ठान करते थे। एक दिन वे यादवों की सभा में आये। सभी मुख्य मुख्य यादव सभा में बैठे थे। सबने उठकर अपने कुलगुरु गर्गजी का स्वागत सत्कार किया, सुन्दर आसन पर बिठाया। उस सभा में गर्गजी का साला भी बैठा था। साले बहनोई का सम्बन्ध तो हँसी विनोद का होता ही है। गर्गजी के सालेने बड़े व्यङ्ग से कहा—"ये तो नपुंसक हैं नपुंसक।" इस बात को सुनकर जितने यादव थे, वे सब ठठाका मारकर हँसने लगे। वैसे बात तो हँसीकी थी, किन्तु समय की बात, गर्गजी को बहुत बुरी लगी। उन्होंने सोचा—"यह तो हमारा साला था, इसने कहा तो कोई बात नहीं, किन्तु ये हमारे शिष्य हैं, इन्होंने मेरी हँसी क्यों उड़ाई। अच्छी बात है, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं भी उन्हें दिखा दूँगा कि मैं कैसा नपुंसक हूँ मैं ऐसा पुत्र उत्पन्न करूँगा, जिसे युद्ध में कोई भी न हरा सके और यादवों के लिये वह अत्यन्त भयावह हो।"

ऐसा निश्चय करके वे तपस्या करने वन में चले गये। ऐसे

कामों के लिये सभी आशुतोष भगवान् भूतनाथ की आराधना करते हैं। गर्गजी ने भी सदाशिव भोलेनाथ की आराधना करनी आरम्भ कर दी। कुछ ही दिनों में शिवजी सन्तुष्ट हुए और वर माँगने को कहा। तब गर्गजी बोले—"महाराज मेरा एक ऐसा पुत्र हो, जिसे समर में कोई जीत न सके, और जो यादवों के लिये अत्यन्त भय देने वाला हो।"

शिवजी तो भोलेनाथ ही ठहरे। वे वर देते समय यह विचार नहीं करते कि इस वर का प्रभाव कहाँ तक पड़ेगा। जिसने जो माँगा तुरन्त दे दिया, चाहे पीछे उससे अपने ही को सङ्कट क्यों न हो। इसीलिये उन्हें सब औघड़दानी कहते हैं। उन्होंने कह दिया—"अच्छी बात है ऐसा ही होगा। तुम्हारा पुत्र सबसे समर में विजय प्राप्त करेगा।"

इस वर को प्राप्त करके वे वहाँ से चले। यह समाचार यवनों के वृद्ध राजा ने सुना। ये यवन पहिले वर्णाश्रमी वैदिक धर्मावलम्बी ही थे। आपस में कुछ अनबन होने से राजाओं ने इन्हें वेद बहिष्कृत कर दिया और ये पश्चिम में अपने उपनिवेश बनाकर रहने लगे। फिर भी उनके संस्कार तो सब यहीं के थे। उन्होंने सोचा—"यदि वृद्ध गर्ग मेरी रानी में पुत्र उत्पन्न करें तो मुझे समर विजयी शूर पुत्र प्राप्त हो जाय।" यही सोचकर वे अनुनय विनय करके गर्गजी को अपने यहाँ ले आये और उनसे प्रार्थना की—"महान्! मेरी रानियों में आप एक परम शूरवीर तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करें।"

यवनराज की प्रार्थना महामुनि गर्ग ने स्वीकार की। उनकी रानियों में से जो एक गोपाली थी, उसमें उन्होंने इस काल को उत्पन्न किया। कुछ काल में यह वयस्क हो [illegible] राजा राजपाट इसे देकर वन में तपस्या करने च[illegible] यवन बड़ा बली और समर विजयी था। कोई

सामना नहीं कर सकता था। उसने अपनी बड़ी भारी सेना एकत्रित की और आसपास के समस्त राजाओं को जीतकर वह उन सबका अधिप बन गया। जितने शक, तुषार, दरद, पारद, तङ्कण, खश, पल्हव, हेमवत तथा और भी सैकड़ों प्रकार के म्लेच्छ जाति के राजाओं को उसने अपने आधीन कर लिया। उन्हें अपने वश में करके और उन सबकी बड़ी भारी सेना लेकर वह भारतवर्ष में आया। इसके तेज और प्रभाव के सम्मुख कोई भी राजा ठहरता नहीं था। सब जानते थे कि वरदान के प्रभाव से इसे कोई जीत नहीं सकता। जब किसी ने भी इसका सामना नहीं किया तो यह इधर उधर घूमने लगा। दैवयोग से उसे देवर्षि नारदजी मिल गये। उसने देवर्षि को प्रणाम किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर नारदजी ने पूछा—"राजन्! आप कहाँ जा रहे हैं?"

उसने कहा—"ब्रह्मन्! क्या बताऊँ युद्ध के लिये मेरे हाथ खुजा रहे हैं, कोई युद्ध करने को ही नहीं मिलता। कोई ऐसा बताइये जो हमसे युद्ध कर सके।"

नारदजी को तो इधर उधर भिड़ाने में आनन्द ही आता है, आप बोले—"अजी, राजन्! आप कहाँ इधर उधर भटक रहे हैं। आजकल तो यादवों का ही बोलबाला है। देखो, सम्राट् जरासन्ध को उन्होंने सत्रह बार पराजित किया।"

यह सुनकर वह प्रसन्न होकर म्लेच्छों की सेना लेकर माथुर प्रदेश की ओर चल दिया और सब ओर से उसने जाकर मथुरापुरी को घेर लिया। भगवान् तो सब कुछ जानते थे। अतः वे अपने बड़े भाई बलदेवजी से एकान्त में सम्मति करने लगे। उन्होंने कहा—"भैया! अब हमें क्या करना चाहिये?"

बलदेवजी ने कहा—"करना क्या चाहिये। इस यवन से लड़ेंगे। इसे युद्ध में परास्त करेंगे।"

भगवान् बोले—"दादा! यह दुष्ट ऐसे मरने वाला नहीं।

इसकी सेना भी बहुत बड़ी है और यह यादवों के हाथ मारा भी नहीं जा सकता। मान लो आप इससे युद्ध करने में फँस जायँ और इतने में ही जरासन्ध आ जाय, तो फिर आप क्या करेंगे? वह दुष्ट आकर या तो हमारे सब बन्धु बान्धवों को मार डालेगा या बाँधकर अपनी राजधानी में ले जायगा। अब वह दो एक दिन में आने ही वाला है। यादवों की तो उस लकड़ी के कीड़ों की सी दशा हो गई जिसके दोनों ओर आग लग गई हो।

तब बलदेवजी ने कहा—"तब तू ही भैया कोई उपाय बता।"

भगवान् ने कहा—"दादा! मेरी इच्छा तो यह है कि अब घर द्वार के मोह को छोड़कर यहाँ से भाग चलो।"

बलदेवजी ने कहा—"अरे, भैया! ऐसे डरकर भागना उचित नहीं। इससे क्षत्रियों में हमारी बड़ी निन्दा होगी। सब लोग हमारा बड़ा अपमान करेंगे।"

भगवान् ने कहा—"दादा! अपमान को आगे करके और सम्मान को पीछे ढकेल कर बुद्धिमान पुरुष को अपना कार्य साध लेना चाहिये। जैसे बने तैसे अपने कार्य को साध लेना ही बुद्धिमत्ता है और थोड़े अभिमान के वशीभूत होकर स्वार्थ का नाश कर देना यही सबसे बड़ी मूर्खता है। "इसीलिये अब भागने में आगा पीछा न करना चाहिये। अब तो भागने में ही कल्याण है।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छा, मान लो मथुरा को छोड़कर भाग ही चलें तो भाग कर जायँगे कहाँ। जहाँ भी जायँगे ये काल-यवन और जरासन्ध वहीं हमारा पीछा करेंगे।"

भगवान् ने कहा—"देखिये! आनर्त देश में एक बहुत प्राचीन राजधानी है कुशस्थली। जिसका नाम द्वारका भी है। वह समुद्र के बीच है। वहाँ एक सत्ययुग का बहुत प्राचीन किला

भी पड़ा है। पहिले महाराज रैवत यहाँ राज्य करते थे। वे इक्ष्वाकु वंश के बड़े प्रतापी राजा थे। उनके ब्रह्मलोक में चले जाने पर उनके वंशजों को गन्धर्वों ने मार डाला। अब उनका वह किला वैसे ही पड़ा है। उसके चारों ओर समुद्र है, अत्यन्त ही सुरक्षित स्थान है। वहीं जाकर हम किला बनावें। उसमें पुरुषों की तो बात पृथक् रही, स्त्रियाँ भी उसमें बैठकर युद्ध कर सकेंगी और अपने शत्रु को भगा सकेंगी।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है भैया! जैसी तुम्हारी इच्छा। फिर इस यवन को ऐसे ही जीवित छोड़ जाओगे, यादवों को वहाँ कैसे पहुँचाओगे? दुर्ग कब तक बन सकेगा?"

भगवान् ने कहा—"आप इन बातों की तनिक भी चिन्ता न करें। विश्वकर्मा से कहकर दुर्ग तो मैं अभी बनवाता हूँ। योग माया के द्वारा अपने कुटुम्बी समस्त यादवों को सपरिवार मैं वहाँ पहुँचाये देता हूँ। फिर हम और आप दोनों रह जायँगे। इस कालयवन को भी तिकड़म से मरवा देंगे और इस मथुरापुरी को छोड़कर द्वारका में ही रहने लगेंगे।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है, तुम्हें जो उचित जान पड़े वही करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बलदेवजी से पूछकर भगवान् ने कुशस्थली में समुद्र के बीच में बारह योजन (अड़तालीस कोश) का एक बड़ा भारी किला बनवाया। विश्वकर्मा ने उस किले को बनाया था। अपनी सम्पूर्ण कला कौशल उसने उसकी रचना में प्रकट किया था। सर्वत्र शिल्पियों के राजा विश्वकर्मा की विज्ञान निपुणता और शिल्प चातुरी स्पष्ट दिखायी देती थी। उसमें बड़े बड़े राज मार्ग चौराये, गलियां, बाग, बगीचा, वापी कूप, तड़ाग, सभा भवन, गोपुर, द्वार तथा आमोद प्रमोद के स्थान बने हुए थे। बगीचाओं में देव वृक्ष तथा पल्लवित पुष्पित लतायें

लगी हुई थी। बड़े बड़े वितान तने हुए थे। गगनस्पर्शी सुवर्ण शिखरों और स्फटिक मणियों के चौबारों से वहाँ के द्वारों की शोभा शतगुणी हो रही थी। वहाँ के भव्य भवन सुवर्ण के बने हुए थे, उन घरों के प्राङ्गण में मरकत मणियाँ जड़ी हुई थीं। द्वारों पर सुवर्ण के कलश रखे हुए थे। अश्वशालायें, रथशालायें, गजशालायें तथा अन्नादि के कोष्ठ पृथक्-पृथक् बने हुए थे। बड़े बड़े ऊँचे शिखरों वाले मंदिरों तथा चन्द्रशालाओं से उस पुरी की शोभा अत्यंत ही बढ़ गई थी। उसमें चारों वर्ण के लोगों के निवास स्थान पृथक् पृथक् बने हुए थे। पुरी के बीच में आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण, चन्द्रजी का अत्यन्त ही भव्य भवन बना हुआ था। देवताओं ने देखा भगवान् नई नगरी का निर्माण कर रहे हैं। हमसे भी कुछ सेवा बन सके तो करें।" यह सोचकर इन्द्र ने अपनी सुधर्मा नामक सभा भेज दी। जिसमें बैठने से भूख, प्यास, जरा मृत्यु तथा शोक, मोह किसी को भी नहीं होते थे। उसमें चाहे जितने लोग बैठ जायँ वह अपने आप छोटी बड़ी हो जाती थी। वरुणजी ने मन के वेग के समान चलने वाले बहुत से श्यामकर्ण घोड़े भेज दिये। कुबेरजी ने अपनी आठों निधियों को भेजा। इस प्रकार सभी लोकपालों ने अपने यहाँ जो भी अच्छी से अच्छी वस्तु थी, वह भेज दी। वह पुरी समस्त विभूतियों से युक्त बन गई। भगवान् ने अपनी योगमाया से अपने सम्पूर्ण पुरवासी बन्धु बान्धवों को उस पुरी में पहुँचा दिया। जब सब यादव सकुशल परिवार सहित द्वारकापुरी में पहुँच गये, तो भगवान् ने सोचा—"अब चिन्ता करने की कोई बात नहीं। अब कालयवन या जरासन्ध कोई भी क्यों न आ जाय। किसी का बाल बाँका भी नहीं कर सकता" यह सोचकर भगवान् स्वयं भी बलदेवजी से पूछकर भागे। अब किस प्रकार भगवान् युक्ति से भगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

बलदाऊ तैं पूछि उदधि महँ पुरी बनाई।
द्वादश योजन दुर्ग नीर निधि ताकी खाई॥
दई सुधर्मा सभा इन्द्र ने अति सुखदाई।
करी समर्पित सिद्धि सुरनि जो हरि तैं पाई॥
सुर शिल्पी नगरी रची, शोभा मूर्तिमती जहाँ।
पहुँचाये हरि योग बल, तैं यादव सबई तहाँ॥

रणछोड़का रण छोड़कर भागना और कालयवनका अन्त

(१०८१)

प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः ।
निर्जगाम पुरद्वारात् पद्ममाली निरायुधः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५० अ० ५८ श्लो०)

छप्पय

सबनि द्वारका भेजि भगे भगवान् भगोड़े ।
मथुरा के घर द्वार सभा सरवर सब छोड़े ॥
कमल कुसुम गल माल निरायुध भागे नटवर ।
कालयवन पहिचान भग्यो पीछे बिनु धनुसर ॥
कहे—'अरे यादव अधम, कायर सम भागे कहाँ ।
चलि पीछो तेरो करूँ, भगिकें तू जावे जहाँ ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रजापालक श्रीबलदेवजी से सम्मति लेकर नगर के द्वार से बाहर निकले । वे निरायुध थे और पद्म की माला पहिने हुए थे ।"

सन्देह अल्पज्ञता में है। दुःख अपूर्ण में है। जो सर्वज्ञ है उसके सभी के सभी का सन्देह रहित है, पूर्ण काम को सदा सुख ही सुख है, उसके लिये न कोई बुरा काम है न अच्छा। वह सबके परिणाम को जानता है, सबकी प्रारब्ध को जानता है, सबके कारण, प्रारब्ध और भाग्य से परिचित है वह जो भी करेगा उचित करेगा, वही करेगा जो होनेवाला होगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने सुहृद् बन्धु बान्धओं को द्वारका पहुँचाकर बलराम जी और श्रीकृष्णजी ही मथुरापुरी में रह गये। कालयवन को यह पता नहीं था कि पुरी खाली हो गई है। वह प्रधान द्वार पर अपने डेरा डाले पड़ा था। वह युद्ध धर्म को जानने वाला था। उसे धन का लोभ तो था ही नहीं। वह तो कीर्ति का लोलुप था। उसे तो यादवों को जीतना था। जब तक अस्त्र शस्त्र लेकर प्रतिद्वंदी सम्मुख न आवे, तब तक वह प्राहर कैसे कर सकता था। मथुरा का घेरा डाले वह इसी आशा में पड़ा था कि यादवों को अपने बल का बड़ा अभिमान है। वे अपने को शूरमानी लगाते हैं। युद्धोत्सुक मुझे देखकर वे अवश्य नगरी से निकलकर अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर आवेंगे। तब मैं उनके साथ युद्ध करूँगा। वह सुसज्जित सेना के निकलने की बाट जोह रहा था, किन्तु तब उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उसने बिना अस्त्र शस्त्र के हँसते हुए वनमाली को नगर के प्रधान द्वार से भयभीतों की भाँति भागते देखा।

भगवान् के सौन्दर्य के विषय में तो कहना ही क्या है। वे नूतन घन के सदृश स्वयं श्यामवर्ण के थे। सुन्दर सुहावने शरीर

पर पीताम्बर धारण किये हुए थे। वक्षःस्थल में श्रीवत्स और कौस्तुभ मणि सुशोभित थी। कमल के समान उत्फुल्ल उनके नेत्र थे। जिनमें अरुण वरण के डोरे पड़े हुए थे। जो देखने वालों के चित्त को हठात् अपनी ओर आकर्षित करते थे। सुकपोल युक्त मनोहर

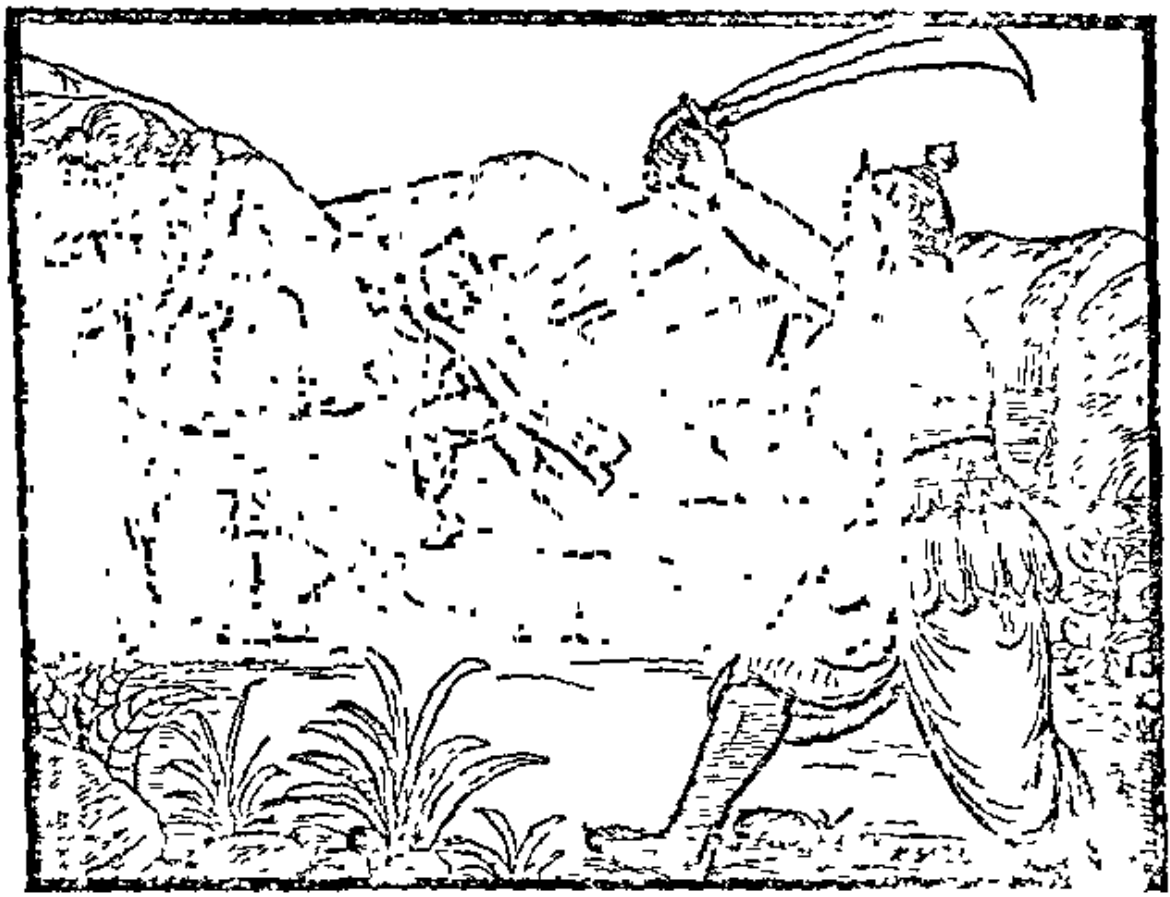

मुख मंद मंद मुसकान से सुशोभित था। कानों में के मकराकृति कुण्डल हिल हिलकर कपोल की श्री को बढ़ा रहे थे। चारों सडौल सुन्दर भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म ये अस्त्र सुशोभित हो रहे थे। कालयवन इन अद्भुत पुरुष को देखकर परम विस्मित हुआ। उसे यह निर्णय करने में विलंब नहीं हुआ कि वसुदेवनंदन श्रीकृष्णचन्द्र ये ही हैं। नारदजी ने प्रथम ही उसे भगवान के दिव्य स्वरूपका परिचय करा दिया था। नारदने जो जो चिह्न भगवानके बताये थे, वे सब उनमें दिखाई दिये। वैसा ही पीतपट,

वक्षःस्थल पर वैसा ही श्रीवत्स लांछन है। वनमाला, मकराकृति कुण्डल, अरुण नयन, चतुर्भुज और घन के सदृश श्याम सभी बातें तो इसमें मिलती हैं। अवश्य यह कृष्ण ही है, किन्तु हमने तो इसकी वीरता की बड़ी प्रशंसा सुनी थी। सुना था इसने बड़े बड़े असुरों को बिना अस्त्र शस्त्र के ही मार डाला। कंस को भरी सभा में चोटी पकड़कर पछाड़ डाला। किन्तु अब तो यह भयभीत सा दिखाई देता है. इसके हाथ मे कोई अस्त्र शस्त्र भी नहीं। साथ में सेना भी नहीं। मैं तो इसी से लड़ने आया था। यह तो चोर की भाँति भागने का उपक्रम कर रहा है। फिर भी इसका साहस तो देखो, भागना भी चाहता है, तो मेरे सम्मुख ही। अच्छा जब यह निरस्त्र है, तो मैं भी शस्त्र रहित होकर इसका पीछा करूँगा। इसे द्वन्द युद्ध के लिये ललकारूँगा। यह सोचकर उसने वहीं से पुकारा—"अरे, कृष्ण! अरे, तू भगोड़ों की भाँति कहाँ भागता हुआ जा रहा है। आ तू मुझसे द्वंद युद्ध कर।" यह सुनकर अखिल ब्रह्माण्ड नायक रण छोड़ भगवान् मुट्ठी बाँध कर भगे। कालयवन ने भी उनका पीछा किया। वह उन्हें दौड़कर—अपने बल पुरुषार्थ से—पकड़ना चाहता था, किन्तु जिन्हें सहस्रों वर्ष की समाधि लगाकर योगिजन भी कठिनता से वश में कर सकते हैं, उन्हें यह मूर्ख दौड़कर पकड़ना चाहता है, माया मोहित मानव का यही मोह जनित पुरुषार्थ है। कालयवन को ऐसा प्रतीत होता था कि दो पैर बढ़ते ही मैं इन्हे पकड़ता हूँ, कभी कभी तो उसके हाथ से पीताम्बर का छोर छू जाता। इससे उसका उत्साह और भी बढ़ता इस कारण वह अधिक वेगसे भगता, किन्तु ये तो बड़े कांइयां ठहरे भूल भुलैया देते देते उसे अकेले ही धौलपुर तक भगाये ले गये। वह मूर्ख भी मृत्युके अधीन होकर उन कालरूप भगवान्के पीछे-पीछे दौड़ा ही गया।

आगे चलकर उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि कृष्ण अब श्रांत

हो गया है, अब यह अधिक दौड़ नहीं सकता। उसे विश्वास हो गया कि मैं अब इसे अवश्य पकड़ लूँगा। वह बार बार कहता जाता था—"अरे, यादवोंमें अधम! कृष्ण! तुझे इस प्रकार रण छोड़ कर भागना उचित नहीं है। तुझमें यदि कुछ भी बल हो तो खड़ा होकर मुझसे युद्ध कर।" किन्तु श्रीकृष्ण उसकी एक भी बात नहीं सुनते थे। इस कानसे सुनी उस कानसे निकाल दी। "सौ सौ कहीं किन्तु लुक्क पर ही लड़ें।" भगवान् सोचते थे—"बकते रहो बच्चूजी! अभी तुम्हें दाल आटेका भाव मालूम पड़ता है।" यह सोचकर वे भागते ही जाते थे। आगे उन्हें एक छोटासा पर्वत दिखाई दिया उसकी एक लम्बीसी गुफा थी. भगवान् झटपट उसमें घुस गये।

कालयवन दूरसे देख रहा था, उसने सोचा—"अब बस, आ गया यह हाथ में। इस गुफासे निकलकर तो कहीं जा नहीं सकता। यह सोचता होगा—"मैं इसे देख नहीं रहा हूँ। इस गुफामें छिपनेसे मेरे प्राण बच जायँगे, किन्तु अब तो मैं गुफामें घुसकर इसका अन्त कर दूँगा।" यह सोचकर वह भी गुफामें घुस गया।

भगवान् तो प्रथम श्रेणीके ठगिया ठहरे। उस गुफामें घुसते ही उन्हें एक बड़े डील डौलका पुरुष सोता हुआ दिखाई दिया। आपने अपना पीताम्बर झटपट उतार कर उसे उढ़ा दिया और आप एक कोने में छिप गये। अन्धकार भी काला था, श्रीकृष्ण भी काले थे, काले में काला मिल गया। तब तक ही कालयवन भी आ पहुँचा। वह प्रकाश से गुफा में आया था। इतनी दूर दौड़ते दौड़ते थक भी गया था। गुफा में उसे अंधकार ही अंधकार दिखाई दिया। कुछ देर में उसे पीताम्बर दिखाई दिया। अब तो उसने अनुमान लगा लिया। अवश्य ही श्रीकृष्ण पीतांबर ओढ़कर यहाँ सो गया है। वह मूर्ख हँसा और सोचने लगा—

इस छलियाने मुझे कितना ठगा है। इतनी दूर तक मुझे दौड़ाकर थका लिया और अब स्वयं साधुके समान बनकर सुखसे सोया हुआ है। अभी मैं इसको इसके किये का फल चखाता हूं" यह सोचकर उसने आवेशमें भरकर सम्पूर्ण बल लगाकर उस सोते हुए पुरुषके शरीर में एक लात मारी। लात लगते ही वह चिर कालका सोया हुआ दीर्घ काय पुरुष शनैः शनैः उठा और आँखों को मलता हुआ इधर उधर देखने लगा।

उसने अपने सम्मुख कालयवन को खड़े हुए देखा। उसे देखते ही उस पुरुष की आँखें क्रोध से लाल लाल होकर जलने लगीं मानों उन में से अग्निकी चिनगारियाँ निकल रही हों। उसने क्रोधभरी दृष्टि से ज्यों ही कालयवन की ओर देखा त्यों ही वह भस्म होकर तत्काल पृथिवी पर गिर पड़ा और सदा के लिये इस लोक से विदा हो गया।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह विचित्र पुरुष कौन था? किसका पुत्र था? यहाँ क्यों सो रहा था? इसकी दृष्टिमें ऐसा तेज कैसे आ गया कि इसके देखते ही पृथिवीके समस्त राजाओं को जीतने वाला इतना भारी शूर वीर पराक्रमी कालयवन भस्म होकर गिर गया? कृपा करके इस विचित्र पुरुष का परिचय हमें कराइये, तब आगे की कथा सुनाइये।

सूतजीने कहा—"महाराज! ये इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न महाराज मान्धाताके पुत्र परम बली, ब्राह्मणों के भक्त सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजापालक महाराज मुचुकुन्द थे। ये आदि सत्ययुग से ही यहाँ सो रहे थे। इनकी कथा बड़ी ही अद्भुत है, इसे मैं आपको सुनाऊँगा। आप दत्त चित्त होकर श्रवण करें।

दुष्पय

करत अनमुनी इमान भगत मुनि पीछे निम्मत।
पग पग पै बहु गहे मान दिन दिन महँ मनुमत॥
पुष्टे पुरुष महँ इमान निहारयौ नहँ नर कोइ।
निज पट तादि उदार दुमकि रिपुको पग धोइत॥
कालयवन रिण महँ मरयौ, पर महान सिद्धि पै करयौ।
दिरि-दृष्टि निरखो मान कब, दृष्टि परत ही को मरयौ॥

महाराज मुचुकुन्द का परिचय

(१०८२)

स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान् ।
मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ५१ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

वे नरवर मुचुकुन्द धेनु द्विज सुर हितकारी ।
असुरनि सतयुग प्रथम माँहि सुर सेन सँहारी ॥
गये लड़न भूपाल गये जब देव शरन महँ ।
मारि भगाये असुर भये विजयी सुर रन महँ ॥
देवनि वर माँगन कह्यो, माँगी निद्रा भूपवर ।
करै विघन मम नींद महँ, सो तत छिन मरि जाय नर ॥

सबके कार्यक्षेत्र बँधे रहते हैं, जो जिस कार्य के लिये भगवान् की ओर से भेजा गया है, उसकी उसीमें प्रवृत्ति हो जाती है, वैसी ही मति हो जाती है, यदि किसी को सार्वजनिक काम के लिये उत्पन्न किया है, तो वह कितना भी छिपना चाहे कहीं भी

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिनकी दृष्टि से कालयवन भस्म हुआ था वे ब्राह्मणों के भक्त सत्य प्रतिज्ञ महाराज मुचुकुन्द थे, जो इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न महाराज मान्धाता के पुत्र थे ।"

चला जाय, वहीं उसके लिये वैसा ही संयोग बन जायगा। जड़ भरतजी कैसा विकृत वेष बनाकर पागलों की भाँति घूमते थे, किन्तु महाराज रहूगण को उन्हें ज्ञान देने का काम था, वैसा ही संयोग जुट गया और उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश देना। मनुष्य कहीं भी छिप जाय औरों की दृष्टि से छिप सकता है, किन्तु भगवान् की दृष्टि से तो नहीं छिप सकता, क्योंकि वे सर्वदृक् हैं सर्वज्ञ हैं। उनसे कोई कहीं भी नहीं छिप सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे महाराज मुचुकुन्द का परिचय पूछा था, उनके वंश का परिचय तो मैं पीछे दे ही चुका हूँ। सूर्यवंशी महाराज इक्ष्वाकु के वंश में एक परम प्रतापी युवनाश्व नामक राजा हो चुके हैं। उन्होंने भूल से पुत्रेष्टि यज्ञ का अभिमंत्रित जल पी लिया था, अतः उनकी कुक्षी को फाड़ कर महाराज मान्धाता उत्पन्न हुए। महाराज मान्धाता सूरवीर धर्मात्मा और ब्राह्मण भक्त थे। उन्होंने महाराज शशविंदु की पुत्री बिन्दुमती से विवाह किया। उसके गर्भ से पुरुकुत्स, अंबरीष और योगिराज महाराज मुचुकुन्द का जन्म हुआ। मुचुकुन्द जन्म ही से विशिष्ट शक्ति सम्पन्न थे। वे स्वेच्छा से स्वर्गादि लोकों में जा आ सकते थे। शस्त्र विद्या में उनके समान त्रिलोक में कोई नहीं था। उस समय देवताओं और असुरोंमें बड़ा घनघोर युद्ध छिड़ा हुआ था। असुर बड़े बली थे, उन्होंने देवताओं को दबा दिया। उनके प्रबल प्रहारों को न सह सकने के कारण देवता अत्यन्त ही त्रस्त हुए। युद्ध का जय पराजय सेनापति के ऊपर निर्भर है। यदि सेनापति वीर, उत्साही, कुशल और बुद्धिमान हुआ तो वह अल्प सेना से भी विजय कर सकता है। यदि सेनापति अयोग्य हुआ तो कितनी भी सेना क्यों न हो, उसकी विजय में संदेह ही बना रहता है। उस समय देवताओं के पास कोई योग्य सेनापति नहीं था। उन्होंने महाराज मुचुकुन्द के बल पौरुष

और कार्य कुशलता की बड़ी ख्याति सुनी थी, अतः सब देवता मिलकर उनके समीप गये और बोले—"राजन ! आप हमारे सेनापति बन जाइये। असुरों ने हमें त्रस्त कर रखा है।"

महाराज मुचुकुन्द ने कहा—"जो दुखियों के दुख को दूर करे वही क्षत्रिय है। आप लोग अब मेरी शरण में आये हैं, तो मैं अवश्य ही आपका सेनापति बनूँगा और असुरों से आपकी रक्षा करूँगा।" यह कहकर महाराज देवताओं के साथ गये और उनके सेनापति बनकर चिर काल तक देवताओं की रक्षा करते रहे।

कुछ काल के अनन्तर भगवान् शंकर के वीर्य से कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ। देवता उनके बल, पराक्रम, प्रभाव और ऐश्वर्य को देखकर मुग्ध हो गये और उन्हें अपनी सेना का स्थायी सेनापति बना दिया। कार्तिकेय जी ने बड़ी बुद्धिमत्ता से सुर-सेना का संचालन किया। मुचुकुन्दजी की अब आवश्यकता नहीं रही। अतः देवताओं ने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"राजन् ! आपका कल्याण हो। आपने बड़ा परिश्रम किया। बहुत दिनों तक आपने हमारी रक्षा की विपत्ति के समय आप हमारी सहायता न करते तो हमें अवश्य ही स्वर्ग से भ्रष्ट होना पड़ता। अब आप कुछ दिन विश्राम करें, हमारी रक्षा के कष्ट से अब आप निवृत्त हों।

महाराज मुचुकुन्द ने कहा—"देवताओ ! आपकी आज्ञा से मैंने आपकी जो कुछ मुझसे यत्किंचित सेवा बन सकी, वह की अब आपको मेरी आवश्यकता नहीं है तो मैं अपनी राजधानी को लौटा जाता हूँ।"

हँसकर देवताओं ने कहा—"राजन ! आपका त्याग श्लाघनीय है। आपने पृथिवी के निष्कंटक राज, सम्पूर्ण विपुल भोग हमारे लिये त्याग दिये। अब आप फिर अपनी राजधानी में लौटना

चाहते हैं, किन्तु अब तो आपकी राजधानी का पृथिवी पर चिह्न भी नहीं रहा।"

महाराज ने पूछा—"देवताओ! मेरी राजधानी कहाँ चली गई। मेरे बन्धु बान्धव कहाँ गये?

देवताओं ने कहा—"राजन्! आप इतने दिनों तक स्वर्ग में रहे। मनुष्यों के ३६० वर्षों का हमारा एक वर्ष होता है। आप सहस्रों वर्षों तक स्वर्ग में रहकर हमारी रक्षा करते रहे। तबसे तो पृथिवी पर कई युग बीत गये। अब आपके पुत्र, स्त्री, जाति बन्धु, अमात्य तथा मंत्रियों में से तथा आपके सामने की प्रजा वर्गों में से कोई भी अब पृथिवी पर नहीं, वे सब काल के कवल बन गये। सब पञ्चतत्व को प्राप्त हो गये।

आश्चर्य के स्वर में महाराज मुचुकुन्द ने कहा—"अरे, यह काल की कैसी कुटिल गति है। सबके सब समाप्त हो गये? कोई भी नहीं बचा?"

देवताओं ने कहा—"राजन्! यह काल विश्व के समस्त बलवानों में बली है। यही अच्युत अविनाशी अपराजित ईश्वर है। काल के सम्मुख किसी की भी नहीं चलती। सभी को इसने अपने अधीन कर रखा है। मदारी जैसे बन्दरों को खिलाड़ी जैसे कठपुतलियों को और पशुपाल जैसे पशुओं को नचाता है, जैसे ही यह काल प्राणिमात्र को नचा रहा है। यह काल ही समस्त संसार का खेल ही खेल में नियन्त्रण कर रहा है।

मुचुकुन्द ने कहा—"देवताओ! जब यही बात है पृथिवी पर मेरा कोई सगा सम्बन्धी शेष ही नहीं तो मैं वहाँ जाकर भी क्या करूँगा। आप मुझे कोई मार्ग बताइये?'

देवताओं ने कहा—"राजन्! आपने हमारी रक्षा में बड़े-बड़े कष्ट उठाये। रात्रि रात्रि भर युद्ध करके आपने हमारी रक्षा की है। आपको जिससे सुख हो ऐसा कोई मनोभिलषित वर

हम से माँगें, किन्तु देखिये मोक्ष न माँगियेगा। मोक्ष देने का अधिकार हमें है ही नहीं। मोक्ष के तो एक मात्र स्वामी भगवान विष्णु ही हैं मोक्ष देने में तो वे ही मोक्षपति अधोक्षज सर्वथा समर्थ हैं।"

महाराज मुचुकुन्द ने यह सुनकर नम्रता पूर्वक देवताओं को प्रणाम करके कहा—"देवताओ! तुम यदि मुझे मोक्ष नहीं दे सकते, तो गहरी निद्रा का ही वर दो। निद्रा में भी सब इन्द्रियाँ शिथिल होकर विश्राम करती हैं, चिन्तायें नष्ट हो जाती हैं, श्रम मिट जाता है, शरीर हलका हो जाता है। मैं थक भी बहुत गया हूँ।"

देवताओं ने कहा—"अच्छी बात है, राजन्! हमने आपको गहरी निद्रा का वर दिया।"

महाराज मुचुकुन्द बोले—"यदि किसी ने मुझे बीच में ही जगा दिया तो?"

देवता बोले—"जो बीच में आपको जगावेगा, वह अपनी करनी का फल पावेगा। वह अज्ञ आपकी दृष्टि पड़ते ही भस्म हो जावेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवताओं से वर प्राप्त करके महाराज मुचुकुन्द इस गुफा में आकर सोते ही रहे। सोते सोते उन्हें कितने युग बीत गये, इसका उन्हें भी पता नहीं था किन्तु परमात्मा भगवान वासुदेव को तो सब पता ही था, उनसे तो कोई बात छिपी ही नहीं रहती इसलिए कालयवन को भगाते भगाते यहाँ तक ले आये। आपने सोचा—ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे "साँप मरे न लाठी टूटे" हमें लड़ना भिड़ना भी न पड़े और यह यवन मर भी जा जाय।" इसके लिये उन्होंने यही उपाय सोचा और वह उपाय सफल भी हुआ। कालयवन मुचुकुन्द की दृष्टि पड़ते ही मरकर भस्म होकर गिर गया।

जब कालयवन मर गया और महाराज मुचुकुन्द का क्रोध शान्त हो गया, तो हँसते हुए वनमाली गिरिगोवर्धनधारी भगवान् वासुदेव ने उसे दर्शन दिया। भगवान् की परमदर्शनीय शोभाको देखकर मन्धातानन्दन महाराज मुचुकुन्द परम विस्मित हुए। उन्होंने देखा, अपनी प्यारी प्यारी' चारु चितवन से चित्तको चुराते हुए घनश्याम हँस रहे हैं। वे अति सूक्ष्म रेशमी' पीताम्बर को धारण किये हुए हैं, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला' कंकण, कुण्डल, हार, केयूर, मणिमयमुकुट अन्य वस्त्राभूषणों से वे सुसज्जित हैं। हठात् सबके मनको अपनी ओर आकर्षितकर लेते थे। उनकी अति सुन्दर तरुण अवस्था और मत्त मृगराज के सदृश उदार विक्रम था। भगवान् के उस दुर्धर्ष परमतेजयुक्त दिव्यस्वरूप को देखकर महाबुद्धिमान महाराज मुचुकुन्द ने मन ही मन तर्कना की और फिर हो संकोच सहित उनसे वार्तालाप करनी आरम्भ की। अब दोनों में जैसे बातें हुईं। उस प्रकरण को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

एवमस्तु कहि सुरनि समर्थन नृपको कीन्हों।
श्रमित भूपकूँ गाढ़ नींदको मिलि बर दीन्हों॥
सोये तबतें गुफा माँहि बहु बरष बिताये।
कालयवनको अन्त करावन हरि तहँ आये॥
भस्म यवन जब ह्वै गयो, तब दरशन नटवर दयो।
लखि अति सुन्दर सुघर नर, भूपति अति विस्मित भयो॥

मुचुकुन्द और माधव

(१०८३)

विमोहितोऽयं जन ईश मायया
त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक् ।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते
गृहेषु योषित् पुरुषश्च वञ्चितः ॥*

(श्री भा० १० स्क० १५ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

पूछत विनयावनत नृपति डरपत अति बोलत ।
प्रभु अति कोमल चरन कठिन महि पै क्यों डोलत ॥
हो त्रिदेव महँ एक अपर सुर अथवा स्वामी ।
अथवा अज अखिलेश अमरपति अन्तरयामी ॥
हौं मान्धाता नृप तनय, मोह कहँ मुचुकुन्द सब ।
तुर घर लहि सोवत रह्यो, देवैं परिचय आपु अब ॥

जीव भगवान् को भूलकर मोह रूपी गाढ़ निद्रा में सोता रहता है। जब भगवान ही आकर उसे जगाते हैं, तब वह जागता है। जागने पर भी जिनको नहीं पहिचानता। उन्हीं से उनका

---

*मुचुकुन्द ने कहा—"हे ईश! माया से मोहित ये नर नारी आपका भजन नहीं करते। क्योंकि ये अनर्थ को ही देखा करते हैं। ये सुखको आशासे दुःखमय विषय भोगों में फँसे रहते हैं। इस प्रकार स्त्री पुरुष के द्वारा पुरुष स्त्री के द्वारा आसक्त होकर यथार्थ सुख से वंचित हो जाते हैं। ठगे जाते हैं।"

परिचय पूछता है। तब वे गुरुओं के गुरु चराचर के स्वामी अच्युत भगवान् कृपाभरी दृष्टि से उसकी ओर देखते हैं, स्वयं अपना परिचय देते हैं। तब वह अपने स्वरूप को जानता है। तब प्रभुको पहिचानकर उनके पादपद्मों में पड़ता है। उनके चरणों की शरण लेता है, गुरु रूप से भगवान् उसे अपने निकट आने का साधन बताते हैं। मुक्ति का मार्ग बताते हैं। मुक्त तो वह तभी हो गया, जब उसे मुक्तिपति के दर्शन हुए, किन्तु फिर भी वह लोक दृष्टि से मार्ग बतलाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान के अत्यद्भुत रूप के दर्शन करके महाराज मुचुकुन्द सहसा संभ्रम मे पड गये और सहम सकुचकर शंकित चित्त से पूछने लगे—"हे श्रीमान! आप कौन हैं? आपके मृदुल चरण तो कमल दल के सदृश मृदुल और मनोहर हैं। यह तो बतावें आप इन परम सुकुमार चरणों से इस कंटकाकीर्ण कठोर अवनिपर किस कारण विचर रहे हैं। आपके तेजसे तो प्रतीत होता है आप पुरुष नहीं कोई देव श्रेष्ठ हैं। पुरुष का रूप बनाने पर भी आपके अंग प्रत्यङ्ग से अद्भुत तेज फूट फूट निकल रहा है।"

भगवान् यह सुनकर हँसते रहे, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब स्वयं ही तर्कना करते हुए राजा बोले—"आपके तेज से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि आप समस्त तेजस्वियों मे श्रेष्ठ अग्नि देव हैं? या आप भगवान भुवनभास्कर है। अथवा हो सकते हैं आप शर्वरी नाथ शशि हैं। यदि आप चन्द्र नहीं तो स्वर्गपति देवेन्द्र होंगे अथवा यम, वरुण, कुबेर, वायु नैऋत्य अथवा ईश इन लोकपालों में से कोई होंगे। अथवा ब्रह्मा, विष्णु महेश इन त्रिदेवों में से कोई होंगे। प्रभो! यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो मुझे आप अपना परिचय दें। अपने जन्म, कर्म और गोत्रके सम्बन्ध में कुछ बताकर मेरे कुतूहल को शान्त करें।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"राजन् ! प्रथम ही अपना परिचय दें । आप कौन हैं ? किसके पुत्र हैं ! गुफा में अकेले क्यों सो रहे हैं ? डील डौल से तो आप कोई सत्

युगी पुरुष जान पड़ते हैं ? यह सुनकर शीघ्रता के साथ महाराज मुचुकुन्द बोले—"भगवन् ! आप मेरा परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, तो सुनिये, मैं इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न युवनाश्वनन्दन परम प्रतापी महाराज मान्धाता का तृतीय पुत्र हूँ । मुचुकुन्द मेरा

नाम है। देवताओं की रक्षा करते करते मैं स्वर्ग में अत्यन्त श्रान्त हो गया था, देवताओं के वर से मैं यहाँ एकान्त निर्जन स्थान में गाढ़ निद्रा में पड़ा चिरकाल से सो रहा था। आज सहसा न जाने किसने मुझे जगा दिया। जागकर मैं देखता हूँ, मुझे जगाने वाला भस्म हुआ पड़ा है। तभी कोटि सूर्यों के समान तेज वाले आप परम तेजस्वी महापुरुष के दर्शन मुझे हुए। वैसे मैं भी बहुत तेजस्वी कहलाता था। देवता असुर मेरे तेज को सहन करने में समर्थ नहीं होते थे, किन्तु आपके तेज के सम्मुख मेरा तेज उसी प्रकार फीका पड़ गया, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर जुगुनू का तेज फीका पड़ जाता है। मैं आपके असह्य तेज के सम्मुख अधिक देर ठहर नहीं सकता। मेरी आँखें चका चौंध हो रही हैं और आपकी ओर मैं चिरकाल तक देख नहीं सकता। कृपा करके आप मुझे अपना परिचय करा दें।"

महाराज मुचुकुन्द के विनयावनत विनीत बचन सुनकर भूत-भावन भगवान् हँसते हुए उनसे मेघ गम्भीर वाणी में बोले—"राजन्! मैं अपना परिचय क्या दूँ? मेरा कोई निश्चित परिचय हो तो दूँ। न परिचय देना ही मेरा परिचय है! परिचय में प्रथम जन्म बताना पड़ता है। हमारा जन्म किस कुल में कब हुआ। सो या तो मेरा कभी जन्म ही नहीं हुआ या असंख्यों बार जन्म हो चुका। मैं उन सबको भूला नहीं जानता हूँ। अब रही कर्मों की बात, सो या तो मैं निष्कर्म हूँ या मेरे अनन्त कर्म हैं। तुम मेरा नाम जानते हो यदि मेरा कोई एक निश्चित नाम हो, तो बताऊँ मेरे तो अनन्त नाम हैं। कोई भी मेरे जन्म कर्म और नामों की गणना नहीं कर सकता। यह सम्भव है वर्षा के समस्त धाराओं की कोई गणना कर ले, यह भी सम्भव है कि अनन्त काल तक गिनता रहे तो सातों समुद्रों के जल के बिन्दुओं की गणना कोई बुद्धिमान् पुरुष करले। सम्भव है समस्त पृथिवी की

धूलि के कणों की भी गणना हो सकती है, आकाशके तारे भी गि जा सकते हैं, समस्त प्राणियों के रोमकूपों की भी गणना ज है, किन्तु मेरे जन्म, कर्म, गुण और नामों की गणना सम्भव न है। सर्वज्ञ त्रिकालज्ञ ऋषि महर्षि भी मेरे कर्मों का निरन्तर प करते उनका अन्त नहीं पाते। तो भी मैं उपचार से जन्म कर्म और नामों का वर्णन करता हूँ।"

भगवान् की इस इतनी लम्बी चौड़ी भूमिका को सुन महाराज मुचुकुन्द के कान खड़े हो गये। वे मन ही मन करने लगे, ये स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ही तो नहीं। शंख, चक्र, गदा और पद्म आदि आयुधों को देखकर तो यही प्रतीत होता है, यह सोचकर वे अत्यन्त विनय के साथ खड़े हो गये। तब भगवान् कहने लगे—"राजन्! मैं सुखपूर्वक समुद्र में शेष शैया पर शयन कर रहा था उसी समय वेद गर्भ ब्रह्माजी ने देवताओं के सहित मुझसे भूमिका भार उतारने की प्रार्थना की। मैंने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके कह दिया अच्छा—"मैं, अवनि पर अवतार लेकर दैत्यों का संघार करूँगा।" उसी वचन को पूरा करने के निमित्त मैंने यदुवंश में वसुदेवजी के यहाँ देवकी के गर्भ से अवतार धारण किया। वसुदेवजी के यहाँ अवतार लेने से ही लोग मुझे वासुदेव वासुदेव कहने लगे हैं। उत्पन्न होते ही मैंने असुरों का संहार करना आरम्भ कर दिया। अघासुर बकासुर, प्रलम्ब, चाणूर तथा अन्यान्य बहुत से असुरों को मैंने परलोक पठाया। कंस के रूप में उत्पन्न हुआ कालनेमि असुर मेरे ही हाथ से मारा गया है। जो भी साधु द्रोही असुर अनेक रूप रखकर मेरे सम्मुख आये हैं, उन सबको मैंने परलोक पठाया है। यह कालयवन भी भूका भार ही था। इसे भी मैंने अभी अभी तुम्हारी दृष्टि से मरवा दिया है। इस गुफा में मेरे आने का अन्य कोई काम नहीं था, केवल तुम्हारे ऊपर कृपा करने को ही

हाँ आया हुआ हूँ। तुम मेरे भक्त हो, मैं भक्त वत्सल हूँ, ने मेरी पूर्वकाल में उपासना की है उसी का फल देने में रे सम्मुख उपस्थित हुआ है। तुम मुझसे इच्छित वर माँग । आज मैं तुम्हारी समस्त कामनाओं को पूर्ण करूगा। जो शरण में आ जाता है। उसकी कोई भी कामना शेष नहीं ी।"

सूतजी कहते हैं—"राजन्! महाराज मुचुकुन्द भगवान् का चय पाकर उनके पैरों में पड़ गये और गद्गद् कंठ से की स्तुति करने लगे, उन्होंने जैसे भगवान् की स्तुति की र भगवान ने जैसे उन्हें कृतार्थ किया इस प्रसंग को आगे ाऊँगा।"

छप्पय

कहें विहँसि बल बन्धु नाम निज कहा बताऊँ।
जनम करम गुन अखिल कहाँ तक तुम्हें गिनाऊँ॥
सुरनि विनय जब करी जनम महि पै तब लीयो।
कंसादिक जे असुर नाश तिन सबको कीयो॥
बासुदेव मोकूँ कहैं, कृपा करन आयो यहाँ।
जहाँ रहैं मम भक्तगन, दौरि तुरत पहुँचूँ तहाँ॥

महाराज मुचुकुन्दकी स्तुति

भगवान्‌का उन्हें वर

(१०८४)

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्,
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ,
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥

(श्री भा० १० स्क० ५१ अ० ५४ श्लो०)

छप्पय

सुमिरि गरगके वचन यादि मुचुकुन्दहिं आई ।
लिपटे चरननि दौरि बिनय धरि धीर सुनाई ॥
हे मायापति ! ईश ! मोहबश तुमहि न जानें ।
भरि मदमहँ अखिलेश नृपति अपनेकूँ मानें ॥
का इनकूँ माँगूँ प्रभो ! छिन भंगुर ये विषय सुख ।
तव चरननिमहँ होहि मति, है यह जग महँ परम सुख ॥

महाराज मुचुकुन्द भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—अच्युत ! जीव इस संसार चक्र में न जाने कब से भटक रहा भटकते भटकते जब इसके जन्म मरण रूप संसार के अन्त होने समय आता है, तो इसे आपके भक्तों का सत्सङ्ग प्राप्त होता है। पुरुष को सत्सङ्ग प्राप्त हुआ, तहाँ सज्जन पुरुषों के एकमात्र गति कार्य कारण के स्वामी आप सर्वेश्वर में उसका चित्त लग जाता (जिसका आपमें चित्त लग जाता है उसका उद्धार हो ही जाता है)

मनुष्य लौकिक उन्नति कितनी भी क्यों न कर ले, जब तक का चित्त भगवान् में नहीं लगता तब तक उसे शान्ति नहीं, ा नहीं, सन्तोष नहीं। जितनी भी कलायें हैं गुण हैं वे सब ा लोक की तड़क भड़क हैं। धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों फल भी स्वर्गादिलोक ही हैं। इनसे संसार का आवागमन नहीं सकता। शाश्वती शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब ावान् स्वयं दौड़कर दर्शन दें, स्वयं ही उसके समीप आवें तभी व का निस्तार हो सकता है। उनके आने की बात जोहते रहना र अपनी समस्त चिन्ताओं को उनके ही ऊपर छोड़कर श्चिन्त होकर तान दुपट्टा सोते रहना यही एक मात्र उपाय है। नकी कृपा की प्रतीक्षा करता रहे। कभी न कभी तो भक्तवत्सल पालु कृष्ण कृपा करके हमारी गुफा में आवेंगे। कभी न कभी हम सोते हुओं को जगाकर वे वर देंगे। यही श्रेष्ठ साधन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज मुचुकुन्द ने मदनमोहन रारी माधव का परिचय पा लिया तो वे उनको हाथ जोड़कर द्गद वाणी से स्तुति करने लगे। उन्हें महर्षि गर्ग के वचन रण हो आये। महामुनि गर्ग ने कहा था—"अट्ठाईसवें कलियुग भगवान् वासुदेव अवतीर्ण होकर असुरों का संहार करेंगे और म्हारे ऊपर कृपा करेंगे।" भगवान् के दर्शन करते ही वे समझ ये कि ये साक्षात् श्रीमन्नारायण ही हैं। मेरे ऊपर अनुग्रह करने ी पधारे हैं, अतः वे उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे—"प्रभो! आप तो मायेश हैं, यह मानव प्राणी माया से मोहित होकर ाप मुक्तिपति को नहीं पहिचानता। इसे तो खाने, पीने, सोने ा, घर द्वार कुटुम्ब परिवार इन्हीं की निरन्तर चिन्ता बनी हती है। स्त्री पुरुष को देखकर अपने आपको भूल जाती है, रुष स्त्री के फंदे में फँस जाता है। दोनों एक दूसरे का चिन्तन रते रहते हैं। यह नहीं समझते हम यह विषपान कर रहे हैं।

काम के वशीभूत होकर आप कामारि को भुला देते हैं और मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं प्रभो ! ये संसारी विषय तो हैं, जिनसे कभी प्राणियों की तृप्ति ही नहीं होती। यदि इन तृप्ति हो तो, बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा राज्य छोड़कर वनों को जाते ? यदि पुरुषों की स्त्रियों से और स्त्रियों की पुरुषों से होती, तो ये वेश्यायें, बड़े बड़े व्यसनी धनी, सभी सन्तुष्ट हो देते, किन्तु ये सबसे अधिक चिन्तित और दुखी रहते हैं। बड़े पद पाने से ही तृप्ति होती तो देवताओं के राजा त्रि इंद्र शान्त और सुखी होते, किन्तु वे सबसे अधिक चिन्तित दुखी रहते हैं. उन्हें सदा खुटका बना रहता है, कोई सौ अ करके मेरे इंद्रासन को न छीन ले। अतः हे वासुदेव ! मैं संसारी विषयों की याचना नहीं करता। मैं तो भक्तों की एक प्रार्थनीय आपकी चरण सेवा चाहता हूँ। आपके पादपद्मों में बनी रहे, यही एक मात्र मेरी अभिलाषा है। आप मोक्ष के माधव को भी पाकर मैं उन्हीं बन्धनकारी विषयों की याचना सो मेरे लिये धिक्कार है। अतः हे जनार्दन ! मेरा यही एक वर है, कि आप मुझे अपना कहकर अपनाइये। मुझ शरण की रक्षा कीजिये।"

महाराज मुचुकुन्द के ऐसे गूढ़ ज्ञानमय उपदेशों को सु प्रसन्न होकर भगवान् बोले—"हे राजन् ! मैं तो समझता आप मुझसे पुनः राज्य पाट माँगेंगे, आपने तो कुछ भी मु याचना नहीं की।"

मुचुकुन्द बोले—"महाराज ! बड़े बड़े चक्रवर्ती तो राज नुराग से मुक्त होने के लिये आपसे प्रार्थना करते हैं, मैं आप पाकर भी फिर तुच्छ राज्य पाट की याचना करूँ, यह दुर्भाग्य ही है।"

भगवान् बोले—"नहीं राजन् ! आप तो बड़े बुद्धिमान

आप अपने स्वार्थ को समझते हैं। तभी तो मेरे बार बार वर के लिये प्रलोभन देने पर भी आप वासनाओं के वशीभूत नहीं हुए। जो लोग मुझे पाकर भी इन तुच्छ पदार्थों की कामना करते हैं, वे मानों मेरी माया के द्वारा ठगे गये।"

मुचुकुन्दजी ने कहा—"तब भगवन्! आप मुझे वर का प्रलोभन क्यों दे रहे थे?"

भगवान् बोले—"राजन्! वर की बात तो मैंने केवल आपकी सावधानी की परीक्षा के ही लिये कही थी, कि देखें आप प्रलोभन में फँसते हैं या नहीं। सो, आप परीक्षा में उत्तीर्ण ही हुए।" जो मेरे अनन्य भक्त होते हैं, वे सदा सचेष्ट रहते हैं, उन्हें कोई विषयों का प्रलोभन दे भी तो उनकी बुद्धि संसारी विषयों की कामना से विद्ध नहीं होती।"

मुचुकुन्दजी ने कहा—"प्रभो! हमने तो देखा है, बड़े बड़े योगी भी योगारूढ़ होने पर फिसलते हुए देखे गये हैं, उनका भी चित्त विषयों में फँसा हुआ देखा गया है।"

भगवान् बोले—"राजन्! वे मेरे भक्त नहीं होते। वे अपने प्रबल पुरुषार्थ द्वारा—प्राणायामादि साधनों द्वारा—अपने मन को वश में करने की चेष्टा करते रहते हैं। किन्तु यह मन तो बड़ा ठग है इसे जहाँ तनिक भी छिद्र मिला कि तुरन्त विषयों में चला जाता है। जो भगवान् का तो आश्रय लेते नहीं, केवल अपने साधनों द्वारा मन को वश में करने की चेष्टा करते हैं, उनके भीतर तो वासना बनी ही रहती है, अवसर आने पर वह उमड़ आती है और वे विषयों में फँस जाते हैं, किन्तु जो मेरे भक्त हैं, कभी भूल से फिसल भी जाते हैं, तो मेरी भक्ति के प्रभाव से तुरन्त सम्हल जाते हैं, मैं उन्हें विषयों में फँसने नहीं देता। अब तुम मुझमें चित्त लगाकर पृथिवी पर स्वच्छन्द होकर विचरण मैं तुम्हें वर देता हूँ; मुझमें तुम्हारी सर्वदा

बनी रहेगी।"

मुचुकुन्द ने भगवान् के चरणों में पुनः पुनः प्रणाम करने के अनन्तर निवेदन किया—"प्रभो! मुझे अब कब तक इस संसार-चक्र में भटकना होगा?"

भगवान् बोले—"राजन्! अब तुम्हारा संसार बन्धन कहाँ रहा। जीव का संसार बन्धन तभी तक रहता है, जब तक वह मेरे सम्मुख नहीं आता। मेरे सम्मुख होते ही उसका भवबन्धन छूट जाता है। देखो, तुमने क्षात्र धर्म में स्थित होकर मृगया आदि में बहुत से जीवों का वध किया है, अतः तुम अब समाहित चित्त से मेरी उपासना करते हुए उन पापों का प्रायश्चित्त करो, उन्हें घोर तप करके क्षीण करो। अभी तुम्हारा एक जन्म और होगा। आगामी जन्म में तुम समस्त प्राणियों के परम सुहृद एक उत्तम ब्राह्मण होंगे, उस समय तुम मुझ केवल स्वरूप परमात्मा को अवश्यमेव प्राप्त होगे।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् के दर्शन होने पर तो कोटि जन्मों के पाप क्षय हो जाते हैं, फिर मुचुकुन्दजी के मृगया आदि के किये एक जन्म के साधारण पाप नाश क्यों नहीं हुए? उन्हें फिर एक जन्म क्यों धारण करना पड़ा?"

सूतजी बोले—"महाराज! भगवान् तो भक्त की भावना के अनुसार फल देते हैं। भगवद्भक्त तो कभी मोक्ष की इच्छा करते ही नहीं। उनका तो कथन है—"हम चाहे घोर नरक में रहें चाहे हमारे असंख्यों जन्म हों, किन्तु हृदय में भगवान् की स्मृति बनी रहे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भक्त नहीं माँगता यह तो दूसरी बात है, किन्तु सूर्य के उदय होते ही अंधकार रह ही नहीं सकता। इसी प्रकार भगवान् के दर्शन होने पर जन्म मरण का

चक्र नाश होना ही चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! हो तो गया। किन्तु भगवान् तो भावना को देखकर फल देते हैं, जो भक्त होते हैं, उन्हें गोलोक साकेत वैकुण्ठादि लोक देते हैं ज्ञानी होते हैं, उन्हें ज्ञान से मुक्ति देते हैं और जो वर्णाश्रमधर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें वर्णाश्रमधर्म के अनुसार गति देते हैं। ये महाराज मुचुकुन्द वर्णाश्रमधर्म के अनुसार उपासना करनेवाले थे। वर्णाश्रमधर्म में चार वर्ण और चार आश्रम होते हैं, उनमें सबके पृथक्-पृथक् धर्म होते हैं श्रद्धा भक्तिपूर्वक अपने अपने अधिकारानुसार जो धर्म में स्थित रहकर कर्तव्यकर्म को पालन करते हैं उन्हें उसी के अनुसार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

जैसे शूद्र है, उसका धर्म है शुद्धभाव से तीनों वर्णों की सेवा करते रहना। उसी से अपनी आजीविका चलाना। गृहस्थ को छोड़कर अन्य किसी आश्रम का वेष धारण न करना। इस प्रकार वह अपने स्वधर्म का पालन करता रहेगा, तो अन्त में स्वर्ग जायगा, स्वर्गीय सुखों को भोगकर दूसरे जन्म में वह वैश्य होगा। शूद्र के लिये एक आश्रम था केवल गृहस्थ. किन्तु वैश्य के लिये दो आश्रमों का विधान हैं। वह ब्रह्मचर्याश्रम को धारण करके वेदाध्ययन करे और फिर गृहस्थ हो कर कृषि वाणिज्य और गोरक्षा द्वारा अपनी आजीविका करता हुआ गृहस्थधर्म का पालन करे। इस प्रकार धर्मपूर्वक अपने आदर्श गृहस्थधर्म का पालन करता रहे, तो मरकर महर्षियों के महर्लोक तक में वह जा सकता है और वहाँ के सुखों को भोग कर अन्त में क्षत्रिय हो कर उत्पन्न होगा। क्षत्रिय के लिये तीन आश्रमों का विधान है, वह ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके गृहस्थ हो जाय और गृहस्थधर्म का पालन करके अन्त में वानप्रस्थी हो कर वन में जाकर घोर तपस्या करे। इस तपस्या के प्रभाव से वह तपस्वियों के तपलोक तकको प्राप्त हो

सकता है। फिर अन्त में वह ब्राह्मण हो कर जन्म लेगा। ब्राह्मणों को चारों आश्रमों का अधिकार है। पहिले वह ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेदाध्ययन करे, फिर गृहस्थ होकर यज्ञ यागादि अनुष्ठान करे, तदनन्तर वानप्रस्थ व्रत लेकर घोर तप करे और अन्त में सबको छोड़कर सन्यासाश्रमको धारण करले। इस प्रकार सन्यास धर्मका पूर्ण रीत्या पालन करने से उसे ब्रह्माजी के सत्यलोक की प्राप्ति होगी, वह ब्रह्मलोक में कल्प पर्यन्त रहेगा, उसके ज्ञान में कुछ कमी होगी, उसे ब्रह्माजी पूरी कर देंगे और ब्रह्माजी के साथ कल्पान्त में वह मुक्त हो जायगा। यह वर्णाश्रमियों की क्रममुक्ति का विधान है। जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे जनलोक में जाते हैं और फिर लौटकर नहीं आते मुक्त हो जाते हैं। भगवद् भक्तों के लिये, ऐसा कोई नियम नहीं। वे किसी वर्ण के हों, किसी आश्रम के हों, भक्ति के द्वारा वे भगवान् के लोक को प्राप्त हो ही जाते हैं। महाराज मुचुकुन्दकी निष्ठा वर्णाश्रमधर्म में भी थी और वे भगवान् के भक्त भी थे। अतः उनकी निष्ठा को पूर्ण करने के लिये भगवान्ने उन्हें तपस्या करनेकी—वानप्रस्थव्रत धारण की आज्ञा दी। इससे वे दूसरे जन्म में सर्वभूत सुहृद् ब्राह्मण होकर केवल भगवान् को प्राप्त होंगे; ऐसा वर देकर उनकी वर्णाश्रम धर्म की निष्ठाका भी निर्वाह किया और भक्ति का भी महत्व दिखाया। वास्तव में तो जब उन्हें भगवान् के दर्शन हुए तभी उनके सब बन्धन छूट गये। यह तो एक उपासना की निष्ठा प्रदर्शित करने के लिये भगवान्ने ऐसा किया। भगवान् से दर्शन हो जायँ उनकी भक्ति हृदयमें बनी रहे, तब चाहे जन्म हो न हो एक ही बात है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमारी शङ्का का समाधान हो गया। अब आप आगे की कथा कहें। वे महाराज मुचुकुन्द फिर कहाँ गये?"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज! वही तो मैं कहने वाला था। महाराज मुचुकुन्द ने भगवान् की बड़ी दिव्य स्तुति की है। उसका वर्णन मैं प्रसङ्गानुसार आगे स्तुति प्रकरण में करूँगा। भगवान् वासुदेव से वर प्राप्त करके महाराज मुचुकुन्द ने भगवान् वासुदेव की श्रद्धा सहित परिक्रमा की, उनके प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति की और उनके चरणों में प्रणाम करके, वे उनके पीछे पीछे गुफा से बाहर निकले। बाहर निकलते ही उन्होंने जो कुछ देखा उसे देख कर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे तो सत्ययुग के थे। अट्ठाईस हाथ लम्बे थे। अब छोटे छोटे अपने हाथों से साढ़े तीन तीन हाथ के लोगों को देखकर वे भौचक्के रह गये, अपने समय में जो उन्होंने वट वृक्ष देखे थे, उनके सामने आज के वट वृक्ष झाऊके-से पेड़ दिखायी दिये। उन्होंने जो गौएँ देखी थी, उनके सामने आज की गौएँ बकरियों की बच्चियों के समान दिखाई दी। नर, नारी, पशु, पक्षी, लता, वृक्ष तथा सभी वस्तुओं को आकार में अत्यन्त छोटा देखकर वे समझ गये, कि पृथिवी पर अब कलियुग आ गया है। जैसे नगर का स्वच्छ साफ व्यक्ति पहाड़ के अत्यन्त गन्दे कुलियों के साथ रहने में घबराता है, वैसे ही वे सतयुगी महाराज इन कलियुगी लोगों को देखकर घबरा गये। सबके शरीरों से पाप की दुर्गन्ध आ रही थी। सबके शरीरों से द्वेष, कलह, ईर्ष्या, दम्भ, पाखण्ड, असत्य आदि दुर्गुणों के परमाणु निकल रहे थे। ऐसे पुरुषों में महाराज को क्षण भर भी रहना भारी पड़ गया। वे तुरन्त उत्तराखण्ड में चले गये, और बदरी नाथ के आगे सम्याप्रास प्रदेश में बरफ से ढके एक पर्वत में गुफा बनाकर उसी में घोर तप करने लगे। सुनते हैं वे अभी तक उत्तराखण्ड में रहकर तपस्या कर रहे हैं। बदरीनाथ से आगे माणा ग्राम से ऊपर तक मुचुकुन्द गुफा विख्यात है।

इस प्रकार तप श्रद्धा से सम्पन्न उन राजर्षि ने भगवान् से अमोघ वर प्राप्त करके संग और संशय से रहित होकर गन्धमादन पर्वत पर रहकर मुनि व्रत धारण किया और उस परम पावन नर नारायण के स्थान में समस्त द्वन्द्वों को सहन करते हुए शान्तभाव से अद्यावधि आराधना में निरत हैं। यह मैंने महाराज मान्धाता पुत्र मुचुकुन्द की संक्षिप्त कथा कही अब आप लोग क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अब आप हमें भगवान् का ही अग्रिम चरित्र सुनाइये। कालयवन का अन्त करा कर भगवान् कहाँ पधारे। बलदेवजी कहाँ रह गये ? कालयवन की सेना का क्या हुआ। जरासन्ध ने फिर चढ़ाई की या नहीं। इन्हीं सब बातों को हमें बताइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज भगवान् जिसके भय से भागे थे वह तो मर ही गया, इसलिये फिर वे लौटकर मथुरापुरी में ही आये। बलदेवजी वहीं थे। फिर भी उन्हें जरासन्ध का तो खुटका लगा ही हुआ था, अतः मथुरा तो उन्हें छोड़नी ही थी। अब मथुराजी से जैसे वे द्वारका गये इस प्रसंग को मैं आगे सुनाऊँगा।

छप्पय

दयो भक्ति बरदान गुहातैं निकसे यदुवर।
देखें नृप मुचुकुन्द कलियुगी लघु पशु तरु नर॥
बदरीबन तप करन गये तहँ मुनि व्रत साधें।
संयम श्रद्धा सहित श्यामकूँ नित आराधें॥
इत मथुरा आये मदन-मोहन सैना यवनकी।
लूटि पाटि बाँधी तुरत, पुटरी सब धन रतनकी॥

———

जरासन्ध की अठारहवीं वार चढ़ाई

(१०८५)

नीयमाने धने योभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः ।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ५२ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

खच्चर बैलनि लादि द्वारका धन पहुँचावत ।
तबहीं निरख्यो जरासन्ध सेनासँग आवत ॥
रामश्याम लखि सैन बाँधिके मुट्ठी भागे ।
जरासन्ध के सकल वीर वर पीछें लागे ॥
भगत भगत दोऊ थके, चढ़े प्रवर्षणपै उछरि ।
घेरयो गिरि चहुँ ओर तैं, जावें नहिं अब ये उतरि ॥

जब भगवान् जैसी लीला करते हैं, तब उसे पूरी निभाते हैं। योद्धा की लीला दिखायेंगे, तो पूर्ण योद्धा बन जायेंगे। शृङ्गार की लीला दिखावेंगे तो साक्षात् मन्मथ के भी मन को मथने

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब म्लेच्छ सेना के धन को लूटकर, उस धन को भगवान् की आज्ञा से उनके सेवक बैलों पर तथा मनुष्यों पर लदवाकर ले जा रहे थे, तभी जरासन्ध तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरापुरी में पुनः आ गया।"

वाले बन जायँगे और जब भगोड़े की लीला दिखावेंगे, तो पूरे भगोड़े बन जायँगे। भगोड़ों के-से सभी आचरण करेंगे। क्योंकि वे तो सब ओर से सब कर्मों में पूर्ण ही हैं। पूर्ण के कामों में अपूर्णता कहाँ ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कालयवन को मुचुकुन्द-द्वारा मरवाकर श्यामसुन्दर मुचुकुन्द को लिये हुए ही गुफा से बाहर निकले। मुचुकुन्द तो उत्तराखण्ड में चले गये और आप लौटकर पुनः श्रीबलदेव पालिता मथुरापुरी में आ गये। अब मथुरा में रहना तो था ही नहीं मथुरा की लीला समाप्त करके उन्हें तो अब द्वारका को बसाना था। अतः जाते ही उन्होंने कालयवन की सेना पर प्रहार कर दिया। सेना प्रभु के प्रहार को न सह सकी और वहाँ से भाग खड़ी हुई। जो लड़ने सम्मुख आये उनका तो भगवान् ने संहार किया और जो भग गये सो भग ही गये। म्लेच्छ सेना के पास बहुत धन था भगवान् ने सब लूट लिया और उसे छकरों, ऊँटों, खच्चरों तथा आदमियों पर लदवाकर बलदेवजी के साथ वे द्वारका को चले गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इतनी बड़ी म्लेच्छों की सेना थी, अकेले भगवान् ने कुछ ही समय में उन्हें कैसे मार भगाया ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! विजय अधिक संख्या से नहीं होती, विजय तो हार्दिक उत्साह और संगठन से होती है। जिसका सैन्य सञ्चालन व्यवस्थित और सुचारु रूप से होगा, उसकी सेना चाहे थोड़ी ही हो, उसकी विजय होगी। इसके विपरीत जिस सेना का कोई योग्य सेनापति नहीं। लोग किसी एक की आज्ञा में नहीं चलते उनकी संख्या चाहें जितनी भी ज्यादा क्यों न हो उनकी कभी विजय हो नहीं सकती।

प्राचीन काल में सभी प्रजा के लोग क्षत्रियों से असन्तुष्ट हो गये। उन्होंने मिलकर क्षत्रियों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह खड़ा कर

दिया। एक ओर तो अकेले क्षत्रिय थे दूसरी ओर ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र तथा और भी लोग थे। दोनों में युद्ध हुआ। बार बार क्षत्रियोंकी ही विजय होती थी। यद्यपि वे संख्यामें बहुत न्यून थे और ये संख्यामें बहुत थे। अपनी पराजय देखकर ये ब्राह्मणादि बड़े चिन्तित हुए। अस्त्र शस्त्र रखकर ये क्षत्रियोंके पास गये और जाकर बोले—"क्षत्रियो! हम तुमसे धर्मपूर्वक यह प्रश्न पूछते हैं, कि हम संख्यामें अत्यधिक होने पर भी बार बार पराजित क्यों होते हैं और आप संख्यामें अल्प होने पर भी विजयी क्यों हो जाते हैं।"

इस पर क्षत्रियोंने कहा—"देखो, आप लोग यद्यपि संख्या में हमसे बहुत अधिक हैं, किन्तु आपसमें सङ्गठन नहीं। आपका कोई एक सेनापति नहीं। सेना तो सेनापतिके साहससे ही लड़ती है। जिस सेनाका कोई सेनापति नहीं उसका साहस भंग हो जाता है। आप लोग सभी अपनेको बुद्धिमान लगाते हैं, एक दूसरेकी बात नहीं मानते इसीलिये आपकी विजय नहीं होती। हमलोग अपना एक सेनापति बनाते हैं और अपनी सब बुद्धि उसे सौंप देते हैं वह जो कहता है हम सब उसके संकेतानुसार काम करते हैं, इसीलिये हमारी विजय होती है, यदि आप लोग भी अपना कोई सेनापति बना लें और उसीकी आज्ञामें चलें तो कभी आपकी भी विजय हो जायगी। बिना सेनापति की सेना कभी विजय नहीं होती।"

यह सुनकर सब लोग लौट आये और उन्होंने अपना एक सेनापति बनाया। सो, मुनियो! सेनापति रहित सेना कभी विजय नहीं होती। कालयवन के मर जाने पर सेना का साहस वैसे ही घट गया था, फिर भगवान्‌की बाण वर्षाको वे न सके और पराजित होकर भाग खड़े हुए। उनके भगवान् उनके धनको लूटकर चल दिये। किन्तु

जिस समय वे चले उस दिन उस दिशामें दिशाशूल था चन्द्रमा पीठ पीछे थे। भगवान् बिना मुहूर्त देखे ही भाग खड़े हुए। इसी लिये वह लूटका धन उनके लिये फलीभूत नहीं हुआ ज्यों ही लूटके धनको लेकर नगरके बाहर निकले त्यों ही उन्हें सामने से बड़ी भारी सेना लिये हुए जरासन्ध दिखायी दिया। अब तो भगवान्की सिटिल्ली भूल गयी। दूसरा कोई उपाय न देखकर वे बलदेवके सहित मुट्ठी बाँधकर भागे और हाँफते हुए कहते जाते थे—"दादा! भाग चलो, अबके इससे नहीं जीत सकते। अबके यह ब्राह्मणोंका आशीर्वाद लेकर आया है।"

बलदेवजी भी भागनेमें कुछ कम थोड़े ही थे, वे भी भगवान् के साथ मुट्ठी बाँधकर भाग रहे थे। यह देखकर जरासन्ध बहुत हँसा। उसने ललकारकर कहा—"अरे, कृष्ण बलराम! हम तो तुम दोनोंके बल की बड़ी प्रशंसा सुनते थे। अब तुम चोरों की भाँति भाग रहे हो, किन्तु भागकर जाओगे कहाँ, तुम जहाँ भी जाओगे वहीं मैं तुम्हारा पीछा करूँगा।" यह कहकर अपने सभी रथी अश्वारोही गजारोही तथा अन्याय सैनिकों के साथ उनका पीछा किया।

ये लोग तो सब वाहनोंपर थे, राम श्याम पैदल ही भाग रहे थे। भगवान् को तो भगोड़ेपन की पूरी लीला दिखानी थी, अतः दौड़ते-दौड़ते वे थक भी गये। अब क्या करें शत्रु हमें थका समझ लेगा तो पकड़ लेगा, बाँधकर अपनी राजधानी में ले जायगा। यही सोचकर भगवान् सामने एक प्रवर्षण नामक पर्वत था उसी पर चढ़ गये। उस पर्वत पर नित्य ही वर्षा होती रहती थी, इसीलिये उसका नाम प्रवर्षण था। भगवान् तो पैदल उछलकर ऊपर चढ़ गये। इन सबके पास रथ थे, हाथी घोड़े थे, अतः ऊपर न चढ़ सके। जरासन्ध जानता था, कि बिना सेना के दस बीस पचास आदमी पर्वत पर चढ़कर जायँगे तो वे

दोनों भाई उन्हें मार डालेंगे। सत्रह बार लड़ चुका था, अतः उनके बल पराक्रम को भली भाँति जानता था। इसीलिये उसने सोचा—"अब तो ये अपने आप फँस गये। मैं इस पहाड़ के चारों ओर अपनी सेना का घेरा डाल देता हूँ। जब भी ये दोनों भाई जायँगे तभी पकड़कर इनसे युद्ध करेंगे। कभी न कभी तो पहाड़ से नीचे उतरेंगे ही। फिर उसने सोचा—"संभव है ये लोग ऊपर ही बैठे रहें। इसलिये इस पर्वत के चारों ओर आग लगा दो। या तो आग के भय से नीचे उतरेंगे ही। न उतरेंगे तो उसी पर्वत पर भस्म हो जायँगे।" यही सोचकर उसने चारों ओर से बड़े-बड़े पेड़ कटवाकर बारूद भरवाकर आग लगा दी। एक कोने में प्रचण्ड अग्नि की लपटें उठने लगीं और धड़ाके होने लगे! भगवान् बलदेवजी के सहित उस इतने ऊँचे पर्वत पर से सबकी आँखें बचाकर कूद पड़े और रातोराता भागते रहे।

इस प्रकार जरासन्ध के आँखों में धूलि झोंककर दोनों अपनी नई राजधानी द्वारकापुरी में आ गये। द्वारका के चारों ओर तो समुद्र की खाई थी। उसमें तो किसी शत्रु का प्रवेश हो ही नहीं सकता था। अतः उस पुरी में आकर वे सुखपूर्वक रहने लगे।

इधर जरासन्ध ने देखा चारों ओर आग लगा दी गयी है, आग की लपटें वृक्षों को जलाती हुई पर्वत की चोटी तक पहुँच गयी है, किन्तु रामकृष्ण कहीं से उतरे नहीं। निश्चय ही वे दोनों जलकर भस्म हो गये। अच्छा हुआ बिना युद्ध के ही मेरे शत्रुओं का नाश हो गया।" यह सोचकर वह अपनी विजय मानता हुआ लौटकर मगध देश में आ गया और अपने को सम्राट मानकर पृथिवी का पालन करने लगा। 'मैंने श्रीकृष्ण को भी जीत लिया' यह सोचकर उसका अभिमान और भी अधिक बढ़ गया।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! द्वारकापुरी में रहकर

भगवान् ने कौन-कौन सी लीलायें कीं। हाँ उन्होंने विधिवत् विवाह किया या ऐसे ही फक्कड़ बने रहे। भगवान् ने कितने विवाह किये ? कितने बच्चे हुए और क्या क्या लीलायें कीं, ये सब बातें हमें सुनाइये। अब तक हमने वृन्दावन विहारी नन्द-नन्दन के तथा मथुरेश वसुदेवनन्दन के चरित्र सुने अब हम द्वार-केश भगवान् के चरित्र और सुनना चाहते हैं।"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज ! अब आप द्वारकेश भगवान् के ही चरित्र सुनें। भगवान् फक्कड़ नहीं रहे, उन्होंने तो इतने विवाह किये इतने विवाह किये, कि विवाहों की धूम मचा दी। विवाह से तो वह विरत रहता है, जो विवाह को बन्धन समझता है, अरसिक होता है। भगवान् तो बन्धनों को काटने वाले हैं। रसिक चूड़ामणि हैं परम रसिक हैं। इतने विवाह करके भी वे अलिप्त ही बने रहे। विवाह की तो उनकी पहिले से ही इच्छा थी, किन्तु बड़े भाई के क्वारे रहते छोटा भाई विवाह कैसे कर सकता है, इसीलिये अब तक मौन रहे। जब बलरामजी के साथ आनर्तनरेश महाराज रैवत ने अपनी पुत्री रेवती का विवाह ब्रह्माजी के कहने से कर दिया और बलभद्रजी ने उसे ठोक पीट-कर छोटी बना लिया, तो भगवान् को सन्तोष हुआ अब वे अपने विवाह की भी साँठ-गाँठ लगाने लगे।

बलभद्रजी का जिस प्रकार रेवतीजी से विवाह हुआ था, उस प्रसङ्ग को हम पीछे महाराज रैवत के प्रसङ्ग में वर्णन कर ही चुके हैं। अब भगवान् ने जैसे विवाह के समय शिशुपाल के पक्षपाती शाल्वादि अनेक राजाओं का मान मर्दन करके विदर्भनरेश महा-राज भीष्मक की कन्या श्रीरुक्मिणीजी का हरण किया और उससे राक्षस विधि से जैसे विवाह किया, उस कथा को मैं आगे वर्णन करूँगा। बात यह थी, कि श्रीरुक्मिणीजी तो श्रीलक्ष्मीजी की अंशावतार थीं। उन पर जन्म सिद्ध अधिकार तो

श्रीमन्नारायण का ही था। उसके पिता उसका विवाह शिशुपाल के साथ कर रहे थे। उसी समय विवाह में से ही भगवान उन्हें रथ-पर चढ़ाकर उसी प्रकार लेकर भाग आये जैसे देवताओं के देखते देखते स्वर्ग से गरुड़ जी अमृत को हर लाये थे।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! क्या भगवान् का विवाह वैसे कोई नहीं करता था, जिससे उन्हें राक्षस विधि से कन्या का हरण करना पड़ा। अमित पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र ने इतने बड़े बड़े राजाओं को परास्त करके कन्या का हरण कैसे किया? भगवान की और भी जो द्वारका की कथाएँ हों उनका भी वर्णन करें। भगवान् की कथाओं को श्रवण करके मेरी तृप्ति होती ही नहीं।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! आप धन्य हैं जो भगवान् के चरित्रों में आपका ऐसा अनुराग है। अब मैं आपसे भगवान् द्वारकाधीश के विवाह की ही कथा कहूँगा आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

परबत लीयो घेरि आगि चहुँ ओर लगाई।
जरि जावे मम शत्रु जरासँध मनहिं सिहाई॥
कूदे दोऊ बन्धु न भय कछु मनमहँ मान्यो।
कंच गिरितें गिरि गये न काहूने कछु जान्यो॥
जरासन्ध निजपुर गयो, शत्रु मरयो हिय मानिकें।
इत सुखतें यदुवर रहें, पुरी द्वारका आनिकें॥

श्रीरुक्मिणीजी

(१०८६)

राजाऽऽसीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान् ।
तस्य पञ्चाभवन् पुत्राः कन्यैका च वरानना ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ५२ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

पूछें शौनक—सूत ! द्वारका वृत्त बताओ ।
कै हरि किये विवाह भये कै पुत्र सुनाओ ॥
हँसि के बोले सूत-कहाँ तक व्याह गिनाऊँ ।
मुख्य भये जे आठ प्रथम कूँ प्रथम सुनाऊँ ॥
नृप विदर्भपति भीष्म के, पाँच पुत्र रुक्मी बड़ो ।
बहिन रुक्मिनी अंश श्री, जाके हित हरि तैं लड़्यो ॥

विवाह का सम्बन्ध पूर्व जन्मों के संस्कारों से है। कुमारी कन्या और कुमार वर के माता पिता कितनों के साथ मन चलाते हैं, कितनों से बातें करते हैं। यहाँ तक कि कई स्थानोंमें पक्की हो जाती हैं, लेन देन हो जाता है, बरात तक आ जाती है, पूजन

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विदर्भ देश के अधिपति एक भीष्मक नामक राजा थे। उनके पाँच पुत्र थे और एक अत्यन्त सुमुखी (रुक्मिणी नाम्नी) कन्या थी।"

तक हो जाता है, फिर भी विवाह नहीं होता। किसी दूसरे से ही हो जाता है। इसके विपरीत जिससे स्वप्न में भी संभावना नहीं होती उससे सहसा हो जाता है। जिससे जिसका पूर्वजन्म का संस्कार होता है, उसका उससे सम्बन्ध हो ही जाता है। मनुष्य लाख प्रयत्न करे सब विफल हो जाता है, जिससे नहीं होना होता, बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं होता। बहुत से सुन्दर सुन्दर फल आते हैं। उन्हें देखकर कितने लोग मन चलाते हैं, किन्तु जिसका जिस पर नाम लिखा रहता है उसे वही फल मिलता है। पत्रालय में कितने पत्र आते हैं, सब प्रायः एक-से ही होते हैं, किन्तु जिस पर जिसका ठीक पता लिखा है, उसे वही पत्र मिलता है। जो हमारे भाग्य का है, वह दूसरे को मिल ही नहीं सकता। जिस पर हमारा नाम नहीं लिखा है, वह हमें प्राप्त नहीं हो सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे भगवान् के विवाह का वृत्तान्त पूछा अब मैं आपको उसी को सुनाता हूँ। दक्षिण देश में विदर्भ (बरार) नामक एक बड़ा ही समृद्धिशाली देश है। जिस समय भगवान् द्वारका पुरी में विराज रहे थे, उस समय विदर्भ देश के अधिपति महाराज भीष्मक थे। महाराज भीष्मक बड़े ही धर्मात्मा और प्रजावत्सल थे। उन्होंने बहुत दिन तक भगवती की आराधना की थी, उनकी आराधना से प्रसन्न होकर साक्षात् लक्ष्मी देवी ने उन्हें वर दिया था—"मैं तुम्हारे यहाँ पुत्री बनकर उत्पन्न होऊँगी!" इसीलिए लक्ष्मीजी के अंश से उनके परम सुन्दरी सुशीला सर्वगुण सम्पन्न पुत्री हुई। महाराज ने उसका नाम रुक्मिणी रखा। महाराज भीष्मक के रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश, और रुक्ममाली ये पाँच पुत्र भी थे। इन सब में रुक्मी बड़ा था। रुक्मणी इन सब भाइयों से छोटी थी।

भगवती रुक्मिणी बाल्यकाल से ही बड़ी सुन्दर थीं, जो भी उन्हें देखता वही मुग्ध हो जाता। वे माता, पिता परिजन पुरजन तथा सुहृदों को सुख देती हुई अन्तःपुर में उसी प्रकार बढ़ने लगी जैसे सरोवर में कुमुदिनी अथवा सुन्दर उद्यान में सुवर्ण लता। शनैः शनैः उसने बाल्य, पौगण्ड और किशोरावस्थाओं को पार करके युवावस्था मे प्रवेश किया। इधर भगवान् भी सोच रहे थे मेरी शक्ति मेरे बिना चिन्तित है अतः उनके मन में भी विवाह का संकल्प उठा। नारदजी तो भगवान के संकल्प रूप ही हैं अतः उन्होंने सोचा—"भगवान् इतने बड़े हो गये हैं। अकेले अकेले अच्छे लगते नहीं यदि उनके युगल रूप में दर्शन हों तो बड़ा उत्तम हो। युगल उपासना बिना शक्ति के अधूरी है। यही सब सोच कर घूमते फिरते वे विदर्भाधिप महाराज भीष्मक की राजधानी कुंडिनपुर में आये। महाराज भीष्मक देवर्षि नारद को देखकर, अपने आसन से सहसा उठ खड़े हुए उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए देवर्षि का स्वागत किया, चरण वंदना की और विधिवत् पूजा की। अपने पुत्रों से प्रणाम कराया और उन सबके नाम भी बताये। इतने में ही अन्तःपुर से रुक्मणी को साथ लिये हुए महारानी भी आयीं और उन्होंने मुनि की चरण वन्दना की। राजा ने रुक्मणी को सम्बोधित करते हुए कहा—"बेटी! भगवान को प्रणाम करो।"

यह सुन कर लजाते हुए रुक्मिणी जी ने अपने वस्त्रों को समेट कर मुनि के चरणों में विधिवत् प्रणाम किया।

मुनि ने बड़ी गंभीर मुद्रा से भगवती रुक्मिणी को देखा। वे समझ गये ये ही जगज्जननी हैं। ये ही हमारे भगवान् की शक्ति हैं। ये ही जगत्पति की सहधर्मिणी हैं। यह सोचकर उन्होंने मन ही मन उनके चरणों में प्रणाम किया। ऊपर से वे बोले—"राजन्! यह आपकी पुत्री है?"

राजा ने कहा—"हाँ भगवन् ! आपकी ही बच्ची है।"

इस पर मुनि ने पूछा—"अभी आपने इसके विवाह फिवाह की कोई बात पक्की नहीं की।" चिन्तित होकर राजा ने कहा—"कहाँ करें महाराज ! कोई अनुरूप वर मिलता ही नहीं ?"

नारदजी ने कहा—"राजन् ! तुम्हारी कन्या के योग्यवर तो मैं जानता हूँ, यदि तुम मेरी बात मानो तो ?"

राजा ने उत्सुकता के साथ कहा—"भगवन् ! यह आप कैसी बात कह रहे हैं। आपकी तो आज्ञा इन्द्र भी नहीं टाल सकते। फिर आप तो मेरे कल्याण की ही बात बतायेंगे। इस कन्या के कारण मैं निरन्तर चिन्तित रहता हूँ।"

नारद जी ने कहा—"राजन ! तुम्हारी कन्या के योग्यवर तो भगवान् वासुदेव हैं। वे शोभा के धाम हैं, उनका वर्ण नूतन जल-धरों के समान श्याम है, वे परम-रूपवान् और गुणवान हैं। वे भुवन मोहन जगत् पति हैं। अधिक क्या कहूँ राजन् ! जैसे तुम्हारी पुत्री लक्ष्मी का अवतार है, वैसे ही वे नारायण के अवतार हैं। इसके सर्वथा योग्यवर तो मदन मोहन माधव ही हैं।"

महाराज भीष्मक ने कहा—"भगवन् ! द्वारका नाथ भगवान् वासुदेव के सौन्दर्य की ख्याति मैंने भी सुनी है, ऋषियों के मुख से मैंने यह भी सुना है, वे विष्णु भगवान् के अवतार हैं। वे मेरी कन्या को क्यों स्वीकार करने लगे ?"

नारदजी ने कहा—"यह मेरे ऊपर रहा। भगवान को मैं सहमत कर लूँगा।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"तब फिर भगवान्। पूछना ही क्या है। आप उन्हें इसके लिये सहमत कर लें। मैं तो इसमें अपना बड़ा सौभाग्य समझूँगा। मेरी कन्या को यदि भगवान् वासुदेव स्वीकार करलें।"

नारदजी ने कहा—"अच्छी बात है, राजन्! मैं अभी द्वारकापुरी जाता हूँ, भगवान् की अनुमति लाता हूँ।" यह कह कर राजा के द्वारा सम्मानित और पूजित होकर देवर्षि नारद चले गये।"

इधर अपनी माताके पीछे बैठी हुई रुक्मिणी जी सब बात सुन रही थीं। उन्हें ऐसा लगा मानो किसी ने मेरे शून्य हृदय पर आकर अधिकार कर लिया हो, कोई मेरे अन्तःकरण में घुस गया हो। श्री नारद जी के मुख से भगवान् का जैसा रूप सुना था, वह उनके मन में बैठ गया। वे अहर्निशि उसी रूप का चिन्तन करने लगीं। सोते जागते, उठते बैठते उन्हें वही रूप दिखाई देने लगा। उन्होंने श्यामसुन्दर के लिये आत्म समर्पण कर दिया। नारदजी के सम्मुख ही राजा ने स्वीकार किया था और रानी ने भी उनकी बात का अनुमोदन किया था, अतः उन्हें निश्चय हो गया कि द्वारकाधीश श्यामसुन्दर ही मेरा पाणिग्रहण करेंगे। वे ही मुझे ग्रहण करके अपनावेंगे। वे मन ही मन नित्य श्यामसुन्दर का चिन्तन करतीं। और भाँति भाँति के मनोरथ किया करतीं।

इधर नारदजी वीणा बजाते, हरि गुन गाते द्वारकापुरी में पहुँचे। नारदजी को देखकर भगवान् सिंहासन से उठ पड़े। विधिवत् उनकी पूजा करके बोले—"कहो नारदजी! कहाँ कहाँ से पधारे?"

नारदजी ने कहा—"कहीं नहीं महाराज आपको अकेले देखकर चित्त भरता नहीं हम तो युगल रूप के उपासक हैं आपको शक्ति सहित देखने को उत्सुक हैं। इसलिये आपके विवाह की बात ठीक ठाक करके आये हैं?"

आश्चर्य की मुद्रा प्रकट करते हुए भगवान बोले—"नारदजी! भला बताइये ऐसा कौन आँख का अन्धा होगा जो हमारा विवाह

करेगा। हम लोग देश छोड़ कर डर के कारण यहाँ समुद्र में भाग कर आये हैं। न हम पर राज न पाट। कौन हमें अपनी कन्या देगा। बलदेवजी को तो जैसे तैसे सत्ययुग की कोई बहुत लम्बी चौड़ी बहू मिल भी गई। उन्होंने उसे हल मूसल से ठोक पीट कर ठीक ठाक कर लिया। अब हमारा कौन विवाह करेगा।"

नारदजी ने कहा—"अजी, महाराज! किसी दूसरे के सामने ऐसी बनावटी बातें किया करो। मैं तो तुम्हारी सब महिमा जानता हूँ। मैं तो आपकी सगाई पक्की भी कर आया। बड़ी ही सुन्दरी सुकुमारी राजकुमारी हैं। वह आपके अनुकूल है और आप उसके अनुकूल हैं। वह यदि सोने की अंगूठी हैं तो आप नीलम के नग हैं। वह चन्द्रिका है तो आप चन्द्र हैं। वह प्रभा है तो आप सूर्य हैं। अधिक क्या कहूँ वह आपके अनुरूप ही है। केवल आपकी स्वीकृति की आवश्यकता है।"

भगवान् ने पूछा—"सुने भी तो सही, उसका नाम गोत्र पता ठिकाना।"

नारदजी ने कहा—"विदर्भाधिप महाराज भीष्मक की वह एक मात्र कन्या रुक्मिणी है। अपने पिता की वह अकेली ही पुत्री है। पाँच उसके भाई हैं। उसकी सुन्दरता के विषय में तो मैं क्या कहूँ, आप यही समझें कि वह साक्षात् मूर्तिमती सुन्दरता ही है। उसके पिता से मैं पक्की कर आया हूँ।

भगवान् अपनी प्रसन्नता को मन ही मन दबाते हुए ऊपर से भोले भाले बन कर बोले—"जब आप पक्की कर ही आये हैं, तो फिर भला मैं आपकी बात को कैसे टाल सकता हूँ। जब आप उसे रूप, शील, बुद्धि, उदारता, सुलक्षण आदि गुणों की खान बताते हैं, तो हमें इसमें क्या आपत्ति होनी है। हम भी आपसे प्रतिज्ञा करते हैं, कि हम विवाह करेंगे, तो रुक्मिणी के साथ करेंगे।"

यह सुनकर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने समझ लिया कि अब तो रुक्मिणीजी का विवाह भगवान के साथ हो ही गया, क्योंकि भगवान सत्य प्रतिज्ञ हैं। उन्होंने जो प्रतिज्ञा करली है उसे वे अवश्य पूरा करेंगे।" यह सोचकर, वे पुनः दौड़े दौड़े भीष्मक जी के समीप गये और कहा—"राजन्! आपका मनोरथ पूर्ण हुआ भगवान् ने आपकी पुत्री के सम्बन्ध को सहर्ष स्वीकार कर लिया।"

यह सुनकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। रुक्मिणीजी अब जो बाहर से अतिथि ब्राह्मण आते उनसे ही किसी न किसी प्रकार से भगवान के सम्बन्ध में पूछतीं। जो भी आता वही भगवान् के रूप, बलवीर्य, गुण और महान वैभव की प्रशंसा करता। भगवान् के गुणानुवादों को सुन सुन कर उनका अन्तःकरण खिल उठता और चित्त चाहता सदा उन्हीं की कथा सुनते रहें।

राजा के जितने सुहृद् बन्धु बान्धव थे उन सबकी भी सम्मति थी, महारानी भी चाहती थीं कि भगवान् ही मेरी पुत्री के पति हों, किन्तु महाराज का जो सबसे बड़ा लड़का रुक्मी था, वह मन ही मन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से द्वेष रखता था। राजा को इस बात का पता नहीं था। एक दिन राजा ने अपने उस बड़े पुत्र को बुला कर कहा—"बेटा! देखो। रुक्मिणी अब बड़ी हो गई है, उसका विवाह अति शीघ्र हो जाना चाहिये। उसकी मुझे सदा चिन्ता बनी रहती है। इसका कहीं सम्बन्ध पक्का हो जाना चाहिए।"

रुक्मी ने पूछा—"आपने कहीं बात चीत की है पिताजी!"

राजा ने कहा—"भैया! बातचीत तो मैंने कहीं की नहीं, किन्तु नारदजी के मुख से मैंने भगवान् वासुदेव की बड़ी प्रशंसा सुनी है, मेरी इच्छा है उन्हीं के साथ रुक्मिणी का विवाह कर दें। तेरी इसमें क्या सम्मति है।"

यह सुनकर रुक्मीका तो अन्तःकरण जल भुन गया। उसने सोचा हाय! एक ग्वारिया को मुझे बहनोई कहना पड़ेगा। वह ऊपर से नम्रता दिखाते हुए बोला—"पिताजी! आप बड़े हैं, अब आपके सम्मुख मैं क्या कहूँ, किन्तु आपको अपना पद प्रतिष्ठा का भी तो ध्यान रखना चाहिये। हम मूर्धाभिषिक्त राजा हैं। हमें राजाओं से ही सम्बन्ध करना चाहिये कृष्ण कोई राजा नहीं है। यदुवंशियों को महाराज ययातिका शाप है, उन्हें राजा होने तक का अधिकार नहीं। वे क्षत्रियों से बहिष्कृत माने जाते हैं। फिर कृष्णकी तो जातिका भी पता नहीं कोई उन्हें नन्दगोप का पुत्र कहते हैं कोई वसुदेवका पुत्र। ग्यारह वर्षों तक तो वह अहीरों में रह कर गौएँ चराता रहा। ग्वारिये के साथ अपनी बहिन का सम्बन्ध मैं कदापि न करने दूँगा।"

राजा ने सरलता से कहा—"बेटा! वे सर्वज्ञ हैं, भगवान् हैं। सब ऋषि मुनि उन्हें अवतार बताते हैं। उनके सम्बन्ध में ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिये।"

रुक्मी ने क्रुद्ध होकर कहा—"पिताजी! आप उन्हें अवतार मानिये। मैं तो मानता नहीं। अवतार ऐसे ही होते हैं। मैं जरासन्ध के डर से अपने पैतृक नगर को छोड़ कर यहाँ समुद्र में भाग आये। ऐसे कायर भगोड़ों को आप अवतार बताते हैं। मैं आप से स्पष्ट कहता हूँ, यदि आपने रुक्मिणी का विवाह कृष्ण के साथ किया तो मैं विष खाकर मर जाऊँगा। मैं उस ग्वारिया को कभी भी बहनोई न बनने दूँगा।"

राजा ने सोचा—"यह तो घर में ही कलह होना चाहता है। रुक्मी बड़ा लड़का है, वही युवराज है इसकी बात न मानेंगे तो विरोध बढ़ेगा, यही सब सोच समझ कर बोले—"अच्छा, भैया? करने कराने वाला तो तू ही है मैं तो पके आम की भाँति हूँ। पके आमका पता नहीं कब पेड़ से टपक पड़े

तुझे किसी मूर्धाभिषिक्त राजा के कुमार से ही करनी है तो तू ही जाकर कहीं ठीक कर ले। मैंने श्रीकृष्णचन्द्र से बातें थोड़े ही की हैं। केवल मन में सोचा था। तेरी सम्मति नहीं, तो जाने दे। तू जिसके साथ चाहे पक्की कर ले।"

रुक्मी ने कहा—"पिताजी! मेरी सम्मति तो यह है, कि चेदिदेश के महाराजा दमघोष के पुत्र कुमार शिशुपाल रुक्मिणी के सर्वथा योग्य हैं। वे मूर्धाभिषिक्त महाराजा भी हैं। सम्राट जरासंध के मित्र हैं। पृथिवी में, उनके सदृश बली दूसरा और कोई राजा न हीं। यह सम्बन्ध सर्वथा हमारे अनुरूप है।"

महाराज भीष्मक ने कहा—"अब भैया! मैंने कह तो दिया, तेरी जो इच्छा हो सो कर। मैं तेरे किसी काम में हस्तक्षेप न करूँगा। तू जाकर शिशुपाल से सम्बन्ध पक्का कर ले।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर रुक्मी चेदिदेश में गया और शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का विवाहका पक्का कर आया। सगाई पक्की हो गई। लगन चढ़ गई विवाह की तिथि निश्चित हो गई। जब यह समाचार रुक्मिणीजी ने सुना तो दुःख का ठिकाना नहीं रहा। वे मूर्छित होकर गिर पड़ीं और किंकर्तव्य विमूढ़ा बनकर अपना कुछ भी कर्तव्य निश्चित न कर सकीं।"

छप्पय

नारदादि मुनि आइ कृष्णकी करी बड़ाई।
सुनत रुक्मिनी हृदय माँहिं हरि मूर्ति समाई॥
इत हरि निश्चय कर्यो रुक्मिनीकूँ अपनाऊँ।
करिके विविध उपाय प्रियाकूं घर लै आऊँ॥
मातु पिता सहमत सबहिं, हरि बरतैं जग होहि यश।
रुक्मी ने शिशुपाल सँग, करी सगाई द्वेष बश॥

श्रीरुक्मिणीजी का भगवान् को संदेश

[१०८७]

तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम् ।
विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित् कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम् ॥*

(श्री० भा० १० स्क० ५२ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

सुनत रुक्मिनी भई दुखित अतिशय घबराई ।
बुलवाये वर विप्र वृद्ध निज विपति सुनाई ॥
प्रेम पत्रिका लिखी विप्रके करमहँ दीन्हीं ।
परि चरननिमें विनय विप्रहँ बहु विधि कीन्हीं ॥
चले द्वारका द्विज तुरत, प्रभु पथको सब श्रम हरयो ।
निरखि विप्रकूँ मुदित मन, हे हरिने स्वागत करयो ॥

जब जीव सब ओर से निराश हो जाता है, तो उस निराशामें उसे एक आशाका आलोक दिखाई पड़ता । क्यों न मैं हरिकी शरण जाऊँ. जो असम्भव समझकर घबरा जाते हैं, वे विपत्ति के फंदे में फँस जाते हैं । जो 'भगवान् के लिये असंभव

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने बड़े भाई रुक्मी निश्चयको जानकर श्यामनयना विदर्भनन्दिनी श्रीरुक्मिणीजी खिन्न हुईं । फिर कुछ सोच समझकर एक अत्यन्त ब्राह्मण को अत्यन्त शीघ्र भगवान् के समीप द्वारका को

कुछ नहीं उनके लिये सभी संभव है।" इस विश्वास के होते ही, वे भगवान की शरण में जाने पर तुरन्त आपत्ति विपत्ति से छूट जाते है। भगवान् का विपत्ति में स्मरण हो आवे और उन्हें अपनी विपत्ति सुनादे, तो वह उस विपत्ति के दल दल से अवश्य ही पार हो जायगा, प्राणिमात्र के सुहृद श्यामसुन्दर अपने भक्तों के लिये सम्भव असम्भव कुछ भी नहीं देखते। वे उनकी विनय पर सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! भगवती रुक्मिणीजी ने जब सखियों से यह समाचार सुना कि उनका विवाह चेदिराज शिशुपाल के साथ होगा, तो उसके दुःख का ठिकाना नहीं रहा। वह मन ही मन दुखी हुई। उसे विदित हुआ कि माता पिता मेरे विवाह की सब बातें पक्की कर चुके हैं। उस पर तैल हल्दी भी चढ़ने लगी है। दो चार दिन में शिशुपाल बरात लेकर कुंडिन पुर आ जायगा। हाय, मैं तो अपने हृदय को श्यामसुन्दर को अर्पितकर चुकी हूँ। मेरे अन्तःकरण में तो उनकी मनमोहिनी मूर्तिने घर कर लिया है. मैंने तो अपने तन मनको मनमोहन को समर्पित कर दिया है अब इसे शिशुपाल आदि कोई पर पुरुष स्पर्श कैसे कर सकता है। अब मुझे क्या करना चाहिये। मैं कहीं नदी कूप में गिरकर मर जाऊँ, या विष खालूँ अथवा कंठ में रस्सी बाँधकर फाँसी लगालूँ मेरे मृतक शरीर को फिर चाहे कोई स्पर्श करले।"

इस प्रकार अत्यन्त दुखी होकर भगवती रुक्मिणी सोचने लगीं। सोचते सोचते उन्होंने निर्णय किया—"अभी से आत्म हत्या करने से क्या लाभ! मैं श्यामसुन्दर के समीप अपनी प्रार्थना भेजूँ, वे सर्वज्ञ हैं, सर्व समर्थ हैं, वे चाहेंगे, तो मेरा उद्धार कर सकते हैं। यदि पाणि ग्रहण के पूर्व प्राणधन आगये और मुझे उन्होंने किसी भी प्रकार अपना लिया तब तो उत्तम ही है,

अन्यथा मैं किसी भी प्रकार प्राणों का परित्याग कर दूँगी। जीवितावस्था में अपने कर को किसी दूसरे के कर में न दूँगी।" यही सोच समझकर उन्होंने अपने एक अत्यन्त ही विश्वासपात्र वृद्ध ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मणों की तो कहीं रोक टोक थी ही नहीं। उनकी तो सर्वत्र अप्रत्याहत गति थी। ब्राह्मणदेव राजकुमारी का बुलावा सुनकर वृद्ध दासी के साथ अन्तःपुर में गये। राजकुमारी रुक्मिणी देवी ने एकान्त में वृद्ध ब्राह्मण की पूजा की और अपने नेत्रों के जल से उनके चरणों को भिगो दिया।

वृद्ध ब्राह्मण ने प्यार के सहित कहा—"बेटी! तुम इतनी दुखी क्यों हो? तुम्हें कौन-सा कष्ट है? अपनी अधीरता के कारण को मुझे बताओ तुम क्यों इस प्रकार फूट फूटकर रो रही हो, क्यों इतनी विकल हो रही हो?"

रुक्मिणी जी ने कहा—"देव! मैं दुःख सागर में डूब रही हूँ सब ओर से निराश हो रही हूँ। केवल एक मात्र आपका ही सहारा है। आप यदि मुझे न उबारेंगे, तो मैं निश्चय ही आत्म-हत्या कर लूँगी।"

वृद्ध ने कहा—"पुत्री! तुम अपने दुःख का कारण मुझे बताओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अपनी शक्ति के अनुसार प्राणों का प्रण लगाकर तेरे कार्य को करूँगा। मुझसे जो हो सकेगा, उसे करने में मैं कभी भी न चूकूँगा।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"पिताजी! मुझे कहने में लज्जा लगती है, किन्तु बिना कहे काम भी नहीं चलता अतः मैं संकोच छोड़कर कहती ही हूँ मैंने अपना अन्तःकरण द्वारकानाथ भगवान्

श्यामसुन्दर को समर्पित कर दिया है, किन्तु मेरे माता पिता मेरे अभिप्राय को बिना जाने ही मेरा विवाह चेदिदेश के राजा से कर रहे हैं आप मेरे इस पत्र को द्वारकानाथ के चरणों में पहुँचा दें, फिर वे जो चाहें सो करें। यद्यपि वे सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं, फिर भी भक्त का कर्तव्य है अपने स्वामी के सम्मुख विज्ञापन कर दे। उन्हें अपनी विनय सुना दे।"

चिन्तित होकर ब्राह्मण ने कहा—"बेटी! यह तो कठिन बात है। विवाह के अब दो ही चार दिन तो रह गये हैं। मैं बूढ़ा हूँ, इतनी दूर पैदल पहुँच भी नहीं सकता। फिर मैं समय से पूर्व देश कैसे पहुँचा सकता हूँ।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"आप उनकी ओर चल पड़े। अपने समीप पहुँचाने का भार उनके ऊपर है। जीव कर्म ही कर सकता है, उसका फल देनेवाले तो वे ही हैं। संभव असंभव तो हम लोगों के लिये है, उनके लिये तो कुछ असंभव है ही नहीं।"

ब्राह्मण ने कहा—"अच्छी बात है, प्रयत्न करना हमारा काम है उसका फल भगवान् के हाथ में है। मैं अपने प्रयत्न में शिथिलता न करूँगा। मुझे वहाँ जाकर क्या करना होगा?"

रुक्मिणीजी ने कहा—"आप इस मेरी प्रेमपाती को उनके चरणों में समर्पित कर दें और वे आपसे इसे पढ़ने को कहें, तो विस्तारके सहित व्याख्या करके सुना दें। मेरी सब स्थिति भी उन्हें समझा दें। फिर उन्हें जैसा उचित जान पड़ेगा वैसा वे करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवती रुक्मिणी देवी की यह बात सुनकर और उनसे पत्र लेकर वृद्ध ब्राह्मण द्वारका की ओर चल दिये। वृद्ध शरीर रास्ता भी ऊबड़ खाबड़ लठिया टेकते-टेकते कुछ दूर चले। आगे चलकर थक गये। सामने एक अत्यन्त सुन्दर वाटिका देखी वहाँ उन्होंने जल पिया। एक सघन वृक्ष की छाया में वे लेट गये और सो गये।

इधर सर्वज्ञ भगवान् ने सोचा—"इस प्रकार यह ब्राह्मण चलेगा तब तो यह वर्ष भर में भी द्वारका नहीं पहुँच सकता। मेरी प्रिया को एक एक पल भारी हो रहा है। यह सोचकर उन्होंने योगमाया को आज्ञा दी। भगवान की आज्ञा से योगमाया क्षण भर में ही उन्हें सोते हुए ही उठाकर द्वारका ले आई। वहाँ उसने द्वारका के एक सुन्दर उपवन मे उन्हें ज्यों का त्यों सुला दिया।

कुछ काल में जब वृद्ध ब्राह्मण आँखों को मलते हुए उठे, तो सामने उन्होंने अगाध समुद्र देखा उसके भीतर सुवर्ण की बनी द्वारकापुरी देखी और अपने को द्वारका के ही एक उपवन में पाया। लोगों से उन्होंने पूछा—"यह कौन सा नगर है।"

लोगों ने बताया—"यह द्वारकापुरी है।"

अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करते हुए ब्राह्मण ने कहा—"अरे, मैं तो कुण्डिनपुर के उपवन में सो रहा था। सोते ही सोते द्वारका कैसे आ गया। यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।"

लोगों ने कहा—"आप सोते सोते आये हैं या बैठे बैठे इसे तो आप जानें, वैसे है यह द्वारकापुरी ही। इसमें कोई संदेह की बात नहीं।"

ब्राह्मण ने विस्मय के साथ कहा—"लगती तो मुझे भी द्वारकापुरी ही है, किन्तु मैं इतनी शीघ्रता से यहाँ कैसे आ गया। अस्तु कोई बात नहीं भगवान् की माया है। अच्छा, आप लोग यह बतावें कि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी का भवन कहाँ है।"

लोगों ने हँसते हुए कहा—"विप्रवर! आप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के उपवन में ही आराम कर रहे हैं। यह सामने ही सुवर्ण का बना भगवान का महल है। भगवान ब्रह्मण्यदेव हैं, उनके यहाँ ब्राह्मणों के लिये रोक टोक नहीं। आप प्रतिहारी से कह दें, वह आपको भगवान् के समीप ले जायगा।"

यह सुनकर वृद्ध ब्राह्मण अपने टाट कमंडलु उठाकर चल दिया। द्वारपालों ने ज्यों ही वृद्ध ब्राह्मण को देखा, त्यों ही वे सबके सब उठकर खड़े हो गये और उनका अभिप्राय जानकर बड़े आदर के सहित उन्हें राजभवन के भीतर ले गये। भीतर जाकर ब्राह्मण ने देखा आदिपुरुष भगवान् वासुदेव एक रत्नों से मंडित सुवर्णमय सिंहासन पर विराजमान हैं। ब्रह्मण्यदेव भगवान ने ज्यों ही वृद्ध ब्राह्मण को अपनी ओर आते देखा, त्यों ही वे सिंहासन से उठकर खड़े हो गये। बड़े आदर से उनका स्वागत सत्कार किया, एक उत्तम आसन पर उन्हें बिठाया। फिर सेवकों से शीघ्र ही पूजा की समस्त सामग्री मँगाई। जैसे देवेन्द्र बृहस्पतिजी की पूजा करते हैं, भक्त भगवान् की पूजा करते हैं वैसे ही भगवान् ने

उस ससुराल के वृद्धपुरोहित की पूजा की। जो पत्नी का पूज्य है वह अपना भी पूजनीय है। सुन्दर सुवासित जल से स्नानादि कराके विधिवत् पूजन करके उन्हें सुन्दर स्वादिष्ट लुच लुच कुरकुरे भुरभुरे छप्पन प्रकार के भोजन कराये। जब ब्राह्मणदेवता भोजनों से निवृत्त हो गये, तो भगवान् ने उन्हें सुन्दर शैया पर सुला दिया और आप उनके चरणों के समीप बैठ कर शनैः शनैः अपने कमल सदृश कोमल करों से चरणों को दबाने लगे। भगवान् को तो चटपटी लगी हुई थी, अतः एकान्त अवसर देखकर वे पूछने लगे—"विप्रवर! आप कुण्डिनपुर से पधारे हैं, यह बात तो मैंने सुन ली है। अब आप प्रथम अपनी कुशल बतावें। आपका चित्त सदा सन्तुष्ट रहता है न? क्योंकि सन्तोष ही ब्राह्मण का परम धन है। आपका जो पिता पितामह तथा प्रपितामह आदि से चला आया हुआ जो धर्म है उसका आपके द्वारा भली-भाँति निर्वाह होता है न? स्वधर्म पालन करने में आपको किसी प्रकार की कठिनता तो प्रतीत नहीं होती? रुपया पैसा ब्राह्मण का धन नहीं है। सन्तोष ही उसका परम धन है। यदि ब्राह्मण यदृच्छालाभ सन्तुष्ट रहकर अपने धर्म से पतित नहीं होता, तो इसीसे उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। भली-भाँति रक्षित धर्म रक्षा करने वाले की सदा रक्षा किया करता है। सुख सदा सन्तोष में है। यदि मन में सन्तोष है, तो नीवारों से निर्विवाह करने में भी बड़ा सुख मिलता है, यदि मन में संतोष नहीं तो इन्द्रपदवी पाकर भी सदा अशान्त बनी रहती है। वह सुख की आशा से एक लोक से दूसरे लोक में भटकता रहता है। संतोषी सदा शान्त भाव से रहता हुआ संताप रहित तथा सुखी होता है। जो आत्म लाभ में सन्तुष्ट हैं, साधु स्वभाव के हैं, समस्त प्राणियों के परम सुहृद् हैं, अहंकारहीन हैं तथा शान्त स्वभाव के हैं उन ब्राह्मणों में श्रद्धासहित सिर से प्रणाम करता हूँ।"

ब्राह्मण बोले—"प्रभो ! आप ऐसा क्यों न कहेंगे। आप तो ब्रह्मण्यदेव हैं। स्वयं जगद् पूज्य होकर भी जो आप ब्राह्मणों को इतना सम्मान देते हैं यह आपकी महत्ता है। आपके भक्त महाराज भीष्मक के राज्य में रहकर हम यथा शक्ति धर्म का जैसा हो सकता है पालन करते हैं।

इस पर भगवान ने कहा—"अच्छा, हाँ, तो ब्रह्मन् ! आप जिन के राज्य मे निवास करते हैं, वे राजा सपरिवार कुशल पूर्वक तो हैं न ? राजा की ओर से आप लोगों को असुविधा तो नहीं है। देखिये, विप्रदेव जिस राजा के राज्य में प्रजा का भली भाँति पालन होता है, जिस राजा के शासन से प्रजा के लोग सन्तुष्ट रहते हैं, वह राजा मुझे अत्यन्त ही प्रिय है।"

ब्राह्मण ने कहा—प्रभो ! जो आपके भक्त हैं, वे सर्वत्र आपको ही देखते हैं प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हैं विदर्भ नरेश तो आपके अनन्य भक्त हैं, उनके राज्य में प्रजा के लोगों को तथा साधु ब्राह्मणों को असुविधा कैसे हो सकती है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, ये सब बातें तो पीछे होंगी प्रथम आप अपने आने का मुख्य कारण बताइये। किस कारण से आपने मेरे ऊपर कृपा की ?"

ब्राह्मण ने कहा—"वैसे ही भगवन् ! आपके दर्शनार्थ चला आया।"

भगवान बोले—अजी, महाराज ! छिपाते क्यों हो ? जो यथार्थ बात हो उसे बता दो। इतने बड़े समुद्र की खाई को पार करके केवल आप दर्शनों के ही लिये नहीं आये होंगे। कुछ न कुछ तो कार्य अवश्य ही होगा, जो कार्य हो आप बिना संकोच के बताइये। यदि वह कोई गोपनीय भी बात हो, तो उसे स्पष्ट कह दें यहाँ और कोई है भी नहीं। आप और हम दोनों अकेले ही हैं। आप आज्ञा करें। मैं आपकी कौन सी सेवा करूँ ?"

यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा—"महाराज ! यथार्थ बात तो यह है, कि मैं कुण्डनपुर नरेश महाराज भीष्मक की कन्या रुक्मिणी का भेजा हुआ आपकी सेवा में आया हूँ। उसने अपना सर्वस्व मन ही मन आपके चरणों में अर्पण कर दिया है। राजा की तो इच्छा थी, वह आपके साथ उसका विवाह करते, किन्तु राजा का एक बड़ा लड़का रुक्मी अत्यन्त खल प्रकृति का है, वह आप से द्वेष करता है। अतः उसने चेदिराज शिशुपाल के साथ अपनी बहिन का विवाह करना निश्चय कर लिया है। बड़ा पुत्र समझकर राजा रानी भी उसके कार्य में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझते, किन्तु राजकुमारी आपके अतिरिक्त किसी अन्य को स्पर्श करना भी नहीं चाहती। अतः उसने आपके पास मुझे भेजा है।"

भगवान् ने कहा—"वैसे ही भेजा है या कोई चिट्ठी पत्री भी दी है ?"

ब्राह्मण ने कहा—'हाँ महाराज उसने अपने हाथों से लिखकर उस पर कुंकुम छिड़ककर पाती पठाई है, लीजिये आप इसे पढ़ लें।"

भगवान् ने सोचा—"पीरी चिट्ठी और लगन पत्री को तो ब्राह्मण ही खोलता है, ब्राह्मण ही पढ़कर सुनाता है। वर अपने विवाह की पीरी चिट्ठी को स्वयं थोड़े ही पढ़ता है।" यही सब सोच समझकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है महाराज ! आप ही इस पाती को पढ़कर मुझे सुनावें। इसकी व्याख्या भी साथ ही करते जायें जिससे मैं भली प्रकार समझ जाऊँ। समय का संकोच न करें। प्रेम की बातों को बार बार विस्तार पूर्वक सुनने से बड़ा सुख मिलता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् की आज्ञा पाकर

ब्राह्मण देवता उठकर बैठ गये और वे पत्री को खोल कर खाँस मठार कर गम्भीरता के साथ पत्र पढ़ने को प्रस्तुत हुए। अब जिस प्रकार ब्राह्मण देवता रुक्मिणीजी की पाती को विस्तार पूर्वक सुनावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

करि पूजा पकवान प्रेम तैं बिबिध खवाये।
पुनि शैया अति सुखद बिछाई विप्र सुवाये॥
लगे पलोटन चरन कुशल पूछत प्रभु पुनि पुनि।
बैदर्भी की कथा भये प्रमुदित यदुवर सुनि॥
पीरी पाती निरखिकें, अति प्रसन्न मन महँ भये।
वृद्ध विप्र बाँचन लगे, प्रेम मग्न हरि ह्वै गये॥

श्रीरुक्मिणीजी का प्रेम पत्र

(१०८८)

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभम्,
त्वय्यच्युतोविशति चित्तमपत्रपं मे ॥❀

(श्री भा० १० स्क ५२ अ० ३७ श्लो०

छप्पय

लिखै रुक्मिनी—"दयित ! भयो मम मन मतवारो ।
सुनि गुन अनुपम रूप लिख्यो हिय चित्र तिहारो ॥
हे हरि ! अशरन शरन आइ दासी अपनाओ ।
खल शृगाल शिशुपाल हरे नरसिंह छुड़ाओ ॥
यदि आवें नहिं आप तो, विष खाऊँ मरि जाउँगी ।
तुम बिनु चाहे मदन हू, आवे नहिं अपनाउँगी ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने पत्र में श्रीरुक्मिणीजी श्रीहरि के लिये लिखती हैं—"हे भुवन सुन्दर ! आपके गुणों की प्रशंसा सुनकर जो श्रवण करने वालों के कर्ण कुहरों में प्रविष्ट होकर उनके शारीरिक सन्तापों को शान्त करते हैं तथा आपके उस रूप की प्रशंसा सुनकर जो दृष्टि वालों की दृष्टि के लिये अखिलार्थ लाभप्रद है मेरा निर्लज्ज चित्त आप में ही लग गया है । अब मेरा चित्त किसी और का चिन्तन ही नहीं करता मैं क्या करूँ ।"

प्रेम की बातें मुख से नहीं कही जातीं, सम्मुख कहने में संकोच होता है। उन्हें या तो नेत्रों से या अन्य संकेतों से प्रकट करते हैं अथवा लिखकर व्यक्त करते हैं। लिखते समय प्रियतम की मनोमयी मूर्ति आँखों के सम्मुख बनी रहती है, भावमयी मूर्ति से बातें करने में संकोच नहीं होता, अतः हम लेखनी द्वारा लिखकर अपने भावों को निःसंकोच होकर व्यक्त कर देते हैं। उसी को जब प्रियतम सुनते हैं तो वे भी प्रेम में निमग्न हो जाते हैं। लेख अपने हृदय का चित्र है। हृदय साक्षात् रूप से खोलकर तो दिखाया नहीं जा सकता। लेख में उसकी छाया उतर आती है। उस छाया को देखकर ही हृदय का दर्शन हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् वासुदेवजी ने कुण्डिनपुर के वृद्ध ब्राह्मण से रुक्मिणीजी के पत्र को पढ़कर सुनाने की प्रार्थना की, तब वे विप्रवर मृदुल तकिये के सहारे उठकर बैठ गये और कहने लगे—"भगवन्! मैं व्याख्या सहित इस पत्र को सुनाऊँगा, जब तक मैं पूरे पत्र को न सुना दूँ, तब तक आप बीच में बोलें नहीं। मुझे टोकें नहीं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है आप सुनाइये। मैं आपकी राजकुमारी के पत्र को ध्यान पूर्वक श्रवण करूँगा।"

यह सुनकर वृद्ध ब्राह्मण ने कलावे से बँधी उस प्रेम पाती को यत्न से खोला, जिससे तार टूटने न पावे। खोलकर वे सावधानी के साथ खाँस मठारकर पढ़ने लगे।

ब्राह्मण कहने लगे—"प्रभो! राजकुमारी रुक्मिणी ने आपको सम्बोधन करके लिखा है—'हे अच्युत! आप समस्त सद्गुणों की खान हैं। जितने भी संसार में सद्गुण हैं, वे सब आप में पूर्णरीत्या विद्यमान हैं। आपके उन गुणों में इतना आकर्षण है, कि वे श्रवण करने वालों के कर्णकुहरों द्वारा हृदय में सुगमता से प्रविष्ट हो जाते हैं। हृदय में पहुँचकर वे जैसे सूर्य उदित होकर

अन्धकार का नाश करते हैं, उसी प्रकार आपके गुण सर्व प्रथम शारीरिक और मानसिक सन्तापों को शान्त कर देते हैं। हृदयमें जो सांसारिक विषयों के प्रति आदर भाव था, वह नष्ट हो जाता है और चित्त ऐसा उतावला बन जाता है, कि सदा आपके गुण सुनने को ही व्यग्र बना रहता है। जिन बड़भागियों को आपके त्रिभुवन सुन्दर स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं उनके नेत्र सफल बन जाते हैं नेत्र पाने का फल उन्हें पूर्णरीत्या प्राप्त हो जाता है। उनके नयन कृतार्थ हो जाते हैं फिर उन्हें देखने को कुछ अवशेष रह ही नहीं जाता।

मैंने अभी तक श्रवणों द्वारा आपके गुणों को श्रवण ही किया है, नयनों को अभी दर्शनों का देव दुर्लभ सुयोग प्राप्त नहीं हुआ है। सुनकर ही मेरा चित्त आपकी ओर खिंच गया है और उसने दृढ़ निश्चयकर लिया है, कि त्रिभुवन में आपसे सुन्दर कोई है ही नहीं।

आप कह सकते हैं, कि त्रिभुवन में तो एकसे एक सुन्दर पुरुष पड़े हैं। पड़े रहें, मेरे मन में तो आपकी ही मनोमयी मूर्ति समागई है। वह किसी भी प्रकार से निकल नहीं सकती। जिसके चित्तको जो वस्तु पूर्णरीत्या अपनी ओर आकिर्षित कर लेती है, उसके लिये उससे बढ़कर सुन्दर संसार में कोई है ही नहीं। आप कहें—"तुम कुलवती युवती हो, राजकुमारी हो, उत्तम कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है। कुमारी कन्याओं को किसी अपरिचित पुरुष से ऐसी बातें कहना बड़ी लज्जा की बात है।" सो, हे अच्युत! मैं इस बात को जानती हूँ, किन्तु करूँ क्या, इसमें मेरा कोई दोष नहीं। यदि दोष है तो आपके रूप और गुणोंका है। उन्होंने मेरे अन्तःकरण से लज्जा को उखाड़कर फेंक दिया है। मेरा चित्त निर्लज्ज बन गया है। आपके सम्मुख यह स्वीकार करने में मुझे तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं होता, कि

मेरा मन सर्वात्म भावसे आपमें ही लग गया है। वह श्याम रङ्गमें रङ्ग गया और ऐसा गहरा रङ्ग उस पर चढ़ा है, कि वह किसी प्रकार प्रयत्न पूर्वक उतारने पर भी उतर नहीं सकता। अहर्निशि आपकी मनमोहिनी मूर्ति मेरे मन में बसी रहती है। मेरा मन आपके रूप जाल में फँस गया है।

आप कहेंगे—"तुम मुझे क्यों चाहती हो ?" सो हे मुकुन्द ! इसका भी उत्तर सुनो। कुलवती कन्यायें जब बाल, पौगण्ड और किशोरावस्थाओं को पार करके युवावस्था में पदार्पण करती हैं, तो वे अपने भावी पतिकी एक मनोमयी मूर्ति बनाती हैं। वे चाहती हैं, मेरा पति कुलीन हो, सुशील हो, युवक हो और विद्वान् हो। उसकी अवस्था अधिक न हो, युवक हो और धन धान्य से समृद्ध हो तथा मेरे मन को हरने वाला हो। मुझे विश्वास है आप कुल, शील, रूप, विद्या, सदाचार अवस्था तथा धन धामादि में आत्म-तुल्य ही हैं, अर्थात् आपकी समता करने वाला संसार में दूसरा व्यक्ति ही नहीं फिर अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है आप मेरे ही मनको हरण करने वाले हों सो बात नहीं आप प्राणिमात्रका अपनी ओर हठात् आकर्षित करनेवाले हैं, तभी तो आपका नाम "कृष्ण" है। अब आप ही बतावें, विवाह का समय उपस्थित होने पर ऐसी कौन सी कुलवती गुणवती रूपवती कुमारी कन्या होगी, जो आपकी ओर मन न चलावेगी, आपको पति रूप में वरण न करना चाहेगी।" यदि यह बात है, तो विवाह का समय उपस्थित होनेपर मैंने आपको अपना पति बनाना स्वीकार किया है, तो इसमें कोनसा पाप मैंने किया है। इस लिये हे परम प्रेमास्पद ! हे प्राणप्यारे ! मैं स्पष्ट कहती हूँ, मैंने मन ही मन आपको पति रूप से वरण कर लिया है। मैं सर्वात्मभाव से अपको आत्म समर्पण कर चुकी हूँ। यह मैं जानती हूँ, कहाँ आप त्रिभुवनपति कहाँ मैं अत्यन्त क्षुद्र मन्दमति स्त्री। फिर भी मैं ऐसा

करनेको विवश हो गई हूँ। आप मेरा ओर न देखें। अपने शरणागत वत्सल नामका ओर निहारें। आपकी प्रतिज्ञा है, जो सर्वात्मभावसे मेरी शरणमें आते हैं, उन्हें मैं अवश्य ही अपनाता हूँ। यदि मेरे आत्म समर्पणमें कोई त्रुटि हो, तो उसे भी आप ही दूर करके आप यहाँ पधारें और मुझे पत्नी रूपमें स्वीकार करें।

आप कहेंगे—"तू इतनी व्यग्र क्यों हो रही है। जब तैंने मुझे आत्म समर्पण कर ही दिया है, तो कभी न कभी आकर मैं अपना ही लूँगा। सो, हे कमल नयन! इस प्रकारकी ढिलाईसे काम नहीं चलेगा। आप शीघ्रता करें, मेरे घर वाले मुझे शिशुपालको देना चाहते थे। जैसे अग्निके भागको श्वान काक सूँघ ले तो वह हवनके योग्य नहीं रहता, जैसे सिंहके शिकारको सियार मार दे, तो फिर सिंह उसका स्पर्श नहीं करता, इसी प्रकार यह शृगाल रूप शिशुपाल मुझे स्पर्श करना चाहता है, उसने यदि मुझे स्पर्श कर लिया तो न तो मैं उसीके कामकी रहूँगी और न आपके ग्रहण करने योग्य रहूँगी। अतः जब तक वह सियार मुझे छूता नहीं तभी तक आकर सिंहकी भाँति वीरता पूर्वक अपने भागको सियारोंके बीचसे उठा ले जाओ। मैं आपकी हूँ और आपकी ही बनकर रहूँगी, दूसरा मुझे स्वप्नमें भी स्पर्श नहीं कर सकता।

मैं तो समस्त देवी देवताओंसे और आपसे भी मनाती हूँ, कि मैंने इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरोंमें मैंने कोई सुकृत कर्म किया हो, कोई कुआ खुदवाया हो, तालाब, बाग बगीचा बनवाया हो, यज्ञयाग आदि शुभ कर्म किया हो, सुयोग्य पात्रको दान दिया हो, कोई सुन्दर नियम पाला हो, किसी उत्तम व्रतका आचरण किया हो, देवताओंका, ब्राह्मणोंका तथा गुरुओंका श्रद्धा सहित विधिवत् पूजन किया हो, आपका किसी भी प्रकार

आराधन किया हो, तो इन सबका एक मात्र फल मुझे यही मिले, कि आप आकर मेरा पाणिग्रहण करें। शिशुपाल आदि कोई भी अन्य पुरुष मेरा स्पर्श न करने पावे। सर्वत्रसे निराश होकर ही मैंने आपके चरणोंकी शरण ली है, ऐसा साहसपूर्ण कार्य किया है, इतनी निर्लज्जता धारण की है। आप मेरे विवाहके पूर्व किसी प्रकार कुन्डिनपुर आ जाओ और भाँमर पड़नेके पूर्व ही मुझे यहाँसे ले जाओ। मेरे विवाहमें अब देरी नहीं है। यहाँ सब तैयारियाँ हो गई हैं। कल बरात आ जायगी। एक दिन रहकर दूसरे दिन विवाह की लग्न है। अतः आप विवाहके पूर्व दिन अपने यादव सेनापतियों के साथ गुप्त रूपसे विदर्भ देश की राजधानी कुन्डिनपुरमें आ जायँ और शिशुपाल तथा उसके साथी जरासन्धादि की सेनाओं को नष्ट भ्रष्ट करके बल पूर्वक मुझे उठा ले जायँ। क्षत्रियों के लिये राक्षस विधि से कन्या का ग्रहण करना उत्तम माना गया है। मैं तो वीर्य शुल्का हूँ। वीर्य रूप शुल्क चुकाकर आप राक्षस विधि के अनुसार मेरे साथ विवाह कर लें।"

आप कहेंगे—"तुम तो अन्तःपुर में रहती हो, मैं तुम्हें कैसे पा सकता हूँ।" सो उसका भी उपाय मैं आपको बताये देती हूँ, सुनिये। हमारे कुल की प्रथा है, कि जिस कन्या का विवाह होता है, उसके विवाह के एक दिन पूर्व नववधू को कुलदेवी की पूजा करने नगर से बाहर देवीजी के मन्दिर में जाना पड़ता है। यह देवी पूजन यात्रा बड़ी धूमधाम से होती है। कन्या अपनी सखी सहेली तथा वृद्धाओं के साथ जाकर नगर के बाहर श्रीपार्वतीजीके मन्दिर मे जाकर उनका पूजन करती है। पिताजीकी ओरसे नगर से मन्दिर तक सेनाका प्रबन्ध होता है। कुमारी कन्या पैदल ही जाती है। जब मैं देवीकी यात्राको जाऊँ और पूजन करके लौटूँ उसी समय आप बलपूर्वक मुझे रथमें बिठाकर शत्रुओंके मानको

मर्दन करते हुए मुझे द्वारका ले जायँ। ऐसा करनेसे आपका काम भी बन जायगा और मेरे परिवार वालोंको भी आपको न मारना पड़ेगा।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है, कि आप इस दासी की इस विनती पर अवश्य ध्यान देंगे। मुझ अबला की प्रार्थना स्वीकार करके मुझे कृपा प्रसाद प्रदान करेंगे। देखिये, त्रिभुवनपति भगवान् शङ्कर भी आपके नामों को निरन्तर रटते रहते हैं। बड़े बड़े महत् पुरुष भी अपने अन्तःकरण के अज्ञानको नष्ट करनेके निमित्त आपके चरणकमलोंकी रजमें स्नान करनेके निमित्त व्यग्र बने रहते हैं। ऐसे आप देवाधिदेव क्या मुझ असहाय अबलाके ऊपर प्रसन्न न होंगे। क्या आप अपनी कृपा का प्रसाद मुझे प्रदान न करेंगे। आप विश्वास रखें यदि आप समयसे पूर्व यहाँ न पधारे, तो फिर मुझे आप जीवित न पावेंगे, मैं कहीं वनोंमें भाग जाऊँगी और यही संकल्प करके कि आगामी जन्म में मेरे पति भगवान् वासुदेव हों, इस नश्वर शरीर को बिना खाये पिये सुखाकर त्याग दूँगी। फिर जन्म होगा तो फिर भी ऐसा ही करूँगी। जब तक आप मुझे पत्नी रूप में ग्रहण न करेंगे तब तक ऐसा ही करती रहूँगी, फिर चाहे मुझे सैकड़ों जन्म क्यों न लेने पड़ें।"

हे कमलनयन! अधिक क्या लिखूँ, मैंने अपने मनकी बात बता दी। अपना कर्तव्य मैं समाप्त कर चुकी, अब आपको जो उचित जान पड़े, आप करें। मैं हूँ आपके चरणकमलोंकी जन्म-जन्मान्तरों की दासी—रुक्मिणी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पत्रको समाप्त करके ब्राह्मणदेव नेत्रों को पोंछते हुए चुप हो गये। और भगवान् ने भी पीताम्बर से नेत्र पोंछे। उनका कंठ गद्गद् हो गया था,

वे कुछ भी न कह सके। कुछ काल तक दोनों ही मौन बने रहे।"

छप्पय

कमल नयन! सजि सेन तुरत कुण्डिनपुर आओ।
रिपु सिरपै धरि चरन मोहिँ माधव! ले जाओ॥
जाउँ ब्याहके प्रथम दिवस देवी पूजन हित।
लैकें भागें मोहि नहीं क्षत्रिय कूँ अनुचित॥
दीनबन्धु दुख हरन यदि, दया न दासी पै करहिँ।
तो तब तक जनमू मरूँ, जब तक नहिँ यदुवर वरहिँ॥

विवाहार्थ श्रीहरिका कुण्डिनपुरको प्रस्थान

(१०८९)

आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः ।
आनर्त्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ५३ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

सुन्यो प्रिया को पत्र नयन हरि के भरि आये ।
प्रेम बिवश ह्वै गये विप्र कूँ बचन सुनाये ॥
द्विजवर ! मोकूँ प्रिया रुक्मिनी अतिशय भावै ।
करि करि बाकी यादि रैन महँ नींद न आवै ॥
चलो चलें कुँडिनपुरी, अब द्वै दिन ही रहि गये ।
सजि रथ द्विज कूँ संग लै, बधू हरन हरि चलि दये ॥

भगवान् का न जन्म है न मरण। उनका न कुछ कर्तव्य है न अकर्तव्य। उनका न कोई रूप है न नाम। फिर भी वे भक्तों के निमित्त रूप रखकर उनकी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। भक्तों की इच्छा ही उनकी इच्छा है। भक्तों के निमित्त वे सब कुछ करने

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् उन कुण्डिनपुर के विप्र को रथ पर चढ़ाकर स्वयं भी उस पर सवार हुए और अत्यन्त शीघ्रगामी घोड़ों द्वारा एक ही रात्रि में द्वारकापुरी से विदर्भ देश में पहुँच गये।"

को उद्यत हो जाते हैं, इसीलिये उन्हें "भक्तवांछाकल्पतरु" कहते हैं। वे भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त सदा कातर बने रहते हैं। वे और सब कुछ सह सकते हैं किन्तु भक्तों के कष्टों को अधिक दिनों तक सहन नहीं कर सकते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब वृद्ध ब्राह्मणदेव रुक्मिणीजी के पत्र को सुना चुके तब भगवान् सुनकर कुछ देर तक मौन रहे। ब्राह्मण भी चुप हो गये। महल में स्तब्धता छा गई। उस स्तब्धता को भंग करते हुए कुछ काल के पश्चात् विप्रदेव कहने लगे—"प्रभो! मैंने राजकुमारी रुक्मिणीजी का सन्देश उन्हीं के शब्दों में सुना दिया। राजकुमारी ने मुझे अत्यन्त विश्वासपात्र समझकर ही यह अति गुप्त संदेश मेरे द्वारा आपके पास पठाया है। अब इस विषय में जो भी आपको करना हो, उसे अविलम्ब कर डालिये। देरी करने का काम नहीं है। कुमारी की दशा अत्यन्त ही दयनीय है। वह कीच में पड़ी मछली की भाँति बिल बिला रही है। आप तो उसे जानते भी न होंगे, किन्तु उसके हृदय में आपके प्रति अत्यन्त ही अनुराग है। विलम्ब होने पर किसी भारी अनर्थ की सम्भावना है। आप एक अपरिचिता अबला का जो आपकी भक्ता है अनुरक्ता है उद्धार करें उसके ऊपर अनुग्रह करें। वह निरन्तर आपका ही चिन्तन करती रहती है।"

ब्राह्मण के मुख से "अपरिचिता" सुनकर भगवान् को हँसी आ गई और हँसते हुए प्रेमपूर्वक ब्राह्मण के हाथ को अपने हाथ में लेकर अत्यंत ही मधुर वाणी में कहने लगे—"विप्रदेव! रुक्मिणी मेरे लिये अपरिचिता नहीं है। हे द्विजर्षभ प्रेम कभी एक ओर से नहीं होता। यह संभव नहीं कि जो हमसे प्रेम करे उसके प्रति हमारे हृदय में अनुराग न हो। कुत्ते से प्रेम करो वह भी पूँछ हिलाकर पैर चाटेगा। सिंह भी प्रेम के कारण पीछे पीछे फिरेगा। और की तो बात ही क्या हृदय से पाषाण से भी प्रेम किया जाय,

तो वह भी पिघल जायगा, फिर सजीव मनुष्य की तो बात ही क्या। जिस प्रकार तुम्हारी राजकुमारी मेरे लिये व्याकुल रहती है, उसी प्रकार मैं भी उसके लिये सदा व्याकुल बना रहता हूँ। दिन में निरन्तर उसी का चिन्तन करता हूँ। रात्रि में मुझे उसकी स्मृति में निद्रा तक नहीं आती। कभी क्षण भर को आँखें झप भी जाती हैं तो उसी के स्वप्न देखता हूँ। पूरी रात्रियाँ करवट बदलते बदलते ही बितानी पड़ती हैं।"

ब्राह्मण ने कहा—"क्यों न हो, भगवान! प्रेम तो पूर्वजन्मों के सम्बन्धों से होता है। अवश्य ही वे पूर्वजन्मों में आपकी पत्नी रही होंगी, तभी आप दोनों में इतना स्वाभाविक सहज अनुराग है। महाराज भीष्मक की तो सोलह आने इच्छा थी, कि कुमारी का विवाह आपके ही साथ हो, किन्तु बड़े राजकुमार ने सब गुड़ गोबर कर दिया। उन्होंने ही गड़बड़ सड़बड़ कर दी।"

भगवान् ने बल देकर कहा—"ब्राह्मणदेव! कोई बात नहीं। मैं सब जानता हूँ। रुक्मी खल स्वभाव का है, उसने द्वेष वश अपनी बहिन का विवाह मेरे साथ होते होते रोक दिया है। किन्तु उसके रोक देने से क्या होता है। आप देखें, किस प्रकार मैं अपनी प्रिया के मनोरथ को पूर्ण करता हूँ। जैसे स्त्रियाँ दही को मथकर उसमें से माखन को निकाल लेती हैं, जैसे तैल पेरने वाले तिलों में से तेल निकाल लेते हैं, जैसे यज्ञ करने वाले अरणियों को मथकर उसमें से अग्नि निकाल लेते हैं, उसी प्रकार इन दुष्ट राजाओं की सेना को मथकर मैं अपनी एकमात्र अनुरक्ता, भक्ता और अनिन्दिताङ्गी राजपुत्री को निकाल लाऊँगा। ब्राह्मणदेव! आप आशीर्वाद दें कि मैं अपने कार्य में सफल होऊँ।"

ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! आप सत्य संकल्प हैं। सर्व समर्थ हैं आपके लिये कौन सी बात असंभव है। आपके संकल्प से ही अगणित ब्रह्माण्डों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है।

भगवन् ! अब देर करने का काम नहीं। परसों ही उसके विवाह का नक्षत्र है। कल तक आप न पहुँचे तो फिर संभव है राजकुमारी को आप जीवित न पावें।"

भगवान् ने कहा—"विप्रदेव ! आप चिन्ता न करें। कल प्रातः आप सूर्यदेव का अर्घ्य कुण्डिनपुर में ही चलकर देंगे।"

यह कहकर भगवान् मधुसूदन ने तुरन्त सेवक को आज्ञा दी। "अभी दारुक सारथी को बुलाओ।" सुनते ही दारुक दौड़ा; दौड़ा आया और हाथ जोड़कर अभिवादन करके उसने शिष्टाचार से कहा—"प्रभो ! सेवक समुपस्थित है, इसके लिये क्या आज्ञा है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, दारुक ! तुम तुरन्त मेरा रथ जोत लाओ। विलम्ब करने का काम नहीं।"

सिर से प्रणाम करके दारुक ने नम्रता-पूर्वक कहा—"जैसी देव की आज्ञा। मैं अभी रथ लेकर आता हूँ।"

यह कहकर वह अति शीघ्र अश्वशाला में गया। भगवान् के शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नाम वाले चारों दिव्य घोड़ों को उसने खोला, उन्हें थपथपाया। उनके ऊपर काँठी रखी और सुवर्ण मंडित दिव्य रथ में उन्हें जोड़ दिया। रथ को शीघ्रता से स्वच्छ किया। उसके ऊपर का वस्त्र हटा दिया। विशाल गरुड़ की ध्वजा को खोलकर भली भाँति लगा दिया। इसी प्रकार रथ को जोतकर वह क्षण भर में द्वार पर रथ को ले आया और हाथ जोड़कर भगवान को सूचना दी—"प्रभो ! रथ तैयार है।"

भगवान पीताम्बर ओढ़कर अपने अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हुए रथ की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। सूत के वचन सुनकर वे ब्राह्मण से बोले—"चलिये, महाराज ! अब देर करने का काम नहीं।" यह सुनकर ब्राह्मण ने भी पुटली और सटकी उठाई। सटकी टेकते टेकते वे रथ के समीप पहुँचे। भगवान् ने कहा—"रथ पर विराजिये।"

ब्राह्मण ने कहा—"महाराज ! पहिले आप ही विराजें।"

भगवान् बोले—"ब्रह्मन ! आप कैसी नीति विरुद्ध बातें कर रहे हैं। ब्राह्मण से पहिले मैं कैसे बैठ सकता हूँ। अब अधिक शिष्टाचार का समय नहीं। आप तुरन्त रथ पर विराज जायँ।" भगवान् की आज्ञा मान कर ब्राह्मण रथ में बैठ गये। पीछे भगवान् भी बैठे। सूत ने घोड़ों को हाँक दिया। घोड़े वायु वेग से दौड़ने लगे। रथ इतने वेग से दौड़ रहा था, कि देखने वाले संदेह में पड़ जाते थे, रथ दौड़ रहा है या अधर आकाश में उड़ रहा है। इस प्रकार शीघ्रगामी घोड़ों द्वारा भगवान् एक रात्रि में ही कुशस्थली द्वारकापुरी से आनर्त देश की राजधानी कुण्डिनपुर में पहुँच गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब कुछ कुण्डिनपुर का भी समाचार सुन लीजिये। राजा भीष्मक नहीं चाहते थे, रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ हो। वे तो उसे भगवान् वासुदेव को ही देना चाहते थे, किन्तु जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाय, तो उसके साथ मित्र का सा व्यवहार करना चाहिये समर्थ श्रेष्ठ पुत्र की बिना सम्मति लिये पिता को अपने मन से कोई कार्य न करना चाहिये, जिससे गृह कलह न हो और परिवार में ही विरोध उत्पन्न न हो इसी लिये पुत्र स्नेह के वशीभूत होकर वे भी रुक्मिणीजी का शिशुपाल को ही देने के लिये सहमत हो गये। नगर में बड़ी धूमधाम से विवाहोत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। सम्पूर्ण नगरी नव वधू की ही भाँति सजाई गई। जितने नगर के बड़े बड़े राज-पथ थे, गली, कूँचे, चौराहे, सभा भवन तथा अन्यान्य सार्वजनिक स्थान थे, वे झाड़ बुहार कर सुन्दर बनाये गये। उनमें सुन्दर सुगन्धित जलों का छिड़काव कराया गया। फिर चित्र विचित्र ध्वजा, पताका, तोरण, बन्दनवार तथा रंग बिरंगी साड़ियों से सब स्थान सजाये गये। नगरी का गोपुर (प्रधान द्वार) कला पूर्ण ढँग

से उत्तम कारीगरी द्वारा सजाया गया था। सभी ने अपने अपने घरों को सजाया था। प्रतीत ऐसा होता था मानों सभी के घरों में विवाह का मंगलोत्सव है। सभी नगर के नर नारी माला, सुगन्धित चन्दन, अमूल्य हार, दिव्य आभूषणों और सुन्दर स्वच्छ बहुमूल्य वस्त्रों से सुसज्जित होकर प्रमुदित हो रहे थे। बच्चे प्रसन्नता में भर कर नये नये वस्त्र पहिन कर बारात देखने की इच्छा से अत्यन्त उत्कंठा के साथ इधर उधर घूम रहे थे। नगरी के समस्त भव्य भवन धूप, अगुरु तथा अन्यान्य सुगन्धित द्रव्यों के धुएँ से सुवासित हो रहे थे। चारों ओर बाजे बज रहे थे। सुगन्धित तैलों, पुष्पों तथा अन्यान्य सुगन्ध युक्त पदार्थों से नगरी सुगन्धित हो रही थी। सजी सजाई वह राजधानी परम श्री सम्पन्न और शोभा युक्त प्रतीत होती थी।

विवाह के पूर्व जो पिता को नान्दी श्राद्ध, देव पूजन और ब्राह्मण भोजन कराना होता है, उसे महाराज भीष्मक कर चुके थे। बड़े बड़े वेदज्ञ ब्राह्मण मिलकर सस्वर वेद घोष कर रहे थे। विवाह के नियमानुसार मङ्गल पाठ कर रहे थे।

रुक्मिणीजी पर कई दिन से तैल हल्दी चढ़ाई जा रही थी। जब सेरन्ध्रियाँ उनके श्रीअंग में उबटन लगातीं हलदी मलतीं तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता मानों कोई मेरे अंग में विष का लेपकर रहा है। वे शिशुपाल के नाम से डर जातीं, स्मरण आते ही मूर्छित हो जातीं, उनके नेत्र रोते रोते रक्त वर्ण के हो गये थे। एकान्त में बैठकर वे निरन्तर रोती ही रहतीं। सेविकायें सहेली की बातें कह कह कर भावी पति के सम्बन्ध की बातें बता बताकर उन्हें हँसाना चाहती थीं, किन्तु उन सबका प्रयास निष्फल हो जाता। रुक्मिणीजी कभी हँसती नहीं थीं। उनका तो हृदय जल रहा था, वे तो निरन्तर श्यामसुन्दर का ही स्मरण कर रही थीं। सेविकायें सोचतीं—"राजकुमारी अपने मांग

पिता की परम दुलारी हैं। अकेली पुत्री हैं, माता पिता के वियोग को स्मरण करके ही वे दुखी रहती हैं।"

विवाह के पूर्व दिवस राजकुमारी को उबटन लगाकर विधिवत् स्नान कराया गया। उनके कर में कंकण बाँधा गया। दासियों ने अत्यन्त सुन्दर बहु मूल्य रेशमी साड़ी उन्हें पहिनाई। ऊपर से रेशमी चद्दर उढ़ाई चित्र विचित्र आभूषणों से उन्हें विभूषित किया गया। इस प्रकार उन्हें सजाकर मंडप में लाया गया। नव वधू के वेष में सजी हुई साक्षात् लक्ष्मीजी की अवतार रुक्मिणीजी की शोभा अवर्णनीय थी उनके दाडिम के दानों सदृश दाँत चन्द्रिका की भाँति प्रकाशित हो रहे थे। उनका मुख-कमल चिन्ता से म्लान हो रहा था और उस पर विशाद की रेखायें स्पष्ट झलक रही थीं। ब्राह्मणों ने राजकन्या रुक्मिणीजी को सामवेद, ऋक्वेद, और यजुर्वेद के मन्त्रों से अभिमन्त्रित किया। दिग्बन्धादि करके उनके रक्षा की मङ्गल पाठ किया। फिर अथर्व वेद के जानने वाले विद्वान ब्राह्मणों ने ग्रह शान्ति के निमित्त होम किया। पुत्री के अभ्युदय के निमित्त उदार मना महाराज भीष्मक ने ब्राह्मणों को यथेष्ट सुवर्ण, रजत, वस्त्र, गुड़मिश्रित तिलों के मोदक तथा बहुत-सी गौओं का दान दिया। सम्पूर्ण राज्य में राज पुत्री के विवाह के उपलक्ष में आनन्दोत्सव मनाया गया।

यह तो कन्या पक्ष की बात हुई। इसी प्रकार वर पक्ष में भी विवाह की धूम-धाम मची हुई थी चेदि देश के महाराज दमघोष बड़े नामी थे। इसलिये उन्होंने भी अपने पुत्र शिशुपाल के अभ्युदय के निमित्त दान, पुण्य, पूजन, हवन, स्वस्त्ययन, मङ्गलाचरण तथा अन्यान्य मङ्गल कृत्य कराये। घुड़चढ़ी हुई स्त्रियाँ वर को घोड़े पर चढ़ाकर गाजे बाजे के साथ कूप पूजने के लिए गईं। शिशुपाल ने अपनी माता का अंचल पिया और कहा—

"माँ ! मैं तुम्हारे लिए बहू लाऊँगा।" तब उसकी भाभियों ने उसके काजर लगाया आरती उतारी और कहा—"अच्छी बहू लेकर आना !" इस प्रकार नगर की परिक्रमा करके सेना के सहित शिशुपाल विवाह करने कुण्डिनपुर की ओर चल दिया। बड़े-बड़े मतवाले हाथी जिनके गंडस्थलों से मद चू रहा था, सजीव पहाड़ों की भाँति जा रहे थे। उनके बड़े-बड़े घण्टाओं की ध्वनि से दशों दिशायें गुँजती-सी प्रतीत होती थीं। घुड़ सवार घोड़ों को नचा रहे थे, विविध भाँति की कलाओं को दिखा रहे थे। रथों की धूलि से आकाश मंडल में अंधेरा छा गया था। अस्त्र शस्त्र धारी सहस्रों सैनिक पैदल चल रहे थे। पैदल सैनिकों से घिरा दूल्हा बना पालकी में बैठकर शिशुपाल आगे-आगे चल रहा था। नियत समय पर चेदि देश के महाराज की बारात कुण्डिनपुर के एक बगीचे में जाकर ठहर गई।

जब विदर्भराज महाराज भीष्मक ने बरात के आगमन का समाचार सुना, तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। पुरोहित, मंत्री और सहस्रों सैनिकों से घिर कर वे बरात की अगवानी लेने चले। वहाँ पहुँचकर उन्होंने वर का पूजन किया स्वागत किया। सबसे मिल भेंटकर बड़ी धूम-धाम से गाजे बाजे के साथ बरात को नगरों में ले आये। बरात के आगे-आगे कई लोग घोड़ों पर चढ़कर सुवर्ण की मुद्राओं की वर्षा करते चल रहे थे। निर्धन लोग उन मुद्राओं को लूट रहे थे। द्वारों पर नवीन वस्त्र पहिने बालक युवक और वृद्ध खड़े थे। भवनों की छतों पर चढ़कर स्त्रियाँ बरात की शोभा देख रही थीं। इतनी बड़ी भारी बरात को देखकर सभी को परम विस्मय हुआ। गुप्तचरों ने पहिले ही जाकर सूचना दे दी थी, कि श्रीकृष्ण का विचार रुक्मिणी का हरण करने का है। अतः शिशुपाल के पक्ष के जितने शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र, विदूरथ और पौंड्रक आदि भगवद्द्वेषी राजा थे वे सबके सब सैन्य सजाकर इस

बरात में आये थे। ये सब यादवों का अभ्युदय नहीं चाहते थे, इसी लिये सेना सजाकर आये थे कि शिशुपाल के विवाह में यदि कृष्ण बलराम ने यादवों को लेकर कन्या के अपहरण का प्रयत्न किया, तो हम सब मिलकर उनसे युद्ध करेंगे उन्हें हराकर जैसे भी होगा तैसे भीष्मक की पुत्रीका विवाह शिशुपाल से करावेंगे। इसीलिये बरात में असंख्य सेना थी।

महाराज भीष्मक ने पहिले से ही जनमासे का प्रबन्ध कर रखा था। बरातके लिये जनमासा दिया गया। सेनाने सम्पूर्ण नगरको घेर लिया। महाराज की ओरसे सभीका यथेष्ट आदर सत्कार किया गया। जिसने जिस वस्तुकी इच्छा प्रकटकी उसे वही वस्तु तुरन्त दी गई।"

भगवान् रात्रि में द्वारका से चले थे। वे बलरामजी से बिना ही पूछे चल दिये थे। रथ का घड़घड़ाहट सुनकर उन्हें सन्देह हुआ कि इस समय कृष्ण कहाँ जा रहा है। वे तुरन्त भगवान् के महलों में आये। आकर उन्होंने पूछ ताछ की। विदित हुआ कि कुण्डिनपुर से एक बूढ़ा ब्राह्मण कोई गुप्त पत्र लेकर आया था, उसे पढ़ते ही उसे साथ लेकर रथ में चढ़कर भगवान् कहीं चले गये हैं।

अब बलदेवजीको समझने में देर नहीं हुई। चर्चा तो बहुत दिनसे चल ही रही थी वे समझ गये कृष्ण विवाह करने गया है, संकोच वश उसने मुझसे कहा नहीं। ऐसा न हो सब दुष्ट मिलकर उसपर प्रहार कर दें। ऐसे समय उसका ऐकाकी जाना उचित नहीं है। बड़े भाईका हृदय ही जो ठहरा उनसे नहीं रहा गया। वे भी प्रधान-प्रधान सेनापतियों को लेकर और अत्यन्त लड़ाकू एक सेना को लेकर उसी समय कुण्डिनपुरकी ओर चल दिये। भगवान् सूर्योदय से बहुत पहिलेही कुण्डिनपुरके एक उद्यान में पहुँच-गये थे। सूर्य उदय होते होते बलरामजी भी सेना सहित

दूरसे ही उन्हें उद्यानमें गरुड़की ध्वजा वाला रथ दिखाई दिया। तुरन्त वे उसी ओर चल दिये। भगवान्‌ने जब रथोंकी घड़घड़ाहट और हाथियों की चिंघाड़ सुनी तो वे उस ओर देखने लगे। दूरसे ही उन्हें तालकी ध्वजाका बलदेवजीका रथ दिखाई दिया वे समझ गये बलभैया आ गये। बलरामजी के रथको देखकर भगवान् कुछ सिटपिटा गये। वे ज्यों ही उठकर आगे चले त्यों ही उन्हें सामने से हँसते हुए आते बलदेवजी दिखाई दिये। भगवान्‌नेज्यों ही झुककर उनके चरण छूए त्योंही बलदेवजीने उन्हें प्रेमसे हृदयसे लगा लिया और हँसते हुए बोले—"—अरे, भैया! तुझे विवाह ही करना था, तो हमसे कह देता हम मना थोड़े ही करते। विवाहकी चार कचौड़ी हमें भी मिल जातीं। यों अकेले ही अकेले चोरोंकी भाँति चुपके २ विवाहके लिये भाग आना क्या तुम्हारे लिये उचित है।"

बनावटी गम्भीरता प्रकट करते हुए भगवान्‌ने कहा—"दादा! किसका विवाह कैसा विवाह। मैं तो वैसे ही तमासा खेल देखने चला आया था।"

हँसते हुए बलदेवजीने कहा—"रहने भी दो। क्यों बहुत बात बनाता है। दाईके सामने पेट छिपाने से काम थोड़े ही चलेगा। अच्छी बात है, आज इन सब दुष्टों को इनकी दुष्टताका फल चखावेंगे और भीष्मककी कन्याको बलपूर्वक हम हरकर ले चलेंगे। जो हमारे इस काम में विघ्न करेगा उसे यमपुर पठावेंगे।"

यह सुनकर भगवान् को मन ही मन बड़ी प्रसन्नता हुई। सेनाका पड़ाव डाल दिया। तब उन वृद्ध ब्राह्मणने कहा—"महाराज! राजकुमारी रुक्मिणी बड़ी छट पटा रही होगी, आज्ञा हो तो मैं उसे इस शुभ सम्वाद को सुना आऊँ।"

भगवानने कहा—"हाँ, आप जायँ राजकुमारी से कह दें वह किसी प्रकारकी चिन्ता न करे। आज जब वह देवी पूजन को जायगी, तब मैं उसका अवश्य ही अपहरण करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह सुकनर ब्राह्मण कुण्डिनपुर-के अन्तःपुरकी ओर चल दिया। इधर अभी तक भगवान्‌के आगमनका कुछ भी समाचार न सुनकर जिस प्रकार भगवती रुक्मिणीजी बिलबिला रही थीं, तड़प रही थीं, क्षण क्षण प्रतीक्षा कर रही थीं उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

हरि कुंडिनपुर पहुँचि रहे पुरकी अमराई।
इत अति बिशद बरात चेदि राजाकी आई॥
जनमासो नृप दयो बराती अति हरषाये।
उत बल सुनि हरि गमन सैन सजि तिन ढिँग आये॥
सकुचाये हरि बलहँसे, कछुँ मीठी चुटकी लई।
कहन वृत्त निज बिप्रकूँ, हरि चुपके आयसु दई॥

रुक्मिणीजीकी निराशामें आशा

(१०६०)

अथ कृष्ण विनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः ।
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह ॥❀

(श्री भा० १० स्क ५३ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि गये द्विज अन्तःपुर महँ ।
द्विज मुख विकसित निरखि भयो सुख कन्या उर महँ ॥
कह्यो सकल सम्वाद कुमारी सुनि हरषाई ।
द्विजकी रिनिया बनी अश्रु माला पहिनाई ॥
सुन्यो आगमन कृष्ण बल, को नृप सुनि विस्मित भये ।
अतिथि समुझि भीष्मक नृपति, सादर निज गृह लै गये ॥

हम कोई शुभ सम्वाद सुननेको समुत्सुक बैठे हों। क्षण क्षण पल पल उसके लिये गिन रहे हों, और उसी समय आकर कोई हमें जैसा हम चाहते हों वैसा ही आकर समाचार सुना दे तो चित्त चाहता है, इसे अपना सर्वस्व दे डालें उस समय जो

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! श्रीरुक्मिणीजी भगवान् के न पधारने पर अत्यन्त ही निराश हो रही थीं, कि इतने में ही भगवान् के भेजे हुए वे ही वृद्ध ब्राह्मण अन्तःपुर निवासिनी राजकुमारी रुक्मिणीजी के समीप आये। उन्होंने चिन्तित राजकुमारी को देखा।"

प्रसन्नता होती है, वह वर्णनातीत है उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता। वह तो अनुभवकी वस्तु है। प्यारेके मिलनके सम्वाद से बढ़ कर संसार में दूसरा कोई सुखद सम्वाद है ही नहीं। जिन आंखों ने प्यारे के दर्शन कर लिये वे आँखें धन्य है, जिस क्षण में प्यारे के शुभागमनका शुभसम्वाद सुनाई पड़े वह क्षण धन्य है। जिन कानों ने प्रियतमके पधारने का वृत्तान्त सुना वे ही कर्ण वास्तव में कर्ण हैं जिस व्यक्ति ने प्रिय आगमन की शुभ सूचना दी है, वही हमारा प्रिय है, हितैषी है शुभचिन्तक और आत्मीय है। ऐसे पुरुष का जीवन भर प्रत्युपकार हो ही नहीं सकता। उसके सम्मुख तो सदा आंखें झुकी ही रहती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! रुक्मिणी देवी ब्राह्मण को द्वारका भेजकर उसी दिन से उसके आने की प्रतीक्षा करने लगीं। यद्यपि वे जानती थीं कुण्डिनपुरसे द्वारकापुरी दूर है। ब्राह्मण वृद्ध है, पैदल ही गया है जाने आने में विलम्ब लगेगा किन्तु प्रेम इन बातोंका विचार नहीं करता। आशा संभव असंभव का विचार नहीं करती। अर्थी दोषकी ओर ध्यान नहीं देता। रुक्मिणीजीके लिये पल पल भारी हो रहा था। जब शिशुपालकी बरात आ गई और विवाहके पूर्वके समस्त मङ्गल कृत्य हो चुके, तब तो उसे अत्यन्त निराशा हुई। विवाहमें अब एक ही दिन तो शेष है, कल ही तो लग्न है. श्यामसुन्दर को आज आ जाना चाहिये था। आज ही तो मैं देवी पूजन के निमित्त जाऊँगी वे वृद्ध ब्राह्मण भी लौट कर नहीं आये। वे कहीं मार्गमें ही रह गये क्या, या वृद्धावस्थाके कारण अभी द्वारका पहुँच न सके होंगे यदि श्यामसुन्दर मेरी विपत्ति की बात सुन लेते, तो अवश्य ही आ जाते। हाय ! अब मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, किसी से अपनी विपत्ति की बात कहूँ। मैं बड़ी अभागिनी हूँ, पूर्व जन्म में मैंने किसी दो प्रेमियों के मिलने में अवश्य ही बाधा

डाली होगी, इसीलिये मैं अपने प्राणधन प्रियतम से नहीं मिल रही हूँ। नहीं तो ब्राह्मण न भी पहुँचता तो वे सर्वज्ञ मेरी विपत्ति को जान कर स्वतः ही आ जाते। वे कमल नयन भगवान् वासुदेव अभी तक आये नहीं। इस कारण मुझे भाँति भाँतिके सन्देह हो रहे हैं। सम्भव है उन्होंने मुझे निर्लज्जा समझ लिया हो, या मुझमें और कोई दोष समझ कर वे न आये हों। उन्होंने मुझे अपनानेके सर्वथा अयोग्य समझा हो। तभी तो वे मेरा पाणिग्रहण करने यहाँ नहीं आ रहे हैं। हाय! मैंने श्याम सुन्दरकी प्राप्तिके निमित्त शिवजीकी कितनी आराधना की। भगवती पार्वतीजीका कितने प्रेमसे प्रति दिन पूजन किया, किन्तु मुझे मेरे प्रियतमकी प्राप्ति नहीं हुई। गिरिराज कुमारी सती गौरी माता मुझ पर प्रसन्न न हुई। प्रतीत होता है, विधाता मेरे वाम हैं, पूर्व जन्मों के पाप प्रभु प्राप्तिमें मेरे लिये अन्तराय हो रहे हैं। हाय! क्या मुझे शिशुपालके हाथमें हाथ देना होगा? क्या सिंहके भागको सियार हर ले जायगा? क्या यज्ञीय हविषको गदर्भ खा जायगा? क्या मेरी आशाओं पर पानी फिर जायगा? क्या भगवान् का शरणागतवत्सल नाम व्यर्थ हो जायगा? क्या जगदुद्धारक श्यामसुन्दर मेरा उद्धार न करेंगे? क्या भवभयहारी भगवान मेरे भयको न हरेंगे? क्या पतित पावन प्रभु मुझ पतिताकी विनती पर ध्यान न देंगे? क्या भक्त वांछा कल्पतरु कृष्ण मेरी इच्छाको पूर्ण न करेंगे? क्या प्रपन्न-पारिजात परमेश्वर मुझ शरणमें आई प्रपन्ना पर प्रसन्न न होंगे?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन विश्ववन्दिता अनिन्दिता राजकुमारीके चित्तको श्यामसुन्दर श्रीहरि ने हर लिया था। वे श्यामसुन्दरके अतिरिक्त अन्य किसी वरको वरण करना नहीं चाहती थीं। इसीलिये भगवान वासुदेवको समय पर पधा-

रते न देखकर उनका हृदय भर आया। चिन्ता करते करते उनके नयन अश्रुपूर्ण हो गये। वे अंचल से मुख को ढककर फूट फूट कर रोने लगीं। उनके सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकल रहा था और वे कीच में पड़ी सूर्य की किरणों से संतप्त मछली की भाँति तड़प रही थीं। वे बार बार द्वार की ओर देख रहीं थीं। घर के पेड़ों पर बैठे कौआओं को उड़ा रही थीं। शोक से संतप्त होकर बार बार उठतीं और फिर मूर्छित होकर गिर पड़तीं। इस प्रकार वे अर्धमूर्छितावस्था में श्यामसुन्दर के आगमन के समाचार की प्रतीक्षा में व्याकुल हो रही थीं, उसी समय उन्हें सामने से वही ब्राह्मण दिखाई दिया।

ब्राह्मण को देखकर वे चौंक पड़ीं। दूर से ही उन्होंने ब्राह्मण का मुख देखा। वह शारदीय कमल के सदृश प्रफुल्लित था। उनके मुख मंडल से प्रसन्नता प्रकट हो रही थी उनकी चाल में उत्सुकता थी। नयनों में सरसता था और थी अङ्ग अङ्ग मे अनुपम स्फूर्ति। उसी समय राजकुमारी ने अपने अङ्गों में भी शुभ शकुन देखे। उनकी बायीं जंघा, बायीं भुजा और बायीं आँख फड़क रही थी। इन सब शुभ सूचक शकुनों को देखकर लक्षणों को जानने वाली राजकुमारी रुक्मिणी समझ गईं कि कार्य सफल हो गया। यदि ब्राह्मण को अपने कार्य में सफलता प्राप्त न होती तो इनका मुख इतना प्रसन्न कभी न होता न उस पर मनोहर मंद मंद मुस-कान ही छिकटती हुई दिखाई देती। इतनी निर्भीकता और स्वच्छन्द गति से तो यही सिद्ध होता है कि भगवान् ने मेरी प्रार्थना सुन ली। फिर भी वे ब्राह्मण के मुख से सुनना चाहती थीं इसीलिये शीघ्रता के साथ बोलीं—"क्या श्यामसुन्दर आ गये?"

ब्राह्मण ने एक साँस में ही कह दिया—"हाँ आ गये।"

अहा! उस सुखद समाचार को सुनकर सुकुमारी राजकुमारी को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, यह स्वसंवेद्य विषय है उन्होंने

परम उत्सुकता के साथ पूछा—"कहाँ ?"

ब्राह्मण ने कहा—"नगर के निकट के आम्र के उद्यान में ठहरे हुए हैं।"

रुक्मिणीजी ने पूछा— "आपको पिताजी ! कष्ट तो बहुत हुआ होगा ? कब आप पहुँचे ? श्यामसुन्दर मेरी पाती को पढ़कर अप्रसन्न तो नहीं हुए ?"

ब्राह्मण ने कहा—"पुत्री ! भगवान की जितनी भी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। मुझे मार्ग में कोई भी श्रम नहीं हुआ। मैं कुण्डिनपुर के उद्यान में सोया था और द्वारका में यदुनाथ के उद्यान में जगा था। ब्रह्मण्यदेव भगवान ने मेरा बड़ा भारी स्वागत सत्कार किया। पत्र को मुझसे ही पढ़वाया। पत्र सुनते सुनते वे रो रहे थे। सब कुछ सुनकर वे मुझसे बोले—"मैं उन शिशुपाल आदि खलों को जीतकर अवश्य ही बल पूर्वक राजकुमारी को ले आऊँगा। आप मेरी बात का विश्वास करें।" मुझे भी राजकुमारी का बहुत याद आती है, रात्रि में नींद भी नहीं आती।" यह कह कर वे रथ में चढ़कर तुरन्त चल दिये और अरुणोदय से पूर्व ही कुण्डिनपुर में आ गये। पीछे से सूर्योदय होते होते उनके भाई भी सेना सहित आकर उनसे मिल गये। अब राम श्याम सेना सहित नगर के बाहर उद्यान में ठहरे हैं। वे आज तुम्हारा अवश्य ही उद्धार करेंगे।"

इस शुभ समाचार को सुन कर भगवती रुक्मिणी देवी का कण्ठ रुद्ध हो गया। वे ब्राह्मण की कृतज्ञता के भार से अत्यन्त ही नम्रित हो गईं। उनकी इच्छा हुई, कि इस शुभ समाचार सुनाने के उपलक्ष में विप्र देव को कोई उपहार दूँ, किन्तु बहुत सोचने पर भी इसके अनुरूप कोई उपहार दृष्टि गोचर न हुआ। विवश होकर राजकुमारी ने ब्राह्मण के चरणों में अपना मस्तक टेक दिया। अर्थात् लक्ष्मीजी की अवतार रुक्मिणीजी ने कहा—"मैं

अपनी समस्त विभूति तुम्हें अर्पण करती हूँ।" पीछे से ब्राह्मण की पूजा की। उन्हें धन वस्त्रादि देकर विदा किया। अब राजकुमारी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। वे सबसे हँसकर बातें करने लगीं उनके मुख कमल से प्रसन्नता की किरणें फूट फूट कर निकल रहीं थीं। राजपुत्री के ऐसे परिवर्तन को देखकर सभी को आन्तरिक प्रसन्नता हुई।

इधर जब विदर्भाधिप महाराज भीष्मक ने यह समाचार सुना कि यदुवंश विभूषण श्रीराम कृष्ण मेरी कन्या के विवाह को देखने पधारे हैं, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। विवाह आदि मङ्गलोत्सव के समय ऐसे योग्य अतिथि स्वतः ही विना निमंत्रण के ही आ जायँ तो इससे बढ़कर सौभाग्य की बात क्या होगी?" यही सब सोच कर वे स्वयं ही मन्त्री पुरोहित और गाजे बाजे के साथ उस उद्यान में गये जहाँ राम श्याम दोनों भाई ठहरे थे। राम श्याम ने भी वृद्ध विदर्भाधिप को आते देख उनका उठ कर आदर सत्कार किया। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर महाराज भीष्मक ने कहा—"वासुदेव! आपने इस दास पर बड़ी कृपा की जो ऐसे मंगल के समय हमें दर्शन दिये। अब मेरे नगर में पधार कर मेरे गृह को अपनी चरणरज से पावन बनावें।"

राजा के आग्रह से दोनों भाई सेना सहित कुण्डिनपुर नरेश के सहित नगर की ओर चले। आगे आगे भेरी बजती जाती थी। नगर के लोग राम कृष्ण की जय जयकार कर रहे थे। महल के समीप पहुँच कर राजा ने समस्त पूजा की सामग्रियों से दोनों भाइयों की पूजा की मधुपर्क, निर्मल वस्त्र तथा पूजा के अन्य उत्तम उपहार अर्पित करके उनका यथा योग्य सत्कार किया। सेना सहित सभी को ठहरने के लिये उत्तम स्थान दिये। और भी जो नृपति गण आये थे, उन सबका यथोचित स्वागत किया। कन्या

के विवाह में निमंत्रित होकर जितने भूपति कुण्डिनपुर पधारे थे, उनका वाय, बल, अवस्था, प्रभाव, सम्पत्ति और मान्यता के अनुरूप यथा योग्य वस्तुएँ अर्पित कीं, किसी के स्वागत सत्कार में किसी प्रकार का कार कसर नहीं रखी।

जितने भी देश देशान्तरों के राजा तथा राजकुमार विवाह में आये थे, उन सब में श्याम सुन्दर ही सबसे अधिक रूपवान् थे। उनके सौन्दर्य की प्रशंसा प्रथम ही सर्वत्र फैल गई। जहाँ नर-नारियों ने सुना कि श्यामसुन्दर भगवान् वासुदेव भी कुण्डिनपुर आये हैं। तो इस समाचार को सुनते ही, आबाल वृद्ध नर नारी उनके दर्शनों के निमित्त आने लगे। उनके निवास स्थान के सम्मुख दर्शनार्थियों की निरन्तर भीड़ ही लगी रहती थी। जो भी उनके दर्शन करता वही अपने को कृतकृत्य समझता। जो भी उनके अनवद्य सौन्दर्य को निहारता वही निहाल हो जाता। सभी नर नारी अत्यन्त उत्सुकता और उत्कंठा के साथ भगवान् वासुदेव के मुखारविन्द मकरन्द का अपनी नयनाञ्जलि से यथेष्ठ पान करने लगे। जो भी भगवान् के दर्शन करते वे ही कहते—"राजकुमारी रुक्मिणी के योग्य वर तो ये ही हैं। अहा! ये कितने सुन्दर हैं, कितने मनोज्ञ हैं, कितने नयनाभिराम। ये शोभा के धाम हैं, इन्हें चाहें जब तक देखते रहें चित्त भरता ही नहीं। नयन अतृप्त ही बने रहते हैं। जैसी हमारी राजकुमारी परम रूपवती है, वैसे ही सुन्दरता के सागर ये हैं। यदि इनके साथ कुमारी का विवाह होता, तो हमें नेत्रों का आहार मिल जाता। ये जब जब विदा कराने आते, तब तब हम इन्हें देखकर अपने नयनों को धन्य बनाते।" इस प्रकार विदर्भ नगर के निवासी नर नारी अञ्जलि बाँध कर सच्चे हृदय से विधाता से विनती करने लगे और कहने लगे—"हमने पूर्व जन्मों में जो भी कुछ दान पुण्यादि सुकृत कर्म किये हों, उनका फल हमें यही मिले कि

यदुनन्दन भगवान् वासुदेव विदर्भ राजकुमारी सुकुमारी रुक्मिणी का पाणि ग्रहण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार सभी के ऊपर भगवान् के सौंदर्य का मोहिनी मंत्र फिर गया। राजपथों में गली कूँचों में हाट बाट तथा घरों में सर्वत्र श्यामसुन्दर के अनुपम रूप के ही गीत गाये जाने लगे। देवी पूजन का दिन आज ही था अब जिस प्रकार रुक्मिणीजी गौरी पूजन को जायँगी और वहाँ श्यामसुन्दर उनका अपहरण करेंगे यह कथा आगे वर्णन की जायगी।"

छप्पय

करि हरि बल आतिथ्य सकल सैनिक ठहराये।
आये पुर यदुचन्द्र सुनत नारी नर धाये॥
हरि को अनुपम रूप लखें पुनि पुनि न अघावें।
कन्या के बर योग्य श्याम कूँ सबहिं बतावें॥
मची धूम हरि रूप की, हाट बाट कूचे गली।
सबहि रुक्मिनी सखिनि सँग, गौरी पूजन हित चली॥

श्रीरुक्मिणीजी द्वारा गौरीपूजन

(१०६१)

नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम् ।
भूयात्पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५३ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

पैदल मुनि व्रत धारि चलति शंकित सकुचावति ।
नूपुर कङ्कण कड़े छड़े चूरी झनकावति ॥
घर तें मन्दिर तलक बाड़ सम सैनिक लागे ।
शूरवीर लै शस्त्र चलें कछु पीछे आगे ॥
गौरी मन्दिर पहुँचिकें, प्रेम सहित पूजन करयो ।
धूप दीप उपहार सब, देवी के सम्मुख धरयो ॥

अनन्य उपासना का अर्थ यह नहीं है, कि किसी अन्य देवी देवता को माने ही नहीं। मानना सभी को चाहिए। पूजा सभी की करनी चाहिए, किन्तु उनसे वर यही माँगे कि हमारा इष्ट में अनुराग हो। जैसे पतिव्रता का इष्ट तो पति ही है, किन्तु वह

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! गौरीजी का पूजन करके रुक्मिणीजी ने उनसे प्रार्थना की—"हे अम्बिके! मैं आप कल्याण-कारिणी देवी को आपकी सन्तान गणेशजी और कार्तिकेय सहित पुनः पुनः प्रणाम करती हूँ। श्रीकृष्ण भगवान् ही मेरे पति हों आप इस बात का अनुमोदन करें।"

सास, ससुर, देवर, जेठ तथा अन्यान्य घर के सभी लोगों की सेवा करती है, उनके प्रति आदरभाव प्रदर्शित करती है, किन्तु वह सब करती है पति के ही लिये "ये सब मेरे पति के सगे सम्बन्धी हैं, इनकी सेवा करना मेरा धर्म है। जब मेरे पति ही इनकी सेवा करते हैं, तो मुझे भी करनी चाहिए। इससे मेरे पति परमेश्वर प्रसन्न होंगे।' इसी प्रकार समस्त देवी देवताओं की पूजा करना मानों इष्ट की पूजा है, सब अनुकूल होंगे तो हमारे इष्ट भी प्रसन्न हो जायँगे। जो इष्ट की तो प्रेम से पूजा करते हैं, अन्यों की द्वेषवश उपेक्षा करते हैं, वे उत्तम भक्त न कहकर "प्राकृत भक्त" कहलाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान के शुभागमन का शुभ समाचार सुनकर सुकुमारी राजकुमारी विदर्भनन्दिनी फूली नहीं समाती थीं। उन्हें क्षण क्षण भारी हो रहा था। उस समय महारानी ने कहा—"बेटी! देखो, गौरीपूजन का समय हो गया। मङ्गलस्नान कर ले और शीघ्र ही इन वृद्धाओं के साथ देवी पूजन के लिये जा।"

यह सुनकर सेविकाओं ने शीघ्रता के साथ कुमारी को स्नात कराया, उन्हें दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित किया और फिर पूजा का समस्त सम्भार जुटाया। पूजन में जिन जिन सामग्रियों की आवश्यकता थी, वे सब बूढ़ी बूढ़ी ब्राह्मणियों से पूछ पूछकर एकत्रित कीं। जब सब सामान जुट गया तब सखियों से घिरी हुई राजकुमारी अन्तःपुर से पूजन के लिये निकलीं। आगे आगे वृद्धा मातायें मङ्गलगीत गाती हुई चल रही थीं। कुमारी को चारों ओर से उनकी अवस्था की सखियाँ घेरे हुए थीं। जैसे ताराओं से घिरी रोहिणी जा रही हों, उसी प्रकार राजकुमारी की शोभा थी। महाराज विदर्भ ने कन्या की रक्षा का विशेष प्रबन्ध किया। अन्तःपुर से गौरी के मन्दिर तक पैदल सैनिकों की एक

लगा दी थी। पैदल सैनिकों के पीछे अश्वारोहियों की बाड़ थी। उनके पीछे रथों की और सबसे पीछे हाथियों पर चढ़े सैनिक खड़े थे। परस्पर में सटे हुए काले काले हाथी ऐसे लगते थे मानों पहाड़ों की लम्बी श्रेणियाँ खड़ी हों और उनके बीच में सड़क जा रही हो। जरासन्ध शिशुपाल आदि सबको शङ्का थी कि चोर जार शिखामणि कृष्ण आया है। यह किसी उत्तम अभिप्राय से सेना सजाकर नहीं आया है। यदि इन यादवों ने तनिक भी छेड़ छाड़ की तो अब के सब मिलकर इन्हें हम इनकी अविनय का फल चखावेंगे। इसलिये सभी सेना को सजाये सचेष्ट थे।

राजकुमारी ज्यों ही स्त्रियों के साथ बाहर निकलीं त्यों ही अस्त्र शस्त्र लिये महाराज भीष्मक के सैनिकों ने उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किये। बहुत से सैनिक अस्त्र शस्त्रों को खोले हुए पंक्तिबद्ध आगे आगे चलने लगे, बहुत से पीछे पीछे चलने लगे। इस प्रकार चारों ओर से सैनिकों से घिरी राजकुमारी गौरीजी के मन्दिर की ओर पैदल ही जा रही थीं। इतनी भीड़ भाड़ थी, किन्तु उनका ध्यान किसी की ओर भी नहीं जाता था। मन से श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के चरणारविन्दों का ध्यान करती जा रही थीं। उनके चरण इतने कोमल थे, कि पैदल चलने के कारण लज्जित होकर अवनि भी पिघल जाती और अपनी स्वाभाविक कठोरता का परित्याग कर देती। जब तक देवीजी का पूजन सम्पन्न न हो जाय, तब तक वे मुख से एक शब्द भी नहीं बोल सकती थीं उन्हें पूजन पर्यन्त मौन व्रत का पालन करना था। उनके आगे-आगे मृदङ्ग, पणव, शङ्ख, तूर्य, और भेरी आदि मंगल वाद्य मधुर मधुर ध्वनि करते हुए बजते जाते थे। आगे अगे वस्त्राभूषणों से अलंकृत वृद्ध ब्राह्मणी स्त्रियाँ थीं, उनके पीछे उनके कुल की बड़ी बूढ़ी मातायें थीं तदनन्तर हाथों में माला, पुष्प तथा वस्त्र अलंकारादि विविधि भाँति की उपहार की

वस्तुओं को लिए हुए सेविकायें चल रही थीं। नाचने और गाने वाली सहस्रों स्त्रियाँ आगे-आगे नाचती गाती हुई चल रही थीं। नट, नर्तक, गायक, सूत, मागध तथा वन्दीजन खेल दिखाते स्तुति करते कन्या के साथ साथ चल रहे थे। इस प्रकार अत्यन्त ही धूम धाम से राजकुमारी की पूजनयात्रा हुई। वह सकुशल गौरीजी के मन्दिर में पहुँच गयी। पहुँचते ही सेविकाओं ने उनके चरणों को धोया। हाथ पैर धोकर आचमन करके उन्होंने मन्दिर के भीतर प्रवेश किया। अत्यन्त शिष्टाचार के साथ भगवती पार्वतीजी के प्रति श्रद्धाभाव प्रदर्शित करते हुए वे उनके समीप बैठ गयीं। बूढ़ी-बूढ़ी विप्रपत्नियों ने जिस प्रकार पूजन करने को कहा, उस प्रकार उन्होंने पूजन किया आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय जल, देकर स्नानादि कराये फिर वस्त्र, हार, आभूषण, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, फल तथा नाना भाँति के उपहार मालपूआ, मोदक और अन्य पकवान आगे रखे। सहस्रों दीपक देवीजी के मन्दिर में जलाये गये। देवीजी का पूजन करके सौभाग्यवती विप्रपत्नियों की विधिविधान से पूजा की उनके सामने मीठे नमकीन विविध भाँति के पदार्थ परोसे उन्हें मालायें पहिनाईं, पान, कंठ में कण्ठसूत्र पहिनाये और हमारा दम्पत्यजीवन मधुर हो, इस भाव से ऊख के गन्ने भी दिये। पूजनोपरान्त उन्होंने हाथ जोड़कर मन ही मन भगवती अम्बिका देवी से प्रार्थना की—"हे देवि! हे अम्बिके! आप घट घट की बातें जानती हो, आप मेरी मनोकामना को पूर्ण करें। भगवान् मदनमोहन ही मेरे पति हों, ऐसा आशीर्वाद आप मुझे दें। मैं आपके परम पुनीत पादपद्मों में प्रेमपूर्वक पुनः पुनः प्रणाम करती हूँ। इस प्रकार विनती करके उन्होंने भगवती की प्रदक्षिणा की। ब्राह्मणपत्नियों की चरण वन्दना की। उन विप्रपत्नियों ने प्रसाद से उनकी गोदी को भर दिया। प्रसाद को मस्तक पर चढ़ाकर साथ की सहेली को

अपने रत्नमुद्रिका से शोभित परम सुकुमार सुकोमल कर कमल को उसके कंधे पर रखकर कटि के भार से नमित हुई सुकुमारी उत्सुकता पूर्वक मन्दिर से बाहर हुईं। उस समय सर्वत्र बाजे बज रहे थे, माङ्गलिक नृत्य गीतों से दशों दिशायें मुखरित—सी हो रही थीं। कन्या के पूजन का समाचार सुनकर उत्सुकता पूर्वक समस्त आगत राजकुमार सज धजकर उनके सौंदर्य को देखने सेना के आगे खड़े हो गये थे।

अब रुक्मिणीजी ने मौन व्रत को त्याग दिया था। मुख के अंचल को भी ऊपर कर लिया था। वे अपनी सहेलियों से हँस हँसकर कुछ बातें भी करती जाती थीं, किन्तु उनकी दृष्टि में चञ्चलता थी, वे उस बड़ी भारी भीड़ में किसी को खोज रही थीं। वे अपने भावों को छिपा रही थीं। इस प्रकार वे देखतीं कि कोई उनके मनोगत भावों को समझ न ले। और की तो बात ही क्या उनकी सखियाँ भी न समझ सकीं। कोई कोई कह देती—"राजकुमारी! जिन्हें तुम खोज रही हो, वे तो जनमासे में बैठे होंगे, ये तो अन्य राजकुमार हैं।" इस पर वे झूठा रोष दिखाती हुईं अपनी अप्रसन्नता प्रकट करतीं और फिर स्वयं ही हँस भी जातीं।

उनका सौन्दर्य अनवद्य था, वह बड़े बड़े धीर वीरों के मन को भी देवमाया के सदृश विमोहित करने वाला था। उनका कटि प्रदेश अत्यंत सुन्दर स्थूल और क्षीण रेशमी वस्त्रों से ढका हुआ था। मनोहर मुखमंडल कमनीय कनक कुण्डलों की कांति से देदीप्यमान था। उन्होंने पन्द्रह वर्ष को पार करके सोलहवें वर्ष में पदार्पण किया था। अंग अंग से यौवनावस्था की प्रभा फूट फूटकर निकल रही थी। रत्नजटित मेखला से उनका कटिप्रदेश आबद्ध था। रेशमी कंचुकी से आवृत उन्नत वक्षःस्थल पर हार और कण्ठमालायें परस्पर में चलते समय प्रेमकलह कर रहीं थीं।

मनोहर मुख पर काली काली अलकावली वायुमें विथुरकर ऐसी प्रतीत होती थीं मानों डरकर चन्द्र को ग्रसने राहुकी कुछ किरणें आती हों और वे पुनः भाग जाती हों। उनकी दृष्टि में उत्सुकता, चञ्चलता, व्यग्रता, अधीरता और आशा निराशाके भाव क्षण क्षण में व्यक्त हो रहे थे। बिम्बाफल के सदृश उनके अरुण अधरोंकी कलित कान्तिसे कुन्दकलीके सदृश उनकी द्युतमती दन्तावली, दाडिमके दानोंके सदृश, शुभ्रता और अरुणताकी सङ्गमस्थली बनी हुई थी। वे जब जब अपने कमलक सदृश अरुणवर्णके कोमल चरणोंको उठातीं, तब तब नूपुरोंकी सुमधुर झनकार हो उठती, जो दर्शकोंके कर्णकुहरोंमें संजीवनीका काम करती, उसे सुनते ही सभी चौंककर कुमारीकी ही ओर निहारने लगते। वे राजहंसिनीके समान कल कल शब्द करती हुई मन्द मन्द गतिसे जा रही थीं। राजपथके उभय पार्श्वोंमें अस्त्र शस्त्रोंसे सुसज्जित जितने सैनिक खड़े हुए थे, वे सबके सब चित्र लिखे सैनिकोंके समान प्रतीत होते थे, उनके न पलक गिरते थे न अंग प्रत्यङ्ग कोई चेष्टा ही करते थे मानों किसीने मोहिनी मंत्र पढ़कर उन सबको स्तब्ध कर दिया हो। राजकुमारोंकी बुरी दशा थी, वे वाहनोंपर बैठे थे। राजकुमारीको देखते देखते उन्हें झपकियाँ-सी आने लगीं और वे धड़ाम धड़ाम करके अपने वाहनोंसे नीचे गिरने लगे।

विदर्भनन्दिनी भगवती रुक्मिणीजी बार बार अपने वाम कर कमलकी कोमल उँगलियोंसे मुखमण्डल पर विथुरी हुई अलकावलीको हटातीं और उत्सुकताभरी दृष्टिसे राजाओंकी ओर देखतीं। वे मूर्ख समझते थे कुमारी अनुरागभरी दृष्टिसे हमारी ओर निहार रही है। उन अज्ञोंको पता नहीं था यह महामाया हमें अपनी मनमोहिनी मायासे मोहित करती हुई अपने [illegible] रोज रही है। वे उनकी दृष्टिरूपी बाणसे विध जाते और मू[illegible]

होकर गिर जाते। इस प्रकार अपनी मनोहर मुसकान और लजीली चितवन से राजकुमारों को मोहित और प्रियतम का अन्वेषण इन दोनों कार्यों को करती हुई आगे बढ़ ही रही थीं, कि उन्हें गरुड़ध्वज वाले रथमें बैठे पीताम्बर ओढ़े श्यामसुन्दर दूरसे दिखायी दिये। उन्हें देखते ही उनके शरीरमें विद्युत-सी फैल गयी। उनके रोम रोम खिल उठे प्रसन्नताके कारण मुख-मंडल चमकने लगा। अब वे राजपथकी ओर न जाकर उस विशाल गरुड़ध्वज वाले रथको ही लक्ष्य बनाकर बढ़ने लगीं, उनकी सखी सहेलियाँ चकित हुईं। सैनिकों और बाजेवालोंको भी विस्मय हुआ, किन्तु राजकुमारी बढ़ती ही गईं बढ़ती ही गईं। इधरसे कुमारी शनैः शनैः बढ़ रही थी उधरसे रथ वेगसे उनकी ही ओर आ रहा था। रथको समीप देखकर राजकुमारी ने पीछे आनेवाली अपनी सहेलियोंसे कहा—"बहिनाओ! राम राम! मुझसे भूल चूकमें जो कुछ अपराध बना हो उसे क्षमा करना। लो मैं तो चली।" सखियाँ कुछ समझ न सकीं। कोई भी कुछ न समझ सका। दो ने ही समझा था तो कारे कृष्णने या गोरी रुक्मिणीजी ने।

छप्पय

करि पूजा परसाद धारि सिर विनती कीन्हीं।
होवें पति मम कृष्ण, सुआशिष देवी दीन्हीं॥
गौरी गृहतें निकसि निहारें हरिकूँ इत उत।
शोभा बरनि न जाय मनहुँ सुन्दरता विहरत॥
रूप, शील, वय विनय लखि, सचर अचर सम सब भये।
कामी नृप वाहन चढ़े, सुन्दरता लखि गिरि गये॥

श्रीरुक्मिणीजीका हरि द्वारा हरण

(१०९२)

तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीम्,
जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ।
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणम् ।
राजन्यचक्रं परिभूय माधव ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ५३ अ० ५५ श्लो०)

छप्पय

गरुणध्वज रथ निरखि बढ़ी उतही कूँ बाला ।
आवत देखी कुँवरि हाँकि रथ लाये लाला ।
कीयो ऊँचो हाथ पकरि कें रथ बैठाई ।
पायो पतिको परस फुरुहुरीं अँग अँग आई ॥
जावे निर्भय भाग लै, सिंह सुगालनि मध्य ज्यों ।
देखत देखत नृपनिके, भगे भाग लै श्याम त्यों ॥

ब्राह्म, आर्ष, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच आदि विवाहों के आठ भेद माने गये हैं। इनमें एक से एक अधम माना गया है ब्राह्मसे आर्ष अधम है, उससे गान्धर्व और उससे भी राक्षस

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् भगवान् ने देखा विदर्भ नन्दिनी रुक्मिणीजी मेरे रथपर चढ़ना चाहती हैं, तो उन्होंने उनको समस्त शत्रुओंके सम्मुख हाथ पकड़कर उठा लिया और अपने गरुड़ध्वज रथपर समस्त क्षत्रियों का तिरस्कार करके चढ़ा लिया।"

विधिसे किया हुआ विवाह। ब्रह्म विवाह में तो कन्याका पिता वर को बुलाकर कन्याको अलंकृत करके विधि विधान पूर्वक उसे कन्याको समर्पित करता है। आर्ष विवाह में वर 'स्वयं कन्याकी याचना करने जाता है और दो वृषभ मंगल रूपमें कन्याके पिता को देकर उसकी कन्या को ग्रहण करता है। ये दोनों धर्म विवाह हैं। गान्धर्व विवाह यद्यपि क्षत्रियों में श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु वास्तव में वह कामविवाह है। वर वधू दोनों का मन मिलने पर माता पिताके बिना पूछे ही यह विवाह हो जाता है इसमें वेद मन्त्र न भी पढ़े जायँ, तो भी विशेष आपत्ति नहीं होती राक्षस विवाह में कन्याके माता, पिता तथा कुटुम्बियोंको जीतकर उन्हें मारकर या बांधकर बलपूर्वक कन्या का हरण किया जाता है। इसमें कन्याकी इच्छा हो या न हो यह वीर्यशुल्क विवाह है। एक धन देकर भी विवाह किया जाता है। यह अत्यन्त निकृष्ट है। यदि राक्षस विवाह में कन्याकी अनुमति हो तब वह गान्धर्व और राक्षस दोनोंका संमिश्रण एक अन्य ही प्रकारका विवाह हो जाता है। भगवान् ने श्रीरुक्मिणीजीके साथ विवाह राक्षस विधिसे किया, किन्तु इसमें कन्याकी भी पूर्ण अनुमति थी, इसलिये इसे गान्धर्व भी कह सकते हैं। पिता की अनुमति थी और उन्होंने मन से भगवान् को बुलाया था वरण भाँति उनका पूजन भी किया था, इसलिये ब्राह्म विवाहका उसमें अंश था। इस विवाह में भगवान्ने कन्या के किसी परिवार वालेपर प्रहार नहीं किया पक्ष के किसी भी बन्धु बान्धव को बिना मारे वे कन्याको ले गये थे। अतः उन्होंने इस अनुपम विवाह में सभी विवाहों की छटा दिखा दी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भाग्यशाली के यहाँ छप्पड़ फाड़कर लक्ष्मी आ जाती है, उसी प्रकार देवीजी के मन्दिर पार्श्व में खड़े हुए भगवान् वासुदेव के पास स्वयं ही भगवान

रुक्मिणीजी चली गई। जाते ही उन्होंने सुवर्ण मुद्रिका से विभूषित, कमलकी पंखुड़ियों के सदृश कोमल उंगलियों वाले अपने अरुण वरणके पाणिको ऊपर उठाया। अर्थात् भगवानसे कहा—"आप इन सब राजाओंके देखते हुए मेरा पाणिग्रहण करें आप मेरा पाणिग्रहण कर लेंगे, तो फिर मुझे आपसे कोई भी पृथक् नहीं कर सकता।" भगवान् तो पाणिग्रहण करनेको समुत्सुक ही थे उन्होंने

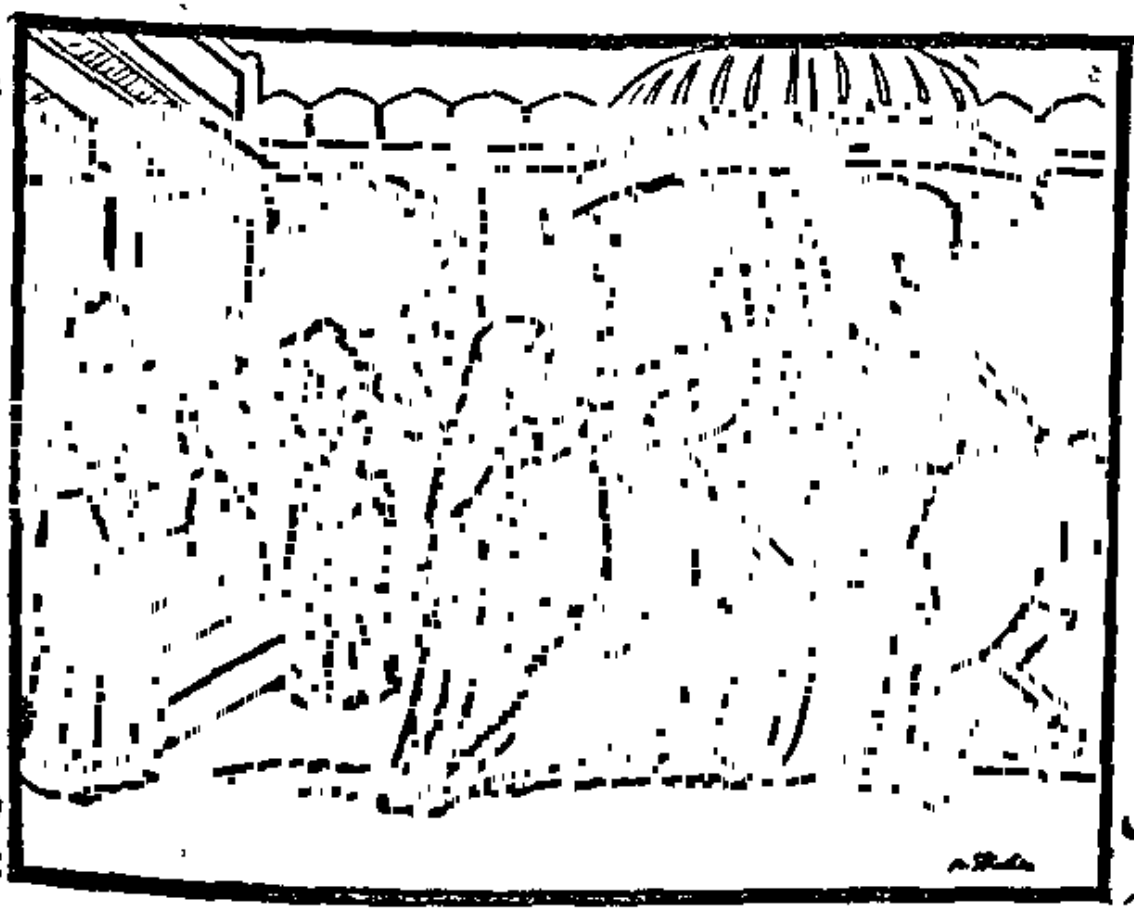

भी अपने कोमल करको आगे बढ़ाया। रुक्मिणीजी राजाकी पुत्री थीं, रथपर चढ़ना उसे चलाना सभी जानती थीं। अतः भगवान् के कर कमल का सहारा पाकर वे रथपर चढ़ गईं। भगवान् ने उन्हें वामाङ्ग में बिठा लिया मानों देवीजी को साक्षी करके विवाहके सभी संस्कार सम्पन्न हो गये। अब वहाँ अधिक ठहरना भगवान्ने उचित नहीं

सिंह जैसे सभी वनचरोंके सम्मुख अपना भाग लेकर चला जाता है, उसी प्रकार वे राजकुमारीको लेकर बलरामादि यादवों के साथ वहाँसे चल दिये।

राजाओं में हल्ला मच गया। लोग चिल्लाने लगे—क्या हुआ, क्या हुआ ? कौन कुमारीको ले गया ? किसने ऐसी अविनय की, किसने सर्पोंके सिरों पर पैर रखकर उन्हें क्रुद्ध बना दिया ?" इस पर एक भगवद्भक्त राजा थे वे हँसते हुए बोले—"हुआ क्या, जो होना था, सो हुआ। जिसकी वस्तु थी, वह उसे लेकर चम्पत हुआ अब तुम लोग सिरको पत्थर पर पटको या काला मुख करके अपने अपने घरका मार्ग पकड़ो। पक्षी फुर्र से उड़ गया, खेल समाप्त हुआ।"

यह सुनकर जरासन्ध के वंशवर्ती भगवद्द्वेषी राजा क्रोध में भरकर मूछोंको मरोड़कर ओठोंको काटकर कहने लगे—"अरे, यह तो हम लोगों का बड़ा अपमान हुआ। हमारी इतने दिनकी बढ़ी हुई कीर्ति धूलि में मिल गई हाय हमारे देखते देखते ये अहीर ग्वाले एक राजाकी लड़की को बलपूर्वक हर ले जायँ और हम टुम्म टुम्म देखतेके देखते ही रह जायँ हमारे बल वीर्यको धिक्कार है। हमारे ये धनुष बाण केवल देखने की ही वस्तु रह गये। हाय! हम अस्त्र शस्त्रोंको धारण किये इतने राजा खड़े थे और एक क्षत्रियों से बहिष्कृत भगोड़े गोप हमारे बीच में से राजपुत्री को इसी प्रकार ले गये जैसे सहस्रों सिंहोंके बीचसे उनके भागको ही हरिण उठा ले जायँ।"

उस पर दूसरे नृपति गण बोले—"अरे भाई, ऐसे पश्चाताप करने से ही क्या होगा कुछ पुरुषार्थ करो। वे कहीं दूर तो निकल नहीं गये हैं, कृष्ण के रथकी ध्वजा वह सामने दिखायी दे रही है। सब मिलकर उसे घेर लो और उसे पराजित करके उससे कन्याको छीन लो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहते ही क्रोध में भरकर समस्त राजागण कवच पहिनकर अस्त्र शस्त्रों को धारण करके तथा अपने अपने वाहनों पर चढ़ चढ़कर चतुरङ्गिनी सेना के सहित श्रीकृष्ण का पीछा करने लगे; युद्ध के लिये आते हुए वीरों को देखकर यदुवंशियों की सेना के वीर भय से भागे नहीं। वे लौटकर खड़े हो गये और घोड़ों को नचाते हुए धनुषों की टंकार करने लगे। शत्रुओं की सेना ने शीघ्रता के साथ आकर यादवों की सेना को घेर लिया जैसे कुत्ते हाथी को घेर लेते हैं। उन राजाओं ने आते ही कुछ भी पूँछ ताँछ नहीं की चारों ओर से यादवी सेना पर बाणों की वर्षा करने लगे। जैसे पर्वत पर मूसलाधार पानी बरसता है, उसी प्रकार यादवों की सेना पर सब नृपति एकत्रित होकर बाणों की वर्षा कर रहे थे। उनमें से बहुत से घोड़ों पर चढ़े हुए थे। बहुत से हाथियों पर और बहुत से रथों में बैठे हुए थे।

रुक्मिणीजी ने जब देखा कि ये सब राजा तो एक साथ मिलकर हमारी सेना पर बाण वर्षा कर रहे हैं और हमारा रथ तथा समस्त सेना के सेनापति बाणों से ढँक गये हैं, तब तो वे बड़ी भयभीत हुईं। कातर दृष्टि से लजाती हुई वे बार बार घनमाली की ओर निहारने लगीं। भगवान् वासुदेव उनके मनोगत भावों को समझकर हँसते हुए कहने लगे—"अरे, राजकुमारी ! तुम इतने से ही डर गईं क्या ? तुम घबराओ मत देखती जाओ तुम्हारी सेना वाले संख्या में भले ही न्यून हों, किन्तु अभी क्षण भर में ही इस समस्त रिपु सेना का संहार कर देंगे। तुम रथ में बैठी बैठी खेल देखती जाओ। भयभीत होने की कोई बात नहीं।"

यह सुनकर रुक्मिणीजी का भय कुछ दूर हुआ। अपने प्राणनाथ के पास बैठी बैठी युद्ध को देखने लगीं। २

गद आदि महारथी यादवों के साथ शत्रुओं की सेना पर टूट पड़े। वे अपने शत्रुओं के पराक्रम का तिरस्कार करके उन पर बाणों की वर्षा करने लगे। जिसमें सैनिक, हाथी, घोड़े तथा रथ कट कटकर रणाङ्गण में गिरने लगे। वे बड़ी सावधानी से शत्रुओं के बाणों को बचाते हुए उन पर प्रहार कर रहे थे। इसलिये उनके बाण तो व्यर्थ बन जाते और उनके बाण शत्रुओं की सेना को काट काट कर गिराने लगे। सैनिकों के मुकुट और कुण्डलों से युक्त सिर कट कट कर गिरने लगे। किसी के बावजूद और कंकणों से युक्त हाथ ही कटकर गिर रहे थे। किसी के चरण, अरु, धड़ और अन्यान्य अंग छिन्न भिन्न हो रहे थे। सैनिकों के समान ही हाथी, घोड़े, ऊँट, खच्चर तथा गधे भी कट रहे थे। वे पीड़ा से चिंघाड़ते हुए भागते और दूर मरकर गिर पड़ते। यादवों की ऐसी वीरता देखकर, सभी नृपतिगण चकरा गये। उनमें बहुत से तटस्थ थे। वे सोचने लगे—"अरे हम तो बरात में आये थे हमारे लिये तो राजकुमारी का विवाह शिशुपाल से हो या श्रीकृष्ण से हम क्यों व्यर्थ में अपने प्राण दें।" यह विचार कर वे लौट गये। जरासंधादि राजाओं ने भी जब देखा, इन यादवों को जीतना सामान्य काम नहीं है। हम लोगों की तैयारियाँ भी उतनी नहीं हैं। यहाँ इनसे लड़ने का अर्थ है अपनी शक्ति का अपव्यय करना।" यही सोच समझ कर वे युद्ध से पराङ्मुख हो गये। यादव अपनी विजय का डंका बजाकर आगे निकल गये। ये लोग लौटकर जनवास में आ गये।

जनवासे में आकर राजाओं ने देखा, शिशुपाल की बुरी दशा है। जैसे किसी भूखे के सामने से परसी हुई थाली उठाली जाय, उस समय उसे जैसी निराशा होती है, वैसी निराशा उसे हो रही थी। दुलहन के छिन जाने से उसका मुख सूख गया था, सम्पूर्ण नष्ट हो गया था और वह तकिया में मुख छिपाये हुए रो रहा

था। उसे इस प्रकार अधीर हुआ देखकर जरासन्ध आदि उसके हितैषी राजा उससे कहने लगे—"हे पुरुष सिंह! यह क्या? तुम स्त्रियों की भाँति रो क्यों रहे हो? अरे यह तो संसार चक्र है। जैसे रथ का पहिया कभी ऊपर आता है कभी नीचे चला जाता है, इसी प्रकार जय पराजय तो क्षत्रियों को लगी ही रहती है। यह भाग्य का खेल है। प्रारब्ध के सम्मुख पुरुषार्थ काम नहीं देता। फिर भी मनुष्य को साहस न खोना चाहिये और न निराश ही होना चाहिये। द्वन्द्वों का ही नाम तो जीवन है। सुख के साथ दुःख जीवन के साथ मरण और जय के साथ पराजय लगी ही रहती है। हम सब को काल रूप भगवान उसी प्रकार नचा रहे हैं जैसे कठपुतलियों को नचाने वाला काठ की कठपुतलियों को नचाता है। आपको इस प्रकार निराश न होना चाहिये। एक बहू न मिली न सही तुम्हारे नव नव के विवाह हो जायँगे।"

शिशुपाल ने रोते रोते कहा—"मुझे बहू के जाने का इतना शोक नहीं है। मैं तो सोचता हूँ अब क्या मुँह लेकर मैं घर जाऊँगा। कैसे अपने सगे सम्बन्धियों को मुख दिखाऊँगा।"

जरासन्ध ने अपनेपन के भाव से कहा—"अरे भाई! इसमें मुख न दिखाने की कौन सी बात है। युद्ध में दो ही बातें तो होती हैं जय या पराजय। आज हम जिससे हार गये हैं, समय आने पर हम भी उसे हरा सकते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मैं स्वयं ही तुम्हारे सम्मुख समुपस्थित हूँ। देखो मैंने सत्रह बार बड़ी बड़ी सेनाओं को लेकर मथुरा पर चढ़ाई की और कृष्ण ने मुझे परास्त किया। फिर भी मैंने साहस नहीं छोड़ा उद्योग करता ही रहा। अठारहवीं बार मेरा भी दाव लग गया। मैंने भी यादवों को हरा दिया। मेरे ही भय से तो ये सब अपनी पैतृक भूमि को छोड़ कर समुद्र के बीच में आकर छिपे हैं। सत्रह बार

जब मैं हारा था तब मुझे न कुछ शोक ही हुआ और न अठारहवीं बार जय होने पर हर्ष ही। क्योंकि मैं सब जानता हूँ, जय पराजय यह सब दैवाधीन है। यह सम्पूर्ण जगत् देव प्रेरित काल के कारण ही, सुखी दुखी उन्नत अवनत आदि अवस्थाओं में पड़ा करता है।

बलाबल करने वाला तो काल ही है। न कोई बली है न कोई निर्बल जब जैसा समय होता है तब मनुष्य तैसा ही बन जाता है। इस समय काल यादवों के अनुकूल है, उनकी विजय हो गयी। थोड़े होने पर भी वे हमारे देखते देखते कन्या को हर ले गये। जब काल हमारे अनुकूल होगा, तो हम भी विजयी होंगे, इन भगोड़ों को परास्त करेंगे।"

यह सुनकर शिशुपाल क्या करता। उसने कहा—"अच्छी बात है, इस समय मेरा चित्त अच्छा नहीं है, आप लोग विश्राम करें मैं एकान्त में थोड़ी देर रहना चाहता हूँ।" यह सुनकर अन्य सब राजा लोग इधर उधर हो गये। तब शिशुपाल ने चुपके से पालकी मँगाई। उसमें पर्दा पड़ा हुआ था। उसमें बैठकर वह भाग गया। पीछे से उसकी सेना भी चल दी जब दूल्हा ही खेत छोड़कर भाग गया, तो बराती रह कर क्या करते और उन्हें वहाँ पूछता ही कौन अपना-सा मुँह लेकर वे सब के सब चल दिये।

शिशुपाल रात में अपने घर पहुँचा। उसकी माता बहिनें और भाभियों ने समझा वहू आई है इस लिये वे सब आरती सजाकर पालकी के पास गईं। शिशुपाल एक तो वैसे ही काला फिर रोने से उसकी आँखों का काजल बहने से मुँह और

अधिक काला हो गया था। परदा उठाकर ज्यों ही स्त्रियों ने देखा तो वे डर गईं और बोलीं—"इसमें बहू नहीं है कोई भूत बैठा है।" चारों ओर हाहाकार मच गया। लोग भी आ गये सबने देखा उसमें न भूत है न बहू। काला मुस्टन्ड शिशुपाल है। शिशुपाल बिना बोले ही लज्जा के कारण भीतर घुस गया। तब उसकी भाभियों ने पूछा—"लल्लू! बहू नहीं लाये क्या?"

उसने क्रोध में भरकर कहा—"चलो हटो! तुम्हें बहू की ही पड़ी है। हम जीवित लौट आये यही क्या कम है। वहाँ बड़ी गड़बड़ी हुई। बहू किसी काम की नहीं थी। वह तो किसी के साथ भाग गयी।"

इस पर एक चपल सी स्त्री ने कहा—"लालाजी अंगूर खट्टे हैं।"

यह सुनकर शिशुपाल और भी अधिक लज्जित हुआ। वह भीतर चला गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार शिशुपाल तो निराश होकर लौट आया। श्रीकृष्ण रुक्मिणीजी को लेकर चल दिये, किन्तु इस बात से उसके बड़े भाई रुक्मी को बड़ा दुःख हुआ। वह चाहता था चाहे मेरी बहिन का विवाह किसी भी राजा से हो जाय, किन्तु कृष्ण से न हो।" जो वह नहीं चाहता था वही हुआ इससे उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। राजा जब अपने अपने नगरों को जाने लगे तब उसने अपनी सेना को सजाया और सबको सुनाकर कहने लगा—"राजाओं! मैं आप लोगों के सम्मुख हाथ में शस्त्र ग्रहण करके सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, कि जब तक कृष्ण को हरा कर अपनी बहिन रुक्मिणी को लौटाकर न लाऊँगा तब तक मैं कुण्डिनपुर में प्रवेश न करूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करके वह श्रीकृष्ण भगवान् से युद्ध करने के लिये चल दिया।

छप्पय

तब अति हल्ला मच्यो नृपति सब लड़िवे आये।
यादव बीरनि सबहिँ भूप खल मारि भगाये॥
जनमासे महँ आइ सबनि शिशुपाल मनायो।
करि कारो मुख भागि रैनि महँ निज घर आयो॥
इत रुक्मी ह्वै क्रुद्ध अति, करी प्रतिज्ञा हौं लरूँ।
हरि बध करि बिनु अहिन लै, नगरी महँ नहिँ पग धरूँ॥

भगवान्‌के साथ रुक्मीका युद्ध

(१०६३)

कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः ।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५४ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

व्यर्थ प्रतिज्ञा करी चल्यो सेना सजि मानी ।
ललकारे घनश्याम बीरता बड़ी बखानी ॥
भये खड़े भगवान् बान तकि तकि कैं मारे ।
कुन्डिनपुर के बीर भगे बोले हम हारे ॥
रुक्मी है कैं बिरथ लै, कर करबाल चल्यो लड़न ।
तबही रथ तैं उतरि हरि, लगे खड्ग तैं वध करन ॥

अपराजित अच्युत से जो युद्ध करते हैं, वे भी बड़े भाग्य वाली हैं। भगवान की प्राप्ति तो सम्बन्ध से होती है, उनसे पुत्र, मित्र, सखा, बन्धु, पिता, पति तथा अन्य कोई भी सम्बन्ध

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् का पीछा करते हुए रुक्मी उनसे कहने लगा—"अरे ओ मन्दमति कृष्ण! तू मेरी बहिन को जिस प्रकार कौआ हविको चुरा कर भागता है उसी प्रकार लेकर कहाँ भागा जा रहा है। आज मैं तेरे समस्त अभिमान को चूर्ण कर दूँगा। तेरा ही मायावी और कपट युद्ध में कुशल है।"

मान लो। उन्हें चाहे शत्रु भाव से भजो या मित्र भाव से कल्याण तो होता ही है। जो साक्षात् भगवानसे अस्त्र शस्त्र लेकर लड़नेको उद्यत हो जाते हैं जो उन्हें निर्भय होकर गाली देते हैं, उनका इतना बड़ा साहस भी तो भगवान् ही देते हैं, नहीं तो साधारण मनुष्यका इतना साहस कहाँ कि वह सर्वेश्वर के सम्मुख ऐसी धृष्टता कर सके।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब रुक्मीने यह प्रतिज्ञाकी कि बिना रुक्मिणी को छुड़ाये और बिना कृष्ण को मारे मैं अपने नगर कुण्डिनपुर में पैर न रखूँगा, तब तो योद्धाओं का उत्साह बढ़ा। वीर मानी रुक्मी अपने रथ पर चढ़ा और अत्यन्त ही अभिमान के साथ बोला—"सारथिन्! देखो, तुम मेरे रथ को अविलम्ब उसी ओर ले चलो, जिधर मेरी बहिनको लेकर कृष्ण गया है। आज मेरे और उसके दो दो हाथ होंगे। उस अनार्य गोपालका साहस तो देखो, इतने राजाओंके बीचसे राजकुमारीको हर ले गया है। आज मैं उस गौ चराने वाले मन्दमति गोपालके मदको मर्दन कर दूँगा। उस उन्मत्तके समस्त अविनयका अंत कर दूँगा। तुम अति शीघ्र रथको चला कर उसे पकड़ लो। वह अधिक दूर न जाने पावे।"

सारथीने हाथ जोड़कर कहा—"जैसी देव की आज्ञा। मैं अभी श्रीकृष्णके रथके समीप आपके रथ को पहुँचाता हूँ।" यह कह कर उसने घोड़ों में चाबुक मारा। घोड़े वायुसे बातें करने लगे। कुछ ही क्षणों में वह मन्दमति माधवके रथके समीप पहुँच गया। उसे अपने बलका अत्यधिक अभिमान था, अतः उसने पीछे आने वाले सैनिकों को भी रोक दिया और वह ईश्वरकी महिमाको न जानने वाला मंदमति एकाकी ही भगवानसे लड़ने पहुँच गया। भगवान् के समीप पहुँचते ही वह चिल्लाने लगा—"अरे भगोड़े! खड़ा रह खड़ा रह। मेरी बहिनको लिये

चोर की भाँति कहाँ भागा जा रहा ?"

भगवान् ने कहा—"तेरी आँखें फूट गई हैं क्या ? चोर की भाँति कहाँ जा रहे हैं। हम तो तुम सब की आँखों में धूलि झोंक कर अपने पुरुषार्थ से अपने भाग को लिये जा रहे हैं। तुझमें साहस हो तो छुड़ा ले।"

इतना सुनते ही रुक्मी क्रोध में भर गया। उसने बिना कुछ विचार किये ही भगवान् को लक्ष्य करके तीन बाण छोड़े और गरजकर बोला—"अरे यदुकुल कलंक! तू खड़ा होकर मेरे प्रहारों को सह तो सही। तैंने कहीं वीरता भी दिखाई है ? भगोड़ा कहीं का। तैंने तो जीवन भर चोरी जारी ही की है। जैसे कौआ यज्ञ मंडप में रखी हवि को चुपके से चुराकर चंपत हो जाता है, वैसे ही तू मेरी बहिन को चुराकर भागा है। तुझमें बल वीर्य तो नहीं। केवल छल कपट करना ही तू जानता है। कालयवन को तैंने छलकर मरवा दिया। अपने मामा को कपट से मार दिया। आज मैं तेरे सब कपट को कपूर की भाँति उड़ा दूँगा। आज तेरा सब मायावीपना भुला दूँगा, तेरे समस्त गर्व को खर्व कर दूँगा। जब तक मैं अपने तीखे तीखे बाणों से वेधकर तुझे यमपुर न पठा दूँगा, तब तक मैं रण छोड़कर जाऊँगा नहीं। अब तेरी मृत्यु निकट ही आ गई। यदि तुझे अपने प्राण प्यारे हैं, तो इसी समय मेरी बहन को छोड़ दे और भाग जा। मैं वीर हूँ भागते हुओं पर और हाहा खाते हुओं पर अस्त्र शस्त्र नहीं छोड़ता।"

भगवान् ने कहा—"सालेजी! बहुत बढ़ बढ़ कर बातें न करो। कुमरजी! अपना पुरुषार्थ दिखाओ। बक बक करना कायर का काम नहीं। जो बड़बड़ाते हैं, वे पुरुषार्थ नहीं दिखाते। बहुत गर्जते तर्जते हैं, वे कोरे ही होते हैं। तुममें कुछ बल है पुरुषार्थ है तो कुछ करके दिखाओ। अच्छा, तो लो सम्हलो। बाण छोड़ता हूँ।"

यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने आठ बाण एक साथ छोड़े। उन आठ बाणों में से चार बाणों ने तो जाकर रुक्मी के चारों घोड़ों को मार दिया। दो से सारथी का और दो से उसके रथ की ध्वजा काट दी। अन्य छै बाणों से [illegible] उसके शरीर को वेध दिया।

सारथी और घोड़ों के मरने पर तु[illegible] रथ लिया और आगे दौड़ा और पाँच [illegible] प्रहार किया। भगवान् ने पुनः उसका धनुष रथ काट दिया घोड़े सारथी आदि को मार दिया फिर उसने नया रथ लिया। फिर भी भगवान ने ऐसा किया। तदनंतर धनुष छोड़कर उसने अन्य अस्त्रों से युद्ध करना आरम्भ किया। क्रमशः उसने परिट्टश परिघ, शूल, भुसुन्डी, ढाल, तलवार, तोमर तथा अन्यान्य बहुत से अस्त्र शस्त्र उठाय, किन्तु उसने जो जो उठाये उन सबको श्यामसुन्दर ने काट दिया। रथ को भी छिन्न भिन्न कर दिया। जब उसने देखा मेरे सब अस्त्र शस्त्र विफल बन गये, तब तो उसे अत्यंत क्रोध आया वह ढाल तलवार लेकर रथ से उसी प्रकार कूद पड़ा जैसे मृग सिंह को मारने को कूदा हो अथवा पतंग अग्नि को बुझाने कूदा हो।

भगवान् ने देखा यह तो पूरी शक्ति लगाकर मुझे मारने आ रहा है, तब आपने कई तीखे तीखे बाण छोड़कर उसकी ढाल तथा तलवार को तिल तिल सदृश काटकर गिरा दिया। जब वह शस्त्र हीन हो गया, तो आप तुरन्त रथ पर से उतर पड़े। जैसे सिंह झपटकर मृग को पकड़ लेता है वैसे ही भगवान् ने उसके बड़े बड़े सिर के बालों को पकड़ लिया और एक तीक्ष्ण तलवार निकालकर उसके सिर को काटने को उद्यत हुए।

अब तक तो रथ में बैठी रुक्मिणीजी शंकित चित्त से रुक्मी और भगवान् के युद्ध को देखती रहीं, किन्तु जब उन्होंने देखा

भगवान् इसके वध पर ही उतारू हैं, तो उन पर अब रथ में बैठा नहीं रहा गया। वे तुरन्त रथसे कूद पड़ीं और अपने प्राणनाथके पैरोंमें पड़कर भयसे काँपती हुई अत्यंत दीन वाणीसे गिड़गिड़ाती हुई कहने लगीं—"हे अप्रमेयात्मन्! हे योगेश्वर! हे जगत्पते! हे देवोंके भी देव! हे परम कल्याणस्वरूप आप ऐसा मत करो। इसका वध करना आपको उचित नहीं।"

भगवान्ने कहा—"प्रिये! तुम मेरे कार्यमें हस्तक्षेप मत करो। यह आततायी है। यह वधके योग्य है। इसने मेरा बड़ा अपमान् किया है।"

रुक्मिणीजी ने दीनताके साथ कहा—"प्रभो! आप इसके दोषोंकी ओर न देखें। मुझ अबलाकी ओर निहारें। मैं दीन होकर आपके चरणोंमें पड़ी हूँ, आर्त होकर विनती कर रही हूँ। यह मेरा भाई है। इस नातसे ही आप इसे छोड़ दें। इसके मारनेसे मुझे कष्ट होगा। आपके शरणागतों को कष्ट हो यह उचित नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भाईके वधकी आशंकासे भगवती रुक्मिणीजी का शरीर थर थर काँप रहा था। शोकके कारण उनका मुखकमल मुरझा गया था। भयके कारण उनका कंठ गद्गद् हो गया था। केश अस्तव्यस्त हो गये थे, सिरका वस्त्र खिसक गया था, अत्यन्त आतुरताके कारण सुवर्ण और मोतियोंकी मनोहर मालायें कंठसे गिर गई थीं। दीनबन्धु श्याम सुन्दरको उनकी ऐसी दयनीय दशा पर दया आ गई। अपनी प्रियाको चरणों पर पड़कर प्रार्थना करते देखकर उनका हृदय द्रवित हो गया। वे बोले—"प्रिये। जब तुम नहीं चाहती कि इसका वध हो, तो कौन इसका वध कर सकता है, किन्तु इसने आवश्यकतासे अधिक अशिष्टताकी है, अतः इसे दण्ड देना तो आवश्यक ही है।"

कातर वाणी में रुक्मिणीजी ने कहा—"प्राणनाथ! प्राण दण्ड को छोड़कर आप और जो उचित समझें इन्हें दण्ड दें। आप इन्हें मार देंगे, तो संसारमें मेरा बड़ा अपयश हो जायगा।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तुम रथ पर बैठो मैं इसे मारूँगा नहीं, तनिक इसका क्षौर कर्म तो कर दूँ, दाढ़ी मूछों को तो मूड़ दूँ।"

भगवानकी आज्ञासे रुक्मिणीजी रथ पर जा बैठीं। अब भगवानने अपने दुपट्टेसे उसे कसकर रथमें बाँध दिया। और एक तीक्ष्ण खड्ग लेकर उसके सिरके दाढ़ी मूँछके बाल कहीं कहींसे मूड़ दिये। एकतो विधिवत छुरेसे क्षौरकर्म किया जाता है। दूसरे खड्गसे। कहीं बाल हैं, कहीं कट गये, कहींसे रक्त निकल रहा है। इस प्रकार उसे कुरूप करके रथके पीछे बाँध दिया।

इतने में ही शत्रु सेनाका सब ओरसे संहार करते हुए शूराग्रगण्य संकर्षण वहाँ आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने जो रुक्मी की ऐसी दुर्दशा देखी तो उन्हें बड़ी हँसी आई। उन्होंने देखा घूँघट में से रुक्मिणी देवी देख रही है, उनकी दृष्टि अत्यन्त कातर हो रही है और नयनोंसे निरन्तर नीर बह रहा है। यह देखकर बलरामजी को बड़ी दया आई और वे तुरन्त रुक्मीके समीप गये। जाते ही उन्होंने रुक्मीके बन्धनोंको खोल दिया। उन्होंने देखा रुक्मीका सिर लज्जाके कारण ऊपर नहीं उठता था, वह अधमृतकावस्था में पड़ा पड़ा दीर्घश्वास ले रहा था। रुक्मीके बन्धनसे मुक्त करके बड़े होनेके नाते श्रीकृष्णको डाँटते हुए बलरामजी बोले—"कृष्ण! भैया! हम तुम्हारी इस बातसे बहुत असन्न हैं, यह तुमने बहुत बुरा काम किया।"

लजाते हुए भगवानने कहा—"दादा! तुमने सुना नहीं इस नीचने मुझे कितनी बुरी बुरी गालियाँ दी थीं। मैं तो इसका वध करने वाला था, किन्तु संकोचवश नहीं किया।"

डाँटकर बलदेवजी बोले—"और वध तू क्या करता भैया! अपने सगे सम्बन्धियों की दाढ़ी मूँछे मूँड़ लेना, उन्हे कुरूप कर देना यह तो वध से भी बुरी बात है। क्रोध में आकर गाली गलोज तो हो ही जाती है। फिर साले के मुख की गालियाँ तो मीठी होती हैं। तू इतना बड़ा हो गया पर तेरा लड़कपन अभी तक नहीं गया। अरे, भाई! साले को लोग कितना प्यार करते हैं, उसका कितना सत्कार करते हैं सो आदर सत्कार तो कूआभाड़ में गया, उलटे तुमने उसे कुरूप बना दिया। यह बड़ी बुरी बात है। यह तुमने बड़ा भारी लड़कपन किया। इससे हमारी बड़ी निन्दा होगी।"

बलदेवजी श्रीकृष्ण को इस प्रकार डाँट रहे हैं, मेरे भाई का पक्ष ले रहे हैं, यह सोचकर रुक्मिणीजी को बहुत ही आन्तरिक प्रसन्नता हुई। वे समझ गईं ये मेरे जेठजी हैं। अतः उन्होंने आँचल को और खिसका लिया और आँसुओं को पोंछकर घूँघट में से दो उँगलियों के सहारे एक आँख से देखने लगी। बलदेवजी उनकी मुखाकृति को देखकर समझ गये, इन्हें बड़ा भारी दुःख हुआ है और मेरे व्यवहार से इन्हें सान्त्वना मिली है। तो वे रुक्मिणीजी को ही सम्बोधन करके बोले—"बहू! तुम दुखी मत होना। न यही बात मन में सोचना कि इन यादवों ने हमारे बड़े भाई का अपमान किया है। राजपुत्रि! तुम तो स्वयं ही बुद्धिमती हो। संसार में न कोई किसी का मान कर सकता है न अपमान, यह सब काल करा लेता है। जिस समय जैसा काल होता है, वैसी ही बुद्धि बन जाती है। बल अबल सब काल के ही अधीन है। दूसरा दुख सुख देने वाला नहीं। अपने ही पूर्वजन्मकृत कर्म प्रारब्ध बनकर सुख दुःख देते रहते हैं। कृष्ण ने जो कुछ किया वह अनुचित ही किया। फिर भी यही मानना चाहिए। रुक्मी के भाग्य में ऐसा ही होना लिखा होगा।"

भगवान् बोले—"दादा! तुम मुझे तो दोष दे रहे हो। इस-

रुक्मी की ओर तो देखते नहीं, इसने प्रथम आकर मुझ पर प्रहार किया। फिर मैं क्षत्रिय होकर प्रहार करने वाले पर प्रहार क्यों न करता! यह तो आततायी है, वध के योग्य था।"

बलदेवजी ने अपनी बात पर बल देकर कहा तुम फिर वही लड़कपन की बातें करते हो—"अरे भाई अपने सगे सम्बन्धी ने कोई वध के योग्य बुरा काम कर भी डाला हो, उससे अनुचित व्यवहार हो भी गया हो तो भी उसे मारना न चाहिए। कुछ डाँट डपटकर छोड़ देना चाहिये। देखो, पापी तो अपने पाप से मरा हुआ है ही फिर मृतक को क्या मारना। पिसे हुए को क्या पीसना?"

रुक्मिणीजी अपनी भाई की दुर्दशा देखकर रो रही थीं। इसलिये उन्हें भी बलदेवजी बीच बीच में समझाते जाते थे। वे रुक्मिणीजी से बोले—"राजकुमारी! तुम इतनी अधीर मत होओ। क्या बतायें ब्रह्माजी ने क्षत्रिय का ऐसा कठोर धर्म ही बना दिया है। रण में शस्त्र लेकर अपना सगा भाई भी आता है, तो उसे मारना पड़ता है। पिता हो, पितामह हो, मातुल हो, चाचा हो, कोई भी सगा सम्बन्धी क्यों न हो यदि वह क्षत्रिय को युद्ध के लिये अस्त्र शस्त्र लेकर ललकारता है, तब तो उसकी ललकार स्वीकृत करनी ही पड़ती है। उसे विवश होकर दण्ड देना पड़ता है। इसीलिये क्षात्र धर्म को क्रूर, कठोर और घोर बताया है।"

इस पर भगवान् ने कहा—"दादा! अब तुम चाहे जो कह लो। तुम्हारे सामने कोई ऐसे बढ़ बढ़कर डींग मारता, तो क्या तुम उसे छोड़ देते? आप ऐसा तिरस्कार चुपचाप सह लेते।"

बलदेवजी ने कहा—"यदि हम न सह सकते तो हम भी मूर्ख करते। तुम सोचो, आदमी दूसरों को तिरस्कार क्यों करता है? अभिमान के वशीभूत होकर। अब सोचो अभिमान क्यों होता है? अभिमान होता है ऐश्वर्य के कारण, कला कौशल के कारण।

मेरा इतना भारी राज्य है, मैं इतने बड़े प्रदेश का अधीश्वर हूँ, इतनी पृथ्वी मेरे अधीन है। मेरे पास इतना विपुल धन है, मेरे यहाँ बड़ी रूपवती सुकुमारी कुलवती स्त्रियाँ हैं, मेरा सर्वत्र इतना मान सम्मान है। मैं ऐसा तेजस्वी और प्रभावशाली हूँ। इसी प्रकार के और भी ऐसे ही अनेक कारणों से प्राणी अपने बन्धु-बान्धवों और सगे सम्बन्धियों का तिरस्कार कर दिया करता है। किन्तु हमें ऐसा करना शोभा नहीं देता।"

इतना कहकर बलदेवजी फिर रुक्मिणीजी को समझाने लगे—"देख! बेटी! अब जो हुआ सो हुआ। वास्तव में तेरा शोक करना झूठा मोह ही है। तेरा भाई समस्त प्राणियों से द्रोह करने वाला है। उसे जो दैव ने दण्ड दिला दिया इसमें कुछ विधि का ही विधान है। इसे जो तू अमङ्गलमय मान रही है, यह तेरा भाई के प्रति पक्षपात मात्र ही है। अच्छा तू सोच अपमान किसका हुआ? आत्मा तो मान अपमान से परे ही है। रहा शरीर। सो शरीर तो अनित्य, क्षणभंगुर तथा नाशवान है ही। इसका मान अपमान क्या होना। हाँ जो अज्ञानी इस देह को ही आत्मा मानकर बर्ताव करते हैं, उन्हें ही मोहवश दुःख शोक होता है। यह भगवान् की अघटन घटना पटीयसी माया का ही प्रभाव है!

तू कहे कि शरीर के अपमान से उस शरीर में रहने वाली आत्मा का भी अपमान हुआ, सो बात नहीं। आत्मा कोई दस-बीस या लाख करोड़ थोड़े ही हैं। एक ही आत्मा समस्त देह-धारियों में व्याप्त है। जैसे सहस्त्र घड़ों में जल रखा हो तो सभी घड़ों में सूर्य चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। वास्तव में सूर्य चन्द्र तो एक ही एक हैं। जल मलिन होगा तो सूर्य चन्द्र भी मलिन दिखाई देंगे, किन्तु सूर्य चन्द्र में मल नहीं है। इसी प्रकार आत्मा भी शुद्ध तथा निर्मल है। अज्ञानी लोग ही उस एक मात्र विशुद्ध आत्मा को अनेक मानते हैं।

आत्मा अपने आप ही अपने को देखता है। अपने आप ही अपने से क्रीडा करता है। जैसे आँखों में प्रकाश सूर्य ही प्रदान करते हैं। और पदार्थों को भी सूर्य ही प्रकाशित करते हैं। सूर्य न हो तो हम आँखें रहते हुए भी नहीं देख सकते। अतः देखना आदि सूर्य के बिना संभव नहीं। इसी प्रकार सभी कार्य आत्मा के ही द्वारा हो रहे हैं। फिर भी वह इन सबसे निर्लेप बना हुआ है। असत् पदार्थों की प्रसिद्धि आत्मा के ही अधीन है। अतः वह संयोग वियोग दोनों से परे है। अब तू ध्यानपूर्वक विचार कर। लोग कहते हैं अमावस्या के दिन चन्द्र का क्षय हो गया। वास्तव में चन्द्रमा का तो कभी क्षय नहीं होता। उसकी कलाओं का क्षय होता है। किन्तु उपचार वश कलाओं के क्षय को लोग चन्द्रमा का ही क्षय मान लेते हैं। ऐसे ही जन्म होना, मरना, बूढ़ा होना ये सब शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। फिर भी लोग इनका आरोप अज्ञानवश आत्मा में ही करते हैं।

अब देखो एक मनुष्य है। शून्य अरण्य में सो रहा है। सोते समय वह स्वप्न देखता है, मैं राजा हो गया। हाथी पर चढ़कर जा रहा हूँ, सुन्दर सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ खा रहा हूँ, विविध भोगों को भोग रहा हूँ, देखा जाय तो न वहाँ हाथी है, न खाने के पदार्थ ही। फिर भी भोक्ता भावना के अनुसार उनका भोग करता है उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष इस मिथ्या संसार चक्र में फँसकर मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, दरिद्र हूँ, धनी हूँ, रोगी हूँ इस प्रकार की कल्पनायें करके चिन्तित बना रहता है। इसलिये तू इसे भगवान् की माया समझकर स्वस्थ हो जा। जो होना था, सो हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने जेठ बलदेवजी के समझाने से रुक्मिणीजी का शोक दूर हो गया। उन्होंने यह सब प्रारब्ध का भोग है, यही समझकर सन्तोष किया।

बलभद्रजी के द्वारा छोड़े जाने पर रुक्मी अत्यन्त उदास

द्वारका में भगवान् का रुक्मिणीजी के साथ विवाह

(१०६४)

भगवान् भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान् ।
पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह ॥*

(श्रीभा० १० स्क ५४ अ० ५३ श्लो०)

छप्पय

भीष्मक दुहिता जीति द्वारकामहँ हरि आये ।
बहू आगमन सुनत नगरमहँ बजत बधाये ॥
लग लुगाइनि पुरी और नववधू सजाई ।
कीयो विधिवत ब्याह रुक्मिनी सँग यदुराई ॥
पाग दुपट्टा सिरोपा, पहिन पहिन यादव सजें ।
नारी गावें गीत मिलि, मधुर मधुर बाजे बजें ॥

विवाह में सभी को प्रसन्नता होती है। विवाह से बढ़कर प्रसन्नता का अवसर दूसरा कोई नहीं। वर को बहू पाने की बहू को वर पाने की प्रसन्नता होती है। वर के माता पिता को पुत्र वधू और दहेज पाने की प्रसन्नता होती है। बहिन भाइयों को भाभी आने

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् विवाह में आये सभी राजाओं को जीतकर रुक्मिणीजी को द्वारकापुरी में ले आये वहाँ विधिवत् उनके साथ विवाह कर लिया ।"

की प्रसन्नता होती है। बच्चों को मिठाई उड़ाने और बरात आने जाने की प्रसन्नता होती है। सम्बन्धियों को भोज खाने की प्रसन्नता होती है। नौकर चाकर सेवक आश्रितों को पारितोषिक पाने की प्रसन्नता होती है। पुरोहितजी को दक्षिणा पाने का उल्लास रहता है। सारांश यह है कि विवाह के समय सभी को बड़ा सुख मिलता है। कई दिन पहिले से बाजे बजते हैं धूमधाम होती है। सब सगे सम्बन्धी एकत्रित होते हैं। स्त्रियों में एक सरसता की लहर छा जाती है। घर में बहुत से बच्चे एकत्रित हो जाते हैं। बहिन, बूआ, मौसी, चाची, भाभी, नानी, ताई सभी नये नये कपड़े पहिन कर आ जाती हैं। दिन भर पंचायत होती है। यह नहीं हुआ वह नहीं हुआ, यह लाओ वह लाओ। यह नेग करो, उसे पूजा उसे सजाओ। जिन गृहस्थियों के घरों में ऐसे उत्सव समारोह नहीं होते उन घरों में और श्मशान में अन्तर ही क्या? गृहस्थ के घरों की शोभा एकमात्र विवाहादि उत्सवों से ही है। नव वर वधू के जोड़े के दर्शन करना लक्ष्मीनारायण के दर्शन के समान माना गया है। जहाँ भी वर वधू आते हों तो उनके दर्शन अवश्य करने चाहिये। वर वधू की जोड़ी को देखकर सबको आन्तरिक प्रसन्नता होती है और यदि साक्षात् विष्णु ही वर बन गये हों और लक्ष्मी जी ही वधू के वेष में घूँघट मारे बैठी हों, तब तो कहना ही क्या। ऐसी जोड़ी के दर्शन अनेक जन्मों के पुण्यों से होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब बलदेवजी ने रुक्मिणीजी के भाई रुक्मी को छोड़ दिया तब यादवों ने जयघोष किया और वे द्वारका की ओर चल दिये। द्वारकापुरी में जब यह समाचार पहुँचा तो नरनारियों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र को सभी नरनारी प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। जैसे बड़ी सयानी लड़की माता पिता और बड़े भाइयों की आँखों में दिखती रहती है, उसे जब देखते हैं तभी चिन्तित होते हैं उसी

प्रकार बिना बहू के सयाने लड़के को देखकर भी घर वाले पास पड़ौसी उसे टोकते रहते हैं विशेषकर स्त्रियों को तो बड़ी ही चिन्ता सी हो जाती है। भगवान् के विवाह का सभी को चिन्ता थी सभी भगवान् के युगल रूप में दर्शन करने को लालायित थे। अब जब सब ने सुना कि हमारा मनोरथ अब पूर्ण होगा, तो सब के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। सभी ने ऐसा अनुभव किया मानों हमारे घर में ही विवाह होने वाला है। बड़ी धूमधाम से लोगों ने नव-वधू सहित श्रीकृष्ण की अगवानी की। माताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं था। बहू भी क्या थी साक्षात् सुन्दरता की सजीव प्रतिमा थी। वसुदेवजी ने तुरन्त पुरोहितजी को बुलवाया और उनके सम्मुख दक्षिणा रखकर बोले—"अब महाराज शीघ्र से शीघ्र विवाह का कोई शुभ मुहूर्त निकाल दो।"

ग्रह नक्षत्र गिन गिनाकर पुरोहितजी बोले—"राजन्! परसों ही शुभ मुहूर्त है। विवाह तो एक प्रकार से हो ही गया है। अब तो केवल चाँई माँई करनी है। शास्त्रीय विधि का पालन करना है सो परसों सब सम्पन्न हो जाय।"

स्त्रियों ने पुछवाया—पुरोहितजी! तैल कब चढ़ेंगे। हल्दी कब चढ़ेगी?"

पुरोहितजी ने कहा—"आज और कल में तुम्हें तैल हलदी जो भी चढ़ानी हो चढ़ा लो। बहू पर तो तैल हल्दी सब चढ़े चढ़ाये ही हैं। श्यामसुन्दर पर चाहे तैल चढ़ाओ या हल्दी, इन पर तो दूसरा रंग चढ़ने का नहीं। ये तो जैसे के तैसे बने रहेंगे फिर भी तुम अपना नेग जोग कर लो। पाँच तैल चढ़ेंगे। कल कंकण बाँधना।"

यह सुनकर स्त्रियाँ घर में तैयारियाँ करने लगीं। श्रीकृष्ण भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम रखने वाले समस्त यादवों के घर-घर में बड़ा भारी उत्सव मनाया गया था। द्वारका निवासी नरनारी

प्रमोद में भरे, स्वच्छ मणिमय कुण्डलों को धारण किये, नये नये वस्त्रोंको पहिने, आनन्द में विभोर हुए इधर से उधर घूम रहे थे। वर और वधू विविध वस्त्राभूषणों से भलीभांति सजाये गये थे। उनके माथे पर मौर और चन्द्रिका बांधा गई था। बड़े बड़े सुवर्ण-रजत के थालों में नाना प्रकार के मणि माणिक्य तथा अन्य भी बहुतसी भेंटकी सामग्रियाँ वरवधूको सब लोग उपहारमें दे रहे थे। जिस प्रकार नववधू सजाई गई थी उसी प्रकार द्वारकानाथके विवाहोत्सवमें द्वारका भी भली भांति सजाई गई थी। चारों ओर ऊँची ऊँची पताकायें फहराई गयीं थीं। विवाह मंडपकी छोटी छोटी गलियोंमें तथा बड़े बड़े राजपथोंमें रंग बिरंगी सुगन्धित पुष्पोंकी अम्लानमालायें लटकायीं गई थीं। रंग बिरंगे रेशमी शाल दुशाले वन्दनवारों के स्थान में लगाये गये थे। रत्नोंके हार आम्रादिके पल्लव यथा स्थान उत्तमताके साथ बांधे गये थे। सबके द्वारोंपर माङ्गलिक घट, श्रीफल, दीपक खील, दूर्वादि शुभ सकुन सूचक द्रव्य रखे हुए थे। अगरु गुग्गुल आदिकी धूप जल रही थी। पंक्ति बद्ध दीपकोंसे वह नगर खिलखिलाकर हँसती हुई युवती के समान प्रतीत होती थी। पहला ही विवाह था अतः समस्त स्नेही कुटुम्बी और मित्रराजाओंको निमन्त्रित किया गया। महाराज भीष्मक भी कन्यादान करने सपरिवार आ गये थे। उनके ठहरने का भी प्रबन्ध पृथक था। इधर से उधर बड़े बड़े हाथी घूम रहे थे। द्वारों पर लगे कदलीस्तम्भ और सुपारियोंके लम्बे लम्बे वृक्ष आकाशको चूमसे रहे थे। सभीके हृदयमें एक विचित्र प्रकारका अनिर्वचनीय कुतूहल-सा हो रहा था। स्त्रियाँ इधरसे उधर नये नये वस्त्रों को पहिने छम्म छम्म करती हुई घूम रही थीं और वर वधू के लिये कुछ न कुछ बना रही थीं। कुरु, सृंजय, कैकेय, विदर्भ, यदु तथा कुन्ति आदि देशोंके राजा रानी सपरिवार आये थे। सभी अपना अनन्त वैभव प्रदर्शित कर रहे

थे। सर्वत्र रुक्मिणीजीके हरणकी ही चर्चा थी। राज
विस्मयके साथ उस वृत्तान्तको कहते। थे राजकन्यायें रु
के हरणकी बातें सुनकर मन ही मन बड़ी प्रसन्न होतीं।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजकन्य
की बातसे प्रसन्न क्यों हुईं?"

सूतजी बोले—"महाराज! ऐसी कौनसी पुण्यात्मा
कन्या होगी जो श्यामसुन्दरको अपना वर बनाना
पहिले तो वे सोचती थीं—"संभव है श्यामसुन्दर हमें
कर या हमारे पिता ही हमें उनके लिये न दें। किन्तु इ
उन्हें आशा हो गई कि यदि हमारे पिता प्रसन्नतासे ह
को न देंगे; तो वे आकर हरण भी कर सकते हैं।"

शौनकजीने कहा—"हाँ सूतजी! हमने तो सुना,
के विवाहके पश्चात् भगवान् को विवाह करने का
गया था। सुना है भगवान्ने रुक्मिणीजी के विवाह
दनादन दै दनादन विवाहके, ऊपर विवाह, विवाहके उ
करने आरम्भ कर दिये। सुना सोलह हजार एक
विवाह भगवान्ने किये। आप उन सबकी कथा हमें
समय तो रुक्मिणीजीके ही विवाहको सुनावें। महार
कैसे विवाह किया?"

हँसकर सूतजी बोले—"अजी महाराज अब
विवाहोंका विस्तारसे वर्णन करने लगूं तब तो हो ग
कथा।" फिर तो यह विवाह कथा ही होगी।
पटरानियों के विवाहोंको संक्षेप में सुनाकर फिर सोल
कथा एक ही बार में कह दूँगा। हाँ तो मैं भूल गया
था मैं?"

शौनकजीने कहा—"महाभाग! आप भगवान
विवाहका वर्णनकर रहे थे।"

यें हरण-
राजा की
न चाहे।
स्वीकार न
न घटनासे
भगवान्-
क्मिणीजी
ोग ही हो
के बाद दै
पर विवाह
सौ आठ
सुनावें। इस
जभीष्मकने
सोलह सहस्र
ई "भागवती
अतः आठ
ह हजारोंकी
या कर रहा
के प्रश्न

सूतजीने कहा—"हाँ हाँ! शौनकजी भगवान् आपका भला करें, आपकी बड़ी आयु हो। हाँ, तो महाराज भीष्मक ने भगवान् को बुलाकर आसन पर बिठाकर उनकी पूजाकी, विष्टर, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा मधुपर्क दिया। फिर अंग न्यास कराके-गोदान किया। तदनन्तर अग्नि स्थापन पूर्वक वस्त्रदान दिया। फिर महाराज साखोच्चार पूर्वक कन्यादान का संकल्प किया। फिर महाराजभीष्मक ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—

कन्यां कनक संपन्नां कन्यका भरणैर्युताम्।
दास्यामि विष्णवेतुभ्यं ब्रह्मलोक जिगीषया॥
विश्वम्भरः सर्वभूता साक्षिण्यः सर्वदेवताः।
इमां कन्यां प्रदास्यामि पितृणां तारणाय च॥*

ऐसी प्रार्थना करके महाराज ने भगवान् को अपनी पुत्रीका दान दिया। फिर सब लोगों ने कन्यावर के पैर धोये। फिर आचार्य के कहने से कन्याने वरको और वरने कन्याको देखा जब दोनों की देखा देखी हो गई तो दोनोंने अग्निकी प्रदक्षिणाकी। प्रदक्षिणा करके पूर्वाभिमुख होकर कुशकण्डिकापूर्वक दोनों ने अग्नि में हवन किया। तदनंतर भगवान्‌ने रुक्मिणीजीकी सिंदूरसे मांग भरी। हवन हो जानेके पश्चात् रुक्मिणीका कर भगवान्‌केकर कमल के ऊपर रखा गया। उसमें महाराजभीष्मकके सबसे छोटे पुत्र रुक्ममालीने धानकी खीलें दीं। उससे लज्जा होम हुआ। फिर शिलापर पैर रखाया गया। दोनोंने अग्निकी प्रदक्षिणा की।

---

*अर्थात् कन्याका पिता वरसे प्रार्थना करता है—"यह जो मेरी कन्या सुवर्णसे सम्पन्न है तथा वस्त्राभरणोंसे अलंकृत है, उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति के निमित्त विष्णुस्वरूप जो आप वरको देता हूँ। विश्वम्भर सम्पूर्ण प्राणी तथा सप्तपूर्ण देवताको साक्षी करके पितरोंको तारने के निमित्त इस कन्याको मैं दे रहा हूँ।"

फिर सप्तपदी होकर विवाह कार्य सम्पन्न हुआ।

इस प्रकार समस्त वेदाचार लोकाचार होने के अनन्तर दोनों वरवधू महलों में गये। वहाँ माताओं ने अनेक देवी देवताओं को पुजवाया और अपने घरके जो नेग जोग होते हैं, वे सब कराये। यह सब कराने के अनन्तर दोनो सुखपूर्वक राजमहलों में रहने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विवाह के पश्चात् माता पिता तथा परिवार के सभी लोगों को आशा लग जाती है, कब पुत्र उत्पन्न हो। अतः अब जिस प्रकार भगवान् के पुत्र उत्पन्न हुआ उस कथाको मैं आगे कहूँगा। आप भगवान् के पुत्रोत्पत्तिकी इस कथाको समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

सुन्दर मंडप सज्यो बधू अरु बर बैठाये।
गणपति ग्रह अरु मातृकादि पूजन करवाये॥
भाँवर फिरि कर गह्यो खीलको हवन करायो।
नेग जोग सब करे माँग सिंदूर भरायो॥
करिकें पलंगाचार पुनि, कर्म चतुर्थी हू कियो।
यों श्रीरुक्मिनि संगमहँ, ब्याह श्यामको ह्वै गयो॥

श्रीरुक्मिणीजीसे प्रद्युम्नकी उत्पत्ति

(१०६५)

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना ।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥
स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः ।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५५ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

सुखी भये सब स्वजन निरखि अति अनुपम जोरी ।
मातु मनावें होहिं कृष्ण कें छोरा छोरी ॥
'जने पुत्र' नित विप्र कहें सुनि सकुचे बाला ।
कृपा कपर्दी करी जन्यो वैदर्भी लाला ॥
कामदेव जो प्रथम ही, शंभु कोप तैं जरि गयो ।
सोई बनि प्रद्युम्न पुनि, प्रथम पुत्र हरिको भयो ॥

जैसे विद्या का फल विनय है, यज्ञ का फल स्वर्ग है, पाप का फल दुःख है। वृक्ष का फल फल है उसी प्रकार विवाह का फल

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! भगवान् वासुदेवका ही अंश काम है, वह पहिले शंकरजीके कोपसे भस्म हो गया था। जब फिर उसने देह प्राप्तिकी इच्छाकी तो उसने उन्हीं भगवान्का आश्रय ग्रहण किया। अतः वही काम भगवान्के वीर्यसे रुक्मिणीजीमें पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। 'प्रद्युम्न' इस नामसे वह विख्यात हुआ और अपने पिता के सब प्रकारसे सदृश ही था।"

पुत्र है। विवाह होने पर भी जिसने पुत्रका पुनीत मुख नहीं देखा, उसका विवाह करना व्यर्थ है। पुत्रोत्पन्न करना एक अत्यंत पुण्य-का कार्य है। पिता पितामहोंके द्वारा जो शरीर न्यास रूपसे प्राप्त होता है पुत्रोत्पन्न करके उनके ऋणसे उऋण हुआ जाता है। जो पुत्रोत्पन्न किये बिना ही मर जाता है, वह पितरोंका ऋणी रहता है। अपुत्रीकी गति नहीं, उसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती। पुन्नामका एक नरक है, उससे पुत्र ही पार कर सकता है। पुत्र अपनी आत्मा ही है, अपना ही एक अंश है, स्वयं पति ही पत्नीके उदर में प्रविष्ट होकर बालक बनकर उत्पन्न होता है। इसीलिये पुत्र-वती पत्नीकी "जाया" संज्ञा है। पुत्र उत्पन्न होने पर वह नववधू नहीं रहती "माता" बन जाती है। कोई मातृ पितृ दोष न हो तो प्रायः पुत्र पिताके ही अनुरूप होता है। पुत्र प्राप्ति होना यह विवाहका परम सुख है। विवाहसे भी अधिक आनंद घरमें पुत्रो-त्पत्तिके समय होता है। पुत्रोत्पन्न होने पर पृथिवीके ही स्वजन प्रसन्न नहीं होते अपितु पितृलोकमें बैठे पितृ गण भी आनन्दमें विभोर होकर नाचने लगते हैं। वे भी सोचते हैं, हमारा श्राद्ध तर्पण करने को एक अधिकारी आ गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् तो आप्त काम हैं, सत्य संकल्प हैं। सम्पूर्ण चराचर जगत्के पिता हैं। उन्हे तो न कोई इच्छा न कामना। फिर भी जब वे लोक संग्रहके निमित्त क्रीड़ा करनेके लिये–मनुष्य शरीर धारण करते हैं, तो समस्त मानवीय लीलाओंको प्रदर्शित करते हैं। लोकवत् व्यवहार करते हैं। जब उन्होंने मथुरामें यदुवंशमें अवतार लिया, तो उनकी शक्ति लक्ष्मीजी भला कैसे रह सकती थी। उन्होंने भी विदर्भाधिप महाराज भीष्मकके यहाँ अवतार लिया। अपनी वस्तु कहीं भी क्यों न हो वह अपनेको अवश्य मिल ही जाती है। जो हमारे भाग्यकी वस्तु है, वह दूसरेकी हो ही नहीं सकती और जो हमारे

भाग्य में नहीं है वह लाख प्रयत्न करने पर भी हमें प्राप्त नहीं हो सकती।

जिस कामदेव ने सम्पूर्ण संसार को अपने वश में कर रखा है, वह भगवान् वासुदेव का एक अंश है। धर्म से अविरुद्ध काम भगवान् की एक अत्युत्तम विभूति है, उसी विभूति के सहारे यह संसार चक्र चल रहा है। जैसे सब देवताओं के स्वरूप होते हैं, वैसे ही कामदेव का एक अत्यन्त मनोहर रूप है, उसका धनुष अत्यन्त मधुर ईख का बना हुआ है, अत्यन्त सुगन्धित पुष्पों के उसके सात बाण हैं। कामदेव अत्यन्त अभिमानी है, उसका एक पुत्र है क्रोध क्रोध के सामने यह कुछ दब जाता है। बड़े पुत्र के सम्मुख पिता का दब जाना उचित ही है। कामदेव का अभिमान इससे और भी अधिक बढ़ गया, कि उसने उत्पन्न होते ही अपने जनक ब्रह्माजी को भी पछाड़ दिया। जहाँ अभिमान हो जाता है, वहीं से पतन आरम्भ होता है। जब तक नम्रता रहती है, तब तक प्राणी अपने स्वरूप में रहता है। कामदेव ने सोचा—"मैंने सब देवताओं को जब वश में कर लिया है, तब महादेव को भी वश में कर लूँगा। उसने उन पर आक्रमण किया। महादेव जी की ओर काम का पुत्र क्रोध मिल गया। इसलिए शिवजी ने क्रोध की सहायता से काम को मार डाला। काम की पत्नी रति रोती रोती आई। स्त्री के रुदन को देखकर उसका पुत्र भी शान्त हो गया और दक्ष की कन्या दया ने भी शिवजी के हृदय को पिघला दिया। दया के वशीभूत होकर शिवजी ने कहा—"अच्छी बात है, तू कहीं छिपकर प्रतीक्षा कर तेरा पति फिर भी शरीर धारी होगा।"

देवताओं ने रति का पक्ष लिया वे बोले—"महाराज! इनका पति जाने कब शरीरधारी होकर उत्पन्न होगा, तब तक संसार का काम कैसे चलेगा? कामना के बिना तो कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होती और कर्म ही संसार का चक्र को चला रहे हैं।"

शिवजी ने कहा—"देखो, भाई घबड़ाने की कोई बात नहीं। असमय में सृष्टि का संहार तो मैं भी नहीं कर सकता। काम तो भगवान् वासुदेव का अंश है, अंशी और अंश में कोई भेद नहीं होता जैसे वासुदेव नित्य हैं वैसे ही उनका अंशभूत काम भी नित्य है। मैंने इसके अंग को ही नष्ट किया है। काम की आत्मा तो विद्यमान ही है। आज से मेरे आशीर्वाद से बिना अंग के ही यह कामदेव समस्त प्राणियों के हृदय में रहकर उनके मन को मथता रहेगा। कोई भी प्राणी इससे बच न सकेगा। तब से काम के "अनङ्ग" और "मन्मथ" ये नाम प्रसिद्ध हुए। वैसे रहता तो यह प्राणी मात्र के हृदय में है, किन्तु स्त्री पुरुष की देखा देखी होते ही यह दोनों के मन को मथने लगता है। जब सशरीरी था, तब इसका इतना प्रभाव नहीं था। अनङ्ग होने से इसका प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया। कब यह हृदय में घुस कर मन को चंचल बना देता है। इसका पता लगता नहीं। अनंग होने पर इसका गर्व और बढ़ गया।

यह श्रीकृष्णावतार ऐसा गूढ़ रूप से हुआ कि औरों की तो बात ही, क्या। ब्रह्माजी भी चक्कर में आ गये। जब श्रीकृष्ण को ग्वालबालों का जूठा खाते देखा, तब सर्वज्ञ ब्रह्माजी को संदेह हो गया, यह कैसा अवतार है। इसकी परीक्षा के लिए बछड़े चुराये क्या क्या हुआ यह सब प्रसंग पीछे आ चुका है। इन्द्र को भी संदेह हो गया, यम, वरुण कुबेर सभी को भगवान् की महत्ता पर संदेह हुआ और सबके संदेह को भगवान् ने निवारण किया। अनंग ने जब देखा श्रीकृष्ण अत्यन्त सुन्दर होकर एकान्त में गोपियों के साथ हँसी विनोद करते हैं चोरी, होरी, दान मान आदि के द्वारा उनके साथ विविध प्रकार की सरस क्रीड़ायें करते हैं। फिर भी इनके मन में विकार नहीं होता। यह तो विचित्र पुरुष है, एक दिन इससे युद्ध करूँ। युद्ध किया, भगवान् ने रास में

उसे परास्त किया। काम शरण में गया। तब भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! तू तो मेरा अंश ही है। जब मैंने अवतार लिया है, तो तू भी मेरा पुत्र बनकर पैदा हो।"

कामदेव ने पूछा—"महाराज! आपकी तो ये असंख्यों गोपिकायें प्रिया हैं, किसके उदर से उत्पन्न होऊँ?"

भगवान् हँसकर बोले—"अरे, तू बड़ा पागल है रे। अरे, भाई जिसके साथ यज्ञ किया जाता है, उसकी पत्नी संज्ञा होती है, ये गोपिकायें मेरी पत्नी थोड़े ही हैं, ये तो मेरी प्राण प्रियायें हैं मेरी आत्मायें हैं। इनके बच्चे थोड़े ही उत्पन्न होते हैं, ये तो सदा कृशोदरी रहती हैं। मैं द्वारका में विदर्भाधिप महाराज भीष्मक की कन्या रुक्मिणी से सर्व प्रथम विवाह करूँगा, उसके गर्भ से तू उत्पन्न होना। तू मेरा सबसे ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न होगा।"

भगवान् की बात सुनकर कामदेव चला गया। जब भगवान् मथुरा से द्वारका आये और रुक्मिणीजी के साथ विधिवत् विवाह कर लिया, तो कामदेव को तो तड़ातड़ी लग रही थी वह तुरन्त ही भगवान् के मन में बैठ गया और उनके वीर्य के द्वारा भगवती रुक्मिणीजी के उदर में प्रवेश कर गया। दशवें महीने में वही पुत्र बनकर उत्पन्न हो गया। पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनते ही सम्पूर्ण द्वारका में आनन्द का सागर सा उमड़ने लगा। सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। बाजे बजने लग गये, ब्राह्मणगण वेद घोष करने लगे। समस्त जात कर्मादि संस्कार कराये। ये ही पुत्र हुए काम के अवतार प्रद्युम्नजी।

कामदेव की पत्नी रति भी अपने पति के जन्म की प्रतीक्षा में अपना वेष बदल कर जहाँ तहाँ दिन बिता रही थी। उन दिनों वह शम्बरासुर के यहाँ रह रही थी। शम्बरासुर उन दिनों समुद्र के किनारे राज्य करता था। वह बड़ा बली था। कंस जरासन्ध और शिशुपाल के ही पक्ष का था। वह मायावी असुर था,

जैसा चाहता था, तब, तैसा रूप बना लेता था। एक दिन उसकी सभा में नारदजी आये। नारदजी से उसने पूछा—"भगवन! मेरी मृत्यु किसके द्वारा होगी?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! श्रीकृष्ण के वीर्य से रुक्मिणी जी से एक पुत्र होगा, वही तुम्हारा शत्रु है। यदि तुम उससे किसी प्रकार बच सको, तो फिर तुम्हें कोई नहीं मार सकता।"

यह सुनकर वह बड़ा चिन्तित हुआ और टोह लगाता रहा। वह काम रूपी तो था ही। जब उसने सुना कि रुक्मिणीजी के पुत्र उत्पन्न हो गया है, तो वह बड़ी सुन्दर धाई का रूप बनाकर अन्तःपुर में चला गया। प्रसूतिका घर में धाई तो जाती ही हैं। वह वहाँ जाकर स्त्रियों में मिल गया। जिस दिन बच्चे की छटी का दिन था, उसी दिन रात्रि में चुपके से माता की गोदी से बच्चे को उठा लाया। स्त्री वेष में होने से किसी को कुछ सन्देह भी नहीं हुआ, वह अन्तःपुर के बाहर आ गया।

अब उसने देखा, बच्चा अत्यन्त ही सुन्दर है। कमलदल के सदृश अत्यन्त विकसित परम सुहावने उसके बड़े बड़े नेत्र हैं। चन्द्रमा के समान सुन्दर उसका मुख है। शुक के समान उसकी सुन्दर नासिका है। यह सुन्दरता ऐसी आकर्षक वस्तु है, कि वज्र से वज्र हृदय भी पिघल जाता है। सौंदर्य में इतना आकर्षण होता है, कि क्रोधी से क्रोधी का भी क्रोध कपूर के सदृश उड़ जाता है। शम्बरासुर ने जब शिशु की सुन्दरता को देखा, तो उसका हृदय पानी पानी हो गया। वह सोचने लगा—"हाय! इतने सुन्दर शिशु को मुझे मारना होगा? ऐसे कुकृत्य करने वाले मुझको धिक्कार है।' किन्तु फिर जब उसे यह बात स्मरण आई कि इसी के द्वारा मेरी मृत्यु होगी, तो उसके हृदय से दया चली गई। मृत्यु से बचने के लिये तो मनुष्य सब कुछ कर सकता है। उसने सोचा—"चाहे जो हो, इसे मारना ही होगा।"

यह सोचकर वह बालक का गला दबाने को उद्यत हुआ। किन्तु बच्चे की बड़ी बड़ी आँखों को देखकर तथा उसके हँसते हुए भोले भाले स्वरूप को देखकर उसका साहस न हुआ। उसके मन में द्वन्द्व युद्ध हो रहा था। अन्त में उसने सोचा—"अच्छी बात है इसे अपने हाथ से न मारूँ कड़ा हृदय करके इसे समुद्र में फेंक दूँ, वहाँ यह अपने आप ही समुद्र में डूबकर मर जायगा।" यही सब सोचकर उसने बालक को शीघ्र समुद्र में फेंक दिया। बालक डूब गया, तब वह निश्चिन्त होकर अपने घर चला गया।

इधर जब रुक्मिणीजी की आँखें खुलीं तो उन्होंने देखा शैया पर शिशु नहीं है। उन्होंने तुरन्त दासियों को जगाया। चारों ओर खोज होने लगी। अन्तःपुर में रोया पीटी मच गई। माता कुररी पक्षिणी की भाँति विलाप करने लगी। छै दिन से जो धूम धाम प्रसन्नता हो रही थी वह आज शोक के रूप में परिणित हो गई। सर्वत्र हाहाकार मच गया। भगवान ने भी सुना वे भी आये। वे तो सब जानते थे, किन्तु लोक दिखावे को वे भी आँसू बहाने लगे। सब आश्चर्य कर रहे थे, लड़का गया कहाँ से, किन्तु किसी को कुछ पता ही नहीं चला। अन्त में सब निराश हो गये।

प्रद्युम्नजी तो चतुर्व्यूह में से एक हैं वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्नजी और अनिरुद्ध ये ही चतुर्व्यूह हैं। उनमें चित्ताधिष्ठातृ-देव प्रद्युम्न हैं, उनको अग्नि, जल, काल कोई भी नाश नहीं कर सकता। फिर जिसकी मृत्यु आई नहीं है उसे चाहें काल के मुख में भी डाल दो, तो भी वहाँ से भी बच आवेगा और जिसकी मृत्यु आ गई है, वह कहीं चला जाय, अवश्य मर जायगा। प्रद्युम्नजी की मृत्यु नहीं थी, अतः ऊपर से समुद्र में डालते ही एक बड़ी मछली उन्हें ज्यों का त्यों निगल गई। उसी समय बहुत

से मल्लाहों ने जाल डाला था। उस जाल में अन्य बहुत सी मछलियों के साथ वह भी मछली पड़ गई। इतनी बड़ी मछली को जाल में फँसा देखकर मल्लाह प्रसन्नता के कारण फूले नहीं समाये। उन्होंने सोचा—"बाजार में हम इस मछली को बेचने जायँगे, तो दस बीस रुपये मिल जायँगे, किन्तु यदि हम अपने राजा शम्बरासुर को इसे भेंट कर दें, तो न जाने, वह हमें क पारितोषिक दे दे। उसे तो माँस मछली अत्यन्त ही प्रिय है, यह सब सोचकर वे उसे बड़े भारी मत्स्य को शम्बरासुर के समीप गये और उपहार में उसे उसके लिये अर्पित किया। उसने मल्लाह को बहुतसा धन देकर विदा किया।

वह बड़ा भारी मत्स्य तुरन्त भोजनालय में भेजा गया रसोइयों ने तीक्ष्ण छुरे से उसका पेट चीरा, तो उसके पेट में ए अत्यन्त ही सुन्दर बालक निकला। शम्बरासुर के अन्तःकर में जो रति मायावती के नाम से रहती थी, उसे ले जाक रसोइयों ने दे दिया। मायावती मछली के पेट से ऐसे सुन्द बालक को निकला देखकर शंका में पड़ गई। उसे बार बार यह सन्देह होने लगा हो न हो ये मेरे पति हैं। वह इसी चिन्ता पड़ी थी, कि इतने में ही वीणा बजाते हरिगुण गाते नारदजी वहाँ आ पहुँचे। नारदजी को देखकर मायावती उठकर खड़ी ह गई उनका स्वागत सत्कार किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर नारद जी ने पूछा—"रानीजी! आज आप बड़ी चिन्तित दिखाई देती हैं, क्या कारण है?"

मायावती ने कहा—"ब्रह्मन! आप तो सर्वज्ञ हैं, आपसे क्या छिपाना। आज रसोई घर में एक मछली चीरी गई, उसके उदरसे एक अत्यंत ही सुन्दर सुकुमार शिशु निकले हैं। उन्हीं के विषयमें मैं सोच रही हूँ, वे कौन हैं?"

नारदजी ने कहा—"रानीजी! इसमें सोच करनेकी कौनसी

बात है, आपको तो अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिये। आप तो रति हैं और ये आपके पूर्व जन्म के पति कामदेव हैं। इन्होंने भगवान्‌के वीर्यसे रुक्मिणीजी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया। मेरे कहने से शम्बरासुर सूतिका गृह से हरकर ले आया और समुद्र में फेंककर चला आया। तभी ये मछली के पेट मे गये और तुम्हारे यहाँ आ गये। अब जब तक ये बड़े न हों, तुम सावधानी से इनका लालन पालन करना। जब बड़े हो जायँ, तो इन्हें माया सिखा देना। इस शम्बरासुर को मरवाकर इनके साथ भागकर द्वारका चली जाना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी के वचनों पर पूर्ण विश्वास करके मायावती गुप्त रूप से प्रद्युम्नजी का पालन पोषण करने लगी। अब प्रद्युम्नजी का तो पालन पोषण होने दें तब तक लगे हाथ भगवान् के अन्य विवाहों की भी कथा सुन लें।"

छप्पय

शम्बर तिहि रिपु समुझि सुतिका घर महँ आयो।
शिशुकूँ करिकें कपट घाइ बनि घर तैं लायो॥
फेंक्यो सागर वत्स मत्स्यने निगल्यो जीवित।
मछुआ ताहि फँसाइ ले गये शम्बर के हित॥
निवसति रति शम्बर महल, मत्स्य उदर महँ मिल्यो पति।
नारद मुनि परिचय दयो, पालति पति ह्वै मुदित अति॥

स्यमन्तकोपाख्यान

(१०९६)

सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः ।
स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५६ अ० १ श्लो०)

छप्पय

प्रथम कृष्णको ब्याह पुत्र उतपत्ति सुनाई ।
मणि स्यमन्तकी कथा सुनो अब अति सुखदाई ॥
सतभामा अरु जाम्बवती जिहि कारन पाई ।
हरिने लीला लोभ मोहको दुखद दिखाई ॥
सत्राजित यादव परम, सूर्यभक्त लोभी सरल ।
है प्रसन्न ताकूँ दई, सूर्य स्यमंतक मणि अमल ॥

जीव में और भगवान्में इतना ही अन्तर है, जीव अल्पज्ञ है भगवान् सर्वज्ञ हैं। जीव के संकल्प विफल भी हो जाते हैं, भगवान् सत्य संकल्प हैं। जीव माया से आबद्ध हैं भगवान् मायिक बन्धनों से परे हैं। जीव अनुमान के आधार पर सोचता

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सत्राजितने अपनी कन्याको स्यमंतकमणिके साथ स्वयं ही भगवान्को अर्पण कर दिया, क्योंकि उसने भगवान्को कलङ्क लगाया था।"

है। भगवान्‌के लिये सब विषय हस्तामलकवत् है। जीव क्षुद्र है भगवान् महान् हैं। जीव एक सीमा में आबद्ध है, भगवान् सीमा से परे हैं। जीवका मायासे संसर्ग न हो तब तो वह शिव बना ही बनाया है। फिर न उसे साधनानुष्ठान करनेकी आवश्यकता और न मोक्ष प्राप्ति की इच्छा। मुक्तकी इच्छा तो बद्धको ही होगी। बन्धन है मायामें। मायाके संसर्ग से ही उसकी जीव संज्ञा है। तामिस्र, अंधतामिस्र, मोह महामोह और तम, यही पंचपर्वा अविद्या है। इसी ने जीवके विशुद्ध ज्ञानको ढक लिया है। इसीके वशीभूत होकर जीव लड़ता झगड़ता है, एक दूसरे पर सन्देह करता है, लांछन लगाता है, बुरा भला कहता है, छल कपट करता है और नाना भाँति के प्रपञ्च रचता है।

जब भगवान् भी संसार में आकर संसारी लोगों के साथ क्रीडा करते हैं। उनके साथ हँसते और नरनाट्य करते हैं, तो सब साधारण अल्पज्ञ जीव उन्हें भी अपने ही समान कर्म बन्धनों में बँधा हुआ समझते हैं। उनके कार्यों पर भी शंका करते हैं। उन पर भी लांछन लगते हैं, उनकी भी समालोचना करते हैं। भगवान् को तो नरनाट्य करना है, ऐसे अवसर पर वे अपनी भगवत्ताका प्रदर्शन नहीं करते, सब कुछ साधारण लोगों के समान सह लेते हैं। सत्य तो कभी छिप नहीं सकता। वह तो किसी न किसी दिन अवश्य ही प्रकट हो जायगा। जब सत्य प्रकट हो जाता है, तब जीवोंको उनकी महत्ता मालूम होती है और फिर उनके गुणों का गान करके इस संसार सागर-को तर जाते हैं। यदि दुष्ट लोग सज्जन पुरुषों को लांछन लगाने से छोड़ देते, तो इस संसारको हेय, दुःखमय, तथा त्याज्य शास्त्राकार क्यों बताते। जब गंगाजल के सदृश विमला जगज्जननी भगवती सीता को भी खलों ने लांछित किये बिना नहीं छोड़ा। जिस कारण मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र को अत्यन्त कष्ट

के साथ—निर्दोषा समझते हुए भी उनका परित्याग करना पड़ा, तो साधारण लोगों की तो बात ही क्या। यह लोभ ऐसी बुरी वस्तु है, कि इसके कारण अपने पराये हो जाते हैं, मित्र शत्रु बन जाते हैं। भाई भाई से द्वेष करने लगता है। यही सब दिखाने के निमित्त भगवान् ने स्यमन्तकमणिकी लीला प्रदर्शित की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! मैंने आपको भगवान् के प्रथम विवाह की कथा और उनके प्रथम पुत्र प्रद्युम्न की उत्पत्ति का कथा आपको सुना दी। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने भगवान के सोलह हजार एक सौ आठ विवाह बताये थे और आपने यह आश्वासन दिया था, कि आप आठ विवाहों का वृत्तान्त सुनाकर शेष विवाहों की बात पीछे सुनायेंगे। सो महाभाग! आप हमें भगवान के अन्य विवाहों की कथा सुनावें।"

हँसकर सूतजी बोले—"मुनियो! आप तो जन्म से ही ब्रह्मचारी बाबाजी हैं, आप विवाह फिवाहकी कथाओंकी क्यों सुनना चाहते हैं। यह तो गृहस्थियों के सुनने योग्य कथायें हैं। आप इनके प्रति इतना अनुराग क्यों प्रदर्शित कर रहे हैं।"

यह सुनकर शौनकजी गम्भीर हो गये और बोले—"सूतजी! देखिये, मनुष्य जहाँ से उत्पन्न होता है, जिन कारणों से उत्पन्न होता है, उसमें उसके संस्कार कुछ न कुछ शेष रह ही जायँगे। हमारे पिता, पितामह, प्रपितामह सभीने विवाह किया है, सभीके पुत्र उत्पन्न हुए हैं सभी को पुत्रोत्पन्न होने में प्रसन्नता हुई है सभीने बड़े उल्लाससे इन उत्सवों को मनाया है। उन सबके संस्कार हमारे भीतर सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं। इसी लिये प्राणिमात्रकी स्वभाविक इच्छा विवाह करने और पुत्रोत्पन्न करने की होती है। जीवमात्रकी इन कामों में स्वतः प्रवृत्ति होती है। अब

हम लोगों ने अपना सर्वस्व भगवान के लिये अर्पण कर दिया है। अपनी इच्छाओं को भगवान की इच्छा में मिलाने का सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। इसी लिये निरन्तर यज्ञ याग, कथा, कीर्तन आदि भगवत् सम्बन्धी कार्यों में अपने मन को लगाये रहते हैं, कि मन की जो स्वाभाविकी प्रवृत्ति विषयों में जाने की है वह विषयों में न लगकर भगवान में लगे। जब हम सर्वतोभाव से भगवान के दास हो चुके हैं, तो दास को अपने लिये कुछ भी करने का अधिकार नहीं। यदि वह स्वामी को भूलकर अपने लिये कुछ करता है, तो व्यभिचार करता है, पाप करता है। उसे तो स्वामी की ही प्रसन्नता में प्रसन्नता मनानी चाहिये। स्वामी के दुःख को सुख समझना चाहिये। इसीलिये भगवद्भक्त जो जो उत्सव करते हैं भगवान के सम्बन्ध से ही करते हैं। भगवान् का जन्मोत्सव मनाते हैं, उसी उत्साह से मनाते हैं मानों हमारे घर में ही पुत्र उत्पन्न हुआ हो। तुलसी शालग्राम का विवाह करते हैं, भगवान के विवाहों की कथा सुनते हैं। जो जो भी अपने संस्कार होते हैं उन्हें भगवान के सम्बन्ध से करते हैं भगवान की रामलीला श्रद्धापूर्वक सुनने से काम भाव की निवृत्ति होती है। भगवान् की सभी लीलायें हमारे हृदय में भक्ति भाव का संचार करती हैं। अतः संसारी लोगों के विवाह की कथा सुनना तो वर्जित है, किन्तु भगवान के विवाह की कथा तो हमारे साधन में परम हितकर है।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"हाँ महाराज! यही बात है। भगवान् अवतार लेकर इसीलिये लोकवत्लीला करते हैं, जिससे नित्य, मुक्त, बद्ध और मुमुक्षु सभी श्रेणी के जीवों को सुख देने वाली हों। हाँ तो मैं भगवान के दूसरे और तीसरे विवाह की कथा सुनाऊँगा। सत्राजित नामक एक यादव था। उसने श्रीकृष्ण के ऊपर जो मिथ्या कलंक लगाया था उस

कलंक को धोने के लिये स्यमंतकमणि के सहित अपनी कन्या भगवान् को दी।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! निष्कलंक भगवान् को सत्राजित ने कलंक क्यों लगाया। स्यमंतकमणि उसे कहाँ से मिला। स्यमंतकमणि और कन्या से क्या सम्बन्ध? कृपा करके हमारे इन प्रश्नों का उत्तर आप पहिले दें, तदनंतर विवाह की कथा सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! यह तो आपने बहुत बड़ा प्रश्न कर दिया, अच्छी बात है पहिले मैं संक्षेप में स्यमंतकमणि का ही उपाख्यान सुनाता हूँ।

यदुवंश में एक सात्वत नाम के बड़े ही प्रतापी राजा हो गये हैं, जिनके कारण इस वंश का नाम सात्वतवंश भी है। उन महाराज सात्वत के सात पुत्र हुए। उन सातों में से चौथे वृष्णि हुए। ये भी बड़े प्रतापी थे, इनके नाम से ही यदुवंशियों को वृष्णि वंशीय भी कहते हैं। भगवान् का इन्हीं के सम्बन्ध से वार्ष्णेय नाम है। इन वृष्णि के दो पुत्र हुए सुमित्र और युधाजित के दूसरे पुत्र हुए अनमित्र, अनमित्र के पुत्र हुए निम्न। इन निम्न के दो पुत्र हुए बड़े सत्राजित और छोटे प्रसेन।

सत्राजित बड़े धर्मात्मा थे, वे निरन्तर सूर्य की उपासना करते रहते थे। इनकी उपासना से प्रसन्न होकर सूर्यदेव इनके बड़े भारी मित्र हो गये। इनके साथ मित्रता का व्यवहार करने लगे। एक मित्र की अपने दूसरे मित्र को कोई सुन्दर अपूर्व वस्तु उपहार में देने की स्वाभाविकी इच्छा होती है। सूर्यदेव ने भी सोचा—"यह मेरा भक्त है, मित्र है, इसे कोई ऐसी अपूर्व वस्तु मैं दूँ, जो किसी के पास भी न हो, और फिर इसे किसी से भी कुछ याचना करने की आवश्यकता न रहे।" यहाँ सब सोचकर सूर्य भगवान् ने इन्हें एक स्यमंतक नाम की मणि दी। यह मणि दिव्य थी। उस मणि में

ऐसा गुण था, कि उसे पूरा करके रख दो तो वह मणि प्रतिदिन आठ भार सुवर्ण देती थी ?"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! भारका परिमाण क्या होता है ?"

सूतजीने पूछा—"महाराज ! चार धानकी एक गुञ्जा होती है। अर्थात् एक रत्ती। पांच गुञ्जाका एक पण होता है। (अर्थात् आधे मासेसे कुछ अधिक) आठ पणका एक धरण। आठ धरणका एक कर्ष होता है। (आधी छटाँक से कुछ अधिक) चार कर्षका एक पल होता है। (ढाई छटाँक के लगभग) सौ पलका एक तुला होती है। (सोलह सेरके लगभग) बीस तुलाका एक भार होता है। अर्थात् आज के नाप से आठ मनका एक भार होता है इस प्रकार आठ भार सुवर्ण वह मणि प्रतिदिन देती थी।"

शौनकजीने कहा—"सूतजी ! तब तो वह मणि क्या थी, सुवर्ण की खान थी।"

सूतजी बोले—"इतना ही नहीं महाराज ! जहाँ भी वह भली भाँति पूजित होकर रहती थी, वहाँ न तो कभी दुर्भिक्ष पड़ता था, न महामारी तथा अन्यान्य ग्रहोंकी पीड़ा ही होती थी। उसके रहनेसे सर्पका भय, शारीरिक पीड़ा, मानसिक संताप तथा मायावियोंके उपद्रव आदि कुछ भी अनिष्टकारक कर्म नहीं होते थे। ऐसी दिव्य मणिको स्नेहवश सूर्यदेवने सत्राजित् को दिया। उस दिव्य मणिको पाकर सत्राजित् परम प्रसन्न हुआ। दूर से वह मणि सूर्यके समान चमकती थी। मणि पाकर उसकी प्रसन्नतामें वह उस कंठ में पहिनकर समुद्रतटसे द्वारकापुरी में आया। अब मणिके तेजसे सत्राजितका शरीर तो दिखाई देता नहीं था। दूरसे मणिकी चमकती हुई किरणें ही दिखाई दीं। द्वारकापुरी निवासी लोग देखकर आश्चर्य में रह गये, यह इतना

तेजस्वी पुरुष कौन आ रहा है। पुरुष तो दीखता ही नहीं केवल तेजका पुञ्ज ही आता हुआ दिखाई देता है।"

किसीने अपनी प्रतिभा जताते हुए कहा—"अरे, तुम लोग इतना भी नहीं जानते, किरणों से भी नहीं पहिचानते, ये तो भगवान् मरीचिमाली सूर्यदेव हैं। चारों ओर इनकी किरणें छिटक रही हैं।"

लोग तो उस सूर्यके समान देदीप्यमान प्रचण्ड तेज पुञ्जको देखकर विस्मित हो ही रहे थे, उनकी आँखों के सम्मुख चकाचौंध छाया हुआ था। उस बुद्धिमान पुरुषकी बातें सुनकर सब शंका करने लगे—"सूर्यदेव तो आकाशचारी हैं, पृथिवी पर क्यों आने लगे? वे तो अपने रथमें चढ़कर त्रिभुवन को प्रकाश प्रदान करने के निमित्त घूमते हैं। वे यहाँ इस प्रकार पैदल क्यों आवेंगे?"

इसपर उसी बुद्धिमान पुरुषने कहा—"देखो, भाई, सूर्य एक देवता भी तो हैं। उनका एक मूर्तिमान् स्वरूप भी है। यद्यपि वे यों साधारण रूपसे पृथिवी पर विचरण नहीं करते, किन्तु कभी कभी इच्छानुसार रूप रखकर वे आते भी हैं फिर द्वारका में आना कौन सी आश्चर्यकी बात है। आज यदुकुल में समस्त देवताओंके भी आराध्यदेव कमल नयन, शंख चक्रधारी, वनमाली गूढ़रूप से निवास कर रहे हैं। त्रिलोकी में बड़े बड़े देव श्रेष्ठ उनके मार्ग को निरन्तर खोजते रहते हैं किन्तु कोई विरले ही उसे प्राप्तकर सकते हैं। सूर्यदेव तो सब कर्मों के साक्षी हैं। उन्हें विदित हो गया होगा, कि सर्वेश्वर द्वारका में यदुवंश में छिपे हुए हैं। इसीलिये उनके दर्शन करने ये आ रहे होंगे?"

सबने उसकी ऐसी युक्ति युक्त बात को मान लिया और सब बड़ी उत्सुकतासे बोले—"यदि यही बात है, तो हम सब प्रसन्न चलकर भगवान् को ही इसकी सूचना दे दें।"

इस बात का सबने समर्थन किया। उन सबके लिये यह एक अत्यन्त ही कुतूहल की बात थी। वे दौड़े दौड़े भगवान के समीप गये। उस समय भगवान् अन्तःपुर में अपनी प्रिया के साथ चौसर खेल रहे थे। सब लोग द्वारपालों के रोकने पर भी बड़ी उत्सुकता से दौड़े हुए चले गये और भगवान के द्वार पर ही खड़े हो कर हाँपते हुए कहने लगे—"हे देव! हे जगत्पते! हे अशरण शरण! हे दामोदर! हे शंख चक्र गदाधर! हे नारायण! हे दामोदर! हे कमल-नयन! हे गोविन्द! हे यदुनन्दन! आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।"

भगवान् बड़े चक्कर में पड़े। क्या हो गया, इन लोगों पर क्या आपत्ति विपत्ति आ गई। ये सब क्यों हाँप रहे हैं? क्यों मुझे इतने नामों से सम्बोधित कर रहे हैं। यही सब सोचकर चौसर खेलना छोड़कर बाहर आये और हँसते हुए बोले—"कहो, भाई! क्या बात है। तुम सब लोग इतने विस्मित क्यों हो? द्वारका में कोई नई घटना घटित हो गई क्या?"

लोगों ने कहा—"भगवन्! आप तो सर्वज्ञ हैं, सर्ववेत्ता हैं, सर्वेश्वर हैं आपके लिये तो कुछ भी असम्भव नहीं, कोई भी बात आश्चर्यजनक नहीं, किन्तु हमारे लिये तो आज यह नई बात है।"

भगवान् ने कहा—"क्या नई बात है, बताओ भी तो सही।"

लोगों ने कहा—"भगवन! प्रचण्ड रश्मि भगवान भुवन भास्कर अपने किरणजाल से द्वारकावासी नर-नारियों के नेत्रों को चकाचौंध करते हुए आपके दर्शनों के लिये आ रहे हैं। क्या न आवें आप तो सभी देवों के पूजनीय हैं। हम इसी बात की सूचना देने दौड़ आये हैं?"

भगवान ने हँसकर कहा—"कहाँ हैं सूर्यदेव?"

लोगों ने हाथों के संकेत से सम्मुख आते हुए सत्राजित् को दिखा दिया। देखकर भगवान् खिलखिलाकर हँस पड़े और

बोले—"तुम लोग पड़े पगले हो रे अरे, कहीं सूर्यनारायण इस प्रकार पृथिवी पर आते हैं।"

लोगों ने कहा—"महाराज! ये सूर्यनारायण नहीं तो कौन हैं? तेज तो सूर्य के ही समान है।"

सर्वज्ञ भगवान ने कहा—"भैया! यह सत्राजित् है। इसने सूर्यदेव की बहुत दिनों तक उपासना की है। उन्होंने प्रसन्न होकर इसे यह दिव्य मणि दी है। उसको कंठ में पहिनकर यह आ रहा है। उसी के तेज में यह छिप गया है। ये सूर्यदेव नहीं मणि से देदीप्यमान सत्राजित् हैं।"

यह सुनकर लोगों का कुतूहल शान्त हो गया वे सब अपने अपने घर चले गये। भगवान भी पुनः प्रिया के साथ चौसर खेलने में निमग्न हो गये।

इधर सत्राजित् ने घर में आकर बड़ा भारी उत्सव मनाया। मणि के लिये एक सुवर्ण का मंदिर बनवाया। सुवर्ण के सिंहासन पर ब्राह्मणों द्वारा उसकी बड़ी धूमधाम से प्रतिष्ठा करायी।

भगवान ने देखा, यह मणि तो बड़ी अद्भुत है, नित्य आठ भार सुवर्ण देती है। इस सत्राजित् के कोई पुत्र भी नहीं इसके पास तो मणि का दुरुपयोग ही है यदि यह महाराज उग्रसेन को इसको भेंट कर दे, तो इसकी पूजा प्रतिष्ठा भी भली प्रकार से हो सकेगी और यह सुवर्ण भी दान धर्मादि शुभ कार्यों में व्यय होगा।"

यही सब सोचकर भगवान ने एक दिन सत्राजित को बुलवाया और उससे इधर उधर की कुछ बातें करके बोले—"कहो जी, सत्राजित्जी हम आपसे एक बात कहेंगे, मानोगे?"

सत्राजित् ने शंकित चित्त से कहा—"हाँ, महाराज! आज्ञा कीजिये। आपकी आज्ञा को भला कौन टाल सकता है?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, टालने की बात नहीं मेरी कोई

आज्ञा नहीं है। मैं तो केवल सम्मति के रूप में कहता हूँ। यह जो तुम्हारे पास सूर्यप्रदत्त मणि है, तुम्हारे यहाँ तो इसका विशेष उपयोग है नहीं। यह महाराज उग्रसेन की देख रेख में भली प्रकार पूजित और प्रतिष्ठित होकर रहे, तो तुम्हें इसमें कोई आपत्ति तो न होगी। आपके समस्त भरण पोषण दान धर्मादि का भार राज्य पर रहेगा। आप चाहें जितना व्यय करें चाहे जितना दान पुण्य करें।"

सत्राजित् तो बड़ा अर्थलोलुप था। लोभी से कोई पैसा भी माँगे, तो उसके प्राण सूख जाते हैं, फिर जो मणि नित्य आठ भार सुवर्ण देनेवाली हो, उसे वह कैसे दे सकता था। अतः उसने कहा—"महाराज! मुझे सूर्य ने दी है, मैंने घर में उसकी प्रतिष्ठा कराई है। मेरा भाई इस बात में कभी सहमत न होगा। अतः आप क्षमा करें।"

भगवान ने कहा—"अरे, भाई! इसमें आपत्ति की तो कोई बात नहीं। तुम लोगों का समस्त भार तो राज्य ले ही रहा है।"

इतना कहने पर भी उस लोभी ने भगवान की आज्ञा भङ्ग का कैसा भयङ्कर परिणाम होगा, इस पर कुछ भी विचार न करके स्पष्ट कह दिया "यदुनन्दन! आप इस विषय में मुझसे अधिक आग्रह न करें। यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है।"

भगवान यह सुनकर चुप हो गये, सत्राजित् उठकर चला गया। बात यहीं समाप्त हो गई। भगवान् के मन में तो कोई लोभ वाली बात थी नहीं। उन्हें मणि की क्या आवश्यकता थी, वैसे ही साधारण रूप से उन्होंने कह दी। उसने मना कर दी तो उन्हें बुरा भी न लगा कुछ समय में बात पुरानी पड़ गई। भगवान् भूल गये, किन्तु उसके मन में खुटका बना रहा। मैंने भगवान् की आज्ञा नहीं मानी वे मेरा कोई अनिष्ट न कर डालें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पापी का हृदय सदा शंकित

रहता है। बड़े लोग स्वभाववश किसी की ओर देखकर हँस जाते हैं किसी को समयानुसार डाट भी देते हैं। वे उस व्यक्ति को भले ही जानते भी न हों, अपने सीधे सादे स्वभाववश उन्होंने ऐसा कर दिया हो, किन्तु क्षुद्र पुरुष उन्हें अपना शत्रु समझने लगते हैं।

छप्पय

सत्राजित् मणि पहिन द्वारका महँ जब आयो।
समुझि सूर्य नर भगे कृष्ण सब भेद बतायो॥
आठ भार नित कनक देहि दुख शोक नसावै।
हरि सोचैं मणि दिव्य राज महलनि में आवै॥
माँगी हरि परि नहीं दई, सत्राजित् लोभी परम।
लोभ मोह महँ फसि पुरुष, खोवे सब गुण निज धरम॥

मणिके कारण माधवको मिथ्या कलंक

(१०६७)

सोऽयः कृष्णेन निहता माणग्रीवो वनंगतः ।
भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः ॥ ❀

(श्री भा० १० स्क० ५६ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

सत्राजित् लघु बन्धु प्रान सम प्रिय प्रसेनवर ।
धारि कंठ मणि चल्यो करन मृगया लै धनु सर ।
बन महँ पहुँच्यो आइ सिंह ने हय मग मार्‍यो ।
लै मणि भाग्यो सिंह रीछ ने ताहि पछार्‍यो ॥
जाम्बवान मणि ग्रहण करि, घुस्यो गुफा महँ मुदित मन ।
जब प्रसेन आयो नहीं, सत्राजित् लाग्यो कहन ॥

मनुष्य जैसा होता है दूसरों को भी वैसा ही समझता है। युग के प्रभाव से लोगों के मन मलिन हो गये हैं। उनके मन में काम, क्रोध तथा लोभ की भावनायें अधिक बढ़ गई हैं। कोई किसी के धर्मात्मा होने का सत्यवादी होने का, भगवद्भक्त तथा गुणी होने की सच्ची भी प्रशंसा करे तो हमें विश्वास नहीं होता। इसके विपरीत

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! प्रसेन के मारे जाने पर सत्राजित् ने कहीं कहा—"मुझे ऐसा लगता है, कि मेरा भाई स्यमंतक मणि को कंठ में बाँधकर वन में गया था, वहाँ मणि के लोभ से श्रीकृष्ण ने उसे मार डाला। इस पर लोगों में काना फूँसी होने लगी।"

किसी सत्पुरुष की झूठी भी निंदा कोई करे, तो हमें तुरन्त विश्वास हो जाता है। जिनके मन में पाप बसा रहता है, वे सर्वत्र पाप को ही देखते हैं। दो सगे बहिन भाई शुद्ध भाव से एकान्त में हँसी खेल कर रहे हों, तो देखते ही सर्व प्रथम हमारा उन पर निंदित संदेह ही होगा। स्वयं दोषी होने से दूसरों के दोषों पर तुरन्त विश्वास जम जाता है। किसी में कोई दोष हो और उसको कोई कहे तो भी बुरा लगता है। फिर बिना दोष के जो मिथ्या दोषारोपण करते हैं, वह कितना बुरा लगता होगा। किन्तु निन्दा करने वाले स्वार्थियों को इतना अवकाश कहाँ कि वे सत्यासत्य की छान बीन करें, वे तो कहीं घटना को देखकर अनुमान लगाते हैं फिर एक दूसरे से सुनकर कहने लगते हैं, उसको सत्य मानकर उसका प्रचार करते हैं। यही प्रवाद है। यह अपयश भी किसी पूर्व जन्म कृत दोष के ही कारण प्राप्त होता है।"

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! जब भगवान ने सत्राजित् से मणि माँगी, तो फिर सत्राजित् ने घर आकर अपने छोटे भाई प्रसेन से सम्मति की। सत्राजित् ने कहा—"यदि भैया, तेरी सम्मति हो, तो इस मणि को महाराज उग्रसेन को दे दें। हमें क्या करना है। हमारे भरण पोषण दान पुण्यादि का समस्त भार तो राज्य अपने ऊपर लेता ही है।"

इस पर कुपित होकर प्रसेन ने कहा—"भाई जी! आप कैसी बातें कहते हैं। क्या अपने स्वयमर्जित इतनी बहुमूल्य वस्तु ऐसे किसी को दी जाती है। चाहे श्रीकृष्ण कहें चाहे बलराम अथवा स्वयं महाराज उग्रसेन ही क्यों न कहें, हम अपनी मणि को न देंगे।"

सत्राजित् ने कहा—"अच्छी बात है, भाई, जैसी तुम्हारी इच्छा। मैं भी श्रीकृष्ण से मना ही कर आया हूँ।" यह कहकर सत्राजित् चुप हो गया।

अब प्रसेनके मन में भी संदेह हो गया। वह जहाँ भी कहीं जाता वहीं उस मणिको साथ ले जाता। एक बार वह अपने बड़े भाई सत्राजित्की अनुमतिसे उस मणिको कंठ में पहिन कर घोड़े पर चढ़कर बनमें मृगयाके निमित्त गया। वह आखेट करता हुआ दूर निकल गया। संयोगकी बात कि उसे एक बहुत बड़ा बली सिंह दिखाई दिया। पूर्व जन्ममे यह सिंह कलिंग देशके राजाका पुत्र था। एक ब्राह्मण का उसने क्रोध में भरकर अपमान किया। ब्राह्मणने शाप दिया—"जा, तू सिंह हो जा।" तभी से वह उस वनमें सिंह बनकर रहता था। पूर्व जन्ममें प्रसेनसे इसका वैर था। जितनी भी घटनायें होती हैं, इन सबमें पूर्व जन्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं। बिना पूर्व जन्मों के सम्बन्ध से न तो प्रेम ही होता है न द्वेष। हम मन से बहुत चाहते हैं उससे प्रेम न करें, किन्तु चित्त बलात् उसकी ओर खिंच जाता है। इसी प्रकार हम नहीं चाहते किसी से शत्रुता करें किन्तु किसी को देखते ही ऐसा क्रोध आ जाता है, कि चित्त चाहता है, इसके प्राण हरण कर ले।

सिंह को देखकर प्रसेन ने उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। सिंहने भी उस पर प्रहार किया। दोनोंमें कुछ देर युद्ध होता रहा, अन्तमें सिंहने घोड़े सहित प्रसेनको मार डाला। प्रसेनको मारकर और उसकी चमकती हुई मणिको लेकर सिंह वहाँ से चल दिया। दैवयोगसे उसी समय रीछोंके राजा चिरजीवी जाम्बवान् अपनी गुहामे से निकलकर इधर उधर घूम रहे थे, उन्होंने गिरि गुहामें जाते हुए सिंहके पास वह दिव्य मणि देखी। ऐसी चमकती हुई मणिको देखकर उनके मन में इच्छा हुई यह तो हमारे बच्चे का बड़ा सुन्दर खिलौना होगा।" यही सोचकर उसने सिंहसे उसे छीननी चाही। सिंहने देनी नहीं चाही। इसी पर दोनोंमें हुआ। बूढ़े जाम्बवान् से भला साधारण सिंह कैसे जीत

था। ऋक्षराजने मृगराजको मार डाला और उस स्यमन्तक मणि को लेकर अपनी दिव्य गुफा में वह घुस गया।

अपनी गुफा में पहुँचकर जाम्बवान ने वह मणि अपने बच्चे को खेलने के लिये दी। बच्चे की धाय उस मणि से छोटे बच्चे का प्रेम पूर्वक खिलाने लगी। उस मणि से बिना प्रकाश के ही ऋक्षराज की गुफा प्रकाशित होती रहती थी।

इधर जब सायंकाल तक प्रसेन नहीं लौटा तो सत्राजित् को बड़ी चिन्ता हुई। दूसरे दिन भी न आया तो वह खोजने को वन में गया किन्तु उसे अपने भाई का कुछ भी पता नहीं लगा। उसे सन्देह तो पहले से ही था, कि मैंने श्रीकृष्णको माँगने पर मणि नहीं दी है अवश्य ही वे मेरा कुछ अनिष्ट करेंगे। इस घटना से तो उसे पूरा निश्चय हो गया, कि यह सब श्रीकृष्ण की ही करतूत है। लोगों को तो दूसरों की निन्दा सुनने में बड़ा आनन्द आता है। झूठी सहानुभूति प्रकट करते हुए लोग कहने लगे—"सत्राजित् जी! क्या बात है, अभी तक आपके भाई लौट कर नहीं आये।"

सत्राजित् दुखी होकर कहता—"अजी, अब क्या लौटेगा। वह तो किसी ने ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया, जहाँसे लौटकर कोई आता नहीं।"

यह सुनकर लोग कहते—"किसी ने उनके प्राण ले लिये; आपकी तो किसीसे शत्रुता भी नहीं। आप लोग किसी का अनिष्ट भी नहीं करते। यथा शक्ति दूसरों की सदा सहायता ही करते रहते हैं।"

सत्राजित् कहता—"अजी, यह धन ऐसी बुरी वस्तु है, कि इसके कारण अच्छे अच्छों का मन डिग जाता है। हमारा तो किसी से वैर भाव नहीं है, किन्तु वह कंठ में मणि पहनकर गया था। मैंने उससे मना भी किया, भैया, बहुमूल्य वस्तु है, इसे ऐसे

अकेले पहिनकर नहीं जाने।" किन्तु वह माना ही नहीं। उसने कहा—"भाईजी! इस मणिके तेज से मृगों की आँखों के सामने चकाचौंध हो जायगा। इससे मुझे मृगया में बड़ी सहायता मिलेगी। प्रतीत होता है, कोई टोह में लगा रहा होगा। मृगयाको मणि पहिनकर प्रसेन को जाते देखकर वह भी उसके पीछे पीछे चला गया होगा। प्रसेन अकेला ही घोड़े पर चढ़कर गया था। अरण्य में जाकर किसीने उसे मार दिया और मणि लेकर चला आया। अब वहाँ घोर वन में देखने कौन जाता है।

लोग पूछते—"आपका किसी पर सन्देह भी तो होगा?"

बनावटी गम्भीरता धारण करके वह कहता—"भाई बिना आँखों से देखे, किसीका नाम कैसे लिया जा सकता है। एक दिन श्रीकृष्ण ने मुझे बुलाकर बहुत आग्रह किया था, इस मणि को मुझे दे दो। मैंने मना कर दिया। मैंने तो सोचा भी दे दूँ बलवान् से वैर करना उचित नहीं, किन्तु प्रसेन किसी प्रकार भी सहमत नहीं हुआ उसी का यह परिणाम है, कि उसे प्राणोंसे भी हाथ धोने पड़े।"

लोग रहस्यमय ढंगसे सिर हलाकर कहते—"हाँ, यह बात है। भैया! बड़ों की बड़ी ही बातें होती हैं।"

यह बात एक ने दूसरे से दूसरे ने तीसरेसे इस प्रकार द्वारका भर में इसी की फुसफुसाहट होने लगी। लोग हाट में बाट में चौराहों पर खड़े होकर शनैः शनैः गुप चुप इधर उधर देखकर इसी की चर्चा करते। कोई कहता—"आपने कुछ सुना है।" दूसरा उत्सुकता पूर्वक कहता—"नहीं तो हमने तो कुछ सुना नहीं।" तब वह धीरे से कहता—"श्रीकृष्ण ने वन में प्रसेन को मार डाला।" वह पूछता—"श्रीकृष्ण से प्रसेन का क्या वैर था, तब वह कहता अरे भैया, यह पैसा सब करा लेता है, मणि के लोभ से उसे मार डाला।" इस प्रकार वायु की भाँति यह बात

पूरी द्वारकापुरी में फैल गया। उद्धवजी ने भी सुना, जिसे देखो वही इसी बात की चर्चा कर रहा है। उन्होंने जाकर भगवान् से से कहा—"प्रभो! आपकी बड़ी अपकीर्ति हो रही है।"

भगवान् ने कहा—"भाई! मैंने ऐसा कौनसा बुरा काम किया है, जो लोग मेरी निन्दा कर रहे हैं?"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! उस स्यमंतक मणि को कंठ में पहिन कर सत्राजित् का छोटा भाई प्रसेन कल वन में मृगया के निमित्त गया था। वह अभी तक लौटा नहीं। सब लोग कह रहे हैं वन में जाकर श्रीकृष्ण ने उसे मार दिया और मणि को उससे छीन लाये। सत्राजित् यही कहता है श्रीकृष्ण ने मुझसे माँगी थी, मेरे मना करने पर ही यह सब दुःखद घटना घटित हुई।"

भगवान् ने कहा—"लेना एक न देना दो, उद्धवजी! यह झूठा कलंक अकारण मेरे सिर पर लग गया। मैंने तो प्रसेन को देखा तक नहीं मारने की तो कौन कहे।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! मुझसे क्या कह रहे हैं। मैं क्या जानता नहीं। आपके लिये मणि क्या वस्तु है। आपके संकल्प मात्र से ऐसी असंख्यों मणि आ सकती हैं। किन्तु लोगों का मुख तो पकड़ा नहीं जाता। लोग तो निन्दा प्रिय होते हैं। विशेषकर किसी संभावित पुरुषकी निन्दा होती है, तो उन्हें बड़ा आनन्द आता है।"

भगवान् ने कहा—"तो अब हम क्या करें?"

उद्धवजी ने कहा—अब महाराज! आपको जैसे हो तैसे उस मणि का पता लगाना चाहिए, तभी आपका यह कलंक धुल सकता है। नहीं तो लोग सोलह आने यही विश्वास किये बैठे हैं, कि आपने ही मणि के लोभ से उसे मारा है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, किन्तु हम अकेले न

जायँगे। अकेले गये और कहीं मणि मिल गई, तो लोग फिर भी यही कहेंगे इनके ही पास थी। बहुत अपयश होते देखकर इन्होंने उसे प्रकट कर दिया।" इस लिये बहुत से नगर वासी प्रसेन के इष्ट मित्र और सम्बन्धियों को लेकर उसे खोजने चलें।"

इस बात का समर्थन उद्धवजी ने भी किया नगर के बड़े बड़े प्रतिष्ठित पुरुषों को बुलाया गया। प्रसेन के बहुत से सगे संबन्धी इष्ट मित्र भी साथ लिये। इन सबको लेकर अपने ऊपर लगे कलंक का परिमार्जन करने के निमित्त भगवान प्रसेन को ढूँढ़ने के निमित्त वन में गये। घोड़ों के टापों के चिह्नों के सहारे सहारे वे बहुत दूर तक चले गये वहाँ सघन वन में घोड़े सहित प्रसेन को मरा हुआ देखा। भगवान् ने कहा—"देखो, भाई घोड़े के सहित प्रसेन तो यह मरा पड़ा है। भली प्रकार देख लो यह किसी अस्त्र शस्त्र से नहीं मरा है। ये सिंह के पंजों के नखों के चिह्न इसके शरीर में बने हैं। ये पृथ्वी पर सिंह के पैर स्पष्ट उभरे हुए हैं। प्रतीत होता है, किसी सिंह ने इसे मार डाला है। फिर भी देखो मणि तो इस पर होगी ही।"

सबने उसके वस्त्रों को देखा, इधर उधर देखा मणि वहाँ नहीं थी। तब भगवान् ने कहा—"अच्छा, आगे चलो। संभव है आगे कुछ पता चले।" यह सुनकर सभी सिंह के पैरों के चिन्हों को देखते देखते आगे बढ़े। आगे चलकर गिरि गुहा के द्वार देश पर सिंह मरा हुआ दिखाई दिया। भगवान ने कहा—"निश्चय ही इसी सिंह ने प्रसेन को मारा है, यह मणि ले आया होगा, मणि के लोभ से किसी ने इसे भी मार डाला। पैर तो ये रीछ के से हैं ये बाल भी रीछ के ही हैं। अवश्य ही रीछ के साथ यहाँ इसका युद्ध हुआ है और रीछ ने ही इसे मारा है, वही मणि लेकर कहीं चला गया है। चलो, रीछ का भी पता लगावें।"

यह सुनकर सब लोग रीछ के पैरों के चिन्हों के सहारे सहारे आगे बढ़े आगे उन्हें ऋक्षराज जाम्बवान् की राजधानी (जम्बूनगरी) मिली। वह चारों ओर पर्वतों से घिरी थी, बड़े बड़े वृक्ष इसमें लगे थे। एक बहुत बड़ा अंधेरा गुफा उन्हें दिखाई दी।

भगवान ने कहा—"अवश्य ही मणि लेकर रीछ इस गुफा में घुसा होगा। प्रतीत होता है, यह गुफा बहुत भारी है और बहुत दूर तक चली गई है। इसके भीतर घुसना चाहिये।"

प्रसेन के मित्र और सम्बन्धियों ने कहा—"यदुनन्दन! हमारा साहस तो इसके भीतर जाने का होता नहीं। आपके ऊपर जो लोगों ने मिथ्या कलंक लगाया था, वह तो नष्ट हो ही गया। प्रसेन को सिंह ने मारा और सिंह को रीछ ने मारा यह बात तो सिद्ध हो ही गई, अब मणि मिले न मिले इसका उत्तर दायित्व हमारे ऊपर नहीं है। हमारी आपसे भी प्रार्थना है, इस घोर अन्धकार से भरी हुई महा भयङ्कर गुफा में आप भी प्रवेश न करें। चलिये द्वारका लौट चलें।"

भगवान ने कहा—"न भैया, मैं बिना मणि लिये द्वारका लौट कर न जाऊँगा। आप सब लोग यहीं द्वार पर रहें, मेरी प्रतीक्षा करें, मैं भीतर जाता हूँ।"

सबकी सम्मति तो नहीं थी, किन्तु भगवान की आज्ञा को उल्लंघन करने की सामर्थ्य किस में थी, सब लोग द्वार पर ही रह गये और अकेले पीताम्बर धारी वनमाली ने फेंट बाँधकर उस गुफा में प्रवेश किया। बाहर द्वारकापुर वासी लोग बैठे-बैठे प्रतीक्षा करते रहे। जब बारह दिनों तक प्रतीक्षा करने के अनन्तर भी भगवान गुफा में से न निकले तो सब लोग डर गये वे सोचने लगे—"जिस जीव ने इतने बली श्रीकृष्णचन्द्र को भी युद्ध में मार डाला, वह जाने कितना बली होगा, ऐसा न हो, वह निकलकर हम सबको भी मार डाले।" ऐसे विचारों के आने से वे सब लोग डर गये। उनके

पास भोजन की सामग्री भी नहीं रही थी, और भगवान् की ऐसी इच्छा ही थी, वे सबके सब लोग लौटकर द्वारकापुरीमें आगये। भगवान् को न आया हुआ देखकर, वसुदेवजी, देवकीजी, बलरामजी, रुक्मिणी तथा अन्यान्य सभी बन्धुबान्धव सुहृद्गण दुखी हुए। सभी सत्राजित्को बुरा भला कहने लगे, कि इसी के झूठे कलंक लगानेसे यह सब घटना घटित हुई। सभी लोग महामाया दुर्गादेवीकी आराधना करने लगे और भगवान्के सकुशल लौटने के निमित्त जप, तप देवाराधनादि साधन करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान गुफा से क्यों नहीं निकले क्या करते रहे?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज भगवान्को आज कल और काम ही क्या था, उन्हें विवाह करने की धुन सवार थी। गुहा में बैठे बैठे विवाह की साँठ गाँठ लगाते रहे। उस अंधेरी गुफामें भी वैसे उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दरी वहू प्राप्त की उस प्रसङ्ग को मैं आगे सुनाऊँगा। इसे आप समाहित चित्तसे श्रवण करनेकी कृपा करें।

छप्पय

हरि माँगी मणि नहीं दई भाई मम मारयो।
घर घर फैली बात श्याम मन माहिँ विचारयो॥
मिथ्या लग्यो कलङ्क करूँ हौं मार्जन अबहीं।
संग लिये बहु लोग चले मणि खोजन सबहीं॥
रव प्रसेन निरख्यो मृतक, पुनि खोजत आगे गये।
मरयो सिंह लखि पुनि गुहा, देखि रीछ की घुसि गये॥

जाम्बवतीके साथ भगवान्‌का विवाह

(१०९८)

उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवागतम् ।
सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५६ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

अट्ठाइस दिन लड़्यो रीछ परि हरि नहिँ हारे ।
निज स्वामी रघुनाथ समुझि पुनि पैर पखारे ॥
कन्या दई विवाहि जाम्बवति लै हरि निकसे ।
बारह दिन लखि बाट श्यामके साथी खिसके ॥
दुखित द्वारका महँ सकल, मिलि दुर्गा पूजन करहिँ ।
जोहत प्रभुकी बाट नित, सत्राजित् कूँ सब शपहिँ ॥

भक्त भगवान् को भले ही भूल जाय किन्तु न तो भगवान् भक्तको भूलते हैं और न उसके साथकी हुई प्रतिज्ञाको भूलते हैं। भूलना जीव का स्वभाव है, सदा स्मरण रखना यह भगवान् का स्वभाव है। भगवान जो भी करते हैं, जीवको स्मरण करानेके ही निमित्त करते हैं। जो भगवान्‌की मार सहकर उन्हें पहिचान जाते

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! द्वारकावासी नर नारी नई बहूके साथ कंठमें मणि पहिने हुए भगवान्‌को आते देखकर उसी प्रकार अत्यन्त हर्षित हुए जिस प्रकार किसी मृतक पुरुषको पुनः आया हुआ देखकर प्रसन्न होते हैं।"

हैं, वे तो उत्तम भक्त हैं, जो उनकी मार खा कर भी नहीं समझते वे तो साधारण कोटि के हैं। भगवान् को पहिचानकर जो अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित कर देता है, वह सहज में ही संसार सागरसे सदा के लिये पार हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मणि के लिये भगवान् जाम्बवान के बिल में घुस गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा, जो मणि आठ भार नित्य सुवर्ण दिया करती थी, वही आज रीछ के बिल में आकर केवल बालक का खिलौना मात्र बनी हुई है। बालक उस मणि को लिये हुए खेल रहा है। भगवान तो चोरी की विद्या में निपुण ही हैं। व्रज में रहकर कुछ पढ़ा लिखा तो था नहीं, वहाँ चोरी जारी की थी, इसलिये चोरों की भाँति चुपके चुपके गये। उस लड़के पर मणि को देखकर समझ तो गये, कि यह वही स्यमन्तक मणि है किन्तु इसका पूर्ण निश्चय करनेके लिये वे कुछ काल छिपे खड़े रहे। लड़के की दृष्टि उन पर पड़ी उन्हें देखकर वह रोने लगा। उस बच्चे की धाय ने समझा बच्चा वैसे ही रो रहा है। अतः वह दौड़कर बच्चे के पास आई और उसे गोद में लेकर प्यार से इस श्लोक को पढ़ने लगी—

सिंहः प्रसेनमवधीत्सिंहो जाम्बवता हतः।
सुकुमार मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः॥

अर्थात् हे मेरे प्यारे बच्चे! देख, प्रसेनको सिंहने मारा सिंह को तेरे पिता जाम्बवान् ने मारा उससे छीनकर वे इस मणि को तेरे लिये लाये हैं। अब यह मणि निश्चय ही तेरी है, तू रोवे मत।"

इस बात को सुनकर भगवान् को निश्चय हो गया कि यह वही मणि है। इसलिये अब वे छिपे नहीं रहे। ज्यों ही आगे बढ़कर उन्होंने लड़के के हाथ से उस मणि को छीनना चाहा,

त्यों ही उस लड़के की धाय डर गयी। उसने ऐसा पुरुष पहिले कभी नहीं देखा था, भगवान् सहसा प्रकट हो गये अतः वह अत्यन्त भयभीत होकर बड़े वेग से चीख उठी। उसकी चीख को सुनकर समीप की कोठरीमें पड़ा हुआ जाम्बवान् तुरन्त वहाँ दौड़कर आ गया। आते ही उसने पीताम्बर ओढ़े एक विचित्र पुरुष को देखा। समीप ही लड़का और धाय भयभीत होकर रुदन कर रहे हैं। आते ही वह अत्यंत कुपित हुआ। क्रोधमें विवेक नष्ट हो जाता है। विचारने की शक्ति नहीं रहती। इसीलिये महाबुद्धिमान् जाम्बवान् ने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को साधारण प्राकृत पुरुष ही समझा। उसे अपने बल का बड़ा अभिमान था। वह सोचता था, संसार में मेरे समान बली कोई दूसरा है ही नहीं। इसीलिये इस पुरुष के ऐसे साहस को देखकर उसे अत्यन्त क्रोध आ गया। भगवान् के प्रभाव को भूलकर वह उनसे लड़ने लगा। भगवान् तो फेंट बाँधकर लड़ने को तैयार ही थे। अतः वे भी भिड़ गये अब होने लगा दोनों ओर से चटापट चटापट। वह भगवान् के घूँसा मारता, तो भगवान भी उसके मुक्का जमा देते। वह उन्हें दाँतों से काटता तो भगवान् उसके बालों को पकड़ कर दबोच देते। जाम्बवान् गुफा में से वृक्षों को उखाड़कर मारता तो भगवान् बीच में ही उसके टुकड़े टुकड़े कर देते। वह पत्थर फेंकता और भी अपने अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करता, किन्तु भगवान् के सम्मुख उसकी एक भी नहीं चलती थी। जैसे गौ के लिये दो साँड़ लड़ते हैं, जैसे मांस के टुकड़े के लिये दो श्येन पक्षी लड़ते हैं, वैसे ही उन दोनों का निरन्तर युद्ध होता रहा। दोनों ही बली थे, दोनों ही अस्त्र शस्त्रों में निपुण थे, दोनों ही विजय के अभिलाषी थे, दोनों ही एक दूसरे के प्रहार को बचाकर प्रहार करना चाहते थे।

इस प्रकार दोनोंमें अट्ठाईस दिनों तक निरंतर रात्रि दिन युद्ध

होता रहा। वह उसको घूँसा मारता वह उसको। अंतमें जाम्बवान का बल घटने लगा। भगवान् के मुक्कों से उसके सुदृढ़ बन्धन चूर चूर हो गये। सम्पूर्ण अंग पसीने से लथपथ हो गये। अब उसका लड़ने का उत्साह भी ढीला हो गया। सत्ययुग से आज तक उसे कोई युद्ध में सन्तुष्ट नहीं कर सका था, आज उसे प्रतीत हुआ अब मैं युद्ध करने में असमर्थ हूँ। यह व्यक्ति जो घूँसा मारता है, वह मेरे अङ्गों में वज्र के समान लगते हैं। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतना बली पुरुष तो आज तक मैंने संसार में देखा नहीं [illegible] मेरे स्वामी श्रीरघुकुलतिलक भगवान् राघवेन्द्र ही ऐसे हैं, [illegible] बल अप्रमेय था, हाँ न हों ये वे ही मेरे स्वामी [illegible] उसने जो प्रेमभरी दृष्टि से भगवान् की ओर [illegible] अवधकुलमण्डन जानकी जीवन भगवान [illegible] वही त्रेतायुग की सी छटा दिखाई दी। भगवान ने [illegible] भाव को समझकर मुसकरा दिया। बस, फिर [illegible] को ज्ञान हो गया। वे उनके पैरों में पड़ गये [illegible] प्रणाम करके बोले—हे प्रभो! मैं अब आपके [illegible] सका। हे कृपालो! अवश्य ही आप मेरे [illegible] नहीं आप सम्पूर्ण चराचर विश्व के [illegible] हैं, पुराणपुरुष हैं, अव्यय हैं, सबके [illegible] हैं। आप ही सबके शरीर में [illegible] रूप से विद्यमान हैं। आप सम्पूर्ण [illegible] ही ब्रह्मादि देवों की उत्पत्ति [illegible] कारण हैं। कालरूप से [illegible] सम्पूर्ण आत्माओं के [illegible] जगदीश्वर और सर्वेश्वर हैं।

भगवान् ने कहा—[illegible] हार गये हों, तो वैसे [illegible] व्यर्थ बातें क्यों बना [illegible]

जाम्बवान् ने कहा—"भगवन् ! भला आपसे कौन जीत सकता है ? लंका विजय के समय मैंने आपका पुरुषार्थ देखा था। समुद्र आपको मार्ग नहीं दे रहा था, उसे आपने किञ्चित् कोप-कटाक्ष से निहारा ही भर था, कि उसका जल खौलने लगा। उनी से मत्स्य, मकर कच्छप, सर्प तथा तिमिङ्गिलादि समस्त जल जन्तु क्षुब्ध हो गये। आपके बाण उठाते ही समुद्र सशरीर आप-के सम्मुख समुपस्थित हो गया और उसने आपको लंका जाने का उपाय बता दिया। आपने भी समुद्र के कहने से उस पर सेतु बाँधा वह सेतु आपके यश का क्षुद्र प्रतीक मात्र है। आपने अपने भीषण बाणों की वर्षा से लंकापुरी को विध्वंस कर डाला और राक्षसों के शिरों को काट काटकर उसका पर्वत-सा बना दिया, वे ही रावणादि राक्षसकुलसंहारी विभीषण को शरण देने वाले राघवेन्द्र आप हैं।"

भगवान ने जब देखा कि उसने तो मुझे पहिचान लिया, तो वे हँस पड़े और कृपा भरी दृष्टि से ऋक्षराज की ओर देखते हुए अपने कल्याणकारी कर कमल से उनके अंगों का स्पर्श किया। भगवान के स्पर्श करते ही ऋक्षराज की सम्पूर्ण पीड़ा नाश हो गयी। वे पहिले की भाँति स्वस्थ और वेदना रहित बन गये। तब भगवान देवकीनन्दन अत्यन्त ही कृपा प्रदर्शित करते हुए अपने परम भक्त जाम्बवानजी से कहने लगे—"ऋक्षराज ! देखो हमारे ऊपर मिथ्या कलंक लग गया है। लोग हमारे ऊपर इस स्यमन्तक मणि की चोरी लगा रहे हैं। इसी को खोजते खोजते हम तुम्हारी इस गुफा में तुम्हारे ऊपर कृपा करने आये हैं।

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी ! जब भगवान जानते थे, कि यह मेरा भक्त ऋक्षराज है, तो उसे अज्ञान में क्यों रखा, क्यों उसके साथ अट्ठाईस दिनों तक युद्ध किया। यह भगवान की कृपा क्या हुई ?"

सूतजीने कहा—"शौनकजी ! भगवान् जो भी करते हैं, भक्तों की इच्छापूर्तिके लिये ही करते हैं, भगवद्भक्त के मनमें जो भी संकल्प उठता है भगवान् उसे किसी न किसी रूपमें अवश्य पूरा करते हैं। देखिये, सूर्पणखाकी इच्छा भगवान्‌को देखकर उनके साथ क्रीड़ा करने की हुई तो कुब्जारूप में उसकी इच्छा-पूर्ति की। दंडकारण्य के ऋषि मुनि कमलनयन भगवान् राघवेन्द्र के रूपको देखकर मुग्ध हो गये। उनके साथ रमण करनेका उनके मनमें तनिक-सा संकल्प हुआ, भगवानने उन्हें गोपी रूप देकर उनकी इच्छापूर्ति की। भगवद्भक्तोंके हृदयमें प्रथम तो कोई कामना उठती नहीं। वे भगवान्‌के भजनसे ही तृप्त बने रहते हैं। कदाचित् कोई इच्छा उठ भी जाय, तो उसे भगवान् किसी न किसी रूपमें अवश्य पूर्ण करते हैं। जैसे भगवान् स्वयं सत्यसंकल्प हैं वैसे ही वे भक्तों को भी सत्यसंकल्प बना देते हैं। एक बार भगवान् की इच्छा चाहे पूरी न भी हो' भक्त की इच्छा वे अवश्य ही पूरी कर देते हैं।

ये जाम्बवान् चिरजीवी हैं। जब भगवान् वामनने बलिका सर्वस्व हरण करके उसे पाताल पठाया था, तब ये युवावस्था-पन्न थे। दो घड़ीमें सात बार इन्होंने ब्रह्माण्डकी परिक्रमा करली थी। इनके बराबर शीघ्र चलनेवाले गरुड़जी भी नहीं थे। श्रीरामचन्द्रावतारमें ये बूढ़े हो गये थे। फिर भी इनके समान बुद्धिमान और बलवान न कोई वानर था न रीछ। लंकाविजयमें भगवान्‌के ये ही प्रधानमन्त्री थे। ये जैसी सम्मति देते वैसा ही किया जाता। इनके ही बुद्धिबल से लंका पर विजय प्राप्त की गई। भगवान्‌ने अन्तमें प्रसन्न होकर सबको इच्छानुसार वर दिये। इनसे भी पूछा गया—"आप क्या वर माँगना चाहते हैं ?"

इन्होंने कहा—"यहाँ लंकाविजयमें मेरी बुद्धिका तो कुछ कुछ उपयोग हुआ, किन्तु मेरे बलका कुछ भी उपयोग न हुआ। अतः मैं युद्ध करना चाहता हूँ। युद्धसे मेरी तृप्ति नहीं हुई।"
भगवान् ने हँसकर कहा—"तुमसे युद्ध करेगा कौन? संसारमें तुम्हारे समान बली कोई दूसरा है ही नहीं। हाँ मैं ही तुमसे युद्ध करके तुम्हें युद्धमें सन्तुष्ट कर सकता हूँ।"

जाम्बवान ने हाथ जोड़कर कहा—"अजी, महाराज! आप तो मेरे स्वामी हैं, आपसे भला मैं कैसे युद्ध कर सकता हूँ"

भगवान् हँसकर बोले—"स्वामी और सेवकका भी तो युद्ध होता है। इस अवतारमें नहीं अगले अवतारमें हम तुम्हारी इच्छापूर्ति करेंगे। जानकर तो तुम हमसे लड़ोगे नहीं, अतः तुम्हें हम विस्मृति दे देंगे, जिससे तुम हमें भूलकर हमसे युद्ध करो। जब तुम युद्ध से सन्तुष्ट हो जाओगे, तो फिर तुम्हें हमारी स्मृति हो आवेगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो यह कारण है जो जाम्बवान जैसे परम भगवत् भक्त भगवान को पहिचान न सके। भगवान अपने भक्तोंको कभी अज्ञान भी देते हैं, तो उनकी किसी जन्मकी किसी इच्छा को ही पूर्ण करने के निमित्त हैं। नारदजीने भगवानको भूलकर उन्हें शाप दे डाला। ये तो सब भगवान की लीलायें हैं। अपने भक्तोंके साथ विचित्र विचित्र क्रीड़ायें करते रहते हैं। जो एक बार भगवान्‌की शरणमें आ गया, वह सदाके लिये कभी भी भगवान्‌को भूल नहीं सकता। अट्ठाईस दिन दिन-रात्रि युद्ध करके भगवान् ने जाम्बवान्‌जी की युद्धकी इच्छाको पूर्ण किया। जब वे श्रांत हो गये, हार गये तब भगवान्‌ने उनके अज्ञान को हर लिया अपना यथार्थ रूप दिखा दिया। हारे को हरिका ही सहारा है।"

शौनकजीने कहा—"हाँ, सूतजी! भगवान् बड़े कृपालु हैं। अपने भक्तोंकी समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं, तभी तो उन्हें

भक्त वाञ्छा कल्पतरु कहा गया है। अच्छा फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! हुआ क्या फिर भगवान् और भक्तों के मिलने पर जो कुछ होता है, वही सब हुआ। जाम्बवान् जी ने परम प्रसन्न होकर विधिवत् भगवान की पूजा की, उन्हें अर्घ्य

प्रदान किया। अर्घ्य के समय कोई फल तथा रत्नादि भेंट किया जाता है। जाम्बवान्‌जी के एक अत्यन्त ही सुन्दरी कन्या थी, उस कन्या रत्न को अर्घ्य के साथ उन्होंने भगवान् को अर्पण कर दिया। वह जो स्यमन्तक मणि थी, वह दहेज में दे दी।" हाथ जोड़कर

उन्होंने कहा—"प्रभो ! आपने बड़ी कृपा की जो दास को दर्शन देकर अपनी पदधूलि से मेरे घर को पावन बना दिया और मुझे सपरिवार कृत कृत्य कर दिया। मेरी यह परम सुशीला गुणवती कन्या है इसे आप पत्नी रूप में ग्रहण कर लें और इस मणि को भी आप ले जायँ।"

भगवान ने ऊपर के मन से कहा—"अरे, भाई ! विवाह तो हमारा हो गया है। पत्नी तो हमारे घर में हैं किन्तु अब क्या करें, तुम श्रद्धापूर्वक दे रहे हो जो कोई श्रद्धापूर्वक दी हुई किसी की वस्तु को ग्रहण नहीं करता, उसका अन्त में अपयश होता है। इसलिये भाई, क्या करें किन्तु अब जब तुम दे ही रहे हो, तो कोई बात नहीं। अच्छी बात है यह भी पड़ी रहेगी। यहाँ आपके पास कुशा नारियल तो कहाँ होगा, पंडित पुरोहित भी कहाँ खोजते फिरोगे, दे दो इसे हम ले जायँ, द्वारका में आकर सब नेग जोग कर लेंगे।"

यह कहकर भगवान् ने पत्नी रूप में जाम्बवती को ग्रहण कर लिया। उसे लेकर वे बिल से बाहर निकले।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमें कुछ शंकायें रह गईं ? यदि आप हमें अश्रद्धालु न समझें तो पूछें।"

सूतजी बोले—"नहीं महाराज ! अश्रद्धालु समझने की कौन सी बात है, जो शङ्का उठे उसे पूछना चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! प्रथम शंका तो हमें यह है कि ये जाम्बवान् इतने बूढ़े थे, प्रथम सत्ययुग के थे, फिर भी यहाँ इनके एक इतना बड़ा छोटा सा बच्चा था जो मणि से खेलता था, पन्द्रह सोलह वर्ष की लड़की भी होगी। तो सत्ययुग से अब तक न जाने कितने बच्चे इनके हो गये होंगे ? दूसरी बात यह कि ये तो रीछ थे, भगवान् ने रीछ की लड़की से कैसे विवाह किया

भगवान् भी रीछ बन गये थे क्या, अथवा इसे ही मानवी स्त्री बनाया।"

यह सुनकर सूतजी हंस पड़े और बोले—"अजी, महाराज! ये ऐसे साधारण जंगली रीछ थोड़े ही थे। ये तो एक प्रकार के उपदेव थे। ब्रह्माजी के पुत्र थे। ये इच्छानुसार जब चाहें तब वैसा रूप बना सकते थे। जैसे जटायु सम्पाति ये गृद्ध थे, किन्तु जब चाहते तभी मनुष्य रूप रख सकते थे, जटायु ने बताया था, मैं महाराज दशरथ का मित्र हूँ। इसी प्रकार ये जाम्बवान् चिरजीवी उपदेव हैं। ये स्वर्ग में, ब्रह्मलोक तक में जा सकते थे। ये रीछों के राजा थे। ये वरदान के प्रभाव से कभी भी वृद्ध नहीं होते थे। जहाँ इन्हें वृद्ध कहा गया है, वहाँ वृद्ध कहने से इतना ही अभिप्राय है, कि ये बहुत पुराने थे। जैसे देवता कभी वृद्ध नहीं होते वैसे ये भी कभी बूढ़े नहीं होते थे गुफा में रहकर ये भगवान् के अवतार की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब ये वृद्ध ही नहीं तो बच्चा होने में कौन से आश्चर्य की बात है। इनके बल का तो इसी से अनुमान लगा लें, कि बिना खाये पिये बिना विश्राम लिये अट्ठाईस दिनों तक ये भगवान् से लड़ते रहे।

इनकी जो यह लड़की थी, जाम्बवती, वह भी दिव्य स्त्री थी रामावतार में भी यह थी। भगवान के रूप को देखकर यह विमोहित हो गई थी। इसके अभिप्राय को जानकर जाम्बवान् ने इसे भगवान् को देना चाहा। तब भगवान ने कहा—"देखो, भाई! इस अवतार में तो मैंने एक पत्नी व्रत ले रखा है। अतः इसे अब तो मैं स्वीकार करूँगा नहीं। हाँ अगले अवतार में मैं इसके साथ विवाह करके इसकी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा।" तभी से यह भगवान् की प्राप्ति के लिये घोर तपस्या करती रही। इसने मानवी स्त्री का रूप धारण किया था और उसी रूप से जाम्बवान् ने भगवान् को इसे समर्पित किया।

शौनकजी ने कहा—"हाँ सत्य है सूतजी ! इनकी संज्ञा ही ऋक्ष थी। वैसे तो ये उपदेव थे। अच्छा फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! जाम्बवती को लेकर और उस स्यमन्तक मणि को कंठ में पहिनकर भगवान् गुफा के बाहर आये। वहाँ देखा, भगवान के दो चार विश्वसनीय सेवकों को छोड़कर कोई भी नगर निवासी पुरुष वहाँ नहीं था। भगवान् उन लोगों को लेकर द्वारका की ओर चल दिये।

इधर द्वारका में भगवान के न लौटने से बड़ी चिन्ता छाई हुई थी। सब लोग महामाया दुर्गादेवी की आराधना में संलग्न थे। सभी देवीसे यही मनौती मना रहे थे। 'हे जगज्जननी ! हे भगवति ! हे यशोदागर्भसंभवा ! भगवान् श्रीकृष्ण पुनः सकुशल लौटकर द्वारकापुरी में आ जायँ।"

बहुत से लोग सत्राजित् को बुरा भला कह रहे थे। कोई कोई कहता—"जैसे इसका भाई प्रसेन मर गया है, भगवान् करे यह भी वैसे ही मर जाय। इसी के कारण भगवान् को कलंक लगा और वे भयङ्कर बिल में घुसे।" कोई कहता—"अरे, भगवान् का कोई क्या बिगाड़ सकता है, वे जो चाहें सो कर सकते हैं। वे तो विश्व की रक्षा करने वाले हैं।" कोई देवी के सामने जप, तप, पूजा पाठ कर रहे थे।

उन सबकी उपासना से प्रसन्न होकर दुर्गा देवी ने सबको इच्छित वर की प्राप्ति का शुभाशीर्वाद दिया। जिस समय देवीजी ने भगवान् के सकुशल लौटने का वर दिया, उसी समय लोगों ने देखा नूतन जलधरों की आभा के समान आभावाले पीताम्बरधारी वनमाली कंठ में स्यमन्तक मणि पहिने और नववधू जाम्बवती को साथ लिये हुए आ रहे हैं। भगवान् को देखकर सबको उसी प्रकार प्रसन्नता हुई जैसे प्यासे को अमृत मिलने पर, मृतक

पुरुष के पुनः जीवित होकर लौटने पर प्रिय घर वालों को प्रसन्नता हो सकती है। सबने देखा भगवान् एक से दो होकर लौटकर आ रहे हैं तब तो सबके हर्ष का ठिकाना ही नहीं रहा सब बड़े प्रेम से मिले भेंटे। नई बहू का अन्तःपुर में बड़ा स्वागत सत्कार किया। भगवान् ने सबको एकत्रित कर उस मणि का सब वृत्तान्त सुना दिया और सबके सम्मुख सत्राजित् को वह लौटा दी। सत्राजित् पर तो मानों सहस्रों घड़ा पानी पड़ गया हो। लज्जा के कारण उसका सिर ऊपर नहीं उठता था। वह मणि को लेना नहीं चाहता था, किन्तु सबके सम्मुख उसे कहने का साहस भी न हुआ। वह अत्यन्त खिन्न मन से उदास होकर मणि को लेकर घर लौट आया। सब लोग उसे धिक्कार दे रहे थे, उसका हृदय भी उसे कोंच रहा था। उसे आत्मग्लानि हो रही थी, मैंने सर्वेश्वर पर ऐसा व्यर्थ सन्देह क्यों किया? क्यों उन पर मिथ्या कलंक लगाया। कैसे मैं उनको प्रसन्न कर सकूँ, इसी चिन्ता में वह डूबा रहता था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने जाम्बवती के साथ भी विधि विधान पूर्वक विवाह कर लिया। इस प्रकार भगवान् के दो विवाह तो हो गये अब आप लोग उनके तीसरे विवाह के भी शुभ वृत्तान्त को श्रवण करें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! उस विचारे सत्राजित् की तो बड़ी अपकीर्ति हुई होगी वह लोगों के सम्मुख कैसे निकलता होगा, कृपा करके पहले हमें उस सत्राजित् का ही वृत्तान्त सुनावें तदनन्तर भगवान् के तीसरे विवाह की कथा कहें।"

सूतजी ने कहा—"भगवान् का तीसरा विवाह इन्हीं सत्राजित् की लड़की के साथ तो हुआ इसमें दोनों ही कथायें आ जायँगी आप इसे सुनिये तो सही।"

छप्पय

जाम्बवती सँग श्याम निरखि सब लोग सिहाये।
पुरवासी यों मुदित मृतक जनु घर फिरि आये॥
मणि को सुनि सब वृत्त भयो दुःखित सत्राजित।
हरि मणि सादर दई लई तानें ह्वै लज्जित॥
सोचत सत्राजित् सतत, यह अपयश कैसे सहूँ।
होहि तोष यदि मणि सहित, सतभामा हरि कूँ दऊँ॥

सत्यभामाजीके साथ भगवान्‌का विवाह

[१०९९]

तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि ।
बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्य गुणान्विताम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५६ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

शतधन्वा सँग करी सगाई सतभामा की ।
तऊ कृष्ण कूँ दई न चिन्ता कीन्हीं ताकी ॥
तीन ब्याह करि गये बन्धु देखन हथिनापुर ।
कुन्ती पांडव जरे सुनत पहुँचे तहँ सत्वर ॥
जानत सब घनश्याम परि, लोक दिखावो करत हैं ।
नर क्रीड़ा करि सबनि के, चंचल चित कूँ हरत हैं ॥

कलह कामिनी और कांचन के ही कारण हुआ करती है। कांचन में भूमि, धन, अन्न तथा अन्य सभी जीवनोपयोगी वस्तुओं का समावेश है। एक वस्तु को दो चाहते हैं, दोनों उस पर अपना स्वत्व समझते हैं, इसी पर विवाद होता है, मार पीट होती है और प्राणों तक की नौबत आ जाती है। जहाँ धन होगा,

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने उस सत्यभामा से विवाह किया, जो शील रूप और उदारतादि गुणों से युक्त थी तथा जिसे बहुत से क्षत्रियों ने सत्राजित् से माँगा था।"

सुन्दरी स्त्री होगी वहाँ मनो मालिन्य, कलह, मार पीट अवश्य होगी। प्राचीन अर्वाचीन सभी इतिहासों में युद्ध के ही कारण मिलेंगे। हम जिस वस्तु को चाहते हैं, उसे यदि कोई दूसरा ले जाता है, तो हमारे मन में ईर्ष्या होती है। शक्ति होने पर हम उससे उस वस्तु को छीनने का प्रयत्न करते हैं शक्ति न रहने पर उसका कुछ न कुछ अनिष्ट करने की बात सोचते हैं। किसी को कुछ देने को कह दो और फिर उसे न दो, तो वह शत्रु हो जाता है। ब्राह्मण को भोजन के लिये निमंत्रित कर दो और फिर उसे भोजन न कराओ तो वह शत्रु के समान आचरण करने लगेगा। शापा शापी होगी कलह होगी। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है, न तो किसी के धन पर मन चलाना चाहिये न किसी की वस्तु को अन्याय से लेने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने महाराज उग्रसेन तथा सबके सामने सभा में स्यमन्तक मणि सत्राजित् को लौटा दी। अब वह अपने अपराध के लिए अत्यन्त ही पश्चात्ताप करने लगा। उसने सोचा—"देखो, मैंने बिना समझे बूझे श्रीकृष्ण को कलंक लगा दिया। अब वे अपने मन में क्या सोचते होंगे। उनका सोचना उचित ही है, दूसरे सभी द्वारका वासी मुझे धिक्कार रहे हैं। जो लोग पहिले मेरी बात का समर्थन करते थे, अब वे मुझे बुरा कहते हैं। अब मैं क्या करूँ श्रीकृष्ण का भी मेरी ओर से मन फिर गया होगा। मैंने उनके कई अपराध किये हैं। सर्व प्रथम तो जब उन्होंने मणि माँगी थी, तभी मुझे दे देनी चाहिये थी। उस समय लोभ वश मैंने उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर दिया। फिर उन पर मिथ्या कलंक लगाया। वे मणि को खोजने निकले तब भी मैंने उन्हें रोका नहीं। मेरे कारण ही उन्हें बिल के भीतर अट्ठाईस दिनों तक घोर द्वन्द्व युद्ध करना पड़ा। जिस हत्या की जड़ इस मणि के पीछे यह सब कांड हुआ, वह फिर मेरे पास

आ गई। इसके पीछे ही भगवान् से मेरा वैर हो गया, अब मेरा कल्याण नहीं। क्या करूँ, कैसे भगवान् को प्रसन्न रख सकूँ।"

इस बात को वह निरन्तर सोचता रहता। अब वह घर से बाहर नहीं निकलता था। एक दिन उसकी युवती लड़की सत्यभामा ने बड़े प्रेम से पूछा—"पिताजी! आप इतने चिन्तित क्यों रहते हैं।"

सत्यभामा सत्राजित् की इकलौती ही पुत्री थी। वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी। द्वारकापुरी में उसकी सुन्दरता की सर्वत्र ख्याति थी। यादवगण अपनी जाति में ही विवाह करते थे। पितृपक्ष की सात पीढ़ी तथा मातृपक्ष की सात पीढ़ी बचाकर आपस में ही विवाह कर लेते थे। सत्यभामा को जो भी देखता वही उसके शील, स्वभाव रूप उदारता तथा अन्यान्य सद् गुणों को देखकर मुग्ध हो जाता। जब वह बड़ी हुई तो बहुत से यादवों ने सत्राजित् से उस सर्वगुण सम्पन्ना कन्या की याचना की। अक्रूर, कृतवर्मा, शतधन्वा इन सबका एक गुट था। शतधन्वा ने सत्राजित् से सत्यभामा के लिए बहुत आग्रह किया। अक्रूर और कृतवर्मा ने भी शतधन्वा पर दबाव डाला। अतः शतधन्वा के साथ सत्यभामा की सगाई पक्की हो गई। विवाह होने में कुछ ही देरी थी, कि यह अप्रिय घटना घट गई। विवाह रुक गया। अब सत्राजित् को कन्या के विवाह की बात तो भूल गई। रात्रि दिन उसे यही चिन्ता व्यथित करती रहती थी, कि श्रीहरि किस प्रकार मुझसे प्रसन्न हों, कैसे मैं अपने अपराध का मार्जन कर सकूँ। आज जब अत्यन्त मधुर वाणी में उसकी युवती कन्या ने उससे चिन्ता का कारण पूछा, तो उसने बड़े प्यार से कहा—"बेटी! क्या बताऊँ मैंने लोभवश श्रीकृष्णचन्द्र पर मिथ्या कलंक लगा दिया था। इसके लिए मुझे बड़ी आत्मग्लानि हो रही है।"

सत्यभामा जी ने कहा—"पिताजी! जो बात हो गई सो हो

गई। उसके लिए आप इतने चिन्तित क्यों हो रहे हैं। अब आप इस मणि को भगवान् के ही चरणों में समर्पित कर दें।"

सत्राजित् ने कहा—"बेटी! मैं तो यह चहता हूँ, किन्तु वे लेंगे नहीं।"

सत्यभामाजी ने कहा—"लेंगे क्यों नहीं पिताजी! किसी युक्ति से उन्हें भेंट कर दें। वे तो बड़े भक्त वत्सल हैं, जो उन्हें कोई श्रद्धा भक्ति से एक फूल, एक पत्ती अथवा एक चुल्लू जल भी देता है, तो उसे भी प्रेम पूर्वक ग्रहण ही नहीं करते खा जाते हैं। आप उन्हें अपना शत्रु न समझकर सगा सम्बन्धी समझें। उन्हें अपनी सेवा से प्रसन्न करें।"

यह कह कर सत्यभामा भीतर चली गई। सत्राजित् सोचने लगा—"भगवान् कैसे प्रसन्न होंगे। किस बात से उन्हें प्रसन्नता होगी आज कल उन्हें विवाह करने की धुन सवार है। जहाँ जाते हैं नया विवाह करके ले आते हैं। मेरी यह कन्या अभी क्वारी है, यद्यपि मैंने कृतवर्मा अक्रूर आदि के कहने से शतधन्वा के साथ इसकी पक्की सगाई कर दी है, किन्तु जब तक भाँवर न फिर जायँ, तब तक बेटी बाप की ही समझी जाती है उसे अधिकार है वह चाहे जिसे दे दे। सगाई तो छोड़ी भी जाती है। मेरी पुत्री सुशील भी है गुणवती रूपवती और बुद्धिमती भी है। इसका भगवान् के साथ विवाह कर दूँगा, तो वे मुझसे प्रसन्न भी हो जायँगे इस मणि को उन्हें दहेज में दे दूँगा। जामाता ससुर का सम्बन्ध होने से वे सब बातें भी पुरानी पड़ जायँगी फिर इस शुभ कार्य के करने से मेरा कल्याण भी हो जायगा और लोग जो मुझे अदूरदर्शी क्षुद्र, मूर्ख तथा अर्थ लोलुप समझ कर मेरी निंदा करते हैं वह भी न करेंगे। इस विरोध की शान्ति इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से नहीं हो सकती।"

यही सब सोच कर वह श्रीकृष्ण के समीप गया और जाकर

बोला—"वासुदेव ! मेरी एक प्रार्थना है उसे स्वीकार करोगे ?"

भगवान् ने कहा—"कहो, भाई क्या बात है ?"

सत्राजित् ने कहा—आपने मेरी पुत्री सत्यभामा को तो देखा ही है ।"

भगवान्‌ने गम्भीर होकर कहा—"हां देखा है।"

उसने दीनताके स्वरमें कहा—"तो यदुनन्दन ! मेरी इच्छा है उसे आप स्वीकार कर लें ।"

भगवान्‌की तो पहिलेसे ही उस पर दृष्टि थी, सत्यभामाजी पृथिवीका अंशावतार थी। भगवान्‌के जन्मसिद्ध पत्नी थीं, किन्तु उनकी सगाई हो चुकी थी। आपसमें लोग यह न कहें, कि इस कृष्णने दूसरों की स्त्रियोंको छीननेका ही व्रत ले रखा है अतः वे गम्भीर होकर बोले—"सत्राजित्‌जी ! हमारे तो अब दो दो विवाह हो गये हैं, हमें अब उसकी क्या आवश्यकता है।"

सत्राजित्‌ने दीनताके साथ कहा—"अजी, महाराज क्या हुआ, दो हो गये हैं तो। राजाओं के तो अनेकों पत्नियाँ होती हैं एक और सही। मेरी कन्या बड़ी रूपवती है, उसके सद्‌गुणों की सर्वत्र ख्याति है वह बड़ी सुशीला है। आप चल कर देख लें।"

भगवान् ने बात पर बल देते हुए कहा—"नहीं चाचाजी ! यह मेरा अभिप्राय नहीं है। कन्या आपकी बड़ी सुन्दरी है। देवता भी उसे पाकर अपना अहोभाग्य समझेंगे, किन्तु विवाह करनेमें मैं स्वतन्त्र तो नहीं हूँ। मेरे पिता हैं, बड़े भाई हैं, माताजी हैं और सबसे ज्येष्ठ मेरे नाना महाराज उग्रसेनजी हैं। इन सबसे आप पूछ लें। ये सब आज्ञा दे देंगे, तो मुझे तो आप सब लोगों की आज्ञा माननी ही पड़ेगी।"

यह सुनकर सत्राजित् को कुछ कुछ सन्तोष हुआ। वह वसुदेवजी, देवकीजी, बलदेवजी तथा उग्रसेनजीके समीप गया। सब

मे अनुनय विनयकी। उग्रसेनजीने कहा—"अच्छी बात है, मैं तो समझता हूँ श्रीकृष्णको कोई आपत्ति न होगी। अभी तो उनके दो ही विवाह हुए हैं। उनके पिता के तेरह विवाह हुए थे। पिता से पुत्र को बढ़ कर रहना चाहिए। अच्छा एक काम करो, आप कल सभा में आना। वहीं हम सबके सामने पूछ लेंगे।"

यह सुनकर सत्राजित् चला आया। दूसरे दिन यादवों की सभा लगी। सत्राजित् भी आ गया। उसने उग्रसेनजी के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा। उग्रसेनजी ने कहा—"वासुदेव! सत्राजित् अपनी लड़की का विवाह तुम्हारे साथ करना चाहता है, इसमें तुम्हें कुछ आपत्ति तो नहीं है?"

भगवान् ने सकुचाते हुए खड़े होकर कहा—"महाराज! मैं तो आपके अधीन हूँ, आप सब जैसी भली बुरी आज्ञा देंगे, उसका पालन करना ही होगा। सबसे आप पूछ लें, सबकी सम्मति हो तो कोई बात नहीं।"

यादवों के मंत्री मंडल में शतधन्वा नहीं था। सेनाध्यक्ष कृतवर्मा थे और दानविभाग के मंत्री अक्रूरजी थे। अक्रूरजी का एक पृथक् दल था। उसका अनेकों बातों में श्रीकृष्ण के दलसे मतभेद रहता था। यद्यपि इस प्रस्तावसे अक्रूरके दलवाले सहमत नहीं थे, किन्तु जब बेटी देने वाला कह रहा है, लेने वाला अपनी स्वीकृति दे रहा है, महाराज उसका समर्थन कर रहे हैं तो कोई विरोध करे भी तो किस आधार पर करे। सर्व सम्मति से प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

अब तो विवाहकी तैयारियाँ होने लगीं। सत्राजित्के एक ही कन्या थी, सुवर्णकी उसके यहाँ कमी नहीं थी। उसने अत्यंत ही समारोहसे विवाह किया। सब यादव विवाहमें सम्मिलित हुए। शतधन्वा द्वेष के कारण नहीं आया। कोई झूठा काम बता कर अक्रूर कृतवर्मा भी बाहर चले गये, वे भी विवाहमें सम्मिलित न

हुए। भगवान् ने शास्त्रीय विधि से सत्यभामा को ग्रहण कर लिया। सत्राजित्ने कन्याके साथ ही साथ दहेज में वह स्यमन्तक-मणि भी भगवान् को अर्पण की।

मणिको देखकर दूल्हा बने वासुदेव बोले—"देखिये पिता-जी! कन्या लेनेकी आपकी बात हमने मानली, किन्तु हम इस स्यमन्तकमणिको ग्रहण न करेंगे।"

संभ्रमके साथ सत्राजित्ने कहा—"क्यों माधव! कन्याके साथ दहेज तो दिया ही जाता है। हम आपको थोड़े ही दे रहे हैं अपनी कन्या को दे रहे हैं। इसमें आपकी आपत्ति तो न करनी चाहिए।"

भगवान्ने कहा—"यह सब तो ठीक ही। आपको देने का अधिकार है हमें लेने का अधिकार है। फिर भी इस समय हम मणिको लेते हैं, तो सब यही समझेंगे, कि मणिके लोभसे इन्होंने विवाह किया है। माँगनेसे जब न मिली तब यह दूसरी युक्ति मणि लेनेकी निकाली। इस समय मणि लेनेसे हमारा अपयश होगा। इस बातको आप भी न चाहेंगे, हमारा अपयश हो।"

सत्राजित्ने दीनता के साथ कहा—"माधव! इसमें अपयश-की कौनसी बात है. मैं तो अब इसे अपनी कन्या को दे ही चुका। अब कैसे लौटा सकता हूँ।"

भगवान् बोले—"देखिये पिताजी! हठ नहीं करते। आप सूर्यनारायणके भक्त हैं, उनका प्रसाद आपके ही पास रहना उचित है फिर आज न सही कल कल न सही परसों हर प्रकार से हम ही वा इसके अधिकारी हैं। आपके कोई पुत्र नहीं है। आप की पुत्रीके पुत्रको ही यह मिलेगी तब तक आपके पास रहे। हाँ, इसमें से जितना सुवर्ण निकले उसे चाहें नित्य आप हमारे पास भेजते रहें, इसमें हमें कुछ भी आपत्ति न होगी।"

सत्यभामाने कहा—"अच्छी बात है। यहीं रहो। इसका जिन्हें सुयश होगा उन्हें हम प्यारके यहाँ भेजते रहेंगे।"

यह सुनकर सभीने भगवान्‌की बुद्धिकी सराहना की, सत्राजित सत्यभामा जिया पुत्र आदि के संकट से भी बच गये और स्यमन्तक त्यागी भी बने रहे। इस प्रकार सत्यभामाजीके साथ विधि-विधान पूर्वक विवाह करके वे घर लौट आये।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! सत्राजित्‌को तो बड़ा दुःख लगा होगा, भगवान्‌ने उसकी समस्त इच्छाओं पर पानी फेर दिया। वह सोचता होगा, वधू भी मिलेगी और मणि भी। अब उसे न वधू मिली न मणि। उसने कुछ उपद्रव तो नहीं किया?"

सूतजीने कहा—"हाँ, महाराज! उपद्रव क्यों न करता। उसने अवश्य उपद्रव किया। मैं आगे उसी उपद्रवका तो वर्णन मैं करूँगा। वह अन्त उपद्रव ही तो कराता है। जहाँ जायगा वहीं फसाद कराएगा। इसीलिये तो भगवान्‌ने मणि नहीं ली। दान धर्मके लिये केवल उसके फलको ग्रहण किया। उस फल में भी उनकी आसक्ति नहीं थी।"

छप्पय

हस्तिनापुर यदु गए पहुँचि दुख बहुत मनायो।
भीष्म द्रोण, कृप, विदुर सबनि प्रति नेह जनायो॥
गान्धारी धृतराष्ट्र नयन तें नीर बहावें।
वासुदेव दिग बैठि तिनहिं प्रिय कहि समुझावें॥
पूछत सब सों अग्रजहु, कैसे पांडव मरि गये।
लोकोचित व्यवहार हित, तहाँ कछुक दिन रहि गये॥

सत्राजित्की हत्या

(११००)

एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः ।
शयानमवधील्लोभात्स पापः क्षीणजीवितः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ५७ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

शतधन्वा इत दुखित श्यामकी करत बुराई ।
कृष्ण बड़े उद्दण्ड सचनिकी हरत लुगाई ॥
कृतवर्मा अक्रूर कहें अपमान हमारो ।
है सत्राजित् दुष्ट अधम कूँ सोवत मारो ॥
सुनि शतधन्वा चलि दियो, ह्वैकें दोउनि तें विदा ।
बजें पराई फूँक तें, शंख और मूरख सदा ॥

मन में जब द्वेष उत्पन्न हो जाता है, तो मनुष्य को कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रहता नहीं। जो न करने योग्य काम होता है, उसे भी कर डालता है। उसका परिणाम यह होता है, कि अन्याय करने वाले का तुरन्त नाश हो जाता है। अत्युग्र पाप और अत्युग्र पुण्य का फल तीन दिन में तीन पक्ष में तीन मास या

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् जिसका जीवन समाप्त प्रायः हो गया है ऐसे महादुष्ट शतधन्वा ने लोभवश अक्रूरादि के भड़काने से सोते हुए सत्राजित् की हत्या कर दी।"

तीन वर्ष में यहीं मिल जाता है। पाप कर्म छिपता नहीं और पापी के साथी भी समय पर उसे छोड़कर चले जाते हैं। अधर्म करके यदि कोई सुखी होता, तो, इतने बड़े बड़े विद्वान लोग कष्ट सहसह कर धर्मोपार्जन क्यों करते ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सत्यभामाजी के साथ विवाह करके भगवान् सुखपूर्वक द्वारकापुरी में रहने लगे। अब उनके रुक्मिणीजी, जाम्बवतीजी और सत्यभामा ये तीन पटरानियाँ हो गईं। जब से अक्रूरजी हस्तिनापुर से लौटे थे तभी से भगवान् को पांडवों की चिन्ता थी। जब उन्होंने यह बात सुनी कि धृतराष्ट्र का व्यवहार उनके साथ अच्छा नहीं है। उसके दुर्योधनादि पुत्र पांडवों से द्वेष रखते हैं, तो उन्हें चिन्ता हुई। वे पांडवों से मिलना चाहते थे, किन्तु जरासन्ध, काल यवन आदि ने कई बार मथुरा पर चढ़ाई कर दी, फिर मथुरा छोड़कर भागना पड़ा, द्वारका में आने पर भी रुक्मणीहरण आदि के लिए युद्ध करना पड़ा। इसीलिये भगवान पांडवों से मिलने हस्तिनापुर न जा सके।

इधर दुर्योधन पांडवों से अत्यधिक द्वेष मानने लगा। वह चाहता था ये पांडव किसी प्रकार मर जायं, तो मैं निष्कंटक होकर राज्य करूँ। उसने अपने मन्त्रियों से सम्मति करके प्रयागराज के आगे गंगा तट पर वारणावत (सिरसा के समीप लाक्षागृह) में एक लाख का घर बनवाया वह इतना गुप्तरूपसे बनवाया था, कि किसी को मालूम न होने पावे। वारणावत कुरु देश की सीमा थी। वहाँ सोमवती अमावस्याको बड़ा भारी मेला होता था जो अब तक भी होता चला आ रहा है। दुर्योधन चाहता था मेले के मिसमें पांडवों को वारणावत में भेज दे, वहाँ उन्हें लाखके घरमें ठहरावें। अवसर आने पर रात्रि में उस घरमें अग्नि दिला दें। जिसमें वह सबके सब सोते हुए ही जलकर मर जायँ।

इससे हमारे शत्रुओं का नाश भी हो जायगा और हमारी प्रजा में अपयश भी न होगा। यही सब सोचकर उसने अपने एक चतुर मन्त्री द्वारा लाक्षागृह का निर्माण कराया।

विदुरजी तो धृतराष्ट्र के प्रधान मन्त्री ही थे, उनसे तो कोई बात छिप ही नहीं सकती थी। उन्होंने दुर्योधन और उसके कर्ण दुःशासन शकुनि आदि के पीछे अपने गुप्तचर लगा रखे थे। उन्हें दुर्योधन के दुष्ट विचार का पता चल गया। इसलिये उन्होंने उस लाख के किले में शिल्पी से मिलकर ऐसी गुप्त सुरंग बनवा दी थी, कि उसके द्वारा तुरन्त गंगापार हो जायँ। वहाँ अपने एक विश्वसनीय पुरुष को सुदृढ़ नौका लेकर भी रख छोड़ा था, कि कभी ऐसी घटना हो जाय, तो वह तुरंत पाण्डवोंको पार कर दें।

धर्मराज युधिष्ठिर तो सीधे सादे थे, उन्हें दुर्योधन के दुष्ट-भाव का क्या पता था। जब किला बनकर तैयार हो गया, तो दुर्योधन ने अपने पिता धृतराष्ट्र द्वारा कहलाया कि वारणावत में बड़ा भारी मेला होता है, तुम पाँचों भाई वहाँ जाकर कुछ दिन रहो। यहाँ तुम लोगों का चित्त भी अच्छा नहीं रहता परस्पर के मनोमालिन्य से उदासी भी रहती है, वहाँ जाने पर तुम्हारा मन बदल जायगा। वर्ष छै महीने रहकर चले आना।"

पांडव तो यह चाहते ही थे, दुर्योधन से पृथक् रहें। अतः उन्होंने धृतराष्ट्र की आज्ञा सहर्ष शिरोधार्य की। महारानी कुन्ती के सहित पाँचों पांडव वारणावत को चलने को तैयार हो गये। चलते समय म्लेच्छ भाषा में विदुरजी ने धर्मराज युधिष्ठिर को सब बातें समझा दीं और यह भी कह दिया, मैंने तुम्हारे निकल भागने का सब प्रबन्ध कर दिया है।" इससे धर्मराज सचेष्ट हो गये।

वारणावत में पहुँचने पर वहाँ के राज्याधिकारी पांडवों का

स्वागत सत्कार किया और उन्हें बड़े आदर से लाक्षागृह में ठहरा दिया। दुर्योधन का एक दुष्ट मन्त्री तो वहाँ इसी काम के लिये नियुक्त ही था। पांडवों ने जाते ही अपने भागने के सब मार्ग देख लिये थे वे भी सदा सावधान रहते थे। एक दिन अवसर पाकर उस मन्त्री ने उस लाख के घर में आग लगा दी। भीमसेन जाग रहे थे, वे तुरन्त अपनी माता और भाइयों को साथ लेकर गुफा द्वारा गंगा किनारे सकुशल आ गये और नौका द्वारा पार होकर छिपे छिपे ब्राह्मणों का वेष बनाकर एक चक्रा नगरी में आकर रहने लगे।

संयोग की बात जिस दिन यह अग्निकांड की दुखद घटना हुई उसी दिन एक भिखारिनि अपने पाँच पुत्रों को लेकर पांडवों के पास भोजन माँगने आई। भर पेट भोजन करके वह वहीं सो गई। अग्नि लगने से वह पुत्रों सहित जलकर मर गई। विदुरजी के उस शिल्पी ने प्रातःकाल राख हटाने के मिससे उस गुफा को पाट दिया। सब लोगों ने जब जले हुए छै आदमियों के शव देखे तो सबको निश्चय होगया। कुन्ती सहित पाँचों पांडव लाक्षा-गृह में जल मरे। इस समाचार से दुर्योधन को आन्तरिक प्रसन्नता हुई, किन्तु ऊपर से उसने बड़ा शोक प्रकाशित किया। पाण्डवों के समस्त और्ध्वदैहिक कर्म बड़ी उदारता के साथ किये गये। अपने सगे सम्बन्धियों के समीप इस दुखद समाचार की सूचना दी।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी सुखपूर्वक अन्तःपुर में बैठे ही थे, कि हस्तिनापुर के दूत को लेकर द्वारपाल आया। दूत ने प्रणाम करके निवेदन किया—"प्रभो! वारणावतमें एक दुर्घटनाके कारण पाँचों पांडव और महारानी कुन्ती जलकर मर गये हैं। अमुक अमुक दिन उनके श्राद्धादि हैं।

भगवान् तो सर्वज्ञ थे वे तो सब जानते थे, पांडवों को कौन

मार सकता है। उनके द्वारा तो मुझे समस्त भू का भार उतारना है। फिर भी नर नाट्य करने के लिये उन्होंने अत्यन्त शोक प्रकाशित किया। बलरामजी से आप बोले—"भैया! ऐसे समय हम लोगों को हस्तिनापुर अवश्य चलना चाहिये। अभ्युदय में और शोक के समय सम्बन्धियों का सहानुभूति प्रकट करने के लिये जाना अत्यावश्यक है। अभ्युदय में एक बार न भी जाय, किन्तु शोक के अवसर पर जाना तो अत्यावश्यक है।"

बलदेवजी ने कहा—'हाँ भाई! अवश्य चलना चाहिये।" इस प्रकार दोनों भाई सम्मति करके रथमें बैठकर तुरन्त हस्तिनापुर को कुलोचित व्यवहार पालन करने के निमित्त चल दिये। वहाँ पहुँचकर वे सर्व प्रथम तो कुरुकुल के पितामह श्रीभीष्मजीसे मिले। फिर धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर तथा गान्धारी आदि से मिले। नर नाट्य करने के निमित्त भगवान् अनजान की भाँति बार बार आँखों में आँसू भर भरकर पूछते—"वे जल कैसे गये? किसी ने अग्नि को बुझाया नहीं? वहाँ कोई नौकर नहीं थे? सहसा अग्नि ने इतना प्रचण्ड रूप रख कैसे लिया" इन बातों को कोई सन्तोषजनक उत्तर न देता, तो अपने ही आप कहने लगते—'अजी, सौ बात की एक बात तो यह है, कि जब जिसकी मृत्यु आ जाती है, तब तिसके सभी साधन वैसे ही बन जाते हैं। प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता। होनी होकर ही रहती है। देखो, कितने कष्ट की बात है महारानी कुन्ती के वे देवताओं के वर्य से पुत्र हुए थे। अब महाराज पांडु के वंश में कोई भी नहीं रहा।" इस प्रकार अपनी सहानुभूति प्रकट करते हुए बलदेवजी के सहित श्यामसुन्दर कुछ दिनों तक हस्तिनापुर में रह गये।

इधर जब द्वारका भगवान से शून्य हो गई तब लोग निर्भय हो गये। शतधन्वा के हृदय में द्वेष की अग्नि भड़क रही थी।

अक्रूरजी से तथा उनके मन्त्रिमण्डल से उसका बड़ा मेल, जोड़ था। कृतवर्माजी भी अक्रूरजी के ही दल के थे। इन लोगों ने ही कह सुनकर सत्राजित् से सत्यभामा की सगाई शतधन्वा के साथ कराई थी। अतः शतधन्वा अक्रूरजी के ही समीप गया और उदास होकर बोला—"अक्रूरजी! देखो, इस सत्राजित् ने मेरा कितना भारी अपमान किया है। इसे मुझे अपनी कन्या नहीं देनी थी, तो मेरे साथ सगाई क्यों की। अब मैं किसी को क्या मुँह दिखाऊँगा।"

इधर उधर देखकर अवसर पाकर अक्रूरजी और कृतवर्मा ने शनैः शनैः कहना आरम्भ किया—"भैया! इस में केवल तुम्हारा ही नहीं, हम सब लोगों का घोर अपमान है। हमारे कहने पर ही उसने तुम्हारे साथ सगाई की। वागदान हो गया, फिर भी उसने हमारा कुछ भी ध्यान न रखकर श्रीकृष्णचन्द्र को अपनी कन्या दे दी। इस दुष्ट को कुछ दण्ड मिलना चाहिये।"

शतधन्वा ने कहा—"कैसे दण्ड दिलाया जाय। महाराज उग्रसेन ने तो भरी सभा में सबसे हाँ करा ली थी। अतः राजद्वार में अभियोग तो चल नहीं सकता। अब आप लोग कोई दूसरा उपाय बतावें।"

चुपके से कृतवर्माजी ने कहा—"अरे, अभियोग फभियोग क्या चलाना। जिस मार्ग को इसका भाई गया है, उसी का अनुसरण यह भी करे। इसके भाई को पशुसिंह ने मारा, इसकी मृत्यु पुरुषसिंह के हाथों हो। अब अच्छा अवसर है। श्रीकृष्ण यहाँ हैं भी नहीं दुष्ट को जाकर मार डालो। हम सब तो तुम्हारे साथी हैं ही। बात को दबा देंगे। रामकृष्ण आते आते बात पुरानी पड़ जायगी। बहू तो हाथ से

निकल ही गई। मणि को क्यों छोड़ा जाय उसे तो अपने अधिकार में कर ही लो।"

कहावत है "मूर्ख और शंख दूसरों की फूँक से बजते हैं।" शतधन्वा का हृदय तो ईर्ष्याकी अग्नि से जल ही रहा था अक्रूरजी और कृतवर्मा का अनुमोदन पाकर उसका साहस और भी बढ़ गया। उसने हाथ में खड्ग लेकर प्रतिज्ञा की—"आज मैं दुष्ट सत्राजित् को उसकी करनी का फल चखाऊँगा। आज उसे इस खड्गके घाट उतारकर यमसदन पठाऊँगा। आज वह मुझसे बच नहीं सकता। कल स्यमंतकमणि मेरे अधिकार में होगी। उसमें से जो सुवर्ण निकलेगा उसमें आप सबका भी भाग होगा। आप लोग जैसे चाहें तैसे उसे व्यय करें।" इस प्रकार कहकर विद्वेषकी अग्नि से जिसका हृदय सन्तप्त हो रहा है, जिसकी मृत्यु सन्निकट आ गई है, वह क्रूर कर्मा शतधन्वा अपने घर आया। घर में आने पर उसे शांति नहीं हो रही थी। वह सायंकाल होने की प्रतीक्षा कर रहा था। सूर्यास्त हो गये। आधी रात भी बीत गई, तब वह हाथ में तीक्ष्ण खड्ग लेकर उठा। उस समय सत्राजित् सुन्दर सुवर्ण की शैया पर सुखपूर्वक सो रहा था। भगवान् के द्वारका चले जाने के कारण सत्यभामाजी भी अपने पिता के ही घर में ठहरी हुई थीं। सुवर्ण के बने भवन में एक ओर सत्राजित् सो रहा था। समीप के भवन में ही उसकी पत्नी अपनी पुत्री सत्यभामा के साथ सो रही थी। उसी समय भीत फाँदकर शतधन्वा घर में घुस आया। आते ही उसने सत्राजित् को शैया पर बाँध दिया और उसे जगाकर बोला—"नीच! दुष्ट पापी! तैंने मेरा अपमान किया है, अब तू भी अपने भाई के समीप जा। बता मणि कहाँ है।"

सत्राजित् घोर निद्रा में था, पहिले तो उसकी समझ में ही कुछ न आया। जब उसकी निद्रा चली गई, तो वह सब रहस्य

समझ गया। उसने दीनता के साथ कहा—"भैया! देखो, मेरी इस प्रकार पशु की भाँति हत्या मत करो। तुम्हें मणि चाहिये तो वह रखी है ले जाओ। मेरे प्राणोंको छोड़ दो। मेरे ऊपर दया करो।"

दाँतों को किटकिटाकर क्रोध में भरकर शतधन्वा ने कहा—"नीच! कुलाङ्गार! असत्यवादी! तेरे ऊपर दया करना सर्प को दूध पिलाने के समान है, तू अपनी करनी का फल भोग।" यह कहकर उसने खड्ग से सत्राजित् का सिर धड़ से पृथक कर दिया। रक्त की धार बहने लगी। उसके बगुलों के पंख के समान समस्त शुभ्रवस्त्र रक्त रंजित हो गये। मरते समय उसने एक चीख मारा। उस चीख को सुनकर सब स्त्रियाँ जाग पड़ीं। उन्होंने यमराज के समान हाथ में खड्ग लिये हुए शतधन्वा को देखा। समीप ही रक्तरंजित शैया पर सिर कटे हुए सत्राजित् को भी देखा। यह देखकर स्त्रियाँ रोने चिल्लाने लगीं पछाड़ खाकर गिरने लगीं। शतधन्वा को कोसने लगीं और अपनी छातियों को कूटने लगीं। उस समय का दृश्य अत्यन्त ही करुणा पूर्ण था। कसाई जैसे पशुओं को मारकर प्रसन्न होता है, वैसे ही शतधन्वा सत्राजित् को मारकर प्रसन्न हो रहा था। स्त्रियों के रुदन की ओर उसने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। मणि को लेकर किवाड़ खोलकर वह भाग गया और आकर अपने घर में रहने लगा।"

नगर की रक्षा का कार्य तो कृतवर्माजी के ही अधिकार में था। जब उनकी सम्मति से ही हत्या हुई तो कोई राजकर्मचारी उसमें हस्तक्षेप कैसे करता। आस पास के स्त्री पुरुष जुट गये। पिता के मृतक शरीर को देखकर सत्यभामाजी कुररी पक्षिणी की भाँति रुदन कर रही थीं। वे अत्यंत ही शोकाकुल होकर बारम्बार "हा पिताजी! हा पिताजी!" कहकर रुदन करतीं और फिर मूर्छित हो जातीं। इस प्रकार रोते रोते प्रातःकाल हो गया। उग्रसेनजी को सूचना दी गई। उन्होंने कृतवर्माजी से हत्यारे का पता लगाने को

कहा। ये तो षडयंत्र में सम्मिलित ही थे, अतः इधर उधर की बातें बनाकर उस पर लीपा पोती करने लगे।

सत्यभामाजी ने जब देखा, ये सब लोग तो मिले हुए हैं। ये सब चाहते हैं, पिताजी के शव को जला दिया जाय, बात दबा दी जाय, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे बड़ी बुद्धिमती थीं। उसी समय उन्होंने अपने महलों से अपने निजी सेवकों को बुलाया। अपना रथ मँगवाया। तेल का एक बड़ा भारी कड़ाह मँगाकर उसमें उन्होंने अपने पिता के मृतक शरीर को रखवाया। सेवकों से कहा—"देखो जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तब तक मेरे पिता के शरीर की तुम सब सावधानी से रक्षा करना कोई इसे छूने न पावे।" यह कहकर वे रथ में बैठकर हस्तिनापुर की ओर चल दीं।

इस बात की किसी को आशा नहीं थी, कि स्त्री होकर सत्यभामाजी ऐसे साहस का काम करेंगी। अब तो सबकी सिटिल्ली भूल गई। पापी का हृदय बड़ा दुर्बल होता है। जो जो भी इस षडयन्त्र में सम्मिलित थे वे डर गये किसी का साहस न हुआ कि सत्राजित् के शरीर को जला दे।

इधर सत्यभामाजी अत्यंत शीघ्रगामी घोड़ों के रथ पर चढ़कर दूसरे दिन हस्तिनापुर पहुँच गईं। जाते ही वे पछाड़ खाकर भगवान् के आगे गिर गईं। भगवान् ने उन्हें अपने हाथों से उठाते हुए हृदय से लगाकर कहा—"प्रिये! क्या बात है, तुम इतनी दुखी क्यों हो?"

रोते रोते सत्यभामाजी ने कहा—"दुष्ट शतधन्वा ने मेरे पिता की हत्या कर दी। द्वारका में मेरी कोई बात सुनता नहीं। आप यहाँ आकर बैठे हैं। वहाँ क्या हो रहा है इसकी सुधि ही नहीं।"

भगवान् तो सब पहिले से ही जानते थे सत्यभामाजी के मुख

से यह सुनकर वे मन ही मन प्रसन्न हुए। सोचने लगे—"अच्छा है ससुर मर गया। उसने हमारे ऊपर मिथ्या कलंक लगाया था। किन्तु सत्यभामाजी के सम्मुख कैसे कहते। अतः ऊपर से बड़ा दुःख प्रकट करते हुए। बनावटी आँसू बहाते हुए कहने लगे—"हाय! बड़े दुःख की बात है। बड़ी दुखद घटना घटित हो गई। यदि मैं वहाँ होता, तो उसका ऐसा साहस कभी न होता। तुम चलो, मैं उस दुष्ट का सिर अभी धड़ से पृथक् करता हूँ। तुम्हारे पिता का हत्यारा कभी जीवित नहीं रह सकता। अब जो हो गया सो हो गया। यह दैवी विपत्ति सहसा हमारे ऊपर टूट पड़ी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार अपनी पत्नी के सम्मुख बहुत काल तक आँसू बहाकर और अपने भाई बलदेवजी तथा सत्यभामाजी को साथ लेकर भगवान् तुरन्त हस्तिनापुर से द्वारकापुरी के लिये चल दिये।

छप्पय

नहीं द्वारका श्याम सोचि खल घर महँ आयो।
सत्राजित् मुख सहित सदन महँ सोवत पायो॥
सिर धड़ तैं करि पृथक् भग्यो मणि लैकें पापी।
सतभामा अति दुखित चित्त चिन्ता बहु व्यापी॥
मृतक देह धरि तैल महँ, रथ चढ़ि हथिनापुर गई।
सकल बात अति दुखित ह्वै, रोइ रोइ हरि तैं कही॥

शतधन्वाका वध

(११०१)

पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना ।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससो व्यचिनोन्मणिम् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ५७ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

ऊपर तैं करि शोक द्वारका यदुवर आये ।
शतधन्वा अति डरयो तुरत अक्रूर बुलाये ॥
'हरि तैं रक्षा करो' दीन ह्वै बोल्यो उनतैं ।
सुनि बोले अक्रूर वैर को साधै तिन तैं ॥
खल बोल्यो घबराइ कैं, "अच्छा, मणिकूँ तो धरो ।
हौं भागूँ पुर छोड़ि तुम, सुख तैं मंत्रीपन करो ॥

पापी के साथी चिर काल तक साथ नहीं देते । अवसर आने पर भय, लोभ या अन्य स्वार्थ समुपस्थित होने पर वे उसका साथ छोड़कर चले जाते हैं । इस लोक में चाहे पापी का कोई साथ दे भी दे, किन्तु परलोक मे तो अपने किये पाप का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है । यह धन इतनी बुरी वस्तु है, कि अच्छे

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शतधन्वा पैदल ही भाग रहा था, अतः भगवान् ने पैदल ही भागकर अपने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से उसके सिर को काट लिया । फिर उसके वस्त्रों में वे स्यमन्तक मणि ढूँढ़ने लगे ।"

अच्छे लोगों का मन डिग जाता है। इसका परिणाम चिंता दुःख कलह और अशान्ति है। धन आने पर उसकी रक्षा में दुःख होता है, न आने पर उसके अभाव में दुःख होता है तथा प्राप्त करने में भी नाना भाँति के दुःख उठाने पड़ते हैं। जो वस्तु बिना भगवान के अर्पण किये व्यवहार में लाई जाती है, उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। उसको देखकर सबका मन चंचल हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् हस्तिनापुर से अति शीघ्र द्वारकापुरी में आ गये। आते ही उन्होंने शतधन्वा से मणि छीनने तथा उसे मारने का उद्योग किया। शतधन्वा ने भी यह बात सुनी। अब तो उसके पेट में पानी हो गया। भय के कारण थरथर काँपने लगा। वह जानता था कृष्ण और बलराम से मैं किसी भी प्रकार जीत नहीं सकता। अब उसे अपने प्राण बचाने की चिन्ता हुई। दौड़ा दौड़ा वह कृतवर्माजी के पास गया। उस समय वे घर में नहीं थे किसी प्रकार चुपके से उन्हें बुलाया और अत्यन्त ही दीन होकर बोला—"देखिये, मैंने आपकी बात मानकर सत्राजित् का वध किया। अब मेरे ऊपर विपत्ति आ गई है, आप सेनाध्यक्ष हो मेरी रक्षा करो। अब मेरे प्राण आपके ही अधीन हैं।

कृतवर्माजी ने रुखाई के साथ कहा—"देखो, शतधन्वा! अब तुमने जो बात कही सो कही। फिर किसी के सामने यह बात मत कहना कि तुमने मेरे कहने से सत्राजित् का वध किया। मेरा सत्राजित् से क्या द्वेष था। तुमने द्वेष वश अपने स्वार्थ से उसकी हत्या की। मणि के लोभ से तुमने उसको मार डाला है।"

दीनता के स्वर में शतधन्वा ने कहा—"अच्छी बात है मैं फिर किसी से यह बात न कहूँगा। मणि चाहे आप मुझसे लेलें, परन्तु कृष्णबलराम से मेरी रक्षा करें वे मुझे मार ही डालेंगे।"

कृतवर्मा ने कहा—"भैया ! तुम पागल हो गये हो क्या ? अरे, कोई दूसरा होता तो बात भी थी भला सर्व समर्थ श्रीकृष्ण-चन्द्र और बलरामजी की अवहेलना मैं कैसे कर सकता हूँ तुम ही बताओ उनका अपराध करके किसने सुख पाया है। कंस ने उनसे द्वेष किया, वह अपने बन्धु बान्धवों सहित मारा गया। हमारी जाति में कंस से बढ़कर बली कौन था, उसे भी श्रीकृष्ण ने भरी सभा में पशु की भाँति मार दिया। आज संसार में सबसे अधिक बली जरासन्ध है, उसे भी सत्रह बार इन दोनों भाइयों से हार खानी पड़ी। इसलिये भैया, मैं इस सम्बन्ध में तुम्हारा कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। तुम मेरे यहाँ से चले जाओ। किसी गुप्तचर ने तुम्हें मुझसे बात करते देख लिया, तो मेरे ऊपर भी संदेह किया जायगा।"

कृतवर्माजी से ऐसा टकासा कोरा उत्तर पाकर शतधन्वा अत्यन्त दुखी हुआ। जैसे मंझधार में नाव डूब जाने पर न तैरने वाला मनुष्य छटपटाता है वैसे ही वह छटपटाने लगा। डूबने का तिनका का भी सहारा बहुत होता है, उसने सोचा—"संभव है अक्रूरजी मेरी कुछ सहायता कर सकें, अतः वह दौड़ा दौड़ा अक्रूरजी के पास गया। अक्रूरजी के पास भी जाकर उसने उसी प्रकार दीनता के साथ सहायता की भीख माँगी।

अक्रूरजी ने उसकी बात सुनकर कहा—"भैया ! देखो, मेरी हृदय से तुम्हारे साथ सहानुभूति है, किन्तु परिस्थिति ऐसी है मैं इस समय तुम्हारी कुछ भी सहायता करने में असमर्थ हूँ। मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ी दया आ रही है, किन्तु करूँ क्या ? श्रीकृष्ण अपने ससुर के मरने से बड़े क्रुद्ध हो रहे हैं। उनके सम्मुख जाने तक का मेरा साहस नहीं होता। उनसे विरोध करने का अर्थ होता है, अपने हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना। उनसे भला कोई जीत सकता है ?

शतधन्वा ने कहा—"दानपते ! मैं आपसे श्रीकृष्ण से लड़ने के लिये तो कह नहीं रहा हूँ मेरी प्रार्थना यही है कि, आप उन्हें समझा बुझा दें। आपके समझाने से वे मान जायँगे आप तो उनके मन की बातों को, उनके, स्वभाव को भली भाँति जानते हैं।"

अक्रूरजी ने कहा—"अरे, भैया ! मैं गूलर का भिनगा भला उनकी चेष्टा को क्या जान सकता हूँ, ब्रह्मादिक लोकपाल भी उनकी मायासे मोहित होकर उनके स्वरूपको भूल जाते हैं। वे इस विश्वब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने वाले, पालन करने वाले तथा संहार करने वाले हैं। उनके इस कृष्णावतार के ही समस्त कर्म अलौकिक हैं। सात वर्ष की अवस्था में सात कोश के गोवर्धन पर्वत को सात दिनों तक कन्नी उँगली पर धारण किये रहे। बड़े बड़े असुरों को उन्होंने लीला में ही मार डाला। मैं भला उन अप्रमेय भगवान् को क्या समझा सकता हूँ। मैं तो उन अद्भुतकर्मा, सबके आदि कारण, अनादि, अनन्त, कूटस्थ भगवान् श्रीकृष्ण के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम ही कर सकता हूँ।"

अक्रूरजी की ऐसी बात सुन कर शतधन्वा को बड़ी निराशा हुई। उसने कहा—"अब महाराज ! बड़े लोगों की बड़ी ही बातें होती हैं, संसार में किस पर विश्वास किया जाय। अस्तु अब आप मेरी कुछ सहायता नहीं करते, तो इस स्यमन्तक मणि को तो रख लें। मैं जिस किसी प्रकार भागकर अपने प्राण बचाऊँगा। इसे कहाँ लिये लिये फिरूँगा।

यह बात अक्रूरजी के मन की थी, मणि के लोभ को वे संवरण न कर सके वे बोले—"अच्छी बात है, भाई ! तुम नहीं मानते तो इस मणि को यहाँ रख जाओ। यह कह कर उन्होंने मणि लेली और शतधन्वा को विदा कर दिया।

शतधन्वा के पास घोड़ा था, वह एक साथ चार सौ कोश बिना विश्राम लिये दौड़ सकता था। अतः उस पर चढ़ कर

वह द्वारका से भाग निकला। भगवान् ने तो चारों ओर अपने गुप्तचर लगा रक्खे थे, ज्यों ही उन्हें समाचार मिला कि शतधन्वा भागा है, तो उन्होंने भी अपने शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प, बलाहक नामक चार घोड़ों से युक्त गरुड़ की ध्वजा वाले रथ में बलरामजी के सहित बैठकर शतधन्वा का पीछा किया। शतधन्वा अपने घोड़ों को पूरी शक्ति से दौड़ाये ले जा रहा था उसके पीछे रथ में बैठे भगवान् उसी प्रकार भाग रहे थे। जिस प्रकार सूर्य देव के पीछे शिवजी भाग रहे थे।

द्वारका से भागते भागते वह मिथिला तक आया। मिथिला में चार सौ कोश पूरे हो गये। उसका घोड़ा थक गया, जनकपुर के समीप ही एक उद्यान में घोड़े को ठोकर लगी वह गिर गया और गिरते ही मर गया। घोड़े के गिरते ही वह अत्यन्त ही भयभीत होकर पैदल ही दौड़ा। भगवान् ने भी रथ खड़ा कर दिया और वे भी पैदल ही उसके पीछे दौड़े। जिसके पीछे स्वयं भगवान् दौड़ें वह बच ही कैसे सकता है। जैसे सिंह मृग को दबोच देता है, उसी प्रकार आगे चलकर उन्होंने उसे घेर लिया। भगवान् को समीप देखकर वह पूरी शक्ति लगाकर भागा। तब भगवान् ने दूर से ही अपने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से उसके शिर को धड़ से पृथक् कर दिया।

जब वह मर गया, तो भगवान् ने उसके वस्त्रों में स्यमन्तक मणि की खोज की। उसके पास मणि कहाँ थी। मणि तो अक्रूरजी को दे आया था। मणि के न मिलने पर भगवान् लौटकर बलदेवजी के समीप गये और बोले—"भाई! हमने शतधन्वा को व्यर्थ ही मारा। मणि तो उसके पास नहीं मिली।"

बलदेवजी को भी संदेह हो गया कि श्रीकृष्ण बातें बना रहे हैं, अतः वे बोले—"श्रीकृष्ण! भैया! यह सुमणि मणि

हैं नहीं। तू हमसे छल कपट की बातें करता है। हमें सब पता है, तू अपनी बहू को जाकर उसे देगा।"

भगवान् ने विनय के साथ कहा—"दादा! आप कैसी बात कह रहे हैं आप मुझसे चाहें जिसकी शपथ ले लें। मैंने उसके वस्त्रों में भली प्रकार देखा, उस पर मणि थी ही नहीं। आप मेरी बात का विश्वास करें।

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी, बात है उस पर न होगी, हम तुमसे वाद विवाद तो करते नहीं। न लाया होगा, वहीं किसी के पास धरोहर के रूप में रख आया होगा, अच्छा तो अब तुम द्वारका जाओ उस मणि का पता लगाओ।"

उदास मन से भगवान् ने कहा—"आप भी चलेंगे तभी तो मैं चलूँगा।"

रूखेपन के साथ बलदेवजी ने कहा—"देख, भैया! हठ नहीं करते मैं यहाँ इतनी दूर आया हूँ ये विदेहराज मेरे परम मित्र हैं, इनसे मैं मिल लूँ, कुछ दिन इनके यहाँ मैं रहना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"तो मैं भी आपके साथ कुछ दिन रह आऊँगा।"

बलदेवजी ने अधिकार के स्वर में कहा—"देखो! हठ नहीं करते हैं। हम जो कहें वही करो। तुम्हारे बिना द्वारका में गड़बड़ी हो जायगी। आज कल आपस में मतभेद है, तुम जाकर सबका समाधान करो। मैं कुछ काल मिथिला रहकर फिर आ जाऊँगा।

यह सुनकर भगवान् उदास हो गये, बलदेवजी बिना कुछ कहे अपना हल मूसल लेकर मिथिला पुरी में चले गये।

बलरामजी को आते देखकर विदेहराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने अत्यन्त ही हर्ष के साथ बलदेवजी का स्वागत सत्कार किया अनेक सामग्रियों से अत्यन्त ही प्रसन्नता पूर्वक श्रद्धा भक्तिके साथ उनकी पूजा की। एक सच्चा मित्र अपने परम पूजनीय

मित्र का जितना स्वागत कर सकता है उससे अधिक मिथिला नरेश ने उनका स्वागत सत्कार किया। पूजा के अनंतर वे बोले—"यदुनंदन! मैं अपने समस्त राज्य को आपके अर्पण करता हूँ। मेरा सर्वस्व आपका है, आप मिथिलापुरी में सुख पूर्वक निवास करें।"

मिथिला नरेशके इस प्रकार आदर सत्कार से सन्तुष्ट होकर बलदेवजी कई वर्षों तक मिथिला में ही रह गये। उन्हें व्यायाम करने का व्यसन था, अतः स्वयं व्यायाम करते और राजकुमारों को अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा भी देते। आस पास के राजकुमारों ने जब सुना कि बलदेवजी आजकल मिथिला में रहकर अस्त्र शस्त्र और गदा की सबको शिक्षा दे रहे हैं, तो दूर दूर से राजकुमार उनके पास शिक्षा प्राप्त करने आने लगे। उसी समय दुर्योधन भी गदा युद्ध की शिक्षा प्राप्त करने मिथिला आया। दुर्योधन अत्यन्त ही बली था, वह बड़ी श्रद्धा के साथ बलरामजी से गदा की शिक्षा प्राप्त करने लगा। उसकी रण चातुरी से प्रसन्न होकर बलदेवजी ने उसे युद्धविद्या में इतना निपुण कर दिया, कि संसार में धर्म युद्ध करके उसे कोई भी गदायुद्ध में जीत नहीं सकता था। इस प्रकार बलदेवजी ने मिथिला में समय बिताने के लिये धनुर्वेद का एक विद्यालय खोल रखा था।

इधर भगवान् उदास मन से द्वारकापुरी में लौट आये। उनके श्वसुर सत्राजित् का मृतक शरीर अभी तक तैल के कड़ाहे में रखा था। भगवान् ने द्वारका आकर विधिवत् उनका संस्कार कराया। सत्यभामाजी से शतधन्वा के मरने तथा मणि न मिलने का समाचार बताया। सत्राजित् की सद्गति के लिये जितने पारलौकिक कर्म होते हैं, वे सब भगवान् ने सत्यभामाजी की प्रसन्नता के निमित्त कराये। उनके जो परिवार वाले थे उनके श्राद्ध तर्पण आदि और्ध्व देहिक कर्म कराये। उनके निमित्त असंख्यों ब्राह्मणों

को भोजन कराये। असंख्यों गौएँ दान कीं और भी नाना वस्तुओं के दान दिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्वसुर के समस्त पारलौकिक कर्म करने के अनन्तर अब वे पता लगाने लगे, कि शतधन्वा मणि को किसके पास रख गया है। कहावत है—'चोर की दाढ़ी में तिनका' अक्रूर और कृतवर्मा तो अब थर थर काँपने लगे। वे जानते थे, भगवान् के आगे हम अपने पाप को छिपा नहीं सकते। यही सब सोचकर वे अपने बचाव का उपाय सोचने लगे।

छप्पय

यों कहि चुपके भग्यो बधिक लोभी खल कामी।
हय ताको अति वेगवान् शत योजन गामी॥
हरि बल संग रथ चढ़े दुष्ट को पीछो कीन्हो।
भगि मिथिला तक गयो चक्र तैं वध करि दीन्हो॥
मिलीन मणि बल ढिँग गये, कपट समुझि बल रिस भये।
जाइ बसे मिथिलापुरी, श्याम द्वारिका कूँ गये॥

अक्रूर और कृतवर्माका पलायन

(११०२)

अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् ।
व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ ॥❀

(श्री भा० १० स्क ५७ अ० २९ श्लो०)।

छप्पय

आइ ससुर को श्राद्ध करयो बहु विप्र जिमाये ।
मणि खल कहँ धरि गयो कछुक हरि घर खुनवाये ॥
कृतबर्मा अक्रूर द्वारका तें सुनि भागे ।
काशी महँ अक्रूर नित्य मख करिवे लागे ॥
देहिं कनकको दान बहु, कहैं दान पति सकल मुनि ।
बुलवाये घनश्याम जब, गये द्वारका तुरत पुनि ॥

इस संसार में किसी के मनका पता नहीं चलता कब कैसा हो जाय। हृदयमें निरन्तर सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके भाव उठते रहते हैं। जैसे समुद्रमें निरन्तर हिलोरें उठती हैं वैसे ही त्रिगुणात्मिका असंख्यों उर्मियाँ हृदय सागरमें उठती

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अक्रूर और कृतवर्मा यह सुनकर कि भगवान्‌ने शतधन्वाको मार डाला है, तो वे अत्यन्त भयभीत होकर द्वारका से दूसरे देशोंको भाग गये क्योंकि वे तो [illegible] के लिये उत्तेजित करने वाले थे।"

रहती हैं। जिनका जीवन भर पुत्र मानकर पालन किया है, कभी उनके प्रति द्वेष के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जिनके लिये सदा पानी की भाँति सुवर्ण बहाया है, कभी उनके लिये एक पैसा व्यय करने में कष्ट प्रतीत होता है। जिनको जीवन भर माता, बहिन, पुत्री की भाँति माना कभी उनके प्रति मन में बुरे भाव उठने लगते हैं। जिस धन को सदा हेय और तुच्छ समझते रहे हैं, कभी उसके प्रति ऐसी आसक्ति हो जाती है, कि प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है। जिनके चरणों को सदा चूमते रहे हैं, देवता के समान जिनकी नित्य पूजा करते रहे हैं, जिनके सम्मुख कभी हमने सिर नहीं उठाया है, उनके प्रति कभी ऐसा क्रोध आ जाता है, कि मुख पर हम उनका अपमान करने को उद्यत हो जाते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने बार-बार इस बात पर बल दिया है, कि इस दुष्ट पापी चोर मन का कभी विश्वास न करे न जाने कब धोखा दे जाय, निरन्तर अपने को भगवान् की ही शरण में समझना चाहिए। भगवान् की जो वेद शास्त्ररूपी आज्ञा है, उसी का यथा शक्ति यथासामर्थ्य सदा अव्यग्र भाव से पालन करते रहना चाहिए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सत्राजित् ने भगवान् को मिथ्या कलंक लगाया था, उसकी हत्या शतधन्वा ने स्वार्थ वश ईर्ष्या से तथा स्यमन्तक मणि के लोभसे कर दी। उसने भी अपनी करनीका फल पाया। वह भी भगवान् के चक्र से मारा गया, किन्तु उस पर मणि नहीं मिली। बलदेवजी कुपित होकर मिथिलापुरी चले गये। श्यामसुन्दर लौटकर घर गये। रुक्मिणीजी ने कहा—"प्राणनाथ! सुना है स्यमन्तक मणि सूर्य की भाँति चमकती है हमने तो उसे देखा नहीं। तनिक दिखाइये तो सही कैसी है?"

भगवान् बोले—"अरे, मणि कहाँ है?"

आश्चर्य के साथ रुक्मिणीजी ने कहा—"आप मणि छीनने ही तो शतधन्वा के पीछे गये थे। उसे आपने मार भी दिया।

उसके पास से मणि नहीं लाये ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, उसने सत्राजित् की हत्या करके मणि छीनी अवश्य थी, किन्तु जब मैंने चक्र से उसका सिर काट दिया और उसके वस्त्रों में खोजी तो मणि मिली नहीं। न जाने कहाँ वह रख गया।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"महाराज! ऐसी उलटी सीधी बातें क्यों बनाते हो, मैं कुछ उसे पहनने के लिये तो माँग ही नहीं रही हूँ। आप सोचते होंगे, मैं पहिन लूँगी तो आपको फिर मुझसे माँगने में संकोच होगा, सत्यभामा इस पर क्रुद्ध हो जायगी। सो, महाराज! वह आपकी अत्यंत प्यारी है, उसके बाप की मणि भी है, उसे ही देकर आप प्रसन्न रखिये। मुझे मणि देखने की आवश्यकता नहीं।"

भगवान् ने सोचा—"यह मणि क्या आई इसने तो हमारे घर में सम्पूर्ण जाति में कलह उत्पन्न कर दी।" मणि की बातें हो रहीं थीं सत्यभामाजी के भी कानों में भनक पड़ी। जब रुक्मिणीजी चली गईं तो वे भी आईं और बोलीं—"कहिये महाराज! मणि मिली ?"

भगवान् ने खीजकर कहा—"अरे, कहाँ मिली मणि। इस मणि ने तो हमारे घर में विष का बीज बो दिया। बड़े भाई कुपित होकर मिथिला चले गये, तुम्हारी बड़ी रानी मुँह फुलाये बैठीं हैं। मणि शतधन्वा पर मिली नहीं।"

सत्यभामाजी बोलीं—"आप महाराज बड़ी रानीजी को ही दें। उन्हें पहिनने ओढ़ने का बड़ा चाव है।"

भगवान् खीजकर बोले—"अरे, दें तो तब जब मणि हो। मणि को तो शतधन्वा किसी को दे गया या कहीं छिपाकर रख गया।"

व्यंग के स्वर में सत्यभामाजी ने कहा—"किसी ने भी छि

कर रखी हो, मुझे क्या लेना देना। छिपी वस्तु सदा छिपी नहीं रहती, कभी न कभी प्रकट हो ही जाती है।" यह कहकर सत्यभामाजी चली गईं।

फिर जाम्बवतीजी आईं बोलीं—"प्राणनाथ! वह मणि मेरे पिता ने दहेज में दी है आप उसे किसी को दे न दें। या तो उसे आप रखें या मेरे हार में मढ़ा दें।"

भगवान् ने माथा ठोंका। सोचने लगे—"लेना एक न देना दो। ये सब मणि के ही पीछे पड़े हैं। "सूत न कपास कोरिया से लठा ही लठा।" अब भगवान् को चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा—"जैसे हो तैसे उस मणि का पता लगाना चाहिये। इसलिये उन्होंने इधर उधर शतधन्वा के घरों को खुजवाया।"

चोर का हृदय तो साहसपूर्ण होता है जो रात में इतने लोगों के रहते घर में घुस जाता है, किन्तु उसके पैर कच्चे होते हैं तनिक सन्देह होते ही उसके पैर उखड़ जाते हैं और वह भाग खड़ा होता है। अक्रूर और कृतवर्मा ने जब देखा, कि भगवान् ने मणि के पीछे शतधन्वा को मार डाला और वे अब द्वारकापुरी में मणि की खोज कर रहे हैं। पाप तो बहुत दिनों तक छिपा नहीं रह सकता। हम लोगों ने ही शतधन्वा को उत्तेजित किया था। हमारे कहने पर ही उसने सत्राजित् की हत्या की थी। छान बीन होने पर हमारी यह बात भी प्रकट हो जायगी, फिर हमें भी प्राण दण्ड दिया जायगा। इसलिये पहिले से ही क्यों न यहाँ से भाग जायँ।" ऐसा सोच कर एक दिन चुपके से रात्रि में दोनों उठकर द्वारकापुरी से चल दिये। दोनों ही राज्य के बड़े अधिकारी थे, किसी ने उन्हें टोका भी नहीं। अक्रूरजी तो अपनी ननिहाल काशीजी में आकर रहने लगे और कृतवर्मा भी अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ ठहर गये। अक्रूर जी अब तो निर्भय थे काशी में आकर उन्होंने एक सुवर्ण का मंदिर बनवाया उसमें मणि की स्थापना की बड़ी भक्ति से उसकी

पूजा करने लगे। पूजित मणि नित्य ६०। ७० मन सुवर्ण देती थी। उससे उन्होंने बड़े बड़े यज्ञ करने आरम्भ किये। यज्ञ भी वे साधारण नहीं करते थे। सुवर्ण का तो उन्हें अभाव ही नहीं था। चाहें जितना व्यय करें। यज्ञों की जो वेदियाँ बनती थीं वे सब सुवर्ण की होती थीं। पात्र आदि सभी सुवर्ण के होते। दक्षिणा भी सुवर्ण की दी जाती। सुवर्ण मिट्टी की भाँति व्यय किया जाता। जिस दिन यज्ञ समाप्त होता उसी दिन दूसरा यज्ञ आरम्भ कर देते। यों यज्ञ के ऊपर यज्ञ करने लगे। यथेष्ट दान धर्म करने लगे। भगवद्भक्तों पर यदि धन आ जाता है तो वे उसे दान धर्म में हृदय खोलकर लुटाते हैं। विषयियों के पास धन आता है, तो वे उसे विषय भोगों में नष्ट करते हैं और कृपणों के पास आता है, तो वे उसे भूमि में गाड़ गाड़कर रखते जाते हैं। दान से प्रसिद्धि होती है यश बढ़ता है। अक्रूरजी का चारों ओर यश फैल गया, सभी ने मिलकर उन्हें "दानपति" की उपाधि दे दी।

इधर द्वारका में बड़ा सूना सूना दिखाई देने लगा। बलदेवजी भी चले गये, विरोधी दल के नेता अक्रूरजी भी भाग गये। सेनाध्यक्ष कृतवर्मा भी द्वारका छोड़ गये। लोगों के मन में भी भय बैठ गया न जाने किस पर मणि का झूठा कलंक लगा दिया जाय। लोग अपने धन सुवर्ण को छिपाने लगे। इधर अक्रूरजी की सर्वत्र ख्याति हो गई। जब से वे काशी राज्य में आये तब से काशी का देश बहुत ही समृद्धिशाली बन गया। वहाँ समय पर वर्षा होती, बिना जोते बोये भूमि यथेष्ट अन्न देती। किसी को शारीरिक मानसिक व्याधि नहीं होती सभी का मन प्रसन्न रहता। नित्य यज्ञ याग होने से निरन्तर उत्सव समारोह होते रहते। किसी की अकाल में मृत्यु नहीं होती, कोई रोग से पीड़ित न होता।

भगवान् तो सब जानते थे, यह सब स्यमन्तक मणि का प्रभाव है, नहीं तो अक्रूरजी को तो यहाँ तो नियमित भोजन

था। इतना व्यय जो वे कर रहे हैं वह सब सुवर्ण उन्हें मणि से प्राप्त होता है। जो भी हो उन्हें अब किसी प्रकार द्वारका बुलाना चाहिए। यही सब विचारकर भगवान् अक्रूरजी को बुलाने का उपाय सोचने लगे।

कुछ लोगों का कहना है—"जब से मणि लेकर अक्रूरजी चले गये, तब से द्वारका में नाना भाँति के उत्पात होने लगे। उस स्यमन्तक मणि मे यह गुण था, कि जहाँ वह रहेगी वहाँ दुर्भिक्ष, महामारी, ग्रहपीड़ा सर्प आदि विषैले जन्तुओं का भय, मानसिक और शारीरिक दुःख तथा माया जनित अन्य उपद्रव आदि कुछ भी अनिष्टकारी कर्म वहाँ न होंगे। जब अक्रूरजी मणि को लेकर काशी चले गये, तो द्वारका में तो दुर्भिक्ष पड़ गया और काशी के देशों में सुकाल हो गया। द्वारका के लोगों को नाना प्रकार के अनर्थ प्राप्त हुए तथा वे निरन्तर शारीरिक, मानसिक दैविक और भौतिक संतापों से संतप्त रहने लगे। इसके विपरीत काशी निवासी इन सब दुःखों से रहित होकर अत्यंत सुखपूर्वक रहने लगे। इसी लिये भगवान् ने अक्रूरजी को बुलाया। किन्तु देखा जाय तो यह बात उचित नहीं। इससे भगवान् का महत्व घटता है। जहाँ स्वयं साक्षात् श्रीपति निवास करते हैं, वहाँ शारीरिक, मानसिक, दैविक और भौतिक ताप उनकी इच्छा के बिना कैसे हो सकते हैं। भगवान् जब चाहें तो ये उपद्रव हो सकते हैं, न चाहें तो वे तुरन्त रुक सकते हैं। भक्त के महत्व को दिखाने के लिये भगवान् ने ऐसे उपद्रव करा दिये। अक्रूरजी को इन उपद्रवों की शांति के लिये नहीं बुलाना चाहते थे। उन्हें तो इसलिये बुलाना चाहते थे कि घर में जो यह मणि को लेकर कलह हो गयी थी उसे शान्त करना चाहते थे।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! द्वारका में इतने उपद्रव और अक्रूरजी के जाते ही काशी देश में सुभिक्ष हो गया, समय

ब्राह्मणों ने बताया—"महारज ! मथुरापुरी में अनामित्र के पौत्र और वृष्णिके पुत्र एक श्वफल्क हैं, उन्हें आप अपने यहाँ बुलाकर उनका पूजन करें और उन्हें अपनी कन्याको दें तो आपके राज्यमें निश्चय ही वर्षा होगी।"

यह सुनकर काशीराजने बड़े आदरके साथ श्वफल्कजीको बुलाया। उनके आते ही वर्षा हुई। राजाने विधिवत् उनकी पूजा की और अपनी गान्दिनी कन्याका विधिवत् उनके साथ विवाह कर दिया। गान्दिनीके गर्भसे श्वफल्कजी के तेरह पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें अक्रूरजीमें भी पिताके सदृश प्रभाव था। ये बड़े धर्मात्मा थे इसीलिये उनके रहने से काशी देशमें इतना सुभिक्ष होता था।

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! जब अक्रूरजी इतने भगवद्भक्त थे तो मणि लेकर चुपकेसे रात्रिमें उठकर चोरीसे भाग क्यों गये ? उन्हें तो स्वयं ही जाकर मणि भगवान्को अर्पित कर देनी चाहिये थी।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज ! यह सब भगवान्की इच्छासे ही हुआ। अक्रूरजी के मन में कभी बड़े बड़े वैभवशाली यज्ञ करने की वासना उत्पन्न हुई होगी। द्वारकामें रहकर तो वे कर नहीं सकते थे। नियमित वेतन मिलता था। यहाँ तो इतने वैभवपूर्ण यज्ञोंका होना संभव नहीं था इसलिये उन्हें मणि लेकर काशी भेज दिया। काशीजीमें जब यज्ञ करते करते उनकी इच्छा पूर्ण हो गई तो उन्हें स्वयं ही बुलवा लिया। वे तो भगवान्के भक्त थे, अतः भगवान्का बुलावा आते ही तुरन्त द्वारकापुरीको चल दिये। भगवान् के भक्तके मनमें भूलसे भी कोई इच्छा उत्पन्न हो जाती है तो भगवान् उसे किसी न किसी प्रकार अवश्य पूरी कर देते हैं।

शौनकजीने पूछा—"अच्छा, सूतजी ! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! हुआ क्या भगवानने अपने भक्त

की इच्छा पूर्ण कर दी। जब उनके यज्ञयाग दान धर्मसे तृप्ति हो गयी, तो उनके पास द्वारका आने का सन्देश भेजा। भगवान् का आदेश पाकर अक्रूरजी तुरन्त द्वारकाकी ओर चल दिये और कुछ ही काल में द्वारकापुरीमें आ गये। अब आगे जो हुआ, उसे आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

हरि कीयो सत्कार प्रेम तें पास बिठाये।
कुशल प्रश्न करि सकल द्वारका वृत्त बताये॥
मन्द मन्द मुसकाय पकरि कर कर तें लीन्हो।
अति ही नेह जताय अपनपो प्रकटित कीन्हो॥
बोले—"चाचाजी! बड़े, वैभव शाली मस्त करे।
तुमही पै मणि स्यमंतक, आपस महँ हम सब लरे"॥

स्यमंतकोपाख्यानकी समाप्ति

यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णो-
वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमंगलं च ।
आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा,
दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम् ॥❀
(श्री भा० १० स्क० ५७ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

बन्धु करें सन्देह लड़ें सब रानी घर महँ ।
तुम मणि देहु दिखाय रहे तुमरे ही कर महँ ॥
हरि आयसु अक्रूर मानि मणि सबहिँ दिखाई ।
सबकी शंका मिटी शान्त सब भई लड़ाई ॥
मणि दीन्ही अक्रूर कूँ, सोनो सब घर घर बटत ।
सुख तैं सब यादव रहत, कृष्ण कृष्ण सब ही रटत ॥

पुण्य श्लोकों के चरित्र पढ़नेसे पुण्य होता है और पापियोंकी चर्चा करने से पाप होता है। किन्तु जिनका भगवान् के साथ संसर्ग है, वे यदि पापी भी हों, तो भगवान् के संसर्ग से वे भी

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जो पुरुष सर्वेश्वर भगवान् विष्णु के मङ्गलमय, पापनाशक तथा परम पराक्रम सम्पन्न स्यमंतकोपाख्यान को पढ़ता है, सुनता है अथवा स्मरण करता है, वह सब प्रकार की दुष्कीर्ति से तथा पाप से छूटकर परम शान्ति प्राप्त करता है।"

पावन बन जाते हैं और उनके चरित्र भी श्रवणीय हो जाते हैं। जो भी वस्तु जो भी घटना जो भी देश जो भी काल हमें भगवत् स्मृति करावे वह पुण्य है, इसके विपरीत जो हमें अधिकाधिक संसारी विषय भोगों की ओर प्रवृत्त करे वह पाप है। विष्णु स्मरण ही संपत्ति है और विष्णु विस्मरण ही विपत्ति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् का बुलावा पाकर अक्रूरजी द्वारका आये। आते ही भगवान् ने उन्हें डाँटा डपटा नहीं साम नीति से काम लिया। उनके आते ही वे संभ्रम के साथ उठ खड़े हुए और अत्यन्त ही उल्लास के साथ कहा—"आइये चाचाजी! आइये चाचाजी! आप तो हमें सर्वथा भूल ही गये।"

भगवान् का इतना आदर पाकर अक्रूरजी मन ही मन कुछ लज्जित हुए, भगवान से दूर बैठने लगे। तब भगवान स्वयं गये और हाथ पकड़कर ले आये और अपने सिरहाने बिठा लिया। फिर बड़े प्रेम से पूछने लगे—"कहिये चाचाजी! सब कुशल मंगल है न?"

अक्रूरजीने कहा—"सब महाराज! आपकी कृपा है। आपके आश्रितों की तो कभी अकुशल होती ही नहीं।"

फिर भगवान बोले—"अजी, चाचाजी! आपके चले जाने के पश्चात् यहाँ तो बड़े बड़े उपद्रव हुए। सब लोग बड़े कष्ट में रहे। सुना आपने तो काशीजी में बड़े भारी भारी यज्ञ किये। हम यहाँ बैठे ही बैठे आपकी कीर्ति सुनते रहते थे और मन ही मन प्रसन्न होते रहते थे, कि हमारे कुल में एक भी तो ऐसे निकले जिनकी कीर्ति दिग्दिगन्तों में व्याप्त है। तीर्थ यात्रा के लिये जितने भी ब्राह्मण आते, वे सब आपके दान की प्रशंसा करते। यहाँ आप दानाध्यक्ष थे वहाँ 'दानपति' हो गये।"

अक्रूरजीने लज्जित होकर कहा—"यह सब भगवन्! आपके

चरणोंका आशीर्वाद है।" भगवान्‌ने कहा—"चाचाजी! देखिये, कीर्ति भी सभीको प्राप्त नहीं होता। एक आदमी है वह दूसरों का भला करता है लोग उसकी बुराई करते हैं, ढोंगी बताते हैं कीर्ति लालुप कहकर उसका निन्दा करते हैं दूसरा उतना कुछ भी नहीं करता फिर भी सब लोग उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। एक ऐसे होते हैं, जो न भी कोई काय करें तो भी उन्हें मिथ्या-कलंक लग जाता है। दूसरे ऐसे होते हैं जो चोरी भी करते हैं तो भी उनकी प्रशंसा होती है। इन सब बातों से मैं तो इसी निष्कर्ष-पर पहुँचा हूँ, कि यह सब भाग्य के अधीन है। जैसे धन वैभव विद्या पौरुष या सदाचार से ही प्राप्त नहीं होता इसमें प्रारब्ध ही मुख्य कारण है, ऐसे ही मानप्रतिष्ठा और कीर्तिकी बात है। अच्छा, चाचाजी! हम आपसे एक बात पूछें तो आप बुरा तो न मानेंगे।"

अक्रूरजी ने स्नेह के साथ कहा—"यदुनन्दन! आप कैसी बातें कह रहे हैं। भला, मैं आपकी किसी बात का बुरा मान सकता हूँ।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"अच्छा यह बताइये वह मणि कहाँ है?"

चौंककर अक्रूरजी ने कहा—"कौनसी मणि? कैसी मणि? किसकी मणि? मणि से आपका अभिप्राय क्या है?"

सबके मन की जानने वाले माधव मन्द मन्द मुसकराते हुए अक्रूरजी के हाथ को प्रेमपूर्वक अपने हाथ से दबाते हुए बोले—"देखो, चाचाजी! अब छिपाने की बात नहीं है। हम आप पर कलंक नहीं लगाते। न मणि को माँगते ही हैं। यह हम भली प्रकार जानते हैं, कि भागते समय शतधन्वा मणि आपको ही सौंप गया था और यह नित्य प्रति आठ भार सुवर्ण देनेवाली तेजोमय स्यमंतकमणि आपके ही पास है। वैसे आप नियमानु-

सार विचार करें, तो मणि पर सिद्धान्ततः हमारा ही स्वत्व है। मणि सत्राजित् की है। उनके कोई पुत्र नहीं। पुत्र के अभाव में पुत्रीके पुत्र का—दौहित्र का—अधिकार होना है। पुत्र न होने पर दौहित्र ही तिलतर्पण और श्राद्धादि करता है। अपने मातामह पर जितना ऋण हो उसे चुकाकर शेष धन का वह अधिकारी भी होता है। फिर भी हमें मणिका लोभ नहीं। मणि आपके ही पास रहे, क्योंकि हमारे कुलमें आपके समान सदाचारी नियम व्रतों का पालन करनेवाला दूसरा कोई है भी नहीं। किन्तु आप उस मणि को सबके सम्मुख दिखा दें। उसके कारण सभी मेरे ऊपर सन्देह करते हैं। मेरे बड़े भाई बलदेवजी इसी कारण मिथिलापुरीमें जाकर रहने लगे। मेरी पत्नियों में भी परस्पर में मनोमालिन्य हो गया। लोग भी भाँति भाँतिकी चर्चा करते हैं। आप मणिको दिखा देंगे, तो सबका समाधान हो जायगा। हम आप पर दोष थोड़े ही लगाते हैं। यह तो आप कह ही नहीं सकते मणि मेरे पास नहीं है। अच्छा, मान लो, आप पर मणि नहीं है, तो आप काशीजी में रहकर इतने बड़े बड़े यज्ञ कैसे करते थे। हमने तो यहाँ तक सुना है कि आपके समस्त यज्ञों की वेदियाँ सुवर्णकी होती थीं आप निरन्तर सुवर्णदान करते रहते थे। दानकी बातको कोई कितना भी छिपाये वह फैल ही जाती है। बताइये, इतना सुवर्ण आप कहाँसे लाये। यह स्पष्ट है कि आप स्यमंतकमणिकी पूजा करके उसीसे नित्य आठ भार सुवर्ण प्राप्त करते थे? तो यह तो अच्छा ही हुआ। हम यदुवंशियोंकी कीर्ति को आपने बढ़ाया ही। इससे महाराज उग्रसेन भी बड़े प्रसन्न हुए। हम भी जब ब्राह्मणोंके मुखसे आपकी प्रशंसा सुनते थे, तो फूले नहीं समाते थे। अब आप विलम्ब न करें उस मणिको सबके सम्मुख दिखा-कर सबके सन्देह को शान्त करें।"

यह सुनकर अक्रूरजी सहम गये। अब वे क्या करते। दाई

के सम्मुख पेट कैसे छिपाया जा सकता है। उन्होंने बहुत से वस्त्रों में लिपटी हुई अंटी में लगाई हुई वह मणि सबको दिखा दी। उसके प्रकाश से समस्त सभाभवन प्रकाशित हो गया, सबको ऐसा लगा मानों सुधर्मा सभा में सूर्यनारायण आ गये हों। मणि को देखकर सबके मन में जो अंधकार रूप संदेह बैठा था, वह दूर हो गया।

भगवान् ने मणिको हाथ में लेकर सबको दिखाते हुए कहा—"देख लो, भैया! यह स्यमंतक मणि ही है, मैंने इसे छिपाकर नहीं रखा था। चाचाजी को ही शतधन्वा दे गया था और वे ही इसे लेकर तीर्थ व्रत करने चले गये थे। इन्होंने इसका अत्यन्त सदुपयोग किया है, हमारे कुल की कीर्ति बढ़ाई है, इन सभी कारणोंसे मणि रखनेके ये ही अधिकारी हैं। हमारे कुलमें दूसरा ऐसा श्रद्धावान् भक्त और व्रतोंका पालन करनेवाला अन्य है भी नहीं। अतः आज से यह मणि इन्हीं के पास रहेगी। हाँ, यह इनकी इच्छा के ऊपर निर्भर है कि इसके निकले सुवर्ण को ये चाहें हमारे घर भेज दें या और भी जिसके घर चाहें भेज दें।"

यह कहकर भगवान् ने वह मणि ज्यों की त्यों अक्रूरजी को लौटा दी। अक्रूरजी ने बहुत कहा—"यदुनन्दन! आप ही इस मणि को रखें, किन्तु भगवान् ने इसे स्वीकार नहीं किया।

यह बात चारों ओर फैल गई। बलदेवजी ने भी यह बात सुनी। इस बात के सुनते ही उनके हृदयमें भ्रातृस्नेह उमड़ने लगा, वे तुरन्त द्वारका में आकर सबसे मिले। फिर सबमें पूर्ववत स्नेह हो गया। सभी फिर उसी प्रकार प्रेमपूर्वक रहने लगे। मणिमें से जो सुवर्ण निकलता उसे अक्रूरजी भगवान् के यहाँ भेज देते। भगवान उससे दान पुण्य करते और समस्त यादवों के घरों में भी पहुँचा देते।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हम यह जानना चाहते हैं कि भगवान् को यह मिथ्या कलंक लगा किस कारण से बिना कारण के तो कार्य होता नहीं।"

सूतजी ने कहा—"हाँ महाराज ! बिना कारण के तो कोई कार्य हुआ ही नहीं करता। कारण चाहे इस जन्म का हो अथवा पिछले जन्मों का। भगवान् ने भाद्र पद शुक्ला चतुर्थी के चन्द्रमा को देख लिया था, इसी से उन्हें यह मिथ्या कलंक लगा।"

शौनकजी ने कहा—"भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी के चन्द्रमामें ऐसी कौनसी बात है, चन्द्रमा को तो सदा सब देखते ही हैं। उनके देखने से तो चित्त प्रसन्न होता है।

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! चन्द्रमा को देखने से सुख तो होता है, किन्तु उस दिन के चन्द्रमा को न देखना चाहिये उस दिन का चन्द्रमा कलंकी होता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी भाद्रपद की चतुर्थी के दिन चन्द्रमा को कलंक क्यों लगा इस प्रसंग को कृपा करके हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"बात यह थी महाराज ! ये चन्द्रमा बड़े ही सुन्दर थे। इन्होंने राजसूय यज्ञ किया। इससे इनका प्रकाश और बढ़ गया। बहुतसी मुनियों की स्त्रियाँ इनके सौंदर्य पर रीझने लगीं। इससे इनका अभिमान और भी बढ़ गया। देवताओं के गुरु भगवान् बृहस्पतिजी की पत्नी तारा अत्यन्त ही रूपवती थीं। उन्हें देखकर चन्द्रमा का मन डिग गया। उन्होंने भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को तारादेवी का हरण किया। देवताओं ने बहुत समझाया किन्तु चन्द्रमा माने ही नहीं। बृहस्पतिजी से द्वेष रखने के कारण शुक्राचार्य चन्द्रमा के पक्ष में हो गये। युद्ध की तैयारियाँ हुईं। ब्रह्माजीने बीच बिचाव करके तारा को बृहस्पतिजी के लिये दिलवा दिया। उस समय बृहस्पतिजी ने अपनी पत्नी

वाराको बहुत डाँटा डपटा। इससे दुखी होकर तारादेवीने चन्द्रमा को शाप दिया—जा, तू आज से कलंकी होगा। जो पुरुष तुझ कलंकी को देखेगा वह भी कलंकी हो जायगा।"

इस शाप को सुनकर चन्द्रमा को बड़ा दुःख हुआ, उसने नारायण सरोवर के तट पर जाकर निराहार रहकर बहुत दिनों तक घोर तप किया। उसके तप से सन्तुष्ट होकर भगवान् श्रीमन्नारायण उसके सम्मुख प्रकट हुए। भगवान् ने देखा, तप करते करते चन्द्रमा अत्यन्त क्षीण हो गया है, उसकी ऐसी दशा देखकर दीनबन्धु दीनानाथ दामोदर को दया आ गई। वे बोले—"हे चन्द्रदेव! तैंने पाप तो बड़ा भारी किया है। गुरुपत्नीगामी का निस्तार नहीं होता, किन्तु तैंने इस परम पावन स्थान में चिरकाल तक मेरी आराधना की है, अतः तू आज से निष्कलंक हो जायगा। अब तुझे देखने से किसी को कलंक न लगेगा, किन्तु हाँ भाद्रशुक्ला चतुर्थी को जिस दिन तैंने तारादेवी का हरण किया है भाद्रकृष्णा चतुर्थी को जिस दिन तारादेवी ने तुझे शाप दिया है। इन दोनों भाद्रपद की चतुर्थियों को जो तुझे देखेगा उस पर तेरा कलंक चला जायगा।" यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और चन्द्रमा भी प्रसन्न होकर अपने स्थान को लौट आया।

उस दिन से जो भी भादों की चतुर्थी के चन्द्रमाको देखता है, उसे मिथ्या कलंक लग जाता है। भगवान् ने भी उसे देख लिया इसलिये उनको भी झूठा कलंक लग गया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने जान बूझकर अपने सिर कलंक क्यों लिया? वे चाहते तो चन्द्रमा को न देखते।"

सूतजी बोले—"भगवान्! भगवान् जो भी करते हैं, लोक संग्रह के लिये करते हैं। उन्होंने अपने ऊपर कलंक लेकर यह

दिखाया कि सर्व समर्थ भगवान् भी कर्म के फलों को भोगते हैं। फिर भगवान् को लोगों का उद्धार भी तो करना था, जो भूल से चन्द्रमा को देख ले उसके उद्धार का भी उपाय तो निकालना था। उसके उद्धार का यही उपाय है कि भूलसे किसीकी दृष्टि भादों की चतुर्थीके चन्द्रमापर पड़ जाय, तो वे आदि से अन्त तक 'भागवती-कथा' के अन्तर्गत इस स्यमन्तकोपाख्यानको आरम्भसे समाप्ति पर्यन्त पढ़ले या सुनले तो उसका कलंक अवश्य ही छूट जाता है। भाद्रपद चतुर्थीके चन्द्रको देखनेका दोष दूर हो जाता है। अतः जो पुरुष इस सर्वेश्वर भगवान् के परमपावन स्यमन्तकोपाख्यान रूपी पवित्र चरित्रको श्रद्धाभक्तिके साथ श्रवण करेंगे, वे चतुर्थीके देखे चन्द्रके पाप से ही न छूट जायँगे, अपितु सब प्रकार की अपकीर्तिसे मुक्त हो जायँगे। मिथ्या अपयश से जिनके चित्त में उद्वेग होता होगा वह भी सब शान्त हो जायगा और वे परम पदके अधिकारी बनेंगे। यह मैंने स्यमन्तकोपाख्यानकी कथा कही। अब आप भगवान्के अन्य विवाहोंकी कथा श्रवण करें।

छप्पय

देख्यो चन्दा चौथ भाद्रपदको श्रीयदुवर।
ता तैं लग्यो कलङ्क सह्यो सब अपयश श्रीधर॥
जो स्यमंत आख्यान प्रेम तैं सुनें सुनावें।
चौथ चन्द्रको दोष मिटै सब शोक नसावें॥
अपयश अपकीरति बड़ी, दुखदायी अति कष्ट प्रद।
मिलै शान्ति जा कथा तें, अन्त पाहिँ नर परम पद॥

—::—

भगवान्‌का चौथा विवाह

(११०४)

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते ।
वितन्वन्परमानन्दं स्वानां परम मङ्गलम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५८ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

कालिन्दी सँग ब्याह करयो जैसे श्रीनटवर ।
सुनो, ताहि अब यहूँ ब्याह चौथो अति सुखकर ॥
इन्द्रप्रस्थ हरि गये भये तब पांडव राजा ।
यदुनन्दन कूँ निरखि भयो सब सुखी समाजा ॥
इक दिन यमुना तट गये, मृगया हित कन्या जहाँ ।
रवितनया हरि वरन हित, करति घोर अति तप तहाँ ॥

भक्त वांछा कल्पतरु भगवान् वासुदेव अपने आश्रितों की इच्छापूर्तिक निमित्त सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं। उनके अवतार का सर्वप्रधान उद्देश्य ही यह है, कि वे अपने शरणागतों की इच्छा को पूर्ण करें। भक्तों के भावों को जान कर वे वैसे ही बन कर समुपस्थित होते हैं और

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! द्वारकामें आकर भगवान्‌ने पुण्य ऋतु उन्नतिशील नक्षत्रके आने पर अपने स्वजनोंको परमानन्द और परम मङ्गल प्रदान करते हुए सूर्यतनया कालिन्दीके साथ विवाह किया।"

जैसे वे चाहते हैं, वैसा ही रूप रख कर उनको प्रसन्न करते हैं। भगवान्में यह बात न हो, तो भक्तगण अपना सर्वस्व समर्पित कर के सभी संसारी सुखोंको तिलाञ्जलि देकर-उनके पीछे क्यों पड़े रहें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने भगवानके प्रधान तीन विवाहोंका वर्णन आपसे किया। श्रीजाम्बवतीजी और सत्यभामाजीके विवाहके प्रसंगमें स्यमन्तकमणिका भी आख्यान सुना दिया। अब आप उनके चतुर्थ विवाहका वृत्तान्त श्रवण करें।

यह तो मैं पीछे बता ही चुका हूँ, कि पांडवोंके जल कर भस्म होनेके मिथ्या समाचारको सुनकर भगवान् कुल व्यवहार जतानेको हस्तिनापुर गये थे, किन्तु वे जानते थे पांडव मरे नहीं हैं अब तक भगवानने न तो प्रत्यक्ष रूप से अपनी बूआ कुन्तीजीको ही देखा था, न पांडवों को ही। पांडव जीवित हैं इस बातको वे किसी पर भी प्रकाशित करना नहीं चाहते थे।

इधर पांडव जब लाक्षा गृहसे बच गये, तो गंगा पार होकर वे एक सघन वनमें घुस गये। वहाँ भीमसेनने हिडम्ब नामक राक्षसको मार कर उसकी बहिन हिडम्बासे उसकी प्रार्थना पर और माताजीकी आज्ञासे गान्धर्व विवाह किया। उसके घटोत्कच पुत्र हुआ। इस प्रकार वे वेष छिपाये एक वनसे दूसरे वनमें घूमने लगे। वे मत्स्य देश, पाञ्चाल देश, त्रिगर्त देश तथा कीचकादि देशोंमें घूमते फिरते व्यासजीके कहनेसे वे एकचक्रा नामकी नगरी में रहने लगे। उन पाँचों भाइयोंने सिर पर बड़ी बड़ी जटायें रखा ली थीं। वे मृगचर्म ओढ़ते और पहिनते थे। उन्होंने तपस्वी ब्राह्मणका वेष बना लिया था। एकचक्रा नगरी में वे भिक्षासे निर्वाह करते थे।

वहीं इन लोगोंने द्रौपदीके स्वयंवर की बात सुनी, अतः भिक्षा माँगते खाते वे महाराज द्रुपदकी राजधानीमें आये। महाराज

द्रुपदकी अग्निकुंडसे उत्पन्न हुई अयोनिजा एक परम सुन्दरी द्रौपदी कन्या थी। उसके स्वयम्वरमें यह पण था, कि जो ऊपर चक्रमें घूमती हुई मछली को वेध देगा, उसी के साथ कन्या का विवाह होगा। अर्जुनको विश्वास था मैं मत्स्यवेध कर दूँगा, इसी लिये वे अपनी माता और भाइयों सहित पांचाल देशमें आये थे। महाराज द्रुपदने स्वयम्वरकी बड़ी तैयारियाँकी थीं, देश विदेश से बहुतसे राजा राजकुमार आये थे। द्रौपदीके रूपकी सर्वत्र ख्याति थी। पांडवोंका वहाँ किसीसे परिचय तो था नहीं वे एक कुम्हारके घरमें ठहर गये। राजा द्रुपदने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के बैठनेके लिये पृथक् पृथक् मर्यादानुसार स्थान बना रखे थे। दुर्योधन, कर्ण, श्रीकृष्ण, बलराम सभी उस स्वयम्वरमें सम्मिलित हुए। ये सब तो राजाओंके मंचों पर बैठे थे। पांडव आकर ब्राह्मणोंमें बैठ गये। सबने अपने मुखोंपर जटाओं और दाढ़ियों में राख लपेट रखी थी, पाँचों एक साथ भी नहीं बैठे। इसलिये कोई भी उन्हें पहिचान न सका। किसीको सन्देह होता तो पहिचानते! सबको तो विश्वास था, पांडव मर गये। किन्तु सर्वज्ञ श्रीकृष्णने उन्हें पहिचान लिये। वे शनैः शनैः अपने भाई बलरामजीसे बोले—"दादा! देखो, वे ब्राह्मणोंमें हमारे फूआके लड़के पांचों पांडव वेष छिपाये बैठे हैं। वे दो मुनियों के बीच में गम्भीरता धर्मराज युधिष्ठिर हैं, वे भीमसेन हैं, गांडीवधनुर्धारी अर्जुन हैं, वे दोनों पास में अति सुन्दर मुख पर राख लपेटे अश्विनी कुमारोंके वीर्यसे उत्पन्न परम रूपवान नकुल और सहदेव हैं। भगवानके कहनेसे बलदेव जी भी पांचों पांडवोंको पहिचान गये।

भगवान्‌को तो विवाह करनेका रोग हो गया था, जहाँ भी कहीं विवाहका डौलडौल देखते वहीं दौड़े जाते। यहाँ भी विवाहके ही निमित्त आये थे। उनके लिये मछली के लक्ष्यको वेध देना

क्या कठिन था। जब कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, अंग, वंग, कलिङ्ग तथा अन्यान्य देशों के राजकुमार हार गये और लक्ष्य वेध न कर सके, तब भगवान् चाहते तो लक्ष्य वेध करके तुरन्त द्रौपदी को अपना लेते, किन्तु उन्होंने सोचा—"मेरे तो तीन विवाह हो ही चुके हैं। इसे पाँचों पांडवों के लिए छोड़ दो।' यही सोचकर वे नहीं उठे। अर्जुन उठे और उन्होंने लक्ष्य वेध कर दिया और द्रौपदी को लेकर चलते बने। सब देखते के देखते ही रह गये। राजाओं ने ईर्ष्यावश महाराज द्रुपद पर प्रहार करना चाहा, किन्तु भीम और अर्जुन ने उन्हें हरा दिया पांडव द्रौपदी को लेकर कुम्हार के घर चले गये।

पीछे से चुपके से अँधेरा होने पर किसी दूसरे मार्ग से बलरामजी के साहित भगवान् पांडवों के डेरे पर—कुम्हार के घर में पहुँचे। जाते ही उन्होंने पृथिवी पर बैठी मलिन वस्त्र धारण किये अपनी बूआ कुन्ती के पैर छुए और धर्मराज युधिष्ठिर के पैर छुए। कुन्तीजी अकस्मात् किसी को अपने पैर छूते देखकर सहम गईं। अभी तक उन्होंने श्रीकृष्ण के दर्शन नहीं किये थे। भगवान् ने कहा—"बूआजी मैं वसुदेवजी का छोटा पुत्र हूँ। मेरा नाम कृष्ण है, ये मेरे बड़े भाई बलरामजी हैं। इस पर बलरामजी ने भी कुन्तीजी और युधिष्ठिर के पैर छुए।

कृष्ण का नाम सुनते ही कुन्तीजी ने उन्हें हृदय से चिपटा लिया। अपने नेत्रों के अश्रुओं से उनके सम्पूर्ण पीताम्बर को भिगो दिया। वे कुछ कहना चाहती थीं, किन्तु वाणी गद् गद् हो जाने से कुछ कह नहीं सकती थीं। बड़े कष्ट से उन्होंने कहा—"वासुदेव! इस विपत्ति में भी आप हमें नहीं भूले। आपका ही तो हमें सहारा है।" फिर भीम और अर्जुन कृष्ण बलराम से गले लगा कर मिले। नकुल सहदेव ने दोनों के पैर छुए।

धर्मराज ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"वासुदेव! हमने

तो अपना बहुत वेष छिपाया था, किन्तु आपने हमें पहिचान ही लिया।"

भगवान् ने कहा—"अग्नि कहीं छिपाने से छिप सकती है। सूर्य चन्द्रमा कहीं छतरी से छिप सकते हैं। धरा धाम पर पांडवों के अतिरिक्त दूसरा कौन ऐसा पराक्रम कर सकता है। आप लोग घबरावें नहीं आपका पुनः अभ्युदय होगा। फिर अच्छे दिन आवेंगे।"

धर्मराज ने कहा—"वासुदेव! आपकी कृपा बनी रहे दिन तो सब अच्छे ही हैं।

भगवान् ने कहा—"अच्छा. अब आज्ञा दीजिये अभी आप छिपे ही रहें।"

यह कह कर भगवान् बलदेवजी के सहित अपने डेरे पर चले गये। पांडवों का परिचय पाकर द्रुपद परम प्रसन्न हुए, उन्होंने व्यासजी के कहने से पांडवों के साथ द्रौपदी का विधिवत् विवाह कर दिया। महाराज द्रुपद से सम्बन्ध हो जाने से तथा पांडवों का वैभव बढ़ जाने से कौरव डर गये। धृतराष्ट्र ने पांडवों को सत्कार पूर्वक बुलाया। उनको आधा राज्य दे दिया पांडव इन्द्र प्रस्थ में अपनी राजधानी बना कर रहने लगे।

पांडवों को कहने को आधा राज्य दिया था। वास्तव में उनके पास कुछ भी नहीं था। इन्द्र प्रस्थ एक घोर अरण्य था धर्मराज ने वहीं एक किला बनवाया। समाचार सुनते ही पांडवों को देखने के लिये भगवान द्वारकापुरी से तुरन्त इन्द्र प्रस्थ में आ गये। भगवान् के साथ में सत्यादिक आदि और भी बहुत से यादव थे।

भगवान को आते देख कर पांडवों के रोम रोम खिल उठे। जैसे मृतक देह में सहसा प्राण आने से प्रसन्नता होता है, वैसे ही सबके मुखों पर प्रसन्नता छा गई। प्रधान प्राण के आने से पचेन्द्रियाँ जिस प्रकार सचेष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार सर्वेश्वर श्यामसुन्दरको

देखकर पाँचों पांडव संभ्रम के साथ उठ कर खड़े हो गये। बड़े होने के नाते भगवान् ने धर्मराज और भीमसेन के पैर छुए, अर्जुन को हृदय से लगाया और नकुल सहदेव ने उन्हें प्रणाम किया। सभी ने भगवान का गाढ़ालिङ्गन किया भगवान् के अङ्ग सङ्ग से उन सब भाइयों के सभी अशुभ नष्ट हो गये। मदन मोहन का मन्द मन्द मुसकान मय मधुर मुखारविन्द निहार कर तथा उनकी प्रणय पूर्ण चितवन को देख कर पांडव मारे हर्ष के आपेसे बाहर हो गये। तुरन्त भीतर समाचार दिया गया। द्रौपदी अभी अभी विवाह हो कर आई थी। नववधू जैसे सकुचाती, लजाती गुड़मुड़ी-सी मारे अपने आप में घुसी सी आती है वैसे ही द्रौपदी आई। उन्होंने वस्त्रों को समेट कर लज्जापूर्वक शनैः शनैः श्रेष्ठ सिंहासन पर विराज मान श्यामसुन्दर के समीप जाकर उन्हें सादर प्रणाम किया। भगवान् ने भी मन्द मन्द मुसकरा कर उनका सम्मान किया।

धर्मराज ने सात्यकि आदि समस्त यादवों का भी उसी प्रकार सम्मान किया। पांडवों से सत्कृत होकर वे सब भी यथा योग्य सुन्दर सुन्दर आसनों पर भगवान् को घेर कर बैठ गये। सहसा भगवान अपने आसन से उठकर खड़े हो गये बोले—"बूआजी भीतर है न ? मैं प्रणाम करने भीतर जाऊँगा।"

धर्मराज ने अत्यन्त ही स्नेह से कहा—"यदुनन्दन ! पूछने की क्या आवश्यकता है, आपका घर है चलिए।"

यह कह कर आगे आगे धर्मराज चले पीछे सेवकों और पांडवों से घिरे हुए यादवेन्द्र चले। अतःपुर में पहुँच कर भगवान् ने अपनी बूआ कुन्ती के पैर छुए उन्हें प्रणाम किया। श्यामसुन्दर की काली काली कुटिल अलकावली के स्पर्श से कुन्तीजी का रोम रोम खिल उठा। उनके नेत्रों से झर झर आँसू बहने लगे। भगवान को वे बड़ी देर तक अपने हृदय से लगाये रहीं।

उन्होंने अश्रु पोंछ कर कहा—"श्यामसुन्दर! द्वारका से कब चले थे? द्वारका में सब कुशल हैं न? मेरे भाई, सब भाभियाँ, तुम्हारी बहुएँ सब कुशल पूर्वक तो हैं न? हमारे बन्धुबान्धव तथा कुल परिवार वाले सब अच्छे तो हैं?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, बूआजी! सब आपका आशीर्वाद है। सब कुशल पूर्वक हैं। आपका स्वास्थ तो अच्छा है न? तुम्हारी बहू तो अच्छी है? तुम्हारी बात मानती है न? और सब लोग तो कुशल हैं न?"

भगवान् की यह बात सुनते ही कुन्तीजी का हृदय भर आया प्रेम और शोक की विकलता के कारण उनका कंठ अवरुद्ध हो गया, नेत्रों से निरंतर नेह का नीर निकल रहा था मानों प्रेमाश्रुओं की बाढ़ आ गई हो। कौरवों के कारण इस वृद्धावस्था में पुत्रों के सहित उन्होंने जो जो क्लेश पाये थे उन सबका स्मरण करती हुई कुन्तीजी केशि को मारने वाले क्लेशहा श्रीकृष्ण के सम्मुख करुण स्वर से रुदन करने लगीं और रोते रोते कहने लगीं—"वासुदेव! क्लेश तो हमारे बन्धु हैं सहोदर हैं। जब मैं माता के गर्भ से उत्पन्न हुई थी तभी क्लेश मेरे साथ ही उत्पन्न हुए। ये क्लेश इतने प्रेमी हैं, कि इन्होंने कभी मेरा साथ नहीं छोड़ा। जन्म के माता पिता को छोड़ कर अन्यत्र जाना पड़ा। वहाँ भी नाना भाँति के क्लेश सहने पड़े। जब विवाह होकर हस्तिनापुर आई, तो वहाँ भी क्लेशों ने साथ दिया। पति के साथ गंधमादन पर्वत पर रही, वहाँ भी क्लेशों के सहित ही हमने जीवन बिताया। पति देव क्लेशों के हाथों हमें सौंप कर परलोक प्रयाण कर गये। इन बच्चों के पीछे क्लेश सहती रही। दयालु मुनियों ने हम पर कृपा की। हमें हस्तिनापुर छोड़ गये। कौरवों द्वारा जो क्लेश दिये गये, उन्हें स्मरण करके रोमाञ्च हो उठते हैं, किन्तु उन क्लेशों में एक आशा की झलक दिखाई दी। [illegible] मेरे भाई अक्रूर को भेजकर हम सबकी कुशल पुछवाई। उसी से मैंने समझ लिया मेरे कष्टों का अन्त हो गया। क्रूरों को

ने बार बार धन्यवाद दिया, जिनके कारण आपको हमारी याद आई। अब हमें क्लेश सहनेका अभ्यास हो गया है। आप इस संपूर्ण चराचर विश्वके स्वामी हैं सब भूतोंके सच्चे सुहृद् हैं, सब की आत्मा हैं इसीलिये लोग आपको परमात्मा कहते हैं। आपके लिये न कोई अपना है न पराया। जो लोग सदा आपका स्मरण करते हैं, उनके हृदयमें विराजमान होकर आप उनके दुःखोंको दूर करते हैं। हे अप्रमेयात्मन्! आपको मैं प्रणाम करती हूँ।"

भगवान्‌ने कहा—"बूआजी! न जाने आप क्या राग अलापने लगीं। अच्छा मैं अब दूरसे आया हूँ। स्नानादिसे निवृत्त होऊँ।"

कुन्तीजीने कहा—"हाँ वासुदेव! आप स्नान करें। हाय! मैं यह सब तो भूलही गई स्नान करके प्रसाद पावें। मैं भी चौके की ओर जाती हूँ।"

यह कहकर भगवान स्नानादिके लिये चले गये। कुन्तीजी भगवान्‌के भोगका प्रबन्ध करने लगीं। धर्मराज श्यामसुन्दरके साथ छायाकी भाँति लगे हुए थे। मना करने पर भी धर्मराज स्नेह वश सब काम स्वयं ही करते। आज जब हमारा कोई सहायक नहीं हमारी कोई स्थिति नहीं, उस समय भी सब प्रकारकी सहायता करने यादवोंके सहित यादवेन्द्र स्वयं ही बिना बुलाये ही आ पहुँचे हैं। इस बातको स्मरण कर करके धर्मराजका हृदय प्रेमके कारण बाँसो उछल रहा था। श्यामसुन्दरकी त्रैलोक्य विमोहिनी छविको निहार कर वे प्रेमाश्रु बहाते हुए कहने लगे—"श्यामसुन्दर। हे सर्वेश्वर! इस जन्ममें तो हमसे कोई पुण्य कर्म अभी तक बन नहीं सका है, किन्तु अवश्य ही पूर्व जन्ममें हमने कोई ऐसा महान् पुण्य कर्म किया होगा जिसके कारण हमें सुगमतासे घर बैठे आपके दर्शन हो रहे हैं। बड़े बड़े योगेश्वर भी सहस्रों लाखों वर्षों तक जप, तप यज्ञानुष्ठान करके आपके दर्शन

तासे नहीं पा सकते, सो हम कुबुद्धियोंको वे अपने आप हो रहे हैं। घर बैठे गंगा आगई हैं।" इतना कहते कहते धर्मराजके नेत्र श्रावण भाँदोंके मेघों के समान बहने लगे।

इस प्रकार धर्मराजने भगवान् के प्रति अत्यधिक प्रेम प्रदर्शित किया। उन्हें आँखों की पुतलियोंकी भाँति बड़े आदर से रखा। कई दिनों तक भगवान् इन्द्रप्रस्थ निवासियोंके नयनोंको आनंदित करते हुए वहाँ बड़े सम्मानके साथ रहे। फिर भगवान्ने कहा—"धर्मराज! आज्ञा हो, तो मैं द्वारकापुरीको जाऊँ।"

आँखों में आँसू भर कर धर्मराजने कहा—"वासुदेव! हमें एक मात्र आपका ही सहारा है, आप हमारे बाह्य प्राण हैं। मेरी इच्छा है, वर्षाके चार महीनों तक आप यहीं निवास करें। अभी तो हमारी यहाँ कोई स्थिति ही सुदृढ़ नहीं है।"

भगवान् ने कहा—"महाराज! मेरे द्वारा आपकी कुछ सेवा हो सके, इसे मैं अपना सौभाग्य समझूँगा। मुझे क्या मेरे लिये जैसी ही द्वारका वैसा ही इन्द्रप्रस्थ। यहाँ तो मुझे आपका प्रेम और अर्जुनका सहवास ये दो अपूर्व वस्तु प्राप्त हैं। आपकी आज्ञा है तो मैं रहूँगा।"

यह कह कर भगवान्ने कुछ यादवोंको द्वारकाजी भेज दिया और वर्षाके चार महीनें सात्विकी आदिके साथ इन्द्रप्रस्थ में ही रह गये। इन चार महीनों में भगवान् ने पांडवोंकी राजधानीको सर्व श्रेष्ठ राजधानी बना दिया। जहाँ उनकी राजधानी थी, वहाँ बड़ा भारी खांडवप्रस्थ नामक वन था, उसमें बड़े बड़े सर्प, दानव और अन्य वन के जन्तु रहते थे। एक दिन अग्निदेवने ब्राह्मण वेष में आकर श्रीकृष्ण और अर्जुनसे उस वनको जलानेकी प्रार्थना-की। भगवान्ने जलानेकी आज्ञा दे दी। सम्पूर्ण वन जलने लगा। इस पर इन्द्र लड़ने आये। भगवान्की सहायतासे अर्जुनने उन्हें परास्त किया। सम्पूर्ण वनको जलाकर धूम्रकेतु अग्निदेव सन्तुष्ट

हुए। उन्होंने अर्जुन के लिये प्रसन्न होकर गाण्डीव धनुष, चार श्वेत वर्ण के घोड़े एक सुवर्ण मंडित दिव्य रथ, दो अक्षय तरकस और जो किसी भी शस्त्रधारी से न वेधा जा सके ऐसे एक कवच ये सभी वस्तुएँ प्रदान की।

जिस समय खाण्डव दाह हो रहा था, उस समय भगवान् के कहने से अर्जुन ने मय दानव रक्षा की थी। वह मय असुरों का शिल्पी था। उसने अर्जुन से प्रार्थना की—"आपने मुझे प्राणों का दान दिया है। इसके उपलक्ष में आपकी मैं क्या सेवा करूँ।"

अर्जुन ने कहा—मुझे तो तुम्हारी कुछ भी सेवा नहीं चाहिये। यदि तुम्हारा बहुत ही आग्रह है तो भगवान् का जाकर कोई प्रिय कार्य दो।"

मय दानव भगवान् के पास गया। उसने उनसे भी यही प्रार्थना की। भगवान् अत्यन्त हर्ष के साथ बोले—"मेरा सबसे प्रिय कार्य यह है कि मैं धर्मराज को अत्यन्त समृद्धिशाली और प्रसन्न देखना चाहता हूँ। उनके यहाँ कोई अच्छी-सी राजसभा नहीं है, अतः उनके लिए तुम जितनी सुन्दर बना सकते हो उतनी सुन्दर एक सभा बना दो।"

भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके शुभ मुहूर्त में मयासुर ने सभा भवन की नींव डाली। दूर दूर से मणि माणिक्य लाकर उसने उसमें लगाये थे। वह पूरी सभा दस सहस्र हाथ के घेरे में बनी थी उसके सम्मुख इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, चन्द्र तथा ब्रह्माजी की सभायें फीकी फीकी लगती थीं। यहाँ तक कि श्रीकृष्णचन्द्र की सुधर्मा सभा से वह अच्छी थी। वह इतनी ऊँची थी मानों आकाश से बातें कर रही हो, आठ सहस्र दानव उसकी रक्षा करते थे और उसे जहाँ चाहें तहाँ ले जा सकते थे। उसमें नलिनी कमलों का एक सरोवर बनाया गया था। उसकी सोपान स्फटिक मणियों की थी। एक ऐसा भी स्थान नील

का बनाया था, जहाँ जल तो था नहीं किन्तु जल का भ्रम होता था। एक ऐसा स्थल था, जिसमें जल तो भरा हुआ था किन्तु समभूमि दिखाई देती थी। इसी स्थान पर दुर्योधन को जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम हुआ था। उस सभा को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। खाण्डवप्रस्थ का सम्पूर्ण सघन वन भी जलने से सुन्दर स्थान बन गया। उसमें खेती होने लगी। धर्मराज की राजधानी भगवान् के निवास से परम समृद्धि-शालिनी बन गयी।

भगवान् की अर्जुन से परम मैत्री थी। दोनों साथ ही खाते थे, साथ ही रहते थे और साथ ही घूमने फिरने जाते थे। ऐसा लगता था मानों एक प्राण दो शरीर में साथ साथ संचार कर रहे हैं। श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन को अत्यधिक प्यार करते थे और अर्जुन श्यामसुन्दर को अपना सर्वस्व समझते थे। दोनों परस्पर में हँसते खेलते और यमुना किनारे जाकर बहुत सा समय बिताते।

एक दिन की बात है कि भगवान् ने कहा—"अर्जुन चलो आज दूर यमुना किनारे आखेट के लिये चलें।"

अर्जुन तो यह सदा चाहते ही रहते थे, श्रीकृष्ण से एकांत में बैठकर प्रेम की मीठी मीठी घुल घुल कर बातें करें। भगवान् की आज्ञा पाते ही उन्होंने तुरन्त सारथी को अपना विशाल वानर ध्वज वाला रथ जोड़ कर लाने की आज्ञा दी। अर्जुन की आज्ञा पाते ही सारथी अग्निप्रदत्त सुवर्ण मंडित दिव्य रथ जोड़ कर सम्मुख उपस्थित हुआ। तब शत्रुओं को दमन करने वाले वीर वर अर्जुन दिव्य कवच धारण करके अपने गांडीव धनुष तथा अक्षय बाण पूर्ण दो तूणीरों को लेकर हंसते हुए भगवान् के साथ रथ में आकर बैठ गये। और भी बहुत से सेवक सैनिक साथ थे। सब को साथ लिये हुए, भगवान् कुछ ही काल में यमुना तटवर्ती एक [illegible] वन में-जिसमें बहुत से सिंह व्याघ्रादि रहते थे साथियों के

साथ गये। वहाँ उन्होंने बहुत से व्याघ्र, सूकर, भैंसे, कृष्णमृग शरभ, गेंड़े, हरिण, शशक, स्याही तथा अन्यान्य वेध्य पशुओं को अपने बाणों से बींधा। उनमे से बहुत से मारे हुए पवित्र पशुओं को श्राद्ध के निमित्ति सेवक गण धर्मराज युधिष्ठिर के निकट ले गये।

धूप से अत्यन्त परिश्रम करते करते अर्जुन थक गये थे। उन्हें प्यास भी लगी हुई थी। इसलिए वे भगवान् के साथ यमुना तट पर आये। और सब सेवक सैनिक दूसरे स्थानों में बैठकर विश्राम करने लगे। यमुना तट पर आकर दोनों ने हाथ पैर धोये कांच के सदृश सुन्दर स्वस्थ कालिन्दी के जल को दोनों ने भरपेट पिया और फिर एक सघन वृक्ष के नीचे बैठकर दोनों प्रेम की मीठी मीठी बातें करने लगे। उस समय दोनों ने देखा, एक अत्यंत ही सुन्दरी युवती यमुना तट पर घूम रही है। इन श्याम सुन्दर की दृष्टि तो सदा चंचल रहती ही है। देखते ही वे समझ गये, यह किसी ताड़ में है। आप गम्भीर होकर अर्जुन से बोले—"भैया! अर्जुन! यह लड़की इधर से उधर चक्कर क्यों काट रही है। यह कौन है? इस वन में अकेली क्यों घूम रही है तनिक जाकर देखो तो सही। पूछो इससे यह कौन है?"

अर्जुन तो भगवान् के मन की बात जान ही लेते थे। वे हँस कर बोले—"कोई हो, आपको क्या प्रयोजन। वह अपने आनंद में मग्न है हम अपने में।

भगवान् बोले—"ना, भैया! अपने शरीर से जिसका भी उपकार हो जाय, अच्छा ही है। प्रतीत होता है, यह कुछ चाहती है। तभी तो इधर से उधर चक्कर लगा रही है।"

अर्जुन अपनी हँसी को रोक कर बोले—"अच्छी बात है महाराज! जाता हूँ। आप यहीं बैठे रहें।" यह कहकर अर्जुन उस कन्या के पास पहुँचे। वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी, उसके अंग

प्रत्यंग से यौवनकी आभा झलक रही थी उसके दाँत सुन्दर स्वच्छ और चमकीले थे। उसका मुख पूर्ण चन्द्र के समान विकसित था। वह वर वर्णिनी परम सुकुमारी और सुशीला थी। अर्जुन उसके समीप जाकर पूछा—"हे सुश्रोणि! तुम कौन हो?"

लजाते हुए उस रमणी ने कहा—"हे वीर! मैं भगवान् भुवन भास्कर श्री सूर्यदेव की पुत्री हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"आपका विवाह हुआ या नहीं?"

अत्यन्त ही लज्जा के साथ उस सुकुमारी ने यह प्रश्न सुनकर सिर हिला दिया। मुख से कुछ भी नहीं कहा। वह अपने नख से भूमि को कुरेदती हुई नीचा सिर करके खड़ी रही।

बात आगे चलाने के लिए अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, यहाँ एकान्त वन में आप कैसे घूम रही हैं? यहाँ आप क्या करती हैं?"

कन्या ने कहा—"मेरे पिता ने इस यमुना के जल में मेरे लिये एक भवन बना दिया है उसी में रह कर मैं तपस्या करती हूँ। यह जो यमुना का जल दीखता है, यह भी मेरा ही रूप है। मैं इस यमुना की अधिष्ठात्र देवी हूँ। अपने पिता के बनाये हुए भवन में रह कर सहस्रों वर्षों से मैं घोर तपस्या कर रही हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"मैं यह पूछ सकता हूँ, कि आपकी तपस्या का उद्देश्य क्या है? किस कारण आप इतने दिनों से इस यमुना जल के भीतर रह कर तप कर रहीं हैं।

कन्या ने कहा—"जब मैं सयानी हुई, तब मेरे पिता सूर्यदेव ने मेरा विवाह करना चाहा। मैंने लज्जा, छोड़कर उनसे कह दिया—"पिताजी! मैं तो लक्ष्मीजी के आश्रय श्रीमन्नारायण भगवान् को छोड़ कर किसी अन्य को अपना पति' नहीं बना सकती मेरे तो वे ही वरेण्य विष्णु वर बनेंगे।"

मेरे पिता ने कहा—"बेटी! भगवान् को प्राप्त करना तो बड़ा

कठिन है, फिर भी तू घोर तपस्या कर वे भक्त वत्सल भगवान् तुझ पर अवश्य कृपा करेंगे।" पिताजी की आज्ञा मान कर मैं तभी से उन अच्युत को पाने के निमित्त घोर तप कर रही हूँ। जब तक मुझे उनकी प्राप्ति न होगी, तब तक यहीं यमुना जल में रह कर मैं तपस्या करती रहूँगी।" वे शरणागत वत्सल दीन बन्धु दीना नाथ प्रभु मुझपर प्रसन्न हों।"

इस पर अर्जुन ने कहा—"भगवान् को पाना तो अत्यन्त ही कठिन है।"

कन्या ने कहा—"कठिन हो अथवा सरल मेरी तो यह दृढ़ प्रतिज्ञा है जब तक मुझे अघहारी अच्युत का दर्शन न होगा, जब तक वे मुझे अपनी शरण में न लेंगे, तब तक मैं इसी प्रकार इसी भवन में बनी रहूँगी। दूसरा कोई मेरा पति हो ही नहीं सकता।"

यह सुनकर अर्जुन भगवान् के समीप लौट कर आये और बोले—"महाराज! आपकी तो बृहस्पति की दशा आज कल चेत रही है। करते चलो विवाह के ऊपर विवाह। यह तुम्हारी भावी पत्नी है। करो ब्याह की तैयारियाँ। इन्द्र प्रस्थ में ही हो धूम धड़ाका।"

यह सुनकर सर्वज्ञ भगवान् बोले—"अरे भाई! विवाह तो हमारे हो गये हैं, किन्तु जब उसकी ऐसी ही आग्रह है तो कोई बात नहीं। निभानी ही पड़ेगी। चलो, बैठाओ रथ में। यह सुन कर अर्जुन खिलखिलाकर हँस पड़े और कालिन्दी के समीप जाकर बोले—"भाभी! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई। तुम्हें तुम्हारी तपस्या का मूर्तिमान् फल मिल गया। आ जाओ रथ पर बैठ जाओ।" यह सुनकर कालिन्दी रथ के निकट आई। श्यामसुन्दर के दर्शन करते ही उसके रोम रोम खिल उठे। भगवान् की आज्ञा पाते ही वह रथ में बैठ गई। इस प्रकार भगवान् सूर्यतनया को

रथ में बिठाकर धर्मराज युधिष्ठिर के समीप आये और उनसे सब वृत्तान्त कहा। सुनते ही धर्मराज हँस पड़े और बोले—"मैं सोच ही रहा था, कहीं भगवान् को यहाँ से रिक्त हस्त न लौटना पड़े, सो सर्व कर्मों के साक्षी जगत् पति भगवान् मरीचिमाली ने मेरी प्रार्थना सुनली। यहीं हो विवाह।"

भगवान् सकुचाते हुए बोले—"अजी, अब यहाँ क्या होगा। अब तो कार्तिक है। अगहन पौष में विवाह होगा नहीं, माघ में देखा जायगा। मुझे बहुत दिन हो गये हैं। आपका भी कार्य सब हो गया है अब मुझे आज्ञा मिलनी चाहिये।

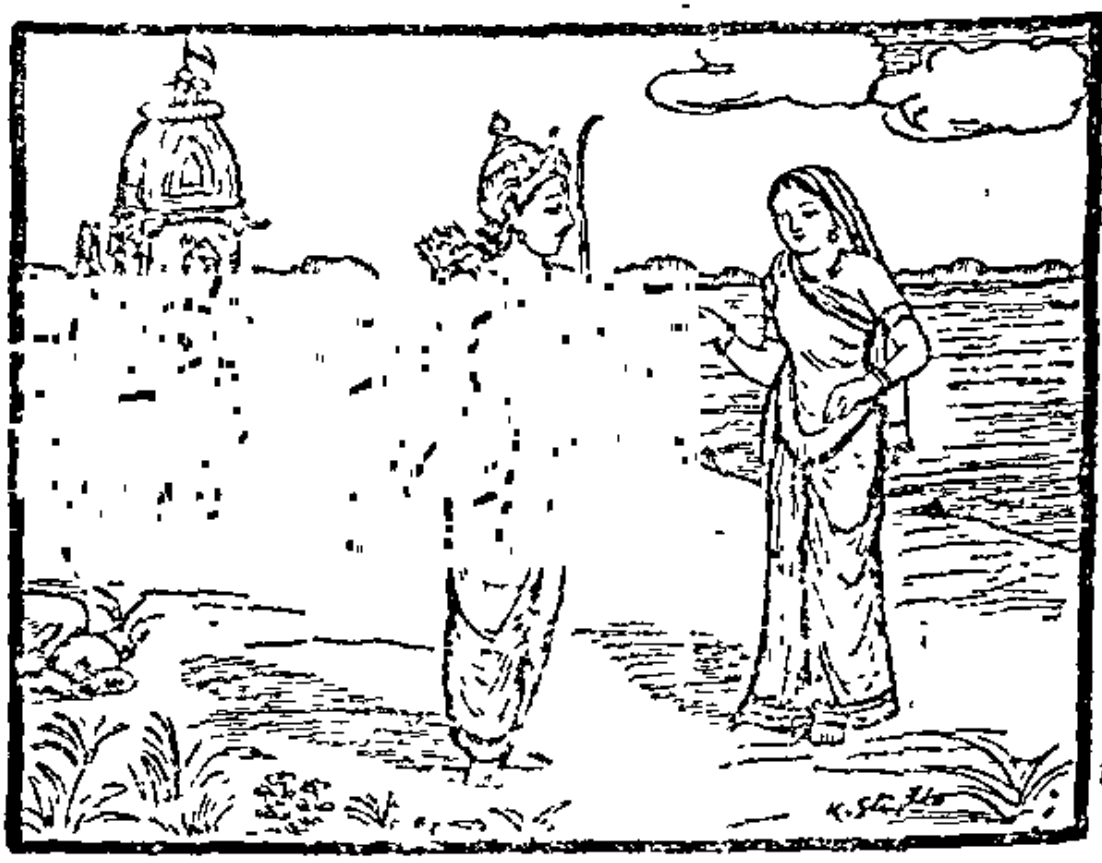

भगवान् के जाने की बात सुनकर सभी को बड़ा दुःख हुआ। किन्तु अब तो जाना ही था विवाह की चटपटी लगी थी। अतः धर्मराज अर्जुन तथा अन्यान्य सुहृदों की अनुमति लेकर सात्यकि

आदि के साथ भगवान् पुनः द्वारकापुरी में आ गये। नई बहू के साथ भगवान् को देख कर सभी को बड़ा हर्ष हुआ। शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त आने पर सुन्दर ऋतुपुण्य नक्षत्र देख कर बड़ी धूम धाम के साथ भगवान्‌ने कालिन्दी का पाणिग्रहण किया। सम्पूर्ण द्वारकामें आनन्दोत्सव मनाया गया। ब्राह्मणोंको, गायकों को तथा आश्रितोंको दान दिये गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! इस प्रकार भगवान्‌का चौथा विवाह सूर्य कन्या कालिन्दीके साथ हुआ। अब जैसे पाँचवाँ विवाह हुआ उसका वृत्तान्त श्रवण कीजिये।"

छप्पय

कृष्णचन्द्र सर्वज्ञ जानि ताकी अभिलाषा।
अर्जुन तें बुलवाय पूर्ण कीन्ही तिहि आशा॥
रथ महँ संग बिठाय युधिष्ठिर के ढिग आये।
कालिन्दी रविसुता निरखि सब जन हरषाये॥
आइ द्वारका महँ वरी, भये ब्याह यों चार अब।
छठे पाँचवें ब्याह को, मुनि! वरणौं वृत्तान्त सब॥

———

भगवान्‌का पाँचवाँ और छटा विवाह

(११०५)

राजाधिदेव्यान्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः ।
प्रसह्य हृतवान्कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ५८ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

देश अवन्ति प्रसिद्ध भूप जयसेन वहाँके ।
परम रम्य बन, नगर, शैल, सर दुर्ग तहाँके ॥
हरि फूआको ब्याह भयो जयसेन नृपति तैं ।
बिन्द और अनुबिन्द भये द्वै खल सुत तिनि तैं ॥
सुता मित्र बिन्दा हती, हरिके मन पै चढ़ि गई ।
किन्तु सुयोधन मानिसिख, भाइनि नाहीं करि दई ॥

भगवान् जिसे वरणकर लेते हैं, वह कृत कृत्य हो जाता है। जिसे वे वरण करना चाहते हैं, वही उन्हें प्राप्त भी कर सकता है। प्रभुकी प्राप्तिमें बड़े बड़े विघ्न होते हैं। अन्य लोग ही आकर विघ्न करें सो बात नहीं अपने कहानेवाले भी आकर मार्गमें रोड़े अटकाते हैं। अनेकों बाधायें उपस्थित करते हैं, किन्तु भगवान्

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी फूआ राजाधिदेवीकी पुत्री मित्रविन्दाका सब राजाओं के देखते देखते बलात्कारसे हरण कर लिया।"

उन सब बाधाओंको मेंट देते हैं। वे स्वयं आकर समस्त शत्रुओं-के सिरपर पैर रखकर स्वयं वरण कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके कुन्ती, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी ये पाँच फूआयें थीं। इनमेंसे कुन्तीजीका विवाह तो महाराज पांडुके साथ हुआ ही जिनके पांडव पुत्र थे। श्रुतदेवाका विवाह करूपदेशके राजा वृद्धशर्म्माके साथ हुआ। जिससे महाबल पुत्र दन्तवक्र हुआ जो पूर्वजन्ममें हिरण्याक्ष था। तीसरी फूआ श्रुतकीर्तिका विवाह केकय देशके राजा धृष्टकेतुके साथ हुआ जिससे सन्तर्दन आदि पाँच पुत्र और भद्रा नामकी एक कन्या हुई। चौथी श्रुत-श्रवाका विवाह चेदिदेशके राजा दमघोष के साथ हुआ, जिसका पुत्र शिशुपाल था, जिसके साथ रुक्मिणीजीकी सगाई हुई थी। पाँचवी फूआ राजाधिदेवी थी, उसका विवाह अवन्तीदेश के राजा जयसेनके साथ हुआ। जिनसे विन्द और अनुविन्द दो पुत्र और मित्रविन्दा नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई।

दक्षिण देशका लोकाचार है कि वहाँ मामा और फूफी के लड़का और लड़कियोंमें परस्पर विवाह हो जाता है। यही नहीं फूआका लड़का मामाकी लड़की पर अपना अधिकार समझता है। जब तक बहिनका लड़का मिले तब तक भाई अपनी लड़कीका विवाह दूसरे लड़के से करना उचित नहीं समझता। मामाका लड़का भी अपनी फूआको लड़की से विवाह कर लेता है। अवन्ती-नरेश महाराज जयसेन अपने लड़का लड़कियोंको छोटी ही अव-स्थामें छोड़कर परलोकवासी बन गये। उनके दोनों पुत्र विन्द और अनुविन्द अभी प्राप्तवयस्क भी नहीं हुए थे। इसलिये दुर्योधनने अवन्ति राज्यको अपने अधीनकर लिया था विन्द और अनुविन्दको अपना मण्डलीक राजा बना लिया था। ये दोनों अधिकतर दुर्योधनके ही यहाँ रहकर उसकी

पालन करते थे। इन दोनोंकी छोटी बहिन मित्रविन्दा जब विवाह के योग्य हुई, तो उसने अपने मामा वसुदेवजी के पुत्र श्रीकृष्ण-चन्द्रके दर्शन किये। उनके रूप लावण्य को देखकर मित्रविन्दाने मन ही मन उन्हें आत्मसमर्पणकर दिया। वह नित्य यही भगवान्से प्रार्थना करती—कि भगवान् वासुदेव ही मेरे पति हों।"

भगवान् तो अन्तर्यामी हैं। सबके घट घटकी बात जाननेवाले हैं। मित्रविन्दाके स्नेहको समझकर उन्होंने भी मन ही मन उसे वरणकर लिया। अंगोंमें लगा इत्र और मनमें उत्पन्न प्रेम छिपानेसे छिपता नहीं। यह बात सर्वत्र फैल गई कि भगवान् मित्रविन्दाके साथ विवाह करना चाहते हैं। मित्रविन्दा इतनी सुन्दरी थी कि जिसकी उपमा किसीसे दी ही नहीं जा सकती। दुर्योधन चाहता था। मैं इसके साथ विवाह करूँ। इसलिये उसने विन्द और अनुविन्दसे कह दिया—"देखो, तुम अपनी बहिनका स्वयंवर करो उसमें वह श्रीकृष्णको कभी भी वरण न करे। इस बातको कह देना और उसे डाँट डपटकर मनाकर देना।"

विन्द अनुविन्द उसके अभिप्रायको समझ गये उन्होंने भी सोचा—"दुर्योधन राजा है, अच्छा है हमारी बहिनका विवाह उसीके साथ हो जाय।" ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपनी बहिनसे बलपूर्वक कह दिया कि वह स्वयम्बरमें दुर्योधनको ही वरण करे, श्रीकृष्णको कभी भी वरण न करे।"

यह बात मित्रविन्दा के मनमें न बैठी। वह तो प्रथम ही अपना सर्वस्व श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में अर्पणकर चुकी थी। वह प्राण रहते अन्य किसीको वरणकर नहीं सकती थी, साथ ही वह अपने भाइयों की आज्ञाको भी उल्लंघन नहीं कर सकती थी। अतः वह बड़े धर्म संकटमें पड़ी और मन ही मन भगवान्से प्रार्थना करने लगी। भगवान् उसकी प्रार्थनाको सुनी—

कार करके स्वयम्वरमें गये। वह स्वयम्वर तो एक नाम मात्रका था, पहिलेसे ही निश्चय था कि मित्रविन्दाका विवाह दुर्योधनके साथ होगा। अतः उसके पक्षपाती बहुत से राजा सैन्य सजाकर आये थे। इधर भगवान् भी अपने दिव्यरथमें बैठकर अवन्ति—पुरीमें गये। सब राजा भगवान्‌को देखकर सचेत हो गये और आपसमें कहने लगे—"आ गया स्त्रियोंको भगा ले जानेवाला। यह शिशुपालकी स्त्रीको बलपूर्वक उठा लाया। शतधन्वाके साथ सत्यभामाकी सगाई हो गई थी, उसे अपनी स्त्री बना लिया। अब यहाँ भी यह इसी ताड़में आया होगा। इसकी इच्छा पूरी न होने पावे। यह कहकर सभी अस्त्र शस्त्र लेकर सावधान हो गये। भगवान् तो आये ही इसीलिए थे। वे भी ताड़ लगाने लगे।

दूसरे दिन जब मित्रविन्दा जयमाला लेकर निकली तो भगवान्‌ने उसे तुरन्त पकड़ लिया और रथपर बिठाकर यह गये वह गये। सब राजा देखतेके देखते ही रह गये, किसीकी कुछ चली नहीं। भगवान्‌को कोई पकड़ ही न सका, फिर लड़नेकी बात तो पृथक् रही। द्वारकामें आकर मित्रविन्दाके साथ भगवान्‌ने विधि विधानपूर्वक विवाह किया।

यह समाचार भगवान्‌की तीसरी फूआ श्रुतकीर्तिकी पुत्री अनुरक्त थी, यह सुनकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई कि भगवान् भद्राने सुना। वह भी भगवान् के अनुपम रूपको देखकर उनपर अब अपनी फूआओंकी लड़कियोंसे भी विवाह करने लगे हैं। यदि कोई स्वेच्छा से नहीं देता, तो बलपूर्वक हरकर भी ले जाते हैं। जब यहबात उसके सन्तर्दनादि भाइयोंको विदित हुई, तो होंने सोचा—"भगवान् तो सत्य संकल्प हैं, वे भक्त वत्सल हैं। जब हमारी बहिन उन्हें वरण करना चाहती है और भगवान्‌की भी इच्छा है, तो इसे अन्यथा कौन कर सकता है। हम प्रसन्नता—

पूर्वक न देंगे,तो भगवान् बलपूर्वक कन्याका अपहरणकरले जायँगे। अतः ऐसा अवसर ही क्यों आने दिया जाय,हम प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ स्वयं ही अपनी बहिनका विवाह क्यों न कर दें। इसमें हमारी भी प्रतिष्ठा रह जायगी, भगवान्का भी स्वागत सत्कार तथा सम्मान हो जायगा।,, यह सोचकर उन्होंने बड़े आदरपूर्वक पोली चिट्ठी भेजकर भगवान्को केकयदेशमें बुलाया। भगवान् भी बरात लेकर बड़ी धूमधामसे सिरपर मौर बाँधकर—दूल्हा बनकर—पहुँच गये। समस्त केकयदेशवासी पुरुषोंने उनका अत्यधिक आदर सत्कार किया। शुभ मुहूर्त और शुभ लग्नमें भद्राके साथ भगवान्का विवाह हो गया। इस प्रकार रुक्मिणी-जी जाम्बवतीजी, सत्यभामाजी, कालिन्दी, मित्राविन्दा और भद्रा ये छै भगवान्की पटरानियाँ हो गईं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने भगवान्के छै विवाहोंका वृत्तान्त आपको सुनाया। अब जिस प्रकार उनका सातवाँ विवाह हुआ उसे और आप सब श्रद्धा सहित श्रवण करें।

छप्पय

गये स्वयम्बर माँहि डरयो सुनिकें दुर्योधन।
कन्या लै हरि भगे लखे बिस्मित ह्वै नृपगन॥
बिधिवत् करयो विवाह भई वो पंचम रानी।
ज्यो भद्रा संग ब्याह भयो सो कहूँ कहानी॥
भद्रा फूआकी सुता, केकय नृप तनया सुघर।
भाइनि दीन्हीं मुदितमन, स्वीकारी तब गदाधर॥

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

पञ्चम संस्करण

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्षका एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्व—श्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, औजस्विता निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३४५ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल २·७५ दो रुपया पचहत्तर पैसा है, शीघ्र मँगाइये।

मतवाली मीरा

चतुर्थ संस्करण

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा। उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढंग से आलोचना की है, भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या, प्रेम के निगूढ़ तत्त्व को मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन बेटियों माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढंग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गयी। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २) दो रुपये मात्र हैं। मीराबाई का जहर का प्याला लिये चित्र बड़ा कला-पूर्ण है।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरिः ॥

[ब्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य पाठ के योग्य अनुपम महाकाव्य]

श्रीभागवतचरित

(रचयिता—श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिंदुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषा में रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी; जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागों में विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल, सरस तथा प्रांजल छन्दों में गाया गया है। अब तक इस ग्रंथ के चार संस्करण में बीस हजार प्रतियाँ छपी थीं, जो थोड़े ही दिनों में हाथों हाथ निकल गयीं सैकड़ों नर नारी इसे बहुत रुचि के साथ नित्य नियम से पाठ करते हैं। कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पंडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ की पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ों सादे एक रंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़े की टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उस पर रंगीन कवर पृष्ठ है। बाजार में ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधारें। [illegible] पाँच रुपया पच्चीस पैसा [illegible] पुस्तक की टीका को दो [illegible] में प्रकाशित हो चुकी है। [illegible] रुपया पचीस पैसा डाकव्यय पृथक्।

[illegible] भवन, श्रीकृष्णनगर, (झूसी) प्रयाग

([illegible] वृन्दावन

श्रीभागवत—दर्शन

भागवती कथा

(अड़तालीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:※:—

लेखक:—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर, झूसी (प्रयाग)
संशोधित मूल्य २-०० रुपया

द्वितीय संस्करण] चैत्र, सं० २०२४ वि० [मूल्य १) ६५

मुद्रक—संकीर्तन प्रेस, वंशीवट वृन्दावन ।

विषय—सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	धर्म और राजनीति (भूमिका) १ से २४ तक	
११०६	—भगवान् का सप्तम विवाह ...	१
११०७	—भगवान् का अष्टम विवाह ...	१०
११०८	—भौमासुर के उत्पात ...	२१
११०९	—भौमासुर के पुर में प्रभु का प्रवेश और उसका वध	३४
१११०	—वन्दिनी कन्याओं का उद्धार तथा इन्द्र भवन गमन	४१
१११११	—इन्द्र का भगवान् के साथ युद्ध ...	५५
१११२	—सोलह सहस्र कन्याओं के साथ विवाह ...	६३
१११३	—प्रद्युम्नजी की कथा ...	६९
१११४	—प्रद्युम्नजी के आने से द्वारका में आनन्द ...	७६
१११५	—आठ पटरानियों की सन्तति और प्रद्युम्न विवाह	८३
१११६	—अनिरुद्ध विवाह और रुक्मी वध ...	९०
१११७	—भगवान् का रुक्मिणीजी से विनोद ...	१०९
१११८	—भगवान्की विनोदकी बातोंका रुक्मिणी द्वाराउत्तर	११३
१११९	—भगवान् का रुक्मिणीजी को आश्वासन ...	१२६
११२०	—श्रीकृष्ण सत्यभामा सम्वाद ...	१३४
११२१	—अनिरुद्ध और ऊषा ...	१५२
११२२	—चित्रलेखा द्वारा अनिरुद्धजी को उड़ालाना ...	१६३
११२३	—बाणासुर द्वारा अनिरुद्धजी का बन्धन ...	१७२
११२४	—बाणासुर के लिये हर का हरि से युद्ध ...	१७९
११२५	—अनिरुद्ध ऊषा चरित की समाप्ति ...	१८८
११२६	—नृगोद्धार की कथा ...	१९४

॥ श्रीहरिः ॥

धर्म और राजनीति

(भूमिका)

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्,
सेवस्व साधु पुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा,
सेवा कथा रसमहो नितरां पिब त्वम् ॥

(श्री भा० मा० ४ अ० ७६ श्लोक)

छप्पय

जे जगके ब्योहार कपट, छल, दम्भ सिखावें।
पद अधिकार निमित्त मनुज नित पाप कमावें॥
राज हेतु बंध द्रोह करें राजा बनि जावें।
जग विषयनि कूं पाइ शान्ति नर कबहुं न पावें॥
क्यों भूल्यो रे बावरे, हरि-पद सत मिथ्या जगत्।
कृष्ण ध्यान करि, कृष्ण रटि, कृष्णकथा सुनि खल सतत॥

❀ धर्म का आचरण करो, लोक धर्मों को छोड़ दो, साधु पुरुषों की सदा सेवा करो, काम तृष्णा को त्याग दो। अविलम्ब अन्यों के दोष गुणों की चिन्तना छोड़कर एक मात्र भगवत् सेवा और कथा का रसपान किया करो।

राजनीति को चाहे जैसे धर्मपूर्वक बरता जाय, उसमें कटुता आ ही जाती है। यह पद, प्रतिष्ठा और पैसा की कामनो कितनी भी निस्पृहता के साथ की जाय, तो भी कुछ न कुछ दोष आ ही जाते हैं। हमारे यहाँ सदा से धर्म और राजनीति समन्वय की चेष्टा की गयी है, बहुत अंशों में समन्वय हुआ है, फिर भी राजनीति राजनीति ही है। इसे वारांगना उपमा दी गयी है। राजा की शोभा तथा प्रशंसा तभी तक है, जब तक वह अपने को राजा न समझकर धर्म रक्षक समझे। अपने को स्वतन्त्र न समझकर प्रजा के अधीन समझे। जहाँ उसे राजापने का अभिमान हुआ तहाँ वह धर्म से च्युत हो जाता है, जो स्वयं धर्म च्युत है वह धर्मकी रक्षा क्या करेगा। वह प्रजा में आतंक फैलायेगा। पहिले प्रजा उसे धर्म रक्षक समझकर हृदय से मानती और पूजती थी। अब जब वह प्रभुता के मद में अपने को श्रेष्ठ समझने लगा, तो जनता भयवश भले ही उसका आदर करे, हृदय में उसके प्रति सम्मान नही रहता।

प्रभुता की आकांक्षा प्राणी मात्र में स्वाभाविक है, क्योंकि आत्मा तो विभु प्रभु सब ही है। कौन चाहेगा हम छोटे बने रहें। बड़ा बनना सभी चाहते हैं। मैंने छोटे छोटे बालको को अपने छोटे भाई बहिनोंपर शासन करते देखा है। बड़े बननेकी कामना सबमें होती है। जो कुछ लोगों को अपनी इच्छा के ऊपर नचाता है वही राजा है, वही गुरू है। उसे प्रधान, शासक, नेता, नरपति, संघपति कुछ भी कहलो। जब एक पदकी इच्छा अनेक व्यक्ति करते हैं। तो उनमें संघर्ष होता ही है। संघर्ष में राग, द्वेष, झूठ सच, ईर्ष्या, निन्दा, मिथ्या प्रचार सभी होता है। इसीलिये राज्य के लिये लोग माता, पिता, भाई तथा सगे सम्बन्धियों की हत्या तक कर देते हैं। इसीलिये धर्म प्रधान ब्राह्मणगण राजपाट तथा शासन से सदा दूर ही रहते थे। वनमें

तपस्या करके धर्ममय जीवन बिताने वाले ऋषिमुनि कभी राजनीति के चक्कर में नहीं पड़ते थे। वे त्यागमय जीवन बिता कर कंद मूल फल खाकर भगवान् के भजन में ही लीन रहते थे। किन्तु उन्हें रहना तो संसार में ही है। संसार में अशांतिमय वायु मण्डल हो जाय तो वे शांतिलाभ कैसे कर सकते हैं, भजन कैसे हो सकता है। यदि शासन की बागडोर स्वार्थियों के हाथ मे आ जाय, तो प्रजा का कल्याण कैसे हो सकता है, अतः ऋषिमुनि अपने त्याग, तप तथा धर्मके बल पर राजाओंके ऊपर भी अंकुश रखते थे, वे अन्यायी राजा को राज्यसे पृथक् भी कर सकते थे। उन्होंने एक नियम बना लिया। प्रजा के लिये विधान तो संसारी भोगों से विरत त्यागी विरागी मुनि बनावें और उन्हें कार्यरूपमें परिणत शासक राजा करें। यही राजनीति और धर्मका समन्वय था, किन्तु यह बहुत दिन चलता नही। क्योंकि जिसके हाथ में शासन रहता है वह किसी का अंकुश अपने ऊपर चाहता नही। निरंकुश होना चाहता है। इसलिये विचारकोंमें जहाँ धर्म भावना न्यून हो जाती है, उनका तप तेज घट जाता है, तहाँ शासक निरंकुश हो जाता है। अनर्थ होता है लड़ाई झगड़े होते हैं। स्वर्ग का राजा इन्द्र जब अपने ऊपर बृहस्पति जी का अंकुश मानने को तैयार न हुआ तो उसे ब्रह्महत्या लगी। विद्वान् विचारक धर्मात्मा ब्राह्मण का अपमान करना उसे कष्ट पहुँचाना उसे मार देना यही ब्रह्महत्या है। इन्द्र अपने पद से च्युत हो गया। बड़े बड़े ज्ञानी ऋषि थे फिर भी इन्द्रासन की बागडोर स्वयं उन्होंने लेनी नहीं चाही धर्मात्मा नहुष को-जो पृथिवी का राजा था—इन्द्र बना दिया। अकस्मात् बहुत बड़ा पद पाकर वह भी निरंकुश होगया। ऋषियों से पालकी उठवाने लगा वह भी व्यभिचार के लिये। ऋषियोंने मिलकर उसे भी पदच्युत किया। इतने दिनमें इन्द्रका गर्व भी खर्व हो गया। उसे अपनी यथार्थ स्थिति विदित होगयी,

फिर उसे देवराज के पदपर प्रतिष्ठित कर दिया। सारांश यह है कि इस संसार का शासन ब्रह्मक्षत्र दो शक्तियों के समन्वय से चलता है–त्याग और भोग के बीच का मार्ग है। न केवल त्यागी का काम है न केवल भोगी का। दोनों अपनी शक्ति जुटादें एक दूसरेका आदर सत्कार करें तब धर्म राज्य चल सकता है। पहिले राजागण ऋषियों का कितना आदर करते थे, एक ऋषिके आने पर बड़े बड़े सम्राट् काँप जाते थे। साष्टांग प्रणाम करके उनके चरण धोते पूजा करते। ऋषि भी राजाओं का कितना आदर करते अष्टलोक पालोंका उन्हें अंश कहते। साक्षात् विष्णु मानकर सिंहासनासीन राजा की स्तुति करते। तब यह देश सब समृद्धि युक्त था यहाँ धर्म का राज्य था। शासक या राजा का धर्मात्मा होना अत्यावश्यक है, वह शासन सदुद्देश्य से प्रवृत्त हो। वह केवल स्वार्थ सिद्धि के ही लिये शासक न बनें।

एक बात और है राजनीतिमें मान सम्मान या नामकी इच्छा रहती है। जो सम्मानित न होगा वह देश की सेवा कर ही नय सकता है। जिसका दूर दूर तक नाम न होगा उसके प्रभाव को कौन मानेगा। दो भाँति के कार्य होते है एक तो इहलौकिक व्यवहार कार्य दूसरे पारलौकिक आध्यात्मिक कार्य, आध्यात्मिक कार्योंमें तो मान सम्माककी इच्छा रखना दोष है, किन्तु लौकिक कार्योंमें तो ये गुण हैं। सज्जनोंके जहाँ गुण बताये हैं उनमें सम्मान की रक्षा करना दशों दिशाओं में अपनी कीर्ति का प्रकाश करना इन पर बल दिया गया। उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं। अधम पुरुष तो वे हैं जो धन को ही आगे रख कर शासनमें प्रवेश करते हैं, कि वहाँ जायेंगे तो इतना पैसा पैदा करलेंगे। उनकी दृष्टि धर्म पर न रहकर पैसा पर रहती है। आज कल शासक पैसे लेकर कैसे कैसे घृणित कार्य करते है यह बड़ी नीचता है। मध्यम पुरुष वे होते हैं जो धन भी चाहते हैं

किन्तु सम्मान पूर्वक। जो सदाचार हीन है उसका सम्मान तो समाजमें होगा ही नहीं ऐसे लोगों का जो सम्मान करते हैं वे या तो लोभवश या भय वश। इसलिये मान सहित धनकी कामना भी बहुत अच्छी नही। उत्तम पुरुष उनको बताया है जो केवल अपनी कीर्ति को विमल करने को-मान सम्मान की वृद्धि के लिये-धर्म पूर्वक कार्य करते है। क्योंकि बड़े लोगों का सम्मान ही धन है। कविका, शासक का, विद्वान का, धर्मपत्नी का तथा अतिथि आदि का सम्मान न हो तो इनका मन मर जायेगा। ये सम्मान के पात्र हैं। किन्तु झूठ बोलकर सदाचार को छोड़कर जो मान चाहता है वह चाहे साक्षात् ब्रह्मा भी क्यों न हो अपूज्य बन जाता है। पुराणों में इस सन्बन्ध में एक बड़ी रोचक कथा आती है। एक बार विष्णु भगवान् और ब्रह्माजी में झगड़ा हो गया। वे कहें हम बड़े वे कहें हम बड़े। उसी समय दोनों के बीच में एक ज्योतिर्मय शिवलिंग प्रकट हो गये जिनका न आदि था न अन्त था। बात तय यह हुई कि जो इस ज्योति का पता लगाले वही सब से बड़ा माना जाय। भगवान विष्णु सूकरका रूप बनाकर नीचे गये। हंस बनकर ब्रह्माजी ऊपर गये। किन्तु जो अनादि अनंत है उसका कोई पता क्या लगा सकता है। विष्णु भगवान् पता न लगा सके लौट आये। अब ब्रह्माजी ऊपर उड़ते उड़ते थक गये। ऊपर एक केतकी का फूल मिला उससे पूछा—"भैया, इस ज्योति का अंत खोजने मैं चला हूं, मैं तो उड़ते उड़ते थक गया। तुम्हें पता है इसका अंत कहाँ तक है?" हँसकर केतकी पुष्पने कहा—"महाराज! अभीसे आप थक गये। इसके अंत की कोई सीमा नहीं।'

यह सुनकर ब्रह्माजी घबड़ा गये। अरे, इसका पता न चला तो मेरा सम्मान चला जायगा। अतः उनके मनमें छल आया केतकी को मिथ्यासाक्षी बनाकर लौट आये और कह दिया मैं

पता लगा आया। पीछे बात खुल गयी ब्रह्माजी को शाप हुआ कि तुम संसार में अपूज्य हो जाओ। इसीलिये आप देखते हैं। सर्वत्र भगवान् शकर के विष्णु के, मंदिर है। अपने घर पुष्कर को छोड़कर ब्रह्माजी का कही मंदिर नही।

कहने का सारांश इतना ही है कि आदमी कितना भी बड़ा क्यों न हो यदि वह अपने मान सम्मान की रक्षा के लिये छल कपट का आ-य लेता है, तो जनता की आस्था उससे हट जाती है। जिसे संसार मे रहना है वह संसारकी ओर से आंख तो मींच न लेगा संसार की स्थिति का उस पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है, अतः उसे समाज की कुछ न कुछ सेवा करने को विवश होना पड़ता है। राजा की नीतिमें अपना सहयोग देना यही राजनीति है। ग्रन्थ लिखना,शिक्षा प्रचार करना, धर्म सदाचार का प्रसार, करना,शासकों की गति विधिपर दृष्टि रखना,शासनमें क्रियात्मक रूप से भाग लेना ये ही सब राजनैतिक कार्य है और इनसे कोई विरला ही बच सकता है। राजा की उत्पत्ति ही कलहके कारण हुई है अतः राजनीति में कलह स्वाभाविक है।

आदि सत्ययुगमे कोई राजा नही होता था,सब बिना घर बार के रहते। वे पूर्ण ज्ञानी थे, सब धर्म पूर्वक आचरण करते थे। सभी भगवान् के ध्यान में मग्न रहते। काल के प्रभाव से कुछ लोगों में स्वार्थ भावना आयी। पहिले न कोई वस्त्र पहिनता था, न घर बनाता था न कोई वस्तु रखता था। पेड़ों के नीचे रहते फल खाते, भगवान् का ध्यान करते। समय पाकर कुछ लोगों का ज्ञान कम हुआ उनमें अज्ञान आने लगा। अज्ञान अविश्वास हुआ। अविश्वास से आगे की चिंता उत्पन्न हुई। आगे की चिंता से संग्रह की इच्छा हुई। कुछ लोग सोचने लगे यदि हमें कल फल न मिले तो कैसे शरीर निर्वाह होगा। शरीर को बनाये रखने की चिंता ही अज्ञान है, भौतिकता है। कुछ

लोग कल के लिये फल रखने लगे । प्राणी तो भाव मय है जैसी भावना करता है वैसा हो जाता है । जिन लोगों ने कल के लिये संग्रह किया, उनको ऐसा हुआ कि यथार्थ में कल को भोजन नही मिला । उन्हें अपनी दूरदर्शिता पर गर्व हुआ । देखो हमने कितनी दूर की बात सोच ली । यदि हम सग्रह न करते तो आज भूखे ही रहना पड़ता । अपने इस अज्ञान का उन्होंने दूसरों में प्रचार किया । दूसरों का मन फिर गया । अब एक के स्थान में दो दिन को रखने लगे फिर सुखाकर रखने लगे । फिर बीज संग्रह करने लगे । घर बनाने लगे, जाडे को कपड़े बनाने लगे । पूरे अज्ञानी बन गये, लड़ने लगे उनमें जो संग्रह से बचे रहे त्यागी बने रहे उन्हें चिंता हुई कि ये संग्रही अज्ञानी तो इस देह की रक्षा के लिये आपस में कट मरेंगे । उन सब ज्ञानी ऋषियों ने मनुजी से प्रार्थना की कि आप इन सबके राजा बन जाओ । इनका न्याय किया करो । कुछ नियम बना दो । वे ही मनु आदि राजा हुये, उनके नियम ही "मनुस्मृति" हुई । वर्तमान मनुस्मृति उस बड़ी मनुस्मृति में से कुछ संग्रह मात्र है । फिर अन्य त्यागी मुनियों ने भी स्मृतियाँ बनायी ।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि इस राजनीति की उत्पत्ति कलह के ही कारण हुई है । संग्रह ही इसकी उत्पत्ति में कारण है अतः राजनीति में कलह होगी ही । इससे जो डरे वह राज-नीति में पैर न रखे । कलह होना, मतभेद होना एक दूसरे के मत का खंडन करना राजनीति में दूषण नहीं भूषण है । किन्तु जब स्वार्थ सिद्धि के लिये अधर्म अन्याय का आश्रय लिया जाता है तो कहते तो उसे राजनीति ही हैं, किन्तु वह कूटनीति बन जाती है और अधर्म प्रधान देशों में कलियुग जैसे काल में इसी का बोल बाला होता है । अतः अन्य महानुभाव इस प्रकार राजनीति से दूर रहना चाहते हैं । उनके यहाँ राजा

शासन की बागडोर अपने हाथ में ले लेना यह जीवन का परम-लक्ष्य नहीं है। यह तो कर्तव्य पालन है। चरमलक्ष्य तो भगवान् को प्राप्त करना है। इसीलिये सभी धर्मात्मा राजागण अन्त में राजपाट छोड़कर वन में त्याग और तप मय जीवन बिताने चले जाते थे। वे राज की चिंता करते करते मरने को पाप समझते थे। अनन्य भगवत् भक्त तो जहाँ तक होता सेवा पूजा कथा कीर्तन को छोड़कर इन राजनैतिक पचड़ो से दूर रहना चाहते हैं। बड़े बड़े भगवत् भक्त राजा भी हुए हैं, किन्तु अपना सर्वस्व भगवान् को समर्पित करके वे अनन्य उपासना करने चले गये हैं या निरन्तर भगवत् चिंतन में ही लीन रहे हैं। अनन्य भगवत भक्तों का कहना है इस संपूर्ण विश्व के कर्ता धर्ता हर्ता भर्ता और संहर्ता श्रीहरि हैं। वे क्या करना चाहते है इसे बड़े बड़े योगेश्वर भी नहीं जान सकते। तो देखो तुम "इस संसार को स्वर्ग बनावेंगे यों लोगों का उद्धार करेंगे" इस चक्कर में ही मत पड़ो। करने कराने वाले वे हरि ही है। वे जिसे चाहें राजा बनावें जिसे चाहें शासक बनावें। वे जो करेंगे उचित ही करेंगे। कर्तापन उन्हीं को सौंप दो। एक आदमी घर बनाता है वह भी उसकी देख रेख करता है, इस जगत् को तो भगवान् ने बनाया है, उनका नाम विश्वम्भर है। वे अपनी बनायी वस्तु की उपेक्षा नही कर सकते। उन्हें जो उचित जँचेगा वह करेंगे। तुम बीच में टाँग क्यों अड़ाते हो। तुम कर्त्तापने का अभिमान करके अपना पतन क्यों करते हो। तुम तो अपना सब कुछ उन पर छोड़ दो। सब चिंताओं से मुक्त होकर भगवान् की सेवा करो, उन्हीं की कथा सुनो, उन्ही के नामों का कीर्तन करो। दुख सुख में सदा सम रहो। जो हो रहा है भगवान् की प्रेरणा से हो रहा है उचित ही हो रहा है। माली स्वयं बीज बोता है पेड़ उगाता है। फिर आवश्यकता समझता है कुछ को काट देता है। कुछ को

उखाड़ कर फेंक देता है। कुछ पत्तों को एकत्रित करके जला देता है। तुम माली तो हो नहीं, दर्शक हो। तुम चिन्ता करो कि इतनी फूलीं लता मालीने क्यों काट दी। इतने आम के पौधे एक साथ उगे थे सबको उखाड़ कर माली ने क्यों फेंक दिया, तो यह तुम्हारी मूर्खता ही होगी तुम चिंता करोगे भी तो उसका परिणाम क्या होगा। माली तो अपना काम करेगा ही। इसलिये तुम माली के कामों को उसी को करने दो। तुम तो उसकी लगाई फुलवारी को देखो और आनंद करो। हँसो पेट भर कर हँसो, फूलो से प्यार करो। पेड़ों के जो रसीले फल मिलें उन्हें खाओ। माली कोई काम करने को बतावे तो उस की इच्छानुसार काम कर दो।"

इसी बात को ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा है।*

एक बात और भगवान् ने जैसी जिसकी प्रकृति बना दी है, जिसे जिस काम को करने को नियुक्त किया है वह करेगा' यदि अहंकार के वशीभूत होकर वह उससे भागना चाहे भी तो भाग नहीं सकता। प्रकृति उसे सर्वत्र से पकड़ कर ले आवेगी और उसे उस काम में नियुक्त करके छोड़ेगी। देखो यह प्राणी कितना परवश है, फिर भी यह जीव कितना अभिमान करता है, कि मैं यह करूँगा वह करूँगा। सब उन जगन्नियन्ता श्रीहरि के खिलौने है। यह इतनी तो मेरी भूमिका हुई अब मैं यथार्थ विषय पर आता हूँ।

---

*विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भव हेतुराद्यो।
योगेश्वरैरपि दुरत्यय योग मायः॥
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश—
स्तत्रास्मदीय विमृशेन कियानिहार्थः॥
(श्री भा० ३ स्क० १६ अ० ३७ श्लो०)

मेरी प्रवृत्ति पारमार्थिक कार्यों में लगे इसके लिये मैंने कोई प्रयत्न नहीं किया। बाल्यकाल से ही मेरी प्रवृत्ति इधर भगवान के कार्यों में लग गयी। बहुत ही छोटी अवस्था से पूर्व जन्मों के संस्कार वश मैं अपने आप ठाकुर पूजा आदि करने लगा। देहात से जब नगर में आया तब कुछ राजनैतिक कार्यों में भी भाग लेने लगा कहावत है, "गुणः गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः गुणज्ञ पुरुषों में भले आदमियों, सत्पात्रों में ही जब गुण रहें तो वे गुण भी दोष हो जाते है। इस विषय में कविने बड़ा सुंदर दृष्टांत दिया जैसे वर्षा का जल है, बड़ा सुंदर स्वच्छ और स्वास्थ वर्धक है। यदि वह समुद्र में गिरता है, तो खारी अपेय बन जाता है, वही यदि गंगा जी में गिरता है, तो सुंदर पेय परमपावन और पूज्य हो जाता है। एक ही वस्तु सुपात्र तथा कुपात्र के समीप जाने से बुरी यथा भली हो जाती हैं। राजनीति जब तक पृथु, पुरुरवा, गाधि, भरत, मान्धाता सगर, रघु, राम, युधिष्ठिर तथा अन्यान्य धर्मात्माओं के आश्रय से रही तब तक वह अच्छी तथा सम्मानित मानी जाती थी, जब यह कलियुगी क्रूर राजाओं के पल्ले पड़ गयी, तबसे तो इसकी दुर्गति हो गई। त्याग तपस्या की शक्ति के बिना केवल शस्त्र के बल पर शांति नहीं हो सकती वसुन्धरा को यद्यपि वीर भोग्या कहा है। जिस राष्ट्र के समीप सैनिक शक्ति न होगी, इसके रक्षको की बाहुओं में बल न होगा, वह राष्ट्र की रक्षा कर ही कैसे सकता है, किन्तु बाहुबल के साथसाथ बुद्धिबल, धर्मबल, तथा त्याग तप का भी बल अत्यावश्यक है।

आज की राजनीति बड़ी दूषित हो गयी है। इसमें न तो बाहुबल की प्रधानता है न धर्मबल की। इसमें तो छल, कपट, दम्भ तथा मिथ्या प्रचारका बोल बाला है। जो इन कामो में

जतना ही निपुण होगा विजयका खेत उसी के हाथ रहेगा । तदान पहिले हमारे यहाँ भी होता था, किन्तु वर्तमान मतदान ी प्रणाली सर्वथा अभारतीय और दूषित है । इसके द्वारा बहुमत ा निर्णय किसी भी प्रकार नही हो सकता । जनता कुछ चाहती ह निर्णय कुछ हो जाता ।

; हमारे यहां अपने गुण का स्वयं बखान करना तथा दूसरों के ोषों को प्रकट करना सबसे बड़ा पाप है । अपने आप अपनी शंसा करना मृत्यु के सदृश है और जो दूसरों के अवगुणों का खान करता फिरता है उसे बडा पाप लगता है । आजकल के चुनाव मे यही होता है मैं ऐसा हूं, मैंने यह किया वह किया । ेरा प्रति द्वंदी निर्गुण है उसमें ये ये दोष है । ये बाते प्रत्येक चुनाव लड़ने वाले को कहनी पडती है, चाहे सीधे कहे चाहे घुमा फिरा कर कहे चाहे दूसरोंसे कहलावें इसके बिना निस्तार नहीं ।

अबके चुनावमे मै भी खड़ा हुआ था । खड़ा हुआ था भारत के प्रधान मत्री तथा अखिल भारतवर्षीय राजनैतिक संघ (कांग्रेस) के अध्यक्ष के विरुद्ध । मै सदस्य बननेके लिये नहीं एक धार्मिक प्रश्नको लेकर खड़ा हुआ था । सोचा मैंने यह था, कि इस चुनावमें विशुद्ध धर्मका आचरण करूँगा, अपनी ओर से कोई अनैतिकता न बरतूँगा । पहिले तो मैंने सोचा था, कि मैं इसके लिये न किसी से पैसे माँगूँगा और न मत (वोट) माँगने कही जाऊँगा । किन्तु ये दोनों बातें चली नही । प्रत्यक्ष शब्दों द्वारा मुखसे तो न भी माँगे हों, किन्तु मनसे, संकेत से आचरणसे, दूसरो द्वारा इनकी याचना किसी न किसी रूप में करनी पड़ी मैं मुखसे भगवान् का नाम, भगवान् के चरित बोलता हूँ, व्योहार की बातें लिखकर ही करता हूँ । इस चुनावके लिये मैंने २४ पृष्ठकी एक छोटी सी पुस्तिका "हिन्दुकोडबिल और नेहरूजी" नामक लिखी । जिसकी एक लाखसे कुछ ही

कम प्रतियां निकलीं । जनता ने उस पुस्तिका की बहुत ही सराहनाकी । विपक्षसे उसके विरुद्धमें कई पुस्तकें बहुतसे विज्ञापन निकले । तीन पुस्तक विपक्षकी मुझे देखनेको मिलीं । एक तो "धर्मकी आड़में ब्रह्मचारीजीका मिथ्या प्रचार" दूसर "हिन्दुकोड और नेहरूजी" तीसरी हिन्दुओंकी रीति रिवाज" पहिले पुस्तक में कोई तत्व नहीं था । वह तो अथसे इति तक गालियों से ही भरी थी । उसमें मुझे ही नहीं राम, कृष्ण, पांडव, श्रीमद्भागवत सभीको कोसा गया था । उस पुस्तक का तो उल्लेख करना ही पाप है । दूसरी पुस्तकमें कुछ विवेचन था और तीसरी तो उत्तर प्रदेशीय कांग्रेसने ही निकाली गंभीर थी और उसमें अपने पक्षका सभ्य शब्दोंमे समर्थन था । और भी बहुत सी निकली होंगी किन्तु वे मेरी दृष्टिगोचर नही । सबका सारांश यही था कि ब्रह्मचारीजी हिन्दु कोडके सम्बन्धमें मिथ्या प्रचार कर रहे है लोगोंको असत्य बाते कह कर भड़का रहे है ।"

जनताको भड़काना तो मैं चाहता ही था, किन्तु मैंने अपनी पुस्तिकामें मिथ्या बात कौनसी लिखी यह मैं नही समझ सका मैंने वक्तव्य निकाल कर पत्रोंमें लिखित भाषण छपा कर सबको इस बातकी चुनौती दी, कि यदि मेरी पुस्तक में एक भी बात असत्य अथवा अतिरंजित हो तो मैं सार्वजनिक रूप से क्षमा मांगने को उद्यत हूँ । किन्तु उस प्रचार के प्रवाह में गंभीरता पूर्वक सोचकर उत्तर देने की प्रवृत्ति भला किसमें थी, किसी ने भी मेरी भलों को नही बताया ।

अमेरिका से एक साप्ताहिक पत्र निकलता है, उसका नाम है "टाइम" वह बड़ा व्यापक पत्र है सुनते हैं उसके तीस लाख ग्राहक हैं । वह अन्तर्राष्ट्रीय पत्र माना जाता है उसके एक प्रतिनिधि मेरे यहां आये । उन्हें मेरे चुनाव के सम्बन्ध में अपने

पत्रमें एक लेख लिखना था। उसी के अध्ययनके निमित्त वे आये थे। ये विदेशी पत्रकार एक एक लेख पर कितना द्रव्य व्यय करते हैं, कैसी लगन से कार्य करते हैं यह कितने आश्चर्य की बात है। वे सज्जन टावन कोर मदरास की ओर के थे। हिन्दी वे बहुत ही कम—नही के बराबर—जानते थे। तीन दिन वे मेरे संपर्क में रहे। उन्होंने हिन्दी अंगरेजी कोष की सहायता से वह २३-२४ पृष्ठकी मेरी पुस्तक १२-१४घंटेमें स्वयं ही पढी। किसी से उसका अंगरेजी अनुवाद नहीं कराया। पूरा एक दिन उन्हें उस पुस्तकके पढनेमे लगा। दूसरे दिन वे मेरे साथ मछली शहर बादशाहपुरीकी ओर भी यह देखने गये कि मै प्रचार कैसे करता हूँ। मार्गमें मैंने पूछा-"क्या आपने मेरी पुस्तिका आदिसे अन्त तक पढी ?"

उन्होने कहा—'हाँ पढी।"

मुझे बडी उत्सुकता हुई। यह व्यक्ति तो चुनाव चख चखमें नही है। इसे किसीका पक्ष भी नही लेना है। यह जो आलोचना करेगा तटस्थ व्यक्तिकी भाँति करेगा। उससे अपनी भूलों का ज्ञान हो सकेगा। इसी लिये मैंने —"क्या मैंने उसमें कुछ मिथ्या बातें लिखी हैं ?"

उन्होंने कहा—"हाँ लिखी है।"

मेरी उत्सुकता और बढी। मैंने पूछा-"कौन कौनसी मिथ्या बातें मैंने उसमे लिखी हैं ?"

उन्होने कहा—' आपने एक स्थान पर लिखा है एक दृष्टान्त दिया है किसीके पाँच लड़के पाँच लड़कियाँ है, ५ बीघा खेत है पाँच कोठरी का मकान है तो लड़के लड़कियोंके भागमें आधी आधी कोठरी और आधा आधा बीघा खेत आवेगा। इस पर लडाई होगी आदि आदि।"

मकानकी बात तो उचित ही है, किन्तु कृषियोग्य खेती में लड़की को भाग मिले यह तो हिन्दु कोडमें नहीं है। खेती की

भूमि पर तो प्रान्तीय सरकारों का शासन है, केन्द्रीय सरकार उसके सम्बन्ध में नियम बना ही नही सकती। फिर आपने ऐसी बात क्यों लिखी ?"

मैंने कहा—"भाई ! उसमें स्पष्ट लिख दिया है कि यह एक दृष्टान्त मात्र है। दृष्टान्त सदा एक देशीय होता है। फिर लड़कियों को भाग देने का सिद्धान्त यदि स्वीकार कर लिया गया, तो प्रान्तीय सरकारें खेती की भूमि में भाग देने के नियम बनाने को विवश होंगी।' केन्द्रीय सरकार के अधिकार के बाहर की बात है इसीलिये उसने खेती की भूमि को नही रखा।"

उन्होने कहा—"हाँ यह तो यथार्थ है, किन्तु फिर भी जब तक प्रान्तीय सरकारें इसे स्वीकार न करलें तब तक आपको ऐसा दृष्टान्त न देना चाहिये।"

मैंने कहा—"दृष्टान्त सदा एक देशीय होता है और सभावना में भी दिया जाता है। अच्छा और बताओ और उसमें क्या भूल है ?"

उन्होने कहा—"आपने लिखा है इगलैंड अमेरिकादि देशोंमें एक एक दिनमें स्त्रियाँ तीन तीन विवाह कर लेती हैं, यह झूठ बात है ऐसा तो कभी सभव ही नही।"

मैंने कहा—"अरे भाई ! तुम हिन्दी तो जानते नही। यह तो कहनेका ढ़ँग है। जैसे कहते है कि वहाँ तो सहस्रों मनुष्य थे, चाहे पचास ही रहे हों। सहस्रों कहनेसे अभिप्राय इतना ही है कि बहुत लोग थे। इसी प्रकार एक स्त्री एक दिनमें तीन विवाह करलेती है इसका अर्थ इतना ही हुआ कि वहाँ की स्त्रियाँ पतित्यागको बुरा नही मानती। जीवनमें एक न कर के अनेक पति करती है।"

उन्होने कहा—"आप के लिये ऐसा उचित नहीं। आपकी

मोटर घंटेमें तीस मील जारही है, आप कह दें तीन सौ मील जारही है, यह तो असत्य ही है।"

मैंने कहा—"नहीं भैया! यह तो दूसरी बात रही। दृष्टान्त में ऐसे ही कहा जाता है। मैं तो विलायत गया नही। मैंने सुना है वहाँ छोटी छोटी बातों पर पत्नी अपने पति छोड़कर चली जाती है और एक स्त्री अपने जीवन में बहुत पतियों से विवाह करती है।"

उन्होंने कहा—"किन्तु एक दिन में तीन तो नही करती। आप नहीं जानते तो आपको लोक सभा की सदस्यता के लिये उठना ही नही चाहिये था।"

मैंने कहा—"तुम समझते तो हो नहीं भैया! यह एक भाषा लिखने की प्रणाली है। मैंने यह कब कहा कि सब कर ही लेती है। यह अतिशयोक्ति अलंकार है। अच्छा और बताओ मैंने और कौनसी मिथ्या बात लिखी?"

उन्होंने कहा—"आपने नेहरूजी पर व्यक्तिगत आक्षेप किया है कि उन्होंने अपनी भतीजी तथा पुत्री का विधर्मियों के साथ विवाह होने दिया। यह उचित नही।"

मैंने कहा—"तो भाई? इसमें कोई झूठ बात तो है नहीं यह तो सत्य है इसे सभी जानते हैं सभी कहते है।"

उन्होंने कहा—"सत्य तो है ही, सब जानते हैं सब कहते भी हैं, किन्तु आपको ऐसा नही कहना चाहिये। हिन्दू कोड की आप बुराई दिखावें किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप क्यों करें?

मैंने कहा—"भाई, देखो? मेरे विरुद्ध लोग कैसी झूठी झूठी बाते कह रहे हैं। स्वयं नेहरूजी ही कहते है इन्हें राजा जमीदारों ने खड़ा किया है, यह तो सोलह आने झूठ है। मैं एक सत्य बात को बड़ी नम्रता से कहता हूँ तिस पर भी तुम मुझे दोषी ठहराते हो?"

उन्होंने कहा—"कांग्रेसी तथा नेहरूजी जो भी कहें उनका सब क्षम्य है,वे लोग तो राजनैतिक व्यक्ति हैं। वे तो इससे सहस्र गुनी झूठी बातें कहें वे भी क्षम्य हैं, क्योंकि राजनीति में तो चलता है। वे लोग तो अपने स्वार्थ के लिये सब कुछ कर सकते है। किन्तु आप तो राजनैतिक पुरुष नहीं हैं। महात्मा हैं धर्मात्मा हैं, आपका मैं बहुत अधिक आदर करता हूँ। मैं महात्मा की दृष्टि से ही पूछ रहा हूँ, यदि आप अन्य साधारण लोगों की भांति नेहरूजी का विरोध करते तो सहस्रों झूठी बात भी कहते तो मैं उनको अच्छा ही कहता, किन्तु आपको ऐसा नही कहना चाहिये था।"

यह सुनकर मैं लज्जित हो गया। अपनी झेंप मिटाने को मैंने कहा—"हाँ, भैया तुम ठीक कहते हो वर्तमान राजनीति का क्षेत्र बड़ा दूषित हो गया है, वास्तव में मुझे इस प्रकार व्यक्तिगत आक्षेप नही करना चाहिये, किन्तु लोगों पर यह प्रभाव पड़े कि नेहरूजी यह चाहते है, कि हमारी बहिन बेटी विधर्मियो के साथ विवाह करें जिसे ग्रामीण लोग बहुत बुरा मानते हैं—इसलिये मैंने यह छोटी बात कह दी। मुझे ऐसी बात कहनी नही चाहिये थी ऐसा कहना मेरे स्वरूपानुरूप नही है। फिर भी अच्छे कामके लिये कुछ न कुछ नीचे उतरना ही पड़ता है—कुछ न कुछ कालिख लगानी ही पड़ती है। कहो तो एक दृष्टांत सुनाऊँ ?"

उन्होने कहा—"हाँ सुनाइये।"

मैंने कहा—"देखो, एक बटलोही है, भोजन बनाने से उसमें कालिख लग गयी। अब उसकी कालिख को धोना है। हम एक कूँचा लेकर उसे रगड़ते हैं। रगड़ने पर बटलोही की कालिख तो छूट जाती है, किन्तु उस कूँचेमें लग जाती है। जब बटलोही स्वच्छ हो गयी, तो फिर सुन्दर जल से उस कूँचे को भी स्वच्छ कर लेते है। इसी प्रकार इस हिन्दुकोडबिल रूपी कालिख को

स्वच्छ करने के लिये कुछ कालिख तो हमें लगनी ही है।"

यह सुनकर वे खिलखिला कर हंस पड़े और बोले—"यह दृष्टान्त आपने बहुत सुन्दर सुनाया।"

सुन्दर क्या सुनाया, वास्तवमें मैंने अपनी झेंप मिटायी, मुझे अनुभव हुआ कि वर्तमान राजनैतिक निम्न वातावरण में भी लोगों के हृदयों में धर्म के प्रति कितनी उच्च भावनायें हैं। उन टाइम के प्रति निधि ने यहां से जाकर २८ जनवरी के 'टाइम' में जो लेख लिखा उसमें से कुछ भाग का सारांश यह है,

टाइम जनवरी २८, १९५२ से उद्धृत

वायुयान, जलयान, रेल मोटरों तथा बैलगाड़ियों द्वारा भारत के प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू भारत के ४ मास लम्बे प्रथम सर्व साधारण चुनाव के लिए निर्वाचको में उत्साह की लहरें उत्पन्न करते हुए सम्पूर्ण देशमें दौरा करते रहे। उन्होंने २३००० मीलों की यात्रा की–१० भाषण प्रतिदिन के हिसाबसे दिये और २५ करोड़ जनता को संबोधित किया। वास्तवमें वे अपने चुनाव क्षेत्र के अतिरिक्त प्राय: सभी स्थलों पर गये। पर उन्होंने कहा कि इलाहाबाद में प्रचार की आवश्यकता नही थी।

गतसप्ताह उनको एक कष्टदायक समाचार मिला। उनके एक मात्र विरोधी ५२ वर्षीय प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, सुन्दर भूरी दाढ़ी, नारंगी एवं लाल ढांचे के ऐनक, गेरुआ वस्त्र और एक लम्बा श्वेत अधोवस्त्र धारण किये हुए शांतिपूर्वक मतदाताओं को आकर्षित कर रहे थे। उन्होने यह कार्य सिवा बीच-बीच में जोर जोर से हंस देने के, बिना एक शब्द मुंह से निकाले किया।

एक आधार—गत १९२१ ई० में ब्रह्मचारी नेहरू की भांति महात्मागांधी के मोहन मंत्र में पड़ गये। पर वे एक साधु या पवित्र पुरुष हो गये। मौन रहने तथा ब्रह्मचर्य पालन करने की

प्रतिज्ञा की। कई बार अंग्रेजों द्वारा कारावास भेजे गये (एक बार पडित नेहरू के साथ भी) जेल में थे। उन्होंने गंगा नदी के तट पर वेदाध्ययन करने के लिये कुटी बनाई और हिन्दू देवता कृष्ण के जीवन चरित्र के १०८ खंडों में से प्रथम ६० खंडों की रचना की। एक दिन पिछले अक्तूबर में उन्होंने उच्च स्वर में "हे नाथ नारायण" जिसके अर्थ "ऐ प्रभु" होते हैं, कहा और केवल उस समय उस पवित्र पुरुष का मौन-व्रत टूटा। उन्होंने लिखा "यदि मैं चुनाव में भाग लेता हूँ तो केवल इसलिये कि मेरी अन्तरात्मा ऐसा करने को प्रेरित कर रही है।"

ब्रह्मचारी के चुनाव का आधार केवल एक था—नेहरू द्वारा प्रस्तुत किये गये हिन्दू कोड बिल-जिसमें अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति है, जो सात पीढ़ियों दूर भतीजे भतीजियों के वैवाहिक निषेधको ढीला करता और जो प्रथमदार तलाक को हिन्दूस्त्रियों के लिये सम्भव बनाता है—यद्यपि तब भी यह बहुत कठिन है ब्रह्मचारीजी ने लिखा"हिन्दू कोडबिल, धर्मका विनाश कर देता है, जातियों में गड़बड़ी उत्पन्न करता है, धार्मिक ग्रन्थो के अधिकारो में धक्का पहुँचाता है, हिन्दू संस्कृति पर कुठाराघात करता है,प्रत्येक कुटुम्ब को अस्त व्यस्त कर देता है भाइयों और बहिनों में पारस्परिक कलह उत्पन्न करके केवल वकीलों को लाभ पहुँचात है।" उन्होने कहा "नेहरू काले अंग्रेज हैं जिन्होंने पश्चिम में अध्ययन किया है और वहाँ के रहन सहन के ढंगों से इतने ओत प्रोत हैं कि वे चाहते हैं कि हम सब ईसाई रीति रिवाजों के धारण करने वाले बन जायँ।

पवित्रपुरुष ब्रह्मचारी नेहरू के चुनाव क्षेत्र में सन् १९५१ की एक डाज मोटर द्वारा कुछ गायकों के साथ दौरा करते हैं। हिंदू धर्म गीतों को गाते गाते,मंजीरों की जोड़ी बजाते हुये सभा स्थल पर नाचने लगते हैं। एक लेख में ब्रह्मचारीजी ने अमेरिक के

तिलाक के सम्बन्ध में यह लिखा कि–"मैंने सुना है कि अमेरिका में स्त्रियां दिन में तीन पतियों का परित्याग करती हैं। और कुछ ऐसी स्त्रियां भी है जिनमें से प्रत्येक कई सौ पतियों का परित्याग कर चुकी हैं। अमेरिकन विवाह। लेखमें वे कहते हैं "एक भारतीय विद्यार्थीने एक अमेरिकन स्मशान को देखते समय देखा कि एक युवती पति समाधि के पास बैठी अपने हाथ पंखे डुला रही है। उसने उससे पूछा "क्या तुम भारतीय नारियों के प्रसिद्ध पतिव्रत धर्म का अनुसरण कर रही हो ? स्पष्ट करते हुये कहा कि भारतीय स्त्रियां सोचती हैं कि पति उनके देवता हैं।" युवती ने कहा "मेरे और मेरे पति के बीच अत्यधिक प्रेम था। पर मरते समय उसने मुझसे प्रतिज्ञा करवाई कि मैं तब तक पुनर्विवाह न करूँ जब तक मेरी समाधि सूख न जाय। मैं हवा कर रही हूँ जिससे यह शीघ्र सूख जाय और मैं नव प्रेमी के साथ विवाह-सम्बन्ध कर सकूं।"

जब ब्रह्मचारी की पुस्तिका की भी ७६००० प्रतियां बिक गई तब तो नेहरू भागे हुये गत सप्ताह मे इलाहाबाद आये और उन्होंने ललकारा "मैं हिन्दू कोड बिल के लिये अन्त तक लड़ूंगा, कोई देश उन्नति का स्वप्न, स्त्रियों के हितों को भुलाकर नही कर सकता नेहरू ने तब कहा "ब्रह्मचारी के पीछे देश के पूँजी पति हैं, बड़े बड़े ब्लैकमार्केट वालों, जमींदारों, महाजनों के अतिरिक्त जो यह भय खाते है कि कांग्रेस उनकी सामंतशाही प्रथा का शीघ्र उन्मूलन कर देगी और कोई नहीं हैं इत्यादि।"

इस लेखको पढ़कर अमेरिका से मेरे एक भारतीय मित्र ने मुझे एक पत्र लिखा और इस लेख की चीर (कटिङ्ग) मेरे पास भेजी। उन्होंने लिखा आपको पंखे वाली कहानी किसी ने झूठी सुनाई। यहाँ की स्त्रियाँ ताना देती हैं कि ब्रह्मचारीजी ने अमेरिकन स्त्रियों के विषय में ऐसी झूठी बातें क्यों लिखीं।

इस सम्बन्ध में मेरा नम्र निवेदन यह है कि दिन में तीन विवाह करने की बात मैंने अतिशयोक्ति अलंकारानुसार दृष्टान्त के रूप में लिखी। दूसरे वह केवल अमेरिका के ही सम्बन्ध में नही थी उसमें इंगलैंड अमेरिका ईरान आदि सभी उन देशों का दृष्टान्त था जिनमें पति परित्याग (तलाक) की प्रथा है। दूसरे पखावाली कहानी में तो अमेरिका का नाम तक नहीं। वह विलायत से लौटे एक विद्यार्थी की कथा है, फिर उसे मैंने स्वयं ही सत्य नही माना। "यह हँसी की बात होगी" ऐसा कहकर स्वयं उसे झूठ बताया है। फिर आप कह सकते हैं—"ऐसा झूठा दृष्टान्त लिखा ही क्यों?" सो यह तो साहित्य का विषय है, दृष्टान्त के झूठ सत्य की ओर कभी ध्यान नही दिया जाता, उसका केवल भाव लिया जाता है।

मेरा अभिप्राय किसी भी देश की माताओं के अपमान में नही था, मेरा भाव केवल एतावन्मात्र ही था, कि भारतीय द्विज महिलायें अपने पति के परित्याग को तथा पुनर्विवाह को अच्छा नहीं मानतीं। मैं समझता हूँ, हिन्दी का कम ज्ञान होने से ही लेखक ने ऐसी भ्रमात्मक बातें कह दीं हैं।

इस प्रसंग को लिखने का मेरा अभिप्राय यही था, कि आजकल का राजनैतिक स्तर इतना निम्न हो गया है, कि उसमें चरित्र गठन सांस्कृतिक उन्नति तथा धार्मिक भावना का विकास अत्यत कठिन हो गया है इस चुनाव चख चख को देखकर मुझे बड़ी आन्तरिक वेदना हुई। स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य का कहाँ तक पतन हो सकता है इसका नग्नचित्र मुझे देखने को मिला। पहिले लोग धर्म से डरते थे, अब तो धर्म को राजनीति से निकाल कर फेंक दिया है। धर्म भावना विहीन राजनीति का ऐसा परिणाम होना ही चाहिये। इस धर्म प्रधान देश की सरकार ने अपने को धर्महीन या धर्म निरपेक्ष घोषित कर दिया

है। उसका जो भयंकर परिणाम होगा, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

हमारे शासक धर्म के नाम से चिढ़ते है, वे हिन्दू धर्म को भी इस्लामी मजहब की भांति समझे हैं, किन्तु हिन्दू धर्म तो परम सहिष्णु विशाल धर्म है, वह मुसलमानों की भाँति यह नहीं कहता कि जब तक तुम मुसलमानी पंथ में दीक्षित न होगे तब तक तुम्हारा निस्तार नही, किन्तु हमारे यहाँ तो यह कहा है।

कि तुम जहाँ हो वहीं रहकर स्वधर्म का सत्यता के साथ पालन करो। हिन्दू धर्म कोई मजहब नहीं, वह दूसरों से द्वेष करना नहीं सिखाता। वह कभी नही कहता बल पूर्वक किसी को अपने धर्म में मिला लो तुम्हें पुण्य मिलेगा। हमारे यहाँ मुट्ठी भर पारसी आये थे उन्हें आये सैकड़ों वर्ष हो गये वे अपने साथ पूजा की जो अग्नि लाये थे वह अब तक ज्यो की त्यों है, कभी किसी ने उनसे अपना धर्म छोड़ने को नही कहा।

राजनीति की जड़ धर्म है, जो शासन धर्महीन या धर्म निरपेक्ष होगा, उसकी जड़ें जम नहीं सकती। वह स्थायी रह नहीं सकता। दूसरे भोगवादी देश भले ही धर्म विहीन बने रहें, किन्तु धर्म प्रधान भारतवर्ष का तो धर्म ही प्राण है उसकी धर्म विहीन राजनीति कै दिन चल सकती है।

केवल राजाज्ञा राज्यविधि–कानून–के सहारे कोई न तो सुधार हो सकता है न शासन और न सदाचार का पालन। राजाज्ञा को पालन कराने के लिये एक व्यक्ति के पीछे एक राजचर (पुलिस) का आदमी तो आठ पहर लगा नही रहेगा, अच्छा मान भी लो एक व्यक्ति के पीछे एक चर लगा दिया, तो धर्महीन राजचर लोभ लालच के कारण उससे मिल जायगा। घूंस लेकर उसे मन मानी करने देगा। आज बाजारों में न्यायालयों

में प्रत्येक राजकीय विभागों में इसका नग्न चित्र देखने को मिल ही रहा है। लोगों में सहानुभूति नहीं रही, मनुष्यता नहीं। धर्मभावना नही रही। नीचे से ऊपर तक सब अर्थ लोलुप हो गये है। बिना पैसा के कोई बात नही करता। पैसा दे दो झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करालो।

यद्यपि राजनीति एक प्रपंच का कार्य है, इसमें फंसने से मन चंचल होता है, बाह्य विषय पदार्थों का मन में महत्व बढ़ जाता है, राग द्वेष हो जाता है परमार्थ चिन्तन की प्रवृत्ति घट जाती है, इसीलिये परमार्थ पथ के पथिक साधकगण प्रायः राजनैतिक कार्यों से दूर रहकर निरंतर भगवत् चिंतन भगवन्नाम कीर्तन में लगे रहते है, तथापि वे राजनीति की सर्वथा उपेक्षा कभी नहीं करते। यदि वे उपेक्षा कर दें तो रक्षक ही भक्षक बन जायँ, समाज धर्म विहीन हो जाय, पापाचार कदाचार की वृद्धि हो, सब लोग स्वार्थ साधन को ही अपना परम ध्येय मानने लग जायँ, व्यभिचार को प्रोत्साहन मिले दाम्पत्य प्रेम नष्ट हो जाय, परिवार तथा सन्तानोके प्रति ममता नष्ट हो जाय। विशुद्ध धार्मिक राजा या शासक ही प्रजा की धार्मिक भावनाको जागृत करके उसे पापाचारसे निवृत्त कर सकता है। उपासनाकी पद्धति सदासे सबकी पृथक रही है रहेगी। आप संस्कृतमें प्रार्थना करो हिन्दीमें अरबी फारसीमें करो, सन्ध्या करो, भजन करो, नमाज पढ़ो, शंख चक्रांकित हो, बपतिस्मा लो। इसमें तो आपत्ति ही नही। श्रीमद्भागवतमें सभी वर्ण और आश्रमके पृथक् पृथक् धर्म बताकर अन्तमें एक सभी वर्ण सभी आश्रम तथा मानव मात्रके लिये समान धर्म बताते हुए कहा है—सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा युक्तायुक्त विचार, शम, दम, अहिंसा ब्रह्मचर्य त्याग स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी संतोंकी सेवा, शारीरिक भोगोंसे शनैः शनैः निवृत्त, प्रारब्ध, मौन, चिन्तन, आत्मचिंतन,

प्राणियोंमें अन्न जलादिका विभाग करके भोजन करना, हरिकथा श्रवण, हरिकीर्तन, हरिस्मरण, भगवत् सेवा, भगवत्पूजा, नमस्कार, भगवान्में दास भाव, सख्य भाव तथा आत्म समर्पण करना ये तीस मानव धर्म है। इन्हें गिनाकर अंत में कहा है—

नृणा मयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

(श्री भा० ७ स्क. ११ अ. १२ श्लो.)

अर्थात् यह तीस प्रकार का आचरण ही मनुष्यमात्र का सर्वोत्तम धर्म कहा गया है, इसका पालन करने से सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं।

इन धर्मोंकी समाज की मान्यता के अनुसार बाल्यकाल से ही शिक्षा देना राज्य शासन का कर्तव्य है। राज्य की ओर से इनका पालन कराना चाहिये। लोगों को भगवान् की ओर लगाना चाहिये, हमरे जो पूर्वज हो गये हैं उनके चरित्र इतिहास पुराणों से सुनाना पढ़ाना चाहिये। मनुष्य का इतना ही लक्ष्य नही हैं कि किसी प्रकार पेट भरलें और दिन काटलें। मनुष्य का परम लक्ष्य है भगवत् प्राप्ती। राजनीति का लक्ष्य है इस लोकमें शान्ति रहे। धर्म का लक्ष्य है हमारा परलोक बने। इसलिये हमें जो भी करना चाहिये यह लोक तथा परलोक को दृष्टि में रखकर करना चाहिये। जो निरंतर भगवत् भजन में ही निरत रहे, उनकी रक्षा तथा योग क्षेमका भार राज्य पर होना चाहिये यही धर्म और राजनीतिका समन्वय है। धर्म विहीन राजनीति

थोथी है, सार हीन है। ऐसी नीतिका प्रत्येक धर्म प्रेमी को प्राण-पण से विरोध करना चाहिये। धर्म ही जीवन है, धर्म ही रक्षक है और धर्म से ही सुख शांति की प्राप्ती होती है। इसी लिये शास्त्रकारो ने कहा है—

धर्मो रक्षि रक्षितः

रक्षित धर्म धर्म करने वाले की सदा रक्षा करता है आज इतना ही। फिर कभी,

संकीर्तन भवन, झूसी
फाल्गुन शु. ११. २००८. वि } प्रभुदत्त

भगवान् का रुक्मिणी जी से विनोद

भगवान्‌का सप्तम विवाह

(११०६)

वरं विलोक्याभिमतं समागतम् ।
नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम् ।
भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः
करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतः । *
(श्रीभा० १० स्क० ५८ अ० ३६ श्लोक)

छप्पय

भयो सातवों ब्याह श्यामको सत्या संग महँ ।
कोशलेशकी सुता सुन्दरी सुविदित जग महँ ॥
नृप प्रन कीयो सात बैल जो नाथे भूपति ।
ताकू कन्या देहुँ सुनत तहँ पहुँचे श्रीपति ॥
प्रन सुनि उतरे फेंट कसि, सात रूप हरि धरि लये ।
हँसत हँसत नाथे वृषभ, निरखि मुदित सब जन भये ॥

भगवान् भक्ति को देखते हैं, वे बाह्य वस्तुओं की ओर ध्यान नहीं देते । भक्तके मनमें शंका हो उसका समाधान करते हैं । विश्वास शिथिल पड़ रहा हो तो विश्वास जमाते हैं, असम्भव बात

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! राज कुमारी 'सत्याने अपने अनुरूप वर श्रीरमापति भगवान् वासुदेव को आये हुए, देख कर, मन ही मन यह इच्छा की, कि यदि मैंने व्रतादि करके इन्हीं का सदा चिन्तन किया है तो ये ही मेरे पति हों और मेरी विशुद्ध मनोकामना को सत्य बनावें ।'

दिखाई देती हो, तो उसे सम्भव करके दिखाते हैं, किन्तु हो उनपर दृढ़ विश्वास। दृढ़ विश्वास होनेपर विश्वेश्वर प्रकट न हों पधारें नहीं यह असंभव है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! मैंने भगवान् के छै विवाह का वर्णन आपसे किया। अब आप सातवें विवाह की कथा श्रवण करें।

जिन दिनों भगवान् द्वारकापुरीमें निवास करके प्रकट लीला कर रहे थे। उन दिनों कोशल देशमें नग्नजित् नामके राजा राज्य करते थे। वे बड़े ही भगवद् भक्त और धार्मिक प्रकृतिके भूपति थे। उनकी धार्मिकता सर्वत्र विदित थी। उनके नाग्नजित नामकी एक कन्या थी। नग्नजितके कन्या होनेसे उसको नग्नाजिती कहते हैं। वास्तविकमें उसका नाम सत्या था। सत्या अत्यन्त ही सुन्दरी सुशीला तथा सर्व गुण सम्पन्ना थी। जब वह विवाह योग्य हुई, तो बहुतसे राजाओं ने उस कन्याकी याचना की। राजा चाहते थे, मेरी पुत्री का विवाह भगवान् यादवेन्द्र के साथ हो, किन्तु वे सब राजाओं को प्रत्यक्ष मना भी नहीं करना चाहते थे। अतः उन्होंने एक पण रख दिया। राजाने बड़े बड़े पैने सींग वाले, बहुत हृष्ट पुष्ट, अत्यन्त मरखने सात सांड़ पाल रखे थे, वे इतने क्रोधी थे कि मनुष्य की गन्ध पाते ही वे उस पर टूट पड़ते। एक हो तो कोई जैसे तैसे पकड़ भी ले वे तो सात थे और सातों दुरधर्ष थे। कोशलेश महाराज नग्नजित् ने प्रतिज्ञा की जो मेरे इन सात बैलों को एक साथ नाथ कर वश में कर लेगा, उसी के साथ मैं अपनी सर्व-लक्षण सम्पन्ना सुशीला सत्या कन्या का विवाह कर दूंगा।

इस समाचार को सुनकर अपने को अत्यन्त बली समझने वाले बहुत से राजा और राजकुमार आये। अब कोई अस्त्र शस्त्र का काम हो, लड़ना भिड़ना हो, धनुर्वेद की कला दिखानी हो

तो कोई उस कन्या को जीत भी ले। बैलों से लड़ना सो भी एक से नहीं सातों से एक साथ भिड़ना कोई सामान्य कार्य नहीं था। जो भी आते, वे क्षत विक्षत शरीर होकर लौटते। बैल किसी के पेट में ही सींग भोंक देते, किसी की आँखों को ही फोड़ देते। किसी की हड्डी पसली चकना चूर कर देते। किसी को लंगड़ा लूला बना देते। इस प्रकार सहस्रों बड़े-बड़े क्षत्रिय आये और अंग हीन होकर अपना सा मुँह लेकर लौट गये।

जब भगवान् ने यह समाचार सुना, कि सात बैल नाथने से सुन्दरी बहू मिलती है तो फिर उन्होंने देरी नहीं की तुरन्त सेना सजा कर अयोध्यापुरी को चल दिये। भगवान् सोचे—"पहिले अवतार में तो हम अयोध्या पुरी में उत्पन्न ही हुए थे, अबके चलो वहां अपनी ससुराल ही बना लें। आधा सम्बन्ध तो बना ही रहेगा। बैल नाथना कौनसी बड़ी बात है। बालकपन से हम यही तो करते रहे। व्रज में रह कर सहस्रों बछड़ों को हमने नाथा है" यही सब सोच कर वे अवधपुरी में सेना सहित पहुँच गये।

जब महाराज नग्नजित् ने यादवेंद्रके आगमन का समाचार सुना तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। बड़ी श्रद्धा भक्तिसे उनका स्वागत सत्कार किया। अभ्युत्थान तथा आसनादि देकर पूजा की विविध वस्तुओंसे वासुदेव की विधिवत पूजाकी फिर हाथ जोड़ कर बोले—"यदुनन्दन! आपने अपने देव दुर्लभ दर्शन देकर इस दीन हीन साधन विहीन दास को कृत कृत्य कर दिया। हे वृष्णिवंशावतंस! हम आपकी क्या सेवा करें। आपकी किस आज्ञाका पालन करें। आपको मार्गमें किसी प्रकारका श्रम तो नहीं हुआ? आप यहाँ तक सकुशल तो आये न? आपकी यात्रा सुखपूर्वक तो हुई?"

भगवान् ने कहा—"राजन्! आप परम धार्मिक हैं, आपको

प्रशंसा सुनकर हम आपके दर्शनों के निमित्त आये हैं। आपने आसन, पाद्य अर्घ्यादि से हमारा जो स्वागत सत्कार किया, उसे हमने सहर्ष स्वीकार कर लिया। अब हम आपसे एक छोटीसी वस्तुकी याचना करते हैं ?"

अत्यंत उल्लासके साथ राजाने कहा—"माधव ! याचनातो अन्यसे की जाती है। यह राज्यपाट तथा मैं और मेरा परिवार सब आपकाही है। आप आज्ञा करें; किस वस्तु के द्वारा आपकी सेवा करूँ?" यह सुनकर भगवान् कुछ लज्जित से हुए वे कुछ कहना चाहते थे, किन्तु कहते कहते रुक गये तब राजाने कहा—"यदुनन्दन ! आप संकोच छोड़ कर आज्ञा करें।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"राजन् ! देखिये, संसारमें याचना बड़ी बुरी वस्तु है। याचक को देखकर सभी घृणा करते हैं। ब्राह्मण हो, और वह याचना करले, तो कोई बात ही नहीं। ब्राह्मणोंकी विधाता ने यही वृत्ति बनाई है, किन्तु धर्ममें स्थित क्षत्रियके लिये विद्वानों ने याचना निन्दित बताई है। अनापत कालमें जो क्षत्रिय याचना करता है, वह क्षत्रियत्वसे पतित हो जाताहै फिर भी मैं जिसवस्तुकी याचनाकरना चाहता हूँ वह गर्ह्य नहीं है। उस वस्तुके कारण हममें आपमें प्रेम बढ़ेगा सम्बन्ध स्थापित होगा। दोनों ओर से आनन्दोल्लास होगा।"

महाराज नग्नजित्ने कहा—"हां, हां, वासुदेव आप आज्ञा करें।"

भगवान् ने कहा"सुना है; आपकी एक कन्या है, वह बड़ी ही सुशीला सर्वगुण सम्पन्ना तथा विवाह योग्य है। मैं उसे ही मांगने के लिये आया हूँ।"

यह सुनकर अत्यंत ही हर्ष प्रकट करतेहुये कोशलेन्द्र महाराज नग्नजित्ने कहा—"द्वारकानाथ ! मेरे लिये इससे अधिक सौभाग्यकी और कौनसी बात होसकती है। जिनके अङ्गमें निरन्तर

लक्ष्मीजी निवास करती रहती हैं, ऐसे सर्वेश्वर सर्व गुण सम्पन्न आप मेरी कन्याको ग्रहण करलें तोमेरी इक्कीस पीढ़ियाँ तरजायें मैं धन्य बनजाऊँ। ऐसा वर संसारमें खोजने पर भी मुझे दूसरा नहीं मिल सकता। किन्तु हे सात्वतर्षभ! मेरा एक प्रण है, उसे पूरा करके ही आप कन्या प्राप्त कर सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"उस प्रण को भी आप बतावें। किन्तु एक बात स्मरण रखें। बहुतसे कुलोंमें ऐसी निन्दनीय प्रथा है कि वर पक्षसे कन्या का कुछ मूल्य लेकर तब कन्या को देते हैं। ऐसे कन्याकी संतानें श्राद्ध तर्पण करने योग्य नहीं मानी जातीं। ऐसी प्रथा हमारे यहाँ नहीं है, न तो हम कन्याका शुल्क लेते ही हैं, न किसीको देते ही हैं।"

शीघ्रता के साथ महाराज नग्नजित्ने कहा—"नहीं, नहीं, यदुनन्दन! यह प्रथा हमारे भी कुलमें नहीं है। भला कन्या के धान्यको कौन कुलीन पिता खा सकता है? मैंने तो वरके बलकी परीक्षा के लिये एक प्रण कर रखा है, जो भी क्षत्रिय उस प्रणको पूरा कर देगा, उसीके साथ मैं अपनी कन्याका विवाह कर दूँगा

भगवान्ने कहा—"उस प्रणको हम भी तो सुनें? हो सकेगा, तो हम भी उसे पूरा करनेका प्रयत्न करेंगे।"

महाराज नग्नजित् बोले—"देखिये, माधव! हमारे पास अत्यंत तीक्ष्ण श्रृंगों वाले मरखने दुर्दान्त सात साँड़ हैं। उन सातों साड़ोंको जो नाथ कर अपने वशमें करले, उसके साथ मैं अपनी सुताका सहर्ष विवाह कर सकता हूँ। हे यादवेन्द्र! उन साड़ोंने बहुतसे राजकुमारोंको अंग भंग कर दिया है बहुतसे राजा बड़े उत्साहसे आयेथे, किन्तु हतोत्साह होकर लौट गये। यदि आपने उन बैलोंको अपने बल वीर्य से वशमें कर लिया तो सत्याके साथ आपका विवाह निश्चय ही हो जायगा।"

यह सुन कर भगवान्ने कहा—"अच्छी बात है कल मैं

परीक्षा करूँगा। मैं आपकी प्रतिज्ञा का भंग करके कन्या लेना नहीं चाहता।"

यह सुनकर कोशलेन्द्र महाराज नग्नजित् को बड़ा हर्ष हुआ। यह समाचार क्षण भरमें पूरे देशमें फैल गया। लक्षों नर नारी भगवान् के दर्शनों के लिये तथा इस खेल को देखने के लिये कोशलपुरी में आने लगे।

राजकन्या सत्याने जब खिड़की में से झाँक कर श्यामसुन्दर के दर्शन किये तब तो उसके सब अङ्ग शिथिल पड़ गये। उसे अपने पिताकी प्रतिज्ञा पर क्षोभ हो रहा था। उसने मनसे अपना सर्वस्व श्यामसुन्दर के चरणारविन्दोंमें समर्पित कर दिया। वह मन ही मन देवी देवताओंकी मनौती मनाने लगी। कभी दुर्गा-का स्मरण करती, कभी गणेशजीसे प्रार्थना करती। वह नेत्रोंमें जल भर भर कर बार बार मन ही मन कामना करती। "हे देवी देवताओ! यदि मैंने शुद्ध अन्तःकरण से व्रत नियमादिकों के द्वारा इन्हीं सर्वेश्वर श्यामसुन्दरका स्मरण चिन्तन किया हो तो उसी सत्यके प्रभावसे ये मेरे पति हों, मेरी यह विशुद्ध वासना पूर्ण हो। हाय! मैं तो एक अति साधारण अबला हूँ। मेरे में भक्ति नहीं, प्रेम नहीं, प्रभुके प्रति अनुराग नहीं। ये सर्वेश्वर हैं। लक्ष्मीजी इनके चरणोंकी रजके लिये सदा लालायित बनी रहती हैं। महादेवजी इनके नामको निरन्तर रटते रहते हैं। ब्रह्माजी इनके पाद पद्मोंकी पावन परागको प्रेमपूर्वक मस्तक पर धारण करते हैं। जो कर्म फल भोगने के निमित्त नहीं अपनी बाँधी हुई धर्म मर्यादा की रक्षा के निमित्त ही समय समयपर इस धरा धाम

पर अवतीर्ण होते हैं वे भगवान् मुझपर कैसे प्रसन्न होंगे, कैसे मुझे अपनी चरण दासी मानकर स्वीकार करेंगे ?" कैसे मेरे मनोरथको पूर्ण करेंगे।" इसप्रकार सोचतीहुई राजकन्या भगवान् के ही भुवन मोहन रूपका चिन्तन करती हुई प्रेमाश्रु बहाने लगी प्रेममें निरन्तर शङ्का बनी रहती है, कभी डर जाती कि ये दुष्ट साँड़ कहीं श्यामसुन्दरके सुन्दर शरीर में सींग न मार दें। इनका कोई अनिष्ट न हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसी प्रकार सोचते सोचते राजकन्या को प्रातः काल हो गया। इधर दर्शनार्थियोंकी अपार भीड़ एकत्रित हो गई। भगवान् ने कहा—"कहाँ हैं वेसात साँड़। उन सबको बाहर निकालो।"

सेवकोंने डरतेडरते कहा—"प्रभो ! उन्हें बाहर निकालनेका किसी में साहस नहीं। आप घेरेके भीतर ही चले जायँ।

भगवान्ने कहा—"अरे ऐसीतैसीउन साड़ोंकी। देखें कैसेनहीं निकलते। यह कहकर भगवान् फेंट बांधकर ताल ठोंकते हुए भीतर घुस गये। और अपनी योगमायासे सात रूप रख कर एक साथ सातों को नाथ दिया। सातोंकी नाकोंमें रस्सी डालकर वे एक साथ उन सबको उसी प्रकार खींच लाये जैसे बच्चे कुत्ते के छोटे पिल्लोंको बाँधकर खींचते है। अथवा खेलतेसमय शिशु जैसे लकड़ी तथा मिट्टीके खिलौनों को खींचते हैं। यह देखकर सबके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। सभी एक स्वरसे साधु साधु कहने लगे। भगवान्के ऊपर पुष्पोंकी वृष्टि करने लगे।"

महाराज नग्नजित्को बड़ा ही हर्ष और विस्मय हुआ। नाग्न

जितीके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। राजाने शुभ मुहूर्त और शुभ नक्षत्र देखकर सत्या का विवाह श्यामसुन्दरके साथ करदिया। भगवान्‌ने भी अयोध्यापुरी में उस कन्याको विधि विधान पूर्वक ग्रहण कर लिया।

महाराज नग्नजित्‌की रानियों ने जब देखा हमारीकन्याको उसके अनुरूप वर प्राप्त हो गया है, तो वे भी परम प्रसन्न हुईं। सम्पूर्ण नगर इस आनन्दोत्सव के उपलक्ष्यमें सजाया गया था। शङ्ख, भेरी, मृदंग, वीणा, पणवतथा ढोलआदि बाजेबज रहेथे। ब्राह्मणगण आशीर्वाद दे रहे थे, वेदके मंत्रोंका उच्चारणकररहे थे। नगर निवासी नरनारी नयनाभिराम नटनागर को निहार कर नयनोंसे नेह के नीर बहा रहे थे। सभी सुन्दर स्वच्छ सुगंधित वस्त्र और मालाओं को धारण किये इधरसे उधर घूम रहे थे। महाराज कोशलेन्द्र ने दशसहस्रगौएं, दिव्य वस्त्राभूषणों से सजी सजाई तीन सहस्र सेविकाएं, नौ सहस्र गज, सतगुणे रथ, घोड़े तथा सेवक दहेजमें दिये। श्यामसुन्दर सुन्दरी पत्नी और इतना भारी दहेज पाकर परम प्रसन्न हुए।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने सात बैलोंको नाथने के लिये सात रूप धारण क्यों किये, क्या भगवान् एक रूप से उन सातों बैलों को नहीं नाथ सकते थे?

सूतजीने कहा—"नाथ क्यों नही सकते थे, महाराज! सात रूप रखने में एक रहस्य था। जिस समय भगवान् बैलों को नाथने चले उस समय महलकी खिड़की से नाग्नजिती सत्या भी

देख रही थी। वह भगवान् के सौंदर्य माधुर्य को देखकर अपने आपे से बाहर हो रही थी उसे ऐसा लग रहा था मानों भगवान् मधुरिमा को नेत्रों द्वारा पीलूँ। एक क्षण भी यह माधुरी मूरति मेरे नयनों से दूर न हो। उसी समय उसे स्मरण आया कि इनके तो छै रानी और भी हैं। छै दिन तो मुझे इनका वियोग ही सहना पड़ेगा, तब मैं कैसे जीवन धारण करूँगी मैं तो इनके बिना पल भर भी नहीं रह सकती। यह स्मरण आते ही उसका मुख मलीन पड़ गया। भगवान् उसके मन के भाव को ताड़ गये। इसलिये तुरन्त उन्होंने अपने हो जैसे सात रूप रख लिये और सातों बैलों को एक साथ नाथ दिया सात रूप रखकर भगवान्ने यह दर्शाया, कि जिस प्रकार मैं सात रूप रखकर इन सातों बैलों को एक ही क्षण में वस में कर सकता हूँ, उसी प्रकार तुम तों के लिये पृथक् पृथक् सात रूप रखकर तुम सबको सात ही सन्तुष्ट रख सकता हूँ। तुमको एक दिन भी मेरा वियोग सहन न करना पड़ेगा।"

भगवान् के सात रूप देखकर सत्या सन्तुष्ट हो गई और उसने शोक मोह का परित्याग कर दिया। विधिवत् विवाह होने पर वह भगवान् की सातवीं पत्नी हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् के सात विवाह हो गये। अब आप सब लोग उनके अष्टम् विवाह का वृत्तान्त श्रवण करें।"

छप्पय

ह्वै प्रसन्न नृप करयो ब्याह सत्याको हरि सँग।
पति परमेश्वर पाइ समाई नहिं फूलो अँग॥
दीयो बहुत दहेज द्वारका चले भुवन पति।
पथ महँ नृप बहु मिले करी जिनि वृषभनि दुर्गति॥
भेडनि कूँ ज्यों भेड़िया, छिन महँ देइगाड़कें।
नृपति भगाये पार्थ त्यों, दिव्य बान बरसाइकें॥

भगवान् का अष्टम विवाह

(११०७)

सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युताम् ।
स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५८ अ० ५७ श्लोक)

छप्पय

आये सात्या संग द्वारका यदुनन्दन पुनि ।
मद्रदेश महँ गये लक्ष्मणा नृप कन्या सुनि ॥
भयो स्वयम्वर भूप देश देशनि के आये ।
अनुपम कन्या निरखि नृपतिगन सब ललचाये ॥
रङ्गभूमि आई लली, जयमाला कर धारि जब ।
रथ महँ पकरि बिठाइ हरि, भगे निहारें भूप सब ॥

भाग्यशाली जहां जाता है, वहीं इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेता है, रिक्त हस्त कभी लौटता ही नहीं । एक वस्तु के लिये सहस्र जन उत्सुक हैं,उनमें से केवल एक को वह वस्तु प्राप्त होती है शेष सब देखते के देखते ही रह जाते हैं, यह भाग्य नही तो और क्या

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मद्रदेश के राजाकी सर्व सुलक्षण सम्पन्ना एक लक्ष्मणा नाम की कन्या थी, उसे भगवान् स्वयम्वर से उसी प्रकार हरण कर लाये जिस प्रकार गरुड़जी स्वर्ग से अमृत छीन लाये थे।

है। भाग्यवान् के प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल बन जाती हैं इसके विपरीत भाग्यहीन पुरुष के समस्त उपयोगी साधन भी व्यर्थ बन जाते हैं। बहुत से राजा सेना सजाकर बड़े समारोह से एकत्रित होकर जाते हैं, वे देखते के देखते ही रह जाते हैं, एक बिना सेना के अकेला ही आता है और सबको परास्त करके-विजय लाभ करके-चला जाता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! कालिन्दी के विवाह के अनंतर अर्जुन प्रायः भगवान् के ही समीप अधिक रहते थे। नाग्नजिती सत्या के विवाह मे भगवान् के साथ वे भी गये थे। सात बैलों को एक साथ नाथ कर जब उन्होने सत्या के साथ विवाह किया तो अर्जुन को बड़ी प्रसन्नता हुई। राजा नग्नजित ने बहुत सा दहेज दिया था। उन सबको लेकर भगवान् द्वारका की ओर चले। रक्षा का समस्त भार अर्जुन पर था। मार्ग में बहुत से द्वेषी राजा मिले। उनमे अधिकांश ऐसे थे जो सत्या के साथ विवाह करने गये थे किन्तु सांड़ों ने उनके अङ्ग भङ्ग कर दिये थे। अब जब उन्होंने सुना कि सात बैलों को नाथकर श्यामसुन्दर सत्या को विवाह करके लिये जा रहे है, तो उनके मन में ईर्ष्या हुई वे सोचने लगे—"यह तो श्रीकृष्ण ने हम सबका बड़ा अपमान किया। क्यों नही हम सब एकत्रित होकर दहेज को और राजकुमारी को छीन ले।" उनमें बहुत से ऐसे भी राजा थे, जिनको पहिले यादवों ने परास्त किया था और वे यादवों से द्वेष मानते थे। वे सबके सब श्रीकृष्णचन्द्र-भगवान् से द्वेष रखते थे, सबका एक सा ही उद्देश्य था। अतः उन सबने मिलकर एक साथ मार्ग में भगवान् को घेर लिया।

उन राजाओं के अभिप्राय को समझकर बन्धुप्रियकृत अर्जुन हँस पडे। उन्होने अपनी विकट बाण वर्षा से राजाओं के छक्के छुडा दिये। उनके गाण्डीव धनुष से एक साथ असंख्यों बाण

निकलते थे, जो शत्रुओं के मर्मस्थानों को पीड़ित करते हुए आर पार निकल जाते थे। वे सबके सब राजागण गांडीव धनुषधारी अर्जुन के अस्त्रों से उसी प्रकार नष्ट होने लगे जिस प्रकार दीपक की ज्योति में पतंगे नष्ट होते हैं, अथवा घृत में पड़ने से जैसे मक्खियाँ नष्ट होती है। जब वे सब पार्थ की बाण वर्षा के वेग को सहन करने मे समर्थ न हो सके तो उसी प्रकार भाग निकले जिस प्रकार सिंह के भय से क्षुद्र पशु भाग जाते हैं।

इस प्रकार उन मार्ग के कण्टक रूप राजाओ को कुचलते हुए भगवान् सकुशल द्वारकापुरी में आये नई बहू का सभी ने स्वागत सम्मान किया। सभी के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए यदुनन्दन सुख पूर्वक अपनी पुरी में रहने लगे।

अब तो भगवान् इसी ताड़ में रहते कि कही किसी राजपुत्री का स्वयम्वर हो और वहाँ से नई बहू मिले। कोई बुलाओ चाहे न बुलाओ, सुनते ही भगवान् वहाँ पहुँच जाते। असुर प्रकृति के बहुत से राजा भगवान् से मन ही मन द्वेष रखते, वे क्षत्रियों के समाज में भगवान् को आमन्त्रित नही करते, किन्तु भगवान् को तो किसी के आमन्त्रण निमन्त्रण की अपेक्षा नहीं। अतः बिना ही बुलाये अपने स्वजनो के निमित्त पहुँच जाते हैं।

जिन दिनों भगवान् सत्या का विवाह करके लौटे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने सुना कि मद्रदेश के राजा की सर्व सुलक्षण सम्पन्ना लक्ष्मणा नाम की एक कन्या है। वह अत्यन्त ही सुन्दरी है। सुनते ही भगवान् के मुख में पानी भर आया। उन्होंने सोचा—"बड़े भाई से कहेंगे या सेनापति से कहेंगे तो वे सोचेंगे—"इन्हें विवाह करने का बड़ा व्यसन लग गया है।" इस लिये किसी से कहो ही मत, यही सोचकर भगवान् अकेले ही रथ पर बैठकर चुपके से चल दिये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ऐसे तो न जाने कितने

राजाओं की राजकुमारियों का विवाह होता होगा, भगवान् सबमें बिना बुलाये चले जाते होंगे ?"

सूतजी बोले—"नही, महाराज ! भगवान् तो प्रेम के भूखे हैं, जो उन्हें हृदय से चाहता है उस वे सब प्रकार से अपना लेते हैं जो उनके अनुगत हैं, प्रपन्न हैं, जो उनको हृदय से चाहते हैं, उनके लिये भगवान् दौड़े जाते हैं। यह लक्ष्मणा हृदय से भगवान् को चाहती थी।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! कहाँ मद्रदेश कहाँ द्वारका "लक्ष्मणा ने भगवान को कैसे देख लिया ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! प्रेम देखने से ही थोड़े होता है। किसी के गुण श्रवण करके बिना देखे भी प्रेम हो जाता है। ये हमारे नारद बाबा यही तो करते रहते है। इधर के कुलावे उधर भिड़ाते रहते हैं। नारदजी को जब भी अवकाश मिलता तभी मद्रदेश चले जाते वहाँ के महाराज बृहत्सेन बड़े भगवद्भक्त थे। उनकी सभा में जाकर नारदजी बार बार भगवान् के दिव्य जन्म कर्मों का ज्ञान करते। पिता के समीप बैठी-बैठी लक्ष्मणा सब सुनती रहती। निरन्तर गुण श्रवण करते-करते उसका भगवान् के प्रति सहज स्वाभाविक अनुराग हो गया। जब वह बड़ी हुई विवाह के योग्य हुई तो वहसोचने लगी—"समस्त देवताओं को परित्याग करके जिन्हें साक्षात् लक्ष्मी देवीजी ने वरण किया था, वे ही श्यामसुन्दर यदि मेरे पति हो जायँ, तब तो मेरा शरीर सार्थक है। नहीं तो इन काम क्रोध के वशीभूत तुच्छ राजाओं को मैं अपना अङ्ग स्पर्श करने न दूँगी।" इस प्रकार उस राजकुमारी ने दृढ निश्चय कर लिया था।

सखियों द्वारा कन्याके मनोगत भावोंका पता उसकी माताको लगा और माताने यह समाचार अपने पति बृहत्सेनसे कह दिया। अपनी प्यारी पुत्रीके शुभ संकल्पको पूर्ण करनेके निमित्त महाराज

ने एक उपाय रचा। वे द्रौपदी के स्वयम्वरमें गये थे। उन्होंने देखा था महाराज द्रुपद ने एक बड़ा भारी खम्भा गाड़ा था उस पर एक यन्त्र में मछली लगाई थी। वह यन्त्र निरन्तर घूमता रहता था। उस मत्स्य को वेधने वाला ही कन्या को प्राप्त कर सकता था। राजागण मत्स्य वेध करने को जहाँ वे लक्ष्य लगाते बाण छोड़ते समय वह घूम जाता। अर्जुनने उस लक्ष्यको वेध कर द्रौपदी को प्राप्त किया था। इन मद्राधिप महाराज बृहत्सेनने उसे और क्लिष्ट बना दिया। मछली तो वैसी ही बनाई, उसी प्रकार वह घूमती भी थी किन्तु उसे ढक दिया था, नीचे जलमें उसकी परछाईं दिखाई देती थी। परछाईं को नीचे देखता रहे ऊपर बाण मारकर लक्ष्य में वेध करना साधारण कार्य नहीं था। राजा ने यह सब इसीलिये किया कि भगवान्‌के अतिरिक्त इस लक्ष्य को कोई नहीं वेध सकता। उसने सभी राजाओं के लिये स्वम्वरका निमंत्रण भेजा, भगवान्‌को भी बुलाया था। अबके भगवान् बिना सेनाके अकेले ही मद्रदेश चले गये। स्वयम्वर के समाचारको सुनकर सब देशों से सहस्रों राजा और राजकुमार आने लगे। सभी अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित और अपने मंत्री पुरोहित तथा सैनिकों को संग लिये हुए आये थे। महाराज बृहत्सेनने आगत सभी राजाओंका स्वागत सत्कार उनकी प्रतिष्ठाके अनुरूप किया। बड़ी भारी रंगभूमि बनाई गई। उसके बीचमें वह लक्ष्य वेध का स्तम्भ गाड़ा गया था। सुसज्जित मंचो पर आगत राजा और राजकुमार बैठे हुए थे। अब क्रमशः सब लोग राजकुमारी को प्राप्त करनेकी इच्छासे उस स्तम्भके समीप आने लगे। नीचे बड़ा भारी विशाल धनुष रखा था। उस धनुष को उठाकर उस पर प्रत्यंचा चढ़ाना फिर बाण को उसपर रखना जलमें देखते हुए निरन्तर घूमते रहने वाले लक्ष्यको वेधना इतने काम थे। बहुत से राजाओं पर तो वह विशाल धनुष ही नहीं उठा। बहुतों ने धनुष

को तो उठा लिया किन्तु उस पर प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा सके। बहुत से धनुष की डोरी को एक सिरे से दूसरे सिरे सिरे तक खींच तो लाये किन्तु उसे दूसरे सिरेमें बाँध न सके बीच में डोरी छूटजाने से उसके आघात से दूर जा पड़े और लज्जित हो कर धूलि झाड़ते हुए अपने-अपने आसनों पर आकर बैठ गये; बहुत से परम पराक्रमी वीर राजा थे, जिनमें दश-दश सहस्र हाथियों का बल था। जैसे जरासन्ध, अम्बष्ठ, शिशुपाल, भीमसेन, दुर्योधन कर्ण आदि। इन सबने धनुष पर मुत्यञ्चा चढ़ाली किन्तु उन्हें जलमें लक्ष्य की स्थिति भली भाँति न जान पड़ी। उन्होंने बाण को छोड़ा किन्तु वह लक्ष्य वेध न कर सका। अर्जुन बड़े लक्ष्य वेधी थे। उन्होंने भगवान की ओर देखा, तब हँसते हुए माधव बोले—"मैया, तू भी इस लक्ष्य को वेध कर देख ले। अर्जुनने भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य की। धनुष उठाया, प्रत्यञ्चाको चढ़ाया, उस पर बाण रखा। जल मे मत्स्य की परछाईं देख कर उसकी स्थिति भली भाँति समझ मत्स्यको लक्ष्य करके बाण छोड़ा, किन्तु वह बाण मत्स्य को छूता हुआ चला गया। वेध न सका।

जब सबका मान मर्दन हो गया, किसी ने भी अब मत्स्य के समीप जानेका साहस नही किया,तो भगवान् वासुदेव उठे। उन्होंने खेल खेल में ही धनुष उठाया उस पर रौंदा चढ़ाया और बाण रखकर पुरोहित से बोले—"बताओ पुरोहितजी ग्रह नक्षत्र कैसे है?"

पुरोहित ने विनय के साथ कहा—"वासुदेव! आप ग्रह नक्षत्रों अनुसार चलेंगे या ग्रह नक्षत्र आपके सकेत पर नाचेगे? इस समय सभी ग्रह नक्षत्र स्वतः ही अनुकूल हो गये है। सूर्य अभिजित् नक्षत्र पर हैं। राजकुमारी आपको ही वरण करेगी। आप लक्ष्य वेध करें।" यह सुनते ही भगवान् ने एक बार जलमें देख कर ऐसा बाण मारा कि मत्स्य टुकड़े टुकड़े हो कर

नीचे गिर पड़ा।

फिर क्या था पृथिवी पर तथा अन्तरिक्षमें आनंदका सागर उमड़ने लगा देव गण आकाशसे जय घोष करने लगे, सुमुधुर स्वरमें देवताओं की दुन्दुभियाँ बजने लगीं। सुरगण आनंदमें विभोर हो सुर द्रुमों के सुमनों की वृष्टि करने लगे।

राजकन्या लक्ष्मणा इस समाचार को सुनकर फूली नहीं समाई। उसके रोम रोम से प्रसन्नता फूट फूटकर निकल रही थी। सखियों ने उसका सुन्दरताके साथ शृंगार किया, सुन्दर स्वच्छ बहु मूल्य नवीन दो रेशमी वस्त्र पहिनाये। चोटीमें रंग विरंगे सुगन्धित सुमनों की माला गूँथ दी। उसके हाथों में सुवर्णसे दमकती हुई मणियोंकी मनोहर माला देदी। उस विजय मालाको लिये हुए मन ही मन मंद मंद मुसकाती, लजाती, सकुचाती, कड़े छड़े आदि पैरों के आभूषणों को बजाती शःनैशनैः रंगशाला में आई। उस समय उसकी उत्तम अलकावली तथा कमनीय कनक कुंडलों की कान्ति से देदीप्यमान और कलित कपोलों की शोभा से युक्त मनहर मुखारविन्द शरद कालीन पूर्ण चन्द्र की आभा को भी तिरस्कृत कर रहा था। उसकी शुभ्र दन्तावलियों में निकली किरणोंका शुभ्र प्रकाश उस रंगशालाको आलोकित कर रहा था। शरच्चन्द्रिकाके समान मंद मन्द मनहर मधुर हास्ययुक्त कटाक्ष भंगीसे चंचलता पूर्वक वह बीच बीच मे निहारती जाती थी। मानों अपने इष्ट की खोज में अत्यंत ही व्यग्र हो रही हो। वह अपने कुटिल कटाक्षों को जब अन्य कुत्सित विचार वाले

राजाओंकी ओर फेंकती तो ऐसा लगता मानों वह उनका तिरस्कार कर रही हो। उनकी कायरता पर उन्हें धिक्कार दे रहीहो इस प्रकार सबके हृदय में ईर्ष्या द्वेष की अग्निको अपने अनवद्य सौंदर्यकी फूंकसे प्रज्ज्वलित करती हुई वह शनैःशनैः श्यामसुन्दर के समीप आई और अपने कंपित कर कमलों से उसने वह मणिमयी विजयमाला श्रीहरि के कमनीय कंठ में पहिना दी।

मालाके पड़ते ही मधुर-मधुर मंगल वाद्य आदि बजने लगे। मृदङ्ग, पणव, शंख भेरी और आनक वाद्योंकी मधुर ध्वनि से दशों दिशायें गूंजित हो उठीं। नट नर्तक नृत्य करने लगे। गायक गण गोविन्द के गुण सम्बन्धी गीत गाने लगे। नर्तकियाँ हाव भाव कटाक्षों द्वारा भावोंको प्रदर्शित करती हुई नृत्य करने लगीं।

कन्या के अनुपम रूपको निहार कर सबकी ईर्ष्या द्वेष की अग्नि और भी अधिक प्रज्ज्वलित हो उठी। वे सबके सब क्रोधमें भरकर अस्त्र शस्त्रोंको सम्हालकर अपने-अपने आसनोंसे उठपड़े। उन्होने चारों ओर से कन्या को घेर लिया। और चिल्लाने लगे यह हम लोगो का घोर अपमान है। इस कन्याने हम सबका तिरस्कार किया है। राजाओं के रहते गोपाल को वरण किया है। इस कन्याको बलपूर्वक पकड़ लो और हम सबमें जो भी बली हो उसीके साथ उसका विवाह कर दो।" यह कहते हुए वे कन्या को पकड़ने दौड़े। उनके ऐसे अभिप्राय को समझकर लक्ष्मणा अत्यन्त ही भयभीत हो गयी। वह मन ही मन भवभय हारी भगवान् से प्रार्थना करने लगी—"हे दीनवत्सल! हे अश-

रण शरण ! इन दुष्ट राजाओंमें से कोई मुझे स्पर्श न कर सके।" भगवान्‌को उसकी दशा पर दया आई। उन्होंने तुरन्त ही सबको डाँट दिया। देखते-देखते भगवान् चतुर्भुज हो गये। दो हाथोंसे तो उन्होंने अपनी प्रिया लक्ष्मणा को पकड़ लिया और दो हाथों में धनुष बाण लेकर वे उन दुष्ट राजाओं के ऊपर बाण वर्षा करने लगे। इतने में ही दारुक सारथी सुन्दर चार घोड़ों वाले रथको जोत कर ले आया। भगवान् ने तुरन्त अपनी प्रिया को बिठा लिया और सिंह जैसे अपने भाग को लेकर सब के देखते देखते निर्भय होकर चला जाता है उसी प्रकार वे सब के बीचसे कन्या को लेकर भाग गये।

इस पर वे सब राजागण परस्पर में एक दूसरे को धिक्कारने लगे। कोई कहता—"तुमने नही रोका" कोई कहता—"तुम खड़े ही रहे।" इस पर एक ने कहा—"अभी क्या बिगड़ा है, चलकर पकड़ क्यों नहीं लेते।" यह सुनकर बहुत से राजा जैसे सिंह के पीछे कुत्ते दौड़ते हैं वैसे दौड़े, किन्तु भगवान् के शार्ङ्ग-धनुष के सम्मुख ठहरने की सामर्थ्य किसमें थी। कुछ तो क्षतवक्षित होकर गिर गये कुछ प्राणों को लेकर भाग गये। सब राजा हारकर अपने-अपने देशो को लौट गये।

सब राजाओ के चले जाने पर महाराज बृहत्सेन दहेज की नाना सामिग्रियो के सहित अपने बन्धु बान्धव और पुरोहितको लेकर द्वारकापुरी में आये और शुभ मुहूर्त में उन्होंने लक्ष्मणाका भगवान् के साथ शास्त्रोक्त विधिसे विवाह कर दिया। इस प्रकार भगवान् के रुक्मिणीजी, जाम्बवतीजी, सत्यभामाजी, कालिन्दी,

मित्रविन्दाजी, भद्राजी, नाग्नजिती सत्याजी और लक्ष्मणाजी ये आठ पटरानियाँ हुईं। इन के अतिरिक्त सौ ऊपर सोलह सौ रानी भगवान् की और थीं, जो भगवान् को एक साथ ही अकस्मात् मिल गईं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सोलह सहस्र कन्या एक साथ कैसे मिल गयी। महाभाग! सोनेकी, चाँदीकी, तावेकी तथा अन्य धातुओं की खाने तो सुनी हैं, देखी भी हैं; किन्तु ऐसी कोई खान नहीं देखी जिसमें से राजकन्या निकलती हों। बिना खान के एक साथ सोलह सहस्र कन्याओं का मिलना तो असम्भव सा ही है।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज संभव असंभव तो हम साधारण लोगों के लिये है। भगवान् के लिये कुछ भी असंभव नहीं। भगवान् की इच्छा से सब कुछ हो जाता है। जिनके तनिक से संकल्प मात्र से असंख्यों ब्रह्माण्ड नित्य बनते बिगड़ते रहते हैं, उनके लिये सोलह सहस्र राजकन्याओं का प्राप्त कर लेना कोई कठिन बात नहीं है। भगवान् को कोई राज कन्याओं की खान नहीं मिली। वे सबकी सब भौमासुर के किले में बन्दी बनी रहती थी। भगवान् ने उनका उद्धार किया और उनकी इच्छा समझ कर उनका सविधि पाणिग्रहण किया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह भौमासुर कौन था? इसने इतनी कन्याओं को कहाँ से क्यों इकट्ठा किया था? भगवान् ने उसे क्यों मारा? कृपा करके हमारे इन प्रश्नों का

उत्तर दें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! अब मैं इन्हीं प्रश्नों के उत्तरों को देकर विवाहाध्याय को समाप्त करूँगा।"

मद्राधिप नृप बृहत्सेन पुनि धन लै धाये।
करयो लक्ष्मणा ब्याह श्याम सँग मन हरषाये॥
यों पटरानीं आठ ब्याहको वृत्त कह्यो सब।
जैसे सोलह सहस बरीं जो कथा कहूँ अब॥
भौमासुर नृप अति प्रबल, डरपें सुर नर दैत्य सब।
स्वर्ग, भूमि, पाताल महँ, करत फिरत उत्पात नब॥

भौमासुर के उत्पात

(११०८)

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः
निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्ग धन्वनः ॥
(श्रीमा० १० स्क० ५९ अ० १ श्लो०)

छप्पय

वरुन देवकूं जीति छत्र अरु चवर उड़ाये ।
स्वर्ग लोक महँ गयो अदिति कुंडल अपनाये ॥
मेरु शिखरतें मणि पर्वत अपने घर लायो ।
जहँ जहँ निरखे रत्न छीनिके खल लै आयो ॥
सुर सुरपति अति ह्वै दुखित, द्वार दयानिधिके गये ।
कहे सकल खलके चरित, सुनत श्याम सकुचित भये ॥

भगवान् धर्मसंस्थापनार्थ ही अवनिपर आते हैं। धर्मसंस्थापन में यदि उनके पुत्र भी बाधक होते हैं, तो वे उनका विनाश कर देते हैं। भगवान् के या तो सभी अपने हैं या इनका कोई अपना पराया है ही नहीं। असाधुओंका दमन हो साधुओंकी रक्षा हो

---

*महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजीसे पूछ रहे हैं—"ब्रह्मन् ? जिस भौमासुरने उन सोलह सहस्र स्त्रियोंको बन्दीगृह मे डाल रखा था, उसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने क्यों और किस प्रकार मारा ? शार्ङ्ग धन्वा भगवान् के उस विचित्र पराक्रमयुक्त चरित्रको हमें सुनाइये ।"

धर्मका अभ्युत्थान हो। अधर्म का बल क्षीण हो, अवतार लेकर वे यही कृत्य किया करते हैं। असुर भी उनके ही वीर्यसे उत्पन्न होते हैं, उनके बलसे बली होते हैं और उनकी ही इच्छा से युद्ध में भी प्रवृत्त होते हैं। सबको वे ही सर्वेश्वर नचा रहे हैं। सबके नचाने वाले को भी बालकपन में माता नचाती है और युवावस्था में रानियाँ अपने संकेत से नचाती हैं। यही उनकी अचिन्त्य माया शक्ति की क्रीड़ा है।

सूतजी कहतेहैं—"मुनियो! आठ विवाह करके भगवान् द्वारका में आकर आनन्द करने लगे। अब वे सदा महलों में ही विराजमान रहते। नारदजीको नतो स्वयं ही एक स्थानमें चुपचाप बैठे रहना प्रिय है, न वे दूसरोंको ही चुपचाप बैठे रहने देना चाहते हैं। भगवान् भी जब अवतार नहीं लेते, समुद्र में तान दुपट्टा सोते रहते हैं और लक्ष्मीजीसे चरणदबवाते रहतेहैं। तो वे उन्हें भीशाप आदि देकर अवतार लेनेको उत्साहित करते रहतेहैं। वे चाहते हैं कुछ खट पट होती रहे। भगवान् आठ विवाह करके जब चुप हो गये तो नारदजी को बड़ा बुरा लगा। उन्होंने सोचा—'बिना छेड़छाड़के भगवान् कुछ करेंगे नहीं अवश्य होनी चाहिये इसी विषयपर नारदजी सोचते रहे सोचते सोचते नारदजी के विचारमें यह बात आई कि भगवान् के आठ पटरानीयां हैं, इनमें ही आपसमें कुछ खट पट करानी चहिये घरकी लड़ाईसे मनुष्य को अधिक उद्वेग होता है। भगवान को उद्वेग तो होगा ही क्या, किन्तु कुछ न कुछ लीला आरम्भ हो जायगी।' यही सोचकर वे स्वर्ग में गये। वहाँसे कल्पवृक्ष के सुन्दर सुन्दर सात पुष्प तोड़ लाये। उन पुष्पों को लेकर वीणा बजाते हरिगुण गाते द्वारकाजी में पहुँचे। सर्वप्रथम रुक्मिणीजी के ही महलों मे गये। उनकी तो कहीं रोक टोक थी ही नहीं। दनदनाते हुए भीतर घुस गये। नारदजी को देखकर भगवान्

अपने आसन से उठ पड़े और बोले—"आइये, नारदजी महाराज ! अबके तो बहुत दिनोंमें दर्शन दिये । कहिये कुशल मंगल तो है ?"

नारदजीने कहा—"आये, महाराज ! क्या कुशल है ! आप तो महलोंके भीतर बैठे रहते हैं और हमें चौदह भुवनोंमें घुमाते रहते हैं ?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"नारदजी ! तुम्हारे पैरमें तो चक्कर है, तुम एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकते । देखिये, स्थिरता होती है स्त्री से । जिसके स्त्री नहीं जो फक्कड़ है उसकी क्या स्थिति । वह तो सूखे पत्ते के समान, भूले ऊँटके समान, बहते जलके समान है । जहाँ भी प्रारब्धवश पहुँच गये । घर तो गृहिणीसे होता है । गृहिणी शब्दका अर्थ ही यह है, जो ग्रहण करले, पकड़ले । अब महाराज, मैं तो आपकी भाँति बाबाजी तो हूँ नहीं । मेरे आठ आठ पत्नी है । तुम्हारी भाँति घूमूँ तो मेरी गृहस्थी ही चौपट हो जाय । अच्छा, यह बताओ कहाँसे आरहे हो, इस समय ?"

नारदजीने कहा—"इस समय भगवन् मैं स्वर्गसे आरहा हूँ ।'

भगवान्‌ने कहा—"कहो, स्वर्गमें सब कुशल मगल है न ? इन्द्रदेव अच्छे हैं न ? हमारे लिये स्वर्गसे क्या लाये ?"

नारदजीने कहा—"इन्द्रदेव अपने कुशल समाचार स्वयं ही आकर आपसे कहेंगे । रही लानेकी बात सो महाराज ! हम पर तो लानेको वे ही "पत्र, पुष्प और पानी है" देखिये ये पुष्प मैं आपके लिए लाया हूँ ।" यह कहकर बड़े-बड़े सात कल्पवृक्षके फूल भगवानके सम्मुख रख दिये ।" पुष्प अत्यन्त ही सुन्दर थे । उनकी सुगन्धिसे सम्पूर्ण भवन भर गया ।

भगवानने कहा—"बड़े सुगन्धित पुष्प लाये नारदजी ! आप तो सब विद्याओंमें बड़े पारङ्गत हैं !"

भगवान् यह कह ही रहे थे, कि उसी समय सज वजकर रुक्मिणीजी आगईं। उन्होंने आते ही नारदजीके चरणोंमें प्रणाम किया और भगवानके सम्मुख खड़ी हो गईं। पुष्पोंके सुन्दर सुगन्धिसे उनका मन अत्यन्त ही प्रसन्न हो गया। वे बोली—"प्राणनाथ! ये पुष्प तो देखनेमें भी बड़े सुन्दर हैं, फिर इनकी सुगन्धिका तो कहना ही क्या? ऐसे सुन्दर सुमन आपके समीप कहांसे आये?"

हँसते हुए भगवान बोले—"क्यों तुम्हारा मन ललचा उठा क्या?" ये देवर्षि नारद स्वर्गसे इन्हें लाये हैं। ये पुष्प कभी म्लान नही होते। सदा ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इनकी सुगन्धि भी कभी नष्ट नही होती। तुम इन्हें ले जाओ, सबके यहाँ एक एक भेज देना।"

भगवान् ने पुष्पों को गिना तो था नही, बड़े-बड़े पुष्प थे ढेर लगा रखा था। रुक्मिणीजी अत्यन्त ही उल्लास के साथ उन्हें अपने अञ्चल में भर कर ले गईं। अपने भवन में जाकर उन्हें गिना तो वे सात निकले। एक तो उन्होने स्वयं रख लिया और शेष छै छऊ रानियों के यहाँ भेज दिये। सत्यभामाजी के यहाँ नही भेजा। फूल था भी नही और कुछ उनकी सत्यभामाजी से लाग डाट भी रहती थी, क्योंकि सत्राजित्की पुत्री होनेसे वह बड़ी अभिमानिनी थी। इस बातको नारदजी जानते थे, क्योंकि वे तो घरके भेदिया थे। यही उन्हें अभीष्ट भी था।

भगवान्से इधर उधरकी बातें करके अब वे सब रानियोंके घर जाने लगे। सबके यहाँ जाकर पूछते—"हम स्वर्गसे एक अद्भुत वस्तु लाये हैं तुम्हें मिली या नहीं?"

सब कहती—"हाँ, महाराज! नन्दन कानन का दिव्य पुष्प लाये थे, उसमें बडी सुगन्धि है?"

इस प्रकार सबसे पुछते-पूछते सत्यभामाजीके महलों में गये

उनसे भी पूछा–"रुक्मिणीजीने तुम्हें कोई अद्भुत वस्तु भेजी ?"

सत्यभामाजी ने कहा—"कैसी अद्भुत वस्तु महाराज ! मुझे तो कुछ मिली नही ।"

अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करते हुए नारदजी बोले–"अरे, तुम्हें नही मिली । हम स्वर्गसे कल्पवृक्षके बड़े सुन्दर सुन्दर पुष्प लाये थे । भगवान्ने उन सबको रुक्मिणीजी को दे दिया । उन्होंने सबके घर पहुँचा दिये । हम सबके घरों में अभी देखकर आ रहे है । यह सामने देखो, सत्या रानी के घर में कैसी दिव्य सुगन्धि आ रही है ।" सत्यारानी का महल सत्यभामाजी के महलसे सटा ही हुआ था । कुतूहलवश वे उनके यहाँ गई । यथार्थ में पुष्प बड़ा सुन्दर था । उसकी सुगन्धि से समस्त भवन सुवासित हो रहा था । पुष्पको देखकर सत्यभामा जी के मनमे बड़ी ईर्ष्या हुई आकर नारदजीसे बोली–"महाराज ! बड़ी रानीजीने जिन्हें रानी समझा उनके यहाँ पुष्प भेज दिये । मैं न रानी हूँ न राजपुत्री हूँ । मैं तो दासी हूँ । जैसे और सहस्रों दासियाँ हैं वैसेही मै हूँ । इतना कहते कहते उनका मुख फूलकर कुप्पा हो गया । नारदजी मन ही मन प्रसन्न हुए । मेरा लक्ष्य उचित स्थान पर लगा । इस प्रकार कलह का बीज बो कर नारदजी यह गये वह गये ।"

जब भगवान् बाहर से सत्यभामाजी के समीप आये, तो दासियों से पता चला, रानीजी तो कोप भवन में मलिन वसन धारण किये खटपाटी लेकर पड़ी है । भगवान् का माथा ठनका । वे समझ गये आज नारदजी आये थे, अवश्य ही कोई कलह का बीज बो गये होंगे । वे सीधे सत्यभामाजीके पास गये और बोले–"प्रिये ! क्या बात है, क्यों तुम क्रुद्ध हो गयी हो ? क्यों यहाँ कोप भवन में खटपाटी लिये पड़ी हो ?"

तुनककर सत्यभामाजी बोलीं—"नही महाराज ! हमसे आपके बोलने का कोई काम नही । जो आपकी प्यारी रानी हों

उनके पास जाइये। मुझे तो आप कहीं से मोल ले आये हैं मैं तो आपकी रखेली हूँ।"

भगवान् ने प्यार के साथ कहा—"बात भी तो सुनें, क्या बात हो गयी। इतनी अप्रसन्नता का तो कोई कारण नहीं। मुझ से कोई अपराध हो गया हो तो उसे क्षमा कर दो। क्षमा न करना चाहो, तो जो चाहो उचित दण्ड दे लो।"

यह सुनकर सत्यभामाजी का मान और बढ़ गया, वे मुँह फेर कर बोली—"मैं दण्ड देने वाली कौन होती हूँ। दण्ड तो वे ही दे सकती हैं। जिनके पास आप सब अच्छी अच्छी वस्तुएँ भेज देते है।"

भगवान् ने खीजकर कहा—"कौन-सी अच्छी वस्तु भेज दी सुनें तो सही। तुम तो पहेली-सी कह रही हो। मुझे तो स्मरण भी नहीं आता किसी को मैंने कोई भी वस्त्र आभूषण अधिक दिया हो, सबको एक-सी वस्तु भेजता हूँ।"

सत्यभामाजी बोलीं—"हाँ, महाराज! आपको काहे को स्मरण रहेगा। सब जो रानी है उनको सब वस्तुएँ भेजते हो। दासियों को भूल जाते हो।"

भगवान् ने अत्यन्त खीज के साथ कहा—"हाय रे! भगवान् इन स्त्रियों से बचावे। बात तो बतावेंगी नहीं। मुँह लटका लेंगी। बताओ कौन-सी वस्तु तुम्हें नहीं दी।"

सत्यभामाजी ने कहा—"स्वर्ग से जो कल्पवृक्ष के पुष्प आये थे, वे सबके महलों को सुवासित कर रहे हैं, एक मैं ही तो उनसे वञ्चित रह गई हूँ, क्यों कि मैं आपकी बड़ी रानीजी की दासीयों की दासी हूँ।"

भगवान् ने कहा—"छिः छिः स्त्रियोंका हृदय कैसा छोटा होता है। तनिक-सी बात पर तुनक जाती है। आकाश पाताल एक कर देती हैं। यह भी कोई बात है। फूल के लिये आग बबूला हो

रही हो ? राम राम ?"

सत्यभामाजी ने अधिकार के स्वर में कहा–"हाँ, महाराज ! स्त्रियो का हृदय तो छोटा होता ही है। पुरुषों का बड़ा विशाल हृदय होता है जो एक के कान में कहते है मैं तुमसे सबसे अधिक प्यार करता हूँ,यह बात दूसरे से कहते हैं। अपने स्वार्थकी सिद्धि के लिये प्रेम का ढोंग रचते हैं। पुरुषों के बराबर कपटी तो कोई हो ही नहीं सकता। मैं फूलों की भूखी नहीं, किन्तु महाराज मान का पान भी बहुत होता है। फूल क्या वस्तु है, किन्तु इससे आपके हृदय की संकीर्णता का तो पता लगता है,जब आप साधारण फूल के पीछे इतना भेद भाव रखते है, तो मणिमाणिक्यों के लिये तो न जाने कितना भेद रखते होगे। मेरी आँखों में धूलि झोंककर चुपके चुपके भेजते रहते होंगे। आज जब कलई खुल गई तो स्त्रियों का हृदय छोटा बता रहे हैं।"

भगवान् ने अत्यन्त ही प्यार से उनके सिर पर हाथ रखते हुए कहा—"देखो, मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ, मुझे पता भी नहीं कितने फूल आये किस किस के यहाँ भेजे गये। नारद ने लाकर रखे। मैंने उन्हें एक साधारण-सी वस्तु समझा रुक्मिणि जी आई उठा ले गयी। तुम्हारे यहाँ नही भेजा, कोई बात नही, तुम चिन्ता मत करो। एक फूल की क्या बात है, हम कल्पवृक्ष का पेड़ ही लाकर तुम्हारे घर में लगा देंगे। तुम चाहें फूलों को बाँटती रहना।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए सत्यभामाजी ने कहा–"सत्य कहते हो, मुझे भुलावा तो नही दे रहे हो, छल कपट तो नहीं कर रहे हो।"

भगवान् ने कहा—"अब तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ, कहो पट्टा लिखदूँ।"

सत्यभामाजी ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ कहा–"नहीं, प्राण-

नाथ ! मुझे आपकी बात का विश्वास है। देखना भूल मत जाना। मेरे आंगन में कल्पवृक्ष अवश्य लगा देना।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, समय आने दो।" यह कहकर भगवान् सुधर्मा सभा में चले गये। कुछ दिनों में बात पुरानी होगयी।

एक दिन भगवान् सत्यभामाजी के भवन में विराजमान थे कि उसी समय द्वारपालने आकर सूचना दी—"प्रभो ! देवराज इन्द्र आपके दर्शनों को बाहर खड़े हैं।"

भगवान् ने आज्ञा दी—"उन्हें आदर पूर्वक भीतर ले आओ।"

भगवान् की आज्ञा पाकर द्वारपाल आदर पूर्वक देवेन्द्र को भीतर लाये। उन्होंने आते ही अपने मणियों के मुकुट युक्त सिर को भगवान् के चरणों में रखकर प्रणाम किया और फिर भगवान् के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हो गये। भगवान् ने कहा—"कहो, देवराज ! कैसे कष्ट किया ? आप आनन्द पूर्वक तो हैं न ? स्वर्ग में कोई उत्पात तो नहीं हो रहा है। आप उदास कैसे हो रहे हैं ?"

हाथ जोड़कर देवेन्द्र ने कहा—"प्रभो ! जब हम आपकी महिमा को भूलकर अपने को सर्व समर्थ ईश्वर मानने लगते हैं, तभी दुखी हो जाते हैं। आज कल प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भौमासुर ने पृथिवी पर तथा स्वर्ग में बड़ा उपद्रव मचा रखा है।"

भगवान् ने पूछा—"उसने क्या उपद्रव मचा रखा है।"

इन्द्र ने कहा—"भगवान् आप सर्वज्ञ हैं, सब जानते हैं। आपको जताना नहीं है, किन्तु जब आप आज्ञा दे रहे हैं, तो मैं निवेदन करता हूँ। उसने बहुत से राजाओं की सुन्दरी सुन्दरी कन्याओं का अपहरण किया है। उन सबके साथ उसने अभी तक विवाह तो किया नहीं, किन्तु कुछ नियमित संख्याओं में होने पर सबके साथ एक संग विवाह करना चाहता है। अभी तक

उन सबको बन्दिनी बनाकर अपने किले में रोक रखा है। इस कारण से समस्त राजागण जिनकी कन्यायें हरी गई है वे उससे मन ही मन असन्तुष्ट है। पृथिवी पर ही नही स्वर्ग मे भी उसने बड़ा द्वंद मचा रखा है। एक बार वरुण के यहाँ वह गया। उनसे बोला—"वरुणदेव ! सुना है तुम बड़े बली हो आओ मुझ से युद्ध करो।"

वरुणजी तो जानते थे, यह आपके वरदान से अवध्य है, अतः वे लड़ने को सहमत नहीं हुए तब यह उनका दिव्य राजछत्र लेकर चला आया। एक दिन वह मेरे यहाँ भी गया, मुझे भी उसने युद्ध के लिये ललकारा। आपका पुत्र समझकर आपसे वर प्राप्त समझकर मैंने युद्ध करना स्वीकार नहीं किया, इस पर वह मेरी माताजी के दिव्य कुण्डलों को-जिनसे सदा अमृत चूता रहता है—लेकर चला आया। इसी प्रकार उसने सुमेरु पर्वत के मणि पर्वत को भी उखाड़कर अपने वश में कर लिया। जब तक आप उसे मारेंगे नहीं तब तक वह मानेगा नहीं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तुम जाओ। हम उसका कुछ प्रबन्ध करेंगे।" यह सुनकर देवेन्द्र भगवान् के पाद पद्मों में प्रणाम करके अपने लोक को चले गये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! देवेन्द्र ने भौमासुर को भगवान् का पुत्र बताया। इस विषय में हमें सन्देह है कि यह भगवान् का पुत्र कैसे हुआ।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान् की चार मूर्ति हैं। एक मूर्तिसे तो वे घोर मृदु तप करते हैं,जैसे बदरीवनमें नरनारायणरूपसे। दूसरी मूर्ति से विश्व का परिपालन करते हैं, जैसे विष्णुमूर्ति से अथवा मन्वन्तरावतार मूर्ति से। एक मूर्ति से भोग भोगते हैं जैसे श्रीकृष्ण मूर्तिसे और एक मूर्ति से तान दुपट्टा सोते हैं जैसे क्षीरशायी नारायण मूर्ति से। ये सब एक ही हैं,

इनमें कोई भेद नहीं है। जैसे कूए में रहट चलता है। रहट तो एक ही है। उसके बहुतसे पात्र जल भरते हैं बहुतसे जल भरे हुए ऊपर आते हैं। बहुतसे जलको रिक्त करते हैं। बहुतसे रीते होकर नीचे जल भरने जाते हैं। लोग यही कहते हैं कूए में रहट चल रहा है चारों काम करनेवाला रहट एकही कहाता है। चतुर्मूर्ति भगवान् एक मूर्ति से जो काम करते करते उपरत हो जाते हैं तो दूसरा काम करने लगते हैं। जैसे जो तपस्या कर रहे हैं, तप करते करते थक गये वे जाकर विश्वपालन करने लगे। दूसरी मूर्ति से आकर तप करने लगे। फिर जो विश्वको पालन करते करते थक गये, वे आकर भोग भोगने लगे। भोग भोगते भोगते ऊब गये तो तान दुपट्टा सो गये। सोते सोते ऊब गये तो फिर तपस्या करने लगे। ऊबना थकना यह भगवान् में संभव नहीं। उपचार वश इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। भगवान् की तीन पत्नियाँ हैं। भू देवी,श्री देवी और लीलादेवी इनके ही साथ भगवान् क्रीड़ा करते हैं खेल खेलते हैं। भगवान् जब तप कर रहे थे, तो भू देवी भी सकामभाव से तपस्या करने में प्रवृत्त हो गयीं। तपस्या के अन्त में भगवान् सायंकाल में उठे, उठते ही तपस्या करती हुई पृथिवी से प्रसन्न होकर बोले–"तुमने बहुत तप किया है, तुम मुझ से कोई वर माँग लो।"

भू देवी ने कहा—"महाराज ! मुझे एक पुत्र की इच्छा है, आप मुझे अभी पुत्र प्रदान करें।"

सत्य संकल्प प्रभु के लिये कुछ असंभव तो है ही नहीं। वे बोले—"पुत्र तुम्हारे हो जायगा किन्तु वह असुर प्रकृति का होगा।"

भू देवी डर गयीं बोली—"महाराज ! असुर पुत्र किस काम का आप देवाधिपति हैं आपका पुत्र असुर हो यह उचित नहीं।

भगवान् ने कहा—"समयानुसार सुर, असुर, दैत्य, गंधर्व,

यक्ष, नाग, सरीसृप, मनुष्य, अंडज, पिंडज, स्वेदज तथा उद्भिज सबकी उत्पत्ति मुझसे ही होती है। तुमने आसुरी वेला—संध्या के समय—पुत्रकी इच्छा की, इसलिये आसुरी वेला में तो असुर ही पुत्र होगा।"

भू देवी ने कहा—"अच्छी बात है, असुर ही हो, किन्तु आप मुझे वर दें। आप असुरों को अपने चक्रसुदर्शन से मारते हैं। मेरे पुत्र को न मारें।"

भगवान् ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"मरना जीना यह तो शरीर धारियों के साथ लगा ही रहता है। इसके लिये अज्ञानी सोच करते हैं, ये दोनों साधारण स्थितियाँ है। फिर भी मैं तुम्हारे पुत्र को तब तक न मारूँगा, जब तक तुम स्वयं इसे मारने को न कहो।"

यह कहकर भगवान् अपने काममें लग गये। उसी समय भूमि के नरकासुर नामक पुत्र हुआ। भूमि से उत्पन्न होने के कारण उसे भौमासुर कहते है।

भौमासुर बड़ा बली था। भगवान् के वरदान से उसे कोई मार नहीं सकता था। वही नरकासुर हिमालयके प्राग्ज्योतिषपुर नामके नगर में राजधानी बनाकर क्षत्रिय रूप में अवतीर्ण होकर राज्य करता था। उससे सब लोकपाल थर थर काँपते थे। जब स्वर्ग में जाकर इन्द्र की माता के कुण्डलों को छीन लाया और उनका घोर अपमान किया, तब अन्यत्र कहीं शरण न देखकर देवेन्द्र भगवान् द्वारकानाथ की शरण आये। उनसे अपना दुखड़ा रोया। भगवान् ने आश्वासन दिया। "अच्छा हम सब प्रबन्ध करेंगे" इस आश्वासन को पाकर देवेन्द्र स्वर्ग को चले गये।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो अच्छा सूतजी! फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! हुआ क्या? अब तो भगवान

वचनबद्ध हो चुके थे, उन्हें जाना ही था। भगवान्‌का काम ही है दुष्टों का दमन करना शिष्टों का पालन करना। फिर उन्हें उन बन्दिनी लड़कियों का भी लालच था ही। एक साथ ही बहुत-सी बहुएँ मिल जायँगी।" यही सब सोचकर उन्होंने गरुडजी का आवाहन किया। आवाहन करते ही तुरन्त अपने पङ्खों को फट-फटाते हुए गरुड़जी वहाँ आ पहुँचे।

गरुडजी के आनेपर भगवान् सत्यभामाजीसे बोले—"चलती हो, तुम्हें हिमालय में भ्रमण करा लावें।"

स्त्रियाँ तो घूमने फिरनेके लिये उधार खाये बैठी ही रहती हैं। तुरन्त सत्यभामाजी बोलीं—"चलिये, प्राणनाथ! आपके साथ घूमने फिरने में तो बड़ा आनन्द आता है।"यह कहकर वे काजर बेंदी लगाकर, लँहगा फरिया पहिन ओढ़कर तुरन्त तैयार हो गयी। भगवान्‌ने गरुड़के पीछे उन्हें बिठाया आगे स्वयं बैठ गये। आज्ञा पाते ही गरुड़जी उडने लगे।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! सत्यभामाजी तो भ्रमण का अवसर आने पर मना करती ही क्यों, किन्तु भगवान् को सोचना तो चाहिये वहाँ लड़ाई भिड़ाई होगी, दोनों ओर से अस्त्र शस्त्रों की वर्षा होगी, ऐसे समय सत्यभामाजी के ले जाने का क्या प्रयोजन था? भगवान् उन्हें क्यों साथ ले गये?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! यह तो मैं पीछे ही बता चुका हूँ, कि भगवान् ने पृथिवी को वर दिया था, कि "जब तक तुम न कहोगी,तब तक मैं तुम्हारे पुत्र नरकासुर को न मारूँगा।" अब नरकासुर के मारने का अवसर आ गया था। सत्यभामाजी पृथिवी का ही अंशावतार थी। अतः इनकी आज्ञा लेना अत्या-वश्यक था, इसीलिये भगवान् उन्हें साथ ले गये।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा तो फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"फिर होना क्या था, जब कोई किसी पर

चढ़ाई करदे, तो वह अपने बचाव का शक्तिभर प्रयत्न करेगा। प्राणों का पण लगाकर युद्ध करेगा। भगवान् ने नरकासुर के पुर पर चढ़ाई की। इस पर लड़ाई भिड़ाई हुई। गुत्थम गुत्था हुई। मारपीट हुई। इन सब बातों का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

बोले सब सुनि श्याम—"बात सुरपति सब जानी।
भौमासुर ह्वै गयो दुष्ट अतिशय अभिमानी॥
अदिति मातु ढिग जाइ सुखद सन्देश सुनावें।
लकें कुण्डल शीघ्र स्वर्ग हमहू आवें॥
पाइ वचन घनश्याम तें, सुरपति निज पुर चलि दये।
सतभामा सँग गरुड़ चढ़ि, नरकासुर पुर हरि गये॥

भौमासुर के पुर में प्रभुका प्रवेश और उसका वध

(११०६)

प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन्गदाः
शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः ।
तच्छस्त्रकूटं भगवान्स्वमार्गणै—
रमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५९ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

गिरि,शर,जल अरु अनिल,अनल परकोटा पुरके ।
दश सहस्र अति घोर पाश घेरे फिरि मुरके ॥
श्याम गदा, शर चक्र-सुदर्शन तें काटे सब ।
पुरपालक मुर असुर देखि लड़िवे आयो तब ॥
भये मुरारी मारि मुर, हरि सिर काटे चक्र तें ।
शोभित धड़ पर्वत सरिस, कटे शिखर जनु शक्र तें ॥

भगवान् अपने अस्त्रोंसे असुरोंको मार देते हैं,इसमें भगवान्की प्रशंसा नहीं है। जिनकी तनिकसी कुटिल भृकुटि होते ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी प्रलय हो जाती है, उनके लिये एक नगरको नष्टकर

* श्रीशुकदेवजी कहते है—राजन् ! भौमासुर के सैनिको ने आकर भगवान् के ऊपर बाण, खड्ग, गदा, शक्ति, ऋष्टि और त्रिशूल आदि प्रचण्ड शस्त्रों की वर्षा करने लगे । इस पर अमोघ वीर्य भगवान् वासुदेव ने उन समस्त शस्त्रो को अपने बाणों से तिल तिल करके काट दिया ।"

देना अथवा एक दो असुरों को मार देना कोई बड़ी बात नहीं। किन्तु इन कामों में उनकी भक्तवत्सलता छिपी रहती है। जिन्हें मारते हैं उन्हें भी मुक्ति प्रदान करते हैं और जिनके लिये उन्हें मारते हैं उन्हें भी इष्टवस्तु प्राप्त कराके अपनी अहैतुकी भक्ति प्रदान करते हैं। मङ्गलमय भगवान् के सन्धि विग्रह सभी कार्य मङ्गलमय ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवराज इन्द्र के चले जाने पर भगवान् सत्यभामाजी के साथ गरुड़ पर चढ़कर भौमासुरके प्राग-ज्योतिषपुर नामक नगर में पहुँचे। वह नगर उस असुर ने ऐसा सुदृढ़ बना रखा था, कि किसी का भी उसमें प्रवेश होना सम्भव नहीं था। सर्वप्रथम तो उसके चारों ओर ऊँचे ऊँचे पहाड़ थे। मानों पहाड़ोंका ही उस नगरका परकोटा हो। उसमें से निकलने को चारों दिशाओंमें चार द्वार थे,जिनमें वज्रके बड़े भारी कपाट लगे थे और जिन पर सहस्रों अनावृत अस्त्र लिये सैनिक घूमते रहते। पहाड़ों के भीतर चारों ओर अस्त्र-शस्त्रों का परकोटा था बड़ी बड़ी शतघ्नियाँ चारों ओर परकोटों पर रखी थीं जिनमें कोई भी शत्रु प्रवेश करने की चेष्टा करे उसे तुरन्त मार दिया जाय। फिर उसके चारों ओर अगाध जलकी खाई थी। जिसमें कोई पार न आ सके। जलके आवरणके अनन्तर वह्निका आव-

वायु का भी उस पुरमें प्रवेश करना सम्भव नहीं था।

भगवान्‌ने सर्व प्रथम जो पहाड़ों का परकोटा था उसे अपनी कौमोदिकी गदा से तोड़ डाला। सब पर्वत गदाके आघातसे चूर्ण हो गये। जितने अस्त्र शस्त्र उसके चारों ओर थे, उन्हें बाणों से व्यर्थ बना दिया। अग्निको सुदर्शन चक्रने शांत कर दिया, उसीने जल को सोख लिया, वायुको भी छिन्न भिन्न कर दिया। अब जो मुर के दश सहस्र पाश थे उन्हें खड्ग से काट दिया। सबको काट छांटकर उन्होंने अपने पाञ्चजन्य नामक शंख को बजाया। उसके भीषण नाद को श्रवण करके शत्रुओं के हृदय फटने लगे। यन्त्र अपने आप गिरने लगे। पृथिवी कांपने लगी। भीतरी परकोटे को भी भगवान् ने गदा मारकर गिरा दिया।

उस पुर का पालक मुर नामक दैत्य था। वह बड़ा बली था। पांच उसके सिर थे। वह सदा सलिल में सुख से शयन करता रहता था। भगवान् ने शङ्ख की प्रलय कालीन वज्रपात के सदृश परम भयङ्कर ध्वनि सुनकर सहसा उसकी निद्रा भङ्ग हो गयी। वह चकित चकित दृष्टिसे विस्मय और संभ्रमके साथ इधर उधर देखने लगा। उसने देखा भगवान् गरुड़ध्वज गरुड़ पर चढ़े हुए उसके सिरके ही ऊपर अस्त्र शस्त्र लिये खड़े हैं। यह देखकर उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। वह सोचने लगा—"क्या मुझसे भी लड़ने की किसी में सामर्थ्य है? क्या मुझे भी कोई समर के लिये चुनौती दे सकता है?" इस प्रकार सोचकर वह क्रोध में भरकर त्रिशूल हाथ में लेकर गदाधर भगवान् वासुदेवसे युद्ध करने बाहर निकल आया। वह प्रलयकालीन अग्निके समान क्रोधसे जल रहा था। कल्पान्त सूर्यके समान दुष्प्रेक्ष्य असह्य और प्रचण्ड तेजोमय प्रतीत हो रहा था। वह अपने विकराल पांचों मुखों को फाड़कर अन्तकके समान मूर्तिमान् पांच शिरों वाले क्रोध के समान काल रूप कृष्ण की ओर दौड़ा। सर्प जिस प्रकार

गरुड़ की ओर दौड़ता है, उसी प्रकार वह हरि वाहन तार्क्ष्यकी ओर दौड़ा। उसने सर्व प्रथम गरुड़जी का अन्त करने के निमित्त अपना जाज्वल्यमान त्रिशूल उन्हें ही लक्ष्य करके उनके ऊपर फेंका। और फिर पाँचों मुख से भीषणनाद करते हुए कहने लगा—"मारा गया मारा गया।" उसका यह भयङ्कर शब्द दशों दिशाओं में गूँजकर अन्तरिक्षमें भर गया। तब भगवान्‌ने बीचमें ही बाण वर्षा करके उस विकराल शक्तिको छिन्न भिन्न कर दिया और उसके कूओं के समान फटे हुये मुख में बाण मारे। अब तो उसके रोम रोम में कोप व्याप्त हो गया। उसके हाथ में एक गदा थी, वह गदा गदाधर के ऊपर मारी। भगवान्‌ने अपनी कौमोदिकी गदा से उस असुर की गदा के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। अपनी अव्यर्थ गदा और शक्ति को व्यर्थ होते देखकर असुर अत्यन्त ही कुपित हुआ। अपनेको निरस्त्र समझकर वह अपने भयङ्कर पाँचों मुखोंको फाड़कर भगवान्‌को निगलनेके लिये दौड़ा। तब भगवान्‌ने हँसते हँसते अपने चक्र सुदर्शन से उसके पाँचों सिरों को काट दिया। सिर कट जानेसे उसका धड़ शृङ्गहीन मेरु पर्वतके समान दिखाई देने लगा। उसका धड़ धड़ाम से जलमें गिर गया, इस प्रकार प्राग्ज्योतिषपुर का रक्षक भगवान् के चक्र द्वारा मारा गया। इस मुरको मारने के ही कारण भगवान् का नाम 'मुरारि' प्रसिद्ध हुआ। उस बलवान् असुरके ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् और अरुण ये सात पुत्र थे। पिता के वधको श्रवण करके वे सब क्रोधमें भरकर अस्त्र शस्त्र लेकर सेना सजाकर श्यामसुन्दर पर प्रहार करनेके लिये भौमासुरकी आज्ञासे आये। वे सब पितृवध के कारण अत्यन्त ही क्रोधित थे, वे अपने पितृहन्ता से प्रतिशोध लेना चाहते थे। उन सबका सेनानायक पीठ नामक पराक्रमी असुर था। आते ही उन्होंने अखिलेश अच्युत के ऊपर बाण, खड्ग, गदा, शक्ति, ऋष्टि, त्रिशूल, भुसुन्डी,

परिघ निस्त्रिंश, तथा अन्यान्य अस्त्रोंकी एक साथ ही वर्षा की। भगान् वासुदेव के लिये तो ये सब अस्त्र शस्त्र, कुसुमों के सदृश थे। अतः उन पर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। हँसते हँसते उन्होंने सभी अस्त्र शस्त्रों को सहज में ही व्यर्थ बना दिया उन्हें काट काटकर अवनि पर गिरा दिया। मुर के सातों सुतोंको तथा अन्यान्य सभी शत्रु सैनिकोंको शस्त्रों द्वारा श्यामसुन्दर ने समर-शाला मे सदा के लिये सुला दिया। उन सबके शिर,भुजा,चरण, मुख, कान, नाक, हस्त आदि अङ्ग प्रत्यङ्ग कवच, धनुष बाण, तूणीर आदि समर सामग्री कट कटकर समर भूमि मे, गिरने लगी। इन सब वस्तुओं से युद्धस्थली भर गई। इस प्रकार गरुड़-ध्वज ने सेनापति पाठ से लेकर उसके सभी साथी शूरवीरों को यम सदन पठा दिया।

जब यह सुखद समाचार कुजनरकासुर को मिला,तब तो वह अत्यन्त कुपित हो गया, अब उस पर पुर में रहा नहीं गया। वह सोचने लगा—"जो वीर मेरे मुर, पीठ आदि शूरवीर सेनापति-को मार सकता है, वह सामान्य पुरुष न होगा, उससे लड़ने तो मुझे ही अविलम्ब चलना चाहिये। अब व्यर्थ समय नष्ट करनेका अवसर नहीं।" यही सब सोचकर वह मदस्त्रावी गजोंकी विशाल सेना लेकर युद्ध के निमित्त अन्तःपुर से बाहर आया। वहाँ उसने गरुड़ पर चढ़े हुए गोविन्दके दर्शन किये। अपने सैनिकों के सहस्रों लक्षों रुंडमुन्ड वहाँ देखे। जैसे प्रज्वलित अग्नि घृत की आहुति पाकर और भी अधिक प्रचण्ड होती है, उसी प्रकार सैनिको के रक्तकी नदीको देखकर उसका क्रोध सीमाको उल्लङ्घन कर गया।

गरुड़ पर विराजमान वासुदेव अपनी प्रिया सत्यभामा के साथ ऐसे ही शोभित होते थे जैसे सूर्य के ऊपर सौदामिनी सहित श्यामघन सुशोभित होता है। क्रुद्ध हुए भौमासुरने भगवान्के ऊपर दूरसे ही शतघ्नी छोड़ी। समस्त शत्रुसैनिक भी साथ ही श्याम-

सुन्दर पर टूट पड़े। वे सबके सब शस्त्रों की वर्षा करने लगे। भगवान् भी चूकने वाले नहीं थे उन्होंने भी अपने धनुष शार्ङ्ग-धनुष पर अमोघ बाण चढ़ाकर उनकी वर्षा आरम्भ की। उनसे शत्रु पक्ष के सैनिकों के सिर, कर, कंठ, कटि कान तथा अन्यान्य अङ्ग प्रत्यंग कट कटकर गिरने लगे। हाय हाय की गगन भेदीही ध्वनि से दशों दिशाएँ प्रतिध्वनित होने लगी। भगवान् अनवरत भाव से बाण वृष्टि कर रहे थे मानों सृष्टि के विनाश में रुद्र प्रवृत्त हो रहे हों।

इधर भगवान्के वाहन कश्यपनन्दन विनताआनंदवर्धन गरुड़जी भी चुप नही थे वे भी अपने पंखों से पंजो से तथा चोंच से असुरोके दलका संहारकर रहे थे। सब सैनिक तथा उनके गजादि वाहन गरुड़ और गरुड़ध्वज की मार को न सह सकने के कारण रण छोड़कर भग गये, किन्तु वीराभिमानी भौमासुर नही भागा, वह एकाकी ही बड़ी वीरताके साथ वनमालीसे लड़ता रहा। उसे पख फैलाये इधर से उधर उड़ उड़कर शत्रु सेना का संहार करते हुए गरुड़जी के ऊपर अत्यन्त ही क्रोध आया। उसने हरिवाहन गरुड़जी पर अनेकों प्रहार किये, किन्तु उन्होने उन सबको व्यर्थ बना दिया। वे पुष्पमाला से आहत गजराज के सदृश उसके अस्त्र शस्त्रों से किंचित भी विचलित नही हुए। अस्त्र शस्त्रों से भयभीत होकर गरुड़जीकी पीठपर बैठी हुई सत्यभामाजीने कहा–"प्राण-नाथ! आप इस असुर को शीघ्र ही मार डालें" यह सुनकर भगवान्ने मारनेका निश्चय कर लिया। अब तो नरकासुरके क्रोध का ठिकाना नही रहा। वह हाथीपर चढ़कर भगवान्से युद्ध कर रहा था। उसने सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अपना सभी बल बटोर-कर एक जाज्वल्यमान त्रिशूल त्रिभुवन पति के ऊपर फेकने ज्यों ही उठाना चाहा, त्यों ही उसके उठाने के पूर्व ही भगवान् ने उसका सिर अपने सुदर्शन चक्रसे काट दिया। भौमासुर मर गया

उसके आश्रित और सम्बन्धी असुर रोने लगे। सुरगण हर्ष के कारण हँसने लगे और सुमनों की वृष्टि करने लगे तथा दुदुभि बजाने लगे। ऋषि, मुनि, सिद्ध तथा अन्यान्य देवगण साधु साधु कहकर श्यामसुन्दर का अभिनन्दन करने लगे।

अपने पुत्र नरकको मृतक देखकर तथा अपने स्वामी श्यामसुन्दर को कुपित देखकर उसकी माता भूदेवी अदिति के दिव्य कुण्डलों को वरुण के अमृतस्रावी छत्र को सुमेरु के मणिमय शिखर को तथा वैजन्ती माला सहित वनमाला को लेकर अत्यंत भयभीत होकर काँपती हुई कृपालु श्रीकृष्ण के समीप आई। उन सब वस्तुओं को सादर समर्पित करके, दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर भक्ति परायण हृदय से, गद् गद् कंठ से उन सुस्वरवंदित भगवान् विश्वेश्वर की स्तुति करने लगी। उसने बार बार भगवान् के पाद पद्मों में प्रणाम किया उनकी महिमा गाई और अपनी विवशता दर्शायी।

सूतजी कहते है—"मुनियो! भूमिदेवी की प्रार्थना सुनकर शरणागतवत्सल भगवान् प्रसन्न हुए और भौमासुरके पुत्र भगदत्त को अभदान देकर उसके द्वारा सत्कृत होकर उसके पुर में गये। भौमासुर के सर्व सम्पत्ति युक्त वैभवशाली भवन को देखकर भगवान् प्रसन्न हुए। अब वे जैसे बन्दिनी कन्याओं का उद्धार करेंगे वह कथा प्रसङ्ग आगे वर्णन किया जायगा।"

छप्पय

मुनिके मुरको मरन असुर गन अति घबराये।
ताम्र आदि सुत सात पीठ सँग नरक पठाये॥
ते जब सब मरि गये स्वयं भौमासुर आयो।
लड़्यो प्रानपन सहित श्याम बल पार न पायो।
चक्र सुदर्शन तें नरक को सिर काट्यो श्रीहरी।
सुनत मरन सुत आइ भू, भेंट लाइ इस्तुति करी॥

वन्दिनी कन्याओं का उद्धार तथा इन्द्र भवन गमन

(१११०)

गत्वा सुरेंद्रभवनं दत्त्वादित्यै च कुण्डले ।
पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ५९ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

अभयदान हरि दयो नरक सुत नृपति बनायो ।
अवनि पौत्र भगदत्त प्रभुहिं निजपुर लै आयो ॥
निरखीं षोडश सहस बन्दिनी कन्या पुर महँ ।
होवें पति घनश्याम, भई इच्छा तिनि उर महँ ॥
जानि सत्य संकल्प हरि, पठइ द्वारका सब दई ।
मनवांछित ते पाइ वर, अधिक मुदित मन महँ भई ॥

मनुष्य दूसरोंको अहंकारके कारण तुच्छ समझता है । अहंकारवश अपने को सर्वश्रेष्ठ समझकर प्राणी दूसरों का तिरस्कार करता है । जब हम अपने को बड़ा समझते हैं और दूसरा हमारे बड़प्पनको स्वीकार नहीं करता, तो हमारे मनमें उसके प्रति द्वेष होता है । द्वेष आते ही उसका अनिष्ट करनेकी–उसे नीचा दिखा-

*श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! इसके अनन्तर भगवान् इन्द्रके भवनमें गये वहाँ जाकर अदिति माताके कुण्डलोको दिया और वहाँ इन्द्राणी सहित देवेन्द्र ने सत्यभामाजी के सहित भगवान् की पूजा की ।"

नेकी—इच्छा मन में उत्पन्न होती है। यह इच्छा ही कलह का बीज है। इसी की शाखा प्रशाखा राग द्वेष, लड़ाई झगड़ा, पराजय तथा मृत्यु आदि हैं। महत्तत्त्व के बिना संसार चक्र नहीं। संसार चक्रका ही नाम प्रपंच है इसकी भित्ति असत्पर ही स्थित है। सत् की सत्ता से असत् में सत् सा व्यापार हो रहा है। यही क्रीड़ा है, यही खेल है यही विनोद तथा प्रभु की लीला है। इसमें अपनी पृथक् सत्ता स्थापित करना उचित नहीं। सर्व सत्ता स्रोत की सत्ता में ही अपनी सत्ता मिला देना यही परम पुरुषार्थ है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! भौमासुर मारा गया। भगवान् ने उसके पुत्र भगदत्त को प्राग्ज्योतिपपुर का राजा बना दिया। भगदत्त ने प्रार्थनाकी—"प्रभो! अपने पाद पद्मोंकी परागसे मेरे पुरको पावन बनाइये। मेरे भवनको कृतार्थ कीजिये।" भगदत्त की प्रार्थनासे भगवान्ने उसके सजे सजाये सर्व समृद्धिशाली भवन में प्रवेश किया। इधर उधर देख दाखकर बोले—"भगदत्त! हमने सुना है, तुम्हारे पिताने बहुत सी राजकन्याओं को बन्दी बना रखा है, वे कन्या कितनी हैं? और कहाँ हैं?"

हाथ जोड़कर भगदत्त ने कहा—"देव वे सब सोलह सहस्र एक सौ हैं। मेरे पिता की इच्छा थी, जब ये सब अठारह सहस्र हो जायेंगी, तब सबके साथ विवाह करूँगा। उनका यह मनोरथ सफल न हो सका। वे बीच में ही काल कवलित हो गये। वे सब कन्यायें सुंदरी हैं,दोष रहित है और गंगाजलके सदृश पवित्र हैं। समीप के ही भवन में बंद हैं आज्ञा हो तो उन सबको उनके पिताओ के पास पहुँचा दिया जाय।"

भगवान् ने कहा—"चलो, देखें तो सही। देखकर फिर निर्णय करेंगे कि उन्हें कहाँ पहुँचाया जाय।"

'जो आज्ञा'कहकर भगदत्त ने तुरन्त उस भवनको खुलवाया। भगवान् मंद मंद मुसकराते हुए घुटनोतक लटकती हुई वनमाला

को हिलाते हुए,पीताम्बरको फहराते हुए वहाँ पहुँचे। वहाँ पहुँच-कर क्या देखते हैं वे अत्यंत सुन्दरी कन्यायें करावास में भय के कारण पीली पड़ रही हैं। भगवान् को देखते ही वे सबकी सब संभ्रम के साथ खड़ी हो गईं। सहसा इतने सुन्दर पुरुष को देख-कर वे सबकी सब श्यामसुन्दर के रूप पर मोहित हो गयी। उन्होंने यह समाचार सुन ही लिया था, कि हमारे हरण करने वाला नरकासुर मारा गया। सबके मन में एक साथ ही यह संकल्प उठा—"दैवने घर बैठे हमारे लिये ये भुवन मोहन वर भेज दिये। वे सबकी सब विधाता से यही मनाने लगीं कि हमारा पाणिग्रहण ये ही विश्वविमोहन करें। ये ही हमारे पति हों। ये ही हमें पत्नी रूप में वरण करें।"

भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, उनके अभिप्राय को समझ गये। ऊपर से दिखाने को उनसे पूछने लगे—"कहो, तुम सब कुशल पूर्वक हो न ? तुमको यहाँ बड़ा कष्ट हुआ ? तुम्हें तुम्हारे पिताओं के पास पहुँचा दें।"

कन्याओं ने कहा—"प्रभो ! पिता पुत्री को घरमें तो रख नहीं सकते। वे भी किसी को देंगे ही पिता को पुत्री के अनुकूल पति खोजने के लिये कितना प्रयत्न करना पड़ता है। अब हमें घर बैठे ही दैवयोग से सर्वगुण सम्पन्न पति प्राप्त हो चुके हैं, तब फिर हम पिताओं के घर जाकर क्या करेंगी ? हमारे जाने से उनकी चिन्ता और अधिक बढ़ेगी। अब तो हम आपकी ही शरण में हैं। आप चाहें अपनाओ या ठुकराओ। यहाँ रखो या जहाँ इच्छा हो तहाँ ले चलो।"

भगवान् ने बात को स्पष्ट करने के लिये सब पृथक् पृथक् पूछा—"तुममें से जिसे भी अपने पिता के यहाँ जाना हो, वह मुझ से कह दे। संकोच का काम नहीं।"

यह सुनकर सबने एक स्वर से कहा—"हम आपके चरणों को

छोड़कर ब्रह्मलोक में भी नहीं जाना चाहतीं। आप हमें ले जायँगे तो जायँगी नहीं यहीं आत्महत्या कर लेंगी।"

भगवान् बोले—"आत्महत्या क्यों करो। जब तुम सबकी ऐसी ही इच्छा है, तो चलो द्वारका में। जैसे सब रहती हैं, वैसे तुम भी रहना।"

यह सुनकर सब अत्यंत ही प्रसन्न हुईं। भगवान् ने भगदत्तसे कहा—'भैया इन्हें भली प्रकार से स्नानादि करा दो।' भगवान् की आज्ञा पाकर सहस्रों दासियो ने उबटन आदि अलाकर महौषधि दिव्यौषधि के सुन्दर सुगन्धित जलो से विधिवत् सबको स्नानादि

कराये। सुन्दर सुगन्धित मालायें पहिनाईं वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके और अत्यंत ही आदर के साथ उन सबसे पृथक् पृथक् शिविकाओं में बैठाया। भगवान् की आज्ञा पाते ही वे सब शिविकायें द्वारका की ओर चलीं।

भगदत्त ने उन सब कन्याओं को तो बहुमूल्य वस्त्र और मणिमय दिव्य आभूषण दिये ही साथ ही बहुत सा धन, बहुत से रथ, घोड़े और विविध प्रकार की सम्पत्तियाँ भी दीं। ऐरावत कुल में उत्पन्न चार दाँतों वाले अत्यंत वेगवान चौसठ हाथी भी उसने दिये। भगवान् ने उन सब प्रेमोपहार की वस्तुओं को स्वीकार कर लिया और सेवकों के हाथ उनको द्वारका पहुँचा दिया।

सोलह सहस्र कन्याओं को तथा माल मसाले को द्वारका भेजकर अब भगवान् ने सोचा—"पहिले अदिति माता के कुन्डल दे आवें, तब द्वारका चलेंगे।" यह सोचकर भगवान् ने गरुड़जी को स्वर्ग में चलने की आज्ञा दी। भगवान् की आज्ञा पाकर गरुड़जी अपने पंखों से सामवेद की ध्वनि करते हुए उड़े। सर्व प्रथम उन्होंने सुमेरु के मणिमय शिखर को उसके ऊपर स्थापित किया, फिर वरुण के छत्र चँवर को उनके यहाँ पहुँचाया और फिर सीधे इन्द्र के भवन की ओर चले।

इन्द्र ने जब देखा, भगवान् गरुड़ पर चढ़े हुए अपनी भार्या सत्यभामाजी के साथ आ रहे हैं, तो वे अपने समस्त देवताओं के साथ उठकर खड़े हो गये। उन्होंने अत्यन्त ही आदर के साथ भगवान् का स्वागत सत्कार किया सर्व प्रथम भगवान् सत्यभामा जी को लिये हुए माता अदिति के पास गये। वहाँ जाकर उन्होंने माताजी को प्रणाम करके कहा—"माताजी! ये आपके कानों के दिव्य कुन्डल हैं, जिन्हें दुष्ट नरकासुर यहाँ से ले गया था। मैं उसे मारकर ये कुन्डल आपको देने के लिये [illegible] हूँ। आप इन्हें [illegible] करें।" यह सुनकर गद् गद् वाणी से [illegible] विनोद

हुई अदितिदेवी बोलीं—"हे यदुनन्दन ! आप सर्वज्ञ हैं, सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं। इस जगत् के आदि कारण आप ही हैं। आ का कौन पिता कौन माता। आप तो अज, अव्यय अविनाशी हैं आपके लिये असुरों का मारना एक खेल है। मुझ शरण में आई अबला के ऊपर आपने इतनी कृपा की। मुझे दर्शन देने आप स्वयं पधारे। इससे हे देव ! मैं कृतार्थ हो गई। आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।" यह कहकर जगन्माता अदिति ने अपने प्रेमश्रुओं से प्रभु का पीताम्बर भिगो दिया।

तब सत्यभामादेवी ने माता अदिति के पैर छुए अपना नाम बताया। माताने उन्हें बड़े प्यार से हृदय से लगाकर कहा—"बेटी ! तेरा सुहाग सदा बना रहे। मैं तुझे आशीर्वाद देती हूँ, तू सदा इसी प्रकार बनी रहे तुझे कभी जरा शोक न व्यापे तू सदा अपने पति की प्यारी बनी रहे।"

सत्यभामाजी का आगमन सुनकर इन्द्राणी भी अपनी सासके समीप आ गई थी दोनों बहुएँ बड़ी देर तक बैठी रहीं। फिर इन्द्र ने कहा—"यदुनन्दन आप मेरी सभा में पधारें सब देवता दर्शनों के लिये परम उत्सुक हैं।"

यह सुनकर माता से आज्ञा लेकर भगवान् तो इन्द्र के साथ सभा में चले गये और इन्द्रणी सत्यभामाजी को अन्तःपुर ले गयीं।

इन्द्राणी ने सत्यभामाजी का बहुत आदर सत्कार किया उन्हें मणिमय आसन पर बिठाया। आपस में घर द्वार, तथा पति के स्वभाव व्यवहार की बातें होती रहीं। उसी समय कल्पवृक्ष के पुष्पों की टोकरी भरकर नन्दन कानन का एक रक्षक लाया उन फूलों से शचीदेवी ने अपना शृङ्गार किया। पुष्प शैया बनाई। किसी अप्सराने कहा—"ये सत्यभामाजी भी पधारी हैं, इन्हें भी चोटी में खोंसने के लिये कल्पवृक्ष का पुष्प देना चाहिए।"

यह सुनकर इन्द्राणी ने डाँटकर उससे कह दिया—"तू समझती तो है नहीं। यह स्वर्गीय ललनाओं के उपभोगकी वस्तु है। मानवी स्त्रियाँ इन स्वर्गीय पुष्पोंकी अधिकारिणी नहीं होतीं।"

इन्द्राणीने यह बात कही तो इस प्रकार थी, जिससे सत्यभामाजी न सुन सकें, किन्तु उन्होंने सुन ही ली। सुनते ही वे आगबबूला हो उठीं। उनके रोम रोम में क्रोध छा गया। वे सोचने लगी—"यह इन्द्राणी अपनेको बहुत लगाती है। इसका पति तो मेरी ड्योढ़ीपर नाक रगड़ता रहता है,सूत मागधोंकी भाँति स्तुति करता रहता है और यह मुझे एक पुष्पकी भी अधिकारी नहीं समझती। मेरा मानवी महिला कहकर अपमान करती है। अच्छी बात है, मैं भी इसे बता दूँगी, कि मैं कैसी मानवी हूँ। यदि इसके गर्वको मैंने चूर्ण न किया तो मेरा नाम सत्यभामा नहीं है।" यह सोचकर वे चुप रह गयी। उनका मुख क्रोध के कारण लाल पड़ गया। किन्तु उस समय उन्होने एक शब्द भी नहीं कहा। सोचा-"कहते तो निर्बल है। मै तो इसे करके दिखाऊँगी।" यही सोचकर वे बोलीं-'महारानीजी! अब आज्ञा हो?'

इन्द्राणी समझ गई। हृदयगत भाव छिपते नहीं। बनावटी शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए उसने कहा—"ऐसी क्या शीघ्रता है बैठिये कुछ देर और।"

उठते हुए सत्यभामाजी ने कहा—"नहीं वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।" इतना कहते कहते वे बिना उत्तरकी प्रतीक्षा किये चल दीं। कुछ दूर इन्द्राणी उनके पीछे पीछे चली जब उन्होने देखा यह मुझे देखती भी नहीं तो वह भी लौट पड़ी। इन्द्राणी जब लौट गई, तो सत्यभामाजी फिर कुछ ठिठक गई।

पीछे कोई अप्सरा कह रही थी—"सत्यभामाजी बुरा मान गईं।"

मुँह मटकाकर ठसक जताती हुई इन्द्राणी बोली—"बुरा

मान गई तो मेरी बलासे। मेरा क्या कर लेंगी। दो रोटी अधिक खा लेंगी। जो बात सच्ची थी वह मैंने कह दी। कल्पवृक्षके पुष्पों की माला तो शचीदेवी इन्द्राणी ही स्वर्ग में पहिन सकती है। मानवी स्त्रियाँ स्वर्गके पुष्पोंको अपने सिरमें कैसे लगा सकती है। सच्ची बात का बुरा मानती है तो माने। मैं त्रिलोकेश की पत्नी हूँ।

यह बात भी सत्यभामाजी ने सुनी। इस बात ने तो मानों उनकी प्रज्वलित क्रोधाग्नि में घृतकी आहुति डाली हो। वे तुनकती फुनकती अपने पतिदेव के पास पहुँची। भगवान् सुवर्ण के सिंहासन पर विराजे हुए थे, इन्द्र सत्यभामाजी को देखकर खडे हो गये और बोले—"पधारिये पधारिये, इस आसन पर विराजिये।" किन्तु सत्यभामाजी बैठी नही वे खड़े ही खड़े भगवान्से बोलीं—"अब चलोगे नही। यहाँ के उद्यान उपवन भी देख लें।"

यह सुनते ही भगवान् सिंहासन से उठ खड़े हुए और सत्यभामाजी के साथ चलने लगे।

देवेन्द्र ने बड़े शिष्टाचार से कहा—"भगवन्! मैं भी साथ चलता हूँ। स्वयं ही मैं यहाँ के उद्यान उपवनों को दिखाऊँगा।"

बीच में ही अधिकारके स्वरमें सत्यभामाजी बोलीं—"नहीं, आपकी कोई आवश्यकता नही हमारे साथ गरुड़जी हैं। हम सब देख लेंगे।"

सत्यभामाजी के रुखको देखकर इन्द्र डर गये। वे सोचने लगे—"मेरी सेवामें कौनसी त्रुटि रह गई जो स्वामिनीजी असन्तुष्ट हो गईं।" अधिक कहना उन्होंने उचित नहीं समझा। भगवान् जब गरुड़जीपर चढ़कर चल दिये तब इन्द्र प्रणाम करके अपने साथियों सहित लौट गये। स्वर्गोद्यान में जाकर सत्यभामाजी एक एक पेड़ की ओर देखकर पूछने लगी—"प्राणनाथ!

यह किसका पेड़ है ?"

भगवान् सबका नाम बताते, फिर आगे बढ़ जाते। इसी प्रकार पूछते पूछते वे उस वृक्ष के समीप पहुंचे जो सबसे सुन्दर कल्पवृक्ष था। जिनके पुष्पों को शची इन्द्राणी के अतिरिक्त कोई व्यवहार में नहीं ले सकता था। उसके पुष्पों को देखकर ही सत्यभामाजी पहिचान गईं कि यह वही वृक्ष है। अत्यन्त ही कुतूहलके साथ वे अपने पतिसे बोलीं—"प्राणनाथ! यह किसका वृक्ष है?"

भगवान्ने कहा—"इसका नाम है कल्पवृक्ष स्वर्ग के उपवनों में वैसे बहुत से कल्पवृक्ष हैं, किन्तु यह सर्वोत्तम है। इसके पुष्पों की गन्ध योजनों जाती है।

सत्यभाभाजी ने अत्यन्त ही उल्लास के साथ कहा—"हाँ, इसके पुष्प तो बड़े सुन्दर हैं। तनिक इसके नीचे बैठकर विश्राम कर लें।"

अपनी प्रिया की इच्छा समझकर यदुनन्दन उस कल्पवृक्ष के नीचे बैठ गये। कुछ देर तक इधर उधरकी बातें होती रहीं। फिर सत्यभामाजी ने अत्यन्त ही प्रेम भरित वाणी में कहा—"प्राणनाथ! मैं एक बात पूछूँ आप उसका उत्तर देंगे ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, पूछो, उत्तर क्यों नहीं देंगे ?"

सत्यभामाजी ने ममता भरी वाणी में कहा—"सच सच उत्तर दोगे, छल कपट तो न करोगे ?"

भगवान् ने कहा—"यह भी कोई बात हुई तुम्हें जो पूछना हो पूछो। मेरे ऊपर इतना अविश्वास क्यों करती हो।"

शीघ्रता के साथ सत्यभामाजी ने कहा—"नही अविश्वासकी कोई बात नहीं, किन्तु कभी कभी आप वैसे ही मुझे भुलावा देने को कुछ का कुछ कह देते हो।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अच्छा, अब ऐसा उत्तर न देंगे। पूछो क्या पूछती हो।"

भगवान् के और अधिक निकट जाकर सत्यभामाजी बोलीं—"अच्छा, मै यह पूछती हूँ, कि आप जो बार बार मुझसे कहा करते है—कि मुझे न उतनी रुक्मिणी प्यारी है न जाम्बवती प्यारी न कालिन्दी प्यारी न कोई दूसरी ही रानी प्यारी है, जितनी तुम प्यारी हो, तो क्या यह बात सच है या वैसी ही मुझे प्रसन्न करने को कह देते हो ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"तुम अपना अभिप्राय बताओ। इतनी बड़ी भूमिका बाँधने से क्या लाभ ?"

मचलकर सत्यभामाजी ने कहा—पहिले इस बात का उत्तर दो, तब मैं अपना अभिप्राय कहूँगी।"

भगवान्ने कहा—"तुम तो व्यर्थकी बात बढ़ा रही हो, तुम्हें जो कहना हो उसे कहो।"

प्रेम आग्रह के साथ सत्यभामाजी ने कहा—"मैं व्यर्थ की बात नही बढ़ा रहा हूँ, आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर पहिले दें, तब मैं और बात कहूँगी।"

भगवान्ने कहा—"कहने से प्रेमका महत्व घट जाता है। जो बार बार यह कहा करता है मैं तुमसे प्रेम करता हूँ,प्रेम करता हूँ वह अवश्य ही बनावटी प्रेमी है। तुम मेरे ऊपर शङ्का करती हो। कहो हाँ, अच्छा वह बात सत्य ही है, चलो आगे चलो।"

सत्यभामाजी ने कहा—"बस, मुझे आपसे यही कहलाना था। अच्छा, अब मेरी प्रार्थना यह है, कि आप मुझे यथार्थ में प्रेम करते हो तो इस कल्पवृक्ष को उखाड़ कर द्वारका ले चलो इसे मैं अपने महल के उपवन में लगाना चाहती हूँ।"

भगवान् ने प्रेमपूर्वक रोष के स्वर में कहा—"अरे,तुम पगली हुई हो क्या ? ऐसी असम्भव प्रस्तावकर देती हो जो कभी न हो। यह स्वर्ग का वृक्ष है। पृथिवी पर कैसे जा सकता है ?"

आग्रह के स्वर में सत्यभामाजी ने कहा—"नही महाराज !

आपके लिये कुछ भी असंभव नहीं है। आपके लिये सब संभव है। मैं इस वृक्ष को यहाँ से लिये बिना उठूँगी नहीं। आपने मुझे वचन भी दिया था। कि तुम्हारे घर में कल्पवृक्ष लगा दूँगा।" उस वचन को पूरा करो।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अरे, चलो हटो। उस समय तो वैसे ही तुम्हारा मन रखने को मैंने कह दिया था।"

सत्यभामाजी ने कहा—"तब फिर तुम्हारी बात का कैसे विश्वास करें। आज मेरा मन रखने को तुम कुछ कह दोगे, कल दूसरे का मन रखने को मेरी बुराई भी करोगे।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् ने उनकी ठोढ़ी ऊँची उठाकर प्यार के साथ कहा—"देखो, हठ नहीं करते हैं। यदि तुम्हारा कल्पवृक्ष ले चलने का ही आग्रह है, तो यहाँ और भी कल्पवृक्ष है, उनमें से किसी को ले चलें। यह तो देवराज्ञी शचीदेवी का विशेष कल्पवृक्ष है।"

आग्रह के स्वर में सत्यभामाजी ने कहा—"मैं तो इसी को लूँगी और आपको ले चलना पड़ेगा।"यह कहकर उन्होंने अपनी कोमल भुजा कमलाकान्त के कमनीय कंठ में डाल दी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पुष्पों की, सोने चाँदीकी, मणि माणिक्यों और मोतियों की कोई भी माला इतनी मोहक और भारी नहीं होती जितनी कान्ताकी भुजलता रूपमाला भारी होती है, उसके कंठमें पड़ते ही मनुष्य इतना भारी हो जाता है कि वह भागना भी चाहे तो भाग नहीं सकता। उठना भी चाहे तो बिना सहारे के उठ नहीं सकता। भगवान् तो नरनाट्य कर रहे थे। उनके लिये किसी का न मोह है न ममता। वे तो क्रीड़ा करनेको

ऐसे कौतुक किया करते हैं। अपनी प्रियाका अत्यंत आग्रह देखकर उन्होंने उस कल्पवृक्ष को उखाड़ लिया। उसके रक्षक मना करते रहे, चिल्लाते रहे, शचीदेवीका देवेन्द्रका नाम लेते रहे, किन्तु भगवान् ने सबकी बातें अनसुनी कर दीं। कल्पवृक्षको उखाड़कर गरुड़पर रखकर वे उसपर चढ़ गये। नीचे खड़ी ही खड़ी सत्यभामाजी उन रक्षकोंसे बोली—"जाओ, अपनी स्वामिनीसे कहना, कि मर्त्यलोक की एक मानवी स्त्री आई है, वह तुम्हारे कल्पवृक्ष को उखाड़े ले जाती है। तुममें और तुम्हारे स्वामी में बल हो, पौरुष हो तो आकर छुड़ा लें। अभी हम यहीं बैठे हैं।"

सेवकों ने सब बातें ज्यों की त्यों कुछ नमक मिरच लगाकर इन्द्राणी के समीप बैठे हुए देवेन्द्र से कही। सब सुनकर इन्द्र इन्द्राणीसे बोले—"सुनती हो। भलाई का परिणाम बुराई होता है। हमने श्रीकृष्णचन्द्रका कितना आदर किया, उसका परिणाम यह निकला कि हमारे कल्पवृक्ष को उखाड़े ले जाते हैं। हमने उनका कितना आदर सत्कार किया था।"

शचीरानी मुँह मटकाकर बोली—"यह सब उनके बहूरानी की करतूत होगी। वह अपने को बहुत लगाती है।"

इन्द्र ने कहा—"हाँ, जाते समय उनका मुख लाल हो रहा था, तुमने कुछ कह दिया था क्या?"

तुनककर इन्द्राणी बोली—"मैंने क्या कह दिया महाराज! जो सच्ची बात थी, वह कह दी। वह चाहती थी, मैं कल्पवृक्ष के पुष्पों से उसकी पूजा करूँ। आप ही सोचें—"वह मर्त्यलोक की स्त्री, उसे मैं कैसे देवोद्यान के दिव्य पुष्प दे सकती हूँ। इसी पर उसका मुँह फूलकर कुप्पा हो गया और तुन फुन तुन फुन

कहती हुई चली गई। मैंने भी कह दिया—"जाओ, तुम मेरा क्या कर सकती हो।" प्रतीत होता है, उसी ने अपने पति को उकसा कर यह कृत्य कराया है।"

चिन्तित होकर देवेन्द्र ने कहा—"तो अब क्या किया जाय ?"

माथा ठोककर शचीरानी बोली—"हाय ! मेरा कैसा भाग्य फूट गया। मुझे पति मिला, तो ऐसा नपुन्सक मिला, जो मेरी रक्षा करना तो दूर रहा मेरी वस्तुकी भी रक्षा नही कर सकता। स्त्री का सब प्रकार से पति भरण पोषण करता है इसीलिये उसकी भर्ता और पति संज्ञा है। एक वह भी पति है, जो अपनी पत्नीकी असंभव बातको संभव करना चाहता है,स्वर्गकी वस्तुको पृथिवीमें ले जाना चाहता है,एक मेरा भी पति है, जो मेरे सिर-पर ही एक मर्त्यलोक की स्त्री अपमान कर रही है और उसे वह भीगी बिल्ली की भाँति सहन कर रहा है। यह तुम्हारी देवताओं की सेना किस काम आवेगी ? क्या यह केवल प्रदर्शन करने को ही है ? यदि तुममें सामर्थ्य नही है, तो तुम मेरी चूड़ियाँ पहिन-कर भीतर बैठ जाओ। लाओ, मैं अपने कल्पवृक्ष की रक्षा करूँगी प्राण रहते तो मैं उसे ले नहीं जाने दूँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अमोघतीक्ष्ण यन्त्र से उभारा हुआ आदमी चाहें एक बार चंचल न भी हो, किन्तु स्त्री का उभारा हुआ पुरुष शान्त बैठ सके उसे उत्तेजना न हो यह असंभव है। अपनी पत्नी की फटकार सुनकर इन्द्र को भी क्रोध आ गया। उसने सोचा—"श्रीकृष्ण द्वारका के राजा होंगे, यह क्या बात कि वे बलपूर्वक हमारे वृक्षको लिये जाते हैं। अच्छी बात है हम भी उन्हें देख लेंगे।" यह सोचकर वे भी सेनापति स्कन्द को बुलाकर सेना सजाकर श्रीकृष्ण का सामना करने की

तैयारियाँ करने लगे। अब जैसे लड़ाई भिड़ाई हुई, उसको वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

दैवे कुण्डल अदिति स्वर्ग महँ गये मुरारी।
पाइ श्यामको दरश मातु मन भई सुखारी॥
सतभामा कूँ पूजि शचीने आदर कीन्हो।
किन्तु मानवी मानि देवद्रुम सुमन न दीन्हो॥
समुझि घोर अपमान निज, लै हरि सँग उपवन गईं।
कल्पवृक्ष लखि लेन हित, प्रेम सहित तहँ अड़ि गईं॥

इन्द्र का भगवान् के साथ युद्ध

(१११११)

यथाच आनम्य किरीटकोटिभिः-
पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् ।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महा-
नहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५९ अ० ४१ श्लोक)

छप्पय

वृक्ष उखारयो श्याम गरुड़की पींठि धरयो जब ।
रक्षक रोवत गये इन्द्रतें वृत्त कह्यो सब ॥
शची उभारे इन्द्र सेन सजि लड़िवे आये ।
रवि,शशि, यम अरु वरुन देव हरि सकल हराये ॥
अस्त्रहीन सुरपति भये, भगे भूमि--रन छोड़िकें ।
सतभामा कटु वचन बहु, कहे हँसी मुँह मोरिकें ॥

जो भगवान् की महत्ता को भूलकर—अपने को ही सब कुछ समझकर-भगवान् का सामना करता है, उनका तिरस्कार करने की असफल चेष्टा करता है, उसे अन्त में पराजित होना पड़ता है,

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! देखो ये ही इन्द्र थे, जिन्होंने पहिले अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये शिर झुकाकर अपने मुकुट के अग्र भाग से भगवान् के चरणों का स्पर्श करते हुए विनती की थी, फिर जब स्वार्थ सिद्ध हो गया, तो वे ही उनसे लड़ने गये । देखो, इन देवताओंकी बुद्धि कैसी तामसी है । इस धनाढ्यता के लिये धिक्कार है ।"

क्योंकि भगवान् तो अच्युत तथा अपराजित हैं। विजय तो उनकी किंकरी है वे तो सदा विजय मे युक्त रहते है। पराजय तो कभी उनके पास फटकने भी नही पाती। जीव भगवान् से हार भी जाय, तो उसकी विजय ही है क्यों कि किसी भी प्रकार से किसी भी हेतु से--भगवान् के सम्मुख पहुँच जाना यही प्राणियों की सर्वोत्कृष्ट विजय है यही परम पुरुषार्थ है। यही पराकाष्ठा है यही परागति है। अतः अपनी समस्त चेष्टाओं का सदुपयोग करना ही हो तो भगवान् में ही करे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शची देवी के उभाड़ने पर और उत्साहित करने पर देवेन्द्र सेना सजाकर कल्पवृक्ष की रक्षाके लिये उद्यत हो गये। उन्होंने भगवान् से युद्ध करनेका निश्चयकर लिया। समस्त देवगण परिघ, निस्त्रिंश, गदा, शूल, धनुष, बाण शतघ्नी तथा अन्यान्य अपने अपने अस्त्र शस्त्र लेकर लड़ने चले। देवेन्द्र भी ऐरावत हाथी पर चढ़कर युद्ध के लिये उद्यत हुए। उन्होने ऐरावत की पीठ से अपना युद्धोपयोगी शख बजाया। उसका निर्घोष दशों दिशाओं में गूँजने लगा। देवताओं के मनमें अत्यंत उत्साह छा गया। भगवान् के समीप पहुँच कर सभी ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और वे सब एक साथ ही भगवान् पर बाणों की तथा अन्यान्य अस्त्र शस्त्रों की वर्षा सी करने लगे। भगवान् उनके प्रहारों से तनिक भी चिन्तित नहीं हुए। उन्होने लीला से ही उन सब अस्त्रों को काट दिया।

वरुणजी ने अपने नागपाश से भगवान् को बाँधना चाहा। बीच में ही गरुड़जी ने अपनी चोंच से उसके टुकड़े टुकड़े कर दिये। यमराजने अपना दंड छोड़ा। भगवान् ने अपनी कौमोदिकी गदा से उसके खण्ड खण्ड कर दिये। जिस शिविका में बैठ कर कुबेरजी युद्ध करने आये थे, उस शिविका को सुदर्शन चक्र ने टुकड़े टुकड़े कर दिया। सूर्य जब अपने प्रबल तेज से प्रभु के

सम्मुख युद्ध करने आये तो, भगवान् ने अपने नेत्रों के तेज से उन्हें तेज हीन अन्धे के सदृश बना दिया। इसी प्रकार मरुद्गण, साध्यगण, रुद्रगण तथा अन्यान्य देवगण भगवान् मधुसूदन के सम्मुख युद्ध करने आये और सभी को मुँह की खानी पड़ी। सभी पराजित होकर युद्ध से उपरत हो गये। तब देवेन्द्र ऐरावत पर चढकर युद्ध करने आया। उसने सहस्रों बाण छोड़ कर गरुड़जी के सहित गोविन्द को ढक लिया। भगवान् ने बात की बात में उनके बाणों को व्यर्थ बना दिया। इधर गरुड़जी ऐरावत को मारने लगे। वह चिङ्घाड़कर भागता। जैसे पिता बच्चे के साथ खेल करता है, उसी प्रकार भगवान् बहुत देर तक अनेक अस्त्र शस्त्रों के द्वारा देवेन्द्र से युद्ध करते रहे। इन्द्र जो भी अस्त्र उठाते उसे ही वासुदेव व्यर्थ बना देते। जब उनके सब अस्त्र शस्त्र विफल हो गये, तब उन्होंने अपना अमोघास्त्र वज्र श्यामसुन्दर को मारने के लिये उठाया। भगवान् ने भी उसके उत्तर में अपना सुदर्शन चक्र उठाया। दोनों ही अस्त्र अमोघ थे। दशों दिशाओं में हा हा कार मच गया। सभी ने समझा अब अकाल में ही प्रलय हो जायगी।

इन्द्र ने क्रोध में भर कर अपना वज्र भगवान् पर छोड़ ही तो दिया, किन्तु भगवान् ने अपना सुदर्शन चक्र उन पर नहीं छोड़ा। इन्द्रको मार देना तो श्रीहरि को अभीष्ट नहीं था। उन्होंने लीला से ही इन्द्र के छोड़े वज्र को हाथ से पकड़ लिया। अब तो इन्द्र किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये। उनका वाहन ऐरावत गरुड़जी की मार से क्षत विक्षत बन गया। स्वयं उनके पास कोई अस्त्र शस्त्र नहीं रहा था। वे अस्त्र हीन होकर प्राणों के भय से समर भूमि से भागने लगे। उन्हें भागते देखकर व्यंग के स्वर में सत्यभामाजी बोलीं—"बस शचीपति देवेन्द्र! तुममें इतना ही बल है। स्त्रियों से भयभीत होकर भागने में तुम्हें लज्जा

भी नही आती ? अब तुम अपनी बहूरानी शचीदेवी को क्या मुख दिखाओगे ? वे जब तुमसे कल्प वृक्ष के पुष्प माँगेंगी, तो उन्हे क्या देकर शांत करोगे ? तुम्हारी रानी तो हमें मानवी समझ कर एक फूल भी नही देना चाहती थी। अब हम सम्पूर्ण कल्प वृक्ष को ही उखाड़े लेजा रहे है। छिः छिः तुम अपनी बहू के कहने से एक वृक्ष की भी रक्षा न कर सके। अब समर से भागो मत। हम कल्प वृक्ष के भूखे नहीं हैं। हमें कल्प वृक्ष क्या करना है, ले जाओ तुम इसे। मुझे तो यही जताना था कि ऐसे तीन सौ साठ कल्प वृक्ष हमारे यहाँ लग सकते है। तुम्हारी शचीरानी ने मेरा अपमान किया था। स्त्री के हृदय में अपमान पचता नही विशेष कर जिसका पति सर्व समर्थ हो और उसे प्राणों से अधिक प्यार करता हो। अब तुम्हारा बल पौरुष देख लिया इस कल्प वृक्ष को ले जाओ सब देवता भी पूर्ववत स्वस्थ हो जायँ।"

सत्यभामाजी के ऐसे व्यंग वचन सुनकर देवेन्द्र लौट पड़े। उन्हें चेत हो गया। वे गरज कर बोले—"अरी चण्डी ! तू बहुत बातें क्यों बना रही है। न तो मुझे अपनी पराजय से कुछ दुःख ही है न लज्जा। जिनके संकल्प मात्र से विश्वकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है, उनसे पराजित होने में लज्जा की ही कौन सी बात है। यदि कोई अपने हाथों अपने बाल को उखाड़ दे या तोड़ दे इसमें बाल को क्या लज्जा। इन विश्वरूप श्रीकृष्ण में ही तो यह सम्पूर्ण विश्व अवस्थित है। मुझ जैसे असंख्यों इन्द्र इनकी श्वास प्रश्वास से निकलते और विलीन होते रहते है।"

देवेन्द्र की ऐसी युक्ति सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अजी, देवराज आप ये कैसी बातें कर रहे हैं। आप त्रिभुवनाधीश हैं, देवताओं के राजा हैं, स्वर्ग में निवास करने वाले

है। हम मर्त्यलोकके प्राणि हैं। पृथिवी पर रहते है। हमारी आपकी क्या तुलना। वास्तव में स्त्री के आग्रह से मैंने यह अशिष्टता ही की जो आपके बिना पूछे आपके उद्यान का कल्पवृक्ष उखाड़ लिया। आप हमारे इस अपराध को क्षमा करें। यह आपका पारिजात पादप है। इसे आप सहर्ष ले जायँ। यह आपका अमोघ वज्र है इसे भी आप ग्रहण करें। स्त्रियों का हठ बड़ा बुरा होता है। उसी हठ के वशीभूत होकर मैंने ऐसा साहस कर डाला।"

भगवान् की ऐसी बातें सुनकर लजाते हुए देवेन्द्र बोले—"अजी, महाराज! अब आप मुझे और भ्रम में क्यों डालना चाहते है। आप तो विश्वम्भर है। चराचर विश्वके स्वामी हैं। भूमि का भार उतारने के लिये मनुष्य रूपसे अवनिपर अवतरित हुए है। यह सत्य है हमारी आपकी बराबरी नही। हम अल्प है आप महान् हैं। हम अंश है, आप अंशी हैं, हम दास है आप स्वामी हैं। आप जो भी हों हमारे पूजनीय है, स्वामी है आपके पाद पद्मो मे हम प्रणाम करते है। आपने तो केवल मुझे शिक्षा देने के लिये यह लीला रची है, नहीं आपको पारिजात की क्या आवश्यकता आप काम को किसी वस्तु की स्पृहा ही कैसे हो सकती है?"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है अब तुम इस कल्पवृक्षको ले जाओ।"

हाथ जोड़कर विनीत भाव से देवेन्द्र ने कहा—"प्रभो! मेरी यह विनती स्वीकार की जावे। अब तो यह कल्पवृक्ष द्वारका ही जाय श्रीमती सत्यभामाजी के भवन की यह शोभा बढ़ावे। जब तक मर्त्यलोक में नर नाट्य करते रहेंगे, तब तक यह रहेगा। आपके तिरोधान के अनन्तर यह पृथिवी पर रह ही नही सकता। अपने आप ही यह स्वर्ग चला आवेगा।"

इन्द्रका जब बहुत आग्रह देखा और अपनी प्रिया सत्यभामाका भी कुछ रुख देखा तो भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है। तुम नहीं मानते हो, तो इसे हम लिये जाते हैं।" यह कह कर भगवान् चलने को उद्यत हुए। उसी समय शचीने आकर सत्यभामा जी से अपने व्यवहार के लिये क्षमा याचना की। इन्द्रने इन्द्राणी सहित भगवान् और सत्यभामा जी की पूजा की। इस प्रकार पूजित होकर भगवान् कल्पवृक्ष को गरुड़जी की पीठ पर रखकर विजय का शंख बजा कर द्वारका के लिये चल दिये।

उस कल्पवृक्ष पर बहुत से मधु लोलुप मकरन्द प्रेमी मधुप रहते थे। उन्हें उसी वृक्षका मधु प्रिय था। अतः उस पर निवास करने वाले वे भ्रमर वृन्द भी उसके साथ ही साथ गुन गुनाते हुए चले। मानों गोविन्द के गुणों को गाते हुए गायक गरुड़ के पीछे पीछे उड़ रहे हों। इस प्रकार अदिति देवी के कुण्डलों को देकर देवताओं को जीत कर तथा कल्पवृक्ष को लेकर भगवान् द्वारकापुरी में आये। वहाँ आकर उन्होंने उत्तम लग्न में वह वृक्ष सत्यभामाजी के भवन के आँगन में लगा दिया। उसके पुष्पों की गन्ध बारह कोश तक जाती थी। उसके नीचे वृद्ध आकर बैठ जाय तो युवक हो जाता था। चिन्ताग्रस्त आकर बैठ जाय, तो निश्चिन्त हो जाता था। लेखक आकर बैठ जाय तो उसकी सरस्वती प्रस्फुटित हो जाती थी। सारांश यह कि वह सबकी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला था। अब द्वारका में दो कल्पवृक्ष हो गये एक सजीव दूसरा निर्जीव। यह निर्जीव कल्पवृक्ष तो केवल संसारी भोगों को ही दे सकता था। किन्तु भक्तवांछाकल्पतरु भगवान् वासुदेव तो भुक्ति मुक्ति तथा भक्ति तीनों को ही देने में समर्थ थे। सत्यभामाजी अत्यंत ही प्रसन्न रहतीं। उस कल्पवृक्ष के लग जाने से उनके भवन की शोभा

अत्यधिक बढ़ गई। वे सबके घरों में उसके पुष्पों को बराबर भेजती रहती थीं। इस लिये किसी के मन में भी उनके प्रति ईर्ष्या के भाव नहीं उठते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की यह मोह मयी माया कैसी प्रबल है। मनुष्य सब जान बूझकर भी अनजान बन जाता है। यह जानता भी है, इस काम के करने से मेरा पतन होगा, यह कार्य मेरे वर्ण, आश्रम, पद, प्रतिष्ठा, सदाचार तथा कुल के विरुद्ध है फिर भी उसे बार बार करता है। जानबूझ कर करता है। पिछली की हुई प्रतिज्ञाओं को भूल जाता है। औरों की बात छोड़ दीजिये। जो तीनों भुवनों के अधीश्वर कहाते हैं, वे इन्द्र भी जब ऐश्वर्य के मद में आ जाते हैं, तो तमोगुण बढने से भगवान् की महत्ता को भूल जाते हैं। ब्रजमें अपना यज्ञ बन्द होने पर इन्द्र ने कैसा उपद्रव किया, ब्रज को नाश करने का ही संकल्प कर लिया। वहाँ भगवान् ने एक उङ्गली पर गोवर्धन पर्वत को उठाकर उसके मान को मर्दन किया। तब उसने अपने अपराध के लिये क्षमा याचना की। फिर स्वर्ग में इन्द्राणी के उकसाने से तमोगुण में भर गया। पुनः भगवान् से युद्ध करने प्रवृत्त हुआ। पहिले द्वारका में जाकर कैसी बिलैया डण्डौत की। अब जब माता के कुण्डल मिल गये तो फिर अपने को सर्व समर्थ ईश्वर समझने लगा। इसमें इन्द्र का भी कुछ दोष नहीं। यह सब दोष तो भगवान् की माया का है। जहाँ धन का मद हुआ तहाँ मनुष्य कामी बन जाता है। कामी पुरुष को कर्तव्या कर्तव्य का विवेक नहीं रहता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने कल्प वृक्ष लाकर सत्यभामाजीके साथ की हुई अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। अब जिस प्रकार उन्होंने सोलह सहस्र एक सौ कन्याओं के साथ विवाह किया उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

अब सब समुझे इन्द्र शक्र सकुच तजि बोले बानी।
'हैं अच्युत अखिलेश आप हौ अति अभिमानी॥
माया तुमरी प्रबल भूलिके उरझ्यो स्वामी।
क्षमा करें अपराध अखिलपति अन्तर्यामी॥
सुनत इन्द्रके बचन मृदु, भये सदय करुनायतन।
पुर आये सुर द्रुम लिये, थाप्यो सतभामा सदन॥

सोलह सहस्र कन्याओं के साथ विवाह

(१११२)

अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः ।
यथोपयेमे भगवांस्तावद् रूप धरोऽव्ययः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५९ अ० ४२ श्लोक)

छप्पय

पुनि जो सोलह सहस एक शत कन्या आईं ।
बनवाये बहु भवन सकल सुख तें ठहराईं ॥
विधिवत करचो विवाह रूप उतने धरि लीन्हे ।
सब कूं भूषन वसन दास दासी बहु दीन्हे ॥
भवन भवन महँ भुवन पति, पृथक पृथक निज तनु धरें ।
सुखद सरस सुन्दर सतत, क्रीड़ा सबके सँग करें ॥

अग्नि एक ही है, वह जैसा काष्ठ होता है वैसे ही आकार की प्रतीत होने लगती है। सूर्य एक ही हैं, किन्तु जल से भरे असंख्यों घड़ों में उनका प्रतिबिम्ब पृथक् पृथक् दृष्टिगोचर होता है। आकाश एक ही है पात्र भेद से उसकी घटाकाश, मठाकाश तथा

---

* श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन् ! भौमासुर के यहाँ से लायी हुई उन सोलह सहस्र एक सौ कन्याओं के साथ भगवान् ने भिन्न भिन्न भवनोंमे, भिन्न भिन्न रूप रखकर एक ही मुहूर्तमें विधिवत् विवाह किया।"

देहाकाश संज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार सर्वान्तर्यामी, अज, अच्युत, अखिलेश श्रीहरि एक है अद्वैत हैं तथापि भक्तों को सुख पहुँचाने के निमित्त रसमयी मधुर क्रीड़ा करनेके निमित्त वे अनेक बन जाते हैं और भक्तोंकी भावनानुसार उनके साथ वैसी ही क्रीड़ा करके उन्हें इच्छित वर देते हैं। भगवान् सबके हैं और सब की भावनानुसार वे रूप रख लेते हैं। स्वयं उनका न कोई नाम है न रूप है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब भगवान् कल्पवृक्ष लेकर द्वारका में आ गये, तब उन्होंने भौमासुर के यहाँ से आई हुई उन सोलह सहस्र एक सौ कन्याओं की सुधि ली। तुरन्त उन्होंने विश्वकर्मा जी को बुलाया और उन्हे आज्ञा दी—"देखो, ये राजकन्यायें हैं, इन सबके लिये पृथक् पृथक् सोलह सहस्र एक सौ भवन बना दो। किन्तु इस बात का ध्यान रखना कि वे सब भवन एक से हों उनमें किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो। किसी को यह कहने का अवसर न मिले, कि हमारे साथ पक्षपात किया जाता है, उस का भवन सुन्दर है, हमारा तो ऐसे ही है। सब भवन समान हों, उनमें की सब सामग्री भी एक सी ही हो।"

यह सुनकर हाथ जोड़कर विश्वकर्माजी ने बात की बात में सबके लिये सुन्दर, सुखद, सुरम्य तथा सभी ऋतुओं मे अनुकूल भवन बना दिये। भगवान् ने सबको एक एक भवन दिया, उसमें जीवनोपयोगी सभी सामग्रियाँ थीं। सबमें सुन्दर उद्यान, सरोवर, क्रीड़ास्थल और विहार भवन थे। सभी में सैकड़ों दास दासी विद्यमान थे। सभी में पुष्प खिल रहे थे और सुन्दर सुन्दर पक्षी मधुर मधुर शब्दों से गुञ्जार कर रहे थे। ऐसे सुन्दर भवनो को पाकर वे सबकी सब परम प्रमुदित हुईं। अब तक तो वे सब भेड़ बकरियों की भाँति एक ही स्थान में रहकर दिन काट रहीं थीं। अब वे सबकी सब सुख पूर्वक रहने लगी।

भगवान् ने ज्योतिषियों से विवाह का शुभ मुहूर्त पूछा। ज्योतिषियों ने लग्न बताई उसी लग्न में एक ही समय भगवान् ने सबका पाणिग्रहण किया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—'सूतजी ! एक ही साथ सोलह सहस्र एक सौ राजकुमारियोंके साथ भगवान्ने विवाह कैसे किया। एक ही मण्डपमें ये सब विवाह हुए या पृथक् पृथक् मण्डप बने।"

सूतजी बोले—"महाराज ! जितनी राजकुमारियाँ थीं, सबके घरों में पृथक् पृथक् विवाह मण्डप बने थे। सब भवनों में विवाह पढ़ने वाले पडित भी पृथक थे। यही नहीं जितनी राजकुमारियाँ थीं, उतने ही रूप भगवान् ने रख लिये थे। इस प्रकार एक ही समय में भिन्न भिन्न रूप रखकर भगवान् ने उन्हें अपनाया, उन्हें अपनी धर्म पत्नी बनाया। ये सबकी सब लक्ष्मीजी के अंशों से ही उत्पन्न हुई थीं। श्रीलक्ष्मीदेवीजी ने ही ये सब इतने रूप रख लिये थे, भगवान् भी उतने ही रूप रखकर उनके साथ रमण करते।

यद्यपि भगवान् आत्माराम हैं,अपने ही आनन्दमें सदा निमग्न रहते हैं,फिर भी लोक लीला दिखाने के लिये उन राजकुमारियों के साथ प्राकृत पुरुषोंका सा व्यवहार करते हुए उन्हें सुख देते।

जिन अच्युत अखिलेश श्रीकृष्णचन्द्र को पाने के निमित्त ब्रह्मादिक देवगण तथा बड़े बड़े योगेश्वर सहस्रों वर्षों तक घोर तप करते हैं,फिर भी उनकी पदवी को नहीं पाते। उन्हीं प्रभुको पति रूप से पाकर वे परम भाग्यशालिनी राजकुमारियाँ फूली नहीं समाती थीं। उनकी निरन्तर यही चेष्टा बनी रहती कि हम अपनी सेवा सुश्रूषा और विनयके द्वारा वासुदेवको अपने वशमें कर लें। वे हमें ही सबसे अधिक प्यार करें। इसी लिये वे भगवान्की ओर निरन्तर अनुराग पूर्ण मन्द मन्द मुस्कान युक्त चितवन से ही निहारतीं। व्रीडा मिश्रित वाणीसे नवसंगमकी सरस सुखद वार्ताएँ

करतीं। अपना सर्वस्व समर्पित करके उनकी समस्त सेवाओं को स्वय ही करतीं। यद्यपि उनके यहाँ दास दासियोंकी कमी नहीं थी सहस्रो सुन्दर से सुन्दर सेवक थे। सुकुमारी से सुकुमारी सुन्दरी सेविकायें थीं। उन सबके रहते हुए भी वे श्यामसुन्दर की स्वयं ही सेवा करने में अपना सौभाग्य समझतीं।

भगवान् जब सुधर्मा सभा से पधारते तो उन्हें देखकर सहसा खड़ी हो जातीं। आगे बढ़कर उनका सुस्वागत करतीं। फिर अनुराग भरित हृदय से उन्हें विराजने को स्वय आसन देतीं। अपने हाथों से स्वयं सुगन्धित जलसे स्नान करातीं, उनके अरुण वरुणके परम मृदुल चरण कमलों को स्वयं अपने सुन्दर सुकोमल करों से धोतीं। बालोंको सम्हारतीं। चन्दनादि लगातीं। सुन्दर स्वच्छ वस्त्रों को पहिनातीं, उन्हें अपने हाथ से सुस्वादु विविध प्रकारके षड्रस बनाकर भोजन करातीं। भोजन करा कर मुख शुद्धि के निमित्त पान इलायची आदि देतीं। सुन्दर सुखद शैया पर उन्हें सादर सुलातीं। उनके चरण तलोको शनैः शनैः सुहलातीं। चरणों को दबातीं। स्वयं ही मोर की पङ्खों से बने पङ्खों से उनको वायु करतीं। सारांश यह है, कि उनकी जितनी भी सेवा वे कर सकती थीं स्वयं ही सब अपने हाथों से करतीं।

भगवान् सोलह सहस्र एक सौ आठ रूप रखकर सबके भवनोंमे पृथक पृथक निवास करते। अतः किसी को भी यह कहने का अवसर नहीं होता था, कि भगवान् हमारे यहाँ पधारते नहीं। सब यही समझतीं, भगवान् मुझसे ही सबसे अधिक प्यार करते हैं, जो मेरे भवनको छोड़कर अन्य किसी के यहाँ जाते ही नहीं। इसी कारण उन सबमें परस्परमें सौतिया डाह नहीं था। जब भगवान् सबके महलों में रहते, तब तो पृथक पृथक रूप रखकर रहते जब सभामें जाने लगते तब द्वार तक तो पृथक् पृथक् रूपोंमें आते। जब द्वार तक पहुँचा कर सब स्त्रियाँ लौट जातीं, तो वे सब रूप

एक में मिल जाते और उसी रूपसे वे सभामें जाते । इस प्रकार सबको सन्तुष्ट करते हुए श्यामसुन्दर द्वारकामें रह कर गृहस्थ धर्म का अनुकरण करने लगे ।

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! भगवान्‌के रानियाँ तो इतनी थी पुत्र कितने होंगे । इन सबके पुत्र हुए । अथवा ये सब भी गोपिकाओंके सदृश सदा कृशोदरी ही बनीं रहीं ।"

सूतजीने कहा—"नही महाराज ! सदा कृशोदरी क्यों बनी रहेंगी । जब उन्हें भगवान्‌ने विधिवत् पत्नी रूपसे ग्रहण किया, तो पत्नीका मुख्य फल तो पुत्रोत्पत्ति ही है । सत्य संकल्प अमोघवीर्य भगवान्‌की पत्नियाँ पुत्र हीन भला कैसे रह सकती हैं । सबके पुत्र हुए । जसे भगवान्‌ने भवन,भोग सामग्री,दास दासी आदि वस्तुएँ देनेमें किसीके साथ विषम व्यवहार नही किया उसी प्रकार पुत्र देनेमें भी उन्होंने विषमता नहीं की । किसीको चार पुत्र दें देते दश पुत्रियाँ दे देते और किसीको एक ही देते तो वे आपसमें बुरा मानती । इस लिये भगवान्‌ने ऐसी नौबत ही नहीं आने दी । जैसे जनवासेमें जो परोसा दिया जाता है, उसमें छोटे बड़े मोटे पतले का भेद भाव नही किया जाता । सबको समान रूपसे चार चार लड्डू और आठ आठ कचौडियाँ दी जाती हैं, उसी प्रकार भगवान् ने सबको दश दश लड़के और एक एक लड़की दी ।"

शौनकजीने कहा—"सूतजी ! भगवानके सब पुत्रों के हमें नाम सुनाइये ।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! आप तो ऐसा असंभव प्रश्नकर देते हैं । कथा सुनते सुनते ऊब गये क्या ? अब बताइये सबका नाम बताने लगूँ तो फिर नाम गिनानेमें ही रह जाऊँ । एक लाख इकसठ हजार अस्सी तो लड़के ही हुए और सोलह हजार एक सौ आठ लड़कियाँ । सबके नाम कहाँ तक गिनाऊँगा । आठ पटरानियोंके मुख्य मुख्य पुत्रोंके नाम आप

आज्ञा करें तो गिना भी दूँ ।"

यह सुन कर चौंक कर शौनकजी बोले—"हाँ सूतजी । एक बात तो हम भूल ही गये । आपने जो बताया था, भगवान् की सबसे बड़ी पटरानी श्रीरुक्मिणीजीके जो प्रद्युम्नजीका जन्म हुआ था और उसे सूतिका गृहसे ही वेष बदलकर शम्बरासुर हर ले गया था, उनका क्या हुआ । मछलीके उदरसे निकलने पर मायावतीके नामसे प्रसिद्ध रतिने उनका पालन किया था । अब तो वे बड़े हो गये होंगे, युवक बन गये होंगे । वे द्वारका लौट कर आये या नहीं ? उनका विवाह हुआ या नहीं ? कृपा करके प्रथम भगवान्के सबसे ज्येष्ठ पुत्र श्रीप्रद्युम्नजीकी कथा सुनावें, तदनतर भगवान्के अन्य पुत्र पौत्रोंकी बात बतावें ।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं आपसे प्रद्युम्नजीका ही शेष चरित्र कहता हूँ उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें ।"

छप्पय

पूछें शौनक-सूत ! व्याह हरि बहुत बताये ।
किन्तु पुत्र कै भये आपुने नाहिं गिनाये ॥
हँसिके बोले सूत—कहाँ तक पूत गिनाऊँ ।
मुख्य मुख्य जे भये तिनहिं के नाम बताऊँ ॥
शौनक बोले—'प्रथम तुम, श्रीप्रद्युम्न कहो कथा ।
शम्बरपुर मायावती, रतिने पाले वे यथा ॥

—★—

प्रद्युम्नजी की कथा

(१११३)

प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने ।
मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम् ॥
स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत् ।
अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन्मञ्जनयनकंलिम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ५५ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

कहें-सूत सब सूद दयो शिशु रति कूँ मनहर ।
निज पति कूँ पहिचान करे पालन छिपि भीतर ॥
भये युवक पति सरिस भाव लखि वे घबराये ।
रतिने तब सब पूर्व जन्मके वृत्त बताये ॥
रति माया प्रद्युम्न कूँ, दीन्ही वे निर्भय भये ।
इक दिन शम्बर तें स्वयं, बिना बात ही भिड़ि गये ॥

पूर्व जन्म संस्कार उदय होनेपर असंभवसी लगने वाली बात संभव हो जाती है। पाप पुण्यों में प्रवृत्ति पूर्वजन्मोंके संस्कारवश ही होती है। जैसे प्राणी जहाँ जहाँ भी जाता है, वहीं वहीं

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मायावती ने प्रद्युम्नजी से इस प्रकार संभाषण करके उन्हें समस्त मायाओंको नष्ट करनेवाली महामाया नामक विद्या सिखा दी। तब प्रद्युम्नजीने शम्बरासुरके सम्मुख आकर नहीं सहन करने योग्य कटु वचनो से तिरस्कार करके, कलह के लिये उत्तेजित करते हुए युद्धके निमित्त उसे आह्वान किया।"

उसकी छाया भी साथ साथ जाती है उसी प्रकार जीव जिस योनि में जाता है उसके संस्कार तो उससे लिपटे ही रहते हैं। बिना भले बुरे संस्कारों के सम्बन्ध होता ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की सबसे बड़ी पटरानी के प्रद्युम्नजी का जन्म हुआ। शम्बरासुर उन्हें अपना शत्रु समझकर सूतिका गृहसे उठा ले जाकर उसने उन्हे समुद्र में फेंक दिया। वहाँ एक बड़ी मछलीने उन्हें निगल लिया। मछली मारने वालोने वह मछली शम्बारासुर को दी। शम्बरासुरने अपने रसोइयोंको दे दी। उन्होंने उसके पेटको फाड़ा प्रद्युम्नजी निकले। उनको रसोइयों ने शम्बरके महल में रहने वाली मायावतीको दे दिया, जो पूर्व जन्ममें रति थी। उसने उनका पालन पोषण प्रेमपूर्वक किया। नारदजी आकर उसे बता गये "ये तेरे पूर्वजन्मके पति कामदेव हैं।" इसीलिये वह पतिभाव मनमें रखकर ही उनका पालन करती। इस प्रकार अन्तःपुर में रहते रहते वे सोलह वर्ष के हो गये।

पहिले तो वे बच्चे थे, कुछ समझते नही थे। अब तो युवक हो गये थे। स्त्रियोंकी चेष्टाओको समझने लगे थे। उन्होंने अनेक बार अनुभव किया कि मेरी पालन करने वाली माताकी चेष्टायें अच्छी नही हैं। वह मुझसे पुत्रवत व्यवहार न करके कामभावसे व्यवहार करती है। इससे उन्हें बड़ी लज्जा भी आई और अत्यंत ही आश्चर्य भी हुआ।

एक दिन जब वह अत्यंत ही अनुराग भरित हृदय से रति सम्बन्धी हाव भाव कटाक्षों द्वारा सतृष्ण नयनोंसे अतृप्ताकी भाँति उन्हें निहार रही थी, तब वासुदेवनन्दन भगवान् प्रद्युम्नजी ने उनसे कहा—"माताजी! मैं देखता हूँ आपकी बुद्धि कुछ विपरीत सी हो गयी है। आपके भावोंमें विचित्र परिवर्तनसा प्रतीत होने लगा है। तभी तो आप मातृभावको परित्याग करके मेरे साथ

कामिनीके समान व्यवहार करने लगी है। ऐसा आचरण गर्ह्य है। सर्वथा निन्दनीय है। आपको मेरे साथ ऐसा व्यवहार करना शोभा नहीं देता।"

यह सुनकर लजाती हुई मायावती बोली—"प्रभो! मैं आपकी माता नहीं। न यह शम्बर आपका पिता ही है। आप तो वासुदेवनन्दन हैं। स्वयं श्रीमन्नारायण के तनय है। भाग्यवती रुक्मिणीदेवी ने आपको प्रसव किया है।"

यह सुनकर आश्चर्यचकित होकर प्रद्युम्नजी कहने लगे—"तब द्वारकासे मैं यहाँ कैसे आ गया? आपने मेरा पालन कैसे किया? आप कौन है? मेरे इन सभी प्रश्नोंका उत्तर दीजिये।"

यह सुनकर मायावती कहने लगी—"देखिये, आपका जन्म द्वारकापुरीके अन्तःपुरमें परम भाग्यवती रुक्मिणीदेवीजी के गर्भ से हुआ था। जब आप दश दिनके भी नहीं हुए थे, तभी सूतिका घरसे यह पापी शम्बरासुर आपको हर लाया था। इसने आपको समुद्रमें फेंक दिया था, एक मछली आपको निगल गई। वह दैवयोग से यहाँ आ गयी। उसी के उदर से आप निकले।"

इस पर प्रद्युम्नजी ने पूछा—"अच्छा, तो फिर तुम कौन हो।" मायावतीने कहा—"महाराज! मै आपकी पूर्वजन्म की पत्नी हूँ। आप पूर्व जन्म में कामदेव थे, मैं रति थी। आपकी प्रतीक्षा में ही मैं यहाँ शम्बरासुर के यहाँ दिन काट रही थी। अब आप अपने इस प्रबल शत्रु शम्बरासुर को मार डालिये।"

प्रद्युम्नजी ने कहा—"तो मैं इसे कैसे मारूँ? इससे द्वन्द युद्ध करूँ?"

भयभीत होकर मायावती ने कहा—"नही, महाराज! ऐसा आप कभी न करें। यह असुर बड़ा दुर्दम्य और दुर्जय है। युद्ध में तो इसे कोई परास्त कर ही नही सकता। यह बड़ा मायावी

है। सहस्रों प्रकार की मायाओंको यह जानता है। यह साधारण मायाओं से भी नहीं जीता जा सकता है। वह महामाया स्त्री के अतिरिक्त कहीं रहती नहीं। उसे आप मुझसे सीख लें, तो उसी के द्वारा आप इसे पछाड़ सकते हैं। अन्यथा युद्ध करके तो आप सौ वर्षों में भी इसे नहीं जीत सकते। इसे मार कर मुझे लेकर आप अपने पुर को पधारिये। आपकी पुत्रस्नेहाकुलामाता आपके विरह में निरन्तर कुररी की भाँति दीन होकर विलाप करती रहती है। बछड़े के नष्ट हो जाने पर गौ बिलबिलाती रहती है, उसी प्रकार आपके खो जाने से आपकी माता बिलबिला रही है। चलकर उसे धैर्य बँधाइये। मुझे प्रेम प्रदान कीजिये। यह सब होगा तभी जब आप इस अपने प्रबल शत्रु को माया द्वारा मार देंगे।"

प्रद्युम्नजीने कहा—"अच्छी बात है, उस महामायाकी दीक्षा तुम मुझे दे दो। तुम्हारी सम्मति और सहायता से ही मैं इस असुर का अन्त कर सकता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रद्युम्नजी के सहमत होने पर मायावतीदेवी ने उन्हें सब मायाओंको व्यर्थ बना देनेवाली महामाया नाम की विद्या दी। अब क्या था अब प्रद्युम्नजी निर्भय हो गये।

शम्बरासुर तो निश्चिन्त था, उसे विश्वास था, मृत्यु तो कृष्णतनय प्रद्युम्नके द्वारा बदी थी.उसे मैंने अपने पुरुषार्थसे नष्ट ही कर दिया। अब मैं मृत्युजित हो गया। अब मुझे कोई मार ही नहीं सकता वह यह नहीं जानता था, कि मायावती जिस अत्यंत सुन्दर बालक का मेरे ही अन्तःपुर में पालन पोषण कर रही है वही मुझे मारने वाला पुरुष प्रद्युम्न है।

प्रद्युम्नजी इतने सुन्दर थे, कि उन्हें जो भी देख लेता वही विमोहित हो जाता। शम्बरासुर भी उन्हें देखता और वह भी

उनसे प्रेम करता। एक दिन वे शम्बरासुर के समीप गये। वे उसे कुपित करके उससे लड़ना चाहते थे। क्रोध उत्पन्न कराने में क्या लगता है। किसी को दो गाली दे दे। उसकी झूठी सच्ची निन्दा कर दो। मर्ममें चुभने वाली दो कड़ी बातें कह दो, कितना भी शांत पुरुष क्यों न हो उसे भी क्रोध आ ही जायगा। फिर तामस प्रकृति वालों का तो कहना ही क्या है। जाते ही उन्होंने कहा—"क्यों वे पापी असुर! तू बड़ा नीच है। बड़ा कामी और क्रूर है। तैने मेरी स्त्री को अपने घर में क्यों रख लिया है।" इतना सुनतेही शम्बरासुर का क्रोध आ गया। उसने कहा—"चल हट, निर्लज्ज कहीं का। अपनी माता को पत्नी कहने में तुझे लज्जा नही आती। तू जानता नहीं मैं कौन हूँ अभी तेरी इस चबर चबर चलने वाली जिह्वाको गरम लोहे की सडासीसे पकडवाकर बाहर खिंचवा सकता हूँ। तुझे जीवित ही पृथिवी में गड़वाकर कुत्तोंसे नुचवा सकता हूँ। तेरे जीवित शरीरसे खाल खिंचवाकर उसमें भुस भरवा सकता हूँ। अरे, अबोध तू मेरी शक्ति को जानता नहीं। मैं राजराजेश्वर हूँ। अजर अमर हूँ समर में मुझे समस्त सुरगण भी नहीं जीत सकते।"

यह सुनकर क्रोध में भरकर प्रद्युम्नजी बोले—"अरे, मृत्युके खिलौने! क्यों बढ़ बढ़कर बातें बना रहा है? क्यों व्यर्थ की डींग हाँक रहा है। देवताओं की बात ही पृथक् रही, तू मुझसे हो आ युद्ध करले। मैं ही तुझे दाल आटे का भाव बता सकता हूँ, मैं ही तुझे यमसदन पठा सकता हूँ। मैं ही तेरी चौकड़ी भुला सकता हूँ। तेरे लिये तो मैं ही पर्याप्त हूँ। तुझे विश्वास न हो तो आ जा मेरे तेरे दो दो हाथ हो जायँ।"

हाथ में खड्ग लेकर उछलकर शम्बरासुर ने कहा—"अच्छा आ जा। मैं तुझे अभी तेरी अशिष्टता का फल चखाता हूँ।

प्रद्युम्नजी ने भी उछलकर कहा—"अच्छा आ जा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वासुदेवनन्दन भगवान् प्रद्युम्नजीके ऐसे कठोर तथा असह्य वचन सुनकर वह असुर पादप्रहारसे कुपित हुए सर्पके समान क्रोधमें भरकर लाल लाल नेत्र किये हाथमें गदा लिये हुए अपने आसनसे उठकर प्रद्युम्नजीसे लड़ने आया। इधर प्रद्युम्नजी भी सावधान थे। आते ही उसने दाँतोंसे ओठको काटते हुए किचकिचाकर सम्पूर्ण बल लगाकर कई बार बड़े वेगसे अपनी गदाको घुमाकर उसे प्रद्युम्नजी के ऊपर छोड़ ही तो दिया। फिर बड़े वेग से बिजली के सदृश कड़ककर बोला—'यह मारा यह मारा।'

प्रद्युम्नजी तो सावधान ही थे, उन्होंने जब असुरकी अग्निके समान जाज्वल्यमान गदाको अपनी ओर आते देखा तो उन्होंने अपनी गदा के वेग से उसे व्यर्थ बना दिया उसके टुकड़े टुकड़ेकर दिये। गदाको व्यर्थ बनाकर उन्होंने अपनी गदा असुरके ऊपर छोड़ी। वह दैत्य तो मायावी था। मायासुरका यह शिष्य था, अतः अपनी आसुरी माया के प्रभाव से वह आकाश में उड़ गया और वहींसे प्रद्युम्नजीके ऊपर अस्त्र शस्त्रोंकी वर्षा करने लगा। बड़े बड़े अस्त्रों के गोलोंको वह फेंकता जो नीचे आते ही फट जाते और उनमें से असंख्यों अस्त्र निकल पड़ते। प्रद्युम्नजी ने देखा, मैं इस मायावीकी माया को अपने बल पौरुष से व्यर्थ नहीं बना सकता, अतः उन्होंने मायावती की सिखायी उसी सर्व मायाओंको शान्त करने वाली सत्वमयी महामायाका प्रयोग किया। उस माया के प्रयोग को देखकर शम्बरासुर अत्यंत ही भयभीत हुआ। वह यक्षोंकी, राक्षसों पिशाचों सर्पों गन्धर्वों तथा असुरोंकी असंख्यों मायाओं को जानता था, उन सबका उसने प्रयोग किया, किन्तु प्रद्युम्नजी की मायावतीदत्ता महामाया के सम्मुख किसीकी कुछ भी न चली। वे सबकी सब व्यर्थ बन गयीं। तब तो असुर थर थर काँपने लगा। उसी अवसरपर प्रद्युम्नजीने एक

तीक्ष्ण खड्ग निकालकर शम्बरासुर के किरीटकुण्डल मंडित लाल लाल कड़ी दाढ़ी मूँछ वाले सिरको धड़से पृथक्कर दिया। उसके मरते ही समस्त असुर हाय हाय करके रुदन करने लगे। देवता आकाश से पुष्प बरसाने लगे। अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रद्युम्नजी अपनी प्रिया मायावतीजी के समीप आये और उससे बोले—"चलो चलें, अब अपनी द्वारकापुरी में चलकर माता पिता के दर्शन करें।"

यह सुनकर मायावती अत्यंत प्रसन्न हुई। वह सोलहू शृंगार करके सज बजकर प्रद्युम्नजी के साथ द्वारका चलनेको उद्यत हो गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार पापी शम्बरासुरको मारकर अपनी पूर्वजन्मकी प्रियाको साथ लेकर प्रद्युम्नजी आकाश मार्ग से अपनी प्रिया के साथ उड़कर द्वारकापुरीकी ओर चले। अब द्वारका में जिस प्रकार उनके पहुँचने पर हर्ष प्रकट किया जायगा। उस कथा प्रसङ्गको आगे कहूँगा।"

छप्पय

कहा सुनी कछु भई युद्धकी नौबत आयी।
ह्वै कें दोऊ कुपित परस्पर गदा चलायी॥
पुनि मायातें लड़े असुर नभ गयो उड़ाई।
माया कीन्हीं बहुत श्याम सुतकूं सुधि आई॥
सत्वमयी माया महा, छोड़ी शम्बर मर गयो।
असुर सकल दुःखित भये, सुरगन हिय अति सुख भयो॥

—*—

प्रद्युम्नजी के आनेसे द्वारका में आनन्द

(१११४)

यं वै मुहुः पितृसरूप निजेशभावा—
स्तन्मातरा यदभजन् रहरूढभावाः ।
चित्रं न तत्खलु रमास्पद विम्बविम्बे-
कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनार्यः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ५५ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

मायावति लै संग चले प्रद्युम्न मुदित मन ।
शोभित नभ महँ मनहु दामिनी दमकति सहघन ॥
पहुँचि द्वारका गये भवन रानी सकुचायीं ।
कृष्ण सरिस नर निरखि कामवश भईं लजायीं ॥
तब आये घनश्याम तहँ, नारदते सब जानिकें ।
भईं सुखी अति रुक्मिनी, निज सुतकूँ पहिचानि कें ॥

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! प्रद्युम्नजीकी रुक्मिणी आदि मातायें श्रीकृष्णके ही समान उनके रूपको बार बार देखकर उनमें पति-भाव करने लगीं । वेमधुरभावमें मग्न एकान्तमें चली गयी थीं । जो स्मरण मात्रसे ही मनमें क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, उन कामदेवावतार, भगवान् के प्रतिबिम्ब स्वरूप प्रद्युम्नजीके आँखों के सम्मुख हो जानेपर ऐसे भाव उदय हो जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । जब माताओंके मनमें ऐसे भाव उदय हो गये तो अन्य स्त्रियों के विषय में तो कहना ही क्या ।"

कभी कभी असंभव आशा भी संभव हो जाती है। जिनकी हम आशा खो चुके है, जिनके लिये हृदयके कोनेमें कही क्षीण सी आशा है, वे यदि कही सहसा आ जायँ, तो प्रथम तो विश्वास ही न होगा। यदि कोई विश्वास करादे, तो उन्हें पाकर कितनी प्रसन्नता होगी उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करना असंभव है। जो वस्तु सुगमता से बिना श्रमके स्वतः प्राप्त है उसकी प्राप्तिमें उतनी प्रसन्नता नहीं होती,चिरकालकी प्रतीक्षाके अनन्तर जो वस्तु प्राप्त होती है उसकी प्राप्ति में अवर्णनीय सुख होता है। किसी का पुत्र परदेश चला गया है कह गया है महीने भरमे लौट आऊँगा। महीने भर में वह लौट आता कोई विशेष बात नही। किन्तु जितना ही उसके आने में विलम्ब होता है, जितनी ही अधिक उसकी प्रतिक्षा की जाती है। उतना ही उत्कण्ठा बढ़ती है, जितनी अधिक उत्कण्ठा बढ़ती है उतना ही आनन्द आता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वासुदेवनन्दन महात्मा प्रद्युम्न जी शम्बरासुर को मारकर और अपनी पूर्वजन्म की भार्या मायावती को साथ लेकर आकाश मार्ग से द्वारकाजी में आये। वस्त्राभूषणों से सजी सजाई अपनी गौरवर्ण की भार्या के साथ वे श्याम वर्ण वाले प्रद्युम्नजी ऐसे लगते थे मानों आकाश में नूतन जलधर से लिपटी बिजली चमक रही हो। वे आकाश से सीधे ही आकर अपनी माता रुक्मिणीजी के विशाल आंगन मे उतरे। उस समय रुक्मिणीजी सभी रानियोंके सहित बैठी थीं। भगवान् राजसभामें गये हुए थे। अकस्मात् प्रद्युम्नजीको देखकर वे सबकी सब रानियाँ सहम गईं। उन्होंने शीघ्रता के साथ अपने अपने आंचल सम्हारे तनिक सा घूँघट मार लिया। प्रद्युम्नजीका जलभरे नूतन मेघके सदृश सुन्दरश्याम वर्ण था। वे भी भगवान् के सदृश चमकीला,पतला रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनके भुजायें विशाल थीं। कमल के सदृश विकसित अरुण वरण के उनके

विशाल आकर्षक नेत्र थे। उनके मुखारविन्द पर भी मंद मंद मनोहर मुसकान छिटक रही थी। उनकी काली काली घुंघराली अलकावली, बिथुर कर झुककर झूम कर मानों कपोलों को चूम रहा हों। उनकी भौंहें कुटिल और धनुषाकार थी। इन सब लक्षणोंसे युक्त होनेसे अन्तःपुरकी समस्त रानियोंने प्रथम तो उन्हें श्रीकृष्ण ही समझा। इसी लिये संभ्रमके साथ घूँघट मार कर

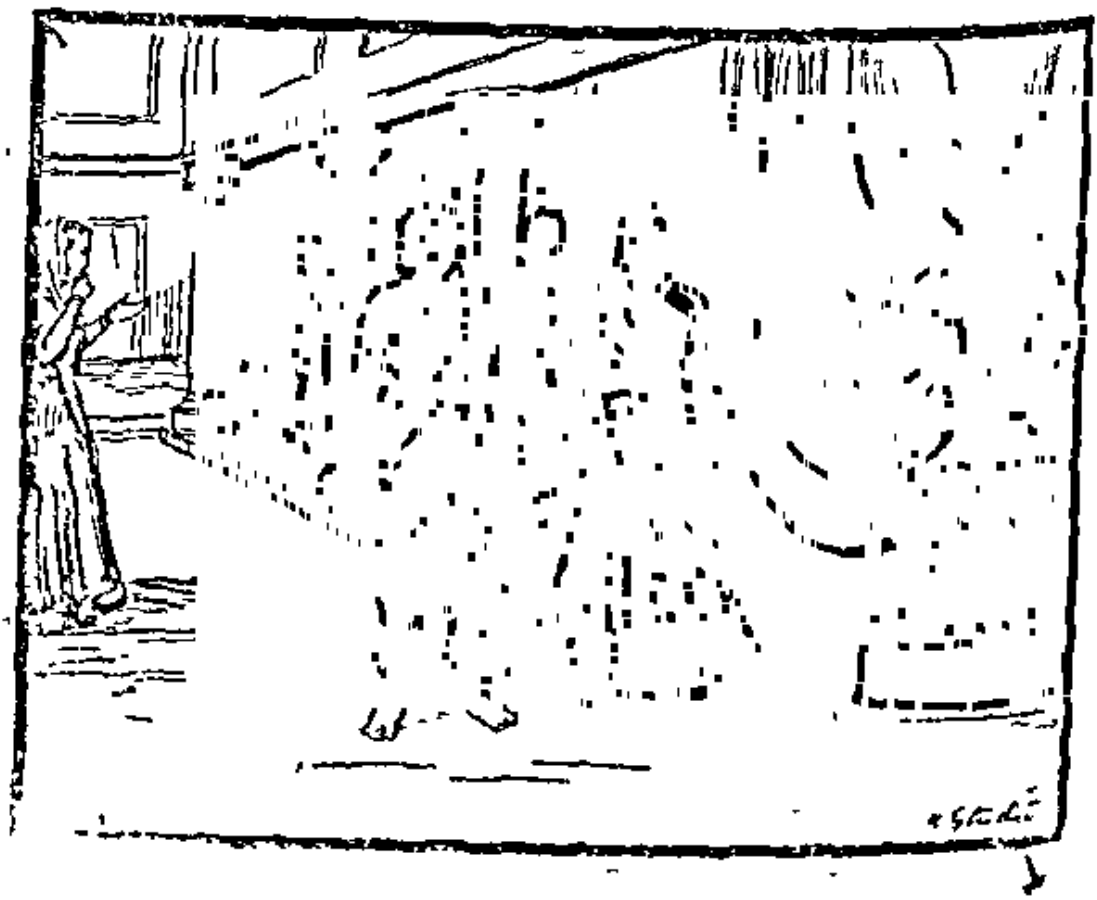

इधर उधर लुकने छिपने लगीं। बड़ी बहिनों के सम्मुख छोटी बहिनें अपने पतियो से लजाती हैं, बातें नहीं करती हैं इसी लिये भगवान् की अन्य पत्नियाँ इधर उधर भागने लगीं। रुक्मिणीजी तो सबसे बड़ी थीं। अतः वे नही भागीं। उन्होने तो समझ लिया ये श्रीकृष्ण नहीं हैं। अतः हँसती हुई बोली—"अरी, तुम कैसी लुगाई हो जो अपने पति को भी नही पहिचान सकती। ये वे नही

हैं। ये तो कोई और ही पुरुषरत्न है।" इतना सुनते ही सब रानियाँ लज्जित होकर पुनः लौट आईं। उन्होंने देखा एक किशोरावस्थापन्न कुमार एक अत्यंत ही सुन्दरी स्त्री के साथ निर्भय होकर वहाँ खड़ा है। सब सोच रहीं थी—"इसकी चाल ढाल, उठन बैठन सब भगवान् के सदृश है। इसने भगवान् के ही समान सुन्दर आकृति कसे पा ली।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! रक्त का बड़ा प्रभाव होता है। जिसने अपना परस्पर में रक्तका सम्बन्ध होता है जैसे माता, पिता, भाई बहिन तथा पुत्र पुत्री आदि उन्हें देखकर हृदय स्वः भर आता है। चाहें उनसे किसी कारण वश परिचय न भी हो, तो भी हृदयमें उन्हें देखते ही एक विचित्र भाव उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये रुक्मिणीजी प्रद्युम्नजी को देखते ही पुत्र स्नेह में भीग गईं। उन्हें सूतिकागृह से अपने खोये हुए पुत्र की स्मृति हो आई। वे सोचने लगी—"देखो, मेरे भी एक पुत्र हुआ था, उसकी मुखाकृति भी ऐसी ही थी। न जाने कौन उसे सूतिका घरसे चुरा ले गया। यदि भाग्यवश वह कही जीवित हो, तो इतना ही बड़ा हो गया होगा। यह कौन है, किसका पुत्र है, किसी परम भाग्य शालिनी माताकी कोखको इसने कृतार्थ किया है। इसे यह इतनी सुन्दरी स्त्री कहाँ से मिली है। मुझे तो इस बात पर अत्यधिक आश्चर्य हो रहा है, कि इसे श्रीकृष्ण की सदृशता कैसे प्राप्त हो गया। इसकी आकृति अच्युत की आकृति से सर्वथा मिलती है। उन्ही के समान इसकी चाल ढाल और बोल चाल भी है। उनके ही समान यह हँसता है, इसके समस्त अङ्गों की गठन भी श्याम-सुन्दर के समान ही है। रंगमें, रूपमें, स्वभावमें, व्यवहार, उठनमें बैठनमें, चलनमें, चितवनमें, तथा सभी बातों में ही तो यह घन-श्याम के समान है। कहीं यह मेरा वही बालक तो नही है। प्रारब्धवश वही तो बड़ा होकर मेरे नयनों को सुख पहुँचाने के

लिये कहीं यहाँ नहीं आगया है ? यदि ऐसी बात न होती, तो इसके प्रति मेरे मन मे सहज स्वाभाविक वात्सल्य स्नेह क्यों उत्पन्न हो जाता। मेरी वायीं आँख तथा बायें भुजा भी फड़क रही है। इन सब शुभ सूचक शकुनों से तो यही सिद्ध होता है, कि आज मुझे अपने अत्यंत स्नेही के मिलन का सुख प्राप्त होगा।"

प्रद्युम्नजी को देख देखकर भगवती रुक्मिणी ये सब बातें सोच ही रही थीं, कि सहसा वहाँ वसुदेवजी और देवकीके सहित भगवान् वासुदेव आ पहुँचे। सर्वज्ञ भगवान्से तो कोई बात छिपी ही नही रह सकती, वे तो सब कुछ जानते थे, अतः उन्होंने भी आकर कुछ नहीं कहा। वे भी आश्चर्य चकित दृष्टिसे प्रद्युम्नजी की ओर देखकर कहने लगे—"यह लड़का कौन है ? कहाँ से आया ?" सब चुप थे। जब भगवान् भी नही जानते तो न जाने यह कौन है। सब यही सोचने लगे। प्रद्युम्नजी कुछ कहते नहीं थे,वे नीचा सिर किये हुए खड़े थे। उसी समय वीणा बजाते हरि गुण गाते नारदजी वहाँ आ पहुँचे। नारदजी को देखते ही भगवान् खिल उठे और बोले—"आइये नारदजी, आइये, आइये।"

नारदजी ने कहा—"आये महाराज ! आज कैसे सब परिवार एकत्रित हो रहा है। किस कारण आप इतने विस्मित हो रहे हैं ?"

भगवान् ने कहा—"नारदजी ! न जाने कहाँ से यह लड़का एक स्त्री को लिये हुए यहाँ आ गया है। इसे ही देखकर सब विस्मित हो रहे है। इससे इनका परिचय पूछते हैं, तो कुछ बताता नहीं।

यह सुनकर नारदजी ने कहा—"महाराज ! क्यों ऐसा नर नाट्य कर रहे हो ? क्यों सबको भुलावे में डाल रहे हो ? आप इन्हें पहिचानते नहीं। ये तो आपके प्रथम पुत्र श्री प्रद्युम्नजी हैं। शम्बरासुर इन्हे हर ले गया था, इसे मार कर और अपनी पूर्व

जन्मकी पत्नीको लेकर के ये आपके चरणों में उपस्थित हुए है।" यह कह कर नारदजी प्रद्युम्नजीसे बोले—"तुम भैया ! अपने माता पिता दादी दादा तथा अन्यान्य माताओंको प्रणाम क्यों नहीं करते ?"

इतना सुनते ही प्रद्युम्नजी ने अपनी नव वधू युक्त वसुदेवजी, देवकीजी, बलरामजी भगवान्. रुक्मिणीजी तथा अन्यान्य माताओंके चरणोंमें प्रणामकिया। सभीने प्रद्युम्नजीको हृदयसे लगाकर उन्हें प्यार किया, अनेकों आशीर्वाद दिये। जैसे कोई मृतक सुहृद पुनः लौट आवे उसे देख कर जैसे सम्बन्धियोंको सुख होता है उससे भी अधिक सुख सब लोगोंको हुआ। जब सब पुरवासियोंने वृत्तान्त सुना कि खोये हुये प्रद्युम्नजी बडे होकरवहू लेकर पुनः द्वारकापुरीमें लौट आये है, तो वे सब बड़ा आनन्द मनाने लगे। प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—"देखो, प्रारब्धके सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता। हम सब तो समझते थे, बालक नष्ट हो गया होगा, किन्तु यह तो पुनः लौट आया। सत्य है जिसको भगवान् रक्षा करते हैं उसे मार ही कौन सकता है।"

इस प्रकार सम्पूर्ण नगर निवासी प्रद्युम्नजीको देखने आते वे उनके मनोहर रूपको देख कर मुग्ध हो जाते। उन्हें देखते २ नर नारियोंके नयन तृप्त नहीं होते थे। वे तो साक्षात् कामदेवके अवतार ही थे। जब उनके माताओंका मन उन्हे देखकर चंचल हो उठा, तो अन्य स्त्रियोंके सम्बध मे तो कहना ही क्या सम्पूर्ण नगर में प्रद्युम्नजीके आने पर फिर वैसा ही उत्सव मनाया गया, मानो आज फिर उनका द्वितीय जन्म हुआ है। रुक्मिणीजी अपने प्यारे पुत्रको पाकर परम प्रमुदित हुईं। उनके स्तनोंसे स्वतः ही दूध बहने लगा। उन्होंने प्रद्युम्नजीको हृदयसे लगा कर प्रेमाश्रुओंसे और स्तनके दूधसे उन्हें नहला दिया मानों उनका अभिषेक कर रही हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने श्रीरुक्मिणीजीके प्रथम पुत्रकी कथा कही अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?'

शौनकजीने कहा—"सूतजी ! सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियोंके पुत्रोंके नाम न बताओ तो आठ पट रानियों के मुख्य मुख्य पुत्रोंका तो हमें आप नाम बता ही दें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! अब मैं आपको आठ पटरानियोंके पुत्रोंके ही नाम बताता हूँ।"

छप्पय

पहिचाने वसुदेव, देवकी, बल हरि सबने।
वन्दन सबको करयो बधू सँग हरि नंदनने ॥
छाती तें चिपटाइ नेह सबने दरसायो।
मृतक सरिस सुत पाइ हियो सबको हुलसायो ॥
वैदर्भीके प्रथम सुत, श्री प्रद्युम्न कथा कही।
अब आठनिके सुतनिकी, सुनो कथा जो बचि रही ॥

आठ पटरानियोंकी सन्तति और प्रद्युम्न विवाह

(१११५)

ता सां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः ।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान्प्रद्युम्नादीन्गृणामि ते ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६१ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

वैदर्भीके पुत्र भये प्रद्युम्न आदि दश ।
सतभामाने भानु आदि जनि पायो जग यश ॥
जाम्बवतीने साम्ब सुमित्रादिक सुत जाये ।
नाग्नजितीके वीर, चन्द्र, वसु आदि सुहाये ॥
श्रीकालिन्दीके भये, श्रुतकवि आदिक तनय दश ।
जनि प्रघोष आदिक तनय, लह्यो लक्ष्मणाने सुयश ॥

स्थान की संकीर्णता न हो, सुन्दर सुविस्तृत स्वच्छ सुखकर भवन हो । धन का अभाव न हो, जीवनोपयोगी वस्तुएँ प्रचुर-मात्रा में हों, लालन पालन की चिन्ता न हो, ऐसे भाग्यशाली

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सभी श्रीकृष्णचन्द्र की पत्नियों मे दश दश पुत्र हुए । उनमे जो जो आठ पटरानियां हैं, जिनका वर्णन मैं पीछे कर चुका हूँ उनके प्रद्युम्न पुत्रो का विवरण मैं तुम्हारे सामने सुनाता हूँ ।"

भवनो में बहुत से सुन्दर सुन्दर बालक विहरें क्रीड़ा करें, इधरमे उधर किलकारी मारते हुए घूमें, यही पृथिवी पर ही स्वर्ग है। सुन्दर स्वच्छ कपड़े पहिने छोटे छोटे बच्चे अपनी बाल सुलभ चंचलतावश क्रीड़ा करते हुए बड़े ही भले मालूम होते हैं। यह प्राणी क्रीडा प्रिय है, इसे खिलौने चाहिये, जिससे यह खेलता रहे। छोटे छोटे लडके घरुआपाती गेंद गुल्ली डंडा से खेलते है। लड़कियाँ गुड्डी गुड्डोंसे खेलती है। बड़े होने पर उन दोनोंके खिलौने बच्चे हो जाते है। बच्चों को काजर लगाकर, गोटादार सुन्दर चमकने वस्त्र पहिनाकर माता पिता बड़े प्रसन्न होते हैं। उन्हीं के साथ खेलकर अपने को भाग्यशाली समझते हैं। दरिद्री के घर बहु सन्तान होना दारिद्रका चिह्न है, किन्तु सम्पत्तिवानों के बहु सन्तति होना यह तो बड़े भाग्य की बात है। जिनके लाखों पुत्र हों वे तो समस्त ऐश्वर्य, बल,यश,श्री, ज्ञान और वैराग्यके स्वामी ही होते है। उन्हीमें सभव है। सम्पूर्ण विश्व के ही वे पिता हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों के पुत्रों के नाम बताने में कोई लाभ नही, उनमे कोई विशेष प्रसिद्ध भी नहीं। अतः समय के संकोच से सब श्रीकृष्ण पुत्रों के नाम गिनाने मे मैं असमर्थ हूँ। हाँ, कथा प्रसङ्गको पूर्ण करने के निमित्त भगवान् की जो आठ प्रधान पटरानियाँ हैं,उनके दश दश पुत्रोंके नाम मैं आपको गिनाये देता हूँ। अच्छा सर्वप्रथम विदर्भनन्दिनी भगवती रुक्मिणीजी के ही पुत्रो के नाम श्रवण कीजिये। प्रद्युम्नजी तो उनके सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ सुत थे ही उनके अतिरिक्त चारुदेष्ण, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु और चारु ये नौ पुत्र थे। इस प्रकार प्रद्युम्नजी के सहित ये दश भाई थे। ये सबके सब बड़े पराक्रमी और वीर्यशाली थे। चारुमती नामकी एक कन्या थी, जिसका विवाह कृतवर्मा के पुत्र बली के साथ हुआ था। इस लिये कृतवर्मा भगवान् के समधी थे। इस

प्रकार सबके दश दश पुत्र हुए। ये सबके सब बलवीर्य में अपने पिता के ही समान थे।

सत्राजित् की तनया सत्यभामाजी के भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु, भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु, अतिभानु, श्रीभानु, और प्रतिभानु ये दश पुत्र थे।

जाम्बवान् की पुत्री जाम्बवती से साम्ब, सुमित्र, पुरुजित्, शतजित्, सहस्रजित्, विजय, चित्रकेतु, वसुमान्, द्रविण और क्रतु ये दश पुत्र थे। ये अपने पिता भगवान् कृष्ण के ही समान पराक्रमी और युद्ध प्रिय थे। इनमें साम्ब इतने सुन्दर थे, कि इन्हें देखकर स्वर्ग की अप्सरायें भी मोहित हो जाती। इनके ही कारण यदुकुल का संहार हुआ। इनके अंग प्रत्यंग स्त्रियों के समान आकर्षक और कोमल थे।

महाराज नग्नजित् की कन्या नग्नजिती के वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगुप्त, वेगवान्, वृष, आम, शकु, बसु, और तेजस्वी कुन्ती ये दश पुत्र हुए। इसी प्रकार सूर्यतनया कालिन्दी के भी परमप्रसिद्ध दश पुत्र हुए। जिनके श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्रएकल, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सोमक ये नाम थे।

मद्रदेश के राजा की पुत्री माद्री लक्ष्मणा के भी प्रघोष, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह, ओज और अपराजित ये दश महावीर्यमान् पुत्र हुए।

अष्टम पत्नी भद्रा के भी संग्रामजित् बृहत्सेन, शूर, प्रहरण, जय, सुभद्र, वाम, आयु और सत्यक ये पुत्र थे। इन आठ रानियों के अतिरिक्त जो रोहणी प्रमुखा सोलह सहस्र एक सौ और रानियाँ थीं, उन सबके भी दश दश पुत्र हुए। उनमें दीप्तिमान्, ताम्रतप्त रोहिणीजी के पुत्र अति प्रसिद्ध थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने भगवान् के कुछ पुत्रों के नाम तो गिना दिये। इन सबके विवाह कहाँ हुए?"

हँसकर सूतजी बोले— 'अजी, महाराज ! क्षत्रिय कुमार के लिये विवाह की चिन्ता नहीं रहती । कोई प्रसन्नता से कन्या न दे तो छीन झपटकर ले आते हैं । उन दिनों तो अपने अनुराग रखने वाली कन्या को राक्षस विधि से हरण कर लाना एक वीरता की बात समझी जाती थी । जैसे घर के बड़े लोग करते हैं उसका अनुकरण बच्चे भी किया करते हैं । भगवान् ने कन्या हरण का माग दिखा ही दिया था, अतः ये सबके सब राजकुमार ऐसे ही स्वयम्वरों में से कन्याओं को ले आते थे । ये सबके सब कुलीन सुन्दर, बलवान् तथा धनुर्वेदविशारद तो थे ही । इन सबके लिये कन्याओं का घाटा थोड़े ही था ।

शौनकजी बोले—"सूतजी ! भगवान् के प्रथम पुत्र प्रद्युम्नजी का विवाह उस मायावती से ही हुआ, या उनकी और भी कोई पत्नी थी ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! मायावती तो पूर्वजन्म की पत्नी थी । प्रद्युम्नजी का विवाह तो उनके मामा रुक्मी की लड़की रुक्मवती के साथ हुआ ।"

यह सुनकर चौंककर शौनकजी बोले—"सूतजी ! रुक्मी तो भगवान् से द्वेष मानता था, उसने अपनी पुत्री का विवाह प्रद्युम्नजी के साथ क्यों किया ?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! तुम इन गृहस्थियों की बात जानते नहो । ये पचास बार लड़ते हैं, पचास बार फिर एक होते हैं । जिससे अपना सम्बन्ध हो गया है, उनसे कैसी भी लड़ाई हो, वे सम्बन्धी तो हैं ही । यद्यपि रुक्मी का मन शुद्ध नहीं हुआ था । रुक्मिणीजी के हरण के समय उसने प्रतिज्ञा की थी—' जब तक मैं श्रीकृष्ण को हराकर अपनी बहिन रुक्मिणीको न छुड़ा लाऊँगा, तब तक अपने नगर कुण्डिनपुर में प्रवेश न करूँगा । भगवान् को हराना तो पृथक् रहा उसे प्राण बचाने ही

कठिन हो गये। इसलिये वह लज्जा के कारण कण्डिनपुर न गया, अपना एक पृथक् 'भोजकट' नामक नगर बसाकर रहता था। जब जब भी उसे कुण्डिनपुर जाने की इच्छा होती, तब तब ही उसे श्रीकृष्ण द्वारा अपने किये हुए अपमानकी स्मृति हो उठती। इसलिये वह उस बैरको भूला नहीं था। रुक्मिणीजी भातृ-स्नेहवश भोजकट आती जाती रहती। जब उनके भाई रुक्मीकी कन्या रुक्मवती बड़ी हुई तो इन्होंने रुक्मी से कहा—"भैया! इसे तो तू मुझे प्रद्युम्न के लिये दे दो।" रुक्मी नहीं चाहता था, कि यादवोंसे फिर नया सम्बन्ध और जोड़ा जाय, किन्तु बहिनसे स्पष्ट मना भी नहीं कर सकता था। अतः उसने कहा—"बहिन! मैंने तो अपनी लड़की का स्वयम्वर करने का निश्चय किया है, स्वयंवर में वह जिसे भी वरण कर ले, उसी के साथ मैं इसका विवाह कर दूँगा। यह तो घरकी बात थी, रुक्मिणीजीने रुक्मवती को भली भाँति समझा दिया। प्रद्युम्नजी सुन्दर भी बहुत थे। साक्षात् कामदेव के अवतार ही थे, अतः रुक्मवती ने यह बात स्वीकार कर ली।

रुक्मी ने स्वयवर की बड़ी भारी तैयारियाँ कीं, सभी देशोंके राजा राजपुत्र उस स्वयंवर में आये थे। यहाँ तो मिली भगत थी रुक्मवती जयमाला लेकर आयी। उसने और राजकुमारोंकी ओर देखा भी नहीं आते ही प्रद्युम्नजीके कण्ठमें जयमाला पहिना दी। इससे सभी राजा अत्यंत ही कुपित हुए। वे सोचने लगे—"रुक्मी को अपने भानजे के साथ ही विवाह करना था, तो हम

सबको यहाँ बुलाकर अपमान क्यों किया। सब मिलकर इससे कन्याको छीन लो।" ऐसा निश्चय करके वे सबके सब प्रद्युम्नजी से लड़नेको उद्यत हो गये। प्रद्युम्नजी तो महारथी थे, भगवान्‌के प्रथम पुत्र थे। इसलिये वे तनिक भी विचलित न हुए उन सब राजाओंसे अकेले ही लड़ते रहे। अन्तमें उन सब एकत्रित हुए राजाओंको युद्धमें अकेले ही परास्त करके रुक्मवती को ले गये।

यद्यपि रुक्मी द्वेषवश द्वारका नहीं जाता था सदा श्रीकृष्ण को मार डालनेका ही अवसर खोजता रहता था, फिर भी अपनी बहिनका प्रिय करने के लिये उसने द्वारका में आकर अपनी पुत्री का विवाह अपने भानजे प्रद्युम्नके साथ कर दिया। बड़े आनंद के साथ प्रद्युम्नजी का विवाह हो गया। इसी रुक्मवती के गर्भसे प्रद्युम्नजीके अनिरुद्ध नामक पुत्र हुआ। जिसके विवाहमें बलदेव जीने रुक्मी को मार डाला।

सूतजी कहते है—"मुनियो! भूत, भविष्य, वर्तमान, अतीन्द्रिय, दूरस्थ तथा व्यवहित सभी प्रकारकी बातोंको जानने वाले योगिराज मेरे गुरु भगवान् शुकदेव ने महाराज परीक्षित्‌से जिस प्रकार प्रद्युम्नजी के विवाह का वृत्तान्त कहा था वैसे ही मैंने आपसे कह दिया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने कहा कि बलदेवजी ने अनिरुद्ध के विवाह में रुक्मी को मार डाला, सो, इसका क्या कारण हुआ? क्यों बलदेवजी ने रुक्मीके प्राण लिये। अनिरुद्धजीका विवाह कहाँ हुआ। कृपया वासुदेव,संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इस भगवान्‌के चतुर्व्यूहावतारमेंसे चतुर्थव्यूह अनिरुद्धजीके विवाहका वृत्तान्त हमें सुनाइये।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज अब मैं भगवान् के पौत्र और प्रद्युम्नजी के पुत्र अनिरुद्ध के ही विवाह का वृत्तान्त सुनाता हूँ, आप दत्त चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

वृक, हर्षादिक लाल मित्रविन्दाने पाये।
भद्राने संग्रामजीत दश बेटा जाये॥
कहूँ कहाँ तक नाम सबनि सुत दश दश मानो।
एक लाख इकसट हजार अस्सी सुत जानो।
भये पुत्र प्रद्युम्नके श्रीअनिरुद्ध महारथी।
रुक्मी जिनके व्याह महँ, मरे द्यूतके स्वारथी॥

—★★—

अनिरुद्ध विवाह और रुक्मी वध

(१११६)

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः ।
रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ॥
जानन्नधर्मं तद्यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६१ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

शौनक पूछें-'सूत ! हने रुक्मी क्यों बलने ।
सूत कहें-'मुनि ! रच्यो खेल यह काल प्रबलने ॥
करन व्याह अनिरुद्ध भोजकट आये यादव ।
रुक्मी पौत्री संग व्याह सम्पन्न भयो जब ॥
भयो द्यूतको खेल तहँ, बल रुक्मी दलपति भये ।
रूँगट रुक्मीने करी, कुपित देवबल ह्वै गये ॥

बड़े बड़े बुद्धिमान पुरुष यह जानते हुए भी कि मृगया, मद्य, मांस, धर्म विरुद्ध काम और द्यूत ये सब व्यसन कलह तथा पतन के कारण है, फिर भी इनमें प्रवृत्त हो जाते है । इन कार्यों

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! रुक्मी ने अपनी बहिन के नाती अनिरुद्धजी के साथ अपनी पौत्री रोचना का विवाह कर दिया । यद्यपि उसका भगवान् से पुराना वैर भाव था और वह यह भी जानता था, कि ऐसा सम्बन्ध धर्म सङ्गत न होकर अधर्म सम्बन्ध है, फिर भी अपनी बहिन की प्रसन्नता के निमित्त उसने इस सम्बन्ध को भी किया ।"

में ऐसा आकर्षण है, कि बड़े-बड़े धर्मात्मा भी इनसे पृथक् नहीं रह सकते। जब जानते हैं जूआ खेलकर किसी का कल्याण नहीं हुआ है, किन्तु उसमें विजय की ऐसी आशा बनी रहती है, कि सर्वस्व गँवा कर भी मनुष्य उससे विरत नहीं हो सकता। जूए मे प्रायः उसी की विजय होती है जो अधिक छल कपट करना जानता हो। उसका परिणाम कलह, विग्रह, द्वेष और मृत्यु यही सब होता है। इसी लिये शास्त्रकार बार-बार इस बात पर बल देते हैं, कि किसी भी प्रकार के दुर्व्यसन में न पड़ना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रद्युम्नजी के पुत्र अनिरुद्ध जी हुए। इन लोगों के यहाँ तो मामा फूफी के लड़के लड़कियों के साथ विवाह करने का सदाचार ही बन गया था। यद्यपि यह अधर्म है। मामा फूफी के लड़के लड़की परस्पर में भाई बहिन के समान होते हैं, किन्तु स्नेह वश यह परम्परा दक्षिण में चल पड़ी है। महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, गुर्जर, कलिङ्ग, पाण्डय तथा अन्यान्य दाक्षिणात्य देशों में यह प्रथा चल पड़ी है, इस लिये देशाचार मानकर लोग करने लगे है, किन्तु है यह अधर्म ही।

रुक्मी तो मन ही मन श्रीकृष्ण से द्वेष रखता ही था। उसने अपनी पुत्री रुक्मवती का विवाह भी अनिच्छा पूर्वक अपनी बहिन के संकोच से प्रद्युम्नजी के साथ कर दिया था। अब उसके पुत्र की एक रोचना नाम की पुत्री थी। इधर प्रद्युम्नजी के पुत्र अनिरुद्ध भी विवाह योग्य हो गये थे। रुक्मिणीजी की तो दाढ़ गनक गई थी। वे चाहती थी, मेरी बहुएँ मेरे ही कुल की हों। अतः उसने भोजकट जाकर रुक्मी से कहा—"भैया! अब रोचना के लिए और वर ढूँढ़ने कहाँ जाओगे। अच्छा है, लड़की घर की घर में ही रहे। तुम्हारा अनिरुद्ध बड़ा हो गया है। मैं चाहती हूँ रोचना को तुम अनिरुद्ध के ही लिये दे दो।"

रुक्मी ने देखा, जब मेरी बहिन की इच्छा हो गई है,तो मुझे विवाह कर देना ही उचित है, यदि मैं प्रसन्नता से विवाह न करूँगा, तो ये श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न तथा बलदेव आदि बली यादव बल पूर्वक कन्या को ले जायेंगे,इसलिए इनसे विग्रह करना व्यर्थ है। यह सब सोचकर उसने कहा—"अच्छी बात है, तेरी ऐसी इच्छा है, तो ऐसा ही हो।'

यह सुनकर रुक्मिणीजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। अब क्या था द्वारकामें विवाहकी धूम मच गयी। सब यादव कहने लगे। विदर्भ देशमें दो दो विवाह हमारे यहाँ के हुए, बरात में एकबार भी नही गये। दोनों विवाह द्वारका में ही हुए। अब इस तीसरे विवाह में तो बरात सजाकर चलेंगे ज्योनार खायेंगे।" यह सोच कर सब बड़े प्रसन्न हुए। सब सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण पहिन पहिन कर बरात जानेकी तैयारियाँ करने लगे। यदि भगवान्के सभी पुत्र जाते, तो रुक्मी का दिवाला निकल जाता, अतः बलरामजी, श्रीकृष्णचन्द्रजी, प्रद्युम्नजी, साम्बजी तथा और भी दो चार सहस्र मुख्य मुख्य यादव बरात के लिये चले। रुक्मिणीजी तो दोनों पक्ष की थी, अतः उनका भोजकट में जाना आवश्यक था, इसलिये पौत्र के विवाह में वे भी गईं।

विदर्भपुर के लोगों ने यादवों की बरात का अत्यधिक स्वागत सत्कार किया। बडी धूम-धाम के साथ वैदिक विधि से रोचनाक विवाह अनिरुद्धजी के साथ हो गया। विवाह होने के पश्चात् भी कई दिनोंतक बरात ठहरी रही। बरातमें हँसी विनोद तथा खेल आदि होते ही हैं। कन्या पक्षके लोग वर पक्ष वालो को बुद्धू बनाने के कुछ न कुछ कार्य करते रहते हैं। पान में कोई रंग दे देंगे। जिसे खाने से सबके मुख नीले काले हो जायँ। कचौड़ियों में मिरचा भरके समधी को परोस देंगे, जिससे वह जब सी सं

करने लगे तो सब उसकी हँसी उड़ा सकें। इसी प्रकार और भी कार्य करते हैं। विवाह में इसीकी तो शोभा है।

रुक्मीने सोचा—"ये बलदेवजी अपनेको बहुत बली लगाते है, इन्हें किसी प्रकार बुद्धू बनाया जाय।" कन्या पक्ष की ओर से भी निमन्त्रण मे बहुत राजा आये थे। उनमें कलिङ्ग देश के राजा बड़े विनोद प्रिय थे। उन्होंने रुक्मी से कहा—"देखो, बलदेवजी को बुद्धू बनाने का एक उपाय है। इनको जूआ खेलना आता तो है नहीं फिर भी इन्हे द्यूतका बडा व्यसन है। हम लोग तो द्यूत क्रीड़ामें पंडित ही हैं। अतः इन्हें उत्साहित करके जूआ खिलाया जाय और उसीमें इन्हें बुद्धू बनाया जाय।"

यह बात सबको रुचिकर हुई। सब बलदेवजी के साथ खेल करना चाहते थे, उनकी हँसी उड़ाना चाहते थे। उन लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, खेल करना ही था, तो क्रीड़ा प्रिय कौतुकी कृष्णसे करते। भला सर्पसे क्या खेल करना। न जाने कब कुपित हो जाय, कब काटले। किन्तु विनाश काल में बुद्धि विपरीत हो जाती है। राजाके उत्साहित करने पर रुक्मीने बड़े आदर से बलरामजी को बुलाया और बोले—"बलदेवजी! हमने आपकी द्यूत क्रीड़ा की बड़ी प्रशंसा सुनी है। सुना है आप इस विद्यामें बड़े निपुण हैं।"

बलदेवजी ने कहा—"अरे, भाई निपुण काहेके है। वैसे ही मनोविनोद के लिये कभी कभी खेल लेते हैं।"

रुक्मी ने कहा—"तो हमारे तुम्हारे दो दो हाथ हो जाँय विवाह में द्यूत क्रीड़ा भी हो।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है, हो जाय कुछ देर मनोरञ्जन।" यह कहकर वे खेलने को उद्यत हो गये। खेल की

सामग्री मँगाई गई। पड़ने लगे पासे। रुक्मी की ओर कलिङ्ग नरेश आदि कई धूर्तराजा हो गये थे। बलदेवजी अकेले थे। रुक्मी ने पूछा—"कहिए बलदेवजी! आप दाव पर क्या लगाते है?"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छा, पहिले सौ सुवर्ण मुद्रा हम लगाते हैं।"

यह सुनकर रुक्मीने भी सौ सुवर्ण मुद्रा लगाकर पाशा फेंका, उसने तुरन्त सौ मुद्रा जीत ली। जूए मे खेलते-खेलते उत्साह बढता है। दोनों ही ओर से सर्वस्व लगाने तक को तैयार हो जाते हैं। सौ जीतने पर बलदेवजी ने सहस्र पण लगाये। सहस्र जीत ने पर दश सहस्र पण लगाया। वे सब तो चांडाल चौकडी के ही थे। बलदेवजी जो भी लगाते उसे ही जीत लेते और ठठाका मारकर हँसने लगते। कलिङ्ग राजको बलदेवजी को चिढाने में बडा आनंद आता। रुक्मी की विजय होते ही वह खिलखिला कर हँस पडता और कहता—"हाँ, बलदेवजी! और लगाइये, और लगाइये।"

उसकी हँसी और व्यंग वचनों को सुनकर बलदेवजी मन ही मन कुपित होते, किन्तु कुछ कहते नही थे। जब रुक्मी दस सहस्र मुद्राओं को जीत गया, तो उसने कहा—"अब मैं एक लाख मुद्रा लगाता हूँ।" यह कहकर उसने पाशा डाला। अबके बलदेवजी की जीत हुई। किन्तु वे सब तो बड़े धूर्त थे एक साथ सबके सब कहने लगे—"रुक्मीजी जीते! रुक्मीजी जीते!!"

अब तो बलदेवजी अपने क्रोध को संवरण करने में समर्थ नही हुए। स्वाभाविक ही उनके नेत्र अरुण वर्ण के थे, इस घटनासे वे और भी लाल वर्ण के हो गये। वे पूर्णिमा के उमड़ते

हुए समुद्र के समान परम क्षुभित हो गये थे अब वे अपने को सम्हाल नहीं सके, उन्होंने दश करोड़ मुद्रायें दाव पर लगा दीं। अबके भी पाशा तो बलदेवजी का ही पड़ा था। किन्तु रुक्मि ने छल का आश्रय लिया वह बोले—"अबके भी मैं ही जीता।"

बलरामजी ने क्रोध में भरकर कहा—"अब तुम लोग अधर्म पर उतारू हो गये हो। जीत मेरी हुई और तुम अपनी बता रहे हो।"

व्यग के स्वर में रुक्मी बोला—"घिरा हुआ सियार गाँव की ओर भागता है, जब धर्म से कार्य नहीं चला तो लोग अधर्म का आश्रय लेते हैं। जीत मेरी हुई आप अपने बताते हैं। आप इन कलिङ्गराज तथा दूसरे राजाओं से पूछें कौन जीता है। अपके कहने से क्या होता है। ये लोग मध्यस्थ हैं, प्रश्न निर्णायक है। ये जो निर्णय देंगे वही मान्य होगा।" इस पर वे सबके सब धूर्त बोल उठे-'रुक्मीने ही जीता है! रुक्मीने ही जीता है!'

इतने में ही आकाश वाणी हुई—"धर्म पूर्वक तो विजय बलरामजी की ही हुई है। रुक्मी का कथन मिथ्या है।" किन्तु आकाश वाणीके समय सभी उच्च स्वरसे चिल्लाने लगे—"नहीं नही,रुक्मीकी ही विजय हुई है। रुक्मीजी ने ही दाव जीता है।"

रुक्मी भी हठ करने लगा। आकाश वाणीकी उपेक्षा करके, उन राजाओं के उत्साहित करने पर वह भी अड़ गया। वह बलरामजी की हँसी उड़ाने लगा। उन्हें बुद्धू बनाने लगा। हँसी हँसी में ऐसे व्यग वचन बोलने लगा जिन्हे कोई भी स्वाभिमानी पुरुष सहन नही कर सकता था। वह बलदेवजी को चिढ़ाते हुए कहने लगा—"देखिये, जिसका काम उसीको छाजे, नहीं गदहा

छूट मोगरा बाजे।" धोबी धोबी का ही काम कर सकता है। चौरस खेलना, बाण चलाना, युद्ध करना यह काम क्षत्रियों का ही है। आप लोगों ने जीवन भर तो वन में गोएँ चराई। आप लोग लडना भिड़ना जूआ खेलना क्या जाने। हाँ बैल नाथने का काम आ पड़े या चोरो आदि करनी पड़े तो उसे आप भली भाँति कर सकते हैं। आप इन राजाओं के बीच में व्यर्थ चौसर खेलने को उद्यत हो गये।"

रुक्मी के ऐसे चुभते हुए व्यंगो को सुनकर अन्य सभी दुष्ट राजा हा हा करके हँसने लगे और बलदाऊजी की खिल्लियाँ उड़ाने लगे। कोई कहता—'इस लिये ये कंधे पर हल रखे रहते हैं। खेती करना,हल चलाना तो बनियों का काम है। अब ये चले है पाशा खेलने। पूर्वी गधा पश्चिमी रेंक रेके, तो कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है।"

अब क्या था, सबके चिढ़ाने पर बलदेवजी का क्रोध सीमाको उल्लङ्घन कर गया। वहाँ एक परिघ पड़ा था, बलदेवजी ने न आगा सोचा न पीछा। परिघ को उठाकर रुक्मी के सिर पर एक जमा ही तो दिया। जैसे फूट खिल जाती है, उसी प्रकार परिघ लगते ही रुक्मी का सिर खिल गया। वह उसी माङ्गलिक सभा मे प्राण हीन होकर बलि पशुके समान मर गया। मानो रोचना के विवाह यज्ञ मे ददिया सुसर ने बाबा की बलि चढ़ा दी हो।

रुक्मीको मारकर ही बलदेवजी का क्रोध शान्त नही हुआ पासमे बैठे कलिङ्ग राजको भी उन्होंने आगे बढ़कर पकड़लिया।

कलिङ्ग राज थर थर काँपने लगा। बलरामजी ने परिघ को तो फेंक दिया। कस कर एक चपत उसके गालों पर जमाया। चपत के लगते ही उसके वे सभी शुभ्र स्वच्छ बत्तीसो दाँत टूट कर पृथिवी पर गिर पड़े, जिन्हें बार बार निकाल कर वह बलरामजी की हँसी उड़ा रहा था। फिर उन्होंने परिघ को उठा लिया और दै दना दन दै दना दन प्रहार करने लगे। समस्त राजा बलराम जी को क्रुद्ध हुआ देख कर उसी प्रकार भागे जैसे भेड़ों के झुंड में सिंह आजाने पर वे भागती हैं। उस भाग दौड़ में किसी के हाथ टूट गये, किसी के पैर टूट गये, कोई मुँह के बल गिर गये, किसी की नाक टूटी, किसी के आखें फूटी। इस प्रकार सभी क्षत विक्षत होकर अपने अपने प्राणों को लेकर भागे। रुक्मिणीजी भी आकर रोने लगीं। भगवान्‌भी आगये वे बलराम जीको कुपित देख कर सिट पिटा गये। सन्मुख रुक्मिणीजी रो रही थी। भगवान् ने न तो एक शब्द बलरामजी से कहा, और न रुक्मिणी से ही कहा। वे जानते थे; यदि बलरामजी से कुछ कहा, तो वे छूटते ही कहेंगे—"कैसा कलियुग आगया, लोग अपनी बहू को ही सब कुछ समझते है, बड़े भाई का कोई शील संकोच नहीं। साले साली ही सब कुछ है। इसके साले ने मुझे कितनी खरी खोटी सुनाई तब तो इसने कुछ नहीं कहा, जब मैंने उसे मारा तो यह अपनी बहूका पक्ष ले रहा है। और यदि रुक्मिणी से कुछ कहते है। तो वह कहेगी—"ये यादव कैसे निर्दयी है। मेरे भाईको भी मार डाला और अब मुझे ही उलटा उपदेश दे रहे हैं।" अतः भगवान् ने सोचा—"सबसे अच्छा मौन रहना ही है। बलदेवजी का क्रोध शान्त हो जायगा, तो रुक्मिणी को द्वारकामें चल कर समझा लेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! रंग में भंग पड़ गई। विवाह के शुभ अवसर पर हत्या हो गई। कुछ कालमें बलदेवजीका क्रोध

शान्त हो गया। वे तुरन्त अपने रथ पर बैठ कर द्वारकाको चल दिये।

तब भगवान्‌ने भी झूठे आंसू बहाकर रुक्मणीके लड़कोंके साथ सहानुभूति दिखाई और अपनी पौत्र वधूको विदाकराके वर और नव वधूको लेकर समस्त बराती यादवोंके साथ भोजकटसे चलदिये और द्वारका पुरीमें आगये। मार्गमें लोगों ने कहा—"बलदेवजीने आवश्यकतासे अधिक क्रोध किया। विवाहमें हत्या हो गयी।"

भगवान्‌ने कहा—"अच्छा है साला मारा गया। हमसे बड़ा द्वेष रखता था उसने अपनी करनीका फल पा लिया।"

यह सुन कर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! क्या यह रुक्मीके साथ अन्याय नहीं हुआ। उसने अपनी बहिन दी, पुत्री दी पोती दी और उसके बदलेमें यादवोंने उनके प्राण ले लिये। महाराज! यदि बलदेवजी पर जूआ खेलना नही आता था, तो न खेलते। जूएमें तो ऐसा होता ही है। उसपर एक राजाको मार डालना यह कहाँ तक उचित है?"

सूतजी बोले—"महाराज! बड़ोंकी बातें बड़ी ही होती हैं। वृद्ध लोगोंके कृत्य विचारणीय नही होते। बड़े जो भी करें वही उचित। छोटे जो करे वही अनुचित। जो हुआ सो हुआ। भगवान् जो भी करते हैं अच्छा ही करते हैं। इस विषयमें आप अधिक विचार न करें।"

शौनकजी बोले—"अच्छी बात है सूतजी! अच्छी यह तो बताइये कभी भगवान्‌ने रुक्मिणीजी को इस घटनाके पश्चात् सान्त्वना भी दी?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! सान्त्वना क्या दी। एक दिन हँसी हँसी मे इस बातको कहना चाहा। रुक्मिणीजी कुछ गम्भीर स्वभावकी थी। वे सत्यभामाजीकी भाँति मानिनी नहीं थी

भगवान्‌ने एक दिन उससे हँसीकी। तब भगवान्‌को देनेके देने पड़ गये। जैसे तैसे उनकी प्रशसा करके उन्हें समझा दिया। सब इस घटना का भी उल्लेख किया। अब आप रुक्मिणीजी और भगवान् के विनोद की ही कथा सुने।"

छप्पय

लाल लालकरि आँखि सर्प सम बल फुफकारे।
रुक्मी सिर महँ परिघ जमायो प्रान निकारे॥
पुनि कलिङ्ग नृप पकरि तुरत बत्तीसो झारी।
जो खल भूपति हँसे सबनिकी दशा बिगारी॥
भलो बुरो नहिं हरि कह्यो, शील बन्धु,तियको करयो।
यदुपति सोचत जात मग, भलो भयो सारो मरयो।

भगवान्‌का रुक्मिणीजीसे विनोद

(१११७)

तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य,
या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा।
प्रीत स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ-
वक्त्रोल्लसात्स्मितसुधां हरिराबभाषे ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६० अ० ९२ श्लो०)

छप्पय

यों अनिरुद्ध विवाह भयो आये निज पुर सब।
हरि विनोद ज्यों करचो रुक्मिनी सङ्ग कहूँ अब॥
इक दिन निरखी प्रिया हँसति हरिने ढिग आवत।
पग पग पै जनु सुखद मधुर रस सौ बरसावति॥
अलक, पलक, मुख, नासिका, कंठ, जघन, कटि वर हृदय।
चुवत सबनितें मधुर रस, मुख मनहर मुसकान मय॥

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन रुक्मिणीजीने लीला ही से मानवरूप धारी श्रीहरिके अनुकूल रूप धारण कर लिया है तथा जिनका मुखारविन्द अलकों, कुण्डलों और सुवर्णमाला विभूषित कण्ठसे शोभायमान है तथा जो मधुर मुसकानमयी सुधासे सुशोभित है, जो मूर्तिमती लक्ष्मीजी ही हैं इसीलिये जो भगवान्‌से कभी पृथक् नहीं होती हैं उन्हें देखकर हँसी विनोदकी इच्छा से प्रसन्नतापूर्वक मुसकराते हुए भगवान् उनसे कहने लगे।"

इस नीरस गृहस्थाश्रममें सरसताका सञ्चार कामधुरा कामिनी ही करती है, संसार में अनन्दोत्पादक दो ही वस्तुएँ हैं। सुन्दरी और दरी (गुफा) जिस घर में अनुकूलता पति परायणा पत्नी नहीं उसके लिये घरमें रहना व्यर्थ है, उसे गुफा का आश्रय लेना चाहिये। घर तो मिट्टी के बने होते हैं जड है, किन्तु उन घरोंको चैतन्यता पत्नी ही प्रदान करती हैं। घर में नाना चिन्तायें उत्पन्न होकर उसे कडवा बनाये रहती हैं,उस कड़वाहटको मेंटकर गृहिणी ही उसे मधुर बनाती है। स्त्री कैसी भी क्यों न हो वह पुरुष को घरमें बांधे रहती है। यदि ऐसा न होता तो सभी प्रतिकूलाचरण करने वाली पत्नी का परित्याग करके पत्नी हीन जीवन बिताते। दिन भर का थका पुरुष पत्नीको देखकर उसका आतिथ्य ग्रहण करके नवजीवन प्राप्त करता है। दिन भरकी चिन्ताओंसे व्यथित पुरुष पत्नी की मधुर मुस्कान को निहार कर तथा उससे दो हँसी विनोद की सरस बातें करके आत्म विस्मृत होता है। लोग सुरापान करके भी अपनी चिन्ताओं से कुछ काल के लिये मुक्ति पाना चाहते है, किन्तु उसमें एक दोष है, वह अचेत करके निश्चिन्त करती है, किन्तु धर्मपत्नी तो सचेत करती हुई पुरुष को चिन्ता रहित बनाती है, पुत्र प्रसव करके संतति चलाती है, गृहस्थीकी गाड़ी को चलाती है,दिन भर श्रम करके भी वह हँसती रहती है और चिन्ता के समय पति के प्रति सहानुभूति प्रकट करती है। ऐसी स्त्री का मुख प्रेम में,रोष मे,दुख मे, सुख में, तथा सभी अवस्थाओं में स्फूर्ति प्रदान करने वाला होता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! अनिरुद्ध का विवाह करके भगवान् द्वारका आ गये और सुखपूर्वक अपनी सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियों के साथ आनन्द विहार करने लगे। जैसे भगवान्को कभी जरा व्याधि नहीं व्यापती सदा युवक बने रहते हैं, उसी प्रकार उनकी स्त्रियां भी सदा नीरोग और युवती बनी

रही। उनके न कभी बाल पके न अङ्गों में सिकुड़न पड़ी न कभी कोई व्याधि हुई। सदा सोलह वर्ष की सी बनी रहीं।

भगवान् की पत्नियों में सत्यभामाजी अधिक मानिनी थी। जब वे रूठ जाती, तो भगवान् को उन्हें बहुत समय तक मनाना पड़ता, किन्तु रुक्मिणीजी बड़ी सीधी सादी थीं। भगवान् जो कह देते, वही करती। कभी कोई हँसी विनोद की बात भगवान् कह देते, तो सकुच जातीं, मुसकाकर रह जातीं कभी उलटकर उत्तर न देती। हँसी विनोद तो तभी बढ़ता है जब दोनों ओर से कहा सुनी हो। एक ने कहा, दूसरा सुनकर चुप हो गया, बात समाप्त हो गयी। रुक्मिणीजी का दास्यभाव था। वे स्वाधीन भर्तृका के समान प्रगल्भा नहीं थीं। उन्हें भगवान्‌की सेवा करने में ही अधिक आनन्द आता था, हँसी विनोद उन्हें प्रिय नहीं था। भगवान् को तो व्रज की ही बान पड़ी हुई थी। वहाँ गोपिकायें उन्हें खरी खोटी सुनातीं, गाली देतीं, रूठती, मान करतीं। ये उनकी अनुनय विनय करते, हा हा खाते, पैर छूते, ठोढ़ी में हाथ डालते और हाथ जोड़े खड़े रहते। यहाँ द्वारका में वह रस कहाँ यहाँ तो सदा सेवा लेते रहो।

प्रेम में मान करना, रूठना, मचल जाना, कोप करना, हठ करना आवश्यक है। इससे प्रेमका सौंदर्य बढ़ता है। उसमें नव-जीवन आता है। जितना सुख मधुर मन्द मुसकानमय मुख को देखकर होता है, उससे कहीं अधिक अपनी प्रिया के प्रेम कोप से फूले हुए मुख को देख कर होता है।

भगवान् ने एक दिन सोचा—"मैंने रुक्मिणीजी के मुख को सदा मन्द मुसकान युक्त ही देखा है, क्रोधमें भरने पर इस मुखकी कैसी शोभा होती होगी, इसका अनुभव मुझे कभी नहीं हुआ। हो भी कैसे, रुक्मिणीजी तो कभी हँसी मे भी मुझसे क्रोध नहीं करतीं। मैं कुछ क्रोध करने की कभी बात कहता भी हूँ, तो वे

मुसकरा देती हैं। तब आगे कुछ कहने का मेरा साहस भी नहीं होता। एक दिन इनसे ऐसी कोई चुभती हुई हँसी करो, जो इनके हृदय मे पार हो जाय, इन्हें अवश्य ही क्रोध आ जाय। उस समय जब ये क्रोधमें भरकर आपेसे बाहर हो जायँ,तब मैं हँस दूँगा।" यही सब सोचकर श्यामसुन्दर किसी सुहावने सुखद समय की प्रतीक्षा करने लगे।

एक समय की बात है, वसन्त की सुखद ऋतु थी। बाहर चन्द्रमा की चाँदनी छिटक रही थी, कुछ कुछ गरमी पड़ने लगी थी। पंखे की वायु प्रिय लगने लगी थी। श्यामसुन्दर अपनी सुखद शैया पर सुखपूर्वक शयन कर रहे थे। हाथी दाँत के पायों वाला विस्तृत पलँग रेशम की निवाड़ों से बुना हुआ था, उस पर सेंवर की रुई का गद्दा बिछा था, उसके ऊपर दुग्धफेनके समान, बगुलों के पङ्ख के समाम शुभ्र, शङ्ख के समान स्वच्छ सफेद महीन चादर बिछी थी, मृदुल उपबर्हण रखे थे। श्याम-सुन्दर दाये करवट से तकिये पर भुजा रखे उसके सहारे लेटे हुए थे। कोई दासी थूकने के पात्र को रख रही थी, कोई चन्दन ला रही थी, कोई ताम्बूल बना रही थी। श्रीरुक्मिणीजी स्वयं एक बाल व्यजन लिये बनवारी को वायु कर रही थी। भगवान् तो भक्तोंको सुख देने और धर्मकी मर्यादा स्थान के निमित्त अवतीर्ण होते है, उन्हें स्वयं तो कोई इच्छा नहीं क्योंकि वे स्वयं आप्त काम हैं।

भगवान्का भव्यभवन भोगकी समस्त सामग्रियोंसे सुसज्जित था। उसमें सुन्दर स्वच्छ शुभ्र वितान तना था, जिनमें मोतियों की चारों ओर झालर लटक रही थीं। उस गृह में घृत अथवा तैल के दीपक नही थे। कान्तिमती मणियों के प्रकाश से ही वह प्रकाशित हो रहा था। दिव्य मल्लिकाकी मालाएँ स्थान स्थान पर टँगी हुई थीं। उनकी गन्धके लोभी भ्रमर गण उड़ उड़कर गुञ्जार

कर रहे थे, मानों माधवको मधुमय सङ्गीत सुना रहे हों। पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र उदित होकर प्रभुके दर्शनोंकी व्यग्रता प्रकट कर रहे थे, जब उन्हे विदित हुआ कि प्रभु तो अन्तःपुर में अपनी प्रिया के साथ हैं और सुखपूर्वक पलंग पर शयन कर रहे हैं, तब उनकी अधीरता और भी अधिक बढ़ी। वे स्वय तो अन्तःपुर में जा नहीं सकते थे, अतः उन्होंने अपनी किरणों को भेजा। किरणों के शुभ्र हास्य से वह भवन परम सुशोभित हो रहा था, छिपकर चोरीसे झरोखे से चन्द्रदेव झाँक रहे थे। भवन के भीतर पात्र मे जलती हुई अगुरु की धूप का धूँआ चन्द्रदेव के इस अशिष्ट व्यवहार से कुपित होकर स्वयं झरोखाओं के छिद्रो से निकल निकल कर निशानाथ के नयनों मे भर जाना चाहता था। पारिजात उपवन की सुगन्ध से सुवासित वायु वनवारी के वस्त्रों से तथा रुक्मिणी जी की साड़ी से क्रीड़ा कर रही थी।

अपने परमेश्वर पतिकी परिचर्या करती हुई विदर्भनन्दिनीकी शोभा अपूर्व थी। अब तक एक सुन्दरी सखी रत्नदण्ड युक्त चँवर लेकर श्यामसुन्दरके ऊपर डुला रही थी, अब उस चँवरको स्वयं श्री रुक्मिणीजी डुलाने लगी। चँवर डुलाने से उनके करोंके रत्नजटित कंकण, चूड़ियोंके साथ मिलकर मधुर मधुर शब्द कर रहे थे। कमलकी पंखुड़ियों से भी अधिक कोमल उनकी पतली पतली उँगलियों में मणिमय अँगूठियाँ सुशोभित हो रही थीं। उनमें जड़े हीरे व्यजन डुलाते समय चमक रहे थे। कुन्कुम से लिप्त तथा कंचुकी से आवृत उनका उन्नत वक्षस्थल श्रमके कारण हिल हिलकर केशर कस्तूरी की सुगन्ध को बखेर रहा था। अपने मणिमय नूपुरों की सुमधुर ध्वनि मे वे मदनमोहन के चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। कुन्कुमकी कीच से अरुणवर्ण के बने अपने कण्ठ के मोतियो के हारो से आवृत उनका कण्ठ कुछ कुछ हिल रहा था। सुन्दर साड़ी से आवृत उनके कटि मे पड़ी

महामूल्यमयी करधनी रुनुझुनु रुनुझुनु शब्द कर रही थी। कुटिल अलकों से आवृत वे अपने मुखारविन्द को नीचे किये हुए थी। अच्युत अपलक भाव से उनके अनुपम आननकी ओर निहार रहे थे। बीच बीच में कनक कुण्डलों की कांति से सुशोभित तथा पदक विभूषित कण्ठ को उठाकर अपने प्राणनाथ की ओर देख लेती। जब कभी दोनों के नयनों से नयन मिल जाते तो अपनी मधुर मुसकानमयी दृष्टि को हटाकर वे पुनः पृथिवी की ओर देखने लगती।

इस प्रकार जो छाया की भाँति भगवान् के साथ-साथ रहने वाली हैं, ऐसी लक्ष्मीजी की अवताररूपा उन रुक्मिणीजी को देखकर आज भगवान् को हँसी करने की सूझी। वे बोले—"प्रिये! मैं तुमसे एक बात पूछूँ? बुरा तो न मानोगी?"

अत्यन्त ही स्नेह से वीणा विनिन्दित स्वर में रुक्मिणीजी बोली—"पूछो, प्राणनाथ! भला बुरा मनाने की कौन सी बात है। कहीं पत्नी अपने पति की बातों का बुरा भी मान सकती है क्या?"

भगवान् ने पूछा—"अच्छा, यह बताओ, तुमने मुझमें क्या गुण देखा, जो मुझे वरण किया?"

रुक्मिणीजी समझ गयीं भगवान् मुझसे हँसी करना चाहते हैं, अतः बात बढ़ने न पावे इसलिये वे कुछ भी न बोलीं। तनिक मुसकरा कर रह गयीं। किन्तु भगवान् तो आज उन्हें कुपित करने पर तुले हुए थे, आज वे ऐसे मानने वाले नहीं थे अतः बोले—"देखो, मुझे शंका इसलिये हुई कि तुम्हारा विवाह न होता हो सो भी बात नहीं। बड़े बड़े नृपतिगण तुम से विवाह करने को लालायित थे। जिनका ऐश्वर्य हमारे [illegible] क्या बड़े बड़े लोकपालों से बढ़ा चढ़ा था, जो उदारता, सुकुमारता, सुन्दरता तथा वीरता में जगत् प्रसिद्ध थे। [illegible]

तुम सकोचवश किसी से कहने में असमर्थ थीं, तुम्हारे बड़े भाई पिता तुम्हें उन शक्तिशाली राजाओ को देना भी चाहते थे। वे लोग बरात सजाकर तुम्हारा पाणिग्रहण करने तुम्हारे नगर में आ भी गये थे, उन सर्वसमर्थ राजाओं को छोड़कर हमें तुमने क्यों वरण किया। वे तो तुम्हारे अनुरूप थे, हम तो किसी भी प्रकार तुम्हारे समान नहीं, फिर तुमने ऐसी भूल क्यों की ?"

रुक्मिणी जी समझ रही थीं, भगवान् मुझे चिढ़ाना चाहते है, इसीलिये विवाह की बात स्मरण दिलाकर मेरी हँसी उड़ा रहे हैं, इसलिये वे कुछ बोली नहीं। भगवान् के श्रीमुख की ओर देखकर कुछ लज्जित सी हो गयीं। भगवान् आज रुकने वाले नहीं थे बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही वे कहते गये—"देखो, हमें अपना पति बनाकर तुमने बड़ी बड़ी भूलें कीं। उनमें से कुछ मैं गिनाता हूँ।

१—तुम राजकन्या हो, राजाकी कन्या को राज पुत्र के साथ ही विवाह करना चाहिये। हम तो राजा है नहीं। भगोड़े हैं। राजाओं के भय से अपने प्राण बचाने के लिये हम भागकर समुद्र के बीच में रहते हैं। हम राजसिंहासन पर बैठने के अधिकारी नहीं बड़े बड़े बली राजा हमसे बैर मानते है। इसलिये हमारी तुम्हारी जोड़ी भी उचित नहीं।

२—दूसरी बात यह है, कि पुरुष पद प्रतिष्ठा में अपने अनुरूप न भी हो और अत्यंत प्रेमी अनुराग युक्त हो, स्त्रियों को अपने प्रेममय व्यवहार से उनके अनुरूप कार्य करके उनके अधीन रह कर उन्हें प्रसन्न कर सके, तो अकुलीन पुरुषको भी स्त्रियाँ वरण कर लेती है। हममें वह भी बात नहीं। स्त्रियोंके प्रति हमारी कोई आसक्ति नहीं। उनमें हमारा कोई विशेष आकर्षण नहीं। हम अस्पष्ट और अलौकिक मार्ग का अनुसरण करने वाले है।

ऐसे नीरस और फक्कड़ पुरुष के पल्ले पड़ी पत्नियाँ दुःख ही दुःख उठाती हैं। उनको कभी आन्तरिक प्रसन्नता नहीं होती।

३—तीसरी बात यह है, कुलीन भी न हो, पदप्रतिष्ठा न हो तथा कामकला कोविद भी न हो, यदि वह धनिक हो, तो धनके पीछे भी स्त्रियाँ पुरुष को प्रेम करने लगती है। सो हम पर धन भी नहीं। निर्धन हैं, फक्कड़ है। हमरे साथी निष्किंचन निर्धन और दीन होते हैं। जैसे हम वैसे हमारे प्रशंसक। "चोर चोर मौसाते भाई" उन अकिंचन निर्धन भक्तों ने ही हमारी प्रशंसाके पुल बांध-बांध कर हमको इतना प्रसिद्ध कर दिया है। स्वयं समस्त दीनों के नाथ होने से सम्पत्तिशाली हमारे समीप आनेसे डरते हैं। धनवान् हमसे प्रेम नहीं करते। सो हम पर न धन है, न धनवानों से मित्रता ही।

४—चौथी बात यह है कि सम्बन्ध और मैत्री समान शील वालों मे ही शोभा देती है। सब बातों में समानता न हो, तो कुछ बातों में तो समानता हो ही। हममें तुममें किसी बातमें भी तो समानता नहीं। तुम धनवान राजाकी बेटी, हम लोग उठाऊ चूल्हे वाले। आज यहाँ तो कल वहाँ। न कोई अपना घर न द्वार। हमारा तुम्हारा कुल भी समान नहीं। तुम राजपुत्री हम ऐसे ही राज्य भ्रष्ट सट्ट पट्ट बहिष्कृत नाम मात्र के क्षत्रिय। तुम ऐश्वर्यशाली की पुत्री, हम ऐश्वर्य हीन दिन काटने वाले व्यक्ति। तुम गोरी हम काले। तुम गंभीर प्रकृति की हम चपल चंचल। तुम गुणवती हम निर्गुण। इन सभी बातों से हमारी तुम्हारी जोड़ी अनुरूप नहीं। तुमने चढ़ती अवस्था की झोंकमें बिना समझे बूझे यह यह सम्बन्ध करके अत्यन्त ही अदूर दर्शिता का काम किया। किन्तु कोई बात नहीं। अभी कुछ बिगड़ा भी नहीं है। प्रातःकाल का भूला सायंकाल तक घर लौट आवे, तो वह

भूला नहीं माना जाता। अब भी भूल का सुधार हो सकता है, त्रुटि का परिमार्जन किया जा सकता है। अतः अब तुम एक काम करो, हमसे विवाह विच्छेद करके किसी अच्छे से सुन्दर से प्रभावशाली युवक राजपुत्र को फिर से वरण करलो। ऐश्वर्य-शाली राजाओं की कमी नहीं और तुम इतनी सुन्दरी हो, कि बड़े से बड़ा राजा तुम्हें प्रसन्नता पूर्वक बड़े आदर से ग्रहण कर सकता है। तुम चाहो तो अपने प्रथम पति शिशुपाल के ही यहां यहाँ चली जाओ। उसमें कुछ त्रुटि देखती हो, तो जिनके अधीन वह रहता है, उस सम्राट् जरासन्ध का पल्ला पकड़ लो। महा-राज शाल्व भी बड़े बली हैं उनसे नया सम्बन्ध जोड़ लो अथवा हमारी फूआ का लड़का दन्तवक्र भी बड़ा बली है, उसकी हो जाकर वह बन जाओ। अथवा तुम्हें और भी जो कोई अच्छा लगे। उसीके यहाँ चली जाओ। भेजने का प्रबन्ध हम कर देंगे

तुम कह सकती हो कि तुम्हें छोड़ना ही था, तो मुझे मेरे पिता की राजधानी कुण्डिनपुरसे रथमे बिठाकर क्यों भगा लाये तभी तुम मेरे यहाँ न आते। मेरा भाग्य जिसके साथ बधा होता उसके साथ चली जातीं। सो, उसमें एक कारण है। मैं तुम्हें कुछ प्रेमवश थोड़े ही हरण करले आया था। मैं तो अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के निमित्त वहाँ गया था। तुम्हारा बड़ा भाई रुक्मी मुझ से द्वेष मानता था। तुम्हारे पिताकी इच्छा, मेरे साथ तुम्हारा विवाह करने की थी। किन्तु रुक्मीने द्वेषवश उन्हें रोक दिया। मेरा अपमान किया। वह मुझ से सहन न हो सका अतः उन वीर्यमद से मदोन्मत्त महीपतियों के मान को मर्दन करने के निमित्त मैं तुम्हें वहाँ से हर लाया था। क्योंकि मैं दुष्टों का दर्प मिटाने वाला हूँ। इसीलिये मैंने साहस किया था। तुम समझती होगी हम तुमारे रूप पर रीझ कर वहाँ गये होंगे

हम लोग तो आत्माराम हैं, अपने आप में ही सदा सन्तुष्ट रहने वाले है। हमें स्त्री पुत्रो से क्या लेना देना। हमारे लिये मिट्टीकी काष्ठ की जैसे ही गुड़िया तैसे ही हाड़ मांस की बनी स्त्री। हम तो उदासीन है। जैसे किसी भवन में दीपक जल रहा है उस दीपक के प्रकाश में बैठा एक चोर चोरी कर रहा है, दूसरा किसी का वध कर रहा है, तीसरा मद्य पी रहा है, चौथा कोई निन्दित कार्य कर रहा है, पाँचवाँ कोई पुस्तक लिख रहा है, छठा कोई अन्य परोपकार का कार्य कर रहा है। दीपक सबको प्रकाश देता हुआ चुप चाप स्थित रहता है। बुरे काम करने वाले की निन्दा नही करता, अच्छे काम करने वाले की प्रशंसा नही करता। सभी को समान भाव से प्रकाश प्रदान करता है। इसी प्रकार हम देह गेह से उदासीन होकर निष्क्रिय और केवल साक्षीमात्र होकर स्थित हैं। ऐसे हमसे तुम्हे क्या प्रयोजन ? तुम अपनी गठरी मुठरी बाँधकर तैयार हो जाओ, मैं अभी रथ तैयार करता हूँ।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! इस प्रकार की बातें कहकर भगवान् मौन हो गये। रुक्मिणीजी और सब बातों को तो सहन करती रही, किंतु जब भगवान् ने बार-बार गम्भीर होकर यह बात कही—तुम चाहे जिसके साथ चली जाओ, दूसरा पति बना लो तो इससे उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ। भय और आशंका के कारण उनका हृदय धड़कने लगा। नेत्रो से निरन्तर नीर बह रहा था, वे अपने मुखसे एक भी शब्द उच्चारण न करती थी। चिन्ता में

निमग्न हुई वे निरन्तर नीचे की ही ओर देख रही थी। वे अपने अरुण वरण वाले नखों की द्युतिसे पृथिवी को आलोकित करती हुई उसे कुरेद रही थी। उनके अञ्जन रञ्जित अश्रुबिंदु कपोलों से ढुलक-ढुलककर कुचकुंकुम की कीच को धो रहे थे। मानसिक दुःख, पति-त्याग का भावी भय तथा अत्यन्त शोक के कारण उनकी बुद्धि विनष्ट सी हो गयी थी। दुःख से वे तुरन्त इतनी दुर्बल बन गयी कि कंकण अपने स्थान से खिसक गया। जिस चँवर से व्यजन कर रही थी, वह स्वतः ही उनके कोमल कर से गिर गया। बुद्धि विभ्रम हो जाने से उन्हें मूर्छा-सी आने लगी। चरण शरीर के बोझ को सम्हालने में समर्थ न हो सके। वे काँपने लगे। अचेत होने से तथा पैरो के लड़खड़ा जाने से वे अब अधिक देर तक खड़ी न रह सकी, जैसे प्रबल वायु के झोके से या कट जाने से कदली स्तम्भ गिर जाता है उसी प्रकार उनका शरीर भूमि पर गिर गया। गिरते ही उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये। आभूषण कहीं से कहीं खिसक गये। सिरसे साड़ी उतर गई, उनके काले काले कुटिल केश इधर उधर बिखर गये। उनकी वेणी खुलकर ढीली हो गयी, उसमें लगी मालती मल्लिका की मालायें भूमि पर गिर गयी। भगवान् ने कभी पहिले ऐसी हँसी की होती, तो वे जानती भी। उनके लिये यह नयी बात थी इसीलिये उन्हें इतना अधिक मानसिक क्लेश हुआ।

भगवान् ने सोचा—"अरे, यह तो रंग में भंग हो गयी। हास्य विनोद की गम्भीरता से अनभिज्ञ वैदर्भी अत्यन्त दुखी हो गयी। देखो, इसका मेरे ऊपर कितना अनुराग है, प्रत्यक्ष त्याग

की कल्पना तो दूर रही, हँसी विनोद में केवल वाणी द्वारा भी यह मेरे वियोग को सहन नहीं कर सकती।" इस प्रकार उनके प्रेमानुबन्ध के विषय में सोचकर करुणामय कृपालु कृष्ण ने उनके ऊपर कृपा की। तुरन्त ही वे अपने पलंग पर से उतर पड़े इस समय उनके चार हाथ काम आये। दो हाथो से उठाकर तो उन्होंने अपनी प्रिया को हृदय से लगा लिया। एक हाथ से उनके बालों को सम्हारने लगे और एक हाथ से उनके मुख पर जो स्वेद बिन्दु चमकने लगे थे, उन्हें पोंछा। बार-बार उनकी ठोढ़ी को उठाकर बहते हुए अश्रुओ को अपने पीताम्बर से पोंछा। शोकाश्रु सिञ्चित, कुंकुम रञ्जित हृदय को उन्होंने बार-बार पोंछा और स्नेह पूर्वक भुजाओं से दबा कर उन्हें अपने निकट बिठाकर समझाने बुझाने लगे। वे तो इस विद्या में आचार्य परीक्षा पास कर चुके थे। व्रज की चटसाल में इन्होंने मानिनियों को मानने का ही अभ्यास तो किया था। मानते समय कैसी बातें करनी चाहिये कैसी कैसी युक्तियाँ निकालनी चाहिये उन सबके ये पंडित थे। अतः जिन रुक्मिणीजी का हँसी विनोद के कारण भ्रान्त चित्त हो गया है और जो त्याग के भय से अत्यन्त ही दीना बनी हुयी हैं, उनको दीनानाथ दयालु दामोदर मंद मंद मुसकराते हुए सान्त्वना देने लगे।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जिस प्रकार भगवान् ने रुक्मिणी जी को सान्त्वना दी है और भगवान् की सान्त्वना से सचेत हो कर जिस प्रकार उन्होंने उनकी हँसी की एक एक बात का

गम्भीरता के साथ उत्तर दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। रुक्मिणीजी ने ऐसे उत्तर दिये कि भगवान् की बोलती बन्द हो गयी। उन पर कुछ भी उत्तर नहीं बना और 'हाँ हाँ' कहकर ही उन्हें इस प्रसङ्ग को समाप्त करना पड़ा।'

छप्पय

देखि प्रियाको रूप हँसी की हरि कूँ सूझी।
मंद मंद मुसकाय पहेली पिछली बूझी॥
कहो प्रिये! क्यों छाँड़ि नृपतिगण मम संग आई।
शूर बीर शिशुपाल संग तब भई सगाई॥
हम निरगुन निस्पृह परम, निष्किञ्चन निर्धन निपट।
तातें तजि हमकूँ अबहुँ, जाउ अपर नृपके निकट॥

—✱✱—

भगवान् की विनोद की बातों का रुक्मिणी जी द्वारा उत्तर

(१११८)

नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह,
यद्वै भवान्भागवतोऽसदृशी विभूम्नः ।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्रधीशः,
क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा ॥*

(श्रीमा० १० स्क० ६० अ० ३४ श्लोक)

छप्पय

सुनि पति वचन कठोर रुक्मिनी अति घबरायीं ।
मूर्छित ह्वै महि गिरी तुरत उठि श्याम उठायीं ॥
प्रेमालिङ्गन करयो पोछि मुख केश सम्हारे ।
पलँग पास बैठाइ मधुर स्वर वचन उचारे ॥
अरे, प्रिये ! रूठी वृथा, हँसी हँसी मे हौं कही ।
नरक रूप घर महँ सरस, है प्रसङ्ग सुखकर जिही ॥

* भगवान् की बातोंका उत्तर देती हुई रुक्मिणीजी कह रही हैं—"हे अरविन्दलोचन ! आपने जो मुझे अपने असमान बताया यह यथार्थ ही है । भला ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त तथा सर्व व्यापक आप परमेश्वर के अनुरूप मैं कैसे हो सकती हूँ । कहा तो त्रिदेवों के भी स्वामी आप और कहा त्रिगुणमय स्वभाव वाली, अज्ञानी पुरुषों द्वारा पैर पुजाने वाली उलूकवाहिनी मैं ?"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! भगवान् ने जब रुक्मिणीजी से हँसी की और वे दुखित होकर मूर्छित हो गयीं, तो भगवान् ने उन्हें प्रेमपूर्वक उठाया, हृदय से लगाया और अत्यन्त ही स्नेह-पूर्वक समझाने लगे—"अरे, वैदर्भि ! तुम रुष्ट हो गयी क्या ? भला हँसी विनोद की बातों मे भी कही रूठा जाता है ?

डबडबाई आँखों से श्यामसुन्दर की ओर देखकर रुक्मिणीजी प्रेम के रोष में बोलीं—"कही ऐसी हँसी होती है। हँसी की भी सीमा होती है। मुझे आपने कुलटा स्त्री समझ रखा है क्या ? जो ऐसी बात आपके मन में आयी।"

अत्यन्त स्नेहसे शीघ्रताके साथ,उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए भगवान् बोले—"नही नहीं, यह मेरा अभिप्राय तनिक भी नहीं था। मैं क्या तुम्हें जानता नहीं। मैं भली भाँति जानता हूँ तुम एक मात्र मुझमे ही अनुराग रखने वाली हो। मन से भी तुम किसी पर पुरुष की कल्पना नहीं कर सकती।"

कपोलों परसे ढुलकते हुए अश्रुओं को बायें हाथ से पोंछती हुई तथा साडी के अञ्चल से नाक के पानी को पोंछती हुयीं रुक्मिणीजी बोलीं—"जब आप यह जानते हैं, तो ऐसी बुरी बात आपने मुख से निकाली ही क्यों ? इसके पहिले तो आपने इतने चुभते हुए कठोर वचन कभी भी नही कहे थे।"

भगवान् प्यार के साथ बोले—"अब सच्ची ही बात बताद्दूँ ? अच्छा, सुनो, मैंने तुम्हारे चन्द्र मुख पर सदा मन्द मन्द मुसकराहट ही दौड़ती देखी। क्रोध में तुम्हारी आकृति कैसी हो जाती है,इसे देखने का मेरे मनमें चिरकाल से कुतूहल हो रहा था। कई बार मैंने प्रयत्न भी किया,किन्तु तुमने बात बढने ही नही दी। लजाकर रह गयीं। तुम्हारे लज्जा से अवनत मुखारविन्द में इतना अधिक आकर्षण है, कि मैं फिर बातको बढ़ा नही सका इस कारण मेरा कुतूहल पराकाष्ठा पर पहुँच गया। मेरी बड़ी इच्छा थी प्रणयकोप

से फड़कते हुए तुम्हारे इन बिम्बाफलों के सदृश अरुण अधरोंको देखूँ। कटाक्ष विक्षेप के कारण कुटिल हुए तुम्हारे ये अरुणवर्ण के बड़े बड़े विशाल युगल नयन कैसे हो जाते हैं। कोप में कुटिल हुयी तुम्हारी ये सुन्दर भृकुटियाँ कैसे तन जाती है। तुम्हारा यह निर्मल पूर्णचन्द्र के सदृश मनोहर मुखारविन्द रोष में किस आकृतिका हो जाता है, इन्ही सब बातो को देखने के लिये मैंने ये हँसी की बाते कहीं तुम इन्हें सत्य समझ गयी। इसीलिये कहा है सीधे सादे आदमियों से बहुत हँसी न करे।

रुक्मिणीजी ने कोप से कटाक्ष फेंकते हुए कहा—"चलो हटो, तुम पर दूसरो को बनाना बहुत आता है। ऐसी भी क्या हँसी ? ऐसी हंसी से क्या लाभ ?"

हँसकर भगवान्‌ने कहा—"देखो, हँसी में ऐसी वैसी बातोंका विचार नही किया जाता। हँसी तो निर्मुक्त हृदय से होती है। जहाँ खुटका बना रहता है, शील संकोच निभाना पडता है, वहाँ खुलकर हँसी हो ही नही सकती। तुम कहती हो इससे लाभ क्या ? मैं कहता हूँ, गृहस्थी में यही तो सबसे बड़ा लाभ है। हस्थी में नित्य नूतन झंझट लगे रहते हैं। यह ऐसा बिना पानी का अंध कूप है, कि यह कभी भरता ही नही। चिन्ता, व्याधि, शोक,धनाभाव, पुत्र पुत्रियो का विवाह व्यवसाय की चिन्ता, दुष्टों का, चोरों का, राजा का, प्रजा का, जाति का, कुल का, और न जाने किस किसका भय बना रहता है। गृहस्थी में दुःख ही दुःख है। यही एक मात्र सबसे बडा लाभ है, सुख है कि कुछ समय अपनी प्राण प्रिया के साथ प्रेमपूर्वक हँसी विनोद में बीत जाता है। इसी एक मात्र सुख के पीछे गृहस्थी कोटि कोटि दुःखों को सहर्ष सहन करता है। इसी सुख के लिये वह विपत्ति के पहाड़ को सिर पर लाद लेता है। इन सब बातों में सत्य का रत्ती भर भी अंश नहीं था, ये सब मैंने झूठी बातें कही किन्तु तुम्हें दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं कहीं थीं। वैसे ही हँसी

विनोद में कह दी।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब रुक्मिणीजी को विश्वास हो गया, कि भगवान् मुझे छोड़ना नहीं चाहते वैसे ही हँसी विनोद कर रहे है, तब उन्हें सन्तोष हुआ, उनके मन में जो प्रियतम वियोग का भय बैठ गया था, वह निकल गया।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हँसी भी हँसी के ही ढंग से होता है। गुलगुली उतनी ही करनी चाहिए जिससे हँसी आती रहे। अधिक करदी तो फिर हँसी मे खेंसी हो जाती है। भगवान् ने यह जो त्याग देने की, दूसरे के यहाँ चले जाने की बात कहदी, यह अति कर दी। ऐसा उन्होने क्यों किया?"

सूतजी बोले—"भगवन्! इन नटनागर की बातों के सम्बन्ध में कोई कुछ निश्चित रूप से कह नहीं सकता। इनके एक कार्य में अनेक गूढ़ अभिप्राय छिपे रहते हैं। एक कारण तो भगवान् ने स्वयं ही बताया, कि मैं तुम्हारे क्रोध युक्त मुख की शोभा देखना चाहता था, इस लिये ऐसा कह दिया।

दूसरे भगवन्! प्रेममें बार बार इस बात को सुनने की इच्छा बनी रहती है, कि मैं तुम्हें ही एक मात्र चाहता हूँ, तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कोई नहीं। यह बात जितनी ही बार सुनी जाती है, उतना ही सुख होता है इस लिये भगवान् ने स्वभाववश यही सब सुनने को कह दी।

तीसरा यह भी है, क्रोध से, प्रेम की लड़ाई से, मनसे,रूठनेसे प्रेम निखर जाता है। जैसे मीठा खाते खाते अरुचि हो जाय, तो तनिक चरपरी कड़ुवी चटनी चाट लेने से स्वाद बदल जाता है, जैसे बहुत दिन रखे रहने से तांबे पर मैल जम जाता है, खटाई से रगड़ने से वह फिर चमकने लगता है, उसी प्रकार अत्यन्त कोपके अनन्तर जो प्रेम होता है उसमें विलक्षणता नूतना आ जाती है, उसी नूतनता को लाने के लिये भगवान् ने ऐसी बातें कही।

चौथा कारण यह भी हो सकता है,कि ऐसा कहकर भगवान् रुक्मिणीजी के मुखसे पतिव्रताओं का धर्म कहलवाना चाहते थे, जिससे अन्य स्त्रियाँ शिक्षा ग्रहण करे लोक का कल्याण हो क्यों कि भगवान् की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी प्रत्येक चेष्टा जगत् के कल्याणके ही निमित्त होती है। वे हँसी मे, विनोद में, क्रोध में, तथा अन्य भावोंमें भावित से होकर जो भी क्रीड़ा करते है, उसमें लोकहित सन्निहित रहता है।

पाँचवा कारण यह भी है, कि भगवान् कभी भी रुक्मिणी-जीसे विलग नही होते थे, इसलिये उन्हें यह अभिमान हो गया था, कि मैं अत्यत ही सुन्दरी हूँ, भगवान् मेरी मुट्ठीमें है। ये मेरे ऐसे वश में हैं, कि पल भर भी मेरे बिना नही रह सकते। अतः उनके इस अभिमान को दूर करने के लिये भगवान्‌ने ऐसी चुभती हुई बातें कह दी। फिर जब उन्हे अधिक व्याकुल देखा तो कह दिया। 'ये सब बातें झूठ है, इनमें सत्यका अंश तनिक भी नहीं। किन्तु रुक्मिणीजी का तो अभिमान चूर हो गया था, वे बोलीं-- "महाराज ! आपने एक को छोड़कर सब बातें सत्य ही कहीं। इनमें झूठ कुछ भी नही था।"

भगवान्‌ने उपेक्षा के स्वरमें कहा—"हँसीकी बातोंमें सत्यता थोड़े ही होती हैं, वे तो वैसे ही विनोदके लिये मनोरंजनके लिये कही जाती है।"

रुक्मिणीजी बोली-"यहबात संसारी विषयी परुषोंके विषयमें सत्य भले ही हो सकती है किन्तु आप तो सत्य स्वरूप हैं सत्य संकल्प हैं। आप हँसी में भी जो कहेंगे, वह सत्य ही होगा। अब आपने जो जो बातें कहीं हैं, मैं उनका उत्तर देती हूँ सुनिये।"

भगवान् तो चाहते ही थे, हमारी प्रिया हमसे हृदय खोलकर बातें करे। अपने प्रेमी की बातें चाहें जैसी भी हों, उन्हें चाहें जितने बार सुना हो, उसके मुख से सुननेमें बड़ी अच्छी लगती

हैं। चित्त चाहता है, उसके समीप बैठकर उसके मुख को देखते हुए उससे कुछ न कुछ सुनते ही रहें। इसीलिये भगवान् बोले—"अच्छी बात है, सुनाओ।"

रुक्मिणीजी बोली—"अच्छा, सुनिये। पहिली बात तो आपने यह कही, कि हमारी तुम्हारी समता नही। जोड़ी मिलती नही। यह सर्वथा सत्य ही है। ऐश्वर्यादि गुणो से युक्त सर्व व्यापक सर्वेश्वर, सर्व समर्थ सच्चिदानन्द स्वरूप आप और कहाँ विकृत तीनों गुण वाली अज्ञजनों द्वारा उपासित उलूकवाहिनी मैं। मेरे आपकी समता ही क्या। मैं आपकी पत्नी बननेके सर्वथा अयोग्य हूँ, किन्तु आपने कृपा करके मुझे अपना लिया है। इसमें मेरी कोई विशेषता नही। आपकी कृपालुता ही है।

अच्छा, दूसरी बात आपने यह कही थी, कि "हम राजाओंके भय से भागकर समुद्र के बीच में आकर बसे है।" सो यह भी सर्वथा सत्य ही है। क्योकि यह जो त्रिगुणमय प्रपञ्च है इसमें कलह होती ही है, उसके भय से आप चैतन्य घन आत्मरूप से अन्तःकरण रूपी अगाध समुद्र में आकर सुख पूर्वक शयन करते है। समस्त देहरूपी पुरियों में शयन करने के कारण आप पुरुष कहाते हैं।

एक बात आपने यह भी कही थी, कि "हमारा सब बलवान् राजाओसे वैर बँध गया है, सो यह भी बात सत्य ही है। क्योंकि कुत्सित इन्द्रियगण रूप जो ये नृपतिगण है इनसे सदा ही आपकी कलह रहती है। जिह्वा अपनी ओर खीचती है,कान अपनी ओर खींचते है सभी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों की इच्छा करती है, विषय प्राप्त न होने से विद्रोह करती हैं। आप इन सबको जीत लेते हैं इसीलिये आप हृषीकेश कहाते हैं।

आपने कहा—"हमने राज्यसिंहासन को छोड़ दिया है, सो यह भी असत्य नही है, घोर तमोगुण ही राज्यसिंहासन है, इसे

तो आपके चरणाश्रित भक्त ही त्यागकर वन में चले जाते हैं। जब आपके भक्तों की दृष्टि में भी जो वस्तु हेय है अत्यंत त्याज्य है, उसे आप ग्रहण कैसे कर सकते हैं।

आपने यह भी कहा—"हमारा मार्ग अस्पष्ट है, हम लोक-विरुद्ध मार्गसे चलने वाले हैं" सो यह भी सत्य है, क्योंकि आपके चरण कमलकी रेणुका आश्रय करने वाले भक्त जन तथा योगि-वृन्द सब प्रकार के विधि-निषेध रूप बन्धन से मुक्त होकर स्व-च्छन्द विहार करते है। वे लौकिक वैदिक किसी भी कार्यमें लिप्त नही होते, लोक विरुद्ध भी व्यवहार करते देखे गये है। जब आपके चरणाश्रित सेवक ही विधि-निषेधके बन्धन में नही हैं तो आपको लौकिक बन्धन कैसे बाँध सकते है, आपके मार्गको जान कौन सकता है ?"

आप जो अपनेको निष्किञ्चन बताते हैं, यह बात भी असत्य नही। आप दरिद्रताके कारण निष्किञ्चन हो सो बात नहीं। दरि-द्रता तो आपकी बड़ी साली है, किसी ने उसे आश्रय नहीं दिया, तो आपने उसे आश्रय दिया। उसके घर को बसाया बहनोई के नाते को निभाया। असुर भी आपकी शरणमें आकर सुखी होते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग तथा सभी के आश्रय आप ही हैं। क्योंकि आपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यही निष्किञ्चनता आपमें विद्यमान है। देखिये आप इन्द्र, वरुण, कुबेर तथा अन्य विश्व वन्दितदेव सबके द्वारा पूजित है। वे जगत् पूज्य देवगण निरन्तर आपकी पूजा करते रहते है। वे आप में अनन्य भक्ति रखते है आपभी उन्हें अपना आत्मीय समझकर कृपा करते है। वे आपके अंश ही हैं। जो लोग धन सम्पत्ति आदि के मद में अन्धे हो रहे है वे आपको भूल जाते है। वे नही जानते काल रूप से आप ही उनकी आयुको नाशकर रहे है। वे निरन्तर प्राणोंके पोषणमें ही लगे रहते है। आपसे श्रेष्ठ कोई नही। आपसे पर कोई वस्तु

नहीं इसलिये आप निष्किञ्चन हैं।

आपने एक बात यह कही कि सम्बन्ध समानसे ही हो सकता है। यह बात सोलहू आने सत्य है। जो स्त्री पुरुष विषयों में ही आसक्त हैं। काम सम्बन्ध को ही सर्वश्रेष्ठ सुख मानते हैं, उन सुख दुख आदि द्वन्दों में फँसे रहने वाले विषयी लोगों से आपका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है। आप तो परम पुरुषार्थ स्वरूप हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी के आप स्वामी हैं, सभी के उद्गम हैं। जो लोग त्रिवर्गों में ही फँसे रहते हैं वे जन्मते और मरते रहते हैं। उनसे आपका नित्य सम्बन्ध होता नहीं। जो सब प्रकारकी कामनाओंका परित्याग करके एकमात्र आपकी ही शरण हो जाते है, ऐसे अनन्य भक्त सर्वस्व त्यागी विवेक वैराग्यवान् पुरुषों से ही आपका सेव्य सेवक सम्बन्ध हो सकता है। यद्यपि मुझ मे कोई गुण नहीं है। मैं आपकी समता नहीं कर सकती, तो भी आपने अपनी कृपालुतावश मुझे अपनाया है।"

आपने पूछा—"तैने अन्य इतने बड़े बड़े राजाओंको छोड़कर मुझे ही वरण क्यों किया ?" सो, इसका भी उत्तर सुनिये। देखिये मैं तो अज्ञा हूँ, आपकी महिमाको जान नहीं सकती, किन्तु जो न्यस्तदण्ड सन्यासी है। जिन्होंने प्राणि मात्रको अभयदान दिया है। उन बड़े बड़े विवेकी वैराग्यवान् विरक्त विद्वानों ने आपके प्रभाव का वर्णन किया है। आप सम्पूर्ण जगत् के आत्मस्वरूप है। आपने भक्तों को आप अपने ही समान बना लेते हैं। यही नहीं उन्हें आप अपने से भी अत्यधिक आदर देते हैं। इसीलिये मैंने आपको वरण किया है। ये शिशुपाल, दन्तवक्र और जरासन्ध आदि तुच्छ राजाओं की तो बात ही क्या इन्द्रादिलोक पाल, अज शंकर तथा अन्य भी अपनेको ईश मानने वाले बड़े बड़े भुवनपतियोंके समस्त भोग आपके भ्रकुटि विलाससे

उत्पन्न हुए कालवेग से नष्ट हो जाते हैं, जब इन ईश्वरोंकी विभूति भी स्थाई नही है, तो इन क्षुद्र नरपतियों के धन वैभव के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ?

हाँ, एक बात में मैं आपसे सहमत नही यह आपने छिछोरपन में आकर कह दिया है। उसका मैं विरोध करूँगी, अवश्य करूँगी और भरी सभा में करूँगी। आपने जो कहा—"राजाओं के भय से समुद्र में आकर बसे हैं, हम निर्बल है।" यह आपकी भूल है। देखिये, आप निर्बल होते तो ऐसा साहस कभी भी न कर सकते थे। जिस जरासन्ध के भय से भयभीत होकर आप अपने को भगोड़ा बताते हैं। मेरे विवाह के समय वह जरासन्ध भी तो वही था उसके समस्त साथी नरपति भी वहाँ समुपस्थित थे। पृथिवी के सभी शूरमानी नृपतिगण उस अवसर पर आये थे। आप वहाँ अकेले ही रथ पर चढ़कर पहुँच गये। वहाँ से आप सबके देखते देखते सबकी आँखों में धूलि झोंक कर मुझे उसी प्रकार अपना भाग मानकर उठा लाये जैसे समस्त पशुओं के बीच में से सिंह अपने भाग को उठा लाता है। जब आप अपने शार्ङ्ग धनुष की टंकार की, तब शत्रुओं के हृदय विदर्ण हो गये। जरासन्ध आदि को भागते ही बना।"

आपने कहा—"तुम मेरे साथ रहोगी, तो दुखी होगी। तुम्हें सुख प्राप्त न होगा, सो यह बात भी आपकी उचित नहीं। यदि राज्य पाट, धन वैभव मे ही सुख होता, तो इतने बड़े प्रतापी महाराजा अङ्ग, सहस्रों अश्वमेधादि अज्ञ करने वाले महाराज पृथु, जिनके नाम से यह समस्त देश भारतवर्ष कहलाता है वे महाराज भरत, इतने बड़े वैभवशाली महाराज ययाति और महान् यशस्वी राजर्षि गण तथा अन्यान्य भी बहुतसे सम्राटगण अपने अपने एक छत्र राज को छोड़कर तथा धन, वैभव, और विषय सामग्रियोंको छोड़कर आपकी प्राप्ति के लिये वनोमें क्यों जाते। यदि राज्य

छोड़ने से इन्हें कष्ट होता, तो दूसरे इनके पथ का अनुकरण क्यों करते ? ऐसा करके किसी ने भी क्लेश नहीं उठाया। फिर मैं आपके चरणों की शरण मे आकर क्यों कष्ट उठाऊँगी। आप तो सुखस्वरूप हैं। सुखस्वरूप के समीप जाने से तो सुख ही मिलेगा।

अन्त में आपने कहा—"तुम चाहो तो अब भी किसी अन्य राजकुमार को वरणकर लो, किसी वैभवशाली का पल्ला पकड़ लो। सो, हे स्वामिन् ! रसगुल्ला खाकर कौन कीड़ा पड़े सड़े गुड़ को खाने की इच्छा करेगा? कौन विमान पर चढकर गधे पर चढ़ना चाहेगा। कौन कपिला के दूध को पीकर आक के दूध को खाने की इच्छा करेगा ?कौन अमृत को पीकर विष पीना चाहेगा? कौन राजसिंहासन को त्यागकर काटों में बैठना चाहेगा ? इसी प्रकार सत्पुरुषों द्वारा कीर्तित, मोक्ष के धाम तथा लक्ष्मी जी के आश्रय स्थान आपके चरणारविन्दों की गन्धको सूँघकर फिर इन मरणधर्मा नर पशुओं की पत्नी कौन बनना चाहेगी, कौन ऐसे अज्ञ पुरुषों का आश्रय ग्रहण करना चाहेगी, जिन्हें निरन्तर काल का अधिकाधिक भय बना रहता है।"

आप पूछते हैं—"तुमने मुझमें क्या विशेषता देखी, किस गुण पर रीझकर तुमने मुझे अपना पति बनाया, सो इसका भी उत्तर सुनिये—"आप इस सम्पूर्ण चराचर विश्व के एक मात्र अधीश्वर हैं, आप सबके आत्मस्वरूप हैं। आप समस्त लोक परलोक सम्बन्धी कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। आप सुख-स्वरूप होने से परम प्रेमास्पद हैं। आनन्द स्वरूप होने से आनन्द-दाता हैं। इन्ही सब कारणोंसे मैंने समस्त विषयोंके कीट राजाओं को छोड़ कर आपको वरण किया है। अतः हे अच्युत ! हे जगदीश ! हे कमललोचन ! हे भूमन ! हे प्रभो ! हे विभो ! हे भक्तवत्सल ! हे अशरणशरण ! हे गदाग्रज ! हे परमेश्वर ! आपके पुनीत पाद पद्मों में मेरी यही प्रार्थना है, यही मेरी अभि-

लाया है, कि भाग्यवश मैं चाहे जिस योनि में जाऊँ। कर्मानुसार मुझे सूकर कूकरकी कोई भी योनि मिले उन सब योनियोंमें सदा मैं आपके चरणोंकी शरणमें ही बनी रहूँ। एक क्षणको भी आपका विस्मरण मुझे न हो। क्योंकि आप भक्तवांछा कल्पतरु हैं, शरणागत प्रतिपालक है। आप अपने आश्रितोंके मिथ्या संसार भ्रमको निवृत्त करने वाले हैं तथा उन्हें अपना स्वरूप तक दे डालने वाले है।

आप कहते है–"तुम शिशुपालके यहाँ फिरसे चली जाओ।" सो, प्रभो! आपको पाकर फिर मैं स्वेच्छासे नरकमें जाऊँ? ऐसे काठके उल्लू, गर्दभोके समान गृहस्थी का बोझा ढोने वाले, दासों की भाँति स्त्रियो की सेवा करने वाले, बैलों के समान गृहस्थी रूपी रथके जूए में जुते रहने वाले, बिल्ली के समान विषय रूपी आहारकी ताड़में इधरसे उधर घूमते रहने वाले, गिद्ध के समान स्त्रियोंके हाड़ मांसके बनी तुच्छ शरीर पर दृष्टि लगाये रहनेवाले, और कुत्तोके समान सबसे तिरस्कृत होने वाले, ये संसारी पति मंदभागिनी स्त्रियोंको ही प्राप्त हो। मै तो ऐसे विषयियोंकी ओर आँख उठाकर भी देखना नही चाहती। जिनके कानोमें भगवान्‌के सुमधुर नाम नही पड़ते, जो सर्वत्र कीर्तनीय आपके नामोंका कीर्तन नही करते, जो शिव ब्रह्मादिक देवो की सभामें गाये जाने वाले आपके गुणोंका गान नही करते, ऐसे हतभागी पुरुष हतभागिनी स्त्रियोंके ही पति हो।

जिन स्त्रियों ने आपके नामगान रूपी अमृतका स्वाद नहीं चखा है, जिसने आपके चरणकमल मकरन्दका आघ्राण नहीं किया है, जिसके कानो में आपकी कमनीय कथा नही पड़ी है, ऐसी ही मूढ़ा स्त्री ऐसे विषयलोलुप पुरुषको अपना पति बनाना चाहेगी, वही उसके बाहरी रूप पर रीझकर उसे अपना अङ्ग अर्पित करनेको उत्सुक होगी। यह शरीर है क्या, इसके ऊपर

ऊपर चमड़ा लिपटा हुआ है, भीतर से निरन्तर मल निकलता रहता है। चर्मके ऊपर केश हैं, रोम है श्मश्रु है, नख हैं। भीतर मांस है, अस्थियाँ हैं, रक्त, कृमि, विष्ठा, वात, पित्त व कफ तथा अन्यान्य प्रकारके मल भरे पड़े हैं। यह शरीर क्या है अपवित्र वस्तुओंका एक पुञ्ज है। भीतर छिपी वस्तुएँ निकाल दी जाय, तो वमन हो जाय उनकी ओर कोई देख भी नहीं सकता। ऐसे अपवित्र देहमें जिनकी आसक्ति है, उसे ही आलिङ्गन करके जो सुखका अनुभव करती हैं, वे स्त्रियाँ तो आपकी गुणमयी माया द्वारा ठगी गयीं। वे तो दुखमें सुख, अनित्यमें नित्य और नाशवान्में अविनाशीकी कल्पना करती है। वे स्त्रियाँ हतभागिनी है और वे पुरुष भी मंदभागी हैं, जो स्त्रियों के बाहरी अङ्गो को देखकर उन पर आसक्त हो जाते है।

आप तो आप्तकाम है। आप मेरे अधीन हों या मेरे रूप पर आसक्त हों, सो भी बात नही है। आप तो आत्माराम है, अपने आपमें ही रमण करने वाले हैं। किन्तु मेरे तो सर्वस्व आप ही हैं। आप मुझे ऐसा वर दें कि मेरा आपके चरणों में सहज अनुराग हो।"

भगवान् अब तक चुपचाप थे, रुक्मिणीजी व्यर्थकी बातें बक रही थीं, अपना पांडित्य प्रदर्शित कर रही थी, भगवान् चुपचाप सुनते रहे। जब उन्होने कहा—"आप ही मेरे सर्वस्व हैं, आपके प्रति मेरा सहज अनुराग है" तो यही तो भगवान् सुनना ही चाहते थे, यही तो उन्हें अभीष्ट था। अतः बोले—"प्रिये! तुम ऐसी बातें क्यों कह रही हो। मैं तो चकोरकी भाँति तुम्हारे मुखचन्द्रको निरन्तर जोहता रहता हूँ। मैं तो तुम्हारा मुख देखते देखते कभी तृप्त ही नही होता।"

इस पर रुक्मिणीजी ने कहा—"आप तो गुणातीत हैं। इन

वृद्धि के मिनित्त आप उत्कट रजोगुण को स्वीकार कर लेते हैं। फिर उसी भाव में भावित से होकर सतृष्ण नयनों से मेरी ओर देखते रहते हैं। बार बार कहते हैं तुम्हें देखते देखते मेरी तृप्ति ही नहीं होती' यह सब आपकी क्रीड़ा है विनोद है, मानव लीला कर रहे हैं, इसे भी मैं आपकी परम कृपा समझती हूँ, मेरे ऊपर अनुग्रह करके ही आप ऐसा कौतुक करते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने देखा, रुक्मिणीजी का शोक, भय तथा आशंका सभी निवृत्त हो गये हैं, तो वे उनकी बातों का समर्थन करने लगे और उनके प्रेम की सराहना करने लगे। अब यह प्रसङ्ग आगे कहूँगा।"

छप्पय

समुझि रुक्मिनी हँसी शोक दुख हियको त्याग्यो।
प्रियको कठिन विनोद दूध तातो सो लाग्यो॥
बोलीं–'तुम अति गुनी निरगुनी हौ हूँ स्वामी।
हौं अबला अति अधम आप अज अन्तर्यामी॥
नित नित नूतन नारि हौ, तुम प्रभु पुरुष पुरान हो।
हौ तिरिया तिरगुनमयी, आप अजित भगवान् हो॥

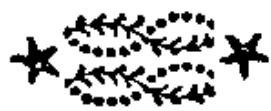

भगवान् का रुक्मिणी को आश्वासन

(१११६)

न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु,
पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले ।
प्राप्तान्नृपानवगणय्य रहो मदर्थे,
प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६० अ० ५५ श्लोक)

छप्पय

नाशवान नर छाँड़ि वरे तुम अज अविनाशी ।
जनम जनम हौं रहूँ चरन कमलनि की दासी ॥
त्वचा, रोम, नख, केश मूत्रमलयुत निन्दित तन ।
तजि विषयिनि को संग लगायो प्रभु चरननि मन ॥
अब फिरि कबहूँ नहीं, कहैं वचन वज्र सम अति कठिन ।
प्रान प्रियाको प्रेम लखि, हँसि बोले करुनायतन ॥

हँसी की बातो से जब अपना कोई आत्मीय बुरा मान जाता है तो उसका मन करने के लिये उसे प्रसन्न रखने के लिये भाँति

*श्रीभगवान् कह रहे हैं—"हे मानिनि ! तुम्हारे समान प्रणयिनी गृहिणी अपने समस्त गृहों मे कोई दिखाई नही देती । देखी तुमने मेरी प्रशंसा सुनकर अपने विवाह के समय एकत्रित हुए समस्त राजाओं को कुछ भी न गिनकर मेरे पास तुमने ब्राह्मणों को गुप्त सन्देश वाहक बना कर भेजा था ।"

भाँति की बातें बनानी पड़ती हैं। अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा सिद्ध करना पड़ता है। जैसे वह प्रसन्न हो सके वैसे ही व्यवहार करना होता है। उसका रुख देखकर उसकी झूठी सच्ची प्रसन्नता रखकर उसे सन्तोष देना पड़ता है। जो इस कला में निपुण नही होते वे सर्व प्रिय हो नहीं सकते। उन रूखे स्वभावके लोगों से किसी का प्रेम स्थाई हो नहीं सकता। प्रेम मे खरी बात कहना दोष है। सत्य भी कहे तो मधुरता के साथ कहे। प्रेम की वृद्धि मृदु और मधुर वचनों से तथा अनुरागयुक्त व्यवहार से ही होती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब रुक्मिणी जी ने भगवान् के वचनों को उलटकर उनके आध्यात्मिक उत्तर दिये। दोनों में बातें होने से फिर पूर्ववत अनुराग बढ़ गया, तो भगवान् बोले प्रिये! मैंने जो तुम से यह बात कह दी, कि 'तुम किसी अनुरूप वर को वरण करलो, इससे तुम्हारे हृदय में बड़ी ठेस लग गयी। मैंने बिना समझे बूझे यह बात कह दी। हँसी हँसी में मेरे मुख से सहसा यह बात निकल गयी। वास्तव में स्त्रियों के लिये ये शब्द बहुत ही अपमान जनक हैं।"

रुक्मिणीजी ने प्रेम के साथ कहा—"नहीं प्राणनाथ! अपमानजनक क्या है बहुत स्थान में ऐसा होता है, कि कन्या प्रेम किसी और से करती है और उसे बलपूर्वक दूसरा ले जाता है। जैसे काशिराज की कन्या अम्बा मन से प्रेम तो राजा शाल्व से करती थी, किन्तु उसे अपने छोटे भाई के लिये भीष्म बलपूर्वक हरण कर लाये। किन्तु मेरे विवाह में तो ऐसी बात हुई नही। मैं तो आपको ही सदा से चाहती थी। उस समय आप पधार कर मेरा उद्धार न करते, तो मेरे भाई पिता मेरा बलपूर्वक दूसरे के साथ विवाह कर देते, उस समय आत्म हत्या के अतिरिक्त मेरे पास दूसरा क्या उपाय था। विवाह हो जाने पर तो स्त्री उसी की

हो जाती है, जीवन भर उसे निभाना ही पड़ता है। हाँ, कुछ कुलटा स्त्रियाँ ऐसी भी होती है, कि उनका विवाह किसी के साथ हुआ है और विवाह हो जाने पर भी वे पर पुरुषों से सम्बन्ध रखती हैं। नित्य नये पुरुषों से अनुराग करती हैं। ऐसी व्यभिचारिणी असती स्त्रियों का बुद्धिमान पुरुषों को कभी भी विश्वास न करना चाहिए। ऐसी पर पुरुषगामिनी कामिनी अपने वस्त्रों में छिपी सर्पिणी के समान हैं, न जाने कब वह अनर्थ कर डाले। ऐसी कुलटा कामिनियों का भरण पोषण करने से मनुष्य लोक परलोक दोनों से पतित हो जाता है।

यह सुनकर भगवान् खिल खिलाकर हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"प्रिये ! तुम्हारी ये मीठी मीठी अनुराग भरी बातें सुनने के लिये ही तो मैंने यह छेड़छाड़ की थी। तुम जानती हो मृदङ्ग में जब तक थप्पी न मारो, तब तक उसमे से मधुर स्वर निकलता नहीं। वीणा के कानो को ऐंठकर जब तक उसके तारों पर आघात न करो, तब तक शुद्ध स्वर निकलता नहीं, इसी प्रकार जब तक मैं तुमसे चुभती हुई बातें न कहता, तब तक तुम बोलती नहीं लजाकर नीचे देखती रहतीं। मेरे कहने पर तुमने मेरे शब्दों को लेकर उनकी कैसी युक्तियुक्त पूर्ण व्याख्या की। यह सब तुम्हारा कथन सत्य ही है। मैं तुम्हारे प्रेम के प्रति शङ्कित नहीं हूँ। न मुझे तुम्हारे स्नेहमें किसी प्रकारका सन्देह ही है। तुम मेरी अनन्य भक्ता हो। सकाम भाव की निवृत्ति के निमित्त तुम मुझसे जो जो कामनायें करती हो, वे सब तुम्हें नित्य प्राप्त हैं। हे कल्याणि ! कुतूहल वश मैंने ये सब बातें कह दीं। मैं तुम्हें ऐसी चुभती बाते कहकर विचलित करना चाहता था, किन्तु तुम तिल मात्र भी विचलित नही हुईं।

रुक्मिणीजी ने कहा—"तुम्हें यह सूझी क्या ? हँसी करने के लिये तुम्हें कोई और बात नही रही थी क्या ?"

भगवान् बोले—"मैं तुम्हारे प्रेम की परीक्षा करना चाहता था,तुम्हारे मुखसे पति प्रेम और पातिव्रतका उज्वल माहात्म्य सुनना चाहता था,सो सुन लिया। तुमने जो मुझे मोक्षका अधीश्वर बताया यह सत्य ही है। सब लोग मेरा ही भजन करते है, मैं ही सबके कर्मोंका फल दाता हूँ। जो पुरुष धन स्त्री पुत्र तथा यश आदि की कामना से सकाम भाव से मेरा पूजन करते है। मेरे उद्देश्य से नाना प्रकारके जप, तप, व्रत तथा उपवासादि करते हैं वे मानों मेरी मोहिनी माया के फन्दे मे फस कर मोहिती हो गये है। तुम सोचो, मेरे भजन का फल तो यह होना चाहिये कि सदा के लिए संसार का आवागमन मिट जाय, किन्तु इसे न चाहकर मनुष्य मोक्ष तथा सम्पूर्ण सम्पदाओं के आश्रय मुझ जगदीश्वर से केवल सांसारिक विषय सम्बन्धी लौकिक सम्पत्ति ही चाहते है पराभक्ति अथवा संसार सागर से विमुक्ति नहीं चाहते, वे मंदभागी हैं, कृपण है, दीन है, भूले हुए हैं। ये आहार निद्रा मैथुनादि सुख तो सूकर कूकर योनियों मे तथा नरकादि लोकों मे भी प्राप्त है।"

रुक्मिणी जी ने कहा—"प्रभो ! जीव जानता है, इन विषय सुखों में शान्ति नहीं फिर भी इन्हें बार बार क्यो चाहता है। क्यों लोग इन हाड़ मांसके शरीरों मे ही रमण करने को उत्तम समझते हैं ?"

भगवान् ने कहा—" प्रिये ! अनेक जन्मों की वासनाओं के कारण जीव दुख में ही सुख समझता है। भाग्यहीन पुरुषों का मन सदा विषय जन्म पदार्थों में ही आसक्त रहता है। विष के कीडेको विष ही अच्छा लगता है, मल तथा पीवके कीड़े उसीमें रमण करने से सुखका अनुभव करते है। इसी प्रकार जिन का मन ससारी विषयोंमे ही आसक्त है उन्हें नरककी प्राप्ति ही सुख कर जान पड़ती है।"

रुक्मिणीजीने कहा—"मुझे तो हे अशरण शरण ! ऐसा

वरदान दीजिये, जिससे आपके चरणोंकी सेवा के अतिरिक्त कुछ भी न सुहावे।"

भगवान् ने कहा—"प्रिये ! सेवा धर्म बड़ा कठिन है, तिसपर निष्काम सेवा तो और भी अधिक कठिन है। यह बड़े ही हर्ष की बात है कि तुमने उसी संसारी बन्धन से सदा के लिये विमुक्त करने वाली निष्काम सेवाको अब तक निरन्तर अत्यंत लगन के साथ की है। जो कामी पुरुष है उनसे ऐसी सेवा होना अत्यंत दुरुह है। फिर जो इन्द्रियों की तृप्ति करनेमें ही प्रवृत्त होने वाली दूषित हृदय की स्त्रियाँ हैं उनके विषय में तो कहना ही क्या ? वे काम सुखको ही सर्व श्रेष्ठ सुख समझने वाली कुलटा कामिनी नाना प्रकारके ढोंग बनाकर विविध भाँतिके छल छन्द किया करती हैं। और इधर उधर इन्द्रिय तृप्तिके ही निमित्त घूमती रहती हैं। तुमने तो सेवा द्वारा मुझे क्रय कर लिया है सेवा मूल्य देकर मुझे मोल ले लिया है "

रुक्मिणी जी बोली—"महाराज ! जैसी आपकी लाखों दासियाँ हैं वैसी ही एक दासी मैं भी हूँ मैं सेवा कर ही क्या सकती हूँ आपके चरणों की रज की भी बराबरी नहीं कर सकती।

भगवान् बोले—"नहीं प्रिये ! मैं सत्य सत्य कहता हूँ। मेरे सोलह सहस्त्र एकसौ आठ घरोंमें एकसे एक सुन्दर रानियाँ है किन्तु अपने व्यवहार से निष्छल प्रेमसे अनुपम अनुराग से तथा निष्काम सेवासे जिस प्रकार तुम्हारे मैं वश में होगया हूँ वैसा किसी के वश में नहीं हुआ। तुम्हारे सदृश प्रणयिनी गृहिणी मुझे दूसरी दिखाई ही नहीं देती। तुम्हारा भी मेरे प्रति सहज अनुराग है। यदि ऐसा न होता, तो तुम विवाह के समय उस वृद्ध ब्राह्मण को भेज कर मुझे क्यों बुलातीं क्यों उन बड़े बड़े राजाओं को छोड़ कर मुझे अपनातीं। जब तुमने अपना दूत मेरे पास

भेजा तभी मैं समझ गया तुम्हारा मेरे प्रति निष्छल हार्दिक गूढ़ अनुराग है। इसलिये मैं समाचार सुनते ही तुम्हारे पुरमें दौड़ आया और तुम्हें सबके सामने से लेकर भाग आया।"

रुक्मिणीजीने कहा—"इसमें महाराज ! मेरी क्या बड़ाई है आपके सौंदर्य माधुर्य तथा गुणों में आकर्षण ही ऐसा है, कि कौन कन्या आपको अपना पति बनाना न चाहेगी ? यह सबतो आपके आकर्षण का फल है।"

भगवान् बोले—"अच्छा, मेरे आकर्षण का ही फल सही, किन्तु अपनी इच्छाको मेरी इच्छामें मिला देना यह सामान्य बात नही। अपने इष्टकी किसी बात मे बुरा न मानना, अनन्यता का यही सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। देखो, विवाह के समय तुम्हारा भाई द्वेष वश मुझसे लड़ने आया था। मैंने उसे जीत लिया और तुम्हारे सम्मुख ही उसे विकृत बना दिया, तुमने मेरे शील संकोच से कुछ भी नही कहा। फिर अनिरुद्ध के विवाह में द्यूत क्रीड़ा के समय बलदाऊ जी ने उसे मार भी डाला, तो भी तुमने कुछ नही कहा। इतनी सहनशीलता किसी अन्य स्त्री में सम्भव हो सकती है क्या ? तुमने सोचा—"यदि मैं कुछ कहती हूँ, तो घर में ही विरोध हो जायगा, इसी भय से तुमने इन असह्य दुःखों को चुप चाप सहन कर लिया, इनका प्रतिवाद तक नहीं किया। तुम्हारा इन उदारतापूर्ण बातो से ही मैं तुम्हारे आधीन हो गया। तुमने अपने मृदुल मधुर स्वभाव से ही मुझे मोल ले लिया।"

रुक्मिणीजी यह सुनकर लज्जित हुयीं। भगवान् रुके नही। वे कहते ही गये। तुम्हारा मेरे प्रति अनुराग अनुकरणीय था। एक राजकन्याके हृदयमें इतना साहस होना परम प्रशसनीय है। तुम्हारी बरात आने में दो चार दिन की ही देरी थी, विवाहकी समस्त तैयारियां हो गयी थीं, किन्तु तुम अपने निश्चय से तिल

भर भी विचलित न हुई। सुमेरु के समान अपने संकल्प पर दृढ़ अटल बनी रही। तुमने माता पिता के बिना पूछे ही मेरे पास पत्र लिखकर दूत भेज दिया। जब मेरे पहुँचने में कुछ विलम्ब हुआ, तो तुम इस सम्पूर्ण संसार को मेरे बिना सूना सूना ही समझने लगी। तुमने निश्चयकर लिया था कि यदि देवी पूजन के समय तक मैं न पहुँचूँगा। तो मैं अपने प्राणों को त्याग दूँगी। बताओ तुम्हारे इस अलौकिक प्रेम का मैं क्या प्रत्युपकार कर सकता हूँ। तुमसे कैसे उऋण हो सकता हूँ। होना भी नहीं चाहता तुम्हारा सदा ऋणियाँ बने रहने में ही मुझे सुख है। ऋणियाँ बने रहने से तुम्हारा यह अद्भुत प्रेम सदा स्मरण बना रहेगा, और उसकी सदा प्रशंसा करता रहूँगा। तुम्हारे प्रगाढ़ स्नेह का निरन्तर अभिनन्दन करता रहूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो भगवान् की ऐसी स्नेह में सनी, अनुराग में भीगी और प्रेम में पगी बातोंको सुनकर रुक्मिणीजी लज्जित हो गयी उन्होंने मुख से कुछ भी नही कहा। अपना सिर भगवान् के पाद पद्मों में रख दिया, भगवान् ने उन्हें प्रेम से प्रकम्पित करों से उठाकर स्नेह भरित हृदय से लगा लिया। मुनियो! इसी प्रकार भगवान् अन्य रानियों से भी बड़ा सरस हँसी विनोद करते रहे।"

शौनकजी बोले—"सूतजी और रानियों के साथ जो हँसी विनोद किया वह भी हमें सुनाइये।"

सूतजी हँस कर बोले—"अजी ! महाराज ! हँसी विनोद का कोई अन्त थोड़ा ही है। सोलह सहस्र रानियाँ है, कहाँ तक सुनाऊँ। अच्छी बात है, सत्यभामाजी के साथ जो प्रेम मय सम्वाद हुआ उसे और सुनाकर इस विषय को समाप्त करूँगा।"

छप्पय

मानिनि ! लीयो मोल प्रेम सेवा करि मोकूँ।
नहीं दै सकूँ कछू प्रिये ! बदलेमें तोकूँ॥
पौत्र और निज ब्याह समय जो धीरज धारयो।
तातें हौं बनि गयो भामिनी ऋनी तिहारो॥
पति पत्नी महँ प्रेमकी, बात भयी दोनों मिले।
पाइ परस्पर परस तनु, उभय हृदय सरसिज खिले॥

—❀:::❀—

श्रीकृष्ण सत्यभामा सम्वाद

(११२०)

तथान्यामामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव ।
आस्थितो गृहमेधीयान्धर्मान्लोक गुरुर्हरिः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६० अ० ६५ श्लोक)

छप्पय

ऐसे ही इक दिवस सत्यभामा सँग नटवर ।
खेल खेल महँ कह्यो पुण्य कातिक हरि-वासर ॥
नारदकूँ दै तुलादान सतभामा आईं ।
पूछें निज सौभाग्य भये कस श्याम गुसाईं ॥
बोले हरि—'कातिक सदा, अरु व्रत हरिवासर करयो ।
ता तें मम अर्धाङ्गिनी, प्रिया बनीं मम मन हरयो ॥

शास्त्रकारोंका कथन है, बड़े लोगोंकी हँसी भी निरर्थक नहीं होती' उसमें भी बड़ा गूढ ज्ञान छिपा रहता है । हँसी हँसी में वे ऐसी बातें कह देते है, जिनसे उद्धार हो जाता है ।जिन लोगोंको बोलने का व्यसन होता है या जो वक्तृता देकर अपनी जीविका

* श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन् ! लोक को शिक्षा देनेवाले जगद्गुरु श्रीहरि इसी प्रकार अन्य रानियोंके महलों में भी रहकर साधारण गृहस्थियो के समान गृहस्थ धर्मों का पालन करने लगे ।"

चलाते हैं,वे न जाने कहाँ कहाँ से खोज खोजकर बातों को कंठस्थ करते हैं और उन्हें तोता की तरह कहते रहते है, किन्तु जो उपदेश देने का व्यवसाय नही करते, उनकी प्रत्येक चेष्टा में उपदेश सन्निहित रहता है। उनका उठना बैठना, हँसना खेलना सब उपदेश मय है। इसी लिये सदा अपने से बड़ों का सेवन करना चहिये। बड़ों का जीवन मूर्तिमान् साकार उपदेश है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों के घरों में पृथक् पृथक् रूप से रहा करते थे और उनके साथ हँसी विनोद किया करते थे। पत्नी के लिये यही सर्वोत्कृष्ट सुख है, कि उसका पति उससे हँसकर बोले। समय समय पर हँसी विनोद करे। जो पति सर्वदा हाथमें छड़ी लिये पत्नीका गुरु बना रहता है, उसे उपदेश ही देता रहता है उससे घर में एक भय का आवरण छाया रहता है। जहाँ पति पत्नि हृदय खोलकर बाते नही कर सकते। परस्पर में विशुद्ध हृदय से निर्मुक्त हास्य नही कर सकते। परस्पर में हँसी हँसी मे एक दूसरे को डाँट फटकार नही सकते। उनका दाम्पत्य जीवन नीरस होजाता है। हमारे श्यामसुन्दर बड़े कौतुकी है, इनके मुख पर सदा मुसकराहट छाई रहती है। सोते सोते भी उनकी ओर निहारो तो ऐसा लगता है मानों हँस रहे हैं। बातें करेंगे तो हँसकर, प्रसाद पावेंगे तो हँसते हुए। वे नित्य प्रसन्न बने रहते है। रोते भी है तो उसमें भी हास्य छिपा रहता है। इसीलिए वे सोलह सहस्र रानियों के हृदय के हार बने रहते थे। रानियाँ उनसे बातें करने को लालायित बनी रहती थी। वे भी ऐसी ऐसी विचित्र कथायें कहते जिनसे हृदय प्रफुल्लित हो उठता। सत्यभामाजी कुछ मानिनी थी इस लिए भगवान् उनसे बहुत अधिक घुल घुलकर बातें करते। उनके साथ बात करने मे उन्हें मनाने मे भगवान् को बड़ा आनन्द आता। तभी तो एक कल्प-

वृक्ष के फूल पीछे रूठने पर भगवान् उनके लिये स्वर्ग से कल्पवृक्ष उखाड़ लाये और इनके ही आंगन में स्थापित कर दिया। उनकी सुगन्धि से सम्पूर्ण द्वारकापुरी सुगन्धित बनी रहती। सब रानियों को विश्वास हो गया, भगवान् सत्यभामाजी का सबसे अधिक आदर करते है। सत्यभामाजी को भी अपने सौभाग्य पर गर्व था। देखो, भगवान् मेरी प्रसन्नता के लिये देवताओं से लड़कर उन्हें परास्त करके स्वर्ग से कल्पवृक्ष ले आये और उसे मेरे ही आंगन में लाकर स्थापित कर दिया।

जैसे मीठे के पास चीटा पहुँच जाता है, पुष्प के आस पास भौरा मँडराता रहता है, वैसे ही द्वारका के आस पास नारदजी मँडराते रहते थे। इधर उधर गये फिर द्वारका आ गये। उनका आना जाना निरन्तर लगा ही रहता था। एक दिन नारदजी आये, सीधे सत्यभामाजी के घर में चले गये। भगवान् उस समय राज सभामें गये हुए थे,सत्यभामाजी ने नारदजी का बडा आदर सत्कार किया और उन्हें सुवर्णके सिंहासन पर बिठाया। विधिवत् पूजा करके सत्यभामाजी ने कहा–"ब्रह्मन् ! आपने बड़ी कृपा की जो दर्शन दिये। आपका दर्शन प्राणिमात्र को प्रसन्नता प्रदान करने वाला है, किन्तु भगवन् ! मेरे लिये तो आप स्वयं साक्षात् मङ्गल रूप हैं। आपकी ही कृपासे मेरे घर में कल्पवृक्ष लग गया है, जिसके दर्शन मर्त्यलोक के प्राणियों के लिये दुर्लभ है। मुझसे बढ़कर सौभाग्य शालिनी स्त्री कौन होगी जिसके पति स्वयं साक्षात् जगदीश्वर हैं, मर्त्यलोक में रहने पर भी जिसके घर में कल्पवृक्ष हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि आप जैसे संत महात्मा जिसके ऊपर इतनी अनुग्रह रखते हैं। ब्रह्मन् ! मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहती हूँ, आज्ञा हो, तो पूछूँ ?"

नारदजी ने कहा–"हाँ, महारानीजी ! पूछिये। आप जो पूछेंगी उसीका मैं उत्तर दूँगा।"

सत्यभामाजीने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं पूछना यह चाहती हूँ,कि पूर्व जन्म में मैंने ऐसा कौन सा सुकृत किया है, जिसके फल स्वरूप मुझे जगदीश्वर पति प्राप्त हुए हैं और अब कौनसा ऐसा कर्म करूँ जिसके करने से जन्म जन्मान्तरों में मुझे ये ही पति प्राप्त होते रहें ?"

यह सुनकर नारदजी बोले—"पूर्वजन्ममे तुमने तुला पुरुषका दान किया था, उसीके फल स्वरूप तुम्हें ये पुराणपुरुष प्रभु पति-रूपमें प्राप्त हुए। यदि आप अब इन प्रभुको तोलकर इनके बराबर धन रत्नदान करो, तो तुम्हें सदा ये ही पति प्राप्त होते रहेंगे, तुम इनसे कभी भी विलग न हो सकोगी।"

यह सुनकर अत्यत ही प्रसन्नता प्रकट करती हुई सत्यभामा जी बोली—"नारदजी ! यह तो आपने बडी ही उत्तम बात बताई। मेरे घर में धन रत्नों की तो कुछ कमी है ही नहीं। मैं आज ही तुलादान करूँगी, किन्तु एक कठिनाई है। अपात्र में दिया दान निष्फल ही नहीं जाता। देनेवालेको दोष भी लगता है दूसरे जन्ममें वह धनहीन होता है। धन न होनेसे उसकी पापमें प्रवृत्ति होती है। पाप करनेसे फिर फिर दरिद्री होता है, फिर फिर पाप करता है। अतः दानके लिये सत्पात्रकी अत्यंत आवश्यकता है। सौभाग्यसे आप पधार ही गये है। आपसे बढकर सत्पात्र और कहाँ मिलेगा। कृपा करके आप यदि मेरे तुलादान को स्वीकार कर लें, तो मेरी मनोकामना पूर्ण हो जाय।"

नारदजीने कहा—"महारानीजी ! हम तो दक्षिणा लेते लाते नही है, किन्तु तुम मानती नही हो और तुम्हारा बहुत ही आग्रह है, तो ले लेंगे। साधुओंका शरीर तो परोपकार निमित्त होता ही है ! अच्छी बात है, करो तैयारियाँ।"

यह सुनकर सत्यभामाजी के हर्षका ठिकाना नही रहा। उन्होने उत्सव का आयोजन किया। घरमें बन्दनवारें बँधवाई

चौक पूरे बाजे बजवाये। इतनेमें ही भगवान् आगये। भगवान्ने पूछा—"कहो, आज क्या हो रहा है ? किस बातका उत्सव है ?

सत्यभामाजी ने कहा—"महाराज ! आज मैं कुछ दान धर्म करना चाहती हूँ।"

भगवान्ने कहा—"आज कोई पर्व न त्यौहार दान धर्मकी कैसे सूझी ?" इतनेमें ही लम्बे तिलक लगाये,वीणाकी खूँटियों-को खींचते हुए नारदजी दिखाई दिये। खिलखिलाकर हँसते हुए भगवान् बोले—"अहा हा ! नारदजी आये है। तभी तो मैं सोच रहा था, आज कैसा उत्सव ? वैद्य जहाँ पहुँच जायगा,वहाँ रोगी न भी होंगे तो लोग रोगी होजायँगे। स्फुट वस्तुओंका बेचनेवाला पहुँच जायगा, तो स्त्रियोंको आवश्यकता न भी होगी, तो वे वस्तुएँ ले लेंगी। दही बड़े रसगुल्ले तथा अन्यान्य स्वादु वस्तुएँ आनेपर भूख न होनेपर भी लोगोंको भूख लग जायगी, इसी प्रकार ब्राह्मणोंके पहुँचने पर उत्सव पर्व न होनेपर भी छुन छुन होने लगेगी, कुछ दान धर्मकी प्रवृत्ति हो जायगी।"

हँसकर नारदजी बोले—"महाराज ! आपके घरसे भी हम लोग रिक्तहस्त लौटे तब तो संसारमें हमें कोई पूछे ही नहीं। लोग वैसे ही हम लोगोंके पीछे नमक सत्तू बाँधे पड़े रहते हैं। आपके पीछे ही तो हम कूदते रहते हैं निर्भय होकर विचरते रहते हैं। आपका नाम ब्रह्मण्यदेव है न ? आप गो ब्राह्मणों के हितके ही निमित्त अवतीर्ण होते हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"हम नारदजी ! आप-के काममें भाँजी थोड़े ही मारते हैं। पटाइये अपनी यजमानिनि-को।" यह कहकर भगवान् अपने बैठनेके भवनमें बैठ गये। सब कुछ तैयारियाँ करके सत्यभामाजी आईं बोली—"अब महाराज ! आपको मैं स्नान कराऊँगी।"

भगवान्ने कहा—"दान दोगी, नारदजी को हमें स्नान क्यों

कराओगी। तुम देने वाली नारद जी लेने वाले। हमें बीच में जाड़े में क्यों ठिठुराती हो।"

सत्यभामाजी ने कहा—"स्त्री पुरुष के बिना दान पुण्य कैसे कर सकती है।"

हँसकर भगवान् बोले—"नारदजी स्त्री थोड़े ही हैं। वे भी तो पुरुष हैं।"

सत्यभामाजी ने तुनककर कहा—"तुम्हें हर समय हँसी ही सूझती रहती है। चलो चलो बहुत अतिकाल हो रहा है।"

भगवान् हँसते हुए गये। सत्यभामाजी ने स्नानादि कराके उन्हें एक सुन्दर आसन पर बिठाया। विधिवत् उनकी पूजा की। फिर तुला में बैठने की प्रार्थना की। भगवान् बोले—"तुला में हम क्यों बैठें, जैसे तोलने वाला बाटों को स्वयं उठाकर तराजू में रखता है, वैसे ही तुम हमें उठाकर रखो।"

सत्यभामाजी ने कहा—"अब तुम्हें कौन उठा सकता है?तुम इतने भारी हो कि उठाना तो पृथक् रहा किसी की कल्पना में भी नहीं आ सकते।"

भगवान् बोले—"तभी तुम्हारे पिताजी ने हम पर मणि की चोरी का अपराध लगाया था। उनकी कल्पना मे तो हम धन लोभी आ ही गये थे।"

खीजकर सत्यभामाजी ने कहा—"अब तुम गड़े घूरों को फिर उखाड़ने लगे। मेरे बापने जो कुछ किया वह भूल से किया। भूल मनुष्यों से ही होती है।"

भगवान् बोले—"हम तो इसे भूल मानते ही नहीं अच्छा ही हुआ यदि वे ऐसा कलङ्क न लगाते,तो फिर तुम हमें काहेको मिलतीं या तो तुम कृतवर्माकी पत्नी बनती या प्रसेनकी अथवा अक्रूरजीकी फिर तुम्हारे दर्शन दुर्लभ हो जाते,हमें देखकर घूँघट मार लेती।

खीजकर सत्यभामाजी बोली—"आप तो सदा बेकारकी बात

बनाते हैं। चलो, देखो मुझे देर हो रही है, मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ नारदजी को विलम्ब हो रहा है।"

भगवान् हँसते हुए बोले—नारदजी को विलम्ब हो रहा है, तो नारदजी ही उठावें। उनका भी तो स्वार्थ है। तुम दान करने वाली, वे ग्रहण करने वाले। हम तो तोलने वाले बाट हैं। तुम्हें पुण्य मिलेगा, नारदजी को धन मिलेगा। हमें क्या मिलेगा?"

नारदजी ने कहा—महाराज! सत्यभामाजी ही चाहें, तो आपको उठा सकती हैं मेरे सामर्थ्य की बात तो है नहीं। मैं कुछ उठाने धरनेको तो आया नहीं। कुछ दान दक्षिणा मिलेगी तो ले जाऊँगा, नहीं जय जय सीताराम। मैं अपनी वीणा को बगल में दबाकर चल दूँगा।"

सत्यभामाजी ने कहा—"अब महाराज! देखो बहुत हँसी हो गयी। चलो चलो बड़ी बेला हो गयी।"

यह सुनकर भगवान् हँसते हुए तराजू के एक पलड़े में जाकर बैठ गये। तराजू का दूसरा पलड़ा उठ गया और भगवान् जिसमें बैठे थे वह भूमि में लग गया। सत्यभामाजी दूसरे पलड़ेमें लाकर सुवर्ण, रत्न, मणि, माणिक्य सब ला लाकर रखने लगीं, किन्तु भगवान् वाला पलड़ा टस से मस नहीं हुआ। अब तो सत्यभामा जी बड़ी चिन्ता में पड़ीं उन्होंने अपने अङ्गों के आभूषण एक एक करके उतार उतार कर रखे, किन्तु सब व्यर्थ। घर में कोई वस्तु नहीं रही जिसे वे पलड़े पर न रख चुकी हों। अब तो वे बड़ी दुखी हुईं। भगवान् हँस रहे थे और कह रहे थे—"रानीजी का दिवाला निकल गया।" इससे वे और भी लज्जित हो रही थीं। फिर उन्होंने सोचा—"यह कल्पवृक्ष भी तो मेरा ही है, क्यों नहीं इसी को मैं चढ़ा दूँ।" यह सोचकर वे कल्पवृक्ष के समीप गयीं और उससे प्रार्थना करने लगीं। तब चुपकेसे नारदजी आये और बोले—"महारानीजी! आप चाहें ऐसे लाख कल्पवृक्ष चढ़ादें तो

भी पलड़ा उठेगा नहीं। जिनके उदर में अगणित ब्रह्माण्ड हैं, उनकी समता कौन सी वस्तु कर सकती है, इन्हें तो कोई भक्तिमान् ही वश में कर सकता है। कहो तो मैं एक उपाय बता दूं, अभी पलड़ा उठता है।"

सत्यभामाजी ने कहा—"हाय! नारदजी! आपने अभी तक वह उपाय क्यों नही बताया। बताइये बताइये मेरा सङ्कट दूर कीजिये।"

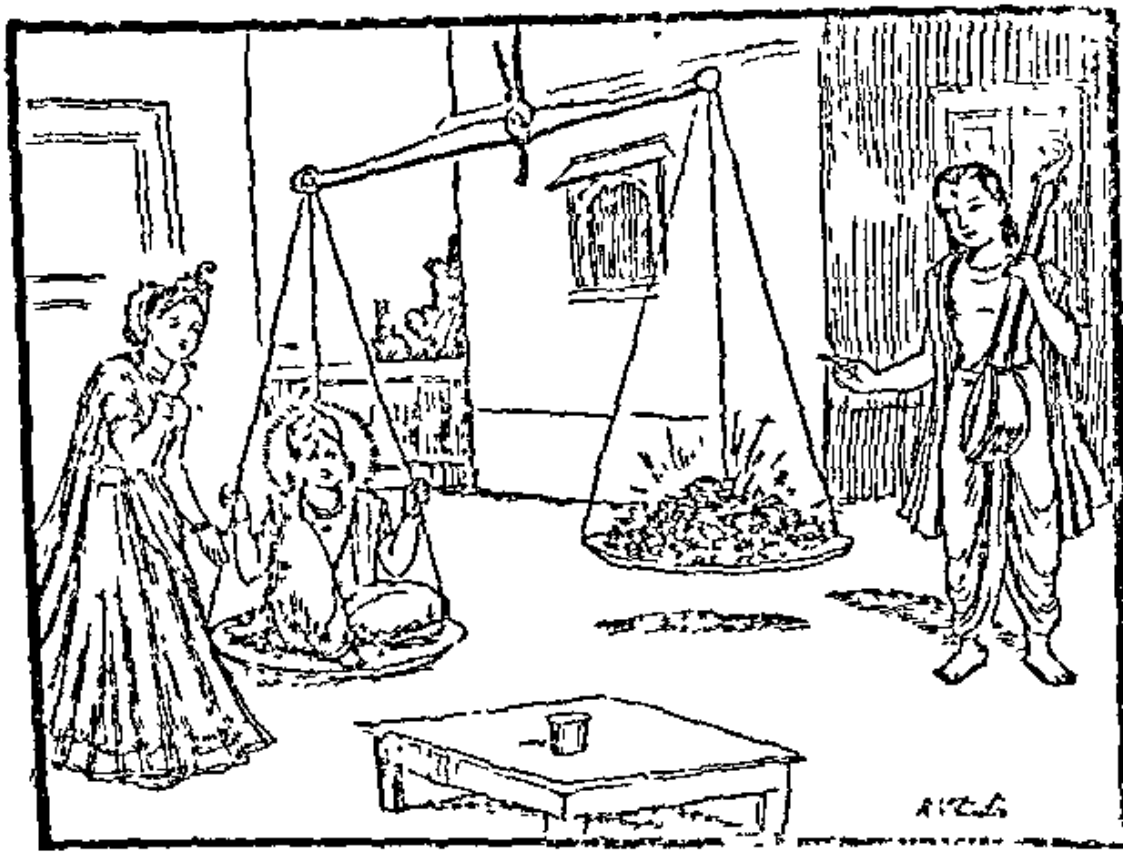

नारदजी बोले—"आप एक काम करें एक दल तुलसी इस पलडे में रख दें, देखें कैसे पलड़ा नहीं उठता। भगवान् वाला पलड़ा उठ जायगा और तुलसी वाला पलड़ा भूमिमें लग जायगा। तुलसीजी ने भगवान् को अपने वश में कर लिया है। आप छप्पन प्रकारके व्यंजन बनाइये उनके ऊपर मन्जरी सहित तुलसी न छोड़ें

रहे, उनके ही निमित्त व्रत उपवास किया करे। उनकी सेवा में सदा संलग्न रहे। ऐसा करनेवाली विधवा फिर कभी भी विधवा नहीं हो सकती, वह सदा सुहागिनि बनी रहती है। वह मुझे अजर अमर अविनाशी को प्राप्त हो जाती है। गुणवती ने अपने दुर्भाग्य को सौभाग्यके रूप में परिणित कर लिया। वह निरन्तर मेरी ही चिन्तामें लगी रहती। वह भूलकर भी परपुरुष से बातें न करती। घरमें ही रहकर वह भजन पूजनमें ही अपने समयको बिताती। वह प्राय: सभी व्रतों को करती थी; किन्तु जीवन भर उसने दो व्रतों को नहीं छोड़ा। एक तो एकदशी व्रत और दूसरा कार्तिक व्रत। दोनों पक्षकी एकादशियोंका वह व्रत करती। दशमी के दिन वह एक समय सूक्ष्म आहार करती। एकादशीको निर्जन व्रत करती और द्वादशीके दिन ब्राह्मणको सीधा देकर एक समय पारणा करती। एकदशी के दिन रात्रि भर जागरण करती और द्वादशी को दिन में भी न सोती। इस प्रकार कार्तिक मास आने पर वह सूर्योदय के पूर्व ही गङ्गाजी में जाकर स्नान करती, तुलसी पूजन करती दीपदान करती। एक समय बिना नमक का हविष्यान्न भोजन करती। इन दो व्रतों को करते करते उसको वृद्धावस्था आ गयी। किन्तु उसने एकादशी और कार्तिक के व्रतों को नहीं छोड़ा।

नियमानुसार कार्तिक मास आया। शुक्ला दशमीके दिन उसे कुछ ज्वर सा हो गया। फिर भी वह एकादशीके दिन प्रातः गंगा स्नान करने गयी। कार्तिक में ठंड भी पड़ने लगती है और हरिद्वार की गंगाजी का जल भी अधिक शीतल होता है, ज्वर के कारण उसे शीत लग रहा था, किन्तु वह कार्तिक स्नान को कैसे छोड़ती लाठी टेकते टेकते वह गंगाजी पर पहुँची। उसका शरीर शीत से काँप रहा था, नाभि तक जल में वह गयी। उसी समय उसने देखा आकाश से एक बड़ा प्रकाशवान् विमान आ रहा है।

उसमें भगवान् के चतुर्भुज पार्षद बैठे हुए है। उसमें गरुड़ जी के चिह्नोसे चिह्नित ध्वजा लगी हुई है। विमानको देखकर गुणवती समझ गयी यह भगवान् का विमान है, उसने सिर झुकाकर विष्णुपार्षदो को प्रणाम किया, तुरन्त ही पार्षदों ने उससे विमान मे बैठनेकी प्रार्थना की। वह उस पांच भौतिक शरीरको गंगाजी में ही छोड़कर दिव्य रूप धारण करके अग्नि की शिखा के समान जाज्वल्यमान रूप से अप्सराओं द्वारा सेवित होकर विष्णुलोक मे प्राप्त हुई। उसने जीवन भर मेरा चिन्तन किया था। मेरे निमित्त एकादशी और कार्तिक का व्रत किया था, इस लिए उसे मेरी सन्निधि प्राप्त हुई।

जब पृथिवी का भार बढ़ गया और ब्रह्मादि देवों ने मुझ से अवतार धारण करने की प्रार्थना की,तो मैंने अपने गणोंके सहित अवतार धारण किया। देवशर्मा और चन्द्र ये सब मेरे लोकमें मेरे पार्षद बनकर रहते थे। मेरे अवतार लेने पर इन सबने भी शरीर धारण किया। वे ही देवशर्मा तुम्हारे पिता सत्राजित् हुए और वह चन्द्र ही आकर अक्रूर हुआ। और वह गुणवती ही तुम हो। तुमने मेरी अनन्य भाव से आराधना की इसलिए तुम मेरी पत्नी हुईं। अब तुमने अपनी सेवा से मुझे अपने वश में कर लिया, इस लिये अब सदा के लिये तुम मेरी हो। अब तुम कभी भी मुझ से पृथक् नहीं रह सकतीं। प्रिये! संसार में जो मेरे निमित्त कर्म करता है, उसे मैं अक्षयकर देता हूँ। तुमने मेरे द्वार पर तुलसी लगाई थी, उसके फल स्वरूप तुम्हे अक्षय कल्पवृक्ष मिला। तुमने कार्तिक महीने में दीपदान किया था, उसीके स्वरूप तुम्हें अक्षयलक्ष्मी की प्राप्ति हुई, तुम्हारा घर सदा धन धान्य से भरा पूरा रहता है, तुमने जीवन भर मुझ से प्रेम किया, जो भी व्रत उपवास किया उसे तुमने मुझे अर्पण कर दिया, उसी के फल स्वरूप तम मेरी पत्नी हुईं। तुमने जीवन भर कभी व्रतको खंडित

नहीं होने दिया। इसीलिये तुम्हें अखंड ऐश्वर्य और सौभाग्य की प्राप्ति हुई। इसीलिये कहा है कि, जितने यज्ञ,तप, दान, व्रत तथा पुण्य हैं,वे सब कार्तिक और एकादशी व्रत के आगे कुछभी नहीं हैं।"

यह सुनकर सत्यभामाजी बोली–"महाराज ! यह तो आपने बड़ी अद्भुत बात सुनाई। कभी कभी तो आप ऐसी हँसी करते हैं कि मैं ऊब जाती हूँ और कभी कभी ऐसी सुन्दर बात बता देते हैं, कि मेरे रोम रोम खिल जाते हैं। अच्छा, एक बात बताइये। एकादशी व्रत और कार्तिक व्रत का इतना भारी महात्म्य क्यों है ? देवगण और आप इन व्रत करने वालों से इतने प्रसन्न क्यों रहते हैं ?"

भगवान् बोले—"देखो, सुनो इस विषय में एक इतिहास है, उसे मैं तुम्हे सुनाता हूँ। प्राचीन काल में एक शंखासुर नाम का दैत्य होगया है। वह बड़ा बली था, उसने सब देवताओं को स्वर्ग से निकाल दिया और स्वयं अकेला ही सब देवताओं का काम करने लगा। देवता सब निर्वासित हुए इधर उधर पृथिवीपर शरणार्थी बने दिन काटने लगे। अब उस दैत्य ने सोचा—"अभी तो इन देवताओंको मैंने जीत लिया है, किन्तु ये जहां बली हुए तहाँ फिर आकर स्वर्गपर अधिकार कर लेंगे। मुझे निकाल देंगे। इनके बली होने का कारण यज्ञ याग ही हैं। वे सब वेदों द्वारा सम्पन्न होते हैं अतः मैं वेदोंको नष्ट करदूँ। जब जड़ ही कट जायगी, तो फिर शाखायें कैसे निकल सकती हैं।"यही सब सोचकर वह सत्यलोकमें गया। मैं तो उस समय क्षीर सागरमें तान दुपट्टा सो रहा था। वेदों ने देखा, कि यह असुर तो हमारी दुर्गति करेगा, इस लिए वे पृथक् पृथक् होकर समुद्र के जल में छिप गये, बिखर गये। दैत्यने सोचा चलो समुद्र के भीतर चलकर वेदोंको खोजें। वह समुद्रके भीतर पाताल तक खोजता रहा। इतनेमें ही अवसर पाकर सब देवता मिलकर मेरे समीप आये। मैं तो सो ही रहा

था। उन्होंने आकर शंख घंटे बजाये और 'जय हो जय हो' कह कर चिल्लाने लगे। मेरी आँखें खुल गयीं मैंने कहा—"क्या बात है।" सबने डरते डरते कहा-"महाराज! शंखासुर बड़ा उपद्रव कर रहा है, कृपा करो अब निद्रा को त्याग दो।"

मैंने पूछा—"इस समय कौन सा महीना है?"

देवताओं ने कहा—"महाराज! कार्तिक का महीना है।"

फिर मैंने पूछा—"तिथि कौन सी है?"

सबने बताया—"महाराज! शुक्लपक्ष की एकादशी है।"

भगवान् बोले-"अच्छी बात है, आजसे इस एकादशीका नाम हरिप्रबोधिनी एकादशी होगा। इसमें जो सायंकालके समय शंख घंटा बजावेंगे, मुझे उठावेंगे, उन्हें भी सभी समृद्धि दूँगा। आजसे कार्तिक मास और एकादशी तिथि ये दोनो सबसे श्रेष्ठ माने जायँगे जो इन दोनोंका व्रत करेंगे वे मेरे अत्यंत ही प्रिय होंगे।"

यह कहकर मैंने समीप में खड़े देवताओं से कहा—"देवताओ! देखो, इस बातको गांठ बाँध लो। आजसे हम एक महीने कार्तिक भर जल में रहा करेंगे, तुम सब भी हमारे साथ रहना। ये सब अङ्गोंके सहित वेद भी जलमें रहें। जो नरनारी सूर्योदयसे पूर्व जलमें स्नान करें, उनके समस्त मनोरथों को पूर्ण करना।"

फिर मैंने पृथक् पृथक् देवताओं को बुलाकर कहा—"देवराज! देखो, जो लोग कार्तिकस्नाही हों, उन्हें शरीर त्यागके अनन्तर मेरे लोक को पहुँचा देना। अच्छा। और हे वरुण! तुम बिना माँगे उन्हें पुत्रपौत्रादि दिया करना। भूल मतजाना।' धनाध्यक्ष! तुम भी सुनलो। ऐसे लोगोंको कभी धनकी कमी न रहने पावे। समझे या नहीं?'यमराज! तुम सावधान रहना। कार्तिक व्रतियोंसे तुम कभी भूलकर भी कटुवचन न कहना। उनका सदा उठकर आदर करना।" इस प्रकार सबको आज्ञा देकर मैं मछलीकारूप बनाकर जलके भीतर घुस गया और शंखासुरको मार-

कर सब वेदोंको लौटा लाया।"

इस पर सत्यभामाजी ने कहा—"महाराज! आप मछली भी बने थे? बड़े बहुरूपिया हो।"

भगवान् बोले—"मछली क्या, हम तो सूअर बने, सिंह बने, कछुआ बने और न जाने क्या क्या बने। हमारे भक्त जो जो चाहते है सोई सो हम बन जाते है। हमारे बहुतसे असुर ऐसे ही है कि वे शरीरको ही सब कुछ समझे हैं—"वे कहते है, वेद कुछ नही, यज्ञ कुछ नहीं। दान कुछ नहीं धर्म कुछ नहीं जो कुछ है शरीर है इसे ही पालो पोसो सुख से रहो।" उनके लिये मैं वैसा ही बनकर वैसा ही उपदेश देता हूँ, वेदोंका, यज्ञका धर्मका और अपना भी खंडन कर देता हूँ। कह देता हूँ—शरीर ही सब कुछ है ऋण लेकर भी घृत पीयो।" साराश यह है, मुझे कोई भी रूप रखने में संकोच नही। मेरे भक्त जिस भावसे मुझे भजते है। वैसा ही बनकर मैं उनको फल देता हूँ।"

सत्यभामाजी ने कहा—"तब तो, महाराज! आप बिना पेंदीके लोटे हो। जिधर चाहे ढुल गये। डडौत है आपके ऐसे रूपके लिये। मुझे तो सदा इसी मदनमोहन मनहर रूपसे दर्शन देते रहना कहीं व्याघ्र, साँप, बिच्छू मत बन जाना।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े सत्यभामाजी भी हँस पड़ी। उस दिनसे न उन्होंने एकादशी व्रतको छोड़ा और न कार्तिक मासको ही बिना व्रतके जाने दिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी प्रकार भगवान् सब रानियोंके साथ विनोद करते हुए हँसी हँसीमें ही भाँति भाँतिकी शिक्षा दिया करते थे, अनेक अद्भुत अद्भुत इतिहास सुनाया करते थे इससे वे सभी अत्यंत ही प्रसन्न रहती। वे अपने को ऐसे छिपा लेते थे, कि जानते हुए भी स्त्रियाँ उनके स्वरूप को भूल जातीं और फिर उन्हें प्राकृत पुरुष समझने लगतीं। वे सोचती

भगवान् हमारे वशमें है। उन स्त्रियोंकी बात तो छोड़ दो, स्वयं साक्षात् शिवजी ने भी उनके स्वरूप को भुलाकर उनसे युद्ध किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी भगवान्से शकरजीने क्यों युद्ध कियाऔर कबकिया ?कृपयाइस प्रसङ्गको हमें अवश्य सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! अनिरुद्ध के विवाह के समय में किया था।"

शौनकजी ने कहा–"सूतजी ! अनिरुद्धके विवाहका तो वर्णन आप कर ही चुके है, वह तो भोजकट में रुक्मीकी पौत्रीके साथ हुआ था, जिसमें बलदेवजी ने रुक्मीको मार दिया था। उसमें शकरजीके युद्धकी तो बात नही आयी।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! वह तो अनिरुद्धजी का पहिला विवाह था। दूसरा विवाह जो बाणासुरकी पुत्री ऊषाके साथ हुआ उसमें यह सब लड़ाई झगड़ा हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! असुरकी लड़कीके साथ अनिरुद्धने विवाह क्यों किया और शङ्करजी ने भगवान् से वहाँ युद्ध क्यों किया कृपया इस कथा को हमें अवश्य सुनावें।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! अब मैं उसी प्रसङ्गको सुनाता हूँ आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

प्राकृत पुरुष समान सबनि कूँ हरि सम्मानें।
तिनकूँ राजकुमारि स्ववश पति नर सम जानें॥
औरनिकी का कहें शम्भु हू लड़िवे आये।
बाणासुरको पक्ष लयो पीछे पछिताये॥
शौनक पूछें–सूतजी ! क्यों हर श्रीहरि तें लड़े।
सूत कहें–"मुनि ! भक्तहित, वृषभध्वज प्रभु तें भिड़े॥

अनिरुद्ध और ऊषा

(११२१)

बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः ।
तत्र युद्धम भूद् घोरं हरिशङ्करयो र्महत् ।
एतत् सर्वं महायोगिन् समाख्यातुं त्वमर्हसि ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६२ अ० १ श्लोक)

छप्पय

वैरोचनि शत पुत्र बड़े सबमें बाणासुर ।
शूर वीर रणधीर दये तिनि हर इच्छित वर ॥
शोणितपुर महँ बसे करें हर पुर रखवारी ।
कन्या ताकी परम सुन्दरी ऊषा प्यारी ॥
तानें इक दिन स्वप्न महँ, लखे वीर अनिरुद्ध वर ।
पति समान क्रीड़ा करत, वेधत हिय महँ काम शर ॥

कुछ लोगोंका कथन है, कि जिसे हमने देखा नहीं है, उसे स्वप्नमें भी नहीं देख सकते । किन्तु यह बात सत्य नहीं । बहुतसे ऐसे पुरुषों को ऐसे नगरों को हम स्वप्नमें देखते हैं, जिनसे इस

* महाराज परीक्षित्ने श्रीशुकदेवजी से पूछा—"ब्रह्मन् ! हमने सुना है यदूत्तम अनिरुद्धने बाणकी पुत्री ऊषाके साथ विवाह किया था । उस विवाहके प्रसङ्गमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और शिवजीका परस्परमें घोर युद्ध हुआ । कृपा करके वह सब वृत्तान्त हमें सुनाइये ।"

जन्म में कभी भेंट नहीं हुई है। जिन्हें हमने इस जीवन में देखा नहीं। इससे यही सिद्ध होता है, कि इसी जीवन के देखने को देखना नहीं कहते। जन्मान्तर में जिसे हमने देखा है, पूर्व जन्म में जिसका हमने संग किया है,वह संस्कार वश हमें इस जन्म में भी याद आ जाता है और उसे स्वप्नमें देखते भी हैं। स्वप्नमें एक ही इसी जन्म की घटनायें दीखती हों,सो बात नहीं जन्म जन्मान्तरों की घटनायें स्वप्नमें आती है और कभी कभी तो स्वप्नमें ऐसी स्पष्ट बातें आ जाती हैं, जो सर्वथा सत्य निकलती हैं। किसी ने स्वप्नमें देखा, अमुक स्थान पर मेरा इतना धन गड़ा हुआ है। जागकर उस स्थान को खोदते है, तो उतना ही धन वहाँ मिल जाता है। यह निश्चय है, इस जन्ममें तो उसने धन गाड़ा नहीं उसे जो धन मिला है वह उसका पूर्व जन्म का गाड़ा हुआ था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं अनिरुद्ध और बाणासुर की पुत्री ऊषा का समाचार सुनाता हूँ। दैत्यवंश में भगवान् कश्यप से हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु ये दो वीर पुत्र हुए। दिति के पुत्र होने से ये दैत्य कहाए। हिरण्यकशिपु के भक्ताग्रगण्य परम धार्मिक पुत्र प्रह्लादजी हुए। प्रह्लादजी के पुत्र विरोचन हुए और विरोचन के पुत्र जगत् प्रसिद्ध दानी बलि हुए। जिन्होंने वामन बने विष्णु को सम्पूर्ण भूमण्डल दान कर दिया। भूमण्डलको दान करके वे भगवान्की आज्ञासे अपने परिवार सहित पाताल लोकमें चले गये। महाराज बलि के एक सौ पुत्र थे, जिनमें बाण नामक पुत्र ज्येष्ठ और श्रेष्ठ था। बाणासुर भगवान् शङ्कर का परम भक्त था। वह उदार चरित बुद्धिमान्, सत्य प्रतिज्ञ, दृढ़व्रत तथा परम मनस्वी था। निरन्तर भगवान् शङ्करकी ही भक्तिमें निरत रहता। पिताके सुतल लोक चले जाने पर भी वह शङ्कर की भक्ति करने के निमित्त पृथिवी पर ही रह गया वह सम भू भाग को छोड़कर हिमालय पर्वत पर चला गया और वहाँ पहाड़ों के बीच में

शोणितपुर नामक एक नगर बसाकर रहने लगा। शिवजी उसके भक्ति से अत्यन्त ही सन्तुष्ट थे। आशुतोष भोलेनाथ ही जो ठहरे। बाणासुर के सहस्र बाहुएँ थीं। एक दिन उसने अपनी सहस्र बाहुओं से सहस्र बाजे बजाकर और अद्भुत ताण्डव नृत्य करके शङ्करजी को अत्यन्त ही सन्तुष्ट कर लिया। उसके नृत्य, गान और वाद्य से प्रसन्न होकर भगवान् वृषभध्वज बोले—"राजन्! मैं तुम्हारी भक्ति से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझसे जो चाहो सो वर मांगलो। भक्तों के लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं। तुम जो भी माँगोगे वही मैं दूगा।"

बाणासुर ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! मैं तो आपको ही अपना एक मात्र आराध्यदेव समझता हूँ। आपका ही मुझे आश्रय है, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो जैसे आप काशीजी में सदा रहते हैं, वैसे ही यहाँ मेरे पुर के समीप रहकर मेरे पुर की शत्रुओं से सदा रक्षा करते रहें।"

शिवजी तो औघड़ दानी ही ठहरे। वर देते समय वे आगे पीछे की कुछ भी नहीं सोचते। बोले—"अच्छी बात है राजन्! मैं सदा तुम्हारी पुरी के समीप रहूँगा। जैसे पूर्व काशी क्षेत्र है, वैसे ही मैं तुम्हारे पुर के द्वार पर "गुप्त काशी" बनाकर रहूँगा। मेरे रहते, तुम्हारे पुर पर कोई प्रहार नही कर सकता।"

यह वरदान पाकर बाणासुरने पशुपतिके पाद पद्मोंमें प्रणाम किया और वह निर्भय होकर अपने पहाड़ी पुर में रहने लगा। पहिले वह नित्य केदारनाथजी में पूजन करने जाया करता था, अब तो गुप्त काशी बनाकर शिवजी उसके द्वार पर ही रहने लगे अतः वहीं वह उनकी पूजाकर लेता। उसका नगर बड़ा सुदृढ़ बना हुआ था। एक तो वह चारों ओर से ऊँचे ऊँचे पर्वतों से घिरा हुआ था। दूसरे उसके बड़े भारी किले के भीतर से केदार गङ्गा मन्दाकिनी बह रही थीं, तीसरे शिवजी सदा उसके नगर की

रक्षा करते रहते थे। इन्हीं सब कारणोंसे किसी भी शत्रुका उसके पुर पर चढ़ाई करने का साहस नहीं होता था। उसे कभी युद्धका अवसर ही नही आता। बलवानों को जब तक युद्ध का अवसर प्राप्त न हो, तब तक उनके हाथ खुजाते रहते है। उसे अभिमान भी हो जाता है, कि मैं बड़ा बली हूँ, मेरे भय से कोई मेरा सामना नहीं करने आता। इसी प्रकार बाणासुरको भी अभिमान हो गया।

एक दिन वह अपने बलके अभिमान में भरकर गुप्त काशी में स्थित भगवान् शङ्करके दर्शनोंको गया। विधिवत् उनकी पूजाको फिर अपने सूर्य सदृश देदीप्यमान मुकुट से उनके पाद पद्मों में प्रणाम करते हुए बोला—"प्रभो ! सबको तो आपने दो दो हाथ दिये हैं, मुझे एक साथ एक सहस्र हाथ क्यों दे दिये ?"

भगवान् वृषभध्वज ने कहा—"राजन् ! तुम मेरे भक्त हो, तुम्हारी कोई भी इच्छा शेष न रहे, तुम सहस्र हाथोंसे सभी सुख समृद्धि का भोग कर सको इसी लिये प्रसन्न होकर मैंने तुम्हें सहस्र हाथ दे दिये है।"

बाणासुर ने कहा—"हाँ प्रभो ! यह तो मैं जानता हूँ, आप भक्त वांछा कल्प तरु हैं। आप सभी भुवनोके एक मात्र अधीश्वर है। सम्पूर्ण लोकोके गुरु है,आशुतोष है। जिनकी कामनायें कहीं भी पूरी नही होती, उनकी इच्छायें आपके दर्शन करते ही—आपकी शरण में आते ही—तुरन्त पूरी हो जाती है। इस लिये आप मेरी भी इच्छा पूर्ण करें।"

शिवजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"हाँ, कहो तुम्हारी इच्छा क्या है ? मैं उसे अवश्य ही पूरी करूँगा।"

बाणासुर ने झूठी विनय दिखाते हुए कहा—"भगवन् ! राजाकी बाहुओंका एक मात्र उद्देश्य युद्ध है। जो राजा युद्ध नहीं करता उसकी बाहुएँ व्यर्थ है। औरोंके तो दो दो ही बाहुएँ होती

हैं। मेरे तो एक सहस्र है। इनका कुछ उपयोग तो होता नहीं, केवल इनके बोझको ढोया फिरता हूँ। मैं सम्पूर्ण पृथिवी पर युद्ध की इच्छा से घूम आया, मुझसे कोई युद्ध करने वाला ही नहीं मिलता। केवल आपको छोड़कर। आप ही एक ऐसे हैं, जो मुझ से कुछ टक्कर ले सकते हैं।"

शिवजी इसकी गर्व से सनी बातों का अभिप्राय समझ गये। वे तुरन्त ताड़ गये बच्चूजी को अभिमान हो गया है। मुझसे लड़ना चाहता है। मैं चाहूँ,तो अभी इसकी सब चौकड़ी भुलादूँ, हड्डी पसली तोड़दूँ, किन्तु सुकृति पुरुष अंगीकार किये हु. का अन्त तक पालन किया करते हैं।" यही सब सोचकर वे बोले—"राजन् ! अब हमारी तुम्हारी लड़ाई शोभा नहीं देती।"

अभिमान में भरकर बाणासुर बोला—"नहीं, महाराज ! आपसे ही लड़ने का मेरा आग्रह नहीं है, किन्तु अब लड़ाई किये बिना मुझसे रहा नहीं जाता। मेरे हाथ खुजाते रहते हैं। जब मेरे हाथों में अधिक खुजलाहट हुई, तो मैं हाथ में गदा लेकर अपने समान योद्धा का अन्वेषण करने के लिये घर से निकला। जब सम्पूर्ण पृथिवी पर कोई युद्ध करने को न मिला तो मैं आठों दिशाओंके दिग्गजों के समीप पर्वतोंको चूर्ण करते हुए गया और उनसे कहा—"तुम भाई ! सब पृथिवी को धारण किये हुए हो, मुझसे युद्ध करलो। मेरी इस बातको सुनते ही वे भाग खड़े हुए। मेरे सम्मुख ठहरे तक नहीं। अब क्या करूँ,कौन मेरी खुजलाहट को मिटावे।"

भगवान् भोलेनाथ को यह सुनकर क्रोध आ गया और उसे डाँटकर बोले—"अरे मूढ़ ! इतना अभिमान क्यों करता है। "मल्लनि कूँ मल्ल घनेरे। घर नाहें तो बाहर बहुतेरे॥" एक दिन तुझे भी तेरे दाँत खट्टे करने वाला मिल जायगा। दाँत तो मैं ही तेरे खट्टे कर देता,किन्तु मेरा तेरा स्वामी सेवक का सम्बन्ध है।

स्वामी का सेवक से युद्ध करना अनुचित है, किन्तु तू कुछ दिन और धैर्य धारण कर। एक दिन मेरे ही समान शूर वीर योद्धा तुझे मिलेगा और युद्ध में तुझे सन्तुष्ट करेगा। तेरे बढते हुए गर्व को वह खर्व कर देगा।"

यह सुन कर वह मूढ़ परम प्रमुदित हुआ। उसने इस बात पर ध्यान ही नही दिया, कि शिवजी क्रुद्ध होकर कह रहे हैं। उसने उत्सुकता से पूछा—"महाराज! वह मुझ से युद्ध करने वाला बली मुझे कहाँ मिलेगा?"

शिवजीने कहा–'वह यही घर बैठे तुम्हारे पुरमें आ जायगा।

बाणासुर ने पूछा—"कब आ जायगा महाराज! कब तक उसकी प्रतीक्षा करें।"

शिवजी ने कहा—"जब तेरी ध्वजा टूट कर अपने आप गिर जाय, तभी समझ लेना, तेरा शत्रु तेरे पुर पर चढ आया।"

यह सुन कर वह मन्दमति अति ही प्रसन्न हुआ। शिवजी के पाद पद्मो में प्रणाम करके वह अपने पुर में चला गया और अपने सम बल शत्रु के आने की अत्यंत उत्कंठा के साथ प्रतीक्षा करने लगा।

बाणासुर की एक अत्यंत ही रूपवती ऊषा नाम की परम सुन्दरी कन्या थी। शनैः शनैः उसने बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था में पदार्पण किया। बड़े राजाओं के यहाँ जब कन्या बड़ी हो जाती है, तो उसका अन्तःपुर पृथक् कर दिया जाता है, उसमें उसकी दास दासियों और सहेलियों के अतिरिक्त कोई भी सेवक प्रवेश नहीं कर सकता। द्वारपाल अत्यंत विश्वसनीय वृद्ध पुरुष ही रखे जाते थे। बड़ी होने पर ऊषा का भी अन्तःपुर पृथक् हो गया। किले में ही केदार गंगा के मन्दाकिनी के उस पार उसका निवास स्थान बना। उसमें मंत्रियों की कुमारियों से घिरी हुई ऊषा रहने लगी। वृद्ध द्वावारिक बड़ी तत्परता से

अन्त पुर की रक्षा करने लगे।

एक दिन ऊषा अपनी सुन्दर सुखद शैया पर सुख से शयन कर रही थी, कि सहसा वह चौंक पड़ी और चिल्लाने लगी—"हा कान्त ! तुम कहाँ हो ! मुझे छोड़ कर कहाँ चले।"

उसके समीप में ही चित्रलेखा नाम की उसकी एक सखी शयन कर रही थी। वह बाणासुर के मंत्री कुम्भाण्ड की पुत्री थी। उसने किसी योगी से योग की सब सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं थीं, साथ ही वह चित्र बनाने में बड़ी प्रवीणा थी। चाहे उसने किसी को देखा भी न हो, उसका भी वह ध्यान करके तुरन्त ज्यों का त्यों चित्र बना देती थी। उसने जब राजकुमारी को इस प्रकार चिल्लाते हुए देखा, तो वह तुरंत अपनी शैया से उठकर ऊषा के समीप गयी और भी बहुत सी सखियाँ शब्द सुनकर दौड़ी आयीं सभी ने उसे चारों ओर से घेर लिया। तब चित्रलेखा ने कहा—"राजकुमारी ! कौन तुम्हें छोड़कर चला गया ? किसे तुम बुला रही हो। किसे कान्त कहकर सम्बोधन कर रही हो। तुम्हारा तो अभी विवाह भी नही हुआ। फिर तुम ऐसी प्रणय कल्पना कैसे कर रही हो। किस से बोल रही हो।"

ऊषा आँखें मलती हुई, अपनी शैया से उठी। अपने को सखियों से घिरी देख कर वह अत्यंत लज्जित हुई। सखियों ने प्रश्न पर प्रश्न करने आरम्भ कर दिये। तब प्रश्नों से ऊब कर उसने कहा—"मेरा चित्त इस समय स्वस्थ नही है, तुम सब यहाँ से चली जाओ, केवल चित्रलेखा ही मेरे पास रहे।"

"जो आज्ञा, कह कर सब सखियाँ अपने अपने स्थानों में चली गयीं। केवल चित्रलेखा कुमारी के समीप रह गयी। तब राजकुमारी ने कहा—"बहिन ! अभी मैंने एक अत्यद्भुत स्वप्न देखा। उससे मेरे अभी तक रोमाञ्च हो रहे हैं। हृदय धड़क रहा है। शरीर में कम्प हो रहा है और चित्त चंचल हो रहा है। मुझे

उसे कहने में लज्जा लगती है।"

अत्यंत ही स्नेह के साथ चित्रलेखा ने कहा—कुमारी जी! भला, अपनों से कहीं लज्जा की जाती है, तुम अपने स्वप्न का वृत्तान्त मुझे बताओ। यदि मैं कुछ कर सकती होंगी, तो उसका उपाय अवश्य करूँगी।"

लजाते हुए राजकुमारी ने कहा—"बहिन! मैंने स्वप्नमें एक युवक को देखा है। उसका वर्ण नूतन जल भरे मेघों के समान श्याम था, कमल के सदृश बड़े बड़े विकसित उसके नेत्र थे, सुन्दर दमकता हुआ पीताम्बर उसने ओढ़ रखा था। बेलन के समान गोल गोल पुष्ट उसकी विशाल बाहुएँ थीं। वह इतना सुन्दर और आकर्षक था, कि उसे देखते ही मेरा मन खो गया। उसने मुझे अत्यंत ही सुख दिया, किन्तु बीचमें ही वह मुझे अतृप्तावस्था में त्यागकर न जाने कहाँ चला गया। बहिन! मैं सत्य कहती हूँ, उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती। यह साधारण स्वप्न नहीं था, यथार्थ सी घटना थी। मैं उसीको कान्त कान्त कहकर पुकार रही हूँ, उसीको खोज रही हूँ।"

चित्रलेखाने अत्यंत ही उल्लास के साथ कहा—"यह कौन सी बात है, तीनों लोकोंमें यदि ऐसा कोई प्रसिद्ध पुरुष होगा, तो मैं तुम्हें उसे अवश्य प्राप्त करा सकूँगी।"

दीनता के स्वर में चित्रलेखा से लिपटती हुई ऊषा बोली—"बहिन! यदि तुमने मेरा यह मनोरथ पूर्ण कर दिया, तो जीवन भर तुम्हारे इस उपकार को न भूलूँगी। सदा तुम्हारे गुण गाती रहूँगी।"

ममता के स्वर में चित्रलेखा ने कहा—"कुमारीजी! भला अपनी सेविकाओं से ऐसे कहा जाता है। अच्छा, यह तो बताओ, वह कोई देवता था या मनुष्य।

ऊषाने कहा—"मैं तो निर्णय ही न कर सकी, कि वह देवता

था यक्ष, या गन्धर्व, मनुष्य अथवा पुरुष था।"

चित्रलेखाने कहा—"कोई बात नहीं; मैं अपनी पट्टिकापर तीनों लोकोंके प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुरुषोंके चित्र बनाती हूँ; तुम उनमेंसे अपने प्रियतमको पहिचान लेना।"

ऊषाने कहा—"अच्छी बात है, बनाओ।" यह सुनकर चित्रलेखा अपनी पट्टिका ले आयी, उसकी पट्टिका इस ढँगकी थी, कि चित्र बनाओ तुरन्त संकेत करते ही वह मिट जाता। फिर उस पर दूसरा बनालो तीसरा बनालो। चाहे जितने बनाते चलो।

चित्रलेखा चित्रबनानेमें बड़ी ही प्रवीणा थी, उस पट्टिका पर सर्व प्रथम इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, आश्विनी कुमार तथा अन्यान्य मुख्य मुख्य देवताओंके चित्र बनाये। ऊषाने कह दिया—"नहीं इनमेंसे कोई नहीं है।" तब उसने बड़े बड़े जन्म जात सिद्धोंके चित्र बनाये उनमें भी कोई न होने पर उसने चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष, राक्षस तथा अन्यान्य उपदेवोंके बनाये। ऊषा सबको देखकर सिर हिला देती चित्रलेखा तुरन्त उसे मिटा देती और फिर बना देती। उसे चित्र बनानेमें तनिक भी श्रम न होता। मनसे जिसका ध्यान करती, वही उसकी दृष्टि के सम्मुख आजाता तूलिका उठाई और उसने चित्र अङ्कित कर दिया। ऊषाने जहाँ सिर हिलाया, उसने तुरन्त उसे मिटा दिया इस कामको,वह इतनी शीघ्रता और स्वच्छतासे कर रही थी, कि विश्वकर्मा भी देखता, तो आश्चर्य चकित हो जाता। जब वह मुख्य मुख्य देव और उपदेवोंके चित्र बना चुकी तो, ऊषाने कहा—"बहिन! मुझे प्रतीत होता है वह नर श्रेष्ठ कोई पृथिवी का ही राजकुमार है। मैंने उसके पलक गिरते देखे थे।"

हँस कर चित्रलेखाने कहा—"यह बात तुमने मुझसे पहिले क्यों नहीं कह दी। अच्छी बात है, अब मैं देखो' पृथिवीके सभी

मुख्य मुख्य राजा और राजकुमारों के चित्र बनाती हूँ।"

यह कहकर उसने सर्व प्रथम सूर्य वंश के उस समय जितने प्रसिद्ध राजा राजकुमार थे, उन सबके चित्र बनाये, फिर अन्यान्य राजाओं के बनाये। चन्द्रवंश के मुख्य मुख्य राजाओं के चित्र लिखे। फिर उसने यादवों में उग्रसेनजी का चित्र बनाया, तदनंतर वासुदेवजी का। अब तो ऊषा की आंखे चमकने लगीं। तब उसने बलरामजी का चित्र बनाया, तदनंतर श्रीकृष्ण भगवान् का चित्र बनाया। भगवान् के चित्र को देखकर वह परम लज्जित हुई, उसने सिर नीचा कर लिया। चित्रलेखा ने पूछा-"क्यों, ये ही हैं क्या ?"

लजाते हुए ऊषाने सिर हिला दिया। चित्रलेखा उसके भाव को समझ गयी, इसी वंशका कोई है फिर उसने प्रद्युम्नजी का चित्र बनाया उसे देखकर बोली—"मुझे संदेह हो रहा है, रूप, आकृति मे तो वे ऐसे ही थे, किन्तु ये हैं नहीं।" तब चित्रलेखा ने अनिरुद्धजी का चित्र बनाया। उसे देखते ही ऊषा चौंक पड़ी सहसा अपने आप ही उसके मुख से निकल पड़ा कि ये ही हैं। ये ही हैं। इन्ही को मैं अपना कान्त कह रही थी, इन्होंने ही मेरे चित्त को चुराया है।"

यहसुनकर चित्रलेखाने चित्र बनाना बदकरदिया औरबोली-"ये तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके पौत्र और कामावतार प्रद्युम्नजी के प्रथम पुत्र हैं। इनका पाना तो बड़ा कठिन है। जैसे तुम्हारा पुर पर्वतों से घिरा है, वैसे ही इनकी पुरी समुद्र से घिरी है जैसे तुम्हारे पुर की पशुपति विश्वनाथ रक्षा करते है, वैसे ही इनकी पुरी की प्रेमावतार श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् रक्षा करते है। जैसे तुम्हारी पुरी में बिना शिवजी की इच्छा से पवन भी प्रवेश नहीं कर सकता वैसे ही इनकी पुरी में मन भी नही जा सकता।"

ऊषाने निराशा के स्वर में कहा-"तब फिर तुम मेरे जीवन

का भी अन्त ही समझो। यह पुरुष मुझे प्राप्त न हुआ, तो मैं जीवित नहीं रह सकती।" यह कहते कहते वह मूर्छित हो गयी।

चित्रलेखा ने धैर्य बँधाते हुए उससे कहा—"राजपुत्रि! तुम अधीर मत हो, मैं तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करूँगी। तुम शीघ्र ही अपने कान्त को यहाँ देखोगी। मैं अपनी योग शक्ति से इन प्रद्युम्न आनन्द वर्धन अनिरुद्धजी को यहाँ ले आऊँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर योगिनी चित्रलेखा आकाश में उड़ी और कुछ ही काल में द्वारकापुरी में पहुँच गयी। अब जिस प्रकार वह अनिरुद्धजी को उड़ा लावेगी, उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

ऊषा बोली—"बहिन! स्वप्न महँ नर इक आयो।
मन मेरो लै गयो तनिक अधरामृत प्यायो॥
जो न मिले वह वीर धीर हिय महँ नहिं धारूँ।
तजूँ प्रान विष खाई अगिनि महँ तन कूँ जारूँ॥
चित्र चित्रलेखा लिखे, नर किंनर सुर असुर वर।
लखि यदुवर अनिरुद्ध कूँ बोली—'जिह मम चित्तहर'॥

चित्रलेखा द्वारा अनिरुद्धजी को उड़ालाना

(११२२)

चित्रालेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्ययोगिनी ।
ययौ विहायसाःराजन् द्वारकां कृष्ण पालिताम् ॥
तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के प्राद्युम्नि योगमास्थिता ।
गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६२ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

समुझि कृष्णको पौत्र चित्रलेखा घबराई ।
योग शक्ति तें उड़ी द्वारका छिन महँ आई ॥
देखे श्री अनिरुद्ध सुखद शैया पै सोवत ।
शशि सम करत प्रकाश कामिनिनि के मन मोहत॥
विकल प्रिया के प्रेम महँ, लखि बाला विस्मित भई ।
शैया सहित उठाइ के, शोणितपुर महँ लै गई ॥

प्रेम सम्बन्ध पूर्वजन्म के प्रभाव से दो हृदयों में एक साथ उठता है और प्रारब्ध उन दोनोंको एकत्रित कर देता है । जब तक

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! योगिनी चित्रलेखा यह जानकर कि ऊषा के मनको हरण करने वाले श्रीकृष्ण के पौत्र प्रद्युम्न पुत्र अनिरुद्धजी हैं, तो वह श्रीकृष्णपालिता द्वारकापुरी मे आकाश मार्ग से पहुंच गयी । वहाँ सुन्दर शैया पर सोते हुए अनिरुद्धजी को अपनी योग सिद्धि के प्रभाव से शोणितपुर मे ले आयी और अपनी सखी को उसके प्यारे के दर्शन करा दिये ।"

जिसका जिसके साथ सम्बन्ध लिखा है, तब तक वह उसके साथ रहता है। समय समाप्त होने पर चला जाता है। न तो कोई समय के पहिले किसीसे मिल सकता है, न समय से अधिक कोई किसी के साथ रह ही सकता है। सबका समय निश्चित है। जब जिसके मिलने का समय आवेगा तब से उसे चाहें सात तालों के भीतर बंद कर दो, तो भी वह अपने प्रेमी से मिल जायगा। समय न होने पर एक घर में साथ साथ रहने पर भी नहीं मिल सकते। संयोग वियोग ये सब पूर्वजन्म के संस्कारों के ऊपर निर्भर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! चित्रलेखा ने जब समझ लिया कि मेरी सखी ऊषा जिनके ऊपर आसक्त है, वे श्रीकृष्णचन्द्र के पौत्र है, तो वह योग के द्वारा आकाशमार्ग से उड़कर द्वारकापुरी मे पहुँच गयी। वहाँ उसने चित्रसारी से ऊपर सुन्दर सुखद शैया पर शयन करते हुए अनिरुद्धजी को देखा। उनका सर्वाङ्ग सुगन्धित पुष्पों की मालाओं से तथा दिव्य चन्दन से चर्चित था। वह एक अत्यंत पतले रेशमी पीताम्बरको ओढे हुए थे। दिव्य पुरुष, चन्दन तथा अन्यान्य सुगन्धित द्रव्यों से उनकी शैया सुवासित हो रही थी। वे किसी की चिन्ता में अर्ध सुप्तावस्था में कुछ प्रलाप सा कर रहे थे और विकलता मे तड़प से रहे थे। चित्रलेखा ने उनकी आकृति प्रकृति से अनुभव किया, ये भी किसी के लिये व्याकुल हो रहे है। संभव है ये भी ऊषा के लिये ही विकल बने हों।" यह सोचकर उसने शैया सहित अनिरुद्धजी को उठा लिया और उन्हें आकाश मार्ग से ही लेकर शोणितपुर में पहुँची। यद्यपि गणेशजी द्वार पर विराजमान थे, शिवजी उस पुर की रक्षा करते थे। उनके बिना जाने पवन भी पुर में प्रवेश नहीं कर सकते थे, किन्तु उन्होने चित्रलेखा के मार्ग में विघ्न

उपस्थित नहीं किया। चित्रलेखा सकुशल अनिरुद्धजी को लेकर ऊषा के अन्तःपुर में आ गयी।

ऊषा अनिरुद्धजी की ही चिन्ता में व्याकुल हुई पड़ी थी, उसे शरीर की भी सुधि नही थी। वह लम्बी सासें ले रही थी। चित्रलेखा ने उसे चेत कराया। अनिरुद्धजी से उसे मिलाया। ऊषा अनिरुद्धजी को देखकर परम प्रसन्न हुई और अनिरुद्धजी अपनी प्रिया को पहिचान कर परम प्रमुदित हुए। दोनों ने परस्पर में एक दूसरे को अपनाया, उन्होंने शास्त्र विधि से गान्धर्व विवाह कर लिया और वे दोनो सुख पूर्वक रहकर आनन्द विहार करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमें इसमें कुछ शङ्कायें रह गयीं हैं। पहिली शङ्का तो यह कि सर्वज्ञ भगवान् के द्वारका में रहते हुए, चित्रलेखा की क्या सामर्थ्य थी, जो वह रात्रि में उनके पौत्र को उड़ालाती? दूसरी शङ्का यह कि आपने कहा—'अनिरुद्धजी ने अपनी प्रियाको पहिचान लिया।, सो अनिरुद्धजी ने तो अभी तक ऊषा को देखा भी नहीं, फिर उन्होंने उसे पहिचान कैसे लिया? तीसरी शङ्का यह कि जब बाणासुर के पुर के पशुपति रक्षक थे, पार्वतीजी गणपति वहाँ उपस्थित थे, तब छिप कर चित्रलेखा उन्हें ले कैसे आयी, भगवान् पशुपति ने उसे ऐसा अधर्म करने से रोका क्यों नही? बाणासुर को इसकी इसकी सूचना क्यों नही दी?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! आपके तीनों प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर यह है, कि भगवान् की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नही हिलता और भगवान् जिस कार्य कोकराना चाहते है उसे कोई रोक नहीं सकता। रही द्वारका में और शोणितपुर

मे श्रीकृष्ण और भगवान् विश्वनाथ के रोकने की बात, इनके रहते चोरी क्यों हो गयी और चोरी का माल शोणितपुर में कैसे आ गया, सो भगवन् ! जब चोर और पहरे वाले दोनों ही मिल जायेंगे, तब तो चोरी हो ही जायगी। वास्तव में यह सब शंकरजी और सर्वज्ञ श्रीकृष्ण की इच्छा से ही हुआ। इस सम्बन्ध में एक पौराणिक इतिहास है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। इसमे आपकी सभी शङ्काओं का समाधान हो जायगा।

एक दिन हिमालय के पुण्यशिखर पर पार्वतीजी के साथ शिवजी सरस क्रीड़ायें कर रहे थे, उसी समय दैव योग से सखियो के साथ उपवन में घूमती हुई बाणतनया ऊषा वहाँ पहुंच गयी। वहाँ किसी भी पुरुष का प्रवेश नही हो सकता था, क्योंकि वह स्त्रियों की ही क्रीड़ास्थली थी, किन्तु शंकर तो समस्त केदारखण्ड के ईश्वर हैं, वह उनकी क्रीड़ाभूमि है, उन्हें कौन रोक सकता है। ऊषा ने जब शिवा और शिव को रमण करते देखा तो उसके मन में भी पति प्राप्ति की इच्छा हुई। उसने अति सुन्दर पति प्राप्ति के निमित्त जगदम्बिका भवानी शिवा की आराधना की। भगवती पार्वती बाणपुत्री की भक्ति से प्रसन्न हुईं और उसे वर दिया—"तुझे अत्यन्त सुन्दर पति शीघ्र ही प्राप्त होगा।"

पार्वतीजी जानती थी, कि साक्षात् कामदेव का पुत्र अनिरुद्ध आजकल सबमे सुन्दर है। उसीके साथ इसका विवाह होना निश्चित भी है। किन्तु बाण का यह किला ऐसा दुर्भेद्य है कि इसमें किसी का प्रवेश सम्भव नहीं। फिर इस पुर की रक्षा शिवजी करते हैं, इस लिये कोई युक्ति करनी चाहिए। यही सोचकर उन्होने अनिरुद्ध को स्वप्न दिया।

एक दिन अनिरुद्धजी अपनी सुसज्जित शैया पर शयन कर रहे थे, उन्होंने स्वप्न क्या देखा कि एक अत्यन्त ही सुन्दरी सुकुमारी राजकुमारी कन्या उसकी शैया के समीप खड़ी है। उसका सम्पूर्ण अङ्ग सुवासित चंदन से चर्चित है, अङ्ग प्रत्यंग से सौंदर्य फूट फूटकर निकल रहा है। वह अमूल्य रत्नाभरणों से विभूषित है, मणिमय कुण्डलों की कान्ति से उनके गंडस्थल उल्लसित हैं, अतीव सूक्ष्म वस्त्रों को धारण किये पैरों के मंजीरों से रुनुझुनु रुनुझुनु शब्द कर रही है। कबरी में कुसुमों की माला गुँथी है, मस्तक पर कस्तूरी कुंकुम युक्त तिलक शोभा दे रहा है, बड़े-बड़े विशाल प्रफुल्लित कजरारे नयनों से वह निहार रही है उसके नख और पदतल आलक्त के रंग से रंजित हैं। वह अनुराग भरित दृष्टि से व्रीडा सहित अनिरुद्धजी को ही देख रही है।

अनिरुद्धजी ने पूछा—'देवि ! तुम कौन हो ! तुम स्वर्ग की अप्सरा हो या मर्त्य लोक की मानवी हो अथवा विद्याधर, किंपुरुष या गन्धर्व की कन्या हो ?"

उस युवती ने कहा—"प्रभो ! न मैं देवी हूँ न किंपुरुषी न गन्धर्वी। मैं तो शोणितपुर के असुरराज बाण की पुत्री हूँ, ऊषा मेरा नाम है, यदि आप मुझ से स्नेह करते हैं तो मुझ से विधिवत् विवाह कर लीजिये। क्योंकि अधर्म पूर्वक किये सम्बन्ध से स्त्री पुरुष दोनों को ही घोर नरकों की यातनायें सहनीपड़ती हैं। इसलिये आप मुझ से प्रेम करते हैं, तो या तो मेरे पिता से मेरी याचना करें अथवा भगवान् सङ्कर से ऐसा कहकर वहकन्या वही अन्तर्धान हो गयी। उसी समय अनिरुद्ध की आखें खुल गयीं। वे

उस कन्या को स्मरण करके मूर्छित हो गये, घबराने लगे अन्न जल सब कुछ छोड़ दिया।

यह देखकर रुक्मिणीजी, देवकीजी, अनिरुद्ध की माता रुक्मवती ये सबके सब बड़ी घबरायी। भगवान् ने सबको सन्त्वना दी। कुछ नही लड़का है कुछ हो गया होगा दो चार दिन में अच्छा हो जायगा। यों कहकर सबको समझा दिया। एकान्त मे रुक्मिणीजी से कहा—"देखो पार्वतीजी ने मेरे पौत्र को पगला बना दिया है अब मैं भी उनके भक्त बाणासुर की पुत्री को पगली बना दूँगा। यह कहकर भगवान् ने उस ऊषा को स्वप्न में अनिरुद्धजी के दर्शन करा दिये। वह इनको देखकर पगली हो गयी। अब बीच में चित्रलेखा को डाल दिया। दोनों ओर मिली भगत थी। इसलिए न तो अनिरुद्ध के लाते समय भगवान् ने चूँ करी और न शिवजी ने तथा उनके गणों ने पुर प्रवेश के समय कोई आपत्ति की। दोनों बहू दुलहा मिल गये और आनन्द के साथ चौपर खेलने लगे। अनिरुद्ध तो अपनी प्रिया को पाकर प्रसन्न थे। भगवान् के यहाँ लाखों पुत्र पौत्र थे। उनका सबको न कोई सूची ही थी न नित्य उपस्थिति ही ली जाती थी। जिसकी जहाँ इच्छा होती चला जाता जहाँ भी स्वयम्वर की सूचना पाते वही बहुत से दौड़े जाते। भगवान् से किसी ने पूछा, तो कह दिया—"अरे कहीं स्वयम्वर में चला गया होगा; क्यों चिन्ता करते हो।" सब चुप हो गये भगवान् तो सब जानते थे, इसलिये निश्चिन्त थे। बाणासुर इसलिये

निश्चिन्त था, कि हमारे पुर के शिवजी रक्षक हैं। इस प्रकार अनिरुद्धजी को वहाँ रहते हुए वर्षा के चार महीने बड़े सुखसे बीत गये वे ऐसे प्रेम में निमग्न होगये, कि घर द्वार, कुटुम्ब परिवार सबको भूल गये। उन्हें यह भी पता नहीं चलता कब दिन हुआ कब रात्रि हुई। उस परम सुन्दर सुकुमार मनोज्ञ वर को पाकर ऊषा भी अत्यंत हर्षित थी। अनिरुद्ध के शील, स्वभाव सौन्दर्य और क्रीड़ा प्रियता के कारण उसका अनुराग उनमें शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान निरन्तर बढ़ता जाता था। जिस अन्तः पुर में पुरुष की परछाईं भी नहीं पहुँच सकती थी उसमें अनिरुद्ध जी दिन रात्रि रहने लगे। ऊषा उन्हें बहुमूल्य वस्त्र, माला, चंदन धूप दीप और सुन्दर आसनादि अर्पित करके तथा विविध भाँति के मीठे खट्टे चरपरे और नमकीन, भक्ष्य, भोज्य. लेह्य और चोष्य आदि पदार्थों से सदा सन्तुष्ट रखती। उनसे हँसकर सुमधुर मनोहर वाणी बोलती तथा निरन्तर सेवा शुश्रूषा में निरत रहती। यह सेवा ऐसी वस्तु है। कि जड़ पाषाण को भी चैतन्य बना लेती है। इसीलिये यदु श्रेष्ठ अनिरुद्धजी उसकी सेवा और सम्मान से उसके वश में हो गये।

कोई भी बात बहुत दिन तक यत्न पूर्वक छिपाने पर भी किसी दिन अवश्य प्रकट हो जाती है। ऊषा के अन्तःपुर में जो बहुत बूढ़े बूढ़े विश्वासी पहरेदार रहते थे, वे जाते आते कभी राजकुमारी को देखते, तो उन्हें सन्देह होने लगता। क्योंकि कुमारी व्रतसे स्खलित होने के स्पष्ट चिह्न छिपाने से भी नहीं छिप सकते। फिर निरन्तर समीप रहने वालों से छिपाना तो और भी कठिन हो जाता है। कभी कभी द्वारपालों को पुरुष की सी हँसी स्पष्ट सुनाई देती स्त्री और पुरुष की वाणी में तो प्रत्यक्ष ही अन्तर दिखाई दे जाता है। अब द्वारपालों को विश्वास होगया, अवश्य कन्या के अन्तःपुर में किसी प्रकार किसी पुरुष का प्रवेश होगया

वे लोग इस बात को स्मरण करके बड़े डरे, कि कहीं ऐसा न हो महाराज को विदित हो जाय और सन्देह पर हमको ही शूली पर चढ़ा दिया जाय, इसलिये हमें ही प्रथम जाकर इसकी सूचना दे देनी चाहिये।" फिर उन्होंने सोचा-"ऐसा न हो, बात असत्य हो, तो उलट कर हमारे ही ऊपर पड़े। इसलिये पहिले इस बात को निश्चय कर ले।" यही सोच कर वे अब अन्वेषण करने लगे। एक दिन उन्होंने स्पष्ट अनिरुद्ध जी को देख लिया। उसी समय दौड़े गये और हाथ जोड़ कर डरते हुए बोले—"प्रभो! हमें क्षमा दान दिया जाय एक बड़ा ही अशुभ समाचार है।

बाणासुर ने कहा—"क्या बात है। तुम लोग शीघ्र ही मुझे सब सुनाओ।"

अत्यत भयभीत होकर लड़खड़ाती वाणी में एक वृद्ध द्वारपालने कहा—"प्रभो! आपकी अविवाहिता कुमारी का आचरण हमें अपने कुल को कलंकित करने वाला दिखाई देता है।"

यह सुनकर बाणासुर तो सन्न रह गया। उसने शीघ्रता के साथ कहा—"क्यों! क्यो! क्या हुआ! क्या हुआ! मुझे स्पष्ट सब बातें बताओ।"

द्वारपाल बोला—"क्या बतावें महाराज। प्रतीत होता है कन्या के अन्तःपुर में किसी पुरुष का प्रवेश हो गया है।

रोष में भरकर डाँटते हुए बाणासुर ने कहा—"तुम सब कहाँ चले गये थे, तुम्हारे रहते ऐसा अनर्थ कैसे हो गया?"

डरते हुए द्वारपाल ने कहा—"प्रभो! हमतो बड़ी सावधानी से निरन्तर कन्या के अन्तःपुर की रक्षा करते रहते हैं, हमारे रहते कन्या को ओर झाँकना तो पृथक् रहा कोई उस घर के द्वार की ओर भी नहीं झाँक सकता फिर भी कौन ऐसा चोर आ गया, किसने ऐसा कृत्य कर दिया हम कह नहीं सकते। हमारी बुद्धि काम नहीं देती।"

बाणासुर ने कहा—"अरे, भाई ! जिस किसी ने भी प्रवेश किया होगा, द्वार से ही तो किया होगा ? तुमने उसे देखा नहीं ?"

द्वारपाल ने कहा—"प्रभो ! यदि द्वार से किसी भी पुरुष ने प्रवेश किया हो तो हमें जीवित ही गड़वा दें या आप और जो उचित समझें वह दण्ड दें। हम दृढ़ता के साथ कहते हैं, द्वार से तो मनुष्य की कौन कहे कोई पक्षी भी प्रवेश नहीं कर सकता।"

यह सुनकर बाणासुर को बड़ा विस्मय हुआ। उसे आश्चर्य और क्रोध एक साथ हो रहा था। उसने द्वारपालों से कहा—"अच्छा, चलो हम अभी चलकर देखते हैं, वह कौन ऐसा साहसी पुरुष है, किसके धड़ पर दो सिर हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऐसा कहकर बाणासुर ने हाथ में अपना शूल उठाया और वह द्वारपालों के साथ ही कन्या के अन्तःपुर की ओर चल दिया। अब ससुर जमाई में जो युद्ध गुत्थी मुक्का मुक्की पटका पटकी होगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

शोणितपुर महँ आइ सबनि कौं कुसल दिखायौ।
कुमरि मुदित अति भई सुघर वर दिव्यन पायौ॥
खान, पान, सुख, भूप, दीन तैं अति सन्माने।
ऊषा संग अनिरुद्ध नहीं दिन कीनत जाने॥
गर्भवती ऊषा भई, द्वारपाल सब जानि कै।
बाणासुर तैं कह्यौ बढ़, बच्चो असुर सर ठानि कै॥

वाणासुर द्वारा अनिरुद्धजीका बन्धन

(११२३)

तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली,
घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह।
ऊषा भृशं शोकविषाद विह्वला,
बद्धं निशम्याश्रु कलाक्ष्यरौदिपीत् ॥*

(श्रीभा० १० स्कं० ६२ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

आइ असुर ने लख्यो कुंवरि ढिग नर इक कारो।
अति सुन्दर मन हरन सुघर वर अतिशय प्यारो॥
कछुक कहे कटु बचन न यदुवर सुनि घबराये।
तबई सैनिक समर साज सजि लड़िवे आये॥
लोह परिघ अनिरुद्ध लै, लड़न लगे सैनिक डरे।
प्रबल प्रहार न सहि सके, कछु भागे कछु गिरि मरे॥

बाल्यकालमें माताके प्रति स्नेह अधिक होता है, बड़े होने पर, वह बहिनों में हो जाता है और वृद्धावस्थामें पुत्रियोंमें। इसीलिये

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! बलिनन्दन वाणासुर ने उन अनिरुद्धजी को नागपाशमें बाँध लिया जो उसकी सेनाका संहार कर रहे थे। ऊषा ने जब देखा कि मेरे प्रियतम बन्धन मे पड़ गये हैं, तो वह अत्यंत ही शोक और विषाद से विह्वल होकर रोने लगी।"

बच्चे अपनी माता का बहुत सम्मान करते हैं, उनकी माता के सम्बन्धमें कोई कुवाच्य वचन कह दे तो वे मरने मारनेको तत्पर हो जाते है। युवावस्थामें बहिनके प्रति आदर होता है। कोई बहिन के सम्बन्धमें कुछ कहे तो उसे सबसे बड़ा अपमान समझते हैं। बूढ़े होने पर पुत्रीकी प्रतिष्ठाका बड़ा ध्यान रहता है। लड़की जहाँ तनिक स्यानी हुई कि वह आँखों में खटकती रहती है। किसी प्रकार यह सम्मान पूर्वक अपने घर चली जाय, यही चिन्ता सदा बनी रहती है। माता पिताके लिये पुत्री के सम्बन्ध मे कोई ऐसी वैसी अप्रतिष्ठा सूचक बात सुनने पर मर्मान्तिक पीड़ा होती है। इस क्रोधावेश में वे जो भी कर डालें वही थोड़ा है।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! कुमारी अवस्थामें अपनी पुत्रीको गर्भिणी सुनकर बाणासुरके रोम रोमसे क्रोधकी ज्वाला निकलने लगी। वह तुरन्त अस्त्र शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर कन्याके अन्तः-पुरमें पहुँचा। वहाँ उसने सम्पूर्ण अंगोमें चन्दन लगाये हुये सुंदर पुष्पोंकी माला पहिने हुए पान खाते हुए अपनी प्रियाके सग चौ-सर खेलते हुए अनिरुद्धजी को सुन्दर मृदुल आसन पर बैठे देखा। बाणासुर सहसा पहुँच गया था, अपने पिता को देख कर ऊषा लज्जित हुई और वह तुरन्त वहाँ से उठकर दूसरे भवन में चली गयी। क्रोध से लाल लाल आँखें करते हुए बाणासुर ने कहा—"क्यों बे नीच ! कुलाङ्गार कपटी, धूर्त ! तू कौन है और कैसे यहाँ आ गया है ?"

यह सुनकर अनिरुद्धजी को भी क्रोध आ गया और वे बोले—"मैं तेरा जमाई हूँ। मैं चन्द्रवंशी हूँ, यादव श्रेष्ठ वसुदेवजी मेरे वृद्ध प्रपितामह हैं, श्रीकृष्ण भगवान् मेरे पितामह हैं, कामावतार भगवान् प्रद्युम्न मेरे पिता है और मेरा नाम अनिरुद्ध है।"

यह सुनकर असुर अवहेलना और घृणा प्रकट करते हुए हँसा और बोला—"यादव ही ऐसा नीच धर्म विरुद्ध कार्य कर

सकते हैं। तुम्हारे कुल वालोंकी करतूतें तो जगत् प्रसिद्ध हैं। पहिले तू अपने बापकी करतूत सुनले, जिसका तू ऐसा नीच कुलागार कामी अधार्मिक पुत्र हुआ। शम्बरासुरकी पत्नी मायावतीने तेरे बापको पाला पोसा। उसीसे उस दुष्टने अनुचित सम्बन्ध किया। छलसे उस असुरको मार कर उसकी पत्नीको हर लाया। ऐसे कामी और विश्वासघातीसे तेरे जैसा पुत्र होना स्वाभाविक ही है। तेरे बाबाकी बातें तो विश्व विदित हैं। वह तो चोरजारशिखामणि करके सर्वत्र प्रसिद्ध है। उसके न बापका पता न माँका। मथुरामें वह अपनेको क्षत्रिय कहता था। वृन्दावनमें वही वैश्य वृत्तिसे जीवन बिताने वाले अहीर नंदका वह पुत्रकरके प्रसिद्ध था। अभी तक सब उसे नंद नंदन यशोदा सुत कहते हैं। कोई उसे देवकी नंदन कहता है कोई यशुमति नंदन। कोई वासुदेव कहता है तो कोई नंदलाल। वृन्दावनमें रहकर वह नंदकी गौओंको चराया करता था। वहाँ गोपियोंके साथ उसने जो कुछ किया वह तुझसे क्या संसारसे छिपा नहीं है। वहाँसे जब मथुरामें आया, तो अपने सगे मामा-को मार डाला। एक कुबड़ी दासी थी, उससे उसने अनुचित सम्बन्ध स्थापित किया। एक दुर्बल नरकासुर था, उसे छल बलसे मारकर उसके यहाँसे राजकन्याओंको हर लाया। भीष्मक और रुक्मी जो वीर्य हीन थे उन्हें बाँधकर रुक्मिणीको हर लाया नरकासुर तो उसीका लड़का था, उसे स्त्रियोंके लोभसे ही उसने मार डाला। सत्राजित् सूर्यका भक्त था, उसे मरवा कर—उसकी मणि छीनली। बूढ़े रीछको बाँधकर उसकी कन्या ले आया। इन्द्र तो उसका भाई था, किन्तु स्त्रीके वशीभूत होकर वह उससे भी लड़ बैठा और उसके यहाँ से कल्पवृक्ष को हर लाया। उसका बाप वसुदेव अत्यंत ही भीरु। अपने पुत्रोको मरवा दिया। चोरी से कृष्णको गोकुल पहुँचा आया। उसकी बहिन कुन्तीने कुमारी

अवस्थामें ही पुत्र पैदा कर दिया। पतिके रहते हुए दूसरोंसे पुत्र उत्पन्न कराये। वे पाँचों भी ऐसे हुए कि पाँचोंने एक स्त्रीके साथ विवाह किया। वसुदेवका एक पुत्र कृष्ण है जो सर्वत्र गोपीजन वल्लभ प्रसिद्ध है। दूसरा बलदेव है जो निरन्तर वारुणी पीता है अपने छोटेभाई कृष्णकी पत्नी यमुनाको क्रीड़ाके लिये उसने बुलाया तुम्हारा तो सम्पूर्ण वंश ही ऐसा है। किन्तु इस समय तू बुरे स्थानमें आकर फँस गया। यहाँ मैं तुझे ही नहीं मारूँगा तुझे बाँधलूँगा और फिर तेरा पक्ष लेकर जो भी यादव आवेगा उसे ही यम सदन पठाऊँगा! नीच तने मेरी प्रतिष्ठामें बट्टा लगाया है, मेरे सिरपर पैर रखकर चोरीसे छिपकर तैंने मेरा अपमान किया है। मैं तुझे और तेरे सम्पूर्ण परिवारको इसका फल चखाऊँगा।"

यह सुनकर गम्भीरताके साथ अनिरुद्धजी कहने लगे—"असुरराज! तुमने ये सब बातें अज्ञान वश मूर्खता पूर्ण कही हैं। मेरे पिताको आप जानते नही। वे ब्रह्माजीके पुत्र कामदेव हैं। शिवजीके शापसे वे अनङ्ग बन गये थे और उनकी पत्नीकी प्रार्थनापर शिवजीके पुनः वरसे वे शरीरी हुए हैं जिन्हें तुम शम्बरकी पत्नी मायावती बता रहे हो, वास्तवमें वे काम पत्नी रति ही है। वे अपने यथार्थ रूपसे गुप्त रहती थीं और अपनी एक छाया रूपसे शम्बरके महलोंमें उसे मोहित करने के लिए रहती थीं। जैसे यथार्थ सीता तो अग्निमें रही आईं और उनकी प्रति कृतिको रावण हर लेगया था। इसी प्रकार रति देवी अपने शत्रुको मरवा कर अपने यथार्थ पतिके यहाँ आ गयीं।

तुम मेरे पितामह श्रीकृष्णचन्द्रको जो लांछन लगा रहे हो, वे सब मिथ्या हैं, वे तो परमेश्वर हैं [illegible] हैं। भक्तोंके दिये हुये वरोंको यथार्थ करने के [illegible] आते हैं और [illegible] उनसे जिस बातकी इच्छा करते हैं, उन्हें वे उन्हीं [illegible]

प्रदान करते हैं। उनके लिये कोई वस्तु अदेय नहीं। उनके लिए न कुछ विधि है न निषेध। वे किसी भी कर्मके करनेसे बँधते नहीं। वे बन्धन मुक्ति दोनोंसे परे हैं। उनका न कोई शत्रु है न मित्र। तुम उनके बड़े भाईको जो मधु पान रत बताते हो, वास्तवमें वे सड़ी मधु नहीं पीते पुष्पोंके रसका पान करते हैं। कुन्तीजी और द्रौपदीजीके सम्बन्धमें तुमने जो भी कुछ कहा वह सब मिथ्या है। उनका तो कन्यापन नष्ट ही नहीं हुआ। इनका सम्बन्ध धर्मके साक्षी देवताओंसे हुआ। तभी तो ये प्रातः स्मरणीय कही गयी हैं। भगवान् स्वयं साक्षात् गोलोक से पधारे हैं। करोड़ों गोप, गोपी तथा गौएँ उनके साथ आयी हैं। वे सबके अधीश्वर हैं। स्वामी हैं। उनकी अचिन्त्य लीलाओं-के सम्बन्धमें तुम जैसे असुर प्रकृतिके क्या समझ सकते हैं। तुम्हारे बाप समझते थे, बापके बाप और उनके बापभी इन हमारे पितामह परमेश्वरकी महत्ताको जानते थे। यह ऊषा धर्मतः मेरी पत्नी है मैंने शास्त्रकी आज्ञासे इसकी सहमतिसे इसके साथ गन्धर्व विवाह कर लिया है। इसमें अधर्म अन्याय-की कौनसी बात है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनिरुद्ध और बाणासुरमें ये बातें हो ही रही थीं, कि इतनेमें ही बाणका मंत्री कूष्माण्ड बड़ी भारी सेना लेकर क्रोधमें भर कर वहाँ आ पहुँचा और दाँत कट कटाकर बड़े क्रोधसे बोला—"राजन! इस दुर्विनीत बालकने हमारे वंशका बड़ा अपमान किया है। इसलिये आप इससे ऐसी बातें क्यों कर रहे हैं। इसे तो तुरन्त ही पकड़कर मार डालना चाहिये।,' इतना कहने पर बाणने उसे युद्ध करनेकी अनुमति दे दी। अबतो सैनिक"मारो, काटो, जीवित ही पकड़ो, जाने न पावे।" इस प्रकार कहकर वे शूल परिघ, भुशुंडी तथा बाण आदि विविध अस्त्रोंकी वर्षा करने लगे।

उन सबको प्रहार करते देखकर प्रद्युम्न तनय अनिरुद्ध जी तनिक भी विचलित न हुए। वे एक परिघ उठाकर शत्रुओं के ऊपर टूट पड़े। अब तो सैनिकों के छक्के छूट गये। बहुत से मर गये, बहुतों के हाथ पैर टूट गये वे अनिरुद्धजी के प्रहार को सहन करने में समर्थ नहीं हुए समर छोड़कर वे भाग खड़े हुए। सैनिक उन्हें पकड़ने का उपक्रम कर रहे थे। किन्तु वे किसी की पकड़ाईमें नहीं आते थे। जैसे बडा भारी वराह कुत्तोंके झुण्डोंको मारकर भगा देता है, वैसे उन्होंने बाणासुर के सब सैनिकों को मार भगाया।

बाणासुर अनिरुद्ध की युद्ध चातुरी देखकर अत्यंत ही विस्मित हुआ। उसे मन ही मन प्रसन्नता भी हुई, कि यह मेरी कन्या के पति होने योग्य है, किन्तु बिना युद्ध किये बिना बल प्रदर्शन के यदि मैं इसे अपनी कन्या देता हूँ,तो सर्वत्र मेरा अपयश होगा।" यही सोच कर सैनिकों के भागने पर बाणासुर स्वयं ही आया, उसने तुरन्त नागपाश से अनिरुद्ध जी को बाँध लिया अनिरुद्धजी भी सम्मानार्थ बँध गये। इस प्रकार प्रद्युम्न पुत्र को बाँध कर असुर अपने यहाँ ले गया। महलों में ले जाकर एक अत्यंत सुरक्षित स्थान में सुख पूर्वक उन्हें बन्दी बनाकर रखा।

अनिरुद्ध को जब ऊषा के पिता नागपाश में बाँधकर लिये जा रहे थे, तो खिड़की से ऊषा देख रही थी, और देख देखकर अत्यंत व्याकुल हो रही थी। जब वे उसकी आँखों से ओझल हो गये, तब वह अत्यंत ही विषाद के कारण रोते रोते विह्वल होगई और अचेत होकर भूमि पर गिर गयी।

इधर अनिरुद्धजी जब वर्षा के चार महिना व्यतीत होने पर भी लौट कर द्वारिका नहीं आये,' तब उनके बन्धु बान्धव शोक करने लगे। सभी अत्यन्त चिन्तत होकर अनिरुद्धजी के आने

की बाट जोहने लगे। इतने में ही वीणा बजाते हरि गुण गाते नारदजी द्वारका में पहुँच गये। प्रतीत होता है वर्षा के चार महीने वे स्वर्ग से ऊपर के ही लोकों में भ्रमण करते रहे। चातुर्मास्य समझ कर द्वारका नहीं आये। नारदजी को देखते ही सब खिल उठे। उन्हें घेरकर सब कहने लगे—"महाराज! अनिरुद्ध का पता नहीं लग रहा है। आप उसका कुछ समाचार जानते हों तो बतावें।"

नारदजी ने कहा—"अरे! वह तो केदारनाथजी के समीप बाणासुर की शोणितपुरी में बन्दी बना हुआ है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर यादवों को बड़ा क्रोध आया। वे तुरन्त शोणितपुर जाने की व्यग्रता करने लगे। अब वे जैसे सब शोणितपुर जायँगे वह कथा प्रसङ्ग मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

महा बली तब बाण कोप करि आयो रन महँ।
करै युद्ध अनिरुद्ध न शंका कीन्ही मन महँ॥
सहसबाहुने नाग पाश महँ बाँधे लाला।
पतिको बन्धन निरखि भई अति विह्वल बाला॥
इति नारद द्वारावती, आयो कह्यो वृत्तान्त जब।
सुनत कुपित यादव भये, चले सेन सजि तुरत सब॥

बाणासुर के लिये हरका हरि से युद्ध

(११२४)

बाणार्थे भगवान्रुद्रः ससुतैः प्रमथैर्वृतः।
आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः॥*

(श्रीमा० १० स्क० ६३ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

राम, कृष्ण, प्रद्युम्न, साम्ब, आदिक सब आये।
शोणितपुर कूँ घेरि शंख अरुपणव बजाये॥
सुनि पुर रक्षक शम्भु पडातन सब गन गनपति।
करन युद्ध मिलि चले भिड़े रन भयौ विकट अति॥
कार्तिकेय प्रद्युम्न तैं, सात्यकि बाणासुर लड़त।
भिड़े शम्भु श्रीकृष्ण तैं, अद्भुत नरलीला करत॥

भगवान् अपने भक्तों को सुख देने के निमित्त ऐसी ऐसी सरस वीरतापूर्ण लीलायें करते हैं जिन्हें पढ़कर सुनकर उनके अपने जन तो प्रेम में विह्वल होकर रुदन करने लगते हैं और यज्ञ मोया मोहित होकर उनके चरित्रों पर सन्देह करने लगते हैं। उनकी निन्दा करने लगते हैं। जैसे दर्पण में बालक अपने ही मुख को देखकर उसके साथ मधुर हास्य, भयानक, रौद्र और वीरतापूर्ण संकेत कर कर के क्रीड़ा किया करता है। वैसे ही

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! बाणासुर के निमित्त भगवान् भूतपति भोलेनाथ ने नन्दि बैल पर चढ़कर अपने पुत्रों और गणों सहित बलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्र जी से युद्ध किया।

भगवान् भी अपने ही विभिन्नरूपों से विभिन्न प्रकार की क्रीड़ायें किया करते हैं। उनमें न राग है न द्वेष राग द्वेषआदितो अज्ञान के चिन्ह हैं। श्री हरि तो नित्य ज्ञान स्वरूप हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब यादवों को यह बात विदित हुई कि बाणासुर के बन्दीगृह में हमारा अनिरुद्ध बन्द है तब तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। वे सब अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर चतुरङ्गिनी सेना सजा कर पहाड़ों कोतोड़ते फोड़ते शोणित पुर पहुँचे। भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी बलरामजी प्रद्युम्न सात्यकि गद, साम्ब, सारण नन्द, उपनन्द तथा भद्र आदि सभी यादव श्रेष्ठ अनिरुद्धजी को छुड़ाने और बाणासुर से लड़ने चले। उनके साथ बारह अक्षोहिणी सेना थी। एक पूरी सेना तो श्रीकृष्ण भगवान् के पुत्रपौत्रों की ही थी। इन सबने शोणित पुर में पहुँच कर बाणासुर की समस्त पुरी को चारों ओर से घेर लिया।

यादवोंने भुसुंडियों और शतघ्नियों से उसके पुर के सुदृढ़ परकोटे को गिरा दिया। वे परकोटे को तोड़कर नगर के भीतर घुस गये। वहाँ जाकर उन्होने राजाके उद्यान उपवनों को नष्ट भ्रष्ट करना आरम्भ कर दिया। वे राजाकी अटाअटारी और प्रधान द्वार (गोपुर) के कंगूरोंको तोड़ने लगे। सिंह द्वारों का विध्वंस करने लगे। बाणासुरने जब यह समाचार सुना, तो वह वीरमानी असुर भी उतनी ही सेना लेकर यादवों का सामना करने—उनसे लड़ने—नगर के बाहर आया उसने भगवान् भवानी पति के पादपद्मों में प्रणाम किया और उनसे प्रार्थना की—"प्रभो ! आज ही मुझे काम पड़ा है। मुझे आप का ही भरोसा है। शत्रु से मेरे पुर की रक्षा कीजिये।" हँसकर शिवजी बोले—"अरे भैया जो सम्पूर्ण जगत् का रक्षक है, उससे कौन रक्षा कर सकता है। फिरभी हमने तुझे वर दिया है। तेरी पुर की रक्षा का भार हमने

लिया है, उसका पालन यथा शक्ति यथा सामर्थ्य करेंगे। तुम अपने सैनिकों को लेकर रण भूमि में चलो। मैं भी अपने अनुचर भूत प्रेत पिशाच, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, साकिनी, यातुधान, वेताल, विनायक, मातृगण, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षसादि को लेकर चलता हूँ। मेरे पुत्र गणपति और षडानन भी चूहे और मयूर पर चढ़कर युद्ध के लिये चलते हैं, मैं भी नन्दि वृषभ की पीठ पर चढ़कर आता हूँ। मैं श्रीकृष्ण के साथ घोर युद्ध करूँगा।" यह सुनकर बाणासुर परम हर्षित हुआ, वह रण का शंख बजाकर चल दिया। उसने जब यादवों की बड़ी भारी सेना देखी तो उसे प्रसन्नता हुई, चलो आज बहुत दिनों के पश्चात् युद्ध का अवसर तो मिला। उसने यादवों की सेना के सम्मुख नियमानुसार अपनी सेना खड़ी की। यादवों की समस्त सेना का संचालन सात्यकि कर रहे थे। इधर अपनी सेना का संचालन स्वयं बाणासुर कर रहा था। गरुड़ की पीठ पर बैठे श्रीकृष्णचन्द्र अपने शार्ङ्ग धनुष ताने युद्धके लिये तत्पर थे। इतने में ही शङ्कर जी भी अपने पुत्रों और गणों को लेकर रणभूमि में आ गये। बाणासुर भगवान् वृषभध्वज से विनीत भाव से बोला-"विभो! आप श्रीकृष्णचन्द्र से ही लड़ें। मैं सात्यकि को मारकर यादवों की सेना को सेना नायक विहीन किये देता हूँ।"

शिवजी बोले—"भैया हमें तो तू जिससे भिड़ा देगा उसी से भिड़ जायेंगे। हम स्वतंत्र थोड़े ही हैं। भक्तों के वश में हैं। भक्त हमें जैसा नाच नचाना चाहते हैं। वैसा नाच हम नाचते हैं।" यह कह कर शङ्कर जी शार्ङ्गधन्वा भगवान् श्याम सुंदर से भिड़ गये। भगवान् शङ्कर के बड़े पुत्र षड़ानन स्वामिकार्तिकेय श्रीकृष्ण के बड़े पुत्र कामावतार प्रद्युम्नजी से युद्ध करनेको तत्पर हुए। बाणासुर के दो प्रबल पराक्रमी सेना पति कुम्भाण्ड और कूपकरण बलरामजी से युद्ध करने लगे। बाणासुर का एक

पुत्र भगवान्‌के पुत्र साम्ब से भिड़ गया। सात्यकि और बाणासुर लड़ने लगे। इस प्रकार सभी ने अपना अपना जोड़ चुन लिया। सब अपने अपने बराबरी के बली वीर से विचित्र रोमांचकारी तुमुल युद्ध करने लगे। दोनों ओर से अभूत पूर्व युद्ध हो रहा था। उस हरिहरात्मक युद्ध को देखने ब्रह्मादिक देवगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा ऋषि मुनि तथा यक्ष राक्षस विमानों पर चढ़कर आये थे। विमानों की भीड़ से सम्पूर्ण आकाश मंडल भर गया।

७. श्रीशिवजी अपने पर्वताकार बैल पर चढ़े हुए श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् की ओर बढ़ रहे थे। पीछे से भूत, प्रेत पिशाच गुह्यक, राक्षस, डाकिनी शाकिनी, योगिनी तथा अन्यान्य प्रमथादिगण हाहा हूहू करके किलकारियाँ मार रहे थे। शिवजी ने अपने आजगव धनुष पर बाण चढ़ाकर भगवान् पर बाण छोड़े भगवान् ने भी अपने शार्ङ्ग धनुष पर बाण चढ़ाकर पिनाकपाणि के प्रहारों को व्यर्थ बना दिया फिर एक साथ बहुत से बाण मारकर उनके भूत, प्रेत पिशाचादि गणों को मार भगाया। तब क्रोधमें भरकर त्रिपुरारि भगवान् वृषभध्वज ने गरुड़ध्वज के ऊपर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। भगवान् ने भी ब्रह्मास्त्र छोड़कर उसे व्यर्थ बना दिया। तब शिवजीने वायव्यास्त्र को छोड़ा। तब उसे श्यामसुंदर ने पर्वतास्त्र छोड़ कर शान्त कर दिया। इस पर कुपित होकर सदाशिव शङ्कर ने आग्नेयास्त्र को छोड़ा सर्वत्र प्रचण्ड अग्नि की लपटें उठने लगीं मानो अभी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जलकर भस्म हो जायगा। तब घनश्याम ने पर्जन्यास्त्र छोड़कर ऐसी वर्षा की कि सब अग्नि बुझ गयी। ब्रह्मास्त्र, वायव्यास्त्र तथा आग्नेयास्त्र के व्यर्थ बन जाने पर शिवजी ने अपना पाशुपतास्त्र छोड़ा। तुरन्त ही भगवान् ने अपने नारायणास्त्र से उसे भी शान्त कर दिया। अपने अस्त्र को व्यर्थ हुआ देखकर शिवजी

कुछ सिटपिटा से गये, तुरन्त ही भगवान् ने उनपर जृम्भणास्त्र का प्रयोग कर दिया। अब शिवजी को जँम्हाई पर जँम्हाई आने लगी। वे अस्त्र शस्त्र चलानातो भूल गये। मुँह फाड़े फिर जँम्हाई फिर जँम्हाई। भगवान् ने सोचा—"शिवजी को पेट भर के जँम्हाई लेने दो।" यह सोचकर भगवान् आगे बढ़े और वे बाण खड़ग गदा तथा अन्यान्य आयुधों से असुरों की सेना का संहार करने लगे। भगवान् के अस्त्र शस्त्रों की मार को न सह सकने के कारण बाणासुर की सेना तितिर बितिर होगयी। इधर प्रद्युम्न जी के बाणों से स्वामि कार्तिकेय जी का अंग क्षत विक्षत हो गया था अतः वे भी अपने मोर पर चढ़कर उड़ गये। असुर सेना के प्रसिद्ध वीर कुम्भाण्ड और कूपकर्ण इन दोनों को ही बलरामजी ने हल से खीचकर मूसल से मार कर अचेत बना दिया। अपने सेना नायकों को मूर्छित देखकर अन्यान्य सैनिक खेत छोड़कर भाग खड़े हुए। अपनी सेना को भागते देख कर बाणासुर को बड़ा आश्चर्य हुआ। ऐसा उसने सोचा—"यादवों के प्राण ये श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। ये जिधर से निकल जाते हैं उधर ही काई सी फट जाती है। ये मेरी सेना को जैसे किसान लाई को काटता जाता है उसी प्रकार ये काटते जाते है सर्व प्रथम मैं इन्हें ही युद्ध में परास्त करूँ।" यह सोचकर उसे भगवान् के ऊपर अत्यंत ही क्रोध आया। अब उसने सात्यकि के साथ युद्ध करना तो बंद कर दिया, अपने रथ को दौड़ाकर वह श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के सम्मुख आया। सात्यकिजी ने समझ लिया अब बच्चूजी उचित स्थान पर पहुँच गये, इसलिये उन्होने बाणासुर का पीछा नहीं किया वे अन्य योद्धाओं से लडने लगे।

बाणासुर के सहस्त्र भुजायें थी। पाँच सौ भुजाओंमें तो उसके पाँच सौ धनुष थे। उन धनुषोंपर उसने दो दो बाण चढ़ाये। इस प्रकार एक सहस्त्र बाण एकसाथ ही उसने श्यामसुन्दर पर छोड़े

भगवान् तो पहिले से ही उद्यत थे। अपने शार्ङ्ग नामक धनुष पर चन्द्राकार बाण चढ़ाकर ऐसे मारे कि उसके छोड़े बाण भी कट गये और उसके हाथ के सब धनुष भी कट कट कर भूमि पर गिर गये। फिर भगवान् ने कई बाण एक साथ छोड़कर असुर के सारथी और घोड़ों को मार डाला तथा उसके रथ को तोड़कर नष्ट भ्रष्ट बना दिया। फिर आपने अत्यंत उत्साह के साथ अपना पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया।

महल की अटारी पर से बाणासुर की माता सब देख रही थी, उसने जब देखा श्रीकृष्णचन्द्र अब मेरे पुत्र के प्राण ही हर लेंगे, तो वह तुरन्त नीचे आयी। उसने अपने सम्पूर्ण बड़े बड़े बाल खोल लिये और अति शीघ्र रणभूमि में आगयीं। उसने अपने अङ्ग के सर्व वस्त्र उतार दिये। नग्नावस्था में वह भगवान् के आगे खड़ी होगयी। नग्नावस्था में स्त्री को देखने से घोर पाप लगता है, यही विचारकर भगवान्ने उसकी ओर से मुँह फेर लिया। उन्होंने बाणासुर की ओर देखा तक नही। उसे यह अच्छा अवसर मिल गया। वह रथ और धनुष हीन हो गया था, अतः तुरन्त अपने नगर शोणितपुर में चला गया और वहाँ जाकर उसने कुछ विश्राम किया।

इधर शिवजी की जँम्हाइयाँ कुछ कम हुईं उन्होंने देखा मेरे भूत, प्रेत, पिशाच तथा अन्यान्य गण श्रीकृष्ण के प्रबल प्रहार से तितिर बितिर हो रहे हैं, तो उन्होंने अपने त्रिशिर नामक उष्ण ज्वर को छोड़ा। उस ज्वर के तीन ही शिर थे और तीन ही पैर थे वह महाप्रबल ज्वर दशों दिशाओं को दग्ध करते हुए दामोदर की ओर दौड़ा। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जब शिवजी के छोड़े उष्ण ज्वर को अपनी ओर आते देखा तो उन्होंने उसके निवारणार्थ अपने शीत ज्वर को छोड़ा। अब दोनों ज्वर आपस में टकरा गये। दोनों में घमासान युद्ध होने लगा। अन्त में

वैष्णव ज्वर ने माहेश्वर ज्वर को धर दबाया। अब तो शिवजी का ज्वर चिल्लाने लगा। जब उसने देखा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की शरण में जानेके अतिरिक्त मेरे लिये दूसरा कोई सुरक्षित निर्भय स्थान नही है, तो वह अत्यन्त ही विनय के साथ दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर स्तुति करने लगा तथा आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी से शरण के लिये प्रार्थना करने लगा।

भयभीत हुआ त्रिशिर उष्ण ज्वर कहने लगा—"प्रभो ! आप अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं, आप चराचर विश्व के हृदय में रहने वाले अन्तरात्मा है, आपसे बढ़कर या आपके समान दूसरा कोई है ही नही आप अद्वितीय हैं, आप ज्ञान स्वरूप हैं। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के स्वामी है। इनके कारण हैं। आप को वैसे कोई जान नही सकता। केवल वेदवाक्यों द्वारा आप लक्षित होते हैं आप सर्व विकार हीन विशुद्ध सत्वमय परब्रह्म हैं। आपके पाद पद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

हे प्रभो ! संसार में जो भी कुछ होता है आपके ही द्वारा होता है। आप ही संसार के आदि कारण है आप ही इस जगत् वृक्ष के आदि बीज हैं। काल, दैव, कर्म, जीव, स्वभाव, भूतसूक्ष्म, शरीर, सूत्र, अहङ्कार, हस्त, पाद, वाक्, गुद, उपस्थ, चक्षु, कर्ण, नासिक, जिह्वा, त्वचा, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन सबका जो सङ्घातरूप लिङ्गदेह है तथा यह लिङ्ग देह जिस कर्म बीज से उगता और बढता है। यह सब आपकी माया का ही परिणाम है। यद्यपि ये सब होते है आपके ही अधिष्ठान से किन्तु आप इन सबसे सर्वथा पृथक रहते हैं और निरन्तर निर्लेप बने रहते है। ऐसे आप शरणागत वत्सल अशरण शरण श्यामसुन्दर की मैं शरण हूँ।

हे सर्वात्मन् ! आप अज है, अव्यक्त है, अनादि है, अरूप है। तथापि लीला के लिये आपही अनेक रूपों में हो जाते हैं एक होते

हुए बहुत बन जाते हैं। आप इस प्रपञ्च को चलाये रखने के लिये सुरगण तथा साधुजनों के परित्राण के निमित्त तथा कुमार्ग गामी हिंसा प्रिय असुरों का संहार करने के निमित्त एवं लोक मर्यादा का पालन करने के हेतु समय समय पर अवनिपट अवतरित होते हैं और संसार को शांति का मार्ग दिखाते हैं। आपका यह अद्भुत अवतार भी भू का भार हरण करने के निमित्त हुआ है। अतः हे भक्तवत्सल ! मुझसे जो अनजान में आपके ज्वर का अपराध हुआ उसे क्षमा करें।"

यह सुन कर भगवान् श्यामसुन्दर हँसे और बोले—"हे माहेश्वर ज्वर ! तुम चाहते क्या हो ? क्यों तुम मेरी ऐसी लम्बी चौड़ी स्तुति कर रहे हो, अपने प्रयोजन को कहो।"

इस पर माहेश्वर ज्वर बोला—"हे प्रभो ! मैं आपके इस शान्त, उग्र, अतिउल्बण दुःसह ज्वर से अत्यन्त सन्तप्त हो रहा हूँ। यह शीत ताप मुझे तापित कर रहा है। आपके सम्मुख रहते हुए यह उचित नहीं है। क्यों कि देह धारियों को ताप तभी तक रहता है, जब तक वे आशापाश में फँसे रहते हैं। जहाँ वे आपकी शरण में गये, तहाँ उनके त्रिविध ताप सदा के लिये समाप्त हो जाते हैं। जो आपके चरणों के शरण गये हैं वे सब ताप संताप से सदा के लिये छूट गये हैं, फिर मेरा ताप आपकी शरण आने पर कैसे शेष रह सकता है ?"

त्रिशिरा माहेश्वर ज्वर की ऐसी स्तुति सुनकर मन्द मन्द मुस्कराते हुए माधव बोले—"हे त्रिशिरा ज्वर ! तू प्राणियों को तीसरे दिन जाड़े के साथ आता है तेरे आने से प्राणियों के अङ्ग उष्ण हो जाते हैं। मैं तेरी स्तुति से प्रसन्न हूँ। तुझे मेरे ज्वर से अब भय न होगा। यही नहीं, जो पुरुष श्रद्धा भक्ति सहित हमारे तुम्हारे इस सम्वाद को सुनेंगे उन्हें तुम से भी भय न होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! भगवान् के ऐसे वर को सुनकर त्रिशिरा माहेश्वर ज्वर भगवान् के पादपद्मों में प्रणाम करके यथा स्थान चला गया। इतने में ही शोणितपुर से नया रथ और नया उत्साह लेकर बाणासुर पुनः भगवान् वासुदेव से लड़ने आया। अब इन दोनों में जैसे भयङ्कर युद्ध होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ब्रह्म, वायु अरु अनल अस्त्र त्रिपुरारी छोड़े।
जोड़ तोड़के छोड़ि श्यामने सबही तोड़े॥
जृम्भणास्त्र हरि छोड़ि लिवाई जमुहाई पुनि।
आयो तबई बाण भगत अपनी सेना सुनि॥
आइ कृष्ण सैं भिड़ि गयो, हरि हय सारथि मारकें।
कर्यो विरथ तब मातु लखि, खड़ो नगन ह्वै आइ कें॥

अनिरुद्ध ऊषा चरित की समाप्ति

(११२५)

इति लब्ध्वाभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसासुरः ।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य सबध्वा समुपानयत् ॥
अक्षौहिण्या परिवृतं सुवासः समलंकृतम् ।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ।*

(श्रीभा० १० स्कं० ६४ अ० ५०, ५१ श्लो०)

छप्पय

नग्न नारि कूँ निरखि नयन हरि पीछे फेरे ।
बाण गयो पुर माहिं शम्भु सम्मुख हरि हेरे ॥
छोड्यो शिव ज्वर उष्ण शीत ज्वर आइ दबायो ।
करी कृष्ण की विनय उष्ण ज्वर पिंड छुड़ायो ॥
बाण आइ हरि संग लड़्यो, हार्यो सब सेना मरी ।
कर काटन लागे हरी, आइ शम्भु इस्तुति करी ॥

दो सगे भाई नाटक में खेल करते है, दोनों पक्ष विपक्ष में होकर लड़ते हैं, एक दूसरे को मारते हैं, पटकते है, बुरा भला

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार बाणासुर ने जब भगवान् से अभय प्राप्त की तो, उसने उन्हे सिर से प्रणाम किया । तदनन्तर प्रद्युम्न नन्दन अनिरुद्ध जी को ऊषा सहित रथ पर चढ़ाकरले आया भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी भी शिवजी की अनुमति लेकर अक्षौहिणी सेना से घिरकर तथा वस्त्रालङ्कारो से अलंकृत नववधू सहित अनिरुद्धजी को आगे करके द्वारकापुरी के लिये चल दिये ।"

कहते हैं। नाटक समाप्त होने पर हँसकर प्रेम से मिलते हैं और आपस में कहते है, कहो कैसा अभिनय किया। इसी प्रकार भगवान् ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा सुर असुर आदि रूप रख कर क्रीड़ा करते हैं, एक दूसरे से लड़ते हैं। अज्ञानी समझते हैं, वास्तव में लड़ रहे हैं, किन्तु जिस माया के आश्रय से यह सब हो रहा है उसमें वास्तविकता कहाँ। यह तो उनका विनोद है। हरिहर परस्पर में भिन्न नही अभिन्न हैं। क्रीड़ा के निमित्त वे भिन्न से दीखने लगते हैं और आपस मे लड़ते भिड़ते हैं। एक दूसरे को हराते हैं किन्तु उनमें हारना जीतना क्या। वे तो अजित हैं, अपराजित हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् से अभय पाकर माहेश्वर ज्वर चला गया,तब बाणासुर पुनः रथ पर चढ़कर युद्ध करने के निमित्त भगवान् के सम्मुख आया। अबके वह नवीन रथ नवीन अस्त्र शस्त्र तथा नवीन उत्साह लेकर रणभूमि में आया था। आते ही उसने अपने सहस्र भुजाओ से चक्रपाणि भगवान् पर भाँति भाँति के दिव्यास्त्रों की वर्षा करनी आरंभ कर दी। जैसे वर्षा होने पर सुमेरू तनिक भी विचलित नहीं होता, वैसे ही भगवान् उसके अस्त्र शस्त्रों से तनिक भी विचलित नही हुए। भगवान् ने जब देखा, यह असुर तो रुकता ही नहीं इसने तो निरन्तर अस्त्रों की झड़ी सी लगादी, तब भगवान् ने सोचा—"अब इससे अधिक देर तक अस्त्रों से युद्ध कौन करे। जिन बाहुओं से यह अस्त्र शस्त्र छोड़ रहा है उन्हें ही काट दो, न रहेगे बाँस न बजेगी बाँसुरी।" यही सोचकर भगवान् उसकी बड़ी बड़ी बाहुओं को जड़ से काटने लगे। दूर से भक्तवत्सल भगवान् शङ्कर देख रहे थे। जब उन्होंने देखा भगवान् तो बिना रुके बाण की बाहुओं को वृक्ष की शाखाओं के समान छेदन करते ही जाते हैं, तब वे तुरन्त चक्रपाणी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के

समीप गये और अत्यन्त नम्रता के साथ अञ्जली बाँधकर उनकी स्तुति करने लगे। वे कहने लगे—"प्रभो! आप तो परम ज्योति स्वरूप, सर्वव्यापक, अज, अनादि, अच्युत, निर्विकार, निर्लेप, निरञ्जन और नित्य हैं यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आपकी ही सत्ता से सत्य सा प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार बहुत देर तक गूढ़ ज्ञानयुक्त बड़ी लम्बी चौड़ी स्तुति करके अन्त में कहने लगे—"प्रभो! यह बाणासुर मेरा भक्त है, इसे मैंने अभयप्रदान दिया है। आप मेरे वचन का निर्वाह करें जैसे आपने इसके प्रपितामह प्रह्लाद को अजर अमरता प्रदान करके अभय कर दिया है उसी प्रकार आप इसे भी अभय करदें। इसे मारें नहीं। यह भी आपकी कृपा को प्राप्त करके निर्भय हो जाय।"

इतना सुनते ही भगवान् ठठाका मारकर हँस पड़े और बोले—"शङ्करजी! आप धन्य हो। क्यों न हो प्रभो! आप भोले नाथ ही जो ठहरे। आपका हृदय दया और अनुग्रह से भरा हुआ है। हे विभो! जिसे आपने अभय कर दिया है, उसे मैं मार ही कैसे सकता हूँ। मैं तो आपके विचार के ही अनुसार इसके अभिमान को चूर्ण करने आया था। इसे अपने बलका बहुत अभिमान हो गया था, यह अपने समान संसार में किसी को समझता ही नही था। बताइये आपसे भी लड़ने को उद्यत हो गया। कहता था—"मेरी ये भुजायें भाररूप हो रही हैं। मेरे ये हाथ खुजा रहे हैं। आपके अतिरिक्त मुझसे लड़ने वाला कोई नहीं है।" तब आपने कहा था—"मेरे समान ही कोई आकर तेरे गर्व को खर्व करेगा।" मैंने तो आपकी आज्ञा का ही पालन किया है।"

शिवजी ने कहा—"महाराज! यह तो मूर्ख है। जिसे एक बार अपना कहकर अङ्गीकार कर लिया है, उससे कुछ अपराध भी हो जाय, तो बड़े लोग उसे क्षमा कर देते हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, तो अच्छी बात है। मेरी भी इच्छा इसे मार डालने की नहीं है। यह मेरे परम भक्त विरोचननन्दन दानवीर महाराज बलि का पुत्र है। बलि को मैंने सपरिवार अभय प्रदान किया है, फिर मैं उसके पुत्र को कैसे मार सकता हूँ। इसके प्रपितामह प्रह्लाद को भी मैंने वर दिया था, कि तुम्हारे वंश के किसी को भी मैं न मारूँगा।"

शङ्कर जी ने कहा—"महाराज! और मारना क्या होता है आप गूलर के वृक्ष की शाखाओं के समान तो इसकी भुजाओं को काट रहे हैं।"

हँसकर भगवान् बोले—"अजी, शङ्करजी आप तो भोलेनाथ हो। आगे पीछे की तो सोचते नहीं। "तीरथ गये मुड़ाये सिद्धि" आप के सामने जो आ जाता है, उसे आँखें मीचकर वर दे देते हो। भला, बताइये इसे आपने सहस्र भुजायें देदी, ये केवल भूका भार मात्र ही हैं। इन सहस्र बाहुओं से यह उपद्रव के अतिरिक्त और करेगा ही क्या? इस लिये मैंने इसकी व्यर्थ की भुजायें छाँट दीं। अब इसके केवल चार भुजायें रह जायँगीं। ये अजरामर होगी। इन्हें कोई काट न सकेगा। यह चतुर्भुज बाणासुर आपके पार्षदों में मुख्य माना जायगा। अब इसे किसी भी प्रकार का भय न रहेगा।"

यह सुनकर शिवजी प्रसन्न हुए। उन्होंने बाणासुर को तुरन्त एक दिव्य स्तोत्र दिया उससे उसने भगवान् वासुदेव की स्तुति की और सिर झुकाकर उनके पादपद्मों में प्रणाम किया। भगवान् ने भी उसे स्नेह भरी दृष्टि से देखा और अभयप्रदान की। अब क्या था, सन्धि हो गयी। बाणासुर को शङ्कर जी के प्रभाव से सभी इच्छायें पूरी हुईं। उसकी पुत्रीको अच्छा, घरवर मिल गया। नगर में जाकर उसने दिव्य रथ सजाया उसमें स्नानादि कराकर, दिव्य वस्त्राभूषणों को पहिनाकर ऊषा और

अनिरुद्ध जी को विठाया। आगे आगे वाजे वजते जाते थे। वड़े आनन्द के साथ वरवधू को लेकर भगवान् की सेवा में समुपस्थित हुआ। दहेज में वहुत से हाथी, घोड़ा, रथ, सुवर्ण मणि, मुक्ता वस्त्र, आभूषण, गन्ध, चन्दन, मृगचर्म, ऊनीकम्बल, दुशाला, दास, दासी तथा अन्यान्य गृहस्थोपयोगी सभी सामग्रियाँ दीं। उन सव वस्तुओं को ग्रहण करके तथा शिवजी से सम्मति लेकर वड़ी भारी यादवों की सेना से घिरे हुए श्यामसुन्दर अपनी पुरी द्वारावतीमें लौट आये अनिरुद्धको नई पत्नी के साथ देखकर सभी को परम हर्ष हुआ। सभी लोगों ने विजयी भगवान् का तथा नव वधू सहित अनिरुद्ध जी का वड़ा भारी स्वागत सत्कार किया। सभी पुरवासी भगवान् सहित वर वधू को आगे करके जय घोष करते हुए पीछे पीछे चल रहे थे। आगे आगे वेदज्ञ ब्राह्मण वेद घोष करते जाते थे। शङ्ख, ढोल, दुन्दुभी आदि वहुत से वाजे वजते जाते थे। स्थान स्थान पर द्वार वनाये गये थे उनमें ध्वजा, पताकायें तथा तोरण लटकाये गये थे। राजपथों पर छोटी छोटी गलियों में तथा चौराहों पर सुगन्धित जल का छिड़काव कराया गया था। इस प्रकार भली भाँति से सजी सजायी द्वारावती नगरी में सभी ने प्रवेश किया।

सूतजी कहते हैं–"मुनियों! यह मैंने अत्यन्त संक्षेपमें अनिरुद्ध जी और ऊषा के विवाह का प्रसंग कहा। इसी कथा प्रसग में शिवजी और श्रीकृष्ण जी के युद्ध का भी वर्णन किया गया। शिव और कृष्ण ये भिन्न भिन्न नहीं हैं। एक ही दो रूपों में हो गये है। इनका युद्ध अज्ञान से या लोभ से नही हुआ। यह तो एक लोकवत् केवल लीला ही थी। इस हरि हरात्मक दिव्य युद्ध के परम पावन प्रसंग को जो पुरुष प्रेमपूर्वक श्रवण करेंगे, उनका पराभव कभी न होगा जो कुमारी इस प्रसंग को सुनेंगी उन्हें सुन्दर स्वस्थ वर प्राप्त होगा, जो विवाहिता स्त्रियाँ सुनेंगी उनके

पुत्र होगा। निर्धन सुनेगा उसे धन की प्राप्ति होगी और जो भक्त सुनेगा उसे भगवान् की अहैतुकी भक्ति की प्राप्ति होगी। जो शूर वीर प्रातः उठकर इस प्रसङ्ग को पढ़ेगा उसका कभी भी पराभव न होगा।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! भगवान् की सभी लीलायें बड़ी मधुर और सरस होती हैं, कृपा करके और कोई ऐसी ही लीला सुनाइये द्वारकापुरी में रहकर भगवान् ने कोई और प्रसिद्ध लीला की हो, तो उसका भी वर्णन हमसे करें।"

सूतजी बोले—"भगवन्! जैसे भगवान् अनन्त हैं, वैसे ही उनकी लीलायें भी अनन्त हैं। भगवान् ब्रह्मण्यदेव हैं; वे अवतार लेकर स्वयं तो ब्राह्मणों का सम्मान करते ही थे, साथ ही अपने पुत्र पौत्रों को भी सदा इस बात की शिक्षा देते रहते थे। इसी प्रसंग में भगवान् ने जैसे महाराज नृग का उद्धार किया और उसी प्रसंग में जैसे उन्होंने पुत्र पौत्रों को शिक्षा दी उसी नृगोद्धार की कथा को मैं आपके सम्मुख कहूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

इस्तुति सुनि हरि हँसे बाण पै दया दिखायी।
अजर अमर करि दयो प्रतिज्ञा प्रथम निभायी॥
भयो बाणकू ज्ञान लाइ वर वधू दिखाये।
पाइ दान सम्मान सकल यादव हरषाये॥
हरि हरतें अनुमति लेई, पुरी द्वारका चलि दयें।
वधू सहित अनिरुद्ध लखि, अति प्रसन्न सब जन भये॥

नृगोद्धार की कथा

(११२६)

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो !
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥*

(श्रीभा० १० स्कं० ६४ अ० १० श्लोक)

छप्पय

स्वयं सूत पुनि कहैं—"चरित नृग नृपति सुनाऊँ ।
कैसे हरि उद्धार कर्यो सो वृत्त बताऊँ ॥
यदुकुल के कछु कुमर गये खेलन वन माहीं ।
लगी प्यास इक लख्यो कूप जल तामें नाहीं ॥
परवत सम गिरगिट पर्यो, ताहि निकारत दयावश ।
नहिं निकस्यो तब आइ तहँ, कर्यो प्रकट हरि तासु यश ॥

भगवान् का स्वभाव है, वे अपने भक्तों को सदा बड़ाई देते हैं। अपने आश्रितों की प्रशंसा करते-करते वे अघाते नहीं। भगवान् का ही नहीं, उनके भक्तों का भी यही स्वभाव होता है।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज नृग भगवान् को अपना परिचय देते हुए कह रहे हैं—"हे प्रभो ! मैं नृग नामक नरेन्द्र हूँ, मेरे पिता का नाम इक्ष्वाकु है। दानियों के कथा प्रसंग में कदाचित् मेरा नाम कभी आपके कानों में पड़ा ही होगा।"

भक्त सब को सम्मान प्रदान करते है। जो दूसरों का सम्मान नहीं करता वह भक्त नहीं। स्वयं अमानी रह कर दूसरों को मान देना यही भक्तों का लक्षण है। भगवान् तो जगत् पूज्य हैं, किन्तु वे भी ब्राह्मणों को अपना देवता मानते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! एक दिन की बात है, कि साम्ब, प्रद्युम्न, चारुभानु और गद आदि बहुत से यदुवंश के राजकुमार वन उपवनों में विहार करने बहुत दूर निकल गये। यद्यपि ये सब लोग बड़े थे, इनके बेटा नाती हो गये थे, किन्तु इनके पिता, पितामह आदि जीवित थे, इसीलिये कुमार कहलाते थे। सभी युवक थे, सभी विनोद प्रिय थे सभी समवयस्क थे। चलते-चलते ये लोग बहुत दूर निकल गये। वहाँ जाकर इन लोगों को प्यास लगी। इसलिये इधर उधर जल की खोज करने लगे। कुछ दूर पर इन्हें एक बड़ा भारी कुआ दिखाई दिया। उसमें इन लोगोंने झाँककर देखा, कि एक पहाड़ के सदृश जीव उस कुएमे पड़ा है। इतना बड़ा जीव इन्होंने पहिले कभी नही देखा था। सबने समझा—"यह जीव कहीं से घूमता-घूमता आया है, इस कुए में आकर गिर गया है, इसे निकालना चाहिए।" ऐसा विचार कर वे पानी पीना तो भूल गये, उसके निकालने का उद्योग करने लगे। उन सबको उस जीव पर दया आ रही थी, कि यह इसी प्रकार कुआ में पड़ा रहेगा, तो मर जायगा। दूसरे उन्हें विस्मय भी हो रहा था, यह सुवर्णके समान चमक रहा है, यह साधारण जीव नहीं है इसीलिये वे उसे कुएसे निकाल कर देखना चाहते थे। प्रथम वे सन की बड़ी-बड़ी मोटी-मोटी रस्सियाँ ले आये, उनमें बाँधकर निकालने लगे, जब उनसे न निकला, तब चमड़े की सुदृढ़ रस्सियाँ ले आये। उनसे जितना बन सका उतना उद्योग किया, किन्तु वह जन्तु किसी भी प्रकार कुए से न निकल सका।

अन्त में कुछ कुमार दौड़े-दौड़े भगवान् के समीप गये और

जाकर परम विस्मित होकर कहने लगे—"हे प्रभो ! एक बड़ी अद्भुत बात है। हम लोग विहार करने समीप के ही उपवन में गये थे; वहाँ कुए में हमने एक बड़ा ही विलक्षण, सुवर्णके सदृश चमकीला, पहाड़ के शिखर के समान स्थूल एक विचित्र जन्तु देखा है। हमने उसे कुएसे निकालने के अनेकों उपाय किये, किंतु वह निकलता ही नहीं। नवनीत के सदृश उसका शरीर चिकना है, मुख पर कुछ काँटे से है और बड़े रहस्यमय ढंग से वह मुँह मटकाता है। हमें यह जानने को बड़ा कुतूहल हो रहा है, कि यह कौन जन्तु है।"

अपने बच्चों की ऐसी उत्सुकता देखकर भगवान् उनके साथ रथ पर चढ़कर वहाँ आये। कमल नयन विश्वम्भर उसे देखकर हँसे अपने कुमारों से बोले—"छिः छिः तुम लोगों से यह छोटा सा जीव भी नहीं निकलता।" यह कह कर भगवान् ने अपना बायाँ हाथ कुए में डालकर उसे तुरन्त बाहर निकाल कर रख दिया। भगवान् के कर कमल का पावन स्पर्श पाते ही उसने वह शरीर तुरन्त त्याग दिया। सबके देखते ही देखते वह दिव्य रूप वाला देवता बन गया। उस समय उसके तेज के प्रकाश से दशों दिशायें प्रकाशित हो रही थीं,तपाये सुवर्णके समान उसका सुन्दर शरीर दम-दम करके दमक रहा था। बहुमूल्य वस्त्र तथा दिव्याति दिव्य आभूषण उसके अङ्गों की शोभा बढ़ा रहे थे। अम्लान पुष्पो की सुगन्धित मालायें वह पहिने हुआ था और हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से भगवान् के समीप खड़ा था।

भगवान् तो सब कुछ जानते हैं,उनसे तो कोई बात छिपी ही नहीं रह सकती। तथापि सर्वसाधारणको इसका समस्त समाचार विदित हो जाय, किस कारण इसे यह अधम योनि प्राप्त हुई इसे सब जान जायें।' इसी हेतु से भगवान् ने उससे पूछा—"हे महाभाग ? आप कौन हो ? आप तो कोई अत्यंत ही श्रेष्ठ देवता

प्रतीत होते हो, क्योंकि तुम्हारा रूप अत्यंत ही मनोहर है। अब तक तो आप इस अधम योनि में थे, अब आप सहसा देवता क्यों हो गये ? आप देखने में बड़े भव्य प्रतीत होते हैं। यह अधम योनि आपको किस अपराध के कारण प्राप्त हुई। आपके ओज, तेज रूप और सौन्दर्य को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है, कि आप इस योनि को प्राप्त करने के सर्वथा अयोग्य थे। आपसे ऐसा कौनसा अपराध बन गया था, जिससे यह गिरगिट की योनि आपको प्राप्त हुई। गिरगिट भी साधारण नही। इतना डौल डौल का गिरगिट तो हमने देखा ही नहीं। अब तो आप देवता हो गये है। पूर्व जन्म की सब बातें आपको स्मरण हो आयीं होगी यदि हमसे कोई छिपाने योग्य बात न हो, तो हमें अपना पूर्ण परिचय दीजिये अपना सभी वृत्तान्त बताइये।"

भगवान्‌के ऐसा प्रश्न करने पर उस देवस्वरूप पुरुष ने अपने सूर्य के समान तेजस्वी मुकुट युक्त मस्तक को प्रभु के पादपद्मों में रखकर और श्रद्धाभक्ति से प्रणाम करके कहना आरम्भ किया—"प्रभो ! मनुपुत्र महाराज इक्ष्वाकु का आपने नाम सुना ही होगा उन्ही महाराज इक्ष्वाकु का मैं पुत्र हूँ। मैंने बहुत दिनों तक इस सप्तद्वीपा वसुमती का धर्म पूर्वक पालन किया था, उन दिनो मैं संसार में बड़ा प्रसिद्ध दानी समझा जाता था। आपने दानी राजाओं के कथा प्रसंग में कभी नृग का नाम सुना ही होगा। मैं वही नृग हूँ।"

भगवान् ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"महाभाग ! आप राजर्षि नृग है। धन्यवाद धन्यवाद ! आपका नाम तो हम नित्य ही सुनते है। नृग के समान दान कौन कर सकता है। राजन् ! हम आपके दानके सम्बन्धमें कुछ सुनना चाहते है। आपका इतना नाम क्यों हुआ। ऐसा आप क्या दान करते थे, जिससे अब तक आपकी कीर्ति संसार में ज्यों की त्यों विद्यमान है और जब तक

सूर्य चन्द्रमा तथा तारागण रहेंगे, तब तक आपकी कीर्ति अक्षण्ण बनी रहेगी। आप अपने सम्बन्ध की बातें हमें विस्तार पूर्वक बतावें।"

भगवान्‌की आज्ञा पाकर और उनके चरणोंमें पुनः सिर झुका कर महाराज नृग कहने लगे—"हे जगन्नाथ! आप सर्वान्तर्यामी हैं। सब भूतों के अन्तः करणों में आप साक्षी रूप से निरन्तर विराजमान रहते हैं। जीव जो भी शुभाशुभ कर्म करते है वे आप से कुछ भी अविदित नही रह सकते। आप घट घटकी बातें जानते हैं। इसलिये आपको कुछ बताना व्यर्थ ही है, क्योंकि आप की दृष्टि को काल भी नहीं रोक सकता। स्वयं आप काल स्वरूप है। तथापि आप आज्ञा प्रदान कर रहे हैं, तो मैं अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्तको बताता हूँ, क्योंकि आपकी आज्ञा का पालन करना प्राणियों का परम कर्तव्य है। अच्छा तो प्रथम आपने मेरे दानके ही सम्बन्धमें पूछा उसे ही सुनाता हूँ।

स्वामिन्! अपने मुख से अपने दानका बखान करनेसे उसका महत्व घट जाता है, पुण्य नष्ट हो जाता है, किन्तु जब आपकी आज्ञा है तब तो कहना ही पड़ेगा। संसार में सबसे श्रेष्ठ दान गौ दान है। गौके रोम रोममें देवताओंका वास है तेतीस कोटि देवता गौके अंगमें रहते हैं। जिसने गौ दान कर लिया उसने मानों सब दान कर लिये। मैने कितनी गौओंका दान किया उसे मैं कह नही सकता। पृथिवीमें कितने रजकण है,वर्षाके समय कितनी जलकी धारायें गिरती हैं, आकाश में कितने तारागण हैं, जैसे इनकी संख्या करना संभव नही उसी प्रकार मेरी दान की हुई गौओं को गणना करना संभव नहीं। असंख्यों गौओं का मैंने दान किया। गौएँ भी ऐसी वैसी बूढ़ी टेढ़ी नहीं, किन्तु मैंने दूध देने वाली तरुणी गौओं का दान दिया। वे सभी गौएँ देखने में अत्यन्त सुन्दर होती थीं। मरखनी उनमें कोई नहीं थीं। सब शील और

सद्गुणों से युक्त थीं। उनका दूध बहुत गाढ़ा होता था। उस में एक चौथाई घृत निकल आता था। वे गौएँ मैंने वैसे ही दे दी हों, सो भी बात नहीं उन सबके सींगों को मैं सदा सुवर्ण से मढ़वाता था। चारों खुरों में चाँदी मढ़वा देता था। वे सब कहीं से अन्यायसे या अन्यायके धनसे लीं हों, सो भी बात नहीं; वे सब की सब न्यायोपार्जित धन से क्रय की जाती थीं। सबको दुशाला उढ़ाकर दान करता था। ऐसे वैसे अपात्र ब्राह्मण को दे देता होऊँ, सो भी बात नहीं। वेद को जानने वाले गुण शील सम्पन्न सदाचार और तपस्या में निरत, शान्त दान्त वेद पाठी बहुकुटुम्बी तथा शिष्योंको पढ़ाने वाले आचार्यों को मैं उन्हें दान में देता था। केवल गौओं का ही दान देता होऊँ सो बात नहीं। मुझे दान देने का व्यसन था। दान देते समय मेरे हृदय में बड़ा उल्लास होता था। दान देते देते मेरी तृप्ति नहीं होती थी। सदा सोचता रहता था, ऐसा कौन सा दान दूँ, जिससे लेने वालेकी अन्तरात्मा सुखी हो। इस प्रकार मैंने गौओं के अतिरिक्त बहुत सी उर्वरा भूमि दान में दी। बहुत सा सुवर्ण, सुन्दर सजे सजाये सब सामग्रियों से सम्पन्न सब समयों में सुखद ऐसे बहुत से भवन भी मैंने सुशील सदाचारी गृहस्थों द्विजों को सविधि दान दिये। सुन्दर सुन्दर घोडे, बड़े हाथी, सुयोगवरों को धन्य, धान्य, दास दासी तथा गृहस्थोपयोगी अन्य सामग्रियों के सहित कन्यायें, तिलों के पर्वत, चाँदी, शय्या, वस्त्र रत्न, रथ तथा अन्यान्य सामग्रियों को मैं सदा दान करता ही रहता था। दानके अतिरिक्त मैंने बड़े बड़े यज्ञ याग किये, बहुत से कुए बनवाये, वृक्ष लगवाये, वापी, तड़ागादि खुदवायें। धर्मशालायें तथा पाठशालायें बनवायीं। सारांश यह कि मैंने दान धर्म करनेमें कभी कृपणता नहीं की। उदारताके साथ अत्यन्त प्रसन्न होकर मैं इन कामों को किया करता था। किन्तु इतना सब करते हुए भी मेरे प्रारब्धवश मुझसे एक बड़ा

भारी अपराध बन गया। एक ब्राह्मणका चित्त मेरे दानके कारण दुख गया। उसीके परिणाम स्वरूप मुझे यह अधम योनि प्राप्त हुई।"

भगवान् ने पूछा—'क्या हुआ ? अपराध कैसे बन गया ?"

आह भर कर महाराज नृग बोले—"हुआ क्या भगवन् ! एक बार किसी श्रेष्ठ याज्ञिक ब्राह्मण की यज्ञीय धेनु आकर मेरी गौओं के झुण्ड में आ मिली। अब मेरे यहां तो नित्य ही लाखों गौओं का दान होता था। सेवकों ने अन्य दान की जाने वाली गौओं में उस कामधेनु यज्ञीय गौ को भी सजा दिया। मुझे तो इस बात का कुछ पता ही नहीं था, सहज स्वभाव से मैं जैसे सदा दान करता था, वैसे अन्य गौओं के साथ में उसे भी दान कर दिया। वह ब्राह्मण उस इतनी सुन्दर गौ को पाकर मुग्ध हो गया। वह प्रसन्न होकर उसे लेकर चल दिया। अब जिस ब्राह्मण की वह गौ थी, वह उसे सर्वत्र खोज रहा था, क्योंकि उसके बिना उसका यज्ञ पूरा नहीं हो सकता था। यज्ञमें जिस धेनुके दूध और घी से विशेष आहुतियां दी जातीं हैं, उस यज्ञीय धेनु की रक्षा करना अत्यावश्यक है। उसके खो जाने पर या मर जाने पर बड़ा पाप लगता है, यज्ञ पूरा नहीं होता। संयोगकी बात, कि जब वह ब्राह्मण उस गौको दानमें लेकर जा रहा था, तो मार्गमें वह गौका स्वामी ब्राह्मण मिल गया। अपना यज्ञीय गौको देखकर ब्राह्मणके रोम रोम खिल उठे। उसने बड़े स्नेहसे उस ले जाने वाले ब्राह्मण से कहा—"बड़ी प्रसन्नता की बात है, आपने मेरी गौ पकड़ ली। इसके लिये मैं बड़ा व्याकुल हो रहा था।"

यह सुनकर दान लाने वाला ब्राह्मण बड़ा चकित हुआ उसने अवहेलना के स्वर में कहा—विप्रवर ! आप भांग तो नहीं पी आये हैं ? मेरी गौ को आप अपनी बता रहे हैं।"

गौका स्वामी ब्राह्मण बोला—"ब्राह्मण होकर तुम झूठ बोलते

बड़ी लज्जा की बात है। आपकी यह गौ कैसे है ? आपने से कहाँ से क्रय किया।"

वह ब्राह्मण क्रोध के स्वर मे बोला—"झूठ मैं नहीं बोलता, आप झूठ बोल रहे हैं। मैंने इस गौ को क्रय नहीं किया है। मुझे महाराजा नृग ने दान में दी है।"

अग्निहोत्री ब्राह्मण क्रोध करके बोला—"दूसरे की गौ को दान देने वाला नृग कौन होता है। चलो तुम उसके पास।"

उस ब्राह्मण ने भी दृढता के साथ कहा—"चलो मैं चलने को उद्यत हूँ।" यह कह कर वे दोनों लड़ते झगड़ते मेरे पास आये।

महाराज नृग भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से कह रहे हैं—"प्रभो ! आते ही उस दान लेनेवाले ब्राह्मण ने रोष में भरकर मुझ से कहा—"राजन् ! आप सत्य सत्य बतावे इस गौ को आपने मुझे दान में दिया है या नहीं।"

मैं मना कैसे कर सकता था, मैंने कहा—"हाँ, ब्रह्मन् ! मैंने अभी विधि पूर्वक संकल्प सहित यह गौ आपको दान दी है।"

तब वह गौ का स्वामी क्रोधमें भरकर बोला—"राजन्! चोरी करके गौ देने से क्या पुण्य होता है। यह तो उलटा पाप है।"

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन् ! आप शान्त हों, मैंने अपनी स्मृति में तो चोरी की नही।"

दृढ़ता के स्वर में गौ का स्वामी ब्राह्मण बोला—"की कैसे नही। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो मेरी गौ ही है। यह गौ मेरी है, इसे आपने चुराकर दान कर दिया है।"

मैंने विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन् ! मैंने जान बूझकर तो चोरी की नहीं। आप इस गौ को अपनी बताते है, तो मैं आपकी बात पर अविश्वास तो करता नहीं। पता लगाता हूँ, यह गौ मेरी गौओ में कैसे आगयी।" यह कह कर मैंने पता लगाया। छान बीन करने पर यथार्त बात का पता लग गया। सेवकों ने कहा

दिया "महाराज भूल से यह गौ हमारे झुण्ड में आगयी हमने समझा हमारी ही है, इसलिए सजा दिया। भूल में ही यह दान भी हो गयी।"

यह सुनकर मुझे बड़ा भ्रम हुआ। मैं बड़े धर्म सङ्कट में पड़ा मैंने उन गौ के यथार्थ स्वामी ब्राह्मण से कहा—"ब्रह्मन्! मुझसे भूल हो गयी क्षमा करें। इस गौ के बदले में मैं आपको एक लक्ष गौएँ दिये देता हूँ।"

ब्राह्मण ने रोष मे भर कर कहा—"राजन्! आप मुझे लोभी समझते हैं? क्या मैं गौ को बेच सकता हूँ? यह मेरी यज्ञीय धेनु है। आप चाहें मुझे इसके बदले में अपना राज्य भी दे दें तो भी न लूँगा।"

यह सुनकर मैं निरुत्तर हो गया। फिर मैंने उस दान लेने वाले ब्राह्मण से कहा—"ब्रह्मन्! मुझ से अज्ञान में यह अपराध बन गया है। आप दोनों में से कोई भी मेरे ऊपर कृपा करें मैं आपकी शरण हूँ मुझे घोर नरक में पड़ने से बचावें। ये ब्राह्मण नहीं मानते, तो आप ही एक लाख गौयें लेकर इस गौ को इन ब्राह्मण को दे दें।"

यह सुनकर वह ब्राह्मण बोले—"राजन्! देने को तो कोई बात नही थी, किन्तु जब मेरा प्रतिपक्षी ब्राह्मण लाख गौओं के बदले में भी इस गौ को छोड़ने को उद्यत नही, इसे बेचना बता रहा है, तो मैं इसके सम्मुख एक लाख गौ लेकर इसे कैसे दे सकता हूँ। आप राजा हैं। वैसे चाहें तो आप गौ ले सकते हैं यदि अदला बदली मोल भाव की आप बातें करेंगे, तो मैं लाख क्या, लाख से और भी दश सहस्र अधिक दें तो भी मैं न लूँगा। ब्राह्मण समाजमें मैं अपना अपमान थोड़े ही कराऊँगा। लीजिये रखिये अपनी गौ को, मैं जाता हूँ।" यह कहकर वह असन्तुष्ट होकर गौ छोड़ कर चले गये। दूसरे ब्राह्मण भी बिना कुछ

लिये चले गये। इस घटना से मुझे बड़ा दुःख हुआ। उसी समय मेरी मृत्यु हो गयी। यमदूत मुझे लेने आये। मुझे आदर पूर्वक धर्मराज की सभा में ले गये। धर्मराज ने मेरा स्वागत सत्कार किया और बड़े स्नेह से बोले—'राजन्! आपने इतना अधिक पुण्य किया, कि उसकी कोई सीमा नहीं। आपको अनन्त काल तक अक्षय दिव्य तेजोमय लोकों की प्राप्ति होगी। पुण्यों के साथ आपके कुछ पाप भी हैं। वे पाप आपके पुण्यों के आगे वैसे भी नहीं जैसी सुमेरु के सामने राई। किन्तु फिर भी पाप और पुण्य दोनों का ही फल भोगना है, तो पहिले आप पापों का फल भोगना चाहते है या पुण्यों का? जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा ही मैं प्रबन्ध करूँ?"

मैंने अपने मन में सोचा—"प्रथम सुख भोग कर और पीछे दुख भोगना तो अत्यन्त ही कष्ट प्रद होगा। प्रथम सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ खाकर पीछे बुरे सड़े गले खाने से चित्त बिगड़ जाता है, बड़ा कष्ट होता है। अतः दोनों का खाना अनिवार्य ही हो तो पहिले बुरे कड़वे पदार्थों को खाकर तब मीठे स्वादिष्ट पदार्थों को अन्त में खाय। इसी प्रकार पहिले दुःख भोगकर तब सुख भोगना चाहिये।" यही सब सोच समझकर मैंने यमराजसे कहा—"देव! पहिले मैं पाप कर्मों का ही फल भोगना चाहता हूँ। आप ऐसा प्रबन्ध करें कि मेरे पहिले कर्मों का ही फल भोग द्वारा समाप्त हो जाय।"

यमराज ने कहा—"बड़ी अच्छी बात है, अच्छा तो गिरिये।"

यमराज का 'गिरिये' यह कहना था, कि मैं तुरन्त ही पृथिवी पर कृकलास (गिरगिट) बनकर उत्पन्न हो गया। पाप दो प्रकार के होते हैं एक जान में एक अनजान में मुझसे अनजान में पाप हुआ था इस लिये मुझे गिरगिट योनि में भी कोई कष्ट नहीं हुआ। यहीं नहीं मुझे पुण्य क्षेत्र का निवास मिला। छै महीने तो मैं गढ़मुक्तेश्वर की गङ्गाजी के एक कुण्ड में रहता था और छै महीने यहाँ परम पुण्य मयी द्वारकापुरी में रहता था। गिरगिट योनि मे मुझे कोई भी कष्ट प्रतीत नहीं होता था। आपके चरणों का चिन्तन करता रहता था। मैं ब्राह्मणों का भक्त था आपका सेवक था और दान धर्म में निरत रहता था, इन्हीं सब पुण्यो के प्रभाव से मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई। पुण्य क्षेत्रों का वास मिला और समस्त दान, धर्म पुण्य और शुभ कर्मों का एक मात्र फल यह मिल गया, कि आपके देव दुर्लभ दर्शन मुझे प्राप्त हुए। यदि पुण्य लोको में जाकर सुख भोग करता रहता, तो वहाँ वे ही अप्सरायें मिलती स्वर्गीय भोग प्राप्त होते। संसार सागर से सदा के लिये पार पहुंचाने वाले आपके पाद पद्मों का दर्शन तो मुझे प्राप्त न होता। उन दिव्य भोगों से तो यह कृकलास योनि करोड़ों गुनी उत्तम निकली जिससे संसार पाश को छेदने वाले आपके चरण मुझे मिल गये।

भगवान् ने खेद प्रकट करते हुए कहा—"राजन्! इतने धर्मात्मा होने पर भी आपको ये इतने कष्ट सहन करने पड़े। निन्दित गिरगिट की योनि में रहना पड़ा।"

महाराज नृग ने कहा—"योनियाँ तो सभी एक सी हैं सभी में आहार, निद्रा तथा मैथुनका सुख मिलता है। वास्तव में विपत्ति तो यही है, कि आपके चरणों की स्मृति न रहे और सुख यही है कि आपका चिन्तन बना रहे। आपकी कृपासे आजतक मेरी पूर्व-

स्मृति नष्ट नहीं हुई है। आप परात्मा हैं। विषयी जन आपको कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। जिनका चित्त विशुद्ध बन गया है वे योगी-जन ही अपनी उपनिषद रूप दिव्य दृष्टि से आपको प्राप्त कर सकते है। वे ही निरन्तर हृदय कमलके मध्यमें आपके तेजो

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१. भागवती कथा—(१०८ खण्डों में), ६९ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० २.०० पै० डाकव्यय पृथक।
२. श्री भागवत चरित–लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ७.००
३. सटीक भागवत चरित—बारह बारह सौ पृष्ठ के सजिल्द दोनों खण्डो का मूल्य १७.००
४. बदरीनाथ दर्शन–बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू०५.००
५. महात्मा कर्ण–शिक्षाप्रद रोचक जीवन पृ० स० ३५६मू० ३.५०
६. मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २.५०
७. कृष्ण चरित—मू० ३.५०
८. मुक्तिनाथ द र्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० ३.००
९. गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.५०
१०. श्रीचैतन्य चरितावली–पाँचखण्डों में। प्रथम खड कामू.१.५०
११. नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ०.६५.
१२. श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाकी(नाटक)मू०.६५
१३. भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३५
१४. शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.४०
१५. मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखदसंस्मरण पृ० सं० १३० मू० ०.३०
१६. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन)मू० ०.४०
१७. प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.१५
१८. राघवेन्दु चरित—मू० ०.४०
१९. भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३५
२०. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पयछन्दोंमे)मू०.२५
२१. आलवन्दार स्तोत्र—छप्पयछन्दों सहित मू० ०.२५
२२. प्रभुपूजा पद्धति मू० ०.२५
२३. वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२
२४. गोपीगीत—अमूल्य।

श्रीभागवत—दर्शन

भागवती कथा

(उनचासवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला "भागवती कथा" ॥

लेखक :—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-०० रुपये

द्वितीय संस्करण] वैशाख, सम्वत् २०२४ वि० [मूल्य १) ६५

मुद्रक—संकीर्तन प्रेस, वृन्दावन

विषय—सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	भगवद्अनुग्रहकी अनुभूति (भूमिका)	३ से १४
११२७	—भगवान् का ब्रह्मस्वके सम्बन्धमें उपदेश ...	१
११२८	—व्रजमें बलदेवजी	१३
११२९	—बलदेवजीकी व्रजमें पुनः क्रीड़ा ...	२४
११३०	—मिथ्यावासुदेवकी कथा ...	६२
११३१	—काशिराजकी कृत्याका कुपरिणाम ...	४२
११३२	—बलदेवजी द्वारा द्विविदका वध ...	४९
११३३	—लक्ष्मणा हरण के समय साम्ब का बन्धन ...	५९
११३४	—कौरव और संकर्षण	७०
११३५	—श्री संकर्षण द्वारा हस्तिनापुर कर्षण ...	७९
११३६	—नारदजीकी भगवान्की गृहचर्या सम्बन्धी उत्सुकता	८६
११३७	—श्री नारदजी द्वारा भगवत-गृहचर्या दर्शन ...	१०४
११३८	—भगवत्कृपासे नारदजीकी उत्सुकता शान्त...	११४
११३९	—भगवान्की दिनचर्या ...	१२०
११४०	—जरासन्धके बन्दी राजाओंका सन्देश ...	१३०
११४१	—उद्धवजी की शुभ सम्मति ...	१४२
११४२	—भगवान्का इन्द्रप्रस्थके लिये प्रस्थान ...	१४९
११४३	—पांडवो द्वारा श्यामसुन्दरका स्वागत सत्कार...	१५६
११४४	—राजसूय यज्ञका प्रस्ताव ...	१६६
११४५	—भीमार्जुन सहित भगवान्का मगधमें प्रवेश ...	१७५
११४६	—जरासन्ध और भीमसेनका द्वंदयुद्ध ...	१९२
११४७	—जरासन्ध वध	२००
११४८	—बन्दी राजाओंको भगवान्के दर्शन ...	२०५
११४९	—बन्दी राजाओंकी विदाई तथा धर्मराजका हर्ष...	२१३

भगवद्अनुग्रह का अनुभूति

(भूमिका)

इत्याहृतोक्तः परमस्य पुंसः
प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तम्,
मुञ्चञ्छुचः प्राञ्जलिरावभाषे ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० ४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

हवन, शयन, प्रतिचरन चलन, स्वर, ताल गान महँ ।
खान, पान, इसनान ध्यान अरु दान मान महँ ॥
नभ, शशि रवि, ग्रह, स्वरग, नरक, पाताल, भूमि जल ।
छिन छिन अनुभव करैं अनुग्रह हरिको सब थल ॥
ते ई भक्त अनन्य हैं, हिय हरि बसि सब अघ हरैं ।
तिनिकी सार सम्हार सब, निज करतें यदुवर करैं ॥

यह संपूर्ण ससार करुणावरुणालय भगवान् वासुदेवकी क्रीड़ा भूमि है। वे सजल घनश्याम प्रतिक्षण जीवोंके ऊपर

---

* श्रीउद्धवजी विदुरजीसे कह रहे हैं—"विदुरजी ! मैं उन परमपुरुष प्रभुकी अनुग्रहका प्रतिक्षण भाजन बना रहा । जब भगवान् ने अंत समयमें भी मुझसे कहा कि मैं तुझे भागवतज्ञान दूँगा, तो इनके इतने आदरपूर्वक

अनुग्रह कृपाकी वृष्टि करते रहते हैं। विश्वमें कोई भी ऐसा कार्य नहीं होता अशुभ तथा अशोभन। वे रसरूप रासेश्वर अरसिकता का तो कोई कार्य करते नहीं। क्योंकि भगवती श्रुति कहती है "रसो वै सः" निश्चय करके वह रसिक शेखर रासेश्वर ही रस है। जैसे शीत के कारण शहदका पिण्ड बन जाता है वैसे ही वह रासविहारी घनीभूत रस है। उसका हास विलास तथा जो भी कार्य होगा सब रसीला ही होगा। किन्तु जैसे नेत्रों में पांडुरोग होनेसे सभी वस्तुएँ पीली न होने पर भी पीली पीली दृष्टिगोचर होती हैं, वैसे ही जिनके अन्तःकरण पर अज्ञान का आवरण छा गया है, वे इस सरस सुन्दर जगत्को रसहीन नीरस और दुःखालय बताते हैं, वे कहते हैं "सर्वं दुखमयं जगत्" यह सम्पूर्ण जगत् दुःखमय है। जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त दुःख ही दुःख है। वे इस जगत के क्रीड़ाप्रिय रसिक शेखर को भूलकर जड़प्रकृतिको ही सब कुछ समझते हैं जड़ता ही अज्ञान है। यही दुःखकी जनना है। किसी अमोघ औषधि से जड़ता मिट जाय, पीलिया रोग निवृत्ति हो जाय, तो फिर सभी वस्तुएँ यथार्थरूप में दिखायी देने लगें।

वचनों को सुनकर मेरा सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो उठा, मेरी वाणी गद्गद हो गयी तथा नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी, तब मैंने अञ्जलि बाँधकर उनसे निवेदन किया।"

हम जो दुखी होते हैं, रोते हैं व्याकुल होते हैं वह अविश्वास के कारण। यदि हमें विश्वास हो जाय कि शिव का कोई कार्य अशिव नहीं हो सकता। भगवान् के प्रत्येक विधान में मङ्गल सन्निहित है, उनकी प्रत्येक चेष्ठा में आनन्दका स्रोत प्रवाहित होता रहता है, हम प्रतिक्षण उनकी अनुग्रह का अनुभव कर सकें तो हमारा जीवन रसमय बन जाय, उसमें से सरसता की अजस्रधारा फूट निकले। जो लोग भगवद्अनुग्रह के भाजन बन जाते हैं, वे किसी भी परिस्थिति में विचलित नही होते।

जो समस्त कार्य प्रभु प्रीत्यर्थ ही करते हैं, जिनका अपना कोई निजका कार्य रह ही नही गया है, वे चिन्ता क्यों करें उनकी समस्त चिन्ता का भार तो भगवान् ने ले रखा है, ऐसे अनन्यभक्तों को जब कोई चिन्ता हो जाती है, तो उसे पूरा करने भगवान् को स्वयं सशरीर आना पड़ता है। प्राचीनकाल के तो ऐसे अगणित उदाहरण भक्तमाल आदि ग्रन्थ ऐसे ही उदाहरणों से भरे पड़े हैं। अमुक भक्त प्रहरी कथा में आत्मविभोर हो गये, तब भगवान् ने स्वयं प्रहरी का रूप रखकर उनका पहरा दिया। अमुक नाई ध्यान मग्न थे, भगवान् ने नाई का रूप रख कर राजाकी सेवा की, अमुक भक्तिमती महिला भगवान् के दर्शनों को गयी, भगवान् ने उनका रूप रख कर चक्की चलायी, पति की समस्त सेवायें की, अमुक के घर में साधु सेवा की सामग्री नही थी भगवान्

छद्मवेष से उनके घर आकर समस्त सामग्री दे गये। इस धर्मप्रधान देशमें ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं। अभी लग भग दो सौ वर्ष पूर्व सहजराम नामक एक भगवद्भक्त महात्मा हो गये हैं, उन्होंने श्री तुलसीकृत रामायणके सदृश एक "रघुवंशदीपक" नामक बृहद् काव्य लिखा है, वह भी दोहा चौपाइयों में है। अभी कुछ ही दिन हुए वह काव्य प्रकाशित हुआ है। उनके जीवन की एक घटना बताते हैं कि वे श्री अयोध्याजी में परचूनी की दुकान करते थे। उसी समय वहाँ महात्मा रामप्रसादजी नाम के एक नामी सन्त रहते थे। उनकी साधुसेवा में बड़ी निष्ठा थी, जो भी साधुसन्त आते सबकी श्रद्धा से सेवा करते, इससे उनकी बड़ी ख्याति हो गयी। उनके अखाड़े में बड़ी उदारता से साधुसेवा होती रहती ऐसे अनन्याश्रयी संत रुपये पैसे का हिसाब तो रखते नहीं। उनको तो साधु सेवा हो जाय इतना ही प्रयोजन रहता है। रुपये आगये तब तो भेज दिये न रुपये आये तो चिन्ता नहीं। लक्ष्मीपति भगवान् के यहाँ किसी वस्तु की कमी तो है नहीं वे सहजरामजीकी दुकान से सामान मँगाते साधुसेवा करते। दुकानवाले का कितना रुपया हो गया है इसका उन्हें पता ही नहीं था। एक बार सहजरामजी के ५००) हो गये। उन दिनों ५००) बहुत होते थे। सहजरामजी ने संदेश भेजा—"महाराज! जब तक मेरा पिछला हिसाब न होगा, आगे को मैं सामग्री न दूँगा। मेरा पिछला हिसाब होना अत्यावश्यक है।"

महात्माजीने इधर ध्यान ही नही दिया रामजीकी जो इच्छा होगी वही होगा। संयोगकी बात उसी समय २०० साधुओं की एक मंडली आगयी। महात्माजी ने अपने स्वभावानुसार सबका स्वागत सत्कार किया ठहरनेको स्थान दिया और एक शिष्यसे कहा—"सहजराम की दुकान से २०० सन्तों के लिये सीधा सामान ले आओ।"

गुरुकी आज्ञा पाकर शिष्य सहजरामजी की दुकान पर गया और उसने कहा—"सहजरामजी! महाराजजी की आज्ञा है २०० सन्तोका सीधा सामान अभी दो। सन्त आ गये है उनके महाप्रसाद का प्रबन्ध करना है।"

सहजरामजा ने कहा—"मैने तो श्रीमहाराजसे पहिले ही निवेदन कर दिया था। मुझमें इतनी सामर्थ्य नही है, कि अधिक उधार दे सकूँ, जब तक मेरा पिछला हिसाब न होगा, मैं कुछभी न दे सकूँगा।"

शिष्य लौट गया और उसने सहजरामजी का संदेश ज्यों का त्यों जाकर गुरु महाराजको सुना दिया। सन्त इसे सुनकर तनिक भी विचलित न हुए। उन्होंने कहा—"जैसी रघुनाथजी की इच्छा। उन्ही के रूप सन्त हैं वे चाहें जैसे प्रबन्ध करेंगे।" यह कह कर वे सरयू स्नान के लिये चले गये। स्नान करके वे ध्यान में मग्न हो गये। वे ध्यान में निश्चिन्त हो गये किन्तु रघुनाथजी को तो चिन्ता हो गयी। जो मेरा अनन्याश्रयी है उसका काम न हो यह कैसे हो सकता है। भगवान्

ने महात्मा रामप्रसाद जी महाराज का वेष बनाया और सहजराम जी से जाकर कहा—"सहजराम ! सामान क्यों नहीं दिया ? "

यह आज अनहोनी बात थी, महाराज जी तो कभी दुकान पर आते नहीं। सहसा महात्मा जी को सम्मुख देख कर सहजराम जी ने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर बोले—"भगवन् ! मैंने पहिले ही प्रार्थना कर दी थी मेरी सामर्थ्य इतनी नही है। पिछला हिसाब हो जाय मैं देने को उद्यत हूँ। "

सन्त रूप में भगवन्त बोले—"तुम्हारा पिछला कितना हिसाब है ?"

सहजराम जी ने सरल स्वभाव से कहा—"पाँच सौ-रुपया।" तुरन्त पाँच सौ रुपये निकाल कर उन सन्त भगवन्त ने दिये और कहा—"पिछला लेखा जोखा पूरा करलो और ये २००) और भी लेलो। तुरन्त सामग्री भेज दो। "

सहजराम जी ने तुरन्त वही निकाली और कहा—"भगवन् ! इस पर हस्ताक्षर कर दीजिये।"

सन्त बने भगवन्त इस पर आना कानी करने लगे सहजराम जी ने जब आग्रह किया तो उन्होंने हस्ताक्षर कर दिये और कहा—"सामग्री तुरन्त भिजवा दो। "

सहजराम जी ने कहा—"भगवन् ! मेरे यहाँ आदमी नहीं है आप शिष्यों को भेज दें।"

"अच्छी बात है" कह कर वे सन्त-भगवन्त तुरन्त वहाँ से चल दिये। बड़ी देर तक सहजरामजी प्रतीक्षा करते रहे जब बहुत देर में भी कोई नहीं आया, तो वे दुकान बन्द करके स्वयं ही अखाड़े में गये। उसी समय महाराज पूजा से निवृत्त होकर बाहर आये। सहजरामजी ने जाकर कहा—"भगवन्। आपने सामान लाने किसी को भेजा नही।"

हँसते हुए संतजी ने कहा—"अरे, भाई! भेजे कैसे तुमने तो कह दिया जब तक हमारा पिछला हिसाब न होगा तब तक हम कुछ भी न देंगे।"

सहजरामजी ने दीनता से कहा—"प्रभो! मेरा छोटा सा काम है, इसीलिये ऐसा कह दिया। अब तो आप सब दे ही आये।"

चौंक कर सन्त ने पूछा—"कौन दे आया मैंने तो किसी के हाथ भेजा नहीं।"

सहजरामजी ने कहा—"अभी तो आप स्वयं देकर आ रहे है।"

सन्त ने कहा—"अरे, तू पागल हुआ है क्या? मैं तो अभी कही गया भी नही। पूजा करके अभी उठा हूँ।"

दृढ़ता के स्वर में सहजरामजी ने कहा—"नहीं भगवन्! आप अभी मेरी दुकान पर पधारे हैं, ५००) आपने पिछले दिये हैं, २००) और आगे के लिये दिये है अभा आप कह कर आये है, मैं शिष्य को भेजूंगा। देर होने से ही मैं आया हूँ।"

सन्त ने कहा-"अरे, तैंने स्वप्न तो नही देखा।" सहजरामजी ने बात पर बल देते हुए कहा—"स्वप्न नहीं महाराज जाग्रत में प्रत्यक्ष में अभी आपने रुपये देकर मेरी बही पर हस्ताक्षर किये है।"

सन्त ने कहा—"अच्छा, लाओ अपनी वही।"

सन्त की आज्ञा पाकर सहजराम अपनी वही उठा लाये। उसमें ५००) और २००) जमा देखकर और अपने ही हस्ताक्षर देखकर सत हृदय पिघल उठा वे विह्वल हो गये उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे और बोले—"सहज राम! भजन हम करते हैं, उसका फल तुम पाते हो तुम बड़े भाग्यशाली हो जो तुम्हें भगवान् के दर्शन हुए।"

अब तो सहजरामजी की भी आखें खुलीं और वे श्री १०८ महात्मा रामप्रसादजी के शरणापन्न हुए उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्वयं लिखा है—

अवधपुरी आरम्भ मैं, रामकोट पर कीन्ह।
रामप्रसाद प्रसाद तैं, सतगुरु आयसु दीन्ह॥

सारांश यह है, कि हम भगवान् पर जब ही अविश्वास करने लगते है, तभी दुःख पाते हैं। वस्तुओं में दुःख सुख थोड़े ही है। बहुत से भौतिकवादी कहते हैं, कि समाज में वस्तुओं का वितरण साम्यवाद के नियमानुसार हो तो समाज में इतना असन्तोष न बढ़े। मेरा कहना है कि वस्तुओं के वितरण से कुछ भी लाभ न होगा, इससे असन्तोष और बढ़ेगा तथा चरित्र बल तथा समाज का नैतिक स्तर और भी गिर जायगा। जितने साम्यवाद के समर्थक राष्ट्र हैं उनमें साम्राज्य वृद्धि की लिप्सा कितनी तीव्र है, उसके लिये वे उचित अनुचित सभी उपायों को करने को उद्यत रहते है।

सुख होता है मन के सन्तोष से और सन्तोष ईश्वर प्रणिधान से भगवत् विश्वास से आज समाज में द्रव्य का आदर है। द्रव्यवान कैसा भी अन्यायी अधर्मी हो समाज में उसका आदर होगा। पहिले चरित्रवान् का सदाचरण में तत्पर व्यक्ति का आदर होता था, चाहे वह भिक्षुक ही क्यों न हो। इसी से इस देश में धार्मिकता इतनी बढ़ी चढी थी। ज्ञानी ब्राह्मण के सम्मुख भगवद् विश्वासी भक्त के सम्मुख बड़े बड़े सम्राट थर थर कांपते थे। उनसे सदा भयभीत रहते थे, उन्हीं के भय के कारण वे प्रजा के साथ कोई अन्याय नहीं कर सकते थे।

जीवन का चरमलक्ष्य भगवान् की कृपा का अनुभव करना ही है, जो जितना ही बड़ा भगवत् विश्वासी होगा वह उतना ही बड़ा सुखी होगा। जिसने प्रत्येक घटना में भगवान् की अनुकम्पा का अनुभव करना सीख लिया है, उसके सम्मुख शोक, मोह, चिन्ता, भय, अविश्वास तथा दुख आदि फटक ही कैसे सकते हैं।

अभी दो चार वर्ष पूर्व ही एक बड़े भगवत् निष्ठ सन्त थे उनका नाम था पंडित बाला प्रसाद जी मिश्र। उन्हें भगवान् की अनुभूति होती थी और ध्यान में भगवान् उनके प्रश्नों का उत्तर भी देते थे। एक बार उन्होंने बताया कि मैंने भगवान् से पूछा—"महाराज ! आपको अर्जुन अधिक प्रिय है या हम लोग।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन ने तो मेरे रूप को समझा ही नही। जब मैंने उसे विश्वरूप दिखाया तब उसने कहा—

"मैंने सखा मानकर आपको श्रीकृष्ण ! यादव तथा मित्र कहा। मैं आपकी महिमा नही जानता था इसीलिये मैंने प्रमाद तथा प्रणय से ऐसा कहा।" जो मेरी महिमा ही नहीं जानता वह मेरे अनुग्रह का अनुभव ही कैसे करेगा। आप तो अनुक्षण मेरी अनुकम्पा का अनुभव करते हो। एक ठण्डा पुरवा पानी मिल जाय उसी में मेरी कृपा समझते हो उसे मेरा प्रसादी पादोदक मानकर प्रेम से पान करते हो, एक रसगुल्ला मिल गया उसी को खाकर सी-सी करते हुए मेरी अनुग्रह की सराहना करते हो, तुम तो क्षण-क्षण पल-पल पर प्रत्येक घटना पर मुझे नहीं भुलाते तुम्हारी बराबरी अर्जुन कैसे कर सकता है।"

अपने जीवन में एक बार नहीं अनेक बार भगवद् कृपा के अनुभव हुए हैं। नित्य ही होते रहते हैं, उसी के सहारे तो समस्त व्यापार चल रहा है, फिर भी हम मोहवश, काम क्रोध के आवेश में उनको भूल जाते हैं, और चिन्ता तथा अविश्वास करने लगते है। क्षण-क्षण लव-लव उनकी अनुकम्पा की अनुभूति नही होती। मुझ में विद्या, बुद्धि, बल, सदाचार, भजन, उपासना किसी का भी बल नहीं। जो भी कुछ है एक मात्र भगवद् कृपा की ही अनुभूति है मैं तो वही हूँ जो एक रोटी के टुकड़ा के लिये इधर से उधर भटकता फिरता था, मुझे अपनी पूर्व परिस्थिति विस्मृत नही है। तुलसीदासजी ने लिखा है—

इक दिन तुलसी ये हते, माँगे मिलै न चून।
कृपा भई रघुनाथ की, सुचई दोनों जन॥

उन्होंने तो भगवत्कृपा का प्रतिक्षण अनुभव भी किया था मुझे तो वह भी नहीं है, फिर भी उनकी असीम अनुकम्पा है। ये संसारी व्यापार किसी के न तो आज तक समाप्त हुए न होंगे। यदि संसार में कुछ सार है, तो यही कि प्रतिक्षण अच्युत अनुग्रह भाजन बन जायें। इसी बात को लक्ष्य करके ब्रह्माजी ने कहा है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग् वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते-
जीवेत यो मुक्ति पदे स दायभाक्॥

"हे प्रभो! जो पुरुष प्रतिक्षण आपकी कृपा की प्रतीक्षा करता रहता है, उत्सुकता के साथ कहता रहता है "आपकी असीम अनुग्रह कब होगी कब आप मुझे अपनावेंगे।" ऐसा कहते कहते प्रारब्धवश जो भी दुख सुख आ जाता है उसे आपकी देन समझकर भोगता रहता है तथा मन से वाणी से और शरीर से आपको निरन्तर नमस्कार करता हुआ कालक्षेप करता रहता है, वह आपके मुक्तिपद का उसी प्रकार उत्तराधिकारी होता है जैसे पिता के धन का सत्पुत्र अधिकारी होता है।"

"हे माधव! हमारा ऐसा जीवन कब होगा? कब दुख और सुख में समान भाव से तुम्हारी ही अनुग्रह का अनुक्षण अनुभव करते हुए हमारे दिवस व्यतीत होंगे। कब तुम्हें ही हम अपना माता, पिता, सखा, सुहृद, स्वामी और सर्वस्व समझेंगे। कब तुम्हारी ही स्मृति में प्रत्येक क्षण व्यतीत होगा?

कब हमारी ऐसी स्थिति होगी ? हे अशरण शरण कब हम तुम्हें अपना समझेंगे ? कब जगत् की और इन विषयी पुरुषों की आशा सर्वथा छोड़कर निश्चिन्त होंगे ? दयासागर ! ऐसे जीवन का दान दो ? अपनी कृपा की दृष्टि वृष्टि के अनुभव की योग्यता प्रदान करो। इधर से उधर तुम्हारी प्रतीक्षा में ही घूम रहा हूँ, कभी बद्रीनाथ जाता हूँ,कभी पुनः पुण्यतोया गङ्गा यमुना के पुनीत सङ्गम प्रयाग में आता हूँ, कब मेरा आवागमन मिटाओगे ? कब मेरे मन में स्थिरता स्थापित करोगे। पुनः जा रहा हूँ, तुम्हारे गन्धमादन की गन्ध लेने तुम्हारी अनुकम्पा की आशा से। जो वस्तु है निरन्तर झर-झर रही है उसी के लिये भटकता हूँ, मेरा अज्ञान तो देखो वह तभी मिटेगा जब तुम अपनाओगे ?

छप्पय

कब अच्युत अखिलेश अनुग्रह अनुभव करिकें।
कब विषयनितें विरत बनूं विषयिनि संग तजिकें॥
कब मन मोहन रूप तुम्हारो नित्य निहारूँ।
कब परमेश्वर प्रनत पाल प्रति पलहिं पुकारूँ ?
कब सब भव भय तें विरत, बनि तुमरे ही पद गहूँ ?
कब प्रपंच की ओट तजि, हौं तव अनुकम्पा लहूँ ?

नौकामें–गङ्गामें
वैशाख–कृ० १२। २००६

तुम्हारी अनुकम्पा का इच्छुक
"प्रभुदत्त"

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँटकर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं सैकड़ों भागवतचरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६)५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्यौछावर ८) दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती हैं
सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरिः ॥

श्री ब्रह्मचारी जी द्वारा लिखित नई पुस्तकें

१—सार्थ छप्पय गीता

श्रीमद् भगवत् गीता के ७०० श्लोकों की ७०० छप्पय बनायी है। श्लोक तो दो पंक्ति का होता है और छप्पय ६ पंक्ति की। इसलिये छप्पय में श्लोक का पूरा भाष्य ही आ गया है। यह इसी क्रम से छापी जा रही है, जैसे यह आलवन्दार स्तोत्र। एक पृष्ठ पर तो मूल श्लोक और नीचे हिन्दी अर्थ, सामने के पृष्ठ पर उसकी छप्पय। इस प्रकार इसमे मूल श्लोक, हिन्दी अर्थ और व्रज भाषा की छप्पय छन्द तीनों बाते रहेंगी। बानगी पिछले पृष्ठ पर देखिये। सचित्र सजिल्द पुस्तक का मूल्य लगभग ५)।

छप्पय शत्रक त्रय

श्री राजर्षि भर्तृहरि के नीति शतक, शृङ्गार शतक और वैराग्य शतक तीनों शतकों को छप्पय छन्दों में आबद्ध किया है। भर्तृहरि जी का यह सुप्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। इन तीनों ही शतको में सभी शास्त्रों का सार आ गया है। पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

१— संकीर्तन भवन, वंशीवट, वृन्दावन (मथुरा)
२— संकीर्तन भवन, झूसी, (प्रयाग)
३— भागवत प्रेस, ८५२, मुट्ठीगंज, प्रयाग
४— संकीर्तन भवन, बसन्त गाँव, मोतीबाग नं० १ क्रैन्ट १० नई देहली
५— भागवती कथा प्रचार कार्यालय, १३ गोपाल घोस लैन सलकिया हावड़ा
६— सेठ सूरजरतनजी मेहता, ५२ रामकृष्ण लैन बाजार, कलकत्ता—३
७— भागवती कथा प्रचारक संघ १६।९९५८ देहली सराय रोहिल्ला नई देहली ५
८— सेठ जगत नारायण, भागवत कथा प्रचारक संघ, मऊ छीवो (जि० बाँदा)
९— परमानंद पांडेय भागवती कथा प्रचार कार्यालय, मीठापुर, पटना
१०— श्री अशोक मुनिजी, संकीर्तन भवन, लालपुर (जि० कानपुर)

नोट—हमारे यहाँ की प्रकाशित पुस्तकों की सूची भूमिका के १६ वें पृष्ठ पर देखें।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१ भागवती कथा (१०८खंडों में) ६९ खंड छप चुके है। प्रति खंड का मूल्य १ ६५ पै. ७५ पै. डाक-व्यय पृथक् ७० वाँ (प्रेस में)
२ श्रीभागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की सजिल्द मू. ६.५०
३ बदरीनाथ दर्शन—बदरी-यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू. ५)
४ महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन,पृ सं. ३५६, मू.३.२५
५ मतवारी मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू. २)५०
६ नाम संकीर्तन-महिमा-भगवन्नाम का युक्तियुक्तपूर्ण मू. ७५ पै
७ श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन झाँकी (नाटक) मू. ७५ पै.
८ भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सं. १०० मू. ३१ पै.
९ शोक शांति-शोक की शाति करनेवाला रोचक पत्र मू. ३१ पै.
१० मेरे महामना मालवीय-उनके सुखद संस्मरण,पृ. १३० मू ३१
११ भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दू हिन्दू बन सकते है ? इसका शास्त्रीय विवेचन पृष्ठ ७५ मूल्य ३१ पैसे
१२ प्रयाग माहात्म्य मूल्य २० पैसे
१३ वृन्दावन माहात्म्य मूल्य १२ पैसे
१४ राघवेन्दु चरित-भागवतचरित से ही पृथक् छापा गया है ४०
१५ प्रभुपूजापद्धति—पूजा करने की सरल शास्त्रीय विधि २५ पैसे
१६ श्रीचैतन्य चरितावली—५ खंडो मे प्रथम खंड का मू० १)६०
१७ भागवत चरित की बानगी— मूल्य ३१ पैसे
१८ गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र (छप्पय छंदों में) २० पैसे
१९ गोपी गीत—(मूल तथा हिन्दी पद्य सहित) अमूल्य।
२० श्रीकृष्ण-चरित-भागवतचरित सेही पृथक् छापा गया है२)५०
२१ रासपञ्चाध्यायी—रास के पांच अध्याय पृष्ठ ५४ अमूल्य
२२ गोपालन-शिक्षा—गौ कैसे पाली जाय मूल्य २)७५
२३ मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० ३)
२४ आलवन्दार स्तोत्र—(छप्पय सहित) मूल्य ४० पैसे

भगवान् का ब्रह्मस्व के सम्बन्ध में उपदेश

(११२७)

स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः ।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६४ अ० ३९ श्लोक)

छप्पय

मर्‌यो तुरत यम सदन गयो यम पूछ्‌यो हँसि तब ।
पाप पुन्य महँ प्रथम आप भोगिङ्गे का अब ?
प्रथम पाप हौ कह्यो, मिल्यो गिरगिट तनु तबहीं ।
प्रभुपद परसत नस्यो पाप जग बन्धन अबहीं ॥
यों कहि हरि अनुमति लई, दिव्यलोक कूँ नृग गये ।
तब हरि ने यदुवरनि कूँ, सदुपदेश सुखकर दये ॥

समस्त लौकिक पारलौकिक कर्तव्य वेद में है । वेद भगवान् के स्वरूप हैं । उन वेदों को जो धारण करते हैं वे ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। ऐसे वेदज्ञ ब्राह्मणों का जो अपमान करता है,उन्हें क्लेश पहुँचाता है उसकी अधोगति अनिवार्य है । ब्राह्मण सभी वर्णों में मुख्य होने से अवध्य बताया गया है । वह विराट् भगवान् के मुख से उत्पन्न होने के कारण 'मुख्य' कहा गया है । ऐसे वेद को धारण करने वाले द्विज का अनजान मे भी जो अपमान करता

* भगवान् अपने कुमारों को उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"जो अपनी दी हुई अथवा किसी अन्य की दी हुई ब्राह्मण की वृत्ति का अपहरण करता है, वह साठ सहस्र वर्ष तक विष्ठा का कीड़ा होता है ।"

है उसकी भी दुर्गति होती है, फिर जानबूझ कर जो करते हैं, उन के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या ?

सूत जी कहते है— 'मुनियो ! भगवान् से आज्ञा लेकर जब महाराज नृग स्वर्ग को चले गये, तब ब्रह्मण्यदेव भगवान् वासुदेव वहाँ कुतूहल वश आये हुए अपने पुत्रो, परिजनों तथा अन्यान्य जनों को उपदेश देते हुए बोले—"देखो कैसे आश्चर्य की बात है. कहते हैं पारा पचता नहीं,किन्तु उसे भी वैद्य युक्ति से शुद्ध करके पचाने योग्य बना लेते हैं। विज्ञ पुरुषों का कहना है सर्प के सर्वाङ्ग में विष नही होता। उसके फण मे ही होता है। फण को छोड़कर उसके शरीर के मांस को तो लोग खा लेते है, किन्तु उसके फण में जो विष की थैली है उसे खाने से कोई जीवित नहीं रह सकता, किन्तु उसे युक्तियो द्वारा निकाल कर उसकी गुटिका बना कर लोग खाकर पचा जाते है। कुचला,संखिया, भीठा तथा अन्यान्य भी अनेक प्रकार के ऐसे विष हैं जिन्हें सूँघते ही प्राणी मर जाते हैं, उन्हे चाहें मनुष्य पचाले, किन्तु ब्राह्मण के धन को खाकर कोई पचा नहीं सकता। साधारण लोगों की बात तो पृथक् रही अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष भी ब्रह्मस्व को पचाने मे असमर्थ रहे हैं। इसी लिये शास्त्रकार बार बार कहते हैं हलाहल विष को ही विष नही कहते। उस विष का तो प्रतीकार भी किया जा सकता है,वास्तविक विष तो ब्रह्मस्व ही है संसार में इसका शमन करने वाला अन्य कोई पदार्थ नही है। कहीं अग्नि लग जाय तो वह यथेष्ट जल से शान्त हो सकती है। विष यदि किसी ने खा भी लिया, तो वह खाने वाला ही मरेगा, किन्तु यह ब्रह्मस्व ऐसा विष है कि इसके खाने से सम्पूर्ण कुल ही समूल नष्ट हो जाता है।

इस पर एक कुमार ने पूछा—"महाराज ! ब्राह्मण का धन है, और हमने उससे पूछ कर उसका उपभोग किया। तो

उससे भी कुछ अपराध लगता है क्या ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, यदि ब्राह्मण प्रसन्नता पूर्वक अन्तरात्मा से देता है। तो उसे प्रसाद समझ कर अवश्य ग्रहण कर ले। समस्त राजागण ऋषियों के आश्रमों में जाते,ऋषिगण उन्हें अर्घ्य देते, कन्द, मूल, फल, नीवार अथवा और भी जो वे स्वयं खाते है, उन सब वस्तुओं को राजा को, अतिथि को भेंट करते है। उनका उपयोग सब करते ही हैं। भरत जी प्रयागराज में भरद्वाज जी के आश्रम पर आये। मुनि ने भरतजी की समस्त सेना के सहित उनका स्वागत सत्कार किया। भरत जी ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। महाराज सहस्रवाहु अर्जुन जमदग्नि जी के आश्रम पर गये, महर्षि ने उनके समस्त सैनिक और साथियों के सहित उनका स्वागत सत्कार किया, भोजन कराया। यह सब उनकी इच्छा से हुआ। किन्तु पीछे काम धेनु को देखकर राजा के मन में लोभ उत्पन्न हो गया। उन्होंने मुनि से उस गौ की याचना की। मुनि ने कहा—"राजन् ! यह तो मेरे काम की वस्तु है, इसी से तो मुझे समस्त यज्ञोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।"इस पर जब राजा ने बहुत आग्रह किया तो मुनि ने कह दिया—"आप राजा हैं आपको मैं रोक नहीं सकता। आप बलपूर्वक ले जायँगे तो मेरा क्या वश। गौ जाय तो ले जाइये।"

इस प्रकार जमदग्नि मुनि ने राजा से ले जाने को कह तो दिया, किन्तु इसमें उनकी पूरी सम्मति नहीं थी। उन पर दवाव डालकर बल पूर्वक विवश करके कहलाया गया था। इस प्रकार यदि ब्राह्मण का धन उसकी पूरी पूरी सम्मति के बिना भोगा जाय,तो वह तीन पीढ़ियों को अधोगति में डालता है। यदि बल पूर्वक ब्राह्मणों को मार कर हठ से उनके धन का उपभोग किया जाय, तो उसका प्रभाव तीस पीढियों तक जाता है। दस पिछली और बीस आगे की। राजा लोग अपने ऐश्वर्य के मद में इन बातों का

विचार नहीं करते। वे ब्राह्मणों का सर्वस्व छीन लेते हैं उनका नाश हो जाता है और अन्त में नरक को जाते है। देखो, महाराज कृतवीर्य के वंशजो की ब्राह्मणों का धन छीनने से कैसे दुर्गति हुई।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ये राजा कृतवीर्य कौन थे और इन्होने ब्राह्मणों का धन क्यों छीना था?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! ये कृतवीर्य आपके वंशज भृगुवंशी ब्राह्मणों के यजमान थे। वे बड़े धर्मात्मा तथा सोमयाजी भूपति थे। उन्होंने बड़ा भारी सोमयज्ञ किया। जिसमें उनने भृगुवंशी ब्राह्मणों को बहुत सा धन धान्य दान दक्षिणा में दिया। कुछ काल के अनन्तर राजा स्वर्गगामी हुए। उनके वंशज राजा कुछ लोभी हुए। एक बार उन्हें धन की आवश्यकता हुई। वे लोग यह बात जानते थे, कि इन भृगुवंशी ब्राह्मणों के पास बहुत सा धन है। अतः वे उनसे माँगने गये। बहुत से ब्राह्मणों ने तो अपना धन उन्हें प्रसन्नता से दे दिया। बहुतों ने यह समझ कर कि ये दुष्ट राजा न जाने क्या अनर्थ करें अपने धन को चुपके चुपके अन्य ब्राह्मणों को बांट दिया। दो चार ने अपना धन भूमि में गाड़ दिया। क्षत्रिय जितना धन चाहते थे, उतना उन्हे नहीं मिला। किसी भेदिये ने बता दिया—ब्राह्मणों के घर में बहुत सा धन गड़ा है। इस पर उन राजाओं ने एक ब्राह्मण के घर को खुदवाया उसमें विपुल धन निकला। अब तो वे क्रोध में भर गये और सभी भृगुवंशी ब्राह्मणों का वध करने लगे। उनकी हिंसा वृत्ति इतनी जागृत हो गयी, कि ब्राह्मणों को तो वे मारते ही थे, साथ ही ब्राह्मणों की गर्भवती स्त्रियों के गर्भस्थ बालकों का भी वध करने लगे। एक ब्राह्मणी ने पहाड़ों में जाकर अपने गर्भस्थ बच्चे की रक्षा की। उसे ऊरु में बहुत वर्षों तक छिपाये रही। द्वेष वश किसी दूसरी ब्राह्मणी ने यह बात उन क्षत्रियों से कह दी। उन्होने

आकर उस गर्भिणी ब्राह्मणी को घेरा और उसके गर्भ को नष्ट करने का उद्योग करने लगे। इतने में ही वह बालक गर्भ से निकल कर तुरन्त उत्पन्न हो गया। उसके दिव्य तेज के सम्मुख सभी क्षत्रिय अंधे हो गये। वे पर्वतों में इधर उधर भटकने और गिरने पड़ने लगे। अब उनकी बुद्धि ठिकाने आई। उन्होंने अत्यंत विनीत भाव से उस ब्राह्मणी की स्तुति की। ब्राह्मणी ने कहा—"बेटाओ! मैंने तुम्हें अन्धा नहीं बनाया है। यह जो सद्यः जात बालक है, इसी के तेज से तुम सब अन्धे हो गये हो। जब तुमने भृगुवंश के बीज को ही नष्ट करने का सकल्प किया, तो सौ वर्षों तक मैं इस गर्भ को धारण किये रही। गर्भ में ही इस बालक ने वेद वेदाङ्गों का अध्ययन किया है। तुम सब इस बालक की ही स्तुति करो।"

यह सुनकर क्षत्रियों ने उस बालक की स्तुति की। कैसा भी सही,था तो वह ब्राह्मण बालक ही, उसने उन सब पर कृपा की। उनकी दृष्टि पूर्ववत् हो गयी। वे सब मुनि पुत्र को प्रणाम करके अपने अपने घर चले गये।

ऊरु से उत्पन्न होने के कारण इन ऋषि कुमार का नाम और्व हुआ। ये क्षत्रियों से बदला लेने के लिये घोर तप करने लगे। इनके तप से तीनों लोक जलने लगे। क्षत्रियों के अपराध से समस्त लोकों पर विपत्ति आई, तब इनके पितरों ने स्वर्ग से आकर और्व मुनि को समझाया, कि हमे क्षत्रिय क्या मार सकते थे। हम तो अपनी बड़ी आयु से ऊब गये थे। इसीलिये धन को छिपाकर हमने जान बूझकर क्षत्रियों को कुपित किया। क्योंकि आत्महत्या हम कर नही सकते थे। आत्महत्या करना महापाप है, इसलिए क्षत्रियों के बाणों से मर कर हम स्वर्ग में सुख से हैं। तुम क्रोध को छोड़ दो और लोकों को नष्ट करने का विचार छोड़ दो।"

तब पितरों के कहने से विप्रर्षि और्व ने अपने क्रोध का परित्याग किया। फिर भी ब्राह्मणों का बलपूर्वक धन अपहरण करने से तथा ब्राह्मणों की हत्या करने से उन कृतवीर्य के वंशजों की दुर्गति तो हुई ही। उन्हें इस लोक में और परलोक में दुःख तो सहने ही पड़े।"

सूतजी कह रहे है-"मुनियो! यह मैंने प्रसंग वश और्व मुनि के कोप की बात कही। भगवान् अपने बन्धु बान्धव और कुमारों से कह रहे हैं-"देखो भाई ब्राह्मण का धनतप ही है। वह तपस्या करने को ही शरीर की रक्षा करता है। उसी के लिए कुछ धन धान्य एकत्रित करते है। ऐसे उदार और कुटुम्बी ब्राह्मणों के धन को जो छीनता है अथवा उसके निर्वाह के निमित्त बँधी हुई वृत्ति का जो अपहरण करता है, वह कुम्भीपाकादि नरको में जाकर घोर यातनाओं को सहता है। दुःखित ब्राह्मण के रोने पर उसके उष्ण अश्रुओं से जितने रजकण भीगते है उतने ही वर्षों तक उस दुःख देने वाले तथा उसके वंशजों को नरक की यातनायें भोगनी पड़ती है। जो अपनी दी हुई या अपने वंशजों की दी हुई अथवा अन्य किसी की दी हुई ब्राह्मण की वृत्ति को हरण करता है, वह बहुत वर्षों तक विष्ठा का कीड़ा होता है। लोभवश जो लोग ब्राह्मणों की वृत्ति का अपहरण करते हैं वे अल्पायु होते है, उनकी श्री नष्ट हो जाती है। वे राज्यभ्रष्ट हो जाते है तथा इस लोक में और परलोक में नाना यातनाओं को भोगते है।

भगवान् कह रहे है—"सो देखो, भैया! तुम लोग इस बात को गाँठ बाँध लो। इसे सदा स्मरण रखो कि ब्राह्मण एक बार अपराध भी करे तो भी उससे द्वेष मत करना। वह चाहे मारे, ताड़े गाली दे या और खरी खोटी बातें सुनावे तो भी तुम कभी उससे कटु वचन मत कहना। उसे नमस्कार ही करते रहना। तुम प्रत्यक्ष मुझे ही देखो। मैं जब कही भी जाता हूँ, ब्राह्मणों को

नमस्कार करके जाता हूँ। सदा उनका स्वागत सत्कार और सम्मान करता हूँ, इसी प्रकार तुम सब भी किया करो। इससे तुम्हारे यश की, बल की, श्री की तथा आयु की वृद्धि होगी। दूर कहाँ जाते हो, तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष ही उदाहरण है, देखो इन राजा नृग ने भूल से—अनजान में—ब्राह्मण की गौ दान कर दी थी, इसी के परिणाम स्वरूप इन महायशस्वी परमदानी राजा को गिरगिट योनि प्राप्त हुई।"

सूत जी कहते है—"मुनियो ! यह सुनकर सभी लोगों ने भगवान् की बात का अनुमोदन किया, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया। तब सम्पूर्ण लोको को पावन बनाने वाले प्रभु अपने बन्धुबान्धवों को साथ लेकर द्वारकापुरी में आये और वहाँ सुख पूर्वक महलो में रह कर राज काज करने लगे।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! हमें इस नृगोपाख्यान के विषयमें कई शङ्कायें रह गयी हैं। उनका आप समाधान करें। प्रथम तो हमें यह है,कि राजा नृगने कोई जान बूझकर तो ब्राह्मण की गौ दान किया नही था। भूल में-अनजान में सेवकों के प्रमाद से उनसे यह अपराध बन गया। उस छोटे से अपराध के पीछे उन्हें इतनी दुर्गति क्यों सहनी पड़ी ? (२) दूसरी यह कि अधिक पुण्य करने से पाप क्षय हो जाते है और अधिक पाप करने से पुण्य क्षय हो जाते हैं। जब राजा के इतने अनन्त पुण्य थे, तो यह छोटा सा अनजान का अपराध क्षय क्यों नही हुआ। (३) तीसरी यह कि वे दोनों ब्राह्मण थे या राक्षस थे, जब राजा अपनी भूल को स्वीकार करता है, एक गौ के उपलक्ष्य में लाख गौ देने को उद्यत है तो उन्होने राजा पर दया क्यों नही की ? उनके उद्धार का कोई उपाय बताते। पत्नी का दान करते हैं, तो उसे मूल्य देकर लौटा नहीं लेते ? ऐसे ही वह ब्राह्मण लौटा देता, राजा उसकी गौ उसे दे देते। चौथी यह कि

यह जो ब्राह्मणों की इतनी प्रशंसा भगवान् ने की वह वेदज्ञ तपस्वी शान्त दान्त ब्राह्मण के लिए तो उचित ही है, जो केवल नाम के ब्राह्मण हैं निरक्षर लोभी और चरित्र हीन हैं, उनके साथ भी ऐसा व्यवहार किया जाय तब तो समाज में अराजकता फैल जाय, कृपा करके आप हमारी इन शंकाओं का संक्षेप में उत्तर दें।"

यह सुनकर सूतजी बोले–"महाराज ! मैं यथामति यथाशक्ति आपकी शङ्काओं का समाधान करता हूँ। पहिली बात तो यह कि पाप चाहें जानमे किया जाय या अज्ञानमें उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। अग्नि को आप जान में छुएँ या अनजान में उससे अङ्ग जल ही जायेंगे। पाप दो प्रकार के होते हैं शुष्क और आर्द्र। जो जानकर किये जाते है वे आर्द्र होते है, उनका फल बहुत दिनों तक भोगना पड़ता है, जो अनजान में हो जाते हैं, वे शुष्क होते है फल तो उनका भी भोगना पड़ता है, किन्तु उसमें कष्ट नही होता। इसीलिए राजा को कृकलासयोनि में भी कोई कष्ट नहीं हुआ। पूर्व जन्म की स्मृति बनी रही, गंगाजी और द्वारकापुरी का वास मिला। ऐसा पुण्य क्षेत्र का वास पापियों को कैसे प्राप्त हो सकता है। यदि अधमयोनि पाकर फिर पाप कर्मों में प्रवृत्ति होती है, तो पाप बढते हैं। राजा के पाप तो बढे नही उन्हें महान् पुण्य की प्राप्ति हुई इसलिये राजा के शुष्क पाप का परिणाम अन्त में सुखप्रद ही हुआ।

रही अधिक पुण्य से पाप क्षय होने की बात। सो यह बात सत्य है, कोई अधिक पाप करता है, तो उसके पुण्य क्षय हो जाते हैं और इसी प्रकार पुण्य से पाप भी, किन्तु अंत समय के पुण्य पाप क्षय नही होते। "अन्ते या मति सा गतिः।" अन्त में जैसी मति होती है वैसी गति प्राप्त होती है। अन्त में मनुष्य जिस का चिन्तन करते करते मरता है वही योनि उसे मिलती है। जैसे

जड़ भरत जी मृग का चिन्तन करते करते मरे इसलिए उन्हे मृग की योनि प्राप्त हुई। महाराज नृग उन ब्राह्मणों के झगड़े के अनन्तर दान पुण्य करते तो उनका यह अनजान में किया हुआ पाप नष्ट हो जाता। किन्तु वे तो उस वाद विवाद के अनन्तर ही तुरन्त मर गये। जिस समय वे उन दोनों ब्राह्मणों के अभियोग को सुन रहे थे उस समय गौ वाला ब्राह्मण जो कहता उसकी बात पर भी महाराज सिर हिला देते और कह देते आपका कथन सत्य है। दूसरा दान लेने वाला कहता तो उस पर भी सिर हिला देते। इस पर उस याज्ञिक ब्राह्मण ने कुपित होकर कहा-"राजन्! आप दोनो ओरसे गिरगिट का सा सिर हिला देते है कोई निर्णय नही देते।" इससे राजा को बड़ा दुःख हुआ, ब्राह्मण मुझे गिरगिट बताता है। हाँ गिरगिट ऐसे ही सिर हिलाता है।" बस, प्रारब्ध वश उन्हें अन्त में गिरगिट का स्मरण बना रहा उनका यही अन्तिम कर्म था इसलिये वह नाश न हो सका और अन्त में गिरगिट का स्मरण बना रहने से उन्हें गिरगिट योनि प्राप्त हुई।

अब रही उन दोनो ब्राह्मणों के हठ की बात। सो ब्रह्मन्! इस विषय में आप शान्त चित्त से विचार करें। अब कलियुग में तो यज्ञयाग की प्रथा ही नष्ट प्रायः हो गयी है। जब पहिले लोगों की यज्ञ कर्म में आस्था थी तब अनेक प्रकार के क्लेश सह कर यज्ञ की विधि को साङ्गों पाङ्ग पूर्ण करते थे। यज्ञ में विधि की ही प्रधानता है। विधि हीन यज्ञ का कर्ता तुरन्त ही नष्ट हो जाता है। यज्ञ में यज्ञीयधेनु का नष्ट हो जाना या खो जाना यह बड़ा भारी दोष है। आपने खाण्डिक्य और ऋतध्वज के सम्वाद में सुना ही होगा। खाण्डिक्य कर्म कांड में निष्णात था। ऋतध्वज ज्ञानी था। उसने खाण्डिक्य का सर्वस्व छीन कर उसे पराजित करके राज्य से निकाल दिया। खाण्डिक्य वनों में रहकर जैसे-तैसे निर्वाह करने लगा। इधर ऋतध्वजने एक यज्ञ किया। उसमें

यज्ञीय धेनु नष्ट हो गयी। किसी सिंह ने उसे मार दिया। यज्ञ में यह बड़ा भारी विघ्न हुआ। राजा ने बहुत से ऋषियों से इसका प्रायश्चित पूछा। सबने "कहा हम नहीं जानते, हम नहीं जानते। 'यह बहुत गूढ़ विषय है। खाण्डिक्य के अतिरिक्त कोई नही जानता।" तब राजा अपने शत्रु खाण्डिक्य के समीप गये। खाण्डिक्य के मन्त्रियों ने राजा को मार डालने की सम्मति दी, किन्तु धर्मात्मा खाण्डिक्य ने ऐसा नहीं किया। प्रायश्चित्त बता दिया। प्रायश्चित्त करके राजा ने यज्ञ पूरा किया और फिर इस प्रायश्चित्त बताने के उपलक्ष्य में राजा ने खांडिक्य से मनमानो दक्षिणा माँगने को कहा। यहाँ इस कथा के कहने का सारांश इतना ही है कि यज्ञीय धेनु के खो जाने का पाप बहुत है। धेनु खो जाने से ब्राह्मण अत्यन्त क्षुभित हो रहा था, इस लिये अपनी धेनु लेने के लिये उसने ये बातें कहीं। अब जब उसे यह विदित हुआ कि राजा ने इसे सविधि दान कर दिया है तो उसे दुःख होना स्वाभाविक ही था। उस दूसरे ब्राह्मण ने जो हठ की वह आत्म प्रतिष्ठा के निमित्त की। दान की हुई अन्य वस्तुएँ तो मूल्य देकर क्रय की जा सकती हैं किन्तु दान की हुई गौ का बेचना निषिद्ध है। यह सब होने पर भी यदि ब्राह्मण धैर्य के साथ इस विषय पर विचार करते, तो उचित उपाय निकल आ सकता था, किन्तु भवितव्यता ऐसी ही थी। भावी वश दोनों ही उत्तेजित हो उठे। उनकी उत्तेजना यद्यपि सकारण थी, धर्मरक्षार्थ थी। तथापि वे दोनों ही ब्राह्मण के क्षमा धर्म को भूल गये अब इस में भाग्य के अतिरिक्त दोष किसे दिया जा सकता है।

अब ब्राह्मण की अत्यन्त प्रशंसा वाली बात का उत्तर यही है, कि ज्ञान ही संसार की स्थिति का कारण है। उस ज्ञान को जो ब्राह्मण धारण करते हैं उनको पूजा प्रतिष्ठा तो आवश्यक ही है।

जो जन्म से भी ब्राह्मण हैं और कर्म भी उनके ब्राह्मणों के है, वे तो सब प्रकार से पूजनीय है ही। उनसे यदि कोई अपराध बन भी जाय तो उसे क्षमा कर देना चाहिये। जो जन्म से तो ब्राह्मण हैं, किन्तु कर्म उनके अत्यन्त निंदित है,चोरी आदि करते हैं। उन्हें राजा को दण्ड देने का विधान है। उनका सर्वस्व अपहरण करके राजा उन्हें देश से निकाल सकता है। उनसे शूद्रों का सा कार्य भी ले सकता है। किन्तु जन्मना तो वह ब्राह्मण है ही। राजा तो दण्ड देने को विवश है, उसका धर्म है किन्तु अन्य लोगों को दण्ड नहीं देना चाहिए। महाराज ! वेदज्ञ ब्राह्मणों का भगवान् आदर न करें तो यह सम्पूर्ण लोक अज्ञानान्धकार में भटक कर नष्ट हो जाय।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! हमारी शंकाओं का समाधान हो गया। अब आप भगवान् के अन्य चरित्र सुनाइये। हाँ,यह तो बताइये। जो व्रजवासी भगवान् से इतना प्रेम करते थे, उनसे मिलने भगवान् कभी व्रज में गये या नही।"

सूतजी बोले—"महाराज ! गये अवश्य होंगे, द्वारका वासी नर नारी प्रायः कहा करते थे भगवान् हस्तिनापुर गये हैं, व्रज गये हैं, किन्तु मुझे उनके व्रज यात्रा के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं है। हाँ बलभद्रजी तो अवश्य एक बार व्रज गये थे।"

शौनक जी ने कहा—"तो सूतजी ! हमें बलभद्रजी की ही व्रज यात्रा के वृत्तान्त को सुनायें। बलराम जी भी तो भगवान् के अवतार है। दशावतारो में उनकी भी तो गणना है। उनके तो आपने विशेष चरित्र सुनाये ही नहीं। अब कुछ उनके ही मधुर चरित्र सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं बलभद्र जी के ही चरित्र को सुनाता हूँ। पहिले आप उनकी व्रजयात्रा के ही प्रसङ्ग को प्रेम पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

यादव ! कबहुँ न भूलि विप्र को धन तुम खाओ।
जो नहिं मानो सीख अवसि नरकनि महँ जाओ॥
अहिफन, पारो, भक्षि, हलाहल विषहुँ पचावें।
किन्तु न द्विज धन पचै खाय दुख अधिक उठावें॥

यों सबकूँ उपदेश करि, गये सबनि सँग श्याम पुर।
इत इच्छा व्रज गमन की, उपजी श्री बलदेव उर॥

व्रजमें बलदेवजी

(११२८)

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ।'*

(श्रीभा० १० स्क० ६५ अ० १ श्लो०)

छप्पय

रथ चढ़ि व्रज महँ गये सुनत व्रजवासी धाये ।
मिले ललकि जनु प्रान मृतक तन महँ पुनि आये ॥
सिर सूँघत पितु मातु और सब हिये लगावें ।
करि करि पिछली यादि नयन तें नीर बहावें ॥
प्रणय कोप युत सब सखी, व्यंग वचन पुनि पुनि कहें ।
कहो निगोड़े श्याम अब, रानिनि सँग सुखतें रहें ॥

सगे सम्बन्धी बन्धु बान्धवोंका स्नेहानुबन्ध त्यागना मुनियोंके लिये भी दुस्त्यज है। जिनके साथ बाल्यकालके सुखद दिवस बीते है जिनके साथ मधुर मधुर खेल खेले हैं, जिनके साथ घुल मिलकर रहे है, वे भाग्य वश बिछुड़ जायँ

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् बलदेवजी अपने सुहृद सम्बन्धियोंको देखने की उत्कण्ठासे रथ पर चढकर नन्दजी के गोकुल को गये ।"

तो बड़ा दुःख होता है। उनसे मिलने की उत्कण्ठा सदा बनी रहती है और उनसे मिलकर हृदय कितना प्रफुल्लित होता है, यह अवर्णनीय विषय है। चिरकाल के बिछुड़े बन्धु जब मिलजाते है, तो वे सभी पुरानी बाते चल चित्रों के सदृश हृदय पटल पर आती है और विलीन हो जाती है पुनः नई आजाती हैं। यह कौतूहल कब तक चलता रहता है, कुछ कहा नहीं जा सकता।

सूतजी कहते है-"मुनियो ! द्वारका में भगवान् को सब सुख थे। सोलहसहस्र एक सौ आठ सुन्दरी पतिपरायणा रानियाँ थीं। सुवर्ण के भवन थे, पारिजात के पादप थे। सुन्दर सुशिक्षित आज्ञाकारी दास दासी थे। अतुल ऐश्वर्य था,लाखों लड़के थे, फिर भी वे इन सबको व्रज के ऐश्वर्य के सम्मुख तुच्छ मानते थे।

जब कभी उन्हें ग्वाल बालों के संग गौओं को लेकर वन में जाना वहाँ नाना प्रकार के विहार करना, गोपियों का सहज अनुराग, लहरिया दार बालुका की रस मय वृन्दावन भूमि, सुन्दर हरा भरा गोवर्धन पर्वत, गौओं के रहने का व्रज, गोपों की भाँति भाँति की क्रीड़ायें, असुरों का आगमन, तथा गोपियों के साथ हास, विलास, रास और होरी आदिकी बातें याद आतीं तो उनके नयनों से निरन्तर नेहका नीर निकलता रहता, रानी उनके इस दुख का कारण न समझ सकती। उनके समझने की बात भी नही। वन्ध्या प्रसव की पीड़ा का अनुभव कैसे कर सकती है। कभी कभी भगवान् अपने बड़े भाई बलदेवजी से व्रज की बातें किया करते और करते करते विह्वल हो जाते। दोनों ही भुक्त भोगी थे। कभी कभी दोनों मिलकर सम्मति भी करते—"एक बार फिर व्रज में चलेंगे। फिर वहाँ का आनन्द लूटेंगे।"

जब इस प्रकार कहते कहते बहुत दिन व्यतीत हो गये, तो एक दिन बलदेवजी ने कहा—"कृष्ण भैया ! तू तो जन्म का झूठा है, तेरा पता नही तू कब वृन्दावन चलेगा। मेरी तो अपने

वृजवासी बन्धु बान्धवों से मिलने की उत्कट इच्छा हो रही है, मैं तो अकेले ही जाकर मिल आता हूँ। तुझे चलना हो तो चल।

भगवान्‌ने कुछ संकोच के साथ कहा–"दादा ! मुझे तो अभी कई आवश्यक कार्य हैं। अभी तो मैं न चल सकूँगा। अच्छी बात है, आप हो आवें सबसे मेरा यथा योग्य कहें माता पिता को प्रणाम कहें। मैं भी कभी अवकाश मिलने पर आऊँगा।"

हँसकर बलदेव जी ने कहा–"भैया ! तेरे काम तो कभी समाप्त होने के नहीं। तुझे तो अवकाश मिलने का नहीं ऐसे ही आज कल आज कल कर करके उनकी उत्कण्ठा को बढ़ाता रहेगा। अच्छी बात है, मैं तो जारहा हूँ।" यह कहकर बलदेवजी ने अपना तालके चिह्न से चिह्नित ध्वजा वाला सुवर्ण मण्डित रथ सजवाया और उसमें बैठकर वे व्रज के लिये चल दिये।"

इधर जबसे राम कृष्ण व्रज छोड़कर गये थे, तभी से समस्त व्रजवासी रात्रि दिन उन्हीं का स्मरण करते रहते। नित्य बाट जोहते रहते, कि संभव है राम श्याम अब आवें अब आवें।' एक दिन वे अति उत्कण्ठित होकर यमुनाजी की ओर देख रहे थे, राम कृष्ण की लीलाओं का गायन कर रहे थे. कि सहसा उन्हें सुवर्ण मंडित ताल की विशाल ध्वजा वाला रथ दिखाई दिया। सबके सब दौड़कर रथ की ओर गये। देखा उसमें एक कुण्डल पहिने बलदेवजी बैठे हुए है। उन्हें देखकर उन सबके हर्ष का ठिकाना नही रहा। बलदेवजी भी व्रजवासी गोपों को देखकर खिल उठे। वे सहसा रथ से कूद पड़े। उन्होंने सबका आलिङ्गन किया। छोटे गोपों ने उनके चरण छुए। कुछ गोप दौड़े दौड़े यशोदा मैया के समीप गये। राम कृष्ण की स्मृति में रोते रोते मैया की आँखों की ज्योति क्षीण होगयी थी। गोपों ने हाँपते हाँपते कहा—"मैया ! मैया ! बलदाऊ भैया आ रहे है।"

मैया को विश्वास नहीं हुआ। वह बोली—"अरे, छोरामों! क्यों तुम मुझे बहकाते हो। मेरे ऐसे भाग्य कहाँ जो मैं अपने राम श्याम का पुनः मुख देख सकूँ।"

गोपकुमारों ने कहा—"तेरी सूँ मैया! हम अभी देखकर आ रहे हैं।" इतने में ही खन खन करता हुआ रथ नन्द की पौरि पर आकर खड़ा हुआ। व्रजराज उठ कर रथ के समीप गये। बलदेवजीको देखकर उनके रोम रोम खिल उठे। बलदाऊजी ज्यों ही पैर छूने को आगे बढ़े कि नन्दबाबा ने कसकर छाती से चिपटा लिया और अपने प्रेमाश्रुओं से उनके बालोंको भिगो दिया। कुशल पूछते पूछते बलदेवजी का हाथ पकड़े ही पकड़े व्रजराज बलदेव जी को भीतर बगर में ले गये और पौरि पर से ही बोले—"महरि! ले यह तेरा बलराम आगया, जिसके लिये तू सदा रोती रहती थी।" इतना सुनना था, कि मैया उठकर खड़ी हुई किन्तु उसके पैर लड़खड़ाने लगे। वह गिरना ही चाहती थी, कि दौड़कर बलरामजी ने उसे पकड़ लिया और पैर छू कर कहा—"मैया! मैं आगया।"

माता ने रोते रोते बलदेवजी के सिरपर हाथ फेरा और बड़े प्यार से भरीई हुई वाणी में अश्रु विमोचन करते हुए कहा—"बलुआ! अच्छा आगया भैया, तू। भगवान् तुम्हारी बड़ी आयु करे। इसी प्रकार तुम दोनों भैया सदा हमारी रक्षा करते रहो। जगत् का पालन करते रहो। यह कह कर मैया ने छोटे बच्चे की भाँति उन्हें गोदी में बिठा लिया और बारम्बार हृदय से लगाकर प्रेमाश्रु से उन्हे भिगोने लगी। रोते रोते मैया ने पूछा—"कनुआ नही आया क्या?"

बलदेवजी ने कहा—"मैया! वह भी आवेगा। उसे अभी द्वारका में बहुत से काम हैं।"

मैया बोली—"अच्छा भैया! तू ही आगया! मैं तो तुम्हारे

बिना अधीर थी। तुम लोगोंने तो हमें भुला ही दिया। अच्छा है भैया, तुम जहाँ भी रहो सुखसे रहो।"

मया इस प्रकार बलदेवजीको प्यार कर रही थी इतनी ही देर में यह बात समस्त व्रजमण्डल में फैल गयी। जो जैसे ही सुनता तैसे ही दौड़ा आता। बड़े बूढ़े, बालक, युवक, नर नारी जो सुनते वे ही चल देते। इस प्रकार नन्दजी के आँगन में बड़ी भारी भीड लग गयी। बलदेवजी ने उठ कर बूढ़े बूढ़े गोपों को प्रणाम किया। उनकी अवस्था वालोने उन्हें हृदयसे लगाया और छोटोंने उनके चरण छुए। इस प्रकार आयुके अनुसार, मित्रताके अनुसार तथा सम्बन्धके अनुसार सभीने परस्परमें विधिवत् प्रणाम नमस्कार किये। बूढ़ी गोपियोंने आकर उनके शरीर पर हाथ फेरे। युवतियोंने अपने घूँघटकी ओटसे लजाते हुए बलदेवजीको देखा। लड़कियाँ उन्हें चारों ओरसे घेर कर खड़ी हो गयी और चाचा ताऊ कहकर उन्हे छूने लगीं। बलरामजीने सबका यथा योग्य सम्मान किया। समवयस्क ग्वालबालोंने हँसते हँसते हाथ मिलाया। कर स्पर्श करके एक दूसरेको अपनी ओर बल पूर्वक खींचने लगे। तब मैयाने कहा—'बलुआ! बहुत थक गया होगा। भैया! वस्त्र बदलले हाथ पैर धोले ये लोग तो सब बैठे ही हैं।"

मैयाके आग्रह पर बलदेवजी उठे, उन्होंने नमक पड़े हुए उष्ण जलसे पैरोंको धोया मुख हाथ धोकर कुल्ला किया और वस्त्र बदल कर मैया प्रसन्नताके लिये कुछ जल पान भी किया। इतनेमें ही बहुतसे श्रीकृष्णके अत्यन्त अन्तरङ्ग सखा आगये। उन सबके शरीर क्षीण हो रहे थे। उन्होंने कमल नयन श्रीकृष्ण के निमित्त समस्त सुखोपभोगोंका त्याग कर रखा था। उन्हें देखकर बलदाऊजी को बड़ी दया आयी। वे उनसे अत्यन्त ही स्नेह के साथ मिले। बलदेवजीको देख कर सभीके नेत्रोंमें जल भर आया।

और वे गद् गद् वाणीसे बोले—" बलदाऊजी ! कहो क्या हमारे समस्त सम्बन्धी यादव अच्छे तो है ?"

बलदेवजीने कहा—"हाँ भैया ! किसी प्रकार दिन काट रहे हैं, तुम सब तो कुशल पूर्वक हो न ?"

आह भरकर गोपोंने कहा—"अरे, भैया ! हमारी कुशलको तो अक्रूरजी यहाँसे ले गये। दिन तो हम काट रहे हैं। तुम सब लोग तो द्वारकामें राज कर रहे हो। अब तुम्हारे भैया राज कन्याओंसे विवाह हो गये हैं। बहुतसी बहुएँ आगयी है, बहुत बाल बच्चे हो गये हैं। अब तो तुम बाल बच्चे वाले बन गये हो। अब हमारी तुम्हें काहे को याद आती होगी ? "

संकोचके साथ बलदेवजीने कहा—"अरे भैयाओ ! तुम लोग ऐसी बातें क्यो करते हो भला, याद न आती तो इतनी दूरसे मैं दौड़ा दौड़ा कैसे आता। भला, कभी ब्रजको तथा आप ब्रजवासियोको भी हम भूल सकते है। हमारे रोम रोममें यहाँकी अनन्त स्मृतियाँ निहित है। क्या करें यहाँसे जाकर ऐसे झंझटों में फँस गये, कि इच्छा होने पर भी यहाँ तक न आ सके। एक तो उस दुष्ट कंसने हमारे परिवार वालोंको बड़ा दुःखी कर रखा था जैसे तैसे उसका अन्त हुआ, तो फिर उसका ससुर जरासंध हमारे पीछे पड़ गया। अन्तमे उसके कारण हमे मथुरा पुरी छोड़ ही देनी पड़ी। वहाँ भी बडे बड़े झझट, नित्य लड़ाई झगड़े मचे रहते है। कृष्ण तो उन्हीं सबके कारण अब तक भी नही आ सका ' मैं जैसे तैसे आँख मीच कर चला आया हूँ।"

गोपोंने कहा—"हाँ, भैया ! यह ससार ऐसा ही है। यहाँ गृहस्थाश्रम चिन्ताओं का घर है। इसमे नित्य नई चिन्तायें लगी रहती हैं। जब तक विवाह नहीं होता तब तक विवाह की चिन्ता होती है। विवाह कर लिया मानों चिन्ताओं का पहाड़ उठा कर सिर पर रखा। चलो यह अच्छा हुआ पापी कंस मारा

गया। उसके कारण यादव ही नहीं सभी दुखी रहते थे। हम सबको भी रात दिन उसीका भय बना रहता था। अब यादव गण उसके बन्धनसे मुक्त हो गये। रही जरासन्धकी बात, सो हमने सुना उसे भी आप लोगोंने कुण्डिनपुरमें जीत लिया मथुराका दुर्ग कुछ अधिक सुरक्षित नही था। शत्रु जब चाहते तभी उस पर चढ़ आते। अब यह बड़े आनन्दकी बात है, कि आप अपने शत्रुओंको जीत कर तथा विपक्षी असुरोंको मारकर द्वारकामे सुदृढ़ अभेद्य किला बना कर सुख पूर्वक निर्भय हो कर रहते हो।" इस प्रकारकी और भी बाते होती रहीं। अन्तमें स्त्रियो के झुण्डोंको बलरामजीसे बातें करनेको उत्सुक देख कर गोप लोग वहाँसे हट गये। तब बलरामजीने मन्द-मन्द मुस्कराते हुए उनको सम्मान भरी दृष्टिसे देख कर कहा—"कहो तुम सब अच्छी हो न? सब कुशल मङ्गल है न?"

गोपियोंने आँखोंमें आँसू भर कर कहा—"हमारी तो जैसी कुशल है, उसे हम ही जानती हैं। कहो आप सब तो अच्छे है न?"

बलरामजीने कहा—"हाँ, समयको धक्का दे रहे हैं।"

गोपियोंने व्यंगके स्वरमें कहा—"कैसे इधर भूल पड़े। कही हस्तिनापुर जारहे होगे, मार्ग भूलकर इधर चले आये होगे?"

बलदेवजी बोले—"अब तुम जो चाहो सो कहलो। हम भूले नहीं हैं आप सबकी स्मृति निरंतर बनी रहती थी। काम धन्धे इतने है कि मरने तक का भी समय नही। कृष्णकी बड़ी इच्छा थी, किन्तु इन्ही झन्झटोंसे वह भी न आ सका।"

गोपियोंने कहा—"हाँ, वहाँकी तो इन्हें चिन्ता होगी ही। अब तो सुना है सोलह सहस्र राजकन्याओंके साथ विवाह कर लिया है। एक ही बहूकी चिन्तासे सिरके बाल उड़जाते हैं फिर सोलह सहस्रोंकी चिन्ता करनी होती होगी उन्हें कैसे समय

मिल सकता है। अब उन्हें हम गाँवकी गँवारिने ग्वालिनियों की याद काहे को आती होगी, अब तो वे पुरस्त्रीजनवल्लभ बन गये हैं। अच्छा यह तो बताइये वे प्रसन्न तो हैं ?"

हँसते हुए बलदेवजी बोले—"हाँ, सब आप लोगों का आशीर्वाद है."

चौंक कर व्रजाङ्गनायें बोली—"हमारा क्या आशीर्वाद, श्रीकृष्णके लिये ? बलरामजी ! क्यों उलटी गङ्गा बहाते हो ? हम उनकी कौन होती हैं। वे तो पुरवासियोंके प्राणाधार हैं। अच्छा सच सच बताइये वेभी यहाँके अपने बन्धु बान्धवों और माता पिताका स्मरण करते है ?"

बलदेवजीने कहा—"भला यह भी कोई पूछनेकी बात है, अपने माता पिताको बन्धु बान्धवोंको कोई भूल सकता है ?"

गोपियोंने पूछा—"अच्छा, नहीं भूले हैं, क्या वे अपनी मैया यशोदाको देखने कभी एक बार भी व्रजमें आवेंगे ?"

बलरामजी ने कहा—"आनेको तो वह नित्य ही कहता रहता है। आज चलूँ, कल चलूँ ! उसीके पीछे मैं भी नहीं आसका। अब जब मैंने देखा उसका अभी चलना कठिन है, तो मैं अकेला ही चला आया, अवसर मिलने पर वह भी अवश्य आवेगा।"

गोपियोंने कहा—"अच्छा, बलरामजी ! यह तो बताइये, उन महाबाहु श्रीकृष्णको कभी हमारी की हुई सेवाओं की भी स्मृति आती है। कभी कथा प्रसङ्गमें हमारी भी चर्चा करते ?"

बलदेवजीने कहा—"अब उन बातोंको मैं अपने मुखसे क्या कहूँ। तुम्हारी वे कितनी यरद कातें हैं, उसे कहनेकी मुझमें क्षमता नहीं।"

इतना सुनते ही सबके नेत्रोंमेंसे टप टप बड़े बड़े आँसू गिरने लगे। रोते रोते आँसुओं और नाकके पानीको पोंछती

हुई वे भर्राई वाणीमें कहने लगीं—"बलदेवजी ! हमें श्रीकृष्णसे ऐसी आशा नहीं थी। देखिये, जिनके लिये हमने अपने माता,पिता, पति, पुत्र, भाई, बहिन, तथा अत्यन्त दुस्त्यज सगे सम्बन्धी और बन्धु बान्धवों को त्याग दिया था, वे ही श्रीकृष्ण हमें बटाऊ की भाँति छोड़ कर चले गये। नेह का नाता उन्हों ने भी नही निबाहा। तृण के समान सम्बन्ध तोड़ कर, वे हमसे मुख मोड़ कर सदाके लिये चले गये। इसी लिये कहा है परदेशीसे प्रीति करना मानों जान बूझ कर अपने सिर पर विपत्तियोंको लादना है। हमें स्वप्नमें भी आशा नही थी इतने प्रेम करने वाले कृष्ण हमें इस प्रकार ठुकरा देंगे। इतने ही अल्पकालमें हमें भूल जायँगे।"

हँस कर बलदेवजीने कहा—"इसमें कुछ तुम्हारा भी दोष हो सकता है। तुमसे जब वह इतना स्नेह करता था, तो तुम्हें उसे मथुरा जाने ही नहीं देना था। सब मिल कर रोक लेती।"

रोते रोते गोपियोने कहा—"बलदेवजी ! तुम कैसी बातें करते हो ? जानेवाला भी किसीसे रुका है। फिर सीदे सादे आदमीको कोई रोक भी ले, जिसकी नस नसमे कपट भरा है, उसे कोई कैसे रोक ले। जब वे यहाँ रहते थे, तो एकान्तमें कितनी मीठी मीठी प्रेम भरी बातें किया करते थे। बार बार कहा करते। तुम्हारी सब वस्तुएँ मधुर हैं। तुमसे बातें करते करते मेरा चित्त ही नही भरता। तुमने मेरी बड़ी सेवा की है, मैं तुम्हारी सेवाके ऋण से दब गया हूँ। तुम्हारे प्रेमका मैं किसी प्रकार बदला ही नही चुका सकता। ऐसी ऐसी कपट प्रेम मयी बातो का भला कौन स्त्री विश्वास करेगी ? हमतो कुछ जानती नही थी, इस लिये उनकी बातोंमें आ गयीं।"

इसपर एक दूसरी आँसू पोंछती हुई बोली—"बलदेवजी ! हम तो गाँवकी गँवारिनी थी। ये नगरकी स्त्रियाँ तो बड़ी चतुर

होती हैं वे इन अव्यवस्थित चित्त श्रीकृष्णकी बातों का विश्वास कैसे करती होंगी ? श्रीकृष्ण तो बड़े कृतघ्नी हैं न ? कोई चाहे इनके पीछे अपने प्राणोंको भी दे दे तो भी इनका हृदय नहीं पसीजता। दूसरोंको इस प्रकार भ्रममें डाले रहते हैं, कि न तो इनका अविश्वास ही होता है, न पूर्ण रीतिसे विश्वास ही होता है। हम सब तो उनके प्रत्येक बातका विश्वास करती रहीं, किन्तु उन्होंने हमारेसाथ विश्वासघात किया। नगरकी नवेलियोंको तो उनके झांसे में न आना चाहिये।"

इसपर एक दूसरी बोली—"अरी, वीर तुम जानती नहीं। ये कारे कृष्ण बडी बडी विचित्र बातें बनाना जानते हैं। उनकी मन्द मन्द मनोहर मुसकान और अनुराग भरी चितवन से हृदयमें हठात् प्रेम उद्दीप्त हो उठता है। उस प्रेमावेशमें आकुल होकर वे नारियां अपने आपको भूल जाती होंगी और उसी आवेशमें वे इनकी मीठी मीठी बातोंका अवश्य विश्वास कर लेती होंगी ?"

इसपर एक गोपीने झुंझला कर कहा—"होगी, बहिनजी। जिस मार्गमें चलना ही नहीं उसके पेड गिनने से लाभ ही क्या ? जब श्रीकृष्ण हमें छोड़ ही गये। वे हमें अपनी समझते ही नहीं तो व्यर्थमें उनकी चर्चा करनेसे लाभ ही क्या ? वे अपने घर हम अपने घर, छोड़ो उनकी बातों को अब कोई करो दूसरी बातें।" यदि हमारे बिना उनका समय बीत जाता है, तो हमारा भी किसी न किसी प्रकार समय बीत जायगा। हां अन्तर इतना ही है कि उनका समय सुखसे आमोद प्रमोद में बीतता होगा। हमारा दुःखमें रोते रोते बीत रहा है।"

इस पर एकने कहा—"सखि ! तुम कह तो सत्य ही रही हो यदि श्रीकृष्ण को हम भूल सकती, तब तो सब झंझट ही दूर हो जाते, हमें ये दुःखके दिन देखने ही न पड़ते। किन्तु उनकी

कथा तो दुस्त्यज है। वे किसी प्रकार भुलाये ही नहीं जाते जितना ही उन्हें भुलाना चाहती है, उतने ही वे और अधिक याद आते है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार बातें करते करते सभीको श्याम सुन्दरकी अधिक स्मृति हो आई। वे भगवान् की मधुर हँसी, प्रेम भरी बोली, मनोहर चितवन, ललित गति और प्रेम पूर्वक किये आलिङ्गनोंको स्मरण करती हुई ढाह मार कर रोने लगी। सब सुबकियाँ भरने लगी और मुख ढांक ढांक कर अश्रु विमोचन करने लगी। बलदेवजीने देखा यह तो रङ्गमें भङ्ग हो गयी। विरहका वेग अत्यधिक बढ़ गया, तब तो वे उन गोपियोंको अनेक प्रकारसे समझाने लगे। वे नाना प्रकारकी अनुनय विनय करनेमें कुशल थे। बातें बनाना वे भी जानते थे। अतः उन्होंने कहना आरम्भ किया—'अरे, तुम इतनी दुखित क्यों होती हो, श्रीकृष्णको तो तुम्हारे बिना द्वारकामें कुछ अच्छा ही नहीं लगता। वे सदा तुम्हारा ही स्मरण करते रहते है। वे शीघ्र आकर तुमसे मिलेंगे और तुम्हारे विरह जनित सन्तापको दूर करेंगे।' इस प्रकार अनेक मीठी मीठी बातें कह कर बलदेवजी ने उन सबको शान्त किया। अब बलदेवजी ने जैसे अपने यूथकी गोपियों के साथ रात्रिमे क्रीड़ायें की उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।'

छप्पय

जिन हित हम पितु, मातु, स्वजन, परिजन सब त्यागे।
तृन समान ते तोरि नेह हमकूँ तजि भागे॥
कपट प्रेमको जाल रच्यो हम मृगी फँसाईं।
कैसे तिनिको तहाँ करति विश्वास लुगाईं॥
प्रेम कोप महँ भरि कहति, सबहिं श्याम रङ्ग महँ रँगी।
हरि चितवनि बोलनि चलनि, सुमिरि सुमिरि रोवन लगीं॥

बलदेवजी की व्रज में पुनः क्रीड़ा

(११२९)

द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च।
रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ६५ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

समुझाई बलदेव करीं क्रीड़ा तिनि सँग महँ।
मधु माधव द्वै-मास सबनि वै विहरें वनमहँ॥
कालिन्दी इक दिवस करन जल केलि बुलाईं।
किन्तु समुझि उरमत्त न तिनिके ढिगसो आईं॥
संकरषन अति कोप करि, हल तें खेंची तानिकें।
डरीं तुरत चरननि परीं, आईं लोहो मादि के॥

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् बलभद्र जी व्रज में चैत्र और वैशाख दो महीने रह गये। उन रात्रियों में वे गोपियों के प्रेम को बढ़ाते थे।"

जिन स्थानों में अपने प्यारे के साथ सुन्दर सरस क्रीड़ायें की हैं, उन स्थानोंको देखकर हृदय में एक प्रकार की हूक सी उठती है। उस स्थान को देखकर वे सब स्मृतियाँ नई हो जाती है, वे सब बातें स्मरण हो उठती हैं। यहाँ उन्होंने मुझे हार पहिनाया। यहां से पुष्प चयन किये थे। यहां बैठकर ऐसी घुलघुलकर बतें हुईं थी। संयोगवश अपने बिछुड़े प्रेमी फिर कभी भाग्य से मिल जायँ और फिर वे ही सरस क्रीड़ायें देखने, सुनने और अनुभव करने को मिल जायँ, तब तो कहना ही क्या। वियोग जनित समस्त संताप दूर होकर एक नूतन स्फूर्ति का संचार हृदय मे होने लगता है और पूर्वकी अपेक्षा सहस्रों गुण सुख इसमें मिलता है। यह ज्ञान भी बना ही रहता है, एक दिन इसका भी अन्त होना है, फिर रोना है फिर तड़फना। फिर प्यारे की स्मृति में सदा अश्रु विमोचन करना है। संयोग वियोग का यह चक्र सदा चलता ही रहता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! बलदेवजी के आने से फिर व्रज-मण्डल में सरसता की लहर छा गयी। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की गोपियों का यूथ पृथक् था और बलदेवजी की गोपियों यूथ पृथक्। भगवान् के यूथ वाली गोपियों को तो [illegible] हुआ चलो श्यामसुन्दर के सब समाचार मिल [illegible]। बलदेवजी के आने से नित्य उनके सम्बन्धकी चर्चा होगी। वे [illegible] सन्देश श्यामसुन्दर से कहेंगे। बलदेवजी के [illegible] स्मरण और चिन्तन और भी अधिक होगा, किन्तु [illegible]

के यूथ वाली गोपियों को तो उनके साथ क्रीड़ा करने का भी सुअवसर प्राप्त होता था।

बलदेवजी वसन्त ऋतु के दो मास—चैत्र और वैशाख—वहां व्रज में सुख पूर्वक रहे। वे उन वासन्ती निशाओं में व्रजाङ्गनाओं के साथ विहार करते हुए उनके आनन्दको निरन्तर बढ़ाते

रहते थे। व्रजवनिताओं से वेष्टित बलरामजी विविध वनों में, कुमुदकुसुमकी गन्ध से सुवासित यमुना पुलिनों में तथा नीलनीर वहाँ नगनन्दिनी कालिन्दी के तटकी निभृत निकुञ्जोंमें निरन्तर आमोद प्रमोद करके सभी को सुख देते थे।

बलभद्रजी को कुसुमों के मधुका वृक्षों के रसों का पानकरने का व्यसन था। अतः वरुणने अपनी बेटी वारुणी को वृन्दावनके विशदवनों में बहने के लिये तथा बलभद्रजी की सेवा के निमित्त भेजा। वह भी पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके द्रवरूप से ताड़ आदि वृक्षों की कोटर से बहने लगी। भगवान् संकर्षण को जब पिपासा देवी आकर चंचल करती तो वरुणपुत्री उसे तुरन्त शान्त कर देती। इससे उन्हें बड़ा सुख मिलता उस दिव्य वारुणी देवी की सुन्दर सुवास से वह विहारवन सुवासित हो रहा था। अपनी प्रियाओं के सहित उस परम प्रिय पेयको पान करके प्रभुबलदेवजी परम प्रमुदित हुए। उसकी स्फूर्ति से स्फूर्तिमान होकर श्यामाग्रज संकर्षणजी के नयन अरुणवर्ण के हो गये। कण्ठ में वनमाला धारण किये, तथा एक ही कान में कलित कुण्डल धारण किये वे मदोन्मत्त की भाँति सुखपूर्वक विहार करने लगे। जानुपर्यन्त लम्बायमान वैजयन्ती माला से वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लताओंको मसलता हुआ उनके रंगविरंगे पुष्पोंसे सुशोभित बड़ी बड़ी डालियों को कण्ठमें धारणकिये गौर वर्णका गजराज अपनी हथिनियोंके साथ वनमें घूम रहा हो। उनका मनोहर मुखारविन्द स्वेदरूपतुषारकणों से विभूषित हो रहा था। वे सब व्रजवनितायें बलदेवजी के विरुदावली का गान कर रहीं थीं। उनके कमनीय कण्ठसे निकले अपने सुयश गान को सुनते हुए वे वनों में विचरण करने लगे।

चैत्र का अन्त था, वनमें विचरते विचरते तथा कमनीय क्रीड़ायें करते करते बलदेवजी को स्नान करने की तथा व्रज-वनिताओं के साथ जलकेलि करने की इच्छा हुई। वहाँ से यमुना जी कुछ दूर पड़ती थी। उन्होंने वहीं बैठे बैठे पुकारा—"यमुने! आओ, आओ! यहाँ अपना सुन्दर सुखद स्वच्छ शीतल सलिल बहाओ। हम सबका श्रम संताप मिटाओ। अपना मनोहर मधुर पयपान कराओ। कालिन्दी आओ आओ। देर मत लगाओ।"

यमुनाजी ने बलदेवजी के वचन सुने वह हँस पड़ी और मन ही मन कहने लगी–"बलदेवजी तो मदोन्मत्त हो रहे है। बताओ ऐसे मे सबके बुलाने पर उनके पास जाऊँगी तब तो मेरी मर्यादा ही नष्ट हो जायगी। मेरा मार्ग ही अनिश्चित हो जायगा। मैं अपनी इच्छानुसार बहती हूँ। जिसे नहाना हो, जलपान करना हो, मेरे समीप आजाय।" यही सब सोचकर यमुना जी बलदेवजी के बार-बार बुलाने पर भी नही आई तब तो उन्हे बड़ा क्रोध आया। वे यमुनाजी को डाँटते हुए बोले–" अरी पापिन ! तू बड़ी अभिमानिनी हो गयी है। इन्द्रादिक देवता तो सदा मेरी आज्ञामे हाथ जोड़े खड़े रहते है और तू नदी होकर मेरे बुलाने पर भी नही आती ? मेरे वचनों की अवज्ञा कर रही है। मुझे मत्त समझकर मेरी अवहेलना करके मेरे समीप नही आ रही है। अच्छी बात है मैं अपनी हल की नोंक से खींच कर तेरे सैकड़ों टुकड़े किये देता हूँ। तब तुझे मेरा प्रभाव जान पड़ेगा।" यह कहकर भगवान् हलधरने अपना हल सम्हाल ही तो लिया। ज्यों यमुनाजी की धारामें हल की नोंक लगाकर उसे अपनी ओर खीचना चाहा त्योंही यमुनाजी तुरन्त दिव्य रूप रखकर भयभीत और चकित होकर संकर्षण भगवान् के चरणो में आकर गिर गईं और अत्यन्त ही विनीत भावसे उनकी स्तुति करने लगी।—"हे देवाधिदेव ! हे बलरामजी ! हे जगत् पति मुझसे बड़ी भूल हो गयी। मैं आपके पराक्रमको पहिचान न सकी, आप तो हे देव ! सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र स्वामी है। यह सम्पूर्ण भूमण्डल आपके सहस्र फणों मे से एक फणपर सरसोंके सदृश रखा हुआ है। मैं मोहवश आपके वास्तविक स्वरूप भूल गयी थी। हे भगवन् ! मोह तथा अज्ञानवश मुझसे भूल हुई, उसे आप क्षमा करें। अब मैं समझ गयी। आप सर्व समर्थ हैं। अब मेरे ऊपर कृपा कीजिये। मुझे छोड़ दीजिये।

शरणागत की रक्षा तो सज्जन सदा से करते ही आये है। मैंने अब एक मात्र आपके ही चरणों की शरण ली है।"

सूत जी कहते है—"मुनियो ! जब बलदेवजी के चरणों में पड़ कर यमुना जी बहुत गिड़गिड़ायी, तब कृपा करके उन्होंने उनको क्षमा दान दिया। फिर अपनी प्रियाओं के साथ हाथी जैसे सरोवर में क्रीड़ा करता है उसी प्रकार व्रजाङ्गनाओं के साथ उन्होंने जल क्रीड़ाकी गोपियोंने चारों ओर से जल उलीच उलीचकर उन्हें विवश सा बना दिया। उन्होंने भी सबको छींटे डाल डालकर सन्तुष्ट किया। जब जलक्रीड़ा हो चुकी, तब सब जल से बाहर हुए। उसी समय तुरन्त लक्ष्मीजी वहाँ प्रकट हुई उन्होंने नील वर्ण के दिव्य दो रेशमी वस्त्र, महामूल्यवान् मणि-मय आभूषण तथा सुन्दर सुगन्धित दिव्य केशर कस्तूरी युक्त चंदन उनको अर्पित किया। वस्त्राभूषण पहिन कर तथा सर्वाङ्ग में चन्दन लगाकर बलदेवजी की शोभा कोटि कन्दर्पों के सदृश हो गयी। वे मत्त गजराज के सदृश सुशोभित हो रहे थे। इस प्रकार वे नित्य नूतन प्रकार की क्रीड़ायें करके समस्त व्रजवासियो को आनन्दित करने लगे।

मुनियो ! जहाँ बलरामजी ने यमुनाजी को खींचा था, वह स्थान अब तक रामघाटके नाम से चीरघाट के समीप प्रसिद्ध है। अब तक उसे देखने से प्रतीत होता है यमुना जी यहाँ अपने मार्ग को छोड़कर टेढ़ी बही हैं। बलरामजी के हल की नोक से खोदे हुए मार्ग से बहती हुई यमुना जी मानो अद्यावधि बलरामजी के अनन्त पराक्रमकी सूचना देरही है। इस प्रकार व्रजाङ्गनाओं के माधूर्य से आकृष्ट चित्त हुए बलदेवजी को वहाँ उनके साथ क्रीड़ा करते करते वे वसंत की सुहावनी रात्रियाँ क्षण के समान बीत गयीं। वहाँ रहकर फिर उन्होंने सरसता की धारा बहा दी।

सूतजी बोले—"महाराज ? इधर बलदेवजी तो ब्रजमें विराजे हुए ब्रजाङ्गनाओं केसाथ विहार कर रहे थे, उधर द्वारका में भगवान् की एक राजा से लड़ाई हो गई। उससे लड़ने उन्हें काशी के समीप आना पड़ा।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ? उस राजा से भगवान् की लडाई किस कारण हुई ?"

सूतजी बोले—"महाराज ? नाम के पीछे लड़ाई हुई।"

शौनकजीने कहा—"सूतजी ! पद प्रतिष्ठा के लिये भूमिके लिये, धन के लिये तथा स्त्री के लिये तो हमने लड़ाइयाँ सुनी हैं, किन्तु नाम के पीछे लड़ाई कैसे हुई। एक नाम के बहुत से लोग होते हैं। कृपा करके हमें इस कथा को सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"अजी महाराज तुम इन टेढ़े टाँग वालो की बात कुछ पूछो मत। जिनसे ये लड़ना चाहते हैं, कोई न कोई कारण निकाल हीलेते हैं। जैसे नदी केनीचे एक बकरा का बच्चा जल पी रहा था।इतने में ही सिंह आया। और बोला—"तू मेरे पानी को जूठा क्यों कर रहा है ?"उसने कहा—महाराज ! आप ऊपर पी रहे है,मैं नीचे पी रहा हूँ, जूठा कहाँ हुआ ?" तब सिंह बोला—"अच्छा तुमने उस दिन मुझे गाली क्यों दी? "

बकरी के बच्चे ने कहा—"कब की बात है महाराज ?"

सिंह ने कहा—"हो गयी साढ़े छै महीने की बात ?"

बकरी के बच्चे ने कहा—"तब तो ! महाराज मैं दो दिन का भी न हुँगा।"

सिंह ने कहा—"तू न होगा तेरी माँ होगी।"

बकरी के बच्चे ने कहा—"मेरी माँ तो मुझे पैदा करते ही मर गई थी, वह कैसे हो सकती है ?"

सिंह बोला—"तेरी नानी होगी,ताई होगी, चाची होगी?"

बकरी के बच्चे ने कहा—"अजी महाराज ! आपको मारना हो, तो वैसे ही मारकर खा लीजिये ऐसे जूठे अपराध क्यों लगाते हैं? "सो महाराज ! जब किसी राजा रूप में उत्पन्न हुए असुर को भगवान् मारना चाहते हैं, तो उसपर ऐसे ही कुछ आरोप लगा देते है । कोई साधारण निमित्त बनाकर उसे मार डालते है ।नहीं तो भगवान् के सहस्र नाम है ।कोई अपना नाम वासुदेव हीरखता है, तो इसके लिये भगवान् को लड़ने की क्या आवश्यकता थी । कह देते—"अच्छा,भैया ! तेराही नाम वासुदेवसही ।"किन्तु भगवान् को तो उसे मारनाथा, इसलिये नाम केपीछे उससे भिड़गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! यह वासुदेव बनने वाला राजा कौन था ?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब मै आपको मिथ्या बासुदेव की ही कथा सुनाता हूँ ।"

छप्पय

क्षमा करी, पुनि सखिनि सहित सुखतें बल न्हाये ।
उलचि उलचि जल प्रचुर परस्पर अङ्ग भिगाये ॥
व्रज बनितनि को मान करें सुख सब कूँ देवें ।
पलक नयन कर–देह सरिस ते तिनिकूँ सेवें ॥
नंद गाँव बल निवसि इत, करत सतत क्रीड़ा मधुर ।
उत द्वारावति कृष्ण ढिंग, पौड्क पठयो दूतवर ॥

—:o:—

मिथ्या वासुदेवकी कथा

(११३०)

नन्द व्रजं गते रामे करूपाधिपतिर्नृप।
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत ॥*
(श्री० भा० १० स्क० ६६ अ० १ श्लो०)

छप्पय

दूत कहे–"कारूप नृपति सन्देश पठायो।
वासुदेव हौं एक भार भू हरि वे आयो॥
वासुदेव तू बनै चिन्ह सब धारे मेरे।
तजे नाम नहिं, करूँ दाँत खट्टे हौं तेरे॥
पौण्ड्रकको सन्देश सुनि, श्याम हँसे सब हँसि गये।
रथ चढ़ि लड़िवे ढीठ तैं, पुर करूप कूँ चलि दये॥

भगवान्‌के सम्बन्धमें कोई मिथ्या कल्पना भी करता है, तो उसका परिणाम भी सुखप्रद होता है, क्यों कि भगवान् सुख स्वरूप है। एक कथा है, कि कोई राजकुमारी भगवान्‌की बड़ी भक्ता थी। वह विष्णु भगवान्‌की बड़े प्रेमसे पूजा किया करती

*श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—'हे नृपवर्य! जब बलरामजी व्रज को चले गये, तब इसी बीच मे करूप देश के अधिपति पौण्ड्रक ने अज्ञान वश यह निश्चय करके कि यथार्थ वसुदेव तो मैं ही हूँ श्रीकृष्ण से अपना नाम बदल लेने का सन्देश देकर उनके वास द्वारका मे दूत भेजा।

थी। एक कुमार उससे मन ही मन प्रेम करने लगा। वह राजकुमारीसे बात करनेको अत्यंत ही उत्सुक रहता था, किन्तु राजकुमारी तो पहरेके भीतर युक्तिसे रहती थी। उसने क्या काम किया, कि अपना वेष विष्णु भगवान्‌का बनाया। दो हाथ तो उसके थे ही। दो अत्यंत सुन्दर हाथ मोंमके बनवा कर लगवा लिये। चारों हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म ये चार आयुध धारण किये। रेशमी सुन्दर चमकीला पीताम्बर ओढा माथे पर मणिमय किरीट लगाया। काठका एक गरुड़ बनाया। सारांश यह कि भगवान्‌का सब कृत्रिम रूप बना लिया, फिर किसी युक्तिसे प्रहरी की सहायतासे ऊपर चढ गया। और वहाँ जाकर कुमारीसे कहा–"मैं विष्णु हूँ।" राजकुमारीके हर्षका तो ठिकाना नही रहा। उसने अत्यंत भक्ति भावसे उन बनावटी विष्णु भगवान्‌की पूजा की। उसके मनमे लेशमात्र भी सन्देह नही था, कि ये विष्णु भगवान् नही हैं। उसने तो उन्हें साक्षात् भगवान् ही समझा। एक ओर भी सत्यता होती है, तो बेड़ा पार हो जाता है। दोनो ही ओर बनावटी हो, दोनोके ही मनमें विषयवासना हो, तब तो पतन निश्चय ही है। बनावट बहुत दिन तक छिपती नही और साँचको कभी आँच लगती नही।

हाँ तो अब वह नित्य ही विष्णु वेष बनाकर राजकुमारीके समीप आता और उससे घुल घुल कर बातें करता। एक दिन किसीने राजासे जाकर कह दिया–"प्रभो! राजकुमारीके यहाँकोई पुरुष जाता है। राजाने चारों ओर से कुमारीके घरको घिरवा लिया और वे स्वयं खड्ग लेकर कुमारीके महलमें गये। उस बनावटी विष्णुने जब खड्ग हाथमें लिये हुए राजाको देखा, तो वह तो मारे डरके थर थर काँपने लगा। उसने अन्य कोई बचनेका उपाय न देख कर भगवान्‌की शरण ली। अत्यंत ही आर्त भावसे पूरी शक्ति लगा कर वह तन्मय होकर भगवान्‌से प्रार्थना करने

लगा—"प्रभो ! मैं कैसा भी हूँ आपकी शरण हूँ आप मेरी रक्षा करें।"सर्वान्तर्यामी प्रभुने राजकुमारीकी सत्य और दृढ़ भावनाको सुदृढ़ बनाने के निमित्त उस काठके गरुडको चैतन्य कर दिया। गरुड़ उसे लेकर आकाश मे उड गया। राजाने आकर पूछा—"बेटी ! यह कौन था ?"

राजकुमारीने कहा—',पिताजी ! ये चतुर्भुज विष्णु थे। नित्य मुझे दर्शन देने पधारते थे। आपको देखते ही अन्तर्हित हो गये, गरुड़ पर चढ कर आकाश मे उड़ गये।"

यह सुन कर राजा को बड़ा दुःख हुआ। वे पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे—" हाय ! मैं बड़ा अभागी हूँ जो भगवान् के दर्शनो से वञ्चित रहा।"

इस कहानीके कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि कोई झूठ-मूठ भी भगवान् का वेष बनाले। उसे भगवान्के सम्बन्ध में मिथ्या अभिमान हो जाय, तो उससे भी कल्याण ही होगा। क्योंकि ससार के पदार्थ अनित्य है अशाश्वत हैं मिथ्या हैं। उनके सम्बन्धमें जो भी अभिमान करोगे, वह मिथ्या होगा असत्य होगा, परिणाममें दुःखद होगा, किन्तु सर्वेश्वर भगवान् तो नित्य, शाश्वत और सत्य है। उनके सम्बन्ध की बनावट भी सत्य हो जायगी। क्योंकि जैसेके साथ सम्बन्ध होता है वस्तु वैसी ही बन जाती है।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! अब मै आपको मिथ्या वासुदेव की कथा सुनाता हूँ। काशी और प्रयागके बीचमें एक छोटा सा करूप नामक देश है। जिसकी राजधानी विजयपुर (विजयपुर माढा) थी। भगवान् जिस समय अवतीर्ण होकर नर नाट्य कर रहे थे, उसी समय करूप देशमें पौण्ड्रक नामक राजा राज्य करता था। उस राजा को पूर्वजन्मोंके संस्कार वश यह भ्रम हो गयाथा, कि मैं ही वासुदेव भगवान् हूँ।' द्वारकामें जो श्री कृष्ण अपनेको वासुदेव कहता है, वह मिथ्या है।' यही सोच कर वह मन ही

मन भगवान् से द्वेष मानने लगा। उसके पिट्ठुओंने उसकी व्यर्थ की प्रशंसा करके उसे और भी बढ़ा दिया था।

उसने अपनी चार भुजाये बना रखी थी जिनमें वह शंख चक्र, गदा और पद्म धारण किये रहता। उसने अपने रथ पर बडी भारी गरुड़के चिन्हसे चिन्हित ध्वजा लगा रखी थी, पीताम्बर ओढ़ता था, मणिमयमुकुट माथे पर धारण करता। सारांश यह है, कि उसने विष्णु बनने मे कोई त्रुटि नही रखी थी। जिस समय बलदेवजी व्रजमें थे, तभी उस मिथ्या वासुदेव पौण्ड्रकने अपना एक दूत भगवान् के पास द्वारकामें भेजा। उसने यादवों की सभा में जाकर कहा—"मैं करूपाधिप महाराज पौण्ड्रकका दूत हूँ, श्रीकृष्णके लिये मै अपने महाराज की ओर से एक सन्देश लाया हूँ आज्ञा हो तो सुनाऊँ ?',

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, सुनाओ।"

भगवान्की आज्ञा पाकर दूत कहने लगा—"मेरे स्वामीने कहा है-"वासुदेव तो एक मात्र मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा वासुदेव नहीं है। ब्रह्माजीकी प्रार्थना पर भू का भार हरने के निमित्त तथा जीवोंके दुःखको दूर करनेके निमित्त दया वश मैने ही अवनि पर अवतार धारण किया है। वास्तविक विष्णु तो मैं ही हूँ। तुमने मेरी देखा देखी मेरे चिन्ह धारण कर लिये हैं। तुम भी अपनेको झूठ मूठ वासुदेव कहते हो। वास्तवमें तुममें वासुदेव बननेके कोई भी गुण नही। तुम्हारी जातिका पता नही। तुम वैश्य वृत्तिजीवी नन्द के लड़के हो। तुममें बल भी नहीं, निर्बल हो, जरासन्धके भयसे द्वारकामें भाग आये। तुममें धर्म भी नहीं अपने सगे मामाको जो निर्बल था रोगी था, उसे मार डाला। तुममें साहस भी नहीं किसीको किसीसे भिड़ा कर लड़ा देते हो और स्वयं पृथक् खड़े होकर खेल देखते रहते हो। तुममें दया भी नही स्त्री पूतनाको मार डाला। तुममें सदाचार भी नहीं, गोपाङ्ग-

नाओंके साथ एकान्तमें रास क्रीड़ा करते हो। तुम जन्मके चोर हो। तुम बड़े स्त्री लम्पट हो। सदा स्त्रियों की ताड़में घूमते रहते हो। तुम बड़े मायावी हो, मायाका आश्रय लेकर लोगोंको भ्रममें डाले रहते हो। इन सभी कारणोंसे तुम वासुदेव कहलानेके प्रयोग्य हो। या तो तुम मेरे चिन्होंको छोड़ कर मेरी शरणमें आओ, मुझसे क्षमायाचना करो। नहीं, तो मुझसे युद्ध करना स्वीकार करो।"

दूत जब इतना कह कर चुप हो गया, तो भगवान्‌ने बड़े वेग से अट्टहास किया। उनके हास्यसे वह सम्पूर्ण सभा भवन गूँज उठा। अन्य यादवोंने भी उनकी हँसीमें अपनी हँसी मिलायी महाराज उग्रसेन तथा अन्यान्य सभासदगण भी खिल खिला कर हँस पड़े। तब भगवान्‌ने दूतसे कहा—"दूतजी! हमने आप के राजाका सन्देश सुन लिया, अब आप भी कृपा करके उस मन्दमति मूढ़से हमारा यह सन्देश जाकर कहना, कि"अरे! धूर्त! तेने जो मुझसे सुदर्शनादि चिन्होंको छोड़नेके लिये कहा है, उन्हें अति शीघ्र आकर तेरे ही ऊपर उन्हें छोड़ूँगा। और जिन धूर्तोंने तुझे बढ़ा चढ़ा कर वृद्ध बना रखा है। जिनके बल पर तू इस प्रकार बक बक कर रहा है, उन सबको भी मैं आकर मृत्युके घाट उतार दूँगा। जिस मिथ्या मुखसे तू ऐसी व्यर्थकी बातें बकता रहता है, चिबिर चिबिर करता रहता है, उस मुखको मैं बाणोंसे छेद कर रणमें पटक दूँगा। उसे कक, गृद्ध और वट आदि मांस भोजी जन्तु घिरकर नोचेंगे। तब तू सदाके लिये मर कर शयन कर जायगा। मैं तो तेरी शरणमें क्या जाऊँगा तू ही कुत्ता गीदड़ और गृद्धोंकी शरणमें जायगा। अच्छी बात है, तू समरके लिये सम्हल जा। मैं अभी तुझसे युद्ध करनेके लिये आता हूँ। उसी समय तू अपनी वीरता दिखाना।"

सूतजी कहतेहैं—"मुनियो! भगवान्‌का सन्देश पाकर वह दूत

तुरन्त पौण्ड्रकके समीप आया और उसने समस्त वृत्तान्त अपने राजासे कहा। इसे सुन कर वह अत्यंत कुपित हुआ और लड़ाईकी तैयारियाँ करने लगा। उसने अन्यान्य राजाओंके पास युद्धका निमंत्रण भेजा, किन्तु किसीने भी श्रीकृष्णके विरुद्ध युद्ध करना स्वीकार नही किया। हाँ, एक काशिराजने स्वीकार किया, क्योंकि वे तो इसके मित्र ही थे।

इधर भगवान् भी दूतको बिदा करके करूप देशको चलनेके लिये विदा हुए। भगवान् अपनी कुछ थोड़ी सी सेना लेकर पौण्ड्रकके पुरमे पहुँच गये। उसने जब देखा श्रीकृष्ण तो युद्ध करनेके लिये उद्यत है, तो वह भी अपनी बड़ी भारी दो सेनायें लेकर युद्ध करने आया। उसका मित्र काशिराज भी बड़ी बड़ी तीन सेनायें लेकर अपने मित्रकी सहायता करने आ डटा। अब क्या था, दोनों ओर से घमासान युद्ध छिड़ गया। भगवान्ने देखा, पौण्ड्रक शङ्ख, चक्र, खड्ग, गदा, शार्ङ्ग धनुष तथा श्रीवत्सादि चिन्होसे युक्त है उसके कण्ठमें घुटनों तक लम्बायमान वैजयन्ती माला झूम रही है। वक्षःस्थलमें कौस्तुभ मणि सुशोभित हो रही है। अङ्गपर सुवर्णके कामका दमकता हुआ पीताम्बर चमक रहा है माथे पर महामूल्यमय मनोहर मणियोंका मुकुट झलमल झलमल कर रहा है। अङ्ग अङ्गमें आभूषण चमक रहे है, तथा कानोमें मकराकृत कुडल दमक कर उसके मुखके मिथ्या होने की घोषणा कर रहे है। उसके रथमें शुभ्रवर्णके चार घोड़े जुते हुए है तथा उस पर विशाल गरुड़के चिन्हसे चिन्हित ध्वजा फहरा रही है। जब वह रथ पर चढ़ कर भगवान्के सामने लड़ने आया तब सर्व साधारणको यह भ्रम होने लगा कि इनमे यथार्थ वासुदेव कौनसे है। क्योंकि जैसे नाट्य शालामे सज बज कर जब नट आता है, तो जिन्होने पहिले उसे नहीं देखा अथवा जिन्होने देखा भी है उन्हें भी भ्रम हो जाता है।

ने जब उसे अपने ही समान रूप बनाये देखा तब वे बहुत हँसे और सोचने लगे—"अनुकरण किया जाय तो ऐसाही किया जाय।"

मिथ्या वासुदेव का संकेत पाते ही उसकी सेना के सैनिक भगवान् पर त्रिशूल, गदा, परिघ, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, तोमर, खड्ग, पट्टिश तथा बाण, शतघ्नी आदि अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करने लगे। भगवान्ने जब शत्रुओ को प्रहार करते देखा तो वे सब पर पृथक् पृथक् प्रहार करने लगे। जैसे प्रलयकाल मे प्रलयाग्नि भिन्न भिन्न प्राणियों को भिन्न भिन्न प्रकार से पीड़ित करती है, उसी प्रकार शत्रु संघारी श्यामसुन्दर विपक्षी वीरों को बाण वर्षा कर पीडित करने लगे। उसकी गज, रथ, अश्व तथा पैदल चलने वाली जो चतुरङ्गिनी सेना थी,उसका पृथक् पृथक् अस्त्रों से संहार करने लगे। काशिराज तथा पौण्ड्रककी सम्मिलित सेना प्राणोका मोह परित्याग करके श्यामसुन्दरसे लड़ रही थी और श्यामसुदर भी उन्हें अपने शस्त्रों से मार मार कर सद्गति दे रहे थे। हाथी घोड़ा आदि पशुओं तथा सैनिकोके मरनेसे तथा अस्त्रों और रथों के टूटने से वह रणभूमि भगवान् भूतनाथ भवकी भयङ्कर क्रीड़ा-स्थलीके सदृश प्रतीत होती थी। रक्तको देखकर सैनिकोंका उत्साह बढ़ता था, वे प्राणों का पण लगाकर बड़े उत्साहसे युद्ध कर रहे थे। पौण्ड्रकने जब श्रीकृष्णको अपनी सेनाका सहार करते देखा, तो वह वीरताके साथ भगवान्के सम्मुख युद्ध करनेकी इच्छासे आया। उसे देखकर भगवान् बोले—"कहिये, पौण्ड्रकजी! अच्छी तरह हो न ? तुमने दूतके हाथों मुझे संदेश भेजा था,कि मैं अपने अस्त्रोंको छोड़ दूं। इसलिये मैं यहाँ अस्त्रोंको छोड़ने ही आया हूँ। उन्हें तेरे ही ऊपर छोड़ता हूँ। ले, सम्हल जा। अब हमारे तेरे दो दो हाथ हो जायँ। आज यहीं निर्णय हो जाय कौन वासुदेव है। यदि मैं वासुदेव हूँ और तेने मेरा बनावटी नाम रख लिया है, तो मैं उसे अभी छुड़ाये देता हूँ और यदि मैंने झूठ मूठ अपना

नाम वासुदेव रखा होगा,तो युद्धमें तुमसे पराजित होकर मैं तेरी शरणमें आजाऊँगा। अब संसारमें वासुदेव एक ही रहेगा या तो तू ही तू रहेगा या मैं ही मैं। मैं तू दो न रहेंगे।" ऐसा कह कर भगवान्‌ने उसकी अवज्ञा करते हुए धनुष पर अपना बाण चढ़ाया भगवान्‌ने तीखे बाण छोड़कर उसके रथको चकनाचूर कर दिया। सारथी और घोड़ोंको मार दिया तथा उसके धनुषको भी काट दिया। जब वह रथ हीन हो गया, तो भगवान्‌ने सुदर्शन चक्रसे उसके सिरको उसी प्रकार काट लिया जिस प्रकार छुरेसे खीराके सिरको काट लेते है। सिरसे पृथक उसका धड़ पंख कटे पर्वतके समान धड़ामसे धरती पर गिर पड़ा।

अपने मित्रको मरता देखकर काशिराजने भगवान्‌के ऊपर प्रहार किया, किन्तु वह भी समर में अधिक समय तक न ठहर सका। एक अर्ध चन्द्राकार बाणसे उसके सिरको काट कर भगवान्‌ने उसे आकाश मार्ग द्वारा काशीपुरी में उसके महल के आगे गिरा दिया। काशिराजका राजकुमार तथा नगर निवासी स्त्री पुरुष अपने स्वामीका सिर देखकर हाय हाय करते हुए रुदन करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान्‌ने पौण्ड्रक को तथा काशिराजको मार कर सिद्ध गन्धर्वों द्वारा अपने यशको सुनते हुए द्वारका पुरीमें प्रवेश किया। जब लोगोंने भगवान्‌का हार्दिक अभिनन्दन किया। फिर भगवान् सुखसे अपने महलों में रहने लगे।"

शौनकजीने पूछा—'सूतजी! यह पौण्ड्रक कौन था। यह भगवान्‌से द्वेष क्यों करता था। क्यों उनके रूपको रखता था।"

सूतजी बोले—"महाराज! जैसे जय विजय भगवान्‌के द्वार-पाल हैं, वैसे ही यह पौण्ड्रक भी भगवान्‌की डयोढ़ीका द्वारपाल था। इसने महालक्ष्मीको एक दिन अन्तःपुरमें जानेसे

रोक दिया था ! तब लक्ष्मीजीने इसे शाप दिया—"जातू पृथिवी में मनुष्य होकर जन्म लेगा और भगवान्‌से द्वेष करेगा।"

भगवान्‌के सब पार्षद चतुर्भुज तो होते ही है। सभी शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करते है। केवल श्रीवत्सका चिन्ह उनके नही होता, और सब चिन्ह भगवान्‌के से ही होते है। जब यह जाकर भगवान्‌के सम्मुख बहुत गिड़ गिड़ाया, तब भगवान्‌ने कहा—"लक्ष्मीजीने यह शाप मेरी इच्छाके ही अनुसार दिया है। तू पृथिवी पर उत्पन्न तो होगा ही, किन्तु वहाँ भी ईर्ष्यावश सदा मेरा चिन्तन करता रहेगा। मेरे समस्त चिन्होंको धारण किया करेगा। मुझसे युद्ध करेगा, फिर मेरे हाथसे मरकर अन्त मे मुझे ही प्राप्त होगा। तेरी अधोगति न होगी।" यह सुनकर उसे सन्तोष हुआ और वही करूषाधिप पौण्ड्रक हुआ। मुनियो ! द्वेषभावसे निरन्तर भगवान् वासुदेवका ही ध्यान करनेके कारण उसके समस्त कर्मबन्धन नष्ट हो गये और अन्तमें भगवान्‌के हाथसे मरकर चतुर्भुज रूप धारण करके वह भगवान्‌में तन्मय हो गया। द्वेषवश भगवान्‌का रूप धारण करनेसे ही उसे वह गति प्राप्त हुई जो बड़े बड़े योगियोंको समाधि द्वारा भी दुर्लभ है।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! भगवान्‌ने काशिराजके सिरको करूष देशसे काशीमें क्यों भेजा ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! उन काशिराजकी निष्ठा होगी, कि मेरी मृत्यु वाराणसीमें ही हो। इसलिये भगवान्‌ने उनकी इच्छा पूरी की होगी, फिर काशीदाहकी उन्हे लीला भी करनी थी, इसीलिये सिरको काशीमें राजद्वार पर भेज दिया ?"

शौनकजी ने कुतूहल के साथ पूछा—"सूतजी ! सिर पहुँचने पर काशीदाह की लीला कैसे हुई। इसे भी कृपा करके हमें सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! इसी प्रसंग में मैं आपको सुदर्शन चक्रद्वारा जैसे काशी का दाह किया गया उस कथा प्रसङ्गको सुनाता हूँ। आप दत्तचित होकर श्रवण करें।"

छप्पय

रन हित हरि नृप लखे सेन सजि सम्मुख आयो।
धारि शङ्ख चक्रादि विष्णु सम रूप बनायो॥
लखिकें भाँड़ समान हँसे हरि खल ललकारयो।
कीन्हों कछु छिन युद्ध अन्त मँह ताकूँ मारयो॥
काशिराज आयो लड़न, तासु काटि सिर श्यामघन।
फेंक्यो सो काशी परयो, लखि रोवत सुत प्रजाजन॥

काशिराज की कृत्या का कुपरिणाम

(११३१)

कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणे—
रस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः ॥
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तम्,
सर्त्विग्जनं समदहत्स्वकृतोऽभिचारः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६६ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

यों दोउनि की करी मुक्ति हरि आये निज पुर ।
इत पितु वध तैं दुखी काशिनृप-सुत सोचतउर ॥
पितु वध बदलौ लेउँ कृष्ण पुर सहित जराउँ ।
शिव आराधनकरूँ मनोवाञ्छित फल पाऊँ ॥
करत सुदक्षिण शैव मख, प्रकटित कृत्यानल भई ।
करन भस्म हरि द्वारका, कूँ कृत्या गरजत गई ॥

मारण, उच्चाटन तथा अन्यान्य जितने परपीड़न कर अभिचार है । उनका परिणाम दुखद ही होता है । क्योंकि

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! काशिराज सुदक्षिण भगवान् को मारने को जो कृत्यानल छोड़ा था। वह भगवान् के सुदर्शन चक्रसे प्रतिहत तथा भग्नमुख होकर पुनः काशीपुरी को ही लौट पड़ा वहाँ पहुँचने पर उसने राजा को तथा उसके ऋत्विजों को जला डाला राजाका अपना किया हुआ अभिचार ही उसके विनाश का कारण बना।"

ये कृत्य तामसिक हैं। यदि सिद्ध हो जायँ तो इनका परिणाम परलोक में दुःखद होता है। यदि सिद्ध न हुए। कोई विधि सम्बन्धी त्रुटि रह गयी, तो ये उलटे करने वाले के ऊपर पड़ते हैं और उसे तुरन्त नाश कर देते है। ऐसी अनेक घटनायें प्रत्यक्ष देखी गयी है, कि रात्रि में किसी ने भूत, प्रेत, यक्षिणी आदि तामस सिद्धियों के लिये श्मशानादि मे जाकर शव के शरीर पर जप किया है, कोई भयङ्कर शक्ति उत्पन्न हुई जापक डर गया और कोई भूल कर गया,तो शक्ति उसी का रक्त पान कर गयी। भूत प्रेतादि सिद्ध होने पर भी उस पुरुष को सदा अशुचि रहना पडता है। मर कर भूतप्रेत ही बनना पड़ता है। जो जिसकी उपासना करता है, अन्त मे उसे उसी का सादृश्य प्राप्त होता है। तमोगुणी पुरुष अपनी सान्सारिक सिद्धि के लिये तमोगुण प्रधान देवताओं को ही भजते है। और अन्त मे घोर तम को ही प्राप्त होते है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! भगवान् पौण्ड्रक और काशिराज को मार कर द्वारका में आ गये। अब आप काशिराज के पुत्रका भी कुछ वृत्तान्त सुनिये। भगवान् का फेंका हुआ काशिराज का कुण्डल मण्डित मस्तक जब महल के द्वारदेश में आकर गिरा, तो सभी उसे देखकर सन्देह करने लगे। तुरन्त इधर उधर से बहुत से स्त्री पुरुष जुट आये। सबने पहिचान लिया, यह तो हमारे महाराज का ही सिर है। यह जान कर राजा की जितनी रानियाँ थीं सभी छाती पीट पीट कर रुदन करने लगीं राजा के सभी सुत जुट आये, बन्धु बान्धव आ गये। सभी हाय! हाय! करने लगे। सिर गोदी मे रखकर हा नाथ! हा प्राणेश! कह कह कर रानियाँ सिर पटकने लगी और अत्यत दुःख से विलाप करती हुईं नयनों से नीर बहाने लगी।

राजाको मृतक जानकर सब प्रजा के लोगों ने महाराज के सुदक्षिण नामक सबसे बडे पुत्रको सिंहासन पर बिठा दिया उसे राजा बना दिया। सुदक्षिण ने विधि पूर्वक पिता के अन्त्येष्टि आदि सस्कार कराये। परलोक में सुख प्राप्ति के लिये उनके निमित्त विविध भाँति के दान धर्म कराये। तदनन्तर उसने सोचा—"जिस श्रीकृष्ण ने मेरे पिता का वध किया है, उससे बदला लेना चाहिए। जब तक मैं अपने पितृहन्ता का वध न कर लूँगा, तब तक पितृऋण से उऋण न हो सकूँगा। युद्ध में तो मैं कृष्ण को जीत नही सकता अभिचार द्वारा उसका अन्त किया जा सकता है। समस्त भूत प्रेतोके स्वामी भगवान् भूतेश्वर हैं। वे ही मुझे युक्ति बता सकते है। उपासना करूँ।" यही सब सोच कर उसने अपने राजपुरोहित के सहित परम समाधिद्वारा भगवान् भूतनाथ की उस अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में आराधना आरम्भ की।

भगवान् आशुतोष तो भोले बाबा ही ठहरे। सुदक्षिण की अल्प-उपासना से ही वे सन्तुष्ट होगये और राजा के सम्मुख प्रकट होकर बोले—"राजन्! मैं तुम्हारी उपासना से सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझसे यथेष्ट वर माँगलो।"

यह सुनकर सुदक्षिण बोले—"प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न है, तो कोई ऐसा उपाय मुझे बताइये, जिससे मेरे पिताको मारने वालेका वध होसके।"

यह सुनकर शिवजी तो बड़े चक्कर में पड़े। वे सोचने लगे, श्रीकृष्ण को भला कौन मार सकता है किन्तु इसने तो मुझसे उपाय पूछा है, इसलिये इसे उपाय बता दूँ। सिद्धि असिद्धि इसकी क्रिया और साधन के ऊपर निर्भर है। यह सोचकर शिवजी बोले—"देखो, भाई! मैं तुम्हे एक उपाय बताता हूँ। तुम ब्राह्मणों के साथ मिलकर अभिचार विधि से दक्षिणाग्नि

की आराधना करो। उनके निमित्त एक आभिचरिक यज्ञ करो। तुम्हारे यज्ञ से प्रसन्न होकर अपने प्रमथ नामक गणो के सहित अग्निदेव प्रकट होंगे। उनसे तुम जो वरदान मांगोगे, वही देंगे। जिसे मारने को कहोगे उसे ही मार डालेंगे। किन्तु जो ब्राह्मण भक्त होगा, उस पर तो उनका वश न चलेगा। शेष सबको वे भस्म कर सकते है।"

यह सुनकर सुदक्षिण अत्यंत ही प्रसन्न हुआ। भगवान् भूतनाथ के आदेशानुसार उसने ब्रह्मचर्यादि नियमो का पालन करते हुए भगवान् के निमित्त से अभिचार यज्ञ का विधिवत् अनुष्ठान किया। जिस दिन उसका वह आभिचारिक यज्ञ पूर्ण हुआ उसी दिन अग्निकुण्ड से एक अति भयानक तामस अग्नि सशरीर प्रकट हुआ। देखने में वह अत्यत भयङ्कर था, उसके सिर के केश तथा श्मश्रु तपाये हुए ताँबे के सदृश अरुण वर्ण के थे। लाल लाल बड़ी बड़ी भयंकर गोल गोल आँखो से अग्नि की लपटे निकल रही थी। उसका मुख पर्वत की गुहा के सदृश भयकर और वीभत्स था, बड़ी बडी रक्त से सनी दाढे चमक रही थी। कुटिल भ्रुकुटियो के कारण वह बड़ा ही भयङ्कर और क्रूर जान पड़ता था। उसके शरीर पर कोई वस्त्र नही था। बडे बड़े बाल शरीर पर थे। अपनी बड़ी और विकराल जिह्वा से वह बार-बार अपने ओठों को चाट रहा था। उसके हाथ में एक भयङ्कर त्रिशूल था,उसे वह इधर से उधर घुमा रहा था। उसने सुदक्षिण से पूछा—"राजन् ! मैं तुम्हारा कौन सा कार्य करूँ।"

सुदक्षिणने कहा—"देव ! आप मेरे पिताके मारने वाले श्रीकृष्णको तथा उनकी पुरी को जला दीजिये।"

इतना सुनते ही वह पुरुष एक भयङ्करकृत्या के रूप में परिणित होगया। भूत गणों से घिरी कृत्या अपने विशाल शरीर से दशों दिशाओंको दग्ध करती हुई, द्वारका की ओर दौड़ी।

उस भयङ्कर जलती हुई कृत्या को द्वारका की ही ओर आती देख कर द्वारका वासी भयभीत होकर भयहारी भगवान् की शरण में पहुँचे द्वारका वासियो के एक मात्र अवलम्ब तो अखिलेश्वर अच्युत ही थे। दु:ख पडने पर वे उनकी ही शरण मे जाते और वहाँ जानेसे निर्भय हो जाते। अत वे दौडे भगवान् के समीप सभा भवन मे पहुँचे। उस समय श्यामसुन्दर सभा में बैठे आमोद प्रमोद के लिये चौसर खेल रहे थे। जब उन्होने देखा वन मे आग लग जाने पर जैसे वन के जीव जन्तु सुरक्षित स्थान की ओर भागते है वैसे ही द्वारकावासी भयभीत होकर मेरी शरण मे आये है, तो भगवान् रहस्य भरी दृष्टि से उनकी ओर देखने लगे। तब उन सबने मिल कर बडी दीन वाणी मे भवभयहारी भगवान् से निवेदन किया—"प्रभो! हमारी रक्षा करो, रक्षा करो। न जाने कहाँ से प्रलयाग्नि के सदृश एक कृत्या सी आरही है। हे अशरण-शरण! हम उससे भयभीत है, आप उससे हमारी रक्षा करे। आप तुरन्त रक्षा न करेंगे,तो वह समस्त द्वारकापुरी को अभी भस्म कर देगी। आप अविलम्ब हम सब पर अनुग्रह करे। हमे मृत्यु के मुखसे बचालें। द्वारका पुरी को दग्ध नहोनेदें।"

शरणागत् वत्सल भगवान् ने जब देखा द्वारकावासी भयकर कृत्या से अत्यंत भयभीत है। तब वे उन्हें अभय प्रदान करते हुए बोले-"अरे,तुम लोग इतने अधीर क्यो हो रहे हो,मेरे रहते तुम्हे भय की कौन सी बात है। मैं तुम्हारी भय से रक्षा करूगा।" ऐसा कह कर भगवान् चुप हो गये। वे तो सर्वज्ञ है,सब के भीतर बाहर की बातें जानते है। वे समझ गये,सुदक्षिणा ने मेरे नाश के निमित्त माहेश्वरी कृत्या भेजी है। इसलिये वे अपने स्थान से उठे नही, वही बैठे बैठे उन्होंने समीप में विराजमान सुदर्शन चक्रको आज्ञा दी—"सुदर्शन! इस कृत्याकी कुटाई पिटाई करके इसके भेजने वाले को भी फल चखा आओ।" अब क्या था, सुदर्शन चक्र

तो ऐसे कामो के लिये उधार खाये ही बैठे रहते है। भगवान् की आज्ञा पाते ही वे अपने तेज से दशो दिशाओ को आकाश और अन्तरिक्ष को प्रकाशित करते हुए प्रलयाग्नि के सदृश, उस कृत्या की ओर दौड़े। उस समय उनका तेज करोड़ों सूर्यो के समान हो रहा था। वे एक परम तेजोमय प्रकाश पुञ्ज ही दिखाई दे रहे थे। अब कृत्या को लेने के देने पड़ गये। कहाँ तो वह द्वारका जलाने के लिये आई थी कहाँ अपने ही जलने लगी, वह पूँछ दबाकर वहाँ से भागी किन्तु सुदर्शन अब उसका पीछा कब छोड़ने वाले थे, उन्होने उसे रौंदा। वह शस्त्र के तेज से अभिभूत होकर ज्यों की त्यों लौटकर उसी स्थान मे आई जहाँ से वह निकली थी। अब वह चक्र के भय से अन्तर्हित होना चाहती थी, किन्तु जिस उद्देश्य से उनकी उत्पत्ति हुई थी, उसे बिना किये वह अन्तर्हित भी नही हो सकती थी, उसे जब कोई भस्म करने को न मिला तो वह यज्ञ कराने वाले ऋत्विजो और सुदक्षिण को ही जलाकर कुंड में घुसकर अन्तर्हित हो गयी। उन लोगों ने किया तो था दूसरे को नाश करने के निमित्त अभिचार किन्तु उलटा उन करने कराने वालो का ही नाश होगया। वे ही सबके सब भस्म हो गये।

अब रह गये सुदर्शन चक्र। इन्होंने सोचा–"मेरा आना ही व्यर्थ होगया। इन लोगो ने द्वारकानाथ को और द्वारकापुरी को जलाने के लिये ही अभिचार यज्ञ किया था, तो उसका फल उलटा होगया। भगवान् का कुछ भी न बिगड़ा करने कराने वाले ही भस्म हो गये। कृत्या मेरे भय से अन्तर्हित हो गयी। यज्ञ करने कराने वालों को तो उसने जलाया। अब नगर को मैं जला डालूँ यह सोचकर सुदर्शन चक्र ने अट्टालिकायें, सभाभवन, हाट, बाट, महल, नगर द्वार शिखर, भंडार, गजशाला, [illegible] धान्यागार तथा और भी राजा के जो भवनादि

स्वाहा कर दिया। इस प्रकार द्वारका पुरी के स्थान में काशि राज की पुरी ही उलटी जल गयी। उसका सब कृत्य उलट हो गया। शिवजी ने तो कह ही दिया था,इसका प्रभाव ब्राह्मण भक्तों पर न पड़ेगा। भगवान् तो ब्रह्मण्यदेव है, उन्हें कृत्या कैं जला सकती है। उन ब्रह्मण्य के विरुद्ध जिन्होने षडयन्त्र किय था वे ही सब मर गये। इस प्रकार काशीपुरी को दग्ध करके सुदर्शन चक्र पुनः लौटकर श्री भगवान् के समीप द्वारका पुरी में चला गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विशुद्ध सत्व पुण्य कीर्ति भगवान् वासुदेव के इस परमपुण्यप्रद आख्यान को जो लोग सुनें सुनावेंगे। वे सभी तामसिक अभिचार जनित पापों से निश्चय ही छूट जायँगे। यह मैंने बलदेव जी के व्रजयात्रा के प्रसङ्ग में भगवान् की अद्भुत लीला कह दी, अब आप और क्या सुनना चाहते है?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप तो बलरामजी के ही चरित्र को सुना रहे थे,हमें आप भगवान् संकर्षण के अन्य चरित्र सुनावें। इनके चरित्रों को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब जैसे बलदेव जी ने द्विविद नामक उपद्रवी वानर को मारा था, उस कथा प्रसङ्ग को मैं आपको सुनाता हूँ आप सब समाहित चित्त से इसे श्रवण कर।"

छप्पय

कृत्या कूँ लखि डरे द्वारकावासी सब जन।
छोड़ि चक्र हरि दाह करायो नगर सुदक्षिन॥
पुर, द्विज,कृत्या,नृपति दग्ध करि सबनि अस्त्रहरि।
आयो द्वारावती निमिष महँ सब कारज करि॥
काशिराज के दाह की, कही कथा शुकदेव ने।
सुनो द्विविद वानर चरित, ज्यों मारयो बलदेव ने॥

बलदेवजी द्वारा द्विविदका वध

(११३२)

नरकस्य सखा कश्चिद्द्विविदो नाम वानरः ।
सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥
सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन्वानरो राष्ट्रविप्लवम् ।
पुर ग्रामाकरान्घोषान दहद्वह्नि मुत्सृजन् ॥*

(श्री भा० १० स्क ६७ अ० २,३ श्लोक)

छप्पय

त्रेतायुग को द्विविद बली वानर चंचल अति ।
नरकासुरको मित्र संग तैं भई दुष्ट मति ॥
कृष्ण मित्र ध्रुक् मानि लैन बदलो खल आयो ।
जारे घर, पुर, गाँव दुष्ट अति दुन्द मचायो ॥
इक दिन गिर रैवतक पै, बलदाऊ मधुपान करि ।
हँसत हँसावत प्रेम तैं, विहरत वनितनि कूँ पकरि ॥

सग का प्रभाव पड़ ही जाता है । कैसा भी भला आदमी हो यदि वह निरतर नीचों के संग में रहेगा, तो उसके मनमें नीचता

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! नरकासुर का मित्र द्विविद नाम का वानर था । वह मैन्दका भाई, और सुग्रीव का मंत्री था, तथा बड़ा बली भी था । भगवान् ने नरकासुरको मार दिया था अतः अपने उस मित्र का बदला चुकाने के लिये वह गांवों, नगरों, खानों तथा घोषों को आग लगा लगाकर जलाने लगा । इस प्रकार वह समस्त राष्ट्र में विप्लव करता हुआ घूमने लगा ।"

आ ही जायगी। कैसा भी सदाचारी हो यदि वह व्यभिचारी नर नारियों का संग करेगा, तो उसका चित्त चंचल हो ही जायगा, कैसी भी सती साध्वी सदाचारिणी पतिव्रता हो, यदि वह निरंतर कुलटाओं और चरित्र हीनों के सग रहेगी, तो उसका मन डिग ही जायगा। यह मन ऐसा भूत है, कि बड़े बड़े आरूढ़ योगी भी संग के प्रभाव से पतित हो गये हैं। भगवान् का सग होने के अनन्तर भी अधिक विषयों का सग होने से मन उसमें फँसा हुआ देखा गया है। इसीलिए ऋषियों ने बारम्बार इस बात पर बल दिया है, कि या तो किसी का संग करना ही न चाहिये। करना ही हो तो अपने से ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, गुणी और भगवद्भक्तों का ही संग करना चाहिये। नीचो के सङ्ग से नीचता आ ही जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेव उन्हें बलराम जी के कुछ चरित्र सुनाने लगे। बलदेव जी व्रजयात्रा का प्रसङ्ग सुनाया इसी बीच में द्वारका में पौण्ड्रक का दूत आया, अतः प्रसङ्गवश पौण्ड्रक वध और काशीदाह की भी कथा सुना दी। अब फिर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! अनन्त अप्रमेय और अद्भुत कर्मा भगवान् बलदेवजी के मैं अन्य भी चरित सुनना चाहता हूँ। भगवान् संकर्षण तो सर्व समर्थ थे। उनके और भी चरित्र सुनाइये। बलरामजी ने तो परम पराक्रम युक्त कार्य किये होंगे?" राजा के ऐसे प्रश्न को सुनकर मेरे गुरुदेव ने जैसे बलराम जी के अन्य चरित्र सुनाये उन्हीं को मैं आप सब के सम्मुख कहता हूँ।

त्रेतायुग में भगवान् ने जब रावण को मारा था, तब सुग्रीव जी ही ऋक्ष और वानरों की सेना लेकर लंका गये थे। ये वानर दूसरे दूसरे द्वीपों में अन्यान्य वर्षों से रहते थे। ये एक उपदेव है। जैसे हनुमानजी किंपुरुषों में है। इनकी आकृति मनुष्यों की-सी

भी है कुछ वानरोंकी सी भी। न तो ये साक्षात् मनुष्य ही हैं, न साक्षात् वानर ही है। इन्हें देखकर सन्देह होता है। 'किं-पुरुष' क्या ये पुरुष है? उपदेव होनेसे इनकी आयु भी बहुत बड़ी होती है। हनुमानजी तो अभी तक जीवित है, कल्प जीवी है। विभीषण भी कल्प जीवी है। ऋक्षराज जाम्बवान् भी जीवित है,उनकी कन्या के साथ तो भगवान् ने विवाह ही किया था। इसी प्रकार द्विविद नामक वानर भी चिरजीवी है। श्री रामचन्द्रजी की जब साङ्ग सपरिवार पूजा की जाती है,तो मैन्द और द्विविद ये आवरण देव मानकर स्थापित किये जाते हैं और उनकी पूजा भी होती है। जसे विष्णु भगवान् के जय विजय दो पार्षद हैं वैसे ही श्री रामचन्द्रजी के ये पार्षद है। अपने लोक में ये नित्य रहते है। जैसे शापवश जय विजय पृथिवी पर, हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष, रावण कुम्भकर्ण तथा दन्त वक्त्र शिशुपाल के रूप में उत्पन्न हुए वैसे ही शापवश उस मैन्द वानर के अंश से यह पृथिवी मे उत्पन्न हुआ होगा। जैसे जय विजय अपने रूप से तो सदा वैकुण्ठ में बने ही रहे, अश रूप मे यहाँ उत्पन्न हुए उसी प्रकार आवरण देव के रूप में तो मैन्द नित्य ही भगवान् के लोक मे रहता है। अशरूप मे पृथिवी पर उत्पन्न हुआ। श्रीरामावतार मे यह और इसका भाई मैन्द ये दोनों सुग्रीवजी के मन्त्री थे। बड़े भारी बली थे। इस द्विविद को अपने बल का बड़ा भारी अभिमान हो गया था। उसी अभिमान में भर कर इसने लक्ष्मणजी का अपमान किया। इस पर लक्ष्मण जी ने कहा—"मैं तुझे अभी इस अविनय का फल चखा देता, किन्तु भगवान् राघवेन्द्र ने तुम सब वानरो को अभय दान दे रखा है, इसलिये अब तो मैं तुझे मारता नहीं। दूसरे अवतार में तेरे अभिमान को चूर्ण करूँगा। तू दुष्टतावश मेरा अपमान करेगा तब मैं तुझे मारूँगा।"

वही द्विविद द्वापर में शापवश नरकासुर का मित्र हो गया। भगवान् ने नरकासुर को मार डाला। इस पर द्विविद को बड़ा क्रोध आया। संग दोष से उसमें दुष्टता भी आ गयी थी, वह भगवान् को भी साधारण पुरुष मानने लगा था। उसने मनमें सोचा—"श्रीकृष्ण ने मेरे मित्र नरकासुर को मार डाला है। यदि मैं अपने मित्रको मारने वाले से बदला न लूँ, तो मेरी ऐसी मित्रता को धिक्कार है। जो परलोक गये मित्र की मित्रता को निभाता है, वही यथार्थ मित्र है।" यही सोच वह समस्त राष्ट्र में उपद्रव करने लगा। उसने अपने को बागी घोषित कर दिया। वह बड़ा बली था। उसे अपने बल का बड़ा अभिमान था। वह समझता था मेरे समान बली कौन है। इसलिये वह गाँवों को नगरों को फूँकने लगा, जहाँ भी सुवर्ण, चाँदी, कोयले तथा अन्यान्य वस्तुओं की खान देखता वहीं उसमें आग लगा देता पशुओं के रहने के घोषों को जला देता।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब उसे भगवान् से ही बदला लेना था, तो द्वारका में आकर उपद्रव करता। और लोगों ने उसका क्या बिगाड़ा था, नगर गाँवों को वह क्यों जलाता था।"

सूतजी बोले—"महाराज! दुष्टों का स्वभाव ही होता है, व्यर्थ ही दूसरों को पीड़ा दिया करते हैं। उसका उद्देश्य तो एक मात्र श्रीकृष्ण से ही बदला लेने का था, किन्तु समस्त राजाओं पर वह अपना आतङ्क जमाने के लिये आते हुए मार्ग में ऐसे उपद्रवों को करता आता था। द्वारका में आकर तो उसने बड़ा भारी दुन्द मचा दिया। भगवान् जिस द्वारावतीमें निवास करते थे, उसे नष्ट करने का तो उसने दृढ़ संकल्प ही कर लिया था, अतः वहाँ आकर उससे जितने उपद्रव करते बने सब करने लगा। उसमें दश सहस्र हाथियों का बल था। अतः पर्वतों की बड़ी बड़ी चट्टानों को उठा उठाकर गाँवों पर फेंक देता, कभी नगरों में आग लगा देता,

कभी समुद्र के बीच में खड़ा होकर हाथों से जल को इतने वेग से उलीचता कि बहुत से गाँव जल में बह जाते। कभी ऋषियों के आश्रमों में चला जाता, वहाँ के सुन्दर सुन्दर फल वाले वृक्षों को उखाड़कर फेंक देता। अग्निहोत्र की अग्नि को जला देता। कुन्डों में मल मूत्र कर देता। कभी कभी स्त्रियों को पुरुषों को बलपूर्वक पकड ले जाता और उन्हें उसी प्रकार पर्वतों की गुहाओं मे बन्द कर देता, और शिलाओंसे द्वार मूद देता जिस प्रकार भृङ्गी अन्य कीटो को पकड़कर अपने बिल मे बन्द कर देता है। अथवा धन के लोभ से जैसे डाकू धनिकों को बन्द कर देते हैं। अथवा बगाल की स्त्रियाँ जादू से मेढ़ा बनाकर जसे पुरुषोंको घरके भीतर बन्द कर देती हैं। इसी प्रकार के वह अन्यान्य भी बहुत से उपद्रव करने लगा। लोगों ने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी से उसकी दुष्टता का समाचार कहा। भगवान्‌ने कह दिया—"भैया! वह तो बलदेवजी के भागका है। उससे मैं छेड़खानी न करूँगा। तब लोगोंने बलदेवजी से प्रार्थना की। बलदेवजी तो अपनी धुनि में मस्त रहने वाले थे। उन्हे लड़ाई भिड़ाई अच्छी नही लगती थी। भांग का गोला चढ़ाया मस्त होकर पडे रहे न ऊधो का लेना न माधो का देना हाँ, कोई आकर उनके कामोंमें विघ्न डाले, तब तो वे उसकी गति बना देते हैं। इसीलिये लोगों ने उनसे कहा—"महाराज! आप क्या घर में घुसे रहते है। देखिये आजकल रैवतक पर्वत पर कैसा आनन्द आ रहा है। किसी दिन वन विहार का भी कार्यक्रम रखो।"

बलदेवजी को इसमे क्या आपत्ति होनी थी। दूसरे दिन वनविहार की तैयारियाँ होने लगी। सेवकों ने प्रथम जाकर आमोद प्रमोद का सब प्रबन्ध कर दिया। बलदेवजी अपनी स्त्रियों के साथ वहाँ पधारे। नाच गानका भी वहाँ प्रबन्ध था महुए के फूल भी गिर रहे थे। वसन्त की सुखद सुहावनी ऋतु थी। यथेष्ट

मधुपान करके बलदेवजी आनन्द से गायन सुन रहे थे। वे
बीच में स्वयं भी गाने लगते।

जब उस वानर ने ताल स्वर सहित सुन्दर संगीत की सुम
ध्वनि सुनी, तब तो वह उसी शब्द को लक्ष्य करके रैवतक प
पर पहुँचा। वहाँ उसने देखा वृष्णिवंशावतंस बलभद्रजी वनिता
के बीच मे विराजमान हैं। वे सुन्दर स्वच्छ वस्त्रों को धा
किये हुए है उनके सभी अङ्ग सुन्दर हैं वे विकसित पद्मों
मालाओ को पहिने हुए हैं। मधुपान करने से उनके बडे
विशाल नेत्र अरुण वर्ण के बने हुए है। मधुके मद में मदमाते
बने मदमद मुसकरा रहे है। उनका बड़ा विशाल शरीर मदमा
गजराज के समान प्रतीत हो रहा है। वे कामिनियों के कलकठ
निकले गायन को सुख से श्रवण भी कर रहे हैं और स्वयं गा
रहे हैं। उस दुष्ट ने आकर बलदेवजी के रगमे भंग कर दी।
एक दुष्टता सूझी। वह समीप के ही एक विशाल वृक्ष पर
गया और वहाँ से स्त्रियों की ओर मुँह मटकाने लगा, किल
रियाँ मारने लगा तथा लगा वृक्षों को झकझोरने। युव
स्त्रियाँ स्वभावसे ही चञ्चल,हँसमुख तथा कुतूहल प्रिय होती है
उन्होने जब इस विचित्र वानर को यह सब उपद्रव करते देख
तो सबकी सब हँसने लगीं। उसकी खिल्लियाँ उडाने लगी
बलवान् पति के साथ रहने से उन्हें किसी प्रकार का भय
था ही नहीं।

इस पर वह वानर अत्यन्त ही क्रुद्ध हुआ उसने इसमे अप
अपमान अनुभव किया। वह स्त्रियो की ओर घुड़की देने लग
अपने गुह्य अंगों को दिखाने लगा तथा अन्य भी अनेकों प्रक
की अशिष्टता करने लगा। उसे इस प्रकार मुँह मटकाते अशि
व्यवहार करते देखकर बलदेवजी बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होने पास
पड़े एक पत्थर को उठाकर घुमाकर ज्योंही उसमे मारा, त्यों

वह वानर उछल गया। उछलने से लक्ष्य भ्रष्ट हो गया। पत्थर उसके नहीं लगा। वह तो उपद्रव करने पर तुला ही हुआ था। तुरन्त वह दौड़कर गया। बलदेवजी की सुन्दर बादाम पिस्ता पड़ी दूधिया मधुमिश्रित भांग एक कलशमें रखी थी। वह दुष्ट गया और उसने उससे घड़े को उठाका पटक दिया। भांग फैल गयी। भंगेड़ी की भांग फैल जाय, तो मानों उसका सर्वस्व ही नष्ट हो गया अब तो बलदेवजी के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। इतना करके ही वह दुष्ट शान्त न हुआ। वह स्त्रियों की साड़ियों को खींच ले गया। उनके टुकड़े टुकड़े कर डाले और गर्जना करता हुआ घुड़की देने लगा तथा बलदेव जी की ओर मुँह मटका मटका कर उन्हें चिराने लगा उनकी हँसी उड़ाने लगा।

अबतो बलदेवजी समझ गये, 'अरे' यह तो वही दुष्ट द्विविद वानर है। इसकी दुष्टता की बातें तो मैं बहुत दिनों से सुनता रहता हूँ। इस मदोन्मत्त ने तो बहुत से देशों को नष्ट किया है और मेरी भी उपेक्षा करता हुआ अवज्ञा कर रहा है। अच्छी बात है, मैं इसकी धृष्टताको अभी निकालता हूँ, अभी इसे इसकी अशिष्टता का फल चखाता हूँ।" ऐसा विचार कर उन्होंने अपने प्रधान अस्त्र हलमूसल को सम्हाला। वानर तो सावधान था, वह तो युद्ध करने ही आया था। बलदेवजी को हलमूसल सम्हालते देख वह भी ताल ठोककर लड़नेको झपटा उसने तुरन्त वहाँ खड़े हुए एक बड़े भारी शाल के वृक्ष को जड़से उखाड़ लिया और पूरी शक्ति लगा कर दौड़कर बलदेवजी के सिर में देही तो मारा। बलदेवजी अभी सम्हल भी नही पाये थे, कि उसने प्रहार कर दिया। अपने सिर पर वृक्ष को पड़ते देखकर बलदेवजीने बीचमें ही उसे पकड़ लिया। वे सुमेरु के समान अपने स्थान पर अडिग बने रहे। न तो भागे ही न घबराये ही। वृक्ष को तो उन्होंने बायें हाथ से खींचकर एक ओर फेंक दिया और दायें हाथ से उसके

सिर में अपने सुनंद नामक मूसल का एक प्रहार करही तो दिया। मूसल ने अपना काम किया। वानर के सिर को फूट की भांति फाड़ दिया। उसमे से रक्तधारा उसी प्रकार बहने लगी जैसे गेरू के पर्वत से बड़े वेग से लाल रग के जल का झरना झर रहा हो, किन्तु वह वानर तो बली था, उसने उस प्रहार को कुछ भी नही गिना उसने दूसरा वृक्ष उखाड़कर बलरामजी पर मारा। बलरामजीने ज्योंही उसे काटा त्योंही उसने तीसरा वृक्ष मारा। बलराम जी जब तक पहिले वृक्ष को काट भी नहीं सकते थे, तब तक वह दूसरा वृक्ष उखाड़ कर उनके ऊपर फेंक देता था, इस प्रकार वृक्षों को उखाडते उखाड़ते उसने सम्पूर्ण वनको वृक्ष हीन बना दिया। जब उस वन मे प्रहार करने योग्य बड़े वृक्ष नहीं रहे तो उसने पत्थरो का फेंकना आरम्भ किया। बलदेवजी उसके प्रहारोको व्यर्थ बनानेमे ही लगे रहते थे, वह अपने ऊपर प्रहार करनेका अवसर ही नही देता था।

जब उसने देखा, बलराम जी तो अपने सुनन्द नामक मूसल से वृक्ष,पर्वत तथा अन्यान्य वस्तुओं को चूर्ण कर देते हैं,तो उसने वृक्ष पाषाण आदि फेंकना बद कर दिया। अब वह ताल ठोककर द्वद युद्ध के लिये खड़ा हो गया अपनी बड़ी विशाल बाहुसे घूंसा बांध कर उससे बलभद्रजीके वक्ष.स्थलमे पूरी शक्ति लगाकर उसने प्रहार कर ही तो दिया। अब तो बलदेव जी की आंखे खुली। वे समझ गये वानर बड़ा बली है। उन्होने हल मूसल को तो रख दिया। झपट कर उसका टेंटुआ दबा दिया। अब तो बच्चूजी हुच्च हुच्च करने लगे। मुखमे से रक्त वमन करने लगे बलदेवजी बोले—"बता, आटे का क्या भाव है दाल का क्या भाव है ?"

अब उसकी वाणी निकलती ही नहीं थी, कटे वृक्ष के सदृश वह पृथिवी पर गिर गया उसके गिरते ही पृथिवी डगमगाने लगी। समुद्र का जल उछलने लगा। तालाब, सरोवरों का जल मर्यादा को अति क्रमण कर गया। उसके गिरने से जो 'धड़ाम' का शब्द हुआ उससे दशों दिशाएँ गूँजने लगीं। झंझावातमें जैसे नौका डगमगाने लगती है। वैसे ही पर्वत डगमगाने लगे। बलदेव जी ने एक घूँसा जमाया। उसीसे उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

उसके कारण सभी देवता, सिद्ध तथा ऋषि मुनि दुखित थे। इस कारण उसके मरते ही सभी बलदेव जी की जय जयकार करने लगे। नमो-नमः साधु साधु कहकर उनका अभिनन्दन करने लगे। आकाश से पुष्पों की वृष्टि होने लगी स्त्रियाँ चकित चकित दृष्टि से उस मरे हुए वानर के विशाल शरीर को निहारने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जगत् के कंटक रूप उस दुष्ट द्विविद वानर को मार कर बलदेवजी स्वजनों द्वारा प्रशंसित अपनी पुरी में आये। सभी ने उनके इस कार्य का अभिनन्दन किया। इस प्रकार मैंने बलदेवजी के द्विविद वानर वध का वृत्तान्त सुनाया। आज्ञा हो तो बलदेवजी के और भी चरित्र सुनाऊँ?

प्रसन्नता प्रकट करते हुए शौनकजी ने कहा—"अजी, सूतजी! चुपड़ी और दो दो, मीठा और भर कठौता। बलदेव जी के चरित्र सुननेकी तो हमारी बड़ी इच्छा है। हाँ, हाँ, महाभाग और कोई चरित्र सुनावें।"

सूतजी बोले—"अजी मुनिवर ! अब मैं बलराम जी के पराक्रम को सुनाता हूँ जो उन्होंने साम्ब के विवाह प्रसङ्ग हस्तिनापुर में किया था।"

छप्पय

तहाँ द्विविदने आइ करी अविनय घट फोरयो।
हल मूसल बल लयो मारि वानर सिर तोरयो॥
कपि तरु फेंकत काटि देहिं बल खल घबरायो।
द्वन्द युद्ध पुनि करयो पकरि बल गरो दबायो॥
हुच्च हुच्च करिबे लग्यो, मरि धड़ाम धरनी गिरयो।
साधु साधु सुर मुनि कहत, सबने बल आदर करयो॥

लक्ष्मणा हरण के समय साम्ब का बन्धन

(११३३)

दुर्योधनसुतां राजल्लँक्ष्मणां समितिञ्जयः ।
स्वयंवर स्यामहरत्साम्बो जाम्बवती सुतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ६८ अ० १ श्लोक)

छप्पय

अपर चरित बल सुनो करचो हथिनापुर जाई ।
जाम्बवती सुत साम्ब सुयोधन सुता उड़ाई ॥
गही स्वयम्वर माँहिँ चल्यो घेरचो कौरव पुनि ।
पकरि बन्द करि दयो भये क्रोधित यादव मुनि ॥
करिबे बीच बिचाव बल, हथिनापुर कूँ चलि दये ।
संकरषन सन्देश सुनि, कौरव अति क्रोधित भये ॥

बड़े लोग जहाँ तक होता है, झगड़े को बचाते हैं। वे चाहते हैं, दोनों पक्षोंमें एक सम्मान पूर्ण समझौता हो जाय। जब साम उपायसे किसी भी प्रकार उपद्रव शान्त नहीं होता,तब वे दण्ड का प्रयोग करते हैं। वे शक्तिभर युद्ध से बचना चाहते हैं,किन्तु जहाँ आत्मसम्मान को ठेस लगती हो, तहाँ वे संघर्ष से डरते भी नहीं निर्भय होकर अपने बलको प्रदर्शित करते हैं और विपक्षी

* श्रीशुकदेवीजी कहते हैं—"राजन् ! दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा को उसके स्वयम्वरसे जाम्बवती सुत युद्धविजयी साम्बने हरण किया ।"

के सिर पर पैर रखकर अपने सम्मान की रक्षा करते हैं। मनस्वी पुरुषों के लिये आत्म सम्मान की रक्षा करना सबसे प्रधान कार्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के लाखों पुत्र थे, सभी विवाह योग्य हो गये। जो जहाँ भी स्वयम्वर की बात सुनता वह वहीं दौड़ा जाता। जाम्बवती के पुत्रों में साम्ब सबसे सुन्दर था। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग मे सुन्दरता थी उसके लिये सुन्दरता अभिशाप हो गयी। सुन्दरता के पीछे ही उसे कोढ़ी हो जाना पड़ा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! साम्ब को कुष्ट कैसे हो गया।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! अब ये सब बातें कहने कहाने की हैं नहीं। यह सौन्दर्य ऐसी प्रज्वलित अग्नि है, जिसकी ज्वाला मे न जाने कितने जल जाते हैं। अति सुन्दरी स्त्री की रक्षा करना बड़ा कठिन हो जाता है। अति सुन्दर पुत्र को वशमें रखना दुस्साध्य हो जाता है। साम्ब के सौंदर्य को देख भगवान् की अन्य पत्निओं का भी चित्त चञ्चल हो गया था अतः स्वयं भगवान् ने ही अपने पुत्र साम्ब को कोढी हो का शाप दे दिया था। पीछे सूर्यदेव की उपासना से उनका रोग दूर हुआ। अस्तु कहने का सारांश इतना ही है, कि सा देवपुत्रों से भी अधिक सुन्दर था।

एक दिन उसने सुना हस्तिनापुर के दुर्योधन की कन्या लक्ष्मणा बड़ी ही सुन्दरी है। उसका स्वयम्वर होने वाला है इतना सुनते ही वह रथ मे बैठकर बिना किसी से कहे चुपके हस्तिनापुर को चल दिया। उसने सोचा—"मेरे और भी ला भाई हैं। उन सबकी भी इच्छा हुई, वे भी स्वयम्वर में गये और कन्या ने उन्हें ही वरण कर लिया,तब तो गड़बड़ी

जायगी। घर में ही कलह मच जायगी, इसलिये किसी से कहो ही मत। चुपके से चलकर दाव मार लावे और वहू सहित आकर सबको चकित करे।" यही सोचकर वह अकेला ही चला गया।

स्वयम्वर में जाकर साम्बने देखा यहाँ तो वड़े-वड़े राजकुमार आये हुए है। लाखो राजा और राजकुमार सजेबजे कन्या की आशा से चातक की भाँति आशा लगाये वैठे है। साम्व ने सोचा न जाने कन्या किसे वरण करले इसलिये जो पहिले हाथ मारले जाता है उसीके हाथ खेत रहता है। यही सोचकर उसने कन्या के वरण की प्रतीक्षा नहीं की। ज्योही जयमाला लेकर राजकुमारी लक्ष्मणा निकली त्यों ही साहसी साम्ब ने उसेउ ठाया, रथ पर बिठाया और भाग चला। लड़की को उठाकर भाग जाना यह तो इनके कुल का सदाचार ही है। पिता आदि वड़े जो करते है, लड़के भी उन्ही के कार्यो का अनुकरण करते है।

मानी दुर्योधन ने तथा उसके सभी भाई वन्धुओं ने इ: में अपना घोर अपमान समझा। सवके सव कौरव कुपित हुए और कहने लगे—"ये श्रीकृष्ण का लडका वड़ा धृष्ट अविनयी और मूर्ख है। भला वताओ इस नीच ने ऐसा साहस किया कैसे। कन्या उसे चाहती होती, उसे वरण कर लेती, तो एक वात भी थी। यह तो इसने महान् नीचता का काम किया। इसने हम लोगों को कुछ समझा ही नहीं। इस दुर्विनीत छोकरे को पकड़ कर वाँधलो। इसके हाथ पैरों में वेड़ी डालकर वन्दी गृह में इसे रख दो।"

किसी ने कहा—"भाई, सोच समझकर कार्य करना चाहिए। इसे वाँधने का अर्थ होता है, यादवों से वैर करना। यादव कभी इसे सहन न कर सकेंगे। सुनते ही वे सव सैन्य सजाकर लड़ने आवेंगे। रक्तपात होगा, कलह का वीज वो जायगा।"

इसपर दुर्योधनने कहा—"अजी, तुम कैसी बात करते हो। यादव कोई सिंह है जो हमे खा जायँगे। कोई राजा हो,तो उसके सम्बन्ध में सोचा भी जा सकता है। यादव तो विशुद्ध क्षत्रिय भी नही। उन्हें राजसिंहासन पर बैठने का, छत्रचँवर लगाने का अधिकार ही नही। ये जो द्वारका में बैठकर अपने को राजा माने बैठे है, यह हमारी ही कृपाका फल है। हमने ही उपेक्षा कर रखी है, कि कुछ पृथिवी के भाग का ये भोग करते है, तो करने दो, किन्तु इसका अर्थ यह थोड़े ही हैं, कि ये हमारे सिर पर आकर चढ़ें। मर्यादा का अतिक्रमण करें। यदि साम्बका बन्धन सुन कर सैन्य सजाकर वे आते है तो आयँगे। वे यहाँ आते ही उसी प्रकार शान्त हो जायँगे जैसे विपुल जल पाकर अग्नि शान्त हो जाती है। खीर हलुआ पाकर भूख शान्त हो जाती है, अथवा अग्निको पाकर सरदी शान्त हो जाती है। या प्राणायामादि उपायों द्वारा चित्तके एकाग्र होने पर इन्द्रियाँ शान्त हो जाती है। हमें यादवों का तनिक भी डर नहीं है, किन्तु इस विषय में अपने बड़े बूढो से भी सम्मति ले लेनी चाहिये। हमारे कुल में सबसे वृद्ध भीष्म पितामह है, उनसे अनुमति और लेलो और इस अशिष्ट बालक को बाँध लो।"

यह सुनकर सभी रोष में भरे हुए वृद्ध भीष्म पितामहजी के निकट गये और उनसे बोले—"पितामह! देखिये, श्रीकृष्ण के उस रोहिनी के छोकरा ने हम लोगों का कैसा अपमान किया है। बलपूर्वक स्वयम्वर की रंगभूमि से अकामा कन्या को उठा ले गया है। हम सब उसे बाँधना चाहते हैं, आपकी क्या आज्ञा है?"

भीष्म पितामह ने सब सुनकर मन ही मन सोचा—"जिनके संरक्षक श्यामसुन्दर हैं, उन्हें भला कौन बाँध सकता है, किन्तु ये जो करना चाहते हों उसे कर लेने देना चाहिए। अन्त में तो

साम्बका विवाह लक्ष्मणा के साथ निश्चित ही है।" यही सोचकर वे बोले-"लड़के ने अवश्य ही बहुत धृष्टता की है, उसे कभी भी क्षमा न करना चाहिए।" इतना सुनते ही सब का रक्त उबलने लगा। सभीने धनुषबाणो से सुसज्जित होकर साम्ब का पीछा किया। कर्ण, शल, भूरिश्रवा, यज्ञकेतु, दुर्योधन तथा उसके अन्यान्य भाई बन्धु साम्ब को पकड़ने चले। कुछ दूर चलकर उन सबनें साम्ब को घेर ही तो लिया।

साम्बने जब कौरवों को युद्ध के लिये आते देखा, तो वे न तो घबराये ही और न डरकर भागे ही। धनुषबाण तानकर वे भी युद्ध के लिये सिंह के सदृश डटकर खड़े होगये। अब क्या था होने लगी दोनों ओर से सर्र फर्र कौरव कहते-"खडा तो रह।" साम्ब कहते—"खड़ा तो हूँ आजाओ।" दोनो ओर से बाणों की उसी प्रकार वर्षा होने लगी जैसे प्रलयके समय सावर्तक मेघ वर्षा करते है। साम्ब कुछ कम नही थे। वे भी बड़े वीर थे। वे उनके अपमान को कैसे सह सकते थे। सिंहके बच्चे से मृग चाहे कितनाही बड़ा हो फिर भी वह मृगोसे डरकर भागता नही। वे कौरवों के प्रहारोंको दृढ़ताके साथ रोकते साथ ही उन पर प्रहार भी करते। इधर कर्ण दुर्योधन, शल, भूरिश्रवा आदि छै महारथी थे, उधर अकेले साम्ब थे। ये छै एक बार जितने बाण छोडते उनका वे एक साथ प्रतीकार भी करते साथ ही छओं पर एक साथ प्रहारभी करते। उन्होंने इन कौरव पक्षीय वीरों के बाण मार मार कर रथों को तोड़ दिया घोड़ोंको घायल कर दिया और सारथियों को मारदिया। दुर्योधनादि वीर इस बालक के [illegible] पराक्रम को देखकर परमविस्मित हुए। उनका हृदय [illegible] देखकर भर आया। वे कहने लगे—"यह [illegible] किन्तु बड़ा खोटा है। इसने हम [illegible]

से टक्करली।" इस प्रकार वे विपक्षी वीर भी इनकी वीरता की मन ही मन प्रशंसा करने लगे।

अब उन्होंने सोचा--"धर्म युद्ध करके तो हम इससे जीत नही सकते। वैसे लड़की लेकर भाग जाता तो उतनी बुराई नही थी। जब हम छै वीरों ने इसका पीछा किया और यह अकेला हम छैओं को हराकर कन्या ले गया, तब तो हमारे मुख पर कालिख पुत जायगी। फिर तो हम किसी को मुख दिखाने योग्य भी न रहेगे।" यही सोचकर उन सबने धर्म का विचार छोड़ दिया। सबके सब अकेले उस साम्ब पर टूट पड़े। चारों ने मिलकर साम्ब के चारो घोड़ों को मार डाला। एक ने बड़े कौशल से सारथी का वध कर दिया। एक ने अर्ध चन्द्राकार बाण छोड़कर साम्ब के धनुष को काट दिया। अब तो साम्ब रथहीन हो गये। उनपर धनुष भी नही रहा। पीछे से किसी ने झपट कर उन्हें पकड़ लिया और रस्सियों से बाँध लिया। कन्याको दूसरे रथ पर बिठा लिया। साम्ब को बाँधकर अपनी जय का डंका बजाते हुए कौरव हस्थिनापुर में आये। साम्बको तो बन्दीगृह में डाल दिया। लक्ष्मणा को महलों में भेज दिया। स्वयम्वर का कार्य स्थगित कर दिया गया।

इधर नारदजी भी स्वयम्वरके समय हस्थिनापुर में आये थे। देखने चले आये होंगे, कि देखें स्वयम्वर में कन्या किसे वरण करती है। जब उन्होंने देखा भगवान् के पुत्र को कौरवोंने बन्दी बना लिया तो उन्हें द्वारका जाने का एक अवसर मिल गया तुरन्त दौड़े दौड़े द्वारका आये। यादवों की सभा लगी हुई थी, उस समय किसी घरेलू विषय पर उत्तेजना पूर्ण वाद विवाद हो रहाथा। उसी समय सब नारद जी की वीणा की धुनि सुनकर चौंक पड़े। सभीने देवर्षिका स्वागत किया। मुनिने बैठते ही

कह—"अरे, तुम क्या छोटी छोटी बातों के विवाद में फँसे हुए हो। तुम लोगों की तो नाक कट गई।"

चौंककर प्रद्युम्नजी ने पूछा—"कैसे नाक कट गई महाराज ! आप तो ऐसे ही अद्भुत समाचार लाते हैं। सुने भी तो सही क्या हुआ ?"

नारदजी बोले—"हुआ क्या भाई ! तुम्हारे भाई साम्ब को कौरवों ने अधर्म पूर्वक बन्दी बना लिया है। वह बालक अकेला था, उससे छै छै माहारथी भिड़ गये। जैसे तैसे रथहीन करके उसे पकड़ लिया।"

लोगोंने कहा—"महाराज ! बात क्या थी, साम्बने ऐसा कौरवों का क्या अपराध किया था ?"

नारदजी बोले—"बात कुछ नहीं थी। उसने तो अपने कुल धर्मका पालन किया। जो उसके पिता करते रहे। भाई करते रहे, भतीजे करते रहे। वही उसने किया दूसरे की लड़की को सबके सामने लेकर भागा था। कौरवोंने समस्त यादवोंको बुरा-भला कहा और उसे पकड़ले गये। यादवों के सम्बन्ध में उन्होंने जैसी कहवनी अनकहनी बातें कहीं, उन्हें अब मैं क्या कहूँ ?"

इतना सुनते ही सबके सब यादव कुपित हो उठे वे आपस में कहने लगे—"कौरव हमारे सामने है हो क्या ? हम चलकर उन्हें उनकी अशिष्टता का फल चखावेंगे। साम्ब को बाँधकर उन्होंने हमारा घोर अपमान किया है। अभी सेना सजाई जाय, आज ही कौरवों पर चढाई कर दी जाय। हमे पूर्ण आशा है महाराज उग्रसेन हमें इसके लिये आज्ञा देंगे।"

बूढ़े उग्रसेन ने भगवान् की ओर देखा, वे चुपचाप बैठे हुए सब की बातें सुन रहे थे। प्राचीन सदाचार था कि बड़ों के सामने लोग अपने पुत्रोंको गोदमें नहीं लेते थे। उनसे प्यार नहीं करते थे वे लोग कोई वस्तु मांगते थे. तो उन्हें बड़ों के

समीप भेज देते थे और उनके विवाह आदि की बात छिड़ते ही पृथक् हो जाते। पूछने पर कह देते थे "हम क्या जानें बड़े बूढ़ों से पूछो, वे जो कहेंगे वही होगा। बड़ों के रहते किसी उत्सव पर्वों पर अपना नाम नहीं लिखते थे। सारांश जब हमारे भी बड़े उपस्थित है, तो हमें अपने और अपनी सन्तानों के विषय में सोचने का क्या अधिकार है। परिवार में जो बड़े बूढ़े होते थे, उन्ही की चलती थी। इसलिये भगवान् साम्ब के पकड़े जाने के सम्बन्ध में कुछ बोल नहीं रहे थे। उग्रसेन है, वसुदेवजी हैं, बलदेवजी है तथा अन्यान्य वृद्ध यादव है, वे जो करेंगे वही होगा। भगवान् को मौन देखकर उग्रसेनजीने कहना आरम्भ किया—"यह अकेले साम्ब का ही अपमान नही है। समस्त यदुवंश का अपमान है, इसलिये मेरी सम्मति में कौरवों पर अवश्य चढ़ाई कर देना चाहिये। जब तक साम्ब को छुड़ाया न जाय,तब तक हमें एक क्षण भी शान्त होकर बैठना न चाहिए।"

उग्रसेनजी की बातों का सभी युवक यादवों ने जय घोष करके समर्थन किया। युद्ध के लिये उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग फड़कने लगे। वे तुरन्त ही हस्तिनापुर चलने को शीघ्रता करने लगे। कोई सेनापतियो से कहते—"अब शीघ्र ही सेना सजाई जाय।"

उन युवकों को युद्ध के लिये अत्यन्त उत्सुक देखकर बलभद्रजी खड़े हुए और बोले—"इस सम्बन्ध में मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।"

उग्रसेनजी ने उत्सुकता के साथ कहा—"हाँ,हाँ, कहिये।"

इस पर बलदेवजी ने कहा—"देखो, भाई! इस सम्बन्ध में व्यर्थ उतावलापन न करना चाहिए कौरवों से हमारा पुराना सम्बन्ध है, उनसे हमारा युद्ध होना उचित नही। इतने राजाओं से हमारी शत्रुता है। कौरव हमारे शत्रु नही मित्र हैं। उन पर सहसा चढ़ाई करना शोभा नहीं देता।"

इस पर एक युवक यादव बोला—"यह काम तो शत्रुता का ही किया है। शान्ति की भी कोई सीमा होती है। हमें क्या उन्होंने निर्बल समझ रखा है। यह तो हमारा घोर अपमान है।"

बलदेव जी गम्भीरता के साथ उस यादव कुमार को समझाते हुए कहा—"भैया! अभी तुम्हारा नया रक्त है, तुम बिना पूर्वापर का विचार किये उत्तेजित हो जाते हो। जब तुम किसी की लड़की को बल पूर्वक हर ले जाओगे, तो वह उसका प्रतीकार न करेगा। उसकी कुछ मान मर्यादा नहीं है। मनुष्यों को दूसरों का राई भर दोष तो तुरन्त दिखाई दे जाता है, किन्तु अपना सुमेरू के सदृश दोष भी दिखाई नहीं देता। साम्ब को ऐसा लड़कपन करना ही नहीं चाहिए था। उसे विवाह करना था, तो हमसे कहता। यहाँ से सेना ले जाता। राक्षस विवाह क्षत्रिय के लिये विहित है, किन्तु उसके लिये बल भी तो चाहिए। अस्तु—कोई बात नही आप लोग शान्त हों, मैं अकेला हस्तिनापुर जाता हूँ। वहाँ मैं सबको शान्ति के साथ समझाऊँगा दुर्योधन मेरा शिष्य है, वह मेरी बात टालेगा नही। भीष्म पितामह वृद्ध है, वे आगे पीछे की सब सोचते हैं। यथा शक्ति मैं ऐसा ही प्रयत्न करूँगा कि बिना कलह के ही झगड़ा शान्त हो जाय। यदि ऐसा न हुआ। बल प्रयोग करना पड़ा, तो इसके लिये मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ इतनी बड़ी सेना सजाकर हस्तिनापुर जाने की क्या आवश्यकता है?"

महाराज उग्रसेन ने कहा—"हाँ, हाँ, यह उत्तम है। बलदेवजी जाकर ही इस झगडे को शान्त कर दें। बात को बहुत बढ़ाना उचित नहीं। तनिक सी बात पर उत्तेजित हो जाना बुद्धिमानी नहीं। जो गुड़ देने से ही मर जाय, उसके लिए विष प्रयोग क्यों किया जाय।"

यह सुनकर युवकों को बड़ी निराशा हुई। एक ही तो युद्ध का अवसर आया था, वह भी बलभद्र जी के कारण टल गया, किन्तु करते क्या राजा की आज्ञा है। सब शान्त हो गये। अब कलिकलुष विनाशन बलदेवजी हस्तिनापुर जाने को उद्यत हुए। उन्होंने बड़े-बड़े विद्वान् अनुभवी वृद्ध ब्राह्मणों को साथ लिया कुछ कुटुम्ब बड़े बूढ़े शान्ति प्रिय लोगों से भी साथ चलने का आग्रह किया। जिस प्रकार तारागणों से घिरे चन्द्रदेव चलते हैं उसी प्रकार बलदेव जी सब वृद्धों और विद्वान विप्रों से घिरे हुए हस्तिनापुर की ओर चल दिये। भगवान् के आत्मसचिव उद्धवजी भी उनके साथ थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हस्तिनापुर के समीप पहुँचकर बलदेव जी ने नगर से बाहर एक उपवन में अपना डेरा डाला वहाँ स्वस्थ चित्त से बैठने के अनन्तर उन्होंने उद्धवजी से कहा "उद्धव! अब तुम हस्तिनापुर में चले जाओ और वहाँ जाकर भीष्म पितामह, धृतराष्ट्र, विदुर, दुर्योधन तथा अन्यान्य कौरवों से मेरे आने का समाचार कहो। पहिले यह देखना चाहिए हमारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं?"

उद्धव जी ने कहा—"जैसी आज्ञा।" यह कहकर उद्धव जी तुरन्त हस्तिनापुर में गये। संयोग की बात कि उस समय कौरवों की सभा लगी हुई थी। उसमें धृतराष्ट्र भीष्मपितामह,द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बह्लिक सभी बैठे हुए थे। वहाँ जाकर उद्धवजी ने सब को यथा योग्य प्रणामादि करिके कहा—"श्री बलराम जी यहाँ पर आप लोगों के यहाँ पधारे हुए हैं। वे नगर के बाहर उपवन में ठहरे हुए हैं। उन्होंने मुझे आपके समीप सूचना देने के लिए भेजा है। अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अपने प्रिय सुहृद बलदेव जी के पधारने का समाचार सुनकर सभी कौरव पक्षीय पुरुष अति प्रसन्न हुए। वे माङ्गलिक वस्तुओं को सजाकर बड़ी धूमधाम से बलदेव जी का स्वागत सत्कार करने चले। अब दोनों पक्षों में जैसे बातें होंगी। उसका वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

बल बोले—"सब सुनो, शान्ति के हित हौं आयो।
उग्रसेन भूपाल अधिपने मोंइ पठायो॥
आज्ञा तुमकूँ दई साम्बकूँ छोड़ो अब तुम।
कौरव यादव एक रहें चाहत यह सब हम॥
भूल समुझि माँगो क्षमा, बिगरी फिरि बनि जायगी।
तुरत पठायो वर वधू, नहीं बात बढि जायगी॥

कौरव और संकर्षण

(११३१)

यस्यांघ्रि पङ्कजरजोऽखिललोकपालै-
मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थ तीर्थम् ।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क ॥

(श्रीभा० १० स्क० ६८ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

सुनिकें कौरव कुपित भये बोले—'यादव सब ।
भूपति बनिकूँ पतित देहिं हमकूँ आयसु अब ॥
नीच, भगोड़े फिरें नेक नहिं इनकूँ लाजा ।
मारे मारे फिरत भये अब माठू राजा ॥
हमने ही ऊँचे करे, संग बिठाइ खवाइ कें ।
सत्य कहत मुनि विष बढ़त, पय पन्नगनि पिआइकें ॥

जब मनुष्य ऐश्वर्य के मद में मतवाला बन जाता है, तो अं

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कौरवों की अविनय से कुपि होकर बलदेवजी कह रहे हैं—"जिन श्रीकृष्णचन्द्रजी की चरण रज सं द्वारा सेवित है, जो गङ्गादि तीर्थों को भी तीर्थ बनाने वाली है, जि समस्त लोकपाल गण अपने मुकुट मण्डित मस्तकों पर धारण करते हैं जिसे उनके ही अंश के अंश से उत्पन्न होकर लक्ष्मी जी, ब्रह्माजी, शिवज तथा हम जैसे निरन्तर धारण करते हैं । उन श्रीकृष्ण के लिये राज सिंहासन का क्या महत्व है ?"

संट बकने लगता है। किन्तु जब उसका कोई मद चूर्ण करने वाला मिल जाता है,तब उसकी आँखें खुलती है। तब उसे अपने किये पर पश्चात्ताप होता है। तब उसकी बुद्धि ठिकाने आती है और विनयावनत होकर अपने अपराधोके लिये क्षमा याचना करता है। अपराध स्वीकृति भगवान्‌की कृपाके बिना हो नहीं सकती। जिन्हें धन, जन, विद्या, बुद्धि, कल, कौशल, अधिकार तथा तपका अभिमान है, वे अपने अपराधको भी उचित ही बताते है। उनमें अपराध को अपराध मानने की क्षमता ही नही रहती। जिनमें आत्मदोष दर्शनकी भावना जितनी ही अधिक होगी, वे भगवत् कृपा का उतना ही अधिक अनुभव करने वाले होंगे, दिखावे के लिये नही, भय अथवा दम्भादिसे नही सच्चे हृदयसे अपने कृत्यपर पश्चात्ताप होना यही भगवत् कृपाका लक्षण है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कौरवोंने जब बलदेवजी का शुभागमन सुना तो वे पूजाकी सब सामग्री तथा गौ लेकर नगर के बाहर उपवनमें जहाँ वे ठहरे हुए थे, वहाँ गये। सबने अपनी अपनी आयु, सम्बन्ध तथा छोटे बड़े नातेसे उन्हें प्रणाम नमस्कार आदि किया। सब प्रसन्नता पूर्वक बैठ गये। दुर्योधन ने बलदेवजी की पूजीकी उन्हें गौ अर्पणकी अर्घ्य दिया और अक्षत धूप, दीप, वस्त्र फल फूल आदि अर्पण करके उनका आतिथ्य सत्कार किया। दुर्योधनकी पूजाको शास्त्रीय विधिसे स्वीकार करके बलरामजीने सबका आदर किया। जो अवस्थासे सम्बन्धमें बड़े भी थे, उन्होंने भी बलरामजी का महत्व समझ कर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया।

बलदेवजीने पूछा—'कहो, भाई! सब कुशल मङ्गल है न? आपका राजकाज भली भाँति चलता है न? प्रजाके सब लोग सन्तुष्ट हैं न? आपके मन्त्री, पुरोहित, भृत्य, सेवक तथा सेनाके

लोग कर्तव्य समझ कर लगन के साथ कार्य करते हैं न ?

दुर्योधनने कहा—"महाराज ! सब आपकी कृपा है। द्वारका में तो सब कुशल पूर्वक है न ? महाराज उग्रसेन, वसुदेवजी, भगवान् श्यामसुन्दर उनके पुत्र पौत्र तथा अन्यान्य यादव गण आनन्द पूर्वक तो हैं न ? आपने बड़ी कृपा की जो हमें दर्शन दिये।"

बलरामजीने कहा—"हाँ सब कुशल पूर्वक हैं। मैं एक विशेष कार्यसे आप सबके समीप आया हूँ। मैं अबकी बार अपनी ओरसे नहीं आया हूँ। मुझे महाराजाधिराज उग्रसेनने आप लोगोंके आस एक आज्ञा पत्र देनेको भेजा है। आप उनकी आज्ञाको सावधान होकर श्रवण करें। और सुनकर अविलम्ब ही उसका पालन करें।"

उग्रसेनने हमारे लिये आज्ञा भेजी है,यह सुनते ही कौरव आग बबूला हो गये,क्रोधके कारण उनकी भौहें तन गयीं,किन्तु बलदेवजी रुके नहीं और न उनके बचनोमे ही कोई दीनता आयी, वे निर्भीक होकर कहते ही गये—"देखो, तुम लोगोंने बड़ा अन्याय किया है। युद्ध धर्मका उल्लङ्घन किया है। धर्मयुद्ध में एक व्यक्ति के साथ एक ही लड सकता है। तुम छै महारथियोंने मिलकर उस बच्चे साम्बको घेर लिया और उसे अधर्म पूर्वक जीतकर बाँध लिया। ऐसा करना युद्धके धर्मों के सर्वथा विरुद्ध है। यह काम तो आप लोगों ने शत्रुता का किया है, किन्तु हमारे आपके से अच्छे सम्बन्ध रहे हैं। हम नहीं चाहते, इस छोटी सी बात पीछे विवाद बढ़े। हमारी तुम्हारी एकता नष्ट हो। इस इच्छा महाराजने मुझे भेजा है। अब जो हुई सो हुई। अतः आप लो अपने अपराधके लिये क्षमा याचना करें। और साम्बको व सहित तुरन्त भेज दें।"

इतना सुनते ही कौरवों का कोप सीमाको अतिक्रमण क गया। बलदेवजी को सीधा तो किसीने उत्तर दिया नहीं, ि

उन्हें सुनाते हुए परस्परमें कहने लगे। बलरामजी के बचनों में दीनता नहीं थी। उनमें भय, अथवा संकोच का भाव नहीं था। वे वीर्य, शौर्य और बलके उत्कर्षसे परिपूर्ण थे। वे उनके अनुरूप ही वचन थे, किन्तु कौरवोंने इसमें अपना घोर अपमान समझा। उनमेंसे एक सूखी हँसी हँसता हुआ कहने लगा—"देखो, भाई संसार बड़ा विचित्र है। अब तो कलियुग आगया। पहिले युगों में पैरकी जूती पैरसे रहती थी, माथेका मुकुट माथे पर रहता था, परन्तु समयकी बलिहारी है आज पैरकी जूती मुकुट मंडित मस्तक पर चढना चाहती है"

दूसरे ने कहा—"सो कैसे ?"

वही दांत पीस कर बोला—"नीचोंको किसी तरह बढ़ा भी दो तो वे अपनी नीचता छोड़ नही सकते। अब इन यादवों को ही देखो। महाराज ययातिने अपने पांच पुत्रोंमें से चार को शाप दे दिया था, राज्य भ्रष्ट कर दिया था वर्णाश्रमसे बहिष्कृत कर दिया बडे पुत्रको राज्य न देकर सबसे छोटे पुत्र पुरुको राज्य दिया था। पुरुवंशी क्षत्रिय ही विशुद्ध क्षत्रिय माने जाते हैं। शेष द्रुह्यु, तुर्वसु और अनु ये लोग भारतवर्षके बाहर चले गये और वहाँ जाकर म्लेच्छ, यवन, दर्दुर, कंक खश तथा अन्यान्य अनार्य जातियाँ राजा बन गये। ये लोग वर्णाश्रमसे बहिष्कृत माने जाते हैं। सबसे बड़े यदु यहीं भारतवर्षमें रह गये उन्हींके वंशज ये यादव हैं। इनको न राज्यासन पर बैठनेका अधिकार है न अपने को क्षत्रिय कहलाने का। क्षत्रियों से इनकी रोटी बेटी का भी सम्बन्ध नही। ये लोग अपने ही वंशमें-आपसमे विवाह करते थे। हमारे पूर्वजोंने बड़ी भूल की इनके साथ सम्बन्ध कर लिये। महाराज पांडुका विवाह कुन्तीसे कर लिया। उन्होने सोचा होगा 'स्त्रीरत्नम् दुष्कुलादपि।' स्त्री रत्न यदि अपने से नीच कुलमें भी हो तो उसे ले लेना चाहिए। इस प्रकार हम पुरु वंशियों और यदु

वशियोसे सम्बन्ध होना आरम्भ हो गया। अब ये लोग हमारे यहाँ आने जाने लगे। पहिले तो हम इनसे वैसा ही व्यवहार करते। जब सम्बन्धी हो गये, तब शनैः शनैः उठ बैठने लगे, खाने पीने लगे। फिर इन लोगोने उग्रसेनको अपना राजा ही घोषित कर दिया। हम लोगोंने भी उपेक्षा कर दी। अच्छा है ये भी कुछ भूखण्डका राज्य भोगें। यद्यपि यह इन लोगोंने नई प्रथा चलाई थी। उग्रसेनके पूर्व यादवोंमें कोई चमर छत्र धारण करके राजा नहीं बना था कस यद्यपि बड़ा प्रतापी राजा था। राज छत्र तथा चँवरादि चिन्ह उसने भी धारण नहीं किये थे। उसने पचायतराज्यको समाप्त करके एकाधिपत्य स्थापित किया था धारा सभा और शासन सभाको भंग कर दिया था। किन्तु श्रीकृष्णके कहनेसे उग्रसेन तो यादवोंके नियमित राजा मान लिये गये। यह सब हुआ हमारी ढील ढालसे ही। यदि उस समय हम कड़े पड़ जाते और डाँटकर कह देते कि तुम ऐसा दुस्साहस क्यों कर रहे हो? क्यो यह नई प्रथा चला रहे हो? क्यों कुलाचारके विरुद्ध कार्य कर रहे हो? तो इनका साहस न होता। किन्तु हम कुछ बोले नहीं। उसका परिणाम यह हुआ कि ये लोग चमर, व्यजन, शङ्ख, श्वेत छत्र, राजमुकुट तथा राज सिंहासन आदि जो राजाओके चिन्ह है उन्हें धारण करते रहे। राजसी आसन शय्या आदिका उपभोग करते रहे। उसीका यह परिणाम है कि यह कलके बने बनावटी राजा हम पर ही अपनी आज्ञा चलाते हैं। हमें आदेश देते हैं डराते हैं धमकाते हैं।"

इस पर एक दूसरेने व्यंगके स्वरमें कहा—"कैसे भी हो अब तो ये राजा ही नहीं राजाधिराज बन गये हैं। जब ये राजाओंके राजा हैं, तब इन्हे राजाओं पर शासन करनेका अधिकार है ही। जब तुमने उपेक्षा करके इन्हें बढ़ा दिया, तो इनकी आज्ञा मानो।" इस पर दाँत पीसता हुआ दूसरा बोला—"भूल तो हमारी ही हुई,

कि इन नीचों को इतना बढ़ा दिया। हमें आशा थी, ये राज्य पाकर हमारे अनुकूल रहेंगे। हमारे सदा आभारी बने रहेंगे, किन्तु ये तो कृतघ्न ठहरे। जिस पत्तलमें खाते हैं, उसीमें छेद करते है। कुत्ते को भूँकना सिखाओ वह स्वामी को ही काटने दौड़ता है। सर्प को दूध पिलाओ तो सात्विक प्रकृति का थोड़े ही बनेगा, उसका और भी विष बढ़ेगा। यही दशा इन यादवों की है। जिन्होंने इनको राज्य चिन्ह दिये, अब ये उन्हीके प्रतिकूल आचरण कर रहे है। दाता को ही तुच्छ समझकर आज्ञा दे रहे है। इसका एक मात्र उपाय यही है कि अब इनसे छत्र चामरादि राज्य चिन्ह छीन लेने चाहिये। फिर इन्हें वैसा ही राज [illegible] देना चाहिये। ये लोग राज्य चिन्ह धारण करने के [illegible] नहीं। इनके यहाँ के छोकड़े का दुस्साहस तो देखो, वह [illegible] के साथ विवाह करने का मनोरथ करता है। [illegible] छोटे मोटे नही। पुरुवंशी राजाओं के [illegible]। [illegible] धृष्टता का फल मिल गया, तो अब वे [illegible] मूँछों पर ताव देकर। ये बड़ बड़ा [illegible] है कि [illegible] वह आज्ञा दी है, वह आज्ञा दी है। [illegible] को [illegible] कहनेमें लाज भी नही लगती। हमने ही [illegible] और हमें ही आज्ञा देने चले है?"

पृथक रही,इनसे तो देवताओंके राजा इन्द्र भी नही जीत सकते।" चलो इस मतवाले सुरापी को वकने दो। देखे,ये हमारा क्याकरते हैं'

सूतजी कहते है-"मुनियो ! कौरवो को अपनी कुलीनता का, अपने वल ऐश्वर्यका अत्यधिक अभिमान था। वे यह नहीं समझते थे कि ये रामकृष्ण दोनों साक्षात् ईश्वर हैं। इसीलिये वे ऐसी कठोर कठोर वाते वलरामजीसे कहकर, विना उन्हें प्रणाम नमस्कार किये असभ्यता पूर्ण ढँगसे उठकर अपने नगरमें चले गये।

कौरव उनके साथ भी ऐसा अशिष्ट व्यवहार करेंगे, इसकी वलभद्रजी को स्वप्नमें भी आशा नहीं थी। उनकी इस कुटिलता को देखकर तथा उनके ऐसे दुर्वचनों को सुनकर वलभद्रजी को वड़ा क्रोध आया। वे वार वार सूखी हँसी हँसते हुए उद्धवजी से कहने लगे। यद्यपि वे ऊपरसे तो हँस रहे थे, किन्तु भीतर ही भीतर उनके रोम रोममें क्रोध व्याप्त हो रहा था क्रोधके आवेश से उनकी सौम्य आकृति अति उग्र वनी हुई थी। वे वैशाख ज्येष्ठ के मध्यान्ह के सूर्यके सदृश प्रचण्ड और दुर्दर्शनीय वने हुए थे। वे कहने लगे—"उद्धव ! देखो, सान्वके पकड़ने की वात सुनकर समस्त यादव कितने कुपित हो गये थे। मैंने जैसे तैसे समझा बुझाकर उन्हें शान्त किया। मैं चाहता था,यादवों में और कौरवों में कलह न हो, सदा शान्ति वनी रहे। हमारे इनके सम्वन्ध मित्रता पूर्ण वने रहें। किन्तु इन्हें तो अपने श्रेष्ठ कुलका वड़े भारी कुटुम्बका तथा अपनी विपुल सम्पत्तिका अत्यधिक मद हो गया है। एक ही मदके कारण उन्मत्त व्यक्ति कितने अनर्थ कर डालते हैं, फिर जिनको नाना प्रकार के मद हैं, ऐसे खल पुरुष शान्ति नही चाहते। उनसे यदि कोई शान्ति की वात कहता है, तो वे समझते हैं, यह हमसे डरकर ऐसी वातें कर रहा है। इसलिये ये शान्तिके प्रस्तावको ठुकरा देते हैं और शान्ति की इच्छा रखनेवाले का अपमान करते है। ये लोग ऐसे मानने वाले नही है।"

उद्धवजीने कहा—"तब क्या किया जाय ?"

बलदेवजीने रोषके स्वरमें कहा–"किया क्या जाय। लातों का देव बातोंसे नहीं मानता। पशुओंको डंडे द्वाराही वशमें किया जाता है। ये मूर्ख पशुओंके ही समान हैं। तभी तो इन्हें मेरी शान्तिकी बात अच्छी नहीं लगी। श्रीकृष्ण तो युद्धके लिये तत्पर ही था। जैसे तैसे उसे समझा बुझाकर मैं यहाँ आया था। किन्तु इनकी उद्धतता तो देखो, मेरे मुखपर ही इन्होंने कैसे कैसी कठिन बातें कहीं।

ये दुष्ट कहते है, महाराज उग्रसेनको हमें आज्ञा देनेका क्या अधिकार है। बताओ, इन्द्रादि लोकपाल गण तो उनकी आज्ञा को सिरसे धारण करते हैं। फिर ये कीड़े मकोड़े उनके सम्मुख क्या वस्तु है। उनको ये राजा ही नहीं मानते। जो भोजवंशीय, वृष्णिवंशीय तथा अन्धकवंशीय यादवोंके एकमात्र अधिपति है, उनके सम्मुख ये तुच्छ राजा वस्तु ही क्या है। ये कहते है, यादव राज्य सिंहासनके अधिकारी ही नहीं। अरे, राज्य सिंहासन यादवोंके सम्मुख वस्तु ही क्या है। जिन श्रीकृष्णने स्वर्गसे इन्द्र की सुधर्मा सभा मंगाली, जो इन्द्रको पराजित करके पारिजात वृक्ष ले आये, उन जगत्पति श्रीकृष्णको भी ये मनुष्योंके राज्य सिंहासनका अनधिकारी समझते है। ये तुच्छ राजा तनिकसी लक्ष्मीकी छाया पाकरही अपनेको सब कुछ मानने लगते हैं। वही लक्ष्मी साक्षात् सशरीर होकर जिनके चरण कमलकी निरंतर सेवा करती रहती हैं उनके सम्मुख, छत्र चामरादि तुच्छ चिन्ह क्या महत्व रखते हैं। जिनकी चरण कमलकी रजको धारण करके अशिव वेष धारी शिव शिव हो गये हैं, जिस चरण रजको पाकर ब्रह्माजी सृष्टि रचते है। शेषस्वरूप मैं भी जिनके चरण रजके प्रभावसे ही समस्त भूमडण्लको धारण करता हूँ। उन श्रीकृष्णचन्द्रके लिये राज्यसिंहासनका महत्व ही क्या है।

अच्छी बात है, जैसा ये कहते हैं वैसा ही सही। हम पैरोंकी जूती ही है, ये कौरव गण शिर ही हैं, किन्तु कभी कभी पैर की जूतियाँ भी सिर पर तड़ातड़ बाजकर उसके बालोंको उड़ा देती है। हम इन्हींका दिया हुआ राज्य भोगते हैं, अब देखना है, ये किसके दिये हुये राज्यको भोगेंगे इन लोगोंने ऐसी ऐसी मर्म स्पर्शी बातें कही है कि उन्हें कोई भी आत्माभिमानी मनस्वी पुरुष सहन नही कर सकता। जो शासन करनेमें सर्वथा समर्थ है, वह इन असमर्थ और निर्बल शशकोंकी ऐसी बातोंको कैसे सहन कर सकेगा? अच्छी बात है, अब पृथिवी पर या तो कौरव ही रहेंगे या यादव ही रहेंगे। मुझे सेना आदिकी कुछ भी आवश्यकता नही। मैं अकेला ही आज समस्त पृथिवीको कौरवोंसे रहित कर दूँगा। कौरव आज देखें, कि यादव राजा हैं या नही। जिन भीष्म, दोणादिका उन्हें अभिमान है वे भी आवें। आज मैं इन सबके सहित इनकी राजधानीको गंगाजीमे डुबाये देता हूँ।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! ऐसा कहकर अत्यंत रोषमें भर कर संकर्षण भगवान्‌ने अपना हल मूसल उठाया। उस समय उनकी रोषपूर्ण मुद्रा ऐसी प्रतीत होती थी, मानों तीनों लोकोंको ये भस्म कर देंगे। उनके ऐसे रोषको देखकर लोकपाल डर गये। पृथिवी डगमगाने लगी। वे हल लेकर हस्तिनापुरको उलटनेके लिये उद्यत हो गये।"

छप्पय

यों कौरव कटु वचन कहत निज नगर सिधारे।
हल मूसल लै कुपित तुरत बलदेव निकारे॥
मारी हल की फार उखारयो सब हथिनापुर।
तरनी सम डगमगे नगर भय व्यापो सब उर॥
कौरव-कुल, धन कुटुम्बको, सब मद तजि सूधे भये।
तुरत साम्ब अरु वधू लै, बलदाऊके ढिग गये॥

श्री संकर्षण द्वारा हस्तिनापुरकर्षण

(११३५)

लाङ्गलाग्रेण नगर मुद्विदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥*

(श्री भा० १० स्क ६८ अ० ४१ श्लोक)

छप्पय

हाथ जोरि कें कहें–'प्रभो ! हम अति अभिमानी ।
आप अनादि अनन्त शेष समुझें मुनि ज्ञानी ॥
भूल चूक कूँ भूलि करें अब अभय अखिल पति ।
साम्ब वधू सँग खड़े देहिँ आशिष हरषित अति ॥
विनय सुनत कौरव अभय-करे, मुदित पुनि पुर गये ।
संकर्षन की विजय सुनि, यादव आनन्दित भये ॥

बड़े लोगों को जितनी ही शीघ्रता से क्रोध आ जाता है, उतनी ही शीघ्रता से वह शान्त भी हो जाता है । जो उनके सामने अकड़ता है, ऐंठ दिखाता है, उसके सामने वे वज्र के समान बन जाते हैं, जो उनके सामने गिड़ गिड़ाता है—दीन बन जाता है, उसके लिये वे मोम से भी अधिक कोमल बन जाते हैं । यही महान्

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! बलदेवजी हल के अग्र भाग से हस्तिनापुर को उखाड़ कर अत्यंत रोष से भरकर उसे गङ्गाजी की ओर खींचने लगे ।

पुरुषों की महत्ता है। अभिमान वशअज्ञानी पुरुष उनसे जो कुछ वचन कह देते है, उन्हें वे मन में नहीं रखते। उनकी अज्ञानता को स्मरण करके क्षमा कर देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! क्रोध में भरकर शेषावतार भगवान् संकर्षण ने हस्तिनापुर को अपने हल की नोंक से उसी प्रकार उखाड़ लिया, जिस प्रकार छोटे छोटे बच्चे छत्राक को उखाड़ लेते है। सम्पूर्ण नगर को उखाड़कर वे उसे गंगाजी की ओर खींचने लगे। अब तो सबको ऐसा प्रतीत हुआ मानों भूचाल आ गयी जैसे प्रबल धारा में नौका डग मग डम मग करने लगती है, वैसे ही वह सम्पूर्ण नगर डग मगाने लगा। बलदेव जी नगर को गंगा जी की ओर खीचना चाहते थे,इससे समस्त कौरवगण घबरा गये। अब न उनकी सेना का वश चलता था। न उनका बल पराक्रम ही कुछ काम आता था। भीष्मपितामह तो सब जानते थे, यह भगवान् संकर्षण की अवज्ञा का प्रतिफल है, अत उन्होने दुर्योधन को सम्मति दी—"तुम तुरन्त ही लक्ष्मणा सहित साम्ब को लेकर बलराम जी की सेवा में जाओ, उनसे अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करो-नही तो तुम्हारे नगर का चिह्न शेष न रहेगा।"

यह सुनकर दुर्योधन अपने सम्बन्धि बन्धु बान्धव तथा अन्यान्य कौरवों को आगे करके लक्ष्मणा सहित साम्ब को लेकर वे सपरिवार बलदेवजी की सेवा में उपस्थित हुए। सभी डरे हुए थे। सभी के ऊपर प्राणों का संकट आया हुआ था। उस संकट से बचने के लिये बलदेवजी की शरण के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नही था, अतः सबने जाकर अमित बलशाली बलराम जी के पाद पद्मो में प्रणाम किया और कहा—"हे राम! हे राम! हे महाबाहो! आप अमित तेजस्वी हैं। आपके बल पौरुष को कौन समझ सकता है। आप सम्पूर्ण संसार के

आधार हैं। प्रभो! हमने आपका प्रभाव बिना जाने ही ऐसे कुवाच्य कहे, आप जगदीश्वर का अपमान किया। हे अशरण-

शरण! अब हमें आपकी महिमा का ज्ञान हुआ। हम जड़मति मूढ़ हैं, कुबुद्धि हैं, अज्ञानवश हमसे जो अपराध होगया है, उसे

आप अपनी उदारतावश क्षमा कीजिये। आप ही इस दृश्य प्रपंच तथा विश्वब्रह्माण्ड के आधर हैं। ब्रह्मा बनकर आपही सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। विष्णु बनकर आपही उसकी रक्षा करते हैं और रुद्र बनकर अन्त में आपही अपनी बनाई सृष्टि का संहार भी करते हैं। आपही सबके आधार हैं आपका कोई आधार नहीं। हे शेषावतार! मकड़ी जैसे अपने मुख से ही तन्तु निकाल कर जाला बुनलेती है और फिर अपने आपही उसमें क्रीड़ा करती है,उसी प्रकार आप भी इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करके उसमें क्रीड़ा करते हैं तो अज्ञानियों को आसक्त से प्रतीत होते हैं। वास्तव मे आप आसक्त नहीं। आप तो इस सम्पूर्ण जगत् को खिलौना बनाकर लोकवत् लीला करते हैं। जब आप खेल का अन्त करना चाहते हैं, तो सबको समेट कर उदर मे रख लेते हैं और क्षीरसागर में जाकर सो जाते हैं। तब आपको ही सब लोग क्षीरशायी नारायण कहते हैं। आप वास्तव में सत्व,रज और तम इन प्रकृति के तीनो गुणों से परे है। आप विशुद्ध सत्वमय हैं।

हे सर्वभूतात्मन्! बहुत से लोग आपको क्रोधी बताते हैं,किन्तु आपका क्रोध विवेकशून्य सर्व साधारण पुरुषों के समान नहीं है। आप क्रोध भी करते है, तो जगत् के कल्याण के ही निमित्त करते है। आपका क्रोध सब प्राणियो को शिक्षा देने के ही निमित्त है। डाह, मत्सर अथवा द्वेषवश नहीं है। इसलिये हे सर्वशक्तिधर! आपने दंड देकर हमारे ऊपर बड़ी कृपा की। हे अव्यय! आपने हलद्वारा चेत कराके हमारी आँखें खोल दी। हे विभो! हम आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करते है। हे शरणागत वत्सल! हम आपकी शरण मे आये हैं। हे विश्वकर्मन्! हम शरणागतो की आप रक्षा करें।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! ये कौरव बड़े अभिमानी थे, इन्हें अपनी कुलीनता, सेना, शक्ति और ऐश्वर्य का बड़ा भारी

अभिमान था। तभी तो इन सबने बलरामजी को इतनी खरी खोटी बातें सुनाईं थीं, जब इनके भवन डगमगाने लगे, तब इनकी आखें खुली और दौड़े दौड़े बलरामजी के समीप आये। आकर अत्यत दीनता के साथ विनय करने लगे। आशुतोष सकर्षण उनकी दीनता को देखकर द्रवित हुए। उन्होंने हलको रख दिया। हस्तिनापुर के खींचने का विचार छोड़ दिया और सबको अभयदान देते हुए बोले—"अच्छी बात है, मैं तुम लोगों की विनय से सन्तुष्ट हूँ, अब भय का कोई काम नही। तुम लोग निर्भय हो जाओ। इस प्रकार कह कर उन सबको सान्त्वना प्रदान की

जब सबने संकर्षणजी को सन्तुष्ट देखा तो दुर्योधन ने आगे बढ़कर कहा—"प्रभो! ये आपके पुत्र साम्ब अपनी नव वधू के साथ आपके चरणों में प्रणाम कर रहे है, इन्हें आप आशीर्वाद दें।"

यह सुनकर पैरों में पड़े हुए साम्ब को बलभद्र जी ने प्रेम पूर्वक उठाकर छाती से लगाया। उनका सिर सूँघा और लक्ष्मणा को आशीर्वाद दिया।

बलराम जी ने दुर्योधन से कहा—"अच्छी बात है, भाई! जिस काम के लिये हम आये थे,वह होगया, अब हम जाते हैं।"

दुर्योधन ने विनीत भाव से कहा—"नही महाराज! ऐसे कैसे हो सकता है। आप मेरे नगर में पधारें, वहाँ मेरा आतिथ्य ग्रहण करें तब पुत्रवधू के सहित अपने पुत्र को लेकर जायँ।"

सब के आग्रह करने पर बलदेव जी हस्तिापुर आये। दुर्योधन ने लक्ष्मणा का विवाह वेद की विधि से साम्ब के साथ कर दिया। वह अपनी कन्या को अत्यंत प्यार करता था, अतः उसने साठ वर्ष की अवस्था वाले बारह सौ हाथी, दस सहस्र अश्व, सुन्दर सुवर्ण मण्डित चमकीले छै सहस्र रथ और सहस्र दास दासियों को दहेज मे दिया। दासियाँ सभी सुन्दर थीं

युवती थीं और सुवर्ण के भूषणों को कण्ठ में तथा सर्वाङ्गों में धारण किये हुए थीं।

इस प्रकार बलराम जी हस्तिनापुर में कौरवों का आतिथ्य स्वीकार करके और पुत्र वधू सहित साम्ब को साथ लेकर तथा दहेज के माल मसाले को लिये हुए आनन्द के साथ द्वारका पुरी में आये। जब सबने विजयी बलदेवजी के शुभागमन का समाचार सुना, तो सब उन्हें बड़ी धूमधाम के साथ नगर के बाहर से ले गये। वहाँ पहुँचकर सबने यथा योग्य श्री हलधरजी का स्वागत सत्कार किया। सब बलदेव जी की प्रतीक्षा कर रहे थे। सभी का चित्त उन्हींमें अनुरक्त था। सब लोग इस बात को सुनने के लिये बड़े उत्सुक थे, कि इतने अभिमानी कौरव इतने शीघ्र वश में कैसे आगये।

सबके बार बार उत्सुकता पूर्वक पूछने पर बलदेवजी ने आदि से अन्त तक वहाँ का सब समाचार बताते हुए कहा—"पहिले तो उन लोगों ने बड़ी बुरी बुरी बातें बकीं और रोष में भरकर उठकर चले गये। जब मैंने अपने हल से नगर को उखाड़ कर खींचना आरम्भ किया, तो सबकी सिटिल्ली भूल गयी भीगी बिल्ली की भाँति डरकर मेरी शरण में आये। मैंने भी सोचा—"मरे को क्या मारना। डरे पर क्या अस्त्र चलना।' मैंने उन्हें क्षमा कर दिया। मेरा उद्देश्य उन्हें केवल धमकाने का ही था। जब उन्होंने बहू सहित साम्ब को मेरे सम्मुख उपस्थित कर दिया, तो मैंने उन्हें क्षमा कर दिया।" यह सुनकर सभी प्रसन्न हुए और बलराम जी के बलबुद्धि की भूरि भूरि प्रसंशा करने लगे।

सूतजी कहते—"मुनियो! बलराम जी के हल से खींचने से हस्तिनापुर गंगाजी की ओर नीचा होगया है और दक्षिण की ओर ऊँचा होगया है। अब वह नगरी तो रही नहीं, हाँ

हस्तिनापुर नामका एक टीला है। गंगाजी वहाँ से दूर चली गयीं है, किन्तु गंगाजी की ओर झुका रहने से वह अब तक श्री बल-रामजी के पराक्रम की सूचना दे रहा है। इस प्रकार मैंने बलराम जी का यह हस्तिनापुर कर्षण नामक प्रसग कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हमें भगवान् के अन्य चरित्र सुनाइये। वे अपनी पत्नियों के साथ कैसा व्यवहार करते थे। कैसे सबको सन्तुष्ट रखते थे ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! यही शका देवर्षि नारदजी को हुई, कि भगवान् तो अकेले है, उनकी पत्नियाँ सोलह सहस्र एक सौ आठ हैं, अकेले सबको कैसे प्रसन्न रखते होंगे।" इस विषयका मेरे गुरुदेव भगवान् शुकने जो महाराज परीक्षित् से बिना पूछे ही वर्णन किया है। उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप सावधान होकर सुनें।"

छप्पय

बसहिँ द्वारका श्याम सबहिँ रानिनि संतोषे।
सबके पुत्रनि प्रेम सहित नित पाले पोषे॥
नारद मन संतोष भयो हरि अति अलबेले।
रानी सोलह सहस किन्तु हैं आप अकेले॥
एक नारि मैंने वरी, भयो कछुक दिन महँ विरत।
इतनिनि कूँ सन्तुष्ट करि, कैसे यदुनन्दन रमत॥

नारदजीकी भगवान्‌की गृहचर्या सम्बन्धी उत्सुकता

(११३६)

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम् ।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां दद्दि दृक्षुःस्म नारदः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६९ अ० १ श्लो०)

छप्पय

इच्छा मन महँ भई लखूँ गृहचरिया हरिकी।
देखूँ चलिकें हृदय भावना सब नारिनिकी ॥
सोचि द्वारका चले घुसे पहिले इक घर महँ ।
प्रिया सँग हरि हँसत लसत वनमाला उर महँ ॥
नारद लखि ठाड़े भये, बैठाये सत्कार करि ।
करि इत उत दूसर महल, गये तहाँ हू लखे हरि ॥

स्त्रियोंको सदा प्रसन्न रखना इसे ईश्वरके अतिरिक्त कोई दूसरा कर नहीं सकता। यह संभव है, कि सर्पोंके साथ बहुत दिनों तक खेलता रहे और वे क्रुद्ध न हों, किन्तु यह संभव नहीं कि स्त्रियों

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब नारदजीने यह बात सुनी कि भगवान्‌ने नरकासुरको मारकर अकेले ही सहस्रों स्त्रियोंसे विवाह किया है, तो इस बातको सुनकर उनको भगवान्‌की गृहचर्या देखनेकी उत्सुकता हुई।"

सदा प्रसन्न बनी रहें। एक भगवान् ही ऐसे है जो लक्ष्मीजीको सदा सन्तुष्ट बनाये रखते है साथ में ही भूदेवी और लीला देवी अपनी दो अपर पत्नियोंको लक्ष्मीजीकी सौतोंको भी प्रसन्न रखते है। भगवान्‌को छोड़ कर और जो भी स्त्री वाले पुरुष है, उन्हें खरी खोटी गाली गलोज और न जाने क्या क्या सहना पड़ता है। स्त्रियोंको वशमें रखना यह भी एक कला है, इस कलामे हमारे श्यामसुन्दर सबसे निपुण है। तभी तो उन्होने सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाह किये थे और उन सबको सदा सन्तुष्ट रखते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिसका जिसके प्रति प्रेम हो जाता है, उसे उसके विना मिले कल नही पड़ती। चित्तमे सदा कुल बुली मची रहती है। हमारे नारदजीका भगवान् श्याम सुन्दरके चरणोमें दृढ़ अनुराग था, अतः उन्हे द्वारका जाये बिना संतोष ही नही होता था जैसे भौरा फूलके चारों ओर चक्कर लगाता रहता है, वैसे ही वे भी सदा द्वारकाके चारो ओर चक्कर काटते रहते थे। इधर उधर गये फिर द्वारका पहुँच गये। जैसे दाँतमे कोई वस्तु फँस जाय तो जिह्वा अपने आप वार वार वहीं पहुँच जाती है, ऐसे ही जिसके प्रति प्रेम हो जाता है, चित्त वही चला जाता है, उसीके सम्बन्धमें सोचता रहता है।" वे कैसे खाते होंगे कैसे उठते होगे, उसके साथ कैसे व्यवहार करते होंगे, उन्हें यह कठिनाई आती होगी, तो क्या करते होंगे। इस समय वे क्या कर रहे होगे।" इस प्रकारके अनेकों विचार निरन्तर उनके ही सम्बन्धमें उठा करते हैं। इसी लिये नारदजी सदा भगवान्‌के ही सम्बन्धमें सोचते रहते थे। प्रेममें सदा नूतनता बनी रहती है प्रेमीकी जो भी चेष्टा देखते है वही बड़ी प्यारी लगती है। जैसे रसगुल्लाको सोने, चाँदी पत्थर, मिट्टी, बाँस तथा काठ पत्ता किसी के भी पात्रमे रख कर खाओ वह मीठा ही लगता है इसी लिये नारदजी वार वार द्वारका जाते। देखे भगवान् नहाते

हुए कैसे लगते हैं, खाते हुए कैसे लगते हैं। जाते हुए आते हुए कैसे लगते हैं। सोते हुए कैसे लगते है। बार बार देखने पर भी उनकी तृप्ति नहीं होती थी। फिर फिरकर वहीं पहुँच जाते थे।

एक दिन नारदजीने सोचा–"देखो, भगवान्‌के यहाँ मैं जब जब गया हूँ,उनकी सभी रानियोंको सन्तुष्ट पाया। यों सत्यभामा आदि कई मानिनी रानियाँ है, जो आपसमें सौतिया डाह तो करती है, किन्तु श्रीकृष्णसे सभी समान रूपसे सन्तुष्ट हैं। बड़ी होनेके नाते मैं रुक्मिणीजीके महलोमें जाता हूँ। जाते ही भगवान् मुझसे कहते है–"नारदजी ! वीणा बजाओ।" ज्यों ही मैं वीणा बजाता हूँ, त्यों ही झुडकी झुड सभी आकर वहाँ एकत्रित हो जाती है ! मेरी वीणाकी धुनिसे वे सबको सब परिचित हैं, जिसके घरमें भी भगवान् हों वही मैं चला जाता हूँ, वही सब आजाती है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि सबका श्यामसुन्दरके प्रति अत्यधिक अनुराग है। वे स्त्रियाँ सहस्रों भगवान् अकेले। कैसे सबको सन्तुष्ट करते होगे। मैंने जनम करममें तो एक स्त्रीसे सम्बन्ध किया। एक को अपनी पत्नी बनाया वह भी मुझे अन्तमें छोड़नी पड़ी।

यह सुन कर शौनकजी बोले—"सूतजी ! कभी कभी तो आप ऐसी विचित्र आश्चर्य जनक बात कह देते हो, कि उस पर विश्वास ही नहीं होता। महाभाग ! नारदजी तो जन्मसे ही गृहत्यागी ब्रह्मचारी थे, उन्होंने तो कभी दार परिग्रह किया ही नही। भगवान्‌की इस मोह मयी मायासे वे सदा बचे ही रहे। अब आप कह रहे हो, उन्होंने भी एक नारीसे विवाह किया। महाभाग ! पहिले हमें इसी कथा को सुना दो, नारदजीने किसके साथ विवाह किया और उसे फिर क्यों छोड़ दिया। नारदजी इस कारे मूँडवाली मायाके चक्करमें कैसे फँस गये। विरागीसे रागी कैसे बन गये ?"

सूतजी बोले–"महाराज ! जो मायाके भीतर रहेगा, उसका मायासे संसर्ग न हो, यह असंभव है। ये सनकादि कुमार मायिक सृष्टिमें नही है, इनकी उत्पत्ति मोहमयी मायासे प्रथम ही हुई थी। जबसे यह पंचपर्वा अविद्या हुई और ब्रह्माजी एक से दो बन गये, तबसे सबकी इच्छा दो होनेको होती है। बहुतसे ऋषि मुनि जीवन भर ऊर्ध्वरेता रहकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हैं, किन्तु कभी न कभी यह मोहमयीमाया उनको भी झांसा दे देती है। ऋषियोंमें एक बदरी नाथके नारायण ऋषि तो ऐसे है जो इसके चक्करमें नहीं फँसे। नही तो महाराज कुछ न कुछ गड़ बड़ सड बड़ सभीमें हो जाता है। संसारी लोगोंको नित्य गृहस्थ धर्म में निरत देखकर कुछ न कुछ संस्कार तो पडते ही हैं। इसी लिये ऋषियोंने इस बातपर बार बार बल दिया है, कि कभी मनुष्यको अनाश्रमी बनकर न रहना चाहिये। एक क्षण भी अनाश्रमी रहने से पुरुष पतित हो जाता है। बिना आधारके जीवनकी गाड़ी चल कैसे सकती है। हाँ, तो आपने मुझसे नारदजीके विवाहका प्रश्न पूछा था, उसीको मैं बताता हूँ।

एक बार नारदजीने भगवान् विष्णुसे श्रीकृष्णकी लीलाओं के सम्बन्धमें बहुतसे प्रश्न किये भगवान्‌ने उन सबका उत्तर दिया। नारदजी भगवान्‌के उत्तरोंसे बड़े सन्तुष्ट हुए और बोले—"महाराज ! आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपाकी। भगवान्‌की रहस्यमयी लीलाएँ सुनाईं। अब मेरे लिये क्या आज्ञा होती है। मैं अब क्या करूँ? आप आज्ञा दे दें तो मैं हिमालयपर जाकर तपस्या करूँ !"

यह सुन कर हँसते हुए भगवान् बोले–"नारदजी ! देखो अभी तपस्या फपस्याको छोड़ो। तपस्या तो घरकी वस्तु है, जब इच्छा हुई करली। तुम एक काम करो,जाकर अपना विवाह करलो।"

नारदजीने चौंक कर कहा—"अजी ! महाराज ! आप यह कैसी बातें कह रहे हो। विवाह न करनेकी तो मैंने प्रतिज्ञाकी है।

जिस किस पिञ्जसे मैं घबड़ाता था, उसे ही आप फिर मेरे पल्ले बाँधना चाहते हैं। महाराज ! मेरी तो विवाह करनेकी इच्छा है नहीं।"

हँसते हुए भगवान् बोले—"अरे, भाई ! अकेली अपनी इच्छासे ही काम थोड़े ही चलता है। जन्मान्तरीय संस्कार बड़े प्रबल होते है। दूसरोंका आकर्षण हमें अपनी ओर खींचता है, उसके कारण इच्छा न होने पर भी खिंचना पड़ता है।"

नारदजीने उत्सुकताके साथ पूछा—"महाराज ! मुझे कौन अपनी ओर खींच रहा है ?"

भगवान् बोले—"तुम्हें स्मरण है न, पहिले तुम उपबर्हण नामके गन्धर्व थे। उसके अनन्तर तुम दासीपुत्र हुए वहाँ आप को साधुओंका संग मिला जिससे तुम्हें फिर यह नारद शरीर मिला, ब्रह्माजीके मानसिक पुत्र हुए। हाँ, तो जब आप गन्धर्व योनिमें थे, तब आप बड़े स्त्री लम्पट थे। आप अत्यंत ही सुन्दर थे। आपके रूप पर बहुत सी गन्धर्वियाँ आसक्त बनी रहती थी। उन गन्धर्वियोंमेंसे एक आप पर अत्यंत ही अनुरक्त थी। उसने आपको पति बनाने के लिये शङ्करजीकी घोर आराधनाकी। उसकी तपस्यासे आशुतोष भगवान् प्रसन्न हुए और उससे वर माँगनेको कहा। उसने यही वर माँगा—"हे सदाशिव ! यदि आप इस दासी पर प्रसन्न है तो मुझे जन्मान्तरमें नारदजी ही पति रूपमें प्राप्त हों।"

शिवजी तो औघड़ दानी ही ठहरे। उन्होंने तत्काल कह दिया—"एवमस्तु ! अच्छा, ऐसा ही होगा।" यह वर पाकर वह गन्धर्व कन्या परम सन्तुष्ट हुई। इस समय वह राजा मृडाय की कन्या हुई है। आप जाकर उसके साथ विवाह करलें। शङ्करजीका वरदान अन्यथा हो नहीं सकता। आपको उसके साथ विवाह करना पड़ेगा।"

नारदजीने कहा—"अजी, महाराज ! आपने तो मुझे धर्म संकटमें डाल दिया। अब आपकी आज्ञा कैसे टालूँ ?"

हँसते हुए श्रीमन्नारायण बोले—"अजी, इसमें धर्म संकटकी क्या बात। भैया, जो भाग्यमें लिखा है, उसे कौन मेट सकता है, कर्मकी रेख पर मेख कौन मार सकता है ?" कोई बात नही। जिस राजकुमारीके साथ विवाह करनेको मैं कह रहा हूँ, वह कोई ऐसी वैसी साधारण लड़की नही है। बड़ी सुन्दरी है, कमल के समान उसके सुन्दर नेत्र है, अत्यत कोमलाङ्गी है। बड़ी मधुर बोलने वाली है। लड़ाई भिड़ाई वह जानती भी नही। यह नही कि बात बात पर मुँह फुलाले। बड़े सुन्दर स्वभाववाली, सुशीला सदगुणवती और रूपवती है। एक मात्र आपमे ही उसका चित्त फँसा है। देखो, भैया ! इस प्रारब्धका पता नही। इसीलिये तुम धर्म पूर्वक उससे विवाह करलो। अधर्म पूर्वक छिपकर अविहित सम्बन्ध करनेमें पाप है। धर्मसे अविरुद्ध काम तो मेरा रूप ही है ! इसलिये तुम सोच मत करो। अच्छा, तुम एक बार उसे देख तो आओ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् नारायणके ऐसे वचन सुन कर दुखित मनसे नारदजी उन्हें प्रणाम करके सृञ्जयपुरकी ओर चल दिये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा वह राजकुमारी अत्यंत ही सुन्दरी है। निरन्तर जप तप पूजा पाठ और व्रतमें ही लगी रहती है। उसका चित्त नारदजीमें ही लगा हुआ है। मुनियो ! मनसे किसीका निरन्तर ध्यान किया जाय, उसका उस पर प्रभाव न पड़े यह असंभव है। यदि कोई ऐसी वैसी सदाचार-हीन कामिनी होती, तो तपस्वीको उसे देखते ही घृणा हो जाती। किन्तु जो निरन्तर दान, व्रत, जप तप और देवाराधनमें लगी हुई तपस्विनियोंका सा जीवन बिता रही है, तो उसका प्रभाव नारदजी पर क्यों न पड़ता। यद्यपि नारदजी जितेन्द्रिय थे,

मोहसे सर्वथा रहित थे। फिर भी उनका मन उस कन्याको देख कर आसक्त हो गया। अब नारदजीने सोचा—"भगवान्‌की भी आज्ञा है और भावी भी ऐसी है, लाओ इससे विवाह कर ही लें। फिर सोचा—"हमारे तो पिता समुपस्थित हैं। जिनके पिता है, वे विवाह करनेमें स्वतन्त्र नहीं। इसलिये पिताजीसे ही चल कर कहें। वे ही करना चाहेंगे, तो हमारा विवाह कर देंगे। न करना चाहेंगे, तो हम विशेष आग्रह भी न करेंगे।" यह सोचकर वे तुरन्त ब्रह्मलोकमें पहुँचे। जाकर ब्रह्माजीके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया बहुत दिनोंमें अपने पुत्रको देखकर ब्रह्माजीने प्यार किया उनका सिर सूंघा और बोले—"नारद! अरे, भैया! तुम तो बहुत दिनोंमें आते हो कहो क्या समाचार है?"

नारदजीने विनीत भावसे कहा—"महाराज! सब आपकी कृपा है। अबके मैंने श्रीमन्नारायणसे श्रीकृष्णचरित्रकी कथा सुनी। उसीमें बहुत दिनों तक लगा रहा। कथा के अंतमें उन्होंने एक बड़ी विचित्र बात कही। उन्होने कहा—"तू सृञ्जयराजकी राजकुमारीसे विवाह करले।"

यह सुन कर ब्रह्माजीका मुख मण्डल खिल उठा। वे बोले· "हम तो तुझसे आरम्भसे ही कह रहे थे। तू मानता ही नहीं हमारी बात। तू समझता होगा, हम मोहवश कह रहे हैं। सो बात नही भैया! हमें संसारका सब ऊँचनीच ज्ञान है। हमारी यह दाढी धूपमें नहीं पकी है। हम जो बात कहते हैं, सोच समझ कर कहते हैं। बिना स्त्रीके पुरुष आधा होता है। इसी लिये सभी ऋषियोंने विवाह किया। भगवान् विष्णु तो अपनी पत्नी लक्ष्मी को सदा हृदयमें ही धारण किये रहते हैं। शिवजी तो स्त्रीके पीछे अर्धनारी नटेश्वर बन गये। किसी भी देवताको बता दो जो शक्ति से हीन हो। इसलिये तुमने हमारी बात नहीं मानी तो कोई बात नही। भगवान्‌की आज्ञाका कभी उल्लङ्घन मत करना। जैसी

उन्होंने आज्ञा दी है, उसका पालन करना।"

नारद जी तो चाहते ही थे अतः वे बोले—"अच्छी बात है महाराज! जब आप सबकी ही ऐसी आज्ञा है, तो मै बड़ों के सम्मुख कह क्या सकता हूँ। आप जैसा उचित समझे वैसा करें।"

इतना सुनते ही ब्रह्माजी के रोम रोम खिल उठे। चलो भूला भटका लड़का सीधे मार्ग पर आगया। तुरन्त उन्होने देवताओं को आज्ञा दी बात की बात में बरात सज गयी। एक रत्न मंडित विमान पर नारदजी को साथ बिठाकर ब्रह्माजी बेटा का विवाह करने सृञ्जय राजा के यहाँ चले।

राजा ने जब सुना,ब्रह्माजी मेरी पुत्री का अपने पुत्र नारद से विवाह करने पधारे है। तब तो उसके हर्ष का ठिकाना नही रहा। उसने ब्रह्माजी का तथा बारात में आये समस्त देवताओं का यथोचित आदर सत्कार किया। फिर शुभ मुहूर्त में सुन्दर दिव्य वस्त्र तथा रत्नों के आभूषणों से अलकृत अपनी कन्या का नारद जी के साथ विवाह कर दिया। विवाह हो जाने परजब नारदजी बहू को विदा करके चले तो महाराज सृञ्जय कन्या को देखकर उच्च स्वर से रोने लगे। वे कहने लगे—"बेटी! मेरे घरको सूना करके तू जारही है। अब तेरे बिना मुझे यह घर अच्छा न लगेगा मैं वनमें जाकर तपस्या के द्वारा इस शरीर को सुखाकर त्याग दूँगा।" पिता के ऐसे प्रेम भरे वचनों को सुनकर कन्या ढ़ाह मार मारकर रोनी लगी। बार बार माता पिता के गले से चिपट जाती। जैसे तैसे राजा रानी ने कन्या को विदा किया। फिर वे पुत्रको राज सौपकर तपस्या के निमित्त वनको चले गये।

इधर नारदजी ब्रह्मलोक में आकर अपनी नयी बहू के साथ आनन्द विहार करने लगे। कुछ दिन तो उन्हें बड़ा अच्छा लगा उसके प्रेम में यह भी भूल गये कब दिन होता है कब रात्रि।

किन्तु कुछ दिन के अनन्तर उनका मन दुविधा में पड गया। जिनको मीठा खाने का अभ्यास होता है, उन्हें कितना भी मीठा खिला दो उनकी तृप्ति ही नहीं होती, सदा मीठा खानेकी इच्छा बनी ही रहती है, किन्तु जिन्हें मीठा खाने का अभ्यास नहीं उनका चित्त तनिकसा मीठा खाने से ही भर जाता है। फिर मन उससे हट जाता है। इसी प्रकार कुछ दिन में नारदजी उस राजकुमारी के प्रेम से विरत होगये। एक दिन चुपके से अपने घर से निकल कर ब्रह्मलोक में हो एक सुन्दर सघन वट वृक्ष था, उसके नीचे चले गये और वहाँ रहकर तपस्या करने लगे। उसी समय उन्हें नंगधडंगे सनक, सनंदन, सनत्कुमार और सनातन ये चार महर्षि आये हुए दिखाई दिये। उनकी पाँच पाँच वर्ष की अवस्था थी। मुख मण्डल तेज से दमक रहा था। चारों दिगम्बर थे छोटी छोटी सुनहरी लटूरियाँ उनके कपोलों को चूम रही थी। अपने चारों बड़े भाइयों को देखकर नारदजी उठकर खड़े हो गये और उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

नारदजी यद्यपि एकान्त में आ गये थे, किन्तु चिन्तन उस राजकुमारी का कर रहे थे। उनके मनोगत भाव को समझकर उन चारों में से सनत्कुमार जी बोले—"नारद! अरे, यह क्या भैया! तुम कृष्ण का चिन्तन छोड़कर कामिनी का चिन्तन कर रहे हो? छिः छिः यह बड़ी लज्जा की बात है। भैया, यह स्त्रीका प्रेम ऐसी अग्नि है, कि जिस हृदय में लग जाती है फिर अनेक उपाय करने पर भी नहीं बुझती। जब कभी इच्छा भी होती है इससे पृथक् हो जायँ, तो वह रोने लगती है, उदास हो जाती है, इससे वह प्रेमाग्नि और प्रज्वलित हो उठती है। यह स्त्री ज्ञान मार्ग को रोकने की बेड़ी है बेड़ी। त्याग मार्ग के पथिक को जान बूझ कर इस बन्धन में न बँधना चाहिये। जो स्त्रीका संग करेगा, उसे स्त्रीके गर्भ में अवश्य आना पड़ेगा। जो कृष्ण कीर्तन

और चिन्तनको छोड़कर कामिनी के फन्दे में फँस गया, वह मानो भगवान् की माया द्वारा ठगा गया। देखो, तनिक सी भूल के कारण तुम गन्धर्व हुए दासी पुत्र हुए। अब फिर उसी चक्कर में फँस गये।

रोते रोते नारदजी ने कहा—"तो मुझे आप उपाय बता दें मैं क्या करूँ ?"

सनत्कुमारजी ने डाँट कर कहा—"उपाय तुम सब जानते हो। तुम तपस्या करने भारतवर्ष में चले जाओ, इस मायामयी प्रिया का परित्याग करो। जिस गंधमादन पर्वत के बदरीवन में भगवान् नर नारायण तपस्या करते हैं वहीं जाकर रहो। यह मैं तुम्हें दो अक्षर का परम रहस्यमय "कृष्ण" मन्त्र देता हूँ यह सभी शास्त्रों का सार है। परम गोपनीय अति रहस्य मन्त्र है निरंतर तुम इसे ही रटा करो। एकाग्र चित्त होकर स्वर सहित रटा करो।

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण॥
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण॥

इस दो अक्षर वाले मंत्र को चाहे मन से जपो,वाणी से जपो या तालस्वर के सहित ऊँचे स्वर से कीर्तन करो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! यह सुनकर नारद जी चारों मुनियों को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वे उन्हें आशीर्वाद देकर गोलोक में भगवान् के दर्शन करने चले गये। इधर नारद जी इस परम रहस्यमय दो अक्षर वाले मन्त्र को पाकर इस भारत वर्ष में आये। यहाँ आकर वे कृतमाला नदी के तट पर एक मन्दिर में गये, वहाँ उन्हें शंकर जी मिल गये।

नारदजी को देखकर भोलेनाथ खिलखिला कर हँस पड़े और उन्हें छाती से चिपटाते हुए बोले—"अहा हा ! नारदजी ! धन्यभाग आपके दर्शन हुए। संसार में वैष्णवों के दर्शन होना यह बड़े पुण्य का फल है। जिसे वैष्णव के दर्शन मिल गये, उसे मानों सब कुछ मिल गया। मुझे ज्ञात हो गया है सनत्कुमारजी ने आपको परम रहस्यमय मंत्र दिया है। यह मंत्र मुझे गोलोक में रास के समय साक्षात् श्रीकृष्ण ने दिया था। मैंने अपने पुत्र गणेश तथा कार्तिकेय को दिया। ब्रह्माजी को भी भगवान् यही मंत्र दिया था। ब्रह्माजी ने उसे धर्म को दिया। धर्म ने अपने पुत्र नारायणको दिया। ब्रह्माजी ने सनत्कुमार को भी दिया था। उन्होंने तुम्हें दिया है। अब तुम आनंद से बदरीवन में जाकर इस मंत्रका जप करो। और श्रीकृष्ण का मनोहर मूर्तिका ध्यान करो।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! मन्त्र तो मेरे बड़े भाइयों ने बता दिया अब ध्यान की विधि आप बता दें। भगवान् का ध्यान कैसे करें।"

श्री महादेवजी बोले—"अरे, अन्य देवताओं का ध्यान चाहे कठिन भी हो, श्रीकृष्ण का ध्यान तो बड़ा सरल है। देखो, कितने भी पुरुष बैठे हों, उनमें जो सबसे सुन्दर, सबसे हँस मुख, सबसे चंचल, सबसे सजा बजा, सबसे अधिक संगीत प्रिय होगा, उसकी ओर सबका मन स्वतः ही आकर्षित हो जायगा चाहे वह नर हो अथवा नारी। इसीलिए श्रीकृष्ण की उपासना स्त्री पुरुष सभी समान रूप से करते हैं। उनमें सौन्दर्य, हास्य, चंचलता मंडनप्रियता, संगीतप्रियता तथा मनमोहकता ये गुण सबसे अधिक और सबसे उत्कृष्ट है। तुम श्रीकृष्ण का ऐसा ध्यान करना कि वे नूतन जल भरे मेघों के सदृश श्यामवर्ण के हैं। उनकी अवस्था नित्य किशोर ही बनी रहती है। वे सुन्दर चमकीले भड़कीले अति सूक्ष्म चौड़ी किनार वाले पीताम्बर को पहिने रहते

है। उनके मुखकी उपमा शरदकी सौ चन्द्रमाओंसे देना भी तुच्छ है। उनका अंग प्रत्यंग भूषणोंसे विभूषित है। उनके सर्वाङ्गमें दिव्य चंदन लगा रहता है। वक्षःस्थल पर कौस्तुभ मणि क्रीडा करती रहती है। माथेपर मोर का मुकुट धारण करते है। कठमें दिव्य मणियोंकी तथा मालती आदि अल्मान सुगंधित पुष्पोंकी माला पहिने रहते है। उनके मुखमडल पर निरन्तर मंद मुसकान व्याप्त रहती है। मैं तथा ब्रह्मादिक देव सदा उनकी उपासना करते रहते है। वे बड़ी कठिनतासे ध्यानमें आते हैं। वे निर्गुण हैं प्रकृतिसे परे है। परमात्मा है। और भक्तोंके ऊपर निरन्तर अनुग्रह करते रहते हैं। तुम उन्हीका जाकर ध्यान करो।"

यह सुन कर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए और बदरी वनमें जाकर तपस्या करने लगे। "कृष्ण" इस महामंत्रका निरन्तर जप कीर्तन करते रहते। जब उन्हें भगवान्‌के अवतार लेनेका विचार ज्ञात हुआ तो व्रजका चक्कर लगाने लगे और जब भगवान्-द्वारका मे निवास करने लगे, तो द्वारकाकी धूलि छानने लगे। द्वारका जाते और फिर लौट आते। फिर न रहा जाता, फिर भगवान्‌के दर्शनोको किसी न किसी निमित्तसे पहुँच जाते। अबके वे इस उद्देश्यसे चले, कि देखें भगवान् अपनी सब स्त्रियोको कैसे सन्तुष्ट रखते है। आठ तो उनकी पट रानियाँ ही थी, फिर नरकासुरको मारकर सोलह सहस्र एक सौ इकट्ठी ही भीड़की भीड़ हाँक लाये। अब इतनी स्त्रियोंके साथ कैसे रहते होंगे। उनकी गृहचर्या क्या है। हमने ऐसा भी सुना था कि सोलह सहस्र घरोमें उन्होंने सब के साथ पृथक पृथक् विधि पूर्वक विवाह किया था। अकेले भगवान् ने सबके साथ कैसे विवाह किया होगा और आज कल वे सबके साथ कैसा बर्ताव करते है।" यही सब सोचकर वे द्वारकाकी ओर चल दिये। अबके न तो उन्होंने वीणा बजाई

और न रुक्मिणीजीके ही घरकी खोजकी। द्वारकामें प्रवेश करते ही उनकी घ्राणेन्द्रिय दिव्य सुगंधिसे भर गयी। ऐसी दिव्य सुगधि तो स्वर्गमे भी दुर्लभ है। नारदजीने वहाँ बड़े सुन्दर सुन्दर खिले हुए दिव्य पुष्पोंके असंख्यों पेड़ देखे। बहुतसे फलो के भारसे नमित थे, बहुतों पर कलियाँ लग रही थी। बहुतोकी कलियाँ खिल गयी थी। उन पर बैठे विहंग वृन्द कलरव करके दशो दिशाओंको गुँजा रहे थे। मधुके लोभी मधुकर इधर उधर सुमनोके आस पास मँड़रा रहे थे। स्थान स्थानपर छोटे-छोटे कमलाकार कुड बने हुए थे। उनमे रंग बिरंगे कमल खिले हुए थे। इन्दीवर,अम्भोज,कह्लार,कुमुद तथा उत्पलोकी अनेक जातियो के कमलोंसे प्रफुल्लित सरोवरोंमें हंस, सारस, जल कुक्कुट आदि जल पक्षी विहार कर रहे थे। उनमें रंग बिरंगी मछलियाँ तैर रही थी। द्वारकापुरीमें लगभग नौ लक्ष महल थे, वे सभी सुवर्णके बने थे,उनकी दीवालों पर रत्न जड़े हुए थे। उज्वल मणियोंसे वे दमक रहे थे। बहुतसे भवन रजतके भी बने हुए थे। वे सब क्रम-बद्ध एक नियमसे थे। सबके बीचमें बड़ी बड़ी सड़कें थीं। दूर-दूर पर चौराहे थे। सड़कोसे जो गलियाँ जाती थी वे भी सकीर्ण नही थी। उन पर भी स्वच्छता थी। सुगधित जलसे वे सब नित्य छिड़की जाती थी। कुछ कुछ दूरी पर विश्राम गृह, सार्वजनिक उद्यान, सभाभवन तथा विहारस्थान बने हुए थे। बड़े बड़े विशाल देवालयोंकी ऊँची-ऊँची ध्वजायें फहराकर भगवान्‌के यश को वायु मंडलमे बखेर रही थी। उस विशाल नगरीमें सर्व प्रथम सुन्दर एक से सोलह सहस्र एक सौ आठ एक ही ढँगके भवन बने हुए थे। उन सबमें भगवान्‌की पत्नियाँ ही निवास करती थीं। वे सब घर समस्त सुखकी सामग्रियोंसे सम्पन्न थे। उनके बनानेमें विश्वाकर्मने अपनी समस्त शिल्पचातुरी लगा दी थी। इससे बढ़कर सुन्दर भवन वे बना ही नही सकते थे। नारदजी जानते ही

थे, ये सब भगवान्‌की पत्नियोंके ही घर है। उन सब पर सख्या अङ्कित थी। इसलिये नारदजी सबसे प्रथम एक सख्याके ही महलमें चुपकेसे घुस गये। नारदजी पहिले आते थे तो दन दनाते हुए भीतर घुस जाते। वीणा बजाकर भगवान्‌को भजन सुनाकर कुछ प्रसाद पाकर चले आते, किन्तु आज तो परीक्षाके निमित्त आये थे, इस लिये सभी बातोंको अत्यत ही ध्यान पूर्वक देखते। उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर देखा भवनके खम्भे चमकीले लाल लाल मूँगोंके बने हुए है। उनकी चौखटे लकडी या पत्थर की नहीं वैदूर्य मणिकी हैं। दीवारोमें इन्द्र नील मणि जड़ी हुई है, जिनकी कान्ति कभी भी घटती नही। नीचेकी भूमिमें भी इन्द्र नीलमणियाँ लगी है। वहाँ के पलग आसन और चौकियों के पाये हाथी दाँतके कलामय ढँगसे बने हुए है। स्थान स्थान पर मोतियोकी झालरें लगी हुई है। चँदोवे सुन्दर स्वच्छ और विमल हैं। वहाँ स्वच्छता इतनी है, कि मक्खी भी चलनेसे रपट जाती। खोजने पर भी वहाँ कहीं भी कूड़ा करकट अथवा धूलि नहीं मिल सकती थी। वहाँके दास दासी सभी सुन्दर थे, सुशील थे स्वच्छ निर्मल वस्त्र पहिने हुए थे। सभीके कानोमे मणिमय कनक के कुंडल शोभित हो रहे थे। वे रंग विरंगे वस्त्र पहिने इधरसे उधर आते जाते ऐसे लगते थे मानों अनेक रूप रख कर सुन्दरता भवनमें नृत्य कर रही हो। उस भवनमें घृतके या तैलके दीपक नहीं जल रहे थे। रत्नमयी दीपावलीकी दमकसे वह सम्पूर्ण भवन जगमग जगमग कर रहा था। वहाँ इतना प्रकाश था, कि एक छोटीसे छोटी पड़ी सुई भी दिखाई देती थी। स्थान स्थान पर कपूर अगुरु और घृतसे मिली धूप जल रही थी उसका सुगन्धित धूम्र जब चक्कर काटता हुआ ऊपर जाता तो ऐसा लगता मानों बहुत से कपोत नभ में उड़ान भर रहे हों! वही धूपधूम्र झरोखों से निकल कर छतों की ओर जाता, तो छज्जों पर बैठे

हुए मयूर उसे मेघ समझकर चहकने लगते। उनका बोलना बड़ा ही प्यारा लगता। बहुतसे अपने पंखोंको फैला कर आनन्दमें विभोर होकर नृत्य करने लगते। ऐसे उस सुन्दर, सुसज्जित भवन की शोभा निहारते हुए नारदजी उसमें घुसे। उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा यह तो रुक्मिणीजीका ही भवन है। न जाने इसमे कितनी बार आकर भगवान्‌के दर्शन किये हैं, प्रसाद पाया है और वीणा बजाई है, किन्तु आज मुझे यह घर नवीनसा ही प्रतीत हो रहा है।

नारदजी यह सोचते हुए जा ही रहे थे, कि मणियोंके प्रकाश में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने नारदजीको देख लिया। उस समय भगवान् सायकालीन व्यालू करके सुन्दर सजे हुए पलंग पर पौढ़ रहे थे। पासमें ही उनकी प्राणप्रिया रुक्मिणीजी अपने ही समान गुण, रूप, वय और वेषवाली दश सहस्र दासियोंके साथ समुपस्थित थी। स्वयं रुक्मिणीजी सुवर्णकी डंडी वाले चमरको डुला रही थी। कोई पान बना रही थी, कोई चरण दबा रही थी, कोई थूकनेके वर्तनको सम्हाल रही थी, कोई माला लटका रही थी। इस प्रकार सभी सेवामें संलग्न थी।

नारदजीको देखते ही ब्रह्मण्यदेव भगवान् वासुदेव सहसा अपने पलंगसे उठकर खड़े हो गये। दौड़ कर अपने मुकुट मण्डित मस्तक को महर्षिके चरण कमलोंमें रख दिया। विनयावनत होकर श्रद्धा सहित प्रणाम करके उन्हें प्रेमपूर्वक पकड़ कर ले गये और बल पूर्वक अपनी शय्या पर बिठा दिया और हाथ जोड़ कर उनसे कुशल प्रश्न किया। भगवान् तो नर नाट्य कर रहे है न? जो सबके पूजनीय और आदरणीय है, वे आज नारदजीकी पूजा कर रहे हैं। जिनके चरण कमलोंके जलसे भुवनपाविनी भगवती सुरसरि प्रकटित हुई हैं, वे ही आज अपनेको पावन बनानेके लिये देवर्षिके पाद पद्मोंको पखार रहे

हैं और उस पय को परम पावन बताकर पान कर रहे है और सिर पर धारण कर रहे है मानों अपने "ब्रह्मण्यदेव" इस जगत विख्यात नाम को सार्थक कर रहे हों

चरण धोकर श्रीहरि ने नारदजी की विधिवत् पूजाकी, फिर दोनों हाथों की अञ्जली बाँध कर अमृत के सदृश मधुर और स्वल्प वाणी से उन कर्ण कुहरों को परिप्लावित करते हुए बोले– "प्रभो ! आपने इस सेवक पर बड़ी ही कृपा की मैं आपकी कौन सी सेवा करूँ ? मेरे योग्य जो सेवा हो, उसे सूचित करें।"

नारदजी को ऐसे व्यवहार की स्वप्न मे भी आशा नही थी, भगवान् इतनी नम्रता दिखावेंगे। इतना अधिक मेरा आदार करेंगे अतः वे लज्जित होकर कहने लगे—"भगवन् ! आप ऐसा क्यों न कहें; अपने अनन्याश्रित भक्तों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करना, उनका संरक्षण करना तथा दुष्टों का दमन करना ये तो आपके सहज स्वभाव ही है। आपका नाम ब्रह्मण्यदेव है, इस लिये आप हम जैसे नाम के विप्रों का भी अत्यधिक आदर सत्कार करते है। आप इस चराचर विश्व के एक मात्र अधिपति हैं, आप विश्वम्भर हैं। आप अज है अव्यक्त है निर्गुण और निराकार है। केवल भक्तों के ऊपर अनुकम्पा करने के निमित्त इस जगत् की स्थिति, रक्षण और कल्याण के ही निमित्त आप निराकार से साकार बन गये हैं। अज होकर भी आपने जन्म धारण किया है। आप किन्ही कर्म बन्धनो के कारण अवनि पर अवतरित नही हुए अपितु स्वेच्छा पूर्वक आपने यह शरीर धारण किया है। आपका ज्ञान अगाध है, ब्रह्मादिक देव भी आपका हृदय में निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं। इस भव कूप में पतित प्राणियों के एक मात्र अवलम्बन आप ही हैं। संसार सागर से पार लगाने वाले आपके ये पुनीत पाद पद्म ही नौका हैं। आज मुझे उन्हीं अमल चरण कमलों का साक्षात् दर्शन हुआ, अतः

मुझ से बढ़कर भाग्यशाली दूसरा कौन होगा। आप मेरे ऊपर ऐसी अनुग्रह करें, कि ये चरण कमल सदा मेरे मन मन्दिर में बसे रहें कभी मुझे इनका विस्मरण न हो। आपके चरणोंको हृदय में धारण करके चौदह भुवनों में निर्भय होकर विचरण करता रहूँ।"

भगवान् ने कहा—"नारदजी! बहुत दिनो में आप आज आये। आप तो ऐसा गोता लगा जाते हैं, कि हमें भूल ही जाते हैं। अच्छा, वीणा की कोई तान सुनाइये।"

नारदजी ने व्यग्रता के साथ कहा—"महाराज! मेरी वीणा के तार आज कुछ ढीले हो गये हैं। मुझे आज बहुत आवश्यक कार्य है क्षमा कीजिये फिर सुनाऊँगा अब तो मुझे आज्ञा ही हो।"

भगवान् ने आग्रह के साथ कहा—"अजी, ऐसे कैसे हो सकता है। अच्छा, वीणा न सुनाओ कुछ जलपान तो करते जाओ।"

नारदजी ने कहा—"अब महाराज! जल पान की इच्छा नही है। वरुणजी के यहाँ से भोजन करके अभी २ आरहा हूँ।"

भगवान् ने बात पर बल देते हुए कहा—"अजी, नही। ऐसा हो सकता है कि आप आवे और बिना मुँह जुठारे चले जायँ। यह तो बड़ा दोष है।" फिर रुक्मिणी जी से बोले—"तुम देखती क्या हो, शीघ्रता से जलपान ले आओ।"

यह सुनकर रुक्मिणी जी तुरन्त गयी। भीतर से तुरन्त की बनी गुलाब जामुन, गरमा गरम जलेबी और एक कटोरा मलाई दार दूध ले आयी। अब नारदजी क्या करते। म [illegible] देख कर ब्राह्मण की इच्छा न रहने [illegible] ी इच्छा हो [illegible] रहा ही नहीं जाता।" रुक [illegible] मना कैसे सबको। फिर कुल्ला करते [illegible] र "अच्छा आज्ञा हो" यह कहकर तुर [illegible] । भ

मनोगत भावों को ताड़ गये थे, अतः वे कुछ बोले नहीं। नारद जी तुरन्त दूसरे घर में पहुँच गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब दूसरे भवनों में नारदजी ने जो कुछ देखा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तहँ देखे घन श्याम प्रिया संग चौसर खेलत।
देखि दाव निज हँसत प्रिया कूँ कर तै ठेलत॥
नारद निरखे अतिथि कहें अनजान सरिस हरि।
करे कृतारथ देव! दये शुभदरश दया करि॥
करि पूजा मिष्टान्न अति, अधिक खवायो पेट भरि।
तुरत तहाँ तें चलि दये, नारद दंड प्रनाम करि॥

मुझ से बढ़कर भाग्यशाली दूसरा कौन होगा। आप मेरे ऊ
ऐसी अनुग्रह करें, कि ये चरण कमल सदा मेरे मन मन्दिर
बसे रहें, कभी मुझे इनका विस्मरण न हो। आपके चरणोंको हृद
में धारण करके चौदह भुवनों में निर्भय होकर विचरण करता हूँ।

भगवान् ने कहा—"नारदजी! बहुत दिनों में आप आ
आये। आप तो ऐसा गोता लगा जाते हैं, कि हमें भूल ही जा
है। अच्छा, वीणा की कोई तान सुनाइये।"

नारदजी ने व्यग्रता के साथ कहा—"महाराज! मेरी वी
के तार आज कुछ ढीले हो गये हैं। मुझे आज बहुत आवश्य
कार्य है क्षमा कीजिये फिर सुनाऊँगा अब तो मुझे आज्ञा ही हो

भगवान् ने आग्रह के साथ कहा—"अजी, ऐसे कैसे हो सक
है। अच्छा, वीणा न सुनाओ कुछ जलपान तो करते जाओ।

नारदजी ने कहा—"अब महाराज! जल पान की इ
नहीं है। वरुणजी के यहाँ से भोजन करके अभी २ आरहा हूँ

भगवान् ने बात पर बल देते हुए कहा—"अजी, नहीं
ऐसा हो सकता है कि आप आवें और बिना मुँह जुठारे
जायँ। यह तो बड़ा दोष है।" फिर रुक्मिणी जी से बोले
"तुम देखती क्या हो, शीघ्रता से जलपान ले आओ।"

यह सुनकर रुक्मिणी जी तुरन्त गयीं। भीतर से तुरन्त
बनी गुलाब जामुन, गरमा गरम जलेबी और एक कटोरा म
दार दूध ले आयीं। अब नारदजी क्या करते। मीठे पदार्थ
कर ब्राह्मण की इच्छा न रहने पर भी इच्छा हो जाती है। उ
रहा ही नहीं जाता।" रुक्मिणीजी से मना कैसे करते उड़ा
सबको। फिर कुल्ला करते हुए वीणा लेकर "अच्छा तो महा
आज्ञा हो" यह कहकर तुरन्त चल ही तो दिये। भगवान् उ

ोगत भावों को ताड़ गये थे, अतः वे कुछ बोले नहीं। नारद
तुरन्त दूसरे घर में पहुँच गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब दूसरे भवनों में नारदजी
जो कुछ देखा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तहँ देखे घन श्याम प्रिया संग चौसर खेलत।
देखि दाव निज हँसत प्रिया कूँ कर तें ठेलत॥
नारद निरखे अतिथि कहें अनजान सरिस हरि।
करे कृतारथ देव! दये शुभदरश दया करि॥
करि पूजा मिष्ठान्न अति, अधिक खवायो पेट भरि।
तुरत तहाँ तें चलि दये, नारद दंड प्रनाम करि॥

"अभी तो गरमागरम जलेबी खिलाई है। अभी पूछते हैं। कब आये ?"

नारदजी को चुप देखकर बोले—"महाराज ! बड़ी कृपा की आपने। हम लोग तो गृहस्थी के जंजाल में ऐसे फँसे हैं कि महात्माओं के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। हम जैसे सकाम गृहस्थी आप जैसे आप्तकाम महात्माओं के दर्शन कैसे प्राप्त कर सकते है ? हमारे योग्य कोई सेवा हो तो बताइये। आपकी सेवा करने से ही हमारा जीवन सफल हो सकता है।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! मैं तो आपके दर्शनों को आया था, आप तो न जाने कैसी बातें करने लगे।"

भगवान् शीघ्रता से बोले—"अच्छा ये सब बातें तो पीछे होंगी, आप भोजन प्रसाद की बातें कहिये ?"

नारदजी ने कहा—"अजी महाराज ! भोजन तो मैं अभी करके आया हूँ।"

भगवान् दीनता के स्वर में बोले—अजी, नारदजी ऐसा नहीं हो सकता। हम गृहस्थियों के घर से आप बिना खाये लौट जायँ, तब तो हमारी सब बात बिगड़ जायगी। देखिये मथुरा के पेड़े आये हैं, कुछ खुरचन भी है। तुम्हारी चेली सत्यभामा ने रसगुल्ले बड़े सुन्दर बनाये हैं। कुछ तो चखिये।"

नारदजी मना ही करते रहे इतनी देर में सत्यभामा जी थाल सजाकर ले ही तो आयी। नारदजी ने बहुत आनाकानीकी, किन्तु भगवान् के सामने उनकी कुछ चली ही नहीं। एक एक करके सभी पेड़े रसगुल्ले खिला दिये। नारदजी ने सोचा-"यह तो बड़ी आपत्ति है। यदि ऐसा ही सोलह सहस्र एक सौ आठ घरों में आतिथ्य सत्कार हुआ। तब तो जय जय सीताराम हो जायगी। अब उन्होंने निश्चय किया छिपकर ही भगवान् की लीला देखनी चाहिए,उनके सम्मुख होने पर तो वे बिना खिलाये

छोड़ेंगे नहीं।" यह निश्चय करके वे सूक्ष्म रूप से प्रत्येक घर में जाकर भगवान् की लीलाओं को देखने लगे।

कहीं उन्होंने देखा भगवान् छोटे-छोटे बच्चों को गोदी में लेकर खिला रहे है। किसी के हाथ को लेकर "आटे बाटे दही चटाखे। वन फूले वनवारी फूले" कर रहे है। किसी के कान में "कानाबाती कुर्र कर रहे है किसी की बगल में गुलगुली करके हँसा रहे है, किसी के प्यार से चपत लगा रहे है, किसी का मुख चूम रहे हैं। किसीकी नाककों पकड़कर हिला रहे हैं। किसीके सिरमें खुटका मार रहे हैं। किसी किसी की उँगली पकड़कर पांपां पैंया चला रहे हैं। किसी की चकवी को घुमा रहे है। किसी को थपकियाँ देकर सुला रहे है। नारदजी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं था, उनका कौतूहल बढ़ रहा था।

फिर वे उससे आगे के घर में गये, वहाँ भगवान् जलसे स्नान करने को खड़े हैं। धोती अंगोछा लिये उनकी प्रिया खड़ी है। नारदजीने देखा भगवान् पैछर सुनकर चौक पड़े। उन्हें सन्देह हुआ कि कही भगवान् ने मुझे देखतो नही लिया। इस लिये वे तुरन्त लौट पड़े और फिर उससे अगले घर में गये।

उस घर में देखा कोई बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है, बहुत से ब्राह्मण वेद मंत्र पढ़ रहे है। अपनी पत्नी की ओढ़नी में गाँठ बांधे यजमान बने भगवान हाथ जोड़े खड़े हैं। उससे आगे के घर में देखा किसी देवपूजन की सामग्री जुटाई जा रही है। रंग-विरंगे फूलोंकी डालियाँ भरी हुई रखी हैं। नाना भाँति के नैवेद्य फल, फूल, आदि पदार्थ रखे हैं। आसन, गंध अक्षत, धूप दीप तथा अन्यान्य वस्तुएँ यथा स्थान सजाई हुई रखी है।

उससे आगे के घर में देखा भगवान् ब्राह्मणोंको स्वयं भोजन करा रहे हैं, उनसे आग्रह पूर्वक कह रहे हैं। यह पूड़ी महाराज बड़ी मृदु है, गरमागरम है, एक तो लीजिये। अच्छा तनिक

हलुआ ही लीजिये। रबड़ी तो आपने पीयी ही नहीं। यह ठीक नहीं है। देखिये खीर के पात्र को खाली कीजिये। शीघ्र करने का काम नहीं। भोजन रुचि के साथ करना चाहिये। तनि चटनी चाट लीजिये, फिर मोदकोंका स्वाद देखिये। रायता पीलीजिये सब पच जायगा। पापड़ों में कुछ बोझा ही है। सोंठ में अधिक चरपरी हो, तो इसमें तनिक बूरा लीजिये फेंनीको दूध में डाल दीजिये। आप बूढ़े है घेवरों लिये दाँत की आवश्यकता नही। ये तो ओठों से भी फूट जाते अजी, पंडित जी! आपतो युवक हैं। इन बूढ़ों का साथ दीजिये। अभी से बैठ कैसे गये। अच्छा,मीठा अच्छा नही तो नुकती का रायता ही पीलें। दालमोंठ कैसी कुरुकुरी है। ना जी यह देखकर दबे पाँव लौटना ही चाहते थे कि भगवान् आकर प्रणाम किया और बोले—"आइये, आइये नारद महाराज! आपतो समय ही पर कृपा करते हैं। स्वर्ग से आपको सुगन्धि आगयी होगी, कि आज ब्राह्मण भोजन है कहावत भी है।

रूखी सूखी कोस दुकोसी, हलुआ पूरी बाहर।
जो सुनि पावे मालपुआकी, धावै कोस अठारह॥

घबराकर नारदजी ने कहा—"नहीं महाराज! मुझे भोजन करना नहीं है। मेरा तो पेट कंठ तक भरा है।"

हँसकर भगवान् बोले—"हाँ, महाराज आपको (तो ऐ कहना ही चाहिये। ब्राह्मण भोजन के लिये और लड़की लड़ विवाह के लिये ऐसे ही ऊपरसे नही, नहीं, करते रहते हैं। कि समझने वाले उनकी नाही का अर्थ समझते है।

'मन मन भावै। मूड़ हिलावै।"

नारदजीने कहा—"नही, महाराज! मैं तो सत्य ही कह रहा हूँ। तनिक भी इच्छा नहीं है।"

भगवान् बोले—"पहिले से इच्छा थोड़े ही होती है। वस्तु के सामने आते ही इच्छा हो उठती है। पत्तल पर बैठिये तो सही, कलाकन्द की कतरियों को देखते ही इच्छा हो जायगी।" नारदजी मना करते ही रहे किन्तु मदन मोहन मानने वाले थोड़े ही थे, हाथ पकड़कर ले गये और ब्राह्मणों के बीच में बिठा दिया। उनके सामने पत्तल परस ही तो दी। नारदजी विवशता के स्वर में बोले—"महाराज ! पेट फट जायगा।"

हँसते हँसते भगवान् बोले—"आपको आतापी वातापी वाला श्लोक याद नही है क्या ?"

नारदजी ने खीजकर कहा—"मेरी तो स्मरण शक्ति सब कुंठित हो गयी है।"

भगवान् बोले—"मंत्र मैं पढ़ता हूँ आप पेट पर हाथ फेरें।

आतापी भक्षितो येन, वातापी च निपातितः।
समुद्रः शोषितो येन स मेडगस्त्यः प्रसीद तु॥

नारदजीने दो चार ग्रास खाये और फिर वे भागे। अगले घर में पहुँचे तो भगवान् यज्ञशिष्टान्नका भोजन कर रहे हैं, उनकी प्रिया पंखा झल रही है और बार-बार आग्रह कर रही है—"आपको हो क्या गया, कुछ खाते ही नही। थालमें सब वस्तुएँ ज्यों की त्यों रखी हैं।" नारदजी खिड़की में से ही देखकर लौट पड़े। उससे सटे हुए घर में जाकर देखा भगवान् एक सुंदर आसन पर बैठे हैं सम्मुख चांदी के पञ्चपात्र रखे हैं। सन्ध्यावन्दन कर रहे हैं आचमन करके अर्घ्य दे रहे हैं। दूसरे घरमें गये तो वहाँ गायत्री मन्त्र का एकाग्रचित्त से जप कर रहे हैं। कही पर देखा सुखपूर्वक शय्या पर शयन कर रहे हैं। कहीं पर देखा सभा लगी है। बहुत से मंत्री बैठे हैं। उनसे राज्य सम्बन्धी मन्त्रणा कर रहे हैं। कही पर सेनापति को बुलाकर उसे अनेक प्रकार की सेना सम्बन्धी परामर्श दे रहे हैं। कहीं पर सैनिकों के संगठन

का निरीक्षण करने स्वयं हाथी घोड़ों पर चढ़कर जा रहे हैं।

किसी घर मे देखा,एकान्त में बैठकर ध्यान में मग्न हैं,प्रकृति से परे अपने ही पुराण पुरुष स्वरूप का चिन्तन कर रहे हैं। कहीं पर देखा अपने गुरुजनों को प्रणाम नमस्कार कर रहे हैं, विविध वस्तुएँ अर्पण करके उन्हें प्रसन्नकर रहे है। कहीं सुवर्ण के सींगोवाली, चाँदी के खुरों वाली,जिसकी पूँछमें मोती पिरोये गये हैं, ऐसी गौओंका ब्राह्मणों को दान कर रहे हैं। कहीं पर देखा भगवान् सुखपूर्वक अपने आसन पर विराजमान हैं, वन्दीजन उनकी स्तुति कर रहे हैं। कहीं बड़े बड़े संगीतज्ञ जुटे हुए हैं भगवान् उनके बीचमें बैठकर संगीत सुन रहे और सिर हिला रहे हैं। कहीं नेत्र बंद किये हुए सो रहे है दासियाँ व्यजन डुल रही है। कहीं भोरमें प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में उठकर प्रातः स्मरण कर रहे हैं, कहीं शौच जाने की तैयारियाँ कर रहे हैं, कहीं दन्त धावन कर रहे है।

कहीं स्नान करके तिलक स्वरूप लगा रहे है। कहीं जलपान करके हाथ धो रहे है। कहीं बच्चों को पढ़ने जाने के लिये उपदेश दे रहे है, कहीं आचार्य से बच्चेके अध्ययन के सम्बन्ध में परामर्श कर रहे हैं। कहीं भोजन करके इतिहास पुराण सुन रहे हैं कहीं ब्राह्मणगण जो स्वस्त्ययन आशीर्वाद मन्त्र पढ़ रहे है, उन्हें नीचा सिर किये हुए श्रद्धा भक्ति के साथ श्रवण कर रहे हैं।

नारदजी ने देखा, कहीं भगवान् अपनी प्राणप्रिया के साथ ऐसी हँसी विनोदकी बातें कर रहे है,कि सरसता की मानों सरिता ही बह रही हो। कहीं पर घरके ही सरोवर में स्त्रियों से घिरकर जलक्रीड़ा कर रहे हैं, उनको भिगो रहे है, स्वयं उनके द्वारा भिगोये जा रहे हैं। कहीं पर आश्रितों को पारितोषिक बाँट रहे है तो कहीं सैनिकोंको पदक देने की तैयारियाँ कर रहे हैं कहीं दूसरे देशों के दूतों से सन्धि विग्रह आदि कर रहे हैं। कहीं किसी को

ंट फटकार कर रहे हैं।

कहीं घरका प्रबन्ध देख रहे हैं, कहीं गृहस्थ सम्बन्धी आव-यक वस्तुओंको जुटाने के लिये सेवकोंको आदेश दे रहे हैं। किसी घरमें गर्भाधान संस्कार की तैयारियाँ हो रही हैं पण्डित जन कराने के लिये बैठे हैं, सामग्री जुटाई जा रही है कहीं र्भस्थ बच्चे के सात महीने होने पर पुंसवन संस्कार हो रहा है। मुराल से ही आई हुई वस्तुओं को देख रहे है, स्त्रियाँ गीत गा हो हैं बड़ी चहल पहल हो रही है। किसी घरमें सीमन्तोन्नयन संस्कार हो रहा है गर्भिणी के बालों को बाँधा जा रहा है दान ुण्य हो रहा है। कहीं किसी घर में बच्चा पैदा हो रहा है, भगवान् नान्दी मुखादि श्राद्ध करके जातकर्म संस्कार की तैयारियाँ कर रहे हैं। कहीं किसी घर में पैदा हुए बच्चेका नाल छेदन हो रहा है। कहीं दश दिन का होने पर बच्चे का नाम संस्कार हो रहा है। पट्टेपर अपनी प्रिया के साथ गाँठ बाँधे हुए पूजन कर रहे हैं। कही पर बच्चे के कान छेदे जा रहे है, बच्चा रो रहा है, उसके मुख मे मिठाई दी जा रही है, स्त्रियाँ गीत गा रही हैं। कही ब्राह्मणो को भोजन कराके बच्चे का अन्नप्राशन संस्कार किया जा रहा है। कही मुंडन हो रहा है भगवान् सबको नेग बाँट रहे हैं।

नारदजी ने देखा कहीं मंडप बना हुआ है बच्चों का यज्ञोपवीत संस्कार हो रहा है। वे ब्रह्मचारी बने भिक्षा माँग रहे हैं, भगवान् हँस रहे हैं। कहीं आचार्य बच्चों का वेदारम्भ संस्कार करा रहे हैं, अग्नि मे आहुति देना सिखा रहे हैं। कही देखा बच्चे स्नातक होकर लौट रहे हैं, उनका समावर्तन करा कर उनके सदृश भार्या की खोज कर रहे है,कहीं पुत्र के विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं बरात सजाई जा रही है। वर की घुड़चढ़ी हो रही है। कहीं पुत्र का विवाह होकर आया है नई बहू के मुख देखने की धूम है उसे मुँह दिखाई में सब लोग नानाभाँति के उपहार दे रहे हैं। कहीं

कन्याके विवाहकी तैयारियाँ हो रही हैं, बरातका प्रबन्ध
रहे हैं। कहीं आप स्वयं कन्या के पीले हाथ करके
रहे हैं। कही कन्या का विदा कर रहे हैं, वह भगवान् से
कर फूट फूट कर रो रही है। उसे समझाते हुए और आ
प्रेमाश्रुओ से उसकी चोटी को भिगोते हुए कह रहे हैं—"बेटी
रोते नही है अब शीघ्र ही तुझे बुलालेंगे। जा, बेटी जा।" कहीं
कन्या के लिये छोछक देने की तैयारियाँ कर रहे हैं। भेजा जा
वाली तोहरों और सिरोपाओंको देख रहे है। बुरजीदार
बड़े मोदकों को देखकर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं।

कहीं पर अपना जन्म दिवस मनाया जा रहा है कहीं बच्
के जन्म नक्षत्र पर दान पुण्य हो रहा है। कही कोई पर्व मना
जा रहा है, कहीं नये आये हुए सम्बन्धियों से वहाँ की कुश
पूछ रहे हैं। कहीं देखा भगवान् बड़े बडे यज्ञों की दीक्षा ले
हैं, कही महामहोत्सव कर रहे हैं। कही कूआ खुदाने का मु
पूछ रहे हैं, कही पौसला लगाने को आज्ञा दे रहे हैं। कहीं उ
लगाने को कह रहे हैं, कहीं धर्मशाला, पाठशाला, औषधालय
विद्यालय आदि बनाया रहे हैं। कही विद्यार्थियों की वृत्ति
प्रबन्ध कर रहे हैं, तो कहीं अध्यापकों को इष्ट वृत्ति प्रदान
रहे हैं। कही पर लेखकों की लिखी हुई पुस्तकों को ध्यान
सुनकर उसपर सम्मति दे रहे हैं, कहीं किसी की कविता की प्र
कर रहे हैं। कहीं किसी के नये आविष्कार को सुनकर उसपर
आश्चर्य प्रकट कर रहे हैं, कहीं किसी ऋषिमुनि से गूढ़ धर्म
सम्बन्धी प्रश्न कर रहे हैं। कहीं राजपथ बनवाने के लिये
शिल्पियों से कह रहे हैं, कहीं वृक्ष लगवाने के लिये आदेश दे
रहे हैं। कहीं किसी मठ मंदिर में मासिक वार्षिक वृत्ति लगाने
के लिये मंत्रियों को सम्मति दे रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कहाँ तक गिनाऊँ। नारदजी जहाँ भी गये वहीं वही भगवान् को कोई न कोई नया काम ही पाया। जहाँ भी भेंट हो जाती पूछते "कब आये ?" भोजन के लिये आग्रह करते। नारदजी एक इलायची उठा और भग जाते। उन्हें भगवान् की लीला देखते देखते तृप्ति नहीं होती थी अतः वे सोलह सहस्र एक सौ आठ महलों में गये। अब उन सब का वर्णन करूँ तो कथा प्रसङ्ग बढ़ जायगा, अतः मैंने अत्यंत संक्षेप में संकेत मे उनकी गृहचर्या का वर्णन किया। अब भगवान् ने जैसे उनपर कृपा की। जैसे उपदेश उपदेश दिया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

खाइ भगे ऋषि तुरत न अब फिरि सम्मुख आवें।
लखि चुपके हरि कृत्य अपर घर महँ भगि जावें॥
कहूँ निहारें न्हात खात कहुँ हवन करत हैं।
कहूँ प्रियनि सँग हँसें कहूँ द्विज चरन परत हैं॥
कहूँ करहिं सन्ध्या हवन, कहूँ दान व्रत नियम जप।
कहूँ श्राद्ध तर्पन क्रिया, कहूँ वेदविधि यज्ञ तप॥

भगवत्कृपासे नारदजी की उत्सुकता शान्त

(११३८)

एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो-
नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।
रेमेऽङ्ग षोडश सहस्र वराङ्गनानाम्,
सव्रीडसौहृद निरीक्षणहासजुष्टः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ६९ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

हरि कहुँ गर्भाधान आदि संस्कार करावें।
जातकर्म पुंसवन कहूँ शिशु नाम धरावें॥
कहुँ मुंडन उपनयन कहूँ पै व्याह रचावें।
कहुँ पुत्रिनि करि विदा पतिव्रत पाठ पढ़ावें॥
घर घर महँ नटवर लखे, नर लीला विधिवत् करत।
नारद अति विस्मय सहित, इत तें उत छिपि छिपि फिरत॥

विज्ञ पुरुष जान बूझकर अपने ऊपर संदेह करने वाले को अवसर देते हैं। उसके सामने ऐसे अनाड़ी बने रहते हैं, मानों उसके मनोगत भावों से ये सर्वथा अपरिचित हैं। जब अवसर

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार जिन श्रीमन्नारायण ने जगत् के कल्याण के ही निमित्त अपनी योगमाया शक्ति को स्वीकार किया है, वे मनुष्य लीला का अनुकरण करते हुए तथा सोलह सहस्र सुन्दरियों के लज्जापूर्वक प्रणय कटाक्षों और मधुर मुसकान द्वारा सत्कृत होते हुए उनके साथ रमण किया करते थे।"

ते हैं, तो उसके सम्मुख खुल जाते हैं और वस्तुस्थिति उसके ागे रख देते हैं, जिससे उसका सन्देह दूर हो जाता है। फिर नों ही हँसकर हृदय खोलकर बातें करते है। इससे प्रेम की द्धि होती है श्रद्धा विश्वास और दृढ़ हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी बड़ी उत्सुकता से गवान् की लीलाओं को देख रहे हैं। अन्तःपुर में ही अनेक प रखकर केशव क्रीड़ा करते हों, सो बात नहीं। वे नगर में ौर नगर के बाहर भी अनेक रूपों से व्यवहार कर रहे थे। हीं घोड़े पर चढ़कर मृगया के निमित्त जा रहे थे। तो कहीं राजसभा की ओर ही रथ पर चढ़कर जा रहे हैं नारदजी इस प्रकार घूम घूम कर इधर से उधर देख ही रहे थे, कि इतने में ही उन्हें नथ पहिने घूँघट मारे छम्म छम्म करती हुई एक सुन्दरी दिखाई दी। वह बारबार घूँघट की ओट से नारदजी को अनुराग भरी दृष्टि से देखती जाती थी। नारदजी पहिले तो उसे देखकर सहम गये,यह कौन इतनी सुन्दरी स्त्री इधर से उधर अकेली अँधेरे में घूम रही है। किन्तु जब देखा इसकी दृष्टि में विशेष मोहकता है, तो उनसे रहा नही गया। वे उसके समीप हुँच गये। यह देखकर वह स्त्री हँस पड़ी।

नारदजी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, वह सुन्दरी बनावटी है, वह स्त्री नही पुरुष है। उसने बनावटी नथ पहिन रखी है। वे तो श्यामसुन्दर ही स्त्री बने हुए है। नारदजी ने चौंककर कहा—"महाराज! यह क्या आप लोग से लुगाई क्यों बन ये। पुरुषों के लिये स्त्री का वेष बनाना तो निषेध है।"

हँसकर भगवान् बोले—"मेरे लिये कुछ विधि निषेध नहीं।"

नारदजी ने कहा—"न सही विधि निषेध फिर भी आपने यह कपट वेष क्यों बनाया?"

भगवान् ने कहा—"शासक को सब की रेख देख चाहिये। वेष बदल कर सब के मनोगत भावों से

जाना चाहिये कौन क्या चाहता है। प्रजा के लोगों के क्या भा हैं। मेरे अन्तःपुर में रहने वाले स्त्री पुरुषों के मनोगत भाव क्य

हैं, इन सब बातों को जानने के निमित्त मैं अनेक प्रकारके रूप रख कर घूमता रहता हूँ।"

नारदजी ने कहा—"धन्य है प्रभो! मेरे मन में बड़ी उत्सुकता थी, कि आप सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों को कैसे सन्तुष्ट रखते होंगे, मेरी वह उत्सुकता आप की ही कृपासे शान्त हो गयी। हे योगेश्वर! मैं जानता हूँ, आप की माया का जानना सरल नहीं। जो माया के पति कहे जाते है। ऐसे ब्रह्मादि देवों के लिये भी आपकी मायाको जानलेना अत्यत कठिन हो जाता है, फिर मुझ जैसे अल्पज्ञों की तो बात ही क्या? किन्तु उसी मायाका मैंने आज आपकी अनुकम्पा से दर्शन कर लिया। आज मैं कृतार्थ हो गया। मेरा समस्त भ्रम भाग गया। अब मैं आप से एक आशीर्वाद की भिक्षा चाहता हूँ।"

भगवान् बोले—"वह क्या? तुम सकोच छोड़कर मुझसे माँग लो।"

नारदजी बोले—"हे देव! मैंने आपकी भुवन मोहिनी माया के दर्शन किये। मेरी उत्सुकता मिट गयी। अब आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दें, कि आपकी सुन्दर यश से पूर्ण लीलाओं में मेरा अनुराग हो और उनका निरन्तर गायन करता हुआ निर्भय होकर सभी लोकों में विचरूँ?"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, ऐसा ही होगा तुम वीणा के तान पर सदा मेरे गुण गान करते हुए विचरा करोगे। अच्छा और कुछ पूछना है?"

नारदजी ने कहा—"महाराज! मुझे यह शंका हो रही है, कि आप अखिल ब्रह्माण्ड नायक होकर भी ऐसी अद्भुत अद्भुत लीलायें क्यों करते रहते हैं? साधारण गृहस्थियों के सदृश व्यवहार क्यों करते है?"

भगवान् हँसकर बोले—"ब्रह्मन्! देखिये, मै ही धर्म का

प्रवर्तक हूँ। उसे कहने वाला भी मैं ही हूँ, उसका अनुमो
कर्ता भी मैं ही हूँ। संसार में सर्व श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचर
करते हैं। अन्य लोग उसी का अनुकरण करते हैं। मैं यदि ध
का आचरण न करूँ धर्म की मर्यादा न बाँधूँ, तो यह लोक ध
हीन होकर नष्ट हो जाय। इसीलिये मैं धर्म मार्ग की शिक्षा
के निमित्त ये सब व्यावहारिक कर्म करता हूँ।"

नारदजी बोले—"महाराज! मुझे तो एक शरीर से इ
कृत्य करते देखकर बड़ा मोह सा हो गया।"

हँसकर भगवान् बोले-"बेटा! इसमें चिन्ता करने की
कोई बात नहीं। मैं तो सर्वात्मा हूँ, सब अन्तःकरण में सा
रूप से रहकर मैं ही तो सब करा रहा हूँ। मुझे सर्वगत सब
न्तर्यामी जानकर तुम मेरी योग माया के प्रभाव से मोहित
हो जाओ।"

सूतजी कहते है-"मुनियो! इस प्रकार जब नारदजी ने ए
ही श्यामसुन्दर को सभी घरो में पृथक पृथक सद्गृहस्थ के ध
का आचरण करते पाया, तो प्रथम तो वे बड़े विस्मित हुए
अनन्तवीर्य भगवान् वासुदेवकी योगमाया का वैभव बारम्ब
निहार कर कौतुक वश इधर से उधर घूमते रहे, फिर जब उन्हें
उपदेश दिया तो उनका विस्मय तथा कौतुक दूर हुआ। मुनियो
जो भगवान् चतुर्वर्ग के दाता हैं, फिर भी गृहस्थ धर्म का ना
करने से जिनकी त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, और काम) में प
आस्था है, वे श्रीहरि नारदजी से परम सन्तुष्ट हुए। नारदजी
प्रणाम करने पर भगवान् ने उनका सम्मान किया। इस प्रका
भगवान् से सम्मानित तथा पूजित होकर प्रसन्न चित्त से उन
का स्मरण करते हुए इच्छानुसार लोकों में चले गये।"

इस प्रकार महर्षियो! भगवान् मनुष्य लीला का अनुकर
करते हुए सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों के साथ अकेले

रमण करने लगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने अत्यंत संक्षेप में उन भगवान् अजित की यह कथा कह दी जो विश्वकी उत्पत्ति,स्थिति और प्रलयके एक मात्र कारण हैं। जो अचिन्त्य कर्मा हैं, उनके इस परम पावन उपाख्यान को जो सुनेंगे सुनावेंगे। पढ़ेंगे पढ़ावेंगे गायेंगे गवायेंगे स्वयं अनुमोदन करेंगे दूसरोंसे करावेंगे। उन सबको मोक्षपति भगवान् विश्वम्भर अपनी भक्ति प्रदान करेंगे। मुनियो ! अब आप और क्या सुनना चाहते है।"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! हमें भगवान् की नित्यचर्या सुनाइये !"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! सुनिये !"

छप्पय

इतने महँ इक नारि लखी अतिशय सुकुमारी।
रुनुझुनु रुनुझुनु करत फिरत ऋषि दौरि निहारी॥
कहैं पैर परि प्रभो ! नारि च्यौं रूप बनायो।
हरि हँसि बोले—"पुत्र तोइ निज खेल दिखायो॥
बेटा ! रक्षा धरम की, सहित योग माया करूँ।
[illegible] दनि को शोक भय, भ्रम माया सबई हरूँ॥

—✱—

भगवान्‌की दिनचर्या

(११३९)

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥

(श्रीभा० १० स्क० ७० अ० ४ श्लो०)

छप्पय

यों नारद हरि चरित निरखि ह्वै मुदित गये पुनि ।
अब दिनचर्या कृष्णचन्द्रकी शौनक मुनि सुनि ॥
हरि अति तरकें उठें धोइ मुख ध्यान लगावें ।
न्हावें सन्ध्या हवन करें पुनि धेनु मँगावें ॥
पितर, देव, द्विज पूजि कें, करें दान बहु धेनु नित ।
जाइँ सुधरमा सभा महँ, रथ चढ़ि उद्धवके सहित ॥

जिसके सम्बन्धमें जानना हो उसकी दिनचर्याको देखले। उसका समय किन किन कामोंमें बीतता है। विद्वान् पुरुष काव्य शास्त्रके विनोदमें समय बिताते हैं। जो संसारी लोग हैं, उनका समय व्यसनोंमें तथा परस्परकी कलहमें बीतता है। धर्मात्मा गृहस्थी लोग अपने समयको धर्म अर्थ और काम इस प्रकार

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र नित्य ब्राह्म मुहूर्तमें उठते थे, उठकर हाथ पैर धोकर आचमन करके, स्वस्थेन्द्रिय होकर मायासे प्रतीत अपने आत्मस्वरूपका चिन्तन करते थे।"

ान कामों में नियम पूर्वक बिताते हैं। दिन में वे धर्म और अर्थ ा चिन्तन करते है और रात्रि में काम सम्बन्धी सुखों का पभोग करते है। उनका सब कामों का सब समय बँधा रहता , वे असमय में कोई काम नही करते।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! भगवान् की गृहचर्या सुनने के मनन्त आपने मुझ से उनकी दिनचर्या के सम्बन्ध में प्रश्न किया उसका वर्णन मैं करता हूँ। मुनिवर ! जिस समय सूर्य के प्रथम उदय होते हुए दर्शन होते है, उसे सूर्योदय समय कहते है। उनके तीन चार घड़ी पूर्व जब आकाश लाल हो जाता है, उसे अरुणोदय काल कहते हैं। सूर्य के सारथी, अरुण प्रथम उदित होते हैं, तदनन्तर सूर्यदेव के दर्शन होते है। अरुणोदय काल को ही ब्राह्ममुहूर्त भी कहते है। उसीका नाम उषाकाल है। उस समय बड़ी मीठी २ नींद आती है। उस समय सूर्य मण्डल से अमृत स्राव होता है, इसीलिये उस समय की वायु स्वास्थ्य के लिये परमहितकर होती है। विषयी लोग उस समय को सो कर बिताते हैं। योगी जन उस समय में ब्रह्मका ध्यान करते हैं और कर्मकाण्डी उस समय में स्नान करके सन्ध्या वन्दन, देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण करते है। सूर्यदेव का उपस्थान करते हैं और अग्नि में हवन करके देवताओं को सन्तुष्ट करते हैं, उस समय को जो सो कर बिताते हैं, वे मानों अपने बहु मूल्य धन को चमकीले कांच के टुकड़े के मूल्य में बेच देते हैं। उस समय की मीठी निद्रा प्राणियों को लुभाने के लिये आती है अतः बुद्धिमान् पुरुषों को उस समय भूलकर भी न सोना चाहिये। कुक्कुट उस समय में उठकर बोलता है, मानो वह इस बात की सूचना देता है, कि अब सोने का समय नहीं है। जो कुक्कुट की वाणी को सुनकर भी सोता रहता है उसको कान्ति नष्ट हो जाती है और वह कान्ति हीन हो जाता है।

कुक्कुट के बोलते ही भगवान् तुरन्त उठ पड़ते। उनकी रुक्मिणी आदि प्रियतमाओं को बुरी लगती। वे के वियोग का स्मरण करके तिलमिला उठती और उन कुक्कुट को बुरा भला कहतीं—"निपूते अभी से बोलने लगे। इन्हें में नींद भी नही आती। हमारा वश चले तो द्वारका में एक कुक्कुट को न रहने दें। जो सोने का समय होता है उसी में 'कुक्कू कू कुक्कू कू' करने लगते हैं।" कुक्कुटों के बोलते ही पारिज आदि वृक्षों पर बैठे हुए विहंग वृन्द कलरव करते हुए कू लगते। शुक, पिक, केकी तथा अन्यान्य पक्षिगण अपनी वाणी से भगवान् का गुणगान करने लगते। मानों बन्दी भगवान् की विरुदावली का बखान कर रहे हों। उस समय अमृतवह पवन कल्प वृक्ष के सुमनों की सुन्दर सुगन्ध लिये हुए बहने लगते। भ्रमरवृन्द गुन गुन करके गूंजते हुए पुष्पों के चरों ओर चक्कर काटने लगते। पक्षियों के शावक चहाकर शान्त वातावरण को शब्दमय बना देते। ऐसे सुख समय को देखकर सभी सुखी होते, किन्तु यदुनन्दन की प्रियतमाएं प्राणवल्लभ के पृथक् होने के भय से उस सुखद समयकी भी निन्दा करने लगतीं। वे चाहती थी भगवान् अभी न उठें, किन्तु भगवान तो अपने नियम के बड़े पक्के थे। वे लाख बार आग्रह करने पर भी ब्राह्म मुहूर्त में शयन नहीं करते। तुरन्त उठकर प्रथम का दर्शन करते फिर हाथ पैर धोते शीतल जल से चक्षुओं को धोते अंगोछे से हाथ पैर मुख को पोंछते। फिर बैठकर प्रातः स्मरण करते। पृथिवी से प्रार्थना करते।

समुद्रवसने देवि ! पर्वतस्तन मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

हे विष्णु पत्नि ! यह समुद्र ही तुम्हारा नीला वस्त्र है पर्वत ही आपके स्तन मण्डल हैं। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ

म्हारे ऊपर जो मैं पैर रखूँ उसे तुम क्षमा कर देना भला।"
स प्रकार प्रातःस्मरण करके वे सावधान होकर स्वस्थ चित्त से
पने ही मायातीत, अखण्ड, स्वयं प्रकाश, अद्वितीय, अविनाशी
नित्य, निर्मल, जगत् के कारणभूत, सर्व शक्तियुक्त, सदानन्द स्व-
रूप ब्रह्मस्वरूप का चिन्तन करते। फिर शौचादि कर्मों से निवृत्त
होकर सुन्दर, स्वच्छ, सुगन्धित शीतल सलिल से सुख पूर्वक
स्नान करते। फिर बहुमूल्य रेशमी पीताम्बर पहिनकर सन्ध्या
वन्दनादि कर्म करते। तन्दनन्तर अग्निहोत्र करके मौन होकर
वेदमाता गायत्री का जप करते, तब तक सूर्य उदय हो जाते तो
उन्हें अर्घ्य देते प्रणाम करते।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सूर्य को अर्घ्य तो सन्ध्या के
समय ही दिया जाता है, अग्निहोत्र करके भगवान् पीछे गायत्री
जप और सूर्य अर्घ्य क्यों देते?"

सूतजी बोले—"हाँ,महाराज विधान तो ऐसा ही है। संध्या
के समय ही, उपस्थान, अर्घ्य और गायत्री आवाहन जप आदि
करते हैं, तदनन्तर अग्निहोत्र करते हैं, किन्तु भगवान् कण्व
शाखा के थे। इस शाखा वाले सूर्योदय काल में ही अर्घ्य देना
उत्तम मानते हैं। अतः अग्निहोत्र करके भगवान् सूर्योदय तक
गायत्री जप करते रहते। सूर्योदय होते ही अर्घ्य देकर प्रातः
कृत्यको समाप्त करते। फिर अपने ही अंशभूत देवता, पितर
तथा ऋषियों का विधिपूर्वक तर्पण करते। तदन्तर अपने माता
पिता अन्यान्य गुरुजनों तथा ब्राह्मणों का सविधि पूजन करते
उन्हें प्रणाम करते। जिन ब्राह्मणों की वृत्ति बँधी हुई थी, वे सब
आजाते, उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके रेशमी वस्त्र, मृगचर्म,
तिलके लड्डू तथा गौओं का दान करते। यह बात नहीं कि गौएँ
टूटी टेढ़ी मरखनी दे देते हों। तुरन्त की ब्यायी हुई, पहलौंन
अत्यंत सीधी, दूध देने वाली बछड़े के सहित देते थे। उनके सींग

सोनेसे मढ़े रहते थे। खुर चांदीसे और गले में मोतियोंकी म
पड़ी रहती थीं। उनकी पीठपर सुन्दर रेशमी वस्त्रकी झूल
थीं। ऐसी एक वद्व कपिला गौएँ भगवान् नित्य दान करते थे

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वद्व संख्या का क्या
होगा। कितने का एक वद्व होता है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! चौदह लाख के एक सौ
भाग का नाम एक वद्व है। अर्थात् चौदह लाख को एक सौ
से भाग दे दो उससे जो संख्या निकले (१३०८४) इसी को
कहते है। भगवान् इतनी गौएँ नित्य दान करते थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इतनी गौएँ नित्य कहाँ
आती होगी, कहाँ समाती होगी। कितने काल में भगवान् दान
कहते होगे ? यह तो आश्चर्य कीसी बात है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! अब कलियुग आगया है, इस
लिये हमें आश्चर्य होता है। नही तो आश्चय की कोई बात
नहीं। जिनके पलक मारते ब्रह्माण्ड बनते और बिगड़ते रहते हैं,
उनके लिये असंभव कुछ भी नही। एक साथ भिन्न भिन्न गोत्रों
के ब्राह्मणों को साथ ही संकल्प पढ़कर दान कर देते थे। गौ
ब्राह्मणों की रक्षा के हेतु ही तो उनका अवतार होता है।"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी ! सत्य है। अच्छा आ
कहिये, फिर भगवान् क्या करते थे ?"

सूतजी बोले—"भगवान् ! गौ दान करनेके अनन्तर भगवा
गौ, ब्राह्मण, देवता, कुलवृद्ध तथा अन्यान्य गुरुजनों तथा समस्त
प्राणियों को श्रद्धा सहित प्रणाम करते थे। तदनन्तर कपिला गौ
तथा अन्यान्य शुभ वस्तुओं का स्पर्श करते। फिर पूजा के वस्त्र
उतार कर पहिनने योग्य दिव्य नूतन राजसी वस्त्र पहिनते। सभी
अंगों में सुवर्ण तथा मणियो के आभूषण धारण करते। फिर
सुन्दर गौ के घृत में मुख देखकर उस घृत को दान कर देते।

सेवक दर्पण सम्मुख रखते उसमें अपने त्रिभुवन मोहन श्रीमुखको देखते। धर्म रूप शुभ्र सांडके,धेनुके,ब्राह्मण तथा देवताओंके पुनः दर्शन करते हुए अपनी रानियोंके अन्तःपुरमें जाते। वहाँ रहनेवाले दास दासियों, तथा अन्यान्य विद्योपजीवियोंको पारितोषिक देकर सन्तुष्ट करते। प्रसाद पाते, सुन्दर सुगन्धित मालाओंको धारण करते। प्रियायें सुन्दर सुन्दर लौंग, इलायची, जायफल, कत्था, चूना और सुपारी आदि डाल कर पान लगातीं। उसे सुवर्ण के पत्रमें लपेट कर लातीं। भगवान् उन पानोको प्रथम ब्राह्मणोंको, इष्ट मित्रोंको, मन्त्रियोंको तथा अपनी प्रियाओंको अपने कर कमलोसे देते। तदनन्तर आप भी स्वीकार करते। पान खाकर तनिक देर बायें करवटसे लेटते।

इतनेमें ही दारुक रथ सजाकर ले आता। वह रथ सुवर्णसे मढ़ा रहता था। गरुड़की ऊँची ध्वजा उसपर फहराती रहती थी, शैव सुग्रीवादि सफेद रँगके चार घोड़े उसमे जुते रहते थे। रथको खड़ा करके सारथी आकर भगवान्को प्रणाम करता। सारथीको देखकर भगवान् हँस जाते और तुरन्त पलँगसे उठकर खड़े हो जाते। तुरन्त ही सात्यकि उद्धव आदि अंग रक्षक तथा आत्मसचिव आकर उन्हें घेर लेते। आप हँसते हुए सारथीके हाथको अपने हाथसे पकड़ कर इधर उधर देखते हुए रथके समीप जाते। दासियों सहित रानियाँ उन्हें द्वार तक पहुँचाने आती स्त्रियाँ उन्हें लज्जाके सहित प्रणय कटाक्षों द्वारा सतृष्ण दृष्टिसे निहारतीं। उन्हे सभामें जानेके समयका वियोग असह्य हो जाता। जब तक रथ दीखता रहता, तब तक वे खड़ी रहतीं। जब रथ आँखोसे ओझल हो जाता तब उदास होकर लौट आती। भगवान् जाते समय हँस जाते, उनकी हँसी प्रियाओंके हृदयमे चुभ जाती जिससे वे भूलीसी खोईसी बनी श्यामसुन्दरका ही सभासे लौटते समय तक चिन्तन करती रहती।

समस्त यादव सुधर्मा सभाके द्वार पर खड़े भगवान्‌की प्रतीक्षा करते रहते। भगवान्‌के रथकी ध्वजाको देखते ही सब जय जय-कार करने लगते। सबकी ओर कृपा भरी दृष्टिसे देखते हुए भगवान् रथसे उतरते और अपने बन्धु बान्धव समस्त यादवोंसे घिर कर उस सुधर्मा सभामें प्रवेश करते जिसमें प्रवेश करने-वालेको क्षुधा, पिपास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु ये छै ऊर्मियाँ कष्ट नही देती थीं।

उस सभामें सबके पृथक् पृथक् आसन लगे रहते थे। एक सुन्दर सुसज्जित मणिमय राजसिंहासन पर उग्रसेनके नीचे भगवान् विराजते। उनके चारों ओर छोटे बड़ेके क्रमसे और भी असंख्यों यादव विराजते। उन सबके बीचमें भगवान् अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए ऐसे शोभायमान होते थे मानो नक्षत्रोंसे घिरे चन्द्रदेव प्रकाशित हो रहे हों। प्रथम कुछ राजकाजकी बातें होतीं, फिर कुछ मनोरंजन का भी कार्य-क्रम रखा जाता। सभा सचिव उप मंत्रीगण कुछ हँसी विनोदकी बातें करते। वे हास्य रस पूर्ण बातोंसे कुशलता पूर्वक श्यामसुन्दरकी उपासना करते। सूत, मागध वन्दी जन आकर स्तुति पाठ करते। नट, नर्तकियाँ आ कर मृदङ्ग, वीणा, मुरज तथा बाँसुरी आदि बजा कर नाच कर तथा गाकर अपनी कला दिखाते। फिर वेदज्ञ ब्राह्मण ऋचाओं और सूत्रोंकी व्याख्या करते इतिहास पुराणोंकी कथा सुनते, पूर्वकालीन पवित्र कीर्ति पुण्य श्लोक राजाओंके चरित्र सुनते। इस प्रकार मध्यान्होत्तर तक सभाका कार्य क्रम चलता।

सभा समाप्त होने पर भगवान् रथमें बैठ कर पुनः अपने अन्तःपुरकी ओर चल देते। बहुत देर पहिलेसे ही ऊँचे स्थान पर खड़ी हुई रानियाँ भगवान्‌के आनेकी बाट जोहती रहतीं जहाँ, उन्हे गरुड़के चिन्हसे चिह्नित विशाल ध्वजा दिखाई दे

वहाँ उनके मुरझाये हुए हृदय कमलकी कलियाँ स्वतः ही खिल जातीं। वे उत्सुकता पूर्वक नीचे उतर कर भगवान्के स्वागतके लिये आगे बढ़तीं। रथ पर आते हुए तो भगवान् एक ही दीखते। रथसे उतरते ही वे सबके घरोंमें उतने ही रूपोंसे साथ ही प्रवेश करते। सभी समझतीं सभासे भगवान् मेरे ही घरमें आये हैं। वहाँ वे मधुर वाणी और प्रणय कटाक्ष युक्त चितवनसे उनका स्वागत करती। भगवान् घरमें प्रवेश करते, तो उनके चरणोंको रानियाँ पखारती। भगवान् वस्त्र बदलते, तब कुछ जलपान लाकर उनके सम्मुख रखती। भगवान् बच्चोंको बाँट कर कुछ जलपान करते। फिर सायंकालीन कर्मोंसे निवृत्त होकर स्नान सन्ध्यावन्दन और सायंकालीन अग्निहोत्र करते। तब तक सायं-कालीन व्यालूका समय हो जाता। पूजा आदिसे निवृत्त होकर व्यालू करते। व्यालू करनेके अनंतर सौ पैर इधर उधर टहलते। फिर कुछ देर इतिहास पुराण सुनते। प्रियाओंसे बातें करते। फिर पूर्वकी ओर सिर करके सुन्दर सुखद मृदुल शैया पर शयन करते। सोते समय अगस्त, विष्णु, मुचुकुन्द, कपिल और आस्तीक मुनि इन पाँचो का स्मरण करते। क्योंकि ये पाँचों सुख पूर्वक सोने वाले है। सोते समय चोर न आजायँ, इस लिये वे इस मंत्रको पढ़ कर सोते थे।

तिस्रो भार्याः कफल्लस्य दाहिनी मोहिनी सती।
तासां स्मरण मात्रेण चौरो गच्छति निष्फलः॥
कफल्लम्! कफल्लम्! कफल्लम्!

अर्थात् चौर विद्याके आचार्य कफल्ल मुनिकी दाहिनी मोहिनी और सती ये तीन स्त्रियाँ थीं। कफल्ल मुनि चौर विद्याका प्रचार करते थे। चोरी करनेकी शिक्षा देते थे। उनकी स्त्रियाँ उनके

इस कामसे असंतुष्ट थीं। वे मुनिको मना करती थीं, कि आप मुनि होकर यह क्या चोरीकी विद्याका प्रचार करते हो।

मुनिने कहा—"मैं तो इस विद्याका आचार्य ही हूँ।"

स्त्रियोंने कहा—"आप भले ही आचार्य हों किन्तु चोरीकी शिक्षा देकर आपको लोगोंको भयभीत करना उचित नहीं।"

तब मुनिने कहा—"अच्छी बात है, मैं यह नियम किये देता हूँ कि सोते समय जो तुम तीनोंका स्मरण करेगा और तीन बार कफल्लम्, कफल्लम् कफल्लम् इन शब्दोंका उच्चारण करेगा, उसके यहाँ पहिले तो चोर आवेंगे ही नहीं। यदि आवेंगे भी तो निष्फल लौट कर चले जायँगे।"

भगवान् तो कफल्लक मुनिके चेले ही थे। व्रजमें माखन मिश्री दूध दहीकी चोरी करते थे। अब द्वारकामें आकर उनको भी भय लग गया, कि कहीं हमारे यहाँ चोर न आजायँ इसी लिये सोते समय कफल्ल मुनिकी तीनों स्त्रियों का स्मरण कर लिया करते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार हमारे श्यामसुन्दर अपनी सोलह सहस्र रानियोंके साथ सुख पूर्वक रहकर समय बिताते थे। बाहरसे जो लोग आते, उनसे राजसभामें ही मिलते थे। अन्तःपुरमें तो रानियोंका या घनिष्ट सम्बन्धियोंका ही प्रवेश होता था। भगवान् ब्रह्मण्यदेव हैं। शरणागत वत्सल हैं, यह ख्याति सर्वत्र फैल गई थी, अतः दीन दुखी आकर अपने दुःख सुनाते। सन्देश भेजते। नरकासुरके कारावास बन्दनी बनी राजकुमारियोंको छुड़ा कर तो भगवान्ने उन सबको

राजाओं को अपना अनन्य भक्त बनाया उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा। आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

सिंहासन अति सुखद नृपतिके निकट विराजे।
जनु यादव नक्षत्र मध्य शशि सम हरि भ्राजे॥
इक दिन बैठे सभा माहिं तहँ नर इक आयो।
जरासन्ध तें दुखित नृपति सन्देश सुनायो॥
शरनागत रक्षक विभो, बन्दी हम खलने करे।
प्रभु अनाथके नाथ हैं, कारागृह महँ हम परे॥

जरासन्ध के वन्दी राजाओं का सन्देश

(११४०)

यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र-
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम्।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो-
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि॥

(श्री भा० १० स्क० ७० अ० ३० श्लोक)

छप्पय

भक्तवछल भगवान् सबनि की विपदा टारो।
फँसे फंद महँ प्रभो ! कृपा करि हमें उबारो॥
भयो दूत कहि मौन तबहिं नारद मुनि आये।
करि स्वागत सत्कार श्याम मुनि निकट बिठाये॥
बोले मुनि—"करुनायतन ! धर्मराज दरशन चहत।
राजसूय मख करन हित, लग्यो चित्त तिनको सतत॥

---

* जरासन्ध के यहाँ बन्दी बने राजा दूत द्वारा भगवान् से सन्दे भेजते हुए निवेदन करते हैं—"हे उदात्तचक्र ! आपसे जिस जरास ने अठारह बार युद्ध किया था। सत्रह बार तो आपने उसके दर्प नाश किया। किन्तु एक बार नर लीला में निरत आप अनन्तवीर्य उसने जीत लिया, इससे उसका गर्व अत्यधिक बढ़ गया। अब आप प्रजा रूप जो हम सब राजा हैं, उन्हें वह अत्यन्त कष्ट देता है। अजित ! अब आप जो भी उचित समझें वही करें। ११०

फलवान् वृक्ष के ही निकट फल की इच्छा से सब जाते हैं जिनसे सहायता की आशा होती है, उन्ही के पास सब सहायता माँगने जाते हैं। जिस कूए में पानी होता है, पिपासित पुरुष वहीं पहुँचते हैं। जिसका सब समय पर दुख हरन तथा परोपकार में बीतता है वह ईश्वर ही है। आप्त काम भगवान् भी परोपकार करने तथा आश्रितों को अभयदान प्रदान करने नाना अवतार धारण करते हैं। भक्तों की इच्छा पूरी हो, आश्रितो के दुःख दूर हों वे बन्धन से सदा के लिये मुक्त हो जायँ यही भगवान् का व्रत है और अवतार लेकर वे ये ही सब कार्य करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! नित्य नियम के अनुसार भगवान् सभा में आकर बैठे। ब्राह्मणों ने कुछ वेद मन्त्रों की व्याख्या की पौराणिकों ने पूर्व कालीन पवित्र कीर्ति राजाओ के चरित्र सुनाये, उसी समय दौवारिक ने प्रणाम करके कहा—"प्रभो ! एक अपरिचित व्यक्ति आया है, हमने उसका परिचय पूछा, तो उसने कहा—"मैं भगवान् से ही निवेदन करूँगा, तुम मेरी सूचना श्यामसुन्दर को दे दो। उसके लिये क्या आज्ञा होती है ?"

सर्वज्ञ भगवान् तो सब जानते ही थे, उन्होने कहा—"अच्छी बात है, उसे यहाँ ले आओ।" यह सुनकर द्वारपाल प्रणाम करके चला गया, फिर एक व्यक्ति को साथ लेकर आया।

उस व्यक्ति ने आकर भगवान को प्रणाम किया। राजा के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया और फिर कहा—"भगवन् ! मै मगध देश से आरहा हूँ। मै एक गुप्त सन्देश लेकर आया हूँ।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तुम अपने सन्देश को सुना दो, यहाँ कोई अन्य व्यक्ति नही है।"

दूत ने कहा—"प्रभो ! मगध के राजा जरासन्ध ने बीस सहस्र आठसौ राजाओं को पकड़कर बन्दी बना रखा है। उन

वन्दी राजाओं ने ही मुझे गुप्त दूत बनाकर आपकी सेवा में भेजा है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, उन्होंने मेरे लिये जो सन्देश भेजा हो, उसे आप मुझे निर्भय होकर सुनाइये।"

दूत बोला—"महाराज ! वन्दी बने नृपतियों ने निवेदन किया है, कि जब जरासन्ध दिग्विजय के लिये निकला था, तो जिन राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार करली, जिन्होंने उसके चरणों में सिर झुका दिया, उन्हें तो उसने छोड़ दिया। हम लगभग बीस सहस्र राजाओं ने उसके सम्मुख सिर नहीं झुकाया इसलिये उसने हमें बलपूर्वक पकड़ कर अपने गिरिव्रज नामक किले में बन्द कर दिया। यह किला चारों ओर से पर्वतों से घिरा है। इसमें कोई भी शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता। पहाड़ों पर इसने शतघ्नियाँ लगा रखी है इसके चारों ओर विशाल खाई है। इस प्रकार हम यहाँ वन्दी जीवन बिता रहे है। आपने ही इस दुष्ट के अभिमान को बढ़ा दिया है।"

भगवान् ने कहा—"मैंने भाई ! कैसे उसके दर्प को बढ़ाया है।"

दूत बोला—"भगवन् ! राजाओं ने दीनता के साथ निवेदन किया है—"हे शरणागतभय भञ्जन ! इस जरासन्ध ने आप पर अठारह बार चढाई की। आपने सत्रह बार तो इसे हरा दिया। अठारहवीं बार नर नाट्य करते हुए आप भाग खड़े हुए और मथुरा का परित्याग करके द्वारका में जा बसे। इससे इसका अभिमान अत्यधिक बढ़ गया। यह सोचने लगा—"जब मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को भी हरा दिया, तो फिर मेरा सामना कौन कर सकता है। अब तो यह सबको कीड़ा मकोड़ा समझता है।"

भगवान् ने पूछा—"भाई ! ये इतने राजा भी तो क्षत्रिय । सब उस पर आक्रमण क्यों नही करते ?"

दूतने कहा—"महाराज ! आक्रमण कैसे करें, वह तो बडा ली है । अकेले उसमें ही दस सहस्र हाथियों का बल है । आप के अतिरिक्त उसे कोई भी वश में नही कर सकता । जब से उसे ह अभिमान हो गया है, कि श्रीकृष्ण मेरे ही भय से मथुरा छोड़कर भाग गये है, तब से तो वह अपने को विश्व विजयी माने बैठा है । किसी भी राजा का उसके विरुद्ध सिर उठाने का साहस नही होता । हे अमेयात्मन् ! राजाओ ने परमबलवान् कलस्वरूप सर्वान्तर्यामी आपके पाद पद्मों मे पुनः पुन' प्रणाम निवेदन किया है और कहा है—"अपका अवतार सत्पुरुषों की रक्षा और दुष्टों के दमन के ही निमित्त होता है । आप से बलवान् हमें संसार में कोई दिखाई नही देता, जिसकी शरण में जायें । आपके रहते हुए भी जो इतना कष्ट हो रहा है, इसका कारण हम नहीं जानते । हम कैसे भी है, हैं तो आपके सेवक ही । हमने आपको ही अपना सर्वस्व समझ रखा है । इतने पर भी वह हमें दुःख दे रहा है तो या तो हमारा दुर्भाग्य है, या वह आपकी इच्छा के विरुद्ध बर्ताव कर रहा है । हे सर्व समर्थ ! यदि हमारा दुर्भाग्य है तो उसे मेंट दीजिये । यदि जरासन्ध ही आपकी आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है, तो उसे उचित दंड देकर हम शरणागतों की रक्षा कीजिये ।

आप कह सकते है, तुम जगत् को मिथ्या मान कर वही मेरा चिन्तन करो । सो,तो सत्य ही है, किन्तु प्रभो ! हम आपकी माया मे फँसकर मोह में पड़े हुए है प्रारब्ध कर्मों ने हमें विवश सा बना दिया है । स्वप्न के समान अनित्य राजसुख को पाने की अभी हमारी इच्छा बनी हुई है । अभी हमें अपने बन्धु बान्धवों, स्त्री तथा बच्चों से मिलने की आशा लगी हुई है, किन्तु जरासन्ध

के बन्धन में बंदी रहने से अपनी इच्छा की पूर्ति कर नहीं स
आप शरणागतों के दुःख को दूर करने वाले हैं, अतः आप
इस जरासन्ध को मारकर हमें उसके फन्दे से छुड़ाइये। आ
ही हमें इस बन्धन से सदा के लिये मुक्त कर सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कह कर दूत ने अंत
अपनी ओर से प्रार्थना की—"हे प्रभो! उन दीन दुखी राजाओं
जिनको मगधराज जरासन्ध ने बन्दी बना रखा है, उन
सन्देश को मैंने आपके चरणों में निवेदन किया, वे प्रतिक्ष
आपके पधारने की बाट जोह रहे हैं, आपके दर्शनों के लिये
अत्यंत ही उत्सुक हो रहे है। अब आप जैसा भी उचित समझें
करें। मेरी तो बार बार श्रीचरणों में यही प्रार्थना है, कि उ
शरण में आये दीन दुखियों के दुख को दूर करके उन पर दया
दरसाइये। उन्हें दीन जानकर अपनाइये और अपने देवदुर्ल
दर्शन देकर सब को कृतार्थ कीजिये।"

इस प्रकार निवेदन करके दूत बैठा ही था, कि 'राम कृष्ण
हरि जय जय राम कृष्ण हरि' की ध्वनि के साथ हरि वीणा की
झंकार सुनाई दी। सब ने चौंककर देखा, कि रामनामी दुपट्टा
ओढ़े, वीणा बजाते हुए, हरिगुन गाते हुए नारद जी वहाँ आ
पहुँचे। उनकी पिङ्गल वर्ण की जटायें इधर उधर छिटक रही थीं
मुख मण्डल पर परम तेज विराजमान था। वे सूर्य के समान
प्रकाशित हो रहे थे। सहसा नारदजी को प्रकटित होते देखकर
सबको परम विस्मय हुआ। सबके मन में कुतूहल हुआ कि
नाना लोकों की विचित्र बातें सुनने को मिलेंगी।

देवर्षि नारद को देखकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र समस्त
यादवों के सहित उठकर खड़े हो गये। सभा के समस्त सभासदों
ने राज्य कर्मचारियों ने तथा अन्यान्य अनुचरों ने सिर झुकाकर
देवर्षि नारद के चरणों में प्रणाम किया। भगवान्ने बैठने के

लिये एक सुन्दर सुवर्ण मंडित आसन उन्हे दिया। अर्घ्य आस-
ादि से विधिवत् पूजा करने के अनन्तर भगवान्ने कहा—
'कहिये ! नारदजी महाराज ! कहाँ कहाँ से आना हुआ। अबके
ो बहुत दिनों में आप पधारे। हम सब तो आपके आगमन की
तीक्षा ही करते रहते हैं।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! मेरी भी इच्छा सदा आपके
र्शन के लिये बनी ही रहती है, किन्तु जब भाग्य उदय होते है,
भी दर्शन हो सकते हैं।"

हँसते हुए भगवान् बोले—"हमें दर्शनों का जो लाभ है, सो
ो है ही। हमें तो सबसे बड़ा लाभ यह है, कि आपके पधारने
त्रिभुवन का समाचार सरलता से सत्य सत्य मिल जाता है।
ापकी सर्वत्र अव्याहत गति है, आप अपनी इच्छानुसार तीनों
ोकों में पर्यटन करते रहते हैं। भगवान् के निर्मित तीनो लोकों
ें ऐसी कोई बात नही है, जो आपको विदित न हो। अच्छा,
ह तो बताइये, इस समय आप अभी कहाँ से पधार रहे है ?"

नारदजी ने सरलता के साथ कहा—"महाराज ! इस समय
ो मैं इन्द्रप्रस्थ से आ रहा हूँ।"

भगवान् प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"अच्छा, बड़ी
च्छी बात है। इन्द्रप्रस्थ का ही समाचार सुनने को हम सब
त्सुक थे। हमारे भाई पांडव अच्छे तो है ? धर्मराज की राज्य
यवस्था उत्तम हो गयी है न ? इस समय वे क्या करना चाहते
ें, उनके सब समाचार हमें सुनाइये।"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी बोले—"प्रभो ! ऐसे भोले
ाले बालक के समान प्रश्न आप किसी अज्ञानी से किया करें,
ो आपको जानता न हो। मुझे तो आपकी सब करतूतो का पता
है। आपकी कृपा से ही मुझे भी ज्ञात हुआ है। कि आप महा-
मायावी हैं। जब जैसा चाहें तब तैसा रूप रख लेते हैं। एक बार

नहीं अनेकों बार मैंने आपकी मायाको देखा है। आप सर्वगत सम्पूर्ण विश्व मे उसी प्रकार व्याप्त हैं जिस प्रकार काष्ठादि अग्नि व्याप्त है, तथा वायु और आकाश व्याप्त हैं जब आप सर्वगत सर्वान्तर्यामी हैं, तो फिर यह प्रश्न करना, कि अमुक स्थान मे क्या हो रहा है, अमुक व्यक्ति क्या करना चाहता है, यह केवल नर नाट्य दिखाना है। यह आपके लिये कोई नई बात भी नही। आप नित्य ही ऐसे खेल किया करते हैं।"

भगवान् बोले--"नारदजी ! आप बात कहते हैं तनिक में भूमिका बांधते हैं, बड़ी लम्बी चौड़ी, हमारी इच्छा तो पांडवों का समाचार जानने की है।"

हँसकर नारदजी बोले—"अजी, महाराज ! आप क्या करना चाहते हो, इसे कौन जान सकता है ? आप इस दृश्य प्रपञ्च को जो मिथ्या होने पर भी सत्य सा प्रतीत होता है अपनी इच्छा से ही क्षण भर में बना देते हो, जब चाहें तब प्रलय कर देते हो आप सब कुछ जानते है, किन्तु आपको यथार्थ रूप से कोई नही जानता। ऐसे अचिन्त्य मूर्ति आप सर्वेश्वर को डंडौत है। जिन आपने जीव को मुक्त करने के निमित्त अनेकों अवतार धारण किये है, उनकी महिमा को समझ ही कौन सकता है। जीवों की तो देह गेह में आत्म बुद्धि हो गयी है। जीव अनर्थ प्रवर्तक शरीर से मुक्त होने के उपाय से अनभिज्ञ है, इसी-लिये जन्म मरण रूप संसार चक्र में भ्रमता रहता है। इसे मुक्तिका मार्ग दिखायी नही देता। आप अवतार ग्रहण करके नाना भाँति की विचित्र विचित्र लीलायें करते हैं, उनका सुयश दिग्दिगान्तों में व्याप्त हो जाता है, उस सुयश रूप दीप को लेकर सुनकर जो आगे बढते हैं। वह सुयश ही प्राणियों को आप तक पहुँचा देता है, अतः आप के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।"

आप अब कोई नयी लीला करना चाहते है, तभी तो उसे मेरे मुख से कहलाना चाहते हैं, नहीं तो भला संसार की ऐसी कौन सी बात है, जो आपसे अविदित हो। किन्तु अब आप नर नाट्य कर रहे हैं, मनुष्य लीला का अनुकरण करते हुए मुझ से पूछ रहे हैं, तो मैं बताता हूँ। इन्द्रप्रस्थ में आपकी फूआ के पुत्र पांडव कुशल पूर्वक हैं। धर्मराज आज कल एक बड़ी भारी चिन्ता में मग्न हैं।

उत्सुकता प्रकट करते हुए भगवान् ने कहा—"धर्मराज को आजकल कौन सी चिन्ता व्याप्त हो गयी ? मुनिवर आप कुन्ती-नन्दन धर्मराज की चिन्ता का कारण मुझे बताइये।"

नारदजी बोले—"महाराज ! पाण्डुनन्दन धर्मराज महाराज युधिष्ठिर की बड़ी इच्छा है, कि मैं राजसूय यज्ञ करके भगवान् वासुदेव का यजन करूँ। किन्तु इसमें एक बडी कठिनाई है।"

भगवान् ने कहा—"इसमें कठिनाई क्या है ? करें राज-सूय यज्ञ।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! आपकी कृपा हुई,तो करने को तो वे करेंगे ही, किन्तु कठिनाई यह है, कि राजसूय यज्ञ वही राजा कर सकता है, जिसने समस्त राजाओं को जीत कर अपने वश में कर लिया हो। जिसने सम्राट पद प्राप्त कर लिया हो। पृथिवी के सब राजाओंने जिसकी अधीनता स्वीकार करली हो। धर्मराज की अधीनता सभी राजाओंने तो स्वीकार की नहीं। जरासन्ध आदि कई राजा अपने को ही विश्वविजयी चक्रवर्ती कहते हैं। ऐसी दशा में जब तक आप कृपा न करेंगे, आप उनके सकल्प का अनुमोदन न करेंगे, तब तक राजसूय यज्ञ होना संभव नहीं। अतः सर्व प्रथम आपको इन्द्रप्रस्थ पधारना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"मुनिवर ! मेरे ही चलने से वहाँ क्या होगा।"

नारदजी ने प्रेमाश्रु विमोचन करते हुए गद्गद् वाणी से कहना आरम्भ किया—"प्रभो ! आपके ही पधारने से तो वहाँ सब कुछ होगा। आपके बिना तो वहाँ कुछ हो ही नहीं सकता। आप वहाँ पधारेंगे, तो आपके दर्शनों के निमित्त वहाँ स्वर्गादि लोकों से बड़े बड़े देवता पधारेंगे, पृथिवीके कोने कोने से यशस्वी राजा गण अन्यान्य प्रजा जन तथा देवर्षि, राजर्षि और ब्रह्मर्षि आदि पधारेंगे। आपके तो केवल नाम संकीर्तन मात्र से तथा गुणादि श्रवण मात्र से ही चाण्डाल पर्यन्त पतित पावन हो जाते है, फिर जिनको आपका साक्षात् दर्शन हो जाय, स्पर्श प्राप्त हो जाय उनके सम्बन्ध में तो फिर कहना ही क्या है। हे विभो ! आप का निर्मल यश तीनों भुवनों में व्याप्त है। दसों दिशायें उस सुयश से परिपूर्ण हो रहीं हैं। आपके अमल विमल चरण कमलों के धोवन से जो जल निकला वही तीनों लोकों को पवित्र करने मे समर्थ है और वह स्वर्ग में मन्दाकिनी के नाम से पृथिवी में गंगाके नाम से और पाताल में भोगवती के नाम से प्रवाहित होकर अब तक प्राणियों को पावन बना ही रहा है। आपके पधारने से ही धर्मराज का यज्ञ परिपूर्ण हो जायगा, इसमें कोई सन्देह नही। अतः आपको अविलम्ब इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान करना चाहिये।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—"इस समय तो बड़ा धर्म संकट उपस्थित हुआ। एक ओर तो जरासन्ध के द्वारा बन्दी बनाये हुए भूपतियों की प्रार्थना है। शरणागतों की रक्षा का धर्म है, दूसरी ओर पांडव हमारे सुहृद् है, सम्बन्धी हैं, माननीय हैं, उनकी सहायता और इच्छा पूर्ति का प्रश्न है। इन दोनों कामों

में से सर्व प्रथम हमें किसे करना चाहिये। नारदजी का आग्रह है, मैं सर्व प्रथम इन्द्रप्रस्थ चलूँ। वन्दी राजाओं का आग्रह है, मैं प्रथम जरासन्ध को जीतकर उन्हें बन्धन से मुक्त करूँ। अब कौन सा काम प्रथम करना चाहिये।"

भगवान् की यह बात सुनकर आवेश में भरे हुए युवक यादव बोल उठे-"महाराज! सर्व प्रथम जरासन्ध पर ही चढ़ाई करनी चाहिये। युद्ध के आये अवसर को खो देना क्षात्र धर्म के विरुद्ध है। युद्ध करने को हमारे हाथ खुजा रहे है। शरण मे आये हुए की रक्षा सर्व प्रथम होनी चाहिये। ये यज्ञ यागादि तो होते ही रहते हैं। हम सब की तो सम्मति है, पहिले मगध पर ही धावा बोला जाय। जरासन्ध को ही जीता जाय।"

यह सुनकर भगवान् गम्भीर हो गये और फिर नारद जी से बोले—"कहिये, नारदजी! आप क्या कहते हैं।"

नारनजी ने कहा—"महाराज! मैं क्या कह सकता हूँ। करेंगे तो वही जो आपको करना होगा। आप यों पूछकर सबको बड़ाई दे रहे हैं। मैं तो पहिले ही निवेदन कर चुका। भक्तों की इच्छा पहिले रखनी चाहिये। पांडव आपके अनन्य भक्त हैं। उनको एक मात्र आपका ही आश्रय है। उनकी इच्छा पूर्ति करना आपका सर्वप्रथम कर्तव्य है। फिर आगे जैसी आपकी इच्छा हो।"

यह सुनकर भगवान् अपने आप ही कहने लगे—"सब यादव युवक युद्ध के लिये उत्सुक हैं, उनका आग्रह है, पहिले जरासन्ध को जीतना चाहिये। नारदजी कहते हैं, पहिले धर्म-राज के यज्ञ में चलकर सहायता करनी चाहिये। मेरी बुद्धि तो काम देती नहीं। मैं तो दुविधा में पड़ गया। अच्छा इस विषय

में उद्धवजी हमारे पञ्च हैं, ये जो निर्णय करें, वह हम सब बिना वाद विवाद के स्वीकार कर लेना चाहिये।" ऐसा कह भगवान् उद्धवजी से कहने लगे—'उद्धव ! तुम हमारे [illegible] मंत्री हो सर्वस्व हो, जब हम दुविधा में पड़कर पथभ्रष्ट हो लगते है, तो तुम ज्ञानालोक दिखाकर हमें सुमार्ग पर ले [illegible] हो। तुम पदार्थों के यथावत् प्रकाशक होने के कारण हमारे [illegible] चक्षु हो। तुम शुभ सम्मति देने में कुशल हो। अब तुम ही निर्णय कर दो, हमें क्या करना चाहिये। प्रथम इन्द्रप्रस्थ जाना चाहिये या जरासन्ध के दुर्ग मे बन्दी बने राजाओं के छुड़ाने के लिये मगध पर चढ़ाई करनी चाहिये। तुम जैसी सम्मति दोगे, उसे ही हम बिना ननु नच किये स्वीकार कर लेंगे। तुम अपना निर्णय सुना दो।" इस समय तुम्हारी सम्मति के अतिरिक्त हमें दूसरा कोई और मार्ग सूझता ही नहीं। तुम पर सभी का विश्वास है। हम यादवों में तुम सबसे अधिक बुद्धिमान हो सभी कुल वाले आपका आदर करते हैं। नारदजी भी आप को मानते हैं। आपका निर्णय सर्व सम्मत स्वीकृत होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् के मुख से अपनी इतनी प्रशंसा सुनकर उद्धवजी अत्यंत ही लज्जित हुए। सर्वज्ञ भगवान् भोले बालक की भाँति अज्ञ पुरुष की भाँति बड़ी सरलता से पूछ रहे थे। पहिले तो उद्धव जी ने सोचा—"मैं कुछ उत्तर ही न दूँ। सर्वज्ञ के सम्मुख अपनी सम्मति देना अपना वाचालपना ही प्रकट करना है। फिर उन्होने सोचा—"यह सेवक धर्म के विरुद्ध है। स्वामी जिस बात के लिये भी आज्ञा दे, उसे पूरा करना सेवक का प्रधान कर्तव्य है। अतः भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके वे उत्तर देने को प्रस्तुत हुए। उद्धवजी ने जैसे उत्तर दिया, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहता हूँ।"

छप्पय

इत शरणागत काज, सुहृद मख इच्छा जानी।
बोले श्री घनश्याम मधुर मायायुत बानी॥
दुविधा महँ परि गये प्रथम हम कितकूँ जावें।
यादव रनकूँ कहें मुख्य मुनि मखहिं बतावें॥
उद्धवजी अब पञ्च हैं, ये ही दुविधा हरिङ्गे।
ये निर्णय जैसो करें, तैसो हम सब करिङ्गे॥

उद्धवजी की शुभ सम्मति

(११४१)

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत्।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७१ अ० १ श्लो०)

छप्पय

उद्धव सुनि हरि वचन सकुचिकें बोले बानी।
हैं स्वामी सरबज्ञ कहूँ का हौ अज्ञानी॥
परि आयसु सिर धारि कहूँ, मुनि बचन निभाओ।
इन्द्रप्रस्थ महँ प्रथम युधिष्ठिर मख हित जाओ॥
शरणागत रक्षा परम, धर्म कह्यो मख मुख्य अति।
तहाँ काज दोनों बनें, कहूँ सुनो हे जगत्पति॥

सेवक और स्वामी कहनेको दो होते हैं, वास्तवमें तो वे एक हैं। सेवा करते करते सेवक स्वामीके ही अनुरूप बन जाता है। वह स्वामीके मनोगत भावोंसे सब प्रकारसे परिचित हो जाता है। इस समय स्वामी क्या करना चाहते हैं उनके मनमें क्या है

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! महामति उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके वचन सुनकर तथा देवर्षि नारद और यादव मन्त्रि सदस्योंके पृथक् पृथक् भाव समझ कर वे इस प्रकार कहने लगे।"

ा करनेसे स्वामी संतुष्ट होंगे इस विषयमें स्वामीका अभिमत
ा है, यह सेवक को प्रथम ही विदित हो जाता है। और
नुरूप ही वह वर्ताव करता है। सेवकका सर्वश्रेष्ठ मुख्य
र्तव्य यही है, कि स्वामीके रुखको देख कर व्यवहार करना।
सि वह सत्य समझे, उपादेय समझे उसे स्वामीके पूछने पर
ष्ट बता दे। स्वामी ऊपर बिठावें ऊपर बैठ जाय, नीचे बिठावें
चे बैठे जाय। सेवक धर्ममे अपनापन रहता ही नही।

सूतजी कहते हैं-"मुनियो! जब भगवान्‌ने "प्रथम धर्मराजके
ामे जायें या प्रथम जरासंधके कारावासमें पड़े बन्दी राजाओंको
ाने जायें" इस विषयका निर्णय करनेके लिये उद्धवजीको
व बना दिया, तो दोनों पक्षका पृथक् पृथक् भाव जानकर
द्धवजी कुछ देर तक तो सोचते रहे। उन्होंने सोचा—"ये
वक यादव गण जो जरासन्धसे युद्ध करनेके लिये व्यग्रता
दखा रहे हैं यह इनका ऊपरी आवेश मात्र है। भावुकतामें भर
र ये लड़नेके लिये उतावले बने हुए है। जरासन्धसे भिड़ेंगे तब
हे अपने बलका पता लगेगा। नारदजीजो कह रहे हैं, वह
रदर्शिताकी बात कह रहे है। वे बहुत दूर तककी सोचते हैं।
र्थके आवेगमें भर कर त्वरा नहीं करते।"

इसी प्रकार दोनों ओरका बलाबल देख कर उद्धवजी हाथ
ोड़ कर गम्भीरताके साथ बोले—"भगवन्! यदि मुझसे मत
छा जाता है, तो मेरी तो यही सम्मति है, कि आपको देवर्षि
ारदजीके कथनानुसार राजसूय यज्ञ की इच्छा रखने वाले
पने फूआके लड़के धर्मराजकी सहायता करनी चाहिए उनके ही
ाखमें जाना चाहिए।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धवजी! करेंगे तो हम वही जो आपका
निर्णय होगा, किन्तु हम यह जानना चाहते है कि शास्त्रकारोंने
ारणागतकी रक्षा करनेको परम धर्म बताया है। जो सामर्थ्य

रहते हुए भी शरणागतकी रक्षा नहीं करता, उसका परित्याग करता है, तो वह घोर रौरवादि नरकोंको जाता है। फिर शरणागतके सर्वोत्कृष्ट धर्मको छोड़ कर यज्ञमें जानेकी सम्मति क्यों देते हैं। यज्ञ तो अभी आरम्भ भी नहीं हुआ है, केवल धर्मराजका विचार मात्र है। वह दस दिनके पश्चात् भी हो सकता है। आपने राजाओं को छुड़ानेकी बात को प्राथमिकता क्यों नहीं दी ?"

इस पर उद्धवजीने कहा—"भगवन् ! आपने मनुष्य दृष्टिसे मुझसे प्रश्न किया है। उसी दृष्टिसे मैं विचार कर रहा हूँ। वैसे तो आप सर्व समर्थ हैं। अपने संकल्प मात्रसे ही सब कुछ कर सकते हैं। इस बात को मैं मानता हूँ, कि शरणागतों की रक्षा करना सर्व श्रेष्ठ धर्म है। किन्तु भगवन् ! जरासन्धके दुर्ग से बन्दी राजाओंको निकालना यह गुड़का पूआ नहीं है जो गटसे खागये उस राजाको जीतना टेढ़ी खीर है। जीवित सिंहके मुखको फाड़ कर उसके दाँतोंके बीच रक्षित जीभ को निकाल लेना साधारण काम नहीं है। ये यादव युवक तो अभी अनुभव शून्य है। ये आवेशमें आकर कह रहे हैं, युद्धके लिये चलो, युद्धके लिये चलो। उससे युद्ध करना हँसी खेल नहीं है। अकेले जरासंधमें दस सहस्र हाथियोंका बल है। उसके पास सेना भी इतनी है, कि सहस्रों राजा मिल कर भी उसे नहीं जीत सकते। इस लिये उस पर चढ़ाई करनेकी बात सोचना तो लड़कपन है।"

भगवान्‌ने कहा—"तब तो शरणागतोंकी रक्षा हो ही न सकेगी।"

उद्धवजी ने कहा—"हो क्यों न सकेगी महाराज ! इन्द्रप्रस्थ जानेसे दोनों काम होसकेंगे। बन्दी राजा भी छुट जायेंगे और यज्ञ कार्य भी सम्पन्न हो जायगा।"

भगवान् ने कहा—"सो कैसे ?"

उद्धवजी ने कहा—"वह इस प्रकार होगा कि राजसूय यज्ञ ो साधारण राजा तो कर ही नहीं सकते। सुनते हैं चन्द्रदेव, रुणदेव तथा हरिश्चन्द्र आदि कुछ इने गिने राजाओंने ही ाजसूय यज्ञ किये है। जो राजा दिग्विजय करके सब राजाओंको पने वशमें करले। चारों दिशाओंमें जिसकी आज्ञा मानी जाय, ो सम्राट चक्रवर्ती हो वही राजसूय यज्ञ कर सकता है। यज्ञके हिले चारों दिशाओंके राजाओं को जीतना होगा। उसमें ारासधको भी जीतना आवश्यक होगा। जरासंधको जीत लेने र बन्दी राजाओंको सरलतासे वहीं तुरन्त मुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार यज्ञमें जानेसे दोनों कार्य एक साथ हो जायँगे क पन्थ दो काज, साँप मरे न लाठी टूटे। तर्पण भी हो जाय वृक्ष भी सिंच जायँ।"

इस पर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! तर्पण भी होजाय, वृक्ष भी सिंच जायँ ! यह क्या बात हुई ? इसका हमें अर्थ समुझाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! गयाजीके समीप एक मुनि रहते थे। उनका आश्रम बड़ा था। मुनिको वृक्ष लगानेका व्यसन था। वे नये नये आमके वृक्ष लगाते थे। वृक्षोंको सींचना भी आवश्यक था और नित्य सन्ध्या तर्पण भी आवश्यक था। तीनो काल सन्ध्या करते थे। इसलिये घड़ा भरकर जल लेआते वृक्षोंके थालोंमें कुशासे जल भी डालते जाते साथ ही तर्पण भी करते जाते। एक पन्थ दो काज होते जाते। यही बात उद्धवजीने कही, कि इन्द्रप्रस्थ जानेसे यज्ञकर्म भी सम्पन्न हो जायगा और शरणागतों की रक्षा भी हो जायगी।"

शौनकजीने पूछा—"हाँ, तो सूतजी ! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! उद्धवजी की बात सुनकर भगवान्

बोले—"उद्धवजी ! आपने बात तो युक्तियुक्त कही, आप तो कह चुके हैं, कि जरासन्धके पास अगणित सेना है युद्ध करके कोई उसे जीत ही नहीं सकता। जब वह जीता जायगा, तब न तो यज्ञही होगा न शरणागतोंकी रक्षा ही होगी तब तो इन्द्रप्रस्थ जाना व्यर्थ ही है।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, महाराज ! इसे तो मैं अब भी कहता हूँ। आप चाहे तो सब कुछ कर सकते हैं, किन्तु मनुष्य दृष्टिसे उसे कोई भी लड़कर युद्धमें नहीं जीत सकता। वह तो छल बलसे जीता जा सकेगा। उसे जीतने की एक युक्ति है।"

भगवान् ने पूछा—"वह क्या युक्ति है ?"

उद्धवजी बोले—"मैंने बड़ोंके मुखसे ऐसा सुना है कि जरासन्धकी मृत्यु भीमसेनके हाथ से होगी। भीमसेनमें भी दस सहस्र हाथियोंका बल है। बलमें तो जरासन्ध और भीम बराबर ही हैं, किन्तु कला कौशलमें और बुद्धिमानीमें जरासन्ध भीमसे बढ़कर है। इसलिये अकेले भीमसेन द्वंदयुद्धमें उसे नहीं जीत सकते। हाँ, आपकी बुद्धि और भीमका बल दोनों एकत्रित हो जायँ तो, वह निश्चय ही जीता जा सकता है। आप सेना लेकर न जायँ। आप लोग अकेले जाकर छल पूर्वक उससे द्वंद युद्धकी याचना करें।"

भगवान्ने कहा—"वह हमसे द्वंद युद्ध करने के लिये सहमत क्यों होगा ?"

उद्धवजीने कहा—"वैसे थोड़े ही सहमत होगा। आपको उसके साथ छल करना होगा। आप, अर्जुन और भीमसेन बनावटी ब्राह्मणका वेष बना कर उसके यहाँ जायँ। वह बड़ा ब्राह्मण भक्त है। ब्राह्मण जो माँगते हैं वही वह उन्हें देता है। भीमसेन ब्राह्मण बनकर उससे द्वंदयुद्धकी भीख माँगें। ब्राह्मण को वह कभी मना न करेगा। जब वह स्वीकार कर लेगा तो भीमसेन

आपकी सहायतासे द्वंद युद्धमें उसे अवश्य ही मार डालेंगे। इसमें सन्देह करनेका स्थान ही नहीं। आप ही इस जगत्के स्वामी हैं। आप से ही यह जगत् उत्पन्न होता है। ब्रह्माजी शिवजी केवल निमित्त मात्र हैं ऐसे ही मारेंगे तो उसे आप ही, किन्तु भीमसेन इसमें निमित्त होंगे।

जरासन्धके मरते ही सभी राजा बन्धन मुक्त हो जायँगे। आपका यश दिग्दिगान्तोंमें व्याप्त हो जायगा। जो राजा छूट कर अपने अपने नगरोंमें जायँगे, उनकी स्त्रियाँ अपने बच्चोंसे कहा करेंगी—"तुम्हारे पिताकी भगवान्ने रक्षाकी। उन्होंने ही इन्हें बन्धनसे छुड़ाया। नहीं तो हम सब अनाथ हो गयीं थीं। दुष्ट जरासन्ध तुम्हारे पिताजीको पकड़ लेगया था। भक्तभयहारी भगवान् ने उस दुष्टको मार कर उसके कारावाससे सब राजाओंको छुड़ाया।"

इस प्रकार सर्वत्र आपके गुणका उसी प्रकार गान हुआ करेगा जैसे व्रजमंडल में होता रहता है। व्रजमें आपने व्रजवासियों की अनेक अवसर पर रक्षाकी थी। शंखचूड़ दैत्य गोपिकाओंको उठा लेगया था, उनकी रक्षा आपने उस दुष्ट दैत्यको मार कर की थी, जब गजको ग्राहने ग्रस लिया था, तो उसकी रक्षा आपने हरिरूप से ग्राहका मुख काटकर की थी, जब सीताजीको दुष्ट रावण हर ले गया था, तब रामावतार में लंकामें जाकर राक्षसोंको मारकर आपने उन जनकनन्दिनीकी रक्षा की थी। हम यादव गण जब कंसके अत्याचारोंसे अत्यंत दुखी थे देवकी वसुदेवजी अत्यंत व्याकुल थे, तब आपने व्रजसे आकर कंसको मारकर हम सबकी रक्षा की थी। इन सब बातोंका जैसे ऋषि मुनि तथा विज्ञजन गान करते हैं। कथा वाचकगण इन प्रसङ्गोंकी कथा कहते हैं वैसे ही जरासन्धके मारे जाने के कारण राजाओंकी मुक्तिकी कथा घर घर व्याप्त

जायगी। सर्वत्र आपके यशका गान होने लगेगा। एक जरासंध-के मारे जाने से आपके शरणागतों की रक्षा हो जायगी, महाराज युधिष्ठिरकी अभिलाषा पूरी हो जायगी, राजसूय यज्ञका महोत्सव हो जायगा, आपके यशका विस्तार हो जायगा। लोगोंको आपके गुण गान करके वाणीको पवित्र करनेका अवसर प्राप्त हो जायगा। सुननेवालोंके श्रोत्र सफल हो जायँगे और देवताओंको हवि आदि मिल जायगी। इस प्रकार अनेक लाभ होंगे। इसलिये मेरी प्रार्थना है। आप अवश्य ही प्रथम इन्द्रप्रस्थ पधारें। धर्मराजको प्रसन्न करें। शरणागतोंकी रक्षा तो यज्ञसे पूर्व सभी दशाओंमें हो ही जायगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजीकी इन तर्कपूर्ण युक्तियुक्त बातो का देवर्षि नारदजीने, उग्रसेनजी, वसुदेव जी, अक्रूरजी तथा अन्यान्य वयोवृद्ध यादवोंने हृदय से समर्थन किया सबकी सम्मति समझकर भगवान्‌ने बड़े बूढ़ों तथा गुरुजनो से अनुमति ली और फिर सेवकोंको इन्द्रप्रस्थ चलनेकी तैयारियाँ करने के लिये अनुमति प्रदानकी। अब वे जैसे इन्द्रप्रस्थको प्रस्थान करेंगे, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

जरासंध अति बली ताहिको रन महँ मारे।
बिना दिग्विजय राजसूय व्रत कूँ को धारे॥
प्रथम पहुँचि मख माँहि भीम अरजुन सँग लावें।
विप्र वेष धरि द्वंद युद्ध की भीख मँगावें॥
यह खल छल ही तें मरे, प्रभुने तो बहु छल करे।
उद्धव सम्मति सुनि सकल, साधु साधु कहि हँसि परे॥

भगवान्‌का इन्द्रप्रस्थके लिये प्रस्थान

(११४२)

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः ।
प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा
निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो
मुकुन्दसन्दर्शन निर्वृतेन्द्रियः । *

(श्री भा० १० स्क० ७१ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

इन्द्रप्रस्थ कूँ प्रथम चलें निश्चय करि हरि तब ।
आयसु सब कूँ दई चले हरषित ह्वै के सब ॥
रानी सोलह सहस पाइ पति अनुमति आई ।
सजिबजि शिविकनि चढीं अधिक मनमांहि सिहाई ॥
चले संग नट नर्तकी, पथ महँ नित नाटक करत ।
सेवक सैनिक अश्व गज रथ चढ़ि कछु पैदल चलत ॥

ध्यान चिन्तन एकान्तमें एकाकी करनेसे ही सुख होता है। प्रेमालाप दोके साथ हृदय खोलकर होता है और यात्रा अधिक अनुकूल साथियोंके साथ सुखप्रद होती है। साथ में अनुकूल साथी हों, यात्रा सम्बन्धी सब वस्तुएँ साथ हों, हँसी विनोद

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! इसके अनन्तर जब नारदजी ने यह जान लिया कि भगवान्‌का राजसूय यज्ञमें इन्द्रप्रस्थ जानेका दृढ निश्चय है, तो वे भगवान् के दर्शनों से परम प्रमुदित होकर तथा उनके द्वारा पूजित और सन्मानित होकर उन्हींका चिन्तन करते हुए आकाश मार्गसे चले गये।"

मनोरंजन का प्रबन्ध हो तो वह यात्रा बड़ी सुखप्रद होती है। उस यात्रा की मधुर स्मृति सदाके लिये हृदय पर अङ्कित हो जाती है यात्रा की असुविधायें भी सुखद प्रतीत होती हैं। अपने घर के बाल बच्चे, स्त्रियाँ तथा अन्यान्य दास दासी भी साथ मे हों तब तो वह यात्रा अत्यंत सरस बन जाती है। ऐसी यात्रा का अवसर भाग्यशाली पुरुषों को ही प्राप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवर्षि नारदजी भगवान् के इन्द्रप्रस्थ जाने का संकल्प जानकर प्रसन्नता पूर्वक जब चले गये और बन्दी राजाओं का दूत भी भगवान् की आज्ञासे मगध देशको चला गया, तब भगवान् राजसभा से अपने अन्तःपुर में आये रुक्मिणीजी ने सुन लिया था, भगवान् इन्द्रप्रस्थ जाने वाले हैं, इस लिये उन्होंने पूछा—"महाराज! इन्द्रप्रस्थ कब पधारेंगे? सत्यभामा तो साथ जायँगी ही।"

भगवान् ने कहा—"सत्यभामा जायँगी और तुम न चलोगी क्या?"

बनावटी शिष्टाचार के सहित रुक्मिणीजी ने कहा—"अजी! महाराज! हमें कौन पूछता है। जिसे आप युद्ध में भी साथ ले जाना नही भूलते जो स्वर्ग में साथ जाती है, जिनके आँगन में आपने कल्पवृक्ष लगा दिया है, वे ही इन्द्रप्रस्थ जायँगी। उससे आपने मेरे लिये आज्ञा लेली है क्या?"

यह सुनकर भगवान् खिल खिलाकर हँस पड़े और हँसते हँसते बोले—"लड़ाई झगड़े में तुम्हारा क्या काम। तुम तो सबसे बड़ी पटरानी हो न। तुम्हें तो प्रधान कामों में साथ लिया जाता है, यज्ञ आदि की दीक्षा लेनी हो, तो केवल तुम ही तो गाँठ बाँधकर मेरे बराबर बैठ सकती हो। दूसरी रानियों को यह अधिकार कहाँ है। इन्द्रप्रस्थ में तो तुम्हारे बिना काम चलेगा ही नही। वहाँ की रेख देख का काम तुम्हें ही तो करना होगा। चाबियों का गुच्छा

बाँधे इधर से उधर घूमना सब पर आज्ञा चलाना। सब तुम्हें ही पूछ पूछ कर काम करेंगी।"

अपनी प्रसन्नता को भीतर ही भीतर रोक कर रुक्मिणीजी बोलीं-"रहने भी दो। तुम्हें दूसरों को बनाना बहुत आता है।"

भगवान् ने गम्भीरता के साथ कहा—"हँसी की बात नहीं। इन्द्रप्रस्थ तुम्हें चलना ही है।"

अब क्या था, अंधे को क्या चाहिये दो आँख, रुक्मिणीजी तो यह चाहती ही थीं। वे तुरन्त भीतर गयीं। दासियोंको डाँटने फटकारने लगीं। नये नये वस्त्रों को पेटियों में भरने लगी। आभूषणों की पिटारियों को खोलकर रखने लगीं। सिंदूर की डिबिया, काजर, बेंदी, तेल फुलेल, आरसी, कंघी, चोटी मिहदी महावर, मिस्सी, रोरी चंदन अंगराग तथा अन्यान्य जितनी सौभाग्यकी वस्तुएँ हैं उन सबको पेटियों में भरने के लिये दासियों को आदेश देने लगी। बात की बात मे यह समाचार सर्वत्र फैल गया। सत्याजाम्बवती, कालिन्दी तथा नाग्नजिती आदि पूछने लगीं—"क्यों महाराज! बड़ी बड़ी रानियाँ ही इन्द्रप्रस्थ जा सकती हैं, या छोटियों के लिये भी कहीं स्थान है?"

भगवान् ने कहा—"अरे कैसी छोटी बड़ी। हाथ की सभी अँगलियाँ एक ही समान प्यारी होती है चाहें कोई देखनेमें छोटी हो या मोटी। पूछना क्या है चलो।"

यह सुनकर वे सब भी तैयारियाँ करने लगीं।

आठों रानियों को तैयारी करती देखकर सोलह सहस्र एक सौ रानियों ने कहा—"महाराज! यज्ञ में रानियाँ ही जा सकती हैं या दासियों के लिये भी स्थान है।"

भगवान् बोले—"तुम अपनी जितनी दासियों को चाहो साथ ले चलो।"

वे सब बोली—"अजी, महाराज ! हम तो स्वयं ही दासियाँ हैं। हमें यदि यज्ञ देखने का अवसर प्राप्त हो जाय, तो इसीमें अपना अहोभाग्य समझेंगी।"

भगवान् ने कहा—"तुम तो सर्वश्रेष्ठ रानी हो ठाठ बाठ से चलो।"

अब क्या था,सर्वत्र यात्रा की धूम-धाम मच गई। पालकियों और रथों से द्वार भर गये। बड़े बड़े लड़के रथों पर बैठ गये। उनके साथ उनके संरक्षक और सेवक भी बैठे थे। छोटे छोटे दूध पीने वाले बच्चे अपनी माताओं के साथ पालकियों पर बैठे। रक्षकों से घिरी हुई पालकियों को तथा बाल बच्चों के रथों को सेना सहित भगवान् ने आगे चलने की आज्ञा दी। सबके प्रस्थान करने पर भगवान्ने अपना यात्रा का स्वस्त्ययन कराया। इतनेमें ही गरुड़ध्वज रथ सजाकर दारुक सारथी ले आया। भगवान् ने वृद्ध ब्राह्मणों को प्रणाम किया, अपने पिता वसुदेवजी बलदेवजी तथा अन्यान्य वृद्ध यादवों से आज्ञा लेकर भगवान् रथ पर बैठे। चारों ओर मृदङ्ग, भेरी,आनक, पणव, शङ्ख, घंटा, गोमुख तथा अन्यान्य मङ्गल, वाद्यों की ध्वनि हो रही थी। वाद्यों के सुमधुर घोष से दसो दिशायें प्रघोषित सी प्रतीत होती थीं। रथ, हाथी, अश्व तथा पैदलों की भयङ्कर सेना से श्यामसुन्दर घिरे थे, आगे चलकर सेनापति ने सेना को रोक दिया पालकियाँ मार्ग के एक ओर रख दी गयीं। आगे आगे श्यामसुन्दर चलेंगे तब पीछे से शिविकायें तथा सैनिक चलेंगे।

सबको पंक्तिबद्ध खड़े देखकर दारुक ने रथ को सबसे आगे कर दिया, भगवान् का रथ आगे आगे चल रहा था। उसके चारों ओर बड़े-बड़े ऊँचे और मोटे घोड़ों पर चढ़े हुए घुड़सवार भालों में झंडियाँ लगाये चल रहे थे। भगवान् के पीछे अपने बालकों के साथ सुवर्णमण्डित शिविकाओं में बैठी हुई वस्त्र,

आभूषण, चन्दन तथा सुगन्धित मालाओंसे आलंकृत हुई भगवान् की पति परायणा पत्नियाँ चल रही थी। उनकी शिविकाओके चारों ओर ढाल तलवारसे सुसज्जित सैनिक चल रहे थे।

उनके पीछे सूत, मागध, बन्दी, नट नर्तक तथा अन्यान्य कला जीवी सपरिवार चल रहे थे। सेवक सेविकाओंकी टोलियाँ अपने अपने समानको छकड़ों पर लादे चल रही थी। सबके ऊनी सूती तंबू बैल गाडियोंमें लदे थे नट, नर्तक नर्तकी तथा अन्यान्य नाटक करने वाले गाने बजानेकी सामग्री सहित साथ थे। उनकी स्त्रियाँ नथ पहिने रथों और बैल गाड़ियोमें गाती हुई चल रही थीं। बड़े बूढ़े घोड़ों और ऊँटो पर चढ़े हुए थे, नौबत और नगाड़े ऊँटों तथा घोडोंपर बजते जाते थे, गधे, खच्चर, ऊँट बैल तथा छकड़े सामानसे लदे हुए चल रहे थे। सैनिक उत्साहके साथ घोड़ोंको नचाते हुए तथा रथो को भगाते हुए चल रहे थे। घोड़ों पर ध्वजा पताका लिये हुए सैनिक तथा छत्र चँवर और अस्त्रशस्त्रोंसे सुसज्जित राजकुमार उस सेनाकी शोभा बढ़ा रहे थे। आभूषण, किरीट, मुकुट, कवच तथा उत्तम अस्त्र शस्त्रोंसे सुसज्जित सेनाके लोग उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार तूफान आने पर समुद्र सुशोभित होता है और उसके बीचमें रग बिरंगी मछली, मकर तथा अन्यान्य जल जन्तु तरलतरंगों पर तैरते हुए दिखाई देते है।

भगवान्‌को इन्द्रप्रस्थकी ओर प्रस्थान करते देख बन्दी राजाओंका दूत दौड़कर फिर भगवान्‌के पास आया और हाथ जोड़कर भगवान्‌से बोला—"प्रभो ! मै उन बन्दी राजाओंसे क्या कह दूँ ? आप तो इन्द्रप्रस्थ पधार रहे हैं "

यह सुन कर भगवान् बोले—"अरे, भाई ! तुमसे कह तो दिया, इन्द्रप्रस्थ भी जा रहे हैं, तो हम उन लोगोके ही कामसे जा रहे है। वे लोग डरे नहीं निर्भय होकर रहे। जैसे इतने दिन

दुःखसे काटे है वैसे ही और थोड़े दिन काटें। मैं अविलम्ब ही जरासन्धका वध कराने आऊँगा और फिर उन्हें बन्धनसे छुड़ाऊँगा। समय आने पर मैं सब कुछ करूँगा। सब काम समयसे ही होता है। असमयमें कोई भी काम नही होता।"

दूतने कहा—"बहुत अच्छा प्रभो! आपने जैसी आज्ञाकी है उसे ही मैं जाकर उन सबसे निवेदन कर दूँगा।"

इस प्रकार कह कर और वह पुनः पुनः प्रभुके पाद पद्मोंमें प्रणाम करके मगध देशकी ओर चल दिया। वहाँ आकर उसने चुपकेसे एकान्तमें सब राजाओसे कहा—"भगवानने आपका सब वृत्तान्त जान लिया है। उन्होंने आज्ञाकी है, मैं शीघ्र ही आकर जरासन्धको मारकर तुमको बन्धनसे छुड़ाऊँगा तुम्हारे दुःख दूर करूँगा। तुम लोग अब निश्चिन्त हो जाओ।"

भगवान्‌का सन्देश पाकर सभी बन्दी नृपतिगण परम प्रमुदित हुए और वे अत्यंत ही उत्कंठाके साथ बन्धन मुक्त होनेकी इच्छासे तथा अपने जीवनको धन्य बनानेकी कामनासे भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर भगवान् मार्गमें स्थान स्थान पर विश्राम करते हुए इन्द्रप्रस्थकी ओर बढ़ रहे थे जहाँ भी पड़ाव पड़ता वहींके राजा आकर भगवान्‌का स्वागत सत्कार करते। भगवान्‌की पूजा करते और उनसे अपनी राजधानीमें पधारनेकी प्रार्थना करते। समीप राजधानी होती, तो भगवान् चले जाते नही तो फिर कभी आवेंगे, ऐसा आश्वासन देकर आगे बढ़ते। इस प्रकार वे आनर्त, सौवीर, मरुप्रदेश, मत्स्य, पांचाल तथा कुरुक्षेत्रके समृद्धि शाली देशों, नद, नदी, पर्वत, पुर ग्राम, व्रज, खेट, खर्वट तथा वनोंको लांघते हुए, सरस्वती नदीको पार

ं करके इन्द्रप्रस्थ के समीप पहुँच गये। अब जिस प्रकार पांडवों ने
ह भगवान्का स्वागत सत्कार किया, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

करे पार आनर्त, मत्स्य, मरु देश सुघर वर।
नाघि, नदी, नद, नगर निकट पहुँचे पांडवपुर॥
सुन्यो स्याम आगमन पांडुसुत अति हरषाये।
करिवे स्वागत सकल नगर तें बाहर आये॥
धरमराज पग परन हित, इति हरि दौरे ललकि कें।
हिय चिपटाये युधिष्ठिर, बाहु पाश महँ जकरि कें॥

पांडवों द्वारा श्यामसुन्दरका स्वागत सत्कार

(११४३)

दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयम,
मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो—
हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७१ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

नयननि नीर बहाइ न्हवाये वस्त्र भिगोये ।
तनु पुलकित चित मुदित भर्‌यो हिय पुनि पुनि रोये ॥
पुनि प्रभु सब तें मिले प्रेम अतिशय प्रकटायो ।
अति विह्वल सब भये मनुज तनुको फल पायो ॥
करि स्वागत सम्मान अति, चली सवारी श्यामकी ।
चढ़ि छज्जनि नारी लखें, शोभा-शोभाधामकी ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् मदन मोहनके उस दिव्य मङ्गलमय विग्रहका दोनों भुजाओंमें आलिङ्गन किया जो लक्ष्मीजीका परम पवित्र आश्रय है । भगवान्‌के आलिङ्गनसे उनके समस्त अशुभ नष्ट हो गये और उन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ । उनके नयनोंमें नेह का नीर भर आया, शरीर पुलकित हो गया और वे प्रेममें समस्त प्रपञ्चको भूल गये ।"

जो हमारे अत्यंत प्रिय होते है, उनके आगमनकी बात सुन-कर रोम रोम खिल जाता है। हृदय की एक विचित्र दशा होती है, आंखे चाहती हैं, उन्हें पी जावें। रसना चाहती है इन्हें चाटलें और हृदय चाहता है उन्हें अपनेमें मिलाकर एक करलें। उन्हें देखकर इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है और मनकी दशा विचित्र हो जाती है। प्रेमीके आगमनकी सूचना सुनकर, उसे देखकर उससे मिलकर हृदयकी क्या दशा होती है यह कहनेका विषय नही हृदयहीन उसे कभी समझ ही नही सकते। केवल सहृदय उसका अनुभव ही कर सकते हैं। व्यक्त करनेकी सामर्थ्य उनमें भी नहीं होती।

सूतजी कहते है-"मुनियो! भगवान् अनेक देशोंको लाँघते हुए बहुत सी नदियोंको पार करते हुए इन्द्रप्रस्थके समीप पहुँचे। धर्मराजके सेवक तो लगे ही हुए थे, उन्होने दौड़कर सूचना दी कि भगवान् दल बलके सहित नगरके बाहर आगये।"

जिन जगन्मोहन भगवान् वासुदेवका दर्शन दुरात्माओं के लिये अत्यंत ही दुर्लभ है आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके आगमन का शुभ समाचार सुनकर अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर अत्यंत ही प्रसन्न हुए। तुरन्त ही वे स्वागत सत्कारकी सुन्दर सामग्रियों के सहित, पुरोहितको आगे करके, बन्धु बान्धवोसे घिरे हुए भग-वान्‌की अगमानी करने चले। आग आगे वीणा, पणव, भेरी तथा अन्यान्य मङ्गल वाद्य बजते जाते थे। वेदज्ञ ब्राह्मण वेद घोष करते जाते थे। उनका हृदय प्रेमके कारण बांसो उछल रहा था उन्हें श्यामसुन्दरसे मिलनेकी चटपटी लगी हुई थी। इन्द्रियाँ जिस प्रकार मुख्य प्राणोंके आजानेसे चैतन्य होकर प्रसन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार सभी लोग प्रसन्न होकर श्यामसुन्दर के आजानेसे प्रमुदित होकर उनको ओर बढ़ रहे थे।

दूरसे ही धर्मराजने देखा विशाल गरुड़की ध्वजा वाले सुवर्ण

मण्डित रथ पर पीताम्बर ओढ़े घनश्याम उसी प्रकार शोभित होते है, जिस प्रकार चन्द्रके रथ पर बिजलीसे लिपटा नूतन जल

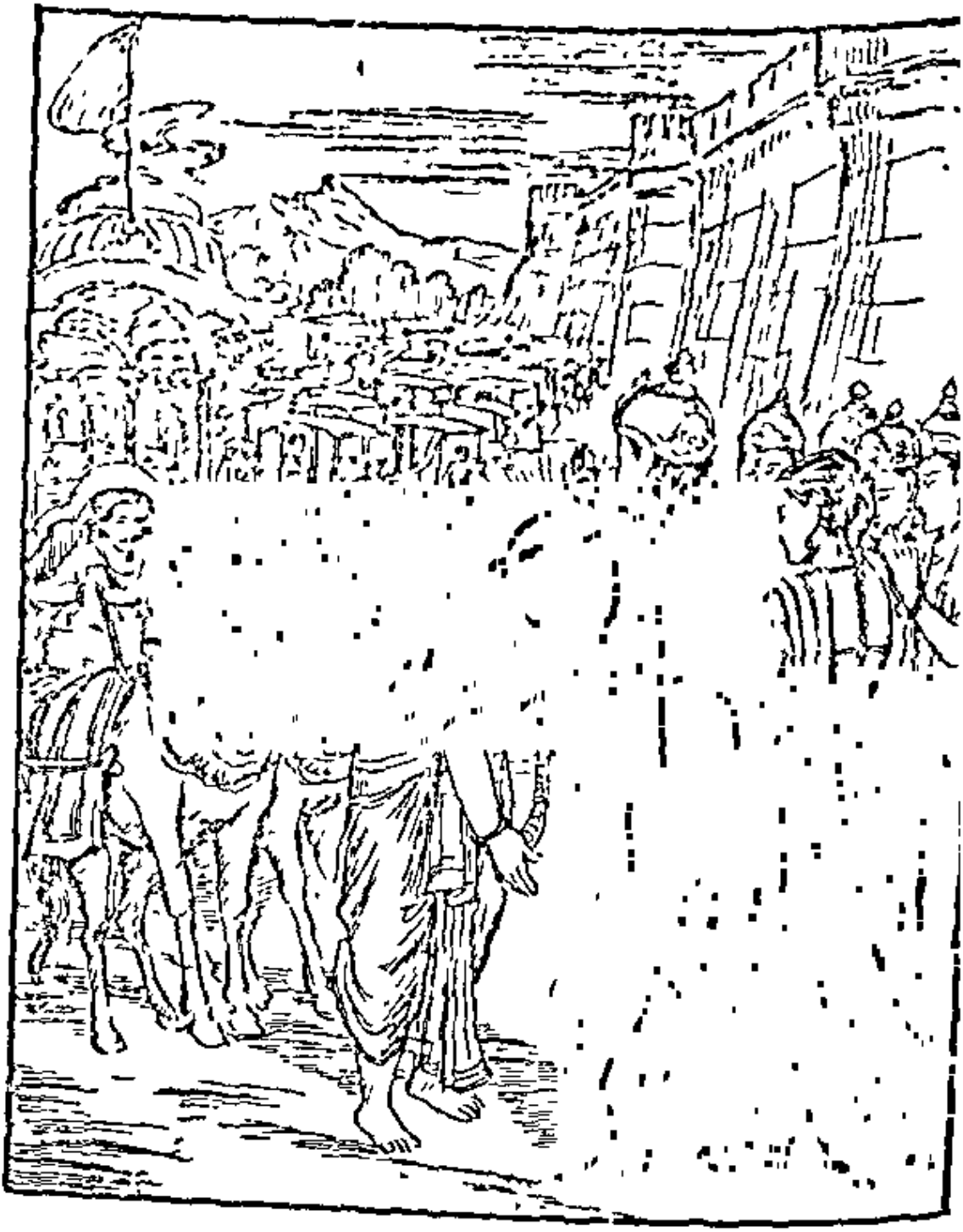

घर बैठा हो। उनके दर्शन मात्र से ही धर्मराज अधीर हो उठे, उनका चित्त गद्गद् हो गया वे श्यामसुन्दर से मिलने को व्यग्र

होकर रथ से कूद पड़े और उपाध्याय के पीछे नंगे पैरों पैदल ही चले।

दूरसे ही श्यामसुन्दरकी दृष्टि पैदल आते हुए धर्मराजके ऊपर पड़ी। तुरन्त वे रथसे उछल पड़े और पूरी शक्ति लगाकर दौड़े। अपनी ओर श्यामसुन्दरको दौड़ते देखकर धर्मराजके नेत्रोंसे नेहके नीरकी दो अविरल धारायें बहने लगीं। इतनेमें ही घनश्याम पहुँच ही तो गये। वे दौड़कर ज्योंही धर्मराज के चरणोंको पकड़ना ही चाहते थे, कि त्योंही बीचमें ही उन्होंने प्रभुको पकड़कर कसकर छातीसे चिपटा लिया।

जिस हृदयमें लक्ष्मी लिपटी रहती है, जिसमें निरन्तर कौस्तुभमणि दमकती रहती है, जिसमें सुनहला श्रीवत्सका शुभ लक्षण युक्त अद्भुत चिन्ह है। उस हृदयको अपने हृदयसे सटा कर दोनों बाहुओंसे कसकर जकड़कर धर्मराज विह्वल हो गये। भगवान्‌का आलिङ्गन पाकर उन्होंने अनुभव किया, मानों मेरे आज समस्त अशुभ नष्ट हो गये। उन्हें इतना अपूर्व आनन्द हो रहा था, कि वह हृदयमें समाता नहीं था। वाणी रुक गयी थी, नयनोंसे नेहके नीरकी निरन्तर झड़ीसी लग रही थी। शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। उनकी भाव समाधि लग गयी थी। वे बाह्य जगत्‌को सर्वथा भूल गये थे, यही नहीं वे अपने आपको भी भूल गये थे। जैसे तैसे भगवान् उनके बाहु पाशसे पृथक् हुए। फिर प्रेमार्द्र चित्तसे वृकोदर भीमसेनने श्यामसुन्दरको हृदय से लगाया। अर्जुनकी दशा बुरी थी, वे एक वृक्षके नीचे मुख ढके हुए रो रहे थे। भगवान्‌ने स्वयं आकर उन्हें छाती से लगाया और प्रेमाश्रुओंसे उनके मुकुटके नीचे दबे बालोंको भिगो दिया। फिर नकुल सहदेव रोते रोते आकर भगवान्‌के पैरोंमें पड़ गये। भगवान्‌ने उन्हें उठाकर छातीसे लगाया उनकी धूलि झाड़ी और प्यार किया।

भगवान्‌ने इन्द्रप्रस्थसे आये हुए वेदज्ञ ब्राह्मणों को तथा अन्यान्य कुल वृद्धोंको प्रणाम किया। फिर कुरु, सृञ्जय, केकय तथा अन्यान्य देशके राजा तथा राजवंशके लोगोंने भगवान् के प्रति सम्मान प्रकट किया। भगवान्‌ने भी उन सबका आदर किया और उनसे कुशल पूछी। इस प्रकार सबसे कुशल प्रश्न पूछ कर अब भगवान्‌की सवारी नगर की ओर बढ़ी। सूत, मागध, गन्धर्व, वन्दीजन तथा उपासक गण भगवान्‌के यशका गान करते हुये आगे चल रहे थे। विप्रगण वेद घोष करते हुए भगवान्‌का स्वागत कर रहे थे। शङ्ख, पणव, वीणा, वेणु, मृदङ्ग तथा गोमुख आदि बाजे एक ताल स्वरमें बजकर एक विचित्र स्वर लहरीका सृजन कर रहे थे। सभी गाकर नाचकर तथा विविध बाजे बजाकर वासुदेवकी विरुदावलीका बखान कर रहे थे।

शनैः शनैः सवारी इन्द्रप्रस्थकी ओर चली। नगरकी समस्त सड़कें झाड़ बुहार कर स्वच्छ की गई थी। उनपर सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया था। किन्तु मदमाते हाथियोंके मदसे उस सड़कमें कीच हो रही थी। पथोंके दोनों ओर रंग बिरंगी झंडियाँ लगी हुई थी। ध्वजा पताकाओं से बड़े बड़े भवन सुशोभित हो रहे थे। चारों ओर स्नान करके सुगंधित चंदन लगाकर माला तथा स्वच्छ वस्त्र और उत्तम आभूषण धारण करके अत्यंत उत्सुकता के साथ नगर निवासी इधरसे उधर घूम रहे थे। स्त्रियाँ अटा अटारियों पर चढ़कर श्यामसुन्दरके दर्शनोंके लिये व्याकुल बनी उसी ओर अपने बड़े बड़े नयनोंसे निहार रही थी। उसी पुण्य पथसे प्रभुने नगरमें प्रवेश किया।

आज प्रभुके पधारनेके उपलक्ष्यमें नगर निवासियोंने दीपावली मनाई थी। घरोंके छज्जोंपर असंख्यों दीपक अपने ज्योतिको छिटकाते हुए जगमग जगमग कर रहे थे। घरोंके ओसा मोना और झरोखाओंसे से कपूर अगुरु आदिके धूपका धूम निकल कर

वायुमंडलको सुवासित बना रहा था। भवनोंके ऊपर दमकते हुए सुवर्ण कलश अपनी उच्चताकी न्यूनताका विशाल पताकाओं की ओर निहारते हुए अनुभव कर रहे थे। श्यामसुन्दरके आगमनसे आज नगरके घर घरमें हलचल मची हुई थी। बच्चे घरमें रहना ही नहीं चाहते थे। वे अभिभावकोंके साथ बाहर चलनेको हठ कर रहे थे। स्त्रियाँ आज अपने घर गृहस्थीके आवश्यक कार्योंको भी भूल गयीं। जो रोटी कर रही थी, वह रोटी को जलती हुई ही छोड़कर छज्जे पर भाग गयी। किसीका पति पलंग पर पड़ा था, उसे पड़ा ही छोड़कर बिना पान दिये ही वह छत पर चढ़ गयी। सबका चित्त चंचल हो रहा था, सब वासुदेवके दर्शनोंको व्यग्र बनी हुई थीं। शीघ्रतामें उनके केशपाश खुल गये थे, वेणीमें गुँथीं मालाओंके पुष्प झड़ रहे थे। वस्त्रोंके बन्धन ढीले पड़ गये थे। उनके नूपुर, कंकण तथा अन्यान्य आभूषण हिल रहे थे। दूर से ही विशाल हाथी पर लगा झंडा दिखाई दिया। सभीकी आँख उधर ही चिपकसी गयीं। इतनेमे ही खुले रथ पर बैठे हुए श्यामसुन्दर दिखाई दिये। उनके चारों ओर घुड़सवार पंक्तिबद्ध चल रहे थे। पीछे उनके सोलह सहस्र रानियाँ शिविकाओंमें आरही थीं। शिविकाओके द्वारों पर अत्यंत क्षीण वस्त्र पड़े थे, जिनमें से बाहरका सब दृश्य दिखायी देता था। शिविकाओंके पीछे बड़े डील डौल वाले हाथी चल रहे थे उनके पीछे पंक्तिबद्ध रथोंकी शृंखला बन्धी हुई थी।

श्यामसुन्दरकी मनोहर मूर्तिको निहार कर अटा अटारियों पर चढ़ी नगरकी नारियाँ अत्यंतही प्रसन्न हुईं। उन्होंने भगवान्के ऊपर सुमनोंकी वर्षा की। उनके फेंके हुए पुष्पोंसे श्यामसुन्दर ढकसे गये। भगवान्की मनोमयी मूर्तिका मानसिक आलिङ्गन करके उन्होंने परमानन्द सुखका अनुभव किया। वे बारम्बार अपनी उत्कृष्ट मनोहर मंद मुस्कानमयी चितवनसे श्यामसुन्दर-

का स्वागत कर रही थीं।

भगवान्‌की स्त्रियाँ अपनी बड़ी बड़ी आँखोंसे शिविका के छिद्रों द्वारा अटा अटारियों पर बैठी नगरकी नारियों को देख रहीं थीं। उन ऊपर बैठी हुई नागरियों को भी उनकी आँखें खिले हुए ताराओंके समान दिखाई देतीं। कभी कभी उनका मनोहर मुख भी दीख जाता। भगवान् ऐसे लगते थे मानों आगे आगे चन्द्रमा चल रहा हो और पीछे ताराओं के झुंड उनका अनुगमन कर रहे हों।

श्रीकृष्ण की सोलह सहस्त्र पत्नियोंके ऐसे सौभाग्यको देखकर नगर की नारियाँ परस्परमें कहने लगीं—"सखियो! स्त्री होनेके परम फलतो इन श्रीकृष्ण की पत्नियोंने ही पूर्णतया प्राप्त किया है न जाने इन सौभाग्य शालिनी महिलाओने ऐसे कौनसे अवर्णनीय धर्म पुण्य तथा नियम व्रतादि किये हैं, जिनके फलस्वरूप इन्हें पुरुषोत्तम पति प्राप्त हुए हैं, जो नित्यही अपनी उदार हँसी मनमोहिनी मधुर लीलामयी चितवनके लेशसे इनके उत्फुल्ल नलिनीके सदृश आँखोंको अनवरत आनन्द प्रदान करते रहते हैं।"

नगरकी स्त्रियाँ इस प्रकार प्रभुपत्नियोंके भाग्यकी प्रशंसा करती जातीं थी श्यामसुन्दर सुन लेते तो हंस पड़ते। बहुतसे लोग उनकी आरती उतारते। बहुतसे सवारीको खड़ी करके उनको उपहार अर्पण करते और बहुत चंदन फूल माला तथा अन्यान्य सामग्रियों से उनका स्वागत सत्कार करते। इस प्रकार शनैः शनैः सवारी राजभवनके द्वार पर पहुँच गयी। वहाँ पहुँच कर भगवान् रथसे उतर पड़े। वे पाडवोंसे घिरे हुए सर्व प्रथम कुन्तीजी से मिलने अन्तःपुर की ओर चले। बाजोंकी ध्वनि सुनते ही कुन्तीजी अपनी बहू द्रौपदीके साथ द्वार पर खड़ी हुई थीं। भगवान्‌ने आगे बढ़कर अपनी बुआके पैर छुए। अपने भाई वसुदेवजीके पुत्र त्रिलोकीनाथ भगवान् वासुदेवको अपने पैर छूते देखकर कुन्तीजी का

हृदय भर आया। उन्होंने स्नेह भरित हृदयसे श्यामसुन्दरको उठा कर छातीसे चिपटा लिया और प्रेम पूर्वक उनका सिर सूंघा। द्रौपदी और सुभद्राने आकर भगवान्‌को प्रणाम किया। दोनों के सिर पर भगवान्‌ने हाथ रखकर कहा—"अच्छी हो ?" यह सुनते ही दोनोंके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु झरने लगे।

भीतर जाकर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान्‌की पूजा की। वे प्रेममें इतने विह्वल हो गये कि आनन्दोद्रेकके कारण पूजाका क्रम-ही भूल गये। भगवान्‌ने अन्तःपुरकी बड़ी बूढी स्त्रियोंको विप्र पत्नियोंको प्रणाम किया। रानियोंकी शिविकायें बाहर लगी थीं। कुन्तीजी को सहसा पालकियाँ दीख गयी। वे द्रौपदी सुभद्रा से बोली—"बहुओ ! तुम यहाँ खड़ी खड़ी क्या कर रही हो। जाओ, अपनी भाभियों को उतार कर लाओ भीतर।"

हंसकर सुभद्राजी बोली—"माताजी ! हमारी एक दो भाभी थोड़े ही है। इतनी है कि आपके सब घरोंमें न अटेगी। पूरी सोलह सहस्र एकसौ आठ हैं।"

स्नेहके साथ कुन्तीजी ने कहा—"तो क्या हुआ, यह तो बड़े भाग्यकी बात है। वहाँ महलोंमें रहती होंगी, यहाँ बाहर ही दिन काट लेंगी। वहाँ चुपड़ी खाती होंगी यहाँ रूखी सूखीसे ही निर्वाह कर लेंगी। तुम जाकर उन्हें अर्घ्य तो दो। शिविकाओंसे उतारो तो सही।"

यह सुनकर द्रौपदी और सुभद्रा गयीं जाकर पालकियोंके पास कहने लगीं—"भाभियों ! अब उतरो ! यहाँ कोई पुरुष नहीं है घूंघट खोल दो।"

यह सुनकर रुक्मिणी आदि सब रानियाँ उतर पड़ीं। वे अपनी ननदोसे परस्परमें मिली भेंटी।"

रुक्मिणीजी ने सुभद्राजी से कहा—"बीबी ! तुम तो बड़ी दुबली हो गई हो। यहाँ कोई कष्ट है क्या ?"

सुभद्राने आँसू पोंछते हुए कहा—"यहाँ मेरी भाभियाँ नहीं हैं यही सबसे बड़ा कष्ट है। अब इतना स्नेह करने वाली भाभियाँ आगयी है। अब शीघ्रही मोटी हो जाऊँगी।" इस प्रकार आपस में स्नेहके प्रेमकी बातें होती रही फिर द्रौपदीजी रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा, सत्या तथा अन्यान्य सभी श्रीकृष्ण पत्नियोंको लेकर अपनी सासके पास गयी। सबने जाकर कुन्तीजी के पैर छुए। कुन्तीजीने कहा—"बेटियो! तुम अपने पति की प्यारी हो, जैसे तुम सहस्र हो ऐसेही तुम्हारे सहस्र सहस्र पुत्र हों।"

यह सुनकर सभी पांडव तथा अन्यान्य लोग हँसने लगे। अर्जुनने कहा—"माताजी! प्रत्येक स्त्रीके लिये एक-एक गाँव बसवा दो। तभी तो इन सबके पुत्र रह सकेंगे, नहीं तो इतने लड़के रहेंगे कहाँ?"

कुन्तीजी ने कहा—"भैया, सबका भाग्य सबके साथ रहता है।" ऐसा कह कर कुन्तीजी ने द्रौपदी को संकेत किया। द्रौपदीजीने सुभद्रा आदिकी सहायतासे भगवान्‌की
वस्त्र, माला, और आभूषणादिसे पूजा की।
स्वागत सत्कार करके उन्हें रहनेके लिये स्थानादि दिये।

धर्मराज युधिष्ठिरने भी भगवान्‌के सैनिक, सेवक, सचिव तथा अन्यान्य अनुचर वर्गोंके ठहरने आदिकी समुचित व्यवस्था की। वे सबके सब इन्द्रप्रस्थमें उसी प्रकार सुखसे रहने लगे, जैसे देवता स्वर्गमें सुखसे रहते हैं। भगवान् भी इन्द्रप्रस्थमें आकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। यहाँ प्रसन्नता का प्रधान कारण अर्जुनका सहवास था। अर्जुनको भगवान् प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे। वे उन्हें साथ लेकर मृगयाके निमित्त दूर तक जाते, तथा नाना प्रकार की क्रीड़ायें किया करते।

भगवान्‌की वे सोलह सहस्र रानियाँ नित्य नये वस्त्राभूषण

पहिन कर छम्म छम्म करती हुयी इधरसे उधर घूमतीं। धर्मराज और भीमसेन आते तो वे तुरन्त घूँघट मार लेतीं। अर्जुन को भी देखकर घूँघट मारतीं, एक दिन उन्होने कहा—"घूँघट तो जेठोंसे मारा जाता है, मैं तो श्रीकृष्णचन्द्रसे छोटा हूँ, मुझसे घूँघट मारने का क्या काम ?"

इस पर हँसकर धर्मराज बोले—"भैया ! हमही सिंह व्याघ्र हैं, कहो तो हम भीतर आया ही न करें। वास्तवमें तो श्रीकृष्णचन्द्र जगतके पिता है, इन सौभाग्य शालिनी देवियोंको तो किसी से घूँघट मारना ही न चाहिये। सभी इनकी सन्तान ही है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार अपनी पत्नियों के सहित भगवान् इन्द्रप्रस्थमें रहकर नित्य नूतन सत्कार पाते हुए सुख पूर्वक निवास करने लगे। कई महीनों तक तो धर्मराजने राजसूय यज्ञ की चर्चा ही नही की। जब कुछ दिन हो गये, तब उन्होंने एक दिन अवसर पाकर बड़े संकोचसे राजसूय यज्ञ का भगवान्के सम्मुख प्रस्ताव रखा। इस प्रसङ्ग का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

महलनि पहुँचे श्याम पैर कुन्तीके पकरत।
लीये हिये लगाय सुभद्रा कृष्णा रोवत॥
सबकी पूछी कुशल शिशुनि कूँ आशिष दीन्ही।
प्रभु पत्निनि गृह लाइ द्रौपदी पूजा कीन्ही॥
यों अति ई सम्मान युत, इन्द्रप्रस्थ महँ प्रभु रहत।
अरजुनके संग सरस शुभ, सुखप्रद नित कीड़ा करत॥

—※—

राजसूय यज्ञ का प्रस्ताव

(११४४)

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥
(श्रीभा० १० स्क० ७२ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

धरमराज इक दिवस सभा महँ बैठे सब संग ।
शोभा लखि घनश्याम होहिं पुलकित सब अंग अंग ॥
बोले-"हम हरि ! राजसूय मख करिकें तुम कूँ ।
पूज्यो चाहैं विश्वनाथ ! अपनावें हम कूँ ॥
अति प्रसन्न सुनि हरि भये, बोले-'यह संकल्प वर ।
राजसूयमें तृप्त सब, होहिं विप्र, सुर, पितर, नर ॥

अपने स्वामीको अनुकूल देखकर अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है। विनयके साथ उनके चरणोंमें निवेदन करते है। यदि हमारी इच्छाका वे भी प्रसन्नता पूर्वक समर्थन करे, तो हमें अत्यंत आनन्द होता है और उस समय ऐसा

*श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—"राजन् ! अवसर पाकर एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर ने भगवान्से प्रार्थनाकी-"हे गोविन्द ! मैं यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूययज्ञ द्वारा आपकी परम पावनी विभूति रूप इन्द्रादि देवोंका यजन करना चाहता हूँ, सो हे प्रभो ! इसकी आप व्यवस्था करदें। मेरी इच्छाको पूर्ण करादें।"

अनुभव होता है, मानों हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी हमारा संकल्प मूर्तिमान् होकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो गया। स्वामीके अनुकूल होने पर ऐसी कौन सी इच्छा रहती है जो पूर्ण न हो।

सूतजी कहते है—"मुनियो! इन्द्रप्रस्थमें रह कर भगवान् सभी को सुख देने लगे। एक दिन सभा लगी हुई थी। सभामें बड़े बड़े ऋषि मुनि, विद्वान् ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य, पुरोहित, कुलवृद्ध तथा पाँचों पांडव बैठे थे। राजसिंहासन पर धर्मराज युधिष्ठिर विद्यमान् थे। उनके समीप ही सुवर्णके सुन्दर सिंहासन पर श्यामसुन्दर सुख पूर्वक बैठे हुए थे। भगवान् आज अत्यंत प्रसन्न थे। वे अत्यंत स्नेहके साथ हँस हँस कर बातें कर रहे थे। आज भगवान्को अत्यत अनुकूल देख कर धर्मराजको आज कुछ कहने का साहस हुआ। वे सबके सम्मुख सबको सुनाते हुए भगवान्से बोले—"प्रभो! मैं एक निवेदन करना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो करूँ?"

भगवान्ने कहा—"महाराज! आप कैसी बात कह रहे हैं। मैं तो आपका सेवक हूँ। आज्ञा कीजिये।"

आँखोंमें आँसू भर कर धमराज बोले—"क्यों न हो. प्रभो! आप तो अपने आश्रितोंके अधीन ही है उनकी समस्त इच्छाओं को आप पूर्ण करने वाले है। मेरी एक हार्दिक इच्छा है, कि आपके जो ये अंशभूत इन्द्र, वरुण, कुवेर तथा अन्यान्य देवता हैं, उनका, यज्ञोंमें सर्वश्रेष्ठ राजसूययज्ञ द्वारा मैं यजन करना चाहता हूँ। मेरी चिरकालकी यह अभिलाषा है। इसे पूर्ण करना आपके ही अधीन है।

अत्यंत प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र बोले—"हे शत्रुकर्षन! हे पांडुनन्दन! आपके लिये राजसूय यज्ञ करना कौन सी बड़ी बात है। आपका विचार अति उत्तम है। आपको राजसूय यज्ञ अवश्य करना चाहिये। इससे आपकी

मङ्गलमयी कीर्ति समस्त लोकोंमें सर्वत्र फैल जायगी।"

गद्गद् कंठसे महाराज युधिष्ठिरने कहा—"प्रभो! मैं तो यन्त्र हूँ, कराने वाले यन्त्री तो आप हैं। कठपुतलियोंको नचानेवाले की प्रशंसा होती है। काठकी कठपुतलियोंकी कोई प्रशंसा नहीं करता। हम आपके भक्त हैं अनुरक्त हैं आपकी परम पावन चरण पादुकाओंका सेवन करने वाले हैं आपकी पाप-नाशिनी पुण्यमयी कथा को निरन्तर श्रवण करने वाले हैं, तथा आपकी मनमोहिनी मधुर मूर्तिका निरन्तर ध्यान करने वाले हैं। इसका जो भी श्रेय होगा वह तो आपको ही प्राप्त होगा। आप कह सकते हैं, कि जब हमें ही कराना है, तो फिर हम तुम्हारे ही द्वारा क्यों करावें। सो हे यदुनन्दन! आप इस यज्ञको हमारे द्वारा कराके संसारके सम्मुख एक उत्तम आदर्श उपस्थित करेंगे। कुरु-वंशी, सृञ्जयवंशी तथा अन्यान्य भूमण्डलके राजा यह बात प्रत्यक्ष देखेंगे, कि आप अपने आश्रितोंकी समस्त इच्छाओंको पूर्ण करते है, यदि वे भोग चाहते है, तो उन्हें संसारके दुर्लभसे दुर्लभ उत्तमसे उत्तम भोग प्राप्त होते हैं और अंतमें वे संसार सागरसे मुक्त भी हो जाते हैं। हमारे द्वारा राजसूय यज्ञ सम्पन्न कराके आप इस बातको दिखा देंगे कि आपके चरण कमलोंकी सेवाका प्रभाव क्या होता है और जो आपकी सेवा नहीं करते इनकी दशा क्या होती है।

हँसकर भगवान् बोले—"महाराज! मेरी तो न किसीसे शत्रुता है न मित्रता। कौरव कहें तो मैं उनकी भी सहायता करूँगा। आप कहें तो मैं आपकी सेवा करूँगा। मेरे तो सभी सुहृद है,सभी समान रूपसे सम्बन्धी हैं।"

शीघ्रताके साथ धर्मराजने कहा-"नहीं नहीं भगवन्! मेरा यह अभिप्राय नहीं है, कि हम आपके प्रिय हैं तो आप हमारे इष्टकार्य करेंगे और दूसरे आपके शत्रु हैं, तो आप उनका

अ.नष्ट करेंगे। आप तो समदर्शी हैं, सर्वात्मा हैं, सर्वेश्वर हैं तथा आत्मानुभवस्वरूप परब्रह्म है। यह मेरा है यह पराया है, इस प्रकारका भेदभाव आपमें है ही नही। आपके विना जिसकी स्थिति हो वह पराया हो भी सकता है। सभी तो आपकी माया का वैभव है। फिर आपमें अपने परायेका भेद भाव कैसे हो सकता है। फिर भी प्रभो! गंगाजी सबके लिये सुलभ हैं,वे किसी को अपने समीप आनेको, जलपान करने तथा नहानेको आनेके लिये मना नही करतीं। तो भी सभी उनके समीप नहीं आ सकते जो आता है वह यथेष्ट जलपान स्नानादि करके पापोंसे छूट जाता है। अग्निके समीप जो आता है उसीका शीत दूर हो जाता है, सबके लिये वह सुलभ है किन्तु जो उसके समीप आवेगा ही नही उसका शीत अग्नि कैसे दूर करेंगे। कल्पवृक्षके नीचे जो भी जाता है उसी की वह इच्छा पूर्ण करता है। इसी प्रकार यद्यपि आपके लिये सब समान है। सर्व भूतोंके आप सखा है सुहृद् है तथापि जैसे कल्पवृक्षकी सेवा करने वाले और न करने वालेको उनकी भावनाके अनुसार न्यूनाधिक फल मिलता है, उसी प्रकार भक्तोंको और अभक्तोंको उनकी भावनाके अनु-सार न्यूनाधिक फल मिलता है। इससे आपके समदर्शीपने में अन्तर नहीं आता। न आपका इससे भेदभाव ही प्रकट होता है।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"हाँ, राजन्! आपका विचार अति उत्तम है। राजसूय यज्ञसे कल्याण ही कल्याण है। यह यज्ञ सभी यज्ञोंमें श्रेष्ठ है। इस यज्ञमें देवताओंका पूजन होगा,पितरोंका श्राद्धतर्पण होगा, ऋषि मुनियोंका स्वागत सत्कार होगा, ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा मिलेगी, राजाओंका समागम होगा हम परि-वार वालोंको मालटाल मिलेगा। इसमें सभी का कल्याण ही कल्याण तो है।"

धर्मराजने कहा—"तब, यदुनन्दन ! यह यज्ञ हो कैसे ?"

भगवान्‌ने बात पर बल देकर कहा—"इसमें न होने की कौन सी बात है। आपके चारों भाई बली हैं शूरवीर हैं, गुणज्ञ हैं, आज्ञाकारी हैं और आपमें भक्ति रखते हैं इन्हें दिग्विजयके लिये चारो दिशाओंमें भेजिये। भूमण्डलके सब राजाओंको जीत कर समुद्रान्त पृथिवीको अपने वशमें करलें। तब यज्ञकी समस्त सामग्रियोंको एकत्रित करलें। होने लगे स्वाहा स्वाहा इसमें देर करने की कौन सी बात है ?"

धर्मराजने कहा—"केशव ! भूमण्डलके समस्त राजाओंको जीत लेना तो कठिन है।"

हँस कर भगवान् बोले—"कठिन क्या है राजन् ! जब आपने मुझे जीत लिया, तो फिर इन तुच्छ राजाओंको जीत लेना तो कोई बात ही नहीं। आपके ये चारों भाई लोकपालोंके अंशोंसे उत्पन्न हुए हैं। आप तो साक्षात् धर्म ही हैं। आप सब तेजस्वी है, मनस्वी है, इसीलिये आपने मुझे जीत लिया है। जो इन्द्रियों सहित मनको जीत लेता है, उसके वशमें मैं भी हो जाता हूँ, जो अजितेन्द्रिय है, इन्द्रियोंके अधीन हैं, उनसे तो मैं कभी जीता ही नहीं जा सकता। मेरे भक्तके लिये संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं। बड़े बड़े सर्वसमर्थ चक्रवर्ती अथवा देवता भी मेरे भक्तका तेज, यश लक्ष्मी अथवा विभूति द्वारा तिरस्कार करना चाहें तो नहीं कर सकते। फिर इन साधारण राजाओंकी तो बात ही क्या है। इस लिये आप निर्भय होकर राजसूय यज्ञकी तैयारियाँ कीजिये। अपने भाइयोंको दिग्विजयके निमित्त भेजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान्‌की यह बात सुन कर धर्मराज युधिष्ठिरको बड़ा हर्ष हुआ। प्रसन्नताके कारण उनका मुखारविन्द खिल उठा। उन्होंने अपने भाइयोंसे पूछा—"कहो, भाई। तुम लोगोंकी क्या सम्मति है ?"

चारों भाइयों ने कहा–"महाराज ! हम तो आपके आधीन हैं, हमें तो आप जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही करेंगे। आप सम्राट् पद के सर्वथा योग्य है, हम चारों आपके सेवक हैं और हम सबके रक्षक पालक और सर्वस्व सर्वेश्वर श्रीकृष्ण हैं, फिर हमें किस बात का भय है, आप हमें दिग्विजय के लिये आज्ञा दें। हम सब श्रीकृष्ण के तेज के प्रभाव से सब कुछ करने में समर्थ हैं।"

अपने भाइयों की ऐसी उत्साह वर्धक बातें सुनकर धर्मराज के हर्षका ठिकाना नही रहा। उन्होने भगवान् के तेजसे बढ़े हुए अपने चारों भाइयों को चारों दिशाओं में दिग्विजय के निमित्त भेजा। भीमसेन को मद्रदेशीय बीरो के साथ पूर्व दिशाके राजाओं को जीतने के निमित्त भेजा। पश्चिम में मत्स्यदेशीय राजाओं के साथ नकुल को भेजा, उत्तर में केकय देशीय राजाओं के साथ अर्जुन को तथा दक्षिण में सृञ्जय देशीय वीरों के साथ सहदेवजी को भेजा। ये सभी सैन्य सजाकर सब राजाओं को वश में करने के निमित्त चले। सब लोग शूरवीर थे, बली थे उत्साही थे, उन्होंने सभी देशों के राजाओं को अपने बाहुबल से जीत लिया। उनसे यज्ञ के निमित्त बहुत सा धन ले आये। वह सब राजाओं से प्राप्त धन उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को दिया।

सभी ने आकर अपनी अपनी दिशाओं के राजाओं के आकर नाम गिनाये, कि हमने अमुक अमुक राजाओं को अपने वश में करके उनसे कर रूपमें धन प्राप्त किया। उसी अवसर पर भीमसेनने आकर कहा—"महाराज ! मैंने और सब राजाओंको तो जीत लिया है, केवल जरासन्ध नही जीता गया। उसका बल अप्रेय है। शिशुपाल उसका सेनापति है तथा और भी बहुत से राजा उसकी सेवामें सदा संलग्न रहते हैं। अतः उसे जीतना बहुत कठिन है।"

यह सुन कर धर्मराजने जिज्ञासा भरी दृष्टिसे श्यामसुन्दरकी ओर निहारा। धर्मराजके अभिप्राय को समझ कर भगवान् वासुदेव कहने लगे—"मैंने तो पहिले ही कहा था, एक जरासन्ध ही हमारे लिये राजसूयमें कंटक है। शिशुपाल उसका सेनापति बन गया है दन्तवक्र,मेघवाहन और करभ ये राजा भी उसके अनुयायी हैं। पौंड्रक जो अपने को वासुदेव कहता था,उसे तो मैंने मार ही दिया। कंस भी श्वसुर के नाते से उसमें भक्ति रखता था,उसे भी मैंने मार डाला। इसके हंस और डिम्भक दो राजा प्रधान सहायक और सेनापति थे इन दोनों को ब्रह्माजी से वर भी प्राप्त था। उन दोनों को भी मैंने छल से यमुनाजी में डुबाकर परलोक पठा दिया। अब यही एक कंटक बचा है। मुझ से उद्धवजी ने कहा है—"यह सेना द्वारा किसी प्रकार नहीं जीता जा सकता। इसके जीतने का एक ही उपाय है ?"

उत्सुकता के साथ धर्मराज ने पूछा—"वह कौन सा उपाय है, वासुदेव !"

भगवान् बोले—"आप अर्जुन और भीम को मुझे दे दें सब काम बन जायगा। हम तीनों भाई जाकर उसे जीत लावेंगे।"

आँखों में आँसू भर कर धर्मराज ने कहा—"वासुदेव ! यह आप कैसी बातें कह रहे हैं। मेरा राजपाट, परिवार सब भाई तथा मेरा शरीर सभी आपका है। हम सबका जीवन आपके अधीन है। आप जो चाहें सो करें। देना क्या ? हम सब तो आपके यन्त्र हैं, जैसा चाहें वैसे उपयोग करें। किन्तु मैं जानना चाहता हूँ आप तीनों जाकर उसे कैसे जीत लेंगे। सेना साथ में आप क्यों नहीं लेजाना चाहते ?"

भगवान् ने कहा—"सेना तो उसके पास इतनी है, कि सैकड़ों वर्षों तक वह युद्ध कर सकता है। हम लोग भी उसके डर से ही

मथुरा पुरी छोड़कर द्वारका में भाग आये।"इसलिये सेना लेकर जाना तो व्यर्थ है। हम उसे छल से जीतेंगे। आप से ब्योरा क्या बतावें हम जैसे होगा उसे मारकर आवेंगे।"

आँसू पोंछते हुए धर्मराज ने कहा—"श्यामसुन्दर ! अर्जुन और भीम मेरी दोनो आँखों के समान है और आप अन्तःकरण है। आपका कुछ अनिष्ट हुआ तो मैं जीवित नहीं रह सकता। आप कहते हैं—"हम उसी के भय से मथुरा छोड़कर भाग आये।" तो उसे जीतने में सन्देह है। सन्देह वाली बात क्यों की जाय ! आपको सन्देह में डालकर मैं सम्राट् बनना नहीं चाहता। राजसूय यज्ञ न करके मैं कोई और क्षत्रियोचित यज्ञ करलूँगा।"

भगवान् ने अपनी बातपर बल देते हुए कहा–"राजन् ! आप मेरे ऊपर विश्वास करें। सन्देह की कोई बात नहीं। आप भीमसेन और अर्जुन को मेरे साथ कर दे हम तीनों अवश्य ही उसे मारकर बन्दी राजाओ को उसके बन्धन से मुक्त करेंगे। वे सबके सब आपके यज्ञ में नाना भाँति की भेंट लेकर आवेंगे।"

यह सुनकर गद्गद् वाणी से धर्मराज ने कहा—"प्रभो ! जब आप आज्ञा ही दे रहे हैं, तब मुझे सन्देह ही क्या हो सकता है, आप जैसा उचित समझें वैसा करें।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! धर्मराज की अनुमति पाकर भगवान् परम प्रसन्न हुए। उन्होंने भीमसेन और अर्जुन से कहा–"भैया ! अब देर करने का काम नहीं है। आप लोग शीघ्र ही जरासन्ध की राजधानी मगधदेश के लिये प्रस्थान करें। वहाँ से हम उसका अन्त करके ही लौटेंगे। भगवान् की आज्ञा पाकर दोनों भाई तुरन्त तैयार हो गये। ब्राह्मणों ने तीनों का स्वस्त्ययन किया और वे तीनों ही मगध देश की ओर चल दिये। अब जैसा जाकर वे जरासन्ध से कपट व्यवहार करेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अच्युत अनुमति पाइ बन्धु दिगविजय करन हित ।
पठये चारिहु दिशनि गये सेना सँग उत इत ॥
सब नृप जीते किन्तु न जीत्यो जरासन्ध जब ।
उद्धवजीकी युक्ति बताई वासुदेव तब ॥
हरि बहु विधि समुझाइकें, धरमराज सहमत किये ।
सग भीम अरजुन लिये, गिरिव्रज कूँ सब चलि दिये,॥

भीम अर्जुन सहित भगवान्‌का मगध में प्रवेश

(११४५)

भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः ।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ७२ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

माला चन्दन धारि कपट द्विज वेष बनायो ।
मगध देश महँ पहुँचि अलख नृपद्वार जगायो ॥
जरासन्ध अति विप्र-भक्त सेवक अतिथिनिको ।
अतिथि योग्य अति समुझि कियो बहु आदर इनिको ॥
छलिया कपटी कृष्णने, मगधेश्वर कूँ ठगि लयो ।
द्वन्द्वयुद्धको वर लह्यो, तब अपनो परिचय दयो ॥

संसारमें सब काम केवल बलके भरोसे ही नहीं हो सकते । बल हो और बुद्धि तथा नीति न हो, तो उस बलसे विशेष लाभ

*श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! ब्राह्मणोंका सा वेष बनाकर भीमसेन, अर्जुन और श्रीकृष्ण ये तीनों ही उस गिरिव्रज नामक दुर्गमें गये, जहाँ राजा बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध रहता था ।"

नहीं। नीतिज्ञ पुरुष बलशालीको बुद्धिमानीसे वशमें कर सकते है। मनुष्य अपनी नीतिके ही बलसे बड़े बड़े सिंहोंको बड़े बड़े मदोन्मत्त हाथियोंको अपने वशमें कर लेता है। नीतिज्ञ पुरुष बल के सहारे सब कुछ कर सकता है, किन्तु केवल बल और नीतिसे भी तब तक काम नहीं चलता जब तक भाग्यमें 'जय' न हो। दुर्योधन बली भी था, बुद्धिमान नीतिज्ञ भी था, किन्तु उसके भाग्यमें जय नही थी। जहाँ जाता था, वही पराजित होता था। गन्धर्व उसे पकड़ ले गये, धर्मराजने उसे छुड़ाया। महाराज विराट्की गैयोंको हरने जब भीष्म, कर्ण तथा द्रोणादि वीरोको लेकर उनकी राजधानीमें घुस गये और जब बृहन्नला वेषधारी अर्जुनसे लड़ाई हुई तो वहां भी दुर्योधनकी पराजय ही हुई। महाभारत युद्धमें दुर्योधनके पास ग्यारह अक्षोहिणी सेना थी। विश्वविजयी भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा शल्य ऐसे विख्यात वीर सेनापति थे किन्तु भाग्यमें जय न होनेसे उसकी पराजय ही हुई। इसके विपरीत अर्जुनके भाग्यमें 'जय' थी। वे जहाँ भी जाते विजय प्राप्त करके आते। यहाँ तक कि जिन निवात कवचोको देवता तथा देवताओंके राजा इन्द्र भी न जीत सके उन्हें अकेले अर्जुनने जाकर जीत लिया। यह सब भगवान्की कृपा थी। भीमसेनमें बल तो विपुल था किन्तु बुद्धि और नीति की उनमें कमी थी। जो अधिक भोजन भट्ट होते है, उनमें प्रायः बुद्धिकी न्यूनता रहती है। हमारे इन टेढ़ी टाँगवाले श्रीकृष्ण-चन्द्रमें बल कितना है इसका तो किसीको पता नही किन्तु नीतिमें तो ये ऐसे निपुण हैं कि अच्छे अच्छोके कान काटते हैं। छल कपट करनेमें ये ऐसे सिद्धहस्त हैं कि ससारमे इनकी बराबरी करने वाला ढूँढ़ने पर भी न मिलेगा। सबसे बड़े मायावी हैं। जिस कामको सहस्रो बली नही कर सकते उसे ये ऐसी युक्तिसे कर लेते है कि न साँप मरे न लाठी टूटे। काम भी बन जाय और

अपने ऊपर आँच भी न आवे। जालन्धरको कैसे छलसे मरवा दिया, कालयवनको कैसी युक्तिसे भस्म करा दिया। भस्मासुरको कैसी उलटी पट्टी पढाकर उसीके हाथोसे उसका अन्त करा दिया। महाभारतमें पग पग पर इन्होंने छल कपट किया। किसी भी प्रकार युद्धमें न मरने वाले भीष्म, द्रोण और कर्णको किस प्रकार छलसे मरवा दिया। इसलिये ससारमें इनसे बड़ा छलिया-कूट नीतिज्ञ कोई नहीं। जरासन्ध न केवल बलसे मारा जा सकता था न केवल छलसे। उसके लिये छल, बल और विजय तीनोंकी आवश्यकता थी। पांडवोंमें बल भी था, विजय भी थी किन्तु नीतिकी कमी थी। सो इसके भंडार ये चोर जार शिखामणि श्रीकृष्णचन्द्र आ गये। तीनो जब एक स्थानमें मिलगये, तब तो किसी भी कार्यके सिद्ध होनेमें सन्देह नही।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज युधिष्ठिरकी अनुमति पाकर भगवान् वासुदेव भीम और अर्जुनको साथ लेकर मगध देशकी ओर चल दिये। उन्होंने अपने साथ कोई भी अस्त्र शस्त्र नहीं रखा। तीनों ही ने ब्राह्मणोंका सा कपट वेष बना लिया। तीनों ही तिलक छापे लगाकर रामनामी दुपट्टा ओढ़कर भिक्षुक ब्राह्मण बन गये। मुनियो! यह ब्राह्मणका वेष ऐसा है कि इसमें सभीका समावेष हो जाता है। जहाँ अस्त्र शस्त्र कुंठित हो जाते हैं वहाँ इसी वेषसे काम निकाला जाता है। असुरराज बलिको जब किसीभी प्रकार न जीत सके तो भगवान्‌ने भी बौने वामनका वेष बनाया था। भगवान्‌को जब भी काम पड़ता है, वृद्ध ब्राह्मणका वेष बनाकर पहुँच जाते हैं। पहले तो अपने ही बनते थे। अबके अर्जुन और भीमको भी बनावटी ब्राह्मण बना दिया। तीनों ही कुरु जांगल देशसे चलकर गङ्गा,यमुना, सरयू, शोण आदि पवित्र नदियोंको लाँघकर पांचाल, कान्यकुब्ज, मत्स्य, कोशल, करुष, काशी, मिथिला तथा अन्यान्य राज्योंमें होकर मगध राज्यकी

सीमामें पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक छोटेसे गोरथ नामक पर्वतको देखा जो मगध देशमे फैला हुआ है। उस पर चढ़कर भगवान्‌ने भीमसेन तथा अर्जुनको नाना वृक्षोंसे सुशोभित तथा बहुतसे फलवान वृक्षोंसे युक्त मगध देशकी राजधानी को दिखाया।

मगध देश एक बहु जलपूर्ण समृद्धशाली देश है, उसमें धान बहुत उत्पन्न होते हैं। ऊँचेपर चढ़कर धानोंकी फली फूली खेती को देखकर ऐसा लगता है मानो पृथिवीको किसीने हरे रँगसे रँग दिया हो। गिरिव्रजके किलेको पाँच छोटी छोटी पहाड़ियोंने घेर रखा है। जिसके ऊपर जंगली लतायें छायी रहती हैं। यह देश शत्रुओंसे सदा सुरक्षित रहता है। उस समृद्धिशाली देशमे ही जरासंध राज्य करता था और उसी चारों ओरसे पहाड़ोंसे घिरे किलेमें उसने राजाओंको बन्दी बना रखा था।

भीम अर्जुन और भगवान् तीनों पहाड़ पर चढकर मगध देशकी राजधानीकी नयनाभिराम शोभाको निहारते रहे। उसके भीतर उष्ण जल तथा शीतजलके बहुतसे स्रोत भी थे। भगवान्‌ने भीम अर्जुनसे कहा—"देखो, भाई! हम जरासंधके यहाँ शत्रुभावसे चल रहे है। मित्र भावसे चलते तब तो प्रधान द्वारसे जाना उचित था। शत्रुको सीधे मार्गसे न जाना चाहिए। किलेकी दिवाल को तोड़कर विपरीत मार्गसे जाना चाहिए।"

दोनों भाइयोंने कहा—"जैसी आप आज्ञा दें। हम तो आपके आधीन है। यह सुनकर भगवान् उन दोनो भाइयोंके साथ पीछेसे चैत्यक पर्वतके ऊपर चढ़ गये। उसके ऊपर तीन बड़े बड़े नगाड़े रखे थे। जरासंधके पिता बृहद्रथने एक वृषासुर असुरको मारकर उसके चर्मसे उन्हें मढ़ाया था। वे नगाड़े शुभ समझे जाते थे, जरासंध उनकी पूजा किया करता था। सबसे पहिले इन तीनोंने जाकर उन तीनों नगाड़ोंको फोड़ दिया। इन्हें तो किसी प्रकार शत्रुता प्रकट करनी थी। फिर इन्होंने पर्वतके ऊपर

बने हुऐ परकोटे को तोड़ डाला और उसे तोड़कर उसी मार्ग से नगर मे घुसे। दुर्भाग्य से या सौभाग्यसे एक माली सम्मुख मिल गया। छीनने झपटने का तो इन श्यामसुन्दर को अभ्यास ही है। तुरन्त ही उससे माला बलपूर्वक छीन ली और तीनों ने उन्हें धारण कर लिया। इस प्रकार सुन्दर माला पहिने हुए बिना अस्त्र शस्त्र लिये ब्राह्मणका बनावटी वेष बनाये ये तीनो के तीनों जरासन्धके समीप पहुँचे। द्वारपालोने ब्राह्मण समझकर इनको रोका नही। ये सीधे भोजन के समय जरासन्ध के समीप पहुँचे।

जरासन्ध तो बड़ा ब्राह्मण भक्त था। उसने ज्यों ही इन तेजस्वी बनावटी ब्राह्मणो को आते देखा, तो वह तुरन्त उठकर खड़ा हो गया। उसने विधिवत् तीनो को अर्घ्य दिया अतिथि सत्कार किया किन्तु ये लोग आतिथ्य सत्कार स्वीकार करने तो आये ही नही थे। ये तो लड़ने आये थे, छल करने आये थे। इनके सरदार महाछली श्रीकृष्णचन्द्र थे। इन्होने पहिले ही दोनों भाइयोंको समझा दिया था,तुम एक शब्द भी मुखसे मत बोलना। मैं सब बातें कर लूँगा।"ये दोनों तो भगवान् के संकेत पर काम करने वाले थे, इसलिये चुप चाप बैठे रहे। जरासंधकी पूजा का इन्होंने कुछ भी उत्तर नही दिया। जब जरासन्ध ने इनसे कुशल प्रश्न किया, तब ये ही छलियो के शिरोमणि बोले—"ये दोनों स्नातक ब्रह्मचारी मौनी है। इन्होंने मौन व्रत ले रखा है। आधी रात्रिके समय इनका मौन व्रत खुलता है, तब ये आपसे बातें कर सकते है।"

जरासन्ध ने कहा—"बहुत अच्छा, आप मेरी अग्निहोत्रशाला में सुखपूर्वक निवास करें। इस समय आप भोजन क्या करेंगे?"

ये छलिया देवता बोले—"इस समय तो हमें भोजन करना नहीं है, रात्रिमें ही सब बातें होंगी।"

यह सुनकर उसने तीनोंके ठहरनेका प्रबन्ध यज्ञशालाके समीप अतिथिशालामें कर दिया। वह सब प्रबन्ध करके अन्तः-

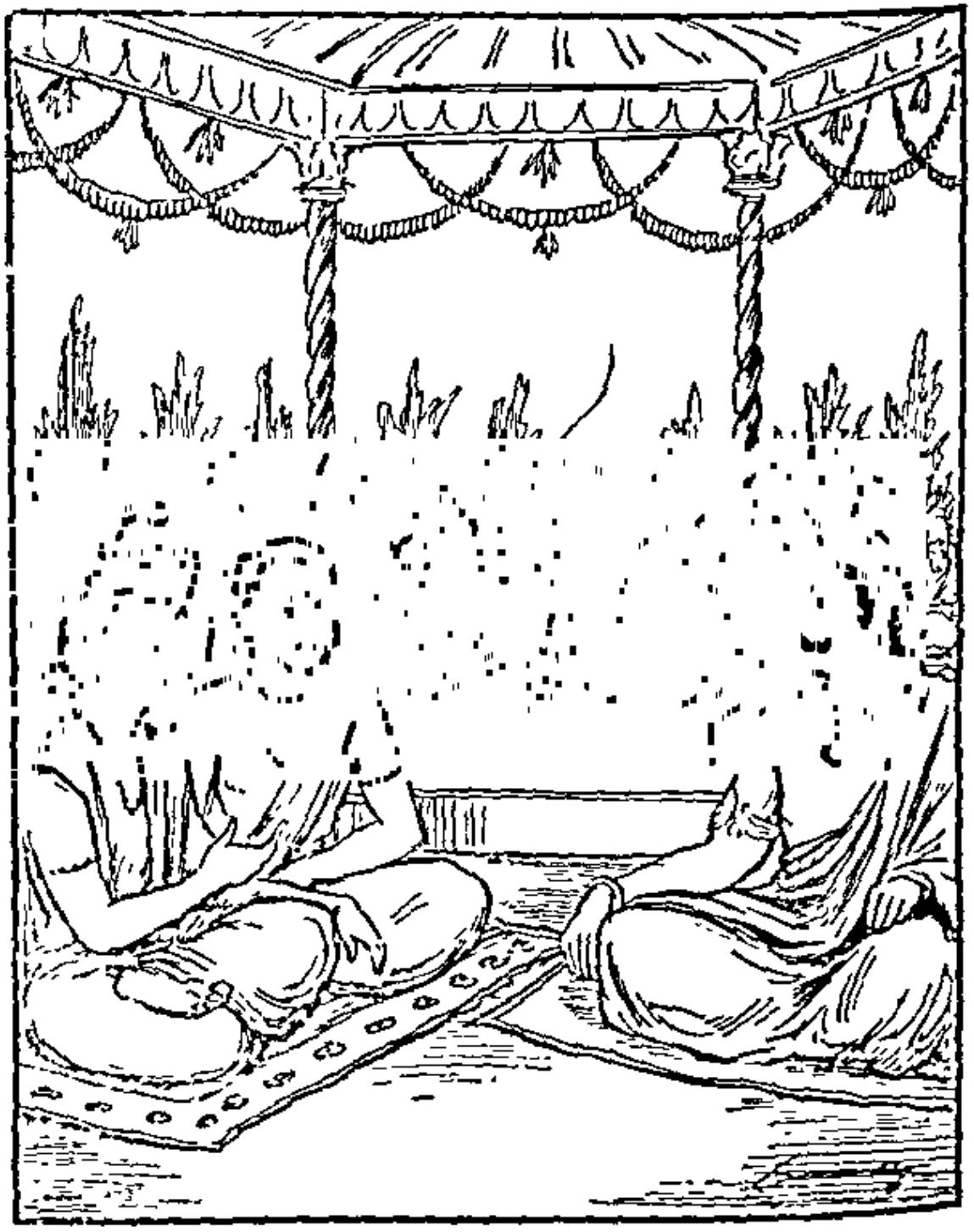

पुरमें चला गया। उसे इनतीनों ब्राह्मणोंके व्यवहार पर आश्चर्य हो रहा था, उनकी बातों पर सन्देह भी हो रहा था, फिर भी वह

तो ब्राह्मण भक्त था। आधी रात्रिके समय अकेला ही इन तीनोंसे मिलने वह आया।

राजाको आया देखकर ये तीनों छद्मवेषी ब्राह्मण उठकर खड़े हो गये। राजाने इन तीनोंको प्रणाम किया, इन्होंने भी उसे आशीर्वाद दिया। जब सब सुखपूर्वक बैठ गये, तो जरासन्धने पूछा—"आप कौन हैं? कहाँसे आये हैं? मुझसे आप क्या चाहते हैं?"

यह सुनकर ये ही ठगिया देवता बोले—"राजन्! आपका मङ्गल हो, कल्याण हो। हम आपके अतिथि हैं। हम बड़ी दूरसे आपके दानकी प्रशंसा सुनकर आये है। हम आपसे कुछ याचना करने आये है, आशा है आप हमारी इष्ट वस्तुको देंगे।"

जरासन्धने कहा—"आप लोग क्या चाहते है, पहिले मुझे बतावें, तब मैं उसपर विचार करूँगा कि वह वस्तु देने योग्य है या नहीं।"

यह सुनकर श्रीकृष्ण खिलखिलाकर हँस पडे और हँसते हँसते बोले—"राजन्! हमने तो आपके दानकी आपके साहस-की बड़ी प्रशंसा सुनी थी। दानी दान देते समय आगेकी नहीं सोचता। वह तो सम्मुख आये हुए याचककी सभी इच्छाओंकी पूर्ति करता है। उसे अपने दान मानसे पूर्ण सन्तुष्ट कर देता है। जिस प्रकार तितिक्षु पुरुष सभी प्रकारके दुःखोंको सदा सहनेके लिये तत्पर रहते है, जिस प्रकार दुष्ट लोग सभी प्रकारके पाप विना विचारे करते रहते हैं, उसी प्रकार उदार पुरुष अपना सर्वस्व समर्पित करनेमें कभी हिचकते नहीं। आप हमसे व्यवहार करना चाहते हैं यह तो व्यापारियोंकी बात है कि पहिले सुनेंगे सोचेंगे, सम्मति करेंगे, हानि लाभका विचार करेंगे, तब उत्तर देंगे।"

जरासन्धने कहा—"हाँ, यह तो आपका कथन सत्य है, फिर भी मैं राजा हूँ, मेरे पुत्र पौत्र हैं, मंत्री पुरोहित हैं शत्रुमित्र

हैं । सब समझ बूझकर काम करना होता है ।"

भगवान् व्यंगकी हँसी हँसते हुए बोले—"अजी, राजन् ! आप ये कैसी बाते कह रहे हैं । हे नरेन्द्र ! जो समदर्शी हैं,दानी हैं, उदार है उनके लिए अपने पराये का भेदभाव नही होता उनके लिये तो सम्पूर्ण वसुधा ही अपना कुटुम्ब है । राजन् ! यह शरीर नाशवान है और सुयश अविनाशी है । जो इस नाशवान् शरीरसे सत्पुरुषों द्वारा गान करने योग्य अपनी विशुद्ध कीर्तिको नही कमा लेता उसका मनुष्य जन्म लेना वृथा है । राज्य पाट, धन, वैभवको क्या कोई साथ ले जायगा । ये सब तो यहाँके यहीं रह जायँगे । केवल यश अपयश ही रह जाता है । जो रात्रि दिन दूसरोंका रक्त चूस चूसकर अपने मांसको बढ़ाते हैं, क्या वे उस मोटे शरीरको साथ ले जाते है ? उनका अपयश शेष रह जाता है और जो परोपकार करते करते शरीरको सुखा देते हैं, शरीर तो उनका भी यही रह जाता है किन्तु उनकी कीर्ति सदा बनी रहती है देखिये, महाराज हरिश्चन्द्र दान देकर ही अजर अमर हो गये ।"

इसपर जरासन्धने पूछा—"ब्राह्मणदेव ! हरिश्चन्द्रकी कीर्ति अभी तक किस पुण्य प्रभावसे अब तक विद्यमान् है ?"

भगवान् बोले—"राजन् ! विश्वामित्रजीके माँगने पर सूर्यवंशी महाराज हरिश्चन्द्रने अपना सर्वस्व दान कर दिया था । वे एक वस्त्रसे अपनी स्त्री और छोटे बच्चेके साथ घरसे निकल पडे । विश्वामित्रजीने उनसे दानकी सांगता देनेका आग्रह किया । इसके लिये उन्होंने अपनी स्त्रीको बच्चेको बेचा । स्वयं चांडालके हाथ बिक गये । उनकी इस दान निष्ठासे ब्रह्मदेव, इन्द्र, धर्म आदि देव प्रसन्न हुए । उन्हें प्रजा सहित स्वर्ग ले गये । दानके प्रभावसे ही उनकी कीर्ति अबतक जगमें विद्यमान है । इसी प्रकार महाराज रन्तिदेवने भी अतिथि सत्कार करके समस्त पुण्यलोकोंको

जीव लिया और संसारमें अब तक उनकी कीर्ति का बड़े आदर के साथ गायन किया जाता है।

जरासन्धने पूछा—"महाराज रन्तिदेवने किसका आतिथ्य सत्कार किया था और उनकी अबतक इतनी भारी ख्याति क्यों है।"

भगवान् बोले—"राजन्! चन्द्रवंशी महाराज रन्तिदेवके बड़े भाई गुरु राजा थे। वे उन्हें नियमित वृत्ति देते थे ये बिना किसीसे मांगे जो भी मिलता उसी पर निर्वाह करते। एक बार अड़तालीस दिनों तक राजाको कुछ नहीं मिला। उनचासवें दिन सुन्दर घृतयुक्त खीर, हलुआ तथा जल मिला, वे परिवार सहित उन वस्तुओंको खाने ही को बैठे थे कि क्रमशः तीनों देव पारी पारीसे ब्राह्मण, शूद्र तथा चांडाल बनकर आये और उन्होंने तीनों बार अपने सामनेकी सब वस्तुएँ स्वयं न खाकर प्रसन्नता पूर्वक उन्हें दे दी। अपने लिये एक बूँद जल भी न रखा। वे अपने इस अमोघ दानके प्रभावसे अजर अमर बन गये। उनकी विमल कीर्ति अब तक संसारमें व्याप्त है। इसी प्रकार एक शिलोञ्छ वृत्ति मुद्गल मुनि भी अन्नदानके प्रभावसे स्वर्गीय देवताओं के पूजनीय बन गये।"

जरासन्धने पूछा—"विप्रवर! मुद्गल मुनिने किसको कितना अन्न दिया था, जिससे अबतक संसारमे उनकी इतनी ख्याति है?"

भगवान् बोले—"राजन्! कुरुक्षेत्रमें एक मुद्गल नामक मुनि रहते थे। वे पक्षियोंकी भाँति खेतमें पड़े हुए अन्नके कणोंको बीनकर लाते थे। वे नित्य बीन बीनकर पन्द्रह दिनके लिये अन्न एकत्रित करते। पन्द्रह दिनमें जितना एकत्रित हो जाता उसीसे वे एक पक्षका काम चलाते। परिवार सहित स्वयं भी खाते अतिथियोंका भी पूजन करते और उसीसे हवन श्राद्धादि भी करते।

यदि उस पक्षमें कुछ घट जाता तो उतने दिन भूखे रहते।

एक बार जब उन्होंने पन्द्रह दिनका अन्न एकत्रित कर लिया तो उसी दिन उन्मत्त वेषमें दुर्वासा मुनि उनके अतिथि हुए। महामुनि मुद्गलने उनका प्रेम पूर्वक स्वागत किया, भोजन कराया। उनके यहाँ जितना भी अन्न था, सभीको दुर्वासा खा गये। वे एक पक्ष भूखे रहे। दूसरे पक्षमे ज्यों ही बनाकर वे प्रसाद पाने बैठे त्यों ही फिर दुर्वासा आकर सब उड़ा गये। इस प्रकार छः बार दुर्वासा मुनि इसी प्रकार आ आकर मुनिके सब अन्नको खा जाते इस पर भी मुनिके मनमें तनिक भी उद्वेग नही हुआ। वे पूर्ववत् मुनिका स्वागत करते रहे। इसी दानके प्रभावसे उन्होंने मृत्युको जीत लिया और संसारमें अब तक बड़े गौरवसे उनकी कीर्ति गाई जाती है। महाराज शिविने कपोत बने धर्मके लिये अपने शरीरका मांस दे दिया। विरोचनके पुत्र बलिने जान बूझकर अपना सर्वस्व वामन बने छलिया उपेन्द्रको दे दिया। ये सब तो मनुष्य थे राजा थे पक्षी होकर कपोत तो अतिथि व्याधके लिये अपना शरीर देकर स्वयं अमर बना और व्याधको भी बना दिया।

जरासन्धने पूछा—"विप्रवर! कपोतने अपना शरीर क्यों दिया? व्याध कैसे अमर होगया?"

यह सुनकर भगवान् बोले—"राजन्! सुनिये मैं आतिथ्य-का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण सुनाता हूँ। एक बहेलिया जाड़ेके दिनोमें पक्षी पकडने जङ्गलमें गया। उस दिन बहुत जाड़ा पड रहा था। जाड़े से ठिठुरता हुआ वह एक पेड़के नीचे गया वहाँ उसे जाडोमें काँपती हुई एक कबूतरी मिली। उसे उसने पकड़कर पिंजड़ेमें डाल लिया। सायंकाल हो गयी थी, वह उसी सघन वृक्षकी छायामें सो गया, जिसपर उस कबूतरीका पति कबूतर रहता था। उसने पिंजड़ेमें पड़ी अपनी प्रियाको पहिचान लिया। दोनों रोते

रहे। बहेलिया उठा और शीतके कारण काँपने लगा। कबूतरने सोचा—"यह मेरा अतिथि है, इसकी सेवा करनी चाहिये, इस लिये वह उड़कर गया और लुहार के यहाँसे एक जलती हुई अग्नि अपनी चोंच में ले आया। सूखी लकड़ियों की कमी तो थी नहीं तोड़ तोड़कर उसने नीचे फेंक दी। बहेलिये ने आग जलायी तापने से उसकी शीत भाग गयी। उसे बड़ी भारी भूख लगी हुई थी। उसने कबूतर से कहा—"भैया! मुझे बड़ी भूख लगी है, कुछ खाने को हो तो दो।"

कबूतर ने कहा—हम तो एक प्रकार के वनवासी है हम अन्न संग्रह नहीं करते। कण कण चुगकर खाते हैं और अपरिग्रही होकर वृक्ष पर निवास करते हैं। मेरे पास तुम्हें देने के लिये कुछ भी नहीं है।" यह सुनकर बहेलिया निराश हुआ।

अब तो कबूतर को अपने वचनों पर दुःख हुआ। उसने सोचा—"हाय! मैंने इस भूखे बहेलिया से यह बात क्यों कही इसकी आशाको क्यों भंग किया? मेरा शरीर तो है, इस क्षण-भंगुर शरीर से यदि किसी का उपकार हो जाय,तो इससे बढ़कर इसका और क्या सदुपयोग है। यह सोचकर वह जलती हुई अग्नि में कूद पड़ा और कहता गया"—लो, मेरे शरीर को खाकर अपनी क्षुधा शान्त करो।"

कबूतर अग्नि में गिरते ही जलकर मर गया। इसके इस भारी त्यागसे बहेलियेको बड़ा वैराग्य हुआ। उसने सोचा 'हाय'! मैं कैसा पापी हूँ। पक्षी होकर इसने परोपकार के लिए अपना शरीर जला दिया, एक मैं भी हूँ, जो इस पापी के पेट के लिए निरन्तर पाप ही करता रहता हूँ, अब मैं भी तप करके इसी गति को प्राप्त करूँगा।" यह सोचकर उसने जाल, लोहा, पिंजड़ा तथा अपनी अन्यान्य सभी वस्तुएँ फेंक दीं। कबूतर को भी नहीं खाया,कबूतरी को छोड़ दिया और वनमें जाकर घोर तप

करके स्वर्ग गामी हुआ। इधर कबूतरी भी पति के साथ अग्निमें जलकर सती होगयी। सो राजन्! जब पक्षी होकर कबूतर ने अपना शरीर अतिथि सेवा में जला दिया, तो तुम राजा होकर तिस पर भी चक्रवर्ती राजा होकर अतिथि सत्कार में क्यों हिचकते हो। हृदय खोलकर कह दो "तुम जो माँगोगे वही मैं दूँगा।"

यह सुनकर जरासन्ध का उत्साह बढा। उसने कहा-"भाई! तुम बड़े विद्वान नीतिज्ञ हो। किन्तु मुझे तुम्हारे ब्राह्मण होने में तो सन्देह हो रहा है। एक तो मुझे तुम तीनोकी आकृतियाँ परिचित सी प्रतीत होती हैं। यदि मैं भूल नही कर रहा हूँ, मेरी स्मरणशक्ति मुझे छल नहीं रही है तो मुझे ऐसा लगता है, तुम तीनोंको ही मैंने कहीं स्वयंवरोंमे क्षत्रिय रूपमें देखा है। तुम्हारी वाणी भी परिचित सी ही प्रतीत होती है। तुम्हारे हाथोंमें धनुष बाण चलाने की ठेकें भी पड़ी हुई हैं। तुम लोगों का शरीर भी ब्राह्मणों की भाँति नही है। क्षत्रियों की भाँति तुम्हारा गठीला शरीर है। इन सब बातों से मैं अनुमान करता हूँ, तुम कोई क्षत्रिय हो। तुमने भयवश या लोभवश यह ब्राह्मणोंका सा बनावटी वेष बना रखा है। तुम मुझे अपना यथार्थ परिचय दो।"

भगवान् ने कहा—"हम कोई भी हों, तुम्हारे सामने तो याचक बनकर आये है न? तुम्हें देना हो दे दो, न देना हो मना कर दो। हम निराश होकर लौट जायँगे। तुमसे आग्रह तो कर ही नहीं रहे है। 'हाँ' अथवा 'ना' इनमें से एक बात कह दो।"

यह सुनकर जरासन्ध ने सोचा—"यदि मैंने आज इनसे नाही कर दी, तो मेरी सब कीर्ति नष्ट हो जायगी। संसारमें मेरा अपयश फैल जायगा। ये कोई भी हों, मेरे यहाँ तो याचक ब्राह्मण के रूपमें आये है, इनकी इच्छापूर्ति मुझे अवश्य करनी चाहिये। असुरराज बलिके द्वार पर उसकी राज्य लक्ष्मीको हरने

की इच्छासे ब्राह्मण वेष बनाकर विष्णु गये थे। बलिके कुलगुरु शुक्राचार्यने बार-बार समझाया भी कि यह विप्रवेष धारण करने वाला छलिया विष्णु ही है। फिर भी उसने गुरुकी बात नहीं मानी। याचक बने विष्णुको उसने अपना सर्वस्व दे ही तो डाला। वामनने छल पूर्वक उसे वैभव हीन कर दिया था। यद्यपि उसका राज्य चला गया किन्तु उसकी निर्मल पवित्र कीर्ति तो दसों दिशाओंमें अभी तक फैली हुई है। उसके पवित्र यश-से यह आकाश मंडल अभी तक भरा हुआ है। धन ऐश्वर्य साथ थोड़े ही जाता है, यश अपयश ही शेष रह जाता है। क्षत्रियोंका एक मात्र धर्म है,ब्राह्मणको सन्तुष्ट रखना। जिस क्षत्रियसे ब्राह्मण सन्तुष्ट नहीं, उस क्षत्रियको बारम्बार धिक्कार है। जिसने इस अनित्य क्षण भगुर शरीरसे महान् यश प्राप्त नही किया, उसका शरीर लेना व्यर्थ है। ये चाहें ब्राह्मण हों, क्षत्रिय हो अथवा वैश्य या शूद्र ही क्यों न हों। जब ये भिक्षुक बनकर मेरे समीप याचना करने आये हैं, तो इन्हें निराश करना उचित नहीं। ये जो भी कुछ मांगे वही मुझे इन्हें देना चाहिए।" इन्ही सब बातों को मन ही मन सोचकर जरासन्ध इन तीनों बनावटी ब्राह्मणोंसे बोला—"विप्रगण ! अच्छा, आप जो भी चाहते हों, वही मुझसे बिना संकोच के माँग लें। मैं वचन देता हूँ आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा।"

भगवान्‌ने बातको पक्की करनेके निमित्त कहा—"राजन् ! भली प्रकार सोच समझ लें, ऐसा न हो, पीछे आप मुकुर जाय।"

दृढ़ताके स्वरमें जरासन्धने कहा—"द्विजवर ! आप कैसी बात कह रहे है। जिस प्रकार कन्याका दान एक ही बार दिया जाता है उसी प्रकार सज्जन लोग एक ही बार वचन देते हैं।

आप मेरा राज्यपाट, सर्वस्व यहाँ तक कि सिर भी माँगेंगे, तो मैं दूँगा।"

यह सुनकर भगवान्‌ने कहा—"राजन्! हम आपसे द्वंद्व युद्ध माँगते हैं।"

आश्चर्यके साथ जरासन्धने कहा—"ब्राह्मण से युद्ध जान बूझकर कौन करेगा। ब्राह्मणोंका काम तो युद्ध करना नहीं है। उनका तो क्षमा ही अस्त्र है। युद्ध तो सम्मान ऐश्वर्य और राज्यकी इच्छा वाले क्षत्रिय करते रहते हैं।"

भगवान्‌ने कहा—"राजन्! आप हमें क्षत्रिय ही समझें। हम मुट्ठी भर अन्न माँगने वाले ब्राह्मण नहीं हैं।"

चौंककर जरासन्धने कहा—"तुम कौन क्षत्रिय हो भाई। इस पृथिवी पर तो कोई ऐसा क्षत्रिय है नहीं जिसे मैंने जीता न हो, जो मेरे सम्मुख युद्धमें खड़ा हो सके। तुम अपना यथार्थ परिचय तो दो।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"सुनिये राजन्! ये महाराज पांडुके पुत्र भीमसेन है। ये दूसरे इनसे इनके छोटे भाई गांडीव धनुषको धारण करने वाले अर्जुन है।"

जरासन्धने पूछा—"इतनी देरसे जो तुम्हारी कतरनीकी भाँति चिबिर चिबिर जीभ चल रही है ऐसे वाचाल शिरोमणी तुम कौन हो।"

हँसकर भगवान् बोले—"अजी, राजन्! आप मुझे भूल गये क्या? आप मुझे भले ही भूल जायँ, मैं तो आपको कभी भूल नहीं सकता। आप तो मेरे मामाजीके ससुर हैं न? मेरी आपकी तो सत्रह बार लड़ाई हो चुकी है। मैं इनके मामाका पुत्र वासुदेव हूँ। कृष्ण भी मुझे कहते हैं और तुम्हारा पुराना शत्रु हूँ।"

इतना सुनते ही जरासन्ध ठहाका मारकर हँसने लगा।

हँसते हँसते उसने कहा—"धत्तेरे भगोड़े की। कैसा वेष बनाकर आया। मुंह पर जाने क्या पोत लाया है। वाणी भी कैसी बदल ली है। तू कितना भी छिपे, फिर भी तेरी आकृति छिपती नहीं। मैं तभी से सोच रहा था, इसे मैंने कहीं देखा है। ठगिया कहीं का। तुझमें मुझसे लड़नेका साहस है ?"

हँसकर भगवान्‌ने कहा—"साहस न होता, तो तुझ शत्रुके घरमें-तेरे परकोटेको तोड़कर-आते ही क्यों ? हम तीनों में से तुम जिसके साथ चाहो युद्ध कर सकते हो। अब तुमने हमें वचन दे दिया है, तुम मुकर नहीं सकते।"

जरासन्धने हँसकर कहा—"अरे, मुकरनेकी कौनसी बात है भैया ! मैं तो युद्ध करनेके लिये उधार खाये बैठा रहता हूँ। मुझसे कोई युद्ध करने वाला वीर मिले भी तो।"

भगवान्‌ने कहा—"हम तीनों ही तुम्हें चुनौती दे रहे हैं।"

जरासन्धने हँसकर कहा—"तुम निर्बलोंसे लड़कर मैं अपना अपयश कराना नहीं चाहता। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये अपनेसे छोटे पुरुषोंके साथ कभी भी न भिड़े। छोटेको जीत लिया, तब तो कोई प्रशंसा नहीं। हार गये तो बड़ा भारी अपयश होता है। अब तुझ नपुंसक से मैं क्या लड़ूँ। तू तो भगोड़ा है, डरपोक है। तू तो मेरे डरके मारे अपनी जन्मभूमि को छोड़कर समुद्रके बीचमें छिपकर रहता है। तुझमें तो इतना साहस भी नहीं था कि अपनी पैतृक राजधानीमें रहता। तू भीरु और अस्थिर चित्तवाला है। तुझे तो मैंने हरा ही दिया। अब तुझसे तो मैं लड़ नहीं सकता।"

हँसकर भगवान् बोले—"अच्छा, मुझसे मत लड़ो, अर्जुन से लड़ लो। इसे तो तुमने कभी नहीं हराया।"

अवहेलनाके स्वरमें जरासन्धने कहा—"इस छोकरेसे मैं क्या द्वन्द युद्ध करूँगा। इसकी मैंने प्रशंसा सुनी है। तीर [illegible]

यह भले ही अच्छी प्रकार चलाले। लक्ष्यवेधमें यह भले ही निपुण हो किन्तु इसमें मेरे बराबर बल नही है। अवस्थाकी तो कोई बात नहीं, दश पांच वर्षकी छुटाई बड़ाई बराबर ही मानी जाती है किन्तु बल बराबर होनेसे ही जोड़ प्रशंसनीय माना जाता है। इसलिये यह भी मेरी जोड़ीका नहीं है।"

भगवान् बोले—अच्छा तो भीमसेन से ही लड़िये !"

कुछ ठहर ठहर कर जरासन्ध कहने लगा—"हाँ, इसकी तो मैंने प्रशसा सुनी है। सुना गया है इसमे दश सहस्र हाथियों-का बल है। शरीर भी इसका मेरे समान ही हृष्ट पुष्ट है। हाँ, इससे तो मैं लड़ सकता हूँ। हमारी इसकी जोड़ी तो उचित है।"

भगवान्ने कहा—"अच्छी बात है, इन्ही से लड़ो। तुम किसी से लड़नेको तैयार भी तो हो। किसी से लड़ो, हम तुम्हें मारकर तब यहाँसे जायँगे। तुमने बहुतसे राजाओंको बन्दी बना रखा है। राजाओंका अपमान करनेसे तुम वध्य हो।

जरासन्धने कहा—"इसे तो समय बतावेगा कि तुम मुझे मारते हो या तुम मरते हो। अभीसे बड़बड़ानेसे क्या लाभ ? अब अधिक बात बढ़ानेकी आवश्यकता नही। कलसे हमारा और भीमका द्वन्द युद्ध होगा। धर्म पूर्वक लड़ाई होनी चाहिये।"

भगवान्ने कहा—"धर्मात्मा तो तुम ही हो, हम तो काम निकालने वाले हैं। अच्छा आप अपने बन्धु बांधवोंसे मिल भेंट लें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह सुनकर जरासन्ध उठकर चला गया। भगवान् भीमसेन और अर्जुनसे हँस हँसकर बातें

करते रहे। अब जरासन्ध और भीमसेनका जिस प्रकार युद्ध होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

बोले श्री भगवान्–'भीम नृप ! इनकूँ जानों।
दूसर इनके बन्धु वीर अरजुन लघु मानों॥
हे मामाके ससुर ! और का बात बताऊँ ?।
मैं तुमरो हूँ शत्रु कृष्ण कंसारि कहाऊँ॥
नृप हँसि बोल्यो भगोड़े ! द्वन्द युद्ध का करेगो।
इन निरबल छोरनि सहित, बिना मौति तू मरेगो॥

जरासन्ध और भीमसेन का द्वंद युद्ध

(११४६)

ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ ।
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ७२ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

है तू तो अति भीरु हीन बल अरजुन छोटो ।
भीम संग लड़ि लेहुँ तुल्य बल मम सम मोटो ॥
हरि बोले—"अब भूप ! होहि रन देर न लाओ ।
सम्बन्धिनि ढिंग जाइ भेंट अन्तिम करि आओ ॥
जरासन्ध सुनि मुदित मन, गदा युद्ध हित कर लई ।
पुर बाहर रन थल बन्यो, एक भीम हू कूँ दई ॥

द्वन्द युद्ध एक अत्यंत सुन्दर कला है, इसमें करने वालोंको भी आनन्द आता है और दर्शकों का भी मनोरंजन होता है। दो बलवान चाहें तो निहत्थे होकर हाथ पैरों से ही युद्ध करें या लाठी, गदा, पटा आदि के युद्ध करें। इसमें तीसरा बीच में नहीं आ सकता। दो मल्ल ही आपस में लड़ेंगे। मल्ल युद्ध की

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—'राजन् ! इसके अनन्तर जरासन्ध और भीम दोनों ही युद्धोन्मत्त वीर एक सुन्दर समान भूमि पर लड़ने लगे। वे अपनी वज्रके समान कठोर गदाओं से परस्पर में एक दूसरे पर प्रहार करने लगे।"

प्राचीन काल में बहुत प्रथा थी बल का क्षय होने से यह विद्या अब नष्ट प्रायः सी हो गयी। लोगोंको शुद्ध आहार नहीं मिलता शरीर में पहिले जैसा बल उत्साह नही। फिर लड़ेंगे क्या?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भीम के साथ जरासन्ध का द्वन्द युद्ध होगा, यह बात निश्चित होगयी। जरासन्ध ने इन तीनों के साथ अत्यंत ही मित्रता पूर्ण व्यवहार किया। उसने अपने मंत्रियों से कहा—"आज ही नगर के बाहर सुन्दर युद्ध स्थली बनवा दो। उसमें ऐसा प्रबन्ध करो कि सभी वर्ण के लोग हमारे और भीमसेन के युद्ध को सुख पूर्वक देख सकें।"

मंत्रियों ने राजा की आज्ञा का तुरन्त पालन किया। एक सम भूमि भाग में युद्ध स्थली बनायी गयी। उसके चारों। ओर बाड़ा बना कर दर्शकों को बैठने का प्रबन्ध किया गया। नियत समय पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, भीम और अर्जुन के साथ रथ में बैठ कर जरासन्ध युद्ध स्थली पर पहुँचा। उसने प्रथम युद्ध-स्थली का निरीक्षण किया, फिर वह अपने पुरोहित के समीप गया। पुरोहित ने उसका स्वस्त्ययन किया, मूर्छा दूर करनेवाली औषधियाँ सुँघाई तथा और भी मङ्गल कृत्य किये। इधर भगवान् ने भी भीमसेन का स्वस्त्ययन किया। फिर हँसते हुए जरासन्ध ने दो सुन्दर सुन्दर गदायें लाकर रखी और बोला—"भीम! भाई तुम इन दो गदाओं में एक छाँटलो! पीछे तुम कहो हमारे साथ पक्षपात किया।"

हँसकर भीमसेन ने कहा—"नहीं, राजन्! हमें आपके ऊपर विश्वास है। आप हमें कोई भी एक गदा दे दें।"

यह सुनकर जरासन्ध ने कहा—"ये दोनों गदायें एक सी ही हैं। लीजिये, इसे आप लें, इसे मैं लिये लेता हूँ। यह बड़े सौभाग्य की बात है, कि आज मेरा तुम्हारा युद्ध होगा। मेरी भी तुम से बहुत दिनों से युद्ध करने की इच्छा थी।" यह कहकर

उसने एक गदा भीमसेनको दे दी, एक स्वयं लेली। अब उसने अपने बहुमूल्य वस्त्र उतार दिये थे। माथेका किरीट मुकुट भी उतार दिया था, लँगोट कसकर ऊपर से जाँघिया पहिन कर वह सिंहके समान युद्धस्थली में आ गया। इधर भीमसेन भी लँगोट कस कर और अर्जुन तथा श्रीकृष्ण से मिल भेंट कर उसके सामने आ गये। प्रथम दोनों ने एक दूसरे के पैर छुए हाथ मिलाये। अखाड़े की मिट्टी माथे पर लगायी और फिर दोनों ही भिड़ गये दोनों के ही हृदय उत्साह से भरे हुए थे। दोनों ही परम बली थे, दोनो ही अपनी वज्र सदृश कठोर गदाओं से परस्पर मे प्रहार कररहे थे। दोनों ही दायें बायें घूम घूम कर भाँति भाँतिके पैंतरे बदल रहे थे। दोनों ही लँगोट बाँधे लाल लाल जाँघियाँ पहिने दो नटों के समान युद्ध के दाव पेच दिखा रहे थे। दोनों की ही दायें सुदृढ़ थीं। दोनों ही एक दूसरे को आहत करने को भूल से गदा चलाते। दोनो ही अपने अपने प्रति द्वन्दी के प्रहारो को रोकने का पूरा प्रबन्ध करते। दोनों ही अपने शत्रु को परास्त करने के लिये दाव पेच चलाते। दोनों की ही गदायें जब परस्पर में लड़ जाती तो चट चट शब्द होने लगता। वे दोनों ही मदोन्मत्त हाथियों के समान सिंहों के समान तथा साँड़ोके समान लड़ रहे थे। दोनो ही जब क्रोध मे भरकर दाँत कट कटाते, तो ऐसा शब्द होता मानों बिजली तड़तड़ा रही हो। वे निर्दय होकर एक दूसरे के अङ्गों मे गदा मारते। दोनों के ही शरीर वज्र के समान थे। वे परस्पर में कन्धा, कमर, चरण, हाथ, जङ्घ तथा भुजाओं के पुट्ठों में प्रहार करते। पत्थर पर लोहा मारने से जैसे चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार आपसमे गदाओं के टकराने से तथा अङ्गो मे आघात करने से उनमें से चिनगारियाँ निकल रही थीं लड़ते लड़ते गदाओं के उसी प्रकार टुकड़े टुकड़े हो गये, जिस प्रकार दो साड़ों के लड़ने से उनके खुरों से छोटे छोटे पेड़ों

के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं।

गदाओंके चूर्ण हो जाने पर अब वे दोनों बाहुयुद्ध करने लगे। मल्लयुद्ध में जरासन्ध बड़ा निपुण था, भीमसेन भी कुछ कम नहीं थे। दोनों एक दूसरे को ललकारने लगे, ताल ठोकने लगे उनके ताल ठोकने के शब्द से आकाशमंडल भर गया, जब वे एक दूसरे पर उछल कर प्रहार करते, तब पृथिवी डगमगाने लगती। वे परस्पर मे एक दूसरे से भिड़ जाते,कभी वे आपस में कसकर एक दूसरे को पकड़ लेते। मुट्ठी पकड़ लेना, कांखों में भुजा डाल कर बांध लेना, एक दूसरे को बाहुपाश मे जकड़ लेना। अंटे बांधकर नीचे डाल लेना। ऊपर चढ़कर रगड़ देना। इस प्रकार के वे अनेक दाव पेच चलाने लगे। दोनों ही समर विजयी थे, शिक्षित थे, मल्लविद्या में निष्णात थे। तनिक देर में वे पर्वताकार हो जाते आवश्यकता पड़ने पर वे अपने शरीर को सिकोड़ लेते। उनके दावपेचों और युद्ध चातुरी को देखकर दर्शक अत्यंत ही प्रसन्न होते और साधु साधु कह कह कर तालियां बजाते। एक दूसरे को उत्साहित करते। श्रीकृष्ण बार बार कहते—"हां भैया! भीम! देखो यह राजा जीवित न रहने पावे! धन्य है, यह तुमने बड़ा सुन्दर दाव चलाया।" इन बातों से भीमसेन का उत्साह और भी बढ़ता। वे और भी पूरी शक्ति लगाकर लड़ते।

दोनों ही युद्ध के लिये उत्सुक थे, एक दूसरे को पराजित करने का प्रयत्न कर रहे थे। शिक्षा, बल और उत्साह में वे समान ही थे। अपने प्रतिद्वन्दीको परास्त करनेको वे कटिबद्ध थे परन्तु कोई किसीको पराजित न कर सका। भगवान् [illegible] को प्रस्थान कर गये। भगवान ने कहा—"भाई! अब [illegible] हो गया युद्ध बन्द कर दो।" यह सुनकर दोनों [illegible] मिले उस दिन का युद्ध बन्द हुआ।

फिर सब साथ [illegible] दुर्योधन को [illegible]

राजमहल में आये। सबने परस्पर में मित्रभाव से एक दूसरे की कुशल पूछी। सगे सम्बन्धियों के समान साथ साथ बैठकर भोजन किया और सुख पूर्वक सो गये। प्रातःकाल नित्य कर्मसे निवृत्त होकर फिर युद्ध स्थली में आ गये और फिर द्वन्द युद्ध करने लगे। इस प्रकार वे दोनों सत्ताईस दिनों तक लड़ते रहे। कोई किसी को पराजित न कर सका। दिन भर बिना कुछ खाये पीये शत्रु भाव से युद्ध करते। रात्रि के समय मित्र भाव से रहते। हसते खेलते और साथ ही खाते पीते।

एक दिन रात्रि में भीमसेन ने निराशा के स्वर में श्रीकृष्ण-चन्द्र से कहा—"माधव! मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि मैं इसे रण में जीत न सकूँगा। यह राजा बड़ा बली है। मेरा तो उत्साह ढीला पड़ गया।"

यह सुनकर भगवान् बडे हँसे और भीमसेन को चिढ़ाते हुए बोले—"अरे भीमसेन! हमने तो सुना था, तुम बड़े बली हो, तुम तो भोजन भट्ट ही निकले। जो लोग पेटू होते हैं, उनसे कुछ काम नही होता। खाते तो तुम पाँच आदमियों के बराबर हो और लड़ने में कायरता दिखाते हो?"

लज्जित होकर भीमसेनने कहा—"वासुदेव! क्या बताऊँ, मुझे तो इस मगधेश्वर के बल की ही थाह नही मिलती। न जाने इसमें कितना बल है। यह कैसे मारा जायगा?"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे, भैया! बल पूर्वक इसे कोई भी नही जीत सकता। यह तो युक्ति से ही मारा जा सकता है।"

भीमसेन ने कहा—"यदुनन्दन! तुम तो युक्तियों के सागर ही हो, इसके मारने की युक्ति आप ही बताइये। उसी युक्ति से मैं इसे मार डालूँ।"

भगवान् बोले—"पहिले तुम इसकी उत्पत्ति की कथा सुनलो, तब फिर मैं तुम्हें इसे मारने की युक्ति बताऊँगा। इस जरा—

सन्ध के पिता बृहद्रथ बडे ही धर्मात्मा तथा सत्यवादी राजा थे। वे इस मगध देश में दूसरे इन्द्र के समान सुशोभित होते थे। महाराज काशी नरेश की दो जुडंली कन्यायें थी। वे माता के उदर से साथ ही उत्पन्न हुई थी। सुन्दरता में दोनों ही अनुपम थी। महाराज बृहद्रथ ने उनके साथ यह कहकर विवाह किया, कि मैं इन दोनों के साथ एक सा ही व्यवहार करूँगा, किसी भी प्रकार का भेद भाव न रखूँगा।" काशीराज यह सुनकर प्रसन्न हुए और उन्होंने सहर्ष अपनी दोनों प्यारी कन्याओ का विवाह राजा के साथ कर दिया। मगधेश्वर ने अपनी प्रतिज्ञा को जीवन भर निभाया। उन्होंने उन दोनों में कभी किसी प्रकार का भेद भाव नही किया।

उन दोनों रानियो के साथ गृहस्थ सुख भोगते भोगते राजा की युवावस्था समाप्त हो गयी, वे वृद्ध हो गये, किन्तु उन दोनों में से किसी के भी सतान नहीं हुई। इससे राजा रानी दुखी रहते थे। उन्हें सभी ससार सूना सूना दिखाई देता था।

एक दिन राजा ने सुना कि "महर्षि कक्षीवान गौतम के सुत परम तपस्वी चंड कौशिक मुनि मेरी नगरी के बाहर आये हुए हैं।" यह सुनते ही राजा मंत्री पुरोहित तथा अन्यान्य सचिवो के सहित पूजा की सामग्री लेकर मुनि के समीप गये। वहाँ जाकर राजा ने देखा मुनिवर एक आम्र के पेड़ के नीचे आनन्द पूर्वक विराजमान् है। राजा ने जाकर मुनि के चरणो मे साष्टाङ्ग प्रणाम की, विधिवत् उनकी पूजा करके कुशल पूछी। मुनिने भी राजा की पूजा को विधिवत् स्वीकार करके उनकी कुशल पूछी और कोई वर माँगने को कहा।

राजा ने खिन्न मन से कहा—"मुनिवर! अब मैं वर लेकर क्या करूँगा। अब तो मै बूढ़ा हो चला हूँ मेरे कोई सन्तान भी

नहीं। अतः राज्य पाट छोड़कर मैं वन में जाने का विचार कर रहा हूँ।"

यह सुनकर मुनि को राजा की दयनीय दशा पर दया आ गयी। उनकी इच्छा राजा को पुत्र देने को हुई। उनकी इच्छा होते ही जिस आम के पेड़ के नीचे वे बैठे थे उस पर के एक आम का फल अपने आप ही टूट कर उनकी गोदी में गिर गया। मुनि ने इसे शुभ शकुन समझा। उसी फल को उन्होंने मंत्रों द्वारा अभिमन्त्रित करके राजा को दिया और कह दिया—"इसे अपनी रानी को देना इसे खाने से आपके अवश्य पुत्र होगा।" मुनि को प्रणाम करके राजा महलों में आये। उन्होंने दोनों रानियों को फल दिया। दोनों ने आधा आधा काट कर उस फल को खा लिया। फल के खाने से दोनों एक साथ गर्भवती हुईं। दशवें महीने में दोनों के गर्भ से एक साथ ही आधा आधा बालक हुआ, किन्तु वे दोनों आधे आधे अङ्ग जीवित थे। रानियों ने सोचा ये आधे मांस के लोथड़े किस काम के हैं। दासी से उन्हें फेंक आने को कहा। दासी उन्हें एक पात्र में रख-कर वस्त्र से ढककर बाहर ले गयी। वहाँ एक जरा राक्षसी मानवी स्त्री का रूप रखकर घूम रही थी। उसने उन दोनों भागों को एक में जोड़ दिया। जोड़ते ही वह बालक रोने लगा। वे हिस्से अपने आप जुड़ गये। बालक का रुदन सुनकर राजा रानी दास दासी तथा अन्यान्य अन्तःपुर के लोग दौड़े आये। जीवित बालक को देखकर राजा को बड़ा विस्मय तथा हर्ष हुआ। उन्होंने उस 'जरा' राक्षसी के नाम पर ही बालक नाम 'जरासन्ध' रखा। जब वह बड़ा हुआ तो महाराज बृहद्रथ उसे राज्य देकर तपस्या करने वन में चले।"

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भीमसेन से कह रहे हैं—"हे वृको-दर! यह वही जरा राक्षसी द्वारा जोड़ा हुआ जरासन्ध है। टूटी

फूटी वस्तु को कितना भी जोड़ दिया जाय, जोड़ के स्थान पर वह निर्बल हो ही जाती है। इस राजा के अन्य अङ्ग तो सभी सुदृढ़ हैं, वे तोड़े नहीं जा सकते किन्तु बीच से यह जुड़ा हुआ है। तुम इसकी टाँग पकड़ कर चीर दो तो बीच मे से इसके फिर दो टुकड़े हो जायँगे। इसके अतिरिक्त उसके मरने का अन्य कोई उपाय नहीं है।"

भीमसेन यह सुनकर अत्यंत ही प्रसन्न हुए। वे बोले—"यदुनन्दन! अब आप कोई चिन्ता न करें, अब आप जरासन्ध को मृतक ही समझें। कल मैं उसे इसी उपाय से अवश्य मार दूँगा। उसके बीच से पुनः दो टुकड़े कर दूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार निश्चय करके सब लोग सुख पूर्वक सो गये। प्रातःकाल नित्य कर्म से निवृत होकर फिर नियमानुसार लड़ने गये। अब जिस प्रकार भीमसेन जरासन्ध को मारेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

भिड़ैं मेष तैं मेष सांड़ तैं सांड़ लड़ैं ज्यौं।
द्वै द्विप ह्वै मदमत्त लड़ैवर वीर उभय त्यौं॥
दाव पेच करि उभय प्रकरषन अरु अनुकरषन।
आकरषन करि लड़ैं करैं पुनि प्रबल विकरषन॥
यों सत्ताइस दिन लड़े, कहे भीम हे कृपानिधि।
हौं हताश यह रिपु प्रबल, जीत्यो जावे कवन विधि॥

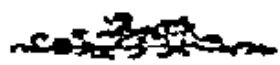

जरासन्ध वध

(११४७)

एकं पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः।
गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७२ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

कहै कृष्ण यह जुरचो मध्य तें जाकूँ फारौ।
पैर पकरिकें चीरि बीच तें रिपुकूँ डारौ॥
गये लड़न पुनि भीम कृष्ण की बात भुलाई।
छलियाने तृन फारि भीम कूँ सुरति कराई॥
तुरत भीमबल भीमने, पकारि शत्रु को पग लयो।
एक दबायो पग पकरि, एक करनि तें कसि लयो॥

प्राणी मात्र में कुछ न कुछ दुर्बलता होती ही है। किसी की दुर्बलता को अन्य कोई चाहे न भी जाने. किन्तु भगवान् तो सब

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भीमसेन ने जरासन्ध के एक पैर को अपने पैर से दबाकर दूसरे को दोनों हाथों से पकड़ कर उसे मलद्वार के ओर से बीच से उसी प्रकार चीर डाला जिस प्रकार महागजराज वृक्ष की शाखा को चीर डालता है।"

की दुर्बलता जानते है, उनसे कोई कुछ छिपा नहीं सकता। भगवान् जिसकी दुर्बलता को अपने सम्मुख निकलवा देते हैं, फिर वह संसार बन्धन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। जन्म मरण, जरा व्याधि आदि ये सब तो दुर्बल संस्कारों के ही परिणाम हैं। जिनके संस्कार प्रबल हो जाते हैं, वे तो सब झंझटों से छूट ही जाते हैं। भगवान् जिसका भव बन्धन छुड़ाना चाहते हैं, स्वयं उसके घर जाकर उसका बन्धन छुड़ा देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् से जरासन्ध के जन्म की कथा सुनकर भीमसेन सो गये। प्रातःकाल उठकर नित्य नियम के अनुसार दोनों में फिर युद्ध होने लगा। आज जरासन्ध ने अपने पूरे पैंतरे दिखाये उसने भीमसेन को पराजित करने की बहुत चेष्टा की, किन्तु वे उसके सब दाव पेचों को काटते गये, उस हड़बड़ाहट में वे भगवान् के बताये हुए उपाय को भूल गये, सायंकाल होने को आया, भगवान् समझ गये कि यह भूल गया है। इसलिये वही से उन्होंने ललकार कर कहा—"भीम ! अरे, तुझ मे जो दश सहस्र हाथियों का बल है, वायु के समान वेग है वह किस काम आवेगा। तू ऐसा ढीला क्यों हो रहा है। देख, वीरता के साथ लड़।" भगवान् ने भीमसेन का ध्यान आकर्षित करने को ये बातें कही। मुख से तो ऐसी बनावटी वीरता की बातें बोलते जाते थे और हाथ से एक वृक्ष की शाखा को चीरते जीते थे।

शाखा को चीरते देखकर महाबली भीमसेन को रात्रिवाली बात याद आ गयी। तुरन्त उन्होंने सम्पूर्ण शक्ति लगाकर जरासन्ध को उठा लिया और चारों ओर घुमाकर उसे पृथिवी पर धड़ाम से दे मारा। उसके पड़ते ही पृथिवी हिलने लगी। सम्हल कर वह ज्यों ही उठना चाहता था, त्यों ही कूदकर प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ पांडुनन्दन भीम ने उसके एक पैर को अपने दो

पैरों से दृढ़ता के साथ दबा लिया और दूसरे पैर को पकड़कर उन्होंने उसे बीच में से उसी प्रकार फाड़ दिया जिस प्रकार वस्त्र विक्रेता वस्त्र को फाड़ देता है। चटाई बनाने वाले सरपत को फाड़ देते है। अथवा ऊर्वारुक (खरबूजे) को लोग बीच से फाड़ देते हैं। फटते समय उसने ऐसा भयंकर शब्द किया, कि वह शब्द दसों दिशाओं में भर गया। जिस प्रकार वह आधा आधा उत्पन्न हुआ था उसी प्रकार उसकी दो फाँके हो गयीं। सबने देखा मगधेश्वर के सुन्दर सुदृढ शरीर के एक एक चरण, जङ्घा, कोश, पीठ, स्तन, कन्धा, भुजा, नेत्र, कान, नथुने, दांत, ओठ, भृकुटि तथा मस्तक सबके दो बीच से दो भाग हो गये।

जरासन्ध के मरते ही वहाँ बड़ा हा हा कार मच गया। कोई कहता था–'बुरा हुआ।' कोई कहता था–'अच्छा हुआ।' मगधेश्वर के शरीर के दो भाग इधर उधर पड़े हुए थे। दौड़कर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने और अर्जुन ने भीमसेन का आलिङ्गन किया। हृदय से चिपटा कर उनके बल की भूरि भूरि प्रशंसा की। जरासन्ध के मरने पर उसके पुत्र ने आकर भगवान् वासुदेव के रोते रोते चरण पकड़े। भगवान्ने उसे उठाकर छाती से लगाया और कहा–"बेटा! देखो, शोक करने की कोई बात नहीं है तुम्हारे पिता ने सहस्रों राजाओं को बन्दी बना रखा था। उन सबके हितार्थ भीम ने इन्हे मारा है। अब तुम से तो हमारा कोई वैर-भाव नहीं। तुम्हारी हम सब प्रकार से रक्षा करेंगे। तुम्हें जिस वस्तु की आवश्यकता होगी उसकी पूर्ति करेंगे। अब तुम विधिवत् मगध के राज्य सिंहासन पर अपना अभिषेक कराओ और अपने मृतक पिता की अन्त्येष्टि आदि कर्मों को कराओ।"

सहदेव ने कहा—"प्रभो! आप सर्व समर्थ है, आप जिसे चाहें राज्य सिंहासन पर बिठावें जब मेरे पिता ही न रहे तब मैं राज्य लेकर क्या करूँगा।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! सबके पिता सदा थोड़े ही जीवित रहते हैं। जीवन मरण तो लगा ही रहता है। कौन किसे मार सकता है। सबकी मृत्यु निश्चित होती है, जिस की जिसके होथों मृत्यु लिखी रहती है, उसकी उसके हाथों अवश्य ही हो जाती है। तुम शोक को छोड़ो और आगे का कार्य करो।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! इस प्रकार अमेयात्मा भूत-भावन् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव को भली प्रकार समझा बुझाकर तथा सान्त्वना देकर मगध देश के राज्य पर उसका अभिषेक कराया। तदनन्तर उसने अपने मृतक पिता के अन्त्येष्टि संस्कार कराये।

जरासंध को मारकर अब भगवान् को अपने मुख्य कार्य की स्मृति आयी। भगवान् तो जरासंध के कारावास में बन्दी बने राजाओं की मुक्ति के ही निमित्त पधारे थे। आते ही भगवान् ने जरासन्ध से कहा था—"तू बन्द राजाओं को छोड़ दे, हम तुझ से युद्ध न करेंगे।" उसने गर्व के साथ कह दिया—"मैं डर कर अथवा किसी के कहने से बन्दी राजाओं को नहीं छोड़ सकता। युद्ध करने को मैं सर्वथा प्रस्तुत हूँ। मैं तुम तीनों से एक साथ युद्ध कर सकता हूँ या तुम सेना सजाकर आ जाओ तो उसमें भी युद्ध कर सकता हूँ।" जब उसने ऐसा गर्व पूर्ण उत्तर दिया और किसी भी प्रकार राजाओं को छोड़ने को उद्यत न हुआ, तब भगवान् ने उसे भीमसेन के द्वारा मरवा दिया। उसे मारकर वे बीस सहस्र आठ सौ राजाओं को छुड़ाने के लिये जरासन्ध के ही सुन्दर पताकायुक्त रथ पर चढ़ कर चले। अब वहाँ जाकर भगवान् जैसे उनकी मुक्ति करेंगे। वह कथा प्रसङ्ग मैं आगे कहूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

दयो बीच तै फारि फरं टुकड़ा द्वै कीये।
तुरत दौरिकें श्याम पकरि कुन्ती सुत लीये॥
लीये हिये लगाइ बधाई भाई दीन्ही।
कहें कृतारथ कोखि मातु कुन्ती की कीन्ही॥
जरासन्धसुत आइकें, प्रभु पैरनि महँ परि गयो।
करयो प्यार सन्तोष दै, राजतिलक ताको कियो॥

बन्दी राजाओं को भगवान् के दर्शन

(११४७)

कृष्णसन्दर्शनाह्लाद ध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीभिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥

(श्रीभा० १० स्क० ७३ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

मगधेश्वर सहदेव करयो पितु काज कराये ।
चढ़ि रथ कारावास माँहिं बन्दिनि ढिंग आये ॥
बन्दी भूपति दुखित सतत प्रभु पन्थ निहारें ।
कब भयभञ्जन श्याम आइकें हमहिँ उबारें ॥
तब हीं निरखे भयहरन, कमलनयन प्रभु मनहरत ।
कमल सरिस पग, कर वदन, शीश मुकुट झिलिमिलि करत ॥

जो भगवान् की कृपा पर भरोसा रखकर उनकी निरन्तर प्रतीक्षा करते रहते है, उनको भगवान् अवश्य दर्शन देते है। यह संभव नहीं भगवान् अपने भक्तोंकी सुधि न लें। भगवान् के यहाँ देर भले ही हो जाय अंधेर नहीं होता। देर होने में भी हमारी शिथिलता है। लगन और विश्वासकी कमी है। प्रतीक्षा

❀ शुकदेवजी कहते है—"राजन् ! जरासन्ध के कारावास में बन्दी बने उन राजाओं ने जिनका कि भगवद्दर्शन के आह्लाद से कारावासका सम्पूर्ण क्लेश नष्ट हो गया है, दोनों हाथोंकी अञ्जली बांधकर भगवान् हृषीकेश की स्तुति की।"

कराके भगवान् उस कमीको पूरी कर लेते है। तदनंतर वे दर्शन देते हैं। भगवान् के दर्शन होनेपर फिर बन्धन नही रहता। जब तक प्रारब्ध कर्म हैं, उनका अभिमान शून्य होकर भोग करते हैं, भोगशेष होने पर परम पदकी प्राप्ति होनी है। भगवान् का मन से सतत चिन्तन होता रहे। वाणी से उनकी स्तुति होती रहे और काया उनके कैंकर्य में लगी रहे तो इससे बढकर सुख क्या हो सकता है। फिर चाहें नरक में या स्वर्ग में कहीं भी क्यों न रहा जाय सुख ही सुख है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जरासन्धको मरवाकर तथा उसके पुत्र को राजतिलक देकर भगवान् उन बन्दी राजाओ के समीप गये, जिनको जरासन्धने अपने कारावासमें बंद कर रखा था और जो निरन्तर प्रभुका चिन्तन करते रहते थे। वे सबके सब पहाड़ों से घिरे गिरिव्रज नामक, दुर्ग में बंद थे। सहदेव से भगवान् ने कहा—"दुर्ग का द्वार खोलो।"

भगवान् की आज्ञा पाकर सहदेव ने तुरन्त द्वार खोल दिया। भगवान् ने भीतर जाकर देखा कि सभी राजा मैले कुचैले वस्त्र पहिने हुए हैं। कहां तो वे अपने महलों में छप्पन प्रकार के व्यंजन खाते थे, कहां यहां पर आधे पेट सूखा भात अथवा सत्तू मिलते थे। इस कारण भूख से उनका पेट पीठ में सट गया था। उनका मुख मलिन पड़ गया था कारवास के कठिन क्लेशों के कारण वे कृशित तथा दुर्बल हो रहे थे। सहसा उन्होंने अपने सम्मुख नवजलधर की आभा के सदृश अपने तेज से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले श्यामसुन्दर को निहारा। उन्होंने इससे पूर्व इतने सुन्दर पुरुष के कभी भी दर्शन नही किये थे।

उन्होंने देखा एक अद्भुत अलौकिक पुरुष मन्द मन्द मुस्कराते हुए कृपा भरी दृष्टि से निहारते हुए उन्ही की ओर बढ़े चले आ रहे हैं। उनके श्रीअङ्गका वर्णन नूतन जल भरे मेघ के

समान है। सुन्दर चमकीला पीताम्बर पहिने हुए हैं। वक्षःस्थल पर अति मनोहर श्रीवत्सका चिन्ह शोभा दे रहा है। मृणाल के समान सुन्दर चढ़ाव उतार की उनके चार भुजायें हैं। एक में सुंदर शुभ्रशंख धारण किए हुए हैं,दूसरे में गदा लिए हुए उसे आगे पीछे घुमा रहे हैं। तीसरे में सहस्र आराओं वाला अति दुर्धर्ष चक्र लिये हुए हैं। चौथे हाथमें अर्धस्फुटित क्रीड़ा कमल है, जिसे हिलाहिला कर मानों सभी को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। उनकी ग्रीवा शंखके समान है। शारदीय पूर्ण चन्द्र के सदृश परम आह्लादकर उनका मधुर मनोहर मुखारविन्द है। कमल-कोशके सदृश उनके बड़े बड़े विशाल विकसित अरुण युगल नयन हैं। कानों में मनोहर मकराकृत कुंडल हिलहिल कर झिलमिल झिलमिल कर रहे हैं। माथे पर मनोहर किरीट मुकुट दम दम करके दमक रहा है। हृदय पर मुक्ताओं का हार चमचम करके चमक रहा है। कटिमे करधनी अत्यंत सुशोभित हो रही है। करोंमें कमनीय कनक के केयूर अपनी कान्ति छिटका रहे हैं। कंठ में कोस्तुभमणि अपनी अनुपम आभा को बखेर रही है। पंचरंगी वन माला घन में इन्द्रधनुष के समान शोभा पा रही है देखते ही सबके सब समझ गये, कि ये सच्चिदानन्द सर्वेश्वर श्री-कृष्णचन्द्रजी यही हैं। अब क्या था, उनके हृदय में प्रेम उमड़ने लगा।

सूतजी कह रहे हैं—'मुनियो! मनमें जिसके प्रति विशुद्ध हार्दिक प्रेम हो, यदि वह सहसा सम्मुख आजाय, उस समय हृदय की कैसी दशा होती है, वह वाणी द्वारा किसी भी उपाय से वर्णन नहीं की जा सकती। चित्त चाहता है, दौड़ कर इन्हें हृदय से सटालें। नेत्र चाहते है इन्हें पी जाँय, जिह्वा चाहती है इन रस के साराति को चाट जायँ। नासिका चाहती है, इन की दिव्य गन्ध को अनवरत सूँघते ही रहें, भुजायें चाहती हैं,

इन्हें निरन्तर बाहु पाशमें कसे ही रहें, कभी छोड़े नहीं। वाणी चाहती है, निरन्तर इनके गुणों का ही गान करती रहूँ। मन चाहता है, इनकी मनमोहिनी मूरतिका ध्यानही करते रहें। यही दशा उन बन्दी राजाओं की हुई। उनका हृदय भर आया। वे भगवद्दर्शनों से आत्मविस्मृत हो गये। इस बातको वे सर्वथा भूल ही गये कि हम बन्दी है,उन्हे इतना अवर्णनीय सुख हुआ,कि उसका अनुमान भगवद् विमुख पुरुष कभी लगाही नही सकते। उन्होंने अनुभव किया, हमारे समस्त क्लेश नष्ट हो गये। वे दौड़कर विह्वलहोकर प्रभुके पाद पद्मों में पड़ गये। कुछ देरमें शरीरकी सुधि होनेपर वे सब उठकर खड़े हुए और गद् गद् वाणीसे प्रभुकी स्तुति करने लगे।

उनमेंसे एक राजा बोला–"प्रभो ? आप शरणागतभय भञ्जन हारी हैं आप अज अविनाशीहैं। हे देव देवेश्वर आपके पाद पद्मोंमें प्रणाम है। हम आपको सिरसे प्रणाम करते हैं।" उन राजा के विनय सुनकर भगवान् आगे बढ़े वहाँ भी राजा खड़े थे। बातकी बातमे यह बात पूरे कारावासमें फैल गयी थी। उन्होंने भी भगवान्को देखकर विनय की—"हे देव ! हम अब इस संसारकी अनित्यता समझ कर इससे उदासीन होकर आपकी शरणमें आये हैं। आप शरणागत प्रति पालक हो। सम्पूर्ण संसारके एक रक्षक हो हमारी भी रक्षा कीजिये।"

भगवान् ने कहा—"अरे,भाई ! राजा होकर तुम लोगों को बड़ा कष्ट हुआ,इस जरासन्धने आपको बहुत दुःख दिया।"

इसपर कुछ राजाओंने कहा–"नहीं भगवन् ! हम जरासन्ध को दोषी नहीं ठहराते। आप जिसपर अनुग्रह करते हैं,उनके धन ऐश्वर्य को नष्ट कर देते हैं। धन और ऐश्वर्य के मदमें मनुष्य बड़े बड़े अनर्थ कर डालता है। जिसको किसी भी प्रकार का मद है उसे आप मदन मोहन को प्राप्ती हो ही कैसे सकती है। आपका तो नामही

मद हारी है। आपने जरासन्ध से पराजित कराके हमारा मद हर लिया। इसलिये इस दुःख को तो हम आपकी अनुकम्पा ही मानते हैं। राजाओं के हृदय में दीनता, विनय, नही होती। वे तो आपकी माया से मोहित होने के कारण इस अनित्य, क्षणभंगुर चंचल द्रव्य को ही सब कुछ समझते रहते है। उन्हें ऐसा मिथ्याभिनिवेश हो जाता है, कि यह धन नित्य है और सदा मेरे पास इसी प्रकार बना रहेगा। जैसे दूरसे मरूदेश की बालू जलके समान प्रतीत होती है, अज्ञानीपुरुष उस मृगतृष्णा को जल समझकर उसकी ओर दौड़ता है, उसी प्रकार मूढ़जन इस विकार मयी माया को सत्य मानकर उसके चाक चिक्यमें फँस जाते हैं। आपके दर्शनों से हम कृतार्थ हो गये हम आपके पाद पद्मों में प्रणाम करते है।"

भगवान् और आगे बढ़े। हाथ जोड़े हुए मलिन वसन पहिने बहुत से बूढ़े बूढे राजा खड़े थे। भगवान् उनकी दयनीय दशा देखकर दुखी हुए और बोले—"देखो, काल की कैसी कुटिलगति है। ये राजा लोग पहिले लाखों मनुष्योपर शासन करते थे। आज ये स्वय भूख से व्याकुल हो रहे है। दूसरे के बन्दी बने दिन काट रहे है।"

इस पर एक बूढ़ा सा राजा बोला—महाराज! मनुष्य जैसा करता है वैसा भरता है। पहिले हम लोग राजलक्ष्मी के मद में ऐसे मदोन्मत्त हो गये थे, कि अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। वह राजा हम से बड़ा कैसे हो सकता है। उसका वैभव हमसे अधिक कैसे बढ़ गया, इस प्रकार ईर्ष्या द्वेष के वशीभूत होकर हम परस्पर में एक दूसरे को जीतने की इच्छा से युद्ध किया करते थे। अपने साम्राज्य को बढ़ाने के लोभ से काल स्वरूप आप को भूल ही गये थे। प्राणी जब उत्पन्न होता है उसके साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है और

सदा उसके साथ ही साथ रहती है। हमने उसे मृत्यु के भय को भुला दिया था और परस्पर में लड़ लड़कर निर्दयता पूर्वक

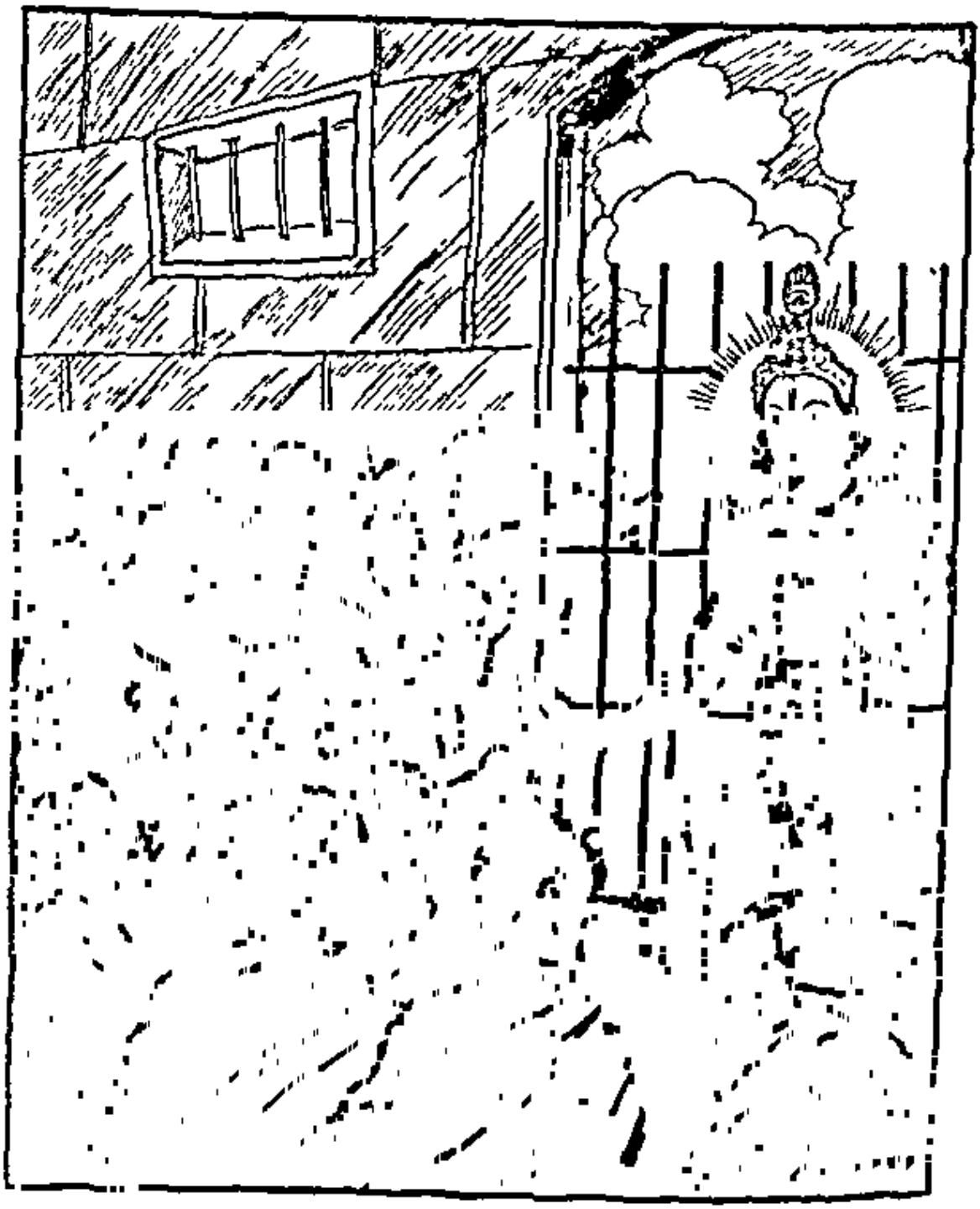

प्रजा के लोगों का संहार करते रहते थे। आपने जरासन्ध से हमें श्री हीन कराके हमारे गर्व का नाश करा दिया। अब हम दीन

होकर आपके ही चरणारविन्दो का निरन्तर चिन्तन करते रहते है। आपने तो विपत्ति देकर हमें सचेत कर दिया। अब हम समझ गये, कि ये राज्य सुख अनित्य हैं, राजकी बात तो पृथक् रही, निरन्तर क्षीण होने वाला अनन्त रोगों का घर, मलमूत्र से पूर्ण आधि-व्याधि की क्रीड़ा भूमि यह शरीर ही नाशवान् है इसका ही पता नही कब समाप्त हो जाय, तो फिर इससे भोगे जाने वाले मिथ्या भोगों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। इसी प्रकार मर कर स्वर्ग में अमृत मिलेगा, अप्सराओं के साथ विमानों पर घूमेंगे, नन्दन कानन में विहार करेंगे, ये श्रुत मधुर बाते भी हमे अब अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती। अब तो हमें एक मात्र आपके चरणों के निरन्तर चिन्तन की अभिलाषा है।"

भगवान् ने कहा—"देखो, अब तुम जाकर प्रजा का धर्म पूर्वक पालन करना। सबके साथ न्याय का बर्ताव करना। कोषाध्यक्ष सेनाध्यक्ष तथा मत्री सचिवों को सन्तुष्ट रखना।"

राजाओं ने कहा—"प्रभो! यह सब तो हम करते ही रहे। अब हमें इस व्यावहारिक नीति की आवश्यकता नहीं। अब तो हमें ऐसा सरल, सुगम साधन बतावें जिस से हम प्रारब्ध कर्मो के वशीभूत होकर शूकर कूकर किसी भी योनि में चले जायँ, स्वर्ग नरक तथा पाताल आदि किसी लोक में जन्म लें आपके चरणारविन्दों की स्मृति निरन्तर बनी रहे।"

यह सुनकर सभी ने एक साथ एक स्वर में मिलकर कहा—"आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र के पाद पद्मों में प्रणाम है, भगवान् वासुदेव के लिये नमस्कार है। समस्त पापों के हरण करने वाले भगवान् हरि की हम शरण है। परब्रह्म परमात्म स्वरूप प्रभु को हमारा अभिवादन है। शरणागत प्रतिपालक प्रणतों के क्लेश

नाशक प्रभु के हम प्रपन्न हैं। गोलोक विहारी गोविन्द के लिये वार वार नमस्कार है।"

सूत जी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार जब जरासन्ध के कारावास से मुक्त हुए राजाओं ने अति दीनता पूर्ण वाणी से उनकी विनय की, तब भव भय हारी भगवान् ने उन पर कृपा की। उन्हें बन्धन से मुक्त करते हुए जो उपदेश दिया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा आप सब समाहित चित्त से इस प्रसङ्ग को श्रवण करें।"

छप्पय

हरि दरशन तें मोद भयो मन प्रमुदित अतिशय।
करि इस्तुति वहु भाँति करें सब मिलिकें जय जय॥
शरनागत प्रतिपाल कृपा भूपनि पै कीन्ही।
करि सबको सम्मान सुखद शिक्षा शुभ दीन्ही॥
जाओ निज निज नगर कूँ, रटन नाम की नित करो।
त्यागि मान, मद, मोह-नित, भजहु मोहि तो भव तरो॥

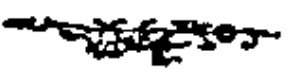

वन्दी राजाओं की विदाई तथा धर्मराज का हर्ष

(११४६)

निशम्य धर्मराजस्तत्कंशवेनानुकम्पितम् ।
आनन्दाश्रुकलां मुञ्चन्प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥

(श्रीभा० १० स्क० ७३ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

अब तुम सुख तैं सकल जाहु अपने अपने पुर ।
धारो श्रद्धा सहित मूर्ति मेरी अपने उर ॥
धर्मराज मख करहिं आइ तुम सेवा करि कें ।
द्रव्य सफल निज करहु भेंट बहु आगे धरि कें ॥
तब सब कूँ सहदेवने, असन, वसन वाहन दये ।
प्रभु आयसु स्वीकारि करि, सब निज निज नगरनि गये ॥

संसार में दो ही सम्बन्ध हैं, दास और स्वामी या तो कोई किसी का दास है या किसी का स्वामी है। छोटे से छोटा पति अपनी पत्नी का अपने पुत्रों का अपने आश्रितों का स्वामी है। बड़े से बड़ा व्यक्ति अपने राजा के, गुरु के माता पिता के अधीन है। स्वामि सेवक भाव के बिना न संसार का काम चलता है

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—'राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के जरासन्ध वध रूप उस पर परम अनुकम्पायुत कृत्य को सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर के नयनों में नेहका नीर भर आया, वे अश्रु विमोचन करते हुए कण्ठ रुक जाने के कारण कुछ भी न बोल सके।"

न परमार्थका। कुछ लोग परमार्थ पथमें मूड़ मुड़ाकर वस्त्र रंगकर स्वामी बन जाते हैं कुछ अपने को'दास' कहते हैं। किसी भी प्रकार हो स्वामी या दास बनना ही होगा। अंतर इतना ही है क्षुद्रकी अपेक्षा महान्‌का दास बनना श्रेष्ठ है। जगत्‌की दासता-को छोड़ कर भगवान्‌की दासता करना यही परम पुरुषार्थ है। भगवान्‌की कृपाकी यही सबसे मोटी पहिचान है वे जगत्‌की दासता से मुक्त करके अपनी दासता प्रदान करते हैं। जगत्‌का सम्बन्ध छुड़ा कर अपनेसे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। यही उनका असीम अनुग्रह है

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब जरासन्धके बन्दी बने राजाओंने अपनी मुक्तिके अवसर पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी भाँति भाँतिसे प्रार्थनाकी, तब उनसे मंद मंद मुस्कराते हुए माधव मधुर वाणीसे कहने लगे—"राजाओ! तुम लोगोंने जो मेरी विनती की है वह योग्य है। तुम्हारी मुझ सर्वेश्वरमें निश्चय ही सुदृढ़ भक्ति होगी। अभी तुम लोगोने जो धनमद और ऐश्वर्यमदसे होने वाली उच्छृंखलताके दोषोंका वर्णन किया है, वह यथार्थ ही है। यह सत्य बात है कि धन और ऐश्वर्यके मदमें मदोन्मत्त बना मनुष्य अपने सामने अन्य किसीको कुछ समझता ही नही। इतने ही दुःख सहकर तुम्हारी बुद्धि सुधर गयी, तुमने मेरा भजन करनेका निश्चय कर लिया यह बड़े सौभाग्यकी बात है। नहीं तो धन ऐश्वर्यका मद मनुष्यको नेत्र रहते हुए भी अंधा बना देता है कितना भी ज्ञानी हो पढ़ा लिखा हो, कुलीन हो, सुन्दर हो जहाँ उसे मदने दबाया कि फिर उसके सब गुण अवगुण हो जाते हैं। देखो, हयवंशी सहस्रार्जुन योगी था, भगवान् दत्तात्रेयकी सेवा करके उसने सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लिया था। वह संसारमें सबसे श्रेष्ठ बली था,

दिग्विजयी था। सहस्र उसके हाथ थे। विश्वविजयी रावण को पशु की भाँति उसने बाँध कर अपने अन्तःपुरमें रखा था उसे ही वट बनाकर उसके दसों सिरो पर दीपक जलाता था। इतना ज्ञानी, ध्यानी, योगी, बली, शूरवीर तथा विश्वविजयी राजाको भी जब ऐश्वर्य मद ने अन्धा बना दिया और महर्षि जमदग्नि की कामधेनु को बल पूर्वक हर लाया, तब परशुराम जी ने उसे तथा उसके कुल को नाश कर दिया।

इसी प्रकार राजा नहुष को भी ऐश्वर्य मद हो गया था। देवेन्द्र को ब्रह्म हत्या लगने पर देवता और ऋषियो ने उसे स्वर्गका इन्द्र बना दिया था। इन्द्र बनते ही उसे बड़ा अहंकार हो गया। उसने इन्द्राणी से अनुचित प्रस्ताव किया। ऋषियों से पालकी ढुलवाकर उसके महलोंकी ओर चला और ब्रह्मज्ञानी ऋषियोंका अभिमानमें भर कर अपमान करने लगा। तब ऋषियो ने उसे शाप देकर सर्प बना दिया, स्वर्गसे भ्रष्ट कर दिया, जब इतने प्रतापी राजा जो मर्त्यलोकके हो कर भी इसी शरीरसे स्वर्गके राजा बन गये उनका भी अहंकारके कारण पतन हो गया, तो साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है।

राजा वेन ऐश्वर्य के मद में भर कर अपने सामने किसीको कुछ गिनता ही नही था। उसने यज्ञ, याग, दान व्रत, उपवास तथा अन्यान्य सभी शुभ कर्म बन्द करा दिये थे। उसने सर्वत्र यह आज्ञा प्रसारित करदी थी, कोई दान मत दो यज्ञ मत करो। भगवान् की पूजा न करके एक मात्र मेरी ही पूजा करो। उसने मदमें भर कर महर्षियों का अपमान किया, इसी लिये महर्षियों ने हुंकार करके उसे भस्म कर दिया। अपने अभिमानका फल उसने तुरन्त पा लिया।

इसी प्रकार रावण भी अपनेको विश्वविजयी मानकर ब्रह्मादि देवोंका अपमान करने लगा। उसी ऐश्वर्य के मदमें भर

वह जगज्जननी जानकीजी को हर ले गया। तब मैंने ही श्रीराम रूप से उसका कुल सहित संहार किया।

नरकासुर मेरा ही पुत्र था, वह बड़ा बली था, उसने भी सहस्रों राजकन्याओं को बन्दी बना रखा था। तब मैंने जाकर उसका वध किया, राजकन्याओं को छुड़ाकर उनको उनकी इच्छानुसार उनके साथ विवाह किया। कहाँ तक गिनाऊँ एक नहीं ऐसे असंख्यों राजा हैं। देवता, दैत्य, असुर, गन्धर्व, गुह्यक, नाग, पन्नग, यक्ष राक्षस जिसने भी ऐश्वर्य के मद में भरकर अनर्थ किया वही अपने स्थान से भ्रष्ट होकर परलोक वासी बना। तुम्हें भी जो कुछ राज ऐश्वर्यका थोड़ा बहुत मद हुआ था, वह बन्दीगृह में रहने से छूट गया। अब तुम अपनी अपनी राजधानियों में रहकर राज्य करो। इस देहको नाशवान् समझो यज्ञ यागादि द्वारा मेरा ही यजन करके अपने मन को मुझ में ही लगा दो। सावधान होकर धर्मानुष्ठान करो और कर्तव्य करो समझ कर न्याय पूर्वक प्रजा का पालन करो। तब तुम्हें कर्म करने का कुछ भी दोष न लगेगा।

राजाओं ने कहा—"महाराज! अब हमें राज्य करने की संसारी सुख भोगने की लालसा नहीं। अब तो हम आपके चरणारविन्दों की भक्ति ही करना चाहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई प्रारब्ध कर्मों का तो बिना भोग किये नाश होने का नहीं। तुम प्रारब्ध के भोग समझ कर सन्तानों की वृद्धि करो। प्रारब्धानुसार जो भी सुख दुख, लाभ हानि, यश अपयश तथा जीवन मरण प्राप्त हो उसका भोग करते रहो। चित्त को निरन्तर मुझ में लगाये रहो। जिसका जिसमें चित्त लगा रहता है, अन्त में वह उसीको प्राप्त होता है। तुम मुझ में चित्त लगाये रहोगे, तो मुझ ब्रह्म को ही प्राप्त होगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् की ऐसी आज्ञा सुनकर उन सबने उसे सहर्ष शिरोधार्य किया। तब भगवान् ने सहदेव को आज्ञा दी, इनका राजोचित सम्मान करके विदा करो।"

भगवान् की आज्ञा पाते ही सहदेव ने सहस्रों दास दासियों को उनकी सेवा के लिये नियुक्त किया। उन सबने कारावास से छूटे हुए राजाओं को उबटन आदि लगाकर दिव्यौषधि महौषधि के सुन्दर सुगन्धित जलों से स्नान कराया। उनके क्षौरादि सब कर्म कराये सुन्दर सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहिनाये तथा स्वादिष्ट भक्ष्य भोज्य आदि षडरस भोजन कराये। चन्दन माला फूल तथा ताम्बूलादि देकर उनका सम्मान किया। जब वे राजसी वस्त्राभूषणों का धारण करके सिंहासनों पर विराजमान हुए तो वे अपने कमनीय कनक कुण्डलोंकी कांति से ऐसे सुशोभित होते थे मानों वर्षा ऋतु के अन्त में शारदीय नभ में उडुगन शोभित होते हों फिर भगवान् की आज्ञा से सब को सुन्दर सुन्दर रथ दिये। वे उन दिव्य घोड़ों वाले रथों में बैठकर अपने अपने नगरों को जाने लगे। सहदेव ने उन्हें सम्मान पूर्वक बडे आदर के साथ बिदा किया। इस प्रकार वे प्रभु कृपा प्राप्त करके अपनी अपनी राजधानियों को चले गये। उन्हें सकुशल लौटा देखकर पुरजन परिजन, तथा समस्त राज्य के लोग प्रसन्न हुए। सभी एक स्वर मे मिलकर आनन्द कन्द श्रीकृष्ण की जय जयकार करने लगे।

अपनी राजधानियों मे पहुँच कर सबने अपने मंत्री, पुरोहित तथा प्रजा के लोगो से भगवान् की अनुग्रह का वर्णन किया। जिस प्रकार भीमसेन से भगवान् ने जरासन्धको मरवाया था वह सभी वृत्तान्त बताया। वे अपने महलों में रहकर निरन्तर भगवान् की भुवन पावनी लीलाओं का चिन्तन किया करते थे, परस्पर मे

उन्हीके गुणोंका गान करते थे और उनके ही नामका ताल स्वर के सहित संकीर्तन करते। भगवान् ने जैसी आज्ञा दी थी वैसा ही वे करते थे। वे सबके सब धर्मराज के राजसूय यज्ञ के लिये विविध भाँति के उपहारों की वस्तुओं को एकत्रित करने लगे।

इधर भगवान्ने जब जरासन्ध को मरवा दिया और सहदेव को मगध देशकी राजगद्दी पर बिठा दिया, तो वे इन्द्रप्रस्थ जाने की तैयारियाँ करने लगे। सहदेव ने अत्यन्त ही श्रद्धा भक्ति के सहित भगवान् वासुदेव की पूजा की, भीम तथा अर्जुन का भी सम्मान किया फिर उन्हें अत्यन्त ही आदर के साथ विदा किया। इस प्रकार सहदेव से भली भाँति सम्मानित होकर भगवान् भीम और अर्जुन के सहित रथ में बैठकर इन्द्रप्रस्थ की ओर चल दिये। उन्होंने अपने एक परम पराक्रमी विश्वविजयी शत्रु पर विजय प्राप्त की थी, इसलिये विजय के उल्लास में वे अति शीघ्र ही देश, नद, नदियो और पर्वतो को लांघते हुए इन्द्रप्रस्थ के समीप जा पहुँचे।

नगर के समीप पहुँचकर तीनों ने अत्यंत उल्लास के साथ आनन्दमें भर कर अपने-अपने शङ्ख बजाये। उन शङ्खोंकी भीषण ध्वनिको सुनकर उनके सुहृद सम्बन्धी तो सुखी हुए, किन्तु द्वेषियों के हृदय में तो वह ध्वनि शूलके समान चुभ गयी। शङ्खों की आह्लाद पूर्ण ध्वनिको सुनकर समस्त नगर निवासियोने समझ लिया, कि राजसूयका प्रबल कटक जरासन्ध मारा गया तथा धर्मराज महाराज युधिष्ठिर का दिग्विजय रूप संकल्प पूरा हो गया। अब दिग्विजय में विघ्न डालने वाला कोई भी शत्रु शेष नही रहा।"

धर्मराज भी तीनों शखों की ध्वनि को सुनकर आनन्द में विभोर हो गये। इतने ही में, उन्हें भीम और अर्जुन के सहित

हँसते हुए सामने से आते हुए श्यामसुन्दर दीख ही तो पड़े। तीनों ने आकर धर्मराज की वन्दना की। धर्मराज ने प्रेम भरित हृदय से श्यामसुन्दर को गले लगाया। भीम और अर्जुन का सिर सूँघा। भगवान्‌ने आते ही कहा—"राजन् ! काम पूरा हो गया।"

अश्रु विमोचन करते हुए धर्मराज ने कहा—प्रभो ! जहाँ आप हों वहाँ कार्य पूरा न हो यह तो असभव है। आप तो परिपूर्णतम हैं। आपके तो संकल्प मात्र से ही सब कुछ होता है। आपके लिये जरासंध को जीतना कौन सी कठिन बात है।"

भगवान् ने कहा—"राजन् ! मैंने नहीं जीता। अपके छोटे भाई भीमसेन ने उसे द्वन्द युद्ध में मार डाला।"

धर्मराज ने कहा—"प्रभो ! कोई खड्ग से किसी का सिर काट देता है, तो लोग यह तो नहीं कहते—"खड्ग ने उसे मार डाला।" सब लोग उसीका नाम लेते हैं। जिसके हाथ में खड्ग थी, जिसने खडग चलाई थी। इसी प्रकार भीम तो आपका यन्त्र था, यन्त्री तो आप ही हैं।"

इस प्रकार दोनों में परस्पर बड़ी मीठी मीठी बातें होती रहीं। धर्मराज युधिष्ठिर जरासन्ध वध के सम्पूर्ण वृत्तान्त को सुनकर आनन्दमें विभोर हो गये। भगवान् का हमारे ऊपर इतना अनुग्रह है भगवान् हमारे लिये सब कुछ करने को उद्यत है, इस बात को स्मरण करके भगवान् की भक्त वत्सलता को याद करके—धर्मराज का हृदय भर आया, उनकी वाणी रुक गयी। वे एक शब्द भी न बोल सके। आनन्द के अश्रुओं की वर्षा करते हुए वे बार बार भगवान् की ओर निहार रहे थे, किन्तु नेत्रों मे जलभर आने के कारण वे एक भी शब्द उच्चारण न कर सके।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! अब तो राजसूय यज्ञ में किसी प्रकार का संदेह ही न रहा। भगवान् ने धर्मराजसे कहा—'राजन् !

अब देर करने का समय नहीं यज्ञ की समस्त सामग्रियों को एकत्रित करो। कर्मकाण्ड को जानने वाले बड़े-बड़े वैदिक ब्राह्मणों को बुलाओ। राजसूय यज्ञ बड़ी धूम धाम से कीजिये। मैं तो आपका सेवक समुपस्थित ही हूँ।"

अपनी हार्दिक प्रसन्नता को व्यक्त करते हुए धर्मराज बोले-"क्यों न कहे प्रभो! आपका तो यह बाना ही है। आपतो अपने भक्तों को सदा बड़ाई दिया ही करते है। नही तो हे दीनबन्धो! कहाँ तो आप और कहाँ हम। आप तो तीनों लोको के गुरु है। सम्पूर्ण चराचर लोकोके महान् ईश्वर है। इन पृथिवी के नरपतियो की तो बात ही क्या ब्रह्मादि देव भी आपकी आज्ञा को सिर से पालन करते हैं। कहाँ तो आपका इतना ऐश्वर्य और कहाँ हम दीन हीन मति मलीन इतना सब होने पर भी आप हम अकिञ्चन की आज्ञा का पालन करते हैं, यह आपकी लीला ही है। आपका खेल है, क्रीड़ा है मनोविनोद है। आप तो एकरस है। छोटे काम करने से आप छोटे नही हो जोते, बड़े काम करने से आप बहुत बड़े भी नही हो जाते। आप में छोटापन बड़ापन है ही नही आप तो एकरस हो। जैसे सूर्य चाहे उदय हो जाय या अस्त हो जाय, उनका तेज घटता बढ़ता नही एक सा रहता है इसी प्रकार कर्म करने से अथवा न करने से आपका तेज घटता बढ़ता नहीं। आपके लिये तो न कोई अपना है न पराया। आपकी तो बात पृथक रही आपके भक्तो के भी मनमें मैं मेरा तू तेरा का भाव नही रहता। उनकी विकारयुक्त भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है। वे सब रूप में आपको ही देखते हैं।"

भगवान् ने कहा—"ये सब बातें तो होती ही रहेंगी। अब आप यज्ञ की तैयारियाँ कराइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्रभु की आज्ञा पाकर धर्मराज ने सेवकों को सामग्री एकत्रित करने की तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाने की आज्ञा दी। अब जिस प्रकार राजसूय यज्ञ होगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

यों रिपु कूँ मरवाइ भूप बन्दी छुड़वाये।
ह्वै सम्मानित श्याम भीम जय सँग पुर आये॥
इन्द्रप्रस्थ ढिग आइ सबनि निज शङ्ख बजाये।
लोग सुनत शुभ शंख विजय समुझी हरषाये॥
धरमराज धुनि सुनि मुदित, भये लखे जय, भीम, हरि।
अरघ अश्रु दै दौरिकें, मिले श्याम तैं अंक भरि॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्री ब्रह्मचारी जी द्वारा लिखित नई पुस्तकें

१—सार्थ छप्पय गीता

श्रीमद् भगवत् गीता के ७०० श्लोकों की ७०० छप्पय बनायी हैं। श्लोक तो दो पंक्ति का होता है और छप्पय ६ पंक्ति की। इसलिये छप्पय में श्लोक का पूरा भाष्य ही आ गया है। यह इसी क्रम से छापी जा रही है, जैसे यह आलवन्दार स्तोत्र। एक पृष्ठ पर तो मूल श्लोक और नीचे हिन्दी अर्थ, सामने के पृष्ठ पर उसकी छप्पय। इस प्रकार इसमें मूल श्लोक, हिन्दी अर्थ और व्रज भाषा की छप्पय छन्द तीनों बातें रहेंगी। बानगी पिछले पृष्ठ पर देखिये। सचित्र सजिल्द पुस्तक का मूल्य लगभग ५)।

छप्पय शत्रक त्रय

श्री राजर्षि भर्तृहरि के नीति शतक, शृङ्गार शतक और वैराग्य शतक तीनो शतकों को छप्पय छन्दों में आवद्ध किया है। भर्तृहरि जी का यह सुप्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। इन तीनों ही शतकों में सभी शास्त्रों का सार आ गया है। पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

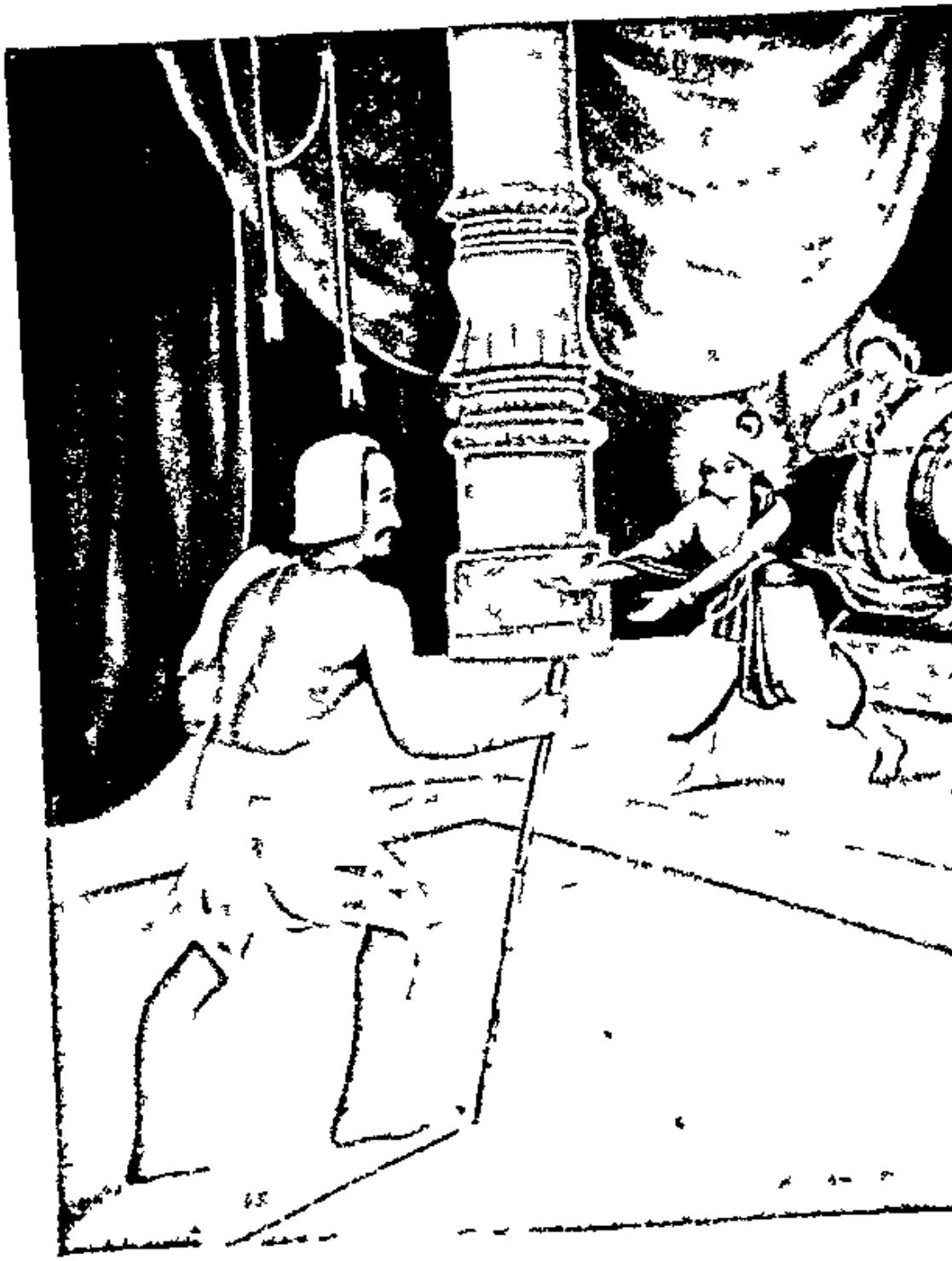

द्वारका में सुदामा जी का भगवन् द्वारा सत्कार

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(पचासवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनासि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

द्वितीय संस्करण
१००० प्रति

श्रावण २०२८
जुलाई १९७१

मूल्य—~~१.६५~~ २

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

● मुद्रक
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

१०६५५
४५१
धर्म

विषय		पृष्ठाङ्क
१. धर्मराज का राजसूय यज्ञ	...	१
२. भगवान् की अग्रपूजा		१०
३. भगवान् के प्रति शिशुपाल की दुरुक्तियाँ		१७
४. शिशुपाल वध		३२
५. धर्मराज के राजसूय का अवभृतस्नान	...	३९
६. पांडवों के अभ्युदय से दुर्योधन को ईर्ष्या		४७
७. द्वारका पर शाल्व की चढ़ाई	...	५६
८. प्रद्युम्न और शाल्व का युद्ध	...	६६
९. यादवों का शाल्व से भयंकर युद्ध	...	७२
१०. शाल्व वध	...	७९
११. दन्तवक्र और विदूरथ वध	...	८६
१२. बलदेवजी की महाभारत युद्ध में तटस्थता	...	९३
१३. बलदेवजी की तीर्थयात्रा	...	१००
१४. बल्वल वध और बलदेवजी का प्रायश्चित्त	...	१०५
१५. सुदामा चरित	...	११५
१६. द्वारका की ओर	...	१२६
१७. श्रीकृष्ण सुदामा सम्मिलन	...	१३५
१८. सुदामा और श्यामसुन्दर की बातें	...	१४२
१९. सुदामाजी के चावल	...	१५१
२०. सुदामाजी की विदाई	...	१६०
२१. सुदामा चरित की समाप्ति	...	१६६
२२. कुरुक्षेत्र में व्रजवासियों की भगवान् से भेंट	...	१८०
२३. यशोदाजी की देवकी तथा रोहिणी आदि से भेंट		१९३
२४. गोपियों की भगवान् से भेंट	...	१९९
२५. धर्मराज युधिष्ठिर से भेंट	...	२०८
२६. द्रौपदीजी की श्रीकृष्ण पत्नियों से विवाह की बातें		२१४

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६) ५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथम खंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ११) हैं। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनो मे मिलती हैं सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

धर्मराज का राजसूय यज्ञ

[११५०]

मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।
अयाजयन् महाराज याजका देववर्चसः ।
राजसूयेन विधिवत् प्राचेतसमिवामराः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७४ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

जरासन्ध वध वृत्त सुनत नयननि जल छाये ।
नृपति भये अति दीन विनययुत वचन सुनाये ॥
प्रभो ! आप ई राजसूयकी दीक्षा लेवें ।
अथवा सेवक समुझि दास कूं आयसु देवें ॥
बाले हरि-'कुरु कुल तिलक ! राजसूय मख करहु तुम ।
भरे कोष जीते नृपति, सम्मुख सेवक सकल हम ॥

यज्ञ यागादि शुभकर्म उन्हीं के सफल होते हैं, जिन पर भगवान् की कृपा होती है। भगवत् कृपा के बिना शुभ कर्म सम्पन्न ही

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन ! राजसूय यज्ञ में निमन्त्रित होकर आये हुए राजाओं के बिना किसी प्रकार का विस्मय प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् के अनन्य भक्त धर्मराज के इस वैभवशाली यज्ञ को उचित ही समझा। देवताओं के सदृश तेजस्वी याजकों ने धर्मराज से राजसूय यज्ञ विधिवत् उसी प्रकार कराया, जिस प्रकार प्राचीन काल में वरुणदेवजी से देवताओं ने कराया था।

नहीं हो सकते। भगवद्भक्त जो चाहे सो कर सकता है। जिनके सिर पर श्यामसुन्दर हैं, उन्हें संसार में कठिन कुछ भी नहीं है, वे जो चाहें सो कर सकते हैं। कठिन काम भी उनके लिये सरल बन जाता है, असभव भी सभव हो जाता है। दुष्कर भी सुकर बन जाता है और अपूर्ण भी पूर्ण हो जाता है। इसलिये भगवान् के पाद पद्मों में प्रेम हो इस बात का ही सतत प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् में भक्ति हो जाने पर तो जगत् के बड़े से बड़े समझे जाने वाले कार्य सामान्य से हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी की कृपा से पृथ्वी के समस्त राजा धर्मराज के अधीन हो गये। उनके कोषागार धन, रत्नों तथा मणि माणिक्यों से परिपूर्ण हो गये, तब उन्होंने एक दिन भगवान् से अत्यत ही नम्रता के साथ निवेदन किया—"यदुनन्दन! आपकी अनुग्रह से अब मैं अनुभव करने लगा हूँ, कि अब राजसूय यज्ञ हो सकता है। पृथ्वी पर अब ऐसा एक भी राजा नहीं जिसने आपकी अधीनता स्वीकार न कर ली हो। इन्द्रप्रस्थ के कोषागारों में इतना अधिक धन भर गया है, कि वह वर्षों तक लुटाया जाय, तो भी समाप्त नहीं हो सकता। अतः मेरी इच्छा है राजसूय यज्ञ इन्द्रप्रस्थ में हो और आप ही यज्ञ की दीक्षा लें क्योंकि समस्त यज्ञों को करने कराने वाले तथा भोक्ता हविर्दाता आप ही हैं। आप ही हवि हैं, आप ही अर्पण हैं, आप ही अग्नि हैं आप ही यजमान, ऋत्विज, सदस्य और सभापति हैं। अतः आप भगवती रुक्मिणी के सहित राजसूय यज्ञ में दीक्षित हों।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान बोले—"धर्मराज! राजसूय यज्ञ करने की योग्यता तो आप में ही है। आप द्रौपदी के साथ यज्ञ की दीक्षा लें। आपके यहाँ किसी वस्तु का अभाव नहीं है।

आपकी समस्त आज्ञाओं का पालन करने वाले हम सब सेवक समुपस्थित ही हैं। अब आप विलम्ब न करें।"

यह सुनकर धर्मराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने अपने चारों भाइयों और मन्त्रियों को बुलाकर उनसे कहा—"राजसूय यज्ञ करना है। दही दूध, तथा घृत आदि रखने को बड़े बड़े पक्के कुंड बनवाओ वे इस प्रकार घोटे जायँ कि उनमें मुख दिखाई दे। उनके ढकने चंदन की लकड़ियों के हों। तिल, जौ तथा चावलों का पर्वत लगा दो। गुड़ शक्कर बूरे की बोरियाँ भरवा भरवा कर चुनवा दो। ब्राह्मणों के लिये सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थों को एकत्रित करो। सुन्दर मिठाई बनाने वाले देश देशान्तरों से पाचक बुलवाओ। चटनी के सब मसाले, रायते की वस्तुएँ, साठ के लिये किसमिस गोला, छुआरे विपुल मात्रा में मँगवालो। पापड़ अभी से बनवा कर सुखवा लो। दालमोट का प्रबन्ध कर लो फलाहारियों के लिये फलाहारी वस्तुएँ मँगाओ। दुग्धाहारियों के लिये तथा और के लिये दूध की मिठाइयाँ बनवाओ। साराश यह है, कि किसी भी वस्तु का अभाव न हो। किसी के माँगने पर यह न कहना पड़े, कि अमुक वस्तु हमारे यहाँ नहीं है। यज्ञ में आकर जो भी जिस समय भी जिस वस्तु को याचना करे, उसे उसी समय वही वस्तु तत्काल मिलनी चाहिए।"

सभी ने एक स्वर से कहा—"हाँ, प्रभो! ऐसा ही होगा। हम अभी सब प्रबन्ध किये देते हैं।"

यह कहकर सबने मिलकर यज्ञ सम्बन्धी सभी सामग्रियों को एकत्रित कर लिया। भगवान् वेदव्यास को इस यज्ञ का प्रधान बनाया गया। उन्होंने यज्ञ करने में निपुण बड़े-बड़े ऋषि मुनियों को आदमी भेज भेज कर बड़े सम्मान के साथ बुलवाया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के दर्शनों की इच्छा से तथा धर्मराज के प्रेमपूर्वक आग्रह को मानकर बड़े बड़े ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि राजसूय यज्ञ में

पधारे। उनमें कुछ मुख्य-मुख्य ये थे। भगवान् वेदव्यास तो उस यज्ञ महोत्सव के अध्यक्ष ही थे। उनके अतिरिक्त भरद्वाज, सुमन्तु गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कश्यप, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनी, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, राम, भार्गव, आसुरि, वीतहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन और महामुनि अकृतव्रण आदि और भी बहुत से वेदवित् ऋषि मुनि थे।

धर्मराज ने अपने भाई नकुल को स्वयं हस्तिनापुर भेजा, कि वे जाकर हमारे कुल के सब लोगों को बड़े आदर सत्कार के साथ ले आवें। धर्मराज की आज्ञा पाकर नकुल हस्तिनापुर गये। वहाँ उन्होंने सबको आदर पूर्वक आमन्त्रित किया। भीष्म, धृतराष्ट्र तथा विदुर आदि यह सुनकर बड़े हर्षित हुए कि हमारे कुल में एक ऐसे भी हुए जिन्होंने राजसूय यज्ञ की दीक्षा ली है। इस यज्ञ को या तो वरुणदेव ने किया है या चन्द्रदेव ने। वे सबके सब परम हर्षित होकर इन्द्रप्रस्थ की ओर चले। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर, कर्ण, शल्य, बाह्लीक, सोमदत्त, भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, जयद्रथ, यज्ञसेन तथा अन्यान्य बहुत से राजा भी राजसूय यज्ञ को देखने चले। दुर्योधन तो मन ही मन पांडवों से जलता था उनके ऐश्वर्य से उसे आन्तरिक ईर्ष्या थी वह उनके यज्ञ में जाना नहीं चाहता था किन्तु लोक लाज और कुल व्यवहार के कारण उसे जाना ही पड़ा। वह भी बड़े ठाट-बाट से अपने सब भाइयों सहित राजसूय यज्ञ में आया। सभी देश देशान्तरों के राजा डेरा डाले गंगा के किनारे-किनारे योजनों तक पड़े थे। हाथी घोड़ा और रथों के कारण यज्ञस्थल एक विशाल नगर के समान प्रतीत होता था। अंग, वंग, कलिंग, सौराष्ट्र, मगध द्रविड़, पाण्ड्य, चोल, कुन्तल, मालव, कश्मीर, बाल्हीक तथा सहस्रों लक्षों पहाड़ी राजा धर्मराज के राजसूय यज्ञ को देखने

आये थे। धर्मराज ने सबके स्वागत सत्कार का अत्यत ही सुन्दर प्रबन्ध किया था। उन्होने एक स्वागत कारिणी समिति बना दी थी। उसके प्रधानाध्यक्ष थे द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह। समिति के कार्य सचालन का पूरा भार इन दोना के ही अधीन था। धर्मराज ने इनका सर्वाधिकार दे रखा था। ये स्याह सफेद जो चाहे सो करे सब कार्यों के लिये उप समितियाँ बना दी थीं। उनके एक एक दो दो अध्यक्ष बना दिये थे। भोजन भडार का काम उन्होंने भीम को सौंपा था क्योंकि जो स्वय खाना नहीं जानता वह दूसरों को क्या खिलायेगा। भोजनो का प्रबन्ध ऐसे को ही सौंपना चाहिये जिसे स्वय भोजन करने कराने मे रुचि हो। भीमसेन सवामन हलुए का तो जलपान ही करते थे। उन्हे जब जलपान की इच्छा होगी, तो उन्हें दूसरो का भी ध्यान रहेगा। इस लिये भोजन का भार उनको दिया गया। किन्तु उनमें एक त्रुटि थी वे घर के थे, धर्मराज के सगे भाई थे, कभी व्यय करते-करते उनके मन में लोभ न आ जाय, मुक्त हस्त से सबको देने में सकोच न करने लगें। कहीं यह न सोचें अन्न व्यर्थ जा रहा है, अतः उनके साथ ही दुःशासन को भी भोजन विभाग मे अध्यक्ष बनाकर रखा कि दोना हाथो से लुटावे। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा का ब्राह्मणो की सेवा सत्कार मे नियुक्त किया। यज्ञ में जो भी ब्राह्मण आवें उनका यथोचित सेवा सत्कार वे अपने सहयोगियों को साथ लेकर करें। सञ्जय को आगत राजाओं के स्वागत सत्कार का काम दिया गया। जो राजा भेंट लेकर आवें उनसे भेंट लेने का काम दुर्योधन को दिया गया। यह दुर्योधन का सबसे बडा सम्मान था। राजा लोग कुल वृद्ध को ही आकर भेंट देकर प्रणाम करते हैं। दुर्योधन सम्राट् की भाँति सबकी भेंट स्वीकार करता और सबके प्रणामों को स्वीकार करता।

को ब्राह्मणों के लिये दक्षिणा देने का काम सौंपा

ब्राह्मण को जितना चाहें धन रत्न दे दें। जो राजा यज्ञ देखने आवें उनका माला, चन्दन ताम्बूलादि से स्वागत सत्कार करना यह सहदेवजी का काम था। जिस विभाग के लिये जो भी वस्तु आवश्यक हो उसके जुटाने और संग्रह करने का काम नकुल को सौंपा गया। अर्जुन का एक मात्र कार्य यह था भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, दुर्योधन तथा अन्यान्य पूज्यजनों का सब प्रबन्ध ठीक हो रहा है या नहीं इनके सहकारी सेवक समय से लगन के साथ कार्य कर रहे हैं या नहीं। उन्हें किसी बात की असुविधा तो नहीं है। इसी बात को वे समीक्षा करते रहते। दानाध्यक्ष का कार्य महामना कर्ण को सौंपा गया। क्योंकि जिसे धन में तनिक भी ममत्व होगा, वह खुलकर मुक्त हस्त से दान न कर सकेगा। संसार में कर्ण के समान दूसरा दानी कोई था ही नहीं। अतः दान देने पर वे ही नियुक्त किये गये। भोजन परसने का काम स्वयं द्रौपदीजी ने तथा उनके भाई धृष्टद्युम्न और शिखंडी ने लिया। यज्ञ में व्यय करने का काम विदुरजी को दिया गया। इनके अतिरिक्त सात्यकि, विकर्ण, हार्दिक्य, भूरिश्रवा और अन्यान्य बाह्लीक पुत्र सतर्दनादि अन्य बहुत से विभागों के अध्यक्ष बनकर यज्ञ में सेवा कार्य कर रहे थे।

जब धर्मराज सबको पृथक् पृथक् कार्य बाँट रहे थे, तब भगवान् वासुदेव ने पूछा—"राजन्! हमें भी कोई कार्य दीजिये।"

स्नेहभरित कंठ से गद्गद होकर धर्मराज ने कहा—"वासुदेव! आप ही तो सब कर रहे हैं करा रहे हैं। आप तो सबके स्वामी हैं आपको को काम देने वाला कौन है, जो इच्छा हो वह कीजिये।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"नहीं, राजन्! ऐसे कहने से काम न चलेगा। मुझे भी यज्ञ में कोई छोटा मोटा कार्य सौंपा जाय।"

धर्मराज ने कहा—"माधव! मैं कह तो रहा हूँ, आपको जो अच्छा लगे, वही काम आप ले लें।"

भगवान् ने कहा—"देखो, सब अतिथि ऋषिमुनि पैरों से ही चलकर यज्ञ मण्डप में पधारेंगे। चरणों के अधिष्ठातृ देवता भगवान् विष्णु हैं और श्री विष्णु के ही प्रीत्यर्थ आप यज्ञ कर रहे हैं। आगत अतिथियों के चरण पखारन से यज्ञ की सेवा का सर्वश्रेष्ठ फल मिलेगा। अतः मैं ऋषि मुनियों के चरण धोने का काम लेता हूँ।" यह सुनकर सबके नेत्रों से प्रेम के अश्रु झर झर करके झरने लगे। धर्मराज ने कहा—"हाँ, प्रभो! यह काम तो आपके अनुकूल ही है। तभी तो आपका नाम ब्रह्मण्यदेव सार्थक होगा। यज्ञ में आगत अतिथि अपनी आँखों से इस अद्भुत और अपूर्व दृश्य को स्वयं देखें।"

भगवान् ने कहा—"चाहे जो हो मैं तो यज्ञ में यही सेवा करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह कहकर भगवान् ने ब्राह्मणों के चरण धोने का काम अपने ऊपर लिया। भगवान् के करकमल अति ही मृदुल थे। उनकी गद्दियाँ बड़ी गुदगुदी थीं, उनमें से निरन्तर दिव्य कमल जैसी गन्ध निकलती थी। जब वे अपनी दोनों मृदुल गुदगुदी गद्दियों के बीच में मुनियों के चरणों को दबाते और उन खुरदुरे पैरों की बड़ी बड़ी बिवाइयों के बीच में भरी कीच को अपनी सुकुमार उँगलियों से कुरेद कर निकालते, उस समय मुनियों का मन मुकुर खिल जाता। वे ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जाते। उन्हें बड़ा सुख प्रतीत होता अभी पैर धुलाकर गये हैं। कुछ देर में इधर उधर फिर कर फिर पैर धुलाने आगये हैं। भगवान् न तो खीजते ही थे न बुरा ही मानते जो जितने बार पैर धुलाने आता उतने ही बार बड़े प्रेम से धो देते।"

उसी समय दुर्वासा मुनि कहीं से घूमते घामते चले आये। उन्हें देखकर सभी डर गये। उनके पास तो शाप की पुटली बँधी हर समय रखी रहती थी। कोई उनके सम्मुख नहीं गया, न जाने

किस बात पर कुपित होकर शाप दे दें। आकर द्वार पर खड़े हो गये। भगवान् भी डर रहे थे, उनके सम्पूर्ण चरण कीच में सने हुए थे भगवान् उनके चरणों को धो तो रहे थे, किन्तु उनके हाथ काँप रहे थे। दुर्वासा भी सम्भव है, यह सोचकर ही आये होंगे, कि मैंने सबको तो शाप दिया है, यदि मैंने कृष्ण को शाप न दिया तो फिर मेरा नाम दुर्वासा ही कैसा ?" भगवान् तो अन्तर्यामी हैं सबके घट घट की जानने वाले हैं। वे समझ गये, मुनि मुझे शाप देना चाहते हैं। अच्छी बात है मुझे तो जो प्रेम से पत्र पुष्प, जल, फल यहाँ तक विष भी देता है उसे भी मैं स्वीकार करता हूँ। पूतना मुझे विषपान कराने आई थी। मैंने विष का भी पान कर लिया और व्यान में उसके प्राणों को भी पी गया। यही सब सोचकर उन्होंने चरण धोते धोते बायें पैर के नीचे थोड़ी सी कीच लगी छोड़ दी। अब क्या था, दुर्वासाजी ने अपना शाप रूपी अमोघ अस्त्र छोड़ ही तो दिया। वे बोले—"कृष्ण ! तुम्हें बड़ा अभिमान है। तुमने सेवा का कार्य लिया है और उसे भली भाँति निभाते नहीं। देखो, मेरे पैर के बीच में कीच लगी रह गया, अतः मैं तुम्हें शाप देता हूँ, तुम्हारे भी पैर के बीच में बाण लगेगा और उसी से तुम्हारे शरीर का अन्त होगा।"

भगवान् ने सिर झुकाकर मुनि के शाप को सहर्ष शिरोधार्य किया। पीछे मुनि को पश्चात्ताप भी हुआ, किन्तु भगवान ने यह कहकर उन्हें आश्वासन दिया, कि यह सब मेरी ही इच्छा से हुआ आप इस विषय में चिन्ता न करें।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार धर्मराज का यज्ञ बड़ी धूमधाम के साथ होने लगा। चारों ओर वेद ध्वनि सुनायी देती थी। भोजन की वहाँ किसी को रोक टोक नहीं थी जो जितना चाहो आकर खाओ, इच्छानुसार बाँधकर ले जाओ। जिसने जिस वस्तु की याचना की उसे वह वस्तु तुरन्त दी गयी।

उस यज्ञ में भात के पर्वत लगे हुए थे। दाल, कढी, खीर, रायते तथा श्रीखण्ड आदि के कुंड भरे थे। खाने की ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जो प्रचुर मात्रा में वहाँ न रखी हो। याचकों को इतनी वस्तुएँ दी गयीं कि वे दाता बन गये। ब्राह्मणों को इतनी दक्षिणा दी गयी कि वे उसे उठाने में भी असमर्थ हुए। इस प्रकार धर्मराज का वह राजसूय यज्ञ बड़ी धूमधाम के साथ समाप्त हुआ। अब जैसे भगवान् की उसमें अग्रपूजा होगी। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि यज्ञ के ठाठ रचाये।
करम काड महँ कुशल वेदविद विप्र बुलाये॥
सुनत कण्व, त्रित, कवस, असित, क्रतु, पैल, पराशर।
गौतम, अत्रि, वसिष्ठ, राम आदिक सब मुनिवर॥
आये मख महँ मुदित मन, अति स्वागत सबको करयो।
चरन पखारत प्रभुहिं लखि, नयन नीर सबके भरयो॥

भगवान् की अग्रपूजा

[११५१]

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ७४ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

धूमधाम अति मची लेहु धन भोजन पाओ ।
मनमाने धन रतन बाँधिकें घर लै जाओ ॥
कहैं नारि नर यज्ञ न ऐसो देख्यो कबहूँ ।
जल सम बरसत कनक चुकत नहिँ तनिकहु तबहूँ ॥
परब सोमरस पान दिन, करि याजक पूजन नृपति ।
प्रथम सभासद पूज्य को, जामें मच्यो विवाद अति ॥

ससार मे पूजा भग को होती है। समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छै वस्तुओं का नाम भग है। जिसमें ये छै वस्तु, पूर्णरूप से विद्यमान् हो वे ही भगवान् कहाते हैं। जहाँ भी पूजा प्रतिष्ठा होती है इन्हीं छे कारणों से होती है। जो ऐश्वर्यशाली होते है, वीर्यवान्, यशस्वी, श्रीमान्, ज्ञानवान्,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं— 'राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणो का कथन श्रवण करके तथा सभासदो के हृद्गत भावो को जानकर एव प्रेम मे अत्यन्त विह्वल होकर परम प्रसन्नता के साथ भगवान् हृषीकेश की पूजा की।'

अथवा वैराग्यवान् होते हैं वे ही पूजे जाते है। संसार में तो वे अंश रूप से हैं। लोक में जो श्रीमान् कहाते हैं, उनके पास लाख दो लाख करोड़ अथवा अरब खरब द्रव्य होगा, किन्तु भगवान् की सेवा में तो सदा मूर्तिमती लक्ष्मी ही संलग्न रहती हैं। अतः उनसे बढकर श्रीमान कौन होगा। जिस सभा मे स्वयं साक्षात् साकार रूप से श्री श्यामसुन्दर ही विद्यमान् है, उसमें उनके अतिरिक्त अग्रपूजा और किसी की हो ही कैसे सकती है। वैसे तो ऋषि, मुनि, देवता, द्विज आदि सब उनके ही अश हैं। किन्तु पुरुष रूप मे तो वे ही पुरुषोत्तम हैं। नरों मे तो वे ही नरोत्तम हैं। अब जहाँ नरों की पूजा का प्रश्न आवेगा सबसे प्रथम नरोत्तम की ही पूजा होनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज का राजसूय यज्ञ अत्यन्त ही उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ। यज्ञ के अन्त में एक सौत्य दिवस होता है। जिस दिन सोमवल्ली नामक लता को कूटकर उसका रस निकाला जाता है उस सोमरस को देवताओं को पान कराते हैं। यज्ञ मे वह दिन सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसी दिन यज्ञान्त स्नान भी करते हैं। उस दिन ऋत्विज, सदस्य, सभापति तथा आये हुए राजाओं का विशेष रूप से सम्मान किया जाता है। सबको सबकी पद प्रतिष्ठा और योग्यता के अनुसार अर्घ्य दिया जाता है।

धर्मराज ने प्रथम यज्ञ कराने वाले बड़े-बड़े श्रोत्रिय वेदज्ञ याजकों का तथा सभापति का सावधानी के साथ पूजन किया। यज्ञ के सदसस्पति, याजक तथा अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों का पूजन होने के अनन्तर अब यज्ञ मे पधारे हुए सभी राजाओं का भी सम्मान करना था। उन्हें भी अर्घ्य देकर सत्कृत करना था। यहाँ आये हुए सभी राजा अपने को श्रेष्ठ समझते थे। अब यह उठा कि सर्वप्रथम अग्रपूजा किसकी की जाय। आज

ष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सर्वप्रथम जिसकी पूजा की जायगी, वही सबसे श्रेष्ठ राजा समझा जायगा इस विषय में बड़ा मत-भेद हो गया। वहाँ देश-देशान्तरों के सहस्रों लाखों राजा समुपस्थित थे, सभी चाहते थे, हमारी सर्वप्रथम पूजा हो। अग्रपूजा का सम्मान हमें मिले। स्वयं अपने मुख से तो कोई कहता नहीं था अपने-अपने समर्थक राजाओं से अपने नाम का प्रस्ताव कराते। जिसके पक्ष में बहुत से राजा हो जाते, वे कोलाहल करते अपने पक्ष के राजा की प्रशंसा करते। दूसरे प्रतिद्वन्दी राजा के दोष बताकर यह सिद्ध करते कि वह किसी प्रकार अग्रपूजा का अधिकारी नहीं। दूसरे राजा उसकी भी निन्दा करते। इस प्रकार बड़ा कोलाहल हुआ। कोई सर्व सम्मत निर्णय हो ही न सका। धर्मराज बड़े धर्म संकट में पड़ गये। वे सोचने लगे—"अब तक तो यज्ञ का कार्य सुचारु रीति से बड़े प्रेम के साथ सम्पन्न हुआ। यह अन्त में विकट मतभेद हो गया। वे शंकित चित्त से उठकर खड़े हुए और हाथ जोड़कर बोले—"राजाओं! आप सभी श्रेष्ठ हैं, सभी कुलीन हैं, सभी पूजनीय तथा नरपति हैं। तो भी अग्र पूजा तो एक की ही होगी। पूजन तो सभी का होगा, किन्तु सर्व प्रथम किनकी पूजा हो, आप सम्मति दें।"

यह सुनकर धर्मराज के छोटे भाई सहदेव जी खड़े हुए। उन्होंने आवेश में भरकर सब राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"सभा में पधारे हुए सर्व सभासदगण! मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। इस सभा में सभी श्रेष्ठ हैं, किन्तु अग्रपूजा के एक मात्र अधिकारी यदुनन्दन भगवान् वासुदेव ही हैं। यज्ञ के जितने धनादि उपकरण हैं, तथा देश, काल और पात्र जो साधन हैं वे सब इनके ही रूप हैं। इनसे भिन्न किसी का अस्तित्व संभव ही नहीं। जितने भी अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, पशु-यज्ञ, सोमयज्ञ, तथा अन्यान्य यज्ञ हैं इनके ही स्वरूप हैं।

अग्नि, आहुति, मन्त्र सारथ्य तथा योग आदि हैं वे सब इन्हीं के निमित्त हैं। समस्त शास्त्र इन्हीं का प्रतिपादन करते हैं। यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च इन्हीं का स्वरूप है। ये ही ब्रह्मा बनकर सृष्टि करते हैं, विष्णु रूप से पालन करते हैं और अन्त में रुद्र-रूप से उसका संहार करते हैं। इन्हीं अच्युत के आग्रह से अखिल जगत् विविध भाँति के कर्म करता है। सब कर्मों की सिद्धि देने वाले सिद्धिदाता सर्वेश्वर ये ही हैं। इसलिये मेरी सम्मति है, कि सबसे प्रथम अग्रपूजा इन अखिलेश्वर अच्युत की ही होनी चाहिये। ये जीव मात्र के स्वामी हैं, इनकी पूजा होने से सबकी पूजा हो जाती है। जिसे अपने कर्म अनन्त करने की इच्छा हो वह अपने सर्वकर्म इन्हीं के अर्पण कर दे। ये भेद-भाव से रहित शान्त, परिपूर्ण और समस्त भूतों की अन्तरात्मा हैं। जो भी दान दिया जाय, इन्हें देने से वह अक्षय और अनन्त बन जाता है, इसलिये मेरी सम्मति में ये ही अग्रपूजा के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी हैं। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है, आप सब मेरे मत का समर्थन करेंगे और भगवान् श्री कृष्णचन्द्र की ही अग्र पूजा हो, इसके लिये अपनी-अपनी सम्मति सहर्ष प्रदान करेंगे।"

इस प्रकार अपने पक्ष का प्रबल युक्तियों से समर्थन करके भगवान् के प्रभाव के जानने वाले सहदेव जी खड़े रहे। उन्हें खड़े देखकर घुड़कते हुए धर्मराज बोले—"सहदेव! तुम अभी बच्चे हो। सभा में हमारे कुल गुरु हम सब के पितामह श्रीभीष्म उपस्थित हैं, फिर तुम्हें बोलने की क्या आवश्यकता है?"

धर्मराज की डाँट सुनकर सहदेव लज्जित हुए और अपने स्थान पर जाकर चुपचाप बैठ गये।

तब भीष्म पितामह ने धर्मराज को रोकते हुए कहा—'युधिष्ठिर भैया! यह तुम्हारा व्यवहार शास्त्र सम्मत नहीं है। तुम वही नहीं हो जिसके बाल पक गये हों। जो उचित और युक्ति-

युक्त बात कहे वही वृद्ध है। बालक भी यदि धर्म युक्त श्रेष्ठ बात कहता है तो वह ग्राह्य है इसके विपरीत यदि वृद्ध भी हो और वह धर्म विरुद्ध बात कहे, तो उसे कभी भी न मानना चाहिये। सहदेव ने युक्तियुक्त बात कही है। हमारे यहाँ अर्घ्य देना एक विशेष सम्मान का सूचक है। आचार, ऋत्विज, श्वसुर, आदि अपने श्रेष्ठ सम्बन्धी, स्नातक ब्रह्मचारी मित्र और राजा ये छे श्रेष्ठ माने गये हैं। अपने घर पर ये आवें तो अर्घ्य देकर इनका सम्मान करना चाहिये। जो बहुत दिन अपने साथ रहे हों वे भी अर्घ्य के अधिकारी हो जाते हैं। इस सम्बन्ध से यज्ञ में आये हुए ये सभी राजा हमारे पूजनीय हैं। तुम्हें इन सब को अर्घ्य देकर सम्मानित करना चाहिये। अब विवाद का विषय इतना ही है, कि सर्व प्रथम अर्घ्य किसे दिया जाय। प्राथमिक पूजा का अधिकारी किसे माना जाय। सदाचार ऐसा है कि जो उपस्थित राजाओं में सबसे अधिक सामर्थ्यवान् और श्रेष्ठ हो, सर्व प्रथम उनको अर्घ्य देकर फिर सामान्य रूप से सबको दिया जाय। सहदेव जी ने जो प्रस्ताव किया है वह सर्वथा उचित है। श्रीकृष्ण सामर्थ्य, पराक्रम, नीति, धर्म, कुशलता, युद्धचातुरी, रूप, गुण सौन्दर्य, प्रभाव, ओज, तेज, बल, वीर्य तथा अन्य सभी बातों में सबके श्रेष्ठ हैं। इस समस्त सभा की शोभा श्याम-सुन्दर की समुपस्थिति के ही कारण है, अतः सर्वप्रथम भगवान् वासुदेव की ही पूजा हो, वे ही इसके सर्वोत्तम पात्र हैं।"

यह सुनकर ब्राह्मण ने एक स्वर से कहा—"साधु! साधु! यह सर्वोत्तम बात है, श्रीकृष्ण की ही सर्वप्रथम पूजा होनी चाहिये।" जिन बीस सहस्र राजाओं को भगवान् ने जरासन्ध के बन्दी गृह से छुड़ाया था, वे भी सब चिल्लाकर कहने लगे—'भगवान् की ही सर्वप्रथम पूजा होनी चाहिये। इस कोलाहल में कोई किसी की सुनता ही न था, जो राजा इस प्रस्ताव का

विरोध करना चाहते थे, उनके बहुमत को देखकर इस कोलाहल मे साहस ही न हुआ। वे चुपचाप अपने आसनो पर बैठे रहे। सर्व सम्मति समझकर धर्मराज ने सहदेव से पूजा की समस्त सामग्री श्यामसुन्दर के सम्मुख रखने को कहा। पाँचो भाई एक स्थान पर जुट आये। द्रौपदी भी धर्मराज का अगल मे ही बैठी थीं। आज हम अपने हृदय धन यदुनन्दन की सबके सम्मुख श्रद्धा सहित पूजा करेंगे इस बात के स्मरण आते ही सबके सब रोमाञ्चित हो उठे। धर्मराज तो प्रेम मे ऐसे विह्वल हो गये, कि उन्हें शरीर की भी सुधि नहीं रही। कुरुकुल के समस्त सम्बन्धी भगवान् की पूजा करने को एकत्रित हो गये थे। महाराज के मन्त्री, पुरोहित सुन्द तथा अन्यान्य परिवार वाले भी बैठे थे। उस सभा मे शिव, ब्रह्मा, इन्द्रादिक लोकपाल अपने गणो के साथ विराजमान थे, गन्धर्व, विद्याधर, सर्प, यक्ष, राक्षस, मुनि, किन्नर पक्षी तथा सिद्धचारणादि सभी समुपस्थित थे। भगवान् की पूजा देखकर सभी प्रमुदित हो रहे थे। भाइयो की सहायता से धर्मराज ने प्रभु के पादो का प्रक्षालन किया और उस भुवन पावन पादोदक को प्रेमपूर्वक सिर पर चढाया। फिर अर्घ्य आचमनीय, स्नानीय जल देकर यज्ञोपवीत सहित दो रेशमी पीताम्बर तथा बहुमूल्य आभूषण उन्हें अर्पण किये। चन्दन, अक्षत पुष्प, पुष्पमाला, धूप, दीप नैवेद्यादि से उनकी विधिवत् पूजा की। उस समय धर्मराज की विचित्र दशा थी। प्रेम के कारण वे अधीर हो रहे थे। कर थर थर काप रहे थे। पुरोहित कुछ वस्तु उठाने को कहते उठा कुछ लेते। वे चन्दन लगाने को कहते आप अक्षत छींटने लगते। वे श्यामसुन्दर के त्रिभुवन रूप को नयन भर के निहारना चाहते थे, किन्तु नयनो मे निरन्तर नीर भरा रहने से वे भगवान् के भली भाँति दर्शन भी न कर सके। उन्हें सभा की कोई भी वस्तु स्पष्ट दिखायी नहीं दे रही थी। सभा मे सर्वत्र

आनन्दोल्लास छाया हुआ था। सभी गगन भेदी जय घोष कर रहे थे, आकाश से सुरगण कल्पवृक्ष के कुसुमों की अनवरत वृष्टि कर रहे थे। समस्त प्रजा के जन हाथ जोडे नयनो से नेह-का नीर बहाते हुए, सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बार-बार "जय हो जय हो, धन्य धन्य, नमोनमः नमोनमः" ऐसे शब्द कर रहे थे, उस कोलाहल में किसी की कोई बात सुनना ही नहीं था। धर्म राज आत्म विस्मृत बने यन्त्रवत् पूजा कर रहे थे। वे ऐसी कोई वस्तु देख ही नहीं रहे थे, जिसे भगवान् के अर्पण कर सके। और कुछ न देखकर उन्होंने अपना शरीर ही श्यामसुन्दर को अर्पित कर दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस सभा मे और तो प्राय· सभी प्रसन्न थे सन्तुष्ट थे, किन्तु चेदि देश का राजा दमघोष का पुत्र शिशुपाल ईर्ष्या के कारण जल रहा था। वह श्रीकृष्ण का इतना सम्मान सहन नहीं कर सकता था। मारे क्रोध के उसके अग अग स चिनगारियाँ सी निकल रही थीं। उसके नेत्र लाल लाल हो रहे थे। रोष में भरकर वह दाँतो से ओठ काट रहा था, जब श्रीकृष्ण की पूजा हो ही रही थी, तभी उसे सहन न करके वह अपने आसन से उठ खडा हुआ और सबको डाँटकर शान्त करता हुआ, भगवान् को खरी खोटी, जली कटी बातें सुनाने लगा। उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

बोले उठि सहदेव—'सभा महँ श्याम विराजें।
नभ महँ उडगन मध्य शरद शशिसम हरि भ्राजें॥
ये ही जग के पूज्य प्रथम पूजा अधिकारी।
अखिल भुवनपति सकल चराचर के दुखहारी॥
करयो समरथन पितामह, साधु साधु सबई कहत।
धरमराज के प्रेमवश, नेह नीर नयननि झरत॥

भगवान् के प्रति शिशुपाल की दुरुक्तियाँ

(११५२)

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठाद्,
उत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी,
सश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ७४ अ० ३० श्लोक)

छप्पय

पाडव कृष्णा सहित सुनत अति भये सुखारे ।
पूजन प्रभु को करयो प्रेम तैं पाद पखारे ॥
पूजा विधि सब भूलि करें कछु कछू बतावें ।
कहि न सकें कछु बात कँपें कर हिय हुलसावें ॥
प्रभु पूजा शिशुपाल लखि, बोल्यो कृष्ण अयोग्य अति ।
जाति, वरन, कुल तैं रहित, कपटी कायर मन्दमति ॥

मनुष्य क्या है, भावों का एक थेला है । इसके भीतर सद्-भाव और दुर्भाव ठूँस कर भरे हैं । कोई भी ऐसा नहीं जिसके

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! इस प्रकार दमघोष का पुत्र शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के गुणों का तथा उनके सुयश का वर्णन सुनकर अपने आसन से उठ खड़ा हुआ । वह अत्यन्त कुपित होकर सभा में हाथ उठाकर तथा निर्भीक होकर भगवान को अत्यन्त कठोर वचन सुनाता हुआ कहने लगा ।"

भीतर सद्भाव, दुर्भाव दोनों न हो। सज्जनों के सद्भाव ही प्रकट होते हैं, दुर्भाव दबे रहते हैं। उसी प्रकार दुर्जनों के सद्भाव दबे रहते हैं। दुर्भाव प्रकट रहते हैं। हृदय के भाव मुख पर स्पष्ट झलकने लगते हैं। जैसी वस्तु सम्मुख आ जायगी मन उसी के भाव में भावित हो जायगा और उसकी झलक मुखमंडल पर छा जायगी। अपने अत्यंत प्यारे को देखते ही हृदय खिल उठता है, रोम-रोम से आनन्द उमड़ने लगता है। आँखें चमकने लगती हैं और अनुराग टपकने लगता है। इसके विपरीत कोई अपने से द्वेष करने वाला, क्रूर, द्वेषी आ जाय तो हृदय में घृणा उत्पन्न हो जाती है। मुख मण्डल रोष, घृणा और द्वेष से लाल हो जाता है। जो ईर्ष्यालु होते हैं, वे दूसरों की उन्नति देखकर जलने लगते हैं। उस समय वे बड़े ही वीभत्स बन जाते हैं। उसके अंग-अंग से घृणा, द्वेष, हिंसा, क्रूरता निकलने लगती है उस समय उनके भीतर जितना द्वेष भरा रहता है, उसे वाणी द्वारा व्यक्त कर देते हैं। यह प्राणी भावों द्वारा ही जीवित है। मृतक संज्ञा उसी की है, जिसके मुख पर भावों का आना जाना बन्द हो जाय। एक आदमी सुन्दर है, आकर्षक है, मनोहर है, किन्तु जब वह क्रोध में भर जाता है, तो उसकी आकृति कैसी भयंकर हो जाती है। हृदय में काम भाव उत्पन्न होने पर स्त्री पुरुषों की जैसी चेष्टाएँ हो जाती हैं। वे मुख से स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं। एक डाकू है, हत्यारा है, किन्तु वह भी जब अपनी प्रिया से मिलता है तो उसके हृदय में प्रेम जागृत हो जाता है। उसकी बोल-चाल में चितवन में बातों में प्रेम की झलक स्पष्ट दिखायी देती है। ऐसे ही जिसके प्रति जन्म जात घृणा है, उसका मान सम्मान अभ्युदय तथा उत्कर्ष देखकर शरीर बिना अग्नि के भस्म होने लगता है। सामर्थ्य रहने पर उसका अनिष्ट करने के लिये सब प्रयत्न करता है, उसकी उचित अनुचित सब प्रकार से निन्दा

करके द्वेषी पुरुष जनमत को अपनी ओर करने का प्रयत्न करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा भगवान् श्यामसुन्दर की अग्रपूजा होते देखकर सभी आनन्द मे विभोर हो रहे थे। सभी का हृदय प्रफुल्लित हो रहा था। किन्तु उन राजाओं मे एक भगवान् का तीन जन्म का शत्रु भी बैठा था। वह था चेदि देश के राजा दमघोष का पुत्र शिशुपाल। वैसे तो वह जन्म से पैदा हुआ था तभी से भगवान् से द्वेष मानता था। अपराजित भगवान् को पराजित करने के ही निमित्त वह महाबली जरासध का सेनापति बना था, किन्तु जबसे भगवान् उसकी भावी पत्नी रुक्मिणीजी को बलपूर्वक हर लाये और वह दुलहा बना रिक्त-हस्त घर लौटा, तबसे उसका द्वेष पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। वह जिस किसी प्रकार भगवान् के अनिष्ट करने पर तुला था, किन्तु भगवान का कोई अनिष्ट कर ही क्या सकता है। वे तो सबके परम इष्ट हैं। जरासन्ध के मारे जाने पर उसका उत्साह भग हो गया, उसने धर्मराज के राजसूययज्ञ का अनिच्छा पूर्वक समर्थन किया और यज्ञ मे सम्मिलित भी हुआ। उसे आशा थी, जरासध के मरने पर अब ससार मे सर्वश्रेष्ठ राजा मैं ही हूँ। राजसूययज्ञ मे राजाओं के बीच मे अग्रपूजा मेरी ही होगी, किन्तु पूजा के समय, उसने जो सोचा था उसके सर्वथा विपरीत ही हुआ। उसके शत्रु श्रीकृष्ण की प्रथम पूजा हुई। इससे उसके रोष का वारापार नहीं रहा। उसके रोम रोम स द्वेष की चिनगारियाँ निकलने लगीं। भगवान् की ऐसी महती पूजा, इतनी भारी प्रशसा और प्रतिष्ठा देखकर द्वेष और ईर्ष्यावश उसका अन्तःकरण जलने लगा। वह क्रोध में भरकर अपने सिंहासन से उठकर खडा हो गया। उसने डाँटकर सबसे कहा—"चुप हो जाओ, कोई एक शब्द भी मत बोलो, बाजे बन्द कर दो। मे भरी सभा

मे राजाओ का इतना अपमान सहन नहीं कर सकता। जिस सभा म घार अन्याय होता हे, उसमें असमर्थ आदमी को एक

क्षण भी नहीं बेठना चाहिये और समर्थ पुरुष का उस अन्याय का शक्ति भर विरोध करना चाहिये। में सामर्थ्यवान् हूँ, शक्ति

शाली हूँ, मैं इस अन्याय का विरोध करूँगा आशा है सब राजा मेरा समर्थन करेंगे।"

शिशुपाल की भयंकर दहाड़ को सुनकर सब के सब सन्न हो गये। बाजे बजने बन्द हो गये, सबके सब उसी के मुख की ओर देखने लगे। सब सोचने लगे—"यह क्या कहेगा, किस बात का विरोध करेगा।" इतने में ही शिशुपाल सूखी हँसी हँसकर बोला—"सभा में समुपस्थित सभापति, सदस्य तथा अन्यान्य नृपति गण! आप मेरी बात को धैर्य के साथ सुनें मैं जो कहना चाहता हूँ, उस पर आप सब गम्भीरता पूर्वक विचार करें। भावुकता वश, अथवा भय, लोभ और संकोच वश उसे यों ही टाल न दें।"

इस पर एक राजा ने कहा—"आप इतनी बड़ी भूमिका क्यों बाँध रहे हैं, जो बात कहनी हो उसे कहिये।"

सूखी हँसी हँसकर शिशुपाल ने कहा—"क्या कहें, कुछ कहा नहीं जाता। समय बड़ा बलवान् है। इसका पार पाना बड़ा कठिन है, कभी पैर की जूतियों की धूलि उड़कर सिर पर चढ़ जाती है। कभी सुन्दर सुमन पैरों तले कुचल दिये जाते हैं। जिन का सम्मान होना चाहिये उन्हें कोई पूछता भी नहीं और जो सम्मान के सर्वथा अयोग्य हैं उनकी सबके सम्मुख निर्लज्जता पूर्वक पूजा हो रही है और कुलीन छत्रपति राजा भयवश इसका विरोध भी नहीं करते। टुम्म-टुम्म एक दुसरे के मुख की ओर देख रहे हैं। इस सभा में बड़े-बड़े वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध, तथा कुल ऐश्वर्य वर्ण और प्रभाव वृद्ध पुरुष बैठे हुए हैं। किन्तु न जाने क्यों सबकी बुद्धि विपरीत हो गयी है, कोई बोलता ही नहीं अन्याय का विरोध करने की मानों किसी में सामर्थ्य नहीं, मैं देख रहा हूँ यहाँ पर आप जितने सभापति समुपस्थित हैं, सब के सब सत्पात्रों की परीक्षा करने में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप सब

जानते हैं कौन श्रेष्ठ है और कौन कनिष्ठ। इस यज्ञ में अग्रपूजा किसकी होनी चाहिये इस विषय में आप सब फिर से विचार करें। इस छोकरे सहदेव के कहने से ही भ्रम में न पड जायँ। मैं सहदेव के इस प्रस्ताव का पूर्ण शक्ति के सहित घोर विरोध करता हूँ। मैं इस कुल कलङ्क गोपाल कृष्ण की अग्रपूजा को कभी सहन नहीं कर सकता। जिस सभा में अपूज्य पुरुष की पूजा होती है, तथा पूज्य पुरुषों का तिरस्कार होता है, उस सभा में अन्याय होता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। युधिष्ठिर ने हम सब राजाओं को बुलाकर हमारा घोर अपमान किया है, हम ऐसी सभा में एक क्षण भी रहना नहीं चाहते। राजा लोगो! तुम्हें धिक्कार है, जो तुम छत्र चँवर धारी होकर भी अपने सम्मुख एक ग्वाले की पूजा देख रहे हो और उसका विरोध नहीं करते। ऐसी सभा से उठ चलो, ऐसे यज्ञ का विरोध करो, पाडवों के पक्ष के राजाओं को मार डालो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर और क्रोध में भर कर शिशुपाल अपने आसन से उठकर चल दिया। कुछ उसके अनुयायी राजा भी उठने लगे। धर्मराज ने देखा, यह तो यज्ञ में बडा भारी विघ्न हुआ। उन्होंने तुरन्त दौडकर शिशुपाल को पकड़ लिया और बडी विनय के साथ बोले—"अरे, भैया! ऐसा मत करो। मैंने तो सबकी सम्मति से श्यामसुन्दर की पूजा की है। तुम भागते क्यों हो? बैठो, बात बताओ।"

क्रोध में भरकर खड़े-खड़े ही शिशुपाल बोला—"युधिष्ठिर! तुम्हें सब लोग धर्मात्मा कहते हैं। मैं भी तुमसे स्नेह करता हूँ। स्नेह न करता तो मैं तुम्हारे यज्ञ में आता ही क्यों? मैंने जो तुम्हें धन, रत्न तथा अन्यान्य वस्तुएँ दी हैं, वे डरकर या कर भेंट के रूप में थोड़े ही दी हैं। मैंने तो तुम्हारे शुभकाम में सहायता दी है। उसका परिणाम यह हुआ, कि तुम हम राजाओं का अप-

मान करने लगे। कृष्ण में क्या योग्यता है, जो तुम इसकी सर्व प्रथम पूजा कर रहे हो।

देखो, यह राजाओं की सभा है, इसमें तुम्हें यज्ञ में आये समस्त राजाओं में से किसी सर्वश्रेष्ठ राजा की पूजा करनी थी। तुम धर्मपूर्वक बताओ, वृष्णि वंश में आज तक कोई छत्र चँवर धारी राजा हुआ है? यह कुल तो महाराज ययाति के शाप से शापित है। इसलिये कृष्ण कोई राजा नहीं है? फिर तुमने कृष्ण की पूजा क्यों की? तुम कहो, हम तो श्रेष्ठ क्षत्रिय की पूजा करना चाहते है, तो यादवों की गणना तो क्षत्रियों में है ही नहीं ये तो क्षत्रियों से बहिष्कृत हैं? फिर तुमने कृष्ण की पूजा क्यों की? तुम कहो, कि हमें तो अपने किसी श्रेष्ठ सम्बन्धी की पूजा करनी थी, तो इसके लिये वयोवृद्ध महाराज द्रुपद समुपस्थित हैं, इनकी पूजा करते, हमें कोई आपत्ति नहीं थी। ऐसे श्रेष्ठ सम्बन्धी को छोडकर राज्यहीन कृष्ण को आपने अग्रपूजा का सम्मान क्यों दिया? तुम कहो, कि द्रुपद से तो हमारा पत्नी द्वारा सम्बन्ध है, हम तो मातृकुल के सम्बन्ध से पूजा करना चाहते थे, तो तुम्हारी माता के भाई तुम्हारे मामा वसुदेवजी उपस्थित थे, उनकी पूजा करते, उनके भी श्वसुर उग्रसेन उपस्थित थे, उनकी ही पूजा करते। मद्र देश के महाराज शल्य उपस्थित थे उनकी पूजा करते। मामा के पुत्र की ही पूजा करनी थी, तो कृष्ण से बडे बलदेव उपस्थित थे, उनकी पूजा करते। इन सब श्रेष्ठ सम्बन्धियों की पूजा न करके तुमने कृष्ण की पूजा क्यों की?

तुम कहो, कि हमें तो जो अस्त्र शस्त्रों में सबसे श्रेष्ठ हो, धनुर्वेद का आचार्य हो उसकी पूजा करनी है, तो ये द्रोणाचार्य जी कृपाचार्य जी, अश्वत्थामा जी तथा अन्यान्य धनुर्वेद विशारद आचार्य उपस्थित थे, इन सबका तिरस्कार करके आपने इस डरपोक भगोडे कृष्ण की पूजा क्यों की? आप कहे कि हमें तो

कुल वृद्ध की पूजा करनी थी, तो तुम्हारे ही कुल में सब से वृद्ध भीष्म पितामह समुपस्थित हैं। जिन्होंने रण में परशुराम जी को भी परास्त किया, मृत्यु जिनके वश में है उनको छोड़कर कुल के छोकरे कृष्ण को चुना। बड़े बड़े तपस्वी, विद्वान् व्रती निष्कल्मष ब्रह्मनिष्ठ, लोकपालों से भी पूजित यज्ञ के बहुत से सदस्यपतियों का अतिक्रमण करके गुण हीन कृष्ण को आपने पूजा का पात्र कैसे समझा? तुम कहो कि हम तो यज्ञ के ऋत्विज, यज्ञ के समस्त सभार जुटाने वाले की पूजा करनी थी, तो भगवान् व्यास बैठे थे, तुम्हारे पितामह हैं उनकी पूजा करते। तुम कहो हमें तो सबसे बली की पूजा करना थी, तो बलदेव, दुर्योधन कर्ण, तथा अश्वत्थामा जगत् विख्यात बलियों की उपस्थिति में निर्बल कृष्ण को आपने इतना अधिक सम्मान क्यों दिया? मूर्धाभिषिक्त राजाओं के रहते राज चिन्हों से हीन कृष्ण की पूजा करना सब का तिरस्कार करना है।

मान लो तुम से भूल हो भी गयी, तुम सहदेव और भीष्म की बात में आ भी गये, तो इस कृष्ण को तो इस अनुचित पूजा को स्वीकार करना ही न चाहिये था। इसे कह देना चाहिये था, मैं इसका अधिकारी नहीं हूँ। इस पूजा से इसका मान नहीं हुआ अपमान ही हुआ है। जैसे नकटी स्त्री को नथ देना, नेत्र हीन को दर्पण दिखाना, नपुंसक का विवाह करना, बाँह कटे का ककण देना तथा बहरे को संगीत सुनाना उसका अपमान करना है। कृष्ण को अग्रपूजा करना उसी प्रकार असंगत है, जैसे यज्ञ की हवि को कौए को देना, देवता के निमित्त बनी खीर को कुत्ते को चटाना। अन्नकूट के लिए बने पदार्थों को गधे को खिलाना। तुम लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, भीष्म सठिया गये हैं, जिस सभा में ऐसा अन्याय अधर्म होता हो उसमें मैं एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहता।

धर्मराज ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ शिशुपाल को प्रेम पूर्वक समझाते हुए कहा—"देखो, भैया ! शिशुपाल ! तुम्हें श्रीकृष्ण को न तो इस प्रकार कठोर वचन ही कहने चाहिये और न वयोवृद्ध श्री भीष्म पितामह का इस प्रकार अपमान ही करना चाहिए। अच्छा, तुम ही सोचो यहाँ इस सभा में तुम से अवस्था में, पद प्रतिष्ठा में विद्या बुद्धि में बड़े बहुत से राजा हैं। किसी ने भी इस बात का विरोध नहीं किया। इसलिये तुम्हें भी विरोध करके हमारे यज्ञ में विघ्न न डालना चाहिए। आपको जो कहना हो, बैठकर कहो, फिर जैसी सबकी सम्मति हो, उसे तुमको स्वीकार कर लेना चाहिये।"

क्रोध में भरकर शिशुपाल ने कहा—"कोई भयवश भले ही विरोध न करे, किन्तु यह बात सबको बुरी लगी है। बुरी लगने की बात ही है, तुम्हें धनमद हो गया है। भीष्म भी तुम्हारी लल्लो चप्पो में लगे हैं। जहाँ ऐसा अन्याय, अधर्म, पाप, पक्ष-पात, तथा महापुरुषों का अपमान होता हो, वहाँ मैं एक क्षण भी रुकना नहीं चाहता। मैं शक्ति भर इसका विरोध करूँगा और तुम्हारे यज्ञ को पूरा न होने दूँगा।"

यह सुनकर भीष्म पितामह को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने क्रोध में भरकर धर्मराज से कहा—"युधिष्ठिर ! तुम इस नीच की इतनी विनय क्यों कर रहे हो। यह तो दुष्ट है, इसे मैं जन्म से ही जानता हूँ, यह श्रीकृष्ण का द्वेषी है, निन्दक है, अधम है, अभिमानी है, निर्लज्ज है। इसे जाने दो। जब यह बात सुनना ही नहीं चाहता तो इसकी जो इच्छा हो सो करे। इस गीदड़ के चले जाने से क्या हमारा यज्ञ पूरा न होगा। यदि यह बैठकर मेरी बात सुने तो मैं इसे बताऊँ, कि श्रीकृष्ण यज्ञ के ही स्वामी नहीं सम्पूर्ण चराचर विश्व के स्वामी हैं। यज्ञों में आगे पीछे, मध्य में तथा सब समय इनकी ही तो पूजा होती है।"

यह सुनकर शिशुपाल फिर अपने आसन पर बैठ गया और क्रोध में भरकर बोला—"इस बूढ़े ने ही सब गुड गोबर किया है। इसी ने धर्मराज की बुद्धि भ्रष्ट कर दी है। यह इस अहीर के छोकरे को परब्रह्म बताता है। यदि यह बूढा, कृष्ण को ईश्वर मानता है, तो अपने घर में बैठकर मानता रहे। राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण की अग्रपूजा, नीति, धर्म, सदाचार तथा शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है।"

भीष्म पितामह ने कहा—"तैंने यदि शास्त्रों को पढ़ा होता और वृद्धजनों की सेवा की होती, तो तू ऐसी भूली-भूली बातें कभी न करता। श्रीकृष्ण धर्म से नीति से सदाचार तथा शास्त्र से सभी प्रकार अग्रपूजा के अधिकारी है। उनकी ईश्वरता को छोड़ भी दें तो भी वे यहाँ उपस्थित समस्त राजाओं के गुरु हैं। ब्राह्मणों में विद्या के कारण श्रेष्ठता है। ब्राह्मण अवस्था में चाहे छोटा हो, किन्तु विद्या में बडा हो, तो वह वृद्धों का भी पूजनीय है। वैश्यों में बडाई धन के कारण मानी जाती है, जो धनी है वह बडा है, शूद्रों में बडप्पन अवस्था के कारण माना गया है और क्षत्रियों में बडाई बल से होती है। जो सबसे अधिक बली है क्षत्रियों में वही सर्वश्रेष्ठ है। जो क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय को युद्ध में हराकर छोड देता है, वह हारे हुए का गुरु होता है। आज पृथ्वी का कोई क्षत्रिय कह दे वह युद्ध में श्रीकृष्ण से नहीं हारा है। यदि किसी को अपने बल का अभिमान हो तो वह अब भी श्रीकृष्ण के सम्मुख आ जाय। जब इन्होंने सब राजाओं को जीतकर छोड दिया है तो ये सबके गुरु हैं और अग्रपूजा के सर्वोत्तम अधिकारी हैं। जिसे इनकी गुरुता मान्य न हो, वह प्रसन्नता पूर्वक हमारे यहाँ से चला जा सकता है और उसकी जो भी इच्छा हो वह कर सकता है।"

यह सुनकर क्रोध में भरकर शिशुपाल बोला—"श्रीकृष्ण

कपटी है, उसने जरासन्ध को कपट से मरवा दिया है। श्रीकृष्ण भीरु है, वह जरासन्ध के भय से मथुरा छोड़कर परिवार सहित समुद्र के बीच में छिपा रहता है। मैं डंके के चोट पर कहता हूँ, श्रीकृष्ण राजसूय यज्ञ में अग्रपूजा का किसी भी प्रकार अधिकारी नहीं। यदि उसकी अग्रपूजा होगी, तो हम युद्ध करेंगे, लड़ेंगे यज्ञ को विध्वंस करेंगे, सब को मार डालेंगे, किन्तु कृष्ण की पूजा नहीं होने देंगे।"

भीष्म पितामह ने कहा—"हम किसी की गीदड़ भभकियों में आने वाले नहीं हैं। ये बन्दर घुड़कियाँ कहीं अन्यत्र दिखाना हमने श्रीकृष्ण का पूजन किसी उपकार के लक्ष्य में, डरकर, भूल से अथवा भ्रमवश नहीं किया है। हमने इन्हें सर्वश्रेष्ठ मानकर पूजा का सर्वोत्तम पात्र समझकर यह सम्मान दिया है। ये वीरता, विद्वता, निपुणता, धन, बल, यश, श्री, ह्री, लज्जा, कीर्ति, नम्रता, धृति, तुष्टि, पुष्टि, बुद्धि, रूप, गुण, तथा ज्ञान में सबसे अधिक श्रेष्ठ हैं। पूजा की सम्पूर्ण पात्रतायें इनमें ही एक साथ विद्यमान हैं। ये हमारे गुरु हैं, सगे सम्बन्धी हैं, स्नातक हैं, ऋत्विज हैं, राजा हैं, आचार्य हैं कहाँ तक कहें ये ही हमारे सर्वस्व हैं। हमारे ही नहीं तीनों लोकों के ये ईश्वर हैं। हम ने इनकी पूजा की है कर रहे हैं और जब तक जीवेंगे तब तक करते रहेंगे। हमने सब की सम्मति ले ली है, यदि शिशुपाल को भगवान की पूजा प्रिय नहीं है, तो उसे जो उचित जान पड़े निःशंक होकर करे।

इतना सुनते ही सहदेव आवेश में उठकर खड़े हो गये और गरज कर बोले—"श्रीकृष्ण हमारे गुरु, पिता, आचार्य, रक्षक तथा सर्वस्व हैं। जो राजा उनकी पूजा को सहन नहीं कर सकता उसके सिर पर हम अपना पैर रखते हैं। यदि किसी में बल हो, साहस हो तो हमारी चुनौती का उत्तर दे।"

यह सुनकर धर्मराज ने सहदेव को घुड़कते हुए कहा—"सहदेव ! भाई ! तुम्हारे बिना बोले भी काम चल सकता है। पितामह कह तो रहे हैं। भैया ! हम तो पितामह के अधीन हैं, हमें वे जैसी आज्ञा देंगे करेंगे।"

गरजकर पितामह बोले—"युधिष्ठर ! तुम यह बार-बार क्या अड़ंगा लगाते हो। सत्य बात तो कहनी ही चाहिये। सहदेव यथार्थ ही कह रहा है, उसे तुम मत रोको। तुम पूजा करो, जो कोई पूजा में विघ्न डालेगा उसे मैं अकेला देख लूँगा।"

यह सुनकर धर्मराज नीचा सिर करके फिर भगवान् की पूजा करने लगे। भगवान् निरपेक्ष भाव से चुप बैठे थे, वे न तो शिशुपाल की बात का कुछ उत्तर देते न भीष्म आदि को ही रोकते। वे पृथ्वी पर बीच-बीच में लकीर खींचते जाते थे। शिशुपाल क्रोध में भरा हुआ आपे से बाहर हो रहा था। वह निरन्तर भगवान् को गालियाँ दे रहा था। वह भीष्म को खरी खोटी कह-कह कर भगवान् की निन्दा कर रहा था। वह कहता था—"भीष्म नपुंसक है, यह कृष्ण की भाटों की भाँति प्रशंसा कर रहा है, इसी ने पांडवों से श्रीकृष्ण की पूजा करायी है। अग्रपूजा की बात तो पृथक रही कृष्ण इस राज सभा में बैठने योग्य भी नहीं, यह वर्ण, आश्रम तथा कुल से बहिष्कृत है। यह धर्म की मर्यादा से रहित है, रण छोड़कर भागने वाला भगोड़ा है। स्वेच्छाचारी है, बैल (वृषभासुर) को मारने वाला है स्त्री (पूतना) को मारने वाला है, मनमाना बर्ताव करने वाला है, इसका समस्त कुल शापित है, सत्पुरुषों की सभा में यह बैठने के अयोग्य है। इसके कुल के सब सुरापी हैं। यह और इसके कुल के लोग डाकू और लुटेरे हैं। मथुरा जैसे ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित पवित्र देश को छोड़कर ये लोग डरकर भागकर समुद्र के बीच में रहते हैं। ये प्रजा को पीड़ा देते रहते हैं। कृष्ण छलिया है, बहुरूपिया है।

दास और नीच भगोड़ा समझकर जरासन्ध इससे नहीं लड़ा था, तब इसने छल, बल, कला, कौशल तथा अन्याय से उसे मरवा डाला। यदि यह भगवान् था सर्व समर्थ था, तो छिपकर क्यों गया? इसने ब्राह्मणों का-सा बनावटी वेष क्यों बनाया? इसमें बल नहीं, वीर्य नहीं। यह पेटू है। गोवर्धन पूजा के समय यह बहुत अन्न खा गया था। इसी से इसे बड़ा अभिमान हो गया है। यह राजाओं में पूजा पाने के सर्वथा अयोग्य है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार शिशुपाल भगवान को अनगिनती गालियाँ दे रहा था, किन्तु भगवान् उन सब गालियों को चुपचाप गिनते जाते थे। एक गाली देता तुरत वे एक लकीर कर देते। वह भरी सभा में न तो लज्जित ही होता था न किसी का कुछ शील संकोच ही करता था। निरन्तर बकता ही जा रहा था क्योंकि उसका मङ्गल नष्ट हो रहा था। मृत्यु उसके सिरपर नाच रही थी। काल उसे प्रेरित कर रहा था। जो अत्यन्त भगवद् भक्त राजा थे, वे शास्त्र के इस वचन को स्मरण करके कि जो पुरुष भगवान् तथा भगवद्भक्तों की निन्दा सुनकर वहाँ से दूर नहीं हट जाता, उसके भी शुभकर्म नष्ट हो जाते हैं और वह नीच गति को प्राप्त होता है।" वहाँ से कान मूँदकर उठकर अन्यत्र चले गये।

पाडवों से सहन न हुआ। वे भगवान् की ऐसी निन्दा सुनकर क्षुब्ध हुए। विशेष कर भीमसेन के तो रोम-रोम से चिनगारियाँ-सी निकलने लगीं। वे गदा लेकर शिशुपाल की ओर मारने दौड़े। तब भीष्म पितामह ने उठकर उन्हें पकड़ लिया और कहा "भीम! इसकी मृत्यु भगवान् के ही हाथ से है। तू इसे मत मार। कुछ ही क्षणों में तू इसे यहाँ मरा ही हुआ देखेगा। अब यह अपने आपे में नहीं है। यह अपने आप कुछ नहीं कह रहे। कालरूप श्रीकृष्ण ही इसे ऐसा कहने के लिये प्रे

रहे हैं। जैसे सन्निपात में भरकर मनुष्य अट संट बकता है, वही दशा इसकी हो रही है। भगवान् वासुदेव सब जानते हैं, इसीलिये वे मौन हैं।"

इस पर शिशुपाल और भी अधिक कुपित हुआ और बोला—"मैं न तो कृष्ण से डरता हूँ, न पांडवों से, मुझसे पाडव चाहे एक-एक कर के लड लें या सब मिलकर युद्ध कर लें मैं सब प्रकार से लडने को तैयार हूँ। भीष्म! तुम इस भीम को छोड तो दो। इसे अपने बल का बडा अभिमान है। आज मैं इसके अभिमान का नाश कर दूँगा।"

सूखी हँसी हँसकर भीष्म पितामह ने कहा—"शिशुपाल! क्या करूँ भगवान् वासुदेव मुझे रोक रहे हैं, नहीं तो मैं तुझे अभी बता देता। तेरी यह जो जीभ कतरनी की भाँति चल रही है उसे अभी काट लेता।सब के सम्मुख तेरा सिर धड से पृथक् होकर उछलता। अच्छी बात है, तू अभी जितना चाहे बडबडा ले।"

इस पर शिशुपाल ने कहा—"कृष्ण कपटी है चोर है ठग है, इसकी पूजा मैं नहीं होने दूँगा, कभी भी न होने दूँगा। ये सभी राजा, मेरे पक्ष में हैं, इन सबका मैं सेनापति बनकर युद्ध करूँगा।"

यह सुनकर अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव, मत्स्य देश के राजा केकय तथा सृञ्जय देशीय राजा अपने-अपने अस्त्र शस्त्र लेकर युद्ध के लिये खडे हो गये। वे सब के सब शिशुपाल को मार डालना चाहते थे। किन्तु बीच में ही खडे होकर भगवान् ने सब को रोक दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे भगवान् शिशुपाल का वध करेंगे, उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

जनम भूमि तजि भग्यो ठग्यो मगधेश्वर छल तैं।
कोई जीत्यो नहीं भूमिपति जाने बल तैं॥
क्षत्रियकुल तैं हीन दीन अति जाकूँ प्यारे।
धनी न मानी जाहि निहारें वैभव वारे॥
अड बड बहुकाल तक, बकत रह्यो शिशुपाल जब।
दौरे पाडव हनन हित, रोकि कहें घनश्याम तब॥

शिशुपाल वध

[११५३]

तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा ।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७४ अ० ४३ श्लोक)

छप्पय

बूआ मेरी श्रुतश्रवाको सुत यह पापी ।
तीन नयन भुज चारि सहित जनम्यो संतापी ॥
तब नभवानी भई गोद जाकी महँ जावे ।
गिरें नयन कर वही जाहि परलोक पठावे ॥
मेरी गोदी महँ गिरे, करी विनय बूआ बहुत ।
दयो ताहि वर दयावश, क्षमा करहु अपराध शत ॥

जिसे यह दृढ विश्वास हो जाता है कि जीव अवश है, वह प्रभु प्रेरणा से ही समस्त चेष्टायें करता है, तो फिर वह दुख मे सुख मे, हानि मे लाभ मे, शुभ मे अशुभ मे, पुण्य में पाप में, जय में पराजय मे सदा सम बना रहता है । फिर उसे किसी बात से उद्-वेग नही होता । जब यह ध्रुव सत्य है कि प्रभु की इच्छा के बिना

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! उसी समय तुरन्त उठकर भगवान् ने अपने सुहृदो को रोका और अपने ऊपर आक्रमण करने वाले शिशुपाल के सिर को तीक्ष्ण धार वाले अपने चक्र से स्वय ही काट दिया ।'

एक पत्ता भी नहीं हिलता, तब कोई निन्दा और स्तुति करने में स्वतन्त्र कैसे हो सकता है। भगवान् जिससे निन्दा कराते हैं, वह अवश होकर निन्दा करता है, जिससे स्तुति कराते हैं, वह स्तुति करता है। भगवान् के लिये तो निन्दा स्तुति समान हैं। वे अपने वन्दना करने वालों को भी परम पद देते हैं। और निन्दकों को भी वही गति देते हैं। उनसे किसी प्रकार सम्बन्ध भर हो जाय, फिर तो बेड़ा पार ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब पाडवों के पक्ष के राजाओं ने देखा कि शिशुपाल भगवान् को ऐसी बुरी बुरी गालियाँ दे रहा है, जिनमें से एक को ही सुनकर उसका वध किया जा सकता था, किन्तु भगवान् कुछ बोलते ही नहीं। तब वे सब उसे मारने दौड़े। भगवान् ने सब को रोककर कहा—"भाइयो! आप इस दुष्ट को मारें नहीं। मैं अब तक अपनी बूआ को दिये हुए वर के कारण इसे क्षमा करता रहा। किन्तु अब तो इसका अपराध पराकाष्ठा को पहुँच चुका है।"

इस पर धर्मराज ने कहा—"प्रभो! आपने अपनी बूआ को क्या वर दिया था, आप अब तक चुपचाप क्यों बैठे थे, आपने अभी तक एक शब्द भी क्यों नहीं कहा, आप पृथ्वी पर लकीर क्यों कर रहे थे। कृपया हमारी इन बातों का प्रथम उत्तर दें, तब शिशुपाल को दण्ड दें।

यह सुनकर भगवान् सबको सुनाते हुए मेघ गम्भीर वाणी में धर्मराज युधिष्ठिर को सम्बोधन करके कहने लगे—"धर्मराज! मेरे पाँच बूआ हैं। एक बूआ के तो आप लड़के हैं। एक मेरी श्रुतश्रवा नाम की बूआ का विवाह चेदि देश के महाराज दमघोष के साथ हुआ। उसी के उदर से यह दुष्ट शिशुपाल पैदा हुआ। यह मेरा फुफेरा भाई है। जब यह पैदा हुआ था, तो इसके चार हाथ थे और तीन नेत्र। पैदा होते ही बालकों की भाँति रोया

नहीं गये की भाँति ऐसा था। इसे देखकर मेरे फूफा फूफी तथा अन्यान्य लोग बड़े दुखी हुए। तब आकाशवाणी हुई कि यह बड़ा बली शूरवीर और श्रीमान होगा। आप लोग इससे डरें नहीं। यह इतना बली होगा कि इसे महाकाल के अतिरिक्त कोई भी पुरुष मार नहीं सकता। इसे मारने वाला पृथ्वी पर पैदा भी हो चुका है।

यह सुनकर मेरी बूआ हाथ जोड़कर विनीत भाव से बोली—"जिस देवने हमें यह बात बताई है, वह कृपा करके यह भी बतावें कि इसकी मृत्यु किसके हाथ से होगी।"

तब फिर आकाशवाणी हुई—"जिसकी गोद में जाने से इसका तीसरा नेत्र तथा दो हाथ गिर जायें वही इसे मारेगा।"

यह सुनकर चेदिराज महाराज दमघोष ने सब राजाओं को बुलाया। ऐसे अद्भुत बालक का जन्म सुनकर देश देशान्तरों से नित्य ही बहुत से राजा इसे देखने आने लगे। राजा सबकी गोद में उस बालक को बिठाते, किन्तु किसी की भी गोद में जाने पर इसके हाथ और नेत्र नहीं गिरे। हमने भी यह बात सुनी कि हमारी फूआ के एक ऐसा अद्भुत बालक हुआ है, तो हम और बलदाऊ जी दोनों इसे देखने गये। मेरी बूआ ने मेरी गोदी में भी इसे बिठाया। मेरी गोदी में आते ही इसका एक नेत्र तथा दोनों हाथ गिर गये। यह देखकर मेरी बूआ बहुत डरी और उसने दीनता के साथ कहा—"कृष्ण! तुम दोनों के रक्षक हो, भयभीतों के भय को हरने वाले हो, मेरे ऊपर कृपा रखना। मुझे एक वर दो।"

मैंने कहा—"बूआ! तुम कैसी बातें कर रही हो, हम तो तुम्हारे बच्चे हैं, तुम मुझसे जो कहोगी, वही मैं करूँगा।"

बूआ ने कहा—"भैया, मेरे इस बच्चे के ऊपर कृपा करना

यह कोई अपराध भी करे तो उसे क्षमा कर देना। इसके अपराध की ओर ध्यान न देना।"

मैंने कहा—"बूआ! तुम एक अपराध की बात कहती हो, यह मारने योग्य सौ भी अपराध करेगा, तो मैं इसे क्षमा कर दूँगा। यदि सौ से अधिक इसने अपराध किये, तो फिर मैं इसे क्षमा न करूँगा।"

बूआ ने कहा—"बस भैया! तुमसे यही चाहती हूँ, तुम इसके सौ अपराधों को क्षमा कर देना।"

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र धर्मराज से युधिष्ठिर से कह रहे हैं—"राजन्! यही कारण है, मैं अब तक इसकी सब गालियों को चुपचाप सुनता रहा, मैंने इसकी एक बात का भी न बुरा माना न विरोध ही किया। मैं इसकी प्रत्येक गाली पर एक लकीर करता रहा। आप में से कोई भी आकर इन लकीरों को गिन ले, ये सौ से अधिक हो गयीं। अब मैं अपनी बूआ से की हुई प्रतिज्ञा के बन्धन में नहीं हूँ। अब मैं इसे मार दूँ, तो कोई मुझे दोष मत देना।"

यह सुनकर शिशुपाल खिलखिला कर हँस पड़ा और हँसते-हँसते बोला—"कृष्ण! तू बड़ा बातूनी है। बातें बनाना तो ऐसी जानता है कि भले-भले लोग तेरी बातों में आ जाते हैं। वरदान की व्यर्थ आड़ लेकर तू अपनी कायरता को सिद्ध क्यों कर रहा है। मुझे तेरी कृपा की आवश्यकता नहीं। यदि तुझमें बल वीर्य है, तो आजा, मेरे तेरे दो-दो हाथ हो जायँ। यह कहकर वह भगवान् के ऊपर प्रहार करने दौड़ा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शिशुपाल की ऐसी अभिमान पूर्ण और नीचता से भरी बातों को सुनकर तथा उस अपनी ओर आक्रमण के लिये आते देखकर भगवान् ने उसके ऊपर तीक्ष्ण धारवाला सुदर्शन चक्र छोड़ा। उस चक्र के

उसका सिर धड से पृथक् हो गया। सबने आश्चर्य और विस्मय के साथ देखा, शिशुपाल के शरीर से निकला हुआ तेज भगवान

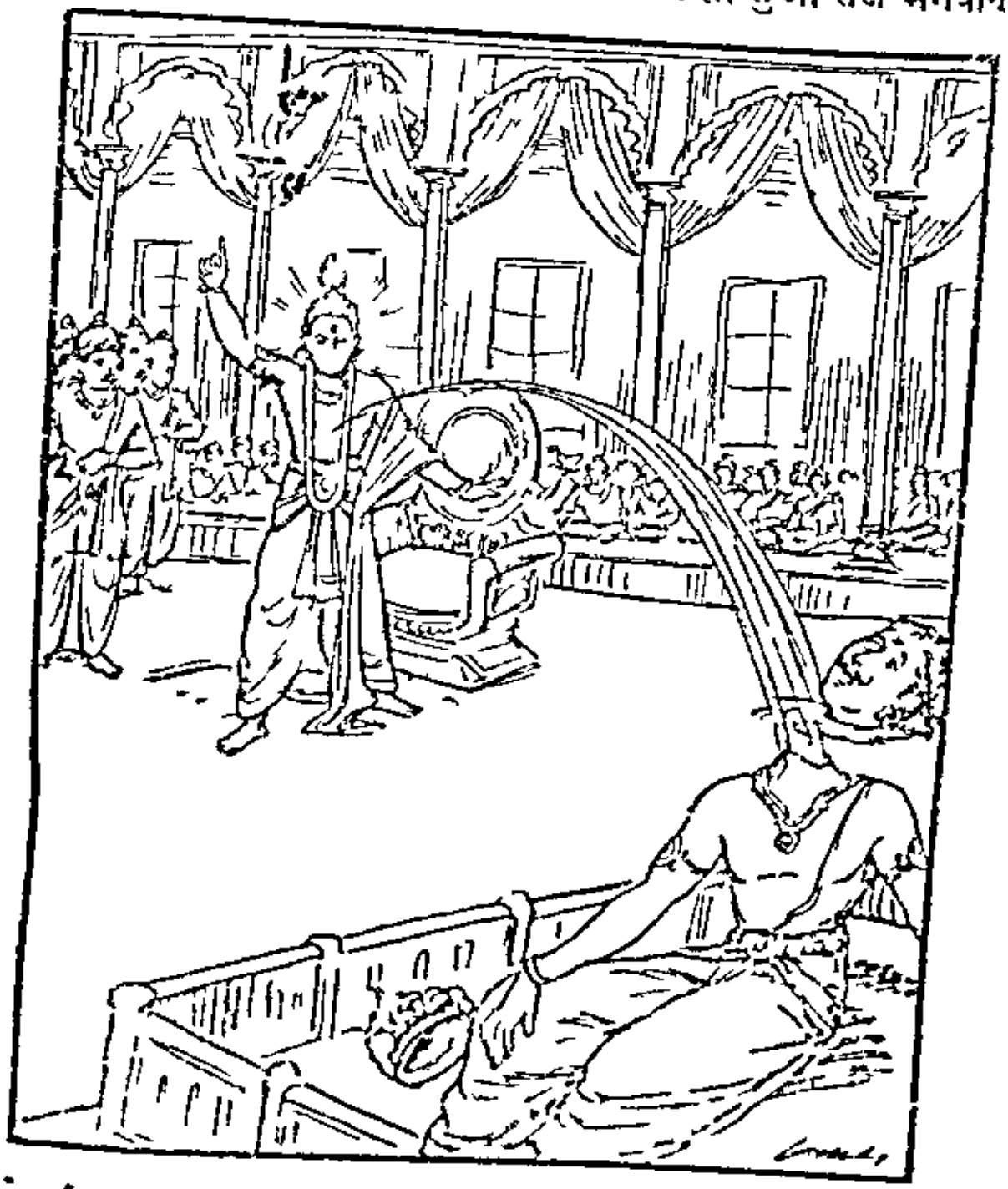

के श्री अङ्ग में ही प्रवेश समा गया, जैसे बिजली भूमि में समा जाती है। छुद्र नदियाँ महानदी में समा जाती हैं और महानदी समुद्र में समा जाती है।"

शिशुपाल के मरते ही वहाँ बडा भारी कोलाहल हुआ, जो राजा शिशुपाल का पक्ष ले रहे थे, वे सब शान्त हो गये, सबकी दृष्टि बचाकर बहुत से वहाँ से खिसक गये। कुछ जो भीतर ही भीतर शिशुपाल की ओर थे, वे भी अपने को पाडवो का हितेषी सिद्ध करने के लिये बार-बार कहने लगे—"यह शिशुपाल बडा धूर्त था, भगवान् वासुदेव ने इसे मारकर बडा ही उत्तम कार्य किया। यह यज्ञ मे विघ्न करने वाला था।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भगवान् से इतना द्वेष करने वाले शिशुपाल की सायुज्य मुक्ति कैसे हुई। क्यों इसका तेज भगवान् के श्रीअङ्ग मे मिल गया?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यह तो भगवान् का द्वारपाल था। क्रुद्ध होकर सनकादि मुनियो ने जय विजय को असुर होने का शाप दिया था और फिर कह दिया था, तीसरे जन्म मे भगवान् के हाथों मरकर फिर तुम वैकुण्ठ मे भगवान के पूर्ववत् पार्षद बन जाओगे। वे जय विजय प्रथम जन्म मे हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु हुए, दूसरे जन्म में रावण कुम्भकर्ण हुए और तीसरे जन्म मे वे ही शिशुपाल और दन्तवक्त्र हुए। शिशुपाल को तो यहाँ धर्मराज के राजसूय यज्ञ मे मारकर भगवान् ने मुक्ति दी, दन्तवक्त्र के वध का वृत्तान्त आगे सुनाऊँगा।"

इस प्रकार बडी धूमधाम से शिशुपाल के बलि के अनन्तर धर्मराज का राजसूय यज्ञ पूर्ण हुआ। उस यज्ञ को देखकर सभी प्रसन्न हुए। केवल दुर्योधन को ही उसे देखकर अत्यन्त दुःख हुआ। महाराज ने यज्ञान्त अवभृत स्नान भी बड़े उत्साह के साथ किया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमें धर्मराज के राजसूय यज्ञ के अवभृत स्नान का भी वृत्तान्त सुनावें और को भी बतावें कि दुर्योधन को अपने भाई के ही इस

यज्ञ को देखकर दुःख क्यों हुआ। उसका तो धर्मराज ने सबसे अधिक सम्मान किया था। एक प्रकार से उसे ही सम्राट् मान लिया था। बड़े-बड़े राजा उसे ही भेंट देकर प्रणाम करते, फिर उसे क्लेश क्यों हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी अच्छी बातें भी बुरी लगती हैं। उसके अभ्युदय से भी क्लेश होता है, अच्छी बात है, अब मैं आपको उसी कथा को सुनाता हूँ।"

छप्पय

तब तैं हौं गिनि रह्यो भये अपराध अधिक शत।
अब हौं मारूँ जाइ होहि जामें सबको हित॥
यों कहिकें घनश्याम सुदरशन चक्र चलायो।
करि धड़ तैं सिर पृथक् सभा महँ काटि गिरायो॥
तेज निकसि शिशुपाल तन-तैं हरि तन महँ मिलि गयो।
तीन जनम महँ द्वेष तैं, भजि पुनि प्रभु पार्षद भयो॥

धर्मराज के राजसूय का अवभृत स्नान

[११५४]

ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः ।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरण प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपन द्युनद्याम् ॥*

(श्री भाग० १० स्क० ७५ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

चेदिराज बलि चढ़ी भयो मख पूरो तब हीं ।
पाइ मान सन्तुष्ट भये आगत नृप सब हीं ॥
दई दक्षिना विपुल कनक, धन, रतन लुटाये ।
सब सुर, नर गन्धर्व निरखि मख परम सिहाये ॥
पूरन मख करि हरि सहित, धरमराज अति मुदित मन ।
सङ्ग लिये नर नारि सब, चले न्हान अवभृत करन ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् धर्मराज के यज्ञ मे जब ऋत्विक्,सदस्य तथा बहुज्ञ पुरुषोंका एव अपने बन्धु बान्धवो का सुमधुर वचनो द्वारा तथा नाना प्रकार की सामग्री एव दक्षिणादि द्वारा भली प्रकार स्वागत सत्कार हो चुका और चेदिदेश का शिशुपाल जब शरीर त्याग कर सात्वतपति भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों मे प्रविष्ट हो चुका, तब महाराज युधिष्ठिर ने श्री गगाजी मे यज्ञान्त अवभृत स्नान किया ।"

मनुष्य में और पशुओं मे इतना ही अन्तर है, कि पशु अपने लिये नयी मर्यादा बना नहीं सकते पिछली मर्यादा को स्वतः तोड़ नहीं सकते। मनुष्य अपने लिये नई समाजिक धार्मिक मर्यादा देश काल के अनुसार स्थिर कर सकता है, प्राचीन परिपाटियो का उल्लङ्घन भी कर सकता है। जो बात किसी समय अविहित है, वही दूसरे समय विहित हो जाती है, होलिका के दिन श्वपच स्पर्श विहित है। कुलवती नव वधुओं के लिये सामान्यतया परदे मे रहने का नियम है किन्तु विवाह के समय, मृतकादि शोक के समय, पर्व और उत्सवो के समय यह नियम शिथिल हो जाता है, वे सबके सम्मुख निकलती हैं। उत्सव-पर्वों पर होली के समय तथा अन्यान्य मंगल कृत्यो में सरसता का प्रवाह स्त्रियो के ही द्वारा बहता है। वे अपने देवरो के साथ सुन्दर सरस क्रीड़ा करके स्वय भी प्रसन्न होती हैं तथा समस्त दर्शकों के हृदय मे भी एक प्रकार की सुखद् सरसता का संचार करती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ बडी धूम धाम से सम्पन्न हो गया। अब ब्राह्मणादि भोजन कराके धर्मराज बड़े ठाट-बाट से यज्ञ का अवभृत स्नान करने के निमित्त सदल बल भगवती भागीरथी के तट पर चले आगे-आगे महाराज द्रौपदीजी के साथ रथ में बैठे चल रहे थे, सैकड़ो राजागण उन्हे उसी प्रकार घेरकर चल रहे थे, जिस प्रकार देवेन्द्र को घेरकर सुरगण चलते हैं। यदु, सृञ्जय, काम्बोज कुरु कोसल तथा अन्यान्य देश के राजा सज बज कर धर्मराज का अनुगमन कर रहे थे। राजाओं के मणिमय मुकुट सूर्य के प्रकाश मे चमक रहे थे, उनके कंठो में पड़े सुवर्ण और मोतियों के हार दमक रहे थे। रथ, हाथी, घोड़ा और पैदल चलने वाली सेनाओं से बड़ा कोलाहल हो रहा था। सबमे आगे-आगे

मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, ढोल, आनक तथा गोमुख आदि सैकड़ों प्रकार के बाजे बजाने वाले चल रहे थे। उनके पीछे नृत्य करती हुई नर्तकियाँ चल रही थीं। उनके पीछे झुण्ड के झुण्ड बाजे बजाने वाले तथा गीत गाने वाले गवैये चल रहे थे। उनके वीणा, वेणु तथा मजीरा आदि मधुर वाद्यों की मधुर-मधुर ध्वनि हृदय में एक प्रकार की सरसता उत्पन्न कर रही थी। वेदज्ञ ब्राह्मण सस्वर वेद पाठ कर रहे थे। ऋत्विज, पुरोहित, ऋषि मुनि तथा राजाओं से घिरे धर्मराज बड़े उत्साह से चल रहे थे। उनकी बगल में वनमाली भगवान् वासुदेव बैठे थे। धर्मराज के चारों छोटे भाई सेवा में समुपस्थित थे। इस प्रकार नगर से निकल कर सब बड़े उत्साह से गंगाजी के तट पर आये। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ शिबिकाओं और रथों पर चढ़कर तथा अस्त्र-शस्त्र धारी सैनिकों से घिर कर गंगा तट पर आईं। पाण्डवों की सभी पत्नियाँ तथा अन्यान्य राजाओं की पत्नियाँ चन्दन, माला, वस्त्र तथा अमूल्य आभूषणों से अलंकृत होकर बड़े आह्लाद और उत्साह के साथ यज्ञान्त अवभृत स्नान में सम्मिलित होने के निमित्त आई थीं।

गंगा किनारे पर पहुँच कर सबने मृत्तिका, पंचगव्य, अपामार्ग, दूर्वा, कुश, यज्ञभस्मादि से विधिवत स्नान किया। स्नानान्तर क्रीडा प्रारम्भ हुई। अवभृत स्नान में होलिका की भाँति उत्सव मनाया जाता है। हँसी विनोद की कहने न कहने योग्य बातें कही जाती हैं। एक दूसरे के ऊपर जल, तेल, दूध, दही, केशर कुंकुम की कीचड़ तथा अन्यान्य वस्तुएँ फेंकते हैं। स्त्रियों से जिनका जैसा हँसी विनोद का सम्बन्ध होता है, वैसा ही आपस में बर्ताव करते हैं, उनके ऊपर जल छिड़कते हैं, परस्पर में होली खेलते हैं।

द्रौपदी के साथ गाँठ जोड़कर जब धर्मराज स्नान पर

तब उनके और भी भाई अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ गाँठ बाँधे उनके पीछे खड़े थे। उस समय श्यामसुन्दर खिसक गये थे। धर्मराज ने चारों ओर देखकर कहा—"वासुदेव कहाँ गये उनके बिना अवभृत स्नान कैसे हो सकता है।" कुछ लोगों ने बताया श्याम सुन्दर तो रथ में बैठे हैं। तुरन्त अर्जुन दौड़कर गये और उन्हें पकड़ लाये। वे मना ही करते रहे, किन्तु वे कब मानने वाले थे। हँसकर धर्मराज ने कहा—"श्यामसुन्दर! तुम्हारे छिपने की बानि अभी तक जाती नहीं। भला, तुम्हारे बिना यहाँ क्या हो सकता है। तुम्हारे बिना मैं स्नान कैसे कर सकता हूँ। तुम मेरे सामने रहो।"

हँसकर अर्जुन ने कहा—"महाराज! अकेले कैसे रहेंगे, गृहस्थी को अकेले तो कोई कर्म करने का अधिकार नहीं है। जैसे आप गाँठ बाँधकर स्नान कर रहे हैं, वैसे ये भी करें।"

इस पर हँसते हुए भीमसेन बोले—"इनकी एक पत्नी हो तो गाँठ बाँधे सोलह सहस्र एक सौ आठों से गाँठ कैसे बाँधोगे। पीताम्बर में गाँठ ही गाँठ हो जायँगी।"

सहदेव बोले—"महाराज! इसका उपाय तो मैं जानता हूँ। सोलह सहस्र एक सौ आठ कलावे के टुकड़े ले लिये जायँ उनके छोर पर गक गाँठ बाँधकर श्याम सुन्दर की पीताम्बर में बाँध दी जायँ दूसरी ओर जो सोलह सहस्र एक सौ आठ पूँछ सी लटकती रहें उनमें एक-एक में सब रानियों की साड़ियों को बाँध दी जाय।"

यह सुनकर हँसती हुई द्रौपदी बोली—"तब तो सुभद्रा बहिन लाग में रहेंगी। सबसे पृथक् पृथक् गाँठ बँधाई लेंगी।"

इतने में ही अर्जुन कलावे की गड्डियों को उठा लाये और श्याम-सुन्दर के पीताम्बर में बाँध ही तो दीं। तब तक द्रौपदी बोलीं—"तुम क्या कर रहे हो, बाँधने का काम तो सुभद्रा बहिन का है।"

मलिन बुद्धि वालो के मन म क्षोभ उत्पन्न हो रहा था और अमल विमल मति वाले मनीषी इसे माधव की मोहिनी माया समझकर मुदित हो रहे थे। इस प्रकार बडी देर तक क्रीडा होती रही।

क्रीडा के अनन्तर ऋत्विजो ने धर्मराज युधिष्ठिर से पत्नी सयाज नामक यज्ञ और अवभृत स्नान के समस्त साङ्गोपाङ्ग कर्म कराये। तदनन्तर आचमन कराके फिर अन्तिम स्नान कराया। तब सबने बाहर आकर वस्त्र बदले। उस समय बाजे बजाने वाले उल्लास के साथ गङ्गा तट पर खडे हुए मधुर-मधुर स्वर मे वीन आदि बाजे बजा रहे थे, उनकी ताल मे ताल मिलाकर अकाश में देवता भी दुन्दुभि आदि स्वर्गीय बाजो को बजा रहे थे। आकाश से देवता पुष्पो की वर्षा कर रहे थे। पृथ्वी पर ब्राह्मण ऋषि मुनि तथा अन्यान्य प्रजा के पुरुष सार्वभौम महाराज युधिष्ठिर के ऊपर पुष्पो की वृष्टि कर रहे थे। महाराज के स्नान करने के अनन्तर सभी वर्ण के लोगो ने गङ्गाजी मे स्नान किया क्योंकि अवभृत स्नान में सम्मिलित होकर जो स्नान करता है, वह चाहे महापातकी ही क्यो न हो, उसका पातक छूट जाता है। वह निष्पाप हो जाता है, अवभृत स्नान मे सम्मिलित होने का बडा पुण्य बताया है। स्नानान्तर धर्मराज अपनी पत्नियों सहित सुन्दर सुवर्ण मडित दिव्य रथ पर सवार हुए। उस समय वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानों ताराओं के मध्य में शरद का पूर्ण चन्द्रमा विराजमान हो, सहस्रो राजा उसकी उपासना कर रहे थे। जब उन्होंने रेशमी वस्त्र और आभूषणों को धारण किया, तब प्रसन्नता पूर्वक उन्होंने ऋत्विज सदस्य तथा अन्यान्य ब्राह्मणो को बहुत से बहुमूल्य वस्त्राभूषणो देकर उनका सत्कार किया। तदनन्तर अपने सगे सम्बधियो को, सुहृद, मित्र तथा कुल परिवार वालो को और अन्य भी विद्योपजीवी पुरुषों का सम्मान किया।

अवभृत स्नान करते समय किसी का मुख काला हो गया

था, कोई हल्दी में सना था। किसी के मुख पर दही पुता था, कोई कीच में ही सना था, किन्तु स्नान के अनन्तर सब दर्शनीय हो गये। सभी सुन्दर सुहावने बहुमूल्य अँगरखी, दुपट्टा, पगड़ी मणिमय मुकुट धारण किये हुए थे। सबके कानों में कुण्डल ि ल रहे थे और सबके कण्ठों में सुन्दर मालायें तथा बहुमूल्य हार पड़े हुए थे। स्त्रियाँ भी नये वस्त्राभूषणों को पहिनकर सोलह शृङ्गार करके ककण किंकिणि तथा कमर की कनक करधनी की छम्म छम्म से दशों दिशाओं को मुखरित-सी कर रही थीं। उस समय महाराजा ने बहुत-सा धन लुटाया। याचकों की इच्छायें पूर्ण कीं। सवारी जैसे आई थी वैसे ही बड़े आनन्द के साथ इन्द्रप्रस्थ में पहुँच गयी।

यज्ञ में आये हुए अतिथियों को इन्द्रप्रस्थ में रहते-रहते वर्षों हो गये थे। यज्ञ की समाप्ति के अनन्तर वे सब अपने अपने घरों को जाने के लिये अत्यन्त ही उत्सुक थे। अतः धर्मराज से अनुमति लेकर ऋत्विक् सदस्य तथा अन्यान्य यज्ञ को देखने आने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र अपने अपने घरों को चले गये। सब राजा गण भी जाने का आग्रह करने लगे धर्मराज ने बड़े सम्मान के साथ उन्हें विदा किया। अपने भाइयों और सगे सम्बन्धियों को उन्हें पहुँचाने के निमित्त उनके राज्य की सीमा तक भेजा। इस प्रकार सबको विदा करके धर्मराज उदास से हो गये। बेटी को विदा करने के अनन्तर तथा उत्सव के पश्चात् उदासी सी छा ही जाती है। उसी समय श्यामसुन्दर ने सकुचाते हुए कहा—'धर्मराज! मेरी इच्छा तो नहीं होती है, कि आप सब को छोड़कर कहीं जाऊँ, किन्तु द्वारका में भी बहुत से कार्य हैं, मुझे भी अब जाने की अनुमति दे दें।"

यह सुनकर धर्मराज के नयनों में जल भर आया। वे अवरुद्ध कण्ठ से कहने लगे—"वासुदेव! आप के बिना तो यहाँ सूना हो

जायगा। आज कल सब सगे सम्बन्धी तथा स्नेही राजाओं के चले जाने से मेरा चित्त उदास हो रहा है। आपके ही कारण मन लगा है। आप भी जाने को कहते हैं, तो मेरी क्या दशा होगी। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें कुछ दिन और निवास करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मराज के बहुत आग्रह करने करने पर भगवान् कुछ दिन और रह गये। उन्होंने द्वारका के लिये अपने पुत्र साम्बादि को भेज दिया और कहला दिया, मैं अभी कुछ दिनों के पश्चात् आऊँगा। इधर कुल के सम्बन्ध से दुर्योधनादि कौरव भी कुछ दिन इन्द्रप्रस्थ में और रह गये। श्री-कृष्ण भगवान् की कृपा से धर्मराज अपने मनोरथ रूपी समुद्र को सुगमता से पार कर गये। भगवान् के अनुग्रह से उनकी सभी इच्छायें पूर्ण हो गयीं। धर्मराज के यज्ञ के वैभव को देखकर सभी को परम हर्ष हुआ। देश देशान्तरों में लोग यज्ञ की प्रशंसा करते हुए उसी प्रकार नहीं अघाते थे, जिस प्रकार अमृत को पीने से मनुष्य नहीं अघाते हैं। सबको तो आनन्द हुआ किन्तु यज्ञ के महान् वैभव को देखकर दुर्योधन को महान् क्लेश हुआ। पाडवों के ऐसे अभ्युदय से वह मन ही मन जल रहा था। ईर्ष्यावश उसे निद्रा नहीं आती थी। उसी समय एक दुर्घटना घटित हो गयी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गङ्गाजी पै जाइ न्हान की धूम मचाई।
घेरे रानिनि श्याम उलचि जल देह भिगाई॥
पिचकारी प्रभु मारि करें ब्याकुल नारिनि कूँ।
हँसे हँसावें पकरि डुबावें सब साथिनि कूँ॥
रानिनि सँग होरी करत, मलत मुखनि केशरि ललित।
सुमन गिरत शिर कच खुलत, कृष्ण कलित क्रीड़ा करत॥

पांडवों के अभ्युदय से दुर्योधन को ईर्ष्या

(११५५)

यास्मिन् नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मी—
नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः ।
ताभिः पतीन् द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७५ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

करि अवभृत इसनान नृपति निज निज पुर गमने ।
सुहृद् बिछोहो निरखि धरम सुत भये अनमने ॥
रहे प्रेमवश श्याम सुयोधन ठहरयो कछु दिन ।
लखि पाडव धन विभव तासु हिय जरत छिनहि छिन ॥
एक दिवस मय सभा महँ, जल थल भ्रम ताकूँ भयो ।
थल कूँ जल लखि मोह वश, पग रपट्यो पुनि गिरि गयो ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मय दानव की बनाई हुई उस धर्मराज की सभा में राजाओं की, दैत्येन्द्रों की तथा सुरेन्द्रों की सम्पत्तियाँ सुशोभित थीं। उन सब सामग्रियों से द्रुपदराज की सुता द्रौपदीजी अपने पतियोंकी परिचर्या करती थीं। ऐसी द्रौपदीजी में जिसका चित्त आसक्त हो गया है ऐसा दुर्योधन पाडवों के वैभव को देखकर अत्यन्त दुखी हुआ।"

जो सज्जन पुरुष हैं, उनका हृदय तो दूसरों की उन्नति देखकर प्रसन्न होता है। वे सुखी लोगों को देखकर आह्लाद के साथ मिलते हैं, दुखियों को देखकर दया से द्रवित हो जाते हैं, किन्तु जो खल प्रकृति के होते हैं, वे दूसरों के अभ्युदय को देखकर जल जाते हैं। किसी का बढ़ता हुआ धन वैभव देखते हैं, तो उन्हें ईर्ष्या होती है। कैसे इसकी अवनति हो यही वे सोचते रहते हैं। यद्यपि दूसरों की अवनति होने में उनका कोई लाभ नहीं, फिर भी इतने कलुषित हृदय के होते हैं कि वे सदा दूसरों का अनिष्ट सोचते रहते हैं। पीठ पीछे अपने सगे सम्बन्धी और कुल वालों की भी ऐसी निन्दा करते हैं कि उन बातों से उनके हृदय के द्वेषाग्नि की तीव्रता जान पड़ती है। दूसरों को दुख में देखकर उन्हें आन्तरिक सुख होता है और अपने सम्बन्धी साथियों तक की उन्नति से उन्हें पुत्र शोक से भी बढ़कर शोक होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सज्जनता वश धर्मराज ने तो दुर्योधन को अपने कुल का श्रेष्ठ समझकर राजाओं से भेंट लेने का काम सौंपा था, किन्तु इसका परिणाम बुरा हुआ। ज्यों-ज्यों वह राजाओं की आई हुई भेंटों को देखता, त्यों-त्यों उसकी ईर्ष्या और भी अधिक बढ़ती। पांडवों के इस बढ़ते हुए प्रभाव से उसे अत्यधिक आन्तरिक पीड़ा हो रही थी। उसने देखा लाखों राजा उत्तम से उत्तम भेंट लेकर राजसूय यज्ञ में आये थे। सोना, चाँदी, मणि-माणिक्य, रत्न, कम्बल, रेशमी वस्त्र, मृग चर्म, वाघम्बर, चँवर तथा अन्यान्य बहुमूल्य वस्तुओं को कहीं रखने को स्थान नहीं था। रत्न ऐसे ही मिट्टी कंकड़ों के ढेर के समान इधर-उधर पड़े थे। हाथी, घोड़ा, रथ तथा ऊंट गौ आदि उपयोगी पशु भेंट में इतने आये थे कि उनके बाँधने को स्थान नहीं रहा। दुर्योधन जिधर में दृष्टि डालता उधर ही उसे चमत्कार सा दिखाई देता था। भोजनोंके लिये वहाँ एक लाख ब्राह्मण साथ बैठते थे। जब लाख

खा चुकते, तब फिर शङ्ख बजता। इस प्रकार दिन भर बजता ही रहता। उस यज्ञ में बड़े-बड़े मूर्धाभिषिक्त राजा दासों की भाँति काम कर रहे थे, ब्राह्मणों की जूठी पत्तलों को वे स्वयं बड़े हर्ष से उठा रहे थे, हाथों में झारी लिये सबके हाथ धुला रहे थे, श्रीकृष्ण सबके चरण पखार रहे थे। पाण्डवों के इतने अधिक सम्मान देख कर उसे ज्वर-सा चढ़ आया, ईर्ष्या के कारण उसका हृदय जलने लगा। यज्ञ समाप्त हुआ। कुलागत परम्परा के अनुसार उसे सब से पीछे जाना था। इसलिये उसे कुछ दिनों तक और भी ठहर जाना पड़ा। वह सदा क्रोध में और अभिमान में भरा रहता था। धर्मराज का महल उत्सव स्वरूप हो रहा था। भगवान श्रीकृष्ण-चन्द्र जी की सोलह सहस्र रानियाँ जब अपने कटिभार के [illegible] चरणों के नूपुरों की झनकार करती हुई मन्थर गीत में [illegible] छम्म-छम्म करती हुई फिरती तो उस समय ऐसा [illegible] मानो मूर्तिमती ऋद्धि-सिद्धियाँ पाण्डवों के भवनों में विहार [illegible] हैं। वे अपने वक्षःस्थल की कुम्कुम कीच से सने रक्त [illegible] पहिनकर तथा काली-काली घुँघराली अलकावली [illegible] हर मुखारविन्द से सुशोभित होकर ईर्ष्यालुओं की [illegible] भी अधिक जागृत करतीं थीं। द्रौपदी के सौभाग्य [illegible] तो कहना ही क्या था। उसके पाँचों पति उसे [illegible] प्यार करते थे। सहस्रों दासियों से घिरी वह [illegible] सेवा में संलग्न रहती थी। उस इतनी भाग्यशाली [illegible] देखकर जिसका मन क्षुभित हो गया था, [illegible] पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी।

एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर मय [illegible] सभा में सचिवों और भाइयों से घिरे [illegible] जिस प्रकार स्वर्ग में इन्द्र अपनी सभा [illegible] बैठते हैं। उनके चारों भाई उनकी [illegible]

थे। पाडवो के सुहृद, सेवक, मित्र, सम्बन्धी सचिव आचार्य और गुरुरूप पथ प्रदर्शक श्रीकृष्ण उनके समीप बैठे थे। वे पांडवों के भीतरी बाहरी दोनों प्रकार के नेत्र थे। सूत, मागध तथा वन्दीगण उनकी स्तुति कर रहे थे। उसी समय सभा मे जाने की दुर्योधन को भी सूझी। जहाँ वह ठहरा था, वह अन्तःपुर का एक अति उत्तम भवन था। धर्मराज ने उसके सत्कार सम्मान का विशेष प्रबन्ध कर रखा था। सहसा वह अपना सुवर्ण मण्डित मुकुट पहिनकर और हाथ मे खड्ग धारण करके अपने दो-चार भाइयों के साथ धर्मराज की सभा की ओर चला। उसके निकलते ही सहस्रों सेवक द्वारपाल आदि ने उसका अनुगमन किया। सबको उसने डॉट फटकार कर लौटा दिया। उसने कहा—"तुम लोग मेरे पीछे क्यों आ रहे हो? क्या मैंने राजसभा का मार्ग नहीं देखा है। तुम लोग जो वेत्र हाथ मे लेकर मेरे आगे पीछे "इधर पधारिये, इधर पधारिये" कहते हुए चलते हो, इसकी क्या आवश्यकता है? क्या मैं अन्धा हूँ, मुझे मार्ग दिखाई नहीं देता। लौट जाओ तुम सब लोग। मैं अकेला ही जाऊँगा।"

कुरुराज की ऐसी डॉट फटकार सुनकर सबके सब सेवक चुपचाप लौट गये। अब अकेला ही वह अपने भाइयों के साथ अकडता हुआ जा रहा था। मयासुर ने उस सभा को इतनी उत्तमता के साथ बनाया था कि कहीं तो नीलम जडकर ऐसा फरस बना दिया था कि दूर से देखने वालो को जल से भरा हुआ सरोवर दिखाई देता था। कहीं स्फटिक का ऐसा सरोवर बना दिया था कि उसका जल सङ्गमरमर के आँगन मे दिखाई ही नहीं देता था। दूर से सभी उसे स्थल ही समझ थे। दुर्योधन ने देखा इन पांडवो ने मुझे भ्रम में डालने को मार्ग मे पानी भर दिया है, अतः उसने अपने वस्त्रो को समेट लिया, किन्तु वहाँ तो पानी था नहीं। यह देखकर उसने अपनी झेप मिटाने को वस्त्रो को फटकारा मानो उन

में कोई काडा घुस गया हो उसे खोजने को वस्त्र समेटे हो। कुछ आगे बढ़कर यथार्थ में जल का सरोवर था, किन्तु वह मायासुर

को माया से ऐसा विमोहित हो गया कि उस जल का उसन स्थल समझा वह थकडता हुआ वेग से जा रहा था कि वह सरोवर

मे गिर पड़ा। उसके सब वस्त्र भीग गये। वह भीगी बिल्ली की भाँति सटपटाने लगा। शीघ्रता से जल से निकल उसने चारो ओर देखा। उसका इस मूर्खता पर सभासद तथा रानियाँ खिलखिला कर हँस रही थीं। तुरन्त वह भीत के समीप आया। वहाँ उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह द्वार है, ज्यों ही उसमे घुसने का उसने प्रयत्न किया कि उसका सिर भीत मे टकरा गया। यह देखकर तो सब और भी अधिक हँसने लगे। भीमसेन ने व्यङ्ग के स्वर मे कहा—"धृतराष्ट्रनन्दन! उधर द्वार नहीं है, द्वार तो इधर है, इधर आइये। उधर कहाँ जा रहे हैं।"

धृतराष्ट्रनन्दन कहने से भाव यह था कि जैसे तुम्हारा बाप अन्धा है, वैसे ही तुम भी अन्धे हो। यह कहकर बहुत रोकने पर भी भीमसेन की हँसी न रुकी, वे खिलखिलाकर हँस पड़े। उन्हे हँसते देखकर स्त्रियाँ तथा दूसरे राजा लोग भी हँस रहे थे। धर्मराज का बड़ा क्लेश हो रहा था, वे बार-बार सबको डाँटते डपटते हुए कहते—"हँसी की इसमे कौन-सी बात है, तुम सब लोग ही-ही करके दाँत क्यों निकाल रहे हो? दूसरों के गिरने पर सहानुभूति प्रकट की जाती है या हँसा जाता है।" धर्मराज तो इस प्रकार सबको गम्भीरता पूर्वक डाँट रहे थे, किन्तु हमारे ये कारे देवता सैनों ही सैनो मे सबको संकेत भी करते जाते थे और स्वय भी हँसते जाते थे। हँसना तो इनका स्वभाव ही ठहरा। इनके मुख मण्डल पर सदा सर्वदा हास्य छिटकता रहता है। भगवान् का रूप देखकर धर्मराज के मना करने पर भी सब हँस रहे थे।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ऐसे समय भगवान् को हँसी क्यो सूझी। स्वयं हँसी को न रोक सकते, तो हँस लेते, दूसरों को उन्होने हँसने के लिये क्यों उभाड़ा? यह तो दुर्योधन की हँसी उड़ानी थी, उसे लज्जित करके कुपित करना था।"

सूतजी बोले—"महाराज ! यही तो भगवान् वासुदेव को अभीष्ट था। वे भूमि का भार उतारना चाहते थे, इसीलिये तो उन्होंने अवतार ही लिया था। दुर्योधन उनकी इच्छा से तो भ्रम मे पड गया। जब तक वह कुपित होकर युद्ध करने को उद्यत न होता, तब तक असुर रूप मे उत्पन्न हुए राजाओ का नाश कैसे होता। भगवान् तो उसे कुपित करके युद्ध करना चाहते थे। जब तक दुर्योधन अपना घोर अपमान अनुभव न करता, तब तक वह सर्वनाशी युद्ध करने का कभी प्रयत्न न करता। भगवान् ही जिसे कुपित करके लडाना चाहे, फिर उसकी क्या सामर्थ्य है जो न लडे। युद्ध न करे।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! होना क्या था, हँसी का जो परिणाम होता है, वही हुआ। धर्मराज ने स्वय उठकर उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की। तुरन्त नये धुले शुभ्र स्वच्छ वस्त्र मँगाये गये। दुर्योधन से जैसे तैसे वस्त्र बदलवाये। इधर-उधर की मीठी बातें कहकर उसे सतुष्ट करना चाहा, किन्तु उसके तो रोम-रोम से क्रोध रूपी अग्नि की चिनगारियाँ निकल रहीं थीं। उसने तुरन्त कहा—"महाराज ! मुझे बहुत दिन हो गये, अतः अब मुझे हस्तिनापुर जाने की अनुमति दीजिये।"

धर्मराज ने बडे स्नेह से सम्पूर्ण ममता बटोर कहा—"न, भैया ! अभी से तुम चले जाओगे, तो यहाँ का काम कैसे चलेगा। अभी तो यहाँ बहुत से राजा ठहरे हैं। तुम्हे ही तो सब काम करने हैं। जब इतने दिन तुमने निर्वाह किया है, कुछ दिन और रह जाओ।" इस प्रकार धर्मराज ने बहुत कुछ कहा, किन्तु उसके मन मे बडी लज्जा ग्लानि बैठ गयी, वह सिर नीचा किये हुए क्रोधानल से जलता हुआ, सभा भवन से तुरन्त उ०

हस्तिनापुर को चल दिया। उसके सेवक सैनिक पीछे से सामान लेकर आये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दुर्योधन के जाते ही सभी सज्जन लोग हाहाकार करने लगे। सब ने एक स्वर में कहा—"यह अच्छा नहीं हुआ। धर्मराज का चित्त भी खिन्न हो गया। वे अनमने से होकर चिन्ता में पड़ गये। केवल भगवान श्री कृष्णचन्द्र ही प्रसन्न थे। इस प्रकार राजसूय यज्ञ के अन्त में ही महाभारत युद्ध का बीज बो गया। द्यूत सभा में वह अंकुरित हो गया, वनवास में पल्लवित और पुष्पित हुआ। पीछे उसमें जो विपाक्त फल लगे, उनसे कुरुकुल का तथा पृथ्वी के समस्त राजाओं का नाश हो गया। उसका वर्णन विस्तार के साथ महाभारत में है। प्रसंगवश उसकी कुछ कथायें मैंने पीछे कहीं हैं कुछ आगे भी समयानुसार कहूँगा। इस प्रकार भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी की कृपा से धर्मराज युधिष्ठिर का यज्ञ विधि विधान पूर्वक बड़ी धूम धाम से समाप्त हुआ। भगवान् राजसूय यज्ञ के प्रसङ्ग से बहुत दिनों तक इन्द्रप्रस्थ में रहे आये। इधर द्वारकापुरी को श्रीकृष्ण से रहित देखकर तथा अपने मित्र शिशुपाल का वध सुनकर भगवान् के द्रोही आसुरी प्रकृति के राजा शाल्व ने भगवान् की पुरी पर चढ़ाई कर दी। उसने यादवों से बड़ा घनघोर युद्ध किया।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी! यह शाल्व कौन था? यादवों से यह द्वेष क्यों मानता था। कृपा करके आप हमें शाल्व का वृत्तान्त सुनाइये। भगवान् ने इसका वध किया या नहीं।"

सूतजी बोले—"महाराज! इसी के वध करने के लिये तो भगवान् को तुरत द्वारका जाना पड़ा। भगवान् की अनुपस्थिति में इसने यादवों पर अकस्मात् प्रहार कर दिया इससे यादव बड़े

व्यथित हुए। अब मैं आपको शाल्व और यादवों के युद्ध की ही कथा सुनाता हूँ। आप लोग उसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लखि पाडव नृप हँसे धरमसुत बहुत निवारे।
किन्तु कौतुकी कृष्ण सैन महँ सबहिं उभारे॥
दुरजोधन अति दुखी भयो खीज्यो खिसियायो।
सबहिँ व्यंग तैं कहें अधने अंधो जायो॥
मर्‌यो क्रोधमें चलि दयो, हथिनापुर महँ आइकें।
छलें पाडवनि द्यूत महँ, सोचें गुट्ट बनाइकें॥

द्वारका पर शाल्व की चढ़ाई

[११५६]

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप ।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७६ अ० १ श्लोक)

छप्पय

इत यदुवर हूँ रहित द्वारका शाल्व निहारी ।
चढ़िकें सौभ विमान लड़ाई कीन्ही भारी ॥
करत नगर विध्वस लडै नहिँ हारत अधमति ।
यादव वंश विनाश हेतु तप कीन्हों खल अति ॥
औघरदानी शम्भुने, इच्छित वर ताकूँ दयो ।
वायुयान वर मय रचित, पाइ मत्त दुरमति भयो ॥

भगवान् जब जेसी लीला करना चाहते हैं, तब तैसी ही प्राणियों की बुद्धि बदल देते हैं । नहीं तो त्रिभुवन सुन्दर, भुवन-मोहन, जगत्पति के प्रति वेर भाव कर ही कौन सकता है ? वैर करके कोई उनका बिगाड ही क्या सकता है ? उनके आश्रितों का

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन्होंने लीला के लिये ही मनुष्य शरीर धारण किया उन श्रीकृष्णचन्द्र ने जिस प्रकार सौभपति शाल्व को मारा था, उस अद्भुत चरित्र को आप और भी श्रवण करें ।"

अनिष्ट कोई कर ही नहीं सकता, किन्तु क्रीडा करने के निमित्त वे किसी की मति को विपरीत बना देते हैं, जिससे द्वेषवश वह भगवान् से और भगवत्भक्तों से विरोध करे। विरोध मे ही सघर्ष होता है। वह सघर्ष ही उनकी क्रीडा है, उसी संघर्ष मे वे अन्य पात्रों के साथ क्रीडा करते हैं। वह क्रीडा ही भक्तों के लिये परम श्रवणीय चरित्र है। खेल तो खेल ही है, चाहे वह शृंगार का खेल हो अथवा हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक अथवा शान्त हो सब समान ही हैं। उनमे भगवान् और भगवत्भक्त लिप्त नहीं होते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दुर्योधन मयनिर्मित सभा मे गिरने से बडा दुखी हुआ, उसने इसमे अपना बडा अपमान अनुभव किया। जल तो वह पहिले ही से रहा था। ईर्ष्यावश विक्षुब्ध तो वह प्रथम ही था। अब प्रज्वलित अग्नि में इस घटना ने घृताहुति का कार्य किया। वह चला गया, तो धर्मराज उदास हुए। श्रीकृष्ण नित्य ही द्वारका जाने की तैयारियाँ करते, किन्तु कोई न कोई कारण बताकर धर्मराज उन्हें प्रेम पूर्वक रोक लेते।

एक दिन श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने धर्मराज से कहा—"राजन्! आप सबको छोडकर मेरी कभी भी जाने की इच्छा नहीं होती, किन्तु आजकल मुझे बडे-बडे अपशकुन दिखाई दे रहे हैं। इस कारण मुझे सन्देह हो रहा है, कि अवश्य ही द्वारका मे कुछ अघटित घटना घटित हो गयी है, अतः मुझे अब जाने की आज्ञा दें।"

आँखों मे आँसू भरकर धर्मराज बोले—"वासुदेव! अब मै कैसे कहूँ। मैं कभी चाहूँगा, कि आप मुझसे कभी पल भर भी पृथक रहें? किन्तु अब मैं अधिक रोकने का आग्रह भी नहीं कर सकता। द्वारका भी आपके बिना सूनी हो जाती है।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, कोई विशेष कार्य होता, तब तो

रहना अनिवार्य ही था। अब आपका यज्ञ सकुशल समाप्त हो ही गया। यज्ञ में आये हुए प्रायः समस्त नृपतिगण चले ही गये। यों तो फिर न कभी आप जाने को कहेंगे और न मेरी ही जाने की इच्छा होगी।"

धर्मराज ने कहा—"प्रभो! यज्ञ के कर्ता धर्ता तथा पूर्ण कराने वाले तो आप ही हैं। आपकी कृपा से ही सब कुछ हुआ है, नहीं तो मुझमें ऐसी सामार्थ्य कहाँ है। इतने बड़े-बड़े पृथ्वी के समस्त राजाओं ने श्रद्धा पूर्वक भेंटें दीं और दासों की भांति यज्ञ में कार्य किया।"

यह सुनकर भगवान् ने अत्यंत स्नेह से धर्मराज को पकड़ लिया और पकड़े ही पकड़े उन्हें भीतर अंतःपुर में कुन्तीजी के पास ले गये और बोले—"बुआ! देख, तुम्हारा पुत्र सम्राट बन गया। इनकी राजसूय यज्ञ करने की प्रबल इच्छा थी वह पूर्ण हो गयी। यज्ञ का सब कार्य समाप्त हो गया। अब मुझे भी जाने की अनुमति मिलनी चाहिए।" इतना सुनते ही कुन्तीजी श्रीकृष्ण के भावी वियोग का स्मरण करके रोने लगीं। उसी समय सुभद्रा और द्रौपदी वहाँ आ गयीं। श्रीकृष्ण के गमन की बात सुनकर वे भी उदास हुईं उनके भी नेत्रों की कोरों से अश्रु बह रहे थे। भगवान् ने ब्राह्मणों से स्वस्त्ययन कराया और रथ में बैठकर सब से अनुमति लेकर वे द्वारका की ओर चले। प्रेम में विह्वल हुए धर्मराज युधिष्ठिर भाइयों के सहित उनके पीछे चले। धर्मराज को पीछे आते देखकर भगवान् ने रथ खड़ा कर दिया और स्वयं रथ से उतरकर सबके समीप आये। फिर सबसे भली भाँति बार-बार मिल भेंट कर वे द्वारकापुरी को चले गये। पाडवों को भगवान् के बिना सब सूना सूना दिखायी देता था।

इधर मयदानव निर्मित सभा में जल में स्थल का भ्रम हो जाने से जो दुर्योधन ने अपना अत्यधिक अपमान अनुभव किया,

उसका परिणाम बड़ा भयङ्कर हुआ। वह पांडवों को नीचा दिखाने के लिये निरन्तर उपाय सोचने लगा। उसका एक मामा शकुनि था, वह बड़ा भारी धूर्त और जुआड़ी था। उसने बीरा उठाया, जुए में युधिष्ठिर को मैं जीत लूँगा। आप अपने पिता धृतराष्ट्र से द्यूत सभा करने की अनुमति भर ले लें।"

इस बात से दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ जिस किसी भाँति उसने अन्धे धृतराष्ट्र से जुआ की अनुमति ले ली। "यद्यपि अन्धे धृतराष्ट्र जुए के दोषों को जानते थे, किन्तु पुत्र स्नेह के कारण इच्छा न रहने पर भी अनुमति देनी पड़ी।"

धर्मराज को द्यूत के लिये आमन्त्रित किया गया। उस समय का कुछ ऐसा सदाचार था, कि एक क्षत्रिय को दूसरा क्षत्रिय युद्ध के लिये या द्यूत के लिये आमन्त्रित करे, तो वह मना करने में अपना अपमान समझता था। द्यूत और युद्ध की चुनौती को श्रेष्ठ क्षत्रिय स्वीकार कर ही लेते थे। इसीलिये धर्मराज द्यूत के निमंत्रण को पाकर हस्तिनापुर आये। जूआ हुआ उसमें शकुनि ने बड़ा छल किया। धर्मराज जुए में अपना सर्वस्व हार गये, यहाँ तक कि अपनी पत्नी द्रौपदी को भी हार गये। पीछे धृतराष्ट्र ने वर देकर द्रौपदी को मुक्त कर दिया और पांडवों का राज्य भी लौटा दिया। पांडव इन्द्रप्रस्थ को जा रहे थे, कि शकुनि की सम्मति से फिर धर्मराज को लौटाया गया और अब के जूए में यह पण लगाया कि जो हारे वही बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात वास करे। अज्ञातवास की समाप्ति के पूर्व यदि उसका पता लग जाय, तो फिर बारह वर्ष अज्ञात वास हो।" दुर्योधनादि कौरवों ने सोचा—"पांडव ऐसे बली और प्रसिद्ध हैं, कि वे चाहे जहाँ भी जाकर छिपें उनका पता लग ही जायगा। इस प्रकार पूरा जीवन उन्हें वन में ही बिताना पड़ेगा।"

यही सोचकर उन्होंने यह पण रखा। धर्मराज ने इसे स्वीकार

किया। शकुनि के छल से अब के भी धर्मराज ही की हार हुई। वे वल्कल वस्त्र पहिनकर कुन्ती जी को विदुर जी के यहाँ रखकर द्रौपदी तथा भाइयों के सहित वन मे चले गये और वहीं वनों मे रहकर वनवासियो का-सा जीवन बिताने लगे। कल तक जो सम्राट थे, आज वे वनवासी हो गये काल की कैसी कुटिल गति है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने आकर जूए को रुकवा क्यों नहीं दिया। धर्मराज की ऐसे समय पर सहायता क्यो नही की?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज इस सब को कराने वाले भगवान् ही तो थे। भगवान् की इच्छा से ही तो हुआ। वैसे लौकिक दृष्टि से देखा जाय, तो भगवान् शाल्व से युद्ध कर रहे थे। जब तक शाल्व को मारा तब तक पाडव वनवासी बन चुके थे।

शौनक ने पूछा—"सूतजी! आप प्रथम हमे शाल्व वध की कथा सुनावें। यह शाल्व भगवान् से क्यों द्वेष करता था? भगवान ने इसे क्यो मारा?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! अब मैं आपको शाल्व वध की ही कथा सुनाता हूँ। वह राजा शाल्व बडा बली था। मार्तिकावल नामक नगर मे यह राज्य करता था। जरासन्ध और शिशुपाल का यह बडा मित्र था। जैसों की मित्रता तैसों के ही साथ होती है। ये लोग सब आसुरी प्रकृति के थे, भगवान से द्वेष मानते थे। शिशुपाल जब कुण्डिनपुर मे महाराज भीष्मक की कन्या रुक्मिणी जी के साथ विवाह करने गया था, तब बरात मे जरसध आदि राजाओं के साथ यह शाल्व भी गया था और यह भी सब राजाओं की भाँति युद्ध मे हार गया था। यादवों से युद्ध मे हारने पर इसे बडा क्लेश हुआ। यह राज्य पाट छोडकर उत्तराखड मे घोर तपस्या करने चला गया। जाते समय वहीं कुण्डिनपुर मे

सब राजाओं के सम्मुख इसने प्रतिज्ञा की—"राजाओ ! आप मेरी प्रतिज्ञा को ध्यान पूर्वक श्रवण करें। मैं एक दिन सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल को यादवों से शून्य कर दूँगा। आप सब मेरा पुरुषार्थ देखें।" ऐसी प्रतिज्ञा करके वह उत्तराखण्ड में देवाधिदेव महादेवजी को प्रसन्न करने के निमित्त घोर तप करने लगा।

तपस्या के काल में उसने आहार का त्याग कर दिया। आठ पहर में केवल एक बार एक मुट्ठी भस्म फाँक लेता था, [illegible] शेष समय शिवजी की आराधना में ही लगा रहता। इस प्रकार वह एक वर्ष पर्यन्त घोर तप करता रहा। एक वर्ष [illegible] के अनन्तर आशुतोष भगवान् भोलेनाथ बोले—"[illegible] ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम इतना घोर तप क्यों कर रहे हो, मैं तो [illegible] चुल्लू जल से तथा गाल बजाने से ही प्रसन्न हो जाता हूँ। तुम इतने काया क्लेशकारी कठोर तप को छोड़ो और तुम्हारे [illegible] अभीष्ट वर माँगो।"

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए विनम्र [illegible] बोला—"प्रभो ! आप शरणागतवत्सल हैं, [illegible] हैं, यदि आप मुझसे वास्तव में प्रसन्न हैं, तो कृपा [illegible] दीजिये जिस पर उड़कर मैं आकाश में [illegible] वह विमान सर्वत्र [illegible] देवता, [illegible] मनुष्य गन्धर्व, सर्प तथा [illegible] आदि [illegible] और वह यादवों को भय देने वाला हो।"

शिवजी तो [illegible] है, राजन् ! ऐसा ही होगा। [illegible] धातुओं का ऐसा [illegible] जीतने वाला होगा। [illegible] लोहमय विमान [illegible] रोक न सके।"

यह सुनकर शाल्व अत्यन्त प्रसन्न हुआ। भगवान् ने मय-दानव को आज्ञा दे दी। उसने तुरन्त एक अत्यन्त सुन्दर समस्त युद्धोपयोगी सामग्रियों से युक्त विमान बनाकर उसे दे दिया। उसे लेकर वह अपने घर गया। उसने आकर यादवों पर चढ़ाई करने के निमित्त शनैः-शनैः एक बड़ी भारी सेना एकत्रित करली। इतनी बड़ी सेना और सौभ विमान के रहते हुए भी जब भगवान् द्वारका मे निवास करने तब उसका साहस उन पर चढ़ाई करने का नहीं हुआ।

जब भगवान् धर्मराज के राजसूय यज्ञ में इन्द्रप्रस्थ चले गये तब शाल्व ने द्वारकापुरी पर चढ़ाई करने का अच्छा अवसर देखा। उसी समय उसने सुना श्रीकृष्णचन्द्र ने मेरे सखा शिशुपाल का भरी सभा में चक्र से सिर काट लिया है, तब तो उसका क्रोध सीमा का उल्लङ्घन कर गया। उसने अपनी बड़ी भारी चतुरङ्गिनी सेना सजाई और द्वारकापुरी पर आकस्मात् चढ़ाई कर दी। उसने पुरी को चारों ओर से घेर लिया। यादवों को कल्पना भी नहीं थी, कि कोई हमारे ऊपर चढ़ाई करेगा। वे तो निश्चिन्त होकर आमोद-प्रमोद में लगे हुए थे। शाल्व की सेना ने सहसा चढ़ाई कर दी और द्वारावती का विध्वंस करने लगी। सैनिक पुरी के सुन्दर-सुन्दर उद्यान और उपवनों को, गोपुर, द्वार, प्रासाद और अट्टा-लिकाओं को तथा मुँडेलियों विहारगृह तथा सभा भवनों को तोड़ने फोड़ने लगे। स्वयं शाल्व अपने सौभ नामक विमान पर चढ़कर उसी मे से अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगा। विमान में से ऐसे अस्त्र गिरते थे कि ऊपर से तो गिरते समय एक प्रतीत होते, किन्तु जब वे फट जाते तो असंख्यों हो जाते। ऊपर से बड़े पहाड़ों की शिलायें गिरने लगीं। बड़े-बड़े वृक्ष कट-कटकर गिरने लगे। विषधर सर्प ऊपर से गिरते जो काट लेते। आकाश से निरन्तर ओले गिरने लगे। प्रचण्ड बवण्डर के कारण सम्पूर्ण

दिशायें धूलि से व्याप्त हो गयीं। जैसे पहिले त्रिपुर निवासी असुर पृथ्वी के रहने वालो को आकाश से अस्त्र वर्षा कर पीडित करते थे, वैसे ही शाल्व द्वारकावासियों को पीडित करने लगा।

अब तो यादवो को चेत हुआ। उन्होंने नगर मे आमोद-प्रमोद की रोक लगा दी। यह आज्ञा प्रसारित कर दी कि कोई न तो मदिरा पान करे और न नाटक अभिनय ही देखे। नगर के सब नट नर्तक निकाल कर बाहर कर दिये। सैनिको को सुसज्जित होने की आज्ञा दी। नगर के चारो ओर लोहे के बने त्रिकोण ऐसे कॉटे बिछवा दिये कि वे जिधर भी लुढक जायँ उधर ही पैरो में घुस जायँ। उनके ऊपर से शत्रु का एक भी सैनिक नही आ सकता था द्वारकापुरी मे प्रवेश करने के जो लोहे के पुल थे वे उखाड लिये गये। स्थान-स्थान पर सैनिको का पहरा बैठा दिया गया। ऊपर से गिरने वाले अस्त्र नीचे आने ही न पावें बीच के बीच मे ही उड जायँ ऐसे यन्त्र लगा दिये गये। स्थान-स्थान पर आक्रमण रोकने के लिये विध्वंस कारिणी, भुसुन्डियाँ, शतघ्नियाँ तथा अन्य भी गोला फेंकने वाले यन्त्र स्थापित किये गये। बडी-बड़ी सुरगे तुरन्त तैयार की गयीं। मुख्य मुख्य स्थानो पर सैनिको के लिये अन्न पानी की ऐसी व्यवस्था कर दी गयी, कि चाहे जितने दिन युद्ध चले उन्हें आहार की न्यूनता न होने पावे। युद्ध मे काम आने वाली वस्तुएँ जैसे अग्नि बाणो को ठेलनेवाले आयुध तोमर, अकुश, शतघ्नी, लाङ्गल, भुशुण्डी, पाषाण खड, त्रिशूल, फरसे, लोहचर्म आच्छादित ढालें, गन्धक तथा अन्य तुरन्त अग्नि लगा देने वाली वस्तुएँ विपुल मात्रा में एकत्रित थीं। साराश यह कि शत्रु के आक्रमण को रोकने के निमित्त जितनी तयारियाँ होनी चाहिये उतनी तैयारियाँ महाराज उग्रसेन की आज्ञा से की गयीं।

नगर वासी शाल्व के आक्रमण से भयभीत से हो गये थे। क्योंकि स्थल की लडाई होती, तो उसका सामना भी करते।

शाल्व तो ऊपर आकाश से अस्त्र शस्त्रों की वर्षा कर रहा था। यदि एक स्थान निश्चित होता, तो वहाँ प्रत्याक्रमण की तथा अस्त्र शस्त्रों के रोक थाम की व्यवस्था भी की जाती। शाल्व का वह वायुयान तो मय दानव कृत था कभी तो वह एक दिखाई देता, कभी अनेक रूपों में दीखता। कभी अदृश्य हो जाता, कुछ काल के पश्चात् फिर दिखाई देने लगता। कभी-कभी तो वह पृथ्वी पर उतर आता वहीं से निरन्तर अस्त्रों को फेंकता, कभी आकाश में उड़ता हुआ सम्पूर्ण नगरी पर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करने लगता। कभी उसे समुद्र पर तैरते हुए लोग देखते। कभी पर्वत के शिखर पर स्थिर हो जाता। इस कारण सभी उसके इन कार्यों से विस्मित और भयभीत से हो गये थे।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र श्रीप्रद्युम्न जी ने जब देखा, कि नगरनिवासियों के ऊपर तो शाल्व के विमान ने आतङ्क स्थापित कर रखा है, तब आप सबको सान्त्वना देते हुए मेघ गम्भीर वाणी से कहने लगे—"डरने का कोई काम नहीं। मैं अभी जाकर युद्ध मे शत्रु को परास्त करूँगा।"

प्रद्युम्नजी के ऐसे वीरता पूर्ण वचनों को सुनकर सबको धैर्य हुआ। सबको धैर्य बँधाकर वासुदेवनन्दन श्री प्रद्युम्नजी, सात्यकि चारुदेष्ण, साम्ब, अक्रूर तथा उनके भाई हार्दिक्य, भानुविन्द, गद, शुक, सारण तथा अन्यान्य बड़े-बड़े धनुर्धर महारथी यादव वीरों के साथ शाल्व से लड़ने चले। इनके साथ अपार चतुरंगिनी सेना थी। हाथी घोड़ा, रथ और पदाति सेना से सुरक्षित समस्त शूरवीर साहस के साथ समर के लिये जा रहे थे। वे सब के सब अंगों की रक्षा के लिये दृढ़ कवच धारण किये हुए थे। इन सबके सेनापति प्रद्युम्न जी थे। सेना सहित श्रीकृष्ण नन्दन प्रद्युम्नजी को युद्ध के लिये देखकर शाल्व ने गर्जना की। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने लगा। अब प्रद्युम्न का और शाल्व का जैसे

युद्ध होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

इन्द्रप्रस्थ प्रभु गये द्वारका पै चढ़ि आयो।
लैके सौभ विमान नगर महँ दुन्द मचायो॥
अस्त्र शस्त्र बरसाइ तुरत नभ महँ छिपि जावै।
जल महँ उतरे फेरि सतत गोला बरसावै॥
हरिनन्दन प्रद्युम्न तब, सजि सेना रिपु दलन हित।
चले सग यादव सुभट, भये सौभ लखि चकित चित॥

प्रद्युम्न और शाल्व का युद्ध

[११५७]

ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।
क्षणेन नाशयामास नैश तम इवोष्णगुः ॥*

(श्री भाग० १० स्क० ७६ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

डरे नहीं प्रद्युम्न प्रथम रिपु माया नाशी ।
छोड़े अगनित बान कृष्ण नन्दन सुखराशी ॥
कीयो मूर्छित शाल्व सचिव ताको पुनि आयो ।
देख्यो आवत शत्रु तबहिँ रथ तुरत घुमायो ॥
सहसा श्रीप्रद्युम्न हिय, गदा मारि गरज्यो सचिव ।
वज्र सरिस हिय महँ लगी, दुखित सारथी भयो तब ॥

परस्पर मे दो वीर लडते हैं, तो दोनो मे से एक की जय दूसरे की पराजय होती ही है। जो लडने चलता है, वह अपने को सर्वश्रेष्ठ शूर समझता है। जिसे अपनी शूरता में सन्देह होगा, वह दूसरे से युद्ध ही क्यो करेगा। कभी-कभी अपने बल पर पूर्ण विश्वास रहने पर भी, बली पुरुष साधारण शूरवीर से पराजित हो जाता है, किन्तु उस पराजय से भयभीत होकर पुनः

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब प्रद्युम्नजी का शाल्व के साथ युद्ध होने लगा, तब शाल्व ने माया की। उस शाल्व की सम्पूर्ण माया को प्रद्युम्नजी ने दिव्यास्त्रो से एक क्षण मे उसी प्रकार नाश कर दिया, जिस प्रकार सूर्यदेव रात्रि के अन्धकार को नाश कर देते हैं।"

लड़ने की इच्छा करे, तो कायरता है, किन्तु जो पराजय को भी युद्ध का एक सामान्य अङ्ग समझकर उसकी उपेक्षा करता है और वीरता के साथ पुनः शत्रु के सम्मुख समर में आ डटता है, वही वीर है। ऐसे साहसी और निर्भीक वीर की कभी पराजय नहीं होती। वह जब तक जीवित रहता है, तब तक यश प्राप्त करता है और जब शत्रु के सम्मुख वीरता के साथ अस्त्र शस्त्रों से मरता है, तो मरकर स्वर्ग जाता है। वीरों का न कभी अपयश होता है, न उनकी मृत्यु ही होती है, वे तो सदा अजर-अमर बने रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शाल्व ने जब द्वारावती पुरी पर चढ़ाई की, तब प्रद्युम्नजी अपनी सेना सजाकर उसका सामना करने के लिये चले। उसने आसुरी माया फैला रखी थी। उसे प्रद्युम्नजी ने आते ही अपने दिव्य अस्त्रों द्वारा नाश कर दिया। सर्वप्रथम उन्होंने शाल्व के सेनापति पर पचीस बाणों से प्रहार किया। वे बाण सामान्य बाण नहीं थे, उनकी नोकें तीक्ष्ण और उत्तम लोहे की थीं। उनके पङ्ख सुवर्ण के थे। वे दुहरे करने पर भी टूटते नहीं थे, क्योंकि उनमें के बीच से जोड़ दिखाई नहीं देते थे, सभी सम थे। सेनापति को बाणों से व्यथित करके उन्होंने एक साथ ही बड़े लाघव से सौ बाण तो सौभ के मारे और भी जितने उसके साथ सैनिक थे, सबमें एक एक बाण मारा। जो एक एक सेना की टुकड़ी के अधिनायक थे, उनके दस-दस बाण मारे और तीन तीन बाणों से शत्रु पक्षीय हाथी, घोड़ा आदि वाहनों को वेध दिया।

अब तो सर्वत्र प्रद्युम्नजी की वीरता की प्रशंसा होने लगी। यादव वीर सिंहनाद करके वासुदेव नन्दन की जय बोलने लगे और शत्रुपक्ष के वीर भी मन ही मन कहने लगे—"हाँ यह कोई भारी शूरवीर है।"

शाल्व का विमान उस स्थान से उड़कर अन्तर्ध्यान हो गया। प्रद्युम्नजी उसे देखते रहे, कहीं दिखायी नहीं दिया। सहसा उन्हें दूर से दिखायी दिया, तुरन्त वे अपने साथी यादव वीरों को लेकर वहाँ गये, वहाँ जाकर उन्होंने असंख्य बाण उसके ऊपर छोड़े। वे सब बाण सूर्य के समान चमकीले थे, अग्नि के समान जल रहे थे, सर्पों के समान विषमुख वाले थे और इन्द्र के वज्र के समान अमोघ थे। वे गरुड़ के समान वेग से जाने वाले थे।

प्रद्युम्नजी से प्रथम शाल्व का महामन्त्री द्युमान् लड़ा था। वह बड़ा ही बली और समर विजयी था, किन्तु प्रद्युम्नजी ने बाण मारकर उसे परम दुखित कर दिया, इसलिये वह युद्ध छोड़कर भाग गया। तब प्रद्युम्नजी ने उसे छोड़ दिया और वे शाल्व पर प्रहार करने लगे। यद्यपि शाल्व आकाशचारी विमान में था और प्रद्युम्नजी पृथ्वी पर चलने वाले रथ में थे, फिर भी पृथ्वी पर से ही उन्होंने ऐसी बाण की वर्षा की कि शाल्व मूर्छित हो गया।

शाल्व के मूर्छित हो जाने पर, तुरन्त चेत होने पर, प्रधानमन्त्री द्युमान् प्रद्युम्नजी के सम्मुख आया। यादव वीर दृढ़ प्रतिज्ञ होकर रण में डटे हुए थे। वे युद्ध से हटने का नाम नहीं लेते थे। उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया था, कि या तो शत्रु को परास्त करके यश प्राप्त करेंगे, या युद्ध में शत्रु के सम्मुख शस्त्रों से प्राण त्यागकर स्वर्ग ही जायेंगे। इसीलिये किसी ने समर से पीछे पग हटाने का मन से भी विचार नहीं किया। द्युमान् ने सहसा आकर वज्रलोह निर्मित एक बड़ी भारी भयंकर गदा को प्रद्युम्नजी की छाती में मारा। और मारकर सिंह के समान उसने गर्जना की, उसके लगते ही उनका वक्ष स्थल विदीर्ण हो गया, वे संज्ञाशून्य होकर रथ में गिर पड़े, उनके गिरते ही उनके बुद्धिमान् सारथी ने रथ तुरन्त ही बड़े कौशल से हटा लिया। वह शत्रु सेना को

चीरता हुआ बाहर निकल गया। प्रद्युम्नजी को रण से भागते देखकर शत्रु सेना के लोग परम हर्षित हुये। यादव वीर शोक में मग्न होकर हाय हाय करने लगे।

रणाङ्गण से दूर जाने पर प्रद्युम्नजी को शीतल वायु लगी। उसके लगते ही उनकी मूर्छा भग हुई। उन्होंने अपने को समर-भूमि से बाहर एकान्त में पाया। पहिले तो वे समझ ही न सके कि मैं कैसे आ गया। कुछ देर इधर-उधर देखकर वे सब रहस्य को समझ गये। उन्होंने अपने सारथी को डाँटते हुए कहा—"सूत! तुमने यह क्या किया? मुझे तुम रणाङ्गण से बाहर क्यों ले आये?"

हाथ जोड़कर विनीत भाव से सारथी ने कहा—"प्रभो! आप मूर्छित हो गये थे।"

घुड़क कर प्रद्युम्नजी ने कहा—"मूर्छित हो गये थे, तो क्या हुआ, रण में तो यह होता ही है। कोई किसी पर प्रहार करता है, कोई मूर्छित हो जाता है। शूरवीर पुरुष मूर्छा से घबराते नहीं। जो घबरा कर प्राणों के भय से रण छोड़कर भागता है, वह कायर कहलाता है। यद्यपि मैंने कभी युद्ध में कायरता नहीं की, किन्तु कायरस्वभाव के सारथी के कारण आज मेरी भी गणना कायरों में हो गयी, रण से पीछे हट जाना यह हम क्षत्रियों के लिये अत्यत ही कलङ्क की बात है। यह अपमान तो मृत्यु से भी बढ़कर है। अब मैं किसी को मुख दिखाने योग्य भी न रहा। मेरे पिता आकर जब मुझसे पूछेंगे, तू युद्ध से क्यों भाग आया?' तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा। मेरे ताऊ बलदेवजी जब अपमान के स्वर में कहेंगे, कि तुमने क्षत्रियधर्म का उल्लङ्घन किस कारण से किया, तो मेरे पास इसका कोई उत्तर ही नहीं। मेरे [illegible] बन्धु बान्धव अब मेरे इस अपमान जनक निन्दित [illegible] परस्पर में चर्चा करेंगे, तो मुझे मरण के समान [illegible]

संभावित की अपकीर्ति होनी मरण से भी अधिक क्लेशकर बताई जाती है। यदुकुल में उत्पन्न कोई भी वीर रणभूमि से हटता हुआ नहीं सुना गया। जब मेरी भाभियाँ हँसी-हँसी में कहेंगी—"कहिये शूरवीर देवर! युद्ध में विपक्षी वीरों ने किस कारण आपको कायर बना दिया?" तब मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा। तू मेरा मित्र रूप में शत्रु है। प्रतीत होता है, या तो तू युद्ध विद्या से अनभिज्ञ है या शत्रुओं ने तुझे लोभ लालच देकर अपनी ओर मिला लिया है।"

यह सुनकर विनय के साथ सारथी ने कहा—"आयुष्मन्! आप मेरे ऊपर व्यर्थ सन्देह न करें। न तो मैं शत्रुओं से मिला ही हुआ हूँ और न युद्धधर्म से अनभिज्ञ ही हूँ, मैं आपके पूज्य पिता के सारथी दारुक का पुत्र हूँ। मैं बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में आपके साथ रहा हूँ, मुझे रथी और सारथी के कर्तव्यों का भली-भाँति ज्ञान है। सारथी का धर्म है, कि जब रथी को बड़े भारी संकट में घिरा देखे, तो जैसे भी बने तैसे अपने स्वामी की रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार रथी का भी कर्तव्य है, कि अपने सारथी की सब प्रकार से रक्षा करे। इस धर्म को जानते हुए ही मैंने ऐसा किया। जब आप शत्रु की गदा से अचेत हो गये थे, तब मेरे लिये इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं था। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आपको पुनः चेत हुआ। अब आप जैसी भी आज्ञा देंगे वैसा ही किया जायगा।"

यह सुनकर प्रद्युम्नजी को कुछ सान्त्वना हुई। उनका कवच वज्र के प्रहार से छिन्न-भिन्न हो गया था। अतः उन्होंने दूसरा कवच धारण किया। हाथ मुख धोकर, आचमन किया और फिर सारथी से बोले—"तू अभी तुरन्त मुझे शाल्व के सचिव वीरवर-द्युमान के समीप ले चल। मैं उसे इसका फल चखाऊँगा।"

सारथी ने कहा—"जो आज्ञा, मैं अभी चलता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह सुनकर सारथी पुनः प्रद्युम्नजी को उस द्युमान् के पास ले गया, जो निर्भय होकर यादवों से युद्ध कर रहा था। अब जैसे उन दोनों में युद्ध होगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

लै रथ रन तैं भग्यो चेत हरिसुत कूँ आयो।
युद्ध पलायन निरखि सारथी अति घमकायो॥
करिकें पुनि पयपान कवच बदल्यो रन आये।
गरजन भीषन करी शत्रु सैनिक घबराये॥
मंत्री शाल्व द्युमान् वध, करयो फेरि आगे बढे।
करहिं बान बरसा असुर, वायुयान पै सब चढे॥

यादवों का शाल्व से भयङ्कर युद्ध

(११५८)

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।
युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥ ❀

(श्रीभा० १० स्क० ७७ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

सत्ताइस दिन भयो युद्ध नहिँ यादव हारे ।
हय, गज, पैदल, रथी सौभपति के बहु मारे ॥
भगे न खल छल करै शस्त्र नभ तैं बरसावै ।
बन, उपवन, आराम, सभा घर तोरि गिरावै ॥
पुरी सकल ऊजर करी, पुरवासिनि अति दुख दियो ।
इन्द्रप्रस्थ तैं आइ इत, श्याम परम विस्मय कियो ॥

कोई चाहे कितना भी निर्बल क्यों न हो, यदि उसकी मृत्यु नहीं, तो बली से बली भी उसे नहीं मार सकता । इसके विपरीत यदि कोई बली भी है और उसकी मृत्यु की घड़ी आ गयी है, तो उसे सर्व साधारण मनुष्य भी मार सकता है, जिसके हाथों उस की मृत्यु बदी है । असुरों के बलदाता भी भगवान् वासुदेव ही हैं और सुरों को निर्बल बनाने वाले भी वे ही हैं, जब जैसा समय आता है, तब तैसे लोगों को वे बली अथवा निर्बल बना देते हैं ।

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! इस प्रकार यादवों का शाल्व की सेना के साथ परस्पर एक दूसरे पर प्रहार करते हुए, सत्ताईस दिनों तक घोर घमासान युद्ध हुआ ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्रद्युम्नजी ने अपने सारथी को युद्ध से चले आने पर बहुत डाँटा डपटा। स्वस्थ होकर उन्होंने पुनः सारथी को युद्ध भूमि में चलने की आज्ञा दी। वासुदेव-नन्दन प्रद्युम्नजी की आज्ञा पाकर सारथी पुनः रणाङ्गण की ओर बढ़ा, उसने घोड़ों की रासों को बड़ी सावधानी से पकड़ा। तोत्र के छुआते ही घोड़े वायुवेग के समान दौड़े। दर्शकों को दूर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता था, मानो प्रद्युम्नजी का रथ आकाश में उड़ रहा है। सारथी अपने अश्वपरिचालन की कला का प्रदर्शन कर रहा था। कभी घोड़ों को दायीं ओर ले जाता, कभी बायीं ओर, कभी चलाते-चलाते चक्कर काटने लगता, कभी पीछे हट जाता। इस प्रकार शत्रु सेना को चीरता हुआ वह शाल्व के मन्त्री द्युमान् के समीप पहुँचा। उसके रथ के समीप जाकर उसने प्रद्युम्नजी के रथ को खड़ा कर दिया। उस समय शत्रुओं के श्रेष्ठ महामन्त्री द्युमान् यादव सेना का निर्दयता के साथ [illegible] कर रहा था। अपनी सेना का [illegible] देखकर, [illegible] प्रद्युम्न को बड़ा क्रोध आया, [illegible] कहा—"अरे, नीच ! तू [illegible] क्यों कर रहा है। तुझे [illegible] कर।"

छोडकर उसके सिर को भी धड से पृथक् कर दिया। द्युमान् के मरते ही शत्रु सेना मे खलबली मच गयी। बहुत से भय के कारण ही मर गये। इस प्रकार शत्रु सेना में तो हाहाकार मच गया और यादवो की सेना मे आनन्द छा गया।

इधर प्रद्युम्न जी तो द्युमान् से युद्ध कर रहे थे, उधर गद, सात्यकि और शाम्ब आदि यादव वीर शाल्व की सेना का संहार कर रहे थे। वे शाल्व के सौभ विमान पर बाणों की वर्षा कर रहे थे। उनके अमोघ बाणों से शाल्व पक्षीय असुर सैनिकों के सिर कट-कटकर उसी प्रकार गिर रहे थे, जिस प्रकार नारियल के वृक्ष से टूट-टूटकर फल गिर रहे हो। अथवा आँधी में बेल तथा कैथा के वृक्षों से पके फल झर रहे हो। सैनिकों के कटे सिरों से समुद्र भर गया। वे कछुओं की भाँति समुद्र के जल पर तैरने लगे। दोनो ही ओर युद्ध की पूरी तैयारियाँ थीं। कोई हटने का नाम भी नहीं लेता था। द्युमान् को मारकर प्रद्युम्न जी भी शाल्व से लड़ने लगे। उन्होंने एक अमोघ बाण धनुष पर चढ़ाया, जो किसी भी प्रकार व्यर्थ होने वाला नहीं था। उस समय आकाश वाणी हुई—"हे वासुदेवनन्दन! तुम इस अमोघ बाण को मत चलाओ। यह बाण भी अमोघ है, जिसके उद्देश्य से यह छोडा जाता है, उसे मारे बिना यह लौटता भी नहीं और इसकी मृत्यु भी आपके हाथ नहीं है। यह तो श्रीकृष्ण भगवान् के हाथ से मरेगा। अतः आप ऐसा साहस न करें। यह सुनकर प्रद्युम्न जी ने उस बाण को नहीं छोड़ा। शाल्व तुरन्त अपने सौभ विमान मे चढ़कर समुद्र के पार चला गया।

इधर इन्द्रप्रस्थ से विदा होकर बलदेव जी के सहित भगवान् द्वारकापुरी में आये। आकर उन्होंने जो देखा, उसे देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पुरी की समस्त शोभा नष्ट हो गयी है। वहाँ के वन, उपवन उजड गये हैं। घर, गोपुर, द्वार टूटे

फूटे पडे हैं। स्थान स्थान पर मृतक पुरुष सड रहे हैं, सैनिकों के पहरे लगे हैं, नगरवासी भयभीत से प्रतीत होते हैं। उन्होंने कृतवमा से पूछा—"यह क्या बात है, यह हमारा द्वारकापुरी ही है या हम भूलकर किसी दूसरी पुरी में आ गये हैं। यह इतनी श्रीहीन सी क्यों हो गयी है? किस शत्रु ने इस पर चढाई की है?"

सर्वज्ञ भगवान के इन प्रश्नों को सुनकर कृतवर्मा ने आदि से अन्त तक शाल्व की चढाई का वृत्तान्त जता दिया और यह भी जता दिया, कि वह अभी गया नहीं है। यहा सेना का पडाव डाले पडा है।

यह सुनकर भगवान् को शाल्व पर क्रोध आया। उसी समय उन्होंने शाल्व को मारने का निश्चय किया। अपने बडे भाई बलदेवजी से उन्होंने कहा—"आर्य! शाल्व ने हमारा यह बडा भारी अपमान किया है, अब मैं उसे जीवित न छोडूँगा। उसे मारूँगा और उसके मयनिर्मित सौभ विमान को भी तोड फाड कर छिन्न भिन्न कर दूँगा। आप चलकर नगर की रक्षा करें। भयभीत नगरवासियों को धैर्य बँधावें, मैं तो तब तक नगरी मे प्रवेश न करूँगा, जब तक शाल्व को मार न डालूँ, तथा उसके सौभ विमान के खड खड न कर डालूँ।

बलराम जी ने कहा—"अच्छी बात है, तुम जाकर उस दुष्ट शाल्व को मार आओ, मैं तब तक चलकर नगरी की देख रेख करता हूँ।" यह कहकर बलदेव जी नगरी मे चले गये। उन्हे आये देखकर सबको सन्तोष हुआ।"

इधर श्यामसुन्दर ने अपने सारथी दारुक से कहा—"दारुक! देखो, समुद्र पार वह दुष्ट शाल्व का सौभ विमान दिखाई देता है, तुम मेरे रथ को उसी के समीप ले चलो। यह सौभराज बडा मायावी है, अत्यन्त खल प्रकृति का है। रुक्मिणी विवाह के समय यह भी कुन्डिनपुर पहुँचा था और सब राजाओं की भाँति यह

मुँह की खाकर वहाँ से लौटा था, तभी से यह हमसे द्वेष मानता है। अब तो इसके परम मित्र लँगोटिया यार जरासन्ध और शिशुपाल मेरे द्वारा मारे गये। इससे इसने कुपित होकर मेरे परोक्ष मे द्वारकापुरी पर चढ़ाई कर दी है। इसे अपने सौभविमान का बड़ा अभिमान है, आज मैं इसके अभिमान को चूर्ण कर दूँगा। इसके विमान को तोड़ दूँगा और इसे भी परलोक पठा दूँगा।"

भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर दारुक ने तुरन्त गरुड़ की विशाल ध्वजा वाले भगवान् के रथ को सौभपति की सेना की ओर बढ़ाया। दूर से ही यादव वीरों ने भगवान् के रथ की विशाल गरुड़ की ध्वजा देखी, तो वे सब के सब प्रेम में भरकर कोलाहल करने लगे, शाल्व के सैनिकों ने भी पीताम्बर ओढ़े श्यामसुन्दर को चार शुभ्रवर्ण के घोड़ो वाले विशाल रथ मे अपनी ही ओर आते देखा। भगवान् के रथ की घड़घड़ाहट को ही सुनकर सब के छक्के छूट गये।

भगवान् को अपनी ओर आते देखकर शाल्व भी सम्हला। यद्यपि उसके प्रायः सभी सेनानायक नष्ट हो गये थे, फिर भी उसका युद्ध करने का साहस कम नहीं हुआ था। भगवान् के रथ को देखते ही उसने दारुक को लक्ष्य करके एक बड़ी भयकर जाज्वल्यमान शक्ति छोड़ी। भगवान ने देखा यह शक्ति तो आकाश मण्डल में विद्युत के समान चमक रही है। यदि यह अपने निर्दिष्ट लक्ष्य पर आकर लगी, तब तो सारथी का अन्त ही कर देगी, यही सोचकर भगवान ने बीच में ही बाणों के द्वारा उसके सहस्रों टुकड़े कर दिये। वह व्यर्थ बन गयी। इस पर शाल्व को बड़ा क्रोध आया, भगवान शक्ति को व्यर्थ करके ही शान्त नहीं हुए, अपितु उन्होंने सोलह बाणों से शाल्व को भी वेध दिया। आकाश में विमान पर स्थित सोलह बाणों से बिंधा शाल्व ऐसा

प्रतीत होता था, मानो सोलह किरणों से व्याप्त सूर्यनारायण अपने रथ में बैठे हों। शाल्व को वेधकर तथा बहुत से बाणों से उसके सौभविमान को वेधकर, भगवान् ने रणभूमि में गर्जना की, इससे शत्रु पक्ष के सभी लोग भयभीत हुए।

शाल्व ने भी समझा मेरी मृत्यु निकट ही है। मेरे जीवन का दीप बुझना ही चाहता है, अतः उसने सम्पूर्ण शक्ति बटोरकर भगवान् के ऊपर बाणों की वर्षा की। एक चोखा बाण भगवान् के बायें श्रीहस्त में ऐसा लगा, कि उनके हाथ से दिव्य शार्ङ्ग धनुष छूटकर गिर गया। यह बड़े आश्चर्य की बात थी। ऐसा पहिले कभी नहीं हुआ था। आकाश में स्थित देवगण तथा रणाङ्गण में समुपस्थित समस्त यादव पक्षीय वीर हाहाकार करने लगे। वे समझ ही न सके, भगवान् क्या लीला कर रहे हैं। वे परम विस्मित से बने शाल्व को निहार रहे थे।

तब शाल्व ने गर्व के साथ कहा—"कृष्ण! तू बड़ा कपटी है। तैंने कुण्डिनपुर में हम सब के देखते-देखते हमारे बन्धुरूप मित्र शिशुपाल की भावीपत्नी रुक्मिणी का छल से हरण किया था।"

भगवान् ने कहा—"बन्धूजी! छल से हरण नहीं किया था, किन्तु बल से किया था। तुम सब तो वहाँ सदल बल समुपस्थित थे। तुम सबने मुझे पकड़ा क्यों नहीं?"

शाल्व बोला—"चोर सदा थोड़े ही पकड़ा जाता है। एक दो बार जब वह अपने कार्य में सफल हो जाता है, तो फिर उसे अभिमान हो जाता है, कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ। मुझे कोई पकड़ नहीं सकता। मैं सबको ठग लूँगा, इसी प्रकार तुझे भी अभिमान हो गया है, कि मैं अजेय हूँ। इसीलिये तैंने हमारे सखा शिशुपाल का भरी सभा में छल से असावधानावस्था में वध कर दिया। अब मैं उसे चूर-चूर कर दूँगा। यदि तू रण से भाग न गया और इसी प्रकार वीर क्षत्रियों की भाँति डटा रहा, तो आज तुझे मेरी

करनी का फल चखा दूँगा। आज मैं अपने चोखे बाणों से तुझे उस पुर में पहुँचा दूँगा, जिसमें जाने पर फिर कोई उसी शरीर से लौटकर नहीं आता।"

यह सुनकर भगवान हँसे और बोले—"देख, जिसकी मृत्यु निकट होती है, वह वायु विकार से ऐसे ही व्यर्थ की बातें बका करता है। उसी प्रकार तू बक रहा है। इससे प्रतीत हो रहा है, अब तेरा अन्त समय निकट आ गया है। तेरे सिर पर काल मँडरा रहा है। बातें बनाना यह वीरता का काम थोड़े ही है। शूर वीर बड़बड़ाते नहीं हैं, वे करके दिखाते हैं। यदि तुझमें कुछ वीरता है, तो मेरे सम्मुख डटा रह, कुछ ही समय में प्रतीत हो जायगा, कौन बली है कौन निर्बल।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर शाल्व क्रोध में भर गया। भगवान् ने उसके ऊपर प्रहार किया। उसने भी भगवान् पर प्रहार किया। इस प्रकार दोनों ही ओर से भयंकर युद्ध होने लगा। अब दोनों के युद्ध का क्या परिणाम होगा, शाल्व कैसे मारा जायगा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

क्षत विक्षत निज पुरी निहारी कहें मुरारी।
आइ सौभपति अधम द्वारका सकल उजारी॥
बल पुररक्षा हेतु भेजि रिपु सम्मुख आये।
उभय परस्पर भिड़े क्रोधयुत वचन सुनाये॥
बाननि की बरसा करी, शत्रु मान मरदन करयो।
रिपु मारे शर श्याम कर, सारङ्ग धनु करतें गिरयो॥

——

शाल्व वध

(११५९)

जहार तेनैव शिरः सकुण्डलम्,
किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो-
बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ७७ अ० ३६ श्लोक)

छप्पय

सुर मुनि हाहाकार करें रिपु भये सुखारे।
शाल्व बढ्यो अभिमान गरबयुत वचन उचारे॥
कृष्ण मारिकें तोइ मित्र ऋण आजु चुकाऊँ।
हँसि बोले भगवान तोइ यमसदन पठाऊँ॥
मायापति संग सौभपति, विविधि भाति माया करत।
माया तैं वसुदेव रचि, काट्यो तिनको सिर तुरत॥

भगवान् जब जैसा रूप रख लेते हैं, तब तेसी ही क्रीड़ा करने लगते हैं। वे सर्वज्ञ हैं, सर्वस्वतन्त्र हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने चक्र सुदर्शन से ही, महामायावी शाल्व के किरीट कुण्डल मण्डित मस्तक को उसी प्रकार काट डाला, जिस प्रकार पूर्वकाल में देवेन्द्र ने अपने वज्र द्वारा वृत्रासुर का शिर काटा था। यह देखकर शाल्व पक्ष में हाहाकार करने लगे।"

इसलिये वे जो भी लीला करते हैं, वही सुन्दर प्रतीत होने लगती है। उसी मे उनकी ईश्वरता व्यक्त हो जाती है। मोहरहित होने पर भी वे मोह मे फँसे से दीखते हैं। माया के पति होने पर भी वे मायामोहित से प्रतीत होने लगते हैं, उनकी लीला विचित्र है। वे जो भी करते हैं, वही सत्य है, वह शिव है, वही सुन्दर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सौभपति युद्ध कर रहा था। वह अपने विमान में बैठा आकाश मे उड़ रहा था, श्यामसुन्दर अपने गरुड़ की ध्वजा वाले रथ पर चढ़कर, पृथ्वी पर से युद्ध कर रहे थे। भगवान् ने नीचे से ही एक शक्ति उसके कंधों पर मारी। उस शक्ति से लगते ही उसकी समस्त नसें ढीली हो गयीं। मुँह से रक्त बहने लगा और वह थर-थर काँपने लगा। उसने समझ लिया मैं साधारण युद्ध में श्रीकृष्ण से जीत न सकूँगा। इसे माया से जीतना चाहिये।"

भगवान् की गदा तो उसे आहत करके लौट गयी और वह तुरन्त वहाँ का वहीं अन्तर्धान हो गया। अब वह विचित्र माया रचने लगा। उसने अपनी माया से एक ऐसा पुरुष बनाया, जो वसुदेवजी के अन्तरङ्ग सेवक के सदृश था। उसने रणभूमि मे खड़े भगवान् वासुदेव को शिर से प्रणाम करके रोते-रोते कहा—"प्रभो ! मुझे भगवती देवकी ने एक अत्यन्त ही आवश्यक दुःखमय समाचार लेकर आपके समीप भेजा है।" यह कहकर वह फूट-फूट कर रोने लगा।

भगवान् ने कहा—"भाई, बताओ तो सही, बात क्या है, तुम इतने रो क्यों रहे हो ? माताजी ने मेरे लिये क्या संदेश भेजा है ? तुम मुझे शीघ्र ही बताओ ?"

उस माया निर्मित मानुष ने कहा—"हे महाबाहो ! हे पितृवत्सल ! बात कहने योग्य हो, तो कहूँ भी, समाचार अत्यंत ही दुःख पूर्ण है। आपके पूजनीय पिताजी को यह दुष्ट शाल्व उसी प्रकार

निर्दयता पूर्वक पकडकर बाँध ले गया है, जिस प्रकार पशुओं का वध करने वाला वधिक पशुओं को बाँध कर ले जाता है।"

इस कर्णकटु दुख द समाचार को सुनते ही भगवान् प्राकृत पुरुषों की सी लीला करने लगे। वे अत्यत ही शोकाकुल से बन गये। वे साधारण मनुष्यों के समान स्नेह पूर्वक अपने आप ही कहने लगे—"देखो, भवितव्यता कैसी प्रबल है। अपने बडे भाई बलदेव जी को मैंने इसीलिये प्रथम पुरी मे भेज दिया था, कि वे वहाँ रह कर पुरी की रक्षा करें, सबकी देख भाल करें। मैं यहाँ शत्रु से लडूँगा। मेरे बडे भाई को सुर, असुर, गन्धर्व तथा अन्यान्य देव उपदेव भी नहीं जीत सकते, फिर मनुष्यो की तो बात ही क्या ? ऐसे मेरे अजेय भाई को जीतकर शाल्व मेरे पिता को कैसे पकड लाया। क्योंकि उनके रहते तो किसी का ऐसा साहस हो नहीं सकता। मेरे भाई प्रमादी भी नहीं हैं, वे सदा सावधान रहते हैं, उन्हे इस अल्पवीर्य शाल्व ने कैसे जीत लिया। कैसे पिताजी को पकड ले गया ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् इस प्रकार विलाप कर ही रहे थे, कि इतने में ही शाल्व ने माया से एक वसुदेवजी के सदृश पुरुष बनाया और उसे बाँधे हुए आकाश मे श्यामसुन्दर के सम्मुख पुन प्रकट हो गया और कहने लगा—'हे बालिश ! देख तू इन्हे जानता है ? ये तेरे पिता वसुदेव हैं। हमने सुना है, तू बडा पितृ वत्सल है। तेरा जीवन पिता के ही हेतु है। मैं इसे तेरी पुरी से बलात् पकड लाया हूँ, इस तेरे बाप को मैं तेरे सम्मुख ही मारूँगा। तुझ मे शक्ति हो, सामर्थ्य हो, बल हो, वीर्य हो, पुरुषार्थ तथा साहस हो तो तू अपने पिता को मरने से बचा ले।"

ऐसा कहकर उस मायावी ने माया निर्मित वसुदेव जी का सिर अपने खड्ग से धड से पृथक कर दिया। सिर काटकर वह

कटे सिर और धड़ को लेकर अपने विमान पर हँसता हुआ बैठ गया।

सर्वज्ञ स्वयंसिद्ध ज्ञानस्वरूप मायापति भगवान् नर नाट्य करने लगे। अपने पिता के वध को देखकर वे दो घड़ी के लिये शोक सागर में मग्न हो गये। वे प्राकृत पुरुषों के सदृश विलाप करने लगे। कुछ देर में भगवान् स्वस्थ हुए और फिर सब रहस्य समझ गये। उन्होंने जान लिया, यह सब शाल्व निर्मित माया ही है। माया बहुत समय तक टिकती नहीं। माया निर्मित वस्तु अल्पकाल में ही लुप्त हो जाता है। भगवान् ने देखा कि न तो वहाँ दूत है, न पिता जी का कटा शरीर है, जागने पर जैसे स्वप्न की समस्त वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं, वैसे ही वहाँ की वे वस्तुएँ विलीन हो गयीं। अब तो उन्हें शाल्व के ऊपर बड़ा क्रोध आया, उन्होंने उसे मारने का निश्चय कर लिया।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! शोक, मोह, राग तथा भय आदि तो माया बद्ध जीवों को हुआ करते हैं। ज्ञान वैराग्य से परिपूर्ण अखण्ड ऐश्वर्य वाले श्रीकृष्णचन्द्र में ये सब भाव कैसे हो सकते हैं। भगवान् मायिक पदार्थों को देखकर माया मोहित कैसे हो सकते हैं, वे दो घड़ी के ही लिये सही साधारण पुरुषों के समान शोक सागर में कैसे निमग्न हो सकते हैं? जिन भगवान् की चरण सेवा के द्वारा आत्मविद्या प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मुनिगण अनादि अविद्या जनित विपरीत ज्ञान का सर्वदा के लिये नाश करके, अखण्ड ऐश्वर्य और अनन्त आत्म वैभव को प्राप्त करते हैं, उन शरणागत प्रतिपालक भक्त वत्सल, सज्जन पुरुषों के एकमात्र गति, परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि को मोह कैसे हो सकता है। यह तो असंभव बात है। यह तो परस्पर विरुद्ध बातें हैं। अज्ञान तो माया जनित है। भगवान्

तो माया के पति हैं, वे शाल्व की माया निर्मित वस्तुओं को प्रथम ही क्यों नहीं जान गये ?"

इस पर सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! कुछ मुनियों का ऐसा ही मत है, कि भगवान् को उस समय मोह हो गया। किन्तु हम इस बात को नहीं मानते। भगवान् तो माया मोह से रहित हैं। फिर भी माया में सब कुछ सम्भव है। जैसे बाना पहिने वैसा ही आचरण करे। भगवान् सब जानते हुए भी नर लीला दिखा रहे हैं। जब मनुष्य का रूप बनाया है, तो मनुष्यों में होने वाली सब दुर्बलता भी वे लीला के लिये प्रकट करते हैं। जरासन्ध उनका क्या बिगाड सकता था, किन्तु नर लीला दिखाने को अपनी पैतृक राजधानी त्यागकर समुद्र के बीच में आ बसे और रणछोड के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसलिये आप इस विषय में किसी प्रकार की शंका न करें।"

शौनक जी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कथन सत्य ही है, भगवान् जो करें वही सत्य है, वही कमनीया क्रीडा है, अच्छा तो आगे क्या हुआ, आगे की कथा कृपा कर सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ, अच्छी बात है महाराज ! अब मैं आप को आगे की ही कथा सुनाता हूँ। भगवान् को सम्मुख देखकर बडे वेग से शाल्व उन पर झपटा। वह निरन्तर अस्त्र शस्त्रों की वर्षा कर रहा था भगवान् ने अपनी कौमोदिकी गदा से शत्रु को रोंदा। भगवान् की गदा लगते ही उसका दृढ कवच टूट गया। हाथ से धनुष टूटकर छूट गया। भगवान् ने उछल कर साभ विमान पर भी प्रहार किया। भगवान् का गदा प्रहार से वह मायासुर का बनाया विमान टूट फूट गया। उसके सहस्रों टुकड़े हो गये और वह चकनाचूर होकर समुद्र में बिखर सा गया।

विमान के टूटते ही शाल्व उसमें से तुरन्त कूद पडा अत्यन्त क्रोध में भरा हुआ, भगवान् की ओर गदा ले

भगवान् तो पहिले से ही सचेष्ट थे, अपनी ओर आते हुए उस अत्याचारी को देखकर उन्होंने एक अर्धचन्द्राकार बाण छोड़कर उसकी गदा युक्त बाहु को काट दिया। हाथ कट जाने से वह

तनिक भी विचलित नहीं हुआ। वह और भी क्रोध के साथ भगवान् की ओर चला। तब श्रीहरि ने अपने सुदर्शन चक्र को

उठाया। वह प्रलय कालीन सूर्य के समान दिखायी दे रहे थे। उनकी सहस्रों किरणें चमक रही थीं, सहस्रों सूर्यों के सदृश उनका प्रकाश था। भगवान वासुदेव ने उसी दिव्य चक्र के द्वारा महामायावी शाल्व के किरीट कुण्डल मण्डित मस्तक को धड से पृथक् कर दिया। शाल्व का सिर कटते ही शत्रु सेना में हाहाकार मच गया। सैनिकों का साहस छूट गया। वे रण भूमि को छोडकर भगने लगे।

इधर यादवों की सेना मे आनन्द का सागर उमडने लगा। आकाश से सुरगण स्वर्गीय सुमनों की वर्षा करने लगे। उस शाल्व से और उसके सौभ विमान से सभी दुखी थे। अतः शाल्व के मारे जाने पर, तथा विमान के चूर-चूर हो जाने पर सभी को परम हर्ष हुआ। बात की बात मे यह समाचार सर्वत्र फैल गया। भगवद्भक्तों को सुरद्रोही शाल्व के मारे जाने पर प्रसन्नता हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब शाल्व के मारे जाने पर उसका मित्र दन्तवक्त्र जैसे कुपित होकर द्वारका आया और भगवान् ने जैसे उसका वध किया, इस कथा प्रसग को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

नरलीला कछु करी फेरि माया सब जानी।
सौभ करन विध्वंस गदा श्रीहरि ने तानी॥
मारी गिरयो विमान टूटिकें चूर भयो सब।
लखि हरि सम्मुख शाल्व चक्रतें सिर काटयो जब॥
हाय हाय अरि दल मची, भये मुदित यादव अमर।
जय जय सुर नर मुनि कहहिं, सुघर श्याम जीत्यो समर॥

दन्तवक्र और विदूरथ वध

[११६०]

नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्त्रो रुषाभ्यगात् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७७ अ० ३७ श्लोक)

छप्पय

शाल्व और शिशुपाल मरन सब जग महँ छायो ।
बदलो लैवे दन्तवक्र द्वारावति आयो ॥
रनके बाजे बजे उभय दल चले हरषि पुनि ।
मामा फूफी बन्धु लडैं लखि विहँसत ऋषि मुनि ॥
गदा श्याम शिर मारि खल, हँस्यो न हरि विचलित भये ।
तानि गदा कौमोदकी, कृष्ण असुर के ढिंग गये ॥

यह ससार आशा पर ही टिका हुआ है। जब तक सासा तब तक आशा, यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है। वैद्य, चिकित्सक जानते हैं, यह रोग असाध्य है, फिर भी इसी आशा से चिकित्सा करते हैं, सम्भव है बच जाय। व्यापार मे, जूए मे बार बार हार

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शाल्व के मरने पर आकाश मे देवताओ की दुन्दुभियो का शब्द होने लगा। इसी समय दन्तवक्र अपने सखा शिशुपाल तथा शाल्व आदि का बदला लेने के निमित्त अत्यन्त कुपित होकर द्वारका की ओर चला।"

होती है, फिर भी उसमें इसी आशा से चिपटे रहते हैं, सम्भव है अन के लाभ हो जाय। सैनिक देखते हैं,अमुक वीर के सम्मुख जो जाता है, वही हार जाता है, फिर भी दूसरे इस आशा से उससे लडने जाते हैं, कि मैं जीत ही लूँगा। यदि मनुष्य को आशा न रहे, तो वह किसी भी काम में प्रवृत्त न हो। प्रवृत्ति का मूल कारण आशा है, इसीलिये वैराग्यवान पुरुष आशा को ही परम दुःख और नैराश्य को ही परमसुख बताते हैं। जीव जानते हैं, विषयों के भोग से कोई सुखी नहीं हुआ है, फिर भी वह विषयों में इस आशा से प्रवृत्त होता है, कि किसी को चाहे सुख न मिला हो मुझे तो सुख मिल ही जायगा। असुर प्रकृति के लोग जानते हैं,कि भगवान् ने हिरण्यकशिपु,हिरण्याक्ष, रावण तथा कुम्भकरण जैसे विश्वविजयी वीरों को मार दिया है, इनसे आज तक किसी ने विजय प्राप्त नहीं की। फिर भी असुर नहीं मानते उनसे लडने को आते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब शाल्व मारा गया और उसका मय निर्मित सौभ विमान भी नष्ट हो गया, तो यादवों को तथा समस्त सुर मुनियों को बडा हर्ष हुआ। यह समाचार सर्वत्र फैल गया।

यह मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि भगवान् की पाँच बूआएँ थीं। सबसे बडी बूआ कुन्ती के तो पाडव पुत्र थे, जो भगवान् को अपना सर्वस्व समझते थे। श्रुतश्रवा का विवाह चेदिदेश के राजा दमघोष के साथ हुआ जिसके पुत्र शिशुपाल को भगवान् ने धर्म-राज का सभा में मार डाला। एक बूआ श्रुतदेवा थी, जिसका विवाह करुष देश के राजा वृद्धशर्मा से हुआ था। उसका पुत्र दन्तवक्र था। सनकादि के शाप से जय विजय को तीन जन्मों में आसुरी योनि का शाप था। दो जन्मों में तो ये सगे भाई हुए, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु तथा रावण कुम्भकर्ण दोनों जन्मों में

दोनों एक माँ के उदर से हुए। अब इस तीसरे जन्म में ये दोनों पृथक-पृथक स्थानों मे उत्पन्न हुए। यद्यपि ये सगे भाई नहीं हुए, किन्तु मौसेरे भाई हुए। कहावत है 'चोर-चोर मौसेरे भाई' भगवान् की एक बूआ का पुत्र तो शिशुपाल हुआ,दूसरी बूआ का दन्तवक्र हुआ। अब इस तीसरे जन्म में भगवान् के हाथों मर कर उनको पुनः वैकुण्ठ की प्राप्ति होनी थी। जन्म चाहे कहीं भी क्यों न हो, पूर्वजन्म के संस्कार बने ही रहते हैं। पूर्वजन्म में जिनके साथ शत्रुता मित्रता रहती है, उसका संस्कार दूसरे जन्मों में भी अवशिष्ट रहता है। इसीलिये शिशुपाल और दन्तवक्र में बडा भारी प्रेम था। शिशुपाल का मित्र शाल्व था। मित्र का मित्र होने के नाते दन्तवक्र भी उससे स्नेह रखता था।

जिस समय शिशुपाल का भगवान् ने वध किया, उस समय वहाँ दन्तवक्र उपस्थित नहीं था। जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण ने भरी सभा में मेरे मौसेरे भाई शिशुपाल को मार डाला है, तब तो वह अत्यंत कुपित हुआ। उसने जब सुना कि श्रीकृष्ण अब इन्द्रप्रस्थ से द्वारका चले आये हैं, तो वह भी अपने मित्र तथा भाई का बदला लेने द्वारका की ओर चला। वह जब द्वारका के समीप ही पहुँचा था, कि उसने सुना—"श्रीकृष्ण ने तो शाल्व को भी मार डाला और उसके मयनिर्मित सौभ विमान को भी गदा से चूर-चूर कर डाला।" तब तो उसका क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसने सोचा—"यह श्रीकृष्ण बडा छली बली है, इसने मेरे मित्र शिशुपाल को मार डाला। शाल्व, पौंड्रक तथा जरासन्ध आदि जितने हमारे पक्ष के शूरवीर राजा थे, उन सबको इसने असावधानी में छल से परलोक पठा दिया। अब मैं श्रीकृष्ण का वध करके अपने दिवंगत मित्रों का प्रिय कार्य करूँगा।" यही सोचकर वह दुर्बुद्धि अत्यंत क्रोध में भरकर हाथ में गदा लेकर द्वारका आया। उसके सचिवों ने मित्रों ने बहुत कुछ कहा, कि आप सेना

सजाकर द्वारका पर चढाई करें, किन्तु उसे तो अपने बल का अत्यधिक अभिमान था, अतः उसने कहा—"सेना सजाकर निर्बल जाते हैं, मैं तो अकेला ही जाकर कृष्ण को मार आऊँगा।" यह कहकर वह अकेला पैदल ही द्वारका की ओर दौडा। वह उसी समय भगवान् को दिखाई दिया, जब वे शाल्व को मारकर द्वारका-पुरी की ओर रथ में बैठकर जा रहे थे। दूर से ही उसने भगवान् के रथ की विशाल गरुड के चिह्न वाली ध्वजा देखी, अतः उसने वहीं से चिल्लाकर कहा—"कृष्ण! अरे, ओ छलिया! खडा तो रह, कहाँ भागा जा रहा है।"

भगवान् ने देखा, हाथ में गदा लिये हुए, अपने पैरों से पृथ्वी को कँपाता हुआ, युद्ध की इच्छा से पैदल ही दन्तवक्र उनकी ओर दौडा चला आ रहा है। उन्होंने सोचा—"जब शत्रु पैदल है तो मुझे भी उससे पैदल ही युद्ध करना चाहिये। रथ में बैठकर पदाति से युद्ध करना रणनीति के विरुद्ध है।" यही सोचकर भगवान् तुरन्त रथ से कूद पडे। उनके हाथ में शाल्व के रक्त से सनी कौमोदकी गदा थी। उन्होंने दौडकर आते हुए दन्तवक्र को रोक लिया, जिस प्रकार सिंह सम्मुख आते हुए गजराज को रोक लेता है, अथवा किनारा जैसे समुद्र के वेग को रोक लेता है। भगवान् ने हँसकर कहा—"कहो, भैयाजी! कहाँ जा रहे हो?"

यह सुनकर दन्तवक्र गदा को तानता हुआ क्रोध में भरकर कहने लगा—"कृष्ण! तू मेरे सगे मामा का लडका है। सम्बन्धी और मातृपक्ष का होने से तू मेरे लिये अवध्य है, करूँ क्या, तेरा अभिमान आवश्यकता से अधिक बढ गया है। तेरे अपराध सीमा को पार कर गये हैं। तू मेरे भाई शिशुपाल की स्त्री को बल पूर्वक भगा ले गया। मेरे मित्र जरासन्ध को तैंने छल से मरवा डाला। मेरे मौसेरे भाई अपनी फूआ के लडके शिशुपाल को तेने भरी सभा में मार डाला। उसके परम मित्र मेरे स्नेही शाल्व को

तैंने अभी-अभी मार दिया। मैं तेरे सम्बंध की बातें बहुत दिनों से सुनता चला आता था, आज बड़े भाग्य की बात है, जो तू मेरे सम्मुख आ गया। अब तू अपने देवी देवताओं को मना ले। तैंने मेरे सब मित्रों को मार डाला है और मुझे भी मारने का प्रयत्न कर रहा है। तैंने बड़े-बड़े अपराध किये हैं। अब मैं तुझे छोड़ नहीं सकता। आज मैं तेरा सब कार्य समाप्त कर दूँगा। तुझे अपनी वज्रसदृश गदा से मार डालूँगा। अब मैं इस बात का संकोच न करूँगा, कि जिस उदर से मेरी माता उत्पन्न हुई है, उसी से तेरा पिता उत्पन्न हुआ है, इससे मैं तेरे ऊपर दया कर दूँ। देख, रोग तो शरीर से उत्पन्न होता है, उसे भी कड़वी कषैली ओषधियों से शांत करते हैं। कीड़े शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, फिर भी उन्हें अनिष्टकारी समझकर मार देते हैं। तू भी हमारे मातृकुल में रोग है, कलङ्क के सदृश है। हे मतिमन्द! आज तुझे अपनी वज्र तुल्य गदा से मार डालूँगा। तुझे यदि मैं नहीं मारता तो मैं मित्र द्रोही कहलाऊँगा। अतः तुझे मारकर मैं अपने मित्रों के ऋण से उऋण हो जाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर वह महाबलशाली सहसा भगवान् के ऊपर गदा घुमाता हुआ दौड़ा और उसने उन्हें उत्तेजित करते हुए, उनके मस्तक पर गदा जमा ही तो दी। गदा मारकर उसने गर्जना की। यद्यपि भगवान् के मस्तक पर इसने पूरी शक्ति से प्रहार किया था, किन्तु भगवान् उससे इसी प्रकार विचलित नहीं हुए, जिस प्रकार फूल की छड़ी मार देने से गजराज विचलित नहीं होता। गदा के प्रहार को सहकर वे बोले—"भैयाजी! तुमने तो प्रहार कर लिया, अब मेरा भी सहो।" यह कहकर बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये भगवान् ने उसके वक्षःस्थल में अपनी कौमोदकी गदा से प्रहार किया। भगवान् की गदा लगते ही उसका हृदय फट गया, रक्त की वमन

करता हुआ, कुछ काल तो हुच हुच करता रहा, अन्त मे भगवान् की ओर एक टक निहारता हुआ वह प्राणहीन हो गया। उसके हाथ पैर फैल गये, केश बिखर गये और अस्त व्यस्त भाव से धूलि में लोटने लगा। जिस प्रकार शिशुपाल के मरने के समय उसके शरीर से ज्योति निकल कर भगवान् वासुदेव के शरीर मे समा गयी थी, उसी प्रकार इस दन्तवक्र के मुख से निकली हुई सूक्ष्म ज्योति सभी लोगो के देखते-देखते अत्यन्त ही विचित्र भाव भगवान् के श्री अङ्गमे समा गयी। इस पर सभी भगवान् की जय जयकार करने लगे। तीनो लोको मे हर्ष छा गया।

जिस समय दन्तवक्र अकेला ही गदा लेकर द्वारका की ओर चला था, उसी समय भ्रातृस्नेह से परिप्लुत उसका भाई विदूरथ भी उसके पीछे पीछे आ रहा था। दन्तवक्र प्रथम पहुँच गया था, जब वह भगवान् की गदा से मर गया, तब यह विदूरथ पहुँचा। अपने भाई की मृत्यु सुनकर तथा भ्रातृशोक से विह्वल होकर विदूरथ भी भगवान् को मारने को दौडा। जैसे पतग अग्नि की लपटो को देखकर दौडता है और अन्त मे उसी मे जलकर भस्म हो जाता है, यही दशा विदूरथ की हुई। वह एक हाथ मे ढाल और दूसरी में करवाल लेकर लम्बी-लम्बी श्वासो को छोडता हुआ भगवान् के ऊपर झपटा।

भगवान् ने सोचा अब इसके ऊपर गदा क्या चलाई जाय, उन्होने चक्र सुदर्शन को आज्ञा देदी। चक्र ने उसका किरीट कुण्डल मण्डित मस्तक धड से पृथक् कर दिया। अब तो यादवो के हर्ष का ठिकाना ही नही रहा। सभी अपनी इस विजय पर अत्यन्त हर्षित हुए।

अब तो कोई आने वाला शत्रु नही रहा। शिशुपाल राजसूय सभा मे मारा गया, विमान सहित शाल्व यहाँ नष्ट हुआ। दन्तवक्र और विदूरथ बदला लेने के लिये प्रयत्न करने मे ही

गये। सब को मारकर शङ्ख बजाकर अब भगवान् द्वारकापुरी की ओर पधारे। पृथ्वी पर सभी लोग उनकी स्तुति कर रहे थे, आकाश से देवतागण पुष्प बरसा रहे थे। पीछे पीछे सूत, मागध, बन्दी, ऋषि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, उरग, पितृगण, अप्सरा, यक्ष, किन्नर और चारणादि उनका यशोगान करते जाते थे। भगवान् मन्द-मन्द मुस्कराते हुए तथा विजय गायनों को श्रवण करते हुए, सेवकों से घिरे हुए चले। यादवों ने आज द्वारावती को भली भाँति सजाया था। उस सजी सजाई पुरी में प्रभु ने प्रसन्नता पूर्वक प्रवेश किया। विजयी भगवान् के दर्शन करके नगर के नर नारी अत्यधिक प्रमुदित हुए। स्त्रियों ने उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा की। कन्याओं ने उनको मालायें पहिनायीं तथा उनके मस्तक पर दधि कुकुम का टीका लगाया, अक्षत चिपकाये। भगवान् सबका यथोचित स्वागत सम्मान करते हुए महलों में आ गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार योगेश्वरों के भी ईश्वर जगद्पति भगवान् वासुदेव ने अनेकों दिव्यातिदिव्य लीलायें कीं। अज्ञानी लोग उन्हें कहीं हारते देखते, कहीं जीतते। वास्तव में वे न कभी किसी से हारते हैं, न किसी को जीतते हैं। सबके स्वामी तो एकमात्र वे ही हैं। क्रीडा करने के लिये ऐसे रूप बना कर लीला करते हैं। अब जिस प्रकार बलदेवजी कुछ अनमने होकर तीर्थ-यात्रा के लिये गये हैं। उस प्रसग का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

मारी हिय महँ गदा गिरयो मरि अति अभिमानी।
तनुतें निकसी ज्योति श्याम तनु माहिं समानी॥
तीन जनम जय विजय भये खल हरिने मारे।
शाप मुक्त अब भये तुरत वैकुण्ठ सिधारे॥
दन्तवक्रको बन्धु लघु, आइ विदूरथ रन करयो।
सोऊ हरिके हाथ तैं, समर माहिं सम्मुख मरयो॥

बलदेवजी की महाभारत युद्ध में तटस्थता

[११६१]

श्रुत्वा युद्धोद्यम रामः कुरूणां सह पांडवैः ।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७८ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

विजयी बनि घनश्याम पुरी अपनी महँ आये ।
सुन्यो द्यूत महँ धरमराज कौरवनि हराये ॥
राजपाट सब हारि बने पाडव वनवासी ।
पहुँचे वन महँ तुरत सुनत अच्युत अविनाशी ॥
दई सान्त्वना सबनि कूँ, वनको प्रन पूरन भयो ।
दुरजोधनने तऊ नहिँ, राज पाडवनि फिरि दयो ॥

मनुष्य को उस समय बडा धर्मसकट पड जाता है, जब लडने वाले दोनो पक्ष के लोग अपने सगे सम्बन्धी हो । एक कोई अन्य हो और एक अपना सगा सम्बन्धी हो, तो यह स्वाभाविक ही है, कि सगे सम्बन्धी का पक्ष लिया जाता है । जब दोनो ही समान रूप से अपने सम्बन्धी हो, तब मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ बन जाता

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कौरव और पाडवो को युद्ध के लिये उद्यत देखकर निरपेक्ष उदासीन रहने के विचार से बलदेवजी तीर्थयात्रा के व्याज से द्वारका से चल दिये ।"

है। ऐसे समय कुछ लोग तो ऐसा करते हैं, जिनसे अधिक प्रेम होता है, उनकी ओर हो जाते। दूसरों से शत्रुता कर लेते हैं। कुछ ऐसे होते हैं,कि दोनों मे से किसी का भी पक्ष नहीं लेते,तटस्थ हो जाते हैं। किसी पक्ष का समर्थन न करके वे मौन हो जाते हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि यह जानते हुए भी कि एक पक्ष अन्याय कर रहा है फिर भी लोभ, मोह, संकोच, अथवा अन्य किसी कारण से अन्यायी पक्ष की ही सहायता करते हैं। मन से चाहे विपक्षियों का ही कल्याण चाहे, किन्तु सहायता इसी पक्ष की करते हैं। कुछ ऐसे न्यायप्रिय निर्भीक पुरुष होते हैं कि वे सम्बन्ध का, प्रेम का, लोभ मोह अथवा शील संकोच की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखते। वे तो जिधर धर्म देखते हैं उन्हीं का पक्ष लेते हैं। उन्हीं की सहायता करते हैं। वे न्याय के लिये–धर्म के लिये–सब कुछ कर सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् शाल्व तथा विदूरथ आदि को मारकर द्वारकापुरी में आये। यहाँ आकर उन्होंने सुना, पांडव द्यूत मे सर्वस्व हारकर वन मे चले गये हैं और वहाँ वनवासियों का सा जीवन बिता रहे हैं। इस समाचार को सुनते ही भगवान् तुरन्त रथ मे बैठकर पांडवों से मिलने के निमित्त उस काम्यक महावन मे गये जहाँ पांडव रहते थे। भगवान् ने पांडवों की ऐसी दशा पर दुःख प्रकट किया और उन्हे बारह वर्ष धर्मपूर्वक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञातवास की सम्मति दी। पांडवों ने बारह वर्ष तक वन मे वास किया और एक वर्ष राजा विराट् के यहाँ अज्ञातवास में रहे। कौरव अज्ञातवास के समय पाडवों को बड़ी तत्परता के साथ चारो ओर खुजवा रहे थे, जिससे वे पुनः बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करें। किन्तु पांडव तो इस प्रकार वेष बदलकर रहते थे, कि उन्हे कोई पहिचान ही नहीं सकता था। जब कौरवों ने विराट् की गौओं

का जाकर हरण किया, तब बृहन्नला बने हुए अर्जुन ने विराट् पुत्र उत्तर का सारथ्य किया। कुमार उत्तर कौरवों की इतनी भारी सेना को देखकर डर गया। तब अर्जुन समस्त कौरव पक्षीय वीरों को युद्ध में मूर्छित करके गौओं को छुड़ा लाये। उस समय सबने जान लिया, कि बृहन्नला सव्यसाची अर्जुन ही हैं। उसने कहा—"मैंने एक वर्ष अज्ञातवास के पहिले ही इन्हें पहिचान लिया, इसलिये इन्हें पुनः बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास करना चाहिये।" पाडवों का कहना था कि अज्ञातवास में हमें एक वर्ष से अधिक हो गया है। इसी पर बात बढ़ गयी। दुर्योधन ने स्पष्ट कह दिया—"मैं बिना युद्ध के एक सूई की नोंक के बराबर भूमि न दूँगा।" बीच में भगवान ने पडकर ऊपर से लोक दिखावे को बहुत चाहा, कि कौरव पाडवों में युद्ध न हो। वे धर्मराज के दूत बनकर भी हस्तिनापुर गये। दुर्योधन को बहुत समझाया, किन्तु वह किसी प्रकार नहीं माना। उसने तो यहाँ तक प्रयत्न किया, कि हत्या की जड ये श्रीकृष्ण ही हैं,इन्हीं के बल पर पाडव उछल कूद कर रहे हैं। यदि इन्हें पकडकर कारावास में बन्द कर दिया जाय, तो पाडव ठण्डे पड जायँ, फिर वे युद्ध का नाम भी न लें।" किन्तु वह ऐसा कर नहीं सका।

श्रीकृष्ण भगवान् ऊपर से ही दौड धूप कर रहे थे। लोक दिखावे के निमित्त ही सधि का उद्योग कर रहे थे। उनकी आन्तरिक इच्छा यही थी,कि युद्ध हो, जिससे पृथ्वी का बढा हुआ भार उतर जाय। यदि वे मन से चाहते तो युद्ध हो ही नहीं सकता था। उनकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। जब दुर्योधनने सन्धि के प्रस्ताव को ठुकरा दिया, तब यही निश्चय हुआ, क्षत्रिय धर्म की शरण ली जाय। युद्ध में शत्रुओं को मारकर अपना गया हुआ राज्य लौटाया जाय। इसलिये पाडव युद्ध की तैयारियाँ करने लगे। अपने पक्षके राजाओंको युद्ध के लिये निमन्त्रण भेज

लगे। इधर दुर्योधन पहिले से ही सावधान था। उसने सभी राजाओं के समीप सेना सहित युद्ध में आने के लिये निमन्त्रण भेजा। भगवान् ने देखा कि युद्ध किसी किसी प्रकार रुक नहीं सकता। तो द्वारका चले गये। नियमानुसार अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णजी को युद्ध के लिये निमन्त्रण देने द्वारका गये। यह बात जब दुर्योधन ने सुनी तो वह अत्यन्त शीघ्रगामी घोड़ों के रथ पर चढ़कर द्वारका गया और अर्जुन के पहुँचने के प्रथम ही पहुँच गया। भगवान् अपने शयनागार में सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने बैठ गया और भगवान् के उठने की प्रतीक्षा करने लगा। उसी समय अर्जुन भी पहुँच गये। उन्होंने जब सुना कि दुर्योधन पहिले पहुँच गया है, तो वे शीघ्रता पूर्वक भीतर गये। वहाँ उन्होंने देखा—"भगवान् अभी शयन कर रहे हैं, उनके सिरहाने अकड़ा हुआ दुर्योधन बैठा है, तब आप भी जाकर भगवान् के चरणकमलों की ओर बैठ गये और उन्हें शनैः शनैः सुहलाने लगे।

अब भगवान् ने अङ्गड़ाई ली। नेत्रों को मलते हुए उठे और चरणों के समीप अर्जुन को देखकर हँसते हुए बोले—"पाडु नन्दन! तुम कब आये?"

इतने में ही शीघ्रता से दुर्योधन बोला—"वासुदेव! देखो, मैं पहिले आया हूँ, मेरा ध्यान रखना।"

अब भगवान् ने पीछे मुड़कर देखा, सिरहाने अकड़ा हुआ दुर्योधन बैठा है। आप शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए बोले—"अहा! महाराज दुर्योधन भी पधारे हैं। धन्यवाद! धन्यवाद! कहिये, कैसी कृपा की। कब आये, मुझे तो पता ही नहीं। आपने मुझे जगाया क्यों नहीं।"

दुर्योधन ने अभिमान में भरकर कहा—"देखिये, वासुदेव! आप धर्मात्मा हैं। क्षत्रियों के सदाचार को आप भली भाँति जानते हैं। आप हमारे और पाण्डवों के समान सम्बन्धी हैं। आपके

लिये हम दोनों ही एक समान हैं, क्यों हैं कि नहीं ?"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"समान ही नहीं आप अधिक हैं। आप तो हमारे सगे सम्बन्धी हैं। हाँ, तो क्या आज्ञा है ?"

दुर्योधन ने कहा—"हमारी आज्ञा क्या है आपको धर्म का पालन करना चाहिये। उदासीन राजाओं के पास दोनों पक्षों में से जिस पक्ष का प्रथम निमन्त्रण आ जाय, उसी पक्ष की ओर से लड़ना चाहिये। क्यों, यह सदाचार है कि नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, अवश्य यही सदाचार है। प्रथम निमन्त्रण को तो स्वीकार करना ही चाहिये।"

दुर्योधन ने हर्ष प्रकट करते हुए कहा—"बस, मैं आपके मुख से यही कहलाना चाहता था। देखिये, अर्जुन से पहिले मैं आपके पास आया हूँ, अतः आपको हमारी ओर से युद्ध करना चाहिये। यह अर्जुन बैठा है, आप इससे पूछ लीजिये मैं पहिले आया हूँ या नहीं।"

भगवान ने हँसते हुए कहा—"इनसे तो तब पूछूँ जब मुझे आपकी बात पर विश्वास न हो। आप कह रहे हैं, तो पहिले ही आये होंगे, किन्तु मैंने तो उठते ही सर्वप्रथम अर्जुन को देखा है, अतः मेरी दृष्टि में तो अर्जुन ही पहिले आया हुआ समझा जायगा। फिर भी, आपका भी तो सत्कार करना ही है।"

दुर्योधन ने कहा—"यह तो आप पक्षपात करने लगे।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"अजी, इसमें पक्षपात की क्या बात है। नियमानुसार प्रथम आप आये और उठते ही सर्वप्रथम अर्जुन को मैंने देखा। इसलिये आप दोनों ही सहायता के अधिकारी हैं। मेरे पास विशाल नारायणी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ। मेरी प्रतिज्ञा है, मैं महाभारत युद्ध में अस्त्र शस्त्र ग्रहण न करूँगा, केवल सम्मति दे सकता हूँ। इन दोनों वस्तुओं में से आप दोनों चाहे जिसे ले लें। अर्जुन [illegible]

वस्तु ग्रहण में प्रथम अधिकार है, इसलिये पहिले इन दो में से यह चाहे जिसे ले सकता है।" इतना कहकर भगवान् अर्जुन से बोले—"बोल, भया! इन दो में से तू किसे लेता है।"

अर्जुन ने कहा—"वासुदेव! मैं तो आप को ही लूँगा।"

भगवान् ने कहा— अरे, तुझे हो क्या गया है, मुझे निरस्त्र को लेकर क्या करेगा।"

यह सुनकर दुर्योधन ने उत्तेजना के स्वर में कहा—"देखो, वासुदेव! अब तुम अर्जुन को उलटी पट्टी मत पढाओ। उसने आपको लिया है, अब आपकी नारायणी सेना मेरी हुई। मुझे स्वीकार है, मुझे तो सेना की ही आवश्यकता है, आपको अर्जुन ने ले ही लिया।"

अर्जुन ने कहा—"हाँ, मुझे सेना की कुछ भी आवश्यकता नहीं, मुझे तो श्यामसुन्दर चाहिए। अकेले श्यामसुन्दर मुझे मिल जाँय, तो फिर मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

यह सुनकर दुर्योधन अत्यत हर्षित हुआ और फिर बलदेवजी के पास गया। बलदेवजी ने उसे गदा विद्या सिखायी थी, उसके प्रति उनका अनुराग भी था। इसीलिये उसने उनसे भी सहायता के लिये कहा। तब बलदेवजी ने कहा—"भैया दुर्योधन! देखो, हमारे लिये तो जैसे ही पाडव वैसे ही तुम, हमें तो किसी का पक्ष लेना ही न चाहिए। मैंने कृष्ण से भी कहा—"तू पाडवों का इतना पक्षपात क्यों करता है। करा सके तो दोनों में सधि करा दे, न करा सके, तो तटस्थ हो जा। किन्तु उसने मेरी बात मानी ही नहीं। जब वह पाडवों की ओर हो गया है, तो अब मुझे तुम्हारी ओर से युद्ध करना शोभा नहीं देता। मैं कृष्ण का बहुत सकोच करता हूँ, मैं उसके विपक्ष में खडा नहीं हो सकता। अत न मैं पाडवों का पक्ष लूँगा न तुम्हारा। मैं तो युद्ध से तटस्थ रहूँगा। यहाँ द्वारका में रहने से समाचार मिलते रहेंगे, इससे मुझे क्रोध

आ जायगा, अतः मै यहाँ भी न रहूँगा। जब तक तुम्हारा युद्ध होगा, तब तक मैं तीर्थयात्रा करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर दुर्योधन प्रसन्न हुआ। वह बलदेव जी की आज्ञा लेकर चला गया। इधर बलदेव जी भी श्रीकृष्ण से पूछकर तथा अन्यान्य यादवो की अनुमति लेकर तीर्थयात्रा के लिये चले गये। इसी तीर्थयात्रा मे उन्होने यहाँ नैमिषारण्य मे मेरे पिता का वध करके मुझे उनका आसन दिया था और उसी यात्रा मे आपकी आज्ञा से उन्होने बल्वल का वध किया था। इन प्रसङ्गो को मैं पीछे भी कह चुका हूँ, अब कथा प्रसङ्ग से पुनः भी संक्षेप मे कहूँगा। आप सब तो जानते ही हैं। आपके सम्मुख ही ये सब घटनायें हुई थी।"

छप्पय

भयो युद्ध उद्योग पक्ष पाडव प्रभु लीयो।
उदासीन बनि रहौं यही बल निश्चय कीयो॥
तीरथ व्रत के व्याज द्वारका तैं चलि दीये।
पहुँचे क्षेत्र प्रभास तृप्त सुर, नर, ऋषि कीये॥
करत पुण्य तीरथ सकल, नैमिषार आये मुदित।
स्वागत हित ऋषि आप सब, उठे अर्घ्य दीयो उचित॥

बलदेव जी की तीर्थ यात्रा

[११६२]

स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७८ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

पिता न मेरे उठे रहे बैठे उच्चासन ।
बल सोचें यह धृष्ट करूँ हौं जाको शासन ॥
बस अस्त्र तें तुरत पिता के काट्यो सिर कूँ ।
ऋषि बोले हम दियो भल आसन पर इनकूँ ॥
बल बोले यह अघ भयो, भावी अति बलवान है ।
उपमघा वक्ता बनें, आत्मा पुत्र समान है ॥

कभी कभी ऐसी अघटित घटना घट जाती है, जिसकी हम स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते, जिसके सम्बन्ध में पहिले कभी सोचा भी नहीं था, समय, देश, काल की परिस्थिति में ऐसा संयोग जुट जाता है, कि अनहोनी बात हो जाती है। साधारण पुरुषों की बात तो पृथक रही, बड़े बड़े अवतारी पुरुषों

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बलदेवजी द्वारका से चलकर प्रभास क्षेत्र गये। वहाँ स्नान करके तथा देवता, ऋषि, पितर और मनुष्यों को तृप्त करके ब्राह्मणों के साथ सरस्वती के किनारे किनारे चले [illegible]।"

के द्वारा ऐसे कार्य हो जाते हैं, जिनका होना लौकिक दृष्टि से शुभ नहीं माना जाता, किन्तु परिस्थिति विवश कर देती है। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है, कि भवितव्यता अत्यत ही बलवान् है। उसका किसी प्रकार निवारण ही नहीं किया जा सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बलदेव जी द्वारावती से ब्राह्मणों को साथ लिये हुए तीर्थयात्रा के निमित्त चले। सर्व प्रथम प्रभास क्षेत्र में आये। वहाँ आकर उन्होंने विधिवत् देवता, पितर और ऋषियों का तर्पण किया। तीर्थ श्राद्धादि कृत्य किये। ब्राह्मणों को सुन्दर स्वादिष्ट रसीले कुरकुरे मुरमुरे भोजन कराये, जो भी याचक उनके सम्मुख आये सभी को उन्होंने इष्ट वस्तुएँ प्रदान करके सन्तुष्ट किया। वहाँ से वे सरस्वती के किनारे-किनारे प्रवाहाभिमुख होकर अपने साथी ब्राह्मणों के साथ आगे बढे। वहाँ से मातृगया के समीप विन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शनतीर्थ, बद्रीनारायण की विशालापुरी, उससे भी आगे ब्रह्मतीर्थ, चक्र-तीर्थ, स्वर्गारोहण, होते हुए जहाँ व्यास जी ने वेदों का व्यास किया है, उस सम्याप्रास तीर्थ में आये वहाँ उन्होंने पूर्व वाहिनी सरस्वती नदी और अलकनदा के सगम-केशवतीर्थ में-स्नान किया। फिर गगोत्री गये। गगा के किनारे-किनारे और यमुना के किनारे-किनारे के तीर्थों को करते हुए वे हरद्वार में आये। वहाँ से गगा किनारे किनारे ब्रह्मावर्त क्षेत्र (बिठूर) में आये। मुनियो, उन दिनों भी आपका यह सहस्र वत्सर वाला दीर्घ सत्र चल रहा था। उन दिनों मेरे पूजनीय पिता श्री रोमहर्षण जी आपको कथा सुनाया करते थे। आप लोगों के दर्शनों के निमित्त भगवान् सकर्षण ब्रह्मावर्त से चलकर यहाँ नैमिषारण्य में आये। आप लोगों ने जब शेषावतार बलदेवजी का शुभागमन सुना तो आप सब परम प्रमुदित हुए। उसी समय बलदेवजी ने

प्रवेश किया। मेरे पिता व्यासगद्दी पर आप सब ऋषियों से ऊँचे बैठकर, पुराणों की कथा सुना रहे थे। आप सब तो उनके सम्मान के निमित्त उठकर खड़े हो गये, किन्तु मेरे पिता नियमानुसार उठे नहीं। वे ज्यों के त्यों आसन पर बैठे ही रहे। ऋषियों ने संकर्षण का अतिथि सत्कार किया, तथा उनकी विधिवत् पूजा की। मेरे पिता को व्यासगद्दी पर सब ऋषियों से ऊँचे बैठे देखकर, बलदेवजी को क्रोध आ गया। उन्होंने सोचा—"देखो, ये इतने बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि तपस्वी मुझे देखकर स्वागत के लिये अपनी शालीनतावश उठकर खड़े हो गये हैं, किन्तु यह रोमहर्षण सूत होकर भी चुपचाप अपने आसन पर ही बैठा रहा। न तो यह अपने आसन से खड़ा ही हुआ, न प्रणाम नमस्कार ही किया। अवश्य ही इसे अपनी विद्वता का अभिमान हो गया है। यह भगवान् वेदव्यास का शिष्य होकर भी ऐसा अशिष्ट और विनयहीन हो गया है, इसे अवश्य ही दण्ड देना चाहिये।" यही सब सोचकर वे क्रुद्ध हो उठे। यद्यपि वे तीर्थ यात्रा के नियम में थे उन्होंने शस्त्रों को छोड़ दिया था, फिर भी भवितव्यता वश वे पिताजी का वध करने को उद्यत हो गये। वे हाथ में कुशाओं का मूँठा लिये हुए थे, उसी की एक कुशा में ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर, उन्होंने पिताजी के ऊपर छोड़ दिया। अमोघ ब्रह्मास्त्र से पिताजी का शरीर निर्जीव होकर, आसन से नीचे गिर गया।। सब ऋषि मुनि हाहाकार करने लगे। ऋषियों ने बलदेवजी से कहा—"प्रभो! आपने अनजान में यह बड़ा अधर्म का कार्य कर डाला। हम सबने सूत होने पर भी इन्हें ब्रह्मासन दिया था। और जब तक हमारा यज्ञ समाप्त न हो, तब तक को इन्हें आयु और नीरोगता भी प्रदान की थी। अब आपने बीच में इन्हें मारकर हमारे यज्ञ में विघ्न उपस्थित कर दिया।"

बलदेवजी ने कहा—"मुनियो! मुझसे भूल हो गयी। अब

आप जो भी आज्ञा दें, वही प्रायश्चित्त करने को मैं तत्पर हूँ। कहिये तो मैं इसे जिला दूँ।"

ऋषियों ने कहा—"महाराज! जिला देने से आपका अस्त्र निष्फल हो जायगा। हम यही नहीं चाहते। ऐसा कार्य कीजिये, कि आपका अस्त्र प्रयोग भी निष्फल न हो और हमारे यज्ञ में विघ्न भी न हो।"

यह सुनकर बलदेवजी बोले—"मुनियो! वेद का वचन है, कि पिता की आत्मा ही पुत्र रूप से उत्पन्न होता है। अतः इसका पुत्र उग्रश्रवा इसके स्थान पर वक्ता हो और यह दीर्घआयु, इन्द्रिय-बल तथा सभी प्रकार के बलों से सम्पन्न हो। इसके अतिरिक्त आप और भी जो प्रायश्चित्त बतावें उसे भी मैं करने को उद्यत हूँ।"

ऋषियों ने कहा—"एक इल्वल नामक दानव का पुत्र बल्वल है, वह पर्व पर्व पर आकर हमारे यज्ञ को दूषित करता है। यज्ञ के समय आकाश से पीब, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, मद्य तथा मांस आदि अमेध्य पदार्थों की वर्षा करता है। उस पापी को आप किसी प्रकार मार डालें, तो यह आपकी बड़ी भारी सेवा होगी। फिर आप बारह महीने तीर्थों की यात्रा करें। इससे आप दोष से मुक्त हो जायँगे। दोष मुक्त तो आप हैं ही। दोष आपको स्पर्श ही नहीं कर सकते। आप तो निष्पाप हैं, फिर भी लोक संग्रह के निमित्त आप इस प्रायश्चित्त व्रत का अनुष्ठान करें।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है, आप जो भी मुझे प्रायश्चित्त बतायेंगे, उसे मैं करूँगा, और आपका प्रिय करने के निमित्त मैं इस यज्ञ में विघ्न करने वाले बल्वल का भी वध करूँगा। अब इन मृतक लोमहर्षण जी का विधि विधानपूर्वक संस्कार करावें और इनके पुत्र महाबुद्धिमान उग्रश्रवा को अपना पौराणिक वक्ता बनावें।"

मुनियों ने कहा—"देव ! हम ऐसा ही करेंगे। आप पर्व आने तक यहाँ विराजें। पर्व के समय जब बल्वल असुर आवे तब आप उसका वध करके तीर्थयात्रा को जायँ। हम इन सूतजी का विधिपूर्वक संस्कार कराके इनके पुत्र को पुराण वक्ता बनाते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं "मुनियो ! पिताजी के संस्कार होने के अनन्तर, आप सबने मुझे वक्ता बना दिया है। तब से मैं यथा भक्ति यथाशक्ति आप सबकी सेवा कर रहा हूँ। इस प्रकार तीर्थ यात्रा के प्रसंग में मेरे पिता का बलदेवजी द्वारा वध हुआ। अब उन्होंने जिस प्रकार बल्वल असुर को मारा और तीर्थयात्रा की, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

और कहें सो करूँ बतावें अपर प्राइचित।
ऋषि बोले–नित विघन करे बल्वल पापी इत॥
ताकूँ मारें अबहिँ बरष भरि पुनि तीरथ करि।
यद्यपि आप विशुद्ध शुद्ध होवें द्विज दुख हरि॥
बल बोले हे विप्रगन, बल्वल को वध करुंगो।
द्विज द्रोही कूँ नष्ट करि, सब संकट दुख हरुंगो॥

बल्वल वध और बलदेवजी का प्रायश्चित्त

[११६३]

तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ।
मुसलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥
सोऽपतद् भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक् समुत्सृजन् ।
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥*

(श्री० भा० १० स्क० ७९ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

वक्ता मोकूँ कर्‌यो रहे कछु दिन यदुनन्दन ।
कर्‌यो उपद्रव आइ परब पै बल्वल भीषन ॥
हल तैं खेंच्यो असुर तानि मूसर सिर मार्‌यो ।
करत भयङ्कर शब्द गिर्‌यो परलोक सिधार्‌यो ॥
यों बल्वलकूँ मारिकें, तीरथ हित बल चलि दये ।
तब तक कौरव खल नृपति, भारत रन महँ मरि गये ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्री बलरामजी ने उस आकाश में गमन करने वाले ब्रह्मद्रोही बल्वल असुर को अपने हल के अग्रभाग से खींचकर अत्यंत क्रोधित होकर मूसल से उसके सिर पर प्रहार किया। उस मूसल के लगते ही उसका मस्तक फट गया इससे वह दुखी होकर चीत्कार करता हुआ, तथा रक्त उगलता हुआ उसी प्रकार प्राणहीन होकर गिर गया, जिस प्रकार गेरू का लाल पर्वत इन्द्र के वज्र से गिर जाता है।"

सर्वसमर्थ ईश्वरकोटि के पुरुषों की जितनी चेष्टायें होती हैं, वे सब लोक कल्याण के ही निमित्त होती है। वे स्वयं तो पाप पुण्य से रहित होते हैं फिर भी यह धर्म है, यह अधर्म है इसे जताने के लिये वे धर्म का आचरण करते हैं और जहाँ लौकिक दृष्टि से अधर्म-सा हो गया हो, उसका वे प्रायश्चित्त करते हैं। वास्तव में उन्हें धर्माधर्म स्पर्श भी नहीं करता फिर भी लोक संग्रह के लिये वे वैसे आचरण करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भूल से कोई पाप हो जाय, तो तीर्थ, व्रत उपवास तथा देवता, द्विज, गुरु और सन्माननीय पुरुषों की सेवा द्वारा तथा अन्यान्य शास्त्रीय प्रायश्चित्तों द्वारा उसका परिमार्जन किया जाता है। जब भगवान् संकर्षण द्वारा मेरे पूज्य पिता का वध हो गया, तब आप सबने उन्हें दो कार्य बताये। एक तो बल्वल का वध करके हमारे यज्ञ के विघ्न को दूर कर दो दूसरे बारह महीने तीर्थों में भ्रमण करो तब आप विशुद्ध होंगे। सर्वज्ञ बलदेवजी ने ये दोनों बातें स्वीकार कीं। अब वे बल्वल के वध निमित्त कुछ दिन नैमिषारण्य में ठहर गये। अब वे उस पर्व की प्रतीक्षा करने लगे, जिस पर्व के आने पर वह असुर आया। वह आकाश से धूलि वर्षाता हुआ आ रहा था, उसके आते ही प्रचण्ड वायु चलने लगी। सब ओर दुर्गन्धि फैल गयी। मदिरा मांस, मल, मूत्र, रुधिर, पीव, तथा अन्यान्य अमेध्य वस्तुओं की वह वर्षा कर रहा था। आप लोगों ने भगवान् संकर्षण को उसे दिखा दिया। प्रथम तो वह धूलि आदि के बीच में दिखायी ही नहीं दिया। कुछ काल के अनन्तर हाथ में त्रिशूल लिये वह भयङ्कर राक्षस दिखायी पड़ा। बलरामजी ने देखा, वह दैत्य साधारण नहीं है। अञ्जन के पर्वत के समान वह कृष्ण वर्ण का तथा महान् डील डौल वाला था। उसकी दाढ़ी मूछें तथा सिर के केश तपाये हुए ताँबे के सदृश लाल-लाल रूखे और कड़े थे। वे खड़े हुए थे।

पर्वत की कन्दराओं के समान उसकी गोल-गोल दो आँखें थीं। हल की फार के समान तीक्ष्ण और टेढ़ी-टेढ़ी उसकी दाढ़ें थीं। कुटिल भ्रुकुटियों के कारण उसका मुखमण्डल बड़ा ही भयङ्कर प्रतीत होता रहा था सकपण न सोचा—'बिना हल मूसल के वह मरने का नहीं।" अतः उन्होंने अपने हल मूसल को स्मरण किया। स्मरण करते ही वे दोनों दिव्यास्त्र तुरन्त वहाँ उपस्थित हुए।

अब बलदेवजी ने सिंह के समान गर्जना की। उसे सुनकर असुर आकाश में उड़ने लगा और अपना भयङ्कर रूप दिखाने लगा। बलरामजी ने उस द्विजद्रोही असुर की ओर अपना हल बढ़ाया। हल की नोंक को उसकी ग्रीवा में डालकर ज्योंही उसे खींचा, त्योंही वह चिङ्घाड़ता हुआ विवश होकर खिंचने लगा। जब वह समीप आ गया, तो क्रोध में भरकर उसके सिर पर एक मूसल जमा दिया। मूसल के लगते ही उस खल की खोपड़ी खील खील हो गया। उसमें से रक्त की धारा उसी प्रकार बहने लगी, जैसे अञ्जन के पर्वत से लाल रंग का जल फूटकर बह रहा हो। वह उसी प्रकार गिर गया जैसे इन्द्र के द्वारा पंख काटे जाने पर पर्वत गिर गये थे। यह देखकर आप सब ऋषिमुनि अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। आपने शेषावतार बलदेवजी की स्तुति की। ब्राह्मण होने के नाते उन्हें आशीर्वाद दिये और जैसे वृत्र के वध पर देवताओं ने इन्द्र का अभिषेक किया। था उसी प्रकार आप सबने उनका सविधि अभिषेक किया। अम्लान पुष्पों की मालायें रेशमी वस्त्र तथा बहुत से दिव्य आभूषण प्रदान करके आपने बल्वलहारी बलदेवजी का अत्यधिक सम्मान किया।

इस प्रकार आप सबसे सत्कृत तथा पूजित होकर बलदेवजी आप सबकी पूजा करके उत्तराखण्ड के शेष तीर्थों के लिये चले। कौशकी नदी को पार करके उन्होंने कूर्माचल पर्वत श्रेणियों में

प्रवेश किया। कौशकी जहाँ सरयू से मिलती हैं वहाँ से वे सरयू नदी के किनारे-किनारे मानसरोवर तक गये, जहाँ से भुवन पावनी सरयू नदी निकलती है। फिर सरयू के किनारे-किनारे चलते हुए वे अयोध्या होते हुए तीर्थराज प्रयाग मे पधारे। प्रयाग मे पहुँचकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रयागराज संसार मे सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है। जहाँ गंगाजी हैं वहाँ यमुनाजी नहीं, जहाँ यमुनाजी हैं वहाँ गगाजी नही। यहाँ गंगा यमुना और सरस्वती तीनो भुवनपावनी सरितायें प्रवाहित होती हैं। ये समस्त तीर्थों के एक मात्र चक्रवर्ती एकछत्र राजा हैं। करोड़ो तीर्थ इनकी उपासना के निमित्त यहाँ निवास करते है। इस क्षेत्र मे स्नान, दान, तर्पण, हवन तथा पूजनादि का सबसे अधिक महात्म्य है। यहाँ पर किये हुए सब कर्म करोड़ो गुने हो जाते हैं। बलदेवजी यहाँ स्नान पूजन तथा देवता, ऋषि और पितरो का तर्पण करके आगे बढ़े। काशीजी होकर अपने गाधिपुर (गाजीपुर) के समीप गोमती स्नान किया जहाँ भगवती गोमती गंगा के गर्भ मे प्रवेश कर जाती हैं। फिर विपाशा, शोणभद्र आदि पुण्य नदियो मे स्नान दान करते हुए पुलहाश्रम–हरिहर क्षेत्र मे पहुँचे। जहाँ भगवती गंडकी गंगाजी मे मिलती हैं। गडकी और गंगा मे स्नान करते हुए आप गयाजी में गये। वहाँ आपने अपने पितरो का तर्पण किया। फिर आप गगाजी के किनारे-किनारे गङ्गासागर संगम तक गये। जहाँ भगवान् कपिल समुद्र के दिये हुए स्थान मे अब तक निवास करते हैं। गंगासागर मे स्नान करके तथा भगवान् कपिल का दर्शन करके समुद्र के किनारे-किनारे जगन्नाथपुरी मे पहुँचे। इस प्रकार उत्तराखण्ड के तथा पूर्व के तीर्थों को करते हुए आप दक्षिण के तीर्थों मे गये। दक्षिण में महेन्द्र पर्वत पर जाकर भगवान् परशु-राम का दर्शन किया। फिर समुद्र के उस स्थान पर गये जहाँ गोदावरी गगा की सात धारायें हो गयी हैं और वे सातो धारायें

दक्षिण समुद्र मे मिली हैं। वहाँ से आप पम्पा सरोवर पर गये। फिर वेणा, भीमरथी आदि पुण्य सरिताओं मे स्नान करके स्वामि कार्तिकेय जी के दर्शनों के निमित्त गये। फिर श्री पर्वत पर जाकर भगवान् वृषभध्वज का दर्शन किया। फिर द्रविण देश में जाकर परम पवित्र वेङ्कट पर्वत पर गये, वहाँ तिरुपती बालाजी के दर्शन करके अन्य सुप्रसिद्ध दिव्य देशों के दर्शन करते हुए आगे बढ़े। आगे चलकर आप श्रीरङ्गम् क्षेत्र मे आये जहाँ पर परम पवित्र कावेरी नदी है और जहाँ पर भगवान् श्रीरंग नाम से सदा निवास करते हैं। श्रीरङ्गम से चलकर आप ऋषभपर्वत पर हरिक्षेत्र के दर्शन करके दक्षिण मथुरा (मदुरा) मे पहुँचे, जहाँ पर कामाक्षी देवी का अत्यंत ही भव्य मंदिर है। मदुरा में कुछ दिन रहकर तथा कृतमाला नदी मे स्नान करके वे आगे कामकोटि तीर्थ कुंभकोण मे आये। वहाँ से चलकर आप श्रीरामेश्वर मे पहुँचे। उस पवित्र धाम मे बलभद्रजी दश सहस्र गौओं का ब्राह्मणों के लिये दान दिया। धनुष्कोटि पर दो समुद्रों के संगम मे स्नान कर आप पुनः मदुरा मे लौट आये। फिर कृतमाला और ताम्रपर्णी पवित्र नदियों मे स्नान करते हुए कुलाचल मलयपर्वत पर पहुँचे। मलयाचल पर विराजमान भगवान अगस्त्य के पादपद्मों मे प्रणाम करते हुए यदुनन्दन बलदेवजी दक्षिण समुद्र के किनारे कन्याकुमारी स्थान मे पहुँचे। जहाँ से आगे समुद्र ही समुद्र है। फिर अनन्तशयन भगवान के उस क्षेत्र में गये जहाँ शेष शैया पर शयन करते हुए भगवान् के दर्शन होते हैं। इस प्रकार पद्मनाभ, जनार्दन के दर्शन करके तथा पद्माप्सरस नामक सरोवर मे स्नान करके आप अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। अनन्तशयन पद्मनाभ क्षेत्र मे उन्होंने ब्राह्मणों को दस सहस्र गौओं का दान दिया। फिर आप लौटकर दक्षिण के केरल, त्रिगर्त आदि देशों के दिव्यक्षेत्रों के दर्शन करके तथा पुण्य सरिताओं मे स्नान करके गोकर्ण नामक शिव क्षेत्र में पहुँचे जहाँ सदाशिव

सर्वदा सन्निधि बतायी जाती है। फिर द्वीप में रहने वाली आर्या देवी के दर्शन किये। आगे शूपरिक क्षेत्र में गये। फिर तापी पयोष्णी तथा निर्विन्ध्या आदिक नदियों में स्नान करते हुए दण्डकारण्य में पधारे। इस प्रकार वहाँ से घूमते हुए आप माहिष्मती पुरी माहेश्वर में आये। नर्मदा नदी में स्नान करके आप फिर लौटकर गुर्जर प्रान्त के सुप्रसिद्ध तीर्थ प्रभास पट्टन क्षेत्र में आये। इसी तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में उन्होंने सुना कि महाभारत युद्ध हो चुका अब भीमसेन और दुर्योधन का गदायुद्ध होने वाला है, इसे सुनकर वे वायुवेग से कुरुक्षेत्र में आये। दोनों को रोकना चाहा नहीं रुके। अंत में भीमसेन ने युद्ध के नियमों के विरुद्ध दुर्योधन की जाँघ तोड दी इस पर बलदेवजी अत्यंत कुपित हुए। श्रीकृष्ण भगवान् के समझाने पर देवकी ऐसी ही गति समझकर वे लौटकर द्वारकापुरी पहुँच गये। फिर तीर्थयात्रा समाप्त करके अपने बन्धुबान्धवों तथा पत्नी के साथ पुनः नैमिषारण्य क्षेत्र में आये और आकर आप ऋषियों से उन्होंने निवेदन किया—"मैं आपकी आज्ञानुसार पृथ्वी के सब तीर्थों की यात्रा कर आया हूँ, अब मेरे लिये आप क्या आज्ञा देते हैं।"

यह सुनकर आप सब ब्रह्मज्ञानी ऋषियों ने उनसे प्रायश्चित्तादि करा कर सब प्रकार के यज्ञ कराये। यज्ञ हो जाने के अनन्तर बलदेवजी ने कहा—"ऋषियो! आपने मुझसे यज्ञ कराये हैं, अब इन यज्ञों की दक्षिणा मैं आपको क्या दूँ। आप जो चाहें सो मुझसे दक्षिणा माँग लें।"

ऋषियों ने कहा—"भगवन्! हम सोना चाँदी की नाशवान् दक्षिणा लेकर क्या करेंगे हमें तो आप विशुद्ध विज्ञान का उपदेश दें। जिससे हम इस संसार सागर को सरलता से पार कर जायँ।"

यह सुनकर संकर्षणावतार भगवान् बलराम ने आप सबको

विशुद्ध विज्ञानमय उपदेश दिया। जिसके प्रभाव से आप सब को निश्चय हो गया कि आत्मा में ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है और इस जगत् के अणुपरमाणु में सर्वत्र अन्तर्यामी रूप से आत्मा व्याप्त है।

इस प्रकार विज्ञानमय दक्षिणा देकर बलरामजी ने अपनी पत्नी रेवतीजी के साथ यज्ञान्त अवभृतस्नान किया। इस प्रकार वे सूतजी की हत्या के प्रायश्चित्त को करके सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर अपने बन्धु बान्धवों के बीच पत्नी सहित ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो उडुगनों के बीच में चन्द्रिका के सहित चन्द्रदेव विराजमान हों। यज्ञादि से निवृत्त होकर और आप सब श्रेष्ठ ब्राह्मणों से अनुमति लेकर वे द्वारकापुरी को चले गये और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। इस प्रकार मुनियो! ईश्वर होकर भी बलरामजी ने लोक संग्रह के निमित्त पिताजी के वध का आप सबके कहने से प्रायश्चित्त किया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमें बलरामजी के और भी चरित्र सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! एक दो या दस बीस चरित्र हों, तो उन्हें मैं सुनाऊँ भी। महाबलशाली अनन्त, अप्रमेय तथा माया से मनुष्य बने भगवान संकर्षण के अगणित चरित्र हैं। उनका अन्त नहीं, पार नहीं। चतुर्व्यूह में अहंकार के अधिष्ठातृ देव ये संकर्षण सबकी आत्मा ही हैं, जो इनके चरित्रों को श्रद्धा सहित सुनेंगे उन पर इनके छोटे भाई भगवान् वासुदेव प्रसन्न होंगे जो लोग सायं प्रातः संकर्षण भगवान के नामों का तथा उनके गुणों का कीर्तन करेंगे, वे परमपद के अवश्य ही अधिकारी होंगे। इस प्रकार मैंने संक्षेप में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के तथा बलरामजी के कुछ चरित्र कहे। मेरे गुरुदेव भगवान् शुक महाराज परीक्षित् से इतना ही भागवत चरित कहकर

चुप हो गये। आज उन्हें कथा सुनते-सुनते छै दिन हो चुके थे। पण्ठाह में अभी कुछ समय शेष था। इसलिये वे घबरा गये, कि भगवान् शुक कहीं यहीं पर तो भागवतचरित की समाप्ती न कर देंगे। मेरा तो संकल्प है भगवान् के चरित्र सुनते-सुनते ही इस नश्वर शरीर का अन्त कर दूँ। भगवत् नाम गुण श्रवण से बढ़कर मृत्यु समय में कोई सरल, सुगम और सर्वोपयोगी साधन नहीं है। यही सब सोचकर वे कहने लगे।

महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजी से कहने लगे—"भगवन्! आप चुप क्यों हो गये। यह तो हो ही नहीं सकता, कि भगवान् के अब कोई चरित्र रहे ही न हों, सब समाप्त हो गये हों। भगवान् के चरित्र तो कभी समाप्त होते नहीं, क्योंकि वे अगनित हैं, कभी समाप्त न होने वाले हैं। मेरी मृत्यु में भी अभी समय शेष है, अतः उन अनन्त वीर्य अच्युत अविनाशी श्रीहरि के कोई अन्य पवित्र चरित्र सुनावें।"

यह सुनकर श्रीशुकदेव जी हँसे और बोले—"राजन्! आप बार-बार उसी एक प्रश्न को क्यों करते हैं? आपका भगवान् के चरित्र श्रवण में ही इतना अधिक आग्रह क्यों है?"

यह सुनकर आँखों में आँसू भरकर महाराज परीक्षित् बोले—"ब्रह्मन्! यह जीव सुख चाहता है, सुख की खोज में ही भटक रहा है। यह किसी से प्यार करना चाहता है। प्रेम के लिये व्याकुल होता है, किसी अत्यन्त प्रियतम को हृदय से सटाने के लिये विह्वल हो रहा है, तड़प रहा है, किन्तु संसार में सर्वत्र स्वार्थ का बोलबाला है। जो मिलना चाहता है, स्वार्थ से। जो विषयों का कीड़ा है, जिसके मन में काम की वासना है, वह शुद्ध प्रेम कर ही नहीं सकता। प्यारे की मधुर वाणी सुनकर ये कर्ण तृप्त होते हैं, किन्तु नित्य सुख सम्बन्धी बातें सुनने को मिलती नहीं। [illegible] पर निन्दा सुनाई पड़ती है। जहाँ भी तो

व्यक्ति बैठेंगे ये ही बातें होंगी, वह ऐसा है वैसा है। उसने यह किया वह किया। दूसरों के गुण दोषों की ही चर्चा होती है। इससे जो विशुद्ध प्रेम का भूखा है, उसका मन ऊब जाता है, उसे संसार सूना-सूना दिखायी देता है।

जब जीव नाना प्रकार के विषय सुखों को खोजते-खोजते थक गया हो और जिसे सार वस्तु के श्रवण की इच्छा उत्पन्न हो गयी हो, ऐसे व्यक्ति के सामने भगवान् अथवा भक्तों के चरित्र सुनाये जायँ, तो कभी भी उसकी उन चरित्रों को सुनते-सुनते तृप्ति न होगी। उसे यह लालसा निरन्तर बनी ही रहेगी, कि इन्हें और सुनूँ और सुनूँ। बार-बार सुनने पर भी वह उनसे उपरत नहीं हो सकता। प्रभो! वाणी की सफलता गोविन्द के गुणगान में ही है। करों की सफलता कृष्ण कैंकर्य करने में ही है। जो हाथ भगवत्सम्बन्धी कार्य करते हैं वे ही यथार्थ हाथ हैं मन की सफलता मनमोहन की माधुरी के ही मनन में है। जो मनुष्य माधव के मनोहर रूप का स्मरण करता है उसी का मनस्वी होना सफल है। कर्ण कुहर वे ही कमनीय हैं, जो कृष्ण कथा रस के रसिक हैं। सिर वही सफल है जो भगवान् की चल प्रतिमा साधुसन्त और अचल प्रतिमा अर्चाविग्रह आदि को प्रणाम करता है। नेत्रों की सफलता भगवान् के तथा भगवद्-भक्तों के दर्शन में ही है। जिन अङ्गों पर भगवान् का चरणामृत तथा उनके भक्तों का चरणामृत पड़ जाता है, वे ही अङ्ग सफल हैं। सो प्रभो! मेरे कर्णों को कृष्ण कथा से भर दो, मुझे भगवान के और भी सुखप्रद चरित्र सुनावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित् ने भगवत् चरित्र श्रवण में अपनी अत्यधिक उत्सुकता तथा उत्कंठा प्रदर्शित की तो भगवान् शुक परम प्रमुदित हुए। उन्हें सहसा सुदामाजी का चरित्र याद आ गया। उस चरित्र के स्मरण मात्र

से ही गुरुदेव का शरीर रोमांचित हो गया। उनका हृदय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में तल्लीन हो गया। कुछ क्षणों में बाह्य स्मृति हुई। और फिर वे सुदामा चरित कहने लगे। अब जिस प्रकार मेरे गुरुदेव श्री भगवान् शुक ने महाराज परीक्षित् से सुदामा चरित कहा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भीम सुयोधन लड़ें न बल बल बहुत लगायो।
किन्तु उभय हठ करी सुयोधन स्वरग सिधायो॥
नैमिषार पुनि आइ यज्ञ बलदाऊ कीन्हो।
यज्ञ दक्षिणा रूप ज्ञान तुम सबकूँ दीन्हो॥
यो वध बल्वल को कर्‌यो, संकरषन अवतार बल।
सुनहु सुदामा चरित अब, परम सुखद अतिशय विमल॥

सुदामा चरित

[११६४]

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः॥
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा॥*

(श्री भाग० १० स्क० ८० अ० ६, ७ श्लोक)

छप्पय

हरि सहपाठी सखा सुदामा रहे विप्रवर।
मलिन वसन तन छीन दीन भिक्षुक फूट्यो घर॥
पतिनी तिनकी खटी दूबरी करुना मूरति।
हरि-साली घर हिली करी तिनकी अति दुरगति॥
भिक्षामें जो कछु मिलै, ता तै करि निरबाह नित।
हरि सुमिरन दोऊ करत, नहिँ अघर्म महँ देहिँ चित॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! श्रीकृष्ण भगवान् के एक ब्राह्मण सखा थे। वे ब्रह्मज्ञानी, इन्द्रियों के विषयों से विरक्त, प्रशान्तात्मा और जितेन्द्रिय थे। वे फटे पुराने कपड़े पहिने रहते थे और उसी प्रकार भूख से दुबली हुई उनकी स्त्री थी। वे गृहस्थाश्रम में ही वर्तमान रहकर प्रारब्धवश जो भी मिल जाता उसी पर निर्वाह करते थे।"

धनी होने में दुःख ही दुःख हैं और निर्धन होने में सुख ही सुख हैं किन्तु निर्धनता यदि आवश्यकता से अधिक हो जाय, तो पापी पेट को भरने की चिन्ता आठों पहर लगी रहे, ऐसी दरिद्रता से बढ़कर संसार में कोई भी दुःख नहीं। मनुष्य सब कुछ सहन कर सकता है, किन्तु वह अधिक काल तक भूख को सहन नहीं कर सकता। क्षुधा को 'कष्टानुकष्टरी' बताया है। अपनी भूख किसी प्रकार सही भी जा सकती है, किन्तु जब छोटे-छोटे बच्चे भूख के कारण तड़पने लगते हैं, तब अच्छे-अच्छों का धैर्य छूट जाता है। उस समय यह बात मनमें आ ही जाती है कि हाय ! भगवान् को दया नहीं आती। इस अवस्था में भी धर्म पर टिके रहना, मनको विचलित न होने देना, अधर्म की ओर प्रवृत्ति न होना, यह बड़े पुण्य का काम है। जिसने पूर्वजन्मों में महान पुण्य न किये हों, वह ऐसा लोकोत्तर साहस कर ही नहीं सकता। दरिद्रता के पराकाष्ठा पर पहुँचने पर मन विचलित हो ही जाता है। जिसका मन विचलित न हो, वह श्रीकृष्ण का सखा है, सुहृद है, उनके तुल्य ही है। वह भगवान् का भैया ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज परीक्षित् ने भगवान् शुक से कोई अन्य भगवत्चरित सुनाने की अत्यन्त हठ की, तो वे अति मधुर प्रेम का पुण्य प्रतीक सुदामा चरित सुनाने को प्रस्तुत हुए। उसी चरित को मैं आपको सुनाता हूँ।"

काठियावाड़ प्रान्त में एक जूनागढ़ परम प्रसिद्ध स्थान है, उसमें एक सुदामा नाम के दरिद्र ब्राह्मण रहते थे। वे बड़े ही संयमी, सुशील, सदाचारी, सत्यवादी, सरल तथा साधुसेवी थे। वे ब्रह्मज्ञानी थे। संसार के सुन्दर से सुन्दर पदार्थ उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते थे। जितने भी इन्द्रियों को सुख देने वाले विषय हैं, उन सबसे वे सर्वथा विरक्त थे। वे अत्यंत ही दरिद्र और निष्किञ्चन थे। इतने पर भी उनका चित्त कभी चंचल

नहीं हुआ। दरिद्रता सम्बन्धी जितने भी दुख आते उन्हें शान्त-चित्त से साहस के साथ सहन करते। उन्होंने इन्द्रियों को अपने वश में कर रखा था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! क्या सुदामाजी सन्यासी भिक्षु थे?"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज! वे संन्यासी नहीं थे, गृहस्थ थे। उनकी वृत्ति भिक्षा ही थी। भिक्षापर ही वे निर्वाह करते। प्रारब्धवश जो भी कुछ रूखा-सूखा, थोड़ा बहुत मिल जाता, उसी पर निर्वाह करते। प्रारब्धवश से उन्हें कभी उतना अन्न नहीं मिला, जिससे सब प्राणियों का पेट भर जाय। कभी आधे पेट रहते और कभी पूर्ण उपवास भी करना पड़ता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गृहस्थ में दारिद्र दुख बहुत अखरता है। अपने पेट में तो किसी प्रकार पत्थर बाँधकर समय बिताया भी जा सकता है, किन्तु जब फूल जैसे बच्चे भूख से बिलबिलाने लगते हैं, तब सब ज्ञान ध्यान भूल जाता है। यदि दरिद्रता में स्त्री भी कर्कशी मिली, तब तो वह दरिद्रता रौरव नर्क से भी बढ़कर दुखदायी हो जाती है। सौभाग्य की बात यह थी कि सुदामाजी की पत्नी कर्कशा नहीं थी। वह सती-साध्वी पति-परायणा और सुशीला थी। स्वयं दुख में रहकर पति को सुखी रखने की चेष्टा करती। जो असती स्त्रियाँ होती हैं। वे निर्धन पति का परित्याग करके पर पुरुष को भेजने लगती हैं, किन्तु पतिव्रता के लिये अपना पति कैसा भी हो वही सर्वस्व है, उसे छोड़कर वे अन्य किसी पुरुष की ओर आँखें उठाकर भी नहीं देखती।"

सुदामाजी जैसे दुर्बल थे, वैसी ही उनकी पत्नी थीं। भिक्षामें जो कुछ मिलता उसे पवित्रता के साथ बनाकर भगवान को भोग लगातीं, अपने पति को भोजन करा देतीं, बच्चों को खिला देतीं,

यदि एक आधी रोटी बच जाती, तो उसे खाकर जल पी लेतीं, कुछ न बचता तो उपवास कर जातीं। सुदामाजी पूछते—'प्रिये! तुमने कुछ प्रसाद पाया ?"

तब कह देतीं—"हाँ महाराज! सब आनन्द है, आप मेरी कुछ चिन्ता न करें।" उन्हें प्रायः उपवास करने पड़ते। इससे वे सुदामाजी से भी अधिक दुर्बल थीं। उनकी एक-एक हड्डी गिनी जा सकती थी। उनके पास एक अत्यन्त ही मैली धोती थी। उसमें इतनी थेगरियाँ लगी हुयीं थी कि अब उसमें कहीं सीने के लिये स्थान नहीं था। उसे पत्थर पर पछाड़कर इसलिये नहीं धोती थी कि इसके टाँके खुल जायँगे और फट जायगी। दूसरे उनके पास नहाने को दूसरी धोती थी भी नहीं। उसी धोती को आधी निचोड़कर आधी को सुखा लेती, तब उसे पहिनकर शेष आधी को भी सुखाती। कई वर्ष पहिले जब सुदामाजी को कहीं नयी धोती मिली थीं तब उनकी इस पुरानी धोती को पत्नी ने ले लिया था। तबसे जैसी-तैसी थेगरी लगाकर उसे चला रही थीं। अब उसकी ऐसी दशा हो गयी थी। कि जहाँ भी बैठतीं तनिक दबने से-चर्र से फट जाती। इसलिये अब वे दिन में बाहर निकलने योग्य नहीं रहीं थी। सुदामाजी के पास भी न जाने कबकी एक पुरानी पगड़ी थी, एक पुरानी अङ्गरखी थी, जिसमें रंग बिरंगी थेगरी लगी हुयी थीं। धोती कुछ अच्छी थी। घर में बर्तनों के नाम पर एक फूटा तवा और एक काठ की कठौती थी। मिट्टी के दो पुराने बर्तन भी थे, एक टूटी खटिया और फूटी लुटिया भी थी। घर के ऊपर के छप्पर का फूँस सड़-सड़कर गिर गया था, उसमें कुछ बाँस लगे थे। जिनमें से रात्रि के समय सब तारे गिने जा सकते थे। एक बहुत पुराने कपड़ों की कथरी थी जिसमें से दुर्गन्धि आती, उसे टूटे खाट पर बिछाकर माता अपने बच्चों को सुला देती और अपने आप भूमि में पड़कर

रात्रि बिता देती। वर्षा के दिनों में तो उन्हें सम्पूर्ण रात्रि जागकर ही बितानी पड़ती।

एक बार तीन दिनों तक वर्षा होती रही। सुदामाजी बाहर कहीं भिक्षा के लिये न जा सके। घर में अन्न का एक दाना नहीं था। छोटा बच्चा भूख के कारण तड़प रहा था। माता उसे बार-बार स्तन पिलाती, किन्तु उन सूखे स्तनों में दूध कहाँ। दूध की तो बात ही क्या रक्त की भी बूँदें उनमें नहीं थीं। जैसे-तैसे कहीं से माँग जाच कर बच्चे को कुछ खिलाया। तीसरे दिन जब कहा भी आशा न रही और बच्चा अत्यधिक रोने लगा। तब तो पतिव्रता का हृदय फटने लगा। उसने कभी भी मुख से आह नहीं निकाली थी। न अपना दुख कभी पति के सम्मुख प्रकट ही किया था। प्रकट न करने पर भी सुदामाजी सब जानते थे, किन्तु आज उस पर नहीं रहा गया। बच्चे की ऐसी दुर्दशा देखकर मातृहृदय फटने लगा। आज जब दारिद्र दुःख से अत्यन्त ही दुखित हो गयी तो वह कुछ कहने को अपने पति के सम्मुख आयी। पतिव्रता का हृदय धड़क रहा था, भय के कारण वह काँप रही थी। उसका मुख मलीन हो रहा था, सम्पूर्ण साहस बटोर कर उसने बड़े ही मधुर स्वर में कहा—"प्राणनाथ! मैंने सुना है, आपके मित्र साक्षात् श्रीपति हैं।"

खिन्न मन से सुदामाजी ने कहा—"प्रिये! मेरा उनका क्या सम्बन्ध, वे श्रीपति हैं, मैं भिक्षुक दरिद्र नीच ब्राह्मण। मैत्री तो बराबर वालों में होती है।"

पतिव्रता ने कहा—"नहीं, महाराज! आपने तो अनेकों बार मुझसे कहा है कि हम साथ साथ पढ़ते थे, साथ-साथ वन में समिधा कुश तथा फल फूल लेने जाते थे, भगवान मुझसे बड़ा प्रेम करते थे।"

सूखी हँसी हँसकर सुदामाजी ने कहा—'वे बहुत बु-

बालकपन की बातें थीं। उन सब बातों को तो भगवान भूल गये होंगे। कभी-कभी विषम पुरुषों में भी एक-सी स्थिति होने पर मित्रता हो जाती है। जैसे कोई बड़ा आदमी है, उसे कारावास का दण्ड हो गया। किसी साधारण मनुष्य को भी उसी के साथ कारावास में रहना हुआ, तो यहाँ तो दोनों एक सी परिस्थिति में हैं। परस्पर में मित्रता हो जाती है। मनुष्य प्राणी सामाजिक जंतु है, इसे बोलने चालने प्रेम करने तथा लड़ने को साथियों की आवश्यकता होती ही है। कारावास में प्रेम करने को कोई नहीं है, तो उस साधारण पुरुषों से ही प्रेम की घुल-घुलकर बातें करते हैं, उसके साथ ही स्नेह प्रकट करके समय काटते हैं। अवधि समाप्त होने पर जब दोनों छूट जाते हैं और फिर यह साधारण आदमी उस बड़े आदमी के समीप जाता है, तो वह बड़ा आदमी बात भी नहीं करता। कुछ दिनों में भूल भी जाता है। पढ़ते समय बच्चों में मित्रता हो ही जाती है। साथ-साथ यात्रा करने से भी मित्रता होती है। किन्तु इन अवसरों पर की मित्रता स्थाई नहीं होती। जब भगवान् श्यामसुन्दर पढ़ते थे, तभी वे ब्रह्मचारी थे, मैं भी ब्रह्मचारी था। अब वे राजा हो गये हैं, मैं जैसा का तैसा दरिद्र भिखारी ही बना हुआ हूँ। वे तो मुझे अब पहचान भी नहीं सकेंगे।"

सुदामा पत्नी ने कहा—"प्राणनाथ! ये बातें तो साधारण लोगों की हैं। क्या भगवान् अपने भक्तों को भूल सकते हैं? सर्वान्तर्यामी से क्या छिपा है। मित्रता की बात छोड़ भी दी जाय, तो भी आप ब्राह्मण हैं, वे ब्राह्मण भक्त हैं, ब्रह्मण्य हैं। वे भला आप को भूल सकते हैं। वे शरणागत वत्सल हैं, सज्जनों की एकमात्र गति हैं। ओछे आदमी धन पाकर निर्धनों को भूल जाते हैं। भगवान् आपको कभी भी न भूले होंगे।"

सुदामा जी ने कहा—"हाँ, सम्भव है न भूले हो। अच्छा, तुम्हारे पूछने का अभिप्राय क्या है ?"

सकुचाते हुए रुक रुककर अस्पष्ट शब्दों में सती ने कहा—"मेरी प्रार्थना यह है कि आप उनके पास जायँ ?"

चौंककर सुदामा जी ने कहा—"उनके पास किस लिये जाऊँ ?"

सती ने कहा—"इसलिये कि आप ब्राह्मण हैं और यदुनन्दन ब्रह्मण्यदेव हैं। आप कुटुम्ब वाले दीन हैं, वे सबके प्रतिपालक दीनबन्धु हैं। आप दरिद्रता के कारण दुखी हैं वे लक्ष्मीपति हैं, आपको बहुत-सा धन देकर इस दरिद्र के दुःख से छुड़ा देंगे।"

विस्मय प्रकट करते हुए सुदामा बोले—"क्या भगवान के पास धन माँगने जाऊँ ? प्रिय ! यह कार्य मेरे वश का नहीं। मुझे भूखों मर जाना स्वीकार है, किन्तु धन के लिये भगवान् के समीप न जाऊँगा। अरे, तुच्छ धन की याचना उन अखिल ब्रह्माण्ड-नायक से करूँ ?"

सती ने कहा—"प्रभो ! अपने लिये नहीं, इस बच्चे के लिये। मुझ दासी के लिये। मेरे आग्रह को स्वीकार करो।"

सुदामा जी ने कहा—"बच्चा कल मरता हो, तो आज मर जाय, मैं धन के लिये भगवान् से कुछ न कहूँगा।"

स्त्री ने कहा—"प्रभो ! जब हमारे भाग्य में याचना ही लिखी है तो फिर साधारण आदमियों से याचना क्यों करें। ऐसे में जाकर क्यों न माँगे कि फिर किसी के सम्मुख हाथ ही न फैलाना पड़े।"

सुदामा जी ने कहा—"प्रिये ! तुम्हारा कथन सत्य है। मित्र याचना करके ही हम उदर पूर्ति करते हैं। किन्तु मित्रता में याचना शोभा नहीं देती। जिसको मित्रता निभानी हो उसे इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये, एक तो कभी मित्र से धन की याचना

न करे, एक उसकी स्त्रियों से एकान्त में बातें न करें। ये दो बातें ऐसी हैं कि इनसे कभी न कभी मन मुटाव हो ही जाता है। यहाँ जिस किसी प्रकार आधे पेट रहकर दिन काट लेंगे। तुच्छ धन के लिये भगवान् के यहाँ जाना शोभा नहीं देता। फिर उनका पता भी तो नहीं वे कहाँ हैं। वे वर्षों धर्मराज युधिष्ठिर के यहाँ इन्द्रप्रस्थ में रह आते हैं। कहीं किसी असुर राजा को मारने चले जाते हैं।"

सती ने कहा—"प्राणनाथ! अपना दुःख सुख अपनों ही से तो कहा जाता है। श्यामसुन्दर आपके सुहृद हैं। आपके ही क्या सम्पूर्ण प्राणियों के सुहृद हैं। उनसे की हुई याचना, याचना नहीं कहाती। मैंने अच्छी प्रकार पता लगा लिया है, वे आजकल द्वारका में ही निवास कर रहे हैं। वे समस्त भोज, वृष्णि और अन्धक वंशीय यादवों के अधिपति हैं। वे अपने पादपद्मों के आश्रित जनों के दुःख दूर करने वाले हैं। उनके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। धन तो एक तुच्छ वस्तु है, वे अपने भक्तों के लिये अपने आपको भी दे डालते हैं।"

सुदामा जी ने कहा—"प्रिये! भगवान् के भक्त तो भगवान् के देने पर भी मुक्ति तक को ठुकरा देते हैं और तू मुझे उनके पास धन माँगने को भेज रही है। यह कहाँ की भक्ति है।"

सती ने कहा—"प्रभो! हम धन प्रमाद के लिये या विषय भोगों के लिये तो माँगते नहीं। इस दारिद्र के दुःख से उनका स्मरण भी तो होता नहीं। यद्यपि भगवद्भक्तों को अर्थ, काम आदि विशेष अभीष्ट नहीं, किन्तु धर्मपूर्वक काम और अर्थ का सेवन किया जाय, तो वे सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न होते हैं। जब वे मोक्ष के स्वामी हैं, तो उन्हें धन देना कौन-सी बात है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सुदामा जी की पत्नी ने उनसे बार-बार आग्रह किया, तो सुदामा जी ने सोचा—"जब

इसका इतना आग्रह है, तो लाओ द्वारका हो ही आवे। मैं जाकर उनसे धन तो माँगूगा नहीं फिर भी इनकी बात रह जायगी। मुझे एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि श्याम सुन्दर के दर्शन हो

जायँगे।" यही सब सोचकर द्वारकापुरी जाने का मन में निश्चय करके वे अपनी पत्नी से बोले—"अच्छा बात है, जब तू नहीं

मानती, तो मैं द्वारका चला जाऊँगा, किन्तु शास्त्रकारों का कहना है, राजा के यहाँ, ब्राह्मण के यहाँ, गुरु के यहाँ, वैद्य, ज्योतिषी तथा मित्र के यहाँ रिक्त हस्त न जाना चाहिये। कुछ न कुछ लेकर जाना चाहिये। इसलिये तेरे घर में कुछ उपायन के लिये हो तो दे दे।"

सती ने सोचा—"यह एक नई विपत्ति सिर पर आयी। जैसे तैसे तो उन्हें जाने के लिये उद्यत किया है। यदि कुछ देने को न होगा तो, इन्हें कहने को हो जायगा कि मैं तो जाने को तत्पर ही था, तैंने कुछ उपायन नहीं दिया। रीते हाथों मैं मित्र के यहाँ कैसे जाऊँ।" यह सोचकर वह घबराई, किन्तु उसने साहस नहीं छोड़ा। उसने कहा—"अच्छी बात है, आप ठहरें, मैं कुछ लाती हूँ।" यह कहकर वह अपनी एक सहेली के समीप गयी और बड़ी दीनता से बोली—"बहिन! तुम सदा मेरी सहायता करती रही हो, आज और कर दो। फिर मैं तुम्हें कभी कष्ट न दूँगी। चार मुट्ठी चिउरा मुझे दे दो।"

सती के दीन मुख और विनयपूर्ण वचनों को सुनकर उस स्त्री को दया आ गयी। उसने चार मुट्ठी चिउरा ब्राह्मणी को दे दिये। ब्राह्मणी ने लाकर उन्हें भूना, नमक मिलाया और एक अत्यन्त फटे पुराने कपड़े में चारों ओर से लपेटकर गेंद की भाँति सी दिया। उस पोटली को देते हुए कहा—"देखिये, ये ही चिउरा हमारी भेंट है। आपको देने में लज्जा लगे तो मेरी ओर से देना। कह देना—"तुम्हारी भाभी ने यह भेजा है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उस चिउरा की पुटली को लेकर सुदामा जी द्वारका की ओर चल दिये। उन्हें अपनी दरिद्रता पर दुःख भी था और भगवान् के दर्शन होंगे इसकी प्रसन्नता थी। मुझे भगवान् के कैसे दर्शन होंगे, यही सोचते सोचते वे आगे

बढे। अब जैसे वे द्वारका पहुँचेंगे, वह कथा प्रसङ्ग मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

दारिद दुख अति दुसह भयो तब सती सुझायो।
हैं यदुनन्दन सखा देव ! बहुबार बतायो॥
च्यों न द्वारकानाथ निकट हे प्रियतम ! जावें।
दीन बन्धु ढिँग जाइ दुसह दुख च्यों न सुनावें॥
द्विज बोले—"धन हेतु हरि, ढिँग कबहूँ नहिँ जाउँगो।
बिना अन्न मरि जाउँगो, तऊ न उदर दिखाउँगो॥"

द्वारका की ओर

[११६५]

स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८० अ० १५ श्लोक)

छप्पय

विविध भाँति समुझाइ द्वारका भेजे द्विजवर ।
चूरा मुट्ठी चार माँगि दीये अति सत्वर ॥
दाबि बगल महँ भेंट चले द्विज लठिया टेकत ।
डगमग-डगमग परैं पैर हाँपत मग देखत ॥
तरुतर सोये श्रान्त है, तनु जरजर मग अति विकट ।
लाइ सुवाये शक्ति हरि, पुरी द्वारका के निकट ॥

यह जीवन क्या है, आशा निराशा का द्वंद युद्ध है। जो काम हम नहीं करना चाहते, वही किसी विवशता से करना पडता है। जिस काम को करना चाहते हैं प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उसे कर नहीं सकते। किसी से बहुत आशा करते हैं, उससे निराश होना पडता है, जहाँ से निराश हो चुके हैं, वहाँ काम बन जाता

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पत्नी के दिये हुए चिउराओं को लेकर विप्रवर सुदामाजी द्वारका की ओर चले। वे मन ही मन यह सोचते जाते थे, कि मुझे भगवान् के दर्शन कैसे होंगे ?"

है। यह द्वन्द निर्धनो के ही हृदय में उठता हो, सो भी बात नहीं निर्धन हो धनी हो, पडित हो मूर्ख हो छोटा हो बडा हो सबके ही हृदय में द्वन्द होता रहता है। इस द्वद मे एक ही बडा लाभ है, वह है मित्रो के दर्शन। यदि ससार मे कोई सच्चा मित्र मिल जाय, तो यह नीरस ससार भी सरस बन जाय, किन्तु इस जगत मे सच्चे सुहृद, निस्वार्थ प्रेमी मिलते नहीं जो प्रेम के ही लिये प्रेम करें। किसी हेतु से स्वार्थवश प्रेम करने वाले प्रेमी नहीं, वे तो व्यापारी हैं मिथ्या प्रेम प्रदर्शित करके ससारी मिथ्या पदार्थों को वे चाहते हैं। निस्वार्थ सच्चे प्रेमी के तो स्मरण मात्र से रोमाञ्च हो उठते हैं। जिसके चित्त मे मित्र की मूर्ति बस गयी है, उसका चित्त चचल या दुखी कैसे हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सुदामा जी की पत्नी ने उनसे बार-बार द्वारका जाने का आग्रह किया, तो वे बगल मे चिउरों की छोटी सी पुटली को दबाकर द्वारका की ओर चले। मैली पगडी जो उनके पिता के सामने की थी वह उन्होंने सिर पर लपेट ली। फटी पुरानी अँगरखी, जिसकी तनियाँ भी टूटी हुई थीं वह उन्होंने शरीर में पहिन ली। हाथ मे सटकिया और कन्धे पर डोर लुटिया डालकर वे यात्रा के लिये चल दिये। द्वार तक उनकी पत्नी आयी। उसने द्वार पर आकर देवी देवताओं से अपने पति की मङ्गल कामना के निमित्त प्रार्थना की। भगवान् से मनाया कि मेरे प्राणनाथ को मार्ग में कोई कष्ट न हो, उनकी यात्रा सुखप्रद हो। इस प्रकार अपने पति को विदा करके सती तो घर में लौट आयी और सुदामा जी द्वारका की ओर चल दिये।

एक तो कृश शरीर, वृद्धावस्था तिस पर भी कई दिनों से उन्होंने खाया नहीं था। वे लठिया टेकते टेकते चलते थे, चलने में उनके पैर लडखडाते थे। हृदय में द्वद युद्ध हो रहा था। मनुष्य

जिस काम में मन से प्रवृत्त हो जाता है, फिर उसी के सम्बन्ध में सोचता रहता है। उसी बात की ऊहापोह करता रहता है। सुदामा जी भगवान् की मैत्री को भूल गये हों, सो बात नहीं। उन्हें भगवान् की एक-एक बात स्मरण थी, वे एकान्त में बैठकर भगवान् की मन मोहिनी मूरति का ही चिन्तन करते रहते। वाणी में उनके ही नामों का भुवनमोहन गुणों का गान करते रहते। हृदय में उनके दर्शनों की बारम्बार लालसा उठती, किन्तु अपनी स्थिति सोचकर रुक जाते। इस मलिन वेष से फटे पुराने वस्त्रों से मैं भगवान् के यहाँ चलूँगा तो सब मेरी हँसी उड़ावेंगे। भगवान् को भी संकोच हो सकता है। जो सेवक स्वामी को संकोच में डालता है, वह सच्चा सेवक नहीं है। मेरे कारण भगवान् की ही हँसी उनके मुँह लगी पत्नियाँ करें तो यह बड़े दुःख की बात होगी। मन से तो मैं सदा उनसे मिला ही रहता हूँ। हृदय कमल में स्थित उनकी मनोहर मूर्ति का तो निरन्तर दर्शन करता ही हूँ, इस दरिद्र वेष से द्वारकाधीश के यहाँ जाना उपयुक्त नहीं।" यही सब सोचकर वे रह जाते, कभी द्वारका जाने का नाम भी न लेते।

जब पत्नी ने उन्हें बहुत ही विवश किया तो उन्होंने सोचा—"जिस के साथ जीवन काटना है, उसकी बात अपने अनुकूल न भी हो, तो भी उसे मान लेना चाहिए। पति यदि पत्नी की बात मानकर उसकी इच्छानुसार काम कर देता है, तो उसका प्रेम और अधिक बढ़ जाता है, उसे गर्व हो जाता है मेरे पति मेरी बात मानते हैं। इसलिये इसकी बात मानकर द्वारका चला तो जाऊँ, किन्तु भगवान् से मैं धन की याचना न करूँगा। यह तो स्त्री है व्यवहार की बातों को समझती नहीं। भला, कहीं मित्र से धन माँगा जाता है। अत्यधम पुरुष धन के लोभ से मित्रों से मिलते हैं। मनस्वी पुरुष एक बार आपत्ति विपत्ति पड़ने पर

अपरिचितों से याचना भले ही करले किन्तु परिचितों के सम्मुख हाथ फैलाने का उसका साहस नहीं होता। मान अपमान की रक्षा तो परिचितों में ही की जाती है। जहाँ हमारा परिचय नहीं, वहाँ कोई हमें पीट भी दे, तो भी कोई बात नहीं, किन्तु परिचित कोई कड़ी बात कह दे, तो उसमें भी अपना बड़ा अपमान प्रतीत होता है। सुख दुख तो भाग्यवश मिलता है। भगवान् तो घट-घट की जानने वाले हैं। उनके छिपा ही क्या है। स्त्री का आग्रह द्वारका जाने का है, सो द्वारका मैं जा ही रहा हूँ। आज मेरी बहुत दिनों की लालसा पूरी होगी। आज उन सच्चिदानन्दघन विग्रह के दर्शनों से अपने को कृतार्थ करूँगा।

फिर सोचने लगे—"मुझे भगवान् के दर्शन होंगे भी या नहीं। वे तो राजाधिराज हैं, महलों में रहते होंगे। पहरे लगते होंगे, कौन मुझ दरिद्र को उनके समीप जाने देगा। द्वारपाल मेरा वेष देखकर ही रोक लेंगे। अच्छी बात है रोक लें। मैं द्वार पर बैठा रहूँगा, कभी तो वे महलों से निकलते होंगे। उसी समय उनसे भेंट कर लूँगा। वे मुझे पहिचान तो जायँगे ही किन्तु बात बहुत पुरानी हो गयी है, संभव है भूल गये हों। भूल गये होंगे तो मैं याद दिला दूँगा।"

इस प्रकार मनोरथ करते हुए वे सटकिया टेकते-टेकते आगे बढ़े। नगर से कुछ ही दूर चलकर वे थक गये। अब उनमें चलने की शक्ति नहीं रही। सती ने कुछ चबैना इन्हें भी दे दिया था, कि मार्ग में इसे चबाकर पानी पीलें। सुदामा जी ने देखा आगे मार्ग में एक बड़ा सुन्दर शिवालय बना है। सघन वट की छाया है, सुन्दर पक्का कूप है। अभी वे नगर से एक कोस भी नहीं आये थे। तो भी उन्हें ऐसा लगा मानों मैं बहुत मार्ग पार कर आया हूँ। चलते-चलते उन्हें प्यास लगी। कंधे से लुटिया डोरी उतारी डोर को खोलकर लुटिया को फांसे से कस कर

उन्होंने कूए में फाँसा, पानी खींच कर हाथ पैर धोए, कुल्ला किये फिर लोटे को माँजा पानी खींच कर एक ओर बैठ गये। कपड़े

की गाँठ में कुछ चबैना बँधा था, उसे खोलकर चबाया, ऊपर से एक लोटा जल पिया। मार्ग में चलने से वे श्रमित हो गये थे।

वट के नीचे पड़ गये। पड़ते ही उन्हें निन्द्रा आ गयी और सो गये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब तक जीव भगवान् की ओर बढ़ता नहीं है, तभी तक उसे दुःख होता है। जहाँ उसने भगवान् की ओर पैर बढ़ाया कि उसके सब दुःख शोक नष्ट हो जाते हैं। भगवान् को स्वयं ही उसके योग-क्षेम की चिन्ता हो जाती है। भगवान् ने देखा सुदामा मेरे समीप आना चाहता है, वह मुझसे मिलने चल दिया, यदि ऐसे ही एक-एक कोस चलेगा, तो न जाने कब तक मेरे समीप पहुँच सकेगा। अब अपने भक्त को किसी प्रकार का कष्ट न हो। जो एक पग मेरी ओर बढ़ता है, उसे मैं निन्यानबे पग बढ़कर अपना लेता हूँ। यही सोचकर भगवान् ने योग माया को बुलाकर आज्ञा दी—"मेरे भक्त सुदामा को ज्यों का त्यों उठाकर द्वारका के उपवन मे सुला दो।" भगवान् की आज्ञा पाकर योग माया एक क्षण मे सुदामाजी को उठा लायी। उसने भगवान् के महलो के सम्मुख जो बड़ा सुन्दर उपवन था, उसी मे लाकर हरी-हरी दूब पर उन्हें सुला दिया। कुछ काल में जब उनकी आँखें खुलीं, तो वे भौंचक्के से रह गये। आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देखने लगे, सुवर्ण के बने हुए सहस्रो महल खड़े हैं। वन, उपवन, सरोवर तथा आरामों से यह स्थान घिरा हुआ है। चारों ओर दिव्य सुगन्धि फैली हुई है। सुदामा जी ने पास मे काम करने वाले मालियों से पूछा—"क्यों भाई! यह कौन-सी नगरी है? यहाँ से द्वारका जी कितनी दूर हैं?"

मालियों ने हँसते हुए कहा—"महाराज! कहीं गहरी भाँग छानकर आये हो क्या? द्वारका मे बैठे हो, और द्वारका की बात पूछ रहे हो?"

चौंक कर सुदामा जी ने कहा—"अरे, हैं, यह क्या? मैं

द्वारका मे आ गया ? कैसे आ गया ? सोते-सोते ही आ गया। बडा आश्चर्य है। भैया, यहाँ श्रीकृष्णचन्द्र का घर कहाँ है, इन इतने ऊँचे ऊँचे घरो मे मुझे श्रीकृष्ण का घर कौन बतायेगा ?"

हँस कर मालियो ने कहा—"महाराज ! जान पडता है, आप पहिले ही पहिल आये हैं। ये सब के सब घर श्रीकृष्णचन्द्र के हैं उनके सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ हैं।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए सुदामा बोले—"अरे, बप्पारे बप्पा ! सोलह सहस्र रानियाँ ! मेरे घर में तो एक ही ब्राह्मणी है। अब इन सोलह सहस्र महलो मे कृष्ण को कहाँ खोजूँगा। मैं तो जाते जाते थक जाऊँगा।"

मालियो ने कहा—'महाराज ! आपको खोजने की आवश्यकता नही यह जो सामने का महल है, यह सबसे बडी महारानी रुक्मिणी जी का ही निवास स्थान है। आप इसमें चले जायँ। वहीं आप को भगवान् के दर्शन हो जायँगे।"

सुदामा जी ने सरलता के साथ कहा—"भैया ! इसमें मुझे भीतर कौन जाने देगा। मुझे तो यहीं से दीख रहे हैं, बडी-बडी सगीनों वाले पहरे वाले इधर से उधर घूम रहे हैं।

मालियों ने कहा—"महाराज ! ब्राह्मणो के लिये जाने की मनाही नहीं है। आप निर्भय होकर भीतर चले जायँ।"

यह सुनकर ब्राह्मण को कुछ कुछ धैर्य हुआ। वे अपनी सटकिया को टेकते-टेकते आगे बढे। भगवान् के यहाँ सात ड्योढियाँ लगती थीं। पहिली तीन ड्योढियो में तो शस्त्र सैनिकों की छावनियाँ पडी रहती थीं। भीतर की तीन ड्योढियो में हाथ में बेत लिये हुए केवल द्वौवारिक रहते थे। सशस्त्र सैनिक अस्त्र-शस्त्र और वस्त्रो से सुसज्जित इधर-उधर घूम रहे थे। सुदामा जी का हृदय धक् धक् कर रहा था। वे सोच रहे थे—मेरी स्त्री ने मुझे व्यर्थ झमट में फँसा दिया। बताओ यहाँ इतनी भीड़ भाड मे मुझे

कौन पूछ सकता है। ये कितने सैनिक एक से वस्त्र पहिने हुए घूम रहे है। ये मुझे भीतर क्यों जाने देंगे।" यह सोचकर वे द्वार पर बैठ गये। इतने मे ही उन्होंने देखा तिलक छापे लगाये पीताम्बर ओढ़े बहुत से ब्राह्मण भीतर जा रहे हैं। उनको सैनिक रोकते नहीं। वे सब बिना रोक टोक के जा रहे हैं। तब उन्हे विश्वास हो गया कि यहाँ ब्राह्मणों की रोक टोक नहीं है। कुछ समय के पश्चात् फिर एक ब्राह्मणों का दल आया। अब के उन सबके साथ सुदामा जी भी भीतर घुस गये। वे ब्राह्मणों के बीच में इस प्रकार जा रहे थे, कि कोई उन्हें देख न ले। तीनो सैनिक पहरे वाली ड्योढ़ियों को वे ब्राह्मणों के साथ पार कर गये। फिर तीन बिना शस्त्र के पहरेदारो की ड्योढ़ियों को भी वे पार कर गये। छटी ड्योढ़ी पर जाकर सब ब्राह्मण रुक गये। दानाध्यक्ष सबको दान दे रहा था। जो जिस वस्तु की याचना करता उसे वही वस्तु दी जाती।

सुदामा जी चुप चाप खड़े थे। प्रधान प्रहरी ने सुदामा जी से पूछा—"कहिये, महाराज! आप क्या चाहते हैं?"

सुदामाजी ने कहा—"मैं तो श्रीकृष्णचन्द्र से मिलना चाहता हूँ।"

प्रधान प्रहरी ने पूछा—"उनसे मिलकर आप क्या कीजियेगा। जो आज्ञा हो, हमसे कहें। जिस वस्तु की आप इच्छा, करेंगे उसे हम दे देंगे।"

सुदामा जी ने कहा—"मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। श्रीकृष्ण मेरे मित्र हैं सगे सम्बन्धी है, मैं उनसे भेंट करने ही आया हूँ।"

चौंककर प्रधान प्रहरी ने पूछा—"भगवान आपके मित्र हैं? उनसे आपकी कब मित्रता हुई। उनसे आपका क्या सम्बन्ध है? वे आपके क्या लगते हैं।"

सुदामा जी ने कहा—"हम और वे साथ-साथ अवन्ती

नगरी में पढ़े हैं, तब की तो हमारी उनकी मित्रता है, और सम्बन्ध में वे हमारे साढ़ू लगते हैं। उनकी बड़ी साली का हमारे साथ विवाह हुआ।"

यह सुनकर सब लोग हँसने लगे। सब ने पूछा—"महाराज आपकी धर्मपत्नी किस राजा की पुत्री हैं। भगवान् की तो सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ हैं। उनकी किस पत्नी की बहिन के साथ आपका विवाह हुआ है?"

सुदामा जी ने कहा—"मेरी पत्नी जल निधि समुद्र की बड़ी पुत्री दरिद्रता है और उसकी छोटी बहिन लक्ष्मी के पति द्वारका नाथ हैं, तो हमारे साढ़ू हुए या नहीं?"

यह सुनकर सब खिल खिलाकर हँस पड़े। कुछ लोग कह रहे थे, इन्हें भगवान के पास जाने दो, अत्यंत ही दीन हीन हैं। कुछ लोग कह रहे थे—"कुछ याचना ही करने आये होंगे। ब्राह्मण को ब्रह्माजी ने याचना के ही लिये बनाया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान का महान् ऐश्वर्य देखकर सुदामा जी को बड़ा कौतूहल हो रहा था, भगवान से मिलने की उनकी उत्कण्ठा पल-पल पर बढ़ रही थी। अब जिस प्रकार भगवन् की और सुदामाजी की भेंट होगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह अत्यंत ही करुणपूर्ण रोमाञ्चकारी प्रसङ्ग है।"

छप्पय

जागे, पूछें कहा द्वारका कृष्ण रहें कित।
भौंचक्के से लखें परम विस्मित है इत उत॥
लोगनि दयो बताइ रुकिमिनी महलनि आये।
द्विजनि सहित छै द्वार लाँघि हिय अति हरषाये॥
मित्र मिलन की चटपटी, लगी सबनि तैं द्विज कहत।
कृष्ण हमारे सखा हैं, हम उनितैं मिलिबो चहत॥

—✱—

श्रीकृष्ण सुदामा सम्मिलन

[११६६]

त विलोक्याच्युतो दूरात् प्रियापर्यङ्कमास्थितः ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥*

(श्री भा० १० स्कं० ८० अ० १८ श्लोक)

छप्पय

सब सेवक सुनि हँसहिं व्यंग करि-करि बतरावें ।
भारे भारे विप्र सरल चित बात बतावें ॥
प्रिया सहित प्रभु पलँग पधारे दीठि परी जब ।
दौरे ह्वैकें विकल विसारी तन सुधि बुधि सब ॥
दोऊ भुजा पसारिकें, चिपटाये हिय तैं तुरत ।
मित्र मित्र पुनि-पुनि कहत, नेह नीर नयननि बहत ॥

प्रेम मे नियम नहीं रहता, प्रेम मे बडप्पन नहीं रहता, प्रेम मे सकोच नहीं रहता, प्रेम मे भेद भाव नहीं रहता। हम ऐसा करेंगे, तो लोग क्या कहेंगे, हमारी प्रतिष्ठा मे बट्टा लग जायगा, हमारा प्रभाव घट जायगा। ऐसे विचार प्रेम मे आते ही नहीं। सच्चे प्रेमी को देखकर हृदय अपने आप विवश हो जाता है। बिना,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी दूर से सुदामाजी को देखकर, तुरन्त सम्भ्रम के साथ अपनी प्रिया के पलँग से उठ पडे और आगे बढकर अत्यत ही हर्ष के साथ उन्हें दोनो भुजाओ से कसकर गले से लगा लिया।"

प्रयत्न के हृदय, हृदय से सट जाता है। आँखें बहने लगती हैं और शरीर का प्रत्येक रोम खड़ा हो जाता है। अंग अंग में एक प्रकार की विचित्र विस्फूर्ति आ जाती है। हृदय में प्रेम का उफान आने पर मनुष्य अपने आपको भूल जाता है। चित्त चाहता है प्रेमी को अपने में मिलाकर एक कर लें, द्वैधीभाव रहता ही नहीं। कुछ लोग प्रेम की इन चेष्टाओं को दम्भ से भी करते हैं, किन्तु हार्दिक भावों को हृदय तुरन्त ग्रहण कर लेता है। बनावट अधिक दिन तक नहीं रहती। जिनके हृदय में प्रेम की तरंगें उठती हैं नेह की हिलोरों से जिनका हृदय द्रवीभूत हो गया है। नवनीत की भाँति स्निग्ध और कोमल बन गया है, वे नर नहीं, नरोत्तम हैं, पुरुष नहीं, परमेश्वर हैं। प्रेम ही तो भगवान् का रूप है। प्रेम में और प्रभु में कोई अन्तर नहीं, भेदभाव नहीं, भिन्नता नहीं। हृदय में प्रेम उत्पन्न होते ही हरि दौड़कर उसे हृदय से चिपटा लेते हैं और वे स्वयं भी प्रेमी बनकर नेह का नीर बहाते हैं। प्रेमी को प्रभु अपने में नहीं मिलाते स्वयं उसकी भाँति बनकर उसे अपना लेते हैं। यही उन महतोमहीयान की महत्ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजकर्मचारी कैसे भी सरल और सज्जन क्यों न हों, उनमें प्रायः कुछ न कुछ उद्धतता रहती ही है। इसमें उनका कुछ दोष नहीं। बात यह है, कि उनके पास जो भी आते हैं अर्थी ही आते हैं। अर्थी दूसरों की विवशता की ओर ध्यान नहीं देता। उसे तो अपने काम को सिद्ध करने की चिन्ता रहती है। वह बार-बार एक ही बात को कहता है और समय पड़ने पर ऐसे भाव व्यक्त करता है, कि हमारी उच्च अधिकारियों तक पहुँच है। नित्य सुनते-सुनते कर्मचारी अभ्यस्त हो जाते हैं और उन पर ऐसी बातों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

जब सुदामाजी ने यह कहा—"कि श्रीकृष्ण हमारे मित्र हैं, तो

सभी उनसे अट-सट प्रश्न करने लगे। सरल सीधे ब्राह्मण राज-कर्मचारियों की व्यग बातों को क्या समझें। वे सरलता से सब बातों का उत्तर देने। लोग उनके सीधेपन पर हँस जाते तथा और भी प्रश्न करते। सीधे-सादे लोगों को बनाने में कुछ लोगों को बड़ा आनन्द आता है विशेषकर चचल प्रकृति के युवक और युवतियों को यदि कहीं कोई सरल सीधा आदमी मिल जाय तो ये उसकी हँसी बहुत उड़ाते हैं।

सातवीं ड्योढ़ी पर ही भगवान् का अन्त.पुर था। उसमें सर्व-साधारण लोग तो जा ही नहीं सकते थे विश्वात नौकर, उद्धवादि परम विश्वासनीय मन्त्री, साधु ब्राह्मण और रानियाँ इतने ही लोगों का वहाँ प्रवेश था। प्रायः वहाँ ऐसे ही लोग जा सकते थे, जिनके सम्मुख अन्त.पुर की स्त्रियों को परदा न करना पड़े। जिनके सम्मुख बिना सकोच के आ जा सकें। भगवान् के बैठने का जो भवन था वह उस आँगन से सटा ही हुआ था। बाहर जो दान धर्म, पूजन आदि हो,उसे भगवान् बैठे ही बैठे देख सकते थे।

उस समय भगवान् पलँग पर विराजमान थे। उस पलग के पाये हाथीदाँत के बने थे। उस पर गुदगुदे गद्दे बिछे थे, उनके ऊपर दुग्ध फेन के समान, शुभ्र शख के समान, बगुलों की पख के समान, हिम की शिला के समान, कुन्द के पुष्पों के समान, शारदीय चन्द्र के समान, कामिनी के मृदुल हास्य के समान तथा पुण्यश्लोकों की सुकीर्ति के समान शुभ्र स्वच्छ वस्त्र बिछे थे। छोटे बड़े बहुत से उपबर्हण (तकिये) रखे हुए थे। पलग पर उनकी प्रिया भी बैठी थीं, उनसे कुछ हँसी विनोद की बातें कर रहे थे। सहस्रों दासियाँ सेवा में सलग्न थीं। सहसा लोगों की हँसी सुनकर भगवान् का ध्यान उस ओर गया। उन्होंने सम्मुख अत्यन्त फटे पुराने वस्त्रों को पहिने, लठिया के सहारे खड़े अत्यन्त कृशगात्र अपने पुराने सहपाठी तथा मित्र सुदामा

को देखा। उन्हें देखते ही वे आत्मविस्मृत हो गये। वे कब पलंग से कूद पड़े किसी ने देखा ही नहीं। कूदकर भगवान् भागे, सर्वत्र हल्ला मच गया, कोई समझ ही न सका भगवान् को क्या हो गया है। दास-दासी पीछे दौड़े, इतने में ही भगवान ने अपनी दोनों विशाल भुजाओं के बीच में सुदामाजी को कस ही तो लिया, भगवान का मंगलमय स्पर्श पाकर ब्राह्मण आनन्द में विभोर हो गये। उन्हें आशा नहीं थी, भगवान् से मेरी भेंट हो सकेगी, किन्तु भगवान के इस अगाध प्रेम को देखकर ब्राह्मण आत्मविस्मृत हो गया। उस समय भगवान् की दशा विचित्र हो रही थी। उनके कमल के सदृश बड़े बड़े नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की अविरल धारा बह रही थी, जिससे ब्राह्मण के सभी वस्त्र भीग गये थे। उनका शरीर रोमांचित हो रहा था। वाणी रुद्ध हो गयी थी और वे कसकर अपने प्रिय सखा को हृदय से चिपकाये हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो नेत्रों द्वारा उनके रूप को पी जायेंगे। समस्त अंगों को अपने अंगों में एक कर लेंगे।

एक दरिद्र ब्राह्मण के प्रति भगवान के इस अलौकिक,अद्भुत अनिर्वचनीय प्रेम को देखकर, सबके सब अवाक् रह गये। किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता था। हल्ला-गुल्ला सुनकर सभी रानियाँ एकत्रित हो गयीं। वे समझ ही न सकीं, कि क्या बात है भगवान् इस दरिद्र ब्राह्मण से मिलकर ऐसे अधीर और आत्मविस्मृत क्यों हो रहे हैं। बड़ी देर तक वे सुदामाजी को अपने हृदय से चिपटाये रहे। सुदामाजी भी अबोध बालक की भाँति भगवान् के हृदय से लगे हुए अश्रुविमोचन कर रहे थे।

कुछ काल में भगवान् को चेत हुआ, वे हाथ पकड़े ही पकड़े सुदामाजी को भीतर ले गये। पलंग पर सिरहाने बिठाकर घर में भीतर गये। आज सेवक, सेविकायें रानियाँ सब अवाक् थीं, भगवान् किसी से कोई वस्तु मँगाते नहीं, स्वयं अपने हाथों सब

वस्तुओं को लाते हैं। वे पूजा के लिये पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, चन्दन, वस्त्र, यज्ञोपवीत तथा अन्यान्य सभी वस्तुएँ स्वयं ही अपने हाथों से ले आये। सुवर्ण की परात में सोने की झारी से स्वयं ही लोक पावन प्रभु ने ब्राह्मण के पादों का प्रक्षालन किया। अब रुक्मिणीजी से नहीं रहा गया। वे बोलीं—"प्राण-नाथ! आज आपको हो क्या गया है सब पूजा में तो आप मुझे साथ बिठाया करते थे, आज मुझे कैसे भूल गये हो। अकेले ही अकेले पूजन कर रहे हो। यह कहकर उन्होंने सुवर्ण की झारी भगवान् के हाथ से ले ली। वे टोंटीदार झारी से जल डाल रही थीं और भगवान आनन्द में विभोर बने ब्राह्मण के पैरों को धो रहे थे। पैर सूखे साखे थे, वे धूलि में भरे थे, उनमें बहुत सी बिवाइयाँ फटी हुई थीं। भगवान् ने अपने कमल से भी कोमल करों से उन मल से आवृत ब्राह्मण के खुरदरे पैरों को शनैः-शनैः धोया। फिर नूतन अँगोछा से उन्हें पोंछा। उस चरणोदक को बड़े आदर से अपने सिर पर चढाया सम्पूर्ण घरों में छिड़क-वाया। फिर अर्घ्य देकर आचमन कराके विधिवत् उबटन लगा-कर स्नान कराया, नया यज्ञोपवीत नये दो सुन्दर रेशमी वस्त्र उन्हें पहिनाये। सम्पूर्ण शरीर में केशर, कस्तूरी तथा कर्पूर आदि की गन्ध से सुवासित दिव्य गंधमय चन्दन उनके सर्वाङ्गों में लगाया। फिर सुगंधित धूप जलाकर तथा सहस्रों दीपक जलाकर उनका पूजन किया। अतिथि को जिस प्रकार गौ अर्पण की जाती है, उस प्रकार एक कपिला गौ अर्पण की। फिर नैवेद्य, फल अर्पण करके सुन्दर लवँग इलायची तथा कर्पूरयुक्त ताम्बूल उन्हें दिया। बार-बार भगवान् कह रहे थे—"मित्र! भले आये, भले आये! आज मैं आपका पूजन करके कृतार्थ हो गया।"

रुक्मिणीजी ने देखा आज भगवान मुझसे कुछ भी सेवा लेना नहीं चाहते, तो वे उन मलिनवसन, अत्यन्त दुर्बल कृश

गात्र विप्र के ऊपर अपने हाथों से चँवर डुलाने लगी। नारायण से दूर रहने पर लक्ष्मी चाहे भले ही रूठी रहे, किन्तु नारायण के निकट आने पर तो वह दासी की भाँति सेवा संलग्न रहती है। अपने आप चँवर डुलाती है, जिसने पति को वश में कर लिया है, उसकी पत्नी तो अपने आप सेवा किया ही करती है।

अन्तःपुर के तथा बाहर जितने ब्राह्मण आदि वहाँ समुपस्थित थे, वे सब पुण्य कीर्ति भगवान् श्याम सुन्दर को एक भिक्षुक ब्राह्मण की इस भाँति अत्यन्त अनुराग और तन्मयता के साथ पूजा करते देखकर, परस्पर में कह रहे थे—"अहो! यह कितने आश्चर्य की बात है, साक्षात् श्रीपति इस श्रीहीन, निर्धन, लोक-निन्दित, सभ्य समाज द्वारा तिरस्कृत अधम भिक्षुक ब्राह्मण की इतनी तन्मयता से पूजा कर रहे हैं। भगवान् के हृदय का प्रेम समाता नहीं वे अपने आपे को भूले हुए हैं। इसने पूर्व जन्मों में ऐसा कौन-सा महान् पुण्य अद्भुत वस्तु का दान किया है, जिस से साक्षात् लक्ष्मी जी के आश्रय स्थान जगद्गुरु भगवान् वासुदेव अपने पलङ्ग पर विराजमान कमलारूप रुक्मिणीजी का परित्याग करके ज्येष्ठ बन्धु की भाँति दौड़कर इसे हृदय से चिपटाया। ज्येष्ठ बन्धु से भी बढ़कर आदर किया।

रानियाँ चित्र लिखी मूर्तियों के समान खड़ीं थीं। सेवक अवाक् थे। भगवान् का कण्ठ अवरुद्ध था। सुदामा जी कुछ कहना चाहते थे, किन्तु कुछ कहने का उनका साहस ही न होता था। भगवान ने चरण धोये उन्होंने कुछ आपत्ति नहीं की, स्नान कराया कर लिया, चन्दन लगाया लगवा लिया। वस्त्र उढ़ाये ओढ़ लिये। आरती उतारी, चुपचाप बैठे रहे। ऐसा लगता था मानों वे निर्जीव मूर्ति हैं। पूजा करने के अनन्तर ब्रह्मण्यदेव भगवान ने भूमि में लोटकर सुदामा जी को प्रणाम किया। फिर सभी ने भगवान् का अनुकरण किया। सब के प्रणाम करने पर

भगवान् ने कहा—"भया! चलो, भोजन करें।" यह कहकर भगवान् स्वय हाथ पकडकर भीतर महला में ले गये। रानिया न रोटी, मीठी, चरपरी तथा नमकीन वस्तुएँ बनाकर बडे प्रेम और अनुराग के साथ भोजन कराया। इतन दिव्य पदार्थों को देखकर ब्राह्मण के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अमृतोपम भोजन को पाकर ब्राह्मण के रोम-रोम खिल उठे। भोजन कराने के अनन्तर मुखशुद्धि दी। तब भगवान् उन्हें अत्यन्त स्नेह से अपनी बठक म ले गये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब दोनो भोजनादि से निवृत्त हो गय, तो दोनो में फिर प्रेम की मीठी-मीठी बातें छिडीं। दोनो मित्रो म जो रसीली, रँगीली, आनन्ददायिनी बातें हुईं, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

स्वयं पकरि यदुनाथ पलङ्ग पै विप्र बिठाये।
पूजा को सभार स्वयं कर कमलनि लाये॥
करि पूजन सम्मान स्वादु भोजन करवाये।
करें प्रेम अति अधिक सुदामा बहु सकुचाये॥
नेह सहित बैठाइ ढिँग, पुनि पुनि पूछत कुशल हरि।
कहो, लौट गुरु सदन तैं, गृही बने नहिँ ब्याह करि॥

सुदामा और श्यामसुन्दर की बातें

[११६७]

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात् ।
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८० अ० २८ श्लोक)

छप्पय

भाभी कैसी मिली, मिले मन तुमरो वा ते ।
लडति भिडति तो नाहिं कान तो करे न ताते ॥
कितने बालक भये सबनिके नाम बताओ ।
सब घर को वृत्तान्त सुनाओ मति सकुचाओ ॥
गुरुकुल के सुखमय दिवस, हाय ! स्वपन सम अब भये ।
वा दिनकी कछु यादि है, ईंधन लैवे वन गये ॥

संसार में वैसे तो सभी सगे सम्बन्धी तथा प्रिय जनो के मिलने से प्रसन्नता होती है, किन्तु जो लँगोटिया मित्र हैं, जिनके साथ अतीत की अनन्त स्मृतियाँ जुडी हुई हैं, वे अपने प्रेमी बाल

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सुदामाजी का स्वागत सम्मान करने के अनन्तर भगवान् उनसे पूछने लगे—"हे ब्रह्मन् ! हे धर्मज्ञ ! जब आप गुरु दक्षिणा देकर अध्ययन समाप्त करके घर लौट आये, तब आपने किसी अपने मन के अनुकूल योग्या स्त्री से विवाह किया या नही ?"

सखा मिल जायँ, तब तो कहना ही क्या ? उनके मिलने पर प्रसन्नता साकार रूप रखकर सम्मुख आ जाती है। दोनों मिलकर परस्पर में एक दूसरे के हृदय को टटोलते हैं, दुःख सुख की बातें करते हैं और अतीत की घटनाओं को स्मरण करके प्रमुदित होते हैं। जीवन में सुख दुख घटनाओं के समय नहीं होता। घटनाएँ तो सहसा आती हैं घटकर अनन्त के गर्भ में विलीन हो जाती हैं, सुख दुःख जो भी होता है, उनकी स्मृतियों में होता है। जीवन के साथ अनन्त घटनाओं की स्मृतियों की पुटली न हो, तो जीवन शून्य बन जाय। फिर उसमें न तो स्फूर्ति आवे न उत्साह तथा आमोद-प्रमोद का ही प्रादुर्भाव हो। जड के सदृश हो जायँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भोजनोपरान्त भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र अपने बालसखा सुदामा को प्रेमपूर्वक हाथ पकडकर अपने निजी भवन में ले गये। दोनों एक ही आसन पर सुख से बैठे। दोनों का अंग परस्पर में सटा था। सुदामा मौन थे। हमारे इन चंचल शिरोमणि श्यामसुन्दर का मुखारविन्द प्रेम के कारण चमक रहा था। इन्होंने बात-चीत छेडी। हँसते हुए बोले—"कहो भैया ! अब अपने समाचार सुनाओ, अच्छे रहे न ?"

सुदामाजी ने कहा—"हाँ भैया ! समय को धक्का दे रहे हैं, दिन काट रहे हैं।"

भगवान् बोले—"अच्छा, यह बताओ ! हमारा तुम्हारा समा-वर्तन संस्कार तो साथ ही साथ हुआ। साथ ही साथ गुरुकुल से से गुरुजी को दक्षिणा देकर—अध्ययन समाप्त करके लौटे थे। तब से तुमने क्या-क्या किया ?"

सुदामाजी ने कहा—"किया क्या भगवन् ! इस पापी पेट को भरा और सोकर समय खोया।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! खाना सोना तो सभी के साथ लगा है। शास्त्रकारों का कहना है, द्विज को कभी एक क्षण के

लिये भी अनाश्रमी न रहना चाहिये। ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त करके अपने अनुरूप सुन्दर लक्षणों वाली कन्या के साथ विवाह करके गृहस्थ धर्म का पालन करना चाहिये। आप यह बताइये कि आपने किसी ब्राह्मण कन्या के साथ विवाह तो कर लिया है न? या वैसे ही ठंठनपाल मदनगुपाल बने हो। हम तो आपको बालकपन से ही देखते थे, आपकी गृहस्थ की ओर आरम्भ से ही प्रवृत्ति नहीं थी। जैसे आप पहिले थे, वैसे ही निस्पृह अब भी बने हैं। आपके वेष-भूषा से ही विदित होता है, कि आपने धन आदि संग्रह तो किया ही नहीं। विवाह किया कि नहीं। मुझे तो भैया, विवाह की ही चिन्ता है देखो, मैंने सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाह किये हैं? क्योंकि गृहस्थ धर्म सबसे श्रेष्ठ है, ये जितने जटाधारी, लटाधारी, फलाहारी, त्यागी, विरागी, संन्यासी, ब्रह्मचारी, आचारी तथा अन्यान्य भिक्षोपजीवी है, सब गृहस्थ के ही आश्रय से टिके हुए हैं। इन सबके भरण-पोषण का भार गृहस्थों के ही ऊपर है। इसीलिये गृहस्थ धर्म की इतनी प्रशंसा है।"

सुदामाजी ने कहा—"अजी, महाराज! गृहस्थधर्म का पालन हम जैसे दरिद्रों से कहाँ होता है। कूकर सूकरों की भाँति आहार, निद्रा, भय मैथुनादि में फँसे रहकर दिन काट रहे हैं, घर में एक ब्राह्मणी है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, बताइये भाभी का स्वभाव कैसा है? आपसे लड़ाई-भिड़ाई तो नहीं करती। ब्रह्मन् घर में अच्छे स्वभाव की स्त्री हो, तो धन आदि कुछ भी न रहने पर सब कुछ है यदि स्त्री कर्कशा हुई, बात-बात में क्रोध करने वाली, मुँह फुलाने वाली, डाँटने डपटने वाली हुई तो सब कुछ रहते हुए भी कुछ नहीं है, पृथ्वी पर ही नरक का दुःख है। भाभी लड़ती झगड़ती तो नहीं, तुम्हारे कान गरम तो नहीं करती? प्रेमपूर्वक सेवा तो करती है।"

यह सुनकर सुदामाजी कुछ हँस गये, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। रुक्मिणीजी सब सुन रही थी, वे वहीं से बोली—"तुम्हारे किसी ने कान गरम किये होंगे, तभी तुम्हें पता है।"

हँसकर भगवान् बोले—"भैया! मैं अपनी विपत्ति की बात बताऊँ, तो यहाँ अभी महाभारत हो जाय। मेरा दुःख मैं ही जानता हूँ कभी कोई मुँह फुला लेती है, कभी कोई खटपाटी लेकर पड जाती है। कभी कोई मणि माँगती है, कोई कहती है हमे स्वर्ग से पारिजात ला दो। इन्हीं झंझटों में मैं तो फँसा रहता हूँ। भाभी तो तुमसे 'यह ला, वह ला' ऐसी बातें न कहती होगी। भैया, यह स्त्री रूपी माया ऐसी प्रबल है कि इसके चक्कर में फँसकर मनुष्य सब कुछ भूल जाता है। गर्भ में की हुई प्रतिज्ञा, यहाँ की सब प्रतिज्ञाओं को भूलकर इनका दास बन जाता है। यह गुणमयी माया ऐसी दुस्त्यज है, कि बडे-बडे ज्ञानी भी इसके मोह को नहीं छोड सकते। कोई ऐसे विरले ही महापुरुष होते हैं, जो ईश्वर की माया से निर्मित इन विषय वासनाओं का परित्याग कर सकें। ऐसे वीतराग पुरुषों के लिये विवाह की कोई आवश्यकता भी नहीं। अब देखो, हम तो जान बूझकर इन स्त्रियों मे फँस गये। ये सब हमें अपना क्रीड़ामृग बनाये हुए हैं।"

यह सुनकर रुक्मिणीजी ने कहा—"जेठजी! आप इनकी बातों का विश्वास न करें, ये बडे कपटी हैं, ऊपर से दिखाने को तो ऐसी चिकनी चुपडी रँगीली रसीली बातें करते हैं मानो ये हमारे आधीन ही हो गये हैं, किन्तु इन्हें तनिक भी मोह ममता नहीं। स्नेह करना तो ये जानते ही नहीं बडे निष्ठुर हैं। ये ही सबको नाकों में नकेल डालकर नचा रहे हैं और नाम हमारा लगा रहे हैं।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"देख लो, भैया! तुम्हारे मुँह पर ही मुझे खरी-खोटी सुना रही है। बात यह है कि हम तुम कोई

विषयों में आसक्त थोड़े ही हैं। हम सब तो केवल लोकसंग्रह के निमित्त करते हैं।"

रुक्मिणी ने कहा—"तुम लोकसंग्रह के लिये सब खेल करते हो, और हमें दुख देते हो। किसी का खेल हो, किसी का हृदय जले और उलटे हमें ही कलंक लगाते हो।"

भगवान् ने प्रेम के रोष में कहा—"हम अपने मित्र से बातें कर रहे हैं, तुम बीच में क्यों बोलती हो? जहाँ दो बातें कर रहे हों वहाँ तीसरे को न बोलना चाहिये।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"मैं बोलूँगी और अवश्य बोलूँगी। जेठजी से आप हमारी बुराई क्यों कर रहे हैं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, भैया! छोड़ो इन लुगाइयों की बातों को, अपने गुरुजी की बात करो। हाँ, अच्छा उस दिन की तुम्हें याद है?"

सुदामाजी ने कहा—"किस दिन की महाराज!"

भगवान् बोले—"उसी दिन की जिस दिन गुरुजी के यहाँ ईंधन नहीं था। गुरुआनी माताजी ने हमें कितने प्यार से बुलाकर कहा था बेटाओ! शाम के लिये घर में ईंधन तनिक भी नहीं है।"

हम दोनों ने कहा था—"माताजी! आप चिन्ता न करें, हम अभी ईंधन लेने जाते हैं और लेकर अति शीघ्र आते हैं।"

यह कहकर हम दोनों चल दिये। सहसा वर्षाऋतु न होने पर भी बादल घिर आये। कुछ देर बूँदा-बाँदी हुई, फिर मूसलाधार जल गिरने लगा। हम एक सघन वन में वर्षा के कारण घिर गये थे। वर्षा कहती थी, मैं आज ही सब बरसूँगी। आँधी कहती थी, मैं आज ही सम्पूर्ण वेग के साथ चलूँगी। प्रचण्ड पवन के सहित घनघोर वर्षा हो रही थी। तड़-तड़ करके बादल गरज रहे थे। कड़-कड़ करके बिजली चमक रही थी। वर्षा और वायु के

भय से भगवान भुवन भास्कर अस्ताचल की ओर भागकर छिप गये थे। दसो दिशाओं ने तमोमय पट ओढ लिया था। सर्वत्र अन्धकार का साम्राज्य था। पृथ्वी जल के नीचे दब गयी थी। चारो ओर जल ही जल भर गया था। कहाँ ऊँचा है कहाँ गड्ढा है तथा कहाँ सम है, इसका कुछ भी ज्ञान नहीं था। ऐसा प्रतीत होता था, माना असमय मे प्रलय हो जायगी। हम दोनो अत्यत वर्षा तथा प्रचण्ड पवन के कारण परम पीडित हो रहे थे। जाडे के कारण हम दोनो अचेत हुए एक दूसरे को कसकर पकडे हुए थे। दिशा विदिशाओं का ज्ञान न होने से इधर से उधर मारे-मारे भटक रहे थे, इसी प्रकार हम दोनो ने पूरी रात्रि बिता दी। प्रात-काल पता पाकर हमारे पूजनीय गुरुजी स्नेहवश हमें खोजते-खोजते उसी सघन वन में आये। और हमें शीत से अत्यन्त व्याकुल देखकर वे अधीर हो उठे थे। हम दोनो को उन्होंने कितने प्यार से छाती से चिपटा लिया था, हमारे सिरो पर हाथ फेरते हुए वे अत्यन्त स्नेह के साथ कहने लगे – "बेटाओ! तुमने हमारे लिये बडा कष्ट सहा। देखो, धन दे देना, विद्या दे देना ये कोई बडी बातें नहीं हैं। सबसे बडी बात है सेवा। जो अपने शरीर को होम कर सेवा करता है, वही सबसे बडा दाता है। कैसा भी दुखी, सुखी, छोटा बडा प्राणी हो, अपना शरीर सबको प्यारा लगता है। कितना भी रुग्ण आतुर मनुष्य क्यों न हो वह मरना नहीं चाहता। प्राणो की रक्षा सभी प्राणी चाहते हैं। उन्हीं प्राणो को कुछ भी न समझकर तुमने हमारी सेवा की, यह सबसे बडी बात है। सत्शिष्यों का यही एकमात्र प्रधान कर्तव्य है, कि अपने शरीर को ज्ञानदाता गुरु की सेवा मे लगा दें। गुरु सेवा से बढकर दूसरी कोई भी सर्वोत्तम दक्षिणा नहीं। जिससे गुरुदेव प्रसन्न हो सकें। तुमने आज मुझे अपने इस कृत्य से अपने वश मे कर लिया, मैं तुमसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हे

आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी समस्त कामनायें पूर्ण हों, तुम्हारी विद्या इहलोक मे तथा परलोक में कभी भी निष्फल न हो।"

सुदामाजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! वह घटना कभी जीवन मे भूलने की थोड़े ही है।"

भगवान् बोले—"देखो, सुदामाजी ! हमारी गुरु माताजी कैसी अच्छी थीं हमें कैसा प्यार करती थीं। वे जानती थीं मुझे मूँग की पकौड़ी अच्छी लगती हैं, इसलिये प्रायः नित्य ही बनाती थीं। उनके हाथ के कढ़ी भात मे कितना स्वाद होता था कितने प्रेम से वे हमे भोजन कराती थीं। इतनी चिन्ता सगी माता भी नहीं कर सकती। उस दिन उनकी प्यारी कपिला गौ खो गयी थी, दो दिन वे कितनी व्याकुल रहीं। तीसरे दिन जब हमने ढूँढ़कर ला दी, तो वे हमसे कितनी प्रसन्न हुईं। हमे कितना प्यार किया। उस दिन सत्तू फाँकते-फाँकते मैं हँस पड़ा सत्तू सब मुख से निकल गये। वे कितने प्यार से बोलीं—"अरे, तुम बड़े पगले हो रे।"

हमारे गुरुजी कैसे अच्छे थे उस दिन यज्ञदत्त क्रोधित होकर वन मे चला गया था। गुरुजी ने उस दिन भोजन भी नहीं किया। गुरुकुल में रहते समय कितनी घटनायें घटित हुयीं, उनको स्मरण कर-करके हृदय भर आता है। उन दयालु सान्दीपिनी गुरु की मनमोहिनी मूर्ति अभी तक हमारे नयनों के सम्मुख नाचती रहती है। गुरुकुल का जीवन कितना सुखप्रद था, तब न कोई चिन्ता थी न दुःख। स्वच्छन्द होकर घूमते थे। कच्चे-पक्के जैसे भी फल मिल जाते खा लेते थे। द्विजातियों के लिये गुरुकुल वास ही ज्ञानार्जन के लिये सर्वप्रथम मुख्य कर्तव्य है। गुरुकुल मे रह कर विद्यार्थी सभी ज्ञातव्य बातों को जान जाता है। ज्ञानार्जन करके अज्ञानान्धकार को पार कर जाता है। वही व्यक्ति सत्कर्मों को कर सकता है, जिसने गुरुकुल मे वास करके गुरुदेव की सेवा

सहित सुश्रूषा की हो। गुरु साक्षात् परब्रह्म है, वे मेरा ही स्वरूप हैं। जो वर्णाश्रमी हरि रूप गुरु का आश्रय ग्रहण करते हैं, उनसे सदुपदेश ग्रहण करते हैं, तो उस उपदेश द्वारा ही अत्यन्त सरलता के साथ इस ससार रूपी सागर को बात की बात मे पार कर जाते हैं। उन्होंने ही जीवन की सार्थकता की है। उन्होंने मनुष्य देह का सच्चा स्वार्थ समझा है। सर्वभूतों का अन्तरात्मा रूप मैं, जिस प्रकार गुरु सुश्रूषा से प्रसन्न होता हूँ, उस प्रकार यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, शम, दम तथा अन्यान्य किसी भी साधन से संतुष्ट नहीं होता। आप तो गुरुजी की बड़े प्रेम से सेवा किया करते थे। आपने तो अपने इहलोक और परलोक दोनों ही बना लिये।"

सुदामाजी ने कहा—"अजी महाराज! क्या हमने सेवा की है, हम जैसों से हो ही क्या सकता है, किन्तु हे जगद्गुरो! हे देवादिदेव! हमारे लिये यही बड़े सौभाग्य की बात है आप परमेश्वर के साथ हम पढ़े हैं। आप सत्य संकल्प के साथ-साथ हमने भी गुरुकुल मे वास किया है। इस दृष्टि से तो हमारा सब कुछ बन गया। यह हमारे लिये महान् गौरव की बात है, कि हम अखिलकोटि ब्रह्माण्डनायक के सहाध्यायी हैं। एक गुरु से साथ-साथ पढ़े हैं। आप केवल हमारे ही ऊपर कृपा करने गुरुकुल पधारे थे। नहीं आपको क्या पढ़ना पढ़ाना था। कल्याण का उद्भवस्थान साक्षात् छन्दोमय वेद ही आपका मूर्तिमान विग्रह है। फिर आपके लिये गुरुकुल में रहने की आवश्यकता ही क्या है। यह भी आपकी केवल लोकलीला मात्र ही है। गुरुकुल वास करके आपने द्विजातियों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित किया है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार बहुत देर तक उन दोनों मित्रों मे पुरानी नयी बातें होती रहीं। अब भगवान ने प्रकार सुदामाजी के अति तुच्छ उपायन को अपना कर

कुछ दे दिया, इस कथा को मैं आगे कहूँगा। आप सब इस सरस प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

घर महँ ईंधन नाहिँ कह्यो गुरुआनी जाओ।
बेटा! वन महँ जाइ तुरत ईंधन लै आओ॥
हम तुम दोऊ चलें प्रबल वन आँधी आई।
बरषा भीषन भई नहीं मग परै दिखाई॥
राति बिताई वृक्षतर, भोर भयो गुरु आइकें।
कर्‍यो प्यार आशिष दई, हिय लीये चिपटाइकें॥

सुदामाजी के चावल

(११६८)

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात् ।
अणवप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८१ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

जो गुरु दैके ज्ञान मोक्षको मार्ग बतावें ।
ते हरि हर अज रूप सच्चिदानन्द कहावें ॥
अच्छा, भाभी कहा हमारे लीये दीयो ।
अबही नहिं तुम दयो विलम काहे कूँ कीयो ॥
कछु न कहें द्विज लाजवश, श्रीहरि वैभव तैं चकित ।
बार बार यदुबर कहैं, देहु उपायन प्रिय तुरत ॥

स्वाद वस्तुओं मे नहीं होता प्रेम मे होता है। बिना प्रेम के अमृत भी पिलाया जाय, तो वह नीरस है स्वाद रहित है, यदि प्रेम सहित विष भी दिया जाय तो वह सरस है सुस्वादु है। कहीं-कहीं तो देने पर आग्रह करने पर भी खाने को चित्त नहीं करता,

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इधर-उधर की बातें कहके, भगवान् ने सुदामाजी से कहा—"ब्रह्मन् ! आप घर से मेरे लिये क्या उपायन लाये ? भक्तगण यदि प्रेमपूर्वक मुझे अणुमात्र भी वस्तु देते हैं, तो वह मेरी दृष्टि मे प्रेम के कारण बहुत हो जाती है और अभक्त यदि बहुत-सी भी भेंट लावें तो वे भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती।"

चाहे वे कितनी भी सुन्दर वस्तुएँ हों। दुर्योधन ने भगवान् की सेवा के लिये कितनी वस्तुएँ जुटाई थीं, कितनी तैयारियाँ की थीं। कितना आग्रह किया और कराया था, किन्तु भगवान् ने उसमें से एक दाना भी नहीं उठाया। इसके विपरीत विदुर के घर में स्वयं जाकर स्वयं माँगकर केले के छिलके खाये। यह संसार भावमय है। वस्तुएँ न कोई बुरी हैं न अच्छी। जिनके प्रति जैसा भाव बन जाता है, वे वैसे ही दीखने लगती हैं। माता, बहिन, पत्नी, पुत्री, बूआ, भाभी सब एक सी स्त्रियाँ हैं। भावना से ही भेद है। किसी वस्तु को देखकर एक को वमन हो जाती है, तो दूसरा उसे ही रुचि के साथ अत्यन्त स्वाद के साथ खाता है। भगवान् को वस्तुओं की आवश्यकता नहीं। जिनकी स्वयं साक्षात् लक्ष्मी जी दासी हैं, उन्हें किसी वस्तु की कमी हो ही कैसे सकती है। किन्तु भगवान् भाव के सदा भूखे बने रहते हैं। प्रेम भाव से जो कोई उन्हें नीम का पत्ता भी देना चाहे तो उसे दौड़कर छीन कर आग्रह पूर्वक ले लेते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है—"भाव ग्राही जनार्दनः" भगवान् भाव को ग्रहण करने वाले हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुदामा की पत्नी ने जो चार मुट्ठी चिउरा भगवान् को देने के लिये बाँध दिये थे। उन्हें सुदामा जी बगल में दाबकर बड़े यत्न से लाये थे। मार्ग में सोचते आते थे, इन्हें जाकर भगवान् के आगे रखूँगा। प्रार्थना करूँगा, भगवन् मैं बहुत दरिद्र हूँ, मेरा यही उपायन स्वीकार करें। मैं तो संकोच के कारण ला भी नहीं रहा था, किन्तु ब्राह्मणी ने न माना। जब उसने बहुत हठ की तभी लाया। यद्यपि यह उपहार आपके अनुकूल तो नहीं है, किन्तु मेरी दीनता को दृष्टि में रखकर इसे स्वीकार कर लें।" किन्तु यहाँ आकर जो इन्होंने भगवान का अतुल वैभव देखा तो उनका साहस न हुआ कि उन चिउरों को भगवान् की भेंट करें। उन्होंने सोचा—"इन चिउराओं को सब मेरी

हँसी उड़ावेंगे। इसलिये अब इन्हे न दूँगा। लौटकर घर ले चलूँगा।"

सर्वान्तर्यामी हरि तो सब जानते थे। वे देख रहे थे सुदामाजी की बगल मे एक छोटी सी पोटली है, उसे वे दबाये हुए हैं। नहाते समय, खाते समय तथा वस्त्र बदलते समय वे उसे छिपाये हुए रहते हैं। घट-घट की जानने वाले ब्रह्मण्यदेव भगवान् श्याम-सुन्दर समझ गये। कि ये संकोचवश इन चिउराओ को नही दे रहे हैं अतः वे उनका संकोच छुड़ाने के लिये मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले—"हाँ, ब्राह्मन्! और बातें तो पीछे होगी, पहिले यह बताइये, कि आप घर से हमारे लिये क्या भेंट लाये? हमारी भाभी ने हमारे लिये क्या भेजा है?"

यह सुनकर सुदामाजी सकपका गये। वे बडे लज्जित हुए। न तो वे हाँ ही कर सके और न ना ही, वैसे ही चुप चाप बैठे रहे, तब भगवान् फिर बोले—"देखो, भैया! सकोच करने की बात नहीं। यह तो हो नहीं सकता हमारी भाभी ने कुछ न भेजा हो कोई भी मित्र अपने मित्र से मिलने जाय, तो उसकी सहृदयता पत्नी उसके लिये कुछ न कुछ उपहार अवश्य भेजती है। उस उपहार की वस्तु का कोई मूल्य नहीं। उसमे लपेटकर हृदय की भावना दी जाती है। जैसे पान देना होता है, तो उसे एक पत्ते मे लपेट कर देते हैं। देने वाले का अभिप्राय पत्ता देने से नहीं है, वह तो पान को सुरक्षित रखने का साधन है। इसी प्रकार उपायन की वस्तु मे प्रेम भरकर दिया जाता है आपकी कृपा से मेरे यहाँ कोई कमी नहीं है। मैं वस्तुओ का भूखा नहीं प्रेम का भूखा हूँ। मेरे भक्तगण मुझे तनिक-सी भी वस्तु देते हैं, किन्तु प्रेम पूर्वक देते हैं, तो वह मेरे लिये बहुत हो जाती है। इसके विपरीत यदि वे छप्पन प्रकार के भोग भी दें नाना मे भी विपुल हो तो भी बिना प्रेम की दी हुई भारी भेंट भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती

मेरे यहाँ प्रसन्नता का माप दण्ड वस्तु की लघुता, गुरुता अथवा छोटी बड़ी से नहीं है। मैं तो भावग्राही हूँ, जो पुरुष भक्तिपूर्वक मुझे एक फल भी देता है, फूल पत्ता यहाँ तक की जल ही देता है, तो उस प्रेम से दी हुई वस्तु को मैं प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लेता हूँ। इसीलिये आप जो भी कुछ लाये है, उसे मुझे प्रसन्नता पूर्वक प्रदान कर दे, संकोच न करें।"

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! भगवान् के इस प्रकार बार बार कहने पर भी ब्राह्मण ने वह चार मुट्ठी चिउराओं की पोटली श्याम सुन्दर को नहीं दी, नहीं दी। वे कुछ बोले भी नहीं, भगवान् की बातों का उत्तर भी नहीं दिया, केवल सकोच तथा लज्जावश मुख नीचा किये हुए ज्यों के त्यों बैठे रहे।"

भगवान् ने कहा—"क्यों भैया! हमारी भाभी ने हमारे लिये कुछ नहीं दिया। अच्छा कह दो कुछ नहीं दिया।?"

इस पर रुक्मिणी जी बोलीं—"आप तो जिसके पीछे पड़ जाते हैं उसे विवश कर देते हैं। किसी के यहाँ लाने को न हो तो, यहाँ आपका कभी पेट ही नहीं भरता वे इतनी दूर से आये हैं उन्हें और कुछ देना चाहिये कि बार-बार "क्या लाये हो, क्या लाये हो।" कहकर लज्जित करना चाहिये।"

यह सुनकर व्यङ्ग के स्वर में भगवान् बोले—"रानीजी! अच्छा होता आप चुप ही रहतीं प्रत्येक बात में टाग अड़ाना क्या उचित होता है?"

रुक्मिणी जी ने कहा—न्याय की बात तो कही ही जाती है तुम्हें तो जिस बात की भी होती है भस्म सवार हो जाती है। लेना ही लीजिये हो या कुछ देते भी हो।"

भगवान् बोले—"जी, हाँ! आपके बाप ने भी बहुत दिया था। लोग बेटी देते हैं, दहेज देते हैं और न जाने क्या देते हैं। सो दहेज देना तो पृथक रहा। तुम्हें भी हमको प्रसन्नता पूर्वक

नहीं दिया। हम तो अपने बाहुबल से बलपूर्वक छीन झपट लाये। उलटे अपने बेटे को हमे पकड लाने भेजा।"

प्रेम के रोष मे रुक्मिणी जी बोलीं—"देखो, तुम अब बाप तक पहुँच गये हो। यह बात अच्छी नहीं है। लोगो को दूसरे के राई भर दोष पहाड से दीखते हैं और अपने पहाड जैसे दोष दिखाई ही नहीं देते। मेरे पिता ने तो कुछ नहीं दिया किन्तु नन्दोई जी जब सुभद्रा बीबी को उडा ले गये थे, तब तुमने क्या दिया था।"

भगवान् शीघ्रता से बोले—"हमने क्या नहीं दिया। अपना रथ दिया, घोडे दिये सारथी दिये। ये तब दिये जब तक विवाह नही हुआ था।"

रुक्मिणी जी ने कहा—"अब तुमसे बातों मे तो ब्रह्मा बाबा भी नहीं जीत सकते। हमे क्या अच्छा, आर माँगो उनसे। उन की नगा झोरी ले लो। सच्ची बात कहते हैं, तो चिढ जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने बार बार भेंट के सम्बन्ध में पूछा और कहा मुझे प्रेम का दिया हुआ पान पत्ता भी अच्छा लगता है, तब सुदामा जी के मन में आया था, इस चिउरो की पोटली को निकाल कर भगवान् के सम्मुख रख दूँ, किन्तु जब पति पत्नी मे इतनी कहा सुनी हो गयी, तो तुरन्त उन्होने अपना विचार बदल दिया। मैंने जहाँ ये चिउरे निकाले, कि यह राजा की छोरी खिलखिलाकर हँस पडेगी और कहेगी, यही तुम्हारे मित्र की भेंट है।" इस लज्जा से उन्होने उस पोटली को और भी कसकर दबा लिया।

भगवान् तो समस्त प्राणियो के अन्त करण के साक्षात रूप से साक्षी है। उनसे सुदामा जी के आने का कारण, स्त्री द्वारा दिये हुए चिउराओ की बात छिपी नहीं थी। अत वे सोचने लगे सुदामा मेरे सच्चे निष्काम भक्त हैं, इन्होने धन के लिये न तो

कभी पहिले ही मेरा चिन्तन किया और न अब ही कर रहे हैं। यहाँ यद्यपि ये अपनी पतिव्रता पत्नी की प्रसन्नता के ही निमित्त आये हैं। इनकी पत्नी सम्पत्ति की इच्छा करती है, किन्तु इन्हें तनिक भी इच्छा नहीं। उन चिउरों में धन की कामना छिपा है, इसी लज्जा से ये उन्हें नहीं दे रहे हैं, चिउरा देने का अर्थ है भगवान् से याचना करना इन्हें इस बात का भी संकोच हो रहा है कि इस अत्यल्प भेंट को भगवान् के सम्मुख क्या रखूँ। अच्छी बात है, ये स्वयं नहीं देते तो मैं ही इनसे छीनकर इनके लाये हुए उपायान को ग्रहण करूँगा और बदले में ऐसी सम्पत्ति दूँगा जो स्वर्ग में देवताओं के लिये भी दुर्लभ हो।"

यही सब सोचकर भगवान् ने कहा—"अच्छा, सुदामा जी! भाभी ने कोई भेंट नहीं भेजी, तो कोई बात नहीं है आप हमारे इन चित्रों को तो देखिये, कैसे सुन्दर हैं। कितनी उत्तमता के साथ बनाये गये हैं। यह सुनकर सुदामा जी चित्रों को देखने लगे। चित्र देखते-देखते उनका चित्त तन्मय हो गया। उसी समय मैले कुचैले फटे पुराने वस्त्र की पुटलिया में सिले चिउराओं को चुपके से निकाल लिया और हँसते हुए कहने लगे—"आप तो कहते थे, भाभी ने कुछ भेजा ही नहीं, यह क्या है। इस पोटली में क्या बँधा है।"

सुदामा जी ने कहा—"अजी, महाराज कुछ नहीं, यह कहकर ज्यों ही उन्होंने हाथ बढ़ाया त्यों ही भगवान् ने झपट कर मीना, त्यों ही वस्त्र फट गया। चिउरा गिरने लगे। भगवान् अट्टहास करते हुए बोले—"ओ हो! ये तो चिउरा हैं। पूरब के लोग तो दही के साथ चिउराओं को बड़े प्रेम से खाते हैं, किन्तु मुझे भी चिउरे अत्यन्त प्रिय हैं। फिर वे मित्र के यहाँ से लाये हुए हों, तब तो कहना ही क्या! अहा! यह तो तुम बड़ी सुन्दर भेंट लाये। भाभी ने अत्युत्तम उपहार मेरे लिये भेजा। इन चिउरों

को खाकर मैं ही तृप्त न हो जाऊँगा, अपितु मेरे आश्रय में रहने वाले समस्त ब्रह्माण्ड तृप्त हो जायँगे। ये तो सम्पूर्ण विश्व का पेट भर देंगे।" ऐसा कहकर शीघ्रता से भगवान् एक मुट्ठी चबा ही तो गये। ज्यों ही उन्होंने दूसरी मुट्ठी भरकर मुख में डालनी चाही, त्यों ही रुक्मिणीजी डर गयीं कि एक मुट्ठी मे तो ये सम्पूर्ण स्वर्ग की सम्पत्ति दे देंगे, दूसरी इन्होंने खाई तो ये मुझे ही उठा कर सौंप देंगे। अतः दौडकर उन्होंने पट्ट से भगवान् का हाथ पकड लिया। और बोलीं—"महाराज! बडे स्वार्थी हो आप। अकेले ही अकेले सब मेरी जिठानी की भेजी वस्तु को उडा रहे हो। हमारा भी तो इसमे कुछ भाग है। पुरुषों को तो कुछ पता नहीं रहता, उन्हें तो खाने से काम जिनके यहाँ से हमारे लिये भाजी बाइना आता है, उनके यहाँ हमे भी भेजना पडता है। चार-चार चावल सबके लिये भेजूँगी। आपने जितना खा लिया उतना ही पर्याप्त है।"

हँसकर भगवान् बोले—"अब तक तो तुनक रही थीं अब जिठानी की वस्तु पर अपना भी अधिकार जताने लगीं। छोड दो, छोड दो मुझे। सत्य कहता हूँ, जितना स्वाद इन चिउराओं मे है, उतना स्वाद आज तक किसी भी पदार्थ मे नहीं मिला।"

रुक्मिणी जी ने आग्रह के स्वर में कहा—"तभी तो मै कहती हूँ स्वादिष्ट वस्तु को अकेले ही अकेले न खाना चाहिये।"

हे विश्वम्भर! आपने जितने चिउरे खा लिये हैं, उतने ही मनुष्यों को इस लोक और परलोक में सर्व सम्पत्तियों का भोग करने के लिये पर्याप्त हैं। यथेष्ट हैं। इससे अधिक चबाकर और भी उदारता दिखाकर मुझे भी इनके अधीन कर देना चाहते हैं क्या?"

यह सुनकर भगवान् रुक गये। शेष चिउरों को रुक्मिणी जी ने अपने अधिकार मे कर लिया। उन्होंने चार-चार चिउरों

के दाने सबके यहाँ भिजवाये। भगवान् पूछ रहे थे—"मित्रवर! इनमें तुम अमृत मिला लाये थे, या सुधा में भिगो लाये थे।

इतने स्वादिष्ट चिउरा तो हमने कभी भी नहीं खाये।"
सुदामाजी लज्जित थे। सहमे हुए थे। उन्होंने कुछ भी उत्तर

नहीं दिया इधर उधर की बातें कहकर भगवान् ने उनका संकोच छुडाया। फिर भगवान् ने अपना महल दिखया। बाग बगीचों में घुमाया और सभी प्रकार से उनका आदर सत्कार किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार साधारण चिउराओं को छीनकर खाकर भगवान् ने उन्हें सब कुछ दे दिया। अब जिस प्रकार सुदामाजी लौटकर अपने घर जायँगे। वह कथा प्रसङ्ग में आगे कहूँगा।"

छप्पय

दये रुकिमिनी कछुक प्रेममय हरिकूँ ताने।
तिनकूँ सुनिकें विप्र औरु सहमे सकुचाने॥
इत उत चित्त बँटाइ बगल तैं चिउरा खींचे।
खाये मुट्ठी तुरत कहें ये अम्मृत सींचे॥
लगे चबावन दूसरी, लयो रुकिमिनी पकरि कर।
कहें—"करो का कृपानिधि, मोहू कूँ कछु देउ बर॥"

सुदामाजी की विदाई

[११६९]

श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः॥❀

(श्री भा० १० स्क० ८१ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

चिउरा मुट्ठी एक खाय सब सम्पति दीन्ही।
मोकूँ हू अब दैन आपने इच्छा कीन्ही॥
यों हरि सब कछु दयो न द्विजकूँ प्रकट दिखायो।
होत प्रात ही विप्र पूछि निज नगर सिधायो॥
कछुक दूरि पहुँचाइवे, आये हरि हिय लाय कें।
विदा करे अति विनय तैं, अति ही नेह जनाय कें॥

कैसा भी स्नेह क्यों न हो, जब परिस्थितियाँ विभिन्न हो जाती हैं, तो छोटी परिस्थिति वाले पुरुषों को सकोच होने ही लगता है। अपनी अन्तरात्मा के साक्षी तो स्वय ही है वहाँ रहने में स्वतन्त्रता है, कहाँ हृदय मे खटक है। इसके लिये किसी अन्य से पूछना नहीं पडता। अपना हृदय साक्षी दे देता है।

❀ श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"हे तात! दूसरे दिन प्रात काल होने पर सुदामाजी अपने घर को चल दिये। स्वानन्द स्वरूप जगन्नियन्ता भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी ने उनका अभिवन्दन किया और उन्हें कुछ दूर साथ-साथ मार्ग में जाकर विनय पूर्वक विदा किया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्वारका में भगवान् का अपार वैभव था। सम्पूर्ण ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ वहाँ हाथ जोड़े भगवान् की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ी रहती थीं। सोलह सहस्र रानियाँ छम्म-छम्म करके इधर से उधर घूमती रहती थीं। सुदामाजी ने देखा वहाँ का वैभव अनिर्वचनीय है। सब लोग उनका आवश्यकता से अधिक मान सम्मान करते हैं। उस दिन वे भोर में ही पहुँचे थे, दिन भर रहे और रात्रि को भी भगवान् के महल में ही सोये। यहाँ रहकर उन्होंने ऐसी-ऐसी वस्तुएँ खायीं जो न उन्होंने पहिले कभी देखी थीं, न सुनी ही थीं। ऐसे-ऐसे पेय पदार्थ पिये जो अमृत के सदृश सुन्दर, स्वादिष्ट और हृदय को प्रसन्न करने वाले थे। उन्होंने ऐसा अनुभव किया, कि मैं भूलोक में नहीं हूँ साक्षात् स्वर्ग में निवास कर रहा हूँ।

प्रातःकाल हुआ, उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था मानों किसी ने मेरी स्वतन्त्रता छीन ली है। गुरुकुल में जिस प्रकार भगवान् से खुलकर बातें होती थीं वैसी बातें वे यहाँ न कर सके, यद्यपि भगवान् ने तो उनका आवश्यकता से अधिक स्वागत सत्कार किया, किन्तु स्वयं ही उन्हें सकोच हो रहा था। वे सोच रहे थे—"मुझ दरिद्र को ऐसे स्वर्गीय सुखों के भोगने का क्या अधिकार है। सर्वान्तर्यामी प्रभु से सेवा कराना अपने ऊपर और पाप चढ़ाना है। मैं जब तक रहूँगा, भगवान् बिना सेवा किये मानेंगे नहीं। उनसे सेवा लेने में मेरा मरण ही हो जायगा। इसलिये अब यहाँ से शीघ्र ही भाग चलो।" यही सब सोचकर वे श्यामसुन्दर से बोले—"भगवान्! अब मुझे जाने की आज्ञा हो।"

भगवान् ने अत्यन्त ममता के साथ कहा—"क्यों भैया! इतनी शीघ्रता क्यों! कितने दिनों के पश्चात् तो मिलन हुआ है। दो चार दिन तो और रहो।"

सुदामाजी बोले—"रहने को तो कोई बात नहीं थी, जैसे ही

यहाँ वैसे ही वहाँ, किन्तु ब्राह्मणी अकेली है। वह घबराती होगी, मेरा वहाँ पहुँचना आवश्यक है। आवश्यक न होता, तो मैं आपके आग्रह को न टालता।"

यह सुनकर भगवान् चुप हो गये। उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु निकलने लगे। सुदामाजी तो शाल दुशाले ओढ़े हुए थे, वह उन्होंने उतारकर रख दिये। अपनी फटी पुरानी अँगरखी पहिन ली। फटी और मैली पगड़ी माथे से लपेट ली और अपनी सटकिया को उठाकर चल दिये। भगवान् भी उनके पीछे-पीछे चलने लगे और सहस्रों सेवक भी भगवान् का अनुगमन करने लगे। भगवान् ने सेवकों को लौटा दिया। अकेले ही मित्र के साथ पैदल चले। सुदामाजी बार-बार कहते—"अब श्यामसुन्दर! तुम लौट जाओ।" किन्तु भगवान् लौटते ही नहीं थे। नगर के बाहर एक सघन वृक्ष की छाया मे सुदामाजी बैठ गये और बोले—"वासुदेव! देखो, भैया! जिनके फिर आने की आशा हो, उन्हें दूर तक पहुँचाने न जाना चाहिए।"

यह सुनकर सच्चिदानंद स्वरूप जगन्नियन्ता भगवान् श्यामसुन्दर ने सुदामाजी के चरणों मे प्रणाम किया, सुदामाजी ने भी रोते-रोते उनका गाढ़ालिङ्गन किया। फिर दोनों खिन्न मन से एक दूसरे से विदा हुए। भगवान् द्वारका की ओर लौट आये और सुदामाजी अपनी पुरी की ओर चले।

सुदामाजी को बार-बार अपनी कृपणता के ऊपर ग्लानि हो रही थी, वे सोच रहे थे—"देखो, भगवान् कैसे ब्रह्मण्यदेव हैं, कैसे उदार हैं, उनके समीप मैं तुच्छ धन की आशा से गया था। मेरा तो उनके सम्मुख धन माँगने का साहस ही न हुआ। उन्होंने भी अपने आप मुझे कुछ धन नहीं दिया। न दिया, तो मुझे तो कुछ नहीं। मेरी पत्नी को अवश्य निराशा होगी। वह आशा लगाये बैठी होगी। उसे विश्वास होगा, मैं बहुत-सा धन लेकर

आऊँगा। वह बड़े-बड़े मनोरथ कर रही होगी, धन आने पर एक घर बनवाऊँगी, वस्त्र लूँगी, आभूषण बनवाऊँगी। एक गौ भी रखूँगी। अब मैं ज्यों का त्यों रिक्त हस्त उसके सम्मुख पहुँचूगा, तो वह शोक मे कातर हो उठेगी। मैं उसके कहने से व्यर्थ आया। अकारण उसे निराशाजनित वेदना होगी।

फिर सोचने लगे—"मेरा तो जन्म सफल हो ही गया। मुझे भगवान् के दर्शन हो गये, यही क्या कम लाभ है। मैं कानो से ही सुना करता था, कि भगवान् ब्रह्मण्यदेव है, ब्रह्मण्यदेव हैं, किन्तु आज तो मैंने प्रत्यक्ष इसे अपनी आँखों से ही देख लिया। नहीं तो कहाँ मैं महापातकी नाममात्र का नीच भिखारी ब्राह्मण और कहाँ साक्षात् लक्ष्मी के पति भगवान् विश्वम्भर। मेरी उनकी समता ही क्या ? फिर भी उन्होंने केवल जाति का मैं ब्राह्मण हूँ, इसी नाते से मेरा गाढ़ालिङ्गन किया। जिस वक्षःस्थल मे साक्षात् भगवती कमला निरन्तर चंचलता का परित्याग करके विहार करती है, उसी वक्षःस्थल मे मुझ मलिनवसन दीन-हीन महादरिद्री ब्रह्मबन्धु को सगे बड़े भाई की भाँति चिपका लिया। जिस पलँग पर उनके और उनकी प्रिया के अतिरिक्त कोई पैर भी नहीं रख सकता, उसी पलँग पर मुझे अपने साथ कितने आदर से बिठाया। मुझे श्रमित देखकर लक्ष्मीरूपा उनकी परम प्रिया प्रधान पटरानी भगवती रुक्मिणी जी ने अपने अरुण वरण कोमल कर कमलो से मेरा व्यजन किया। मेरे ऊपर चँवर डुलाया। जिनके चरणारविन्द के धोवन से त्रिभुवन को पावन करने वाली भगवती त्रिपथगा सुरसरि प्रकट हुई हैं, उन्हीं विश्वम्भर ने श्रद्धा सहित मेरे पैरों को धोया, और उस धोवन को प्रेमपूर्वक सिर पर चढ़ाया। अपने कोमल करो से मेरे मल से आवृत कठोर और खुरदरे पैरो को दबाया। इष्टदेव से भी बढ़कर मेरा आदर सत्कार किया।

अब एक शंका उठ सकती है, जिन भगवान् के चरणारविन्दों का पूजन करके प्राणी अपनी समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण कर सकते हैं। पृथ्वी पर, पाताल में, स्वर्ग में तथा अन्यान्य बड़े-बड़े लोकों में कोई भी दुर्लभ से दुर्लभ सम्पत्ति नहीं, जो भगवन् सेवा से प्राप्त न हो सके। अणिमादि ऐश्वर्य यहाँ तक कि मोक्ष भी उनके चरणों की सेवा से मिल सकती है। फिर उन्होंने मुझे धन क्यों नहीं दिया। यद्यपि मेरी आन्तरिक इच्छा धन याचना की नहीं थी। तथापि मेरी पत्नी की तो इच्छा थी ही। वे तो घट-घट की जानने वाले हैं, उसने तो मुझे भेजा ही इसीलिये था। उसके लिये तो कुछ दे देते, किन्तु उसके लिये भी उन्होंने कुछ नहीं दिया। इसमें भी कोई रहस्य होगा, उनकी कृपालुता इसमें भी छिपी होगी।"

ऐसा सोचते-सोचते वे जा रहे थे, कि उसी समय घोर जंगल में उन्हें एक बड़ा सेठ आता हुआ दिखायी दिया। आनर्त देश के जंगली डाकू तो प्रसिद्ध ही थे। उन्होंने उसे घेर लिया और उसका सब धन लूटकर उसे मार भी डाला। सुदामाजी सब देख रहे थे। उनकी ओर किसी ने देखा भी नहीं। सबने कह दिया—"यह भिखारी है, इसे कुछ अन्न दे दो।" यह कहकर वे चोर उलटे अन्न देकर चले गये।

तब सुदामाजी ने कहा—"ओहो! यही बात है, करुणासिन्धु भगवान् ने सोचा होगा—"धन दे दें, तो मार्ग में इसे कोई लूट लेगा। यदि कोई न भी लूटे और यह धन को लेकर अपने घर सकुशल पहुँच भी जाय, तो यह जन्म का निर्धन है। धन पाकर उन्मत्त हो जायगा। अब तक जो मेरा स्मरण कर लेता है धन पाकर फिर वह भी न करेगा।" वास्तव में धन आते ही रजोगुण बढ़ जाता है, विषय सुखों में राग हो जाता है। भगवान का स्मरण छूट जाता है। धन में ये ही सब दोष देखकर, दयासिन्धु

श्यामसुन्दर ने मुझे धन न देकर मेरा उपकार ही किया, मेरे ऊपर कृपा ही की। जिसके पास भगवत् स्मरण रूप धन है उसे अन्य धन की क्या आवश्यकता और जिसके पास भगवत् स्मरण रूप धन नहीं है, उसके पास चाहे जितना भी धन हो, वह किस काम का।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इधर सुदामाजी तो यही सब सोचते हुए जा रहे थे, उधर योगमाया और विश्वकर्मा को आज्ञा देकर भगवान् ने सुदामाजी के घर को इन्द्र के भवनों से भी उत्तम बनवा दिया। वहाँ सभी समृद्धियाँ भर दीं। अब जिस प्रकार सुदामाजी अपने समृद्धिशाली घर और अतुल वैभव को देखकर विस्मित होंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

मग महँ सोचत जात श्याम आदर अति कीयो।
किन्तु न एक छदाम बाह्मनी कूँ धन दीयो॥
नहीं दियो भल कियो अरथ तैं अनरथ होवे।
द्रव्य पाइकें पुरुष मनुजता ऋजुता खोवे॥
सोचत सोचत नगर ढिग, पहुँचि लगे विस्मय करन।
निरखि असन, पट, गज, तुरँग, बहु सम्पति मणिमय भवन॥

सुदामा चरित की समाप्ति

[११७०]

तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन
विपज्जतस्तत्पुरुषप्रसंगः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८१ अ० ३६ श्लोक)

छप्पय

दिव्य अपसरा बनी वस्त्र भूषन तैं सज्जित ।
बहु दासिनि तैं घिरी निहारी नारी हरषित ॥
स्वरगसरिस सम्पत्ति सकल श्रीहरिकी जानी ।
समुझि गये सब रहस कृपा यदुवरकी मानी ॥
सुमिरन करि करि कृपाको, पुलकित तनु विनती करें ।
जनम जनम हरि सखा बनि, ऐसे ही मम दुख हरें ॥

सहायता जितनी ही छिपकर की जायगी, उसका महत्व उतना ही अधिक होगा । अत्यंत प्रेम मे दिखावट तनिक भी नहीं रहती।

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सुदामाजी अपने घर का ऐश्वर्य देखकर भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं—"मुझे जन्म जन्मान्तरों में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र मे सौहार्द सख्य, मैत्री और दास्यभाव की प्राप्ति हो तथा महानुभाव और गुणों के आश्रयस्थान उन भगवान् मे ही अनुराग हो और उन्ही के भक्तों का सग प्राप्त हो ।"

जिसमें जितनी ही अधिक दिखावट होती है, उतनी ही उसमें प्रेम की कमी मानी जाती है। हार्दिक प्रेम में गोपन करने की भावना रहती है। हमारे प्रेम को हमारा प्रेमास्पद जान न सके। हमारी सेवा को समझ न सके। हमारी सहायता उसकी दृष्टि में न आने पावे। बच्चा रात में सो जाता है, माता उसे उठाकर गोद में लिटाकर दूध पिला देती है। बच्चा प्रातःकाल रोता है, "हमने रात्रि में दूध नहीं पिया।" माता हँसकर कहती है—"अब पीले"। वह यह जताना उचित नहीं समझती, मैंने रात्रि में तुझे दूध पिलाया था। बहुतेरे प्रेमियों को देखा है, वे इस ढंग से अपनी वस्तुओं को भेजते हैं, कि हमारे प्रेमास्पद को पता न लगे, अमुक वस्तु कहाँ से आयी है। जैसे देवता परोक्ष प्रिय होते हैं, वैसे ही प्रेम का आदान-प्रदान जितना ही छिपकर परोक्ष में किया जायगा, उतना ही उसका महत्व बढ़ेगा। जहाँ विज्ञापन है, दिखावट है, ढिंढोरा पीटना है, प्रकाशित करना है वहाँ स्वार्थ है, कीर्ति की इच्छा है, ख्याति की भावना है दम्भ है। प्रेम से यह दूर की बात है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुदामाजी अनेक प्रकार की बात सोचते हुए तथा भगवान् के अपूर्व प्रेम का स्मरण करते हुए मार्ग में चल रहे थे। चलते-चलते वे अपने घर के निकट पहुँचे। दूर से ही उन्होंने देखा, मेरी टूटी-फूटी झोपड़ी का कहीं पता ही नहीं। उसके स्थान पर एक बड़ा भारी विशाल भवन खड़ा हुआ है। वह सात खंड का भवन सूर्य के समान, पूर्णचन्द्र के समान तथा प्रज्वलित अग्नि के समान देदीप्यमान हो रहा है। उसमें एक से एक भव्य भवन बने हुए हैं। उसके आस-पास फलों और पुष्पों से नमित असंख्यों वृक्षों वाले उपवन लगे हुए हैं। आराम और उपवनों से वह विशाल भवन अत्यन्त ही शोभायुक्त बना हुआ है। बीच-बीच में सुन्दर स्वच्छ शीतल सलिल वाली पुष्क-

रिणियाँ बनी हुई हैं। जिनमें हंस, सारस, चक्रवाक तथा अन्यान्य जलजन्तु किलोलें कर रहे हैं, तथा कुमुद, अम्भोज, कह्लार और उत्पल आदि नाना प्रकार के कमल खिल रहे हैं। चारों ओर दिव्य सुगन्धि फैली हुई हैं। सुन्दर स्वच्छ वस्त्र पहिने, सहस्रों दास-दासी कानों मे मणिमय कनक कुण्डल धारण किये इधर से उधर आ जा रहे हैं। जिस प्रकार स्वर्ग में अप्सरायें विहार करती हैं, उसी प्रकार वहाँ की अत्यन्त सुकुमारी, सुन्दरी मृगनयनी दासियाँ अपने नूपुरों की झंकार से उस विशाल भवन को मुखरित करती हुई घूम रही हैं।

उस इतने वैभवशाली विशाल मणिमय भवन को देखकर और वहाँ के अभूतपूर्व ऐश्वर्य को देखकर सुदामाजी हक्के-बक्के-से होकर परम विस्मय के साथ चारों ओर निहारने लगे। वे सोचने लगे—"मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ।" फिर उन्होंने आँखें मलीं। सोचा—"स्वप्न नहीं है, मैं तो जागा हुआ हूँ।" तो फिर सोचने लगे—"अहो! मैं मार्ग भूलकर किसी दूसरे राजा की राजधानी में आ गया। किन्तु भूलोक के तो किसी भी राजा का ऐसा ऐश्वर्य देखने या सुनने में नहीं आया।" फिर सोचने लगे—"मैं मार्ग भूला नहीं, यह पूर्व की ओर वही शिवालय है, वही वट का वृक्ष है। पश्चिम के ओर वे ही खेत हैं, वह रामा भड़भूजा है। यह देखो मेरा पड़ोसी सोमदत्त है, ये उसके बच्चे हैं। स्थान तो यह मेरा ही है, किन्तु मेरे चले जाने के पश्चात् मेरी पत्नी को किसी ने यहाँ से निकालकर मेरी झोपड़ी को तुड़वाकर महल बनवा लिया है। लोभ का परिणाम यही होता है। जो आधी को छोड़कर पूरी लेने दौड़ता है, वह आधी को भी गँवा बैठता है। मेरी स्त्री न जाने कहाँ ठोकरें खाती होगी, उसे अब मैं कहाँ पाऊँगा। कौन मुझे उसका पता बताने आवेगा। यहाँ तो इतने पहरे वाले हैं, वे मुझे भीतर भी न घुसने देंगे, किसी ने निर्धन

ब्राह्मण पर दया भी नहीं की। मेरा बच्चा छोटा था कई दिन से उसे भोजन नहीं मिला था। उसकी क्या दशा होगी। मेरी स्त्री उसे कहाँ लिये लिये फिर रही होगी। हाय! विपत्ति जब आती है, एक साथ ही आती है। अब तक दरिद्रता का ही दुख था, अब हाथ से घर भी छिन गया। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! सुदामाजी चिन्ता मे खडे-खडे यही सोच रहे थे, कि किसी ने उनके घर मे उनके आने की सूचना दे दी। सूचना देते ही देवताओं के समान परम तेजस्वी, अत्यन्त रूपवान्, सहस्रो नर-नारी बडे उत्साह के साथ गाते बजाते उन्हें लेने के लिये आगे आये और प्रणाम करके बोले—"महाराज पधारिये! महाराज! पधारिये।"

ब्राह्मण ने सोचा—"ये सब मेरा इस प्रकार आदर सत्कार क्यों कर रहे हैं। उन्होने एक से पूछा—"भाई! कहाँ चलें?"

उसने नम्रता के साथ कहा—"महाराज! अन्तःपुर मे स्वामिनीजी के समीप पधारें।"

सुदामाजी ने सोचा—"कोई धर्म मे बुद्धि रखने वाली रानी होगी। ब्राह्मण समझकर कुछ ऐसा सेवा-सत्कार करना चाहती होगी, इसके यहाँ कोई पर्व उत्सव होगा। अच्छा है, चले प्रसाद पावेंगे। कुछ दान दक्षिणा मिलेगी तो कहीं पत्नी को ढूँढकर उसे दे देंगे। जिससे वह यह तो न कह सके, कि रिक्त हस्त लौट आये।" यही सब सोचकर वे सबके साथ चल दिये।

जब सुदामाजी की पत्नी ने अपने पतिदेव के शुभागमन का शुभ सम्वाद सुना, तो वह सज बजकर आरती सजाकर बहुत-सी दासियो से घिरी हुई द्वार पर आयी। सुदामाजी ने इतनी सुन्दरी स्त्री को देखकर समझा यह कोई रानी है। उन्होंने अपनी दृष्टि नीची कर ली। सुदामापत्नी पति के पधारने की प्रसन्नता में

अत्यन्त उत्सुकता के साथ अपने भवन से उसी प्रकार निकल रही थी, जिस प्रकार कमलवन से साक्षात् लक्ष्मीजी नारायण के दर्शनों के लिये आई हों। अपने पति के दर्शन करके पतिव्रता के नेत्रों से झरझर करके प्रेमाश्रु झरने लगे, मारे हर्ष के उसके नेत्र बन्द हो गये, इच्छा तो हुई अपने जीवन सर्वस्व हृदयधन का कसकर आलिङ्गन करे, किन्तु सबके सम्मुख वह ऐसा कैसे कर सकती थी, कुलवती, शीलवती, पतिव्रता रमणियाँ सबके सम्मुख पति का स्पर्श नहीं कर सकतीं, अतः उसने भूमि में सिर टेककर पति के पादपद्मों में प्रणाम किया। और मन से ही ध्यान में उनका गाढालिंगन किया। फिर अवरुद्ध कण्ठ से स्पष्ट वाणी में उसने कहा—"प्राणनाथ!"

सुदामाजी चौंक पड़े, कि यह कैसी रानी है मुझसे यह क्या चाहती है। यह मुझे पति की भाँति सम्बोधित क्यों कर रही है। इसका कुछ दुष्ट विचार तो नहीं है। उनके मनोगत भावों को समझकर ब्राह्मणी बोली—"देव! आप विस्मय क्यों कर रहे हैं। यह घर आपका ही है। मैं आपकी चरणदासी हूँ।"

अब तो सुदामाजी बोली से पहिचान गये। उन्होंने आँख उठाकर जो देखा तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उनकी स्त्री के कंठ में सुवर्ण की मालायें पड़ी हैं। मणि मुक्ताओं के आभूषणों से वह सज रही है। सहस्रों दासियाँ उसकी सेवा में संलग्न हैं। वे सोचने लगे—"हे, अरे, इसमें इतना परिवर्तन कैसे हो गया। यह तो काली कलूटी सी थी, अब तो यह साक्षात् मूर्तिमती लक्ष्मी सी लगती है। वे समझ गये यह सब भगवान् ने कौतुक रचा है।"

तब तक स्त्री ने आग्रहपूर्वक कहा—"स्वामिन्! भीतर पधारिये। अपने भवन की शोभा निहारिये। प्रभु प्रदत्त प्रसाद को स्वीकारिये।"

यह सुनकर सुदामाजी अत्यत प्रसन्न होकर पत्नीके साथ अपने समृद्धिशाली भवन के भीतर गये। जो इन्द्र भवन के सदृश

सुविस्तृत, सुन्दर तथा शोभायुक्त था। जिसमे सहस्रों मणिमय खम्भे लगे हुए थे। सभी भवन कलयी किये हुए स्वच्छ तथा

निर्मल थे। उनमे सुखद,सुन्दर सजी हुई शैयायें बिछी थीं, जिनके पाय हाथीदाँत के थे और पाटियाँ सुवर्ण की बनी हुई थीं। जिन पर दुग्ध फेंन के समान अमल, विमल,सुन्दर, स्वच्छ, मुलायम, शुभ्र बिछौने बिछे हुए थे। स्थान-स्थान पर पसे रखे थे, जिनकी डण्डियाँ सुवर्ण मण्डित थीं। भवनों मे जो गलीचे बिछे थे, उन पर सुवर्ण का काम हो रहा था, भवनों की छतों में जो चाँदनियाँ टँगी थीं उनमें झिलमिल-झिलमिल करते हुए सच्चे मोती हिल-हिलकर मानो सुदामा जी का स्वागत कर रहे थे। स्थान-स्थान पर मणिमय सिंहासन बने थे। उन दिव्य भवनों की भीते स्फटिक मणियों की बनी हुई थीं। नीचे की भूमि में इन्द्र नील मणियाँ जडी हुई थीं। उनमे घृत या तैल के दीपक नहीं थे। मणियो के प्रकाश से ही वे सब भवन जगमग-जगमग कर रहे थे। जैसे ही सुन्दर, स्वच्छ, चमकीले वे भवन थे, उसके अनुकूल ही वैसी ही सुन्दरी रमणियाँ उनमे सेवा कर रहीं थीं मानों अनेक रूप रखकर लक्ष्मी ही अपने कर कमल से उन भवनों को बुहार रही हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उस सर्वसम्पत्ति युक्त भवन को देखकर तथा बिना प्रबल पुरुषार्थ किये हुए अपनी अतुलनीय सम्पत्ति को देखकर सुदामाजी मन ही मन सोचने लगे—"देखो, मैं तो जन्म का दरिद्री था, भाग्यहीन था। मुझे इतनी सम्पत्ति मिलना अति दुर्लभ है। यह सब यदुनन्दन श्यामसुन्दर की कृपा है। उन्होने ही मुझे यह सम्पत्ति प्रदान की हैं। उन्होने ही मुझ दरिद्र पर दया करके यह दुर्लभ दान दिया है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! एक बात हमारी समझ मे नहीं आई, कि भगवान् ने द्वारका मे तो सुदामा जी को कुछ नहीं दिया। और यहाँ चुपके से इतनी सम्पत्ति दे दी। देना

था, तो वहाँ कुछ दे देते जिससे सुदामा जी को मार्ग में इतनी ऊहापोह न करनी पडती।"

सूतजी बोले—"महाराज! द्वारका मे धन न देने के अनेकों कारण हैं। पहिला कारण तो यह है कि किसी आत्मसम्मान वाले मनस्वी पुरुष को उसके मित्र, सगे सम्बन्धी प्रत्यक्ष सहायता देते हैं तो उसे लज्जा लगती है। वह अपने को एक प्रकार से छोटा समझने लगता है, उसके आत्मसम्मान पर ठेस लगती है, इसलिये सज्जन पुरुष प्रत्यक्ष सहायता न देकर प्रकारान्तर से देते हैं, चलते समय बच्चे को कुछ दे जाते हैं। लडका लडकी के विवाह के अवसर पर कोई आभूषण आदि दे देते हैं। बहू को मुख दिखाई दे देते हैं। साराश यह है कि किसी न किसी प्रकार सहायता तो उसके घर मे पहुँच जाय, किन्तु उसे प्रत्यक्ष लेते समय लज्जा का अनुभव न करना पडे। इसीलिये भगवान् ने द्वारका में प्रत्यक्ष कुछ न देकर परोक्ष रूप से सम्पत्ति घर भिजवा दी।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है। प्रत्यक्ष दान देते समय गृहीता अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता है। सज्जन पुरुष दूसरों को आभारी देखकर लज्जित होते हैं। अतः प्रत्यक्ष देने में स्वयं भगवान् को भी लज्जा लगी। वे यह तो जानते ही थे धन की इच्छा से सुदामाजी आये हैं। यदि मैं इन्हें यहाँ विपुल धन देता हूँ, तो कृतज्ञता के कारण इनका सिर नीचा हो जायगा। उस समय हमारी मैत्री मे एक संकोच उत्पन्न हो जायगा। वे साधुता के कारण दीनता मिश्रित अपनी कृतज्ञता प्रकट करेंगे ही, मुझे बडी लज्जा लगेगी। फिर हमारा मित्र-मित्र का सम्बन्ध न रहकर दाता प्रति ग्रहीता का सम्बन्ध हो जायगा। जो मित्रता की दृष्टि में अत्यन्त तुच्छ है, इस संकोच से प्रत्यक्ष नहीं दिया।

तीसरा कारण यह है, कि वस्तुओं मे प्रियता नहीं उनकी

उत्कट प्रतीक्षा में प्रसन्नता है। एक करोड़पति है, उसके यहाँ लाखों रुपया नित्य आते जाते हैं, इसमे उसे कोई प्रसन्नता नहीं, क्योंकि वह तो नित्य का ही काम है। एक दूसरा है जो चाहता है मुझे दस रुपये मिल जायें, किन्तु मिलते नहीं। एक दिन वह निराश हो गया सहसा उसे सहस्र रुपये अकस्मात् मिल गये। उस समय उसे जो प्रसन्नता होती है वह अवर्णनीय है। सुदामाजी को पूर्ण आशा थी, इतने बड़े द्वार पर जा रहा हूँ, वहाँ से रीता थोडे ही लौटूँगा, कुछ न कुछ तो श्यामसुन्दर देंगे ही, किन्तु हुआ उसके प्रतिकूल। भगवान् ने प्रत्यक्ष में कुछ भी न दिया। अब सब ओर से आशा टूट गयी, जब इतने बड़े द्वार पर पहुँचकर भी मुझे कुछ नहीं मिला, रीते हाथो लौट आना पडा तो मेरे भाग्य मे धन है ही नहीं, इसी प्रकार जीवन काटना है। सब ओर से निराशा हो जाने पर जो उन्हे सहसा इतनी बडी सम्पत्ति मिल गयी, उसमे उन्हे सुख द्वारका मे मिलने की अपेक्षा अधिक हुआ।

चौथा कारण यह है, कि गुप्तदान का बडा माहात्म्य है। लोग लड्डू मे रखकर, फलों मे भरकर या किसी और प्रकार से गुप्तदान करते हैं वही श्रेष्ठ दान है। केवल दाता ही समझे, लेने वाला भी न समझे। श्रेष्ठ पुरुष इसी प्रकार दान देते है। किसान अपने घर में सोता रहता है, इन्द्र रात्रि मे आकर उसके खेत को जल से भर जाते हैं। बोये हुए खेत को सींच जाते हैं। इसी प्रकार श्रेष्ठों के श्रेष्ठ भगवान् ने सुदामा जी के हाथ मे देने में सकोच किया। वे द्वारका ही मे थे, तभी उनके घर को ऋद्धि सिद्धिमय बना दिया।

पाँचवा कारण यह भी हो सकता है, कि सुदामाजी की इच्छा तो धन माँगने की थी नहीं, उनकी पत्नी धन चाहती थी। भगवान् तो वांछाकल्पतरु हैं, उनका भक्त उन्हे जैसे भजता हैवे उसे

वैसे ही फल देते हैं। सुदामाजी निष्किञ्चन बने रहना चाहते थे, इसलिये उन्होंने न भगवान् से धन की याचना की और न भगवान् ने ही उन्हे धन दिया। स्त्री धन चाहती थी इसलिये उसे धन दे दिया। पति-पत्नी एक ही हैं अतः वह धन सबके उपयोग में आया।

इस प्रकार प्रत्यक्ष धन न देने के अनेकों कारण हैं। एक यह भी कारण है, कि भगवान् को लज्जा लगी, कि इस तनिक से धन को सुदामा जी को क्या दूँ। अपने भक्त को तो मैं अखिल ब्रह्माण्डों का राज्य दे दूँ, या अपने आप को भी दे डालूँ तो भी न्यून है। भगवान् तो समझते थे मैंने कुछ भी नहीं दिया। इधर सुदामाजी 'इस इतने अधिक वैभव को देखकर आश्चर्य चकित रह गये। वे सोचने लगे—"देखो, भगवान् कैसे ब्रह्मण्यदेव हैं, मैंने एक मुट्ठी चिउरा दिये, उनको ही उन्होंने कितने प्रेम से स्वीकार किया तुरन्त उन्हे खा गये। कितनी प्रशंसा कर रहे थे, चिउराओं का स्वाद कहते-कहते अघाते नहीं थे। इसके विपरीत अपनी इतनी दी हुई सम्पत्ति को भी वे अत्यल्प ही अनुभव करते हैं।"

मेरी तो उन सर्वात्मा सर्वस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु के पादपद्मों में यही प्रार्थना है,कि "मुझे जन्म जन्मान्तरों में उन्हीं के पादपद्मो की प्रीति प्राप्त हो। मेरे मन में उन्हीं के प्रति सौहार्द भाव हो, इसी प्रकार वे मुझे अपना तुच्छातितुच्छ दास, सखा, मित्र, और बन्धु समझते रहें। इसी प्रकार मैं जन्म जन्मान्तरों में दरिद्री होऊँ, किन्तु होऊँ श्रीकृष्ण भक्त। जिससे वे मेरे ऊपर इसी प्रकार कृपा की वृष्टि करते रहें। मेरा उन्हीं अच्युत के चरणों में अनुराग हो, उन्ही के भक्तों का संग प्राप्त हो।

भगवान् ने अब तक मुझे दरिद्री रखा, सो मेरे ऊपर बड़ी

कृपा की। जैसे माता के पास भाँति भाँति की मिठाइयाँ रखी हों, रबडी, हलुआ, खीर चाहे जितनी रखी हो, किन्तु अपने रोगी पुत्र को वे पौष्टिक वस्तुएँ खाने को नहीं देती। पौष्टिक वस्तुएँ स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य को बढाती हैं, किन्तु वे रोगी को दी जायँ तो रोग को बढावेंगी। दुग्ध बलकारक होता है, किन्तु जिसका कफ बढा हुआ हो, वह यदि दूध पीवेगा, तो उसका बल न बढा कर वह कफ की ही वृद्धि करेगा। इसी प्रकार जो विचारवान् नहीं है, जिनकी बुद्धि अभी पूर्णतया परिपक्व नहीं हुई हैं, ऐसे अपने भक्तो को भगवान् धन नहीं देते। क्योंकि धनी पुरुष धन के मद में मदमाते होकर भाँति भाति के अनर्थ करने लग जाते हैं। उनमे मनुष्यता नहीं रह जाती उनका नैतिक पतन हो जाता है, इसी धन के दुष्परिणाम को देखकर वे भक्तों को निष्किञ्चन ही बनाये रहते हैं। जब दारिद्र सम्बन्धी घोर दुःख पडने पर भी जिनकी बुद्धि विचलित नहीं होती, उनके मन मे पाप से पैसा पैदा करने की भावना नहीं उठती, तो भगवान् समझ लेते हैं, यह धन से अधिक धर्म को, सदाचार को और मुझे समझता है, तब उसे चाहते है, तो धन दे भी देते हैं। अब तक भगवान् ने मेरी परीक्षा की। मुझे विचित्र सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य आदि कुछ न देकर दारिद्र दुःख दिया। इनमे भी मुझे उनका ही स्मरण बना रहा। उन्हीं के अनुग्रह से उन्हीं के कृपाप्रसाद से मेरा मन अनर्थ की ओर नहीं गया। नहीं तो दरिद्रता मे जब अन्याय से धन आता हुआ प्रत्यक्ष दीखता है, तो उस लोभ का सवरण करना असभव हो जाता है। भगवान् ने मुझे भली भाँति ठोक बजाकर यह सम्पत्ति दी है। दी क्या है न्यासरूप में रख दी है, मुझे अपनी सेवा का अवसर दिया है सम्पूर्ण सम्पत्ति के एकमात्र स्वामी तो व श्रीपति ही हैं। मैं तो उनका मुनीम मात्र हूँ। मैं इस सम्पत्ति की पाई पाई प्रभु की पूजा में लगाऊँगा और प्रभुप्रसाद पाकर यह

प्रभु सेवोपयोगी शरीर का उनकी सेवा के निमित्त ही पालन पोषण करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ऐसा निश्चय करके सुदामाजी अनासक्त भाव से त्यागपूर्वक प्रभुप्रसाद की भावना से अपनी पत्नी के सहित उन विषयों का उपभोग करने लगे। उन्होंने कभी शरीर को पुष्ट करने की भावना से भोजन नहीं किया। प्रभुप्रसाद समझकर ही उसे पाया। इस प्रकार भगवान् ने इन दरिद्र निर्धन ब्राह्मण के ऊपर कृपा करके अपनी ब्रह्मण्यता सबके सम्मुख प्रदर्शित की। यद्यपि भगवान् अजित कहलाते हैं, उन्हें कोई अपने पुरुषार्थ से जीतना चाहे तो नहीं जीत सकता। हाँ, वे अपने भक्तों के सम्मुख पराजित हो जाते हैं। भक्त उन्हें अपने नयनों की पुतलियों में रखकर बंद कर लेते हैं। हृदय में बिठाकर उन्हें रोक लेते हैं। वे रुक जाते हैं, भक्तों के अधीन बन जाते हैं। इसीलिये उन्हें भक्तवश्य कहा है। सुदामाजी निरन्तर उन्हीं भक्तवश्य भगवान् का तीव्रता के साथ ध्यान किया करते थे। इसीलिये अविद्यारूपिणी ग्रन्थि का छेदन करके वे अन्त में भगवान् के परमधाम को प्राप्त हुए।

जो पुरुष विशुद्ध भाव से इस परम पुण्यप्रद सुदामा चरित रूप मधुमय उपाख्यान को कर्ण कुहरों द्वारा पान करेंगे अथवा वाणी द्वारा कहकर दूसरों को तृप्त करेंगे उन्हें तत्काल भगवान् का प्रेम प्राप्त होगा और उस प्रेम के वेग से ही वे कर्म के बन्धनों से विमुक्त बन जायँगे। इस प्रकार बाल्यकाल के बिछुड़े अपने सुदामा सखा को एक बार मिलने पर ही निहाल कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बाल्यकाल के सखा सुदामा को दर्शन और ऐश्वर्य देकर तो भगवान् ने निहाल कर दिया, किन्तु चिरकाल के बिछुड़े उन व्रजवासी गोपी ग्वालों को भी भगवान् ने फिर कभी दर्शन दिया?"

सूतजी बोले—"महाराज ! गोप गोपियों ने तो श्रीकृष्ण को वसुदेवजी से मोल ले लिया है छोरा के बदले में छोरी दी है। छोरी को तो कंस ने मार दिया। जब तक गिरवी रखी हुई वस्तु का मूल्य नहीं चुकाया जाता तब तक रखने वाला उसे ले नहीं सकता। इसलिये भगवान् को तो व्रजवासियों ने मोल ले लिया है। भगवान् भी ऐसे हिल गये है, कि वे वृन्दावन की सीमा के बाहर एक पैर भी नहीं रखते। अक्रूरजी लेने आये, तो संकोच वश अक्रूर-घाट तक तो चले गये, किन्तु दो रूप रखकर एक रूप से तो यमुनाजी में छिपकर वृन्दावन चले आये और एक से मथुरा और द्वारका में प्रकट लीला करने लगे। अब वृन्दावनवासी श्रीकृष्ण को डर लग गया, कि कहीं अक्रूरजी फिर रथ लेकर न आ जायँ, फिर मुझे वृन्दावन से न ले जायँ, अतः भगवान् विरह का रूप रखकर तो प्रकट हुए और अप्रकट भाव से गोपियों के साथ निरन्तर क्रीड़ा करते रहे और अब भी सेवाकुंज में निरन्तर करते हैं, किसी-किसी भाग्यशाली को अब भी प्रत्यक्ष उनके दर्शन होते हैं। उनके परम भक्त उद्धवजी भी गुप्त रूप से गुल्म-लता रूप में व्रज में वास करते हैं। एक रूप से वे बदरीवन में तप करते हैं। अतः प्रकट रूप से तो भगवान् फिर व्रज में नहीं आये। हाँ, एक बार कुरुक्षेत्र में सब गोपी गोपों से उनकी भेंट अवश्य हुई।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! गोपी गोप कुरुक्षेत्र क्यों गये। भगवान् वहाँ क्या युद्ध में अर्जुन का रथ हाँकने आये थे। युद्ध के समय व्रजवासियों की वहाँ जाने की क्या आवश्यकता हुई ?"

सूतजी बोले—"नहीं महाराज ! यह भेंट युद्ध के समय नहीं हुई। महाभारत युद्ध के बहुत पहिले भगवान् का व्रजवासियों से सम्मेलन हुआ। सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में स्नान करने का बड़ा महात्म्य होता है। इधर से गोपी गोप प्रायः स्नान करने

व्रज से आये। उधर से द्वारकापुरी से भगवान् सपरिवार स्नान करने आये। अकस्मात् भेंट हो गयी। अब मैं उसी सुखद सम्मिलन का वर्णन करूँगा। आप सब सावधान होकर इस सुखद सरस शुभ सम्वाद को श्रवण करें।"

छप्पय

प्रभु प्रसाद सब समुझि करें विषयनिका सेवन।
मन महँ धारे कृष्ण करें तिनि नित प्रति चिन्तन॥
जग महँ सब सुख भोगि अन्त हरि लोक पधारे।
भये सुदामा सखा श्यामके अतिशय प्यारे॥
सुने सुदामा चरित जे, ते न परैं भवकूप पुनि।
गोपनि सग हरि मिलन ज्यों, भयो कहूँ अब सुनहु मुनि॥

कुरुक्षेत्र में व्रजवासियों की भगवान् से भेंट

[११७१]

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः ।
सूर्योपरागः सुमहानासीत् कल्पक्षये यथा ॥
त ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।
समन्तपञ्चक क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८२ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

सूर्य ग्रहन इक बार पर्यो सुनि सब नर नारी ।
गये न्हान कुरुक्षेत्र सकल यादव बनवारी ॥
इततैं गोपी गोप परब पै मिलि तहँ आये ।
भेंट परस्पर भई सकल मिलि परम सिहाये ॥
उभय ओर आनन्द अति, प्रमुदित यादव गोपगन ।
खिल्यो कमल मुख नयन जल, पुलकित तनु गद्गद वचन ॥

तीर्थ और पर्व प्रेमियों के साथ—सगे सम्बधियों के साथ मिल कर किये जाते हैं, तभी उनमें आनन्द आता है । पर्वों के अवसर

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! एक बार की बात है, जब श्री रामकृष्ण द्वारकापुरी में ही निवास करते थे, उसी समय कल्प क्षय में जैसा होना है, वैसा ही खग्रास सूर्यग्रहण का पर्व पड़ा । लोगों ने पञ्चांगों से प्रथम ही जान लिया था, अतः ग्रहण के पूर्व ही देश देशान्तरों के बहुत से लोग पुण्य कर्म करने की इच्छा से स्यमन्त पञ्चक क्षेत्र (कुरुक्षेत्र तीर्थ) के लिये गये ।"

पर गंगादि तीर्थों मे जाते हैं, तो पुण्य तो प्राप्त होता ही है साथ ही अपने इष्ट मित्र, सगे सम्बन्धी तथा अनेक सुपरिचित व्यक्ति मिल जाते हैं। अपने प्रेमियो से भेंट हो जाना संसार मे यह एक सबसे बड़ा लाभ है। यों केवल मिलने के उद्देश्य से महसा जाया नहीं जाता। उनमें बहुत-सी आगे पीछे की बाते सोचनी पडती है। तीर्थयात्रा के लिये सभी स्वतन्त्र हैं। सभी बडे उत्साह से तीर्थों मे विशेष पर्वों के अवसर पर जाते हैं। वहाँ एक पन्थ दो काज हो जाते है। अपने स्नेही भी मिल जाते हैं और तीर्थ व्रत भी हो जाते हैं। तीर्थों मे संत महात्माओं का दर्शन हो जाना, अत्यंत प्रेमियों का मिल जाना, तीर्थ का प्रत्यक्ष फल मिलने के समान है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब तक महाराज युधिष्ठिर का यज्ञ नही हुआ था उसके पहिले की ही बात है। सब व्रजवासियों से भगवान् की कुरुक्षेत्र मे भेंट हुई। जब बलरामजी के सहित भगवान् आनंद से निवास करते थे, तब उन्हीं दिनों मे ज्योतिषियों ने बताया—"महाराज! अबके तो सर्वग्रास सूर्यग्रहण पड़ेगा। जैसे कल्प की प्रलय मे सूर्य अदृश्य हो जाते हैं, वैसे ही अबके अमावस्या को ग्रहण के कारण अदृश्य हो जायँगे। इस अवसर पर कुरुक्षेत्र मे ग्रहण स्नान का बडा महात्म्य है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तो अबके कुरुक्षेत्र मे ही ग्रहण स्नान हो।"

यह बात रुक्मिणीजी ने सुनी कि भगवान् कुरुक्षेत्र ग्रहण स्नान करने जाने वाले हैं। अतः उन्होंने कहा—"प्राणनाथ! मैंने सुना है आप कुरुक्षेत्र ग्रहण स्नान करने जायँगे?"

भगवान ने कहा "हाँ इच्छा तो है।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"तब मुझे भी साथ लेते चलें। आपके साथ मेरा भी स्नान हो जायगा। जोड़े से ही स्नान करने का महात्म्य है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तुम भी चली चलना।"

अब क्या था, यह समाचार बात की बात में सब महलों में फैल गया। सभी भगवान् के साथ चलने का आग्रह करने लगीं। भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, सब चलो!" अपने पिताजी वसुदेवजी से भी कहा, माताओं से भी कहा, बलदेवजी को भी ले चलना आवश्यक था। अब तो जो भी सुने वही ग्रहण स्नान के पुण्य को लूटने को उत्सुकता प्रकट करने लगा। अक्रूरजी, उग्रसेनजी, गद, प्रद्युम्न, साम्ब तथा अन्यान्य यादवगण भगवान् की अनुमति से ग्रहण स्नान को चलने को उद्यत हो गये। अब सबके सब तैयारियाँ करने लगे। भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! सबके सब चल दोगे, तो फिर द्वारका की रक्षा कौन करेगा। कुछ लोगों को नगरी की रक्षा के लिये भी रहना चाहिये।"

यह सुनकर सभी परस्पर में—"तू रह, तू रह" कहकर एक दूसरे से रहने का हठ करने लगे। तब भगवान् ने कहा—"देखो, सेनापति कृतवर्माजी का रहना तो परमावश्यक है। ये ही रक्षाधिकारी हैं। इनकी सहायता के लिये सुचन्द्र, शुक, सारण और अनिरुद्ध रहे। इतने वीर यदि रहे आवेंगे तो द्वारका की ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता।"

अब कोई क्या कह सकता था। जब भगवान् की आज्ञा ही हो गयी तब उसमें ननुनच के लिये स्थान ही नहीं। जिनके लिये पुरी में रहने की आज्ञा हुई, वे पुरी में रह गये, शेष सभी बड़े ठाट बाट से सज बज कर समूह के साथ ग्रहण स्नान के लिये चले। मार्ग में ठहरते हुए, वे सब यादवगण कुछ ही काल में उस परम पवित्र कुरुक्षेत्र में पहुँच गये, जिसमें महा शस्त्रधारी परशुरामजी ने इक्कीस बार क्षत्रियों को मारकर राजाओं के रक्त से बहुत बड़े बड़े नौ कुंड भर दिये थे। यद्यपि वे ईश्वर थे, पाप पुण्य से निर्मुक्त थे। उन्होंने क्षत्रियों का जो वध किया था, वह भू का भार उतारने के

लिये किया था। फिर भी उनके पितरों ने उनसे हत्याओं का प्रायश्चित करने को कहा। अतः पितरों की आज्ञा शिरोधार्य करके, पाप से निर्लिप्त होते हुए भी केवल लोक शिक्षार्थ अन्य साधारण पुरुषों की भाँति बहुत से प्रायश्चित यज्ञ किये, जिससे वे निष्पाप बन जायँ। इस क्षेत्र को परम पवित्र समझकर ही परशुरामजी ने यहाँ यज्ञ किये थे। इस क्षेत्र के अन्तर्गत ही स्यमन्तपञ्चक नामक तीर्थ है। जिसमें सूर्यग्रहण के समय स्नान करने का महान् पुण्य बताया गया है। अब भी जब सूर्यग्रहण लगता है, तो कुरुक्षेत्र में लाखों नर नारियों का भीड़ होती है।

उस समय ग्रहण का समाचार सुनकर सभी देशों से लोग स्नान करने आये। बहुत से राजा भी अपने परिवार, मंत्री और पुरोहितों को संग लेकर ग्रहण स्नान के निमित्त आये। सभी यादवगण कंठों में सुवर्ण की दिव्य मालाओं को पहिने, हुए थे। मणिमय मंजु मूल्यवान् हारों से उनकी अपूर्व शोभा हो रही थी। वे दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषणों को पहिने, कवचों को धारण किये, अपने बड़े बड़े विमानों के सदृश रथों में अपनी सजी सजायी स्त्रियों के संग देवताओं के समान शोभित होते थे। उनके सुवर्ण मंडित रथ सूर्य के प्रकाश में देव विमानों के सदृश प्रतीत होते थे। उन रथों में जुते घोड़े इतने वेग के साथ भूमि पर दौड़ रहे थे, मानों समुद्र के ऊपर चंचल तरंगें उठ रही हों। कुछ ही काल में वे सबके सब कुरुक्षेत्र पहुँच गये। तीर्थ से हटकर कुछ दूर पर सघन वृक्षों की छाया में उन सबने अपने डेरे डाले। उन सबके साथ यथेष्ट सेवक सैनिक थे, अतः रात की बात में वहाँ सब प्रबन्ध हो गया। देखते देखते नगर सा बस गया। ठहरने की व्यवस्था हो जाने पर उन सब यादवों ने जाकर तीर्थ स्नान किया। तीर्थयात्रा का नियम है, जिस दिन तीर्थ में पहुँचे उस दिन उपवास करे। इसलिये सबने प्रथम दिन उपवास किया। पर्व के

दिन बड़ी भीड़ थी, कौन आया कौन गया, किसी का कुछ पता ही नहीं चलता था। यादव सभी बड़े धनी थे। सभी ने परशुरामजी के कुण्डों में शास्त्रीय विधि से स्नान किया। ब्राह्मणों के लिये पूड़ी, कचौड़ी, लड्डू, खीर, मोहनभोग तथा अन्यान्य उत्तम से उत्तम भोजन श्रद्धापूर्वक कराये। उन्हें ऊनी-रेशमी वस्त्र, सुगन्धित पुष्पों की मालायें, सुवर्णमय हारों से विभूषित सुन्दर सूधी दुधार गौएँ दान दीं। सब कर्म करने के अनन्तर सभी ने हाथ जोड़कर यही प्रार्थना की "भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में हमारी भक्ति हो।"

ब्राह्मणों को भोजन कराके तथा उन्हें यथेष्ट दान दक्षिणा देकर सभी ने भगवान् की आज्ञा से भोजन किया और सघन वृक्षों की शीतल छाया में विश्राम करने लगे। स्नान, दान, भोजन तथा विश्राम करने के अनन्तर अब सबको यह सूझी कि देखें यहाँ कौन-कौन आये हैं। उन्होंने देखा ग्रहण स्नान करने चारों दिशाओं से सहस्रों राजा आये हुए हैं। क्षेत्र के चारों ओर योजनों लम्बे राजाओं के डेरे पड़े हुए हैं। मत्स्य देश के राजा, उशीनर, कोसल, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, केकय, मद्र, कुन्ति, आनर्त और कोल आदि अनेकों देशों के राजागण वहाँ ठहरे हुए हैं। बहुत से राजा यादवों के सम्बन्धी थे, बहुत से अपने पक्ष के थे और बहुत से विपक्षी भी थे।

कौरव और पांडव भी ग्रहण स्नान के लिये आये हुये थे। वे कई दिनों पहिले से ही आकर पड़े हुए थे। कुरुक्षेत्र उनके राज्य में ही था, अतः उन्हें मेले का प्रबन्ध करना था। कौरवों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी थीं। महारानी कुन्ती भी अपने पुत्रों के सहित पधारी थीं। उन्होंने जब अपने भाई, भावज, भतीजे माता, पिता तथा अन्यान्य सगे सम्बन्धियों का आगमन सुना, तो वे तुरन्त ो में बैठकर यादवों के डेरों पर आईं। जब भगवान् ने

अपनी बुआ को देखा, तो उनके पैर छुए। कुन्तीजी ने भी भगवान् का सिर सूँघकर उनका आलिङ्गन किया और आशीर्वाद दिये। फिर वे अपने भाई वसुदेवजी से तथा अपनी भाभियों से मिलीं। सभी ने कुन्तीजी का बड़ा सम्मान किया। चिरकाल में अपने भाई वसुदेवजी को देखकर कुन्तीजी का हृदय भर आया, वे फूट-फूटकर रोने लगीं। वसुदेवजी ने अत्यन्त प्यार से कहा—"बहिन! रोते नहीं हैं।"

रोते-रोते कुन्तीजी बोलीं—"भैया! मैं अपने भाग्य को रोती हूँ, कि मैं कितनी अभागिनी निकली। जब मैं छोटी थी, तभी मुझे माता-पिता को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाना पड़ा। मुझे जन्म दूसरे माता-पिता ने दिया और पालन दूसरों ने किया। विवाह होकर जहाँ गयी, वहाँ भी राजसुख न भोग सकी। घोर वनों में, दुर्गम पर्वतों में हमें मुनियों का-सा जीवन बिताना पड़ा। वहीं मेरा भाग्य फूटा। मैं विधवा हुई। वे इन छोटे-छोटे बच्चों को छोड़ कर परलोकवासी हुए। फिर तो मानो मेरे ऊपर विपत्तियों का पहाड़ ही टूट पड़ा। आपत्ति विपत्ति थोड़ी बहुत सभी पर पड़ती है, किन्तु आपत्तियों में सगे सम्बन्धी आकर सहानुभूति प्रकट करते, समवेदना दिखाते हैं, तो वे आपत्तियाँ कम हो जाती हैं, किन्तु मैं इससे भी वञ्चित रही। आपने मेरी विपत्ति के समय भी सुधि नहीं ली। इसमें मैं आप सबको दोष नहीं देती। आप सब तो साधु स्वभाव के हैं। मेरा ही भाग्य खोटा था, जिससे इतने सज्जन होते हुए भी तुम हमें भूल गये। हमारे दुःखों की उपेक्षा कर गये। शास्त्रकारों का यह कथन अक्षरशः सत्य है, कि जिसके विधाता वाम हो जाते हैं, उसके जाति वाले, माता, पिता, भ्राता, सुत, सुहृद, तथा सभी स्वजन भूल जाते हैं। कोई बात भी नहीं पूछता। मेरा भाग्य न होता, तो तुम सर्वसमर्थ होकर भी मेरे दुःखों की इतनी उपेक्षा क्यों करते। क्या मैं तुम्हारी सहोदरा

भगिनी नहीं हूँ, क्या मैं सहानुभूति की अधिकारिणी नहीं हूँ।"

अपनी बहिन कुन्ती की ऐसी मर्मस्पर्शी करुणापूर्ण बातों को सुनकर वसुदेवजी बोले—"बहिन ! तुम ऐसी बातें मत कहो ! संसार में कौन किसे दुःख दे सकता है, कौन किसी का दुःख बाँट सकता है। हम सबके सब विधाता के खिलौने हैं, वह जिसे जहाँ उठाकर रख देता है, वह वहाँ रखा रहता है, जिसके साथ खेलना चाहता है खेलता है। हम सब अवश हैं, परवश होकर यन्त्र की तरह कार्य कर रहे हैं। यन्त्री जैसा चाहता है हमारा उपयोग करता है। बहिन ! कालरूप भगवान् के ही वश में होकर जीव नाना प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। सच्ची बात यह है कि हम अब तक ऐसी स्थिति में रहे कि इच्छा रहते हुए भी हम तुम्हारे प्रति क्रियात्मक सहानुभुति न प्रकट कर सके।"

कुन्तीजी ने कहा—"हाँ, भैया ! भाग्य का ही तो सब खेल है, नहीं तो मेरे सगे भाई और सर्वसमर्थ होकर तुम इस प्रकार मुझे भूल जाओ ! इसमें भाग्य के अतिरिक्त दोष भी किसे दिया जाय।"

वसुदेवजी ने कहा—"अच्छा, तू ही बता हम कब-कब ऐसी स्थिति में रहे, कि तेरे प्रति सहानुभूति प्रकट करते। जब से तेरी छोटी भौजाई का विवाह हुआ है, तभी से कंस हमें क्लेश देने लगा। हमारे जाति बन्धु इधर-उधर अन्य देशों में छिप-छिपा कर दिन काटने लगे। हमें निरन्तर कृष्ण की रक्षा की चिन्ता बनी रहती थी। यद्यपि हम इसे गोकुल में अपने बन्धु नंदराय के यहाँ छिपा आये थे, किन्तु तो भी खुटका तो बना ही रहता था। जैसे तैसे वह दुष्ट कृष्ण के द्वारा मारा गया। फिर उसका ससुर जरासन्ध हमारे पीछे पड़ गया। सत्रह बार अगणित सेना लेकर उसने हमारे ऊपर चढ़ाई की। अठारहवीं बार तो हम अपने पैतृक राज्य को छोड़कर यहाँ द्वारका में ही आ गये। द्वारका आये भी हमें

बहुत दिन नहीं हुए। जैसे तैसे घर बनाकर सन्तोष की साँस ली है, सो यहाँ भगवान् ने तुझसे भेंट करा ही दी। अब तू जो कहेगी हम करने को प्रस्तुत हैं। बीबी! यह सब भाग्य की विडम्बना है। कौन किसकी सहायता कर सकता है। जिसे स्वयं सर्प ने काट लिया है, वह दूसरों की सर्प से कैसे रक्षा कर सकता है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भाई बहिन में अपने सुख दुख की बातें हो ही रहीं थीं कि सेवकों ने समाचार दिया—"बाहर बहुत से राजागण महाराज से मिलने आये हैं।" यह सुनते ही वसुदेवजी तुरन्त उठकर बाहर आये। बाहर उन्होंने देखा बहुत से राजा राजपुत्र सपरिवार महाराज उग्रसेन से तथा समस्त यादवों से मिलने आये हैं। जिसमें भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, गान्धारी और दुर्योधनादि अपने शतपुत्रों के सहित, अंधे महाराज धृतराष्ट्र अपने बाल बच्चे और स्त्रियों के सहित, पाँचों पाण्डव, सृञ्जय, परमभक्त विदुरजी, कृपाचार्य, महाराज कुन्ती भोज, विराट, रुक्मिणीजी के पिता भीष्मकजी, वसुदेवजी के बन्धोई महाराज नग्नजित्, महाराज पुरुजित, द्रौपदी के पिता महाराज द्रुपद, नकुल सहदेव के मामा महाराज शल्य, राजा धृष्टकेतु, पाण्डु और धृतराष्ट्र के मामा काशिराज, दमघोष, विशालाक्ष, मिथिलादेश के राजा, मद्रदेश के राजा, केकय देश के राजा, युधामन्यु, सुशर्मा तथा पुत्रों के सहित बाह्लिक ये मुख्य थे। अन्य भी बहुत से राजा भगवान वासुदेव और बलरामजी के दर्शनों के लिये आये हुए थे। भगवान् के मेले में पधारने से चारों ओर हल्ला मच गया था। लाखों नर-नारी नित्य दर्शनों को आते थे। प्रायः सभी राजाओं के साथ उनकी रानियाँ थीं। सब भगवान् लक्ष्मीनिवास के दर्शन करके परम विस्मित हुए। स्त्रियाँ तो भीतर स्त्रियों में चली गयीं। पुरुषों का बलरामजी सहित

भगवान् वासुदेव ने हार्दिक स्वागत किया। उन सबको उनकी योग्यता के अनुसार आसन दिये और मधुर वचनों से तथा पूजा की सामग्रियों से उनका स्वागत सत्कार किया। भगवान् अच्युत का देवदुर्लभ दर्शन पाकर वे सबके सब परम सन्तुष्ट हुए। वे अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए तथा यादवों के सौभाग्य की सराहना करते हुए महाराज उग्रसेन से कहने लगे—"हे यादवेन्द्र! वैसे संसार में नित्य ही असंख्यों जीव जन्म लेते रहते हैं, किन्तु वास्तव में कहा जाय तो आप लोगों का ही जन्म लेना सार्थक है। मानवजन्म का फल तो आपने ही पाया है।"

उग्रसेनजी ने कहा—"राजाओ! हम आपके सम्मुख क्या हैं। जैसे तैसे समुद्र के बीच में रहकर दिन काट रहे हैं।"

राजाओं ने कहा—"महाराज! सभी दिन काट रहे हैं। अंतर इतना ही है कि हम लोग विषयों के कीड़े बने दिन काट रहे हैं। जैसे पीब का कीड़ा पीब में ही बिलबिलाता रहता है, वैसे ही हम इन्द्रियों के विषयों में फँसे हुए समय को व्यर्थ गँवा रहे हैं। आप लोगों के भाग्य के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। जिन सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दर का एक बार भी दर्शन बड़े-बड़े योगियों के लिये दुर्लभ है, उन्हीं अच्युत अखिलेश भगवान् वासुदेव का आप लोग निरन्तर दर्शन करते हैं। उन्हें अपने समीप ही सर्वदा निहारते रहते हैं। भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन, स्पर्श और सहवास के सम्बन्ध में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वेदों में जिनकी वर्णन की हुई कीर्ति का गान करके मनुष्य इस भवसागर से पार हो जाते हैं। जिनके चरणों से निकली भगवती, सुरसरि में स्नान करके जीव पापनिर्मुक्त हो जाते हैं, जिनके शास्त्ररूप वचन इस सम्पूर्ण जगत् को पूर्णतया पवित्र बनाने में समर्थ हैं। उनके दर्शन आप नित्य करते हैं तो फिर आप से बढ़कर महाभाग्यशाली दूसरा कैसे हो

सकता है। ब्रह्मादिक देव भी आपके भाग्य की प्रशंसा नहीं कर सकते। देखिये, कालक्रम से शक्तिहीन, भाग्यहीन हुई भूमि भी जिनके चरणकमलों के स्पर्श से उर्वरा और सौभाग्यशालिनी बन जाती है। केवल भगवान् की चरणधूलि पड़ने ही से जिसमें सब प्रकार की शक्ति आ जाती है, सब पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाती है। उस चरणधूलि को आप नित्य प्राप्त करते हैं। भगवान् के नित्य दर्शन करते हैं, उनका स्पर्श करते हैं, उनके साथ-साथ चलते फिरते हैं, उनसे वार्तालाप करते हैं, उनके साथ सोते हैं, उनके साथ एक आसन पर बैठते हैं, साथ-साथ बैठकर भोजन करते हैं। कहाँ तक गिनावें सभी क्रियायें आप कृपासागर कृष्ण के साथ करते हैं, उनके साथ आपका वैवाहिक देहिक सम्बन्ध है। इसलिये आप तो परमहंस मुनियों से भी बढ़कर हैं। आप यद्यपि गृहस्थाश्रम में अवस्थित हैं, संसार बन्धन के कारणभूत गृह में अवस्थित हैं, फिर भी आपको क्या चिन्ता। आपके घर में तो स्वर्ग और अपवर्ग के दाता दयासागर श्रीमन्नारायण अवस्थित हैं। अतः आपसे बढ़कर संसार में भाग्यशाली कौन होगा।"

उग्रसेनजी ने कहा—"यह सब आप लोगों का आशीर्वाद है। श्रीकृष्णचन्द्र के पीछे ही तो हम सबको आपके दर्शन हो गये। नहीं तो हमें राजाओं के साथ बैठने का अधिकार ही क्या था। श्रीकृष्ण सर्वसमर्थ हैं जो चाहें सो कर सकते हैं। जिसे जो चाहें बना सकते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजा लोग बातें कर रहे थे, कुछ तो उग्रसेन की अनुमति लेकर भगवान् के पाद-पद्मों में प्रणाम करके चले गये, कुछ वहीं यादवों के साथ ठहर गये।"

ग्रहणस्नान की इच्छा से व्रजराज नन्दजी भी अपने समस्त ग्वाल बाल तथा गोपियों के सहित कुरुक्षेत्र में आये थे। वे स्नान के ही दिन पहुँचे थे अतः शीघ्रता से छकडों को खडा करके स्नान करने गये। जब सब गोपी गोप स्नान कर चुके तो यह प्रश्न उठा कि डेरा कहाँ डाला जाय। उसी समय किसी से सुना द्वारका से यादव भी आये हैं। वसुदेवजी, श्री कृष्णचन्द्र, बलराम सभी आये हैं। इस समाचार को सुनकर यशोदाजी तो प्रेम में विह्वल हो गयीं। वे नन्दजी से बोलीं—"व्रजराज! वहीं चलो, मैं अपने कनुआ बलुआ को देख भी लूँगी। जितने दिन यहाँ रहना है, उतने दिन उनके ही साथ रहेंगे।" इस बात का सभी ने हृदय से समर्थन किया। नन्दजी भी यही चाहते थे, अतः उन्होंने छकडे हाँक दिये। लोगों से यादवों के डेराओं का पता पूछते पूछते वहाँ पहुँचे। उनके साथ सहस्रों छकडे थे, उनमें जीवनोपयोगी सभी सामग्रियाँ लदी हुई थीं। दूर से ही उनके छकडों के पंक्तियों को देखकर समस्त यादव अपने-अपने डेरों से निकल आये। गोपी-गोपों को देखकर वे उसी प्रकार प्रसन्न हुए जैसे मृतक देह में प्राण आ गये हों। सभी बहुत दिनों से इच्छा कर रहे थे, कि कभी व्रजवासी गोपों से भेंट करने चलें। आज सहसा अपने आप गोपों को देखकर उनकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा, दौडकर वसुदेवजी नन्दजी से लिपट गये। दोनों एक दूसरे को कसकर हृदय से चिपटाये हुए थे। उस समय वसुदेवजी के नेत्रों के सम्मुख वह दृश्य प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा, जब वे कंस के द्वारा दिये हुए क्लेशों के कारण अत्यन्त ही क्लेशित बने हुए थे। जब उन्हें पुत्र की रक्षा का कोई अन्य उपाय न सूझा तो वे आधी रात में उसे लेकर नन्दजी के गोकुल में गये। इन सब घटनाओं के स्मरण से वसुदेवजी का हृदय द्रवित हो रहा था और वही हृदय जल बनकर नयनों से निकल रहा था।

भगवान राम और कृष्ण कहीं बाहर घूमने गये थे। जब उन्होंने नन्दजी के आगमन का समाचार सुना, तो बच्चों की

भाँति दौड़ते हुए, छलांग मारते हुए वहाँ आ गये और आते ही अपने माता पिता नन्द और यशोदाजी के चरणों में लिपट गये

और फूट-फूटकर रोने लगे। अपने बच्चों को इस प्रकार रोते देखकर नन्द यशोदा का भी हृदय भर आया। वे गोदी में दोनों को बिठाकर अपने हाथों से उनके आँसू पोंछ रहे थे और अपने शीतल अश्रुओं से उनके शिरों को भिगो रहे थे। वह दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। जितने भी दर्शक वहाँ खड़े थे, सबके सब रोने लगे। सबकी आँखें भीगी हुई थीं। भगवान् कुछ कहना चाहते थे, किन्तु कण्ठ रुक जाने से कुछ कह न सके। नन्द और यशोदा अपने पुत्रों को गोदी में बिठाकर हृदय से चिपकाये हुए थे। और ये दोनों भी अबोध भोले-भाले शिशुओं के समान उनके हृदय से लिपटे हुए थे। दोनों ही ओर से जब प्रेम का आवेग कम हुआ विरहजन्य दुःख अश्रु बनकर निकल गया तब नन्दजी तो अपने गोपों के साथ पुरुषों में चले गये और यशोदाजी गोपियों को लिये हुए अन्तःपुर में रानियों के पास चली गयीं। अब जिस प्रकार गोपियों की और यादवों की पत्नियों की भेंट होगी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

रामकृष्ण ने दौरि नन्द यशुमति पग पकरे।
शिशु सम गोद बिठाइ पुत्र कसिके हिय जकरे॥
उभय नयन जलधार बहे करुना घबरानी।
भये कंठ अवरुद्ध न निकसै मुखतें बानी॥
मातु पिताकी गोदमहँ, रोवत शिशु सम श्याम बल।
पट भिगवत सिसकत लिपटि, पुनि-पुनि पोंछत नयन जल॥

यशोदाजी की देवकी तथा रोहिणी आदि से भेंट

[११७२]

रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥
का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि ।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ८२ अ० ३७, ३८ श्लो०)

छप्पय

शान्त भयो आवेग यशोदा भीतर आई ।
दौरि देवकी और रोहिनी हिये लगाई ॥
करि करि पिछली यादि अधिक आभार जतावें ।
'ये तुमरी सुत बधू' सबनिके नाम बतावें ॥
राम श्यामकी बहुनि कूँ, लखि प्रमुदित यशुमति भई ।
नाती चेटा होहिँ बहु, मातु सबनि आशिष दई ॥

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यशोदाजी से रोहिणीजी और देवकीजी हृदय से हृदय सटाकर मिलीं और उनके पूर्वकृत मैत्री सम्बन्धी उपकारों को स्मरण कर-करके गद्गद कण्ठ से कहने लगीं—"हे व्रजेश्वरि ! आपने जैसी हमारे साथ कभी भी न छूटने वाली मैत्री निभाई उसे भला कौन-सी स्त्री भूल सकती है। इन्द्रपद पाकर भी उस उपकार का प्रत्युपकार नहीं किया जा सकता।"

स्त्रियों में सौहार्द अधिक होता है, और उनका हृदय भी अधिक कोमल होता है, अतः वे जब परस्पर में बहुत दिनों में मिलती हैं, तो बहुत देर तक एक दूसरी को हृदय से लगाये रहती हैं और रोती रहती हैं। जब कोई तीसरी आकर उन्हें समझा कर छुड़ाता है तब फिर मिलकर एक दूसरी से पृथक् होती हैं। फिर तुरन्त आँसू पोंछकर इधर उधर की बातें भी करने लगती हैं। दो बहिनों तथा सखी सहेलियों का चिरकाल के अनन्तर जो मिलन होता है, वह एक परम दर्शनीय दृश्य होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्दजी तो बाहर ही रह गये, यशोदाजी गोपियों के साथ भीतर स्त्रियों में चली गयीं। जब देवकीजी तथा रोहिणीजी ने यशोदाजी के आगमन का समाचार सुना तो वे दौड़कर आगे आयीं। देवकीजी ने यशोदा मैया को अभी तक देखा नहीं था। रोहिणीजी तो वहाँ रह ही आयीं थीं, अतः प्रथम रोहिणी ने जाकर यशोदा मैया की भेंट भर ली। परस्पर एक दूसरी को देखकर दोनों का ही प्रसन्नता के कारण हृदय खिल गया था। मुखारविन्द पर आनन्द की आभा प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। प्रेमाश्रु बहाते हुए एक दूसरी ने परस्पर गाढ़ा लिङ्गन किया। हृदय से हृदय सटाकर उन्होंने चिरकाल की अपनी विरह व्यथा दूर की। दोनों के शरीर रोमाञ्चित हो रहे थे और दोनों ही परमानन्द सागर में निमग्न थीं।

तदनन्तर देवकीजी आँसू बहाती हुई यशोदाजी से मिलीं। सबसे यथायोग्य मिल भेंटकर यशोदाजी को सुंदर,सुखकर आसन पर बिठाया गया और फिर आँसुओं को पोंछती हुई सकोच और शिष्टाचार के साथ अस्पष्ट वाणी से शनैः शनैः देवकीजी कहने लगीं—"व्रजेश्वरि! हम क्या कहकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करें। जीजी! सच्ची बात तो यह है कि तुमने हमें मोल ले लिया। तुमने जैसा हमारे साथ उपकार किया है, उसका बदला हम अब

तो दे ही क्या सकते हैं, यदि इन्द्र का ऐश्वर्य भी हमे प्राप्त हो जाय, तो भी हम तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं कर सकेंगे।"

यशोदाजी ने कहा—"सनी! भला, अपनों से भी ऐसी शिष्टाचार की बातें कही जाती हैं। उपकार आदि तो दूसरे करते हैं, घर वाले तो कर्तव्य पालन किया करते हैं।"

देवकीजी ने कहा—"जीजी! यह तो तुम्हारा कहना सत्य ही है, किन्तु घर वाले भी विपत्ति के समय जो कुछ करते हैं, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। सम्पत्ति मे तो सभी सगे सम्बन्धी सहानुभूति दिखाते हैं। विपत्ति मे जो साथ दें वे ही सच्चे सगे सम्बन्धी हैं। देवी! आपने ऐसे समय हमारा साथ दिया, जब हमारा कोई सहायक नहीं था। सभी सगे सम्बन्धी साथ छोड़ गये थे। हम असहाय थे, कंस के कारावास में थे। इन राम और कृष्ण ने अपने जन्मदाता माता-पिता को देखा तक नहीं था। तब तुमने इनकी अत्यन्त लाड-प्यार से उसी प्रकार रक्षा की जैसे पुतलियों की पलक रक्षा किया करते हैं। इनके यथार्थ माता-पिता तो तुम ही हो। तुमने ही इन्हें दूध पिलाया, गोदी मे लेकर खिलाया, प्रेमपूर्वक लालन-पालन, प्रीणन और पोषण किया। तुम सदा इनके अभ्युदय की बातें सोचती रही। तुम्हारे ही कारण ये इतने बडे हो गये। व्रज मे रहते हुए इन्हें कंसादि का कुछ भी भय नहीं रहा। तुमने कभी स्वप्न मे भी यह अनुभव नहीं किया, ये मेरी कोख के पुत्र नहीं है। सगे पुत्रों की भाँति तुमने इनकी रक्षा की। जो क्षुद्र हृदय के पुरुष होते हैं, उनके ऐसे विचार होते हैं कि यह मेरा है या पराया है, किन्तु जो उदार चरित है, विशाल हृदय के हैं, उत्तम पुरुष हैं उनकी दृष्टि मे तो वह भेदभाव रहता ही नहीं। इसलिये ये रामकृष्ण तुम्हारे ही बच्चे हैं, तुम्हारी कृपा से ही हमें भी ये देखने को मिले हैं।"

यह कहकर देवकीजी ने समीप में बैठी हुई बहुओं से कहा—"बहुओ ! तुमरी सास ये ही हैं, तुम इनके पाइन लगो।"

यह सुनकर बड़ी होने से सर्वप्रथम रेवतीजी यशोदाजी के पायँ लगने आयीं। यशोदाजी ने कहा—"बेटी ! तुम्हारी बड़ी आयु हो, बूढ़ बूढ़ैली हो। बेटा, नाती, पंतियों से घर भर जाय।"

देवकीजी ने कहा—"यह तुम्हारे बड़े बेटा की बहू है।"

यशोदाजी ने कहा—"यह बलुआ की बहू है ? अच्छा, यह तो बड़ी अच्छी है। रेवतीजी ने अपने पति के बलदेव, बलराम, सङ्कर्षण, शेष, राम तथा बलदाऊ ये नाम तो सुने थे, किन्तु बलुआ नाम नहीं सुना था, अतः वे सुनकर हँस पड़ीं।"

फिर रुक्मिणीजी आयीं। अबके रोहिणीजी स्वयं ही बोलीं "यह कनुआ की बहू है।" यह सुनकर सब रानियाँ खिल खिला कर हँस पड़ीं। फिर सत्यभामा, जाम्बवती, सत्या, कालिन्दी तथा और भी रानियाँ आ-आकर पाँय लगने लगीं। यशोदाजी ने पूछा—"ये किनकी बहुएँ हैं ?"

रोहिणीजी ने कहा—"ये सब तुम्हारे कनुआ की बहू हैं।"

यशोदाजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छा,कनुआ ने बहुत ब्याह किये हैं।"

हँसकर रोहिणीजी बोलीं—"जीजी ! अभी देखती तो चलो। वे सामने जो झुण्ड की झुण्ड बैठी हैं, सब तुम्हारे कनुआ की ही बहुएँ हैं। पूरी सोलह सहस्र एक सौ आठ हैं।"

यशोदाजी ने संतोष के साथ कहा—"अच्छा है, बहुत-सी बहुएँ बड़े भाग्य से मिलती हैं।" फिर बहुओं से कहने लगीं—"बेटियो ! वहाँ से कर लो। मैं तुम्हारी सास नहीं हूँ, सास तो तुम्हारी ये ही हैं। मैं तुम्हारे पति की धाय हूँ। बालकपन में मैंने उसे दूध पिलाया है, तुम्हारी सास के आँचल में दूध की कमी थी। जब बड़ा हुआ तो अपनी माँ के पास आ गया। अब तुम

मुझे अपने बच्चों को खिलाने के लिये नौकर रख लो। तुम्हारे बच्चों को, तुम्हारी बहुओं के बच्चों को खिलाया करूँगी। तुम सब एक एक टुकड़ा भी रोटी मुझे दे दिया करोगी, वही मेरे लिये बहुत है।"

रोहिणीजी ने कहा—"हाय! जीजी! ऐसे नहीं कहते हैं। यह सब वैभव तुम्हारा ही तो है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! रोहिणीजी तथा देवकीजी से यशोदाजी ऐसी बातें कर रही थीं, गोपिकायें चुपचाप बैठी सुन रही थीं। वे भगवान की राजकुमारी पत्नियों को देखकर आश्चर्य कर रही थीं। वे सोच रही थीं, भगवान् इन राजकुमारियों को पाकर हमें सर्वथा भूल ही गये होंगे। हम गाँव की गँवार ग्वालिनी हैं। हममें न रूप है न गुण। ये सबकी सब रूपवती, गुणवती और शीलवती हैं। इन्होंने अपनी सेवा से श्यामसुन्दर को वश में कर लिया होगा। श्यामसुन्दर हमें भले ही भूल जायँ, किन्तु हम तो उन्हें नहीं भूल सकतीं। चन्द्रमा के लिये कुमुदिनी असंख्यों हैं, किन्तु कुमुदिनियों के लिये तो चन्द्रमा एक ही है। हमारी तो श्यामसुन्दर ही गति मति हैं। यहाँ तो इनके बड़े ठाट बाट हैं। सिपाही हैं, पहरेवाले हैं, इतनी झुण्ड की झुण्ड रानियाँ हैं। सबके सामने प्रेम की बातें होती नहीं। सबके सामने हम तो बोल भी न सकेंगी, हमारा मुँह भी न खुलेगा। सबके सम्मुख सकोच होता है। भोजन भजन और हार्दिक भाव प्रदर्शन एकान्त में ही उत्तमता से होते हैं। किन्तु यहाँ श्यामसुन्दर को एकान्त कहाँ मिलेगा। सब समय तो उनके पीछे पीछे प्रहरी घूमते रहते हैं। यदि कहीं एकान्त में श्यामसुन्दर मिलते, तो उनसे दो दो बातें होतीं। अपने दुख सुख की बातें कहतीं। उनकी निष्ठुरता के लिये उपालभ देतीं। वे हमें तनिक-सा सुख देकर अब यहाँ आकर राजा बन गये। उनका खेल हुआ हमारा मरण हो रहा है। हमें

रोग सा लग गया। रात्रि दिन उन्हीं की मनोहर मूर्ति हृदय पटल पर नाचती रहती है, उन्हीं की स्मृति विकल बनाये रहती है। यदि एकान्त में कुछ बातें हो जायँ तो हृदय का आवेग निकल जाय, चित्त कुछ हलका हो जाय।

गोपिकायें ये ही सब बातें सोच रही थीं, घट घट की जानने वाले सर्वान्तर्यामी प्रभु उनके भावों को ताड गये। अतः वे एकान्त में जाकर अपनी परम प्रेयसी गोपियों से मिले। अब जैसे गोपिकाओं का और श्रीकृष्ण का मिलन होगा उस कथा प्रसग को मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

लखि वैभव व्रजबाल बहुत मन महँ सकुचावें।
सोचें—कब एकान्त ठौंव महँ हरि कूँ पावें॥
अति रहस्यमय बात होहि नहिं सबके सम्मुख।
निभृत निकुञ्जनि मोंहि मिलहि प्रिय तब होवे सुख॥
समुझि भाव भगवान् पुनि, सबतैं निरजन थल मिले।
गाढ़ालिङ्गन कर्‌यो हरि, चन्द्रानन सबके खिले॥

गोपियों की भगवान् से भेंट

[११७३]

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टम्
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८२ अ० ४० श्लोक)

छप्पय

सकुची सहमी सखी श्याम सकोच छुड़ायो ।
मधुर मधुर मुसकाइ करनि मुख अधर उठायो ॥
पूछें—का रिस भई न हौं फिरि ब्रजमहँ आयो ।
जो नहिं चाहौं करन भाग्यने सो करवायो ॥
है प्रारब्ध अधीन सब, सुख दुख अरु बिछुरन मिलन ।
सार यही संसार महँ, मोमें थिर है जाइ मन ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! गोपिकाओं को बहुत दिनों से श्री कृष्णचन्द्रजी के दर्शनों की लालसा थी । व्रज में वे भगवान् की मधुर मूर्ति का दर्शन करते समय पलकों का व्यवधान पड़ने पर पलकों के बनाने वाले ब्रह्मा बाबा को कोसती थीं । आज उन्हीं भगवान् को जब कुरुक्षेत्र में देखा, तो वे उन्हें अपने नेत्रों द्वारा हृदय में ले जाकर गाढ़ालिंगन करने लगीं । इस प्रेम के कारण उन्होंने श्री कृष्णचन्द्र भगवान का वह तादात्मभाव प्राप्त किया जो नित्य अभ्यास करने वाले योगियों के लिये भी दुर्लभ है ।"

जिनके साथ चिरकाल तक रहे हैं, जिनके साथ सरस, सुखद क्रीडायें की है, वे यदि हमसे पृथक् हो जाते हैं, तो उस समय हृदय मे कैसी पीड़ा होती है, उसका अनुभव भुक्तभोगी के अतिरिक्त कोई अन्य कर ही नहीं सकता। संयोगवश वह फिर मिल जाय और मिले ऐसी परिस्थिति मे कि जिससे उससे खुलकर बातें न कर सकें, न अपना दुख-सुख सुना सकें और न उसका दुख सुख सुन सके तो ऐसे मिलन से तो वियोग ही श्रेष्ठ है। वियोग में यह तो संतोष रहता है कि वे नहीं हैं। इस अधकचरे संयोग से तो हृदय जलता रहता है, बारम्बार क्रोध आता है, खीज होती है, चित्त चाहता है उससे कभी न बोलें। किन्तु रहा नहीं जाता इसी ताड़ मे रहते हैं कहीं क्षण भर को भी मिल जायँ तो अपनी खीज तो मिटा लें। प्रेम का पंथ कैसा अटपटा है,इसमे कितनी विवशता है, कितना संकोच है, कितनी गुत्थियों को सुलझाना पडता है। यदि प्रेम का पंथ इतना दुर्गम न होता तो सभी प्रेमी न बन जाते। किसी ने इसे मोम के तुरंग पर चढ़कर अग्नि मे जाना बताया है, किसी ने इसे खड्ग की धार, किसी ने अगाध समुद्र, किसी ने बिना सिर का शरीर और किसी ने लोक वेद बाह्य मार्ग बताया है। इसका पूर्ण निर्वाह तो ब्रज की गोपियों ने ही किया है। इसीलिये कवि ने गाया है "गोपी प्रेम की ध्वजा"।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिन गोपियों के मन को मनन करने के लिये माधव मदनमोहन की मधुर मनोहर मूर्ति के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु ही नहीं थी। जिन्होंने अपना तन, मन, प्राण तथा सर्वस्व श्यामसुन्दर के चरणों मे ही समर्पित कर रखा था। जिनके चित्त को चितचोर के अतिरिक्त कोई चिन्तनीय पदार्थ नहीं था। जो पलभर भी अपने प्रियतम का वियोग सहन करने में समर्थ नहीं थीं, जो पलकों के व्यवधान से ही तिलमिला उठती थीं। उन श्यामसुन्दर को जब उन्होंने कुरुक्षेत्र में सबके सम्मुख

देखा, तो लोक-लाजवश उनका प्रत्यक्ष आलिंगन तो कर नहीं सकती थीं। वे नेत्रों के द्वारा नंदनन्दन की मनोहर मूर्ति को अपने

हृदय में ले गयीं और वहीं उनका भावनामय आलिंगन करने लगीं। भगवान् की मनोमयी मूर्ति के स्पर्श और आलिंगन से उनके

रोमाञ्च हो रहे थे,वे प्रेम में अधीर बनी हुई थीं। भगवान् उनकी ऐसी दशा देखकर द्रवीभूत हुए। उन्होंने उनको एकान्त में मिलने का अवसर दिया। जहाँ अन्य कोई भी नहीं था ऐसे एकान्त स्थान में जाकर उनका गाढालिङ्गन किया फिर उनकी कुशल पूछा। गोपिकाओं ने लज्जा और सकोचवश कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उनकी नेत्रों के कोर से टप टप करके आँसू गिर रहे थे। वे श्यामसुन्दर से दृष्टि नहीं मिला सकती थीं।

विषय को अत्यन्त कारुणिक तथा गम्भीर होते देखकर हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—"क्यों गोपियो! हमसे अप्रसन्न हो क्या?"

इस पर आँसू पोछते हुए एक गोपी ने कहा—"महाराज! हम क्या अप्रसन्न होगी? हमारा क्या अधिकार है, हम आपकी कौन होती हैं?"

हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—"ये सब अप्रसन्नता की तो बातें ही हैं। अब मैं कैसे अपनी निर्दोषता सिद्ध करूँ। सत्य कहता हूँ, मैं मथुरा केवल इसी उद्देश्य से गया था कि अपने स्वजनों को-बन्धु बान्धवों को सुखी करूँ। समस्त यादवों को कंस बड़ा क्लेश दे रहा था, उससे हमारा जाति वाले सभी दुखी थे इसलिये उसे मैंने भरी सभा में मार डाला। उसे मार क्या दिया, मानो सभी से मैंने वैर मोल ले लिया। बहुत से हमारे शत्रु हो गये। उन सबसे लड़ाई भिड़ाई होती रही। आज वहाँ जा, कल वहाँ जा इस प्रकार जब से गया हूँ, तब से अब तक बड़े झमेलों में फँसा रहा। इसीलिये अब भी नहीं आ सका। तुमसे भेंट भी न कर सका। बहुत दिनों का व्यवधान होने से मैत्री शिथिल पड़ जाती है, किन्तु मैं तो निरन्तर तुम्हारा स्मरण किया करता हूँ। क्या तुम भी कभी मेरी याद करती हो।"

इस पर एक प्रेम के कोप में बोली—"महाराज! आपकी याद

या तो वह कुंवरी करती होगी या ये सोलह सहस्र एक सौ आठ राजकुमारियाँ करती होंगी। हमसे आपका क्या सम्बन्ध ? हम भला आपकी याद क्यों करने लगीं। हम तो चाहती हैं आपका कभी स्मरण न हो। पुरानी स्वप्न की बातों को भूल जावें। हमारे पास न रूप है न, विद्या, न कोई और गुण ही। आपको प्रसन्न करने का हमारे पास कोई साधन ही नहीं है।"

भगवान् ने अत्यंत ममता के साथ कहा—"तुमने जैसी सेवायें की हैं, वैसी तो कोई संसार में कर ही नहीं सकता, किन्तु मैं उसका कुछ भी प्रत्युपकार न कर सका। इससे तुम मुझे कृतघ्न अवश्य ही समझती होगी। तुम आपस में मेरी अकृतज्ञता की बातें कर-करके मुझे अवश्य ही भला बुरा कहती रहती होगी, किन्तु देखो, इसमें मेरा कोई दोष नहीं। हम सब भाग्य के अधीन हैं। भगवान् ही जीवों का परस्पर में संयोग कराते हैं और वे ही सबको जब चाहें पृथक् करा देते हैं। सब दैवाधीन होकर बर्ताव कर रहे हैं। मेरी इच्छा नहीं थी, मैं कभी तुमसे पृथक् होऊँ, किन्तु भाग्य ने हमको एक दूसरे से दूर हटा दिया। संसार में सदा कौन मिला रहता है, जो मिलता है, वह बिछुरता है। मिलना बिछुरने के ही लिये तो है। आकाश में मेघ एक दूसरे से आकर मिल जाते हैं, जहाँ प्रबल वायु चली तुरन्त छिन्न भिन्न हो जाते हैं, कहीं के कहीं हो जाते हैं। खेत में न जाने कहाँ कहाँ के बीज आकर उत्पन्न होते हैं। पकने पर कोई बीज किसी के पेट में चला जाता है, कोई किसी के। सब इधर उधर हो जाते हैं। गुरुकुलों में पाठशालाओं में कहाँ कहाँ के छात्र पढ़ने आते हैं, सब कितने प्रेम से हिलमिल कर पढ़ते हैं। पढ़ने के पश्चात् सबके प्रारब्ध उन्हें पृथक्-पृथक् पटक देते हैं। सब कहीं के कहीं हो जाते हैं। नदी के वेग में कितने तिनके बहते हैं। कुछ बहते बहते आपस में मिल जाते हैं, कुछ दूर तक साथ-साथ बहते हैं। फिर कोई प्रारब्धवश

लहर आती है कि सब बारह बाट हो जाते हैं। कोई कहीं वह जाता है कोई कहीं। आँधी में कितने पत्ते एकत्रित हो जाते हैं। फिर एक आँधी का प्रबल झोंका आया सब तितिर-बितर हो गये। मरुभूमि में बालू के कैसे टीले बन जाते हैं। कहाँ कहाँ के कण एकत्रित होकर परस्पर में सट जाते हैं, दूसरे दिन वायु चली फिर उन बालू के टीलों का नाम भी नहीं रहता। वे बालु के कण कहीं के कहीं उड़ जाते हैं। एक साथ आकर दूर-दूर के पशु जङ्गलों में घास चरते हैं। सायंकाल हुआ कोई कहीं चला गया, कोई कहीं। नौका में कहाँ कहाँ के लोग आकर साथ बैठ जाते हैं। नदी के साथी बन जाते हैं। जहाँ पार हुए, कोई कहीं चला गया, कोई कहीं। आक की बौंडी में रुई के बबूले साथ बढ़ते हैं। जहाँ बौंडी पकी तहाँ वे बबूले वायु में उड़ने लगते हैं कोई कहीं उड़ जाता है कोई कहीं। फिर वे कभी एक बौंडी में आकर एकत्रित नहीं होते। फूल एक साथ वाटिका में खिलते हैं। खिलने पर माली तोड़ता है। कोई देवता पर चढ़ते हैं, कोई कामिनी के कंठ का हार बनते हैं। कोई मसले जाते हैं, कोई पीसे जाते हैं, कोई परदेश भेज दिये जाते हैं। बेलों पर, वृक्षों पर फल साथ पैदा होते हैं। टूटने पर प्रारब्धवश कहीं के कहीं हो जाते हैं। इसी प्रकार श्री भगवान् प्राणियों का बार-बार एक दूसरे से संयोग कराते हैं वियोग कराते हैं, फिर कालान्तर में मिला देते हैं। अब देखो, हम तुमसे पृथक् हो गये थे। भाग्य ने फिर हमें मिला दिया। फिर हम एक दूसरे से मिलकर सुखी हुए।

संसार में जिससे भी प्रेम करो वही बन्धन का कारण बन जायगा। मृग से प्रेम करो मृग होना पड़ेगा। पत्नी से प्रेम करो तो दूसरे जन्म में फिर पति बनना होगा। पुत्र से प्रेम करो, तो फिर तुम्हें पुत्र बनना होगा। साराश यह है कि जिससे प्रेम करोगे उसी के बन्धन में बँधना होगा। एक मेरी ही ऐसी भक्ति है जो

भगवान् के स्वरूप मे तल्लीन हो गयीं। तन्मय हो जाने से वे सब सुधि बुधि भूल गयीं। उनकी ऐसी विचित्र अलौकिक दशा देख कर भक्तवत्सल भगवान् को बडी ही करुणा आयी। उन्होंने सोचा—"इन्हे परिव्राज सन्यासियो की दुर्लभ गति दे दूँ। देह बन्धन से विमुक्त बना दूँ। अत उन्हे झकझोर कर भगवान् कहने लगे—"गोपियो! तुम किसका ध्यान कर रही हो? अच्छा, तुम मुझसे कोई उत्तम से उत्तम वर माँग लो।"

यह सुनकर सबकी सब एक स्वर मे कहने लगीं—'हे कमलनाभ! आप यदि हमे वर देना चाहते हैं, तो एक वर दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"वह कौन सा वर? तुम सकोच छोडकर उसे माँग लो।"

गोपियो ने कहा—"आपने अभी कहा है कि मैं अगाध बोध हूँ, परम ज्ञान सम्पन्न हूँ, योगियो द्वारा मेरा हृदय कमल में चिन्तन किया जाता है तथा ससार कूप मे पतित प्राणियों का मैं उद्धार करने वाला हूँ। मैं ही सबका एक मात्र अवलम्ब हूँ। हम आपकी इन बातों का अविश्वास नहीं करतीं। आप कहते हैं, तो आप अवश्य होंगे। आप निर्विकार, निराकार रूप से योगियों और परमहसो द्वारा अवश्य चिन्तन किये जाते होंगे, किन्तु हम तो घर में रहने वाली गृहस्थिनी गँवारिनि गोपिकायें हैं। इसलिये हमारी तो आपसे प्रार्थना यही है, कि ये कमलो के सदृश कोमल गुदगुदे सुगधियुक्त आपके प्रत्यन चारुचरण निरन्तर हमारे हृदय में चिन्तामणि के सदृश प्रकाशित होते रहें। इनके दर्शनों के लिये हमें किसी अन्य आलोक की आवश्यकता न रहे। ये साकार चरणारविन्द हमारे मनमदिर में सतत स्थापित रहे आवें। हम अहर्निशि इनकी पूजा अर्चा में ही लगी रहें। यही हमारा वर है, यही हमारी भिक्षा है और यही हमने आपकी शिक्षा-दीक्षा का

सार समझा है। हम श्री वृन्दावन मे ही पडी रहें। वहीं आपका चरणारविन्द हमारे हृदयो मे चमकता रहे, ऐसा वर आप हमे दें।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! गोपियो के ऐसे प्रेम को देखकर भगवान् पानी पानी हो गये। गोपियो के एक मात्र गुरु उनके सर्वस्व उन गोपीजनवल्लभ भगवान् ने उन सब गोपियो के ऊपर कृपा की। वे इस प्रकार प्रेम की बातें कर ही रहे थे, कि रुक्मिणी ने आकर कहा—"आप यहाँ बैठे बातें कर रहे हैं, धर्मराज कबसे आपकी प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं।"

अब भगवान का ध्यान भग हुआ। रस भग हो गया। उन्होने कहा—"अच्छा, चलता हूँ।" तुरत उन्होंने गोपियो से कहा—"अच्छी, बात है, अभी तो हम यहाँ बहुत दिन साथ रहेंगे, फिर बाते होगी।" यह कहकर सबसे प्रेमपूर्वक मिल भेंट कर भगवान धर्मराज युधिष्ठिर से मिलने आये। अब धर्मराज से जैसे भगवान् की भेंट होगी, उस कथा प्रसङ्ग को आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

भरि नयननि जल कहें गोपिका हरि तुम ज्ञानी।
का समुझें हम योग ज्ञानयुत तुमरी बानी॥
कीयो जो उपदेश सोंच हम ताकूँ मानें।
किन्तु न जसुमति तनय छाँडि हम जग कछु जानें॥
वरदाता! वर देहु जिह, जाइ न हमरी अनत मति।
तव मूरति हिय महँ बसै, चरन कमल महँ होहि रति॥

धर्मराज युधिष्ठिर से भेंट

[११७४]

तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः।
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८३ अ० १ श्लोक)

छप्पय

करी कृपा करुनेश सबनिकूँ धीर बँधायो।
धरमराजने दरश हेतु सन्देश पठायो॥
गोपिनिकूँ करि विदा द्वारपै यदुवर आये।
करि स्वागत सत्कार नृपति पांडव बैठाये॥
कुशल क्षेम पूछी तबहि, कहहिं धरमसुत नयन भरि।
भई कुशल अब दयामय! तव चरननिके दरश करि॥

जब अधिक पुण्यों का उदय होता है तब भगवान् के तथा भगवद्भक्तों के दर्शन होते हैं। शरीर स्वस्थ रहे, धन धान्य यथेष्ट आता रहे, इतनी ही कुशल नहीं है। यथार्थ कुशल तो यह है, कि भगवान् के दर्शन हो जायँ, भगवान हमें अपना लें। आत्मीय करके स्वीकार करलें। भगवान् ने जहाँ हमें अपनाया, जहाँ

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! गोपियों के गुरु और उनकी एकमात्र गति भगवान् वासुदेव ने उन व्रजांगनाओं पर इस प्रकार कृपा की। फिर आकर अपने युधिष्ठिरादि समस्त बन्धु बान्धवों से उनकी कुशल पूछी।"

हम भगवदीय अथवा भागवत बन गये, तहाँ अकुशल रहती ही नहीं। सर्वत्र कुशल ही कुशल हो जाती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् गोपीजनवल्लभ गोपियों को सान्त्वना देकर उन्हें भली भाँति समझाकर बाहर आये। वहाँ पाँचों पाण्डव प्रभु की प्रतीक्षा कर रहे थे। आते ही भगवान् प्रेमपूर्वक सबसे मिले। फिर भगवान् ने धर्मराज से पूछा—"कहो, भाई! अच्छे तो हो, हमारे और सब बन्धु बान्धव, सम्बन्धी अच्छी प्रकार हैं न?"

धर्मराज युधिष्ठिर का हृदय प्रेम के कारण द्रवित हो रहा था। भगवान् के चरणारविन्दों के दर्शन से वे अपने को परम पुण्यवान् अनुभव कर रहे थे, उनका मन परम प्रमुदित हो रहा था। कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था। बड़े कष्ट से रुक रुककर बोले—"प्रभो! हम अपनी कुशल क्या कहें, अब तक चाहे हमारी कुशल न भी रही हो, किन्तु अब तो कुशल ही कुशल है।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"क्यों, अब क्या हो गया?"

धर्मराज ने कहा—"हो क्या गया, हमें मनुष्य जीवन का लाभ मिल गया। देव! यह जीव कब से इस संसार रूपी भवाटवी में भटक रहा है। यह भ्रमण क्रिया कभी समाप्त नहीं। एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा इस प्रकार जन्म के ऊपर जन्म होते रहते हैं। जीव अज्ञान के वशीभूत होकर चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है, किन्तु उसका अज्ञान नाश नहीं होता। जब तक अज्ञान है, तब तक जन्म-मरण का चक्कर है। यह जन्ममरण का चक्र तभी समाप्त होगा जब इस प्राणी के कर्णपुटों में महापुरुषों की वाणी द्वारा निकली हुई तुम्हारे चरणारविन्दों की कथा रूप सुधा भर जाय। उससे हृदय परिप्लावित हो जाय। जिन्होंने उस सरस सुधा का प्रेमपूर्वक पान किया है, उनका कभी अमंगल नहीं हो सकता। वे जन्म

मरण के चक्र से सदा के लिये निकल सकते हैं। सो, देव! हमने तो आपके अब प्रत्यक्ष दर्शन कर लिये हैं।"

भगवान् ने कहा—"धर्मराज! अब इन बातों को तो रहने दो, अपने समाचार सुनाओ। आजकल राज्य की कैसी परिस्थिति है, दुर्योधनादि कौरवों का आपके साथ कैसा व्यवहार है।"

धर्मराज बोले—"मैं क्या सुनाऊँ प्रभो! आप सब जानते हैं, आप सर्वज्ञ तथा सर्वान्तर्यामी हैं। जब-जब संसार में अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब आप अवतार लेकर दुष्टों का संहार और शिष्टों की रक्षा करते हैं। कालक्रम से नष्ट होते हुए वेदों की रक्षा करने के निमित्त आप अपनी योगमाया की सहायता से मनुष्यावतार धारण करते हैं। आप परमहंसों की एकमात्र गति हैं, आप निजानन्दस्वरूप हैं, आप जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे हैं। आप आनन्द से परिपूर्ण हैं, आप अखण्ड, अकुण्ठित और विज्ञानस्वरूप हैं, आपके चरणों में प्रणाम करने से ही हम सब ओर से निश्चिन्त हो गये हैं। दुष्टों का आप स्वयं दमन करेंगे और शिष्टों का स्वयं पालन करेंगे।"

भगवान ने कहा—"राजन्! इस पृथ्वी पर राजाओं के रूप में बहुत से असुर उत्पन्न हो गये हैं। जब तक उन सबका संहार न होगा, तब तक संसार में शान्ति स्थापित होना असम्भव है। अब मेरा विचार आपके पास कुछ दिन इन्द्रप्रस्थ आकर रहने का है।"

धर्मराज ने कहा—"तब तो हमारे भाग्य ही खुल जायँगे। प्रभो! हम तो आपके यन्त्र हैं, हमसे तो आप जो भी करवायेंगे वही करेंगे।"

भगवान बोले—"राजन्! जब तक एक घोर युद्ध न होगा, तब तक शान्ति नहीं हो सकती। सर्वत्र राग, द्वेष, कलह और दम्भ का प्राबल्य हो गया है। प्रतीत ऐसा होता है, यह वसुन्धरा

रक्त की प्यासी है। मुझे अनुभव हो रहा है, इसी कुरुक्षेत्र में निकट भविष्य मे एक महान् युद्ध होगा, जिसम भू का भार बने हुए बहुत से योद्धा नष्ट हो जायँगे। सैन्यशक्ति आवश्यकता से अधिक बढ गयी है। सब एक दूसरे को परास्त करना चाहते हैं। प्रजा का पुत्र की भाँति पालन करने वाले वास्तविक राजा रहे ही नहीं। सब दस्यु लुटेरो की भाँति प्रजा को लूट रहे हैं। जब तक इनका सहार नही होता तब तक कोई भी सज्जन पुरुष सुख सतोष की साँस नही ले सकता। अच्छा, बताइये आप अकेले ही आय ? वृश्रा जी तो प्रात काल ही आयी थीं। द्रौपदी नही आयी।"

अर्जुन ने कहा—"वे भीतर चली गयी हैं।"

यह सुनकर भगवान हँस पडे और बोले—"सब लोग अपने समाज मे ही जाकर सुखी होते हैं। देखो, वे स्त्रियो में चली गयी।"

धर्मराज ने सहदेव से कहा—"सहदेव ! तुम भीतर जाकर द्रौपदी को सूचित कर दो कि भगवान् आ गये हैं, वह आकर प्रणाम कर जाय।"

भगवान् ने शीघ्रता से कहा—"नहीं, नहीं, उन्हें यहाँ बुलाने की क्या आवश्यकता है, मैं भीतर ही चला जाऊँगा। यहाँ सबके सम्मुख उन्हें सकोच भी होगा और मुझे तो भीतर बाहर कहीं सकोच नहीं। आप बैठें। मे भीतर होकर अभी आता हूँ।" यह कहकर भगवान् भीतर चले गये। वहाँ जाकर देखते हैं, कि स्त्रियो का बडा भारी समाज लगा हुआ है। सभी सुन्दर बहुमूल्य गलीचों पर बैठी हुई पान चबा रही हैं। नि सकोच बैठी हुई परस्पर मे हँस हँसकर बातें कर रही हैं। सबके बीच मे द्रोपदीजी बैठी हुई हैं। उन्हें घेरकर भगवान् की सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ बैठी हैं। द्रौपदीजी एक एक

रानी से बातें कर रही हैं। आपस मे बडी सरस मीठी-मी बाते हो रही हैं। उस समाज मे कोई भी बडी बूढी स्त्री नहीं जिससे किसी को सकोच हो। सब नई बहुएँ ही हैं। भगवान् भीतर जाते ही सभी ने शीघ्रता से अपना-अपना आँचल सम्ह लिया और उठकर खडी हो गयी।

द्रौपदी ने लजाते हुए उठकर भगवान को प्रणाम किया रग मे भग हो गयी, सभी स्त्रियाँ सहम गयी, सकपका गयी

भगवान ने द्रौपदीजी से कहा—"कहो पाचाली! अच्छी न? मैंने असमय मे तुम्हारी बातों मे विघ्न डाला। मैं व ही मिलने चला आया। अब तुम आपस मे जो मीठी मीठी बा कर रही थी वही करो। हम लोग बाहर बातें करते हैं। फिर मे होगी।" यह कहकर भगवान् तुरन्त उलटे पाँवो लौट गये भगवान् के लौटते ही सब फिर खिलखिला कर हँस पडी औ उनमे बातें होने लगीं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! द्रौपदीजी में और भगवा की पत्नियो मे क्या-क्या बातें हो रहीं थीं, उन्हे हम भी सुनन चाहते हैं। ऐसी क्या मीठी-मीठी बातें हो रही थीं।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! स्त्रियो और बातें ही क्या होगीं। उनकी बातो के तीन ही विषय हो हैं, या तो अपने पति के स्वभाव की बातें या अपने विवाह औ वस्त्राभूषण की बातें या घर गृहस्थी का रोना। वे आपस मे अपने अपने विवाह की बाते कर रही थीं। आप त्यागी महात्मा होकर विवाह फिवाह की बातो को सुनकर क्या करोगे?"

शौनकजी ने कहा—"नहीं, सूतजी! यदि ससारी लोगों क विवाह की बातें होतीं तो उन्हें हम कभी न सुनन। भगवान् की पत्नियाँ तो यही बता रही होगीं कि भगवान् ने हमारे साथ कस विवाह किया। यह तो भगवत् कथा ही है। भगवान् के

विवाह की कथा सुनने से तो पाप कटते हैं आप हमें इस प्रसङ्ग को अवश्य सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! जब आपकी आज्ञा है, तो सुनाता हूँ। द्रौपदीजी ने जैसे सब रानियों से उनके विवाह के सम्बन्ध में प्रश्न किये और जैसे उन सबने उत्तर दिये उस कथा को मैं सुनाता हूँ आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

इत यदुनन्दन पाडुसुतनि सँग प्रेम दिखावें।
उत पाचाली प्रभुपत्निनि सँग मिलि बतरावें॥
निज विवाह की बात चलाई सब उकसाई।
पूछें सबतें कह्यो कृष्ण तुम कस अपनाई॥
रुक्मिनि! सत्ये! लक्ष्मणे! हे भद्रे! हे जाम्बवति!
सतभामे! रोहिनि कहो, अपनाई ज्यों जगत्पति॥

द्रौपदीजी की श्रीकृष्ण पत्नियों से विवाह की बातें

[११७५]

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥
हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान् स्वयम् ।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥*

(श्री० भा० १० स्क ८३ अ० ६, ७ श्लोक)

छप्पय

कृष्णा तैं सब कहें व्याह की बिहँसि कहानी ।
सत अरु सोलह सहस आठ श्रीहरि की रानी ॥
रुक्मिनि ने निज हरन सत्यभामा भनि चोरी ।
जाम्बवती ने कही मिली हरि तैं ज्यों जोरी ॥
कालिन्दी तप की कथा, सत्या ने वृष नाथिवो ।
कह्यो मित्रविन्दा स्वयं, बलपूर्वक हथियायवो ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीकृष्ण पत्नियों से द्रौपदी जी पूछ रही हैं—"हे रुक्मिणि ! हे भद्रे ! हे जाम्बवती ! हे सत्ये ! हे सत्यभामे ! हे कालिन्दि ! हे मित्रविन्दे ! हे रोहिणि ! हे लक्ष्मणे ! हे श्री कृष्णचन्द्र की अन्य पत्नियो ! तुम मुझे यह बताओ कि अपनी माया से ही साधारण लोगो का अनुकरण करने वाले भगवान् ने तुमसे किस प्रकार विवाह किया ।"

स्त्री और पुरुषों के जीवन में अनेक सुखद और दुखद प्रसंग आते हैं। बहुत से ऐसे प्रसंग हैं जो समय पाकर विस्मरण हो जाते हैं। फिर उनका स्मरण ही नहीं रहता, किन्तु विवाह का एक ऐसा सरस प्रसंग है कि वह कभी भूला नहीं जाता। दो हृदय आपस में जिस काल में मिलते हैं, वह काल तो चला जाता है, किन्तु दोनों ही हृदयों में अपनी अपनी मधुर स्मृति छोड़ जाता है। जैसे मिश्री खाते समय भी मीठी लगती है और उसकी जब याद आ जाती है, तब भी मुँह में पानी भर आता है, उसी प्रकार विवाह के समय तो वर-वधू को प्रसन्नता होती ही है, जब-जब उसकी स्मृति आ जाती है तब-तब हृदय में एक प्रकार की सरसता छा जाती है। यदि विवाह दोनों के अनुराग से दोनों के चाहने पर हुआ तब तो उसकी स्मृति अत्यन्त ही मधुर हो जाती है। स्त्री पुरुष परस्पर में मिलते हैं, तो मनोविनोद के लिये ऐसा सरस सुखद प्रसंग छेड़ते हैं, जिससे अतीत की सुखद स्मृतियाँ जागृत हो उठें। मन में मधुरता उत्पन्न हो जाय। इसलिये पति पत्नी के मिलन का सुखद प्रसंग छेड़कर समवयस्क स्त्री पुरुष अपना मनोरंजन करते हैं। उत्सव पर्वों पर जो परस्पर में सम्मिलन होता है, वह ऐसे ही प्रेम प्रसंगों से तो सुखद बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्रौपदीजी भगवान श्रीकृष्ण चन्द्रजी की पत्नियों से प्रेमपूर्वक हृदय से हृदय सटाकर मिलीं। फिर आपस में कुशल समाचार पूछे। रुक्मिणीजी द्वारा पहिले तो पूछा—"इनके कै लड़के हैं, इनके कै लड़के हैं?"

हँसकर रुक्मिणीजी ने कहा—"हमारे वे तो पक्षिभेद करना जानते ही नहीं। जैसे विवाह आदि के परोसों में सबको च लड्डू आठ आठ कचौड़ियाँ दी जाती हैं, वैसे ही हम स दस लड़के और एक एक लड़की है। अन्तर इतना ही

पाच पति हैं, पाँच लडके हैं, हमारे एक पति हैं, सबके दस दस लडके हैं।'

हसकर द्रोपदाजी बोलीं—"फिर तुम सब हो भी तो जगत् पति का पत्नी। हमसे बढकर तो होनी ही चाहिये। अच्छा, मैं यह पूछना चाहती हूँ कि तुम्हारा भगवान् के साथ कैसे विवाह हुआ। तुमने अपनी इच्छा से भगवान् के साथ विवाह किया या भगवान् तुम्हे बलपूर्वक पकड लाये। तुम सभी मुझे अपने अपने विवाह की बात सुनाओ।"

यह सुनकर उनमें से लक्ष्मणा बोली—"जीजी! पहिले तुम हम अपने विवाह की बात सुनाओ। तुम्हारा पाँचों पाडवों के साथ विवाह कैसे हुआ?"

यह सुनकर सकुचाती हुई द्रौपदी बोली—'बहिनो! मेरे विवाह का वृत्तान्त बडा विचित्र है। मैं किसी मानवीय स्त्री के उदर से उत्पन्न नहीं हुई हूँ। मैं अयोनिजा हूँ, मेरा जन्म अग्नि कुण्ड से हुआ है। जब मैं बडी हुई तो मेरे पिता महाराज द्रुपद ने मेरा विवाह पाडवों मे मझले गाँडीव धनुर्धारी के साथ करना चाहा। तब पाडव गुप्त रूप से रहते थे। मेरे पिता ने एक कृत्रिम मत्स्य बनाया और प्रण किया इसे जो वेध दे वही मेरी कन्या का पति हो। साधुवेष मे गाडीव धनुर्धारी भारत ने वह मत्स्यवेध किया। वे मुझे लेकर गये। मेरी सास ने भीतर से ही कह दिया—"भिक्षा में आज जो तुम्हे वस्तु मिली है पाँचो बाँट लो। फिर वेद व्यास भगवान् ने आकर पूर्वजन्म की बातें बताईं और कहा पाचाला पाँचो ही पाडवा की पत्नी होगी, इसे कोई अन्यथा कर नहीं सकता। भवितव्यता के आगे सबने सिर झुका दिया मैं पाँचो की पत्नी हुई। अब तुम सब मुझे अपने अपने विवाह की बातें सुनाओ। सबसे पहिले रुक्मिणी जीजी ही सुनायें।'

यह सुनकर रुक्मिणीजी बोलीं—"मेरा भी भगवान् से विवाह

विचित्र रीति से ही हुआ। मैंने सर्वप्रथम नारदजी के मुख से भगवान की प्रशंसा सुनी थी। तभी से उनका रूप मेरे मन में बस गया। मेरे पिता ने मेरी सगाई मेरी इच्छा के विरुद्ध शिशुपाल से कर दी। बरात भी आ गयी। अनुराग समझकर भगवान् तुरन्त मेरे पिता के पुर में आये। और राजा भी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर समर करने की लालसा से आये थे। देवी पूजा से निवृत्त होकर मैं ज्योंही निकली त्योंही भगवान् मुझे रथ पर चढ़ाकर चल दिये। यह देखकर नृपतिगण धनुषों पर बाण चढाकर युद्ध करने के निमित्त उद्यत हुए। मेरे प्राणनाथ किसी से कम नहीं थे। वे बड़े-बड़े अजेय वीरों के मणिमय मुकुटों से सुशोभित मस्तकों पर अपने चरण रखकर ये गये वे गये। सब देखते के देखते ही रह गये। उनके चरणारविन्दों से गिरे हुए परागकण ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मणियों के कण बिखर रहे हों। जैसे बकरियों के झुण्ड से बाघ अपने भाग की बकरी को निर्भय होकर उठा ले जाता है, जैसे सहस्रों भेड़ों में से भेडिया जिस भेड को चाहता है ले जाता है, जैसे सिंह सियारों के बीच से अपने भाग को लेकर चलता बनता है उसी प्रकार हमारे लक्ष्मीनिवास उन उतने बलदर्पित राजाओं के बीच से मुझे उठा ले गये। सब टुम्म-टुम्म देखते के देखते ही रह गये। सबकी सिटिल्लियाँ भूल गयीं, कोई चूं भी न कर सका। अपनी पुरी में लाकर मेरे साथ विवाह करके मेरी मनोकामना पूर्ण की। इन अच्युत की मैं सदा से दासी रही हूँ, अब भी हूँ और जन्मजन्मान्तरों में भी सदा रहूँगी। तुम ऐसा आशीर्वाद दो कि इन पुनीत पादपद्मों की मैं सदा प्रेमपूर्वक पूजा करती रहूँ।" यह कहकर रुक्मिणीजी चुप हो गयीं।

तब द्रौपदीजी बोलीं—"अच्छा, बहिन! सत्यभामा! तुम भी सुनाओ अपने विवाह की बात।"

यह सुनकर सत्यभामा लजा गयी, उसने संकोच के साथ कहा—"मेरा क्या समाचार मुझे तो मेरे पिता ने अपना कलंक मिटाने के लिये भगवान् को दिया था। बात यह थी, मेरे पिता के पास एक स्यमंतक मणि थी, उनके भाई उसे पहिनकर वन में गये। वन में एक सिंह ने उन्हें मार डाला। मेरे पिता अपने छोटे भाई के न आने से दुखी थे। उसी दुख के आवेग में कहीं उन्होंने कह दिया कि मेरे भाई को सम्भव है भगवान् ने मार दिया हो। भगवान् ने जब यह बात सुनी तो अपने मिथ्या कलंक को दूर करने के निमित्त वन में गये और बहिन जाम्बवती के पिता ऋक्ष-राज जाम्बवान् को जीतकर उनसे मणि लाकर मेरे पिता को दी, इस प्रकार उन्होंने अपना मिथ्या कलंक मिटा दिया। उनका कलंक तो मिट गया, किन्तु मेरे पिता के सिर पर उलटा कलंक का टीका लग गया। मेरे पिता डर गये, सोचते-सोचते उन्होंने यही निर्णय किया कि मैं अपनी पुत्री का विवाह श्यामसुन्दर से कर दूँ, तो मेरा यह कलंक दूर हो जायगा। यद्यपि मेरे पिता ने मेरी सगाई किसी दूसरे के साथ कर दी थी। कन्या तो पिता के अधीन होती है। पिता जिसके हाथ में उसका हाथ पकड़ा देता है, उसी के साथ वह चली जाती है। जब मैंने सुना मेरे पिता मुझे श्यामसुन्दर को देना चाहते हैं, तो मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। मेरे पिता ने जिनके साथ सगाई की थी, उन्हें न देकर इन सर्वसमर्थ श्याम-सुन्दर के ही चरणों में मुझे समर्पित कर दिया। आगे की कथा अत्यन्त कारुणिक है। उसे अब न कहूँगी।" यह कहकर सत्य-भामा के नेत्रों से आँसू झरने लगे वे मुख ढाँपकर रोने लगीं।

तब द्रौपदीजी ने जाम्बवती से पूछा—"बहिन तुम्हारा विवाह कैसे हुआ ?"

जाम्बवती बोलीं—"जीजी ! मेरे पिता चिरजीवी हैं। श्रीरामा वतार में मैंने इन श्यामसुन्दर को जब देखा, तभी मैंने इन्हें आत्म-

समर्पण कर दिया। उन दिनों ये सुन्दर तो इतने ही थे, किन्तु उस सौन्दर्य रस के आस्वादन का एकमात्र अधिकार भगवती जनकनन्दिनी को ही सौंप रखा था। मेरे पिता ने प्रार्थना भी की "प्रभो! मेरी पुत्री आपकी ही दासी बनना चाहती है, इसे आप अपनावें।"

उस समय भगवान् बोले—"मुझसे भूल हो गयी, इस अवतार में मैंने एक पत्नी व्रत का ही नियम ले रखा है। अच्छी बात है, दूसरा जब मैं प्रेमावतार लूँगा, तब तुम्हारी पुत्री को अपनाऊँगा। तभी से मैं इस सरस अवतार की प्रतीक्षा कर रही थी। मेरे पिता गुहा में रहते थे। सिंह को मारकर वे उससे स्यमन्तक मणि छीन लाये। उस मणि को खोजते-खोजते श्यामसुन्दर हमारी गुहा में पहुँचे। मेरे पिता को अपने बल का बड़ा अभिमान था। वे भगवान् को पहिचान न सके कि ये ही मेरे स्वामी राम ही कृष्ण का वेष बनाकर मणि खोजने आये हैं। मेरे पिता इनसे सत्ताईस दिनों तक लड़ते रहे। उस युद्ध में भगवान ने मेरे पिता को मारा तो नहीं किन्तु उनके दर्प को मिटा दिया। अब मेरे पिता को ज्ञान हो गया कि ये मेरे स्वामी भगवान राघवेन्द्र ही हैं। फिर क्या था, रोष का स्थान प्रेम ने ग्रहण कर लिया। मेरे पिता प्रभु के पादपद्मों में प्रणत हो गये मुझे अर्घ्य रूप में उन्हें अर्पण किया और दहेज में वह मणि दी। इस प्रकार प्रभु ने मेरी चिरकाल की अभिलाषा पूर्ण की। अब मैं उनके चरणों की एक तुच्छ दासी हूँ।"

तब द्रौपदीजी सूर्यतनया कालिन्दीजी से बोलीं—"बहिन! तुम भी सुनाओ अपनी कथा।"

कालिन्दी ने कहा—"दीदी! मैं अपने को इस योग्य तो समझती नहीं थी कि भगवान् की पटरानी बन सकूँ, किन्तु मेरी इच्छा तो थी कि मुझे भगवान् के भवन का वैकर्य मिल-

इसके लिये यमुना के भीतर अपने पिता के बनाये एक भवन में तपस्या किया करती थी, मेरे अभिप्राय को समझकर श्रीहरि ने अपने सखा-तुम्हारे पति-श्री अर्जुन के द्वारा मुझे बुलाया। मुझे अपने चरण स्पर्श की इच्छा वाली समझकर अपनाया और मेरा पाणिग्रहण किया। जीजी! मैं रानी फानी तो हूँ नहीं। भगवान् के भवन की भगिनि हूँ, घर में झाड़ू बुहारू देती रहता हूँ।"

तब द्रौपदीजी मित्रविन्दा से बोलीं—"बहिन! तुम भी अपने विवाह का समाचार सुनाओ।"

मित्रविन्दा ने कहा—"जीजी! मैं क्या सुनाऊँ। मेरे भाई तो नहीं चाहते थे, मैं श्यामसुन्दर को वरूँ। उनकी इच्छा मुझे दुर्योधन को देने की थी। इसी उद्देश्य से मेरा बनावटी स्वयवर रचा गया। मैं चाहती थी, किसी प्रकार मुझे श्यामसुन्दर मिलें। मेरे भाव को जानकर भगवान् अकस्मात् स्वयवर में आ टपके और सियारों के बीच से जैसे सिंह अपना भाग लेकर चला जाता है, वैसे ही ये स्वयवर में आये समस्त राजाओं को तथा मेरे भाइयों को जीतकर मुझे लेकर द्वारकापुरी में आ गये। वहाँ मेरे साथ विधिवत् विवाह कर लिया। अब मैं भगवान् के चरण धोने का कैंकर्य नित करती हूँ और इन अखिलेश्वर से यही माँगती रहती हूँ कि यह कैंकर्य मुझे जन्म जन्मान्तरों में प्राप्त होता रहे।"

यह सुनकर द्रौपदी जी बोलीं—"सत्या बहिन तुम भी अपने ब्याह की कथा सुनाओ।"

सत्या बोलीं—"अरी जीजी! मेरे विवाह की क्या सुनोगी। मेरे पिता ने बड़े मरखने, बड़े हृष्ट पुष्ट, बड़े तीखे सींगों वाले सात साड़ राजाओं के पुरुषार्थ की परीक्षा के लिये पाल रखे थे। उन्होंने प्रतीज्ञा की थी—"जो इन सातों बैलों को पकड़कर नाथ देगा, उसके साथ मैं अपनी कन्या का विवाह करूँगा।"

भगवान् ने भी यह बात सुनी, मेरा आन्तरिक भाव भी समझ गये। व्रज मे ये बैल नाथना सीख ही चुके थे। तुरन्त सातो को बडे वेग से पकडकर एक साथ ही नाथ दिया और बकरी के बच्चो की भाँति उन्हे बाँध दिया। उनके लिये यह खेल था। साधारण क्रीडा थी। हँसी-हँसी मे बिना प्रयास के उन्होने यह सब कर दिया। बीच मे कुछ राजाओ ने विघ्न डाला। उन्हें भी मारकर चतुरङ्गिनी सेना सहित और पिता के दिये दहेज सहित मुझे अपनी पुरी मे ले आये। तभी से मैं इनके चरणो की सेवा करती हूँ। और सब तो रानियाँ हैं मैं तो एक तुच्छ दासी हूँ और यही इनसे प्रार्थना करती हूँ कि जन्म जन्मान्तरों मे यही दास्य भाव मुझे प्राप्त होता रहे।"

तब द्रौपदीजी ने भद्रा से कहा—"बहिन ! तुम्हे भगवान् कैसे छीन झपट कर लाये।"

हँसकर भद्रा बोली—"जीजी ! मेरे लिये भगवान् को छीन झपट नहीं करनी पड़ी। मैं तो इनकी फूआ की लड़की हूँ न। मेरा इनमे अत्यन्त अनुराग हो गया था। मेरे पिता ने सोचा—"कोई बात नहीं लडकी घर की घर में ही रह जावे। अतः उन्होंने इन्हे बुलाकर मुझे विधिवत् दे दिया। साथ में अक्षोहिणी सेना तथा बहुत-सी दास दासियाँ और अन्य भी दहेज की वस्तुएँ दीं। अब मुझे इनके चरण स्पर्श का नित्य ही सौभाग्य प्राप्त होता है और यही इनसे मनाती हूँ कि जन्म जन्मान्तरों में मुझे ऐसा ही सौभाग्य सदा प्राप्त होता रहे। जीव का इसी मे कल्याण है, यही परम पुरुषार्थ है, यही श्रेय है, यही प्राप्य स्थान है।"

द्रौपदीजी ने कहा—"लक्ष्मणा बहिन ! तुमने मेरे विवाह की बात पूछी थी, अब तुम भी अपने विवाह की बात बताओ। की तरह संक्षेप मे न कहना, लज्जा भी न करना, तुम

हृदया जान पडती हो। विस्तार के साथ प्रांजल भाषा में साहित्यिक ढङ्ग से सुनाना।"

यह सुनकर लक्ष्मणा हँसीं और बोलीं—"जीजी! अपने विवाह की बातें ऐसे सुनानी तो न चाहिये, किन्तु जब आपका आग्रह ही है, तो सुनाती हूँ सुनो। देवि! मेरे घर में बार-बार नारद मुनि आया करते थे। मैं अपने पिता की अत्यन्त ही प्यारी दुलारी कुमारी थी। मुझे वे नयन की पुतलियों की भाँति रखते। सदा गोदी में लिये रहते। यहाँ तक की राज दरबार में भी मैं उनकी गोदी में बैठी रहती। देवर्षि भगवान् नारद जब-जब भी आते तभी तब वे भगवान् के दिव्य जन्म और अलौकिक कर्मों का ही गुणगान करते। वे गीत भी उनके सम्बन्ध के गाते। जब वे भगवान् के गुणों का वर्णन करने लगते तो तन्मय हो जाते, अधीर हो जाते और अपने शरीर की सुधि बुधि तक भूल जाते। मैं अबोध बालिका थी, न जाने क्यों मुझे नारदजी के मुख से भगवान् के चरित्र बड़े ही मधुर प्रतीत होने लगे। मेरे मन में बार-म्बार यह प्रश्न उठता—"भगवान् श्रीनिवास कितने सुन्दर होंगे, कैसे वे मनोज्ञ होंगे। मुझे किस प्रकार उनके दर्शन होंगे।" इन बातों को सोचते-सोचते मैं तन्मय हो जाती। अब शनैः-शनैः मेरा मदनमोहन के प्रति अनुराग बढने लगा। चित्त में एक प्रकार की तडपन होने लगी। मैं निरतर सोचती रहती—"लक्ष्मी निवास क्या मुझे अपनावेंगे, क्या मुझे वे अपने चरणों की दासी बनावेंगे, क्या वे मेरी चिरकाल की साध को पूरी करेंगे। जीजी! अधिक क्या कहूँ, तुमसे क्या सकोच मेरा चित्त भगवान् वासुदेव में आसक्त हो गया।"

मेरे पूज्य पिताजी तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करते ही थे। सखियों द्वारा मेरे मन का भाव मेरी माता को विदित हुआ। माता ने पिताजी से कह दिया। मेरे पिता महाराज बृहत्-

सेन सोच में पड़ गये उन्होंने एक उपाय रचा। उन्होंने सोचा—"वैसे मैं अपनी पुत्री का विवाह भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के साथ कर दूँ तो न इसमें मेरी प्रतिष्ठा है न उनकी। अतः मैं अपनी प्यारी पुत्री को वीर्य शुल्का घोषित करके स्वयम्वर रचूँ। जो राजा मेरे पण को पूर्ण कर देगा, वीर्य के शुल्क को चुका देगा, वही मेरी पुत्री का पति होगा। यह तो निश्चय ही है कि भगवान् श्यामसुन्दर बल और वीर्य में सबसे श्रेष्ठ है। उनके लिये कोई कार्य असम्भव नहीं। इस प्रकार वे सब राजाओं के समक्ष वीर्य का शुल्क चुकाकर मुझे वरण करेंगे, तो उनके सुयश का विस्तार होगा, मेरी पुत्री की ख्याति होगी और हम ज्ञाति वालों का भी गौरव बढ़ेगा।" यही सब सोचकर मेरे पिता ने वही उपाय रचा जो तुम्हारे पिता ने तुम्हारे स्वयवर में अर्जुनजी की प्राप्ति के निमित्त रचा था। जिस प्रकार तुम्हारे पिता ने मत्स्य वेध का आयोजन किया था, वैसा ही आयोजन मेरे पिता ने किया। मेरे पिता ने एक उससे भी अधिक विशेषता कर दी। तुम्हारे स्वयम्वर में तो यह था कि एक खम्भा गड़ा था उस पर एक घूमने वाला यन्त्र था उस घूमने वाले यन्त्र में एक मछली टँगी थी। वह मछली यन्त्र के साथ घूम रही थी। उस घूमती हुई मछली का वेधन था। यह बड़ा कठिन काम था, घूमती हुई मछली पर लक्ष्य जमा कर उसे वेधना। आपके यहाँ की मछली खुली हुई थी, मेरे पिता ने यन्त्र तो वैसा ही बनवाया, वैसी ही उस पर मछली टाँगी, किन्तु उसे बाहर से ढक दिया था। केवल जल में उसका प्रतिबिम्ब दीखता था। प्रतिबिम्ब को देखकर ढकी हुई घूमती हुई मछली के सिर को काटना था। यह सामान्य कार्य नहीं था, किंतु मेरे पूजनीय पिताजी को विश्वास था कि श्यामसुन्दर इस लक्ष्य को अवश्य वेध देंगे। इसी हेतु उन्होंने समस्त राजाओं को निमन्त्रण पठाया।

मेरे स्वयम्वर का सुखद समाचार सुनकर सभी दिशाओं से सेना और शस्त्रों से सुसज्जित सहस्रों नरपतिगण मेरे पिता की पुण्य पुरी में पुरोहितों के सहित पधारने लगे। देवि! उस समय राजा और राजकुमारों का वहाँ बड़ा जमघट हुआ था। चारों ओर अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित सैनिक ही सैनिक दिखाई दे रहे थे। तुरहियाँ बज रहीं थीं, अप्सरायें नृत्य कर रहीं थीं। मंगल गीत गाये जा रहे थे। मुझसे प्रथम मेरे पिता की पुरी सजाई गयी थी। मानो उसका भी विवाह होगा। उस समय इतने बाजे बजते थे, कि लोग संकेतों से बातें करते थे। मेरे पिता उन दिनों बड़े व्यस्त रहते थे। उन्हें प्रतिक्षण यही चिन्ता बनी रहती थी, कि आगत राजाओं के स्वागत सत्कार में किसी प्रकार की त्रुटि न रहने पावें। आगन्तुकों की मान मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा तथा आयु बल के अनुरूप ही आतिथ्य हो। जितने राजा आये थे, सभी मुझे प्राप्त करना चाहते थे। सभी सोचते थे, राजकुमारी हम ही मिलेंगी, किन्तु उनमें से मैं किसी की ओर फूटी आँख से भी देखना नहीं चाहती थी। मेरे मन में तो मदनमोहन की मन मोहिनी मनोहर मूरति बसी थी। मैं तो निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करती रहती, उन्हीं की टोह लगाती रहती, कि वे मेरे चित को चुराने वाले चितचोर आये या नहीं।

जीजी! बात बढ़ाने से क्या लाभ स्वयम्वर की नियत तिथि आ गयी। उस दिन श्यामसुन्दर भी आ गये, मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं था। हृदय धक धक कर रहा था। आशा निराशा के बीच में मैं भोंटे से खा रही थी। प्रेम में सदा शंका बनी रहती है। वर्षों साथ रहने पर भी मन में पूर्ण विश्वास नहीं होता, वे मुझे हृदय से चाहते हैं या नहीं फिर मैंने तो अभी श्यामसुन्दर के दर्शन भी नहीं किये थे। मेरे मन में विचारों का बवंडर उठ रहा था। संकल्पों का सतत संघर्ष हो रहा था। हृदय सागर में तीव्र

हिलोरें आ रहीं थीं। उस समय की मेरी दशा अवर्णनीय थी।

स्वयम्वर मंडप अत्यंत ही कलापूर्ण ढंग से सजाया गया था। सुन्दर से सुन्दर सिंहासन उसमें बिछाये गये थे। सबों पर आगत राजाओं के नाम लिखे थे, सभी यथा समय सज-बजकर अपने-अपने सिंहासन पर बैठ गये। मत्स्यवेध के स्थान में धनुष और बहुत से बाण रखे थे। क्रमानुसार राजा उठ-उठकर लक्ष्य वेध के लिये प्रयत्न करने लगे। किन्हीं पर तो धनुष ही न उठा किन्हीं ने धनुष तो उठा लिया किन्तु प्रत्यञ्चा चढ़ाने में अपने को असमर्थ पाकर वे अपने स्थान को लौट गये। कुछ राजा बलपूर्वक डोरी को खींचकर दूसरे सिरे तक ले तो गये थे, किन्तु सिरे में बाँधते समय उनके हाथ से डोरी छूट गयी और उसकी आघात से चारों कोने चित्त गिर पड़े। पीछे चेत होने पर वस्त्रों को झाड़ते हुए खिसियाये हुए अपने आसन पर जा बैठे। दूसरे राजा गण हँस रहे थे, वे लज्जा के कारण किसी से आँखें नहीं मिलाते थे। अब वे राजा उठे जिन्हें अपने बल वीर्य का बड़ा अभिमान था। उनमें दुर्योधन, कर्ण, जरासन्ध, शिशुपाल, तुम्हारे दूसरे पति भीमसेन तथा अम्बष्ठ आदि मुख्य थे। इन जगत् प्रसिद्ध वीरों ने बड़े लाघव से धनुष पर डोरी चढ़ा ली, उस पर बाण भी चढ़ाया, किन्तु जल में परछाईं देखकर ज्यों ही बाण छोड़ा त्यों ही लक्ष्य की स्थिति न जानने के कारण वह लक्ष्य को चूककर अन्यत्र लगा।

सबसे पीछे तुम्हारे तीसरे पति अर्जुन उठे। सब को आशा थी, ये लक्ष्य को अवश्य वेध देंगे। मैं भी अत्यत उत्सुकता के साथ सखियों के बीच में बैठी झरोखे से देख रही थी। मुझे भी भय हो रहा था, कि कहीं उन्होंने लक्ष्य भेद दिया तो सब गुड़ गोबर हो जायगा।"

हँसते हुए द्रौपदी जी ने कहा—"गुड गोबर क्या हो जाता,

वे वेध देते तो तुम मेरी सौत हो जाती क्यों तुम्हें गांडीवधारी मेरे पति अच्छे नहीं लगे ?"

शीघ्रता से लक्ष्मणा बोली—"अच्छे लगने न लगने की बात नहीं है जीजी ! संसार में न कोई अच्छा है न बुरा। अच्छाई बुराई तो हमारे मन के ऊपर है, जिसे हम अच्छा कहती हैं, दूसरे उससे घृणा करते हैं, जो हमें अत्यन्त बुरा लगता है, जिसे हम फूटी आँख से भी देखना नहीं चाहते दूसरे उसके ऊपर प्राण देने को तत्पर हो जाते हैं। मन ने जिसे अच्छा मान लिया वह अच्छा है ग्राह्य है। उसके अतिरिक्त चाहे कोई कितना भी अच्छा हो वह उसके लिये बुरा है। विष के कीड़ा को विष ही अच्छा लगता है। पपीहा स्वाति की बूँद को छोड़कर अमृत की ओर भी नहीं देखता चकोरी चन्द्रमा को ही निहारती रहती है। यद्यपि वह जानती है, चन्द्रमा बहुत दूर है, कहाँ चन्द्रमा और कहाँ मैं, किन्तु प्रेमी छुटाई-बड़ाई का व्यवधान नहीं देखता। वह तो सभी उपायों से अपने प्रेष्ठ से मिलना चाहता है। देखो, चकोरी को जब चन्द्र को सम्मुख देखते हुए भी उसे प्राप्त नहीं करती तब स्मशान में जाकर जलती हुई चिताओं में से अग्नि ले-लेकर खाने लगती है स्मशान में इसलिये खाती है, कि अग्नि खाने से यहीं भस्म हो जाऊँगी। सुनती हूँ स्मशान की भस्म को शिवजी अपने शरीर में लगाते हैं और शिवजी के मस्तक पर चन्द्रमा रहते हैं, तो सम्भव है भस्म बनकर भी मैं अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकूँ।"

यह सुनकर हँसती हुई द्रौपदीजी बोलीं—"तुम तो सचमुच कविता करने लगीं। अच्छा, कृष्णचन्द्र की चकोरी ! हाँ, हाँ अपने स्वयम्बर की आगे की बात सुनाओ। मेरे पति पर लक्ष्य वेध नहीं हुआ, इसे मैं मान लेती हूँ, आगे कहो क्या हुआ ! कैसे उदय हुए तुम्हारे चन्द्र !"

हँसकर लक्ष्मणा बोली—"नहीं, नहीं तुम्हारे पति ने बड़ी बुद्धिमत्ता से बाण चढाया। जल मे मछली की परछाईं देखकर लक्ष्य की स्थिति भी भली-भाँति समझ ली। बाण भी बडी सावधानी से छोडा। लक्ष्य मे लगा भी किन्तु उसे स्पर्श करता हुआ आगे निकल गया। वे उसे वेध न सके।

अब जब सब श्रान्त हो गये, फिर कोई उठा ही नहीं। तब हँसते हुए अल्लडपने से श्यामसुन्दर उठे। उनकी हँसी विश्व विमोहक थी। मैं सम्हलकर बैठ गयी। मेरा शरीर काँप रहा था, उसमे से पसीना निकल रहा था। बार-बार मैं अपनी बिखुरी अलकावली को सम्हाल रही थी। सखियाँ मेरी इस दशा पर मन ही मन हँस रही थीं वे सैनों ही सैनों मे परस्पर कुछ कह रही थीं। मेरा उनकी ओर ध्यान ही नहीं था, मैं माधव के मधुर मुख-मकरन्द को भ्रमरी बनी अव्यग्रभाव से पान कर रही थी। अभिमानी राजा मन ही मन जल रहे थे। मेरे हितैषियों के मुख-कमल खिल रहे थे। श्यामसुन्दर के काले काले घुँघराले बाल हिल रहे थे। सूर्य अभिजित नक्षत्र से मिल रहे थे। मदनमोहन ने बिना प्रयास के लीला से ही धनुष को उठा लिया, उसपर बाण चढ़ा दिया क्षणभर मे लक्ष्य का निर्णय किया और तककर तीर चला ही तो दिया। तीर के लगते ही लक्ष्य कटकर भूमि पर गिर गया। लक्ष्य वेध होते ही सबके मुख से एक साथ ही निकल पडा—"जय हो, जय हो!" आकाश मे देवगण दुन्दुभी बजाने लगे। पारिजात के पुष्पों की वृष्टि होने लगी। सर्वत्र हर्ष उल्लास और उत्साह छा गया। मेरी उस समय क्या दशा थी, दीदी! वह कही नहीं जा सकती। ऐसे विषय कहे नहीं जा सकते, उनका अनुभव ही होता है।

मेरी सखियों ने मेरा शृङ्गार किया। अति सुन्दर नूतन कोरे दो रेशमी वस्त्र मुझे पहिनाये गये। मेरी चोटी अत्यन्त कलापूर्ण

ढग से बाँधी गयी, उसमें रग-बिरगे पुष्प, दिव्य सुगन्धित सुमनों की सुन्दर मालायें लगायी गईं। सखियों ने मुझे सब प्रकार से सजाकर, सोलह शृङ्गार करके मडप में ले जाने योग्य बना दिया। मेरा मन बाँसों उछल रहा था, उसे मैं हाथों से दबा दबाकर उछलने से मना कर रहा था। आँखों में लज्जादेवी ने अधिकार जमा लिया। मुख पर आकर मन्द-मन्द मुसकान छिटकने लगी। मैं सखियों से घिरी हुई, हाथ में सुवर्ण से दमकती मणिमयी विजय माला लिये हुए अपने चरणों के नूपुर से पथ को मुखरित करती हुई, पराजित नृपतियों के मन में क्षोभ ग्लानि और ईर्ष्या को उपजाती हुई, लजाती, सकुचाती, सिहाती, हिय हुलसाती, माला को हिलाती रङ्गशाला की ओर चल दी।

मेरे नयन उडना चाहते थे, किन्तु मुख ऊपर उठना ही नहीं चाहता था। सखियों की सहायता से श्यामसुन्दर के सुन्दर सिंहासन के समीप मैं कब पहुँच गयी, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं। मेरे मुख पर मेरे कानों में पडे कुण्डलों की कमनीय कान्ति छिटक रही थी, उसे हरने को मेरे कुटिल केश हिल हिलकर उस ओर आ रहे थे। मैं शीघ्रता से उन्हें हाथों से वरज देती, किन्तु वे पुनः लटक जाते, हिलने लगते। मेरी एक मुँह लगी सखी ने चुपके से मुझे नोच लिया। तिलमिलाकर ज्यों ही मैंने कपोलों की कान्ति से युक्त अपना मनोहर मुख ऊपर उठाया उस सखी को वरजने के मिससे शरच्चन्द्रिका के समान सुमधुर हास्ययुक्त कटाक्षभगी से ज्यों ही सिंहासनों पर बैठे हुए समस्त राजाओं की ओर एक विहगम दृष्टि डाली, त्यों ही मुझे सम्मुख विराजमान वनवारी दिखायी दिये। उन्हें देखते ही मेरा चित्त अनुराग से परिप्लावित हो उठा। मेरे दोनों हाथ स्वतः ही ऊपर उठ गये। उनके शङ्ख के समान कठ वाले अशों के बीच में मेरे हाथ की माला कब पड गयी, इसका मुझे कुछ पता ही न चला। मुझे पता तो तब चला

जब सहसा एक साथ मृदङ्ग, पणव, पटह, शङ्ख, भेरी और आनक आदि असंख्यो मङ्गल वाद्य बजने लगे। नट-नर्तक अपनी-अपनी कलाओं का प्रदर्शन करने लगे। नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं, गायक गाने लगे और सूत मागध-बन्दी स्तुति-पाठ करने लगे। मैंने आँख भरकर श्यामसुन्दर को देखा। उन्होंने भी अपनी बडी-बडी विशाल कमल के सदृश अनुराग भरी आँखो से मुझे निहारा। चार आँखें होते ही मेरी दृष्टि अपने आप झुक गयी। मैं फिर उन्हें देखना ही चाहती थी कि राजसभा मे बडा भारी हुल्लड मचा। "देखो, सावधान! सावधान! राजकुमारी को पकड लो, गोपाल राजकुमारी को ले जाने न पावे।" इस प्रकार बहुत से बक रहे थे, बहुत से दौड रहे थे। कई राजा तो मेरे समीप आ गये। वे मुझे उठाना ही चाहते थे। मैं काठ की पुतली बनी वहाँ खडी थी, डर रही थी, कुछ निर्णय ही न कर सकी क्या करूँ मुझे भयभीत होते देखकर श्यामसुन्दर तुरन्त चतुर्भुज बन गये। मेरे सम्मुख ही कमलनाल के सदृश उनकी दो विशाल भुजाएँ और निकल आयीं। उन्होंने तुरन्त दो भुजाओ से तो मुझे उठाकर अपने उत्तम चार घोडो वाले रथ मे बिठाया और दो हाथो में धनुष बाण लेकर मुझे पकड़ने वाले राजाओ को रोका।

मुझे सान्त्वना देने के निमित्त दो हाथों से तो मुझे पकडे हुए थे, दो हाथो मे धनुष बाण लेकर युद्ध के लिये उद्यत थे। उन्होंने तुरत अपने सारथी को संकेत किया। महा बुद्धिमान् दारुक सारथी ने संकेत पाते ही भगवान् का वह सुवर्णमंडित गरुड की ध्वजा वाला विशाल रथ हाँक दिया। ग्रामसिंह जैसे दौड़कर सिंह को रोकना चाहते हैं उसी प्रकार बहुत से नृपतिगण अस्त्र शस्त्र लेकर श्यामसुन्दर के रथ के पीछे दौडे, जीजी! मैं क्या कहूँ, उनकी चतुरता। वे हँस रहे थे और साथ ही बाणों को भी छोड़

रहे थे। उन अमोघ बाणों से किसी के हाथ कट गये, किसी के पैर कट गये। किसी के सिर धड से पृथक हो गये। इनके बाण तो सबके लगते थे, किन्तु उन राजाओं का एक भी बाण इनके शरीर को नहीं छूता था। कवच धारण किये शार्ङ्ग धनुष से उसी प्रकार बाण छोड रहे थे, मानो इन्द्र श्रावण भादों मास मे वर्षा कर रहे हों। वे अभागे नृपतिगण अधिक पीछा न कर सके कुछ ही क्षण में तितर बितर हो गये, रण छोडकर भाग गये।

रथ अपने पूरे वेग से दौड रहा था, जिस प्रकार रथ मार्ग के वृक्षों को छोडता जाता था उसी प्रकार मैं भी अपनी पूर्व स्मृतियों को छोडती जाती थी। उसी समय मुझे दूर से द्वारकापुरी के ऊँचे-ऊँचे सुवर्ण मडित भवनों पर लगी हुई ध्वजाएँ दिखाई दीं। मेरा मन मयूर नृत्य कर रहा था। श्यामसुन्दर के सङ्ग रथ में बैठे हुए मुझे कैसा लग रहा था, उसे कैसे कहूँ जीजी! तुम ही समझ लो। जैसे सायंकाल के समय सविता अस्ताचल में प्रवेश करते हैं वैसे ही द्वारकानाथ ने अपनी त्रिभुवन प्रशसित पुरी में प्रवेश किया। हम सब द्वारका मे आ गये। मैं दासियों से घिरी एक भव्य भवन मे ठहरायी गयी। श्यामसुन्दर ने फिर मेरा स्पर्श भी न किया। वह रात मैंने कैसी विकलता से बिताई उसे मैं ही जानती हूँ।

दूसरे दिन क्या देखती हूँ, मेरे पूजनीय पिता, भाई, सुहृद, सम्बन्धी तथा अन्यान्य कुटुम्बी सब द्वारावती मे आ गये हैं। इधर मेरे भाई बन्धु तो मुझे सजा रहे थे और समस्त यादव मिलकर द्वारावती को सजा रहे थे। उसमें इतनी रङ्ग बिरङ्गी छोटी बडी, विचित्र प्रकार की ध्वजा, पताका तथा वन्दनवारें लगायी गयी थीं कि उनकी ओट में सूर्यनारायण भी दिखायी नहीं देते थे। पुरी के सम्पूर्ण पथ परिष्कृत किये गये, वे सभी आनद मे विभोर होकर महोत्सव मना रहे थे। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने विधिवत् मेरा बिहारी के साथ विवाह कराया। मेरे पिता ने नाना

प्रकार के अमूल्य वस्त्र, आभूषण, शय्या, आसन, पात्र और अन्य गृहस्थोपयोगी वस्तुएँ दहेज में दीं। नाना प्रकार की अनुनय विनय करके भगवान् का सम्मान किया। पिता की मैं अत्यन्त प्यारी थी। पिता प्रभु के हाथ मे मेरा हाथ देकर ऐसे प्रसन्न हो गये थे मानो मुझे कितनी अमूल्य निधि मिल गयी। उन्होंने सेवा करने के लिये सहस्रों सुन्दरी युवती दासियाँ, सब प्रकार की सुख सम्पति, हाथी घोडा, ऊँट, बछेडा, रथ तथा पालकी आदि मेरे विवाह के उपलक्ष्य मे दीं। मैं अब उनकी पत्नी बन गयी, वे मेरे स्वामी हो गये। बराती अपने-अपने घर चले गये। दो दिन का धूम धडक्का समाप्त हुआ, किन्तु हमारा प्रेम समाप्त नहीं हुआ वह दिन दूना रात चौगुना बढता ही गया। जीजी! मुझे अपने सौभाग्य पर गर्व है। भगवान् ने जैसी मेरी सुनी वैसी वे सबकी सुनें। भगवान् को पति पाना कोई साधारण पुण्य का फल नहीं है। हम सब बहिनों ने पूर्व जन्मों मे अवश्य ही कोई घोर तप किया होगा, कोई बडा भारी अनुष्ठान व्रत या पुण्यकर्म किया होगा, उसी के प्रभाव से तो हम इन आत्माराम, आप्तकाम, सच्चिदानन्दघन भगवान श्यामसुन्दर की चरण दासियाँ बन सकीं। जीजी! मैं कुछ पढी लिखी नहीं हूँ, कहने मे जो भूल चूक रह गयी हो उसे अपनी छोटी बहिन समझकर क्षमा कर देना।"

यह सुनकर द्रौपदीजी बोलीं—"बहिन! तू तो बडी पंडिता निकली। तेंने तो बडी सरस ढंग से अपने विवाह की कहानी सुनायी। भगवान करें सबका सुहाग अचल बना रहे।"

फिर द्रौपदीजी सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों की ओर देखकर बोलीं—"बहिनाओ! तुम भी अपने विवाहों का वृत्तान्त सुनाओ।"

यह सुनकर उनमे जो सबसे बडी रोहिणी थी वह बोली—"जीजी! हम सबका वृत्तान्त पृथक्-पृथक् नहीं है। सबका एक ही

वृत्तान्त है। हम सबसे विवाह भगवान ने एक साथ ही किया। बात यह थी भौमासुर पृथ्वीपुत्र बड़ा बली असुर था। वह हम सबको हमारे पिताओं को हरा-हराकर ले आया था। वह चाहता था जब बहुत हो जायें तो सबसे एक साथ ही विवाह करें। यह सब समाचार सुनकर श्यामसुन्दर उसके पुर में गये। उसे मार कर वे हमारे समीप गये। हम सबकी इच्छा जानकर पूर्णकाम होने पर भी हम सबको अपना लिया। हमारा पाणिग्रहण करके हमें अपने चरणों की सेवा प्रदान की। देवि! हम साम्राज्य, इन्द्र पद, अथवा अन्य दिव्यलोकों के भोग कुछ भी नहीं चाहतीं। हमारी इच्छा अणिमा, महिमा, गरिमा तथा लघिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करने की नहीं है और न हम ऐश्वर्य, ब्रह्मपद, सालोक्य, सारूप्य, समीप्य आदि मोक्ष ही चाहती हैं। हम तो इन लक्ष्मी निवास के उन पादपद्मों की पराग को ही चाहती हैं जो लक्ष्मीजी के हृदय के केशर का कीच से पीली हो गयी है वही पुनीत पराग हमें मिल जाय और उसे हम अपने मस्तकों पर धारण कर सकें, तो हमारा जीवन सफल हो जाय।"

हम अन्य कुछ भी नहीं चाहतीं। जिन चरणों से हमारे स्वामी व्रज में गौओं के पीछे पीछे डोले हैं जिसकी इच्छा गोपगण, व्रजाङ्गनायें भीलिनियाँ, दूर्वा अथवा लतायें किया करती हैं वही चरणरज हमें मिल जाय। जाजी! और हम क्या कहें, ऐसा आशीर्वाद आप हमें दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर द्रौपदीजी अत्यन्त प्रसन्न हुईं और वे भगवान की पत्नियों के भाग्य की सराहना करने लगीं। यद्यपि जब द्रौपदीजी की और श्रीकृष्ण पत्नियों की बातें हुई थीं, तब कोई बड़ी बूढ़ी स्त्री वहाँ नहीं थी, किन्तु भगवान के विवाह की कथा सुनकर कुन्तीजी, गान्धारीजी, सुभद्रा तथा अन्य राजपत्नियाँ भी वहाँ आ गयीं। व्रज की गोपिकायें भी आकर

बैठ गयीं। रुक्मिणी आदि भगवान् की सभी पत्नियों का सर्वान्तर्यामी सर्वात्मा श्यामसुन्दर से ऐसा प्रेमबन्धन देखकर सबकी सब परम विस्मित हुईं। प्रेम के कारण उनके नेत्रों से नेह का नीर निकलने लगा और सभी प्रभुपत्नियों के प्रेम की पुनः पुनः प्रशंसा करने लगीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी आपने भीतर स्त्रियों की बातें तो सुनायीं, अब कुछ बाहर पुरुषों की भी सुनाइये। पाण्डवों तथा अन्य राजाओं से भगवान् की क्या बातें हुईं। भगवान् के दर्शनों को राजागण ही आये या कोई ऋषि मुनि भी आये थे।"

सूतजी बोले—"महाराज! मुझसे तो आप भीतर बाहर की जो भी बात पूछेंगे उसे ही अपने गुरुदेव भगवान शुक की कृपा से मैं बताऊँगा। भगवान् के दर्शनों को भी सभी छोटे-बड़े आते थे। बहुत से ऋषि मुनि भी आये थे कहिये तो अब अन्तःपुर की बात समाप्त करके बहार की ही बातें सुनाऊँ?"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! अब ऋषियों की ही राजाओं से या भगवान् से जो बातें हुई हों उन्हें ही सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज। अब मैं आपको व्यासादि मुनियों से जैसे भगवान् वासुदेवजी की कुरुक्षेत्र में बातें हुईं उन्हें ही सुनाता हूँ, आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भद्राने संक्षेप माहिँ सब बात बताई।
परम सरसतायुक्त लक्ष्मणा कथा सुनाई॥
पुनि जो सोलह सहस अधिक शत प्रभुकी पतिनी।
कही सबनि इक संग कथा करुनामय अपनी॥
हरि पत्निनि अनुराग लखि, सब अति आनंदित भईं।
भाग्य सराहत सबनिके, सब निज निज डेरनि गईं॥

"आगे की कथा ५१ वें खण्ड में पढ़े"

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)

[छप्पय छन्दों में]

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दो मे श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी सक्षेप मे दी गई है।

सत्यनारायण भगवान् को महिमा अपार है। ससार सत्य के सहारे ही अवस्थित है। सत्य सार है। जगत् असत है। सत्य ज्ञान है, सत्य ही अनन्त अनादि है, सत्य ही ब्रह्म है सत्य पालन ही ससार मे सर्व सुलभ सुखकर सुन्दर साधन है। यह ससार तो सिन्धु के समान है, सत्य का सहारा लेकर ही इसे पार किया जाता है, इसीलिये हम सत्यनारायण भगवान् का व्रत, पूजन तथा अनुष्ठान करते है। कलिकाल मे सत्यनारायण व्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिय सत्यनारायण भगवान् का पूजन घर-घर होता है।

भक्तो के बार-बार आग्रह करने पर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने यह पुस्तक छप्पय छन्दो मे लिखी है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। पृष्ठ सख्या ७८, मूल्य ७५ पैसे।

विष्णु भगवान का भृगु मुनि के साथ सहनशीलता।

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(इक्यावनवाँ खण्ड)

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
ग्रथिता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

संशोधित संस्करण १ ० रु०

द्वितीय संस्करण] फाल्गुन २०२८ [मूल्य—१.६५
१००० प्रति] सितम्बर १९७१

मुद्रक—धर्मधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
११७६	भगवान् वासुदेव के दर्शनों को मुनियों का आगमन	१
११७७	वसुदेवजी और मुनियों का प्रश्नोत्तर	१०
११७८	कुरुक्षेत्र में वसुदेवजी का यज्ञ महोत्सव	२१
११७९	गोपी और गोपों की कुरुक्षेत्र से विदाई	२७
११८०	वसुदेवजी को आत्मज्ञान	३५
११८१	देवकीजी को अपने मृतपुत्रों के दर्शन	४४
११८२	सुभद्रा अर्जुन प्रणय कथा	५४
११८३	सुभद्रा हरण	६१
११८४	राजा जनक और श्रुतदेव विप्र पर कृपा	७६
११८५	श्रुतदेव विप्र द्वारा श्रीहरि का आतिथ्य	८६
११८६	हरि हर भक्तों के भेद का रहस्य	९८
११८७	वृकासुर की कथा	१०८
११८८	शम्भु सङ्कट विमोचन	११६
११८९	त्रिदेवों में सर्वश्रेष्ठ कौन	१२६
११९०	सत्वमय श्रीविष्णु ही सर्वश्रेष्ठ हैं	१३३
११९१	भगवान् की लीला संवरण की सूचना	१४२
११९२	निराश अर्जुन को भगवान का आश्वासन	१५३
११९३	परम वैष्णवधाम में द्विजतनय	१५८
११९४	श्रीकृष्ण पत्नियों का लीला विहार और प्रलाप	१६६
११९५	श्रीकृष्ण चरित का उपसंहार	१८१

भगवान् वासुदेव के दर्शनों को मुनियों का आगमन

[११७६]

इति सम्भाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामादिदृक्षया ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८४ अ० २ श्लोक)

छप्पय

इत बाहर हरि दरश हेतु मुनिवर बहु आये ।
करि स्वागत सतकार कनक आसननि बिठाये ॥
पुनि पुनि करी प्रनाम जोरि कर बोले श्रीहरि ।
आज धन्य हम भये दये शुभ दरश दया करि ॥
जप, तप, तीरथ, व्रत सतत, सेवन तैं पावन करें ।
किन्तु संत दरशन निहीं, तैं सब दुख दारिद टरें ॥

कोई शरीर में सुगन्धित तैल फुलेल लगाकर कहीं जाता है तो वह जहाँ से भी निकलता है वहाँ सुगन्धि फैल जाती । इसके विपरीत जो दुर्गन्ध युक्त वस्तु लगाकर निकलता है, उसके आस पास दुर्गन्धि बनी रहती है । यहाँ तो बाहरी सुगन्धि दुर्गन्धि की

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! इस प्रकार जब भीतर स्त्रियों से स्त्रियाँ बातें कर रही थीं और पुरुषों में पुरुष, उसी समय भगवान राम और कृष्ण के दर्शनों की इच्छा से बहुत से मुनि वहाँ आये ।"

दशा है। यही बात भीतर उदर की है, जिनके उदर में भीतर दुर्गन्धयुक्त मल भरा रहता है, उनकी अपानवायु अत्यन्त दुर्गन्धपूर्ण होती है। आस-पास के लोगों का चित्त बिगड जाता है। यही दशा भाव और विचारों के सम्बन्ध में है। जो सदा राग, द्वेष, वैर, हिंसा तथा पाप की बात सोचते रहते हैं, ऐसे दुर्जन, असन्त पुरुष जहाँ भी जायँगे, सब को उद्वेग पहुँचायेंगे, उनके जाने से भय, आशंका, अविश्वास तथा और भी अनेक प्रकार के भाव अपने आप उठने लगेंगे। इसके विपरीत जो सदा सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, शम, दम आदि सद्गुणों के सम्बन्ध में विचार करते रहते हैं, समस्त सद्गुणों के एकमात्र स्थान श्री भगवान् का ही चिन्तन करते रहते हैं, उनके आने से ही हृदय में स्वतः ही प्रसन्नता, उत्साह और श्रद्धा आदि सद्गुण उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि सत असत जहाँ भी जाते हैं अपने भावों को साथ ही ले जाते हैं। यह जगत् भावमय ही है। द्यूत स्थान में, वेश्याओं के यहाँ जाइये वैसे ही भाव उत्पन्न होंगे। क्योंकि वहाँ जो आते हैं ऐसे ही विचार के लोग आते हैं, वे अपने भावों को संग लाते हैं और उनकी दुर्गन्ध वायुमंडल में फैलाकर चले जाते हैं। इसके विपरीत किसी सत महात्मा के आश्रम पर जाइये। महापुरुषों के रहने के स्थानों में, पवित्र सरिताओं के तट पर, प्राचीन तीर्थों में जाते ही चित्त में एक प्रकार की अव्यक्त शान्ति का स्वतः ही अनुभव होने लगेगा। सत जिस स्थान में रहेंगे वह स्थान तीर्थ बन जायगा, जिस वृक्ष के नीचे बैठेंगे, वह वृक्ष विशुद्ध बन जायगा, जिसे वे स्पर्श कर देंगे वह निष्पाप हो जायगा, सत पारस के समान हैं, वे लोहे को तत्काल सुवर्ण बना देते हैं। मनुष्य तीर्थों में भटकते हैं, व्रत उपवास करते हैं, इन सबका एकमात्र फल है सत दरश। इस संसार रूपी भवाटवी में भटकते-भटकते यदि जीव को कहीं संत दर्शन हो जायँ तो

समझो अब उसके संसार बन्धन के कटने के दिन आ गये। अब उसे अधिक भवसागर मे भटकना न पड़ेगा। सन्त में और भगवन्त में कोई अन्तर नहीं। दोनों एक ही हैं। यही नहीं सत भगवन्त से भी बड़े हैं। राम से अधिक राम के दास हैं। तभी तो सर्वान्तर्यामी श्री हरि ने संतों की महिमा स्वय अपने श्री मुख से बखान की है।

सूतजी कहते हैं "मुनियो! इधर भीतर कौरव कुल की स्त्रियाँ और यादवो की स्त्रियाँ परस्पर में तीनो लोकों को पवित्र करने वाला कृष्ण कथा कह रहीं थीं, उधर बाहर भगवान् पाडवों तथा अन्यान्य राजाओ से बात कर रहे थे। सहसा उसी समय दूर से उन लोगों को बहुत से ऋषि मुनि आते हुए दिखायी दिये, बात यह थी, बहुत से कल्पजीवी ऋषि महर्षि भी ग्रहण स्नान करने आये थे। उनमें से कुछ तो स्थूल देह से पैदल चलकर आये थे। कुछ आकाश मार्ग से उड़कर आये थे, कुछ सूक्ष्म शरीर से संकल्प द्वारा ही प्रकट हो गये थे। जब समस्त ऋषि मुनियो का समाज एकत्रित हुआ, तब यह चर्चा चली कि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा नर रूप से अवतीर्ण होकर यहाँ पधारे हैं। साथ मे सकर्षणावतार भगवान् बलदेवजी भी हैं, तो सबकी इच्छा हुई सब एकत्रित होकर चलें और भगवान् राम-कृष्ण के दर्शन करके जीवन को सार्थक बनावें। भगवान् के दर्शन हो जायँ तो मानो तीर्थ का फल प्रत्यक्ष मिल जाये, यही सब सोच विचारकर समस्त ऋषि मुनि श्री बलरामजी और श्रीकृष्ण-चन्द्रजी के दर्शनों की लालसा से चले। ऋषि मुनि तो बहुत थे, किन्तु इनमे ये प्रधान थे। जैसे भगवान् वेदव्यास, देवर्षि नारद, भरद्वाज, गौतम, भगवान् परशुरामजी, उनके अकृतव्रण आदि बहुत से शिष्य, वसिष्ठ, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, सनक, सनदन, सनातन, सनतकुमार, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य

तथा वामदेव आदि और भी बहुत से ऋषि मुनि थे।

यादवों की सभा लगी हुई थी, उसमें वसुदेवजी, भगवान् श्री कृष्णचन्द्र, श्री बलरामजी, धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा और भी बहुत से राजा बैठे हुए थे। झुन्ड के झुन्ड मुनियों को आते देखकर सहसा सब ही अपने अपने आसनों से उठकर खड़े हो गये। सबने श्रद्धा भक्ति सहित सभी मुनियों के पादपद्मों में प्रणाम किया। सबने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए "स्वागतम् स्वगतम्" "जय जय नमोनमः" आदि शब्द कहकर उन सब मुनियों का स्वागत किया। उन्हें सुन्दर सुन्दर आसनों पर बिठाया। पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, माला, चन्दन, धूप, दीप आदि पूजन की सामग्रियों से उनकी पूजा की। राजाओं के साथ राम और कृष्ण दोनों भाइयों ने भी विश्ववन्दित मुनियों का पूजन किया।

पूजन के अनन्तर सब राजागण चुपचाप अपने अपने आसनों पर बैठ गये। सभा में स्तब्धता छायी हुई थी, सब मौन थे, उस स्तब्धता को भंग करते हुए धर्मरक्षक नरनाट्य करने वाले नटवर बोले—"आज हम अपने भाग्य की कैसे बड़ाई करें। आज हम कृतार्थ हो गये, आज हमारा मनुष्य जन्म लेना सफल हो गया, आज हमें समस्त पुण्य कर्मों का फल एक साथ ही मिल गया, जो आज हमें आप बड़े-बड़े योगेश्वरों का दर्शन प्राप्त हो गया। आपका दर्शन साधारण पुण्य वाले मनुष्यों को प्राप्त नहीं होता। मनुष्यों की बात तो पृथक् रही, देवताओं को भी आपके दर्शन दुर्लभ हैं। जो लोग पापी नहीं हैं, जिन्होंने तपस्या भी की है, किन्तु स्वल्प तपस्या की है। जो भगवान् को सर्वव्यापक न मानकर केवल प्रतिमा में ही उन्हें सीमित मानते हैं, प्रतिमा के अतिरिक्त वे आपकी चलमूर्ति में ईश्वर बुद्धि नहीं रखते, ऐसे पुरुषों को भी आपके दर्शन नहीं हो सकते फिर

कुशल प्रश्न, चरणस्पर्श, प्रणाम, पादपूजनादि का सुअवसर प्राप्त होना तो अत्यन्त ही दुर्लभ है। हमने कल ग्रहण स्नान किया, किन्तु सकल तीर्थों का फल तो आज ही प्राप्त हुआ।"

यह सुनकर नारदजी बोले—"तो क्या भगवन्! ये गंगादि तीर्थ, तीर्थ नहीं हैं? ये जो मिट्टी के शिवलिङ्ग आदि देवता बनाते हैं या पाषाण की प्रतिमा पूजते हैं ये फल नहीं देतीं?"

भगवान् ने कहा—"गंगादि नदियाँ, पुष्कर, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थ, तीर्थ नहीं हैं सो बात नहीं है। मृणमय, पाषाण, काष्ठ, चित्र अथवा धातुमय मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा करके जो देवबुद्धि से पूजन करते हैं, उनमें देवत्व नहीं है, यह बात भी नहीं। इसमें देवत्व है। तीर्थों में, स्नान आदि से, देवताओं के अर्चन पूजन से कुछ फल प्राप्त न होता हो सो भी बात नहीं है। इनके सेवन पूजन से फल मिलता है, अवश्य मिलता है, किन्तु तीर्थादि तो चिरकाल तक सेवन करने से फल देते हैं। किन्तु संत दर्शन ऐसा उत्कृष्ट तीर्थ है, कि यह दर्शन होते ही तुरन्त फल देता है। इसमें उधार का व्यवहार नहीं तुरत दान महा कल्यान, इस हाथ दो उस हाथ लो। साधु दर्शन उसी को होते हैं, जिनके पापों से छूटने का समय समीप आ गया हो। जैसे सूर्य को देखते ही अंधकार भाग जाता है, जैसे अग्नि की लपट के लगते ही जाड़ा भाग जाता है, जैसे ज्ञान होते ही अज्ञान का नाश हो जाता है उसी प्रकार संतों के दर्शन होते ही देह से सब दुरित दूर हो जाते हैं।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन् देर में करें या तत्काल, पापों का नाश तो देवता, तीर्थ और संत समान ही करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"देवता उपासक के पापों का उपासना से नाश कर ही दें, सो भी बात नहीं है। यज्ञ यदि विधिहीन हुआ, तो उसके करने वाले का तत्काल नाश हो जायगा। मंत्र उच्चारण में दोष हो गया, तो विपरीत फल भी देगा।

चाहे अग्नि की उपासना करो अथवा सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी अथवा मन के अधिष्ठात देवों की उपासना करो, किन्तु यदि उपासक की बुद्धि भेदमयी है वह भगवान् को असीम न समझकर ससीम मानकर अन्यों से द्वेष करता है, तो उसे इन देवताओं की उपासना का भी कुछ फल नहीं मिलता। उसके पापों का सर्वथा नाश नहीं होता। उसका अज्ञान बना ही रहता है। इसके विपरीत यदि किन्हीं सच्चे सत की, ज्ञानी महात्मा की एक मुहूर्त भी श्रद्धासहित सेवा की जाय तो वे सम्पूर्ण अज्ञान का नाश करने में समर्थ होते हैं।"

नारदजी ने पूछा—"अज्ञानी के लक्षण क्या हैं महाराज! कैसे जाने ये अज्ञानी हैं, ये ज्ञानी हैं। हम तो बहुत से लोगों को देवपूजन, तीर्थसेवन करते देखते हैं। वे बिना ही सत्संग के श्रेष्ठ बन जाते हैं।"

भगवान् ने कहा—"सत्संग के बिना कोई भी भवसागर से तर नहीं सकता। अज्ञानी की मोटी पहिचान ये है। जो अनित्य, दुखमय, वात, पित्त और कफ से बने इस शवतुल्य शरीर का ही सब कुछ समझता है, जिसकी इसी में आत्मबुद्धि है। जिसकी इस क्षणभंगुर शरीर में अहंता है। मैं विद्वान् हूँ, मैं बड़ा धनी हूँ, मैं बड़ा त्यागी हूँ, इस प्रकार का जिसे व्यर्थ अभिमान है। जिसका धन, जन, स्त्री, पुत्र, गृह, कुटुम्ब तथा परिवार आदि में ममता है, इन्हें अपना मानकर इनके सम्बन्ध से दूसरों से राग द्वेष करता है। जो केवल पाषाण प्रतिमाओं में ही तो देवबुद्धि रखता है और भगवान् के चल विग्रह संत, महात्मा, वैष्णव, त्यागी, विरागी, महापुरुषों से द्वेष रखता है। उनके साथ असहिष्णुता का व्यवहार करता है। जो केवल दूर के कूप, तालाब, सरिता तथा सरों के जल को ही एकमात्र तीर्थ मानकर विप्र

पादोदक तथा संतों के चरण धोवन जल का तिरस्कार करता है। और जो ज्ञानी, विज्ञानी महात्माओं को कुछ भी न समझकर उनका तिरस्कार करता है, उनमे पूज्य बुद्धि नही रखता वह अज्ञानी है, बोझ ढोने वाले बैल के समान है, गधे के समान है।

इसलिये मुनियो! हमारा तो तीर्थ व्रत सब आपके दर्शनो से ही पूर्ण हो गया। आपने अपने देव दुर्लभ दर्शनो से हमे कृतार्थ कर दिया। हम अपने भाग्य की किन शब्दो मे सराहना करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के श्रीमुख से अपनी इतनी अधिक प्रशंशा सुनकर समस्त मुनियो को बडा भारी आश्चर्य हुआ। पहिले तो वे डर गये, कि भगवान् कहीं हमारी व्याज स्तुति तो नहीं कर रहे हैं। हमारे अभिमान को और बढाने के लिये तो ऐसा नही कह रहे हैं। फिर उन्होंने भगवान् की महत्ता और भगवत्ता पर विचार किया। विचार करते करते उनकी बुद्धि में यह बात आई, कि भगवान् हमारी हँसी क्यो उडावेंगे, वे तो ब्रह्मण्यदेव हैं। वे असत्य भाषण क्यो करेंगे। हमारा तिरस्कार करना तो उन्हें कभी भी अभीष्ट न होगा। फिर भगवान् होकर हम साधारण मुनियों की वे इतनी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा क्यो कर रहे हैं? प्रतीत होता है ये सब लोक संग्रह के ही निमित्त कर रहे हैं। इस कथन को भगवद् आज्ञा समझकर सर्वसाधारण लोग साधु सन्तो का आदर करें, उनमे भगवद् बुद्धि रखें, उनके समीप जाकर उनका दर्शन, चरण स्पर्श करके उनसे शिक्षा ग्रहण करें। ऐसा विचार आते ही मुनियों ने हँसते हुए भगवान् से कहा—"क्यो न प्रभो! आप तो ब्रह्मण्यदेव हैं। लोक शिक्षक हैं, जगत् गुरु हैं। आप ही ऐसी शिक्षा न देंगे, आप ही अपनी बनायी मर्यादा का स्वयं पालन न करेंगे, तो धर्म की रक्षा कैसे होगी। सर्वसाधारण लोग किनसे शिक्षा

प्राप्त करेंगे। भगवान्! आप सर्वात्मा हैं, सबके रक्षक हैं, सबके ज्ञानदाता हैं, सबके उत्पादक और संहारक हैं। आप प्रकृति से पर हैं, पुराण पुरुष हैं, साधुओं के परित्राण और पापियों के विनाश के निमित्त आप समय-समय पर नाना अवतार धारण करके विचित्र-विचित्र लीलायें किया करते हैं। हम सब आपके चरणारविन्दों में बारम्बार नमस्कार करते हैं। आप हमारे ऊपर कृपा की दृष्टि करें, जिससे आपके पादपद्मों की अहैतुकी भक्ति प्राप्त हो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मुनियों ने भगवान् की बड़े ही सुन्दर शब्दों में तत्वज्ञानपूर्ण स्तुति की। उसका वर्णन समयानुसार मैं कभी 'स्तुति प्रकरण' में करूँगा।"

ऋषियों के मुख से अपनी ऐसी स्तुति सुनकर भगवान् लज्जित हुए। मुनिगण किसी कार्य से तो आये ही नहीं थे, वे केवल भगवान् के दर्शन करने और उनकी स्तुति करने ही आये थे। दर्शन हो गये, स्तुति कर ली, अब उन्होंने भगवान् को अधिक सकोच में डालना उचित नहीं समझा। अतः सिंहासन पर बैठे हुए अंधे धृतराष्ट्र से तथा धर्मराज युधिष्ठिर से वे बोले—"राजन्! अब हम सब अपने-अपने आश्रमों को जाना चाहते हैं। आप भी अपना कृत्य करें।"

यह सुनकर धर्मराज ने कहा—"अब महाराज! मैं आपसे जाने के लिये कैसे कह सकता हूँ। आप तो सर्वज्ञ हैं, हमारे हृदय के भाव आप से छिपे नहीं हैं।"

यह कहकर धर्मराज चुप हो गये। सभी मुनि अपने-अपने दंड, कमंडलु सम्हालने लगे, कुछ तो जाने के लिये उठ भी पड़े। उन्हें जाने के लिये उद्यत देखकर भगवान् के पूज्य पिता महातेजस्वी वसुदेवजी उठे। उन्होंने जाकर फिर से मुनियों को प्रणाम किया और कुछ पूछने की इच्छा की। वसुदेवजी के

प्रश्नो का उत्तर देने के लिये सबके सब मुनि फिर से बैठ गये। अब वसुदेवजी जैसे प्रश्न करेंगे और ऋषिगण जैसे उनके प्रश्नों का उत्तर देंगे वह कथा प्रसंग मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

सुनी श्याम की विनय भये विस्मित सब ऋषिगन।
समुझि लोकव्यवहार कर्यो पुनि सबने थिर मन॥
कहें देव! करि दरश दुरित दुख टरे हमारे।
प्रभु तुम अशरन शरन चरन लखि भये सुखारे॥
हृदय कमल महँ योगिजन, करहिं ध्यान जिनको सतत।
तिन पद पदुमनि ध्यान महँ, रहहिं सदा हम सब निरत॥

वसुदेवजी और मुनियों का प्रश्नोत्तर

[११७७]

नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ८४ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

यों करि बहु विधि विनय चलन लागे ऋषि मुनि जब ।
तुरत जाइ वसुदेव चरन सिर धरि बोले तब ॥
करम बन्ध के हेतु करम बिनु नहीं नसावें ।
कौन करम करि होहि मुक्ति सो युक्ति बतावें ॥
मुनि हँसि बोले कृष्णपितु, ह्वैकें हू शंका करें ।
बसहिं गंग के निकट नर, पय न पियें प्यासे मरें ॥

वृक्ष को देखकर बीज का अनुमान लगाया जाता है। वृक्ष उत्पन्न हुआ है, तो यह किसी न किसी बीज से ही हुआ है। मरण को देखकर जन्म का अनुमान लगाते हैं। जो मरा है इसका कभी न कभी जन्म हुआ होगा। इसी प्रकार वासनाओं को

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! आगत मुनियों से वसुदेवजी पूछने लगे—"हे सर्वदेवमय ऋषियो ! मैं आप सबको नमस्कार करता हूँ। आप मेरी एक विनय श्रवण करें। जिन कर्मों के द्वारा कर्मों का परिहार हो सके वह उपाय आप मुझसे कहें।"

देखकर अनुमान लगाया जाता है, कि पूर्वजन्म मे इस जीव ने इन विषयो का उपभोग किया होगा। बच्चा उत्पन्न होते ही माता के स्तनों को खोजता है, उन स्तना से उसका मुँह लगा दिया तो वह विना सिखाये चुसुर-चुसुर करके दूध का चूसने लगता है। उसे दूध पीना किसने सिखाया। कहना होगा कि उसका पूर्वजन्म की प्रकृति ही थी, उसका स्वभाव ऐसा था। पूर्वजन्मों मे उसने माता का दूध चूसा था, उसका प्रबल सस्कार अभी तक बना हुआ है। जो पुरुष उत्पन्न होता है उसकी प्राय' तीन इच्छाये अवश्य रहती हैं। पहिली इच्छा तो यह कि मैं धन सग्रह करूँ। दूसरी यह कि विवाह करके सन्तान उत्पन्न करूँ और तीसरी यह कि मैं उत्तम पद प्रतिष्ठा को प्राप्त करूँ। जब तक पुरुष की ये इच्छाये बनी रहती हैं, तब तक उसे बार बार नाना योनियों में जन्म लेना पडता है। अन्य योनियों मे तो जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र नहीं। ससार बन्धन से मुक्त होने का साधन नहीं कर सकता। एक मनुष्य योनि ही ऐसी है, इसमें पुरुष साधनो द्वारा इन इच्छाओ को समाप्त करके जन्म मरण के चक्कर से छूट सकता है। इसीलिये मनुष्य का दूसरा नाम है 'साधक'। यदि वह विषयो का सेवन केवल पशुओ की भाँति इन्द्रिय तृप्ति के लिये करता है, उनको रागपूर्वक ग्रहण करता है तब तो वह साधकपने से च्युत हो जाता है और यदि उनका सेवन शास्त्रीय विधि से, सयम पूर्वक करता है, तो सदा के लिये वासनाओं से मुक्त हो जाता है, विष का सेवन वैसे ही करो तो वह मृत्यु का कारण होगा। यदि उसे नियमपूर्वक शोधकर, वद्य की सम्मति के अनुसार, मात्रा और अनुपान के साथ सेवन करो तो वह रोगो को नाश करके आरोग्य प्रदान करता है। विष का स्वभाव तो मारना है ही, किन्तु सयम और विधि के साथ सेवन करने से जीवनदाता बन जाता है, इसी प्रकार कर्मों का स्वभाव है बन्धन

करेगा वह बन्धन में बँधेगा। किन्तु वे ही कर्म संयमपूर्वक कर्मों के नाश की इच्छा से प्रभुप्रीत्यर्थ किये जायँ, तो वे ही मुक्ति के कारण होंगे। वे कर्म कैसे होते हैं, कैसे किये जाते हैं, इसे तत्वज्ञानी ऋषि महर्षि बता सकते हैं। सन्त रूपी वैद्य ही इन सबके शोधन, अनुपान, मात्रा और विधि के ज्ञाता होते हैं। अतः उन्हीं का शरण में जाकर उन्हें प्रणाम, नमस्कार, सेवा आदि से सन्तुष्ट करके प्रश्न करना चाहिये। इस प्रकार पूछने पर वे तत्वदर्शी ऋषि महर्षि योग्य अधिकारी समझकर उसका उपदेश करेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब व्यासादि मुनि भगवान् के दर्शन करके चलने लगे और वसुदेवजी को प्रश्न करते देखकर वे पुनः बैठ गये तब हाथ जोड़कर उनसे वसुदेवजी बोले—"हे ऋषियो! आप सब ज्ञानी हैं, सभी शास्त्रों में पारङ्गत हैं। समस्त देवता आपके शरीर में निवास करते हैं, अतः आप सर्वदेवमय हैं। प्रथम मैं आपके पुनीत पादपद्मों में प्रणाम करता हूँ, तदनंतर मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। आप इसके लिये मुझे अनुमति प्रदान करें?"

व्यासजी ने कहा—"हाँ, महाभाग! आपको जो भी पूछना हो, उस प्रसन्नता के साथ पूछें। हम आपके प्रश्नों का यथामति उत्तर देंगे।"

यह सुनकर वसुदेवजी बोले—"मुनियो! मैं यह पूछना चाहता हूँ, कि जितने भी कर्म हैं, वे सभी दोष युक्त हैं। कर्म तो कर्म को ही उत्पन्न करेगा। बीज अपने समान अन्य बीजों को उत्पन्न करता है। कर्म चाहे शुभ हो, अथवा अशुभ। पाप हों या पुण्य वे सब संसार बन्धन को ही बढ़ावेंगे। यह प्राणी बिना कुछ कर्म किये रह नहीं सकता। या तो पुण्य करेगा या पाप। पाप से नरक और नीच योनियों की प्राप्ति होगी और पुण्य से स्वर्ग तथा उच्च योनियों की। आप कोई ऐसा कर्म बतावें, जिसके

द्वारा मोक्ष मार्ग के प्रतिबन्धक कर्मों का परिहार किया जा सके। अर्थात् वे कर्म बन्धन के कारण न होकर मोक्ष कराने वाले हों।"

भगवान् के पूज्य पिता वसुदेवजी के मुख से ऐसा प्रश्न सुन कर सभी ऋषि मुनि हँसने लगे। वे परस्पर में कहने लगे—"देखो, कैसे आश्चर्य की बात है, जिनके घर में विश्व को मुक्ति प्रदान करने वाले साक्षात् सच्चिदानन्दघन श्रीहरि विद्यमान हैं, वे अपनी मुक्ति के लिये हमसे प्रश्न कर रहे हैं।"

ऋषियों को आश्चर्य चकित देखकर उन सबसे देवर्षि भगवान् नारदजी बोले—"महर्षियो! आप इस प्रश्न को सुनकर इतना आश्चर्य प्रकट क्यों कर रहे हैं। इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है?"

ऋषियों ने कहा—"मुनिवर! इससे अधिक आश्चर्य क्या होगा कि जिसका वैद्य पुत्र नित्य प्रति सहस्रों को औषधि देकर अच्छा करता है, वही अपनी चिकित्सा के लिये किसी अन्य साधारण वैद्य के समीप जाय। मुक्तिदाता भगवान् के रात्रि दिन साथ रहने पर भी वसुदेवजी हम से मुक्ति देने वाले कर्मों का प्रश्न कर रहे हैं।"

नारदजी ने कहा—"मुनियो! किसी के घर में अमृत रखा है, उसे वह पीवे नहीं तो अमृत कैसे अमर कर देगा। मुक्ति दाता भगवान् इनके घर में हैं, किन्तु ये तो उन्हें अपना पुत्र माने बैठे हैं। ये स्वयं उलटे इन्हें सिखाते हैं। इन्हें पोष्य समझते हैं। उनसे ये कैसे प्रश्न कर सकते हैं।"

इस पर मुनियों ने कहा—"अच्छा, ये भले ही पुत्र मानें, किन्तु भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, घट घट की जानने वाले हैं, वे ही इनके अन्तःकरण में प्रवेश करके इनके इस प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दे देते?"

उस पर नारदजी ने कहा—"भगवान् जो इनके अन्तःकरण

मे प्रवेश करके इनकी शंका समाधान नहीं करते इसके कई कारण हैं।"

पहिला कारण तो यह है, कि भगवान् की प्रतिज्ञा है जो मुझे जिस भाव से भजता है उसे मैं उसी भाव से फल देता हूँ। जो भगवान् को पुत्र मानता है उसके सामने वे सर्वथा पुत्र बन जाते हैं। बालकों की भाँति चेष्टा करते हैं। जो उन्हें मित्र मानता है उसके मित्र बन जाते हैं, जो उन्हे पति मानती हैं उनके सम्मुख वैसी ही चेष्टायें करने लगते हैं। जिसमें उन्हें सुख हो, सतोष हो वैसी ही विनोदमयी लीलायें, रास विलास की क्रियायें करने लगते हैं। जब वसुदेवजी भगवान् को पुत्र मानते हैं, तो पुत्र का काम तो उपदेश करना है नहीं। इसलिये उपदेश नहीं दिया।

दूसरा कारण यह भी है कि अति परिचय से अवज्ञा हो जाती है। कोई चाहे कितना भी बडा सिद्ध महात्मा क्यों न हो। आठो प्रहर हम उनके समीप रहे तो उस पर उतना विश्वास होता नहीं। बाहर से कोई ढोंगी भी आ जाय तो उस पर विश्वास हो जाता है। कहावत है—"घरका योगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध" आप प्रत्यक्ष ही देखें। सब शास्त्र पुराणों में गगाजी की कितनी महिमा है। दूर-दूर से लोग गंगा स्नान करने कितनी भक्ति से आते हैं। किसी पर कोई पाप बन जाय, तो पडित व्यवस्था देते हैं, गंगा स्नान कर आओ। किन्तु जो गगा के किनारे सदा रहते हैं, उनमें से अधिकांश नित्य गंगा स्नान करने नहीं जाते कूप पर स्नान करते हैं। अपने पापों का प्रायश्चित करने भी कहीं दूर जाते हैं, क्योंकि गंगा किनारे रहने से उनका गगाजी के माहात्म्य में अविश्वास हो जाता है। कोई बडे भारी संत हैं। नित्य ही हमारे साथ हँसते खेलते हैं। बालकों की-सी क्रीड़ा के लिये ये सब खेल करते हैं। ऐसे ही इनके बाप भी हो सकते बातें करते हैं। हम उन्हे डाँट डपट भी देते हैं, बुरा नहीं मानते

हँस जाते हैं, तो हमारे मन मे उनके प्रति बहुत आदर भाव नहीं रहता उन्हें अपने ही जैसा साधारण मनुष्य समझते हैं। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ज्ञान स्वरूप है, इनका ज्ञान त्रिकालाबाधित है, ये जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के एकमात्र कारण हैं, इनका ज्ञान किसी दूसरे के सग से या स्वतः कभी क्षीण नहीं होता। ये राग द्वेषादि क्लेश, शुभ अशुभ कर्म, सुख दुःखादि कर्म फल, तथा सत्त्व, रज और तम इन गुणों से सदा अखडित और एकरस हैं, इन सबका इन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पडता, फिर भी इन्होंने नर रूप धारण करके अपनी भगवत्ता को कुछ ढँक लिया है। जैसे सूर्य मेघ से ढँक जाते है, तो अज्ञानी लोग समझते हैं, सूर्य है ही नहीं। वास्तव मे सूर्य कहीं चले नहीं गये हैं, किन्तु मेघो के आवरण से वे दिखाई नहीं देते इसी प्रकार मनुष्य रूप मे छिपे रहने के कारण लोग इन्हें भी इन्द्रियादि से आच्छादित मानते हैं।

तीसरा कारण यह भी है, कि भगवान् तो सब नरनाट्य कर रहे हैं न ? अब उन्हें इन सब राजाओ की प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश कराना है वाणी में शक्ति देने वाले भी तो वे ही हैं। सबके हृदय में प्रेरणा करने वाले ये ही यदुवश विभूषण हैं। श्री वसुदेव जी के हृदय में इन्होंने प्रश्न की प्रेरणा कर दी। आपके द्वारा उत्तर दिला देंगे। जगत् का कल्याण हो जायगा। लोगों को भवसागर से तरने का सुगम मार्ग विदित हो जायगा।

चौथा कारण यह भी हो सकता है, कि जैसे स्वय भगवान् भोले बनकर दाम में बँध जाते हैं, गोपिकाओं और गोपों से हार जाते हैं, दूध के लिये रोते हैं, चोरी आदि प्राकृत लीला करते हैं, वास्तव में इन्हें इन सब की आवश्यकता नहीं। पूर्ण काम को क्या स्पृहा हो सकती है, किन्तु मनोरजन के लिये भक्तों को सुख देने हैं। यद्यपि इन्हें कोई शका न होगी, किन्तु ऐसा प्रश्न करने से

कुछ काल सत्संग का आनन्द मिलेगा। लोगों को कुछ शिक्षा मिलेगी, इसी हेतु ऐसा प्रश्न किया होगा। कैसे भी हो आप वसुदेवजी के प्रश्न का उत्तर दें।"

नारदजी की ऐसी बात सुनकर उन सब ऋषियों ने वसुदेवजी के प्रश्न का अभिनन्दन किया और उन्हें सम्बोधित करके श्री बलरामजी तथा श्रीकृष्ण को सुनाते हुए उनके प्रश्नों का उत्तर देने लगे। सब क्या उत्तर देते, सबकी ओर से भगवान् वेदव्यास जी कहने लगे—"महाभाग वसुदेवजी! कर्मों के द्वारा कर्मों का परिहार करने का विद्वानों ने सर्वश्रेष्ठ, परम सुगम, सर्वोपयोगी तथा अव्यर्थ उपाय यही बताया है कि द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योग यज्ञ स्वाध्याययज्ञ अथवा ज्ञान द्वारा सर्वयज्ञपति भगवान् विष्णु का पूजन करे। जो भी कर्म करे यज्ञ की पूर्ति के ही निमित्त करे। यज्ञ के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं, वे बन्धन के हेतु हैं। जैसे स्नान करे, तो इस भावना से न करे कि स्नान करने से हमें स्वर्ग होगा, किन्तु इस भावना से करे कि स्नान करके हम विष्णु पूजन कर सकेंगे। भगवान् की सेवा के अधिकारी बन सकेंगे। पुष्प तोड़े तो भगवान् की पूजा के निमित्त, कृषि करे तो भगवान् के भोग के निमित्त, हवन के निमित्त। साराश यह है कि जो भी कर्म करे प्रभुप्रीत्यर्थ करे, भगवान् की सेवा के सम्बन्ध से करे। इन्द्रिय तृप्ति के निमित्त कुछ भी काम न करे। बड़े-बड़े विद्वानों ने शास्त्र दृष्टि से यही चित्त की शांति का उपाय परम सुगम, मुक्ति साधन और मन प्रसाद का उत्तम उपाय बताया है।"

वसुदेवजी ने पूछा—"महाराज! मैं त्यागी, विरागी, गृह त्यागी, सन्यासी तो हूँ नहीं। मैं तो गृहस्थ हूँ, गृहस्थी के उपयोगी कोई साधन बतावें।"

भगवान् वेदव्यास बोले—"राजन्! सद्गृहस्थों के लिये यही मार्ग का उपाय है कि अपने न्यायार्जित धन से श्रद्धा सहित

भगवान् पुरुषोत्तम का पूजन करना। या तो उनकी अर्चा मूर्ति का षोडशोपचार से प्रेमपूर्वक पूजन करे, अथवा अग्नि में उनके अंश भूत देवताओं के उद्देश्य से प्रभु प्रीत्यर्थ हवन करे या ब्राह्मण में, गुरु में, अतिथि में अथवा सर्वभूतों में उन्हीं की भावना करके पूजन करे। कर्मों को निष्काम भाव से करना चाहिये।

सभी पुरुषों के हृदय में वित्तैषणा, पुत्रैषणा, और लोकेषणा ये तीन एषणा बनी रहती हैं। इसलिये ऐसे कर्म करे जिससे ये एषणायें शान्त हो जायँ। इन एषणाओं को लिये हुए जो घर छोड़कर बाबाजी बन जाते हैं, उनका पतन अनिवार्य है। अतः घर में ही रहकर इन एषणाओं इच्छाओं को त्याग दें। तब घर छोड़कर वन जाने का विचार करे।

वसुदेवजी ने पूछा—"ब्रह्मन्! स्पष्ट करके समझावें, इन एषणाओं का त्याग किन उपायों द्वारा किया जा सकता है?"

मुनि बोले—"राजन्! धन पैदा करने की इच्छा का नाम वित्तैषणा है। इसलिये धन पैदा तो करे किन्तु न्याय से करे, धर्म-पूर्वक करे। अन्याय से अधर्म से कभी भी धन पैदा करने की इच्छा न करे धर्मपूर्वक धन न मिले तो भूखों भले ही रह जाय, किन्तु अधर्मपूर्वक, अन्याय से यदि कोटि रुपया भी मिलते हों, तो उनको ठुकरा दे। जो पैदा करे उसे यह नहीं कि जो आया उसे धर गुल्लक में। जितना भी न्याय से धन मिले उसे यज्ञ और दानादि में व्यय करे। दान धर्म भी करे, तो प्रभु प्रीत्यर्थ करे। इस प्रकार न्यायपूर्वक धन कमाकर उसे धर्म कार्यों में लगाने से वित्तैषणा शान्त हो जाती है। यज्ञ दानादि करके मनुष्य देव ऋण से मुक्त बन जाता है।"

स्त्री के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा का नाम पुत्रैषणा है। इस इच्छा को पूर्ण करने के लिये विवाह करे। अपनी ही विवाहिता पत्नी में सन्तुष्ट रहे। परपत्नी की ओर दृष्टि उठाकर

भी न देखे। अपनी ही भार्या में ऋतुकाल के अनन्तर सन्तानोत्पत्ति करे। यह जो अपना शरीर है, वह अपने पूर्वजों का न्यास भूत है। इसलिये पुत्र उत्पन्न करके पुत्रैषणा का त्याग करे और पितरों के ऋण से भी विमुक्त बन जाय।

संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करना अथवा स्वर्गादि लोकों को जीतने की इच्छा का नाम लोकैषणा है। यह लोकैषणा विचार से, वैराग्य से, जप, तप से शान्त होती है। इस प्रकार का निरन्तर विचार करता रहे, कि जिस प्रकार ये संसारी पदार्थ नाशवान् हैं, उसी प्रकार काल क्रम से ये स्वर्गादि लोक भी छूट जाते हैं।

इस प्रकार जब ये तीनों एषणायें छूट जायँ, अपने पुत्र के भी पुत्र हो जाय, तब धीर पुरुष को फिर गृहस्थी में ही न चिपके रहना चाहिये। उसे सबको छोड़कर तपस्या करने के निमित्त वन में चले जाना चाहिये। यही द्विजाति गृहस्थियों के लिये मुक्ति का क्रम मार्ग है। द्विजाति बालक जब उत्पन्न होता है, तभी उसके सिर पर देवऋण ऋषिऋण, और पितृऋण ये तीनों ऋण लद जाते हैं। देवऋण, तो यज्ञ यागादि करने से छूटता है। ऋषिऋण वेदादि अध्ययन से उतरता है और पितृऋण से पुत्रोत्पत्ति के द्वारा उऋण हुआ जाता है। जो लोग इन तीनों ऋणों को बिना चुकाये ही बाबाजी बन जाते हैं। संसार को त्यागकर विरागी बन जाते हैं उनका प्रायः पतन ही होता है।

वसुदेवजी ने कहा—"तब महाराज! मेरा कर्तव्य बताइये अब मुझे क्या करना चाहिये।"

हँसते हुए मुनि बोले—"राजन! तुम्हें अब हम क्या कर्तव्य बतावें, तुम तो सभी कर्तव्यों से विमुक्त बन गये। महाभाग! आप तो कृतकृत्य हो चुके। अवश्य ही आपने पूर्वजन्मों में अत्यन्त ही भक्तिभाव से जगतपति भगवान् विष्णु का पूजन किया होगा, उसी के परिणाम स्वरूप तो साक्षात् सच्चिदानन्द-

घन विग्रह श्रीहरि आपके यहाँ पुत्र रूप में प्रकट हुए हैं। आप और भगवती देवकी दोनों ही बड़े भाग्यशाली हैं। जिन्होंने जगत्-पति को पुत्र बना लिया है। आपके लिये कोई कर्तव्य शेष तो रहा नहीं, फिर भी लोकदृष्टि से आप कुछ करना ही चाहते हैं, तो हम बताते हैं। आप वेदाध्ययन करके तो ऋषिऋण से उऋण हो चुके। श्री कृष्ण तथा श्री बलराम आदि अनेकों पुत्र उत्पन्न करके आप पितृ ऋण भी भली भाँति उऋण हो चुके हैं। अब रहा देवऋण सो उसके लिये अग्निहोत्र, पञ्चयज्ञ आदि दैनिक कृत्य तो आप करते ही हैं। आप सामर्थ्यवान् हैं, एक बड़ा भारी यज्ञ और करें, जिससे आप देवऋण से भी लौकिक दृष्टि से भली भाँति उऋण हो सकें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर वसुदेवजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे बोले—मुनियो! आपने तो मेरे मन की ही बात कह दी। क्यों न हो, आप तो त्रिकालज्ञ हैं। मेरी इच्छा हो रही थी, कि इस कुरुक्षेत्र की पुण्य भूमि में कोई बड़ा भारी यज्ञ करूँ। मुझे चिन्ता हो रही थी, कि इतने भारी यज्ञ के लिये योग्य से योग्य ऋत्विज, सदस्य, होता, उद्गाता तथा सभासदादि कहाँ से लाऊँगा। भगवान् ने मेरी घर बैठे विनती सुनली। आप सब अपने आप ही यहाँ पधारे। अब मेरी आप सब के पाद पद्मों में यही पुनः पुनः प्रार्थना है, कि आप सब मेरे निमंत्रण को स्वीकार करें और इस भावीयज्ञ के आप ऋत्विज बनें।"

ऋषियों से जब महामना वसुदेवजी ने सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए ऐसी प्रार्थना की, तब भगवान् व्यास बोले—"राजन्! हममें से बहुत से मुनि ऐसे भी हैं जो यज्ञ यागादिकों में वरण नहीं करते, किन्तु भगवान् के दर्शन होते रहेंगे, इस लोभ से हम सबके सब आपके ऋत्विज बनेंगे। आप हमारा विधिवत् वरण करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब ऋषियों ने ऋत्विज बनने की स्वीकृति दे दी, तब वसुदेवजी को बड़ा हर्ष हुआ, उन्होंने तुरन्त यज्ञ सम्बन्धी समस्त सामग्रियाँ एकत्रित करायीं, विशाल यज्ञ मंडप बनाया गया, वह ध्वजा पताका और बन्दनवारों से भली भाँति सजाया गया। वसुदेवजी ने विधिवत् यज्ञ की दीक्षा ली उस परम पावन पुण्यप्रद कुरुक्षेत्र में यज्ञ के लिये उन जगत् विख्यात ब्रह्मर्षियों को ऋत्विज रूप में वरण किया। अब जैसे वसुदेवजी का यज्ञ महोत्सव होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब इस मङ्गलमय प्रसङ्ग को आनन्द और उल्लास के सहित श्रवण करें।"

छप्पय

नारद बोले मुनिगन ! जामें अचरज नाहीं।
रहे संग नित होहि न श्रद्धा ताके माहीं॥
सुनि मुनि बोले—"प्रभुप्रसाद हित कर्म करें जे।
होहि न तिनकूँ दोष बन्ध जग नहीं परें ते॥
सुररिन, ऋषिरिन, पितृरिन, रहें सबनि पै तीन रिन।
यज्ञ और अध्ययन सुत, करि होवें सब द्विज उरिन॥

कुरुक्षेत्र में वसुदेवजी का यज्ञ महोत्सव

[११७८]

ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ।
स्वलंकृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८४ अ० ४८ श्लोक)

छप्पय

सुत सर्वेश्वर करे कर्यो अध्येन यथामति ।
कर्यो न मख, अब करो, शूरसुत सुनि हरषे अति ॥
मख करवावो मोहि मुनिनि तें विनती कीन्ही ।
सब ऋषि ऋत्विज करे यज्ञ की दीक्षा लीन्ही ॥
सज बजि नरनारी फिरहिं, मख हित लावहिं फूल फल ।
हरि दरशन के लोभ वश, रहे तहाँ ऋषि मुनि सकल ॥

तीर्थ में जाकर घर गृहस्थी के काम काज तो रहते नहीं, समय बहुत बचता है, उस समय को जो इधर-उधर की बातों में बिता देते हैं उन्हें तीर्थ का पूर्ण फल नहीं मिलता। तीर्थों में रहते समय सबसे श्रेष्ठ समय का सदुपयोग तो यही है कि वह पुण्य

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— राजन्! श्री वसुदेवजी ने यज्ञ की दीक्षा ली हुई थी, अतः कृष्ण मृगचर्म ओढे हुए वे अपनी पत्नियों सहित अत्यंत ही शोभा को प्राप्त हुए। उनकी पत्नियाँ सुन्दर साड़ियाँ ओढे हुए तथा कङ्कण, कुण्डल, हार और नूपुरादि आभूषणों से भली भाँति सजी बजी थीं।"

स्थानों के दर्शन मे, साधु महात्माओं के सत्संग में और यज्ञ यागादि धार्मिक महोत्सवों मे बिताया जाय। तीर्थों मे साधु संतो की सन्निधि मे जो महोत्सव होते हैं, उनमे सभी जुट जाते हैं, सभी व्यस्त हो जाते हैं। सभी के हृदय मे उत्साह भरे रहते हैं। यह ला, वह ला, यह नही आया, वह नही आया, इस प्रकार उन्हीं कार्यों मे तन्मय होने से समय का पता ही नहीं चलता कब चला गया। ऐसे सुखद दिवस व्यतीत तो हो ही जाते हैं, अनन्त के गर्भ मे विलीन तो हो ही जाते हैं, किन्तु हृदय पर एक अमिट मीठी-मीठी स्मृति छोड़ जाते हैं। जब भी उन दिनो का स्मरण आता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामना वसुदेवजी ने ऋषियों की आज्ञा से कुरुक्षेत्र मे यज्ञ की दीक्षा ली। यादवो के आवास मे एक प्रकार की उत्साह की बाढ सी आ गयी। सभी यादव वस्त्राभूषणों से अलकृत होकर, कमलों की मनोहर मालाये पहिन कर इधर से उधर घूमने लगे। सबने भली भाँति उबटन लगाकर स्नान किये थे। बालो को सम्हाल कर, तिलक लगाकर, सुन्दर वस्त्र और कण्ठ मे कमलों की माला धारण करके बडी प्रसन्नता से यज्ञ के कार्य कर रहे थे। अन्य नरपतिगण भी बहुमूल्य वस्त्र आभूषणों से विभूषित, होकर यज्ञ की शोभा बढ़ा रहे थे। वसुदेवकी पत्नियों की शोभा तो अनुपम थी। वे अङ्गराग चन्दनादि लगाकर तथा सुवर्ण के पदक आदि उत्तम आभूषण पहिन कर अपने कमल जैसे कोमल करों मे यज्ञ सम्बन्धी बहुत सी सामग्रियों को लेकर आ रही थीं। सबके हृदय उत्साह और आनन्द से भरे हुए थे। चारो ओर मगल-गान हो रहे थे। वेदमत्रो की ध्वनि आकाश मडल मे गूँज रही थी। नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। मृदङ्ग, पटह, शङ्ख, भेरी और आनक आदि बाजे अपनी भिन्न-भिन्न ध्वनियों को एक में मिलाकर एक विचित्र ही स्वर

लहरी का सृजन कर रहे थे। अप्सरायें वहाँ नृत्य कर रही थीं, बाजे वाले बाजे बजा रहे थे, गाने वाले गा रहे थे, स्तुति करने वाले स्तुति कर रहे थे।

वसुदेवजी अपनी तेरहो पत्नियों से घिरे हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानों सत्ताईस नक्षत्रों से घिरे हुए चन्द्रमा राजसूय यज्ञ में बैठे हों। वसुदेवजी की पत्नियाँ विधिपूर्वक सज बजकर—सोलह शृङ्गार करके—बैठी थीं। उन्होंने तेल, हल्दी आदि लगाकर स्नान किया था और अगराग आदि से अगों को सुशोभित किया था ऋत्विजों ने पत्नियों सहित वसुदेवजी का अभिषेक कराया। जिस प्रकार वसुदेवजी अपनी पत्नियों के सहित वस्त्राभूषणों से सुशोभित थे वैसे ही उन्होंने यज्ञ में वरण किये अपने समस्त ऋत्विज और सदस्यों को भी रत्न जटित आभूषण तथा रेशमी वस्त्रधारण कर के सम्मानित किया। बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहिने ऋत्विज और सदस्य गण ऐसे ही लगते थे मानो देवराज इन्द्र के यज्ञ में दिव्य विप्रगण विराजमान हों। भगवान् श्री बलरामजी तथा श्रीकृष्ण-चन्द्रजी भी अपनी पत्नियों तथा सतानों सहित उस यज्ञ की शोभा बढा रहे थे। वे ऐसे लगते थे मनो जीव और ईश एक साथ बैठे हों।

वसुदेवजी ने ब्राह्मणों की बताई विधि के अनुसार प्राकृत तथा वैकृत यज्ञों को विधिपूर्वक किया प्राकृत यज्ञ तो जैसे ज्योतिष्टोम, दर्श, तथा पौर्णमास आदि यज्ञ और वैकृत जैसे सौरस आदि वसुदेवजी ने सभी यज्ञों को किया। यज्ञ का कार्य बडी धूम धाम से हुआ। वसुदेवजी के यज्ञ का समाचार देश देशान्तरों में व्याप्त हो गया, अतः लक्षों दर्शनार्थी वहाँ आते थे यज्ञ में आने वालों में ऐसा कोई नहीं था, जिसका यज्ञ की ओर से स्वागत सत्कार न किया गया हो। नाना प्रकार के षटरस व्यजन लिये सेवक सदा घूमते रहते थे और दर्शकों को आग्रह पूर्वक भोजन

कराये थे। कोई भी याचक यज्ञ से नहीं लौटा जिसे उसकी इच्छित वस्तु न मिली हो। यज्ञ के अन्त में शूरनन्दन वसुदेवजी ने ऋत्विज विप्रों को शास्त्रानुसार सुवर्ण, मणि, माणिक तथा अन्यान्य बहु मूल्य दक्षिणा दा। बहुत सी तुरन्त ब्याई हुई दुधार गौएँ दीं। पृथ्वी अन्न, वस्त्र, रूपवती, गुणवती, शीलवती तथा सद्कुलोद्भूता बहुत सी सुन्दरी कन्यायें दक्षिणारूप में दीं। तदनतर ऋषियों ने वसुदेवजी से पत्नीसयाज कर्म कराया। तदनतर यज्ञान्त अवभृत स्नान किया। मुनियों ने यज्ञ के प्रधान यजमान वसुदेवजी को आगे करके गाजे बाजे के साथ, बड़े उत्साह के सहित परशुरामजी द्वारा रचे हुए कुण्डों में स्नान कराया। उस समय का दृश्य बड़ा ही अलौकिक था। यज्ञीय घट को सिर पर रखकर वसुदेवजी अपनी पत्नियों के साथ जा रहे थे। सहस्रों राजा उनका अनुसरण कर रहे थे। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र और बलरामजी भी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। सूत, मागध, बन्दी उनकी विरुदावली गाते जाते थे। यदुवंशियों में भी सहस्रार्जुन, मधु, वृष्णि, भोज, शूरसेन, कुकुर, दशार्ह तथा अन्यान्य प्रसिद्ध प्रसिद्ध भूपति हुए हैं, बन्दी जन उनकी पवित्र कीर्ति का गान कर रहे थे। स्नान के अनतर प्रसन्न होकर वसुदेवजी ने उन स्तुतिजीवी सूत, मागध और बन्दीजनों को वस्त्र, अलङ्कार तथा सुवर्ण मुद्राओं के रूप में बहुत से पारितोषिक दिये। श्री वसुदेवजी की पत्नियों ने भी बहुत-सा दान किया। उस यज्ञ में किसी भी वर्ण का कोई भी कभी भी प्राणी आया वह सत्कार द्वारा सन्तुष्ट किया गया, चाहे वह शूकर कूकर कोई भी क्यों न हो

इस प्रकार वसुदेवजी यज्ञ रूपी महासागर को श्रीकृष्ण कृपासे सुगमता पूर्वक निर्विघ्न तर गये। वसुदेवजी ने उस तज्ञ में अपनी सभी बहिनों को पुत्रियों को, परिवार वालों को तथा सगे सम्बन्धी सभी को बुलाया था। यज्ञ समाप्त होने पर जितने भी आये थे,

उन्हें विदाई देकर बडे सत्कार से विदा किया बहिनों को लडकियों को तथा और भी जो अपने मान्य पक्ष की स्त्रियाँ थीं उन्हें रेशमी तीहलें दीं। पुरुषों को भिरोपे मणि जटित सुवर्ण के आभूषण दिये। इस प्रकार अपने बन्धु बान्धव, सगे सम्बन्धी उनकी स्त्रियों तथा बच्चों को यथायोग्य वस्तुएँ देकर स्नेह भरित हृदय से विदा किया। यज्ञ में आये हुए विदर्भ, कोसल, कुरु, काशी, केकय तथा सृञ्जय देश के राजा वसुदेवजी का आज्ञा ले राम कृष्ण द्वारा सत्कृत होकर अपने अपने देशों को गये। यज्ञ मे जिन सदस्यों और ऋत्विजों ने कार्य किया था वे भी विपुल दक्षिणा पाकर सन्तुष्ट हुए। देवता अपने भागों को पाकर, मनुष्य भोजन, वस्त्र और धनादि पाकर, भूतगण बलि पाकर, पितर श्राद्धान्न और तर्पण का जल पाकर तथा चारण आदि सम्मान और पारितोषिक पाकर भली प्रकार सतुष्ट हुए। ये सबके सब यज्ञ समाप्त होने पर भगवान् की आज्ञा लेकर अपने अपने स्थानों को चले गये। जाते हुए मार्ग मे यज्ञ की बडी प्रशसा करते जाते थे। कोई कहता—"ऐसा यज्ञ तो हमने आज तक कोई देखा नहीं।" दूसरा कहता—"क्यों न हो, जहा साक्षात् लक्ष्मीनिवास विराजमान हैं। वहाँ कमी ही किस बात की रह सकती है। भगवान् तो इस सम्पूर्ण चराचर जगत् के एक मात्र स्वामी हैं। ऋद्धियाँ सिद्धियाँ तो हाथ जोडे हुए उनकी सेवा मे सदा खडी रहती है।"

जब सब लोग चले गये तो कौरवपक्षीय लोगों ने तथा अन्यान्य राजाओं ने भी भगवान् से आज्ञा चाही। जिनसे जितनी ही अधिक घनिष्ठता थी, उन्हें उतनी ही देर मे विदा किया गया। और लोग जब चले गये तब धृतराष्ट्र, विदुर, धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रोणाचार्य, कुन्ती तथा अन्यान्य घनिष्ट सम्बन्धी भी रोते रोते विदा हुए। सब परस्पर में हृदय से हृदय सटाकर मिले थे।

ऋषियों में भगवान् वेदव्यास और देवर्षि नारद सबसे पीछे विदा हुए। भगवान के दर्शनों के लोभ से वे कुछ दिन और रह गये। अन्त में वे भी भगवान की अनुमति लेकर तथा उनके वियोग की व्यथा से व्याकुल होकर स्नेहार्द्र हृदय से भगवान की मूर्ति को मन में रखकर विदा हुए।

उग्रसेनजी ने वसुदेवजी ने तथा अन्य समस्त यादवों ने नंदजी का बड़ा स्वागत सम्मान किया, उन्हें वस्त्र, आभूषण तथा नाना प्रकार की सुन्दर सामग्रियों से सत्कृत किया। गोपिकाओं को भी वस्त्र, अलङ्कार आदि दिये गये। जब यज्ञ समाप्त हो गया और प्रायः सभी राजा विदा होकर अपने-अपने देशों में चले गये, तब एक दिन नन्दजी ने वसुदेवजी से कहा—"भैया! अब हमें भी व्रज से आये बहुत दिन हो गये हैं, अतः हमें भी जाने की अनुमति मिलनी चाहिए।"

वसुदेवजी ने कहा—"भैयाजी! ऐसी क्या शीघ्रता है, अभी कुछ दिन और रहो।" यह सुनकर नन्दजी चुप हो गये। कुछ दिन पश्चात् फिर कहा फिर भी वसुदेवजी ने कुछ कहकर टाल दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आज कल करते हुए नन्दजी वहाँ यादवों के साथ तीन महीनों तक रह गये। अन्त में वे सब किस प्रकार अत्यंत दुखित होकर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र और यादवों से पृथक हुए इस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

अनुपम उतसव भयो सबनि को स्वागत कीन्हो।
बहुत धेन धन धान दान विप्रनि कूँ दीन्हो॥
मख महँ सुर ऋषि पूजि शूर सुत अति हरषाये।
पाइ मान सुर विप्र सकल निज धाम सिधाये॥
पूजित ह्वै कें नन्दजी, सब ई गोपी गोप गन।
रहे कछुक दिन संग तहँ, पुनि कीयो व्रज कूँ गमन॥

गोपी और गोपों की कुरुक्षेत्र से विदाई

[११७९]

नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥❀

(श्री भा १० स्क० ८४ अ० ६९ श्लोक)

छप्पय

नित प्रति छकरा जोरि चलहिँ जब गोप नयन भरि ।
आजु नहीं अब काल्हि जाइँ, यों कहि रोकें हरि ॥
तीन मास यों रहे निकट जब बरषा आई ।
भये विवश बल श्याम कष्ट तैं करी बिदाई ॥
नंद यशोदा सुतनि कूँ, पुनि पुनि हिये लगाइकें ।
कच भिगवत चूमत वदन, नयननि नीर बहाइकें ॥

वियोग न हो, तो संयोग सुख की पूर्ण अनुभूति न हो। यह संसार द्वन्द पर अवस्थित है, उत्थान पतन, सुख-दुख, जीवन मरण तथा यश-अपयश आदि एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं अनुभूति नहीं। यही बात संयोग-वियोग के विषय में है। जिससे संयोग हुआ है, उससे

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नन्दादि गोपगण तथा गोपिकायें ये सबके सब श्री गोविन्द के चरणारविन्दों में चिपके हुए अपने मनको निकालने में असमर्थ होते हुए भी शरीरों से मथुरा जी को गये।"

वियोग भी अवश्य होगा। संयोग-वियोग शृंखला की दो कड़ियाँ हैं, जो एक दूसरे को जकड़े हुए हैं। संयोग में जैसा सुख होता है, वियोग में वैसा ही दुख भी होता है। यदि पुनर्मिलन की आशा न हो तो वियोगजनित दुःख को सहकर कौन जीवित रह सकता है। प्रिय वियोग की सम्भावना से ही हृदय की कैसी दशा हो जाती है वह अकथनीय है। यदि वह वियोग प्रत्यक्ष साक्षात् रूप से सम्मुख समुपस्थित हो जाय, तब तो फिर कुछ कहा ही नहीं जाता, किन्तु प्रियवियोग में भी एक ऐसा मीठा-मीठा सुख छिपा रहता है, कि वह दुःख भी अच्छा लगता है, उन आसुओं में भी शीतलता होती और उस हृदय की धड़कन में भी प्रिय की अनन्त स्मृतियाँ सन्निहित रहती हैं ऐसा वियोगजन्य दुःख जिन भाग्यशालियों को होता है, उनके पुनीत पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी का यज्ञमहोत्सव बड़ी धूमधाम से समाप्त हुआ। शनैः-शनैः समस्त समागत सम्बन्धी विदा होकर चले गये। स्नेहवश गोप गोपियों सहित नन्दजी को कुछ दिन के लिये यादवों ने और रख लिया। नन्दजी की इच्छा तो नहीं होती थी, कि श्री कृष्ण बलराम को छोड़कर जायँ, किन्तु व्रज को छोड़े हुए बहुत दिन हो गये थे। अतः उन्हें बार-बार वृन्दावन की याद आती। कहते अब कल चले जायँगे। कल जाने की तैयारी करते श्यामसुन्दर आकर कहते—बाबा! आज बुध को कैसे जाओगे। बुद्ध बिछोहा अच्छा नहीं होता।"

नन्दजी क्या करते, रुक जाते और कहते—"अच्छा, भाई! कल अवश्य जायँगे।"

कल जब फिर तैयारियाँ करते तब यादवों के साथ बलदेवजी आते और कहते—"बाबा! आज तो दिशाशूल है। दिशाशूल

में कहीं यात्रा की जाती है।" नन्दजी फिर रुक जाते-फिर दूसरे दिन सब तैयारियाँ करते। भगवान् थोड़ा सा पिसा हुआ काय-फल सूँघ लेते छींक आ जाती, तो कहते—"अजी बाबा! छींक हो गयी। अपशकुन हो गया। आज जाना शुभ नहीं।" इसी प्रकार कभी चन्द्रमा अच्छे नहीं, कभी लग्न, योग, करण, वार, नक्षत्र और तिथि में दोष बताते, इसी प्रकार आज-कल, आज-कल करते हुए तीन महीने हो गये।

सभी यादव गोपों के प्रेम को देखकर आश्चर्य चकित हो गये। गोपियों के अनुराग को देखकर भगवान् की पत्नियाँ अपने प्रेम को धिक्कारने लगीं। वे श्री राधाजी की बहुत प्रशंसा सुनती थीं, किन्तु वे यह न समझ सकीं कि श्री राधाजी में क्या विशेषता है। एक दिन रुक्मिणी आदि पटरानियों ने श्रीजी को एकान्त में बुलाया। उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। श्रीजी तो अत्यन्त भोरी थीं, वे बातें करना भी नहीं जानती थीं। रानियाँ जो बात पूछतीं अत्यन्त संक्षेप में उसका उत्तर देकर चुप हो जातीं। रानियाँ समझ ही न सकीं वे किस भाव में तल्लीन हैं। अन्त में रुक्मिणी जी ने कहा—"जीजी! तनिक-सा दूध पी लो।"

श्रीजी ने मना किया, किन्तु सभी रानियाँ आग्रह करने लगीं। वे इतने आग्रह को कैसे टाल सकती थीं। पीना स्वीकार कर लिया। दूध कुछ अधिक गरम था। सम्भवतया रानियाँ गरम दूध पीती होंगीं इसीलिये श्रीजी को भी गरम दूध ही दिया। संकोच वश वे पी गयीं, उन्होंने कुछ कहा ही नहीं।

रात्रि में जब श्री रुक्मिणी जी भगवान् की चरण सेवा के निमित्त गयीं, तो उन्होंने देखा भगवान् के चरणों में बड़े-बड़े छाले पड़े हुए हैं। देखकर रुक्मिणीजी आश्चर्य चकित हो गयीं और बोलीं—"प्राणनाथ! यह आपके चरणों में क्या हो गया है, इनमें ये छाले कैसे पड़ गये हैं आप तो कहीं बाहर गये नहीं।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, कुछ नहीं है ऐसे ही छाले पड गये हैं।" रुक्मिणीजी पीछे ही पड गयीं। अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहने लगीं—"नहीं, महाराज! आपको बताना ही होगा।"

तब भगवान बोले—"तुम नहीं मानती हो तो सुनो। देखो, श्री राधिकाजी के हृदय मे मेरे चरण सदा बने रहते हैं। आज तुमने उन्हे गरम दूध पिला दिया वह मेरे हृदयस्थ चरणो से स्पर्श हुआ, उसी से छाले पड गये।"

भगवान् की बात सुनकर अब सबको श्री राधिकाजी का महत्व मालूम हुआ। सभी समझने लगीं कि श्यामसुन्दर और श्री जी अभिन्न हैं। श्रीजी के हृदय में सदा श्यामसुन्दर निवास करते हैं और श्यामसुन्दर के हृदय मे सदा श्रीजी वास करती हैं।" तब से सभी रानियाँ श्रीजी का अत्यधिक आदर सत्कार करने लगीं। इस प्रकार स्त्रियों से स्त्रियाँ और पुरुषो से पुरुष अत्यन्त ही हिल मिल गये। एक दूसरे को छोडना नहीं चाहते थे, किन्तु कर्तव्य के वशीभूत होकर एक दूसरे से पृथक् होने को विवश थे। अतः अब जाने की तैयारियाँ करने लगे।

जब नन्दजी बारम्बार जाने का आग्रह करने लगे, तो एक दिन आँखो में आँसू भरकर वसुदेवजी कहने लगे—"भैया! नन्दजी तुम बार-बार जाने को कह रहे हो, किन्तु चित्त चाहता नहीं तुमसे पृथक् हुआ जाय, तुम्हारे जाने की बात का स्मरण आते ही हृदय फटने लगता है।"

गद्गद् वाणी से प्रेम भरित हृदय से नन्दजी बोले—"भैया! एक दिन तो पृथक् होना ही है। अब इस मोह ममता को छोडिये।"

वसुदेवजी बोले—"नन्दजी! आप सत्य कहते हैं। स्नेह का परिणाम विरह ही है सूरमा प्रकृति के लोगो को विरहजन्य दुःख नहीं सताता। उन्हें विरह होता भी है तो क्षण भर मे समाप्त हो

जाता है, जैसे सूखी बत्ती क्षण भर मे जलकर भस्म हो जाती है। किन्तु जिस बत्ती मे स्नेह (तेल, घृतादि) रहता है, वह शनै-शनैः रात्रि दिन जलती रहती है। इसी प्रकार स्नेही का हृदय रात्रि दिन जलता रहता है। विधाता ने नर-नारियों के हृदय मे स्नेह रूपी ऐसा जाल लगा दिया है, कि उसे छोडना बड़ा कठिन है। साधारण लोगों की बात तो पृथक रही हम देखते हैं, स्नेह के फन्दे में बड़े-बड़े योगी फँस जाते हैं। घर से स्त्री, बच्चों का, कुटुम्ब परिवार का मोह छोड़कर आते हैं, फिर किसी के प्रेम पाश मे फँस जाते हैं। सज्जन पुरुष तो अपनी सज्जनता से ही दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, किन्तु यदि उन सज्जनों ने किन्हीं के साथ महान् उपकार भी किया हो, तो फिर हम जैसा कैसा भी कृतघ्न क्यों न हो, उसकी आँखें ऊँची उठ ही नहीं सकती। सज्जनों का तो परोपकार करना स्वभाव ही होता है, वे उसे कुछ भी नहीं समझते, किन्तु जो अत्यन्त कृतघ्न नहीं हैं, वे उनके उस परोपकार को जीवन पर्यन्त नहीं भूल सकते।

आप साधुशिरोमणि हैं, आपने हमारे साथ अनुपम मित्रता प्रदर्शित की है। हम यद्यपि उसका कुछ भी प्रत्युपकार नहीं कर सके हैं, फिर भी आप से जो दृढ़ सम्बन्ध हमारा जुड़ा था और अब और अधिक जुड गया है, वह अटल है, कभी टूट नहीं सकता।"

अपने आँसुओं को पोंछते हुए नन्दजी बोले—"भैया! प्रत्युपकार का प्रश्न तो पराये लोगों मे उठता है। घर वालों मे क्या उपकार और क्या प्रत्युपकार घर मे एक भाई कमाता है, चार खाते हैं। इसमें न तो कमाने वाला उपकार कर रहा है न तो खाने वालों के मन मे प्रत्युपकार की भावना उठती है। सब अपने अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।"

वसुदेवजी ने कहा—"मैं तो अपने कर्तव्य का भी पालन न कर सका। जब मैं बन्दीगृह मे था, तब तो परवश था, कुछ कर्तव्य का पालन कर ही नहीं सकता था। जब कंस मर गया और हम कारावास से स्वतंत्र हुए, कुछ करने योग्य हुए। धन वैभव वाले हुए तो हमे धन का मद छा गया। जिसे धनमद हो जाता है, वह आँखो के रहते हुए उसी प्रकार सम्मुख खडे पुरुषों को नहीं देख सकता, जिस प्रकार जाले चढी आँखों वाला पुरुष अपने सम्मुख की वस्तुओं को नहीं देखता। यह धन का मद बडा बुरा है, इसलिये शास्त्रकारों ने बार-बार इस बात पर बल दिया है, कि कल्याण की कामना करने वाले पुरुष को धन वैभव के लोभ मे कभी न फँसना चाहिये। मेरी तो भगवान् के पादपद्मों मे यहीप्रार्थना है, कि वे अपने अनन्य भक्तों को राजलक्ष्मी से दूर ही रखें। क्योंकि लक्ष्मी के मद से अन्धा हुआ पुरुष अपने अनुगामी, सगे सम्बन्धी तथा बन्धु बान्धवों को सम्मुख रहते हुए भी नहीं देखता। सो भैया! जब हम असमर्थ थे, तब विवश थे, जब समर्थ हुए, तो धनमद से अंधे हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी की ऐसी करुणापूर्ण बातें सुनकर नन्दजी रोने लगे। इधर वसुदेवजी भी नन्दजी के सौहार्द्र का स्मरण करके प्रेम की प्रबलता से गद्गद् हृदय हो जाने के कारण रोने लगे। उस दिन नन्दजी जाने वाले थे, नहीं गये। और भी दो चार दिन रह गये। अन्त मे विदाई का दिन आ ही गया। चैत्र से ज्येष्ठ तक सब वहाँ साथ साथ रहे, अब वर्षा भी समीप आ गयी थी, अतः अब यादव भी जाना चाहते थे। निश्चय हुआ कल अवश्य व्रजवासी व्रज को जायँगे इस समाचार से विचित्र उदासी छा गयी।"

दूसरे दिन गोपों ने अपना सब सामान छकडों मे लादा। वसुदेवजी, महाराज उग्रसेन, भगवान श्रीकृष्णचन्द्र, उद्धवजी

तथा अन्यान्य यादवों ने नन्दजी तथा सभी गोप गोपियों को नाना प्रकार के वस्त्र, आभूषण तथा अन्यान्य उत्तम भोग की सामग्रियाँ

[illegible]

पूर्ण था, गोप गोपी रो रहे थे। नन्द-यशोदा राम और कृष्ण को बार-बार छाती से चिपटाते और अपने नयनों के जल से उनके बालों और वस्त्रों को भिगो देते। श्री कृष्ण की मधुर मूर्ति निहार-निहारकर गोपियाँ ढाह मारकर रो रही थीं उनकी हिचकियाँ बँध रही थीं। श्यामसुन्दर के नयनों से भी निरन्तर नीर निकल रहा था। जैसे तैसे सबसे मिल भेटकर अपने मन को श्री कृष्ण-चन्द्र के चरणों में ही छोड़कर वे शरीर को लेकर व्रजमंडल की ओर चल दिये और कुछ ही दिनों में मथुरा वृन्दावन में आ गये।

इधर अपने और सब बन्धु बान्धवों से विदा लेकर श्री कृष्णचन्द्र को ही सर्वस्व समझने वाले यादव भी वर्षा ऋतु समीप आयी समझकर द्वारकापुरी को चल दिये और कुछ ही दिनों में आनर्तदेशों की राजधानी कुशस्थली में पहुँच गये। वहाँ आकर उन्होंने यज्ञ के बन्धुबान्धवों के मिलने के बाद गोप गोपियों के सम्मिलन के सभी समाचार सुनाये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! कुरुक्षेत्र में भगवान का ऐसा वैभव देखकर तथा ऋषि मुनियों द्वारा भगवान् की स्तुति सुनकर जिस प्रकार वसुदेवजी और देवकीजी ने उनकी भगवत्ता के सम्बन्ध में कहा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गोपी गोपनि हृदय प्रेमतैं अति भरि आये।
मन हरि चरननि छोरि मधुपुरी तनतैं धाये॥
इत यादव सजि सैन द्वारका महँ आये जब।
कहीं कथा जो भई मिले ज्यों व्रजवासी सब॥
मिले रहत वल्लभ सदा, गोपिनि हिय महँ बसहिं नित।
मिलन भयो कुरुक्षेत्र महँ, भयो न व्रज सम मन मुदित॥

—:—

वसुदेवजी को आत्म ज्ञान

[११८०]

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् संकर्षण सनातन !
जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधान पुरुषौ परौ ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ८५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

एक दिवस बल श्याम गये निज पितु के पाहीं ।
निरखि ज्ञान जिह भयो पुत्र मेरे ये नाहीं ॥
ऋषि मुनि भीषम व्यास इन्हें सर्वेश बतावें ।
मानि मोइ निज जनक आई पद शीश नवावें ॥
बोले—तुम दोनों सकल, या जगके आधार हो ।
अज, अच्युत, अक्षर, अजित, अखिलेश्वर अवतार हो ॥

जीव की जब भी भिन्न धी नष्ट हो जाय तभी उसे शाश्वती शान्ति प्राप्त हो जाती है, तभी वह परम प्रसन्न हो जाता है। बिना भेदभाव के माधुर्य रस का आस्वादन नहीं होता। भेदभाव नष्ट होने पर सर्वत्र एक ही तत्त्व दिखायी देने लगता है। सर्व भूतों

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन ! वसुदेवजी की सर्व भगवद् बुद्धि होने पर वे भगवान श्री कृष्णचन्द्र और बलरामजी से कह रहे हैं—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे सनातनपुरुष संकर्षण ! मैं आप दोनों को जगत् के कारण रूप प्रधान और पुरुष का भी कारण समझता हूँ।'

में आत्मा एक रूप से दीखती है, तथा अपने में सर्वभूत दिखायी देते हैं। सब भूतों में भगवान् ही दिखायी दें, चराचर जगत् में भगवद् दृष्टि हो जाय, तो सभी सम्बन्ध छिन्न भिन्न हो जाता है अथवा सब सम्बन्धों का समावेश सर्वेश्वर में ही हो जाता है। वह दशा जब प्राप्त हो जाती है, तब शोक, मोह, भ्रम तथा भय सभी भाग जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्वारका में रहते हुए भगवान् नरनाट्य कर रहे थे। सब दिनों की भांति एक दिन भगवान् अपने बड़े भाई संकर्षणावतार बलरामजी के साथ अपने पूज्य पिता वसुदेवजी के समीप गये। उस समय वसुदेवजी शुद्ध सत्व में स्थित होकर जगत् के विषय में ऊहापोह कर रहे थे। उसी समय श्याम और बलराम ने आकर पिता के पादपद्मों में प्रणाम किया। दोनों के प्रणाम करने पर वसुदेवजी ने प्रसन्नतापूर्वक उनका अभिनन्दन किया, दोनों को अपने समीप ही सुखपूर्वक बिठा लिया।

राम श्याम जब वसुदेवजी के समीप बैठ गये, तब वसुदेवजी को वे सब बातें याद आयीं जो ऋषियों ने भगवान् के सम्बन्ध में कही थीं। बड़े बड़े कल्पजीवी, ज्ञानी, ऋषि महर्षियों ने ब्रह्मभाव से भगवान् की स्तुति की थी। विश्वामित्र, वसिष्ठ, परशुराम, नारद तथा अन्यान्य ब्रह्मज्ञानी राम कृष्ण को अवतार मानकर इनकी विनती करते थे, उनके पादपद्मों में प्रणाम करते थे, फिर इनके पराक्रम भी अलौकिक हैं। अवश्य ही ये ईश्वर हैं, ये नररूप रखकर क्रीडा कर रहे हैं। इस प्रकार का विश्वास होने पर वसुदेवजी का संकोच दूर हो गया, अतः वे अपने दोनों पुत्रों को सम्बोधित करते हुए बोले—"हे जगत् को अपनी ओर आकर्षित करने वाले कृष्ण! तुम समस्त योगियों के आराध्य हो। हे संकर्षण! तुम भी अपनी ओर सबको खींचते हो।

तुम महान् बलशाली हो, योगिजन आप में रमण करते हैं इसलिये आप 'राम' कहाते हैं, मैं तुमसे आज कुछ कहना चाहता हूँ।"

भगवान् बोले—"कहिये पिताजी! आप जो कहना चाहते हैं अवश्य कहें, कहीं बच्चों से भी ऐसे पूछा जाता है?"

वसुदेवजी ने कहा—"आप दोनों बच्चे नहीं। सबके पितामह हैं। इस दृश्य जगत् के कारण अर्थात् जनक तो प्रधान और पुरुष हैं। प्रधान पुरुष से ही इस सम्पूर्ण चराचर की उत्पत्ति है, किन्तु आप तो इनके भी कारण हैं। संसार में, कर्ता, कारण, संप्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण ये छे ही कारक हैं। आप इन सब कारकों के भी कारक हैं। जगत् में जहाँ पर, जिसके द्वारा, जिससे, जिसका, जिसके लिए, जो-जो भी कार्य, जिस-जिस प्रकार, जिस-जिस स्थान पर, जिस जिस समय होता है वह सब प्रधान और पुरुष के संयोग से ही होता है, उनके भी आप स्वामी हैं, प्रभु हैं, सर्वस्व हैं।"

बलरामजी ने कहा—"पिताजी! आप ये कैसी बात कह रहे हैं, जगत् में जो चैतन्य दीखता है, वह जीव और प्राणों के द्वारा है। जीवों में जब प्राण शक्ति का संचार होता है, तो उनमें जीवन आ जाता है, प्राण निकल जाते हैं शरीर निर्जीव हो जाता है।"

वसुदेवजी ने कहा—"हे बलराम! तुम मुझे भुलाओ मत। मैं अब तक भूला हुआ था, किन्तु कुरुक्षेत्र में ऋषियों ने मेरे अज्ञानान्धकार को दूर कर दिया। उनकी कृपा से मैं आपके यथार्थ रूप को समझ सका। हे अधोक्षज! आप इस जगत् को अपने संकल्प से ही रचते हो। इस चित्र-विचित्र संसार को रचकर अपने चैतन्य-स्वरूप से स्वयं ही इसमें प्रवेश कर जाते हो। आप अज होकर भी जीव और प्राणरूप से इस जगत् को धारण किये हुए हो। अपनी क्रिया शक्ति से इस दृश्य जगत् को आप उत्पन्न करते हैं।

प्राणों में जो प्रीणन करने की शक्ति है उसके भी परम कारण आप ही परमात्मा हैं। जड जगत् तुम्हारी चेतना के बिना कुछ भी कर नहीं सकता। प्रकाशित भी नहीं हो सकता। तुम ही आलोक प्रदान करते हो। मन, प्राण आदि तो अचेतन है। आप चैतन्यघन है। भला आप ही बताइये अचेतन आप चेतन के सदृश कैसे हो सकते हैं? प्राण स्वतः अचेतन है। परमात्मारूप से आप उनमें प्रेरणा करते है, तभी वे कुछ क्रिया करने मे समर्थ होते हैं। उनकी जितनी चेष्टायें हैं वे केवल चेष्टा मात्र ही हैं। उनमें कार्य करने की शक्ति आप परमेश्वर की ही है।"

बलदेवजी ने कहा—"पिताजी! सबमे चैतन्य तो पृथक्-पृथक् है।"

वसुदेवजी ने कहा—"नहीं, पृथक्ता तो बाह्य दृष्टि से दीखती है। लकड़ी का टेढ़ा, मेढ़ा, गोल, लम्बा जैसा भी आकार होगा वैसी ही अग्नि दीखने लगेगी। अग्नि सबमे मे एक-सी ही है। जब आप चन्द्रमा मे प्रकाश देते है, तो कान्तिरूप से वह प्रकाशित होने लगता है। अग्नि मे तेज रूप से आप ही विद्यमान् हैं। सूर्य की प्रभा आप ही हैं। बिजली मे जो चमक और स्फुरण दिखाई देता है, वह आप ही हैं। पर्वतो मे जो स्थिरता है, वह आपकी ही शक्ति है। पृथ्वी मे धारण करने की शक्ति आपने ही प्रदान की है। पृथ्वी मे जो गंध गुण है वह आपका ही दिया हुआ है। दिया हुआ क्या है आप ही तद्-तद् शक्तियो का रूप रखकर इन सबमे प्रतिष्ठ हो गये हैं।"

बलदेवजी ने कहा—"समस्त भूतो मे विचित्र शक्तियाँ हैं, नाना प्रकार के गुण हैं, उन्हीं के कारण तो वे जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं।"

वसुदेवजी ने कहा—"वे समर्थ कहाँ होते हैं। सबमें गुण

देने वाले, शक्ति संचार करने वाले तो आप ही हैं। पृथ्वी में गंध गुण आप ही हैं, उसमें जो धारण करने की शक्ति है वह भी आप से ही प्राप्त है। जल में सरसता, माधुर्य, तृप्त करने और पवित्र करने की शक्ति आप ही हैं। अग्नि में उष्णता, दाहक शक्ति, वायु में चलने की शक्ति, स्पर्श, गुण तथा सह, बल और ओज आप ही हैं। आकाश में शब्द, गुण तथा अवकाश देने की शक्ति आपसे ही है। दशों दिशाओं में आप ही व्याप्त हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी रूप में आप ही सब कुछ कर रहे हैं। देखना, सूँघना, बोलना, स्वाद लेना, सुनना, छूना, उठाना, धरना, पकड़ना, छोड़ना, चलना, फिरना, सुखानुभव करना, मल मूत्र का त्यागना तथा और भी जो इन्द्रियों के विषय हैं उन्हें प्रकाशित करने वाले आप ही हैं। सूर्य, अग्नि, अश्वनी-कुमार, वरुण, दिशा, वायु, इन्द्र, विष्णु, प्रजापति तथा निऋति आदि इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव भी आप ही हैं। जिस शक्ति से बुद्धि कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करती है, वह शक्ति भी आप ही हैं। आप दोनों इस जगत् के कारण हैं। कार्य के नष्ट होने पर कारण का नाश नहीं होता उसका अस्तित्व तो बना रहता है। जैसे घट, सकोरा, नाँद, हँड़िया, परिया, कुल्हड़ जब तक मृत्तिका से नहीं बने थे, तब तक भी मृत्तिका थी, इन सबके निर्माण हो जाने पर भी उन सब में मृत्तिका भीतर बाहर सर्वत्र विद्यमान रही। उनके नष्ट होने पर मृत्तिका नष्ट नहीं हुई वह ज्यों की त्यों बनी रही और कालान्तर में अपने पूर्व रूप में तन्मय हो गयी। कुण्डल, कंकण, कर्णभूषण तथा आंगलीय आदि आभूषणों के पूर्व भी सुवर्ण था, इनके बन जाने पर भी सुवर्ण बना रहा, टूट-फूट जाने पर सुवर्ण नहीं टूटा फूटा। वह ज्यों का त्यों बना रहा। इसी प्रकार नश्वर पदार्थों में उनके कारण रूप आप अविनाशी और नित्य तत्त्व है। ये जो सत्त्व, रज और तम तीनों

गुण हैं और इनकी समस्त वृत्तियाँ महत्तत्त्वादि योगमाया से आप मायेश परब्रह्म में कल्पित हैं। वास्तव में तो ये भाव आप में हैं ही नहीं। इन सबकी केवल कल्पना की गयी है। आप इन सब विकारों में कारण रूप से अनुगत प्रतीत होते हैं।

संसार का इन गुणों का प्रवाह अनादि काल से ऐसे ही चल रहा है। जो लोग आपकी सूक्ष्मगति को नहीं जानते, आपके ज्ञान से अनभिज्ञ हैं वे ही अपने कर्मों के अनुसार, कर्मसूत्र में निबद्ध होकर, जन्म-मरण रूप संसार चक्र में फँसकर पुनः पुनः जन्मते हैं, पुनः-पुनः मरते हैं।"

बलरामजी ने कहा—"पिताजी! न जाने आपको क्या हो गया है। आज कैसी बातें आप कर रहे हैं, हम बच्चों के आगे ऐसी गूढ़ ज्ञानयुक्त बातें बिना पूछे क्यों बता रहे हैं? आप तो हमसे बड़े हैं।"

वसुदेवजी ने कहा—"प्रभो! आप से कोई बड़ा नहीं है। आप सबसे बड़े हैं। सबसे छोटा तो मैं हूँ। मुझे मेरे प्रारब्धवश समस्त इन्द्रियादि सामर्थ्य से युक्त सुन्दर निरोग देह प्राप्त हुआ। उसका भी मैं सदुपयोग न कर सका। उसे भी मैंने व्यर्थ में ही बिता दिया। व्यर्थ के कामों में ही समय को नष्ट किया। माया के वशीभूत होकर मैं अपने वास्तविक स्वार्थ में असावधान बना रहा। कालरूप आप तो निरन्तर अव्याहत गति से चलते हैं। कभी रुकते नहीं। मैं विषयों में फँस गया। मेरी इतनी आयु निरर्थक चली गयी। मैं इस पंचभूतों से बने शरीर को ही सब कुछ समझता था। मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, इस तू तू मैं मैं में ही फँस गया। यह मेरा घर है, ये मेरे बाल बच्चे हैं, ये मेरे सगे सम्बन्धी हैं इस प्रकार के अभिमान में फँस जाने में अपनी वास्तविकता को खो बैठा।"

इसमें दोष भी किसे दिया जाय। आपने ही अभिमान रूप

स्नेह पाश से इस चराचर जगत् को बाँध रखा है। आपकी यह दुरत्यया दैवीमाया ही सबको नाक मे नकेल डालकर नचा रही है।

इस पर श्यामसुन्दर बोले—"पिताजी! आप यह कह क्या रहे हैं, हम तो आपके पाल्य हैं। हम तो आपके बच्चे हैं।"

वसुदेवजी बोले—"हाँ, आप बच्चे भी हैं, वृद्ध भी हैं। सब आप ही हैं। आप अजन्मा हैं। फिर भी पृथ्वी के भारभूत राजाओं के मारने के निमित्त आपने अवतार धारण किया है। आप मुझे भुलावें नहीं। अब तक तो मैं भूला ही रहा। आपने तो अवतार लेते ही अपना चतुर्भुज रूप दिखाया था और आपने अपने अवतार का प्रयोजन भी बताया था, किन्तु हम ऐसे मूढ निकले कि सब भूल गये। अब आपकी ही कृपा से हमें आपके यथार्थ रूप का ज्ञान हो गया है। अब हे कृपालो! हे अशरण शरण! हे दीनबन्धो! ऐसी दया करो कि मुझे ससार भय से मुक्त करने वाले आपके चरणारविन्द सदा मिलते रहें। मैं आपकी शरण हूँ। इन इन्द्रियों के पीछे भटकते-भटकते मैं थक गया। इनकी कभी तृप्ति ही नहीं होती। इन्द्रिय विषयों के पीछे पडा प्राणी अपने यथार्थ लक्ष्य को भूल जाता है। तभी तो मैंने इस अनित्य, क्षणभगुर, नाशवान, मरणशील शरीर में आत्मबुद्धि कर ली। दूसरी बडी भारी भूल यह हुई कि आप अखिल कोटिनायक परब्रह्म मे मैंने पुत्र बुद्धि कर ली। जन्म लेते ही आपने मुझे बताया था कि अजन्मा होकर भी आपने तीन बार हमारे यहाँ युग-युग में [illegible] अवतार लिये हैं। आप न तो कर्मों के बन्धनों में [illegible] और न कर्मों के कारण जन्म लेते हैं, आप तो अपनी इच्छा से [illegible] के [illegible] अनेक शरीर धारण कर लेते हैं [illegible]
फिर जब इच्छा होती है [illegible] हैं। हे [illegible]

आपकी विभूति रूपिणी माया के यथार्थ तत्त्व जानने की सामर्थ्य किसमें है ? आपका वास्तविक ज्ञान किसे हो सकता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब सर्वत्र भगवद् दृष्टि हो जाने के कारण वसुदेवजी ने अपने राम श्याम दोनों पुत्रों से ऐसे गूढ, ज्ञानयुक्त वचन कहे, तो उन्हें सुनकर श्यामसुन्दर खिलखिला कर हँस पड़े। भगवान् का हास्य ही तो जनोन्मादकारी माया है। भगवान् जहाँ हँस जाते हैं, वहाँ सब विमोहित हो जाते। इस प्रकार वसुदेवजी को माधुर्य के निमित्त मोहते हुए अत्यन्त मधुर वाणी से बोले—पिताजी ! हम आपका भाव समझ गये। आप ने एक निमित्त बनाकर हम पुत्रों को यह गूढ़ ज्ञानतत्त्व का उपदेश दिया है। आपका कथन सर्वथा युक्तिसंगत है। वास्तव में यही तत्त्वोपदेश है। आप हमें ईश्वर बता रहे हैं, किन्तु आप बताने वाले कौन हैं, इसे भी तो सोचिये। आप भी वही हैं, मैं भी वही हूँ, बड़े भाई बलरामजी भी वही हैं। कहाँ तक कहूँ ये सम्पूर्ण द्वारावती निवासी, द्वारका निवासी ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में यावन्मात्र चराचर प्राणी हैं सभी भगवत्स्वरूप हैं। ऐसी ही बुद्धि सर्वदा रखनी चाहिये। सबमें भगवान् को व्याप्त समझकर सबका मान करना चाहिये, सबकी वन्दना करनी चाहिये, सबको साष्टांग प्रणाम करना चाहिये। आप देखें, ये पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश पाँच महाभूत हैं। ये जगत् को रचने के कारण हैं, पृथ्वी की नाना प्रकार की छोटी, बड़ी, लम्बी, चौड़ी, भारी तथा हलकी वस्तुएँ बनती हैं। जल के भी समुद्र, सरिता, तालाब, पुष्करणी, कूप तथा गड्ढे आदि होते हैं। अग्नि के भी कारणवश बहुत भेद हो जाते हैं। वायु छोटे बड़े स्थानों में अधिक कम भर जाती है। आकाश भी घटाकाश, मठाकाश आदि भेद से छोटा बड़ा सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार नित्य, निर्गुण, स्वयं प्रकाश आत्मा अपने ही रचे हुए

महत्तत्त्व, अहतत्त्व तथा इन्द्रियादि गुणों द्वारा, उनके कार्यरूप मनुष्यादि देहों में यद्यपि एक है, अद्वितीय है। फिर भी मनुष्यादि शरीरों में एक होकर भी अनेक सा तथा अन्य-सा प्रतीत होता है। यह सब आत्मा का ही पसारा है। आत्मा ही नाना रूपों में भासकर जगत् में नानारूप में दृष्टिगोचर हो रहा है।"

सूतजी कह रहे हैं "मुनियो! भगवान् के ऐसे गूढवचन कहने पर तथा उनकी बताया हुयी आत्मा की सर्वव्यापकता सुनने पर वसुदेवजी की भेद बुद्धि नष्ट हो गयी। सर्वत्र भगवद् दृष्टि हो जाने पर वसुदेवजी को परम प्रसन्नता हुई। वे कृतकृत्य हो गये। मारे प्रसन्नता के वे मौन हो गये। अब जिस प्रकार देवकीजी अपने मृतक पुत्रों को लाने के लिये राम श्याम से कहेंगी, उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

मो पै किरपा करो शरन तुमरी हौं आयो।
इन्द्रिय विषयनि फँस्यो समय सब व्यर्थ गँवायो॥
सुनिके पितुके बचन श्यामसुन्दर सकुचाये।
आत्मज्ञानयुत मधुर, विहँसि वर बचन सुनाये॥
सब भगवत् के रूप हैं, मैं तुम बल ये चराचर।
आत्मा अद्वय एक रस, नित्य निरंजन परावर॥

देवकीजी को अपने मृत पुत्रों के दर्शन

[११८१]

तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहृतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ८५ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

सुनि हरिको उपदेश भये वसुदेव सुखारे ।
तबहीं आई मातु मुदित बल श्याम निहारे ॥
बोली माता—प्रथम मृतक गुरु सुत तुम आन्यो ।
योगेश्वर तुम उभय मुनिनि तैं मख महँ जान्यो ॥
मेरे छै सुत कंसने, जनमत मारे सुघर सब ।
तुम समर्थ सर्वज्ञ हो, तिनिहिँ दिखाओ लाइ अब ॥

मातृहृदय एक ऐसी जटिल पहेली है कि उसका समुचित ज्ञान अभी तक किसी को हुआ नहीं। माता का अपनी सन्तान के प्रति कितना अनुराग होता है, इसकी उपमा खोजी जाय तो यही कहा जायगा जितना जननी का अपने बच्चे के प्रति प्रेम होता

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने मृत पुत्रों को देखने की इच्छा से माता देवकी श्री कृष्णचन्द्र और बलरामजी से कहने लगी—भैया तुम दोनों योगेश्वर हो। जैसे तुम अपने मृतक गुरु पुत्र को लाकर उनकी इच्छा पूर्ण की थी, वैसे ही मेरी इच्छा को पूर्ण करो। भोजराज कंस ने मेरे जिन बच्चों को मार डाला था उन्हें मैं देखना चाहती हूँ, उन्हें तुम ले आओ।"

है, इसका दूसरा उदाहरण मिलता ही नहीं। एक बार जिस माता ने नौ महीना अपने गर्भ में धारण कर लिया, वह फिर उत्पन्न होकर कहीं चला जाय, कहीं पले पोसे, इस लोक में रहे या परलोक में, उसे वह भूल नहीं सकता। जैसे किसी की बीसों उँगलियों में से छोटी सी छोटी उँगली को काट दो, उसे कटने पर पीड़ा उतनी ही होगी, जितनी बड़ी उँगली के कटने पर और जीवनपर्यन्त वह कटी उँगली याद आती रहेगी। सन्तान माता का दूसरा हृदय होता है, तभी तो गर्भवती स्त्री को द्विहृदया कहते हैं। कोई माता से कहे कि संसार में तुझे सबसे प्रिय वस्तु कौन है, तो वह अपनी सन्तान को बतावेगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी में तथा राम श्याम में ऐसी बातें हो रहीं थीं, उसे सर्वदेवमयी भगवती देवकीजी ने भी सुना। उन्होंने कुरुक्षेत्र के मख में महर्षियों के मुखों से यह बात बार बार सुनी थी कि ये राम श्याम अवतार हैं। आज अपने पति को भी देखा वे अपने पुत्रों की परमात्म बुद्धि से स्तुति कर रहे हैं, तो उन्होंने भी सोचा—"जब ये मेरे पुत्र ईश्वर हैं। सर्व समर्थ हैं, तो मैं भी इनसे कुछ माँगूँ।" फिर सोचने लगीं—मैं इनसे क्या माँगूँ, मेरे धन, धान्य है, किसी वस्तु की कमी नहीं। उसी समय उन्हें अपने उन छोटे-छोटे सुतों की स्मृति हो आई जिन्हें कंस ने जन्म लेते ही मार डाला था। उनकी स्मृति आते ही माता का हृदय भर आया। वे सोचने लगीं—"क्यों न मैं इन राम श्याम से अपने उन मृतक पुत्रों को ही लाने के लिये कहूँ।" मैंने सुना है, जब ये अवन्तिका नगरी में पढ़ते थे तब अपने गुरु सान्दीपिनी मुनि के मृतक पुत्रों को ये जाकर यमलोक से ले आये थे और उन बच्चों को उन्हीं का त्या देकर ये गुरुदक्षिणा के ऋण से उऋण हुए थे। क्या मैं इनसे अपने उन मृतक पुत्रों को लाने के लिये कहूँ।'

यही सब सोचकर एक दिन माता ने एकान्त में राम श्याम से कहा—"देखो, मैंने सुना है, तुम दोनों ईश्वर हो, सर्वसमर्थ हो मेरा भी एक काम करोगे ?" यह कहकर पुत्रों का स्मरण हो आने से माता अत्यन्त ही शोकाकुल हुईं। हृदय भर आने से विकलता बढ़ गयी और नेत्रों से झर-झर आँसू बहने लगे।

माता को अत्यन्त शोकाकुल देखकर श्यामसुन्दर ने उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—"माताजी ! आप ऐसी व्याकुल क्यों हो रही हैं। मुझे अपने दुःख का कारण बताओ। उस पुत्र के लिये धिक्कार है, जो समर्थ होते हुए भी माता पिता के दुःख को नहीं मेटता। आप इतनी दुखी किस कारण से हो रही हैं ?"

सिसकियाँ भरते हुए तथा बार बार आँसुओं को पोंछते हुए माता भगवान् श्यामसुन्दर तथा बलराम से कहने लगीं—"हे अप्रमेयात्मन् राम ! हे योगेश्वरों के भी ईश्वर श्री कृष्ण ! मैंने ऋषियों के मुख से सुना है और मुझे भी इस बात पर पूर्ण विश्वास हो गया है कि आप समस्त प्रजापतियों के भी पति हैं। आप आदि पुरुष श्री नारायण हैं।"

भगवान् बोले—"माताजी ! आप को भी पिताजी की भाँति क्या हो गया है। उस दिन पिताजी भी ऐसे ही कह रहे थे। हम आपके पुत्र हैं। आपकी कोख से हमने जन्म लिया है।"

देवकी माँ बोली "प्रभो ! आप किसी के भी पुत्र नहीं हैं। आपने तो भूमि का भार उतारने के लिये अवतार धारण किया है। जो असुर होकर भी राजाओं के रूप में धरणीधाम पर उत्पन्न हुए हैं, जो शास्त्र मार्ग का उल्लङ्घन करके वर्ताव करते हैं, जो अपने प्राणों को ही तृप्त करने को परम पुरुषार्थ समझते हैं, अब जिनका पुण्यमय पुरुषार्थ समाप्त हो गया। ऐसे राजारूप असुरों का विनाश करके भू का भार उतारने आप दोनों अपनी इच्छा से

अवनि पर मेरे गर्भ से अवतरित हुए हैं। आप स्वयं इस जगत् को नहीं बनाते। आपकी माया के अशांश से उत्पन्न इन त्रिगुणों से ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्च की रचना हो जाती है। हे प्रभो! आप मेरी भी इच्छा पूर्ण करें। मेरे ऊपर भी कृपा करें, मैं आपकी शरण में हूँ।"

भगवान ने कहा—"माताजी! आप इतनी बड़ी भूमिका किसलिये बाँध रहीं हैं? बात बताइये मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ।"

माताजी ने कहा—"हे योगेश्वरों के भी ईश्वर! देखो, जब तक तुम्हारा अवतार नहीं हुआ था, उसके पूर्व ही मेरे गर्भ से छै पुत्र उत्पन्न हुए थे। उन सबको मेरे भाई दुष्ट कंस ने जन्म लेते ही मार डाला। मैं अपने उन्हीं पुत्रों को देखना चाहती हूँ।"

भगवान् ने बनावटी आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"माताजी! आप कैसी बातें कर रही हैं। भला, मरा हुआ आदमी फिर लौटकर कैसे आ सकता है?"

दीनता के स्वर में माता देवकीजी ने कहा—"प्रभो! आप मुझे भुलावा न दें। मैं सब जानती हूँ, आपके लिये असंभव कुछ भी नहीं। मैंने आपके सम्बन्ध में सुन रखा है। जब तुम दोनों अवन्तिकापुरी में आचार्य श्री सान्दीपिनी गुरु के निकट पढ़ते थे, तब आपने उनसे गुरुदक्षिणा माँगने को कहा। उन्होंने आपको अपनी पत्नी के पास भेज दिया। गुरुपत्नी ने आप से गुरु-दक्षिणा में बहुत पहिले मरे हुए पुत्र की याचना की। तब आप दोनों यमराज के यहाँ गये और उनके पुत्र को लाकर गुरुदक्षिणा रूप में उसे देकर गुरुदक्षिणा के ऋण से उऋण हुए। उसी प्रकार कंस द्वारा मारे गये मेरे पुत्रों को भी ले आओ। मैं अपने उन बच्चों को एक बार देखना चाहती हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब जननी ने बहुत प्रकार से

अनुनय विनय की, तब भक्तवांछाकल्पतरु भगवान अपने बड़े भाई बलराम के सहित सुतललोक में गये। जहाँ असुरों के महाराज बलि निवास करते हैं। दैत्यराज बलि ने जब देखा मेरे लोक को अपने पादपद्मों की पावन पराग से पवित्र बनाते हुये परमेश्वर पधारे हैं, तो उन्होंने सपरिवार श्री कृष्णचन्द्र और बलरामजी के चरणारविन्दों में श्रद्धा भक्ति सहित प्रणाम किया। दोनों के देवदुर्लभ दर्शनों से आनन्द में निमग्न होकर उनकी चरणरज मस्तकपर धारण की। अति प्रसन्न चित्त से दोनों को सुन्दर सिंहासन बैठने के लिये दिये।

जब दोनों भाई सुखपूर्वक बैठ गये, तो महाराज बलि उनकी पूजा करने के लिये प्रस्तुत हुए। भगवान् के दर्शनों से और उनके स्वयं अपने लोक में पधारने के हर्ष से महाराज बलि के आनन्द की सीमा नहीं थी वे इतने प्रसन्न थे कि उनका हृदय धक धक कर रहा था। जैसे तैसे उन्होंने सुवर्ण की झारी से सुवर्ण की थारी में उनके चरणों को धोकर चरणामृत लिया। गंगाजी जिन चरणों से निकल कर ब्रह्माजी से कीट पर्यन्त सभी को पावन बनाती हैं, जिन चरणों को सदा कमला अपने करकमलों से प्रेम पूर्वक लपोटती रहती हैं। उन्हीं चरणारविन्दों को पखारकर उस पावनपय को दैत्यराज ने सकुटुम्ब मस्तक पर धारण किया। फिर अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय जल देकर वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुगीफल, तथा अन्यान्य फल समर्पित किये। नाना प्रकार के षडरस व्यंजनों से उन्हें श्रद्धा सहित भोजन कराया। फिर पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, शरीर तथा सर्वस्व को राम कृष्ण के पादपद्मों में अर्पित किया। तदन्तर प्रेमार्द्र चित्त से प्रभु के पादपद्मों को पकड़कर स्तुति करने लगे। उस समय उनके युगल नयनों से प्रेम के अश्रु भर-भर करके झर रहे थे। सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था। गद्गद

वाणी से उन्होंने अत्यन्त ही मार्मिक वचनों से दोनों ईश्वरों की स्तुति की। और स्तुति के अन्त में कहा—"प्रभो! आप हमें ऐसा उपदेश दें, जिनसे इन सांसारिक बन्धनों से हम मुक्त हो जायँ।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! तुम तो मेरे परमभक्त हो। तुम्हें तो संसारी बन्धन है ही नहीं। इस समय मैं तुम्हारे यहाँ एक विशेष कार्य से आया हूँ।"

महाराज बलि ने कहा—"आज्ञा कीजिये, भगवन्!"

भगवान् बोले—"राजन्! तुम्हारे यहाँ छे असुर हैं, उन्हें हम ले जाना चाहते हैं।"

बलि ने पूछा—"प्रभो! वे छै असुर कौन हैं, आप उन्हें कहाँ ले जायँगे! उनका परिचय मुझे दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"इसी प्रथम स्वायम्भुवमन्वन्तर में महर्षि मरीचि की ऊर्णा नाम की स्त्री से छै पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतग, क्षुद्रभृद्, और घृणी ये थे। ये ऋषिकुमार बड़े शान्त संयमी, तथा सदाचारी थे। वे सबके सब ऋषिकुमार देवकुमारों के समान सुन्दर थे। भगवान् प्रजापति का जब सरस्वती को देखकर चित्त चचल हो उठा, तो ये अपने सदाचार के अभिमान में भरकर उनके ऊपर हँसने लगे। भगवान् पितामह का अभिमानवश उन्होंने परिहास किया। इसलिये भगवान् ब्रह्मा ने उन्हें शाप दिया कि तुम असुर हो जाओ।"

शाप सुनते ही उनका अभिमान कपूर की भाँति उड गया। उन्होंने पितामह के पादपद्मों में प्रणाम करके अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी। तब ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, आसुरी योनि तो तुम्हें मिलेगी ही, किन्तु एक बार मनुष्य योनि में जाकर तुम फिर असुरलोक में आ जाओगे जब भगवान् तुम्हें अपनी माता के समीप ले जाकर अपना पीतशेष पय पिला देंगे, तभी तुम अपने ऋषिलोक को चले जाओगे तुम्हारी सद्गति हो जायेगी।"

वे ही मरीचि ऋषि के पुत्र शापवश हिरण्यकशिपु के यहाँ उत्पन्न हुए। फिर मेरी योगमाया उन्हें भगवती देवकी के उदर में ले आयी। वहाँ वे जन्म होते ही कंस के द्वारा मारे जाकर वे फिर तुम्हारे लोक में आ गये हैं। अब माता देवकी उन्हें देखने को व्याकुल हैं।"

महाराज बलि ने कहा—"प्रभो! जब वे सुतललोक में आ ही गये, तो फिर बिना माता के गर्भ में गये पृथ्वी पर कैसे जायँगे। फिर माता ने तो उन्हें बच्चा देखा है।"

भगवान ने कहा—"कोई बात नहीं, माता का शोक दूर करने हम उन्हें ले जायँगे, अपनी योगमाया से उन्हें ज्यों का त्यों बना लेंगे। माता का फिर से दुग्ध पान करते ही ये सबके सब शाप से मुक्त हो जायँगे। फिर सुखपूर्वक अपने लोक को चले जायँगे। सबकी सद्गति हो जायेगी।"

महाराज बलि ने कहा—"प्रभो! आप सभी लोकों के एकमात्र स्वामी हैं। आप जैसा चाहें वैसा करें।" यह कहकर बलि ने उन छैओं को भगवान के सम्मुख समुपस्थित किया।

उन छैओं को देखकर राम-कृष्ण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। महाराज बलि ने दोनों की पूजा की। इस प्रकार असुरराज से पूजित होकर और उन छैओं बालकों को साथ लेकर दोनों भाई द्वारकापुरी में लौट आये और अपनी माता को ये सब बच्चे दिये।

चिरकाल से बिछुड़े अपने प्यारे पुत्रों को पाकर पुत्रवत्सला भगवती देवकी अत्यन्त ही प्रमुदित हुईं। पुत्रों के स्नेह के कारण उनके स्तनों में अपने आप दूध भर आया। माता का मोह उमड़ने लगा। हृदय में प्रेम की हिलोरें उठने लगीं। सभी बच्चों को हृदय में चिपकाकर उन्होंने चिर दिन के अपने शोक सन्ताप को मेटा। दूध पिलाकर गोद में बिठाकर बारम्बार मस्तक सूंघा और चूमा और

आँसू बहाते हुए उनके मस्तकों को सूँघने लगीं। पुत्रों के स्पर्श से उनके रोम रोम पुलकित हो रहे थे। भगवान् की गुणमयी दैवी-माया से विमोहित हुई माता उन्हें पुन पुन' प्यार करने लगीं।

जब बालकों ने माता के उन स्तनों का पान कर लिया जो श्रीकृष्ण भगवान के पान करने से परम पावन बन चुके थे, तब उनके समस्त अशुभ नाश हो गये। भगवान् के अग स्पर्श से तथा उनके पीतशेष स्तन पय को पान करके उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति हो आयी उनके मन से आसुरी भाव दूर हो गय उन्हें अपने देवता होने का ज्ञान हो गया। अत' उन्होंने बडी श्रद्धा भक्ति के साथ भगवान् को बलराम जी को श्री वसुदेवजी को तथा माता देवकी जी को प्रणाम किया, उनसे आज्ञा ली और सबके देखत-देखत तुरन्त सुरलोक को चले गये। इस घटना से सभी को परम विस्मय हुआ।

माता देवकी जब इस घटना के सम्बन्ध म सोचने लगीं, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रहा। वे विचारने लगीं—"मरे हुए लोग फिर उसी शरीर स कैसे आ सकते हैं, किसी भाँति आ भी जायँ, तो उनके शरीर में तो परिवर्तन होना ही चाहिये। इन बालकों को मरे कितने दिन हो गये। इनसे छोटे राम-कृष्ण के पुत्र पोत्र भी हो गये। य अभी ज्यों के त्यों ही बने हैं, इन्हें देखते ही मेरे स्तनों मे दूध भर आया। फिर ये बालक सबके देखते देखते कैसे अन्तर्धान हो गये।" इस प्रकार माता बडी देर तक ऊहापोह करती रहीं। अन्त में उसने समझा—"यह सब भगवान की माया है। अपनी माया के प्रभाव स सब कुछ कर सकते हैं, इनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनन्तवीर्य भगवान् वासुदेव के ऐसे एक नहीं अनन्त चरित्र हैं मेर तो एक जिह्वा है। दो सहस्र जिह्वा वाले शेष जी भी यदि सृष्टि के आदि से सृष्टि के

अन्त तक भगवान् के अद्भुत चरित्रों का गान करना चाहे तो नहीं कर सकते। जो भगवान् के इस चरित्र को या अन्य चरित्रों को प्रेमपूर्वक सुनेंगे सुनावेंगे, पढ़ेंगे पढ़ावेंगे, उनका श्री भगवान् के पादपद्मों में मन रम जायगा और इससे वे उनके कल्याणमय परमधाम को प्राप्त हो जायँगे। मुनियो! मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने गंगा तट पर अनशन व्रत करके कथा सुनते हुए महाराज परीक्षित को यह पुण्यमय आख्यान सुनाया और अंत में कहा—"राजन्! भगवान् अपने भक्तों के लिये सब कुछ कर सकते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर के वे दूत बनकर हस्तिनापुर गये। महाराज उग्रसेन के सेवक बनकर सिंहासन के नीचे खड़े होकर स्तुति करते थे। द्रौपदी के लिये वे चीर बन गये अर्जुन के सारथी बन कर उसकी आज्ञा से रथ को इधर उधर घुमाते रहे। कहाँ तक कहें, भगवान् अपने भक्तों की सभी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। यदि भगवान् अपने अनन्याश्रयी भक्तों की समस्त इच्छाओं को पूर्ण न करें, तो उनकी भगवत्ता में दोष आ जाता है। देखो तुम्हारे पितामह अर्जुन तीर्थ यात्रा के अवसर पर द्वारका गये। भगवान् की सगी बहिन सुभद्रा को देखकर उनका मन चञ्चल हो गया। भगवान् अपने भक्त की भावना समझ गये और हँसकर बोले—"तुम मेरी बहन से विवाह करना चाहते हो क्या? यह सुनकर अर्जुन लज्जित हुए। यद्यपि बलराम जी की सम्मति नहीं थी, किन्तु भगवान ने उनकी इच्छा पूर्ण की।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! मेरे पितामह अर्जुनजी का विवाह राम-कृष्ण की भगिनी मेरी दादी सुभद्राजी के साथ कैसे हुआ। भगवान् ने किस प्रकार उनकी इच्छा पूर्ति की। इस प्रसङ्ग को मेरी सुनने की बड़ी इच्छा है। कृपा करके इस प्रसङ्ग को मुझे अवश्य सुनावें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् के पूछने

पर मेरे गुरुदेव भगवान् व्यासनन्दन श्री शुक ने जिस प्रकार सुभद्रा और अर्जुनजी के विवाह का सरस प्रसङ्ग कहा, उसे एक बार में संक्षेप में पीछे कह भी आया हूँ, अब फिर उसे ही कहूँगा आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

माता इच्छा समुझि सुतल बल हरि उठि धाये।
बलि तैं पूजित भये कुमर माया तैं लाये॥
सुतनि पाइ अति मुदित भई जननी सुख पायो।
पय पिआइ मुख चूमि सूँघि सिर हिय सरसायो॥
छै मरीचि सुत विधिहिं जब, कामातुर लखि हँसि गये।
असुर भये ते शाप वश, प्रभु प्रसाद पुनि सुर भये॥

सुभद्रा अर्जुन प्रणय कथा

[१८२]

ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः ।
यथोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही ॥*
(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० १ श्लोक)

छप्पय

सूत कहें—अब हरन सुभद्रा सुनहु मुनीश्वर ।
करहिँ भक्त अभिलाश सकल पूरन परमेश्वर ॥
वन प्रसङ्ग महँ पार्थ सुभद्रा इच्छा लखि उर ।
बनि बाबाजी रहें छद्म तैं छिपि के हरि पुर ॥
बल छल कूँ समुझे नहीं, करे निमन्त्रित कपट मुनि ।
करति सुभद्रा पूर्व ही, प्रेम पार्थ को सुयश सुनि ॥

यह जीव भगवान् को भूलकर विषयों में भटकता रहता है। जो स्वयं विषयों के दास हैं, उनसे जाकर याचना करता है, उनसे सुख की आशा करता है। जिसे स्वयं सर्प ने डस लिया है, वह दूसरों को कैसे बचा सकता है। इस लोक के ही सुख इतने मोहक हैं कि रात्रि दिन भोगने पर भी उनसे चित्त नहीं

---

* महाराज परीक्षित् शुकदेवजी से पूछ रहे हैं—"ब्रह्मन् ! राम कृष्ण की बहिन सुभद्राजी से—जो मेरी दादी लगती थी—उनके साथ मेरे पितामह अर्जुन ने कैसे विवाह किया, इस कथा को मैं सुनना चाहता हूँ।"

हटता, फिर स्वर्गादि दिव्यलोकों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या। संसारी लोग वैषयिक सुखों को भी प्रचुर मात्रा में प्रदान नहीं कर सकते, फिर वे पारलौकिक सुख तो देंगे ही क्या। एक भगवान् ही ऐसे हैं कि अपनी शरण में आने वालों के सभी मनोरथों को पूर्ण करते हैं। जो जिस कामना से भगवान् के समीप आता है, भगवान् उसकी उस इच्छा को पूरी करते हैं। जो काम सुख चाहता है, उसे काम सुख देते हैं अर्थ चाहता है, अर्थ देते हैं, जो विशुद्ध धर्म चाहता है उसे धर्म देते और जो मोक्ष चाहता है, उसे मोक्ष। साराश यह है कि उनकी शरण जाने से इसकी तथा परलोक की कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती। भगवान् दयामय हैं, वे कृपण नहीं। अपने आश्रितों के लिये कोई भी वस्तु उनके लिये अदेय नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् के पूछने पर जैसे मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने सुभद्राहरण की कथा कही है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। अकेली द्रौपदी का विवाह पाँचों पाडवों के साथ हुआ। धृतराष्ट्र ने उन्हें बुलाकर इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे दिया। इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाकर द्रौपदी के सहित पाँचों पाडव सुखपूर्वक रहने लगे। उसी बीच में एक दिन देवर्षि नारदजी पधारे और उन्होंने पाण्डवों से कहा—"देखो, लडाई झगडे के मुख्य दो कारण हैं। कामिनी और काचन। यदि किसी धन को, किसी स्त्री को दो चाहते हैं, तो उन दोनों में झगडा अवश्य हो जायगा। एक बार धन के लिये चाहे झगडा न भी हो, स्त्री के पीछे तो झगडा हो ही जाता है। पहिले सुन्द, उपसुन्द दो सगे भाई असुर थे। उनमें परस्पर में बडा प्रेम था। देवताओं ने एक अत्यन्त सुन्दरी तिलोत्तमा अप्सरा को भेजा। उसे देखकर दोनों उस पर आसक्त हो गये। दोनों कहने लगे—"यह मेरी पत्नी हो, मेरी हो"। अन्त में दोनों आपस में लडकर

मर गये। यद्यपि तुम पाचों भाइयों में बड़ा प्रेम है, तथापि ऐसा नियम बाँध लो कि इतने समय तक एक भाई द्रौपदी के साथ रहेगा।"

पाडवों ने देवर्षि नारदजी की इस शिक्षा को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया। उन्होंने नियम बाँध लिया कि क्रम क्रम से नियत समय तक द्रौपदी अमुक के साथ रहा करेगी। यदि कोई भाई एकान्त में द्रौपदी के साथ हो और दूसरा वहाँ चला जाय, तो उसे बारह वर्ष ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके वनवास करना होगा। इस प्रकार नियम करके पाडव सुखपूर्वक रहने लगे।

एक दिन चोर किसी वेदज्ञ ब्राह्मण की गौओं को चुराये ले जा रहे थे, ब्राह्मण ने अर्जुन से सहायता की विनती की। अर्जुन के सब शस्त्र उसी भवन में रखे थे जहाँ धर्मराज द्रौपदीजी के साथ एकान्त में बैठे थे। अर्जुन उस घर में गये अस्त्र लेकर उन्होंने ब्राह्मण की गौओं की रक्षा की और फिर धर्मराज से आज्ञा लेकर नियम भंग करने के कारण बारह वर्ष के वनवास के लिये चल दिये। यद्यपि धर्मराज ने बहुत मना किया, ऊँच-नीच समझाकर रोकना चाहा, किन्तु अर्जुन ने धर्म में छल छिद्र करना उचित नहीं समझा। वे ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए बारह वर्षों तक पुण्य तीर्थों में भ्रमण करते रहे। इसी वनवास के समय उन्होंने हरिद्वार में नागकन्या उलूपी के साथ, मणिपुर में वहाँ के राजा की पुत्री चित्राङ्गदा के साथ तथा द्वारका में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की बहिन सुभद्रा के साथ विवाह किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अर्जुन तो ब्रह्मचर्य नियम लेकर बारह वर्ष वनवास करने गये थे, वनवास में भी उन्होंने एक दो नहीं तीन-तीन विवाह कर लिये। यह कैसा ब्रह्मचर्यव्रत?"

सूतजी बोले—"महाराज! गृहस्थियों के लिये यही ब्रह्मचर्य

व्रत है कि वे अपनी ही पत्नी से सन्तुष्ट रहें। ऋतुकाल मे ही समागम करें। स्त्री स्पर्श न करना यह व्रत यतियों का है। पाडवो की प्रतिज्ञा का तात्पर्य यह था कि नियम उल्लङ्घन करने वाला भाई बारह वर्ष द्रोपदा से कोई सम्बन्ध न रखे और न इन्द्रप्रस्थ रहे। यदि अर्जुन वनवास के समय में पर स्त्री से सम्बन्ध रखते तब तो उनका व्रत खण्डित हो जाता। उन्होंने तो धर्मपूर्वक विवाह करके तब सम्बन्ध स्थापित किया था। इसमें उनके ब्रह्मचर्य व्रत का लोप नहीं हुआ।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! हम समझ गये। अब आप प्रस्तुत प्रसग को ही प्रारम्भ करें। सुभद्राजी के साथ अर्जुन का विवाह कैसे हुआ।"

सूतजी बोले—"महाराज! तीर्थयात्रा में घूमते घामते अर्जुन प्रभासपट्टन नामक सुप्रसिद्ध तीर्थ में आये। यह समुद्र के तट पर परमपुनीत पावन क्षेत्र है। द्वारकाजी के सन्निकट ही है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जब प्रभास में अपने परमप्रिय मित्र अर्जुन का आगमन सुना तो वे स्वय प्रभास में उनसे मिलने गये। भगवान् को देखकर अर्जुन परम प्रमुदित हुए। दोनों अत्यन्त प्रेमपूर्वक परस्पर मे मिले। अर्जुन के स्नेहवश भगवान् कुछ दिन प्रभास मे रह गये। भगवान् जब द्वारका से प्रभास को चलने लगे तो उनकी बडी माता रोहिणीजी ने भी भगवान् से कहा—"श्रीकृष्ण! मैंने सुना है तुम प्रभास जा रहे हो। मेरी भी इच्छा है मैं प्रभास स्नान करूँ, तुम्हारी सम्मति हो, तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ।"

भगवान् ने कहा—"माताजी! कोई बात नहीं। पिताजी से आप आज्ञा ले लें और मेरे साथ प्रभास चलें।"

वसुदेवजी को इसमें क्या आपत्ति होनी थी, उन्होंने सहर्ष रोहिणीजी को भगवान् के साथ जाने की अनुमति दे दी।

रोहिणीजी के साथ उनकी युवती कुमारी पुत्री सुभद्रा भी चली। दास-दासी और सेवक सैनिकों के साथ वे सबके सब प्रभास में पहुँचे। अर्जुन ने जैसे ही सुभद्रा को देखा कि उनका मन मोहित हो गया।"

भगवान् अर्जुन के मनोगत भाव को ताड़ गये। वे तो अन्तर्यामी हैं, उनसे क्या छिपा रह सकता है। अतः हँसते हुए बोले—"अर्जुन! भैया, तुम तो आज कल वनवास कर रहे हो। एक प्रकार से यति धर्म का पालन कर रहे हो। तुम्हारा मन धुकुर-पुकुर क्यों कर रहा है।"

यह सुनकर अर्जुन लज्जित हुए और संकोच के साथ बोले—"वासुदेव! इस पापी मन का विश्वास नहीं, कहाँ अटक जाय। कहाँ ले जाकर पटक दे। आपसे तो मेरा कोई छिपाव है ही नहीं। छिपाव करना भी चाहूँ, तो नहीं कर सकता। मेरा मन इस लड़की में फँस गया है।"

हँसकर भगवान् बोले—"यह मेरी बहिन है। सारण, संकर्षण और यह एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं। यह मेरे पिता की बड़ी प्यारी दुलारी पुत्री है। बोलो, इससे विवाह करना चाहते हो?"

दीनता के स्वर में अर्जुन ने कहा—"वासुदेव! यदि यह सुन्दरी मुझे पत्नी रूप में प्राप्त हो जाय, तो मैं अपना परम अहोभाग्य समझूँ। देव! जिस प्रकार मुझे यह ललना रत्न प्राप्त हो, उस उपाय को बतावें। यह कुलवती है, वसुदेवजी की पुत्री है, आपकी बहिन है सुन्दरी, रूपवती, गुणवती और युवती है। प्रभो! जिस प्रकार यह मेरी पटरानी बन जाय, वह उपाय आप मुझे बतावें।"

चिन्ता के स्वर में भगवान् ने कहा—"भैया! काम बड़ा कठिन है। बात यह है कि पिताजी की बात होती तो, तो उन्हें

मैं जैसे-तैसे समझा लेता। वे मेरी बात को टालते भी नहीं, किन्तु यह कार्य है, बलरामजी के साथी मे। वे ही सब करने वाले हैं। मैं उनका बड़ा शील सकोच करता हूँ। उन्होंने निश्चय कर लिया है कि सुभद्रा का विवाह दुर्योधन के साथ करूँगा। वे जो बात निश्चय कर लेते है, फिर उससे टस से मस नहीं होते। जो उनके निश्चय मे विघ्न डालता है, उस पर वे अत्यन्त कुपित हो जाते हैं। यद्यपि मैं जानता हू कि तुम दुर्योधन से गुणो म, रूप मे, बल मे सदाचार तथा सयम म श्रेष्ठ हो, फिर भी मैं अपने बड़े भाई का विरोध नहीं कर सकता। साथ ही मैं तुम्हारा प्रिय भी करना चाहता हूँ, जिस कार्य से तुम्हे प्रसन्नता हो उसे मे प्राणों का पण लगाकर भी पूरा करूँगा। हाँ, एक उपाय तो है यदि उसे तुम कर सको तो ?'

अर्जुन ने कहा—"वासुदेव ! मैं सब कुछ कर सकता हूँ, आप आज्ञा दें।"

यह सुनकर भगवान् ने अर्जुन के कान मे कुछ बात कही। अर्जुन यह सुनकर हँस पड़ा। भगवान् भी खिल खिलाकर हँस पड़े और बोले—"कहो, तुम्हे स्वीकार है।"

हँसकर अर्जुन ने कहा—"मुझे सब स्वीकार है।"

बात यहा समाप्त हुई। भगवान् कुछ दिन अर्जुन के साथ और रहे। सुभद्रा ने भी जब अर्जुन का रूप, सौंदर्य और पुरुषार्थ देखा, तो वह भी उन पर मोहित हो गयी, वह मन ही मन भगवान् से प्रार्थना करने लगी कि ये ही मेरे पति होवें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अन्तर्यामी प्रभु तो अपने आश्रितो की इच्छा पूर्ण करते ही हैं। अर्जुन को उलटी सीधी पट्टी पढाकर और उनसे अनुमति लेकर वे अपनी समृद्धिशालिनी द्वारकापुरी को चले गये। अब आगे जो कौतुक होगा, उसकी

उत्सुकतापूर्वक आप प्रतीक्षा करें। मैं आचमन कर लूँ, आज साक में रामरस अधिक हो गया था, प्यास लगने लगती है।

छप्पय

मौनी बाबा बने सुयश पुर माहीं छायो।
बल बुलाइ घर प्रेम सहित भोजन करवायो॥
कुमरि सुभद्रा बार बार व्यंजन बहु परसे।
अति सुंदर मनहरन रूप लखि पुनि पुनि हरषे॥
द्वै द्वै मिलिकें चार जब, भई आँखि दोऊ ठगे।
कपटी मुनि मोहित भये, प्रणय सहित देखन लगे॥

सुभद्रा हरण

[११८३]

महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ।
जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० ९ श्लोक)

छप्पय

वेष बदलि कें चार मास अरजुन तहँ निबसे ।
करत प्रफुल्लित सबनि शारदी शशि सम विकसे ॥
कुमरि हरन हरि सग योजना बैठि बनाई ।
रथ चढि उत्सव माँहि सुभद्रा बाहर आई ॥
वासुदेव निज रथ दयो, छद्म वेष तजि पाडु सुत ।
गये सुभद्रा के निकट, पकरि बिठाई रथ मुदित ॥

भगवान् की सम्मति से—हरि आज्ञा से—बनावट भी की जाय, तो सत्य हो जाती है, क्योंकि भगवान के लिये तो सभी बनावट है। इस ससार मे यथार्थता कहाँ? यह तो माया के प्रभाव से कुछ का कुछ दीखता है। अन्तर इतना ही है कि आसुरी माया का आश्रय लेने से पुनः पुनः असत् ससार की प्राप्ति होगी।

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन! बडी भारी देवयात्रा के समय रथ पर चढकर किले से निकलती हुई सुभद्रा जी को उनके माता-पिता तथा भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी की अनुमति से महारथी अर्जुन ने उसका अपहरण किया।"

भगवान् की योगमाया का आश्रय लेने से सुखस्वरूप भगवान् प्राप्त होंगे। आश्रय विशुद्ध होना चाहिये क्रिया यदि विपरीत-सी भी हो जायँ, तो कोई चिन्ता नहीं। विशुद्ध आश्रय एक मात्र श्री हरि ही हैं। उनकी सन्निधि में बनावट भी समा जाती है। पूतना बनावटी वेष बनाकर ही तो वृन्दावन में बनवारी के निकट गयी थी। उसका भाव विशुद्ध हो सो भी बात नहीं। वह स्तनों में विष लगाकर भगवान को मारने की भावना से गयी थी वह सदाचारिणी हो सो भी बात नहीं रुधिर पीने वाली क्रूरहृदया राक्षसी थी, किन्तु एक ही बात आशाप्रद थी, वह किसी संसारी पुरुष के समीप गयी था, उसका आश्रय विशुद्ध था। भगवान् ने उसे माता की गति दी। उसका परलोक बन गया।

कुब्जा का भाव दुष्ट था। वह काम तृप्ति चाहती थी, किन्तु किसी संसारी पुरुष की ओर उसने जीवन पर्यन्त आँख उठाकर भी नहीं देखा। उसने अपनी इच्छा की पूर्ति राधारमण से चाही, इससे दुर्भगा होकर भी सुभगा बन गयी। कामिनी होकर भी भव्यभामिनी बन गयी और इस लोक का सुख भोगकर दिव्य वृन्दावन की नित्य सहचरी बन गयी। एक मात्र भगवान् का आश्रय लेने से दोष, गुण रहते ही नहीं। भगवान् उसके समस्त पापों को छुड़ा देते हैं। यह उनकी प्रतिज्ञा है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन! प्रभास में अपने सखा अर्जुन से मिल भेंटकर भगवान् द्वारकापुरी में चले आये और सुखपूर्वक रहने लगे। एक दिन पुरवासियों के मुख से उन्होंने सुना कि आज कल द्वारका में एक बड़े ऊँचे सन्त पधारे हुए हैं। उनकी आकृति बड़ी भव्य है। उनके काले काले घुँघराले बड़े ही सुन्दर बाल हैं। अति मनोहर आकर्षक उनका रूप है। देखने में वे साक्षात् कामदेव के समान हैं ऊर्ध्वपुण्ड धारण करते हैं। त्रिदण्डी हैं, तीन दण्डों को लेकर वे चलते हैं। किसी से बोलते

चालते नहीं, मौन रहते हैं। जो कुछ प्रारब्धवश मिल जाता है, उसे ही खाकर संतोष करते हैं। उनके दर्शनों को नित्य ही सहस्रों नर-नारी जाते हैं, किन्तु वे किसी की ओर आँख उठाकर नहीं देखते।"

महात्मा की ऐसी प्रशंसा सुनकर भगवान् भी उनके दर्शनों को गये। जिस प्रकार बगुला ध्यान में मग्न रहता है, उसी प्रकार त्रिदण्डी स्वामी आँख बन्द किये हुए ध्यान में मग्न थे। भगवान् ने मुनि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अपनी हँसी रोकते हुए बोले—"दंडवत् स्वामीजी!"

अब स्वामीजी ने आँखें खोलीं—"ऊपर हाथ उठाकर गंभीरता पूर्वक बोले—"नारायण, नारायण!"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"महाराज! केवल नारायण नारायण नहीं। नर नारायण कहिये।"

यह सुनकर स्वामीजी हँस पड़े और भगवान् भी हँसते हुए चले आये। अब तो भगवान् उन त्रिदण्डी स्वामी के बड़े भक्त हो गये। जहाँ सूर्यास्त हुआ, तहाँ भगवान् ने हलुआ, पूड़ी, कचौड़ी, रबड़ी, और तरह-तरह के पदार्थ भेजे। स्वामीजी ने चुपके से उन्हें भगवत प्रसाद समझ कर पा लिया, दिन भर फिर मौन। कोई आओ, कोई जाओ। कोई कुछ रख जाओ, कोई उठा ले जाओ। स्वामीजी को कोई काम नहीं। उन्होंने अपनी सब इच्छाएँ एक में लगा रखी थीं।

किसी ने पूछा—"स्वामीजी! अब तो वर्षा आरम्भ हो गयी, चातुर्मास्य तो आप यहीं करेंगे?"

स्वामीजी ने सम्मति सूचक सिर हिला दिया, सबने बड़ा सन्तोष प्रकट किया कि चार महीनों तक स्वामीजी के दर्शन होते रहेंगे। लोगों की उनकी भव्याकृति और प्रसन्न मुख को देख कर बड़ी भक्ति हो गयी।

श्री बलराम जी ने भी स्वामीजी की बडी प्रशसा सुनी। वे भी महात्मा के दर्शनों को गये। स्वामीजी ने मुख पर कोई ऐसी भस्म या पराग लगा रखी थी कि बडे ही भले लगते थे। श्री बलराम जी बडे भक्तिभाव से स्वामीजी के समीप बैठ गये और नम्रता के साथ बोले—"भगवन्! गृहस्थियों के लिये सदा चिन्ता ही चिन्ता है। घर तो चिन्ता और दुःखों का पुञ्ज है। वह आदमी को बाँध लेता है। गृहस्थ में रहकर एक ही सर्वश्रेष्ठ सुख है। पद धूलि से इस अपावन गृह को परम पावन बना जाते हैं। कभी कभी कृपा करके सन्त महात्मा आ जाते हैं। वे अपने चरणोदक की कीच से इसे विशुद्ध बना जाते हैं। सत महात्मा के चरण जिस दिन गृहस्थी के घर मे पड़ जाय, वही दिन उसके लिये परम सौभाग्यदायक है। यद्यपि मैंने सुना है, आप कहीं भिक्षा करने जाते नहीं, किन्तु मेरे ऊपर कृपा करके आप मेरे घर पधारें और वहाँ भगवान् का प्रसाद पावें तो मैं और मेरा समस्त परिवार कृतार्थ हो जाय।"

यह सुनकर स्वामीजी कुछ देर तक सोचते रहे। अन्त मे उन्होंने सम्मति सूचक सिर हिला दिया। स्वामीजी की स्वीकृति पाकर बलरामजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे स्वामीजी के पादपद्म म प्रणाम करके अपने महलों में चले गये।

दूसरे दिन उन्होंने स्वामीजी की भिक्षा की बडा तैयारियाँ की। नियत समय पर स्वामी जी खडाउँआ को चटकाते हुए त्रिदण्ड को लिये हुए मन्त्री के साथ पधारे। बलदेव जी ने परिवार सहित उठकर स्वागत किया। चरण धोकर उस चरणामृत को सिर पर चढाया और विधिवत् उनकी पूजा की। फिर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक षडरस युक्त परम सुस्वादु भगवान् के प्रसादी व्यञ्जन उनके सम्मुख परोसे। नारायण का नाम लेकर स्वामी जी ने उन मधुरातिमधुर व्यञ्जनों का भोग लगाया। बलरामजी एक-एक

ओर बैठे हुए थे। स्वामीजी ने खीर का पात्र खाली कर दिया। बैठे ही बैठे बलदेवजी ने पुकारा—"सुभद्रा! स्वामीजी को खीर तो परस जा।" यह सुनते ही वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हाथ में खीर का पात्र लिये हुए वीर पुरुषों के मन को हरण करने वाली युवती सुभद्रा निकल कर आयी। स्वामीजी के भव्य रूप को देखकर वह परम विस्मित हुई। उनकी काली-काली घुँघराली लटों में उसका मन अटक गया। खीर परोसते-परोसते उसका हृदय धक-धक कर रहा था, बीच-बीच में वह स्वामीजी की ओर भी बड़े कौशल से देख लेती। उस आश्चर्य हो रहा था, खीर परस कर वह भीतर गयी। इधर-उधर चारों ओर देखकर उसने किवाड़ की आड़ से स्वामीजी को देखा। अब उसे सन्देह न रहा। वह समझ गयी, ये तो कपट मुनि हैं। मेरी बुआ कुन्ती के पुत्र ये अर्जुन ही हैं, जिनको मैंने प्रभास में देखा था। अवश्य ही ये मेरे लिये ही ऐसा वेष बनाकर आये हैं। इस विचार के आते ही उसे परम हर्ष हुआ। प्रसन्नता के कारण उसके कमल-नयन खिल गये। इधर स्वामीजी ने भी सुभद्रा को देखा। देखते ही वे उसे पहिचान गये, इसी के पाने के लिये तो उन्होंने यह छद्म-वेष बनाया था। सुभद्रा के स्वामी बनने के लिये वे स्वामीजी बने थे, प्रेमभाव से विक्षुब्ध अपने चित्त को उन्होंने सुभद्रा में लगा दिया। चार आँखें होते ही मूक वाणी में बहुत सी बातें हो गयीं। कुमारी सुभद्रा ने भी परमरूपवान् अर्जुन को अपना सर्वस्व मन ही मन समर्पित कर दिया, उन्हें पति बनाने की इच्छा से अपने नयन और मन को उन्हीं में लगाकर लज्जासहित कटाक्ष विक्षेप के सहित हँसती हुई बार-बार उन्हें ही देखने लगी। तभी बलभद्र ने पुकारा—"सुभद्रा! साग ला बिटिया!"

सुनते ही तुरन्त सुभद्राजी भीतर दौड़ी गयीं। साग लेकर वे सकुचाती हुई आयीं। साग परसते-परसते हाथ का पात्र छूट

कर गिर गया। बैठे ही बैठे बलरामजी बोले—"तू बड़ी पगली है री सुभद्रा! तू इतनी बड़ी हो गयी। तुझे इतना भी ज्ञान नहीं हुआ पात्र कैसे पकड़ना चाहिये। जा इसे उठा ले जा, भीतर से दूसरा ले आ।"

लज्जा के कारण अपने बदन में ही घुसती-सी सुभद्रा ने शीघ्रता से पात्र उठाया और वह भीतर भाग गयी।

बलरामजी ने फिर पुकारा—"सुभद्रा! पूड़ी ला।"

स्वामीजी ने कहा—"नहीं, राजन! मैं प्रसाद पा चुका, अब मुझे कुछ नहीं चाहिए।" सुभद्रा आयी और लौट गयी। स्वामी जी अब खाना पीना तो सब कुछ भूल गये। मन ही मन उसी सुन्दरी सुभद्रा का चिन्तन करने लगे। जैसे तैसे वे उठकर खड़े हुए। बलरामजी ने स्वयं झारी लेकर उनके हाथ धुलाये, पैरों को धोकर अपने दुपट्टा से पोंछा। वह अपने त्रिदण्ड को उठाकर चल दिये, किन्तु उनका मन नहीं गया। वह वहीं महलों में अटका रह गया। सुभद्रा को प्राप्त करने की कामना ने उनके चित्त में विभ्रम पैदा कर दिया था। विचारों के बवंडर उठ रहे थे। वे यही सोच रहे थे, किस प्रकार मैं सुभद्रा को हरकर ले जाऊँ। यद्यपि बलरामजी ने उनका अत्यधिक आदर किया था, किन्तु उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं था। उनके चित्त पर तो सुभद्रा चढ़ी थी।

एक दिन एकान्त में अकेले भगवान् श्री कृष्णचन्द्र बाबाजी बने अर्जुन के समीप गये और अकेले में उन्हें ले जाकर हँसते हुए बोले—"स्वामीजी! आपकी तपस्या के पूरे होने के दिन आ गये।"

अर्जुन ने पूछा—"कैसे आ गये, महाराज! मुझे तो बलराम जी का बड़ा भय लगता है।"

भगवान बोले—"देखो, मेरे भाई का दुर्योधन के प्रति सहज

अनुराग है। एक तो उन्होंने उसे गदायुद्ध की शिक्षा दी है, दूसरे दुर्योधन राजा होकर भी सेवक की भाँति इनके साथ बर्ताव करता है। शिष्य की भाँति पुत्र की भाँति इनकी समस्त आज्ञाओं को मानता है। इसलिये प्रसन्न होकर ये सुभद्रा का विवाह उसके साथ करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध से न तो मेरे पिता ही सन्तुष्ट हैं न माताजी की ही सम्मति है। मैंने प्रकारान्तर से माता पिता से पूछ भी लिया है, कि यदि अर्जुन सुभद्रा को हरण कर ले जाय, तो उन्हें कोई आपत्ति तो न होगी। मैंने देखा इसमें उनकी पूर्ण सम्मति है। फिर मैंने सोचा—"धर्मराज युधिष्ठिर तो इस अनुचित न समझेंगे, इसलिये एक अत्यंत विश्वासपात्र दूत मैंने इन्द्रप्रस्थ भी भेजा कि वह जाकर धर्मराज से सब यथार्थ वृत्तान्त कहे, और इस विषय में उनकी जैसी सम्मति हो, मुझे तुरन्त आकर बतावे।" इन्द्रप्रस्थ से आज ही दूत लौटकर आया है, धर्मराज की इस विषय में पूर्ण सम्मति है। अतः तुम मेरी बहिन सुभद्रा का हरण कर लो।"

अर्जुन ने कहा—"हरण कैसे करूँ वासुदेव! वह तो सात तालों के भीतर महल में रहती है?"

भगवान् ने कहा—"इसका भी उपाय बताता हूँ। परसों से हमारे इस रेवत पर्वत पर बड़ा भारी महोत्सव होगा। सब स्त्री बच्चे, बड़े बूढ़े यहाँ यात्रा करने आवेंगे, बड़ा भारी मेला होगा। लोग पूजन करेंगे, रेवत पर्वत की परिक्रमा करेंगे। सुभद्रा भी आवेगी, जब वह पूजन करके जाने लगे, तब तुम उसे रथ में बिठाकर भाग जाना। क्षत्रियों के लिये ऐसा विवाह बुरा नहीं माना जाता। स्वयं मैंने भी रुक्मिणी के साथ ऐसा ही विवाह किया है। अपने में अनुरक्त और भी बहुत-सी राजकुमारियों को मैं इसी प्रकार हरण करके लाया हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज! मेरे पास तो यहाँ रथ है भी

नहीं। चार महीने से तो मैं यहाँ बाबाजी बना बैठा हूँ।"

भगवान् ने कहा - "इसकी तुम चिन्ता मत करो। रथ में अपना भेष दूगा।"

अर्जुन ने कहा—"ऐसा करने से श्री बलरामजी आप पर भी क्रुद्ध होंगे।"

भगवान् बोले—"मैं सब उनको मना लूँगा। तुम निःशंक होकर सुभद्रा का हरण करो।"

यह कहकर भगवान् ने दारुक को बुलाया और उसे अर्जुन के सम्मुख ही सब समझा दिया—"अमुक दिन अमुक समय पर तुम यहाँ आ जाना और ये जो भी कहें, वही करना। इनकी किसी भी आज्ञा का उल्लङ्घन न करना, इनके अनुकूल वर्ताव करना।" हाथ जोड़कर दारुक ने भगवान की आज्ञा शिरोधार्य की। तदनन्तर अर्जुन से अनुमति लेकर भगवान् अपने महलों में आ गये।

नियत तिथि को सुभद्रा सोलहों शृंगार करके रथ में बैठकर देवयात्रा के निमित्त चली। उसके आगे पीछे अस्त्र शस्त्र लिये हुए सैनिक चल रहे थे। सखी सहेलियों से घिरी वह अत्यन्त उल्लास के साथ सुदृढ़ किले से बाहर निकली। राजकुमारी के सम्मान के निमित्त स्थान-स्थान पर सैनिक खड़े थे। वह अत्यन्त प्रसन्नता के साथ रैवत पर्वत पर पहुँची। वहाँ उसने देवता का पूजन किया, पर्वत की परिक्रमा की और सब कार्यों से निपट कर रथ में बैठकर अपने महलों की ओर चली।

इधर निश्चित समय पर दारुक सारथी भगवान् श्री कृष्ण-चन्द्र के गरुड़ की ध्वजा वाले सुवर्ण-मण्डित विशाल रथ को लेकर उपस्थित हुआ। रथ को देखकर सव्यसाची अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने यतियों का छद्मवेष छोड़ दिया। पुनः सुदृढ़ कवच धारण किया। बाणों से भरे अक्षय दो तूणीर पीछे लट-

काये। धनुष को लेकर और उँगुलियों में गोह के चमड़े के उँगुलीत्राण पहिनकर वीर वेष से रथ में आकर बैठ गये। रथ बड़ा ही सुन्दर था उसमें शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहिक नामक चार घोड़े जुते हुए थे, छोटी बड़ी घटियाँ उसमें लगी हुई थीं। अर्जुन के बैठते ही दारुक ने रथ को हाँक दिया। मेघ के समान गम्भीर शब्द करता हुआ रथ और आगे बढ़ा। दूर से ही उन्होंने सुभद्रा का रथ आता हुआ देखा। वे सारथी से बोले—"दारुक! तुम इस रथ के समीप मेरे रथ को ले चलो।"

दारुक ने कहा—"प्रभो यह तो अन्तःपुर का रथ है, इसमें या तो कोई रानी होंगी या राजकुमारी।"

अर्जुन ने डाँटकर कहा—"तुम हमसे उत्तर प्रत्युत्तर मत करो। जैसा हम कहें वैसा करो।"

"जो आज्ञा" कहकर दारुक ने रथ बढ़ा दिया। सुभद्रा के रथ के समीप पहुँचकर अर्जुन उससे उतर पड़े। उन्होंने निर्भय होकर रथ पर पड़े हुए परदे को उठा लिया और उसमें बैठी हुई सुभद्रा के अत्यन्त कोमल हाथ को पकड़कर अपने रथ पर बैठा लिया। सैनिक सब किंकर्तव्यविमूढ़ बने इसको देखते रहे। जब तक वे अपना कर्तव्य भी निर्णय न कर सके, तब तक सुभद्रा अर्जुन के रथ पर पहुँच चुकी थी। रक्षक सेनापति ने डाँटकर कहा—"यह आप क्या करते हैं? ऐसा करना आपको उचित नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"चुप रहो, यहाँ से भाग जाओ।"

सेनापति ने कहा—"भाग कैसे जायँ जी! हम शक्ति रहते तो आपको ऐसा करने नहीं देंगे।" यह कहकर वे युद्ध के लिये उद्यत हो गये। उन्हें युद्ध के लिये उद्यत देखकर अर्जुन ने ऐसे बाण मारे जिनसे वे सबके सब तितर-बितर हो गये, कोई मरा नहीं। अर्जुन अपने रथ को बढ़ाकर इन्द्रप्रस्थ की ओर चले।

सैनिकों ने दौड़कर द्वारका में सुधर्मा सभा के सभापाल से जाकर

सब समाचार कहा। सभा के ऊपरी भाग में एक बड़ा भारी घंटा टँगा रहता था, उसकी चाभी सभापति के ही पास रहती थी,

जब द्वारका पर कोई आपत्ति आती थी, तो वह घंटा बजाया जाता था। उस घंटे की ध्वनि जब जिसके कान में पड़े तब उसे

जैसी भी स्थिति में बैठा हो, वैसी ही स्थिति मे दौडकर सभा मे आना पडता था। सभापति ने तुरन्त दौड़कर आपत्तिजनक घटे को बजाया। उसकी ध्वनि सुनते ही समस्त यादव वीर जैसी स्थिति में थे, वैसी ही स्थिति में सभा की ओर भागे। कोई भोजन कर रहे थे, वे भोजन को छोडकर भागे, कोई नहा रहे थे, नहाने को छोड़कर भागे। सब ही शीघ्रता से आकर सुधर्मा सभा में बैठ गये।

जब समस्त यादव सामन्त सभा मे बैठ गये, तब सभापति ने उन सैनिकों को सबके सम्मुख समुपस्थित किया। सैनिकों ने कहा—'हम कुमारी सुभद्रा देवी के साथ उनकी रक्षा के निमित्त रैवत पर्वत के महोत्सव में गये थे, वहाँ से हम लौट रहे थे, इतने मे ही वीरवर अर्जुन आकर राजकुमारी को बलपूर्वक हरण कर ले गये। वे इन्द्रप्रस्थ की ओर रथ दौड़ाते हुए गये हैं।"

इतना सुनते ही सभा में जितने यादव युवक बैठे थे, वे क्रोध के कारण काँपने लगे। अत्यन्त ही कुपित होकर ओठ चबाते हुए कहने लगे—"अर्जुन ने यह अत्यन्त नीचता का काम किया है, हम समस्त यादवों का अपमान किया है। आज हम उसे उसको अशिष्टता का फल चखावेंगे। आज हम उसे समर मे मार गिरावेंगे। अब देरी करने का काम नहीं है। जब तक वह दूर न निकल जाय, तभी तक उसे पकड लेना चाहिये, अब विशेष बातें करने का समय नहीं। सेनापति! सेना को सजावे।" ऐसा कहते हुए सब उठकर खडे हो गये। जैसे समुद्र मे ज्वर भाटा आ जाता है, वैसे उस समय सुधर्मा सभा में तूफान-सा आ रहा था। सभी समर करने पर उतारू थे। कोई सेवकों से कहता—"मेरे अस्त्र ले आओ।" कोई कहता—"मेरा रथ तुरन्त जोड़ो।" कोई स्वयं ही रथ जोड़ने लगे। सैनिको में भगदड़ मच गयी। बात की बात मे सेना तैयार हो गयी। उस सभा में-दो ही अपने आसनो पर बैठे

हुए थे, एक तो बलदेवजी एक श्री कृष्णचन्द्रजी। बलदेवजी तो क्रोध के कारण मन ही मन अत्यन्त क्षुभित हो रहे थे, किन्तु भगवान् शान्तभाव से बैठे थे।

सबको युद्ध के लिये व्यग्रता करते देखकर बलरामजी ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"अरे, तुम सब इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हो? हमारा इतना घोर अपमान होते देखकर भी ये कृष्ण चुपचाप शान्तभाव से बैठे हैं, इनका भी तो अभिप्राय जान लो सब लोग बैठ जाओ, श्रीकृष्ण की सम्मति सुनकर फिर जैसे ये कहें वैसा किया जायगा।" यह सुनकर पुन. सभी अपने अपने आसनों पर बैठ गये।

सबके बैठने पर जैसे पूर्णिमा के दिन परम गम्भीर अगाध समुद्र क्षुब्ध हो जाता है, उसी प्रकार क्षुभित होकर बलरामजी लाल-लाल आँखें निकालकर कहने लगे—"कृष्ण! यह अर्जुन तुम्हारा मित्र है। यह इतनी धूर्तता करेगा, इसका हमें स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। इसने हमारे कुल का अपमान किया है। चार महीनों तक तो वह कपट मुनि बना रहा। फिर उसने हमारे कुल में कलंक लगा दिया, कौन स्वात्मभिमानी पुरुष ऐसे भारी अपमान को सहन कर सकेगा? इतने पर भी तुम शान्त निर्विकार बने चुपचाप बैठे हो। क्या तुम जाति के इस घोर अपमान को ऐसे ही सहते रहोगे?"

शान्तभाव से भगवान ने कहा—"भैया जी! मैं तो इसमें यादवों का कुछ भी अपमान नहीं समझता। अर्जुन ने हमारा अपमान नहीं किया, उसने तो हमारे गौरव को बढ़ाया है। पुरुवंश क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। पुरुवंशियों से सम्बन्ध होना हमारे लिये गौरव की बात है। अर्जुन कुलीन है। हमारी बहिन सुभद्रा जैसी यशस्विनी है, वैसा ही यशस्वी अर्जुन है। आप उसे दुर्योधन को देना चाहते थे, दुर्योधन से अर्जुन गुणों में, बल में,

वीर्य में, सदाचार, तथा सत्यता में कुछ कम नहीं है, अधिक ही है। आप को कन्या का विवाह करना ही था। दुर्योधन के साथ न करके अर्जुन के ही साथ कर दे तो इसमें हानि ही क्या है ?"

क्रोध में भरकर बलरामजी ने कहा—"हानि कुछ न हो, किन्तु यह की तो उसने अशिष्टता। साधुवेष को कलंकित किया, उसके ऐसे आचरण से आगे साधुओं पर कौन विश्वास करेगा। फिर उसे बलपूर्वक कन्या का हरण करने का क्या अधिकार था ?"

भगवान ने कहा—"भैया जी, तनिक शान्त होकर विचार करें। समान शीलों में प्रेम हो जाता स्वाभाविक है। जब तक वह साधुवेष में रहा तब तक उसने साधुता का पालन किया। उसने सुभद्रा का अपहरण वीर वेष से किया है। इसने साधुवेष को कलंकित नहीं किया। स्वयंम्वर में न जाने कन्या किसे वरण कर ले हमारे यहाँ धन लेकर कन्या बेचने की प्रथा है ही नहीं। प्रसन्नतापूर्वक आप देना नहीं चाहते थे। अब उसके लिये कन्या के हरण के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा उपाय था। क्षत्रियों के लिये इस प्रकार बलपूर्वक कन्या का अपहरण करना निंदित नहीं है। आप के कुल के ही लोग बहुत-सी कन्याओं को स्वयंम्वरों से बलपूर्वक अपहरण कर लाये हैं और आपने उनका समर्थन किया है, साथ दिया है। जब उन इतने बड़े-बड़े राजाओं का अपमान नहीं हुआ, तो आप का कैसे अपमान होगा। इसलिये मेरी दृष्टि में तो अर्जुन ने कोई अनुचित कार्य किया नहीं।"

यह सुनकर बलरामजी और भी अधिक क्रुद्ध हुए और बोले—"कृष्ण ! तू पक्षपात करता है। यादव अर्जुन को कभी क्षमा नहीं कर सकते।"—

अपने बड़े भाई को इस प्रकार कुपित देखकर भगवान् ने

उठकर उनके दोनों पैर पकड़ लिये और अत्यन्त ही नम्रतापूर्वक समझाते हुए कहने लगे—"भैयाजी ! देखिये, सब ऊँची-नीची बात सोच लीजिये। युद्ध करने के लिये मैं आपको रोकता नहीं। किन्तु यह बताइये यादवों में ऐसा कौन वीर है, जो अर्जुन से टक्कर ले सके। युद्ध में इन्द्र भी उससे नहीं जीत सके थे। खाण्डव-दाह के समय मैंने उसका पुरुषार्थ देखा था। फिर अब तो वह अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित है। मेरे दिव्य रथ पर वह बैठा हुआ है अब तो उसे स्वामी कार्तिकेय भी नहीं जीत सकते। यदि आप युद्ध करने गये और पराजित होकर लौट आये, तो समस्त यादवों के मुखों पर कालिमा पुत जायगी। इसलिये कल्याण इसी में है कि आप उसे प्रसन्नतापूर्वक बुला लें। विधि-पूर्वक सुभद्रा का उसके साथ विवाह कर दें। इससे हमारी भी मान मर्यादा बनी रहेगी, उसकी भी कीर्ति बढ़ेगी।"

बलदेवजी यह सुनकर कि अर्जुन ने श्रीकृष्ण के रथ पर ही बैठकर सुभद्रा का हरण किया है, वे हँस पड़े और बोले—"कृष्ण ! यदि तुझे सुभद्रा का विवाह अर्जुन के ही साथ करना था, तो इतना ढोंग क्यों रचा। क्यों चार महिने उसे बावाजी बनाकर रखा। अवश्य ही यह सब कार्य तेरी ही सम्मति से हुआ है, नहीं तो रथ उसे कैसे मिल जाता। तेरी यही इच्छा थी, तो मुझ से पहिले क्यों नहीं कहा।"

लज्जित होकर भगवान् ने कहा—"भैया ! मैंने आपसे भय-वश नहीं कहा। न जाने आप मानते या नहीं। कोई बात नहीं। अब जो हुआ अच्छा ही हुआ। अब अर्जुन को सत्कारपूर्वक लौटा लाओ।"

यह सुनकर बलरामजी स्वयं गये और आदरपूर्वक अर्जुन को पुरी में लौटा लाये। द्वारका में लाकर उन्होंने शास्त्रीय विधि से सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ कर दिया। दहेज में उन्होंने

वर वधू के लिये बहुत-सा धन, विविध प्रकार की सामग्री, हाथी, घोड़े, रथ तथा बहुत से दास दासी आदि दिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुभद्रा के साथ विवाह करके अर्जुन एक वर्ष पर्यन्त द्वारकापुरी में रहे, फिर वे पुष्कर क्षेत्र को चले गये। वहाँ कुछ दिन उन्होंने निवास किया वहाँ उनके वनवास के बारह वर्ष समाप्त हो गये। तदनन्तर वे इन्द्रप्रस्थ में आकर अपने सभी भाइयों से तथा द्रौपदीजी से मिले और सुख-पूर्वक रहने लगे। मुनियो! यह मैंने अपने गुरुदेव के मुख से सुनी, अर्जुन और सुभद्रा के विवाह की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! श्रीकृष्ण की कथा सुनते-सुनते हमारी तृप्ति नहीं होती। भगवान् के सम्बन्ध की कोई अन्य कथा सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! मुझे भगवान् की भक्तवत्सलता की एक बड़ी ही सुन्दर कथा याद आ गयी, जिस प्रकार भगवान् ने राजा जनक पर और श्रुतदेव ब्राह्मण पर एक साथ कृपा की, उस कथा को अब मैं सुनाता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

सुनि बल यादव कुपित चले लड़िबे अरजुन तैं।
हँकें हरि गम्भीर प्रेमयुत बोले तिन तैं॥
है अजेय जग पार्थ बात मत व्यर्थ बढ़ाओ।
करो सुभद्रा व्याह नेह तैं नगर बुलाओ॥
हरिकी सम्मति समुझि बल, जाय बुलाय कन्या दई।
पाइ परसपर वर वधू, अति प्रसन्नता मन भई॥

—❀—

राजा जनक और श्रुतदेव विप्र पर कृपा

[११८४]

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः ।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥
तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाहृतं रथम् ।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभुः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० १६, १७ श्लोक)

छप्पय

अब इक मुनिवर ! कहूँ कृपायुत कलित कहानी ।
मिथिलापुरमहँ बसहिँ विप्र श्रुतदेव अमानी ॥
भूपति तहँ बहुलाश्व भक्तवर हरि के प्यारे ।
दोउनि करन कृतार्थ कृष्ण पुरमाहिँ पधारे ॥
पहुँचे मिथिला नगर महँ, बहु ऋषि मुनि हरि संग महँ ।
सुनत विप्र नृप हरष तैं, नहीं समाये अङ्ग महँ ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् का जैसा भक्त श्रुतदेव विप्र था वैसा ही उस विदेह देश का राजा बहुलाश्व भी था। वह मैथिल वंश में उत्पन्न हुआ था। और बड़ा ही अभिमान शून्य था। राजा और विप्र दोनों ही अच्युत भगवान् के प्रिय थे। उन दोनों पर प्रसन्न होकर भगवान विदेह देश को चले। भगवान् का सारथी दारुक रथ जोड़कर ले आया था, उसमें बैठकर तथा बहुत से मुनियों को भी साथ लेकर वे चल दिये।"

अल्प सामर्थ्य के अतिथि को उस समय अत्यन्त असुविधा अनुभव होने लगती है, जब दो भिन्न भिन्न प्रकृति के पुरुष उसे सर्वप्रथम अपने घर में ठहराने का आग्रह करते हैं। जिनसे हमारा अत्यन्त स्नेह है, जिन्हें हम इष्टदेव मानते हैं, जिनकी प्रतीक्षा करते करते हम थक गये हैं, वे ही यदि हमारे यहाँ आ जाय, तो हमारी स्वाभाविक यह इच्छा होगी कि ये सर्वप्रथम हमारा आतिथ्य ग्रहण करें। इष्ट के पधारने पर लोभ हो जाता है कि अधिक से अधिक हम इनके साथ रहें। इसलिये दूसरे चाहने वाले से प्रतिस्पर्धा हो जाता है। यदि प्रतिस्पर्धी धनिक हो, तो कहने को हो जाता है, हमारे यहाँ क्यों आवेंगे महाराज, हम तो दरिद्र हैं, निर्धन हैं। असमर्थ अतिथि ऐसे अवसर पर किंकर्तव्यविमूढ बन जाता है, किन्तु समर्थ स्वामी दोनों का ही परितोष कर देता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको भगवान् की भक्तवत्सलता का एक परम पुण्यप्रद इतिहास सुनाता हूँ। मिथिला देश के प्राय जितने राजा हुए हैं वे सब ज्ञानी हुए हैं, इसीलिये उनकी जनक तथा विदेह संज्ञा पड गयी है। द्वापर के अन्त में इस देश में महाराज बहुलाश्व राज्य करते थे। ये अपने अन्य वंश के राजाओं के समान सत्यवादी, न्यायप्रिय धर्मात्मा और अभिमान शून्य थे। ज्ञानी तो ये थे ही, साथ ही भगवान् के परम भक्त थे। भगवान् वासुदेव के चरणों में उनका दृढ अनुराग था। वे अहर्निशि भगवान की भक्ति में ही निमग्न रहते थे।

इन्हीं राजा के राज्य में श्रुतदेव नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे। वे बडे ही भावुक सरस हृदय तथा भगवान् के अनन्य भक्त थे। यद्यपि वे गृहस्थ थे, कुटुम्बी थे फिर भी किसी प्रकार का उदर पोषण के निमित्त उद्योग नहीं करते थे, उन्होंने अपने योग क्षेम की चिन्ता भगवान् वासुदेव को सौंप दी थी। अयाचित

वृत्ति से बिना उद्योग किये जो भी कुछ मिल जाता उसी से वे अपना निर्वाह कर लेते। किसी प्रकार के भोगों की स्पृहा न रहने से शान्त, दान्त, पूर्णकाम तथा आसक्ति शून्य थे। अनन्य भावसे वे अच्युत की आराधना में लगे रहते। भगवान् की भी उन पर ऐसी कृपा थी कि उन्हें निर्वाह भर के लिये जैसे तैसे नित्य मिल ही जाता था, कि जितने धन से शरीर यात्रा जिस किसी प्रकार चल सके, उतना ही धन उन्हें मिलता था, उससे तनिक भी अधिक नहीं मिलता। वे तो सन्तोषी थे, उनके परम धन तो भगवान् वासुदेव थे। सांसारिक विषय कितनी भी प्रचुर मात्रा में मिल जायँ, उनसे कभी किसी को शान्ति नहीं होती, प्रत्युत अधिकाधिक अशान्ति ही बढ़ती जाती है। उन ब्राह्मणों को जो भी मिल जाता उसीसे वे अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों का सपादन करते, देवता, पितर तथा ऋषियों का पूजन करते।

जैसे राजा भक्त थे वैसे ही ये ब्राह्मण भी भक्त थे। दोनों ही निरतर अत्यत श्रद्धाभक्ति के सहित भगवान् वासुदेव की भक्ति में तल्लीन रहते। भगवान् तो अपने भक्तों पर कृपा करने के लिये सदा व्यग्र बने रहते हैं। उन्हें कृपा करने का व्यसन है, जो उनकी ओर एक पग बढ़ता है, तो वे निन्यानवे पग दौड़कर उसके समीप आकर उसे हृदय से चिपटा लेते हैं। बहुत दिनों तक तो दर्शन नहीं देते, जिससे दर्शनों की उत्कठा अत्यधिक बढ़ती जाय। जब दर्शनों के लिये भक्त अत्यत व्याकुल हो जाता है, वह बिना दर्शनों के रह ही नहीं सकता, तब उसकी ऐसी उत्कट इच्छा को देखकर भगवान स्वयं उसके समीप आते हैं और उसे अपने दर्शनों से कृतार्थ करते हैं।

महाराज बहुलाश्व की और श्रुतदेव ब्राह्मण की जब भगवान् के दर्शनों की इच्छा प्रबल हो गयी, तब भगवान पर नहीं रहा गया। उन दोनों के ऊपर कृपा-सागर कृष्ण ने कृपा की। वे उन दोनों को

दर्शन देने मिथिलापुरी जाने के लिये उद्यत हुए। उन्होंने अपने सारथी दारुक नामक सूत से कहा—"दारुक! तुम शीघ्र ही रथ जोडकर लाओ। मैं मिथिलापुरी जाना चाहता हूँ।"

"जो आज्ञा" कहकर सारथी तुरन्त अश्वशाला मे गया। उसने घोडो को खोला सजाया और रथ मे जोडकर तुरन्त भगवान् के समीप समुपस्थित हुआ। भगवान ने जब देखा, सूत रथ को जोडकर ले आया है, तब वे उसकी परिक्रमा करके सुखपूर्वक उसमे बैठ गये। इतने ही मे भगवान क्या देखते हैं बडे-बडे जटाधारी, लटाधारी, व्रतधारी, ब्रह्मचारी, अनेको यशस्वी, तेजस्वी तपस्वी उनकी ओर आ रहे हैं। उनमे नारद, वामदेव, अत्रि, भगवान वेदव्यास, परशुराम, असित, अरुणि, मेरे गुरुदेव शुकदेव, बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय तथा च्यवन आदि अनेको मुख्य-मुख्य मुनि थे। उन महान् मुनियो को आते देखकर भगवान् मधुसूदन सहसा रथ से उतर पड़े। उन्होंने सबका अभिनन्दन किया। दोनों ओर से कुशल प्रश्न हुआ। अब मुनियो ने पूछा—"प्रभो! कहाँ पधार रहे हैं।"

भगवान् ने संकोच के साथ कहा—"कहीं नहीं मुनियो! तनिक मिथिलापुरी तक जा रहा था। अब आप लोग पधारे हैं, तो आपका सभा में चलकर स्वागत सत्कार करूँगा।"

मुनियों ने कहा—'नहीं, भगवन्! हम स्वागत सत्कार के निमित्त नहीं आये हैं। आपने कृपा करके हमें दर्शन दिये, कुशल प्रश्न किया यही हमारा सबसे श्रेष्ठ स्वागत सत्कार है। आज आप अपने दो भक्तों को कृतार्थ करने मिथिलापुरी जायँगे, इस बात को हम समाधि द्वारा जानकर ही यहाँ आये हैं। जब भक्त और भगवान् दोनों प्रेम भरित हृदय से परस्पर मे मिलते हैं, तो एक अपूर्व आनन्द होता है, एक अवर्णनीय सुख होता है, उसी की अनुभूति करने हम आये हैं। अतः हम भी आपके

साथ-साथ मिथिलापुरी चलेंगे। वहाँ चलकर देखेंगे कि आप अपने भक्तों से कैसे मिलते हैं।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"मुनियो! यदि आपकी सबकी इच्छा मिथिलापुरी चलने की है, तो अवश्य चलिये। यह तो मेरा परम सौभाग्य है।" यह सुनकर सभी ऋषि मुनि आकाश मार्ग से योग द्वारा उड़कर भगवान् के रथ के साथ चले। उस समय भगवान् रथ में बैठे हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो सूर्यदेव अपने विशाल रथ में हों और शुक्र, बृहस्पति आदि ग्रहगण उनका अनुसरण कर रहे हों। जिस-जिस राज्य में होकर जाते, उस-उस राज्य के प्रजागण आगे से आकर उनका स्वागत सत्कार करते, अर्घ्य देकर पुष्प मालायें पहिनाकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते। भगवान् आनर्त, धन्व, कुरु, जाङ्गल, कङ्क, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोशल, अर्ण तथा अन्यान्य भी बहुत से राज्यों में होकर पधारे। जिस राज्य में जाते वहीं हल्ला मच जाता। चिरकाल से भगवान् का यश सुनते-सुनते सभी उनके दर्शनों के लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे, अतः दूर-दूर से असंख्यों नर-नारी आ-आकर पथ के दोनों ओर खड़े हो जाते और अपने नयन रूपी पानपात्रों में भगवान् के उदार हास्य और मनहर चितवन से युक्त मुखारविन्द मकरन्द का अपलक भाव से पान करते रहते। भगवान का देव दुर्लभ दर्शन दिव्य अञ्जन के सदृश है, जो आँखों में आँजने से तिमिर रूपी अज्ञान को मेटकर दिव्यलोक प्रदान करता है। उस दर्शन रूपी अञ्जन के लगाने से, जिन देशवासियों की अज्ञान दृष्टि नष्ट हो गयी है, उन पथ में खड़े नर नारियों पर कृपा दृष्टि की वृष्टि करते हुए मन्द-मन्द मुसकराते हुए माधव जा रहे थे। मार्ग में खड़े नर-नारी जगद्वन्द्य भगवान् के यश का सुमधुर स्वर में यशोगान कर रहे थे। भक्तों के द्वारा गाया हुआ वह सुयश दशों दिशाओं में फैलकर उन्हें पावन बना

रहा था। भगवान् अपने आश्रितों को अपनी अनुपम अनुकम्पा से अभय प्रदान करते हुए शनैः-शनैः सबों के चित्तों को चुराते हुए, पथ को पावन करते हुए जा रहे थे। इस प्रकार शनैः-शनैः चलकर मार्ग में विश्राम करते हुए भगवान विदेह नगर में पहुँचे।

राजा श्रुतदेव तो भगवान् का आगमन सुनकर बहुत पहिले से ही उनके स्वागत सत्कार की तैयारियाँ कर रहे थे। ज्यों ही दूतों ने समाचार दिया कि भगवान ऋषि मुनियों के सहित नगर के निकट पहुँच गये त्यों ही राजा अपने मंत्रियों, पुरजनों और पुरोहित को सङ्ग लिये हुए नगर के बाहर आये। राजा के सेवक पूजन की सभी सामग्रियों को लिये हुए थे। पुरवासियों में भी कोई ऐसा नहीं था, जो रिक्त हस्त हो किसी के हाथ में फल थे, किसी के हाथ में कन्दमूल तथा कोई पुष्प ही लिए थे। जैसी जिसकी सामर्थ्य थी, वैसी ही वह पूजा की सामग्री लिये हुए था। "भगवान् के दर्शन होंगे" इस बात को स्मरण करके सभी अत्यन्त प्रसन्न थे। उस भीड़ में निर्धन, दीन, हीन श्रुतदेव भी एक कोने में छिपा बैठा था। सभी ने देखा ऋषि मुनियों से घिरे भगवान विशाल गरुड की ध्वजा वाले रथ पर बैठे हुए आ रहे हैं। सभी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् का जय जयकार किया। सबने यह भी सुन रखा था कि भगवान् के साथ व्यास, नारद तथा अन्यान्य मुनीश्वर भी आ रहे हैं। भगवान् के आस-पास उन मुनीश्वरों को देखकर सभी ने हर्षित हृदय से हाथों की अञ्जलियाँ बाँधकर उन्हें सिर पर रखकर श्रद्धाभक्ति सहित सबको प्रणाम किया। महाराज बहुलाश्व ने मन में सोचा—भगवान वासुदेव मेरे ही ऊपर कृपा करने मिथिलापुरी में पधारे हैं, इधर श्रुतदेव भी यही सोच रहे थे, विदेह नगर में एकमात्र मुझे ही कृतार्थ करने कृपालु कृष्ण आये हैं।

भगवान् को देखते ही महाराज दंड के समान भूमि पर लेट

गये, उनके समीप ही विप्रवर श्रुतदेव भी श्रद्धाभक्ति सहित साष्टांग प्रणाम कर रहे थे। प्रणाम के अनन्तर ब्राह्मण ज्यों ही भगवान् को अपने घर पर चलने का निमन्त्रण दे रहे थे, त्यों ही राजा ने भी निमन्त्रण दिया। दोनों का ही निमन्त्रण एक साथ मिला। अब भगवान बड़े असमञ्जस में पड़े। यदि ब्राह्मण के यहाँ नहीं जाते हैं, तो ब्राह्मण सोचेगा – मुझे दीन, हीन, निर्धन समझकर भगवान् ने ठुकरा दिया। यदि राजा के यहाँ पहले नहीं जाते हैं तो इसका अपमान होता है, यह भी मेरा अनन्य भक्त है यही सब सोचकर भगवान ने दोनों का ही निमन्त्रण एक साथ ग्रहण किया। दोनों को ही प्रिय करने के लिये उसी समय उन्होंने दो रूप बना लिये। समस्त ऋषि मुनियों के भी दो-दो रूप बना दिये। एक रूप से तो उन्होंने ऋषि मुनियों के सहित ब्राह्मण के घर में प्रवेश किया और दूसरे रूप से राजा के महल में गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पहिले राजा के ही आतिथ्य का मैं वर्णन करता हूँ, फिर द्विजवर श्रुतदेव के आतिथ्य का वर्णन करूँगा। राजा श्रुतदेव समझते थे, मुझमें भक्ति नहीं है, अनुरक्ति नहीं है। विप्रवर श्रुतदेव भक्त हैं, मुझसे सब प्रकार से श्रेष्ठ हैं, इनके निमन्त्रण करने पर भगवान् अवश्य ही इन्हीं के घर जायँगे, क्योंकि माधव तो भक्तिप्रिय हैं, जहाँ भक्ति देखते हैं, वहाँ जाते हैं, किन्तु जब उन्होंने देखा, भगवान् ब्राह्मण के यहाँ न जाकर समस्त ऋषि मुनियों के सहित मेरे यहाँ पधार रहे हैं, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। भगवान् की भक्तवत्सलता और कृपालुता का स्मरण करके उनके हृदय में अत्यन्त ही उल्लास उठ रहा था। उन महामनस्वी महाराज बहुलाश्व के नयनों से नेह का नीर बह रहा था। वे सोच रहे थे—अहा! जिन परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर का दर्शन तो मुझ जैसे दुराचारी के लिये दूर रहा, नाम श्रवण करना भी कठिन है, वे ही आज मेरे स्थान को

अपने चरणों की रज से पावन करेंगे। आज मैं धन्य हो गया, कृतार्थ हो गया। मनुष्य जन्म का सर्वश्रेष्ठ उत्तम फल आज मैंने प्राप्त कर लिया। इस प्रकार मनोरथ करते हुए महाराज जनक भगवान् श्री कृष्णचन्द्र को मुनियों सहित अपने महलों को ले गये। घर पहुँचने पर महाराज ने भगवान को तथा समस्त ऋषि मुनियों को उत्तम-उत्तम आसनों पर बिठाया। फिर कुटुम्ब सहित आकर सबके पादपद्मों में प्रणाम किया। सुवर्ण के पात्रों में भगवान् के तथा समस्त मुनियों के लोकवन्दित चरणारविन्दों को धोया। उस परम पुनीत पय को सबने पान किया, मस्तक पर चढाया। फिर सबको गन्ध, पुष्प, माला धूप, दीप, वस्त्र, अलङ्कार, अर्घ्य, गौ तथा वृषभ आदि अर्पण करके विधिवत पूजा की। पूजा के अनन्तर नाना प्रकार से षड्रसपूर्ण व्यजनों से सभी को तृप्त किया। पुनः सुखपूर्वक बैठने के अनन्तर भगवान् के परम मृदुल जगत् को पावन करने वाले पादपद्मों को अपनी गोदी में रखकर तथा उन्हें शनैः-शनैः दबाते हुए महाराज बहुलाश्व बोले—"हे अशरण शरण! हे भक्तवत्सल! हे शरणागत प्रतिपालक! हे विभो! आप समस्त प्राणियों के आत्मा तथा साक्षी हैं। आपको किसी भी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं। आप तो स्वयं ही प्रकाशस्वरूप हैं, आपके ही प्रकाश से यह दृश्य प्रपञ्च प्रकाशित हो रहा है। संसार में जितनी भी चेष्टायें हैं, सब आपकी ही प्रेरणा से हो रही हैं। आप नित्य तृप्त हैं, आपको किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं, कामना नहीं, फिर आप शरणागत रक्षक हैं, दीनदयालु हैं, इसीलिये हम दीन हीनों पर दया करके आपने अपने देवदुर्लभ दर्शन दिये। प्रभो! हम आपकी शरणागत वत्सलता के विषय में और कह ही क्या सकते हैं-?"

भगवान् ने कहा—"राजन! तुम मेरे अनन्य भक्त हो, तुम्हारा चित्त सदा मुझमें लगा रहता है। मेरे तो तो सर्वस्व भक्त-

ही हैं। भक्त जितने मुझे प्रिय हैं, उतने प्रिय मुझे अपने बड़े भाई बलरामजी भी नहीं हैं, सदा मेरे पैरों को पलोटने वाली लक्ष्मी भी मुझे उतनी प्यारी नहीं हैं। मेरे पुत्र ब्रह्माजी भी मुझे उतने प्रिय नहीं हैं, जितने की आप जैसे अनन्य भगवद्भक्त प्रिय हैं। इस लिये राजन्! मैं तुम्हें देखने के लिये ही आया हूँ।"

राजा ने प्रेमाश्रु बहाते हुए कहा—"क्यों न हो भगवन! तभी तो आप दीनानाथ दीनबन्धु कहाते हैं। आप अपने विरद को सत्य बनाने के लिये ही तो हम दोनों को दर्शन देने के निमित्त ही तो यहाँ पधारे हैं। जिसने आपकी दयालुता का अनुभव कर लिया है, ऐसा कौन पुरुष होगा, जो आपके पादपद्मों को भुला सकता है। हे आप्तकाम! आपके लिये कुछ भी वस्तु अदेय नहीं है। जिन्होंने अपना सर्वस्व आपके चरणारविन्दों में अर्पित कर रखा है, ऐसे अनन्य उपासक, निष्किञ्चन, शान्त, दान्त, भगवद्-भक्तों को आप कुछ भी देने में आना कानी नहीं करते, यहाँ तक कि आप अपना स्वरूप भी उन्हें दे देते हैं।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! पृथ्वी सहित समस्त देवताओं की प्रार्थना से भू का भार उतारने के लिये मैंने यदुकुल में अवतार लिया है।"

राजा ने कहा—"प्रभो! भू का भार उतारना तो आपके अवतार का अत्यन्त गौण कारण है, पृथ्वी का भार तो आपके संकल्प मात्र से उतर सकता है। आप तो इन जन्म-मरण रूपी चक्की के दो पाटों के बीच में निरन्तर पिसते हुए प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त, शान्ति रूपी पय के बिना पिपासित प्राणियों को शान्ति रूपी सुधा पान कराने के निमित्त तथा त्रिलोकी के पापों को नष्ट करने वाले अपने सुयश का विस्तार करने के निमित्त इस धरा धाम पर अवतरित हुए हैं। आप जो अलौकिक, परम सुखद, श्रुतमधुर चरित करेंगे, उसे व्यास वाल्मिकादि कवि-

गण अपनी ललित भाषा में वर्णन करेंगे। आपके उस जगत् पावन यश को सुनकर प्राणी कृतार्थ होते रहेंगे। सबके अन्तःकरण विशुद्ध बन जायेंगे। हे भूमन! आप पुण्यश्लोक हैं, अकुण्ठ बुद्धि हैं, नर नारायण का रूप रखकर आप निरन्तर बदरीवन में शान्त तप करते रहते हैं। ऐसे शान्त स्वरूप आप श्रीमन्नारायण के पादपद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।"

हे कृपासिन्धो! इस दीन, हीन, मतिमलीन अधम की यही प्रार्थना है कि आप कुछ कालपर्यन्त इन तजस्वी, तपस्वी ऋषि मुनियों के सहित दास का आतिथ्य स्वीकार करें और अपने पादपद्मों की पुनीत पराग से इस निमिवंश को पावन बनावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महाराज बहुलाश्व की बारम्बार विनीत वचनों से की हुई प्रार्थना सुनकर लोक पालक भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए हुए। वे राजा को तथा मिथिलापुरी के नर-नारियों को सुख देते हुए, उन्हें अपने दर्शनों से कृतार्थ करते हुए तथा सबका कल्याण करते हुए कुछ दिन राजा के यहाँ रह गये। अब जिस प्रकार दूसरे रूप से भगवान् ने श्रुतदेव ब्राह्मण के आतिथ्य को ग्रहण किया। उस सरस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे वर्णन करता हूँ। आप सब श्रद्धा से सुनें।"

छप्पय

दोउनिने इक सग निमन्त्रित श्रीहरि कीन्हें।
दोउनि करन कृतार्थ रूप द्वै हरि धरि लीन्हे॥
एक रूप तैं गये ऋषिनि सङ्ग नृप महलनिमहँ।
अपर रूप धरि गये द्विजनि लै विप्र भवनमहँ॥
भूपति हरि पद गोद धरि, सुहरावें पुनि पुनि कहें।
करें कृपा करुणेश कछु, काल जनकपुर महँ रहें॥

—:—

श्रुतदेव विप्र द्वारा श्री हरि का आतिथ्य

[११८५]

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा ।
नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त ह ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० ३८ श्लोक)

छप्पय

इत द्विज देखे देव दीनके द्वारे आये ।
चरन कमल सिर नाइ विनययुत वचन सुनाये ॥
नित्य निरञ्जन नाथ निरन्तर निकट हमारे ।
अति अनुकम्पा करी अज्ञ अनुचर उद्धारे ॥
करें कहा करुनायतन ! विधिवत बात बताइ दें ।
होंहिँ द्रवित जातें तुरत, साधन सुखद सिखाइ दें ॥

अपूर्ण पुरुष के साधन अपूर्ण होंगे, वचन अपूर्ण होंगे, शिक्षा अपूर्ण होगी। जो पूर्ण को प्राप्त हो चुके हैं जिनकी 'ऋषि' संज्ञा हो गयी है उनके ही वचन प्रामाणिक माने जाते हैं, किन्तु कभी-कभी ऋषियों के वचनों में विभिन्नता दिखायी

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बहुलाश्व के समान ही श्रुतदेव ब्राह्मण भी अपने घर में आये हुए भगवान् अच्युत तथा सभी मुनीश्वरों को प्रणाम करके अत्यन्त हर्षित होकर दुपट्टे को हिलाता हुआ नृत्य करने लगा।"

देती है, इसीलिये भगवान् स्वय साक्षात् रूप से अवतरित होकर उपदेश देते हैं, साधन बताते हैं और अपने अनुचरों को उद्धार-का मार्ग बताते हैं। भगवान् जगद्गुरु हैं। वे ही अनेक रूप रख कर-गुरु बनकर जीवन की डगमग करती नौका को उस पार लगाते हैं। जिसके पास श्रद्धा का सम्बल होता है वह तो पार हो ही जाता है, जो सशयात्मा है अश्रद्धालु हैं जो अपने को ही सब कुछ समझता है, वह डूबता उतराता रहता है, उसके लिये किनारे दूर हो जाते हैं। श्रद्धा और विश्वास को भी भगवान् ही देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक रूप स तो भगवान् मिथिलाधिप महाराज बहुलाश्व के साथ गये और दूसरे रूप से श्रुतदेव ब्राह्मण के घर गये। ऋषियों के भी दो रूप बना लिये थे। राजा और ब्राह्मण दोनो को ही ऐसा विदित हुआ कि भगवान ऋषि मुनियों के साथ मेरे ही यहाँ जा रहे हैं। श्रुतदेव ब्राह्मण ने जब देखा भगवान् बडे ब्रह्मण्य हैं, वे इतने बड धर्मात्मा, यशस्वी, कुलीन, सदाचारी, महान् वैभवशाली राजा को छोडकर मुझ दीन, हीन, निर्धन ब्राह्मण के यहाँ चल रहे है, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। भगवान् वासुदेव के ऋषि मुनियो के सहित चरणारविन्द जब उनके घर में पडे तब तब तो वे प्रेम के कारण विह्वल हो गये और अपने दुपट्टा को वायु मे फहराते हुए नृत्य करने लगे। उन्हे शरीर की भी सुधि बुधि नहीं रही। कुछ काल में प्रकतिस्थ होने पर उन्होने पूर्णकाम प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम किया तथा समस्त ऋषि मुनियो की भी चरण वन्दना की। भगवान को अपने यहाँ देखकर ब्राह्मण हडबडा रहा था। उसे सूझता ही नहीं था क्या करें, दौडकर कुश के बहुत से आसनो को उठा लाया। फिर सोचने लगा—भगवान् को ऊँचे बैठाना चाहिये। कहां से पीढा ले आया, चटाई बिछा दी। बार बार कहता "प्रभो!

यह दास अत्यन्त दीन है, स्वामिन्! आपको कष्ट तो होगा ही, किन्तु मैं असमर्थ हूँ आपके कृपा के ही सहारे जीवित हूँ। हे

मङ्गलमूर्ति! आपको मार्ग में कोई श्रम तो नहीं हुआ?"

ब्राह्मण इस प्रकार स्वागत प्रश्नादि करता हुआ प्रेमपूर्ण

स्नेहभरित गद्गद वाणी से ये बातें कह रहा था। उसी समय ब्राह्मणी कमण्डलु भरकर जल और पात्र ले आयी। उसने कहा—'भगवान् के चरणों को तो धो लो।"

हड़बड़ाकर ब्राह्मण बोला—"हाय! मैं तो भूल ही गया था। ला ला, इन्हीं चरणारविन्दों से तो जगदुद्धारिणी भगवती गङ्गाजी प्रकट हुई हैं। हमारे तो घर बैठे गङ्गाजी आ गयीं। यह कहकर हर्षपूर्वक सकुटुम्ब विप्र ने भगवान के चरणों को धोया। उस चरणोदक से महाभाग्यशाली श्रुतदेव ने अपने को तथा अपने समस्त कुटुम्ब परिवार वालों को अभिषिक्त किया। सिर पर चढ़ाकर उसे अपने समस्त घर में छिड़का। आज प्रभु के पादपद्मों के स्पर्श से उसके समस्त अघ दूर हो गये थे। प्रभु के पादपद्मों के प्रक्षालन करने से वह अपने को कृतकृत्य समझने लगा। भगवान् के दर्शन, पूजन करने से उसके सब मनोरथ पूर्ण हो गये थे।

पादप्रक्षालन के अनन्तर उसने सुन्दर-सुन्दर कन्दमूल, फल, तुलसीदल, फूल, गन्ध, रस से सुवासित जल, कस्तूरी, कुश, कमल तथा अन्यान्य भी जो वस्तुएँ उसे अनायास प्राप्त हो गयीं थी, उनसे भगवान् की सात्विकी पूजा की। समा, तिल्ली आदि सात्विक ऋषिअन्न का भोग लगाया। वह बार बार अपने भाग्य की सराहना कर रहा था वह सोच रहा था—'मैं तो बड़ा पतित हूँ। गृहरूपी अन्धकूप में पड़ा हुआ हूँ। मुझ जैसे साधनहीन दरिद्र विप्रबन्धु का इतना भाग्योदय कैसे हो गया। मुझे भगवान् के और उनके भक्तों के दर्शन कैसे हो गये। ये ऋषि मुनि स्वयं तीर्थ स्वरूप हैं। तीर्थों में तीर्थत्व स्थापित करते हुए ये घूमते रहते हैं। इनके चरणों की रज जहाँ पड़ जाती है, वह स्थान तीर्थ न होने पर भी तीर्थ बन जाता है। जिनके मन में माधव की मङ्गलमयी मूर्ति सदा बसी रहती है। उन महान् से भी महान्

मुनीश्वरों का दर्शन मुझ जैसे अधम को कैसे हो गया। भगवान् ने मेरे ऊपर अहैतुकी कृपा की। बिना हरि की कृपा से सन्तों का दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ है।"

इस प्रकार अपने भाग्य की सराहना करता हुआ वह भाग्यशाली ब्राह्मण भगवान् से हाथ जोड़कर कहने लगा। उस समय उसके कुटुम्ब परिवार के लोग, स्त्री, बच्चे, बूढ़े सब बैठे हुए थे। भगवान् ऋषि मुनियों से घिरे हुए विराजमान थे। श्रुतदेव के सात्विक आतिथ्य सत्कार को स्वीकार करके सर्वेश्वर श्री हरि सुख पूर्वक बैठे हुए थे। ऐसे भगवान् के चरणों का स्पर्श करके ब्राह्मण बोला—"प्रभो! मैं कृतार्थ हो गया। धन्य हो गया।"

भगवान् ने कहा—"विप्रवर! तुम मेरे बड़े भक्त हो। मैंने सोचा—मिथिलापुरी चलकर तुम्हें देखूँ। इसीलिये आज यहाँ आया।"

यह सुनकर ब्राह्मण कहने लगा—"प्रभो! आप में आना जाना कहाँ सम्भव है। मुझे आप महापुरुष के दर्शन नये हुए हों सो बात नहीं। आप तो सनातन हो, सर्वगत हो, सबके आदि कारण हो। जबसे आपने अपनी शक्तियों से इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है और इसे रचकर स्वयं इनके अणु परमाणु में प्रवेश किया है, तभी से आप सबसे मिले हैं। ऐसा वस्तु का अस्तित्व नहीं जिसमें आप न हों, आप उसमें छिपकर न बैठे हों।"

भगवान् ने कहा—"भाई, मैं तो यहाँ बैठा हूँ। यहाँ बैठा बैठा मैं सबमें कैसे छिपा बैठा हूँ, इतने भारी जगत् को मैंने कैसे बनाया है।"

ब्राह्मण बोला "प्रभो! आप देश काल की सीमा में सीमित नहीं हैं, आप इस जगत् के एकमात्र अधीश्वर हैं। आपकी प्रेरणा से, इच्छा से, संकल्प से, शक्ति तथा सामर्थ्य से सब कुछ हो रहा है। जैसे एक पुरुष किसी छोटे घर में सो रहा है। स्वप्न में

वह हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, चतुरङ्गिनी सेना की कल्पना करता है, बड़ा भारी राजा बन जाता है, घर, स्त्री, कुटुम्ब, वैभव, सेना, सेवक सबकी कल्पना वह स्वप्न-जगत् में अपने मन से ही कर लेता है। जितनी भी वस्तु वह स्वप्न में देखता है, उन सबका वह द्रष्टा होता है। अपने आप रचना करके अपने आप ही वह भासता है। यह सब तो है अविद्या के कारण। इसी प्रकार आप भी अपनी माया के द्वारा इस चित्र विचित्र संसार की रचना करके इसकी प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट हो जाते हैं और उनके रूपों में भास रहे हैं। हृदय में विराजमान रहते हुए भी अज्ञान-वश प्राणी आपको देख नहीं पाते। हृदय में आपकी अनुभूति नहीं करते।"

इस पर एक मुनि ने कहा—"विप्रवर! जब भगवान् सबके अन्तःकरण में स्थित हैं, तो सबको उनके दर्शन क्यों नहीं होते?"

यह सुनकर लजाते हुए श्रुतदेव ब्राह्मण ने कहा—"महाराज! मैं क्या जानूं? मैंने तो आप ही गुरुजनों के मुख से सुना है कि दर्पण में मुख देखने का प्रकाश है, किन्तु उसके ऊपर धूलि जम गयी, तो दर्पण के रहते हुए भी उसमें मुख नहीं दीख सकता। उसमें कहीं से लाकर मुख देखने की शक्ति स्थापित करने की आवश्यकता नहीं। केवल उसकी धूलि झाड़ देने से ही उसमें मुख देखा जा सकता है। इसी प्रकार सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से अच्युत बैठे हुए हैं, किन्तु अन्तःकरण पर अज्ञान की माया मोह की धूलि जम गयी है। निरन्तर इन भगवान् की भागवती कथाओं के श्रवण से, इनके सुमधुर जगन्मङ्गल नामों के कीर्तन करने से, इनका प्रेमपूर्वक पूजन करने से, इनको बार-बार प्रणाम करने से तथा परस्पर में इनकी ही चर्चा करने से वह धूलि पुछ जाती है, अन्तःकरण रूपी दर्पण निर्मल हो जाता है। उस निर्मल अन्तःकरण में इन अखिलेश्वर का दर्शन होता है।"

भगवान् ने कहा—"भाई! जब मैं इतने समीप हूँ कुछ न कुछ तो मेरा आभास सबको होना चाहिये।"

ब्राह्मण ने कहा—"महाराज! आभास हो कहाँ से। लोग आपको देखना ही नहीं चाहते। किसी का चित्त स्त्री में आसक्त है, किसी का बच्चे में, किसी का धन में, तो किसी का परिवार में, ऐसे ही सबका चित्त लौकिक, वैदिक कर्मों में आसक्त हो जाने से विक्षिप्त-सा हो रहा है। उसमें आपका आभास कैसे हो। आप ऐसे कर्मों में आसक्त अन्तःकरण में रहते हुए भी उससे बहुत दूर हो जाते हैं आप को कोई चाहे कि अन्तःकरण की जो अहङ्कारादि शक्तियाँ हैं उनसे ग्रहण कर ले तो यह असंभव है। तथापि जो श्रद्धाभक्ति सहित आपके गुणों का गान करते हैं आपके जगत् पावन मधुमय सरस नामों का कीर्तन करते हैं, उनके आप अत्यन्त समीप हैं, उन्हें आपका आभास ही नहीं होता, साक्षात् दर्शन होते हैं। प्रभो! आप आत्मज्ञानियों को अपना परमधाम प्रदान करते हैं। जो इस नाशवान् शरीर को ही आत्मा मानते हैं, उसी के पालन पोषण को परम पुरुषार्थ समझते हैं उन अनात्माभिमानियों को आप आत्मा से भिन्न पुनः-पुनः जन्म-मरण को प्रदान करने वाले संसार की प्राप्ति कराते हैं। प्रकृति इस संसार का कारण है, महत्तत्व अहंतत्वादि इसके कार्य हैं। आप इन कार्य और कारण के शासक हैं। आप पुरुषोत्तम हैं। आपकी माया ज्ञान को आच्छादित करने वाली है, किन्तु आप स्वयं उस माया से अनाच्छादित हैं। आपका ज्ञान अबाधित तथा नित्य है, किन्तु आपकी माया अपर संसारी प्राणियों की दिव्यदृष्टि का निरोध करने वाली है। ऐसे नित्य आनन्दस्वरूप आप सच्चिदानन्दघन प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम है।"

भगवान् ने कहा—"विप्रवर! आप बड़े क्लेश से जीवन यापन कर रहे हैं। अयाचित वृत्ति से निर्वाह कर रहे हैं?"

ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! खाने पीने और पहिनने ओढने का क्या क्लेश। आपका विस्मरण होना यही सबसे बडा क्लेश है, आपका स्मरण बना रहना यही सबसे बडा सुख है। प्राणियों को क्लेश तभी तक रहता है, जब तक आप क्लेशहारी केशव दृष्टिगोचर नहीं होते। जहाँ आपके दर्शन हुए तहाँ दुख, क्लेश, शोक तथा सन्ताप सभी मिट जाते हैं। अब प्रभो! हम यह जानना चाहते हैं कि आपकी सर्वश्रेष्ठ सेवा कौन सी है?"

श्रुतदेव के ऐसे अत्यन्त प्रेममय सुमधुर वचन सुनकर शरणागत भयभंजन भगवान् हँसते हुए अत्यंत प्रेम के साथ ब्राह्मण के हाथ को अपने करकमल से पकडकर कहने लगे—"ब्रह्मन! मेरे आगमन से भी बढकर इन तेजस्वी, तपस्वी मुनिवरों का आगमन है। ये सब मंगलमूर्ति हैं। जिन पर ये अत्यंत कृपा करते हैं, उन्हीं के घर ये पधारते हैं। इनके आगमन को तुम अपने अभ्युदय का ही कारण समझो। ये अपनी चरण-रज से सम्पूर्ण लोकों को पावन करते हुए ही विचरा करते हैं। ये सबको पावन बनाने वाले हैं।"

ब्राह्मण ने कहा—'हां, भगवन्! ये द्विजगण भूसुर कहाते हैं। जैसे देवता स्वर्ग के सुर हैं। जैसे देवता अपने पूजन करने वाले के हृदय को शुद्ध कर देते हैं। काशी, प्रयाग, पुष्कर तथा कुरुक्षेत्र आदि पुण्यक्षेत्र अपनी सन्निधि में रहने वालों को पवित्र बना देते हैं जैसे नैमिषारण्य हरिद्वार, गंगा, यमुना आदि पुण्य दर्शन, स्पर्शन, पूजन, स्नान तथा सेवन करने वालों को पवित्र बना देते हैं, वैसे ही ये भूसुर पूजन करने वालों को पवित्र बना देते होंगे?"

भगवान् ने कहा—"जैसे देवगण पुण्यक्षेत्र तथा तीर्थादि दर्शन स्पर्श, तथा पूजन करने वालों को पवित्र कर देते हैं, वैसे ही ये ऋषि मुनि पवित्र तो कर ही देते हैं, किन्तु इनमें एक विशेषता

है. देवतादि तो शनैः-शनैः चिरकाल तक सेवन करने पर पवित्र करते हैं, किन्तु ये साधुगण तो केवल दृष्टिमात्र से ही पवित्र कर देते हैं। साधुओं के दर्शनों से ही परम पुण्य होता है।"

श्रुतदेव ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! आप सर्वान्तर्यामी सर्व-समर्थ होकर भी ब्राह्मणों की इतनी अधिक प्रशंसा क्यों किया करते हैं, आपके सम्मुख ब्राह्मण क्या है। ब्रह्माजी के मुखस्थान से ब्राह्मणों की उत्पत्ति है और वे ब्रह्मा आपके पुत्र हैं, फिर आप ब्राह्मणों की इतनी पूजा क्यों करते हैं?"

यह सुनकर भगवान् बोले—"ब्रह्मन्! वेद मेरा स्वरूप है, उस वेद को जो धारण करते हैं, उन ब्राह्मणों की समता किससे की जा सकती है। ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेना ही बड़े पुण्य का कार्य है, क्योंकि ब्राह्मण तो जन्म से ही श्रेष्ठ है। तिस पर भी यदि वह तपस्या, ब्रह्मविद्या, सन्तोष और मेरी भक्ति से युक्त हो, तब तो कहना ही क्या? ब्राह्मणों को मैं अपना देवता मानता हूँ, इसीलिये मनीषी लोग मुझे ब्रह्मण्यदेव कहते हैं। ब्राह्मण मुझे इतने प्रिय हैं, जितना कि मुझे न तो अपना यह चतुर्भुज रूप ही प्रिय है और न लक्ष्मी, ब्रह्मा तथा संकर्षणादि ही प्रिय हैं। मैं सर्वदेवमय हूँ सब देवता मुझे अपना अधिदेव मानते हैं। किन्तु उन देवताओं में भी देवत्व स्थापन करने वाले वेद हैं और ब्राह्मण उन वेदों को अपने हृदय में धारण करते हैं, ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं। अतः वेदों को धारण करने वाले विप्र साधारण पुरुष नहीं हैं। जो दुर्बुद्धि पुरुष ब्राह्मणों की, गुरु की तथा सबके हृदय में आत्मा-रूप से निवास करने वाले मेरी अवहेलना करते हैं, वे गुणों में दोष देखने वाले हैं, छिद्रान्वेषी हैं। ऐसे द्विजद्वेषी, गुरुद्वेषी और आत्मद्वेषी यदि मेरी प्रतिमा में पूज्यबुद्धि रखकर पूजा भी करते हैं, तो उन्हें पूजा का समुचित फल प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उनकी बुद्धि में तो भेद-भाव है। विप्रों के हृदय में ऐसा भेद-भाव नहीं

रहता। वे मेरा साक्षात्कार करके चित्त मे यह निश्चय करते है कि सम्पूर्ण चराचर जगत हरिमय है। हरि के अतिरिक्त ससार मे कुछ नहीं है। जितने भी ये महत्तत्व, अहतत्त्व, पञ्चभूत, इन्द्रिय आदि प्रकृति के कार्य है ये सब भगवान के रूप हैं। मेरे साथ ये जितने महर्षि है उन सबको ऐसा ज्ञान है, अतः तुम इन ब्रह्मर्षियो को मेरा ही रूप मानो, इनकी पूजा मे कुछ भी भेद भाव न करना। इनकी पूजा करना ही मेरा सर्वश्रेष्ठ पूजा है। जहाँ इनकी पूजा हुई, समझ लो वहाँ मैं पूजित हो गया। कोई चाहे कि मै वेदज्ञ ब्राह्मणो का तो अपमान करूँ, और बडी सामग्रियों से हवन पूजन करके भगवान् की पूजा करूँ, तो वह पूजा मुझे प्रिय नहीं। इसलिये तुम इन महर्षियो की मेरी बुद्धि से सदा सेवा किया करो। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही साधन है, यही साध्य है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान ने विप्रो की महिमा सूचक उपदेश विप्रवर श्रुतदेव को दिया वैसा ही उपदेश महाराज जनक के महलो मे मिथिलाधिप महाराज बहुलाश्व को भी दिया। दोनो ही भगवान् के मुख से ऐसा रहस्यमय उपदेश पाकर कृतार्थ हो गये, दोनो ही श्रद्धाभक्ति और अनुराग सहित भगवान वासुदेव का तथा महर्षियो की अभेद बुद्धि से पूजा की। इस प्रकार एकान्त भाव से आराधना करने पर अन्त में उन दोनों को ही परमपद की प्राप्ति हुई। मुनियो! भगवान् बडे ही दयालु हैं, वे भक्तो के समीप अपनी महत्ता को भूल जाते हैं, उन्हे स्मरण ही नहीं रहता कि मैं जगत्पति हूँ। भक्त उनका भजन करते है और वे स्वय भक्तो का भजन करते हैं। भक्त उन्हे अपना स्वामी सर्वस्व मानते है, वे स्वयं भक्तो की भक्ति करते हैं। आप विचारिये, स्वामी के दर्शनो को स्वय सेवक जाता, किन्तु भगवान जिसे अपना अनन्य भक्त देखते हैं, उसके

दर्शनों को स्वयं जाते हैं, छोटे से भक्त ध्रुव ने हठ किया, आप पर नहीं रहा गया आपने बालक भक्त के दर्शन करने गरुड़ पर चढ़कर वहाँ आ गये। इसी प्रकार राजा जनक और श्रुतदेव ब्राह्मण इन दोनों को देखने ही भगवान् मिथिलापुरी में आये थे और उनका प्रिय करने के निमित्त कुछ दिनों तक दोनों के यहाँ दो रूप से मिथिला में रहे भी। फिर ब्राह्मण को साथ लेकर उन दोनों को सदुपदेश देकर पुनः द्वारकापुरी में आये। मुनियो! यह मैंने भगवान् की भक्तवत्सलता के सम्बन्ध की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अब आप हमें यह बताइये कि इतनी कथा सुनकर महाराज परीक्षित ने श्री शुकदेवजी से और क्या पूछा?"

सूतजी बोले—"महाराज! जब महाराज परीक्षित ने भगवान् का वह उपदेश सुना जिसमें उन्होंने श्रुतदेव विप्र से कहा था कि ब्राह्मण वेदों को धारण करते हैं, अतः वे सर्ववेदमय हैं। वेद की श्रुतियाँ ही ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं। तब राजा को शङ्का हुई कि श्रुतियाँ तो गुणमयी हैं, वे निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन कर ही कैसे सकती हैं। ब्रह्म तो सत्-असत् कार्य कारण दोनों से ही परे है, गुण रहित उसका साक्षात् वर्णन तो सम्भव ही नहीं। फिर श्रुतियाँ उसका वर्णन कैसे करती हैं?

अभिमन्यु तनय महाराज परीक्षित के इस प्रकार पूछने पर मेरे गुरुदेव ने वेद स्तुति सुनायी। उसमें जिस प्रकार निखिल प्रपञ्च शक्तियों के सहित सम्पूर्ण जगत् को अपने में लीन करके सोये हुए परमात्मा की जिस प्रकार श्रुतियों ने स्तुति की है, उसका वर्णन किया है। यह बड़ा ही गूढ़ ज्ञानमय प्रसङ्ग है। इसका वर्णन मैं कभी यथास्थान स्तुति प्रकरण में करूँगा। अब आप कहें तो मैं एक हँसी की कहानी सुना दूँ जिसमें भोले बाबा ने अपना

भोलापन दर्शाया था, और उस सङ्कट से भगवान् विष्णु ने उन्हें बचाया था। महाराज परीक्षित् के पूछने पर ही मेरे गुरुदेव ने इस प्राचीन इतिहास का वर्णन किया था।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! उस कथा को आप हमें अवश्य सुनावें। हमें भगवान् की कथा सुनने में बड़ा आनन्द मिलता है।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं उसी प्रसङ्ग को सुनाता हूँ आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

हँसि हरि बोले—विप्र वेद जग माहिं प्रचारें।
शम, दम, संयम, नियम साधि तिनकूँ ते धारें॥
मेरे ह ते पूज्य करें जो अर्चन तिनिको।
समदरसी है जाय भक्त होवे जो उनिको॥
यों सिख दीन्ही द्विज नृपहिं, कछु दिन रहि पुनि पुर गये।
सुनो कथा अब शम्भु की, विकल असुर वर दै भये॥

हरि हर भक्तों के भेद का रहस्य

[११८६]

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८८ अ० १ श्लोक)

छप्पय

पूछे शुक तैं भूप, प्रभो ! हर मरघट वासी ।
चिता भस्म तनु मलैं दिगम्बर विषय उदासी ॥
तिनिके सबई भक्त धनी मानी भोगी अति ।
बने ठने हरि रहैं सुघर सुन्दर कमलापति ॥
लक्ष्मीपति प्रिय धन रहित, शैव धनी बन जात है ।
वैष्णव बनि माँगत फिरहिं, यह का उलटी बात है ॥

जिनके पास जो वस्तु प्रिय होती है, उसे देने में सकोच होता है। जो वस्तु बहुत है जिसका हमारे यहाँ विशेष उपयोग नहीं, उसे जो भी परिचित आकर माँगता है उसे हम बिना विचार के दे देते हैं। जिसे जिस जिस वस्तु की उत्कट इच्छा है,

---

* श्री शुकदेवजी से राजा परीक्षित् पूछ रहे हैं,—"ब्रह्मन् ! देवता, असुर और मनुष्यों में जो अशिव वेषधारी—शिवजी को भजते हैं, वे तो प्रायः धनी होते हैं और सम्पन्न, भोगों को भोगने वाले होते हैं, किन्तु जो साक्षात् लक्ष्मीपति अत्यन्त प्रिय विष्णु के भक्त होते हैं वे प्रायः धनी तथा भोगी नहीं होते, इसका क्या कारण है, सो कृपया मुझे बतलाइये।'

उसी को वह सर्वश्रेष्ठ वस्तु समझता है। कोई अत्यन्त पिपासित है, प्यास के कारण जिसका कण्ठ सूख रहा है। उसे सुन्दर से सुन्दर संगीत सुनाओ, नयनाभिराम नृत्य दिखाओ, तो उसे कुछ भी अच्छा न लगेगा, उसे तो जल चाहिये जहाँ जल मिलेगा वहीं वह जायगा। इसी प्रकार जिसे संसारी विषयों की चाहना है, वह जहाँ से जिस प्रकार जैसे भी धन प्राप्त हो वैसा ही प्रयत्न करेगा। जिसे भक्ति या मुक्ति की इच्छा है, वह इनकी प्राप्ति जैसे हो, वैसा साधन करेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! वेद स्तुति सुनने के अनन्तर महाराज परीक्षित् ने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से पूछा—"प्रभो! मेरा एक प्रश्न है, मुझे एक अनुचित-सी शंका है, आज्ञा हो तो मैं पूछूँ?"

श्री शुकदेवजी ने कहा—"राजन्! तुम भला कभी अनुचित शंका कर सकते हो? तुम्हारी जो शंका होगी, लोककल्याण-कारिणी ही होगी। आप निर्भय होकर पूछना चाहे पूछें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन देव हैं। एक बार भगवान् विष्णु और ब्रह्मा साथ-साथ जा रहे थे, वहाँ उन्होंने एक बड़ा भारी ज्योतिर्मय दिव्य लिङ्ग देखा। उसका न तो आदि था न अन्त था। भगवान् उसका पता लगाने पाताल में गये और ब्रह्माजी हंस पर चढ़कर आकाश में शिवलिङ्ग का अन्त देखने गये। ब्रह्माजी को आकाश में कुछ भी पता नहीं लगा, तो वे भी केतकी को साक्षी लेकर लौट आये। उन्होंने आकर कह दिया—"मैंने पता लगा लिया। केतकी ने साक्षी भी दे दी। पीछे जब यथार्थ बात खुली तो ब्रह्माजी को शाप हुआ, वे जगत् में अपूज्य होंगे। तभी से ब्रह्माजी अपूज्य हो गये। उनके पुष्कर क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं ब्रह्माजी का स्वतन्त्र मन्दिर नहीं। अब त्रिदेवों में से पूजनीय एक शिवजी रहे—

और एक विष्णु भगवान्। बहुत से लोग शैव हैं, बहुत से विष्णु के पूजक वैष्णव। वैष्णवों की अपेक्षा शिवजी के पूजक अधिक हैं। मनुष्य ही नहीं, जितने असुर राक्षस आदि हैं वे सब शिव के उपासक शैव ही हैं। देवता, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व तथा भूत प्रेत, पिशाच सभी शिव की आराधना करते हैं। यद्यपि शिवजी धनी नहीं हैं। वाहनों में न उनके पास विमान है न रथ ही, एक बूढ़ा-सा बैल है, उस पर स्वयं भी चढ़ जाते हैं पार्वतीजी को भी चढ़ा लेते हैं। शरीर पर वस्त्र नहीं, पहाड़ पर भी दिगम्बर ही रहते हैं। जाड़ा न लगे इसके लिये सदा शरीर पर भस्म लगाये रहते हैं। भस्म भी किसी पवित्र स्थान की यज्ञकुंड की नहीं, स्मशान में जहाँ मरे हुए नर-नारी जलाये जाते हैं, उस स्थान की तो भस्म लगाते हैं। उनके ककण, कुंडल मुकुट आदि सुवर्ण अथवा रत्नों के नहीं। विषधर सर्पों के ये सब आभूषण हैं। कंठ में मोतियों मुक्ताओं की अथवा सुगन्धित पुष्पों की माला नहीं। नरमुंडों की वे माला पहिनते हैं। घर में भूँजी भाग नहीं। सदा खप्पर फैलाये देवी अन्नपूर्णा से भीख माँगते रहते हैं। ऐसे विषय भोगों से विरक्त विचित्र वेष बनाये रखने वाले बभोले के जितने भक्तों को हम देखते हैं उनमें से प्रायः सबके सब समस्त भोगों से सम्पन्न और धनिक होते हैं। इसके विपरीत हमारे विष्णु भगवान् सदा बने-ठने रहते हैं। कंठ में कौस्तुभमणि लटकाये रहते हैं, किरीटमुकुट, कनककुण्डल, नुपुर, नकनेसर, बाजूबन्द, हार, वनमाला, कंकण, अँगूठी, करधनी, कड़े और न जाने क्या-क्या पहिने रहते हैं। पीताम्बर भी रेशमी ओढ़ते हैं। इस प्रकार सदा बने-ठने रहते हैं। उनके समस्त वस्त्राभूषण अमूल्य होते हैं। गरुड़ पर चढ़ते हैं। सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी साक्षात् लक्ष्मीजी जिनकी अर्धाङ्गिनी हैं, ऐसे सर्वसमर्थ लक्ष्मीपति के भक्त वैष्णवगण प्रायः दीन हीन धन हीन देखे गये

हैं। उनके समीप भोगा का सामग्री नहीं, किसी भाँति माँग जाचकर निर्वाह करते हैं इसका क्या कारण है। चाहिये तो यह कि लक्ष्मीपति के उपासक लक्ष्मी सम्पन्न हों और दिगम्बर के उपासक निष्किंचन, निस्पृह हों, किन्तु बात इससे सर्वथा प्रतिकूल ही होता है, विरुद्ध स्वभाव वाले इष्टों के भक्तों की विरुद्ध गति होती है, कृपा करके मेरी इस शका का समाधान कीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब मेरे गुरुदेव से महाराज परीक्षित् ने इस प्रकार शका की, तो भगवान् शुक कुछ देर तक मौन हो गये और फिर गम्भीर होकर बोले—देखिये, राजन्! प्रकृति से महत्तत्व की उत्पत्ति हुई और महत्तत्व से अहकार की उत्पत्ति हुई। उस अहतत्व के सात्त्विक राजस और तामस तीन भेद हैं। उस त्रिविध अहकार से भी दश इन्द्रियाँ पाँच महाभूत और एक मन इस प्रकार सोलह विकार हुए। ये सब प्रकृति की विकृति हैं। इन सबके पृथक् पृथक् अधिष्ठातृदेव हैं। नित्य निरन्तर अपनी माया शक्ति से सम्पन्न सदा शिव भगवान् रुद्र इस त्रिविध अहकार के अधिष्ठातृदेव हैं। इन सब विकारों के अधिष्ठातृदेवों में से किसी एक की उपासना कर ले तो वह सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है। जैसे नेत्र के अधिष्ठातृदेव सूर्य हैं उनकी उपासना करने वाले को तेज प्राप्त होता है नासिका के अधिष्ठातृदेव अश्विनीकुमार हैं उनकी उपासना करने वाले को नीरोग तथा दीर्घायु की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार सब वस्तुएँ मिल जाती हैं। अहकार से ही तो सपूर्ण ससार की उत्पत्ति है। उसके अधिष्ठातृदेव भगवान रुद्र हैं, उनकी उपासना करने से सम्पूर्ण ऐश्वर्यों की गति को प्राप्त कर लेना स्वाभाविक ही है। त्रिदेवों में से विष्णु भगवान् चरणों के अधिष्ठातृदेव हैं, उनकी उपासना करने वाले को भी अर्थ लाभ की प्राप्ति

होता है, किन्तु जो प्रकृति से परे पुराणपुरुष इन श्रीमन्नारायण की उपासना करते हैं, उन्हें प्रकृति से परे के पदार्थ प्राप्त होते हैं। ये सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के गुण हैं। भगवान् श्री हरि तो इन तीनों गुणों से परे हैं जो जिसकी उपासना करता है वह वैसा ही बन जाता है इन मायिक गुणों से रहित निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाला उपासक निर्गुण तो होगा ही। धन ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा तथा समस्त संसारी भोग ये सब तो प्रकृति के अन्तर्गत हैं। जिसके मन में इन प्राकृत पदार्थों के प्रति प्रेम है, वह प्रेम कैसे कर सकता है। जब तक इन धन ऐश्वर्यादि प्राकृत पदार्थों के प्रति वैराग्य न होगा, तब तक पुरुष प्रकृति से परे की बात सोच नहीं सकता। प्राणी धन संग्रह तभी करता है, जब उसे भगवान् पर विश्वास नहीं होता। प्रारब्धवश जो मिल जाय, उससे पेट भर ले। पेट में जितना चला गया, उतना संग्रह कर लेना तो न्याय संगत भी है। यद्यपि पेट में भर लेना यह भी एक प्रकार से संग्रह है, किन्तु इतना संग्रह आवश्यक है। इससे अधिक जो संग्रह करने की इच्छा करता है वह न्याय संगत नहीं। ऐसा संग्रही प्रकृतिमण्डल को पार नहीं कर सकता। वह कितनी भी [illegible] उसका लय प्रकृति में ही होगा। इस विषय में धर्मराज युधिष्ठिर का और षडैश्वर्यसम्पन्न यदुकुलनन्दन भगवान् श्री कृष्णचन्द्र का जो सम्वाद हुआ है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। उसके सुनने से यह विषय स्पष्ट हो जायगा और आपकी समस्त शंकाओं का समाधान हो जायगा।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! मेरे पितामह धर्मराज युधिष्ठिर का भगवान वासुदेव से यह सम्वाद कब हुआ और उसमें मेरे पितामह ने क्या पूछा। कृपा करके इस पुण्यप्रद उपाख्यान को आप मुझे अवश्य सुनावें।"

श्री शुकदेवजी ने कहा—"राजन्! महाभारत हो जाने के अनन्तर जब धर्मराज ने राजसूय यज्ञ किये, उनके समाप्त हो जाने के अनन्तर भागवत धर्मों को श्रवण करने की इच्छा से उन्होंने भगवान् से यही प्रश्न पूछा था कि प्रभो! हमने देखा है, आपके भक्त संसार में सदा दुःख ही उठाते रहते हैं। विशेषकर उन्हें द्रव्य का सदा संकोच बना रहता है। यह क्या बात है। आप लक्ष्मीपति होकर भी उन्हें निर्धन क्यों बनाये रखते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर के इस प्रश्न को सुनकर भगवान् यदुनन्दन हँसे और बोले—"राजन्! मैं जान बूझकर अपने भक्तों को निर्धन बना देता हूँ। कोई मेरी भक्ति करना चाहता है और मेरी भी उस पर कृपा हो जाती है, तो मेरी कृपा प्रत्यक्ष प्रमाण यह है, कि मैं शनैः-शनैः उसके सब धन का अपहरण कर लेता हूँ उसे निष्किञ्चन बना देता हूँ।"

धर्मराज ने पूछा—"मनुष्य को निर्धन बनाने में आपकी क्या कृपा है। निर्धन जीवन तो बड़ा कष्टकर है, लोग निर्धनता के अधीन होकर बड़े से बड़ा पाप कर डालते हैं।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—"नहीं राजन्! सदाचारी पुरुष प्राणों के कंठगत होने पर भी धर्म को नहीं छोड़ते। धन की दरिद्रता बुरी नहीं होती, बुरी तो होती है मन दरिद्रता। जो मन से दरिद्री नहीं है, वह धर्म न रहने पर भी सबसे बड़ा धनी है और जो मन का दरिद्री है उस पर चाहे कितना भी धन क्यों न हो, वह दरिद्री ही है। जिसके पास धन होता है, उसे बड़ा भारी अभिमान होता है। उसका सम्बन्ध धनिकों से होता है। धन के कारण सभी उसका सम्मान करते हैं इससे उसका अभिमान और बढ़ता है, वह गुरुजनों का सन्तों का यहाँ तक कि मेरा भी अपमान करता है। धनी पुरुष को एकमात्र अपने धन का ही भरोसा रहता है। जहाँ भी जायगा धन को

साथ लेकर जायगा। बिना धन के पैर न रखेगा, उसे मेरे ऊपर भरोसा न होकर धन के ऊपर भरोसा रहता है। वह बड़े अभिमान से कहता है—मैं तो चाँदी की जूती मारकर चाहे जिससे जो करा सकता हूँ। यदि मेरे भक्त को मुझ चैतन्यघन पर विश्वास न होकर जड़ धन पर विश्वास हो, तो वह मेरी भक्ति कैसे करेगा। विषय भोगों में फँसे रहने से भक्ति होती तो मनु, प्रियव्रत, उत्तानपाद, तथा अन्यान्य सप्तद्वीपवती पृथ्वी के सम्राट् राज्यपाट छोड़कर वनों को क्यों जाते। इसीलिये मैं अपने भक्त का धन अपहरण करता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तो उसे धन के बिना दुःख पर दुःख उठाने पड़ते हैं। यह संसार तो स्वार्थ का है। जब तक पैसा पास में है, तब तक सभी उससे सम्बन्ध जोड़ने को लालायित रहते हैं। जहाँ वह निर्धन हुआ कि सगे सम्बन्धी, भाई बन्धु सभी उसका परित्याग कर देते हैं। कोई उसकी बात भी नहीं पूछता। पहिले जो बड़ा भारी आदर करते थे, वे देखकर मुख फेर लेते हैं, इससे वह अपना घोर अपमान समझता है। वह अनुभव करता है मेरे धन न होने से ही मेरा सर्वत्र अपमान हो रहा है, इसलिये मैं पूरी शक्ति लगाकर धन प्राप्ति का उद्योग करूँ। यह सोचकर वह उद्योग करता है, किन्तु उसमें उसे सफलता नहीं मिलती, असफल होने पर फिर उद्योग करता है, फिर असफल होता है। इस प्रकार वह बारम्बार उद्योग करने पर भी धन संग्रह करने में सफल नहीं होता, तब धन की चेष्टा से विरक्त होकर अपना कोई साथी खोजता है। संसार में निर्धन का साथी कौन बनना चाहेगा। एक साधुसन्त भगवद्भक्त ही ऐसे हैं, जो धनी निर्धन सबसे प्रेम करते हैं, सभी स्नेहपूर्वक समीप बिठाते हैं। तब वह विपत्ति का मारा साधुओं की शरण में जाता है। जिसके पास विषय भोगों की सब सामग्रियाँ हैं, वह विरक्त

साधु सन्तों के समीप क्यों जायगा। जायगा भी तो ऐसे ही साधु वेषधारी धनिकों के समीप जायगा, जो उसी की भाँति ठाट-बाट से रहते हैं। आश्रम मठ बनाते हों, परमार्थ के नाम पर व्यापार करते हों, झूठ सच बोलकर, बातें बनाकर कान फूँककर लोगों को फँसाते हों। वे तो उसी के भाई बन्धु हैं। चोर चोर मौसारे भाई। किसी ने रुई, अन्न का व्यापार किया दूसरे ने परमार्थ के नाम पर दलाली की। ऐसे नाम मात्र के साधु तो व्यापारी हैं। निर्धन को वे भी नहीं पूछते। उनके यहाँ भी सफेद वस्त्र वाले गोरे धनिकों की पूजा होती है। धन की चेष्टा से विरक्त हुए व्यक्ति को तो संसार से विरक्त निष्किञ्चन भगवद्भक्त ही आश्रय देते हैं। वे ही उसे धैर्य बँधाते हैं। ऐसे भक्तों से जब उसका मेल जोल हो जाता है, तो फिर मैं उस पर कृपा करता हूँ।

साधु के समीप एक ही चर्चा है, वे उठते बैठते चलते फिरते भगवान् की ही बातें करते हैं, वे उनके ही नामों का कीर्तन करते हैं, उनके गुणों का गान करते हैं। उनके साथ रहते-रहते उनकी बातें सुनते-सुनते उसे परमसूक्ष्म, चिन्मात्र, सत्यस्वरूप और अनन्त परब्रह्म की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार मेरी आराधना करना, सरल नहीं है। जो मेरा भजन करना चाहे, वह सर्वप्रथम अपने सिर को काटकर हथेली पर रख ले। यह सोच ले मुझे पगपग पर निर्धनता जनित दुःख उठाना पड़ेगा। काँटों की शैया पर सोना पड़ेगा। लोग इसी से डर जाते हैं। सोचते हैं, अमुक बारह वर्ष से राम राम रटता है, उसे क्या मिल गया। घर घर से भीख माँगकर बड़े कष्ट से अपने दिन बिताता है। अमुक ने छे महीने में ही भूत को सिद्ध कर लिया, अब भूत उसे जो चाहता है वही दे जाता है। इसलिये भगवद्भक्ति को छोड़कर भूत, प्रेत, पिशाच तथा अन्यान्य धन देने वाले देवों की पूजा करनी चाहिए।" यह

सोचकर वे शीघ्र प्रसन्न होने वाले देवताओं की पूजा करते हैं। देवता जब उसे वर माँगने को कहते हैं, तो वे धन, ऐश्वर्य, बड़ी आयु संसारी भोग तथा और भी ऐसी ही परपीड़न की शक्तियों का याचना करते हैं।" पूजा से प्रसन्न हुए देवता उन्हें उनके माँगने पर धन वैभव आदि देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि वे धन वैभव पाकर उनमत्त हो जाते हैं खलों की शक्ति पर पीड़ा के ही निमित्त हुआ करती है। जब वे धन के मद में अन्धे हुए उद्धत और प्रमत्त पुरुष अपने वर देने वाले देवता का भी अपमान करने लगते हैं। रावण को शिवजी से वर प्राप्त हुआ और उनके ही कैलाश को उठाने लगा। बाणासुर ने शिवजी की आराधना करके सहस्र बाहुओं को और अमित बल को प्राप्त किया और उनसे ही लड़ने को उद्यत हो गया। इसलिये मैं अपने भक्तों को धन वैभव नहीं देता, उतना ही देता हूँ, जिससे उनका निर्वाह चलता रहे। अधिक धन वैभव होने से उसी में चित्त फँसा रहेगा, मेरे स्मरण में बाधा पड़ेगी।" इतना कहकर भगवान् चुप हो गये धर्मराज युधिष्ठिर ने भी भगवान् के वचनों का अभिनन्दन किया। उनकी यह जो शंका थी कि हम तो श्रीकृष्ण भगवान को ही सब कुछ समझते हैं, फिर भी हमें सदा वनों में ही रहना पड़ा भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करना पड़ा और यह दुर्योधन सदा भगवान से द्वेष रखता था, फिर भी जीवनपर्यन्त राजसुख भोग कर रहा है, भगवान् के उत्तर से दूर हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् के पूछने पर श्रीशुकदेवजी ने यही उत्तर दिया और आगे बताया—"राजन! शाप और वर देने में ब्रह्मा, विष्णु और महेश समान ही हैं। तीनों ही समर्थ हैं तीनों अभिमत फल दे सकते हैं, किन्तु शिवजी औघडदानी हैं, आशुतोष हैं वे तनिक-सी सेवा से प्रसन्न हो जाते हैं। एक चुल्लू जल चढ़ा दो, आक धतूरे के दो फूल फेंक

दो, गाल बजा दो भोले बाबा इतने पर ही प्रसन्न हो जायँगे। ऐसे ही हमारे ब्रह्मा बाबा हैं। जिसने जो माँगा, तथास्तु कह दिया। किन्तु हमारे ये जो विष्णु भगवान् हैं। ये बड़े कड़ियाँ हैं। ये ऐसे तनिक ही पूजा पर रीझने वाले नहीं। जब तक कोई सर्वात्मभाव से आत्मसमर्पण नहीं करता, तब तक उसे दर्शन भी नहीं देते। शिवजी के भोलेपन से कभी-कभी तो लोग अनुचित लाभ उठाते हैं। उन्हीं से वरदान प्राप्त करते हैं। और उन्हीं पर उसकी परीक्षा करने लगते हैं। कई बार उन्हें स्वयं भी वर देकर पछताना पड़ा। वृकासुर को ही वर देकर संकट में पड़ गये थे, फिर भगवान् ने जैसे-तैसे युक्ति से उस संकट को दूर किया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह वृकासुर कौन था, शिवजी से इसने क्या वरदान प्राप्त किया और शंकरजी कैसे संकट में पड़ गये, कृपा करके इस इतिहास को हमें भी सुना दीजिये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! जिस प्रकार मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित् के प्रति इस इतिहास को सुनाया था, उसे ही मैं आपके सम्मुख कहता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

बोले शुक–सुनु नृपति शम्भु अज औघरदानी।
होहिं शीघ्र सन्तुष्ट लहहिं वर खल अभिमानी॥
पाइ अमित ऐश्वर्य करें अपमान सबनिको।
प्रकृति परे प्रभु विष्णु टिकै नहिं चित्त खलनिको॥
करैं विष्णु जापै कृपा, निष्किञ्चन ताकूँ करें।
सबकी आशा छोड़ि जब, आवै तब सब दुख हरें॥

—::—

वृकासुर की कथा

[११८७]

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाऽऽप संकटम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

सुनो एक इतिहास परे हर सकट दै वर ।
आशुतोष शिव समुझि करै तप उग्र वृकासुर ॥
तन को काटै मास अग्नि में होमै ताकूँ ।
बसै तीर्थ केदार भये छै दिन यों वाकू ॥
शिव दरशन जब नहिं दये, सतवें दिन गहि खड्ग खल ।
शिर काटन लाग्यो जबहिं, प्रकटे शङ्कर शिव विमल ॥

यह जगत् एक विशेष नियमों के आधीन होकर चल रहा है। संसार का नियम है जो जितना देगा, वह उतना पावेगा। न्यायपूर्वक जितना श्रम करेगा उतना उसे प्राप्त होगा। जो इस नियम को न मानकर श्रम तो कम करते हैं और उसका पारिश्रमिक अधिक चाहते हैं, तो उन्हें अन्याय का आश्रय लेना पड़ता

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं— 'राजन् ! इस विषय में जिस प्रकार वृकासुर को वरदान देकर श्री शङ्करजी जैसे सकट ग्रस्त हो गये थे, उस प्राचीन इतिहास का बड़े लोग उदाहरण दिया करते हैं उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ।" — —

है। अन्याय पूर्वक प्राप्त की हुई विद्या फलीभूत नहीं होती। जो अनियमित लाभ करते हैं, उत्कोच (घूँस) लेकर धन संग्रह करते हैं, वह आता हुआ तो अच्छा लगता है, किन्तु उसका परिणाम दुःखद ही होता है। कुछ लोग किसी की सरलता से उसके साधु स्वाभाव से अनुचित लाभ उठाकर बड़े प्रसन्न होते हैं और मन ही मन प्रसन्न होते हुए कहते हैं—"देखो, मैंने इसे कैसा उल्लू बनाया।" वे यह नहीं सोचते—"अरे, उल्लू तो तुम स्वयं बने। कम परिश्रम करके तुमने जो छल से अधिक वस्तु प्राप्त करली है वह छल ही तुम्हारे सर्वनाश का कारण होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको वृकासुर असुर का वृत्तान्त सुनाता हूँ। दिति के वंश में शकुनि नामक एक बड़ा भारी बलवान् दैत्य हुआ है। वह बड़ा बली शूरवीर और पराक्रमी था। उसका एक पुत्र था, वृकासुर। वह भी बड़ा बली था। असुरों की एक स्वाभाविक इच्छा होती है कि सब हमारे आधीन रहे। हमारा शरीर सदा अमर रहे। हम ही सब भोगें। हम से अधिक जिस पर भोग सामग्री हो, उसे मारकर उससे सब छीन लें। यही इच्छा वृकासुर की हुई। उसने सोचा—"शीघ्र से शीघ्र कैसे हम श्रेष्ठ बन जायँ। आजकल तो हम से बड़े इन्द्र हैं, वरुण हैं, कुबेर हैं, यमराज तथा अन्यान्य लोकपाल है। इन्हें वैसे तो जीत नहीं सकते। ये तपस्या के द्वारा वरदान से जीते जा सकते हैं। बहुत से लोग लाखों करोड़ों वर्ष तपस्या करते हैं, तब कहीं छोटा मोटा वरदान पाते हैं सुनते हैं हमारे ही वंश में हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष ने कितनी उग्र तपस्या की थी। उनके मांस को दीमक खा गयीं थीं, ऐसी तपस्या न करूँगा, मैं तो कुछ ही दिन उग्र तप करके विश्व विजयी बन जाऊँगा।"

यही सब सोच विचारकर वह तपस्या करने के निमित्त

उत्तराखण्ड की ओर चला। जो घर से साधन करने की उत्कट इच्छा से निकलता है, उसे उपदेष्टा सबसे गुरु नारदजी स्वयं मिल जाते हैं। नारदजी का एक मात्र काम ही है, जीवों को भगवान के सम्मुख करना। जो भक्तिभाव से भजन करने वाले होते हैं, उन्हें भक्ति सिखाते हैं, जो कलह प्रिय है, भगवान् से द्वेष करते हैं उन्हे भगवान् के विरुद्ध भडकाकर भगवान् के समीप पहुँचा देते हैं। किसी भी प्रकार से जीव भगवान् के सम्मुख पहुँच जाय, वहाँ उसका उद्धार हो ही जायगा।

वृकासुर मन में यह सोचता जा रहा था, 'किस देवता का तप करें। मुझे तो ऐसा देवता चाहिये जो तत्काल-फल दे, विलम्ब न लगावे।' उसी समय उसे वीणा बजाते, राम-कृष्ण गुन गाते, सामने से आते हुए नारदजी दिखायी दिये। नारदजी को देखकर उसने कहा - "डंडौत बाबाजी।"

नारदजी ने हँसते हुए कहा—"प्रसन्न रहो, बचाजी! कहो कहाँ जा रहे हो? तुम्हारे पिता असुरराज शकुनि तो अच्छे हैं न?"

शीघ्रता के साथ वृकासुर बोला—"हाँ, महाराज सब अच्छे हैं। आप मुझे एक बात बताइये। मैं तपस्या करना चाहता हूँ।"

बीच में ही नारदजी बोल उठे—"धन्य, धन्य! आपका बडा अच्छा विचार है। तपस्या करना ही ससार मे सार है। यह उत्तराखण्ड तपस्या की ही भूमि है हिमालय मे तप कीजिये।"

वृकासुर ने कहा—"अजी महाराज! तपस्या करें तो सही, किन्तु पहिले यह निर्णय हो जाय, किस देवता को प्रसन्न करने की कामना से तपस्या करें। मुझे बहुत समय तो है नहीं कि लाखों वर्ष तपस्या में ही नष्ट कर दूँ। मुझे कोई ऐसा देवता बता दीजिये जो चट पट प्रसन्न हो जाय, बहुत खटपट न करनी पडे। समय कम से कम लगे, वस्तु अधिक से अधिक मिले।"

यह सुनकर नारदजी कुछ काल तक तो मौन रहे। फिर कुछ सोच समझकर बोले—'सब देवताओं में एक बमोलेनाथ शिवजी ही ऐसे हैं कि वे तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं। जहाँ वे प्रसन्न हुए कि फिर उनसे जो चाहो सो माँग लो उनके लिये कुछ भी वस्तु अदेय नहीं है।"

वृकासुर ने पूछा—'और महाराज! विष्णु कैसे हैं?"

शीघ्रता के साथ नारदजी बोले—"वत्स! तुम विष्णु का तो नाम ही मत लेना! ये ऐसे देवता हैं कि कोई इनका भजन करे तो ये तारी लगा जाते हैं, उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, देवता जब बहुत अनुनय विनय करते हैं, संकट बताते हैं, तब कहीं बहुत दिनों में उसकी ओर निहारते हैं। इनकी पूजा में भी बड़ा झंझट है दूध ला, दही ला, शहद, घी, चीनी, वस्त्र अलंकार, एक झंझट हो, तो बताव। शिवजी ही अच्छे हैं एक चुल्लू जल चढ़ा दिया, गाल बजा दिये, हो गयी पूजा। ये प्रसन्न भी तनिक देर में हो जाते हैं।"

वृकासुर ने पूछा—"महाराज! एक सप्ताह का समय तो मैं दे सकता हूँ, एक सप्ताह में प्रसन्न हो जायँगे?"

नारदजी ने कहा— अरे, एक सप्ताह तो बहुत है, वे तो इसके बीच में ही प्रसन्न हो सकते हैं। तुम सीधे केदारनाथ में चले जाओ। वहाँ केदारगंगा में स्नान करना, शिवजी का पूजन करना। जितनी ही उग्र तपस्या करोगे उतनी ही शीघ्र सिद्धि होगी।"

यह सुनकर असुर नारदजी को प्रणाम करके केदार क्षेत्र की ओर चला गया। वहाँ पहुँचकर उसने एक स्थान में बैठकर तपस्या आरम्भ की। उसने सोचा—"मुझे शीघ्र से शीघ्र सिद्धि लाभ करनी है, अतः मैं ऐसी घोर तपस्या करूँ, जैसी

तक किसी ने न की हो। शिव मेरी तपस्या को देखकर चकित हो जायँ। यह सोचकर उस असुर ने एक कुंड बनाया, उसमे अग्नि प्रज्वलित की। अग्नि को ही महादेवजी का मुख मानकर वह अपने शरीर से मास काट-काट कर उसी का हवन करने लगा। यह बडा दुष्कर कर्म था। छ दिनों तक वह ऐसे ही हवन करता रहा शिवजी के उद्देश्य से वह घोर तामस तप करने लगा। वह तो हाथ पर तुरन्त सरसो जमाना चाहता था। शीघ्राति शीघ्र अपने मनेरथ को मूर्तिमान् हुआ दखना चाहता था। जब उसने देखा, छ दिन हो गये आर आशुतोष शिवजी न उसे अभी तक दर्शन नही दिये, तब तो उसे बडा निराशा हुई। उसने सोचा—"शिवजी ऐसे नहीं मानेंगे, लाओ मैं अपने आप को ही इस वेदी पर बलिदान कर दूँ।" ऐसा निश्चय करके उसने केदारतीर्थ में स्नान किया। स्नान करने से उसकी लम्बी-लम्बी लटायें भीग रहीं थीं। आज उसने अपने आपको अत करन का दृढ सकल्प कर लिया था, उसने एक हाथ मे खड्ग लिया, ज्यों ही वह अपने खड्ग से अपना ही सिर काटने को उद्यत हुआ, त्यो ही परम कारुणिक कपर्दी भगवान् आशुतोष अग्निदेव क सदृश उस हवन कुन्ड से प्रकट हो गये और अपनी विशाल भुजाओ से उसके दोनों हाथो को पकडते हुए उसे ऐसा करने स रोका। परम कारुणिक भगवान् भूतनाथ का सुखद स्पर्श पाते ही उसका सम्पूर्ण शरीर ज्यों का त्यो हो गया। जिन जिन अङ्गों से उसने मास काटा था, वे सब अङ्ग परिपुष्ट और बलिष्ठ हो गये। हँसत हुए पार्वतीपति उस असुर से बोले—"अरे, असुर वर! तुम ऐसा दुस्साहस क्यों कर रहे हो?

असुर ने हाथ जोड कर कहा—"प्रभो! आप ने मुझे दर्शन नहीं दिया था, इसीलिये मैं ऐसा साहस करने के लिये उद्यत हुआ कि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो?"

शिवजी ने कहा—"अरे, भैया! मेरी प्रसन्नता के लिये यह सब करने की क्या आवश्यकता है? मैं तो अपने भक्तों पर केवल एक चुल्लू जल चढाने पर ही प्रसन्न हो जाता हूँ। मेरी प्रसन्नता के लिये ऐसा कायक्लेश करना व्यर्थ है। अस्तु, जो हुआ सो हुआ, तू अपना इच्छित वर मुझसे माँग ले। मैं तुझे वर देने के ही निमित्त आया हूँ। सकोच करने की आवश्यकता नहीं।"

असुर ने सोचा—"बहुत से असुरों ने न मरने के वर माँगे वे भी मारे गये, बहुतों ने अपराजित होने के वर माँगे, वे भी पराजित हो गये। मैं ऐसा वर माँगू कि कोई शत्रु मेरे समीप आने ही न पावे। जिस पर धन रख देखूँ वही मर जाय।' यही सब सोचकर उसने कहा—"प्रभो! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मैं जिसके भी सिर पर अपना हाथ रख दूँ, वह तुरन्त मर जाय।"

शिवजी ने देखा कि इसने तो सम्पूर्ण प्राणियों को भय देने वाला बडा ही भयकर वर माँगा है, तो वे कुछ खिन्न हुए, किन्तु अब करते ही क्या, वचन हार चुके थे, दूसरे सीधे साधे भोले बाबा ठहरे। भगवान् विष्णु होते तो कोई युक्ति भिडाकर कुछ का कुछ कर देते, किन्तु ससार में सरल सीधे पुरुषों को सभी ठगना चाहते हैं, यद्यपि दूसरों को ठगने वाला स्वय ही ठगा जाता है, उसे लाभ नहीं होता, फिर भी वह दूसरों के साथ छल करने में चूकता नहीं। शिवजी तो भोले बाबा ही ठहरे। उन्होंने सोचा—'मैं वचन देकर भी इसे इसका इच्छित वर न दूगा, तो जगत् में मेरी अपकीर्ति होगी। अब चाहे जैसे हो इसे वर तो देना ही है। ऐसा सोचकर ऊपर से हँसते हुए शिवजी बोले—"अच्छा बात है, ऐसा ही होगा।" वृषभध्वज ने उस असुर को वर क्या दिया, मानों विषधर सर्प को दूध पिलाकर उसके विष को और बढा दिया। शिवजी से वर पाकर अब तो वह बडा प्रसन्न हुआ।

सम्मुख उसने त्रैलोक्य सुन्दरी जगन्माता भगवती पार्वतीजी को बैठे देखा। असुर तो असुर ही ठहरा, उसके मन में पाप के अतिरिक्त और आ ही क्या सकता है। वह सोचने लगा-"देखो यह पार्वती कितनी सुन्दरी है, कैसी सजी बजी बैठी है। यह तो इतना सुन्दरी है और पाले पडी है इन भूतनाथ के, जिनके न तन पर कपडा,न रहने को घर द्वार। दिगम्बर होकर स्मशान में घूमते रहते हैं। यह सुन्दरी तो रानी बनने योग्य है। यदि मुझे यह मिल जाय, तो मै इसे अपने महलो में रखूँ। किन्तु जब तक भोले बाबा हैं, तब तक यह मेरे साथ कैसे जायगी। इसलिये लाओ पहिले इनके ही सिर पर हाथ रखकर इन्हें भस्म कर दूँ। इससे एक पन्थ दो काज हो जायँगे। वरदान की परीक्षा हो जायगी और त्रैलोक्य सुन्दरी स्त्री मिल जायगी।।", यही सब सोच विचारकर वह महादेवजी के मस्तक पर वर की परीक्षा लेने, हाथ रखने को आगे बढा। शिवजी कहा—"अरे, क्या करना है भाई!"

असुर ने कहा—"कुछ नहीं महाराज! आपके वरदान की परीक्षा करता हूँ।"

शिवजी अब उसके अभिप्राय को समझ गये, वे मुट्ठी बाँधकर दौडे। असुर भी कुछ कम नहीं था। वह तो उसे सदाशिव भोलेनाथ का वर भी प्राप्त हो चुका था, वह भी उनके पीछे पीछे दौडा। आगे आगे जगद्गुरु शिवजी दौड़े जा रहे थे, उनके पीछे-पीछे चेलाजी दौडे जा रहे थे। शिवजी पहिले पृथ्वी के सब स्थानों में दौडे गये, वहाँ भी रक्षा न देखकर स्वर्ग में गये, आकाश, पाताल तथा दशों दिशाओं में गये। जहाँ भी जाते, वहाँ के लोग घबरा जाते शिवजी के वरदान को अन्यथा करने की शक्ति किसमें थी। सभी शिवजी के वरदान की बात सुनकर सहम जाते। शिवजी ने देखा मेरे संकट दूर होने का वैकुंठपति के अतिरिक्त कोई अन्य

स्थान नहीं है, तो तम से परे नित्य निरन्तर प्रकाशमय सनातन वैकुण्ठधाम की ओर चले।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार बड़ी युक्ति से भगवान् श्रीहरि शिवजी के संकट को दूर करेंगे, उस कथा का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

=

छप्पय

कहैं—अरे, क्यों मरै मोगु वर मत घबरावै।
माँग्यो वर—कर धरूँ जासु सिर सो भरि जावै॥
आशुतोष है विमन दयो वर खल सुख पायो।
भयो विमोहित शिवा रूप लखि चित्त चलायो॥
करूँ परीक्षा शम्भु सिर, कर धरि यदि मर जायँगे।
मिलै सुन्दरी शिवा अरु, सबरे सुर डर जायँगे॥

शम्भु संकट विमोचन

[११८८]

य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः ।
गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा
विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८८ अ० ४० श्लोक)

छप्पय

घरन शम्भु पै हाथ बढ्यो खल हर घबराये ।
भागे मुट्ठी बाँधि लोकपालनि पुर आये ॥
वृक हू वर तैं बढ्यो भगे सँग शिव के मग महँ ।
कौन अन्यथा करे शम्भु के वर कूँ जग महँ ॥
और उपाय न देखि हर, भागि चले वैकुण्ठपुर ।
रमारमन जहँ रमा सँग, करहिं कलित क्रीड़ा सुघर ॥

लोग अपने को बहुत बुद्धिमान लगाते हैं, किसी से कोई भूल हो जाती है, तो उसकी हँसी उड़ाते हैं, उसे मूर्ख बताते हैं, और

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! साक्षात् परमात्मा श्रीहरि मन और वाणी आदि की विषय न होने वाली शक्तियों के समुद्र हैं तथा प्रकृति आदि से अतीत हैं, उनके इस शम्भुविमोचन नामक चरित्र को जो मनुष्य कहता है अथवा सुनता, है वह संसार बन्धन से तथा शत्रुओं के भय से विमुक्त हो जाता है ।"

कहते है—"तुम इतना भी नही सोच सकते थे कि इसका परिणाम क्या होगा। दूसरो को तो ऐसा कहकर मूर्ख बताते है, जब स्वयं अपने आपसे ऐसी भूल हो जाती है, तो पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं—क्या करें उस समय मेरी मति ऐसी भ्रष्ट हो गयी कि आगे की बात सोच ही न सका। ऐसा ही होना था, भवितव्यता को कौन मेट सकता है।" वास्तविक बात यही है, जिससमय जैसा होता होना है, वैसी ही मति बन जाती है। श्री रामचन्द्रजी क्या जानते नहीं थे कि सुवर्ण का मृग होता ही नही, किन्तु भावी की प्रबलता प्रदर्शित करने के लिये उसके पीछे भागे। भगवान् की यह गुणमयी माया ऐसी प्रबल है कि बडे बडे ज्ञानी ऋषि मुनि इसके चक्कर में फँसकर न करने योग्य कामो को कर डालते है। एक बार नहीं अनेक बार। यह जानते हुए भी कि यह कार्य बुरा है, इसके करने से दुःख ही दुःख होगा, फिर भी रहा नहीं जाता, अवसर आने पर फिसल ही जाते हैं। जब ज्ञानियो की यह दशा है, तो असुर प्रकृति वालो के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या। भगवान् की माया ने लोगो पर ऐसा जाल बिछा रखा है कि प्राणी विवश हो जाता है, जब भगवान् का माया मे इतनी मोहकता है तब यदि स्वय ही वे मोहन रूप रखकर किसी को मोहना चाहें तो वह कैसे मोह मे न आवेगा वह तो फँस ही जायगा। किन्तु भगवान् के सम्मुख का मोह भी अच्छा ही है उनके सम्मुख जो ज्ञान से पहुँचा, अज्ञान से पहुँचा, प्रेम से पहुँचा मोह से पहुँचा उसका बेडा पार ही है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब वृकासुर शिवजी के वरदान से उन्हे ही भस्म करने की इच्छा से उनके पीछे दौडा, तो शिवजी ने किसी लोक मे अपनी रक्षा को स्थान न पाया। अब वे उस वैकुण्ठ धाम की ओर चले जिसमें शान्त दान्त सबको अभय प्रदान करने वाले परमहंस मुनिगण जाते हैं। जहाँ

कमला के साथ कमलनयन निरन्तर निवास करते हैं; जो प्रकृति से परे परमोत्कृष्ट धाम है जो प्राणीमात्र की परमगति है, जहाँ से लौटकर जीव फिर संसार के आवागमन में नहीं फँसता। जो रमारमण का नित्य निवास है।"

श्रीमन्नारायण महालक्ष्मी जी के साथ सुख से विराजमान थे कि उन्हें अपने लोक में शिवजी के पधारने की बात मालूम हो गयी। तुरन्त ही उन्होंने अपने शंख, चक्र, गदा, पद्मादि आयुध एक ओर रख दिये। मूँज की मौंजी बाँधकर रुद्राक्ष की माला पहिनकर ढाक का दंड लेकर, कृष्ण मृग की मृग छाला ओढ़कर, हाथ में सजल कमंडलु तथा ब्रह्मदंड लेकर वे तो बनावटी ब्रह्मचारी बन गये। यह ऐसा वेष है कि इस पर सभी विमुग्ध हो जाते हैं और सभी को विश्वास हो जाता है। भगवान् ने महाराज बलि को भी इसी रूप से छला था। ब्रह्मचारी के मन में अपने पराये का भेद भाव नहीं रहता है, वह स्त्रीमात्र को माता समझता है, वह किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता, दीन बनकर गुरुकुल में रहता है, भीख माँगकर खाता है, किसी से कटु वचन नहीं बोलता। इन्हीं सब कारणों से सभी श्रेणी के नर-नारी उसका सम्मान करते हैं, उसे भिक्षा देते हैं, तथा उसकी बात को ध्यान पूर्वक सुनते हैं।

ब्रह्मचारी बनकर भगवान् उसी मार्ग में बैठ गये, जिधर से शिवजी दौड़े चले आ रहे थे और उनका पीछा किये हुए वृकासुर आ रहा था।

भगवान् दूर से ही शिवजी को देखकर कहा—"दंडवत बाबा जी! "शिवजी को अपनी पड़ रही थी। प्रशन्न रहो भैया! प्रसन्न रहो।" यह कहकर वे आगे बढ़ गये।

अब भगवान खड़े हो गये, वृकासुर दौड़ा चला आ रहा था। बटु बने बनवारी विहँसकर बोले—"जय शंकर की राजन्!"

वृकासुर ने कहा—"जय शकर, जय शकर ! कहो ब्रह्मचारी, अच्छे हो ?"

भगवान् बोले—"हाँ, राजन ! अच्छे हैं आप अपनी कुशल बताइये। आप कहाँ जा रहे हैं। आप तो बडे श्रमित मालूम पडते हैं। बडी शीघ्रता कर रहे हैं तनिक बैठिये, विश्राम कीजिये जल पान कीजिये।"

वृकासुर बोला—"ब्रह्मचारी तुम्हारे सत्कार के लिये धन्य वाद। मैं एक आवश्यक कार्यवश जा रहा हूँ। मुझे शकर को पकडना है, तुम से बातें करूँगा, तो शकर आगे निकल जायँगे ?"

शिवजी ने देखा, ये ब्रह्मचारी असुर से बडे प्रेम के साथ बातें कर रहे हैं। ये तो साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। वे कौतुकवश खडे हो गये। भगवान् ने कहा—राजन् ! आप घबराये नहीं। शकर तो समीप खडे हैं, जब तक आप मेरे समीप रहेंगे, तब तक ये आगे बढ नहीं सकते। आप तनिक बैठ जायँ आपकी चेष्टा से प्रतीत होता है, आप बहुत दूर से चलकर आ रहे हैं। बात क्या है ? शकर जी को क्यों पकडना चाहते हैं। क्यो इतना श्रम कर रहें हैं ? देखिये, यह लौकिक तथा पारलौकिक सभी कार्य इस शरीर से ही होते हैं, अतः शरीर को रक्षा सब प्रकार से करनी चाहिये। शरीर द्वारा ही सब कामनायें पूर्ण होती है। आप इतने व्यग्र क्यों हो रहे हैं ?"

वृकासुर ने कहा—"ब्रह्मचारी ! तुम वेद पढो। इन बातों को सुनकर क्या करोगे ?"

भगवान् बोले—"देखिये, राजन ! संसार में सब कार्य परस्पर
र सहायता से होते हैं। श्रमजीवी श्रम करके जीवनोपयोगी

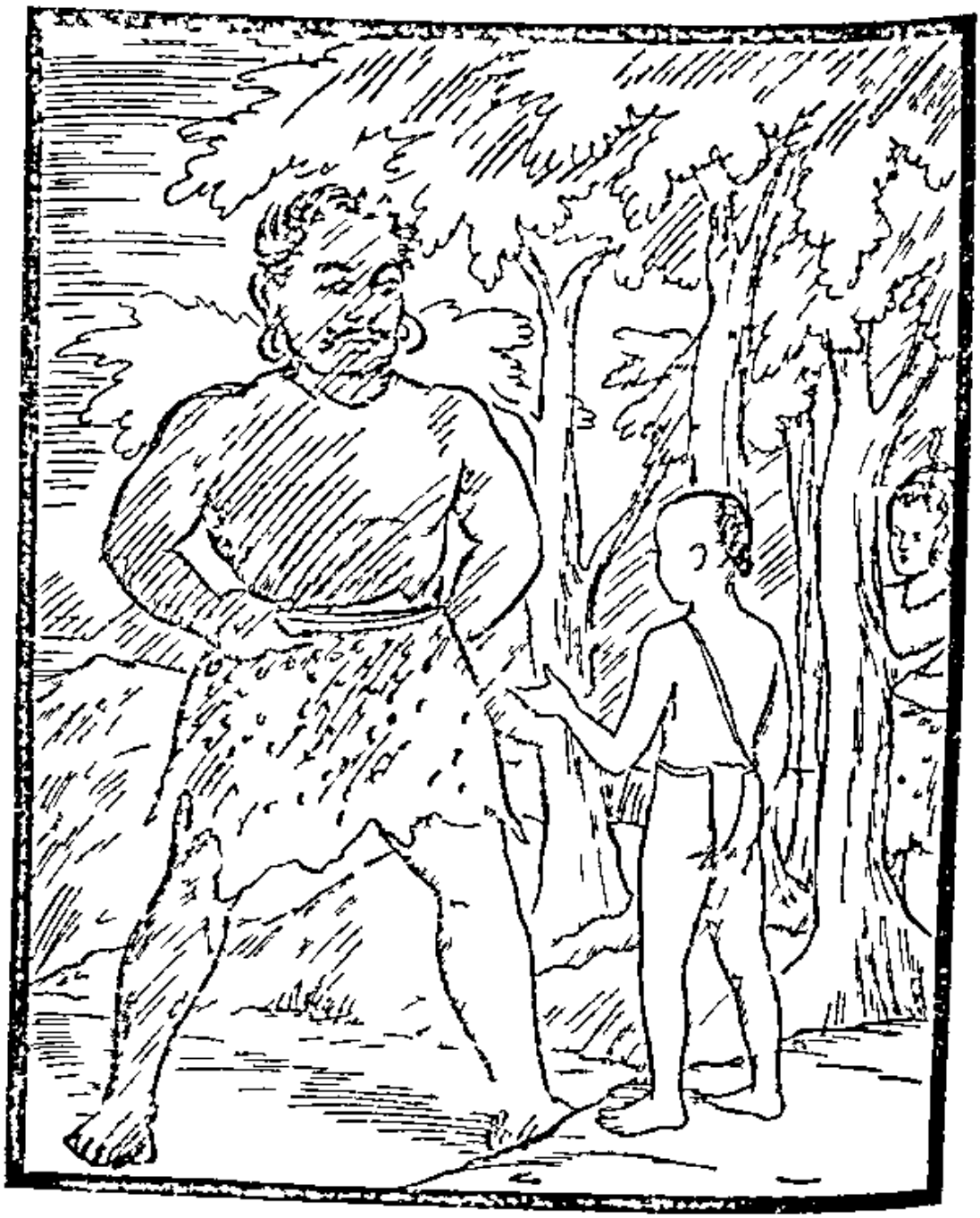

वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, बुद्धिजीवी अपनी बुद्धि के द्वारा
नाना आविष्कार करके श्रमजीवीयों को सुख पहुँचाते हैं। बढ़ई

हल आदि बनाता है, इसके बदले में किसान उसे अन्न देता है। सभी कामों को सब एक साथ नहीं कर सकते संसार का कार्य एक दूसरे की सहायता से, सम्मति से चलता है। यदि आप उचित समझें तो अपनी व्यग्रता क बात मुझे बताने। यदि मेरी बुद्धि में बात बैठ जायगी, तो मैं आपको उचित सम्मति दूँगा। संसार के सभी लोग सहायकों द्वारा अपने स्वार्थ को सिद्ध कर लेते हैं।"

वृकासुर ने देखा, ब्रह्मचारी मेरे प्रति आत्मीयता प्रकट कर रहा है, हार्दिक सहानुभूति दिखा रहा है, तो उसका भी झुकाव भगवान की ओर हुआ। उसने सोचा शिवजी सम्मुख ही खड़े हैं। मैं भागते-भागते थक भी गया हूँ, ब्रह्मचारी बुद्धिमान् प्रतीत होता है। संभव है कोई सरल सुगम युक्ति बता दे। व्यग्रता और विपत्ति में कोई सहानुभूति दिखाता है, तो उसके प्रति आत्मीयता हो जाना स्वभाविक है। अतः वह भगवान के कहने से बैठ गया उसने हाथ पैर धोकर श्रम दूर किया, शिवजी को देखता ही रहा। शिवजी लीलाधारी का लीला देखने के लिये चुपचाप खड़े थे। श्रम मिटाकर वृकासुर बोले—"देखो, ब्रह्मचारी! तुम सहृदय पुरुष जान पड़ते हो इससे मैं अपनी बात तुम्हें बताता हूँ। मैं असुर श्रेष्ठ शकुनि का पुत्र हूँ। सिद्धि के लिये मैं शीघ्र प्रसन्न होने वाले देव की आराधना करने घर से निकला। नारदजी ने मुझे शिव को आशुतोष बताया। मैंने केदारनाथ में शरीर का मांस हवन करके तप किया। मेरे माँगने पर प्रकट होकर शिवजी ने वर दिया, कि तुम जिस जिसके सिर पर हाथ रख दोगे वही मर जायगा। उसी की परीक्षा करने मैं शिवजी के सिर पर हाथ रखना चाहता हूँ कि यदि शिवजी मर गये, तो मैं इनकी स्त्री को ले लूँगा।"

यह सुनकर भगवान् खिलखिला कर हँस पड़े। भगवान् को

इस प्रकार व्यङ्गपूर्वक अट्टहास करते देखकर वृकासुर चकित हो गया, वह शंकित चित्त से वटुवेषधारी श्रीहरि से पूछने लगा—"आप इतने हँस क्यों रहे हैं ?"

भगवान् ने कहा—"तुम्हारी मूर्खता पर।"

वृकासुर ने कहा—"मैंने इसमें कौन-सी मूर्खता की ?"

भगवान ने कहा—"क्या तुम इसे सम्भव समझते हो ? क्या ऐसा हो सकता है ? क्या शम्भु में ऐसा वर देने की शक्ति है ?"

असुर ने कहा—"क्यों नहीं, मुझसे तो नारदजी ने कहा है' शिव में सभी शक्तियाँ हैं।"

भगवान् ने कहा—"नारदजी की तुम कुछ मत कहो, उन्हें तो इधर की उधर भिड़ाने में आनन्द आता है। दूसरों को लड़ा देते हैं, आप खेल देखते हैं। हाँ, पहिले शिव में शक्ति अवश्य थी, किन्तु जब से दक्ष का शाप हुआ है, तब से तो वे पूरे प्रेत पिशाच बन गये हैं, सब भूत प्रेतों के अधिपति हो गये हैं। हमें तो विश्वास होता नहीं कि उनके वर में ऐसी कोई सामर्थ्य है।'

वृकासुर ने कहा—"अजी, नहीं। सब कहते हैं, भगवान् भूतनाथ जगद्गुरु है, वे जो भी कह देते हैं, वही हो जाता है।"

भगवान् बोले—'तो इसमें विवाद की कौन-सी बात है। प्रत्यक्ष के लिये प्रमाण और वाद विवाद की क्या आवश्यकता ? आपके पास क्या सिर नहीं है ? आप अपने सिर पर ही हाथ रखकर परीक्षा क्यों नहीं कर लेते ? यदि शंकर का वचन असत्य निकले, तो फिर इस जगत् के ठगने वाले को यहीं किसी प्रकार मार डालो जिससे ये दूसरों के साथ ऐसा छल कपट न कर सकें। हम तुम्हारे साथ हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिस प्रकार मूर्ख जिस डाल पर बैठा रहता है, उसे ही कुल्हाड़ा से काटने लगता है, उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि डाली के कटते ही मैं भी गिर

जाऊँगा। उसी प्रकार भगवान् की माया से मोहित हुए वृकासुर को भी यह बोध नहीं रहा कि सिर पर हाथ रखने से मैं मर जाऊँगा। उसने भगवान् के कहने से वर की परीक्षार्थ अपने सिर पर ज्यों ही हाथ रखा, त्यों ही वह तत्काल वज्र से कटे पर्वत शिखर के समान गिर गया। उसका सिर फट गया और वह मर गया। भगवान की विचित्र और मधुमय कोमल वाणी से उसकी बुद्धि भ्रम में पड़ गयी थी इसलिये उस कुबुद्धि का अन्त हो गया। उसी समय आकाश से देवताओं ने पुष्पों की वृष्टि की। 'भगवान की जय हो, जय हो' इन नये जयकारों से दशों दिशायें भर गयीं। उस क्रूरमति खल असुर के मारे जाने पर देवता, ऋषि, पितृ और गन्धर्वगण, पुष्पों की वर्षा करने लगे सब परम हर्ष प्रकट करने लगे। इस प्रकार शंकरजी अपने ही दिये हुए वर से उन्मत्त वृकासुर के संकट से मुक्त हुए।

भगवान् ने देखा, प्रसन्नता के कारण शिवजी के नाना नेत्र खिल रहे हैं, तो वे हँसते हुए शिवजी से बोले—'दयालु महाराज कहिये कैसी रही ?"

लज्जित होकर शिवजी बोले—"अच्छा किया भगवन ! जो आपने इस दुष्ट को युक्ति से मार दिया।"

भगवान् ने कहा—"हे ! देवाधिदेव ! हे महादेव ! मैंने इस दुष्ट को क्या मार दिया, यह नीच तो अपने ही पाप से मारा गया। भला, बताइये इससे बड़ा पाप और क्या होगा कि जिस पत्तल में खाय उसी में छेद करे, जिनसे वर प्राप्त किया उन्हीं को भस्म करने का उद्योग। महान पुरुषों का अपराध करने वाला कौन ऐसा पुरुष होगा, जो कुशलता के साथ रह सकता हो। साधुओं के ही अपमान करने वाले की दुर्गति होती है, फिर आप जैसे साधु शिरोमणि जगद्गुरु विश्वेश्वर के अपराध करने वाले के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? वह तो उसी क्षण मर गया,

जिस क्षण उसके मन में ऐसा पाप आया।" यह सुनकर शिवजी भगवान् से प्रेम पूर्वक मिल भेंटकर कैलाश को चले गये। वृकासुर ने भगवान् के समीप उनके देखते देखते शरीर त्यागा। भगवान से बात करते समय भस्म हुआ, इसलिये संसार सागर से मुक्त हो गया। भस्म होने से उसका नाम भस्मासुर भी पड़ गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार हमारे भोले बाबा वर देने में भी अग्रणी हैं और कुपित होने पर उसका अन्त भी करा देते हैं। कम श्रम करके अधिक प्राप्त करने वाले को सुख नहीं, शान्ति नहीं जो पुरुष इस हरिहरात्मक चरित को सुनेगा, सुनायेगा वह भी संसार बन्धन से मुक्त हो जायगा। यह मैंने प्रसंगवश वृकासुर के भस्म होने की कथा कही। अब आगे आप और क्या सुनना चाहते हैं?

शौनकजी ने कहा 'सूतजी! आपने यह हरिहरात्मक चरित सुनाया, यह तो उत्तम ही किया किन्तु इससे यह निर्णय तो न हुआ कि तीनों देवताओं में बड़ा कौन है। आप हमें बतावें ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों में श्रेष्ठ कौन हैं?"

यह सुनकर सूतजी कुछ संकोच में पड़ गये और फिर गम्भीर होकर शनैः शनैः कहने लगे—"अब महाराज! श्रेष्ठ किसे बतावें। श्रेष्ठता और कनिष्ठता तो अपने मन के ऊपर है। एक जिसे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, दूसरे उन्हें ही निकृष्ट मानते हैं। मनुष्य के पेट में जैसा अन्न होता है वैसी ही डकार आती है। मैं तो वैष्णव हूँ और इस समय वैष्णवों की कथा सुना रहा हूँ। इसलिये मैं तो श्रीविष्णु को ही सर्वश्रेष्ठ कहूँगा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप विष्णु भगवान को ही सर्वश्रेष्ठ कैसे बता रहे हैं। यों कह देने से ही सिद्ध थोड़े ही

होगा । तर्कपूर्वक प्रमाण दीजिये, इसे युक्तियो द्वारा सिद्ध कीजिये ।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ, यह विषय तर्क का नहीं । इसे वाद विवाद के रगमच पर ले आओगे, तो राग द्वेष बढेगा । त्रिदेवों का तो कुछ बनेगा बिगडेगा नहीं । आपके कहने से न कोई बडा हो जायगा, न छोटा । वे तो जैसे हैं, वसे ही रहेंगे । किन्तु मनुष्य स्वभावबश राग द्वेष के वशीभूत होकर मार काट करेंगे, लडेंगे, भिडेंगे । इसलिये वैष्णवों के लिये विष्णु श्रेष्ठ हैं शैवों के लिये शिव श्रेष्ठ हैं । यही प्रश्न एक बार ऋषि मडली मे भी उठा । इस विषय में बडा वाद-विवाद हुआ । अन्त मे जो निर्णय हुआ इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को ही मैं आपको सुनाये देता हूँ । इसी से आपके प्रश्न का उत्तर हो जायगा ।

छप्पय

हरि सब समुझि रहस्य रूप वटु धरि मग आये ।
वृकतैं बोले—वीर ! फिरौ क्यों तुम घबराये ॥
कह्यो असुर सब वृत्त बताई अपनी इच्छा ।
बोले हरि निज शीश हाथ धरि करहु परीच्छा ॥
सुनि खल निज सिर कर धर्यो, भयो भस्म शिव बचि गये ।
ऐसो बर फिरि देहिँ नहिं, हरि हर तैं कहि हँसि गये ॥

त्रिदेवों में सर्वश्रेष्ठ कौन ?

[११८९]

सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत ।
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८९ अ० १ श्लोक)

छप्पय

और सुनो इक चरित चली चरचा मुनि माहीं ।
करहिं यज्ञ ऋषि विपद् सरस्वति तट के पाहीं ॥
हरि, हर, अज के बीच कौन सुर श्रेष्ठ कहावें ।
भृगु मुनि करे नियुक्त परीक्षा लेवे जावें ॥
प्रथम गये ते अज निकट, करी न दंड प्रणाम मुनि ।
सुत अविनय लखि अति कुपित, भये न बोले ब्रह्म मुनि ॥

जो दूसरों का सम्मान करता है, वह अपने ही सम्मान को बढ़ाता है। जो अपने को ही श्रेष्ठ समझकर सबसे सम्मान पाने के लिये लालायित रहता है, वह श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। चाहने वाले का अपना दाता श्रेष्ठ है। स्वयं खा लेने वाले का

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सरस्वती नदी के तट पर एक बार ऋषिगण एक यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञ में इसी विषय को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों में सर्वश्रेष्ठ देव कौन से हैं।

अपेक्षा खिलाने वाला श्रेष्ठ है, जो किसी को सम्मान प्रदान करता है, तो उसका मान उससे भी अधिक बढ़ता है। दर्पण में देखकर हम अपने मुख को सजाते हैं। दर्पण जैसा निर्देश देता है वैसा हम करते हैं, इसमें दर्पण का क्या लाभ है। दर्पण को तो तभी तक प्रसन्नता है जब तक पूरा मुख सज नहीं जाता, मुख सजने पर जहाँ दर्पण रख दिया, तहाँ शोभा तो आपकी ही बढ़ी। जहाँ जहाँ भी जाओगे तुम्हारा ही सम्मान होगा। हमारे घर भगवद् भक्त साधु महात्मा आते हैं, हम उनका श्रद्धा सहित यथा शक्ति स्वागत सत्कार करते हैं। महात्माओं को स्वागत सत्कार की अपेक्षा नहीं, किन्तु उनका सम्मान करने से गौरव हमारा बढ़ेगा। सब लोग कहेंगे—अजी, उनके विषय में क्या कहना। उनके यहाँ तो सन्त महात्मा आते ही रहते हैं। सत्कृत सन्त भी प्रसंग आने पर सर्वत्र कहते फिरेंगे—"सत्कार तो हमने उनके यहाँ देखा उनकी साधु सेवा में बड़ी श्रद्धा है।" इसी प्रकार किसी का मन्दिर है, उसमें भगवान् की मूर्ति स्थापित है। मूर्ति को पूजा की अपेक्षा नहीं। चाहे कोई एक फूल चढ़ा दो या षोडशोपचारों से महती पूजा करो। किन्तु हम उनकी जितनी ही वैभवशालिनी पूजा करेंगे, उतना ही पूजा करने वाले का मान बढ़ेगा। ऐसी सरल सीधी बातें हैं, कि सब ही इन्हें समझ सकते हैं, किन्तु लोगों के मन में ऐसा मिथ्याभिमान बढ़ गया है, कि दूसरों का सम्मान करना ही नहीं चाहते हैं। अपने को ही पुजाना चाहते हैं। अपने को ही उच्चासन पर आसीन करके दूसरों को तुच्छ सिद्ध करना चाहते हैं, वास्तव में सम्मानित तो वही है जो सबका सम्मान करे। अपना कोई अपमान भी करे उसे भी सम्मान की दृष्टि से देखे। श्रेष्ठता-की यही सर्वोत्तम पहिचान है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अच्छा तो सुनिये, मैं आपको

और एक कथा सुनाता हूँ। बहुत पहिले की बात है, सरस्वती नदी के तट पर सभी ऋषि महर्षियों ने मिलकर एक बड़ा भारी यज्ञ किया। यज्ञ के अवसान में ऋषि महर्षि बैठकर किसी भी एक विषय को लेकर वाद विवाद किया करते हैं। क्योंकि 'वादे वादे जायते तत्वबोधः।' इस प्रकार प्रेम पूर्वक पूछने से परस्पर में शंका समाधान करने से बहुत-सी बातों का निर्णय हो जाता है। एक दिन मुनिमंडली में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि 'तीनों देवों में श्रेष्ठ देव कौन हैं।'

इस प्रश्न पर बहुत देर तक वाद विवाद होता रहा। कोई ब्रह्माजी को सर्वश्रेष्ठ बताते, कोई शिवजी को और कोई विष्णु भगवान् को। जब बहुत देर तक शास्त्रार्थ होने पर भी कोई निर्णय न हो सका, तब एक मुनि बोले—"इस प्रश्न का निर्णय ऐसे न होगा, इसके लिये किसी को नियुक्त कर दिया जाय। वह तीनों देवों के समीप स्वयं जाकर अपने अनुभव से उनकी गति विधि का अवलोकन करे। देखकर वह अपनी विवरण सहित सम्मति मुनिमंडली में प्रस्तुत करे। उस पर मुनिमंडल विचार करके तब अपना निर्णय दे।"

यह बात सबने एक स्वर से स्वीकार करली। अब यह प्रश्न कि भेजा किस जाय। इस पर एक मुनि बोले—"ये महर्षि भृगु बड़े ही बुद्धिमान् हैं। ब्रह्माजी के पुत्र हैं, पक्षपात रहित हैं, ये बड़े तेजस्वी हैं, इन्होंने सबसे अधिक तेजस्वी अग्नि को भी शाप देकर सर्वभक्षी बना दिया है। हमारी सम्मति में तो ये ही परीक्षक होने के सर्वोत्तम पात्र हैं।" इस प्रस्ताव को भी सबने सर्व सम्मति से स्वीकृत किया। अब महामुनि भृगु को मुनिमण्डली से आदेश मिला—"वे तीनों देवों के समीप जाकर जैसे उचित समझें वैसे परीक्षा करें और अन्त में जिस परिणाम पर पहुँचें उसकी सूचना मुनि मंडल को दें।"

मुनि मण्डली की आज्ञा शिरोधार्य करके भगवान् भृगु वहाँ से चल दिये। सर्वप्रथम वे अपन पिता ब्रह्माजी के यहाँ ब्रह्मलोक मे पहुँचे। उस समय ब्रह्माजी की सभा खचाखच भर रही थी। देवता, ऋषि, पितर, सनकादि, बडे बडे मुनीश्वर, तीर्थ सरितायें, अप्सरायें, यक्ष, किन्नर, राक्षस तथा अन्यान्य समस्त जीवों के प्रतिनिधि सभा मे बैठे हुए लोकपितामह ब्रह्माजी की उपासना कर रहे थे। सभा मे जो भी आता पहिले ब्रह्माजी का साष्टाग प्रणाम करता फिर हाथ जोडकर उनकी स्तुति करता, ब्रह्माजी का संकत पाने पर वह एक नीचे आसन पर बैठ जाता।

उसी समय महर्षि भृगु भी पहुँचे। आज वे ब्रह्मपुत्र के रूप में तो आये नहीं थे। आज तो वे मुनि मडली के प्रतिनिधि थे। वे तो परीक्षक के रूप में आये थे। अतः उन्होंने न ब्रह्माजी को प्रणाम किया, न स्तुति की। यहाँ तक कि हाथ भी नहीं जोडे। चुपचाप जाकर उनके बराबर बैठ गये।

अपने पुत्र भृगु की ऐसी अविनय देखकर ब्रह्माजी मन ही मन अत्यत कुपित हुए। हम एकान्त में घर में बैठे होते, तो कोई बात नहीं थी, प्रणाम करता या नहीं, किन्तु भरी सभा मे अशिष्टता करना यह हमारा घोर अपमान है। दूसरो पर इसका क्या प्रभाव पडेगा। दूसरे यही सोचेंगे—"जब इनके सगे पुत्र ही इनका आदर नहीं करते, तो हम क्यों करें।" यह छोटा बच्चा भी नहीं है, जो सदाचार को जानता न हो। पहिले तो जब भी आता था साष्टाग प्रणाम करता था, स्तुति करता था। आज इसे क्या हो गया है। इस प्रकार के विचार आने पर ब्रह्माजी अपने तेज से प्रज्वलित होते हुए मन ही मन महर्षि भृगु पर अत्यन्त कुपित हुए।

ब्रह्माजी के मन मे आया, इसे डाटें-डपटें। फिर सोचा—"किसी ने देखा होगा, किसी ने न देखा होगा। अब इस बात

को छेड़ देंगे, तो बात बढ़ जायगी, जिसने ध्यान न भी दिया होगा, उसके ध्यान में बात चढ़ जायगी। इस प्रश्न को उठाओ ही मत। दूसरा कोई होता तो उसे डाँटते भी। कैसा भी सही, है तो अपना लड़का ही। लड़के गोदी में मल मूत्र कर देते हैं, उन पर माता-पिता कुपित नहीं होते। यद्यपि यह छोटा नहीं है, फिर भी है तो अपना पुत्र ही।" इस प्रकार अनेक युक्तियों से मन में आये क्रोध को ब्रह्माजी ने उसी प्रकार शान्त कर दिया, जिस प्रकार उफनते हुए दूध को जल के छींटे शान्त कर देते हैं। जल की उत्पत्ति अग्नि से है, इसलिये अग्नि जल पर अपना तेज नहीं दिखाते, जल के सम्मुख शान्त हो जाते है। उसी प्रकार ब्रह्माजी ने मन में उत्पन्न हुए क्रोध को मन में ही शान्त कर लिया, उसे प्रकट न होने दिया। भृगुजी से कुछ भी नहीं बोले। महर्षि अपने पिता के मनोगत भावों को समझ गये, इसलिये वे भी चुपचाप उठकर शिवजी की परीक्षा लेने कैलाश की ओर चले गये।

शिवजी ने दूर से ही देखा महर्षि भृगु आ रहे है। अपने भाई भृगु को देखकर भूतनाथ भवानीशकर को बड़ा हर्ष हुआ। वे आनन्द में विह्वल होकर अपने भाई का आलिङ्गन करने उठकर आगे आये। ज्यों ही दोनों बाहुओं को पसारकर वे भृगुजी का प्रेमालिंगन करने को उद्यत हुए, त्यों ही पीछे हटते हुए भृगुजी बोले—"दूर रहो, दूर रहो! मुझे छूना मत। तुम छूने योग्य नहीं। तुम्हारा आचार विचार बड़ा घृणित है। जिस मृतक पुरुष को छूना पाप माना गया है, भूल से भी हड्डी छू जाय, तो लोग सचेल स्नान करते हैं, उन्हीं मृतकों की हड्डियों के तुम आभूषण धारण करते हो, मुण्डों की माला पहिनते हो, चिता की भस्म को शरीर पर लगाते हो, श्मशान में रहते हो, भूत, प्रेत, पिशाचों के साथ नाचते हो। तुम्हारा कोई आचार नहीं, विचार

नहीं, तुम कुपथगामी हो। इसलिये मैं तुमसे मिलना नहीं चाहता।"

जिन शिवजी के दर्शनों के लिये योगिजन लाखों वर्ष तपस्या करते हैं, उन्हीं शिवजी के स्वयं आलिंगन करने को दौड़ने पर एक मुनि उनसे मिलना न चाहे, उन्हें खरी-खोटी सुनावे, यह शिवजी का घोर अपमान था। इस व्यवहार से क्रोध आना स्वाभाविक ही था। फिर तमोगुण प्रधान रुद्र के विषय में तो कहना ही क्या। शिवजी की आँखें क्रोध के कारण लाल-लाल हो गयीं। वे तीक्ष्ण दृष्टि से भृगुजी की ओर देखकर अपना त्रिशूल उठाकर उन्हें मारने के लिये दौड़े।

समीप में बैठी हुई भगवती भवानी यह सब देख रही थीं। उन्होंने देखा—बात बहुत बढ़ गयी है। अब तो मार-काट की नौबत आ गयी। शिवजी को त्रिशूल लेकर आगे बढ़ते देखकर पार्वतीजी ने दौड़कर शिवजी के पैर पकड़ लिये। वे चरणों में लिपटकर करुण स्वर में बोलीं—"प्रभो ! आप यह क्या कर रहे हैं। भृगु आपके छोटे भाई हैं। इन्होंने कुछ अनुचित भी कह दिया हो, तो उसे आप क्षमा करें। छोटे तो छोटे हैं ही। बड़ों को उनके अपराधों को क्षमा कर देना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! शिवा के समझाने पर सदाशिव शान्त हुए। उन्होंने भृगुजी के मारने के विचार को छोड़ दिया। भृगुजी को तो इतना ही देखना था, अतः अब वे तुरन्त वैकुण्ठ लोक की ओर चल दिये। अब जिस प्रकार वे विष्णु भगवान् की परीक्षा करेंगे उस प्रसंग का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

भृगु शिव सन पुनि गये शम्भु दौरे मिलिवे हित।
कह्यो—अघोरी आपु न भेंटूँ है यह अनुचित॥
मारन दौरे रुद्र सती पग परि लौटाये।
क्रोधी शिवकूँ समुझि फेरि मुनि हरिपुर आये॥
सिर धरि लक्ष्मा अङ्क महँ, सोवत हरि मुनि जाय कें।
उर मह मारी लात कसि, उठे विष्णु घबराय कें॥

सत्त्वमय श्रीविष्णु ही सर्वश्रेष्ठ हैं

[११९०]

त्रिविधाकृतयस्तस्य रक्षसा असुराः सुराः ।
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८९ अ० १९ श्लोक)

छप्पय

लात लगत ही उठे चरन मुनि के सुहलावें ।
पुनि पुनि करें प्रनाम दीन ह्वै वचन सुनावें ॥
द्विजवर ! मोतें भूल भई स्वागत नहिं कीन्हो ।
सेवा कछु नहिं बनी कष्ट ऊपर तें दीन्हो ॥
तव पद हैं अतिशय मृदुल, हिय कठोर मम बज्र सम ।
पहुँची पग पीडा प्रभो, भये दूरि मम दुरित भ्रम ॥

महत् पुरुष अपमान को भी स्वीकार कर लेते हैं, तो वह मान हो जाता है । दूषण को भी स्वीकार कर लेते हैं, तो वह भूषण हो जाता है । महादेवजी ने हलाहल विष को स्वीकार कर लिया उसे कंठ मे धारण कर लिया । विष ने तो वहाँ भी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान की तीन मूर्तियाँ हैं राक्षस, असुर, और देवगण । ये तीनो ही उन्ही की त्रिगुणमयी माया से रचित हैं । इन तीनो मे सत्त्वमयी देवमूर्ति ही परम पुरुषार्थ रूप उनकी प्राप्ति का साधन है ।"

अपना प्रभाव दिखाया। कर्पूर के समान गौर वर्ण के शिवजी का कंठ नील वर्ण का हो गया। इससे उनकी शोभा घटने की अपेक्षा बढ़ी हो। वे संसार में नीलकण्ठ के नाम से प्रसिद्ध हुए। दक्ष ने नारदजी को एक स्थान में न रहने का शाप दिया, उस शाप को उन्होंने सर्प स्वीकार कर लिया, वह शाप ही वरदान हो गया। अब नारदजी निरन्तर घूम-घूमकर जीवों का कल्याण करते रहते हैं, उन्हें भगवान के सम्मुख करते रहते हैं। वस्तुओं में गुण दोष नहीं, वे पात्र को पाकर अच्छी-बुरी बन जाती हैं। मुख्य तो पात्रता है। सर्वश्रेष्ठ पात्र श्रीहरि ही हैं। हरि को पाकर सभी वस्तुएँ शुभ हो जाती हैं, सुन्दर बन जाती हैं। हर के सिर पर शोभित होने से टेढ़ा चन्द्रमा भी वन्दनीय बन गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मुनिमंडली द्वारा परीक्षा के लिये नियुक्त महर्षि भृगुजी, ब्रह्माजी तथा शंकरजी की परीक्षा लेकर उस वैकुण्ठ धाम को गये जहाँ अपनी प्रिया के साथ भगवान् विष्णु निवास करते हैं।"

भगवान् उस समय विश्राम कर रहे थे। अपनी प्राण-प्रिया कमला के कोमल अंक में अपना सिर रखकर सो रहे थे। सो क्या रहे थे, नेत्र बन्द करके प्रेम का अनुभव कर रहे थे। भगवती कमला अपलक भाव से उनके विकसित मुखारविन्द के मकरन्द का पान कर रही थी। भगवान् के सौंदर्य-माधुर्य सागर में वे ऐसी मग्न हो रही थीं कि उन्हें संसार की तनिक भी सुधि-बुधि नहीं थी। भृगुजी चुपके-चुपके चले गये। द्वारपालों ने रोका भी नहीं जय-विजय से पतन के द्वारपाल सजग हो गये थे, इन ब्राह्मणों से वे बहुत डरते थे। भृगुजी ने पूछा भी नहीं, भगवान् से भेंट होगी या नहीं। वे अड़ाये हुए भीतर चले गये। लक्ष्मी और नारायण दोनों प्रेम की समाधि में निमग्न थे। ब्राह्मण ने न आगा सोचा न पीछा। कसकर एक लात भगवान् के वक्षःस्थल में जमा दी।

लात लगते ही लक्ष्मीजी चौंक पड़ी। तुरन्त भगवान् भी उठकर बैठ गये। सम्मुख जटा बखेरे मृगचर्म को हिलाते उन्होंने महर्षि

भृगु को देखा। भृगु मुनि लात मारकर पर को पृथ्वी भर भी न रख सके थे, तभी तक भगवान् ने उनके बिवाई फटे, खुरदरे, सूखे

धूलि से सने पैर को अपने दोनों कर कमलों की अञ्जलि में दबा लिया। लक्ष्मीजी हड़बड़ाकर उठकर खड़ी हो गयीं। भगवान् भी हाथों से पैर को पकड़े झुककर खड़े हो गये। मुनि को अपनी मुलायम शैया पर बिठाकर अपने नीचे से उनके दोनों चरणों में अपने मस्तक को रख दिया। फिर बड़ी ही मधुर वाणी में सज्जनों के एकमात्र गति श्रीहरि मुनि से कहने लगे—"मुनिवर! आपका स्वागत है। आपने बड़ी कृपा की, जो हमें दर्शन दिया। विराजिये विराजिये। मेरी शैया को कृतार्थ कीजिये। मैं आप से क्षमा याचना करता हूँ, मुझे आपके पधारने की बात पहिले से मालूम नहीं थी। इसीलिये मुझसे ऐसी अविनय हो गयी। मैं धृष्टता वश शैया पर लेटा ही रहा। न जाने कब से आप खड़े होंगे। फिर मेरे कारण आपको कष्ट उठाना पड़ा। आपके चरण में चोट लग गयी होगी, क्योंकि मैं तो वज्र हृदय हूँ। मेरा हृदय बड़ा ही कठोर है, आपके चरण कमल से भी अधिक कोमल हैं, हाय! उनमें पीड़ा हो गयी होगी।" ऐसा कहकर भगवान् बार-बार अपने करकमलों से भृगुजी के चरण को सुहलाने लगे।

भृगुजी चुपचाप बैठे थे, भगवान् पैरों को दबाते हुए विनीत भाव कहने लगे "ब्रह्मन्! जितने तीर्थ हैं, वे पापियों के संसर्ग से पापमय हो जाते हैं, वे पापमय तीर्थ आपके चरण पड़ने से पुनः पावन बन जाते हैं। तीर्थों के तीर्थत्व को स्थायित्व प्रदान करने वाला आपका पादोदक है। आपके चरण इस वैकुण्ठ धाम में पड़े, इस लोक का सौभाग्य है, मुझे अपने चरणों को धोने की अनुमति प्रदान करें, जिस चरणामृत से मैं स्वयं और मुझमें स्थित समस्त लोकपाल पावन बन सकें और मेरा यह पावनलोक परमपावन हो सके। अहा! भगवन्! आपने तो मुझ पर अहैतुकी कृपा की, मेरी प्रार्थना के बिना ही आपने अपने

चरण के स्पर्श से मुझे कृतार्थ कर दिया। आपके पादपद्मों की पुनीत पराग के पड़ने से मेरे पुराने पाप सभी कट गये। ये लक्ष्मीजी बड़ी चंचला हैं, यद्यपि ये मेरी निरन्तर सेवा करती रहती हैं, फिर भी मुझे सदा सन्देह बना ही रहता था कि ऐसा न हो ये कहीं चली जायँ, अब मैं निश्चित हो गया। अब ये मेरे हृदय को छोड़कर जा ही कहाँ सकती हैं, आपके चरण का चिन्ह तो मेरे वक्षःस्थल पर सदा के लिये अंकित हो गया। इस कारण अब तो मैं इनका एक मात्र आश्रय स्थान हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सर्वान्तर्यामी जगदाधार जगत् पूज्य भगवान् जगन्नाथ के मुख से ऐसे विनीत वचन सुनकर मुनिवर भृगुजी अत्यन्त आनन्दित हुए, उनके रोम-रोम खिल गये। आत्मतृप्त और परम सन्तुष्ट हुए। कण्ठ के अवरुद्ध होने से वे एक शब्द भी न बोल सके। मौन धारण करके निरन्तर प्रेमाश्रु बहाकर प्रभु के पादपद्मों को पखारते रहे। भक्ति के उद्रेक से उनके अंग अंग में सभी सात्त्विक भाव स्पष्ट प्रतीत होने लगे। उन्होंने भगवान् के वचनों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप भगवान को प्रणाम करके सरस्वती तट की ओर चल दिये।

लक्ष्मीजी तो ब्राह्मणों से पहिले से ही खीजी हुई थी। उनकी बहिन दरिद्रा का विवाह ब्राह्मण से हुआ था। उसने उसे छोड़ दिया। एक दूसरा ब्राह्मण आया, उसने अंक में स्थित मेरे स्वामी के लात मारी और मारी उसी स्थान पर जिस पर निरन्तर मेरा निवास है। उस चरण का चिन्ह ऐसा वज्र बन गया कि औषधि उपचार करने पर भी वह मिटता नहीं। लक्ष्मीजी जब उसे देखती हैं, तभी कुढ़ जाती हैं, इसीलिये ब्राह्मण धनिक नहीं होते। कोई धनिक होगा भी तो वैश्य वृत्ति से धनिक होगा। जन्मना ब्राह्मण होने पर भी वह कर्मणा वैश्य ही माना जायगा।

इधर तीनों देवों की परीक्षा लेकर महर्षि भृगु पुनः सरस्वती के तट पर यज्ञ भूमि में पहुँचे। दूर से ही महर्षि भृगु को आते देखकर सबके सब ऋषि मुनि खड़े हो गये अत्यन्त उत्सुकता के साथ उनका स्वागत करते हुए कहने लगे—"मुनिवर! आपका स्वागत है, आइये, पधारिये, हमारी पूजा ग्रहण कीजिये और त्रिदेवों की आपने क्या परीक्षा की और अन्त में किस परिणाम पर पहुँचे। कृपा करके सब वृत्तान्त को विस्तार पूर्वक सुनावें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनिवर! सब महर्षियों के पूछने पर भृगुजी ने आदि से लेकर अन्त तक जैसे जैसे देवों के पास गये, वहाँ जाकर जो जो हुआ वह सब अक्षर अक्षर विस्तार के साथ सुनाया। सब समाचार सुनकर समस्त मुनियों को भगवान् के ऐसे नम्र व्यवहार से अत्यन्त विस्मय हुआ। उनका सब सन्देह दूर हो गया। सबने एक स्वर से निर्णय दे दिया कि भगवान् विष्णु ही त्रिदेवों में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी उपासना करके चाहे धर्म लाभ करो अथवा आत्मज्ञान प्राप्त करो। वे सभी कुछ देने में समर्थ हैं। ज्ञान वैराग्य, अष्टा सिद्धियाँ नवों निधियाँ तथा चित्त की मलिनता को दूर करने वाला सुयश भी प्राप्त होता है।

भगवान् ब्रह्मण्य देव हैं, भक्तवत्सल हैं, शान्त, दान्त, समचित्त अकिंचन, सर्वभूतों के हित में रत रहने वाले तथा सबको अभय प्रदान करने वाले साधुजन इन्हीं विष्णु भगवान् का निरन्तर ध्यान करते रहते हैं। ये ही उनकी एकमात्र परम गति हैं भगवान् सत्त्व मूर्ति हैं। उनके इष्टदेव विप्रगण ही हैं। निपुण, बुद्धि, शान्त समुचित्त तथा निष्काम मुनिगण ही निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं, उन भगवान् विष्णु की ही वैष्णवों को आराधना करनी चाहिये।"

तीनों देव त्रिगुणों के प्रतीक हैं। तीनों देवों की तीन त्रिगुणमयी मूर्तियाँ हैं। तमोगुण की मूर्ति राक्षस हैं, रजोगुण की मूर्ति असुर

गए हैं और देवता उनकी सत्त्वमयी मूर्ति हैं। इसीलिये विष्णु भगवान् सुर श्रेष्ठ कहलाते हैं। सात्त्विक लोगों को सत्त्वमयी भगवान विष्णु की ही विशेषरूप से पूजा करनी चाहिये। क्योंकि भगवान् का सत्त्वमयी दिव्यमूर्ति ही परम पुरुषार्थ रूप प्रभु की प्राप्ति का प्रधान साधन है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सरस्वती तट के सर्वज्ञ ज्ञानी मुनियों को तो सन्देह होना ही क्या था, उन्होंने तो संसारी पुरुषों के संशय को दूर करने के निमित्त ऐसा विवाद किया और ऐसा निर्णय दिया। वे सबके सब विष्णु की उपासना द्वारा परमपद को प्राप्त हुए। महर्षियो! मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित के सम्मुख यह विष्णु भक्ति वर्धक कथा कही थी। जो इस प्रकार की विष्णु महिमा सूचक कथामृत को अपने श्रवण पुटों से निरंतर पान करते रहेंगे, वे संसार के आवागमन से छूट जायँगे। तत्त्व एक ही है। नाम रूप गुणों के कारण भेद सा प्रतीत होता है। गुणातीत उन हरि को महाविष्णु कहो, परमशिव कहो, महाशक्ति कहो, सब एक ही बात है। मुनियो! इस प्रकार इस विष्णु भक्ति वर्धक चरित्र को कहकर अब मैं भगवान् के कभी न समाप्त होने वाले अनन्त चरित्र की समाप्ति करता हूँ।"

'समाप्त' का नाम सुनते ही समस्त मुनिगण हड़बड़ा उठे और बोले—"अजी, सूतजी! यह क्या कह रहे हो? अभी से भगवान के चरित्र को समाप्त करते हो। हमारी तो तृप्ति हुई नहीं। हम तो समझ रहे थे, अभी आपने कथा आरम्भ ही की है और अब आप समाप्ति पर ही आ गये।

सूतजी बोले— "क्या करूँ महाराज! दो सहस्र जिह्वा वाले शेषजी जब सम्पूर्ण भगवत् चरित को नहीं कह सकते, तो मेरी तो शक्ति ही क्या है। अब तो मुझे भगवान् के लीला चरित की

समाप्ति करनी ही है सरस लीला चरित तो समाप्त प्रायः है। महाराज परीक्षित को भी छः दिन हो गये।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! सातवें दिन भी तो कुछ प्रश्न किया होगा, उसका भी भगवान ने कुछ उत्तर दिया होगा। उसे ही हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! सातवें दिन तो ज्ञान सम्बन्धी प्रश्न थे। भक्ति, ज्ञान वैराग्य तीनों का समन्वय है। बुद्धि का व्यायाम है।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! उसे भी हमें सुनायें। बिना ज्ञान वैराग्य के भक्ति स्थाई होती ही नहीं। ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के पुत्र हैं। पुत्र को प्यार करने वाले से माता जितनी प्रसन्न होती है उतनी अपने से प्यार करने वाले से प्रसन्न नहीं होती। ज्ञान वैराग्य की चर्चा हम बड़े प्रेम से सुनेंगे।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! पहिले मैं भगवान् के सरस लीला चरित का उपसंहार कर लूँ। उनके निज लोक पधारने के संकेत को दे दूँ, तब ज्ञान वैराग्य सम्बन्धी कथायें सुनाऊँगा। धर्मराज युधिष्ठिर को राजा बनाकर तीन अश्वमेध यज्ञ कराकर भगवान् द्वारकापुरी को चले गये। बहुत दिनों तक धर्मराज राज्य करते रहे, किन्तु भगवान् के बिना उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। जब बहुत दिनों तक भगवान् का कोई समाचार न मिला, तो धर्मराज ने अर्जुन को द्वारिका भेजा। अर्जुन भी भगवान् के दर्शन को अत्यन्त लालायित थे, वे तुरन्त कुछ सैनिक सेवकों के साथ द्वारका पहुँच गये और भगवान् के दर्शन करके परम प्रमुदित हुए। भगवान् की प्रेम डोरी से बँधकर कुछ काल द्वारकापुरी में रह गये। उसी बीच में एक ऐसी घटना घटित हो गयी, जिससे अर्जुन को तथा उद्धवादि भगवान् के अंतरङ्ग भक्तों

को यह विश्वास हो गया कि भगवान् शीघ्र ही लीला संवरण करना चाहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह कौन-सी घटना घटित हुयी, कृपा करके उसे हमे सुनावें।

सूतजी बोले —"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं उसी घटना को सुनाता हूँ, आप हृदय थामकर इस कथा को सुने।

छप्पय

हरिकी सुनिकें विनय भये भृगु अतिशय लज्जित।
प्रेम न हिये समात कण्ठ गद्गद अति विस्मित॥
आइ सत्र महँ सकल वृत्त विप्रनि सन भाख्यो।
बिष्णु सबनि तें बड़े सबनि यह निश्चय राख्यो।
हरि लीला संवरण को, भास होहि जामें यथा।
कहूँ विप्र अस पार्थ की, अति अद्भुत अब सो कथा॥

—:—

भगवान् की लीला संवरण की सूचना

[११९१]

एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।
जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥*

(श्री भा० १० क० ८९ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

रहैं द्वारका पार्थ कृष्ण इक चरित दिखायो ।
मृतक पुत्र लै विप्र द्वार राजा के आयो ॥
शपै यादवनि कहै मरैं क्यों मेरे बालक ।
हैं सब यादव पतित अधरमी कुलके घालक ॥
एक एक करि नौ मरे, पुनि पुनि रोवत आईकें ।
अन्तिम द्विज सुत मृतक लखि, अरजुन कहैं रिस्याइकें ॥

ससार में न कोई बली है न निर्बल । ये कालरूप कृष्ण जिसे बला बना देते हैं, वह बली बन जाता है । मैंने ऐसा किया था, अब भी मैं ऐसा कर सकता हूँ, यह मिथ्याभिमान है ।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं— राजन ! सुनते हैं एक बार द्वारकापुरी में किसी ब्राह्मण की पत्नी का पुत्र पैदा होते ही पृथ्वी का स्पर्श करके तुरन्त ही मर गया ?

इसी मिथ्याभिमान के वशीभूत होकर मनुष्यों को अपमान सहना पड़ता है तब उसे भगवान् का स्मरण होता है। तब वह समझता है, मैं कुछ नहीं, कर्ता धर्ता कोई और ही हैं। जहाँ ऐसा ज्ञान हुआ, जहाँ सर्वात्म भाव से उस सर्व शक्तिमान की शरण में गया, तहाँ बेड़ा पार हो गया फिर कुछ करने को अवशेष नहीं रहता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् जब महाभारत युद्ध करा चुके, धर्मराज युधिष्ठिर को सम्राट् बना चुके, भूमि का भार उतार चुके और दुष्टों का संहार करा चुके तब उन्होंने स्वलोक में पधारने का विचार किया। धर्मराज हस्तिनापुर में राज्य कर रहे थे, भगवान् द्वारावती में निवास कर रहे थे, उसी समय एक विचित्र घटना घटी। किसी ब्राह्मण की पत्नी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र का ज्यों ही पृथ्वी से स्पर्श हुआ कि वह प्राणहीन होकर परलोक सिधार गया। ब्राह्मण ने सोचा—"मैं किसी का परिग्रह नहीं लेता, असत्य भाषण नहीं करता, ब्रह्मचर्य से रहता हूँ, फिर मुझे पुत्र शोक क्यों हुआ शोक होना तो पाप का परिणाम है, मैं विशुद्ध हूँ, फिर मेरे अल्पायु सन्तति कैसे हुई।" इस प्रकार सोचते-सोचते उसकी बुद्धि में यह बात आयी, अवश्य ही यह राजा के पाप का फल है। जिस राष्ट्र में जैसे शासक होंगे वैसे ही उसके कर्मचारी हो जायेंगे। राजा के पाप का फल प्रजा को भोगना पड़ता है। इसी प्रकार प्रजा का पाप पुण्य भी राजा को मिलता है। मेरा पुत्र अवश्य ही राजा के पाप से मरा है।" ऐसा निश्चय करके वह मृतक पुत्र के शव को लेकर महाराज उग्रसेन के द्वार पर रखकर वह चिल्ला चिल्लाकर कहने लगा—"ये जितने यादव हैं, सब नीच हो गये हैं, इनकी वृत्ति हिंसा करने में लग गयी है। ये सबके सब अपेय वस्तु का पान करते हैं अजितेन्द्रिय हैं। ऐसा ही इनका राजा उग्रसेन हो गया है। यह

दुष्ट बुद्धि है, ब्राह्मणों का द्रोही है, कृपण है विषय लोलुप है। यह क्षत्रियों में अधम है, निन्दित है इसी दुर्बुद्धि के कर्म दोष से मेरा सद्यःजात बालक मर गया है। जिस प्रजा को ऐसा अजितेन्द्रिय नीच राजा मिलता है, उसे दुःख दारिद्र और नाना प्रकार के क्लेश उठाने ही पड़ते हैं।"

ब्राह्मण की ऐसी बातें सुनकर वहाँ बहुत से लोग जुट आये। प्रद्युम्न, साम्ब, अनिरुद्ध तथा अन्यान्य यादव वीरों को ये बातें बहुत बुरी लगीं। वे ब्राह्मण को डाँटना फटकारना चाहते थे, किन्तु भगवान् ने सबको रोककर कहा— "ब्राह्मण निस्पृह होते हैं, वे जन्म से सभी वर्णों के गुरु होते हैं। वे जो भी कहेंगे सबके कल्याण के लिये कहेंगे। ब्राह्मण अदण्डय है, यदि वह क्रुद्ध भी हो, गाली भी देता हो, तो भी उसका कभी अपमान नहीं करना चाहिये।" भगवान् के ऐसे वचन सुनकर सबके सब चुप हो गये ब्राह्मण उस मृतक बालक को राजद्वार पर डालकर चला गया। भगवान् की आज्ञा से उस मृतक द्विजकुमार का संस्कार करा दिया गया।

एक वर्ष पश्चात् फिर उसके पुत्र हुआ। फिर वह उस मृतक को राजा के द्वार पर डालकर ऐसी ही खरी खोटी बातें सुनाने लगा। अबके उससे किसी ने कुछ नहीं कहा। इस प्रकार उसके आठ बच्चे हुए, आठों जन्मते ही मर गये वह आठों को ही राजद्वार पर डालकर उन्हीं बातों को दुहराता गया। अब तो सबको सुनने का अभ्यास हो गया था, इसलिये अब कोई उसकी बात की ओर ध्यान ही नहीं देता था।

संयोग की बात कि जिस दिन उसका नववाँ पुत्र हुआ और मर गया, नियमानुसार वह मृतक पुत्र को राजद्वार पर रखकर सबको गालियाँ देने लगा तब सभा में भगवान् के साथ अर्जुन भी बैठे थे। वे कल ही हस्तिनापुर से आये थे। उन्होंने जब ब्राह्मण

को इतनी कड़ी कड़ी बातें सुनी तो उनका रक्त खौलने लगा। वे भगवान् से बोले—"यदुनन्दन! यह कौन है? यादवों को और महाराज उग्रसेन को यह इतनी खरी खोटी बातें क्यों सुना रहा है, इसकी वाणी में अत्यन्त आतुरता है, यह दीन हृदय से विलाप करता हुआ राजा को कोस रहा है। इसका क्या कारण है?"

भगवान् ने कहा—"कोई दुखी ब्राह्मण है, इसका बच्चा मर गया है। दुःख में आदमी का विवेक रहता नहीं इसीलिये यह सबको खरी खोटी सुना रहा है।"

अर्जुन ने गर्व के साथ कहा—"मेरे गाण्डीवधनुष के रहते कोई इस प्रकार दुखी कैसे रह सकता है। दुखियों के दुःख को दूर करने का ही तो मेरा प्रण है। मेरे रहते हुए कोई इस प्रकार कातर वाणी में विलाप करे, तो मेरे क्षत्रियपने को धिक्कार है।" यह कहते कहते आवेश में भरे अर्जुन बाहर चले गये और उस ब्राह्मण के समीप आये। ब्राह्मण उग्रसेन को तथा मुख्य मुख्य यादवों को गिन गिनकर गालियाँ दे रहा था, उसी समय अर्जुन ने आकर कहा—"विप्रवर! क्या बात है? आप क्या राजा को गालियाँ दे रहे हैं।"

ब्राह्मण ने रोष के स्वर में कहा—"गाली न दूँ, तो फिर क्या करूँ, मेरे नौ नौ बालक जन्म लेते ही मर गये, मैं आकर चिल्लाता हूँ, कोई मेरी पुकार सुनता नहीं। मैंने कोई पाप नहीं किया, यह सब राजा के पाप का ही फल है।"

रोष में भरकर अर्जुन ने कहा—"विप्रवर! प्रतीत होता है इस द्वारकापुरी में कोई धनुर्धर वीर क्षत्रिय नहीं है। अरे, आपके नौ बालक मर गये और कोई उनकी रक्षा न कर सका। ऐसा अहिंसा का व्यवहार तो यज्ञ में दीक्षित विप्रगण करते ही हैं। क्या

यहाँ सबके सब यज्ञ करने वाले विप्र ही बसते हैं, कोई प्रजा के दुःख को दूर करने वाला क्षत्रिय यहाँ नहीं है ?"

ब्राह्मण ने कहा—"ये बातें तुम मुझसे क्यों पूछते हो, यादवों से पूछो, उग्रसेन से पूछो।"

रोष में भरकर अर्जुन ने कहा—"क्या पूछें महाराज! सब बहरे हों तो पूछें। आप तो चौराहे पर खड़े डंके की कह रहे हैं। सब के सब कानों में तेल डाले उनमें रुई का फोहा ठूँसे चुपचाप बैठे सुन रहे हैं, मानों आप अरण्य में प्रलाप कर रहे हों। उन क्षत्रियों को राज्य करने का कोई अधिकार नहीं जो ब्राह्मणों की, प्रजा की रक्षा न कर सकें उन्हें दुःख से न बचा सकें। जिनके राज्य में ब्राह्मण धन के बिना दुखी हों, जिनकी स्त्रियों की, बच्चों की रक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो, वह राजा राजा कहलाने योग्य नहीं है। वह क्षत्रिय न होकर क्षत्रिय वेष-धारी नट है। जो केवल नाटक करने को क्षत्रिय बन जाता है, आजीविका के लिये वेष बना लेता है। भगवन! आप चिन्ता न करें। अब तक जो हो गयी सो हो गयी, पिछली बातों को आप भूल जायँ। मैं आपके पुत्रों की रक्षा करूँगा, मैं आप दोनों पति-पत्नी के दुःख को हरूँगा। काल से लड़ूँगा।"

ब्राह्मण ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"अजी, राजन्! मेरे नौ-नौ पुत्र तो मर चुके आज तक तो किसी ने रक्षा की नहीं। आप क्या करेंगे ?"

अर्जुन ने रोष में भरकर कहा—"विप्रवर, मैं आपसे निवेदन तो कर रहा हूँ पिछली बातों को आप भूल जायँ। मैं आप से कहता हूँ, अब आपके यहाँ ऐसी दुर्घटना घटित न होगी, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ आपके पुत्रों की अब मैं रक्षा कर सकूँगा। यदि मैं प्रतिज्ञा पूरी न कर सका, तो जीवित ही जल जाऊँगा दहकती हुई चिता में भस्म होकर पाप रहित हो जाऊँगा।"

ब्राह्मण ने अवहेलना के स्वर में कहा—'ऐसे शूरवीर मैंने बहुत देखे हैं। बलरामजी सबसे श्रेष्ठ बली कहाते हैं, वे भी मेरे पुत्रों की रक्षा न कर सके। जिन्हें ईश्वर का अवतार कहते हैं, वे भी कानों में उँगली डाले चुप चाप बैठे रहे। उनके सम्मुख मैं अपने नौ पुत्रों के शवों को पटककर चला गया। प्रद्युम्न जो कामदेव के अवतार हैं, जो चतुर्व्यूह में से एक हैं, वे भी मेरी प्रार्थना न सुन सके। ये अनिरुद्धजी जो अद्वितीय महारथी माने जाते हैं, वे भी जब मेरे बच्चों को न बचा सके, तो तुम क्या बचाओगे? राजन चाहे बुरा माने या भला मुझे तो आपके वचनों पर विश्वास होता नहीं। मुझे तो आपकी प्रतिज्ञा थोथी निस्सार प्रतीत होती है।

ब्राह्मण के इन वचनों से अर्जुन का क्षात्र तेज जाग उठा वे रोष में भर कर अत्यन्त ही अभिमान के साथ बोले—"विप्रवर! मैं बलराम नहीं हूँ कृष्ण अथवा प्रद्युम्न के सदृश भी मुझे न समझें। मेरा नाम अर्जुन है अर्जुन! कथा प्रसङ्ग में आपने मेरी वीरता की बातें सुनी ही होंगी। महाभारत के विजेता अर्जुन का नाम आज संसार में कौन नहीं जानता। मेरे धनुष का नाम गाण्डीव है, जो तीनों लोकों में विख्यात है जो अग्निप्रदत्त है और जिस पर चढ़ाये बाण व्यर्थ नहीं जाते। मैंने अपने पराक्रम से पशुपतिनाथ पार्वतीपति को भी प्रसन्न किया है, कोई दूसरा ऐसी कठिन बात कहता तो मैं अभी उसका सिर धड़ से पृथक् कर देता। आप ब्राह्मण हैं पूज्य हैं अतः मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप मेरे पराक्रम का तिरस्कार न करें। मैं अधिक आपसे कुछ कहना नहीं चाहता। आप इतना ही समझ लें कि साक्षात् मृत्यु भी अब आपके पुत्र को लेने आवेंगे, तो उनसे भी युद्ध करके मैं आपके पुत्र की रक्षा करूँगा। आप निश्चिन्त हो जायँ।"

ब्राह्मण ने कहा—"राजन्! आप चिरंजीवी हों। भगवान् आपका भला करें। आपके बल पराक्रम की प्रशंसा मैं चिरकाल से सुन रहा हूँ। आप मेरी भावी सन्तान को मृत्यु से बचा लेंगे, तो मैं जीवन पर्यन्त आपके गुण गाता रहूँगा।" ऐसा कहकर ब्राह्मण अति प्रसन्न हुआ। अर्जुन की बात का विश्वास करके वह उनके गुणों का बखान करता हुआ, सहर्ष अपने घर चला गया। घर जाकर उसने अपनी पत्नी को भी यह सब समाचार सुनाया। पत्नी भी सुनकर प्रमुदित हुई। कुछ काल में ब्राह्मणी पुनः गर्भवती हुई।

जब ब्राह्मणी का प्रसवकाल प्रस्तुत हुआ, तब ब्राह्मण ने अत्यंत ही दीन वाणी से आकर अर्जुन से कहा—"हे गांडीव-धारी! हे वीरवर! अब अवसर उपस्थित हुआ है, मेरी संतान की अब तुम रक्षा करो।"

अर्जुन ने कहा—"विप्रवर, धैर्य धारण करें। मैं दिव्य अस्त्र शस्त्रों का ज्ञाता हूँ, तुम्हारे बच्चों को मरने नहीं दूँगा। चलो, तुम मुझे प्रसवगृह में ले चलो।" यह कहकर अर्जुन ब्राह्मण के साथ चल दिया।

ब्राह्मण के घर जाकर अर्जुन ने हाथ पैर धोये विशुद्ध जल से तीन बार आचमन किया। फिर अपने वरदाता भगवान् सदाशिव महादेवजी को प्रणाम किया, तदन्तर अपने दिव्यास्त्रों का स्मरण किया। अर्जुन के स्मरण करते ही उनके जितने दिव्य अमोघ अस्त्र थे वे सब के सब आकर उपस्थित हुए। हाथ में गांडीव धनुष लेकर पांडुनंन्दन सव्यसाची वहाँ खड़े हो गये। उन्होंने नाना प्रकार के दिव्य अस्त्र मंत्रों से युक्त बाणों द्वारा चारों ओर से सूतिका गृह को घेर लिया। उसे इस प्रकार ढक लिया कि अर्जुन की आज्ञा और अनुमति के बिना वायु भी

प्रवेश नहीं कर सकते थे। इधर-उधर, ऊपर नीचे आड़े तिरछे बाणों को बिछाकर सूतिका गृह को पिंजड़े के सदृश बना दिया

था। इसी बीच ब्राह्मणी के बच्चा हुआ, सबने उसका स्पष्ट रुदन सुना, किन्तु अबके एक महान् आश्चर्य की बात हुई, और बार

ता बच्चा उत्पन्न होता था, कुछ देर जीवित रहता था, फिर मर जाता था, उसका मृतक शरीर पड़ा रह जाता था ब्राह्मण उसे राजा के द्वार पर डाल जाता था। अब के बच्चा तो पैदा हुआ किन्तु वह बार-बार रोता हुआ उसी समय शरीर शून्य में अन्तर्हित हो गया। अब वहाँ उसका मृतक शरीर भी न था। अर्जुन तो इस दृश्य को देखकर स्तम्भित रह गये। उनके दिव्य अस्त्र विफल नहीं हुए थे। आज वे यह समझ ही न सके बच्चे का शरीर चला कहाँ गया। निराश होकर श्यामसुन्दर के समीप लौट आये।

ब्राह्मण को बड़ी निराशा हुई। यह उसका दशवाँ पुत्र था, वह आशा लगाये बैठा था, अबके मेरा पुत्र अवश्य जीवित रहेगा, गांडीवधारी अर्जुन ने उसके बचाने का भार अपने ऊपर ले लिया है, किन्तु जब उसने देखा कि अब तो बच्चे का शव भी नहीं रहा, तब तो उसके दुःख का अन्त नहीं रहा रोता चिल्लाता, करुण विलाप करता हुआ वह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के समीप पहुँचा। सज्जनों की एकमात्र गति भगवान् वासुदेव ही हैं। भगवान् वासुदेव सुधर्मा सभा में सुखपूर्वक विराजमान् थे, उनके सम्मुख ही सव्यसाची अर्जुन म्लान मुख किये बैठे थे। मूर्तिमान रोष और दुख के सदृश वह द्विज वहाँ पहुँच ही ता गया और अर्जुन की निन्दा करते हुए सबको सुनाते हुए कहने लगा "हाय! काल की कैसी कुटिल गति है। भगवान् जिसे दुख देते हैं, उसकी गति को प्रथम ही हर लेते हैं। असमय में पुत्रों के मरने से मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। मैंने विश्वास न करने योग्य बात का विश्वास कर लिया।"

भगवान् ने मंद मंद मुसकराते हुए कहा—"विप्रवर! क्या बात है?"

रोष में भरकर ब्राह्मण बोला—"बात क्या है, महाराज!

मेरी बुद्धि पर पत्थर पड गये। मैं इस निर्वीर्य नपुंसक अर्जुन की बातों में आ गया। यह अपने बल की बडी डींग हाँकने लगा। इसने अपनी प्रशंसा के पुल बाँध दिये। 'मैं यह करूँगा, वह करूँगा। मृत्यु से लड़ूँगा, यमराज को पछाड़ूँगा, काल को मारूँगा।" न जाने इसने कितने अपने आप ही आत्म प्रशंसा युक्त वाक्य स्वयं कहे। मैं सीधा सादा ब्राह्मण। मैंने इसके मिथ्या वचनों का विश्वास कर लिया। मैंने पहिले ही कहा था—"भैया! क्यों तू अपनी मिथ्या प्रशंसा कर रहा है? अरे, देख जिसकी रक्षा कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धादि नहीं कर सके, उसकी तू रक्षा कैसे कर सकता है। इसने अभिमान में भर कर कहा—"मैं कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धादि नहीं हूँ। मैं अर्जुन हूँ अर्जुन। मेरा धनुष है गाडीव। अब वह अमोघ गाडीव कहाँ चला गया। पहिले तो बच्चे का मृतक देह भी मिल जाता था अबके न जाने उसका शव भी कहाँ चला गया। और चला तब गया, जब यह अर्जुन धनुष बाण ताने अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर रहा था। ऐसे मिथ्यावादी अर्जुन को धिक्कार है, उसके गाडीवधनुष को भी धिक्कार है। इसकी मूर्खता तो देखिये दैव द्वारा दूर किये बालकों को यह अपने बल पुरुषार्थ के द्वारा लौटा लाने का दुस्साहस करता है। अब इसकी प्रतिज्ञा कहाँ गई?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दूसरा कोई इस प्रकार गाडीव-धनुष की निन्दा करता, तो अर्जुन तुरन्त उसका सिर धड से पृथक् कर देता, किन्तु एक तो ब्राह्मण अवध्य होता है, दूसरे वे अपनी प्रतिज्ञा को पूरी नहीं कर सके। अभिमान में भरकर बात उन्होंने बडी कह दी थी, किन्तु पालन उसका तनिक भी न हुआ। ब्राह्मण की ओर उनके नेत्र उठते नहीं थे। नीची दृष्टि करके शनः-शनैः उन्होंने कहना आरम्भ किया—

"विप्रवर ! आप मेरी निन्दा न करें, मैं अभी निराश नहीं हुआ हूँ। तीनो लोकों मे जहाँ भी तुम्हारा पुत्र होगा, वहीं से मैं उसे खोजकर लाऊँगा।"

ब्राह्मण ने व्यंग के स्वर मे कहा—"तुम ला चुके। जब तुम सम्मुख ही रक्षा नहीं कर सके, तो परोक्ष में अब क्या लाओगे। अच्छा, यह भी देखना है।" यह कहकर ब्राह्मण चला गया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब अर्जुन अत्यन्त सोच में पड गये। उन्होंने अभिमानवश ऐसी बात कह दी थी कि "मैं कृष्ण नही, बलराम नहीं, अर्जुन हूँ !" इसलिये भगवान् से कुछ पूछने का भी उन्हें साहस नहीं होता था। अब जिस प्रकार अर्जुन विप्र बालक को खोजने जायँगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कहो विप्र ! का यहाँ न कोई क्षत्रिय निवसै।
विलपै ऐसे विप्र न कोई घर तैं निकसै॥
तव सुत रक्षा करूँ देव ! अब नहिँ घबरावें।
होहि प्रसव को समय आइ पुनि मोइ बतावें॥
सुत रक्षा यदि नहिँ करूँ, जरूँ अग्निमहँ हँस्यो द्विज।
प्रसव काल आयो जबहिँ, गये पार्थ लै धनुष निज॥

निराश अर्जुन को भगवान् का आश्वासन

[११९२]

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना ।
ये ते नः कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ८९ अ० ४६ श्लोक)

छप्पय

छोडि शरनि घर घेरि बनायो पिंजरा सम तिन ।
जनम्यो शिशु करि रुदन भयो अन्तरहित तत् छिन ॥
अरजुन लज्जित भये विप्र कटु वचन सुनाये ।
द्विज सुत ढूँढन हेतु लोक पालनि पुर आये ॥
कहूँ मिल्यो बालक नहीं, लागे अरजुन तब जरन ।
'तोड दिखाऊँ द्विज तनय, चल' बोले अशरन शरन ॥

कहावत है 'ठोकर लगने से ही बुद्धि आती है।' जब अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ, पुरुष कर चुकता है, तब उसका अभिमान नष्ट होता है, तब वह सोचता है कि करने कराने वाले श्रीहरि ही हैं। हम तो उनके यन्त्र हैं। जब तक धन का, बल का, विद्या का, कला-कौशल का तथा अन्यान्य किसी वस्तु का अभिमान है, तब तक भगवान् चुपचाप बैठे-बैठे देखते रहते हैं। जैसे बालक जब तक

❀ अर्जुन को आश्वासन देते हुए भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन! तुम इस प्रकार अपने आप ही अपनी अवज्ञा मत करो। मैं तुम्हें विप्र के बालकों को दिखाऊँगा। ये ही सब लोग तुम्हारी विमल कीर्ति को स्थापित करेंगे।'

अपने पुरुषार्थ से किसी वस्तु को उठाना चाहता है, तब तक माता पिता देखते रहते हैं, जब वह अपने को असमर्थ पाता है, माता पिता की ओर देखकर निराशा के साथ रोने लगता है, तब माता पिता उसके काम में सहायता देते हैं।

सूतजी कहते हैं— मुनियो! जब अर्जुन प्रतिज्ञा करके भी ब्राह्मण के पुत्र की रक्षा न कर सके और ब्राह्मण ने उन्हें तथा उनके गाण्डीव धनुष के लिये कहनी अनकहनी बातें कहीं, तब अर्जुन को बड़ा दुःख हुआ। वे योगी थे, सभी लोकों में उनकी अव्याहत गति थी, ब्राह्मण को उन्होंने आश्वासन दिया। विप्रवर! तीनों लोकों में जहाँ भी कहीं तुम्हारा पुत्र होगा, मैं उसे खोजकर लाऊँगा।' ब्राह्मण खरी खोटी कहता हुआ लौट गया। अब, अर्जुन सोचने लगे—'लड़का मर कर यमपुर ही गया होगा क्यों न मैं यमपुर चलकर यमराज से उस बालक को माँग लाऊँ। श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने गुरुपुत्र को तथा देवकीजी के सात पुत्रों को ले ही आये थे।" इस विचार के आते ही उन्हें हर्ष हुआ। लज्जा के कारण वे श्रीकृष्ण भगवान् से भी कुछ न कह सके वे यमराज की संयमनीपुरी की ओर चल दिये। भगवान् ने भी कुछ नहीं पूछा कि तुम कहाँ जा रहे हो।' अपने योगबल से तुरन्त वे संयमनीपुरी में पहुँच गये। यमराज ने उनका आदर किया और आने का कारण पूछा।

अर्जुन ने कहा—"धर्मराज! द्वारका के अमुक विप्र के पुत्र को आपके मन्त्री मृत्यु मारकर सशरीर यहाँ ले आये हैं, उसे मुझे दे दीजिये।"

यमराज ने आश्चर्य चकित होकर कहा—"नहीं राजन्! ऐसे किसी लड़के के आने का समाचार मुझे नहीं मिला।"

अर्जुन ने यमराज से व्यग्रता के साथ कहा—"आप! सम्भव

है भूल गये होंगे, मरकर तो प्राणी आपके ही लोक में आते हैं। आप चित्रगुप्तजी से खुलवावें।"

यमराज ने तुरन्त चित्रगुप्तजी को बुलाया। दो दिन के आने वालों का सूची देखी, उसमें ब्राह्मण के बालक का कहीं किसी स्थान में उल्लेख ही नहीं था। यमराज ने कहा—"कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जिनकी हमारे यहाँ लिखा पढ़ी नहीं होती, वे सीधे अन्य लोकों में चले जाते हैं। मेरे लोक में होता तब तो कोई बात ही नहीं थी भगवान श्रीकृष्ण नारायण के अवतार हैं, तो आप नरक अवतार हैं। हमारे लिये आप दोनों ही समान हैं।"

यह सुनकर अर्जुन बड़े विस्मित हुए। अब उन्होंने सोचा—'लाओ सभी लोकपालों की पुरियों में खोजें।' यह सोचकर वे प्रथम इन्द्र की अमरावतीपुरी में गये, वहाँ भी कुछ बालक का पता नहीं चला, तब वे वरुण के विभावरी तथा कुबेर की अलकापुरी में गये। सभी ने ब्राह्मणपुत्र के सम्बन्ध में अपनी अज्ञता प्रकट की। फिर वे अग्नि, निर्ऋति, सोम तथा वायु आदि उपदिशाओं के लोकपालों की पुरियों में तथा अतल वितल आदि नीचे के सातों लोकों में गये। जब वहाँ भी किसी प्रकार का पता न मिला, तो उन्होंने सोचा—"त्रिलोकी से ऊपर जो महर्लोक आदि लोक हैं, उनमें बालक चला गया हो।" यह सोचकर वे महर्लोक, जन लोक, तपलोक तथा सत्यलोक तक गये। सत्यलोक में पहुँचकर उन्होंने ब्रह्माजी से पूछा।

ब्रह्माजी ने कहा—"क्या! मेरे यहाँ तो वह आया नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा, आपके यहाँ न आया हो, तो आप यह तो जानते ही होंगे कि वह बालक किस लोक में है, आप तो सर्वज्ञ हैं न?"

ब्रह्माजी ने कहा—"मैं सर्वज्ञ तो हूँ, किन्तु मेरे ब्रह्माण्ड में उसके उत्पन्न होने का लेखा है, किन्तु वह किस लोक गया

कोन उसे ले गया, मेरे ब्रह्माण्ड भर मे उसके सम्बन्ध की कोई लिखा पढी नही है। अब मैं तुम्हे क्या बताऊँ। मेरे ब्रह्माण्ड के सदृश असख्यों ब्रह्माण्ड हैं, मेरे सदृश असख्यों ब्रह्मा हैं, अब म सब ब्रह्माण्डो की बाते थोडे ही जान सकता हूँ, मेरा ज्ञान मेरे अपन ब्राह्मण्ड भर म सीमित है। मैं इतना ही जानता हूँ, मेरे ब्रह्माण्ड में वह जीव अब भी कहीं नहीं है।'

यह सुनकर अर्जुन तो अत्यत ही विस्मित हुए उनका सम्पूर्ण अभिमान चूर चूर हो गया। उन्हे जो अपने पुरुषार्थ का, गाडीव-धनुष का, दिव्य अस्त्रो का तथा योगबल का अभिमान था, वह सब नष्ट हो गया। वे हताश होकर लोट आये। आकर वे अत्यत खिन्न थे। ब्राह्मण स उन्होने प्रतिज्ञा की थी —'यदि मैं तुम्हारे बच्चे को न बचा सका तो प्रज्वलित अग्नि मे कूदकर प्राण दे दूँगा।" अब अर्जुन को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये अग्नि मे प्रवेश करना आवश्यक था। उन्होंने बडी भारी चिता बनाया उसमे अग्नि लगाया, ज्यों ही वे उसमे कूदना ही चाहते थे, कि भगवान् कृष्णचन्द्र ने आकर उनका हाथ पकड लिया और हँसते हुए बोले—"अर्जुन! हमने स्त्रियो को तो अपने पतियो के लिये सती होते देखा है, तुम किसके लिये सत्ता हो रहे हो?"

लजाते हुए अर्जुन ने कहा—"महाराज! मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सका। ब्राह्मण के बालक को मृत्यु के मुख से न बचा सका। सात नीचे के और सात ऊपर के, इस प्रकार चौदहो भुवनो में खोज आया, लडके का मिलना तो पृथक् रहा, कोई भी लोकपाल उसका पता नहीं बताते। जब मैं ब्राह्मण के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा को ही पूरा न कर सका, तो मेरे जीने से ही क्या लाभ है।

हँसकर भगवान बोले—"अच्छी बात है, तुम जलकर मरने का विचार छोड दो। एक नहीं ब्राह्मण के दशों बालको को

दिखाऊँगा। दिखाऊँगा ही नहीं उन्हे लाकर तुम्हारे हाथो स ब्राह्मण को दिलाऊँगा। तुम चिन्ता को छोडकर मेरे पीछे आओ।"

यह सुनकर अर्जुन को बडा विस्मय हुआ उनके मन में आया 'इससे मेरी जगत् मे निन्दा तो होगी ही कि अर्जुन एक बालक का को भी न बचा सके।' सर्वान्तर्यामी भगवान् उसके मनोगत भावो को समझ गये और बोले—"अर्जुन तुम चिन्ता मत करो कि लोग मेरी निन्दा करेंगे। अरे, इस घटना से तो ससार के सभी लोग हमारी विमल कीर्ति को स्थापित करेंगे। इससे तो हम दोनो का ही गौरव बढेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर अर्जुन परम सन्तुष्ट हुए। अब भगवान् ने अपना दिव्य रथ निकाला। उसमें अपने शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प, और बलाहक नाम के चार घोडोका जोता अर्जुन को रथ पर बिठाया और उन्होने बडे वेग से पश्चिम दिशा की ओर रथ दोडाया रथ वायु वेग से भी अधिक दौड रहा था दौडते-दोडते रथ कहाँ पहुँचा और वहाँ क्या हुआ, इस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

दै अरजुनकूँ धीर ताहि रथमहँ बैठार्‌यो।
पच्छिम दिशि करि लक्ष्य दिव्य रथ तुरत सिधार्‌यो॥
पर्वत, द्वीप, समुद्र, सात सब लङ्घन करि कें।
कर्‌यो घोर तम नाश सुन्दरशन आगे बढि कें॥
देख्यो तमके पार अति, दिव्य तेजमय लोकतहँ।
परे सहसफन अहि प्रबल, दिव्य उदधि के भवनमहँ॥

—०—

परम वैष्णवधाम में द्विजतनय

[११९३]

निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।
यत् किञ्चित्पौरुष पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८९ अ० ६३ श्लोक)

छप्पय

तिनकी शय्या सुखद ताहि पै श्याम विराजैं ।
भूमा, अज, अखिलेश, अस्त्र, आयुध सह भ्राजैं ॥
पार्थ कृष्ण ने जाइ चरन वन्दन तिनि कीन्हे ।
भूमा पुरुष निहारि तनय दश द्विजके दीन्हे ॥
बोले भूमा पुरुष पुनि, नर नारायण उभय तुम ।
आओ भूको भार हरि, तुरतहिं आयसु देहिं हम ॥

सृष्टि में जितना लीला विलास है, सब श्रीकृष्ण की कृपा का ही फल है। अनेक रूपों में श्रीकृष्ण ही क्रीडा कर रहे हैं। उनके अंशावतार, आवेशावतार, कलावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार तथा पूर्णावतार आदि अनेकों अवतार हैं। ये सब भूमा

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् विष्णु के उस परम धाम को देखकर पृथा पुत्र अर्जुन को परम विस्मय हुआ। अब उन्हें इस बात का दृढ़ निश्चय हो गया, कि पुरुषों में जो भी कुछ पुरुषार्थ है, वह सब श्रीकृष्ण की अनुकम्पा के ही ऊपर निर्भर है।"

पुरुष श्रीकृष्ण से ही निकलते हैं और उन्हीं में जाकर लय हो जाते हैं जैसे मेघ समुद्रों से जल ले जाकर नदियों को भरते हैं, नदियाँ फिर जाकर समुद्र में मिल जाती हैं। इसी प्रकार यह आदान-प्रदान हो रहा है। अनेक रूपों में नटवर ही खेल कर रहे हैं। वे ही इस प्रपञ्च को चला रहे हैं। प्राणिमात्र में जो भी कुछ बल पुरुषार्थ है, उन्हीं भूमा भगवान श्रीकृष्ण की कृपा का प्रसाद है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्राह्मण के बालकों को लाने के लिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने दिव्य रथपर बैठकर अर्जुन को साथ लेकर पश्चिम दिशा की ओर चल दिये। रथपर श्रीकृष्ण और अर्जुन के अतिरिक्त तीसरा कोई नहीं था। घोड़े मन के वेग की भाँति उड़ रहे थे। रथ से भगवान ने सात द्वीपों को, उनके सात मर्यादा पर्वतों को तथा सातों समुद्रों को पार किया। तदनन्तर वे पृथ्वी के अन्त में उस लोकालोक पर्वत के समीप पहुँचे जिसके इस ओर तो प्रकाश है और उस ओर अंधकार है। भगवान का रथ किसी से भी उल्लङ्घन न किये जाने वाले उस पर्वत को लाँघ गया। अब उसके आगे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र किसी का भी प्रकाश नहीं था। घोर अंधकारमय मार्ग था। भगवान के प्यारे शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक दिव्य घोड़े भी उस मार्ग में भटकने लगे।

योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् वासुदेव ने जब देखा, घोड़ों की भी दृष्टि अवरुद्ध हो गयी है, तो उन्होंने अपना सहस्रों सूर्यों के सदृश प्रकाशमान सुदर्शन चक्र को आगे छोड़ा। वह घोड़ों के आगे-आगे दिव्य अलौकिक प्रकाश करता हुआ चलने लगा। घोड़ों की गतिसे भी उसकी गति तीव्र थी। तीव्र तम को अपने तीक्ष्ण तेज से विदीर्ण करता हुआ, वह मन से भी अधिक प्रबल गति से पथ को पार रहा था। घोड़े उसी के आलोक में आगे बढ़ रहे थे। जैसे धनुष से छूटा रामबाण शत्रु सेना का संहार

करता हुआ आगे बढ़ता ही जाता है, वैसे ही वह रथ सुदर्शन के आलोक में आगे बढ़ता ही जा रहा था। चिरकाल तक तमोमय पथ को पार करने के अनन्तर भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र को लौट लिया। अब आगे अर्जुन क्या देखते हैं कि एक महान प्रकाशमय लोक है, उस प्रकाश की किसी से उपमा नहीं दी जा सकती। जिसका वर्णन किसी भी भाषा के शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। उस महान, अनन्त, व्यापक परमोत्कृष्ट प्रकाश को देखकर अर्जुन की आँखों के सामने चकाचौंध सा छा गया। उस प्रकाश के तेज को न सह सकने के कारण अर्जुन ने अपने दोनों हाथों से दोनों आँखों को बन्द कर लिया।

रथ बराबर द्रुत गति से चल रहा था। चलते चलते उसने प्रबल प्रभञ्जन से कम्पायमान बड़ी बड़ी उत्ताल तरङ्गों वाले दिव्य अमृत के समुद्र में प्रवेश किया। उस समुद्र में एक बड़ा ही अलौकिक मणिमय स्तम्भों से सुशोभित परम कान्तिमय, दिव्य, अनुपम, नाना रत्नों से विभूषित मणिमय भव्य भवन देखा। उस सम्पूर्ण विशाल भवन को घेरे हुए एक अति भयानक परम आश्चर्यजनक अलौकिक सर्प को गुड़मुड़ी मारे पड़े देखा। उसके सहस्र नेत्र उन फणों में ऐसे ही चमक रहे थे मानों उन सब में पृथक पृथक सूर्य, चन्द्र जड़ दिये हों। कैलाश पर्वत के सदृश वे सर्प श्वेत वर्ण के थे। काली काली दो सहस्र जिह्वाओं से वे किसी मन्त्र का जाप कर रहे थे, वे सर्पराज शेषजी थे।

पाण्डुनन्दन अर्जुन बड़े विस्मय के साथ कैलाश पर्वत के सदृश ऊँचे उन शेषजी के दर्शन करके स्तम्भित और विस्मित हो रहे थे। उन्होंने देखा उन्हीं शेष के शरीर की सुखद सुन्दर शय्या बनाये सर्वव्यापक, परम प्रभावशाली पुरुषोत्तम प्रभु प्रेमपूर्वक पोढ़े हुए हैं। उनके सुन्दर शरीर की शोभा जल भरे मेघों के सदृश श्याम वर्ण की है। शरीर पर सुन्दर सुहावन पीताम्बर पड़ा हुआ

है। अपनी परम स्निग्ध कमनीय कान्ति से उस भवन को परम आलोकित बनाये हुए हैं। उनका मनोहर मुख शारदीय सरोरुह के सदृश, विकसित और प्रफुल्लित है, अति सुन्दर मनोहर हास्य की छटा से सुप्रसन्न वदन बड़ा ही मनोहर और आकर्षक बना हुआ है। आनन्दातिरेक के कारण उनके सुन्दर बड़े बड़े विशाल नेत्र अत्यन्त स्निग्ध और आकर्षक प्रतीत होते हैं। उनके माथे का मनोहर मणिमय मुकुट, महामूल्यवान मणियों के कारण मन को मोह रहा था। कानों के कमनीय कनक कुन्डलों की कान्ति से उनके कुटिल केश दमक रहे थे। भगवान के बड़ी बड़ी विशाल आठ भुजायें थीं। जिनमें वे शस्त्र, चक्र, गदा, पद्म, धनुष, बाण असि और चर्म ये अस्त्र आयुध धारण किये हुए थे। उनके वक्षःस्थल पर कौस्तुभ मणि शोभायमान थी। उसी पर श्री वत्स का चिन्ह चिन्हित था। विशाल वनमाला से वह आवृत था। उनके इधर उधर, सनकादि ऋषि मुनि, नन्द सुनन्द आदि पार्षद तथा शस्त्र, चक्रादि आयुध मूर्तिमान होकर समुपस्थित थे। इनके अतिरिक्त पुष्टि, श्री, कीर्ति और अजा ये चार शक्तियाँ तथा ऋद्धियाँ निरन्तर उनकी सेवा में सलग्न थीं।

भगवान् वासुदेव ने अपने आत्मरूप उन भूमा पुरुष की वदना की, भगवान् की देखा देखी भय से कातर अर्जुन ने भी उनका अभिवादन किया। उन विश्व वन्दित विश्वम्भर के निकट ये दोनों ही अञ्जलि बाँधे अत्यन्त शिष्टाचार के साथ खड़े हुए थे। दोनों को हाथ जोड़े खड़े देखकर समस्त लोकपालों द्वारा पूजित, सर्व-व्यापक, सबके स्वामी वे पुरुषोत्तम प्रभु मन्द-मन्द मुसकराते हुए मेघ गम्भीर वाणी में बोले—"तुम दोनों मेरे दर्शनों के निमित्त आये यह बड़ी मङ्गल की बात है। तुम दोनों बदरीवन में तपस्या करने वाले नर नारायण ऋषि हो। तुम दोनों मेरी ही कलाओं से धर्म की रक्षा के निमित्त अवनि पर अवतरित हुए हो। तुमने बहुत

से नर रूप में उत्पन्न असुरों का संहार किया। अब मैं चाहता हूँ, जो असुर अब अवशिष्ट हैं, उन सबका भी शीघ्र संहार करके

तुम दोनों मेरे समीप आ जाओ। यद्यपि तुम्हारे लिये कोई कर्तव्य नहीं, तथापि लोकरक्षणार्थ, तथा जगत की स्थिति बनाये रहने के

हेतु से तुम धर्म का आचरण करो। मेरी इच्छा तुम्हें देखने की थी, इसी निमित्त तुम्हारे ब्रह्माण्ड से मैं विप्र बालकों को हर लाया था। अब मैंने तुम्हें देख लिया, तुम इन ब्राह्मणकुमारों को ले जा सकते हो, अब पृथ्वी पर अधिक काल तक रहने की आवश्यकता नहीं अविलम्ब तुम दोनों यहाँ आ जाओ।" इतना कहकर वे भूमा भगवान् मौन हो गये।

आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी ने शिर झुकाकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके कहा—"अच्छी बात है हम ऐसा ही करेंगे। अब हमें आज्ञा है न ?"

भूमा भगवान् ने कहा—"हाँ, अब तुम जा सकते हो।"

यह सुनकर दोनों ने श्रद्धा सहित उन पूर्णकाम प्रभु के पाद-पद्मों में प्रणाम किया और ब्राह्मण के दशों बालकों को साथ लेकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए वे उसी मार्ग से रथ पर चढ़कर चल दिये, जिस मार्ग से आये थे। उसी प्रकार सुदर्शन चक्र के प्रकाश के सहारे महान् अन्धकारमय प्रदेश को पार करके समुद्र द्वीप और मर्यादा पर्वतों को लाँघकर वे द्वारकापुरी में लौट आये वहाँ आकर दोनों ब्राह्मणों के घर गये और जाकर भगवान् उनसे बोले—"विप्रवर! अर्जुन ने आपके एक ही पुत्र की रक्षा की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु अब वह आपके सभी मृतक पुत्रों को लौटा लाया। लीजिये आपके ये दशों पुत्र समुपस्थित हैं।" ब्राह्मण ने देखा, मेरे पुत्र तो सब एक एक वर्ष छोटे उसी अवस्था के क्रम से उपस्थित हैं। अपने दश पुत्रों को पाकर ब्राह्मण ब्राह्मणी दोनों ही परम सन्तुष्ट हुए, उन्होंने श्रीकृष्ण और अर्जुन को अनेकों आशीर्वाद दिये और अपने अशिष्ट व्यवहार के निमित्त क्षमा याचना की।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस घटना से अब तो अर्जुन

की आँखें खुल गयीं। अब तक वे जो अपने को विश्व विजयी मानकर अपने बल, पुरुषार्थ तथा अस्त्र-शस्त्र की चातुर्य पर अभिमान करते थे, वह सब उनका अभिमान चकनाचूर हो गया, अब वे समझ गये कि प्राणियों में जितना पुरुषार्थ है, पराक्रम है, वह सब इन क्रीडा प्रिय कृष्ण की कृपा का ही परिणाम है।

शौनकजी पूछा—"सूतजी! हमें तो इस घटना से बड़ा आश्चर्य हो रहा है। हम तो श्रीकृष्णचन्द्र को ही परिपूर्णावतार स्वयं साक्षात् श्रीहरि समझते थे। इन भूमा पुरुष के सम्मुख तो भगवान् उनकी एक कला के अवतार ही सिद्ध हुए। ये भूमा पुरुष कौन हैं?"

यह सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"महाराज! आप इन छलिया कृष्ण की माया में न आयें। करने कराने वाले ये ही सब श्यामसुन्दर हैं। ये बड़े मायावी है। ये ही अंश हैं, ये ही कला हैं, ये ही भूमा हैं, ये ही विश्वम्भर हैं। जब जैसा चाहते हैं, तब तैसा रूप बना लेते हैं। गोवर्धन पूजा के अवसर पर एक रूप से तो गोवर्धन पर्वत पर गोवर्धन बनकर बैठ गये, दूसरे रूप से स्वयं हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे। परब्रह्म भूमा, विष्णु तथा नर नारायण ये सब इन्हीं के श्री अंग में सन्निहित हैं। जब जैसा चाहते हैं, तब तैसा रूप बना लेते हैं। ये भूमा पुरुष इनसे भिन्न नहीं। इन्होंने ही वह रूप बनाकर अपनी लीला संवरण की सूचना अर्जुन को दी थी।

इस प्रकार भगवान् ने व्रज, मथुरा और द्वारका में रहकर अनेकों क्रीडा की, भाँति-भाँति के पौरुष दिखाये, बहुत से विवाह किये, बहुत से बच्चे पैदा किये, आत्म क्रीडा तथा आत्मरति होने पर भी सम्पूर्ण ग्राम्य विषयों का भोग किया, धर्म के आचरण किये, दान किया, धर्म किया वापी कूप तड़ागादि निर्माण कराये तथा बहुत से यज्ञों का भी अनुष्ठान किया। उन्होंने इन्द्र के

समान कृपा की वृष्टि की, कल्पवृक्ष के समान चारों वर्णों की इच्छाओं को पूर्ण किया, सभी को सुख दिया। सभी का सम्मान किया जो धर्म के विरोधी अधार्मिक राजा थे, उनमें से बहुतों को स्वयं मारा, बहुतों को बलदेवजी तथा अर्जुनादि से मरवाया। दुर्योधनादि अधार्मिक राजाओं को मरवाकर धर्मराज युधिष्ठिर को सम्राट बनाकर पृथ्वी पर पुनः धर्म की स्थापना की। जब सब काम हो गया, तो अब अपने धाम को प्रस्थान करने के लिये उद्यत हो गये। उनके स्वधाम पधारने की बात का आभास उनकी प्राण प्रियाओं को बिना बताये ही पहिले से हो गया था। उसी के आवेश में जड़ और उन्मत्तों के समान जो उन्होंने प्रलाप किया, उसका कुछ दिग्दर्शन मैं आगे कराऊँगा, अब आप समाहित चित्त से इस प्रलाप को श्रवण करें।"

छप्पय

करिकें दंड प्रनाम द्वारका दोऊ आये।
द्विजके दश हू तनय दये दोऊ हरषाये॥
समुझे अरजुन भेद करनहारे सब हरि हैं।
कोई करि नहिं सकै कछू कारे सब करि हैं॥
यों लीला सवरण को, यदुनन्दन निश्चय कर्यो।
भावमयी हरि भामिनिनि, को आपुहि हीयो भर्यो।

श्रीकृष्ण पत्नियों का लीलाविहार और प्रलाप

[११९४]

कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः ।
नर्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृताधियः ॥
ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जडम् ।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥*

(श्री भा० १० स्क० ९० अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

भाग्यवती हरि प्रिया रिझावैं हरि कूँ नित प्रति ।
रहैं सुखी सब सदा सुमिरि श्रीहरि चितवन गति ॥
कमलनयन सुख दयो सरसता मह सब पागीं ।
अब सब कूँ अति विरहमयी लीला ते लागीं ॥
कुररी, चकवी, नीरनिधि, चन्द्र, मलय मारुत, सरित ।
कोकिल, भूधर, सजलघन, कहहिं सबनि लखि कछु दुखित ॥

जो होना होता है, उसका आभास पहिले से ही मिल जाता है। कोई महापुरुष आने वाले होते हैं, तो उनके आने के पूर्व

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् अपनी पत्नियों के साथ विहार करते थे भगवान् की गति, आलाप, चितवन, मुसकान, परिहासोक्ति, विलास तथा विविध आलिङ्गनादि से उन स्त्रियों की मति हरी गयी थी। उन प्राणप्रिया प्रभुपत्नियों ने अरविन्दाक्ष भगवान् वासुदेव का ही चिन्तन करते हुए उन्मत्त और जड के सदृश जो शब्द कहे, उनको मैं तुमको सुनाता हूँ, तुम उन्हें श्रवण करो।"

वहाँ श्री आ जाती है क्योंकि वहाँ वे संकल्प से पहिले ही पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार उत्सव के अंत मे वहाँ की शोभा नहीं रहती वहाँ की श्री चली जाती है। हम मुखसे न कहें जो संकल्प मन मे करें वे सब भी वायुमंडल में फैल जाते हैं और सूक्ष्म चित्त के लोगों को उनका आभास मिल जाता है। योगी तो मन से बैठे-बैठे बाते कर ही लेते है, किन्तु प्रेमी भी अपने प्रेष्ठ के मनोगत भावों को समझ जाते हैं औरों के सम्मुख चाहें भाव छिप भी जायँ किन्तु प्रेमी के सम्मुख तो छिप ही नही सकते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के अवतार तो बहुत हुए, किन्तु जैसा आकर्षक यह कृष्णावतार हुआ वैसा दूसरा अवतार हुआ ही नहीं। कितना सौंदर्य माधुर्य इस अवतार मे प्रकट हो गया, इसकी कल्पना स्वयं श्रीकृष्ण को भी नहीं थी। जिसने भी इस रूप को देखा, वह कृत हो गया, फिर उसके चित्त पर दूसरा सौंदर्य चढ़ा ही नहीं। जिस कृष्ण दर्शन के कारण भूमा पुरुष को भी चोरी करनी पड़ी, उसके सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है भूमा पुरुष को ब्राह्मण के बालकों से क्या प्रयोजन था। वे तो श्रीकृष्ण के दर्शन करना चाहते थे, इसी लोभ से बालको को चुरा ले गये, कि भगवान् बालको को लेने आवेंगे हमें भी दर्शन हो जायँगे। क्षण भर के दर्शनो से ही भूमा भगवान् प्रसन्न हो गये, फिर जो कृष्ण पत्नियाँ रात्रि दिन भगवान् के साथ रहती थीं, उनकी छोटी मोटी सभी सेवायें करती थीं, उनके सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है। भगवान् ने अपने हृदय के प्रेम स्रोत को उन बड़ भागियों के निमित्त उन्मुक्त कर दिया। कितने सुखसे, कितने उल्लास से द्वारावती मे रहकर उन भाग्यवती भामिनियों के साथ भगवान् ललित लीलायें किया करते थे। वह कुशस्थली द्वारावती वास्तव में त्रिभुवन यशस्करी

बन गयी थी, जिसमें निवास करते हुए श्रीनिवास सबको सुखी बनाते रहते थे।

जिस द्वारावती के सजे सजाये स्वराज्य पथों पर मदोन्मत्त हाथियों के मद की कीच बनी रहती थी, जिसकी गन्ध से हथिनियों का धैर्य छूट जाता था। उन राजपथों पर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित सैनिक पंक्तियाँ बाँधकर इधर से उधर घूमते रहते थे। राजपथ विशाल और विस्तृत होने पर भी जिनमें निरन्तर भीड़ आती जाती रहती थी, सहस्रों सजे सजाये घोड़ों पर चढ़कर अश्वारोही जाते आते रहते थे। सुवर्ण से देदीप्यमान बड़े बड़े विशाल रथों से पथ भरे रहते थे। पथों के दोनों पार्श्वों में पंक्तिबद्ध फल पुष्पों से नमित सघन पादप लगे हुए थे। पुरी में जितने राजघराने के भवन थे सबके भीतर छोटे छोटे उद्यान थे। नगर में भी बीच में उद्यान, उपवन तथा फुलवारियाँ थीं। उन सबमें बारहों महीने पुष्प खिले रहते थे। उन खिले पुष्पों पर मधु लोभी भ्रमर निरन्तर गुंजार करते रहते थे। मधुमक्खियाँ उनमें से रस पी पीकर इधर से उधर उड़ती रहती थीं, रंग बिरंगी तितलियाँ, पुष्पों पर बैठी ऐसी प्रतीत होती थीं मानो पुष्पों ने मुकुट पहिन लिया हो। आम, जामुन, बीजपूर, सीताफल, अमृत तथा अन्यान्य फलवाले पादपों पर बैठे शुक, पिक, पारावत तथा अन्यान्य खग वृन्द अपने अपने कमनीय कंठों से कलरव करते हुए, दशोदिशाओं को मुखरित करते रहते थे।

द्वारकापुरी की सम्पत्ति का, सुख सामग्री तथा समृद्धि का वर्णन कौन कवि कर सकता है, जहाँ समस्त लोकपालों ने अपनी विभूतियाँ भेज दी थीं। विश्वकर्मा ने जिनका निर्माण बड़े मनोयोग से किया था। यदुवंशी राजकुमारों के भव्य भवनों से जो बड़ी ही भली लगती थी। यादवों के भवनों के भीतर ही, उपवन तथा क्रीड़ा स्थान थे। जिनमें एड़ी तक चोटी लटकाये, नवयौवन

की कान्ति से कान्तिमती, चंचला चपला विद्युत् के समान द्युतिमती कानों में कमनीय कनककुंडल धारण किये अत्यन्त मनोहर वेष वाली बालाएँ एकान्त में मिलकर कन्दुकादि क्रीडायें किया करती थीं तथा अन्यान्य मनोरञ्जक खेल किया करती थीं, उस परम पुण्यमयी द्वारावती में निवास करते हुए द्वारकानाथ श्रीश्यामसुन्दर सभी को सुख देते थे। सभी की इच्छाओं को पूर्ण करते थे वे सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियों के एकमात्र पति थे। फिर भी वे उनके परम ऐश्वर्य सम्पन्न सभी घरों में पृथक्-पृथक् रूप रखकर, निरन्तर निवास करते हुए रनिवास में रहने वाली सभी दास-दासियों और स्वामिनियों को सुख पहुँचाते हुए सभी के मनको अपनी ओर आकर्षित करते रहते थे। कृष्ण पत्नियों के भवनों में भिन्नता नहीं थी। भोग सामग्रियों का संकोच नहीं था भगवान् का व्यवहार सभी के साथ समान था। सभी भवन एक ही समान लम्बे-चौडे थे। सभी सुन्दर, स्वच्छ, समस्त सुख सामग्रियों से सम्पन्न, सर्व ऋतुओं में सुहावने और सुखप्रद थे। सबके भीतर वायु सेवनार्थ उद्यान थे, सबमें सुन्दर स्वच्छ सलिलसरोवर थे, जिनमें नीलाम्बुज, पद्म, कह्लार, कुमुद तथा विविध जाति के कमल खिले रहते थे जिनकी सुगन्धि पराग से भवन सदा सुवासित बने रहते। उन छोटे छोटे जलाशयों में हंस, सारस, बकुल आदि जलजन्तु स्वच्छन्द विहार करते हुए कूजते रहते थे। उन छोटे-छोटे जलाशयों के अतिरिक्त बडे-बडे सरोवर थे, जिनमें श्यामसुन्दर अपनी प्रियाओं के साथ जलकेलि किया करते थे, निर्भय होकर उनकी प्रेयसी उन्हें पकडकर जल में डुबो देतीं, वे उनको पकडकर डुबो देते, जिससे उनके शरीर की केशर से श्यामसुन्दर हरित रंग के से प्रतीत होने लगते। उनका 'हरि' नाम उसी समय सार्थक होता।

अपनी प्रियाओं से आलिङ्गित हुए जब वे उल्लास के साथ

जलकेलि करते, तब अन्तःपुर मे विना संकोच के आने वाले सूत, मागध, वन्दीजन उनकी स्तुति करते तथा नट-नर्तकी और गधर्वगण आकर मृदङ्ग, पणव, और आनक आदि बाजे बजाकर वीणा आदि मे सुललित तान छेड़कर प्रसन्नतापूर्वक उनका यशोगान करते। इस पर वे श्यामसुन्दर से तथा उनकी प्रियाओं से चित्र विचित्र वस्तुओं के पारितोषिक पाते। जब वसंत का समय आता, आम्र मञ्जरी की पूजा हो जाती, तब होलियो के समय में प्रियायें उनके साथ होली खेलतीं। वे सबकी सब अपने अति सुकुमार कोमल करो मे रंग की भरी हुई पिचकारियाँ लेतीं और चारों ओर से घेरकर श्यामसुन्दर को भिगो देती। तब आप पर भी न रहा जाता, पीताम्बर की फेट बाँधकर हाथ मे पिचकारी लेकर आप भी फाग रंगमंच पर सजे सजाये नट के सदृश उतर आते और उनके सुकुमार अंगो को भिगो देते। रंग मे उन्हे निमग्न कर देते। उनके रेशमी क्षीणवस्त्र उनके पीत चपा के रंग वाले अंगो मे चिपक जाते, जिससे उनकी शोभा एक विचित्र प्रकार की ही हो जाती। उनके वेणियो मे गुँथे हुए पुष्प बिखर जाते, उनके समस्त अङ्ग रोमाञ्चित हो जाते, शीत के कारण वे थर-थर काँपने लगतीं, तब साहस करके वे श्यामसुन्दर से सट जातीं, सुवर्णलता के सदृश लिपट जातीं और बलपूर्वक उनके हाथो से पिचकारी को छीनने लगतीं। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो श्यामघन से लिपटी बिजली दमक रही हो। इस छीना झपटी मे दोनो के ही मुखकमल खिल जाते। दोनो के ही अंग रोमाञ्चित हो जाते, दोनो के ही शरीरो से स्वेदबिन्दु निकलने लगते, उस समय उनकी शोभा अनुपम हो जाती। कुबेर जिस प्रकार यक्षिणियो से क्रीड़ा करते हैं गजराज जैसे अपनी हथिनियों के साथ क्रीडा करते हैं, मृग जैसे अपनी हरिनियो के साथ क्रीड़ा करता है, इसी प्रकार यदुनन्दन

अपनी प्रियाओं के साथ निर्भय होकर क्रीडा करते। बारम्बार उन्हें पिचकारियों से भिगोते, स्वयं भी उनके द्वारा वे भिगोये जाते, उस क्रीडा में सकोच, भय, दुराव का कोई काम नहीं था। निर्भय होकर हृदय खोलकर वह होली होती। क्रीडा करने के अन्तर भगवान अपने उन वस्त्रों को गाने बजाने वाले नट नर्तकों को देते और उनकी रानियाँ अपने वस्त्रों को नटों और नर्तकियों को दे देतीं। यही उनकी आजीविका थी, इसी की आशा लगाये वे उनका मनोरजन करते थे।

भगवान् उन्हें इस प्रकार सुखी करते कि उन्हें ससार की कुछ सुधि बुधि ही न रहती उनके साथ लीलापूर्वक ऐसे मन्द मन्द चलते कि वे आत्म विस्मृत बन जातीं। ऐसी घुल घुल कर मीठी-मीठी ऐकान्तिक वार्ताएँ करते कि उनका चित्त पिघल जाता पानी पानी हो जाता वे उस प्रवाह मे बहने लगती। भगवान् इतनी अनुराग भरी चितवन से उनकी ओर निहारते, इस प्रकार मन्द मन्द मुसकराकर उनकी ओर देखते कि उनका धर्य छूट जाता और वे श्यामसुन्दर के अतिरिक्त किसी के विषय मे सोचने मे असमर्थ-सी बन जातीं, उन्हीं के भावों में भावित होकर तन्मय हो जातीं। भगवान ऐसी चुभती हुई हँसी करते, ऐसी हास विलास की बातें बनाते कि वनिताओं के वदन विकसित हो जाते। जब वे उन भाग्यवती देवियों को स्नेहपूर्वक अपने हृदय से लगा लेते तब तो वे उनमें तन्मय ही हो जातीं। कभी कभी भगवान उन्हें साथ लेकर दूर वनों मे पर्वत शिखरों पर सरिताओं के तटों पर चले जाते, वहाँ विहार करते। इधर कुछ दिनों से उन कृष्ण प्रियाओं को एक राग हो गया था। वह रोग ऐसा असाध्य था कि उसकी कोई न तो चिकित्सा थी न औषधि। बैठे ही बैठे वे कुछ बकने लगतीं थीं। उन्हें ऐसा अनुभव होने लगता, मानों श्याम सुन्दर हमें छोड़कर चले गये हैं, या जाने वाले हैं। यद्यपि वे

श्यामसुन्दर के अंक में स्थित हैं, फिर भी भ्रम तो भ्रम ही है। उन्हें भ्रम हो जाता और वे किसी को लक्ष्य करके जड उन्मत्तों के समान प्रलाप करने लगतीं। उनकी वे बातें अटपटी बिना सिर पैर की होतीं। मुनियो! आप सुनना चाहें तो उन अटपटी बातों में से कुछ सुनाऊँ?"

चौंककर शौनकादि मुनि बोले—"अवश्य सुनाइये महाभाग! प्रेम का तो पन्थ ही अटपटा है। यहाँ की तो सभी बातें अटपटी है। प्रेम के शब्दों का अर्थ नहीं होता, वे बुद्धि से नहीं समझे जाते उनके लिये हृदय चाहिये। हृदय भी ऐसा हो, जो प्रेम में पगा हो, अनुराग में रंगा हो, रति में भीगा हो, श्रद्धा में सना हो भक्ति में भावित हो, प्रीति में ओत प्रोत हो और नेह में निचोड़ा गया हो। सूतजी! हमारा हृदय तो ऐसा नहीं। महाभाग! हम तो हतभागी हैं। कठोर तप करते-करते हमारा हृदय भी कठोर हो गया है। कृष्ण प्रियाओं के प्रेम प्रलाप के सुनने के हम अधिकारी तो नहीं हैं किन्तु आपसे इसीलिये प्रार्थना करते हैं कि संभव है इसके सुनने से ही हृदय कुछ पिघले, इसकी कठिनता दूर हो। अतः इस प्रसङ्ग को आप हमें अवश्य सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! आप अपनी क्या कहते हो, कहने की सामर्थ्य मुझमें भी नहीं है। आप तो अनुराग की मूर्ति हो। आपके सान्निध्य से संभव है मैं कुछ कहने में सामर्थ्य हो सकूँ। अच्छी बात है सुनिये कुछ 'महिषी गीत' के पद।"

कृष्ण पत्नियों के हृदय में भगवान् का भावी वियोग समा गया था। वे ऐसा अनुभव करने लगीं श्याम हमें छोड़कर चले गये। श्याम के बिना यह सब जग सूना है यह संसार श्याम के वियोग में रो रहा है। अब वे जिसे देखतीं उसी से श्याम के वियोग की बातें करतीं। रात्रि में उन्होंने देखा कुररी पक्षिणी बड़े करुण स्वर में रोती हुई जा रही है। उसे लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी—

(१)

कुररी क्यौं रोवति सु निशामे ।
सोवत श्याम सुखद शय्या पै विवन करति तू तामे ॥१॥
बात बताइ वीर ! विपताकी, डूबी विरह विथामे ।
ये सुख दैनि रैनि प्रिय सँग महँ हँसि-हँसि बहिन ! वितामे ॥२॥
नींद नहीं आवति ह तोकूँ यादि प्रान प्रिय आमे ।
कुटिल कटाक्ष कमलदल लोचन सर हियमहँ धँसि जामे ॥३॥
तो फिर भूख नींद सुख सजनी निशि वासर न सुहामें ।
हम हू व्यथित दुखित निशि रोवति तोकू का समुझामे ॥४॥

इतने मे ही सबने एक चकवी को देखा, रात्रि में चकवी अपने पति के साथ नहीं रह सकती । उसे किसी का शाप है, जहाँ सूर्य अस्त हुए तहाँ पति पत्नि पृथक् हुए । पति इस पार रहते हैं, तो पत्नि उस पार चली जाती है । दोनो रात्रि भर वियोग मे तड़पते रहते हैं । सूर्योदय होने पर फिर मिल जाते है । रात्रि में अपने पति के वियोग मे दुखी चकवी प्यारे की याद कर-कर के चुपचाप बैठी नयनों से नीर बहा रही थी । उसे लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी–

(२)

चकवी ! किन मूरति तू ध्यावे ।
पति वियोग तैं व्याकुल बनिकें बार-बार बिललावै ॥१॥
निशि नहिँ नींद नीर भोजन तजि नयननि नीर बहावै ।
समुझि श्याम दासी तू हम कूँ मत सौभाग्य सरावे ॥२॥
दास भाव महँ दुख पग-पग पे, बनि पाछैं पछितावै ।
हरि चरननि पै अरपित माला जो तू शीश चढ़ावै ॥३॥
तो सजनी ! सबई फिर जीवन यों ही विलपत जावै ।
निपट निठुर नर कपटी सबई, मत तू नेह बढ़ावे ॥४॥

फिर उन्होंने हर हर शब्द करते हुए अपार सागर को सम्मुख निहारा। वह निरन्तर शब्द करता रहता है। रात्रि दिन में कभी

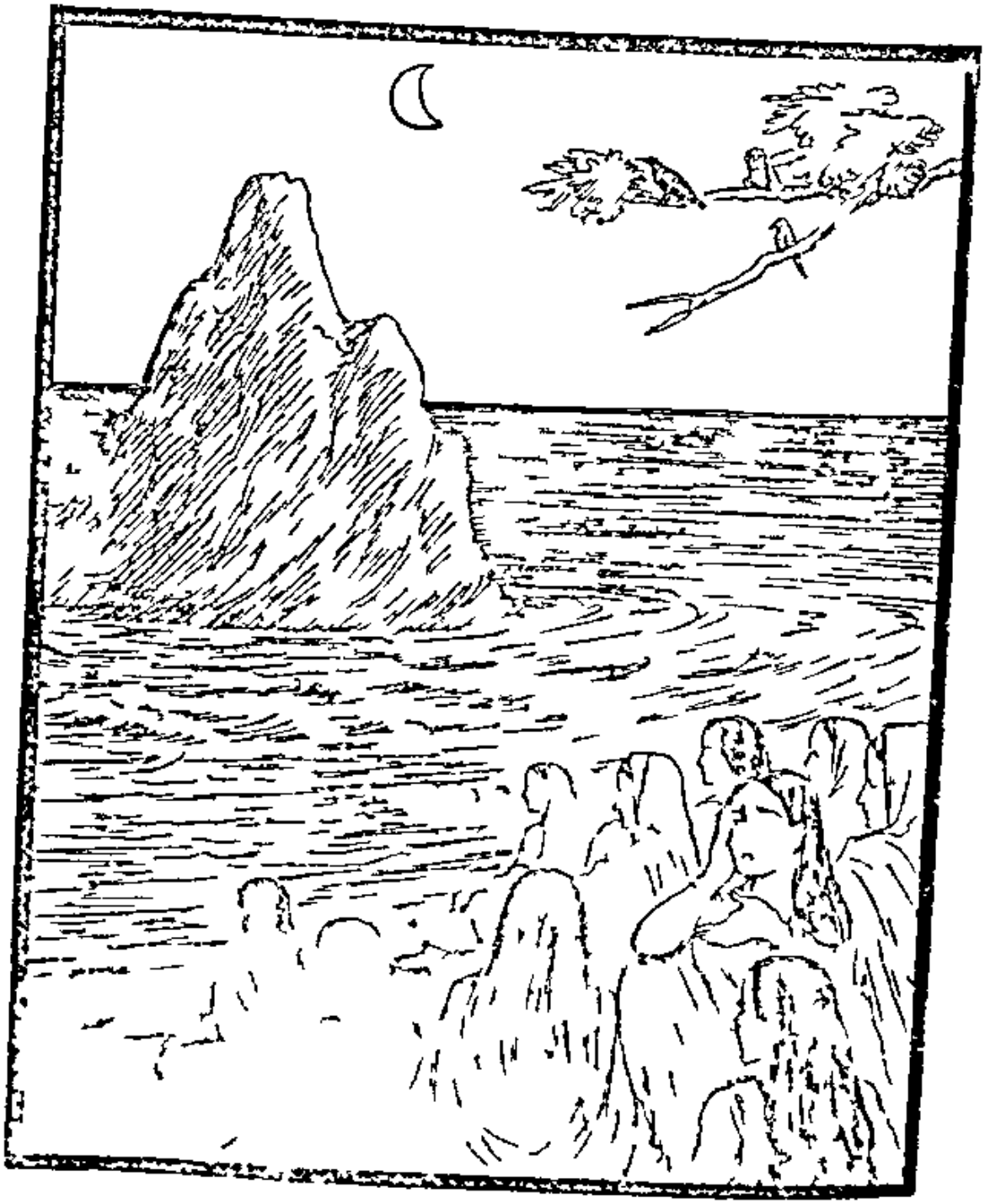

भी विश्राम नहीं करता। एक महर्षि उस को लक्ष्य करके गाने लगी—

(२)

सागर ! क्यों गरजत निशि वासर ।
नींद लाप को रोग भयो का जागत रहत निरन्तर ॥१॥
का चितचोर चुरायी तुमरी कौस्तुभमणि अति सुन्दर ।
अथवा शख हरन के कारन कोसत हो नित नटवर ॥२॥
अथवा प्रियाविवोग जनितदुख उमडि घुमडि उर अन्तर।
प्रलपत रहत प्रेम के कारन है अति प्रेम भयकर ॥३॥
हमरो चित्त चुरायो हरिने हम तुम एक बराबर ।
प्रभुकी करनी प्रभु ही जाने प्रेम गली अति साँकर ॥४॥

फिर सबने कृष्ण पक्ष के मलिन चन्द्रमा को देखा। कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा नित्य नित्य क्षीण होने से मलीन-सा दीखता महिषियों ने सोचा जब कृष्ण के पक्ष का चन्द्रमा ऐसा मलीन हो जाता है, तो कृष्ण का पक्ष लेने वाली हम कृष्ण की प्यारी मलीन क्या न होगा। कृष्ण का पक्ष ही लेना बुरा है। इसी भाव को प्रकट करती हुई एक महिषी कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा को लक्ष्य करके गाने लगी—

(४)

शशि ! क्यों सुन्दर वदन मलीन ।
तम तव रिपु तव निकट विराजत करत न ताकूँ छीन ॥१॥
राज रोग क्षय दुख अति दारुन ता तें तुम हो दीन ।
अथवा तुमहू ठगे श्यामने जो सब कला प्रवीन ॥२॥
सुनि सुनि सरस श्याम की बतियाँ छतियाँ छेद नवीन।
विधिके भयो हियो छननी सम कान्ति भई सब छीन ॥३॥
तुम सम हम हूँ परम दुखित शशि ! भई निठुर आधीन ।
प्रभु बिनु जग सूनो सब दीखत कृष्ण पक्ष अति हीन ॥४॥

फिर श्रीकृष्ण पत्नियों ने देखा सुन्दर सुखद शीतल मन्द सुगन्धयुक्त मलयानिल बह रहा है। जो सब प्राणियों में कामोद्दीपन करता है। उस मलय मारुत को लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी–

(५)

मलयानिल ! क्यों दुखी बनाओ।
हम अबला जगमहँ अति निरबल क्यों हिय चोट चलाओ ॥१॥
आपुहिँ दुखी श्याम दुख दीनो नमक कटे बुरकाओ।
हरि कटान सर कसकत उरमहँ तुम ताकूँ करकाओ ॥२॥
मदन दहत हियकूँ परि तुम नहिँ सखा समुझि समझाओ।
बहि बहि मन्द सुगन्धित शीतल रति पतिकूँ उकसाओ ॥३॥

श्रीकृष्ण भाव में भावित वे भामिनी निरन्तर आकाश की ओर देख रही थीं। उसी समय मेघ घिर आये और वर्षा करने लगे। उन्हें लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी–

(६)

घन ! तुम यदुनन्दन के प्यारे।
नेह रोग तुम हू कूँ लाग्यो चित्त चढि गये कारे ॥१॥
करिकें प्रेम कौन सुख पायो, सबई भये दुखारे।
छिन छिन पल पल रोवत बीतत नयननि बहत पनारे ॥२॥
हमने फँसि जो जो दुख पाये सो तुम नाहिँ बिचारे।
अब भर भर आँसू बरसावत कपटी कृष्ण हमारे ॥३॥

इस प्रकार कृष्ण के भावी विरह में रोते रोते उन महिषियों को भोर हो गया। अरुणोदय में आम्र की मञ्जरी पर बैठी कोकिल अपने कमनीय कंठ से कुहू-कुहू बोलने लगी। उसकी सुमधुर वाणी सुनकर उनका भ्रम हो गया, कहीं श्रीकृष्ण ही हमें 'कहाँ हो

कहाँ हो' कहकर तो नहीं बुला रहे हैं, अतः वे चौंक पड़ीं। एक ने कोकिल को देख लिया वह उसे लक्ष्य करके कहने लगी—

(७)

कोकिल ! कुहू-कुहू का बोलत।
रसमें सनी सुधा सम बानी बोलत तरु पै डोलत ॥१॥
ऐसे ही ये श्याम निगोड़े प्रेम पिटारो खोलत।
नेह तुलामहँ हिय कूँ धरिके राग बाट तैं तोलत ॥२॥
कूजति तू कल कंठ कोकिले ! प्रियकी सुरति दिवावत।
का प्रिय करें बहिन ! तेरो हम तव चरननि सिर नावत ॥३॥
गोविंद के गुन खग गन गावत, उडि उडि इत ई रोवत।
तू तो प्रभु के प्रेम छीर महँ मधुरव मिसिरी घोरत ॥४॥

कुछ-कुछ प्रकाश हो गया, सम्मुख रेवतक पर्वत दिखाई दिया। पर्वत शान्त भाव से अचल खड़ा था, उसे इस प्रकार बिना हिले-डुले खड़े देखकर उनमें से एक महिषी उसी को लक्ष्य करके गाने लगी—

(८)

भूधर ! प्रेम समाधि लगाओ।
नहिं डोलत नहिं बोलत बाबा आसन अचल जमाओ ॥१॥
का सोचत का चाहत तप करि अपनी साध बताओ।
अतिशय मृदुल चरन यदुवर तैं शिखरनि परसन चाओ ॥२॥
परसि प्यास नहिं बुझै बावरे मत तनकूँ ललचाओ।
प्रथम होहि सुख अनुपम अतिशय परि पीछे पछिताओ ॥३॥
हम बिललावत रोवत डोलत हरि तैं हमे मिलाओ।
वज्र समान कठिन हिय हमरे प्रभुपद तैं पिघलाओ ॥४॥

उसी समय पर्वत से निकली हुई एक सूखी टेढ़ी मेढ़ी क्षुद्र नदी दिखाई दी। उस नदी को लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी—

(९)

सरिता ! क्यों तव सूखत गात ।
नहिं पय, भ्रमर, हिलोर तरङ्गहु तट मर्याद दिखात ॥१॥
दया प्रथम फली फूली तू सजि बजि प्रिय ढिग जात ।
अब न पदुम श्री, मीनपान, पय चन्द्रवदन कुम्हिलात ॥२॥
हमहू दुखित प्रणय सर हरि हिय घुसि पीडा पहुँचात ।
बनि दुरबल भटकति इत उत निशि दिवस कबू न सुहात ॥३॥
ज्यों तुम पति पय तें अब वंचित, त्यों हमहू घबरात ।
प्रभु मुख कमल सुरति करि रोवति जग सब सून दिखात ॥४॥

उसी समय समुद्र तट से भटकता हुआ मथर गति से एक हंस इसी ओर आता हुआ दिखायी दिया। सभी ने उसे श्याम का दूत समझा। सभी अनुभव करने लगीं—"सम्भव है श्याम ने इसके हाथों कुछ सुखद सदेश पठाया हो।" अतः उसे सम्बोधित करके एक महिषी गाने लगी—

(१०)

हंसा ! हरिके दूत जनाओ ?
लेकें सरस सँदेश श्यामको हमरे ढिग मत आओ ॥१॥
होहि न ताप सँदेशनि तें प्रिय, यदुवर हमहिं मिलाओ ।
देखो, परि न जलमुही कमला सोति संग मत लाओ ॥२॥
लिपटा रहति श्याम अँगमहँ नित,ताको मुँह न दिखाओ ।
हम मय हू कछु लगें तिहारी एक बार फिरि आओ ॥३॥
जाओ जाओ यदुनन्दन ढिँग प्रिय सदेश सुनाओ ।
करयाओ प्रभु परस प्रेम तें तन की तपन बुझाओ ॥४॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वे श्रीकृष्ण प्रियायें इसी प्रकार के अनेक गीत गाकर, अनेक भाव जताकर भगवान् के भावी विरह के भाव व्यक्त करने लगीं। वे निरन्तर योगेश्वरों के भी ईश्वर उन अखिलात्मा अच्युत में अपने मन को लगाये रहती थीं।

अहर्निशि उन्हीं का अनन्य प्रेमभाव से चिन्तन करती रहती थीं। इसी एक निष्ठा के कारण उन्हें अन्त में परम पद की प्राप्ति हुई। देखिये, भगवान् का विश्व विमोहक सुयश ऐसा आकर्षक है कि एक बार श्रद्धा से उसे जो सुन भी लेता है, उसी का मन हठात् उनकी ओर खिंच जाता है, क्योंकि श्रीकृष्ण का जितना चरित्र है सम्पूर्ण प्रेममय है, सरस है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का हृदय अधिक सरस होता है, इसीलिये श्रीकृष्ण लीलाओं के प्रति उनका अनुराग स्वाभाविक अधिक होता है। भगवान् का चरित्र स्त्रियों के चित्त को बलात्कार अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, जब श्रवण करने वालियों की यह दशा है, तो जिन्होंने श्यामसुन्दर के दर्शन किये हैं, वे एक दिन नहीं अनेकों वर्षों निरन्तर उन्हें देखा है। देखा ही नहीं शय्या, शयन, भोजन और गमन में जो निरन्तर साथ रही हैं, जिन्होंने पति बुद्धि से चरणवन्दन, सेवन और पादप्रक्षालन आदि कृत्य किये हैं, उन बड़भागिनियों के विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। उन्हें भगवान् के सम्मिलन में कितना सुख हुआ होगा और वियोग में कितना दुख हुआ होगा, यह वाणी तथा लेखनी का विषय नहीं। यह तो अनुभव की वस्तु है।

मुनियो! भगवान् ने गृहस्थ में ही रहकर ये ललित लीलायें कीं। लोगों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित किया कि त्रिवर्ग की प्राप्ति के लिये गृहस्थ धर्म ही परम उपयोगी है। गृहस्थ में ही रहकर धर्म, अर्थ और काम का सम्पादन हो सकता है। भगवान् के एक नहीं, दो नहीं, दस बीस सौ अथवा सहस्र रानियाँ नहीं, पूरा सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ थीं और वे सबकी सब श्यामसुन्दर से परम सन्तुष्ट थीं। उनसे अत्यन्त स्नेह करती थीं। उनके साथ रहकर भगवान ने लोकवत् लीलायें कीं। उन्हें इतना सुख प्रदान किया कि वे क्षण भर के लिये भी भगवान

को भुला नहीं सकती थीं। इस प्रकार मैंने यह श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् का जैसा मुझसे कुछ बन सका वैसा चरित्र कहा। मैं चन्द्रवंश का वर्णन कर रहा था। उनमें ययाति के यदु, द्रुह्यु, तुर्वसु, अनु और पुरु इन पांचो पुत्रों का वर्णन करते-करते यदुवंश में वसुदेवजी तक आया था। वसुदेवजी की १३ पत्नियों के वंश वर्णन में देवकीजी के गर्भ से जैसे भगवान् का अवतार हुआ, इसका वर्णन किया। अब आपकी आज्ञा हो तो फिर उसी प्रकार भगवान से आगे की वंशावली को कहूँ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वंशावली को तो हम कड़वी औषधि के घूँट की भाँति इसलिये चुपचाप पी लेते हैं कि इसका परिणाम आगे शुभ निकलेगा। इन वंशों में से ही किसी भगवद् भक्त की या भगवान् के अवतार की कथा आ जायगी। अभी हमें आप भगवान् की ही कथा सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! मैं यादवों का जैसे विनाश होगा, उस कथा को सुनाऊँगा। पहिले मैं अत्यन्त संक्षेप में कथा प्रसङ्ग मिलाने को कुछ यदुवंश का वर्णन कर दूँ?"

छप्पय

गावें महिषी गीत कबहुँ नहिं श्याम भुलावें।
तिनिके भागनि इन्द्र, शंभु, अज सकल सरावें॥
जगपति कूँ पति पाइ भये तिनिके सुत दश-दश।
सबमें श्री प्रद्युम्न ज्येष्ठ जिनको व्यापो यश॥
तिनिके श्रीअनिरुद्धजी, शूरवीर वर सुत भये।
वज्र भये तिनिके तनय, यदुकुल क्षय तें बचि गये॥

श्रीकृष्ण चरित का उपसंहार

[११९५]

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपर्षत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ९० अ० ४८ श्लोक)

छप्पय

वज्र-तनय प्रतिबाहु, सुबाहु सुत हू तिनिके ।
शान्तसेन तिनि पुत्र भये शतसेनहु उनिके ॥
यादव कोटि असख्य सबनिकी सख्या नाहीं ।
यों यदुकुल पुनि बढ़्यो छीन कलियुग के माहीं ॥
जब सब सुरगन, धेन, द्विज, अधरम तै ह्वैकें दुखित ।
हरि ढिग जामें दीन है, होहिं अवतरित तब अजित ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन्होंने केवल कथनमात्र के लिये देवकी के गर्भ से जन्म लिया है, अपने यदुश्रेष्ठ पार्षदों द्वारा सेवित हैं, जिन्होंने अपने बाहुबल से अधर्म का अन्त कर दिया। जो चराचर जगत् का दुख दूर करने वाले हैं, जो अपने मधुर मुसकानमय मुखारविन्द से व्रजवनिताओं के काम को उद्दीपन करने वाले हैं और जो समस्त जीवों के आश्रय स्थान, हैं उन भगवान् व्रजवल्लभ की जय ही जय हो।"

अनन्त कीर्ति भगवान् के नाम अनन्त है, जन्म अनन्त हैं, कर्म अनन्त हैं, चरित्र अनन्त हैं, पुत्र अनन्त हैं, कहाँ तक कहे अनन्त की सभी वस्तुएँ अनन्त हैं। प्रकृति निर्मित भूतों का ही अन्त नहीं। समुद्रों में कितने जलकण हैं, पृथ्वी की धूलि में कितने रजकण हैं, तेज में कितनी किरणें हैं। आकाश में कितने तारागण हैं, जब इनकी यथार्थ गणना नहीं हो सकती तब अनादि अनंत अच्युत के कार्यों की गणना तो असम्भव ही है। उन भगवान् के सम्बन्ध में जितना भी कहा जाय वही न्यून है अथवा जो भी कहा जाय वही बहुत है। हम जन्मने और मरने वाले प्राणियों की दृष्टि में जिसका आरम्भ है उसका अन्त है। भगवत्चरित्र आरम्भ किया है, तो उसका अन्त करना ही पड़ेगा।

सूतजी कहते है—"मुनियो! यदुवंश में महाराज देवमीढ के पुत्र शूर हुए। राजा शूर की मारिषा नाम की पत्नी से दश पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें वसुदेवजी सबसे ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ थे। इन्हीं वसुदेव की छोटी पत्नी देवकी के गर्भ से भगवान् वासुदेव का अवतार हुआ। भगवान वासुदेव के सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ थीं उन सबसे दश-दश पुत्र और एक-एक कन्या का जन्म हुआ। उन सबमें रुक्मिणी आदि आठ पटरानियाँ थीं, उनकी सतति का वर्णन मैं पीछे कर चुका हूँ। इन सब एक लाख इकसठ-सहस्र अस्सी पुत्रों में से अठारह महारथी थे। यदुकुल में उनका बड़ा यश था और वे बड़े शूरवीर, उदार तथा प्रसिद्ध थे। उनके नाम प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, दीप्तिमान, भानु, साम्ब, मधु, बृहद्भानु, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, देववाहु, श्रुतदेव सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि और न्यग्रोध थे। यद्यपि ये सबके सब महारथी थे किन्तु प्रद्युम्न इन सबमें श्रेष्ठ थे, बली थे, प्रभावशाली थे। अधिक क्या कहें एक प्रकार से भगवान के सदृश ही थे।"

प्रद्युम्नजी का विवाह उनकी माता रुक्मिणीजी के कहने पर उनके मामा रुक्मी की पुत्री के साथ हुआ। उसी के गर्भ से अनिरुद्धजी का जन्म हुआ। अनिरुद्धजी के सम्बन्ध में कहा जाता है, इनमें दश सहस्र हाथियों के बराबर बल था। ये भगवान् के पोत्र थे। इन्होंने भी रुक्मी की पौत्री से विवाह किया। दूसरा विवाह इनका बाणासुर की पुत्री ऊषा के साथ हुआ। बड़ी रानी के गर्भ से अनिरुद्धजी के वज्र नामक पुत्र हुए। विप्र शाप से जब यदुकुल का क्षय हो गया तब यदुवंश के बीजरूप ये वज्रजी ही अवशिष्ट रह गये थे। भगवान के स्वधाम पधारने पर द्वारावती नगरी तो समुद्र में डूब गयी थी, अतः वज्र को अर्जुन हस्तिनापुर ले आये पीछे उन्हें व्रजमंडल का राजा बना दिया। व्रजमंडल के समस्त चिह्न लोप हो गये थे। उन सबको वज्र ने ही पुनः प्रकट किया। मंदिरों का उद्धार किया, कुण्ड खुदवाये, ग्राम बसाये, भगवान् की लीला स्थलियों का प्राकट्य किया। इन वज्र के ही द्वारा यदुकुल की वृद्धि हुई।

महाराज वज्र के पुत्र प्रतिबाहु हुए। उनके सुबाहु, सुबाहु के शान्तसेन और शान्तसेन के शतसेन नामक पुत्र हुए। फिर यदुकुल में ऐसे कोई प्रसिद्ध राजा नहीं हुए। सब अल्पवीर्य और क्षीण आयु वाले हुए। शतसेन तक इस कुल में भगवान् श्री कृष्ण के प्रभाव से न तो कोई दीन हीन धनहीन ही राजा हुआ न कोई अल्प सन्तान वाला ही हुआ। सभी के बहुत से पुत्र हुए। सभी दीर्घायु, बल वीर्य से युक्त तथा पराक्रमी थे। यदुवंश में सभी राजा ब्राह्मण-भक्त तथा श्रद्धालु हुए।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सभी यादव संख्या में कितने थे?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यादवों की संख्या पूछकर क्या कीजियेगा। सब यादव तो इतने थे कि उन सबकी संख्या कोई

दश सहस्र वर्षों मे भी नहीं कर सकता। वे बहुत थे, इतना ही पर्याप्त है, यदुकुल के बालकों को पढ़ाने वाले आचार्य ही हजारों लाखों थे, फिर सम्पूर्ण यादवों की संख्या कौन करे? उन सब यादवों से घिरे हुए उन सबके एकमात्र सम्राट् यादवों के अधिपति उग्रसेनजी सुधर्मा सभा में बैठे थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इन असुरों में इतना बल पराक्रम कहाँ से आ गया?"

सूतजी बोले—"आ कहाँ से गया, भगवन्! सब उन्हीं का दिया हुआ बल है। देवासुर संग्राम में जो दैत्यगण मारे गये थे, ये ही फिर द्वापर के अन्त मे मनुष्यों में उत्पन्न हो गये। वे सबके सब जन्म से ही शूरवीर, पराक्रमी तथा भगवद्द्वेषी थे। वे अहंकार में भरकर प्रजाजनों को पीड़ा देते थे। उन सब असुरों का निग्रह करने के ही निमित्त भगवान् ने यदुवंश में अवतार धारण किया। यादवों के उस समय एक शत प्रमुख कुल थे। उन सबमें श्यामसुन्दर शक्तिशाली, सर्वगुणसम्पन्न तथा सर्वमान्य थे। जो यादव भगवान् के अनुकूल थे, उनकी इच्छा के अनुसार वर्ताव करते थे, उनकी अत्यधिक वृद्धि हुई। प्रायः समस्त यादवगण, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मे ऐसे दत्तचित्त रहते थे कि उन्हें असन, वसन, शयन, आसन, भ्रमण, संलाप, क्रीड़ा तथा स्नानादि कृत्यों का भी ध्यान नहीं रहता था।"

मुनियो! यदुकुल में अवतीर्ण होकर यादवेन्द्र ने अपनी अमल विमल कथा का विस्तार किया, सबको पावन बनाने वाली गंगाजी से भी बढ़कर अपनी कथा का महत्व बढ़ा दिया। भगवान के जिसने शत्रुभाव मे दर्शन किये हों या मित्रभाव से जिसने उनकी पूजा की हो या शत्रु समझकर उनके हाथों मारा गया हो, दोनों का ही सदा के लिये संसार बन्धन छूट गया। जिनके नामों का कीर्तन करने से अथवा उन सुमधुर मङ्गलमय नामों

के सुनने मात्र से ही सम्पूर्ण अमङ्गलों का नाश हो जाता है, उन सुदर्शनचक्रधारी कालरूप कृष्ण के लिये भू का भार उतारना कौन सी बडी बात है, यह तो साधारण-सी बात है। ऐसे यादवेन्द्र के पादपद्मों में हम पुन: पुन प्रणाम करके उनके चारु चरित्रों को समाप्त करते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् के चरणकमलों म प्रेम कैसे हो, कृपा करके इस प्रश्न का उत्तर और दें?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! मैं बार बार तो बतला चुका हूँ, भगवान् के चरणकमलों मे प्रेम होने का एक ही सरल, सुगम, सुन्दर, सर्वोपयोगी, उत्तम उपाय है कि उन लीलाधारी श्यामसुन्दर के चारु चरित्रों का नियम से श्रवण करे, उनके नाम और गुणों का गान करे, इससे ही उसके कर्मबन्धन लुप्त हो जायँगे, वह मोक्ष का अधिकारी बन जायगा। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की कमनीय कथाओं का नित्य प्रति अधिकाधिक श्रवण करने से, उनका श्रद्धाभक्ति के साथ कीर्तन से तथा चचलता को परित्याग करके चिन्तन करने से मनुष्य उनके परमधाम वैकुण्ठलोक को प्राप्त हो सकता है, जहाँ अति दुस्तर काल का वेग नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, दु:ख तथा क्लेश नहीं, भगवान की प्राप्ति के सम्मुख ये राज्यपाट, धन वैभव अत्यन्त तुच्छ हैं, बडे-बडे चक्रवर्ती राजा भी जिनकी प्राप्ति के लिये सर्वस्व त्यागकर विरागी बन जाते हैं। मुनियो! उन्हें मनुष्य कथा कीर्तन द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। उनके चरित्र नाम और गुणों के गान के अतिरिक्त दूसरा उनकी प्राप्त का कोई सुगम साधन हा नहीं। यह मैंने आपसे अति सक्षेप मे भगवान् के कुछ चरित्रा की कथा कही, अब आप क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने पाछे कहा था—वज्र ब्राह्मणों के शाप से दग्ध होने से बच गया, शेष सभी यादवों का

अन्त हो गया, सो यादवों को ब्राह्मणों का शाप क्यों हुआ ? यदुकुल का क्षय किस कारण हुआ कृपा करके इस कथा को भी ता हमें सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! इतनी सुन्दर सुन्दर कथायें मैंने सुनायीं, अब मुझे यदुकुल विनाश की भी दुखद कथा सुनानी पड़ेगी। महाराज ! यह कथावाचक का कार्य अत्यन्त कठोर है। इसमें वज्र का हृदय बनाकर तब कथा कही जाती है। अच्छी बात है, अब मैं आपको उस कथा को सुनाता हूँ, जिसमें यादवों के विप्र शाप की बात है। इसी प्रसङ्ग में मैं कुछ ज्ञान चर्चा करूँगा, उद्धव और भगवान श्रीकृष्णचन्द्र का दिव्य ज्ञानमय सम्वाद भी कहूँगा। आप सब इस परम पुण्यमय आख्यान को श्रद्धाभक्ति और अनुराग के साथ श्रवण करें। यह बड़ा ही गूढ़ विषय है।"

छप्पय

सब सारनिको सार श्याम गुन सुनें सुनावें।
ह्वैकें तन्मय सतत नाम हरि चरितनि गावें॥
सुखद सरस शुभ चरित जगत दुख दूर भगावें।
सुनत सुनत हरि कथा कृष्ण हिय माहिं समावें॥
पावन परम चरित्र जे, नेम प्रेम तैं गायँगे।
ते पहुँचहिं प्रभु पदनि महँ, पुण्य परम पद पायँगे।

❀ इससे आगे की कथा बावनवें खण्ड में। ❀

श्री विष्णु भगवान्

श्री विष्णु भगवान्

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(बावनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

संशोधित मूल्य २ ० रुपया

द्वितीय संस्करण १००० प्रति] चैत्र २०२९ मार्च १९७२ [मूल्य—१.६५

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१. यदुकुल को विप्रों द्वारा विनाश का शाप	१
२. विप्र शाप का व्यर्थ प्रतीकार	१४
३. वसुदेव नारद सम्वादारम्भ	२२
४. नारदजी द्वारा वसुदेवजी के प्रश्न का अभिनन्दन	३७
५. विदेह और योगेश्वर कवि सम्वाद	४५
६. नाम सकीर्तन महिमा	५४
७. योगेश्वर हरि द्वारा भगवद्भक्तों के लक्षण	६७
८. परम भागवतों के लक्षण	७८
९. योगेश्वर अन्तरिक्ष द्वारा भगवान् की माया का वर्णन	८६
१०. योगेश्वर प्रबुद्ध द्वारा माया से पार होने का उपाय	९६
११. भागवत धर्म	१०८
१२. योगेश्वर पिप्लायन द्वारा नारायण स्वरूप का वर्णन	१२५
१३ योगेश्वर आविर्होत्र द्वारा कर्मयोग का वर्णन	१३८
१४. प्रभु पूजा पद्धति	१४५
१५. योगेश्वर द्रुमिल द्वारा भगवत लीलाओं का वर्णन	१७६
१६. अन्य अवतार चरित	१८८
१७. योगेश्वर चमस द्वारा हरिविमुखजनों की गतिका वर्णन	१९५
१८. वेद निवृत्ति परक है	२०७
१९. किस युग में किस विधि से पूजा की जाय	२१६
२०. कलिकाल का युगधर्म	२२५
२१. श्री वसुदेव-नारद सम्वाद की समाप्ति	२३७

—:—

यदुकुल को विप्रों द्वारा विनाश का शाप

[११९६]

बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशम्
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
सहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १ अ० १० श्लो०)

छप्पय

यों लै कें अवतार श्याम बल असुर सँहारे ।
भार भूत भूपाल महाभारत महँ मारे ॥
भू को भार उतार जानि निज कुल कूँ दरपित ।
ताहू को सहार करन हरि सोचत हरषित ॥
विप्रनि कुपित कराइकें, यदुकुल शाप दिखाइकें ।
गमने प्रभु निज धाम कूँ, लीला ललित दिखाइकें ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने ऐसा अद्भुत मनोहर शरीर धारण किया था, जिसमें समस्त सुन्दर सामग्रियों का समावेश हो जाता था, स्वयं तो वे आप्तकाम थे फिर भी लोक में उनका मंगल कृत्य करते हुए द्वारावती में निवास करते हुए रमण करते थे। उन्हीं उदार कीर्ति भगवान् वासुदेव ने अपने कुल का भी नाश करने की इच्छा की, क्योंकि उनके अवतार का यही एक कृत्य अवशिष्ट रह गया था।

मकड़ी जो जाला बनाती है, वह सभी जाला उसका अपना है, अपनी क्रीड़ा के लिये वह उसे बनाती है। उसमें उसकी द्वैध बुधि नहीं कि इतना जाला मेरा है, इतना किसी अन्य का है। बनाते समय भी उसकी क्रीड़ा करने की ही इच्छा थी और जब उसे वह निगलती है, तब भी क्रीड़ा ही है। क्रीड़ा के अतिरिक्त उसमें कुछ है ही नहीं। हम लोग अपनी क्षुद्रबुद्धि के कारण यह सकल्प करते हैं, यह मेरा है यह पराया है, किन्तु जो परात्पर प्रभु हैं, सभी जिनकी लीला का विलास मात्र है, उनके लिये सब एकसे हैं। भगवान् भू का भार उतारने के निमित्त अवतार लेते हैं, उन्हे जो भी भाररूप दिखायी देता है, उसी का संहार कर देते है, करा देते हैं, उसमे अपने पराये का भेदभाव नहीं। उनके लिये कोई अपना पराया है ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने बलराम और श्रीकृष्ण के रूप मे अवतार लेकर प्रथम व्रज मे असुरों का संहार किया, फिर मथुरा मे आकर भू के भारभूत भूपतियों को मारा तदनन्तर द्वारका मे निवास करके राजाओं के रूप मे उत्पन्न हुए असुरो का स्वयं मारा दूसरों से मरवा दिया। महाराज पांडु के पाँचो पुत्रो को भी उन्होने भू भार उतारने के अपने कृत्य में सहायक बनाया। उनकी ही इच्छा से कपट द्यूत की सभा रची गयी, उनकी इच्छा से कौरवो द्वारा पाडव बुलाये गये, उन्हीं की इच्छा से द्यूत का खेल हुआ। उन्हीं की इच्छा से कौरवों ने पाडवो का अपमान किया। उन्हीं की इच्छा से रजस्वला द्रौपदी के कौरवो द्वारा केश खींचे गये और उन्हीं के सङ्कल्प से पांडव कौरवों पर कुपित हुए। वे न चाहते, तो महाभारत हो ही नहीं सकता था, वे सर्वसमर्थ थे, किन्तु वे जानते थे, महाभारत न होगा, तो भू का भार उतरेगा नहीं। ये असुर जो अब राजा बनकर पृथ्वी पर उत्पन्न हो गये हैं, ये बड़े बलदर्पित हैं। तपस्या और सैन्य बल से युक्त हैं,

मेरे अतिरिक्त इन्हें अन्य कोई मार नहीं सकता। अतः उन्होंने कौरव पाडव दोनो को ही कुपित करा दिया। पृथ्वी भर के राजा शूरवीर वली उस युद्धरूपी यज्ञ में आये और रण की वलिवेदी पर आकर वलिदान हो गये। स्वय तथा अपनी भुजाओ से सुरक्षित यादवो द्वारा पृथ्वी की भारभूत भूपतियो की सेनाओ का सहार करा दिया। दुष्ट मारे गये। वढी हुई जनसख्या न्यून हो गयी। वल दर्पित समस्त राजा मारे गये। धर्मराज राजा वन गये। भगवान् सुखपूर्वक द्वारावती मे निवास करने लगे। सब लोग कहने लगे 'भू का भार उतर गया, उतर गया।' किन्तु श्रीकृष्ण इसका अनुमोदन नहीं करते थे। भू का भार उतर जाता तो फिर भगवान् अपने धाम को पधार जाते। इसलिये वे मौन थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाभारत मे तो प्रायः सभी पृथ्वी के भारभूत शूरवीर क्षत्रिय मर गये, इसके अनन्तर तो कोई वली राजा रहे नहीं। फिर भगवान् ने अभी तक भू का भार उतरा हुआ क्यो नहीं समझा?"

सूतजी वोले—"महाराज! जो जिस विषय का विशेषज्ञ होता है, वही उस विषय के गुण दोषों को समझता है। भगवान् ही इस वात को जानते हैं, कौन पृथ्वी का भार भूत है किसके सहार से भू का भार उतरेगा। महाभारत हो जाने के अनन्तर भगवान् सोचने लगे—"लोग कहते है, भू का भार उतर गया, किन्तु मैं इसे नहीं मानता। क्योंकि अभी तक यह असह्य यादव कुल तो वना ही हुआ है। यह भी पृथ्वी के लिये साधारण भार नहीं है। क्योंकि मैंने इनके वश मे अवतार लिया है, इसलिये किसी अन्य का तो इन्हें मारने का साहस हो नहीं सकता। इन्हें धन की कमी नहीं ये धन वैभव से परिपूर्ण हैं। धन का मद भी इन्हें व्याप्त है। निरन्तर खान पान और वन-

विहार में ही ये सब फँसे रहते हैं। नित्य मेरे आश्रित रहने से इन्हें कोई भय भी नहीं। इसलिये जब तक ये अगणित यदुकुल के लोग रहेंगे, तब तक भू का पूरा भार न उतरेगा। दूसरा द्वारा ये मर नहीं सकते, क्योंकि दूसरों के लिये द्वारका अगम्य है। जैसे जिस वन में काटने वाले पहुँच नहीं सकते। उस वन में यदि बाँस बढ़ जाय, तो उनका नाश कैसे हो, क्योंकि जब तक बढ़ी हुई सृष्टि नाश नहीं होती, तब तक उन्नति नहीं होती ऐसे वनों में बाँसों में स्वयं ही रगड़ लगकर अग्नि उत्पन्न होती है। वही दावाग्नि समस्त वन को जलाकर भस्म कर देती है, भूमि को लता गुल्मों से रिक्त कर देती है, उसमें फिर नये अंकुर उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मुझे इस यदुकुल के वीरों को आपस में ही लड़ाना है, जब ये आपस में लड़कर मर जायँगे तब पृथ्वी का पूर्ण भार उतर जायगा। तभी मेरे अवतार का प्रयोजन पूर्णरूप से सिद्ध हो जायगा, उसी समय मैं निज धाम को चला जाऊँगा।"
ऐसा निश्चय करके सत्यसङ्कल्प, सर्वसमर्थ, सर्वान्तर्यामी श्रीहरि ने यदुकुल को ब्राह्मणों से शाप दिला दिया, उस विप्रशाप रूपी दावानल में ही सबको स्वाहा करा दिया। यदुकुल का जब संहार हो गया, तब भगवान् स्वधाम पधार गये। सौ वर्ष से अधिक भगवान् इस धराधाम पर विराजे। वह समय संसार के लिये कितना अमूल्य था, उसकी कल्पना मानव बुद्धि के परे की बात है। उन्होंने ऐसी मनोहर मूर्ति धारण की थी कि असंख्यों ब्राह्मणों के सौंदर्य को एक स्थान पर एकत्रित किया जाय और उसकी उत्तम से उत्तम सजीव मूर्ति बनायी जाय, वह भी श्रीकृष्ण मूर्ति के सम्मुख तुच्छातितुच्छ दिखायी देगा। ऐसी मनोहर मूर्ति दिखाकर उन्होंने प्राणियों के नयनों को सफल बनाया। अपनी दिव्य वाणी से अर्जुन, उद्धव आदि परमभक्तों को उपदेश देकर गीता, भागवत जैसे ज्ञानोद्गमों को प्रकट किया। जिनकी धारा

अब तक अखण्ड रूप से प्रवाहित होकर अधिकारीजनों के शुष्क हृदयों को परिप्लावित करती हुई शस्यश्यामला बनाये हुए है। जगत् के एकमात्र स्मरणीय श्रीहरि अपनी मधुर मधुर स्मृति को छोड़ गये, जो स्मरण करने वाले भक्तजनों के चित्तों के लिये एक वशीकरण के समान है। जिन्होंने उनकी मनोहर मूर्ति का, उनके दिव्य गुणों का, सुन्दर सरस लीलाओं का तथा उनके जगन्मङ्गल मनोहर नामों का स्मरण किया, उनका चित्त उसमें फँस गया, लिपट गया, फिर उसका संसार में निकल आना असम्भव है। जिन्होंने उन अखिलेश के चरणारविन्दों का दर्शन कर लिया उसकी अन्य सभी लौकिक क्रियायें रुक गयीं। भगवान् ने अवतार धारण करके एक अति अद्भुत कार्य किया, वे अपनी परम श्रुत मधुर भागवती कथाओं को छोड़ गये। कविजन उनकी कमनीय कीर्ति का कविताओं द्वारा गान करके अपनी-अपनी वाणी को सफल करते हैं, श्रोता उन श्रुत मधुर चरित्रों को श्रवण करके अपने श्रवणों को सफल करते हैं। इस प्रकार श्रद्धालु श्रोता भक्त श्रद्धा सहित गाकर सुनकर दोनों ही कृतकृत्य हो जायँगे, इसी प्रकार अपने यश का विस्तार करके, अपने अवतार के प्रयोजन को पूरा करके स्वधाम पधार गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप हमारे प्रश्न को भूल गये क्या? महाभाग! हमने आपसे पूछा था कि यदुकुल को ब्राह्मणों का शाप क्यों हुआ। समदर्शी विप्रों ने भगवान् के कुल वाले यादवों को शाप दिया ही क्यों? ब्राह्मण कुपित होते हैं अविनय से यादवों से ऐसी आशा स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। भगवान् उन्हें सदा शिक्षा देते रहते थे। यादव सबके सब ब्राह्मण-भक्त थे। उदार थे, यशस्वी थे, कुलीन थे तथा नित्य गुरुजनों की सेवा करने वाले थे। उनका चित्त सदा सर्वदा श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में ही लगा रहता था ऐसे ब्रह्मण्य

यादवों को विप्रों ने शाप क्यों दिया ? शाप का स्वरूप क्या था, किस बात पर ब्राह्मण क्रुद्ध हुए ? यादवों ने कौन-सी अविनय की ? यादवों का चित्त तो सदा प्रेम में भरा रहता था, वे सबके सब एकचित्त थे, फिर उनमें आपस में कलह क्यों पड़ गयी। क्यों उनमें भेदभाव हो गया। इन सब बातों को कृपा करके हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बड़े कष्ट के साथ बोले —"मुनियो ! मैं शाप का अन्य कारण क्या बताऊँ, आप यही समझ लें कि यह सब श्यामसुन्दर की इच्छानुसार ही हुआ। दैत्यों का वध करके सुखपूर्वक द्वारकापुरी में निवास करते थे। यादवों को देखते थे, वे सुरापान करके मदोन्मत्त हो जाते और अंट सट बकने लगते। भगवान् ने सोचा—"और सब भूमिका भार उतर गया, किन्तु ये यादव तो भूमिका भार रूप में रह ही गये। जब तक इनका संहार न हो तब तक मेरे अवतार का कृत्य पूर्ण नहीं होता। ऐश्वर्यमद में मदोन्मत्त यादवों को कोई अन्य कितना भी बली राजा क्यों न हो, हरा नहीं सकता।"

भगवान् तो काल स्वरूप हैं, अर्जुन ने जब उनका विराट्रूप देखा तो भयभीत हो गया, तब उसने पूछा—"प्रभो ! आप कौन हैं ?" तब भगवान् ने कहा था—"मैं कालरूप हूँ।" अर्जुन ने पूछा—"आप क्यों आये हैं ?" तब भगवान् ने कहा—"मैं लोक का क्षय करने के निमित्त आया हूँ जितने भी ये राजा हैं, इन सबको मैं निगल जाऊँगा और तुझे भी।"

वास्तव में भगवान् जीवों से जीवों को उत्पन्न कराते हैं जो मनुष्य एक जल का बिन्दु बनाने में असमर्थ है, रज का एक नवीन कण नहीं बना सकता, वह इतने लम्बे चौड़े पुरुष को क्या बनायेगा। मनुष्य का यह मिथ्याभिमान है, ये लड़के मेरे हैं इन्हें मैंने उत्पन्न किया है।" तू क्या करेगा रे पगले। करने कराने वाले तो

वे श्रीकृष्ण हैं। इसी प्रकार कोई किसी को मार नहीं सकता। कालरूप कृष्ण ही सबका संहार करते हैं, केवल भूतों को निमित्त बना देते हैं। अमुक रोग से मरा, अस्त्र से, जादू से, विष से, जल से, सर्प से तथा अन्य वस्तु से मरा। जब जिसका उन्हें संहार करना होता है, तब वैसा ही रूप रख लेते हैं। कालरूप भगवान् का जहाँ संकल्प हुआ, वहाँ सब साधन वैसे ही जुट जाते हैं। असंभव-सी लगने वाली बात संभव हो जाती है।

अब भगवान् ने यदुकुल के संहार का संकल्प कर लिया। उनकी लीलाओं में सहायक होने उन्हीं की इच्छा से बहुत से ऋषि मुनि मिलकर द्वारकापुरी में पधारे। उनमें विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ और नारद आदि मुख्य थे। इन इतने बड़े बड़े महर्षियों को आते देख भगवान् सिंहासन से उठकर खड़े हो गये, विधिवत् पूजा की सबसे कुशल प्रश्न किया, फिर सुस्वादु भोजन उन्हें कराया।"

भगवान् से सत्कृत होकर जब वे ऋषि मुनि चलने लगे तब भगवान् वासुदेव बोले—"मुनियो! आप कहाँ से पधारे हैं और यहाँ से कहाँ जाने का विचार कर रहे हैं।"

मुनियों ने कहा—"वासुदेव! हम तीर्थयात्रा कर रहे हैं। तीर्थयात्रा करते-करते हम द्वारका में आपके दर्शनों के निमित्त आये अब पुष्कर होते हुए हम लोग व्रजमण्डल को जाना चाहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"मुनियो! अब तो आपको कहीं वर्षा के चार महीने एक स्थान पर रहकर चातुर्मास्य व्रत करना होगा, यदि आप सबकी इच्छा हो तो अब के यहीं चातुर्मास्य व्रत करें। आपके यहाँ रहने से कभी कभी हमें भी दर्शन तथा उपदेश का सौभाग्य प्राप्त होता रहेगा।"

ऋषियों ने आपस में सम्मति की। सभी इस ने अनुमोदन किया। सभी द्वारका के समीप ही पिण्डार—

पुण्य क्षेत्र में रहकर चातुर्मास्य करने लगे। सभी ने फूँस की कुटियाँ बनाली वहाँ रहते सत्सङ्ग करते। यादव आ आकर सब प्रकार से उनकी सेवा करते।

यादवों के सिरपर तो काल मँडरा रहा था। विनाशकाल में बुद्धि विपरीत बन जाती है। श्रीकृष्ण कृपा से यादवों के पास धन का तो कुछ अभाव था ही नहीं। सम्पूर्ण द्वारकापुरी ही सुवर्ण की बनी हुई थी। धन के मद से वे सब मदोन्मत्त हो गये थे। उनमें सुरापान के व्यसन ने घर कर लिया था। प्रायः सबके सब सुरापी हो गये थे। एक दिन कुछ यादवों के उद्दण्ड कुमार क्रीडा करते करते हँसते खेलते पिण्डारक क्षेत्र में पहुँचे। वहाँ उन्होंने बडी बडी दाढी जटाओं वाले मुनियों को देखा। कोई वेद पाठ कर रहे थे, कोई हवन कर रहे थे, कोई जप करते थे तथा कोई अन्य धार्मिक कृत्य कर रहे थे। ये यदुवंशी कुमार उन सबकी चर्या देखते रहे। जब वे सब एकत्रित होकर कुछ सत्सङ्ग करने लगे, तब इन सबको एक विनोद सूझा। आपस में ये लोग कहने लगे—"ये इतने साधु एक स्थान पर बैठकर माल उडाते रहते हैं, इनमें कुछ सिद्धि भी है, या वैसे ही दिन काटते फिरते हैं। इनकी परीक्षा लेनी चाहिये।"

इस पर एक बोला—"क्या परीक्षा लोगे?"

यह सुनकर उन सबमें जो एक कुमार अधिक उद्दण्ड था वह बोला—"देखो, यह जो साम्ब है अत्यन्त ही सुकुमार है, इसके अङ्ग प्रत्यङ्ग सभी स्त्रियों के से हैं। इसे स्त्री बनाकर ले चलो और ऋषियों से पूछा जाय कि यह गर्भवती है, इसके लडका होगा या लडकी। इस पर वे या तो लडका कहेंगे या लडकी। तब हम हसत हसत साम्ब का मुख खोल देंगे, उनका हँसी उडावेंगे, बडा आनन्द रहेगा।"

इस पर साम्ब ने कहा—"चलो, हटो। मैं तो स्त्री नहीं बनता। पुरुष के लिये स्त्री वेष बनाना तो बड़ी अपमान जनक बात है, कोई दूसरी हँसी करो।"

इस पर सब कहने लगे—"न, भैया! यह बहुत सुन्दर रहेगा। स्त्रियों के वस्त्र पहिनने से कोई स्त्री थोड़े ही हो जाता है। तुम्हारी हानि क्या है पहिन लो कपड़े।"

जब सबने आग्रह किया, तो साम्ब ने भी स्वीकार कर लिया। सबने मिलकर साम्ब को भली भाँति स्त्री बना दिया। उसके पेट में कपड़े बाँधकर उसे बड़ा बना दिया। सब उसे सजा-बजाकर घूँघट से उसके मुख को ढाँपकर मुनियों के समीप ले चले।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये जाम्बवतीनन्दन साम्ब तो बहुत बड़े हो गये होंगे। इनके तो नाती-पोते हो गये होंगे, फिर आप इन्हें अभी कुमार ही क्यों कहते हैं। इन इतने बड़ों को ये लड़कपन की बातें क्यों सूझीं?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! राजाओं के लड़के चाहे बूढ़े क्यों न हो जायँ वे सब कुमार ही कहलाते हैं। जो सबसे बड़ा पुत्र होगा, वह तब तक कुमार कहलावेगा, जब तक उसके पिता जीवित रहेंगे। पिता के मरने पर वह तो राजा हो जायगा, शेष सभी कुमार ही के नाम से पुकारे जायँगे, चाहे नाती-पोते कितने भी हो जायँ। इसीलिये ये सबके सब कुमार कहलाते थे। हाँ, ये सबके सब बड़ी-बड़ी अवस्था के थे ८० ९० वर्ष से तो कोई कम ही न होगा, किन्तु महाराज! जब तक माता-पिता जीवित रहते हैं, तब तक पुत्र चाहे, कितना भी बड़ा क्यों न हो जाय उसमें लड़कपन रहता ही है। गम्भीरता तो तब आती है, जब अपने सिर पर बोझ पड़ता है। जब तक माता पिता बैठे हैं, तब तक निश्चन्त होकर खेलते खाते रहते हैं। फिर ये सबके सब

भगवान् के वीर्य से उत्पन्न हुए थे इसलिये ये सब जरा, रोग से रहित थे। जैसे भगवान् सदा सोलह वर्ष के-से बने रहे वैसे ही ये सब भी थे। दाढ़ी मूछों ने बढ़कर इनके मुखों को चिड़ियों का जैसा घोंसला नहीं बना दिया था। ये सबके सब नित्य किशोर से लगते थे। साम्ब इतनी अवस्था होने पर भी इतने सुकुमार थे कि जब उन्हें स्त्री का वेष बना दिया, तो कोई पहिचान ही नहीं सकता था कि ये स्त्री नहीं हैं। स्त्रियों की-सी इनकी मधुर मीठी पैनी वाणी थी, वैसे ही पतली-पतली लाल-लाल उँगलियाँ थीं। पैर भी कोमल और मृदुल थे। स्त्री वेष उनके सर्वथा अनुरूप बैठ गया।

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी! फिर क्या हुआ? आगे की कथा सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हुआ क्या महाराज, वे महाकाल द्वारा प्रेरित राजकुमार अपनी हँसी रोककर बनावटी नम्रता धारण करके स्त्री बने साम्ब को आगे करके मुनियों के निकट पहुँचे। उन सबने दूर से ही लम्बी डंडौत झुकायी। फिर समीप जाकर सबने मुनियों के चरण छूए। वह स्त्री वेषधारी साम्ब स्त्रियों की भाँति लजाता हुआ घूँघट में से एक आँख से ऋषियों को देखता हुआ प्रणाम करके जहाँ उन छोकरों ने बैठाया था, वहाँ बैठ गया।

अब उनमें से जो अधिक चञ्चल, चपल, उद्दण्ड और बातें बनाने में चतुर था वह बनावटी गम्भीरता के साथ नम्रतापूर्वक बोला—"हे मुनिगण! यह एक कुलीन वंश की महिला है। हमारे ही वंश की यह पत्नी है। यह श्यामलोचना सुन्दरी सुकुमारी कुछ पूछना चाहती है।"

इस पर दुर्वासा मुनि बोल उठे—"हाँ, पूछे क्या पूछना चाहती है?"

इस पर वही उद्दण्ड कुमार बोला—"अब महाराज! यह कैसे पूरे, अभी तो कलियुग लगा ही है। कुछ अंश द्वापर का है।

कलियुगी कुलीन स्त्रियाँ बिना संकोच के पुरुषों से सबके सम्मुख बातें करेंगी। अभी तो इसका इतना साहस है नहीं। यह स्वयं

पूछने में सकुचाती है, हमारे ही द्वारा प्रश्न पुछवाती है।"

दुर्वासा मुनि बोले—"अच्छा, तुम ही पूछो। क्या इसका प्रश्न है ?"

यह सुनकर वही कुमार बोला—"महाराज! यह गर्भवती है, अभी शीघ्र ही १०।५ दिन में इसका प्रसव होने वाला है, यह चाहती है मेरे पुत्र हो। आप लोग तो त्रिकालज्ञ हैं और अमोघ-दर्शन हैं। यह बतावें कि इसके पुत्र होगा या पुत्री ? कब प्रसव होगा ?"

यह सुनकर जितने कुमार थे, सभी को हंसी आ गयी, वे मुँह फेरकर हँसने लगे। बनावटी बात को तो कोई व्यवहार पटु पुरुष भी समझ सकता है, सो वे सर्वज्ञ मुनि थे। कुमारों की धूर्तता-को वे समझ गये, उन्हें उनकी इस धृष्टता पर क्रोध आ गया। भवितव्यता की प्रेरणा थी, भगवान् की इच्छा थी, विधि का ऐसा ही विधान था। जितेन्द्रिय और व्रतपरायण मुनियों को भी क्षोभ हुआ वे सोचने लगे—"भगवान श्रीकृष्ण के पुत्र पौत्र होकर भी ये इतने धृष्ट और अविनीत हैं, इन्हें इनकी अविनय का फल चखाना चाहिए। भावीवश सभी ऋषियों के मन में यही बात बैठ गयी। दुर्वासा मुनि तो क्रोध की मूर्ति ही थे। वे सूखी हँसी हँसते हुए कहने लगे—"बेटाओ! यह घूँघट वाली बहू न बेटा जनेगी न बेटा। ऐसी वस्तु जनेगी, जिससे तुम्हारे सम्पूर्ण कुल का नाश होगा। अरे, धूर्तो! जिस छोकरे को तुमने छोकरी बना रखा है, उसी के पेट से ऐसा मूसल निकलेगा कि उसी से तुम सबके सब इस लोक की लीला समाप्त कर जाओगे।"

महामुनि दुर्वासा के शाप का सभी ने साधु-साधु कहकर अनु-मोदन किया। यदुकुमार ऐसी विनोद सब भूल गये। उनके मुख फक पड़ गये। वे सबके सब मारे डरके थर-थर काँपने लगे। किसी का भी साहस न हुआ कि मुनियों से कुछ कह सकें वे तुरन्त

वहाँ से चल दिये। दूर आकर उन सबने स्त्री बने हुए साम्ब के पेट को खोला, सबने आश्चर्य के साथ देखा कि सचमुच उन कपड़ा से एक लोहे का मूसल निकला है। उसे देखकर तो उनका धर्य छूट गया। एक दूसरे के मुख को देखने लगे। सब आपस में अपने को धिक्कारने लगे—'हाय! हम लोगों को कैसी कुबुद्धि उत्पन्न हो गयी। हम मन्दभाग्यों ने इन सर्वज्ञ मुनियों से ऐसा अनुचित हँसी क्यों की? इस बात को बलदेवजी या हमारे पिता सुनेंगे तो हमें क्या कहेंगे, सभी लोग हम धिक्कारेंगे। हम ही अपने सम्पूर्ण कुल के विनाश के कारण बन गये।'

इस पर एक ने डरते-डरते कहा "इस मूसल को कहीं भूमि में गाड़ दो और चुपचाप चले चलो इस बात को किसी से कहो ही मत।" इस पर एक ने कहा—"भया! यह बात छिप नहीं सकती मुनियों का वचन अमोघ है, वह अन्यथा हो नहीं सकता। अतः इस लेचलकर महाराज उग्रसेन के सम्मुख रख दो। वे राजा हैं, इसका कुछ न कुछ प्रतिकार करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस बात का सभी ने समर्थन किया। सब उसे महाराज उग्रसेन के समीप लेकर चले। अब महाराज उग्रसेन जिस प्रकार इसका प्रतिकार करेंगे उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

शौनक पूछें—'सूत! शाप किमि [illegible]।
क्यों हरिने संहार स्वयं निज कुल को [illegible]।
सूत कहें—'सुत [illegible]।
पिंडारक महँ [illegible]।
[illegible]
[illegible]

विप्रशाप का व्यर्थ प्रतीकार

[११६७]

भगवाञ्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा।
कर्तुं नैच्छद् विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १ अ० २४श्लोक)

छप्पय

द्विजनि शाप सुनि कुमर भये अति दुखित डराये।
साम्ब उदर तैं मुसल भयो लखि सब घबराये॥
थर थर काँपत आइ नृपहिं सब वृत्त बतायो।
उग्रसेन सुनि सकल मुसल तुरतहिं रितवायो॥
चूरौ अरु लोहो बच्यो, फेंक्यो सागर महँ जबहिं।
चूरौ बहि तट पै लग्यो, भये एरका तृन तबहिं॥

मृत्यु को मन्त्र, ओषधि, जप तप तथा कोई भी कर्म रोक नहीं सकते। महाकाल के सम्मुख किसी की कुछ चलती नहीं। वे जो करना चाहते हैं, वह होकर रहता है। पुरुष मृत्यु से बचने के

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् भगवान् वासुदेव सब कुछ जानते थे, तो भी उन्होंने उस विप्रशाप को व्यर्थ करने में समर्थ होने पर भी उसे अन्यथा करने की इच्छा नहीं की! यही नहीं उन बालरूप कृष्ण ने उसका अनुमोदन ही किया।"

अनेक उपाय करता है, किन्तु काल के सम्मुख वे सब व्यर्थ बन जाते हैं। समुद्र में सहस्रों हाथ नीचे जल में जन्तु रहते हैं, काल वहाँ भी पहुँच कर उन्हें खोजकर निकाल लाता है। आकाश में निराधार रहने वाले भी जन्तु हैं। सुना गया है कि एक पक्षी निरन्तर आकाश में ही रहता है, वहाँ रहकर ही वह अन्डा देता है, अन्डा ऊपर से नीचे आते-आते फूट जाता है। जहाँ अन्डा फूटा कि उसमें से बच्चा निकलते ही ऊपर उडने लगता है, पृथ्वी का स्पर्श वह भूलकर भी नहीं करता, उडकर अपनी माँ के पास रहने लगता है। ऐसे पक्षी को भी काल अपना कवल बना लेता है, वह भी एक दिन मर जाता है। इतना सब जानते हुए भी मन मानता नहीं। मृत्यु का निश्चित कारण ज्ञात होने पर भी प्राणी उससे बचने का प्रयत्न करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब साम्ब के उदर से लौहमय मूसल निकला और उसके कारण यादवकुमार अत्यन्त चिन्तित हुए तब सभी सम्मति करके महाराज उग्रसेन के समीप चले। वे सब डर रहे थे कि हमारी अविनय की बात भगवान् को विदित न हो जाय। सबके सब यदुकुमार भगवान कृष्ण से अत्यधिक डरते थे। उग्रसेन के सम्मुख तो वे बालकों की भाँति हठ भी कर लेते थे। बूढे होने से उग्रसेन महाराज सभी को प्यार करते थे, अतः उनसे कुमारों को उतना संकोच नहीं था। इसलिये वे एकान्त में महाराज के महलों में गये। महाराज अपने अन्त पुर में बैठे थे, वे शयन की तैयारियाँ कर रहे थे, तभी तक ये कई कुमार चुपके से चोर की भाँति गये। जाकर उन सबने महाराज को प्रणाम किया, उनके चरण छुये और बैठ गये।"

असमय में कुमारों को अपने घर में आये देखकर उग्रसेनजी कुछ विस्मित हुए। उन्होंने बडे स्नेह से पूछा—"कहो, भैया! अच्छे हो न तुम सब लोग? तुम सबका मुख मलीन क्यों हो रहा

है, तुम सब घबराये हुए से प्रतीत होते हो ? द्वारका मे कोई दुर्घटना तो घटित नहीं हो गयी। किसी शत्रु ने तो हमारे नगर पर चढाई नहा कर दा ?"

यादव कुमारा मे से एक बोला—"नहीं, महाराज ऐसी कोई बात नहीं। चारो ओर समुद्र से घिरी, सब रक्षा साधनो से सम्पन्न इस नगरी पर चढ़ाई करने का साहस ही किसका हो सकता है। फिर भी एक बडी ही अशुभ घटना घटित हो गयी।"

चोककर महाराज उग्रसेन ने कहा—"वह क्या अशुभ घटना हुई। मङ्गल स्वरूप माधव के विराजमान् रहत कोन सी अमङ्गलमया घटना घटित हो सकती हे ! मुझे शीघ्र बताओ क्या बात हे ?"

सबका ओर देखकर वही कुमार बोला—"महाराज ! हम वेस नहा बतावेंगे। बडी ही अशुभ सूचना है। आप दो वचन दे तब हम बतावेंगे।"

महाराज उग्रसेन ने व्यग्रता के साथ कहा—'कहो, कहो, क्या अशुभ सूचना हे। मैंने तुम्हे दो वचन दिय। बोलो क्या चाहते हो ?"

यादव कुमारा ने कहा—"महाराज ! पहिला वचन तो हम यह चाहत हैं कि हमारा अक्षम्य अपराध क्षमा कर दिया जाय और दूसरा बात यह हे कि यह बात भगवान् के काना मे न पहुँचने पावे।" य दो वचन आप हम दें, तो हम सब वृत्तान्त बतावें।"

उग्रसेनजा ने कहा—"अच्छा, दिय। अब शीघ्र बताओ क्या बात ह ?"

कुमारा में स एक न कहा—"हमने मूर्खतावश साम्ब को स्त्री बनाकर मुनिया के समीप जाकर पूछा कि यह लड़का जनगी या लडका ?"

इस पर उन सबन सम्मति करके हम सबको घोर शाप देत

हुए कहा—"अरे, मतिमन्दो ! इसके न लडका होगा न लडकी, इसके उदर से एक यादव कुल का नाश करने वाला लोहमय मुसल उत्पन्न होगा। उसी के कारण तुम्हारे राम-कृष्ण दो को छोडकर प्रायः सभी का विनाश हो जायगा।" महाराज ! इस दारुण शाप को सुनकर हम सब तो डर गये। कपड़े बाँधकर जो हमने साम्ब का पेट फुला रखा था, उसे ज्यो ही खोला, त्यों ही यह मुसल निकल आया। उसे लेकर हम आपके समीप चले आये। आप इसका कुछ प्रतिकार कर सकते हों, तो करें, किन्तु भगवान् के सम्मुख हमारी अविनय की बात न बतावें। इतना कहकर और उस मुसल को आगे रखकर यादवकुमार चुप हो गये।

उग्रसेनजी ने उस भयकर भीषण मुसल को देखा। उनके तो उसे देखते ही प्राण सूख गये। वे बडी देर तक सोचते रहे अन्त में एक कुमार से बोले—"तुम अभी ही जाकर अमुक लुहार को बुला लाओ। उसे मेरी आज्ञा सुनाना और कहना—रेती लेकर अभी मेरे साथ चलो।" जो आज्ञा कहकर वह कुमार तुरन्त चल दिया। कुछ ही काल मे वह लुहार को लेकर आ गया। उसने महाराज की जय-जयकार की और प्रणाम करके खडा हो गया।

महाराज ने उससे कहा—'देखो, भाई यह लोहे का मुसल है, इसे यहीं हमारे सम्मुख बैठकर रेत रेतकर इसका चूरा बना दो।"

उसने कहा—"जैसी महाराज की आज्ञा।" यह कहकर वह वहीं बैठ गया। उसने पूरा बल लगाकर रेतना आरभ किया, ज्यो-ज्या उसका चूरा होता जाता था त्या-त्यों यादवकुमारों को सन्तोष होता जाता था। आधी रात बीतते उस लुहार ने पूरे मुसल को रेत-कर चूर्ण बना दिया। एक टुकडा शेष रह गया, जिस पर रेती चलती ही नहीं थी, वह किसी प्रकार रेता ही नहीं जा सकता था। कितने भी बड़े लोहे को रेतो एक टुकडा बच ही जायगा। जब

किसी भी युक्ति से वह टुकड़ा न रेता जा सका, तो उग्रसेनजी ने कहा—"कोई बात नहीं, इतना छोटा टुकड़ा क्या करेगा, जब यह रेता ही नहीं जा सकता तो इसे छोड़ दो।" लुहार ने छोड दिया। महाराज ने उस लुहार को प्रसन्न होकर बहुत-सा धन पारितोषिक रूप मे दिया। वह उसे लेकर और यदुराज का जय-जयकार करता हुआ चला गया।

लुहार के चले जाने के अनन्तर महाराज उग्रसेन ने कहा—"देखो, इस चूर्ण को और इस लोहे के टुकड़े को बड़ी सावधानी से ले जाओ। इसका एक कण भी भूमि पर न गिरने पावे। नौका में बैठकर बीच समुद्र मे दूर जाकर इसे छोड़ आओ। अब यह हमारा क्या अनर्थ कर सकता है।"

यह सुनकर सब-के-सब राजकुमार समुद्र तट पर आये। एक मछली पकड़ने वाले की नौका ली और घोर रात्रि मे उस पर चढ़ कर दूर चले गये। बहुत दूर जाकर समुद्र के बीच मे छोड़कर वे सब-के-सब प्रसन्न थे और सोच रहे थे—"हमने अपने पुरुषार्थ से ब्राह्मणों के शाप को भी अन्यथा कर दिया। अब तो मुसल का नाम भी नहीं रहा। समुद्र के गर्भ मे चला गया। अब हमारा क्या कर लेगा।" ऐसा सन्तोष करके वे द्वारकापुरी मे चले आये और अपने-अपने घरों मे आकर सुखपूर्वक सोने लगे।

अब उस चूरे का इतिहास भी सुनिये। उन कुमारों ने ज्यों ही उस लोह चूर्ण को तथा उस अवशिष्ट टुकड़े को जल मे फेंका, त्यों ही वह लोहे का भारी टुकड़ा तो जल के भीतर चला गया, किन्तु लोह चूर्ण जल के ऊपर ही तैरता रहा। वह टुकड़ा जब जल के भीतर जा रहा था, तो एक बड़ा भारी मत्स्य वहाँ बैठा था, उसने समझा यह कोई खाने की वस्तु है, अतः उसे वह निगल गया, उसके पेट मे वह लोहा चला गया। लोहे का चूरा समुद्र की तरंगों के साथ बहते-बहते प्रभास क्षेत्र के समीप समुद्र तट पर लग गया।

समुद्र तट पर जमा हो गया। समुद्र वहाँ से हट गया, उसी चूर्ण कणों से वहाँ एरका (सरपत) का बड़ा भारी वन हो गया।

इधर समुद्र में मछुआ जाल डालकर मछली पकड़ रहे थे, बहुत-सी मछलियाँ उनके जाल मे आकर फँसी, उनके साथ वह बड़ा मत्स्य भी फँस गया, जिसने उस अवशिष्ट मुसल की कीलको निगल लिया था। मछुए उन सब मछलियों को ले गये। उस बड़े मत्स्य को देखकर सब बड़े प्रसन्न हुए। सभी ने मिलकर उसके पेट को चीरा। पेट को चीरकर उसके पखो को नोंच-नोंच कर फेंक रहे थे, उसी समय वह कील निकली। सभी बड़े कौतूहल के साथ देखने लगे—"यह क्या है, यह क्या है ?" सबने ध्यान पूर्वक देखा, तो समझ गये लोहे की कील है, भूल से मछली निगल गयी होगी।

वहीं पर एक जरा नाम का व्याध भी बैठा था। उसका काम था, जगली जीवो को मारना। उसने जब उस लोहे की कील को देखा, तो मछुओ से कहा—"भैया ! इस कील को तो मुझे दे दो। यह बड़ी चमकीली है और बहुत कड़ी है। इसे तो मैं अपने बाण की नोक मे लगाऊँगा। इससे शीघ्र ही हिरण मर जाया करेंगे।"

मछुओ को इसमे क्या आपत्ति थी। उन्हें तो उस कील को फेंकना ही था। सबने सहर्ष उस जरा व्याध को वह कील दे दी। वह उसे पाकर परम प्रसन्न हुआ। अपने बाण की नोक पर उसने उस नुकीली कील को बड़ी सावधानी से जड़ लिया और उसे देखकर वह प्रसन्न हुआ। इसी बाण को जरा व्याध भगवान् के श्रीचरणो मे मारेगा। भगवान् अपने आप सब विधान बना लेते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! सर्वज्ञ भगवान् तो सब जान ही गये होगे, उन्होने इस विप्रशाप को अन्यथा क्यो नहीं कर दिया। वे तो सर्व समर्थ हैं, विप्रो के शाप को बदलना

तुच्छाति तुच्छ बात है, वे तो निमेष भर में समस्त विश्वब्रह्माण्ड को बदल सकते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! बदल क्यों नहीं सकते थे। भगवान् तो सब ही कुछ कर सकते हैं, किन्तु यह सब तो भगवान् की इच्छा से ही हो रहा था। विप्र तो भगवान् की लीलाओं में सहायक ही थे, उन्होंने भगवान् की प्रेरणा से ही शाप दिया। इसलिये समर्थ होते हुए भी सर्वज्ञ भगवान् ने उसे अन्यथा करने की इच्छा नहीं की। प्रत्युत उनके शाप का अनुमोदन ही किया। अब यदुकुल विनाश के सब साधन एकत्रित हो गये। यादवों के सिर पर काल मँड़राने लगा। भयंकर रूप रखकर महाकाल छिपकर यादवों के घर में चक्कर लगाने लगा। कोई-कोई विवेकी पुरुष उसे प्रत्यक्ष देखते भी थे, किन्तु सर्वसाधारण यादव तो धन के मद में मत्त हुए विषयों का भोग करने लगे। वे यथेष्ट सुरापान करते थे। शाप की बात सुनकर उग्रसेन का भी हृदय धक्-धक् करने लगा था, अतः उन्होंने रक्षा के और भी प्रबन्ध किये। एक विशेष नियम बनवा दिया कि द्वारका में कोई सुरापान नहीं कर सकता। इससे द्वारका में सुरा का आना ही बंद हो गया। सब लोग सावधान रहने लगे, किन्तु काल के सम्मुख किसकी चलती है।

भगवान् वासुदेव का दो व्यक्तियों पर विशेष अनुराग था, एक तो अपने पिता वसुदेवजी के ऊपर और दूसरे अपने सखा उद्धव के ऊपर। अतः अन्तिम समय में दोनों को ही तत्वज्ञान का उपदेश दिया। अपने पिता वसुदेवजी को तो वे स्वयं उपदेश कैसे दे सकते थे। यह बात लोक मर्यादा के विरुद्ध थी, अतः उन्हें तो देवर्षि नारदजी से उपदेश दिलाया और उद्धवजी को स्वयं अन्तिम समय में उपदेश दिया, जो 'उद्धवगीता' के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। दोनों ही भगवान् की कृपा से इन तत्वज्ञान पूर्ण उपदेशों को

पाकर कृतार्थ हो गये। दोनों ही परम पद के अधिकारी हो गये। अधिकारी क्या हो गये, ये तो प्रभु के नित्य पार्षद ही थे, इनके द्वारा लोक का कल्याण कराया।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वसुदेव नारद सम्वाद को तथा उद्धवजी और भगवान् के सम्वाद को कृपा करके हमे भी सुनाइये। महाभाग! इस यदुकुल की सहार लीला के स्मरण से तो अभी से हमारे रोमाञ्च हो रहे हैं। कृपा करके हमे नारद गीता और उद्धव गीता को सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! मैं आपको इन दोनों परम पुण्यप्रद सम्वादों को प्रथम सुनाऊँगा, तदनन्तर यदुकुल सहार की दुखःद कथा सुनाऊँगा। अब आप सर्वप्रथम वसुदेव और नारदजी के ही सम्वाद को श्रद्धा सहित श्रवण करें। नारदजी तो भगवान् के मन हैं, वे जो कहेंगे भगवान् की इच्छा से ही कहेंगे। यह 'कथा' कुछ अधिक गूढ़ है, अतः इसे अत्यन्त समाहित चित्त से श्रवण करने की आवश्यकता है।"

छप्पय

जो लोहे की कील बची सो सफरी खाई।
उदरि फारि सो जरा ब्याध सर नोंक लगाई॥
यदुकुल को सहार साज सबरो ई साज्यो।
महाकाल को कठिन क्रूर अब घंटा बाज्यो॥
सखा और निज जनक कू, तत्वज्ञान अन्तिम दयो।
नारद मुनि वसुदेव तैं, उद्धव तैं आपुहिँ कह्यो।

वसुदेव नारद सम्वादारम्भ

[११९८]

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥
तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥❀

(श्रीभा० ११ स्क० २ अ० १, ३ श्लो०)

छप्पय

अब नारद वसुदेव सुनहु सम्वाद प्रथम मुनि ।
भजे मोह भ्रम सकल सरल उपदेश सुखद सुनि ॥
एक दिवस वसुदेव भवन नारद मुनि आये ।
सब विधि करि सत्कार मृदुल आसन बैठाये ॥
बोले श्रीवसुदेवजी, मुनिवर ! अब हम का करें ।
देहु सुगम उपदेशवर; अनायास जग तें तरें ॥

भगवान् के दर्शन होने पर भी जब तक तत्वज्ञान का निर्णय नहीं हो जाता, तब तक भ्रम बना ही रहता है, इसलिये आचार्यों ने भागवत धर्म के प्रचार पर बड़ा बल दिया है। जब तक

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे कुरुकुलनन्दन राजन् ! भगवान् श्यामसुन्दर की भुजाओं से सुरक्षित द्वारावती पुरी में श्रीकृष्ण उपासना की लालसा से देवर्षिनारदजी प्रायः निरन्तर ही बने रहते थे। एक समय वसुदेवजी ने देखा देवर्षि नारदजी अपने घर पर पधारे हुए हैं, तो उनकी विधिवत् पूजा की जब वे सुखपूर्वक आसन पर बैठ गये, तो उन्हें प्रणाम करके ये कहने लगे।"

भागवत धर्मों का बाध नहीं होता, तब तक संसार बन्धन छूटता नहीं। परमपद की प्राप्ति, बिना तीव्रतर साधना के होती नहीं। लोग संसारी कामों को आजीविका उपार्जन उदरपूर्ति आदि को ही बहुत कठिन बताते हैं, किन्तु यह परमार्थ का पथ उससे भी कठिन है। अत्यंत तीक्ष्ण छुरों की धार के ऊपर से चलना होता है। किसी को भी बिना उग्र साधना किये सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई। साक्षात् ज्ञानावतार भगवान् कपिल की माता देवहूति को कितनी उग्र तपस्या करनी पड़ी, तब सिद्धि प्राप्त हुई। ध्रुव आदि कुछ दो चार ऐसे उदाहरण हैं, जिन्हे अल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त हो गयी, तो ये कोई उदाहरण नहीं। ये तो अपवाद हैं। जैसे धन, व्यापार आदि से ही प्राप्त होता है, किसी का पिता मर गया, उसे सहसा करोड दो करोड मिल गये। अथवा द्यूत में सहसा विपुल धन मिल गया, तो यह इस जन्म की कमायी नहीं है। पूर्व जन्मों का संचित धन है। जैसे पेट तो तभी भरेगा, जब भोजन बनेगा। किसी के यहाँ कल का बासी बना हुआ रखा है, वह उसे खाकर पेट भर ले तो इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि उनका बिना बनाये पेट भर गया। आज नहीं बनाया कल बनाया था, श्रम तो हुआ ही। ध्रुवजी को इस जन्म मे छै महीने में ही सिद्धि मिल गयी, किन्तु पूर्व जन्मा में उन्हाने कितनी घोर तपस्या की थी, इसे कोई नहीं सोचता। कहना चाहिये उग्र साधनो द्वारा वे सिद्ध पहिले ही हो चुके थे, केवल छे महीने की कमी रह गयी थी, उसकी पूर्ति इस जन्म मे की। सुन्दर-सुन्दर कपडे पहिन लेना, समय पर उत्तम से उत्तम पदार्थ बनाकर खा लेना, संसार मे पद प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना, मृदुल गुदगुदी शय्या पर सुखपूर्वक सोकर समय को बिता देना, इन कामों से भगवान् मिलते होते तो ये धनिक सभी परम अधिकारी बन जाते। जब तक अपना सर्वस्व भगवद्

किया जाय, जब तक विशुद्ध अन्तःकरण से भागवत धर्मों का पालन न किया जाय, तब तक परमपद की प्राप्ति नहीं होती। मन विषयों को जुटाने में लगा रहे ऊपर से तिलक छापे लगाकर लोगों से मान बड़ाई लूटने के लिये भगतजी बने रहें, तो यह एक दम्भ है। ऐसे दम्भी के सम्मुख भगवान् भी आ जायँ तो उनसे भी वह बातें न करेगा।"

एक बार नारदजी ने भगवान् से कहा—"प्रभो! अमुक सेठजी बड़ा दान करते हैं, उन्हें आप दर्शन दें। उन्होंने बहुत धर्मशालायें बनवा दी हैं। क्षेत्र लगाये हैं। उन्हें आप दर्शन दें।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"उसने अपने घर से थोड़े ही लगाए हैं। व्यापारियों से धर्मादे का द्रव्य पृथक् काटता है, उसी से यह बनवाता है।"

नारदजी ने कहा—"कैसे भी सही महाराज! कर तो पुण्य ही रहा है।"

भगवान् ने कहा—"पुण्य कर रहा है, तो उसका नाम हो रहा है, कुछ मेरे लिये थोड़े ही कर रहा है, नाम के लिये कर रहा है, नाम उसका हो रहा है।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! दान कैसे भी दिया जाय, उसका फल शुभ ही होगा। श्रद्धा से दे, अश्रद्धा से दे, प्रतिष्ठा के लिये दे, नाम के लिये दे। दान तो व्यर्थ होता नहीं।"

भगवान् ने कहा—"मैं व्यर्थ कब बताता हूँ, जितना वह पुण्य कर रहा है, उतना उसे स्वर्ग सुख मिल जायगा। मेरे दर्शनों की क्या आवश्यकता है।"

यह सुनकर नारदजी ने रोष में भर कर कहा—"महाराज! अब आप भी व्यापारियों की-सी बातें करने लगे। जब उसे उसके पुण्यों का फल तराजू में तौलकर उतना ही मिल जायगा, तो आपकी कृपा का क्या अर्थ हुआ। आप तो कृपासिन्धु हैं,

उस पर कृपा करो। शुभ कार्य कर रहा है उसे दर्शन दो।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"भाई, कृपा भी तो उसी पर की जाती है, जो कृपा चाहता हो, वह तो धन चाहता है, मान चाहता है, वह मैं उसे दे रहा हूँ।"

नारदजी ने कहा—"हाँ, महाराज! यही तो मैं कहता हूँ, धन मान वह चाहता है, उसके लिये वह प्रयत्न करता है, आप उसे देते हैं, इसमें आपकी क्या विशेषता? यह तो संसारी व्यापारी भी करता है। धन मान से बढ़कर आपके दर्शन हैं। धन मान तो आप उसे उसके पुण्यकर्मों के बदले में देते हैं। दर्शन कृपा करके दें। अपने कृपालु नाम को सार्थक करें। फल बेचने वाली फल बेचने आप के द्वार पर आयी थी, आपने उस पर अपनी असीम कृपा दिखायी। आपने उससे फल लिये, बदले में अनाज दिया यह तो व्यवहार हुआ। अनाज को रत्न मणि माणिक्य कर दिया, यह आपकी उदारता हुई, ऐसे ही इस सेठ पर कृपा करो।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई नारद! तुम मेरे पीछे क्यों पड़े हो। वह मालिन तो न जाने कब से मेरी कृपा की भूखी थी, फल बेचना तो उसका उपलक्षण मात्र था। वह इसी के द्वारा मेरे दर्शन चाहती थी। फल बेचना उसका ध्येय नहीं था, ध्येय तो मुझसे प्यार करना था। मुझसे प्रेम करने ही वह मेरे द्वार पर चील की भाँति मड़राती रहती थी। बिना बुलाए मेरे यहाँ आ जाती, घन्टों मेरी प्रतीक्षा मे बैठी रहती। मैं उससे बोलता भी नहीं था, निठुर बना रहता था, फिर भी उसने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। वह कुछ नहीं चाहती थी, उसकी इच्छा थी मैं उसके हाथ से फल ग्रहण कर लूँ। वह मेरे स्पर्श की भूखी थी। मैंने उस पर कृपा की, फल के बदले से फल दिया और स्पर्श की इच्छा रखने वाली का स्पर्श किया और कृपा चाहने के कारण

कृपा की। इस सेठ को मेरा तो कभी ध्यान ही नहीं आता सदा हा। टका! हा। टका! करता रहता है।"

नारदजी ने कहा—"वह तो अज्ञानी है, उसे आपका ध्यान न आवे, किन्तु आपको तो उसका ध्यान आना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"भाई! मुझे क्यों नहीं है उसका ध्यान। उसका ध्यान मुझे न होता तो तुम जैसे मेरे अनन्य भक्त को उसके ऊपर दया ही क्यों आती। उसके लिये मुझसे आग्रह ही क्यों करते, किन्तु अभी वह मेरे दर्शनों का अधिकारी नहीं है। मैं जाऊँगा भी तो वह मेरा दर्शन न करेगा। जिसका कंठ तक पेट भरा है, अजीर्ण हो रहा है, उसके सामने कितनी भी सुन्दर वस्तु रख दो वह उसकी इच्छा न करेगा।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! चलो तो सही।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा चलो भैया!" यह कहकर भगवान् वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर उसके द्वार पर पहुँचे। द्वारपाल से कहा—"सेठजी से कह दो, एक ब्राह्मण आपसे मिलने आया है।"

द्वारपाल ने जाकर कहा। सेठजी सुनते ही बड़े बिगड़े। मुझे इतना समय कहाँ है, जो सबसे मिलता रहूँ। बाहर मुनीमजी नहीं हैं? कह दो वह भोजन करे तो भोजन करा दें। कुछ कपड़ा माँगे कपड़ा दिला दो। रुपया अधेली देकर उसे टरकाओ।"

द्वारपाल ने मुनीमजी से कहा। मुनीमजी ने दश झूठी सच्ची बातें बनाकर ब्राह्मण को विदा किया। भगवान् ने नारदजी से कहा—"देखा, आपने? मैं तो पहले ही कह रहा था, अभी उसे मेरे दर्शनों की जिज्ञासा नहीं हुई।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! आपने भी तो ऐसा वेष बनाया कि वह मिलना भी चाहे तो न मिले। भगवन्! यह ब्राह्मण का वेष माँगने के लिये प्रसिद्ध है। ब्राह्मण को देखते ही सब समझ

जायँगे, कुछ माँगने आया है। ब्राह्मण न भी माँगे तो लोग उसकी बातों पर संदेह करेंगे। सोचेंगे—"चाहे यह अभी कुछ नहीं माँग रहा है, किन्तु आगे माँगने के लिए क्षेत्र तैयार कर रहा है। यह बिना माँगे रहेगा नहीं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, ब्राह्मण का वेष तो माँगने के लिये प्रसिद्ध है, त्यागी का वेष बनावें। त्यागी को देखकर धनी बड़े प्रभावित होते हैं।"

नारदजी ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज! त्यागी ही बनकर चलो।"

अबके भगवान् त्यागी बने एक केले की लँगोटी लगायी, नारदजी को चेला बनाया सेठजी के द्वार पर बैठ गये। न कुछ खाना न पीना। धूनी रमाकर अलख जगाने लगे। लोगों ने कहा—"सेठजी बड़े त्यागी महात्मा आये हैं। आपके द्वार पर [illegible] बैठे हैं कुछ भी खाते पीते नहीं हैं।"

सेठजी ने कहा—"अरे, तुम लोगों को इतना भी ज्ञान नहीं। त्यागी होगा तो सेठजी के द्वार पर धूनी क्यों [illegible]? कहीं गङ्गा किनारे शान्त एकान्त वन में रहेगा कोई [illegible]। [illegible] वह जो माँगे दे दो।"

बात यह थी कि पहिले एक त्यागी महात्मा आये थे। वे एक लँगोटी मात्र रखते थे। एक चिलम और [illegible]। [illegible] तमाखू रखकर चिलम पीते, चिलम को [illegible] उसे [illegible] देते पीछे लोग उस राख को उठाते तो मिट्टी के [illegible] के स्थान में से उसमें से सुवर्ण की गिन्नी निकलती। [illegible] गाँवों में घूमे। एक ने दूसरे से कहा, दूसरे ने तीसरे से, [illegible] उस गाँव वाले कहें हमारे यहाँ भी [illegible] हुआ, वे कहें यहाँ भी ऐसा हुआ। अब तो महात्मा की [illegible] आग्रहपूर्वक उन्हें अपने घर में बुलाने लगे।

सेठजी को भी मिला। किसी भाँति खुजवाकर वे महात्मा उन्होंने भी बुलवाये। पाँच दिन महात्मा रहे, नित्य उनकी चिलम के चुगुल में एक गिन्नी निकले। लाभ से तो लोभ बढ़ता ही है। सेठजी महात्मा की बहुत सेवा करने लगे, बड़ी सेवा करने लगे। महात्मा ने देखा सेठजी को मेरे ऊपर पूरा विश्वास है, तो उन्होंने एक दिन कहा—"सेठजी! हम आपको एक बात बतावें, किसी से कहोगे तो नहीं।"

सेठजी ने कहा—"नहीं महाराज! जब आप मना कर रहे हैं, तो मैं क्यों किसी से कहूँगा।"

साधु बोले—"देखिये, बात चार कानों में ही गुप्त रह सकती है। जहाँ चार से छे कानों में हुई, वहाँ फैल जाती है, इसलिये अपनी स्त्री से, पुत्र से, प्यारे से प्यारे पुरुष से भी इसे न कहें। देखो, मैं एक ऐसी विद्या जानता हूँ कि आपके धन को दश गुना कर सकता हूँ। एक मन सुवर्ण दश दिन तक गाड़ दिया जाय मन्त्रों से हम उसे रख देंगे। दश दिन के पश्चात् वह दश गुना हो जायगा।"

सेठजी ने बड़े विनीत भाव से कहा—"तो महाराज! मेरे भी सोने को दशगुना कर दीजिये। अभी मेरे यहाँ पाँच मन सोना होगा, वह दूना हो जायगा, तब मैं स्त्रियों के आभूषणों तथा अन्य वस्तुओं को भी कराऊँगा।"

साधुने कहा—"हाँ, पहिले पाँच मन को ही कराइये। किन्तु हम तो सुवर्ण को छूते नहीं आपको ही सब करना होगा। अपने उद्यान में चार कोनों पर चार गड्ढे खुदवाइये उनमें बालू भरवाइये। रात में उन चार गड्ढों में सवा सवा मन सुवर्ण रख कर ऊपर से बालू ढककर गड्ढों को बराबर करा दें। फिर जंगल से गौओं के गोबर की कंडियाँ मँगाइये उन गड्ढों पर अग्नि जलाकर मैं हवन करूँगा। दशवें दिन आप खोदकर

निकाल लेना। किसी को मालूम न होने पावे।"

सेठजी ने साधु के कहने से ऐसा ही किया। साधु ने रात्रि में उन सुवर्ण दबे गड्ढों के ऊपर अग्नि जलाकर हवन किया, जल के भरे चार घडे रख दिये हवन करके दोनों घर चले आये, प्रात काल जाकर अग्नि हटा दी। स्थान हवन से काला हो गया था परन्तु कोई जान नहीं सकता था इसके नीचे क्या है। उसी दिन कुछ भीख माँगने वाले कंजड वहाँ आकर रह गये। महात्मा ने कहा—"मैं तो जाता हूँ, दशवें दिन आऊँगा।" यह कहकर वे चले गये। वे जो कजड बने उनके चेले वहाँ उपस्थित थे रात्रि में सब सुवर्ण लेकर चलते बने। प्रातःकाल सेठजी हाय हाय! करके रह गये। किसी से कुछ कह भी न सके। तब से उनकी ऐसी धारणा हो गयी थी कि ये साधु वेष मे जितने घूमते हैं सब व्यापारी हैं। पहिले तो बडा त्याग दिखाते हैं, अपने पास से व्यय करते हैं, जब लोग प्रभावित हो जाते हैं, तो उन्हे फँसाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। व्यापार मे भी तो व्यापारी पहिले धन लगाता है तब लाभ होता है। उस साधु ने सौ सवा सौ स्वर्ण मुद्रायें अपने पास से व्यय की फिर पाँच मन सुवर्ण ठग ले गया। इसी प्रकार कोई गोशाला के नाम से, कोई पाठशाला, धर्मशाला, औषधालय, सत्सग-भवन, हवन, उत्सव तथा अन्य धार्मिक कामों के नाम से माँगते हैं और अपना स्वार्थ साधते हैं। इसलिये साधु को बना बनाया अन्न देना चाहिये या ओढने भर को वस्त्र। जो धन माँगे ऐसी चमत्कार की बातें करें उसे ढागी समझना चाहिये।

कहावत है "दूध का जला मट्ठे को फूँक फूँक कर पीता है" इसलिये सेठजी उन त्यागी महात्मा के दर्शनों को भी नहीं गये। भगवान् ने नारदजी से कहा—"बताओ, भाई! अब और दर्शन दें।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! यह पहिले ठगा जा चुका है। साधुवेष धारी धूर्तों ने अपनी धूर्तता से लोगों में अविश्वास उत्पन्न कर दिया है। यह पवित्र साधु वेष इतना व्यापक हो गया है कि इसकी आड में सभी लोग बुरे से बुरा काम करने लगे हैं। स्वार्थी लोग बिना ज्ञान वैराग्य के केवल पैसा पैदा करने को–स्वार्थ साधने को–वेष बना लेते हैं और अपने कुकृत्यों से इस वेष को कलंकित करते हैं। अतः आप साधु ब्राह्मण के वेष को छोडकर अपने यथार्थ भगवान् रूप से उसे दर्शन दें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, यही सही। कह दो उससे भगवान् तुमसे मिलने आये हैं।"

अबके नारदजी ने जैसे तैसे कहकर मुनीमजी को भेजा। मुनीमजी ने कहा—"सेठजी ! भगवान् आये हैं, एक साधु कह रहा है, आपको दर्शन देने आये हैं।"

सेठजी बिगड़कर बोले—"मुनीमजी ! तुम्हारी भी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। भगवान् कहीं ऐसे आते हैं, कोई धूर्त होगा। बनावटी होगा। कह दो सेठजी को भगवान् के दर्शनों की आवश्यकता नहीं।"

सेठजी की सब बात जाकर मुनीमजी ने नारदजी से कह दी। तब भगवान् हँसे और बोले—"देखो, नारदजी ! बिना अधिकारी हुए मन में मेरे दर्शनों की इच्छा ही नहीं होती। मेरे दर्शनों के लिये कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। मैं तो सबके समीप से समीप में हूँ, सबके हृदय में बैठा हूँ, सबमें व्यापक हूँ, सबके साथ हूँ। किन्तु सब का संसार बन्धन नहीं छूटता। जिन पर मेरी कृपा है, उन्हीं का संसार बंधन छूटता है। मेरी कृपा तो सब पर समानरूप से होती रहती है। किन्तु उसे ग्रहण करने की योग्यता भी तो चाहिए। मेरी कृपा की सबसे मोटी

पहिचान यह है कि यथार्थ साधु के दर्शन हो जायँ। साधु ही मेरे यथार्थ रूप को जानते हैं। जब तक कोई परिचय कराने वाला नहीं होता, तब तक चाहे हम सम्राट से ही बातें क्यों न कर रहे हों, हमारे मन में उसके प्रति सम्मान के भाव न उत्पन्न होंगे। कोई परिचय करा दे, तो तुरन्त भाव बदल जायँगे। मैं यदुकुल मे इतने दिन रहा। मेरे यथार्थ रूप को सब नहीं समझ सके। मुझमे प्रेम साधुसग से होता है। जहाँ साधुसङ्ग हुआ वहीं मेरे यथार्थ रूप का बोध हो जाता है, तभी मुझमें प्रेम हो जाता है।"

इस इतने उद्धरण देने का अभिप्राय इतना ही है, सत्सग ही सर्वश्रेष्ठ है, नित्य भगवान् के सन्निकट रहने वाले वसुदेवजी को भी सत्सङ्ग की आवश्यता थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यदुकुल को विनाश का शाप हो चुका। भगवान् स्वधाम पधारने की तैयारियाँ करने लगे। भगवान् के अतरग भक्त समझ गये कि भगवान् अब अपनी लीला को सवरण करना चाहते हैं। नारदजी पहिले १० २० दिन में महीने दो महीने में भगवान् के दर्शनो को आते थे, अब तो वे वहाँ प्राय' रहने ही लग गये। इधर उधर घूम आये फिर आ गये। सायकाल को गये, तो प्रातः आ गये। प्रातः गये सयकाल को आ गये। अब उन्हे भगवान् के दर्शनों के बिना कल नहीं पडती थी। शरीर धारियो के शरीर धारण करने का सर्वश्रेष्ठ स्वार्थ तो यही है कि सुर मुनि सेव्य श्यामसुन्दर के सुललित चरणारविन्दों का चिन्तन बना रहे। सभी सहृदय इन्द्रियवान् पुरुष पुरुषोत्तम के पादपद्मों का प्रेमपूर्वक पूजन किया ही करते हैं।

एक दिन की बात है कि नारद जी वीणा बजाते हरिगुण गाते भगवान् के महलो मे पहुँचे। उस समय वहाँ भगवान् समुपस्थित नहीं थे, वे सत्यभामा जी या रुक्मिणी के महलो में

पधारे हुए थे। केवल वसुदेवजी बैठे हुए थे। देवर्षिनारद को देखकर वसुदेव जी उठकर खड़े हो गये। पाद्य अर्घ्य देकर उनका

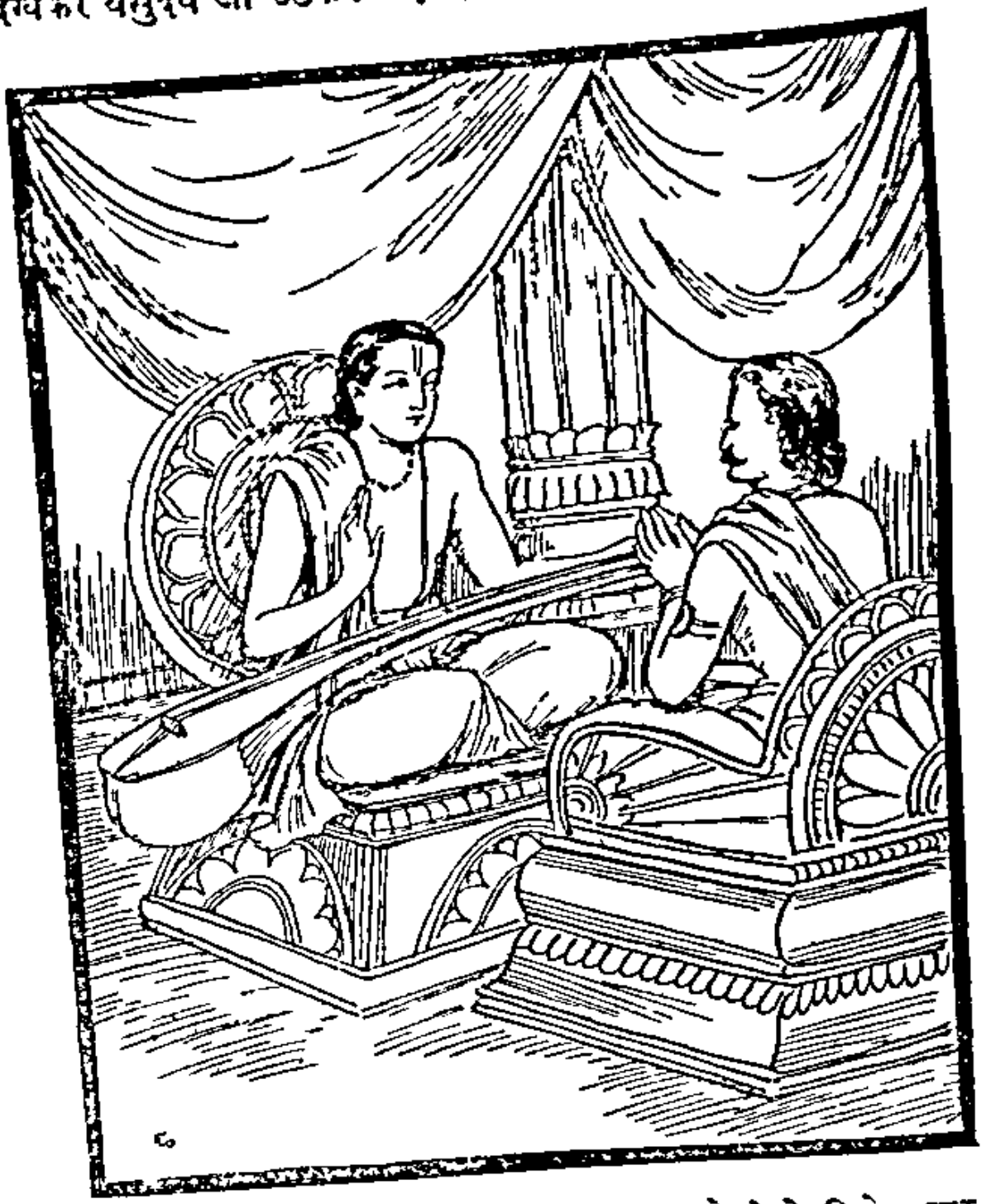

शास्त्रीय विधि से पूजन किया, कुशल पूछी, बैठने के लिये सुन्दर सुखद मृदुल, मनोहर तथा सर्वोत्तम आसन दिया। महामुनि

जब वसुदेवजी के दिये हुए आसन पर बैठ गये तब हाथ जोड़कर वसुदेवजी बोले—"भगवन्! आपका गृहस्थों के यहाँ पधारना शुभ सूचक है। जैसे हरी डाल पर प्रातःकाल कौए का बोलना प्रिय आगमन का सूचक है, जैसे हथेली खुजाना धन के आने का सूचक है, मुख में मक्खी घुसना मिष्ठान्न पाने का सूचक है, पुरुष का दायीं ओर स्त्रियों का बायीं आँख का फरकना प्रिय मिलन का सूचक है, सहसा हुचकी आना अपने प्यारे की स्मृति का सूचक है, बायाँ पैर खुजाना यात्रा का सूचक है, मानसिक प्रसन्नता कार्य सिद्धि का सूचक है, उसी प्रकार घर पर सतों का-भगवद्भक्तों का पधारना कल्याण का सूचक है। परदेश से जब माता-पिता आते हैं, तो जैसे छोटे छोटे बच्चे प्रेम में भरकर उछलने लगते हैं। संसारी संतापों से संतप्त पुरुष सच्चे साधु के सदर्शन से सुखी होते हैं, उनके समस्त शोक संताप शांत हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवद्भक्तों के पधारने पर मुमुक्षु पुरुषों का चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हो जाता है।"

नारदजी ने कहा—"राजन्! प्रसन्नता तो देवताओं की उत्तम होती है। देवता प्रसन्न होते हैं तो वरदान देते हैं। इच्छित वस्तु को प्रदान करते हैं, दुखों को दूर करते हैं।"

इस पर शीघ्रता के साथ वसुदेवजी बोले—"नहीं भगवन्! देवता सदा सुख ही पहुँचाते हों सो बात नहीं। उनकी पूजा विधिहीन हो जाय तो वे सुख देने की अपेक्षा दुःख ही देते हैं। मेघ वर्षा करते हैं, अन्न होता है, तृण होता है, सभी को सुख होता है, किन्तु कभी-कभी वे असमय में वर्षा कर देते हैं। धान्य पका खड़ा है, वर्षा हो गयी, ओले पड़ गये, तो उस वर्षा से दुःख ही होता है। इसलिये देवताओं के चरित्र दुःख सुख दोनों के ही कारण होते हैं, किन्तु साधुओं का सत्संग तो सदा सुख का ही कारण होता है। साधु शाप भी देंगे, तो उसका भी

फल उत्तम ही होगा। देवता तो स्वार्थी होते हैं, उनकी पूजा करो प्रसन्न होंगे, जितना पूजा करोगे, उतना ही नाप तोल कर फल देंगे। न पूजा करो तो क्रुद्ध होकर दुःख देंगे। व्रजवासियों ने इतने दिन इन्द्र की पूजा की। एक वर्ष नहीं की इसी पर उसने प्रलय करने वाले सांवर्तक मेघों को भेज दिया कि समस्त व्रजमंडल को डुबा दो। वे तो छाया के समान हैं। मनुष्य जैसा कार्य करेगा, उसकी छाया भी वैसा ही अनुकरण करेगी। कुँआ के बोल के समान है, कुँआ में जैसा बोलोगे, वैसा ही उत्तर पाओगे, किन्तु साधु पुरुष स्वभाव से ही दयालु होते हैं। विशेषकर वे दीन दुखियों पर तो दयावश अवश्य ही कृपा करते हैं। मैं भी दीन हो रहा हूँ, मुझे भी यह संसार काटने दौड़ रहा है। मैं आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ। यद्यपि साधु का दर्शन ही पुण्यप्रद होता है, इसीलिये मैं तो आपके दर्शनमात्र से ही कृतार्थ हो गया, तथापि मेरी कुछ जिज्ञासा है, आज्ञा हो तो पूछूँ।"

भगवान् नारद जी बोले—"राजन्! आप बड़ी प्रसन्नता के साथ जो पूछना चाहते हो वह पूछें। आपका प्रश्न तो लोक-कल्याण के ही निमित्त होगा। उसके उत्तर में मुझे भगवान् के गुणों को गाने का सुअवसर प्राप्त होगा, इससे मेरी वाणी सुफल हो जायगी, मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।"

वसुदेवजी ने पूछा—"भगवन्! लोग कहते हैं कि भागवत धर्मों का श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से उनके अनुसार आचरण करने से मनुष्य सब प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है, वे भागवत धर्म क्या हैं। भागवत धर्मों को जानने की मेरी बड़ी अभिलाषा है, कृपा करके मुझे भागवत धर्मों के सम्बन्ध में बताइये। भागवत धर्मों का स्वरूप क्या है, उनका आचरण कैसे किया जाय?"

यह सुनकर नारदजी हँसे और बोले—"राजन्! आप स्वयं

साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम के पिता होकर, इस प्रकार अज्ञों की भाँति प्रश्न पूछ रहे हैं। भगवान् तो आपके पुत्र ही हैं।"

इस पर वसुदेवजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! मुझे यह सौभाग्य प्राप्त है, किन्तु मेरी तो श्रीकृष्ण में पुत्र बुद्धि हो गई। बात यह है कि मैं देवमाया से मोहित हो गया था। पूर्वजन्मों में जो मैंने घोर तप किया था, वह मुक्ति के लिये नहीं किया था, केवल सन्तान प्राप्ति के निमित्त किया था, मोक्ष के निमित्त नहीं। फल तो भावना के अनुसार है। यद्यपि भगवान् स्वयं आकर मेरे यहाँ [illegible] रूप में उत्पन्न हुए, किन्तु मेरा तो उनके प्रति वही पुत्र का भाव है। अब हम आपको निमित्त बनाकर मोक्ष मार्ग का [illegible] सुनना चाहते हैं। अतः आप ऐसा उपदेश दें, ऐसे सुन्दर [illegible] शिक्षा दें जिससे हम नाना प्रकार के दुःखों से [illegible] ओर से भयों से व्याप्त इस संसार से अनायास [illegible] पार हो जायँ। आप हमें मुक्ति के साधनभूत [illegible] उपदेश दें।"

छप्पय

माया मोहित भयो कर्‌यो मैंने तप सुत हित।
अब समुझ्यो यह रहस लगायो प्रभु चरननि चित॥
बोले नारद—"नृपति! प्रश्न अति सुन्दर कीयो।
कृष्ण पिता है मोइ प्रश्न करि आदर दीयो॥
नवयोगेश्वर जनक को, भयो सुखद सम्वाद वर।
जो सब देशनि सब समय, है सबकूँ कल्याणकर॥

—:—

नारदजी द्वारा वसुदेवजी के प्रश्न का अभिनन्दन

[११९९]

सम्यगेतद् व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।
यत्पृच्छसे भागवतान् धर्मा स्त्वं विश्वभावनान् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० २ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

ऋषभ तनय शत भये इक्यासी विप्र कहाये ।
नव द्वीपनि नव नृपति भूप बड भरत बनाये ॥
कवि, हरि, आविर्होत्र, पिप्पलायन, करभाजन ।
अन्तरिक्ष अरु चमस, द्रुमिल, अरु प्रबुध योगिगन ॥
नवयोगेश्वर विदित जग, जनक सभा महँ सब गये ।
मैथिल मन अति मुदित है, परमारथ पूछत भये ॥

अपने प्रिय पदार्थ के विषय में कोई कुछ कहता है, गाता है, स्मरण करता है अथवा प्रकारान्तर से अनुमोदन करता है, तो उसके प्रति स्वाभाविक अनुराग हो जाता है। संसार में प्रिय स्मरण ही सार है और सभी निस्सार है। अपने प्रिय पदार्थ को

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं— 'राजन् ! वसुदेवजी के प्रश्न करने पर देवर्षि नारदजी कहने लगे—"सात्वत वंशावतंस वसुदेवजी ! आपका यह विचार अत्युत्तम है। जो आप लोक कल्याण करने वाले भागवत धर्मों को पूछ रहे हैं।"

पाने के लिये पुरुष परदेश जाते हैं, समुद्रों के वक्षःस्थल को चीरकर देशान्तरों में पहुँचते हैं। संसार में लोग इधर से उधर घूम रहे हैं, दौड़ रहे हैं, तथा भाँति-भाँति की चेष्टायें कर रहे हैं, सब प्रिय की प्राप्ति के ही निमित्त कर रहे हैं। अन्तर इतना ही है, किसी ने इन नाशवान् अनित्य पदार्थों को ही प्रिय मान रखा है, किसी ने परमार्थ का प्रिय मान रखा है, चाहते हैं सब प्रिय को ही। जिसे प्रिय समझते हैं, उसी की प्रेम पूर्वक चर्चा करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब वसुदेवजी ने नारदजी से भागवत धर्मों के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो वे बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—"वसुदेवजी! आपका प्रश्न कोई अपना निजी प्रश्न नहीं है, यह तो सम्पूर्ण लोकों को पावन बनाने वाला पुनीत प्रश्न है। आप देखिये, जो लोग धन पैदा करना चाहते हैं, वे रात-दिन धन की ही चर्चा करेंगे, चलते फिरते उठते बैठते उसी का चिन्तन करेंगे, रात्रि में सोते समय उसी विषय के स्वप्न देखेंगे। सारांश कि उसी में निरन्तर तन्मय हो जायँगे। इसी प्रकार जो भगवान् को पाना चाहते हैं, उन्हें भागवत धर्मों के विषय में तल्लीन होना चाहिये। जब भी अवकाश प्राप्त हो, जब भी कोई भगवत् भक्त मिल जायँ, तभी भागवत धर्मों का श्रवण करना चाहिये। भागवती कथाओं को पुनः-पुनः पढ़ना चाहिये। यह नहीं कि इसे तो हमने एक बार पढ़ लिया है। जैसे विषयियों को विषयों के पुनः-पुनः सेवन में नवीन-नवीन आनन्द आता है, वैसे ही भागवती कथाओं को बार-बार पढ़ने से नया-नया प्रेम उत्पन्न होता है। उसमें विशेषता प्रतीत होने लगती है। केवल श्रवण पठन करके ही समाप्त न कर दे, सब समय उस पर मनन करता रहे, उसका स्मरण करता रहे। भागवत धर्मों पर मन से श्रद्धा रखे, हृदय में उसके प्रति अनुराग बनाये रहे, दूसरे लोग भागवत धर्मों के विषय में कुछ प्रयत्न करें, उनके प्रसार-प्रचार के लिये कोई योजना

बनावें, तो उसका अनुमोदन करे, यथाशक्ति सहायता दे। इस प्रकार जिनके मन में भागवत धर्मों के प्रति आदर उत्पन्न हो गया है, वे चाहे पहिले कैसे भी क्यों न रहे हों। एक मनुष्य से द्रोह करने की बात तो पृथक् रही, पहिले चाहें वे विश्व से द्रोह क्यों न करते हों, वे भी इन भागवत धर्मों के प्रति श्रद्धा रखने के कारण तत्काल पावन बन जाते हैं। स्वय तर जाते हैं और दूसरों को तारने मे समर्थ हो जाते हैं।"

वसुदेवजी ने कहा—"तो ब्रह्मन्! आप मेरे ऊपर भी कृपा करो। मुझे भी भागवत धर्मों को सुनाओ। आपको कष्ट तो होगा ही, किन्तु साधु तो सदा परकार्य साधन म निरत ही रहते हैं, वे स्वय कष्ट सहकर दूसरों के कष्टो को काटते हैं।"

चौंककर नारदजी बोले—"अजी, राजन्! भागवत धर्मों के कथन मे और कष्ट! यह आपने अच्छी कही। महाभाग! आपने तो मेरे ऊपर अत्यत ही कृपा की जो मुझे भगवान् की लीलाओं के कथन करने का अवसर दिया। भगवान् की मधुमयी लीलाओं का, उनके जगन्मगल पवित्र नामों का श्रवण तथा कीर्तन विश्व को पावन बनाने वाले हैं। आपने प्रश्न करके उन्हा परम कल्याणकारी श्रीमन्नारायण का मुझे स्मरण करा दिया। उन्हीं के परम रुचिर भागवत धर्मों के सम्बन्ध मे मुझसे प्रश्न किया। उस प्रश्न का उत्तर दूँगा, तो मुझे अनायास भगवन्नाम माहात्म्य तथा भगवत् लीलाओं के कथन का सुयोग प्राप्त हो जायगा, इससे मैं भी कृतार्थ हो जाऊगा, आपने तो ऐसा विश्वकल्याणकारी प्रश्न करके मेरे ऊपर अनुकम्पा ही की। इस विषय मे मैं आपको एक बडा ही दिव्य सम्वाद सुनाता हूँ। उस सम्वाद में भगवत् धर्मों का ही वर्णन है। यह सम्वाद राजा जनक का नवयोगेश्वरों के साथ हुआ था।"

वसुदेवजी ने पूछा—"भगवन्! ये नवयोगेश्वर कौन हैं? कृपा करके इनका प्रथम परिचय करा दीजिये तब उनके पावन सम्वाद

को सुनाइये।"

नारदजी बोले—"महाराज! स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत नामक पुत्र थे। उन प्रियव्रत के पुत्र हुए महाराज नाभि और इन महाराज नाभि के ही यहाँ भगवान् ने मोक्षधर्म का उपदेश देने के निमित्त ऋषभ रूप से अवतार लिया। भगवान् ऋषभ ने इन्द्र की कन्या जयन्ती के साथ विवाह किया। भगवती जयन्ती के गर्भ से भगवान् ने एक सौ पुत्र उत्पन्न किये। उन सब में भरतजी सबसे ज्येष्ठ थे। वैसे ये सब-के-सब वेद शास्त्रों के ज्ञाता, धर्मात्मा और विनयी थे। उन सौ में से नौ पुत्र तो नौ वर्ष के राजा हुए। यह भारत वर्ष अजनाभ खण्ड के नाम से प्रसिद्ध था। जब भरतजी इस खण्ड के राजा हुए तो उन्हीं के नाम से उस खण्ड का नाम भरत खण्ड या भारतवर्ष पड़ गया। ये महाराज भरत बड़े ही भगवत् भक्त थे। उतने बड़े विशाल राज को तृण के समान त्याग कर शालग्राम क्षेत्र में जाकर तप करने लगे। किसी पिछले जन्म के अदृष्ट के कारण इनका एक हरिन के बच्चे में प्रेम हो गया, जिससे उन्हें एक हरिन का एक जड़भरत का दो जन्म और लेना पड़े। इस प्रकार तीन जन्मों में परम पद की प्राप्ति की। इस प्रकार नौ नऊ वर्षों के और भरतजी भारतवर्ष के राजा हुए। अवशेष बचे नब्बे। उनमें से इक्यासी अपने अत्युग्र पुण्य कर्मों के कारण क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गये। इनका आगे का वंश हुआ। शेष जो नौ बचे वे गृहत्यागी, विरागी, योगेश्वर बन गये। ये नौऊ भाई साथ-साथ रहते थे, अतः नवयोगेश्वर के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके नाम कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभा जन थे।"

वसुदेवजी ने पूछा—"भगवन्! इन नवयोगेश्वरों की कैसी निष्ठा थी?"

नारदजी बोले—"राजन्! ये लोग सत् असत्, जड़ चेतन

अथवा व्यक्त अव्यक्त रूप सम्पूर्ण ससार को भगवान् का रूप ही समझते थे। सम्पूर्ण भूतो को अपने आत्मा मे ही देखते थे। जब सब भगवान् का ही रूप है, तो फिर शोक, मोह तथा भय आदि का अस्तित्व ही नहीं, इसीलिये ये सब निभय होकर स्वच्छन्द गति से पृथ्वी पर विचरते रहते थे। इनकी सर्वत्र अव्याहत गति थी कहीं रोक नही टोक नही। इच्छा हुई तहाँ चले गये। कभी देवलोक मे चले गये, कभी सिद्ध लोक मे कभी साध्यो के यहाँ तो कभी गन्धर्वो के यहाँ। इसी प्रकार ये सुर, असुर, साध्य, गन्धर्वो यक्ष, किन्नर, नाग तथा मनुष्यादि लोको मे विचरण करते थे। ऋषि, मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण तथा गौओं के रहने के पवित्र स्थानों मे ये सुखपूर्वक यथेच्छ निवास करते थे।

एक बार की बात है, वे अन्य द्वीपो और वर्षों में विचरते हुए भारतवर्ष मे आये। काशी, प्रयाग, गया तथा अन्यान्य तीर्थों मे घूमते घामते वे मिथिला पुरी मे पहुँचे। उस समय निमिवशीय महाराज निमि एक बड़ा भारी यज्ञ करा रहे थे। बड़े-बडे वेदज्ञ ऋषि-मुनि उस यज्ञ मे ऋत्विज्, होता तथा सदसस्पति थे। सहसा इन सूर्य सदृश परम तेजस्वी महाभागवत योगेश्वरों को देखकर यज्ञ के यजमान महाराज विदेह तथा यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणगण उठकर खड़े हो गये। यज्ञ कुण्ड मे जलती हुई आहवनीयादि अग्नियाँ भी ज्योतिरूप से अग्नि कुण्ड से बाहर होकर योगेश्वरो के सम्मान मे खडी हो गयी। राजा ने आगे बढ़कर योगेश्वरो का सम्मान किया, उन नारायण परायण मुनियो को उत्तमोत्तम आसनों पर बिठाया। पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्कादि देकर उनका पूजन किया। नौ आसनो पर बैठे हुए वे मुनिगण नौ अग्नियो के समान अपने तेज से सुशोभित हो रहे थे। वे ऐसे लगते थे मानो ब्रह्माजी के अति तेजस्वी नौ पुत्र बैठे हो। जब मुनिगण सुखपूर्वक बैठ गये और यज्ञ के विश्राम का अवसर प्राप्त हुआ, तब महाराज

विदेह ने उनसे प्रश्न किया। महाराज विदेह ने जो प्रश्न किये और नवयोगेश्वरों ने जो उत्तर दिये, उन प्रश्नोत्तरों में ही आपके प्रश्न का पूर्ण उत्तर मिल जायगा।"

वसुदेवजी ने कहा—'भगवन्! महाराज विदेह क्या क्या प्रश्न किये, और उन नवयोगेश्वरों ने उनके क्या उत्तर दिये। कृपा करके उन प्रश्नोत्तरों को मुझे सुनाइये।"

नारदजी कहने लगे—"महाभाग, वसुदेव! जब वे नवयोगेश्वर राजा की पूजा को स्वीकार करके बैठ गये, तब राजा ने उनसे पूछा। हाथ जोड़कर विनती भाव से राजा कहने लगे—"प्रभो! आपने मेरे यज्ञ में पधारकर मुझे अत्यधिक गौरव प्रदान किया। आप तो स्वयं साक्षात् भगवान् मधुसूदन के परम प्रिय पार्षद ही हैं। भगवान् के पार्षद ही संसारी प्राणियों को पवित्र बनाने के निमित्त पर्यटन किया करते हैं। संसार में बड़े ही भाग्यशाली हैं जिन्हें परम भागवत भगवद्भक्त स्वयं आकर दर्शन दें। मुनियो! यह जीव चौरासी लाख योनियों में कर्मानुसार घूमता रहता है। सर्व प्रथम तो मनुष्य देह प्राप्त होना ही परम दुर्लभ है। अन्य योनियाँ भोग योनियाँ कही गयीं हैं। क्योंकि उन योनियों में प्राणी पूर्वकृत पुण्य पापों को ही भोग सकता है। मोक्ष के लिये प्रायः साधन नहीं कर सकता। मोक्ष इस मनुष्य शरीर से ही प्राप्त होती है। यह मोक्ष का द्वार रूप मनुष्य शरीर बड़े भाग्य से मिलता है। मनुष्य शरीर पाकर भी भगवद्भक्तों का दर्शन सत्संग प्राप्त होना यह तो अत्यंत ही दुर्लभ है, किसी अत्युत्कट भाग्य वाले का ही ऐसा सौभाग्य होता है। मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ,जो मुझे आपके आज स्वतः ही दर्शन हो गये। अब मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो पूछूँ।"

योगेश्वरों ने कहा—"राजन्! आप तो संसार में विदेह

के नाम से प्रसिद्ध हैं। आप तो सभी ज्ञानियों मे श्रेष्ठ हैं। आप जो पूछना चाहते हो, प्रसन्नता पूर्वक पूछें।"

इस पर महाराज विदेह ने नम्रता पूर्वक कहा—"हे निष्पाप मुनिगण! मैं आप से पूछना यह चाहता हूँ, कि इस असार संसार में आत्यन्तिक कल्याण किसमे है। कौन-सा कर्म करने से से परमपद की प्राप्ति होगी। संसार मे कितना भी मान, सम्मान धन वैभव प्राप्त कर लें, किन्तु अत्यन्तिक शान्ति प्राप्त नहीं होती, कोई-न-कोई शारीरिक मानसिक चिन्ता बनी ही रहती है। मुझे तो आत्यन्तिक कल्याण के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा है। संसार मे महात्माओ का दर्शन आधे क्षण के लिये भी मिल जाय, तो उसकी बराबरी संसार का कोई भी धन नहीं कर सकता। सत्संग बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। कृपा करके मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें। महात्मागण अनधिकारी के प्रश्न का उत्तर नहीं देते। इधर-उधर की बातें बनाकर टाल देते हैं। यदि आप मुझे अधिकारी समझते हो और मुझे सुनाने योग्य बात हो, तो कृपा करके उन भागवत् धर्मों को सुनाइये, जिनके कारण प्रसन्न होकर अजन्मा प्रभु अपनी शरण में आये हुए शरणागत भक्त को अपने आप को भी दे डालते हैं। उसे अपना स्वरूप ही प्रदान कर देते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् जब महाराज विदेह ने नम्रता पूर्वक नवयोगेश्वरों से ऐसा प्रश्न किया, तो उन सब भाइयों मे जो सबसे बड़े योगेश्वर कवि थे, वे राजा के इस प्रश्न का उत्तर देने को प्रस्तुत हुए। अब जिस प्रकार महर्षि कवि राजर्षि विदेह के प्रश्न का उत्तर देते हुए भागवत धर्म का अतिउत्तमता के साथ निरूपण करेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। संसार में यही समस्त उपदेशों का सार है। इसे सुन लेने के अनन्तर कुछ भी सुनने को शेष नहीं रहता। अतः इसे समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

बोले विज्ञ विदेह विप्रगन बात बतावें।
जा जग महँ का सार भागवत धर्म सुनावें॥
जिन धरमनि कूँ पालि जगत् के बन्धन टूटें।
लोक और परलोक जीव के भय सब छूटें॥
जनक प्रश्न सुनि मुनिनि में, तैं जो कवि मुनि ज्येष्ठ हैं।
भूपति तैं कहिवे लगे, जो सबई विधि श्रेष्ठ हैं॥

—:—

विदेह और योगेश्वर कवि सम्वाद

[१२००]

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

कवि बोले—'नृप ! अजि तचरन चिन्तन ही भयहर ।
सुगम भागवत धरम राजपथ सुन्दर सुखकर ॥
तन, मन, वानी, बुद्धि आदि तैं करै करम जो ।
कृष्णार्पन करि देइ न फिरि बन्धन कारक सो ॥
प्रभु लीला नित नित सुनै, नाम गान निरभय करै ।
नाचै गावै नेह भरि, हँसि रोवै गिरि गिरि परै ॥

संसार मे जितने प्राणी हैं, सब बटोही हैं, सभी लक्ष्य प्राप्ति के

---

* योगेश्वर कवि महाराज विदेह से कह रहे हैं—"राजन् ! मैं तो इस ससार म अच्युत के पादपद्मो की नित्य उपासना को ही भय रहित समझता हूँ । जिससे जिन पुरुषो की असत मे आत्म भावना हो जाने के कारण बुद्धि विचलित हो गयी है, उनका भी सम्पूर्ण भय नष्ट हो जाता है ।"

निमित्त यात्रा कर रहे हैं। कोई जान में कर रहे हैं, कोई अज्ञान में किसी को तो विदित है कि हम यात्री हैं, अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ रहे हैं, कोई ऐसे है, जिन्हें ज्ञात ही नहीं कि हम यात्री हैं वे चल तो रहे हैं, किन्तु उन्होंने मोह मदिरा का पान आवश्यकता से अधिक कर लिया। मद्यपी चलता है तो उसे यह ज्ञात नहीं होता कि मैं चल रहा हूँ, गिर पड़ता है, तो यह ज्ञात नहीं होता कि मैं गिर रहा हूँ। चलता तो वह भी है, किन्तु वह विपरीत दशा को चलता है। यदि कोई दयालु दयावश उसे पकड़कर राजपथ पर डाल दे और उसका मुख उधर कर दे, तो वह कभी-न-कभी गन्तव्य स्थान तक पहुँच ही जायगा। केवल राजपथ पाने की आवश्यकता है। राजपथ मिल जाय तो चाहे पैदल चले या किसी वाहन से चले पहुँच ही जायगा। सीधा मार्ग ज्ञात होने पर गन्तव्य स्थान कभी-न-कभी मिल ही जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज जनक के भागवत-धर्म सम्बन्धी प्रश्न करने पर नवयोगेश्वरों से कवि कहने लगे। राजा को सम्बोधन करके वे बोले—"राजन्! आपने ऐसा स्थान पूछा जहाँ किसी भी प्रकार का भय न हो। सो मैं तो महाराज! भगवान् वासुदेव के चरण कमलों की नित्य उपासना को ही सब प्रकार से भय शून्य मानता हूँ। हृदय में जहाँ भगवान् के चरणारविन्दों का चिन्तन होने लगा, तहाँ सभी भय भग जाते हैं। जैसे जिस गुफा में सिंह घुस जाय, उसमें फिर कोई भी जीव जन्तु जाने का साहस नहीं करता। यह मनुष्य अज्ञानान्धकार के कारण अपने आप को भूल गया है, उसने इस असत् शरीर को ही सत् मान लिया है। अनात्म पदार्थ में आत्म बुद्धि कर ली है, नाशवान को अविनाशी मानकर इसी के पालन पोषण की चिंता में आठों पहर लगा रहता है। ऐसे अज्ञ पुरुष भी जिस

पुण्य पथ को पाकर अपने निर्दिष्ट गन्तव्य स्थान को पहुँच जाय, उसी का नाम भागवत धर्म है।"

राजा ने पूछा—"एक स्थान को जाने के लिये पथ तो अनेकों होते हैं, आप इसी पथ की प्रशंसा क्यों कर रहे हैं। भागवतधर्म में ऐसी कौन-सी विशेषता है ?"

योगेश्वर कवि बोले—"राजन्! भागवत धर्म में यही विशेषता है कि इसका आश्रय लेने वाला मनुष्य कभी प्रमाद में नहीं पड़ सकता। एक बार विश्वास कर ले हाँ, मुझे इसी पथ पर चलना है। यह इतना विस्तृत सरल सीधा छायादार राजपथ है कि इसमें भटकने का अवसर ही नहीं। स्थान-स्थान पर स्वच्छ सुन्दर शीतल, सलिल का प्रबन्ध है, श्रम मिटाने के अन्य भी अनेकों उपकरण हैं, पके-पके रसीले स्वादिष्ट फल लगे हुए हैं, वे ऊँचे भी नहीं हैं, चलते-चलते हाँथ ऊँचा करके तोड़े जा सकते हैं। इसमें चलने वाला साथी दयालु कृपालु मधुरभाषी तथा सुहृद हैं। आप आँख बन्द करके दौड़ते हुए बिना किसी से पूछे इस पथ पर चले जायँ, न तो कहीं ठोकर ही लगेगी, न कहीं रपटने फिसलने का ही भय होगा। इस पथ में कीच नहीं, रपटन नहीं, फिसलन नहीं, ऊबड़ खाबड़ नहीं, ऊँचा नीचा नहीं। एक सा सम और सुन्दर मार्ग है।"

महाराज जनक ने पूछा—"भगवन्! इस भागवत् धर्म के पालन करने वाले मनुष्य का कर्तव्य क्या है, उसे क्या-क्या करना चाहिये ?"

कवि बोले—"भागवत धर्म यह नहीं कहता कि तुम जो कुल गत कार्य कर रहे हो, उसे छोड़कर दूसरा कार्य करने लगो। अथवा तुम कोई कर्म करो ही नहीं। देहधारियों के लिये बिना कर्म किये रहना सम्भव ही नहीं। तुम जो कार्य करो उसे तुरन्त कृष्णार्पण कर दो। उसे अपने पास संग्रह मत करो। जिसके

पास जितना भी पैसा आता है, वह तुरन्त उसे दूसरों को दे डालता है, परोपकार में व्यय कर देता है, उसे चोरों का भय नहीं रहता। वह निश्चिन्त होकर तान डुपट्टा सोता है। भय तो अपना मानकर संग्रह करने में है। हमारे स्थान के सम्मुख ही किसी का धन है, वह नष्ट हो जाय, चोरी हो जाय हमें कुछ भी सोच नहीं होता। जो संग्रह करते हैं उसे चिन्ता रहती है। अतः कर्मों का संग्रह न करना चाहिये उन्हें भगवत् अर्पण कर देना चाहिये।"

राजा ने कहा—"महाराज! अर्पण कैसे करें?"

योगेश्वर कवि बोले—"जैसे हमने शरीर से परोपकारादि जो भी कार्य किया, तुरन्त कह दिया—"श्रीकृष्णार्पणमस्तु" यह कर्म मैंने श्रीकृष्ण को अर्पण कर दिया। ऐसा करने पर यदि उससे कुछ पुण्य हुआ होगा, तो न तो हमें उसका पुण्य लगेगा। यदि पाप हुआ होगा, तो न पाप स्पर्श करेगा। हमें कोई अमृत देता है उसे भी बाँट देते हैं, विष देता है उसे भी बाँट देते हैं। जब हम उसका सेवन ही नहीं करते उसे अपना मानकर स्वीकार ही नहीं करते तो उसका अनुकूल प्रतिकूल फल हमें मिलेगा ही कैसे?" इसी प्रकार वाणी से हमने जो भी कहा, उसी क्षण कृष्णार्पण कर दिया। वह वाणी श्रीकृष्ण की वाणी हो गयी, हम उससे कोई प्रयोजन नहीं। मन में अच्छा बुरा जो विचार उठा तुरन्त कह दिया 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' अब उस मन के विचार का जो भी परिणाम हो उसे श्रीकृष्ण जाने उनका काम जाने हम तो उसके फल से निर्मुक्त बन गये। आँखों ने जो देखा प्राण ने जो सूँघा, रसना ने जो रस चाखा, श्रवणों ने जो सुना, त्वचा ने जो स्पर्श किया, इसी प्रकार जिस इन्द्रिय ने जिस विषय का उपभोग किया, जो भी कर्मेन्द्रियों ने कर्म किया, तत्क्षण

उसे कृष्णार्पण कर दो। वह सब श्रीकृष्ण की सम्पत्ति बन जाती है। बुद्धि ने जो विचारा अहङ्कार ने जो अहंकृति की, उसे अपने पास भूलकर भी पल भर के लिये भी मत रखो। चोर कृष्ण को सौंप दो। जब चोर को हम अपने आप ही सर्वस्व दिये देते हैं, तो वह चुरावेगा क्या? डर तो संग्रह में है भाई! त्याग के अनन्तर तो शान्ति होती है। तुम जो भी स्वभाव के वशीभूत हो कर कर्म करो, सब को उन परमात्मा प्रभु नारायण के लिये देकर निश्चिन्त बन जाओ।"

राजा ने कहा—"महाराज! आप तो कहते थे बड़ा सरल मार्ग है, यह तो बड़ा ही कठिन है। फिर तो संसारी कोई काम ही नहीं हो सकता। रात्रि दिन अर्पण ही करके रहना पड़ेगा। क्योंकि एक क्षण भी ऐसा नहीं बीतता जिसमें तन से मन से मनुष्य कुछ-न-कुछ करता न हो। शरीर से कुछ न भी करे तो मन से तो सोचता ही रहेगा। संसार में भले बुरे सब प्रकार के लोग हैं, कोई आदर करते हैं, कोई गाली देते हैं। एक को देखकर प्रसन्नता होती है, एक को देखकर भय लगता है। उस समय 'कृष्णार्पण' वाली बात तो भूल ही जाती है। अर्पण भावना कैसे आवे इसका उपाय बताइये।"

यह सुनकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! आप पहले इस बात पर विचार करें कि भय होता क्यों है। हम दूर से एक टेढ़ी मेढ़ी रस्सी को अँधेरे में देखते हैं, उसे सर्प समझकर भयभीत हो जाते हैं, एक ठूँठ खड़ा है, अँधेरे में उसे भूत मानकर काँपने लगते हैं। वास्तव में न तो रस्सी में सर्प था—और न ठूँठ में भूत यह विपरीत भावना अज्ञान के कारण हुई। इसी प्रकार यह पुरुष विश्वम्भर से विमुख होकर संसार को ही सत् मानकर उसी में भटक रहा है, उसी में सुख की खोज कर रहा है। केले के पेड़ के परतों को छील-छीलकर उसमें फल की खोज करता है। ऊपर के

परत को छीलकर फेंकता है, फिर दूसरा परत निकल आता है। उसके भीतर कुछ है नहीं। इसी प्रकार भगवान् की माया से मोहित होकर इस देह को ही अपना रूप मान बैठा है, इसी के द्वारा संसारी सुख भोगकर सुखी बनना चाहता है। जो देह स्वयं ही असत् और नाशवान है उससे अविनाशी और शाश्वत सुख कैसे भोगा जा सकता है। आत्मा से अतिरिक्त जब द्वितीय वस्तु की सत्ता का अभिमान हो जाता है, तभी भय की प्राप्ति होती है, भय सदा दूसरे से होता है। अपने आप से किसी को भय नहीं। स्त्री जब अकेली रहती है, तो निर्भय होकर अपने सब अङ्गों को खोले रहती है। दूसरे की कल्पना आते ही वह अङ्गों को ढक लेती है। इसलिये सत्यस्वरूप अद्वय परमात्मा के अतिरिक्त दूसरे की कल्पना ही न करो। जो विवेकी पुरुष भागवत धर्मों का आचरण करे, उसे अपने शिक्षा देने वाले गुरु में ही इष्ट बुद्धि करनी चाहिये। जैसे वे बतावें वैसे अनन्य भक्ति भाव से भगवान् का भजन करे।"

महाराज जनक ने कहा—"भगवन्! जो ज्ञान दे वही गुरु है। आप ही हमारे गुरु हो। हम असत् वस्तु का चिन्तन नहीं करना चाहते हैं, फिर भी चिन्तन हो ही जाता है। हम समझते हैं, इस वस्तु के सेवन से दुःख है, फिर भी उसका सुख की इच्छा से विवश होकर सेवन करते हैं। इसका क्या उपाय है?"

हँसकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! वाणी से असत् कह देने मात्र से ही असत् थोड़े ही हो जाते हैं। सब वेद शास्त्र बार-बार चिल्ला-चिल्लाकर डंके की चोट से कह रहे हैं, यह द्वैत प्रपंच वास्तव में कुछ नहीं है। जैसा दीखता है वैसा नहीं है, फिर भी यह सत्य ही भासता है। हम बैठे-बैठे सोचते हैं। एक रथ लावेंगे, उसमें सुन्दर घोड़े जोतेंगे। गुदगुदा गद्दा बिछावेंगे,

उस पर चढकर काशी जायँगे। जिस समय ये बातें सोचते-सोचते तन्मय हो जाते हैं, उस समय घोडे रथ, गद्दे आदि सभी सत्य

प्रतीत होने लगते हैं, मन से रथ पर चढकर चलते तो ऐसा लगता है, मानों यथार्थ जा रहे हो। जहाँ मन दूसरी ओर गया, वे सब

मनके पदार्थ असत्य प्रतीत होते हैं। ऐसे ही स्वप्न में राजा हो गये, बड़े बड़े सुख भोगने लगे। जब तक स्वप्न देखते हैं, तब तक वे सब स्वप्न के पदार्थ यथार्थ प्रतीत होते हैं। आँखें खुलीं कि फिर कुछ नहीं। इन सब पदार्थों की चित्त ही अपने आप कल्पना करता है वही उसमें सुखानुभूति करता है। अतः हत्या की जड़ यह चित्त ही है। इसलिये चोर को न मारकर चोर की माता को मार डालो, जिससे चोर पैदा ही न हो। बाहरी पदार्थों को नष्ट न करके पहिले इस कर्मों के सङ्कल्प विकल्प करने वाले चित्त को ही वश में करो। स्रोत का रोक देने से धारा अपने आप ही रुक जायगी। चित्त जहाँ वश में हुआ तहाँ द्वैत बुद्धि हट जायगी। जहाँ सर्वत्र आत्मरूप श्रीहरि दिखायी देने लगे वहाँ फिर भय कहाँ।"

राजा ने कहा—"महाराज! आप तो असंभव बात बता रहे हैं। चित्त का स्वभाव ही है चिन्तन करना वह तो बिना चिन्तन किये एक क्षण भी रह नहीं सकता। फिर चित्त को रोकें कैसे? करें क्या?"

हँसकर योगेश्वर कवि बोले—"राजन्! चित्त को चितचोर के चिन्तन में लगा दो। उन्हीं के भुवनमोहन रूप का चिन्तन करें, उन्हीं के गुणों का गान करें, उन्हीं के अतिमधुर नामों का निःसङ्कोच होकर उच्चारण करें, करों से उन्हीं के कैंकर्य को करें। साराश यह कि जो करें भगवान् के सम्बन्ध से करें। अपने जीवन का ध्येय नामसङ्कीर्तन में अनुराग उत्पन्न करना ही रखें।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! नामसङ्कीर्तन किसे कहते हैं? नामसङ्कीर्तन में अनुराग कैसे उत्पन्न हो, भगवन्नाम में अनुराग उत्पन्न हो गया, यह कैसे जाना जाय, कृपा करके मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दें।"

यह सुनकर महर्षि कवि बोले—"राजन्! यह विषय

बड़ा गूढ़ है तथापि मै यथा मति कहूँगा, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! जैसे योगेश्वर कवि ने आगे नामसङ्कीर्तन की महिमा बतायी उसे मैं आपसे कहूँगा, यही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है।"

छप्पय

लोक लाज कूँ त्यागि पुकारै प्रभु अब आओ।
हरि! नारायण! कृष्ण! कृपालो! दरश दिखाओ॥
छैकें सदा असग त्यागि सकोच सबनिको।
करै मधुर स्वर सतत कीरतन हरि नामनिको॥
करत-करत कीरतन कलित, होहि प्रेम प्रभु पदनि महँ।
तब निरखै निज इष्टकूँ, जीव चराचर सबनि महँ॥

नाम संकीर्तन महिमा

(१२०१)

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे- ।
जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ॥
गीतानि नामानि तदर्थकानि ।
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ *

(श्री भा० ११ स्क० २ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

वृक्ष, नीर निधि, नदी, सरोवर, पुर, वन, भूधर ।
पृथिवी, जल अरु अनिल, अनल, नभ, नखत चराचर ॥
सबकूँ प्रभु को रूप समुझि नित शीश नवावै ।
आदर सबको करै भेद मन महँ नहिं लावै ॥
भगै भूख भोजन करत, तुष्टि पुष्ट हू होहि ज्यों ।
भजन करत प्रभु प्रेम अरु, होहि ज्ञान वैराग्य त्यों ॥

---

* योगेश्वर कवि महाराज विदेह को भागवत धर्मों का उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"राजन् ! बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि प्रथम चित्त को स्थिर करके भगवान् चक्रपाणि की जो मगलमय जन्म और कर्म की कथायें हैं उन्हे सुनता हुआ तथा उनकी लीलाओ के अनुसार रासबिहारी, मुरलीधारी, गोवर्धनधारी आदि नामो का नि सकोच होकर गान करता हुआ, असग भाव से इस ससार मे विचरता रहे ।"

जिससे पूर्ण परिचय नहीं होता उसी से सकोच होता है। जिन महात्माओ का हमने नाम तो सुना है, उनके कार्यों से उनकी कृतियो से हमे परिचय है, किन्तु पूर्ण परिचय नहीं हुआ है, तो पहिले पहिले उनसे मिलने में सङ्कोच होगा। जहाँ परिचय प्रगाढ हुआ, तहाँ हम ढीठ बन जाते है, कहने न कहने योग्य सभी बाते उनसे कह देते हैं। चोर को प्रथम चोरी करने मे सङ्कोच होता है, करते-करते अभ्यास हो जाता है, तो उसके लिये साधारण सी बात हो जाती है। नवविवाहित पति पत्नी प्रथम मिलते हैं तो दोनो ओर से बडा सङ्कोच होता है, जब दोनों एक दूसरे से पूर्ण परिचित हो जाते है, तब तो लडाई झगडा यहाँ तक कि मार पीट तक की नोबत आ जाती है। सङ्कोच तभी तक होता है, जब तक उसमे तदाकार नहीं होत। किसी सप्रदाय मे प्रथम दीक्षित होते हैं, तो उनके जैसे चिह्न धारण करने म सङ्कोच होता है। धारण करते-करते वह जीवन में घुल मिल जाता है, उसके बिना सूना-सूना-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार जिन्होंने पहिले भगवान के नाम का कीर्तन नहीं किया है, उन्हें पहिले उच्च स्वर से बोलने मे ताली बजाने मे सङ्कोच होता है। करते-करते जहाँ सङ्कोच दूर हुआ तो फिर सबके सम्मुख नाचने मे भी लज्जा नहीं लगती।

सूतजी कहत हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक न योगेश्वर कवि स नाम सङ्कीर्तन का स्वरूप, नाम सङ्कीर्तन म अनुराग होने का उपाय तथा नाम सङ्कीर्तनानुरागी की पहिचान ये तीन प्रश्न किये तब योगेश्वर कवि उनके प्रश्नो का उत्तर देने लगे।"

योगेश्वर कवि महाराज विदेह से कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् के नामो का, उनके गुणो का उच्च स्वर से बार-बार उच्चारण करने का नाम कीर्तन है। वही कीर्तन जब बहुत लोगो के साथ मिलकर ताल स्वर और गाजे बाजे के साथ किया जाता है, तो

वह सङ्कीर्तन कहाता है। नाम सङ्कीर्तन में केवल भगवान के नामों का ही बार-बार उच्चार होता है और गुण कीर्तन तथा लीला कीर्तन में भगवान की लीलाओं का, उनके दिव्य चरित्रों का गान होता है। जब तक मन में संसारी वासनायें भरी रहती हैं विषयों का सङ्कल्प विकल्प उठता रहता है, तब तक भगवान के नामों में उनकी कथाओं में प्रेम नहीं होता।"

राजा ने पूछा—"तब महाराज! बिना चित्त शुद्ध हुए कथा कीर्तन में सम्मिलित होना व्यर्थ है।"

कवि मुनि बोले—"व्यर्थ क्यों हैं महाराज! कथा कीर्तन में सम्मिलित होना व्यर्थ कभी भी नहीं है। मन में सन्सारी संकल्प विकल्प उठते रहें तो भी सम्मिलित होना चाहिये। कथा कीर्तन से शनैः शनैः संकल्प विकल्प दूर होने लगेंगे।"

राजा ने कहा—"महाराज! बिना मन के सम्मिलित होने से तो समय को ही खोना है। जब मन ही नहीं लगता तो कथा कीर्तन में जाना व्यर्थ है, पहिले चित्त को शुद्ध कर ले, तब कथा कीर्तन में जाय।"

मुनिवर कवि बोले—"राजन्! बिना मन के तो कोई भी काम हो ही नहीं सकता। बिना मन के हम साँस भी नहीं ले सकते। मन का कुछ सङ्कल्प जब रहेगा तभी कार्य होगा। जो कथा कीर्तन में बिना मन के भी—अशुद्ध चित्त के भी—आता है, उसके मन का कुछ-न-कुछ झुकाव इस ओर अवश्य है। चाहे उसे विदित न हो। झुकाव न होता तो वह आता ही नहीं। नित्यप्रति आने से उसका झुकाव बढ़ता जायगा। फिर मन की शुद्धि का उपाय भी तो कथा कीर्तन ही है। यह सत्य है कि जब तक घोड़े पर चढ़ना न आवे तब तक घोड़े पर न चढ़ना चाहिये, किन्तु घोड़े पर चढ़ना भी तो घोड़े पर नित्य-नित्य चढ़ने से ही आवेगा। बिना तैरना जाने जल में न घुसना चाहिए, किन्तु बिना जल में

घुसे तैरना भी तो नहीं आता। अतः मन न भी लगे तो भी कथा कीर्तन में जाना चाहिये।"

राजा ने कहा—"हाँ, महाराज! मैं कीर्तन और सङ्कीर्तन के विषय में तो समझ गया, अब कृपा करके यह बताइये कि भगवान् के नामों में अनुराग कैसे हो?"

मुनिवर कवि बोले—"राजन्! यह तो मैं आपको बता चुका हूँ, कि अनुराग नित्य नित्य के अभ्यास से होता है। नित्य नित्य के अभ्यास से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। देखिये, रेशम की रस्सी कितनी कोमल मृदुल रहती है, उसे ही नित्य पत्थर पर खींचो तो उससे भी गड्ढे पड़ जाते हैं। वृक्ष का तना कितना कठोर होता है, लता निरंतर उससे लिपटी रहती है, तो उसमें भी चिह्न बन जाते हैं गड्ढे हो जाते हैं। संसार में सभी कुछ अभ्यास से होते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! हम लोगों का मन तो स्वभाव से विषयों में जाता है। विषय वार्ता बड़ी मीठी लगती है।"

मुनि ने कहा—"राजन्! यह भी अभ्यास [illegible] है। जन्म जन्मान्तरों से जीव इन्हीं आहार, निद्रा, [illegible] रहता है। न जाने कितने जन्मों से इन [illegible] गया है। जहाँ इन्द्रियाँ इन कार्यों के अनुकूल [illegible] बिना सिखाये इनमें प्रवृत्ति हो जाती है। [illegible] पान, सुरापान का अभ्यास हो [illegible] हो जाता है, तो विषयों को तो [illegible] हैं। इनके प्रति ऐसा दृढ़ [illegible] चित्त चञ्चल हो ही जाता है। [illegible] करना है। मन जब [illegible] उसे दूसरे में लगाना [illegible] से वैराग्य करके मन [illegible]

राजा ने कहा—"विषयों से वैराग्य कैसे हो, इसी का उपाय प्रथम बताइये।"

मुनि बोले—"देखिये, महाराज! किसी को गुड खाने का अभ्यास हो गया है उसके मन को आप तभी उससे हटा सकेंगे जब आप उसे गुड से भी अच्छा वस्तु मिश्री उसके सामने रखेंगे। सामने रखने मात्र से भी काम न चलेगा, उसे यह निश्चय करा देंगे कि गुड से मिश्री स्वादिष्ट है और लाभप्रद भी है। बिना इच्छा के भी उसके मुख में एक डली डाल देंगे। सन्सारी लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सन्सारी विषयों की बात सुनने में है। पुरुषों को सुन्दरी स्त्रियों की, स्त्रियों को सुन्दर सुन्दर पुरुषों की बातें बड़ी मीठी लगती हैं। सब पुरुषों से सुन्दर श्रीकृष्ण हैं। सब स्त्रियों से सुन्दरी श्रीराधाजी हैं। अतः श्रीराधा-कृष्ण की लीलाओं का श्रवण करना चाहिये। मन को संसारी विषयों से हटाकर श्री-राधा-कृष्ण के विहार के दिव्य विषयों में लगाना चाहिये। मन सहसा विषयों से न हटेगा, क्योंकि इसे चिरकाल का अभ्यास है। विष्ठा के कीड़े को विष्ठा की गंध नहीं आती। लहसुन प्याज खाने वालों को उसकी दुर्गन्धि नहीं आती, कुछ दिन छोड़ दें तब गंध आने लगती है। अतः कुछ समय निकालकर बिना ही मन के कथा कीर्तन में सम्मिलित होना चाहिये। भगवान् के सुन्दर-सुन्दर नामों का उनके जन्मों का और कर्मों का श्रवण करें। कान में बिना इच्छा के भी भगवत् चरित्रों को डाल दें। चरित्र सुनते सुनते एक परिभाषा बना लें, जिससे भगवान् के चरित्र याद हो जायँ।"

राजा ने पूछा—"परिभाषा कैसे बनावें महाराज!"

महामुनि कवि बोले—"परिभाषा ऐसे जैसे हम भगवान् के जन्म की लीला स्मरण करनी है, तो भगवान् के देवकीनन्दन, वसुदेव, मथुरेश इन नामों को याद कर लें। देवकी वसुदेव का नाम याद आते ही जन्म की लीला का चित्र खिंचेगा। व्रज की

लीला याद करनी हो तो नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, गोपीजन वल्लभ, गोपाल इन नामों को याद कर ले। पूतना लीला का स्मरण करना हो, तो पूतनारि, माखन चोरी लीला के स्मरण को, नवनीतचोर, माखनचोर इन नामों को, उखल लीला के लिये दामोदर, गोवर्धन लीला के लिये गिरधारी, रासलीला के लिये विहारी, अघासुर लीला के लिये अघासुर सहारी, कस लीला के लिये कसारि इसी प्रकार उनकी विचित्र लीलाओं के अनुसार रखे गये उनके नामों को याद करे। कथा सुनने के अनन्तर उनका मनन करे। फिर शनैः-शनैः उन नामों का उच्चारण करे। श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव। श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव। ऐसे ओठों को चलाता रहे। जिस वस्तु को हम अपना लेते हैं, उसके प्रति अपनापन हो जाता है। फिर सबके सामने हमें यह कहने में लज्जा नहीं लगती कि ये हमारे हैं। जब तक सम्बन्ध न जुड़े तब तक सङ्कोच रहता है, जहाँ गठबन्धन हो गया, निर्भय होकर सबके सामने कह देते हैं। ये हमारे अमुक हैं। इस प्रकार नाम लेते-लेते नाम के प्रति तो आसक्ति बढने लगेगी और ससारी विषयों से आसक्ति घटने लगेगी। फिर उच्च स्वर से नामों का गान करे। उच्च स्वर से गान करने से जो हृदय पाषाण के सदृश कठिन हो गया है, वह पिघल जायगा, मोम बन जायगा। बहुतों को देखते हैं, उनकी आखों में आँसू ही नहीं आते, भगवान् के सुमधुर नामों को सुनकर शरीर रोमाञ्चित नहीं होता, समझ लो इनका हृदय पाषाण का है, यह निरन्तर नाम गान से पिघलेगा। नाम गान करते-करते हृदय आनन्द में भर जाय, तो फिर नाचने लगे।"

राजा ने कहा—"अजी, महाराज! सबके सामने नाचेंगे तो कोई क्या कहेगा? यह तो बडी लज्जा जनक बात होगी?"

हँसकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! इसमें लज्जा की कौन

सी बात है। लोग जो कहे कहते रहें। हमने सबका ठेका तो ले नहीं रखा है। लोग स्त्रियों के सामने गिड़गिडाते हैं, उनके पैर पकड़ते हैं, वे जैसे नचाना चाहती हैं नाचते हैं। इसमें उन्हें लज्जा नहीं आती? एक करोड़पती है, विवाह में लाखों रुपये व्यय करता है, पुत्र जन्म पर मनमाना धन लुटाता है, वही जब अपनी दुकान में बैठता है, तो व्यापारी से एक पैसे के लिये झगड़ा करता है, इतने बड़े आदमी को एक पैसे का हिसाब करने में लज्जा नहीं आती? एक प्रान्तपति है, सबके ऊपर शासन चलाता है, जब राष्ट्रपति आता है, तो उसके संकेत पर नाचता है, लाज छोड़कर कुत्ते की भाँति उसके पीछे दौड़ता है, उसे लज्जा नहीं आती? एक वेश्या है, ठाठ-बाठ से जा रही है कोई अपरिचित आदमी उसे छू दे कितनी क्रुद्ध होती है। वही सबके सामने लहँगा पहिन कर नाचती है, उसे नाचने में लज्जा नहीं आती। एक राजा है, बड़ा गंभीर रहता है, सबको डराता है, वही जब अपने लड़के से खेलता है, तो उसके मुँह से मुँह सटाता है, उसका घोड़ा बनता है, उसे चाँई माँई चाँई माँई करके घुमाता है, नचाता है, उसे लज्जा नहीं आती। एक सैनिक है, कितना बली है, कितना शूरवीर है, किन्तु जब वह सेना में सबके साथ सैनिक प्रदर्शन करता है, तो उसका बड़ा अधिकारी उसे कैसा नचाता है। उठो, बैठो, बाईं ओर घूमो, दायीं ओर घूमो, आगे चलो, पीछे मुड़ो, दौड़ो, दो पंक्तियों में हो जाओ, सर्वाङ्ग घूम जाओ।" जैसा वह नाच नचाता है, वैसा नाचता है, उसे लज्जा नहीं आती?"

राजा ने कहा—"भगवन्! इन कामों में लज्जा की जाय, तो जीविका कैसे चले? ये तो करने ही पड़ते हैं।"

मुनि ने कहा—"तो इसी प्रकार भक्त भी भगवान् के सामने नाचने को विवश है। उसे उनके सामने सब करना पड़ता है।

वह लोक लाज को बहा देता है। सबका सङ्ग त्यागकर असङ्ग, भाव से संसार में विचरण करता रहता है।"

राजा ने पूछा—"महाराज! जो असङ्ग हो गया है, जिसमें प्रभु के प्रति दृढ अनुराग हो गया है उसकी चेष्टायें कैसी होती हैं?"

मुनि बोले—'राजन्! जिनका भगवान के प्रति दृढ अनुराग हो गया है। जिनकी विषयों के प्रति आसक्ति कम हो गयी है, वह असङ्ग भाव से स्वेच्छा पूर्वक घूमता रहता है। अब उसे सब समय श्यामसुन्दर की सुखद स्मृति बनी रहती है। उसका हृदय नवनीत के समान द्रवित हो उठता है। जैसे दूध से मुख तक भरा पात्र तनिक ठोकर लगते ही छलकने लगता है, उसी प्रकार उसका हृदय छलकने लगता है, हृदय अत्यंत कोमल बन जाता है। संसारी लोग हमारे आचरण को देखकर क्या कहेंगे, इसकी वह तनिक भी चिन्ता नहीं करता। कभी भगवान् के सङ्गम सुख को स्मरण करके खिल खिलाकर हँसने लगता है। कभी श्यामसुन्दर की स्मृति आने से उनका विरह अनुभव होने से ढाह मारकर रोने लगता है। कभी उच्च स्वर से चिल्ला उठता है "हा! प्राणनाथ! तुम कहाँ गये। हा, कृपालो! कृपा करो। नाथ, तुम्हारे देखे बिना इन व्यर्थ के दिनों को कैसे बिताऊँ? दर्शन दो प्रभो! हे कृष्ण! हे कृपालो! हे अशरण शरण! हे रमानाथ! हे व्रजवल्लभ!" इस प्रकार भगवान् को सम्बोधन करके चिल्लाता है। कभी गाने लगता है 'तुम बिन मेरी कौन खबर ले गोवरधन गिरधारी।" कभी एक पद को बार बार गाता है, कभी हाव भाव प्रदर्शित करके नृत्य करने लगता है। साराश उसकी अधिकांश चेष्टायें उन्मत्त के सदृश हो जाती हैं। उसकी दृष्टि में संसार रहता ही नहीं। वह और उसके प्राणनाथ! [illegible] चेष्टाओं से अपने श्यामसुन्दर को रिझाता हुआ

उन्हीं चेष्टाओं को निःसङ्कोच करने लगता है।"

यह सुनकर महाराज विदेह आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए बोले—"भगवन्! यह तो बहुत ऊँची स्थिति है। यह स्थिति प्राप्त कैसे हो, किस साधन से ऐसी दशा हो सकती है।"

यह सुनकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! जिन पर श्रीहरि की कृपा हो, उन्हे ही यह स्थिति प्राप्त होती है, यह कृपा साध्य है। फिर भी इसके लिये जगत् को हरि रूप मे देखने से ऐसी स्थिति प्राप्त होती है।"

राजा ने कहा—"महाराज! जगत् को हरि रूप कैसे देखें? ससार मे तो असख्यों वस्तु हैं, अनेक प्रकृति के प्राणी हैं, कोई हमसे राग करते हैं, कोई द्वेष करते हैं। जो हमसे द्वेष करता है, उसे भगवान् कैसे माने।"

मुनि बोले—"अनेकता मे एकता का दर्शन करना यही तो साधन है। तुम पहिले सबमे पूज्य बुद्धि करो। पूज्य बुद्धि हो जाने से फिर किसी के प्रति राग द्वेष रहेगा ही नहीं।"

राजा ने पूछा—"पूज्य बुद्धि कैसे करें, महाराज!"

मुनि ने कहा—"देखिये, पहिले तुम्हे जो दीखे उसी के लिये ईश्वर बुद्धि से प्रणाम करो। ईश्वर तो अणु-अणु मे व्याप्त है। तुम ऊपर से रूप को देखना छोडकर उसके भीतर जो आत्मरूप से अवस्थित है उसे ही देखकर प्रणाम करो। पृथ्वी को देखो, तो समझो यह भी भगवान् का रूप है, उसे प्रणाम करो। जल को देखो उसे भी प्रणाम करो, वापी, कूप, सरोवर, नद, नदी तथा समुद्र जिसे भी देखो प्रणाम करो। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा तथा जो भी प्रकाशमय वस्तु दीखें सबको प्रणाम करो। वायु को प्रणाम करो, आकाश को प्रणाम करो, वन, पर्वत, वृक्ष, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अडज, पिडज, स्वेदज और उद्भिज जो भी दिखायी दें सबको मन से प्रणाम करो, सबमे आदर बुद्धि करो। ऐसा करते करते सब मे

आदरबुद्धि हो जायगी, फिर समझने लगेंगे कि ये सब चराचर जीव श्रीहरि का शरीर है। इस प्रकार सबमें उन्हीं को समझकर अनन्य भाव से एकत्व की उपासना करे।"

राजा ने कहा—"महाराज! आपने तब से तीन बातें बतायीं। एक तो आपने कहा इन संसारी विषयों से मुख को मोड़ लेना अर्थात् वैराग्य धारण करना। दूसरी बात यह बतायी कि भगवान् के स्वरूप का अनुभव करना कि वे सम्पूर्ण भूतों में रम रहे हैं। तीसरी बात यह बतायी कि भगवान् में प्रगाढ़ प्रेमभाव स्थापित करना। अब तीनों में से प्रथम किस साधन को करे।"

हँसकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! भगवान् का भजन करने से, निरन्तर उनके नामों का कीर्तन करने तथा उनके गुण श्रवण करने से ये तीनों बातें अपने आप ही प्राप्त हो जाती हैं। जैसे कोई भूखा है, उसके सम्मुख खीर, मोहनभोग तथा मालपूए रख दें। वह मालपूआ का एक ग्रास तोड़ता है उसे खीर में सानकर मुख में रखकर चबाकर निगलता है, फिर दूसरा ग्रास लेता है। इस समय वह काम तो एक ही कर रहा है अर्थात् केवल भोजन कर रहा है, किन्तु प्रत्येक ग्रास पर काम तीन हो रहे हैं। एक तो ज्यों-ज्यों वह भोजन करता जाता है त्यों-त्यों उसकी तुष्टि होती जाती है। तुष्टि के साथ ही साथ बल भी आता जाता है, शिथिल इन्द्रियाँ चैतन्य होती जाती हैं, प्राणों का पोषण होता जाता है, अर्थात् तुष्टि के साथ-ही साथ पुष्टि भी होती जाती है और प्रति ग्रास पर भूख की निवृत्ति भी होती जाती है। जैसे भोजन करने से तुष्टि पुष्टि और भूख की निवृत्ति ये तीनों काम साथ साथ होते जाते हैं, वैसे ही भगवान् का भजन करने से साधक को प्रभु में प्रेम, विषयों से वैराग्य और सर्वेश्वर के स्वरूप का अनुभव ये तीनों बातें साथ-ही साथ होती जाती हैं, इनके लिये पृथक् पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता।"

राजा ने कहा—"भगवन्! इस विषय को और स्पष्ट करके समझावें।"

मुनि बोले—"अच्छा, देखिये, जैसे कोई मनुष्य है। वह निरंतर श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे! हे नाथ नारायण वासुदेव! या अन्य किन्हीं भगवान के नामों का उच्चारण करता रहता है, उन्हीं की कथा सुनता है, इधर उधर की संसारी निन्दा स्तुति की बातें सुनने को उसे अवकाश नहीं तो संसारी विषयों से विराग तो अपने आप ही हो गया। जैसे कोई अँधेरी कोठरी है, उसमें ले जाकर आपने दीपक रख दिया। केवल दीपक रख देने से ही वहाँ का अंधकार भग गया। अंधकार को लाठी लेकर पृथक् भगाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ा। इसी प्रकार जब तक हम संसारी विषयों में फँसे रहते हैं, तब तक संसार के ही सम्बन्ध में बातें करते हैं, संसारी वस्तुओं को जुटाने के ही लिये प्रयत्न करते रहते हैं, संसारी पदार्थों का ही चिन्तन करते रहते हैं, सारांश हमारे चित्त में संसार ही बसा रहता है। जहाँ भगवान् का नाम, उनका चरित्र चित्त में समा गया, तहाँ संसार वहाँ से स्वतः भग जाता है। ऐसे कथा कीर्तन प्रेमी को संसार की बातें विषवत् प्रतीत होने लगती हैं। कथा कीर्तन से प्रेम होते ही स्वतः विषयों से वैराग्य हो जाता है। जो भी कुछ दिखायी देता है, देखा जाता है, सोचा जाता है, सब मेरे इष्ट का ही जब रूप है, तो फिर विरोध किससे किया जाय? किसे छोड़ा जाय, किसे ग्रहण किया जाय। जब सब इष्ट के रूप हैं, तो सबसे प्रेम करो, सब का आदर करो, सबको अपनाओ, सबको हृदय से लगाओ। इस प्रकार राजन्! जो केवल भगवान् के भजन में ही संलग्न रहता है, जो प्रभु के पादपद्मों का निरन्तर चिन्तन करता रहता है, ऐसे भावुक भक्त को भगवत् प्रेम, विषयों से वैराग्य और भगवत् प्रबोध ये तीनों बातें अनायास ही अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। जहाँ ये तीनों

बातें प्राप्त हो गयीं, तो फिर प्राप्त करने को और शेष ही क्या रह गया। प्रभु प्रेम ही तो जीवन का लक्ष्य है, यही तो शाश्वती शांति का मुख्य कारण है। शान्ति के ही लिये तो जीव इधर से उधर भटक रहा है। वह शांति विषयों के चिन्तन से नहीं भगवान् के चिन्तन से उनके नामों का कीर्तन करने से उनके गुणों का श्रवण करने से प्राप्त होती है।"

यह सुनकर महाराज विदेह अत्यंत प्रसन्न हुए और अपनी प्रसन्नता को प्रकट करते हुए बोले-"प्रभो! आपकी बातों को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति ही नहीं होती, चित्त चाहता है, इसी प्रकार सदा सुनता ही रहूँ। भगवन्! आपने भगवत् भक्तों की बड़ी महिमा बतायी। अब मैं उन्हीं भागवतों के सम्बन्ध में कुछ विशेष रूप से सुनना चाहता हूँ। क्योंकि भगवान् तो किसी विरले को ही दीखते हैं, भगवत् भक्त तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देते हैं। कृपा करके हमें भगवत् भक्तों के धर्म सुनाइये। भक्त का स्वभाव कैसा होता है। भगवद्भक्तों के भी दो हाथ दो पैर दो आँखें आदि होता हैं। वे भी मनुष्यों के समान होते हैं। हम कैसे जानें कि ये भगवद्भक्त हैं। उनका आचरण कैसा होता है? वे बोलते कैसे हैं? कौन-सी बात विशेष रूप से बोलते हैं? किन कार्यों के करने से वे भगवान् के इतने प्रिय बन गये हैं। मेरे ऊपर अनुग्रह करके मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब योगेश्वर कवि से महाराज जनक ने ये प्रश्न किये, तब उन्होंने अपने छोटे भाई हरि की ओर संकेत किया। जब नौ भाई बैठे हैं, तो राजा के प्रश्नों का कुछ-कुछ उत्तर सभी को देना चाहिये। इसीलिये महामुनि कवि ने कहा—"राजन्! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मेरे ये छोटे भाई हरि देंगे।" यह सुनकर राजा सतृष्ण भाव से श्रद्धापूर्वक योगेश्वर हरि की

ओर देखने लगे। अब महामुनि हरि जिस प्रकार उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

पुनि नृप कह विदेह—"भागवत कैसे जानें।
हैं ये भगवद्भक्त कौन विधि तैं पहिचाने॥
सब ई देहिँ बताइ भागवत लक्षन भगवन्।
भक्त आचरन, चलन, मिलन, बोलन अरु चितवन॥
मुनि कवि भूपति प्रश्न सुनि, निरखे मुनिवर हरि जबहिँ।
समुझि बन्धु संकेत हरि, लगे देँन उत्तर तबहिँ॥

योगेश्वर हरि द्वारा भगवद्भक्तों के लक्षण

[१२०२]

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥❀

(श्री भा० ११ स्क० २ अ० ४९ श्लोक)

छप्पय

हरि बोले—"नृप ! श्रेष्ठ भक्त हरि सबहिँ निहारे ।
अपने महँ लखि सबनि न कबहूँ असत् उचारें ॥
ये तो उत्तम भक्त मध्य कछु भेद जनावैं ।
खलनि उपेक्षा, नेह भक्त, हरि प्रेम दृढ़ावैं ॥
अधम न पूजहिँ भक्तकूँ, प्रभुहिँ न निरखैं सबनि महँ ।
प्रतिमा पूजन करहिँ नित, लहैं सिद्धि कछु दिननि महँ ॥

एक ही ज्ञान को भिन्न भिन्न प्रकृति के तीन पुरुष भिन्न भिन्न रूप से धारण करते हैं। एक ही भोज्य पदार्थ को तीन प्रकृति के लोग तीन प्रकार से बनाकर खाते हैं। एक ही धन का तीन प्रकार

❀ जो मनुष्य देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि के सांसारिक धर्म जन्म-मरण, क्षुधा, भय, तृष्णा और परिश्रमादि से हरिस्मृति के विमोहित नहीं होता, वही भगवद्भक्तों में सब प्रधान भागवत है।

के लोग तीन भाँति से उपयोग करते हैं, एक ही शक्ति का तीन स्वभाव के लोग तीन कामों में प्रयोग करते हैं। साराश इतना ही है, कि पात्र भेद से वस्तुओं में भी भेद सा प्रतीत होने लगता है। श्री भगवान् तो मायिक गुणों से रहित सर्वान्तर्यामी सर्वगत हैं, तथापि त्रिगुणमय पुरुष उन्हें तीन प्रकार से ग्रहण करते हैं। उत्तम, मध्यम और अधम। तीन प्रकार के अधिकारी होने से भगवान् की उपासना के भी तीन भेद और उन तीनों के भी तीन-तीन और उन तीनों के भी असख्यों भेद हो जाते हैं। जिसने भगवान् का आश्रय ग्रहण कर लिया है, वह उत्तम अधिकारी हो, मध्यम हो अथवा अधम आगे पीछे सभी को परमपद की प्राप्ति होगी। सभी को उनके चरणों में शरण मिलेगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज विदेह ने भगवद् भक्तों के सम्बन्ध में प्रश्न किये तब नवयोगेश्वरों में से जो कवि से छोटे हरि दूसरे योगेश्वर थे, वे कहने लगे—"राजन्! भगवद्-भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं। उत्तम मध्यम और अधम। आप इन तीनों में से किस के सम्बन्ध में पूछना चाहते हैं?"

राजा ने कहा—"भगवन्! मुझे तीनों ही प्रकार के भक्तों के लक्षण बतावें और फिर उत्तम भक्तों के सम्बन्ध में विशेष व्याख्या करें।"

यह सुनकर हरि बोले—"राजन्! उत्तम भक्त तो वे कहलाते हैं, जो सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त आत्मा को ही देखते हैं, अर्थात् यह यज्ञदत्त है, यह देवदत्त है, यह ब्राह्मण है, यह चाण्डाल है इस ओर ध्यान ही नहीं देते। उनकी दृष्टि सदा आत्मा के ही ऊपर रहती है। सबमें अपने इष्ट को ही देखते हैं, उनकी दृष्टि में सब भगवान् के ही रूप हैं और अपने भगवत् स्वरूप में अर्थात् अपनी अन्तरात्मा में सभी प्राणियों को देखते हैं। अर्थात् मेरे अन्तर्यामी भगवान् ही सब में हैं और भगवद् रूप से जो मेरे अन्तःकरण में

विराजमान है उनमें ही सब है। इस प्रकार जिनकी दृष्टि में भगवद्भाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं वे ही उत्तम भगवद्भक्त हैं। वे ही सर्वश्रेष्ठ भागवत हैं।

राजा ने पूछा—"भगवन्! मध्यम भक्त के क्या लक्षण हैं?"

इस पर योगेश्वर हरि बोले—"राजन! उत्तम भक्त तो संसार में कहीं भेदभाव देखता ही नहीं। सबको भगवद्रूप आत्मरूप करके देखता है, किन्तु मध्यम भक्त की दृष्टि में कुछ भेद रहता है। संसार में तीन प्रकार के लोग होते हैं भक्त, अभक्त और अज्ञानी। मध्यम भक्त इन तीनों से तीन प्रकार व्यवहार करता है भगवान् में उसका प्रगाढ प्रेम होता है, भगवद्भक्तों को जहाँ देखता है, अत्यन्त प्रसन्न होता है। भगवत् भक्तों को कहीं सुनता है वहीं जाता है वहाँ जाकर उनसे मित्रता करता है, उनसे अपना प्रेम सम्बन्ध स्थापित करता है। उसको आवश्यक वस्तुएँ अर्पण करता है। वे जो पंचामृत भगवान का प्रसाद या अपना प्रसादी वस्त्र आदि देते हैं उन्हें श्रद्धापूर्वक सिर पर चढाकर ग्रहण करता है। अपने दुःख सुख की बातें उन्हें बताता है, उनके दुःख सुख की सुनता है। उत्सव, पर्व या वैसे ही भगवद्भक्तों को अपने यहाँ बुलाकर गोष्ठी करता है, स्वयं उनके यहाँ गोष्ठी होती है तो उसमें सम्मिलित होता है। साराश यह है कि उनके साथ सौहार्द भाव रखता है। प्रत्येक बात में आत्मीयता प्रकट करता है। किन्तु जो अभक्त हैं, भगवान से द्वेष करते हैं, शुष्क तार्किक नास्तिक हैं, उनसे न राग करता है न द्वेष, उनकी उपेक्षा कर देता है। जहाँ ऐसे वक्ताओं की खिल्लियाँ उडाने वाले दिखायी दिये कि नीचा सिर करके चला जाता है। न उनसे वाद-विवाद करता है न किसी प्रकार का सम्बन्ध रखता है। सदा उपेक्षा भाव रखता है। वे कोई दो बात कह भी देते हैं, तो उन्हें चुपचाप सुन लेता है। इन भक्त अभक्त दोनों से अतिरिक्त जो तीसरे अज्ञानी हैं,

ज्ञात ही नहीं ईश्वर क्या है, धर्म क्या है, भक्ति कैसे करनी चाहिये, पूजन कैसे करना चाहिये। यद्यपि वे भगवान् के भजन के विरोधी नहीं, किन्तु भजन की प्रक्रिया जानते नहीं ऐसे अज्ञानियों पर सदा कृपा का भाव रखता है। उन्हें मन्त्र दीक्षा देता है या किसी योग्य भगवद्भक्त से दीक्षा दिला देता है। शास्त्रों में से उपदेश चुन-चुनकर उन्हें समझा देता है, लिखा देता है, बता देता है। और भी जिस प्रकार से उनकी हो सके सहायता करता है। इस प्रकार वह भक्त अभक्त और अज्ञानियों के साथ मैत्री, उपेक्षा और कृपा तीन प्रकार का बर्ताव करता है, किन्तु किसी से भी द्वेष भाव नहीं करता, वह मध्यम भक्त कहलाता है।"

राजा ने पूछा—"साधारण भक्त की क्या परिभाषा है, भगवन्!"

महामुनि हरि बोले—"राजन्! जो भगवान् के अर्चा विग्रह में तो भगवत् बुद्धि रखता है। मूर्ति पूजा तो श्रद्धा से करता है, किन्तु भगवान् के भक्तों से तथा अन्य प्राणियों से प्रेम नहीं करता वह प्राकृत भक्त है। ऐसा भक्त भगवान् के लिये तो पूजा की सामग्री यत्नपूर्वक जुटावेगा, किन्तु कोई भगवद्भक्त आ जायगा, तो उसका आदर न करेगा, ऐसे को समझना चाहिये इसने अभी भक्ति का आरम्भ किया है। इस विषय को मैं आपको दृष्टान्त से सुनाऊँ। कुछ भक्तगण हरिद्वार से गंगाजल भरकर श्रीरामेश्वर जी पर उसे चढ़ाने पैदल जा रहे थे। चलते-चलते रामेश्वर जी के निकट उन्हें एक गधा मिला। गधा प्यास के मारे तड़प रहा था। आस पास में कहीं जल नहीं था। उनमें से एक भक्त गये, उन्होंने बिना पूछे पूरा गंगाजल उसे पिला दिया। गंगाजल पीकर गधा चेतन्य हो गया। भक्त बिना ही गंगाजल के प्रसन्नतापूर्वक रामेश्वर जी को चल दिये।

आगे चलकर एक प्यासा मनुष्य मिला। उसने कहा—

"मुझे बड़ी प्यास लग रही है, यदि पानी न मिला तो मेरे प्राण न रहेंगे।" इस पर बहुतों ने कहा—"हमारे पास पानी कहाँ है, हम पर तो श्रीरामेश्वरजी पर चढाने के लिये गगाजल है।" यह कहकर वे आगे बढ़ गये। उनमें से कुछ को दया आ गयी उन्होंने कहा—"इस गंगाजल में से ही थोड़ा-थोड़ा गगाजल सब दें। इसको कुछ शांति मिल जायगी हमारे साथ चलेगा, आगे चलकर भर पेट पानी पी लेगा। इससे इसके प्राण बच जायँगे। हमारी पूजा के लिये भी गगाजल बच जायगा।" यह कहकर सबने तनिक-तनिक गगाजल दिया। उसे पिलाकर साथ ले गये, इस प्रकार उसके प्राणों की रक्षा की।

इन भक्तों मे जिसने गधे को देखते ही आत्मभाव से सब गगा जल प्रसन्नतापूर्वक पिला दिया वह तो उत्तम भक्त है। उसने उस गधे के भीतर ही श्रीरामेश्वरजी के दर्शन किये। और श्रीरामेश्वर जी ने भी गधे के रूप मे ही उसके गगाजल को स्वीकार किया। जिन्होंने रामेश्वर जी को गगाजल रखकर कृपापूर्वक माँगने पर उस दुःखी मनुष्य पर दया दिखायी वे मध्यम भक्त हैं, उनकी दृष्टि मे कुछ भेद-भाव था किन्तु जो रामेश्वरजी के लिये भगवद्भक्त और अन्य जीवों की उपेक्षा करके केवल शिवलिग पर ही चढाने से पुण्य होगा, इस भावना से उसे बचा ले गये वे प्राकृत भक्त हैं। भक्ति करते-करते वे भी मध्यम और उत्तम हो सकते हैं। वे भक्तिभवन के रास्ते पर तो आ गये हैं। जिसने सीधा राजपथ का मार्ग पकड़ लिया है, वह चाहे शनैः शनैः चले, ठहर ठहर कर चले, कभी-न-कभी पहुँच ही जायगा। जिसने अभी यात्रा आरम्भ ही नहीं की उससे क्या आशा की जा सकती है। यह मैंने अत्यत संक्षेप मे भगवद्भक्तों की तीन श्रेणियाँ बतायीं। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

महाराज विदेह ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं श्रेष्ठ भक्तों के सबध को

विस्तार के साथ जानना चाहता हूँ, कृपा करके उत्तम भक्तों के लक्षणों को विशेष रूप से बतावें। उनकी महिमा का और अधिक वर्णन करें।"

योगेश्वर हरि बोले—"राजन! भगवद्भक्तों की महिमा का वर्णन कर ही कौन सकता है। वे तो भगवान् के ही समान होते हैं। वे संसार में रहते हुए भी संसारी भावों से पृथक् रहते हैं। उन्हें संसार का स्पर्श नहीं होता।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! ये संसारी पदार्थ सबको अपनी ओर खींचते हैं। इन्द्रियों के विषय सम्मुख आने से उन्हें भोगने की इच्छा होती है। जिह्वा के साथ मीठे का सम्बन्ध हो जाय, तो स्वाद तो आवेगा ही। और भक्तों को भी तो हम मिठाई खाते देखते हैं। क्या उन्हें इन्द्रियों के अनुकूल भोग पाकर प्रसन्नता या प्रतिकूल विषय पाकर दुःख न होता होगा?"

मुनि बोले—"राजन! पहिले दुःख सुख के ही विषय में समझ लो। एक वस्तु से किसी को सुख होता है, दूसरे को दुःख। सुख दुःख तो यह मन के मान लेने पर है। भगवद्भक्त जब तक संसार में रहता है—जब तक शरीर धारण करता है। तब तक इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण करता ही है। खाता पीता है, देखता है, सूँघता है सभी इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों का सदाचार संयमपूर्वक उपभोग करता है, किन्तु उसका यह निश्चय सदा-सर्वदा दृढ़ बना रहता है कि यह सब भगवान् की माया है। जहाँ वह इस मत्र को भूल जाता है, वहाँ विषयों में फँस जाता है। संसारी लोगों की जो असत् में सत् बुद्धि हो गयी है, उसको उसने भगवद्भक्ति के द्वारा मेट दिया है। उसकी दृष्टि में इन भोग्य पदार्थों में सुख नहीं, शान्ति नहीं, सत्यता नहीं। इसलिये उसे यदि इन्द्रियों के प्रतिकूल पदार्थ मिल जाते हैं, तो न तो उन्हें देखकर द्वेष ही करता है और न अनुकूल मिल जाने पर फूलकर

कुप्पा ही हो जाता है। वह अनुकूल प्रतिकूल दोनों ही दशाओं में समान भाव से रहता है। इस प्रकार जल में रहकर कमल के सदृश निर्लेप रहने वाला भगवद्भक्त ही सर्वश्रेष्ठ है। वही उत्तम भक्त है।"

राजा ने कहा—"महाराज! यह तो बहुत कठिन है। विषयों का उपभोग करके उनके सुख दुःख का अनुभव न करना यह असंभव-सा है। महानुभाव! अग्नि को छूने पर वह गरम न लगे। यह कैसे सम्भव है?"

इस पर योगेश्वर हरि बोले—"राजन! इन्द्रियां स्वतः ही विषयों का उपभोग थोड़े ही करती हैं। वे तो मन के द्वारा करती हैं। आँखें रूप को देखती हैं, यह बात सत्य है, किन्तु जब आँखों में मन हो, यदि मन दूसरी ओर हो, तो आँखों के खुले रहने पर भी रूप दिखायी न देगा। मन यदि दूसरी ओर हो तो रसना से कितना मीठा पदार्थ निगलो उसकी मिठास मालूम न पड़ेगी। देखिये, बच्चे रात में सो जाते हैं माता उन्हें उठाकर गोदी में लिटाकर मीठा दूध पिला देती है। वे कटोरा भर के दूध पी जाते हैं, प्रातःकाल झगड़ा करते हैं, हमें दूध नहीं पिलाया। दूध उन्होंने पिया वह मीठा भी था, रसना के साथ उसका सम्बन्ध भी हुआ, किन्तु मन उस समय सोने की पुरतती नाड़ी में छिपा हुआ था उसका रसना के साथ सम्बन्ध नहीं था। दूध स्वभाव और अभ्यास के सहारे कंठ से नीचे उतर तो गया, किन्तु उसका स्वाद अनुभव नहीं हुआ। इसी प्रकार भगवद्भक्तों का मन तो हरि स्मरण में निरन्तर तल्लीन रहता है। देखिये, सती स्त्री है, उसका पति मर गया है, वह उसके साथ सती होना चाहती है, रोती नहीं, हँसती हुई शृङ्गार करती है। पति को गोदी में लेकर जलती चिता पर चढ़ जाती है, उसे कष्ट नहीं होता क्योंकि उसका पति के साथ है। किसी का मन दूसरी ओर है, उसे क

है, तो भी पता नहीं चलता शीत उष्ण का स्पर्श इन्द्रिय से सबध होने पर भी उसके परिणाम से वचित रहता है। भक्त तो भगवान् के साथ बना रहता है। शरीर स्वभावानुसार चलता रहता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! देह के जो सुख दुखादि धर्म हैं, वे तो उसे होते ही होंगे?"

योगेश्वर हरि बोले—"होते क्यों नहीं देहादि के धर्म तो होते ही हैं, किन्तु उनमें वह लिप्त नहीं होता। अपने में उन सुख-दुखों का वह आरोप नहीं करता। जैसे देह का धर्म है जन्म और मरण भगवद्भक्त की देह जब तक चल रही है चले। जब अन्त होना हो ही जाय। वह अपने को देह से सदा पृथक समझता है। देखिये राजन्! एक तो वस्त्र है एक वस्त्र को पहनने वाला है। एक घर है एक घर में रहने वाला है। वस्त्र के फट जाने पर वस्त्र पहिनने वाला तो नहीं फट जाता। घर के टूट जाने पर घर में रहने वाला तो नहीं टूट जाता क्योंकि घर वाले से वस्त्र भिन्न है। इसलिये आत्मा में तो जन्म मरण है ही नहीं। शरीर जन्मता है मरता है, आत्मा से शरीर भिन्न है। भगवद्भक्त की यह धारणा दृढ़ रहती है इसलिये जन्म-मरण से उसे मोह नहीं होता। देह से सूक्ष्म हैं इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का धर्म है परिश्रम करना थक जाना, दोषयुक्त हो जाना। जैसे आँखों से देखना बन्द हो गया, अंधे हो गये। कानों से सुनना बन्द हो गया बहरे हो गये, तो यह अंधत्व बधिरत्व अथवा अन्य विकार आदि हो जाना यह आत्मा में तो बनता नहीं। इन्द्रियों में ये सब होते हैं। भगवद्भक्त इनके कारण दुखी नहीं होता। उसे शोक नहीं होता, वह इन्द्रियों के धर्मों को अपने में मिथ्या आरोपित नहीं करता।

इन्द्रियों से सूक्ष्म हैं प्राण। प्राण दश प्रकार के होते हैं प्राण, अपान, उदान, समान व्यान, कूर्म, कृकल, धनजय, देवदत्त और नाग। क्षुधा पिपासा इनका धर्म है। देह में क्षुधा पिपासा व्याप्त हो

तो भगवद्भक्त इन्हें प्राणों के धर्म समझकर स्वयं निर्विकार बना रहता है। प्राण से भी सूक्ष्म है मन। भय होना आदि मन का धर्म है। किसी सिंह ने दहाड़ मारी, सामने से आता हुआ एक बड़ा भारी लम्बा भूत दिखाई दिया। मन में भय उत्पन्न हुआ। होता रहे। भगवद्भक्त तो सदा निर्भय रहता है। भय सदा दूसरे से होता है। आत्मा तो अद्वय है, उसमें तो भय की कल्पना ही नहीं हो सकती। जो सब में परमात्मा को देखता है, वह भक्त किससे भय करेगा। अपने आप से कभी किसी को भय होता है क्या ?

मन से भी सूक्ष्म है बुद्धि। तृष्णा करना अधिक वस्तुओं का संग्रह करना यह बुद्धि से होता है। बुद्धि से सोचते हैं, जो वस्तु आयी है, उसे यत्नपूर्वक संग्रह कर लो। सम्भव है आगे न मिले। अधिक वस्तुएँ रहने से अधिक सुख मिलेगा। भगवद्भक्त ऐसा क्यों सोचने लगा। उसके परमात्मा तो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उनमें न्यूनता नहीं अतः तृष्णा आदि बुद्धि के धर्मों में वह स्वयं मोहित नहीं होता। जो देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि के व्यापारों को अपने में आरोपित करके शोक मोह को प्राप्त नहीं होता, वही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं।

आश्चर्य के साथ महाराज विदेह ने कहा—"भगवन्! आप तो बहुत ऊँची बातें कह रहे हैं। ऐसा सोच लें कि अमुक धर्म देह का अमुक इन्द्रियों का है, अमुक प्राण, मन और बुद्धि आदि का है, तब तो संसार में कोई काम ही न हो।"

हँसकर महामुनि हरि बोले—"राजन्! मैं नीची बात थोड़े ही बता रहा हूँ, सबसे ऊँची बात कह रहा हूँ विषयों से इन्द्रियाँ ऊँची हैं, इन्द्रियों से मन ऊँचा है, मन से बुद्धि ऊँची है और बुद्धि से आत्मा परमात्मा ऊँचा है। मैं तो आत्म सम्बन्धी बातें बता रहा हूँ। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से निर्मित क्षुद्र

भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध मे तो मैं कह नहीं रहा हूँ। आप सोचें, संसार के सब काम कामना से होते हैं। भगवद्भक्त का चित्त तो सदा भगवान वासुदेव के चरणो मे ही फँसा रहता है। उसकी एकमात्र गति श्यामसुन्दर ही हैं। इन ससारी कामनाओ और कर्म के बीजो का, वासनाओ का उसके चित्त मे उत्पन्न होना कभी सभव ही नहीं। तो उसके लिये तो एकमात्र भगवद्भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ कार्य है। शरीर चलता रहे या नष्ट हो जाय, इसकी तो श्रेष्ठ भक्त को चिन्ता ही नहीं रहती। जिसकी ऐसी दृढ़ भक्ति है वही सम्पूर्ण भगवद्भक्तो मे श्रेष्ठ है।"

इस पर राजा ने कहा—"प्रभो! जब से मैं आपके मुख से भगवद् भक्तो के सम्बन्ध में सुन रहा हूँ, तब से मुझे ससार का स्मरण ही नहीं रहा। मेरा मन इस समय देह, इन्द्रियादिको से ऊँचा उठकर उसी सत् पदार्थ की खोज मे लग गया है। मैं भगवद्भक्तो के सम्बन्ध मे और भी सुनना चाहता हूँ, कृपा करके भगवद्भक्तो की महिमा का और भी वर्णन करें। उनके उत्तम-उत्तम लक्षणो के सम्बन्ध की मुझे और भी विशेष बातें बतावें।"

यह सुनकर योगेश्वर हरि बोले—"अच्छी बात है राजन्! मैं तनिक देर भगवत् स्वरूप भक्तों के चरणो का स्मरण कर लूँ, फिर उन्हीं की कृपा से मैं उनकी कुछ और महिमा वर्णन करके अपनी वाणी को सफल करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इतना कहकर महामुनि हरि कुछ देर के लिये ध्यान-मग्न हो गये।"

छप्पय

करै सकल व्यवहार होहि आसक्त न तबहूँ ।
समझै माया सबहिं करै नहिं सुख दुख कबहूँ ॥
जो सांसारिक धरम न मोहित तिनि महँ होवै ।
हँसे न लखि अनकूल निरखि प्रतिकूल न रोवै ॥
जनम, करम, आश्रम, बरन, जाति भेद मनतैं तजै ।
तेई भगवद्भक्त वर, प्रेम सहित प्रभु कूँ भजै ॥

परम भागवतों के लक्षण

[१२०३]

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० २ अ० ५३ श्लो०)

छप्पय

परम भागवत मैं मेरी महँ नाहिँ भुलावैं ।
हरि सुमिरन के हेतु राज वैभव ठुकरावैं ॥
सुमिरन निशि दिन करैं नहीं प्रभु पद बिसरावैं ।
समदरशी बनि जायँ, परमपद तबई पावैं ॥
पल पल सेवहिँ हरि चरन, शरन गहैं सब कछु सहैं ।
तिनिकूँ ऋषि मुनि वेदवित, भक्त मुकुटमनि वर कहैं ॥

जिस वस्तु के लिये जितना ही बड़ा त्याग किया जायगा, उस वस्तु का उतना ही बड़ा महत्व समझा जाता है । किसी पर

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! जिनका त्रिभुवन का वैभव पाने पर भी भगवच्चिन्तन नहीं छूटता । भगवान् के उन पाद पद्मों की परिचर्या से जो आधे पल भर को भी पृथक् नहीं होते, जिनकी खोज भगवान् में मन लगाये देवता आदि भी करते रहते हैं, ऐसे ही निष्ठावान् भक्त वैष्णवों में अग्रणी हैं । '

छोटा-सा घोडा है, उससे कहा जाय तुम घोडे को दे दो इसके बदले मे हाथी ले लो। यदि वह घोडे को देकर हाथी स्वीकार करता है, तो उसकी दृष्टि मे घोडे से बडा हाथी है। छोटी वस्तु के बदले मे बडी वस्तु पाने की सबकी इच्छा रहती है। भक्त की दृष्टि मे भगवान् सबसे बडे हैं। भगवान् के लिये वह सर्वस्व त्याग सकता है। जिन वस्तुओं को ससारी लोग महान् समझते हैं, उसका दृष्टि मे भगवत् स्मरण के सम्मुख व नगण्य हैं, कुछ भी नहीं हैं। जिसने भगवान् की इतनी महत्ता को समझ लिया है, वही परम भागवत् है वही सच्चा भगवद्भक्त है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! योगेश्वर हरि राजा जनक के पूछने पर भगवद्भक्तों के लक्षण बता रहे हैं। उन्होने कहा—"राजन्! एक राग को सहस्र बार लाख बार कहने से—अभ्यास करने से—हृदयगम हो जाता है, फिर वह सपने मे भी नहीं भूलता। बालक जब जन्म लेता है, तब उसे नाम, गॉव, सम्बन्ध जाति का कुछ भी अहकार नहीं रहता। उस समय न उसका अपना कोई नाम है, न जाति, न किसी से कोई सम्बन्ध। माता पिता के सम्बन्ध से उसके बहुत से सम्बन्धी बना दिय जाते हैं, उसका एक नाम रख दिया जाता है, उसकी माता-पिता की जाति से जाति स्थिर कर दी जाती है। एक आदमी को बता दिया जाता है—"यह तेरा चाचा है, अब निरन्तर चाचा चाचा कहते कहते उसे ऐसा अभ्यास हो जाता है, कि बडा होने पर वह इस बात को भुला नहीं सकता। इसी प्रकार देवदत्तशर्मा, यज्ञदत्त वर्मा, विश्वमित्र गुप्त, गोवर्धनदास ऐसे नाम रख दिये जाते हैं। निरन्तर कहते कहते अपने मे इन सबका ऐसा अभ्यास हो जाता है, कि मृत्यु पर्यन्त ये सस्कार नहीं छूटते और इन्हीं के कारण पुनः पुनः जन्म लेना पडता है। निरन्तर के अभ्यास से इस शरीर मे आत्मबुद्धि हो जाती है, मैं मेरा तू तेरापन इतना

दृढ़ हो जाता है, कि इस शरीर को ही मैं समझने लगता है। जैसे 'मेरा घर' मेरा वस्त्र, इन शब्दों के कहने से मैं भिन्न हूँ घर तथा वस्त्र भिन्न हैं। इसी प्रकार 'मेरा शरीर' मेरी इन्द्रियाँ, मेरा मन, मेरी बुद्धि आदि कहने से 'मैं' इन शरीर इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण से भिन्न है किन्तु अज्ञानवश इस शरीर में ही अहं भाव दृढ़ हो जाता है। भक्त का भगवद्भक्ति करते-करते यह अज्ञान दूर हो जाता है, यह अज्ञान जिसका जितनी ही मात्रा में अधिक दूर हो जाता है, वह उतना ही अधिक बड़ा भक्त है। जिस भगवद्भक्त को मेरा शरीर प्रसिद्ध कुल में जन्मा है, मैं यज्ञयाग आदि बड़े बड़े सत्कर्म करता हूँ, मैं श्रेष्ठ वर्ण का हूँ, उत्तम आश्रम का हूँ, उच्च जाति का हूँ। इस कारण मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ। इस प्रकार की मिथ्या अहंकृति नहीं होती इन्हीं कारणों से जिसे देह में अहंभाव नहीं होता, वही भगवान् का प्रिय है, वही सबसे श्रेष्ठ भक्त है।"

राजा ने कहा—"महाराज! ऐसी स्थिति कैसे हो। जाति, वर्ण, आश्रम कुल तथा धन आदि का अहंकार तो हो ही जाता है।"

महामुनि हरि बोले—"हाँ हो तो जाता ही है, किंतु इसे हटाने का ही नाम तो साधन है यह हटता है समदर्शीपने के विचार से। पहिले अपने पास जो सुवर्ण हो धन हो, उसे हाथ में उठावे। सोचे, इसे मैं अपना कहता हूँ, इसमें मेरापन क्या है, मुझे यह धन पिताजी से मिला। पिताजी सुनार के यहाँ से लाये, सुनार के हाथों अमुक ने बेचा। अमुक इसे राजा के यहाँ से चुरा कर लाया था। कितनों ने इसे मेरा मेरा कहा। जब यह इतनों का नहीं हुआ, तो मेरा क्या होगा। अतः इसमें से ममत्व को छोड़ना चाहिये। विष्णुमित्र का शरीर कितना सुन्दर था। उसे अपनी सुन्दरता का कितना अभिमान था। शरीर को वह तेल उबटन लगाकर कितना, सजाता बजाता था, नाना प्रकार की वस्तुएँ खाकर

उसे कितना पुष्ट रखता था। अन्त में उसके शरीर में घाव हो गये, कीड़े पड़ गये दुर्गन्ध आने लगी। शरीर को छोड़ गया, हमने उस अग्नि में जला दिया। उसकी खोपड़ी अब भी गंगाजी की बालू में पड़ी है। पहिले बड़े गर्व से कहता था, मेरा मस्तक इतना चौड़ा है, इतना विशाल है, अब उस विशाल मस्तक को कुत्ते गीदड़ इधर से उधर खींचते हैं। लोग ठोकरें मार रहे हैं। जब उसका इतना सुन्दर शरीर उसके साथ नहीं गया, तो मैं इस नाशवान् शरीर में अपनापन क्यों स्थापित करूँ, अमुक के शरीर को पराया क्यों समझूँ। शरीर शरीर सब एकसे हैं। सभी वे ही रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि तथा शुक्रादि धातुएँ हैं। आत्मा सब में एक है। इस प्रकार के निरन्तर विचार करने से जिसका धन में से, शरीर में से अपने परायेपन का भेदभाव दूर हो गया है, जो सभी प्राणियों में परमात्मा के दर्शन करता है ऐसे समदर्शी शान्त चित्त पुरुष का देह में अहंभाव नहीं रहता, वही यथार्थ में सब भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ है, वही परम-भागवत है।

राजा ने कहा—"महाराज! हम आप परम भगवद्भक्त की एक कसौटी बता दें। जिस पर कसकर हम यह निर्णय कर सकें कि यह भक्ताग्रगण्य है?"

महामुनि हरि बोले—"राजन! ऐसी कसौटी तो मेरे पास कोई नहीं। भगवद्भक्ति का परिचय कुछ ऊपरी वेष भूषा को देखकर तो होता नहीं। वह तो अन्तःकरण की स्थिति के ऊपर निर्भर है। जिसका मन जितना ही भगवच्चिन्तन में तल्लीन रहेगा, वह उतना ही श्रेष्ठ भक्त है। जो यथार्थ में भगवान् का भक्त है, उससे यदि कहा जाय, कि त्रिभुवन का जितना भी राज्य है, जितना भी वैभव है, उस सबको हम आपको दिये देते हैं, किन्तु आप कृपा करके भगवत् चिंतन को छोड़ दीजिये। सदा को न

छोड़े तो आधे क्षण को ही छोड़ दीजिये। आधे पल के लिये प्रभुपादपद्मों को भुला दीजिये, किन्तु जो इसे स्वीकार नहीं करता। स्वप्न में भी जिसका मन इतने धन वैभव की बातें सुनकर विचलित नहीं होता, वही भक्ताग्रगण्य है, वही श्रेष्ठतम भागवत है, यही उसके भक्त होने की कसौटी है।"

यह सुनकर राजा कुछ देर तक सोचते रहे और फिर बोले—"भगवन्! आप बात तो बड़ी सुन्दर कह रहे हैं। अन्तःकरण भी इसे स्वीकार करता है, किन्तु ये संसारी संताप इतने प्रबल हैं, कि मन विचलित हो ही जाता है। जब भी भीषण दुःख पड़ते हैं, तो सब ज्ञान ध्यान भूल जाता है, यह संसार सत्य ही दिखाई देने लगता है।"

यह सुनकर बड़े आवेश के साथ योगेश्वर हरि कहने लगे—"राजन्! आप कैसी बात कह रहे हैं, ये बातें तो अधकचरे लोगों के सम्बन्ध में हैं। जिन्हें शब्द ज्ञान तो हो गया है, यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ। जिन्होंने प्रभुकृपा का पूर्ण अनुभव प्राप्त नहीं किया। राजन्! सब पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं। हमारे श्यामसुन्दर के पैर तो हाथी के पैरों से भी बड़े हैं। उन्होंने तो दो डगों में ही त्रिभुवन को वामनरूप से नाप लिया था। राजन्! एक छोटा-सा दीपक घर में रख देते हैं तो उस घर का अन्धकार भाग जाता है। जिसके अन्तःकरण में बलि को छलने वाले वामन भगवान् के इतने बड़े-बड़े चरण स्थापित हो जायँ और उसमें एक दो नहीं पूरे दश नखरूप मणियों का दिव्य सुन्दर शीतल प्रकाश फैल जाय तो उनकी दिव्यकान्ति के सम्मुख आप ही सोचें अज्ञान अन्धकार कैसे रह सकता है? काम क्रोधादि का संताप वहाँ अपना प्रभाव कैसे स्थापित कर सकता है। यह काम रूपी प्रचंड सूर्य तो तभी तक संताप पहुँचा सकता है जब तक शीतल किरणों वाले चन्द्रदेव

उदित न हो, जहाँ शीतल राशि चन्द्र उदित हो गये, वहाँ क्या सूर्य का सताप ठहर सकता है ? भगवान् के अन्तःकरण मे आने की ही देरी है, जहाँ वे हृदय मे आ गये, जहाँ उन्होने अपना आसन जमा लिया, तहाँ सभी शोक सताप, अज्ञान तथा मोह आदि भग जाते हैं। जैसे सिह की दहाड़ सुनकर ही शृङ्गाल भग जाते हैं, वसे ही भगवान् के चरणो की जहाँ चमक दिखायी दी, वहाँ सभी कामादि चोर भाग जाते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज ! भगवान हृदय मे आवें तव तो ? वे तो वडे नटखट हैं। वे हम पापियो पर कृपा क्यो करने लगे ? वे हमारे मलिन अन्तःकरण मे क्यो आने लगे ?"

महामुनि हरि ने कहा—"राजन् ऐसी बात नहीं। भगवान् वड़े कृपालु हैं। देखिये, अजामिल ने अवश होकर–यमदूतो से डरकर नारायण नामक अपने पुत्र को पुकारा, नारायण नाम सुनते ही भगवान् ने अपने दूतो को भेजा और उसके सम्पूर्ण पिछले पापो को नाश कर दिया। गणिका सूआ को राम-राम पढ़ाती थी। राम नाम जपने की उसकी भावना नहीं थी, किन्तु कैसे भी सही राम के नाम का उच्चारण करती थी, उसे भी केवल नाम उच्चारण के ही सहारे भगवान् ने सद्गति दे दी। जो भगवान इतने कृपालु हैं, जो विवश होकर नाम उच्चारण करने वाले के भी सम्पूर्ण पाप समूहो को ध्वस कर देते हैं, वे क्या प्रेम से बुलाने से दौडे न आवेंगे ? क्या वे परम कृपालु प्रेम के पास मे फसकर हमारे हृदय मे निवास न करेगे ? भगवान् को पूजा की सामग्रियो की भूख नहीं, वे तो सदा प्रेम के भूखे बने रहते हैं। जहाँ प्रेम देखते हैं, वहीं बँध जाते हैं। भक्त गण अपने प्रेम की दृढ रस्सी से उनके चरणारविन्दो को दृढता से बाँध लेते हैं, वे भी ऐसे भोले भाले है, कि प्रसन्नतापूर्वक बँध जाते हैं और उन भगवद्भक्तो के हृदय को कभी त्यागते नहीं। ऐसे

दयालु कृपालु प्रभु को जिन्होंने अपने प्रेम के फंदे में फँसा लिया है, वे ही परम भागवत हैं, वे ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं, वे ही प्रपन्न हैं वे ही भक्ताग्रगण्य हैं। राजन्! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में परम भागवत भगवद्भक्तों की कुछ महिमा कही। अब आप क्या पूछना चाहते हैं?"

योगेश्वर हरि की बात सुनकर महाराज जनक कहने लगे—"भगवन्! मैं संसारी सन्तापों से संतप्त एक अत्यन्त ही दीन-हीन मरणधर्मा मनुष्य हूँ। मैं रोगी हूँ आप उत्तम अनुभवी वैद्य हैं। मैं भवरोग रूपा ज्वर में पड़ा तप रहा हूँ, आपके पास हरि कथा रूप अमृतमयी अव्यर्थ अति उत्तम ओषधि है। कृपा करके उस मधुर-मधुर ओषधि को मुझे भर पेट पिला दें। आप जो चुल्लू-चुल्लू भर दे रहे हैं, इससे मेरी तृप्ति नहीं होती, अपितु तृष्णा और बढ़ती जाती है।"

यह सुनकर योगेश्वर हरि बोले—"राजन्! आप जो भी पूछेंगे, उसी का हम उत्तर देंगे। आप पूछना क्या चाहते हैं?"

राजा ने कहा—"भगवन्! आपने कई बार 'भगवान् की माया' 'भगवान् की माया' ये शब्द कहे। आपने भगवान् की माया की महिमा भी बहुत बतायी, वास्तव में यह माया है भी बड़ी प्रबल यह बड़े-बड़े मायावियों को भी मोहित कर लेती है। उस भगवान् की माया के ही विषय में मैं जानना चाहता हूँ। कृपा करके आप उस माया का ही वर्णन कीजिये।"

यह सुनकर योगेश्वर हरि हँस पड़े और कहने लगे—"राजन्! माया का क्या वर्णन करें। फिर भी मेरे ये छोटे भाई अन्तरिक्ष इस विषय में आपको उपदेश देंगे। माया की व्याख्या करने में ये ही निपुण हैं, ये ही आपके इस प्रश्न का उत्तर देंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब योगेश्वर हरि ने अपने छोटे अन्तरिक्ष की ओर संकेत किया, तो राजा अत्यन्त नम्रता के

साथ अन्तरिक्ष की ओर निहारने लगे। अब महामुनि अन्तरिक्ष जिस प्रकार महाराज विदेह को माया का स्वरूप बतावेंगे, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

बोले मैथिलभूप—नाथ! मम रोग मिटाओ।
कृष्ण कथामृत मधुर सरस कछु अधिक पिआओ॥
होहि न मेरी तृप्ति चारु प्रभु चरित सुनावें।
माया अति बलवती बताई तिहि समुझावें॥
अन्तरिक्ष बोले तबहिं, त्रिगुनमयी माया प्रबल।
सर्ग स्थिति लयकरिनी, सृजति वायु, भू, जल, अनल॥

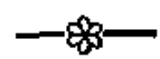

योगेश्वर अन्तरिक्ष द्वारा भगवान् की माया का वर्णन

[१२०४]

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ३ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

हरि स्वरूप निज जीव भोग अरु मोक्ष करन कूँ ।
पंचभूत तैं रचे दीर्घ अरु लघु प्राननि कूँ ॥
तिनि सब महँ प्रभु प्रविशि करन, मन बनि भोगनि कूँ ।
भोगी ह्वै आसक्त आतमा मानै इन कूँ ॥
करम वासना युक्त ह्वै, कै भटकै ससारमहँ ।
पुनि पुनि जनमै पुनि मरै, परयो प्रवाह असारमहँ ॥

भगवान् नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अज, अव्यक्त, विकार रहित तथा शाश्वत हैं। उनमें वृद्धि नहीं। ह्रास नहीं, अपचय नहीं, उपचय नहीं वे सदा एक रस रहने वाले हैं, आप्तकाम हैं, आत्म क्रीड़ा हैं। आनन्द स्वरूप हैं, उन्हें आनन्दानुभव करने के निमित्त अन्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं। फिर भी वे

---

* योगेश्वर अन्तरिक्ष महाराज जनक से कह रहे हैं—"राजन् ! जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली यह भगवान् की त्रिगुणमयी माया ही है। यह हमने आपसे उस माया का वर्णन किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

अपनी माया का आश्रय लेकर इस संसार का रचना करते हैं और एक रूप से अनेक रूप होकर नाना भाँति की क्रीडा करते हैं। जो खेल को खेल समझ लेते हैं, वे हँस जाते हैं, जो खेल को सत्य समझ लेते हैं, वे ही माया के चक्कर में फँस जाते हैं। बिना माया का स्वरूप जाने भगवान् जाने ही नहीं जाते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने योगेश्वरों से माया के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब नौ योगेश्वरों में से अन्तरिक्ष कहने लगे—"राजन्! आपने मुझसे प्राणियों को मोहित करने वाली माया के सम्बन्ध में प्रश्न किया, अब मैं माया के सम्बन्ध में क्या बताऊँ। जो वास्तविक न होने पर भी भास वही माया है, तुम जिस दृश्य प्रपञ्च को देख सुन और अनुभव कर रहे हो, यह सब मायिक है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! भगवान् ने इस प्रपञ्च की रचना की ही क्यों?"

अन्तरिक्ष बोले—"जीवों के भोग के निमित्त तथा मोक्ष के निमित्त ही भगवान् ने इस प्रपञ्च की रचना की।"

राजा ने कहा—"जीव क्या महाराज!"

अन्तरिक्ष बोले—"कर्म फलों को खाने की इच्छा वाले तीन देह के अधिष्ठातृदेव भगवान् के चेतन्याश का नाम जीव है। उसे अविद्या के सम्बन्ध से अनादि बन्धन की प्राप्ति होती है और विद्या से मोक्ष की। इसी जीव को खेल खिलाने के लिये बन्ध मोक्ष का नाटक करने के निमित्त—इस दृश्य प्रपञ्च का सृजन श्याम सुन्दर करते हैं।"

राजा ने कहा—'महाराज! संसार में तो असंख्यों अगणित प्राणी हैं, इन सबको भगवान् कैसे बनाते हैं, इस चित्र विचित्र जगत् का भगवान् कैसे बैठे बैठे बनाते रहते होंगे?"

मुनि बोले—"राजन्! आप जितने देहधारी देखते हैं, देवता

ऋषि मुनि, प्रजापति, तथा ब्रह्मा आदि के सम्बन्ध मे सुनते हैं, सबका शरीर पाँच भूतों से बनने के ही कारण इसका नाम प्रपञ्च है। उन आदि देव सर्वभूतात्मा श्रीमन्नारायण ने ही अपने रचे पञ्चभूतों से छोटे और बडे से बडे उत्कृष्ट से उत्कृष्ट और निकृष्ट से निकृष्ट प्राणियों की सृष्टि की है कीटाणु से ब्रह्म पर्यन्त सब उन्हीं का माया का विलास है।"

राजा ने कहा—"ये पञ्चभूतों से निर्मित शरीर जड हैं या चेतन्य ?"

मुनि ने कहा—"पञ्चभूतों का जितना पसारा है सब जड है।"

राजा ने कहा—"तब जड मे चेतन्यता कैसे आ गयी ?"

मुनि बोले—"राजन्! इन पञ्च महाभूतों से रचित छोटे बड़े सभी प्राणियों मे वे प्रभु ही जीव रूप से प्रवेश कर जाते हैं।"

राजा ने कहा—"फिर उपभोग कैसे करते हैं, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये तो जड हैं, इन विषयों का उपभोग करने वाली श्रोत्र, चक्षु रसना, घ्राण और त्वचा आदि इन्द्रियाँ भी जड हैं, जड़ का जड उपभोग कैसे करेगा।"

मुनि बोले—"देखिये, राजन्! चेतन्याश जीव रूप से ही भगवान् ग्यारह रूपों में-एक मन और दश इन्द्रियों मे-विभक्त होकर-विषयों का उपभोग करते हैं। यह सत्य है इन्द्रियाँ प्रकाश हीन जड हैं किन्तु उन्हे आत्मा से प्रकाश प्राप्त होता है, आत्मा द्वारा प्रकाशित इन्द्रिया से ही जीवात्मा तत् तत् इन्द्रियों के विषयों का उपयोग करता है। उपभोग करने से जीवात्मा अनादि अविद्या के कारण इस पञ्चभूतों से निर्मित शरीरादि को ही आत्मा मान लेता है। इसी मे इसकी आसक्ति हो जाती है। जैसे कोई घोडे पर चढकर काशी को चला। मार्ग मे उसे सुन्दर फलों से युक्त से वन उपवन मिले, उनमे उसने मधुर लगने वाले फल खाये। फल खाते-

खाते वह काशी जाना तो भूल गया। फलों का स्वाद लेना ही उसने मुख्य ध्येय मान लिया। अब एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष के नीचे जाता है, फल चखकर दूसरे वृक्ष के फलों की इच्छा करता है। इस प्रकार लक्ष्य भ्रष्ट होकर इधर से उधर भटकता रहता है।"

राजा ने कहा—"इन्द्रियों के विषयों से तो जीव का कोई सम्बन्ध नहीं, फिर वह उनमें बंध क्यों जाता है।"

हँसकर अन्तरिक्ष मुनि बोले—"राजन्! सम्बन्ध किसका किसके साथ है। सम्बन्ध तो मन के मानने से जुड़ जाता है। एक व्यक्ति किसी देश में उत्पन्न हुआ, दूसरा दूसरे देश में। उनकी जाति भिन्न, धर्म भिन्न, रूप रंग रहन सहन भिन्न, फिर भी मित्रता हो जाती है। एक दूसरे के सुख-दुःख को अपना समझने लगते हैं। लड़की कहीं उत्पन्न हुई लड़का कहीं उत्पन्न हुआ। दोनों सम्बन्ध जोड़कर अपने को पति-पत्नी मान लेते हैं। एक के दुखी होने से दूसरा दुखी होता है, एक के सुखी होने से दूसरा सुखी। धर्म कार्य भी करेंगे, तो दोनों गाँठ बाँध कर करेंगे, इसी प्रकार जीव ने शरीर को ही आत्मा मान लिया है, कर्मेन्द्रियों से वासनायुक्त होकर कर्म करता है, उनसे जो सुख-दुःख होता है, उन्हें अपना किया हुआ मान लेता है। जब कर्ता बनेगा, तो उस का फल भी भोगना ही पड़ेगा इसीलिये अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिये एक योनि से दूसरी योनि में दूसरी योनि से तीसरी योनि में ऐसे ही घूमता हुआ चौरासी के चक्कर में भटकता रहता है और तब तक भटकता रहता है जब तक यह सृष्टि है।"

राजा ने पूछा—"यह सृष्टि भगवन्! कैसे हुई।"

मुनि बोले—"राजन्! यह सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् की त्रिगुणमयी माया के द्वारा ही हुई। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ये तीनों माया में ही सम्भव है, कर्म फलों के क्षोभ से प्रकृति की

साम्यावस्था में विकृति हुई। उससे महत्तत्व की उत्पत्ति हुई, महत्तत्व से अहंतत्त्व उत्पन्न हुआ। अहंतत्त्व के सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद हुए इस त्रिविध अहङ्कार से ही, पंचभूत, दश इन्द्रियाँ, दशों इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव, मन तथा बुद्धि आदि की उत्पत्ति होती है। इन सबसे सम्पूर्ण सृष्टि होती है। काल की प्रेरणा से सृष्टि होती है। जब तक सृष्टि का काल रहता है, तब तक उत्पन्न हुई सृष्टि स्थित रहती है उसमें सुख दुःख जन्म मरण, युद्ध, व्यापार आदि अनेक कार्य होते रहते हैं। समय आने पर सृष्टि की प्रलय हो जाती है जहाँ से सृष्टि निकली थी, वहीं विलीन हो जाती है। यह सब भानुमती का पिटारा है। जब चाहती है, पिटारे में से वस्तुओं को निकाल-निकालकर सजा देती है। अपने प्रियतम को उन सब वस्तुओं को दिखा-दिखाकर रिझाना चाहती है। जब पति का रुख देखती है, तब सबको समेटकर पिटारे में बन्द करके तान दुपट्टा सो जाती है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! आपने उत्पत्ति और स्थिति की बातें तो संक्षेप में सुना दी, किन्तु प्रलय कैसे होती है, यह बात नहीं सुनायी। कृपा करके प्रलय के सम्बन्ध में और बतावें।"

महामुनि अन्तरिक्ष बोले—"राजन्! प्रलय के सम्बन्ध में क्या बताना जैसे उत्पत्ति हुई उसके विपरीत प्रलय हो गयी। जैसे कछुए ने मुख निकाला वैसे ही बन्द कर लिया। अन्तर इतना ही है, निकालते समय उसका अग्रिम भाग पहिले निकला था, संकोच करते समय उसका पिछला भाग पहिले सिकुड़ा। जिस क्रम से सृष्टि उत्पत्ति हुई उसके विपरीत क्रम से प्रलय हो गयी।"

राजा ने कहा—"तो भी भगवन्! प्रलय का नियम तो बताइये।"

योगेश्वर अन्तरिक्ष बोले—"अच्छी बात है सुनिये। जो अधिक स्थूल होता है, वह अपने कारण सूक्ष्म में मिलता जाता

[illegible] है [illegible] [illegible] [illegible]

प्राणों को खींच लेते हैं। सूक्ष्म प्राण निकल जाते हैं स्थूल देह पड़ा रह जाता है। देह के पाँचों भूत अपने-अपने कारणों में मिल जाते हैं। प्रलय काल में पृथ्वी की मृत्यु कैसे होती है ?"

मुनि बोले—"राजन्! जब प्रलय काल आता है तो सौ वर्षों तक वर्षा ही नहीं होती। प्राणियों का जीव जल ही है। बिना जल के अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज अर्थात् मनुष्य, पशु पक्षी, जूएँ, कीड़े मकोड़े पेड़ सभी जल जाते हैं। उनके शरीर में जितना जल होता है, उसे सूर्य खींच तो लेते हैं, किन्तु वर्षा काल में बर्षाते नहीं। अब स्थिति के समय में तो यह होता है कि सूर्य आठ महीनों तक तो समुद्र, कुँआ, नद, नदी और सभी प्राणियों के शरीरों से अपनी किरणों द्वारा जल खींच लेते हैं और वर्षा के चार महीनों में उस खींचे हुए जल को बरसा देते हैं। इससे सभी प्राणी सुखी होते हैं। प्रलय का समय समुपस्थित होने पर सौ वर्षों तक जल को खींचते तो रहेंगे। बरसेंगे एक बूँद भी नहीं। इसलिये सब पृथ्वी सूख जायगी नीरस हो जायगी। वर्षा न होने से उष्णता बढ़ती है। जब सौ वर्षों तक वर्षा न होगी, तब सूर्य की उष्णता अत्यन्त बढ़ जायगी। तीनों लोक तपने लगेंगे।

भगवान् अपने एक अंश से तो इस जगत् रूप में फैले हुए हैं शेष अंश से पाताल के नीचे बैठे हुए इस भूमण्डल को थामे हुए हैं। भगवान् के शेष अंश को मनीषी नाग कहते हैं। क्योंकि वह कहीं आता जाता नहीं स्थिर रहता है। अधिक उष्णता बढ़ने से शेषनाग के भी मुख से अग्नि की लपटें निकलने लगती हैं। पृथ्वी निर्जीव हो जाती है। पृथ्वी का प्राण गन्ध है। पृथ्वी से गन्ध निकल जाती है। शेष के मुख से निकलती हुई ज्वालामुखी की लपटें पृथ्वी की समस्त वस्तुओं को जलाकर भस्म कर देती हैं। अर्थात् पृथ्वी के शरीर का दाह संस्कार हो जाता है। जैसे

शरीर को जलाकर जिसकी भस्म को जल मे प्रवाहित करते हैं, वैसे ही भस्मीभूत पृथ्वी का राख को प्रवाहित करने सवर्तक नामक मेघ आते हैं। उन सवर्तक नामक मेघो का काम ही यह है कि सृष्टि के अन्त में जब पृथ्वी का मृत्यु हो जाय, तो उसकी भस्म को बहा देना। क्योंकि जल पृथ्वी का पिता है नियमानुसार पुत्र को पिता का दाह सस्कार करना चाहिये, किन्तु प्रलय में तो सभी काम उलटा ही होता है, अतः पिता जल अपनी पुत्री पृथ्वी की भस्म को बहा देता है। प्राणो का खींचने वाले वायु पृथ्वी के प्राणो को उसके पिता जल का देते है। हाँ, तो वे सवर्तक नामक मेघ सौ वर्षा तक वर्षा करते रहते है। वह वर्षा साधारण नहीं होती। हाथी की सूँड के समान मोटी-मोटी धाराओ से वे प्रलयकालीन मेघ निरन्तर बरसते ही रहते हैं। उस वर्षा से समस्त ब्रह्माण्ड जलमग्न हो जाता है। अब चारों ओर जल का ही साम्राज्य हो जाता है।"

राजा ने पूछा—"महाराज! जल का मृत्यु नहीं होती?"

हसकर महामुनि अन्तरिक्ष बोले—"क्यों, जल की मृत्यु क्यों नहीं होती? जो जनमा है वह मरेगा। जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है।"

जब जल के भी मरने का काल आ जाता है, तो वायु देव उसके भी रस रूप प्राणो को खींच लेते हैं। अग्निदेव जल को भी जलाकर भस्म कर देते है। बाप ने बेटे को जला दिया। अब जल का ही अस्तित्व न रहा तो जल की भस्म को प्रवाहित किसमें करें, अतः जल अग्नि रूप हो जाता है। केवल चारो ओर तेज ही तेज व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार पृथ्वी और जल दो की मृत्यु हो गयी। रह गया अग्नि और उसका प्राण तेज। वायुदेव अन्धकार के द्वारा अग्नि के प्राण तेज को भी नाश कर देते हैं। तेज वायु मे मिल जाता है, अब जलाने का या प्रवाह करने का तो

काम ही नहीं रहा। पृथ्वी, जल और तेज तीनों का नाश हो गया। अब रह गया अन्धकारमय वायु का बवंडर।

वायु तो आकाश का पुत्र है। आकाश ने सोचा यह वायु सबको खींच-खींचकर मारता था, सबके प्राण हरता था, इसके प्राणों को मैं हरूँ। जो जैसा करेगा वैसा भरेगा। जो दूसरों के लिये खाई खोदेगा उसके लिये कुँआ प्रथम ही तैयार रहेगा। यही सोचकर आकाश ने वायु का स्पर्श गुण हर लिया। स्पर्श हीन हुआ मृतक वायु शांत हो गया। अब न बवंडर न झंझावात। सर्वत्र शान्ति छा गयी। आकाश ही परिपूर्ण रहा। किन्तु आकाश के प्राण हैं शब्द। आप एकान्त में शान्तचित्त होकर कान बन्द करके बैठें तो भी आपको शब्द सुनाई देगा। इसलिये संसार में केवल शब्द ही शब्द भर गया।"

राजा ने पूछा—"महाराज! आकाश का कोई पिता नहीं था। वह उसे निगल जाता।"

मुनि बोले—"राजन्! एक परम पिता परमात्मा का तो कोई पिता है नहीं। क्योंकि वे चराचर जगत् के पिता हैं और नहीं तो सबके पिता हैं। ये पाँचों भूत तामस् अहंकार से क्रमशः उत्पन्न हुए हैं। अतः आकाश का पिता तामस् अहंकार है। अतः आकाश तामस् अहंकार में विलीन हो जाता है। इस प्रकार स्थूल जगत् का नाश हो जाता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! स्थूल जगत् तो पंचभूतात्मक है, इसके नाश होने पर सूक्ष्म जगत् की वस्तुएँ तो बच जाती होंगी?"

मुनि ने कहा—"राजन्! मैं बार-बार तो बता चुका हूं, सूक्ष्म हो या स्थूल जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश है। तामस् अहंकार से भूतों की उत्पत्ति हुई थी अतः भूतों का वृद्धप्रपितामह आकाश अपने सम्पूर्ण परिवार को बटोरकर अपने पिता तामस् अहंकार में विलीन हो जाता है। इन्द्रियों की उत्पत्ति राजस्

अहंकार में हुई थी। जब भोगने को विषय ही न रहे, करने को कर्म ही न रहे, तो बिना भोजन के इन्द्रियाँ अपने पिता राजस् अहंकार में मिल जाती हैं। दश इन्द्रियों के जो दश अधिष्ठातृदेव थे और इन्द्रियों का राजा मन था वे सब सात्विक अहंकार में विलीन हो गये। अहंकार के सात्विक, राजस् और तामस् ये तीन गुण थे, इन तीनों गुणों के सहित अहंकार महत्तत्व में विलीन हो गया। महत्तत्व प्रकृति में—अपने स्वभाव में—मिल गया। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्माजी का शरीर ही था। उन्हें ही विराट् पुरुष कहते हैं। जब उनका शरीर ही न रहा—जब व्यक्त जगत् ही न रहा—तो वे अपने कारण सूक्ष्म स्वरूप अव्यक्त में मिल गये। खेल समाप्त हो गया।

राजा ने कहा—"महाराज! जब प्रलय हो जाती होगी, तब जीव जन्म मरण के चक्कर से मुक्त हो जाते होंगे?"

मुनि बोले—"नहीं राजन्! यह बात नहीं। जब तक प्रलय का समय रहता है, तब तक सब जीव अव्यक्त के शरीर में चुपचाप सोते रहते हैं। जहाँ फिर सृष्टि हुई, तहाँ सब फिर अपने अपने कर्मों के फल भोग में लग जाते हैं, फिर उन उन योनियों को प्राप्त होकर कर्म करने लगते हैं।

राजा ने कहा—"महाराज! इतने दिन अव्यक्त में रहने पर भी उन्हें वे सब याद कैसे रहे?"

हँसकर अन्तरिक्ष मुनि बोले—क्यों राजन्! भूलने की कौन सी बात है। हम भागवती कथाओं का एक अध्याय पढ़कर सो जाते हैं। दूसरे दिन उठते ही अध्याय को पढ़ने लगते हैं। ऐसा तो नहीं होता, कि जो आज पढ़ा सोने पर सब भूल गये और कल से फिर वहीं से आरम्भ किया। सर्वज्ञ भगवान् को तो सबके कर्मों का, कर्म फलों का, पता रहता है। सबको उनके कर्मानुसार योनि दे देते हैं, सब कर्मों में पूर्व की तरह ही प्रवृत्त हो जाते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! योनि तो असख्यो हैं, किस प्राणी ने कितने कर्म किये, कौन सी योनि अब उसे मिलनी चाहिये। इन सबका जिनमे लेखा होगा, वे न जाने कितनी बहियाँ होगी। भगवान् को बडा परिश्रम करना पड़ता होगा।"

मुनि ने कहा—"नहीं राजन्! वही खाते की क्या आवश्यकता। भगवान् को कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। सब प्राणी कर्मानुसार अपने-अपने कर्मों मे स्वतः ही प्रवृत हो जाते हैं। जैसे लाखो गौएं हो, बछडा उनमें से अपनी माता को ही खोजकर उसका दूध पीने लगेगा। जैसे बनियाँ दिन भर सौदा बेचता है, रात्रि मे दुकान बन्दकर देता है, दूसरे दिन फिर बचे हुए को ज्यों-का-त्यों सजाकर बेचने लगता है। ऐसे ही यह सृष्टि का प्रवाह अनादि रूप से चल रहा है। न इसका कभी आदि है न अन्त। सब जीव अदृष्ट की प्रेरणा से अपने कार्मो के फलों को भोग रहे हैं। हमारे भाग्य मे बाबाजीपन ही था, हम बाबाजी बने घूम रहे हैं, आपके कर्म मे राजा बनना लिखा है आप राजा बनकर राज्य सुख भोग रहे हैं, किसी के भाग्य मे लिखना ही लिखा है वह दिन भर लिखता ही रहता है, किसी के भाग्य मे भव्य भोगों का भोगना लिखा है, वह उन्हे ही भोगता है, भगवान् ने सृष्टि ही जीवो के कर्म फलों के भोग के निमित्त बनायी है। सो राजन्! आनन्द से भोगो को भोगिये। पुनः पुनः मरिये पुनः पुनः जन्म धारण कीजिये। इसी का नाम भगवान् की माया है यही माया का चक्कर है। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप मे माया का स्वरूप बताया अब बोलिये और क्या सुनने की इच्छा है?"

राजा ने कहा—'महाराज! यह तो आपने माया का बडा विचित्र चक्र बताया। इससे तो जीव का कभी छुटकारा ही नहीं हो सकता। कृपा करके अब आप ऐसा उपदेश दें, जिससे इस माया से छूट सकें आपने कहा था भगवान् ने अपने ही स्वरूपभूत-

जीवों के भोग और मोक्ष के लिये इस संसार की रचना की। सो, कर्म-भोगों की बात तो समझ में आ गयी, कि माया के चक्कर में पड़ा प्राणी अच्छे बुरे कर्मों को करता है और उनके फलरूप सुख और दुःखों को भोगता है। अब इस माया के चक्कर से छुटकारा पाने का-मोक्ष का-उपाय बतावें।"

महामुनि अन्तरिक्ष बोले—"संसार का बन्धन अज्ञान से होता है, ज्ञान से मुक्ति होती है। जिन्होंने अपने मन को वश में नहीं किया है, ऐसे पुरुषों द्वारा भगवान् की यह दुस्तर माया कभी भी नहीं जीती जा सकती। इसे सूक्ष्म दृष्टि वाले ज्ञानी पुरुष ही जीतने में समर्थ हो सकते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! जिनकी सूक्ष्म दृष्टि हो गयी है, जो ज्ञाननिष्ठ हैं उनका माया बिगाड़ ही क्या सकती है। वे तो अपनी ज्ञाननिष्ठा से तर जायंगे। मेरा प्रश्न तो हम जैसे स्थूल बुद्धि वालों के लिये है। हम जैसे साधारण बुद्धि वाले भी जिन उपायों से भगवान् की इस दुस्तर माया को सुगमता के साथ पार कर जायँ, ऐसा सरल सुगम सर्वोपयोगी मार्ग आप बतावें।"

यह सुनकर अन्तरिक्ष मुनि बोले—"राजन्! इसका उत्तर मेरे ये छोटे भाई प्रबुद्ध देंगे। ये सदा प्रबुद्ध रहते हैं। इसलिये इस विषय का ये भली भाँति विवेचन करेंगे।"

सूजती कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर महाराज जनक अत्यंत श्रद्धाभाव से जिज्ञासा भरी दृष्टि से महर्षि प्रबुद्ध की ओर देखने लगे। अब जैसे योगेश्वर प्रबुद्ध साधारण लोग माया से तर सकते हैं, इसका जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

प्रकृति और महतत्व, अह, तैजस रज तममय।
तामसतैं तब भूत करन राजसतैं निश्चय॥
करननिके सब देव और मन तैजस सभव।
ह्वैकें सब उतपन्न रहें, फिर प्रलय होहि जब॥
तब ये सब प्रतिलोम तैं, मिलैं जाय अव्यक्तमहँ।
यह माया भगवान की, रहै सदा परतत्वमहँ॥

योगेश्वर प्रभु द्वारा माया से पार होने का उपाय

(१२०१)

अन्तं गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

(श्री भा० ११ अ० ३ श्लो० २१ श्लोक)

दोहा

कै माया तरै त्यागिकै दुखी जगत है ।
चुन चुन इकर बहुत दुख तैं बोझे लग है ॥
बहुवै धन, धन, करम, काहायुत गुरु चरनमें छूटै ।
जाई जीवै धरम-मोपयत भगवान के संग ॥
सत्यगति, मैत्री, दया, विरक्त, शौच, तप, सिद्धा ।
विषय बहानि प्रति नेह सम, दीनन के प्रति सदिच्छा ॥

कोई मनुष्य जा रहा है, उसे रात्रि में एक बहुत बड़ी काली की छाया दिखाई दी। उस पुरुष को यह प्रतीत होने लगा कि यह भूत खड़ा है। उस छाया में एक ओर लकड़ी लगी हुई थी, उनकी छाया पड़ रही थी, वे ऐसे लगते थे, मानो उसके दो हाथ

---

* योगेश्वर प्रभु राजा जनक से कह रहे हैं -"राजन् ! मनुष्य अविस्पर्धा है इसलिये जिस जिज्ञासु को उत्तम श्रेय, मोक्ष की हो उसे गुरु की शरण लेनी चाहिये। वह गुरु शब्द ब्रह्म और पर दोनों में निष्णात हो तथा शान्त चित्त वाला हो।"

हैं। मन में जैसी शंका हो जाती है उसके अनुसार ही सब वस्तुएं दीखने लगती हैं। क्योंकि यह सम्पूर्ण संसार ही भावमय है। जिसकी जैसी भावना दृढ़ हो जाती है उसे सर्वत्र वही दिखायी देने लगता है। उस व्यक्ति की दृढ़ धारणा हो गई निश्चय यह भूत खड़ा है। अब तो उसे उस छाया में हाथ, पैर, नाक, कान, आँख, फटा हुआ भयंकर मुख बड़े-बड़े दाँत प्रत्यक्ष दिखायी देने लगे। उसे ऐसा भी प्रतीत होने लगा, कि यह मुँह फाड़कर मेरी ओर दौड़ा आ रहा है, मारे भय के वह वहाँ अचेतन हो जाता है। समाचार मिलने पर उसके घर के उसे ले जाते हैं। भूत झाड़ने वाले ओझा को बुलाते हैं। ओझा सब पूछता है, वह बताता है अमुक-अमुक स्थान पर मुझे भूत मिला था। ओझा भी पहिले पहिल जब वहाँ गया था, तो उस भी भूत का ही भ्रम हुआ था, किन्तु वह भयभीत नहीं हुआ साहस करके आगे गया, उसे बल्ली दिखायी दी और उसकी छाया को भी समझा। सब रहस्य उसकी बुद्धि में आ गया। अब वह समझ तो गया कि इसे भूत नहीं लगा है, किन्तु इतना कह देने से ही तो वह अच्छा न होगा, इसलिये कार्य चलाने के लिये उसने भी इस बात को सत्य मान लिया कि हाँ अवश्य इसे भूत लगा है। अब वह उसकी शंका को निर्मूल करने के लिये भूत का उपचार करने लगा जैसे उसे भूत लगने का भ्रमवश निश्चय हो गया था, उसी प्रकार अब उसे निश्चय होने लगा कि विद्वान् ओझा की भूतविद्या के प्रभाव से मेरा भूत भाग रहा है। एक दिन एक बाँस की नली को तुरन्त उसने हाथ से दबा लिया और बोला—"लो तुम्हारा भूत अब इस बाँस की नली के भीतर आ गया, मैं गङ्गाजी के किनारे छोड़े आता हूँ, यह कहकर वह भूत को लेकर गङ्गा किनारे चला गया। उस आदमी को विश्वास हो गया मेरा भूत उतर गया। कुछ दिनों के पश्चात् ओझा उसे लेकर उस बल्ली की छाया के

समीप गया, उसे प्रत्यक्ष करा दिया, यह भूत नहीं वल्ली की छाया है, तुमने भ्रमवश उसे भूत मान लिया। जब उसे प्रत्यक्ष हो गया, तो फिर अब उसे कोई भय नहीं रहा। वह छाया कहीं भग नहीं गयी वह ज्यों की त्यों है। दूसरे जो उसके रहस्य को नहीं जानते उन्हे अब भी उसमे भूत का भ्रम होता है वे अब भी अचेत होते हैं। अब वह स्वयं ओझा बन गया है दूसरो के भूतों को भगाता है। किन्तु उस छाया को सर्वदा के लिये हटा नहीं सकता। अब जो मिथ्या भूत के लिये उपचार किया जाता है, वह भी वास्तव मे मिथ्या ही है किन्तु उसके बिना प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार वास्तव मे माया कुछ है नहीं, किन्तु उसकी प्रतीत सबको होती है, उसके हटाने के लिये साधन भी किये जाते हैं, साधनो से हट भी जाती है। इससे चाहें माया सत् हो या असत् उसके लिये साधन करना परमावश्यक है। बिना तीव्र साधनो के यह हटने वाली नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज विदेह ने योगेश्वरो से ईश्वरीय माया से पार होने का सरल सुगम उपाय पूछा तो वे कहने लगे—"राजन्! माया कहाँ रहती है?"

हँसकर राजा ने कहा—"महाराज! माया कहीं एक स्थान मे बैठी हो तो बताऊँ। वह स्त्री, पुरुष, घर, द्वार, कुटुम्ब, परिवार धन वैभव सभी मे व्याप्त है। पुरुष जब स्त्री को देखता है, तो मोहित हो जाता है, स्त्री की मोहिनी माया मे फँस जाता है। स्त्री पुरुष को देखकर मोहित हो जाती है। चमकता हुआ सुवर्ण जहाँ दिखायी देता है, हम मोहित हो जाते हैं, उसे पाने को सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं। मोहनथाल, मलाई के लड्डू, रसमे भीगे रसगुल्ले, पिस्ता किसमिस, केसर पडी खीर तथा सुन्दर घी से चूता हुआ सुगन्धित सयाव जहाँ सामने आ जाता है, कि फिर सब कुछ भूल जाता है, मुँह मे पानी भर आता है। मैं तो समझता

हूँ इन सब में माया छिपी बैठी रहती है।"

यह सुनकर हँसते हुए प्रबुद्ध मुनि बोले—"हाँ तो राजन्! जहाँ जिस वस्तु का संभावना हो, प्रथम वहीं उसकी खोज करनी चाहिये। जैसे किसी का ऊँट खो गया है और उसे वह जाकर घी के बर्तन में खोजे तो उसे मूर्ख ही कहा जायगा। पहिले इन पति-पत्नियों के विषय में ही विचार करें, कि इनको क्या सुख है, क्यों ये एक दूसरे को कसकर पकड़े हुए हैं। जिसे भर पेट भोजन भी नहीं मिलता वह भी पत्नी के लिये व्याकुल है। उसे बिना स्त्री के संसार दुखमय प्रतीत होता है, स्त्री पाने से ही वह समझता है मुझे सुख मिल जायगा। दुःख के नाश और सुख की प्राप्ति के ही निमित्त लोग विवाह करते हैं। परस्पर में पति-पत्नि सम्बन्ध रूप दृढ़ रज्जु में बँधकर कर्मानुष्ठान करते हैं। अब विचार यह करना चाहिये कि उसमें उन्हें सुख मिलता है या दुख। राजन्! तुम ही बताओ तुमने तो विवाह किये हैं, कितना सुख मिला।"

लज्जित होकर राजा बोले—"अजी महाराज! सुख कहाँ? विवाह के पहिले झूठे मनोरथ किया करते थे, यों सुखी होंगे, यह सुख मिलेगा। किन्तु विवाह क्या किया दुःख के पहाड़ को जान बूझकर सिर पर उठा लिया। अब इसमें सुख तो कहीं क्षण भर का ही तो भले ही हो, वह भी सुखाभास ही है, परिणाम उसका भी दुःख ही है। इतना सब होने पर भी घर छोड़ा नहीं जाता।"

हँसकर प्रबुद्ध मुनि बोले—"राजन्! बस यही भगवान् की माया है, ऐसे ही आप सब में अनुमान लगा लें। जब धन नहीं होता, तो बड़ा बुरा लगता है तब सोचते हैं, धन मिल जाय, तो हम सुखी होंगे। दैवयोग से धन आ गया, धन क्या आया चिन्ता का सुमेरु पर्वत सिर पर बैठ गया। जब धन नहीं था तब अपनी नींद सोते थे, अपनी नींद उठते थे। धन आने पर पूरी निद्रा नहीं

आती। रात्रि-दिन धन की चिन्ता लगी रहती है। घट नहीं जाय, कोई माँगने वाला न आ जाय, सम्बन्धी उठा न ले जायँ, धन की वृद्धि कैसे हो, किस काम में लगाने से अधिक लाभ होगा। इस प्रकार की अनेकों चिन्तायें धन के साथ में चिपटी चली आती हैं। जैसे केले के पेड़ में छिकुलों के अतिरिक्त उसके भीतर कोई सार वस्तु नहीं। इसी प्रकार धन के भीतर कुछ भी तत्त्व पदार्थ नहीं चिन्ताओं के परतों से प्याज की भाँति एक गाँठ बन गयी है। प्याज के परतों को छीलते चलो, एक के पश्चात् एक निकलते चलेंगे। धन आने से हृदय कठोर हो जाता है, दया नहीं रहती, सब पर अविश्वास होने लगता है, अहङ्कार बढ़ जाता है, सबसे भय बना रहता है, कहाँ तक गिनायें राजन्! धन को वैसे अर्थ कहा है वास्तव में यह अर्थ न होकर अनर्थ है चिन्ता और व्याधि की जड़ है। इतना सब जानते हुए भी लोग धन की ममता को त्याग नहीं सकते यही भगवान् की माया है।

यही दशा घर की है। अपने पास घर नहीं होता तो बड़ी चिन्ता होती है एक घर बन जाय। जैसे तैसे किसी से कुछ द्रव्य लाकर घर बनाने लगते हैं ईंट ला, चूना ला, गारा ला, किवाड़ ला, खिड़की ला, काष्ठ ला, लोहा ला, यह ला, वह ला राज बुला, कर्म करने वाले बुला। यह अच्छा नहीं बना यह बुरा बना। अनेकों चिन्तायें लगती है। सोचते हैं, बन जाने पर सुख होगा। सो भी नहीं, यह टूटा वहाँ स्वच्छता नहीं। दीपक ला, पलंग ला, चौकी ला। गौ मँगाओ, घोड़ा लाओ, रथ बना लाओ कितनी भी सामग्री जुटा लो, तृप्ति नहीं, संतोष नहीं, शांति नहीं। घरवाली के बिना घर व्यर्थ है। घरवाली भी आयी बच्चे न हुए तो सब गुड़ गोबर है। बच्चे हुए मानों चिन्ताओं का स्रोत फूट निकला। पालो, पोसो, बड़ा करो, पढ़ाओ, लिखाओ, करो उनकी गाली सुनो जूते सहो फिर भी घर छोड़ा

यही भगवान् की माया है।

जिसके पास चार पैसे हैं वह रुपये वाले को सुखी समझता है, रुपये वाला सहस्रपति को सहस्रपति लखपति को लखपति करोडपति को करोडपति पद्मपति को, किन्तु सुखी कोई नहीं। यह लाग डाँट यहीं हो सो बात नहीं। स्वर्ग म जाओ वहाँ भी यही रोग। प्रतिस्पर्धा सर्वत्र चलती है, सुखी कोई नहीं, एक दूसरे को देखकर जलते हैं मेरा घर छोटा है, मेरे पडौसी का कितना बडा है। स्वर्ग म भी यही दशा है, एक का विमान अच्छा दूसरे का उससे कुछ कम। एक की सेवा में सहस्र अप्सरायें हाथ जोडे खडी रहती हैं, दूसरे के पास एक ही है, तो वह उसे देखकर जलता है। यह सातिशय दोष ब्रह्मलोक पर्यन्त पाया जाता है फिर भी लोग इनका मोह छोडते नहीं यही भगवान् की माया है।

राजा ने कहा—"भगवन्! माया को तो हम रात दिन समझते हैं। आपके ज्येष्ठ बन्धु भगवान अन्तरिक्ष ने उसका स्वरूप भी बता दिया, अब मैं तो इस माया से पार होने का उपाय पूछ रहा हूँ।"

योगेश्वर प्रबुद्ध बोले—"राजन्! वही तो मैं आपको बता रहा हूँ, कि सर्व प्रथम जिज्ञासु को इन ससारी विषयों में विचार और विवेक के द्वारा दोष दृष्टि करनी चाहिये। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि इन ससारी विषयों में सुख नहीं। यह निश्चय हो जाने पर कि लोक और परलोक दोनों कर्मजन्य हैं तथा क्षयिष्णु और नाशवान् है, तब उस जिज्ञासु को गुरुदेव की शरण ले लेनी चाहिये।"

राजा ने पूछा—"महाराज! गुरु कैसे हों?"

मुनि बोले—"राजन्! बहुत से लोगों को बिना शास्त्रों के भी परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। वे ब्रह्मानुभव तो कर सकते हैं, किन्तु शास्त्रीय प्रक्रिया ज्ञात न होने से वे दूसरों को भली भाँति

समझा नहीं सकते। उनके कुछ वाचाल शिष्य अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा उनके वचनों का कुछ का कुछ अर्थ लगाकर लोगों को समझाते हैं। इससे लोगों में एक अन्ध परम्परा चल पड़ती है, एक दुराग्रही पन्थ खड़ा हो जाता है। इसके विपरीत बहुत से लोग ऐसे होते हैं। जिन्हें शास्त्रों के शब्द तो बहुत कठस्थ हैं। बात-बात पर शास्त्र के वचनों का उद्धरण देते हैं, किन्तु उन्हें परब्रह्म का ज्ञान नहीं, अनुभव ज्ञान शून्य हैं। वे अपनी आजीविका के लिये लोगों को मूड़ते हैं। कान फूँकते हैं, इससे आजीविका भले ही चल जाय, मुक्ति या भक्ति की प्राप्ति उन्हें नहीं होती। जब वे ही अनुभव शून्य हैं, तो उनसे जिन्होंने उपदेश ग्रहण किया है, वे क्या प्राप्त कर सकते हैं। अतः गुरु ऐसा हो जो शान्त चित्त हो और शब्दब्रह्म में और परब्रह्म में निष्णात हो। शास्त्रों का भी जिसे विधिवत् ज्ञान हो, जो पढ़ा हो उसे दूसरों को समझा सकता हो और जिसे अनुभव ज्ञान भी हो, क्रियावान् हो। श्रेय साधन के जिज्ञासु को ऐसे गुरु की शरण लेनी चाहिये।"

राजा ने पूछा—"हाँ, भगवन्! गुरु की शरण में जाने पर उनसे किस बात की शिक्षा लें।"

मुनि बोले—"राजन्! कुछ स्वार्थी लोग जाते ही जिज्ञासु साधक को उपदेश देने लगते हैं— "मैं भी ब्रह्म तू भी ब्रह्म। फिर कैसा पाप पुण्य, ऐसा कह उनसे सब कर्म छुड़ा देते हैं, इससे माया का फन्द कटने की अपेक्षा और सुदृढ़ हो जाता है सच्चे गुरु तो अधिकारी देखकर उपदेश देते हैं। हमें तो माया को जीतना है माया, माया के सेवन से नहीं जीती जा सकती। जो स्त्री बहुत वाचाल हो उसके मुँह लगना उचित नहीं। उसकी बुराई करोगे तो और अधिक बड़ बड़ावेगी। अतः उसकी ओर से मुँह मोड़कर उसके पति की सेवा करनी चाहिये, उससे सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। पति से सम्बन्ध जुड़ने पर पत्नी स्वयं सकुचा

जायगी। अतः गुरुदेव मानकर उनसे भागवत धर्मों को सीखे। भगवान् की सेवा पूजा कैसे करनी चाहिये। वैष्णवों के साथ कैसे वर्ताव करना चाहिये, कैसे उपासना करनी चाहिये। इन सब बातों को सीखकर उनका जीवन में आचरण करे। भागवत धर्मों को सीखकर जो उनका निष्कपट भाव से आचरण करते हैं, उन पर वे अखिलेश्वर अच्युत श्री हरि अति प्रसन्न हो जाते हैं। राजन्! जीव को क्लेश तभी तक होते हैं, जब तक प्रभु की प्रसन्नता का जीवन में अनुभव नहीं करता। श्री हरि के प्रसन्न होने पर संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मिल न जाय। भक्त जिस-जिस वस्तु का कामना करता है, भगवान् उसी-उसी वस्तु को दे देते हैं। यहाँ तक कि भगवान् भक्त के लिये अपने आपे को दे डालते हैं, किन्तु भक्त भगवान् से प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी सांसारिक वस्तु की याचना नहीं करता।

राजा ने पूछा—"भगवन्! जो भागवत धर्म कामधेनु के समान कल्पवृक्ष के समान सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले हैं, जिनके आचरण करने से परब्रह्म प्रभु भी प्रसन्न हो जाते हैं, कृपा करके उन भागवत धर्मों को मुझे भी सुनाइए। वे भागवत धर्म कितने हैं, उनका आचरण कैसे करना चाहिये।"

यह सुनकर प्रबुद्ध मुनि बोले—"राजन्! निखिल-गुण-गणार्णव सत्वैक निलय भगवान् वासुदेव की निरन्तर सेवा में लगे रहना और उनके दिव्य गुणों को धारण करना यही भागवत धर्म है। जो भागवत धर्म में दीक्षित हो जाता है, उससे निषिद्ध कर्म कभी होते ही नहीं। वह सदा सदकर्मों में लगा रहता है। उसका आचरण विशुद्ध और आदर्श होता है।

राजा ने पूछा—"भगवन्! हमें आप उन गुणों को बतावें जिन्हें धारण करते हैं।"

महामुनि प्रबुद्ध बोले—"अच्छी बात है राजन्! अब मैं

आपको उन्हीं सद्गुरुओं के सम्बन्ध में सुनाता हूँ, जिन्हें धारण करके भक्त भगवान् का कर्मालय बन जाता है।"

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"सुनिये! अब जिस प्रकार योगेश्वर प्रबुद्ध महाराज जनक को भागवत धर्मों का उपदेश देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

दोहा

रहै मौन स्वाध्याय सरलता चित्तहिं धरै।
ब्रह्मचर्य व्रत धारि न कछु उमाहिं करै॥
सुख दुखहिं सम रहै गहारै नव बल हरहिं।
रहै सदा एकान्त न चहुँ दिसि सरहिं॥
पट पवित्र रहिनै सरल, सबलाभ सतोष रचन।
सतत भागवत धरन के, अपने ये ही देह रचन॥

भागवत धर्म

[१२०६]

इति भागवतान् धर्मान्शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥❀

(श्रीभा० ११ स्क० ३ अ० ३३श्लो०)

छप्पय

करै न निन्दा भूलि अन्य शास्त्रनिकी कबहूँ ।
चाहैं सरबसु मिलै अनृत बोलै नहि तबहूँ ॥
सयम मन अरु वचन करमतैं नितई राखै ।
शम दमको आचरन करै हरि चरितनि भाखै ॥
जनम करम गुनगन श्रवन, श्रीहरि के नित नित करै ।
कथा कीरतन ध्यानमहँ, रहै मगन माया तरै ॥

भगवान् दिव्य गुणों की खानि हैं। समस्त सद्गुणों के एकमात्र अधीश्वर श्रीमन्नारायण के गुणो के प्रकाश से अन्य गुणों का प्रकाश हो रहा है, आदि स्रोत तो वे ही हैं। यद्यपि वे तो सभी के स्वामी हैं। निर्मल दिव्य मानसरोवर में कीच भी होती

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं— राजन ! इस प्रकार भागवत धर्मों का आचरण करते करते उन धर्मों के कारण जो भक्ति उत्पन्न होती है उसके द्वारा साधक नारायण परायण होकर इस कठिनता से पार होने वाली माया को अनायास ही पार कर लेता है।"

होगी, तो वह नीचे बैठी रहती होगी, उसके अस्तित्व का हमें पता नहीं। हमें तो परम सुखकारी मुनि मनहारी सुन्दर, स्वच्छ, सुललित, स्वादिष्ट, शीतल तथा सुखकर सलिल ही सर्वत्र दिखाई देता है। इसी प्रकार भगवान् में समस्त दिव्यगुण पूर्ण शक्तियुक्त होकर निवास करते हैं। जो जिसका निरन्तर चिन्तन करेगा, वह वैसा ही हो जायगा, भगवान के दिव्य गुणों का उनकी दिव्य लीलाओं का अहर्निशि चिन्तन करते-करत भगवद्भक्तों में भी भगवान् के गुण आ जाते हैं। साधु की निष्कपट भाव से निर्व्यलीक होकर–सेवा करने से साधुता स्वतः ही आ जाती है। साधुओं का आचरण विशुद्ध रहता है। अतः भक्ति मार्ग के पथिकों को प्रथम साधु सेवा ही करनी चाहिये। भागवत धर्मों की शिक्षा वे ही भगवद्भक्त देंगे, जिनसे यह दुस्तर माया तरी जा सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भागवत धर्मों का प्रश्न पूछने पर योगेश्वर प्रबुद्ध ने जिस प्रकार महाराज जनक को उत्तर दिया वह मैं आपको सुनाता हूँ।"

महामुनि प्रबुद्ध बोले—"राजन्! भागवत धर्म तो असख्य हैं। जिस कर्मों से परस्पर में प्रेम भाव बढ़े सन्तोष हो शान्ति का विस्तार हो, वे सभी भागवत धर्म हैं, उनकी सख्या नहीं, गणना नहीं अवधि नहीं मर्यादा नहीं वे तो अपार हैं। फिर भी उनमें से किसी एक धर्मों का मैं अत्यन्त सक्षेप में वर्णन करता हूँ। इनमें से किसी एक धर्म का भी, एक में से स्वल्प धर्म का आचरण करने पर प्राणी बड़े भारी भय से सदा के लिये छूट जाता है।

१— भक्ति पथ के पथिक को सर्व प्रथम तो सर्व सङ्गों का परित्याग करना चाहिए। मुक्ति के पथ को पूर्णतया परिष्कृत करने वाली निस्सङ्गता ही है। देह में गेह में विषयों में जो आसक्ति है शनैः-शनैः उसे घटाने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि जब

तक विषयों से आसक्ति न हटेगी, तब तक अच्युत में आसक्ति न होगी, चित्त को स्वार्थ से हटाकर परमार्थ में लगाना है, विषयों से हटाकर विहारी में लगाना है अर्थात् कर्मों से हटा-रक सत्कर्मों में लगाना है।

२—जब भक्त का झुकाव संसार से हटने लगे, तब साधुसंग करना चाहिये। जिनका मन कामिनी काञ्चन तथा कीर्ति के लोभ में फँसा है, उसे साधुसंग सुहाता नहीं वहाँ भी अपने स्वार्थ सिद्धि की ही खोज करेगा। प्रायः देखा गया है, विषयासक्त पुरुष किसी साधु के समीप जाते हैं, तो उनमें जितना ज्ञान वैराग्य है भगवान् की कितनी भक्ति है इसे नहीं देखते। उनकी दृष्टि उनकी बाहरी वस्तुओं पर जाती है। किस प्रकार इनके प्रति बनावटी भक्ति दिखाकर इनसे अमुक वस्तु ठग लें। यह उनकी भावना रहती है। जिसने सब विषयों से मन को मोड़ लिया है, उसे कोई क्या ठग सकता है। स्वयं ही ठगा जायगा। साधु उसे काञ्चन के स्थान पर काँच देकर टकरा देंगे। अतः साधु के समीप क्षुद्र विषय सुखों की पोटली बाँध कर न जाय। भागवत धर्मों को सीखने के लिये ही साधु की शरण ग्रहण करे।

३—प्रथम विषयों से निःसंगता, दूसरे साधुसङ्ग अब तीसरा गुण है लोगों के साथ यथोचित व्यवहार करना। अभी इतनी योग्यता तो हुई नहीं कि सबमें ब्रह्मभाव ही दिखायी देने लगे। जब ऐसी स्थिति हो जाय, छोटे बड़े खरे खोटे का भेद भाव ही मिट जाय, तो फिर साधन की आवश्यकता ही क्या रही। साधक को सबके साथ यथोचित व्यवहार करना चाहिये। संसार में कुछ अपने से छोटी स्थित के मनुष्य होते हैं, कुछ बराबर की स्थिति के और कुछ अपने से उत्तम पुरुष होते हैं। इन तीनों के साथ तीन प्रकार का व्यवहार करो।

जो अपने से छोटी स्थिति के दीन हीन पुरुष हों उनके प्रति दया के भाव प्रदर्शित करने चाहिये। जो अपने बराबर के हैं उनसे मैत्री भाव रखना चाहिये। बहुधा ऐसा होता है कि जो अपने बराबर के हैं यदि वे धन में, वैभव में, पद में प्रतिष्ठा में तथा अन्य किसी प्रकार से बढ़ जाते हैं, तो उन्हें देखकर ईर्ष्या होती है। उनका उत्थान देखकर मन में बार-बार उठता है वह इतना क्यों बढ़ गया। यदि अपने बराबर के लोग दीन हीन या निराश्रित हो जाते हैं, तो उनका अपमान करने लगते हैं, वे सम्मुख आ जाते है, तो उन्हें युक्ति से किसी प्रकार हटा देते हैं, उनसे घृणा करते हैं। साधक को ऐसा नहीं चाहिये। अपने बराबर के लोग कैसी भी परिस्थिति में हों, उनके प्रति मैत्री भाव ही रखना चाहिये।

जो अपने से बड़े महापुरुष हों, उनके प्रति नम्रता का व्यवहार करना चाहिये, उनके आने पर उठकर खड़ा हो जाय, यथोचित दंड प्रणाम करे, कुशल पूछे, यथाशक्ति सेवा करे, उनके प्रश्नों का नम्रता पूर्वक उत्तर दे। उनके सम्मुख अपनी प्रशंसा न करे, अपना प्रभाव वैभव प्रदर्शित न करे।"

४—पवित्रता रखे। पवित्रता दो प्रकार की होती है, एक भीतरी और दूसरी बाहरी। भीतरी पवित्रता काम क्रोधादि को छोड़ने से प्राप्त होती है। बाहरी पवित्रता मृत्तिका तथा जल आदि से होती है, दोनों ही प्रकार की पवित्रता का विशेष ध्यान रखे।

५—तप करे। तप कहते हैं, शरीर को तपाने को वैसे तो प्राणायाम को परम तप कहा है, किन्तु उपवास को विशेष तप बताया है। एकादशी, जन्माष्टमी, प्रदोष, शिव चतुर्दशी आदि व्रतों को करे, जितना हो सके अपने जीवन को तपमय बनाने की चेष्टा करता रहे।

६—तितिक्षा करे। तितिक्षा उसे कहते हैं जो प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख दुःखों को बिना प्रतीकार के स्वेच्छा पूर्वक सहन करले। जो भी दुःख प्राप्त हो उसे हटाने का प्रयत्न न करे। जितने दिन का दुःख हो उसे सहन करले। इसी प्रकार भाग्य-वश जो भी सुख प्राप्त हो जाय, उसे बढ़ाने का स्थाई रखने का प्रयत्न न करे। सारांश यह है कि द्वन्द्वों को निर्विकार भाव से सहते रहना।

७—मौन रहना। मौन कहते हैं वाणी के संयम को। कुछ ऐसी भगवान् की माया है कि वाणी से दूसरों की निन्दा स्तुति किये बिना रहा ही नहीं जाता स्वार्थवश, अभिमान वश व्यसन वश जो बात हमने देखी, सुनी अथवा अनुभव भी न की होगी उसे भी हम कह देंगे। मिथ्या भाषण कर देंगे। इसलिये वाणी से बोले ही नहीं। बोले तो केवल भगवान् के नामों को चरित्रों को बोले। अन्य बातें बिना बोले काम न चले तो सत्य वचन बोले। अनृत भाषण न करे। इस संसार मे भगवान् के अतिरिक्त सब ही असत्य है, अतः भगवान् के ही सम्बन्ध में बोले। उन्हीं के नामों का उच्च स्वर से उच्चारण करे, उन्हीं के जगन्मङ्गल यश का गान करे और कोई लोकवार्ता कहे ही नहीं।

८—स्वाध्याय करता रहे। अपने इष्ट मन्त्र के जप को अथवा धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन को स्वाध्याय कहा गया है। निरंतर गुरु प्रदत्त मंत्रों का जप करता रहे। भागवत कथाओं को सुनता और पढ़ता रहे। सारांश यह कि सदा अपने इष्ट का स्मरण होता रहे ऐसा सतत प्रयत्न करता रहे।

९—ऋजुता रखना। ऋजुता कहते हैं सरलता को। कुछ लोग ऐसे खोटे होते हैं, जो सोचते हैं कुछ बताते हैं कुछ, करते हैं कुछ। उनका सम्पूर्ण व्यवहार कपट से भरा रहता

है। शब्द तो देखने में सत्य बोलेंगे। किन्तु उनमें सरलता न होगी। ऐसे लोग सदा दूसरों को अपने वश मे रखने की चेष्टा करते रहते हैं, जिस प्रकार भी हो, दूसरा हमारे वश में आ जाय।

१०—ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना। ब्रह्मचर्य कहते हैं वीर्य रक्षा को। वीर्य धातुओं का सार होता है और वह मन के आधीन होता है। मन चञ्चल होने से वीर्य मे चञ्चलता आ जाती है। और वीर्य के चञ्चल होने से मन भी चञ्चल होता है। मन या वीर्य चञ्चल होता है कामवासना से। कामवासना उठती है असत् सङ्कल्प से। अतः भोगबुद्धि से, मन से वाणी से या शरीर से दो भिन्न लिङ्गों का ससर्ग न होने देने का नाम ब्रह्मचर्य है। गृहस्थ है, तो वह कामभाव से नहीं केवल सन्तानोत्पत्ति के निमित्त संसर्ग करता है, तो वह ब्रह्मचर्य व्रत का ही पालन करता है, यदि वह कामभाव से सेवन करता है, तो अपने व्रत से च्युत हो जाता है ब्रह्मचर्य व्रत के बिना कोई साधन, भजन पूजन या आराधन नहीं हो सकता। अतः यह सबसे आवश्यक है।

११—अहिंसा का आचरण करना। मन से, वाणी से अथवा कर्मों से किसी भी प्राणी को यथाशक्ति कष्ट न देने का नाम अहिंसा है। वैसे तो शरीर धारण करना ही हिंसा है। नासिका से जो साँसें निकलती हैं वे उष्ण होती हैं। कुछ ऐसे सूक्ष्म जन्तु होते हैं जो उस सास से भी मर जाते हैं। मार्ग में चलते समय बहुत से जीव दबकर मर जाते हैं। अन्न के प्रत्येक कण मे जीव हैं, जलने वाली लकडियो म बहुत से जीव बैठे रहते हैं। खेती करने मे असख्यों जीव मर जाते हैं। ओषधि निर्माण करने मे कितने जीवों की हत्या होती है। रेशम कितने जीवों को मारकर बनता है, लाह में

असख्यो जीव मरते हैं। सारांश यह है कि कोई ऐसी क्रिया नहीं जिसमें हिंसा न हो। किन्तु यथा साध्य ऐसे रहे जिससे हमारे शरीर से किसी को कष्ट न हो। मन से किसी का अनिष्ट न सोचे, वाणी से किसी से कटु भाषण न करे तथा शरीर से परपीडन न करे। दूसरे के मांस को न खाय, जीने की इच्छा रखने वाले प्राणियो की शक्तिभर हिंसा न करे। इसी का नाम अहिंसा व्रत है। जो अहिंसा का आचरण करता है उसके संसार मे सभी मित्र हो जाते हैं। वह अजातशत्रु बन जाता है।

१२—द्वन्द्वो मे समभाव रखना। तितिक्षा तो उसे कहते हैं, दुःख आवे तो उसे सुख समझकर सह लेना और सुख आवे तो उसे समझकर सह लेना, किन्तु समता उसका नाम है कि सुख दुख मे कोई भेदभाव ही न करना। जैसा ही सुख, वैसा ही दुःख। जैसा ही ज्ञान, वैसा ही अज्ञान, जैसा ही पडित, वैसा ही मूर्ख। ऊपरी वेष को न देखकर सर्वदा तत्व मे ही दृष्टि रखना इसी का नाम समता है।

सर्वत्र आत्म दर्शन—यह तो निश्चय हो गया कि तत्व एक ही है। आत्मा एक ही है द्वन्द्व कुछ नहीं है, फिर द्वैत तो बना ही रहा। उसे मिटा देना। जो आत्मरूप हरि मेरे मे विराजमान् हैं, वे ही सर्वत्र विराज रहे हैं। सब भूत मुझमे हैं, आत्मरूप से मैं ही सबमे व्याप्त हूँ। इस प्रकार के ज्ञान को सदा स्मरण रखना।

१३—कैवल्यका अभ्यास करना। अर्थात् एकान्त सेवन करना। भीड़ भाड़ मे आत्मचिन्तन होता नहीं। भाँति-भाँति की अनुकूल प्रतिकूल बहुत सी बातें सुनकर चित्त में विक्षेप हो जाता है, इसलिये एकान्त में रहे, सङ्ग करना ही हो तो कथा कीर्तन काल मे भक्तों का ही सङ्ग करे। एकान्त सेवन

से ही अपने में सभी ससार को देखने का अभ्यास हो जाता है। एकान्त सेवन करते-करते ऐसा अभ्यास हो जाता है, कि फिर उसे जहाँ बिठा दो वहीं उसके लिये एकान्त हो जाता है। वह वासनाहीन बन जाता है। जो वासना की पोटली बाँधे हुए है, वह चाहे घोर वन में भी जाकर बैठ जाय, तो वहाँ भी उसके लिये एकान्त नही है और जो वासनाहीन हो गया है उसके लिये जहाँ बैठे वहीं एकान्त है। अतः निर्जन स्थान मे बैठकर अपनी वासनाओं को क्षय करे।

१४—अनिकेतता रखना। अर्थात् जिस वृक्ष के नीचे रहे, जिस फूँस की कुटी में रहे, अथवा महल मन्दिर कहीं भी रहे, उसे अपना न समझे। प्रायः ऐसा होता है कि जैसे शरीर में मिथ्या अभिनिवेश हो जाता है, इस शरीर को ही आत्मा समझने लगता है, उसी प्रकार प्राणी जिस घर मे अधिक दिन तक रहता है। उसमे ममत्व हो जाता है। ममत्व जिसमे हो जायगा, वैसा ही मनुष्य बन जायगा। स्त्री को यह ममत्व हो जाय, मैं पत्नी हूँ, तो उसे जन्मजन्मान्तर मे पत्नी ही बनना पडेगा। पुरुष को यह ममत्व हो जाय, मैं पति हूँ तो उसे कीडे मकोड़े की कोई भी योनि प्राप्त हो उसमे पत्नी मिल जायगी। इसी प्रकार घर मे ममत्व होने से फिर चूहा बिल्ला, छिपकली, मच्छर अथवा सर्प बनकर उसी घर में रहना होगा। इसीलिये साधु के लिये कहा है, वह मठ मन्दिर न बनावे। क्योंकि बनाने से निरन्तर उसी का चिंतन करने से उसमे ममत्व हो ही जाता है। अतः अनिकेत होकर विचरे जहाँ बना बनाया, टूटा-फूटा कैसा भी स्थान मिल जाय, उसी मे रह जाय। घर में ही रहना हो उस घर मे तथा

घर के उपयोगी वस्तुओं में ममत्व न करे। धर्मशाला की भाँति वहाँ निवास करे।

१५—शुचिता रखे। अर्थात् जो भी वस्त्र आदि धारण करे पवित्र हो। एक तो पवित्रता यह कि वे धर्म पूर्वक प्राप्त किये हों। दूसरे वे मेले कुचेले न हों। स्वच्छ धुले हुए निर्मल हों। इसी प्रकार भोजन म, निवास स्थान म स्वच्छता हो। जहाँ रहे वहाँ स्थान लिपा पुता झाडा बुहारा स्वच्छ रहे। भोजन स्वच्छता से बनाकर भगवान् का भोग लगाकर प्रसाद समझ कर स्वच्छ स्थान में स्वय हाथ पेर धोकर, स्वच्छ होकर स्वच्छ वस्त्र पहिनकर पावै साराश यह है कि सभी कामों में सभी व्यवहारों मे पवित्रता का अधिक ध्यान रखे।

१६—यथालाभ सन्तोष रखना। अर्थात् भाग्यवश जो भी प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तोष मान लेना। असन्तोष से अशान्ति होती है। भोग पदार्थों में सुख शांति नहीं है। वह तो मन के ऊपर निर्भर है। एक मनुष्य के पास असख्यों मुद्राएँ हैं, चिन्ता के कारण उसे निद्रा भी नहीं आती। इसके विपरीत दूसरे के पास कुछ भी नहीं है, नित्य पेट भरने भर को लाता है अपना नींद सोता है। तृष्णा को जितनी भी बढाओ उतनी ही बढेगी, जितनी घटाओ उतना ही घटेगी। अतः भाग्यवश जैसी स्थिति प्राप्त हो, उसी मे सन्तोष रखना।

१७—भगवत् सम्बन्धी शास्त्रों में श्रद्धा रखना। प्रायः ऐसा होता है, कि जो बात हमारी बुद्धि के विपरीत जान पडती है, उसके प्रति हमारी अश्रद्धा हो जाती है। भगवान् तो अचिन्त्य हैं। अचिन्त्य भाव तर्क द्वारा तो सिद्ध हो नहीं सकते। उनमें तो हमे श्रद्धा ही करनी पड़ेगी। अतः भगवत् सम्बन्धी शास्त्रों को श्रद्धा पूर्वक ही पढना चाहिये और उन्हें भक्तिभाव से हृदयङ्गम करना चाहिये।

१८—अच्छा जो भगवत् सम्बन्धी शास्त्र नहीं है। लौकिक शास्त्र है, शिल्प सम्बन्धी भौतिक विज्ञान आदि के शास्त्र हैं। उनकी निन्दा न करना। बात यह है कि संसार में निन्दनीय कोई वस्तु है ही नहीं। निन्दा ही एक मात्र निन्दनीय वस्तु है। सभी तो भगवान् की निर्मित वस्तु हैं, सर्वज्ञ भगवान् निन्दनीय वस्तु क्यों बनाने लगे। अतः जो निन्दा करता है, वह वस्तु की निन्दा नहीं भगवान् की निन्दा करता है। इसीलिये सबकी निन्दा करना निषेध है जो अपना कर्तव्य हो उसे करे जो अपने कर्तव्य के विपरीत प्रतीत हो उसकी उपेक्षा करदे, निन्दा न करे।

१९—मन, वाणी तथा कर्मों का संयम रखना। बात यह है, मन चाहता है, मैं स्वच्छन्द विचरण करूँ जो सम्मुख आ जाय उसी का चिन्तन करूँ, व्यर्थ की बीती बातों को सोचूँ। मनोरथ पर चढ़कर व्यर्थ की कल्पनायें करता रहूँ। इसी प्रकार वाणी भी चाहती है जो मन में आये बकती रहूँ। चाहें जिसे गाली दूँ, चाहे जिसकी हँसी उड़ाऊँ। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ कुछ न कुछ करते ही रहना चाहती हैं। विशेष कर बाहरी बातें करने में इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। बहुत से जाँघ को हिलाते रहते हैं, बहुत से अनेकों प्रकार की कुचेष्टायें करते रहते हैं। यह सब संयम के अभाव में असंयमी पुरुष करते हैं। अतः मन की चेष्टाओं पर वाणी पर तथा शरीर द्वारा किये कर्मों पर संयम रखना चाहिये।

२०—सत्य बोलना। हम अपने दोषों को छिपाने को, स्वार्थ सिद्धि के लिये असत्य भाषण करते हैं। जो हमने किया नहीं है उसे भी अपना किया बताते हैं अथवा जो किया है उसे भी सर्व साधारण के सम्मुख पूछने पर छिपाते हैं। जो देखा नहीं

है उसे देखा बताते हैं, जो देखा है उससे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। न्यायालय में जाकर झूठी साक्षी दे आते हैं। अपनी ओर से नमक मिर्च लगाकर छोटी बात को बड़ी बना देते हैं। कुछ का कुछ अर्थ कर देते हैं। यह सब हम सत्य को भूल कर करते हैं। जिसके जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा नहीं उसके मन में भगवान् कैसे आ सकते हैं, अतः सत्य-स्वरूप भगवान् की प्रतिष्ठा करने के निमित्त सत्य का आचरण करना चाहिये। सत्यनारायण का व्रत करना चाहिये सत्य की महिमा सुनकर उसका अपने जीवन में आचरण करना चाहिये।

२१—शमदमादि का पालन करना। शम कहते हैं मन के संयम को, दम कहते हैं इन्द्रियों के दमन को अर्थात् सब ओर से मन को खींचकर भगवान् में लगाना चाहिये। इन्द्रियों को, मन को, किसी भी दशा में बहिर्मुख न होने देना चाहिये।

२२—श्रीहरि के जन्म, कर्म और गुणों का श्रवण करना, मनुष्य का स्वभाव है, वह दूसरों के विषय में कुछ सुनना चाहता है, उसे जीवन चरित्र सुनने में, कहानी कथा सुनने पढ़ने में स्वाभाविक आनन्द आता है। मरणधर्मा पुरुषों की कहानियों को सुनोगे, तो मरण को प्राप्त होगे। अमर पुरुष के चरित्र सुनोगे तो अमर हो जाओगे। अजन्मा के जन्म को सुनोगे तो जन्म मरण के चक्कर से छूट जाओगे। कर्माशक्त पुरुषों के कुकर्मों को सुनोगे, तो उनमें ही तुम्हारी प्रवृत्ति होगी कर्म बन्धनों से रहित भगवान् के कर्मों को सुनोगे तो कर्म पाश से छूट जाओगे। संसारी लोगों के गुण सुनोगे तो वे ही हृदय में बैठेंगे। असंसारी श्रीहरि के गुणों का श्रवण करोगे, तो वे ही हृदय में आवेंगे। यद्यपि भगवान् जन्म कर्म और गुणों से रहित हैं तथापि भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये

वे अवतार धारण करके जन्म लेते हैं, कर्म करते हैं और अपने गुणों का विस्तार करते हैं। अतः विचित्र लीलाविहारी भगवान् के अवतार चरित्रों का—भागवती कथाओं का निरंतर श्रवण करना चाहिये।

२३—श्रवण के साथ कीर्तन भी करना चाहिये। नियम ऐसा है, छोटा बालक जो सुनता है, उसी का उच्चार करता है। इसी प्रकार भक्तगण भगवान् के नाम की महिमा श्रवण करे, तो उन नामों का मिलकर या एकाकी ही कीर्तन करें। उनके जन्म की कथाओं को गद्य पद्य में ताल स्वर सहित गावें। उनके भक्तवत्सलता आदि गुणों की गाथाओं का गान करे। अपने भक्तों पर उन्होंने कहाँ-कहाँ कृपा की। इनका भी गान करें। उनके गोवर्धनधारणादि अद्भुत कर्मों का गान करें। नाचकर हाव भाव द्वारा उनका प्रदर्शन करें। इस प्रकार कीर्तन करके अपनी वाणी को सफल करें।

२४—भगवान् का ध्यान करे। मनमें संसारी वस्तुएँ ही भरी हैं, अतः मन उन्हीं का ध्यान करता रहता है। वस्तु ऐसी सुन्दर है, उससे ऐसा सुख मिला। वह मिले तो उत्तम हो इत्यादि इत्यादि। मन से संसारी वस्तुओं को हटाकर भगवान् के रूप का ध्यान करे, उनकी लीलाओं का चिन्तन करें।

२५—समस्त चेष्टायें भगवान् के लिये ही करे। घर को भगवान् का मन्दिर बना ले झाड़ू दे तो भगवान् के लिये, फूल फल लगावे तो भगवान् के लिये, धनोपार्जन करे तो सेवा के लिये। साराश यह है कि जो भी कर्म करे सब भगवान् की पूजा के ही सम्बन्ध से करे।

२६—यज्ञानुष्ठान करे। यथाशक्ति हवनीय द्रव्यों से भगवान् के निमित्त हवन करे। प्राणायाम करे। परोपकार यज्ञ करे,

ज्ञानयज्ञ करे, सङ्कीर्तनयज्ञ जैसा भी अपने से बन पड़े तैसा ही यज्ञ अवश्य करे।

२७—जप तप में चित्त को लगाये रखे। भगवान् के नामों का गुरु मन्त्र का जप करता रहे। उस जप को तप पूर्वक करे। यह नहीं कि आलस्य में पड़े पड़े बिना मन के कह रहे हैं। नहीं, दृढ़ आसन लगाकर मन को शनै शनै रोककर मन्त्र जाप करे।

२८—आचार का पालन करे। जैसा कुलाचार, देशाचार, सदाचार हो उसका पालन करे। शास्त्रों में जिस प्रकार आचार-विचार से रहने का वर्णन है यथाशक्ति यथा सामर्थ्य वैसे ही रहे। जो आचार से हीन है, उसे वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। अतः आचार को धर्म का उद्गम स्थान कहा है।

२९—भगवान् के लिये सर्वार्पण करे। जो-जो वस्तु अपने को अत्यन्त प्रिय हो उसे ही भगवान् के अर्पण करे। जो आवे उसे प्रथम भगवान् को अर्पण करके तब प्रसाद समझकर उसे ग्रहण करे। सबसे प्रिय जो अपनी कान्ता है उसे भगवान् को अर्पण कर दे। अपने पुत्रों को भगवान् के पुत्र समझे। पुत्र हो, तो कहे—"प्रभो! इसमें मेरा कुछ नहीं है। सब आपका ही है। सुन्दर घर बनकर तैयार हो जाय, लिप पुतकर स्वच्छ हो जाय, तो उसे भगवान् के अर्पण कर दो जब वह भगवान् का मन्दिर हो गया, तो वे ही उसकी चिन्ता करेंगे, हमें तो भगवान् की ही चिन्ता में निमग्न रहना चाहिये। अपने प्राणों को भी प्रभु के अर्पण कर दे। जब तक भगवान् चाहें, प्राणों को शरीर में रखें, जब चाहें निकाल ले जायँ, प्राणों को अपने समझकर उनमें मोह न करे। साराश यह है, कि जो भी कुछ हो जिसमें भी अपनापन हो, उसे ही परमात्मा के अर्पण कर दे।"

३०—भागवतों से प्रेम करे। जो भगवान् के अनन्य भक्त हैं, जो कृष्ण को ही अपनी आत्मा, अपना स्वामी और सर्वस्व समझते हैं, ऐसे प्रपन्न भक्तों से सदा प्रेम करे। उन्हें ही अपना सगा सम्बन्धी समझे।

३१—सबकी श्रद्धा सहित सेवा करो। जो साधु स्वभाव के सन्त हैं, परमात्मा के भक्त हैं, महात्मा हैं उनकी सदा सेवा करता रहे, दीन दुखियों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करता रहे स्थावर हो या जङ्गम प्राणीमात्र की सेवा करना अपना कर्तव्य समझे। अपने को सबका सेवक समझे।

३२—भगवत् गुणों का कथोपकथन करना। भक्तों के बीच में बैठकर भगवान् के सम्बन्ध में स्वयं कुछ कहे, जो अन्य भक्त कहें उसे सुने भगवत् सम्बन्धी प्रश्न करे। साराश यह है कि वार्तालाप जो भी हो भगवान् के ही सम्बन्ध के हों।

महामुनि प्रबुद्ध कह रहे हैं—"राजन्! कहाँ तक गिनाऊँ, तुम्हें मैं भागवद् धर्मों की मोटी-सी पहचान यही बताये देता हूँ कि जिन कर्मों के करने से ससार में मोह न हो, अपितु प्रभु के प्रति प्रेम ही बढ़ता जाय, जिन कर्मों के करने से चित्त मे अशान्ति का अनुभव न हो अपितु चित्त मे एक प्रकार की शांति प्रतीत होने लगे वे सभी भागवत धर्म हैं, जिन कर्मों का सम्बन्ध भगवान् से है वे सभी भागवत धर्म हैं ऐसे कर्मों को निरन्तर करता ही रहे, आलस्य न करे, कर्म करने मे प्रमाद न करे, करता ही जाय।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! कर्म करना तो अज्ञान का कार्य है, सम्पूर्ण कर्मों का आरम्भ करना दोषयुक्त है। फिर आप कर्मों पर इतना बल क्यों दे रहे हैं?"

महामुनि प्रबुद्ध बोले—"राजन्! ससारी कर्म दोषयुक्त हैं। प्रभु प्रीत्यर्थ किये हुए कर्म तो प्रभु में प्रेम उत्पन्न होने के कारण

होते हैं। देखिये, भक्ति दो प्रकार की होती है। वैधी और प्रेमा। वैधी भक्ति में विधि का पालन होता है ऐसे पूजा करो, ऐसे पाठ करो, ऐसे अर्चन करो, ऐसे वन्दन करो। जब इन कर्मों को करते-करते अन्तःकरण शुद्ध बन जाता है, तो प्रेमाभक्ति का उदय होता है। जब तक प्रेमाभक्ति का उदय नहीं होता तब तक भक्त स्वयं भगवत् सम्बन्धी कर्म करता रहता है और दूसरों से भी कराता रहता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! वधी भक्ति के सम्बन्ध में तो आपने बताया। कृपा करके प्रेमाभक्ति के सम्बन्ध में और बताव। प्रेमा-भक्ति उदय होने पर कैसी दशा हो जाती है, किन लक्षणों से हम जानें कि प्रेमाभक्ति उत्पन्न हुई।"

योगेश्वर प्रबुद्ध हँसकर बोले—"राजन्! अब इस विषय में निश्चित बात क्या बताऊँ। इतना ही समझ लें कि प्रेमाभक्ति उदय होने पर भक्त की दशा अलौकिक हो जाती है। उसके सम्पूर्ण शरीर में पुलक होने लगता है। जहाँ भगवान् की चर्चा छिड़ी कि उसका शरीर रोमाञ्चित हो उठता है। बार-बार फुरहुरी आने लगती हैं। उसे भगवान् का ध्यान हो जाता है, तो उसके नेत्रों से झर-झर अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं कभी कभी वह प्रेम में भरकर खिल खिलाकर हँसने लगता है, उसका अट्टहास दशों दिशाओं में गूँज उठता है। कभी आनन्द में भरकर अन्य अलौकिक चेष्टायें करने लगता है, कभी एकान्त में अपने आप ही कुछ बड़बड़ाने लगता है। प्रभु से बातें करने लगता है। कभी कभी कीर्तन करते करते नाचने लगता है। कभी उच्च स्वर से भगवान् के गुणों का गान करने लगता है। कभी भक्तों के बीच में बैठकर उन्हीं के सम्बन्ध की चर्चा करने लगता है। कभी ध्यान करते-करते तन्मय हो जाता है, संसार को सर्वथा भूल जाता है। कभी संसार के सभी कार्यों को माया विलास समझकर

उनसे उपरत हो जाता है, मौनी बाबा बन जाता है। सब ओर से चित्त हटाकर भगवान् में ही लगा देता है। इस प्रकार राजन्!

निरन्तर भागवत धर्मों का आचरण करते-करते यह विलक्षण स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिस भक्त के हृदय में प्रेमाभक्ति

हो जाय, फिर उसके लिये कुछ भी कर्तव्य अवशेष नहीं रह जाता, वह कृतार्थ हो जाता है, नहीं तरने योग्य इस भगवान् की माया को अनायास ही तर जाता है। ऐसा नारायण परायण भक्त त्रिभुवन को पावन करने में समर्थ होता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! आप बार बार श्रीमन्नारायण, श्रीमन्नारायण परायण आदि शब्द कहते हैं, तो मैं जानना चाहता हूँ कि नारायण नाम किसका है नारायण का स्वरूप क्या है भगवान् ब्रह्म नारायण इनके सम्बन्ध में मुझे बतावें। नारायण के स्वरूप को समझावें।"

यह सुनकर महामुनि प्रबुद्ध हँस पड़े और बोले—"राजन्! जो रूप से रहित है उसका स्वरूप बताया ही क्या जा सकता है। फिर भी ये मेरे छोटे भाई पिप्पलायन इस विषय का उपदेश आपको देंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर योगेश्वर प्रबुद्ध मौन हो गये अब राजा श्रद्धा भक्ति सहित नम्रता पूर्वक जिज्ञासा भरी दृष्टि से योगेश्वर पिप्पलायन की ओर निहारने लगे। अब पिप्पलायनजी ने जिस प्रकार श्रीमन्नारायण के स्वरूप का वर्णन किया, उसको मैं आगे कहूँगा। आप शांत चित्त से उसे श्रवण करें।"

छप्पय

करै यज्ञ, मख, दान, मन्त्र, जप, तप सब नियमित।
सुत, दारा, गृह, प्रान करै सब हरिकूँ अरपित॥
हरि भक्तनि सरवस्व समुझि सेवै सुख पावै।
हरि चरचा कूँ, त्यागि अनत नहिं चित्त चलावै॥
इन धरमन आचरन तैं, प्रेमभाव होवै उदित।
भक्तिभाव भावित भगत, नित नाचत रोवत हँसत॥

—:—:—

योगेश्वर पिप्पलायन द्वारा नारायण स्वरूप का वर्णन

[१२०७]

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य ।
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च ॥
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन ।
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥❀

(श्री भा० ११ स्क० ३ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

'नारायन हरि कौन' नृपति ने प्रश्न कर्‌यो जब ।
सुनिकें बोले विहँसि पिप्पलायन मुनिवर तब ॥
जग की उतपति प्रलय अकारन हैकें कारन ।
बाहर भीतर रहै सबनिमहँ हरि नारायण ॥
स्वय प्रकाशित परावर, नेति निगम आगम कहैं ।
प्रान, करन, अन्तःकरन, नित जिनतैं जीवन लहैं ॥

जो वाणी का विषय नहीं, शब्द का विषय नहीं उसका कथन किया भी जाय तो कैसे किया जाय । मौन ही उसका कथन है ।

❀ महामुनि पिप्पलायन महाराज जनक से कह रहे हैं—"हे नरेन्द्र श्रीमन्नारायण इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं तथा स्वय वे कारण रहित हैं । जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनो के भीतर भी हैं और बाहर भी । जिनके द्वारा जीवन प्राप्त करके देह, इन्द्रियाँ प्राण और हृदय अपने-अपने व्यापार मे प्रवृत्त होते हैं । उन्हीं को हे राजन् ! तुम परब्रह्म नारायण जानो ।"

चुप हो जाना ही उसका परिचय है। बहुत से ऐसे विषय हैं जिन्हें वाणी से नहीं कहा जाता, कोई पूछता है तो चुप हो जाते हैं या किसी अन्य संकेत द्वारा बताते हैं। जैसे हमें किसी को चन्द्रमा दिखाना है, तो हम कहते हैं—"यह मेरी उँगली की सीध में देखो। वह चन्द्रमा है।" वास्तव में उँगली के सीध में चन्द्रमा कैसे हो सकता है। कहाँ उँगली कहाँ चन्द्रमा किन्तु यहाँ उँगली के सम्मुख चन्द्रमा है ऐसा कहने में तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य तो चन्द्रमा दिखाने में है। इसी प्रकार भगवान् तो निर्गुण हैं कारण रहित हैं, फिर भी उन्हें जगत् कार्यों का कारण कहकर परिचय दिया जाता है, केवल बोध कराने के निमित्त। यद्यपि भगवान् प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किये जा सकते। क्योंकि वे इन सबसे परे हैं, फिर भी समझाने को कहते ही हैं। इन सबके द्वारा सिद्ध न होने पर भी उनका बोध तो होता ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने नारायण का स्वरूप पूछा, तब योगेश्वर पिप्पलायन कहने लगे—"राजन्! वृक्ष में फल लगता है जब तक पकता नहीं तब तक स्थिर रहता है, पककर गिर जाता है। यह सब किसकी प्रेरणा से होता है?"

राजा ने कहा—"महाराज! यह सब तो काल की प्रेरणा से होता है।"

महामुनि पिप्पलायन बोले—"राजन! काल में भी जिनकी प्रेरणा से कलन शक्ति होती है, वे ही श्रीमन्नारायण हैं। वे ही इस संपूर्ण संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के कारण हैं।"

राजा ने कहा—"जो जिसका कारण होता है उसका भी कोई न कोई कारण होगा। जैसे पुत्र का कारण पिता है, तो उस पिता का भी कोई कारण अवश्य होगा। फिर श्रीमन्नारायण का कारण कौन है?"

मुनि ने कहा—"राजन्! भगवान् कारण रहित हैं, उनका कोई कारण नहीं। व ही कार्य हैं, व ही कारण है वे ही करण हैं। वे ही निमित्त कारण हैं वे ही उपादान कारण हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्था कही गयी हैं। जाग्रत में वही विश्व-रूप से नेत्रों में रहता है। स्वप्न म वही तैजस् रूप से आत्मा में रहता है, सुषुप्ति में वही प्राज्ञ रूप से आत्मा में रहता है। वह अवस्थाओं का साक्षी रूप से भीतर बाहर सर्वत्र है। वही सब देखता है वही करता है, फिर भी इन सब में लिप्त नहीं होता।"

राजा ने कहा 'महाराज! कार्य तो हम देह से कर्मेन्द्रियों से करते हैं। वसुओं का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से करते हैं जीवन प्राण के द्वारा धारण करते हैं और अनुभव हृदय के द्वारा अन्त करण से करते हैं।"

महामुनि पिप्पलायन ने कहा—"राजन्! ये सब तो जड हैं इन सब में जो जीवन प्रदान करता है इन सब में जो चैतन्यता स्थापित करके इन सबको व्यापार में प्रवृत्त करता है, उन्हें ही तुम परात्पर तत्व नारायण समझो।"

राजा ने कहा—"उस तत्व को जाने कैसे? मन के द्वारा मनन करे या बुद्धि के द्वारा जाने।"

हँसकर पिप्पलायन मुनि बोले—"क्या अग्नि के विस्फुलिङ्ग अग्नि को प्रकाशित कर सकते हैं। क्या जल के कण जल को भिगो सकते हैं। क्या वायु का तरंगे वायु को उडा सकती है? इसी प्रकार मन, वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण तथा अन्यान्य इन्द्रियाँ उन प्रभु की सिद्धि करने म असमर्थ हैं। राजन्! ये सब तो जड हैं। इन सब में तो चैतन्यता वे ही प्रदान करते हैं। बाप के जन्म की बात बेटा कैसे बता सकता है?"

राजा ने कहा—"अच्छा, भगवन्! शास्त्र तो शब्दों द्वारा उसको बता सकता है?"

राजा ने कहा—"हाँ! शास्त्र तो उसे बताता ही है। शास्त्र न बतावे, तो उसका ज्ञान कैसे हो। शास्त्र उसे प्रत्यक्ष नहीं बताता। लजीली बहू की भाँति निषेध वृत्ति से बताता है। किसी का पति दश आदमियों के बीच में बैठा है। उसकी सहेली पूछती है तेरे पति वे हैं वह सिर हिला देती है। फिर पूछती है, वे हैं फिर सिर हिला देती है। जब पति की ओर संकेत करती है, तो लजाकर चुप हो जाती है। वह सहेली संकेत से समझ जाती है वे ही हैं। इसी प्रकार देह ब्रह्म नहीं, इन्द्रिय ब्रह्म नहीं, उसके विषय ब्रह्म नहीं, मन ब्रह्म नहीं, बुद्धि ब्रह्म नहीं, चित्त ब्रह्म नहीं अहङ्कार ब्रह्म नहीं। इसी प्रकार नहीं-नहीं करते-करते जो शेष रह जाय, वही ब्रह्म है। अनात्म पदार्थों का निषेध करते करते जहाँ निषेध की अवधि हो जाय, वही ब्रह्म है वही नारायण है।"

राजा ने कहा—'हम महाराज! यों क्यों न मान लें, कि ब्रह्म कोई वस्तु है ही नहीं।"

गम्भीर होकर पिप्पलायन मुनि ने कहा—"नहीं, राजन्! देखिये, आप उस निषेध का कोई आधार न मानेंगे, तब तो यह कहा ही नहीं जा सकता 'यह नहीं है।' यह नहीं है किसी वस्तु की अपेक्षा से ही कहा जायगा। किसी ने कहा—"इस भीड़ में से देवदत्त को खोज लाओ। अब खोजने वाला चाहता है जिसे देखता है, उसी को देखकर कहता है यह देवदत्त नहीं है। आगे दूसरे को देखकर कहता है यह भी देवदत्त नहीं है। अब वह पुरुष सम्पूर्ण मेले में घूमता है। और प्रत्येक को देखकर कहता 'यह नहीं है।" तो उसके 'नहीं' कहने से यह प्रतीत होता है देवदत्त नामक कोई व्यक्ति है तो अवश्य किन्तु वह इस भीड़ में नहीं है। इसी प्रकार वेद जब कहता है "नेति नेति" यह वह नहीं है, यह वह नहीं है। तो इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि मन,

वाणी, बुद्धि, प्राण तथा अन्यान्य इन्द्रियाँ ब्रह्म नहीं है, किन्तु इनसे विलक्षण कोई ब्रह्म अवश्य है। यह अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है। अर्थापत्ति उसे कहते हैं, जो वस्तु दीखती तो है किन्तु उसका अनुमान लगाते हैं जैसे 'शशक के सींग नहीं होते इस कथन से इतना ही सिद्ध है शशक नामक जीव के सिर पर सींग दिखाई नहीं देते। सींग नामक वस्तु अवश्य है और वह चार पैर वाले पशुओं के सिर पर उत्पन्न होते है। यदि 'सींग' नामक वस्तु का अभाव ही होता,तो यह कहना असगत था, व्यर्थ था कि शशक के सींग नहीं। सींगों की प्राप्ति ही नहीं थी तो निषेध क्यों किया है। निषेध किया इससे यह सिद्ध हो गया कि सींगों का अस्तित्व है। वेदों मे नेति-नेति शब्द है इससे यह स्वतः सिद्ध हो गया कि ये मायिक पदार्थ नारायण नहीं, इनसे विलक्षण एक नारायण है, जब यह ससार नहीं था ब्रह्म तब भी था, अब यह जगत् दीखता है तब भी है, जब जगत् न रहेगा ब्रह्म तब भी रहेगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! जब ब्रह्म एक ही था, तो उससे ये अनेक पदार्थ कैसे हो गये।"

हँसकर पिप्पलायन मुनि बोले—"राजन्! एक से ही तो अनेक होते हैं। आम के पेड़ के पूर्व गुठली एक ही थी जब वह भूमि में गाड़ दी गयी, तो उस गुठली से अंकुर हो गया, उसी में से पत्ते निकल आये। फिर शाखायें निकलीं, शाखाओं में से प्रशाखायें हुईं उनमें फूल निकल आये, फल लग गये। फलों में गुठली लग गयीं उस गुठली से ही इतनी वस्तुयें हो गयीं। अत में फिर गुठली की गुठली हो गयी। एक गुठली से अनेक हो गयी। उन सब में बीज रूप से तो एक ही शक्ति विद्यमान है। एक बीज से अनेक वस्तुयें हुईं, फिर अन्त मे बीज का बीज ही। वृक्ष से पहिले भी बीज था। सम्पूर्ण वृक्ष मे भी बीज व्याप्त था।

फिर बीज होने पर उसमें वृक्ष बनाने की पूर्ण शक्ति है। अनेकत्व में बीज शक्तिरूप से एकत्व छिपा है। इसी प्रकार सृष्टि के आदि में एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म था। वही ब्रह्म सत्त्व, रज और तम इस प्रकार त्रिवृत् प्रधान रूप में परिणित हो गया।"

राजा ने पूछा—"महाराज! ब्रह्म जड़ है या चैतन्य?"

पिप्पलायन मुनि बोले—"भगवन्! श्रीमन्नारायण तो चैतन्य-घन है। सच्चिदानन्द स्वरूप है।"

राजा ने पूछा—"अच्छा, फिर ये सत्त्व, रज और तम ये जड़ हैं या चैतन्य?"

मुनि ने कहा—"ये जड़ हैं।"

राजा ने कहा—"चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति कैसे हुई। चैतन्य से तो चैतन्य ही होता है। जड़ से जड़। मनुष्य से जो उत्पन्न होगा वह मनुष्य ही होगा। फिर जड़ में तो बढ़ना आदि क्रिया सम्भव नहीं।"

यह सुनकर हँसते हुए पिप्पलायन बोले—"क्यों राजन्! तुम्हारे शरीर से नख बाल क्या उत्पन्न नहीं होते, जब तक उनका चैतन्य के साथ सम्बन्ध है, तब तक जड़ होते हुए भी बढ़ते हैं। उन्हें काटकर देह से पृथक् कर दो या शरीर से प्राणों को पृथक् कर दो उनमें वृद्धि न होगी। इसी प्रकार देह, मन, प्राणादि जड़ होने पर भी चैतन्य के संसर्ग से सब कार्य करते हैं।

राजा ने कहा—"हाँ महाराज समझ गये। चैतन्यघन सच्चिदानन्द ब्रह्म ही त्रिवृत् प्रधान या प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फिर क्या हुआ।"

महामुनि पिप्पलायन बोले—"हाँ तो राजन्! वह तो प्रधान सत्त्व, रज और तम रूप होने से प्रधान श्रेष्ठ कहलाया। सत्त्वगुण का कार्य है ज्ञान, रजोगुण का कार्य है क्रिया और तमोगुण का कार्य है ढाप लेना। इसलिये वही प्रधान तत्त्व ज्ञानमय होने से

महत्तत्व कहलाता है, क्रियात्मक होने से उसी का नाम सूत्रात्मा है और जीव की उपाधि होने से उसी की अहंकार संज्ञा हो जाती है। फिर वही अहंकार रूप ब्रह्म सत्त्व, रज और तम तीन गुणों के कारण दशों इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव रूप में, दश इन्द्रियों के रूप में, पाँच भूतों के रूप में, पाँच तन्मात्राओं के रूप में भासने लगता है। यह सब होने पर भी उसमें वृद्धि नहीं ह्रास नहीं। जैसे सुवर्ण जब खान में था तब भी सुवर्ण ही था, कनक कुण्डल बन जाने पर भी उसके सुवर्णपने में कोई अन्तर नहीं। कनक कुण्डल कहलाने पर भी चारों ओर से सुवर्ण ही-सुवर्ण है, कनक्कुण्डल की उपाधि को त्याग देने पर भी सुवर्ण है। वह नाम, रूप, उपाधि से रहित है, सदा रहने वाला है एक रस है, नाम रूप उसका कुछ बिगाड नहीं सकते।

इसी प्रकार सत्-असत् दृश्य-अदृश्य तथा इसके परे भी जो कुछ है, वह ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कुछ भी किंचित् भी नानात्व नहीं है। उन परमात्मा भगवान् नारायण ब्रह्म का न कभी जन्म होता है न मरण। न वे घटते हैं, न बढते हैं। कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ ब्रह्म ठूँस-ठूँस कर भरा न हो। एक कटोरे में जब मुख तक दूध भरा है, तो उसमें दूसरी वस्तु के लिये स्थान ही कहाँ है। इसी प्रकार तनिक भी स्थान खाली नहीं जहाँ ब्रह्म परिपूर्ण रूप से व्याप्त न हो। वे तो सर्वव्यापक हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं अच्युत है तथा ज्ञानस्वरूप हैं।

राजा ने पूछा—"भगवन्! यह तो सब सत्य है, किन्तु हम देखते हैं, एक बालक जन्म लेता है, बालक होता है, फिर युवा हो जाता है, बूढा होकर मर जाता है। तो ये जो परिवर्तन होते हैं, वे किसमें होते हैं। जीव में, ब्रह्म में या शरीर में? आप कहते हैं, ब्रह्म में वृद्धि ह्रास सभव नहीं। सोलह तत्त्वों के रूप में विस्तृत हुआ यह पाञ्चभौतिक त्रिगुणमय चेतनाशक्ति से युक्त

वैसे ही रूप से अनुसरण करते हैं। जैसा देह होता है, वैसे ही प्राण बन जाते हैं। प्राण का देहों से कोई संग नहीं होता शरीर में स्थित रहने पर भी जैसे ज्यों-के-त्यों विशुद्ध बने रहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म सब अवस्थाओं में सबमें साक्षी रूप से स्थित रहने पर भी निर्लेप बना रहता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! हमें आत्मा का अनुभव तो होता नहीं। सम्मुख हमें ये ही शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी विषय दिखायी देते हैं, इन विषयों को ग्रहण करने वाली श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण और त्वचा इन इन्द्रियों का भी बोध होता है, अहंकार का भी अनुभव होता है, इनके अतिरिक्त आत्मा क्या है?"

हँसकर पिप्पलायन मुनि बोले—"राजन्! यह तो आप नहीं कह सकते, कि हमें आत्मा का अनुभव नहीं होता। सभी प्राणियों को नित्य आत्मा का अनुभव होता है, आत्मानुभाव न हो तो यह प्राणी जीवित ही न रहे। देखिये गाढ़ निद्रा के समय ये बाह्य विषय नहीं रहते। इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं, अहंकार भी लीन हो जाता है। उस समय जीवात्मा परमात्मा से मिलकर सुख का अनुभव करता है, क्योंकि सुख स्वरूप तो भगवान् ही हैं। सोकर उठने पर हम कहते हैं आज तो बड़ी ही मीठी-मीठी नींद आयी सुखपूर्वक सोये। अब सोचिये जब इन्द्रियाँ, मन, अहंकार सभी जहाँ नहीं थे, वहाँ सुख का अनुभव किसने किया? कहना होगा कूटस्थ आत्मा उस अवस्था में भी जागता हुआ उस सुख का अनुभव करता है।"

राजा ने कहा—"महाराज! जब सुषुप्ति अवस्था में यह जीव सुख का अनुभव करता है, तो फिर जागकर मायिक दुखों में क्यों फँस जाता है। वहाँ से तो उसे लौटना ही न चाहिये।"

महामुनि बोले—"राजन्! सुषुप्ति में जीव अज्ञान को साथ लिये रहता है। अज्ञान न हो तो फिर तो उस सुख का नित्य ही अनुभव करे।"

राजा ने कहा—"तो भगवन्! ऐसा ही उपाय बताइये, की वह सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में नित्य बसने लगे।"

इस पर योगेश्वर पिप्पलायन बोले—"राजन्! जब तक गुण कर्म सम्भूत ये माया के मल चित्त पर चढ़े हैं, तब तक शुद्ध तत्त्व का प्रकाश होना कठिन है। सूर्य भी उदित हैं, आखें भी हैं, किन्तु आखों पर जाला छाया हुआ है, तो सूर्य दिखाई न देगा। किसी योग्य चिकित्सक से अञ्जन लगवा लो। जाले को कटवा लो, फिर सूर्य स्वतः ही दिखायी देने लगेगा। कहीं से लाकर सूर्य न दिखाना पड़ेगा।"

राजा ने कहा—"भगवन्! वही उपाय तो पूछ रहे हैं, यह माया का जाला कैसे कटे? चित्त चितचोर के चारु चरणों में कैसे चिपके?"

इस पर महामुनि पिप्पलायन बोले—"महाराज! कमलनाभ भगवान् वसुदेव के चरणारविन्दों की इच्छा मन में जागृत हो जायगी, तो बढ़ी बढ़ी हुई तीव्र भक्ति रूप अग्नि जीव के चित्त पर जमी हुई जाली को जला देगी। विशुद्ध चित्त हो जाने पर ब्रह्म का प्रकाश स्वयं ही दिखायी देने लगेगा। अशुद्ध चित्त ही संसार को प्राप्त करता है, वही विशुद्ध बन जाने पर ब्रह्म साक्षात्कार में कारण बन जाता है, अतः आप निरन्तर भगवान् की भक्ति करें। चित्त के शुद्ध होने का भगवान् की भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई भी सरल सुगम और सर्वोपयोगी साधन नहीं। जो भी कर्म करो, भगवान् के निमित्त करो, यज्ञ रूप श्रीनारायण को प्रसन्न करने के निमित्त कर्म करो। यज्ञ के अतिरिक्त, भगवत् परिचर्या के अतिरिक्त—जो भी कर्म हैं सब

बन्धन के हेतु हैं, पुनः पुनः संसार की प्राप्ति करने में कारण हैं। कर्म तो बन्धन के कारण हैं, किन्तु वे ही कर्म यदि कुशलता पूर्वक किये जाय, तो मुक्ति के हेतु हो जाते हैं। अतः कर्म न करके कर्मयोग करो कर्मों को कुशलता पूर्वक करना ही कर्मयोग कहाता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! कर्म कुशलता पूर्वक कैसे किये जाते हैं। किन-किन कर्मों को करे, किन-किन कर्मों को न करे, कृपा करके हमें आप उसी कर्मयोग का उपदेश दें, जिससे इस भवसागर को तर सकें। आप ऐसे ही कर्म हमें बतावें जिनके द्वारा कर्मों को त्यागकर नेष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर महामुनि पिप्पलायन कुछ सोचते रहे और फिर कुछ काल के अनंतर बोले—"राजन् कर्मयोग साधारण बात नहीं है। बड़े-बड़े ज्ञानी भी इस विषय में मोहित हो जाते हैं। क्या कर्म है क्या अकर्म है, यह बड़ी कठिन समस्या है।

राजा ने कहा—"भगवन्! यह प्रश्न कठिन तो मुझे भी लगता है। इस विषय मे मैं आपको अपना एक अनुभव भी सुनाता हूँ। एक बार जब मैं बालक ही था तब मैं अपने पिता इक्ष्वाकु की गोदी में बैठा था। उसी समय सदा पाँच वर्षकी अवस्था में रहने वाले ब्रह्माजी के पुत्र, सनक, सनंदन, सनातन और सनत् कुमार वहाँ पधारे। ये देखने में बालक से प्रतीत होते थे, सुन्दर सुनहली छोटी छोटी लटाओं से उनका मुखमंडल आवृत्त था, वे चारों के चारों दिगम्बर थे, वे अपने तेज से दशों दिशाओं को प्रकशित कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानों चार सूर्य एक साथ प्रकाशित हो रहे हों। उन्हें देखकर मेरे पूज्य पिताजी, मंत्री, पुरोहित और सभासदों के साथ उठकर खड़े हो गये और उनका स्वागत सत्कार करके सुवर्ण के सिंहासनों पर

बिठाया विधिवत् पूजा की। इधर-उधर की शिष्टाचार सम्बन्धी बातें होती रहीं। उसी समय अवकाश देखकर हाथ जोडकर मैंने उनसे निवेदन किया—"मुनियो! मैं आप से एक प्रश्न करना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो करूँ?"

मुनियों ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"अच्छी बात है, करो भैया।"

मैंने नम्रता के साथ कहा—"भगवन्! आप मुझे कर्मयोग का उपदेश करें। मुझे समझावें कर्मयोग क्या है।"

यह सुनकर वे सबके सब मुनिवर मौन हो गये। चारों में से एक ने भी मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। मैंने पुनः दुबारा पूछना धृष्टता समझी। अतः फिर प्रश्न नहीं किया। अब मैं जानना चाहता हूँ, उन सर्वज्ञ मुनियों ने मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दिया। क्या कारण है, कि मेरे प्रश्न को सुनकर भी वे सबके सब मौन हो गये। इसका कारण भी बतावें और मेरे प्रश्न का भी कृपा करके उत्तर दे दें। उन मुनियों की भाँति मौन धारण न कर लें।"

यह सुनकर योगेश्वर पिप्पलायन बोले—"राजन्! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर ये मेरे छोटे भाई आविर्होत्र देंगे। ये कर्मयोग में निष्णात हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर महाराज जनक जिज्ञासा भरी दृष्टि से महामुनि आविर्होत्र की ओर देखने लगे। अब जैसे योगेश्वर आविर्होत्र कर्मयोग का उपदेश देंगे उस कथा को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

त्रिवृत् और महतत्व, सूत्र, हंकार, सकल सुर ।
करन, अरथ, सत्, असत् ब्रह्म ही सब थल अच्छर ॥
साक्षी, चेतन, शुद्ध नित्य कूटस्थ कहावै ।
जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सबनिको दृश्य दिखावै ॥
इच्छा जब उतकट बढ़ै, कब पाऊँ प्रभुपद कमल ।
करमयोग तें होहि मन, शुद्ध ब्रह्म दीखै अमल ॥

योगेश्वर आविर्होत्र द्वारा कर्मयोग का वर्णन

[१२०८]

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ३ अ० ४३ श्लोक)

छप्पय

'करमयोग अब कहैं' जनक जब बोले मुनि तैं।
मुनिवर आविरहोत्र विहँसिकैं बोले तिनि तैं॥
करमयोग अति कठिन होहिँ मोहित हू ज्ञानी।
करम फंदमें फसे न समुझैं नर अज्ञानी॥
करम करै निष्काम नित, वेद विहित प्रभु प्रीति हित।
प्रतिमा पूजन प्रेम तैं, करै होहि तब शुद्ध चित॥

संसार के लिये जो—कामना सहित—कर्म किये जायँगे, उनसे ससार की ही प्राप्ति होगी, भगवान् के लिये—'निष्कामभाव से—जो कर्म किये जायँगे, वे भगवान् को प्राप्त करावेंगे। बिना सोचे समझे खाया जायगा तो वह मृत्यु का कारण होगा। शोध-कर—युक्तिपूर्वक कुशलता के साथ—अनुपान पूर्वक जब वही

---

* योगेश्वर आविर्होत्र महाराज जनक से कह रहे हैं—"राजन्! कर्म क्या है, अकर्म क्या है, विकर्म क्या है ये सब विषय वेद के हैं। लौकिक नहीं हैं। वेद ईश्वरात्मक हैं, सो राजन्! इस विषय में बड़े बड़े विद्वान् भी विमोहित हो जाते हैं।"

खाया जायगा, तो सब रोगों को मेंटने में कारण होगा। इसलिये जो भी कर्म किया जाय कुशलता से किया जाय, चित्त की बिखरी वृत्तियों को निरोध करके किया जाय, प्रभु प्रीत्यर्थ किया जाय यही साधन है, यही भजन है। इस रहस्य को कर्मासक्त पुरुष नहीं समझ सकते। जो मोक्ष के अधिकारी हो गये हैं वे ही समझ सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने कर्मयोग के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब उसका उत्तर देते हुए योगेश्वर आविर्होत्र कहने लगे—

"राजन्! कर्म तीन प्रकार के होते हैं। एक कर्म, दूसरा अकर्म और तीसरा विकर्म।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! उनकी व्याख्या कीजिये। हम कैसे जानें कि यह कर्म है या अकर्म अथवा विकर्म?"

मुनि बोले—"राजन्! यह विषय ऐसे नहीं जाता जा सकता। जो कर्म किये जाते हैं वे कर्म हैं कर्मों को छोड़ देना अकर्म है, वेद के विरुद्ध कर्म करना विकर्म है। धर्म का पालन अत्यंत कठिन है, इसलिये लोग धर्म को छोड़कर अधर्म करने लगते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! यह कार्य धर्म है, यह अधर्म है, इसकी मोटी परिभाषा यही हुई की जो अत्यन्त कठिनता से कर्म हो वह धर्म है, जिसकी ओर इन्द्रियों का स्वभाविक झुकाव हो—जो स्वाभाव वश सरलता से हो जाय—वही अधर्म है।"

यह सुनकर महामुनि आविर्होत्र बोले—"राजन्! यह—सत्य है कि धर्म कार्य करने में कठिनता होती है और मांस, मदिरा आदि वेद विरुद्ध कार्यों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, किन्तु यह व्याख्या सर्वथा निर्दोष नहीं है, कि जो कष्ट से किया जाय वह धर्म जो सरलता से प्राप्त हो वह अधर्म। सिंह का मूत्र तो अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है, किन्तु उसे प्राप्त करना कोई धर्म

नहीं है, इसके विपरीत गौ मूत्र सुलभता से प्राप्त हो जाता है, पञ्चगव्य घर मे ही प्राप्त हो जाता है, किन्तु पचगव्य को प्राप्त कर लेना धर्म है, जितनी भी प्रायश्चित्तादि विधि हैं उनमे पञ्चगव्य अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। इसलिये धर्म-अधर्म की व्याख्या यह रही, वेद जिसे कह दे, वह धर्म है, वेद जिसका निषेध करे वह अधर्म है यह कार्य है, यह अकार्य है इस विषय मे शास्त्र ही परम प्रमाण है। लौकिक पदार्थों से धर्माधर्म कर्माकर्म का ज्ञान नहीं हो सकता।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वेद क्या है? वेद का निर्माण किसने किया?"

मुनि बोले—"राजन्! वेद का निर्माण किसी ने नहीं किया। वेद अनादि हैं, ज्ञान का ही नाम वेद हैं। भगवान् की स्वास ही वेद हैं। वेद भगवान् से भिन्न नहीं, वे भगवद् रूप ही हैं। उनके रहस्य को बाल बुद्धि पुरुष नहीं समझ सकते। जिन्होंने चिरकाल तक महत् पुरुषों की सेवा की हो, वे ही उनके रहस्य को समझ सकते हैं। वेदों के विषय मे बड़े-बडे विद्वान् भी विस्मित हो जाते हैं। उनकी भी बुद्धि चकरा जाती है, वे भी विमोहित हो जाते हैं। वेदज्ञों द्वारा अधिकारी जिज्ञासु ही कर्म के रहस्य को समझने मे समर्थ हो सकते हैं। आपने पूछा था, कि मैंने बालकपन मे सनकादि मुनियो से कर्मयोग के सम्बन्ध मे प्रश्न किया था, किन्तु उन्होने उत्तर नहीं दिया, वे मौन हो गये। इसका क्या कारण है?" सो, राजन्! उस समय आप बालक थे आप कर्मयोग के रहस्य को समझ नहीं सकते थे। बहुत से लोग वेसा ही इधर-उधर से प्रश्न सुनकर बिना उनकी योग्यता प्राप्त किये पूछ बैठते हैं। उनका उत्तर भी दिया जाय, तो वे समझ नहीं सकते। अतः ज्ञानी लोग ऐसे पुरुषों का प्रश्न सुनकर हंस जाते हैं, मौन हो जाते हैं, इधर-उधर की बात कहकर

टाल देते हैं। उस समय आप इस गूढ़ विषय को समझ नहीं सकते थे, इसलिये ब्रह्मपुत्र सनकादि मौन हो गये। वेद परोक्षवाद है। उसका तात्पर्य तो कुछ है, ऊपर से कहता कुछ है।"

राजा ने कहा—"परोक्षवाद क्या महाराज ?"

मुनि बोले—"राजन् ! परोक्षवाद उसे कहते हैं, जो कराना हो, उसे तो छिपाकर कहते हैं, ऊपरी मीठी-मीठी बातें कहकर उस ओर उसकी प्रवृत्ति कराते हैं। जैसे बालक को सुलाना है, वह सोता नहीं। तो उससे कहते हैं अच्छा एक कहानी सुन।"

कहानी बच्चों को बहुत प्रिय है, वह कहता है—"सुनाओ।" माता कहती है—"अच्छा, सुनाऊँगी तो किन्तु खाटपर लेटकर मेरी कहानी को हुंकारी देता जाना।" बच्चा इसे स्वीकार करता है, वह खाटपर लेट जाता है। माता कहती है-"एक राजा था एक उसकी रानी थी, एक उसकी फूल-सी सुकुमारी प्यारी दुलारी, कुमारी थी।" बच्चा बात-बात पर हूँ करता है। जब चित्त एकाग्र हो जाता है, तो तमोगुण के कारण निद्रा आ जाती है। जैसे जप करते-करते, कथा सुनते सुनते निद्रा आने लगती है। बच्चा कहानी सुनते-सुनते सो जाता है। माता का उद्देश्य पूरा हो जाता है। बच्चे के उसे कान छेदने हैं। उसे खाने को गुड़ देती है, गुलगुला देती है। यहाँ उसका तात्पर्य गुड़ खिलाने में नहीं है, मुख्य उद्देश्य तो उसका कान छेदने में है। माता को कोई कडवी ओषधि बच्चे को खिलानी है, बच्चा वैसे खाता नहीं, तो कहती है 'देख' यदि तू इस ओषधि को पीले, तो मैं तुझे मथुरा के पेड़े दूँगी। देख, मेरे पास ये रखें हैं।" बच्चा पेड़ों के लोभ से उस कड़वी ओषधि को पी जाता है। यहाँ माता का उद्देश्य पेड़ा देने मे नहीं था, ओषधि खिलाने मे था। कोई सूखी कड़वी ओषधि है, उसे बतासे में रखकर माता कहती है—"बेटा, देख यह कैसा मीठा बतासा है इसे तू बिना चबाये निगल तो जा।"

बच्चा मीठे के लोभ से उसे निगल जाता है, यहाँ माता का अभिप्राय बतासा खिलाने मे नहीं था, बच्चे के पेट मे औषधि पहुँच जाय, इतना ही उसका अभिप्राय था। उसका मुख्य उद्देश्य बच्चे के रोग को निवृत्त करने मे है। इसी प्रकार अनादि संस्कारों के वशीभूत होकर जीव जन्म-मरण के चक्कर मे फँसकर पुनः पुनः कर्म करता है, पुनः पुनः बन्धन म पडता है और मरता जन्मता है। वेद उस कर्मरूपी रोग से छुडाना चाहता है। जिस प्रकार बालकों की मीठी-मीठी बातों म, मीठी मीठी रसाली वस्तुओं में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, उसी प्रकार प्राणियों की कर्मों मे स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। वह वेद विहित कर्मों को तो करता नहीं, निषिद्ध कर्मों को करता है, उनसे बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है। अतः वेद निःसंगभाव से ईश्वरार्पण पूर्वक कर्म करने के लिये आग्रह करता है। जो कर्म भगवान् के लिये किये जाते हैं वे भगवान् के हो जाते हैं, भगवान् निष्कर्म है उनमे कर्म नहीं, बन्धन नहीं, अतः उन कर्मों को करने से नैष्कर्म सिद्धि प्राप्ति हो जाती है। भगवान् के निमित्त निष्कामभाव से किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं होता। उससे परमसिद्धि प्राप्त होती है।

राजा ने कहा—"वेद मे तो सब कर्म सकाम ही हैं, वहाँ एक बात बताते हैं उसका फल पहिले बताते हैं जैसे श्रुति कहती है "जिसे स्वर्ग की कामना हो, वह अश्वमेध यज्ञ करे।" "पुत्र की कामना हो तो पुत्रेष्टि यज्ञ करे।" अमुक कामना हो तो अमुक कर्म करे। फिर इन कर्मों से नैष्कर्म सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है?"

हँसकर आविर्होत्र मुनि बोले—"राजन्! ये जितनी भी फल श्रुतियाँ हैं केवल वेदोक्त कर्मों में प्रवृत्त कराने के ही निमित्त है। जैसे किसी को पुत्र प्राप्ति की उत्कट इच्छा है। जब वह

पुत्र प्राप्ति के लिये प्रयत्न किये बिना तो मानेगा नहीं, झाड़ फूँक करावेगा, सूअर, बकरा, मुर्गी मारेगा, इसलिये वेद कहता है, अच्छा तुम्हें पुत्र की ही कामना है, तो पुत्रेष्टि यज्ञ करो।" अब वह यज्ञ की सामग्री जुटावेगा देवताओं की आराधना करेगा, ब्राह्मणों की सेवा करेगा, धन व्यय करेगा। इन शुभ कार्यों के करने से उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा। वेद मंत्र तो अमोघ हैं, पुत्रेष्टि यज्ञ करेगा, तो पुत्र होगा ही। इससे उसकी वैदिक कर्मों में निष्ठा जमेगी आस्तिकता आवेगी, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों उसे मोक्ष की भी जिज्ञासा होगी। तो यहाँ श्रुति का मुख्य तात्पर्य स्वर्ग सुख पहुँचाने में या पुत्र उत्पन्न करने में नहीं है। भगवती श्रुति तो उसके भवरोग को माता की भाँति दूर करना चाहती है, किन्तु त्याग वैराग्य रूपी कड़वी औषध को वह सहसा खाता नहीं, इसीलिये स्वर्गादि फल रूपी मिठाई को लपेटकर उसे वेद विहित कर्म बताती है। सकाम कर्म करते-करते उनमें निष्कामता आ जायगी ईश्वरार्पण विधि से करने से वे मोक्ष के कारण बन जाते हैं। इसलिये वेद विधि से यज्ञ याग करते हुए अन्तःकरण को शुद्धि करना चाहिये। वेद विहित कर्मों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर उपासना भली भाँति होती है। तदनन्तर ज्ञान हो जाता है, ज्ञान से मुक्ति होती है। हृदय में अहङ्कार रूप एक ग्रन्थि पड़ गयी है, उससे परमात्मस्वरूप के दर्शन नहीं होते। जब वह हृदय ग्रन्थि खुल जाय तब परावर के दर्शन होते हैं। अतः वेद विधि से विहित कर्मों को करना चाहिये।

राजा ने कहा—"भगवन्! वेद की विधि तो अत्यन्त कठिन है, विशेषकर कलियुग में तो वेद मन्त्रों का उच्चारण करने वाले भी कहीं विरले ही मिलेंगे। यज्ञ करने की शुद्ध सामग्री का भी मिलना कठिन हो जायगा। फिर भगवान् की उपासना कैसे की जा सकती है?"

यह सुनकर आविर्होत्र बोले—"यह आवश्यक नहीं, कि अग्नि में हवन करके ही उपासना करे। वैदिक मन्त्रों से भगवान् की मूर्ति मे पूजन करे। भगवान् के अर्चा विग्रह की पूजा करना सर्वश्रेष्ठ उपासना है। पुरुष सूक्त अथवा अन्य मन्त्रों से मूर्ति पूजा करे। वेदिक मन्त्र उच्चारण करने मे असमर्थ हो, तो तन्त्रोक्त विधि से पूजा करे, तान्त्रिक मत्रो से भगवान् की भक्ति भाव से सेवा करे। अपने गुरुदेव से जाकर मत्र दीक्षा ले, उनकी कृपा को प्राप्त करे, उनसे पूजा करने की विधि सीखे। फिर भगवान् की जो मूर्ति अपने को अत्यन्त प्यारी लगे, उसी मे गुरु की बतायी विधि से श्रद्धापूर्वक विधि विधान से श्रीमन्नारायण की पूजा करे।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं पूजा की विधि जानना चाहता हूँ। पूजन कैसे किया जाय, किन तन्त्रो के मंत्रो से कौन-सा कृत्य किया जाय, कृपा करके यह सब मुझे समझावें। पूजा पद्धति में लोग अनेक प्रकार की बातें कहते हैं।"

यह सुनकर महामुनि आविर्होत्र बोले—"राजन्! पूजा की विधि अनेक हैं और तन्त्रों में उनका बड़ा विस्तार है, किन्तु मैं आपको अत्यन्त संक्षेप मे विधि बताता हूँ।"

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार महामुनि आविर्होत्र ने महाराज निमि को पूजा की विधि बताई उसे मैं आगे कहता हूँ, सभी के काम की वस्तु है।"

छप्पय

भीतर बाहर करन शुद्धि करि प्रतिमा सम्मुख।
बैठे प्राणायाम करै तजि जग के सुख दुख॥
पूजा की सब वस्तु यथाक्रम सबई धरिकें।
स्वयं अग करन्यास करै, प्रतिमामहँ करिकें॥
मूल मन्त्र पढ़िकें करै, प्रतिमा पूजन प्रेमतैं।
अङ्ग उपाङ्ग सपार्षदहिं, पूजै नित प्रति नेमतैं॥

प्रभु पूजा पद्धति

[१२०९]

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ३ अ० ५५ श्लो०)

छप्पय

पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, नाना, पट भूषन।
गन्ध, पुष्प, तिल, हार, धूप, दीपक, वर व्यञ्जन॥
पुङ्गीफल, तांबूल, दक्षिणा, नीराजन करि।
क्षमा प्रार्थना स्तोत्र दंडवत पृथिवी पै परि॥
यों तन्मय है के करै, पूजन प्रभु परमेश को।
होवै तबहीं नाश सब, जन के दुख भय क्लेश को॥

मनुष्यों में एक स्वाभविकी प्रवृत्ति होती है, किसी का पूजन करें किसी से घृणा करें, किसी के सम्मुख नम्रता दिखावें किसी की उपेक्षा करदें। साधक को उपेक्षा करनी हो, घृणा करनी हो तो

* महामुनि आविर्होत्र कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार जो अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि अथवा अपने हृदय में ईश्वर का भजन करता है, वह अविलम्ब ही संसार से मुक्त हो जाता है।"

अपने दुर्गुण से करे। नम्र होना हो पूजा करती हो तो परात्पर प्रभु की करे, क्योंकि संसार में प्रभु के अतिरिक्त कोई पूजनीय नहीं, कोई वन्दनीय नहीं, कोई अर्चनीय नहीं। पूजा करनी हो, तो विधिपूर्वक करे, जो शास्त्र की विधि का परित्याग करके मनमानी करता है, स्वच्छन्द आचरण करता है, उसे आन्तरिक शान्ति भी नहीं होती, सुख नहीं होता और जिस सिद्धि के लिये वह कर्म कर रहा है, वह सिद्धि भी उसे प्राप्त नहीं होती। अतः जो भी कार्य करे, शास्त्र विधि को समझ कर करे। यद्यपि भगवान् का पूजन कैसे भी किया जाय, उससे अनिष्ट की संभावना नहीं क्योंकि भगवान् जनार्दन भावग्राही हैं, फिर भी जहाँ तक हो सके, विधिपूर्वक ही पूजन अर्चन करना चाहिये क्योंकि विधि-निषेध का वर्णन वेदों में है और वेद भगवन् की आज्ञा है, उनका स्वरूप ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज निमि के पूछने पर योगेश्वर आविर्होत्र पूजा की विधि बताते हुए कह रहे हैं—राजन् पूजन, अर्चन, सेवन, भजन, परिचर्या तथा यजन ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इनके करने के प्रथम कर्ता को पवित्र होकर पूजा करने का अधिकार प्राप्त करना चाहिये। स्नानादि से शरीर शुद्धि करके, श्रद्धा संयम और सदाचार की भावना से अन्तःकरण को प्रफुल्लित करके तब पूजा करने को आवे। जिस प्रतिमा में पूजन करना हो उसके सम्मुख श्रद्धा सहित आवे। आसन के बिना न बैठे। प्रथम पृथ्वी की प्रार्थना करे—'हे पृथ्वी तुमने सब लोकों को अपने ऊपर धारण कर रखा है, हे देवि! तुम्हें विष्णु भगवान् ने वाराह रूप से धारण किया था। हे माता! तुम मेरे इस आसन को धारण करो और इसे पवित्र कर दो। इस प्रकार प्रार्थना करके आसन पर जल छिड़ककर उसे पवित्र कर ले। तदनंतर तीनबार आचमन करके तीन प्राणायाम करे। प्राणायाम

करने से नाड़ियों में रुका हुआ मल शुद्ध हो जाता है, इस प्रकार प्राणायाम से नाड़ी शुद्धि करके देवपूजन का संकल्प करे। अमुक क्षेत्र में अमुक सम्वत्सर, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र आदि मे प्रभु की प्रीति के निमित्त मै देवपूजन करता हूँ।" ऐसा संकल्प करके जल छोड़ दें, फिर जिस मन्त्र से पूजन करना हो, उसका अङ्गन्यास करन्यास अपने अङ्गों मे करे। क्योंकि स्वयं मन्त्रमय होकर उस मन्त्र से पूजा करनी चाहिये। स्वयं देवस्वरूप होकर देवार्चन करना चाहिये। तदनन्तर हाथ मे जल लेकर उसे चारो ओर घुमाकर दिग्बन्ध कर लेनी चाहिये, तब प्रतिमा के सम्मुख बैठकर पूजन करे। पूजा को जो भी सामग्री हो उसे एक बड़े पात्र में सुन्दरता के साथ सजाकर अपने दायी ओर किसी पीढ़ा या चौकी पर रख लेनी चाहिये, जिससे प्रत्येक वस्तु के लिये बारंबार उठना न पड़े। वस्तुओं को देखकर गिन ले, कि सब वस्तु हैं या नहीं। फिर पूजा के लिये जो एक कलश में जल भरकर रखा है, उसमे गन्ध, पुष्प डालकर उसका पूजन करना चाहिये। शंख मे जल भरकर उसमे चन्दन पुष्प तुलसीदल डालकर उस जल को कलश में डाल देना चाहिये।* इस प्रकार कलश पूजन करके उसी जल को पूजा मे लाना चाहिये। उस जल से पूजा की सामग्री को छिड़क देना चाहिये। घृत का दीपक जलाकर गन्ध,

* कलश मन्त्र—कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः॥
कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः॥
अङ्गैश्च सहिता सर्वे कलशं तु समाश्रिताः।
अत्र गायत्री सावित्री शान्तिः पुष्टिकरी तथा॥
आयन्तु मम शान्त्यर्थं दुरितक्षय कारकाः॥
इस मन्त्र से आवाहन करके मूल मन्त्र से पूजन करे।

अक्षत, पुष्प धूपादि से उस दीप का भी पूजन कर लेना चाहिये।* घण्टा शंख पर भी चंदन पुष्प चढ़ाकर पूजा कर लेनी चाहिये

क्योंकि देवताओं के पूजन के पूर्व उनके पार्षदों का पूजन कर लेना आवश्यक है। द्वारपाल की पूजा हो जाने पर देवता की पूजा में

सुगमता हो जाती है। इस प्रकार पूजन की सब तैयारियाँ होने पर पूजन करे।

राजा ने कहा—"महाराज पूजन कैसे करे ?"

महामुनि आविर्होत्र बोले—"राजन्! पूजन के अनेक भेद है। उनमें संक्षेप मे पचाङ्ग पूजन होता है और साधारणतया षोडशोपचार पूजन होता है। वैसे तो और भी बहुत बड़े विस्तार हैं। उस विस्तार का मैं वर्णन नहीं करता। पञ्चाङ्ग पूजन मे गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य ये पाँच वस्तुएँ होती हैं। ये एक एक वस्तुएँ पाँचो भूतो का प्रतिनिधित्त्व करती है। षोडशोपचार पूजन में १–आवाहन, २–आसन, ३–पाद्य, ४–अर्घ्य, ५–आचमन, ६–स्नान, ७–वस्त्र, ८–यज्ञोपवीत, ९–चन्दन, १०–पुष्प, तुलसी, ११–धूप, १२–दीप, १३–नैवेद्य, १४–मुख शुद्धि दक्षिणा, १५–आरती १६–नमस्कार प्रदक्षिणा विसर्जन। फिर पुष्पाञ्जलि करके विसर्जन करे। इसमे अनेक मतभेद हैं। उन सबका विस्तार करने से संदेह बढ़ता है, अतः श्रद्धा सहित पूजन करना चाहिये।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मुझे इन सबका अर्थ बताइये और किन मन्त्रों से कैसे पूजन किया जाता है, वह समझावें।"

योगेश्वर आविर्होत्र बोले—"राजन्। यह कर्मकाड का विषय

---

* दीपक मन्त्र—भो दीप देवरूपस्त्व कर्मसाक्षी ह्यविघ्नकृत।
यावत् कर्म समाप्तिः स्यात् तावत्त्वं सुस्थिरो भव॥
इस मत्र से आवाहन करके मूल मत्र से पूजन करे।

घटा—आगमार्थं तु देवना गमनार्थं तु रक्षसाम्।
घटानादं प्रकुर्वीत पश्चाद् घण्टा प्रपूजयेत्॥

शख-मंत्र—त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे।
निर्मितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तुते॥

इन मत्रो से आवाहन करके मूल मत्र से पचाग या षोडशोपचार पूजन करे।

बड़ा विस्तृत है और बड़ा गूढ़ है। इसलिये मैं यहाँ बहुत संक्षेप में इसका वर्णन करूँगा। जिनको वैदिक मन्त्र उच्चारण करने की क्षमता हो, जिन्होंने उन्हें गुरुकुल में रहकर सीखा हो उन्हें तो वैदिक मन्त्रों से षोडशोपचार पूजन करना चाहिये। विशेषकर पुरुषसूक्त के एक-एक मन्त्र को बोलकर एक-एक कृत्य करना चाहिये। वेद मन्त्रों का सबको अधिकार नहीं है। तान्त्रिक मन्त्रों से स्त्री शूद्र सभी पूजन कर सकते हैं, अतः हम यहाँ तान्त्रिक मन्त्रों के द्वारा ही पूजन की विधि बताते हैं।

१—आवाहन

पूजन में सर्व प्रथम आवाहन होता है। जैसे हमारे यहाँ कोई श्रेष्ठ पुरुष आता है, तो उसे देखते ही प्रसन्नता पूर्वक कहते हैं—"आइये, आइये।" आवाहन का अर्थ है, बुलाना सेवा, सत्कार पूजन के लिये आवाहन करना। जो प्रतिष्ठित मूर्ति हैं, शालग्राम हैं, उनमें नित्य आवाहन की आवश्यकता नहीं। नित्य पूजा के चित्रपट में भी आवाहन की आवश्यकता नहीं आवाहन कर ले तो कोई हानि भी नहीं। हाथ में अक्षत पुष्प लेकर हाथ जोड़कर कहे—"हे भगवन्! आइये-आइये। इस स्थान पर आकर विराज जाइये। जब तक मैं पूजा करूँ तब तक आप कृपा करके यहाँ स्थिर हो जायँ।* ऐसा कहकर आवाहन करे अक्षत पुष्प छोड़ दे। विष्णु पूजन में अक्षत निषेध किये हैं उनके स्थान पर सफेद तिल या जव चढ़ावे, नहीं केवल पुष्प ही। कहे—"श्रीमते नारायणाय साङ्गाय सपरिवाराय नारायणम् आवाहयामि या गोपाल कृष्णाय आवाहयामि। जिस देव का भी

* आवाहन मन्त्र—आगच्छ भगवन् देव स्थाने चात्रस्थिरो भव!
यावत्पूजां करिष्यामि तावत्त्वं सन्निधौ भव॥
दोहा—आवें भगवन्! देव हे, यहाँ विराजें आइ।
हों जब तक पूजा करूँ, सुखी करें हरषाइ॥

आवाहन करना हो।" इसी तरह करना चाहिये।

२—आसन

आवाहन के अनन्तर बैठने को आसन दिया जाता है, जैसे अपने यहाँ श्रेष्ठ पुरुष आते हैं, तो उनसे कहते हैं—'आइये इस आसन को अलंकृत कीजिये।' इसी प्रकार ऐसी भावना करे कि हमारे इष्टदेव आ गये हैं अब उन्हें उत्तम आसन पर बिठावे। हाथ जोड़कर कहे—"हे देव! यह अत्यत रम्य, सुशोभन, दिव्य, सुखकर शुभ आसन है। आपको मैं इसे दे रहा हूँ, कृपा करके इसे ग्रहण करें।* यह कहकर सुन्दर आसन दे। आसन न हो तो शालग्रामजी को तुलसीदल ही आसन के स्थान में चढ़ा दे अथवा आसन रूप मे पुष्प ही अर्पण कर दे। कहे—"आसनं समर्पयामि।"

३—पाद्य

आसन के अनन्तर पाद्य दिया जाता है। पाद्य कहते हैं, पैर धोने के जल को। पहिले ऐसा सदाचार था कि बाहर से कहीं से भी आवें प्रथम पाद प्रक्षालन करके तब अन्य कृत्य किये जाते थे। जो श्रेष्ठ पुरुष आवें उन्हें सर्वप्रथम आसन पर बिठाकर उनके पैर धोने चाहिये। श्रेष्ठ पुरुषों का चरणोदक अत्यंत पवित्र होता है, क्योंकि चरणो मे भगवान् विष्णु का वास है और भगवान् का चरणामृत तो गंगाजल के समान है। श्री गंगाजी की उत्पत्ति भगवान् के चरणारविन्दों से ही हुई है। 'पाद्य का जल लेकर पाद्यं समर्पयामि' ऐसा कहकर जल छोड़ दे। पंचपात्रों मे के पाद्य के पात्र से जल छोड़कर 'शुद्धोदकं समर्पयामि' ऐसा कहकर

---

* आसन का मंत्र—रम्य सुशोभनं दिव्य सर्वसौख्यकर शुभम्।
आसन च मया दत्त गृहाण परमेश्वर॥
दोहा—जैसो कछु तुमने दयो, आसन सुखकर भव्य।
ग्रहण करें यदि आप प्रभु, तो होतें अति दिव्य॥

शुद्धोदक भी छोड़ दे। पाद्य देते समय यह कहे—'हे देव ! यह कुछ उष्ण निर्मल सुगन्ध संयुक्त जल आपके पाद प्रक्षालन के हेतु मैं दे रहा हूँ इसे आप ग्रहण करें।"*

राजा ने पूछा—"भगवन् ! पंचपात्र क्या ?"

मुनि बोले—'पूजा करने वाले प्रतिमा के सम्मुख पाँच पात्र रखते हैं। एक बड़े पात्र मे पाँच कटोरियाँ ताँबे या चाँदी की चतुर्दल कमल की भाँति रखते हैं, बीच मे एक बड़ी चारों ओर चार छोटी ऊपर की मे पाद्य का जल, दाँयीं मे अर्घ्य का जल, नीचे की मे आचमन का जल और बायीं मे स्नान का जल, तथा बीच की मे शुद्ध जल रखते हैं। एक चम्मच रखते हैं। उन कटोरियों में पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा स्नानीय जल उन उनकी सामग्रियों से मिश्रित भरा रहता है।

राजा ने पूछा—"भगवन् ! पाद्य, अर्घ्यादि जलों में कौन-कौन-सी सामग्री डाली जाती है ?"

मुनि बोले—"राजन् ! पाद्य के जल मे समा के दाने डालते हैं, दूब विष्णुक्रान्ता तथा तुलसीदलादि डालते हैं। अर्घ्य के जल में चदन, पुष्प, जव, कुश, तिल, सरसों दूध, दही आदि डालते हैं। आचमन के जल मे कर्पूर, लवंग, जाइफल तथा रस आदि सुगन्धित वस्तुएं डालते हैं। इसी प्रकार स्नान के जल मे भी चंदन कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्य डालते हैं। ये सब न हों तो केवल चारों में तुलसी दल चंदन ही डाल दे उस चमची, आचमनी से, जल डालता जाय। एक बार पाद्य दे, फिर शुद्धोदक दे। इस प्रकार पूजा करे। इन पाँचों पात्रों का ही नाम पंचपात्र है। जहाँ

* पाद्य का मन्त्र—उष्णोदक निर्मल च सर्वं सौगन्ध्यसयुतम्।
पादप्रक्षालनार्थाय दत्तं मे प्रति गृह्यताम्॥
दोहा—सर्वेश्वर सुखप्रद सलिल, सब सुगन्ध सयुक्त।
प्रक्षालन पद हित प्रभो ! लेहौं वहौं हौं भक्त॥

पाँच पात्र न हों, तहाँ एक ही पात्र मे पाँचो की कल्पना करके उसी से पाँचो का काम ले ले। अर्घ्य का जल अर्घा से दे।

राजा ने कहा—"हाँ, भगवन! पचपात्र का अर्थ मैं समझ गया। अब कृपा करके पाद्य से आगे की पूजा विधि बताइये।"

४—अर्घ्य

मुनि बोले—"राजन्! पाद्य के पश्चात् अर्घ्य दे। अर्घ्य कहते हैं आदर देने को यह एक सम्मान की विधि है। अर्घ्य अपने से श्रेष्ठ को ही दिया जाता है, किन्तु राजा, ऋत्विक्, जामाता तथा राजपुत्र ये छोटे होने पर भी अर्घ्य के अधिकारी माने जाते हैं। अर्घा में अर्घ्य की सामग्री सहित जल भरकर तीन बार अर्घ्य दे और कहे—"हे देवदेव! यह गन्ध, अक्षत, पुष्पादि सहित अर्घ्य मैं आपको देता हूँ, आप इस अर्घ्य को ग्रहण करें। हे देव मैं आप के लिये नमस्कार करता हूँ।* अर्घ्य देकर फिर शुद्धोदक दे। "अर्घ्यं समर्पयामि" यह कहे।"

५—आचमन

अर्घ्य के अनन्तर आचमन करने के लिये जल दे। प्राचीन सदाचार था, कि मुखको शुद्ध करने के लिये प्रत्येक बात पर आचमन करते थे। अपने साथ पात्र मे सदा जल रखते थे। प्रातः उठते ही हाथ पर धोकर आचमन करते थे, शौच जाकर शुद्ध होकर आचमन करते थे, स्नान के अनन्तर, कहीं से आने पर, मल मूत्र के त्याग के अनन्तर, अपान वायु के अनन्तर, छींक आने पर, जाभ से चाटने पर, सन्ध्यादि कृत्य करने पर साराश यह है कि जिन कामों से अशुचि होने की सभावना हो सकती है, उन

* अर्घ्यं मत्र—अर्घ्यं गृहाण देवेश गन्धपुष्पाक्षतैर्युतम्।
करुणां कुरु मे देव गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥
दोहा—गन्ध, पुष्प अक्षत सहित, जल से करुणाधाम।
अर्घ्य ग्रहण अभ्युत करें, तव पद पदुम प्रनाम॥

सबके अत में आचमन करते थे। आचमन के अभाव में बायें कान का स्पर्श कर लेते या सूर्य को देख लेते। अर्घ्य के अनन्तर आचमन आवश्यक है। अतः सुगन्धित जल से तीन बार आचमन करावे और यह कहे—"हे परमेश्वर! सब तीर्थों के जलों से युक्त सुगन्धित यह निर्मल नीर आपके आचमन के निमित्त मैं दे रहा हूँ। हे भगवन्! इस जल को ग्रहण करके आप आचमन करलें।‡ "आचमनीय समर्पयामि" ऐसा कहकर आचमन करावे, फिर शुद्ध जल स हाथ धुलावे।"

६ – स्नानजल

आचमन के अनन्तर भगवान् को शुद्ध जल से स्नान करावे। स्नानीय जल देकर यह विनती करे—"गगा, स्वरस्वती, रेवा, पयोष्णी, नर्मदा आदि पवित्र सरिताओं का यह जल है। इससे मैं हे देव! आपको स्नान करा रहा हूँ, जैसे स्नान करने से आप को शान्ति मिलती होगी, वैसे ही मुझे भी शान्ति प्रदान करें।* इन नदियों में से किसी नदी का जल न हो, तो किसी भी जल में इन सब नदियो की भावना कर लेनी चाहिये।

स्नान बहुत प्रकार का होता है, दुग्धस्नान, दधिस्नान, घृतस्नान, मधुस्नान, शर्करास्नान, पचामृतस्नान, तथा शुद्धोदक स्नान

---

‡ आचमन का मत्र—सर्वतीर्थ समायुक्त सुगन्धि निमल जलम्।
आचम्यता मया दत्त गृहीत्वा परमेश्वर॥
उल्लाला—है अति निर्मल नीर यह, गन्ध युक्त सब तीर्थमय।
करहिं आचमन प्रेम तें, परमेश्वर हे प्रेममय॥

* जल स्नान मत्र—गगा सरस्वती रेवा पयोष्णी नर्मदा जलैः।
स्नापितोऽसि मया देव तथा शान्ति कुरुष्व मे॥
दोहा—गगादिक सरितानि तें, लायो जल मति शुद्ध।
मज्जन हे भगवन्! करें, होवें मम मति शुद्ध॥

इनके अतिरिक्त महौषधि, दिव्यौषधि आदि से भी स्नान किये जाते हैं, ये सब स्नान के ही अन्तर्गत हैं इन सब में पञ्चामृत स्नान का अत्यधिक माहात्म्य है, अतः अब हम पञ्चामृत स्नान की ही विधि बताते हैं। शुद्धोदक के अनन्तर दुग्ध स्नान करावे।

दुग्ध स्नान

शुद्ध छने हुए दूध से भगवान् को स्नान करावे और यह विनती करे—"हे देव[1] यह दूध कामधेनु से उत्पन्न हुआ है, समस्त प्राणियों का परम जीवन है, यज्ञयागादि का कारण है और यह परम पावन है अतः इसे मैं आपके स्नान के हेतु अर्पण कर रहा हूँ।" ऐसा कहकर दुग्ध से स्नान करावे।[1] तदनन्तर दधि से स्नान करावे।

दधिस्नान

दही को लेकर उससे स्नान करावे और यह कहे—"हे देव! यह दही दूध से उत्पन्न हुआ है। चन्द्रमा के समान शुभ्र और स्वच्छ है, कुछ खटाई लिये हुए मीठा है, इसे ग्रहण करें।[2] ऐसी प्रार्थना करके "दधिस्नान समर्पयामि" कहकर दही के स्नान के अनन्तर शुद्धोदक से स्नान करावे, फिर घृतस्नान करावे।

---

१. दुग्धस्नान मन्त्र—कामधेनु समुत्पन्न सर्वेषाजीवन परम।
पावन यज्ञहेतुश्च पय स्नानार्थमर्पितम्॥

दोहा—धेनु प्रभव जीवन सबन, प्राणिनि को आधार।
स्नान हेतु शुभ दुग्धको, अरपूं अच्युत धार॥

२. दधिस्नान का मन्त्र—पयसस्तु समुद्भूत मधुराम्ल शशिप्रभम्।
दध्यानीत मयादेव स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्॥

दोहा—दुग्धभूत सुन्दर मधुर, स्वच्छ अम्ल अति स्वाद।
स्वीकारें दधि स्नान हित, भक्त पाइ प्रसाद॥

घृतस्नान

घृत को लेकर उससे स्नान करावे और यह प्रार्थना करे—"हे भगवन् ! यह घृत नवनीत से उत्पन्न हुआ है, प्राणी मात्र को सन्तोष देने वाला है। यज्ञ का यह प्रधान कारण है, घृत के बिना यज्ञादि सम्पन्न नहीं होते, इस परम पवित्र घृत को स्नान के निमित्त आपके लिये अर्पण करता हूँ, हे पूज्य ! आप इसे ग्रहण करें।[१] 'घृतस्नान समर्पयामि' ऐसा कहकर घृतस्नान करावे, पुनर्जलस्नानं समर्पयामि ऐसा कह फिर जल से स्नान करावे। तदनन्तर शहद से स्नान करावे।"

मधुस्नान

मधु को लेकर उसकी धार से स्नान करावे और यह प्रार्थना करे—"हे देव ! यह शहद वृक्षों के पुष्पों से उत्पन्न हुआ है। बड़ा ही स्वादिष्ट है, मधुर है, दिव्य है। तथा तेज और पुष्टिकारक है। उसी को मैं आपके स्नान के निमित्त अर्पण करता हूँ आप इसे ग्रहण करें।[२] 'मधुस्नानं समर्पयामि' ऐसा कहकर मधुस्नान कराके पुनः जल स्नान करावे। तदनंतर शर्करा से स्नान करावे।"

शर्करा स्नान

ईख का रस हो वा शक्कर को जल मे घोलकर छानकर उसी से स्नान करावे और प्रार्थना करे "यह शर्करा ईख के सार से बनी

---

१. घृत स्नान मंत्र—नवनीतसमुत्पन्न सर्वसन्तोष कारकम्।
घृत तुभ्य प्रदास्यामि स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—नैनू तैं उत्पन्न शुभ, करै सबनि सन्तोष।
स्नान हेतु घृत देहुँ प्रभु, स्वीकारैं निरदोष॥

२. शहद स्नान का मंत्र—तरुपुष्प समुद्भूत सुस्वादु मधुर मधु।
तेज पुष्टिकर दिव्य स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—तरु पुष्पनि सम्भूत मधु, मधुर स्वाद युत श्रेष्ठ।
तेज पुष्टिकर न्हाइ हित, ग्रहन करैं सुरज्येष्ठ॥

है। यह पुष्टि करने वाली है, मैल को हरने वाली है और दिव्य है। इसे मैं स्नान के निमित्त दे रहा हूँ कृपा करके आप इसे ग्रहण करें।* 'शर्करा स्नानं समर्पयामि' पुनर्जल स्नान समर्पयामि ऐसा कहकर शर्करा के स्नान के अनन्तर शुद्ध जल से स्नान करावे। फिर इन पाँचों वस्तुओं से मिले पचामृत से स्नान करावे।

पञ्चामृत स्नान

दूध दही, घृत, शहद, और शर्करा इन पाँचों को मिलाने से पञ्चामृत बन जाता है। इनसे पृथक्-पृथक् स्नान करा चुके अब इन पाँचों को एक करके इनसे स्नान करावे और यह प्रार्थना करे—"हे देव! दूध, दही, घृत,, शहद और शकरा इन पाँच अमृत रूप वस्तुओं से बने पचामृत को मैं आपके स्नान के निमित्त लाया हूँ।' इसे आप ग्रहण करें।' † "पंचामृत स्नानं समर्पयामि" ऐसा कहकर पञ्चामृत स्नान करावे फिर शुद्धोदक से स्नान करावे।

शुद्धोदक स्नान

जिस पात्र मे पञ्चामृत से स्नान कराया है,उसमें से प्रतिमा को निकाल ले और शनैः-शनैः श्रीविग्रह से पञ्चामृत की जो वस्तु लगी हो उन्हें हटावे और शुद्ध जल से स्नान कराता हुआ यह प्रार्थना करे—"जो सब पापो को हरने वाला मदाकिनी का पवित्र जल है, उसकी कल्पना मैं इसी जल में किये लेता हूँ, अतः आप

---

* शर्करा स्नान मन्त्र—इक्षुसार समुद्भूता शर्करा पुष्टकारिका।
मलापहारिका दिव्या स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—पुष्टि कारिनी मधुर अति, शक्कर मज्जन हेतु।
मैल हारिनी देहुँ हौं, स्वीकारें जग-मेतु॥

† पञ्चामृत स्नान मन्त्र—पञ्चामृत मयानीतं पयोदधि समन्वितम्।
घृत मधुशर्करया स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—दूध दही, घत, मधुर मधु, शक्कर पच मिलाय।
पचामृत निरमित करयो, न्हावे प्रभु हरषाय॥

इस शुद्धोदक को स्नान के निमित्त ग्रहण करें।* 'शुद्धोदकस्नानं समर्पयामि' कहकर शुद्धोदक से स्नान करावे। गन्ध से भी स्नान करावे पुनः जल से स्नान कराके वस्त्र से भली-भाँति पोंछकर आसन पर पधरा दे। फिर वस्त्र अर्पण करे।

८—वस्त्र उपवस्त्र

स्नान के अनन्तर वस्त्र पहिने जाते हैं। पहिले दो वस्त्र पहिनते थे, एक नीचे का वस्त्र एक ऊपर का वस्त्र एक उपवस्त्र हाथ मुँह पोछने के लिये रखते थे। दो वस्त्र भगवान् को अर्पण करे और यह प्रार्थना करे—'हे देव! वस्त्र सम्पूर्ण भूषणों से श्रेष्ठ हैं, सुन्दर हैं, मनोहर हैं इनसे लोक लज्जा निवारण होती है। ऐसे ये दो वस्त्र आपके निमित्त मैं अर्पित कर रहा हूँ, आप इन्हे स्वीकार करें।‡

ऐसा कहकर 'वस्त्रम् उपवस्त्रञ्च समर्पयामि' वस्त्र उपवस्त्र अर्पण कर दे। वस्त्र के अभाव मे पुष्प अर्पण कर दे अथवा अक्षत अर्पण कर दे। तदनन्तर यज्ञोपवीत अर्पण करे। वस्त्रान्ते आचमनीयं समर्पयामि' वस्त्र अर्पण के अनन्तर आचमन करावे।

९—यज्ञोपवीत

शुद्ध बना हुआ यज्ञोपवीत लेकर उसे भगवान् को अर्पण करे और यह प्राथना करे—'हे प्रभो! यह यज्ञोपवीत नवतन्तुओ

---

* शुद्धोदक स्नान मन्त्र—मदाकिन्यास्तु यद्वारि सर्वपापहर शुभम्।
तदिद कल्पित देव स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—पाप हरन पावन परम, सुरसरि को शुभ नीर।
जा जलमहँ कल्पित करयो, न्हावें हे रनधीर॥

‡ वस्त्रार्पण मन्त्र—सर्वभूषाधिके सौम्ये लोकलज्जानिवारणे।
मयोपपादिते तुभ्य वाससी प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—सुन्दर सुखकर शुद्ध शुभ, पट पहिनें प्रभु आज।
लोकलाज वारण निमित, स्वीकारें सुरराज॥

ग्रहण करें।❀ 'यज्ञोपवीत समर्पयामि' कहकर यज्ञोपवीत निवेदन करे और आचमन करे। तदन्तर चन्दन अर्पण करे।

१०—गन्ध

सुन्दर सुगन्ध युक्त चन्दन जिसम केशर, कर्पूर, तथा अन्य सुगन्धित वस्तु पडी हो, उसे भगवान् के श्रीविग्रह मे लेपन करे और यह प्रार्थना करे—'हे सुरश्रेष्ठ! यह श्रीखण्ड चन्दन दिव्य है, गन्ध से युक्त है मनोहर है, शरीर पर विशेष रूप से लेपन किया जाता है इसे आप ग्रहण करें।‡ 'गन्ध समर्पयामि' ऐसा कहकर चन्दन लगावे। चन्दन के अनन्तर अक्षत अर्पण करे' भगवान् विष्णु को अक्षत अर्पण करना निषेध है, अतः सफेद तिल अथवा जव अर्पण करे।

अक्षत

अक्षत चतुर्भुज विष्णु के लिये निषेध हैं, द्विभुज राम अथवा कृष्ण के ऊपर चढाये जा सकते है। अथवा सफेद तिल अक्षत के स्थान पर चढावे और यह विनय करे 'हे देवाधिदेव! ये सुन्दर अक्षत जो केशर मे रँगे हुए हैं, में इन्हें भक्तिपूर्वक आपको निवेदन कर रहा हूँ आप इन्हे कृपया ग्रहण करें।* अक्ष-

---

❀ यज्ञोपवीत मन्त्र—नवभिस्तन्तुयुक्त त्रिगुण देवतामयम्।
उपवीत मया दत्त गृहाण परमेश्वर॥

दोहा—त्रिगुण तन्तु नव युक्त शुभ, है अति परम पुनीत।
हे परमेश्वर प्रेम तें, स्वीकारें उपवीत॥

‡ गन्ध मन्त्र—श्री खड चन्दन दिव्य गधाढ्य सुमनोहरम्।
विलेपन सुरश्रेष्ठ चन्दन प्रतिगृह्यताम॥

दोहा—गन्धयुक्त अति मन हरन, लेपन अति रमनीय।
स्वीकारें चन्दन प्रभो, परम दिव्य कमनीय॥

* अक्षत मन्त्र—अक्षताश्च सुरश्रेष्ठ कुकुमक्ता सुशोभिता।
मया निवेदिता भक्त्या गृहाण परमेश्वर॥

दोहा—अक्षत कुकुमतें रँगे, नहिं टूटे हे इश।
स्वीकारें अति कृपा करि, लायो हों जगदीश॥

तान् समर्पयामि' ऐसा कहकर चन्दन पर अक्षत लगा दे, ऊपर अक्षत छिडक दे। अक्षतो के अनन्तर पुष्प चढ़ावे।

११—पुष्प

सुन्दर सुगन्धित पुष्प ले आवे, विष्णु भगवान् को धतूरा आक अथवा जिनमे सुगन्धि न हो ऐसे पुष्प न चढाना चाहिये कुन्द को शिवजी पर न चढाना चाहिये। देवी को मदार के पुष्प तथा सूर्य को तगर के पुष्प निषेध हैं। जो पुष्प जल मे धो दिये जाते हैं निर्माल्य हो जाते हैं, उन्हे भी देवता पर न चढ़ावे। पहिनने की धोती मे पुष्प, एरंड के पत्तो मे लपेट कर लाया पुष्प तथा दोनों हाथो को केवल अञ्जली मे तोड़कर लाये पुष्पों को देवता पर न चढ़ावे शुद्ध पुष्पों को किसी पात्र मे, पत्ते, दोने अथवा शुद्ध पात्र मे तोड़कर लावे और भगवान् पर चढ़ाकर यह प्रार्थना करे 'हे प्रभो! मालती आदि के सुन्दर सुगन्धित ये अमनिया पुष्प मैं आपकी पूजा के निमित्त लाया हूँ इन्हें आप ग्रहण करें।*

'इति पुष्पाणि समर्पयामि' कहकर पुष्प चढ़ा दे फिर पुष्प माला चढ़ावे।

१२—पुष्पमाला

सुन्दर सुगधित पुष्पो से ग्रथित माला को लेकर देवता के कठ मे पहिनावे और यह प्रार्थना करे 'हे परमेश्वर! सुगधित पुष्पों के समूह से ग्रथित यह शुभ्रमाला मैं आपको शोभा बढाने के निमित्त

---

* पुष्पो का मन्त्र—माल्यादीनि सुगन्धीनि मालत्यादीनि वै प्रभो।
मयानीतानि पुष्पाणि गृहाण परमेश्वर॥

दोहा—ऋतु महँ जैसे मिलि सके, पुष्प गन्धयुत भव्य।
पाटल, चम्पक, मल्लिका, स्वीकारें प्रति दिव्य॥

अर्पण करता हूँ, इसे आप स्वीकार करे।"* 'इति पुष्पमाला समर्पयामि' इस प्रकार पुष्पमाला को पहिना कर तुलसीदल भगवान् को अर्पण करे।

तुलसीदल

तुलसीजी के पत्ते तोडे। जिसम चार छ पत्ते लगे हो ऐसे दल को तोड़े। गणेशजी पर तुलसीदल चढाना निषेध है। भगवान् के चरणो में तुलसीदल अर्पित करे और यह प्रार्थना करे- 'हे देव! यह तुलसी सुवर्ण के सदृश है, इसकी मजरी रत्नो के समान है, आपकी अत्यत प्यारी होने से 'हरिप्रिया' नाम से यह प्रसिद्ध है, भुक्ति और मुक्ति दोनों को ही प्रदान करने वाली यह है। ऐसी इस तुलसी को में आपके चरणो म अर्पण करता हूँ।‡ 'तुलसीदलानि समर्पयामि' कहकर तुलसीदल चढावे। तुलसी दल के अनन्तर विल्वपत्र भी भगवान् को अर्पण कर सकते हैं। किन्हीं का मत है विल्वपत्र शिवजी को ही अर्पण करे। वैसे तो तुलसी, विल्व, निम्ब, जवीर और आँवला इन पाँचो का ही नाम विल्व है। तुलसी चढाने के अनन्तर इच्छा हो विल्वपत्र चढ़ावे न इच्छा हो न चढावे। हाँ, सूर्यनारायण को विल्व न चढावे। चढाना ही हो तो डडी तोडकर उन्हे भी चढा सकता है।

* पुष्प माला मत्र—सुरभि पुष्प निजयं ग्रथिता शुभ मालिकाम्।
ददामि तव शोभार्थं गृहाण परमेश्वर॥
दोहा—नाना सुमननि तें गुँथी, माला शोभा कठ।
करें गृहन करुना अयन अच्युत अज वैकुण्ठ॥

‡ तुलसी मन्त्र—तुलसी हेमरूपा च रत्नरूपाञ्च मञ्जरीम्।
भव मोक्षप्रदा तुभ्यमर्पयामि हरिप्रियाम्॥
दोहा—हेम रूप तुलसी कही, रत्न मञ्जरी रूप।
भुक्ति मुक्ति दैनी प्रिया, प्रभु लेवें सुर भूप॥

दूर्वा

हरी-हरी दूब के अंकुर लेकर भगवान् को अर्पण करे और यह प्रार्थना करे--'हे दूर्वे ! तुम विष्णु आदि सभी देवताओं को अत्यंत ही प्यारी हो, क्षीरसागर से तुम भगवान् को अर्पित होकर उत्पन्न हुई हो। तुम वंश को बढ़ाने वाली हो।❀ दूर्वां समर्पयामि, दूर्वांकुरान् समर्पयामि, ऐसा कहकर दूब चढ़ावे। देवी के लिये दूब निषेध है।

१२—धूप

धूप अनेक प्रकार की बनती हैं एक तो अगरबत्ती बनी बनाई धूप आती है। एक घर में बनाते हैं गुग्गुल, कर्पूर, घृत और चन्दन का चूरा, इसकी बहुत सुगन्धित धूप होती है उसमें अगर, तगर, खस, छार छबीला तथा नागरमोंथा आदि सुगन्धित द्रव्य और मिलने से देवताओं को अत्यंत प्रिय हो जाती है। धूपबत्ती हो तो उन्हे जलाकर उसे बुताकर रखे, जिससे धूँआ निकलता रहे। यदि चूर्ण हो तो जलते कोयलों पर डालकर उसका धूआँ करे। फिर यह प्राथना करे—'यह धूप वनस्पतियों के रस से उत्पन्न हुई है, गन्ध से युक्त है, अत्यंत ही उत्तम गन्धवाली है। सभी देवता इसे सूँघते हैं। हे देवाधिदेव आप मेरे द्वारा दी हुई इस धूप को स्वीकार करें।‡ 'इति धूपं आघ्रापयामि' ऐसा कह-

---

❀ दूर्वा मन्त्र—विष्णादि सर्वदेवाना दूर्वे त्व प्रीतिदा यदा।
क्षीरसागर सम्भूते वश वृद्धिकरी भव॥
दोहा—कोमल मनहर हरी अति, दूर्वा मङ्गल खानि।
लेहिं अमृत प्रभवा प्रभो, दास आपनो जानि॥

‡ धूप मन्त्र—वनस्पति रसोद्भूतो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः।
आघ्रेयः सर्व देवाना धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—द्रव्य सुगन्धित युक्त करि, कीन्ही निर्मित धूप।
सूँघें सब सुर सुखद शुभ, स्वीकारें सुरभूप॥

कर धूप दे। पुनः समीप में स्थापित पूजित दीप को दिखावे।

१३—दीप

देव पूजन में घृत का दीपक प्रशस्त है। घृत का न हो तो तेल का ही जलावे। जब तक पूजन हो साक्षी रूप में दीपक प्रज्वलित रखे। भगवान् से यह प्रार्थना करे—"हे देवेश! घृत में भिगोकर यह बत्ती मैंने अग्नि द्वारा प्रज्वलित की है। आप तो तीनों लोक के अंधकार को दूर करने वाले हैं, फिर भी मेरे द्वारा अर्पित किये हुए इस घृत के दीपक को आप स्वीकार करें।"‡ 'इति दीपं दर्शयामि' कह कर दीप का निवेदन करे। दीप अर्पण करने के अनन्तर शुद्ध जल से हाथ धो ले। फिर नैवेद्य अर्पण करे।

१४—नैवेद्य

नैवेद्य में मीठी ही वस्तु लगावे। लड्डू हों, हलुआ हों, मालपुए हों, खोए की बनी मिठाइयाँ हों, और भी जो घृत से बनी वस्तु हो उन्हें नैवेद्य में लगावे। न हो दही चीनी का ही लगा दे। मेवा, फल आदि को भी नैवेद्य के स्थान में लगा सकते हैं। नैवेद्य को सम्मुख रखकर वस्त्र से ओट करके यह प्रार्थना करे—"हे देव! घी, शक्कर से संयुक्त यह अत्यन्त स्वादिष्ट मीठा नैवेद्य है, उपहार से संयुक्त है, इसे आप ग्रहण करें।"❀ 'नैवेद्यं निवेदयामि' ऐसा कहकर भगवान् के आगे रखे। सम्मुख रखते समय

---

‡ दीप मन्त्र—आज्यं च वर्तिसंयुक्तं वह्निना योजितं मया।
दीपं गृहाण देवेश त्रैलोक्यतिमिरापह॥
दोहा—घी में बोरी बत्ति वर दई अग्नि ते जोरि।
जगतम नाशक देव यह, दीपक देखें दौरि॥

❀ नैवेद्य मन्त्र—शर्करा घृत संयुक्तं स्वादु मधुर चोत्तमम्।
उपहारसमायुक्तं नैवेद्यं प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—घी शक्कर संयुक्त यह, मधुर सहित उपहार।
ग्रहण करें नैवेद्य प्रभु, अधम उधारन हार॥

उसमे तुलसी अवश्य छोड़ दे। तुलसी विना छोड़े भगवान् ग्रहण नहीं करते। तुलसी उनकी एक प्रकार की छाया है। जिसमें तुलसी पड़ी रहती है, उसे वे समझ लेते हैं, यह हमारे ही लिये है। इस प्रकार नैवेद्य अर्पण करके तीन बार आचमन करावे।

आचमन

नैवेद्य के अनन्तर तीन बार आचमन कराये। कहे 'आचमनीयं समर्पयामि, प्रत्याचमनीयं समर्पयामि, शुद्धाचमनीयं समर्पयामि। आचमन का जल देकर प्रार्थना करे—"हे देव! यह जल अत्यंत तृप्ति करने वाला है, सुगन्ध युक्त है, इसे आप इच्छानुसार पेट भर के पीलें, क्योंकि आपके तृप्त हो जाने पर संपूर्ण जगत् तृप्त हो जायगा। वास्तव में तो आप नित्य तृप्त हैं सनातन हैं।"*

ऋतुफल

फिर ऋतु के अनुसार जो भी फल मिल जाय, भगवान् के अर्पण करे और निवेदन करे—"हे देव! यह फल मैंने आपके सम्मुख रख दिया है, इससे मुझे जन्म जन्मान्तरों में सफलता प्राप्त होती रहे।" 'फलं समर्पयामि' कहकर फिर आचमन करावे। *

ताम्बूल पूंगीफल

नैवेद्य के अनन्तर मुख शुद्धि के लिये पान सुपारी अर्पण करे

---

* आचमन मन्त्र—प्रति तृप्तिकर तोयं सुगन्धि च पिबेच्छया।
त्वयि तृप्ते जगत्तृप्तं नित्य तृप्ते महात्मनि॥
दोहा—भोजन करि पय पियो प्रभु, परम तृप्ति के साथ।
नित्य तृप्त तुम अखिलपति, अचर सचर के नाथ॥

* फल मन्त्र—इदं फलं मया देव स्थापितं पुरतस्तव।
तेन मे सफलावाप्तिर्भवेज्जन्मनि जन्मनि॥
दोहा—तुम दाता सब फलनि के, ये कछु केला सेव।
सफल करो इच्छा सकल, अरपित ये फल देव॥

और यह प्रार्थना करे 'ये पान के पत्ते बडे दिव्य हैं, इनमे सुपारी तथा इलायची आदि का चूर्ण भी पडा है। हे देव! आप इस सुपारी सहित पान को ग्रहण करें।❀ ऐसा कहकर पान अर्पण करे। तदनन्तर दक्षिणा द्रव्य भगवान् के सम्मुख रखे।

१५—दक्षिणा

सुवर्ण चाँदी अथवा ताँबे की जैसी भी दक्षिणा रखने की अपनी शक्ति हो, अथवा अक्षत, पत्र, पुष्प, फल जिसकी दक्षिणा प्राप्त हो उसी को अर्पण करके यह प्रार्थना करे—'पूजा के फल की वृद्धि के हेतु हे देव! यह दक्षिणा मैं तुम्हारे आगे स्थापित करता हूँ, इससे मुझ पर प्रसन्न हो और मेरे समस्त मनोरथों को पूर्ण करो।* 'इति दक्षिणा द्रव्य समर्पयामि।' ऐसा कहकर दक्षिणा रखे।

१६—आरती

अब पूजन समाप्त होने पर आरती करे। एक बत्ती, तीन बत्ती, पाँच बत्ती जलाकर भगवान् की आरती करे। आरती चरणों से की जाती है, चरणो मे चार चार आरती उतारे, नाभि मे दो बार, मुख की एक या तीन बार। सर्वाङ्ग की कम से कम सात बार और अधिक अपनी जितनी इच्छा हो। आरती करते समय भगवान् की विनय करता जाय और कहता जाय चन्द्रमा, सूर्य,

---

❀ ताम्बूल पुगीफल मन्त्र—पूगी फल महादिव्य नागवल्ली दलर्युतम्।
एलाचूर्णादि सयुक्त ताम्बूल प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—सुन्दर सुखद इलायची, सहित सुपारी पान।
मुख शोधन हित देहुँ प्रभु, स्वीकारें भगवान॥

* दक्षिणा मन्त्र—पूजाफल समृद्धयर्थं दक्षिणा च तवाग्रत।
स्थापिता तेन मे प्रीत पूर्णान् कुरु मनोरथान्॥
दोहा—जो कछु दाता तुम दई, दिव्य दक्षिणा देव।
अवसि ताहि अपनायँगे, यही आपकी टेव॥

पृथ्वी, बिजली अग्नि तथा सम्पूर्ण ज्योति तुम ही हो। हे प्रभो! मेरी आरती को ग्रहण करो।"❀ बत्ती की आरती के अनन्तर कर्पूर की आरती करे।

कर्पूर आरती

कर्पूर को जलाकर आरती करे और विनती करे—"हे भगवन्! यह कर्पूर कदली के खम्भ से उत्पन्न होता है, इसका प्रदीप बनाकर मैं आरती कर रहा हूँ। हे प्रभो! आप मुझे दर्शन दें और मुझे वरदान देने वाले हों।❀

स्तुति पुष्पाञ्जलि

आरती के अनन्तर शंख में जल भरकर भगवान् के ऊपर घुमाकर उस जल को भक्तों के ऊपर छिड़के। तदनन्तर स्तुति करे। स्तुति के अनेक संस्कृत प्राकृतपद हैं, उनमें से जिसे जो प्रिय हों उन्हीं पदों से मन्त्रों तथा श्लोकों से स्तुति करे और कहे—"हे देव! तुम ही मेरे माता, पिता, बन्धु, बान्धव, मित्र विद्या तथा धन हो। कहाँ तक कहूँ तुम ही हे देव देव! मेरे सर्वस्व हो। मैं पापी हूँ, कर्म जो करता हूँ वह भी पापमय! पाप से ही उत्पन्न हूँ, मेरा मन भी पाप मय है। आपका नाम हरि है, आप सभी पापों को हरण करने में समर्थ हैं, अतः हे पुण्डरीकाक्ष! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो, मुझे निष्पाप विशुद्ध बना दो। हे महापुरुष! प्रणतपाल! आपके चरणारविन्द सदा ध्यान करने योग्य हैं, पराभव को नाश करने

❀ आरती मन्त्र—चन्द्रादित्यौ च धरणी विद्युदाग्निस्तथैव च।
त्वमेव सर्वं ज्योतीषि आतिक्यं प्रतिगृह्यताम॥

आरती पद—आरती श्रीहरिकी कीजै। भक्ति तैं प्रेमामृत पीजै॥
हमारे हरिजी अति प्यारे, हमारे नयननि के तारे।
हमारे वेई रखवारे, चरन तिनिके मन चित दीजै॥१॥
दिवसमे वेई रविराजें रातमे शशि बनिकें भ्राजें।
तेज सब लखि तिनकूँ लाजें, नेहमे रहैं सदा भीजे॥२॥

वाले हैं, मोहनाशक हैं, इष्ट वस्तु को प्राप्त कराने वाले हैं, तीर्थ स्वरूप ही हैं, शिव और ब्रह्मादि देव सदा जिनकी वन्दना करते हैं, शरण देने वाले हैं, भृत्यों के दुःखों को दूर करने वाले हैं तथा संसार समुद्र के लिये पोत रूप है। ऐसे आपके पादपद्मो को मैं प्रणाम करता हूँ। हे महापुरुष! हे धर्मिष्ठ! आपके चरणारविन्द पिता दशरथ के वचनो को मानकर, ऐसी दुस्त्यज राज्य लक्ष्मीको छोडकर वन के लिये चले गये। जिसकी इच्छा देवगण भी करते हैं वे ही चरणारविन्द अपनी प्रिया सीताजी के अभीष्ट कपट मृग को पकडने उसके पीछे-पीछे दौडे, उन्हीं आपके पादपद्मों को मैं प्रणाम करता हूँ। श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है, वासुदेव के लिये नमस्कार है, श्रीहरि के लिये नमस्कार है, परमात्मा के लिये नमस्कार है। प्रणतो के क्लेश नाश करने वाले को नमस्कार है, श्री गोविन्द के लिये बार-बार नमस्कार।❀ यह आवश्यक नहीं

भक्तगन मिलिकें सब आओ, नाम गुन प्रभुजीके गाओ।
पूजिकें तुम सब फल पाओ, प्रेमतें चरनामृत लीजें ॥३॥

❀ स्तुति मत्र—त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥१॥

पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भव।
त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्व पापहरो भव ॥२॥

ध्येय सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहम्, तीर्थास्पद शिवविरञ्चिनुत शरण्यम्।
भृत्यार्तिह प्रणतपाल भवाब्धिपोतम्, वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यज सुरेप्सित राज्यलक्ष्मीम् धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्
मायामृग दयित येप्सितमन्वधावत्, वन्दे महापुरुषते चरणारविन्दम् ॥४॥

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥५॥

कि इसी प्रकार स्तुति करे, जिन पदों से जिन वाक्यों से हृदय गद्गद हो जाय, जो पद-वाक्य हृदय पर अधिक प्रभाव डालते हों, जो अन्तःकरण को स्पर्श करते हों उन्हीं से स्तुति करे।"

पुष्पाञ्जलि

स्तुति के अनन्तर हाथ मे जो पुष्प हों उन्हें यह कहता हुआ कि 'इस समय जो भी सुगन्धित पुष्प मुझे प्राप्त हो सके हैं, उन्हीं की पुष्पाञ्जलि मैं आपको अर्पण कर रहा हूँ, हे परमेश्वर! इसे आप ग्रहण करें।'❀ भगवान के चरणों में चढ़ा दे। पुष्पाञ्जलि के अनन्तर साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

दोहा—आयो तुमरी शरन महँ, हे शरणागत नाथ।
बह्यो जाउँ भव सिन्धु महँ, पकरो मेरो हाथ॥ १॥
कबतें हो भटकत फिरूँ, प्रभु नहिं दीखत पार।
कृपा करो करुना अयन, तब होवे उद्धार॥ २॥
स्वारथ के सबई सगे, कोइ न पूछत बात।
मेरे तुमई एक हो, मात तात अरु भ्रात॥ ३॥
जाति, वरन, कुल, शील, बल, तें नहिं रीझें श्याम।
कृपासाध्य जसुमति तनय, ब्रजवल्लभ घनश्याम॥ ४॥
प्रभो! पाप नितप्रति करूँ, मनतें सोचूँ पाप।
सकलपाप नसि जायँ तब, जब हिय आयो आप॥ ५॥
अघहारी भव दुख दलन, प्रणतपाल अभिराम।
वन्दित अज हर सुरनि तें, तवपद पदुम प्रनाम॥ ६॥
जो तजि सुर इच्छित विभव, वन वन फिरत ललाम।
दयित दलत माया मृगनि, तिनि पद पदुम प्रनाम॥ ७॥
कृष्ण, कृपालो, कृपानिधि, वासुदेव, हरि, श्याम।
प्रणतपाल परमेश प्रभु, पुनि पुनि करूँ प्रनाम॥ ८॥

❀ पुष्पाञ्जलि मन्त्र—नाना सुगन्धि पुष्पाणि यथा कालोद्भवानि च।
पुष्पाञ्जलिर्मया दत्तो गृहाण परमेश्वर॥

प्रणाम

देवता को प्रणाम करने के कई भेद हैं। प्रणाम का अर्थ है प्रणत हो जाना, नव जाना। एक प्रणाम तो यह है, हाथ जोड़कर सिर झुकाकर प्रणाम करना, दूसरा पञ्चाङ्ग प्रणाम है। दोनों हाथ, दोनों घुटने और सिर इन पाँचो अङ्गो को भूमि में लगाकर प्रणाम करे। एक साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम होता है। जैसे डंडा भूमि पर लेट जाता है वैसे ही सब अंगो से भूमि पर लोट जाना, हाथो को आगे कर देना। यह प्रणाम आठ अङ्गो से किया जाता है–दो पैर, दो हाथ, हृदय, मस्तक, मन और वाणी, इसीलिये इसे साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। स्त्रियो के लिये साष्टाङ्ग प्रणाम करना निषेध है, उनकी छाती भूमि मे नहीं लगनी चाहिए। चरणों मे प्रणाम करते समय सिर को चरण पर रखे, दायें हाथ से दायाँ चरण और बायें हाथ से बायाँ चरण छूकर कहे—"हे प्रभो! जिसमे मृत्यु रूप ग्राह मुँह फाड़े बैठा है, ऐसे इस संसार सागर से मैं डरा हुआ हूँ। मैं प्रपन्न हूँ, आपकी शरण मे आया हूँ, अतः आप मेरी रक्षा करें।"* इस प्रकार प्रणाम करके फिर प्रदक्षिणा करे।

प्रदक्षिणा

पूजन के अनन्तर प्रदक्षिणा करे। प्रदक्षिणा कहते हैं अपने दायें हाथ से चारों ओर घूमने को। प्रदक्षिणा सामान्यतया तीन की जाती है, विष्णु की चार करे। शिवजी की आधी परिक्रमा बताई है। शिवजी की जलहरी को लाँघना निषेध है। एक सौ आठ भी

दोहा—सुमन सुगन्धित समय के, अञ्जलि भरपूर ईश।
समय होहिं स्वीकृत करें, जगन्नाथ जगदीश॥

* प्रणाम मन्त्र—सादयो पतित दीन भक्ति–हीन निराश्रितम्।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीत मृत्यु ग्रहार्णवात्॥

दोहा—मृत्यु मकर भव सिन्धु के, तैं हो हूँ अति भीत।
पैरनि महँ प्रभुजी परयो, अभय करें रिपुजीत॥

परिक्रमा करते हैं। प्रदक्षिणा करते-करते यह कहता जाय 'जो भी कुछ इस जन्म के या पूर्व जन्म के किये हुए पाप होंगे वे सब प्रदक्षिणा करते समय पद-पद पर नष्ट हो जायँगे।'❀ इस प्रकार प्रदक्षिणा करे।

क्षमा प्रार्थना

पूजा तो समाप्त हो गई, अब पूजा में त्रुटि रह जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि भगवान् पूर्ण हैं, मनुष्य अपूर्ण है। पूर्ण की अपूर्ण पूजा करेगा तो कितना भी ध्यान रखे, कुछ न कुछ दोष, त्रुटि, अपराध बन ही जाता है, उसे पूर्ण ही पूर्ण कर सकते हैं। अतः दोष निवारणार्थ प्रार्थना करे—'हे जनार्दन! हे देव! मंत्र से हीन, क्रिया से हीन तथा भक्ति से हीन जो भी मैंने पूजा की है वह अपूर्ण पूजा आपकी अनुग्रह से परिपूर्ण हो जाय। मैं आवाहन की विधि नहीं जानता, विसर्जन करना भी नहीं जानता और न विधिवत् पूजा करना जानता हूँ। अतः जो कुछ अपराध बन गया हो उसे हे परमेश्वर! क्षमा करो। हे परमेश्वर आपके अतिरिक्त मेरी अन्य कहीं शरण नहीं है। आप ही एकमात्र मेरी शरण हो। इसलिये। कारुण्यभाव से मेरी रक्षा करो।‡

❀ प्रदक्षिणा मन्त्र—यानि कानि च पापानि जन्मान्तर कृतानि च।
तानि तानि प्रनश्यन्ति प्रदक्षिणया पदे पदे॥

दोहा—जो जो अघ कीये कठिन, जनम जनम के माँहि।
करत प्रदक्षिण ते सकल, पग पग पै नसि जाहिं॥

‡ क्षमा प्रार्थना के मन्त्र—मन्त्रहीन क्रियाहीन भक्तिहीन जनार्दन।
यत् पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे॥
..आवाहन न जानामि न जानामि विसर्जनं।
पूजा चैव न जानामि क्षमस्व परमेश्वर॥
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरण मम।
तस्मात् कारुण्यभावेन रक्ष मां परमेश्वर॥

समर्पण

जो भी भजन पूजन तथा कर्म करे, अन्त मे उसे भगवान् को ही अर्पण कर दे, क्योंकि भगवान् अनन्त हैं, उनके भडार मे पहुँचने पर वह भी अनन्तता मे मिल जायगा। अतः क्षमा प्रार्थना के अनन्तर कहे—"तन से, मन से, वचन से, इन्द्रियो से, बुद्धि से तथा अहङ्कार के वशीभूत होकर मैंने जो भी कार्य किये हैं अथवा करता हूँ उन सबको श्रीमन्नारायण को समर्पण किये देता हूँ, इस पूजन से श्रीमन्नारायण विष्णु भगवान् प्रसन्न हो।"*

विसर्जन

जिन देवताओं का आवाहन किया जाता है, उसका विधिवत् पूजन करते हैं, फिर अन्त मे उत्तर पूजन करके उन्हे विदा करते हैं, उनका विसर्जन करते हैं। नित्य पूजन के चित्रपट मे, शालग्राम में, प्रतिष्ठित मूर्तियों में न आवाहन किया जाता है न विसर्जन, वे तो उनमे अर्चा विग्रहावतार रूप से नित्य ही विराजमान हैं। उन्हें न बुलाते हैं न विदा करते हैं। नित्य प्रतिष्ठित होने से उनका पूजन ही करते हैं। जिनका विसर्जन करना हो, उनकी गन्धाक्षत धूप दीप नेवेद्य से उत्तर पूजा करके विसर्जन करे और यह

दोहा—नहीं भक्ति मो मे विभो, मन्त्र त्रिया नहिं ज्ञान।
जो जो त्रुटि प्रभुजी रही, क्षमा करें जड़ जान॥
आवाहन अरु विसरजन, पूजन ज्ञान न मोइ।
कृपासिन्धु की कृपातें, सब परिपूरन होइ॥
अन्य शरन मेरी नहीं, गही तुम्हारी शरन।
दयासिन्धु करिकें दया, अपनाओ दुख हरन॥

समर्पण के मन्त्र—कायेनवाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोमि यत्तत्सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयामि॥

अनेन पूजनेन श्रीमन्नारायण विष्णु भगवान् श्रीकृष्णः प्रीयताम्।
इदं न मम।

कहे—"हे सुरश्रेष्ठ! हे परमेश्वर! इष्ट काम की समृद्धि के निमित्त तथा फिर जब हम आवाहन करें तब आने के निमित्त आप अपने स्थान को जायँ।* ऐसा कहकर अक्षत छोड दे। भगवान् चले गये।

निर्माल्य धारण

भगवान् पर चढी प्रसादी माला, उनके चरणों पर चढा तुलसी तथा पुष्पों को लेकर सिर पर धारण करे, चदन को मस्तक में लगावे और हाथ जोडकर प्रार्थना करे—"हे भगवन्। आपकी भोगी हुई माला, आपके श्रीअग पर चढाये चन्दन तथा आपके वस्त्र और अलङ्कारों को धारण करने से और आपका अवशिष्ट उच्छिष्ट प्रसादी भोजन करके हम सब आपके दास आपकी दुरत्यया माया को अवश्य ही जीत लेंगे।" इस प्रकार प्रसादी, माला, फूल, चन्दन ग्रहण करे।‡

तुलसी ग्रहण

भगवान् के चरणो में चढी तुलसी को ग्रहण करके भक्षण करे। क्योंकि पूजा के अनन्तर जो भगवान पर चढायी तुलसीदल को भक्षण करता है, उसे सौ चान्द्रायण करने से भी अधिक फल

---

* विसर्जन मन्त्र—गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थाने परमेश्वर।
इष्टकाम समृद्ध्यर्थं पुनरागमनाय च॥

दोहा—निज मुख तें कसे कहूँ, पूजित ह्वैकें जाउ।
यदि होवें प्रति विवशता, तो झट जाकें जाउ।

‡ निर्माल्य धारण करने का मन्त्र- त्वयोपभुक्त स्रग्गन्धोवासोलकारचर्चिता
उच्छिष्ट भोजिनो दासास्तव माया जयेमहि॥

दोहा—तुम भोगी माला चढयो, चन्दन, पट, लकार।
सीथ प्रसादी पाइ कें, होंगे भवतें पार॥

होता है।*

चरणामृत

भगवान् के स्नान कराने के अनन्तर जो उनके चरणों का धोया हुआ तुलसी मिश्रित जल हो, उसकी याचना करे। भगवान् के चरणामृत को अत्यन्त श्रद्धा से ग्रहण करे। सभी कर्मों में श्रद्धा ही प्रधान है। चरणामृत लेते समय उसकी महिमा को बोलता जाय। कहता जाय 'यह भगवान् का चरणामृत अकाल मृत्यु को हरने वाला है, सब व्याधियों को विनाश करने वाला है, ऐसे इस विष्णु पादोदक को जो पान करता है उसका संसार में फिर जन्म नहीं होता।† ऐसी भावना से तीन बार चरणामृत ले। यह ध्यान रखे कि चरणामृत की एक बूँद भी भूमि पर गिरने न पावे। भगवान् के चरणामृत पर यदि लोगों के पैर पड़ेंगे तो बड़ा भारी पाप होगा। इसलिये कपड़े के परत करके उस पर बायें हाथ पर दायाँ हाथ रखकर चरणामृत ले। एक बार लेकर पाले। फिर दुबारा लेकर पीले, तीसरी बार लेकर पीकर उस हाथ को सिर पर पोंछ ले, सिर पर धारण करे।

पञ्चामृत ग्रहण

यदि भगवान् का पञ्चामृत हो तो यह कहे—'इस पञ्चामृत को दुःख दुर्भाग्य के नाश करने के लिये और सभी प्रकार के पापों

---

*तुलसी ग्रहण करने का मंत्र—पूजानन्तर विष्णोरर्पित तुलसी दलम्।
भक्षने देह शुद्धयर्थं चन्द्रायणशताधिकम्॥
दोहा—तुलसी प्रभु चरननि चढ़ी, प्रेम सहित जो खायँ।
होइ शुद्ध तन फल सहस, शाश्वत सम ह्वै जायँ॥

†चरणामृत लेने का मंत्र—अकाल मृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णु पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥
दोहा—बिनाकालकी मृत्युकूँ, टारै अघ नसि जात।
चरनामृत प्रभुको पिये, जनम मरन छुटि जात॥

के क्षय करने के निमित्त मैं पान करता हूँ, इसके पान करने से फिर जन्म नहीं होता। इस भावना से मीठा-मीठा पञ्चामृत जितना चाहे उतना पान करे।

नेवेद्य ग्रहण

चरणामृत अथवा पंचामृत के अनन्तर भगवान् के प्रसाद की नेवेद्य को श्रद्धा सहित ग्रहण करे और उसके माहात्म्य को स्मरण करे—'नैवेद्य के अन्न को जो तुलसी और विशेषकर भगवान् के चरणामृत से युक्त हो उसे जो नित्य ही भगवान् के सम्मुख भक्षण करता है उसे करोड़ों यज्ञों के पुण्यों से भी अधिक पुण्य प्राप्त होता है।" ❀ ऐसी भावना से भगवान् के प्रसाद को प्रेमपूर्वक पूरा पा जाय।

अविर्होत्र मुनि कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् की पूजा करे। प्रतिमा में तो पूजन इस विधि से किया ही जाता है, किन्तु भगवान की भावना से अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि अथवा अपने हृदय में विराजमान ईश्वर का जो पूजन करते हैं, वे शीघ्र ही संसार बन्धन से विमुक्त हो जाते हैं। यह मैंने अत्यत सक्षेप में कर्मयोग का वर्णन किया अब आप और क्या क्या सुनना चाहते हैं। श्रीहरि भगवान् अनेक अवतार धारण करके लोक हितार्थ बड़ी मधुर-मधुर लीलाएँ करते हैं। भगवान् की उन्हीं

पचामृत ग्रहण मन्त्र—दुःख दौर्भाग्य नाशाय सर्व पापक्षयाय च।
विष्णोः पञ्चामृत पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

दोहा—दुःख और दुरभाग्य हू, सर्व पाप कटि जात।
प्रभु को पञ्चामृत पिये, जनम मरन छुटि जात॥

नैवेद्यग्रहणमन्त्र—नैवेद्यमन्न तुलसी विमिश्रितम्, विशेषतः पादजलेन विष्णो।
योऽश्नाति नित्य पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटि पुण्यम्॥

दोहा—हरी हरी तुलसीपरी, प्रभु चरनामृत युक्त।
हरि ढिंग प्रभु नैवेद्य जो, पावै जो जन मुक्त॥

मुनि मनहारिणी मनोहर मूर्तियों का सब लोग पूजन करते हैं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैंने भगवान् के पूजन की विधि तो आपके श्रीमुख से श्रवण करला। अब मैं भगवान् के अवतार चरित्रों के सम्बन्ध म सुनना चाहता हूँ, वे श्रीहरि अपनी इच्छानुसार जसा चाहत हैं, वसा रूप रख लेत हैं, उन्होंने जो जो इच्छानुसार अब तक अवतार धारण किये हैं अथवा आगे जिन अवतारों को धारण करेंगे, और उनमे जो-जो लीलायें की हैं या करेंगे या कर रहे हैं, उन सबको मुझसे कहे।"

हँसकर अत्रिहोत्र मुनि बोले—"राजन्! अनन्त की अनन्त लीलाओं का वर्णन ही कौन कर सकता है, फिर भी सक्षेप मे जो कुछ वर्णन कर सकेंगे, उसे ये मेरे छोटे भाइ द्रुमिल करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर महाराज जनक महामुनि द्रुमिल की ओर श्रद्धापूर्ण दृष्टि से देखने लगे। अब वे जैसे भगवत्लीलाओं को कहेंगे उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

श्री हरि को निरमाल्य गन्ध माला सिर धारे।
पूजित विग्रह यथाथान धरि नाम उचारे॥
यों जल, थल, रवि, अनल, अतिथि प्रतिमाके माहीं।
यजन कृष्णको करै मुक्ति पद दुरलभ नाहीं॥
अरचन, पूजन, कीरतन, अवतारनिको नित करै।
त्रिभुवनकूँ तारै स्वय, इक्किस पीढिनि सँग तरै॥

—

योगेश्वर द्रुमिल द्वारा भगवत् लीलाओं का वर्णन

[१२१०]

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्,
अनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्,
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ४ अ० २ श्लोक)

छप्पय

भूप कहे—'अवतार चरित सब देव ! सुनाओ ।
द्रुमिल कहें—अब चित्त नृपति मम ओर लगाओ ॥
हैं अवतार अनन्त अन्त वेदहु नहिँ पावें ।
तोऊ कछु कछु गुननि सहित हरि चरित सुनावें ॥
प्रथम पुरुष वेई भये, अज, हरि हर नर नरायन ।
बदरीवनमहँ तप करत, काम क्रोध तें विगत मन ॥

---

* योगेश्वर द्रुमिल राजा जनक से कह रहे हैं—"राजन् ! जो पुरुष अनन्त भगवान् के अनन्त गुणो की गणना करना चाहता है वह मूर्ख है, बालबुद्धि है। पृथ्वी के रजकण अनन्त हैं, किन्तु यह सम्भव भी हो सकता है कि उनकी गणना किसी प्रकार बहुत काल मे की भी जा सकती है, किन्तु उन सर्व शक्तिमान् भगवान् के गुणो का कभी कोई पार नही पा सकता।"

संसार में सब एक ही बात को सदा कहते हैं, श्रेष्ठ पुरुष कन्या का दान एक ही बार देते हैं, सती एक ही बार पति का वरण करती है, मनुष्य उसी एक भोजन को नित्य करते, व्यसनी एक ही व्यसन को नित्य पुनः पुनः करते हैं। गायक एक ही राग को पुनः-पुनः अलापते हैं। एक ही मित्र को बार-बार देखकर प्रसन्न होते हैं, एक ही देवमूर्ति के बार बार दर्शन करने जाते हैं, एक ही गंगा में बार-बार स्नान करके भी अतृप्त बने रहते हैं एक ही स्तुति को बार-बार देव के सम्मुख हाथ जोड़कर पढ़ते हैं, एक ही गीता, भागवत अथवा रामायण के पाठ के ऊपर पाठ करते रहते हैं। फिर भी वे ऊबते नहीं है। यह क्या बात है? कारण यही है कि वास्तविक तत्व तो एक ही है, उसे जो जिस रूप में भजता है उसी रूप में आनन्द आता है। अफीमची उसी तत्व को अफीम के रूप में देखता है, उसे अफीम मिल गयी, तो मानो सब मिल गया, अफीम के बिना वह कैसा छटपटाता रहता है, सुरापी उसे सुरा के रूप में, कामी उसे काम के रूप में, विषयी विषय के रूप में, भक्त कृष्ण के रूप में उसी एक का भजन करता है। पुराणों में एक ही बात है, अवतार तत्व अवतार कथा को बार-बार कहकर भी वे पुनरुक्ति दोष का अनुभव नहीं करते। जैसे उपर्युक्त व्यक्ति अपने-अपने विषय का निरन्तर सेवन करने में पिष्ट पेषण नहीं समझते। भक्तों के लिये एक ही तो श्रवणीय विषय है, वह है अवतार चरित।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने अवतारों की लीला के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब महामुनि द्रुमिल कहने लगे—"अजी राजन्! आप तो एक साथ ऐसे प्रश्न कर देते हैं, जिनका उत्तर देना असम्भव हो जाता है। राजन्! भगवान् तो अनन्त हैं, उनके गुणों की गणना कहो कैसे हो सकती है। जो

सान्त है उसका चरित्र बताया जा सकता है, कहा जा सकता है, उसकी मृत्यु भी है, ऐसे लोगों के जन्म से मृत्युपर्यन्त चरित कहा भी जा सकता है। किन्तु जो अज है, अमर है, अव्यक्त है, उसके चरित्रों का वर्णन ही कैसे किया जा सकता है। यह सम्भव है, आकाश के तारागण गिने जा सकें, समुद्र के जल-कणों की संख्या भी सम्भव हो सकती है, श्रम प्रयत्न करने पर बहुत सम्भव है भूमि के रजकणों की गणना की जा सकती हो, किन्तु भगवान की लीलाओं का गणना सर्वथा असम्भव है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन! भगवान् नाना अवतार धारण करके इसीलिये ललित लीलायें करते हैं कि जिन्हें सुनकर संसारी लोग इस भवसागर से पार हो जायँ।""

द्रुमिल मुनि बोले—"राजन्! अवतार भी एक नहीं हैं, वे भी अनन्त हैं, किन्तु फिर भी उनमें से मैं कुछ अवतारों के सम्बन्ध में कहता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आप बार बार अवतार कथा सुनकर ऊब न जायँ। पीछे मैं कई बार अवतारों की कथाओं को कह आया हूँ, किन्तु बार-बार सुनने से ही रस मिलता है। आम को बार बार चूसने से ही रस मिलता है। और भी जो मधुर पेय वस्तुएँ हैं, उन्हें बार-बार पीने से ही उन्माद होता है। बारम्बार कहने पर भी प्रतिबार कुछ न कुछ नूतनता रहती ही है।

शौनक जी ने कहा—"नहीं, सूतजी! आप निश्चिन्त होकर अवतार चरित सुनावें, यही तो हमारा इष्ट है। ये जो राजाओं की अप्सराओं की कथायें बीच-बीच में आ जाती हैं ये सब तो स्वाद बदलने को चटपटा चटनी के समान हैं, जिससे पेट भरे, तृप्ति हो। वह खीर, मालपूआ और पूड़ी के स्थानों में तो अवतार लीला ही है।"

सूतजी बोले—'हाँ, महाराज! यही बात है। इसीलिये महा-

राज निमि के पूछने पर योगेश्वर द्रुमिल कह रहे हैं—"राजन ! सर्वप्रथम सृष्टि के आदि में पुरुषावतार हुआ।" वेदों में जिनकी महिमा पुरुषसूक्त में गायी गयी है।

राजा ने पूछा—"भगवन् ! इस प्रथमावतार का नाम पुरुष कैसे पड़ा।"

मुनि बोले—"राजन् ! पञ्चभूतात्म यह ब्रह्माण्ड ही एक पुर है। आदिदेव भगवान् श्रीमन्नारायण इस पुर की रचना करके स्वयं अपने अंशभूत जीव रूप से उसमें प्रविष्ट हो गये। ब्रह्माण्ड रूप पुर में या देह रूप पुरमें शयन करने से ही इनका नाम पुरुष पड़ गया। इनके सहस्र शिर हैं, सहस्र नेत्र हैं, सहस्र पाद हैं। यहाँ सहस्र शब्द उपलक्षण मात्र है। साराश यह है कि जितने शिर, हाथ, पैर, नाक, कान आदि हैं, सब उन्हीं विराट् भगवान् के हैं, उन्हीं के ब्रह्माण्ड रूप शरीर में समस्त संसार का समावेश है। भगवान् की समष्टि इन्द्रियों से ही जगत् के जीवों की व्यष्टि ज्ञान और कर्म इन्द्रियो की उत्पत्ति हैं, उनके स्वरूप से स्वतः सिद्ध ज्ञान होता है। उनका जो श्वास प्रश्वास है, उसी से देहधारियों के देहों में रहने वाली शक्ति बल की, इन्द्रियों मे रहने वाली शक्ति ओज की तथा क्रिया करने वाली शक्ति ईहा की उत्पत्ति है। उनके रजोगुण से उत्पत्ति, सतोगुण से स्थिति और तमोगुण से प्रलय होता है। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि इन समस्त देहधारियों के आदि कर्ता वे श्रीमन्नारायण ही हैं। पुरुष रूप से उत्पन्न होकर उन्होंने इस ब्रह्माण्ड की मन में कल्पना की। यद्यपि वे निर्गुण हैं, किन्तु जगत् की सृष्टि के लिये उन्होंने माया के गुणों को अपने मे स्वीकार किया। क्रिया सदा रजोगुण में होती है, सत्वगुण में शान्त रहते हैं, तमोगुण मे शून्यता का अनुभव करते हैं, लोप हो जाते हैं, अदर्शन हो जाता है। अतः जब सृष्टि करने की उन पुरुष प्रभु की इच्छा हुई, तो

उनके रजोगुण के अंश से ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। अर्थात् अपने रजोगुण को उन्होंने ब्रह्मा रूप में व्यक्त किया। अब जो उत्पन्न किया है, उसकी रक्षा न हो, तो वह व्यर्थ है। रजोगुण का कार्य है कर्म करते रहना। जब तक उसे कोई संयम में न रखे, तब तक वह अपने फल की प्राप्ति न कर सकेगा। जल और खाद डालने से बहुत से पौधे उत्पन्न तो हो गये, किन्तु जब तक माली उनको निरावेगा नहीं, अनावश्यक पौधों को काटकर न फेंकेगा, उनको यथास्थान क्रम से न लगावेगा, तो झाड़ झखार हो जयँगे, सघनवन बन जायेगा, वह मनोहर उद्यान न रहेगा। इसलिये पुरुष भगवान् अपने सत्वांश से संसार के पालन के निमित्त धर्म और द्विजों की रक्षा के हेतु सेतु रूप यज्ञपति विष्णु बन गये। अर्थात् पालन के निमित्त वे ही विष्णु कहलाये।

जो वस्तु उत्पन्न हुई है, उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। नाश तमोगुण से होता है, अतः वे अपने तमोगुण के अंश से सर्गसंहारक रुद्र हो गये। इस प्रकार इस गुण प्रवाह के आदि उद्गम स्थान वे पुरुष भगवान् ही हैं। इस प्रकार प्रजा में उन्हीं के द्वारा निरन्तर उत्पत्ति, पालन और संहार के कार्य होते रहते हैं। यह आदि पुरुष श्रीमन्नारायण के पुरुषावतार का मैंने वर्णन किया। वे अपने तीन रूपों से इस संसार रूप शकट को खींच रहे हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! इस अवतार से हम क्या शिक्षा ग्रहण करें।"

मुनि बोले—"राजन्! यह अवतार प्रवृत्ति का द्योतक है। अर्थात् धर्मपूर्वक अपना परिवार बनाओ, उनका स्वतः कर्तव्य बुद्धि से पालन करो, किन्तु उसे ही सब कुछ समझकर उसमें आसक्त मत हो जाओ। अन्त में उसमें से आसक्ति हटाकर अपने पूर्व यथार्थ रूप का अनुसन्धान करो। किन्तु सबके लिये

प्रवृत्ति मार्ग आवश्यक ही नहीं, इसे ही दिखाने के लिये भगवान् ने तपस्वी रूप में अवतार धारण किया।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वे निवृत्ति मार्ग का उपदेश देने वाले तपस्वी अवतार कौन से नाम से ससार में प्रसिद्ध हुये?"

मुनि बोले—"उनका नाम प्रसिद्ध हुआ नर-नारायण। ये धर्म की मूर्ति नामक पत्नी में दोनों साथ ही साथ प्रकट हुये। ये बड़े ही शान्त, दान्त तेजस्वी और तपस्वी मुनि-श्रेष्ठ के रूप में ससार के सम्मुख आये। ये आत्मतत्व को लक्षित कराने वाले कर्मत्याग रूप कर्म का अर्थात् सांख्य निष्ठ का उपदेश करने वाले हुए। अब तक भी ये अलक्षित भाव से विशालापुरी बदरीवन में घोर तप कर रहे हैं और जनता के सम्मुख स्वय उस कर्मत्याग रूप कर्म का आचरण करके आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। बड़े बड़े ऋषि मुनि इनके चरणों की वन्दना अर्चना करते रहते हैं। यह अवतार त्याग का द्योतक है। त्यागी के लिये ससार में सबसे अधिक काम का विघ्न है। काम सर्व साधारण के सम्मुख किसी प्रकार दबाये भी रह सकता है, किन्तु घोर निर्जन स्थान में कामिनी को देखकर चित्त चञ्चल हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु इस अवतार में काम पर विजय प्राप्त करके यह दिखा दिया की मनुष्य के लिये कुछ असम्भव नहीं। यदि वह दृढ़ प्रतिज्ञ है, तो काम को उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ उसका कुछ भी बिगाड नहीं कर सकती। इन्होंने काम पर विजय प्राप्त करके इन्द्र को लज्जित कर दिया।"

राजा ने कहा—"भगवन्! इन्द्र को लज्जा क्यों आयी, उन्होंने नर-नारायन भगवान् के साथ क्या स्पर्धा की?"

मुनि बोले—"बात यह थी, इनके घोर तप को देखकर विषय भोगों को ही सर्वश्रेष्ठ समझने वाले सुरेश के हृदय मे शका हो गयी कि ये तपस्या करके कहीं मेरे वैभवपूर्ण इन्द्र पद को

न ले लें। राजेन्द्र ! बहुत से लोग तप करते हैं, विषय सुखों के लिये। धन का दान करते हैं कि हमें इससे भी श्रेष्ठ धन मिले। दीपक दान करते हैं इसलिये कि हमें इससे श्रेष्ठ प्रकाश मिले। वाहन दान करते हैं कि हमें भव्य विमान मिले। पत्नी का दान करते हैं कि हमें यही फिर सुन्दरी होकर मिले। दासी का दान करते हैं कि हमें ऐसी सहस्रों दासियाँ मिलें। महाराज ! यह व्यापार है। जो ऐसे व्यापार करके बढ़ जाता है उसे दूसरों से भी वही शङ्का बनी रहती है, उसके हृदय में यह बात धँसती ही नहीं कि इससे भी श्रेष्ठ कोई वस्तु है। माया के अधीन होकर देवेन्द्र भगवान् के अभिमत ऐश्वर्य को भूल गये और साधारण तपस्वी समझकर इन्हें तपोभ्रष्ट करने के निमित्त विश्वविजयी कामदेव को दल-बल सहित इनके समीप भेजा।

जब सब देवताओं के राजा इन्द्र की बुद्धि भी चक्कर में पड़ गयी, तब काम, वसन्त आदि साधारण देवों की तो बात ही क्या है, ये सब बदरीवन में पहुँच कर अपना पुराना जाल बिछाने लगे। वसन्त चारों ओर फैल गया, उसका प्यारा सखा मलयानिल सुगन्धि बहाता हुआ मन्द-मन्द बहने लगा। सुर सुन्दरियाँ सुरीली तान छेड़ती हुई कटाक्ष बाणों से बदरीश को बेधने के लिये व्यर्थ की चेष्टायें करने लगीं, रुनुझुनु-रुनझुन नूपुर बजने लगे, कड़े-छड़े खनकने लगे, वीणा वेणु मुरज की स्वर लहरियाँ उठने लगीं, सृष्टि सरसता की वृष्टि करने लगी, प्रकृति थिरकने लगी, काम कलायें कलरव करने लगीं, किन्तु तपस्या में निरत ऋषि प्रवर नर-नारायण के मन में विकार की रेखा भी न खिंच सकी। तब तो वे सब केसब घबराये, आकर बोले—"प्रभो ! रक्षा करो, अपराध क्षमा हो।"

अब तो तपस्वियों के चूड़ामणि हँसकर बोले—"मदन ! तुम्हारा स्वागत है। मन्द मलय मारुत ! आओ-आओ, मत घब-

खाओ, सुस्वादु वन्य फलों को खाओ। देवाङ्गनाओ! नृत्य करते-करते तुम्हें श्रम हो गया होगा, मेरा आतिथ्य ग्रहण करो।"

थर-थर काँपते हुए सब कहने लगे—"दीनबन्धो! कृपा-

सिन्धो ! अपराध क्षमा हो, अविनय, अशिष्टता और धृष्टता के लिये हम लज्जित हैं।"

"तुम मेरा आतिथ्य ग्रहण किये बिना ही प्रस्थान करने को समुत्सुक हो क्या ? नहीं ऐसा मत करो, यह उचित नहीं, यह मेरे आश्रम की शून्यता का द्योतक है मेरे द्वारा प्रदत्त पुष्प और फलों को स्वीकार करो, मुझे कृतार्थ करो।" तपस्वी नारायण मुनि वीणा विनिंदित स्वर में ये सब वचन एक साथ ही कह गये।

भगवान् के श्रुतमधुर परम पावन दिव्य सुखद वचनों को श्रवण करके सभी परम प्रमुदित हुए। हृदय में उत्पन्न भय अन्तर्हित हो गया, वे सब पंक्तिबद्ध खड़े हो गये और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर स्तुति करने लगे—

प्रार्थना

जय नर नारायन नियम परायन जय जय मायातीता।
हम शरन तुम्हारी चूक हमारी छिमहु नाथ ! जगमीता॥
सब सुरगन मानी अति अज्ञानी प्रभुवर अन्तरयामी।
तव दासनि पाहीं भय दुख नाहीं पाहिं परमपद स्वामी॥
तजि छुधा पिपासा विषय विलासा होहिं कोइ आधीना।
ते पारि उदधि करि गेल गरत परि डूबहिं तप करि दीना॥
प्रभु घट घट वासी सब गुनरासी हम सब विषयी देवा।
अब अतिशय कीन्हें, प्रभु नहिं चीन्हे सौंपे स्वामी सेवा॥
जय जय जगदीशा जय सुर ईशा जय जय अभय प्रदानी।
अति विपति हमारी हरि अवहारी हरहु दीन जन जानी॥

द्रुमिल मुनि राजा जनक से कह रहे हैं—"राजन् ! काम, वसन्त, मलयानिल तथा अप्सराओं की ऐसी विनती सुनकर भगवान् हँस पड़े। हँसते-हँसते उन्होंने अपने उरु में एक चुट्ट आघात किया, वे सब काम आदि उस आघात के शब्द को देख

कर चौंक पड़े। उन्हें पीछे से छम्म छम्म की सुमधुर अति सरस ध्वनि सुनायी दी। सबने पीछे फिरकर देखा, तो क्या देखते हैं कि विचित्र वस्त्रालङ्कारों से सुसज्जित अद्भुत रूप लावण्यमयी असख्यों अप्सरायें आश्रम में इधर से उधर घूम रही हैं। कोई झाड़ू लगा रही है, कोई लीप रही है, कोई पत्ते बीन रही है, कोई समिधा एकत्रित कर रही है। वे सबकी सब मूर्तिमती कमला के समान प्रतीत होती थीं। जैसे सूर्य के तेज से दीपक का तेज फीका पड़ जाता है, वैसे ही उन सब ललनाओं के लावण्य तेज के सम्मुख स्वर्गीय अप्सराओं का सौंदर्य फीका पड गया। उन्होंने ऐसी सर्वाङ्ग सुन्दरी ललनायें इसके पूर्व कभी देखी ही नहीं थीं। वे सबके सब सोचने लगे—"जब इतनी सुन्दरी-सुन्दरी कुमारियाँ सदा इनकी सेवा में सलग्न रहती हैं और इनके मन को किसी प्रकार का विकार नहीं होता, तो फिर हम इनके मन को विचलित कैसे कर सकते हैं।" सबके सब यही सोच रहे थे कि भगवान् हँसते हुए बोले—"तुम सब देवेन्द्र के कहने से आये हो न?"

काम ने लजाते हुए कहा—"जी, प्रभो!"

"तो तुम उनके लिये मेरा कुछ उपहार ले जाओगे?" मन्द-मन्द मुस्कराते हुए नारायण ऋषि बोले।

"जो आज्ञा" वसन्त ने सिर नीचा करके उत्तर दिया।

अत्यत ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए प्रभु बोले—इन सब सुन्दरियों में से जो-तुम्हारे अनुरूप हो-ऐसी एक को तुम छाँट लो और उसे अपने साथ स्वर्ग में ले जाओ। देवेन्द्र को मेरा यह उपहार देना। कहना यह नारायण मुनि ने आपको उपहार दिया है यह सुन्दरी स्वर्ग लोक की भूषण होकर सदा ही रहे।"

अब वे लोग उनमें छाँटते किसे। एक से एक बढकर सुन्दरी थी। भगवान् की आज्ञा को श्रद्धा सहित शिरोधार्य करके उनमे से

उर्वशी नामक एक अप्सरा को सब स्वर्गीय अप्सराओं से आगे करके उसे सबकी अग्रणी बनाकर वे सब प्रभु को प्रणाम करने के अनन्तर स्वर्ग लोक को चले गये। वहाँ जाकर जैसा भी कुछ हुआ वह सभी समाचार विस्तार सहित देवेन्द्र को सुनाया। उसे सुनकर सुरपति और सभा में सुनने वाले समस्त सुरगण अति विस्मित और भयभीत हुए। सो राजन्! इन नर नारायण भगवान् ने तपस्वियों का सा वेष बनाकर इस अवतार में कर्म त्याग रूप निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया।

ब्रह्मलोक में एक हंसावतार हुआ। जब ब्रह्माजी से सनकादि मुनियों ने एक प्रश्न किया और ब्रह्माजी उसका उत्तर न दे सके, तो उनके सङ्कट को दूर करने भगवान् हंस स्वच्छ, शुभ्र बनकर वहीं सभा में प्रगट हुए और उत्तर देकर अन्तर्हित हो गये।

अत्रि पत्नी अनुसूया में भी भगवान् दत्तात्रेय रूप में प्रकट हुए और उन्होंने त्यागमार्ग का उपदेश दिया। सनक, सनन्दन, सनातन और सनतकुमार ये चारों कुमार भी भगवान् के ही अवतार हैं। माया से अलिप्त होकर संसार में कैसे विचरण किया जाता है, यह दिखाने भगवान् चार कुमारों के रूप में ब्रह्मा जी के मानस पुत्र हुए।

राजन्! हमारे पिता भगवान् ऋषभदेव भी भगवान् के अवतार थे, उन्होंने परमहंस धर्म का उपदेश देने को अवतार धारण किया।

भगवान् ने हयग्रीवावतार धारण करके वेदों का उद्धार किया। इन हयग्रीव भगवान् का सम्पूर्ण शरीर तो मनुष्य का जैसा था, किन्तु ग्रीवा से ऊपर का भाग हय-घोड़ा-जैसा था। इसीलिये हयग्रीव नाम से प्रसिद्ध हुए।

भगवान् ने प्रलयकाल में मत्स्यावतार धारण करके प्रलय के समुद्र से मनु की, पृथ्वी की तथा ओषधियों की रक्षा की।

फिर भगवान् ने सूकर अवतार धारण करके दितिनन्दन आदि असुर हिरण्याक्ष का वध किया।

उन्हीं भगवान् ने कछुए का रूप बनाकर समुद्र-मन्थन के समय जल में डूबते हुए मन्दराचल का उद्धार किया।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! महामुनि द्रुमिल ने और अवतारों का जैसा वर्णन किया, उनका अत्यन्त संक्षेप में मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

हंस और सनकादि ऋषभ हयग्रीव मत्स्य हरि।
कियो अवनि उद्धार वेद वाराह रूप धरि॥
पुनि प्रभु कछुआ बने पीठ मन्दर गिरि धार्‌यो।
बलि हरि गजकूँ ग्राह वक्रतैं खैंचि उबार्‌यो॥
बालखिल्य उद्धार करि, इन्द्र शाप रक्षा करी।
असुर बन्दिनी बनी बहु, सुरललननि विपदा हरी॥

अन्य अवतार चरित

[१२११]

एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः ।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ५ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

कलप कलप मनु भये लयो अवतार सबनिमहँ ।
लयो सुरनिको पक्ष सुरासुर सबहि रननिमहँ ॥
लै वामन अवतार छले बलि त्रिभुवन पाल्यो ।
परशुराम बनि गये क्षत्र कुल पापी मारयो ॥
राम रूप तैं उदधि पै, कर्‌यो सेतु रावन हन्यो ।
जग उद्धारक मुक्तिप्रद, चरितसेतु तातैं बन्यो ॥

संसार में भगवान् अवतार धारण करके अद्भुत और मनहारिणी लीलाएँ न करते, तो यह संसार रौरव नरक बन जाता। संसार में जो भी कुछ सौन्दर्य है, जो भी कुछ ललित चरित हैं सब भगवान् के अवतारों के ही हैं। उनके अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार तथा भक्तावतार संसार में शान्ति स्थापित करके माया बद्ध प्राणियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

---

* योगेश्वर द्रुमिल राजा जनक से कह रहे हैं — 'राजन्! इसी प्रकार अनुकीर्ति जगत्पति भगवान् श्रीहरि के अनेकों अवतार कर्म और कर्मों का विपुल कीर्ति वाले भक्तों ने वर्णन किया है।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनेकों अवतारों का वर्णन तो मैं संक्षेप में और विस्तर के साथ पीछे कर ही चुका हूँ, अब आगे भी भगवान् और उद्धव के सम्वाद मे हंसावतार आदि अवतारों का वर्णन करूँगा। योगेश्वर द्रुमिल ने जिस प्रकार अन्य भगवान् के अवतारों का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया है, यहाँ तो मैं उसी प्रसङ्ग को कहता हूँ।"

महामुनि द्रुमिल राजा जनक से कह रहे हैं—"राजन! भगवान् ने एक हरि अवतार धारण किया। हरि अवतार धारण करके भिन्न-भिन्न भक्तो की भिन्न भिन्न स्थानो में विपदा हरी।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! हरि भगवान् ने कहाँ कहाँ किसकी विपदा हरी, कुछ चरित्र तो सुनाइये।"

मुनि बोले—"राजन्! भक्तो की विपदा हरने का भगवान् का तो काम ही है। एक दो की विपदा हरी हो तो बताऊँ भी। गज को ग्राह ने ग्रस लिया था। प्रथम तो वह अपने पुरुषार्थ के बल के भरोसे रहा, जब उसका पुरुषार्थ विफल हो गया, डूबने हीं लगा, तो उसने सूँड़ में कमल लेकर भगवान् की स्तुति करी। हरि भगवान् वे तुरन्त आकर उसकी विपदा हरी।"

अँगूठे के पोर के सदृश वालखिल्य मुनिगण एक छोटे से जल के गड्ढे मे डूबने लगे। वे बहुत छोटे थे, उनके लिये गौ के खुरों से जो गड्ढा हो जाता है, वह भी समुद्र के समान था। जब उन्होंने अन्य कोई शरण न देखी, तो भगवान् श्रीहरि की स्तुति की। तुरन्त भगवान् ने जाकर उनकी रक्षा की, उन्हें उस समुद्र रूप गड्ढे से बाहर निकाला।

देवेन्द्र ने वृत्रासुर ब्राह्मण का वध कर दिया था, इससे उन्हें ब्रह्महत्या लग गयी थी, उसके भय से वे मानसरोवर में जाकर कमल की नाल में छिप गये। तब भी हरि भगवान् ने यज्ञरूप से उनकी रक्षा की, उन्हे ब्रह्महत्या के भय से विमुक्त बनाया।

बल में असुर देवताओं से अधिक बलवान् हो गये। वे देवताओं की सुन्दर सुन्दर अप्सराओं को पाताल में पकड़ ले

गये और उन्हें बन्दी बनाकर अपने यहाँ रखा। उन्होंने भगवान् की स्तुति की। शरणागत वत्सल भगवान् ने आकर उनकी रक्षा

की। दानवों को मार कर उन सब बंदिनी सुर ललनाओं को छुड़ाया।

जब हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लादजी को राम नाम लेने पर भाँति-भाँति की यातनायें देने लगा, तब भगवान् ने नृसिंह रूप रखकर असुरराज को मारकर अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा की। यह विचित्रावतार सज्जनों को सदा अभय प्रदान करता रहता है।

जब-जब असुरों ने सुरों से युद्ध किया, तब-तब भगवान् अपने आश्रित सुरों का पक्ष लेकर असुरों से भिड़ गये और उन आततायी असुरों का वध करके देवताओं तथा इन्द्र की रक्षा की। इस प्रकार प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान अजितादि अवतार धारण करके समस्त मन्वन्तर का पालन करते हैं, देवताओं की रक्षा करते हैं, धर्म का प्रचार प्रसार करते हैं।

इस मन्वन्तर मे परम दानी असुरराज बलि ने त्रिभुवन पर अधिकार कर लिया था, इन्द्र को इन्द्रासन से हटा दिया था वह धर्मात्मा था, अतः उसे युद्ध में तो भगवान् मार नहीं सकते थे, अतः छोटे बौने वामन बनकर उसके द्वार पर भिक्षुक बनकर गये। उससे तीन पग पृथ्वी माँगी। उसके देने पर छलिया बन गये, त्रिविक्रम बनकर त्रिभुवनों को नाप लिया। यों छल कपट से देवताओं के गये राज्य को असुरराज बलि से छलकर उन्हें पुनः दे दिया और आप उपेन्द्र बनकर उसका पालन भी करते रहे।

जब हैहयवंशी राजा अन्यायी, अत्याचारी, दुराचारी, ब्राह्मण-द्वेषी हो गये थे, तथा अन्य समस्त क्षत्रिय भी उन्हीं के अनुगामी बन गये थे, तब श्रीहरि ने भृगुकुल में परशुराम अवतार धारण करके तीक्ष्ण फरसा उठाया और उससे इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय हीन बना दिया।

वे ही भगवान् अवधपुरी में अवतीर्ण होकर पिता के आदेश से वन में गये। अपनी प्रिया को दशशीश के हर ले जाने पर उन्होंने समुद्र पर सुन्दर सेतु बाँधा, प्रिया के हरण करने वाले राक्षसराज का उसकी सुवर्ण की पुरी लङ्का के सहित विनाश किया। उन अवध कुलमंडन दशरथनंदन, कौशल्या आनन्द-वर्धन जानकी जीवन श्रीरघुनन्दन की जय हो सदा विजय हो।

द्रुमिल मुनि कह रहे हैं—"राजन्! सीतापति के अवतार की लीलायें तो हमने देखी हैं, अब आगे भूमि का भार उतारने के निमित्त भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण रूप में अवतरित होकर भूमि के बढ़े हुए भार को उतारेंगे। पृथ्वी पर प्रकट होकर ऐसे-ऐसे विकट कार्य करेंगे, जो देवताओं के लिये भी दुष्कर हैं।"

पुनः वे ही बुद्ध बनकर उन असुरों को विमोहित करेंगे, जो ब्राह्मण वेष में उत्पन्न होकर यज्ञ के अनधिकारी होने पर भी मृषा यज्ञ याग करेंगे और उनमें जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर नाना प्रकार की अविहित हिंसा करेंगे।

तदनन्तर वे ही वासुदेव कल्कि रूप में अवतार धारण करके जो म्लेच्छ नाम मात्र के राजा बनकर अन्याय और अधर्म का प्रचार करते होंगे उन दुष्टों का वध करके पुनः सत्य-युग की प्रतिष्ठा करेंगे।

द्रुमिल महामुनि कह रहे हैं—"राजन्! आप यह न समझें कि इतने ही अवतार हुए, हैं या इतने होंगे। अवतार असंख्य हैं, उनकी गणना नहीं, सीमा नहीं। उन भूमा भगवान् के श्रीअङ्गसे निरन्तर अवतारों का आविर्भाव होता ही रहता है। संसार में जो-जो विभूतिमान् श्रीमान् हैं, उन सब में श्रीहरि की कला है। कला तो सभी में है, सभी उनके अंश हैं किन्तु कहीं कला अंश की प्रबलता होने से उनकी अवतार संज्ञा हो जाती है। ऋषि महर्षि सब ज्ञानावतार हैं, ये भक्तवृन्द सब प्रेमावतार

हैं ये परोपकारी महापुरुष सब क्रियाशक्ति के अवतार हैं, इस प्रकार हे विशाल बाहुओं वाले राजन्! भगवान् के अवतारों के अति संक्षिप्त चरित्र मैंने आपसे कहे। उन अतुलकीर्ति अच्युत के अवनि पर अनेकों अवर्णनीय अवतार हुए, उनमें से कुछ का वर्णन किया। सन्तपुरुष और भी बहुत से अवतारों के चरित्रों का गान करते हैं। आपके पूछने पर मैंने अवतारों की कथा कही, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

यह सुनकर राजा ने कहा—"भगवन्! भगवान् का भजन तो सभी को करना चाहिये, किन्तु क्या करें भगवन्! ये कामनायें प्राणियों को विवश कर देती हैं। मनमें जिस विषय के भोगने की इच्छा प्रबल हो जाती है, तो फिर चित्त ठिकाने नहीं रहता, लोक लाज को तिलाञ्जलि दे देते हैं, गुरुजनों का शील संकोच रहता नहीं। कामनायें मन को व्याकुल बना देती हैं, इन्द्रियाँ विवश बना देती हैं। ऐसी दशा उन्हीं लोगों की होती है, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की। वे लोग निरन्तर काम का ही चिन्तन करते रहते हैं, राम के रूप को वे भूल जाते हैं। ऊपर से वे वेष बना लेते हैं माला खटकाते हैं किन्तु भीतर ही भीतर काम का चिन्तन करते रहते हैं। ऐसे इन्द्रियों के अधीन हुए भगवान् के चिन्तन से रहित कामियों की कौन-सी दशायें होती हैं, उन्हें मरने पर कौन-सी गति प्राप्त होती है। कृपा करके मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें।"

यह सुनकर योगेश्वर द्रुमिल बोले—"राजन्! आपका यह प्रश्न गूढ़ है। नरेन्द्र! ये मेरे भाई चमस इस विषय के विशेषज्ञ हैं, ये आपको इस विषय को बड़ी उत्तमता से समझावेंगे। अब आप इन्हीं से इस प्रश्न को पूछें।"

राजा ने कहा—"भगवन्! आप में से कोई भी मेरे प्रश्न का उत्तर दें। मेरे लिये तो आप सब एक ही रूप हैं। आप सब-के-

सब आत्मज्ञानियों में वरिष्ठ हैं मुनियों मे श्रेष्ठ हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो यह कहकर राजा, योगेश्वर चमस की ओर उत्सुकता भरी दृष्टि से देखने लगे। अब जिस प्रकार महामुनि चमस राजा के प्रश्न का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कृष्ण रूप धरि करें कलित क्रीड़ा कसारी।
बुद्ध रूपतें निरदय हिंसा नाथ निवारी॥
कल्कि लेहिँ अवतार अन्त करि कलिको केशव।
सतयुगको आरम्भ करें करि क्रूरनि निज वश॥
अवतारनिकी कछु कथा, कही अधिक संक्षेपमहँ।
इरि फिरिकें ये हो चरित, सब पुरान अरु वेदमहँ॥

योगेश्वर चमस द्वारा हरि-विमुख जनों की गति का वर्णन

(१२१२)

य एषां पुरुष साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

निमि पूछें—"प्रभु ! भक्तिहीन गति कैसी पावें ।
कहें चमसमुनि—'नृपति प्रश्नको मरम बतावें ॥
वर्णाश्रम उत्पन्न करें हरि जनक कहावें ।
आदर तिनि नहिँ करें भजें नहिँ ते गिर जावें ॥
जो मोरे अनपढ़ विवश, भक्त तिनहिँ अपनाइकें ।
कथा कीरतन सुलभ करि, तारें नाम सुनाइकें ॥

ससार में तीन तरह के लोग होते हैं । अज्ञ, विज्ञ और धूर्त ।

---

* योगेश्वर चमस राजा निमि से कह रहे हैं—'राजन् ! जो वर्णाश्रमी अपने उत्पन्न करने वाले आदि पुरुष परमेश्वर का भजन नहीं करते अथवा उनका अपमान करते हैं, अनादर करते हैं, वे अपने स्थान से भ्रष्ट होकर नीचे गिर जाते हैं, पतित हो जाते हैं ।"

विज्ञ उन्हे कहते हैं, जो साधन साध्य को भली-भाँति समझकर साधनो द्वारा साध्य को पाने के लिये प्रयत्नशील हैं। अज्ञ वे हैं, जो साध्य साधन से अनभिज्ञ हैं, किन्तु उन्हें कोई आग्रह नहीं। सज्जन पुरुष जो उपदेश देते हैं, उनका सरलता के साथ यथाशक्ति पालन करते हैं। ऐसे पुरुष सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं। जैसे लोहे मे स्वतः सुन्दर बनने की शक्ति नहीं, किन्तु पारसमणि क ससर्ग से वह सुवर्ण हो जाता है। तीसरे धूर्त होते हैं, जिन्हें पूर्ण ज्ञान तो है नहीं, साध्य साधन का तत्वतः तो ज्ञान है नहीं, किन्तु अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये-विषय भोगो की वृद्धि के लिये-कुछ इधर से सुना कुछ उधर से सुना। कुछ अश यहाँ का याद कर लिया कुछ अन्य स्थान का। ऐसे वे वाक्यो को रटकर वाक्-पटु बन जाते हैं। भोले-भाले लोगों को फँसाकर उन्हें कुछ-का-कुछ समझा देते हैं। शास्त्र का तात्पर्य कुछ है, वे उसका दूसरा ही अर्थ बदल देते हैं। ऐसे ज्ञानलव दुर्विदग्ध मूर्खों को वेदगर्भ भगवान्, लोक पितामह ब्रह्माजी भी नहीं समझा सकते। वे समझने की चेष्टा करें, तब तो समझाया जाय, उनका इष्ट तो है शारीरिक सुख। वह जिस प्रकार प्राप्त हो उसी काम को वे करते हैं। ऐसे लोगों को उपदेश देना उसी प्रकार है जैसे ऊसर में बीज बो देना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने "भक्तिहीन पुरुषों की कौन-सी गति होती है" यह प्रश्न किया, तब योगेश्वर चमस कहने लगे—"राजन्! पहिले आप यह सोचें कि भगवान् से सबका सम्बन्ध क्या है। वैसे तो भगवान् से जो जैसा सम्बन्ध रखना चाहे भगवान् उसके लिये वैसे ही बन जाते हैं, किन्तु सर्व-साधारण का सम्बन्ध तो उनमें जन्य और जनक का ही है। वर्णाश्रमी चार वर्ण और चार आश्रम मानते हैं। एक वर्णाश्रमेतर पुरुष भी होते हैं। आदि पुरुष श्रीमन्नारायण के सत्वाश से उनके

मुख्य भाग मुख से ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति है। सत्त्व और रज के मिश्रण से उनकी बाहुओं द्वारा क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति है। रज और तम के मिश्रण से उनकी जङ्घाओं से वैश्य वर्ण की उत्पत्ति है और तमोगुण के अंश से उनके चरणों द्वारा शूद्र वर्ण की उत्पत्ति है। पृष्ठभाग से वर्णेतर जनों की उत्पत्ति है। इसी प्रकार उन भगवान् के शिरोभाग से संन्यासाश्रम की, वक्षःस्थल से वानप्रस्थाश्रम की, हृदय से ब्रह्मचर्याश्रम की और जघन प्रदेश से गृहस्थाश्रम की उत्पत्ति हुई।

राजा ने पूछा—"महाराज! मुख से क्या झुण्ड-के-झुण्ड ब्राह्मण निकल पड़े। मुख से कैसे उत्पन्न हुए? मुख से उत्पन्न हुए हों, तो ब्राह्मणों को गोल मोल होना चाहिये।"

यह सुनकर महामुनि चमस हँस पड़े और बोले—"राजन्! यह आपने कैसा बेतुका प्रश्न कर दिया। जो जहाँ से उत्पन्न होता है, वह उसी के आकार का थोड़े ही होता है। सीप से मोती उत्पन्न होता है, सीप निकौनी होती है, मोती गोल होता है। कीच से जल से कमल उत्पन्न होता है। कीच फैली हुई होती है कमल खिला हुआ अनेक पंखुड़ियों का होता है। फिर भगवान् के मुख से ब्राह्मण पुरुष थोड़े ही उत्पन्न हुए। ब्राह्मण वर्ण नाम का एक धर्म उत्पन्न हुआ। जैसे शरीर एक ही है, उसमें सभी अङ्ग उपयोगी हैं, किन्तु मुख उनमें श्रेष्ठ है, मुख में खाने से सभी शरीर के अङ्ग सन्तुष्ट होंगे। इसलिये इसे मुख्य अङ्ग (मुख) कहते हैं। इसी प्रकार वर्णों में ब्राह्मण मुख्य है। जैसे मुख में खाने से सबकी तुष्टि-पुष्टि होती है उसी प्रकार ब्राह्मण को भोजन कराने से सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है। जैसे मुख के तीन मुख्य कार्य हैं—भावों को समझकर उन्हें बोलना, शरीर पोषण के लिये भोजन कर लेना और उद्गार (डकार) लेकर उसकी सूचना दे देना तथा वस्तुओं का स्वाद लेना और उस स्वाद से सभी को

सुख देना। इसी प्रकार ब्राह्मण के भी तीन मुख्य कार्य हैं। वेदों का स्वयं पढ़कर दूसरों को पढ़ा देना, यज्ञ स्वयं भी करना और दूसरों को करा देना। दान लेकर दूसरों को दान देना। यह विप्र-धर्म भगवान् के मुख से उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार जैसे बाहुओं का क्या काम है—जो अन्न आवे उसे मुख में डाल देना, तेल आवे उसे कान में डाल देना, काजर आवे उसे आँखों में डाल देना। अर्थात् अपने को जो कुछ मिले उसे यथायोग्य शरीर के सब अङ्गों में लगाना। किसी भी अङ्ग पर आघात हो, तुरन्त वहाँ पहुँचकर उसकी रक्षा करना। पैर में काँटा लगा, तुरन्त हाथ पहुँच गया। जंघा में चींटी ने काटा, अविलम्ब वहाँ पहुँचकर उसे पकड़ लिया। गुरुजी गाल पर चपत लगाना चाहते हैं, तुरन्त हाथ ने आगे बढ़कर रोक लिया। आँखों में कोई वस्तु पड़ गयी, तुरन्त हाथ पहुँचकर उसकी रक्षा में तत्पर हो गया। इसी प्रकार वेदाध्ययन, यज्ञ और दानादि करते हुए भी समस्त प्रजाओं की दुख से रक्षा करना।

सब स्त्री पुरुषों के शरीर में श्रेष्ठ अङ्ग ऊरुओं के ही आदि में होता है। प्रजा का सृजन उत्पादन वहीं से होता है। श्रम करके सत्यानृत द्वारा द्रव्योपार्जन करके प्रजा की समस्त आवश्यकताओं को पूर्ण करना। इसीलिये समस्त प्रजाओं में वैश्य को श्रेष्ठ माना गया है, अतः उसका नाम श्रेष्ठ (सेठ) है। वह कृषि गोरक्षा तथा वाणिज्य द्वारा प्रजा को अन्न, घृत तथा समस्त आवश्यक वस्तुओं को प्रदान करता है।

चरणों का काम है, सम्पूर्ण शरीर के बोझे को धारण किये रहना। शरीर की रक्षा के निमित्त जहाँ जाना हो वहाँ दौड़कर जाना। सबसे नीचे भूमि पर रहना, शरीर के लिये सब कुछ सहना। यही सेवा प्रधान शूद्र धर्म भगवान् के चरणों से उत्पन्न हुआ। चरणों से पक्ति की पक्ति शूद्र निकल पड़े सो बात नहीं। समाजरूपी शरीर के अङ्गोंसे तत्तद्गुणों वाले चार धर्म उत्पन्न हुए।

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! वर्णधर्म की उत्पत्ति की बात तो मैं समझ गया, अब आश्रम धर्म की उत्पत्ति की बात और समझावें।"

मुनि बोले जिसमें चारों ओर से परिश्रम करना पडे और उस परिश्रम से प्रसन्नता हो यही आश्रम शब्द का अर्थ है। सन्यास धर्म की उत्पत्ति भगवान् के सिर से हुई। शरीर में सिर ही मुख्य है। किसी के हाथ, पेर, जघा नाक, कान काट दो तो वह किसी प्रकार जीवित रह सकता है, किन्तु यदि सिर कट जाय, तब तो वह किसी भी प्रकार जीवित नहीं रह सकता। इसी प्रकार सन्यासी का मुख्य धर्म है त्याग। ग्रहण करने की प्रवृत्ति तो स्वाभाविक ही है, किन्तु श्रम करके त्याग की संन्यास की दीक्षा लेनी चाहिये। त्याग ही मुख्य है, यही धर्म भगवान् के शिर से संन्यास आश्रम धर्म के रूप में उत्पन्न हुआ। संन्यासी जितना ही अधिक त्याग करेगा उसे उतना ही अधिक सुख प्राप्त होगा।

वानप्रस्थ धर्म की उत्पत्ति भगवान् के वक्षःस्थल से हुई है। वक्षःस्थल में सुख होता है सम्मिलन से। सम्मिलन सुख होता है तपने से प्रतीक्षा से, हृदय जिसके लिये जितना ही तपेगा, द्रवित होगा उसके मिलने मे उतना ही अधिक सुख होगा। इसलिये वानप्रस्थ का मुख्य धर्म है तप। जो वानप्रस्थी जितना ही अधिक घोर तप करेगा उसे उतना ही अधिक सुख होगा।

गृहस्थ धर्म की उत्पत्ति है भगवान् के उरुओं से, इसलिये जिस गृहस्थ के यहाँ वर वर्णिनी वरोरु नहीं वह गृहस्थ नहीं। गृहस्थ धर्म होता है मिथुन से—दो—से जोडे से। जैसे शरीर में सिर एक होता है वैसे ही संन्यासी को अकेले रहना चाहिये, वक्षःस्थल वैसे तो एक ही है किन्तु उसके दो पृथक पृथक भाग होते हैं, इसी प्रकार वानप्रस्थी को भी अकेले ही रहना चाहिये, यदि सपत्नीक रहे, तो सर्वथा पृथक् होकर रहे। ऊरु सदा दो होते

हैं। इसलिये पति-पत्नी दो होनी चाहिये। दो होकर भी उनमें जितनी ही अधिक एकता होगी गृहस्थ मे उतना ही अधिक सुख होगा। जैसे प्राणिमात्र की उत्पत्ति शरीर के मध्य भाग उरुओं से है वसे ही सभी आश्रमो की उत्पत्ति गृहस्थाश्रम से ही हे। गृहस्थी हा अन्य तीनो आश्रमो को उत्पन्न करके उनका धर्म पूर्वक पालन भी करता है।

ब्रह्मचर्य की उत्पत्ति भगवान् के हृदय से है। जो जैसा हृदय का होता है, उसका सम्पूर्ण व्यवहार भी वेसा ही होता हे। हृदय हा मुख्य हे। जो हृदय-हीन है वह जड हे। इसलिए जिस ब्रह्मचारी का हृदय जितना ही अधिक शुद्ध होगा वह उतना ही सुखी होगा। सो राजन्! ये चारों वर्ण, चारो आश्रम भगवान् के अङ्गो से उसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं जैसे पिता के अङ्गों से पुत्रों की उत्पत्ति होती हे। अब आप ही बतावें सब वर्ण और सब आश्रम के नर-नारियों के भगवान् पिता हुए या नहीं।

राजा ने कहा—"हॉ, महाराज! पिता ही क्यों परम पिता हुए। पिता माता दोनो ही हुए।"

मुनि बोले—"राजन्! जब आदि नारायण भगवान् सबके उत्पत्ति स्थान हैं, पिता हैं, तो जो उनका पूजन न करेगा, उसकी उन्नति केसे होगी। वृद्धि तो उसकी होती है, जो अपने उत्पन्न करने वालों के प्रति सदा आभारी बना रहता है। जो उसका अनादर करता है, उसको भूल जाता हे उसका पतन अनिवार्य है। इसी मे आपके प्रश्न का उत्तर हो गया। आपने यही तो पूछा था कि जो भगवान् का भजन नहीं करते उनकी क्या गति होती है। राजन्! उनकी गति क्या होती है, दुर्गति होती है, उनका पतन हो जाता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! आप तो शास्त्रो की बातें बता रहे हैं। बहुत से ऐसे भी पुरुष हैं, जिन्होंने शास्त्र सुने नहीं। उनकी

शास्त्रों मे श्रद्धा नहीं सो बात नहीं, किन्तु उन्हे शास्त्र सुनने की शास्त्राय कर्म करने की सुविधायें नहीं, अधिकार नहीं, उनका उद्धार कैसे हो। बहुत से शूद्र हैं, वदिक कर्मों में उनका अधिकार नहीं। स्त्रियाँ हैं, बालकों के भरण पोषण मे गृहस्थी के कामो में लगी रहती हैं। मासिकधर्म हो जाने पर वे सभी शुभ कर्मों से वञ्चित हो जाती हैं, ऐसे लोगो के लिये क्या उपाय हैं, वे कथा कीर्तन से भी दूर रहते हैं।"

मुनि बोले—"राजन्! ऐसे लोगो का आप जैसे भगवद्-भक्तो के द्वारा ही उद्धार हो सकता है। भगवान् के भक्त बडे दयालु होते हैं, वे गाव गाँव मे जा जाकर भगवान् का कीर्तन करते हैं, भागवती कथाओ को सुनाते हैं, भगवद्भक्तों के अतिरिक्त उनका कोई अन्य अवलम्ब नहीं। इन वृद्धो का उद्धार कैसे होगा, भगवद्भक्त इनके नीचे बैठकर कीर्तन करते हैं, भगवान् का नाम सुनाते हैं, इनका उद्धार हो जायगा। भक्तो के शरीर का गन्ध से जीवों का उद्धार होता है। भगवद्भक्त कृपा करके जिसे छू दें तो उनके सुखद स्पर्श से जीवों को शान्ति मिलती है। निष्काम भगवद्भक्तों को अपने लिये तो कुछ कामना होती नहीं। ये जीव भटक रहे है, अशान्त बने छटपटा रहे हैं, इनकी छटपटाहट को दूर करने वे घूमते हैं, कीर्तन करते हैं, हरि-चर्चा सुनाते हैं। उनके ही द्वारा ऐसे लोगो का उद्धार होता है। यह तो उनकी बात हुई जो अज्ञ है, स्वय शास्त्रीय कर्मों को करने मे असमर्थ हैं। जो विज्ञ हैं, उनके सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या? वे आत्मविश्वास से, शास्त्रों के वचनों पर श्रद्धा रखने से वेदविहित कर्मों के करने से तर जायँगे, किन्तु जिन्हे जन्मना शास्त्र के पठन पाठन का पूर्ण अधिकार प्राप्त है जो द्विजाति भी हैं, जिन्हे यज्ञोपवीत आदि श्रौत स्मार्त कर्मों का पूर्ण अधिकार भी है, फिर भी

वे भगवद्भक्ति से रहित ही बने रहते हैं उन्हें भी प्रभुप्रेम की प्राप्ति नहीं होती।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! ऐसे लोगों को भगवान् का भक्ति क्यों नहीं होती?"

मुनि बोले—"राजन्! करें क्या, वे लोग वेद वाक्यों का मुख्य अभिप्राय न समझकर केवल अर्थवाद के चक्कर में फँस जाते हैं। प्राणियों का कर्मों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होता है, फिर उन्हें अर्थवाद का सहारा मिल जाता है, इससे उनका कर्मों में ही आग्रह हो जाता है। कर्म के रहस्य को तो वे भली भाँति जानते नहीं किन्तु लगाते हैं अपने को पंडित। उनसे कोई हित की बात कहो तो उद्दंडता करते हैं, लड़ने को उद्यत हो जाते हैं। वे पंडित मूर्ख फलश्रुति के पीछे मदोन्मत्त हुए वितंडावाद करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। लोगों को फँसाने के लिये सुना सुनायी असंबद्ध लच्छेदार सुनने में बड़ी मधुर लगने वाली बातें बनाते हैं। वे उन बातों को इस ढङ्ग से नमक मिर्च लगाकर कहते हैं कि सुनने वाले यही समझते हैं कि वेद का तात्पर्य सकाम कर्मों के ही करने में है।"

राजा ने पूछा—"तो महाराज! क्या कर्म करने ही न चाहिये?"

मुनि बोले—"करने क्यों नहीं चाहिये! कर्म करे, किन्तु उन कर्मों का कर्म फल त्याग की भावना से करे। त्याग को लक्ष्य मान कर उसी की प्राप्ति के लिये कर्म करे। ये कामी लोग कर्मों को काम प्राप्ति के निमित्त सकाम भाव से करते हैं। इनके सब काम संकल्प पूर्वक सकाम होते हैं। फल की इच्छा रखकर कर्म करने वाले कृपण होते हैं। कर्म करना रजोगुण का काम है। जो सकाम कर्मों के लिये अत्यन्त आग्रह करते हैं, वे रजोगुणी होते हैं। ये अपने अपने संकल्प को सिद्ध करने के लिये बड़े बड़े क्रूर कर्म करते हैं। ये लोग अत्यन्त कामी होते हैं, इनसे हित की बात कहो,

तो लडने लगते हैं, शास्त्रार्थ में नहीं जीतते तो शस्त्र बल का प्रयोग करने लगते हैं। ये सर्पों के समान लाल लाल आँखे करके भगवद्भक्तो को देखते हैं। वेष ऐसा बना लेंगे कि लोग समझे ये बडे आचारी हैं। इनकी नस नस मे अभिमान भरा रहता है। हिंसादि पाप कर्मो मे इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। देवी देवताओं के नाम पर ये भैसा, बकरा तथा अन्यान्य जीवों का निर्दयता के साथ वध कर देते हैं। पशुओ को मुक्का से मार देते है। यन्त्र से उनके गलों को घोट देते है। जहाँ भगवद् भक्तों को देखते हैं, वहीं व्यग करते हुए कहने लगते हैं "लम्बे तिलक माधुरी बानी। पूरे ठग की यही निशानी।" साराश यह है कि भक्तों को वे बगुला भक्त, मिट्टी के सिङ्ग वाले, खडिया पलटन आदि नामो से पुकारते हैं।

राजाने कहा—"ब्रह्मन्! गृहस्थ धर्म तो प्रधान धर्म है। गृहस्थ में ही रहकर तो परमार्थ साधन हो सकता है?"

महामुनि चमस बोले—"राजन्! हो क्यों नही सकता। मैं विशुद्ध गृहस्थ धर्म की निन्दा तो कर ही नहीं रहा। मैं तो सकाम कर्मों की निन्दा कर रहा हूँ। त्याग को आगे रखकर सन्यास धर्म को लक्ष्य बनाकर कर्तव्य बुद्धि से जो कर्म करते हैं, वे मोक्ष के अधिकारी होगे ही। किन्तु ये कर्मासक्त लम्पट पुरुष तो शरीर सुख को ही सब कुछ समझते हैं। ये स्त्रीलम्पट कामी और विषय लोलुप होते हैं। गृह मे अत्यत आसक्त रहते हैं, कर्म भी करते हैं, तो इसी भावना से कि, ये विषय भोग दिव्य और प्रचुर होकर विशेष मात्रा मे हमे स्वर्ग में भी प्राप्त हो। वे परस्पर मे चर्चा भी करेंगे, तो इन्हीं ससारी विषय भोगों की। हमें वहाँ इतना मिला, इतने की हमें आवश्यकता है, यह न प्राप्त हुआ तो हमारी प्रतिष्ठा घट जायगी इस प्रकार की ससारी भोगों के ही सम्बन्ध में वार्तालाप करते हुए वे कालयापन करते हैं।

राजा ने कहा—"भगवन्! ये लोग यज्ञ यागादि भी तो करते हैं। यज्ञयाग तो शुभकर्म हैं।"

मुनिवर चमस बोले—"राजन! वे यज्ञ को अपनी वासना पूर्तिका साधनमात्र बनाकर लोगों को ठगने के लिये दम्भमात्र करते हैं यज्ञ करते हैं लोगों को दिखाने को, अपना यश ऐश्वर्य प्रदर्शित करने को। उसमे अनेक कारण दिखाकर अन्न का दान नहीं करते। विधि निषेध का ओर ध्यान नहीं देते। कुछ की कुछ क्रिया करा देते हैं, आपस म ही बेठ जाते हैं, अन्य किसी को दक्षिणा नहा देते। यज्ञीय हिंसा को हिंसा नहीं कहा जाता। ऐसे शास्त्र के वचना के कुछ के कुछ अर्थ लगाकर वे उदरपूर्ति के लिये जिह्वा को तृप्त करने के निमित्त-पशु के मास से अपने मास को बढाने के लिये अनेका पशुओं को मार डालते हैं, उनके मास को भक्षण करते हैं। ऐसी मीठी-मीठी बातें बनाकर धन एकत्रित करते हैं, अपना वैभव बढा लेते हैं, कुलीन होने का अभिमान तो उन्हें पहिले से ही था। इधर-उधर से कुछ विद्या पढ ली, आपस में दान दिया, तेल फुलेल लगाकर सुन्दर रूप बना लिया। मास और माल खा खाकर बल भी बढा लिया, लोगो को दिखाने को कर्म भी करते हैं इन सभी कारणों से उनका अभिमान पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। लोक परलोक का विचार वे करते ही नहीं, अपना स्वार्थ साधन ही उनका प्रधान लक्ष्य हो जाता है, ऐसे अभिमानी अपने बडप्पन के मिथ्याभिमान मे भरकर बडे बडे भगवद्भक्त महात्माओं का भरी सभा में तिरस्कार करते हैं भक्तों का अपमान करना भगवान् का ही अपमान करना है। वे लोग भगवान् को भी नहीं मानते। वे तो देह को ही सब कुछ समझते हैं। यहाँ रहो सुख से खाओ पीओ, मरकर स्वर्गीय सुख भोगो, यही उनका मूलमन्त्र है।

उनसे कोई भगवान् की भगवद्भक्ति की बात कहो, तो वे

सुनेंगे ही नहीं। समस्त देहधारियों में जो सर्वान्तरयामी हरि, आकाश के समान व्याप्त है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शाश्वत, सत्य, सनातन तथा सर्वभूत सुहृद् हैं, जिनका वर्णन चारों वेद करते हैं, उनके गुणानुवाद न गाकर काम्यकर्मों की ही प्रशंसा करते हैं। सकाम कर्मों के ही अनुष्ठान में नित्य निरत रहते हैं।"

राजा ने कहा – "भगवन्! हम देखते हैं, वेदों में सर्वत्र सकाम कर्मों का ही वर्णन है। पुत्रेष्टि यज्ञ क्या है? पुत्र प्राप्ति के लिये यज्ञ। वेदों में अनेकों ऐसे वाक्य हैं, जिसे श्रेष्ठ पुत्र की इच्छा हो वह शहद में अमुक-अमुक वस्तु मिलाकर खाय। स्वर्ग की कामना हो तो अश्वमेध यज्ञ करे। सोमपान करके हम अमृत्व को प्राप्त हो जायँगे। जो चातुर्मास यज्ञ करते हैं, वे ऐसे स्वर्गादि पुण्य लोकों में जाते हैं, जहाँ न शीत का क्लेश है न उष्णता की व्याकुलता है। जहाँ न ग्लानि है न दूसरी ही असुविधायें। इन वचनों से तो यही प्रतीत होता है कि सब कर्म सकाम ही होते हैं। आप मांस मदिरा, मैथुनादि का निषेध करते हैं। किन्तु वेद में इन सब की स्पष्ट आज्ञा है। ऋतुकाल में भार्या के समीप जाना ही चाहिये, यज्ञ से अवशिष्ट मांस को खाना चाहिये, सौत्रामणि यज्ञ में सुरा का पान करना चाहिये। जब हमें इन कामों की वेद आज्ञा देते हैं, तो बलपूर्वक इतना खंडन आप क्यों कर रहे हैं।"

यह सुनकर चमस मुनि हँसे और बोले—"राजन्! इन वचनों का तात्पर्य और ही है, मूर्ख लोग इनका अन्य अर्थ लगाते हैं, मैं इनका भाव आपको समझाता हूँ कि इनका यथार्थ अभिप्राय क्या है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार चमस मुनि ने इन वेद वचनों का अभिप्राय बताया है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कछु पाखंडी अज्ञ अंटकी संट सुनावें।
फलश्रुति वाणी मधुर कहें बहु बात बनावें॥
कामी, क्रोधी, क्रूर, काम्य कछु करम करावें।
भक्ति भक्त भगवान् सबनि कूँ ढोंग बतावें॥
धन वैभव, कुल, रूप, बल, विद्या के अभिमान में।
भरे रहें मन देह नहिँ, भक्तवछल भगवान में॥

वेद निवृत्ति परक है

[१२१३]

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥❀

(श्री भा० ११ स्क० ५ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

मैथुन मदिरा मास वेद विधि मूर्ख बतावें ।
वेद निवृति हित कहे ताहि विधि कहि समुझावें ॥
इच्छा नियमित करन व्याह मख विविध बताये ।
सुत हित कह्यो विवाह यज्ञ आलभन जताये ॥
सौत्रामणि मखमहँ सुरा, सूचि नियम पूरो करै ।
जो विधान इन कूँ कहै, सो नर नरकनिमहँ परै ॥

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महामुनि चमस राजा निमि को उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"हे नरेन्द्र ! संसार में लोगों की मैथुन में मद्य मांस सेवन में, स्वभाव से ही सदा प्रवृत्ति है, शास्त्र में इनके लिये विधान नहीं है । किन्तु इनसे निवृत्त करने के लिये क्रमशः विवाह, यज्ञ, तथा सौत्रामणि आदि में ग्रहण करने की कुछ छूट है । यहाँ इतने ही स्थानों में छूट देने से तात्पर्य इनकी निवृत्ति में ही है, न कि इनके ग्रहण में ।"

शास्त्रो का अर्थ केवल वाक्य पढ लेने मात्र से ही नहीं लगता, सब पूर्वापर का विचार करके अर्थ लगाया जाता है। जो स्वार्थी हैं, वे शास्त्रों के वचनो का अर्थ तोड फोडकर अपने अनुकूल करते हैं। शास्त्र के शब्द तो कामधेनु के समान हैं, उनसे जो जैसा चाहेगा वेसा ही खीच तानकर अर्थ प्राप्त करेगा। एक व्यक्ति थे, उन्हे चाय (चाह) पीने का बड़ा व्यसन था। चाह के बिना वे रह नही सकते थे। किसी ने कहा—"चाय तो अत्यत हानिकारक है, इसका सेवन आप क्यो करते हैं ?" उसने कहा—"अरे भाई, चाह पीने की तो भगवान् की आज्ञा है। श्रीमद्भागवत् गीता मे तो चाह की बड़ा प्रशसा है, भगवान् ने उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है।"

उस व्यक्ति ने कहा—"अरे, क्यो असत्य भाषण करते हो, श्रीमद्भागवत् गीता क्या हमने पढ़ी नही है ? गीताजी मे चाह की प्रशसा तो दूर रही उसका नाम तक नहीं।"

चाह के व्यसनी सज्जन ने कहा—"आपने न सुना हो, मैं सुनाये देता हूँ यह गीता के १५वें अध्याय का श्लोक है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तस्मृतिज्ञानमपोहन च।
वेदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेतान्तकृतवेदविदेव चाहम्॥

यहाँ 'च' और अहम्' दो पद हैं, इनका चाह अर्थ करना अन्याय है, किन्तु व्यसनी अपने मन के अनुसार ही अर्थ लगाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब राजा निमि ने शका की, कि व्यवाय, मास और मद्य की तो वेदों में आज्ञा है। तब महामुनि चमस बोले—"राजन् वेद मे तीन प्रकार के वचन हैं। विधि-वचन, निषेधवचन और सामान्यवचन। जिन कर्मों मे पुरुषों की रुचि नहीं है और वे परमार्थ के लिय आवश्यक है, उनका वेद विधान करता है कि अमुक काम को करना ही चाहिये। जसे

सन्ध्या करने में स्वाभाविक रुचि नहीं, किन्तु वेद की आज्ञा है "नित्य प्रति द्विजातियों को सन्ध्या करनी चाहिये।" इच्छा न रहने पर भी वेद में श्रद्धा रखने वाले लोगों को सन्ध्या करनी ही पड़ती है। जिन कार्यों की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वेद उनका निषेध करता है जैसे परस्त्री गमन न करे। जिनका मन विचलित भी हो वे-वेद की आज्ञा का उल्लङ्घन हो जायगा-इस भय से पाप कर्मों में प्रवृत्त नहीं होते। सामान्य वचन जैसे कर्मकाण्ड के हैं, अमुक यज्ञ में इतनी आहुति दे, श्राद्ध मे पिता के निमित्त इतने ब्राह्मण भोजन करावे। ये सामान्य वचन हैं। अच्छे कर्मों में प्रवृत्ति कराने को बहुत से रोचक वचन कहे जाते हैं, वे फलश्रुति कहलाते हैं, जैसे आँवला खाने से ही मोक्ष हो जाती है, अमुक ने भूल से आँवला खा लिया था, वह तुरन्त वैकुण्ठ को चला गया। ये रोचक वचन हैं। यहाँ तात्पर्य है इतना ही कि आँवला भक्षण पुण्य कार्य है, लाभप्रद है। बुरे कर्मों से हटाने के लिये भयानक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे पीने से बचे हुए जल को जो पीता है, वह कुत्ते के मूत्र को पीता है, उसकी शुद्धि चांद्रायण से होती है। यहाँ तात्पर्य इतना ही है पीने से बचे हुए जल को फिर नहीं पीना चाहिये। यथार्थ वचन सामान्य रूप से कहे जाते हैं जैसे नित्य सन्ध्या करनी चाहिये, इत्यादि-इत्यादि।

अब राजन्! आप ही सोचें—वेद उन्हीं कामों का विधान करेगा, जिनकी ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है। स्त्रीप्रसङ्ग, मांस, मद्य भक्षण इनमे तो लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति हैं। सन्ध्या के प्रचार के लिये कितना प्रयत्न करते हैं, कितनी समितियाँ बनाते हैं, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्यव्रत तथा अन्य तपस्या वैराग्य आदि के लिये लोग गला फाड़-फाड़कर चिल्लाते हैं। कोई सुनता ही नहीं, किन्तु व्यभिचार, मद्य-मांस के प्रचार के लिये कोई समिति नहीं, कोई उपदेशक नहीं, कोई प्रचारक नहीं फिर भी इनका गाँव-गाँव में

घर घर में जन-जन मे प्रचार है। जो प्राप्य वस्तुएँ हैं उनके लिये वेद आज्ञा क्यों देने लगा। अप्राप्य वस्तु के लिये वलक्षण्य होने पर विधान बनाया जाता है। इसलिये जहाँ स्त्रीप्रसङ्ग, मांस, मदिरा की आज्ञा दी भी हो, वहाँ उसका तात्पर्य उनसे चित्त की वृत्ति हटाने में ही समझना चाहिये। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नियमन करने मे ही उनका अभिप्राय समझना चाहिये। इस विषय म एक दृष्टान्त है।

एक बड़े भागवद्भक्त महात्मा थे, वे उस जाति के थे जिस जाति मे मदिरा का अत्यधिक प्रचलन है। उन्हीं की जाति का एक व्यक्ति आया और विनीत भाव से बोला—"महाराज! सुरापान का मुझे व्यसन लग गया है, अनेक प्रयत्न करने पर भी वह छूटता नहीं। क्या करूँ।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा कोई बात नहीं, हम एक नियम बताते हैं, उसी नियम के अनुसार पिया करो।"

उसने कहा—"हाँ महाराज! बताइये।"

महात्मा बोले—"देखो, बाहर कहीं मत पिया करो, घर में भी पीओ, तो भगवान् को भोग लगाकर चोका लगाकर दो बार पिया करो।"

उसने कहा—"महाराज! भगवान् को सुराका भोग कैसे लगेगा?"

महात्मा ने कहा—"कोई हानि नहीं, पुरुष जो अन्न खाता है, उसके देवता भी उसी अन्न को ग्रहण करते हैं।"

यह सुनकर वह महात्मा के सम्मुख प्रतिज्ञाबद्ध हो गया। बाहर जब जाय तभी उसे पीने को हुडक लगे, किन्तु प्रतिज्ञाबद्ध था, घर आते-आते थक जाय, फिर स्नान करे, पूजा करे भोग लगावे तब पीवे। कुछ दिनों में उसे यह झंझट लगा, बड़ी ग्लानि हुई उसका सुरापान का व्यसन सदा के लिये छूट ही गया। अब

आप सोचें—"महात्मा जी ने उससे सुरपान करने के लिये कहा था अवश्य, किन्तु उनका नियम बाँधने मे तात्पर्य, उसे उसके व्यसन से हटाने म था। उनका दूसरा शिष्य कहे कि गुरुजी न तो हमारे सामने उस भगवान् का भोग लगाकर सुरपान की आज्ञा दी थी, इसलिये हमारे यहाँ भी नित्य भोग म सुरा रखा जाय और सबको बाँटी जाय, तो गुरु के ऐसे वचनो का ऐसा अर्थ करना गुरु के साथ अन्याय है। इसी प्रकार वेद का तात्पर्य तो है स्त्री प्रसङ्गादि से हटाने मे, किन्तु जहाँ आज्ञा है ऋतुकाल म भार्या में गमन करना चाहिये। वहाँ इन स्वाभाविक प्रवृत्तियो का नियम बनाया है। वेद विधि से विवाह करके अपनी भार्या बनानी चाहिये। अपना ही भार्या मे गमन करना चाहिये, ऋतुकाल मे ही गमन करना चाहिये अन्य काल मे नहीं। सन्तान की कामना से ही गमन करना चाहिये विषय सुख के लिये नहीं। जिनकी इस ओर की प्रवृत्ति नहीं है उन्हे नैष्ठिक व्रत लेकर रहना चाहिये। इसी प्रकार जिनकी मास भक्षण की प्रवृत्ति है उन्हे यज्ञ करके यज्ञ म अविशिष्ट मास का भक्षण करना चाहिये। मिथ्या हिंसा न करना चाहिये। सुरापान केवल सौत्रामणि नामक यज्ञ में ही किया जा सकता है। केवल सुरापान के लिये कौन सौत्रामणि यज्ञ करे, यहाँ इतना प्रतिबन्ध केवल इन सबसे चित्त को हटाने के लिये ही है।

इसी प्रकार जहाँ धन उपार्जन करने की आज्ञा है, वहाँ यह नहीं है कि धन पैदा करके एकत्रित करते जाओ या उनसे भाँति-भाँति के शरीर को सुख देने वाली सामग्रियो को बढाते जाओ। धन का एकमात्र फल धर्म ही है। जिस धर्म का पालन करने से आत्मसाक्षात्कार हो, मोक्ष हो। धर्म से ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति होती है और उसी से परम शांति की प्राप्ति होती है, किन्तु अज्ञ लोग इस रहस्य को समझते नहीं। वे धनोपार्जन को

मुख्य कर्तव्य समझते हैं। धन पैदा करेंगे, स्वयं सजेंगे अपनी घरवाली को सजावेंगे, जोड़-जोड कर रख जायँगे, उससे धर्म न करेंगे, उसका सदुपयोग न करेंगे, अन्त में नरक मे जॉयगे। उसका उपभोग अन्य लोग करेंगे। आज रथ नहीं, घोड़ा नहीं, गद्दा नहीं, पलंग नहीं, इन्हीं को जुटाते रहते हैं, सिर पर खडी मृत्यु को नहीं देखते। वेद की आज्ञा के विपरीत अर्थ करते हैं।

राजन् ने कहा—"भगवन्! क्षमा करें। आपकी बातो से ही मुझे आपके वचनो में शंङ्का होती है। वेद का तात्पर्य निवृत्ति में है या प्रवृत्ति में है इस बात को तो हम अभी छोड़ देते हैं। उसका तात्पर्य किसमे है यह तो संदेहास्पद बात है, किन्तु कैसे भी सही स्त्रीप्रसंग, मांस भक्षण और सुरपान की आज्ञा तो है ही। चाहे वह विवाह, यज्ञ और सौत्रामणि के समय पर ही क्यों न हो। हमारा तो कहना है कि ये कार्य विहित हैं।"

मुनि ने शीघ्रता से कहा—"नहीं, राजन! वेद की आज्ञा भी इसके लिये नहीं। जहॉ विवाह की आज्ञा है, वहॉ विषय सुख के लिये नहीं केवल संतानोंपत्ति के लिये ही है। जहाँ यज्ञ में पशु बलि का विधान है, वहॉ साक्षात् उसका वध करने में अभिप्राय नहीं है। वहॉ शब्द है "पशु आलभन"। आलभन कहते हैं छूने को यज्ञ में पशु को भली-भॉति लाकर उपस्थित करे उसे छूकर छोड़ दे, मारे नहीं सौत्रामणि यज्ञ मे जहॉ सुरपान की व्यवस्था है वहाँ सुरा को साक्षात् पीये नहीं। सूँघ लेना भी आधा भोजन बताया है। 'घ्राणं अर्ध भोजनम्" दो बार सूँघ कर रख दे। वेद की विधि पूरी हो गयी। फिर राजन्! ये सब बातें त्रेता द्वापर आदि युगों की है कलियुग में तो ऐसे यज्ञो का विधान ही नहीं। तथा आलभन घ्राण आदि का प्रश्न उठता ही नहीं। किन्तु स्वार्थी मूर्ख लोग इस विशुद्ध धर्म को नहीं समझते। वे लोग धूर्त होते हैं, उनकी जिह्वा को मांस का व्यसन पड़ गया है, वे देवी-देव-

ताओं के नाम पर पशुओं को काट-काट कर उन्हीं के मांस को बड़े स्वाद से खाते हैं। ऐसे लोग भी नरक जायेंगे, जो देवी-देवताओं को न मानकर केवल पेट पालने के लिये, स्वाद के लिये, अपने ही लिये मांस पकाकर खाते हैं उनके नरक जाने मे कोई सदेह ही नहीं। जिसके मांस को खाते हैं,वह मरकर मास खाने वाला होता है और फिर इस खाने वाले के मांस को खाता है। जो जो जिसके मास को खायेगा उसे जन्मान्तर में अपना भी मांस उसे खिलाना पड़ेगा।"

राजा ने कहा—"तब तो भगवन्! मांस खाने वाले की कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती।"

मुनि ने कहा—"यह निश्चय ही है, यह शरीर तो नाशवान् है। नाना पाप करके जो धन कमाया जाता है, वह भी यहीं रह जाता है। इस नाशवान् शरीर के लिये दूसरों की हिसा करना, दूसरो को दुःख देना, अन्य शरीरों में अवस्थित अपने ही आत्मा श्रीहरि से द्वेष करना ये सब अच्छी बातें थोड़े ही हैं। ऐसे करने वाले लोगों को अवश्य ही अधोगति होती है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! बहुत से लोगों को हम देखते हैं वे पडित हैं, सन्ध्यावन्दन करते हैं, वेद की विधि से कर्मों को करते रहते हैं। उनकी क्या गति होगी?"

महामुनि चमस बोले—"राजन्! देखिये, बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं, बिना त्याग के शान्ति नहीं। जब तक कैवल्य पद की प्राप्ति नहीं होती, तब तक आप भले ही मूढता को पार कर चुके हों, परम शाति की प्राप्ति न होगी। धर्म, अर्थ और कामरूप जो त्रिवर्ग है इनमे ससार का आवागमन नहीं छूटता। धर्म की पहुँच स्वर्ग तक है। धर्म करोगे स्वर्ग मे पहुँच जाओगे। पुण्य क्षीण होने पर गिरा दिये जाओगे। इस प्रकार गिरना चढ़ना सदा लगा ही रहेगा, एक क्षण के लिये भी शान्ति न मिलेगी। यह तो

अपने आप ही अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना है। जान बूझकर अपना सर्वस्व नष्ट कर देना है। राजन्! आपका प्रश्न था, कि भक्ति हीन पुरुषों का कौन-सी गति होती है, इसका मैंने अत्यंत संक्षेप में उत्तर दिया। ये भक्तिहीन पुरुष अज्ञान को ही ज्ञान समझते हैं, ये लोग विषयों के लिये ही नाना मनोरथ करते रहते हैं। ये आत्मघाती कहलाते हैं, क्योंकि आत्म ज्ञान से वञ्चित रहते हैं। इसीलिये सदा अशांत बने रहते हैं। भक्तों की भाँति मृत्यु के सिर पर पैर रखकर ये त्रिलोकी के बाहर नहीं जा सकते। विकराल काल इनके समस्त मिथ्या मनोरथों को बीच में ही नष्ट कर देता है, ये अकृतकार्य होकर, नाना क्लेश उठाते हैं भगवत् भक्तों की ये निन्दा करते हैं, कथा कीर्तन का विरोध करते रहते हैं। परमार्थ से इन्हें द्वेष है, केवल घर बनाने में, पत्नी को सजाने में, पुत्र को पढ़ाने में, मित्र को खिलाने में, धन को एकत्रित करने में ही लगे रहते हैं। सत्य से, झूठ से, दम्भ से, छल से जैसे भी पैसा पैदा हो वैसा करेंगे। राजद्वार में मिथ्या साक्षी दे आवेंगे, भले आदमियों पर कलंक लगा देंगे। साराश ये धन और कुटुम्ब के लिये सब कुछ कर देंगे। बड़े बड़े विधान बनावेंगे, आगामी वर्ष यह करेंगे, बड़ा घर बनावेंगे, लड़की लड़के का विवाह करेंगे, वाहन लेंगे, यह करेंगे वह करेंगे इतने में ही काल आ जायगा। मनोरथ मन में ही रह जायँगे, धन जहाँ जमा किया है वहीं रह जायगा। स्त्री, पुत्र, मित्र कुटुम्बी सब हाय हाय करते रह जायँगे। बच्चूजी कुछ काल हुब हुब करके विवश होकर यमदूतों के पाशों से बँधकर नरक का मार्ग पकड़ेंगे। यही भक्तिहीन पुरुषों की गति है। भगवान् की पूजा न करने वालों का ऐसा ही अंत है। अब बताइये आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! यह सब तो मैंने सुना। भगवत् विमुखों की गति सुनकर तो मुझे बड़ा वैराग्य हुआ। अब कृपा करके

यह बताइये भगवान् की पूजा किन- किन नामों से और कैसे-की जाय। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग हैं। भगवान् का किस युग मे कैसा रूप रहता है, कैसा वर्ण रहता है। सब गुणों में भक्तगण एक ही रूप का ध्यान करते है, या पृथक्-युग में पृथक्-पृथक् रूप का। यदि पृथक् पृथक् रूप का ध्यान करते हैं तो किस युग में किस रूप का ध्यान किया जाय। इस विषय को और मुझे बता दें।"

यह सुनकर महामुनि चमस बोले—"राजन! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मेरे ये छोटे भाई करभाजन देंगे। ये बड़े त्यागी हैं, साथ में एक पात्र भी नहीं रखते। कर ही इनका एकमात्र पात्र है।"

सूतजी शौनकादि ऋषियो से कह रहे हैं— "मुनियो! यह सुनकर महाराज निमि नव योगेश्वर में जो सबसे छोटे योगेश्वर श्री करभाजन हैं इनकी ओर उत्सुकता भरी दृष्टि से देखने लगे। अब महामुनि करभाजन जिस प्रकार राजा के प्रश्न के उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूगा।"

छप्पय

धरम अरथ अरु काम नरक भू नाक घुमावैं।
पावे बिनु पद परम शान्ति नर कबहूँ न पावैं॥
नित प्रति नव नव सुघर मनोरथ महल बनावैं
तजि घर, सुत, धन सुहृद् मृत्यु के मुखमहँ जावे॥
होवै दुरगति भक्ति बिनु, उभय लोकमहँ नरनि की।
भक्ति भवनमहँ प्रविसि कै, होइ सुगति इन सबनि की॥

—::—

किस युग में किस विधि से पूजा की जाय

[१२१४]

कृत त्रेता द्वापर च कलिरित्येषु केशवः।
नानवर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ५ अ० २० श्लोक)

छप्पय

निमि पूछें-'युग धरम सविधि मुनवर समुझावें।
युग युगमहँ हरि रूप, नाम अरु वरन बतावें॥
करभानमुनि कहें-चारि युग चारि रूप धरि।
सतयुगमहँ वटु बनैं चतुरभुज शुक्ल वरनि हरि॥
तपतैं तब तिनकूँ भजैं, प्रेम करैं तप धाम तैं।
करैं कीरतन हंस मनु, ईश्वर आदि नाम तैं॥

सब समय मे एक ही राग नहीं गाया जाता। भैंरोराग तथा उसकी भैरवी आदि रागिनी सूर्योदय से प्रथम गाये जाते हैं, इसी प्रकार प्रहर दिन चढ़े पर हिंडोल, दोपहर में दीपक राग चौथे प्रहर में श्रीराग, मेघ राग को मेघ के समय में गाते हैं,

---

* महामुनि करभाजन, राजा निमि से कह रहे हैं—"राजन्! सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर और कलियुग ये चार युग हैं। इन चारो युगों में भगवान् के भिन्न भिन्न रूप, भिन्न-भिन्न वर्ण और भिन्न भिन्न प्रधान नाम होते हैं और उनकी पूजा भी युगो के अनुसार भिन्न भिन्न विधियों से हुआ करती है।"

फागुन में सब राग सभी समय गाये जाते हैं। साराश यह है कि सब रागो का समय बँधा है, समय का ही राग अच्छा होता है। सब समय में एक ही वस्त्र नहीं पहने जाते। विवाह, उत्सव के समय नये वस्त्र पहिने जाते हैं और नित्यप्रति साधारण। जाड़े में ऊनी मोटे गरम वस्त्र पहिने जाते हैं। गरमियों में सूक्ष्म शीतल और जालादार। वर्षा म ऐसे पहिने जाते हैं जो सरदी, गरमी और जल से बचा सके। भोजन भी सब समय में एक सा नहीं किया जाता। गरमियो म शीतल, मीठा, मृदुल, पतला और कम नमकीन भोजन होता है। जाडो म उष्ण, गरिष्ट, पौष्टिक खट्टा चरपरा खाया जाता है। वर्षा मे सूखा, खट्टा, शीतोष्ण खाते हैं। जल भी सब समय एक सा नहीं पिया जाता, गरमियों म कोरे घडे का बरफ पडा सुशीतल जल सुखप्रद होता है, अथवा जाडो म कूएँ का तुरन्त निकाला उष्ण जल अच्छा होता है, अथवा दूध चीनी मिलाकर उसम तुलसी, अदरक, काली मिरच गरम गरम पीना सुखदप्रद और हितकर होता है। मनुष्य की चित्त वृत्ति भी सदा एक सी नहीं रहती। कभी सत्वगुण बढ जाता है, कभी रजोगुण और कभी तमोगुण। शरीर भी एक सा नही रहता, कभी छोटा होता है, कभी बडा होता है, कभी पतला होता है कभी मोटा, कभी स्वस्थ होता है, कभी अस्वस्थ। साराश यह है कि ससार परिवर्तनशील है जब जैसा समय होता है, तब उसके अनुरूप ही वैसे उपकरण एकत्रित किये जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने मुनियों से युगाधर्म के विषय म प्रश्न किया तब उन नव योगेश्वरों मे जो सबसे छोटे करभाजन मुनि थे, वे बोले—"राजन् जैसे जैसे युग परिवर्तन हो जाते है, वैसे वैसे ही प्रभु पूजापद्धति मे भी परिवर्तन हो जाता है। अरूप भगवान् युगानुसार रूप रख लेते हैं, अनाम भगवान् के युगानुसार ही प्रधान नाम प्रसिद्ध हो जाते हैं। अवर्ण

भगवान् के युगों के अनुसार ही वर्ण बन जाते हैं। पहिले आप युगो के सम्बन्ध मे समझ ले। जब जेसा युग होता है, तब तेसी ही लोगो का चित्त की वृत्तियाँ बन जाती है। जब सत्वगुण प्रधान समय होता है, उस युग का नाम है सतयुग। भगवान् तो एक हैं, उनके पाने का उपाय भी एक ही है—उनके नामो का कीर्तन करना। किन्तु समय समय पर उनके नाम, रूप, वर्ण और साधनो में कुछ दिखाने को परिवर्तन-सा हो जाता है। वह युग धर्म की महिमा दिखाने के लिए होता है। जगत् त्रिगुणात्मक है। इस त्रिगुणात्मक जगत् को चार युगों मे विभक्त कर दिया गया है। सत्वप्रधान युगो को सतयुग, सत्व और रज प्रधान युग को त्रेतायुग, रजोगुण और तमोगुण मिश्रित युग को द्वापर और तम प्रधान युग को कलियुग कहते हैं। समय के अनुसार ही लोगों की प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं। युगो का कोई आकार बनाता नहीं। जैसे वसन्त आते ही अपने आप वृक्षो मे पतझड होकर फूल निकलने लगते हैं, जेसे समय आने पर ही स्त्रियाँ गर्भधारण के योग्य हो जाती हैं, जेसे समय आने पर ही दाँत दाढी मूछें निकल आती हैं, जेसे समय आने पर दिन हो जाता है, समय आने पर ही रात्रि, उसी प्रकार एक युग बीत जाने पर दूसरा युग अपने आप आ जाता है। जेसा युग आ जायगा, उसी के अनुरूप लोग कार्य करने लगेंगे। प्रभु की पूजा विधि भी बदल जायगी। युगावतार भगवान् के रूप का ध्यान भी बदल जायगा। उनका नाम्नकरण भी बदल जायगा। और उनके कीर्तनों के नाम भी बदल जायँगे। कीर्तन की प्रधानता तो सब युगों में रहेगी क्योंकि बिना कीर्तन के केशव प्राप्ति असम्भव है। केवल उसके प्रकार मे भेद हो जायेगा।

राजा ने पूछा—"महाराज! मुझे इस विषय को तनिक स्पष्ट करके समझावें। सत्ययुग मे भगवान् की पूजा केसे करते हैं।"

महामुनि करभाजन बोले—"राजन्! सत्युग मे लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सत्वगुण की ओर रहती है। सत्वगुण से ज्ञान की वृद्धि होती है। सत्ययुग के लोग स्वभाव से ही ज्ञानी होते थे। जो जितना ही ज्ञानी होगा,वह उतना ही न्यून से न्यून संग्रह करेगा। जो जितना ही अज्ञानी होगा, वह उतना ही अधिक से अधिक संग्रह करेगा। त्याग ही ज्ञान का लक्षण है। त्याग का फल है शांति, संग्रह का फल है अशांति। जिसके पास जितना ही अधिक द्रव्य होगा, वह उतना ही अधिक अशान्त होगा। सत्-युग में कोई घर नहीं बनाते थे इसलिये उन्हे वर्षा, गरमी जाड़े की बाधा भी नहीं होती थी। वे लोग अन्न का संग्रह भी नहीं करते थे। इसलिये उन्हें अन्न का अभाव भी नहीं होता था। जहाँ जाते थे वहाँ उन्हे भोजन मिल जाता था। जब वे संग्रह ही नहीं करते थे, तब अशात क्यों हों? जब अशांति का कारण संग्रह ही नहीं तो अशाति होगी कैसे? इसलिये उस समय के सब लोग शांत होते थे।

जब हम आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का संग्रह करते हैं, तब हम दूसरों के अधिकार को छीनते हैं। भगवान् तो जितने प्राणी बनाते हैं, उनके अनुरूप ही उपयोगी वस्तुओं को बनाते हैं। एक आदमी है, उसका आधसेर अन्न से पेट भर जाता है, यदि वह तीनपाव अन्न का सग्रह करता है, तो मानो उसने पाव भर अन्न की चोरी की। दूसरों का भाग उसने छीन लिया। जो जिसका भाग छीनता है, वह या उसके सम्बन्धी भाग छीनने वाले से वैर करते हैं। इसलिये वैर-भाव सदा वस्तुओ के संग्रह में होगा। जो जितना ही अधिक धनी होगा उसके उतने ही अधिक शत्रु होंगे। धनिक को सभी चींथना चाहते हैं, निर्धन लोग धनी से मन ही मन द्वेष करते हैं। जिसने अधिक प्रतिष्ठा संग्रह करली है उससे मन-ही-मन कम प्रतिष्ठा वाले द्वेष रखते हैं।

इस प्रकार वैर का कारण है संग्रह। सत्ययुग में कोई संग्रह नहीं करते थे, इसलिये सबके सब निर्वैर होते थे। जो जितना ही अधिक संग्रही होगा, वह उतना ही अधिक हृदयहीन होगा। धन का संग्रह करने वाला कभी सहृद नहीं हो सकता। एक विष्णु भगवान् को छोड़कर संग्रही को सदा शंका बनी रहती है, कोई मुझसे माँग न ले। जिसे सर्वदा शङ्का लगी है वह सहृदय कैसे रह सकता है। सत्ययुग में शङ्का का कोई स्थान ही नहीं था, इसलिये सबके सब सहृदय होते थे। जब मनमें वस्तुओं के प्रति मोह होता जाता है, तब कुछ लोगों से राग हो जाता है। कुछ से द्वेष और बहुतों से उदासीनता। जिनसे राग हो जाता है, उन्हें अच्छी-अच्छी वस्तुएँ अधिक देना चाहते हैं, उदासीनों को साधारण वस्तुएँ देते हैं और द्वेषियों को देना ही नहीं चाहते, इस प्रकार असम व्यवहार करने लगते हैं। सत्ययुग में सब एक से थे, इसलिये सबको सब लोग समान भाव से देखते थे। सब-के-सब समदर्शी थे। इतना सब होने पर भी मन और इन्द्रियों का स्वभाव है विषयों की ओर दौड़ना। इन्हें संसार की ओर से रोककर भगवान् की ओर लगाना, इसी का नाम है साधन। इसलिये शम, दम और तपस्या द्वारा सत्ययुग के लोग भी भगवान् की उपासना करते थे।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! सत्ययुग के लोग उपासना कैसे करते हैं। वे किस रूप का ध्यान करते हैं।"

मुनि बोले—"राजन्! सत्ययुग के लोग सूक्ष्मदर्शी होते हैं, वे बाह्य वस्तुओं को महत्व नहीं देते, वे मन, वाणी और शरीर द्वारा तपस्या ही करते हैं। भगवान् के तपस्वी रूप का ध्यान करते हुए कीर्तन करते हैं। भगवान् को तो जो जैसे भजता वे भी उसे वैसे ही भजते हैं। सतयुगी लोगों के कल्याणार्थ भगवान् भी तपोमय रूप रख लेते हैं शुक्लवर्ण सत्वगुण का

द्योतक है। सत्वप्रधान सत्युग में भगवान् का वर्ण शुक्ल होता है। वे चतुर्भुज रूप धारण कर लेते हैं, सिर पर जटाजूट धारण करके वल्कल वस्त्र पहिनते हैं, यज्ञोपवीत पहिनकर कंठ मे रुद्राक्ष की माला धारण करते हैं, कृष्ण मृगचर्म, दण्ड, कमण्डलु धारण करके साक्षात् तप रूप रख लेते हैं। ऐसे ही रूप का सत्युगी लोग निरन्तर ध्यान करते हुए हंस, सुपर्ण वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, मनु, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त, परमात्मा आदि नामों का सङ्कीर्तन करते हैं। उस युग का ध्यान पूर्वक कीर्तन ही प्रधान साधन है। भगवान् के ये सब नाम तप परक है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! त्रेतायुग में भगवान् की कैसे उपासना करते हैं?"

मुनि बोले—"त्रेतायुग मे सत्व के साथ रजोगुण ने भी प्रवेश किया। अब लोगों को अपरिग्रह में कठिनता अनुभव होने लगी। रजोगुण धर्म है लोभ। जो जितना ही रजोगुणी होगा, वह उतना ही लोभी होगा। लोभ होता है अविश्वास से। सम्भव है कल भोजन न मिले, इसलिये आज से ही संग्रह करके रख लो। सम्भव है वर्षाकाल मे वर्षा न हो, इसलिये अभी से कूल बना लो, रजोगुण मे चटक-मटक और दिखावट भी होती है। जैसे सत्वगुण शुक्ल होता है, वैसे ही रजोगुण रक्तवर्ण का होता है। त्रेतायुग में बडी-बड़ी राजधानियाँ बनने लगीं, बड़े-बड़े सामान एकत्रित किये जाने लगे, भगवान् ने भी वैसा ही रूप बना लिया। सत्ययुग मे जैसे ध्यान की प्रधानता थी, अब त्रेता मे भीतरी ध्यान में कठिनता होने से राजस प्रधान बडी-बड़ी अग्नियो के यज्ञयाग होने लगे। लोगों की धर्म में अधिक रुचि होने लगी। कर्मकाण्ड की ओर मनुष्यों का अधिक झुकाव होने लगा। भगवान् ने भी यज्ञ पुरुष का रूप रख लिया। जैसे अग्नि रक्तवर्ण की होती है, वैसे ही भगवान् का वर्ण हो गया।

प्राजापत्य, गार्हपत्य और आहवनीय तीन अग्नियाँ हैं। वेदत्रयी द्वारा इन तीनों अग्नियों में हवन किया जाता है, इसी के प्रतीक स्वरूप भगवान् ने तीन मेखलायें धारण कर लीं। भगवान् के केश भी सुनहरे हो गये। वे हिरण्यकेश चतुर्भुज भगवान् हाथों में स्रुक् और स्रुवा आदि यज्ञ पात्रों को धारण करके कर्मकाण्डी लोगों की इच्छा पूर्ति करने लगे। ब्रह्मवादी धर्मनिष्ठ आर्य पुरुष उन सर्वदेवमय भगवान् का विधि विधान सहित यज्ञों द्वारा पूजन करते और विष्णु, यज्ञपुरुष, पृश्निगर्भ, सर्वदेवमय, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामों से कीर्तन करने लगे। त्रेतायुग के लोग यज्ञ करते हुए वेदमन्त्रों से भगवान् के नामों का कीर्तन करते थे। उस युग में यज्ञों के साथ-साथ ही नाम कीर्तन होता था। नामकीर्तन के बिना यज्ञयागादि व्यर्थ हैं, किन्तु यदि यज्ञ में मन्त्र, तन्त्र, देश, काल अथवा अर्थ में कोई त्रुटि भी रह जाय और भगवान् के नामों का कीर्तन कर दिया जाय तो वे सब त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। वेद, यज्ञादि समस्त क्रियाओं की न्यूनता भगवान् के नामस्मरण से दूर हो जाती हैं। इसलिये यज्ञों में वैदिक तान्त्रिक मन्त्रों का कीर्तन होता था।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! मैंने सत्य तथा त्रेता इन दो युगों के धर्म उनमें होने वाली भगवान् की पूजा के सम्बन्ध में सुना। अब मैं द्वापर युग में भगवान् के वर्ण और उनकी पूजा के सम्बन्ध में और सुनना चाहता हूँ। द्वापर में लोग भगवान् के कैसे रूप का किस ढंग से पूजन करते हैं?"

इस पर करभाजन मुनि बोले—"राजन्! द्वापर में सत्वगुण तो अत्यन्त न्यून ही हो गया, रजोगुण के साथ तमोगुण भी आ गया। तमोगुण का वर्ण कृष्ण होता है। अतः भगवान् भी काले हो गये। त्रेतायुग में हवन की प्रधानता थी, किन्तु द्वापर में

पूजन की प्रधानता हो गयी। हवन के पूर्व भगवान् का बड़े विस्तार के साथ पूजन किया जाने लगा। द्वापर के पुरुष अत्यन्त लोभी हो गये, यहाँ तक राज्य, पाट, धन, वैभव के लिये सगा भाई सगे भाई का, पुत्र पिता का वध करने लगे। लोभ हटाने का साधन यह है कि धन को शुभकर्मों में व्यय करे, दान करे; इसीलिये द्वापर पूजाप्रधान युग हो गया। श्यामवर्ण पीताम्बर धारी भगवान् की पूजा करने लगे। उस युग में भगवान् पाञ्चजन्य शङ्ख, सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, खड्ग, धनुष, बाण, हल तथा मुसल आदि आयुधों को धारण करने लगे। कौस्तुभमणि, वैजन्ती माला आदि बाह्य चिन्हों से तथा श्रीवत्सादि शारीरिक चिन्हों से सुशोभित होने लगे। जैसे त्रेता में तो हाथ में स्रुक् स्रुआ आदि यज्ञपात्र रखते थे, किन्तु युद्ध प्रधान युग होने से द्वापर में विशेष अस्त्र ही रखने लगे। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इस प्रकार चतुर्व्यूह रूप से षडैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् की जो छत्र-चमरादि राजचिन्हों से युक्त हैं, उनका वैदिक और तान्त्रिक विधि से अर्चन करने लगे। पूजन के अनन्तर महापुरुष नर-नारायण, महापुरुष विश्वेश्वर, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा सर्व भूतात्मा इन नामों का कीर्तन करने लगे। चतुर्थी लगाकर बारम्बार नमस्कार करने लगे। द्वापरयुग का मुख्य धर्म पूजन के सहित नामसङ्कीर्तन बताया है।

राजा ने कहा—"भगवन्! कलियुग के विषय में मैं विशेष रूप से सुनना चाहता हूँ। कलियुग में भगवान् के कैसे रूप का ध्यान करें, कौन से सुगम साधन से संसार सागर को पार करें, कलिकाल युग का साधन कौन-सा है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो महामुनि करभाजन ने जैसे कलियुग में भगवान् के रूप का उनकी प्राप्ति के लिये मुख्य साधन

का वर्णन, राजा निमि से किया है, उसे मैं आगे कहूँगा। आप समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

त्रेतमहँ मख रूप त्रयामय स्रुक् स्रव धारी।
रक्तवरन भुज चारि रूप धरि रहैं मुरारी॥
पृश्नि गर्भ उरुगाय, वृषाकपि, विष्णु, उरुक्रम।
यज्ञ आदि ले नाम करैं कीर्तन नर अनुपम॥
द्वापरमहँ कारे बने, पीताम्बर आयुध सहित।
तन्त्र वेदविधितैं तिनहिं, पूजै नर चित समाहित॥

कलिकाल का युग धर्म

[१२१५]

कृष्ण वर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ५ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

नर नारायन वासुदेव सङ्कर्षन आदिक ।
नाम कीरतन करैं पूजि प्रभु श्रेष्ठ उपासक ॥
कृष्णकान्तिमय कृष्ण वरन कलिकाल सपार्षद ।
करि सकीर्तन यज्ञ सहजमहँ पावहिं परमपद ॥
राम कृष्ण अवतार गुन, नामनि को कीर्तन करैं ।
केवल कीर्तन ही करत, नर भवसागर तैं तरैं ॥

युगधर्म को समझकर जो उपासना करते हैं, उन्हें शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। जो युग धर्म के विपरीत आचरण करते हैं, उन्हें नाना क्लेश उठाने पड़ते हैं। भगवान् का नाम तो टेढ़े सीधे

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं "राजन्! योगेश्वर करभाजन कलियुग में भगवान् की उपासना की विधि बताते हुए राजा निमि से कह रहे हैं— हे नरेन्द्र! बुद्धिमान् पुरुष कलिकाल में कृष्णवर्ण वाले साङ्गोपाङ्ग आयुध और पार्षदों से युक्त कृष्णकान्तिमय कृष्ण भगवान् के सङ्कीर्तन प्रधान यज्ञों द्वारा पूजन करते हैं।"

जैसे भी लिया जाय, तैसे ही हितकर है, किन्तु युगानुरूप लेने से उसमें सरलता होती है। जो केवल कीर्तन को साधारण समझकर ध्यान, मख तथा पूजन पर विशेष बल देते हैं उनकी सिद्धि में सदेह है। वैसे ये साधन तो है ही, इनसे असंख्यों का उद्धार हुआ ही है, किन्तु वह समय दूसरा था, उस युग में स्वाभाविक इन साधनों में अनुराग होता था। ये परम शुभ कर्म न तो अनुपयोगी ही हैं और न व्यर्थ, किन्तु उनके लिये पात्रता का अभाव है। जो इसके पात्र हों करें। सर्व साधारण के लिये तो संकीर्तन प्रधान यज्ञों का आचरण ही श्रेयस्कर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने कलियुग के सम्बन्ध में योगेश्वर करभाजन जी से पूछा, तो वे कहने लगे—राजन्! कलिकाल बड़ा ही दारुण समय है, इसमें तमोगुण की ही प्रधानता होती है। तमोगुण का वर्ण होता है काला, इसलिये भगवान् भी कृष्ण वर्ण के हो जाते हैं। जैसे सभी वर्णों का समावेश कृष्ण वर्ण में हो जाता है वैसे ही समस्त अवतारों का समावेश इन कृष्ण वर्ण के रामावतार और कृष्णावतार में हो जाता है। इन कृष्णकान्तिमय कृष्ण वर्ण के अवतारों की अङ्ग उपाङ्गों आयुध तथा पार्षदों सहित सकीर्तनप्राय यज्ञों द्वारा पूजन करे मानव रूप रखकर त्रेता और द्वापरादि युगों में जो भगवान् ने मनोहारिणी लीलायें की हैं, उनको श्रवण करे और उन्हीं लीलाओं के अनुरूप नाम ले-लेकर भगवान् की भक्ति करे! भगवान् के अवतार चरित्रों का उनके श्रुतमधुर नामों का श्रवण कीर्तन करे। उन्हीं के रूप का स्मरण करे। भगवान् के अर्चा विग्रह स्थापित करके उनका पाद सेवन, अर्चन और वन्दन करे, उनमें दास्य और सख्य भाव स्थापित करे तथा उन्हें ही आत्म निवेदन कर दे। सारांश यह है जैसे भी हो अवतारों के नाम-संकीर्तन में

मन को लगा दे। उनकी ललित लीलाओं को स्मरण करके चरणों में प्रणाम करे।"

राजा ने पूछा—महाराज! चरणों में कैसे वन्दना की जाय?"

मुनि बोले—"राजन्! भगवान् के अवतार तो अनेकों हैं, किन्तु कलियुग में राम और कृष्ण इन दोनों अवतारों की ही विशेष मान्यता रहती है। जिनके इष्ट स्वयं संक्षात् श्रीकृष्ण है, वे उनकी भक्तवत्सलता को स्मरण करके प्रार्थना करें 'हे शरणागत वत्सल! हे महापुरुष! आपके चरणारविन्द सदा ध्यान करने के योग्य हैं। माया कृत जो पराभव है, यह जो संसारी मोह है, उस मोह को ये चरणारविन्द हरने वाले हैं। इन चरणों में जो जिस इच्छा से आता है, उसकी वह इच्छा अवश्य पूरी हो जाती है। क्योंकि ये वांछितफल दाता हैं। परम तीर्थ स्वरूप होने से सर्वसाधारण की तो बात ही क्या, शिव और ब्रह्मादि देवों द्वारा भी वन्दित तथा पूजित है। संसार रूप गहन वन में भटकते हुए बटोहियों के लिये ये ही एकमात्र शरण हैं। सेवकों के दुःखों को सदा दूर करने वाले हैं। इस अगाध अपार संसार सागर से उस पार पहुँचाने के निमित्त सुदृढ़ सुन्दर सुखकर पोत हैं। ऐसे आपके पुनीत पाद-पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।'

जिनके इष्टदेव भगवान् श्री रामचन्द्रजी हों वे इस प्रकार प्रार्थना करें—'हे धर्मावतार! हे मर्यादापालक! हे महापुरुष! आपने भक्तों को सुख देने के लिये कैसी-कैसी करुणापूर्ण लीलायें की हैं। आपके चरणारविन्द कितने मृदुल तथा कोमल हैं। अवध में आप रहते थे, तो आपके चरणों को भगवती जनकनन्दिनी अपने कमल से भी कोमल करों से संकोच के सहित दबाती थीं, इतने पर भी आप सो कर जाते थे। फिर वे ही चरणारविन्द पिता दशरथ जी की आज्ञा से सुरगण वांछित

दुस्त्य राज्य वैभव को त्याग कर एक वन से दूसरे वन में कँकड़ीली पथिरीली भूमि में घूमते रहे। उनमें पादत्रान भी नहीं थे। उनमें जो कुश कंटक तथा कंकड़ आदि चुभे वे भक्तों के हृदय को अभी तक करक-करककर व्यथित बना रहे हैं। वन में तो आप अपनी प्रिया तथा अनुज के साथ शनैः-शनः चलते होंगे किन्तु जब पंचवटी में आपकी प्रिया ने माया के मृग बने मारीच को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की और आपने उनके अभीष्ट मृग को लाने का वचन दिया तो आप नगे ही चरणों से उस माया के मृग के पीछे दौड़े। ऐसे उन परम मृदुल पादपद्मों में हम पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं। इस प्रकार राजन्! कलियुग में राम-कृष्ण इन अवतारों की चरण वन्दना करे। वास्तव में राम और कृष्ण दो नहीं एक है। जैसे दिन और रात्रि मिलकर एक दिन होता है, वैसे ही राम और कृष्ण मिलकर ही पूर्णावतार होता है। राम ही ने कृष्ण का रूप रख लिया है, इन दोनों में जो भेद-भाव करते हैं वे सच्चे भक्त नहीं। इसलिये इन्हीं के नामों का कीर्तन करे सम्मिलित या पृथक पृथक्। जैसे—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीता राम॥
श्रीराम जय राम जय जय राम।

इस प्रकार नाम संकीर्तन द्वारा भगवान् की पूजा करे। यही कलियुग का युगधर्म है। भिन्न-भिन्न युगों में भक्तवृन्द अपने-अपने युग के अनुरूप वर्ण, नाम और रूपादि से उन परात्पर प्रभु की उपासना करते हैं। वे सर्वप्रथम सच्चिदानन्द प्रभु समस्त पुरुषार्थों के एक मात्र अधीश्वर हैं, उनकी उपासना ही देहधारियों का मुख्य कर्तव्य है। इन चारों युगों में से कलियुग

ही सबसे श्रेष्ठ युग है। इसीलिये गुणज्ञ सारग्राही सज्जन पुरुष सबसे अधिक इसी युग की प्रशंसा करते हैं, इसे ही सबसे अधिक प्रिय मानते हैं।

चौंककर राजा ने पूछा—"अजी भगवन्! आप यह कैसी विपरीत बात कह रहे हैं। कलियुग तो पापप्रधान युग है, तमोगुण की प्रधानता होने से लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ही ओर होती है। आप इस अधम युग की इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं।"

यह सुनकर गम्भीर होकर महामुनि करभाजन बोले—राजन्! आपका कथन यथार्थ है, वास्तव में कलियुग समस्त दोषों की खान है। यह भी आपका कथन सत्य है कि तमोगुण की प्रधानता होने से लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ही ओर होती है, किन्तु इतना सब होने पर भी राजन्! इस कलियुग में एक इतना भारी गुण है कि इसके सब दोष ढक जाते हैं। अन्य लोगों की बात मैं नहीं कहता, जो साधक लोग हैं, उनके लिये इस युग में बड़ी सरलता है। देखिये, सत्ययुग में सहस्रों वर्ष ध्यान करते थे, तब भी किसी-किसी को कठिनता से सिद्धि प्राप्त होती थी। त्रेता में कितना श्रम करके कितना द्रव्य व्यय करके यज्ञ यागों का सम्भार जुटाया जाता था, मन्त्र में विधि में कुछ भी त्रुटि रह गयी, सब गुड़ गोबर बन गया। द्वापर में कितनी तान्त्रिक विधियों का जाल बिछाया जाता था। कितना महान् श्रम किया जाता था, तब कहीं जाकर सिद्धि होती थी। किन्तु इस कलियुग में केवल भगवान् के नाम संकीर्तन से ही सम्पूर्ण स्वार्थ की सिद्धि हो जाती है। अब आप ही बताइये अन्य युगों से प्रशंसनीय युग यह हुआ या नहीं। सत्ययुग त्रेता में तो यही बात विशेष होती है कि सब लोग धर्मात्मा होते हैं, सब लोग बड़ी आयु वाले होते हैं, सब सुन्दर

के होते हैं, किन्तु भगवान् को पाने में तो बड़ा श्रम करना पड़ता है। कलियुग में सब इनके विपरीत होने पर भी साधन

की तो सरलता है। राम राम रटो और भवसागर से पार हो जाओ।"

राजा ने कहा—"भगवन्! अन्य युगों में तो अनेक लाभ हैं, देवताओं के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। इन्द्रादि देव सशरीर यज्ञादिकों में भाग लेने आते थे। अन्य युगों में पेट पालन करने को इतना श्रम नहीं करना पड़ता था। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी, इस कलियुग में तो अधर्म और पापाचार के अतिरिक्त मुझे कोई लाभ दिखायी देता नहीं।"

इस पर बल देकर करभाजन मुनि बोले—"राजन्! मैं अन्य लाभों को कोई महत्त्व नहीं देता। जन्म मरण के चक्र में पड़कर घूमते हुए प्राणियों का भगवन्नाम संकीर्तन से बढ़कर मैं और किसी भी लाभ को नहीं समझता। स्वादिष्ट भोजन मिल जाय इससे क्या लाभ? सुन्दर सुन्दर वस्त्र, उत्तम उत्तम वाहन, बहुत बड़ी आयु, निरोग शरीर ये सब वस्तुएँ मिल जायँ और जन्म मरण का चक्कर न छूटे तो इन वस्तुओं से क्या होता है। जिस नाम संकीर्तन से संसार बन्धन छूट जाता है इससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं।

एक धनिक है, वह अपनी सुन्दर युवती पत्नी को सब प्रकार के सुख देता है। सुन्दर से सुन्दर शैया देता है, उत्तम से उत्तम आभूषण देता है, वस्त्र, भोजन, सेवक, वाहन सभी का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ प्रबन्ध करता है, किन्तु उसे अपनी शैया स्पर्श नहीं करने देता, तो उसके लिये ये सुख किस काम के? इसी प्रकार जिन संसारी सुखों से भगवान् की प्राप्ति न हो वे व्यर्थ हैं। नामसंकीर्तन एक ऐसा सरल सुगम सर्वोपयोगी सुखद साधन है कि इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से परम शान्ति प्राप्त होती है। बीच बीच में काम क्रोध जन्य बहुत से विघ्न आते हैं, किन्तु उस समय भी नाम का सहारा न छोड़े, नामसंकीर्तन को करता ही जाय, एकान्त में रो रोकर प्रभु से प्रार्थना करे कि 'प्रभो, मुझे इस विषयरूपी विष से बचाओ,

मुझे अपने चरणों मे लगाओ, जिह्वा से अपने सुमधुर नामों को लिवाओ। इस प्रकार एकमात्र भगवन्नाम के आश्रय से ही सब विघ्न मिट जायेंगे, प्राणियों को प्रभु पादपद्मों की प्राप्ति हो जायगी। मैं तो कलियुग की इसी विशेषता पर मुग्ध हूँ कि इस युग म केवल भगवन्नाम कीर्तन से ही सब कुछ प्राप्त हो सकता है।"

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! सरल साधन की दृष्टि से तो कलियुग श्रेष्ठ ही है।"

महामुनि करभाजन बोले—"हाँ राजन्! साधन की ही दृष्टि से तो मैं कह रहा हूँ, वैसे तो यह कलियुग, बडा दुष्ट युग है, पाप का भाई ही है। किन्तु नामसंकीर्तन का सुलभता ने ही इसके महत्व को बढा दिया है, इसीलिये सत्ययुग त्रेतादि युगों में रहने वाले पुरुष भी इस कलियुग में जन्म लेने के लिये लालायित बने रहते हैं, क्योंकि भगवान् की भक्ति का प्रचार कलियुग में ही होता है। भक्तगण कलियुग में ही विशेष उत्पन्न होते हैं। अन्य युगों मे तो किसी मे सांख्ययोग की, किसी में कर्मकाण्ड की, किसी मे उपासना की प्रधानता होती है, किन्तु कलियुग मे तो केवल भक्ति की ही विजय है। कलियुग में जहाँ तहाँ बहुत से भक्त उत्पन्न होकर भक्तिमार्ग का प्रचार प्रसार करेंगे। स्थान-स्थान पर बहुत से भक्त अपनी संकीर्तन की सुमधुर ध्वनि से जगत् का उद्धार करेंगे।

राजा ने पूछा—"भगवन्! कलियुग में कहाँ कहाँ भक्त उत्पन्न होंगे?"

हँसकर महामुनि करभाजन बोले—"राजन्! जैसे नपुंसक स्त्री, पुरुष, वेश्याओं का जन्म सभी देशा में, सभी जातियों में हो सकता है उसी प्रकार भगवत् भक्तों का जन्म सभी प्रदेशों में सभी वर्णों में हो सकता है। कलियुग में भिन्न भिन्न देशों में भक्त अधिक होंगे।

राजा ने पूछा—"महाराज ! द्रविड़ देशों में क्या विशेषता है ? महर्षियों ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित यह गंगा यमुना के मध्य का देश भूमि में सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। उत्तराखण्ड को सभी ने परमपवित्र प्रान्त माना है, सभी राजर्षि राज्य छोड़कर उत्तर दिशा की ही ओर गये हैं। भगवान् के जितने अवतार हुए हैं, सब यहीं हुए। दक्षिण के देश तो कोई पवित्र देश नहीं, उन देशों में तो अनार्यों की विशेषता है।"

हँसकर मुनि बोले—"राजन् ! जो स्वयं पवित्र देश हैं उन्हें क्या पवित्र करना। वृन्दावन अयोध्या आदि भगवान् की लीलाभूमि तो भगवान् की चरणरज से ही पवित्र हो चुकी है। काशीजी विश्वनाथ की पुरी है, बदरिकाश्रम मे भगवान् नर-नारायण अब तक निवास करके लोक का कल्याण करने के निमित्त तप करते हैं। जो पवित्र देश नहीं हैं उन्हें ही तो पवित्र करना है। इसीलिये तो अवध कुलमंडन दशरथ नन्दन मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र नंगे पैरों से ही राज्यपाट छोड़कर दक्षिण दिशा की ओर चल दिये। तब दक्षिण मे अनार्यों का ही प्राबल्य था भगवान् ने उन देशों को पावन बनाया, राक्षसों को जीता और भगवान् ने रामेश्वर की स्थापना की। तब से ये देश भी पावन बन गये। दक्षिण मे और पूर्व में भी कुछ देश ऐसे हैं जो निषिद्ध माने जाते हैं, किन्तु उन देशों मे जो पवित्र नदियाँ हैं, उन नदियों के दोनों तट की योजन-योजन भूमि पवित्र मानी जाती है। जैसे मगध देश पवित्र नहीं है, किन्तु मगध मे जहाँ-जहाँ; पुनपुन नदी है उसके दोनों किनारे की भूमि पवित्र है। गयापुरी मगध में है तो भी पवित्र है। इसी प्रकार दक्षिण के देश उतने पवित्र नहीं है, किन्तु उनमे बहने वाली ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, महापुण्या, कावेरी नदी, प्रतीची कावेरी तथा महानदी आदि सरितायें परम पावन

मानी गयी हैं। जो लोग इन नदियों के किनारे पर रहकर इनके परम पावन पयका प्रेम पूर्वक पान करते हैं, उनको देश जन्य दोष नहीं लगता, वे प्रायः शुद्धचित्त होकर भगवान् वासुदेव के भक्त हो जाते हैं। इसलिये दक्षिण देश को कलियुग में भक्ति भगवती की जन्म भूमि कहा है। वैसे भक्त तो सर्वत्र होते हैं, वृन्दावन तो भक्तों का आश्रम ही है, सभी ने व्रज मे ही आकर आश्रय पाया है, किन्तु मथुरा प्रदेश त्रिभुवन मे नहीं गिना जाता। मथुरा तो तीनों लोकों से न्यारी है। भक्त जिस देश मे भी उत्पन्न होगा, उस सम्पूर्ण देश को पावन बना देगा। फिर चाहें वह कीकट देश ही क्यों न हो। भक्त का एक मात्र कार्य है भगवान् की अनन्य भाव से निरन्तर भक्ति करते रहना।"

इस पर महाराज निमि ने पूछा—"भगवन ! मुझे एक शङ्का रह गयी। जो सर्वात्मभाव से भगवान् के भजन में विलीन हो गये हैं, उन्हें देव पूजन पितरों का श्राद्ध तर्पण करना चाहिये या नहीं ?"

यह सुनकर महामुनि करभाजन बोले—"राजन् ! देवता, पितर तथा ऋषि आदि उन्हीं सर्वान्तरयामी प्रभु के अंग हैं, इनके पूजन करते रहने में हानि ही क्या है। जैसे ज्ञानी पुरुष का अन्तःकरण विशुद्ध बन जाता है, उसे बाहरी स्नान की आवश्यकता नहीं। वह विधि निषेध के बन्धन में नहीं, तो भी स्वभावानुसार वह स्नान कर ही लेता है। उसी प्रकार जिसने समस्त काम्य-कर्मों को छोड़ दिया है, जो सर्वात्मभाव से शरणागत वत्सल सर्वेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र की शरण में चला गया है, तब फिर वह देव ऋण, ऋषि ऋण तथा पितृ ऋण सभी से छूट जाता है। राजन् जो दिवाला निकाल चुका है, फिर वह नियमानुसार किसी का ऋण देने को विवश नहीं। दिवाला निकाल कर पुनः पैदा करके वह किसी का ऋण चुकाता है

तो उसकी विशेषता है। इसी प्रकार जिसने घर द्वारा कुटुम्ब परिवार सबको त्याग कर श्रीकृष्ण की सेवा ही अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया है उसे देवता, पितर, भाई, बन्धु, पत्नी, पुत्र तथा परिवार वाले के प्रति कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता। वह न तो विधि वाक्यों का दास है न किसी का ऋणी है। यदि वह करता है तो कोई दोष नहीं। उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर है। प्रभु पूजन के साथ अन्य देवता पितरों का पूजन करे अथवा न भी करे।"

राजा ने कहा—"महाराज! देखिये, जब तक शरीर है, मन है, इन्द्रियाँ हैं तब तक शरीर से पाप कर्मों के होने की सम्भावना है। मान लो भक्ति में ही लगे रहे और स्वभावानुसार कोई पाप बन गया, तब नरक जाना ही पड़ेगा, क्योंकि पापों का या तो प्रायश्चित्त करे या भोगे। और कोई छुटकारे का उपाय ही नहीं। जब भक्त प्रायश्चित्तादि कर्म न करेगा, तो वह पापों से कैसे छूटेगा?"

इस पर हँसकर महामुनि करभाजन बोले—"राजन्! जो प्रातः से सायकाल पर्यन्त और सायकाल से प्रातः पर्यन्त भगवत् सेवा में ही संलग्न रहता है उससे पाप कर्मों के होने की सम्भावना ही नहीं, उसे पाप करने का अवकाश ही कहाँ। फिर भी यह चित्त बड़ा चंचल होता है। मन से या शरीर से अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म बन भी जाय, तो उसके पाप को उसके हृदय में विराजमान भगवान् नाश कर देते हैं। पाप की खिंची कालिमा को वे कलिकल्मषहारी कशव धो देते हैं। राजन्! पाप होता है विषयों में आसक्ति के कारण। विषयी लोगों को विषय के सेवन में सबसे अधिक सुख मिलता है, इसलिये वे पाप के परिणाम को जानते हुए भी उसे नहीं छोड़ सकते। भगवत् भक्त ने तो एक बार भजन के सुख को अनुभव कर लिया है।

यदि भूल से उसकी प्रवृत्ति कभी विषयों में हो भी जाय, तो फिर उसे स्वयं श्रीहरि पश्चात्ताप कराके उसके पापों को भस्म कर देंगे। इसलिये पापों का चिन्तन ही न करे। पापों से अधिक बलवान तो भगवान् का नाम है। निरन्तर नामों का कीर्तन करता रहे। नाम का रस मिलने पर ये विषय सुख स्वयं तुच्छ प्रतीत होंगे। राजन्! यह मैंने भगवान् के युगधर्म की पूजा का वर्णन किया अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो नवयोगेश्वरों के साथ महाराज निमि का जो सम्वाद हुआ था, उसे नारदजी वसुदेव जी से कह रहे हैं। इतनी कथा सुनाकर नारदजी ने वसुदेव जी से जो कहा उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

या कलि गुन तैं रीझ जनम कलि महँ चाहैं सुर।
होवैं कलिमहँ भक्त करैं कीर्तन धरि हरि उर॥
तजि सब विषय विलास शरन हरि की जे जावै।
सब रिन तैं ह्वै उरिन श्याम के धाम सिधावैं॥
अशुभ करम यदि भूल तैं, कबहुँ भक्त तैं बनि परैं।
तिनकूँ शरनागतवछल, अघहारी श्रीहरि हरैं॥

श्री वसुदेव-नारद सम्वाद की समाप्ति

[१२१६]

इतिहासमिमं पुण्य धारयेद् यः समाहितः ।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥*
(श्री भा० ११ स्क० ५ अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

नव योगेश्वर दयो ज्ञान निमिकूँ हैं प्रमुदित ।
अति प्रसन्न नृप भये गये हैकें मुनि पूजित ॥
नारद मुनि वसुदेव प्रश्न को उत्तर दीन्हो ।
शूर तनय ने ब्रह्म तनय को आदर कीन्हो ॥
मुनि बोले वसुदेवजी ! तुम सहपत्नी धन्य अति ।
जगमहँ जिनके सुत भये, वासुदेव श्रीजगत्पति ॥

ससार में धन्य वही है, जिसका भगवान् से कोई सम्बन्ध जुड जाय। भगवान् का पिता, पुत्र, शिष्य, सेवक, सखा, सुहृद, पत्नी, भक्त अथवा अनुरक्त बन जाय। उनकी कथा कहने सुनने वाला, नामगुण कीर्तन करने कराने वाला, उनकी सेवा, पूजा,

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षत् से कह रहे हैं—"राजन् ! यह नारद वसुदेव सम्वाद अति पवित्र है, इस इतिहास को जो समाहित चित्त से धारण करता है, वह इस लोक मे मोह को नाश करके ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।"

अर्चा, वन्दना आदि करने कराने वाला कोई भी क्यों न बन जाय, किसी भी प्रकार उससे कुछ सम्बन्ध स्थापित हो जाय, तो बेड़ा पार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् श्रीकृष्णजी ने स्वधाम पधारने का विचार किया, तब उन्होंने वसुदेवजी को तत्व ज्ञान का उपदेश देने के लिये देवर्षि नारदजी का आह्वान किया। भगवान् की इच्छा समझकर वीणापाणि भगवान् नारद वसुदेवजी के समीप आये। वसुदेवजी ने उनसे भागवत धर्मों के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसी प्रश्न का उत्तर देते हुए नारदजी ने ऋषभ देवजी से इन्द्र पुत्री जयन्ती में उत्पन्न कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन इन नौ योगेश्वरों के साथ जैसे राजा निमिका सम्वाद हुआ वह सब इतिहास संक्षेप में सुनाया। राजा ने नौ प्रश्न किये और क्रमशः नवों भाइयों ने उनके उत्तर दिये। इन प्रश्नोत्तरों में सूत्र से समस्त भागवत धर्म निहित है, इसी का विस्तार भगवान् और उद्धवजी के सम्वाद में आगे किया जायगा। नारजी ने वसुदेव जी को नवयोगेश्वरों के इतिहास का उपसहार करते हुए कहा—"राजन्! नवयोगेश्वरों के मुख से मिथिलाधिप महाराज निमि भागवत धर्मों का उपदेश सुनकर परम प्रमुदित हुए। फिर उन्होंने उपाध्यायों के सहित उन सभी योगेश्वरो का विधिवत् पूजन किया। राजा की, की हुई पूजा को शास्त्रीय विधि से ग्रहण करके वे सभी सिद्ध योगेश्वर सबके देखते-देखते वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। महाराज निमि ने जिस प्रकार योगेश्वरों से धर्म सुने थे, उनका उन्होंने विधिवत् पालन किया। उन धर्मों के पालन करने से राजा को परम शान्ति हुई और उन्हे अन्त में परमपद की प्राप्ति हुई।"

नारदजी वसुदेवजी से कह रहे हैं—"हे राजन्! जिस प्रकार

निमि ने भागवत धर्मों के आचरण से परमपद की प्राप्ति की उसी प्रकार आप भी इन धर्मों का आचरण करके परमपद पावें। आप ससार स असङ्ग रहकर श्रद्धा पूर्वक स्थिर चित्त से इन धर्मों का अनुसरण करो। वेसे तो आपके लिये कुछ कर्तव्य शेष हो नहीं रहा, क्योंकि सर्वान्तर्यामी जगत् पिता परमात्मा मे तुमने और तुम्हारी पत्नी ने पुत्र भाव स्थापित कर लिया है। आप उन्हें अत्यत प्रेम भरी दृष्टि से देखते हो, भगवान् का किसी भाव से देख से उसका कल्याण है। तुम उन्हे प्रेम से भर कर आलिङ्गन करते हो, सिर सूंघते हो, मुख चूमते हो, प्यार करते हो, उनसे मीठी-मीठी प्रेम मे सनी वातें करते हो, उन्हे मिश्री से भी मीठा वताते हो, उन्हें गुलगुला कर हँसते हो, अपने हाथ से खिलते पिलाते हो, साथ-साथ सोते हो, एक आसन पर बिठा-कर अपने हाथ से खिलाते हो, अपना जूठा उन्हे देते हो, उनका जूठा तुम खाते हो, भगवान् के साथ इस प्रकार प्रेम का व्यवहार करने से तुम दोनों का अन्तःकरण विशुद्ध वन गया है। विशुद्ध अन्तःकरण वालों से सभी प्यार करते हैं। जिनके हृदय में कपट है, मुख से तो और कुछ कहते है, मन से और कुछ सोचते हैं एसे कलुषित हृदय वाला से कोई प्रेम नहीं करता। राजन्! आप बडभागी हैं, चाहें आप उन्हें भगवान् नहीं मानते। आप न मानें उनके भगवान् होने मे तो कोई सन्देह है ही नहीं। वे तो अपनी भगवत्ता दिखायेंगे ही। आप मिश्री को मिश्री न मानें, उसे अंधेरे मे भी खायँ, मुख को तो मीठा कर ही देगी, बढ़े हुए पित्त का तो शमन कर ही देगी। इसी प्रकार आप पुत्र भावसे ही सही उनसे प्यार तो करते ही हैं। यह प्राणी किसी से नहीं करता। ससारी रूप से आकर्षित होकर उसे चाहता है, ससार रूप नश्वर है, क्षणभगुर है, अन्त मे दुःख देने वाला है। भगवान् से सम्बन्ध हो जाय तो फिर चिन्ता नहीं, क्योंकि भगवान् तो नित्य है

शाश्वत है। देखो, शिशुपाल, दन्तवक्र, पौण्ड्र, शाल्व तथा रुक्मी आदि आसुरी प्रकृति के राजा लोग भगवान् से द्वेष करते थे। उन्हें भगवान् मानना तो पृथक रहा, शुद्ध क्षत्रिय राजा भी नहीं मानते थे। सम्बन्धी होने से वे भगवान् के साथ-साथ उठते बैठते थे, उनकी चलन, चितवन, चपलता चंचलता, चातुरी तथा चेष्टाओं को निहारते थे। द्वेष बुद्धि से उनका स्मरण करते थे। उनका कैसे भी सही चिंतन तो करते थे। जो जिस का चिंतन करेगा वह वैसा ही हो जायगा। वे शिशु भगवान् का चिन्तन करते थे, इसलिये वैसे ही बन गये। अब सोचिये, जब द्वेष करने वाले तर गये, तो प्रेम करने वाले क्यों न तरेंगे।

वसुदेवजी ने कहा—"तो महाराज! अब मैं क्या करूँ? अब तक तो मैं इन्हे अपना पुत्र मानता रहा हूँ।"

नारदजी ने कहा "अब तक मानते रहे अच्छा हुआ, तुम्हारा अन्तःकरण विशुद्ध बन गया। अब तुम इनमें पुत्र बुद्धि-मत करो। देखो, ये परमेश्वर हैं, अज हैं, अव्यक्त हैं, सर्वेश्वर हैं, जगन्नियन्ता हैं। इन्होंने माया से मानव रूप बना रखा है, इन्होंने अपनी इच्छा से अपने अतुल ऐश्वर्य को छिपा रखा है। ये स्वेच्छा से ही अवनि पर अवतरित हुए हैं।"

वसुदेवजी ने पूछा—"भगवन्! किस कारण ये अज अव्यक्त प्रभु अवनि पर अवतीर्ण हुए हैं?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! राजवेष बनाकर बहुत से असुर भूमि के भार भूत होकर सज्जनों को पीड़ा पहुँचा रहे थे, उन असुरों के संहार के निमित्त तथा सज्जन और सुरों की रक्षा के निमित्त इन सर्वान्तर्यामी ने माया मानव रूप बनाया है। असुर संहार और साधु-प्रतिपालन यह तो इनके अवतार का गौण कारण है, मुख्य कारण तो अपने अनन्य उपासकों को अत्यधिक

आनन्द देना है। मानव रूप रख कर वे अपने भक्तों के साथ विविध भाँति की कमनीय क्रीड़ायें करते हैं। लेखक उन भगवत् चरित्रों को भागवती कथाओं के रूप में लिखते हैं। वे कथायें संसार-सागर से पार जाने के निमित्त सेतु के समान हो जाती हैं, उनके द्वारा सर्वसाधारण कम बुद्धि वाले मनुष्य भी इस अगाध दुस्तर संसार समुद्र के उस पार सरलता के साथ पहुँच जाते हैं। संसारी लोगों का यश तो स्वर्ग के लिये होता है। ससार मे जिसका जब तक यश रहेगा, वह तब तक स्वर्ग में सुख भोगेगा, किन्तु इन भगवान् का यश तो मुक्ति के लिये ही संसार मे फैला हुआ है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी के ऐसे उपदेश को श्रवण करके महाभाग्यवान् वसुदेवजी ने तथा परम सौभाग्यशालिनी देवकीजी ने अत्यन्त विस्मित होकर अपने मोह का परित्याग कर दिया। महाभागो! जो कोई इस श्रीवसुदेवजी और नारदजी के परम पुण्यप्रद पावन आख्यान को श्रद्धा सहित सावधान होकर श्रवण करेंगे; श्रवण करके प्रेमपूर्वक मनन करेंगे और सदा स्मरण करेंगे वे संसार सागर से सदा के लिये पार होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होंगे। इस लोक मे उन्हें शोक की बाधा न होगी। यह मैंने देवकी वसुदेव के निमित्त जो नारदजी ने तत्वज्ञान का उपदेश दिया वह आप से कहा, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी, पीछे आपने कहा था, उद्धवजी को भगवान् ने तत्वज्ञान का उपदेश दिया, उसे और हमारी सुनने की इच्छा है। कृपा करके श्रीकृष्ण उद्धव सम्वाद को आप हमे और सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं आपको श्रीकृष्णोद्धव सम्वाद को ही सुनाता हूँ।"

छप्पय

यों दैकें उपदेश गये नारद मुनि इत उत।
मोह छोड़ि वसुदेव देवकी दयो कृष्ण चित॥
सूत कहें—"यह सुखद चरित निरमल अति पावन।
मोह विनाशक मुक्ति करन जग दुःख विनाशन॥
यों नारद वसुदेव को, प्रश्नोत्तर मुनिवर भयो।
कहूँ ज्ञान अब अति विशद, जो प्रभु उद्धव तैं कह्यो॥

—:—

"आगे की कथा ५३ वें खण्ड में पढ़ें"

श्री भागवत-दर्शन ॥

भागवती कथा

(तिरपनवाँ खण्ड)

★

व्यासशाखोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

द्वितीय संस्करण
१००० प्रति

श्रावण कृष्ण २०२९
अगस्त १९७२

संशोधित मूल्य २-०० रुपया
मूल्य—१.६५

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
भक्तों के भगवान् (भूमिका)	१
१. श्रीकृष्ण उद्धव सम्वाद की प्रस्तावना	२२
२. उद्धवजी की भगवान् से विनय	३२
३. भगवान् का उद्धवजी को सन्यास धर्म का उपदेश	४५
४. सन्यास धर्म की विस्तृत व्याख्या की जिज्ञासा	५४
५. अवधूत गाथा का आरम्भ	६४
६. गुरु रूपा पृथ्वी से शिक्षा	७२
७. वायु से शिक्षा	८०
८. आकाश से शिक्षा	८६
९. जल से शिक्षा	९१
१०. अग्नि से शिक्षा	९८
११. चन्द्रमा से शिक्षा	१०६
१२. सूर्य से शिक्षा	११२
१३. कपोत से शिक्षा	११६
१४. अजगर से शिक्षा	१३०
१५. समुद्र से शिक्षा	१३६
१६. पतङ्ग से शिक्षा	१४२
१७. मधुमक्षिका से शिक्षा	१५०
१८. हाथी से शिक्षा	१५६
१९. मधुहारी से शिक्षा	१६४
२०. हरिण से शिक्षा	१७०
२१. मीन से शिक्षा	१७७
२२. वेश्या से शिक्षा	१८३
२३. कुरर पक्षी से शिक्षा	२०१

भक्तों के भगवान्*

[भूमिका]

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥*
(श्रीभा० ९ स्क० ४ अ० ६४ श्लो०)

छप्पय

जो जग को तजि नेह नेह हरि माहिँ लगावें।
उनकूँ मोहन मदन प्रेम करिकें अपनावें॥
सब कुछ वै बनि जायँ सगे सम्बन्धी भ्राता।
सेवक, स्वामी, सखा, सुहृद, सुत, पति, पितु माता।
सरनागत के सकल दुख, सब विधितैं श्रीहरि हरें।
लोक और परलोकके, सब कारज वेई करें॥

जीव को कोई आश्रय चाहिये। गाँव में राज्य की ओर से एक प्रहरी (चौकीदार) रहता है। वेतन तो उसे महीने में दो चार रुपये ही मिलते हैं, किन्तु उस पर एक राज्यपट्टिका (चपरास) रहती है। उसके बल पर वह अकड़कर चलता है। आधीरात्रि

---

* श्री भगवान महर्षि दुर्वासा से कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! जो मेरे साधु स्वभाव वाले भक्त हैं, जिनका मैं ही एक मात्र आश्रय हूँ, उन अपने भक्तों के अतिरिक्त अनपायिनी लक्ष्मी की यहाँ तक कि अपने आत्मा की भी इच्छा नहीं करता हूँ।"

में निर्भय होकर चला जाता है। सब लोग उससे भय खाते हैं। उसमे जो इतना साहस है, प्रभाव है, वह निज का अपना नहीं, वह जो भी कुछ करता है, राज्य के बल पर करता है। उसे विश्वास है मेरे सिर पर बड़ा शासक है, वह मेरी सब प्रकार रक्षा करेगा।

हमको कोई धनी आकर यह विश्वास दिला दे कि "आप किसी बात की चिन्ता न करें, आपको जो आवश्यकता होगी उसका प्रबन्ध मैं करूँगा। तो हम कितने निश्चिन्त हो जाते हैं, हमें कितना बल प्राप्त हो जाता है। पीछे चाहे वह अपने वचन को पूरा न करे, किन्तु उस समय तो हम चिन्ताओं से मुक्त हो ही जाते हैं। जब अल्पप्राण अल्पसामर्थ्य वाले इन संसारी शासक तथा धनिको के आश्वासन से हम बली, निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाते हैं, तो जो सबका ईश है, चराचर का स्वामी है, वह डंके की चोट पर छाती ठोककर कहता है कि "तुम सब कुछ छोड़कर मेरी शरण मे आ जाओ, मैं तुम्हें सभी दुःखो से मुक्त कर दूँगा, तुम तनिक भी सोच मत करो।" यदि हमें भगवान् के इन ओजपूर्ण वचनों पर विश्वास नहीं, तो अभी हम भक्ति मार्ग से कोसों दूर हैं। भगवान् कहते हैं—"मुझे सब भूतों का तुम जब सुहृद् मान लोगे तब शांति को प्राप्त कर लोगे।"

भक्ति मार्ग में अपना न कुछ कर्तव्य रह जाता है, न अपने लिये कुछ पुरुषार्थ। यदि कोई कर्तव्य रह जाता है तो यह है अपने इष्ट के ही लिये कर्म करना। यदि पुरुषार्थ शेष रहता है तो यही कि अपने योगक्षेम की चिन्ता को सर्वात्मभाव से उनके ही ऊपर छोड़ देना। भगवान् को अपना मान लेना। उनसे अपनी इच्छानुसार कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित कर लेना। भगवान् तो ऐसे भोले हैं कि उन्हें जो कोई पिता बनाता है, पिता

बन जाते हैं, माता बनाता है माता बन जाते हैं, यहाँ तक कि वे भाई, बन्धु, सखा, सुहृद, सुत तथा भृत्य तक बन जाते हैं। भक्तमाल मे इस सम्बन्ध की बहुत सी कथायें हैं। उन्हीं कथाओं मे से एक बुढ़िया की कथा है। वह गोपालजी को अपना पुत्र मानती थी, पुत्र की भाँति उनकी देख रेख रखती। प्रातः तड़के उठकर उनके मुँह हाथ धुलाती। मक्खन निकालकर उन्हें खिलाती। गोपालजी प्रत्यक्ष उसके आँगन में खेलते। उससे लड़ाई झगड़ा करते। साग भाजी न बनाती तो बुढ़िया से रूठ जाते। बुढ़िया उनकी इन बातों से खीज उठती। उन्हें खरी खोटी सुनाती। कहती-मैं बूढ़ी हो गयी, तू कुछ कमाई तो करता नहीं। मुझे सदा दुख देता रहता है! मैं तेरे लिये साग भाजी कहाँ से लाऊँ, जो बना है वही खाले।" इसी प्रकार माँ बेटा मे नित्य ही प्रेम कलह होती रहती।

एक दिन बुढ़िया ने सुना। एक भेड़िया आया है बच्चों को उठा ले जाता है, तब तो उसे बड़ी चिंता हुई। "मेरा गोपाल छोटा है, वह चञ्चल भी बड़ा है, रात्रि मे कहीं भेड़िया उसे उठा न ले जाय।" इस विचार के आते ही उसका हृदय द्रवीभूत हो उठा। उसने रात्रि में सोना ही छोड़ दिया डंडा लेकर रात्रि भर द्वार पर बैठी रहती इस प्रकार उसे कई दिन हो गये। भगवान् भला अपनी माँ का इतना दुख कैसे देख सकते हैं। वे एक ग्रामीण के वेष में आये और बोले—"माँ! वह बालकों को उठा ल जाने वाला भेड़िया तो मार दिया गया। तू विश्वास कर, अब वह नहीं है।" तब बुढ़िया ने सोना आरम्भ किया। यह कथा पुरानी है, किन्तु यह भाव तो नित्य है। अब भी ऐसे भक्त हैं और आगे भी होंगे। यह अभी थोड़े ही दिन की बात है।

बरेली में एक बुढ़िया थी। उसके पास एक गोपालजी थे। उनका भी उनमें पुत्रभाव था। वह उसके आँगन में खेलते,

उससे बातें करते। हमारे यहाँ प्रयाग में एक बड़ी नामी वैद्या महिला हुई हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु हुई है उनका नाम था यशोदादेवी। उनका उस बुढ़िया से कोई सम्बन्ध था। बुढ़िया की इच्छा माघ मकर में त्रिवेणी स्नान की हुई उसने अपने गोपालजी से कहा—"देख, तू यहीं रहना मैं प्रयाग स्नान कर आऊँ, वहाँ भीड़ भाड़ में तू कहीं पिच पिचा जायगा।"

गोपालजी ने कहा—"नहीं नहीं, मैं भी चलूँगा। मैं यहाँ अकेला नहीं रहूँगा।"

बुढ़िया ने कहा—"मैं तेरी इसी हठ से तो दुखी रहती हूँ। तू मेरी बात मानता ही नहीं।

गोपालजी मचल उठे। उन्होंने कहा—मैं तो चलूँगा ही। मैं भी प्रयाग स्नान करूँगा।

बुढ़िया ने कहा—"तू तो मेरे पीछे पड़ा है। मैं तुझे नहीं ले जाती।"

यह कहकर वह पूजा किसी दूसरे को सौंप कर घोड़ा गाड़ी में बैठकर चल दी। उसने देखा घोड़ागाड़ी के साथ गोपालजी दौड़े आ रहे हैं। वह गाड़ी में से ही चिल्लायी—"अरे, तू कहाँ चल रहा है। पैदल क्यों दौड़ता है, इसने तो बड़ा दुन्द मचा रखा है।" यह कहती कहती वह अधीर हो गयी। उसने गाड़ी खड़ी करायी। गोपालजी भाग गये। फिर गाड़ी चली तो फिर पीछे-पीछे उसे गोपालजी दिखायी दिये। फिर वह चिल्लाने लगी। और किसी को तो गोपालजी दीखते नहीं थे। लोगों ने समझा—बुढ़िया वैसे ही बक रही है, फिर किसी ने गाड़ी खड़ी नहीं की। टेसन पर पहुँचकर सब रेल गाड़ी में बैठे। गोपालजी भी द्वार पर खड़े हुए। जैसे तैसे उसने उन्हें बुलाया। प्रयाग पहुँच कर सब लोग कटरा कर्नलगञ्ज में यशोदादेवी के बँगले ठहरे। प्रातःकाल त्रिवेणी स्नान करने चले। बुढ़िया ने इक्के में

बैठने को अपने गोपाल से बहुत कहा, किन्तु वे नहीं बैठे। इक्के के साथ ही-साथ दौडते हुए त्रिवेणी तक गये। बुढिया बडबडाती रही, गोपालजी को खरी खोटी सुनाती रही। लोगों ने समझा बुढिया का माथा फिर गया है।

त्रिवेणी जी पर पहुँचकर बुढिया ने गोपालजी को पकडा। उन्हें स्नान कराके तखत पर खडा किया और कहा—"भीतर जल में मत जाना यहीं खडे रहना।" यह कहकर बुढिया नहाने लगी। गोपालजी ने कहा—"मुझे तो बडी भूख लगी है।" बुढिया अत्यन्त खीज गयी और बोली—"तू मुझे बहुत दुःख देता है। अब मैं यहाँ तेरे लिये खाने को कहाँ से लाऊँ।"

गोपालजी ने कहा—"यहाँ जलेबी मिलती हैं, मुझे जलेबी मँगा दो।"

बुढिया ने अपने साथी से कहा—"भैया! पाव भर जलेबी ला दो।"

उन दिनों डेढ दो आने पाव जलेबी मिलती थीं वह आदमी गरम जलेबी ले आया। अब तो गोपालजी फिर मचल गये और बोले—"मैं इन जलेबियों को नहीं खाऊँगा। यह तो कोकोजम की हैं।" बुढिया कोकोजम समझती ही नहीं थी। उसने अपने साथी से कहा—"भैया, यह मेरा पीछा न छोडेगा। कुछ-न कुछ ऐब निकालता ही रहेगा। कोकोजम क्या होता है, उसकी जलेबी यह नहीं खाता, इसे घी की जलेबी ला दो"

तब वह आदमी खोजकर एक विश्वसनीय दुकान से पाव भर या आध सेर जलेबी ले आया। सब ने समझा बुढिया की इच्छा स्वय ही जलेबी खाने की है, इसीलिये पाखण्ड रच रही है।" किसी ने कह भी दिया। बुढिया ने इधर ध्यान ही नहीं दिया। उसे तो अपने गोपाल की चिन्ता थी। सब लोग बुढिया को घेर कर बैठ गये। पडा के तखत पर उसने कहा—"ले खा ले, अब

तो ये घी की हैं।" सबने आश्चर्य के साथ देखा कि दोना तो है किन्तु उसमें एक भी जलेबी नहीं। बुढ़िया गोपालजी को खिला कर चल दी। पीछे लोगों ने उससे पूछा जिससे पहिले जलेबी लाये थे। उसने बताया सचमुच मैंने कोकोजम (जमे तेल) से ही जलेबी बनायी थी।

यह बात कोई बनावटी नहीं पुरानी नहीं। अभी थोड़े दिनों की बात है। इसी घटना को देखने वाले लोग अभी स्यात् जीवित भी हैं। ऐसी ही एक घटना अभी हाल की और है।

झाँसी जनपद में एक स्थान है ललितपुर। वहाँ पर एक साधु रहते थे, उनका नाम था लाला बिहरिया। नाम तो उनका रामचन्द्रदास था, इस नाम के पड़ने का एक इतिहास है। उनका एक अत्यन्त योग्य युवक पुत्र था, उसकी असमय में ही मृत्यु हो गयी। इससे उन्हें दुःख होना स्वाभाविक ही था। उसी दुःख में उनके मन में यह बात आई कि, क्यों नहीं मैं भगवान् को ही अपना पुत्र मान लूँ। ऐसा मन में आते ही उन्होंने कुञ्जबिहारी जी को अपना पुत्र मान लिया। पुत्र भाव से ही वे उन्हें मानने लगे। प्यार में वे बिहारीजी को बिहरियालाला कहते। इसीलिये सब लोग भी उन्हें बिहरियालाला ही कहने लगे। वहाँ आस पास यह बात फैली थी कि बिहारीजी इनसे प्रत्यक्ष बातें करते हैं। कोई वैष्णव साधु इसकी परीक्षा करने कई महीनों उनकी कुटिया पर रहे और उनकी सब चर्या देखी। उन्हीं के द्वारा ज्ञात हुआ कि भगवान प्रत्यक्ष होकर उनको पुत्र का सुख देते थे। सोते-सोते रात्रि में कहते—"अरे, लाला देख तुझे दया भी नहीं आती, मैं बुड्ढा हो गया। तू अपने पैर मेरे पेट में घुसेड़ देता है। तनिक पैर को हटा ले।" बाहर सोये हुए साधु ने नूपुर की छम्म-छम्म की ध्वनि सुनी और ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई चरण हट कर दूसरी ओर हुआ है।

उनको जल भी पीना होता, तो कहते—"लाला, मैं जल पीऊँगा।" किसी बात पर मन चले तो उसे वे लाला से कहते। एक दिन कह रहे थे—"इस बुढ़ापे में मन भी कैसा हो जाता है, आज मन करता है, मिस्सी रोटी हरी मिर्च के साथ खाऊँ। वैसे लाला मेरा सब प्रबन्ध करता है इसका भी प्रबन्ध करेगा, किन्तु यह बड़ा दुष्ट है।" इतने में ही एक आदमी आया और उसने कहा—"विहरियालाला! आज हमारे यहाँ आप प्रसाद पावें, किन्तु मिस्सी रोटी और हरी मिर्च की चटनी यही खिलावेंगे।" उन्होंने कहा—"आज मैंने लाला से यही तो कहा था। वही सब मेरी इच्छा पूरी करता है।"

श्रीमद्भागवत में भगवान् ने स्वयं कहा है—"येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च" अर्थात् जो मेरे अनन्य भक्त हैं उनका गुरु, आत्मा तथा पुत्र सब कुछ मैं ही हूँ। महात्मा विहरियालाला ने यही सोचकर विहारीजी को ही अपना पुत्र बना लिया था। मीराजी के भी जब लौकिक पति मर गये तो उन्होंने कहा था—"जो जन्म ले और न जाने कब मर जाय ऐसे विनाशशील को पति क्या बनाना। जो कभी मरे नहीं, अविनाशी है, मैंने तो उसी को पति बना लिया। महात्मा विहरियालाला को भी जब पुत्र शोक अत्यधिक हुआ तो उन्होंने भी यही कहा—

हमारे ननैया कुञ्जविहारीलाल।
कबहुँ न मरे कबहुँ नहिँ जीवे, ऐसे वाको हाल।
ताकौं बाप कहौ क्यों मर है, जाको ऐसो ख्याल॥
आतम पुत्र सुन्यौ वेदनि में, चलते ऐसी चाल।
सुख दीन्हो दे है अरु दै रह्यो दीनन को प्रतिपाल॥

जिसने समस्त सुख के स्रोत को ही पुत्र बना लिया, भला

उसे सुख की क्या कमी। तैली को पति बना लेने पर क्या तैल की कमी रह सकती है? बिहरियालाला ही बेटा हो गये तो फिर दुःख की तो वहाँ गन्ध नहीं आ सकती।

बिहरियालाला प्रतीत होता है मथुरा के थे। किसी कारण घूमते फिरते ललितपुर में आ गये होंगे। एक पद में उन्होंने कहा भी है—

भये हम मथुरा रजधानी।
जाति सारस्वत की मानी॥
इष्ट दीना राधा रानी।
गुरु श्री गणेशजी ज्ञानी॥

प्रतीत होता है, इनकी इष्ट देवी तो श्री राधा रानी थीं। कुञ्जबिहरिया तो इनका पुत्र था, लाला था। उपास्य देवी तो इनकी वृन्दावनधीश्वरी वृषभानुनन्दिनी कीर्तिकुमारी राधारानी थीं। उनके सम्बन्ध मे भी इन्होंने पद बनाये हैं। एक पद में अपनी इष्ट देवी की महिमा बताते हुए कहते हैं—

शारदादि वन्दिनी निकन्दिनी क्लेश वृन्द
रूप रति माहिँ को सुनन्दिनी निहारी है।
'रामचन्द्र' कीरति की नन्दिनी अनन्दमयी
कूल में कलिन्द जाके सङ्ग लै बिहारी है॥
बिहरैं सुकुमार रे गँवार किन तू भजे,
छाँडि मद मोह नेह तजिकै कुमारी है।
पाप पुञ्जनाशिनी प्रकाशिनी प्रमोदकञ्ज
वृन्दावनवासिनी उपासिनी हमारी है॥

जो रसिक हैं, रस की जिनकी उपासना है, वे लोकबाह्य तो होते हैं, साथ ही बड़े सरस और गुणग्राही भी होते हैं।

विहरियालाला भी ऐसे ही थे। अपनी कुटी में उन्होंने एक बड़ी सी गद्दी लगा रक्खी थी, उस पर बड़ा सा तकिया रख रक्खा था। ज्ञानमार्ग में ध्यान और भक्तिमार्ग में गान ये मुख्य साधन माने जाते हैं। हमारे विहरियालाला भी गाना सुनने के बड़े अनुरागी थे। जो भी गाने वाले नाचने वाले आते, तो कहते—"हाँ, हमारे लाला को गाना सुनाओ उसे नाच दिखाओ। हमारा लाला बड़ा नचैया गवैया है। जो भी आकर नाचता गाता, उसे ही पाँच रुपये पारितोषिक देते। गद्दी के नीचे से रुपये निकाल कर दे देते। वे रुपये कहाँ से आते थे कुछ पता नहीं। नाचने गाने वाला कोई क्यों न हो, बहुत-सी वेश्यायें आकर नाच जातीं, गा जातीं, उनके लाला को सङ्गीत सुना जातीं। उनको भी वे भेंट देते। ५) उनके बँधे थे।

सुनते हैं, एक बार कोई अद्वैत वेदान्ती आये। उन्होंने उनकी उपासना को बिना ही समझे अद्वैत का उपदेश देना आरम्भ कर दिया। बहुत देर तक वह वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करता रहा, ये उसे सुनते रहे। जब उसने बहुत आग्रह किया और कुछ उत्तर देने को विवश किया, तो इन्होंने स्वाभाविक रूप से अपने मुख से कहा—

न वेद है न भेद प्यारे
पड़ी है जाहिर तुम्हारे जरिया।
कहा करूँ तुम मिले न पहिले,
डसा न था मोहि विहारी करिया॥
गरुड मन्त्र वाजित्र जरी हू न
लगी यारो! भरमी सी भरिया।
करूँ कहा तुम मिले न पहिले
डसा न था मोहि विहारी करिया॥

और भी—

गणेशजी महाराज गुरूजी दीन जानकर दया करी हे ।
करी हे तारा यही विचारा भवभुजग को अजब जरी है ॥
जरी हे निगरी अविद्या जानो क्यों अभिमानी करता खरी हे ।
खरी है दिल को लगी है मेरे विहारी की जे नित करी है ॥

मुझे तो भेया, बिहारी रूप करिया सर्प ने डस लिया है, सर्प के डसे की तो जडी बूटी जन्त्र तन्त्र मन्त्र भी हो जाते है, किन्तु यह बिहरिया करिया ऐसा सर्प हे कि इसकी कोई ओषधि ही नहीं। यदि इस नाग के डसने के पहिले तुम मिल जाते तो सम्भव हे में तुम्हारे इस अद्वैत इस ज्ञान को स्वीकार भी कर लेता ।

ये दोनों पद उनके मुख के कहे हुए हैं। स्यात लिखने वाले ने पूरे लिखे न हों इसीलिये छन्द शुद्ध नहीं हे। किन्तु उनकी जो और कवितायें हैं वे बडी शुद्ध भावपूर्ण और उच्चकोटि की हैं। जब उन्होंने बाँकेविहारीजी के दर्शन किये तब उन्होंने एक कवित्त कहा है। वह इस प्रकार है—

लोचन विशाल भाल तिलक विराजे लाल
चन्द्रिका चटक वर पगिया अदाँ की तो ।
कुण्डल सुकान मुसुकान मुख पान रच्यौ
"रामचन्द्र" राका शशि वदन निशाँकी तो ॥
ताकी छवि ताकी मूरख अचेत चेत
अजहूँ अजान सोच जेहे वैसे वाकी तो ।
यों ही धूरि फाँकी रागी यहाँ की न वहाँकी हाय
बाँकुरे विहारीजू की झाँकी जो न झाँकी तो ॥

प्रतीत होता है यह पद उनका बिहरिया को पुत्र मानने के पहिले का होगा। एक पद का कुछ अश और भी सुनिये—

जै जै श्री कुञ्ज विहारी की ।
हरदम क्यों नहिँ याद करे करुनानिधि कुञ्जविहारीकी ॥
बसे मध्य में धन के खातिर देश देश भ्रमते डोले ।
पडित मुल्ला वेष बनाकर दर दर फूकर सम डोले ॥
कहा नाम चिंतामनि हरि का कौरा के बदले तोले ।
इतने पर गेरत नहिँ तुझको चलता चाल अनारी की ॥
जै बोलो कुञ्ज विहारी की ॥

जब घर छोड दिया विहारिया को पुत्र मान लिया, तब उन्होंने कहा था—

आज हम सबसे भये बेकार ।
सुना तुम दाना दुश्मन यार ॥

उनके बनाये पद बहुत हैं, वे अभी तक कहीं छिपे नहीं हैं। जब श्री व्रजकिशोरजी कथा बाँचने झाँसी गये तब वे कुछ लिख लाये थे, उन्हीं में से कुछ पद मैंने यहाँ दिये हैं। उनके पदों में बडा लालित्य है, कविता के सभी गुण विद्यमान हैं। श्रीमद्भागवत् में कहा है—"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्य किंचना सर्वेगुणास्तत्र समासतेऽसुराः" जिसके हृदय मे भगवान् की भक्ति है, उसके हृदय में समस्त गुण अपने आप ही आकर विराजमान हो जाते हैं। साहित्य क्षेत्र में महात्मा विहरियालाला को कोई जानता नहीं। उन्हे ससारी लोगो की जानकारी की अपेक्षा नहीं। यह तो हम जैसे कीर्तिलोलुपों का कार्य है कि—

घट भित्वा पटं कृत्वा गर्दभ रोहणम् ।
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत ॥

लोगों के सम्मुख जोर से घडा फोडकर, वस्त्रों को फाड़कर गदहे पर चढ़ कर जेसे भी हो वैसे प्रसिद्धि प्राप्त कर लेना। जिसका विहारी से परिचय हो गया उसे संसारी लोगों के परिचय की आवश्यकता ही नहीं।

महात्मा बिहरियालाला के प्रेम की अनेकों बातें हैं जो स्वयं सङ्कोच के कारण लिखी नहीं जा सकतीं। उन्हें सदा एक प्रकार का आवेश-सा रहता था। शौच को बैठे हैं—लड़कों ने चिल्लाया—"बिहरियालाला की जय" तो तुरन्त वे चिल्ला उठते—"बिहरियालाला की जय"। पीछे लड़के कहते—"आप शौच होते-होते बोल उठे।" वे कहते—"हम कब बोले।"

मरते समय वे कह गये—"लाला! मेरी क्रिया कर्म तू ही करना। मेरी हड्डी को गङ्गाजी में पहुँचाना।"

थोड़े दिन हुई उनकी मृत्यु हुई। सब लोग बड़ी धूम धाम से उन्हें स्मशान में ले गये। उसी समय एक सुन्दर लड़का पीले वस्त्र पहिने रोता हुआ आया कि "इनकी कपाल क्रिया तो मैं करूँगा।" कोई भी आपत्ति न कर सका। बालक रोता ही रहा, रोता ही रहा। उसके अश्रु बन्द ही नहीं होते थे। जब तक चिता जलती रही वहीं रहा। फिर कई दिन पश्चात् एक ताम्र-कलश लाया, उनकी हड्डियों को चुनकर गङ्गाजी लिये चला गया। सभी लोगों ने उन्हें देखा।

फरूखाबाद में एक भक्त थे। बड़े सरल बड़े सीधे बड़े रसिक। हम सब लोग उन्हें बड़े बाबूजी कहते थे।

एक बार एक रामलीला मंडली फरूखाबाद में आयी। उसमें जो श्रीराम बनते उनमें उन्हें साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी का भाव हो गया। और उनमें उन्होंने अनेक अलौकिक शक्तियाँ भी देखी थीं। उनका बड़ा भारी जीवन-चरित्र है। स्वयं भी उन्होंने अपना जीवन चरित्र लिखा था, उसे प्रकाशित करने की भी बात थी। मुझसे उन्होंने कहा भी था, किंतु तब वह प्रकाशित न हो सका। बाबूजी बड़े अच्छे रसिक कवि थे। उनकी कई छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित भी हुई थीं। एक थी "जनकपुर के सखा।" वे बड़े ही शांत गम्भीर, नम्र तथा तेजस्वी थे। बहुत ही

कम बोलते थे, जो भी बोलते थे ऐसा लगता था मानों अमृत उड़ेल रहे हैं। सुना अभी वर्ष दो वर्ष पहिले परलोकवासी हुए हैं। उनकी आर्थिक स्थिति जीवन भर अत्यन्त ही साधारण रही। अन्त समय फर्रुखाबाद छोड़ जयपुर चले गये थे। उनका भगवान् पर अत्यन्त ही विश्वास था। उनके कोई पुत्र नहीं था। पुत्री ही थी। जैसी कि सभी की इच्छा होती है, उनकी भी इच्छा थी, एक पुत्र हो जाय। उनको आशा थी, अबके पुत्र होगा, किन्तु अबके भी पुत्री ही हुई। धायने आकर कहा—"पुत्री हुई है।"

"बाबूजी ने कहा—जैसी भगवान् की इच्छा। वे ध्यान करने लगे। कुछ काल ही पश्चात् धाय आई कि वह तो पुत्र हो गया। यह एक अद्भुत चमत्कार था। भगवान् भक्त की इच्छा कैसे पूर्ण करते हैं। इसे बिना भक्त बने तर्क से कोई समझ नहीं सकता। यह अनुभव की वस्तु है। बाबूजी का वह पुत्र तो अभी तक है।"

ऐसी ही एक घटना और हुई। उनके घर में उनके पिता की या किसी और सम्बन्धी की मृत्यु हुई। बाबूजी नागर ब्राह्मण थे। उनके यहाँ कुल परम्परागत कुछ ऐसी प्रथा है, कि वे अपनी जाति के अतिरिक्त अन्य किसी से मृतक को नहीं उठवाते। जाति वाले ही उसे श्मशान तक ले जाते हैं। वहाँ उनका कोई जाति बन्धु नहीं था। घर मे अकेले ही थे। वे बड़ी चिन्ता मे थे अब क्या करें। सहसा पीले-पीले कपड़े पहिने चार पाँच व्यक्ति आये और उन्होंने आकर कहा—"हम गुजराती ब्राह्मण हैं, हमारे पूर्वज गुजरात के अमुक स्थान के थे। हम इनका दाह सस्कार कर आवेंगे।" यह कहकर वे उन मृतक को बड़ी धूम धाम से ले गये। सब कार्य करा कर वे लोग चले गये, फिर किसी ने उन्हे नहीं देखा।

इस प्रकार एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं, कि भगवान् स्वयं ही अपने भक्तों के समस्त कार्यों को करते हैं। आप ही सोचो भगवान् यदि भक्तों की इतनी देख रेख न रखें, इतनी भक्तवत्सलता न प्रकट करें तो भक्तों का कैसे निर्वाह हो, व किस प्रकार ऐसे निर्भय होकर ससार मे विचरें। बहुत से लोग कहते हैं—"संसार कर्माधीन है, जैसा करोगे वैसा भरोगे। अच्छे कर्म करोगे सुख पाओगे, बुरे कर्म करोगे दुख पाओगे। कर्म की रख पर कोई भी मेख नहीं मार सकता। यह विश्व तो कर्मप्रधान है। जो जिसका पेड़ लगावेगा उसे उसी का फल मिलेगा जब सब कर्माधीन ही हैं, तो फिर हम अच्छे कर्म करें भक्ति करने स क्या लाभ है?"

भक्तिमार्ग कर्म का विरोध नहा करता। उसे इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में तनिक भी आपत्ति नहीं, कि कर्मों का फल अवश्यम्भावी है, अमिट है। अच्छे कर्म करेंगे तो हमें मर कर स्वर्ग की प्राप्ति होगी, चढ़ने को विमान मिलेंगे, स्वर्गीय अप्सरायें मिलेंगी, पीने को अमृत मिलेगा और घूमने फिरने को नन्दन-कानन। यदि बुरे कर्म करेंगे तो नरक की प्राप्ति होगी, वहाँ नाना प्रकार की यातनायें सहनी पड़ेगी।

भक्त कहता है—"हम भगवान् की भक्ति नरक के भय से अथवा स्वर्ग के लोभ से नहीं करते। हम यो भक्ति केवल भक्ति के ही लिये करते हैं। हमारा मन मदनमोहन के चरणारविन्दो मे लगा रहे यही एकमात्र हमारी अभिलाषा है। शरीर से तो कभी अच्छे काम भी बन जात हैं, कभी बुरे भी उन्हे हम मेटने के लिये भक्ति नहीं करते। उनके फल हमें भोगने पड़ेंगे इससे भी हम नहीं डरते। हमें जन्म-मरण का भी भय नहीं है। हम यह भी नहीं चाहते कि हमारे पुण्य-पाप समाप्त होकर मुक्त हो जॉय। आवागमन के चक्कर से सदा के लिये छूट जॉय इन बातों की

ओर हम ध्यान ही नहीं देते। प्रभु से इन बातों के लिये कुछ कहते भी नहीं। भक्ति करके हम कर्म-मार्ग में रोडा अटकाना नहीं चाहते। कर्म सिद्धान्त को असफल बनाने की हमारी भावना नहीं। कर्म विधान को व्यर्थ करने की हमारी इच्छा नहीं। पूर्व कर्मानुसार हमें सुख मिले या दुख, नरक मे वास हो या स्वर्ग मे मनुष्य योनि मिले या कीट पतग, एक जन्म मिले या असख्यों, शरीर सुन्दर हो या कुष्ट युक्त। ये सब तो कर्मानुसार जसे होने हों वैसे हों। इन सब में व्यवधान डालना नहीं चाहते। हमारी प्रार्थना तो यही है, कि हमारे मन मन्दिर से हमारे परम श्रेष्ठतम प्रभु की माधुरी मूर्ति अन्तर्हित न हो। मरते-मरते हम अपने श्यामसुन्दर के चरणों का चिन्तन करते रहें सूकर कूकर जिस जन्म में भी जावें हमे हरि स्मृति सदा बना रहे। दुख में, सुख में, स्वर्ग मे, नरक में, बैकुण्ठ में, देव योनि मे, मनुष्य, पशु- पक्षी अथवा कीट-पतग योनि मे हमारा नाम-स्मरण, भगवत् चिन्तन और भगवत् श्रवण चलता ही रहे। स्वभाव अच्छे बुरे कर्म जो हो जॉय, उनका फल मिलना ही चाहिये और उन्हें भोगने को हम सदा-सर्वदा प्रस्तुत हैं, किन्तु हमारा मन भगवत् चरणारविन्दो में फँसा रहे। मरते-मरते भी हम उन्हें भुला न सकें।

भक्त कभी भी धन, ऐश्वर्य, सुगति, शारीरिक सुख इन सबकी इच्छा नहीं रखता। उसकी एक ही अभिलाषा है हम कैसे भी रहें कहीं भी रहे, भगवान् के बनकर रहें, उन्हीं के चरित्रों का चिन्तन मनन और श्रवण करते-करते हमारा कालक्षेप हो। यही बात सनकादि मुनियों ने भगवान् से कही है।

सनकादि मुनि माया के-काम क्रोध लोभादि-विकारों से सर्वथा रहित हैं। वे भगवान् के दर्शनों के निमित्त बैकुण्ठ में गये। छै ड्योढ़ियों के पहरेदारों ने उन्हे नहीं रोका। जब वे सातवीं

ड्योढ़ी पर पहुँचे तो भगवान् के अंतरङ्ग पार्षद जय-विजय ने उन्हें रोका। इस पर उन मायातीत मुनियों को मायारहित वैकुण्ठ लोक में भी स्वभावानुसार क्रोध आ गया। जय विजय को असुर होने को शाप दे दिया। भगवान् ने जब यह घटना सुनी तो वे दौड़े-दौड़े घटनास्थल पर आये। मुनियों की विनय की। मुनियों को अब अपनी भूल मालूम हुई। मुनियों ने सोचा—,'द्वार पाल का काम ही है किसी को भीतर बिना स्वामी की आज्ञा के न जाने दे। यदि सब के लिये इच्छानुसार भीतर जाने की रोक-टोक न होती, तो द्वारपाल रखे ही क्यों जाते उन्होंने हमें रोका यह उचित ही किया। इस पर हमें क्रोध आ गया। क्रोध आ जाना तो अनुचित कर्म है। काम, क्रोध और लोभ ये ही तीन तो नरक के द्वार हैं। हमने क्रोध करके नरक का द्वार अपने आप ही खोल लिया। अब यदि हमें नरक में जाना पड़े तो उसे सहेंगे। उसके निवारणार्थ हम प्रभु से प्रार्थना न करेंगे, किन्तु वहाँ जाकर भी हमारी हरि-स्मृति बनी रहे, इसकी तो हमें प्रार्थना करनी ही पड़ेगी। अतः उन्होंने कहा—"महाराज! हमें यदि अपने कर्मों के फलस्वरूप नरकादि लोकों में जाना पड़े तो हमें यह स्वीकार है, हम सहर्ष वहाँ जाने को उद्यत हैं, किन्तु हमारी तीन प्रार्थनायें हैं।

भगवान् ने पूछा—"कौन-सी हैं वे तीन प्रार्थना। उन्हें सुनें भी तो?"

इस पर सनकादि मुनियों ने कहा—"भगवन्! हम नरक में जाँय तो वहाँ हमारा मन मधुप सदा आपके चरणारविन्द के रसपान में ही लम्पट बना रहे आपके चरणारविन्दों के अतिरिक्त अन्य किसी का चिन्तन न करे। हमारी वाणी आपके चरणारविन्द के गुणगान में उसी प्रकार सतत आसक्त रहे जिस प्रकार तुलसीजी सदा आपके चरणों में चढ़ी रहती हैं, वे

पलभर को भी पृथक् नहीं होतीं और हमारे कर्णकुहर आपके सुयश सुधा से सदा परिपूर्ण बने रहें। इस प्रकार कर्ण, मन और वाणी तो आपके श्रवण, मनन और गायन में संलग्न रहे, शरीर नरक में पडा रहे यह हमें स्वीकार है।*

इसीलिये भक्त नहीं चाहते कि कर्मानुसार फल भोगने में हमारे साथ कुछ पक्षपात किया जाय। इस बात को भगवान् मान लेते हैं, कि भक्त को कर्मभोग भोगने पडे, किन्तु अपने भक्तों को वे ऐसी शक्ति दे देते हैं कि उन्हें दुःख, दुःख ही नहीं प्रतीत होता। दुख के समय भगवान् को बार-बार अपने भक्त की देख रेख को आना ही पडता है। इसलिये उनका वह दुःख अनन्त प्रकार के सुख रूप में परिणित हो जाता है, तभी तो महारानी कुन्ती ने दुःखों का ही वरदान माँगा है, कि अपुनर्भव दर्शन आपके हमें दुःख के ही समय तो होते हैं।

भक्तमाल में पुरी के परम भगवत्भक्त श्री जगन्नाथदास वैष्णव की कथा है। उन्हें संग्रहणी हो गयी थी। बार-बार उन्हें शौच जाना पडता था। अन्त में ऐसी दशा हो गयी कि लँगोटी अशुद्ध हो जाती। उसी समय एक बालक आ जाता, उनकी लँगोटी धोता और सब प्रकार की सेवा करता। कई दिन तक वह निरन्तर इसी प्रकार सेवा करता रहा।

एक दिन जगन्नाथदासजी ने पूछा—"भैया, तुम कौन हो, मेरी ऐसी सेवा क्यों करते हो?"

---

* काम भव स्वकृजिनैर्निरयेषु नः स्तात्
चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद् यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥
(श्रीभा० ३ स्क० १५ अ० ४९ श्लोक)

उसने कहा—"मैं ही जगन्नाथ हूँ, तुम मेरे भक्त हो, तुम्हारी सेवा करना मेरा धर्म है, अपने भक्तों की सब प्रकार की रेख-देख मैं करता हूँ।"

जगन्नाथदासजी ने कहा—"भगवन् ! आप त्रिलोकीनाथ होकर भी ऐसा हेय कार्य क्यों करते हैं। आपके तो संकल्प मात्र से सृष्टि हो जाती है, आप पर जब मेरा दुःख नहीं देखा गया, तो आप अपने संकल्प से ही मेरे रोग को निवृत्त कर सकते थे। ऐसी घृणित सेवा आपके स्वरूपानुरूप नहीं है।"

इस पर भगवान् ने कहा—"जगन्नाथदासजी ! प्रारब्ध कर्म को तो आप भी मेंटना नहीं चाहते और मैं भी आप भक्तों की इच्छा के विरुद्ध कर्म को मेंटना नहीं चाहता। किन्तु मेरी प्रतिज्ञा है, भक्तों के योगक्षेम का समस्त भार मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ। जब मैंने समस्त भार ले लिया, तो फिर उसमें छोटे बड़े का प्रश्न ही नहीं उठता।"

साराश यह है कि भक्त जब सब प्रकार से भगवान् के शरणापन्न हो जाते हैं, तो उनके सभी काम भगवान् स्वयं ही करते हैं।"

भीष्मपितामह जब चलने में असक्त हो गये। शरशैया पर बिधे रहने के कारण हिलडुल भी नहीं सकते थे, किन्तु वे भगवान् को देखते-देखते शरीर छोडना चाहते थे। तब भगवन् वासुदेव स्वय ही हस्तिनापुर से चलकर उनके समीप पहुँचे और जब तक उन्होंने देह त्याग नहीं किया, उनके सम्मुख ही बैठे रहे। यही भगवान् की भक्तवत्सलता है।

गृद्धराज रावण के प्रहारों से आहत हो गया था, उसके मुख से निरन्तर रक्त निकल रहा था। उसकी चेतना लुप्त हो गयी थी, उस समय वह भगवान् का ध्यान करने में सर्वथा असमर्थ था। भक्त भयहारी भगवान् स्वयं उसके समीप पहुँच गये। वह

स्मरण न भी कर सका, किन्तु श्रीरामचन्द्रजी ने उसका स्मरण किया। उसे अपनी गोदी में बिठाकर बार-बार चाचा-चाचा कह कर पुकारते रहे। मरते समय जो भगवान् का स्मरण करते हैं, वे भक्त धन्य हैं। किन्तु जिनका मरते समय भगवान् ही स्मरण करें उनके भाग्य का तो कहना ही क्या है।

यही बात एक बार भूदेवी ने वाराह भगवान् से पूछी—"भगवन्! जो आपके ऐसे भक्त हैं कि जीवन भर उन्होंने आपका स्मरण किया, किन्तु मरते समय उनकी वाणी रुक गयी या कोई ऐसा असाध्य रोग हो गया, कि वे आपका स्मरण न कर सकें, तो उनकी क्या गति होगी?"

इस पर भगवान् वाराह ने कहा—"देवि! जो पुरुष शरीर के स्वस्थ रहने पर, मन के स्थिर रहने पर, सब धातुओं की साम्यावस्था में मुझ विश्वरूप अनादि अज अच्युत का स्मरण करता है, यदि वह मरते समय काष्ठ पाषाण के सदृश हो जाता है, तो उस म्रियमाण अपने भक्त का मैं ही स्मरण करता हूँ, मैं स्वयं ही उसका स्मरण करके उसे परमागति को प्राप्त करा देता हूँ, अर्थात् स्वयं ही उसे अपने लोक में ले जाता हूँ *

यह जीव कब से संसार में अपने प्रेमी तथा सहायक की खोज में भटक रहा है। संसार में प्राणी अपने को दुखी तथा असहाय अनुभव करता है। इसीलिये वह इस आशा से सबकी ओर देखता है, कोई मेरे दुःख को दूर कर दे, कोई मेरी सहायता कर दे। इसे यही एक शिकायत है मुझ से कोई प्रेम नहीं करता। सब लोग स्वार्थी हैं। मैंने बड़े बड़े धनिकों को,

* स्थिरे मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः।
धातु साम्ये स्थिते स्मर्ता विश्वरूपमजं हि माम्॥
ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठं पाषाण सन्निभम्।
अहं स्मरामि मद् भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

बड़े बड़े राजा महाराजाओं को, सुन्दर से सुन्दर महिलाओं को उच्च से उच्च पद प्रतिष्ठा वालों को देखा है। दो ही बात का उन्हें रोना है। हमसे कोई हृदय से प्रेम नहीं करते. सब हमें ठगना चाहते हैं। विपत्ति में कोई हमारी सहायता नहीं करते। जो धनी हैं उन्हें अपने धन की रात्रि दिन रक्षा की चिन्ता है, और अधिक धन बढ़े इसका तृष्णा है। जो निर्धन हैं, उन्हें रात्रि दिन धन की चिन्ता है, धनिकों से मन ही-मन ईर्ष्या करते हैं। जो सौन्दर्योपासक हैं उन्हें सुन्दरियों की और जो सुन्दरियाँ हैं उन्हें सुन्दर पुरुषों की चिन्ता है। वे रात्रि दिन इसी चिन्ता में घुले जाते हैं। इष्ट वस्तु को पा लेने पर कुछ काल के लिये वे भले ही सुख का अनुभव करें, किन्तु अन्त में उससे भी उनको सुख नहीं मिलता। वे ज्यों के-त्यों अतृप्त बने रहते हैं। तृप्त हो भी तो कैसे हों इनका मार्ग ही विपरीत है। जो स्वयं नाशवान् हैं उनसे शाश्वती शान्ति कैसे प्राप्त होगी? जो स्वयं असत् है उनसे सत् सुख कैसे मिलेगा? जो स्वयं जड़ हैं उनसे नित्यचैतन्य रस कैसे स्रवेगा, जो स्वयं निरानन्द हैं उनसे आनन्द की इच्छा रखना भारी भूल है। इसीलिये हे मेरे भूले भटके भाई बहिनो! स्थिर चित्त करके मेरी बात सुन लो। मैंने संसार का बड़ा कटु अनुभव किया है, छोटे बड़े, प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित, धनी, दरिद्र सभी से मैं मिला हूँ, सभी क्षेत्र के नेताओं के सम्पर्क में रहा हूँ। तुम यदि प्रेम के इच्छुक हो, तो इन संसारी विषयों में फँसे लोगों से प्रेम की आशा छोड़ दो। हाँ, विषयवासना की पूर्ति करनी हो तो बात दूसरी है, सो इनसे विषयों की भी पूर्ति होना असम्भव है। यदि तुम धन पाकर सुखी होना चाहते हो, तो यह तुम्हारी भारी भूल है। धन से ही यदि सुख होता, तो ये धनी सभी सुखी होते। किन्तु मैंने अत्यन्त ही निकट से इन धनिकों को देखा है, इनमें

एक भी सुखी नहीं। यही नहीं ये लोग हम साधारण आदमियों से भी अधिक दुखी हैं, इन्होंने सुख के निमित्त जो विविध भाँति की सामग्रियाँ एकत्रित कर रखी हैं, वे सुख की वस्तुएँ ही उनके दुख का कारण बन गयी हैं। ऊँचे पद वाले अधिक अतृप्त अत्यन्त दुखी औ बहुत चिन्तित देखे गये। निर्धन तो दुखी हैं ही उन्हें पग पग पर आवश्यक सामग्रियों का अभाव खलता है। सुखी वही है जिसने सुखस्वरूप श्रीहरि से कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। भगवान् से जिन्होंने अपना पुत्र, मित्र, पति, स्वामी तथा ईश्वर भाव का नाता जोड लिया हैं, नित्य से सम्बन्ध हो जाने पर उनका सुख भी नित्य ही हो जाता है। भगवान् ऐसे भोरे हैं कि उन्हें भक्त जो भी बनाना चाहें वे ही बन जाते हैं। भगवान् ने श्रीकृष्णावतार में ये सभी सम्बन्ध प्रत्यक्ष करके दिखा दिये। पाडवों ने भगवान् में इन सभी भावों का दर्शन किया। वे युधिष्ठिर को अपना पूज्य मानते थे, अर्जुन के साथ उनकी मैत्री थी, सभी पाडव उन्हें अपना स्वामी ईश्वर तथा सर्वस्व समझते थे। उनसे जो सम्बन्ध जोड लेता है, उसकी वे प्रत्यक्ष सेवा करते हैं। उसके सभी कार्यों को अपने निजी कार्य समझकर अपने करों से करते हैं। तभी तो भगवान् का नाम भक्तवत्सल तथा भक्तवाञ्छाकल्पतरु है। भागवती कथा के पाठकों में बहुत से भक्त होंगे। जो न भी होंगे वे 'भागवती कथा' पढते पढते भक्त बन जायँगे। हमारी समस्त भगवत् भक्तों से प्रार्थना है, वे समस्त भागवती कथा के परिवार को आशीर्वाद दें कि सभी भगवान् के भक्त बनें। सभी की गति-मति-रति भगवान् के ही चरणारविन्दों में हो। सभी के हृदयों में आनन्द समा जावे सभी के दुख भग जावें। एवमस्तु-तथास्तु।

गगा के बीच में झूसी (प्रयाग)
श्रीराधाष्टमी २००९ वि०—

विनीत
प्रभु दत्त

श्रीकृष्ण-उद्धव सम्वाद की प्रस्तावना

[१२१७]

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम् ।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥
ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे ।
सलोकाँल्लोकपालान् नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ६ अ० २६, २७ श्लोक)

चूप्पय

एक दिवस वसु, रुद्र, पितर, ऋषि, मुनि, शिव, सुरगन ।
सब मिलि प्रभु ढिँग गये द्वारका सँग चतुरानन ॥
नन्दन वनके सुमन विपुल प्रभुपै बरसाये ।
नव जलधर सम छटा निरखि सब अति हरषाये ॥
करि दरशन घनश्यामके, दुःख, शोक, सबके भगे ।
सुललित पद अति मधुर स्वर, तैं इस्तुति करिबे लगे ॥

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—राजन् ! ब्रह्माजी भगवान् श्रीकृष्ण के समीप आकर निवेदन कर रहे हैं—"हे अखिलाधार ! इस समय आपके लिये देवताओं का कोई कार्य करने को अवशेष नहीं रहा । और आपका यह कुल भी ब्राह्मणों के शाप से नष्टप्राय बन चुका है । अतः यदि आप उचित समझें तो अपने परम धाम में प्रवेश करके सब लोकों के सहित हम लोकपालों का—जो आपके किंकर हैं—पालन कीजिये ।'

स्वामी अपने सेवकों को जिस कार्य पर नियुक्त कर देता है, कर्तव्य परायण सेवक उस कार्य को सदा तत्परता के साथ करते रहते हैं। जिसे स्वामी ने नियुक्त कर दिया है कि हमें समय की सूचना देता रहे, तो वह निरन्तर सूचना देता रहेगा। यद्यपि वह जानता है-स्वामी को विदित है कि अब कौन सा समय है, फिर भी यह अनजान की भाँति जताता है, क्योंकि स्वामी ने उसकी नियुक्त ही उसी कार्य के ऊपर की है। वह स्वामी को सिखा नहीं रहा है अपने कर्तव्य का पालन मात्र कर रहा है। किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का एक पाचक था। वह उनका भोजन बनाता था। दैवात् स्वामी को संग्रहणी हो गयी। उसमें ऐसा होता है, भोजन पचता है नहीं, किन्तु मुख में सदा भूख-सी बनी रहती है, खाते खाते तृप्ति नहीं होती। इच्छा बनी रहती है- और खालें और खालें। चिकित्सक ने बताया—तुम पतली-पतली चार रोटी खाया करो, इससे अधिक मत खाया करो। उन्होंने अपने रसोइया ने कह दिया—"मुझे चार ही रोटी दिया करना, अधिक मैं माँगू भी तो भी मत देना।"

रसोइया ने कहा—"अच्छी बात है, जैसी आपकी आज्ञा होगी वैसा ही मैं करूँगा।"

उसी दिन से वह नित्य चार रोटी देता। एक दिन उनसे न रहा गया, बोले—"भाई आज दो रोटी और दे दे पेट नहीं भरा।"

रसोइया ने कहा—"महाराज! मैं तो देने का नहीं।" यह स्वामी को बहुत बुरी लगी। उन्होंने उसे डाँटा डपटा कहा—"हम तुझे निकाल देंगे।" उसने कह दिया आप चाहे जो करें आप स्वामी हैं, किन्तु मैं रोटी न दूँगा।" क्या करते वे रसोइये को निकाल कर उठ गये।

जिस वस्तु के सेवन से हानि होती है, वह सम्मुख आ जाता

है तो विवेक नहीं रहता। उसके हट जाने पर तब विवेक उत्पन्न होता है। फिर सोचते हैं—मैंने ऐसा क्यों किया! इसी प्रकार भोजन से उठ जाने पर पीछे उन्हें विवेक हुआ। रसोइया जब अपना बिस्तरा बाँध कर चलने लगा, तब स्वामी ने उसे बुलाकर पारितोषिक दिया और उसकी इस कर्तव्य परायणता पर प्रसन्न होकर वेतन-वृद्धि भी कर दी।

अब यहाँ विचारणीय विषय यह है, कि वस्तुएँ सब स्वामी की थीं। रसोइया भी स्वामी का ही वेतन-भोगी भृत्या था। स्वामी के माँगने पर भी जो उसने रोटी न दी, तो उसने अपने कर्तव्य का पालन किया। इस पर कह सकते हैं एक बार स्वामी ने न देने की आज्ञा की थी, आज वह उसे तोडने की आज्ञा दे रहा है, तो पाचक को देना चाहिये। किन्तु यहाँ तो उसकी यह भी आज्ञा थी कि मैं माँगू भी तो मत देना। इसलिये उसने माँगने पर भी न देकर दृढ़ता का पालन किया। सेवकों का काम है उनकी बताई विधि से सेवा करना। पूजन के पूर्व देवता का श्रद्धा सहित आवाहन करते हैं, भक्ति पूर्वक बुलाते हैं, जब आ जाते हैं, तो उनका पूजन करते हैं। पूजन करने के अनन्तर विसर्जन करते हैं, किन्तु विधि का तो पालन करना ही है। स्वामी ने सेवा की यही विधि बताई है, स्वामी की बताई विधि का पालन करना यही सेवक का धर्म है, यही उसका प्रधान कर्तव्य है। दुःख पड़ने पर देवगण भगवान् से आने की—अवतार लेने की—प्रार्थना करते हैं, जब दुःख दूर हो जाता है तो उन्हें पुनः स्वधाम पधारने की प्रार्थना करते हैं। जीवों के लिये यह कर्मबन्धन है, भगवान् की यह लीला है, क्रीड़ा है, आत्मरति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् वासुदेव ने मथुरापुरी में अवतार धारण करके व्रज में दिव्यातिदिव्य लीलायें कीं। असुरों

का संहार किया, द्वारका पुरी मे आकर गार्हस्थ्य धर्म का अनुकरण किया, कुरु क्षेत्र में भाई-भाइयों को लड़ाकर भूमि के भारभूत भूपतियों को बुलाकर उनका सहार कराया। अभिमान के कारण बढ़े हुए अपने कुल को शाप दिलाकर भगवान् की अब स्वधाम पधारने की इच्छा हुई। उनकी इच्छा को समझकर उन्हीं की प्रेरणा से उनके नियुक्त किये हुए लोकपाल आदि उन्हे विज्ञापित करने के निमित्त उचित अवसर पर एक दिन द्वारका पधारे। उन सब के सभापति थे लोकपितामह वेदगर्भ भगवान् चतुरानन्।"

समय आने पर स्वय ब्रह्माजी ने सोचा—"अब भगवान् के स्वधाम पधारने का समय आ गया है, इसलिये उन सर्वज्ञ को सूचित कर देना मेरा प्रधान कर्तव्य है।" यही सोचकर वे अपने प्रधान-प्रधान पार्षदो सहित प्रभु की सेवा मे चले। सर्व प्रथम उन्होंने भूतनाथ भगवान भव से कहा—"शिवजी! चलो, अब भगवान् के वैकुण्ठ पधारने का समय हो गया, उन्हे सूचित तो कर आवें। ऐसा न हो पीछे हमसे कारण पूछा जाय, कि तुम लोगो ने हमें सूचना क्यों नहीं दी?"

यह सुनकर शिवजी बोले—"अच्छी बात है पिताजी! चलो, भगवान् के दर्शन भी होंगे और अपना पूरा कर्तव्य भी पूरा हो जायगा। वैसे तो वे सर्वज्ञ हैं उन्हें क्या सूचित करना है, किन्तु हमें तो अपनी ओर से सूचना देनी ही चाहिये। अब यह बताइये अकेले ही चलें या दल बल के सहित?"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो भाई! यदि निजी रूप से जाते तो अकेले चले जाते। अब तो अनुशासन के अनुसार राजकीय कार्य से नियमानुसार जा रहे हैं, अतः साङ्गोपाङ्ग पार्षदो और परिचारकों के साथ चलो।"

यह सुनकर शिवजी ने अपने भूत प्रेत पिशाचों को आज्ञा दी। डाकिनी साकिनियों ने कहा—"महाराज! हम भी चलें?" डाँटकर

शिवजी ने कहा—"नहीं, तुम्हारा काम नहीं है।" यह सुनकर वे अपना सा मुँह लिये हुए लौट गयीं। भूत प्रेत पिशाच भूतभावन भगवान भवानीपति को घेर कर खड़े हो गये। ब्रह्माजी के चारों ओर भी अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, नारद, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन तथा उनके अन्यान्य दक्ष आदि पुत्र खड़े हो गये। ब्रह्माजी ने जिन-जिनको प्रजापति, लोकपाल तथा उपलोकपाल के पदों पर नियुक्त किया था, वे भी अपने अस्त्र, आयुध, वाहन और राजकीय वेष के सहित ब्रह्माजी के सम्मुख पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। बारह आदित्य, उनञ्चास मरुद्गण, आठों वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, एकादश, रुद्र, विश्वेदेव गण, साध्यगण, देवगण, उपदेवगण, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृगण, विद्याधर तथा अन्यान्य उपदेव भी यथाधिकार अपने अपने पद के अनुसार खड़े हो गये। बन-ठन कर शृंगार करके छम्म छम्म करती हुई अप्सरायें आगयीं वे सब ब्रह्माजी के सम्मुख हाँथ बाँधकर सिर नीचा करके खड़ी हो गयीं। प्रथम ऋषि मुनियों ने स्वस्त्ययन किया। अप्सराओं ने मङ्गलगान नृत्य किया। ब्रह्माजी के सम्मान में सबने आभार प्रदर्शन किया। अपनी हंस के समान स्वच्छ दाढी पर हाथ फेरते हुए ब्रह्माजी ने सबका अवलोकन किया। फिर उन्होंने आज्ञा दी—"सब लोग द्वारका की ओर प्रस्थान करें।"

ब्रह्माजी की आज्ञा पाते ही सब अपने अपने विमान और वाहनों पर चढकर द्वारका की ओर चल दिये। द्वारका में पहुँच कर वे सब लोग अपने अपने वाहनों से उतर पड़े। उन्होंने सम्मुख सुवर्ण की बनी सर्वाङ्ग शोभित त्रिभुवनका मुकुटमणि उस द्वारावति नगरी में भगवान् के उस श्रीविग्रह के दर्शन किये, जिसके द्वारा नरलोक मनोरम भगवान् वासुदेव ने सम्पूर्ण संसार के मल को हरने वाले अपने परम पावन सुयश का सम्पूर्ण संसार

में विस्तार किया है। द्वारकापुरी की अद्भुत शोभा निहारते हुए वे सब-के-सब भगवान् के सुविस्तृत प्रांगण में पहुँचे, जहाँ कल्प-वृक्ष अपने सुमनों के सुवास से सम्पूर्ण पुरी को सुवासित बनाये रहता है। समस्त शोभा, समृद्धि और सिद्धि से सम्पन्न उस पुण्यपुरी में विराजमान् भगवान् के अत्यद्भुत छटा को निहार कर सब-के-सब परम विस्मित हुए। वे भगवान् के अद्भुत रूप, लावण्य, तेज, ओज, आकर्षण तथा सौंदर्य को निहारकर चित्र लिखे से रह गये। अपलक भाव से सतृष्ण नेत्रों से प्रभु की रूप छटा रूपी सुधा का अतृप्तभाव से पान करने लगे। सभी चलते समय स्वर्गलोक से टोकरियों में भर भरकर नन्दन कानन के अम्लान सुगन्धयुक्त सुमन लाये थे। उन सबने अपने करकमलों से उन सुमनों को श्रद्धा सहित प्रभु के पादपद्मों में अर्पित किया और उनके ऊपर उनकी वर्षा की। भगवान् के श्रीअङ्ग पर इतने पुष्प चढ़े कि भगवान् का सिंहासन सहित श्रीविग्रह सुमनों से आच्छादित हो गया। भगवान् ने कृपाभरी दृष्टि से सबकी ओर निहारा। सभी पंक्तिबद्ध खड़े हो गये और एक स्वर में, एक लय में, ताल और राग के सहित स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवतागण अपने पैरों से पृथ्वी का स्पर्श तो करते नहीं। बिना आश्रय के आकाश में स्थित होकर उन सबने विविधि भाँति से सर्वान्तर्यामी द्वारकाधीश की स्तुति की। इतनी लम्बी-चौडी स्तुति को सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"देवताओं! आज तो बडी लम्बी चौडी स्तुति कर रहे हो। बात क्या है, अपना प्रयोजन कहो। स्तुति तो सुन ली, अब काम की बात बताओ, क्या चाहते हो?"

यह सुनकर शिवजी तथा अन्य देवतागण उत्तर देने के लिये ब्रह्माजी को उकसाने लगे। इस पर लोकपितामह भगवान् चतुरानन कहने लगे—हे सर्वान्तर्यामी! हे विश्वम्भर! आप तो घट-घट

को जानने वाले हैं, आप से कौन-सी बात छिपी है। फिर भी आप जानबूझकर लीला के लिये अनजानों की भाँति पूछते हैं, तो मैं आपकी आज्ञा पालन करने के अभिप्राय से आप से निवेदन करता हूँ। पहले हम सब पृथ्वी को साथ लेकर क्षीरसागर में आपके दर्शनों के लिये गये थे और आपसे भू का भार उतारने की प्रार्थना की थी।

भगवान् ने कहा—"भाई! तुम लोगों की प्रार्थना पर ही तो मैंने अवनि पर अवतार धारण किया है।"

ब्रह्माजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"हाँ प्रभो! यही तो मैं निवेदन करता हूँ, आपने कृपा करके हमारी प्रार्थना स्वीकार की थी। भूमि का भार उतर गया। जिस कार्य के लिये प्रार्थना की थी, वह समुचित रूप से सम्पन्न हो चुका। पहिले असुरों के आतङ्क के कारण साधु प्रकृति के पुरुष धर्म कर्म करने में कष्ट का अनुभव करते थे। अब आपने असुरों का विनाश करके सत्यपरायण साधु पुरुषों में धर्म की स्थापना कर दी। सम्पूर्ण लोकों में जो अज्ञान रूप कोहरा छाया हुआ था, उसे अपने प्रचण्ड प्रताप से छिन्न भिन्न कर दिया। अधर्म से सतप्त प्राणियों की प्रसन्नता के निमित्त आपने अपनी कीर्ति रूपी चन्द्रिका को छिटकाकर दशों दिशाओं को उद्भासित कर दिया। इस यदुकुल रूप सागर में सुन्दर स्वच्छ अमल चन्द्र के समान प्रकट होकर अपनी सुधा-मयी शुभ्र ज्योत्स्ना रूपी कथा को प्रकाशित करके सबके मन को प्रफुल्लित बना दिया। अपने सौंदर्य सुधा रूप दिव्यासव से सभी को आत्मविस्मृत बना दिया। ऐसे अनिन्द्य अनुपम अवतार को धारण करके संसार के उद्धार के निमित्त अनेकों उदार पराक्रम से युक्तकार्य किये। प्रभो असुरों का संहार करना यह तो एक अति तुच्छ साधारण कार्य है, वह तो आपके तनिक से संकल्प से किंचित् भ्रुकुटि वक्र करने मात्र से ही हो सकता

था। किन्तु ! भगवन् ! आपके अवतार का मुख्य हेतु तो भागवती कथाओं का प्रकट करना है। आप जो दिव्य अलौकिक सुखप्रद चरित्र करेंगे, उसे कविगण काव्यरूप में वर्णन करेंगे उन कथाओं का जो श्रवण, कीर्तन करेंगे वे भवसागर से सुगमता पूर्वक तर जायँगे। कलियुगी जीवों के लिये तो अन्य कोई गति ही नहीं। अज्ञानान्धकार में भटकते हुए प्राणियों के लिये आपकी कथाओं के श्रवण पठन के अतिरिक्त संसार से पार होने का सरल, सुगम अन्य उपाय ही नहीं।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"ब्रह्माजी, अभी तक आप शिष्टाचार ही कर रहे हो। इतनी बातें कहने पर भी आप अपने यथार्थ अभिप्राय को व्यक्त न कर सके। स्पष्ट शब्दों में कहो बात क्या है ?"

कुछ संकोच के स्वर में भगवान ब्रह्मा बोले—'हे पुरुषोत्तम ! आप सब जानते ही हैं। अवनिपर अवतरित हुए एक सौ पचीस वर्ष हो गये। कलियुग के मनुष्यों की साधारण आयु का परिमाण इतना ही आपने निर्धारित किया है और आप नर-नाट्य कर ही रहे हैं। अजन्मा होकर आपने जन्म ले लिया, क्रोध रहित होकर आपने क्रोध सा किया। जिन देवताओं के कार्य करने के निमित्त आपने नरवपु धारण किया था, वह कार्य सम्पन्न हो गया, अब अमरों का कोई कार्य अवशिष्ट रहा नहीं। जिस कुल को आपने अपने जन्म से विश्वविख्यात बनाया है वह भी विप्र-शाप से नष्टप्राय हो चुका है। अब ऐसा लगता है आपने अपनी लीला का उपपहार कर लिया। यदि आप अब उचित समझें कि अवतार कार्य समाप्त हो चुका और स्वयं आपकी इच्छा हो, तो हम सब यही प्रार्थना करते हैं कि अब आप अपने परम धाम को प्रसन्नता पूर्वक पधारें और हम सब अनुचरों को अनुगृहीत करें।

हँसकर भगवान् बोले—"अरे देवताओ! तुम बड़े स्वार्थी हो। जब तुम्हारा काम पड़ा तब तो पुकारने लगे—'आओ, आओ।' अब जब तुम्हारा स्वार्थ सध गया, तब कहते हो—जाओ-जाओ, पधारो-पधारो।"

लज्जित होकर ब्रह्माजी बोले—"भगवन्! आपही ने तो हमे सिखाया है, प्रथम आवाहन करना फिर विसर्जन करना। हमने आपकी बतायी विधि का पालन कर दिया, अब करने कराने में आप स्वतन्त्र हैं। सर्व समर्थ हैं, जो इच्छा हो सो करें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए प्रभु बोले—"नहीं, ब्रह्माजी! मैं तो जैसा आप कह रहे हैं उसे प्रथम ही निश्चय कर चुका हूँ। अब मैं इस लीला को संवरण करना ही चाहता हूँ। तुम लोगों ने मुझसे जिस काम के लिये प्रथम प्रार्थना की थी वह पूरा हो गया। पृथ्वी का भार उतर गया। मेरे प्रभाव, प्रताप, बल, विक्रम तथा वैभव से बढ़ा हुआ यह यदुकुल संसार के लिये एक विचित्र भार बना हुआ है। मेरे कारण इस कुल को कोई पराजित भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार समुद्र का तट उमड़ते हुए समुद्र को रोके रहता है, उसी प्रकार मदोन्मत्त इस यादवकुल को भी मैं रोके हुए हूँ। जिस काँटे से पैर के काँटे को निकाला था, वह काँटा ही अन्य पैरों को पीड़ा देने को पथ पर प्रस्तुत है। अतः काँटे से काँटे को निकालकर और उसे निकालने वाले काँटे की भी नोक को तोड़ कर उसे निर्वीर्य बनाकर तब आगे बढ़ना चाहिये। मेरे आश्रय के कारण यह यदुकुल स्वयं अपनी उद्धत्ता से संसार ग्रास करना चाहता है। इस कुल का संहार किये बिना ही यदि मैं इस लीला को समाप्त करता हूँ, तो यह उच्छृङ्खल यादव समुदाय समस्त संसार को नष्ट कर देगा। इसीलिये मैंने शील-संकोच नहीं किया है। विप्रों से इस कुल को नाश होने का शाप दिला दिया। अब कुछ ही काल में यह

काल कवलित हो जायगा। अपने इस कुल का अन्त करके और भली-भाँति भू का भार उतारकर तब मैं तुम्हारे धाम में आऊँगा। आपके सब लोकों को कृतार्थ करता हुआ अपने धाम को जाऊँगा। आप धैर्य धारण करें।"

नैमिषारण्य निवासी शौनकादि मुनियों से सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् के ऐसा कहने पर सभी देवतागण परम प्रमुदित हुए। उन सबने विश्वनाथ भगवान् वासुदेव की परिक्रमा की, उनके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम किया और उनसे अनुमति लेकर अपने-अपने लोकों को चले गये। अब जिस प्रकार विश्वभावन भगवान् यदुकुल का नाश कराने के प्रथम उद्धवजी के पूछने पर गूढ तत्वज्ञान का उपदेश देंगे, उस कथा को मैं आगे वर्णन करूँगा। उद्धवजी तो भगवान् के साक्षात् रूप ही हैं, उन्हें तो कोई शंका हो ही नहीं सकती। किन्तु भगवद्भक्त जो भी करते हैं, जगत् के उपकार के ही निमित्त करते हैं। इसलिये उद्धवजी के ये प्रश्न हैं, ये सब संसारी लोकों के उद्धार के ही निमित्त हैं।

छप्पय

करि विनती अज कहैं नाथ! भूभार उतारयो।
पापी असुरनि मारि देव द्विज दुःख निवारयो॥
हम सब प्रभुवर खड़े कृपा करि हमें निहारें।
अब न रह्यो कछु काम धाम घनश्याम पधारें॥
हँसि बोले रुकिमिनिरमन, शेष अबहिँ कछु काम अज!
यदुकुल को संहार करि, तब आऊँ पुनि धाम निज॥

उद्धवजी की भगवान् से विनय

[१२१८]

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ६ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि देव निज धाम सिधारे।
पुरी द्वारका माहिं सबनि उत्पात निहारे॥
बोले सब तैं श्याम नित्य अपशकुन दिखावें।
सब मिलि चलो प्रभास पितर सुर पूजि सिहावें॥
करिबे शान्ति अनिष्ट की, सब चलिबे उद्यत भये।
हरि हिय की सब समुझिकें, उद्धवजी प्रभु ढिंग गये॥

हाय! हाय! इस संसार का कैसा वीभत्स व्यापार है। बच्चा उत्पन्न होता है, किसलिये? मरने के लिये। फल पकता है, गिरने के लिये। शरीर बढ़ता है, छोटा होने के लिये। सूर्यनारायण ऊपर

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—राजन्! भगवान् का स्वधाम पधारने का अभिप्राय समझकर उद्धवजी भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहने लगे—"हे केशव! मैं तो आपके चरणारविन्दों को एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ सकता। हे नाथ! आप स्वधाम पधारना चाहते हैं तो मुझे भी अपने साथ लेते चलें।"

चढते हैं गिरने के लिये। इसी प्रकार सयोग होता है वियोग के लिये। सुख होता है दु ख के लिये। अपना प्रेमी, अपना सुहृद्, अपना सखा, अपना स्नेही मिल जाता है, तो शरीर का रोम-रोम खिल जाता है, हृदय सरोवर मे प्रेम की हिलोरें मारने लगती हैं, मुखकमल विकसित हो जाता है। उन्हीं के विषय में जब सुनते हैं कि वे कल चले जायँगे, तो हृदय कैसा हो जाता है उसका वर्णन करना मानव शक्ति के बाहर की बात है। जिन्होंने हमें निरन्तर अपने स्नेह वारि से पाला पोसा है, जिनके साथ हँसे हैं, खेले हैं, नेह में भर कर रोये हैं। जिनके साथ बठकर खाया है, जिनके साथ मधु से भी मीठी-मीठी बातें करके बडी लम्बी लम्बी रात्रियों को, ज्येष्ठ-वैशाख के बडे-बडे दिनों को क्षण के समान बिताया है, वे ही सहसा हमें बिलखता छोडकर चल जायँगे, इसकी कल्पना होते ही शरीर काँपने लगता है और ब्रह्मा बाबा की बुद्धि पर क्रोध आता है कि यदि उन्हें प्रिय-वियोग कराना ही था, तो सयोग सुख दिया ही क्यों? परन्तु अब उनसे वाद विवाद कौन करे? हम लोग एक मुख वाले, वे चार मुख वाले। जब तक हम एक बात करेंगे, तब तक वे चार बात कह जायगे। जो अपने से चौगुना है उससे बोलना व्यर्थ। अतः बूढे बाबा की बुद्धि की विपरीतता विचारते हुए भी हम निराश हो जाते हैं। मन ही मन उन्हें कोसते हुए हृदय पर पत्थर रख कर प्रिय वियोग को सहन करते हैं। सहन न भी करें तो क्या करें। जो अत्यन्त प्यारा होता है वह अत्यत निष्ठुर भी तो होता है। पाटल (गुलाब) के पुष्प में काँटे तो होते ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब देवगण भगवान् की आज्ञा से चले गये, तो भगवान् ने स्वधाम पधारने का निश्चय किया। भगवान् के सकल्प करते ही श्री का भी सकल्प हो गया। क्योंकि

श्री भगवान् के बिना रह ही नहीं सकती। जब संकल्प से भगवान् इस धराधाम को त्याग कर अपने परमधाम में पहुँच गये तो द्वारका निःश्री सी दिखाई देने लगी। वहाँ नित्य-नित्य नये-नये उत्पात सूचक अपशकुन होने लगे। कभी-कभी बिना बादलों के बिजली चमकने लगती, बिना पर्व के ही राहु सूर्य को ग्रस लेता, बार-बार भूकम्प होने लगता। नगर के दक्षिण ओर बहुधा उल्कापात हो जाते, दिन में घरों में मांस-भोजी गीदड़ आदि घुस जाते। देव-मन्दिरों पर, पवित्र स्थानों पर चील, गीध, कौए तथा अन्यान्य मांस-भोजी पक्षी मँड़राने लगते। गिद्ध घरों के ऊपर बैठ जाते। कुत्ते सिर ऊँचा करके रोने लगते, घोड़े अश्रु बहाते रहते। उल्लू कपोत रोते हुए भयंकर शब्द करते, दिशायें धूम्र वर्ण की हो जातीं। कभी-कभी रक्त की वर्षा होने लगती। आकाश के ग्रह परस्पर में टकरा जाते, घृत की आहुतियाँ पड़ने पर भी हुतासन प्रज्वलित नहीं होते। गौएँ बैल तथा अन्यान्य पशु रोते रहते। सर्वत्र सूना-सूना दिखायी देता। इसी प्रकार के अनेक अनिष्ट सूचक अपशकुन सबको दीखते और सभी चिन्तित, भयभीत तथा उद्विग्न से रहते। इन सब उत्पातों को देखकर द्वारकावासी बड़े चिन्तित हुए। परस्पर में सब मिलकर कहने लगे—"यह कैसा समय आ गया, नित्य नये उपद्रव हो रहे हैं। यह बात क्या है?"

इस पर कुछ लोगों ने कहा—"इस विषय में हमारी बुद्धि तो कुछ काम देती नहीं। भगवान के पास चलकर पूछना चाहिए।"

यह बात सभी को रुचिकर प्रतीत हुई। सब कहने लगे—"हाँ, सब मिलकर भगवान् के पास चलें।"

इस पर एक बुद्धिमान् व्यक्ति बोला—"भैया! भगवान् के समीप बहुत भीड़भाड़ जाना उचित नहीं। कुछ वृद्ध व्यक्ति जो

अवस्था के साथ विद्या-बुद्धि में भी वृद्ध हों वे जायँ। वे जाकर भगवान से समस्त अनिष्टों को सूचित कर दें। फिर भगवान् जैसी आज्ञा प्रदान करें, वैसा ही किया जायगा।"

सबने साधु-साधु कहकर इस सम्मति का समादर किया। कुछ बूढ़े-बूढ़े व्यक्तियों को भगवान् के समीप जाने के लिये चुना। वे सबके सब बड़े शिष्टाचार के साथ भगवान के समीप गये। भगवान् ने उन समागत बड़े बूढ़ों का स्वागत-सत्कार किया। कुशल प्रश्न और शिष्टाचार के अनन्तर वे बड़े बूढ़े व्यक्ति बोले—"वासुदेव! आजकल द्वारका में नित्य ही नये नये उत्पात हुआ करते हैं। अपशकुन हो रहे हैं, इसका क्या कारण है?"

यह सुनकर भगवान् कुछ गम्भीर हो गये और फिर कुछ रुक-रुक कर बोले—"हाँ, महानुभावो! मैं भी देख रहा हूँ, आजकल द्वारका में अनेकों अनिष्ट सूचक अपशकुन दिखाई देते हैं। दूसरे हमारे कुल को ब्राह्मणों का दुस्तर शाप भी लग चुका है। सूर्य चाहें पश्चिम में भले ही उदय हो जायँ, किन्तु ब्राह्मणों का शाप अन्यथा नहीं हो सकता।"

वृद्धों ने पूछा—"तब महाराज! क्या करना चाहिये, कोई उपाय बताइये।"

भगवान् बोले—"आर्यगण! आप सब वयोवृद्ध हैं, मेरे पूजनीय हैं, आप स्वयं ही सोचें कि ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिये। मेरी सम्मति तो यह है कि अब हमें द्वारका में रहना ही न चाहिये। यदि हम जीना चाहते हों तो हमें तुरन्त इस द्वारावती का परित्याग कर देना चाहिये।"

वृद्धों ने पूछा—"वासुदेव! द्वारका को छोड़कर हम लोग कहाँ जावें। कोई उपयुक्त तीर्थ-स्थान बताइये, जहाँ चलकर हम अनिष्ट की शान्ति कर सकें।"

भगवान् बोले—"मेरी सम्मति में हमें प्रभास क्षेत्र में चलना

चाहिये। प्रभास बड़ा ही पवित्र क्षेत्र है। समुद्र और सरस्वती का संगम है। सोमेश्वर शिवजी वहाँ सर्वदा निवास करते हैं। प्राचीनकाल में चन्द्रमा अपनी सत्ताइस पत्नियों में से रोहिणी के साथ विशेष पक्षपात करते थे, अन्य पत्नियों से बोलते भी नहीं थे। सभी ने जाकर अपने पिता प्रजापति दक्ष से अपने पति के पक्षपात की बात कही। दक्ष ने चन्द्रमा को समझाया, किन्तु वे नहीं माने। अन्त में दक्ष ने शाप दिया कि तुम्हारे शरीर में क्षय रोग हो जाय।" अब तो चन्द्रमा बड़े घबराये। उन्होंने ऋषियों से उपाय पूछा। सबने बताया—"प्रजापति दक्ष का शाप तो अन्यथा हो ही नहीं सकता, किन्तु आप प्रभास क्षेत्र में जाकर स्नान करें, शिवजी का पूजन करें, आप क्षय रोग से मुक्त हो जायगे। आपकी कलाएँ नित्यप्रति घट ही रही हैं वे पुनः वृद्धि को प्राप्त होंगी।"

ऋषियों की सम्मति से चन्द्रमा प्रभास क्षेत्र में आये और इस तीर्थ में स्नान करते ही क्षय रोग से मुक्त हो गये। उनकी जो कलाएँ निरन्तर घट हो रही थीं वे बढ़ने लगीं और पूर्णिमा के दिन पूरी हो गयीं। तभी से चन्द्रमा की कलाएँ कृष्णपक्ष में एक एक करके घटती हैं, किन्तु शुक्लपक्ष में बढ़ते बढ़ते पूर्णिमा को पूरी हो जाती हैं। ऐसा इस क्षेत्र का माहात्म्य है।

वृद्धा ने पूछा—"हाँ, महाराज! प्रभास क्षेत्र की प्रशंसा तो पहिले से भी सुनते थे, अब आपके श्रीमुख से उसका माहात्म्य सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। अब यह आप और बतावें कि वहाँ चलकर हमें करना क्या चाहिये।"

भगवान् बोले—"महानुभावो! जब अनिष्ट की आशङ्का हो तो मनुष्यों को शुभ कर्म करने चाहिये। परम पावन प्रभास क्षेत्र में पहुँचकर प्रथम हम सब श्रद्धा सहित स्नान करें, देवता, ऋषि तथा पितरों का तर्पण करें। फिर जो सभी शुभ कर्मों में

मुख्य कर्म है ब्राह्मण-भोजन उसे करावें। कोई भी शुभ कर्म ब्राह्मण-भोजन के बिना सफल नहीं होता। ब्राह्मण भोजन सब कर्मों में अङ्गी है, शेष सब कर्म अंग हैं। अतः हम सब बड़े उत्साह के साथ ब्राह्मणों को सुन्दर सुन्दर सुस्वादु पदार्थों का भोजन करावें। पदार्थ ऐसे सुन्दर और भव्य बनावें कि बूढ़े बूढ़े ब्राह्मण बिना दाँतों के भी खा सकें। फिर उदारता पूर्वक सत्पात्रों को हम सभी वस्तुओं का दान करेंगे। दूधार हाल की ब्याई गौओं का, सुवर्ण का, वस्त्राभूषणों का तथा अन्यान्य वस्तुओं का दान करेंगे। आजकल हम विपत्ति के सागर में डूबने वाले हैं। हमारी जीर्ण शीर्ण तरनी अब डूबना ही चाहती है। स्नान, दान धर्म रूपी सुदृढ नौका के द्वारा हम इन महान् संकटों से सुख पूर्वक समुद्र के उस पार हो जायँगे।"

वृद्धों ने पूछा—"अब, महाराज यह बताइये कि प्रभास क्षेत्र को चलना कब चाहिये।"

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"अब इसमें पूछना क्या? "शुभस्य शीघ्रम्" विलम्ब करने का तो कोई कारण ही नहीं। आज ही चलें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की आज्ञा पाकर वृद्धगण तुरन्त बाहर आये। उन्होंने सबको भगवान् की आज्ञा सुना दी। भगवान् की आज्ञा पाते ही सभी यादव प्रभास क्षेत्र को जाने के लिये तैयारियाँ करने लगे। कोई वस्त्रों को बाँधने लगे, कोई रथों को निकाल कर उन्हें सजाने लगे। कोई सारथियों को बुलाने लगे। इस प्रकार सभी यात्रा की व्यग्रता प्रकट करने लगे।"

इधर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अनन्य अनुगत परम भागवत अनन्याश्रयी श्री उद्धवजी बड़ी गम्भीरता के साथ इन नित्य नित्य होने वाले अनिष्टों के सम्बन्ध में विचार किया करते थे। वे

सोचते थे—"भगवान् के विराजमान् रहते हुए भी द्वारावती में इतने उत्पात क्यों हो रहे हैं। फिर भगवान् सबको प्रभास जाने की आज्ञा क्यों दे रहे हैं। अवश्य ही कुछ दाल में काला है। प्रतीत होता है, भगवान् अब लीला संवरण करना चाहते हैं। भगवान् के बिना इस संसार में रहकर मैं क्या करूँगा। चलूँ, भगवान् से इन सब बातों का रहस्य पूछूँ। वे भक्तवत्सल हैं प्रणतपाल हैं, अशरण-शरण हैं, उनकी मेरे ऊपर असीम कृपा है। मेरे पूछने पर वे मुझे अवश्य ही सब रहस्य बता देंगे।" यही सब सोचकर उद्धवजी शंकित चित्त से एकान्त में बैठे हुए श्रीभगवान् के समीप गये।"

उस समय भगवान् अपने एकान्त आवास मे बैठे हुए ध्यान कर रहे थे। उद्धवजी की तो कहीं रोक-टोक थी ही नहीं, वे भगवान् के एकान्त स्थान में चले गये। वहाँ भगवान् को ध्यान मग्न देखकर वे ठिठक गये। पैरों की पैछर पाकर प्रभु ने अपने बड़े-बड़े कमलनयनों को खोला। उद्धवजी ने मृदुल सुखद चरण-कमलों पर अपने सिर को रखकर प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर खड़े हो गये। भगवान् की आज्ञा पाकर उनके बताये हुए आसन पर वे हाथ जोड़े ही जोड़े बैठ गये।

मन्द-मन्द मुसकराते हुए माधव उनसे बोले—"उद्धव! कहो भाई अच्छे हो न? तुम्हारी मुखाकृति से मुझे प्रतीत होता है कि तुम कुछ पूछना चाहते हो। यदि ऐसी कोई बात हो तो तुम निःशंक होकर मुझसे जो पूछना चाहते हो वह पूछ सकते हो।"

यह सुनकर उद्धवजी ने पुनः प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम किया और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर बोले—"हे देव देवेश! हे पुण्य श्रवणकीर्तन! हे योगेश्वर! मैं क्या पूछूँ, मुझे पूछने में लज्जा भी लगती है, संकोच भी होता है।"

भगवान् ने अभयदान देते हुए कहा—"नहीं, लज्जा संकोच की कोई बात नहीं। तुम प्रसन्नता पूर्वक निर्भय होकर पूछो।"

भगवान् का आश्वासन पाकर उद्धवजी रुक-रुककर शनैः शनैः कहने लगे—"प्रभो! आपके देखते-देखते हमारे कुल को ब्राह्मणों ने शाप दे दिया। आप कुछ भी नहीं बोले। आपके सम्मुख ब्राह्मणों का शाप वस्तु ही क्या है। आप चाहते तो तुरंत शाप का प्रतीकार कर सकते थे। आपके लिये यह कौन-सी बड़ी बात है। आपकी भ्रुकुटि विलास से असंख्यों ब्रह्माण्डों की सृष्टि स्थिति और प्रलय हो जाती है। आपने विप्र-शाप को सुनकर उसे सह ही नहीं लिया उसका मन से अनुमोदन भी किया। इससे प्रतीत होता है आप इस लोक की लीला को सवरण करना चाहते हैं। यदुकुल का संहार करके आप स्वधाम पधारना चाहते हैं।"

यह सुनकर भगवान् हस पड़े और हँसते हुए बोले—"उद्धव! तुम तो मेरे बाहरी प्राण ही हो। मेरे मन की बात तुम सब जानते हो। तुम जो अनुमान करोगे, वह सत्य ही होगा।"

यह सुनकर उद्धवजी रो पड़े। वे मूर्छित होकर गिर पड़े। भगवान् ने अपने कर-कमलों से उन्हें उठाया और कहा—"उद्धव! इस प्रकार अधीर नहीं होते हैं भैया! अरे, तुम भी इतने अधीर होगे तो कैसे काम चलेगा।"

रोते-रोते उद्धवजी बोले—"केशव! यदि आपने स्वधाम पधारने का निश्चय ही कर लिया है, तो मुझे इस कोलाहलपूर्ण संसार में न छोड़ जायँ, मुझे भी अपने साथ स्वधाम को ले जायँ नाथ! मैं आपके बिना इस धरा धाम पर एक क्षण के लिये भी नहीं रह सकता। मैं आपके पादपद्मों का पल भर के लिये भी परित्याग नहीं कर सकता।"

भगवान् ने बात को काटते हुए कहा—"अरे भाई! मैं अभी

कहीं जा थोड़े ही रहा हूँ, इस प्रसंग को छोड़ो। अपनी और कोई इच्छा बताओ।"

रोते-रोते उद्धवजी बोले—"नाथ! मेरी समस्त इच्छाओं को तो आपकी कथाओं ने नाशकर दिया है। नररूप रखकर जो आप रमणीय क्रीड़ायें किया करते हैं, वे परम मङ्गलदायिनी कथायें यदि किसी प्रकार संसारी लोगों के कर्ण कुहरों में प्रवेश पा जायँ वह कथामृत यदि कर्ण रूप पानपात्रों में भरकर पिया जाय, तो वह व्यक्ति अवश्य ही आपका भक्त बन जायगा और फिर वह समस्त संसारी इच्छाओं से रहित हो जायगा। इसलिये मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि मुझे स्वधाम पधारते समय यहाँ न छोड़ जायँ, मुझे अपने साथ-ही साथ लेते जायँ।"

भगवान् ने ममता भरी वाणी में कहा—"उद्धव! आज तुम्हें हो क्या गया है?"

हिचकियाँ भरते हुए उद्धवजी बोले—"मुझे आपके साथ रहने का रोग हो गया है, मुझे इन परम मृदुल चरणों के दर्शनों का व्यसन पड़ गया है। मैं इन चरणों का स्वेच्छा से कभी परित्याग नहीं कर सकता। नाथ! जिन्होंने भाव में अथवा स्वप्न में भी इन चरणारविन्दों को एक बार क्षण भर को भी देख लिया है, वह भी इन्हें छोड़ने में समर्थ नहीं हो सकता, तो अपने तो इन चरणारविन्दों के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं, इन्हें सुहलाया है, दबाया है, हृदय से लगाया है, प्रेमपूर्वक पय से पखारा है और पलकों से इनकी धूलि को झाड़ा है। एक दो दिन नहीं, वर्ष दो वर्ष नहीं प्रभो! सौ वर्ष से भी अधिक समय तक निरन्तर मैं सेवा में सन्नद्ध रहा हूँ। मेरे लिये घर में बाहर में अन्तःपुर में कहीं रोक टोक नहीं थी। सोने के समय जो सेवक सदा स्वामी के समीप ही समुपस्थित रहता रहा हो, बैठने के समय जो सदा श्रीमुख का दर्शन करता हुआ सम्मुख बैठा रहता हो, जिसने स्वामी को

कभी अपनी पीठ न दिखाई हो, घूमने के समय जो रथ में पैदल में सदा स्वामी के पीछे छाया की भाँति लगा रहता हो। अन्तः-पुर में जिसकी स्त्रियों के बीच में कहीं भी कभी भी रोक टोक न रही हो, जो अपने हाथ से स्वामी को स्नान कराता हो, क्रीड़ा में जो सदा स्वामी को मनोविनोद कराता हो, स्वामी जिसे सदा समीप बिठाकर साथ-साथ भोजन करते हों, स्वामी का जिस पर अपार प्यार हो और सेवक भी उन्हें ही अपनी गति मति समझता हो। हे देव! ऐसा सेवक कभी भी क्या अपने सच्चे स्वामी का परित्याग कर सकता है? प्रभो! मैं आपका क्षुद्रातिक्षुद्र दास हूँ, सेवक हूँ, शिष्य हूँ, भक्त हूँ, अनुरक्त हूँ। आप हमारे स्वामी हैं, भगवान् हैं, सुहृद हैं, सम्बन्धी हैं, और आत्मा हैं। अब आप ही न्याय करें कि आपके बिना मेरा इस धरा धाम पर रहना कैसे सम्भव हो सकता है?"

भगवान् ने कहा—"देख, भैया उद्धव! संसार सागर से पार होना बड़ा कठिन काम है। यह मेरी माया बड़ी दुस्तर है। जब तक मेरी माया नहीं जीती जाती तब तक मेरे धाम में प्रवेश करना कठिन काम है।"

यह सुनकर आँसू पोंछते हुए दृढ़ता के स्वर में उद्धवजी बोले—"प्रभो! भक्तों का माया क्या बिगाड़ सकती है। जिन्होंने आपके चरणों का आश्रय ले लिया है, उनके पास तो माया फटक भी नहीं सकती, दूर खड़ी-खड़ी देखती रहती है। हमारे पास तो ऐसा कवच है, ऐसा ब्रह्मास्त्र है कि माया का हमारे पास आने का साहस भी नहीं होता।"

हँसकर भगवान् बोले—"वह कौन सा कवच है, क्या ब्रह्मास्त्र है, हम भी तो सुनें।"

उद्धवजी बोले—"महाराज! भक्तवृन्द आपके कंठों में माला पहिनाते हैं। वह माला आपके हृदय से स्पर्श होती है, कुछ देर

आप उसे धारण करते हैं, फिर उतारकर आप उसे हमें दे देते हैं। उस आपकी भोगी हुई माला को हम अपने कंठ में श्रद्धा सहित धारण करते हैं, उसके पहिनने से हमारे समस्त अशुभ नष्ट हो जाते हैं। उस माला को हमारे कण्ठ में देककर माया हमारी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती। आप चन्दन लगाते हैं, उस अवशिष्ट चन्दन को हम सर्वाङ्ग में लेपन करते हैं, उसकी गन्ध पाते ही माया मुट्ठी बाँधकर भाग जाती है। आपके पहिने हुए प्रसादी वस्त्रों को हम प्रेमपूर्वक पहिनते हैं, फिर रॉड माया हमारे पास कैसे आ सकती है। आप प्रसाद पाते हैं, पाते-पाते अपने अधरामृत से सिक्थ उस सीथ प्रसादी को छोड देते हैं। वह उच्छिष्ट प्रसाद हमें मिलता है। उस प्रसाद के पाने पर भी क्या पापों का अस्तित्व रह सकेगा? उसे पाने पर भी क्या माया हमें डुला सकेगी? नहीं, नहीं नाथ! हमें माया से कुछ भी भय नहीं। आपकी प्रसादी, माला, चन्दन, वस्त्र, अलकार, उच्छिष्ट भोजन आदि वस्तुओं को पाकर हम आपके दास आपकी इस दुस्तर माया को हँसते-हँसते तर जायँगे, सुख पूर्वक इसे जीत लेंगे।"

इस पर भगवान् बोले—"अरे भैया! मेरे पद का नाम है ब्रह्मपद। वह विना तप के प्राप्त नहीं होता। यह छुरे के धार के समान है, बड़ा दुर्गम है। इसे तो संसारत्यागी, वीतरागी, अध्यात्मविद्या मे श्रम करने वाले परम तपस्वी ही प्राप्त कर सकते हैं।"

इस पर उद्धवजी बोले—"हाँ भगवन्! यह सत्य है कि सम्राट् का दर्शन सभी को सब समय सुगमता से प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु जो उनके निजी सेवक हैं, उन्हें दर्शनों के लिये श्रम नहीं करना पडता। उन्हें तो अनायास ही दर्शन प्राप्त होते रहते हैं। इसी प्रकार यह सत्य है कि ब्रह्मपद प्राप्ति के लिये बड़े-

बड़े ऊर्ध्वरेता त्यागी, तपस्वी वायु भक्षण करके घोर तप करते हैं, तथा अध्यात्मविद्या में निरन्तर श्रम करते रहते हैं, तब कहीं चिरकाल में जाकर उनका अन्तःकरण शुद्ध होता है। ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले निर्मल चित्त के शान्त सन्यासी ही आपके ब्रह्मपद को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु सर्वेश्वर! हम आपके निजी भृत्य हैं। हमें क्रिया कलापों को त्यागकर वन में जाने की आवश्यकता न पड़ेगी। न हम कपड़े रँगेंगे, न कोई विशेष वेष बनावेंगे, हम तो केवल आपके अनन्य भक्तों का संग करेंगे। उनके साथ में बैठकर भागवती, कथाओं का नित्य नियम के साथ श्रवण किया करेंगे। आपकी लीलाओं को अपने कर्णकुहरों में श्रद्धा अश्रद्धा इच्छा अनिच्छा से भरते रहेंगे। आपने नर-शरीर धारण करके जो चरित्र किये हैं उनका चिन्तन किया करेंगे। आप अपने अनुरक्त भक्तों के साथ कैसे हँस हँसकर बोलते थे, कैसे ठठाका मारकर हँसते थे, कैसे बातें करते थे, कैसे ललित गति से चलते थे, अपने जनों को कैसे देखते थे, कैसे मन्द मन्द मुसकराते थे, किस प्रकार मीठी-मीठी हँसी विनोद की बातें किया करते थे। माया मानव रूप रखकर आप जो जो भी चेष्टायें करते रहे हैं उनकी ही हम परस्पर में चर्चा किया करेंगे। उनके ही गीत गावेंगे, उन्हीं का स्मरण करेंगे, उन्हीं गुणों का तथा सुमधुर-नामों का कीर्तन करेंगे। इन्हीं सब कर्मों को करते हुए भी आपकी दुस्तर माया को पार कर लेंगे। हम आपके भक्तों का संग मिले और भागवती कथाओं के श्रवण का अवसर मिले, तो फिर हमें माया से तनिक भी भय नहीं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अपने अत्यन्त प्रिय अनुरक्त भक्त उद्धवजी के मुख से जब भगवान् ने ऐसी दृढ़ता की बात सुनी और उनका साथ चलने का अत्यन्त आग्रह देखा, तो

भगवान् उन्हें सान्त्वना प्रदान करते हुए उपदेश देने लगे। अब भगवान् जिस प्रकार उद्धवजी को उपदेश देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

बोले—हे विश्वेश ! आपकी इच्छा जानी।
तजि पृथिवी निजलोक गमन की मन महँ ठानी॥
रहूँ तुम्हारे बिना नाथ ! नाहिं जगके पाहीं।
तजै न मोकूँ देव ! संग लै चलें गुसाईं॥
प्रभु-प्रसाद पट, गंध, स्रक्, सिर धरि कीर्तन करिहैं।
तव चरितनि चिन्तन करत, दुस्तर माया तरिहैं॥

भगवान् का उद्धवजी को संन्यास धर्म का उपदेश

[१२१९]

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेह स्वजनबन्धुषु ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

उद्धव की सुनि विनय विहँसि बोले घनवारी ।
हाँ, मैंने निज लोक गमन की करी तयारी ॥
यदुकुल होवै नाश धरम अब होहि तिरोहित ।
तुम तजिकें सब मोह जाउ बदरीवन तपहित ॥
जो मन इन्द्रिय विषय हैं, मायामय सब मानि कें ।
त्यागो गुन अरु दोष भ्रम, आत्मरूप जग जानि कें ॥

जब तक देह-गेह में प्रबल आसक्ति है, तब तक ब्रह्म, माया की बातें करना केवल मनोविनोद का, आजीविका तथा प्रतिष्ठा सम्पादन करने का साधन मात्र है। मुमुक्षुता की प्रथम सोपान

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! भगवान श्रीकृष्णचन्द्र श्रीउद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! अब तुम अपने स्वजन बन्धु बान्धवों का सम्पूर्ण स्नेह छोड़कर मन को मुझमें ही लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए पृथ्वी पर आनन्द से विचरण करो, परिव्राट बन जाओ।"

है त्याग की भावना। जब तक यह संसार अच्छा लगता है, जब तक घर सजाने की, स्वच्छ वस्त्र पहिनने की, धनिकों से मिलने की, कुटुम्बियों के सुख-दुःख की तथा इन्द्रिय जन्य विषयों को भोगने की वासनायें बनी हुई हैं तब तक न वह ज्ञान का अधिकारी है न भक्ति का। ज्ञान का भक्ति का मार्ग एक ही है। एक ही स्थान से चलते हैं एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। केवल मार्ग दो हैं—एक मार्ग छायादार सुन्दर सरल है, दूसरा कृपाण की धार के समान है। दोनों का पर्यवसान भी एक ही स्थान पर है। भिन्न-भिन्न प्रकृति होने से साधन में भिन्नता हो जाती है। साध्य एक है। जैसे बुभुक्षा को दूर करना लक्ष्य है। भिन्न भिन्न प्रकृति के कई आदमी हैं सबके सम्मुख आटा, दाल, घी, चीनी, ये सब वस्तुएँ रख दीं। एक ने तो दाल को भिगो दिया, उसे पीसकर आटे में मिला लिया। मोटे-मोटे टिक्कड़ नमकीन सेंक लिये, खाकर पेट भर लिया। किसी ने आटे को भूनकर उसके सत्तू से बनाकर घी, चीनी मिलाकर निगल लिया। किसी ने घी में आटे को भूनकर हलुआ बना लिया। किसी ने उन्हीं वस्तुओं की पूड़ी, कचौड़ी, बड़े, हलुआ ये नाना प्रकार की वस्तुएँ बनायीं और अत्यन्त स्वाद के साथ रुचि पूर्वक खायीं। आग सब को जलानी पड़ी, पेट सबका भरा, केवल पेट भरने की वस्तुओं में बाहरी भिन्नता सी हो गयी। जो भी पदार्थ बने सब उन्हीं वस्तुओं के बने। बनने में भिन्नता हुई। इसी प्रकार भगवान एक हैं, उन्हें चाहे ब्रह्म कहो, परमात्मा कहो, भगवान् कहो, राम, कृष्ण, नृसिंह, गणेश, शिव, सूर्य अथवा निराकार साकार कुछ भी कह लो, लक्ष्य वे ही हैं। उन्हें पाने के लिये संसार से वैराग्य होना सभी साधनों में आवश्यक है। हाँ, रुचि वैचित्र्य के कारण उपकरणों में कुछ अन्तर पड़ जाता है। कोई सरस प्रकृति का होता है कोई नीरस प्रकृति का। कोई भाव-प्रधान होता है कोई विचार

प्रधान। जब तक देह और तत्सम्बन्धी घर द्वार, कुटुम्ब परिवार, स्त्री बच्चे और सम्बन्धियों से विराग नहीं होता तब तक वह मुमुक्षुता का अधिकारी नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने एकान्त में आकर प्रेमपूर्वक प्रभु के पादपद्मों में प्रार्थना की और जिज्ञासा की, कि क्या भगवन्! आप इस धराधाम को त्यागकर स्वधाम पधारना चाहते हैं, तो गम्भीरता पूर्वक प्रसन्न होकर प्रभु बोले—"महाभाग उद्धव! तुम्हारा अनुमान यथार्थ है। हाँ, अब मैं इस इतने बढे हुए यदुकुल का संहार करना चाहता हूँ। महाभाग! मैं जो भी करता हूँ, केवल खेल के लिये करता हूँ, मेरी किसी में आसक्ति नहीं। देखो, इतने दिन व्रज में रहा, एक दिन में सबको छोडकर चला आया। इतनी समृद्धि शालिनी मथुरापुरी को मैं बटाऊ के घर की भाँति छोडकर चला आया। इस द्वारकापुरी को मैंने कितनी सुन्दरता के साथ बनाया था, अब इसे भी उजाड कर मैं चला जाऊँगा। बनाना बिगाडना यही खेल है। बच्चे बालू में घर द्वार बनाते हैं, चिकनी मिट्टी के हाथी घोडे बनाते हैं, फिर बिगाड देते हैं। इसी का नाम खेल है। जो इस खेल में सत्य बुद्धि रखता है उसे रोना पडता है। अब मै इस खेल को समाप्त करना चाहता हूँ।"

दीनता के स्वर में उद्धवजी ने कहा—"अजी महाराज! आपसे ही इस भूमण्डल की शोभा है, आप साकार रूप से जब तब इस अवनि पर विराजमान रहेंगे, तब तक यह परम सौभाग्यवती बनी रहेगी। कृपा करके कुछ काल तक और निवास करें।"

भगवान् बोले—"उद्धवजी! अन्तर्यामी रूप से तो मैं सब में हूँ ही। किन्तु समस्त लोकपाल, शिवजी, ब्रह्माजी, तथा अन्यान्य

देव उपदेव मेरे समीप आये थे। वे सब चाहते हैं मैं अब गोलोक में गमन करूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! ये सब कब आये थे, मैंने तो इन सबको आते देखा नहीं। मैं तो आपके चरणों से क्षण भर के लिये भी पृथक नहीं होता।"

भगवान् बोले—"उद्धवजी! वे लोग सब गुप्त रूप से आये थे। मैंने बलदेवजी के सहित अवतार भी उनकी ही प्रार्थना पर लिया था, अब जब सब देव कार्य समाप्त हो गया, भूमि का भार उतर गया, तो मैंने देवताओं की स्वधाम गमन की प्रार्थना भी स्वीकार कर ली।"

विकलता के स्वर में उद्धवजी ने कहा—"प्रभो! आपके बिना यदुकुल की रक्षा कौन करेगा।"

भगवान् अत्यन्त ही ममता भरी वाणी में बोले—"उद्धव! मैं तुम्हें बार-बार यही तो बता रहा हूँ भैया! यह मेरा खेल है। यदुकुल को तो विप्रों का शाप लग चुका है। जैसे जिस लकड़ी में भीतर ही भीतर घुन लग जाता है, तो ऊपर से तो उसका ढाँचा अच्छा दिखायी देता है, किन्तु भीतर कुछ तत्व नहीं रहता। इसी प्रकार यदुकुल में अब कुछ सार नहीं रह गया। विप्र शाप से यह श्रीहीन हो गया है, जल गया है, ऊपर ढाँचा-ही ढाँचा शेष है, यह भी अब नष्ट हो जायगा। यदुवंशियों को दूसरा तो कोई मार नहीं सकता। आपस में ही ये सब मर जायँगे। द्वारका पुरी भी न रहेगी।"

चौंककर उद्धवजी ने कहा—"द्वारका कहाँ चली जायेगी महाराज?"

भगवान् बोले—"इसकी रचना तो मैंने क्रीडा के निमित्त की थी। जब मैं ही स्वधाम चला जाऊँगा, तो यह पुरी रहकर क्या करेगी, इसे समुद्र डुबो देगा।"

उद्धवजी भौचक्के से होकर पूछने लगे—"द्वारकापुरी को समुद्र कब डुबोवेगा प्रभो !"

भगवान् बोले—"आज के सातवें दिन द्वारका समुद्र में डूब जायगी। मैं भी स्वधाम चला जाऊँगा। जिस दिन मैं पृथ्वी का परित्याग करूँगा, उसी दिन कलियुग का प्रवेश हो जायेगा। मेरे कारण जो चारों ओर मङ्गल ही मङ्गल दिखायी देते हैं, वे सब नष्ट हो जायँगे। कलियुगी जीव मङ्गलहीन होंगे। कलियुग से अभिभूत हुई यह अवनि श्रीहीन हो जायगी। जब मैं स्वधाम चला जाऊँ, तो तुमको भी द्वारकापुरी में न रहना चाहिये।"

रोते-रोते उद्धवजी बोले—'प्रभो ! आप ऐसी निष्ठुरता क्यों कर रहे हैं ? इस अपने दीन-हीन सेवक का परित्याग क्यों कर रहे हैं ? नाथ ! मुझे भी अपने साथ-ही-साथ लेते चलें। मुझे कलियुग के तापों से तपाने के लिये आप क्यों छोड़ना चाहते हैं ?"

स्नेह पूर्वक उद्धवजी के कर को अपने करकमल से दबाते हुए दुलार के साथ यदुनन्दन बोले—"उद्धव भैया ! तुम्हें अभी यहाँ कुछ दिन और रहना होगा। यह सत्य है कि कलियुग में सबकी रुचि अधर्म में ही होगी। पाप करने में कलियुगी प्रजा को कुछ भी दुःख न होगा, किन्तु तुम्हारे जैसे भगवद्भक्त का कलियुग कर ही क्या सकता है। तुम अपने बन्धु-बान्धव तथा परिवार वालों की सम्पूर्ण ममता को त्याग कर, मुझमें ही मन लगाकर तथा सर्वत्र समदृष्टि रखकर इस पृथ्वी पर स्वच्छन्द होकर विचरण करते रहना। तुम तो मेरे भक्त हो, तुम्हें संसारी माया बाधा नहीं दे सकती। फिर भी मेरी माया से बचे रहना।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! मैं तो आपको ही जानता हूँ, मैं तो सदा आपके चरणों को ही निहारता रहा हूँ, माया को तो

मैंने देखा भी नहीं कि वह काली है या गोरी। उससे मेरा परिचय भी नहीं हुआ।"

भगवान् बोले--"हाँ, तो देखो मेरी माया का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। यह माया ऐसे धीरे-धीरे आती है कि बड़े

त्यागी विरागी भी इसके चक्कर में फँस जाते हैं। इस मनुष्यों को गिराने में कुछ श्रम ही नहीं लगता। योगारूढ पुरुष भी कभी-कभी माया के चक्कर में फँस जाते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! आप जब तक मेरे सम्मुख रहते हैं। तब तक तो मुझे कोई भय ही नहीं था। अब जब आप मुझे बिलखता हुआ छोड़ना ही चाहते हैं, तो उस माया का रूप रंग मुझे समझा दीजिये। उसका परिचय करा दीजिये। कभी मेरे सामने वह कलमुँही आ गयी तो मैं उससे बच तो जाऊँ।"

भगवान बोले—"उद्धव ! भगवन्नाम के अतिरिक्त जो भी कुछ तुम संसार में देखते हो, भगवन्नाम के अतिरिक्त जो भी तुम कुछ वाणी से बोलते हो, भगवान् के रूप के अतिरिक्त मन से जो भी तुम कुछ मनन करते हो, वह सब नाशवान् है, क्षणभंगुर है, परिवर्तनशील है। एक मैं ही अविनाशी हूँ। जहाँ तक मन और इन्द्रियों की पहुँच है वह सब मनोमय है, यही माया है।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! हम जो भी सब देखते सुनते और मनन करते हैं, वह माया ही है। तब अच्छा क्या, बुरा क्या ? ग्राह्य क्या, त्याज्य क्या ?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे भैया ! उद्धव ! यह गुण है, यह दोष है, यह अच्छा है, यह बुरा है, यह द्वैधा भाव ही तो भ्रम है। जब यह गुण-दोषमयी बुद्धि हो जाती है, तभी तो यह कर्म है, यह अकर्म है, यह विकर्म है, ऐसा भेद-भाव हो जाता है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! संसार में भेदभाव तो प्रत्यक्ष ही दीख रहा है। सेब सुन्दर होता है, इसके विपरीत हिंगोटा कड़वा होता है। कोई सुन्दर स्वरूपी होता है, कोई कुरूपी होता है। संसार में ऐसी एक भी वस्तु नहीं जिसमें समता हो, कुछ-न-कुछ भेद भाव सबमें है। फिर यह भेद-भाव दूर कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—"भैया, यह भेद-भाव भ्रम से है। अब तुम विचार करो, सबकी देह में रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद, शुक्र और ओज एक ही हैं। जितने पदार्थ हैं सब पञ्चभूतों के बने हैं। मिट्टी के सकोरे, घड़े, नाद, चिलम कुछ बनालो, सबमें एक मृत्तिका है। तुम चित्त का और इन्द्रियों का संयम करके इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मा में देखो। यह सम्पूर्ण पसारा आत्मा में ही है। जैसे पुष्पों में रंग नहीं है रंग तो सूर्य में है। सूर्य के अभाव में सब एक ही रंग के हो जाते हैं इसी प्रकार इन पदार्थों

में भेदभाव नहीं। हम आत्मा से इनमें भेदभाव स्थापित कर लेते हैं। सबको तुम आत्मा में देखो और अपने व्यापक आत्मा को मुझ परमात्मा में देखो, फिर न माया रहेगी न भेद। जैसे कटक कुण्डलों को सुवर्ण में देखो और उस सुवर्ण को पृथ्वी में देखो। क्योंकि सुवर्ण भी तो एक प्रकार का तेज वाला मिट्टी ही है, तब फिर काञ्चन और लोष्ट में कोई भेद ही न रहेगा। आत्मा में सबको देखने का नाम ज्ञान है, और आत्मा को परमात्मा में देखने का नाम विज्ञान है। जहाँ तुम ज्ञान विज्ञान से युक्त हुए कि फिर तुम समस्त प्राणियों के आत्मस्वरूप हो जाओगे। तब तुम्हें अनुभव होने लगेगा, कि मैं ही अनेक रूपों में सब चेष्टायें कर रहा हूँ। जहाँ तुम्हें आत्मा का अनुभव हुआ तहाँ विघ्नों का अत्यन्ताभाव अपने ही आप हो जायगा। फिर तुम कभी भी विघ्न से बाधित हो ही नहीं सकते। तुम्हारे लिये फिर कर्तव्य, अकर्तव्य, ग्राह्य, त्याज्य, विधि, निषेध कुछ भी न रह जायगा। जो ज्ञान विज्ञान से युक्त है, जो सर्वभूतों में अपनी आत्मा को देखता है, अपने में सबको देखता है, उसके लिये विधि निषेध का बन्धन ही नहीं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! क्या कर्मों का त्याग कर दें?"

हँसकर भगवान् बोले—"हाँ भैया, कर्मों का त्याग करके सन्यास ले लेना चाहिये। त्याग के बिना शान्ति नहीं। एक त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। ज्ञानी पुरुष न तो गुण बुद्धि से विहित कर्मों का अनुष्ठान ही करता है और न दोषदृष्टि से निषिद्ध का परित्याग ही करता है। वह बालक की भाँति हो जाता है, जो सम्मुख आया मुख में रख लिया, जिसे देखा उसे ही छू लिया। उसके मन में यह छूना चाहिये यह नहीं। इसका त्याग करना ही चाहिये, इसको ग्रहण करना चाहिये ऐसा आग्रह नहीं होता। वह हँसता है, सबसे प्यार करता है, वह

प्राणीमात्र का सुहृद होता है, सबका कल्याण चाहता है, उसका चित्त सदा शान्त बना रहता है, सुमेरु के समान वह ज्ञान-विज्ञान में अटल बना रहता है। उसका निश्चय दृढ़ होता है, उसकी निष्ठा को कोई नष्ट नहीं कर सकता। उसे किसी घटना से उद्वेग नहीं, सब उसे देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। वह संसार को मेरा ही स्वरूप मानकर सदा कमल की भाँति खिला रहता है। विपत्ति उसके पास फटकने भी नहीं पाती, चिन्ता उसकी ओर दृष्टि उठाकर देखती भी नहीं। इसलिये संसार की ओर से मुँह मोड़ लो। संन्यासी बन जाओ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने उद्धवजी को संन्यास-रूप कर्म-त्याग का उपदेश दिया, तब उद्धवजी ने संसारी लोगों के ऊपर कृपा करके इस त्याग-धर्म का विस्तार के साथ जानने की जिज्ञासा की। उद्धवजी ने जैसे प्रश्न किया और भगवान् ने जैसे उसका उत्तर दिया, इस कथा-प्रसङ्ग का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

आत्मा अद्वय अजर अमर व्यापक सब थल में।
जगमहँ एक समान रहे रवि शशि नभ जल में॥
जाकूँ ऐसो ज्ञान न सो जगमहँ दुख पावै।
दृश्य चराचर माहिँ सबनि महँ ब्रह्म लखावै॥
ज्ञानी बालक के सरिस, भेदभाव तें रहित है।
नहि सोचे वह स्वप्न में, यह अविहित यह विहित है॥

संन्यास धर्म की विस्तृत व्याख्या की जिज्ञासा

[१२२०]

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे ।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहम्,
संमाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ७ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

करम त्याग सन्यास धरम सुनि बोले उद्धव ।
विषय गहन हौं अज्ञ सरलता तैं कहु केशव ॥
काकी जाऊँ शरन आप सम और न पाऊँ ।
आयो तुमरी शरन चरन महँ शीश नवाऊँ ॥
उद्धव की सुनि कै विनय, बोले प्रभु परमातमा ।
उपदेशक, गुरु, सुहृद्, रिपु, है अपनी ही आतमा ॥

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! श्री उद्धवजी भगवान् से विनय कर रहे हैं—"हे प्रभो ! मैं भक्तिहीन हूँ, मूढमति हूँ, मैं-मेरी में फँसा हूँ तथा आपकी माया से विरचित देह गेह तथा कुटुम्बियों के बन्धन में बँधा हूँ । हे भगवन् ! आपने जिस संन्यास धर्म का संक्षेप में वर्णन किया उसे इस दास को इस प्रकार सुगमता से उपदेश कीजिये, जिससे मैं उसका साधन कर सकूँ ।"

बुद्धिमानों के लिए बात सूत्ररूप में कही जाती है, क्योंकि बुद्धिमानों के लिये संकेत ही पर्याप्त होता है। वे अपनी कुशाग्र बुद्धि से बात का स्वय विस्तार कर लेते हैं, किन्तु सर्वसाधारण सूत्रों को नहीं समझ सकते, अत: उन सूत्रों की व्याख्या करके भाष्य बनाकर समझाया जाता है। भाष्य तथा व्याख्या में बातें वही रहती हैं जो सूत्र में कही गया हैं, किन्तु सूत्र उसे सब पचा नहीं सकते। जैसे भाँग का गोला। जिसे भाँग पीने का अभ्यास नहीं है वह भाँग के गोले को खा ले तो मूर्छित हो जायगा। जिसमें पचाने की सामर्थ्य हैं, दीर्घ काल का अभ्यास है वह गोले को सुगमता से निगल जायगा। सर्वसाधारण के लिये तो इसी गोले को जल में घोलते हैं, उसमे दूध चीनी मिलाते हैं तब चुल्लू चुल्लू देते हैं। वह पीने में भी स्वादिष्ट लगती है और उसका जो फल होना चाहिए वह भी होता है। इसी प्रकार सूत्र रूप से कहे गये ज्ञान को विस्तार से कहा जाय, तो उससे सर्वसाधारण लोगों का भी उपकार हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने उद्धवजी को सक्षेप में त्याग धर्म का उपदेश दिया, तब उद्धवजी उसको विस्तार के साथ सुनने की इच्छा से अत्यन्त नम्रतापूर्वक हाथ जोडकर भगवान् से कहने लगे—"प्रभो! जितने भी ससार में योग हैं आप उन सबके ईश्वर हो। इसीलिये सब आपको योगेश्वर कहते हैं। योगवेत्ता जिसे बार बार सागतिसार गुह्य कहते हैं वह अन्य कोई वस्तु नहीं है आप ही उनकी परम गुह्य निधि हो। जिस योग के द्वारा योगी आप तक पहुँचते हैं वह योग भी अन्य कुछ नहीं आप ही योग स्वरूप हो। आप ही साधन हो। आप योग के उत्पत्ति स्थान हैं, ऐसे हे सर्वज्ञ! हे सर्वमय! आपने मेरे कल्याण के लिये—मोक्ष के लिये—परम पद की प्राप्ति के लिये—जो सन्यास रूप कर्म त्याग का उपदेश दिया, वह मुझ

जैसे अज्ञानी के लिये दुःसाध्य है।"

भगवान् ने कहा—"दुःसाध्य क्यों है भैया! संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जो साध्य न हो। सभी तो साध्य है।"

शीघ्रता के साथ उद्धवजी ने कहा—"नहीं महाराज! मेरा यह अभिप्राय नहीं है, कि सबके लिये दुःसाध्य है। जो वीतराग सन्यासी हैं, परिव्राजक हैं, उनके लिये तो सब कुछ साध्य है। किन्तु, हे सर्वात्मन्! मुझ जैसे विषय लोलुप के लिये तो कामनाओं का त्याग अत्यन्त ही कठिन है। आप ही सोचें, रसगुल्ला को देखते ही जिह्वा से पानी टपक रहा है, उसके प्राप्त होने की आशा भी है, फिर उसका परित्याग कैसे हो सकता है? भगवन्! इन्द्रियों की स्वभाविकी प्रवृत्ति विषयों में है, वे सम्मुख आ जाती हैं तो हृदय में एक प्रकार की उथल-पुथल मच जाती है, शाब्दिक ज्ञान उस समय कुछ भी ज्ञान नहीं देता। मन की विचित्र दशा हो जाती है, इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हो जाती हैं कि रोकने से भी नहीं रुकती। ऐसी तो हम लोगों की दशा है, तिस पर आप हमें कर्मत्याग का उपदेश देते हैं। यदि हम करें भी तो मन को तो रोक न सकेंगे, त्यागी का वेष बना लेंगे तो यह तो और भी बड़ा भारी पतन है, ढोंग है, दम्भ है, लोगों को ठगना है, अपनी आत्मा को गिराना है। यदि भगवान् की भक्ति हुई और फिर ऐसी दशा हुई, तब तो कुछ आशा भी है। भगवान् के प्रति कुछ अनुराग हो, हृदय में कुछ सरसता हो, उनसे पाप बन जाय, तो वे रोते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, पछताते हैं, प्रभु से प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार पछताते पछताते उनका चित्त कभी न कभी शुद्ध बन जाता होगा, कभी-न-कभी आप उनकी प्रार्थना सुन लेते होंगे। किन्तु जो आपके भक्त नहीं हैं, नीरस प्रकृति के शुष्क हृदय के हैं, वे त्याग की दीक्षा लेलें, तो उनका मन तो विषयों की ओर जायगा ही। वे मन को रोक

नहीं सकते, क्योंकि संसार में सबसे अधिक बलवती आपकी माया है। वैसे तो स्त्री को अबला कहा है, किन्तु यह आपकी मायारूपी स्त्री बड़ी सबला है। बड़े बड़ों को बात-की-बात में पछाड़ देती है, चारों कोने चित्त पटक देती है, इससे पार होना कठिन ही नहीं, मुझे तो असंभव-सा दीखता है।"

भगवान् ने बल देकर कहा—"असंभव क्यों बताते हो भाई! बहुत से लोग मेरी माया को तर गये हैं केवल त्यागधर्म की ही दीक्षा लेकर।"

नम्रता के साथ उद्धवजी ने कहा—"तर गये होंगे महाराज! इस पर मैं अविश्वास नहीं करता, किन्तु मैं तो अपने ऊपर देखता हूँ कि संसार में मेरा कैसा आकर्षण है। मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, मैं सुन्दर हूँ, स्वरूपवान् हूँ, मैं युवक हूँ, बली हूँ विद्वान् हूँ, ज्येष्ठ हूँ, श्रेष्ठ हूँ इस प्रकार की अहंता में मैं सदा मग्न रहता हूँ। यह मेरा घर है, ये मेरे पशु-पक्षी, भाई, बन्धु इष्ट, मित्र सगे सम्बन्धी तथा भृत्य हैं इस प्रकार की ममता मेरी नस-नस में भरी है। ये मेरे हैं, ये पराये हैं, ऐसा मिथ्याभिनिवेश मेरा छूटा नहीं है। अहंता ममता के कारण मेरी मति मूढ़-सी बन गयी है। मोहसागर में मैं मग्न हो रहा हूँ। ऐसे मुझ विषय लोलुप के लिये इतना कह देना पर्याप्त नहीं है, कि "तुम सब कुछ छोड़कर मेरी ही शरण मे आ जाओ।" कैसे आपकी शरण में आऊँ? कैसे इन कामनापूर्ण कर्मों का त्याग करूँ इन बातों को विस्तार के साथ बतावें। बार-बार दृष्टान्त दे दे कर समझावें। तब कहीं मैं समझ सकता हूँ। आप समझते होंगे। जैसे ऋषियों को संकेत कर दिया वे तुरन्त समझ गये। महाराज! आज आपका मूढ़ से पाला पड़ा है। दास को व्याख्या करके बताइये।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"अरे भैया! ये प्रश्न

किसी उपदेशक से पूछो। मुझे तो व्याख्यान देने का अभ्यास नहीं है।"

दीनता के स्वर में उद्धव जी ने कहा—"प्रभो! आप मुझे भुलावे में क्यों डालना चाहते हैं। ये माया से मोहित उपदेशक क्या उपदेश देंगे? जब बड़े-बड़े ब्रह्मादि देव भी आपकी माया से मोहित होकर इन नाशवान् तुच्छ क्षणिक मायिक विषयों को ही सत्य मानकर व्यवहार कर रहे हैं, तो वे उपदेश क्या देंगे, उनके उपदेश का प्रभाव ही क्या पड़ेगा। बहुत से लोग बड़े-बड़े पोथे लिखते हैं मान प्रतिष्ठा और धन कमाने के लिये। उन पुस्तकों को पढ़कर किसे शान्ति मिल सकती है। जिस धन-प्रतिष्ठा के लिये लिखते हैं उसी से तो संसारी लोग अशान्त हैं। बहुत से लोग रात दिन उपदेश देते रहते हैं, किस लिये? हमारा नाम हो, कोई धनिक फँसे, गाढ़ा-गाढ़ा गोपीचन्दन विपुल मात्रा मे मिले। उन उपदेशों से किनका कल्याण हो सकता है? यह तो एक लोक व्यवहार है। ससार में सच्चे उपदेशक तो आप ही हैं। आप में दम नहीं, छल नहीं, कपट नहीं, माया नहीं। आप माया से परे हैं, सत्य स्वरूप हैं, स्वयं प्रकाश हैं, परमात्मा हैं। आप से बढ़कर उपदेशक तो मुझे मनुष्यों में क्या देवताओं में भी नहीं मिल सकता। मैं नाना प्रकार की आपत्तियों से संत्रस्त हो रहा हूँ, मुझे शान्ति नहीं, सुख नहीं, कोई सरल सुगम साधन सूझता नहीं। मैं मलिनमति हूँ, आप निर्मल हैं, आप अनन्त हैं, अपार हैं, सर्वज्ञ हैं, ईश्वर हैं, तथा उस वैकुण्ठ धाम में सदा निवास करते हैं जहाँ काल की पहुँच नहीं। जहाँ भूत, भविष्य वर्तमान का भेद भाव नहीं। जो नित्य शाश्वत और सनातन धाम है। आप नर के सखा नारायण हैं, आत्मा से परे परमात्मा हैं, आप सच्चिदानन्द हैं। मैं कैसे संसार से पार होऊँ, किसकी शरण जाऊँ, किसे गुरु बनाऊँ? कृपा करके इन बातों को मुझे बतावें।"

उद्धवजी की ऐसी विनय सुनकर भगवान् वासुदेव बोले—"उद्धव ! सबसे बड़ा गुरु तो अपनी आत्मा ही है। शास्त्र ही गुरु है, शास्त्र के द्वारा ज्ञान लाभ करके मनुष्य भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन ! शास्त्र एक तो हैं नहीं, अनन्त शास्त्र हैं, विद्या भी बहुत प्रकार की हैं, किस शास्त्र को पढ़े। वैद्यक शास्त्र कहता है-धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का मूल कारण आरोग्य ही है। स्मृति शास्त्र कहते हैं-धर्माचरण से ही इष्ट की प्राप्ति होती है। सांख्य शास्त्र कहता है-छब्बीस तत्त्वों के ज्ञान से ही मुक्ति होती है। योग शास्त्र कहता है-चित्त की वृत्ति को निरोध करके स्वरूप में स्थिति होने से मुक्ति होती है। मीमांसा शास्त्र कहता है-यज्ञादिक कर्म करने से ही मुक्ति होती है। न्याय शास्त्र कहता है-परमाणु के ज्ञान से मुक्ति होती है। काम शास्त्र वाले कहते हैं-काम के सेवन से मुक्ति होती है। कुन्डलिनी योग वाले कहते हैं-स्वाधिष्ठान में सोई हुई कुन्डलिनी सुषुम्ना को भेदकर सहस्र दल कमल में जब जाती है तब ज्ञान होता है और उस कुन्डलिनी के सहस्रार में पहुँचने पर ही मुक्ति होती है। कोई कहते हैं-अद्वैत निष्ठा से मुक्ति होती हैं। कोई कहते हैं, मुक्ति से भक्ति बड़ी है। भगवान् मुक्ति तो सुगमता से दे देते हैं, किन्तु भक्ति देने में कृपणता करते हैं। भक्ति के भी असंख्यों भेद हैं, किस शास्त्र को माने, किस शास्त्र को पढ़े ? इतना समय भी नहीं। आयु भी कम है, तिस पर अनेकों दैहिक, दैविक, भौतिक संताप हैं। चित्त में सदा अशुभ वासनायें उठती रहती हैं। भगवान् का कितना भी ध्यान करो, नहीं होता, विषयों को जितना ही भुलाना चाहते हैं उतनी ही उनकी स्मृति और भी अधिक आती है।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव ! ताडपत्रों

पर, कागदों पर लिखे हुए शास्त्र ही शास्त्र नहीं है, उनका पठन-पाठन ही यथार्थ पठन-पाठन नहीं है। सबसे बड़ा शास्त्र तो संसार है। संसार की प्रत्येक घटना देखे, उस पर विचार करे, गंभीरता के साथ मनन करे। जो संसार तत्व का निरन्तर आलोचन करते रहते हैं, उन लोगों को प्रायः अन्य किसी भी गुरु की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे अपने आप स्वयं ही अपने चित्त को अशुभ वासनाओं को मेंट लेते हैं। वे अपना उद्धार इस संसार को पढ़ कर स्वयं ही कर लेते हैं।"

उद्धवजी ने कहा--"महाराज! गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता, गुरु बनाना तो अत्यन्त आवश्यक है।"

हँसकर भगवान् बोले—"गुरु करना थोड़ा ही होता है, गुरु तो अपने भीतर बैठा है। आत्मा तो गुरुओं का भी गुरु है। अच्छा मैं तुमसे एक प्रश्न पूछता हूँ। एक तो परीक्षा देने वाला है और एक परीक्षा लेने वाला परीक्षक है। इन दोनों में से कौन बड़ा है?"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! परीक्षा देने वाले से तो परीक्षक ही बड़ा है।"

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"अच्छा, तो विचारो परीक्षा तो अपनी आत्मा ही लेती है न? किसी साधक की किसी सन्त पर श्रद्धा है। वह सन्त जिसे श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, साधक की उस पर श्रद्धा नहीं होती। कोई पूछता है—"आप उन पर उतनी श्रद्धा नहीं करते।" तो वह तुरन्त कह देता—"उन पर मेरी श्रद्धा जमती नहीं। मेरी अन्तरात्मा स्वीकार नहीं करती।" इससे वे सन्त बड़े हुए या अन्तरात्मा? बड़े-बड़े विद्वान्, योगी, प्रतिष्ठित, ज्ञानी साधु-संत बैठे हैं। कोई साधक आता है, सबको देखता है, सबको प्रणाम करता है, उनमें किसी साधारण को गुरु बना लेता है। दूसरे पूछते हैं—"इतने बड़े ज्ञानी विद्वान् को

छोड़कर तुमने इन साधारण को गुरु क्यों बनाया ?" तो वह कहता है—"मेरी अन्तरात्मा इन्हीं से सन्तुष्ट हुई है। अब आप ही बताओ वह गुरु बड़ा हुआ या जिसने पचास गुरु बनने वालों में से परीक्षा करके एक को छाँट लिया वह बड़ा हुआ। लोग कहा तो करते हैं—"हम तो उनकी आज्ञा में रहते हैं, वे हमें जैसी आज्ञा देते हैं वैसा ही करते हैं।" किन्तु सत्य बात यह है, कोई किसी की आज्ञा नहीं मानता। उनकी अन्तरात्मा जो साक्षी देती है वही करते हैं। अन्तरात्मा जिसकी साक्षी नहीं देती उस काम को करने के लिये कोई कितना भी बड़ा आदमी कहे हम नहीं करते। इसलिये अपने कल्याण अथवा अकल्याण को जानने में समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा ही अपना गुरु है। गुरु को भी चुनने वाला-गुरुत्व पद पर बैठाने वाला- अपनी आत्मा ही है। अन्तरात्मा की आज्ञा के बिना कोई किसी को गुरु नहीं बनाता। वैसे आत्मा तो चर और अचर सभी में सर्वथा स्वतन्त्र है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! बहुत से लोग कुछ सोचते ही नहीं। अपनी इच्छा किसी एक पर छोड़ देते हैं। वे जैसी आज्ञा करते हैं वैसा ही करते हैं। अपनी इच्छा वे रखते ही नहीं। जैसे लक्ष्मण जी ने श्री रामचन्द्र जी को अपनी इच्छाएँ सौंप दी थीं।"

भगवान् ने कहा—"देखो, इस पर तुम गम्भीरता के साथ विचार करो। लक्ष्मण ने बहुत सोच समझकर अपनी अन्तरात्मा से यह निर्णय कर लिया था, कि श्रीराम की इच्छानुसार बर्ताव करने में ही मेरा कल्याण है। इसलिये सदा श्रीरामजी की आज्ञा को श्रेष्ठ समझते थे। उनकी इच्छा राज्य छोड़कर वन जाने की नहीं थी, वे श्रीराम को राजसिंहासन पर बिठाना चाहते थे, किन्तु राम नहीं चाहते थे, इसलिये उन्होंने आपत्ति नहीं की।

मनुष्य तो विवेकशील है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण देखकर अनुमान लगाकर निर्णय करता है, क्या करने में मेरा कल्याण है, मनुष्यों में भी जो प्रकृति पुरुष का विवेचन करने में कुशल है, ऐसे सांख्य शास्त्र को जानने वाले पंडित सर्व शक्ति सम्पन्न मेरे सर्वान्तर्यामी स्वरूप को सुगमता के साथ समझ सकते हैं, विवेक दृष्टि द्वारा देख सकते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! जब आत्मा समान रूप से सब में व्याप्त है, तो आप फिर मनुष्यों की ही इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? सभी आपको समझ सकते हैं, सभी आपका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, है तो सब मेरे ही रचे हुए। मैंने नाना प्रकार के शरीरों की रचना की है। बहुत से शरीर एक पैर वाले हैं, किसी में दो, तीन तथा चार पैर हैं। बहुत से ऐसे हैं जिनके बहुत से पैर हैं, बहुतों के पैर ही नहीं होते। नाना प्रकार की योनियाँ मैंने बनायी हैं, इन सब में मुझे मनुष्य योनि अत्यंत प्रिय है। क्योंकि मनुष्य प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों द्वारा निश्चय करके साधनों द्वारा मुझे प्राप्त कर सकता है, इसलिये मनुष्य का दूसरा नाम साधक भी है। मनुष्य की मनुष्यता खाने, पीने, सोने तथा सन्तान उत्पन्न करने में नहीं है। इन सब कामों को तो पशु पक्षी यहाँ तक कि वृक्ष भी करते हैं। मनुष्य की मनुष्यता है संयम में। जिसने अपनी इन्द्रियों पर, मन पर संयम कर लिया है, ऐसा संयतचित्त पुरुष साधन कर सकता है, वही साधक कहलाने का अधिकारी है। ऐसा साधक इसी शरीर में हेतु और फल का विचार करते हुए दिखाई देने वाले बुद्धि गुण रूप लिङ्गों द्वारा अनुमान करके मुझ अग्राह्य का अनुमान करते हैं। अर्थात् इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे मैं हूँ। वेद मेरा वर्णन "नेति-नेति" करके करते हैं। बुद्धिमान

पुरुष विचार करे और ससार की गति का अवलोकन करे, तो उसे मनुष्य शरीर में पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इसी बात का उपदेश हमारे पूर्वज महाराज यदु को अवधूत दत्तात्रेय ने दिया था।"

यह सुनकर उद्धवजी, उत्सुकता पूर्वक बोले—"प्रभो! महाराज यदु को अवधूत दत्तात्रेय के दर्शन कहाँ हुए और उन्होंने दत्त भगवान् से क्या-क्या प्रश्न किये तथा दत्त भगवान् ने उनके क्या-क्या उत्तर दिये, कृपा करके मुझे इन बातों तो बताइये।"

छप्पय

नाना योनि बनाइ सबनि महँ निवसूँ भाई।
किन्तु मोइ नरयोनि सबनितैं अति सुखदाई॥
करिकें मनज विचार भेद मेरा सब जानें।
इन्द्रिय मन घा परैं माइ साधक पहिचानें॥
नृप यदु अरु अवधूत को, भयो सुखद सम्बाद जो।
अति पावन अति ज्ञानमय, कहँ प्रेम तें सुनहु सो॥

—o—

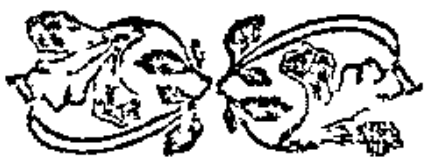

अवधूत गीता का आरम्भ

(१२२१)

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ७ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

एक दिवस यदु गये निहारे वनमहँ ज्ञानी ।
थूल, नगन निरभीक युवक कवि सरल अमानी ॥
नित्य मगन अवधूत दखि नृप पूछहिँ मुनिवर ।
विचरो बालक सरिस बुद्धि कहँ पाई सुखकर ॥
दक्ष मधुरभाषी सुघर, तो ऊ जड़ उनमत्त सम ।
निरधन ह्वै विचरो सुखी, काम अगिनिमहँ तपहिँ हम ॥

हम लोग जो इन्द्रियों के अधीन हैं, वे विषयजन्य सुख को ही सुख मानते हैं। हमारी ऐसी धारणा हो गयी है कि भोग सामग्रियाँ जितनी ही प्रचुर मात्रा में हमारे पास होंगी, उतने ही हम सुखी होंगे, किन्तु यह भावना सर्वथा मिथ्या है। यदि भोग सामग्रियों में ही सुख होता तो बड़े चक्रवर्ती राज्य पाट को छोड़कर वन को

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक बार धर्मज्ञ महाराज यदु ने एक तरुण, निर्भीक, विद्वान् ब्राह्मण अवधूत को विचरते हुए देखा। उनकी इस स्वच्छन्दता से प्रभावित होकर राजा ने उनसे प्रश्न किया।"

क्यों जाते। सुख विषयों के ग्रहण में नहीं है विषयों के त्याग में है। तृष्णा का अन्त नहीं। आशा में सुख नहीं, आशा के परित्याग में सुख है। भोग में सुख नहीं, सुख तो योग में है। धनिक को गुदगुदे गद्दों पर भी सुख की नींद नहीं आती। त्यागी ककड़ों पर भी सुख से सोता है। धनिक को छप्पन प्रकार के व्यञ्जनों में भी स्वाद नहीं आता, त्यागी को भूख लगने पर रूखी-सूखी बासी रोटियों में भी अमृत का स्वाद आता है। धनिक को सोने चाँदी के बने महलों में भी सुख नहीं होता, त्यागी को गंगा के पुलिनों में, वनों में, गिरि गुहाओं में और पाषाण-खण्डों पर भी सबसे अधिक आनन्द आता है। जो जितना ही संग्रही होगा, वह उतना ही भीरु होगा, जो जितना ही त्यागी होगा, वह उतना ही निर्भय होगा।

किसी त्यागी महात्मा की प्रशंसा सुनकर एक सम्राट् उनके दर्शनों को गया। जाड़े के दिन थे, महात्मा नंगे पड़े हुए एक पत्थर के सहारे धूप ले रहे थे। सम्राट् ने जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया और प्रार्थना की—"प्रभो! मैं इस सम्पूर्ण देश का सम्राट् हूँ, मेरे योग्य कोई सेवा बताइये।"

महात्माजी ने करवट बदल लिया और उसकी ओर पीठ कर ली। अब सम्राट् उधर सामने खड़ा हो गया। फिर उससे प्रार्थना की—"भगवन्! कोई सेवा बतावें।"

महात्मा ने कहा—"तुम्हारे शरीर की छाया मेरे ऊपर पड़ती है, इससे मुझे धूप तापने में बाधा होती है। तुम्हारी इतनी ही सेवा पर्याप्त है कि तुम छाया को छोड़ दो।"

सम्राट् उनकी इस निस्पृहता को देखकर मुग्ध हो गया और उनके इस त्याग के सम्मुख अपने विशाल धन वैभव और ऐश्वर्य को तुच्छ समझा।

एक महात्मा गंगातट पर बैठे थे। चिन्ता रहित होने के

कारण उनका शरीर कुछ स्थूल हो गया। गाँव के लडकों ने जब उन्हे नेत्र बन्द किये देखा तो आपस मे कहने लगे—"देखो, इस बाबाजी की जाँघ कितनी मोटी और चिकनी है, इस पर लाओ अठारह-गोटी खेलें।" यह कहकर एक ने चाकू निकाला और उस पर खेल खेलने को चिन्ह बनाने लगा। चाकू खींचने से गड गया और उसमें से रक्त निकलने लगा। उसी समय कोई बुद्धिमान् पुरुष वहाँ आ गया, उसने लडके को डाँटकर हटाया। वह पट्टी बाँधने लगा। तब हँसकर परमहस ने कहा—"अरे, चर्म की पट्टी तो बँधी ही है, क्यों पट्टी बाँधता है? सब अपने आप अच्छा हो जायगा।" यह कहकर महात्मा हँस पडे। उनकी इस अनासक्ति को देखकर वह व्यक्ति भौचक्का रह गया। शरीर के भी प्रति ममता का न होना यह कितने आश्चर्य की बात है।

कहने का साराश यह है, कि जिसने दुख के मूल कारण माया मोह को ही त्याग दिया है उसे दुख होगा ही क्यों। हम मोह ममता को तो छोडना नहीं चाहते साथ ही सुख भी चाहते हैं, तो दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं। त्याग से ही शान्ति होती है, वैराग्य से ही निर्भयता आती है। अनासक्त को ही सुख होता है। सरसता में ही आनन्द है। निष्कपटता ही स्व स्वरूप सन्धान में सहायक है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजी को उपदेश देने के निमित्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने उनको अवधूत गीता का उपदेश देने के निमित्त महाराज यदु और अवधूत दत्तात्रेय के सम्वाद को सुना रहे हैं। उद्धवजी ने जब महाराज यदु के सबन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् उनसे कहने लगे—"उद्धव! एक बार हमारे पूर्वज महाराज यदु आखेट के निमित्त वन में गये। वहाँ उन्हें एक जलाशय के किनारे पाषाण के सहारे आनन्द में मग्न बैठे हुए एक अवधूत दिखायी दिये। उनका शरीर गौर वर्ण का कुछ स्थूल था। देखने

में वे युवक प्रतीत होते थे, मुखमण्डल पर तेज चमक रहा था। दिगम्बर थे, धूलि धूसरित उनका सम्पूर्ण अङ्ग था। उनके मनोहर मुख पर मन्द-मन्द मुसकान छिटक रही थी। वे स्वच्छन्द होकर विचरण करते थे। सरल, सुन्दर और शान्त थे। महाराज

यदु ने जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया और कहने लगे—"ब्रह्मन्! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो पूछूँ।"

राजा के प्रश्न को सुनकर अवधूतजी ने आँखें खोलीं और राजा को एक बार ध्यानपूर्वक देखा। फिर आप अपनी मन्द मन्द मुसकान की किरणों को राजा के उत्सुकता-पूर्ण आनन पर छोड़ते हुए बोले—"राजन्! आप क्या पूछना चाहते हैं। आप जो पूछेंगे, उसका उत्तर मैं दूँगा। निश्चिन्त होकर आप पूछें।"

अवधूतजी का आश्वासन पाकर राजा बोले—"भगवन्! मैं

पूछना यह चाहता हूँ, कि लोग चिन्तित होते हैं कर्तापन के अभिमान से। यह घर मैंने बनाया है, इसे कोई दूसरा न ले ले। फूट न जाय, गिर न पड़े इसकी चिन्ता घरके स्वामी को होती है। जो उसको अपना नहीं समझता, जिसे कर्तापने का अभिमान नहीं उसे घरके बिकने पर, टूटने-फूटने तथा जीर्ण होने पर कुछ भी चिन्ता नहीं होती। नगर में न जाने कितने घर नित्य नूतन बनते हैं, कितने टूटते-फूटते हैं, जिसे उनमें ममत्व नहीं उसे कुछ भी हर्ष शोक नहीं होता। अपनी वस्तु के बिगड़ने की सबको चिन्ता होती है। मैं देख रहा हूँ आपको किसी वस्तु में अपनेपन का भाव ही नहीं। आप कर्तापन के भाव से सर्वथा रहित हैं। इस प्रकार की विमल बुद्धि आपको कैसे प्राप्त हुई? आपने किसको अपना गुरु बनाया? किससे आपने ऐसी सुन्दर शिक्षा ग्रहण की? किसका आश्रय लेकर आप विद्वान् होकर भी सरल भोले-भाले बालक की भाँति व्यवहार कर रहे हैं? किस शिक्षा से शिक्षित होकर आप असङ्गभाव से विचर रहे हैं?"

हँसकर अवधूत मुनि बोले—"क्यों राजन्! आप ऐसा प्रश्न किस हेतु कर रहे हैं?"

महाराज यदु ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरा अभिप्राय यह है, कि बिना कारण के–बिना हेतु के–मन्द से मन्द भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। देखा गया है प्रायः धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासा में लोग आयु, यश अथवा वैभवादि के हेतु से ही प्रवृत्त होते हैं। जिनमें करने की शक्ति न हो अशक्त हो, वह काम न करे–अकर्मण्य होकर बैठा रहे–यह तो दूसरी बात है। किन्तु हम देखते हैं आपमें काम करने की शक्ति है। सामर्थ्य रहते हुए भी बहुत से लोग विद्या के अभाव में स्वयं कर्म नहीं कर सकते। कोई योजक उनसे कर्म कराता है, तो करते हैं। किन्तु आपके सम्बन्ध में यह भी नहीं कह सकते, आप समर्थ होने के साथ

ही साथ विद्वान् भी हैं। बहुत से विद्या को तो पढ़ लेते हैं, किन्तु उनमें दक्षता नहीं होती। आप हमें कार्यदक्ष व्यवहारकुशल भी प्रतीत होते हैं। बहुत से विद्वान् होकर भी सुन्दर गुणों से युक्त नहीं होते। आप सुन्दर हैं, शुभग हैं, शौभाग्यशाली हैं। बहुत से लोग कितने भी पंडित हों यशस्वी तेजस्वी हों, किन्तु यदि उनकी वाणी में मधुरता न हो, तो उनके सब गुण व्यर्थ हो जाते हैं। जितना पाप एक हिंसक हत्या से नहीं कर सकता, उतना पाप एक कटुभाषी अपनी कड़वी वाणी से बात-की-बात में कर सकता है। किन्तु आपके एक शब्द से ही मैं समझ गया कि आप मधुर भाषी हैं। इतना सब होने पर भी मैं देखता हूँ आप लोक व्यवहार से सर्वथा उपराम हैं। जड़ पुरुषों के समान तथा पिशाचों के समान चेष्टायें करते हैं। न कुछ संसारी काम काज ही करते हैं और न कुछ करने की इच्छा ही करते हैं। आपको कोई चिन्ता ही नहीं।"

हँसकर अवधूत बोले—"राजन्! चिन्ता किसकी करें?"

विस्मय के साथ महाराज यदु बोले—"भगवन्! संसार में सभी को कुछ-न-कुछ चिन्ता लगी ही है। किसी को धन की चिन्ता, किसी को स्त्री की चिन्ता, किसी को पुत्र की चिन्ता, किसी को पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान तथा सत्कार की चिन्ता, किसी को पुस्तक लिखने की चिन्ता, किसी को प्रकाशित करने की चिन्ता, सारांश यह है कि सभी किसी-न-किसी चिन्ता में मग्न हैं। और नहीं तो विरक्तों को भी दंड कमण्डलु और कंथा कोपीन की ही चिन्ता है। सभी लोभ और नाना प्रकार की कामनाओं के दावानल में जल रहे हैं। संसाररूप वन में चिन्ता-रूपी अग्नि लगी है, सब हाहाकार कर रहे हैं। बड़े-बड़े डीलडौल के हाथी भी तड़प रहे हैं, किन्तु इस चिन्ता से व्याप्त संसार में आप उसी प्रकार निश्चिन्त और निर्भय होकर खड़े हैं जैसे दावा-

नल से व्याप्त वन को छोडकर गजराज गङ्गाजी के बीच में सुखी और निर्भय होकर खडा हँसता रहता है। वह दावानल के सताप से बचता ही नहीं, अपितु सुरसरि में रहने से सुख और शीतलता का भी अनुभव करता है। आप यह भी नहीं जानते कि पुत्र कलत्रों के संग में रहने से प्राणियों को कितने कितने क्लेश सहन करने पडते हैं। आप निरन्तर आत्म स्वरूप में स्थित रहने से आनन्द में मग्न रहते हैं। आपने यह विद्या किससे सीखी है, इस आनद को दिखाने वाले आपके गुरु कौन हैं ?"

यह सुनकर अवधूत खिलखिलाकर हँस पड़े। दूसरा कोई ऐसा प्रश्न करता तो वे उससे बोलते भी नहीं, किन्तु उन्होंने समझा यह यदु ब्राह्मण भक्त है, इसकी बुद्धि तीव्र है और परमार्थ में इसकी रुचि है, इस कारण यह इन प्रश्नों के उत्तर सुनने का अधिकारी है। यही सब सोच समझकर वे महाभाग अवधूत उन हाथ जोड़े विनयावनत खडे राजा को देखकर कहने लगे—"राजन् ! मेरा कोई एक गुरु होता तो मैं उसका नाम भी बताता। दीक्षा गुरु एक होते है, किन्तु शिक्षागुरु तो बहुत से हो सकते हैं। जिससे जो गुण सीखा उस गुण का हमारा वही गुरु है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! सुनें भी तो सही, आपने कितने गुरु किये हैं ?"

हँसते हुए अवधूत बोले—"राजन् ! मैंने चौबीस गुरु किये हैं। उन्हीं सबसे शिक्षा लेकर मैं निर्भय होकर स्वच्छन्दता पूर्वक ससार में विचरण करता रहता हूँ, मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! हम आपके उन चौबीस गुरुओं का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। वे ऋषि किस वन में रहकर तपस्या करते हैं ? उनके नाम क्या हैं ?"

अवधूत बोले—"राजन् ! मेरे वे चौबीस गुरु सर्वत्र रहते हैं,

उनके नामों को आप सुनना चाहते हैं, तो प्रेमपूर्वक श्रवण कीजिये। (१) पृथ्वी, (२) वायु, (३) आकाश, (४) जल, (५) अग्नि, (६) चन्द्रमा, (७) सूर्य, (८) कपोत, ९) अजगर, (१०) समुद्र, (११) पतग, (१२) मधुमक्खिका, (१३) हाथी, (१४)मधुहारी (१५) हरिण, (१६) मीन, (१७) पिङ्गला वेश्या, (१८) कुररी पक्षी (१९) बालक, (२०) कुमारी कन्या, (२१) बाण बनाने वाला, (२२) सर्प, (२३) मकडी और (२४) भृङ्गीकीट। ये चौबीस मेरे गुरु हैं, इन्हीं से शिक्षा लेकर मैं निर्भय और निश्चिन्त बन गया हूँ।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! यह तो बडी ही अद्भुत बात है कि इन प्रायः अशिक्षितों से आपने शिक्षा ग्रहण की। कृपा करके यह और बताइये आपने किस किससे क्या-क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब राजा ने अवधूत दत्तात्रेयजी से चौबीस गुरुओं से ली हुई शिक्षा के सबध में प्रश्न किया, तो वे राजा को अधिकारी समझकर सबसे ली हुई शिक्षा का वर्णन करने लगे। उन अवधूत ने जिससे जो शिक्षा ली है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

हँसि बोले अवधूत—'भूमि, नभ, अनिल, अनल, जल।
रवि, शशि, अजगर, जलधि, कबूतर, हरिन, रदनबल॥
मधुमक्खी, करि, मीन, पिङ्गला-वेश्या, कुररी।
शरकृत, भृङ्गी, सरप, कुमारी कन्या, मकरी॥
मधुहारी अरु पतङ्गा, गुरु चौबीस बनाइकें।
सबहीं तें शिक्षा लई, इन सबके ढिग जाइकें॥

—०—

गुरु रूपा पृथ्वी से शिक्षा

(१२२२)

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैवदशानुगैः ।
तद् विद्वान् न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥*

(श्रीभा० ११ ९।० ७ अ० ३७ श्लोक)

द्रुपय

होवें नित उतपात अपनि पै सबई खोदें ।
कहँ चाँदी कहँ कनक खोदिकें नर नित सोदें ॥
तऊ न होवे कुपित धीरता मनमहँ धारे ।
ज्ञानी को सत्कार करे चाहें तो मारे ॥
माला मेली कण्ठ में, काहू ने गारी दई ।
रहे सदाई एक रस, यह शिक्षा भू तें लई ॥

एक सत कहीं भिक्षा लेने गये । किसी ने उन्हें सत्कार पूर्वक भिक्षा देने को बुलाया । वे उसके समीप भिक्षा लेने गये, तब उसने डाँटा—"तू यहाँ कमा कर रख गया है क्या ? झोली ले ली माँगते फिरे, भाग जा यहाँ भिक्षा नहीं है । यह सुनकर सत वहाँ

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"महाराज मैंने पृथ्वी से धैर्य व्रत की शिक्षा ली है । जैसे पृथ्वी प्राणियों द्वारा खोदे जाने पर भी अपने धैर्य से विचलित नहीं होती, उसी प्रकार दैवमाया से प्रेरित प्राणी विद्वान् सत को कष्ट पहुँचावें, तो उसे अपने मार्ग से विचलित न होना चाहिये ।"

से उठकर चले गये। कुछ दूर गये होंगे कि फिर उसने बुलाया—"ग्रा आ ले जा।" संत फिर लौटकर गये। उसने फिर भी ऐसे ही गालियाँ सुनायीं और लौट जाने को कहा। संत फिर चले आये। इस प्रकार उसने कई बार किया। जब वह बुलाता तब सत चले जाते; जब वह दुतकार देता तब लौट जाते, उनके मुख पर सिकुड़न भी न पड़ी। तब उसने लज्जित होकर संत के चरणों पर सिर रख दिया और उनके धैर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगा—"महाराज! इतनी सहनशीलता तो मैंने किसी में भी नहीं देखी।"

हँसकर संत ने कहा—अरे भाई! इसमें सहनशीलता की कौन सी बात है, पेट के लिये सब कुछ करना पड़ता है। तुम तो मनुष्य की कहते हो, इससे अधिक सहनशीलता तो कुत्ते में होती है। उसे टुकड़ा दिखा दो दौड़ा आवेगा, डंडा मार दो भाग जायगा फिर टुकड़ा दिखा दो तो फिर आ जायगा। तुमने तो मुझमें डडा भी नहीं मारा था, केवल कुछ वचन कहे थे। उन वचनों को सहकर भी मैं कुत्ते के बराबर भी सहनशील नहीं हुआ।"

एक संत के धैर्य की परीक्षा एक दुष्ट ने की। जब वे नदी से स्नान करके आये तो उसने उनके ऊपर थूक दिया। वे फिर स्नान करके आये, फिर उसने थूक दिया। इस प्रकार उसने १०८ बार थूका और सत ने बिना किसी प्रकार आपत्ति किये १०८ बार स्नान किया। जब वह उनके धैर्य को विचलित न कर सका, तो पैरों में पड़कर उसने अपने अपराध के लिये क्षमा चाही। सत ने कहा—अरे भाई! तुमने तो मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया। एक बार ही इस गङ्गा में स्नान करने का कितना फल है, तुमने तो उस फल को एक दिन में मुझे १०८ बार प्राप्त

करने का सुअवसर दिया।" सुनते हैं सन्त के धैर्य का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वह साधु प्रकृति का बन गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज यदु ने अवधूत मुनि के बताये हुए चौबीस गुरुओं के नाम सुने तो उन्होंने जानना चाहा कि आपने किस गुरु से कौन सी शिक्षा ग्रहण की है। इसी उद्देश्य से राजा ने पूछा—भगवन्! कृपा करके यह बताइये, आपने इन गुरुओं से कौन कौन सी शिक्षा ली?"

इस पर अवधूत मुनि बोले—"हे पुरुष सिंह! आप जिस-जिस गुरु के सम्बन्ध में मुझसे प्रश्न करेंगे मैं उसी उसी के सम्बन्ध मे आप से ज्यों-का-त्यों कहूँगा।"

राजा ने पूछा—"अच्छा, सर्वप्रथम यह बताइये आपने पृथ्वी से क्या सीखा? पृथ्वी को आपने क्यों गुरू बनाया?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! पृथ्वी से बढ़कर सहनशीलता मैंने कहीं नहीं देखी। इसलिये इसे अपना गुरु बनाकर इससे धैर्यव्रत की शिक्षा मैंने ग्रहण की है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! इस विषय को मुझे और भी स्पष्ट करके समझावें।"

अवधूत मुनि बोले—"देखो, पृथ्वी सभी को धारण करती है, किन्तु ऊबती नहीं। उसको लोग फावड़ों से खोदते हैं, हल चलाकर उसके पेट को फाड़ते हैं, इस पर भी कुपित नहीं होती, प्रत्युत उलटे अन्न-जल देती है। पृथ्वी का बारम्बार पेट फाड़कर उसमे अन्न का एक दाना डालो तो वह एक का बहुत कर देगी। कहीं कहीं खोदने वाले को सुवर्ण, चाँदी, हीरा, कोयला, तैल तथा नाना प्रकार की धातुओं को देती हैं। पृथ्वी के ऊपर नाना प्रकार के उत्पात होते हैं। भूचाल आती है, लोग बड़े बड़े युद्ध करते हैं, भाँति-भाँति से वसुन्धरा को विदीर्ण करते हैं किन्तु वह सम भावयुक्त और शान्त ही बनी रहती है। इसके ऊपर सभी

मल-मूत्र करते हैं, पाप भी करते हैं, किन्तु किसी पर कुपित नहीं होती, सबकी बुरी से बुरी बात को धैर्य के साथ सहती है। इसके ऐसे गुण को देखकर मैं बड़ा प्रभावित हुआ। मैंने इसे अपना गुरु मान लिया और तभी से मैंने धैर्य व्रत धारण कर लिया।

साधु को सदा सोचते रहना चाहिए, कि कोई भी किसी को सहसा कष्ट नहीं देता। पूर्व जन्म के संस्कारों के वशीभूत होकर लोगों की ऐसी बुद्धि हो जाती है, वे विवश होकर ऐसा अपराध करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। इसलिये यदि किसी ने दैव माया से प्रेरित होकर साधु को कष्ट ही पहुँचा दिया, तो उसे बिना बुरा माने सह लेना चाहिये। मूर्ख यदि मूर्खता करे तो विद्वान को अपनी विनय का परिचय देना चाहिये, उसे अपने सन्मार्ग से कभी भी विचलित न होना चाहिये। जब भी कभी किसी का अपराध अपने मन में आवे तो भूमि की ओर बार-बार देखना चाहिये। उस पर हुए आघातों को अवलोकन करना चाहिये। इस प्रकार शनैः-शनैः अभ्यास करने से सहनशीलता बढ़ती है। एक शिक्षा तो मैंने पृथ्वी से यह ली। दूसरी शिक्षा पृथ्वी के वृक्ष और पर्वतों से भी ली।"

राजा ने कहा—"वृक्षों से और पर्वतों से आपने कौन सी शिक्षा ग्रहण की महाराज! प्रथम वृक्षों से ही ग्रहण की हुई शिक्षा को समझाइये।"

अवधूत मुनि बोले—"वृक्षों और पर्वतों से मैंने परोपकार की शिक्षा ग्रहण की। देखो, वृक्ष एक स्थान पर रहकर वायु, वर्षा, धूप और पाला सभी को सहन करते हैं। स्वयं तो जाड़ा सहन करते हैं, किन्तु इनके नीचे कोई जाता है तो उसकी जाड़े से, धूप से तथा वर्षा से यथाशक्ति रक्षा करते हैं। इनके पास से तथा वर्षा यथाशक्ति रक्षा करते हैं। इनके पास से अर्थी पुरुष कभी विमुख होकर नहीं जाता। इन पर फल होंगे तो फल देंगे,

पत्ते होंगे तो पत्ते, लकड़ी होगी तो लकड़ी दे देंगे। कोई इन्हें पत्थर मारता है, तो उसके बदले में ये फल देते हैं। परोपकार का इन्होंने सत्र खोल रखा है। अपनी प्रत्येक वस्तु से ये निरन्तर परोपकार ही करते रहते हैं। प्रथम पत्तों को ही ले लीजिये। बहुत से वृक्षों के पत्ते औषधियों में काम आते हैं। नीम के पत्ते पेट में कीड़े पड़ जायँ तो उसके लिये बड़े उपयोगी हैं। पान के पत्ते देव पूजन, मुख शुद्धि में काम आते हैं। पंच पल्लवों का प्रत्येक पूजा में उपयोग होता है। पशु, पत्ते खाकर ही जीते हैं। सूखे पत्ते जलाये जाते हैं भाड़ में झोंके जाते हैं। पत्ता के कागद बनते हैं, सड़ाकर खाद बनती है। साराश यह है कि कोई भी ऐसा वृक्ष नहीं जिसका एक भी पत्ता व्यर्थ जाय और उससे कुछ प्राणियों का उपकार न हो।

वृक्षों के पुष्पों को ले लीजिये। पुष्प अपनी सुगन्धि से वायु मंडल को सुवासित करते रहते हैं। मालायें बनती हैं जो देवपूजन तथा स्वागत सत्कार के काम में आती हैं। बहुत से पुष्पों की औषधियाँ बनती हैं। अगस्त्य, गोभी, केला आदि के पुष्पों का साग बनता है, महुए आदि के पुष्प सुखाकर खाये जाते हैं। बहुत से पुष्पों से सुगन्धित तेल बनता है। साराश यह है, कि सभी वृक्षों के फूल किसी न किसी काम में अवश्य आते हैं।

वृक्षों के फल तो प्राणियों का जीवनदान देते हैं। बन्दर आदि पशु, शुक आदि पक्षी फल खाकर ही निर्वाह करते हैं। ऋषि मुनि भी केवल फल खाकर जीवन बिताते हैं। प्राणिमात्र के जीवन की रक्षा वृक्षों के पत्र, पुष्प, फल और बीज ही करते हैं। कुछ लोग पशु पक्षियों का मांस खाकर भी जीवन धारण करते हैं, किन्तु ये पशु पक्षी भी तो वृक्षों की फल पत्ती खाकर जीते हैं। यहाँ तक कि जल के जीव भी काई आदि जल के वृक्षों को

खाकर जीते रहते हैं। साराश यह कि वृक्ष ही प्राय सबको आहार प्रदान करते हैं।

ये अपने बीजों से अपने वश की वृद्धि करते हैं और इनके वशज परोपकार की दीक्षा लेकर ही उत्पन्न होते हैं, जीवन भर उपकार करते रहना ही इनका परम व्रत है।

ये अपनी छाया से सबको सरदी, धूप तथा वर्षा से बचाते हैं, सबको अपनी छाया में आश्रय देते हैं। पक्षियों को रहने को, घर बनाने को और बैठने को स्थान देते हैं।

इनकी मूल ओषधियों के काम में आती हैं। बहुत से मूलों को खाते हैं। बहुत से मूल तो बहुत ही मूल्यवान होते हैं, भूमि के भीतर रहकर भी ये उपकार करते हैं।

वृक्षों के वल्कल प्राणियों के बडे उपयोगी होते हैं। पहिले ऋषि मुनि वल्कलों के वस्त्र पहिन कर ही निर्वाह करते थे। भोज पत्रों के वल्कल पुस्तक लिखने के काम में आते हैं। उन पर जन्म-मन्त्र आदि लिखे जाते हैं, इनकी पत्तल बनाकर लोग भोजन करते हैं। और भी वृक्षों के वल्कल काष्ठादि ओषधियों में बहुत महत्व का स्थान रखते हैं।

इनका काष्ठ बडा उपयोगी होता है। घर की कड़ी, सहतीर, जगले, किवाडें तथा अन्यान्य वस्तुएँ वृक्षों की लकडियों से ही बनते हैं। शैया, तख्त, चौकी, खडाऊँ, पेटिका, सन्दूकी आदि सभी जीवनोपयोगी वस्तुएँ काष्ठ की बनती हैं। पार करने वाली नौकाओं की अनेक वस्तुएँ काष्ठ की ही होती हैं। काष्ठ को जलाकर उसी से भोजन बनाया जाता है। मरते समय काष्ठ पर ही रखकर अन्त्येष्टि क्रिया की जाती है।

बहुत से वृक्षों में गन्ध निकलती है—जैसे चदन है, चीड है। बहुतों में तेल निकलता है जो अनेक प्रकार के कठिन रोगों में

काम आता है। चीड आदि के वृक्षों की गन्ध से राजयक्ष्मा आदि बहुत से रोग चले हैं। इनकी गन्ध से वायु होती है। शुद्ध

वृक्षों का गोंद बडा उपयोगी है। हींग वृक्ष का गोंद ही है, साग भाजी हींग की छोंक से कितनी स्वादिष्ट बनती हैं हिंगाष्टक चूर्ण आदि अनेकों ओषधियाँ बनती हैं। बबूर का गोंद वीर्य वर्द्धक होता है, आम के गोंद को मिठाइयों में लगाते हैं। गोंद से अनेकों वस्तुएँ चिपकाई जाती हैं।

वृक्षों के काष्ठ को जलाकर उसकी जो भस्म बनाई जाती है, उसकी खाद बनती है। भस्म को मस्तक पर लगाते हैं, ओषधियों मे काम आती है। इस शरीर की भस्म भी काष्ठ ही बनाता है।

काष्ठ को जलाकर जो कोयले बनाये जाते हैं उनसे तापते हैं, भोजन बनाते हैं। बडे बडे वाष्पयन्त्र कोयलो से ही चलते हैं। कोयले ही चिरकाल तक दबे रहने से नीलम आदि बहुमूल्य बन जाते हैं। वृक्षों के अकुर पूजन में, मगल कृत्यों मे काम आते हैं। बहुतों का साग बनता है।

कहने का साराश यह है कि वृक्ष अपनी प्रत्येक वस्तु से परोपकार ही करते हैं। इसी प्रकार साधु पुरुष को अपनी समस्त चेष्टायें परोपकार के ही लिये करनी चाहिये।

राजा ने पूछा—"भगवन्! पर्वतों से आपने क्या शिक्षा ग्रहण की?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! वृक्षो की भाँति पर्वत भी निरन्तर परोपकार में निरत रहते हैं। अपने पाषाणो पर बैठने को स्थान देते हैं। पाषाणों से घर बनाते हैं, मूर्तियाँ बनती हैं। इनमें से निकली नदियाँ सबको जीवन प्रदान करती हैं, नित्य झरने झरते रहते हैं, अपनी कन्दराओं में सबको आश्रय देते हैं। इन पर अनेक ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। पाषाण शिलाओं से शिलाजीत उत्पन्न होते हैं, हीरा आदि की खानें भी इनमे होती

हैं। सारांश यह कि पृथ्वी के जो ये वृक्ष और पर्वत हैं वे निरंतर परोपकार करते रहते हैं। अतः परोपकार की शिक्षा मैंने इनसे ली है। इस प्रकार पृथ्वी से धैर्य और परोपकार ये दो गुण मैंने सीखे।"

यह सुनकर महाराज यदु ने पूछा—"भगवन! चौबीस गुरुओं में से आपने पृथ्वी से जो दो गुण सीखे वे तो बता दिये। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ, कि वायु को गुरु बनाकर उससे आपने कौन-सी शिक्षा ली? कौन-सा गुण आपने उससे सीखा?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यदु के पूछने पर अवधूतजी ने वायु से जो शिक्षा ग्रहण की थी, उसे जैसे उन्होंने राजा को बताया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप समाहित चित्त से इस पुण्य प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

पर कारजमहँ निरत रहैं सब अंग तें नग गिरि।
पत्र, पुष्प, फल, मूल, काष्ठ, वलकल, छाया करि॥
देहिं सबनि विश्राम करें निज जीवन अरपित।
आश्रय, जल आहार दान करि होवें प्रमुदित॥
नित प्रति पर उपकार की, शिक्षा गिरि वृक्षनि दई।
कहूँ ताहि जो वायुकी, गुरु बनाइ शिक्षा लई॥

वायु से शिक्षा

[१२२३]

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ७ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

केवल करि आहार प्रान सन्तुष्ट रहैं नित ।
है सुन्दर रसयुक्त पदारथ नहिँ देवै चित ॥
प्रानवायु तैं लीनी मैंने संयम शिक्षा ।
मिलै भाग्यवश रूखी सूखी जैसी भिक्षा ॥
ताकूँ पावै प्रेम तैं, प्रानमात्र धारन करै ।
कबहुँ न रसना-स्वाद के, चक्करमहँ योगी परै ॥

मन एक मदमत्त हस्ती है, इसे वश में करने के लिये सयम रूपी अंकुश चाहिये । जिसके जीवन में संयम नहीं वह संसार-सागर से कभी पार नहीं जा सकता । संयम-हीन जीवन बिना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् उद्धवजी को उपदेश देते हुए भगवान गीता सुनाते हुए कह रहे हैं—मुनि को चाहिये जैसे प्राणवायु केवल आहारमात्र की इच्छा रखता है, उसी प्रकार ऐसे आहार से ही सन्तुष्ट रहे जिससे ज्ञान नष्ट न हो और मन वाणी भी विकृत न हो । उसे इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों की इच्छा न करनी चाहिये ।"

मल्लाह की नौका के सदृश है। संसार की प्रत्येक वस्तु हमें अपनी ओर आकर्षित कर रही है। सभी हमें अपने में मिलाना चाहते हैं। होली खेलने वाले अपने दल वालों पर रङ्ग-कीच नहीं डालते वे तो उसे खोजते हैं जो उनमें मिलना नहीं चाहता, छिपता है, जिसे रङ्ग में भिगोकर अपना सा-कर लेते हैं, अपने दल में मिला लेते हैं, फिर उससे नहीं बोलते। संसारी लोग उसी की अधिक आलोचना करते हैं, जो उनसे बचा रहना चाहता है। जो उनमें घुलमिल जाता है वह तो उन्हीं सा हो जाता है, चोर-चोर मौसाते भाई हो जाते हैं। फिर तो यह लोकोक्ति चरितार्थ होती है, "तू कहे मत मेरी मैं कहूँ ना तेरी।" बहुत से ज्ञानी साधारण लोगों में मिलकर उनके साथ हा-हा हू-हू कर लेते हैं, जहाँ उनसे पृथक् हुये कि पुनः अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। वे संसार में रहकर भी उससे इसी प्रकार निर्लेप बने रहते हैं जिस प्रकार पद्मपत्र पानी में रहकर भी उससे निर्लेप रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज यदु के पूछने पर अवधूत दत्तात्रेय कह रहे हैं—"राजन्! दूसरा गुरु मैंने वायु को किया है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वायु से आपने कै गुण ग्रहण किये हैं?"

अवधूत बोले—"राजन्! वायु दो प्रकार की होती है। एक भीतर की प्राण वायु, दूसरी बाहर की साधारण वायु। भीतर की प्राण वायु का काम है भूख-प्यास लगाना और अन्न-जल पा कर तृप्त होना। प्राणों के लिये केवल अन्न-जल चाहिये। उन्हें चाहे खीर, हलुआ या रसगुल्ला से तृप्त करो अथवा रूखी सूखी रोटी से तृप्त करो। उन्हें तो केवल आहार से काम है। इसी प्रकार ज्ञानी को केवल शरीर बना रहे इसलिये प्राण धारण के प्रयोजन से आहार करना चाहिये। सुन्दर हो, स्वादिष्ट हो, देखने

में मनमोहक हो, सोने चाँदी के पात्रों में हो, रसीला हो, खट्टा हो, मीठा हो, चरपरा हो इसकी उसे आवश्यकता नहीं। क्योंकि वह समझता है, कि कंठ के नीचे जाते ही सबकी एक गति हो जाती है।"

यदु ने पूछा—"ब्रह्मन्! फिर खाने की ही क्या आवश्यता है?

अवधूत बोले—"राजन्! देखिये, परमार्थ-साधन हम इस शरीर ही द्वारा करते हैं, यदि शरीर ही नष्ट हो जायगा तो हम परमार्थ-साधन किससे करेंगे, इसलिये आसक्ति से नहीं, मोह-ममता से नहीं, केवल परमार्थ का साधनभूत यह शरीर है इस बुद्धि से शरीर की रक्षा करनी चाहिये। भोजन न करने से ज्ञान नष्ट हो जाता है। एक कहानी है कि किसी ऋषि के एक शिष्य थे, उन्होंने पूछा—"ब्रह्म क्या है?" मुनि ने कहा—"अच्छा तुम इतने दिन भोजन मत करो।" उसने ऐसा ही किया। निराहार रहने से उनकी स्मृति नष्ट हो गयी। गुरु ने उनसे वेद के मन्त्र पूछे, उन्हें स्मरण ही न आये। फिर उन्हे अन्न दिया गया। खाने से उन्हें चेतना हुई और पूछने पर उन्होंने कहा—"अब मुझे वेद शास्त्र सब स्मरण हो आये हैं।" तब ऋषि ने कहा—"अन्न ही ब्रह्म है।" कहने क सारांश यह है, कि अन्न से ही मन बनता है, मन स्वस्थ रहता है तभी ज्ञान होता है। अधिक या अहित-कर भोजन करने से तमोगुण बढ़ता है उससे भी ज्ञान नष्ट होता है। अतः नियमित उतना ही भोजन करना चाहिये जिससे क्षुधा की निवृत्ति हो जाय। भोजन न करने से मन भी विकृत हो जाता है और वाणी भी भली-भाँति नहीं निकलती, बोला नहीं जाता। अधिक भोजन करने से बैठा भी नहीं जाता, इसलिये भोजन उतना ही हो जिससे मन वाणी में विकृति न आने पावे, जिससे प्राण तृप्त हो जायँ। तुम चाहो कि रसना की तृप्ति करें, सो रसना तो कभी तृप्त होने की नहीं। मीठा खाते-खाते खट्टे

और कडवे की इच्छा होगी, नमकीन खाते-खाते मीठा चाहिये, कुछ चरपरी चटनी भी चाहिये। सारांश यह है जो इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों के पीछे पडता है वह परमार्थ-पथ से पतित होता है, अतः भोजन में सदा संयम रखे। हे राजेन्द्र! भोजन के संयम की शिक्षा मैंने प्राण वायु से ली है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! बाह्य वायु जो सदा चलती रहती है, उससे आपने क्या शिक्षा ग्रहण की है?"

अवधूत बोले—"राजन्! वायु जैसे सर्वत्र चलती है, कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ वायु की पहुँच न हो। सर्वगामी होने पर भी वायु अपने स्वरूप से सदा निर्लिप्त रहती है। इसी प्रकार योगी सर्वत्र जाय। राजा के यहाँ, धनी के यहाँ, निर्धन के यहाँ पुरुषों में, स्त्रियों में, शिक्षितों में, अशिक्षितों में, पाखण्डियों में, कर्मकाण्डियों में, किन्तु उनमें लिप्त न हो, सदा निर्लिप्त बना रहे।"

वायु देखने में सुगन्ध दुर्गन्ध युक्त प्रतीत होती है, किंतु वास्तव में वायु में न सुगन्धि है न दुर्गन्धि। सुगन्धि दुर्गन्धि को कुछ काल के लिये वहन अवश्य करती है, किन्तु उसमें तन्मय नहीं होती। जैसे मृतक को ढोने वाले कुछ दूर तक मृतक को कन्धे पर वहन करके ढोकर ले जाते हैं, किन्तु उसके साथ स्वयं मृतक नहीं बन जाते। गंगा किनारे या स्मशान में उसकी अन्त्येष्ट क्रिया करके उससे निवृत्त हो जाते हैं। इसी प्रकार वायु जहाँ सुन्दर सुगन्धित पुष्पों को देखती है, तो उसकी सुगंधि को साथ लेकर बहने लगती है, कुछ दूर चलकर उस सुगंधि को छोड देती है। आगे सडा मांस विष्ठा आदि दुर्गन्धि को लेकर चलती है। आगे चलकर उसे भी छोड देती है। उसकी शुद्धता में कोई भी अन्तर नहीं आता। गन्ध धर्म है पृथ्वी का। वायु का धर्म तो स्पर्श है। वायु में न सुगन्धि है न दुर्गन्धि,

वह न शीत है न उष्ण। गरमियों में कहते हैं—बड़ी गरम-गरम वायु चल रही है, जाड़ों में कहते हैं—बड़ी ठंडी-ठंडी वायु चल रही है। वास्तव में वायु में न ठंडक है न गर्मी है। ठंड के कारण वह ठंडी प्रतीत होती है, गरमी के कारण गरम। इन सबके संसर्ग से स्वयं उसमें कोई विकार नहीं होता। इसी प्रकार आत्मज्ञानी इस शरीर में रहता है। शरीर अशुद्ध है आत्मा शुद्ध है, शरीर नश्वर है आत्मा अजर अमर है। शरीर अनित्य है आत्मा नित्य है। इस प्रकार भिन्न गुणों वाला यह शरीर है, फिर भी ज्ञानी इसी के गुणों का आश्रय लेकर रहे, किन्तु उसमें लिप्त न हो। शरीर को और आत्मा को एक न मान ले। कोई हमारी निन्दा करता है तो करता रहे। यदि वह आत्मा की निन्दा करता है तो मूर्ख है। आत्मा तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है, उसकी निन्दा करने वाले की स्वयं ही निन्दा होगी, सूर्य पर जो धूलि फेंकेगा, उलटकर उसी के सिर पर पड़ेगी। अब रही शरीर की निन्दा की बात, सो शरीर तो निंदित है ही। सिर में पसीना जम जाय, जूए हो जाएँ। आँख में से कैसी बुरी कीच निकलती है। नाक में से कैसा घृणास्पद गाढ़ा-गाढ़ा हरे नीले पीले रङ्ग का मल निकलता है, दाँतों पर कैसा मैल जम जाता है, नख बढ़ जाते हैं तो उनमें कितना मैल भर जाता है, कानों से कैसा काला काला मैल निकलता है। मल-मूत्र द्वार से जो निकलता है उसे देखकर स्वयं घृणा होती है। ऐसे घृणित अशुद्ध शरीर की कोई निन्दा करता है तो करता रहे। आत्म ज्ञानी अपने को शरीर तो समझता नहीं। शरीर तो जड़ है, आत्मा चैतन्य है। चैतन्य का कोई निन्दा करे तो करता रहे। वायु को कोई गन्धयुक्त कहे तो कहता रहे, वायु तो सदा शुद्ध है। उसमें कोई भी सुगन्धि दुर्गन्धि चिपट नहीं सकती। जो लोग शरीर को ही मैं मानकर व्यवहार करते हैं वे ही ईर्ष्या,

द्वेष, कलह आदि में फँसकर दुखी होते हैं, पुनः-पुनः जन्मते हैं, पुनः-पुनः मरते हैं। शरीर में रहता हुआ भी उनसे असङ्ग रहे और प्राणों की रक्षा के निमित्त ही नियमित हितकारक भोजन करे, ये दो बातें मैंने वायु से सीखी हैं, अतः मेरे दूसरे गुरुदेव वायु हैं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! पृथ्वी और वायु के द्वारा प्राप्त हुई शिक्षाओं को तो मैंने सुन लिया, अब कृपा करके यह बताइये कि आकाश को आपने गुरु क्यों बनाया? आकाश से आपने क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज यदु के पूछने पर जैसे अवधूत दत्तात्रेय ने अपने आकाश गुरु से ग्रहण की जाने वाली शिक्षा को बताया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गन्ध वहन नित करै रहै निरलेप अनिल हू।
परस न ताकूँ करै गन्ध दुरगन्ध तनिक हू॥
यों ही योगी रहै विरत विषयनितैं नित नित।
तनके आश्रय रहै देहि नहिँ तिनके गुन चित॥
होहि गन्धमहँ लिप्त नहिँ, अनिल सर्वगामी सतत।
शिक्षा लई असग की, चित्त वायुवत नित विरत॥

आकाश से शिक्षा

[१२२४]

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ४२ श्लोक)

छप्पय

करिकें गुरु आकाश लई जो शिक्षा भूपति ।
कहूँ ताहि अब सुनहु आतमा हैं असङ्ग अति ॥
व्याप्त चराचर माँहिं सर्वगत अनुगत सबके ।
सूत्र व्याप्त सक माँहिं रहे मनिका वश तिनके ॥
सीखी अपरिछिन्नता, आत्मा देह असङ्गता ।
इन भूतनि ते आतमा, की होवे नहिं एकता ॥

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! महाराज यदु के पूछने पर अवधूत दत्तात्रेय आकाश से ग्रहण की हुई शिक्षा का निरूपण करते हुए कह रहे हैं—देखो महाराज ! आकाश ब्रह्मात्मभाव से सबके अनुगत होने से स्थावर जंगम सभी उपाधियों में व्याप्त है। इसलिये मननशील सन्यासी को चाहिये, कि व्याप्ति के द्वारा उस सर्वगत आत्मा की तथा उसकी अपरिच्छिन्नता, असंगता और आकाशरूपता की भावना करे।"

काल कर्म और स्वभावानुसार सृष्टि का प्रवाह अनादि काल से चल रहा है। संसार में जितने दीखने सुनने वाले भौतिक पदार्थ हैं सब प्राकृत हैं, सब काल के आधीन हैं, काल आने पर अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं और फिर काल आने पर अव्यक्त में मिल जाते हैं। कर्म करने का स्वभाव प्राणियों का स्वाभाविक है, कोई भी प्राणी कभी भी क्षण भर को भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। स्वभाव से-प्रकृति से ही सभी व्यक्त होने को विवश हैं, कर्मों की आसक्ति जन्म मरण का कारण है। आत्मा न तो किसी देश में परिच्छिन्न है, न काल की सीमा में, न कर्म की। आत्मा नित्य है, शुद्ध है, बुद्ध है, असङ्ग है, जिसको ऐसा बोध हो जाता है, वह फिर जन्म-मरण के चक्कर से विमुक्त बन जाता है। आत्मा की अपरिच्छिन्नता तथा असंगता का अनुभव करना, प्रत्येक समय यह भावना बनी रहना कि मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ, नित्य कूटस्थ हूँ, यह बड़े भाग्य की बात है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने अवधूत दत्तात्रेय से पूछा—भगवन्! आपने आकाश को गुरु बनाकर उससे क्या शिक्षा ली?" तब दत्त भगवान् कहने लगे—"देखिये राजन्! आप ऐसा कोई भी स्थान न पावेंगे जहाँ आकाश न हो।"

राजा ने कहा—'भगवन्! आकाश क्या है? यह जो हमारे ऊपर नीली-नीली छत से तनी है वही आकाश है? जब हम वन में देखते हैं, तो कढाई के सदृश हमें नीली चाँदनी सी तनी दिखाई देती है। वह गोलाकार दीखती है और उसके सिरे दूर के वृक्षों से बँधे दीखते हैं।"

हँसकर दत्त भगवान् बोले—"राजन्! यह आकाश नहीं। ये तो आकाश में वाष्प के धूम्र के बने मेघ घूमते रहते हैं। आकाश का कोई रूप नहीं, रङ्ग नहीं, आकृति नहीं। अवकाश

का नाम आकाश है। हमारे पैर तो पृथ्वी पर टिके रहते हैं और पूरा शरीर आकाश में स्थित है। घडा के चारों ओर मिट्टी है उसके भीतर आकाश है, उसे घटाकाश कहते हैं। मठ के चारों ओर दीवाल है, ऊपर छत है, बीच में आकाश है, उसे मठाकाश कहते हैं। देह के चारों ओर अङ्ग प्रत्यङ्ग है, भीतर आकाश है, उसे शरीराकाश कहते हैं। ये समस्त नाम निर्देशात्मक वस्तुएँ आकाश में स्थित हैं। घडा से भीतर भी आकाश बाहर भी आकाश स्थित है और उसके अणु परमाणु में भी आकाश व्याप्त है। साराश यह है कि चाहे वृक्ष, पाषाण आदि स्थावर हों अथवा पशु, पक्षी, मनुष्य, सरीसृप आदि जगम वस्तुएँ हों सभी में आकाश व्याप्त है। आकाश में जल के कण निरन्तर घूमते रहते हैं जिसे आकाशगगा कहते हैं। एक यन्त्र विशेष से वे कण एकत्रित करके उनकी हिम-बरफ-बना ली जाती है, उन्हीं जल कणों से ओस बनती है। वृक्ष भी उन्हीं जल कणों को लेकर हरे भरे रहते हैं। प्रकाश की किरणें भी आकाश में ही व्याप्त रहती हैं। इन किरणों को यन्त्रों द्वारा एकत्रित करके विद्युत् बनायी जाती है। आकाश में कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ तेज की किरणें न हों। जितने अन्नमय पार्थिव पदार्थ हैं आकाश के बिना उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये सब आकाश में व्याप्त हैं, वायु भी सर्वत्र आकाश में भरा हुई है। आकाश में उस स्थान की हम कल्पना भी नहीं कर सकते जहाँ वायु न हो। कहने का साराश यही कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु सभी आकाश में ही अवस्थित हैं। वायु के द्वारा प्रेरित मेघादि भी आकाश में ही उड़ते घुमडते रहते हैं। फिर भी आकाश इन सबसे अपरिच्छिन्न रहता है, अछूत बना रहता है। इसी प्रकार योगी काम्यकर्म स्वर्ग की कामना से यज्ञयाग करने वाले विप्रों में भी रहता है, युद्ध करने वाले क्षत्रियों में भी रहता है, झूठ सत्य से

व्यापार चलाने वाले वैश्यों में, सेवा करने वाले शूद्रों में, पाप से ही आजीविका करने वाले हिंसकों में, दृष्टि से ही मन को अपनी ओर आकर्षित करने वाली स्त्रियों में, सुन्दर-सुन्दर तोतली बोली बोलने वाले बालकों मे तथा युवावस्था के मद से मत्त हुए युवकों में भी रहता है, किन्तु उनसे वह आकश के सदृश निर्लेप रहे। योगी अपने को शरीर तो समझता नहीं वह तो आत्म स्वरूप से अनुभव करता है।"

राजा ने पूछा—"तो भगवन्! देह तो बहुत हैं, फिर आत्मा भी बहुत होगीं। जितने शरीर उतनी आत्मायें होंगी!"

दत्तात्रेयजी ने कहा—"नहीं राजन्! आत्मा तो एक ही है। वही आकाशवत् सबमे व्याप्त है। जैसे घड़े में आकाश है तो वह महाकाश से भिन्न थोड़े ही है। जब तक घड़े के सीमा में आबद्ध है वह घटाकाश कहलाता है, घड़ा फूटने पर वह महाकाश में ज्यों-का-त्यों व्याप्त हो जायगा। इसी प्रकार परमात्मा या ब्रह्म सब स्थावर जंगम उपाधियों मे स्थित है, किन्तु उनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं, कोई लगाव लपेट नहीं। वह सर्वगत और सर्वव्यापक है। सब उसमें रहते हैं, किन्तु वह परिछिन्न नहीं होता। इसलिये प्रथम अपरिछिन्नता की शिक्षा मैंने आकाश से ली।"

दूसरी शिक्षा आकाश से यह ली कि इतनी वस्तुओं के रहते हुए भी आकाश उनमें आसक्त नहीं, अपना व्यक्तित्व उसने खो नहीं दिया है। सबसे घिरा रहने पर भी वह उनसे असंग रहता है। इसलिये योगी को असंगता तथा आकाश रूपता की आत्मा में भावना करनी चाहिये। सूत्र यद्यपि मणियों के भीतर व्याप्त है, माला में एक भी मणि नहीं जिसमे सूत्र न हो, फिर भी वह मणियों से पृथक् है। मणियों के साथ उसका तादात्म्य नहीं होता। इसी प्रकार परमात्मा देह में रहने पर भी उसके दुःख,

सुख, हर्ष, शोक आदि गुणों से निरन्तर पृथक् बना रहता है। अतः अपरिछिन्नता और असंगता की शिक्षा मैंने आकाश से ली है। इसलिये आकाश को भी अपना गुरु मानता हूँ।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! पृथ्वी, वायु और आकाश से आप ने जो शिक्षायें ग्रहण कीं उनका उपदेश तो आपने मुझे दे दिया। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ, कि आपने जल को गुरु बनाकर उससे क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज यदु के प्रश्न को सुन कर भगवान् दत्तात्रेय ने जैसे जल के गुणों पर रीझकर उसे अपना गुरु बनाया और गुरु बनाकर उससे जो-जो शिक्षा ग्रहण की, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप समाहित चित्त से इस गूढ़ ज्ञानमय दिव्य उपदेश को श्रवण करें।"

छप्पय

तेज किरण आकाश माँहिं चहुँ दिशितें भ्राजे।
जलसीकर नित व्याप्त वायु सर्वत्र विराजे॥
पृथिवी जनित पदार्थ रहें सब ताके माहीं।
भरे रहें नित मेघ लिप्त तिन महँ नभ नाहीं॥
ह्वैकें मुनि नित समाहित, करै भावना गगनमहँ।
आत्मा शुद्ध अनादि अज, फँसै न तीनहु गुननिमहँ॥

जल से शिक्षा

[१२२५]

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूनृणाम् ।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमाक्षापस्पर्शकीर्तनैः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

जल गुरु तैं गुन चार भूप सीखे अति सुन्दर ।
नित स्वभाव तैं शुद्ध रहै मुनि बाहर भीतर ॥
स्नेह युक्त बनि सबनि प्रेम नहँ नित्य न्हवावै ।
कहिकैं कड़वे वचन चित्त नहिँ कबहुँ दुखावै ॥
तीर्थ रूप सबकूँ बनै, सदा तृप्त सब सबकूँ करै ।
हँसै हँसावै सरल चित, दुखियनि के दुख कूँ हरै ॥

निस्पृहता का अर्थ रूखता नहीं है। यथार्थ बात यह है कि बिना निस्पृहता के सरसता आती ही नहीं। जो इन संसारी विषयों में फँसे हुए हैं, जो धन को ही सर्वस्व समझते हैं, उनमें सरसता कैसे आ सकती है। विषयासक्त पुरुष कभी प्रेम कर ही नहीं सकता। प्रेम तो विषयों से विरक्त निस्पृह पुरुष ही करता

---

* भगवान् दत्तात्रेय महाराज यदु से कह रहे हैं—"राजन्! जल स्वभाव से स्वच्छ, स्निग्ध, मधुरतायुक्त तथा मनुष्यों के लिये तीर्थ स्वरूप है, उसी प्रकार योगी इन गुणों को धारण करके अपने मित्रों को दर्शन, स्पर्श और कीर्तन के द्वारा पवित्र कर देता है।"

जानते हैं, क्योंकि प्रेम कोई लौकिक वस्तु नहीं। वह तो अलौकिक है, फिर लौकिक धन तथा विषयों से उसका क्या सम्बन्ध ? बहुत से लोग कहा करते हैं—"हम तो खरी बात कह देते हैं, किसी को भली लगे चाहे बुरी। हमें किसी से लेना देना तो है नहीं।" लेना देना न भी हो, किन्तु किसी को उद्वेग पहुँचाना यह कहाँ की बात है। किसी को कड़ी बात कहकर उसके हृदय को व्यथित करना यह त्याग नहीं, वैराग्य नहीं, दोष है, अपनी त्रुटि है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज यदु ने दत्तात्रेयजी से पूछा कि ब्रह्मन्! आपने जल को क्यों गुरु बनाया, तब महा मुनि अवधूत दत्तात्रेय कहने लगे—"राजन्! जल से मैंने चार गुण सीखे हैं—स्वच्छता, स्नेहयुक्तता, मधुर भाषिता और तीर्थ रूपता।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इन चारों की व्याख्या करके मुझे समझाइये। जल से स्वच्छता गुण आपने कैसे सीखा ?"

अवधूत बोले—"देखिये राजन्! जल स्वभाव से ही स्वच्छ होता है, उसमें दोष नहीं होता, इसी प्रकार मुनि को भीतर से सदा स्वच्छ रहना चाहिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! जल को तो हमने गँदला देखा है। दुर्गन्धियुक्त भी जल होता है, कोई-कोई जल स्वच्छ भी होता है। फिर आप जलमात्र को स्वच्छ कैसे बता रहे हैं ?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! जल स्वभाव से तो स्वच्छ ही होता है। उसमें किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं होती, यह जो तुम जल को गँदला देखते हो, यह गँदलापन जल का स्वभाव नहीं, वह तो पृथ्वी के संसर्ग से गँदला हो जाता है। गँदले जल को पात्र में स्थिर करके रख दो, मिट्टी नीचे जम जायगी, जल

स्वच्छ हो जायगा। इसी प्रकार जल में न सुगन्धि है न दुर्गन्धि, गन्ध गुण तो पृथ्वी का है। उसी के कारण जल में सुगन्ध दुर्गन्ध आ जाती है। दुर्गन्धयुक्त जल में से पार्थिव अंश निकाल दो वह स्वच्छ हो जायगा। जल शीतल होता है, शीतलता उसका स्वभाव है, इसी प्रकार मुनि को भी स्वच्छ और शीतल स्वभाव का होना चाहिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! हमने तो गरम भी जल देखा है। गरम जल से स्नान करते हैं। बहुत से स्थानों से निरन्तर गरम जल निकलता रहता है।"

अवधूत मुनि बोले—"जल कभी भी गरम नहीं है, वह गरमी तो क्षणिक सम्बन्ध से आ जाती है। अग्नि से संसर्ग होने से वह उष्ण-सा बन जाता है। कुछ काल उसे रखा रहने दो अपनी प्रकृति में आ जायगा, शीतल बन जायगा। जहाँ से जल गरम निकलता है, वहाँ की भूमि में गंधक आदि तैजस पदार्थ होते हैं, उनके संसर्ग से यह गरम हो जाता है। वहाँ से हटाकर रख दो शीतल हो जायगा। इसी प्रकार मुनि भीतर से स्वभाव से तो शीतल होता है, किन्तु कोई उद्धत पुरुष आता है, तो उसे उसके हित के लिये डाँट भी देता है, जैसे जड़ भरत ने राजा रहूगण को डाँट दिया था। डाँटकर उन्होंने उसका हित ही किया। जब वह तत्त्व को समझ गया, तो प्रसन्न होकर चले गये। उसके दुर्व्यवहार से उनके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। दस्युओं ने उन्हें बलिदान चढाना चाहा, वहाँ बोले भी नहीं शान्त ही बने रहे। जिस प्रकार जल की प्रकृति स्वच्छ और शीतल है, उसी प्रकार मुनि को स्वभाव से ही स्वच्छ शीतल होना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! दूसरा गुण आपने जल से क्या सीखा?"

मुनि बोले—"राजन्! जल स्नेहयुक्त होता है। अर्थात् वह

जानते हैं, क्योंकि प्रेम कोई लौकिक वस्तु नहीं। वह तो अलौकिक है, फिर लौकिक धन तथा विषयों से उसका क्या सम्बन्ध ? बहुत से लोग कहा करते हैं—"हम तो खरी बात कह देते हैं, किसी को भली लगे चाहे बुरी। हमें किसी से लेना देना तो है नहीं।" लेना देना न भी हो, किन्तु किसी को उद्वेग पहुँचाना यह कहाँ की बात है। किसी को कड़ी बात कहकर उसके हृदय को व्यथित करना यह त्याग नहीं, वैराग्य नहीं, दोष है, अपनी त्रुटि है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज यदु ने दत्तात्रेयजी से पूछा कि ब्रह्मन्! आपने जल को क्यों गुरु बनाया, तब महा मुनि अवधूत दत्तात्रेय कहने लगे—"राजन्! जल से मैंने चार गुण सीखे हैं—स्वच्छता, स्नेहयुक्तता, मधुर भाषिता और तीर्थ रूपता।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इन चारों की व्याख्या करके मुझे समझाइये। जल से स्वच्छता गुण आपने कैसे सीखा ?"

अवधूत बोले—"देखिये राजन्! जल स्वभाव से ही स्वच्छ होता है, उसमें दोष नहीं होता, इसी प्रकार मुनि को भीतर से सदा स्वच्छ रहना चाहिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! जल को तो हमने गँदला देखा है। दुर्गन्धियुक्त भी जल होता है, कोई-कोई जल स्वच्छ भी होता है। फिर आप जलमात्र को स्वच्छ कैसे बता रहे हैं ?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! जल स्वभाव से तो स्वच्छ ही होता है। उसमें किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं होती, यह जो तुम जल को गँदला देखते हो, यह गँदलापन जल का स्वभाव नहीं, वह तो पृथ्वी के संसर्ग से गँदला हो जाता है। गँदले जल को पात्र में स्थिर करके रख दो, मिट्टी नीचे जम जायगी, जल

स्वच्छ हो जायगा। इसी प्रकार जल में न सुगन्धि है न दुर्गन्धि, गन्ध गुण तो पृथ्वी का है। उसी के कारण जल में सुगन्ध दुर्गन्ध आ जाती है। दुर्गन्धयुक्त जल में से पार्थिव अंश निकाल दो वह स्वच्छ हो जायगा। जल शीतल होता है, शीतलता उसका स्वभाव है, इसी प्रकार मुनि को भी स्वच्छ और शीतल स्वभाव का होना चाहिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! हमने तो गरम भी जल देखा है। गरम जल से स्नान करते हैं। बहुत से स्थानों से निरन्तर गरम जल निलकता रहता है।"

अवधूत मुनि बोले—"जल कभी भी गरम नहीं है, वह गरमी तो क्षणिक सम्बन्ध से आ जाती है। अग्नि से संसर्ग होने से वह उष्ण-सा बन जाता है। कुछ काल उसे रखा रहने दो अपनी प्रकृति में आ जायगा, शीतल बन जायगा। जहाँ से जल गरम निकलता है, वहाँ की भूमि में गंधक आदि तैजस पदार्थ होते हैं, उनके ससर्ग से यह गरम हो जाता है। वहाँ से हटाकर रख दो शीतल हो जायगा। इसी प्रकार मुनि भीतर से स्वभाव से तो शीतल होता है, किन्तु कोई उद्धत पुरुष आता है, तो उसे उसके हित के लिये डाँट भी देता है, जैसे जड भरत ने राजा रहूगण को डाँट दिया था। डाँटकर उन्होंने उसका हित ही किया। जब वह तत्त्व को समझ गया, तो प्रसन्न होकर चले गये। उसके दुर्व्यवहार से उनके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। दस्युओं ने उन्हें बलिदान चढाना चाहा, वहाँ बोले भी नहीं शान्त ही बने रहे। जिस प्रकार जल की प्रकृति स्वच्छ और शीतल है, उसी प्रकार मुनि को स्वभाव से ही स्वच्छ शीतल होना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! दूसरा गुण आपने जल से क्या सीखा?"

मुनि बोले—"राजन्! जल स्नेहयुक्त होता है। अर्थात् वह

इतना सर्वप्रिय होता है, कि उसे पाकर सभी प्रसन्न होते हैं। जैसे जल में घुसते ही सब हँसने लगते हैं, किसी के ऊपर प्रेम से कोई जल उलीचता है तो वह हँस पड़ता है। कोई सूखी वस्तु हो, उससे जल का संसर्ग हो जाय, तो वह गीली हो जाय। इसी प्रकार मुनि शुष्क हृदय वालों से भी मिले तो उनका भी हृदय द्रवित हो जाय। सबका हृदय उसके दर्शन से ही प्रमुदित हो जाय।"

राजा ने कहा—"भगवन्! जल से तीसरा गुण आपने क्या सीखा?"

मुनि बोले—"राजन्! जैसे जल सदा मधुर होता है, उसी प्रकार योगी को भी सदा मधुरभाषी होना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! सब जल मीठा ही हो सो बात नहीं, बहुत से स्थानों का जल बहुत खारा होता है। समुद्र का जल ऐसा होता है कि मुख में भी नहीं दिया जाता, फिर आप जल के स्वभाव को मधुर कैसे बता रहे हैं?"

मुनि ने कहा—"देखिये, राजन! जल का स्वभाव तो मीठा ही है। स्थान भेद से भूमि के संसर्ग से वह खारा हो जाता है। जहाँ की भूमि नमकीन होती है, नमक का अंश जहाँ अधिक होता है, वहाँ का जल भी खारा हो जाता है। खारापन जल का स्वाभाविक गुण नहीं है, वह तो संग दोष से भान होने लगता है। समुद्र के जल में नमक विशेष है इसलिये वह पीया नहीं जा सकता। उसमें से नमकीन अंश को पृथक् कर दो शुद्ध जल रह जाय, तब वह मीठा ही होगा। समुद्र के जल को उबालने रख दो और एक पात्र से ढक दो। उस पात्र में जो वाष्प बनकर जल ऊपर आ जायगा, वह नमकीन न होकर मीठा ही होगा। इस क्रिया से समुद्र के जल में भी लवणांश निकाल कर उसे पेय बनाया जा सकता है। जल का स्वभाव मधुर है। मीठे

फलों में पहुँच कर वह और मधुर हो जाता है, नमक मिलने से नमकीन हो जाता है। ये जो गुण हैं वे पार्थिव हैं। जल जब निःसंग अपने स्वभाव में रहता है, तो वह मीठा ही होता है।"

मधुर वचन बोलना यह एक बड़ा गुण है। जो कटुभाषी हो, उसे समझना चाहिये उसके भीतर द्वेष भरा है। बिना द्वेष के कटुवचन निकल ही नहीं सकते। जैसे जिस पात्र में जैसी वस्तु भरी होगी, वैसी ही उसमें से भाफ निकलेगी। मनुष्य के भीतर पेट में जैसा भोजन पच रहा होगा उसे वैसी ही डकार आवेगी। इसी प्रकार जिसके भीतर कटुता होगी, वह कटु वचन बोलेगा। योगी का अन्तःकरण शुद्ध होता है, अतः उसमें से कटुवचन निकल नहीं सकते। कटुवचन बोलना बड़ा दोष है। बाण का घाव पुर जाता है, किन्तु कटुवचन का घाव कभी पुरता नहीं। बाण की व्यथा भूली जा सकती है, किन्तु कटुवचन से होने वाली व्यथा कभी भूली नहीं जाती।

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! प्रेम में भी तो कटुता आ जाती है। प्रेमियों को भी हमने परस्पर में कटुवचन कहते देखा है।"

हँसकर अवधूत योगेश्वर बोले—"राजन! प्रेम की कटुता तो मिश्री से भी मीठी होती है, वह तो प्रेम को बढ़ाती है। प्रेम तो एक ऐसी अनिर्वचनीय वस्तु है कि उसमें आकर जितने दोष हैं, वे सब गुण बन जाते हैं। प्रेम एक ऐसा पारस है कि अवगुण रूपी कैसा भी लोहा हो सब सोना हो जाता है। प्रेम के अनन्तर मान होता है, मान में कटुवचन बोले जाते हैं, वे प्रेम के कारण और भी मधुर हो जाते हैं। निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जड़ता, व्रीडा, वितर्क, चिन्ता, उग्रता, अमर्ष, असूया तथा चपलता ये सब दोष हैं। किन्तु प्रेम का इनसे सम्बन्ध होने से ये सबके सब प्रेम के पोषक व्यभिचारी भाव

बन जाते हैं। रस शास्त्रों में इनका बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है और इन भावों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। योगी का हृदय प्रेम से भरा रहता है अतः वह जल के समान स्वभाव से मधुर होता है। किसी संग से उसमें कटुता आ भी जाती है तो उसे वह तुरन्त त्याग देता है। इसलिये जल से तीसरा गुण मैंने यह ग्रहण किया, कि सदा मधुरभाषी होना चाहिये, किसी को कड़वे वचन कहकर उद्वेग न पहुँचाना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! जल से चौथा गुण आपने कौन-सा ग्रहण किया?"

मुनि बोले—"राजन्, जल तीर्थ संज्ञा है वह सबको पवित्र कर देता है। आप शौच गये, मिट्टी लगाकर जल से हाथ धोलो पवित्र हो गये। वस्त्र मैले हो गये क्षार लगाकर जल से धो दो स्वच्छ हो गये। बर्तन जूठा हो गया, मिट्टी लगाकर जल से धो दो, पवित्र हो गया। सोने से, निषिद्ध कर्म करने से शरीर अशुद्ध हो गया, जल में स्नान करलो शुद्ध हो गये। कोई जान में अनजान में पाप बन गया, काशी, प्रयाग, पुष्कर तथा कुरुक्षेत्र आदि पवित्र तीर्थों में स्नान कर लिया शुद्ध हो गये। जिस प्रकार तीर्थ रूप जल सबको दर्शन से स्पर्श से, पवित्र कर देता है, उसी प्रकार योगी सदा सबको दर्शन देकर, छूकर तथा कीर्तन करके सबको पवित्र करता रहे। सबकी ओर प्रेम-भरी दृष्टि से निहारे। जिसके नेत्रों में सरसता नहीं, प्रेम नहीं, उसकी ओर देखकर किसी को प्रसन्नता नहीं होती। जिसके नेत्रों से अनुराग फूट-फूटकर निकल रहा हो, उसको देखकर रोते हुए भी हँस जाते हैं। विशुद्ध अन्तःकरण का पुरुष किसी को कृपा करके छू देता है, तो उसके रोम-रोम खिल जाते हैं। वह मुनि का स्पर्श पाकर कृतार्थ हो जाता है। अपनी वाणी से भगवान् के गुणों का गान करके भगवान् के नामों का कीर्तन करके वह प्राणीमात्र को पवित्र

बना देता है। इसलिये तीर्थ स्वरूपता की शिक्षा मैंने जल से ली जिन योगियों का अपने लिये कोई कर्तव्य ही शेष नहीं, जो लोक कल्याण के ही निमित्त भ्रमण करते रहते हैं, उन योगियों के दर्शन स्पर्श और नाम-कीर्तन से त्रिभुवन पवित्र होता है। जैसे जल जीवों के लिये जीवनाधार है वैसे ही मुनि को भी सबका जीवनाधार बनकर सबके हित के कर्मों में लगे रहना चाहिये। जैसे जल सब को तृप्त करता है, वैसे ही योगी को अधिकारियों को तृप्त करना चाहिये।"

महामुनि अवधूत दत्तात्रेय, राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! इन चार गुणों से रीझकर ही मैंने जल को अपना गुरु बनाया है।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! अग्नि को आपने गुरु क्यों बनाया, उससे आपने क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार अवधूत दत्तात्रेय ने अग्नि से जो शिक्षा ग्रहण की और उसका जिस प्रकार राजा यदु को उपदेश दिया उस परम शिक्षा-प्रद प्रसंग का वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब इस उत्तम उपदेश को एकाग्र चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

दरशन देकें करै सबनिकूँ शुद्ध सरल चित।
परस प्रेम तैं करै, करै नित सब प्रानिनि हित॥
कृष्ण कीरतन करै कथा कूँ सुनै सुनावै।
पर स्वारथ महँ निरत सबनि कूँ धीर बधावै॥
जीवन ही जल कूँ कह्यो, सृष्टि प्रथम जल तैं भई।
उत्तम शिक्षा नीर गुरु, तैं राजन्! मैंने लई॥

अग्नि से शिक्षा

[१२२६]

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ७ अ० ४५ श्लोक)

छप्पय

तेजस्वी मुनि रहै अग्नि के सरिस निरन्तर ।
तप तैं है देदीप्य प्रकाशित भीतर बाहर ॥
क्षुभित होहि नहिं कबहुँ पेट ही पात्र बनावै ।
भिक्षा में जो मिलै ताहि ताही छिन खावै ॥
रहै सबभक्षी तऊ, कबहुँ न मल धारन करै ।
कहूँ गुप्त कहुँ प्रकट है, भिक्षादातनि अघ हरै ॥

मनुष्य मे दीनता संग्रह के कारण आती है। जो जितना ही अविश्वासी होगा, वह उतना ही चिन्तित रहेगा। भोगों की तृष्णा हमें अधिकाधिक संग्रह करने को विवश करती है। अधिक संग्रह होने से अधिक चिन्ता बढ़ती है। चिन्ता मे सुख नहीं, शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं। कारावास का बन्दी एक है, उसे भय बना

---

* अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—राजन् ! युक्तात्मा मुनि अग्नि के समान तेजस्वी होता है, तप से दीप्त रहता है, दुर्धर्ष होता है और केवल पेट ही उसका पात्र होता है, वह सर्वभक्षी होने पर भी उसको भस्म तो कर देता है, किन्तु स्वयं मलिन नहीं होता।"

हुआ है कि मुझे फाँसी होगी। फाँसी की तिथि निश्चित नहीं, समय का ज्ञान नहीं, फिर भी उसे सदा भय बना ही रहता है। उस दशा में उसे सुन्दर-सुन्दर स्वादिष्ट भोजन कराओ, सुगन्धित सुमनों की मनोहर मालाओं को पहिनाओ, गुदगुदे गद्दों पर सुलाओ, इतर फुलैल सुँघाओ, सस्वर सुन्दर सङ्गीत सुनाओ, चित्त को आकर्षित करने वाले रूपों को दिखाओ, उसके लिये सब व्यर्थ हैं, क्योंकि उसे तो फाँसी का खुटका लगा हुआ है। निश्चिन्तता में ही सब वस्तुएँ अच्छी लगती हैं। निश्चिन्तता होती है अभय से, अभय की प्राप्ति होती है वैराग्य से और वैराग्य होता है त्याग से। वास्तविक त्यागी अपरिग्रही ही हो सकता है। जितने से पेट भर जाय, उससे अधिक जो चाहता है, संग्रह करता है, वह चोर है। उसे फिर फिर जन्मना फिर-फिर मरना रूप दंड प्राप्त होना ही चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा यदु ने अवधूत दत्तात्रेय से अग्नि से प्राप्त होने वाली शिक्षा के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो महामुनि दत्तात्रेय कहने लगे—"राजन्! अग्नि से मैंने बहुत गुण सीखे हैं, इसलिये अग्नि मेरे परम गुरु हैं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने अग्नि से जो गुण ग्रहण किये हैं, उन्हें व्याख्या सहित मुझे समझाइये।"

यह सुनकर मुनि बोले—"राजन्! अग्नि से प्रथम गुण तो मैंने यह ग्रहण किया, कि अग्नि जैसे परम तेजस्वी होते हैं, उसी प्रकार मुनि को तेजस्वी होना चाहिये। तेज क्षीण होता है इन्द्रिय लोलुपता से। जिस मुनि की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वह मूर्खों को भले ही ठग ले सज्जन पुरुषों के सम्मुख उसका हृदय धड़कता रहता है, वह निर्भय होकर कोई बात नहीं कह सकता। कोई भी पाप ऐसा नहीं जो छिपकर किया जाय। जिसके पाप को मनुष्य और देवता जानते हैं, वह अति तेजस्वी हो ही नहीं

सकता। अतः इन्द्रियों को वश में करके अग्नि के समान सदा तेज को धारण करता रहे।"

दूसरा मैंने अग्नि से यह सीखा कि मुनि सदा अग्नि के समान तपता रहे अर्थात् तप में निरत रहे। तपस्या के बिना आत्मा का प्रकाश नहीं होता।"

राजा ने पूछा—"तप किसे कहते हैं भगवन्!"

इस पर अवधूत मुनि बोले—"राजन्! कायिक, वाचिक और मानसिक इस प्रकार तप तीन प्रकार का होता है। हाथ से देवताओं के निमित्त पूजा की सामग्रियों को एकत्रित करना, फूल तोड़ना, माला बनाना, चन्दन घिसना, भगवान् के मन्दिर में झाड़ू लगाना, देवताओं की सविधि पूजा करना यही शारीरिक तप है। जिस प्रकार भगवान् का, इन्द्रादि अन्य देवताओं का पूजन करे उसी प्रकार भगवद्भक्तों की भी पूजा करे, ब्राह्मणों की भी सेवा पूजा करे तथा और भी जो अपने से तप में, तेज में, प्रभाव में, आयु में तथा विद्या आदि में श्रेष्ठ हों उनकी भी पूजा करे। स्वच्छ शुद्ध वस्त्रों को पहिने, सविधि स्नान करे, पवित्रता रखे। सबके साथ सरल व्यवहार रखे। शरीर से पर पुरुष परस्त्री का दर्शन, स्पर्श और संग न करे। किसी को मारे नहीं, हिंसा न करे, इन्हीं सबका नाम शारीरिक तप है। कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत करके शरीर को तपाता रहे?"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! वाचिक तप क्या है?"

अवधूत मुनि बोले—"वाणी का सबसे बड़ा तप तो है मौन। किसी से बोले नहीं। वाणी से तो मौन रहे और संकेत या लिख कर ऐसी-ऐसी कड़वी बातें कह दे कि दूसरों का चित्त दुखी हो जाय, तो उसका मौन मौन न होकर ढोंग है, दम्भ है, पाखण्ड है, आजीविका चलाने का व्यापार है। वह तो दुगुना पापी है, एक तो वाणी को रोककर वह भगवन् के गुणगान से वञ्चित रहा,

दूसरे संकेतों से और लिखकर दूसरों पर प्रहार करता रहा। बोलने का उतना कुपरिणाम नहीं होता, जितना संकेत से होता है। बोलने में तो जो बोलेगा वही समझा जायगा। क्रोध में भर कर यदि कोई संकेत करता है, तो भावना के अनुसार उसके अनेकों अर्थ लगाये जाते हैं। अतः वाणी से बोले तो सत्य बोले। बहुत लोग बात तो सत्य कहते हैं किंतु कहते हैं इतने बुरे ढङ्ग से कि सुनने वाले के चित्त में उद्वेग हो जाता है। इसलिये अप्रिय सत्य को भी न बोले। वचन हितकर भी हों और सुनने में मधुर भी हों। हितकर वचन बोले, बहुत अधिक न बोले, अनुद्वेगकर वचन बोले। उद्वेग करने वाले, असत्य, कडवे तथा अहितकर वचनों को भूलकर भी न बोले। यदि ऐसा वचन बोलने की क्षमता न हो तो बोले ही नहीं। केवल भगवान् के नामों का उच्चारण करे, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करे। ऋषियों के वचनों को कंठस्थ करता रहे। वाणी का यही सबसे बड़ा तप है।"

राजा ने पूछा—"मानसिक तप क्या है भगवन् ?"

मुनि बोले—"राजन् ! सबसे बडा मानसिक तप तो यह है, कि सर्वदा प्रसन्न रहे, फूल की भाँति खिला रहे, विषाद की रेखा मुखमण्डल पर आने ही न दे। भीतर से जब मन प्रसन्न होता है, तो उसकी झलक मुख पर स्पष्ट दिखाई देती है। जिनका अंतःकरण विशुद्ध न होगा, वे खुलकर हँस ही नहीं सकते। मन को प्रसन्न बनाये रखना यह कहने से नहीं होता। इसके लिये अभ्यास की आवश्यकता है। जिनका मन कुटिल होता है, वे कुटिलता की ही बात सोचते रहते हैं, अतः मन की कुटिलता को निकालकर सौम्यता सुशीलता तथा सरसता को धारण करना सदा सत् पदार्थ का ही मन से मनन करते रहना, असत् पदार्थों की आसक्ति से सदा मन को हटाये रहना अर्थात् असंग रहना, मन को अपने वश में रखना, उसे इधर-उधर विषयों में भटकने

न देना तथा भावों को पवित्र रखना, कभी अपवित्र विचारों को बैठने के लिये मन में स्थान न देना, ये ही सब मानसिक तप हैं। जैसे अग्नि सदा तप्त रहते हैं उसी प्रकार इन तीनों प्रकार के तपों से देदीप्यमान रहना यह दूसरा गुण मैंने अग्नि से सीखा है।

तीसरा गुण मैंने यह सीखा कि अग्नि को कोई क्षोभ नहीं पहुंचा सकता, उसे कोई दबा नहीं सकता। इस प्रकार लोग मुनि के साथ कैसा भी व्यवहार करें वह अक्षोभ्य बना रहे। ऐसा होने से यदि कोई उसका घर्षण करना चाहे तो नहीं कर सकता। चौथा गुण मैंने अग्नि से असंग्रह का सीखा।"

राजा ने पूछा—"असंग्रह का गुण कैसा भगवन्!"

मुनि बोले—"राजन्! जैसे अग्नि को कोई ईंधन आदि देता है तो वह उसे अपने उदर में रख लेते हैं, भस्म कर देते हैं। कल के लिये संग्रह करके नहीं रखते। इसी प्रकार त्यागी मुनि को भिक्षा में जो भी रूखा सूखा मिले, उसे पेट में ही रख ले। दूसरे मिट्टी या धातु के पात्र में एकत्रित करके उसे कल के लिये उठा कर न रखे। केवल एक उदर को ही पात्र समझे। इसमें जितना आ जाय उतना ही रखे।"

राजा ने कहा—"महाराज! कल न मिला तो?"

मुनि बोले—"राजन्! मिलेगा क्यों नहीं? अजी, जिसने गर्भ में भोजन का प्रबन्ध किया, वह क्या बाहर नहीं कर सकता। जिसने उदर बनाया है वह उसकी चिन्ता करेगा। घोड़ा रखने वाला घुड़साल का प्रबंध पहिले ही कर लेता है। बच्चा पैदा पीछे होता है, माता के स्तनों में दूध पहिले ही प्रकट हो जाता है। कल के लिये रखो चाहे न रखो, जो तुम्हारे भाग्य का होगा, वह तुम्हें अवश्य मिलेगा। तुम्हारे भाग्य में नहीं है, तो लाखों वस्तुएँ तुम्हारे आस पास पड़ी हैं, उनका उपभोग तुम न कर सकोगे।

जिसके बहुत-सा अन्न पड़ा है क्या वे कभी भूखे नहीं रह जाते। कभी-कभी अन्न सम्मुख आ जाने पर भी हम भाग्यवश उसे नहीं खा सकते। जब सब भाग्य का ही खेल है, तो त्यागी यति संग्रह करके चिन्ता और क्यों मोल ले। असंग्रह में बड़ा बल होता है। एक संत थे, उनके साथ सहस्रों मनुष्य रहते थे। एक दिन का वे सीधा सामान लेते थे। रसोई बनी, भगवान् का भोग लगा सबने प्रसाद पा लिया, फिर जितने बनाने के पात्र होते, अन्न बचता सबको नदी में फिकवा देते। दूसरे दिन फिर आ जाते। इसलिये त्यागी विरागी यति को कभी भी उदर पूर्ति के अतिरिक्त संग्रह न करना चाहिये।"

चौथा गुण मैंने अग्नि से यह सीखा कि अग्नि में कोई घी डाल दो, सुगन्धित सामग्री डाल दो या विष्ठा मूत्र डाल दो। उनमें पड़ते ही सब स्वाहा हो जायगा, उन वस्तुओं का गुण दोष अग्नि को स्पर्श न कर सकेगा। इसी प्रकार यति को कोई भी भिक्षा दे दे, उसे पाकर प्रसन्न रहे, भेद बुद्धि न करे कि अमुक का लेंगे अमुक का न लेंगे। संयतचित्त होकर उनके गुण दोषों से विमुक्त बना रहे।

पाँचवाँ गुण मैंने अग्नि से यह सीखा कि अग्नि कहीं तो प्रकट रूप से रहते हैं, जैसे यज्ञ में चूल्हे में तथा अन्य स्थानों में, और कहीं अप्रकट रूप से रहते हैं, जैसे बाँस में ईंधन में तथा सब वस्तुओं में। इसी प्रकार मुनि को चाहिये कि कहीं अवसर देखे तो प्रकट हो जाय, सभाओं में सभापति बन जाय, सम्मान ग्रहण कर ले। कहीं गुप्त रूप से वेष बदलकर घूमता रहे। गुफाओं में अभ्यास करता रहे। किसी एक ही स्थान में अपनापन करके न रहे।

छठा गुण अग्नि से मैंने यह सीखा कि जैसे जाड़ों में शीत निवारण करने वाले लोग चारों ओर से अग्नि को घेरे रहते हैं,

गरमियों में भी भोजन बनाने वालों से तथा यज्ञ यागादि करने वालों से सेवित होते हैं, फिर भी उनके तेज में कोई न्यूनता नहीं आती। उसी प्रकार आत्म कल्याण की इच्छा करने वाले मुमुक्षु यति को घेरे रहते हैं, वह उन सब को आलोक प्रदान करता है, किन्तु उसके तप तेज में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

सातवाँ गुण मैंने अग्नि से यह सीखा कि जैसे अग्नि में सुवर्ण डालो तो उसका मल तुरन्त नाश हो जायगा, इसी प्रकार ऐसे अवधूत यतियों को जो भिक्षा दे उसके पिछले और अगले सभी अशुभों को योगी नाश कर देता है। इसलिये अवधूत को सर्वत्र अन्न ग्रहण करके स्वच्छन्द विचरना चाहिये।

आठवाँ आत्मज्ञान भी मैंने अग्नि से ही प्राप्त किया।

राजा ने पूछा—"भगवन्! अग्नि से आत्मज्ञान आपने कैसे प्राप्त किया, कृपा करके उसे भी मुझे सुनाइये।"

महामुनि दत्तात्रेय बोले—"राजन! मैंने एक दिन देखा एक लोहा है, वह लाल हो रहा है। मैंने लुहार से पूछा—"भाई, लोहा तो काला होता है, यह लाल क्यों है?"

उसने कहा—"ब्रह्मन्! इसमें अग्नि ने प्रवेश किया है, अग्नि के कारण यह लाल हो गया है। वह लोहा गोल था, अतः अग्नि भी गोल हो गये थे। फिर लकड़ी में भी अग्नि को प्रविष्ट होते देखा! जैसी लकड़ी थी वैसे ही बनकर अग्नि उसमें प्रविष्ट हो गये। एक लकड़ी टेढ़ी थी, अग्नि भी टेढ़े हो गये। एक लकड़ी गोल थी, अग्नि भी गोल हो गये, एक लकड़ी मोटी थी, अग्नि भी उसी के आकार के मोटे बन गये। तब मुझे ज्ञान हुआ कि अरे, जैसे भिन्न भिन्न उपाधियों में प्रविष्ट हुए अग्नि तद्-रूपता को प्राप्त होते हैं, वैसे ही यह विभु आत्मा भी अपनी माया से रचित इस सत् असद्रूप प्रपञ्च में प्रविष्ट होकर भिन्न भिन्न उपाधियों के अनुसार भिन्न-भिन्न चेष्टाओं को करता है। अग्नि

जैसे सर्वव्यापक होने पर भी उपाधि भेद से योनि के अनुगत होता है, वैसे सर्वव्यापक आत्मा भी पशु, पक्षी जलचर थलचर आदि अनेक योनि में उनके अनुरूप ही प्रतीत होने लगता है। मोक्ष की कामना वाले यति को अग्निदेव को गुरु बनाकर आत्मा की एकता की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। यह मैंने अग्नि से ग्रहण की जाने वाली शिक्षाओं का संक्षेप में वर्णन किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैंने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल तथा अग्नि से ग्रहण करने वाली शिक्षाओं के सम्बन्ध में तो सुन लिया, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि चन्द्रमा को गुरु बनाकर आपने क्या सीखा। शशि से आपने कौन सी सुन्दर सीख ली ?"

यह सुनकर अवधूत दत्तात्रेय बोले—"राजन् ! चन्द्रमा से जो मैंने सीखा है उसे आपको बताऊँगा। चन्द्रमा से मैंने बहुत ही सुन्दर शिक्षा ग्रहण की है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब जैसे दत्तात्रेय महामुनि चन्द्रमा से ली हुई शिक्षा को बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप प्रेमपूर्वक इस पुण्य प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

भेद भाव नहिं करै अब सबई को खावै।
जामें प्रविसै अनल रूप ताके है जावै॥
लेवै शिक्षा यही आतमा सबके माहीं।
प्रविसै है तद्रूप लिप्त तिनमहँ सो नाहीं॥
लये आठ गुन अगिनि तैं, तातैं ते मम गुरु भये।
कहूँ तिनहिं अब चन्द्र गुरु, करि तिनतैं जो गुन लये॥

चन्द्रमा से शिक्षा

[१२२७]

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

चन्द्र एकरस रहैं स्वय निजलोक प्रकाशित ।
कृष्णपक्ष महँ घटै शुक्लमहँ बढ़ै कला नित ॥
सोचै योगी जिही आतमा अजर अमर अज ।
गरभ, जनम, अरु जरा मृत्यु तनके सब कारज ॥
छिन छिन पल पल जगत महँ, परिवर्तन होवै सतत ।
चलत रहत ताते कहत, जाकूँ सब मुनिजन जगत ॥

संसार में जो कुछ दीखता है, वह सबका सब परिवर्तनशील है। संसार में एक भी ऐसी वस्तु नहीं, जो सदा एक रस रहती हो। सब घूम रहे हैं, सब अपने स्थान से चल रहे हैं, सबमें निरन्तर

---

* अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! मैंने चन्द्रमा से यह शिक्षा ली कि अलक्ष्य गति वाले काल के प्रभाव से चन्द्रमा की कलायें ही घटती बढ़ती हैं, स्वय चन्द्रमा नहीं घटता बढ़ता। इसी प्रकार जन्म से लेकर श्मशान तक जो अवस्थायें होती हैं। वे देह की होती हैं, आत्मा तो सदा एकरस है।"

परिवर्तन हो रहा है, किन्तु परिवर्तन इस ढँग से होता है कि उसका स्थूल दृष्टि से अनुभव नहीं होता। सभी जानते हैं ऋतुएँ परिवर्तित होती रहती हैं। गरमी के पश्चात वर्षा और वर्षा के पश्चात् जाड़ा आता रहता है। किन्तु हमे कुछ नूतनता नहीं दिखायी देती। वर्षा के पश्चात् तनिक-तनिक ठंड-सी लगने लगती है। हम गरमी को भूल जाते हैं, जाडा लगने लगता है। फिर जाडा कुछ कम होने लगता है। शनः शनैः वह चला जाता है, गरमी आ जाता है तो जाडे को भूल जाते हैं। गङ्गाजी का जल प्रतिक्षण बदलता रहता है, किन्तु हम समझते हैं यह वही जल है जो हमने कल देखा था। इसी प्रकार हमारे शरीर का अणु-परमाणु प्रतिक्षण बदलता रहता है। प्रथम क्षण में जो हमने अपने मित्र देवदत्त को देखा था, दूसरे क्षण वह नहीं है, उसका सब शरीर बदल गया, किन्तु इसका हम अनुभव नहीं करते अनुभव कर लें तब तो यह निश्चय ही हो जाय, कि ये जितनी उपाधियाँ हैं, क्षणभंगुर, परिवर्तनशील तथा नाशवान् हैं और इन सबमें चैतन्य रूप से व्याप्त आत्मा नित्य है, शाश्वत है, अविनाशी है, अज है, जिसे ऐसा ज्ञान हो गया वही जीवन्मुक्त है, योगी है, ब्रह्मज्ञानी है।

सूतजी कहते हैं—महामुनियो! दत्तात्रेय से जब महाराज यदु ने चन्द्रमा से ली हुई शिक्षा के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब अवधूत मुनि कहने लगे—"राजन्! चन्द्रमा से मैंने बहुत उत्तम शिक्षा ग्रहण की। अज्ञानी लोग समझते हैं, कि चन्द्रमा घटता बढ़ता रहता है। अमावस्या को चन्द्रमा रहता ही नहीं। प्रतिपदा को भी उसका अदर्शन रहता है। द्वितीया को छोटा-सा चन्द्रमा दिखाई देता है, तृतीया को बढता है, फिर इसी प्रकार बढते-बढते पूर्णिमा को पूर्ण हो जाता है। कृष्णपक्ष में फिर घटने लगता है, अमावस्या को घटते-घटते लुप्त हो जाता है, मर जाता

है। द्वितीया को पुनः प्रकट होता है। किन्तु ज्ञानी इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है चन्द्रमा तो न घटता है न बढ़ता है, वह तो अपने स्वरूप में ज्यों-का-त्यों बना रहता है, हाँ, उसकी कलायें घटती बढ़ती हैं। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक कला बढ़ी, द्वितिया को दो, तृतीया को तीन इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को उसकी सब कलायें पूर्ण हो जाती हैं। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से फिर एक-एक करके घटने लगती है। कलाओं के घटने-बढ़ने से चन्द्रमा तो घटता बढ़ता नहीं है। एक दीपक में तेल से भीगी बत्ती जल रही है। हम सब कहते हैं दीपक जल रहा है। वास्तव में दीपक तो नहीं जल रहा है, जल तो रही है बत्ती। बत्ती का तेल समाप्त हो जाता है तो वह बुझ जाती है। हम लोग कहते हैं दीपक बुझ गया। दीपक क्या बुझा वह तो जैसे पहिले था वैसे ही अब भी है, बुझी तो बत्ती ही। लोग कहते हैं, उसके गर्भ में बच्चा है, बच्चे का जन्म हुआ, अब वह कुछ बढ़ने लगा। बालक छोटा है, अब उसकी पौगंडावस्था हो गयी, अब किशोर हो गया, अब युवक बन गया, अब अवस्था बढ़ने लगी, अधेड़ हो गया, बूढ़ा हो गया, मर गया, स्मशान में ले जाकर जला दिया गया। अब विचारना यह है कि ये जन्म से लेकर मरण पर्यन्त इतनी दशायें हुईं, किसकी हुईं? शरीर में एक तो चैतन्यांश है एक जडांश है। चैतन्य का ही नाम आत्मा है। जड़ का नाम देह है। यदि चैतन्य में ये सब परिवर्तन हुए तो वह चैतन्य हो ही नहीं सकता। चैतन्य तो सदा एकरस रहता है। उसमें तो परिवर्तन सम्भव नहीं। जहाँ परिवर्तन है वहाँ जड़ता है। किन्तु परिवर्तन तो होता ही है, इसलिए मानना पड़ेगा कि गर्भवास, जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, मरण आदि आत्मा में नहीं होते ये तो देह के धर्म हैं। देह घटती बढ़ती रहती है, इससे आत्मा में कोई विकार

नहीं आता। इसलिये आत्मज्ञानी को चन्द्रमा से शिक्षा लेकर देह के परिवर्तन को अपने में मानकर दुखी सुखी न होना चाहिये। काल का प्रवाह प्रतिक्षण बदलता रहता है, किन्तु वह प्रतीत नहीं होता। परिवर्तन सहसा नहीं होता, प्रतिपल होता रहता है, किन्तु हमें अनुभव तब होता है, जब अधिक परिवर्तन हो जाता है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! परिवर्तन तो नित्य दिखायी देता नहीं। एक हमारा लड़का है आज हमने उसे देखा है, कल भी वह जैसा का तैसा बना रहता है। बालक से जब बड़ा होता है, युवक होता है, तब उसमें परिवर्तन प्रतीत होता है।"

अवधूत मुनि बोले—"नहीं, राजन्! परिवर्तन तो निरन्तर ही होता रहता है। जैसे नदी का प्रवाह है, कभी रुकता है? हम अभी जल में स्नान कर रहे हैं, पलभर पहिले हमारे शरीर से जिस जल का स्पर्श था दूसरे ही पल न जाने वह कहाँ चला गया। इसी प्रकार यह संसार का प्रवाह अनादि काल से चल रहा है, इसमें स्थिरता नहीं, गम्भीरता नहीं, एकरूपता नहीं। यह तो ऐसे ही चल रहा है, चलता रहेगा। देखो, अग्नि की शिखायें क्षण क्षण में उत्पन्न होती हैं और क्षण क्षण में नष्ट होती है। इतने काल से दीपक जल रहा है, हम समझते हैं एक ही लोय जल रही है, किन्तु जाने कितनी लोयें निकलकर नष्ट हो चुकीं। जैसे जो जल के बिन्दु बह जाते हैं, उनका स्थान उसी क्षण दूसरे जल बिन्दु ग्रहण कर लेते हैं, उसी प्रकार असंख्यों जीव मरते रहते हैं, असंख्यों फिर जन्मते रहते हैं। यह जन्म-मरण का प्रवाह नदी के उद्गम स्थान की भाँति अनादि काल से प्रवाहित हो रहा है। अज्ञानी लोग इस रहस्य को समझते नहीं, वे देह को ही आत्मा मानकर व्यवहार करते हैं और इस क्षण-भंगुर संसार की घटनाओं के कारण सुखी दुखी होते हैं। अरे,

इस मरणशील संसार में कोई मर गया तो उसका क्या शोक ? आत्मा की तो कभी मृत्यु होती नहीं, शरीर का जन्म हुआ तो उसका मरण ध्रुव है। चार सोने चाँदी के ठीकरे कल हमारे पास थे आज उसके पास चले गये, इसमें राग द्वेष की कौन-सी बात है। उन ठीकरों को न तो वह ही साथ बाँधकर ले जायगा न हम ही। वे तो जहाँ के तहाँ पड़े रहेंगे। मिट्टी से निकले हैं मिट्टी में मिल जायँगे। अनित्य नाशवान् पदार्थों मे ममता करके जानबूझकर जन्म मरण के चक्कर में फँसकर अज्ञान को अपने मत्थे मढ लेना यह कौन सी बुद्धिमत्ता है। अतः ज्ञानी को सदा स्मरण रखना चाहिये, कि जैसे चन्द्रमा की कलाओं के घटने बढने से चन्द्रमा के निज स्वरूप मे कोई विकार नहीं होता, उसी प्रकार शरीरों के परिवर्तन से आत्मा में परिवर्तन नहीं होता। आत्मा सदा एकरस, नित्य, निरजन और निष्कल है। शरीरों के साथ उसका वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं।"

इस पर महाराज यदु ने कहा—"भगवन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि और चन्द्रमा से ग्रहण की जाने वाली शिक्षाओं को तो वर्णन किया, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने सूर्यनारायण को गुरु बनाकर उनसे क्या शिक्षा ग्रहण की ?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! सूर्य से ग्रहण की हुई शिक्षा का अब मैं आपसे वर्णन करता हूँ, इसे आप समाहित चित से श्रवण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब सूर्य से ग्रहण की हुई शिक्षा को श्रवण कीजिये।"

छप्पय

अमि शिखा छिन माहिं प्रकट ह्वैकें छिप जावे।
एक नष्ट है जाय दूसरी तत्छिन आवे॥
जल उद्गम तें निकसि बहै फिरि नूतनि पुनि-पुनि।
बहै प्रहन तब करै थाग पुनि बीते बिन्दुनि॥
जग परिवर्तनशील है, असत् अभद्र अनित्य है।
परिवर्तन तनमहँ सकल, आत्मा चेतन नित्य है॥

सूर्य से शिक्षा

[१२२८]

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति ।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥*

(श्रीमा० ११ स्क० ७ अ० ५० श्लोक)

छप्पय

अब जो शिक्षा लई सूर्य तैं ताहि सुनाऊँ।
गुरु सूरज ज्यौं कर्‌यो हेतु ताको समुझाऊँ॥
निज किरननि तैं खींचि सलिल ग्रीषम महँ लेवै।
बरषा महँ बरसाइ फेरि प्रानिनि कूँ देवै॥
इन्द्रिनितैं स्वीकार कैं, त्यौं हौं त्रिगुन पदार्थ सब।
समय पाइ त्यागत तुरत, होहि न हर्ष विषाद तब॥

जो नदी बहती रहती है, उसका जल स्वच्छ स्वादिष्ट और सुस्वादु होता है। जो जल घिरा रहता है, निकलता नहीं सड़ जाता है। वृद्धि त्याग से होती है। जो जितनी ही बड़ी वस्तु का

---

* अवधूत दत्तात्रेय कह रहे हैं—"राजन्! जिस प्रकार अपनी किरणों से जल को खींचकर सूर्यनारायण समय आने पर उसे बरसा देते हैं, उसी प्रकार गुणों का अनुवर्तन करने वाली इन्द्रियों के द्वारा त्यागी योगी इन त्रिगुणमय पदार्थों को ग्रहण करता है और समय आने पर उनका त्याग भी कर देता है, किन्तु उनमें लिप्त नहीं होता।"

त्याग करेगा, उसे उससे भी बड़ी वस्तु मिलेगी। जो ग्रहण तो करता है, किन्तु उसका त्याग नहीं करता, उसे पेट में ही भरे रखता है, तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता। कोई वस्तु-निर्माण शाला है, उसमें एक ओर से कच्चा माल आता रहे। और दूसरी ओर से निर्माण होकर निकलता रहे, तब तो उसकी अभिवृद्धि हो सकती है। इसके विपरीत कच्चा माल आता रहे, किन्तु उसमें से बनकर तैयार माल निकले नहीं वहाँ का वहीं, एकत्रित होता रहे, तो वह शाला कितने दिन चलेगी! उसका पतन अनिवार्य है। इसी प्रकार मुमुक्षु निरपेक्ष होकर इन मायिक पदार्थों का जब तक त्याग न करेगा, तब तक उसकी उन्नति न होगी, उसकी अभिवृद्धि न होगी, वह जन्म मरण के चक्कर में घूमता रहेगा और अपने महान लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा यदु ने, जब सूर्य से ग्रहण की जाने वाली शिक्षाओं के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब अवधूत मुनि बोले—"राजन्! सूर्य से मैंने अनासक्तता और आत्मा की अपरिच्छिन्नता ये दो गुण सीखे हैं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इन दोनों को स्पष्ट करके भली भाँति समझाइये।"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! सूर्यनारायण का काम है कि वे समुद्रों से, नदियों से, वापी, कूप-तडागादि जलाशयों से तथा सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों से अपनी किरणों द्वारा जल खींचते रहते हैं। पृथ्वी से जल को लेते रहते हैं। लेकर यह नहीं कि उसे अपने पास रखे रहें, किन्तु जब वर्षा का समय आता है तो दश महीनों के संग्रह किये जल को दो ही महीनों में बरसा देते हैं, उसे संग्रह करके रखते नहीं। पृथ्वी से ग्रहण किये हुए जल को पृथ्वी ही को लौटा देते हैं। उस जल से भूमि शस्य-श्यामला बन जाती है, पशुओं के लिये घास हो जाती है, पक्षियों

के लिये फल आदि हो जाते हैं और मनुष्यों के लिये अन्न आदि उत्पन्न हो जाते है। सूर्य को इस त्याग से दुःख नहीं होता परम हर्ष हो जाता है। क्वार कार्तिक के सूर्य कितने स्वच्छ और निर्मल होते हैं! इससे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की, कि योगी को कभी भी किसी वस्तु को संग्रह करने की भावना मन में न लानी चाहिये। यह शरीर तो त्रिगुणात्मक है। जिन वस्तुओं से बना है, उनसे ही इनकी रक्षा होती है। जैसे मिट्टी का घर है, उसकी रक्षा के लिये मिट्टी से ही उसे लीपा पोता जाता है। ईंट चूना का बना घर है, तो उसे चूने से ही ल्हेस कर सुरक्षित रखा जाता है। इसी प्रकार यह शरीर अन्न के विकार रस, रक्त, मांस, मज्जा आदि से ही बना हुआ है, इसकी रक्षा के लिये अन्न अत्यावश्यक है। त्रिगुणात्मक शरीर तीनों गुणों में अनुवर्तन करने वाली इन्द्रियों द्वारा परिचालित है। योगी समय-समय पर इन्द्रियों से पदार्थों को ग्रहण तो कर ले, किन्तु समय आने पर उनका त्याग भी कर दे। अर्थात् उनमें आसक्त न हो। ये समझे कि ये गुण गुणों मे वर्त रहे हैं। गुणानुवर्तिनी इन्द्रियाँ त्रिगुणमय पदार्थों को ग्रहण करती हैं, मैं तो इन सब प्रपञ्चों से पृथक हूँ। इस प्रकार न तो ग्रहण करने में हर्ष हो न त्यागने में विषाद हो। यह अनासक्तता की शिक्षा मैंने सूर्यनारायण से सीखी, अतः वे मेरे गुरु हैं।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! आत्मा की अपरिच्छिन्नता की शिक्षा आपने सूर्य से कैसे ली?"

महामुनि अवधूत दत्तात्रेय बोले—"राजन्! एक दिन मैंने देखा-सहस्रों जल के भरे पात्र रखे हुए थे, उनमें बहुत से छोटे थे, बहुत से बड़े थे, बहुत से हरे रँग के जल के थे, बहुत से पीले रँग के तथा अनेकों अनेक रँग वाले थे। मैंने देखा उन सब में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। छोटे में छोटे सूर्य दिखायी देते हैं, बड़े में

बड़े। जो पात्र जिस रंग के जल से भरा हुआ था, उसमें सूर्य भी उसी के रंग के-से दिखायी देते थे। तब मुझे ज्ञात हुआ अरे, इसी प्रकार आत्मा भी एक है और अपरिच्छिन्न है। भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण ही स्थूल बुद्धि वालों को आत्मा व्यक्ति विशेष में स्थित सी प्रतीत होती है और उपाधियों के ही सम्बन्ध से तू-तेरा मैं-मेरा का भेदभाव दिखायी देने लगता है। हाथी की देह में आत्मा स्थूल दिखायी देती है, चींटी के देह में सूक्ष्म और पृथक। ऐसा द्वैधी भाव तथा परिच्छिन्नता का विचार अज्ञानी ही करते हैं। जैसे सूर्य आकाश मंडल में एक ही स्थित होने पर भिन्न भिन्न पात्रों में भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा भी सबमें भिन्न भिन्न प्रतीत होती है। वह किसी व्यक्ति विशेष में स्थित भी नहीं, अद्वय तथा अपरिच्छिन्न है। ये दो शिक्षायें मैंने सबके कर्मों के साक्षी तेज की राशि सूर्यनारायण से ग्रहण की।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य से ग्रहण की जाने वाली शिक्षाओं को हमने आपके श्रीमुख से सुना। अब हम यह और सुनना चाहते हैं कि आपने कबूतर से कौन सी शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रश्न को सुनकर महामुनि दत्तात्रेय हँस पड़े। अब वे जैसे कपोत से ग्रहण की जाने वाली शिक्षा को कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जल पात्रनि महँ पृथक् सूर्य बहु रूप लखावैं।
टेढ़े मेढ़े गोल पात्र अनुरूप दिखावैं॥
प्रतिबिम्बित लखि अज्ञ पात्रमहँ रविहिं जनावैं।
कहैं अज्ञ परिछिन्न बहुत कहि ताहि बतावैं॥
सूर्य बिम्ब सम मुनि कहैं, आत्मा अद्वय सर्वगत।
अब कपोत तैं लयो गुन, कहूँ ताहि नृप देउ चित॥

कपोत से शिक्षा

[१२२९]

नातिस्नेहः प्रसङ्गो या कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन् विन्देत सन्ताप कपोत इव दीनधीः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ७ अ० ५२ श्लोक)

छप्पय

काऊ बनके सघन वृक्षपै रहै कबूतर ।
पत्नी ताकी रूपवती गुण तामें सुन्दर ॥
करैं परस्पर प्रेम राग नव नित्य बढ़ावैं ।
मिलि जुलि सँग सँग फिरैं सग में सावैं खावैं ॥
कछुक काल में चार सुत, जने नेह दम्पति करैं ।
शिशु कलरव कोमल परस, तें दोउनिके हिय भरैं ॥

जिस बत्ती मे जितना ही स्नेह–चिकनापन–होगा वह उतने ही अधिक काल तक जलेगी। इसी प्रकार ससार मे दु.ख का कारण है मोह, ममता, आसक्ति, अनुराग तथा अपनापन। जिसमे जितना ही अधिक अनुराग होगा, उसके वियोग में उतना ही अधिक कष्ट होगा। इसलिये सीताजी न रावण क हर ले जाने पर लका मे श्रीरामचन्द्रजी के वियोग म विलाप करते

---

* महामुनि दत्तात्रय कह रहे है– "राजन् ! किसी क साथ अत्यत स्नेह अथवा अत्यन्त प्रसग कभी न करना चाहिय। जो ऐसा करता है उसे कृपण बुद्धि कबूतर की भाँति अत्यन्त सन्तापित होना पडता है।"

हुए बड़े ही मर्मस्पर्शी कारुणिक वचन कहे हैं। उन्होंने कहा—"वे वनवासी त्यागी, तपस्वी, वीतरागी महात्मा ही धन्य हैं, जिनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। जिन्हे प्रिय के संयोग मे कोई विशेष हर्ष नहीं, वियोग मे कोई विषाद नहीं। यही दशा अप्रिय के मिलन मे भी हो अर्थात् उनके लिये प्रिय अप्रिय का भेद भाव ही नहीं। जो ऐसे वीतरागी महात्मा हैं उनको मैं प्रणाम करती हूँ।" सारांश यह है कि हम व्यक्ति या वस्तु के वियोग या सयोग के कारण दुखी-सुखी नहीं होते, उसमे जो एक प्रकार का राग हो जाता है, दुःख-सुख का कारण यही है। कोई व्यक्ति है वर्षों से हमारे साथ है, वह बीमार हो, दुखी हो, हमे उसका पता भी नहीं। शनैः-शनैः उसके प्रति राग हो जाय तो उसके दुःख मे दुखी होना पडता है। और उसके क्षणभर के वियोग में मर्मान्तिक दुःख होता है। इसलिये विरागियों को कभी किसी से विशेष अनुराग न करना चाहिये, एकाकी स्वच्छन्द होकर विचरण करे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! महाराज यदु के पूछने पर अवधूत शिरोमणि भगवान दत्तात्रेय कपोत से ली हुई शिक्षा का वर्णन कर रहे हैं। वे बोले—"राजन! कबूतर से मैंने बहुत बड़ी शिक्षा ग्रहण की। कबूतर को गुरु बनाकर ही मैं यथार्थ मे वैराग्यवान् बन सका।"

राजा ने कहा—"क्या शिक्षा ग्रहण की महाराज!"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! असंगता और विरागता मैंने कबूतर से सीखी। जिसके प्रति हमारा राग होगा, आँख मूँदकर उसका हमें अनुसरण करना होगा। जिसके प्रति अपना अत्यधिक अनुराग हो जाता है उसकी कोई भी बात बुरी नहीं लगती। बुरी वही वस्तु लगेगी जो हमे रुचिकर न हो। राग तो चित्त का धर्म है। अनुराग मे दोष दृष्टि के लिये स्थान ही नहीं। हम जो

किसी से प्रेम करते हैं, वह प्रेम बाहर की वस्तु में नहीं है वह तो हमारे भीतर का अनुराग है। जैसे दर्पण में हमें अपना प्रतिबिम्ब दिखायी देता है वह दर्पण में रखा थोड़े ही है, अपना ही मुख दिखायी देता है। यदि दर्पण में हमारा ही मुख रखा होता तो फिर उसमें सबको हमारा ही मुख दीखता। किन्तु बात ऐसी है नहीं। जो भी उसके सामने आवेगा उसी का रूप उसमें दिखायी देगा। कोई हमारे चित्त पर चढ़ गया है मन मे समा गया है तो वह कुरूपी भी होगा तो सुरूप दिखायी देगा। क्रोधी भी होगा तो उसका क्रोध अमृत से भी मीठा दिखाई देगा। अच्छाई बुराई वस्तुओं में नहीं हुआ करती यह तो अपने मन का धर्म है। जिसे हम बुरा कहते हैं दूसरे उस पर प्राण देते हैं, जिसे हम अत्यंत अच्छा बताते हैं, दूसरे उसे ही सबसे अधिक बुरा बताते हैं। राग द्वेष अन्तःकरण के धर्म हैं। जो एक मे राग करेगा उसे दूसरे से द्वेष भी करना होगा। जिसके प्रति हमारा राग है, उसके बीच में कोई दूसरा व्यक्ति आ जाता है, तो उसके प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये अपनी आँखों से कबूतर की घटना को देखकर मैं इसी परिणाम पर पहुँचा, कि किसी के साथ कभी भी अधिक स्नेह अथवा अधिक संग न करना चाहिये। जो किसी से अधिक अनुराग करता है उसे उसके आगे दीन होना पड़ता है, उसके पैर पकडने पड़ते हैं, उसके रुख को देखकर व्यवहार करना पड़ता है। किसी बात से उसे क्लेश न हो इसका पग-पग पर ध्यान रखना पड़ता है। आसक्ति से ही मनुष्यों में दीनता आ जाती है। वह सिंह से सियार बन जाता है। अन्त में उसे तड़प-तड़प कर मरना पड़ता है, जैसे मैंने अपने सम्मुख कबूतर को तड़प-तड़प कर मरते देखा था। तभी मुझे विराग हुआ और उसे अपना गुरु मान लिया।"

महाराज यदु ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने कबूतर को कहाँ

मरते देखा ? वह कबूतर कौन था, कहाँ रहता था, किससे उसने अनुराग किया और अन्त मे क्यों उसे मरना पड़ा ? कृपा करके इस प्रसङ्ग को मुझे सुनाइये ।"

इस पर अवधूत मुनि बोले—"अच्छी बात है राजन् ! मैं आपको इस इतिहास को सुनाता हूँ । इससे आपको विदित हो जायगा कि अत्यन्त आसक्ति का अन्ति परिणाम क्या होता है ।"

एक सघन वन में सुन्दर छायादार फल पुष्पो से समन्वित एक वृक्ष था । उसपेड पर एक कबूतर ने अपना घोंसला बना लिया था । सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से उसे एक सुन्दरी कबूतरी भी मिल गयी थी । कबूतरी का रङ्ग हस के समान स्वच्छ था, उसके लाल-लाल दोनों पैर बड़े ही आकर्षक थे । कबूतर ने अपना समस्त हृदय का स्नेह उसी के ऊपर उडैल दिया । उसने कबूतरी को आत्म-समर्पण कर दिया, वह उसके प्रेमपाश मे बँध गया । इधर कबूतरी ने भी अपने प्रियतम को अपना हृदय सौंप दिया । दोनों ही परस्पर स्नेह-सूत्र मे दृढ़ता के साथ आबद्ध हो गये । वे जब परस्पर मे एक दूसरे की ओर देखते—दृष्टि से दृष्टि मिलाते—तो उनका हृदय बाँसों उछलने लगता । हृदय मे एक ऐसी मीठी-मीठी गुदगुदी पूर्ण मनभावनी वेदना होती, जिसका वर्णन करना असम्भव है । एक दूसरे की ओर निहार कर वे आनन्दमग्न हो जाते, इस संसार को भूल जाते । जब वे दोनों एक दूसरे से सटकर एक आसन पर घोसला में बैठते तो उनके रोम-रोम खिल जाते, दोनों के पख फूल जाते । उनका अङ्ग-से-अङ्ग तथा मन से मन सदा मिला रहता । जिसके प्रति अनुराग हो जाता है उससे तनिक भी सकोच नहीं होता । परस्पर मे दोनो ही शरीरो को वे अपने ही समझते हैं । कबूतर और कबूतरी में अत्यन्त सम्बन्ध होने से निरन्तर साथ रहने से, परस्पर मे प्रेम हो जाने से वे ऐसे हिलमिल गये थे, कि उन्हें पल भर को भी एक दूसरे से पृथक

होना असम्भव था। वे साथ-ही-साथ बैठते थे, साथ-ही-साथ घूमने फिरते थे, एक कहीं ठहर जाता तो दूसरा भी वहाँ ठहर कर उसकी प्रतीक्षा करता। साथ-साथ वे उठते थे, साथ साथ चुगने जाते थे, साथ साथ लौटकर आते थे, साथ-साथ सोते थे। सारांश यह कि उन्हें कुछ काल को भी एक दूसरे से वियोग होना असह्य था। परस्पर में दोनों मिलकर प्रेमभरी, अनुराग भरी-अनुराग में पगी-बातें करते। एक दूसरे को अपनी चोंच में खिलाते। परस्पर में चोंचों से एक दूसरे के अंगों को सुहलाते। इस प्रकार निरन्तर संग रहने से उन दोनों को परस्पर में अत्यधिक आसक्ति हो गयी। कबूतर सर्वथा उस कबूतरी के वश में हो गया, क्योंकि उसने अपनी इन्द्रियों को जीता नहीं था, वह अजितेन्द्रिय था, उस कबूतरी को ही प्रसन्न रखना उसने अपने जीवन का चरम लक्ष्य बना लिया था।

कबूतरी कहती—"मुझे अमुक पेड़ से अमुक फल चाहिये, अमुक वस्तु चाहिये तो वह अत्यन्त कष्ट सहकर भी उस वस्तु को विपुल परिमाण में लाकर उसे देता और उसकी अभीष्ट वस्तु को देकर वह एक प्रकार की आन्तरिक तृप्ति का अनुभव करता। इस प्रकार एक दूसरे के प्रेम में खोकर उस पेड़ पर रहते हुए उन्हें कई वर्ष बीत गये।"

छोटे से बीज में से वृक्ष की रचना कर देते हैं, इसे कोई देख नहीं सकता। यह सब उनकी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से ही स्वतः होता रहता है। उसी श्रीहरि की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से अंडों के भीतर जो एक द्रव पदार्थ था उसमें से पैर चोंच तथा पक्षियों के अन्य अङ्ग बन गये। समय आने पर वे अंडे अपने आप फूट गये। उनमें से चार अत्यन्त ही कोमल बच्चे निकल आये। उनके रोम अत्यन्त ही कोमल थे। वे नेत्र बन्द किये पड़े रहते। कलान्तर में उन्होंने नेत्र खोले, पंख निकल आये और वे चींऊँ-चींऊँ ऐसा सुन्दर शब्द करने लगे। बालकों की तोतली बोली मिश्री और मधु से भी अत्यन्त मीठी लगती है। उस शब्द को सुनकर सभी का चित्त खिल उठता है, विशेषकर जिनका उनमें अपनापन होता है, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।"

कबूतर कबूतरी उन सुन्दर सुकुमार सलौने सुतों के सरस शब्द सुनकर आनन्द में विभोर हो जाते और अपने जीवन को धन्य मानते। इस प्रकार बड़े ही स्नेहपूर्वक उन बच्चों का लालन पालन करने लगे। अब बच्चे कुछ-कुछ बड़े हो गये थे, वे घोसले से निकलकर कुछ दूर बाहर फुदकते भी थे, चींऊँ-चींऊँ करते माता-पिता के अङ्गों से लिपट जाते, अपनी कोमल चोंच को उनकी चोंच में सटा देते, उनके ऊपर चढ़ जाते। आपस में किलोलें करने लगते। इस प्रकार उनकी सुखद सरस बालसुलभ चेष्टाओं से माता-पिता का हृदय भर आता और वे बार-बार उन्हें पुचकारते, मुँह चूमते और छाती से चिपकाकर सटा लेते।

वे दोनों भगवान् की मोहमयी माया में ऐसे फँस गये थे, कि दोनों को निरन्तर उन बालकों के पालन-पोषण की ही चिन्ता बनी रहती। दूसरी बात उनके मन में आती नहीं थी। बच्चों को कोई श्येन, बिल्ली या गीध आकर खा न जाय, आज इनका

पेट नहीं भरा, ये भूखे होंगे, कहीं ये गिर न पड़ें, इत्यादि भाँति-भाँति की चिन्ताओं में निमग्न हुए वे समय को बिताने लगे। अब बच्चे कुछ बड़े हो गये थे, स्वयं घोंसले से निकल कर दानों को चुगने भी लगे थे। इसलिये माता पिता अब निश्चिन्त से हो गये थे। पहिले कबूतरी तो बच्चों के पास रहती थी, कबूतर इधर उधर से दाना एकत्रित करके लाता था। कबूतर को स्वयं भी दाना चुगना होता था और चार बच्चों के लिये तथा उनकी माता के लिये भी लाना पड़ता था, इससे उसे कई बार जाना पड़ता।

एक दिन कबूतरी ने कहा—"प्राणनाथ! अब बच्चे बड़े भी हो गये हैं, आपको श्रम भी अधिक करना पड़ता है और फिर इतने समय का वियोग भी हो जाता है। मैं भी आपके साथ चुगा चुगने को चला करूँगी।"

कबूतर ने कहा—"प्रिये! कष्ट तो वहाँ होता है जहाँ विवश होकर दूसरों का काम करना होता है। अपने काम में कष्ट होता तो स्त्रियों को बच्चों के पालन पोषण और दूध पिलाने में तो अत्यन्त ही कष्ट होता है। किन्तु मातायें इसमें कष्ट का अनुभव नहीं करतीं, प्रत्युत इन कामों के करने में उन्हें सुख होता है। कष्ट तो तब होता है जब इच्छा न रहने पर दूसरों के बच्चों के लिये ये काम करने पड़े। जिनमें अपनापन है उनकी सेवा करने में बड़ा सुख होता है मैं अपने ही बच्चों के लिये तो दाना एकत्रित करके लाता हूँ, यह तो मेरा कर्तव्य ही है।"

कबूतरी ने कहा—"प्राणनाथ! भार्या को अर्धाङ्गिनी बताया है। सत्पत्नी कभी भी यह नहीं स्वीकार कर सकती, कि उसकी शक्ति रहते पति को कष्ट हो। अब तक मैं असमर्थ थी, आपके काम में हाथ बँटा नहीं सकती थी। अकेले आपको छः प्राणियों का भोजन एकत्रित करना पड़ता था। अब तो स्वस्थ हो गयी हूँ,

बच्चे भी बड़े हो गये हैं, आपके कहे से कथा सटाकर मैं आपके काम में सहयोग दूँगी।"

कबूतर ने बहुत मना किया किन्तु कबूतरी मानी नहीं, वह उसके साथ साथ दाना चुगने को जाने लगी। पुत्रों पर पिता की अपेक्षा माता की ममता अधिक होती है, अतः कबूतरी शरीर से चली जाती, किन्तु उसका मन बच्चों में ही फँसा रहता। सायकाल को आकर वह अपने बच्चों को भर पेट प्यार करती, अपनी चोंच में उनकी चोंच को सटाकर दाने खिलाती।

एक दिन की बात है, कि वे दोनों कबूतर कबूतरी आहार की खोज में बहुत दूर निकल गये। उस दिन संयोगवश उन्हें यथेष्ट चारा नहीं मिला, वे बड़ी देर तक इधर से उधर वन में भटकते रहे।

इधर उस वन में एक बहेलिया रहता था। उसने उन छोटे-छोटे बच्चों को दाना चुगते देखा था। वह कई दिन से उनकी घात में था। जब उसने देखा कबूतर कबूतरी तो दूर चले गये हैं, तो उसने उस पेड़ के नीचे जाल बिछा दिया और सुन्दर सुन्दर दाने उसमें छिड़क दिये। वे बच्चे तो भोले भाले थे। बच्चों को नया काम करने में बड़ा उत्साह होता है, वे कोई अद्भुत काम करके माता पिता को चकित करना चाहते हैं, उनसे प्रशंसा सुनने को उत्सुक रहते हैं। पेड़ पर से जब बच्चों ने दाने देखे, तो वे शीघ्रता से उतरकर नीचे आये। ज्यों ही वे उन दानों को उठाने लगे, त्यों ही वे चारों जाल में फँस गये और तड़फड़ाने लगे।

सायकाल हुआ। कबूतर कबूतरी अत्यन्त उत्सुकता से बच्चों का ही स्मरण करते हुए उन्हीं के भोजन की चिन्ता में निमग्न अपने घोंसले के समीप आये। वहाँ आकर उन्होंने जो देखा, उसे देखकर तो उनका हृदय फटने लगा। चारों बच्चे जाल में फँस रहे थे। वे पैरों को निकाल नहीं सकते थे। पंखों को बार-

वार फटफटा रहे थे। अत्यन्त करुणाभरी वाणी में बड़े दुःख के साथ चेंऊँ चेंऊँ करते हुए चिल्ला रहे थे। कबूतरी पर अपने बच्चों

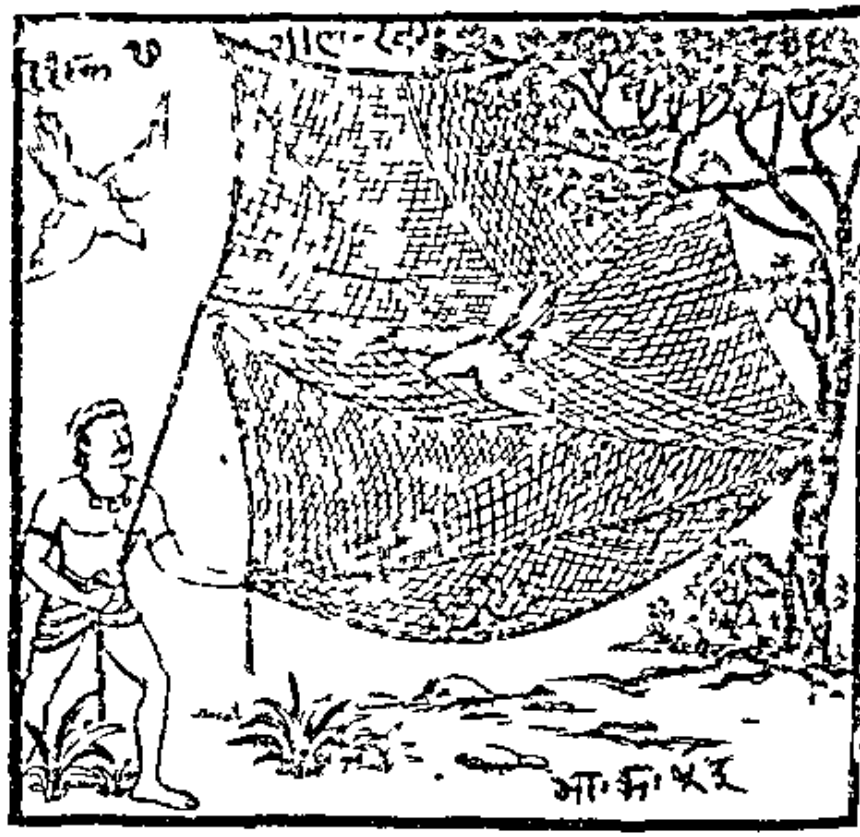

का दुःख नहीं देखा गया। ज्यों ही वह दुखित होकर विलाप करती हुई बच्चों से मिलने गयी, त्यों ही वह भी जाल में फँस गयी। वह निरन्तर बच्चों का ही स्मरण करती रहती थी, उनके ही विषय में सोचती रहती थी, उन्हीं के प्रेमपाश में बँधकर सब काम करती। दैवमाया से दीनचित्त बनी उस कबूतरी की गति मति में वे बच्चे ही थे। वह उनके दुःख से ऐसी विमूढ़ा बन गयी कि अपने बन्धन को भी न स्मरण कर सकी। इस प्रकार चार बच्चे और उनकी माता कबूतरी पाँचों ही उस जाल में फँसकर विलाप करने लगे।

अब तो कबूतर की बुरी दशा थी। अपनी प्राण-प्रिया को तथा हृदय के खंड उन परम प्रिय बच्चों को एक साथ ही मृत्यु के मुख

में जाते देखकर वह पछाड खाकर गिर गया। वह अत्यत दुःख में विलाप करता हुआ कहने लगा—"हाय! आज मेरे भाग्य फूट गये, मेरे पुण्य पूरे हो गये, सुकृत समाप्त हो गये। मैं तो अभी ससार सुख से तृप्त भी नहीं हुआ था। मेरे बच्चे न बडे हुए न किसी का विवाह हुआ, मैंने पुत्रवधू तथा नाती का मुँह भी नहीं देखा, अभी तो मेरे बच्चे भली भाँति उड भी नहीं सकते थे। अपने आप खा भी नहीं सकते थे। इसी बीच में दैव ने मेरी ऐसी दुर्दशा कर दी। मेरे कैसे सुख से दिन कट रहे थे। मेरा गृहस्थ धर्म कितने सुख से चल रहा था। गृहस्थाश्रम धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग का मूल है। मेरा सर्वस्व लुट गया, बना बनाया घर बिगड गया। मेरे बच्चे मृत्यु के मुख मे जा रहे हैं। मेरे हृदय को यह व्याधा मेरी आँखों के सम्मुख मरोडना चाहता है। गृहस्थ धर्म की मूल पत्नी ही है, इसीलिये पत्नी को गृहलक्ष्मी बताया है। पत्नी चाहे कैसी भी क्यों न हो वह घर की शोभा है, उसके रहने से घर के द्वार खुले रहते हैं, आगत अतिथि अभ्यागत का स्वागत होता है। लडै, झगडै, कलह कर कुछ भी क्यों न करे अपनी पत्नी अपनी ही है। इसीलिये बुद्धिमान् लोग कर्कशा पत्नी का भी परित्याग नहीं करते। फिर जिसकी पत्नी पतिव्रता है, पति परायणा है, सुशीला सुन्दरी और पति की आज्ञाकारिणी है, तो फिर उसके भाग्य का तो पूछना ही क्या। उसके लिये तो स्वर्ग वैकुण्ठ सब यहीं है। मेरी पत्नी पतिव्रता है, अनुकूला है, अनुरूपा है तथा आज्ञाकारिणी है। हाय! मेरी प्यारी पत्नी भी रहती, तो मैं किसी प्रकार धैर्य भी धारण करता, किन्तु वह भी अपने बच्चों के सहित मुझे छोडकर स्वर्ग सिधार रही है। अब मैं इस सूने घर में अकेला रहकर क्या करूँगा। यहाँ की सब वस्तुएँ मुझे काटने दौडेंगी। इस स्थान के कण कण में मेरी प्रिया की अनन्त स्मृतियाँ निहित हैं। यहाँ मैं अपनी पत्नी के साथ

बैठता था, यहाँ क्रीडा करता था। यहाँ हम प्रथम ही प्रथम मिले। यहाँ उसने अडे दिये। इस प्रकार यहाँ का वातावरण मेरी प्रिया के सस्मरणों से ओत प्रोत हो रहा है। जिस स्थान में इतनी सुखद घडियाँ बितायीं अब उसी स्थान मे में अपनी पत्नी से पृथक् होकर कैसे रह सकूँगा, यह कठिन ही नहीं असम्भव है। मेरे नेत्रों के सम्मुख मेरे प्यारे मुनमुने बच्चों के सहित मेरी प्राणप्रिया स्वर्ग सिधार रही है और में जीवित होकर इस दृश्य को देख रहा हूँ, मेरे ऐसे जीवन को धिक्कार है। ससार म स्त्री का विधवा होकर जाना और पुरुष का स्त्री हीन विधुर होकर जीना व्यर्थ है। जिस घर म घरवाली ही नहीं, तो उससे अच्छा तो अरण्य है। प्राणी किसी न किसी आशा से जीवित रहता है। कोई धनकी आशा से, कोई सतान की आशा से, कोई विवाह की आशा से, कोई वैभव ऐश्वर्य तथा पद प्रतिष्ठा की आशा से जीता है। जिसकी पत्नी ही नहीं रही उसका शून्यगृह म जीना न जीने के सदृश है। अब मुझे भी इनके साथ प्राण दे देने चाहिये।

अवधूत महामुनि राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! यह सब दृश्य मैंने अपनी आँखों से देखा था। में जब कभी उस वृक्ष के नीचे से निकलता तो कबूतर कबूतरी को किल्लोल करते पाता। फिर मैंने उनको बच्चों के साथ क्रीडा करते हुए भी देखा था। आज बच्चों को जाल में फँसे और उससे छूटने के लिये प्रयत्न करते परों को फटफटाते तथा तडपते भी देखा। बच्चे तपड रहे थे। कबूतरी करुणा भरी दृष्टि से उनकी ओर निहार रही थी, वह स्वयं भी जाल में फसी थी, अपने बच्चों की कुछ सहायता भी नहीं कर सकती थी। समीप में कबूतर रो रहा था, विलाप कर रहा था, अपने को धिक्कार रहा था—तथा मरने का विचार कर रहा था। में कुछ देर खडा रहा। कबूतर का दु ख पराकाष्ठा

पर पहुँच चुका था। वह अपनी प्राणप्रिया, स्नेहमयी तथा अपने अनुकूल वर्ताव करने वाली पत्नी के वियोग को सह नहीं सकता था, अतः वह अत्यन्त दीन विवेकहीन होकर जानबूझकर उस जाल में कूद गया और फँस गया। समीप मे ही छिपकर बैठा बहेलिया इस दृश्य को देख रहा था, उसे तो यह अभीष्ट ही था। जब उसने देखा कबूतर कबूतरी तथा उसके सब बच्चे जाल मे फँस गये, तो वह परम प्रसन्न हुआ। उसने अपना जीवन सफल समझा। अपने परिश्रम को उसने सार्थक माना। एक साथ छै पक्षियों को पाकर अपने को कृतकृत्य अनुभव करता हुआ जाल के समीप गया, पक्षियों को पकडकर उनका सिर मरोडकर अपनी झोली में रख लिया और जाल को कन्धे पर रखकर अपने घर की ओर चल दिया।"

अवधूत मुनि कह रहे हैं—"राजन् कबूतर की इस स्वेच्छा मृत्यु से मुझे बडा विराग हुआ। मैंने सोचा—"देखो, यह प्राणी अपने आप तो मोह का जाल बिछाता है। किसी को अपनाता है, प्यार करता है और पीछे स्वय ही दुःख पाता है। यह मोह का ऐसा सुदृढ जाल है कि इसमे जो एक बार फँसा फिर उसका निकलना कठिन ही नहीं असम्भव बन जाता है। जो व्यक्ति कुटुम्ब मे अत्यन्त आसक्त होकर अविवेकी बन जाता है, उसका चित्त सदा अशान्त बना रहता है। वह निरन्तर सुख दुःख, जीवन मरण तथा हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों मे जकडा रहता है और कुटुम्ब के भरण-पोषण को ही परम पुरुषार्थ मानकर उसी में मग्न रहता है। वह कभी सुखी नहीं होता। पक्षी की भाँति पग-पग पर पछताता रहता है। अन्त में उसे मृत्यु के मुख मे जाना पडता है। अतः मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि कभी भी किसी को किसी के साथ भूलकर भी अत्यन्त स्नेह न करना चाहिये। उसके ऊपर लट्टू न हो जाना चाहिये। जो इस शिक्षा

की ओर ध्यान नहीं देता, किसी के चक्कर में फँस जाता है, किसी के स्नेह-बन्धन में आबद्ध हो जाता है, वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है, दीनता उसके हृदय पर अधिकार जमा लेती है, उसे पग पग पर दुःख भोगना पडता है और अन्त में मृत्यु का ग्रास बनना पडता है।

यह मनुष्य-योनि चौरासी लाख योनियों के पश्चात् मिलती है। यह मुक्ति का खुला हुआ द्वार है। मनुष्य शरीर पाकर भी जो परमार्थ साधन नहीं करता, मुक्ति के लिये प्रयत्नशील नहीं होता, वह अभागा है, मानो उसने विजय के द्वार पर पहुँचकर पराजय को अपना लिया। सबसे ऊँचा चढकर भी वह नीचे गिर गया। मनुष्य देह से जहाँ च्युत हुआ, कि चौरासी का चक्कर उसके लिये फिर तैयार है। इसलिये कपोत को मैंने अपना गुरु मान लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की, कि मानव तन पाकर घर गृहस्थी में अत्यन्त आसक्त न होना चाहिये।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और कबूतर से ली हुई शिक्षाओं को तो बताया, अब आप यह बतावें कि अजगर को गुरु बनाकर उससे आपने कौन-सी शिक्षा ग्रहण की?"

महामुनि अवधूत बोले—"अच्छी बात है राजन्! अब मैं अजगर से ली हुई शिक्षा का आपके सम्मुख वर्णन करूँगा।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार अवधूत दत्तात्रेय ने अजगरी वृत्ति की शिक्षा दी उसे मैं आप सबसे कहता हूँ, ये सब उपदेश गृहत्यागी वीतरागी संन्यासी के लिये हैं।"

छप्पय

दोऊ इक दिन गये चुगन खगघाती आयो ।
सुन्दर शावक निरखि डारि कण जाल बिछायो ॥
बालक कणके लोभ जालमहँ फँसि घबराये ।
तबई लैके चुगो तुरत दोऊ तहँ आये ॥
लखि कबूतरी बन्ध-शिशु, स्वयं फँसी पति फँसि मरयो ।
करै मोह मुनि कबहुँ नहिं, दिव्य ज्ञान हियमहँ धरयो ॥

अजगर से शिक्षा

[१२३०]

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ८ अ० २ श्लोक)

छप्पय

अजगर गुरु करि लई सीख माँगन नहिँ जावै ।
रूखो सूखो अधिक न्यून पावै सो खावै ॥
यदि भोजन नहिँ मिलै याचना करै न कबहूँ ।
होहि चाहिँ उपवास करै चिन्ता नहिँ तबहूँ ॥
चिन्ता तैं कारज न कछु, कबहुँ बनै चितमहँ धरै ।
रच्यो उदर सो भरैगो, मूरख क्यों चिन्ता करै ॥

जिस वस्तु में आसक्ति हो जाती है, उसी की रक्षा के लिये उचित अनुचित सभी काम करने को लोग उद्यत हो जाते हैं।

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! अवधूत मुनि महाराज यदु को अजगर से ली हुई शिक्षा को बतला रहे हैं, कि त्यागी को अजगरी वृत्ति रखनी चाहिये। मीठा हो अथवा रसहीन हो, थोड़ा हो अथवा बहुत हो, जैसा भी बिना माँगे रूखा-सूखा चिकना चुपड़ा ग्रास मिल जाय, उसी को खाकर अजगर के समान निरीह भाव से सन्तुष्ट रहे। अर्थात् भोजन के लिये कुछ भी प्रयत्न न करे।"

जिसमें अपनापन नहीं होता, उसे व्यवहार करते हुए भी उसकी उतनी चिन्ता नहीं करते। जिस घर में अपनापन है, जिसे अपना समझते हैं, उसका बड़ा ध्यान रखते हैं। होली दिवाली पर उसे लीपते पोतते हैं, नित्य झाड़ू बुहारू देते हैं, टूटने फूटने पर उसको फिर से बनवाते हैं। सारांश यह है कि उसकी भली-भाँति देखरेख रखते हैं। जो घर अपना नहीं है भाड़े का है या धर्मशाला है उसकी हमें चिन्ता नहीं होती। सोचते हैं—"इसमें हमारा क्या है? टूटेगा-फूटेगा तो इसका बनाने वाला चिन्ता करेगा। हम तो अतिथि रूप मे यहाँ निवास करते हैं, यह फूट जायगा तो दूसरे में चले जायँगे। हमारा अपना घर तो यह है नहीं।"

अब आप विचारिये घर उसी ईंट गारे और मिट्टी-चूने का है। जिस प्रकार घर का स्वामी रहता है, उसी प्रकार हम उसमें रहते भी हैं। घर की समस्त सुविधायें हमें वैसी ही देता है, जैसी उसके स्वामी या बनाने वाले को देता है। हम उसमें रहकर समस्त व्यवहार भी करते हैं। अन्तर इतना ही है, कि सब कुछ करते हैं तो भी उसमे अपनापन नहीं रखते, इससे उसके बिगड़ने और नष्ट होने की चिन्ता भी नहीं करते। यही दशा ज्ञानी और अज्ञानी की है। अज्ञानी शरीर को ही आत्मा मानता है। उसके प्रति उसकी अत्यंत आसक्ति हो जाती है। वह शरीर के दुखी होने पर अपने को दुखी समझता है, उसी की रक्षा के लिये भाँति भाँति के छल प्रपञ्च करता है। इसके विपरीत ज्ञानी भी शरीर में उसी प्रकार रहता है, किन्तु उसमें आसक्त नहीं होता। अपने को शरीर से पृथक् समझता है, इसलिये उसकी चिन्ता भी नहीं करता। वह सोचता है, जब तक प्रारब्ध के भोग हैं, शरीर टिकने को है, तब तक प्रारब्धानुसार आहार अपने आप ही मिल जायगा। जब शरीर का प्रारब्ध समाप्त हो जायगा, तब प्रयत्न करने पर भी

नहीं टिक सकता। जब यही बात है तो हाय-हाय क्यों करें, क्यों आहार जुटाने की चिन्ता करें ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज यदु ने अजगर से ली हुई शिक्षा के सम्बन्ध में अवधूत दत्तात्रेय से प्रश्न किया तो वे कहने लगे—"राजन् ! मैंने अजगर को गुरु बनाकर उससे प्रारब्ध के ऊपर निर्भर रहने की शिक्षा ग्रहण की।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन् ! प्रारब्ध पर निर्भर रहने की शिक्षा आपने कैसे ग्रहण की ?"

अवधूत मुनि बोले—"देखिये राजन् ! जो प्रारब्ध का होता है, वह इच्छा न करने पर भी प्राप्त हो जाता है। जो प्रारब्ध में नहीं है, उसके लिये कितना भी प्रयत्न करो वह प्राप्त नहीं होता। इच्छा करने से ही वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो जातीं, न चाहने से ही वस्तुएँ न मिलें सो भी बात नहीं। कौन नहीं चाहता हम धनी हों, किन्तु सभी धनी नहीं होते। कौन नहीं चाहता हम तेजस्वी यशस्वी और जगत् प्रसिद्ध न बनें, किन्तु सब तो ऐसे नहीं होते। संसार में जान बूझकर कौन चाहेगा कि हमें ज्वर आवे, अर्श, अतिसार, संग्रहणी, राजयक्ष्मा, अपस्मार तथा अन्यान्य भयंकर-भयंकर रोग हों। किन्तु न चाहने पर भी अधिकांश लोग रोगी हो ही जाते हैं। जैसे इच्छा न करने पर दुःख प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही प्रारब्धवश सुख भी मिल जाते हैं, नरक में भी प्रारब्धानुसार सुख मिल जाता है और स्वर्ग में भी दुख हो जाता है। अतः सुख-दुःख को प्रारब्ध के ऊपर छोड़कर निश्चिन्त होकर अजगर की भाँति पड़ा रहें।"

राजा ने कहा—"भगवन् ! पड़े रहने से पेट कैसे भरेगा ?" अवधूत मुनि बोले—"न भरे पेट। योगी अपने को पेट थोड़े ही मानता है। पेट न भरेगा शरीर नष्ट हो जायगा। नष्ट होता है तो जाय, ज्ञानी योगी को शरीर में तो ममता है ही नहीं, वह तो

प्रारब्ध को समाप्त करना चाहता है। यदि शरीर का टिकने का प्रारब्ध होगा, तो कहीं-न-कहीं से पड़े-ही-पड़े आहार आ जायगा अजगर पेट भरने के लिये सिंह के समान दौड़-धूप नहीं करता। वह चींटी के समान भटकता नहीं रहता। देखो चींटी का कितना छोटा पेट होता है, किन्तु वह रात्रि-दिन आहार की ही चिन्ता में घूमती रहती है। अजगर का शरीर कितना स्थूल होता है, किन्तु वह पेट भरने के लिये कभी अपने स्थान से कहीं नहीं जाता।

वहाँ बैठे-ही-बैठे वह श्वास खींचता है, उस श्वास में जो आ जाता है, उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो जाता है, कोई नहीं आता तो पवन पीकर ही प्रेम पूर्वक प्रसन्नता के साथ पड़ा रहता है। आहार के लिये प्रयत्नशील नहीं होता। इसी प्रकार मुनि को चाहिये कि शरीर को प्रारब्ध के हाथों सौंप दे। कभी किसी से

आहार की याचना न करे। बैठे बैठे अपने आप ही स्वतः जो आ जाय उसी को खाकर सन्तुष्ट रहे। कभी रूखी सूखी रोटी आ गयी तो उन्हें भी प्रेम से पा जाय, कभी हलुआ, पूड़ी, खड़ी, मिठाई, मालपूये अथवा लड्डू आदि सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ आ जायँ तो उन्हें भी उड़ा जाय। किसी दिन पेट भर मिल जाय तो पेट भर के खा ले, किसी दिन आधे पेट मिले, उससे भी कम मिले, तो उसी में सन्तोष कर ले। अनायास बिना माँगे जो भी मिल जाय उसे निरीह भाव से खा ले। उसमें हेय उपादेय बुद्धि न करे। कभी-कभी आहार न मिले तो अजगर के समान पवन पीकर प्रारब्ध भोग समझकर निराहार ही पड़ा रहे।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! पड़े पड़े करे क्या?"

अवधूत बोले—"कर्मों के परित्याग के लिये ही तो अजगर वृत्ति बताई गई है। कुछ भी न करे, मनोबल इन्द्रिय बल और शारीरिक बल से युक्त होने पर भी इनसे कोई काम न ले। जैसे अजगर में बल-वीर्य सब कुछ होता है किन्तु वह उसका उपयोग नहीं करता, इसी प्रकार सह, ओज और बल से पूर्ण होने पर भी मुनि शरीर से निश्चेष्ट पड़ा रहे। यद्यपि उसके भीतर निरंतर ज्ञान की ज्योति जलती रहती है, उसे अज्ञान स्पर्श भी नहीं कर सकता। तमोगुण से उत्पन्न निद्रा, आलस्य और प्रमाद उसे स्पर्श नहीं कर सकते, फिर भी कपट से ऊपर से बिना निद्रा के भी निद्रित-सा पड़ा रहे। भीतर से जागता रहे, ऊपर से लोगों को प्रतीत हो कि ये प्रगाढ़ निद्रा में सो रहे हैं।

इन्द्रियों का कार्य है व्यापार करना। जिसकी आँखों में देखने की शक्ति ही नहीं, वह देखेगा क्या? जो बहरा है वह सुनेगा क्या? जो गूँगा है वह बोलने में असमर्थ है, किन्तु योगी की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्वस्थ भी हों तो भी वह उनसे कोई काम न ले, नेत्र होते हुए भी अन्धों के समान बना रहे। घ्राणेन्द्रिय होते हुए

भी सुगन्ध दुर्गन्ध में भेद भाव न करे। रसना रहते हुए भी स्वाद के चक्कर में न पड़े। बहरा न होने पर भी अच्छे बुरे शब्दों को सुनकर सुखी दुखी न हो। स्पर्शेन्द्रिय के रहते हुए भी कोमल वस्तुओं के स्पर्श की इच्छा न करे। इसी प्रकार सब इन्द्रियों में पूर्ण शक्ति रहने पर भी निर्व्यापार बना रहे। साराश यह है कि प्रारब्ध के हाथ में शरीर को सौंपकर स्वयं द्रष्टा बन के देखता रहे। ये ही शिक्षायें मैंने अपने गुरु अजगर से ली हैं।"

राजा ने कहा—'ब्रह्मन्! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर और अजगर से ली हुई शिक्षाओं का तो आपने वर्णन किया, अब मैं यह और जानना चाहता हूँ, कि आपने समुद्र से क्या शिक्षा ग्रहण की?"

इस पर अवधूत मुनि बोले—"राजन्? समुद्र गुरु से मैंने बहुत बड़ी शिक्षा ली। उसका वर्णन भी मैं आपसे करूँगा।"

शौनकादि मुनियों से सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे अवधूत दत्तात्रेय समुद्र से ली हुई शिक्षा का वर्णन करेंगे उस पावन प्रसङ्ग को मैं अभी आचमन करके कहता हूँ। आप अधीर न हों, ये सब बड़ी ही सुन्दर शिक्षायें हैं।"

छप्पय

भाग्य माहिं जा होहि देह सुख दुख प्रबल हू।
इन्द्रिय, मन, बलयुक्त होहि शारीरिक बल हू॥
तबहुँ न चेष्टा करै तानि क सोवै चादर।
यह शुभ, यह है अशुभ कर्म को करै न आदर॥
काहू तें कडवा वचन, हित अनहित कबहु न कहै।
अजगर सम निद्रित सतत, निर्व्यापार बन्यौ रहै॥

—०—

समुद्र से शिक्षा

[१२३१]

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

जलनिधि कीन्ही कृपा दया करि दीक्षा दीन्ही ।
निस्तरंग जलराशि निरखि शुभ शिक्षा लीन्ही ॥
शान्त और गम्भीर रहै सागर सम ज्ञानी ।
थाह न समुझैं मनुज पार नहिं पावहिं प्रानी ॥
चाहैं बहु पूजा करैं, अथवा ताडन करहिं जन ।
घटना कैसी हू घटै, कबहुँ न होवै क्षुभित मन ॥

जो घड़ा कुछ रीता रहता है, मुख तक उसमें पानी नहीं भरा रहता वह छलकता है, जो मुख तक भरा रहता है वह नहीं छलकता। जिन मेघों में जल नहीं रहता या कम रहता है, वे ही बहुत गरजते-तरजते हैं। जो मेघ शान्त गम्भीर होते हैं, वे विपुल वर्षा करके चुपचाप चले जाते हैं। अपने दान का अपने गुणों का विज्ञापन नहीं करते। जो स्त्री सबकी दृष्टि

---

* अवधूत दत्तात्रेय, राजा यदु को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"राजन् ! मुनि के लिये निस्तरंग समुद्र के समान प्रसन्न, गम्भीर, अगम्य, अक्षोभ्य, अनन्तपार और क्षोभरहित होना चाहिये।"

बचाकर एकान्त में अपने गुणों को सौंदर्य को छिपाये बैठी रहती है, केवल अपने प्राणनाथ के ही सम्मुख आती है, उसी पर अपना सर्वस्व निछावर करती है वह सती-साध्वी है, धर्मपरायणा, पतिव्रता है। इसके विपरीत जो अटारी पर बैठकर सोलहो श्रृङ्गार करके सबके सम्मुख अपना सौन्दर्य प्रकट करती है, सबको अपने रूप-जाल में फँसाना चाहती है, सबको अपनी ओर आकर्षित करने का सतत प्रयत्न करती रहती है, वह पण्य स्त्री है, वेश्या है, असती और पुन्श्चली है। विषयी पुरुष उसके वश में भले ही हो जाय, सुशील सदाचारी पुरुष उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे।

बहुत-सी ऐसी क्षुद्र नदियाँ होती हैं, जो वर्षा काल में तो बड़े वेग से बहने लगती हैं, उनका पाट बहुत बड़ा रहता है, किन्तु ग्रीष्म ऋतु में उनमें एक चुल्लू जल भी नहीं रहता, वे सर्वथा सूख जाती हैं। इसी प्रकार कुछ लोग स्वल्प काल के लिये अपने को सदाचारी गुणी सिद्ध करके लोगों को ठगते हैं। कालान्तर में उनकी कलई खुल जाती है और उनका यथार्थ रूप सबके सम्मुख प्रकट हो जाता है। जिसमें सत्यता है, धीरता, गम्भीरता तथा स्थिरता है वह सदा एकरस रहता है, उसमें इतने महान् गुण होते हैं कि सब उसके भेद को पा नहीं सकते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अवधूत दत्तात्रेय समुद्र से ली हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! एक बार मैं घूमता फिरता समुद्र के किनारे चला गया। उस समय समुद्र शांत था। वह चारों ओर मुझे धीर गम्भीर रूप से दिखायी दे रहा था। जिधर मेरी दृष्टि जाती, उधर ही जल की राशि ही राशि दिखायी देती। मैंने देखा उस समय उसमें तरंगे नहीं उठ रही थीं। वह स्तब्ध और स्थित बना हुआ था। मैंने विचार किया—"देखो, मनुष्यों के हृदय में सदा तरंगें उठती

रहती है। सदा किसी-न-किसी विषय की ऊहापोह यह मानव प्राणी करता ही है। इसी ऊहापोह में उसका चित्त चञ्चल हो जाता है, उसकी शान्ति भंग हो जाती है, आशंका से उसका हृदय कांपने लगता है और भावी भय के कारण भयभीत होकर न करने योग्य कामों को करने लगता है। अतः समुद्र से प्रथम शिक्षा तो मैंने यह ग्रहण की, कि योगी को कभी व्यर्थ की ऊहापोह न करनी चाहिये। घटना बीत गयी, उसके विषय में सोचना व्यर्थ है। आने वाली घटनायें अभी भविष्य के गर्भ में छिपी हुई हैं। वर्तमान तो हो ही रही है उसकी चिंता करने से क्या लाभ? इस प्रकार न भूत की चिन्ता करे न भविष्य की और न वर्तमान की ही। निश्चिन्त होकर निस्तरंग समुद्र के समान स्थिर रहे।"

दूसरी शिक्षा निस्तरंग समुद्र से मैंने यह ली कि योगी को सदा शान्त और गम्भीर होकर रहना चाहिये। जिस योगी का चित्त चंचल होता है, वह कभी-न-कभी अवसर पाकर विषयों की ओर जायगा और उनकी वासना में फँसकर योगी को नीचे गिरा देगा, उसे अपने लक्ष्य से च्युत कर देगा। अतः योगी को सदा गम्भीर बने रहना चाहिये।

तीसरी शिक्षा मैंने समुद्र से यह ली कि जिस प्रकार समुद्र दुर्विगाह्य है, अगम्य है, उस प्रकार मुनि को भी अगम्य होना चाहिये। समुद्र के बीच में कोई कितना भी डूबने वाला हो उसके भीतर घुसकर उसकी थाह नहीं पा सकता। यह अनुमान नहीं लगा सकता कि समुद्र में कितना जल है, इसी प्रकार शान्त दान्त गम्भीर मुनि के गुणों का कोई पार नहीं पा सकता। उसमें इतना सद्गुण अधिक हो, कि लोग उसके हृदय में ज्यों-ज्यों प्रवेश करना चाहें त्यों-त्यों उन्हें अनन्त गुणराशि का ही अनुभव हो, उसमें अनन्त स्नेह ही स्नेह भरा हुआ हो।

चौथा गुण मैंने समुद्र से यह सीखा कि समुद्र के भीतर

कितने जल जन्तुओं का पालन हो रहा है, कितने जीवों की जीविका चल रही है, कितने रत्न उसके गर्भ में छिपे पड़े हैं, इसे कोई जान नहीं सकता। इसी प्रकार मुनि को भी अपने गुणों को छिपाये रखना चाहिये, सर्वसाधारण लोग उनकी साधन-सम्पत्ति को जान न सके।

पाँचवा गुण समुद्र से मैंने यह सीखा कि कोई कितना भी बड़ा तैरने वाला क्यों न हो महासागर को तैरकर पार नहीं कर सकता, इसी प्रकार कोई कितना भी बड़ा बुद्धिमान हो, विज्ञान वेत्ता मुनि का पार न पा सके। जिस प्रकार समुद्र की जल राशि अनन्त और अपार है उसी प्रकार उसके गुण भी अनन्त और अपार होने चाहिये। कोई साधारण आदमी चाहे कि हम इसके पार पहुँच जायँ, तो समुद्र को पार नहीं कर सकता। इसी प्रकार मुनि के ज्ञान विज्ञान का कोई पार न पा सके।

छठा गुण मैंने समुद्र से यह सीखा कि जैसे निस्तरंग समुद्र सदा क्षोभरहित बना रहता है उसमें चाहे जो डाल दो इससे उसमें कोई विकार नहीं होता, उसी प्रकार मुनि को चाहे कोई माला पहिना दे, या सर्प को उसके कण्ठ में डाल दे, पूजा करे या तिरस्कार, स्तुति करे या गाली दे, सभी दशा में क्षोभरहित बना रहे। किसी भी घटना से विक्षुब्ध न हो।

सातवाँ गुण मैंने समुद्र से यह सीखा, कि समुद्र कभी घटता बढ़ता नहीं। वर्षा ऋतु में असख्यो नदियाँ बह-बह कर उसमें मिलती हैं। एक गङ्गा नदी को ही लीजिये—गौमुख से जब समुद्र में मिलने चलती है तो अकेली ही चलती है। चलते समय उसकी इच्छा होती है, मैं समुद्र को इतनी जलराशि जाकर दूँ कि वह आश्चर्यचकित हो जाय, इसलिये मार्ग में उसे जो भी नदी मिलती हैं सभी के जल को मिलाकर समुद्र को उपहार देने दौड़ती है। इस प्रकार समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते वह सहस्रों नदियों

के जल का अपहरण कर लेती है। वर्षा ऋतु में तो वह जल अगणित हो जाता है। इतनी जलराशि को ले जाकर वह समुद्र को देती है, किन्तु उससे समुद्र की सीमा में कोई वृद्धि नहीं, उसे कोई प्रसन्नता नहीं। इसके विपरीत ग्रीष्मकाल में सब नदियाँ सूख जाती हैं, समुद्र में बहुत कम जल जाता है, किन्तु इससे उसकी सीमा में कोई ह्रास नहीं। जल न प्राप्त होने से वह सूखता नहीं, उसे किसी प्रकार का दुख नहीं होता। अधिक जल आ जाय तो, कम आ जाय तो और न भी आवे तो भी जैसा का वैसा। इसी प्रकार योगी को सभी अवस्थाओं में सम रहना चाहिये। उसके समीप कोई मनों लड्डू, पेड़ा, जलेबी डाल जाय तो उसे हर्ष न करना चाहिये। कभी कोई रूखी रोटी डाल जाय, तो विषाद न करना चाहिये और किसी दिन सर्वथा आहार मिले ही नहीं तो दुःखी भी न होना चाहिये। उसे सभी अवस्थाओं में सम भाव से बने रहना चाहिये। इस प्रकार अनूर्मिता, गम्भीरता, अगम्यता, अवेद्यता, अनन्तपारता, अक्षोभता तथा साम्यता ये महान् गुण मैंने समुद्र को गुरु बना कर सीखे। यह मैंने समुद्र से प्राप्त की हुई सात शिक्षाओं का वर्णन आपसे किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर और समुद्र से ली जाने वाली शिक्षाओं के सम्बन्ध में तो कहा। अब हम जानना यह चाहते हैं कि आपने पतंगे को गुरु क्यों बनाया ? उस अत्यन्त क्षुद्र जन्तु से आपने क्या शिक्षा ग्रहण की ?"

यह सुनकर हँसते हुए अवधूत मुनि बोले—"यथार्थ गुरु तो मेरा पतंगा ही है, उससे तो मैंने बहुत बड़ी शिक्षा ग्रहण की। उस एक शिक्षा को ही प्राणी धारण कर ले, तो उसका बेड़ा पार हो जाय, उसे आप भी ध्यानपूर्वक श्रवण करें।"

सूतजी नैमिषारण्य निवासी मुनियों के सत्र में कथा सुनाते हुए कह रहे हैं—"मुनियो! पतङ्ग सभी को नित्य शिक्षा देता है। पतङ्ग क्या संसार का अणु परमाणु प्रतिक्षण अपनी अनित्यता की शिक्षा दे रहा है, किन्तु ये प्राणी माया-मोह में ऐसे फँसे हैं कि उधर ध्यान ही नहीं देते। इन घटनाओं को सभी जानते हैं, सभी देखते हैं। किन्तु विवेकी उनको गम्भीरतापूर्वक देखता है और उनसे शिक्षा ग्रहण करता है। अब आप पतङ्ग से प्राप्त शिक्षा को ध्यानपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

ज्यों अगनित जलराशि सहित सरिता सागर महँ।
जावैं तऊ न वृद्धि होहि पयनिधि के पय महँ॥
ग्रीषम मह सुखि जायँ घटै नहिं तबहूँ पानी।
त्यों प्रिय पाइ पदार्थ होहि हरषित नहिं ज्ञानी॥
सुख दुख महँ सम भाव की, शिक्षा सागर तें लई।
लखि समता गंभीरता, ममता मेरी नसि गई॥

पतङ्ग से शिक्षा

[१२३२]

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥*
(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

अब पतंग गुरु करयो कहूँ कारन सो भूपति ।
देखि दीप की लोय फँसे तामें खल दुरमति ॥
त्यों ही कुण्डल कनक कामिनी पट अति सुन्दर ।
भोगबुद्धि करि फँसे देवकी माया दुस्तर ॥
रूप अगिनिमहँ भसम तनु, करै होहि आसक्त अति ।
सुन्दरतामहँ सुख समुझि, जगमहँ होवै नहिं सुगति ॥

रूपासक्ति ऐसा असाध्य रोग है, जिसकी कोई चिकित्सा ही नहीं। भगवान् ही बचावें तो प्रानी इससे बच सकता है। सभी

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! पतङ्ग से ली हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूतमुनि महाराज यदु से कह रहे हैं—"हे नृपेन्द्र ! जो बुद्धिभ्रष्ट लोभी पुरुष भोगबुद्धि से कामिनी, काञ्चन, कङ्कणादि भूषण और वस्त्रादि मायिक पदार्थों में फँसा हुआ है, वह पतङ्ग के समान नष्ट हो जाता है।"

लोग कहते हैं, सुन्दरता में ऐसा आकर्षण है, कि सभी इसमें फँस जाते हैं। किन्तु सुन्दरता की परिभाषा आज तक किसी ने करके नहीं दी, कि यह सुन्दरता है यह असुन्दरता है। पञ्चभूतों के बने पदार्थों में कौन सुन्दर, कौन असुन्दर। एक ही चीनी के समस्त खिलौने मीठे होते हैं उनमें कोई भेदभाव नहीं। किन्तु अज्ञानी बालक लड़ते हैं, हम तो घोड़ा न लेकर हाथी लेंगे, कोई कहता है हम तो बारहसिंहा हरिन लेंगे और कोई ऊँट माँगता है। इन सब खिलौनों को एक ने बनाया है, एक प्रकार के साँचे से बनाया है, एक ही चीनी से बनाया है, किन्तु आकृति भिन्न होने से बालक उनमें भेद स्थापित कर देते हैं, यह खिलौना अच्छा नहीं, यह बहुत अच्छा है, हम तो इसे ही लेंगे, इत्यादि इत्यादि। इसी प्रकार देखा जाय तो संसार में कौन सुरूप है कौन कुरूप है। एक कहानी है—कोई योगिनी थी। उसके रूप को देखकर कोई राजकुमार उस पर लट्टू हो गया। उसने कहा—"चाहे तुम मेरा सर्वस्व ले लो, तुम मेरे साथ विवाह कर लो।"

योगिनी ने कहा—"राजकुमार! तुम्हें विवाह ही करना है तो संसार में एक से एक सुन्दरी राजकुमारी हैं, उनमें से किसी के भी साथ कर लो।"

राजकुमार ने कहा "देवि! संसार में चाहे जितनी राजकुमारी क्यों न हों, मेरा मन तो तुम्हारे रूप में फँस गया है। तुम मुझे प्राप्त न होगी तो मैं अपने प्राणों को त्याग दूँगा।"

योगिनी ने कहा—"कुमार! तुम बुद्धि से काम लो। मेरे शरीर में ऐसी कौन सी विशेषता है। सब शरीर रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि के बने हैं इन्हीं का बना मेरा शरीर भी है। सब शरीरों के भीतर मल-मूत्र नाना प्रकार के मैल भरे हैं वे मेरे भी शरीर में हैं। इसमें आसक्त होने की ऐसी कौन-सी वस्तु है।"

राजकुमार ने कहा—"मुझे रक्त मांस से प्रेम नहीं, मुझे तो तुम्हारे सौन्दर्य से प्रेम है।"

योगिनी ने कहा—"सौन्दर्य कोई स्थायी वस्तु तो है नहीं। आज है कल नहीं है। यह तो एक रक्त का विकार है। लाल चमकने लगा, सुन्दरता आ गयी। कोई कितनी सुन्दरी हो उसे जमालगोटा विशेष मात्रा में खिला दो, १०–२०–५० बार जहाँ वह शौच को गयी सम्पूर्ण शरीर पीला पड़ जायगा, आभा नष्ट हो जायगी, सुन्दरता विलीन हो जायगी। इससे तो यही सिद्ध हुआ कि सुन्दरता मल में है। जब तक शरीर में प्राण हैं तभी तक सौन्दर्य है। मृतक व्यक्ति चाहे जितना भी सुन्दर रहा हो किन्तु जब वह प्राणहीन हो जाता है तो भयङ्कर लगने लगता है। कोई उसके समीप भी बैठना नहीं चाहता। प्राण रहते हैं मल में, रक्त में और वीर्य में। इन तीनों को शरीर से पृथक् करके देखो तो इसके सम्मुख खड़ा न हुआ जायगा, वमन हो जायगी। भूल से छू जायँ तो स्नान करना पड़े। ऐसी अशुद्ध वस्तु से बने सौंदर्य के पीछे तुम इतने उन्मत्त हो गये हो कि आत्महत्या पर उतारू हो गये हो?"

राजकुमार ने कहा—"कुछ भी क्यों न हो मैं तुम्हारे बिना रह नहीं सकता। तुम मेरे ऊपर कृपा न करोगी तो मैं निश्चय ही आत्महत्या कर लूँगा।"

योगिनी ने कहा—"अच्छा, तुम क्या चाहते हो?"

राजकुमार ने कहा—"मैं तुम्हें चाहता हूँ।"

योगिनी ने कहा—"आपका अभिप्राय 'तुम' कहने से क्या है। मेरी आत्मा को यदि चाहते हो तो आत्मा तो एक ही है। जो तुम्हारे शरीर में है वही मेरे शरीर में भी है। यदि शरीर चाहते हो तो वह पञ्चभौतिक है। सभी शरीर एक से हैं।"

राजकुमार ने कहा—"मैं तुम्हारे शरीर को ही चाहता हूँ।"

योगिनी ने कहा—"अच्छी बात है, मैं तुम्हारे महल में रहूँगी। सात दिन पश्चात् तुम मुझसे भेंट करना फिर तुम चाहो तो मेरे साथ विवाह कर लेना।"

यह सुनकर कुमार के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। योगिनी की समस्त सुविधाओं का उसने सुन्दरता के साथ प्रबन्ध कर दिया, सभी सुखकी सामग्रियाँ उसके सम्मुख प्रस्तुत कर दीं। सात दिनों तक योगिनी महलों में रही। राजकुमार को पल-पल युग के समान बीतने लगे। जैसे तैसे सात दिन व्यतीत हो गये। सातवें दिन उसने राजकुमार को बुलाया। जाकर उसने देखा—जिसके साथ विवाह करने को मैं इतना उत्सुक था, उसके सर्वाङ्ग में बड़े-बड़े झलका पड़ गये हैं, वे व्रण के समान झलके फूट जाते हैं, उनसे अत्यन्त दुर्गन्धियुक्त पीव निकलता है, नख से लेकर शिख तक उसके अङ्ग में बड़े-बड़े झलके पड़े हैं। वह कष्ट से बोलीं—"राजकुमार! तुम मेरे साथ विवाह कर लो।"

राजकुमार ने कहा—"देवि! तुम अच्छी हो जाओगी तब करूँगा।"

योगिनी ने कहा—"मेरे अच्छे होने की आशा नहीं, मेरा रोग भयङ्कर है। गलितकुष्ट का रोग है। मेरे पीव से जिसके जिसके शरीर का स्पर्श हो जायगा, उसको भी यही रोग हो जायगा। इसलिये तुम और किसी को मेरे शरीर का स्पर्श न होने दो, तुम ही मुझसे विवाह करके सुखी हो जाओ।"

राजकुमार ने कहा—"जब मैं तुम्हारा स्पर्श ही नहीं कर सकता तो तुमसे विवाह करके क्या करूँगा?"

योगिनी ने कहा—"मैं स्पर्श करने को मना थोड़े ही करती हूँ।"

कुमार ने कहा—"तुम तो मना नहीं करती, किन्तु स्पर्श

करने से तो मुझे भी यही रोग हो जायगा। फिर विवाह करने से लाभ ही क्या ?"

योगिनी ने कहा—"तुम मेरे शरीर को ही चाहते थे न ? पत्नी के शरीर से जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे पति अपनी ही कहता है। मेरे शरीर से यह पीव निकल रहा है यह भी आपका होगा। यह रोग शरीर से ही तो निकला है जब आप शरीर को चाहते थे तो शरीर से उत्पन्न रोग को को भी आपको चाहना पड़ेगा, लेना पड़ेगा। जिस मेरे रूप पर तुम आसक्त थे वह अब कहाँ चला गया ? सत्य-सत्य बताओ अब तुम्हारा मेरे प्रति पहिले जैसा आकर्षण है या नहीं ?"

राजकुमार बोले—"सत्य बात तो यह है कि अब तो मुझे तुम्हें देखकर ही घृणा होती है। शिष्टाचारवश मैं तुमसे बातें कर रहा हूँ, किन्तु दुर्गन्ध के कारण मुझसे यहाँ खड़ा भी नहीं रहा जाता। विवाह करने की बात तो पृथक् रही।"

यह सुनकर योगिनी हँस पड़ी। उसने तो योग की शक्ति द्वारा राजकुमार को उपदेश देने को ऐसा वेष बना लिया था। कुमार को उपदेश देकर वह आकाश मार्ग से कहीं चली गयी। कहने का सारांश यह है कि जो सुन्दरता के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते वे ही रूपाशक्ति के चक्कर में पड़कर आत्मघात करने को उद्यत हो जाते हैं। भाग्यवश उन्हें कोई सद्गुरु मिल जाता है, तो उनकी उस प्रबल आसक्ति को वह युक्तियों द्वारा छुड़ा देता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! पतङ्ग से ली हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूत दत्तात्रेय महाराज यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! मैं एक बार घूमता फिरता नगर के बाहर बने एक घर में पहुँचा। वहाँ एक दीपक जल रहा था। उसमें आ-आकर सहस्रों पतंगे भस्म हो रहे थे। उन्हें दीपक की ज्योति ऐसी प्यारी

लग रही थी, कि एक पतङ्गा आता, उस दीपक की चमकती ज्योति का आलिङ्गन करता, तुरन्त भस्म हो जाता। दूसरा उससे शिक्षा लेकर निवृत्त हो जाता सो भी बात नहीं, दूसरा भी दौडता

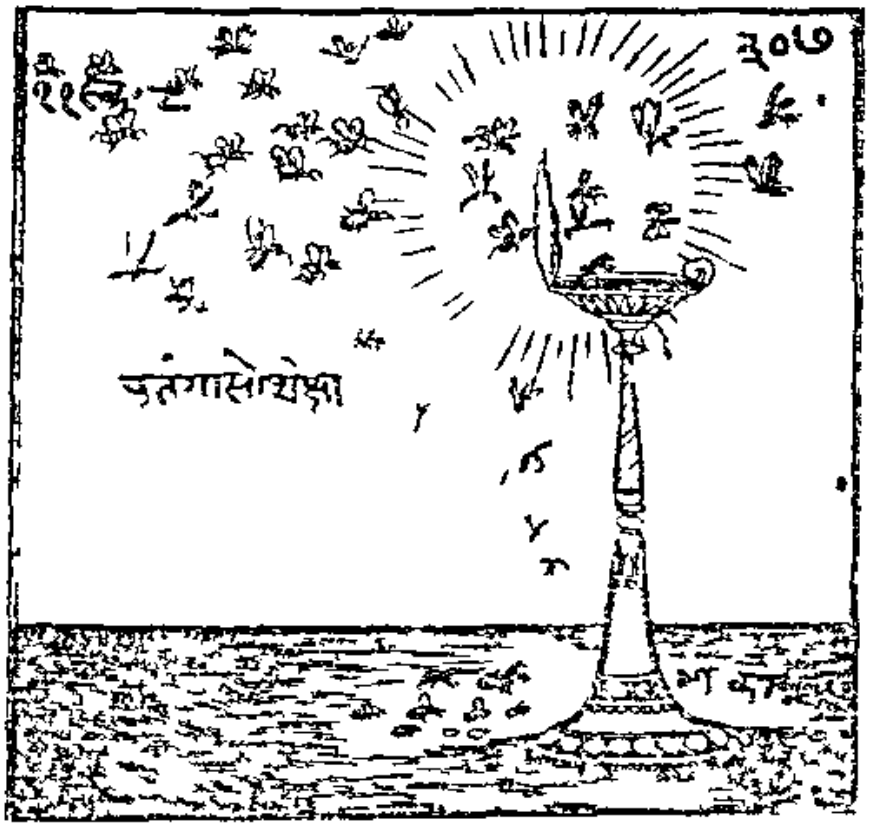

और आकर भस्म हो जाता। इस घटना को देखकर मुझे बडा ज्ञान हुआ—"अरे ये पुरुष स्त्रियों पर और स्त्री पुरुषों पर आसक्त होकर इसी प्रकार नष्ट होते हैं।"

सभी जानते हैं, जो स्त्रियाँ असती होती हैं वे बहुत पुरुषों से सम्बन्ध रखती हैं, किसी की भी नहीं होती। इसी प्रकार जो चरित्र भ्रष्ट पुरुष होते हैं, उनका प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं होता। वे रूप में आसक्त होकर झूठा प्रेम प्रदर्शित करते हैं। झूठी-झूठी बातें बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और अपने सदाचार को नष्ट करके नरक के अधिकारी बनते हैं। यह बात किससे छिपी है, कि पण्य स्त्री कभी किसी की हुई है? उसका

अनेकों पुरुषों से सम्बन्ध होता है फिर भी अजितेन्द्रिय पुरुष उसके चक्कर में फँस जाते हैं। सब जानते हैं कि मुझसे पहिले प्रेमी का सर्वस्व अपहरण इसने कर लिया है, फिर भी नहीं समझते। उसके हाव भाव और कटाक्षों से प्रलोभित होकर घोर अन्धकार में पड जाते हैं।

कभी सुन्दरी स्त्री को देखकर उसके ऊपर आसक्त होते हैं। स्त्री क्या है मल मूत्र का एक थैला है। कभी सुवर्ण को देखकर उसके ऊपर धर्म कर्म को निछावर कर देते हैं। सुवर्ण क्या है, अग्नि का मल है। उस मल के ही कटक कुण्डल बनते हैं। जैसे कौवा मल को खाकर सुखी होता है वैसे ही अज्ञानी सुवर्ण को पाकर सुखी होते हैं।

कभी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों को सुगन्धित चन्दन मालाओं को पाकर प्रसन्न होते हैं। ये सब पृथ्वी के विकार हैं, मल से उत्पन्न होते हैं, इनमें आसक्त होना कौन-सी बुद्धिमता है ?"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन ! इन पदार्थों से तो हम पृथक् रह ही नहीं सकते। फिर इनसे बचें कैसे ?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन् ! बचने को कौन कहता है। पृथ्वी पर ही रहना होगा, आकाश के भीतर ही चलना फिरना होगा, तेज द्वारा ही देखना होगा, अन्न, जल तथा वायु का ही आहार करके शरीर धारण करना होगा। बच तो इनसे सकते ही नहीं, केवल इनमें से भोग बुद्धि निकाल दे। सबको समान भाव से देखे। मोह हमें तभी होता है जब हम उसे अपनाकर उसमें भोगबुद्धि करते हैं। उद्यान में पुष्प खिल रहे हैं अच्छी बात है, किन्तु हम उन्हें अपनाना चाहे, उन्हें तोड़कर अपने पास रखने की इच्छा करें तो हम फँस गये। कितने रुपये लोगों के पास हैं, हमारी उनमें कुछ भी आसक्ति नहीं। किन्तु जब उनको अपनाने का विचार मन में आ जाय, चुराकर, ठगकर,

माँगकर या अन्य उपायों से उन्हें अपना लें, अपने काम में लावें यही बन्धन का कारण है। कितनी स्त्रियाँ हैं, हमारी मातायें हैं, बहिन हैं, पुत्रियाँ हैं, कोई बात नहीं, सामान्य बात है। किन्तु जिसमें भोग बुद्धि हो जाती है, उसकी स्मृति सदा आती रहती है, उसके लिये सदा व्याकुल बने रहते हैं, उसके पीछे धर्म, कर्म लोक लाज सब परित्याग कर देते हैं, यह अधर्म है, पतन का हेतु है, बन्धन का कारण है। ऐसा व्यक्ति अपने सद् असद् के विवेक को खोकर पतङ्ग के समान नष्ट हो जाता है। सो, राजन्! संसारी वस्तुएं तो सदा से ऐसी ही रही हैं, ऐसी ही रहेंगी। वस्तुओं का त्याग हो भी नहीं सकता और उनके त्याग से कोई विशेष लाभ भी नहीं। त्याग तो भोग बुद्धि का करना है। इसलिये पतङ्ग को गुरु बनाकर उससे मैंने रूपाशक्ति के त्याग की शिक्षा ली।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र और पतङ्ग से ली हुई शिक्षाओं का वर्णन तो किया, अब यह बताइये कि मधुमक्खी को गुरु बनाकर उससे आपने क्या शिक्षा ग्रहण की?"

अवधूत मुनि बोले—"मधुमक्खी से मैंने बहुत सुन्दर शिक्षा ग्रहण की, उसे भी सुनिये।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! अब मधुमक्खिका से ग्रहण की हुई शिक्षा को आप श्रवण करें।"

छप्पय

तातैं सुन्दर नारि निरखि नहिँ चित्त चलावै।
नर सुवेष लखि नारि कबहुँ मन नाहिँ डिगावै॥
जो धारै नहिँ सीख व्यर्थ नर देह गँवावै।
है पतङ्ग सम पतित मृत्यु के मुखमहँ जावै॥
यह सुन्दर शिक्षा सुखद लइ पतग गुरु स्वय करि।
मधु मक्खी ज्यों गुरु करी, सुनहु ताहि अब धीर धरि॥

मधुमक्षिका से शिक्षा

(१२३३)

सायन्तनं श्वस्तनं वा न सगृह्णीत भिक्षुकः ।
मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

पुष्पनितैं मधु लेइ न तिनिको रूप बिगारै ।
त्यों ही मुनि मधुकरी वृत्ति भिक्षाहित धारै ॥
सुमननि तैं गहि सार स्वार्थ नित अपनो साधै ।
त्यों शाखनि को सार समुझि हरिकूँ आराधै ॥
इत उततैं अति यत्न करि, मक्खी मधु छत्ता धरै ।
त्यों यति कबहूँ मूलतें, सचय नहिँ कबहूं करै ॥

हम संग्रह करते हैं लोभ और अविश्वास के वशीभूत होकर। यह वस्तु रही आवेगी तो काम आवेगी, सम्भव है फिर न मिले। इस अविश्वास के कारण हम दूसरे के भाग को छिपाकर रखते हैं। उसे उसके उपभोग से वञ्चित कर देते हैं। अपनी सुख-

---

* अवधूत दत्तात्रेय मुनि राजा यदु से मधुमक्षिका से ग्रहण की हुई शिक्षा के सम्बन्ध में कह रहे हैं—"राजन् ! संन्यासी को चाहिये कि भिक्षा की रोटी को भोजनकाल अथवा दूसरे दिन के लिये संग्रह न करे। जो संग्रह करता है, वह उस संग्रहीत वस्तु के साथ उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे मधु की मक्खी मधु के साथ नष्ट हो जाती है।"

सुविधा के पीछे दूसरों की सुविधाओं का अपहरण करते हैं। इससे होता क्या है, कि सब लोग इस घात में रहते हैं कि किसी प्रकार इससे इस वस्तु को छुड़ा ले। स्वार्थी के प्रति, संग्रही के प्रति लोगों की सहानुभूति नहीं होती। जो संग्रही के प्रति सहानुभूति दिखाते हैं, वे केवल स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। जिसके पास जितना ही अधिक संग्रह है वह उतना ही अधिक कृपण है, अशांत है तथा लोगों की सहानुभूति से वञ्चित है। जो जितना ही त्यागी है, उसका उतना ही अधिक लोगों के हृदय में सम्मान है। उसे सभी की सहानुभूति प्राप्त होती है, इससे वह सदा शांत बना रहता है। अशांति का कारण संग्रह है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। अवधूत मुनि मधुमक्षिका से ग्रहण की हुई शिक्षा को राजा यदु से बताते हुए कह रहे हैं—"राजन! मधुमक्षिका से मैंने कई शिक्षायें ग्रहण की। प्रथम शिक्षा तो यह ग्रहण की, कि जिस प्रकार मधुमक्खी एक ही पुष्प से मधु नहीं लेती, उसी प्रकार यति को एक का ही सर्वदा अन्न न खाना चाहिये, घर-घर से मधुकरी वृत्ति करके भिक्षान्न एकत्रित करना चाहिये। और केवल शरीर बना रहे, जिससे परमार्थ साधन हो सके, इस भावना से थोड़ा-सा अन्न खा लेना चाहिये, स्वाद के लिये नहीं।

दूसरी शिक्षा मधुमक्षिका से यह ग्रहण की, कि मधुमक्खी पुष्पों से मधु एकत्रित तो करती है, किन्तु इस प्रकार उनसे लेती है कि उनके रूप में किसी प्रकार की विकृति नहीं होती। पुष्पोंका तो कुछ बिगड़ता नहीं उसका काम बन जाता है। इसी प्रकार त्यागी यति को चाहिये, कि अपने जीवन निर्वाह की वस्तुओं का भार एक ही गृहस्थ के ऊपर न डाले। सबसे थोड़ा-थोड़ा ले जिससे उनको कुछ अखरे भी नहीं और अपना जीवन निर्वाह भी हो जाय। प्रथम तो उसे अजगरी वृत्ति से ही रहना चाहिये,

प्रारब्धवश जो आ जाय, उसी में सन्तुष्ट रहे। यदि उदर निर्वाह के लिये माँगना ही हो तो न्यून से न्यून उतना ही माँगे जितना उसे कुछ भी प्रतीत न हो।

तीसरी शिक्षा मैंने मधुपान करने वाले मधुकर से यह ग्रहण की, कि जिस प्रकार मधुकर फूल मे से सार सार ही ले लेता है, उसी प्रकार शास्त्रों मे से सार सिद्धान्त लेकर उसी के अनुसार आचरण करे। शास्त्रतो अनन्त हैं, एक ही शास्त्र का पार ब्रह्मादिक देवता ही नहीं पा सकते। पापो का प्रायश्चित्त ही स्मृतियों के अनुसार किया जाय, तो निरन्तर प्रायश्चित्त करते रहने पर भी उद्धार नहीं। इसलिये सब शास्त्रों को पढकर सूक्ष्म बुद्धि से यह विचार करना चाहिये, कि शास्त्रकार मुनियों का प्रधान लक्ष्य क्या था। जितने जप, तप, तीरथ, व्रत, सयम, सदाचार तथा शुभ कर्म हैं सबका लक्ष्य प्रभु प्राप्ति है। भगवान् की कथा में उनके नाम गुण कीर्तन मे मन को लगाये रहना ही सब शास्त्रों का अन्तिम लक्ष्य है। अतः इधर-उधर व्यर्थ न भटक कर सकाम हो या निष्काम, भगवान् के भजन मे ही चित्त को लगा देना चाहिये, अन्तःकरण से उन्हीं का सदा ध्यान करना चाहिये। सारभूत वस्तु की ही उपासना करनी चाहिये।

चौथी शिक्षा मैंने मधुमक्षिका से सग्रह के परिणाम को देख-कर असग्रह की ली। मधु की मक्खियाँ मिलकर निरन्तर मधु का सग्रह करती रहती हैं, पुष्पो से जा जाकर मधु ले आती हैं और मुँह मे भर-भरकर उसे छत्ते मे लाकर एकत्रित करती हैं। वे खाती तो कम हैं, एकत्रित अधिक करती हैं। इसका परिणाम यह होता है, कि जब उनके पास मधु अधिक हो जाता है, तो कोई मधु का लोभी छीन ले जाता है और बहुत सी मक्खियों को भी मार जाता है। इसी प्रकार जो यति भिक्षा के अतिरिक्त धन एकत्रित करता है उसे धन से भी हाथ धोना पडता है और

साथ ही प्राणों की भी चिन्ता बनी रहती है। राजन्! साधु के धन पर और वेश्या के यौवन पर सभी की आँख गडी रहती है। अजितेन्द्रिय पुरुष जो भी इनकी ओर देखता है वही इनका उपभोग करना चाहता है। इसलिये साधु को कभी भी धन सग्रह न करना चाहिये। यदि धन संग्रह का प्रारब्ध ही हो, तो उसे तुरंत व्यय करा देना चाहिये। सग्रह करके रखने से उसमे आसक्ति हो जाती है। लाभ से लोभ बढ़ता है, लोभ पाप का मूल है। साधु ने जहाँ सञ्चय किया कि वह गृहस्थों से भी अधिक पतित हो जाता है, न वह इधर का रहता है न उधर का। गृहस्थ तो अपने को छोटा समझता है, साधु ब्राह्मण के पैर पूजता है, यथाशक्ति दान धर्म करता है, किन्तु संग्रही साधु जब पुजाने का काम पडता है तब तो सबसे आगे आ जाता है, जब देने का, धर्म पुण्य करने का, परोपकार का काम पड़ता है, तो धन को छिपाकर कहता है "यह तो गृहस्थों के काम हैं।" अजी देवताजी, यह तो सत्य है यह गृहस्थो के काम हैं, किन्तु धन को एकत्रित करके सर्प के समान उसे छाती से चिपटाये रहना, क्या यह त्यागी का काम है? राजन्! साधु के समीप जहाँ धन आया वहाँ वह परमार्थ-पथ से गिर जाता है। परोपकार के लिये भी धन सग्रह न करे। जिसने सर्वस्व त्याग दिया, उसके लिये क्या परोपकार। सब वस्तुओं से अपनापन हटा लेने से बढ़कर कोई दूसरा परोपकार हो ही नहीं सकता। जिसकी दृष्टि मे सब स्व ही स्व है, पर अथवा दूसरा कोई है ही नहीं वह परोपकार करेगा ही क्या? वह तो जो भी करता है सब परोपकार ही करता है। जिसने सुवर्ण में और मिट्टी मे तत्वतः कोई भेद ही नहीं माना उसके लिये परोपकार का महत्त्व ही क्या? काशी की मिट्टी से काशी में काम चल रहा है, काशी की गंगा का जल काशी वाले पी रहे हैं, प्रयाग की मिट्टी का उपयोग प्रयाग वाले कर रहे हैं,

गंगा यमुना के जल को पीकर वे निर्वाह कर रहे हैं। इसमें परोपकार क्या करना। इधर-उधर से धन एकत्रित करें, फिर कोई स्वाँग रचें इसकी आवश्यकता क्या ? जो हो रहा है सब परोपकार ही तो हो रहा है। पृथ्वी सबको अन्न देती है, अपने पास कुछ भी संग्रह करके नहीं रखती। वृक्ष फलों को पकते ही छोड़ देते हैं। नदियों की सम्पत्ति सबके लिये खुली है। सूर्य सभी को प्रकाश देते हैं। वायु सबके लिये सुलभ है। आकाश की छत्र छाया में सभी रहते हैं। इसी प्रकार त्यागी यति का त्याग सभी के लिये शिक्षाप्रद है, उसके त्याग से ही महान परोपकार हो रहा है, फिर वह तुच्छ धन को संग्रह करके उसकी व्यवस्था में अपनी बुद्धि का उपयोग करे तो वह भौतिकता में उतर आया। इसलिये साधु को धन का संग्रह करना तो दूर रहा, जो भिक्षा में अन्न मिले उसे उठाकर सायंकाल के लिये भी न रखना चाहिये। क्योंकि संग्रहीत वस्तुओं में संस्कार बना ही रहता है।

शौनककजी ने कहा—"सूतजी ! तब हम लोग तो बड़े संग्रही हैं, देखिये, अन्न भी हमारे यहाँ रखा है, कितना घृत एकत्रित है ? बहुत-सी सामग्रियाँ हैं, इनसे हमारा भी पतन होगा क्या ?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! आपकी बात दूसरी है। यह जो अवधूत शिक्षा दे रहे हैं वे त्याग वृत्ति वाले सिद्ध की स्थिति बता रहे हैं, जिसने प्रथम ग्रहण किया है, पीछे सबको त्यागकर यहाँ तक कि अग्निहोत्र को भी त्यागकर भिक्षुक अवधूत बन गये हैं। आपने तो कभी ग्रहण ही नहीं किया तो आप त्याग क्या करेंगे। आपका ग्रहण तो त्याग के ही निमित्त है। आप नियत समय पर कन्द, मूल खाते हैं, जो आता है उसे यज्ञ में लगा देते हैं, आप किसी से माँगने नहीं जाते। लोगों को झूठी सच्ची बातें बताकर ठगते नहीं। आप तो साधकों के लिये

आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। आप सिद्धों की चर्या को तो प्रदर्शित कर नहीं रहे हैं। आप का ग्रहण, ग्रहण नहीं है। त्याग की दीक्षा लेकर जो फिर स्वार्थवश सग्रह करता है वह पतित हो जाता है। महाराज! हमने कई त्यागियों को देखा है, पहिले बडे त्यागी थे, पीछे उनके मन में सग्रह की वासना उत्पन्न हुई, धन सग्रह करने लगे। कहाँ तो पैसे को छूते नहीं थे, कहाँ वे छिपा छिपाकर रखने लगे। जो उनके समीप उनका त्याग देखकर आये थे, वे ही उनके शत्रु बन गये, उनकी हत्या करके उनके धन को छीन ले गये। बहुत से साधु से गृहस्थ बन गये, सजोगी, जोगी, गुसाईं आदि बन गये। सो मुनियो! साधनावस्था में यज्ञ के लिये प्रभु पूजन के लिये सामग्री एकत्रित करना दोष नहीं। सिद्धावस्था में तो शरीर का सग्रह करना भी दोष है, फिर भिक्षान्न का सग्रह करना तो दूर की बात है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ सूतजी! समझ गये। अब कृपा करके यह बताइये, कि हाथी को गुरु करके अवधूत दत्तात्रेय ने क्या शिक्षा ग्रहण की।"

सूतजी बोले—"महाराज! इसके पश्चात् महाराज यदु ने अवधूतजी से यही तो प्रश्न किया था। इसका जो भी उन्होंने उत्तर दिया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा, आप समाहित चित्त से उसे श्रवण करें।"

छप्पय

कर पै भिक्षा लेइ उदर में जितो समावै।
जल के तट पै जाइ प्रेम तैं ताकूँ पावै॥
बचै अन्न कछु शेष अन्य प्रानिनिकूँ देवै।
कल या सायकाल हेतु नहिं यति धरि लेवै॥
त्यागी बनि सचय करै, सो पीछे पछिताइगो।
मधुमक्खी मधुहित मरै, त्यों यति हू गिरि जाइगो॥

हाथी से शिक्षा

(१२३४)

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि ।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥*

(श्रीमा० ११ स्क० ८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

इक दिन घूमत फिरत गयो नृपवर हौं वन में ।
सोचूँ लखिकें बनी काठकी हथिनी मनमें ॥
कौनें यह धरि दई खिलौना बड़ो बनायौ ।
इतनेमें मदमत्त युवक इक हाथी आयौ ॥
प्रबल कामके वेग तैं, अन्धो है आगे बढ़्यौ ।
फँस्यौ पैर हथिनी सहित, अन्धे कूआमें गिर्‌यौ ॥

देखने से, सुनने से, छूने से और मन से चिन्तन करने से राग बढ़ता है। दो के मिलने से–स्पर्श से–भावों में विकृति होती है। शरीर से शरीर का छू जाना ही स्पर्श नहीं है। यथार्थ स्पर्श तो मन से होता है। जो हमारे मन में बसा है, वह चाहे शरीर से सात समुद्र पार क्यों न रहता हो मनसे हम उससे मिले हुए हैं,

---

* अवधूत मुनि राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! हाथी से मैंने यह शिक्षा ली कि काठ की बनी स्त्री को भिक्षु यति को पैर से भी न छूना चाहिये। यदि वह छूवेगा तो जैसे हाथी लकड़ी की हथिनी के अंग-संग से बँध जाता है वैसे बँध जायगा।"

उसका मानसिक स्पर्श कर रहे हैं। ब्रह्म का स्पर्श ऐसे ही हृदय से किया जाता है, योगी लोग ब्रह्म-सस्पर्श करते हैं। हम लोग भी अपने प्रियजनों का मनसे स्मरण करते हुए एकान्त में आँसू बहाते रहते हैं। यह तो मानसिक स्पर्श हुआ। अब एक शब्द द्वारा भी स्पर्श होता है। हम एक भवन में बैठे हुए हैं, हमारे समीप के ही भवन से एक अत्यन्त सुन्दर कंठवाली गायिका गा रही है तो उसकी स्वर लहरी हमारे कर्ण-कुहरों द्वारा हृदय को स्पर्श करती है। हम गाने वाली को देख नहीं रहे हैं, किन्तु केवल उस स्वर को सुनकर झूमने लगते हैं, हृदय में हिलोरें उठने लगती हैं और चित्त न जाने कैसा हो जाता है। एक दृष्टि द्वारा स्पर्श होता है। एक कोई सुन्दर व्यक्ति है, वह हमसे बहुत दूर है किन्तु उसकी दृष्टि हमारी दृष्टि से मिल जाती है, हृदय की सब बातें दृष्टि के स्पर्श से ही हो जाती हैं। हृदय में यदि क्रोध हुआ, तो दृष्टि विचित्र बन जाती है, नेत्रों में क्रोध के भाव स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। हमारा हृदय क्रोध से रोष से उसकी दृष्टि को देखकर ही भर जाता है। यदि दृष्टि में अनुराग है, तो उसके देखने से हृदय पानी-पानी हो जाता है, वह पिघलकर बहने लगता है। बहुतों की एक दृष्टि से ही लोग उनके हाथों बिक जाते हैं, अपना सर्वस्व उनके चरणों में अर्पण कर देते हैं। शरीर से शरीर का स्पर्श हो जाने पर तो एक शरीर की विद्युत दूसरे में आ ही जाती है। अतः सहसा सबका स्पर्श नहीं करना चाहिये। लोभ, मोह, काम या अन्धपरम्परावश हठपूर्वक जानबूझकर जो सबका स्पर्श कर लेते हैं उनके भावों में साकर्य हो जाता है। वे शुद्ध सात्त्विक भावना से परमार्थ चिन्तन नहीं कर सकते, लोक में चाहे जितनी ख्याति प्राप्त कर लें।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"तपोधन ऋषियो! हाथी से ग्रहण की हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूतमुनि

महाराज यदु से कहते हैं—"राजन् हाथी से मैंने बड़ी भारी शिक्षा ग्रहण की। मैं हाथी की दशा देखकर चकित रह गया और निश्चय किया कि जिसे संसार से पार जाना हो, उसे स्त्रियों में से आसक्ति हटा देनी चाहिये।"

महाराज यदु ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने ऐसी कौन सी घटना देखी, किस बात से आपको ऐसा वैराग्य हुआ?"

मुनि बोले—"राजन्! एक बार घूमता फिरता मैं उत्तरखण्ड की ओर चला गया। कदली वन में जाकर मैंने देखा—कुछ लोग एक पेड़ की ओट में छिपे बैठे हैं। मैंने उनसे पूछा—"क्यों भाई! तुम लोग इस प्रकार छिपकर क्यों बैठे हो?"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! हम हाथी फँसाना चाहते हैं।"

मैंने कहा—"भाई, मैंने बहेलियों को तथा व्याधाओं को जाल बिछाकर पशु-पक्षी तथा मृगों को फँसाते देखा है, तुम इतने बड़े हाथी को फँसाना चाहते हो, तुमने जाल तो बिछाया ही नहीं।"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! मदोन्मत्त हाथी साधारण जाल द्वारा नहीं फँस सकता। वह तो हथिनी को देखकर ही फँस जाता है।"

मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"अरे भाई! हथिनी से हाथी कैसे फँस जाता है, फँसाने वाली हथिनी कहाँ है?"

उन लोगों ने यह सुनकर समीप में ही एक काठकी खड़ी रगी हुई हथिनी दिखा दी। उसे देखकर मैं और भी अधिक आश्चर्य चकित हुआ और पूछने लगा—"अरे भाई, तुम लोग मुझसे हँसी तो नहीं करते, यह तो काठ की बनी हथिनी है, यह तो बच्चों के खेलने के खिलौने के काम में भले ही आ सकता है, किन्तु इससे हाथी कैसे फँस सकता है?"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! हम युवक हाथियों को फँसाते हैं। हम यह काम करते हैं—एक बड़ा गड्ढा खोदते हैं। फिर

उसे पतल पतली लकडियो से पाट देते हैं, ऊपर से मिट्टी बिछा देत हैं, जिससे देखने वाले को यह पता न चले कि इसके नीचे गड्ढा है। उसके ऊपर काठकी बनाकर भीतर से पोली हाथिनी का वहाँ रख देते हैं। हम छिपकर बेठ जाते हैं। बूढे हाथी हथिनी अनुभवी होते हैं, उनमें गम्भीरता आ जाती है। बच्चे माताओं के पीछे चलने वाल होते हैं। बूढे हाथी पग को सम्हाल कर रखते हैं, सूँड मे एक लकडी लिये रहते है। उन्हे जहाँ शका होती है, वहाँ से तुरन्त लौट पडते हैं। किन्तु भगवन्! यह युवावस्था ऐसी बुरी होती है कि इसमे विवेक रहता ही नहीं। नस नस में चचलता छा जाती है। यौवन की ऐसी तरगे उठती हैं कि सम्मुख अपने विनाश को देखता हुआ भी युवक नहीं देखता। आँखों के रहते हुए भी अन्धा हो जाता है। कानों के रहते हुए भी सदुप-

देश को नहीं सुनता। युवक हाथी दोडकर आगे चलता है। वह

महाराज यदु से कहते हैं—"राजन् हाथी से मैंने बड़ी भारी शिक्षा ग्रहण की। मैं हाथी की दशा देखकर चकित रह गया और निश्चय किया कि जिसे संसार से पार जाना हो, उसे स्त्रियों में से आसक्ति हटा देनी चाहिये।"

महाराज यदु ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने ऐसी कौन सी घटना देखी, किस बात से आपको ऐसा वैराग्य हुआ?"

मुनि बोले—"राजन्! एक बार घूमता फिरता मैं उत्तराखण्ड की ओर चला गया। कदली वन में जाकर मैंने देखा-कुछ लोग एक पेड़ की ओट में छिपे बैठे हैं। मैंने उनसे पूछा—"क्यों भाई! तुम लोग इस प्रकार छिपकर क्यों बैठे हो?"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! हम हाथी फँसाना चाहते हैं।"

मैंने कहा—"भाई, मैंने बहेलियों को तथा व्याधाओं को जाल बिछाकर पशु-पक्षी तथा मृगों को फँसाते देखा है, तुम इतने बड़े हाथी को फँसाना चाहते हो, तुमने जाल तो बिछाया ही नहीं।"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! मदोन्मत्त हाथी साधारण जाल द्वारा नहीं फँस सकता। वह तो हथिनी को देखकर ही फँस जाता है।"

मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"अरे भाई! हथिनी से हाथी कैसे फँस जाता है, फँसाने वाली हथिनी कहाँ है?"

उन लोगों ने यह सुनकर समीप में ही एक काठकी खड़ी रगी हुई हथिनी दिखा दी। उसे देखकर मैं और भी अधिक आश्चर्य चकित हुआ और पूछने लगा—"अरे भाई, तुम लोग मुझसे हँसी तो नहीं करते, यह तो काठ की बनी हथिनी है, यह तो बच्चों के खेलने के खिलौने के काम में भले ही आ सकती है, किन्तु इससे हाथी कैसे फँस सकता है?"

उन लोगों ने कहा—"ब्रह्मन्! हम युवक हाथियों को फँसाते हैं। हम यह काम करते हैं—एक बड़ा गड्ढा खोदते हैं। फिर

उसे पतल पतली लकडियो से पाट देते हैं, ऊपर से मिट्टी बिछा देते हैं, जिससे देखने वाले को यह पता न चले कि इसके नीचे गड्ढा है। उसके ऊपर काठकी बनाकर भीतर से पोली हाथिनी को वहाँ रख देते हैं। हम छिपकर बैठ जाते हैं। बूढे हाथी हथिनी अनुभवी होते हैं, उनमे गम्भीरता आ जाती है। बच्चे माताओं के पीछे चलने वाले होते हैं। बूढे हाथी पग को सम्हाल कर रखते हैं, सूँड मे एक लकडी लिये रहते है। उन्हें जहाँ शका होती है, वहाँ से तुरन्त लौट पडते हैं। किन्तु भगवन्! यह युवावस्था ऐसी बुरी होती है कि इसमे विवेक रहता ही नहीं। नस नस मे चचलता छा जाती है। यौवन की ऐसी तरगे उठती हैं कि सम्मुख अपने विनाश को देखता हुआ भी युवक नहीं देखता। आँखों के रहते हुए भी अन्धा हो जाता है। कानो के रहते हुए भी सदुप-

देश को नहीं सुनता। युवक हाथी दौडकर आगे चलता है। वह

तो युवावस्था के मद में अंधा बना ही रहता है। सम्मुख काठ की हथिनी को देखकर उसे यथार्थ हथिनी समझता है, उसे छूने को दौड़ता है, पतली लकड़ियाँ टूट जाती है, वह अंधे कुएँ में गिर पड़ता है, उसके साथ वह काठ की हथिनी भी गिर जाती है। जब उसे वह सूँघता है तो पछताता है, किन्तु अब पछताने से क्या होता है। कुछ काल तक हम उसे उसी प्रकार कूप में पड़ा रहने देते हैं। आहार न मिलने से जब उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तो उसे युक्तिपूर्वक बाँधकर घर ले आते हैं, उसके पैर में जंजीर बाँध देते हैं, उसके ऊपर चढ़ते हैं, उसे कभी स्वतंत्र नहीं करते। वन की स्वतंत्रता उसकी अपहरण कर ली जाती है और वह परतंत्र बन जाता है।"

यह सुनकर मुझे बड़ा कुतूहल हुआ। मैं खड़ाखड़ा उसे देखता रहा। कुछ काल में एक युवावस्था सम्पन्न मदोन्मत्त हस्ती आया। ज्योंही आकर उसने उस काठ की हथिनी को छूआ, त्योंही वह अड़ड़ड़ धम्म करके अंधे कुए में गिर गया उसी समय उसे मैंने अपना गुरु मानकर उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि भिक्षु को कभी प्रतिमा में बनी पत्थर, मिट्टी अथवा लकड़ी की स्त्री को भी भूलकर पैर से भी न छूना चाहिये। जो प्रतिमा में बनी स्त्री को भी छूता है, वह भी फँस जाता है, फिर साक्षात् स्त्री को जो छूता है, उसका तो कहना ही क्या ?

राजा ने पूछा—"महाराज ! यह तो बड़ा ही अन्याय है, काम भाव से छूना तो पाप है, किन्तु स्त्री मात्र को अछूत बना लेना यह कहाँ का न्याय है। हम सब लोग भी तो स्त्रियों से ही पैदा हुए हैं। उसी उदर से पुरुष उत्पन्न होता है उसी से स्त्री। सहोदरा बहिन को न छूवे, अपनी माता को न छुवे, यह क्या बात हुई।"

शीघ्रता के साथ अवधूत मुनि बोले—"नहीं, नहीं राजन ! मेरा यह अभिप्राय नहीं कि स्त्रियाँ सभी अछूत अस्पर्श होती

हैं। यहाँ न छूने से अभिप्राय कामवासना की निन्दा में है। जैसे पुरुष को स्त्री का छूना निषेध है वैसे ही स्त्री को पर पुरुष का छूना भी निषेध है। स्त्रियों में भी विशेषकर युवती स्त्री का निषेध है। अपनी वृद्ध माता है, उसके पैर छूते हैं, चरण सेवा करते हैं। अपनी छोटी बहिन है उसे गोदी में खिलाते हैं। युवावस्था बड़ी अविवेक की अवस्था है। यह तो स्त्री पुरुष दोनों को ही अन्धा बना देती है। इसमें स्त्री परपुरुष को, पुरुष परनारी को कभी स्पर्श न करे। युवती गुरुपत्नी के भी पैर छूना निषेध है। युवती माता, बहिन, बेटी का भी एकान्त में स्पर्श निषेध है। फिर मैं जो यह वर्णन कर रहा हूँ यह त्यागी विरागी यतियों के धर्म का वर्णन कर रहा हूँ। यति सब कुछ छोड़कर आया है, उसने पूर्वाश्रम में कभी युवती स्त्री का स्पर्श किया है, अब वह चाहे शुद्ध भाव से भी युवती का स्पर्श करेगा, तो उसकी पूर्व स्मृतियाँ जाग उठेंगी। अजी, सजीव की कौन कहे निर्जीव चित्रों को देखकर स्मृतियाँ जाग उठती हैं। इस पापी मन का पता नहीं कहाँ ले जाकर डुबो दे। कितना भी त्यागी-विरागी इन्द्रियजित क्यों न हो जाय, मन का कभी भूलकर भी विश्वास न करे। जब तक जीता रहे यह अभिमान न लावे, कि मैं अब इन्द्रियजित हो गया। संग से—आसक्ति से—आरूढ़ योगी भी पतित हो जाते हैं। इसलिये संकल्पपूर्वक राग से युवती का स्पर्श यति को कभी भी न करना चाहिये, विशेष करके एकान्त में। जहाँ निषेध है एकान्त का ही निषेध है। मेले-ठेले में यात्रा में स्पर्श होता ही है। मुख्य तात्पर्य यहाँ राग में है। यति को रागभरी दृष्टि से न तो उनकी ओर देखना चाहिये और न अनुरागपूर्वक छूना चाहिये।"

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! मैं समझ गया। अच्छा, फिर आपने क्या देखा?"

मुनि बोले—"राजन्! उस हाथी को कुँए में गिरते देखकर मैं

आगे बढा। वहाँ मुझे एक हाथियों का झुण्ड दिखाई दिया। हाथियों मे यह होता है कि एक तो यूथपति होता है, शेष उसके साथ हथिनियाँ होती हैं। उस यूथ में यदि कोई हाथी युवक हो गया, तो वह अपना अलग यूथ बना लेगा। किसी अन्य यूथ का हाथी आकर किसी दूसरे यूथ की हथिनी से छेडछाड करता है, तो उस यूथ वाले उसे मार डालते हैं। मेरे देखते देखते एक युवक हाथी आया, उसने उस यूथ की हथिनी से छेडछाड की, उसे तुरन्त सबने मार डाला। तब मैंने सोचा—देखो, इस हाथी की मृत्यु हथिनी बनकर आ गयी। जो पुरुष अन्य स्त्रियों की ओर मन चलाते हैं, उसे सबल पुरुष मार डालते हैं या भयकर रोग उसके शरीर का अन्त कर डालते हैं। अतः बुद्धिमान पुरुष को साक्षात् मृत्यु रूप परस्त्री को कभी स्वीकार न करना चाहिये। जो ऐसा करता है वह स्त्री का आलिंगन नहीं करता है मानों अपनी मृत्यु का ही आलिंगन करता है। इसलिये त्यागी यति को कृत्रिम स्त्री का भी स्पर्श न करना चाहिये और गृहस्थ को परस्त्री का सग भूलकर भी न करना चाहिये।"

यह सुनकर राजा यदु ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका और हाथी से ली हुई शिक्षाओं का वर्णन किया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ, कि आपने शहद एकत्रित करने वाले मधुहारी को गुरु बनाकर उससे कौन सी शिक्षा ग्रहण की?"

यह सुनकर अवधूत मुनि हँस पडे और बोले—"राजन्! हम भिक्षा पर ही निर्वाह करने वाले भिक्षुओं को सन्तोष तो मधुहारी की वृत्ति से ही होता है। अच्छी बात है, मैं आपको मधुहारी से ग्रहण की हुई शिक्षा को सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आप दत्त भगवान् की कही हुई मधुहारी से ग्रहण की हुई शिक्षाओं को श्रवण करें।"

छप्पय

जब कछु आगे बढ़्यौ यूथ हाथिनिको आयौ ।
परहथिनी संग निरखि युवक गज मारि गिरायौ ॥
गुरु गज करिकें लई सीख अतिई उपयोगी ।
बनी काठकी नारि पैर तैं छुए न योगी ॥
परनारी है अगिनि सम, काम नेह तैं नित जरै ।
जो पकरै सो मृत्यु को, आलिङ्गन करि-वत करै ॥

मधुहारी से शिक्षा

[१२३५]

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःखसञ्चितम् ।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

जोरि जोरि क धरै लोभवश लोभी धनकूँ ।
स्वय खाइ नहिं देहि अतिथि गुरु बन्धु स्वजनकूँ ॥
भेद भेदिया लेइ एक दिन चुपके आवै ।
मधुहारी सम आइ निकारै मधु सब खावै ॥
रचि पचिकै सग्रह करैं, ते देखत रह जात हैं ।
राम भरोसे जे रहैं, मेवा मिश्री खात हैं ॥

जिसके पास अपनी कोई वस्तु नहीं है, उसके लिये सब वस्तु अपनी है। सुवर्ण तो भूमि से निकलता है, वह चाहे देवदत्त के घर में रखा रहे या विष्णुमित्र के, जब उसे रखा ही रहना है तो कहीं भी क्यों न रहे। एक कहानी है—कोई मनुष्य सुवर्ण को एक स्थान पर गाडता जाता था। कभी कभी आकर उसे देख लेता।

---

* अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—'राजन्! जैसे मधु मक्खियों के एकत्रित किये मधु को मधुहारी ही भोगता है, उसी प्रकार लोभी पुरुष जिन-जिन पदार्थों को दुःख से सग्रह करते हैं उन्हें न तो स्वयं ही भोगते हैं और न दूसरों को ही देते हैं। उनके धन का भोग कोई अपरिचित ही करता है।"

किसी चोर ने एक बार उसे देख लिया। जब वह व्यक्ति देखकर उसे गाड़कर चला गया, तो पीछे से चोर ने आकर सुवर्ण की ईंटें तो उखाड़ लीं, और वहाँ वैसा ही पत्थर रख दिया। दूसरे दिन वह धन का स्वामी धन देखने आया और वहाँ सुवर्ण के स्थान के में जब उसने पत्थर देखा, तो वह रोने लगा। उसी समय एक महात्मा वहाँ आये। उन्होंने पूछा—"भाई! तुम क्यों रोते हो?"

उसने कहा—"महाराज! मेरा कोई सुवर्ण यहाँ से चुरा ले गया है और इसके स्थान पर यह पत्थर रख गया है।"

महात्मा ने पूछा—"तुम्हारा सुवर्ण से क्या काम निकलता था?"

उसने कहा—"काम यह निकलता था भगवन्! मैं उसे नित्य देख लेता था, इसी से मुझे प्रसन्नता होती थी, मेरे पास इतना धन है।"

महात्मा ने कहा—"जब केवल यह देखने के ही उपयोग में आता था, तो तुम उसकी इतनी चिन्ता क्यों करते हो। जैसे सोना देखते थे, अब नित्य पत्थर को देख लिया करो। अरे भाई जब तुम उसका उपयोग न करोगे, तो कोई दूसरा करेगा। तुम उसे कभी व्यय तो करते नहीं थे, इसलिये तुम्हारे पास रहना न रहना बराबर है। यहाँ न रहा, कहीं अन्य स्थान में रहेगा। सुवर्ण तो नष्ट होने वाला नहीं।"

कहने का सारांश इतना ही है, कि जो संग्रह करता है वह तो उतनी ही वस्तु को अपनी कह सकता है। जो जान बूझकर संग्रह नहीं करता उसके लिये सभी अपना है। एक अन्धे महात्मा थे, वे आ रहे थे। एक ने पूछा—"आप तो अन्धे हैं आप अमुक स्थान पर कैसे जायेंगे?" उन महात्मा ने कहा—तुम्हारे पास तो दो ही आँखें हैं, मेरे पास तो अनन्त आँखें हैं,

जिस आँख वाले को आँखों का चाहूँगा उपयोग कर सकूँगा।"

एक सुप्रसिद्ध महात्मा कहीं विदेश में गये। दूसरे साथ के यात्रियों ने कहा—"महात्मा जी! आपके पास पैसा तो है ही नहीं, उस अपरिचित देश में निर्वाह कैसे करोगे?"

महात्मा ने कहा—"तुम्हारे बटुआ में जितने पैसे हैं, तुम्हारे लिये तो उतने ही अपने हैं, किन्तु मेरे लिये सबके पैसे अपने हैं। जहाँ जाऊँगा वहीं जिन सज्जनों के बटुओं के रुपयों का चाहूँगा उपयोग कर सकूँगा।" इन उद्धरणों का अभिप्राय इतना ही है कि कृपण पुरुष धन रहते हुए भी उसका व्यय नहीं कर सकता, सदा दुखी बना रहता है, किन्तु उदार पुरुष के पास एक पैसा भी नहीं रहता, फिर भी वह अपनी उदारता से यथेष्ट उड़ाता खाता है और कभी दुखी नहीं रहता।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! शहद एकत्रित करने वाले मधुहारी से क्या शिक्षा ग्रहण की, इस प्रसङ्ग को बताते हुए अवधूत दत्तात्रेयजी महाराज यदु से कह रहे हैं—"राजन्! हमारे यथार्थ गुरु तो मधुहारी ही हैं। देखिये, मधुमक्खी दिन भर केवल संग्रह के लिये ही प्रयत्न करती है। इस पुष्प के समीप जा, उससे मधु संग्रह कर, इस फूल पर बैठे उस पर बैठे इस प्रकार निरन्तर संग्रह करने में ही लगी रहती है, भर पेट मधु पीती भी नहीं। उन्हें तो निरन्तर संग्रह करने की, अपने छत्ते के शहद को बढ़ाने की चिन्ता लगी रहती है। ऐसा देखा गया है, पहाड़ों में एक-एक छत्ते में ३-३ ४-४ मन तक शहद एकत्रित हो जाता है। बड़े कष्ट से वे मधु को एकत्रित करती हैं। ऐसे छोटे छोटे पुष्पों से जो भली-भाँति दीखते भी नहीं उनसे भी कण-कण मधु संग्रह करती हैं। कोसों दूर उड़कर जाती हैं और वहाँ से संग्रह करके लाती हैं। मुँह भर जाता है तो उसे छत्ते में रख जाती हैं, पुनः उड़कर जाती हैं। अधिक संग्रह के लोभ से पेट भर के खाती भी नहीं।

कितने दिनों में वे संग्रह करती हैं। एक दिन मधुहारी आता है, उनके रहते हुए ही उनके सम्मुख सबको ले जाता है और उनके देखते देखते पेट भर पी जाता है।

एक दिन मैं घूमता घामता पहाड़ पर चला गया। वहाँ मैंने मधुहारी को मक्खियों के सम्मुख ही शहद खाते देखा तो मैंने उसे अपना गुरु बना लिया। मैंने कोई वस्तु संग्रह करने की आवश्यकता नहीं समझी। जहाँ रोटी बनती देखी, वहीं जाकर 'नारायण हरि' कह दिया। गृहस्थी कितने यत्न से अन्न को जुटाता है, उसे पीसता है, बनाता है, उसको पकाता है। जहाँ पककर तैयार हुई, कि सन्यासी ब्रह्मचारी उसके द्वार पर जाकर भिक्षा माँगते हैं। वह अपने स्वयं पीछे खाता है, भिक्षा पर ही निर्वाह करने वाले ब्रह्मचारी भिक्षुओं को प्रथम खिला देता है। फिर साधु को संग्रह करने कि क्या आवश्यकता है। जो संग्रह करता है, वह तो उसका उपभोग भी नहीं कर सकता।

लक्ष्मी का उपयोग तीन रूप से किया जाता है। कोई उसका मातृरूप से उपयोग करते हैं, कोई पत्नी रूप से और कोई पुत्री रूप से। जैसे माता है, वह सबसे बोलती है, सबसे प्यार करती है, घर में जो भी आ जाता है सबको भोजन कराती है सभी को सुख पहुँचाती है। इसी प्रकार उदार पुरुषों के यहाँ की लक्ष्मी सबके काम में आती है। दान धर्म होता है, परोपकार होता है, सभी ऐसे धनी की छत्रछाया में आश्रय पाते हैं।

दूसरे कृपण लोग लक्ष्मी का सेवन पत्नी रूप से करते हैं। जैसे पत्नी केवल पति को ही अत्यंत सुख पहुँचाती है, कुछ परिवार वालों की भी देख रेख रखती है, उसी प्रकार साधारण श्रेणी के कृपण धन का उपयोग केवल अपने तथा अपने कुटुम्बियों के सुख के लिये ही करते हैं। दान धर्म पुण्य आदि कर्म नहीं करते वे धन को स्वयं भोगते हैं।

तीसरे अत्यन्त कृपण लोग लक्ष्मी का सेवन पुत्री भाव से करते हैं। जैसे पुत्री का पालन पोषण तो स्वयं करते हैं, जब वह बड़ी हो जाती है, तो दूसरे के घर चली जाती है, दूसरों के यश की वृद्धि करती है। ऐसे ही अत्यन्त कृपण लोग न तो दान धर्म करेंगे, न स्वयं खायेंगे। जोड़-जोड़ धर जायेंगे। माल जमाई खयेंगे। यही कहावत उनके लिये चरितार्थ हो जाती है। मधु मक्खी की भाँति संग्रह तो वे स्वयं करते हैं, मधुहारी की भाँति उसका उपयोग दूसरे लोग करते हैं। इसी प्रकार राजन्! हम लोगों को न चूल्हे की चिन्ता न चक्की की। आटा क्या भाव है दाल चावल किस भाव मिलते हैं, इसे गृहस्थ सोचें। हम तो बनी-बनाई के स्वामी हैं। बनकर तैयार हुई पहुँच गये तूमा ले कर। उसके सामने ही बैठकर खा लेते हैं और हाँथ पौंछकर चले आते हैं। इसलिये मधुहारी को मैंने अपना गुरु बना लिया।

राजा यदु ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधु-मक्षिका, हाथी और मधुहारी से ग्रहण की हुई शिक्षाओं के सम्बन्ध में कहा। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि आपने हरिण को गुरु बनाकर उससे क्या शिक्षा ग्रहण की?"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! अब हरिण की ही शिक्षा को मैं सुनाता हूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! अब आप भी अवधूतगीता के अन्तर्गत हरिण की शिक्षा को श्रवण करें।"

—०—

छप्पय

मै मेरी करि पहिन लेइ बेड़ी नर पग महँ।
धन काहू को भयो न होगो है नहि जग महँ॥
मधुमक्खी करि कष्ट राति दिन शहद जुटावै।
नहीं भोग कर सकै काम औरनि के आवै॥
मधुहारी गुरु करि सदा, भिक्षा माँगन जात हूँ।
गृही समही तैं प्रथम, बाबा बनिकें खात हूँ॥

हरिण से शिक्षा

[१२३६]

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित् ।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ८ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

बीहड़ वन में व्याध विलोक्यो बीन बजावत ।
ढिँग महँ जाल बिछाय मधुर स्वर राग अलापत ॥
सुनि बीना की तान रागप्रिय मृग तहँ आयो ।
गाम गीत सुनि फँस्यो अज्ञ निज प्राण गँमायो ॥
स्रवनेन्द्रिय आधीन है, पछितावै अरु सिर धुनै ।
वनवासी यति भूलिकें, विषय-गीत कबहुँ न सुनै ॥

चित्त एक शुभ्र वस्त्र है, इस पर जैसा रंग चढ़ जाता है, वैसा ही यह बन जाता है। पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं। नेत्रों का विषय रूप है, जिह्वा का विषय रस है, घ्राण का गन्ध, त्वचा का स्पर्श और कानों का विषय शब्द है। जो इन्द्रिय अपने विषय में अत्यन्त आसक्त हो जाती है, मन उसी के अनुरूप बन जाता

---

* अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! वन में वास करने वाले यति को चाहिये, कि कभी भी ग्राम्यगीत श्रवण न करे। इस बात की शिक्षा उसे गीत के मोह के कारण जाल में बँधे हुए हरिन से लेनी चाहिये।"

है। यदि आँखों में किसी का रूप बस जाय, तो चित्त निरन्तर उसी रूप का चिन्तन करता रहेगा, उसी में तन्मय हो जायगा। वैसे तो सभी इन्द्रियों के विषय प्रबल हैं, किन्तु जो श्रवणेन्द्रिय का विषय है शब्द, वह अत्यन्त ही आकर्षक है। शास्त्रीय ढँग से स्वर, ताल तथा लय के साथ राग गाया जाय तो अचर-सचर हो सकते हैं, दीपक अपने आप जल सकते हैं बड़े-बड़े पर्वत शब्द के प्रभाव से ही गिर सकते हैं, शब्द में अनन्त शक्ति है, उसका कभी नाश नहीं होता। शब्द अक्षर है, वह नित्य है, उसका प्रभाव भी अनिवार्य है। गायन से हृदय अपने आप आकर्षित हो उठता है। सहृदय मनुष्यों की तो बात ही क्या है, भोले-भोले मृगों का, विषधर सर्पों का भी चित्त राग की स्वर लहरी पर नृत्य करने लगता है और वे राग को सुनकर आत्मविभोर बन कर झूमने लगते हैं, जैसा राग होगा वैसा चित्त बन जायगा। यदि राग वैषयिक है तो चित्त भी विषयवासनापूर्ण हो जायगा। यदि राग भगवद्भक्ति विषयक है तो हृदय भक्तिरस में परिप्लावित हो जायगा। अतः गीत तो गोविन्द के गुणानुवाद सम्बन्धी ही सुनने चाहिये। जो सांसारिक विषयवासना पूर्ण गीत सुनेंगे उनका चित्त विषयों में अनुरंजित हो ही जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अवधूत मुनि मृग से ली हुई शिक्षा के सम्बन्ध में महाराज यदु को बताते हुए कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन की बात है कि मैं घूमता फिरता एक बीहड़ वन में निकल गया। आप जानते ही हैं, हम लोग तो वनवासी हैं। वनों में ही रहते हैं, वनों में ही घूमते हैं, ग्राम तथा नगरों में तो कभी-कभी आहार के निमित्त आ जाते हैं। मैं सघन वन में होकर जा ही रहा था कि मुझे बड़ी सुन्दर वीणा की ध्वनि सुनाई दी। मैं उस राग की ध्वनि के सहारे-सहारे ही बढ़ता गया। वहाँ जाकर मैंने देखा, एक कृष्ण वर्ण का व्याधा बीन बजा रहा है। व्याधे की दृष्टि में क्रूरता स्पष्ट झलक रही

थी। उसके ताम्र वर्ण के बाल कठोर और रूखे थे। आँखें गोल, छोटी और लाल लाल थीं। माथा छोटा, नाक चिपटी, शरीर रूखा, गँठीला पुष्ट और कठोर कृष्ण चर्म वाला था। देखने में वह साक्षात काल प्रतीत होता था। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह इतनी क्रूर प्रकृति का पुरुष इस प्रकार तन्मय होकर बीन क्यों बजा रहा है। किसी को प्रसन्न करने को बजा रहा हो सो बात नहीं। इस निर्जन वन में दूसरा कोई है ही नहीं। स्वतः सुख के निमित्त आ म सन्तोष के लिये बजा रहा हो, सो भी बात नहीं

कही जा सकती, क्योंकि इसकी क्रूर दृष्टि इसका समर्थन नहीं करती। अवश्य ही इसके गायन में कोई अव्यक्त गूढ़ हेतु है। मेरा तो काम ही यह है कि संसार की प्रत्येक घटना से कुछ न कुछ उपदेश ग्रहण करना, इसीलिये मैं एक पेड़ की आड़ में खड़ा हो गया। वह बीन बजाता ही रहा।

कुछ देर में मैंने देखा, एक अत्यन्त व्याकुल हरिन दौड़ता हुआ वहाँ आया। उसे तन की सुधि-बुधि नहीं थी, वह व्याधे की वीणा की ध्वनि को ही सुनकर उसके राग से विमुग्ध होकर आया था। आकर वह तन्मय होकर उसके राग को सुनता रहा। व्याधा वीणा बजाता जाता था और कुछ-कुछ पीछे हटता जाता था। आत्मविस्मृत बना हरिण भी स्वर लहरी से आकृष्ट हुआ बढ़ता जाता था। आगे जाल था, हरिण उसमे फँस गया। व्याधा का मनोरथ पूरा हो गया, उसने वीणा बजानी बन्द कर दी। हरिन को पकड़ लिया और उसे मार डाला। उसी समय हरिण को मैंने अपना गुरु बना लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की की वनवासी यति को कभी भी ग्राम्य गीतों को न सुनना चाहिये। जिनमें प्राकृत पुरुषों के शृङ्गार का वर्णन हो, उन पदों को तो भूल से भी न सुने। जो सुनेगा वह इस हरिण की भाँति बन्धन मे पड़ जायगा। पुरुषों के गीत भूल से सुन भी ले तो उतनी हानि नहीं, किन्तु स्त्रियो के सुमधुर कंठ के निकले गीत, हाव भाव कटाक्ष युक्त नृत्य आदि तो न कभी सुने न देखे। वनवासी ऋष्य-शृङ्ग मुनि स्त्रियों के गीतों को ही सुनकर तो फँस गये थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ऋष्यशृङ्ग मुनि स्त्रियों का गायन सुनकर कैसे फँस गये?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! विभांडक मुनि के पुत्र की कथा आप भूल गये क्या? पीछे मैं वंश-वर्णन में ऋष्यशृङ्ग मुनि की कथा को विस्तार के साथ कह ही चुका हूँ। विभांडक मुनि के रेत को एक हरिणी पान कर गयी थी, उसी से उनके एक पुत्र हुआ। उनके सिर पर सींग थी इसलिये मुनि ने उनका नाम ऋष्यशृङ्ग रख दिया। मुनि की इच्छा थी, मेरा पुत्र संसार में न फँसे, आजन्म ब्रह्मचारी रहे। यही सोचकर उन्होंने कभी भी अपने पुत्र को स्त्रियों का दर्शन नहीं होने दिया। वे घोर वन में एकांत में

पुत्र के साथ रहते। जो ऋषि मुनि तपस्वी होते उनसे तो पुत्र को मिलने देते, किंतु अन्य किसी से बातें भी न करने देते। ऋष्यशृङ्ग जानते भी नहीं थे कि संसार में तपस्वियों के अतिरिक्त भी कोई है। जब वे युवक हुए तो अंग देश के राजा ने अपनी पुत्री का विवाह उनके साथ करना चाहा। किन्तु विभांडक मुनि के भय से किसी का भी वहाँ जाने का साहस नहीं हुआ। कोई स्त्रियों की बात भी कहता तो मुनि शाप दे देते। फिर जिस वनवासी युवक तपस्वी ने जीवन पर्यन्त स्त्री का मुख देखा ही नहीं, मृगी के पेट से उत्पन्न हुआ उससे बात भी की जाय तो कैसे की जाय। राजा ने बहुत सी वेश्याओं को बुलाया, उन सब ने असमर्थता प्रकट की। जब राजा अत्यन्त निराश हुए तब एक बूढ़ी वेश्या ने वनवासी युवक मुनि को फँसाने का बीड़ा उठाया। वह अपनी दो-चार युवती वेश्याओं को साथ लेकर गयी। उसने सोचा—"यह कुमार स्त्री के गर्भ से तो उत्पन्न हुआ नहीं। इसलिये इसे प्रथम स्त्रियों का रूप आकर्षित न कर सकेगा। यह है मृगी का पुत्र। मृगी कान की कच्ची होती है, वह सुन्दर स्वर सुनकर फँस जाती है। माता का कुछ-न कुछ प्रभाव सन्तान में अवश्य होता है, इसलिये यह मृगी सुत गायन सुनकर वश में हो सकता है। जो एक विषय के अधीन हो जाता है फिर उसे सभी विषयों के अधीन होना पड़ता है। जहाँ यह शब्द में फँसा कि सुन्दर रूप, सुख स्पर्श, स्वादिष्ट रस तथा मनमोहक गन्ध की ओर इसकी प्रवृत्ति स्वतः हो जायगी। यही सोचकर उस वेश्या ने जिस समय उनके पिता वन में कन्द मूल फल लेने गये थे उसी समय व्याधिन जैसे हरिण के बच्चे को फँसाने को वीणा बजाती है, वैसे ही उसने वीणा बजायी, सुन्दर स्वर में गीत गाना तथा नृत्य करना आरम्भ किया। मुनि पुत्र उस सुरीली तान को सुन कर स्वयं सूत में बँधे कबूतर की भाँति दौड़ा हुआ चला आया।

जब उसे शब्द सुनाकर फँसा लिया तो उन वेश्याओं ने अपने शरीर में लगे सुगन्धित अंगराग तथा इतर फुलेल की गन्ध से अपने गुह्य अंगों के सुखद स्पर्श से अपने मनमोहक रूप से तथा सुन्दर-सुन्दर मिठाइयों के रस से ऋषि कुमार को बाँध लिया और वह उनके हाथ की कठपुतली बन गया। उसके पिता ने उसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के सुखों से तो अनभिज्ञ रखा, किन्तु माता के सहज गुण शब्दाशक्ति से वे उसे नहीं बचा सके। इसी कारण ऋषि कुमार वेश्याओं के चक्कर में फँसकर गृहस्थी बन गया। इसलिये गायन सुने तो भगवान् सम्बन्धी सुने। संगीत का हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता है। जितना आकर्षण संगीत में है उतना किसी में नहीं है। इसलिये संसारी विषय सम्बन्धी संगीत से बचना चाहिये। वही शिक्षा मैंने अपने पन्द्रहवें गुरु हरिण से ली।"

राजा यदु ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कपोत, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी और हरिण इन पन्द्रह गुरुओं से ली हुई शिक्षा का तो वर्णन किया, अब यह बताइये आपने सोलहवें गुरु मीन से क्या शिक्षा ग्रहण की। मछली को आपने गुरु क्यों बनाया?"

अवधूत मुनि बोले-"राजन्! मछली से भी मैंने बड़ी सुन्दर शिक्षा ग्रहण की, उसे भी आप ध्यान से सुनें।"

शौनकादि मुनियों से नैमिषारण्य में सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार अवधूत दत्तात्रेय ने मीन से ली हुई शिक्षा का वर्णन किया उसे मैं आप से कहता हूँ, आप इस पुण्य पीयूष प्रसङ्ग का प्रेमपूर्वक पान करें।"

छप्पय

कोकिल कठी नारि गाइकें चित्त लुभावै।
विषय प्रसंशा करै स्वार्थ तें तुरत गिरावै॥
व्याधिनि जाल बिछाय मनुज मृग तुरत फँसावै।
ऋष्यशृङ्ग दृष्टान्त शास्त्र प्रत्यक्ष बतावै॥
मृग गुरु करि शिक्षा लई, करै राग ब्रजचन्द्र महँ।
विषय राग सुनि मृग सरिस, फँसै न जग के फन्द महँ॥

मीन से शिक्षा

[१२३७]

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः ।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ८ अ० १९ श्लोक)

छप्पय

मत्स्य कर्‌यो गुरु लई सीस रसना वश राखे ।
लोलुपतावश कबहुँ न अनुचित रस कूँ चाखे ॥
मास लोभ तैं मत्स्य निगल काँटे कूँ जावै ।
फेरि उगलि नहिं सकै लोभ महँ प्रान गँमावै ॥
होवैं विषय निवृत्ति जब, शिथिल होहिं इन्द्रिय सकल ।
केवल रसना छोडिकें, यह इन्द्रिय अतिशय प्रबल ॥

पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ है और पाँच ही उनके विषय हैं। पाँचो ज्ञानेन्द्रियों की स्नायुओं का सम्बन्ध पाँचो कर्मेन्द्रियों से है, जैसे चक्षु इन्द्रिय का सम्बन्ध चरण से है। आँखों को बन्द करके चल नहीं सकते, चलेंगे भी तो लाठी के सहारे शनैः शनैः। पैरों के तलुवों में तैल घृत लगाओ, नेत्रों मे

---

* महाराज यदु से महामुनि कह रहे हैं—"राजन्! इस अत्यन्त बलवती जिह्वा के वशीभूत होकर रस लोलुप पुरुष उसी प्रकार मारा जाता है जिस प्रकार बुद्धिहीन मत्स्य काटे मे लगे हुए मास के टुकडे के प्रलोभन से मारा जाता है।"

शीतलता आ जायगी। उष्ण बालू मे चलो, आँखें लाल हो जायँगी। जिनके पैरो की गति न्यून हो जाती है उनकी देखने की शक्ति भी शिथिल पड जाती है। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध गुदेन्द्रिय से है। जिनका स्वाधिष्ठानचक्र दूषित हो जाता है। उनको गन्ध का ज्ञान बहुत कम होता है। नासिका सम्बन्धी रोगो का मूल कारण गुदा चक्र के दोष ही हैं।

स्पर्श इन्द्रिय का सम्बन्ध हाथ से है। शरीर मे कहीं भी चोटी आदि छूवे तुरन्त हाथ वहाँ चला जायगा। त्वचा मे जहाँ भी खुजली होगी, हाथ तुरन्त जाकर वहाँ खुजा आवेगा। अन्य इन्द्रियाँ तो अपने-अपने गोलकों मे ही रहती हैं, किन्तु स्पर्शेन्द्रिय भीतर-बाहर सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है। इसकी स्नायुओं का विशेष सम्बन्ध हाथों से है। कर्णेन्द्रिय का विशेष सम्बन्ध वाणी से है, इसलिये जो गूँगे होगे वे बहरे भी होंगे। जो बहरे हो जाते हैं, उनकी वाणी को सुनते ही अनुभव होने लगता है कि ये कम सुनते हैं। बिना कानो के वाणी सुनी ही नहीं जा सकती। इसलिये कान और वाणी का परस्पर मे घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी प्रकार रसना इन्द्रिय का और उपस्थेन्द्रिय का परस्पर मे बडा घनिष्ट सम्बन्ध है। जो जितना ही जिह्वालोलुप होगा, वह उतना ही अधिक कामी होगा। बिना जिह्वा को वश मे किये कोई चाहे कि हम ब्रह्मचर्य का यथाविधि पालन कर सकें यह असम्भव है। ससार मे दो इन्द्रियाँ ही सबसे प्रबल हैं, एक रसेन्द्रिय दूसरी उपस्थेन्द्रिय है। इन दोनों के ही वश मे होने से मनुष्य दीन हो जाता है और वह स्त्रियों के हाथ का क्रीडामृग बन जाता है। स्त्रियाँ उसे जैसे नचाना चाहती हैं वैसे वह नाचता है। इन दोनों की प्राप्ति पत्नी से होती है, अतः गृहस्थ मे ये ही दो सुख विशेष माने गये हैं। कहना चाहिये कि अधिकांश लोग धर्म बुद्धि से नहीं इन दो के लिये ही गृहस्थ बनते हैं।

एक कोई वृद्ध वैद्य थे, वृद्धावस्था में उन्होंने नया विवाह किया। किसी ने पूछा—"वैद्यजी ! इस अवस्था में आपको विवाह करने की क्या सूझी ? अब तो आपका पुत्र ही विवाह करने योग्य हो गया।"

उन्होंने कहा—"भैया, यह सब तो सत्य है। वैसे मुझे विवाह की कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु सच्ची बात यह है कि रसोइया के हाथ की रोटी में रस ही नहीं आता। न तो पेट ही भरता है न स्वाद ही आता है।"

इस उद्धरण का सारांश यही है कि मनुष्य इन दो इन्द्रियों के अधीन होकर ही दीन बन जाता है। "औपस्थ जैह्व कार्पण्यात् गृहपालायते जनः" इस जिह्वा और उपस्थ के कारण ही उसे घर के कुत्ते के सदृश दीन होकर पूँछ हिलानी पड़ती है। जिन्होंने इन दोनों को जीत लिया वह विश्वविजयी बन गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महामुनि दत्तात्रेय मछली से ग्रहण की हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! एक दिन मैं नदी-किनारे घूम रहा था। वहाँ मैंने देखा, एक धीवर काँटे पर माँस के टुकड़े लगा रहा है। मैंने पूछा—"क्यों भाई, तुम इस पर माँस का टुकड़ा क्यों लगा रहे हो ?"

उसने कहा—"ब्रह्मन् ! इस काँटे पर माँस का टुकड़ा लगा कर मैं जल में छोड़ूँगा, मछली माँस के लोभ से इसे निगल जायगी।। तब मैं उसे खींचकर पकड़ लूँगा।"

मैंने कहा—"अरे भाई, जो निगल सकता है वह उगल भी सकता है। जब उसे विदित हो जाय कि इसमें काँटा है तो फिर उसे उगल दे।"

उसने कहा—"ब्रह्मन् ! विषयों का निगल जाना तो सरल है, उगल जाना अत्यन्त कठिन है। बहुत से लोग अभिमान के

वशीभूत होकर कहा करते हैं—अजी, हम मन से थोडे ही फँसे हैं, जब चाहे तब छोड दें। यह उनकी मूर्खता है। जीवों की विषयों मे अनादि काल की प्रवृत्ति है। एक बार जो विषय ग्रहण कर लिया उसे छोडना बडा कठिन हो जाता है। यह माँस का लिपटा काँटा है, इसकी कीलें नीचे को मुडी हुई हैं। निगला तो सरलता से जा सकता है, किन्तु उगलते समय कठ मे फँस जाता है। तभी हम मछली को खींच लेते हैं। जो मछली इस नहा निगलती, वह हमारे फँदे मे भी नहीं फँसती।"

उस धीवर की बात सुनकर मैं वहाँ खडा हो गया। उसने काँटे मे माँस लपेट कर जल मे डाला, बाँस की लकडी को स्वय पकडे रहा। कुछ काल के पश्चात् एक माँस लोलुप बडा भारी मत्स्य आया। वह अपनी जिह्वा को वश मे न कर सका। उसने काँटे को निगल लिया। धीवर ने खींचा तो वह काँटे मे फँसा हुआ चला आया। जल के बाहर होते ही वह छटपटाता हुआ मर गया। तुरन्त मैंने उसे अपना गुरु मान लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की, कि पुरुष को जिह्वा के वश में न होना चाहिये।

महाराज यदु ने पूछा—"ब्रह्मन्! जब यह रसना ही हत्या की जड है, जब इसी से बन्धन होता है, तो खाना पीना छोड ही क्यों न दे। न खायगा, न बन्धन मे पडेगा।"

अवधूत मुनि बोले—"राजन्! न खाने से अन्य इन्द्रियाँ तो शिथिल पड जाती हैं, उन्हें अनशन व्रत के द्वारा वश मे किया जा सकता है। बहुत दिन न खाने से आँखों की ज्योति नष्ट हो जाता है, कानो से भी नहीं सुना जाता, घ्राणेन्द्रिय भी निर्बल हो जाती है। त्वचा भी रूखी रूखी हो जाती है, पैरों में चलने का शक्ति नहीं रहती, हाथो से भली भाँति काम नहीं होता। मल भी नहीं उतरता, बोलने में भी कष्ट होता है। अन्य सभी इन्द्रियाँ

शिथिल हो जाती हैं, किन्तु यह स्वादेन्द्रिय शिथिल नहीं होती। मोदकों को भले ही हाथ उठाकर जिह्वा के समीप न ले जाये, किन्तु मन के मोदक जिह्वा खाती रहेगी। पिछली खाई हुई वस्तुओं का स्वाद लेती रहेगी, आगे की वस्तुओं के लिये ललचती रहेगी। अन्य इन्द्रियों क जीतने मे उतना कठिनता नहीं है, उन्हे उनक विषयों से पृथक् कर दो वे शिथिल हो जायँगी। कानो को सगीत रूपी आहार मत दो, वे वश मे ही हैं। किन्तु यह कुट्टिनी जिह्वा बडी ठगिनी है। मनुष्य जिह्वा का कच्चा न हो, तो वह सिंह के समान दहाड मारता रहे। इसके वश होने ही से वह गीदड बन जाता है। जिह्वा को वस्तु अत्यन्त प्रिय होती, उसका स्मरण कर-करके वह पानी बहाती रहती है और उस पानी को ही पी पीकर अपनी इच्छा को प्रबलतम करता रहती है। जिसने रसना को जीत लिया, उसके लिये कुछ भी जीतना शेष नहीं रहता। सभी जीता जा सकता है।"

महाराज यदु ने पूछा—"भगवन्! आपने पृथ्वी से लेकर मीन तक सोलह गुरुओ से ली हुई शिक्षा का वर्णन तो किया, अब आप यह बतावें कि सत्रहवें गुरु वेश्या-नहीं गुरुआनी वेश्यादेवी-से आप ने क्या शिक्षा ली। आपने लोकनिंदित वेश्या को गुरु क्यों बनाया?"

यह सुनकर अवधूत मुनि हँस पडे और बोले—"राजन्! ससार मे अपना आपा ही बुरा है। अपने से ससार मे सभी अच्छे हैं। बुराई तो अपने भीतर है। यदि भीतर बुराई न होगी तो बाहर भी दिखाई न देगी। यह ससार ही गुण दोषों से बना है। सब में कुछ न कुछ अच्छाई है, कुछ न कुछ बुराई है। निर्दोष तो एकमात्र ब्रह्म ही है। यदि हम सब की बुराई देखेंगे तो बुराई के सस्कार पडेंगे, यदि हम भलाई देखेंगे तो भलाई के सस्कार पडेंगे। अग्नि जिसमे लगती है पहिले अपने आश्रय को

जलाती है, तब आगे बढती है। तुम किसी पर क्रोध करो, तो सबसे पहिले क्रोध तुम्हारे हृदय में उत्पन्न होगा, तुम्हारे अन्तः करण को क्षुभित करेगा, तब दूसरे को क्षोभ पहुँचावेगा। दूसरों की हम बुराई देखें तो उससे लाभ तो कुछ भी नहीं, प्रत्युत हानि ही हानि है। अतः बुराई देखनी हो तो अपनी देखे, भलाई देखनी हो तो दूसरों की देखे। जैसे कोई अक्षर ऐसा नहीं जो मन्त्र हो, कोई वस्तु ऐसी नहीं जो औषधि न हो। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसमें कुछ न कुछ गुण न हो। सन्त पुरुषों के यही लक्षण हैं कि अपने राई भर दोष को पहाड के सदृश मानकर उसे अपने अन्त करण से निकालने का सतत प्रयत्न करता रहे और दूसरे के परमाणु सदृश गुण को पर्वत के समान करके अपने अन्तःकरण मे उसका विकाश करे, उसे ग्रहण कर ले। विष्ठा के भीतर कोई मोती पडा हो तो उसे धन लोलुप कभी छोड सकता है? इसी प्रकार जिसे ज्ञान पिपासा है, जो सबको गुरु बनाकर शिक्षा ग्रहण करने को लालायित है, वह वेश्या से गुण ग्रहण करने में क्यों हिचकेगा?"

राजा ने कहा– "हाँ ब्रह्मन्! आपका कथन यथार्थ है। अच्छा, कृपा करके बताइये आप ने वेश्या से क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार अवधूत महा मुनि ने वेश्या से ग्रहण की हुई शिक्षा के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही सरस मर्मस्पर्शी कहानी कही है उस कहानी का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय–है इन्द्रिय आधीन समय सब यों ही बीते।
इन्द्रियजित नहिँ होहि न जब लग रसना जीते॥
रसना संयम सीख लई मफरी तैं राजन्।
वेश्या गुरु क्यों करी कहूँ ताको अब कारन॥
मिथिलापुर महँ पिङ्गला, वेश्या अति सुन्दर रहति।
आवे कोई नर धनी, बैठी नित आशा करति॥

वेश्या से शिक्षा

[१२३८]

आशा हि परम दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिंगला ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ८ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

इक दिन बैठी रही न कोई कामी आयो ।
है निराश वैराग्य भयो मन अति पछितायो ॥
सोचति—हौं अति पतित मनुज-तन व्यर्थ गँवायो ।
नित्य कमाऊँ पाप न हरिमहँ चित्त लगायो ॥
करैं कामना पूर्ण का, ये कामी अति क्षुद्र नर ।
क्यों न भजूँ प्रभुकूँ सतत, जो विश्वम्भर गुणाकर ॥

दुःख पड़ने पर जिसे विषयों से विराग हो जाय, भगवान् की नित्यता और इन सांसारिक पदार्थों की असत्यता क्षण-भंगुरता प्रतीत होने लगे, तो समझो भगवान् इसे अपनाना चाहते हैं, इसके ऊपर कृपा करना चाहते हैं। धन की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। जिसकी तृष्णा जितनी ही बड़ी होगी वह उतना ही दीन दरिद्री होगा। इसलिये भगवान् जिन्हें अप-

---

* अवधूत दत्तात्रेय महाराज यदु से कह रहे हैं—"राजन्! आशा ही परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है, जैसे पिंगला वेश्या, कान्त की आशा को त्याग देने पर सुखपूर्वक सो गयी थी।"

जलाती है, तब आगे बढ़ती है। तुम किसी पर क्रोध करो, तो सबसे पहिले क्रोध तुम्हारे हृदय में उत्पन्न होगा, तुम्हारे अन्तः-करण को क्षुभित करेगा, तब दूसरे को क्षोभ पहुँचावेगा। दूसरों की हम बुराई देखें तो उससे लाभ तो कुछ भी नहीं, प्रत्युत हानि ही-हानि है। अतः बुराई देखनी हो तो अपनी देखे, भलाई देखनी हो तो दूसरों की देखे। जैसे कोई अक्षर ऐसा नहीं जो मन्त्र हो, कोई वस्तु ऐसी नहीं जो औषधि न हो। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसमें कुछ-न-कुछ गुण न हो। सन्त पुरुषों के यही लक्षण हैं कि अपने राई भर दोष को पहाड़ के सदृश मानकर उसे अपने अन्तःकरण से निकालने का सतत प्रयत्न करता रहे और दूसरे के परमाणु सदृश गुण को पर्वत के समान करके अपने अन्तःकरण में उसका विकाश करे, उसे ग्रहण कर ले। विष्ठा के भीतर कोई मोती पड़ा हो तो उसे धन-लोलुप कभी छोड़ सकता है? इसी प्रकार जिसे ज्ञान-पिपासा है, जो सबको गुरु बनाकर शिक्षा ग्रहण करने को लालायित है, वह वेश्या से गुण ग्रहण करने में क्यों हिचकेगा?"

राजा ने कहा– "हाँ ब्रह्मन्! आपका कथन यथार्थ है। अच्छा, कृपा करके बताइये आप ने वेश्या से क्या शिक्षा ग्रहण की?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार अवधूत महा-मुनि ने वेश्या से ग्रहण की हुई शिक्षा के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही सरस मर्मस्पर्शी कहानी कही है उस कहानी का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय–है इन्द्रिय आधीन समय सब यों ही बीते।
इन्द्रियजित नहिँ होहि न जब तक रसना जीते॥
रसना संयम सीख लई मफरी तें राजन्।
वेश्या गुरु क्यों करी कहूँ ताको अब कारन॥
मिथिलापुर महँ पिङ्गला, वेश्या अति सुन्दर रहति।
आवै कोई नर धनी, बैठी नित आशा करति॥

वेश्या से शिक्षा

[१२३८]

आशा हि परम दुःख नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिंगला ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ८ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

इक दिन बैठी रही न कोई कामी आयो ।
है निराश वैराग्य भयो मन अति पछितायो ॥
सोचति—हौं अति पतित मनुज-तन व्यथ गँवायो ।
नित्य कमाऊँ पाप न हरिसहँ चित्त लगायो ॥
करैं कामना पूर्ण का, ये कामी अति क्षुद्र नर ।
क्यों न भजूँ प्रभुकूँ सतत, जो विश्वम्भर गुणाकर ॥

दुःख पड़ने पर जिसे विषयों से विराग हो जाय, भगवान् की नित्यता और इन सांसारिक पदार्थों की असत्यता क्षण-भंगुरता प्रतीत होने लगे, तो समझो भगवान् इसे अपनाना चाहते हैं, इसके ऊपर कृपा करना चाहते हैं। धन की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। जिसकी तृष्णा जितनी ही बड़ी होगी वह उतना ही दीन दरिद्री होगा। इसलिये भगवान् जिन्हें अप-

---

* अवधूत दत्तात्रेय महाराज यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! आशा ही परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है, जैसे पिंगला वेश्या, कान्त की आशा को त्याग देने पर सुखपूर्वक सो गयी थी।"

नाना चाहते हैं उनका बन्धु विछोह करा देते हैं, धन को हर लेते हैं, प्रियतम का वियोग करा कर संसार की अनित्यता दिखा देते हैं। अवन्ती नगरी के महाराज भर्तृहरि अपनी पत्नी से अत्यन्त प्यार करते थे। वह अत्यन्त ही सुन्दरी और गुणवती थी। राजा ने अपना सम्पूर्ण प्रेम उसके ऊपर उदारता के साथ उडेल दिया था। उन्होंने सर्वस्व उसके ऊपर निछावर कर दिया था। किन्तु रानी उनके प्रति कपट प्रेम प्रदर्शित करती थी, उसका राजा के प्रति यथार्थ प्रेम नहीं था।

काम अन्धा होता है, यह पात्रता का विचार नहीं करता, गुण दोष नहीं देखता, रूप सौंदर्य भी इसमें विशेष कारण नहीं। हृदय जिसे भी पकड ले, मन जिधर भी झुक जाय। रानी का गुप्त सम्बन्ध एक अश्वपाल से था। वह राजा के घोडों की देख रेख करने वाला एक साधारण नौकर था, रानी का चित्त उसमें फँसा था। जैसे राजा रानी को हृदय से प्यार करते, वैसे रानी हृदय से उस अश्वपाल को प्यार करती। राजा तो रात दिन रानी का ही चिन्तन करते रहते, रानी भी राजा के प्रति बनावटी प्रेम दिखाती, उनकी सेवा सुश्रूषा करती, किन्तु उसके मन में वह जारपति अश्वपाल बसा हुआ था। किन्तु रानी जितना उस अश्वपाल को चाहती थी, उतना वह उसे नहीं चाहता था। उसका चित्त एक वेश्या ने चुरा लिया था। रानी उसे मनमाना धन देती, दासी की भाँति उसकी सब आज्ञाओं का पालन करती, इसलिये वह स्वार्थवश उससे सम्बन्ध बनाये हुए था और बनावटी प्रेम भी दिखाता। कभी कभी कहता—मैं तुम्हारे ननिक से मकेन पर प्राण अर्पण कर सकता हूं। इससे रानी और भी अधिक उसकी ओर आकर्षित होती, किन्तु उसका हार्दिक प्रेम उस वेश्या से था जो युवती थी, सुन्दरी थी और राज-वेश्या थी।

रानी जो धन देती वह उसे ले जाकर उस वेश्या को दे आता। इसलिये धन के लोभ से वह वेश्या इस अश्वपाल का भी बड़ा आदर सत्कार करती। किन्तु वह बुद्धिमती थी समझती कामियों की प्रीति का क्या ठिकाना! आज इससे की, कल उससे की। वह तो सबको देखती थी, उसकी हृदय से इस पर श्रद्धा नहीं थी। राजा धर्मात्मा थे, एक पत्नी व्रती थे, सदाचारी थे, अतः वेश्या होते हुए भी उसकी श्रद्धा राजा के ऊपर अधिक थी। वह रोज दरबार में जाती और अपनी कला से राजा को सन्तुष्ट करती। राजा के मन में तो रानी की मनमोहिनी मूरति बसी थी, अतः वे वेश्या की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वेश्या जो पुरस्कार पाती उसे श्रद्धा सहित लेकर चली जाती, वह राजा को मन ही-मन देवता मानने लगी।

उन्हीं दिनों किसी दरिद्र पुरुष ने शिवजी की आराधना की। शिवजी ने प्रसन्न होकर उसे अमर फल दिया और कहा—"जो भी फल को खा लेगा, वही अमर हो जायगा।"

उस दरिद्री ने सोचा—"मैं इस फल को खालूँ तो मुझे क्या लाभ? आज तो महाराज भर्तृहरि राजा हैं, सब प्रजा सुखी है, कल में न रहे, कोई दुराचारी, अर्थलोलुप क्रूर राजा हो गया तो मुझे इतना बड़ा जीवन भार हो जायगा, क्यों न मैं इस फल को ले जाकर महाराज भर्तृहरि को दे दूँ। वे अमर हो जायँगे, प्रजा के समस्त लोगों को सुख होगा। सदा वे इसी प्रकार धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करते रहेंगे।" यही सब सोच विचार कर राजा के पास एकान्त में गया और फल का माहात्म्य बताकर वह फल उनकी भेंट करके लौट आया। राजा ने सोचा—"इस फल को मैंने खा लिया और मेरे सम्मुख ही मेरी प्राण प्रिया मर गयी, तो ऐसी अमरता मेरे लिये अभिशाप हो जायगी। मैं तो अपनी प्रियतमा के बिना एक क्षण भी जीवित रहना नहीं

चाहता। यदि इस फल को मेरी हृदयेश्वरी खा ले तो जब तक मैं जीवित रहूँगा तब तक उसके साथ रह सकूँगा, उसके वियोग की मुझे चिन्ता ही न रहेगी।" यही सोचकर उन्होंने अपनी रानी को यह फल दे दिया।"

रानी ने सोचा—"मेरे सम्मुख मेरा यह उपपति अश्वपाल मर गया तो मेरा राज, पाट, धन, वैभव सब व्यर्थ है, मैं अमरता को लेकर क्या करूँगी। यदि यह मेरा उपपति अमर बन जायगा, तो जीवन भर इसका साथ रहेगा, निश्चिन्तता हो जायगी।" यही सोचकर उसने वह फल अश्वपाल को दे दिया।

अश्वपाल तो वेश्या के रूप पर लट्टू था, उसने वेश्या को दे दिया। वेश्या ने सोचा—"आज तो महाराज भर्तृहरि हैं, उनके यहाँ से मुझे इतना धन मिलता है। कल कोई क्रूर राजा हो गया, उसने मुझे नगर की सीमा से निकाल दिया तो मेरी अमरता मेरे लिये दुःख का पहाड़ बन जायगी। यदि धर्मात्मा भर्तृहरि राजा अमर हो जायँ तो समस्त प्रजा को सुख होगा।" यह सोचकर जब वह राजसभा में नाचने गयी, तो चलते समय उस फल को राजा की भेंट करके ज्यों ही चलने लगी, त्यों ही राजा की दृष्टि उस फल पर पड़ी। राजा उसे देखते ही चौंक पड़े। वे सोचने लगे—"यह अमूल्य अमर फल कल मैंने अपनी रानी को दिया था, वह इस वेश्या के पास कैसे आ गया। यह सोचकर वे वेश्या को एकान्त में ले गये और उससे पूछा—"यह फल तुझे कहाँ मिला ?"

वेश्या राजा के प्रश्न को सुनकर सकपका गयी। फिर कुछ सम्हल कर बोली—"अन्नदाता ! मुझे एक मुनि ने दिया है।"

राजा ने डाँटकर कहा—"तू बात बनावेगी, तो मैं अभी तेरी जीवित ही खाल खिंचवा लूँगा। सत्य-सत्य बता।"

राजतेज के सम्मुख वेश्या डर गयी। उसने हाथ जोड़

कर कहा—"अन्नदाता, मारें चाहे छोड़ें, आपके अश्वपाल ने मुझे दिया।"

राजा ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"तू राज-वेश्या होकर एक साधारण अश्वपाल से सम्बन्ध क्यों रखती है?"

वेश्या ने दीनता के स्वर में कहा—"मैं तो वेश्या ही ठहरी। आपके यहाँ से यद्यपि मुझे यथेष्ट धन मिलता है, किन्तु यह तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। जितना ही लाभ होता है उतना ही लोभ बढ़ता जाता है। धन के लोभ से मैं उससे सम्बन्ध रखती हूँ। आपके गुणों के लिये मेरे हृदय में अत्यधिक आदर है, उसी श्रद्धावश यह अमरफल आपके चरणों में भेंट किया, कि आप अमर हो जायँगे तो सदा सबका कल्याण करते रहेंगे।"

राजा ने कहा—"अश्वपाल को यह फल कहाँ मिला?"

वेश्या ने कहा—"प्रभो! यह बात उसी से पूछें।"

राजा ने तुरन्त अश्वपाल को बुलाया। वेश्या को दूसरे स्थान में बिठा दिया। अमरफल दिखाकर पूछा—"इस फल को तुम जानते हो?"

उस फल को देखते ही उसका हृदय धक्-धक् करने लगा, मुख मुरझा गया। उसने कहा—"प्रभो मैं कुछ नहीं जानता।"

राजा ने कहा—"देखो, तुम सत्य बात बताओगे तो छूट सकते हो। नहीं तो तुम्हारी बिना धार के शस्त्र से बोटी-बोटी कटवायी जायगी। सत्य सत्य बताओ क्या तुमने इस फल को राजवेश्या को नहीं दिया?"

डरते-डरते उसने कहा—"हाँ, प्रभो! दिया तो अवश्य।"

राजा ने डाँटकर कहा—"तुम्हें कहाँ से मिला?"

उसने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! मुझे सम्राज्ञीजी से प्राप्त हुआ।"

राजा ने पूछा—"रानी ने तुम्हे क्यों दिया ?"

उसने कहा—"प्रभो ! मेरा उनसे अवैध सम्बन्ध है।"

राजा को ऐसा लगा मानो किसी ने मुझे सुमेरु से ढकेल दिया हो। "अरे, जो सम्पूर्ण देश के सम्राट् की अर्धाङ्गिनी है, जिसे मैं देवी के समान पूजता हूँ, जिसको प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूँ, जिसका चिन्तन अहर्निश करता हूँ, वह मुझसे प्रेम न करके एक क्षुद्र अश्वपाल से प्रेम करती है। फिर इस अश्वपाल को भी देखो, इतने बड़े देश की सम्राज्ञी जिसे प्राणों से भी अधिक चाहती है उसे छोड़कर यह एक पण्य स्त्री—वेश्या से प्रेम करता है। हाय ! यह कामदेव की कैसी वीभत्स क्रीडा है। धिक्कार है इस रानी को जो इतने बड़े धनी, गुणी, प्रभावशाली, धर्म मे तत्पर मुझ सम्राट को छोड़कर एक क्षुद्र घोड़े खुजाने वाले को चाहती है। और धिक्कार है इस अश्वपाल को जो उच्च राजकुल में उत्पन्न राजरानी से सम्बन्ध करके भी अपनी कामवासना की तृप्ति के लिये वेश्या का आश्रय लेता है। धिक्कार है इस कामदेव को जो स्त्री पुरुष के मन को ऐसे विचलित कर देता है और सबसे अधिक धिक्कार मुझे है जो हाड़-चाम की बनी मल-मूत्र की थैली इस स्त्री पर कामवश ऐसा आसक्त हुआ, कि अपने कर्तव्य को ही भूल गया।" इस घटना से उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और वे सर्वस्व त्यागकर वैरागी बन गये।

इस उदाहरण का सारांश इतना ही है कि जिन्हे हम अपना अत्यन्त प्रिय समझते हैं, वे हमारे विरुद्ध आचरण करने लगें, जहाँ से हम विपुल धन की आशा करते हैं वहाँ भी न मिले और गाँठ का भी देना पड़े। इन घटनाओं से वैराग्य हो जाय, संसार की असारता अनुभव होने लगे, तो यह भगवान् की महती कृपा के चिन्ह समझने चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वेश्या से ग्रहण की हुई शिक्षा

का वर्णन करते हुए अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! वेश्या को गुरु बनाने में एक इतिहास है, उसे आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें।"

महाराज विदेह के वंश में जितने राजा हुए हैं सभी परम ज्ञानी और धार्मिक हुए हैं। उनकी राजधानी मिथिलापुरी में सदा ब्रह्मज्ञानी ऋषि आते ही जाते रहते थे। मैं भी कभी-कभी घूमता फिरता चला जाता। महाराज विदेह मेरा बड़ा आदर करते थे। उस नगर में पिङ्गला नाम की एक वेश्या रहती थी। सम्पूर्ण नगर में वही एक वेश्या थी। महाराज विदेह को नृत्य प्रिय नहीं था, इसलिये उनके राजभवन में उस वेश्या का प्रवेश नहीं था। वह वेश्या-वृत्ति से ही अपनी जीविका चलाती। मैं उसे जब देखता वह सज बजकर कोठे पर बैठी रहती जब कोई धनिक कामी युवक उसकी ओर देखता तो आशा से उसका मुख खिल जाता, वह उठकर उसका स्वागत करती। कभी-कभी उसे मैं चिन्तित भी देखता।

एक दिन मैंने देखा वह बड़ी उत्सुकता से इधर-उधर टहल रही है। मैं समझ गया, कल कोई इसे यथेष्ट धन लेकर आने का आश्वासन दे गया होगा, आज उसी की यह अत्यंत उत्सुकता पूर्वक बाट जोह रही है। रात्रि का समय था, कुछ बादल भी थे, नन्हीं-नन्हीं बूँदे भी पड़ रही थीं। मैं तो दिगम्बर रहता ही हूँ। मैंने सोचा—लाओ, इससे भी कुछ उपदेश ग्रहण करें। इसलिये उसके कोठे के सम्मुख एक बन्द दुकान के चबूतरे पर जाकर मैं लेट गया और उस वेश्या की चेष्टाओं का बड़े मनोयोग से अध्ययन करता रहा।"

मैंने देखा, वह स्वच्छन्दचारिणी आज अत्यधिक सजी बजी थी। कृत्रिम सौंदर्य बनाने की उसने सभी चेष्टायें की थीं। उसके शरीर से इत्र फुलैल की सुगन्धि दूर तक आ रही थी। टटके

पुष्पों की मालाओं को वह धारण किये हुए थी और वस्त्राभूषणों से भली भाँति सुसज्जित थी। वह कोठे के द्वार पर खडी थी। जो भी स्वच्छ वस्त्र पहिने पुरुष दिखायी देता, उसी को ध्यानपूर्वक देखती। वह जब जीने की ओर न मुडकर सीधा चला जाता और आगे निकल जाता तो निराश होकर फिर देखने लगती। फिर कोई आता तो फिर सोचती—"अवश्य ही यह कोई बहुत धन देकर रमण करने वाला नागरिक होगा। किन्तु जब वह न आता तो दूसरे की आशा लगाती। बहुत समय तक देखते देखते आँखें दुखने लगती, खडे खडे कष्ट होता, बैठ जाती। फिर भी चित्त न लगता, तो भीतर पलग पर जाकर पड जाती, किन्तु वहाँ भी चिंचित बनी रहती। कानों को जीने की ओर लगाये रहती, पेछर सुनती रहती कोई आ तो नहीं रहा है। फिर उठकर जाती, फिर देखती, फिर आकर पड जाती।"

अब लोगों का आवागमन भी कम हो गया। शने शनः आधी रात हो गयी। उस दिन उसे धन की अत्यन्त आशा थी। वह आशा निराशा मे परिणत हो गयी। उसका मुख पाला पड गया, ओठ सूख गय, आँखों मे निराशा छा गयी, हाथ पैर शिथिल पड गय। उसका चित्त अत्यन्त ही व्याकुल हो गया। भगवान् की उस पर कृपा हो गयी। उस विह्वल चित्त वेश्या की चिन्ता ही उसके कल्याण का कारण बन गयी। इस घटना से उसे सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हो गया। जिसे विषयों स वैराग्य हो गया उसका काम बन गया, उसने सब कुछ पा लिया। सब साधन भजन वैराग्य के लिये ही तो किये जाते हैं।

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन ! वैराग्य होने पर क्या होता है ?"

अवधूत मुनि बोल—"राजन ! आशा ही एक बन्धन है। मनुष्य आशाओं के ही कारण बँध जाता है। ससार में आशा न हो तो सभी मुक्त हो जायँ। आशा रूपी पाश का छेदन वैराग्य

रूपी खड्ग से ही हो सकता है। जिसे कभी विषयों से वैराग्य ही नहीं होता, खाना-पीना, सोना तथा सन्तानोत्पन्न करना इसी में जिसे सुख प्रतीत होता है, जो काम-सुख को ही सब कुछ समझता है, वह पुरुष उसी प्रकार देह बन्धन को नहीं छोड़ सकता, जिस प्रकार विज्ञानहीन पुरुष अहंता ममता का परित्याग नहीं कर सकता। उस वेश्या की जब आशा पर पानी फिर गया, तब उसे वैराग्य हो गया और उस वैराग्य की तन्मयता में वह नाचने लगी, गाने लगी। मैं उसके भावों को देखकर ही समझ गया कि इसे वैराग्य हो गया है। मैं तो इसी ताड़ में बैठा-बैठा उसी की ओर देख ही रहा था। वह मेरी ओर नहीं देखती थी—सोचती थी—इस नंग-धड़ंग साधु से मेरा क्या स्वार्थ सिद्ध होगा। जब उसे वैराग्य हो गया, तो मैं तुरन्त उसके कोठे पर चढ़ गया और उससे मेरी बड़ी बातें हुईं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपकी उस वेश्या से क्या बातें हुईं, कृपा करके उन्हें मुझे भी सुनावें। जिसके ऊपर आप जैसे महात्माओं की दृष्टि पड़ जाय वह कैसा भी पतित क्यों न हो, उसके उद्धार में तो कोई सन्देह ही नहीं है। आपके साथ जो उसका सम्वाद हुआ होगा, वह तो अत्यन्त ही शिक्षाप्रद होगा। उससे वैराग्य पथ के पथिकों का बड़ा उपकार होगा। मेरी उसे सुनने की प्रबल इच्छा है।"

यह सुनकर अवधूत मुनि बोले—"राजन्! मैं ऊपर उसके पास गया और बोला—"बाईजी! नारायण, नारायण। कहो, तुम इतनी प्रसन्न क्यों हो गयी। मैं बड़ी देर से तुम्हें देख रहा था। तुम अब तक बड़ी चिन्तित प्रतीत होती थीं, किन्तु अब सहसा ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई बड़ा भारी गुप्त धन मिल गया हो। तुम मुझे अपनी प्रसन्नता का कारण बताओ।"

मेरी बात सुनकर उसने मेरे चरणों में श्रद्धा-भक्ति के साथ

प्रणाम किया और बोली—"ब्रह्मन्! मैं भी आपको बड़ी देर से देख रही थी, किन्तु मैं तो आपकी अवहेलना करती रही। किन्तु आप अकारण कृपा करने वाले सन्त हैं, आपकी ही कृपा भरी दृष्टि के कारण मुझे वैराग्य रूपी धन प्राप्त हो गया, जिसके सम्मुख ये संसारी धन अत्यन्त ही हेय और तुच्छाति तुच्छ हैं। हाय! प्रभो! मैंने अपने इतने जीवन को व्यर्थ ही गँवा दिया हाय! मेरी मूर्खता तो देखिये, मुझ इन्द्रियपरायणा के मोह के विस्तार का तो विचार कीजिये। कैसी मेरी जड़ता है, मैं इन तुच्छ और असद्बुद्धि प्रेमियों से सुख की कामना करती हूँ। घर की कामधेनु को छोड़कर वन में आकके दूध से अपनी तृप्ति चाहती हूँ, घर के कल्पवृक्ष के छोडकर करील के वृक्ष से सुख की कामना करती हूँ।"

मैंने पूछा—"मनुष्य को जब बड़ा लाभ होने की सम्भावना होती है, तब छोटे लाभ का परित्याग करता है। तुम्हें कोई एक बहुत बडा आदमी अपना ले, तब तुम वेश्या वृत्ति को छोड भी सकती हो। क्या तुम्हे ऐसा बडा कोई सज्जन मिल गया है क्या?"

उस पिंगला वेश्या ने कहा—"ब्रह्मन्! कहीं बाहर होता, दूर होता अथवा मुझसे पृथक् होता, तो मैं कह भी सकती थी कि मिल गया। वह प्राणिमात्र का परम प्रेमास्पद सबसे श्रेष्ठ पुरुष, सबसे अधिक धनी तथा सबसे अधिक रतिसुख देने वाला मेरा परम प्रियतम तो मेरे हृदय में ही निवास करता है, उसे पा नहीं लिया पहिचान लिया है। इस निराशा की विवशता में वह मुझे दिखायी दे गया है। अब मैं इन अन्तःकरण के साक्षी सबके सुहृद् प्रेष्ठतम परमेश्वर को भूलकर अपनी कामना पूर्ति के लिये इन दैव के खिलौने, दुःख, भय, रोग, शोक और मोह आदि को देने वाले इन वेश्यागामी कामियों के फन्दे में न फसूँगी, अब धन के

लिये इन्हें न भजूँगी, अब इनसे सुख की आशा न रखूँगी, अब इनसे रति सुख न चाहूँगी। अब मेरा अज्ञान दूर हो गया। हाय! मैंने कैसे कैसे पाप किये, मेरी कैसी मति मारी गयी, मैं विवेकहीना बन गयी, मैंने यह अत्यन्त निन्दित लोक गर्हित आजीविका ग्रहण की! इस पापी पेट के लिये कभी भी शान्त न होने वाली इस काम वासना की तृप्ति के लिये मैंने वेश्यावृत्ति स्वीकार की। कामवासना की कभी तृप्ति होती ही नहीं। जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने से वह शान्त होने के स्थान में और बढ़ती है, वैसे विषयों के भोग से वासनायें और अधिकाधिक बढती ही जाती हैं। जिसने अपने अन्तःकरण को संयम में नहीं रखा है उसका अधिकाधिक पतन ही होता जाता है। मैंने विष को अमृत जानकर पान किया, प्रज्वलित अग्नि को सुख स्पर्श समझकर हृदय से लगाया, इन कामियों का संसर्ग करके अपनी अन्तरात्मा को सन्तप्त किया। जो स्वयं काम के अधीन होकर सन्तप्त हो रहा है वह मेरी तृप्ति कैसे करेगा, जो स्वयं धन का कृपण है वह मुझे कितना धन देगा, जो स्वयं शोचनीय है उसके द्वारा मुझे कैसे शान्ति होगी। मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी, प्रारब्ध ने मुझे ठग लिया जो मैं अब तक इन स्त्री-लम्पट, अर्थ लोलुप और अत्यन्त शोचनीय पुरुषों से सम्बन्ध रखकर रतिसुख तथा धन की इच्छा करती थी, मैं तनिक से धन के पीछे अपने शरीर को बेच देती थी।"

मैंने हँसकर पूछा—"देवि! तुम्हारा यह सब कथन तो सत्य है, किन्तु जब तुम इस कर्म को छोड़ दोगी, तो अपनी आजीविका कैसे चलाओगी, शरीर का निर्वाह कैसे करोगी?"

वह कुछ हँसकर बोली—"ब्रह्मन्! आप सब जानकर भी मुझसे ऐसा प्रश्न कर रहे हैं, इससे मैं यही समझती हूँ कि आप मेरे वैराग्य की परीक्षा ले रहे हैं। आप सोचते होंगे, इसे क्षणिक

वैराग्य हो गया, जहाँ इसके सम्मुख आजीविका का प्रश्न आवेगा वहाँ यह फिसल जायगी। प्रभो! आपकी ऐसी ही अनुग्रह बनी रही, तो मैं फिसलने वाली नहीं हूँ। अब मुझे शरीर की चिन्ता नहीं। शरीर रहे चाहे नष्ट हो। शरीर प्रारब्ध के अधीन है। मैं अपने शरीर को कामियों को अर्पित करती थी, धन के लिये रतिसुख के लिये। उनसे धन चाहती थी, रतिसुख चाहती थी। सबसे अधिक धन तो आत्मरूप से मेरे हृदय में बैठे हैं, उनसे मैं सन्तोषरूपी धन प्राप्त करूँगी, जिस धन के आने पर किसी भी धन की इच्छा नहीं रहती। सुख के सागर भी वे ही प्रभु हैं। यथार्थ सुख तो उन्हीं के संग से प्राप्त हो सकता है। इन काम के अधीन हुए कामियों के घृणित शरीर से भला क्या सुख मिल सकता है। यह शरीर क्या है, अत्यन्त घृणित घर है। घर में तो बाँस काष्ठ टेढ़े मेढ़े लगे रहते हैं, किन्तु इस शरीर रूपी घर में तो सूखे बाँसों के स्थान में रुधिर और मज्जा से सनी गीली हड्डियाँ लगी हैं। उन्हीं हड्डियों की थूनियाँ हैं जिनके सहारे यह खड़ा है। घर को जैसे मिट्टी में भूसा डालकर उससे लेप देते हैं वैसे ही यह त्वचा और रोमों से लेप दिया गया है। घर में जैसे इधर उधर घास उत्पन्न हो जाती है वैसे ही इसमें रोम, केश और नख उत्पन्न हो जाते हैं। कच्चा घर जैसे वर्षा से पुराना होने पर तुरन्त फट जाता है नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आधि तथा व्याधियों से यह घर नाश हो जाता है, घर में नित्य झाड़ देते हैं फिर भी उसमें कूड़ा करकट भर जाता है, भोजन आदि करने से कीच हो जाती है, उसी प्रकार यह शरीर रूपी घर भी कूड़े करकट से सदा भरा रहता है। घर तो यत्न करने पर स्वच्छ भी हो सकता है किन्तु यह देहरूपी घर कभी स्वच्छ नहीं होता, उसमें विष्ठा मूत्र भरे ही रहते हैं, नौ द्वारों से निरन्तर मल बहता रहता है, रोम रोम से मल निकलता है। ऐसे इस

अत्यन्त घृणित शरीर रूप घर में मेरे अतिरिक्त और कौन आसक्ति करेगा, कौन इस शरीर को सुख देने वाला समझकर आलिंगन करेगा जो शरीर स्वयं घृणित है, स्वय रोगों का घर है, स्वय मल मूत्र और पीडाओं से भरा है वह दूसरो को क्या सुखी करेगा। हाय! इस विदेह नगरी के राजा कितने आत्मज्ञानी हैं, कितने सन्त महात्मा यहाँ नित्य ज्ञान चर्चा के लोभ से आते हैं। यहाँ का बच्चा-बच्चा जानता है, देह नाशवान् है, आत्मा अविनाशी देह क्षुद्र है, आत्मा महान है। अल्प में सुख नहीं, परिपूर्ण में सुख है। आत्मा सत्य है, चैतन्य है, आनन्द स्वरूप है। आत्मा की प्रियता से ही जगत् की सब वस्तुओं मे प्रियता है। इस नगर के निवासी सभी विषयों की अनित्यता और क्षण-भगुरता जानते हैं। इस पुण्य प्रदेश में इस विज्ञानमय नगर मे एकमात्र मैं ही ऐसी कुलटा, मूर्खा, दुष्टा और पथभ्रष्टा हूँ, जो इन आत्मरूप, अज, अच्युत, अखिलेश, अन्तर्यामी प्रभु को परित्याग करके किसी अन्य से अपनी कामनाओं को पूर्ण करना चाहती हूँ।"

मैंने पूछा—"तो अब तुमने निश्चय क्या किया है?"

पिङ्गला बोली—"अब महाराज! आपका आशीर्वाद होगा तो मैं किसी भी कामी पुरुष का स्पर्श न करूँगी, किसी के हाथों पैसा लेकर इस शरीर को न बेचूँगी, किसी भी कामी को प्रसन्न करने की मैं चेष्टा न करूँगी। अब तो मैं सम्पूर्ण शरीर धारियों के एकमात्र सच्चे सुहृद्, स्वामी, सर्वस्व, सुख स्वरूप सच्चिदानन्द सर्वेश्वर की सदा सेवा करूँगी। उन्हीं को रिझाऊँगी उन्हीं के हाथों बिक जाऊँगी, उन्हें ही अपना परम प्रियतम बनाऊँगी, उन्हीं को अपनाऊँगी। लक्ष्मीजी जैसे निरन्तर उनके पैर पटोलती रहती हैं उसी प्रकार उन रमारमण के पैर पटोलती हुई उन्हीं के साथ रमण करूँगी, उन्हीं के संग क्रीडा करूँगी, उन्हें ही

अपना कान्त बनाऊँगी, उन्हीं के निमित्त समस्त चेष्टायें करूँगी। ब्रह्मन्! आप ही बतावें ये क्षुद्र मनुष्य क्या सुख दे सकते हैं। जो सबसे बड़ा सम्राट् है, युवक है रतिप्रिय है क्या वह अपनी पत्नियों को सर्वात्मभाव से सन्तुष्ट रखता है? क्या उनकी पत्नियों को पूर्ण तृप्ति होती है? संसारी भोगियों और भोगप्रदान करने वालों की बात छोड़ दीजिये, इन्द्र हैं, वरुण हैं, कुबेर हैं, यम हैं तथा अन्यान्य लोकपाल हैं, क्या इन सबकी पत्नियाँ सन्तुष्ट हैं? यदि सभी सन्तुष्ट होतीं तो ये अन्य पुरुषों का भजन क्यों करतीं। बहुत-सी देवताओं की पत्नियाँ अपने पतियों से असन्तुष्ट होकर चन्द्रमा के समीप सुख की इच्छा से चली गयीं। चन्द्रमा की पत्नियाँ अपने पति से असन्तुष्ट होकर दक्ष के समीप गयीं। दक्ष ने चन्द्रमा को क्षय होने का शाप दिया। जब इतने बड़े-बड़े लोकपाल भी अपनी पत्नियों को परितुष्ट नहीं कर सकते, तो ये क्षुद्रकामी वेश्यागामी मुझे क्या सन्तोष पहुँचा सकेंगे, मुझे कितना सुख दे सकेंगे। मुझे तो इस वेश्या-जीवन में कभी भी सच्चा सुख नहीं मिला, सदा अशान्त बनी रही। क्षणिक विषय सुख से और भी अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती गयी।"

मैंने कहा—"हाँ देवीजी! आपको चिन्ता तो अवश्य बहुत रहती होगी। मैं बहुत देर से देख रहा था कि तुम निराशा के कारण अत्यन्त चिन्तित हो रही थीं, तुम्हारा मुख म्लान हो गया था। तुम बार-बार बाहर आती बार बार भीतर जाती थीं।"

पिङ्गला ने कहा—"नहीं ब्रह्मन्! इस दुःख को तो मैं परम सुख का कारण मानती हूँ, इस निराशा ने ही तो मुझे सच्ची आशा का आलोक दिखाया। आज मुझे निराशा न होती, तो यह सुख का साधन वैराग्य मुझे कभी भी प्राप्त न होता। इस जन्म में तो मैंने पाप ही पाप किया है, युवकों को उनकी पत्नियों से विमुख किया है, धनिकों के धन को हँस हँसकर अपहरण किया है। असुरा

पापियों को सुरापायी बनाया है, मिथ्या प्रेम प्रदर्शित करके भोले-भाले युवकों को फँसाया। इस जन्म में मुझसे कोई सुकृत बना हो, इसका तो मुझे स्मरण नहीं। अवश्य ही मुझसे पूर्व जन्मों में कोई बड़ा भारी सुकृत बन गया होगा, उसी शुभ कर्म के प्रभाव से भगवान् विष्णु मुझ पर प्रसन्न हुए हैं। तभी तो मुझ पतिता को इस दुराशा से भी ऐसा आनन्दप्रद वैराग्य उत्पन्न हो गया। यदि मेरा भाग्य मन्द होता, तो तुरन्त कोई धनी आ जाता, मुझे लाख दो लाख रुपये देकर विषयों में फँसा लेता। मैं इन्हीं विषयों में फँसकर अपने आत्म-देव को भूली रहती, इन्द्रिय लोलुप नीच कामियों की वासनापूर्ण करती रहती। मुझे वैराग्य तो धन न मिलने से कामी के न प्राप्त होने से—ही हुआ। इस वैराग्य का मुख्य हेतु तो मेरी निराशा ही है। जिसके हृदय में सच्चा वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उसे फिर संसार का कोई भी बड़े से बड़ा बन्धन बाँधकर नहीं रख सकता। वह घर, द्वार, कुटुम्ब, परिवार, धन, वैभव, स्त्री, बच्चे तथा पद प्रतिष्ठा सभी को छोड़कर सभी के सिर पर लात मार-कर चला जाता है और इस संसार की सुदृढ़ स्नेह शृङ्खला को काटकर शान्ति लाभ करता है। यह निराशा उत्पन्न करके तो भगवान् ने मेरे साथ बड़ा उपकार किया। भगवान् के इस उप-कार को मैं कृतज्ञता पूर्वक शिरोधार्य करके तथा विषय जनित दुराशा का परित्याग करके उन अशरण शरण रमारमण श्री जगदीश्वर की शरण में जाऊँगी। अब ब्रह्मन्! मुझे शरीर निर्वाह की चिन्ता नहीं। मेरी आजीविका कैसे चलेगी इसे मैं भगवान् के ऊपर ही छोड़ दूँगी। मैं कामी पुरुषों की सेवा शरीर निर्वाह के लिये और रतिसुख के लिये करती थी। अब सन्तोष और श्रद्धापूर्वक प्रारब्धवश जो भी कुछ रूखा सूखा मिल जायगा, उसे ही खाकर जीवन निर्वाह करूँगी और अपने परम प्रियतम

प्राणनाथ प्रभु के संग रमण करती हुई आनन्द पूर्वक विहार करूँगी। उन्हीं से बातें करूँगी, उन्हीं की सेवा करूँगी, उन्हें ही रिझाऊँगी, उन्हीं को खिलाऊँगी, उन्हीं का उच्छिष्ट प्रसाद पाऊँगी, उन्हीं की गोद मे सिर रखकर सोऊँगी। अब मुझे चिंता करने का कोई कारण नहीं। समस्त चिन्ताओं की पुटली को अपने प्राणनाथ के पादपद्मो मे अर्पित कर दूँगी।"

मैंने पूछा—"अरे भाई, तुम स्त्री जाति हो, अकेली हो। तुम्हारी रक्षा कौन करेगा। स्त्री के लिये सर्वत्र भय-ही-भय है। विशेषकर तुम लोक निन्दित वेश्या वृत्ति कर चुकी हो, लोग तुम्हें देखकर हँसेंगे, तुम तो जहाँ बैठोगी, वहाँ की पृथ्वी भी नाक भौं सिकोड़ने लगेगी।"

इस पर वह आँसू बहाती हुई बोली—"ब्रह्मन्! संसार में कौन किसकी रक्षा कर सकता है। जो यह कहता है मैं तेरी रक्षा करूँगा, वह झूठा है, कपटी है, स्वार्थी है। विषय वासनाओं के कारण जिसकी विवेक दृष्टि नष्ट हो चुकी है, तथा जिसे काल-रूपी सर्प ने डस लिया है ऐसे इस अगाध संसार कूप में पतित प्राणी की रक्षा परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई अन्य प्राणी कर ही क्या सकता है। सबके रक्षक वे श्रीहरि ही हैं। वे ही सबकी रक्षा करते हैं। जीव मिथ्याभिमान के वशीभूत होकर कहता है यह मेरे द्वारा रक्षित है। ब्रह्मन्! पराधीनता तभी तक है जब तक जीव विषय वासनाओं मे फँसा है, इन्द्रिय लोलुप बना है। धनिक को देखता है, तो उससे आशा लगाता है लाओ इसकी हाँ में-हाँ मिलाओ शायद यह हमें कुछ दे जाय। सुन्दरी स्त्री को देखता है, उसके पीछे कुत्ते की भाँति पूँछ हिलाता हुआ घूमता है। किसी प्रतिष्ठित को देखता है, प्रतिष्ठा की आशा से उसकी लल्लो चप्पो करता है। सारांश यह है कि जब तक मन में विषयों के भोगने की इच्छा है तब तक दूसरों की अधीनता है,

जहाँ जीव सम्पूर्ण विषयों से उपरत हुआ, तहाँ उसे अन्य किसी भी रक्षक या संरक्षक की आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वयं ही अपने आप अपना रक्षक बन जाता है। ब्रह्मन्! हम रक्षा की आशा उसी से करेंगे जो स्वयं रक्षित हो। जिसे स्वयं सर्प ने काट लिया है, जो स्वयं सर्प के विष के कारण मुख से झाग बहा रहा है, वह दूसरों की सर्प से क्या रक्षा कर सकेगा। जो स्वयं असमर्थ है वह दूसरों को क्या दे सकेगा। ये मनुष्य तो स्वयं काम के बाणों से विद्ध हैं फिर ये मेरी क्या रक्षा करेंगे। मेरी रक्षा तो सबके रक्षक करेंगे। जिसने अपना रक्षक जगरक्षक को बना लिया उसे कभी प्रमाद होगा ही नहीं, वह तो प्रमाद रहित होकर इस सम्पूर्ण जगत् को काल सर्प से डसा हुआ नाशवान समझता है। जिसके रक्षक अविनाशी हैं, वह नाशवान क्षुद्र संसारी जीवों से रक्षा की आशा क्यों करने लगा। प्रभो! आप आशीर्वाद दें कि मैं उन सर्वान्तर्यामी लक्ष्मीरमण को ही अपना सर्वस्व समझूँ, उन्हें ही अपनी रक्षा का—योग क्षेम का—समस्त भार सौंप दूँ।"

अवधूत दत्तात्रेय मुनि राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! उस वेश्या की ऐसी दृढ निश्चय की वैराग्ययुक्त बातें सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। मैंने उसे उसी समय अपने गुरुआनी के रूप में स्वीकार किया। उससे मैंने यही शिक्षा ग्रहण की, कि संसारी लोगों से आशा रखना यही दुःख का मूल कारण है, सब से निराश होकर एकमात्र भगवान की शरण में जाना यही परम सुख का हेतु है, देखिये, उस पिंगला वेश्या ने जब तक कामियों की आशा की तब तक दुःख पाया, जब उसने सब ओर से आशा हटा ली तब उसे परम सुख मिल गया। वह निश्चिन्त हो गयी। मैंने कहा—'गुरुआनी जी! नारायण नारायण, मैंने तुमसे बहुत बड़ी शिक्षा ग्रहण की, इसलिये तुम मेरी आज से गुरुआनी हो गयीं।"

उसने मेरे पैरों मे पडकर कहा—"ब्रह्मन्! आप कैसी बात कह रहे हैं, सब के गुरु तो आप हैं। ज्ञान होने पर गुरु में और शिष्य मे कोई अन्तर नहीं रहता, इसी की शिक्षा देने को आप मुझे गुरु कह रहे हैं। ब्रह्मन्! मैं आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करूँगी और सदा अपनी अन्तरात्मा को ही सद्गुरु के रूप में मानती रहूँगा।" यह कहकर उसने मेरी चरण वन्दना की। रात्रि का समय था, मैंने अब वहाँ अधिक ठहरना उचित न समझा। मे वहाँ से ज्योंही उतरा त्यों ही मैं देखता हूँ, वह अपनी शैया पर दुपट्टा तान सो गयी। निद्रा चिन्ता के कारण नहीं आती है, जब वह निश्चिन्त हो गयी, तो उसे तुरन्त निद्रा आ गयी। स्वस्थ पुरुष को ही सुख की स्वप्न-रहित निद्रा आती है। पिंगला के लिये अब चिन्ता का कोई कारण नहीं रहा। इसीलिये मैंने उसे गुरु मान लिया।"

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने पृथ्वी से लेकर पिंगला वेश्या तक १७ गुरुओं से ग्रहण किये हुए गुणों का वर्णन किया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि कुरर पक्षी को गुरु बनाकर आपने उससे कौन सी शिक्षा ग्रहण की?"

मुनि बोले—"राजन् कुरर पक्षी से जो शिक्षा ग्रहण की उसे भी मैं आपको सुनाता हूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"महर्षियो! अब आप कुरर पक्षी की शिक्षा को श्रवण करें।"

छप्पय

करि करि पश्चात्ताप पिङ्गला अतिशय रोयी।
आशा छूटी सुखी भई अति सुखतैं सोयी॥
आशा में ही दुःख निराशा सुख की जननी।
पावै फल नर अवसि होहि जाकी जस करनी॥
शुभ शिक्षा निरपेक्षता, की वश्या गुरु तैं लई।
कहूँ कुरर पक्षी कथा, जा मैं सम्मुख भई॥

कुरर पक्षी से शिक्षा

[१२३९]

सामिषं कुरर जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः ।
तदामिषं परित्यज्य स सुख समविन्दत ॥*

(श्रीभा ११ स्क० ९ अ० २ श्लोक)।

छप्पय

मासखड ले कुरर बेगतै नभमहँ जावै ॥
मेरो है जिह मास सोचि अति हिये सिहावै ।
इतने में कछु बली विहंग उडिकें इत आये ।
निरखि मास हिय लोभ बढयो छीनन सब धाये ॥
मार परै तोउ न तजै, क्षत विक्षत तनु ह्वै गयो ।
कर्‌यो त्याग जब विवश ह्वै, तब अति आनन्दित भयो ॥

हम लोग धन को या अन्य भोग वस्तुओं को सग्रह करते हैं तो समझते हैं, हम केवल धन का या वस्तुओं का ही संग्रह कर रहे हैं। किन्तु वास्तविक बात यह है कि वस्तुओं के सग्रह के साथ हम आपत्तियों का भी सग्रह करते हैं। हमारे पास जो वस्तु है और दूसरों के समीप नहीं है तो मन-ही-मन उस वस्तु को देख-

---

* अवधूत मुनि राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन् ! अपनी चोंच में मास ले जाते हुए एक कुरर पक्षी को बहुत से बलवान् अन्य मास भोजी पक्षियों ने घेर लिया। उनके पास मास नहीं था, मास के लिये उन्होंने उसे बहुत मारा। उसे मास के त्याग करने पर ही शान्ति प्राप्त हुई।"

कर जलते हैं। इसीलिये सग्रही के पडोसी उसके शत्रु बन जाते हैं। यदि निर्बल पुरुष हुए तो मन ही-मन बुरा मानकर रह जाते हैं, यदि सबल हुए तो वे आक्रमण करते हैं, सभी प्रकार के उपायों से छीनने का प्रयत्न करते हैं। सग्रह करके जो निश्चिन्त होना चाहता है, उसका प्रयत्न उसी प्रकार है जिस प्रकार सर्पों को घर मे स्वच्छन्द रखकर कोई निश्चिन्त होना चाहे। धन सग्रह करके निश्चिन्त होना तो पृथक् रहा, सग्रहियों से ससर्ग करने वाले भी निश्चिन्त नहीं रहते, उन्हे भी सबसे शङ्का लगी रहती है। रागपूर्वक ससर्ग करने वाले तो दुखी रहते ही हैं, बिना राग के भी ससर्ग हो जाय तो दुखदायी होता है।

श्री गोवर्द्धन की तलहटी मे एक बडे ही विरक्त सन्त रहते थे। उनकी विरक्तता की ख्याति सुनकर कोई रानी उनके दर्शनों को आई। महात्मा जी तो किसी से कुछ लेते ही नहीं थे, रानी प्रणाम करके चली गई। रात में चोर लोग आये। महात्मा जी को बहुत मारा और उनसे कहा—"रानी क्या दे गयी है।" उन्होंने बहुत कहा—"कुछ भी नहीं दे गई है।" उन्होंने कहा—"कुछ भी नहीं दे गयी है तो हमे दिलाओ, वह तुम्हारी भगतिन है।" जैसे तैसे महात्माजी को उन्होंने छोड़ा। तभी से वे गोवर्धन छोडकर वृन्दावन मे रहने लगे।

बात यह है कि जैसे जल नीचे की ओर स्वाभाविक बहने लगता है, उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पडता, उसी प्रकार विषयों के प्रति झुकाव मनुष्य मात्र का स्वाभाविक है। जिस प्रकार ऊँचे स्थान मे जल चढाने के लिय प्रयत्न करना पडता है, उसी प्रकार त्याग वैराग के लिये प्रयत्न करना पडता है। शान्ति सभी चाहते हैं। शान्ति त्याग वैराग्य के बिना होती नहीं। अतः त्याग वैराग्य की आवश्यकता जान में अनजान मे सभी अनुभव करते हैं। इसीलिये जिनको त्यागी वैरागी देखते हैं, उनकी ओर

त्यागी का आकर्षण स्वाभाविक होता है। बहुत से लोग त्याग की दीक्षा लेकर उनके संसर्ग में रहने लगते हैं। जब उस त्यागी विरागी साधक की स्वार्थ या परमार्थ किसी भावना से संग्रह करने की इच्छा हो जाती है, तो उसके साथी ही उसके शत्रु बन जाते हैं और मन-ही-मन उससे द्वेष करने लगते हैं। विषयों का संग्रह काजर का ढेर है उससे जो संसर्ग रखेगा उसका शरीर काला न भी हो तो वस्त्र तो काले अवश्य होंगे। अवतारों ने भी इनका संसर्ग करके नाना क्लेश उठाये हैं। उन्हें तो क्लेश हो ही क्या सकता है, जनता के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया है कि परिग्रह करना क्लेश का मुख्य कारण है।

नैमिषारण्य निवासी मुनियों से सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! कुरर पक्षी को गुरु बनाकर दत्तात्रेयजी ने उससे जो शिक्षा ग्रहण की उसका वर्णन उन्होंने स्वयं राजा यदु से किया है। उसे समझाते हुए अवधूत मुनि कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन मैं जंगल में घूम रहा था, कि उसी समय एक कुरर पक्षी को मांस का टुकड़ा ले जाते हुए मैंने देखा। मैं कुछ देर तक उसकी ओर देखता रहा। उसी समय मैंने देखा, बहुत से पक्षियों ने उसे घेर लिया। उन सबके पास मांस नहीं था, किन्तु वे उसे पाने को समुत्सुक थे। जीव का स्वभाव है जिसे अपने मन से ग्रहण कर लेता है, फिर उसे छोड़ने में उसे अत्यन्त कष्ट होता है। एक आदमी आया, सहस्र रुपयों की थैली हमारे पास रख गया। हमें बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्हें मन से ग्रहण कर लिया। एक ने आकर कहा—"महाराज! हमें दे दो।" तो हम कदापि देने को उद्यत नहीं होते। आँख बचाकर दूसरा मनुष्य उसे उठा ले गया तो हमें बड़ा क्लेश होता है। अब सोचिये, उन रुपयों के आने के पूर्व भी वे रुपये किसी पर थे और अब भी किसी के पास होंगे ही। हमारे दुःख का कारण है ममता। जिसकी जिस वस्तु

में ममता हो जाती है, उसे वह सहज में नहीं त्याग सकता, शक्ति भर उसकी रक्षा का प्रयत्न करेगा। धनोपार्जन में उतना कष्ट नहीं होता जितना उसके रक्षण में होता है। राजन्! जब मांस का टुकडा लिये हुए उस कुरर पक्षी को अन्यान्य पक्षियों ने घेर लिया, तब वह बहुत छटपटाया। वे पक्षी बलवान् थे,

उन्होंने उसे मारना आरम्भ किया। जब उसने देखा इस मांस के टुकड़े के पीछे मेरे प्राण जाना चाहते हैं, तो मांस से अधिक प्रिय प्राणों को समझकर उसने चोंच में से मांस के टुकडे को फेंक दिया। अब पक्षियों ने उसे तो छोड दिया, उस मांस के टुकडे के लिये लडने लगे।

मांस के टुकडे को छोडते ही चिन्ता, शका, भय तथा सभी प्रकार की विपत्तियाँ उसके शिर से दूर हो गयीं। तुरन्त मैंने उसे

अपना गुरु बना लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि मनुष्यों को जो-जो वस्तुएँ अधिक प्यारी हों, जिन जिन में अधिकाधिक ममत्व हो, उनका संचय करना ही दुःख का कारण है। पुत्र संसार में अत्यन्त प्रिय माना गया है। वह जब गर्भ में आता है और जब तक रहता है दुःख ही-दुःख देता है। गर्भ में आते ही माता का मन मिचलाने लगता है, आहार में रुचि नहीं रहती शरीर कृश हो जाता है, भाँति-भाँति की चलने फिरने उठने बैठने की असुविधायें होती हैं। जन्म के समय माता को जो क्लेश होता है, उसका वर्णन तो असम्भव है, किसी किसी के तो प्राण ही चले जाते हैं। उत्पन्न होने पर उसके लालन पालन में दुःख, यदि अयोग्य हुआ, तो रात्रि दिन हृदय जलता रहता है, यदि योग्य हुआ तो अधिकाधिक ममता बढ़ जाती है, उसके लिये सुख साधन जुटाने में व्यग्र बने रहते हैं। जब तक रहता है उसी की चिन्ता बनी रहती है। यदि अकाल में उसकी मृत्यु हो गयी, तब तो पूछना ही क्या है। पुत्रशोक का अनुभव माता पिता के अतिरिक्त कोई कर ही नहीं सकता। इसी प्रकार धन भी अत्यंत प्रिय है, इसके उपार्जन में कितना कष्ट, व्यय करने में कितना कष्ट। धनवान् को सभी से सदा शंका बनी रहती है। राजा से, चोर से, शत्रु से, सम्बन्धियों से, मित्रों से, पशु पक्षियों से यहाँ तक कि अपने आपसे भी सदा भय बना रहता है। सोचता है, मैं किसी सभा समिति में गया, वहाँ लोगों के प्रभाव में आकर कहीं दान दे आया अथवा किसी को वचन दे आया तो बड़ी गड़बड़ी होगी। इसलिये सभा समिति से सदा बचता रहता है, दान माँगने वालों को देखते ही भाग जाता है। मन में सदा खुटका बना रहता है। यदि धन नष्ट हो गया, तब तो प्राणान्तक कष्ट हो जाता है, बहुत से पागल हो जाते हैं। बहुतों की हृदयगति रुक जाती है और वे मर जाते हैं। इसलिये वस्तुओं में

प्रियता स्थापित करके उन्हें संग्रह करना ही दुःख का मूल कारण है। जो ऐसा जानकर अकिञ्चन भाव को धारण करता है, अपना कुछ भी न समझकर ममताहीन बना रहता है, वह सदा सुखी रहता है। धन न रहने से ही सुख मिल जाता हो सो बात नहीं, उसके प्रति ममता भी न होनी चाहिये। निर्धन इसीलिये दुखी रहते हैं कि हमें धन नहीं मिलता। सुख का साधन तो वे धन को समझते हैं, किन्तु उसे अर्जन करने में असमर्थ हैं, इसीलिये वे भी दुखी रहते हैं। अर्जन करने में समर्थ होते हुए भी उसका त्याग कर दे उसे सञ्चित न करे तो वह सुखी होता है कुरर पक्षी मांस ले आया था, किन्तु जब उसने अपने ऊपर उस मांस के पीछे आपत्ति देखी, तो उसे छोड़कर सुखी हुआ। इसी प्रकार सञ्चित वस्तुओं को त्याग करके उनका सन्यास करके जो उनसे विरक्त हो जाता है वही प्रमुदित होता है।

राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! कुरर पक्षी से ली हुई शिक्षा को तो मैंने श्रवण किया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने बालक को गुरु बनाकर उससे क्या शिक्षा ग्रहण की।"

यह सुनकर अवधूत मुनि बोले—"राजन्! बालक के जिन गुणों पर रीझकर मैंने उसे गुरु बनाया, उसे मैं आप से कहूँगा।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! अब मैं बालक से ग्रहण की हुई शिक्षाओं का वर्णन करता हूँ, आप सब समाहित चित्त से शान्ति के साथ श्रवण करें।"

छप्पय—*शिक्षा मैंने लई करै नहिं यति सचय धन।*
जो जो सचय करै रहै ताहीमहँ निज मन॥
चिन्ता शङ्का लोभ होहि भय धनतें नित नित।
धन लाभी बहु रहैं धनी के पीछे उत इत॥
कुरर सरिस सग्रह करै, मार खाइगो सो अवसि।
निसकिञ्चन अति सुख लहै, ब्रह्मामृत सागर प्रवसि॥

श्री लक्ष्मी नारायण

श्री भागवत-दर्शन :—

"भागवती कथा"

(चौअनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला "भागवती कथा" ॥

लेखक

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-००

प्रथम संस्करण] वैशाख, सम्वत् २०१० वि० [मूल्य १।)

॥ मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग ॥

विषय-सूची

चौअनवाँ खण्ड

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१२४०—	शिशुसे शिक्षा	१
१२४१—	कुमारी कन्यासे शिक्षा ..	७
१२४२—	बाण बनानेवालेसे शिक्षा	१३
१२४३—	सर्पसे शिक्षा . ..	२०
१२४४—	मकड़ीसे शिक्षा ..	२८
१२४५—	भृङ्गीकीटसे शिक्षा	३४
१२४६—	देहसे शिक्षा . .	४०
१२४७—	अवधूतगीताकी समाप्ति ..	४९
१२४८—	सार सिद्धान्त ..	५४
१२४९—	परम भगवद्भक्तोंके लक्षण . ..	६१
१२५०—	संसारसे पार होनेके सरल साधन .	७५
१२५१—	भगवान्‌की पूजाके ग्यारह आश्रय	९०
१२५२—	सत्संगकी महिमा	१०४
१२५३—	गोपिकाओंकी प्रभुमें आसक्ति	१११
१२५४—	गुणोंसे ऊपर उठनेका उपाय	११७
१२५५—	अन्तःकरणमें विषय वासनाकी प्रवृत्ति ...	१३४
१२५६—	हंसगीताका उपोद्घात	१४१
१२५७—	हंसगीता	१४८
१२५८—	भ्रमनिवारणका उपाय ..	१५७
१२५९—	हंसगीताकी समाप्ति . ..	१६३
१२६०—	श्रेयसिद्धिके अनेक मार्गोंका कारण .	१७३
१२६१—	स्वल्पमें सुख नहीं	१८३
१२६२—	भक्तोंका उत्कर्ष .. .	१९९

शिशुसे शिक्षा

(१२४०)

न मे मानावमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ॥*
(श्रीभा० ११स्क० ९अ० ३श्लो०)

छप्पय

बालक कूँ अपमान मानको भान न होवै ।
सोवै लागै नींद भूख लगिबे पै रोवै ॥
घर फूटै या गिरै रहै धन चाहे जावै ।
जो मुखमहँ धरि देउ ताहि भावै तो खावै ॥
भेद भाव चिन्ता नहीँ, रहै करत क्रीडा सतत ।
यों ज्ञानी यति हू रहै, आत्मभाव महँ नित निरत ॥

आनन्द खेलमे है, जहाँ उसमे सत्यताका आरोप कर लिया वही विपत्तियोंका पहाड टूट पडता है। बालकोको खेल खेलमें गाडीमें चढनेमे कितना सुख होता है! किसी गाडीको जाते देखेंगे उसके पीछे चुपकेसे चढ जायँगे। बडी दूर तक उसपर चढ्ढी लेते हुए चले जायँगे। दूर जाकर गाडी खडी होगी, तो उतरकर

*अवधूत दत्तात्रेय राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन्! मैं अपने आत्मामें क्रीडा करता हुआ निःशङ्क होकर बालकवत विचरता हूँ। मुझे न मानकी चिन्ता है न अपमानकी; न मुझे घरकी चिंता है न पुत्र परिवारकी। यह शिक्षा मैंने बालकसे ली।"

पैदल भाग आवेंगे। अब सोचिये इतनी दूर पैदल आना हुआ इससे क्या लाभ? देखिये, खेलमें लाभ-हानिका विचार नहीं किया जाता। जहाँ हानि-लाभका विचार होता है वह खेल नहीं, ममता है। खेलमें तो सब लाभ ही लाभ है, उस जयमें भी पराजय है, पराजय भी जय है। छोटे छोटे बच्चे वह दुलहाका खेल खेलते है, उसमें आनन्द ही आनन्द हैं, कोई चिंता नहीं आपत्ति नहीं विपत्ति नहीं। किन्तु जब बड़े होकर यथार्थ विवाह करके बहूको घरमें ले आते है, तो बहू नहीं लाये चिन्ताओंकी पुटलीको उठा लाये। चुरी लाओ, बिछिया लाओ, बेंदी लाओ, काजर लाओ। आज ज्वर है, आज सिरमें पीडा है, आज चोक है, आज जापा है, आज नामकरण है, आज कान छिदेंगे, आज विवाह है। कहाँ तक कहें नित्य नई नई चिन्ताएँ न जाने कहाँसे आजाती हैं। हँसीमें विनोदमें क्रीडामें किसीसे कह दो—ये लाख रुपये तुम्हारे हैं, कोई बात नहीं खेल तो खेल ही है। यदि कोई यथार्थमें लाख रुपयेको अपने समझ ले तो उसे रात्रिमें निद्रा न आवेगी, सदा उनके रक्षण की उनकी वृद्धिकी चिन्ता बनी रहेगी। इसी प्रकार जो संसारकी प्रत्येक घटनाको खेल समझता है, वह सदा हँसता रहता है। आना भी खेल है जाना भी खेल है। खेलते खेलते लड़के रो पड़ते हैं, वह भी एक खेलका अङ्ग है। एक सन्तको किसीको विदा करते समय रोते देखा। जब वे लोग चले गये, तो वे खिलखिलाकर हँस पड़े। किसीने पूछा—"महाराज! आप अभी तो रो रहे थे, अब एक साथ ही क्यों हँस पड़े?" वे बोले—'अरे, भैया! यह सब खेल है, उस समय रोना भी खेल था, यह हँसना भी खेल है। खेलमें यह विचार नहीं होता—यह खेल मत खेलो, यह खेलो। जो मनमें आ गयी खेलने लगे। जहाँ उसमें सत्यता का आरोप होने लगा वहाँ फँस गये। इसीलिये ज्ञानियोंको बालकोंकी, सिड़ी पागलोंकी उपमा दी जाती है। बालक खेलते

खेलते रोने लगते हैं और फिर पल भरमे हँस जाते है। अभी वे क्रोधितसे दिखायी देते हैं; तुरन्त उन्हे फूल दिखा दो, फल माला या और कोई भड़कीली वस्तु दिखा दो, दौड़कर आजायँगे, हँस जायँगे। यही बात पागलोकी है, अभी कुछ कह रहे है, फिर तुरन्त कुछ कहने लगेंगे। अभी रो रहे हैं, फिर हँस जायँगे। वस्त्रोको फाडने लगेंगे, ईंटा ढेला फेंकने लगेंगे। साराश यह है उनके काम किसी विशेष सिद्धिके निमित्त नहीं होते। अपने आपमे क्रीड़ा करते रहते हैं, मनकी तरङ्गोके साथ खेलते रहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी यति सदा आत्मानन्दमे निमग्न रहता है, आत्माके साथ क्रीड़ा करता है, आत्माके साथ रति करता है। आत्मभावमे भावित होकर सांसारिक सुख दुखोसे सदा निर्लिप्त बना रहता है।

सूतजी शौनकादि मुनियोसे कह रहे है— ऋषियो! बालकसे ली हुई शिक्षाका वर्णन करते हुए अवधूत दत्तात्रेय राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन् छोटेसे अबोध बालकको भी मैंने अपना गुरु बना लिया है। कुछ दिनों तक मैं जंगल छोड़कर अनुभव के लिये नगरों और ग्रामोंमे घूमता रहा। वहाँ मैंने बहुतसे छोटे छोटे भोले भाले बच्चे देखे। राजन्! बच्चोको देखकर बड़ा सुख होता है, वे फूलकी भाँति सदा खिले रहते हैं, ऐसी ऐसी मनोहर चेष्टाये करते हैं कि चित्त चाहता है सदा इन्हींके साथ खेलते रहे। मिश्रीसे भी मीठी ऐसी तुतली बोलते है कि मनमें आता है इन्हींकी बोली सुनते रहें। उनके अन्तःकरणमे राग द्वेष, पाप पुण्यका भाव नहीं, अतः उनकी आकृति बड़ी मोहक लगती है। हृदय चाहता है उन्हें छातीसे चिपटाकर बारबार उनका मुख चूमते रहे। बच्चे सभीके बड़े प्यारे लगते हैं। बच्चे जब आपसमे खेलते हैं, कितने अच्छे लगते हैं। उनके मनमे कोई छिपानेका भाव नही। मुखमे आता है तुरन्त कह

देते हैं। अच्छीसे अच्छी वस्तु दे दो इच्छा होगी तब तक खेलेंगे जब इच्छा होगी तुरन्त उसे फेंक देंगे। सब बच्चोंको देखकर प्रसन्न हो, उन बच्चोंमें जो ममत्व स्थापित करते हैं ये मेरे बच्चे हैं, ये तो सुखी रहें ; दूसरोंके बच्चे सुखी न रहें, दुःखका प्रधान कारण यही है। मेरे लिये तो सभी बच्चे एकसे हैं। जो किसी बच्चेको अपना करके नहीं मानते उनके लिये सभी बच्चे समान हैं। इसलिये मैं जिस बच्चेको भी देखता उसीको प्यार करता। किसी गाँवमें दो चार दिन रह जाता तो गाँव भरके लड़के मुझसे हिल जाते, मेरे चारों ओर खड़े हो जाते। उनमेंसे किसीमें मैं चपत लगा देता, किसीकी टोपी उतार लेता, किसीको गोदीमें उठा लेता, इससे वे सब अत्यंत प्रसन्न होते, उनमें मान अपमानकी गंध भी नहीं थी। संसारी लोग मान अपमानके ही पीछे मर रहे हैं। उन्होंने मुझे 'आप' न कहकर "तुम" कह दिया, यह मेरा बड़ा भारी अपमान हुआ। अरे भैया! क्या तेरा अपमान हुआ। 'आप' में भी दो शब्द हैं 'तुममें" भी दो शब्द हैं। 'आ' अक्षरसे 'त्' अक्षर तो बड़ा है, 'प' से 'म' तो आगे है। इसमें क्या अपमान! माता पिता बड़े भाई सगे सम्बन्धी 'तू' 'तुम' ही तो कहते हैं, इसमें क्या मान क्या अपमान? किंतु यह ऐसा मिथ्याभिमान हो गया है कि शब्दोंमें भी मनुष्य मानापमानका विचार करते हैं। हमारे नामके पीछे इतनी "श्री" क्यों नहीं लिखी गयी। यह अज्ञान है, मूर्खता है। बच्चोंमें यह बात नहीं, उनको आधे नामसे पुकारो, गाली देकर पुकारो, कुछ कहकर पुकारो वे हँस जायँगे। मनुष्य मिथ्या मान अपमानका विचार करके भीतर ही भीतर जलता रहता है। उसे मान अपमानकी बड़ी चिन्ता रहती है।

मनुष्यको दूसरी चिन्ता होती है, घर और परिवारकी। हाय!

मेरा घर फूट गया, इसमे ऐसी असुविधाये हैं, स्त्री सदा रोगिणी बनी रहती है, बच्चोको ज्वर आजाता है, परिवारमे मनुष्य बहुत है, आय बहुत कम है, कैसे निर्वाह होगा ? कैसे सब सुखी होगे। इसी चिन्तामे निमग्न हुए मनुष्य सदा दुखी रहते हैं। बालकको ये सब चिन्तायें नही होती, वह अपने आपमे सदा प्रसन्न रहकर प्रमुदित रहता है, उसे किसीपर स्वतः शङ्का नही होती। वह सदा खेला करता है। भूख लगी खा लिया, फिर खेलमें लग गये। बालकोकी ऐसी प्रवृत्तिका मेरे ऊपर बडा प्रभाव पडा, मैंने उसे अपना गुरु बना लिया और तभीसे मान अपमानका चिन्ता त्यागकर देह गेहका कुछ भी विचार न करके अपने आपमे ही क्रीडा करता रहता हूँ। आत्मानन्दमे ही निमग्न होकर भोले बालकके समान शंका रहित होकर पृथिवीपर विचरण करता रहता हूँ।

राजाने कहा—"भगवन् ! संसारमे देखते हैं दुःख ही दुःख है, ऐसा कोई भी नही जिसे कोई न कोई चिन्ता न लगी हो।"

अवधूत मुनिने कहा—"राजन् ! जो थोडा भी सग्रह करेगा, वह चिन्तित अवश्य होगा। इसलिये ससारमे दो ही प्रकारके मनुष्य चिन्तासे विमुक्त हैं। एक तो वह जो भोला भाला सरल शिशु है और दूसरा वह जो इस प्रकृतिके तीनों गुणोको पारकर गया है, जिसकी दृष्टिमें अच्छे बुरेका भेद भाव नहीं है। इनके अतिरिक्त जो बीचके हैं—मध्यम श्रेणीके हैं—वे तो सदा चिन्तामे ही ग्रस्त रहते हैं। जो ज्ञानी नहीं है। राज या किसी भी गुणके अधीन है, पातालसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त कहीं भी क्यो न हो, चिन्तासे मुक्त कोई नहीं है। चिन्तासे मुक्त तो वही है, जो बालककी भाँति सभी घटनाओंको खेल समझता है। राजन् ! बालकके भोलेभाले निश्छल स्वभावको ही देखकर मैंने उसे अपना गुरु बना लिया है और उसीकी शिक्षाको हृदयङ्गम करके

मैं इसमें व्यवहार करता हूँ।"

राजाने कहा—"ब्रह्मन्! आपने पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी, हरिण, मीन, वेश्या, कुरर पक्षी और बालक इन उन्नीस गुरुओंसे ली हुई शिक्षाका वर्णन किया, अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि बीसवें गुरु कुमारी कन्यासे आपने कौनसी शिक्षा ग्रहण की। कुमारी लड़कीको आपने गुरु क्यों बनाया?"

इसपर हँसते हुए अवधूत मुनि बोले—"राजन्! इस सम्बन्धमें एक इतिहास है, उसे मैं आपको सुनाऊँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब अवधूत मुनिके द्वारा कही हुई कुमारी कन्याकी शिक्षा ग्रहण कीजिये।"

छप्पय

द्वै ई जग महँ सुखी और सब दुखी भूमिपति।
एक गुणनि तैं पार ज्ञान विज्ञान निपुण यति॥
दूसर छल तैं रहित सरल शिशु भोरो भारो।
अधकचरे नित रहैं दुखी चिन्तित हिय धारो॥
बालक गुरु करि जगत महँ, बिचरूँ है निःशङ्क नित।
निज पर भेद भुलाइकें, समझूँ सबकूँ आत्मवत॥

—❀—

कुमारी कन्यासे शिक्षा

(१२४१)

वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० ९अ० १०श्लो०)

छप्पय

निरखी कन्या एक अकेली बैठी आँगन ।
खोजन माता पिता गये वर पहुँचे पाहुन ॥
चावल घर नहि रहे धान वह लागी कूटन ।
पहिने कर महँ चुरी शङ्खकी लागीं बाजन ॥
पृथक् करीं करतैं कछू, रहा बजीं द्वै शेष जो ।
एक उतारी नहि बजीं, हौं गुरु कीन्हीं तुरत सो ॥

निर्जीव वर्तन जब एक साथ रहते हैं तो खटक जाते हैं, फिर सजीव पुरुष जिनमे कुछ कुछ भिन्नता होनी स्वाभाविक है, वे जब साथ होंगे तो कुछ न कुछ कहासुनी हो ही जायगी। कितने सयमी सदाचारी, त्यागी विरागी पुरुष साथ रहें उनमे कभी

*अवधूत मुनि राजा यदु से कह रहे हैं— राजन्! बहुत लोगों के साथ रहने से कलह होता है, यदि दो भी रहें तो भी बातें होती ही हैं। इसलिये भिक्षु को चाहिये कि वह एकाकी ही निःशब्द होकर विचरे जैसे कुमारी कन्या का कङ्कण अकेला रहनेसे निःशब्द हो गया था।"

न कभी कलह अवश्य हो जायगी। यह स्वाभाविक बात है, कलह कलियुग का रूप है। चारों युगों में कुछ न कुछ कलि का अंश होता है अर्थात् कलह चारों युगों में होती है। सत्ययुग में कम होती है, त्रेता में उससे अधिक, द्वापर में उससे भी अधिक और कलियुग तो कलह का घर ही है।

एक बार की बात है, सातों सप्तर्षि मुनि साथ साथ जा रहे थे। उनके साथ उनका सेवक भी था। मार्ग में बड़ी भूख लगी। वे सबके सब ज्ञानी थे, एक दूसरे को हृदय से प्रेम करते थे, किन्तु भूख में मनुष्यों की मति विपरीत हो जाती है। वास्तव में कलह भूखके ही लिये होती है, किसी को धन की भूख है, किसी को अन्न की भूख है, किसीको काम की भूख है। जिसने भूख को जीत लिया उसके समीप कलह फटक भी नहीं सकती। हाँ, तो चलते चलते उन ऋषियों को एक सरोवर मिला। उसमें कमल खिल रहे थे। सबने कहा—"सब लोग मिलकर कमल की जड़ों को निकालो, उन्हींसे सब मिलकर बुभुक्षा को शान्त करेंगे।"

सब लोग सरोवर में घुसे और कमल की जड़ों को निकालने लगे। कलियुग ने सोचा—"ये लोग इतने साथ साथ रहते हैं, भूख लगने पर तो एक को दूसरे के ऊपर अविश्वास होना ही चाहिये इनमें कलह होनी ही चाहिये, किन्तु ये मिलकर काम कर रहे हैं। इनमें कुछ भेद डालना चाहिये।" यही सोचकर कलियुग उन कमल कदों को चुरा ले गया। अब एक दूसरे पर वे आपस में सन्देह करने लगे। कोई कहता 'तुमने खा लीं हैं' कोई कहता तुमने खा लीं हैं।' जब आपस में सभी एक दूसरेपर सन्देह करने लगे और अपने को निर्दोष बताने लगे, तो सबने शपथें खाईं।

कहानी बहुत बड़ी है, यहाँ इसके उल्लेख करने का माराश इतना ही है कि कैसे भी ज्ञानी, ध्यानी, विवेकी तथा बहुश्रुत आदमी एक साथ रहेंगे, उनमें आपस में कभी न कभी कुछ न

कुछ कलह अवश्य होगी। अतः परमार्थ चिंतन करनेवाले भिक्षु को कभी समूह बनाकर न घूमना चाहिये। बहुतों मे तो कलह हो ही जाती है, दो बर्तन भी साथ रहते हैं, तो कभी खटक जाते हैं। एक मनके दो आदमी साथ रहते हैं, तो कलह चाहे न हो, किन्तु इधर उधर की बातें तो हो ही जाती है। और कुछ न होगी, भिक्षा की ही बातें छिड़ जायँगी-आज हम वहाँ गये, उसने बड़ी श्रद्धा से भिक्षा दी। वह माई तो डाइनकी तरह चिल्लाकर बोली—"हट्टा कट्टा से घूमते हो, नित्य नारायण हरिनारायण हरि आकर चिल्लाते हो, कुछ कमाकर रख जाते हो क्या? चले जाओ।" अमुक स्थान पर गये मालपुआ बन रहे थे, उसने बिठाकर भिक्षा करा दी। ऐसी बाते इच्छा न करने पर भी हो जाती हैं, अतः परमार्थ के पथिक सन्यासी को कभी दो के साथ मिलकर न रहना चाहिये। भाव, भोजन और भजन एकान्त में ही भली भाँति होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुमारी कन्या से शिक्षा लेने के सम्बन्ध मे जो राजा यदुसे अवधूत ने इतिहास बताया था, उसे आपसे कहता हूँ। अवधूत मुनि कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन मैं घूमता फिरता एक गाँवमे गया। उस गाँवमे पहिले भी मै गया था, वहाँ एक बड़ा श्रद्धालु ब्राह्मण था, जब भी मैं जाता बड़ी भाव भक्तिसे भिक्षा कराता। महाराज! साधुका और क्रूरका ऐसा स्वभाव है कि जहाँ प्रेमसे टुकड़ा मिल जाता है, वहाँ स्वतः ही पहुँच जाता है। जब मैं पहिले ब्राह्मणके घरमे जाता था, तो वे कहा करते थे—"भगवन्! मेरी यह पुत्री बड़ी सुशीला और बुद्धिमती है, इसके योग्य कोई वर नहीं मिल रहा है, इसकी चिन्ता मुझे लगी रहती है।" मैं कह देता—"भगवान सब मंगल करेंगे, जिसके साथ इसका सम्बन्ध लिखा होगा, उसके साथ अवश्य ही होगा।" वह लडकी भी मुझे जानती थी। मैं घरमे गया. तो वह आँगनेमे बैठी थी। मैंने पूछा—"बिटिया! पंडितजी

कहाँ गये हैं।"

उसने कहा—"वे तो कहीं बाहर कामसे गये हैं ?"

मैंने कहा—"तेरी माँ कहाँ गयी है ?"

उसने कहा—"महाराज ! वह भी कहीं बाहर गयी है। आप विराजे।"

लडकीकी बात सुनकर मैं वहीं बैठ गया। इतनेमें ही उस लडकीको देखने उसकी सगाई करने कुछ लोग आ गये। लडकी तो सब जानती ही थी, कि मेरे पिता मेरे विवाहके लिये दौड रहे हैं और ये लोग मेरी सगाई पक्की करने आये हैं। घरमें कोई दूसरा था नहीं, अतः आगत अतिथियोंके आतिथ्यका भार उसीके ऊपर पड गया। सयोगकी बात कि उस दिन घरमें चावलका एक दाना भी नहीं था। माता पिता होते तो कहींसे प्रबन्ध करते। कोई दूसरे आदमी होते, तो वह भी पास पडोसीके यहाँसे ले आती, किन्तु जब उसकी ही सगाई करने आये है, तो लडकी उनके सम्मुख बाहर कैसे जा सकती थी। उसे बडी चिन्ता हुई।

विचार करते करते उसे ध्यान आया। कुठिलामें बहुतसे धान भरे है, क्यों न शीघ्रतासे कुछ धान कूटकर उनमेंसे चावल निकाल लू ! इस विचारके आते ही उसने ओखलीमें धान डालकर धनकुटासे उन्हे कूटना आरम्भ कर दिया। उसके हाँथमें शङ्खकी बनी चूडिया पडी थीं। वे धान कूटनेसे शब्द करने लगीं। लडकी तो बडा बुद्धिमती थी, उसने सोचा— यद्यपि मैं यहाँ एकान्तमें धान कूट रही हूँ, मुझे वे लोग देख नहीं रहे हैं, किन्तु मेरी चूडियोंकी ध्वनि सुनकर वे लोग समझ जायँगे, कि मैं धान कूट रही हूँ। वे सोचेंगे—ये लोग बडे निर्धन हैं, इनके यहाँ एक दिन खानेको चावल भी नहीं। दरिद्र समझकर ये लोग लौट जायँगे, सम्बन्ध भी पक्का न करेंगे, इसलिये ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे चूडियोंका शब्द न हो।"

यह सोचकर उसने तुरन्त चूडियाको उतार दिया। उतारनेमे शीघ्रताके कारण कुछ टूट भी गयी। केवल दो दो चूडियाँ उसने रहने दीं। दो दो के रहनेपर अब उनमेसे उतना शब्द तो नहीं निकलता था, फिर भी कुछ खटखट होती ही थी। धनकुटा उठाने और धान कूटते समय वे दोनो मिलकर खनखन करती ही थीं। तब उस बुद्धिमती लडकीने एक एक चूडी और भी उतार दी। अब जब अकेली अकेली रह गयी, तो शब्द कैसे होता, उसने धान कूटकर शीघ्रतासे भात बना लिया। मैं तो ज्ञानकी खोजमे घूमता ही रहता हूँ, प्रत्येक घटनासे कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण करता ही हूँ। इसलिये मैंने उस लडकीको अपना गुरु मान लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की, कि बहुत लोगोंके साथ रहनेसे कलह हुआ ही करता है, जैसे बहुतसी चूडियोसे शब्द होता ही था। बहुत न रहे केवल दो ही रहें तो भी कलह न होगी, गप्प शप्प तो हो ही जायँगी। कहीं कड़ाई जा रही होगी, तो एक साधु दूसरे साधुसे कहेगा—"गोपालदास! रामजीके आसरेसे आज यह कडाई कहाँ जा रही है?"

दूसरा कहेगा—'अजी! सियाशरणदासजी! अमुक स्थानपर भडारा है।"

इस प्रकारकी इच्छा न होनेपर भी अनावश्यक बातें हो जाती है। इसलिये विरक्तको दो का भी साथ न करना चाहिये। कुमारीके कङ्कण के समान एकाकी ही निःशब्द होकर रहना चाहिये। एकान्तमें चित्तकी वृत्ति बाहरकी ओर नहीं जाती, भीतरका अन्वेषण करती है। इन्द्रियोकी वृत्तिका बाहर होना ही अवनति है। चित्तकी वृत्तिका निरोध करना ही उन्नति है। अत एकान्तमे अकेले रहकर यति आत्मचिन्तनमे निरत रहे।

राजा यदुने पूछा— ब्रह्मन्! आपने कुमारी कन्यासे ली हुई शिक्षाका तो वर्णन किया, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने

बाण बनाने वालेको गुरु क्यों बनाया ? उससे आपने क्या शिक्षा ली ?

यह सुनकर अवधूत मुनि बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं बाण बनाने वालेसे ग्रहणकी हुई शिक्षाका ही वर्णन करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! आप भी बाण बनाने वालेकी शिक्षाको श्रवण करें।"

छप्पय

शिक्षा ग्वातैं लई कलह होवै बहुतनि महँ।
यदि संग द्वैऊ रहैं समय बीतै बातन महँ॥
भीड़भाड़ में भिक्षु भूलिकैं कबहुँ न जावै।
रखै न दूजौ संग अकेलौ समय बितावै॥
एकाकी चिन्तन करै, खटपट तैं नित ही बचै।
नर नारिनिको संगता, जनम मरन पुनि पुनि रचै॥

बाण बनाने वालेसे शिक्षा

(१२४२)

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥*

(श्रीभा०११स्क०९अ०१३श्लो०)

छप्पय

गुरु कीयो इषुकार बान पथ माहिँ बनावै ।
ह्वैकें तन्मय चित्तवृत्ति सर माहिँ लगावै ॥
राजा सेना सहित गयो चित नाहिँ चलायौ ।
'इततें भूपति गयो' कह्यो कछु नहिँ सकुचायौ ॥
विषयनि तैं वैराग्य करि, नित नितके अभ्यास तैं ।
चित्त मिलावै लक्ष्य तैं, आसन प्राणायाम तैं ॥

देखना, सूँघना, रसलेना, सुनना तथा शीतोष्णका अनुभव करना ये सब कार्य मनके ही हैं, ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा मन इन

---

* अवधूत मुनि राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन्! जब चित्त आत्मामें अवरुद्ध हो जाता है, तो भीतर बाहर किसी भी पदार्थको नहीं जानता। जिस प्रकार समीपसे ही जाती हुई राजाकी सवारीको एक बाण बनाने वालेने बाण बनानेमें तन्मय होनेके कारण देखा ही नहीं।"

कार्योंको कराता है। केवल आँखें देखनेमें समर्थ नहीं जब तक वहाँ मन न हो, केवल कर्ण सुन नहीं सकते जब तक मनका उनके साथ संयोग न हो, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। यदि मन वशमें हो गया, तो इन्द्रियाँ अपने आप वशमें हो जायँगी। यदि मन वशमें नहीं है और ऊपरी इन्द्रियोंको रोकते रहो, तो जब भी अवसर आवेगा, विषयोंमें प्रवृत्त हो जायँगी। मनके रोकनेके दो ही उपाय हैं, या तो ऊर्ध्व-रेता हो या प्राणोंको रोकनेकी शक्ति हो। प्राणोंके रुकनेसे मन अपने आप रुक जायगा, फिर वह लम्बी दौड़ न लगावेगा। जैसे किसी पक्षीके पैरमें डोरी बाँधकर उसे वृक्षकी शाखासे बाँध दो, अब उसके पंख व्यर्थ बन गये। कुछ काल तक पैर फड़फड़ावेगा फिर वहीं बैठ जायगा। जब तक रस्सीमें उसका पैर बँधा है और वह रस्सी शाखामें बँधी है, तब तक वह कहीं नहीं जा सकता। प्राणायाम एक प्रकारकी रस्सी है। मनरूपी पक्षीको उससे बाँध दो वह अधिक उड़ न सकेगा, वहीं बँधा हुआ बैठा रहेगा।

सूतजी कहते हैं— मुनियो! बाण बनानेवालेकी शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूत मुनि कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन मैं राजपथसे जा रहा था। वहाँ मुझे एक बाण बनानेवाला दिखायी दिया। उसकी दुकान राजपथके किनारे ही थी, वहीं वह बाणोंको सीधा करता था। बाण जब तक सर्वथा सीधे नहीं होते तब तक वे लक्ष्यभेद करनेमें समर्थ नहीं होते। उनको बड़ी तन्मयतासे सीधा किया जाता है। तनिक भी बल उनमें नहीं पड़ने पाता।

मैंने देखा वह बाण बनानेवाला एकाग्र चित्तसे उन्हींको सीधा कर रहा है। मैं बड़ी देर तक खड़ा खड़ा उसे देख रहा था। मैं तो उसे देख रहा था, किन्तु वह मुझे नहीं देख रहा था। उसने आँखें बन्द करली हों सो भी बात नहीं, आँखें तो उसकी

खुली थीं, किन्तु वह ऐसा तन्मय था कि उसे अपने बाणके अतिरिक्त कुछ भी दिखायी नहीं देता था।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! आँखें खुली रहनेपर तो जो वस्तु सम्मुख होगी, वह दिखायी देगी, इतने बड़े मुनि उसके सम्मुख खड़े रहे और उसे वे दिखायी क्यों नहीं दिये, बाणकी अपेक्षा तो मुनि बड़े ही थे।"

सूतजी बोले—"बड़ा होनेसे क्या होता है। हम पूरी आँखोंसे तो देखते नहीं। आँखोंके तारोंमेंसे देखते हैं। तारोंमें भी जो बीचमें एक गोल छोटासा बिन्दु है उससे देखते हैं। यदि एक राईमें भी उसे दृढ़ताके साथ लगा दो तो फिर राईके अतिरिक्त कुछ भी दिखायी न देगा। इस विषयमें कौरव पाण्डवोंका दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर है।

कौरव और पाण्डव साथ ही साथ द्रोणाचार्यजीसे बाण-विद्या सीखते थे। जब वे लोग सीख चुके, तो आचार्यने एक दिन सबकी परीक्षा ली। एक कृत्रिम पक्षी बनाकर पेड़पर बैठा दिया और सबसे कहा—"इस चिड़ियाके सिरको काटना है। एक एक बाण लेकर आओ। मैं जो पूछूँ उसका उत्तर दो और जब मैं आज्ञा दूँ तब बाण छोड़ो।"

आचार्यकी आज्ञा सभीने शिरोधार्य की। सभी धनुषपर बाण चढ़ाकर लक्ष्य भेदनेके लिये सुसज्जित होते। आचार्य उनसे पूछते—"तुम क्या देख रहे हो?"

कोई कहता—"मैं आपको, इस वृक्षको और वृक्षकी बड़ी शाखाओंको और इसपर बैठे पक्षीको देख रहा हूँ।"

आचार्य उससे कहते—"बाणको तूणीरमें रख लो, पीछे हट जाओ। अब दूसरा आगे आवे।" इसी प्रकार सभी आये, किसीने वृक्षको बताया, किसीने शाखाको बताया और किसीने केवल पक्षीको बताया। सबसे अन्तमें अर्जुनकी बारी आई। जब वे

धनुषपर बाण चढ़ाकर खड़े हुए तो आचार्यने पूछा—"तुम मुझे देख रहे हो ?" अर्जुनने कहा—"नहीं।" फिर पूछा—"इस वृक्षको देख रहे हो ?" पार्थने निषेध किया। आचार्यने पूछा—"इस वृक्षकी उस शाखाको देख रहे हो, जिसपर पक्षी बैठा है ?" सव्यसाची अर्जुन बोले—"नहीं, मैं शाखाको भी नहीं देख रहा हूँ।" आचार्यने पूछा—"पक्षीको देख रहे हो ?"

अर्जुनने कहा—"नहीं, मैं पक्षीको भी नहीं देख रहा हूँ।"

आचार्यने विस्मयके साथ पूछा—"कुछ देख भी रहे हो या अन्धे हो गये हो, नेत्र तो तुम्हारे खुले हुए हैं।"

अर्जुनने कहा—"गुरुवर ! मैं केवल पक्षीके सिरके उस भागको ही देख रहा हूँ जहाँ मुझे बाण मारकर उसके सिरको काटना है।"

यह सुनकर आचार्य प्रसन्नताके कारण उछल पड़े और बोले—"अर्जुन ! लक्ष्य-भेदका रहस्य तैंने ही समझा है। जा, मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ, तेरा लक्ष्य कभी भी व्यर्थ न जायगा। जब तक मन लक्ष्यमें तन्मय नहीं होता, जब तक उसके अतिरिक्त सबकी ओरसे दृष्टि नहीं हटा लेता तब तक लक्ष्य-भेद होता नहीं। यह बात स्वार्थ परमार्थ दोनोंमें ही है। विषयियोंका मन जब तक विषयोंमें तदाकार नहीं होता तब तक उन्हें विषय जन्य सुख प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म एक लक्ष्य है। आत्मा बाण है, प्रणव धनुष है, जो अप्रमत्त होकर भेद करता है वही ब्रह्मवित् होता है।"

सारांश कहनेका यह हुआ कि कोई भी कार्य तभी भलीभाँति सम्पन्न होता है, जब उसमें तदाकार हो जाय, उसके अतिरिक्त किसीको देखे ही नहीं, उसमें मिल जाय।"

शौनकजीने पूछा—"हाँ, सूतजी ! अब यह विषय हमारी बुद्धि में आ गया। आगे उस बाण बनानेवालेकी बात बताइये।"

सूतजी बोले—"मुनियो ! अवधूतमुनि राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन् ! मैं बड़ी देर तक वहाँ खड़ा रहा। इतनेमें ही राजाकी सवारी वहाँसे निकली। उसके साथ बहुतसे सैनिक थे। हाथी-घोड़ा, पैदल तथा रथ सभी कुछ थे। आगे आगे बाजे बजते जाते थे। गानेवाली गीत गाती जाती थीं, नाचनेवाली नाचती जाती थीं। मैं खड़ा खड़ा सब देखता रहा, किन्तु वह बाण बनानेवाला अपने कार्यमें ही व्यस्त था। सवारी निकल गयी। कुछ कालके पश्चात् मैंने जाकर पूछा—"कहो चौधरीजी ! क्या कर रहे हो ? तुमने राजाकी सवारी देखी या नहीं ?"

उसने चौंककर कहा—"नहीं ब्रह्मन् ! मैंने राजाकी सवारी नहीं देखी।"

मैंने कहा—"तुम्हारे सामने होकर तो निकली है।"

उसने अनजानकी भाँति पूछा—"कब निकली है भगवन् ! मुझे तो पता नहीं। मेरे सम्मुख तो निकली नहीं।"

अवधूतमुनि कह रहे हैं—"राजन् ! उसकी तन्मयताका मेरे ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसी समय मैंने उसे अपना गुरु बना लिया। जिसे मोक्षकी इच्छा हो, उस यतिको चाहिये कि बाण बनानेवालेकी भाँति अपने चित्तको एकाग्र करे।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन् ! चित्तको किन उपायोंसे एकाग्र करे।"

मुनि बोले—"राजन् ! प्रथम तो विषयोंसे वैराग्य करे, इस दृश्य प्रपञ्चको मिथ्या समझे, फिर इसका निरन्तर अभ्यास करता रहे। अभ्यासके बिना वैराग्य टिकता नहीं। अतः अभ्यास वैराग्य दोनोंकी ही आवश्यकता है। आलस्यको अपने समीप फटकने भी न दे। दृढ़ आसन मारकर प्राणोंका संयम करे। प्राणायामके अभ्याससे प्राणोंपर विजय प्राप्त करे। मन त्रिगुणात्मक विषयकी वासनासे अशुद्ध हो गया, वास्तवमें यह अशुद्ध नहीं है। संसर्गजन्य दोष इसमें आगया है। वस्त्र तो शुद्ध स्वच्छ होता है,

ऊपरसे उसमे मैल भर जाता है। युक्तिपूर्वक क्षारसे धोनेपर उसका मैल निकल जाता है और फिर वह पूर्ववत् स्वच्छ हो जाता है। पहिले भी वह शुद्ध था, क्षार लगानेपर उसमें नयी शुद्धता कहींसे आ नहीं गयी, उसकी वही शुद्धता चमकने लगी। इसी प्रकार सत्व, रज और तम इन तीनोंके कारण मन मैला हो गया है। कर्म रूपी धूलिने उसे ढक लिया है। रज और तमकी वृद्धिसे राग, अज्ञान, मोह, आलस्य तथा प्रमाद आदि बढ़ गये हैं। अतः सर्वप्रथम सत्वगुणको बढावे। सत्वगुणकी वृद्धि होनेसे रजोगुण तमोगुण अपने आप दब जायेंगे। जैसे अग्नि तभी तक जलेगी और धूँआ देगी जब तक उसमे ईंधन पडता रहेगा। ईंधन न डालो तो वह बिना धूँएके दहकती रहेगी। कुछ कालमें कोयला तथा कंडोंकी राखको छोडकर अपनी महाज्योतिमे मिल जायगी। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण ये ईंधन हैं। सत्वकी वृद्धिसे निर्धूम अग्निके समान मन हो जायगा, फिर शनैः शनैः वह शान्त होकर आत्मामें निरुद्ध हो जायगा। आत्मा परमात्माको प्राप्त हो जायगा। चित्तके निरुद्ध हो जानेपर न बाहर कुछ दीखता है न भीतर। केवल अपना लक्ष्य ही दृष्टिगोचर होता है।"

राजाने कहा—'ब्रह्मन्! बाण बनानेवालेकी शिक्षाको तो मैंने श्रवण किया, अब आप यह बतायें कि सर्पको आपने गुरु क्यों बनाया? सर्प तो बड़ा विषैला होता है, उसमें आपने कौनसा गुण देखा?'

हँसते हुए अवधूत मुनि बोले—"विषैला होनेमे क्या हुआ!

मुझे तो गुण ग्रहण करना है। गुण कहीं भी मिल जाय, वहींसे ग्रहण किया जा सकता है। अच्छी बात है, अब मैं सर्पसे ली हुई शिक्षाका ही तुमसे वर्णन करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप सॉपसे सीखी शिक्षाको भी शान्तिके साथ सुन लीजिये।"

छप्पय

रज तम रूपी मैल त्यागि जगबन्धन तोडै।
प्रविशि परमपद चित्त धूलि करमनिकी छोडै॥
आत्मा महँ चितरोध होहि हिय महँ सुख पावै।
भीतर बाहर फेरि न कछु जग वस्तु दिखावै॥
बाणकारके सरिस नित, करै चित्त एकाग्र यति।
देहि ध्यान नहिं जगत् महँ, तब पावै त्यागी सुगति॥

—::❀::—

सर्प से शिक्षा

(१२४३)

गृहारम्भो हि दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ *

(श्रीभा० ११स्क० ९ अ० १५श्लो०)

छप्पय

अहि सम बिचरै, भिक्षु अकेलौ सब तैं छिपिकें ।
एक स्थान नहिं रहै गुहामें सोवै लुकि कें ॥
कबहुँ न करै प्रमाद समय कूँ व्यर्थ न खोवै ।
जन समूह नहिँ करै अल्पभाषी नित होवै ॥
परै न मठ के फेर में, ककर पत्थर जोरि कें ।
परयो रहै एकान्त में, सब तैं नातो तोरि कें ॥

गृह का अर्थ है, जो बाँधले फँसाले । गृहस्थी घर बनाकर ऐसा फँस जाता है कि फिर उसका निकलना कठिन होता है ।

---

* अवधूत मुनि राजा यदु से कह रहे हैं—'राजन् ! एक दिन नष्ट हो ही जाने वाले इस अनित्य शरीरके लिये घर बनाना व्यर्थ है और दुःखका कारण है । देखिये, सर्प दूसरों के घर में घुस कर वृद्धि को प्राप्त होता है, उसे कोई कष्ट नहीं होता ।"

एक एक ईंट मे उसका अनुराग हो जाता है। घर के छप्पर में जितनी गाँठें होती हैं, उतनी गाँठें उसके हृदय में लग जाती हैं। इस सजीव देह रूपी घर में जितना ममत्व होता है, उतना ही निर्जीव कंकड पत्थर के बने घर में हो जाता है। जिस वस्तु को नित्य अनुराग के साथ, अपनेपन के साथ देखेंगे उसमें मोह हो जायगा और अवश्य हो जायगा। हृदय पर संस्कार शनैः शनैः पडता है और वह अमिट हो जाता है। पेट में बच्चा आते ही माता-पिता के संस्कार पड़ने आरम्भ हो जाते हैं, बच्चा होगा बच्चा होगा। छै महिने का गर्भ गिर जाता है तो कितना दुःख होता है। अभी बच्चा नहीं, पूरा शरीर नहीं, फिर भी छै महिने से संस्कार पड़ रहे थे, इसमें दुःख हुआ। पैदा होकर मरता है तो और भी दुःख होता है क्योंकि उसका मुख देखनेसे मोह हो जाता है। यदि दो तीन वर्ष का होकर मरता है तो उससे भी अधिक दुःख होता है। यदि बडा होकर युवावस्था में किसी का पुत्र मर जाय तो माता-पिता को कितना कष्ट होता है, उसे वे ही समझ सकते हैं। लडका तो वही है जो जन्म के समय था। इतने दिन साथ रहने से उसमें ममता अत्यधिक बढ़ गयी, जिसमें जितनी ही अधिक ममता होगी, उसके वियोग मे उतना ही अधिक कष्ट होगा। वस्तुएँ दुःख का कारण नहीं है, दुःखका कारण तो है ममता। निरन्तर संग करने से निरन्तर उसकी सुविधाओं को स्वीकार करने से ममता हो ही जाती है। इसलिये त्यागपथ के पथिक को न तो कभी अधिक दिनों तक एक स्थान में रहना चाहिये न किसी से ममता ही करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! सर्प से ली हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! सर्प विषैला जन्तु है तो क्या हुआ। हमें तो आम खाने हैं, पेड़ गिनने से क्या प्रयोजन। उत्तम विद्या यदि नीच पर भी हो, तो

उसे ले लेना चाहिये। यह ससार तो गुण दोषों से बना ही है। प्राणियो मे दोषोंका होना स्वाभाविक है। हम दूसरों के दोषों का चिन्तन करेंगे, तो उन दोषों के संस्कार हमारे भीतर पहिले आ जायँगे, अतः परमार्थ पथ के पथिक को गुणग्राही होना चाहिये। सन्त पुरुष पराये के परमाणु सदृश गुण को पर्वतके समान करके अपने हृदय मे उनका विकास करते हैं। सर्प मे मैंने बहुत से गुण देखे, उससे मैंने बहुत सी शिक्षायें ग्रहण कीं, इसलिये उसे मैंने अपना परम गुरु मान लिया।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! सर्प से आपने कौन कौन सी शिक्षायें लीं?"

अवधूत मुनि बोले—राजन्! पहिली शिक्षा तो मैंने सर्प से यह ली कि जैसे सर्प अकेला रहता है, वैसे यति को भी चाहिये कि सदा अकेला रहे। राजन्! चाहें आप मानें अथवा न मानें जो जिसके साथ रहेगा, उसका हृदय पर प्रभाव अवश्य पडेगा। देखिये, हृदय तो बहुत कोमल वस्तु है। पत्थर कितना कठोर होता है, किन्तु रस्सी के आने जाने से उसमे भी बड़े बडे गड्ढे पड जाते हैं। इसलिये सर्प की भाँति एकान्त मे निःसंग होकर आत्मचिंतन करना चाहिये।

दूसरी शिक्षा मैंने सर्प से यह ली कि सर्प कभी एक स्थान पर नहीं रहता। आज यहाँ है तो कल वहाँ है, ऐसे विचरता रहता है। इसी प्रकार भिक्षु यति को कहीं एक स्थान में सदा न बने रहना चाहिये। एक स्थान मे रहने से उस स्थान मे आसक्ति हो ही जाती है। संसारका अणु परमाणु हमें अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। सभी हमें बाँधना चाहते हैं, सभी हम से जुटने को-सम्बन्ध जोड़ने को समुत्सुक हैं। अतः साधु को रमते राम बने रहना चाहिये। जो जल बहता रहता है वह निर्दोष और शुद्ध रहता है। जो जल एक स्थान मे रुक जाता है, उसमें दुर्गन्ध

आने लगती है, कीड़े पड़ जाते हैं, अपेय हो जाता है। इसी प्रकार साधु को विचरते रहना चाहिये। कहावत है 'पानी बहती भला, साधु रमता भला'

तीसरी शिक्षा सर्प से मैंने यह ली, कि सर्प सदा सचेष्ट रहता है। उसके कान नहीं होते, आँखों से ही देखता है, उनसे ही सुनता है। इसीलिये सर्प का एक नाम है 'चक्षुश्रवा'। इसी प्रकार यति को परमार्थ के विषय मे सदा सचेष्ट बने रहना चाहिये। कभी भी आलस्य प्रमाद को पास न फटकने दे। निद्रा, आलस्य, प्रमाद, ये सब तमोगुण के चिन्ह है। तमोगुण अज्ञान से होता है। इसलिये योगी को नित्य सत्व में स्थित रहना चाहिये।

चौथी शिक्षा सर्प से मैंने यह ली, कि सर्प कभी किसी के सम्मुख आकर नहीं सोता। वह तो एकान्त मे जाकर चुप चाप किसी गुफा मे पड़ा रहता है, आहार के लिये सबकी दृष्टि बचा कर निकलता है। इसी प्रकार यति को जन संसर्ग से पृथक् रह कर किसी पर्वत की कंदरा मे, सघन वन मे, निर्जन स्थान में, टूटे फूटे किसी मठमंदिर मे रहकर ध्यान-धारणा मे समय बिताना चाहिये। विषयी लोगों के घरों मे जाकर न रहना चाहिये।

पाँचवी शिक्षा मैंने यह ली, कि जिस प्रकार सर्प क्या खाता है, कितना सोता है, क्या करता है, इन बातों को गुप्त रखता है, इसी प्रकार यति को चाहिये कि बाह्य आचरणों से अपने को छिपाये रखे। ऐसा आचरण करे जिससे लोग उसे कोई विशिष्ट व्यक्ति मानकर आदर सत्कार न करें। साधारण लोगों का सा व्यवहार रखे, कभी अपने को सिड़ी पागलो के सदृश प्रकट करे। सारांश यह कि अपने तप, तेज और प्रभाव को यथाशक्ति प्रकट न होने दे। ऐसी चेष्टा न करे कि लोग हमे अधिक मानें, पूजें, हमारा स्वागत सत्कार करें। सबसे बच कर एकान्त में अपना जीवन-निर्वाह करे।

छठवीं शिक्षा मैंने सर्प से यह ली कि जिस प्रकार सर्प अत्यंत ही अल्पभाषी होता है, उसी प्रकार योगी को भी बहुत बोलना न चाहिये। सर्प की वाणी बहुत ही कम सुनी जाती है, किन्तु उसका आतंक सर्वत्र है। बिना बोले ही लोग उसे देखते ही डर जाते हैं। इसी प्रकार योगी को बहुत व्याख्यान उपदेश न करना चाहिये। राजन्! उपदेश व्याख्यानों को कौन सुनता है, बकते रहो। इनसे आजीविका भले ही चल सकती है। लोग तो आचरण को देखते हैं। जिसका विशुद्ध आचरण है उसका उपदेश लोग बिना ही कहे केवल देख कर ही मान लेते हैं। जो आचरण-हीन हैं, मुख से कहते कुछ हैं, व्यहार मे करते कुछ है, तो वे चाहें दिन भर बकते रहें कोई उनकी सुनता ही नहीं। इसलिये *त्यागी भिक्षु को बहुत बोलने की आवश्यकता नहीं, सर्प के समान* स्वल्पभाषी बना रहे।

ये जो छै शिक्षायें हैं सो तो औरों से भी ली जा सकती थीं, किन्तु एक सातवीं बहुत बड़ी शिक्षा मैंने सर्प से और ली। उसका योगी को सदा ध्यान रखना चाहिये।

राजाने पूछा—"महाराज! वह सातवीं शिक्षा कौन-सी है?"

मुनि बोले—"वह यह कि यति को कभी भूलकर भी मठ या आश्रम न बनाना चाहिये। जो मठ के चक्कर मे पड़ेगा वह दुखी होगा, अवश्य होगा। राजन्! यह शरीर तो अनित्य है, क्षण-भंगुर है। अभी है, क्षण भर में नहीं है। ऐसे शरीर का सब प्रकार से उपभोग परमार्थ निरूपण में करना चाहिये। उसे आत्म चिंतन मे लगा देना चाहिये। जो शरीर को सुखी करने को घर बनाते हैं, वे पछताते हैं। कितने कितने सघन वृक्ष पड़े हैं, जिनके नीचे रहने से न शीत लगता है न घाम। पर्वतों की गुफायें हैं, टूटे फूटे बहुत मठ मन्दिर पड़े हैं, वहीं कहीं पड़कर सन्यासी अपना निर्वाह करले। जो इस शरीरके लिये मठ बनाते हैं, आश्रम

बनाते है, कंकड, पत्थर, ईंट, चूना, बालू, चक्रलेप, लोहा, लकडीके बखेड़ेमें पड़ते हैं, उनका चित्त परमार्थसे हटकर इन अनित्य, भौतिक वस्तुओं में लग जाता है। वे इट पत्थर का चिंतन करते हुए मरते हैं और ईंट पत्थर या उनमे बसने वाले कीड़े बनते हैं। गृहस्थी घर बनाकर कभी सुखी होता है? जिसका जितना ही बड़ा घर होगा, वह उतना ही दुखी और चिन्तित होगा। जिसके जितने ही अधिक घर होंगे, उसके हृदय में उतनी ही अधिक चिन्तायें व्याप्त होगी।"

राजाने पूछा—"भगवन्! घर मे क्या हानि है, घर भी तो जल मिट्टी से बनता है।"

शीघ्रता के साथ अवधूत मुनि ने कहा—"नही राजन्! हानि तो कुछ नहीं है। यति भी तो किसी न किसी घर मे ही रहता है। जैसे सर्प दूसरे के बनाये घर मे घुसकर उसपर अधिकार कर लेता है, और जब इच्छा होती है उसे छोडकर चला जाता है। उसमें अपनापन स्थापित नहीं करता। अपने लिये नही बनाता। घर चूना मिट्टी का ही हो सो बात नहीं। उसमें अपनापन होते ही वह सजीव मूर्तिमान् हो जाता है। जो अपने को पकडले, बाँधले गृहण करले उसी का नाम घर है। निर्जीव घर क्या पकडेगा। पकडती है घर वाली। घरवाली के बिना घर सूना सूना लगता है। घर वाली ही घर की रेखदेख करती है, उसीमे ममत्व करती है। ये त्यागियोंकेमठ मन्दिर पहिले बडे विशुद्ध भावसे बनते थे, इनमे भिक्षु यति रहते थे, किन्तु उनके मन मे उतना ममत्व होता ही नही ममत्व के बिना घर टिकता नहीं। अतः शनैः शनैः उन मठों मे भिक्षुणियों का प्रवेश होने लगता है और वे मठ मन्दिर गृहस्थियो के घरोंके रूप में परिणित हो जाते है, त्यागी, विरागी, भिक्षु सन्यासी पतित होकर परमार्थ से च्युत हो जाते है। कोई यह नियम कर दे कि मठ बनाकर हम उसमे स्त्रियो का प्रवेश न होने देंगे, तो

यह असभव है। जो घर बनेगा उसमे स्त्री, पुरुष सभी जॉयगे। स्त्री और पुरुष भिन्न भिन्न थोडे ही हैं। एक ही माता के पेट से स्त्री भी उत्पन्न होती है पुरुष भी। एक ही पिता के वीर्य से लड़का भी होता है लडकी भी। घर मे हाथ जाय पैर न जाय, यह असम्भव है। घर छोडकर तो सन्यासी होते हैं, सन्यासी होकर भी घर बनाने के बखेडे मे पडे तो समझो यह साधुता से च्युत हो गया। साधु ने जहॉ घर बनाने का संकल्प किया, वहॉ वह परमात्मा की ओर से हटकर ससार की ओर मुड जाता है। रस रूप परम मृदुल ब्रह्मका चिन्तन त्याग कर वह नीरस परम कठोर ईंट पत्थरों की चिन्ता करने लगता है। अत: साधु को भूलकर भी अपने नाम से स्वार्थ परमार्थ किसी भी भावना से मठ मदिर न बनाना चाहिये। सर्प के समान टूटे फूटे घरों मे एकान्त वनो मे रह कर निर्वाह करना चाहिये। राजन्! बडे बड़े त्यागियो को मठ के चक्कर मे पडकर हमने पतित होते अपनी ऑखो से देखा है। पहिले तो वह धर्म भाव से परोपकार भावना से बनाते हैं, पीछे उनमे आसक्ति हो जाती है। गृह बनवाना गृहस्थियों का ही काम है, त्यागी तो गृह को त्याग कर जाते हैं। घर त्यागकर फिर घर बनाते हैं, तो वे गृहस्थियो से भी अधिक सग्रही बनते हैं। अत: सर्प से मैंने अपने लिये घर न बनाने की शिक्षा ग्रहणकी है।"

राजा यदु ने कहा—"ब्रह्मन्! सर्प से ली हुई शिक्षा का आपने वर्णन किया, अब मैं जानना चाहता हूँ कि मकडी को गुरु करके उससे आपने कौन सी शिक्षा ली?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियों! अवधूत दत्तात्रेय ने मकडी से ली हुई शिक्षा का जिस प्रकार राजा से वर्णन किया उसे आप श्रद्धा पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

आम घड़ा सम देह पलक मह फटतै फूटै।
कच्चे काँच समान आँच लागत ही टूटै॥
जा अनित्य तनु हेतु भवन अति विशद बनावै।
हरि सुमिरन नहिँ करै व्यर्थ महँ पाप कमावै॥
पावै सूनो भवन जहँ, अहि सम रैनि बिताइकें।
चलै फेरि शिक्षा लई, अहि गुरुदेव बनाइकें॥

—:—

मकड़ीसे शिक्षा

(१२४४)

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥*

(श्रीभा० ११स्क० ९अ० २१श्लो०)

छप्पय

मकडी तैं शुभ सीख महेश्वर लीला लीन्हीं।
नित्य सृजन थिति प्रलय करै गुरुता तैं कीन्हीं॥
हिय तैं मुखके द्वार जाल विस्तृत फैलावै।
तामें करै विहार लीलि पीछैं तैं जावै॥
कल्प आदि महँ जगत् कूँ, रचैं मध्य क्रीड़ा करैं।
कल्प अन्त महँ निज रचित, सबकूँ हर बनि संहरैं॥

बालक जब खेलता है, तो मनसे ही खिलौनोंकी कल्पना करता है और फिर मनसे ही उन्हें नष्टकर देता है। यह सब मनका ही विलास है, इसमें जिसने सत्यताका आरोप किया वही फँसा। सबको भगवान्‌की क्रीड़ा समझे तब संसारकी किसी भी घटनासे सुख दुख न होगा। भगवान् अपने ही आनन्दके लिये विहार कर

---

*अवधूत दत्तात्रेय राजासे कह रहे हैं—"राजन्! जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे मुख द्वारा सूतको निकालकर जाला बिछाकर उसमें विहार करके अन्तमें उसे निगल भी जाती है, उसी प्रकार परमात्मा इस जगत्‌को फैलाकर उसमें विहार करके अन्तमें अपनेमें लीन कर लेते हैं।"

रहे हैं। शतरंजका खिलाड़ी अपने आप ही वस्त्रको बिछाता है, अपने आप ही गोटोंमें राजा, मंत्री, हाथी, घोड़ा, आदिकी कल्पना करता है। इच्छा होती है तब तक खेलता है। जब इच्छा न हुई सबको समेटकर अपने घरके भीतर रख लेता है। प्रत्येक कर्मको जो कृष्णकी क्रीड़ा समझता है, वह फिर जन्ममरणके चक्करमे नही पडता। पड़े भी क्यो, उसके लिये जन्ममरण कुछ है ही नहीं। सब विहारीका विहार है, लीलाधारीकी लीला है, क्रीड़ाप्रियकी क्रीड़ा है, खिलाड़ीका खेल है, मायेशकी मोहिनी माया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! दत्तात्रेयमुनि मकड़ीसे ली हुई शिक्षाका वर्णन करते हुए राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन् मकड़ीसे मैंने यही सीखा कि इस दृश्य प्रपञ्चको मकड़ीका सूत-केवल मायामात्र—समझे। भगवान् ही मायासे पसारेको फैलाते हैं, अन्तमें वे ही समेट लेते हैं। यह पहिले कुछ नहीं था, बीचमें दीखने लगा, अन्तमे फिर इसे उन्होंने समेट लिया।"

राजाने पूछा—"यह शिक्षा आपने मकड़ीसे कैसे ली?

मुनि बोले—"देखिये राजन्! मकड़ी कहींसे कपास नहीं लाती है, न वह चरखा चलाती है, न सूत कातती है, न ताना बाना बुनती है। अपने हृदयसे ही वह मुख द्वारा सूत्र निकालती है। उसमे कितना सूत भरा है इसकी कोई सीमा नही। वह निकालती ही जाती है, निकालती ही जाती है। निकालकर बड़ा सुन्दर जाला बनाती है, फिर उसमें आनन्दसे विहार करती है, इधरसे उधर फुदकती है, उसीमे क्रीडा करती है। जब इच्छा होती है, उसे फिरसे निगल जाती है, अपने हृदयमें रख लेती है। इसी प्रकार भगवान् इस संसारकी रचना करते हैं।"

राजाने पूछा—"कैसे रचना करते हैं भगवन्! इस इतने बड़े जगत्को श्रीहरि?"

मुनि बोले—"राजन्! भगवान्के लिये क्या छोटा क्या बड़ा।

जो समस्त भूमिका स्वामी है, वह अपने खेलनेके लिये चाहे जितनी बडी भूमि बनवा ले। पूर्वकालमे यह दृश्य प्रपञ्च इस प्रकार व्यक्त नहीं था। भगवान्‌की रमण करनेकी इच्छा हुई। अकाम पुरुषकी खेलनेकी कामना हुई। पूर्व सृष्टिके अन्त होनेपर त्रिगुणमयी प्रकृति काल पाकर गुणोंकी साम्यावस्था होने के कारण सो रही थी। वह कहीं अन्यत्र खाट बिछाकर सोती तो भगवान्‌को उसे ढूँढने भी जाना पडता, किन्तु वह सो रही थी भगवानके भीतर ही। काल भी वहाँ खडा खडा प्रहरीका काम कर रहा था। वह बडा सतर्क खडा था। कब वे कोनसी आज्ञा दे दें। कर्म और स्वभाव भी प्रकृतिके पास ही पडे सो रहे थे। गुण सब बराबर हो रहे थे। सबको समान निद्रा आ रही थी, उनकी दशा तनिक भी न्यूनाधिक नहीं थी, सभी साम्यभावमे स्थित थे। उस समय बाहर कुछ नहीं था, वे आदिपुरुष प्रभु केवल अद्वयभावमे अवस्थित थे। अब उन विशुद्धविज्ञानानन्दघन निरुपाधिक परमात्माकी कुछ क्रीडा करनेकी इच्छा हुई। काल तो वहाँ सचेष्ट खडा ही था। प्रभुकी इच्छा समझकर उसने प्रकृतिको झकझोरा, रजोगुण उठ गया, सत्वगुण विचारता ही रहा—मैं उठूँ न उठूँ और तमोगुण अँगडाइयाँ लेता रहा। अँगड़ाइयाँ लेकर फिर सो जाता, फिर करवट बदलता। इस प्रकार तीनोंकी ही समसे विषम अवस्था हो गयी।

कालने देखा, इनकी दशामें तो विषमता आ गयी। रजोगुणकी वह क्रियाशक्ति भी उठ गयी। सत्वगुणकी वह ज्ञानशक्ति भी पतिके साथ विचार करती रही और तमोगुणकी वह आवरण-शक्तिने अपने पतिके विपरीत आचरण नहीं किया, उसने उसी पथका अनुसरण किया।

तब कालने क्रियाशक्तिसे कहा—"सुनती हो देवीजी! भगवान् खेलना चाहते हैं, शीघ्रतासे गर्भ धारण करो। पुत्र बच्चे हों वंश बढे चहल पहल हो। चेंमें चेंमें सुनकर भगवान् हँसने लगे।"

वह बोली—"कालदेव ! यह तो आप बहुत शीघ्रता कर रहे हो। ऐसे एक साथ बच्चे कैसे पैदा हो सकते है। एक पैदा मैं किये देती हूँ, उसीका वंश बढ़ जायगा।"

कालने कहा—"अब कुछ करो तो सही। ऐसे बात बनानेसे क्या होगा।"

यह सुनकर तुरन्त उस मायादेवीने जो क्रियाशक्ति प्रधान थी, एक बच्चा पैदा किया। उसके पेटमें जाल बनानेके सूत्र ही सूत्र भरे हुए थे, अतः उसका नाम सूत्रात्मा रख दिया। सृष्टिके आदिमे वही सबसे महत् तत्व था, इसलिये उसका नाम महत्तत्व भी प्रसिद्ध हुआ। वह अपने ताऊ सत्वगुणका, अपने पिता रजोगुण-का और अपने चाचा तमोगुणका एकमात्र उत्तराधिकारी हुआ। सभीने उसे पुत्र-रूपमे स्वीकार कर लिया। वेदका वचन है कि तीन भाइयोंमेंसे एकके भी सन्तान हो जाय, तो उसी सन्तानसे तीनो पुत्रवाले कहलाते हैं। इसी न्यायसे वह महत्तत्वको तीनो ही गुणो-का कार्य करनेवाला कहते हैं। त्रिगुणमयी समस्त सृष्टि इस महत्तत्व से ही हुई। अब आगे जो भी सन्तानें हुईं सब इसीके कच्चे बच्चे हैं। महत्तत्वसे अहंकार हुआ। उसके भी सात्विक राजसिक और तामसिक तीन भेद हुए। फिर दशों इन्द्रियाँ उनके अधिष्ठातृदेव, मन, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श दश प्रकारके प्राण तथा और भी सब स्थावर जंगम उत्पन्न हुए। बड़ा भारी जाल बिछ गया। महान् विस्तार हो गया। सत्वमूर्ति भगवान् विष्णुरूपसे उसमें खेलते रहे उसकी रक्षा करते रहे, उसकी देख

रेख करने लगे। खेलते खेलते भगवान्‌को थकावट आ गयी, वे उससे उपरामसे दिखायी दिये। कालदेव समझ गये, भगवान् सोना चाहते हैं। अब उनकी खेलनेकी इच्छा नहीं है। कालने तुरन्त कलको दबा दिया, पृथिवी गलकर जलमें लय हो गयी, जल अग्निमें जल गया, अग्नि वायुमें उड गयी, वायु आकाशमें समा गया। इन सबके कार्य इन्हींमें लीन हो गये। ये सब अहंकारमें घुस गये। अहंकार महत्तत्वमें मिल गया। तीनों गुण फिर साम्यावस्थामें हो गये। प्रकृति फिर अपने विस्तरको झाडकर भगवान्‌के भीतर छिपकर सो गयी। प्रधान और पुरुषके नियन्ता वे सर्वाधिष्ठान रूप आत्माधार पुरुषोत्तम एकाकी रह गये। अब उन्होंने रमणसे चित्त हटा लिया, क्योंकि एकाकी तो रमण होता नहीं। खेलकी सामग्रीको तो वे समेटकर लील गये, उदरस्थ कर गये। समस्त लौकिक तथा अलौकिक प्रपञ्चके आदि कारण वे श्रीमन्नारायण शेषकी शय्यापर तान दुपट्टा सो गये।

अवधूतमुनि कह रहे हैं—"हे चन्द्रवंशावतंश राजन्! यही भगवान्‌की माया है। यही सृष्टि, स्थिति और प्रलयका गूढ रहस्य है, इसे कोई कोई ही ज्ञानी विज्ञानी पुरुष समझ सकता है। मकडी से मैंने यही सीखा और इसीलिये मैंने उसे अपना गुरु मान लिया।"

राजाने कहा—"भगवन्! मकडीकी शिक्षा तो मैंने सुनी, अब आप यह बतावें कि भृङ्गी कीटको गुरु बनाकर उससे आपने कौन-सी शिक्षा ग्रहणकी?"

मुनि बोले—"राजन्! भृङ्गी कीट यही मेरा अंतिम चौबीसवाँ गुरु है। अब आप इससे ली हुई शिक्षाको भी श्रवण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अवधूत दत्तात्रेय भगवान्ने जैसे भृङ्गी कीटकी शिक्षा कही उसे मैं आपको सुनाता हूँ।

छप्पय

ईश्वर आत्माधार अकेले पुनि रह जावैं।
मायाकूँ करि क्षुब्ध सूत्रकूँ फेरि बनावैं॥
जामें ओतप्रोत जगतके जीव चराचर।
प्रकृतिपुरुषके ईश करें नित खेल परावर॥
रचै हरै रक्षा करै, हरि समान क्रीड़ा करति।
जगबन्धनमें नहिं परै, समुझि खिलारी खेल यति॥

—:※:—

भृङ्गीकीटसे शिक्षा

(१२४५)

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन्कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥*

(श्रीभा० ११स्क० ९अ० २३श्लो०)

छप्पय

रचि घर भृङ्गीकीट पकरि कीडा कूँ लावै।
करिकें घरमें बन्द निरन्तर शब्द सुनावै॥
ताकौ सुनि सुनि शब्द ध्यान भृङ्गीको करिकें।
भृङ्गी ही बनि जाय एक ही तन तैं डरिकें॥
ध्यान धरत तद्रूपता, होवै निश्चय यह भई।
गुरु करि भृङ्गी कूँ तुरत, उपयोगी शिक्षा लई॥

मानव हृदय खींचनेका यन्त्र है, उसके सम्मुख जो आवेगा उसीका चित्र उसमें खिंच जायगा। जलमें, दर्पणमें भी देखेगा उसीका प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। इसी प्रकार हृदयपर जिसकी भी छाप लग जाती है, जो भी हृदयको पकड लेता है, जिसका भी प्राणी निरन्तर चिन्तन करता है उसीके अनुरूप बन जाता है।

---

*अवधूतमुनि राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन्! भृङ्गी अपने घरमें कीडाको बन्दकर देता है। इसलिये वह कीडा भयके कारण उसीका ध्यान करता रहता है और अन्तमें उसीके रूपवाला बन जाता है। अपने पूर्वके शरीरको वह छोडता नहीं, फिर भी भृङ्गीके समान हो जाता है।"

एक कथा है, किसी योगीके पास कोई साधारण कृषक गया, कि महाराज, मुझे योग सिखा दो।"

योगीने सोचा—योग तो होता है, चित्तकी वृत्तियोंके निरोध से। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होना सरल नहीं। चित्तकी वृत्ति या तो वहाँ टिकती है जहाँ अत्यन्त द्वेष हो, जैसे शिशुपाल आदिका श्रीकृष्ण भगवान्से था, अथवा अत्यंत भयसे भी चित्त एकाग्र हो जाता है, जैसे कंसका श्रीकृष्णके निरन्तरके भयसे चित्त उन्हींमें तन्मय हो गया था। सबसे श्रेष्ठ चित्तके एकाग्र करनेका उपाय है स्नेह। किसीके प्रति हृदयमें स्नेह उत्पन्न हो जाय तो फिर वह सम्मुख रहे या न रहे, दूर रहे या समीप रहे प्रतिक्षण उसका चिन्तन बना रहता है। उससे पाछे सभी तुच्छ दिखाई देते हैं। स्नेह होता है सरस हृदयमें, जो नीरस हैं, पाषाण हृदयके हैं वे स्नेह करना क्या जानें। इसलिये इसका जिससे प्रेम हो उसीका ध्यान बताऊँ। क्योंकि यथाभिमत ध्यानसे ही चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो सकता है।

यही सब सोचकर योगी बोले—"भैया! तुम्हारा विवाह हुआ है?"

उसने कहा—"नहीं महाराज! मैं दरिद्र आदमी हूँ, मेरा विवाह कौन करेगा।"

योगीने पूछा—"अच्छा, यह बताओ तुमने कभी किसीसे प्रेम किया है? तुम्हें सबसे प्रिय वस्तु कौन है?"

उसने कहा—"महाराज! मेरी भैंस बड़ी सीधी है, न सींग चलाती है न लात मारती है। जब चाहो उसे दुह लो। जो डाल दो वही खा लेती है, बड़ी भोलीभाली है वही मुझे सबसे प्रिय है।"

योगीने कहा—"अच्छी बात है, एकान्तमें बैठकर तुम उस भैंसका ही ध्यान किया करो।" ऐसा उपदेश देकर योगी चले

गये।

कुछ दिनोंके पश्चात् योगी पुनः आये, अपने शिष्यसे पूछा—"कहो भाई, क्या समाचार हैं ? कैसा ध्यान होता है ?"

उसने कहा—"भगवन्! इतनी बड़ी भैंसका ध्यान होता नहीं।"

योगी समझ गये कि अब 'यह साधनमें अग्रसर हुआ है। बात यह है कि जब मनुष्य साधनमें प्रवृत्त होता है, तभी उसे उसकी असुविधायें प्रतीत होती हैं। लोग कहा तो करते हैं-'मनको वशमें करो, मनको वशमें करो, किन्तु मन क्या है इसीका लोगोंको पता नहीं। जिसने निरन्तर साधनाकी है वही मनके स्वरूपको जान सकता है। बकनेवाले तो जीवन भर बकते बकते मर जायँगे, उन्हें मनका स्वरूप ही प्रतीत न होगा।" इसे ज्ञानकी असुविधायें ज्ञात होने लगीं। यही सोचकर बोले—"अच्छा, तुम्हें भैंसका कौनसा अङ्ग सबसे प्रिय है ?"

उसने कहा—"महाराज! मुझे तो भैंसके सींग बहुत प्यारे हैं।"

योगीने कहा—"अब सब अङ्गोंका ध्यान छोड़कर एकमात्र सींगोंका ही ध्यान करो।" ऐसा उपदेश देकर वे चले गये। वह एक छोटीसी कोठरीमें बैठकर ध्यान करता था। कुछ दिनोंके पश्चात् योगी गुरु पुनः आये और उन्होंने पुकारा—"महिषीदास! निकल तो आ भैया! बाहर।"

उसने वहींसे नेत्र बन्द किये ही किये कहा—'गुरुजी! निकलूँ कैसे मेरे सिरपर तो दो बड़े बड़े सींग हैं। इस कोठरीमेंसे मैं सींगोंके कारण निकल नहीं सकता।"

योगी अब समझ गये कि अब इसका मन ध्येयमें तद्रूप होने लगा। यह ध्यानका अधिकारी हो गया। पीछेसे उसे भैंसके सींगके स्थानमें भगवान्‌के हास्ययुक्त मुखारविन्दका ध्यान बताया।

उसका चित्त एकाग्र होना तो मीख ही चुका था, उसे भैंसके सींगके स्थानमें भगवान्‌के मुखारविन्दके ध्यानमें कोई कठिनाई नहीं पड़ी। अन्तमें वह भी योगी हो गया।

इस कथाके कहनेका साराश इतना ही है कि किसी भी कारण जिसका चित्त एकमें तन्मय हो जाता है, वह सरलतासे भगवान्‌को पा लेता है। जिसका चित्त बहुतोंकी ओर चलता है, उस चंचल चित्त पुरुषका मन कभी एकाग्र नहीं हो सकता। एक पतिको ही इष्टदेव समझनेवाली स्त्री पतिलोकको प्राप्त हो सकती है। जिसका चित्त चंचल है, जो स्वैरिणी कामिनी तथा पुंश्चली है उसे एक नरकसे दूसरे नरकोंमें इसी प्रकार भटकना पड़ता है। मनुष्य जिसका चिन्तन करेगा वही उसे यहाँ प्राप्त होगा और परलोकमें भी वही मिलेगा। जो यहाँ करता है वही परलोकमें प्राप्त होता है। हाटमें जो कमावेगा उसीको बैठकर घरमें खावेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अवधूतमुनि राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन मैं घूमता फिरता एक गाँवमें पहुँच गया। मैंने देखा एक कीड़ा मुखमें मिट्टी भर भरकर दीवालपर एक छोटासा घर बना रहा है। मैं बड़े कुतूहलसे देखता रहा। उसने बड़ा सुन्दर छुहारेकी भाँति घर बना लिया। उसमें कहींसे निकलनेका मार्ग नहीं था। मुखपर एक ही द्वार था। कहींसे वह एक कीड़ेको पकड़ लाया।

मैंने सोचा—"यह इसे मारकर खा जायगा।" किन्तु उसने उसे मारा नहीं। जीवित ही उस घरमें बन्दकर दिया और उसके कानके पास गुनगुनाता रहा। द्वारपर ऐसा जालासा लगा दिया था जिससे कि वायु तो उसमें जा सकती थी, किन्तु वह कीड़ा उसमेंसे निकल नहीं सकता था, भृङ्गी इधर उधर चला जाता और फिर आकर उसीके कानके पास गुनगुनाने लगता। वह उस घरमें बन्द कीड़ा भयके कारण निरन्तर उसी भृङ्गीका चिन्तन करता रहता।

निरन्तरके चिन्तनका यह प्रभाव पडा कि वह कीडा इसी शरीरसे बिना शरीर त्यागे— भृङ्गीके रूपके समान ही बन गया। उसी के सदृश बन गया। उसी समय तुरन्त मैंने उसे अपना गुरु मान लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहणकी, कि देहधारी जीव जिसका द्वेषसे, भयसे अथवा स्नेहसे चिन्तन करता है,सम्पूर्ण रूपसे उसीमें चित्तको लगा देता है, तो अतमे उसीका सा बन जाता है, तद्रूप हो जाता है। जो विषयोंका ध्यान करेगा उसका मन विषयाकार हो जायगा और जो ब्रह्मका ध्यान करेगा वह ब्रह्मरूप हो जायगा। यह शिक्षा लेकर मैं चल दिया और तबसे ब्रह्मका ध्यान करते करते मैं ब्रह्मके सदृश-माया मोहसे रहित चिन्ता शोकसे शून्य हो गया हूँ और निर्द्वंद होकर विचरता रहता हूँ। ये ही मेरे चौबीस गुरु हैं। इन सबकी शिक्षाके कारण ही मैं मान अपमानसे रहित होकर बालवत क्रीडा करता रहता हूँ।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! इन चौबीस गुरुओंके अतिरिक्त भी आपका कोई गुरु और है?"

अवधूतमुनि बोले—"हाँ राजन्! इनके अतिरिक्त सबसे बडा गुरु तो यह मेरा शरीर है। इससे मैंने बडी भारी शिक्षा ली है।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! शरीरको गुरु बनाकर आपने इससे क्या शिक्षा ली, कृपा करके उसे भी मुझे सुना दें।"

मुनि बोले—"अच्छी बात है राजन्! सुनिये, अब मैं शरीरसे ली हुई शिक्षाको भी सुनाता हूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो ! अब आप देहसे ग्रहणकी हुई शिक्षाको सुनें।"

छप्पय

काहूमें भय द्वेष नेहवश चित लगि जावै।
भृङ्गी कीड़ा सरिस तुरत तन्मय बनि जावै॥
तन गुरु कर्यो विवेक होहि वैराग्य भूपवर।
उतपति और विनाश होय दुख सहै निरन्तर॥
यद्यपि जातैं तत्वको, चिन्तन हौं नितप्रति करूँ।
जानि परायो मोह तजि, ह्वै असंग निर्भय फिरूँ॥

—:❀:—

देहसे शिक्षा

(१२४६)

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
बिभ्रत्स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम् ।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ९ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

दारा, सुत, धन, भृत्य, कुटुम घर सचय करिकें।
परहित श्रम नित करै वृक्ष सम दुख बहु सहिकें॥
अपनी अपनी ओर खेंचि इन्द्रिय लै जावैं।
जैसे पतिकूँ सौति पकरिकें बहुत नचावैं॥
परमारथ जातैं सधै, वर नर तन कूँ पाइकें।
मोक्ष हेतु श्रम नहिँ करै, सरवसु जाइ गँमाइकें॥

किसी देशमे चले जाओ किसी योनिमें चले जाओ, पेट सभी स्थानोंमें भरना पडेगा। सभी योनिके लोग अपने अपने

*अवधूतमुनि दत्तात्रेय राजा यदुसे कह रहे हैं—'राजन्! यह देह भी मेरा गुरु है, क्योंकि यह विवेक और वैराग्यका हेतु है। उत्पत्ति और विनाश ही इसके धर्म हैं। निरन्तर कष्ट भोगते रहना ही इसका उत्तरोत्तर फल है। यद्यपि मैं इससे तत्व चिन्तन करता हूँ तथापि मैं यह जानता हूँ, कि यह अपना नहीं है, इसीलिये इससे असंग होकर विचरण करता रहता हूँ।"

भोजनके लिये प्रयत्न करते हैं। सन्तानोत्पत्ति किसीको सिखानी नहीं पड़ती, सभी योनियोंमें यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है। श्रम करके सभी श्रमित हो जाते हैं। सभी कुछ न कुछ विश्राम करके निद्रा लेकर अपने श्रमको मिटाते हैं। जो वस्तु आवश्यक है और अपने पास नहीं है उसके लिये प्रयत्न करना और जो वस्तु अपने पास है उसकी रक्षा करना यह तो जीवमात्रका स्वभाव है। इसके लिये मनुष्यको आदेश उपदेश देना कोई उत्तम कार्य नहीं है। उपदेश तो उसके लिये देना है जो वस्तु नर-तनमें ही प्राप्त हो सकती है—जिसे अन्य चौरासी लाख योनियाँ प्राप्त ही नहीं कर सकतीं—उसीकी शिक्षा देना यही धर्म है। मनुष्य शरीरमें यही विशेषता है। जो ऐसा नहीं करता वह मणिको काचके मूल्यमें बेचता है। सुवर्णके बटखरे बनाकर उससे भूसा तौलता है और अमृतका उपयोग करील मन्दार आदिके सींचनेमें करता है। मनुष्य-शरीर का सर्वोत्तम उपयोग यह है कि जन्म मरणके बन्धनसे छूट जाय। जिस महान् शक्तिसे पृथक् होकर अपनेको अल्प और सीमित समझने लगा है, उसके समीप चला जाय, उसमें मिल जाय, एकीभूत हो जाय। जो इसके लिये प्रयत्नशील न होगा, उसे बार-बार जन्मना मरना होगा। नाना क्लेशोंको सहना होगा।

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—मुनियो! दत्तात्रेय अवधूतने अपने शरीरको गुरु क्यों बनाया इसी बातको बताते हुए वे राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन्! चौबीस गुरु करके पचीसवें अपने इस शरीरको भी मैंने अपना गुरु बनाया। इस शरीरसे ही मुझे विवेक होता है। मेरे वैराग्यका हेतु भी यही शरीर है।"

राजाने पूछा—"भगवन्! यह शरीर विवेक और वैराग्यका हेतु कैसे है?"

मुनि बोले—"राजन्! देखो, यह शरीर उत्पन्न होता है,

बढता है, फिर शनैः शनैः जर्जर होता है और अन्तमे नाश हो जात है। फिर इससे नये शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। इससे मैंने विचार कि जन्मना मरना ही इसका स्वभाव है। इसमें नित्यता नहीं, स्थायित्व नहीं। कोई शरीरधारी आप मुझे ऐसा बतला दें जिसे कष्ट न हो। हम साधारण निर्धन लोग समझते हैं कि धनी बडे सुखी होंगे, किन्तु धनी तो बहुतसे मेरे पास आते हैं, उनके दुःखोंको सुनकर तो मैं यही समझता हूँ–इनसे तो दरिद्री ही सुखी हैं। जो जितना ही संग्रही होगा, वह उतना ही अधिक दुखी होगा। संसारमे केवल उपस्थ और जिह्वाका क्षण भरका सुख है वह भी परिणाममें दुखद ही होता है। जिसका परिणाम दुखद है उसे सुख अज्ञानी मूर्ख ही मान सकते हैं। संसारमे जिधर देखो उधर दुःख ही दुःख है, चोरसे दुख, राजासे दुख, शत्रुसे दुख, कुटुम्बसे दुख, धनसे दुख, रोगोंसे दुख, चिन्ताओंसे दुख, कहाँ तक गिनावें शरीर जितना ही बढता जाता है उतना ही उत्तरोत्तर दुख ही बढता जाता है। इसलिये इस शरीरसे मुझे वैराग्यकी शिक्षा मिली है। इस दुःखके भंडार शरीरको मैं अपना नहीं समझता।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! इस शरीरका फल दुःख ही दुःख है, इससे सुखका साधन नहीं हो सकता?"

शीघ्रतासे मुनि बोले—"हो क्यों नहीं सकता राजन्! इससे सुखकी बात तो पृथक् रही, परम सुख प्राप्त हो सकता है। मनुष्य शरीरसे ही तो मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसी शरीरके द्वारा तो परम तत्वका मैं चिन्तन करता हूँ, किन्तु इसे मैं साध्य न मानकर साधन मानता हूँ इससे ममता नहीं करता। जैसे बद्रीनाथकी चढाई हम कपडोंके जूतोंसे करते हैं। वहाँ पहुँचते पहुँचते वे फट जाते हैं, तुरन्त उन्हें फेंक देते हैं। इसी प्रकार यह शरीर साध्य नहीं केवल मोक्षका साधन है। इसके द्वारा धारणा ध्यान समाधि

का अभ्यास करता हूँ, किन्तु मेरा यह निश्चय है कि यह देह दूसरोंका भक्ष्य है। कहीं वनमें मृतक हो गया तो सियार, चील, गिद्धोंके पेटमें चला जायगा, किसीने जलमें फेंक दिया तो कछुआ आदि खा जायँगे, किसीने चितामें जला दिया तो अग्नि भस्म कर देगी। जो दूसरोंका भक्ष्य है,उसे मै अपना कैसे मानूँ? इसीलिये शरीरमें मेरी कोई आसक्ति नहीं, इससे मैं असंग होकर विचरण करता हूँ।

आप सोचे राजन! मनुष्य जो भी कुछ करता है अपने सुखके लिये करता है। एक कुष्ठीको देखकर हमारे हृदयमे दया उमडती है, हमसे रहा नहीं जाता, हम उसे कुछ धन देते हैं, तो हमे शान्ति होती है। बहुतसे लोग दुखी हैं, हमारा हृदय भर आता है। हम अनुभव करते हैं कि यदि हम अपने शरीरकी आहुति दे दें तो इनका दुख दूर हो जायगा, तब हम तुरन्त शरीरको होम देते हैं। इसलिये स्वार्थ परमार्थ जो भी मनुष्य करता है अपने लिये करता है।

विवाह करते हैं, तो स्त्रीके लिये थोडे ही करते हैं अपने सुखके लिये करते हैं। स्त्री भी अपने सुखके लिये पतिका वरण करती है। दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। दोनोंके स्वार्थ अभिन्न होनेसे परस्परमें प्यार करते हैं। स्त्री इसलिये प्यारी लगती है, कि वह अपनी है अपने अनुकूल है। पुत्र तो सभी किसी न किसीके हैं, किन्तु अपना पुत्र अधिक प्यारा है। लोग चाहते हैं हमारे पुत्र हो। अपनी कामनाका विस्तार जब करता है तभी उसका परिवार बढता है। अपनी स्त्री है तो अपना पुत्र भी होना चाहिये। एक पुत्रसे सुख न होगा बहुतसे पुत्र पैदा करो। कुछ कन्यायें भी हों, उनका विवाह भी किया जाय। जामाता हों, पुत्रोंका विवाह हो, पुत्र-वधुएँ आवें। उनके भी लडका हो लडकी हो। धनके बिना इतना बडा परिवार कैसे चले, कुछ धन भी हो, व्यापार हो, खेती

हो, बैल हों, गौएँ हों भैंस हो, घोडे भी हों, हाथी भी रहें, रथ भी रहें। इन सबकी रेखदेखके लिये नोकर-चाकर भी होने चाहिये मकान भी हो—पक्के न हो कच्चे ही हों, फूसकी झोंपडियाँ ही हों इस प्रकार अपने आप ही कुटुम्बका जाल बिछाते हैं। अपने ही आप बड़े बडे कष्ट उठाकर झूठ सच बोलकर धन सञ्चय करते हैं। इससे सञ्चय करनेवालेको बताइये सिवाय ममताके क्या सुख है।

एक आदमीने करोड रुपये एकत्रित कर लिये, वह उन्हे व्यय नहीं करता है केवल उसे यह सन्तोष है मैं करोडपति हूँ। एकक दश पुत्र है, उसे गाली देते हैं मारते हैं या प्यार करते हैं जीवन भर उन्हींके सुखकी चिन्ता करता रहता है उसे क्या सुख है? एक वृक्ष है मैली खाद खाकर बढता है, वर्षामे वर्षा सहता है। गर्मियों मे घाममे खडा रहता है, लू सहता है, जाडोमे जाडा पाला सहकर बाहर खडा रहता है सुन्दर सुन्दर फलोको उत्पन्न करता है उनका स्वाद दूसरे लोग चखते हैं। उसे तो सडी खादपर निर्वाह करके कष्ट ही कष्ट सहना पडता है। इसी प्रकार यह मनुष्य-शरीर है। कर्मरूपी बीजसे यह उत्पन्न हुआ है। अपनी शाखाओके फलोसे दूसरोके लिये सब कुछ करता रहता है। फिर बीज पैदाकर देता है। वे भी दूसरोके लिये उत्पन्न होते हैं। जितनी चिन्ता मनुष्य कुटुम्ब परिवार, धन और व्यापार आदिके लिये करता है उतनी भगवान्के लिये करे तो उसका बेडा पार हो जाय, जन्म-मरणके चक्करसे सदाके लिये छुट जाय।"

राजाने कहा—"भगवन्! धनसे पुत्रसे सुख न मिले किन्तु इन्द्रियोंको अनुकूल विषय मिल जाते हैं तो उनसे तो मनुष्यको सुख होता ही है।"

मुनि बोले—अजी, राजन्! कहाँ सुख होता है, सच पूछिये तो अधिक संग्रह करनेसे दुःख ही अधिक होता है। कोई यह सोचकर

बहुतसे विवाह कर ले कि एक स्त्रीसे जब इतना सुख मिलता है तो बहुत स्त्रियोंसे बहुत सुख मिलेगा, तो क्या उनसे सुख ही सुख मिलेगा ?

राजन् ! एक बार मैं घूमता फिरता एक नगरमे पहुँच गया। वहाँ एक पुरुषके पाच स्त्रियाँ थीं। मैंने सोचा—यह बडा आदमी है, इसके पाँच स्त्रियाँ हैं, यह बडा सुखी होगा, लाओ कुछ देर तक इसके सुखको देख ले। मैं तो अवधूत ही ठहरा। मेरी कहीं रोक टोक तो थी ही नहीं, मैं वहीं बैठ गया।

उन स्त्रियोंमेंसे एक बोली—"बाबाजी ! क्या देख रहे हो ?"

मैंने कहा—"मेरे देखनेको क्या है,मैं तो संसारमे खेल देखता फिरता हूँ।"

वह हँस पडी और बोली—"अच्छा बैठे रहो, तुम्हे एक खेल हम भी दिखावेंगी।" मैं एक ऊँचेसे स्थानपर बैठ गया।

उन ५ स्त्रियोंके घर पृथक् पृथक् थे। चार तो ऊपर कोठेपर रहती थीं, एक सब जगह अपना आसन रखती थी। वे चोटियोमे फूल लगाकर, वस्त्राभूषणोसे सुसज्जित होकर, पान बीरी खाकर, काजर बेंदी लगाकर सजी बजी बैठी थीं। इतनेमें ही उनका पति आ गया। पहिले वह सब स्थानोंमे आसन रखनेवाली दौडी कि देखो ! आज तुम्हे मेरे घरमे रहना पडेगा।"

इतनेमें ही वे ऊपरवाली चारों दौडकर आ गयीं, उनके चार जीने थे। एकने हाथ पकडा मेरे यहाँ चलो। दूसरीने दूसरा हाथ पकडा इसके यहाँ कैसे चलोगे मेरे यहाँ चलो। तीसरीको कुछ न मिला तो उसने चोटी ही पकड ली। चौथीने कान ही खींचने आरम्भ किये। मैं बैठा बैठा हँस रहा था। मुझे इस खेलमें बडा आनन्द आ रहा था। बडी देर तक यह खींचातानी होती रही।"

राजाने कहा—'ब्रह्मन् ! वह आदमी बडा मूर्ख था, उसने पाँच विवाह क्यों किये। उसे पाँच विवाह करने ही थे, तो सीधी

सादी सरल स्वभावकी स्त्रियोंसे करता। ऐसी चंचलचित्ता लडने झगड़नेवाली चंडियोंको उसने अपनी पत्नी क्यों बनाया ?"

हँसकर अवधूतमुनि बोले—"राजन्! वही मूर्ख नहीं था। सभी इन्द्रियवान् पुरुष मूर्ख हैं। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ सभीकी पत्नी हैं। ये मनुष्योंको अपनी अपनी ओर खींचती हैं। सब स्थानोंमें आसन रखनेवाली यह त्वचा इन्द्रिय चाहती है—जो सुन्दर कोमल स्पर्शवाली हो उसे हृदयसे चिपटा ले। जिह्वा चाहती है जो भी स्वादिष्ट मिल जाय उसका रस चख लें। श्रवणेन्द्रिय सुन्दर शब्दोंको सुननेके लिये समुत्सुक बनी रहती है। आँखें सुन्दर सुन्दर रूपको देखनेके लिये लालायित रहती हैं। जैसे पाँच घर वालियाँ अपने पतिको नचाती रहती हैं वैसे ही ये इन्द्रियाँ मनुष्यको अपनी अपनी ओर खींचती रहती हैं। जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं वे कैसे सुखी रह सकते हैं। मनुष्य-देह पाकर भी वे मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकते। वैसे तो मनुष्य शरीर बडे भाग्यसे मिलता है। इसे बनाकर भगवान् भी प्रसन्न हुए।"

राजाने पूछा—भगवन्! मनुष्य शरीरको रचकर भगवान् क्यों प्रसन्न हुए ?"

अवधूतमुनि बोले—"राजन्! श्रुतियोंमें ऐसा वर्णन है, कि सृष्टिके आदिमें भगवान्ने विविध शरीरोंकी रचनाकी। पहिले उन्होंने वृक्षोंकी रचना की। जीवकी उससे तुष्टि नहीं हुई, न चल सकते हैं न बोल सकते हैं। इसलिये फिर टेढे मेढे सर्प आदिकी रचनाकी। किन्तु जीवको वह भी योनि अच्छी न लगेगी। सब लोग देखकर डर जायँ, नित्य क्रोधमें भरे रहे। फिर पशुओंकी रचनाकी। उनसे भी सन्तोष न हुआ, केवल आहार निद्रामें ही समय बितावें। घोडा, हाथी, गधा, ऊँट, गाय, भैंस कोई भी योनि सुन्दर नहीं लगी। डाँस, मछली, मगर, कछुआ, सूंस

सब प्रकारकी योनियोंको लाये। फिर भूत, प्रेत, पिशाच, गुह्यक, राक्षस, गंधर्व, विद्याधर, किनर, किपुरुष तथा अन्यान्य देव योनियोंको रचकर भी उन्हे शान्ति न हुई। जब मनुष्यका आकार बना और उसमें इन्द्रियाँ, बुद्धि, विचार विवेक ये सब हो गये, तो सब कहने लगे—"सुकृतंवत' सुकृतंवत" यह शरीर तो बडा सुन्दर है, बडा सुन्दर है। सब नित्यदेव भगवान् ब्रह्माकी प्रशसा करने लगे।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! मनुष्य देहमे ऐसी क्या विशेषता है?"

अवधूतमुनि बोले—"राजन्! इसमे यही विशेषता है कि इस शरीरसे ब्रह्मदर्शन हो सकता है। मुक्तिका साधन सम्पन्न हो सकता है। इसीलिये मनुष्यका दूसरा नाम 'साधक' भी है। परमार्थका सुन्दर साधना मनुष्य शरीरसे ही की जा सकती है। इसीलिये यह मनुष्य शरीर सब शरीरोंसे श्रेष्ठ समझा गया है।"

राजाने कहा—"भगवन्! इस मनुष्य शरीरकी आप इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं, यह तो अनित्य है, क्षणभंगुर है नाशवान् है। अभी है क्षण भरमें नष्ट हो जाता है। पानीके बबूलेके सदृश इस देहको आप इतना महत्व क्यों दे रहे है।"

अवधूतमुनि बोले—"राजन्! मैं शरीरको महत्व नहीं दे रहा हूँ। निश्चय यह शरीर अनित्य है, फिर भी इससे साधन होता है, परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, इसलिये इसकी प्रशंसा कर रहा हूँ। इसकी उपयोगिताकी सराहना कर रहा हूँ। जो पुरुष अनेक जन्मोंके उपरान्त इस दुर्लभ मनुष्य तनको पाकर भी इसका सदुपयोग नहीं करता, वह मूर्ख है बुद्धिहीन है। अब बुद्धिमान पुरुषोंको चाहिये कि जब तक यह शरीरका अन्त न हो, जब तक यह जर्जर होकर मृत्युके चंगुलमे न फँस जाय,

तभी तक इससे निःश्रेयसकी प्राप्ति करा ले। मोक्षके साधनमें लगा ले। इस सुवर्ण जैसे सुन्दर शरीरको पाकर विषयोंके संग्रहमें ही न लगा रहे। आहार निद्रा आदि इन्द्रिय सुख तो सभी योनियोंमें समान रूपसे प्राप्त हो सकते हैं। मोक्षकी प्राप्ति मानव शरीरसे ही संभव है। अतः मनुष्य शरीर पाकर इस अमूल्य अवसरको विषयोंके संग्रहमें ही व्यर्थ न बितावे।"

अवधूतमुनि कह रहे हैं—"राजन् इस प्रकार इन मैं सभी गुरुओंसे शिक्षा प्राप्त करके हृदयमें वैराग्ययुक्त ज्ञानालोकको जलाकर बिना भयके अहङ्कार-शून्य होकर समस्त भूमण्डलपर स्वच्छन्द होकर विचरता रहता हूँ। न मुझे शोक मोह है न किसी बातकी चिन्ता, इन सब कार्योंको खेल समझकर न मुझे विस्मय होता है न शोक।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो। राजा यदुसे इतना कहकर अवधूत दत्तात्रेय चुप हो गये।"

छप्पय

हरिने नाना योनि रचीं परि तोष न पायो।
सुखी भये लखि मनुज मोक्षको द्वार बतायो॥
पाइ मनुजको जनम जनमको अंत न कीयो।
विषयनि फसि मरि गयो अमृत तजिकें विष पीयो॥
सब योनिनि महँ विषय सुख, मिलै करै ज्यौं श्रम अरे।
छनिक दुखद सुख तजि सरस, नित्य सुखहिँ भजि बावरे॥

—❀—

अवधूत गीताकी समाप्ति

(१२४७)

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम् ।
ब्रह्मैतदद्वितीयं हि गीयते बहुधर्षिभिः ॥*
(श्रीभा० ११स्क० ९अ० ३१श्लो०)

छप्पय

नहिँ सीमित मम ज्ञान लैहुँ जो होहि सबनि पै ।
सब तैं लै उपदेश फिरूँ निःसंग अवनि पै ॥
ब्रह्म एक ही मुनिनि निरूपन बहु विधि कीयो ।
जातैं जो मिलि गयो ज्ञान ग्वाई तैं लीयो ॥
कहैं कृष्ण-उद्धव ! सुनो यों कहिकें अवधूत मुनि ।
पूजित ह्वै नृप तैं गये, भये मुदित यदु ज्ञान सुनि ॥

यह संसार ज्ञानका भंडार है। मनुष्यकी बुद्धि सूक्ष्म हो, उसमें सद् असद्के विवेक करनेकी क्षमता हो, तो फिर पुस्तकोंके पढ़नेकी कोई आवश्यकता नहीं। संसारका अणु परमाणु हमें शिक्षा दे रहा है। इसके विपरीत जिनकी बुद्धि मलिन है, विषयों

---

*अवधूतमुनि दत्तात्रेय राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन् ! एक ही गुरुसे सुस्थिर और सुपुष्कल ज्ञान नहीं होता। ब्रह्म तो एक ही है न ? किन्तु उसका विचार ऋषियोंने विविध भाँतिसे किया है।"

मे फँसी हुई है, उन्हें चाहे कितने भी शास्त्र क्यों न पढ़ा दो वे मूखके मूर्ख ही बने रहेंगे। जिनका ज्ञान सीमित है, जो कूप-मंडूक बने हुए हैं उनकी बुद्धि संकुचित हो जाती है। वे एक क्षुद्र परिधिसे बाहरकी बात सोच ही नहीं सकते। उन्हें सुदृढ़ और यथेष्ट ज्ञान हो ही नहीं सकता।

यह संसार खुला हुआ शास्त्र है, इसकी प्रत्येक घटना हमें उपदेश दे रही है। संसारके सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं, क्षण क्षणमे बदल रहे हैं। इनकी अनित्यताको जो हृदयसे अनुभव करेगा, वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्द को प्राप्त कर सकेगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अवधूत दत्तात्रेयने अपने चौबीस पृथिवी आदि गुरुओंसे तथा पचीसवें शरीरसे ली हुई शिक्षाका वर्णन किया, तो राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने इतने गुरु क्यों किये? एक ही गुरुसे आपने शिक्षा-दीक्षा क्यों नहीं ले ली?"

अवधूतमुनि बोले—"राजन्! शिक्षा दीक्षा दो पृथक् पृथक् वस्तुएँ हैं। दीक्षा तो एक ही गुरुसे ली जाती है, किन्तु शिक्षा गुरु अनेक होते हैं। ज्ञान तो निःसीम है, वह सबसे लिया जा सकता है। गुरुसे जो ज्ञान प्राप्त हो उसे स्वयं विचारे, मनन करे, उसे व्यवहारमे लावे। यह नहीं कि इस कानसे सुना उस कानसे निकाल दिया। बात एक ही है, उसे कोई किसी रूपसे समझाता है कोई किसी रूपसे। सभी जानते हैं सभी मानते हैं कि भगवान् एक हैं अद्वय हैं, किन्तु एकको ही मुनियोंने कितनी भाँतिसे समझाया है। नाना भाँतिके वाद उन एक ब्रह्मको ही लेकर तो खड़े हुए हैं। कोई कहते हैं,वे अद्वैत हैं, दूसरे कहते हैं—है तो अद्वैत किन्तु विशिष्टके साथ अद्वैत हैं। कोई कहते हैं शुद्ध-अद्वैत हैं; कोई कहते हैं द्वैत भी हैं अद्वैत भी हैं; कोई कहते हैं भेद अभेद अचिन्त्य हैं, न उन्हे द्वैत कह सकते हैं न अद्वैत। कोई कहते हैं

नहीं वे द्वैत ही हैं। कोई कहते हैं शून्य हैं, कोई कहते हैं नहीं हैं। कोई कहते हैं होंगे हमे उनकी आवश्यकता नहीं है। साराश यह है कि वे चाहे 'हैं' कहे या ना, कहते तो उन्हींके सम्बन्धमे हैं। आधारविन्दु तो वे ही हैं। इसी प्रकार एक ही ज्ञानको भिन्न भिन्न घटनाओंसे सीखना चाहिये। मैंने जो पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी, हरिण, मीन, वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी, भृङ्गी-कीट और देह इन सबसे जो शिक्षायें ली है, वे सब अधिकाश में एक ही हैं। बहुतोंकी पुनरावृत्ति हुई है। बहुतोंकी क्या सबसे यही ज्ञान तो लिया है, कि यह ससार अनित्य है, विषयजन्यसुख क्षणिक और परिणाममे दुखद है, अतः भूमापुरुषकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। ब्रह्मका ही निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये। इसी एक ज्ञानकी शिक्षा भिन्न भिन्न घटनाओंसे ली है। जैसे चीनीकी मिठाई बनानेवाले बच्चोंको आकर्षित करनेके लिये एक ही चीनीके भिन्न भिन्न प्रकारके खिलौने बनाते हैं, उनमे भिन्न भिन्न रङ्ग मिला देते हैं। उन सबमे है चीनी ही, खानेमे वे सबके सब एकसे ही मीठे हैं, केवल आकर्षणके लिये—उत्सुकता बढानेके लिये-भिन्नतासी कर दी है। इसलिये राजन्! आप भी संसारकी सभी घटनाओंसे शिक्षा लेकर मेरे समान निःशंक और निर्भय होकर विचरण कीजिये।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! यह, अवधूत गीताका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी यदुकुलका संहार करनेके पूर्व द्वारकामे उद्धवजीको कर रहे हैं। अवधूतगीता सुनानेके अनन्तर वे उद्धव-जीसे बोले—"उद्धव! इस प्रकार मुनि दत्तात्रेयने हमारे पूर्वज महाराज यदुको ज्ञानका उपदेश दिया था।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! फिर हमारे पूर्वज महाराज यदुने

भगवान् दत्तात्रेयसे क्या पूछा ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! अरे, भैया ! अब पूछनेकी कौनसी बात रह गयी। अब तो सभी बातें आ गयीं। महाराज यदुके सब संशय दूर हो गये, उन्होंने श्रद्धाभक्ति सहित अवधूतमुनि दत्तात्रेयकी सविधि पूजाकी। राजाकी पूजाको प्रेमपूर्वक ग्रहण करके वे गम्भीर बुद्धिवाले विप्रवर अवधूतजी उनसे विदा होकर प्रसन्न चित्तसे इच्छानुसार चले गये। दत्त भगवान्के उपदेशका हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज महाराज यदुपर बडा प्रभाव पडा। वे राज-पाट छोडकर सर्वथा निःसंग होकर समदर्शी बन गये।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! यह ससार मिथ्या है, इसमें सत्यका अंश भी नहीं। सत्य स्वरूप तो मैं ही हूँ। मेरा ही भजन करो। मेरा ही चिन्तन करो, इस प्रपञ्चसे सर्वथा मनको हटा लो।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो ! आपका कथन तो सत्य ही है, किन्तु मुझे जाग्रतमें और स्वप्नमे सदा दिखायी देनेवाला यह संसार मिथ्या दिखायी देता नहीं। यह मिथ्या कैसे दिखायी दे और सर्वत्र आपको ही देखूँ, इसका उपाय कृपा करके बताइये।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, उद्धवजी ! अब मैं तुम्हें ससारका मिथ्यात्व ही समझाता हूँ, तुम इसे श्रद्धासहित श्रवण करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह कहकर भगवान्ने वि-

स्तारके साथ उद्धवजीसे संसारका मिथ्यात्व बताया। इस कथा प्रसङ्गमें उस ज्ञान चर्चाको छोड़ दूँ, तो कथाका प्रवाह रुक जायगा, अतः केवल कथा प्रसंग जोड़नेको अत्यंत संक्षेपमें मैं इसका उल्लेखमात्र किये देता हूँ, फिर किसी अन्य स्थलपर इसका विस्तारसे विवेचन किया जा सकता है।"

छप्पय

उद्धव! निज निज धरम पालि पावैं सुख प्रानी।
आश्रम, कुल अरु बरन धरम कूँ त्यागहिँ ज्ञानी॥
भक्त शौच संतोष आदि नियमनि कूँ पालहिँ।
गुरु कूँ पूजहि सदा साधना सत सब साधहिँ॥
है मिथ्या संसार सब, सत्य समुझि नर दुख सहैं।
माकूँ काल, स्वभाव सब, वेद, जीव, धरमहु कहैं॥

सार सिद्धान्त

(१२४८)

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥*

(श्रीभा० ११स्क० ११अ० २०श्लो०)

छप्पय

उद्धव बोले बद्ध मुक्त अरु भक्तनि लक्षन ।
कहें प्रभो ! सरवेश सुनत हरि बोले ततछिन ॥
गुनतें ही है बद्ध मोक्ष माया मूलक गुन ।
विद्या तैं है मोक्ष अविद्या तैं जगबन्धन ॥
जीव ईश पक्षी सखा, तनु तरु पै बैठे उभय ।
फल खावै सो भय लहै, निराहार नित ही अभय ॥

समस्त वेद शास्त्र घुमा फिराकर एक ही बात कहते हैं, संसार के चिन्तनसे संसारकी प्राप्ति होती है, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"हे अङ्ग ! जिस वाणीसे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, गति तथा प्रलयरूप मेरे पावन कर्मोंका तथा लीला अवतारोंमें अपनी ही इच्छासे लिये हुए मेरे जन्मोंका वर्णन न हो उस वन्ध्या वाणीका धीर वीर पुरुष कभी भी धारण तथा पोषण न करे ।"

तथा हरिके चिन्तनसे उन्हींकी प्राप्ति होती है, जो जिसका चिन्तन करेगा वह उसीका रूप हो जायगा। अतः असत् नाशवान् ससारका चिन्तन छोडकर सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वेश्वरका ही सदा चिन्तन करो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान्ने उद्धवजीको अवधूतगीताका उपदेश कर दिया,तब उद्धवजीने पूछा—"प्रभो! संसार मे मनुष्यका कर्तव्य क्या है?"

भगवान् बोले—"अपने अपने वर्ण आश्रम तथा कुलागत आचारोका निष्कामभावसे आचरण करना यही सबका मुख्य कर्तव्य है।"

उद्धवने पूछा—"इससे क्या होगा?"

भगवान्—"स्वधर्मका निष्कामभावसे पालन करनेसे आत्म शुद्धि होगी, अन्तःकरण पवित्र होगा। पवित्र अन्तःकरणसे ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है। जब पूर्ण ज्ञान हो जाय तब विधि निषेधका विशेष आदर न करे।"

उद्धव—'प्रभो! भक्तका भी कर्तव्य बतावें।"

भगवान्—"भक्तको सदा अहिसा, सत्य आदि यमोका, शौच सन्तोष आदि नियमोका यथाशक्ति पालन करना चाहिये। गुरुमे ईश्वरबुद्धि रखनी चाहिये, सद्गुणोको धारण करना चाहिये, परनिन्दासे सदा बचे रहना चाहिये, घर द्वार कुटुम्ब परिवारमे ममता न करनी चाहिये। शरीरसे विलक्षण उसके साक्षी आत्माको अनुभव करना चाहिये।"

उद्धवजीने पूछा—"आत्मा शरीरसे पृथक् कैसे है?"

भगवान् बोले—"ईंधनमे अग्नि प्रवेश हो गई तो जली लकडी को सब अग्नि कहते हैं। वास्तमें जो दहक रही है वह अग्नि है ईंधन तो अग्नि नही है। ईंधनको जलाकर अग्नि अपने समष्टि

रूपमें मिल जाती है। लोग कहते हैं अग्नि बुत गई, अग्नि तो उस लकड़ीसे सर्वथा पृथक् है। इसी प्रकार स्वयं प्रकाश आत्मा स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीरोंसे अत्यंत भिन्न है। इस रहस्यको सद्गुरुसे समझे। आत्माके विषयमें भिन्न भिन्न मुनियोंके भिन्न भिन्न मत हैं। सबने एक ही आत्माका भिन्न भिन्न प्रक्रियासे निरूपण किया है। कोई कालको सत्य बताते है कोई जीवको; कोई स्वभाववादी है तो कोई धर्म और वेदको ही निःश्रेयसका कारण बताते हैं। ये सब मेरे ही नाम हैं, जब तक गुणोंकी विषमता है तभी तक नानात्व है। जब तक नानात्व है तभी तक भय है, पराधीनता है। इसलिये तीनो गुणोंसे ऊपर उठकर त्रिगुणातीत होना चाहिये। तब समस्त शोक मोह दूर हो जायँगे और मेरा यथार्थ ज्ञान हो जायगा।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! प्राणी जो पुण्य पाप रूप कर्म करता है तथा उनके सुख दुख रूप फल भोगता है इनसे कोई कैसे बच सकता है। क्योंकि बिना कर्म किये तो कोई रह नहीं सकता। कर्म या तो शुभ होंगे या अशुभ उनका फल भोगना ही पड़ेगा। जीव गुणोंमें बद्ध है तो उसे बन्धनमें पड़ना ही होगा। यदि वह गुणोंसे पृथक् है तो फिर वह बँध क्यों जाता है? फिर शास्त्रोंमें जो मोक्षके उपाय बताये हैं, वे व्यर्थ हैं। जब बन्धन है ही नहीं तो मुक्तिका प्रयत्न व्यर्थ है।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव! सबका आत्मा तो मैं ही हूँ। मुझमें बन्धन है ही नहीं। जब बन्ध ही नहीं तो मोक्षका प्रश्न ही नहीं। केवल गुणोंके संसर्गसे ही आत्माको बद्ध, मुक्त कहा जाता है। वास्तवमें न बन्धन है न मुक्ति। गुण मायामूलक हैं। संसारकी प्रतीति स्वप्नके सदृश है। जैसे स्वप्नमें जो भी पदार्थ दिखायी देते हैं, वे वास्तवमें असत् हैं, किन्तु जब तक स्वप्न है तब तक वे सत्यके समान स्वप्नमें सुख दुख देते

हैं। जागनेपर न वे पदार्थ दीखते हैं न उनसे होनेवाला सुख दुख। स्वप्नावस्थासे उठे हुए व्यक्तिके सदृश विद्वान पुरुष देहमें रहता हुआ भी वह देहाभिमानसे शून्य होनेके कारण देहसे अपनेको पृथक् अनुभव करता है। देहमें होनेवाले सुख दुखोंको वह स्वप्नके समान मिथ्या समझता है। अज्ञानी पुरुष स्वप्नमें शय्यापर पड़े व्यक्ति समान संसारी पदार्थोंसे अपना कोई सम्बन्ध न होनेपर भी स्वप्नमें देखे मिथ्या पदार्थोंसे नाना आपत्तियोंको अनुभव करता है। इसीलिये विद्वान ज्ञानी खाता है, पीता है, उठता है, बैठता है, हँसता है, खेलता है, लिखता है, पढ़ता है, लोगोंको नमस्कार करता है, सब व्यवहार करता है, फिर भी अपनेको इन सबमें लिप्त नहीं मानता। कर्तापनेका उसे अभिमान नहीं होता। इन्हीं कामोंको अज्ञानी करता है, वह अहङ्कार के कारण फँस जाता है। अज्ञानी पुरुष ही इस दैवाधीन शरीरके द्वारा गुणोंकी प्रेरणासे जो ये सब कर्म स्वतः ही हो रहे हैं उनमें कर्तापनेका अभिमान करके बँध जाता है। पहाड़पर कितने आमके पेड़ अपने आप जमते हैं अपने आप उनमें फल लगते हैं, जो चाहता है खाता है। बन्दर चिड़िया जिसकी इच्छा होती है खा लेते है, हम भी जाते हैं खा लेते हैं, कोई बात नहीं। वही गुठली हमारे घरमें जमकर पेड़ हो जाय। उसे हम अपना लगाया आम समझते हैं, उसमें अपनेपनका अभिमान स्थापित कर लेते हैं। अब कोई कच्चे फल तोडता है तो दुख होता है। रात्रि रात्रिभर जागकर बन्दरोंको चिमगादड़ोंको भगाते हैं। दूसरा कोई चोरी कर फल तोड़ ले जाता है दुख पाते हैं। पके फलोंको बेचकर पैसा पाकर प्रसन्न होते हैं। दूसरोंके बच्चोंके खानेपर सुख नहीं होता। अपने बच्चे खाते हैं सुखी होते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो जैसे गुठली गुणोंकी प्रेरणासे स्वयं पहाड़पर जमी थी वैसे ही घरमें जमी। जैसे वहाँ स्वभावसे उसपर फल लगे वैसे ही यहाँ लगे।

हमें जो यहाँके फलोंको चुरानेसे दुख हुआ वह कर्तापनेके कारण हुआ। ज्ञानीमें यही विशेषता है, कि वह सब काम करतापनके अभिमानसे रहित होकर करता है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! हमें ज्ञानीकी पहिचान बता दीजिये। कैसे समझें कि यह ज्ञानी है? वह क्या ग्रहण करता है, क्या त्यागता है, कैसा उठता बैठता और चलता है?"

भगवान बोले—"ज्ञानी कार्य तो साधारण पुरुषोंके ही सदृश करता है, किन्तु उसकी वृत्ति सुखमें, दुखमें, मानमें, अपमानमें, जयमें, पराजयमें, हानिमें, लाभमें, जीवनमें, मरणमें, यशमें, अपयशमें, निन्दामें, स्तुतिमें तथा सभी दशाओंमें समान होती है। चाहे हिंसक लोग उसके शरीरको काट दें या प्रारब्धवश पूजन आदि करें उसके लिये दोनों बराबर हैं। उसके प्राण, मन इन्द्रिय तथा बुद्धिकी समस्त चेष्टायें सङ्कल्प शून्य होती हैं। इसलिये तुम अपनी चित्तकी वृत्तिको मुझमें लगाओ। मेरे भक्त हो जाने पर तुम्हें सब स्थितियाँ स्वतः ही प्राप्त हो जायँगी।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपकी भक्ति कैसे प्राप्त हो?"

भगवान्‌ने कहा—"मेरी भक्ति प्राप्त करनेके तीन उपाय हैं?

उद्धवजीने कहा—"महाराज! उन तीनोंको मुझे विस्तारसे समझाइये।"

भगवान्‌ने कहा—"देखो, भैया! विस्तारसे समझानेके लिये समय नहीं है। मुझे सबको लेकर आज ही प्रभास जाना है। संक्षेपमें मैं तुम्हें समझाता हूँ।

मेरी भक्ति प्राप्त करनेका सर्वप्रथम उपाय तो यह है कि साधु पुरुषोंके समीप जाकर मेरी भागवती कथाओंको श्रद्धा सहित श्रवण करे। मेरी कथा सुनते सुनते मेरे तथा मेरे भक्तोंके चरितोंमें अनुराग होने लगेगा। इसलिये भक्ति प्राप्त करनेवालेका प्रथम कर्तव्य है कि वह नित्य नियमसे समस्त लोकोंको पावन करनेवाली

मेरी कथाओं में मन लगावे।

दूसरा उपाय है मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंका गान करना। मेरे सुमधुर परम निर्मल नामोंका ताल स्वरसे कीर्तन करे, मेरे जितने अवतार हैं उनके चरित्रोंको गावे। लिखकर प्रचार करे। जो दूसरे लोग गाते हो उनका अनुमोदन करे। मेरे नामोंका, गुणोंका, रूपका स्मरण करे। मेरे चरित्रोंका नाटक खेले, अभिनय करे, लीला करे, करावे। बारम्बार मेरी चेष्टाओंका अनुकरण करे।

तीसरा उपाय यह है कि जो भी धर्म करे, अर्थोपार्जन करे, कामका आचरण करे वह सब मेरे आश्रित रहकर मेरी ही प्रसन्नताके निमित्त करे। इन उपायोंसे मुझ सच्चिदानन्द सनातन सर्वेश्वर सर्वाधार सर्व नियन्ता परमात्मामें अविचल भक्ति प्राप्त हो सकती है। मेरी भक्ति पानेका मुख्य उपाय है सत्सङ्ग। सत्संग में जाते जाते, साधु संतोंका समागम करते करते अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसमें भक्तिका बीज वपन होता है और साधक मेरा अनन्य उपासक बन जाता है। फिर उसे परमपदकी प्राप्तिमें किसी प्रकारका श्रम नहीं, आयास नहीं, कठिनता नहीं, वह सुगमतासे मेरा पद प्राप्त कर सकता है। साधु सङ्ग ही मुक्तिका द्वार है।"

यह सुनकर उद्धवजीने पूछा—"प्रभो! संसारमें आप ही परम कीर्तिशाली सर्वश्रेष्ठ हैं। कृपा करके यह बताइये कि साधु किसे कहते हैं? कौनसे लक्षणोंको देखकर हम यह जानें कि साधु हैं। कृपा करके मुझे अपने परम भक्तोंके कुछ लक्षण बता दें।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है उद्धव! अब मैं तुझे अपने भक्तोंका लक्षण बताता हूँ, इन इन लक्षणोंसे मेरे भक्त जाने जा सकते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब भगवान्‌के श्रीमुखसे वर्णन किये भक्तोंके लक्षण आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

कर्तापन तैं बँधै अकर्ता बँधै न कबहूँ।
ज्ञानी कूँ दुख देउ विदित होवै नहिँ तबहूँ॥
ब्रह्म भावमहँ लीन परम अम्मृत नित चाखै।
इस्तुति निन्दा रहित बुरौ अरु भलौ न भाखै॥
कीर्तन नामनिको करै, भासै मेरे गुन करम।
भक्ति करै मोमें सतत, पाइ उपासक पद परम॥

—::❀::—

परम भगवद्भक्तोंके लक्षण

(१२४९)

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥*

(श्रीमा० ११स्क० ११अ० २३श्लो०)

छप्पय

पावन मेरी कथा सुनै गावै ध्यावै नित ।
लीला अभिनय करै लगावै मम चरननि चित ॥
धरम करम अरु काम करै है मेरे आश्रित ।
पावै निश्चल भक्ति कटै जगकी यह संसृत ॥
साधुनिके सतसङ्ग तैं, भक्ति मुक्ति पावै सबहिँ ।
पुण्य पुरातन उदय जब, होवैं साधु मिलैं तबहिँ ॥

संसारमें सब कुछ सुलभ है। धनी एकसे एक पडे हैं। बलवानोंकी कमी नहीं। ऐसे ऐसे बलवान पडे हैं, जो सिंहोंको पकडकर बीचसे फाड सकते हैं, मदोन्मत्त हाथियोंसे लड सकते हैं, पहाडोंको जड मूलसे उखाड सकते हैं। ऐसे ऐसे विद्वान पडे हैं जो

*श्रीभगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव ! मैं जितना हूँ, जैसा हूँ, इस बातको जानकर अथवा बिना जाने ही जो मेरा अनन्य भावसे भजन करता है, मेरी दृष्टिमें तो वही परम भक्त है।"

असंभवको संभव सिद्ध कर सकते हैं, संभवको असंभव बना सकते हैं। ऐसे ऐसे दानी पड़े हैं जो अपने बच्चोंको स्त्रियोंको धनको तथा अपने शरीरको दान कर सकते हैं। तेजस्वी, तपस्वी, यशस्वी सभी सुलभ हैं, किन्तु साधुओंका मिलना दुर्लभ है। सच्चे साधु सर्वत्र प्राप्त नहीं होते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान्से साधुओंके लक्षण पूछे, तब भगवान् कहने लगे—"उद्धव! साधुओंमें अनन्त गुण होते हैं, उनके गुणोंकी गणना कोई कर नहीं सकता। सुमेरुके कण गिने जा सकते हैं, किन्तु साधुओंके गुण गिनने असंभव हैं। फिर भी मैं कुछ थोड़ेसे गुणोंका वर्णन करता हूँ। जिनमें ये २८ गुण हों उन्हें तुम बिना सन्देहके साधु समझ लेना।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ महाराज! कुछ ही गुण बताइये। उन २८ गुणोंको मुझे समझाइये।"

भगवान् बोले—"मैं इन अट्ठाइसोंकी व्याख्या करने लगूं तो बहुत विस्तार हो जायगा, अतः संक्षेपमें इनका उल्लेख किये देता हूँ।

(१)कृपालु—साधु बड़े कृपालु होते हैं। माता-पिता जैसे अपने पुत्रोंपर, सम्बन्धी अपने सम्बन्धियोंपर जैसे कृपा रखते हैं, वैसे सज्जन पुरुष प्राणिमात्रपर कृपा करते हैं। यह नहीं कि वे कुछ पर कृपा करें, कुछ पर कृपा न करें, उनकी कृपाका मार्ग सबके लिये सर्वदा खुला रहता है। इसीलिये वे अकृतद्रोह होते हैं।

(२)अकृत द्रोह—साधु किसीसे वैर-भाव नहीं रखते। वैर-भाव होता है स्वार्थसे। हम एक वस्तुको ग्रहण करना चाहते हैं, दूसरा भी उसे चाहता है, हम उसे देना नहीं चाहते इसीलिये परस्परमें द्रोह हो जाता है। साधु किसी वस्तुकी इच्छा ही नहीं करते। वे अपनी वस्तु कुछ समझते ही नहीं, फिर द्रोह होने ही क्यों लगा?

(३)क्षमाशील—साधुओंमें क्षमा बहुत होती है। यह मनुष्य का सहज स्वभाव है कि जो हमारा अपकार करता है उसके अपकार करनेकी भावना अपने मनमें स्वाभाविक ही उठती है। जो हमारे प्रति हिंसाके भाव रखता है, उसके प्रति प्रतिहिंसा उदय हो ही जाती है। साधुओंमें यह बात नहीं होती। वे चन्दनके समान होते हैं। उसे जितना ही घिसो उतना ही वह सुगन्धित होगा, अग्निमें जला दो तब भी अपनी सुगन्धि फैलावेगा, कुल्हाडीसे काटो तो उसके मुखको भी सुगन्धित कर देगा। साधु ईखके समान होते हैं, ईखको जितना दबाओ उतना ही रस देती है। इसी प्रकार साधु अपकारीका भी मुख मीठा कर देते हैं, उसे भी रस देते हैं। साधु वृक्षके समान होते हैं। काटनेवालेको भी छाया देते हैं, ढेला मारनेवालेको भी फल देते हैं और काटनेवालेके भी भोजनको सिद्धकर देते हैं। साधु मिहदीके समान होते हैं। पीसनेवालोंके भी हाथको लालकर देते हैं। वे किसीका अपकार करना तो जानते ही नहीं।

(४) सत्यशील—साधुओंका स्वभाव ही सत्य बोलनेका होता है, वे कभी असत्य भाषण करते ही नहीं। जैसा देखेंगे, सुनेंगे, अनुभव करेंगे उसे ही कहेंगे, उनके मनमें छलकपट नहीं होता, वे बातको छिपाना नहीं जानते। जो सत्य बात होगी, भोले बालककी भाँति सबसे कह देंगे।

(५) शुद्धचित्त—साधुओंका चित्त विशुद्ध होता है, वे बनावटी बातोंको हृदयमें रख नहीं सकते। तनिकसी बुराई हृदयमें आ जायगी तो वे घबरा जायँगे। उपासना करते करते उनका चित्त शुद्ध हो जाता है। उनमें मलिनताकी गन्ध भी अवशिष्ट नहीं रहती।

(६) समदर्शी—मनुष्यका स्वभाव होता है कि जिसमें अपनापन होता है, उसके लाभका विशेष ध्यान रखा जाता है। जैसे हमें

कोई कुछ वस्तु बाँटनेको दे तो जिसमे हमारा अपनापन होगा, उन्हींको हम देंगे। दूसरोंको देनेको विवश ही होंगे, तो जो सबसे बुरी, सड़ी गली वस्तु होगी वह उन्हे देंगे। साधुओंमे यह बात नहीं होती। उनके लिये सभी समान हैं वे छोटे बडे धनी निर्धनका भेद-भाव नहीं करते। सभीके कल्याणकी कामना करते हैं।

(७) सर्वोपकारक—साधुओंके समस्त काम सबके उपकारके ही निमित्त होते हैं। जैसे गृहस्थी लोग घर बनवावेंगे तो पहिले ही निर्णयकर लेंगे—इसमें मेरा लडका रहेगा, इसमे मेरी लडकी रहेगी, इसमे बहू रहेगी। किन्तु साधु जो भवन बनावेंगे सबके लिये बनावेंगे। गृहस्थी बाग बगीचा लगावेंगे तो अपने लिये। साधुओंके बाग बगीचे भगवान्‌की सेवा पूजाके लिये सबके उपकारके लिये होंगे। उससे सुख सुविधा उठानेका अधिकार सभी को प्राप्त होगा। वे तो अपनेको उसकी रेख-देख करनेवाले मानेंगे। उनके समस्त काम परोपकारकी भावनासे ही होंगे।

(८) कामना रहित—यह देखा गया है कि मनमे जब कामवासना आकर घर कर लेती है, तब कामकी वासनाओंसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर सद् असद्‌का विवेक नहीं रहता, लज्जा शील संकोच सभी नष्ट हो जाता है। किन्तु साधु पुरुष इसके अपवाद होते हैं। प्रथम तो उनके मनमें कामवासना उठती ही नहीं, यदि कभी उठ भी जाती है, तो उनकी बुद्धि कामसे मारी नहीं जाती, उनका विवेक सर्वथा नष्ट नहीं होता।

(९) संयमी—साधु पुरुषोंका जीवन संयत होता है। उनके सब काम संयमपूर्वक होते हैं। वे संयमके साथ रहते हैं, संयमके साथ प्रसाद पाते हैं, संयमके साथ बोलते हैं, संयमके साथ कार्य करते हैं, सयमके साथ सोते हैं। सारांश यह कि उनका कोई कार्य असंयत नहीं होता।

(१०) मृदुल स्वभाव—साधुओंका स्वभाव कठोर नहीं होता। पर-दुखको देखकर वे तुरन्त पिघल जाते हैं। उनका स्वभाव अत्यंत कोमल होता है। भगवत् कथाओंको, करुण प्रसङ्गोंको सुनकर उनका हृदय पिघलकर पानी बनकर नेत्रोंके मार्गसे निकलने लगता है। जिससे वे बातें करते हैं, उसे ऐसा लगता है मानों ये मेरे ऊपर अमृत उडेल रहे हैं। दूसरोंके दुखोंको देखकर वे दयार्द्र हो जाते हैं और जो कुछ कर सकते हैं, करनेमें उठा नहीं रखते।

(११) सदाचारी—साधुओंका आचार सत् पुरुषोंके सदृश ही होता है। वे उत्तम आचारका सदा पालन करते हैं। दुराचारकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। परनारीको माताके समान समझते हैं, दूसरेके धनको मिट्टीके सदृश और सब प्राणियोंकी आत्माको अपनी आत्माके समान समझते हैं। वही साधु सदाचारी है।

(१२) अकिञ्चन—जिसके पास अपना कहानेवाला कुछ होता है अभिमान उसीको हुआ करता है। मेरे पास इतना धन है, मैं इतना विद्वान हूँ। इसलिये साधु पुरुष सभीको भगवद् अर्पणकर देते हैं। अपना सर्वस्व सर्वेश्वरको सौंपकर स्वयं अकिञ्चन बन जाते हैं। कोषाध्यक्षके पास करोड़ों रुपये होते हैं, किन्तु वह स्वप्नमें भी उन्हें अपना नहीं समझता। जो वेतन उसे स्वामीके यहाँसे निर्वाहके लिये मिलता है, उसीसे अपना निर्वाह करता है। जब उसका चित्त चंचल हो जाता है, स्वामीके धनको अपना समझता है तभी वह अपने पदसे च्युत हो जाता है, पकड़ा जाता है और कारावासके क्लेशोंको भोगता है अथवा यमराजके यहाँ यातनायें पाता है। इसीलिये साधु अपना कुछ रखते नहीं। सब भगवान्को अर्पण करके स्वयं निष्किञ्चन बन जाते हैं।

(१३) निःस्पृह—इच्छासे ही दीनता आती है। हम दूसरोंके सम्मुख क्यों दीन होते हैं क्यों झुकते हैं, इसलिये कि उनसे कुछ चाहते हैं। किसी धनिकको देखते ही हमारी इच्छा होती है कि यह हमें कुछ दे, इसलिये उसके सम्मुख दीन हो जाते हैं। झूठी सच्ची बातें बनाकर उसे प्रसन्न करना चाहते हैं। उसके सम्मुख विश्वम्भरकी महत्ताको भूल जाते हैं। यह नहीं सोचते कि इसके समीप तो लक्ष्मीजीकी इतनी भी विभूति नहीं है जितनी अगाध समुद्रकी एक बिन्दु। जो स्वयं साक्षात् लक्ष्मीपति हैं उनकी शरणमें मैं क्यों न जाऊँ। उनके सम्मुख दीनता प्रकट क्यों न करूँ। जिसका भगवान् पर विश्वास होता है, फिर वह संसारके बड़ेसे बड़े चक्रवर्तीमें और छोटेसे छोटे तृणमें कुछ भी अन्तर नहीं समझता। सबसे निस्पृह होकर निरन्तर नारायणका ही स्मरण करता है। उन्हींकी शरणमें जाता है।

(१४) मिताहारी—जिनकी जिह्वा वशमें नहीं है, वे खाते ही रहते हैं। सुन्दर, स्वादिष्ट, चटपटी, नमकीन, मीठी वस्तुएँ आ गयीं, स्वाद ही स्वादमें अधिक खा गये। अब न तो बैठा जाता है न आसन बाँधा जाता है, लेटे ही रहते हैं। उदर व्याधियाँ हो जाती हैं। बार बार शौच जाना पड़ता है। निरन्तर पेटकी ही चिन्ता लगी रहती है। चित्त रोगमय बन जाता है। जीवनका आहार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, इसलिये साधु पुरुष सदा मिताहारी होते हैं। उनके भोजन प्रसादका समय नियत रहता है, परिणाम नियत रहता है, बनानेका ढंग सदाचार नियत रहता है। वे संयमसे परिमाणानुसार ही खाते हैं। वे भोजन करनेके लिये जीवन धारण नहीं करते, किंतु तो केवल जीवनधारणके निमित्त मितमेध्य भोजन करते हैं।

(१५) शान्त चित्त—जिसके मनमें नाना कामनायें भरी रहती है, उसका चित्त कभी शान्त न होगा। जाग्रतमें तो नाना विषयोंकी

चिन्ताओंमें उद्विग्न बना रहेगा और सोते समय स्वप्नमें भी इन्हीं बातोंको देखते देखते दुखी और चिन्तित होगा। साधुका चित्त इन नाशवान् घटनाओंसे कभी भी उद्विग्न नहीं होता। वह अगाध समुद्रके समान सर्वथा शान्त बना रहता है।

(१६) स्थिर बुद्धि—जिनका लक्ष्य स्थिर नहीं होता उनकी बुद्धि भी स्थिर नहीं होती। अभी इस कामको कर रहे हैं, फिर सोचा इससे लाभ हो न हो दूसरेको करने लगे। आज एक साधन कर रहे हैं, कल दूसरा करने लगे। आज एकपर श्रद्धाकी कल उससे घृणा करने लगे। साधुओंकी बुद्धि स्थिर होती है, वे एक ही साधनको दृढ़ताके साथ करते हैं। उसीमें अपनी बुद्धिको स्थिर करते हैं।

(१७) शरणापन्न—साधु मेरा शरणागत होता है। वह बड़ेसे बड़े व्यक्तिकी शरण नहीं जाता। संसारसे मुख मोड़कर मुझ माधवको ही वह सब कुछ समझकर मेरी ही शरणमें आता है। मेरी शरण आनेपर उसके समस्त शोक मोह दूर हो जाते हैं, क्योंकि जो मेरी शरण हो गया, उसके किये कर्तव्य ही क्या शेष रह गया।

(१८) मुनि—साधारण लोग निरन्तर व्यवहारकी ही बातोंका मनन करते रहते हैं। जैसे गाय भैंस आदि पशु पहिले तो जो तृण आदि चारा सम्मुख आ जाता है उसे खा जाते हैं, फिर एकान्तमें बैठकर उसी खाये हुये को फिर खाते हैं, जुगार करते रहते हैं। इसी प्रकार संसारी लोग दिन भर तो कृषि, व्यापार, आदि कर्म करते रहते हैं। एकान्तमें जब बैठते हैं तो उनके मस्तिष्कमें वे ही बातें घूमती रहती हैं। कभी भजन करने बैठेंगे तो हाथमें माला फिरती रहेगी, मन हिसाब जोड़ता रहेगा। जो हिसाब दिनमें व्यापार करते समय नहीं जुड़ता, वह एकान्तमें भजन करते समय तुरन्त जुड़ जाता है। जो

जिस कार्यको करता है वह चलते, फिरते, उठते बैठने उसीका चिंतन मनन करता रहता है। इसी प्रकार साधु निरन्तर आत्म-तत्वका मनन किया करता है। वह बाहरसे कुछ भी कार्य क्यों न कर रहा हो भीतर उसका मन मदनमोहनकी माधुरीमें ही निमग्न रहता है। मननशील होनेसे ही साधुकी मुनि संज्ञा है।

(१९) प्रमाद रहित—मृत्यु सदा प्रमादसे होती है। काल सदा अप्रमत्त रहता है। यह जीव विषयोंमें फँसा रहनेसे प्रमादी बन जाता है। यह अपने लक्ष्यको भूलकर संसारमे भटकता रहता है। साधु प्रमाद-शून्य होकर प्रभु चिन्तनमें ही समय बिताता है। इसलिये मृत्यु भी उससे डरता है। मृत्युके सिरपर भी पैर रखकर वह हरिके पदको प्राप्त हो जाता है। इसलिये साधुके समीप प्रमाद फटकने भी नहीं पाता। वह निरन्तर प्रमाद रहित बना रहता है।

(२०) गम्भीरात्मा—साधु बड़े गम्भीर स्वभावका होता है। उसमें कितना तेज तप है, कितने गुण हैं, इसकी थाह कोई ले नहीं सकता। अपनी प्रशंसा वह अपने मुख कभी नहीं करता। जो अपने त्यागकी, तपकी, सदाचारकी अपने ही मुखसे प्रशंसा करते रहते हैं, वे क्षुद्र हैं, छिछोरे हैं, उनकी थाह साधारण लोग भी पा लेते हैं। गङ्गा आदिमें जहाँ थोड़ा जल होता है वहाँ बड़े वेगसे शब्द होता है। किन्तु जहाँ अगाध जल है वहाँ गम्भीरता आजाती है, वहाँ शब्द नहीं होता। प्रशान्त बना रहता है।

(२१) धैर्यवान्—मनुष्यका स्वभाव है कि विकारके हेतु सम्मुख उपस्थित हो जानेपर उसका चित्त चंचल हो ही जाता है। किन्तु साधुओंका स्वभाव ऐसा नहीं होता। सुन्दरसे सुन्दर रूप सम्मुख समुपस्थित हो उनके नेत्र चंचल न होंगे। स्वादिष्ट

से स्वादिष्ट भोजन सामग्री सम्मुख रखी हो उनकी जिह्वासे जल न निकलने लगेगा। सुन्दरसे सुन्दर संगीत युक्त शब्द सुनायी दे उनकी श्रवणेन्द्रियमें कोई विकार उत्पन्न न होगा। कोमलसे कोमल स्पर्श उनकी त्वचासे छू जाय उनके मनमे चंचलता न आवेगी, वे धीरताके साथ अपने स्वरूपमे अवस्थित रहेंगे।

(२२)षड्गुणजित—सभी अन्तःकरणोंमे निरन्तर लहरें उठती रहती हैं। उनमे छै प्रकारकी मुख्य हैं, जिन्हें षड्ऊर्मियाँ कहते हैं। भूख, प्यास शोक, मोह और जन्म-मरणकी चिन्ता साधु इन छओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, उन्हे ये ऊर्मियाँ क्लेश नहीं पहुँचाती।

(२३) अमानी—मनुष्य जहाँ भी जाता है अपना मान चाहता है। बडे बडे लोग इसी भयसे कहीं जाते नहीं, निकलते नहीं, किसीसे मिलते जुलते नहीं कि कहीं हमारा अपमान न हो जाय। सभामे जायँगे तो दश बार मनुष्य भेजकर प्रबन्ध करावेंगे, आसनकी व्यवस्था करावेंगे। जहाँ सम्मानकी संभावना न होगी, वहाँ जाकर भी लौट आवेंगे। सम्मानका एक ऐसा रोग है कि मनुष्य जान बूझकर अपनेको बन्दी बना लेता है। वह खुलकर किसीसे मिल नही सकता। स्वच्छन्द विचरण नहीं कर सकता। इच्छानुसार हस खेल नहीं सकता। सदा शंकित बना रहता है। साधु लोग मानको स्थान ही नहीं देते। वे बालकोंकी भाँति अमानी होकर इधरसे उधर फिरते रहते हैं। कोई दश गाली भी दे देता है, तो खिल खिलाकर हँस जाते हैं। गाली तो उनको लगती हैं जो उन्हे स्वीकार करें। साधु किसीकी गालीको स्वीकार ही नहीं करते। कोई आकर हमे विषका लड्डू दे। यदि हम उसे स्वीकार करके खा जायँ तभी मरेंगे। यदि उसे स्वीकार ही न

करें त सैकडों लड्डू रख जाओ हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकते। उनका कोई मान करे उसे भी स्वीकार नहीं करते, ऊँचे आसनपर किसीने ले जाकर बिठा दिया, वहीं बैठ गये। किसीने जूतोंके समीप बिठा दिया वहीं बैठ गये। इस प्रकार साधुओंका स्वभाव अमानी होता है।

(२४) मानद—साधु स्वयं तो अमानी होते हैं, किन्तु दूसरोंको सदा मान देते हैं। वे किसीका अपमान नहीं करते। अपमान करे किसका? वे तो चराचर जगत्को अपने इष्टका रूप ही समझते हैं। वे जिसका भी अपमान करेंगे वह उनके इष्टका ही अपमान होगा। अतः वे सबका सम्मान करते हैं। सबका सम्मान करनेसे साधारण लोग उन्हें छोटा समझते हैं, किन्तु वास्तवमें सबको मान देनेवाला सबसे बडा है। जैसे कृपण पुरुष किसीको धन नहीं दे सकता, उसी प्रकार अभिमानी पुरुष किसीका हृदयसे आदर नहीं कर सकता। उदार पुरुष दरिद्रों को कंगलिओंको धन देते हैं तो वे माँगनेवाले-धन ग्रहण करने वाले-कंगले बडे हुए या देनेवाला वह धनी दाता बडा हुआ। कहना होगा लेनेवालेसे देनेवाला बडा है। इसी प्रकार जो दूसरोंको मान देता है वह अपने ही मानको बढाता है स्वयं ही सम्मानका पात्र बनता है। अतः साधु सबको मान देनेवाला होता है।

(२५) समर्थ—साधु अपनेको असहाय नहीं समझता। एक राजाका पुत्र है। यद्यपि वह बहुत छोटा है, किन्तु बलवान्से बलवान् प्रहरीको मंत्रीको वह आज्ञा देता है और सब उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं। उसे विश्वास है मैं समर्थ पिताका पुत्र हूँ, मुझमें भी वही सामर्थ्य है। इसलिये वह किसीसे डरता नहीं।

(२६)मैत्र—साधु ईर्ष्यालु नहीं होता। वह सबसे प्रेमपूर्वक

मिलता है। उससे जो भी मिलता है, वही समझता है ये हमारे मित्र हैं सुहृद् हैं। उससे मिलनेपर किसीसे उद्वेग नहीं होता, सभी उसे श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं, क्योंकि उसका स्वभाव मिलनसार होता है। वह सबसे गहककर अत्यन्त निष्कपट भावसे हृदय खोलकर मिलता है।

(२७) करुणामय—साधुका हृदय करुणासे भरा रहता है। जैसे मुख तक भरे पात्रका दूध तनिक ठेस लगते ही छलकने लगता है उसी प्रकार उसका हृदय करुणासे ओत प्रोत होनेके कारण छलकता रहता है। उसकी करुणा सीमित नहीं होती, प्राणि मात्रपर वह करुणा करता है। साधुके सदृश कारुणिक संसारमें दूसरा कौन होगा। साधु करुणाकी मूर्ति होते हैं।

(२८) कवि—साधु कवि होता है। कविता करनेवालेका ही नाम कवि नहीं है। कवि कहते हैं सम्यक् ज्ञान मुक्तको। साधुका ज्ञान विशुद्ध होता है, उसको स्वार्थ परमार्थमे कुछ भी सन्देह नहीं रहता। वह विद्या अविद्या, ज्ञान अज्ञान, बन्धन मुक्ति सभीके रहस्यको समझता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे है—उद्धव! इस प्रकार इन २८ गुणोंसे युक्त पुरुष ही सच्चा साधु है।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! यह तो आपने सामान्यतया साधुओंके लक्षण बता दिये। अब मैं जानना यह चाहता हूँ कि सर्वश्रेष्ठ साधुका लक्षण क्या है?"

हँसकर भगवान् बोले—"सर्वश्रेष्ठ साधु तो वे हैं जो अनन्यभावसे मेरा ही भजन करते है। चारों वर्णोंकी चारो आश्रमोंकी सृष्टि मैंने की है। वेद मेरी ही वाणी हैं। वेदमें मैंने चारो वर्णोंके चारों आश्रमोंके पृथक् पृथक धर्म बताये हैं। वेदमे ही मैंने इस बातका विस्तारसे वर्णन किया है, कि इन धर्मोंके पालनसे ये ये गुण होते हैं और इनके त्याग देनेसे

ये ये दोष होते हैं। किन्तु अनन्य भगवद्भक्त जो निस्त्रैगुण्य हो गया है तीनों गुणोंसे ऊपर उठ गया है, जो निरन्तर मेरे ही भजन-स्मरणमें लगा रहता है, वह मेरे भजनके पीछे वर्णाश्रम धर्मकी भी उपेक्षा कर देता है।"

इसपर उद्धवजीने कहा—"महाराज! वर्णाश्रम धर्मका त्याग तो मूर्ख पतित भी कर देते हैं, जिनपर तनिक भी बात बनाना आगया वे ही कह देते हैं—"लोका न वेदा न सुरा न यज्ञाः वर्णाश्रमो नैव कुलं न जाति।" वे सब कुछ छोड़ सर्वभक्षी बन जाते हैं, सब कुछ करने लगते हैं। क्या वे अनन्य भक्त हैं? क्या वे आपको प्राप्त होंगे?"

भगवान् बोले—"नहीं, नहीं, वे तो सीधे नरकको जायँगे। वे पतित लोग तो वर्णाश्रम धर्मके रहस्यको ही नहीं समझते। मैं तो उस अनन्य भक्तकी बात कह रहा हूँ कि अब तक जो वर्णाश्रम धर्मको ही सबसे श्रेष्ठ समझता था, किन्तु उपासना करते करते मेरे ध्यानमें ऐसा तल्लीन हो गया है, कि उसे सन्ध्या पूजा, अग्निहोत्रका ध्यान नहीं रहा। जो अहर्निशि मेरे ही ध्यानमें मग्न रहता है वह समस्त साधुओंमें श्रेष्ठ है। वह मेरी महिमाको जानता है कि कितना महान् हूँ, कैसा कृपालु, दयालु और भक्तवत्सल हूँ, इसलिये वह लोक धर्मकी कुछ भी चिन्ता नहीं करता, मेरे ही ध्यानमें तन्मय हो जाता है। उसके लिये और कोई कर्तव्य रहता ही नहीं।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! आप कितने महान् हैं, कैसे हैं

इन बातोंको जानकर जो आपकी अनन्य उपासना करता है वह अनन्य भक्त तो परमपदका अधिकारी होगा ही, किन्तु जो आपकी महिमाको जानते तो हैं नहीं वैसे ही सुनकर आपका अनन्यभावसे भजन करते रहते हैं तो उनकी क्या गति होगी ?"

भगवान् बोले—"उनकी भी वही गति होगी जो जानकर मेरा भजन करते हैं। मिश्रीको जानकर खाओ या बिना जाने तो मुख मीठा करेगी ही, अमृतको जानकर खाओ या अनजानमें अमर तो बनावेगा ही। विषको जानकर खाओ या अनजानमें अपना प्रभाव तो जतावेगा ही, अग्निको जानकर छूओ या अनजानमें जला तो देगी ही। इसी प्रकार मेरा अनन्यभावसे भजन चाहें मेरी महिमा जानकर किया जाय या बिना जाने दोनों ही परमपदके अधिकारी होंगे। इतना ही ध्यान रहे कि अन्य किसीका भी ध्यान न करे, भजन अनन्यभावसे हो। ऐसा भजन करनेवाला सभी साधुओंमे सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी स्थिति भगवद् धर्मोंके पालनसे मेरी पूजासे प्राप्त होती है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! वे भगवत् धर्म कौनसे हैं। किस प्रकारकी आपकी पूजासे ऐसी स्थिति प्राप्त होती है। कृपया कुछ भगवद् धर्मोंका निरूपण करें जिन कर्मोंके करनेसे आपमे अनन्य भक्ति हो उन्हें बतावें।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है उद्धवजी! अब मैं तुम्हें वे उपाय बताता हूँ, जिनसे मेरी अनन्य भक्ति प्राप्त हो।"

नैमिषारण्य निवासी शौनकादि मुनियोंसे सूतजी कर रहे हैं—"मुनियो! अब जैसे भगवान् उद्धवजीको अपनी अनन्य भक्ति प्राप्त करनेके उपाय बतावेंगे उनका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

हावें साधु कृपालु तितिक्षु द्रोह रहित नित।
सत्यशील समभाव हितैषी मृदुल शुद्धचित॥
काम रहित सयमी सदाचारी निष्किञ्चन।
निस्पृह युक्ताहार शांतचित शरणागतजन॥
धीर गँभीर प्रमाद बिनु, षड्रिपुजित थिरघी मुनी।
मानरहित मानद सबहिँ, मिलनसार समरथ गुनी॥

—::❀::—

संसारसे पार होनेके सरल साधन

(१२५०)

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव !
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायण हि सतामहम् ॥*
(श्रीभा० ११स्क० ११अ० ४८श्लो०)

छप्पय

करुनामय कवि होहिँ साधु हरि भक्ति दृढावैं ।
जे शुभ साधन करैं भक्ति ते प्रभुकी पावैं ॥
प्रभु प्रतिमा अरु साधु दरस पूजन पद परसन ।
सेवा इस्तुति विनय सहित गुन नामनि कीर्तन ॥
ध्यान, दास्य मम पर्व तिथि, उत्सव गायन नृत्य नित ।
कथा श्रवन अरपन सकल, मेरे हित सब करहिँ व्रत ॥

जिन कर्मोंसे भगवान्‌का स्मरण हो, चिन्तन हो नाम गुण कथन हो वे सभी कर्म भक्तिके अन्तर्गत है। भज धातुका अर्थ है सेवा करना। भजन भक्ति, अर्चा, पूजा, परिचर्या तथा उपासना ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। जिनका सभी काम श्यामसुन्दरके

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवसे कह रहे हैं—"उद्धव ! सत्सङ्ग तथा भक्तियोगके बिना दूसरा कोई उपाय ही नहीं। क्योंकि मैं साधुओं का सहगामी और एकमात्र अवलम्ब हूँ।"

निमित्त होता है वे बड़भागी भगवद्भक्त त्रिभुवनको पावन बनाये रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवजीने भक्ति प्राप्त करनेके उपाय पूछे, तब भगवान् उनसे कहने लगे—"उद्धव! मेरी भक्तिके असंख्य प्रकार हैं, उन्हें मैं कहाँ तक गिनाऊँ। संक्षेपमें इतना ही बताये देता हूँ, कि जो जो कर्म करे सब मेरी आराधनाके निमित्त करे, जिन कर्मोंसे संसार भूले और मेरी तथा मेरे भक्तोंकी स्मृति हो वे सभी भक्तिके साधन हैं।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! मैं तो बहुत अज्ञ हूँ आप मुझे कुछ साधनोंके नाम गिना दें, जिनको मैं करता रहूँ।"

हँसकर भगवान् बोले—'उद्धव! तुम्हारे तो समस्त कार्य मेरे ही निमित्त होते हैं, तुम तो मेरे बाहरी प्राण हो, तुम यह प्रश्न लोकहितके निमित्त कर रहे हो। अच्छी बात है, सुनो मैं तुम्हें कुछ उपाय सुनाता हूँ।

(१) दर्शन—भक्तिका प्रथम उपाय तो यह है कि मेरे मन्दिरोंमें जाकर मेरी अर्चाविग्रहका दर्शन करना तथा मेरे भक्तोंका दर्शन करना। मन्दिरोंमें जो भगवान्की मनोहर मूर्तियाँ हैं वे भगवान् के ही रूप हैं। बात यह हुई कि जब राजा त्रिशंकुने सशरीर स्वर्ग जानेकी इच्छा की, तब विश्वामित्रजीने वशिष्ठमुनिकी लाग डाँटके कारण उन्हें यज्ञ कराया। उस यज्ञमें कोई ऋषि मुनि तथा देवता नहीं आये। ऋषि मुनि तो पीछेसे शापके भयसे आगये किन्तु देवता फिर भी नहीं आये। विश्वामित्रजीने अपने तपके प्रभावसे त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग भेज दिया। देवताओंने उसे स्वर्गसे ढकेल दिया। अब वह चिल्लाने लगा। विश्वामित्र-जीने मंत्रोंके प्रभावसे उसे बीचमें ही रोक दिया। अब उन्हें बड़ा क्रोध आया। वे सोचने लगे—'ये देवता मेरे तपका प्रभाव नहीं समझते। मैं नयी सृष्टि ही बनाये देता हूँ। नया इन्द्र बना-

ऊँगा, नये देवता बनाऊँगा। सब सृष्टिको नयी बनाऊँगा। स्त्रियोंसे बच्चे पैदा न कराके वृक्षोंपर फलकी भाँति बच्चे लगा करेंगे।" यही सब सोचकर उन्होंने श्रीफल—नारियल—को बनाया, पशुओंमें ऊँटको बनाया। अन्नोंमें कोदो, मक्का आदि अन्नोंको बनाया। नये देवता, सप्तर्षि, लोकपाल सभी उन्होंने बना दिये। उनके इस कृत्यको देखकर देवता डरे। वे दौड़े दौड़े भगवान्‌के समीप गये। उनको सब समाचार सुनाया। सब देवताओंको लेकर भगवान् महामुनि विश्वामित्रके समीप आये और बोले—"मुनिवर! आप यह क्या कर रहे हो। एक सृष्टिमें तुम यह नयी सृष्टि क्यों बना रहे हो?"

विश्वामित्रजीने कहा—"महाराज! बनाऊँ न तो क्या करूँ, मेरी कोई सुनता ही नहीं। मैंने त्रिशंकु का यज्ञ कराया, देवता अभिमानवश आये नहीं, मैंने उसे स्वर्ग भेजा, देवताओंने उसे ढकेल दिया। अब नयी सृष्टि न बनाऊँ, तो क्या करूँ?"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"मुनिवर! तुम बड़े भोले भाले हो। जो राजा गुरुके शापके चांडाल हो गया है, वह स्वर्ग कैसे जा सकता है? फिर सशरीर कोई स्वर्ग जाता नहीं।"

विश्वामित्रजीने कहा—"कुछ भी हो महाराज! मेरी यह हठ तो माननी ही होगी।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, त्रिशंकु जहाँ अधरमें लटक रहा है वहीं हम उसके लिये स्वर्ग बनाये देते हैं। अब सृष्टि बनाना बन्द करो।"

विश्वामित्रजीने कहा—"भगवन्! मैंने जो इतने देवता बना दिये हैं, ये क्या होंगे?"

भगवान् बोले—"इनकी भी मैं व्यवस्था किये देता हूँ। जो लोग स्वर्ग जाकर देवताओंका साक्षात् दर्शन न कर सकेंगे, वे

लोग यहीं जिन देवताओंकी प्रतिमा बनाकर उनकी विधिवत प्रतिष्ठा करेंगे ये देवगण उन्हीं प्रतिष्ठित प्रतिमामें नित्य निवास करेंगे। उन प्रतिष्ठित प्रतिमाओंके दर्शनोंसे साक्षात् देवोंके दर्शनोंका फल होगा। मैं भी अर्चावतार विग्रहसे नित्य पृथिवीपर रहूँगा। मन्दिरोंमें जो मेरी प्रतिमायें स्थापित होगी उनमे मैं सदा निवास करूँगा।"

तबसे भगवान्‌का एक अवतार अर्चाविग्रह माना जाता है। बड़े बड़े धामोंमें भगवान् नित्य निवास करते हैं। मन्दिर बनवाकर जो उनमें भगवान्‌के या अन्य देवताओंके विग्रह स्थापित

करते हैं उनमें आकर भगवान् रहते हैं, इसलिये मन्दिरोंमें जाकर भगवान्के अर्चाविग्रहके नित्य दर्शन करने चाहिये, इससे भक्ति बढ़ती है।

साधु-दर्शन—भगवान्की दो प्रतिमायें हैं, एक तो अचल प्रतिमा जो मन्दिरोंमें स्थिर रहती हैं, दूसरी चल प्रतिमा जो भगवद्भक्त साधु रूपसे संसारमें विचरती रहती है। जो भगवान्की मन्दिरमें स्थित प्रतिष्ठित प्रतिमाका तो प्रेमसे पूजन करता है किन्तु चल प्रतिमा साधु सन्तोंका पूजन नहीं करता वह प्राकृत भक्त है। अतः भगवान्का अर्चाविग्रह और साधु सन्तों में कुछ भी भेदभाव न करना चाहिये। दोनोंमें ही समान भाव मानकर दोनोंके ही दर्शन करने चाहिये। भगवान्से भी बड़ा भगवद्भक्त होता है। संसारमें भटकते भटकते जब पुरातन पुण्य उदय होता है तब साधु सन्तोंके दर्शन होते हैं। जिसे साधुके दर्शन होगये, उनके प्रति श्रद्धा हो गयी उसका बेड़ा पार है। एक साधु वृक्षके नीचे बैठे थे। एक दूलहा पालकीमें बैठकर विवाह करने जा रहा था। सन्तको शान्त एकान्तमें बैठे देखकर उसकी दर्शन करनेकी इच्छा हुई। पालकी रोककर वह सन्तके दर्शनोंको गया। उसके भाग्य उदय हो गये, संसारसे पार होनेका उसका समय आगया। दर्शन करते ही उसे संसारसे वैराग्य हो गया, विवाहके वस्त्र उसने उतारकर फेंक दिये और साधुके साथ हो लिया। अन्तमें वह एक बड़ा नामी सन्त हुआ। कहनेका साराश यह है कि साधु-दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। किसीको तत्क्षण उसका फल मिल जाता है किसीको कुछ काल में मिलता है।

(२) स्पर्श-पूजन—मेरी दोनों प्रतिमाओंका स्पर्श करनेसे पूजन करनेसे भी भक्ति बढ़ती है। शालग्राम तथा अपनी पूजाकी अन्य प्रतिमाओंको छूनेसे तथा साधु-सन्तोंके चरणोंको

करनेसे भक्ति बढ़ती है। मनुष्योंके सब अङ्गोंमें जब सब देवत आकर बैठ गये, सब प्रत्येक अङ्गके अधिष्ठातृ देव हो गये त भगवान् विष्णु आये। सब देवताओंने कहा—'महाराज! आ सिरपर विराजिये।"

भगवान्ने कहा—"नहीं, भाई! हम तो चरणोंमें ही रहेंगे। वहीं बैठकर सबकी पूजा ग्रहण करेंगे। तबसे चरणोंके अधिष्ठातृ देव भगवान् विष्णु हैं। साधु, ब्राह्मण तथा गुरुजनोंके चरणोंमें वे प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं, इसीलिये जो इनके चरणोंको छूता है उसे भगवान्के स्पर्शका फल होता है। देवता, द्विज, गुरु विद्वान् तथा माता, पिता, ज्येष्ठभ्राता आदि अपने पूज्यजनोंके चरण स्पर्शसे भी भक्तिकी वृद्धि होती है।"

(३)सेवा सुश्रूषा—स्नान, पाद्य, अर्घ्यादिसे भगवान्की तथा भगवद्भक्तोंकी सेवासुश्रूषा करनेसे भी भक्ति बढ़ती है। संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं जो सेवा द्वारा न हो जाता हो। सेवासे सब कुछ प्राप्त हो सकता है। शबरी सेवासे ही जगत्पूज्या बन गयी। सेवासे पाषाण पिघल जाते हैं, फिर सहृदय पुरुषोंके तथा भगवान्के सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है।

(४)स्तुति तथा गुण कर्म कीर्तन—स्तोत्रों द्वारा भगवान् तथा भगवद्भक्तोंकी विनीत भावसे स्तुति करना। भगवान्के गुणों का उनके कमनीय कर्मोंका तथा श्रुतमधुर सुन्दर नामोंका नित्य नियमसे कीर्तन करना यह भी भक्ति बढ़ानेके लिये सर्वश्रेष्ठ साधन है। जिनके गुणोंका हम कीर्तन करेंगे उनके संस्कार हमारे हृदयमें आवेंगे। जिनके कर्मोंका चिन्तन और अनुकरण हम करेंगे उन कर्मोंके प्रति हमारे हृदयमें सहज अनुराग हो जायगा। गजने डूबते समय सूँड़में कमल लेकर भगवान्की स्तुति की उसीसे वह संसार सागरसे पार हो गया। गोपिकाओंने भगवानके गुण कर्मोंका कीर्तन किया इससे वे परमपदकी अधि-

कारिणी हुई। स्तुति कीर्तन भक्ति बढ़ानेका अचूक उपाय है।

(५)भगवद् कथाओंमें श्रद्धा—भगवान्‌की कथाओंके प्रति श्रद्धा रखना यह भक्तिका सर्वप्रथम और सबसे अन्तिम उपाय है। सन्तोंके दर्शनके अनन्तर सर्व प्रथम भगवत् कथाएँ सुननेको मिलती हैं और कथा सुनते सुनते ही भक्तोंके शरीरका अन्त होता है। वे कथा श्रवण करके ही कालक्षेप करते हैं। महाराज परीक्षित्‌ने जब सुना कि उनकी आयुके अब सात ही दिन शेष हैं तो सर्वस्व त्यागकर गङ्गा तटपर चले गये और वहाँ भगवान् शुकके मुखसे भागवती कथाओंको सुनते सुनते ही संसारसे सदाके लिये मुक्त होगये। अतः जिसे भक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उसे नियमपूर्वक नित्य कथा श्रवण करनी चाहिये।

(६)भगवत् ध्यान—मेरे भगवत् स्वरूपका नखसे लेकर शिखा तक तथा शिखासे लेकर नख पर्यन्त सम्पूर्ण अङ्गोंका ध्यान करना चाहिये। ध्यान उन्हींका आता है, जिनसे कुछ न कुछ सम्बन्ध हो। भगवान्‌से कैसे भी सम्बन्ध हो जाय, किसी भाव से सही, उनका ध्यान हो जाय, तो फिर पार करनेको वे विवश हो जाते हैं। यह हो ही नहीं सकता। कि जिसका हम निरन्तर ध्यान करें और वह हमारी ओर आकर्षित न हो। ध्यान एक ऐसी प्रबल डोरी है जो ध्येयको ध्याताके समीप हठात् खींचकर ले आती है। वंशी-ध्वनि सुनकर जब गोपिकायें मेरे समीप रासस्थलीमें आईं और मैंने उन्हें लौट जानेको कहा, तब अत्यन्त करुण स्वरमें गोपिकाओंने कहा—"प्यारे! तुम हमें अपना लो। ठुकराओ मत। तुम्हें अपनाना तो पड़ेगा ही। इस शरीरसे न अपनाओगे तो हम आपका ध्यान धरकर आपके चरणोंकी सन्निधि प्राप्तकर लेंगीं।" इस प्रकार मेरी भक्तिके लिये ध्यान भी उत्तम साधन है।

(७) सर्वलाभोपहरण—अपनेको जो भी कुछ प्राप्त हो, सब मेरे अर्पण कर दे। अपना कुछ माने ही नहीं। अन्न आवे उसे सुंदर रीतिसे बनाकर मेरा भोग लगा दे। बगीचेमें फल लगें सब मेरे प्रति अर्पण कर दे। साराश यह कि बिना मेरे अर्पण किये जल भी ग्रहण न करे। जो सब कुछ भगवान्‌के अर्पणकर देता है, उसे कर्मोंका बन्धन नहीं होता। एक बालक भक्त थे, वे जो भी मिलता, भगवान्‌को अर्पण करके तब खाते थे। एक दिन मार्गमें चले जा रहे थे। एक सुन्दर पका बेरका फल मिला उसे तोडकर बाल स्वभावसे खा गये। जब फल कंठके नीचे पहुँचा तो उन्हे स्मरण हुआ–'अरे" मैंने इसे भगवान्‌के अर्पण तो किया ही नहीं। बहुत प्रयत्न किया फल कंठसे निकला ही नहीं, तब एक तीक्ष्ण खड्गसे ज्यों ही उन्होंने अपने कंठको काटना आरम्भ किया, त्यों ही मैं प्रकट हो गया। उनके इस सर्वलाभोपहरण रूपी कर्मसे मैं परम सन्तुष्ट हुआ और उन्हें अपने चरणोंकी शरण दी। साराश यह कि भक्तकी ऐसी वृत्ति बन जाय कि जो भी करे सबके अन्तमें कह दे "श्रीकृष्णार्पणमस्तु।"

(८)दास्यभावसे आत्म समर्पण—"उद्धव! शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर पाँच भावसे कहे गये हैं इन सबमें दास्यभाव ओत प्रोत है। शातभावमें तो संसारको सच्चिदानन्द रूप देखते हैं। देखनेवाला तो पृथक् हुआ ही। दास्यभावमें तो अपनेको सेवक और इष्टको स्वामी मानते ही हैं। वात्सल्यमें भगवान्‌को बालक और अपनेको उनका रक्षक मानते हैं, जैसे माता पिता बालककी रक्षा करते है। यद्यपि माता पिता बच्चेको छोटा मानते हैं, किन्तु उनका उसके प्रति दास्यभाव तो बना ही रहता है। उसे सुखी रखनेको छोटेसे छोटा काम करते हैं। उसकी सेवाको बडे गौरवसे करते हैं। उसके वस्त्रोंको धोते हैं। सभी प्रकारके छोटे मोटे काम करते हैं। वात्सल्यमें दास्य निहित है।

इसी प्रकार सख्यभावमे यद्यपि इष्टको बराबरका मानते हैं, उसे मारते पीटते हैं, उससे झगड़ा भी करते हैं, किन्तु दास्यभाव उसमे भी छिपा रहता है। सखाके लिये प्राणोंको भी अर्पण करनेको उद्यत हो जाते हैं। मधुरभाव तो दास्यके विना टिक ही नहीं सकता। उसमे दास्यभाव शिष्टाचार-हीन होता है। दोनोके ही हृदयमे दास्य रहता है। वह दास्यभाव ही मधुर रस की अभिवृद्धि करता है। अतः दास्यभावसे आत्म समर्पण करना सर्वोत्कृष्ट साधन है।

(९) मेरे जन्म कर्मोंका कथन—परस्परमे चर्चा करनी हो तो मेरे जन्म कर्मोंकी ही करे। जिन नामोमे मेरे जन्मकर्मोंकी स्मृति हो उनका उच्चारण करे। जैसे नन्द नन्दन, यशुमतितनय, देवकीनन्दन, वासुदेव, मुरलीधर, गिरधारी, केशिहा, कंसारि मधुसूदन, गोविन्द, मुरारी तथा अन्यान्य भी नामोंका उच्चारण करे। अपने लडके लडकियोंके भी ऐसे ही नाम रक्खे।

(१०)ममपर्वानुमोदन—रामनवमी, नृसिंहचतुर्दशी, जन्माष्टमी, बलदेव छटि, परशुरामजयन्ती, वामन द्वादशी तथा अन्यान्य पर्वों पर व्रत रखे। सबको इन्हे मनानेकी प्रेरणा करे।

(११)धार्मिक उत्सव—मेरे सम्बन्धसे भक्त समाजको एकत्रित करके उत्सव मनावे। दूर दूर देश देशान्तरोंसे भक्तिरसके रसिक भक्तोको बुलवावे। भगवान्के सम्मुख उनके यश सम्बन्धी गायन करावे, बाजे बजवावें, नृत्य करावे। और भी उत्सव सम्बन्धी लीलाभिनव आदि करावे। इस प्रकार उत्सव मनानेसे लोगोंमे धार्मिक भावोंका संचार होता है। शनैः शनैः चित्तपर प्रभाव पडने लगता है और इस संसारके कार्योंसे उपराम होकर चित्त भगवत् सेवा सम्बन्धी कार्योंमे लग जाता है।

(१२) वार्षिकी पर्वयात्रा—मेरे धामोपर जो वार्षिक पर्वोत्सव होता है; जैसे रामनवमीपर श्रीअवधमें, जन्माष्टमीपर श्री व्रजमें

इसी प्रकार अन्य पर्व तिथियोंपर मेरे स्थानोंकी यात्रा होती है वहाँ अपने सम्बन्धियों सहित जाय, पूजा अर्चा करे, उन स्थानोंकी परिक्रमा करे तथा और भी जो वहाँके लौकिक वैदिक कृत्य हों उन्हें करावे।

(१३) दीक्षा—मेरे सम्बन्धकी दीक्षा ग्रहण करे। दीक्षा दो प्रकार की है, एक तो वैदिक मंत्रोंकी दूसरी तांत्रिक मंत्रोंकी। जैसा अपना अधिकार हो, जैसी योग्यता हो, जैसी गुरुदेवकी आज्ञा हो, जिसे शास्त्र मंत्र देनेका दृष्टिसे अधिकार हो ऐसे सद्गुरुसे मंत्र दीक्षा ले। दीक्षा लेकर मंत्र जपनेसे मंत्रकी शुद्धि होती है। दीक्षित होनेसे दृढ़ विश्वास हो जाता है। जैसे घरमें किसी सजातीय कुमारीको रख लो, उससे सन्तानें भी हों, किन्तु उसे पत्नी कोई नहीं कहेगा, सभी रखैली कहेंगे। उसीके साथ पंडित बुलाकर विधिवत् विवाहकर लो, तो वह पत्नी हो जायगी। दोनोंके ये संस्कार दृढ़ हो जायँगे कि हम परस्परमें पति पत्नी हैं। इसीलिये वैदिकी तांत्रिकी दीक्षाका विधान है। दीक्षा होना पुनर्जन्म है। जिसके मंत्रीक दीक्षा लेगा दीक्षित उसीका हो जायगा।

(१४) व्रत धारण—जो भी व्रत नियम धारण करे, मेरे ही निमित्त धारण करे। मेरे पर्वोंपर व्रत रखे। मेरी प्राप्तिके लिये विशेष व्रत लेले। अमुक समय तक या जीवन पर्यन्त यह न खाऊँगा, यह कर्म न करूँगा, इस वस्तुका उपयोग न करूँगा। ऐसे व्रत करनेसे सर्वथा मेरी स्मृति बनी रहती है।

(१५) श्रीविग्रह श्रद्धा—मेरे मन्दिरोंका जितना ही प्रचार प्रसार होगा, उतना ही संसारमें मेरा यश फैलेगा, मेरी भक्तिका विस्तार होगा। अतः जो मेरा मंदिर बनाना चाहता हो मेरी प्रतिमा स्थापित कराना चाहता हो, उसे उस काममें सहायता पहुँचाना कोई प्रतिमा-प्रतिष्ठा होती हो, तो वहाँ जाकर दर्शन करना, यथा-

शक्ति सहायता पहुँचाना।

(१६) मन्दिर निर्माणोद्योग—मेरे मंदिर जहाँ जीर्ण हो गये हों, उनका जीर्णोद्धार करना। नये नये मंदिरोंको बनानेका उद्योग करना। मंदिरमे भगवान्‌को नित्य पुष्प चढे इसके लिये पुष्प वाटिका लगवाना। उसमें सुन्दर सुन्दर सुगंधित पुष्पोंके पौधे इधर उधरसे एकत्रित करके लगवाना। उन पुष्पोंको जलसे सींचना। उपवन फलके वृक्षोंके बगीचे लगवाना। नित्य मेरे लिये फलवाले वृक्षोंको मँगाकर लगावे, उनको सींचनेका प्रबन्ध करे। भगवान्‌के जहाँ उत्सव मनाये जाते हैं, ऐसे पीठोंका जहाँ नाना प्रकारकी क्रीडायें होती हैं ऐसे क्रीडा-गृहोंका निर्माण करावे। अपने समीप यथेष्ट द्रव्य हो तो इन सबको स्वयं बनवावे। यदि इतना रुपया न हो तो इधर उधरसे लोगोंको प्रेरित करके धन एकत्रित करावे। उसी सार्वजनिक धनसे मेरे मंदिर तथा वन उपवनोंको बनवावे, लोगोंको इन कार्योंमे नियोजित करे।

(१७)मंदिर सेवा—मेरे मंदिरोंमे जाकर अभिमान छोडकर छोटीसे छोटी सेवा करे। भगवान्‌के लिये किये जानेवाले सभी कार्योंको समान समझे। मेरे निमित्त जो भी कार्य किया जाय वही बड़ा है। अतः समस्त सेवाओंको यथाशक्ति यथासामर्थ्य स्वय ही करे, मनमें संकोच या लज्जा न करे, जैसे मंदिरको लीपना, पोतना, जल छिडकना, झाड़ू-बुहारी देना, पोंछना। पार्पद मलना चौक, पूरना, सर्वतो भद्र बनाना। और भी जो मंदिर सम्बन्धी सेवायें हों उन्हें करना।

(१८) निर्मानता तथा निष्कपटता—"मान होता है अभिमानसे और कपट होता है दम्भसे। दम्भ वही करेगा जो क्षुद्र होगा। जो वास्तवमे तो साधु है नहीं, किन्तु साधुका सा वेष बना लेता है। झूठी झूठी बातें करके लोगोंके मनको अपनी ओर खींच लेता है, उसका सभी व्यवहार कपटपूर्ण होता है। वह बातें

तो परमार्थकी करेगा, किन्तु उसके मनमें स्वार्थ भरा रहेगा। इधर उधरकी बातें बनाकर लोगोंसे धन ठग लें, किसी तरह इन्हें मूंड लें। ऐसे दम्भी पुरुष मेरी भक्तिके अधिकारी नहीं हो सकते। मेरे भक्तको तो मानकी इच्छा रहती ही नहीं। जब वह सम्पूर्ण जगत्को मेरा स्वरूप समझता है, तो फिर वह मानकी इच्छा किससे करेगा। वह स्वयं चराचर जगत् का मान करेगा। उसके लिये छिपानेकी कोई बात ही नहीं है, वह तो कपट करके क्या करेगा, कपट करे भी तो किससे करे। उसका तो दृढ विश्वास है कि मेरे स्वामी मेरी सब बातें देख रहे हैं। वे घट घटकी जाननेवाले हैं। अतः मेरा निर्मान और निष्कपट होता है।

(१९) आत्मप्रशंसा अभाव—साधारण मनुष्योंका यह स्वभाव होता है कि जो अपनेसे शुभ काम बन जाता है, तो उसको सबसे कहते फिरते हैं। अपने आप अपने कर्मोंकी प्रशंसा करने में बडा आनन्द आता है, किन्तु आत्मप्रशंसा करनेसे पुण्य क्षीण होता है। महाराज ययाति बहुत दिनों तक अपने पुण्य प्रभावसे स्वर्गलोकमें रहे, वे कभी कभी ब्रह्मलोक भी चले जाते थे। एक दिन इन्द्रने पूछा—"राजन्! आप जब घर द्वार, कुटुम्ब परिवार तथा राजपाटको छोड कर तपस्या करने वनमें चले गये थे, तब आपने किसके समान तप किया था?"

यह सुनकर ययातिको अहङ्कार आगया। वे अपने तपस्यादि पुण्य कर्मोंको स्मरण करके बोले—"देवेन्द्र! मनुष्योंकी तो बात ही क्या है मेरे समान घोर तप न आज तक किसी देवताने किया न गन्धर्वने और न महर्षियोंने। मुझे अपने समान तप करनेवाला कोई दिखायी ही नहीं पडता।"

यह सुनकर देवेन्द्र हँस पडे और बोले—"राजन्! संसारमें एकसे एक तपस्वी पडे हैं। ऐसे ऐसे तपस्वी पडे हैं कि आप तो

उनका नाम भी न जानते होंगे। यह कहकर कि "मेरे समान तप वाला कोई दिखायी नहीं देता, आपने तपस्वियोंका अपमान किया है। अपने तपकी प्रशंसा अपने मुखसे की है, अतः आप का सब पुण्य क्षीण हो गया। अब आप स्वर्गसे ढकेल दिये जाओगे।" भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव जब इतने बड़े प्रतापी राजा ययातिका तनिकसी आत्मप्रशंसा करनेसे तप क्षीण हो गया, तो फिर उन लोगोंकी क्या दशा होगी जो कार्य तिल भर के समान भी नहीं करते, किंतु उसे प्रचार करते हैं सुमेरुसे भी अधिक। वे लोग तो अवश्य ही नरकके अधिकारी होंगे। अतः अपने किये हुए भजन, पूजन, तप तथा अन्यान्य शुभ कर्मोंको कभी किसीसे भूलकर भी न कहे।"

उद्धवजीने पूछा—"ब्रह्मन्! इनके अतिरिक्त कोई विशेष नियम बतावें।"

भगवान् बोले—"उद्धव! मुझे जो वस्तु दीपक आदि अर्पित की जाय, उसे अपने काममें कभी न लावे। मेरे निमित्त जो दीपक जलाया गया हो उसे अपने काममें न लावे। अंधकार दूर करने तथा पुस्तक आदि पढनेके लिये दूसरा दीपक जला ले, अथवा उसी दीपकमें दो बत्तियाँ जला दीं। इसी प्रकार अन्य वस्तुओंको भी समझें।

उद्धवजीने पूछा—'भगवन्! आपको नैवेद्य अर्पित करते हैं तो क्या उसे भी न पाना चाहिये।"

भगवान्ने कहा—'नहीं, वह तो महा प्रसाद है, उसके पाने से तो जन्म जन्मान्तरोंके अघ कटते हैं, किंतु उसे लोभ बुद्धिसे न खाना चाहिये। महाप्रसाद बुद्धिसे पाना चाहिये। जैसे जो ग्राम मेरी सेवाके लिये अर्पितकर दिया, तो उसकी आय घर गृहस्थीके काममें न लगायी जाय, मेरी ही सेवामें उसकी समस्त आय व्ययकी जाय। इसके अतिरिक्त जो भी वस्तु मेरे अर्पित

की जाय, तो फिर उसमे सभीका अधिकार हो जाता है। जैसे बगीचेमे आम पके, मेरे भोगमे रख दिये। प्रसादी हो गये, अब उसके अधिकारी सभी हो गये।"

उद्धवजीने पूछा—'भगवन्! कौन कौनसी वस्तुएँ आपको अर्पितकी जायँ।"

भगवान् हँसते हुए बोले—"उद्धव! अब वस्तुएँ तो बहुत हैं कहाँ तक मैं तुम्हें गिनाऊँ। तुम इतनेमे ही समझ लो कि जो जो वस्तुएँ संसारमे अपनेको अधिक प्रिय लगती हों उन्हींको मेरे अर्पण कर दे। मेरे अर्पण करनेसे वह वस्तु अनंत और अक्षय हो जायगी। जैसे एक गेहूँका दाना है। हम उसे स्वयं ही चबा गये, तो कहीं दाढीमे ही हिलगा रह जायगा। उसीको भूमिमे बो दो। उचित क्षेत्रमे अर्पितकर दो, तो उससे पचासों दाने हो जायँगे और सबके सब पचास दानोंको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यवाले होंगे। उनसे जितने होंगे उन सबमे भी वही शक्ति होगी। अतः मेरी विधिवत् पूजा करे और मुझे अपने प्रियसे प्रिय पदार्थ अर्पित करे।"

उद्धवजीने पूछा—'भगवन्! आपकी पूजा केवल अर्चा-विग्रह मूर्तिमे ही करे या आपकी पूजाके और भी स्थान हैं?"

भगवान् बोले—"उद्धव! मेरी पूजाके तो सभी स्थान हैं, किंतु ग्यारह स्थान मुख्य हैं।

उद्धवजीने कहा—"ब्रह्मन्! उन ग्यारहों स्थानोंके कृपा करके मुझे नाम बता दीजिये और यह भी बताइये कि किन किन स्थानोंमें किन किन वस्तुओंसे कैसे पूजा करनी चाहिये।

भगवान्ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छी बात है. अब मैं तुम्हें अपने पूजा स्थानोंका ही परिचय कराता हूँ।

सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—'मुनियो! अब

आप भगवान्‌के मुख्य रहनेके ग्यारह स्थानोंके सम्बन्धमे श्रवण कीजिये।

छप्पय

मम हित यात्रा करै देव मन्दिर बनवावै।
स्वयं शक्ति नहिँ होहि यत्न करिकें करवावै॥
उपवन अरु उद्यान सभाथल शाला सुन्दर।
हुँकें निश्छल नित्य करै लेपन मम मन्दिर॥
करी निवेदित वस्तु जो, लेइ न अपने काम महँ।
करै समरपित वस्तु प्रिय, होहि प्रेम मम नाम महँ।

—:❀:—

भगवान्‌की पूजाके ग्यारह आश्रय

(१२५१)

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजा पदानि मे ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ११ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

विप्र, धेनु, रवि, अनिल, अनल, भू, वैष्णव पानी ।
आत्मा अरु आकाश चराचर जगके प्रानी ॥
ये सब आश्रय कहें देव पूजाके प्यारे ।
उपस्थान तैं सूर्य अग्नि घृत आहुति डारे ॥
पूजै द्विज आतिथ्य करि, धेनु घास तृन डारिकें ।
वैष्णवकूँ सत्कार करि, पूजे अति प्रिय मानिकें ॥

भगवान्‌ने इस संसारको चित्र विचित्र बनाया है, इसलिये प्रायः सभीकी प्रकृति भिन्न भिन्न होती है। संसारमें एकसी कोई वस्तु है ही नहीं। कैसे भी प्रेमीसे प्रेमी हो, उनमें कुछ न कुछ रुचिकी भिन्नता होगी ही। आकृति, प्रकृति, रूप, रंग, वाणी

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"हे भद्र उद्धवजी! मेरे पूजाके आश्रय सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौएँ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथिवी, अपनी अन्तरात्मा तथा समस्त प्राणी ये सब हैं।"

सभीमें कुछ न कुछ अन्तर रहता ही है। रेखाशास्त्रके जानने वालोंका कथन है कि अँगूठेकी रेखा सबकी भिन्न भिन्न होती हैं। जैसे सबके हस्ताक्षर एकसे नहीं हो सकते वैसे ही अँगूठेकी लकीरें सबकी एकसी नहीं होतीं। इसीलिये जो हस्ताक्षर करना नहीं जानते उनके अँगूठेके चिन्ह लगाये जाते हैं सबकी आँखोंकी रेखायें एकसी नहीं होतीं सूक्ष्म रूपसे देखा जाय तो सबकी सब वस्तुएँ ही भिन्न होती हैं। इसीलिये सबकी उपासना भी भिन्न भिन्न होती हैं। भगवान् तो सर्व व्यापक है, उन्हें जो जहाँ भजता है, वे वहीं प्रकट हो जाते हैं, जिस वस्तुमें उनकी उपासना करता है उसकी वस्तुमें दर्शन दे देते हैं। उन्हें जो जैसे भजता है उसे वैसे ही भावसे परिचय देते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान्‌से उनके रहनेका आश्रय पूछा और यह जिज्ञासाकी कि आपकी पूजा हम कहाँ,किस स्थानमें करें, तब भगवान्‌ने कहा—'उद्धव! मेरी पूजाके मुख्य आश्रय ग्यारह हैं। सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथिवी, अपनी अन्तरात्मा और समस्त चराचर प्राणी। इन स्थानोंमें ही मेरी पूजा करनी चाहिये।"

उद्धवजीने कहा—'महाराज! इन स्थानोंमें आपकी पूजा कैसे करें? आकाशमें पुष्प कैसे चढावें?"

हँसकर भगवान् बोले—"भैया! उद्धव! कुछ फूल चढाना ही पूजा थोडे ही है। जैसा देवता हो वैसी पूजा करनी चाहिये। देश, काल, पात्र तथा परिस्थितियोंके अनुसार पूजा भी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है। यदि जाडेके दिन हैं, पंखा करने लगे, शीतल चन्दन लेपन करने लगे, शीतल जलके स्नान कराने लगे तो यह पूजा नहीं। ठंडके दिनमें अग्नि तपाना, उष्ण जलके स्नान कराना, गरमागरम हलुआ भोग लगाना यही उस काल

की पूजा है। इसी प्रकार देशके कारण भी पूजामें भिन्नता हो जाती है। उष्ण देश है तो वहाँ शीतल वस्तुओंका व्यवहार अधिक होगा। शीत प्रधान देश है तो वहाँ उष्ण वस्तुएँ विशेष कार्यमें लायी जायँगी। इसी प्रकार पात्र भेदसे भी पूजाका भेद हो जाता है, सूर्यकी उपासना अन्य वस्तुओंसे की जायगी, आकाशकी पूजा अन्य वस्तुओंसे।"

उद्धवजीने पूछा—"हाँ महाराज! मैं यही तो जानना चाहता हूँ कि आपके किस आश्रयकी पूजा विशेषकर किन वस्तुओं से की जाय। प्रथम सूर्यकी ही उपासनाकी विधि बतावें, इनकी उपासनामें विशेषता किसकी रहे?"

भगवान बोले—उद्धव! पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय-जल, वस्त्र, यज्ञोपवीत, धूप, दीप नैवेद्य आदि सामग्रियाँ तो सामान्य सभीकी पूजामें आवश्यक हैं, किंतु भिन्न भिन्न आश्रयकी पूजामें विशेष विशेष वस्तुओंका प्राधान्य रहता है। जैसे सूर्यकी उपासनामें वेद मंत्रोंकी विशेषता है। उदय होते हुए सूर्यकी वेद मंत्रोंसे उपासना करे, मध्याह्न कालमें तथा सायकालमें भी उपस्थान करे। त्रिकाल सन्ध्या गायत्री जप ये सब सूर्यकी ही उपासना है। प्रातःकाल खड़े होकर स्तुति-मुद्रामें हाथोंको सम्मुख करके उपस्थान करे। मध्यान्हकालमें सिंहकी भाँति दोनों हाथोंको खड़ा करके उपस्थान करे और सायंकालमें हाथ जोड़कर करे। इस प्रकार वेदत्रयी द्वारा सूर्य मंडलमें मेरी उपासना करे।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! अग्निमें आपकी उपासना कैसे की जाती है, उसमें किसकी विशेषता रहती है?",

भगवान् बोले—'अग्निमें वेद मंत्रों द्वारा घृतकी आहुति देना यही उनकी विशेष उपासना है। ऋषियोंकी अग्निशालामें सदा अग्नि प्रज्वलित रहती है। वे सायं प्रातः घृतकी

आहुति देकर उनका पूजन करते हैं। ब्रह्मचारी अग्निमें समिधा-धान करते हैं। गृहस्थी सदा दोनों समय अग्निहोत्र करके अग्नि-का पूजन करते हैं। वानप्रस्थी यद्यपि घरको छोड देते हैं, नगरकी समस्त सुविधाओंका परित्यागकर देते हैं, न तो घरमे रहते हैं और न संसारी सुखोंका ही सेवन करते हैं, किंतु अग्निकी उपा-सनाको वे भी नहीं छोडते। वनके कदमूल फलों द्वारा वे अग्निकी आराधना करते हैं। अग्निहोत्र की रक्षाके निमित्त वे कुटी बनाते हैं। अग्नि देवताओंका मुख हैं, उनमे जिस देव-ताके निमित्त आहुति दी जायगी अग्निदेव तुरन्त उसे उस देव-ताओंके समीप पहुँचा देंगे। अग्निकी उपासना करनेसे द्विजाति तेजस्वी हो जाते हैं। जिन्होंने विधिवत् अग्निकी उपासनाकी है उसे अग्नि प्रत्यक्ष होकर फल देते हैं। एक ब्राह्मण किसी दूसरे ब्राह्मणसे पादलेप लगवाकर उडकर हिमालय प्रदेशमें पहुँच गया। वहाँ हिमके ऊपर चलनेसे और चित्र विचित्र दृश्य देखनेकी उत्सुकतामे उसके पैरका लेप धुल गया। उसकी उडनेकी शक्ति नष्ट हो गयी। अग्निहोत्रका समय निकट आगया। ब्राह्मण बडी चिन्तामें पडे। अन्तमे उन्होंने अग्निदेवसे प्रार्थनाकी, कि मैंने आपकी सविधि उपासनाकी हो तो मैं अभी तुरन्त अपने घर पहुँच जाऊँ।" अग्निदेव तुरन्त उसके शरीरमे प्रकट हुए और अपनी शक्तिसे ब्राह्मणको उसके घर पहुँचा दिया।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! ब्राह्मणको आपका आश्रय मानकर उसमें कैसे पूजा करें?"

भगवान् बोले—"उद्धव! मेरी वाणी वेद है। ब्राह्मण उसे धारण करते हैं। अतः ब्राह्मण मेरे स्वरूप ही हैं। मुझे जब भी रूप रखना होता है, मैं वृद्ध ब्राह्मणका ही रूप रखता हूँ। ब्राह्मणोंकी मैं भी पूजा करता हूँ, अतः लोग मुझे ब्राह्मण-

देव कहते हैं। और ब्राह्मणोंके निमित्त ही मैं अवनिपर अवतरित होता हूँ। ब्राह्मणोंकी जिन्होंने सेवाकी, उनका ही संसार मे यश है। मेरा जो इतना भारी यश है वह ब्राह्मणोंकी सेवाके ही कारण है। मयूरध्वज ब्राह्मणोंका कितना भक्त था। उसने ब्राह्मणके सिंहके लिये अपने पुत्रको भी आरेसे चीर डाला। राजा शिविने ब्राह्मणकी याचनापर अपने पुत्रका मांस स्वयं रॉधकर दिया। कर्ण दानवीर इसीलिये कहाये कि ब्राह्मण जब जो आकर मॉगते थे, वे तुरन्त दे देते थे। मैं जरासन्धसे बलमें हारकर मथुरा छोडकर नहीं भागा था। उसको ब्राह्मण भक्तिके कारण ही मुझे अपनी पैतृक राजधानी परम पुण्यवती मथुरापुरी छोड़नी पडी। उद्धव! मुझे स्मरण नहीं आता कि ब्राह्मणोंकी उपासना करके आज तक संसारमें कोई दुखी हुआ हो। जब क्षत्रिय ब्राह्मणोंके द्रोही हो गये, ब्राह्मणोंकीपत्नियोंके साथ व्यभिचार करने लगे, ब्राह्मणोंके धन का अपहरण करने लगे, तभी मैंने परशुराम अवतार लेकर उनका संहार किया। ब्राह्मण मेरे शरीर हैं। ब्राह्मण चाहें बालक भी हो तो भी वह पूजनीय है। अन्य वर्ण चाहें कितना बडा वृद्ध हो ब्राह्मणका छोटा बालक भी उसे आशीर्वाद दे सकता है। ब्राह्मण जन्मसे ही पूजनीय है। कितने राजा हो गये हैं किन्तु सत्यवादी हरिश्चन्द्रका ही इतना नाम क्यों है! इसलिये कि ब्राह्मणका धन चुकानेके लिये वे पत्नी पुत्रके साथ स्वयं बिक गये और चांडालके दास बने। वह चांडाल और कोई नहीं था। मैं ही स्वयं चांडाल बन गया था। इतना कष्ट पड़नेपर भी राजाने ब्राह्मणोंके प्रति अश्रद्धा नहीं दिखायी। उद्धव! कहॉ तक गिनाऊँ, जितने भी तेजस्वी यशस्वी राजा हुए हैं, उनका यश तेज सब ब्राह्मणोंकी ही कृपासे बढ़ा है। सूर्य वंशमे कितने कितने पराक्रमशाली राजा हुए हैं, किन्तु

सूर्य वंश रघुवंशके ही नामसे विख्यात है ? इसीलिये कि महाराज रघु ब्राह्मणोंके परम भक्त थे। एक बार मैंने स्वयं ब्राह्मण बनकर उनकी परीक्षा ली और जब वे परीक्षामें उत्तीर्ण हुए तो उन्हें वर दिया।"

इसपर उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ! आपने महाराज रघुकी कैसे परीक्षा ली ?"

भगवान् बोले—उद्धव ! जब दशों दिशाओंमें महाराज रघुकी ब्राह्मणकी भक्ति कीर्ति फैल गयी, तो एक बार मैंने सोचा—"मैं राजाकी परीक्षा लूं।" मैं किसीकी परीक्षा उसके यशको बढानेके निमित्त ही लेता हूँ। राजा बड़े ब्राह्मण भक्त थे, उनके यहाँसे कभी कोई ब्राह्मण निराश नहीं लौटता था। राजा बडे हो गये थे, किन्तु उन्होंने विवाह नहीं किया था। वे चाहते थे—मैं ऐसी कन्यासे विवाह करूं जो मेरे धर्म-कार्योंमें सदा अनुकूल रहे। ब्राह्मण भक्ति और अतिथि पूजनमें जिसे हार्दिक प्रसन्नता हो। खोजते खोजते ब्राह्मणोंने बताया कि एक राजकुमारी सर्वसुलक्षण सम्पन्न है। त्रैलोक्य सुन्दरी है और सद्गुणोंकी तो वह खानि ही है। राजाने उसके साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया। बड़ी धूमधामके साथ विवाह हुआ। विवाह करके नई रानीको विदा कराकर महाराज लौट रहे थे, कि मार्गमें लौटते समय एक वृद्ध ब्राह्मणने राजाको जय जयकार किया।

राजा तो परम ब्रह्मण्यदेव थे। वे रथसे उतर पड़े। ब्राह्मणकी चरण वन्दना की और हाथ जोडकर बोले—"ब्रह्मन् ! मेरे लिये क्या आज्ञा है ?"

ब्राह्मणने कहा—"राजन् ! हमने आपकी बडी ख्याति सुनी है, अतः हम आपसे कुछ याचना करने आये हैं।"

राजाने कहा—"महाराज ! आज्ञा कीजिये, मेरा तो सर्वस्व

ब्राह्मणोंका ही है। मैं तो उसका एक रक्षक मात्र हूँ। आपको धन, रत्न, हाथी, घोडा, रथ, ग्राम जो भी माँगना हो माँगें।"

ब्राह्मणने कहा—"मुझे ये सब वस्तुएँ कुछ भी नहीं चाहिये। मैं तो एक और वस्तु चाहता हूँ। वह दुर्लभ है।"

हँसकर राजा बोले—"भगवन्! ब्राह्मणोंके लिये क्या दुर्लभ है, आप आज्ञा तो कीजिये। संकोच करनेकी कौनसी बात है।"

ब्राह्मणने कहा—"राजन्! अब तक तो मैं तपस्या करता रहा। अब मेरी इच्छा गृहस्थ सुख भोगनेकी है। मैंने सुना है, जिस रानीको विवाह करके लाये हो वह बडी गुणवती है। आप उसे ही मुझे दे दें।"

राजाने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"बहुत अच्छा महाराज! इसमे संकोच करनेकी कौनसी बात है। मैं अभी रानीसे पूछता हूँ।" यह कहकर राजाने पालकी रुकवाई। रानीको आज्ञा दी कि वे पालकीसे बाहर आ जायँ। राजाकी आज्ञा पाते ही रानी पालकीसे उतर पडीं और हाथ जोडकर खडी हो गयीं। तब राजाने कहा—"राजकुमारी! इन ब्राह्मणकी इच्छा तुम्हें ग्रहण करनेकी है और मेरी इच्छा तुम्हें देने की है। अब तुम्हारी भी इच्छा मैं जानना चाहता हूँ, तुम्हारी इच्छा इनके साथ जानेकी है या नहीं।"

रानीने अत्यंत प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"महाराज! इसमें पूछनेकी कौनसी बात है। आप मेरे स्वामी हैं, मेरे लिये आप जो आज्ञा करेंगे उसे मुझे सिरसे पालन करना चाहिये। ये तो ब्राह्मण हैं, सत्पात्र हैं, भूदेव हैं। आप मुझे जिसके हाथ सौंप देंगे उसीके साथ चली जाऊँगी।"

राजाने ब्राह्मणसे कहा—"भगवन्! आपका मनोरथ पूर्ण हुआ। मेरी राजधानी यहाँसे समीप ही है। वहाँ चलें और विधिवत् इस रानीको ग्रहण करें।"

ब्राह्मण बोले—"राजन् ! मेरे हाथमें कुशोंका मूँठा है, मेरे कमण्डलुमें सरयूजी का जल है। जल और कुश करमें ग्रहण कीजिये, मैं संकल्प बोलता हूँ शुभ कार्योंमें विलम्ब करना उचित नहीं, न जाने फिर क्या विघ्न आजाय।"

राजाने कहा—बड़ी अच्छी बात है महाराज ! बोलिये संकल्प।"

राजाने वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत अपनी पत्नीको सविधि दान दिया। ब्राह्मण मूँजकी मेखला पहिने मृग चर्म-ओढ़े हाथमें कमण्डलु लिये आगे आगे चले और त्रैलोक्य सुन्दरी रानी-जिसे पैदल चलनेका अभ्यास नहीं था-उनके पीछे पीछे चली। यह देखकर राजा दौडे और बोले—"ब्रह्मन् ! इस वेषसे आप रानी के साथ अच्छे नहीं लगते। एक दान तो आपने अपनी इच्छासे लिया और एक मेरी इच्छासे ले ले।"

ब्राह्मण बोले—"राजन् ! तुम कौनसा दान मुझे देना चाहते हो ?"

राजा बोले—"भगवन् ! मैंने बहुत दिनों तक राज्य किया है और आपने बहुत दिनों तक तप किया है। अब आप राज्य करें, मैं तप करूँगा। जब आपकी इच्छा गृहस्थ सुख भोगने की हुई है तो अच्छी प्रकार भोगे।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! मैंने ही तो ब्राह्मणका रूप रख लिया था। राजाकी ऐसी उदारता देखकर मैंने उसे अपने चतुर्भुज रूपके दर्शन दिये और वर दिया आजसे यह वंश रघुवंशके ही नामसे विख्यात होगा।" इसीलिये इतने बडे बड़े राजाओंके होते हुए भी सूर्यवंश रघुवंशके ही नामसे विशेष विख्यात है। उद्धव ! ब्राह्मणभक्तिके असंख्यों उदाहरण वेद पुराणोंमें भरे पडे हैं। अतः ब्राह्मणके शरीरमें मेरी पूजा उत्तम आतिथ्यके द्वारा करे।"

उद्धवजीने पूछा—"गौकी पूजा किस विशेष रूपसे की जाय ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! गौ मेरा ही रूप हैं। मैं गौओंकी रक्षा करता हूँ, उनका पालन करता हूँ, इससे मेरा नाम गोपाल है। जो गौओंका पूजन करता है उससे मैं प्रसन्न होता हूँ। गौओंको देखकर प्रणाम करना चाहिये। राजा दिलीपने सुरभि को देखकर प्रणाम नहीं किया था, इसलिये उनके कोई सन्तान नहीं हुई। वशिष्ठजीकी आज्ञासे उन्होंने कामधेनुकी पुत्री नन्दिनीकी पूजा की, इससे उनके रघु जैसे यशस्वी पुत्र हुए। गौओंके अंगोंमें समस्त देवता निवास करते है, उनके गोबरमें लक्ष्मीका निवास है। गौएँ लोककी मातायें हैं। गौओंकी विशेष पूजा यही है, उन्हें हरी हरी घास खिलावे। उन्हें खुजावे तथा सब प्रकारकी सेवा करे।"

उद्धवजीने पूछा—"प्रभो ! वैष्णवोंकी विशेष पूजा कैसेकी जाय ?"

हँसकर भगवान् बोले—"उद्धव ! अब भैया ! तुम्हे कैसे बताऊँ। देखो, घरमें जामाता आता है, तो उसका कैसा सत्कार किया जाता है। घरमें घी न हो तो पास पड़ौससे उधार ले आते हैं। पूड़ी कचौड़ी बनाते हैं। खीर हलुआ बनाते हैं। सब प्रकारसे उसका सत्कार करते हैं। मनमें बड़ा उत्साह होता है। वैष्णवोंके घर पधारनेपर जिसे ऐसा ही उत्साह हो, वही सच्चा भगवत् भक्त है। भक्ति बढ़ानेका यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है कि वैष्णवोंका बन्धुवत् सत्कार करे।

एक वैष्णव थे। वे स्वयं तो बड़े भगवत् भक्त थे, किन्तु उनकी पत्नी बड़ी कर्कसा थी। घरमें जहाँ कोई वैष्णव आया कि उसकी आते जल जातीं थी। सोचती थी, इनके लिये रोटी बनानी पड़ेगी। वैष्णव बड़े सीधे सरल थे, वे स्वयं नहीं खाते

थे, वैष्णवोंको खिला देते थे। एक दिन उसका जामाता आया। उसके लिये वह कहींसे घी ले आयी, कहींसे दूध ले आयी, खीर पूड़ी बना ली। इतनेमें ही एक वैष्णव आगये जल भुनकर भस्म हो गयी, कि इनके लिये भी रोटी बनानी पड़ेंगी। यदि जामाता न आये होते, तो दश खरी खोटी सुनाती। जामाताके सम्मुख कैसे बोलती। उसने वैष्णवके लिये बेझड़की चार मोटी मोटी रोटियाँ और चटनी बना दी। वह घूँघट मारकर बना रही थी, पतिको परसनेको कह रही थी। उसने कहा—"पहिले पाहुनेको, जिमाते पीछे अपने वैरागीको भी खिला देना। वैष्णव ने कहा—'अब बार बार चौका क्या जूठा करना दोनोंको पृथक् पृथक् बिठा देंगे।"

उसने कहा—"अच्छी बात है। जामाताको चौकेमें बिठाना उस बाबाजीको ओटमें।"

वैष्णवने कहा—"अच्छी बात है। ऐसा ही करूँगा। तू तो थाली परस तो सही।" उसने एक थालीमें तो हलुआ, पूड़ी साग, दही, रायता, खीर आदि परसीं और एकमें बेझड़की रोटी और तनिकसी चटनी व थोड़ासा मट्ठा। कह दिया इस थालीको बाबाजीको परस देना, पहिली थालीको जामाताको दे देना।"

वैष्णव दोनोंको लेकर चल दिये। जिसमें खीर, पूड़ी हलुआ आदि था उसे तो साधुके सम्मुख परोस दिया और बेझड़की रोटीवाली थाली जामाताके सम्मुख परोस दी। दोनों ही खाने लगे। स्त्रीने जब घूँघटकी ओटमें से एक आँख से देखा, तो उसके क्रोधकी सीमा नहीं रही। किन्तु जामाताके सामने कुछ अपने पतिसे कहती है, तो उसका अपयश होगा। इसलिये घूँघटमें से ही दाँत पीसकर अपनी एक उँगलीसे नाकको छुरीके सदृश घिसकर संकेत करने लगी कि तुमने

तो मेरी नाक ही कटवा दी।"

हँसकर वैष्णव बोले—"तेरी नाक कट गयी, तो मेरी तो ऊँची हो गयी। जब तैंने एक चौकेमें दो प्रकारके भोजन बनाये तो हम दोनोंमेंसे किसी एक की तो नाक कटती ही। इसलिये मेरी न कटकर तेरी कटी। कोई बात नहीं।"

यह सुनकर स्त्री लज्जित हुई। कहने का सारांश यह है, कि वैष्णव साधु महात्माओंका आदर अपने सगे जामातासे भी अधिक करते हैं। वैष्णवको मेरा ही रूप समझकर उसकी पूजा करनी चाहिये।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् आकाशमें कैसे पूजा करे।"

भगवान् बोले—"उद्धव ! मैं समस्त प्राणियोंके हृदय-कमलमें निवास करता हूँ। हृदयकमलमें मुझ विष्णुका ध्यान करना यही आकाशाश्रय मेरी पूजा है। जिस प्रकार आकाश सर्व व्यापक है उसी प्रकार मैं भी हूँ।"

उद्धवने पूछा—"वायुमें आपकी कैसे पूजाकी जाय प्रभो ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! प्राण दश प्रकारके होते हैं, उनमें प्रधान प्राण मुख्य है। मंत्र सहित प्राणायाम करना यही वायुकी मुख्य पूजा है।"

उद्धवजीने पूछा—जलमें आपकी पूजा कैसे करें ?"

भगवान् बोले—"गङ्गा आदि नदियोंमें या पुण्य सरोवरों-में अथवा बड़े बड़े जलाशयोंमें जल पुष्पादिसे पूजा करे, दूध चढ़ावे, प्रार्थना करे, यही जलकी पूजा है।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो ! भूमिमें आपकी पूजा कैसेकी जाय ?"

भगवान् बोले—"मंत्र हृदयोंके द्वारा पृथिवीमें वेदी बना कर उसमें मेरी भावनासे पूजा करे।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ! आत्मपूजा कैसे करे ?"

भगवान् बोले—"विविध प्रकारके भोग लेकर अपनी अन्तरात्माको तृप्त करे। जैसे सुन्दर अन्न बना है। मुख द्वारा अन्तरात्माकी आहुति दे। आँखोंसे सुन्दर सुन्दर रूप देखे। कानोंसे सुन्दर सुन्दर भक्तिभाव पूर्ण गायन श्रवण करे। इस प्रकार अन्तरात्माको सन्तुष्ट करे।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! सम्पूर्ण प्राणियोंमें आपकी पूजा कैसे की जाय?"

भगवान् बोले—"उद्धव! मैं तृणसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त चर अचर सबमें समान रूपसे व्याप्त हूँ। जो भेदभाव करता है वह भयको प्राप्त होता है। इसलिये सबमें समभाव रखे कभी किसीका अपमान न करे, मनसे भी किसीका अपकार न सोचे। यह भावना रखे कि सबमें मैं ही रम रहा हूँ, सब रूपोंमें मैं ही दृष्टिगोचर हो रहा हूँ। सूर्यमें, अग्निमें, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव आकाश, वायु, जल, पृथिवी, आत्मा अथवा समस्त प्राणियोंमें जहाँ भी मुझ क्षेत्रज्ञकी पूजा करे वहीं शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म युक्त मेरे चतुर्भुज शान्त स्वरूपका ध्यान करे। सूर्य मण्डलमें भी मेरी ही भावना करे, समाहित चित्तसे सर्वत्र मुझ विष्णुकी ही पूजा करे। इस प्रकार उद्धव! यज्ञादि जो भी शुभ कर्म करे, वापी, कूप, तड़ाग, धर्मशाला, बगीचा जो भी बनवावे, जो भी इष्ट और पूर्त कर्म करे, सबके द्वारा समाहित चित्तसे मेरी ही आराधना करे, मेरी ही पूजा करे। इस प्रकार की पूजासे मेरी भक्ति प्राप्त होती है और निरन्तरकी साधु सेवासे मेरे स्वरूपका ज्ञान होता है।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! साधन तो बहुत हैं। आप मुझे सर्वश्रेष्ठ सरल सुगम सर्वोपयोगी एक ही साधन बता दें।"

भगवान् बोले—"अरे, भाई! मैं बार बार तो बता चुका,

तुम मेरी बातको गाँठ बाँध लो। इस अपार संसारसे पार होनेके लिये सत्संग सहित भक्तियोगके अतिरिक्त कोई अन्य साधन है ही नहीं। मुझे सबसे अधिक प्यारे साधु ही लगे हैं। साधुओंको मैं अपने हृदयका हार समझता हूँ। उनके चरण धूलिके लोभसे मैं उनके पीछे पीछे फिरता रहता हूँ। साधु मेरा कभी स्मरण नहीं छोड़ते, मैं उनका साथ कभी नहीं छोड़ता। साधुओंका मैं ही एकमात्र अवलम्ब हूँ, मुझे छोड़कर वे अन्य किसीकी आशा करते ही नहीं। आशाकी बात तो पृथक् रही मेरे अतिरिक्त वे किसीको जानते ही नहीं। जो मुझसे इतनी ममता रखते हैं, फिर मैं भला उनसे क्यों न रखूँगा। मैं उन्हें कैसे भूल जाऊँगा।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! मैंने तो आपकी प्राप्तिके अनेक उपाय सुने हैं। किन्हीं किन्हीं ऋषियोंका मत है, कि आपकी प्राप्ति साख्य योग द्वारा होती है, कोई कहते हैं आप निरन्तर धर्मके पालनसे प्रसन्न होते हैं, किन्हींका कथन है आप वेदाध्ययन मंत्र जपसे प्राप्त होते हैं। कोई तपसे, त्यागसे, दक्षिणा सहित यज्ञोंसे इष्टापूर्त तीर्थ, व्रत, यम नियमोंसे आपकी प्राप्ति बताते हैं। आप मुझे वास्तविक बात बतावें, कि इनमें से किसके द्वारा आप प्राप्त होते हैं। आपके पानेके लिये इनमें से कौनसा मार्ग सरल सुगम है।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव! शास्त्र अनन्त हैं, जितने तत्वदर्शी मुनि हुए हैं, उतने ही उनके पृथक् पृथक् मत हैं। मेरी प्राप्तिके उपाय वैसे बहुत हैं, किन्तु जितना सरल, सुगम, सीधा और सर्वोपयोगी साधन सत्संग है, उतना दूसरा कोई है ही नहीं।

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! आपके वचनोंको सुनते सुनते मेरी तृप्ति ही नहीं होती। मैं आपके मुखसे सत्संगकी

महिमा सुनना चाहता हूँ। सत्संगका अर्थ क्या है?"

भगवान् बोले—"संसारमें सबसे सत् मैं ही हूँ, मुझमें आसक्ति हो जाना यही सत्संग है। मुझमें जिसकी आसक्ति हो गयी, उसकी संसारसे आसक्ति हट ही जाती है। जहाँ संसारसे आसक्ति हटी, मुझमें मन लगा, वहाँ वह भवसागरसे पार हुआ। अब मैं तुम्हें सत्संगकी महिमा विशेष रूपसे सुनाता हूँ, उसे तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे भगवान्‌ने उद्धवजीको सत्संगकी महिमा बताई उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह अत्यंत गूढ गोपनीय रहस्य है।"

छप्पय

मुख्य प्रान तें वायु हृदय आकाश ध्यान धरि।
पुष्पादिक तैं नीर भूमि वेदी थापन करि॥
अन्तरातमा करै तुष्ट भोगनि तैं नियमित।
पूजै करि सम दृष्टि सकल प्रानिनि महँ नितनित॥
शान्त चतुरभुज रूपको, करै ध्यान ह्वै समाहित।
करै करम मेरे निमित, मोमैं राखै नित्यचित॥

—::::—

सत्संगकी महिमा

(१२५२)

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥*
(श्रीभा० ११स्क०१२अ०१३श्लो०)

छप्पय

भक्तियोग सत्संग बिना सुख नहिँ नर पावैं ।
चाहें जप तप करैं योग करि ध्यान लगावैं ॥
सत्संगतितैं तरे दैत्य अन्त्यज अघकारी ।
असुर, गीध, गज, गाय, गोपिगन कुबजा नारी ॥
नहीं करी सेवा महत, वेद पढे नहिँ व्रत करे ।
करि सत्संगति जगत्महँ, जीव चराचर बहु तरे ॥

यह प्राणी आसक्तिसे फँस जाता है। जिसे मनने कसकर पकड लिया फिर उसीका बन जाता है। संसार क्यों चल रहा है ? केवल आकर्षणके बल पर। पुरुष का मन स्त्रीमे खिंचा है,

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"देखो-उद्धव ! व्रजकी गोपिकायें मेरे वास्तविक स्वरूपसे अनभिज्ञ थीं। वे मुझे परम रमण समझती थीं और जारबुद्धिसे मेरी कामना करती थीं। ऐसी सैकड़ों सहस्रों अबलायें निरन्तर मेरे सङ्गके कारण मेरे परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुईं।"

स्त्री का मन पुरुषकी ओर खिच रहा है। स्त्री पुरुष दोनों का मन पुत्र पुत्रियोंकी ओर खिंच रहा है। यह खिंचाव कम नहीं होता। मरते समय स्त्री को पुरुषकी पुरुषको स्त्री को, बालबच्चोकी स्मृति बनी रहती है। इससे जिस जिस योनिमे जीव जाता है उस उस योनिमे स्त्री बाल बच्चे मिलते हैं। अपने नही होते, दूसरोंमे अपनापन स्थापित कर लेते हैं। जडभरतजीका मन हिरनके बच्चे मे ही फँस गया, इससे उन्हें हिरन होना पडा। जप तप से, नियम सयमसे इस मनको रोकते हैं, रुकता ही नहीं। यह इतना नीच है, कि इतने बुरे स्थानमें फँस जाता है कि जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। चक्रवर्ती भरत अपनी त्रैलोक्यसुन्दरी पत्नियों को छोड गये, फूलसे राजकुमारोंके मोहको तृणके समान तोड गये, वनमे जाकर समाधि लगाने लगे। उच्चसे उच्च स्थिति प्राप्त करली, अन्तमें दयाने उनके साथ छल किया। हवन करते समय हाथ जल गये। मन फँस गया एक पशुमे। किसी भी प्रकार मन किसी महापुरुषके चरणोंमे फँस जाय, तो सब दुख दूर हो जायँ। यह क्षुद्र मन महापुरुषोंके चरणोंमे न फस कर कामिनियोमे फँस जाता है। इससे काममय बन जाता है। भगवान् तो निष्काम हैं, यदि उनमे कामसे भी मन फँसे तो काम तो उन्हे देखकर ही भाग जायगा, क्योंकि वे कामारि हैं।

सूतजी शौनकादि मुनियोसे कह रहे है—"ऋषियो! जब उद्धवजीने भगवान् से अपनी प्राप्तिका एक ही सुगम सरल उपाय पूछा, तब भगवान् उनसे कहने लगे—"उद्धव! एक ऐसा सरल सुगम, अत्यन्त गूढ और गोपनीय साधन है कि वह सब किसीको नहीं बताया जा सकता। सबके सम्मुख कहने की वस्तु भी नही है, किन्तु तुम सर्व साधारण पुरुषोंके समान तो हो नहीं। तुम तो मेरे अनन्य सेवक हो। जबसे मैं मथुरामे आया हूँ तभी से तुम मेरी सेवा कर रहे हो। सम्पूर्ण जीवन तुमने मेरी सेवामें ही

व्यतीत कर दिया है। तुम्हारे समान मेरा सेवक कोई दूसरा है ही नहीं तुम सेवक ही नहीं मेरे सुहृद् भी हो। मेरा तुम्हारा हृदय एक-सा है, तुम अत्यन्त प्रेममय हृदयवाले हो। तुम मेरे सखा भी हो, संसारमें सबसे कुछ न कुछ छिपाया जाता है, किन्तु सखासे कोई बात नहीं छिपायी जाती। पतिव्रता सबके सम्मुख नीचा सिर किये रहती है, किसीसे दृष्टि नहीं मिलाती, किन्तु पतिसे कोई बात नहीं छिपाती, इसलिये मैं तुम्हे रहस्यकी बात बताता हूँ।

देखो, योगके द्वारा मेरी प्राप्ति भी होती है। चित्तकी वृत्तियों निरोध का ही नाम योग है आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि इनके द्वारा चित्तको वशमें करते हैं किन्तु इनमें बड़ा क्लेश है। कभी कभी योगारूढ़ होजानेपर भी पतन हो जाता है सांख्यज्ञान द्वारा भी मेरी प्राप्ति होती है। सांख्यज्ञानमें तत्त्वोंकी संख्या की जाती है। जो छब्बीस तत्त्वोंको जानजाय वह जटी, मुंडी, गृहस्थी, वानप्रस्थी कोई भी हो मुक्त होजाता है, किन्तु ऐसी निष्ठा कठिनता से होती है। धर्मसे भी मेरी प्राप्ति ऋषि मुनि बताते हैं। जप, तप, त्याग, इष्ट, पूर्त, दक्षिणा, व्रत, वेद, तीर्थ तथा यम नियम जिन जिन साधनोंका तुमने नाम गिनाया है इन सबसे मैं वशमें होता हूँ, किन्तु सर्वसङ्ग-निवारक सत्संगके द्वारा मैं जैसा वशीभूत होता हूँ वैसा इनमें से किसी साधन द्वारा नहीं होता।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! सत्संग क्या? साधुओंके पास में बैठकर उनके उपदेशोंको सुनना यही सत्संग है न?"

भगवानने कहा—"उद्धव! महान पुरुषोंके सङ्गका भी नाम सत्संग है, किन्तु, बहुतसे धूर्त लोग अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये—पैसा कमानेके लिये—भी सत्सङ्गका ढोंग रचते हैं। उनका उद्देश्य तो यह होता है, किसी प्रकार लोगोंको एकत्रित करें और जब एकत्रित होजायें तो उन्हें फँसाकर औषधालय, पाठशाला आदिके नामसे उनसे कुछ द्रव्य लेवें। उनका सत्संग व्यापार है। इसमें

परलोक सम्बन्धी कोई लाभ नहीं। जिनके सगसे भगवान् मे प्रेम हो उन्हीं महापुरुषो का संग सत्सग है। किन्तु यहाँ सत्सगका अर्थ दूसरा ही है। ससारमे एकमात्र सत् मै ही हूँ, मुझमे किसी प्रकार भी आसक्ति होजाय, तो फिर किसी भी साधनकी आवश्यकता नहीं। मुझमें आसक्ति करनेवाले सात्विक पुरुषोंका ही उद्धार हुआ हो, सो बात नहीं। दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, वेश्य, शूद्र, स्त्री, अन्त्यज आदि जो घोर राजस तामस स्वभावके हैं वे भी मेरे सङ्गसे मुझमें आसक्ति होनेसे तर गये हैं।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! दैत्य तो घोर तामसी होते हैं, उनमेसे कौन कौन आपका भजन करके तरे हैं?"

भगवान्ने कहा—"देखो, उद्धव! वृत्रासुर दैत्य ही तो था। दैत्योंका अग्रणी होकर वह देवताओंसे लडा। इन्द्रके उसने छक्के छुडा दिये, किन्तु दैत्य होते हुए भी उसकी मुझमें आसक्ति हो गयी उसके हृदयमे मेरी भक्तिका अकुर जम गया वह ससार सागरसे पार हो गया।

प्रह्लाद दैत्यराज हिरण्यकशिपु के पुत्र ही थे। मुझमें आसक्ति रखनेके कारण भक्ताग्रगण्य हुए। देवताओंकी सभाओंमे भी जब भगवद्भक्तोंकी गणना की जाती है, तो प्रह्लाद का सर्व प्रथम नाम आता है।

वृषपर्वा दैत्य ही थे, असुरोंके गुरु शुक्राचार्य उसके पुरोहित थे, इतना होने पर भी उसकी मुझमें भक्ति थी, वे मुझसे अनुराग करते थे।

प्रह्लादजीके पुत्र विरोचन भी मेरे भक्त थे, उनके पुत्र बलिने तो मुझे अपनी आसक्तिसे द्वारपाल बना लिया। मैं वामन बनके गया तो था उसे ठगने किन्तु अपने प्रेमसे उसने ही मुझे ठग लिया। अब मैं उसके द्वार पर सदा द्वारपाल बनकर उसकी रक्षा

करता रहता हूँ।

उसका पुत्र बाणासुर हुआ। उसकी पुत्री ऊषाने मेरे पौ अनिरुद्धका हरण कराकर उसे अपने यहाँ बुला लिया। इस उसने अनिरुद्धको बन्दी बना लिया। हम सब बाणासुरके न शोणितपुर में गये उससे युद्ध किया। उसके सहस्र हाथ थे मैं उसके सब हाथ काट दिये चार रहने दिये। वह अपनी भक्ति शङ्करजीका मुख्य गण हुआ और मेरा भी भक्त रहा।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! दानवोंमें भी कोई हुए हैं?

भगवान्ने कहा—"भक्तोंकी कोई जाति तो होती नहीं, जिसकी मुझमें आसक्ति हो गयी वही भक्त हो गया। दानवोंमें मय दानव मेरा बड़ा भक्त हुआ है। मेरी उपासनासे ही उसे नाना प्रकार की रचना करने की शक्ति प्राप्त हुई है।"

उद्धवजीने कहा—"राक्षसोंमें कोई ऐसे आपमें भक्ति करने वाले भक्त हुए हैं?"

भगवान्ने कहा—"हुए क्यों नहीं राक्षसोंमें विभीषण मेरे कैसे भक्त हुए हैं, मुझमें आसक्ति करने के कारण ही वे संसारमें सबसे पूज्यनीय भक्त माने जाते हैं। वे अपने कुटुम्ब परिवार सबको छोड़ कर मेरी शरणमें आये, मैंने उन्हें शरण ही अपनाया, उन्होंने मेरा सङ्ग किया, इससे राक्षस होने पर भी मेरी पूजाके साथ पूजे जाते हैं मेरे मुख्य पार्षदोंमें गिने जाते हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! वानरोंमें भी आप के कोई ऐसे सत्सङ्गी भक्त हुए हैं?"

भगवान बोले—"हुए क्यों नहीं जी। वानर तो सभी मेरे भक्त थे। मेरी भक्तिके कारण ही तो ये घर द्वारकी ममता त्याग कर मेरे साथ लंकापुरी युद्ध करने गये थे। उनमें हनुमान जी तो भक्तप्रमुख हुए। हनुमानजीमें और मुझमें कोई अन्तर ही नहीं। वे मेरे ही समान पूजे और माने जाते हैं। सुग्रीव भी परम भक्त

हुए हैं। इन सबकी मुझमें अत्यन्त आसक्ति थी। वानर भालु सभी मुझमें अनुराग रखते थे। जाम्बवान् मेरे सङ्गके ही द्वारा भक्त शिरोमणि बन गये। इस कृष्णावतारमें भी युद्ध करके मैंने उनकी इच्छा पूर्ति की और उनकी पुत्री जाम्बवतीके साथ विवाह किया।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! पशुओंमें भी कोई हुए हैं।

भगवान् बोले—"उद्धव! गज पशु ही तो था। जब ग्राहने उसका पैर पकड़ा तब उसने आर्त स्वरसे मुझे पुकारा। मैं गरुड़ पर चढ़कर तुरन्त गया और चक्रसे नक्रके वक्रको काट कर गजका उद्धार किया। मुझमें ही आसक्ति होनेके कारण वह तामसी गजयोनिको छोड़कर विमुक्त बन गया। व्रजके हरिन, पशु पक्षी यहाँ तक कि यमलार्जुन वृक्ष तक मेरे सङ्गसे पवित्र हो गये।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! पक्षियोंमें भी ऐसे हुए हैं?"

भगवान् बोले—"हाँ, पक्षियोंमें गृद्धराज ऐसे ही हुए। सत्संगके प्रभावसे वे भी मेरे धामको प्राप्त हुए। रामरूपसे मैंने स्वयं पुत्रकी भाँति उनके दाहसंस्कार आदि किये।"

उद्धवजीने पूछा—"वैश्य शूद्रोंमें भी कोई ऐसे हुए हैं?"

भगवान् बोले—"अनेकों ऐसे हुए हैं। तुलाधार वैश्य मुझमें ही आसक्ति करनेके कारण धर्मके ऐसे ज्ञाता हुए। धर्म व्याध मेरे ही प्रेमके प्रभावसे सिद्ध हुए। मैं कहाँ तक गिनाऊँ। व्रजके तृण, वृक्ष, खग, मृग, गायें गोपियाँ ये सबके सब केवल मेरे सत्सङ्गजनित भक्तियोगके प्रभावसे इस असार संसारको सुगमताके साथ पार करके मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो गये।

उद्धव! मुझे वैदिक मार्गसे प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मचर्य व्रत लेकर गुरु गृहमें रह कर नियमपूर्वक वेदोंका अध्ययन करना चाहिये। आश्रम व्यवस्थाके अनुसार धर्मका आचरण करना

दिखायी देता है। मनको कोई कसकर पकड़ ले, तो फिर योग, वैराग्य, जप, तप आदि सब साधन व्यर्थ हैं। समस्त साधन तो मनकी बिखरी वृत्तियोंको रोकने ही के लिये किये जाते हैं। रुका हुआ मन अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। किन्तु मनको ही कोई अपनी ओर खींच ले उसे ही कोई अपने रंगमें रँग ले, तो साधनोंकी क्या आवश्यकता है। मन को एक मात्र श्रीकृष्ण ही अपनी ओर खींच सकते हैं, क्योंकि कर्षण करनेसे ही वे कृष्ण कहाते हैं। दूसरे संसारी लोगोंकी ओर जो आकर्षण होता है वह क्षणिक होता है। अस्थायी होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोपियोंके प्रेम की प्रशंसा करते हुए भगवान् कह रहे हैं—"देखो, उद्धव! कितने योगी आँख कान बन्द करके, व्रत उपवास प्राणायामादि करके मेरा ध्यान धरते हैं, किन्तु उनके लिये मैं छुरेकी धारकी भाँति हो जाता हूँ। वे चिल्लाते हैं—"यह अति दुर्गम मार्ग है, अति दुर्गम मार्ग है।" किन्तु व्रजकी गोपिकायें न तो कुछ पढ़ी लिखी थीं, न उनमें कुछ शौच आचार विचार ही था। उन्हें द्वैत अद्वैतकी जटिल पहेलियों का परिचय भी नहीं था। उनकी मुझमें आसक्ति हो गयी। कुछ भले ही मेरे यथार्थ रूपको जानती हों, बहुतों को तो ज्ञान भी न था कि मैं परब्रह्म हूँ। उन्होंने मेरा त्रिभुवनमोहन श्यामसुन्दर स्वरूप देखा, वे मेरे रूप पर लट्टू हो गयीं। उन्हें मैं अपने पतियोंसे भी अधिक प्यारा प्रतीत होने लगा। स्त्रियोंको जार पति अपने वास्तविक पतिसे अत्यन्त प्यारा होता है। बहुतसे तो जार पतिके लिये अपने पतिकी हत्या तक कर देती हैं। मुझे वे सब जार पतिसे भी अधिक प्यार करने लगीं। वे मुझे परम रमण श्रेष्ठ और मनमोहक समझकर चाहती थीं। कैसे भी सही जानमें अनजानमें उनकी आसक्ति तो मुझ सर्वान्तर्यामीमें थी ही। मिश्री को जानकर मुखमें डालिये या अनजान में मुख तो मीठा हो ही

जायगा। अग्निको जानकर छूइये या अनजानमें शरीर को तो जला ही देगी। इसी प्रकार अनजान में भी भाग्यवश—उनका मुझ सत्स्वरूपसे सङ्ग हो गया। उन्होंने अपना तन, मन, धन सर्वस्व मेरे अर्पण कर दिया। अपना कहने के लिये उन्होंने कुछ भी न रखा। मैं भी उन्हें हँसाता रहा, खिलाता रहा, सरस क्रीडा करता रहा। वे मुझमें इतनी आसक्त हो गयीं, कि सब कुछ भूल गयीं। उनका विश्वास था, मैं सदा उनको इसी प्रकार हँसाता रहूँगा, सदा उनके साथ रहकर क्रीडा करता रहूँगा, किन्तु यह सब बात हुई नहीं।

एक दिन चाचा अक्रूर गये और बडे भैया बलरामके सहित रथ पर बिठा कर मुझे मथुरा लिवा लाये। उद्धव! उस समय गोपियोंकी कैसी दशा हुई थी, उसे स्मरण करके हृदय फटता है। वे भूली-सी भटकी-सी, पालामारी लता सी चुप चाप खडी आँसू बहाती रहीं और रथके ओझल होते ही पछाड खाकर कटी लता के समान गिर गयीं। उस समय उन्हें संसारमें कुछ सूझता ही नहीं था। उन्हें यत्र तत्र सर्वत्र मेरी ही सलोनी मूर्ति दिखायी देती थी। उनका चित्त मुझमें अनुरक्त था, अतः वे मेरा ही स्मरण करके रोती रहती थीं।

रास विलास की वे रात्रियाँ छै छै महीने की होती थीं। मेरे साथ क्रीडा करते करते उन्हें वे आधे क्षणके समान प्रतीत होती थीं। जब कहता—"प्रातःकाल होगया।" तब वे चौंक पडतीं और पूछतीं—"क्या सचमुच अरे, अभी अभी तो हम आयीं थीं।" उद्धव सुखका समय जाते हुए दिखायी नहीं देता। आज उनके लिये वे रात्रियाँ महाकल्पके समान लम्बी होगयीं हैं। अब वे मेरी याद कर करके सिसकियाँ भरती रहती हैं। उन्हें खान पान राग रङ्ग होली, दिवाली श्रावण कुछ भी अच्छा नहीं लगता। पहिले होलीके महीनों पहिले से ही वे कितनी तैयारियाँ करती थीं। आज

होली निकल जाती है एक बूंद टेसूका रंग नहीं तनिक-सा अबीर गुलाल नहीं। अब तो वे निरन्तर मेरे ही ध्यानमें मग्न बनी रहती हैं। उन्हें संसार दीखता ही नहीं। उद्धव! अब तुम ही बताओ, इससे बढ़ कर और समाधि क्या होगी। नदियाँ जैसे समुद्रमें

मिलकर अपने नाम रूप को भूल जाती हैं, समाधिमें स्थित योगी जैसे अपनी अपनी उपाधियोंको भूल जाते हैं, वैसे ही मेरे प्रेममें डूब जानेके कारण वे सब कुछ भूल गयी हैं। उन्हें केवल मेरी स्मृति ही स्मृति शेष है। उन्हें अपने शरीरकी सुधि नहीं घरकी सुधि नहीं संसारकी सुधि नहीं केवल मेरी ही एक मात्र स्मृति है।'

उद्धवजीने कहा—"प्रभो ! मैं तो स्वयं जाकर उनकी दशा देख आया था। उनकी दशा पर तो सहस्रों समाधियोंके सुखको न्यौछावर किया जा सकता है। अब मुझे बताइये, मुझे उनकी जैसी स्थिति कैसे प्राप्त हो ?"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव ! अब तक तुमने बहुत विधि निषेध का पालन किया। अब तुम श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य तथा श्रुत–सभीका परित्याग करके केवल अनन्यभावसे मेरा ही स्मरण करो। मेरी ही शरणको गह लो। मैं ही समस्त देहधारियों का आत्मा हूँ। मैं ही सबका आधार हूँ, मेरी ही शरणमें सुख है, मेरी ही शरणमें शाश्वती शांति है। मेरे आश्रित होकर तुम सर्वथा, सुखी शान्त और निर्भय बन जाओगे। तुम अपनेको साधारण जीव मत समझो। सर्व समर्थ शिव अनुभव करो।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो ! आपके समझानेमें तो कुछ त्रुटि है नहीं, किन्तु मैं इतना मन्दबुद्धि हूँ कि आपके इतना उपदेश करने पर भी मैं भली भाँति समझ नहीं सका। मेरा सन्देह अभी दूर नहीं हुआ। मेरा चित्त भ्रमित हो रहा है। अपने को जीव न समझकर शिव कैसे समझूँ। मैं अनन्यभावसे आपकी उपासना कैसे करूँ ? कृपा कर मुझे भली भाँति समझाइये।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है, उद्धव ! यह विषय बड़ा गूढ़ है, तुम समाहित चित्तसे कर्मत्यागकी विधिको श्रवण करो।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो ! जिस

प्रकार भगवान्‌ने उद्धवजी को कर्मत्यागकी तथा गुणोंसे ऊपर उठनेकी शिक्षा दी उसे मैं आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

ज्यों समाधिमहँ सिद्ध मिलैं सागरमहँ सरिता।
त्यों ह्वैकें आसक्त मिलीं मोमें व्रजबनिता॥
मोमें मन फँसि गयो सकल तन सुधि बुधि भूलीं।
नहिँ समुझीं सरवेश रमन सुन्दर लखि फूलीं॥
परम धन्य जगमहँ भईं, मोमें करि आसक्ति अति।
तुमहू उद्धव! त्यागि सब, भजो मोइ पाओ सुगति॥

—:❀:—

[illegible] चित

[illegible] मेरा पेट लचता
[illegible] से उठा।"
[illegible] हाँ सच है, तुम
[illegible] नहीं हुआ

[illegible] बार 'ओ' शब्द
[illegible] बोले—"ऐसा लगता है
[illegible] कर रही है, ठोकर देकर
[illegible] रही है।
[illegible] बोले—"हाँ! अब [illegible]
[illegible] कहते हो वही [illegible]
[illegible] में रहने वाले [illegible]
[illegible] सूक्ष्म शब्द [illegible]
[illegible] सीमा से [illegible]
[illegible]

ल अग्नि
व्यापक
ख लिया
ी रूप से
परब्रह्म हूँ,
वल वाणी
की उत्पत्ति
है। हाथोंका
लना, गुदाका
त्राण करना,
चा इन्द्रियका
करना, श्रवण
सुनना, मनका
, अभिमानका
य है सूक्ष्मसे
गुणका विषय
निद्रा, आलस्य
व मेरे ही कार्य
सम्पूर्ण संसारकी

नने बडे संसारकी

नव

हैं। इसी प्रकार जगत् की जितनी स्थूल सूक्ष्म वस्तुएँ हैं, वे सब की सब भगवान् से परमात्मा से ब्रह्म से प्रकट हुई हैं। अन्त में उन्हीं में सब का पर्यवसान हो जायगा। जो इस बात को समझ लेता है, उसका द्वैत भाव नष्ट हो जाता है और वह शोक मोह से छूट कर संसार सागर से पार हो जाता है।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने कर्म त्याग के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! मेरे दो रूप हैं, एक शब्द ब्रह्म, दूसरा पर ब्रह्म, ये भिन्न भिन्न नहीं हैं। परब्रह्म से ही शब्द ब्रह्म की अभिव्यक्ति हुई है। समस्त प्राणियों के जीवनदाता ईश्वर ही शब्द रूप से प्रकट होते हैं।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैं इसे समझा नहीं, मुझे स्पष्ट समझावें।"

भगवान् बोले—अच्छा, देखो, इसे ऐसे समझो। हम जो वाणी से शब्द बोलते हैं कैसे बोलते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! मन में जो जो बात आयी, वाणी से बोल दी।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, इसे और सूक्ष्म रूप से विचार करो। वाणी चार प्रकार की होती हैं, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। हम जो शब्द बोलते हैं, बातें करते हैं, वह वैखरी वाणी में करते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"फिर भगवन्! परा, पश्यन्ती आदि कैसे बोली जाती हैं?"

भगवान् बोले—"भैया, ये वाणी बोली नहीं जाती। इनकी अभिव्यक्ति होती है, अच्छा तुम एकाग्र चित्त से भली भाँति ध्यान लगाकर कोई भी शब्द बहुत शनैः संयमपूर्वक बोलो। क्या क्रिया होती है?"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! कौन-सा शब्द बोलूँ?"

भगवान् बोले—"कोई भी बोलो, अच्छा, ओम् बोलो। किन्तु

सर्वथा उस पर ध्यान रखना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर अत्यत एकाग्र चित्त से उद्धवजी ओम् बोलने लगे।

भगवान् ने पूछा—"यह शब्द कहाँ से उठा?"

उद्धवजी ने कहा—'भगवन्! बोलते समय मेरा पेट लचता है इसलिये ऐसा प्रतीत होता है, कि यह शब्द नाभि से उठा।"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"हाँ सत्य है, तुमने मन को एकाग्र किया है, किन्तु अभी अति सूक्ष्म नहीं हुआ और ध्यान पूर्वक देखो।"

उद्धवजी बडी देर तक ध्यान करते रहे बार बार 'ओ' शब्द को मन ही मन बोलते रहे फिर चौंक कर बोले—"ऐसा लगता है, प्रभो! कि कोई वायु नाभि से नीचे स्पर्श कर रही है, ठोकर देकर किसी वस्तु को नाभि की ओर ढकेल रही है।

खिल खिलाकर हँसते हुए भगवान् बोले—"हाँ! अब तुम्हारा मन सूक्ष्म हुआ। जिसे तुम ठोकर देना कहते हो वही पश्यन्ती भाषा है। प्रथम उसकी अभिव्यक्ति गुदा में रहने वाले चार दल कमल आधार चक्र मे होती है। वहाँ अति सूक्ष्म शब्द होता है। जैसे कमल तन्तु को कोई सिरीस पुष्प की सींक से तनिक छूदे। उसके छुआने से शब्द तो होगा ही किन्तु सर्वसाधारण को उसकी प्रतीत न होगी। जैसे सहस्र कमल के पत्ते एक के ऊपर एक रखे है। एक अत्यंत पैंना सूआ उसमे भोंक दो, तो तुरन्त सबको छेद कर बाहर निकल आवेगा। अब आप से पूछा जाय, कि एक पत्ते को छेदने मे कितना समय लगा?' तो आप चुप हो जायगे, कहेंगे—"कुछ भी समय नहीं लगा।" किन्तु बात ऐसी नहीं है। सूआने जितने पत्ते थे एक के पश्चात् दूसरे मे दूसरे के पश्चात् तीसरे में ऐसे क्रमशः प्रवेश किया। एक पत्ते को छेदन करने में समय भी लगा, किन्तु आप उस समय को व्यक्त नहीं कर सकते,

इसी प्रकार आधार चक्रमें जो शब्द हुआ वह हुआ तो अवश्य, किन्तु अति सूक्ष्म होने से आप उसे सुन नहीं सकते । सब को जीवनदान करने वाले परमेश्वर ही परा वाणी से युक्त होकर प्रथम आधार चक्र में प्रविष्ट हुए । फिर वे नाभि मे स्थित आठ दल वाले मणि पूरक चक्र मे आये। वहाँ मनोमय सूक्ष्म रूपसे उनकी अभिव्यक्ति होती है, तभी उस वाणी का नाम पश्यन्ती पड़ता है, वह मन के द्वारा देखी जाती है कोई शब्द बोलिये पेट तनिक लच जायगा। अर्थात् परावाणी से स्थूल होने के कारण वह जानी जा सकती है। फिर वह शब्द कण्ठ के मूल मे स्थित सोलह दलवाले विशुद्ध चक्र मे आता है। अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह, ये तो बोलते समय स्पष्ट कण्ठ से निकलते ही हैं। अर्थात् इनके बोलते समय तो कण्ठ पर विशेष बल पड़ता है, सभी शब्द नाभि से उठकर कण्ठ के मूल में विशुद्ध चक्रमें मध्यमा वाणी के रूप में परिणत हो जाते हैं। उनका स्थूल ढाँचा बन जाता है। मूलाधार में बीज रूप से थे, मणिपूरक मे अंकुर हुआ, विशुद्धिचक्र (कण्ठ देश) में वृक्ष बन गया जहाँ मुख से वैखरी वाणी में व्यक्त हुआ मानो फलीभूत हो गया। यह क्रम ऐसे रहा कि प्रथम परारूप में अति सूक्ष्म। पश्यन्तीरूप में सूक्ष्म। मध्यमा रूपमे स्थूल और वैखरी रूपमें अतिस्थूल । दृष्टान्त से इसे यों समझिये। यज्ञों मे दो लकड़ियों को मथकर अग्नि निकाली जाती है। मथने के पूर्व उन दोनोंलकड़ियों में सूक्ष्म रूपसे अग्नि विद्यमान थी। उन लक ड़ियों में ही क्या आकाश मे ऊष्मा रूपसे सर्वत्र अग्नि है किन्तु वह व्यक्त नहीं है। दो लकड़ियों को बलपूर्वक मथा गया, वायुने उसमें सहायता की, तो दोनों लकड़ियाँ उष्ण हो गयी। उनमें ऊष्मा आ गयी । अब वह ऊष्मा ही मथते मथते चिनगारियों के रूप में व्यक्त हुई। उन चिनगारियों को रुई में रखकर बढ़ाया छोटे छोटे काठ रखकर प्रज्वलित किया । घृतकी आहुतियाँ ज्यों ही दी गयीं

त्यों ही उन्होंने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया, सूक्ष्मसे स्थूल अग्नि हो गये। यह प्रकट अग्नि आकाश में ऊष्मा रूप से सर्वत्र व्यापक अग्नि से भिन्न नहीं है। उसी सूक्ष्म अग्नि ने स्थूल रूप रख लिया है। इसी प्रकार परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी रूप से मेरी ही अभिव्यक्ति होती है। सर्व व्यापकरूप मे मैं ही परब्रह्म हूँ, जब व्यक्त हो जाता हूँ, तो शब्द ब्रह्म कहलाता हूँ। केवल वाणी ही नहीं जितने भी कर्म हैं सब मेरे ही कार्य हैं। सब की उत्पत्ति मुझ से ही है। चारों प्रकारकी वाणी मुझ से ही हुई है। हाथोंका कर्म उठाना धरना लेना देना, पैरोंका कर्म चलाना फिरना, गुदाका कर्म मल विसर्जन करना, नासिका का कर्म सूँघना आघ्राण करना, जिह्वाका कर्म रस लेना, आँखोंका विषय देखना, त्वचा इन्द्रियका विषय कठिन मृदुल शीत उष्णका स्पर्श अनुभवकरना, श्रवण इन्द्रियका कर्म अच्छे बुरे, सरस नीरस शब्दोंको सुनना, मनका विषय संकल्प करना, बुद्धिका विषय विचार करना, अभिमानका कर्म अहंकृति करना सूत्रात्मा महत्तत्वका विषय है सूक्ष्मसे महत्व करना। सत्वगुणका कर्ममें ज्ञान करना, रजोगुणका विषय है कर्मोंमें प्रवृत्त करना तथा तमो गुणका कर्म है निद्रा, आलस्य और प्रमादको पैदा करना। उद्धव! ये सब के सब मेरे ही कार्य हैं। मेरे ही द्वारा ये सब हो रहे हैं। मुझसे ही सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति हुई है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपसे इस इतने बड़े संसारकी उत्पत्ति कैसे हुई?"

भगवान्ने कहा—"जब मेरी इच्छा रमण करने की हुई तब मैंने अपनी मायाका आश्रय लिया मायोपाधिक होनेसे ही इस त्रिगुण ब्रह्माण्ड कमलका कारण हूँ। मैं आदि पु रूपही सबका जनक हूँ।

उद्धवजी बोले—"एक आदि पुरुष?-अनेक रूपमें कैसे हुए।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव ! मै बार बार तो बता चुका हूँ आदि पुरुष पहिले एक ही था। सर्वव्यापक अग्निके समान वह अव्यक्त था। जब इसने मायाका आश्रय ले लिया तो कालकी गतिसे शक्तियोका विभाग होनेसे यह आदि पुरुष परमात्मा ही नाना रूपोमे भासने लगता है। उसीका नाम जगत् हैं।"

उद्धवजीने कहा—"जगत्‌के बन जाने पर भगवान् तो पृथक् रहे, जीव पृथक् रहा संसार पृथक् रहा।"

हँस कर भगवान् बोले—"उसे चाहे पृथक् कहलो या एक। दोनों ही भ्रम है, उसे एक अनेक कुछ कहते बनता नहीं। उसकी किसीसे उपमा भी नहीं दी जाती जगत् भी वही है परमात्मा भी वही है। वस्त्र सूतसे बनता है। उसके ताने मे भी सूत बाने में भी सूत। ऊपर भी सूत नीचे भी सूत, किन्तु वस्त्रको सूत कोई नहीं कहता। सभी सूती वस्त्र ऊनी वस्त्र ऐसा कहतेहैं। उसे रंग दो तो रंगीन वस्त्र लाल रंग दो लाल वस्त्र पीला रंग दो पीला वस्त्र सिरमे बाँधलो पगड़ी, शरीरमे पहिनलो ऊँगरगी, नीचे बिछालो बिछौना, ऊपरसे ओढ़लो ओढ़ना। स्त्री सीकर पहिन ले तो उसीकी लँहगा संज्ञा हो जाती है, रंगकर ओढ़ले चूँनरी हो जाती है। है सबमे सूत ही सूत इसी प्रकार यह संसार उन्हीं भगवान्‌से बना है उन्हींमें यह ओतप्रोत है उन्हींमें प्रतीत हो रहा है। यह संसार एक वृक्षके सामन है और प्रवाह रूपसे सनातन है।"

उद्धवजीने कहा—" वृक्ष यह जगत् कैसे है भगवन् !

भगवान् बोले—"वृक्ष जैसे लकड़ीमय होता है, वैसे ही यह संसार कर्ममय है। वृक्षमे से काष्ठको निकाल दो, तो वृक्ष भी न रहेगा, इसी प्रकार संसारसे कर्मको निकाल दो तो संसार ही नष्ट हो जायगा। जैसे काष्ठसे ही वृक्षका अस्तित्व है वैसे ही कर्मसे जगत्‌का अस्तित्व है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! वृक्ष तो बीजसे उत्पन्न होते हैं, इस संसार वृक्षका बीज क्या है, यह किससे उत्पन्न हुआ है?"

भगवान् बोले—"पाप और पुण्य ये ही दो संसारको उत्पन्न करनेवाले बीज हैं। बीजको पत्थर पर डाल दो तो वह जमेगा ही नहीं, इसी प्रकार ज्ञानीकी दृष्टिमें पाप पुण्य है ही नहीं इसी लिये संसार उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता। वह गुणोंमें वर्तमान होता हुआ भी गुणातीत बना विचरता रहता है। बीज उर्वरी भूमिमें ही उत्पन्न होकर शाखा, पत्र पुष्पादि अनेक रूप धारण करलेता है, उसी प्रकार मायामें ही ये दोनों बीज बढ़कर वृक्ष बन जाते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"बीजमें पहिले जड़ें उत्पन्न होती हैं, तब अङ्कुर उत्पन्न होता है। इस संसार वृक्षकी जड़ें क्या हैं?"

भगवान्ने कहा—जीवोंकी अनन्त वासनायें ही इस संसार वृक्षकी जड़ें हैं।"

उद्धवजीने कहा—वृक्षमें प्रथम अंकुर उत्पन्न होता है वही बड़ा मोटा होकर तना बन जाता है। इस संसार वृक्षका तना क्या है?"

भगवान्ने कहा—सत्व, रज और तम ये तीन गुण ही संसार वृक्षके तने हैं। इन तनोंके ही आधार पर वृक्ष बढ़ता है। तनेको काट दो तो वृक्ष भी कट जाता है। इसी प्रकार तीनों गुणोंके सम-भावमें हो जाने पर प्रलय हो जाती है।"

उद्धवजीने कहा—"वृक्षमें तो बड़े बड़े गुद्दे- स्कन्ध- होते हैं। इस संसार वृक्षके स्कन्ध क्या हैं?"

भगवान्ने कहा—"पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश ये ही इस संसार वृक्षके गुद्दे हैं। इन स्कन्धोंके कारण ही यह इतना बढ़ा है, विस्तृत हुआ है।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! वृक्षकी बहुत-सी शाखायें होती

हैं। इस ससार वृक्षकी शाखायें क्या हैं। ?"

भगवान्‌ने कहा—"मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ ही इसकी शाखाये हैं। इन्हींसे यह सघन होता है।"

उद्धवजीने कहा—'भगवन्! वृक्षमे एक स्थूल एक सूक्ष्म और एक अति सूक्ष्म इस प्रकार तीन वल्कल होते हैं, इस स सार वृक्ष के तीन वल्कल क्या हैं ?"

भगवान्‌ने कहा—वात, पित्त और कफ ये ही इस स सार वृक्षके वल्कल हैं। सम्पूर्ण शरीर वायु, स्निग्धता और ऊष्मा इसीसे बनते लिपटे रहते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"वृक्षमे तो बहुतसे पत्ते होते हैं इस ससार वृक्षके पत्ते क्या हैं ?"

भगवान्‌ने कहा—"ये जो चौरासी लाख योनियाँ हैं ये ही इस ससार वृक्षके पत्ते हैं। जैसे पत्ते गिर जाते हैं, फिर उत्पन्न हो जाते हैं वैसे योनियाँ एकके पश्चात् दूसरी दूसरीके पश्चात् तीसरी बदलती रहती हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! वृक्षकी जडोंमेसे रस निकल कर शाखा प्रशाखाओंमें सरसताका सचार करता रहता है। यदि वृक्षोंमें रस न निकले तो वे एक दिन भी जीवित न रहें सूख जायँ, इस ससारवृक्षका रस क्या है।"

भगवान्‌ने कहा—'उद्धव! शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये ही इस ससार वृक्षके रस हैं, इन्हींसे यह सरस हरा भरा बना रहता है यदि ये पाँच विषय न हो, तो ससार नीरस हो जाय, फिर इसमें कोई आकर्षण ही न रहे। इन्हीं विषयोंसे यह पल्लवित पुष्पित और फलवाला बना हुआ है।"

उद्धवजीने पूछा—"महाभाग वृक्ष पर तो फूल फल होते हैं, इस ससारवृक्षके फूल फल क्या हैं ?"

भगवान्‌ने कहा—"कर्मभोग ही इस वृक्षका फूल है। दुख

सुख ही दो कच्चे पके फल है। यह संसारवृक्ष साधारण नहीं अत्यंत विशाल है, सूर्यमण्डल तक फैला हुआ है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! वृक्षपर तो पक्षी घोसला बनाकर रहते हैं, इस संसार वृक्ष पर भी कोई पक्षी रहते हैं क्या?"

भगवान्‌ने कहा—"हाँ जीव और ईश्वर दो पक्षी इस संसार वृक्षपर रहते है। उनमे एक फल खानेसे बँध जाता है, दूसरा अनशन रहनेके कारण विमुक्त बना रहता है। इस संसार वृक्षके कच्चे पके दो प्रकारके फल हैं। कच्चे फल खट्टे नीरस और कड़वे होते हैं, उनमे कही कहीं तनिकसी मिठास होती है उसीके लोभसे ये गृहस्थरूपी गीध उन्हे खाते हैं और दुख पाते हैं। जो पके पके सरस स्वादिष्ट फल होते हैं, उन्हे राजहंस रूप वनवासी यति संन्यासी त्यागी भक्तजन आनन्द के साथ खाकर तृप्त होते हैं। बोलो उद्धव! तुम गीध बनना चाहते हो, या राजहंस।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! जो आप बना दें। मेरे कहनेसे क्या होता है?"

भगवान्‌ने आवेशके साथ कहा—"उद्धव! तुम तो राजहंस ही हो। तुम इस मायामय संसारमें एकमात्र मुझे ही देखो, मुझे ही जानो मुझे ही पहिचानो। जो सद्गुरुओंकी उपासनासे इस संसारके रहस्यको समझ जाते हैं, वे ही इसके वास्तविक जाननेवाले कहलाते हैं। इस कर्ममय संसार वृक्षकी उत्पत्ति भोग और मोक्षके निमित्त है। अज्ञानी लोग भोगोंमे फँसकर चौरासीके चक्करमें फिरते रहते हैं। ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूप खड्गसे इस संसारवृक्षको जडसे काटकर फेंक देते हैं।"

मेरी भक्ति ही खड्गपर शान चढ़ानेका यन्त्र है, उसी यन्त्र

पर उपासनारूप अनन्यभक्तिके द्वारा विद्यारूप कुठारको तीक्ष्ण कर लो। फिर धीर और अप्रमत्त होकर जीवभावका उच्छेद कर दो। अपने यथार्थ स्वरूपको पहिचान कर, फिर उस विद्यारूप अस्त्रको भी त्याग दो। समस्त कर्मोंसे मुक्त होकर निर्द्वंद निर्भय बन जाओ। गुणातीत होकर कर्मोंके बन्धनोंसे छूट जाओ।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! तीनो गुण तो अनादि हैं, आत्मा के साथ लगे हैं, इन गुणोंसे मुक्त कैसे हो जायँ?"

भगवानने बातपर बल देते हुए कहा—"नहीं यह बात नहीं है। सत्व, रज और तम ये आत्माके गुण नहीं हैं, ये तो बुद्धिके गुण हैं। परमात्मा तो बुद्धिसे परे हैं। अतः ये तीनो गुण जीते जा सकते हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! ये तीनो गुण कैसे जीते जायँ?"

भगवान्ने कहा—"देखो, ऐसा तो कोई भी मनुष्य नहीं कि जिसमे तीनो गुण न हो। किसीमें किसी गुणकी अधिकता होती है, किसीमें किसीकी। जो घोर तमोगुणी हैं, उनका सत्वरज दब जाता है इसी प्रकार रजोगुणियोका सत्व तम दब जाता है। साधकको चाहिये, कि पहिले सत्वगुणकी वृद्धि करे। सत्वगुणकी वृद्धिसे रजोगुण और तमोगुण स्वतः ही जीते जा सकते हैं। फिर शुद्ध सत्वके द्वारा मिश्रित सत्वगुण को शान्त करे। अब विशुद्ध सत्व ही रह जायगा। जब वृत्ति शुद्ध सत्वगुण प्रधान हो जाती है, तो उसमे मेरी भक्ति उत्पन्न होती है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! सत्वगुणकी वृद्धि हो कैसे?"

भगवान् बोले—'सत्वगुणकी वृद्धि सात्विक वृत्तियोंके सेवनसे होती है। सात्विक आहार हो सात्विक विहार हो,

सात्विक लोगोंका संग हो, सात्विक वेष भूषा हो, सात्विकी वृत्ति हो, सात्विकी प्रवृत्ति हो इन सबसे भक्तिरूप जो मेरा परम धर्म है उसमे प्रवृत्ति होती है।"

उद्धवजीने पूछा—आपके भक्तिरूप धर्ममे प्रवृत्त होनेका फल क्या है?"

भगवान् बोले—"उद्धव! जब सत्वगुणकी अभिवृद्धि हो जाती है, तो उस सर्वोत्तम धर्मसे अपने आप ही रजोगुण और तमोगुणका नाश हो जाता है। जब रज और तमका नाश हो गया, तो फिर उससे उत्पन्न होनेवाले काम, आसक्ति, लोभ, अशान्ति, विषयलोलुपता, प्रमाद, आलस्य, निद्रा व्यर्थ चेष्टा आदि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ भी शीघ्र नष्ट हो जाती हैं। उद्धवजीने पूछा—गुणोंके आविर्भावके कारण क्या हैं, कैसे सात्विक राजस तामस गुणोंका प्रादुर्भाव होता है।"

भगवान्ने कहा—गुणोंके प्रादुर्भावके अनेको कारण हैं, जिनमें दश मुख्य बताये हैं।"

प्रथम कारण तो शास्त्र है। तुम जैसे शास्त्रोंका श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करोगे वैसे ही गुणोंका प्रादुर्भाव होगा। वेदोंमे तीनो गुण हैं। बहुतसे शास्त्र सत्व प्रधान हैं, बहुतसे रजोगुण प्रधान हैं और बहुतसे तमोगुण प्रधान हैं। सत्वगुणके शास्त्रोंके पढनेसे आत्मज्ञानका पूजा पाठ, जप तपमे प्रवृत्ति होती है। रजोगुणी शास्त्रोंसे यश, वैभव राजसी ठाठ बाठके यज्ञोमे प्रवृत्ति होगी और तमोगुणके शास्त्रोंसे मारण, मोहन, उच्चाटन तथा अन्यान्य हिंसा प्रधान यज्ञ यागोंमें प्रवृत्ति होगी।

दूसरा कारण यह है अन्न पान—मनुष्य जैसा अन्न खायगा, जैसा जल पीयेगा उसका वैसा ही मन बनेगा। वैसी ही वृत्ति बनेंगी। सात्विक अन्नपानसे सात्विकी वृत्ति बनेगी

राजस तामससे राजसी तामसी। अन्नपान ही प्राणियोंका जीवन है।

तीसरा कारण कुटुम्ब है। माता, पिता भाई बन्धु जिस प्रकृतिके होंगे वैसा ही प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ेगा। कहीं कहीं इसका अपवाद भी होता है, प्रह्लादजी पर उनके कुटुम्बियोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु सामान्य नियमसे विशेष नियम भिन्न होता है सामान्य नियम यही है, कि जैसे कुटुम्बवाले होंगे वैसे ही गुणोंका प्रादुर्भाव होगा।

चौथा कारण देश है। 'जैसा देश वैसा वेष' यह कहावत प्रसिद्ध ही है। सात्विक देश होगा, तो लोगोंको सात्विकी प्रवृत्ति होगी। राजस् तामस् देश होंगे, तो राजसी तामसी वृत्ति होगी। तभी तो स्मृतिकारोंने विदेश यात्राके विषयमें विशेष रूपसे विवेचन किया है, कि समुद्र पार यात्रा न करो। अपने देशमें अङ्ग वङ्ग कलिङ्गादि कीकट देश हैं, वहाँ यदि तीर्थयात्राके अतिरिक्त समयमें जाना हो तो फिरसे संस्कार कराओ। देशका प्रभाव पड़े विना रहता नहीं। उष्ण देशके लोग कैसे भी आचार विचारके हो शीत प्रदेशमें जानेसे उनके आचार विचारमें शिथिलता आ ही जाती है।"

पाँचवाँ कारण है काल। पाँचवाँ यही मुख्य कारण है। बलाबलका कारण काल ही है। सत्ययुगमें सबकी सात्विकी प्रवृत्ति होती है। त्रेतामें राजसी। द्वापरमें राजसी और कुछ कुछ तामसी और कलियुगमे तो अच्छे अच्छे लोगोंकी वृत्ति तामसी हो जाती है। न कोई सिद्ध बचता है न योगी, न सत्क्रियाओंको करनेवाला। सभीको कलिकाल दबोच देता है। सभी विवश होकर कलिकालके अधीन हो जाते हैं। गरमियोंमें जिन ऊनके कपड़ोंको छूनेसे घृणा होती है, जाड़ेमें वे ही कितने प्यारे लगते हैं। जिस अग्निसे गरमियोंमे दूर दूर रहते

हैं जाड़ोंमें वह कैसी प्यारी लगती है, कि हृदयसे चिपटा लें। इसलिये गुणोंके प्रादुर्भावका प्रधान कारण काल है।

छटा कारण है कर्म। जैसा कर्म करोगे वैसे गुणोंका प्रादुर्भाव होगा। सात्विक कर्म करोगे, तो वृत्ति सात्विकी बनेगी। राजस् तामस् कर्मोंसे राजसी तामसी, अतः सत्वगुणकी अभिवृद्धिके निमित्त कर्म करने चाहिये।

सातवाँ कारण है, जन्म। जैसे माता पितासे जन्म होगा, जैसे समयमें जन्म होगा वैसी ही प्रकृति होगी। रज वीर्यका शरीर पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पिताके वीर्यसे और माताके रजसे ही तो शरीर बनता है। अतः कभी कभी तो सात सात पीढ़ीका प्रभाव इसमें आ जाता है। सात्विक वंशमें जन्म ग्रहण करनेसे प्रायः वृत्ति सात्विकी होती है। राजस् तामस्में जन्म ग्रहण करनेसे राजसी तामसी।

आठवाँ कारण है ध्यान। जैसे लोगोंका निरन्तर ध्यान करोगे वैसी ही वृत्ति बन जाती है। योगियोंका ध्यान करनेसे मन शुद्ध होता है कामिनियोंका विषयियोंका ध्यान करनेसे मन काममय होता है। गर्भाधानके समय माता जिसका ध्यान करेगी गर्भस्थ बालकपर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। सात्विक ध्यानसे सात्विकी वृत्ति होगी इतर ध्यानसे इतर वृत्ति। अतः सत्विकी अभिवृद्धि करनेवालेको सदा सात्विक पुरुषोंका सात्विक वस्तुओंका ही ध्यान करना चाहिये। सात्विक देवताओंका ध्यान करोगे वे सत्वको बढ़ावेंगे और यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत पिशाच तथा अन्यान्य राजस तामस देवताओंका ध्यान करोगे तो वे अपने गुणको बढ़ावेंगे।

नववाँ कारण है मन्त्र। जैसा मंत्र होगा वैसा गुण बढ़ेगा। सात्विक मंत्रोंके जपसे भावोंमें सात्विकता आवेगी, राजस तामस् मंत्रोंसे रजोगुण तमोगुणका आधिक्य होगा। मंत्रोंका

प्रभाव परम्परासे पड़ता है। कुछ धूर्त लोग लोगोंको ठगनेके लिये मंत्रोंका व्यापार करते हैं। वे इधर उधरसे सुनकर पढ़कर दश बीस मंत्र यादकर लेते हैं। आप जो भी आता है उसे किसीको रामका मंत्र दे दिया, किसीको कृष्णका, किसीको चंडीका, किसीको कालीका, किसीको भैरवका। इन मंत्रोंका कोई प्रभाव नहीं होता। उन देनेवालोंकी आजीविका चलती है और देने लेनेवाले दोनों ही नरकसे मार्गको सीधा करते हैं। इसलिये मंत्र बहुत विचारकर सात्विक गुरुसे, जिसे वंश परम्परासे प्राप्त हो—उसीसे लेना चाहिये। और सत्वकी वृद्धिवाले को शुद्ध सात्विक मंत्र लेने चाहिये। रुद्र, भैरव, भूत, प्रेतोंके मंत्र सात्विक वृत्तिवालेको न लेने चाहिये।"

दशवाँ कारण है संस्कार जीवनमें संस्कारका बड़ा प्रभाव पड़ता है। तभी तो द्विजोंके यहाँ षोडश संस्कारोंके ऊपर बड़ा बल दिया गया है। जैसे संस्कार होंगे वैसे ही भाव बनेंगे।

इस प्रकार गुणोंके प्रादुर्भावमें शास्त्र, जल, कुटुम्ब, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मंत्र और संस्कार ये ही प्रधान दश कारण हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! सात्विक, राजस और तामस कर्मोंकी कोई तालिका तो है नहीं कृपा करके इनकी कोई हमें मोटीसी पहिचान बता दें। हम समझ जायँ, कि ये कार्य सात्विक हैं ये राजस ये तामस।"

भगवान्ने कहा—"देखो, इनकी मोटी पहिचान यह है, कि जो ज्ञानी हैं वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध हैं। वे जिनकी प्रशंसा करें वे जिन्हें सात्विक कहकर ग्रहण करें, वे सब काम तो सात्विक हैं। जिनकी वे निन्दा करें वे तामस और जिनकी उपेक्षा कर दें वे सब काम राजस हैं।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! ऋषि मुनि तो गुणातीतकी

प्रशंसा करते हैं। वे बारम्बार कहते हैं तीनों गुणोंसे ऊपर उठना चाहिये।"

भगवान् बोले—"भैया! गुणातीत होना कोई खेल थोड़े ही है। गुण कोई पहिननेके वस्त्र तो हैं नहीं, कि उतारकर फेंक दिये। अरे, भैया, वे तो अन्तःकरणमें चर्मकी भाँति सटे हुए हैं; उन्हें तो शनैः शनैः हटाना होगा। जब तक आत्मतत्वका अपरोक्ष ज्ञान न हो जाय, जब तक स्थूल सूक्ष्म दोनों ही देहों तथा उनके कारण भूत गुणोंकी भलीभाँति निवृत्ति न हो जाय। तब तक सत्वगुणकी वृद्धिके लिये ही सतत प्रयत्न करना चाहिये। सात्विक शास्त्रोंका अध्ययन करे। सात्विक प्रकृतिके लोगोंके समीप बैठे उठे। सात्विक कर्मोंको करे, सात्विक आहार व्यवहार रखे। निरन्तर सत्वका सेवन करनेसे धर्मकी वृद्धि होगी और फिर उससे ज्ञान होगा। ज्ञान होनेसे त्रिगुणातीत हो जायगा।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! सत्व भी तो एक गुण ही है। गुणके सेवनसे गुणातीत कैसे हो जायगा।"

भगवान्ने कहा—"देखो, जैसे पैरमें सड़ा काँटा लग गया, तो दृढ नया एक काँटा और लाते है। जहाँ काँटा लगा होता है वहाँ उस काँटेको चुभोते हैं। वह सुदृढ़ काँटा उस पैरमें लगे काँटेको निकाल देता है, तो फिर दोनोंको ही फेंक देते हैं। वनमें बाँसोंकी रगड़से अग्नि उत्पन्न होती है। उत्पन्न होकर अग्नि बाँसोंके वनको ही जलाती है। सब जल जानेपर वह शान्त हो जाती है। इसी प्रकार सत्वगुणकी वृद्धिसे रजतम नष्ट हो जाते हैं। निरन्तर सत्वके सेवनसे ज्ञानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है, फिर वह सत्वको भी जलाकर गुणातीत स्थितिको प्राप्त करा देती है। अपनेसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा गुणोंके सम्पूर्ण कार्यका लय हो जाता है। बात यह है कि यह

देह गुण वैषम्यसे ही तो उत्पन्न हुआ है, इसलिये पूर्ण सत्वका वृद्धिसे जहाँ ज्ञान हुआ कि तीनों ही गुण समाप्त हो जाते हैं। अतः त्रिगुणातीत होनेके लिये सत्वका ही सेवन करना चाहिये। विषयोंका सेवन कदापि न करना चाहिये।"

इसपर उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! एक मुझे बड़ी भारी शङ्का है। मैंने सबको देखा है सभी सांसारिक विषयोंको दुःखमय बताते हैं। मूर्खसे लेकर बड़े बड़े विद्वान् तक एक स्वरसे काम की निन्दा करते हैं, किन्तु उसे व्यवहारमें लानेवाले विरले ही होते हैं। सभामें तो कामकी इतनी निन्दा करेंगे, इतनी निन्दा करेंगे कि सुननेवालोंके रोंगटे खड़े हो जायँगे। नरकका भय दिखावेंगे, शास्त्रोंकी लम्बी चौड़ी व्याख्या करेंगे। व्यभिचारी स्त्री पुरुषोंको नरकमें कैसे कैसे दुःख दिये जाते हैं। स्त्री पुरुष नंगे करके लोहेकी तप्त मूर्तियोंके कैसे आलिङ्गन कराये जाते हैं, इन बातोंकी विशद व्याख्या करेंगे, किन्तु स्वयं वे कामके चक्करमें पड़े देखे गये हैं। जैसे कुत्ता कुतियोंके पीछे पागल फिरता है, जैसे गधा गधीके पीछे उन्मत्त हो जाता है, वह काटती है दुलत्ती झाड़ती है, फिर भी पीछा नहीं छोड़ता। जैसे बकरा बकरियोंके पीछे फिरता है, वैसे ही वे उपदेशक कामिनियोंके दास बने रहते हैं। जिन विषयोंकी वे इतनी निन्दा करते हैं, फिर उनको ही क्यों भोगते रहते हैं? संसारी विषयोंमें ऐसी कौनसी बात है, कि दुख पाते हुए भी लोग उन्हें नहीं त्यागते। बुराई करते हुए भी स्वयं उनका परित्याग नहीं कर सकते। इस विषयमें ज्ञानी मूर्ख सभी एकसे दिखायी देते हैं। आज तक कोई भी ऐसा नहीं मिला। जो यह कह दे, कि विषयोंसे हमारी तृप्ति हो गयी या विषयोंसे हमें सुख ही सुख मिला। क्षणभरको सुखाभास भले ही प्रतीत हो, नहीं तो इनके उपभोगमें आदि अन्तमें दुःख ही दुःख है। लोगोंकी इन अनित्य क्षणभंगुर सुखोंमें ऐसी

अन्यथा बुद्धि क्यों हो गयी है ?

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव ! यही तो मेरी मायाका चक्कर है। जो न होते हुए भी दिखायी दे। जो वास्तवमें दुख है वह सुख दिखायी दे, जो सर्वथा अनित्य है उसमें नित्यताका भान हो। अज्ञानवश ये अनेको वासनायें हृदयमे उत्पन्न होती रहती हैं।

उद्धवजीने पूछा—"प्रभो ! अन्त.करणमें वासनायें कैसे और क्यों उत्पन्न होती हैं। इनका क्रम क्या है। विषय अन्त करण को कैसे जकड लेते हैं।"

भगवान्ने कहा—"अच्छी बात है उद्धव ! मैं तुम्हें इस परम गूढ रहस्यको समझाता हूँ, इसे तुम सावधानीके साथ श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान्ने जैसे अन्त करणमे वासनाओंके उठनेका क्रम बताया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गुन ही बन्धन हेतु प्रथम रजतमकूँ त्यागे।
सत्ववृद्धितैं भक्ति होहि श्रद्धा हिय जागे॥
आगम, जल अरु कुटुम, देश, संस्कार करम पुनि।
काल, जनम अरु ध्यान मन्त्र ये कारन दश सुनि॥
तत्वज्ञान होवै नहीं, सेवै तब तक सत्वकूँ।
ज्ञान अगिनि अज्ञान भखि, प्राप्त करै एकत्वकूँ॥

—❀—

अन्तःकरणमें विषय वासनाकी प्रवृत्ति

(१२५५)

अहमित्यन्यथा बुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥*

(श्रीमा० ११स्क१३अ० ९श्लो०)

छप्पय

उद्धव बोले—प्रभो! सबहिँ मानें विषयनि दुख।
फिरि क्यों तिनिकूँ भजैं करैं तिनिमें अनुभव सुख॥
हँसि बोले भगवान अहंता तें मूरख जन।
फँसे रजोगुन माँहिँ कामनावश होवै मन॥
कबहुँ विवेकी हू फँसैं, किन्तु होहिँ आसाक्त नहिँ।
चित्त समाहित करन हित, करै प्रान संयम नितहिँ॥

चित्त जब रजोगुणके रंगमें रँग जाता है तो लोभ बढ़ जाता है। रजोगुणकी यह मोटी पहिचान है। भगवान भजनमें लोभ बढ़ना तो निर्गुण अवस्था है, किन्तु और संसारके जितने कार्य हैं, उनमें लोभ बढ़े तो समझ लो रजोगुणकी वृद्धि है

*श्रीभगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं—उद्धव! प्रमाद पुरुषके हृदयमें यह जो अहंताकी अन्यथा बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, उसी कारण घोरस्वरूप मन घोर रजोगुणकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। (उसीके कारण होकर न करने योग्य कामोंको करता है)

गयी। कोई सात्विक प्रकृतिके साधक हैं, उनसे किसीने शिष्य बननेकी प्रार्थना की, उन्होंने उसे दीक्षा दे दी। उसने धनसे मनसे सेवा आरम्भ कर दी। धन आया तो उससे आश्रम बनने लगा। तृष्णाका तो कहीं अन्त नहीं। जब तक ईंट पत्थरको आरम्भ न करो तभी तक संतोष है जहाँ, आरम्भ हुआ कि फिर वह बढ़ता ही जाता है। धनकी आवश्यकता हुई, दूसरेके कान फूँके। अब परमार्थ लक्ष्यच्युत हो गया। धनके लोभसे पात्र अपात्र सभीके कान फूँकने लगे। समझ लो साधक अपने लक्ष्यसे च्युत हो गया। रजोगुणने आकर उसके हृदयमें अपनी कुटी बना ली। कर्मोंमें प्रवृत्ति बिना रजोगुणकी प्रबलताके होती ही नहीं। लोभ उसकी पहिचान है। लोभी कभी परमार्थ दृष्टिसे कोई काम न करेगा। उसके सब काम स्वार्थ बुद्धिसे आरंभ होंगे। किसीको एक फल भी देगा तो तुरन्त सोच लेगा—इससे मेरा क्या कार्य सिद्ध होगा बिना स्वार्थके वह किसीसे बात भी न करेगा। रजोगुणके बढ़ने पर विषयोंके भोगनेका लालच उठता रहता है। चित्त चंचल बना रहता है, कहाँसे धन मिले। कैसे लोग मेरी ओर आकर्षित हों, कैसे मेरा ठाठ-बाट बने। कैसे अधिक लोग मेरा सम्मान करें। पाप करनेसे भी स्वार्थ सिद्ध होता हुआ दिखायी दे तो छिपकर उस पापको करता है। छिपकर पाप करनेसे अन्तरात्मा उसे टोंचती रहती है, इसलिये वह सदा अशान्त बना रहता है। उसे सबसे शंका बनी रहती है कोई मेरे पापको पहिचान न ले। सत्वगुणकी वृद्धिमें अन्तःकरणमें और इन्द्रियोंमें प्रकाश सा उत्पन्न होने लगता है, ज्ञानका स्रोत फूट पडता है और विषय तुच्छ दिखायी देते हैं। संसारिक प्रवृत्ति रजोगुणमें ही होती है। तभी विषय-भोग अच्छे लगते हैं। पतङ्गकी तरह अग्निको जानबूझकर आलिंगन करता है और

उससे दुख पाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! उद्धवजीको समझाते हुए भगवान् कहते हैं—"उद्धव ! जब मनमें सत्वगुण आता है, तब पुरुष ज्ञानकी ओर बढ़ता है, सब भूतोंमें एक ही आत्माका अनुभव करता है। मनसे जिसे हम प्यार करेंगे, तो वह भी हमसे मनसे प्यार करेगा, क्योंकि मन तो एक ही है। सत्वगुणके बढ़नेपर सब उससे प्रेम करते हैं। सब उसके प्रति श्रद्धाके भाव रखते हैं। यदि इतनेपर साधक सम्हला रहा, छोटे बड़े सबमें उसी आत्माको देखता रहा तब तो समझो वह बड़े त्रिगुणातीत अवस्थाकी ओर आगे बढ़ रहा है। किंतु जहाँ उसे अभिमान हो गया कि मैं ईश्वर हूँ, सिद्ध हूँ, समर्थ हूँ, तहाँ समझ लो उसकी बुद्धि अन्यथा हो गयी, उसमें रजोगुण रूपी चोरने प्रवेशकर लिया। अब सत्वगुण दब जाता है, रजोगुणका प्राबल्य हो जाता है। मन विषयोंकी ओर आकर्षित हो जाता है। विषय तो मनसे लिपटना चाहते ही हैं। रजोगुणी मन भी विषयोंसे लिपटनेको उतावला होजाता है। चित्त जहाँ रजोगुणके रंगमें रँगा तहाँ उसमें अनेकों संकल्प विकल्प उठने लगते है, नाना विधान बनने लगते हैं। परमार्थमें भी सर्वत्र स्वार्थका साम्राज्य होने लगता है। पद-प्रतिष्ठाकी वृद्धिके लिये नाना प्रकारकी कलायें खेली जाती हैं। निरन्तर गुणोंके चिन्तनसे सब ओर मनको दौडाना पड़ता है, किससे मेरा यथार्थ सिद्ध होगा, किससे मेरी कामनाओंकी पूर्ति होगी। जिनसे आशा न करनी चाहिये उनसे वह मन्दमति आशा करता है और कामनाओंके कारण उसे पग पगपर दुःसह अपमान सहन करना पड़ता है। यह रजोगुणका ऐसा प्रबल प्रवाह है कि इसमें जो पड़ा वह बह गया, फिर उसके

उबरनेकी आशा अत्यन्त ही न्यून रह जाती है। गुण प्रवाहमें पतित होनेसे वह अपनी इन्द्रियोंपर संयम करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है, अजितेन्द्रिय बन जाता है, कर्तव्याकर्तव्यका उसे विवेक नहीं रहता। कुत्सित कामनाओंके कारण कृपण हुआ कष्टप्रद कर्मोंको करता रहता है। उनका परिणाम दुखद होता है। उद्धव! तुम्हीं सोचो प्रवृतिमें कभी किसीको सुख हुआ है। मैंने अवतार लेकर भी यदि प्रवृत्ति की है तो उसमें दुखद अभिनय ही दिखाया है। रामावतारमें जानकीके पीछे कितने क्लेश सहन करने पडे। हमको क्लेश तो होते ही क्या थे, किन्तु उस चरितको दिखाकर यह सिद्ध किया कि प्रवृत्तिमें पडकर ईश्वरोंको भी क्लेश सहने पडते हैं अल्पबुद्धियोंकी तो बात ही क्या? रजोगुणमें जो फँसेगा वह चाहें साधु हो, महात्मा हो, सिद्ध हो, समर्थ हो अथवा ईश्वर ही क्यों न हो उसे क्लेश सहने पडेंगे, अवश्य सहने पडेंगे। रजोगुण और तमोगुण ये खींचकर घोर संसारकी ओर पटक ही देते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"तब तो भगवन्! इनसे कोई बच ही नहीं सकता। यह गुण प्रवाह तो चलता ही रहता है। ऐसा कोई नहीं है जो तीनों गुणोंसे बचा हो। कैसा भी विवेकी क्यों न हो, तब तो रजोगुण तमोगुण उन्हे भी पछाड देंगे?"

भगवान्ने कहा—"हाँ उद्धव! यह सत्य है कि तीनों गुणोंका थोड़ा बहुत प्रभाव सबपर पडता है। कभी कभी परम विवेकी पुरुष भी रजतमसे विक्षिप्त चित्त हो जाते हैं। किन्तु उनका विवेक सर्वथा ढक नहीं जाता। विषयके सम्मुख आते ही क्षण भरको उनकी बुद्धि विचलित हो जाती है, किन्तु फिर अपने विवेकके द्वारा सावधानता पूर्वक चित्तको

समाहित कर लेते हैं। उनमे नितान्त आसक्त नहीं हो जावे। उसके परिणामको समझकर उससे उपरत हो जाते हैं?"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! चित्तमें कभी ऐसी चंचलता आ जाय, मन विक्षिप्त हो जाय, तो क्या करना चाहिये।"

भगवान्‌ने कहा—"जिस विषयमें मन लग जाय, पहिले तो उसमे दोष दृष्टि करनी चाहिये, कि इस विषयके सेवनसे हमें क्या क्या हानियाँ होगी। फिर सावधान होकर उस विषयकी चिन्ताको त्याग दे। उस विषयको मनमें आने ही न दे। बार बार उसे हटावे। नियत समय पर आसन मारकर शनैः शनैः प्राणायामके द्वारा प्राणोंका संयम करे। आसनको जीतकर चित्तको उस विषयसे हटाकर मुझमे लगावे और निरन्तर दृढ़ताके साथ योगका अभ्यास करे। चित्त स्वभावसे विषयों की ओर जाता है और विषय उसे कसकर पकड़ लेते हैं। योगाभ्याससे शनैः शनैः चित्तको हटावे। इसीका नाम योग है। इसकी दीक्षा मुझसे सनक, सनंदन, सनातन और सनत्‌कुमारने ली थी। उन चारो भाइयोंको मैंने इस योगकी दीक्षा शिक्षा दी थी।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! मैं तो सदा आपकी सेवामें ही रहता हूँ, मैंने तो कभी आपको सनकादिकोंको दीक्षा देते देखा नहीं। हाँ, मैं जब आपकी आज्ञासे व्रज चला गया था, तब संभव है आपने चारों कुमारोंको दीक्षा दी हो।"

भगवान्‌ने कहा—"अरे भाई! मैंने इस कृष्णावतारमें उनको दीक्षा नहीं दी। ब्रह्मलोकमे एक दूसरे अवतारसे दीक्षा दी थी?"

उद्धवजीने पूछा—"तो भगवन! आपने किस रूपसे सनकादिकोंको इस योगकी दीक्षा दी। कब दी, कैसे दी? इसे मेरी

सुननेकी बड़ी इच्छा है। यदि आप मुझे अधिकारी समझें तो मेरे प्रश्नोंका उत्तर दें और उस योगकी शिक्षाको मुझे भी सुनावें।

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! मैंने सनकादिकोंको हंस रूपसे ब्रह्मलोकमें बहुत पहिले इस योगकी शिक्षा दी थी। उन परम त्यागी विरागी बाल ब्रह्मचारी कुमारोंके ही प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये मुझे परम शुभ्र हंसावतार लेना पड़ा। उसी अवतारसे मैंने कुमारोंको उपदेश दिया। उन्होंने प्रश्न तो पूछा था अपने पिता ब्रह्माजीसे, किन्तु वे उनके प्रश्नोंका उत्तर दे नहीं सके, तब मुझे अवतार लेना पड़ा।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! ब्रह्माजी तो वेद गर्भ कहे जाते हैं, समस्त ज्ञानके वे भंडार हैं। उनके चारों मुखोंसे चारों वेदोंका प्रादुर्भाव हुआ है, ऐसे वेदमय ब्रह्मा भी जिस प्रश्नका उत्तर न दे सके, वह प्रश्न क्या है। भगवन्! आजके उपदेशकोंसे कैसा भी प्रश्नकर दो, वे चाहे प्रश्न को समझें या न समझें उसका तुरन्त कुछ न कुछ उत्तर दे ही देंगे, जिससे किसीको उनके सर्वज्ञ और ज्ञानी होनेमें संदेह न हो। अपने पुत्रोंके पूछनेपर भी ब्रह्माजी जब उत्तर न दे सके होंगे, तब तो उनकी बड़ी हँसी हुई होगी। कृपा करके इस सम्वादको मुझे अवश्य सुनावें।"

भगवान् बोले—"उद्धव! जो लोग दम्भी होते हैं, वे झूठ सत्यका विचार नहीं करते, अपनी पद प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिये वे असत्य भी बोल देते हैं। ब्रह्माजी तो ऐसे नहीं हैं। सनकादिकोंका प्रश्न त्रिगुणोंसे परे था। ब्रह्माजी रजोगुण प्रधान हैं, इससे जब वे उत्तर न दे सके तो मैं शुक्लरूपसे हंस बनकर प्रकट हुआ। वह मेरा उपाख्यान हंसगीताके नामसे प्रसिद्ध है। अब मैं तुम्हें उसी हंसगीता को सुनाता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब मैं हंसगीताको आपको सुनाऊँगा। आप इस गूढ ज्ञानमय उपाख्यानको प्रेमपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

सब विषयनितैं खैंचि चित्त मम चरननि लावै।
करै योग अभ्यास निरन्तर ध्यान लगावै॥
सनकादिक कूँ हंस रूपतैं शिक्षा दीन्ही।
वे मेरे प्रिय शिष्य योग महँ निष्ठा कीन्ही॥
उद्धव पूछें जगत्गुरु ! हंस रूप कैसे धरयो।
सनकादिक कूँ योगमय, ज्ञान दान शुभ कब करयो॥

—❀❀—

हंसगीताका उपोद्घात

(१२५६)

स मामचिन्तयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया ।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥*

(श्रीभा० ११स्क० १३अ० १९श्लो०)

छप्पय

प्रभु बोले—इकबार कुमरसुत अजढिँग आये ।
जिज्ञासा तिन करी बन्दि पद वचन सुनाये ॥
विषयनि महँ चित जाइ विषय चितमहँ घुसि जावैं ।
कैसे करि तिनि पृथक् मुक्तिपद प्रानी पावैं ॥
निरनय नहिँ कछु करि सकी, कर्ममयी अज बुद्धि जब ।
प्रश्न पयोनिधि पार हित, करयो ध्यान मम चरन तब ॥

जब पुरुष सब ओरसे थक जाता है, उसकी विद्या बुद्धि काम नहीं देती, तब वह भगवान्‌की शरणमें जाता है, भगवान्‌का स्मरण करता है । स्मरण करते ही भगवान् समस्त विपत्तियोंको

*श्रीभगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं—'उद्धव ! जब ब्रह्माजी अपने पुत्र सनकादिकोंके प्रश्नका उत्तर न दे सके तो उस प्रश्नरूपी समुद्रके पार जानेकी इच्छासे उन्होंने मेरा चिन्तन किया । उसी समय मैं उनके सम्मुख हंस रूपसे प्रकट हो गया ।"

मेट देते हैं। वे ऐसा बुद्धियोग प्रदान करते हैं, कि उससे समस्त संशय मिट जाते हैं। भगवान् तो भक्त वत्सल हैं, वे अपने भक्तोंके ऊपर ही कृपा करके—उनके ही लिये—नाना अवतार धारण करते हैं। भगवान्के लिये कोई छोटा बडा नहीं, वे जब जैसा चाहते हैं, तब तैसा ही अवतार रख लेते हैं। कभी आधे नर और आधे सिंह बन जाते हैं, कभी ग्रीवा हय-घोडा-की सी और नीचेका भाग मनुष्य जैसा बना लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान्से हंसावतारका कारण पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! मैंने सनकादि मुनियोंको योगका उपदेश क्यों दिया और कब दिया, इस सम्बन्धकी कथा मैं तुम्हे सुनाता हूँ।

एक दिनकी बात है,-कि ब्रह्माजी अपने लोकमें अपनी दिव्य सभामे विराजमान थें। मुख्य मुख्य देवगण, असुरगण, गुह्यक, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, नाग, अप्सरा' किन्नर, किंपुरुष, ऋषि, मनुष्य और पशु पक्षी दिव्य रूप रखकर उनकी उपासना कर रहे थे। सभा खचाखच भरी थी। दिव्य अप्सरायें नृत्यकर रही थीं, गन्धर्व गा रहे थे। कि उसी समय नंग धडंगे सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार ये चारो कुमार वहाँ पहुँच गये। उनके पहुँचते ही समस्त सभासद उठ खडे हुए। जो अप्सरायें नाच रहीं थीं तथा जो गन्धर्व गा रहे थे, वे भी सब चुप हो गये और एक ओर बैठ गये। चारो कुमारोंने अपने पिता तथा समस्त लोकोंके पितामह श्रीब्रह्माजीके पाद पद्मोंमे प्रणाम किया। ब्रह्माजीने स्नेहसे सबका आलिंगन किया, कुशल पूछी और अपने निकट ही उन्हें बैठनेको आसन दिया। जब सबके सब पिताकी आज्ञासे सुखपूर्वक आसनोंपर बैठ गये, तब ब्रह्माजीने कहा—"पुत्रो! इस समय तुम लोग कहाँसे आ रहे हो? सब प्रकार आनन्द है न? तुम्हारी मुखाकृतिसे ऐसा प्रतीत होता है,

कि तुम्हें कुछ जिज्ञासा है ? तुम कुछ कहना चाहते हो ?"

यह सुनकर कुमारोंने कहा—"हाँ पिताजी ! हमे एक शका है, हम आपसे एक प्रश्न पूछना चाहते हैं।"

भगवान् ब्रह्माने कहा—"हाँ पूछो, संकोचकी कोनसी बात है, तुम्हें जो पूछना हो निर्भय होकर पूछो।"

कुमारोंने कहा—पिताजी ! चित्तका स्वभाव है कि वह विषयोंकी ओर अपने आप जाता है और विषयोंका स्वभाव है कि वे वासना रूपसे चित्तमे प्रवेश करते हैं। आप सब लोग कहते हैं, कि जब तक चित्त निर्विषय न होगा, जब तक मनको गुणोंसे पृथक् करके गुणातीत न हुआ जायगा, तब तक इस ससार-सागरसे कोई पार नहीं हो सकता। जिस व्यक्तिकी इच्छा मुक्तिपद चाहनेकी हो, वह विषयोंसे चित्तको कैसे हटा सकता है। दोनों का परस्परमें आकर्षण है। यदि एकका होता, तो वह हटाया भी जा सकता था।

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! यह प्रश्न बडा गम्भीर था। योगकी सूक्ष्म पराकाष्ठा विषयक प्रश्न था। योगका सम्बन्ध चित्तकी वृत्तियोंके निरोधसे ही है। कोई साधारण पूछनेवाला होता और इधर उधरकी सुनी सुनायी बातोंको बकनेवाला वक्ता होता, तो कुछ झूठ सच चक्करकी बातें कहकर टरका देता। यहाँ तो यह बात थी नहीं। पूछनेवाले तो मायासे अतीत बाल ब्रह्मचारी कुमार थे और उन्होंने सम्पूर्ण भुवनोंके अधीश्वर देवाधिदेव भूतभावन भगवान् ब्रह्माजीसे पूछा था। वे टाल-मटोल कैसे कर सकते थे। वे करना भी चाहें तो सनकादि कैसे मानते। प्रश्न बडा गूढ था। ब्रह्माजी बडे चक्करमे पड गये। भरी सभामे यदि यथार्थ उत्तर नहीं देते, तो बडी हँसी होती, सब कहेंगे—"वेद-गर्भ सर्वज्ञ लोक-पितामह अपने पुत्रोंके प्रश्नका उत्तर भी न दे सके।" कुमारोंने प्रश्न क्या किया, ब्रह्मा-

जीको अगाध प्रश्न सागरमें डुबो दिया। ब्रह्माजीने अपनी सम्पूर्ण बुद्धि लगायी, बहुत हाथ फटफटाये, किन्तु प्रश्नरूपी सागरसे पार जानेका कोई उपाय ही न सूझा।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! ऐसा यह क्या कठिन प्रश्न था कि ब्रह्माजी भी इसका उत्तर न दे सके। सबके रचनेवाले तो वे ही हैं।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये सब मेरे ही रूप हैं। इनमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं। फिर भी जब सृष्टि करनेकी इच्छासे मायाका आश्रय लेकर मैं गुणानुसार अपने रूप बनाता हूँ, तो रजोगुणमय मेरे रूपका नाम ब्रह्मा होता है। ब्रह्मा सृष्टि करते हैं। रजोगुणके बिना कर्म होता नहीं। इसलिये ब्रह्माजी की बुद्धि विशेषकर कर्मोंमें ही लगी रहती है, उन्हें सदा सृष्टि-वृद्धिकी ही चिन्ता बनी रहती है। यह प्रश्न है विशुद्ध सत्वमय। इसलिये इसका उत्तर मैं विशुद्ध सत्वमय, परम शुभ्र रूपसे ही दे सकता हूँ। ब्रह्माजी त्रैगुण्य विषयोंको ही जानते हैं, क्योंकि वेद त्रैगुण्य विषय है। निस्त्रैगुण्य तो मैं हूँ, अतः ब्रह्माजीको इस प्रश्नका उत्तर स्मरण ही नहीं हुआ।"

उद्धवजीने कहा—"तब महाराज, फिर क्या हुआ? ब्रह्माजी की भद्द हो गयी क्या?"

शीघ्रतासे भगवान्‌ने कहा—"ना, ना, भद्द क्यों होती? मेरे भक्तोंकी भला कहीं भद्द होती है। उनपर जब कोई संकट आता है, जब कोई बात उनके सामर्थ्यके बाहरकी होती है, तो वे मेरा स्मरण करते हैं। मैं उनके स्मरण करते ही उनके सम्मुख तत्काल प्रकट होकर उनके समस्त दुःखोंको दूर करता हूँ। जब ब्रह्माजीने प्रश्नका पार पानेकी इच्छासे मेरा ध्यान किया, तो मैं तुरन्त हंसका रूप रखकर उनके सम्मुख प्रकट

हुआ।

मुझे देखकर ब्रह्माजी सनकादि तथा अन्य सभी सभासद उठकर खड़े हो गये। सब लोगोंने ब्रह्माजीको आगे किया और मेरे चरणोंमें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। पाद्य अर्घ्य देकर मेरी विधिवत् पूजा की और सुन्दर आसनपर मुझे बिठाया।"

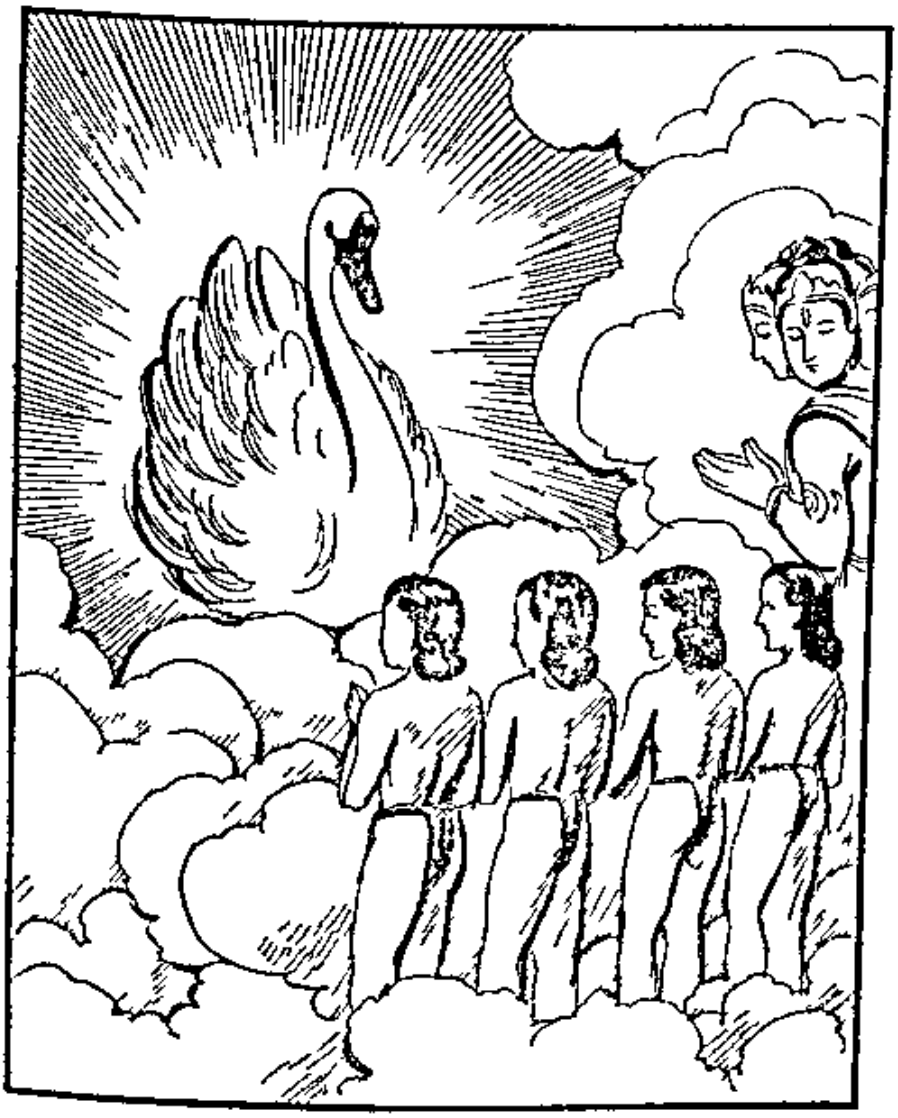

उद्धवजीने पूछा—"प्रभो! लोक पितामह ब्रह्माजी एक पक्षीको देखकर खड़े क्यों हो गये। आप अपने स्वरूपसे तो प्रकट हुए नहीं। पक्षी बनकर आये। पक्षियोंके पैरोंमें तो कोई प्रणाम नहीं करता। क्या ब्रह्माजीने आपको पहिचान लिया था?"

भगवान्‌ने कहा—"नहीं, ब्रह्माजीने मुझे पहिचाना तो नहीं, किन्तु कैसा भी मैं पशु पक्षी बनकर जाऊँ, मेरा तेज तो छिपता नहीं। देखो, जब मैं बालक बनकर कंसकी सभामें गया, तो मुझे देखकर सभी लोग खड़े हो गये। मिथिलामें जब मैं मह मुनि विश्वामित्रके साथ राम रूपसे गया था, तो मुझे बिना जा ही मेरे तेजसे अभिभूत होकर सभी ऋषि मुनि राजे महाराज खड़े हो गये। यद्यपि मै हंस रूपसे गया था, किन्तु मेरे ते को देखकर ब्रह्माजी तथा कुमारादि समझ गये, कि यह को असाधारण प्राणी है, इसलिये उन्होंने मेरा आदरकिया, श्रद्धा सहित चरण वन्दनाकी।"

उद्धवजीने पूछा—"हाँ, तो महाराज! फिर आपसे सन कादि मुनियोंने क्या प्रश्न किया, आपसे भी उन्होंने वही प्रश्न पूछा होगा जो ब्रह्माजीसे पूछा था।"

भगवान्‌ने कहा—"बिना परिचयके वे मुझसे सहसा ऐसा प्रश्न कैसे पूछ सकते थे। अतः प्रणाम करके प्रथम उन्होंने मेरा परिचय पूछा। वे मुनि आकर मुझसे बोले—'हे हंस देवता! आप कौन है?" बस, फिर क्या था मुझे इतने प्रश्न से ही उत्तर देनेका अवसर मिल गया। इसी प्रश्नको लेकर मैंने उनके ब्रह्माजीसे किये हुए प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ कर दिया।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपने परिचय-प्रश्नसे ही उनके प्रश्नका उत्तर कैसे देना आरम्भ कर दिया। आप प्रथम अपना परिचय देते, तब वे प्रश्न करते और तब आप उत्तर देते। यह क्या, कि उन्होंने प्रश्न किया अन्य और आप उत्तर देने लगे अन्य?"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव! अन्य तो कुछ है ही नहीं। सब एक ही है। मिश्रीके कूँजेको जहाँ

से तोडो वहींसे मीठा ही निकलेगा। पक्षी जहाँ भी उड़े आकाशमें ही उड़ेगा, अतः प्रश्न जो भी किया जायगा, आत्मा के ही सम्बन्धमे किया जायगा, क्योंकि आत्माके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जब सर्व आत्मा ही है तो प्रश्न दूसरा कैसे बन सकता है ? अच्छी बात है, मुनियोंके पूछनेपर मैंने जो उनसे कहा उसे तुमसे भी कहता हूँ, तुम इस पुण्य प्रसङ्गको प्रेम पूर्वक श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आप हंसगीताके ज्ञानको कान खोलकर सुनें।"

छप्पय

तबई मै बनि हस कुमारिनिके ढिँग आयौ।
करि आगे अज सबनि चरन मेरे सिर नायौ॥
पूछें—"को हैं आप ?" कही हँसिकें हौं बानी।
का कूँ करि उद्देश प्रश्न कीन्हौंमुनि ज्ञानी॥
आत्मा अद्वय एक है, बनहिँ न तामें प्रश्न यह।
पञ्चभूतके देह सब, प्रश्न न जामें उठहि जिह॥

—❀—

हंस गीता

(१२५७)

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥*

(श्रीभा० ११स्क० १३अ० २४श्लो०)

छप्पय

जो सोचो जो लखो सुनो सो मैं ही सब हूँ।
प्रथमहु मैं हो रह्यो रहौंगो मैं ही अबहूँ॥
विषयनि चित अनुसरे विषय हू प्रविशैं तामें।
जीव उपाधी उभय नहीं ते रूप कहावें॥
सेवे विषयनि कूँ सतत चित्त होहि आविष्ट तह।
बनै वासना चित्तकी, जीव ब्रह्म द्वै पृथक् कहँ॥

ससारका बन्धन ज्ञानसे ही है। असत्‌मे सत्‌का भ्रम हो गया है। विस्तृत अहको साढे तीन हाथके शरीरमें सीमित कर लिया है। इसीसे जन्म मरणका दुःख होता है और ससार-चक्रमें भ्रमण करना पडता है। जो इस क्षुद्र 'अह' को महान् 'अह' मिला देता है, जो व्यष्टि ज्ञानको समष्टिमे एकत्र

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कहते हैं—"उद्धव! सनकादिकोंके पूछनेपर हंस रूपसे मैं कहने लगा—मुनियो! मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे जो भी कुछ ग्रहण किया जाता है, दिखाई देता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे अन्य कुछ भी नहीं है। इस बातको तुम निश्चय करके जान लो।'

कर देता है, उसे फिर मोह नहीं होता, वह संसार बन्धनसे सदा के लिये छूट जाता है। इसलिये व्यष्टि समष्टिके भेदको मिटाकर क्षुद्र 'स्व' को महान् 'स्व' मे मिलाकर जो निर्द्वंद हो जाता है, वही सुखी कहाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! उद्धवजीसे भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजी कह रहे हैं—"उद्धव! जब ब्रह्माजीकी सभामें मैं हंस रूपसे आया और ब्रह्माजीको आगे करके कुमारोंने तेजस्वी हंसके तेजसे प्रभावित होकर प्रणाम किया, तो परिचय प्राप्त करनेके लिये कुमारोंने उनसे पूछा—"आप कौन हैं?"

हंस भगवान्‌ने कहा—"कौन, पूछनेसे आपका तात्पय क्या है?"

कुमारोंने कहा—"हम आपका परिचय जानना चाहते हैं।

हंस बोले—"परिचय तो अपरिचितका जाना जाता है।"

कुमारोंने कहा—हमारे लिये तो आप अपरिचित ही हैं।"

हंस बोले—" 'आप' से अभिप्राय क्या? यदि शरीरको 'आप' कहते हो तो शरीरसे तो आप अपरिचित नहीं हैं। जैसा पृथिवी, वायु, जल, तेज और आकाशसे निर्मित रस, रक्त, मेदा, मज्जा, अस्थि और शुक्रवाला आपका शरीर वैसा ही मेरा। सभी शरीर एकसे हैं। शरीरका क्या परिचय? रक्तके स्थानमे मेरे शरीरमे दुग्ध हो या पंचभूतोंसे अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुसे बना हो, तो उसका परिचय दिया जा भी सकता है।"

कुमारोंने कहा—"शरीर तो सभी एकसे ही हैं, सभी पञ्च भूतोंसे निर्मित होनेके कारण अभिन्न हैं। फिर भी सबका अभिमानी आत्मा तो भिन्न भिन्न है।"

हंस बोले—"आत्मामें तो भिन्नता है ही नहीं। आत्म वस्तु

तो सदा सर्वदा एक है, अद्वय है। सजातीय विजातीय तथा स्वगत इन सभी भेद भावोंसे रहित है। जब आत्मा एक है, तो फिर आप का यह प्रश्न कि आप कौन हैं" कभी बनता ही नहीं। जब आत्मामें द्वित्व है ही नहीं तो फिर मैं किस आश्रयको लेकर आपके इस प्रश्नका उत्तर दूँ?' आत्मामें कोई जाति नहीं होती इसलिये यह नहीं कह सकता मैं अमुक जातिका हूँ। आत्मामें गुण नहीं निर्गुण है अतः मैं यह नहीं कह सकता कि अमुक गुण वाला हूँ, आत्मामें सामान्य और विशेष व्यक्तित्व नहीं होता इसलिये मैं यह भी नहीं कह सकता कि मैं अमुक व्यक्ति हूँ। जब देहमें तेरा मेरा भेद भाव नहीं। सब एक ही वस्तुसे निर्मित है और आत्मा भी एक है तब आपका प्रश्न वाणीका आरम्भ मात्र ही है। वह व्यर्थका आडम्बर ही है।

कुमारोंने कहा—"जब आप देह रूपसे भी अपना परिचय देना नहीं चाहते और आत्म रूपसे भी कुछ नहीं कहते तो फिर कोई भी तो आप होंगे?"

हंस रूपसे मैं बोला—"मनसे जो मनन किया जाता है, वह मैं हूँ; वाणीसे जो कुछ बोला जाता है, वह सब मैं हूँ; दृष्टिसे जो देखा जाता है, वह मैं हूँ; घ्राणसे जो सूँघा जाता है वह मैं हूँ, रसनासे जो कुछ चाखा जाता है, वह मैं हूँ; कानसे जो सुना जाता है, वह मैं हूँ; स्पर्शेन्द्रियसे जो स्पर्श किया जाता है, वह मैं हूँ। कहाँ तक कहूँ सब मैं ही मैं हूँ, मुझसे पृथक् कुछ है ही नहीं।"

कुमारोंने कहा—"प्रभो! अब हम समझ गये, आप साक्षात भगवान् हैं, हंस रूपसे आप हमारे सम्मुख प्रकट हुए हैं। कृपा करके बतावें आपने हमारे ऊपर कैसे कृपा की?"

मैंने कहा—'तुमने जो ब्रह्माजीसे प्रश्न पूछा था, उसीका

उत्तर देनेके लिये मैं हंस रूपसे तुम्हारे सम्मुख आया हूँ।"

कुमारोंने कहा—"हाँ ब्रह्मन्! आप ही हमारे प्रश्नका उत्तर दें? चित्त स्वभावसे ही विषयोंमें जाता है और वासना रूपसे विषयचित्तमें प्रवेश करते हैं, फिर इन दोनोंको पृथक् करके संसार सागरसे प्राणीपार कैसे हो सकते हैं?"

मैंने कहा—"हे पुत्रो! तुम्हारा कथन सत्य है, अवश्य ही चित्त विषयोंका अनुसरण करता है। जिस जिस इन्द्रियका जो जो विषय है उस उस विषयमें चित्त उनके द्वारा घुस जाता है। इसी प्रकार विषय भी चित्तमें प्रवेश करते हैं। किन्तु ये परस्परमें संश्लिष्ट होते हुए भी जीवके स्वरूप नहीं।"

सनकादि मुनियोंने पूछा—"तो क्या हैं भगवन्! यदि चित्त विषयवासना पूर्ण होता है, तो पुरुष भी वैसा ही हो जाता है?"

हंस भगवान् बोले—"देखो, मैं चित्त और विषय दोनोंसे अतिरिक्त हूँ, मुझमें ये दोनों हो नहीं। फिर मेरे ही स्वरूप भूत जीवका ऐसा स्वरूप और स्वभाव कैसे हो सकता है, उसका विषयोंसे स्पर्श कैसे हो सकता है।"

सनकादिकोंने पूछा—"जब जीवका स्वरूप या स्वभाव नहीं तो यह विषयोंमें बँध कैसे जाता है?"

हंस भगवान् बोले—"विषयोंमें फँस जाना चित्तके अधीन हो जाना यह जीवका स्वरूप तो नहीं है किन्तु उपाधि अवश्य है। जैसे घटका स्वरूप तो मृत्तिका है, किन्तु नाम रूप उसकी उपाधि मात्र हैं। वे मृत्तिकाको स्पर्श भी नहीं कर सकते।"

सनकादिकोंने पूछा—"फिर भगवन्! विषयोंमें इतना अधिक आकर्षण क्यों होता है?"

हंस भगवान् बोले—"यह सब मिथ्याभिनिवेशसे होता है।

निरन्तर विषयोंका सेवन करनेसे चित्त उनसे आविष्ट हो जाता है। लोहका स्वभाव या स्वरूप लाल और उष्ण नहीं है, किन्तु निरन्तर अग्निमें तपनेसे वह लाल और उष्ण हो जाता है। अग्निसे पृथक् करते ही फिर वह जैसाका तैसा बन जाता है। जलका स्वभाव नहीं है गरम होना, किन्तु पतीलीके नीचे अग्नि जलानेसे वह कुछ देरके लिये गरमसा हो जाता है, पृथक् रख देनेसे फिर अपने स्वभावका अनुसरण करने लगता है, शीतलसा शीतल हो जाता है। जैसे कोई सुन्दर सुगन्धित लड्डू है, उसे आँखोंने देखा, नाकने सूँघा, स्पर्शेन्द्रियने स्पर्श किया। चित्तमें आया इसे खाले। खानेपर बड़ा स्वादिष्ट लगा। फिर देखा, फिर खा लिया। अब तो उसके चित्तमें इच्छा उत्पन्न होने लगी। लड्डूके न होनेपर इच्छा नहीं होनी चाहिये थी, किन्तु वासना रूपसे वह चित्तमें प्रवेश कर गया। इसीलिये लड्डूके न होनेपर भी चित्तसे ही उसकी अभिव्यक्ति होती रहती है।

सनकादिकोंने कहा—"फिर यह वासना निवृत्त कैसे हो?"

हँसकर हंस भगवान्‌ने कहा—"अरे भाई! निवृत्त तो तब हो, जब उसमें लगी हो। यह तो एक मिथ्याभिनिवेश है। इस विषयमें एक दृष्टान्त सुनो।

एक सिंहका बच्चा था, किसी कारण वह अपनी मातासे बिछुड़ गया। एक भेड़ियाने उसका पालन-पोषण किया। अब सिंहका बच्चा निरन्तर उनके साथ रहते रहते अपनेको भेड़िया ही समझने लगा। उन्हींके सब गुणोंका अनुसरण करने लगा। वास्तवमें तो वह भेड़िया था नहीं, किन्तु संगसे उसे ऐसा भ्रम हो गया। एक दिन कोई सिंह आया। उसे देखकर सब भेड़िया भागने लगे। वह भी भागने लगा। सिंहने सोचा—"यह बच्चा तो सिंहका है, मेरा ही स्वरूप है, फिर यह मुझसे डरता क्यों है।"

सिंहने जाकर उसे पकडा और कहा—"तू मुझसे डरता क्यों है ?"

उसने कहा—"मैं भेड़िया हूँ, मेरे सब साथी डरकर भागते हैं, इसलिये मैं भी भागता हूँ।"

सिंहने कहा—"सबको तो डरना चाहिये। किन्तु तू तो मेरा स्वरूप है। तू तो सिंह ही है। तू जलमें अपना मुख देख।"

यह सुनकर उसने जलमें मुख देखा। सिंहसे अपने मुखको मिलाया। उसे निश्चय हो गया मैं सिंह हूँ। तुरन्त उसका डर भाग गया और भेडिया होनेका भ्रम भी चला गया। वास्तवमें वह न तो कभी भेडिया था न उसे सिंहसे डरनेका कोई कारण ही था, फिर भी भ्रमवश अपनेको भेडिया समझकर क्लेश उठाता रहा। इसी प्रकार जब तक जीव अपनेको विषयासक्त चित्तका स्वरूप समझता रहेगा, तब तक उसे पुनः पुनः जन्म और पुनः पुनः मरणके चक्करमें घूमना ही पड़ेगा। उसका संसार-सागरसे उद्धार नहीं हो सकता। जिस समय अपने शुद्ध स्वरूपको मेरा ही रूप समझने लगेगा, उस समय उसका न चित्त कुछ बिगाड़ सकता है न विषय। चित्तमें विषय आते रहे या विषय वासना रूपसे चित्तमें भरते रहे, उसे हर्ष शोक कुछ भी न होगा। इसलिये चित्त और विषय दोनों उपाधियोंको त्यागकर अपनेको निरुपाधिक अनुभव करना चाहिये। यही संसार सागरसे तरनेका उपाय है।

सनकादिकोंने कहा—"भगवन् ! जब जीव सोता है, जागता है, स्वप्न देखता है और उनके सुख दुःखोंको भी अनुभव करता है, जन्म लेता है मरता है, तब उसे हमें चित्त और विषयोंसे पृथक् कैसे समझें।"

इसपर हंस भगवान् बोले—"मुनियो ! सोना, जागना, स्वप्न देखना तथा उनके दुख सुखोंको अनुभव करना यह जीवका काम

नहीं है। ये सब तो तीनों गुणोंकी विषमता होनेके कारण बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। जीवका निर्णय या निश्चय करनेवाली बुद्धि इनसे पृथक् है।"

सनकादिकोंने कहा—"बुद्धिकी वृत्तियाँ ही सही। फिर भी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इनका अनुभव तो जीव ही करता है। उपाधि ही सही, जन्म मरण तो होता ही है।"

हंस भगवान्‌ने कहा—"जीवको गुणवृत्ति प्रदान करनेवाला जो यह संसार बन्धन है, उसे मुझ साक्षी रूप तुरीयमें स्थित होकर त्याग दे। यह निश्चय कर ले। मैं जाग्रतका अभिमानी नहीं, स्वप्नका नहीं, सुषुप्तिका नहीं, मैं तो इन तीनोंसे विलक्षण हूँ। "मानो तो देव नहीं पत्थर है।" अपने को जब बद्ध मान लिया है तो संसार बन्धन होता है। जब इन विषयोंसे ऊपर उठकर अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान हो जायगा, चित्त और गुणोंके परस्पर सम्बन्धका त्याग हो जायगा तो चित्त और विषयोंका सम्बन्ध कुछ वास्तविक थोड़ा है, कल्पित है, अपनेको उनसे पृथक् समझो। फिर उनमें कोई आकर्षण ही न रहेगा। जिसे आत्म कल्याणकी इच्छा हो उसे इस अहंकार जनित बन्धनकी ओर से नितान्त उपरत हो जाना चाहिये। अपनेको कर्ता समझकर दुख भोगना यही संसृतिका हेतु है। आत्माके लिये यही अनर्थ का कारण है। इसलिये तीनों अवस्थाओंके अभिमानको त्याग कर मुझ तुरीय आत्मामें अवस्थित हो जाओ। तभी ये सब सांसारिक चिन्तायें अपने आप छूट जायँगी। जब तक संभेद भाव है तब तक बन्धन है।

सनकादिकोंने पूछा—"यह भेद बुद्धि कैसे हटे?"

हंस भगवान् बोले—"हटनेके उपाय यही हैं, कि विचारसे विवेकसे, विमर्शसे, तर्क-वितर्कसे अनेक युक्तियोंसे यह निश्चय करें कि वास्तवमें 'मैं' कौन हूँ। जब तक अपनेको विषयोंमें

बँधा समझोगे, तब तक चौरासीमें भ्रमते रहोगे।"

सनकादिकोंने कहा—"भगवन्! यह प्राणी जानता हुआ भी विषयोंको क्यों भजता है, क्यों संसार बन्धनमें बँधता है?"

हंस भगवान् बोले—"भ्रमवश ऐसा होता है। स्वप्नावस्थामें न पुरुष है न छुरा है, इनके न होते हुए भी स्वप्नमें कोई छुरा भोंकता है, तो उस समय तो यथार्थ ही अनुभव होता है कि कोई हमारे छुरा भोंक रहा है। मिथ्या होनेपर भी स्वप्नमें ये सब सत्य ही प्रतीत होते हैं। उस समय यह नहीं भान होता कि मैं शैयापर सोया हुआ स्वप्न देख रहा हूँ, उस समय तो प्रत्यक्ष यही दीखता है कि मैं एक वन में हँसता हुआ खेल रहा हूँ, या दूसरा कोई कार्यकर रहा हूँ एक पुरुषने आकर छुरेसे मुझपर प्रहार किया। जिस प्रकार पुरुष, छुरा, प्रहार ये सब मिथ्या होनेपर भी सत्य दीखते हैं, उसी प्रकार अज्ञानमें सोये हुए भी संसारी लोग अपनेको जागा हुआ समझते हैं और विषयोंके कारण दुःख उठाते हैं। इसी प्रकार एक आत्मा सत्य है और जितने सब दिखाई देनेवाले अनुभव किये जानेवाले पदार्थ हैं, वे स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान मिथ्या हैं। उनका अत्यन्ताभाव है। ये सब भेद मेरी मायाके ही कारण दिखायी देते हैं, कि यह देवदत्त है, यह यज्ञदत्त है, यह अश्व है, यह यजमान है। यह यज्ञ हैं, यह यज्ञसे प्राप्त स्वर्गादि गतियाँ हैं, यह शुभ कर्म है यह अशुभ कर्म है। ये सबके सब स्वप्नमें दिखायी देनेवाले पदार्थोंके सदृश हैं। जैसे जागने पर वे सब पदार्थ नहीं रहते और न उनके द्वारा प्राप्त सुख दुख को ही सत्य समझते हैं, उसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर न चित्त रहता है न विषय, ये सब विलीन हो जाते हैं।"

सनकादिकोंने कहा—"भगवन्! यह संसार हमें निरन्तर

दीखते रहने से सत्य सा ही प्रतीत होता है। हम मनसे बहुत चाहते हैं, इसे मिथ्या मानें। किन्तु जो आठों प्रहर हमारे सिरपर चढा रहता है उसका सर्वथा अभाव कैसे माने? कैसे हम इससे अपनेको आत्मरूप समझकर पृथक् करें?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सनकादिकोंने हंस भगवान्‌से संसार भ्रम निवारणका प्रश्न किया, तो उन्होंने जिस प्रकार उपदेश दिया और उसका वर्णन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने जिस प्रकार उद्धवजीसे किया, उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ, तुम इस गूढ ज्ञानमय उपदेशको श्रद्धा भक्तिके सहित श्रवण करो।"

छप्पय

दोऊ जीव उपाधि शुद्ध निज रूप निहारौ।
बुद्धि अवस्था तीनि आतमा इन तैं न्यारौ॥
मुक्त तुरीय महँ पहुँचि जगत् बन्धन नहिं लागै।
चित्त विषय नसि जायँ अहंता अपनी त्यागै॥
भेद बुद्धि जब तक नहीं, नसै न तब तक बुद्ध है।
जग प्रपञ्च मिथ्या असत्, ब्रह्म सत्य शिव शुद्ध है॥

—::❀:.—

भ्रम निवारणका उपाय

(१२५८)

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था-
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत मखिलसंशयाधिम् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १३ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

सर्व नियामक नित्य निरंजन आत्मा सत्चित ।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति सबहिँ मायामहं कल्पित ॥
ज्ञान खड्गकूँ धारि तीक्ष्ण युक्तिनितें करि करि ।
अहंकार कूँ काटि मोइ भजि जगकूँ परिहरि ॥
नश्वर दृश्य प्रपञ्च जिह, भासै नाना रूपमहँ ।
दीखै मायामय त्रिविधि, मिथ्यास्वप्न स्वरूपमहँ ॥

यदि हमे अँधेरे में भूतका भ्रम हो जाय, तो मन भूतके

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव ! इस रूप से मैंने मुनियोंसे कहा था—"मुनियो ! इन्द्रियदियोंका नियामक मैं ही हूँ । अतः इस बातको विचारकर यह निर्णय करे कि जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ मुझमें ही मेरी माया द्वारा ही कल्पित हैं । मुनियोंके सद्वचनों द्वारा तथा अनुमान द्वारा तीक्ष्ण ज्ञानरूपी करबालसे अखिल संशयोंके आश्रय रूप अहंकारको काटकर मेरा भजन करो ।"

सभी अङ्गोंकी कल्पना अपने आप करने लगेगा। भूतकी बड़ी बड़ी दाढ़ें न होनेपर भी दीखने लगेंगी। भूतके उलटे बड़े बड़े पैर हमारी आँखोंके सम्मुख नृत्य करने लगेंगे और उसका फटा हुआ विकराल मुख हमें अँधेरे में अपनी ओर बढ़ता हुआ दिखायी देगा, उसी समय कोई महा प्रकाश लेकर आजाय, तो न वहाँ भूत रहता है न भूतकी परछाईं। प्रकाशको देखकर भूत भाग गया हो, सो बात नहीं है, भूत वहाँ था ही नहीं वह तो मिथ्या भ्रम था। इसी प्रकार प्रपञ्चमें जो द्वैत दिखायी देता है, वह ज्ञान होनेपर नष्ट हो जाता हो, सो बात नहीं। द्वैतका अस्तित्व ही नहीं। भ्रमवश उसकी प्रतीति होती है। ज्ञान होनेपर प्रतीति नहीं होती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भ्रम निवारणका उपाय बताते हुए हंस रूपसे भगवान् सनकादिक मुनियोंसे कह रहे हैं—"कुमारो! आत्मामें द्वैत नहीं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ यह एक ही आत्माकी संज्ञायें हैं। जागरण अवस्थामें वही समस्त इन्द्रियोंसे बाहरके क्षणिक पदार्थोंका उपभोग करता है। जिसे इस बातका अभिमान है, कि मैं जागृत अवस्थामें नाना कार्यों-को करता हूँ, अनेक वस्तुओंको देखता हूँ, इतनी दूरके पथमें चलता हूँ, वह और स्वप्नमें जो वासनामय जगत्के नाना विष-योंका हृदयमें अनुभव करता है, भोगता है और उनके भोगसे सुखी दुखी होता है वह तथा जो सुषुप्ति अवस्थामें मन और इन्द्रियोंके लय हो जानेपर साक्षी रूपसे जो रहता है वह ये सब एक ही हैं। एकके ही अवस्था भेदसे तीन नाम हैं। उसे यों समझो।

एक सेठ है, उसका एक छोटा-सा मन्दिर है। उसमें एक पुजारी रख रखा है। वही भगवान्का भोग बना लेता है और वही भगवान्के सम्मुख पुराण पाठ भी कर देता है।

जिस समय वह भोजन बनाता है, उस समय उसे रसोयाजी कहकर लोग पुकारते हैं। जिस समय पूजा करता है, उस समय पुजारी कहते हैं। कथा वाचता है तब पंडितजी कहते हैं। रसोया, पुजारी, पंडित वह ये तीनों एक ही व्यक्ति है किन्तु अवस्था भेदसे उसमे भेद हो जाता । आत्मा एक ही है। अवस्था भेदसे उसीकी विश्व तैजस, प्राज्ञ ये तीन संज्ञायें हो जाती हैं। वास्तवमे इन तीनोंसे परे वह तुरीय है।"

मुनियोंने पूछा—"भगवन्! जाग्रत अवस्थामे तो वह इन्द्रियोंका नियामक है ही, स्वप्नावस्थामे वासनामय विषयोंका जो अनुभव होता है उसका साक्षी बनकर रहता होगा, किन्तु सुषुप्ति अवस्थामे तो सभी मन और इन्द्रियाँ विलीन हो जाती हैं, उस समय आत्मा साक्षी रूपसे कैसे रहता है, किस वस्तुका अनुभव करता है, यह बात बुद्धिमे नहीं बैठती?"

हंस भगवान् बोले—"मैं सो गया, इसकी प्रतीति किसे होती है? सोनेके अनन्तर उठकर जो कहता है—"आज तो बडी गहरी निद्रा आयी, एक भी स्वप्न नहीं देखा। पड़ते ही एक करवट सोता रहा अभी उठा हूँ बड़ी मीठी मीठी निद्रा आयी।" जब निद्रामें सभी लीन हो जाते हैं तो सुखकी नींद आयी, उसका अनुभव किसने किया?" सुखका अनुभव किया इससे प्रतीत होता है, सबके सो जानेपर भी सोनेके सुखका अनुभव करनेवाला कोई जागता ही रहा। जो जागता रहा वही आत्मा है। वह तीनों अवस्थाओंकी स्मृतिसे युक्त होने के कारण उन तीनोंका साक्षी तथा इन्द्रिय और मनका नियामक है।"

मुनियोंने पूछा—"फिर उस आत्माका अनुभव कैसे हो?"

हंस भगवान् बोले—"समस्त संशयोंका आश्रय रूप यह

अहंकार है। अतः सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करे कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों ही मनकी अवस्था है। आत्मा तो सदा जागृत है। सदा एकरस है। मनकी ये अवस्थाएँ मेरी मायाके गुणो द्वारा मुझ परमात्मामें ही कल्पित हैं। इसका अनुमान लगावे। जैसे मेरी आँखे दुखने आगयीं, मेरे कानोंसे कम सुनायी देता है। इससे प्रतीत होता है। आँख, कान नाक ये पृथक् है और जो मेरा कहता है वह पृथक् है। मेरा कहते हैं—"आज तो मेरा मन चंचल हो गया।" वहाँ जानेपर मेरे मनमे आया इस कार्यमे इतना दान दे दूँ।" इन वचनोंसे प्रतीत होता है। मन पृथक् है और उसका नियामक मनसे विलक्षण है। फिर कहते हैं—"आप इस बातको बार बार कहते हैं, किन्तु यह बात मेरी बुद्धिमें बैठती नहीं।" इससे स्पष्ट है, कि मेरी कहनेवाला अन्य है और बुद्धि अन्य है। शास्त्रोंमे भी बार बार कहा गया है "अरे, आत्मा को ही देखो, उसीका मनन करो।" इस प्रकार अनुमान तथा ऋषियोंके वाक्यो द्वारा ज्ञान रूपी खड्गको तीक्ष्ण कर लो। उसी तीक्ष्ण करबालसे इस सर्व संशयोंके आश्रय रूप अहङ्कारको काटकर अपने ही हृदयमें विराजमान मुझ सच्चिदानन्द घन आत्मरूपका भजन करो।"

सनकादिकोने कहा—"भगवन्! आप इस संसारको असत् बताते हैं, किन्तु यह तो सदा हमारे सिरपर चढा रहता है। इसका निवारण कैसे करें?"

हंस भगवान् बोले—"अरे, भाई! इसमे करनेकी कौन सी बात है। भ्रान्तरूप इस संसारको केवल मनका विलास मात्र समझो। यह केवल दीखता ही दीखता है इसमे कुछ सार नहीं जैसे इन्द्र धनुष, जलकी नीलिमा, आकाशकी छाया मृग मरीचिका दिखायी तो ये सब वस्तुएँ देती हैं, किन्तु

वास्तवमें कुछ हैं नहीं। जो दिखायी देता है सब नाशवान् है। देखो, बच्चे एक मिट्टीके पात्रमें राख रखकर अग्निकी चिनगारी रखकर उसे वेगसे घुमाते हैं। वेगसे घुमानेसे एक अग्निका गोल—सा चक्र स्पष्ट दिखायी देता है। सभी उसे देखते रहते हैं, किन्तु वास्तवमें वह गोला है नहीं भ्रम है। आँखोंमें उँगली देकर दो चन्द्रमा दीखते हैं, किन्तु दो चन्द्र हैं नहीं। पानीके ऊपर बुद बुदा है, वह पानीसे भिन्न नहीं, जल की चचल तरगे हैं, जलके ऊपर स्पष्ट तरगे दीखती हैं, किंतु वे जलसे भिन्न नहीं। इसी प्रकार यह अत्यंत चंचल क्षण भंगुर नाशवान् जगत् उसी एक विज्ञानमें नाना रूपसे भास रहा है। उस एक ही विज्ञानमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन प्रकारके विकल्प मायामय हैं, स्वप्न रूप हैं। इसके हटनेका उपाय यही है, इसकी ओरसे नेत्र मूँद लो। विषयोंके प्रति जो तृष्णा है उससे रहित हो जाओ। यदि इस जगत्से दृष्टि हटाकर दृष्टिको भीतरकी ओर ले जाओगे मौन रहकर आत्मतत्वका ही अनुभव करोगे तो तुम्हें अमृततत्वकी प्राप्ति होगी। अब तुम इधर ध्यान ही मत दो निजानन्दमें परिपूर्ण होकर तथा निश्चेष्ट होकर आत्मानन्द सुखका अनुभव करो।"

सनकादिकोंने कहा—"महाराज! यह सब तो सत्य है, किन्तु जब भूख लगती है, प्यास लगती है, तो सब ज्ञान भूल जाता है। तब तो यह असत् संसार ही सत् प्रतीत होने लगता है।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे, भाई! क्षुधा पिपासा कुछ आत्माके धर्म तो हैं ही नहीं, भूख प्यासके समय संसारकी याद आ भी जाय, तो भी कुछ हानि नहीं। स्वप्न समाप्त होनेपर जागनेपर स्वप्नमे देखा सिंह, स्मरण भी हो जाय, तो वह क्लेश

तो नहीं दे सकता। भय तो नहीं पहुँचा सकता। इसी प्रकार जब एक बार पूर्ण ज्ञान हो गया यह निश्चय हो गया, कि संसार कुछ वस्तु नहीं है, तो फिर उसकी प्रतीति भले ही हो, यह भ्रम उत्पन्न न कर सकेगा। वैसे जब तक देह है, तब तक संसार भी है। कैसा भी ज्ञानी क्यों न हो, देहपात पर्यन्त इस संसारकी प्रतीति तो होती ही रहती है।"

सनकादिकोंने पूछा—"महाराज जिन्हें संसारके मिथ्यात्व का पूर्ण ज्ञान हो गया है, उनकी स्थिति कैसी होती है, वे कैसे संसारमें व्यवहार करते हैं?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! हंस भगवान्‌ने जैसे सनकादिकोंसे ज्ञानीकी स्थिति बतायी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

निजानन्दमहँ पूर्ण मौन गहि तृष्णा त्यागी।
स्वप्न जगत्‌महँ फँसे मोह निद्रातैं जागी॥
स्वप्न पदारथ याद होंहि जाग्रत महँ जबई।
करैं न कछू अनर्थ विज्ञ समझै त्यों सबई॥
मदिरातैं उनमत्त नर, मोरीमहँ गिर जातु हैं।
नगो ह्वैकें हसि परै, सुधि बुधि सकल भुलातु हैं॥

—❀—

हंसगीताकी समाप्ति

(१२५९)

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत्सांख्ययोगयोः ।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविविक्षया ॥*

(श्रीभा० ११स्क० १३अ० ३८श्लो०)

छप्पय

यों ही ज्ञानी करै कर्म पीवै अम्मृत रस।
तनमहँ नहिँ आसक्त होहिँ तन काज दैववश ॥
द्विजगन ! मोकूँ परमपुरुष परमेश्वर मानौ।
साख्य, सत्य, श्री, कीर्ति परमगति सबकी जानौ ॥
सब मुनि मिलि पूजा करी, हंस तहाँतैं उड़ि गये।
सुन्यो हंस-गीता विमल, अज मुनिगन प्रमुदित भये ॥

रात्रिमें ठूँठ तभी तक हमें भय उत्पन्न करनेमे समर्थ रहता है, जब तक हमें उसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता । जब हम उसे समझ लेते हैं कि अरे, हम जिसे अंधेरे मे चोर या भूत समझते थे, वह तो कटे हुए वृक्षका सूखा ठूँठ है, तो हमारे हृदयसे

* हंस भगवान् सनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"हे विप्रो ! मैंने तुमको यह सांख्य और योगका गुह्य रहस्य बताया है, तुम मुझे साक्षात् यज्ञपुरुष भगवान् ही जानो तुम लोगोंको धर्मउपदेश देनेको आया हुआ हूँ।"

सब भय निकल जाता है। भय निकलने पर ठूँठ वहाँसे भाग जाता हो, सो भी बात नहीं, वह वहाँ का वहीं बना रहता है, उसके बने रहने पर भी भय नहीं होता। स्वप्नावस्थामें एक कल्पित वधिक दीखता है, उसके हाथमें एक खड्ग दीखता है, वह हमारे कण्ठमें उसे घुसेड़ता है। ये सभी कल्पित वस्तुएँ हैं, फिर भी हम डर जाते हैं। चिल्ला उठते हैं। बड़ा कष्ट होता है। तुरन्त जाग पड़ते हैं। जागने पर वह कल्पित वधिक, खड्ग और कंठ सबके सब स्मरण होते हैं, कल्पनाशक्ति भी वही है, फिर भी वे भय उत्पन्न नहीं करते। कारण कि अब तो हम जागे हुए हैं। उन सबकी याद आरही है किंतु हम सोचते हैं, यह तो स्वप्न की कल्पित वस्तुएँ हैं, मिथ्या हैं। इसी प्रकार ज्ञानीके कोई सींग नहीं निकल आते। न उसकी दृष्टि के सम्मुखसे देवदत्त, माता, पिता, भाई बन्धु, घर, परिवार, पञ्चभूत, घट पट तथा सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक पदार्थ विलीन ही हो जाते हैं। इन सबके बने रहने पर भी—दृष्टिके सम्मुख दीखते रहने पर भी—वह सबको मिथ्या मानता है। अतः उसे न कोई घटना विलक्षण ही प्रतीत होती है, न उनके कारण सुख दुःख ही होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सनकादि मुनियोंने हंस-भगवान् से ज्ञानी की स्थितिके सम्बन्धमें प्रश्न किया, तब हंस-भगवान कहने लगे—'अरे, मुनियो! तुम मुझसे ज्ञानीकी स्थिति पूछते हो? तुम मर्त्यलोकमें जाओ प्रत्यक्ष ज्ञानीकी स्थिति देखो। शरीरके रहते हुए भी ज्ञानी सदा शरीरके अभिमानसे पृथक् रहता है। ज्ञानीकी बात छोड़ दो। तुमने कभी सुरापियोंको देखा है?"

मुनियोंने कहा—"हाँ, महाराज! बहुतसे सुरापियोंको हमने सुरापान करके उन्मत्तोंकी भाँति प्रलाप करते तथा गलियोंमें नालियोंमें पड़े देखा है।"

हंस भगवान् बोले—"तुम उन्हींको देखकर ज्ञानीकी स्थितिके विषयमें अनुमान लगा लो। सुरापानके पूर्व उस व्यक्ति की कैसी दशा थी, दूरसे ही कोई मैली कुचैली वस्तु दिखायी दे जाय तो नाक बंद करके उससे बचकर चला जाय। भूलसे भी किसीका गंगाजल का छींटा पड़ जाय, तो कितना लाल ताता होजाता था। वही जब सुरापान करके उन्मत्त हो जाता है, तब शरीर तो वही है। भोजन देदो तो स्वभाववश खालेगा, मुखसे जल छुआ दो तो पीलेगा। किंतु अब उसे भेद भाव नहीं है। पहिले जहाँ धोती घुटनेसे ऊपर भी उठ गयी, तहाँ वह लज्जित हो जाता था, अब नङ्गा पड़ा है, कुछ भी चिंता नहीं। मोरीमें गिर गया है और उसका मैला जल उसके फटे मुखमें जारहा है, तो भी वह हँस जाता है। बोलता ही है तो असम्बन्ध प्रलाप करता है। शरीरपर कपड़ा हो अथवा न हो। सम्मुख चाहे बहिन खड़ी हो या भार्या उसके लिये कुछ भी भेदभाव नहीं। इसीप्रकार सिद्ध पुरुष जब ज्ञानामृतका पान कर लेते हैं, तो संसार तो जैसाका तैसा बना रहता है, किंतु उनकी दृष्टिमें वह सदा मिथ्या ही प्रतीत होता रहता है, शरीरमें उनकी कोई आसक्ति नहीं रहती। जीवनभर शरीरके जो कार्य किये हैं, ज्ञान होने पर स्वभाववश वे कार्य होते रहते हैं। शरीर खड़ा हो गया, चलने लग गया, बैठ गया, लेट गया। मल मूतका परित्याग कर दिया, ज्ञानी का मुख्य मन इन कार्योंकी ओर जाता ही नहीं। ये सब दैववश होते रहते हैं।"

सनकादि मुनियोंने पूछा—"भगवन्! दुख सुख तो शरीरमें जब तक प्राण रहते हैं, होने ही चाहिये। यदि उसपर कोई प्रहार करें, तो उस ज्ञानी को कष्टका अनुभव न होगा?"

हंस भगवान्ने कहा—"अरे, भाई! कष्ट तो तब होता हो जब उसकी इस पाञ्चभौतिक शरीरमें आसक्ति हो। इस शरीरको ही आत्मा समझता हो जब उसने समझ लिया कि आत्मा नित्य

शुद्ध मुक्त है और शरीर अनित्य, नाशवान् और पाँचोंभूतोंके बन्धनमे है। ये भिन्नधर्मी हैं। तो फिर उसकी देहमें आसक्ति होने ही क्यों लगी ? जब जागकर समझ लिया कि स्वप्नमे देखा हुआ सिंह मिथ्या था, तो जागनेपर उसकी कितनी भी स्मृति हो, उससे भय होता ही नहीं। ज्ञानीने तो शरीरकी ममताको छोड कर अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, फिर देहके सुख दुःखोंसे वह सुखी दुखी क्यों होगा। देह रहे तो भी उत्तम न रहे तो भी उत्तम। कोई फूल चढावे तो हर्ष नहीं। मल मूत्र फेंक दे तो उससे विषाद नहीं।"

मुनियोंने कहा—"तब भगवन् ! ऐसी स्थितिमे तो शरीर रहना ही न चाहिये। शरीर तो "अहंता" के कारण ही टिका हुआ है। जब इसमें अहंता न रहेगी, तब तो शरीर टिकना ही न चाहिये।"

हस भगवान् ने कहा—"नहीं, मुनियो ! यह बात नहीं। शरीर तो कर्माधीन है। सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन प्रकारके कर्म होते हैं। जैसे संचित तो वे कर्म कहाते हैं जो जन्म जन्मान्तरों के एकत्रित होते हैं। उन कर्मों से एक जन्मके भोगने के लिये कर्म देकर जो शरीर बनता है उन्हे प्रारब्ध कर्म कहते हैं और जो कर्म हम करते हैं, उन्हे क्रियमाण कर्म कहते हैं, वे जाकर संचित कर्मों में मिलते जाते हैं। जैसे किसीने बहुत दिनों तक धन एकत्रित किया उसके पास जो पैतृक धन था उसे भी उसने मिला लिया। उस सबको एक महाजन के यहाँ रख दिया। महाजन उसे व्याज देता है। व्याजसे वह व्यापार भी करता है, उससे जो लाभ होता है, उसे भी वह महाजनके यहाँ रखता जाता है। महाजनके यहाँ जो सब धन एकत्रित किया है वह तो संचित है। उससे जो व्याज मिलती है, वह प्रारब्ध है, उसे जो व्यापारसे लाभ होता है और उसे महाजनके यहाँ एकत्रित करता जाता है,

वह क्रियमाण है। दैवयोगसे महाजनका दिवाला निकल गया, अब उसका सब धन नष्ट हो गया जो नित्य जमा करता था, वह भी नष्ट हुआ और पुराना मूल धन भी गया, किंतु उसे जो आज ब्याज मिली थी, वह तो उसके पास रह ही गयी। जब तक वह ब्याज रहेगी तब तक खायगा। जब समाप्त होजायगी निर्धन हो जायगा। इसी प्रकार ज्ञान हो जानेपर संचित और क्रियमाण कर्म तो उसके नष्ट हो जाते हैं, किंतु प्रारब्ध कर्मों का नाश तो भोगने से ही होगा। बिना भोगे प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते। इसीलिये जब तक देहारम्भके प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं, तब तक ज्ञानीका शरीर जीता रहता है। अन्य लोगोंकी भाँति उसके शरीर की भी क्रियायें होती हैं, अन्तर इतना ही है कि उसे समाधि सुख मिल चुका है, वह समाधियोगमें आरूढ़ होकर आत्माका साक्षात्कार कर चुका है, अब इस दृश्य प्रपञ्चके रहने पर भी उसे उसमें आसक्ति नहीं होती, क्योंकि वह इसके यथार्थ रूपको समझ चुका है, जिसने ब्रह्मानन्द सुखका अनुभव किया है, वह इस मल मूत्र से भरे शरीरमें सुखानुभव कैसे करेगा। वह तो स्वप्नमे देखे पदार्थों के सदृश सभी इन्द्रियजन्य विषयोंको मिथ्या समझेगा। उसकी न शरीरमें ममता रहेगी न इसे पालने पोसने और पुष्ट करनेकी चिंता ही रहेगी।"

सनकादिकोंने कहा—"भगवन्! अब हम समझ गये। आपने हमारे ऊपर बडी अनुग्रह की। हमारे पिताजी तो हमारे प्रश्नको सुनकर मौन हो गये थे।"

भगवान् बोले—"कोई बात नहीं, तुम्हारे पिताने उत्तर न दिया तो तुम्हारे पिताके पिताने ही उत्तर दे दिया। आत्मासे उत्पन्न होनेके कारण पुत्र और पितामें कोई भेद नहीं होता। पिता ही पुत्र बन कर पुनः प्रकट होजाता है। तुम मुझे अपने पिताका भी पिता मानो। बेटाओ! मैं ही योगका अन्तिम लक्ष्य हूँ। साख्य वाले

जिसे परमतत्व कहते हैं, वह भी मैं ही हूँ। जिसे सत्य और ऋतं कहते हैं, वह सत्यस्वरूप मै ही हूँ। जिसका तेज संसारमे व्याप्त है, जिसके अंशांश तेजको पाकर ब्रह्मादि देव तेजस्वी कहाते हैं उन सब तेजोंका एकमात्र आलय निदान मैं ही हूँ, मैं ही समस्त तेजस्वियोंमे श्रेष्ठ हूँ। श्री मेरा ही स्वरूप है, जिस कीर्तिके लिये संसारी लोग लालायित रहते हैं, वह कीर्ति मेरे अतिरिक्त और कुछ नही है। तपस्वी लोग इन्द्रियो और मनको वशमें करके जो शम दम करते है वह मैं ही हूँ, कहाँ तक कहूँ, पुत्रो! सब कुछ मैं ही मैं हूँ, मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जितने साधन हैं उन सबकी परम गति मै ही हूँ। शास्त्रकार जो बारम्बार चिल्लाते हैं, सब भूतोमे समबुद्धि करो, किसीमे भी विषमबुद्धि मत करो, वह समता किसमे की जायगी? कहना होगा, एकमात्र मुझमे ही अर्थात् मुझे ही सबमे समझो। या सब कुछ मुझे ही समझो। शास्त्र बारबार कहते हैं—"दृढ़ असङ्ग शस्त्रसे मोहको काट डालो।" तो वह असङ्गता मुझे ही भजती है। अर्थात् एकमात्र मुझसे ही संग करो। मैं सभी गुणोसे रहित निर्गुण हूँ, मुझे किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं, किसी धनकी किसी सामग्री की अपेक्षा नहीं। परमप्रेमास्पद मैं ही हूँ, सबमें आत्मा रूपसे मैं ही क्रीड़ा कर रहा हूँ। मेरे अतिरिक्त न कोई उत्पन्न हुआ न किसीका अस्तित्व है, फिर प्रलयकी तो बात ही क्या। ये नाना भाव, नाना दृश्य, नाना वाद विवाद कल्पित हैं, मिथ्या हैं, असत् हैं अजात हैं असंभव हैं। सबका एकमात्र आश्रय मुझे ही मानो मेरे प्यारे बच्चो! न चित्त है न विषय ही हैं। यह सब ऐसे ही गन्धर्वनगर और मृगमरीचिकाके सदृश न होते हुए भी अज्ञानमें भास रहे हैं।"

सनकादि मुनियोंने हंस भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया और बोले—"भगवन! आपकी कृपासे हमारा सन्देह दूर हो

गया, हमारा मोह नष्ट हो गया। अब हम समझ गये कि यह सुख है यह दुख है, यह भला है, यह बुरा है यह उत्तम है यह अधम सभी मिथ्या कल्पना है, माया है। एकमात्र आत्मरूपसे आप ही सत्य हैं। वह आत्मा 'अहं' रूपसे सर्वत्र व्यक्त हो रही है। वह मैं ही हूँ।"

मैंने हँसकर कहा—"हाँ, पुत्रो वह तुम ही हो। "अहं और त्वं" में कोई भेद नहीं। जो इनमें भेदभाव करता दो बताता है वही पछताता है, वही रोता है उसे ही भय होता है।

श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् उद्धवजी को उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"उद्धव जब हंसरूपसे मैंने सनकादिकों के सर्व संशयोंको दूर कर दिया, उनके प्रश्नका यथार्थ उत्तर दे दिया तो, वे सब बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धाभक्तिसे पूजा की। नाना स्तोत्रों से मेरी स्तुति की। उनकी पूजाको विधिवत् ग्रहण करके मैं तुरन्त अपने पङ्खोंको फटफटाते हुए वहाँ से उड़ गया। उड कहाँ गया वहीं अन्तर्हित हो गया। वहीं अदृश्य हो कर अपने धाममे चला गया। यह मैंने तुमसे गूढ़ ज्ञानमयी यह हंसगीता सुनायी तुम और क्या सुनना चाहते हो?"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! आप पक्षी क्यो बने?"

हँसकर भगवान् बोले—दोनों पक्ष एक ही काम करते हैं, दोनों पक्षोंके सहारे ही उड जाता है इसलिये मैं पक्षी बना।"

उवद्धजीने कहा—"महाराज! मनुष्यको पक्षी उपदेश करे यह बात तो हमारी बुद्धिमें बैठी नहीं। आपको उपदेश ही करना था, तो मुनियोंको उपदेश देने मुनि ही बनते।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे, भाई! मुझे तो जो जैसे भजता है, वैसा ही मैं रूप रख लेता हूँ। ये ज्ञानी लोग शुष्क प्रकृतिके होते हैं। इनमे सरसता तो होती नहीं तर्कप्रधान होते हैं। इनका तो कहना है कुत्तेमे और कुत्तेके मांस खानेवाले में कोई अन्तर नहीं।

ये लोग सुन्दर स्वरूपके तो उपासक होते नहीं । निर्गुणका ध्यान करते हैं। अजपा गायत्री निर्गुण हैं। स्वास हकारसे बाहर जाती है सकारसे भीतर प्रवेश करती है। इसी लिये जीव 'हंस' इस परम मंत्र का निरन्तर जप करता रहता है। मुझे निर्गुण का उपदेश करना था। हंसका स्मरण हो आया, तुरन्त हंस बन गया। इनको भेदभाव तो था ही नहीं, कि यह पक्षी है यह मनुष्य है पक्षीसे ज्ञान न लेना चाहिये । इसलिये मैं हंस बन कर आगया। दूसरे ये सभी मुनि सात्विक थे। सत्वका स्वरूप शुभ्र है, इसलिये सफेद हंस बन कर आया। असुर तामसी होते हैं, उनके लिये मैं सूअर बन गया। दैत्य भयावने होते हैं इसलिये मैं विकराल नृसिंह बन गया।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! आपके इन कच्छ, मच्छ, हंस नृसिंह रूपोंको दूरसे ही डंडौत है। आपके ही ये सब रूप हैं, इसलिये हम अश्रद्धा या उपेक्षा तो करते नहीं, किंतु हमें तो आपका यह त्रिभुवन विमोहक श्यामसुन्दर स्वरूप ही अत्यन्त प्रिय है। प्रभो ! ये ज्ञानके सूखे सत्तू हमारे कण्ठके नीचे तो उतरते नहीं। जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है, करते करते जगत्का ही ध्यान रहता है रागसे किसीका चिंतन करो या द्वेषसे, ग्रहण करने की इच्छासे स्मरण करो या भूलनेकी इच्छासे स्मरण उसीका आवेगा। भुलानेकी इच्छासे करो, तो उसका अधिक स्मरण आवेगा। किससे कह दो—"अमुक मंत्रका जप करो, किन्तु बन्दरका स्मरण न आने पावे। नहीं सब नष्ट हो जायगा।" यदि इस बातको न कहते, तब चाहे बंदर याद न भी आता, मना करनेपर वह अवश्य याद आवेगा। इसलिये हम तो सोचते हैं, संसार मिथ्या हो सत्य हो इससे हमें क्या प्रयोजन। मिथ्या हो तो उसकी चर्चा ही क्या। मिथ्या तो मिथ्या है ही। सत्य हो, तो वह भी आपके चरणोंके किसी कोने में पड़ा रहे। हमें तो

आपके चरण चाहिये। उन्हींका ध्यान हमें बना रहे। आप भी बार बार यह कह चुके हैं। 'अपने मनको मेरे मनमें मिला दो' तुम सबकी भक्ति छोड़कर मेरे ही भक्त बन जाओ। तुम्हें यज्ञ याग करना हो तो मेरे ही उद्देश्यसे करो। प्रणाम करना हो मेरे ही पादद्वोंमें करो।" फिर आप हंस बनकर यह चित्त है, यह विषय है। यह जाग्रत है यह स्वप्न है—यह सुषुप्ति है, यह विश्व है, यह तैजस है, यह प्राज्ञ है यह तुरीय है। इस पचड़ेको क्यों ले बैठे। जिन्हें बकनेका अभ्यास है, तर्कके बिना जिन पर रहा नहीं जाता, ऐसे नीरस शुष्क ज्ञानी इन सूखे सत्तुओंको नमक डालकर फाँकते रहे। प्रभो! हम तो मधुरके उपासक हैं। हमें तो आप अपनी भक्तिका उपाय बताइये। आपकी भक्ति कैसे हो, आपके भक्तोंके क्या लक्षण हैं। इनका विस्तार कीजिये। जगत् सत्य हो तो हमारी कुछ हानि नहीं, मिथ्या हो तो हमें कुछ लाभ नहीं। हमें तो भक्तियोग प्रदान करें। अपनी मंद मंद मुस्कराती हुई मनोहर मूर्तिकी छटा दिखाओ। वह त्रिभङ्गललित छवि हमारे मनमंदिरमें नृत्य करती रहे ऐसा उपाय बताओ। हाय! लोग कैसे अंधे हो गये हैं। आपकी ऐसी बाँकी झाँकी को छोड़कर पत्थरसे सिर पटक रहे हैं। पंचीकरणके झमेलेमें पड रहे हैं, मायाके पीछे नमक सत्तू बाँधकर दौड रहे हैं। आपकी मायाका आज तक किसीने पार पाया भी है, कि ये घट पटको मिथ्या बतानेवाले वादविवादी ही पा लेंगे। अस्तु, हम किसीकी क्यों निंदा करें, क्यों किसीके विषयमें कुछ कहें। जिसे ब्रह्मवाद अच्छा लगता हो वह उसे करे, जिसे मायावाद रुचता हो वह उसके चक्करमें पडे। हमें तो अपनी भक्तिके रहस्यको समझा दो। अपने भक्तोंके भेद बता दो। जिस की इन्द्रियाँ वशमें नहीं और आपकी भक्ति करता हो, उनकी क्या दशा होगी, इन बातोंका मर्म समझा दो। लोगों की भिन्न भिन्न प्रकृतियाँ हैं भिन्न २ साधन हैं। आप तो एक हैं,

फिर इन साधनोंमें इतनी भिन्नता क्यों हो गयी ?"

हँसकर भगवान् बोले—"उद्धव ! तुमने तो बडी सुन्दर बात कह दी। अच्छी बात है पहिले मैं तुम्हे यही बताऊँगा, कि मुझे पाने के अनेक मार्ग क्यों हो गये । पीछे तुम्हे भक्तिका रहस्य समझाऊँगा। अब ज्ञानकी शुष्क सरिता को छोडकर अमृतवाहिनी मेरे चरणोंसे निकली भक्ति भागीरथी मे प्रेमसे अवगाहन करो और पेट भरकर त्रिताप नाशक पुण्यपयका पान करो।"

सूतजी शौनकादि मुनियोसे कह रहे हैं—"मुनियो ! अब जिस प्रकार भगवान्ने उद्धवजीको भक्तियोगका रहस्य समझाया उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कहें कृष्ण यह हंसज्ञानमय गीता उद्धव ! ।
सखा समुझिकें कह्यो कहूँ का कथा अपर अब ?
उद्धव पूछें—'प्रभो ! तुम्हें बुध बहुत बतावें।
श्रेयसिद्धिके भिन्न मार्ग ऋषि मुनि बहु गावैं ॥
कही ज्ञानगाथा विमल, तृप्ति न मेरी भई हरि !
कहें भक्तिमहिमा सुखद, सरस मधुर प्रभु कृपा करि ॥

—:❀—

श्रेयसिद्धिके अनेक मार्गोंका कारण

(१२६०)

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥*
(श्रीमा० ११ स्क० १४ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

तब बोले भगवान्-वेद ही मेरी बानी ।
मुख्य भागवत धर्म जाहि धारैं विज्ञानी ॥
आदि सर्गमहँ कह्यो ब्रह्मतैं मनु ढिँग तिनिनें ।
तिनिससर्पिनि दयो कह्यो फिरि सबतैं उननें ॥
गहन कह्यो निज मत सरिस, सबके भिन्न स्वभाव हैं ।
प्रकृति भेद तैं भिन्न पथ भिन्न क्रिया अरु भाव हैं ॥

जो जैसे प्रकृतिका होता है, उसकी क्रिया ही वैसी होती है। कहीं भी चले जाओ किसी भी समाजमें मिल जाओ। स्वभावसे व्यवहार बर्तावसे उनकी प्रकृतिका पता चल जायगा। कुम्भका एक बार प्रयागराजमें मेला हुआ। दशों दिशाओंसे

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"हे नरोत्तम ! मेरी मायासे मोहित मति वाले मनुष्य यथा कर्म यथा रुचि श्रेयसिद्धिके विभिन्न मार्ग बताते हैं।"

नाना पन्थ, नाना मत विभिन्न वेष और अनेको संम्प्रदायों और अखाड़ोंके साधु आये। उनमे चार साधुओंका नाम बहुत प्रसिद्ध है। एक सज्जनने जिज्ञासा की, कि ये चारों साधु किस किस वर्णके हैं। सबने कहा 'चलो' साधुओंसे ही पूछे।" इसपर एक बुद्धिमान व्यक्ति बोले—"देखो, भाई साधु यदि ब्राह्मण जातिका हुआ, तब तो अपनी जातिको बता देगा। यदि अपर वर्णका हुआ, तो ऐसे ही घुमा फिराकर बातें करेगा, कि तुम उसकी जातिका निर्णय ही न कर सकोगे। कह देगा—"जाति पाँति पूछे ना कोई, हरिको भजै सो हरिका होई।" यदि चतुर्थ वर्णका हुआ तो अप्रसन्न भी होगा और कहेगा-"साधुकी जाति परीक्षा और मातृ योनि परीक्षा करना यह समान पाप है। साधु तो जाति पाँतिसे परे होते हैं।" इसलिये उनसे जाकर पूछना उचित नहीं। किसी दूसरे ढँगसे उनकी जातिका निर्णयकर लो।"

उस व्यक्तिने कहा—"दूसरा कौन ढँग है, आप ही बताइये।"

बुद्धिमान व्यक्ति बोले—"इसमे बतानेकी कौनसी बात है। स्वभावको कितना भी छिपाओ, वह छिपता नहीं। बात चीतमें व्यवहारमे वह प्रकट हो.ही जाता है, चलो। हम उनकी बातोंसे ही पहिचान लेंगे।"

यह कहकर दोनों चल दिये। सर्व प्रथम पहिले साधुके पास गये। बड़ी देर तक बैठे रहे। जब उनके दर्शनार्थी चले गये तो उन्होंने कहा—"महाराज! हमें भी कुछ उपदेश दो।"

हँसते हुए महात्मा बोले—"अरे, भाई! उपदेश क्या देना-

राम नाम लड्डू, गोपाल नाम घी।
हरि नाम मिश्री, तू घोर घोर पी॥"

यह सुनकर वे दोनों उठ गये। विज्ञ व्यक्तिने कहा-निश्चय ही ये ब्राह्मण जातिके हैं। ब्राह्मण मधुर प्रिय होते हैं लड्डू पूड़ी, घी मिश्रीकी बात उन्हींको स्मरण रहती है।"

अब वे दूसरेके पास गये। इसी प्रकार बैठे रहे अन्तमे उपदेशकी बात कही, तो वे गरजकर बोले—अरे, तुमको क्या उपदेश देना। इस ढिलाईसे काम नहीं चलेगा कमर कसकर खड़े हो जाओ।-

राम नामकी ढाल बनाई, कृष्ण कटारा बाँध लिया।
हरी नामको कवच पहिनके, यमका द्वारा जीत लिया।

बुद्धिमान् व्यक्तिने अपने साथीके कानमें कह दिया-"क्षत्रिय हैं क्षत्रिय। इसमे तनिक भी सन्देह नहीं।"

अब तीसरेके पास गये और उपदेश देनेको कहा-"वे बड़ी सरलतासे बोले-

ग्राहक सब संसार है, राम नामको हाट।
मोदीमाधव बेचते, चढ़े जो जितनो बाट॥

बुद्धिमान व्यक्तिने कहा—"ये तो सेठजी हैं भैया अब तीसरेके पास गये इसी प्रकार उपदेश देनेको कहा तो वे बोले—

राम झरोखे बैठकें सबका मुजरा लेहिँ।
जैसे जाकी चाकरी, तैसो ताकूँ देहिँ॥

बुद्धिमान व्यक्ति अपने साथीके साथ निकल आये और बोले—"ये कोई चतुर्थ वर्णके संत है।

इन उद्धरणोंको देनेका अभिप्राय इतना ही है कि विभिन्न मनुष्य एक ही ज्ञानको अपनी प्रकृतिके अनुसार ग्रहण करेंगे और उसीके भावसे उपदेश देंगे। चीनी एक ही है, हाथीके साँचेमें पड़ जायगी, हाथीकी मूर्ति बन जायगी, घोड़ेके साँचेमे पड़ गई घोड़ेकी मूर्ति बन जायगी। वस्तु एक है नाम रूपमें साँचेके अनुसार भेद हो जाता है। उस भेद भावको जो सत्य

समझते हैं, वे अज्ञानी हैं जो बहुत्वमे एकत्वका दर्शन करते हैं वे ज्ञानी हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान्से उद्धवजीने ये भिन्न भिन्न क्यों हैं और इन सबमें भक्ति मार्ग क्या है, यह प्रश्न किया तो भगवान् साधनोंकी भिन्नताका कारण बताते हुए कह रहे हैं—"उद्धव! समस्त मार्गोंका उद्गम स्थान वेद है। वेदमे ही निवृत्ति, प्रवृत्ति, ज्ञान भक्ति तथा कर्म आदिका वर्णन है। भागवत धर्मोंका वर्णन वेदमे है। जैसे मैं अनादि हूँ, वैसे ही यह मेरी वाणीवेद अनादि है। प्रलय कालमे जब यह व्यक्त जगत् अव्यक्तमे विलीन हो जाता है, तब इस मेरी वेद रूपा वाणीका भी अदर्शन हो जाता है। जब पुनः सृष्टिके आदिमें अव्यक्तसे निकलकर यह जगत् व्यक्त होता है, तब मेरे नाभिकमलसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति होती है। उनको मैं सर्व प्रथम वेदका उपदेश देता हूँ। इसी क्रमसे इस स्वायम्भुव मन्वन्तरमे मैंने कमलासन ब्रह्माको वेदका उपदेश दिया। ब्रह्माजीने उसी ज्ञानका उपदेश अपने पुत्र स्वायम्भुव मनुको दिया। मनुने उस समयके भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु इन सातों ब्रह्मर्षियोंको दिया। इन सातोंने अपनी अपनी सन्तानोंको इसका उपदेश दिया। क्रमशः यह ज्ञान पितृगण, देवगण, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण किंदेव, किन्नर, नाग, राक्षस तथा किंपुरुषोंमें फैल गया। ये सबके सब सात्विक तो होते नहीं, कोई सत्व प्रधान होता है कोई रजोगुण प्रधान और कोई तमोगुण प्रधान। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकृति होनेसे एक ही ज्ञानको लोगोंने भिन्न भिन्न प्रकारसे समझा।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! एक ही ज्ञान भिन्न भिन्न लोगों के पास जाकर भिन्न भिन्न कैसे हो गया?"

सूतजी बोले—"महाराज! भले ही वस्तु एक हो, किन्तु पात्र भेदसे उसमें भिन्नता आ ही जाती है। विद्या विनयको देने वाली है, विद्यासे ज्ञान होता है, ज्ञानसे मुक्ति होती है, किन्तु वही विद्या किसी कुपात्रके-खलके समीप चली जाय, तो वह उसका उपयोग केवल विवादके ही लिये करेगा। धन श्रेष्ठ वस्तु है, धनसे दान पुण्य आदि कर्म होते हैं, सभी कार्य धनसे सिद्ध होते हैं, किन्तु वही धन किसी दुर्जन कृपणके समीप चला जाय, तो वह या तो उसे जोड़ जोड़कर रखेगा, या उससे द्यूत, वेश्या, सुरा तथा मांस आदिका सेवन करेगा। धनके मदमें मतवाला होकर नाना अनर्थ करेगा। इसी प्रकार शक्ति बड़ी दिव्य वस्तु है। संसारमें सभी कार्य शक्तिशाली ही करते हैं। यदि शक्तिशाली बलवान् न हो तो अशक्त पुरुषोंको दुष्ट दुख देने लगें। शक्तिशाली ही अशक्तोंकी-दुर्बलोंकी-रक्षा करता है। वही शक्ति यदि दुष्टोंके पास हो, तो सबपर आतंक जमावेंगे, सबको दुख देंगे। उसका उपयोग वे पर पीडनके कार्यमें करेंगे। वर्षाका एक ही जल है, वह समुद्रमें गिरता है, तो उसके संसर्गसे खारा हो जाता है, नदियोंमें पड़ता है, तो मीठा होता है। जैसा कूआ होगा, वर्षाका जल उसमें पहुँचकर वैसा ही हो जायगा। खारे कूआँमें खारा हो जायगा, मीठे कूएमें मीठा हो जायगा। इस विषयमें एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त है।

प्राचीन कालमें प्रथा थी, कि शिष्य जब गुरुके समीप जाता तो सर्व प्रथम वह ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके-विषयोंसे चित्त हटाकर-अपने में प्रश्न करनेकी योग्यता लाता। जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता प्रश्न करने योग्य बन जाता, तब आचार्यसे प्रश्न करता। आचार्य देखते अभी यह प्रश्नको समझनेको अधिकारी नहीं हुआ, तो कह देते-'अभी कुछ दिन

ब्रह्मचर्य व्रतका पालन और करो, फिर हमारे समीप आना।" इसी नियमानुसार एकबार देवता, असुर और मनुष्य इन तीनों पुत्रोंने लोक पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके समीप जाकर ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक निवास किया। चिरकाल तक ब्रह्मचर्य धारण करनेके कारण उनके मनमें अपने दोष समझनेकी योग्यता आयी। आदमीका पतन तभी तक होता है, जब तक उसे अपने दोष दिखायी नहीं देते। अपनेको निर्दोष समझता है। जहाँ उसे अपने दोष दिखायी देने लगते हैं तहाँ वह गुरुओंके समीप जाता है, उनसे प्रश्न करता है, हृदयसे उनकी सेवा करता है, उनके उपदेशको ग्रहण करता है और अपने दोषोंको मिटानेकी सतत चेष्टा करता है। इसी प्रकार देवता, असुर और मनुष्य भी ब्रह्मचर्यसे रहनेके कारण अपने दोषोंको विचारने लगे।

कुछ कालके पश्चात् देवता बड़ी श्रद्धासे हाथ जोड़कर ब्रह्माजीके समीप गये और प्रणाम करके बड़ी दीनताके साथ कहने लगे—"प्रभो! आप हमें कोई ऐसा उपदेश दें, जिससे हमारा कल्याण हो।"

ब्रह्माजी यह सुनकर कुछ काल मौन रहे और अन्तमें उन्होंने "द" यह शब्द कहा।" देवताओंने उपदेशको सिरसे स्वीकार किया।"

ब्रह्माजीने कहा—"तुम लोग मेरे उपदेशका तात्पर्य समझ गये न?"

देवताओंने कहा—"हाँ भगवन् समझ गये।"

प्रजापतिने पूछा—"अच्छा, बताओ क्या समझे?"

देवताओंने अपनी भावनाके अनुसार अनुमान लगाया, कि हम लोग भोगी हैं, निरन्तर स्वर्गीय सुखोंके भोगमें ही लगे रहते हैं, अतः प्रजापति हमको इन्द्रिय दमनका उपदेश दे रहे

हैं, अतः वे बोले—"भगवन्! आप हमें 'द' कहनेसे दमन करनेका उपदेश कर रहे हैं। आप हमें सिखा रहे हैं, कि इन्द्रियोंका दमन करो भोगसे चित्त वृत्तिको हटाओ।"

ब्रह्माजीने कहा—"हाँ, तुमने उचित समझा, ऐसा ही जाकर करो।" यह सुनकर देवतागण लोक पितामह ब्रह्माजी-को प्रणाम करके चले गये।"

अब आये मनुष्य। उन्होंने भी प्रजापतिसे उपदेश देनेके लिये कहा। उनकी बात सुनकर भी प्रजापतिने "द" इसी शब्दको कह दिया और पूछा—"तुम लोग समझे?"

मनुष्योंने कहा—"हाँ, महाराज! समझ गये।"

प्रजापतिने पूछा—"क्या समझे?"

मनुष्योंने सोचा—"हमारी स्वाभाविकी प्रवृत्ति संग्रह करनेकी है। किसी भी मनुष्यको सहस्र रुपये दे दो और उससे कहो—"इनसे अपना काम चलाओ।" तो कोई ऐसा विरला ही पुरुष होगा, जो कामको करके शेष बचे हुए धनको तुरन्त बाँट दे। नहीं तो सब यही सोचेंगे—"पड़े रहने दो इन पैसोंको। पासमें रहेंगे, तो समयपर फिर काम आवेंगे। संग्रहके ही कारण मनुष्य दुखी होता है अतः लोक पितामह हमें "द"शब्दसे दानका उपदेश दे रहे हैं।।" यही सब सोचकर मनुष्य बोले—"भगवन्! आप हमसे कह रहे हैं, कि दान किया करो। दानके अतिरिक्त मनुष्योंके कल्याण का दूसरा कोई भी उत्तम उपाय नहीं है।"

ब्रह्माजीने कहा—"तुम यथार्थ समझे, जाओ और निरन्तर कुछ न कुछ दान करते रहो।" यह सुनकर ब्रह्माजीको प्रणाम करके मनुष्य चले गये। अब असुर आये।

असुरोंने भी आकर पितामहके पाद पद्मोंमें प्रणाम किया और उनसे कुछ उपदेश देनेको कहा। ब्रह्माजीने उनसे भी "द"

शब्द कह दिया और पूछा—"कहो, भाई कुछ समझे।"

असुरोंने कहा—"हाँ, महाराज! समझ गये।"

ब्रह्माजीने पूछा—"अच्छा, बताओ क्या समझे?"

असुरोंने सोचा—"हम लोग क्रोध हिंसा परायण हैं। प्राणोंके पोषणके लिये ही पर पुरुषोंको पीड़ा पहुँचाते रहते हैं। द्वेष भावसे ही दूसरोंको दंड देते रहते हैं, अतः हमें देवाधिदेव दया करनेका उपदेश दे रहे हैं।" यही सोचकर वे बोले—"ब्रह्मन्! आप "द" कहकर दया करनेका उपदेश दे रहे हैं।"

ब्रह्माजीने कहा—"हाँ, यही बात है, तुम लोग जाकर सब प्राणीपर दया किया करो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! एक ही "द" शब्द था, उसका अर्थ सभीने अपनी पात्रता, योग्यता तथा भावनाके अनुसार भिन्न भिन्न लगाया। इसी प्रकार वेद शास्त्रके वाक्योंका भी लोग अपने अपने स्वभावके अनुसार भिन्न भिन्न अर्थ लगाते हैं। ज्ञानकी परम्परा भले ही एक हो, किन्तु उन्हें ग्रहण करनेवाले पात्र उसे अपनी भावनानुसार समझेंगे।" बहुतसे लोग तो उन्हीं वचनोंमें वेद विरुद्ध पाखण्ड मतका भी प्रचार करते हैं। पाखण्डी बन जाते हैं।"

शौनकजीने पूछा—"हाँ, सूतजी! आपके अभिप्रायको हम समझ गये। अब कृपा करके आप यह बतावें, कि उद्धवजीने भगवान्से और क्या क्या प्रश्न किये?"

सूतजी बोले—"महाराज! यही बात उद्धवजीने भी भगवान्से पूछी, कि प्रभो! एक ही सिद्धान्तके प्रतिपादनमें इतनी भिन्नता क्यों हो जाती है। भागवत धर्म तो एक ही है।

उसमें कितने मत हैं, कितने वाद हैं, कितने सिद्धान्त हैं, कितनी पद्धतियाँ हैं, क्या बात है ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! यह बात सब मेरी मायाका ही खेल है। मेरी माया ही चींटीसे ब्रह्मा पर्यन्त सभी जीवोंको नचा रही है। मायासे मोहित बुद्धिवाले प्राणी अपने अपने कर्मोंके अनुसार तथा अपनी रुचिके अनुसार कल्याणके भिन्न भिन्न मार्ग बताते हैं। कोई कुछ कहते हैं कोई कुछ कहते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन् ! इस विषयको मुझे स्पष्ट करके समझा दें। मैं अल्पमति वाला व्यक्ति हूँ। मेरी बुद्धि स्थूल है, मुझे भली भाँति सरलतासे समझावें।"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव ! संसार मे तुम ही तो एक कुशाग्र बुद्धिवाले हो। तुम्हींने तो मनुष्य जन्मकी सार्थकता समझी है। तुम्हारा यह प्रश्न लोक कल्याणके निमित्त है। तुम चाहते हो, इस विषयको अल्पसे अल्प बुद्धिवाला पुरुष समझ जाय। अच्छी बात है, अब मै तुम्हे बताऊँगा कि लोगोंकी परमार्थके सम्बन्धमें प्रकृति और रुचिके अनुसार कैसी विषमता हो गयी है। अपनी अपनी वासनाके अनुसार लोगोंने परमार्थका कैसा क्षुद्र अर्थ लगा रखा है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! परमार्थके विषयमे भिन्न

भिन्न मुनियोंके भिन्न भिन्न मत हैं, उन्हें आप भगवान्‌के ही शब्दोंमें शान्तिके साथ श्रवण करें।"

छप्पय

धर्म एक परमार्थ बतावें यशकूँ दूसर।
अपर कामकूँ कहें सत्य महँ कोई तत्पर॥
शम दम कोई कहें अपर ऐश्वर्य बतावें।
दान भोग ही स्वार्थ अपर तप मख मन लावें॥
कहें दान व्रत यम नियम, भिन्न भिन्न पुरुषार्थ हैं।
किन्तु न शाश्वत नित्य ये, क्षुद्र कर्ममय स्वार्थ हैं॥

—❀❀—

स्वल्पमें सुख नहीं

(१२६१)

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुख यत्तत्कुतः स्याद् विषयात्मनाम् ॥*

(श्रीभा० ११स्क० १४अ० १२श्लो०)

छप्पय

शुभ करमनितैं लोक मिलैं जाओ सुख पाओ।
पुण्य छीन ह्वै जायँ गिरौ उलटे जग जाओ॥
मोह जनक दुख हेतु तुच्छ सुख देवेवारे।
दुख परिनामी लगैं तनिक इन्द्रिनिकूँ प्यारे॥
जो सुख मेरी भक्तिमहँ, वह सुख विषयनि महँ नहीं।
मिश्रीमहँ जो सुख मिलै, लौटामहँ पावैं कहीं॥

एक बडी कहावत है, कि बहुतसे अन्धे बैठे हुए बातें कर रहे थे, कि हाथी कैसा होता है। इतनेमें ही कोई बुद्धिमान व्यक्ति आगये उन्होने कहा—"तुम लोग हाथी देखना चाहते हो क्या ?"

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—'हे सभ्य! जिन्होंने मुझमे ही अपना चित्त लगा दिया है, जो मुझमें ही लीन रहने वाले हैं तथा जो सब ओरसे निरपेक्ष हो गये हैं, ऐसे लोगोंको जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख भला इन्द्रिय लोलुप व्यक्तियोंको कैसे प्राप्त हो सकता है ?',

अन्धोंने कहा—"जी हाँ,हमारी इच्छा हाथी देखने की है।"

वे बुद्धिमान व्यक्ति राजाके यहाँसे हाथी ले आये। उन्होंने आकर अन्धोंसे कहा—"आओ देख लो हाथी, किन्तु सब पारी पारीसे क्रमशः आना।"

यह सुनकर उनमे से एक अन्धा आया उसने हाथीकी सूँडपर हाथ फेरा हाथीने सूँ करी। वे पीछे हट गये और बोले—"अरे, हाथी तो अजगरके सदृश होता है सूँ सूँ भी करता है।"

अब दूसरे आये उनका हाथ हाथीके बड़े लम्बे दाँतों पर पड गया। वे दाँतो पर हाथ फेर ही रहे थे, कि हाथीने सूँड ऊपर कर ली। कई बार दाँतो पर हाथ फेरकर अंधे बाबू बोले—"अजी, समझ गये हाथी धानकुटाके सदृश होता है।"

अब तीसरे आये उनका हाथ हाथीके पैर पर पड़ गया दो चार बार नीचेसे ऊपर तक हाथीके पैरके ऊपर हाथ घुमाकर वे बोले—"हाथी पत्थरके मोटे चिकने खंभेके समान होता है।"

फिर चौथे आये उनका हाथ हाथीकी पूँछ पर पडा। कई बार घुमाया, तो कुछ चूतडोंसे भी स्पर्श होगया वे बोले—'जैसे दीवाल पर मोटी बरत लटकी रहती है वैसा हाथी होता है।" इसी प्रकार जिस अन्धेका हाथ जिस अङ्ग पर दैव वशात् पड़ गया, उसने हाथीका वैसा ही स्वरूप अपने मनमे धारण कर लिया। वे हाथीको देखनेवाले अन्धे सबके सब कवि थे। उन्होंने हाथीके स्वरूप पर बडी सुन्दर सुदर कवितायें की। काल पाकर वे अन्धे मर गये। अब उनके चेले अन्धे हुए। उन्होंने अब हाथीको देखनेका प्रयास नहीं किया। उन्होंने निर्णय कर लिया—"वाना वाक्यं प्रमा-

णम्" जिसने जिस अन्धेको अपना गुरु मान लिया उसीके वचनोंपर भाष्य करने लगा। अनेक युक्तियोंसे उसके सिद्धान्त को पुष्ट करने लगा। उसके अन्धे गुरुने हाथीको खंभेके सदृश बताया है, तो वह नाना तर्क उपस्थित करके-प्रमाण देकर दूसरोंके मतोंको असत्य बताकर खंभेके स्वरूपको ही ध्रुव सत्य बताने लगा। दूसरा उसका खण्डन करके अजगर के ही रूपको सिद्ध करने लगा।

कुत्तोंका स्वभाव होता है अपूर्व वस्तुको देखकर भूँकते हैं, एक कुत्तेको भूकते देखकर जितने होते हैं सब भूँकने लगते है। अँधेरी रात्रिमें एक कुत्तेको चोरकी कुछ अस्पष्टसी छाया दिखायी दी। वह भूँकता हुआ आगे बढ़ा। तब तक वह छाया छिप गयी। उस कुत्तेको भूँकता देखकर सबके सब भूँकने लगे। अब कोई उन कुत्तोंसे पूछे—"अरे, भाई तुम क्यों भूँक रहे हो। तुमने तो कुछ देखा नहीं देखा तो एक ही कुत्ते ने है न?"

इसका वे यही उत्तर देंगे-'हम अपने स्वभावसे विवश हैं, यद्यपि हमने कुछ देखा नहीं है, किन्तु जिस पहिले बोलने वालेने जो भी कुछ सत्य, असत्य अर्द्ध सत्य या सत्याभास देखा है, हम तो उसीके शब्दोंको दुहरा रहे हैं। उसीके स्वरमें स्वर मिला रहे हैं।"

इसी प्रकार उन अन्धे गुरुओंने तो अल्प स्वल्प हाथीको देखकर अनुमान किया भी था, किन्तु उनके भाष्यकार चेले तो उन्हींके शब्दोंको तोड मरोडकर दूसरोंसे लडते हैं—"हमारे ही गुरुका कथन सत्य है, तुम सब असत्य कह रहे हो? आओ हमसे शास्त्रार्थ कर लो। शास्त्रार्थमें न जीते तो शस्त्रार्थ करने लगे। फूटने लगे सिर होने लगीं हत्यायें।

यह तो हुआ दृष्टान्त इसका द्राष्टान्त यह हुआ कि ब्रह्म

ही हाथी है, वेद रूप बुद्धिमान्‌ने अन्धे रूप मत प्रवर्तकोंके सम्मुख उसे उपस्थित कर दिया। अब जिस अन्धेने जिस अंशका अनुभव किया, उसे ही समग्र समझकर वर्णन करने लगा। उनके जो भाष्यकार मतानुयायी हुए, उन्हें अनुभव करनेकी तो आवश्यकता ही न रहीं, उन्हींके वचनोंको दुहराने लगे, दूसरे मत वालोंका खण्डन और अपने एक देशीय मत का मण्डन करने लगे। जिनके आँखें हैं, अर्थात् जो सच्चे भगवद् भक्त हैं, वे ब्रह्मको देखते हैं, उसका संस्पर्श करते हैं, उन भाष्यकार अन्धोंकी बातोंको सुनकर हँसते हैं, उन्हें समझाने का भी प्रयत्न न करेंगे, क्योंकि वे समझाने पर भी न समझेंगे। बाह्य चिन्होंके ऊपर थोथे शब्दोंके ऊपर अड़ जायँगे। इसीका नाम है "अन्ध परम्परा" इस अन्ध परम्पराके कारण ही नाना वाद, नाना मत, नाना सम्प्रदायें तथा नाना पन्थ चल पड़े हैं सब अपने अपने पन्थको सत्य मनवाने के ही लिये व्यस्त हैं। स्वयं सत्य की खोज नहीं करते। सर्प का पता नहीं लगाते उसकी लीकको पीटते रहते हैं। यही भगवान्‌की माया है, इसीमें विमोहित हुए भिन्न भिन्न कर्म और भिन्न भिन्न रुचिवाले पुरुष श्रेयसिद्धिके मार्गको भिन्न भिन्न भाँतिसे प्रतिपादन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान्‌से यह प्रश्न किया कि ब्रह्मवादी लोग श्रेयसिद्धिके जो अनेक मार्ग बताते हैं वे अपनी अपनी दृष्टिके अनुसार सभी श्रेष्ठ हैं या उन सबमें कोई एक मार्ग सर्वश्रेष्ठ है?" तब भगवान् कहने लगे—जहाँ मायाका सम्बन्ध लेकर वाद विवाद है वहाँ सत्य कहाँ। मेरी मायासे मोहित मनुष्य ही मत्त मतान्तरों के मार्गमें मृग तृष्णाके सदृश भटकते रहते हैं।

एक कर्मवादी लोग हैं। उन्होंने वेदोंको पढ़कर यही

निष्कर्ष निकाला है, कि कर्म ही परम पुरुषार्थ है। उनके मतमें कर्म चार प्रकारके होते हैं। नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म, काम्यकर्म, और निषिद्धकर्म। नित्यकर्म तो सन्ध्या वन्दनादि कर्म हैं जो कर्तव्य समझकर नित्य किये ही जाते हैं, उनके करनेसे कोई विशेष फल नहीं, किन्तु उनके न करने से दोष लगता है।

नैमित्तिक कर्म वे कहाते हैं, जो किसी निमित्तके आनेपर किये जाते हैं। जैसे घरमें बालक पैदा हुआ तो उसका जात कर्म संस्कार नान्दी मुख श्राद्ध आदि करना। मरने पर उसके पिण्डदान तथा श्राद्धादि कर्म करना। ग्रहण लगनेपर दान पुण्य करना। वारुणी, महावारुणी आदि पर्व लगने पर गंगा स्नानादि करना जो भी किसी निमित्तके आनेपर किये जाते हैं, वे नैमित्तिककर्म कहाते हैं।

काम्यकर्म वे होते हैं, जो किसी कामना विशेषसे किये जाते हैं। जैसे स्वर्गकी कामनासे अश्वमेध यज्ञ करना। पुत्रकी कामनासे पुत्रेष्टि यज्ञ करना इसी प्रकार जो जो भी कामना हो उसके निमित्तसे जो शुभ कर्म किये जाते हैं उसकी गणना मीमांसकोंने काम्य कर्मोंमें की है।

निषिद्ध कर्म उनका नाम है, जिनको करनेके लिये शास्त्र निषेध करता है जैसे लहसुन प्याज मत खाओ। पर स्त्री गमन मत करो। चोरी न करो। दुर्जनोंका संग न करो। इत्यादि इत्यादि कर्मोंका परित्याग करना।

इन कर्मवादियोंका कहना है, तुम संसारमें निषिद्ध कर्मों को त्याग करके स्वर्गकी कामनासे जैसे बने तैसे जीवन पर्यन्त काम्यकर्मोंको करते रहो। यहाँ यज्ञ यागादि करोगे तो मरकर उत्तम लोकोंको प्राप्त करोगे। जब पुण्य क्षीण हो जावेगा तो बड़े भारी कुलीन धनिक परिवारमें तुम्हारा जन्म होगा, वहाँ भी बड़े बड़े यज्ञ करना। ऐसे कर्म करना जो अक्षय

लोकोंको देनेवाले हों, उन्हें करके फिर स्वर्गादि पुण्य लोकोंमें सुख भोगो। यही पुरुषार्थ है यही लक्ष्य है यही मुक्ति है कर्म ही सब कुछ है।

कुछ लोगोंका कहना है, संसारमे सुख है जीवनमें। कैसा भी दुखी प्राणी हो मरना कोई नहीं चाहता। चींटीको भी दबाओ तो वह अपनी जीवनकी रक्षाके लिये सब प्रयत्न करेगी। जो अत्यंत दुखी है रोगी है, मरना वह भी नहीं चाहता। ऊपरसे भले ही कह दे, कि मैं मर जाऊँ तो अच्छा है, किन्तु भीतर ही भीतर जीवनकी आशा बनी रहती है। इस विषयमे एक दृष्टान्त है।

एक लकड़हारा था, उसे दमेका रोग था, अत्यंत दरिद्री था, बहुत बूढ़ा था। उसकी पत्नी परलोक पधार गयी थी। युवक पुत्र मर गये थे, एक युवती विधवा कन्या अंधी उसके पास रहती थी। बड़े कष्टसे वनसे वह लकड़ियोंको एकत्रित करके लाता और नगरमे बेचकर उससे जैसे तैसे निर्वाह करता। एक दिन वह रुग्ण होनेसे लकड़ी बीनने न जा सका। उस दिन उसे उपवास करना पड़ा। दूसरे दिन जैसे तैसे टेकते टेकते वनमें गया। इधर उधरसे लकडियोंको इकट्ठा किया। तब तक दोपहर हो गया, जेठका महीना था, बालुकामय मार्ग था। बालू तप रही थी वह गट्ठरको लेकर चला। ऊपरसे सूर्य तप रहे थे, नीचेसे बालू तप रही थी, पेटमे जठराग्नि तप रही थी। वृद्धावस्था अशक्तताको लिये हुए उसके साथ थी। वह घबरा गया। सम्मुख एक शमीका वृक्ष था। छायाकी आशासे आया तो पैरमे काँटा लग गया। लकडियाँ रख दीं और दुखी होकर बोला—"हाय! मेरे लिये मृत्यु भी नहीं आती।"

उसी समय बाल बखेरे विकराल रूपवाली एक बड़ी

भयंकर मुखवाली एक स्त्री आयी और बोली—"मेरा ही नाम मृत्यु है, मैं तेरे कहनेसे आगयी, बोल क्या कहता है।"

यह सुनकर तो लकड़हारे की सिटिल्ली भूल गयी। उसने मनसे मृत्युको नहीं बुलाया था। मृत्यु सम्मुख आ ही गयी, तो बोला—"देवीजी यही कहता हूँ, कि मै बहुत थक गया हूँ, यहाँ कोई बोझ उठानेवाला नहीं है, मुझे बोझा उठवा दो।"

कहनेका साराश यह है, कि मरना कोई नहीं चाहता। सभी प्राणियोंको जीवन प्रिय है, किन्तु यह शरीर तो पञ्च-भौतिक है, अनित्य है, क्षणभंगुर है, इसमे सहस्रो छिद्र हैं, इसका नाश अवश्य होगा। शरीर सदा जीवित रह नही सकता संसारमें जीवित वही है, जिसकी कीर्ति जीवित हो। इस लोकमे जब तक जिसकी पुण्यमयी कीर्ति जीवित रहती है, तब तक वह स्वर्गलोकमे सुख भोगता रहता है। काव्य अलङ्कार रचनेवाले कविगण कहते हैं, अपनी कर्ति संसारमे बनी रहे यही पुरुषार्थ है। यही श्रेय है। वैसे तो कीडे मकोडे न जाने कितने मरते हैं, कितने जन्म लेते है, जन्म लेना उसीका सार्थक है, जिसकी कीर्ति ससारमे बनी हो। यहाँ जिसकी कीर्ति नहीं है, उसे कोई स्वर्गमे भी नहीं रहने देता। इस विषयमें एक कथा है।

प्राचीन कालमे इन्द्रद्युम्न नामके एक राजा थे। लाखों वर्ष उन्होंने स्वर्गका सुख भोगा। जब उन्हे स्वर्गमे रहते रहते बहुत दिन व्यतीत हो गये तो स्वर्ग गृह निरीक्षकने एक दिन आकर राजाकी 'वृत्त पत्री' देखी और उसने नम्रतासे कहा—"राजन्! स्वर्गमें रहते रहते आपको बहुत दिन व्य-तीत हो गये। मुझे ऐसा लगता है कि अब आपकी स्वर्गकी अवधि समाप्त हो गयी। अब आप अपना बोरिया बिस्तरा बाँधिये।"

राजाने कहा—"मेरी वृत्त पत्रिका" मे तो यह बात लिखी नहीं।"

निरीक्षकने कहा—"मुझे ऐसा लगता है, कि आपकी 'वृत्त पत्रिकामें' कुछ गोलमाल है। अब आप स्वर्गके अधिकारी नहीं है, क्योंकि मैं देखता हूँ, आपको यहाँ बहुत दिन हो गये।"

राजाने कहा—"आप अपने सन्देहको दूर कर लीजिये। मुझे यथार्थ बताइये मेरा स्वर्गमे रहनेका अभी और समय है या नहीं।"

निरीक्षकने कहा—"पृथिवी पर आपका कोई नाम जानता है।"

राजाने घबराकर कहा—"मुझे पता नहीं था, मेरे अभियोगकी पुनरावृत्ति होगी, फिर मुझे साक्षी उपस्थित करने पड़ेंगे। मुझे यहाँ आये करोड़ों वर्ष होगये अब मैं तुम्हें बताऊँ कि अमुक मेरे नामको जानता है।"

स्वर्ग निरीक्षकने कहा—"राजन्! कोई न हो, जिसकी कीर्ति शेष है उसके नामको कौन नहीं जानता। देखिये प्रियव्रत राजा कब हुए उन्होंने अपने रथके चक्रोंसे सात समुद्र बनाये। बच्चे बच्चेसे उनका नाम पूछ लीजिये। राजा भगीरथ कब हुए। वे कब गंगाको लाये आप चाहें जिससे महाराज भगीरथका नाम पूछ लें। गंगाजीका भागीरथी नाम कौन नहीं जानता। निमि कब हुए, आज सभी नेत्रवाले निमिका नाम जानते हैं। व्यास, वाल्मीक कब हुए सभी उन्हें अपना आत्मीय समझते हैं। ये सबके सब पुण्य लोकोंमें आनंद कर रहे हैं और तब तक आनंद करेंगे जब तक पृथिवी पर एक भी इनके नामको जाननेवाला शेष रहेगा। आपको कोई एक भी जानता हो, तो आप यहाँ सुखसे रह

सकते हैं। एकके मुखपर भी आपकी कीर्ति हो तो आपको स्वर्गसे कोई भगा नहीं सकता।"

अब राजाको बड़ी चिन्ता हुई। इतने दिनोंके पश्चात् मैं साक्षी कहाँसे उपस्थित करूँ। सोचते सोचते उन्हें स्मरण हो आया—"महामुनि मार्कंडेय चिरजीवी हैं, कल्पोंकी उनकी आयु है, संभव है, वे मेरा नाम जानते हों।" यह सोचकर उन्होंने स्वर्ग निरीक्षकसे कहा—"अच्छी बात है चलिये, मैं पृथिवी पर कोई अपना साक्षी उपस्थित करूँगा।" यह सुनकर निरीक्षकने अपने विमानको बुलाया दोनों उसमें बैठकर चल दिये।

मार्कंडेय मुनि एक वृक्षके नीचे बैठकर तपस्या कर रहे थे, दोनोंने मुनिके चरणमें प्रणाम किया। फिर राजाने पूछा—"भगवन्! अमुक देशके इन्द्र द्युम्न नामक राजाका नाम सुना है?" मुनिने कहा—"भैया! मैंने बहुत राजाओंका नाम सुना है, सबका नाम मुझे याद भी नहीं रहता, फिर मैं भजनमे तल्लीन रहता हूँ, इसलिये कौन कहाँ का राजा है इसका मैं ध्यान भी नहीं रखता।"

राजाने सोचा—"यह साक्षी तो गोलमाल रही। इस साक्षीसे मैं स्वर्गका अधिकारी नहीं रह सकता।' यही सोचकर उसने पूछा—"ब्रह्मन्! जो आपके सदृश चिरजीवी हो ऐसे किसी अन्य व्यक्तिको बताइये।"

मार्कंडेय मुनि बोले—"मुझसे भी बड़ा यहाँ एक नदीके किनारे बगुला रहता है, आप उससे जाकर पूछें।"

यह सुनकर दोनो मुनिको प्रणाम करके बगुलाके पास पहुँचे। राजाने उससे भी यही प्रश्न पूछा—"भैया! तुमने अमुक देशके राजाका नाम सुना है? तुम उन्हें जानते हो?"

बगुलाने कहा—"महानुभाव ! मैं तो बूढा हो गया हूँ। मेरी स्मरण शक्ति भी अब उतनी नहीं है। सुना होगा, मुझे ठीक ठीक याद नहीं है।"

राजाके प्राण सूख रहे थे, सोच रहे थे यदि कोई भी साक्षी न मिला, तो मुझे स्वर्गसे गिरना पडेगा, अतः वे

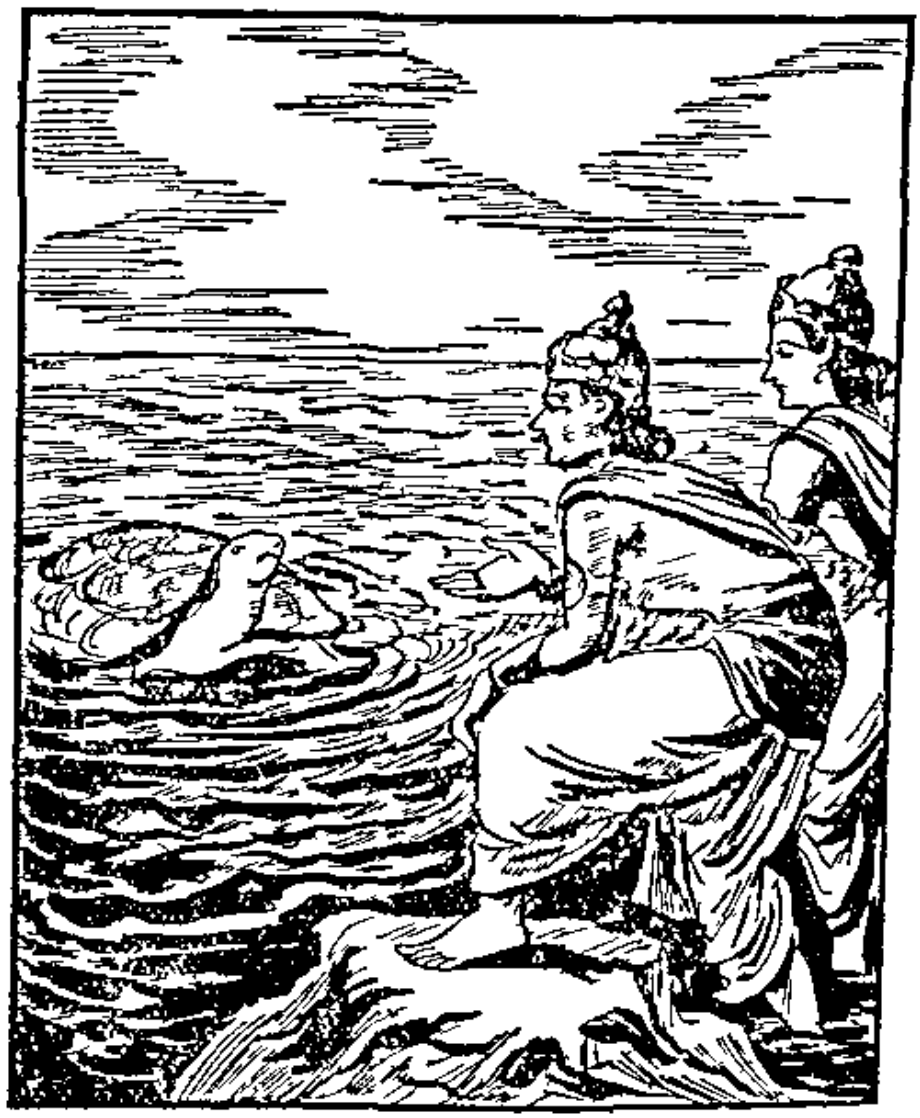

बोले—"अच्छा भैया ! तुम्हारे सदृश कोई और व्यक्ति हो तो उसे बताओ।"

बगुलाने कहा—"अमुक सरोवरमें एक कछुआ रहता है, वह मुझसे भी अवस्थामे बडा है उससे जाकर पूछिये।

संभव है वह आपके प्रश्नका उत्तर दे दे।"

यह सुनकर दोनों उस सरोवरके निकट गये। राजाने कछुआसे पूछा—"महाभाग! आप चिरजीवी हो! आपने राजा इन्द्रद्युम्नका नाम सुना है?"

कछुआने अत्यंत ही श्रद्धा भक्तिसे कहा—"हे तेजस्वी महानुभाव! आप कौन है? राजर्षि इन्द्रद्युम्नका नाम कौन नहीं जानता। जिस सरोवरमें मैं रहता हूँ, यह उन्हींका बनाया हुआ है। इसका नाम इन्द्रद्युम्न सरोवर है। उन राजर्षिने इस अगाध जलवाले सरोवरको मेरे सम्मुख बनवाया था। सुवर्णके घाट और सीढ़ियाँ बनायी थीं। उनके स्वर्गवासी होनेपर उनके वंशज राजा इसकी रेख देख करते रहे, जीर्णोद्धार कराते रहे। इसके घाट फिर चाँदीके बने, तामेके बने फिर पत्थरके बने। अब चिरकालसे राजाके वंशमें कोई नहीं है। इसके घाटोंको किसीने बनवाया नहीं जीर्ण सीर्ण पड़ा है, फिर भी उन राजर्षिकी विमल कीर्ति तो इस सरोवरके कारण स्वर्ग तक विद्यमान है।" कछुआ यह कह ही रहा था, कि इतनेमें ही सहस्रों गौओंका एकझुंड आया और वह यथेष्ट जल पीकर चला गया। यह देखकर स्वर्गके निरीक्षकने कहा—"राजन्! जब तक इस सरोवरमें एक बूँद भी जल रहेगा, जब तक लोग आपका इस सरोवरके सम्बन्धसे नाम लेते रहेंगे तब तक आपको स्वर्गसे कोई निकाल नहीं सकता। आप सुखपूर्वक स्वर्गमें निवास करें।"

कहनेका तात्पर्य यह है, कि लोकमें कीर्ति बनी रहना ही सच्चा जीवन है, उसीमें स्वर्ग है उसीमें सुख है। अतः बहुतसे लोग कीर्तिको ही सर्वोत्तमश्रेय मानते हैं।

कुछ लोगोंका कहना है, कि संसारमें काम ही सबसे उत्तम सुख है। ब्रह्म चिन्तनमें क्या सुख है उसे तो किसीने

देखा नहीं। वह तो आकाशकुसुमके सदृश केवल कहने मात्रके लिये है। काम सुखका अनुभव सभीको है। संसारमें लोग बड़ी बड़ी आपत्तियाँ केवल कामसुख प्राप्त करनेके लिये ही सहन करते हैं। एक कुत्ता है, उसका सब शरीर सड़ रहा है, कीड़े पड़ रहे है, भर पेट भोजन नहीं मिलता। किन्तु क्षण भरको उसे कामसुख मिल जाय तो वह सुखी हो जाता है। बड़े बड़े मुनियोंको देखा है, सहस्रों वर्ष तपस्या करते रहे, ब्रह्म का चिन्तन करते रहे, जहाँ कोई अप्सरा पहुँची कि फिसल गये। काममें इतना सुख न होता, तो सहस्रो वर्षके जप तपके पश्चात् भी मन उसकी ओर क्यों जाता। कामसे समाधि होती है। अपनी इच्छानुकूल स्त्री को पति मिले और पतिको मनोनुकूल स्त्री मिले तो उससे बढ़कर सुख, कल्याण, मोक्ष या आनन्द दूसरा नहीं। इसलिये वात्स्यायन आदि मुनियों ने काम शास्त्रकी रचना की है, उसमे कामको ही श्रेय बताया है। कामका सेवन कैसे करना चाहिये इसकी विधि बतायी उनके मतमे काम ही परम श्रेय है।

किसी किसीका मत है, कि अहिंसाका भाव रखना, सत्य बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यसे रहना, बहुत संग्रह न करना, पवित्रतासे रहना, संतोष रखना, मंत्र जप करना, ईश्वर पर विश्वास रखना मन और इन्द्रियोंका दमन करना, यही पुरुषार्थ है, सब ओरसे चित्त वृत्तियोंको हटाकर अपने स्वरूप का चिन्तन करते रहना यही परम पुरुषार्थ है। इस विषय पर पतञ्जलि आदि मुनियोंने विशद विवेचन किया है। उनका विशेष बल इन्द्रिय और मनके संयम पर ही है।

कुछ लोग कहते हैं—"शरीर सुखाना तो क्लेश उठाना है। जिस कर्मसे यहाँ क्लेश है उससे परलोकमें क्या सुख मिलेगा। अतः अपने ऐश्वर्यको बढ़ाओ। सब पर शासन

करो प्रभावशाली बनो। दण्डनीतिकारोंने ऐश्वर्यको ही मुख्य माना है और उन्होंने अपने शास्त्रोंमें साम, दान तथा दण्ड-नीति आदिका विस्तारके साथ वर्णन किया है। शत्रुको इस प्रकार नीचा दिखावे ऐसे उसे जीते ऐसे ऐसे अपना ऐश्वर्य स्थापित करे। संसारमें ऐश्वर्यशाली होना यही सबसे श्रेष्ठ सुख है। ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करते रहना चाहिये। जिसका जितना ही ऐश्वर्य होगा, वह उतना ही बडा होगा।

किसी किसीका मत है कि न स्वर्ग है न नरक। परमात्मा परब्रह्म किसीने देखा नहीं। जो कुछ है सो यह शरीर ही है। शरीरके जल नष्ट हो जानेके अनन्तर कुछ भी नहीं रहता। मृतक पुरुषके निमित्त तर्पण करना श्राद्ध करके ब्राह्मणोंको भोजन कराना यह सब मिथ्या है, ढोंग है। कुछ भांड, धूर्त निशाचर पुरुषोंने अपने पेटको बढ़ानेके लिये वेद पुराणोंको बना लिया है, उनमें बात बात पर ब्राह्मण भोजन है, छींको तो ब्राह्मण भोजन कराओ, पैदा हो तो ब्राह्मणको खिलाओ, मरे तो ब्राह्मणोंको खिलाओ। यदि ब्राह्मणके खिलानेसे परलोकमें बैठे प्रेतका पेट भर जाता हो, तो यात्रामें हम आटा दाल, चावल लड्डू सकलपारे बाँधकर क्यों जाया करें। ब्राह्मणको यहाँ खिला दिया है, यात्रामें हमारा पेट भर जाया करे, किन्तु ऐसा होता नहीं। जब घरपर खिलानेसे यात्रामें हमें नहीं मिल सकता तो परलोकमें प्रेतको तो कैसे मिल जायगा। तर्पणसे पितर तृप्त हो जायँ तो दोपहरीमें खेतोंमें काम करनेवालोंको जल बाँधकर ले जानेकी क्या आवश्य-कता है। सब लोग खेतपर काम करते रहें, एक आदमी ब्राह्मण का मुख फाड़कर उसमें ठण्डा जल भरता रहे। ऐसा करने से जब खेतवालोंकी ही प्यास नहीं बुझती तो फिर परलोकगत पितरोंकी प्यास क्या बुझेगी। परलोक, वेद, यज्ञ, याग, कुछ

नहीं। परम पुरुषार्थ यही है कि जैसे हो तैसे इस शरीरको सुखी रखे। परलोक किसीने देखा नहीं। यह आकाशका पुष्प शशकका शृंग, वन्ध्याका पुत्र गूलरका फूल, ईखका फल तथा चन्दनकी अर्द्धस्फुटित कलिकाके सदृश है इसलिये परलोककी चिन्ता छोड़कर सर्व प्रयत्नों द्वारा इस शरीरको परिपुष्ट करो। घरमें पैसा न हो तो ऋण लेकर घृत ले आओ और उसमें चानी मूंगी मिलाकर गरमागरम हलुआ उड़ाओ। पेटमें पहुँच गया परमार्थ हो गया, अब ऋणवाला क्या ले लेगा। तुम कहो, कि पाप लगेगा, तो पापनामक कोई वस्तु ही नहीं। पेटको न भरना ही पाप है किसी उपायसे उसे सजाना बजाना हृष्ट पुष्ट बनाना यही पुण्य है। जो मर गया, वह फिर लौटकर नहीं आता। अतः शरीरको सुखी बनाना अपने साथियोंको खिलाना ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य है।

क्षुद्र लोगोंका कथन है—"नहीं भाई, परलोक एक है, वह शरीरके पोषणमात्रसे ही नहीं मिल सकता। अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, पशुयज्ञ तथा सोमयज्ञ आदि यज्ञयागों को करना चाहिये जन्माष्टमी, रामनवमी, एकादशी आदिके व्रत करने चाहिये, कृच्छ्र, चान्द्रायणादि तप करने चाहिये, दान देना चाहिये, यम नियमोंका भलीभाँति पालन करना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने सखा उद्धवसे कह रहे हैं—"उद्धव! यम, नियम, दान, व्रत, यज्ञ, विविध भाँतिके तप तथा अन्य पुण्य कर्मोंके करनेसे जो लोक प्राप्त होते हैं, वे सब आदिवाले हैं। वे परिणाममें दुख देनेवाले हैं। पुण्य क्षीण होते ही उन लोकोंसे ढकेल दिये जाते हैं। अजी, तुम विचार करो सुवर्णकी बनी जितनी वस्तुएँ होंगी, सुवर्णकी गुणवाली ही होंगी। चीनीकी बनी हुई सब वस्तुएँ मीठी ही होंगी। पृथिवीसे कैसी सुन्दरसे सुन्दर सुदृढ वर्तन बना लो उसमें

पृथिवीका गुण रहेगा ही। इसी प्रकार कर्मोंके द्वारा चाहे ब्रह्मलोक तक पहुँच जाओ, ऊँचेसे ऊँचे लोकको पहुँच जाओ, किन्तु वह होगा क्षयिष्णु ही। देखनेमें वह तत्काल सुख—सा प्रतीत भले ही हो किन्तु उसका परिणाम दुःख ही होगा। सम्पूर्ण आरम्भ किये हुए कर्म दोष युक्त हैं इसीलिये ये मोहजनक, स्वल्प आनन्द देनेवाले और शोकसे व्याप्त हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"तब भगवन्! शाश्वतसुख किससे प्राप्त होता है?"

भगवान् बोले उद्धव! "समस्त संसारी भोगोंसे निरपेक्ष हो जाय। यह ला वह ला, इसे भी बना, उसे भी रख। इसका भी संग्रह कर उसका भी स्वाद चाख इत्यादि विचारों को मनसे निकाल दे, मुझमें ही चित्तको लगाये रखे, मेरे रूपमें मेरे चिन्तनमें ही निरन्तर तल्लीन बना रहे, मुझमें ही निरन्तर रमा रहे, तब उसे यथार्थसुख प्राप्त हो सकता है, क्योंकि सुख स्वरूप तो एकमात्र मैं ही हूँ। विषयोंमें सुख कहाँ जो स्वाद रसगुल्लामें मिल सकता है, वह सड़े गुड़के धोवनमें कैसे आ सकता है, अतः मेरा स्मरण करना, मेरा ध्यान करना मेरेमें ही मन लगाये रहना यही भक्ति है, उसी को जिसने प्राप्त कर लिया है, उसके सामने ब्रह्मलोक तकके दिव्यसुख तुच्छ हैं। वह निर्भय है वही निस्पृह है।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! यह प्रसङ्ग तो बड़ा सरस है, इसे सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती, कृपा करके इस विषयको मुझे और स्पष्ट समझा दें। आपके भक्त कैसे होते हैं वे क्या क्या इच्छायें रखते हैं, उनकी रहनी सहनी कैसी होती है?"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"उद्धव! भक्तोंके सम्बन्धमें मुझे कहनेमें बड़ा आनन्द आता है। भक्त मेरे

अत्यंत प्रिय हैं, भक्त ही मेरे सर्वस्व है, उनके सम्बन्धमें तुम जब तक चाहो मुझसे सुनते चलो। अच्छी बात है अब मैं भक्तोंके ही सम्बन्धमे कहता हूँ।"

सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! आप तो अनन्य भक्त हैं भगवद्भक्ति ही आपके जीवनका चरम-लक्ष्य है। उसी विनय पर आरूढ भक्तिके सम्बन्धमे तथा उसे धारण करनेवाले भक्तिके सम्बन्धमें अब आप कुछ श्रवण करें।"

छप्पय

निष्किंचन समबुद्धि शान्त सन्तोषी त्यागी।
निस्पृह निर्मम नित्यतुष्ट ममपद अनुरागी॥
निरखें सब महँ मोइ द्वैत दीखे नहिँ जिनिकूँ।
दुखको नहिँ लवलेश दिशा सुखमय सब तिनिकूँ॥
तन मन, धन मम पदनिमहँ, सौंपि न चाहैं इन्द्रपद।
राज्य पाट ऐश्वर्य सुख, लेवैं नहिँ ते ब्रह्मपद॥

—::❀::—

भक्तोंका उत्कर्ष

(१२६२)

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्याङ्घ्रिरेणुभिः ॥*

(श्रीभा०११स्क०१४अ०१६श्लो०)

छप्पय

उद्धव जैसे मोइ भक्ति निष्किंचन प्यारे ।
तैसे प्रिय नहिं राम रमा अज डमरू वारे ॥
निरबैरी निरपेक्ष भक्तके पीछें घूमूँ ।
पदरज तैं कृत कृत्य बनूँ चरननि कूँ चूमूँ ॥
विषय वासना काम सुख, की इच्छा मनमहँ नहीं ।
उन भक्तनि आनन्द कूँ, विषयी का पावैं कहीं ॥

कुछ लोग भागवती कथाओंमे पुनरुक्ति दोष बताते हैं। उनका कथन है—"इन कथाओंमें बार बार एक ही बात दुहरायी जाती है, एक ही दृष्टान्त बार बार दिया जाता है, एक ही बातका पिष्ट पेषण किया जाता है।" हम कहते हैं संसारमें किस बातमें पुनरुक्ति नहीं। साँसको बारम्बार लेते हैं। नित्य

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव ! जो शान्ति निरपेक्ष, निर्वैर और समदर्शी मुनि हैं, उनके पीछे पीछे मैं सदा इसलिये घूमता रहता हूँ, कि उनकी चरणरज मेरे ऊपर पड़ जाय, जिससे मैं पवित्र हो जाऊँ।

ही लोग नींदमे सोते है, नित्य ही उसी प्रकार उठते हैं, नित्य ही उसी प्रकार सूर्य उदय है। नित्य ही एक अन्नको बार बार खाते हैं, नित्य ही एक पानीको बार बार पीते हैं, नित्य ही स्त्री बच्चोंको एक प्रकार प्यार करते हैं। बच्चेको जब देखते हैं, तभी गोदमे उठाकर उसका बार बार मुख क्यो चूमते हैं, एक बार हो गया। जब संसारमें सब कामोंकी पुनरावृत्ति ही होती है, तो भागवती कथाओंमें पुनरावृत्ति हो तो इसमे आश्चर्य क्या ? समस्त शास्त्रोंका सार दो ही बातोंमें हैं। सच्चिदानन्द भगवान् ही सत्य हैं, उनका भजन करना ही सार है। इसी एक बातको शास्त्र अनेक युक्तियोंसे, अनेक दृष्टान्त देकर, अनेक वाद बताकर प्रतिपादन करते हैं, जब एक ही बातपर बड़े बड़े पोथे बनाने हैं, तब उनमे पुनरुक्ति न होगी तो और क्या होगी। भागवती कथाओंका सार यही है, कि भगवान्‌को भक्त अत्यंत प्रिय हैं, उन्हे पानेके लिये भक्ति ही एक सरल सुगम साधन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब उद्धवजीने भक्तोंके सम्बन्ध मे प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—'उद्धव ! मेरे भक्त निस्पृह होते। वे मेरे अतिरिक्त किसीसे कुछ आशा नहीं रखते हैं। भक्त होकर जो मनुष्योंसे आशा रखता है, वह भक्त नहीं, व्यापारी है। भक्तिको सामग्री बनाकर उससे पैसा पैदा करना चाहता है। किसीने अन्नका, वस्त्रका, नमकका, गुणका तथा अन्यान्य संसारी वस्तुओंका व्यापार किया, किसीने भक्तिका व्यापार कर लिया, उनकी इच्छा भगवान्‌को पानेकी नहीं होती, वे तो पैसा पैदा करनेका कृष्णकथाको साधन बनाते हैं, धन चाहते हैं, वह उन्हें मिल ही जाता है, जो धन आदि कुछ न चाह कर मुझे ही चाहते हैं, उन्हे मैं ही प्राप्त होता हूँ।

जिन्होंने अपने मनको तथा इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, जिनकी बुद्धि विषयोंके विलोभनमे विचलित नहीं होती,

उनके लिये फिर कोई दुःख नहीं। शोक नहीं, चिन्ता, नहीं भय नहीं, वे निर्भय होकर संसारमे विचरते हैं। उनसे कोई कहे कि तुम ब्रह्मपद ले लो, भगवत् स्मृतिको कुछ कालके लिये छोड दो।" तो वे ऐसे ब्रह्मपदको ठुकरा देंगे और उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे। वे कह देंगे—"हमे ब्रह्मा बनकर क्या लेना है, बिना बात ब्रह्माण्डभरकी चिन्ता अपने सिरपर लाद लें। हमे इतना समय कहाँ है, कि हंसपर चढे चढे यहाँ देख वहाँ देख उसके पुत्रकी चिन्ता उसके पौत्रकी चिन्ता इस गोरख धन्धेमें लगे रहे। हमें तो श्रीकृष्ण चिन्तन सुख चाहिये।" इसीलिये वे ब्रह्मा बननेकी कभी मनसे भी चिन्ता नहीं करते।

जब वे ब्रह्माके पदको ठुकरा देते हैं, तो इन्द्रपदके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या। यह तो अस्थाई क्षयिष्णुपद है। कोई उनसे कहे—"अबके तो आप सार्वभौम राजा होंगे" तो इसे वे गाली समझते हैं। समस्त भूमण्डलके आधिपत्यकी वे स्वप्नमे भी आकाक्षा नहीं करते। कोई कहे कि अच्छा स्वर्ग, ब्रह्मपद, सार्वभौमपद तथा अन्यान्य पद न चाहें यहाँ रह कर ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँ, अणिमा, गरिमा, महिमा, ईशत्व तथा वशित्व आदि सिद्धियोका उपभोग यहीं रहकर आप करें, भगवान्से यही माँग लें।" तो वे इस आदान प्रदानको अपनी भक्तिमें सबसे बडी बाधा अनुभव करेंगे। ये सिद्धियाँ भगवान्से विमुख करनेवाली हैं, जीवके अभिमान को बढानेवाली हैं, इसलिये मेरे भक्त संसारकी किसी भी वस्तुको, किसी भी सिद्धिको तथा किसी भी बडेसे बडे पदको नहीं चाहते, यहाँ तक की वे मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते। जिस मोक्षमे मेरे दर्शन न हो, मेरा नित्य सानिध्य न हो, वे उस मोक्षको ठुकरा देते हैं। मेरे भक्त मुझे चाहते हैं, मेरे

गुणोंका श्रवण, मेरे नामका गायन और मेरे स्वरूपका ध्यान यही उनका आहार है। इसीके लिये वे सदा व्याकुल बने रहते हैं। इसीलिये भक्तजन मुझे अत्यत ही प्यारे हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"प्रभो! भक्त आपको कितने प्यारे हैं, कैसे प्यारे हैं? जैसे कमलनाभ ब्रह्मा।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! पुत्र तो संसारमे सबसे प्यारा होता ही है। पुत्र अपनी आत्मा ही है। संसारमें लोग अयोग्य पुत्रसे भी प्यार करते हैं फिर सर्वगुण सम्पन्न आज्ञाकारी पुत्र हो, तब तो कहना ही क्या। ब्रह्माजी मेरे योग्य पुत्र हैं, आज्ञाकारी हैं, फिर भी वे मुझे उतने प्यारे नहीं हैं जितने कि भक्त प्यारे हैं।"

उद्धवजीने कहा—"तो क्या जितने प्रिय आपको शङ्करजी हैं उतने प्रिय भक्त हैं?"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! पुत्रसे भी प्यारा पौत्र होता है, फिर पौत्र अपनी पदवी पर पहुँच जाय, सर्वसमर्थ हो जाय तब तो कहना ही क्या, शंकरजी परम ऐश्वर्यशाली हैं, सर्वसमर्थ हैं परमेश्वर हैं फिर भी वे मुझे उतने प्रिय नहीं हैं, जितने कि भक्तजन प्रिय हैं।"

उद्धवजीने कहा—"तो क्या आप भक्तोंका अपने बडे भाई संकर्षणके सदृश आदर करते हैं?"

भगवान्‌ने कहा—"संकर्षण तो मेरे बडे भाई ही ठहरे। उनका मैं अत्यधिक आदर करता हूँ, हृदयसे प्रेम करता हूँ, किन्तु वे मुझे उतने प्रिय नहीं हैं, जितने प्रिय मुझे मेरे अनन्य भक्त हैं।"

उद्धवजीने कहा—महाराज! किसीकी भी तो समता होनी चाहिये। संसारमें सबसे प्यारी अपने अनुकूल आचरण करनेवाली अत्यंत अनुराग रखनेवाली अपनी अर्धाङ्गिनी हैं। इसी-

लिये उसे जीवन सहचरी प्राणप्रिया तथा प्रियतमा कहते हैं। लक्ष्मीजी आपको अत्यत प्यार करती हैं, पलभर भी आपके पादपद्मोंसे पृथक् नहीं रहतीं। अपने सुकोमल गुदगुदी ऊरुओं पर आपके चरणकमलोंको रखकर अपनी कमलसे भी कोमल पतली पतली उँगलियोंसे उन्हें शनैः शनैः सुहलाती रहती हैं, क्या भक्तजन आपको उनके सदृश प्रिय हैं?"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव! तुम कहते तो सत्य हो, कामिनीको कामधुरा तथा गृहमेधधेनु कहा है। वह घरकी कल्प लता हैं, सभी सुखोंको वह देनेवाली हैं, अनुरागका वह निरन्तर स्रोत बहाती रहती हैं, इसीलिये लक्ष्मी मुझे बहुत प्यारी हैं, किन्तु उतनी प्यारी नहीं हैं जितने प्यारे भक्त हैं।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, महाराज! अब मैं समझ गया, भक्त आपको प्राणोंके सदृश प्यारे हैं। ससारमे जितनी भी प्रियता हैं वे अपने आपके ही लिये हैं। प्राणोंसे अधिक प्रिय कोई वस्तु है ही नहीं।"

भगवान्ने कहा—"उद्धव! तुम्हारा कथन सोलहों आने सत्य है। प्राण सबसे प्रिय है, किन्तु मुझे तो मेरे भक्त प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, मैं उन्हें दुखी देख ही नहीं सकता। भक्त मेरे प्राणोंके भी प्राण हैं, भक्त ही मेरे परमधन हैं, भक्त ही मेरे इष्ट हैं अधिक क्या कहूँ, भक्त ही मेरे सर्वस्व हैं। भक्तोंके पीछे पीछे मैं इसी प्रकार फिरता रहता हूँ, जिस प्रकार गौके पीछे बछडा फिरता रहता है।

उद्धवजीने कहा—"महाराज! बछडा तो दूध पीनेके लिये फिरता है। बछडेसे अधिक प्रेम तो गौका ही होता है।

भगवान्ने कहा—"मैं उनके पीछे ऐसे फिरता रहता हूँ, जैसे स्वामीके पीछे सेवक।

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! सेवक तो वेतनपर लोभसे स्वामीके पीछे पीछे फिरता है।

भगवान्‌ने कहा—"मुझे भी लोभ है, मैं भी उनके पीछे किसी स्वार्थसे ही फिरता हूँ। मैं कभी उनके आगे नहीं चलता पीछे ही रहता हूँ।"

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! भगवान् भक्तके पीछे ही पीछे क्यों फिरते हैं ?

सूतजीने कहा—"महाराज ! भगवान्‌को भक्तकी बड़ी चिंता रहती है। उतनी चिन्ता माताको अपने पुत्रकी भी नहीं रहती। यद्यपि माता अपने पुत्रकी चिन्ता बहुत रखती है। हाथसे कुछ भी काम करती रहती हो, चित्त उसका सर्वथा पुत्रमें ही लगा रहेगा। तनिक भी पुत्र आँखोंसे ओझल हुआ, कि उसे अनिष्टकी शंका होने लगती है। इसीलिये भगवान् कभी भक्तको छोड़ते नहीं। पीछे इसलिये रहते हैं, कि आगे वस्तुको तो भक्त आँखोंसे भी देख लेगा, पीठमें तो आँखें हैं नहीं है, कोई पीछेसे प्रहार कर दे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है, कि भक्त भगवान्‌को अत्यंत ही प्यारा है, आगेरहें और आँखों से आँखें मिल जायँ, तब भगवान्‌को समाधि हो जाय, वे चल ही न सकें। अतः उसके पीठकी ओटमें छिप छिपकर चलते हैं। तीसरा कारण यह भी है भगवान् अपनेको भक्तसे छोटा समझते हैं, अतः बड़ोंके पीछे पीछे ही चलना चाहिये उन्हें पीठ दिखाकर न बैठना चाहिये न चलना चाहिये। चौथा कारण यह भी है, कि भक्त बड़े संकोची होते हैं यद्यपि भगवान् उन्हें अपना इष्ट मानते हैं फिर भी भक्त तो उन्हें अपना आराध्य और सर्वस्व समझते हैं, भगवान् आगे आगे चलेंगे तो भक्त उनके चलचरण चिन्होंके ऊपर तो पैर रख नहीं सकते। चरणोंके चिन्ह बचाकर दायें बायें चलेंगे। इस-

लिये भगवान् उनका संकोच दूर करनेको पीछे पीछे चलते हैं। यह अनुभव भगवान्को वनमें हुआ।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! वनमें भगवान्को अनुभव कैसे हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! जब चित्रकूटसे भगवान् दण्डकारण्यमें चले तो वे आगे आगे थे, उनके पीछे जगज्जननी जानकी और उनके पीछे यतिवर लक्ष्मणजी थे। जानकीजी बहुत सम्हलकर चल रहीं थीं। उन्हें पग पगपर इस बातका ध्यान रखना पड़ता था कि भगवान्के चरणचिन्होंपर मेरा पैर न पड़ जाय, अतः चरणचिन्होंको बचाकर वे दायीं बायीं चल रहीं थी। लक्ष्मणजीको जानकीजीसे अधिक सचेष्ट सहना पड़ता था। वे भगवान्के चरणचिन्हों को भी बचाते थे और जानकीजीके भी, क्योंकि उनके तो दोनों ही इष्ट थे। कुछ दूर चलनेपर भगवान्को ध्यान आया। उनका नवनीतसे भी सुकोमल हृदय बहने लगा। सोचने लगे—"जब इनका समस्त ध्यान चरणचिन्होंको ही बचानेमें ही लगा हुआ है, तो ये वनकी शोभा क्या देख सकेंगे। सुखका अनुभव कैसे कर सकेंगे, आनन्दका आस्वादन कैसे करेंगे। जहाँ, लज्जा, संकोच और भय है वहाँ रसका भलीभाँति आस्वादन नहीं होता।" यही सोचकर भगवान् एक सघनवृक्षके नीचे बैठ गये। समीप ही स्वच्छ सुन्दर सलिलवाला सरोवर था। लक्ष्मणजी कमलके पत्तोंसे जल ले आये। जानकीजीनेवनने जलसे हाथ पैर धोये जलपान किया, कुछ देर विश्राम करके बोले—"लक्ष्मण! अब चलनेका क्रम बदलना है।"

लक्ष्मणजीने पूछा—"किस प्रकार बदलना है, महाराज!

भगवान् बोले—"देखो, तुम तो धनुषबाण लेकर आगे आगे चलो। तुम्हारे पीछे सीताजी चलें। तुम दोनोंकी रक्षा

करता हुआ सबसे पीछे मैं चलूँगा। यह सघन वन है इसमें राक्षसोंका भय पग पग पर है।"

लक्ष्मणजीने कहा—"जैसी आज्ञा" ऐसा कहकर आगे आगे लक्ष्मणजी चलने लगे उनसे पीछे जानकीजी और सबसे पीछे श्रीराघवेन्द्र। अब सीताजी निश्चिन्त थीं लक्ष्मणजी की चरणधूलि मस्तकपर भले पड़ जाय किन्तु चरणचिन्होंपर पैर रखनेका कोई संकोच अब न रहा। इसी प्रकार भगवान् भी दोनोंकी चरणधूलिको अपनी लटाओंमें कृपणके धनके सदृश एकत्रित करते हुए दोनों अपने अनन्य भक्तोंके पीछे पीछे उन्हें वनकी शोभा दिखाते सब प्रकारसे सुख पहुँचाते तथा उनकी रेख देख करते हुए आनन्दसे मार्गको पार करने लगे। तभीसे भगवान्ने यह शिक्षा ग्रहण की "कि मैं भक्तोंके पीछे या नीचे रहूँगा। जब कृष्णावतार लेने लगे तब संकर्षणजीसे बोले—"आप आगे चलिये" आगे जन्म लेकर बडे बनिये, मैं पीछे आऊँगा, सबसे पीछे। इसीलिये भगवान् आठवें हुए सबसे पीछे पधारे। पांडवोंके भी पीछे पीछे ही चलते थे। अर्जुनके रथमें भी अर्जुनसे नीचे-ही उनके चरणको सिरपर रखकर ही—बैठते थे। इसलिये महाराज! भगवान् भक्तोंके पीछे पीछे रहते हैं।

उद्धवजी श्रीकृष्णचन्द्रसे इसी सम्बन्धमें पूछ रहे हैं—"भगवन्! भक्तोंके पीछे पीछे फिरनेका और भी कोई कारण है।,'

अत्यंत ही विह्वल होकर गद्गद् वाणीसे भगवान् बोले—"उद्धव! मुख्य कारण तो यह है, कि मैं अपने शान्त, समदर्शी, सरल, शुचि सत्यवादी निरपेक्ष भक्तोंके पीछे पीछे इस दृष्टिसे फिरता हूँ कि चरणधूलिसे मेरा अपावन शरीर पावन हो जाय। मुझे सभी पतितपावन और अधमोद्धारक कहते

हैं। सब तो मेरी चरणधूलिसे पवित्र होते है और मैं अपने भक्तोंकी चरणरजसे पावन बनता हूँ, इसी लोभसे मैं भक्तोंके पीछे फिरता हू।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपके भक्त तो प्रायः दरिद्री मैले कुचेले और दुखी होते हैं, इसके विपरीत जो अभक्त है, वे बडे ऐश्वर्यशाली और सुखी देखे जाते हैं यह क्या बात है?"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! मेरे भक्त निर्धन और मैले वस्त्रोंवाले भले ही हों, किन्तु दुखी नहीं होते उनका चित्त एकमात्र मुझमें ही लगा रहता है। वे अपना तो कुछ समझते ही नहीं। जो कुछ उनके पास है, उसका उपभोग वे प्रभुकी सेवामे ही करते हैं। धनका न होना दारिद्र नहीं हैं, जो मन का दरिद्री है, वास्तवमे वही दरिद्री है। उद्धव! तुम सोचो—"जिसके पास विपुलधन है और मनका वह दरिद्री है कृपण है लोभी है, तो उसका वह धन किस काम का। न वह किसीको दे सकता है न स्वय ही उसका उपयोग कर सकता है। इसके विपरीत जिसके पास केवल एकबार खानेके लिये सत्तू है और कोई भूखा अतिथि आकर उससे उन सत्तुओंकी याचना करता है और वह उन्हें दे देता है तो वास्तविक उदार और धनवान् तो वही है।

अर्जुन-देवराज इन्द्रके पुत्र थे। जब महाभारत युद्ध होनेवाला था, तब इन्द्रको बडी चिन्ता हुई कि मेरे पुत्र अर्जुन को कर्ण अवश्य मार देगा, क्योंकि वह सूर्यका पुत्र है, कुडलकवच पहिने ही जन्मा है, जब तक इसके शरीर पर स्वाभाविक कवच रहेगा, कानोंमे स्वाभाविक कुडल रहेंगे, तब तक कोई भी इसे परास्त नही कर सकता और यह सबको परास्तकर सकता है किसी प्रकार इससे कवचकुडल मिले।

यही सोचकर इन्द्र ब्राह्मण वेष बनाकर कर्णके समीप जाने लगा। सूर्यदेवको यह बात विदित हो गयी। उनके मनमें भी आया, इन्द्रके बुरे विचारोंको मैं कर्णसे जाकर कह दूँ। पुत्र-स्नेहके कारण सूर्यने कर्णके समीप आकर कह दिया—बेटा! इन्द्र ब्राह्मणका वेष बनाकर तुमसे कवचकुंडल माँगने आवेगा, तुम उसे देना मत।"

कर्णने नम्रतापूर्वक किन्तु दृढताके स्वरमें कहा—"पिताजी! आप मुझे यह क्या उलटी पट्टी पढा रहे हैं। जो वस्तु मेरे पास है उसकी मेरे समीप आकर ब्राह्मण याचना करे और मैं मनाकर दूँ यह असंभव बात है, ऐसा कभी नहीं होगा। इन्द्र तो ब्राह्मण बनकर आवेंगे, वे प्रत्यक्ष भी आते तो भी मैं मना नहीं करता।"यह सुनकर सूर्य अपना सा मुँह लेकर चले गये।

इन्द्र ब्राह्मणका वेष बनाकर आये। कर्णने उन्हें जान लिया और अपने शरीरसे उनके माँगनेपर काटकर कवच-और कुण्डल दे दिये। इन्द्र लेकर चले तो उनके घोडे उन्हें स्वर्गमें ले जानेको समर्थ न हुए। अब सोचो—"इनमें दरिद्री कौन हुआ? वास्तवमें दरिद्री इन्द्र ही हुआ। इसी प्रकार जब मैं उसकी उदारताकी परीक्षा लेने वर्षातमें साधुवेषसे गया और कहीं भी सूखा ईंधन न मिलनेसे उसने तुरन्त अपने घरकी छतमें लगे हुए चंदनकी लकडीको निकलवाकर मुझे ईंधन दिया। मेरे भक्त अपनी कोई वस्तु समझते ही नहीं। वे निष्किंचन बने रहते हैं, किन्तु उनका चित्त सदा मुझमें अनुरक्त बना रहता है, देखो व्रजकी गोपिकाओंका चित्त निरन्तर मुझमें कैसा अनुरक्त बना रहता था। उद्धव! तुम तो व्रजमें जाकर सब देख ही आये हो। वे हाथोंसे तो घर गृहस्थीके समस्त कामोंको करतीं किन्तु चित्तसे सदा मेरा

ही चिन्तन करती रहतीं। दूध दही बेचने जातीं मनमें तो उनके मैं बसा हुआ था। वे दूध दहीका नाम भूल जातीं और चिल्लाने लगतीं "श्यामको लो, कृष्णको लो" दूसरी कहती—"अरी, तुम दूध दही बेच रही हो या श्याम-कृष्णका सौदा कर रही हो, तब वे लजा जातीं। इसी प्रकार भोजन बनानेमें, दूध दुहनेमें, बच्चोंको खिलानेमें उनका मन मुझमें ही अनुरक्त रहता। मेरे भक्त शान्त और सरल होते है, उन्हें कोई कितना ही क्लेश दे वे उसे अपना प्रारब्ध समझकर भोगते हैं, किसीको दोष नहीं लगाते। वे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें निरन्तर निरत रहते हैं। उनके मनमें कोई संसारी कामना नहीं उत्पन्न होती। वे मेरे में ही मन लगाकर विषयोंसे विरक्त बने रहते हैं। उन्हें मेरे अतिरिक्त किसीकी अपेक्षा ही नहीं। ऐसे मेरे भक्तोंके पास चाहे एक पैसा भी न हो, किन्तु उन्हें जो आत्मशान्ति होती है, वह धनिकोंको कहाँ? धनिक सदा दुखी चिन्तित और अशान्त बने रहते हैं। विशाल तृष्णामें विशाल दुख है। मैं धन सम्पत्ति वैभवसे ही प्रसन्न होता, तो मुझे दुर्योधनका पक्ष लेना चाहिये था। दुर्योधन हमारा सम्बन्धी था। वह सम्राट् था। उसके पास सुखकी सभी सामग्रियाँ थीं, मेरे स्वागत सत्कार का भी उसने बड़ा भारी प्रबन्ध किया था, किन्तु उसके यहाँ न जाकर मैं अपने निष्किंचनभक्त विदुरके यहाँ ही गया था। राज्य-पाट धन वैभवसे विहीन पांडवोंके ही पीछे

पीछे फिरता रहता था। जो सुख-जो आत्मसंतोष-पाडवोंको था, वह कौरवोंको इतना ऐश्वर्य होने पर भी नहीं था। उन्हें अपने धन, ऐश्वर्य, बल, पराक्रम, वेतनभोगी भीष्मद्रोण आदि का भरोसा था, पाडवोंको एकमात्र मेरा भरोसा था। पाडव दु खों से घबराते नहीं थे, युद्ध तो उन्होंने धर्मके लिये कर्तव्यके लिये- मेरी आज्ञासे-किया था। कुन्तीजीने मुझसे विपत्तिका वरदान माँगा था। मेरे परमानन्दका अनुभव तो निरपेक्षता से ही प्राप्त हो सकता है। ऐसे अकिंचन शान्त, दान्त निरपेक्ष भक्त मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। उनके लिये मैं सब कुछ करनेको सर्वथा प्रस्तुत रहता हूँ।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! यह तो आपने अपने उत्तम भक्तोंकी महिमा बताई, किन्तु मैं तो ऐसा उत्तम भक्त नहीं हूँ। मैं तो अधमाति अधम हूँ। मेरा मन तो काच, क्रोध, लोभ मोहादिमें भी फँसा रहता है, विषयभोगोंकी सामग्रियोंको देखकर चचल हो जाता है। कृपा करके यह बताइये जो आपकी भक्ति करना चाहता है, किन्तु वह इन्द्रियोंको नहीं जीत सका है, अजितेन्द्रिय है, उसकी क्या गति होगी? उसके भी उद्धारकी कुछ आशा है?

यह सुनकर भगवान् बोले—"उद्धव! तुम तो परम भागवत हो, तुम तो मेरे सर्वश्रेष्ठ भक्त हो, यह प्रश्न तुमने सर्वसाधारण अजितेन्द्रिय भक्तोंके निमित्त किया है, अच्छी तुम्हें देता हूँ, तुम इस प्रसङ्ग

को समाहित चित्तसे श्रवण करो"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिस प्रकार भगवान्‌ने भक्तोंकी उत्कृष्टता बताते हुए भक्तिकी महती महिमा गायी है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

भूलै मेरो भक्त विषय भोगनि फँसि जावै।
मम पद तजिकें नारि वदन महँ चित्त लगावै॥
कछु दिन होवै पतित यादि सुमिरन सुखआवै।
भूलि भटकि पछिताइ मोइ फिरतैं अपनावै॥
बढ़ी अग्नि महँ नीरहू, भस्म होहि जरि जाइ पुनि।
भक्ति होहि फिरतैं सजग, मधुमय मेरी कथा सुनि॥

—❀❀—

महाभारतके प्राण महात्मा कर्ण

(तृतीय सस्करण छप गया)

अब तक आप दानवीर महात्मा कर्णको कौरवोंके पक्षका एक साधारण सेनापति ही समझते रहे होंगे। इस पुस्तकको पढकर आप समझ सकेंगे, वे महाभारतके प्राण थे, भारतके सर्व-श्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्णके प्रति महती श्रद्धाका वर्णन इसमे बडी ही ओजस्वी भाषामे किया है। ३४५ पृष्ठकी सचित्र पुस्तकका मूल्य केवल २।।।) दो रुपये बारह आने मात्र हैं, शीघ्र मँगाइये, इस पुस्तककी बहुत माँग थी। अभी तीसरा सस्करण छपा है शीघ्रता कीजिये।

प्रभु पूजा पद्धति

भगवान्‌की पूजा करनेकी सरल सुगम शास्त्रीय विधि

इसमे भगवान्‌की षोडशोपचार पूजाकी बडी ही सुन्दर विधि है। पूजाके पौराणिक श्लोकोंके साथ हिन्दीके दोहे भी हैं जो सस्कृतके श्लोक न बोल सकें वे दोहोंसे भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं सादे चित्र दो भगवान्‌का भव्य तिरगा चित्र एक, पृष्ठ सख्या ४८ सुन्दर कागद पर छपी है मूल्य केवल ६ पैसा।

पता—सकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरि ॥

[ब्रजभाषामें भक्तिभाव पूर्ण, नित्य पाठके योग्य अनुपम महाकाव्य]

श्रीभागवत चरित

(द्वितीय संस्करण)

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिंदुओंके नित्यपाठके अनुपम ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषामें रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठके लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमीको "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ ब्रजभाषाकी छप्पय छन्दोंमें लिखा गया है। बीच बीचमें दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रमसे सात भागोंमें विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठके भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवतकी समस्त कथाओंको सरल, सरस तथा प्रांजल छन्दोंमें गाया गया है। आज से लगभग डेढ वर्ष पूर्व इस ग्रन्थकी तीन सहस्र प्रतियाँ छपी थीं, जो थोड़े ही दिनोंमें हाथों हाथ निकल गयीं। सैकड़ों नर-नारी इसका नित्य नियमसे पाठ करते हैं, बहुतसे कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुतसे पंडित इसीके आधारसे भागवत सप्ताह बाँचते हैं। अब इसका दूसरा ५ हजारका संस्करण अभी छपाया है। लगभग सवा नौ सौ पृष्ठकी पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागद पर छपी है। सैकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५ - ६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़ेकी टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उसपर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजारमें ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधारलें। न्योछावर केवल ५।) सवा-पाँच रुपये, डाकव्यय पृथक्।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग

मुद्रक—भागवत प्रेस, झूसी, प्रयाग।

॥ श्री हरिः ॥

श्रीब्रह्मचारीजी महाराजकी कुछ अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँसे मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डोंमें ; ५४ खण्ड छप चुके हैं) प्रति खण्डका मूल्य १।) , आठ आना डाकव्यय पृथक्। १५) में एक वर्ष के १२ खण्ड डाकव्यय रजिष्ट्री सहित।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठकी, सजिल्द मूल्य ५) इसका प्रथम संस्करण अब समाप्त हो गया और द्वितीय छप गया।

३—बदरीनाथदर्शन—बदरीनाथजीपर खोजपूर्ण महाग्रन्थ; मूल्य ५)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३४५ मू० २॥।)

५—मतवाली मीरा—भक्तिका सजीव साकार स्वरूप, मूल्य २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्धमें उठने वाली तर्कोंका युक्ति पूर्ण विवेचन। मूल्य ॥)

७—श्री शुक—श्रीशुकदेवजीके जीवनकी झाँकी (नाटक) मूल्य ॥)

८—भागवती कथाकी बानगी—(आरंभके तथा अन्य खण्डोंके कुछ पृष्ठोंकी बानगी) पृष्ठ संख्या १२५ ; मूल्य ।)

९—शोक शान्ति—शोकशान्ति करने वाला रोचक पत्र (पृ० ६४) इसे पढ़कर अपने शोक संतप्त परिवारको धैर्य बँधाइये। मूल्य ।-)

१०—मेरे महामना मालवीयजी और उनका अन्तिम संदेश—मालवीयजीके जीवनके सुखद संस्मरण। पृष्ठ १३० ; मूल्य ।)

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दू हिन्दू बन सकते हैं? इसका शास्त्रीय विवेचन। पृष्ठ सं० ७५ मूल्य ।-) पाँच आना

१२—प्रयाग माहात्म्य— आपके हाथमें ही—मूल्य -) एक आना।

१३—वृन्दावन माहात्म्य—मूल्य -)

१४—राघवेन्दुचरित—(भागवतचरितसे ही पृथक् छापा गया है) मूल्य ।-)

१५—प्रभुपूजा पद्धति—भगवान्‌की पूजा करनेकी सरल सुगम पद्धति। मूल्य -)॥

मिलनेका पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।

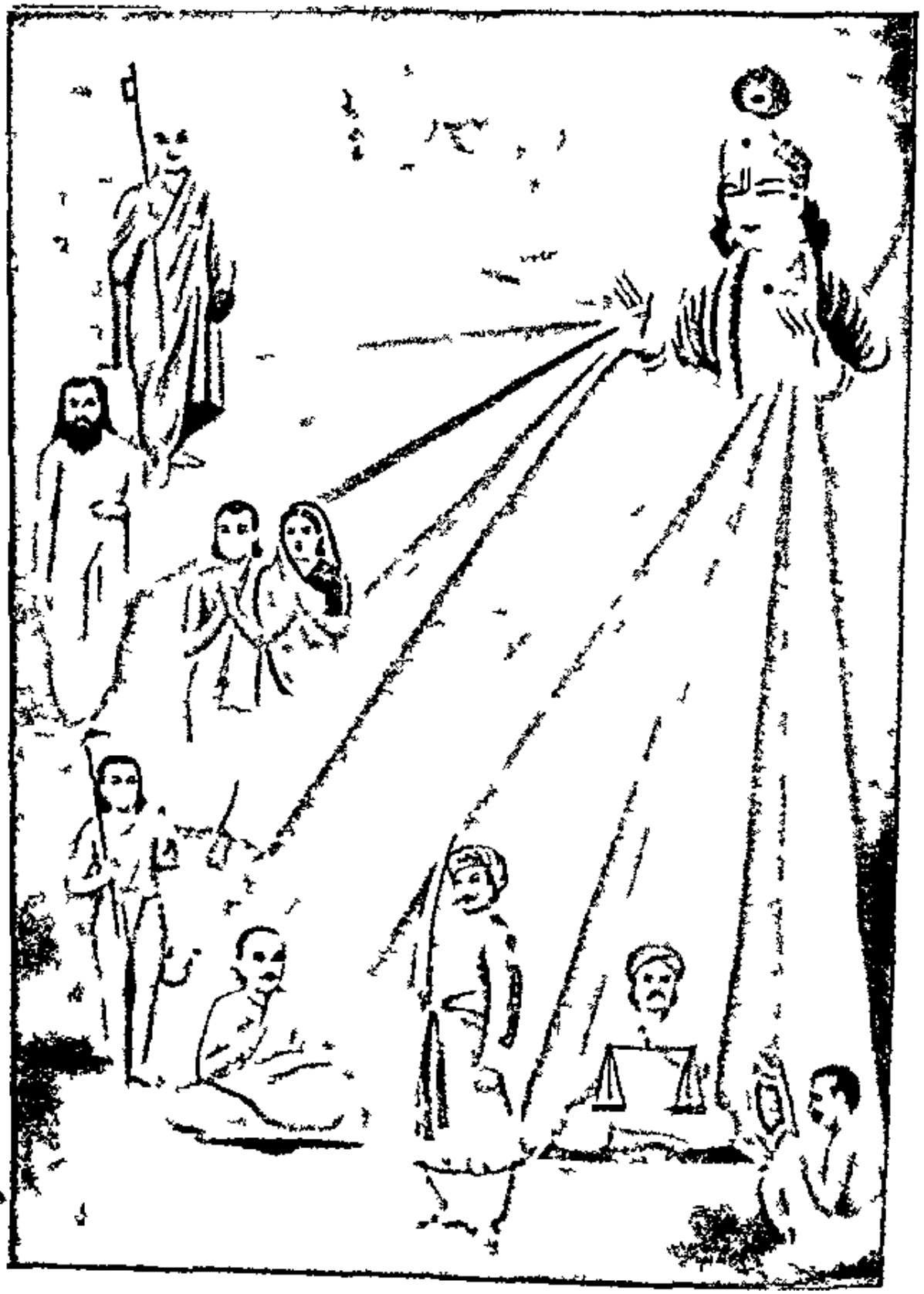

चार वर्ण और चार आश्रम

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(पचपनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन

प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-०० रुपए

प्रथम संस्करण] आषाढ, सम्वत् २०१० वि० [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग ।

विषय सूची

खण्ड पचपन

अ० सं०	विषय	पृष्ठ
	गौ सेवा से ही भारत का हित	आरम्भ में
१२६३	—भक्ति की महती महिमा	१
१२६४	—सत्संग और दुस्संग का प्रभाव	१५
१२६५	—ध्यान करने की पात्रता	२२
१२६६	—ध्यान की विधि	२९
१२६७	—सिद्धियों के सम्बन्ध में	४२
१२६८	—सर्वसिद्धियों के स्वामी श्यामसुन्दर	५२
१२६९	—विभूतियों का वर्णन	५९
१२७०	—भगवत् विभूतियों की मुख्य पहिचान	७१
१२७१	—वर्णाश्रम धर्म रहस्य	७९
१२७२	—ब्राह्मण स्वभाव	९०
१२७३	—ब्राह्मण वृत्ति और धर्म	१०८
१२७४	—क्षत्रिय स्वभाव	११७
१२७५	—क्षत्रिय वृत्ति	१२५
१२७६	—वैश्य स्वभाव और वृत्ति	१३१
१२७७	—शूद्रोंका स्वभाव और वृत्ति	१४०
१२७८	—अन्त्यजों का स्वभाव और वृत्ति	१४६
१२७९	—सार्ववर्णिक धर्म	१५५
१२८०	—ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म	१६२
१२८१	—गृहस्थाश्रम धर्म	१७९
१२८२	—वान प्रस्थाश्रम धर्म	१९७

॥ श्रीहरिः ॥ (श्री)

गो-सेवाव्रत से ही भारत का हित-

गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युत ।
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव ॥
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपाप हरं शिवम् ॥ *

(महा भारत)

सोरठा

गैयनि में अति प्रीति, गैयनिमें ई नित बसूँ ।
गाऊँ गैयनि गीति, गैयनिकूँ सर वसु गनूँ ॥

हमारे यहाँ तीन मैयाओ का बडा महत्व है, गैया मैया गंगा-मैया और गर्भ धारण करने वाली मैया। प्रत्येक आस्तिक भारत-वासी के रक्त में इन तीनों मैयाओं के प्रति सहज स्नेह होता है। बहुत ही अल्पावस्था में गृह त्यागी बन जाने के कारण मैं अपनी जननी की कोई सेवा न कर सका। गङ्गा जी का सेवन किया तो किन्तु विशुद्ध आस्तिक भाव से श्रद्धा संयम पूर्वक नहीं, किन्तु कैसे भी सही वात्सल्यमयी माँ संतानों के अवगुणों को नहीं देखती। वे तो अपने सहज-स्नेह से सन्तानो के मलों को- पापो को-चाट जाती

---

* महर्षि च्यवन राजा नहुष से कह रहे हैं—"हे वीर राजन्! मैं इस संसार में गौओं के समान दूसरा कोई दूसरा धन नहीं देखता। गौओं के नाम गुणों का कीर्तन करना-सुनना, गौओं का दान देना और उनका दर्शन करना इन सबकी शास्त्रों में बड़ी प्रशंसा की गई है, ये समस्त कार्य सम्पूर्ण पापों को दूर करके परम कल्याण देने वाले हैं।"

हैं। गो-माता के प्रति जैसी कि एक हिन्दू को होनी चाहिये वैसे मेरी श्रद्धा स्वाभाविक ही है। आरम्भ से ही मेरे मनमें ऊहापोह होती रहती थी, मैं गो-सेवा करूँ, किन्तु त्याग के मिथ्याभिमान के कारण तथा अन्यान्य कार्यों में जुटे रहने के कारण मैं सक्रिय गो-सेवा का व्रत न ले सका।

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भारतीय संस्कृति की रक्षा एकमात्र गो रक्षा पर अवलम्बित है। भारत मे गो रक्षा नहीं होती तो भारत की, भारतीय संस्कृति की, धर्म की तथा हमारे सुख स्वास्थ की रक्षा संभव नहीं। गो और ब्राह्मण भारतीयताके दो प्रतीक हैं, जो इन दो का शत्रु है वह नास्तिक है उससे देश का हित नहीं हो सकता। हमारा देश गो रक्षा गो सेवा के विना जीवित रह नहीं सकता। गौएँ मङ्गलमयी हैं, वे सर्वदेवमयी हैं, लक्ष्मी जी उनके गोबर में निवास करती हैं। गोबर से लिपे घर की कैसी शोभा होती है। उत्सव पर्वों पर पहिले हमारे घर गोबर से लीपे जाते थे, तब न अन्न की कमी थी न दूध की। मेरे ही बालकपनमें तीन चार पैसे सेर सामने दुहा हुआ शुद्ध दूध मिलता था, आज शुद्ध दूध के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। हमने गो सेवा को भुला दिया। हम दूध घी खाना तो चाहते हैं किन्तु गो सेवा करना नहीं चाहते। पहिले एक एक किसान के यहाँ सौ सौ दो दो सौ गौएँ रहती थीं। श्रीमानों के यहाँ सहस्र सहस्र गौएँ थीं। आज न किसान गौ रखते हैं न श्रीमान लोग। मोटर तो १०-१०, २०-२० रख लेंगे, कुत्ते भी पाल लेंगे किन्तु गौएँ नहीं रखेंगे। गो सेवा करना शास्त्रों मे परम धर्म बताया है और कुत्ता पालना निषेध बताया है। आज हम तमोगुण से आवृत होने से अधर्म को ही धर्म मानने लगे हैं। दिल्ली के साप्ताहिक "हिन्दुस्तान" में एक निबन्ध छपा था उसमें बताया है। सौंदर्य प्रतियोगिता में जो संसार की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी मानी जाती

है उसकी एक सेविका है। उसके पास एक कुत्ता है, कहते हैं वह कुत्ता ससार के कुत्तो मे सबसे सुंदर है, उसकी स्वामिनी जो खाती है, वही उसे अपनी थाली में साथ साथ खिलाती है, जो पीती है वही उसे साथ साथ पिलाती है, अपने साथ ही शैया पर सुलाती है और क्षण भर को उसे विलग नहीं करती। कुत्ता इतना सु दर है कि स्त्रियाँ उसका चुम्बन लेने को समुत्सुक रहती हैं। जब चुम्बन लेने वालो की भीड अधिक बढने लगी तो उसने चुम्बन-शुल्क लगा दिया २००) में एक चुम्बन। इस पर सैकडों स्त्री पुरुष चुम्बन लेने खडे हो गये। भीड बढती देखकर उसने शुल्क बढानी आरम्भ कर दी। पाँच सौ, एक सहस्र, दो सहस्र, पाँच सहस्र, दश सहस्र, तीस सहस्र यहाँ तक कि एक चुम्बन के २५ सहस्र उसने कर दिये तो भी कई स्त्रियाँ खड़ी रहीं। जब उसने पचास सहस्र एक चुम्बन के कर दिये। तब भी दो स्त्रियों ने उसका चुम्बन लिया। उसके सम्बन्ध की और भी अनेक बातें बतायी गयीं जैसे बहुत द्रव्य व्यय करके उसका विवाह किया गया, उसकी भावी संतान को क्रय करने के लिये लाखों रुपया अग्रिम दे दिया गया, आदि आदि।

शास्त्र दृष्टि से यह अधर्म है, किन्तु ऐसा ही प्रेम गो माता में हो जाय तो लोक परलोक दोनों ही सुधर सकते हैं। गौ कितनी प्यारी लगती है, गौ दूध, दही, घृत, मक्खन, मठा तथा तक्र, छेना आदि देती है। उसकी खाद सर्वोत्तम मानी जाती है। उसके गोबर मूत्र आदि से अनेको औषधिया बनती हैं अनेक रोग नाश होते हैं। मरने पर, उसका चर्म, अस्थि, शृंग, तथा अन्यान्य अवयव काम में आते हैं। बहुत उपयोगी पशु हैं इसलिये उसका पालन करना चाहिये। इस भावना से गौ रखने को गो प्रेम नहीं कहते। ये वस्तुएँ तो आनुसंगिक हैं। यथार्थ मे तो गौ हमारी माता है, सर्व-देव मयी है, तीर्थ रूपा है, समस्त देवगण उसके रोम रोम में निवास

करते हैं, उसकी सेवा से हमारे लोक परलोक दोनों ही सुधरेंगे ।। गौ रखने से आर्थिक हानि भी नहीं अपितु लाभ ही है। उसके दूध, उसके बच्चो और खाद का मूल्य जोड़ा जाय तो वह हमें सदा सर्वदा कुछ न कुछ देती ही रहती है, किन्तु इस बात को सिद्ध करना मेरा विषय नहीं। इस पर तो कोई अर्थशास्त्री प्रकाश डालेंगे। मेरा बताने का अभिप्राय तो यही है, कि हमारा हित गौ रक्षा में गौ भक्ति मे है। जिसने गौ सेवा करली उसने अपना लोक परलोक दोनों ही बना लिये।

गौ सेवा एक तप है, जब तक हम गौ को सन्तान की भाँति मानकर पालन न करेंगे तब तक उसका नाम गौ भक्ति नहीं। मनुष्य झंझट से डरते हैं, इसलिए कह देते हैं, कौन गौ पालने के झंझट मे पडे। दो रुपये फेंके दो सेर दूध ले लिया। रात दिन खटपट से बचे। एक कहावत भी है—"गाय न बाछी, नींद आवे आछी" वास्तव मे जैसे माता दिन रात अपने बच्चे की चिन्ता रखती है, रात मे मलमूत्र करने पर उठकर उसे साफ करती है, रोने पर उसे चुप करती है, ऐसे ही गौ की चिन्ता करनी पडती है, तभी गौ कामधेनु बनती है, फिर वह घर मे अष्ट सिद्धि नवनिधि उत्पन्न करती है। मुझे ऐसा एक भी घर नहीं मिला जहाँ गौ सेवा होती हो और उस घर में कभी किसी बात की कमी रही हो। भारतवर्ष के दो सर्वश्रेष्ठ व्यापारियों को मैं जानता हूँ, उनके घर की स्त्रियाँ बडे प्रेम से गौसेवा करती हैं, उनका घर दूध और पूतो से भरा पूरा है। एक माता मुझे बताती थी उनके श्वसुर ने तीन गौएँ कसाइयों से छुडाकर अपने घर मे रखा। उनमे से एक गौ ११-१२ बार ब्याई। अब उनके यहाँ ३०-४० गौएँ हैं। वे भारत के सर्वश्रेष्ठ व्यापारी हैं वे लोग दूधो नहाते हैं, पूतो फल रहे हैं।

गौ सेवा पहिले तो झंझट सी लगती है, किन्तु जब सेवा करते करते उसमे रस आने लगता है, तो उसके बिना रहा ही नहीं

जाता गौओं की कृपा होने पर घर में श्री लक्ष्मी, कान्ति का निवास स्वतः होने लगता है, तभी तो हमारे यहाँ गौ की इतनी महिमा है कोई भी संस्कार, कोई भी शुभ कार्य गौदान के बिना सम्पन्न नहीं होता। पुत्र जन्म से लेकर मृत संस्कार चितारोहण तक सभी कार्यों में गौदान आवश्यक है।

गौएँ जहाँ पूजित होकर रहती हैं, वहाँ स्वतः ही अपने वंश को बढ़ाती हैं। पहिले मैं हंसतीर्थ में अकेला ही वटके नीचे रहता था। उन दिनों मैं भी अहीर से दूध मंगाकर भगवत् सेवा में काम लाता था। आठ नौ वर्ष से इस आश्रम में आया। आजसे ६ वर्ष पूर्व एक व्यक्ति हमें ४ गोएँ दे रहे थे, किन्तु इस भय से हमने उन्हें स्वीकार नहीं किया कि इनकी सेवा कौन करेगा। इस के एक डेढ़ वर्ष के अनन्तर ही मुझे रामलीला के सम्बन्ध में जेल जाना पड़ा। जेल में मुझे प्रथम श्रेणी (ए० क्लास) में रखा गया और दो परिचारक मुझे दिये गये। एक तो झाड़ू बुहारू ऊपर का काम करता था, एक फलाहार बनाता था। जो मुझे रसोई बनाने को ब्राह्मण मिला वह प्रयाग प्रान्त का हँडिया के आस पास का पुरोहित पंडित था, मैंने उससे पूछा—"भाई, तुम क्यों जेल में आये ?"

उसने बताया—"हमारे पास एक बड़ी सुन्दर गौ थी, वहाँ के थानेदार ने उसे हमसे माँगा। हमने उसे देना स्वीकार नहीं किया। हमारी गौ का नाम गंगा था, बड़ी सीधी। इस पर दारोगा ने कुपित होकर एक फौजदारी के अभियोग में हम सब भाइयों को जेल भेज दिया। न जाने अब वह हमारी गौ कहाँ होगी।" यह कहते कहते वह अत्यन्त उदास हो गया। मैंने उससे कहा—"तुम्हारी गौ जहाँ भी कहीं जीवित होगी उसे मैं मँगाकर आश्रम में रहूँगा।"

महामना मालवीय जी के उद्योग से मेरे ऊपर का अभियोग उठा लिया गया और मुझे कारावास से मुक्त कर दिया गया।

गौ माता की कृपा से मेरे छूटने के कुछ ही दिन पश्चात् वे सब भाई भी आधी अवधिमें मुक्त कर दिये गये। कारावास से आते ही मैंने गंगा की खोज करायी। वह एक के पश्चात् दूसरे पर दूसरे के पश्चात् तीसरे पर गयी। बहुत खोज करने के पश्चात् प्रतागढ़ के आस पास उसका पता चला। उस पंडित के पिता ने बताया-गंगा की दशा इस समय बड़ी दयनीय है, उसे खाने को कुछ नहीं मिलता। थोड़ा सा धान का सूखा पुआल खाकर वह रहती है।

मैंने कहा—"वह जैसी भी दशा में हो उसे ले आओ। वह जितने माँगे उतने दाम दे आओ।"

ऐसा ही किया गया, गौ आश्रम में आ गायी। सभी कहने लगे—महाराज! इस बूढ़ी गौ से क्या लाभ? गौ लेते तो कोई दूध की लेते। यह तो ग्याभन भी नहीं हो सकती। इसकी गर्भ धारण शक्ति भूख के कारण नष्ट हो गयी है और फिर बूढ़ी भी बहुत है।" मैंने कहा—"भाई! हमने दूध के लिये गौ नहीं मँगायी है यह तो सेवा के लिये मँगायी है। दूध न दे न सही।"

वास्तव में गंगा बड़ी दुर्बल हो गयी थी, एक दिन वह गिर पड़ी कई मनुष्यों ने उसे बड़ी कठिनायी से उठाया। भर पेट भोजन मिलने से शनैः शनैः उसकी दशा में सुधार होने लगा। और और दो चार महीने पश्चात् वह ग्याभन हो गयी। उसने बच्चा दिया और दूध भी। दूध तो वह न दे सकी किन्तु अब तक वह ६ बार ब्याय चुकी है। उसका एक बच्चा बड़ा भारी साँड़ है। अब वह बूढ़ी हो गयी है और आश्रम मे विद्यमान है। उसने आश्रम मे जब से पदार्पण किया तब से गौ शाला शनैः शनैः गौओं से भरने लगी। अब आश्रम में छोटी बड़ी ४०-५० गौएँ होगयी। और अब तो एक सौ आठ और भी आने वाली हैं। मैं तो इसे अपनी गंगा का ही पुण्य प्रताप समझता हूँ।

भारत का मुख्य धन तो गो धन है। गौ हमारे जीवन मरण की समस्या है, कृषि प्रधान भारत भूमि का सजीव स्वरूप गौ ही

है। संसार में जब जब भी विपत्तियाँ पडी है, अधम की वृद्धि हुई है तब तब पृथिवी गौ का ही रूप रखकर देवताओं के साथ भगवान् की शरण मे गयी है। गौ सेवा से समस्त रोगों का नाश भी होता है। उदर के बहुत से विकार नित्य गो मूत्र पान से नष्ट होते हैं। मैंने वर्षों नित्य नियम से पंचगव्य (दूध, दही घृत, गो मूत्र और गोबर) का पान किया है और उससे लाभ लिया है। आज जो स्त्री पुरुषो में इतने अधिक रोग बढ़ गये हैं, इनका प्रधान कारण गौ सेवा न करना ही है। गौ सेवा न करेंगे तो शुद्ध दूध, दही, घृत तथा अन्य दूध की बनी वस्तुएँ न मिलेंगी। जमा तैल तथा अन्य वस्तुएँ प्रत्यक्ष विष के समान हैं। आप देखेंगे इन्हें खाने से चौथी पांचवी पीढ़ी अंधी तथा नपंसक पैदा होगी। आँखो की ज्योति के लिये ये बना बनावटी दूध, दही घृत विष का काम करते हैं। पहिले घर घर मे गौ रहने से छोटी बडी सभी घर की स्त्रियाँ परिश्रम करती थीं। प्रातःकाल उठते ही गौ को सानी देना, गोबर मूत्र साफ करना गौ दुहना, दही बिलौना तथा अन्यान्य कार्य करते रहने से स्वास्थ्य सुंदर होता था। अब ये काम न करने से दिन भर बैठे रहने से या तो उनकी चर्बी बढ़ जाती है मोटी हो जाती हैं या सदा अपच, अरुचि, अजीर्ण तथा अन्यान्य रोगो से ग्रसित रहती हैं। गाँवो की अपेक्षा नगर की स्त्रियाँ अधिक रोगिनी रहती हैं, उनमें भी कुछ भी काम न करने वाली धनिको तथा श्रीमानो की स्त्रियाँ तो सदा रुग्ण ही बनी रहती हैं। बहुतों की गर्भ धारण की शक्ति ही नष्ट हो जाती है। यदि वे श्रद्धा सहित नित्य नियम से गौ सेवा करें और फिर उनका रोग दूर न हो तो आप जो काले चोर को दंड देते हों वह मुझे दें। सुकुमार स्त्रियो के लिये गौ सेवा से बढ कर कोई सरल, सुगम, सरस,शास्त्र सम्मत, स्वास्थ्यकर साधन नहीं। इस सम्बन्ध की एक कहानी मुझे याद आ गयी।

एक इंजिनियर थे, उनका विवाह एक लखपती की लडकी से हो गया। लड़की बडी लाड प्यार में पली हुई अत्यंत सुकुमारी थीं।

बाप के घर मे उसने अपने हाथ से पानी का पात्र भी नहीं उठाया था वही बात उसने यहाँ की। सदा पलंग पर पड़ी नौकरों से कहती रहती थी, यह करो वह करो। नित्य डाक्टर आते। प्रत्येक महीने मे २००) २५०) औषध के देने पड़ते। इंजिनियर को ४००) ५००) मिलते थे। वे उत्कोच (घूँस) आदि भी नहीं लेते थे कुछ धार्मिक विचार के थे। स्त्री को कुछ रोग तो था नहीं। रोग का भ्रम था। डाक्टर उसे औषधि पर औषधि देकर पक्का रोग कर रहे थे। रोग से बढ़कर रोग का भ्रम होता है। ऐसे रोगी का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, उसे सदा यह अनुभव होता रहता है, कि मेरी कोई परवाह नहीं करता। इससे गार्हस्थ्य जीवन दुःखमय बन जाता है। पुरुष यही आशा रखता है कि वह बाहर से काम काज करके क्लान्त हुआ आवे तो घर में घर वाली मंद मुस्कान के साथ उसका अभिनन्दन करे। उसके दुख सुख की बात पूछे, स्वयं जलपान करावे, दो मीठी बातें करें। इससे उसका दिन भर का श्रम मिट कर पुनः नवजीवन का संचार होता है। श्रम मिटाने, चित्त बहलाने और हृदय को प्रफुल्लित तथा प्रमुदित बनाने को गृहस्थी की सबसे अमूल्य निधि बच्चे हैं। फूल से हँसते हुए बच्चे अपनी तोतली बोली में बाबूजी बाबूजी कह कर शरीर से लिपट जाते हैं, तो वह सुख तो स्वर्ग से भी एक हाथ ऊँचा उठ जाता है, क्योंकि स्वर्ग मे मंद मुस्काने वाली प्रमदायें तो होती हैं, किन्तु तोतली बोली बोलने वाले बालकों का वहाँ अभाव है। यह सब न होकर गृहस्थी पुरुष काम काज करके घर आया और आते ही उसे घर वाली की डाट उपर सहनी पड़ी कि तुम अमुक औषधि नहीं लाये उससे मेरे रोगके लिये नहीं पूछा, तो उसमें और नारकीय यातनाओं में अंतर ही क्या ?

इञ्जीनियर की स्त्री अपने को सदा रोगिनी अनुभव करने के कारण चिड़चिड़ी तो बन ही गयी थी, उसे अपनी कुलीनता, सुन्दरता, सुकुमारता का अभिमान भी था। भेद बढ़ने से बाल बच्चे

तो उसके होने ही क्या थे। इन्हीं सब कारणों से इंजिनियर दुखी रहते।

उनके एक डाक्टर मित्र थे। बडे लोगो के डाक्टर प्रायः मित्र होते नहीं। "गौ घास से मित्रता करे तो उसका पेट कैसे भरे" किन्तु वे डाक्टर इसका अपवाद थे या यों कहो वे उनके गृह चिकित्सक नहीं थे मित्र थे। इन्जिनियर से छोटे थे अतः वे उनकी पत्नी को भाभी कहते थे। वह उन्हें बहुत विवश करती तो ओषधि तो दे देते, किन्तु उसका मूल्य नहीं लेते। पैसे वाली को अमूल्य ओषधि कैसी भी गुणकारी दे दो उनको उस पर विश्वास ही नहीं होता और गुरु ,मंत्र, ओषधि तथा देवता ये विश्वास से ही फलीभूत होते हैं। इसी कारण वे चिकित्सा भी दूसरे डाक्टरो से करातीं और ओषधि भी अन्यत्र से मँगातीं।

इन्जिनियर सदा दुखी चिन्तित रहते। डाक्टर ने कहा—भाई साहब! आप इतने चिंतित क्यों रहते हैं?"

इन्जिनियर बोला—'यार, क्या बतावें। मेरे घर वाले नहीं माने, लखपती के लालच मे आ गये। मैं तो किसी अनपढ़ गॉवकी लडकी से विवाह करता तो सुखी रहता। बाहर कार्यालय का काम करूँ, घर मे पैर रखते ही इसकी झिडकी सहूँ। नियमित आय है उसी से काम चलाना। आधी तो पत्नी की ओषधि में ही चली जाती है, कभी कभी इच्छा होती है आत्महत्या करलूँ।"

हँस कर डाक्टर ने कहा—"मुझसे चिकित्सा कराओ भाभी की,'हर्रा लगे न फिटिकिरी रँग चोखा ही आवे। बिना पैसे इलाज करूँगा भाई साहब!"

इन्जिनियर ने कहा—"अरे भाई, तो चाहे जो लेले। मुझे इस विपत्ति से छुडादे तो जीवनभर तेरा ऋणी बनूँगा।"

डाक्टर बोले—भाभी से गौसेवा कराओ सब रोग शोक दूर हो जायँगे।"

निराशा के स्वर मे इन्जिनियर ने कहा—"न नौ मन का-

जर होगा न राधा नाचेगी। तू गौ सेवा की ही कह रहा है अपने हाथ से पानी का गिलासतो उठाती ही नहीं, गौ-सेवा कैसे करेगी

डाक्टर ने कहा— 'मैं कराऊँगा।"

इन्जिनियर ने कहा—"करा चुक यहाँ वह गुड नहीं जिसे चाटे सा जायँ बड़े बाप की बेटी है।'

डाक्टर ने कहा—"मैं भा बड़े गुरु का चेला हूँ। भाभी से गौ सेवा न करायी तो डाक्टरी करना छोड़ दूंगा किन्तु आप को मेरे संकतो के अनुसार नाचना होगा।"

इन्जिनियर ने आवेश के साथ कहा—"तू कहेगा उतने ही घूँट पानी पीऊँगा। बोल क्या कराना चाहता है।"

डाक्टर ने कहा—"आप कल बीमार बन जायँ।"

हँसकर इन्जिनियर ने कहा—"यह अच्छी रही, बिना बीमारी के बीमार कैसे बनूँ, कोई सुई दे दे कि मुझे ज्वर आ जाय।"

डाक्टर ने कहा—"सुइ की आवश्यकता नहीं, आप खाट पर पड़ जाओ फिर मैं सब कर लूँगा।"

इन्जिनियर ने ऐसा ही किया खाट पर पड गये आह आह चिल्लाने लगे। पत्नी ने तुरन्त नौकर से मित्र डाक्टर को बुलाया। डाक्टर अपना कर्ण यन्त्र लेकर आये। कान मे लगा कर कई बार उसे देखा और निराश से हो कर सुस्त पड़ गये, यन्त्र पटक दिया।

इन्जिनियर की पत्नी का हृदय धक् धक् करने लगा, उसने पूछा—क्या बात है लल्ला!

डाक्टर ने निराशा के स्वर मे कहा—कुछ नहीं भाभी।

स्त्री का संदेह और बढा उसने कहा—"डाक्टर तुम्हें मेरी शपथ है मुझ से छिपाओ मत, मुझे सब बात बतादो।"

डाक्टर बोला—"भाभी! बताने योग्य बात नहीं। भाई साहब के बचने की कोई आशा नहीं, मुझे आश्चर्य है यह सहसा इन्हें इतनी भारी हृदय की बीमारी कैसे हो गयी।"

भारतीय महिलायें और चाहें जो करलें वे अपने पति की

मृत्यु की बात नहीं सहन कर सकती। इतना सुनते ही वह ढाह मारकर रोने लगी। डाक्टर के पैरों में पड गयी। डाक्टर, मैं तुम्हारे पैरों पडता हूँ, मेरे सुहाग को बचाओ मेरे माँग के सिंदूर को बनाये रखो।

डाक्टर और भी गंभीर हो गया, बोला—"भाभी! मैं शक्ति भर कुछ उठा न रक्खूँगा। किन्तु इसमें बडा परिश्रम पडेगा।"

यह सुनते ही वह दौडी गयी। अपने आभूषणों के पिटारे को उठा लायी बोली-ये कई लाख के हैं मैं इनका क्या करूगी। आप और इन्हें बेचकर बडी से बडी चिकित्सा करें।

डाक्टर हँसा नहीं। उसने गंभीरता से कहा—भाभी! इनकी आवश्यकता नहीं! इन्हें दोनों समय तुरत का निकाला मक्खन चाहिये, उसमें मैं औषधि दिया करूगा।

स्त्री ने कहा—यह कौन सी बडी बात हैं, अभी गौ मँगा लो। डाक्टर की योजना तो पहिले से बनी थी। गौ आई साथ मे नौकर भी आया। डाक्टर ने तिकडम से नौकर को भगा दिया। फिर ताजे आटे की रोटी बतायी। पीसने वाली आयी दो चार दिन में डाक्टर ने उसे भी चुपके से खिसका दिया। बेचारी पति के जीवन के लोभ से प्रातः से साय काल तक गौ सेवा करती उसे खिलाती पिलाती दूहती दो बार दूध चलाती। इजिनियर ने तीन महीने की छुट्टी ली। ताजा मक्खन हाथ के पिसे आटे की रोटी और फिर पत्नी के हाथ की सेवा के कारण अगूर की भाँति लाल पड गये। स्त्री अपने रोग को भूल गयी। ६ महीने यह क्रम चला सब को आश्चर्य हुआ। इजिनियर की पत्नी ने गर्भ धारण किया। इजिनियर अच्छे हो गये पत्नी को गौ सेवा का चस्का लग गया, वह उसका सबसे प्यारा दैनिक कृत्य हुआ। पुत्र होने पर डाक्टर ने रहस्य का उद्घाटन कर दिया। तब उसने कहा—"हाय! डाक्टर, तुम बडे खराब आदमी हो मुझे इतने दिन तुमने भ्रम मे क्यों रखा?"

हँस कर डाक्टर ने कहा—भाभी, भ्रम में न रखता तो भाई साहब अंगूर की भाँति लाल कैसे होते। तुम निरोग कैसे बनती यह प्यारा प्यारा मुन्ना कैसे होता और सबसे बड़ी बात तुम्हें गो सेवा से अनुराग कैसे होता।"

इंजिनियर पत्नी की कृतज्ञता से आँखे झुक गयीं। उसने जीवन भर डाक्टर का आभार माना। उनके कई संतानें हुईं और नौकर छोड़ने पर भी उनका घर एक गोशाला ही बना रहा। ऐसी एक नहीं अनेक घटनायें हैं, स्थलसंकोच से उन सब को मैं लिख नहीं सकता। आप कहते हैं – सरकार गौ वध बन्द नहीं करती। सरकार तो गौ वध बन्द करेगी और नाक रगड़ेगी। कोई सरकार ऐसी नहीं जो जनता की यथार्थ इच्छा के बिना एक दिन भी सुचारु रूप से चल सके। हम में गौ प्रेम की कमी है। गोप्रेम होगा। गौ सेवा व्रत से मेरा विचार इस चातुर्मास्य में देवशयनी एकादशी से देवोत्थानी एकादशी तक (२२ जुलाई से २१ नम्बर तक) गो सेवा व्रत करने का है। इसमें गौ के बीच में ही रहकर गव्य या गौ को जौ खिला कर उसके गोबर से निकले दानों को खा कर स्वयं सेवा करके गोव्रत करने का है। मैं इस व्रत के लिये अपने प्रेमी पाठकों को आह्वान करता हूँ। जो यहाँ न आ सकें वे अपने घर पर ही व्रत करें। इससे धनार्थी को धन पुत्रार्थी को पुत्र, रोगी को रोग से मुक्ति और जिज्ञासुको ज्ञान प्राप्ति हो सकती है। मेरे वचनों पर विश्वास करके श्रद्धा पूर्वक आप परीक्षा के रूप में चार महीने करके देखें। न कुछ लाभ हो आप छोड़ दें चार मीहने बीमार ही रहे। किन्तु कुछ लाभ न हो यह असभव है। गोव्रत से लाभ होगा, होगा, अवश्य होगा। आइये गोव्रत में दीक्षित होइये और भारत से पूर्ण गौवध बन्द कराइये। आज इतना ही, शेष फिर।

सकीर्तन भवन, झूसी, प्रयाग
ज्येष्ठ सुदी १–२०१०

गौव्रती बनने को समुत्सुक
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

भक्तिकी महती महिमा

(१२६३)

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥*

(श्रीभा० ११स्क० १४अ० १८श्लो०)

छप्पय

पाप पहाडनि भक्ति जरावै उद्धव मेरी ।
तू चिन्ता मति करै परम निरमल मति तेरी ॥
योग, सांख्य, जप, दान, धर्मतैं ही रीझूँ नहिँ ।
भक्ति मार्ग ही श्रेष्ठ जाहि कामी नहिँ समुझहिँ ॥
धर्म सत्य अरु दया युत, तप भावित विद्या विमल ।
पूर्ण पवित्र न करि सकैं, भक्तिहीन नरकूँ सकल ॥

प्राणियोंका संसारी विषयोंमें फँस जाना यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। विषयोंकी ओर तो स्वाभाविक झुकाव है ही। आश्चर्य तो इस बातका है कि विषयोंके रहते हुए भी बहुतसे उनसे पृथक् हो जाते हैं। भक्तिमार्ग ऐसा अक्षय मार्ग है कि इसके

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव ! विषयों से बाधित होनेपर भी मेरा अजितेन्द्रिय भक्त प्रायः प्रौढाभक्तिके प्रभावसे उन विषयोंके वशीभूत नहीं होता, उनसे निकल जाता है।"

लिये किया हुआ स्वल्प अल्प प्रयास भी अक्षय हो जाता है। यह बात कर्मकाण्ड आदिमें नहीं है। आपने विपुल धन लगाकर एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें कोई विधि विधानकी त्रुटि रह गयी, तो यही नहीं कि उसका फल कुछ न होगा, उतना धन नष्ट होनेसे ही काम चल जाय, अपितु, उसका विपरीत फल होगा। विधि हीन यज्ञ करनेसे उसका करनेवाला शीघ्र नष्ट हो जाता है, उसका विपरीत फल हो जाता है। भक्तिमार्ग में जहाँ तक पहुँच कर पतित होगे, वहाँ तक की आपकी कमाई सुरक्षित रहेगी। कर्मकाण्ड आदि द्यूत व्यापार हैं कि पासा सीधा पड गया, तो जितना धन दाँव पर लगाया है उसका कई गुना तुरन्त मिल जायगा और पाशा पलट गया, तो अपने पास जितनी पूजी थी वह भी गयी और कारावासका दंड ऊपरसे मिला। भक्तिमार्ग ऐसा व्यापार है कि जितना द्रव्य तुमने प्राप्त कर लिया वह तो ऐसे संचित कोषमें जमा हो जाता है कि उसे आप व्यापार करना भी चाहें तो व्यय नहीं हो सकता। बीचमें ही दिवाला निकल जाय, तो जितना धन कमाया है उसपर आँच भी न आवेगी, वह तभी काम आवेगा जब आप फिरसे व्यापार आरम्भ करेंगे। इसीलिये भक्तिमार्ग में चलते चलते यदि साधकका पतन हो जाय, तो क्या कहीं भी उसका अमङ्गल हो सकता है? अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता।

सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान्‌से अजितेन्द्रिय भक्तोंके सम्बन्धमें पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! ये विषयजन्य ऊर्मियाँ प्रायः सभी प्राणियोंके मनमें उठती रहती हैं। जिन भक्तोंने मेरी भक्तिके प्रभावसे इनपर विजय प्राप्त कर ली है, उनका विषय कुछ भी नहीं बिगाड सकते। उसका समस्त आकर्षण तो मेरी ओर हो जाता है। उनका मन मेरे ही सम्बन्धमें सोचता रहता है। जैसे एक हउदंड पशु है, खुला छोड दिया है, व जिस खेतको भी हराभरा

देखता है, उसीमें घुस जाता है, कुछ खाता है, कुछ बिगाडता है, फिर दूसरा दिखायी दिया उसमे घुस गया। किसीका भोजन रखा है, उसीमें मुँह मार दिया। उसका सयम नहीं नियम नहीं, तृप्ति नहीं, उसके कठमे एक रस्सी डालकर खूँटे से बाँध दो, तो उसका उछलना कूदना दूसरे खेतोंकी ओर दौडना सब समाप्त हो जायगा, उस खूँटेके ही चारों ओर चक्कर लगाता रहेगा। स्वामी जो दे देगा, उसे तो खालेगा, अपनी ओरसे कुछ भी उपद्रव न करेगा। इसीप्रकार जो पुरुष पशु स्वच्छन्द अमर्यादित घूमते हैं उनका चित्त नित्य नूतन नूतन विषयकी चाहना करता रहता है, किन्तु जिनके चित्तको सद्गुरुने प्रेमकी रज्जुसे श्रीकृष्ण चरणोमे बाँध दिया है, उनका चित्त चितचोरके चारों ओर चक्कर काटता रहेगा, विषयोंमें कभी जायगा ही नहीं।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! कदाचित रस्सी तोड कर चला जाय तो?"

भगवान्ने कहा—"भैया! कभी भूलसे चला भी जाय, तो वह अधिक दिन उछृङ्खल नहीं हो सकता। उसके कण्ठकी रज्जुको देखते ही कोई दयालु पुनः उसे पकडकर बाँध देगा, रस्सीको देखते ही समझ जायगा कि यह उछृङ्खल प्रकृतिका पशु नहीं है। भूलसे इसका बन्धन खुल गया है, वह उसे उसके स्थानपर पुनः पहुँचा देगा, पुन' उसे अपनी पूर्वकी पदवी प्राप्त हो जायगी। इसी प्रकार किसीने मेरी भक्तिकी। उसे भक्तिमें कुछ रस भी आने लगा। किन्तु इन्द्रियों को भली भाँति न जीतनेके कारण विषय सम्मुख आगये, वह विषयोंसे बाधित हो गया तो यह नहीं कि फिर उसका सर्वथा पतन ही हो जाय। अपनी प्रौढा भक्तिके कारण वह कभी न कभी लौट कर पुनः अपने स्थान पर आ जाता है। वह सर्वथा विषयोंके वशीभूत नहीं हो जाता। इस विषयमे एक नहीं अनेक दृष्टान्त हैं।

महा भागवत प्रियव्रत राजाको प्रथम नारदजीके सत्सङ्ग से भक्तिकी प्राप्ति हो चुकी था। नारदजी राजा प्रियव्रतको भक्तिका उपदेश दे रहे थे, कि ब्रह्माजी और स्वायम्भुव मनुने आकर उसमें विघ्न कर दिया। प्रियव्रतसे राज्य ग्रहण करनेको कहा। और कोई होता तो नारदजी कुछ कहते भी जब उनके पिता लोकपितामह ब्रह्मा ही आज्ञा दे रहे हैं, तो क्या करते। ब्रह्माजीकी आज्ञा मान कर प्रियव्रतने गृहस्थीमें प्रवेश किया। विवाह किया बच्चे पैदा किये स्त्रीमें अत्यंत आसक्त हो गये, कुछ दिन पश्चात् जो भक्तिका पाठ उन्होंने नारदजासे पढा था, वह याद आया, उन्होंने अपने को धिक्कारा विषयोंके वशीभूत हाजानेके कारण अपनी निंदा की। तत्काल सम्पूर्ण राज्य वैभवको त्याग कर हृदयमे वैराग्य धारण करके भगवान्की लीलाओंका चिन्तन करते हुए, देवर्षि भगवान् नारदके बताये हुए मार्गका फिरसे अनुसरण करने लगे। उन्होंने जो भी कुछ सीखा था, वह भूला नहीं। वही उन्हें विषयोंसे खींच ले गया।

इसी प्रकार राजर्षि भरतको वनमे भगवद्भक्ति प्राप्त हो गयी थी। बीचमे हरिणमें उनका मन चला गया, वे हरिण हुए, किन्तु प्रथम की हुई भक्तिने उनका परित्याग नहीं किया, इसीलिये हरिण शरीर मे भी वे निस्संग होकर भजन करते रहे और गङ्गकी में खडे होकर "नारायणाय नमः" यह कहते हुए शरीर त्यागा।

ऐसे अनेकों भक्त हुए हैं कि भक्ति करते करते उनका मन किसी कामिनीके रूपमें फँस गया है, किन्तु जब उनको स्मरण आया, तब सब छोड छाड कर भगवद् चिन्तनमें लग गये। अजामिल पहिले बडा सदाचारी मातृ पितृ भक्त तथा भगवान्की उपासना करने वाला था, प्रारब्ध वशात् उसका मन वेश्याके रूपमें फँस गया। यमदूत और विष्णुदूतोंके सम्वादको सुनकर उसे चेतना हुई, पश्चात्ताप हुआ, फिर साधन भजनमें लग गया।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! ये संसारी पाप क्या तुच्छ वस्तु हैं। एक नहीं चाहें सहस्रों ब्रह्महत्यायें क्यों न की हों, बडेसे बडा पाप क्यों न किया हो, जहाँ भगवान्‌की भक्ति उदय हुई तहाँ वह अनन्त पाप राशियोंको उसी प्रकार नष्ट कर देती है,जैसे अग्नि की छोटी-सी चिनगारी असंख्यों रुईकी गाठोंको जलाकर भस्म कर देती है। चिन्ता करनेकी बात कौन सी है। यह क्षुद्र प्राणी भरपेट पाप भी तो नहीं कर सकता। हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष, रावण, कुंभकरण, कंस, दंतवक्र इन्होंने कितने कितने पाप किये कितनी कन्याओं का सतीत्व नष्ट किया, कितने निरपराध ऋषि मुनियोंका वध किया। रावणने यह सब किया तो भी भगवान् उसे क्षमा करते रहे। उसकी दुष्टता पराकाष्ठा पर पहुँच गयी, वह काम भावसे जगज्जननीको हर ले गया। ९ - १० महीने अपने नगरमें रखा। फिर भी क्षमाकी मूर्ति भगवान् उससे प्यार ही करना चाहते हैं। अंगदके द्वारा संदेश भिजवाते हैं। क्यों द्वेष रखते हो भैया! आजाओ जानकी मुझे दे दो मुझसे सन्धि कर लो। मुझसे प्यार करना यह अच्छा साधन है सरस है।"
किन्तु वह तो राक्षस था। उसने कहा मैं प्यार न करूँगा, प्यार करना मेरी प्रकृतिके विरुद्ध है। वैर करूँगा, वैर। तुम्हे जो करना हो कर लो। देखें तुम्हारी क्षमाका क्या उपयोग होता है।"

भगवान् हँसे और बोले—"कोई बात नहीं वैर भी अच्छा है। मुझसे चाहें वैर करो या प्यार मेरे पास मुक्ति तो भरी पडी है। प्यार करते तो भक्ति देता, अब वैर करोगे, मुक्ति दूँगा।

उद्धव! यही मेरी भगवत्ता है। मुझसे सम्बन्ध हो जाना चाहिये। फिर पाप तो रह ही नहीं सकते। मेरी भक्तिरूपी अग्नि मे बड़ेसे बडे शुष्क आर्द्र पाप जल कर भस्म हो जाते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! आपको प्राप्त करानेके भक्तिके अतिरिक्त और भी तो साधन हैं। योगीजन कहते हैं कि योगके ही

द्वारा आपकी प्राप्ति होती है। सांख्यवाले कहते हैं, जो स्थान योग से प्राप्त होता है वही सांख्यसे भी प्राप्त होता है, जो सांख्य और योगको एक ही मानता है वही पंडित है। स्मृतिकारोंका कथन है कि धर्म ही कल्याण का मूल है, जहाँ धर्म है वही विजय है। कुछ लोगोंका कथन है कि जपसे ही सिद्धि होती है। उन अमूर्त भगवान्‌की मंत्र ही मूर्ति है। मंत्रोंको पुनः पुनः शुद्ध उच्चारणसे प्राणी पवित्र बन जाता है, कुछ लोगोंका कहना है कि तपस्यासे ऐसे कौन कार्य हैं जो सिद्ध न हो। तप ही सबका मूल कारण है। किन्हींका मत है, सर्वस्व दान करने से ही प्रभु प्राप्त होते हैं, इनमें से कौन सा साधन सर्वश्रेष्ठ है? यह सुन कर भगवान् बोले—"उद्धव! सांख्य, योग धर्म, जप, तप तथा दान आदि सभी साधन हैं सभी श्रेष्ठ हैं, सभी किसी न किसी प्रकार मुझ तक पहुँचाते हैं, किन्तु जिस प्रकार मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे प्राप्त कराती है, उतने ये अन्य साधन नहीं कर सकते, अतः मेरे मतमें निष्काम अहैतुकी भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! आप तो परम शुद्ध है आपकी भक्ति करनेके लिये परम पवित्र विशुद्ध अन्तःकरण चाहिये। आप महान् से भी महान् हैं, आपकी भक्ति प्राप्त करनेको महत्ता चाहिये। आप श्रेष्ठतम हैं, अतः आपकी भक्तिके लिये श्रेष्ठता भी चाहिये, फिर हम साधारण लोग आपको कैसे प्राप्त कर सकेंगे?"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! मैं दूर नहीं हूँ मैं भयावना भी नहीं हूँ। मैं तो प्राणीमात्रका सुहृद् हूँ सखा सम्बन्धी हूँ, साधुओं-की प्रिय आत्मा हूँ। मुझे प्राप्त करनेके और भी अनेकों उपाय हैं। किन्तु वे कठिन उपाय हैं। ज्ञानका पथ कृपाणकी धारके सदृश है। सबसे सरल सुलभमार्ग तो भक्ति ही है। भक्ति भी कई प्रकारकी है, लोग द्वेषसे, कामसे, क्रोधसे तथा ईर्ष्या आदिसे मुझ

में भक्ति करते है, इन सबका भी कल्याण होता है, किन्तु सर्वोत्तम भक्ति श्रद्धासम्पन्न भक्ति ही बतायी गयी है, प्रेमरूपा भक्तिसे मैं भक्तके अधीन हो जाता हूँ, उसके पीछे पीछे फिरता रहता हूँ। मेरी भक्तिके लिये कुलकी, सदाचारकी, जाति तथा वर्णकी श्रेष्ठता ही चाहिये, यह आवश्यक नहीं। यदि चांडालके हृदयमें भी मेरी भक्ति उत्पन्न हो जाय, तो जातीय दोषसे मुक्त करके भक्ति महारानी उसे पावन बना देती है, भक्तिके कारण वह सबका पूजनीय बन जाता है। और चाहे कोई साधन मत करो, किसी प्रकार हृदयमे मेरी भक्ति उत्पन्न हो जाय, तो वह मनके समस्त मैलको धो देगी, हृदयकी कीचको धोकर बहाकर स्वच्छ कर देगी। अन्तःकरणकी समस्त कुत्सित वृत्तियोंको नष्ट कर देगी केवल भक्तिसे ही सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। मेरे भक्तको कुछ भी करना नहीं पड़ता। वह तो अपनी विशुद्ध भक्तिके द्वारा ही कुलको, देशको यहाँ तक कि त्रिभुवनको पावन बनानेमे समर्थ हो सकता है। इसलिये भक्तिपथके पथिकको अपनी पतितावस्था की ओर ध्यान न देना चाहिये। भक्तिमार्गकी ओर बढ़ना चाहिये।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! कैसे बढ़ें क्या करें?"

भगवान् बोले—"पहिले तो भक्तिमार्गके पथिक को मेरी स्मृतिमे रोना चाहिये। जैसे अत्यन्त शीतसे घृत पत्थरके सदृश जम जाता है, वह हाथसे नहीं निकलता उसे अग्निके सम्मुख ले जाकर पिघलाया जाता है, उसी प्रकार विषय वासनाओंके संसर्ग से अति कोमल हृदय वज्रके समान अस्मसारके सदृश-कठोर हो गया है, इसे किसी प्रकार पिघलाया जाय।"

उद्धवजीने कहा—"इसके पिघलनेके चिन्ह क्या हैं भगवन्?"

भगवान् बोले—"इसका प्रधान चिन्ह तो यह है, कि भगवान् का नाम लेते ही, उनकी कारुणिक लीलाओंको सुनते ही नेत्र

बहने लगे। आँखोंसे झरझर अश्रुधारा बहने लगे। कुछ धूर्त लोग बनावटी अश्रु भी निकाल लेते हैं, किन्तु वे सहजमें ही जाने जा सकते हैं। हृदयके शीतल अश्रु बिना चित्तके द्रवीभूत हुए निकलते ही नहीं। अतः पहिले सोचे। बहुतसे कठोर हृदयवालोंके आँसू आते ही नहीं। वे निरन्तर दूसरोंसे ईर्ष्या द्वेष करते रहते हैं, इससे उनका हृदय अत्यंत कठोर और नीचतासे भर जाता है, जो चाहे भी कि हमारी आँखोंसे प्रेमाश्रु निकलें, तो नहीं निकलते उनको चाहिये कि वे एकान्तमें अभ्यास करें। वैसे अश्रु न निकलें तो कर्पूर लगाकर, काली मिरच लगाकर कडवा तेल लगा कर, सतराका रस लगाकर अश्रु निकालनेका अभ्यास करें, भगवललीलाओंके करुण प्रसङ्गोंको बार बार स्मरण करके हृदय को पिघलावें। हृदय ज्यों ज्यों पिघलेगा, त्यों त्यों फुरफुरी आवेगी, शरीरमें रोमाञ्च होंगे भगवान् की ओर मनका झुकाव होगा।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! अश्रु न निकलें तो क्या हानि?"

दृढता और शीघ्रताके साथ श्यामसुन्दर कहने लगे—"अरे, भैया! उद्धव, जब तक सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च न हो, जब तक चित्त भीगे वस्त्रके समान ईठने न लगे। वह पिघलकर द्रवीभूत न हो, जब तक प्रेमाश्रुओंका उद्रेक न हो, आँसू उमडने न लगें, जब तक भक्तिके ये सब चिन्ह प्रकट न हों तब तक अन्तःकरणकी शुद्धि कैसे हो सकती है और बिना अन्तःकरण विशुद्ध हुए भक्ति-स्रोत कैसे प्रवाहित हो सकता है। ये तो मेरी भक्ति प्रकट होनेके प्रधान चिन्ह ही हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! भक्तके लक्षण क्या हैं, किन लक्षणोंसे हम जानें कि ये भक्त हैं?"

इस पर भगवान् बोले—"उद्धव ! मेरा भक्त लोकबाह्य होता है, उसे लोकरञ्जन की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। वह तो निरन्तर अपने प्रभुको रिझाता रहता है और उन्हीं के भावमें भावित होकर उन्हींकी स्मृतिमें सतत निमग्न रहता है। उसके सब कार्य विलक्षण होते हैं। उसकी इच्छा कभी भगवद्गुणानुवाद कथन की होती है, और हृदय भर आता है, तो फिर वाणी नहीं निकलती। कण्ठ गदगद् हो जाता है, चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जैसे चन्द्रकान्ता मणि चन्द्रमाको देखकर बहने लगती है वैसे ही भक्तिमें भावित उसका अन्तःकरण बहने लगता है। कभी कोई विचित्र लीला याद आने पर मुक्तकंठसे रुदन करने लगता है, हा हरे ! हा जगत्पते ! कहकर वह ढाह मारकर बिलखने लगता है कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है। शुद्ध अन्तःकरण होनेसे न उसे हँसनेमें देर लगती है और न रोनेमें। जैसे बालक अभी अभी रो रहा है, उसी समय उसे सुन्दर खिलौना फल, फूल, मिठाई या अन्य कोई इष्ट वस्तु दिखा दो तुरत तत्क्षण हँसने लग जायगा। कपोलोंपरसे अश्रु लुढक रहे हैं, मुखपर हास्य छिटक रहा है। बालकको यह विचार नहीं रहता कि कोई क्या कहेगा। लोग यह न समझें कि अभी अभी यह रो रहा था, अब हँसने क्यों लगा।" उसके मनमें यह विचार उठते ही नहीं। दूसरोंके सम्बन्धमें वह सोचता ही नहीं, उसे तो अपने आनन्दसे काम है। सबकी बुद्धि अपनी है, सब सोचनेको स्वतंत्र हैं, दूसरोंकी चिंता हम क्यों करें, हमें तो अपने परमानन्द में निमग्न रहना है। कभी उसकी इच्छा होती है, तो उच्च स्वरसे गाने लगता है, उसे तालस्वर, लय आदि की चिन्ता नहीं रहती। उसका अन्तःकरण उसे गानेको विवश करता है, तो वह गाने लगता है। कभी अंग फड-कने लगते हैं और रहा नहीं जाता तो लज्जा छोड कर नाचने भी लगता है। वह तो अपने रामको रिझानेकी चिन्तामें रहता है।

राम जिससे रीझ जायँ, उस कामको करनेमें वह कभी भी संकोच नहीं करता। ऐसा मेरा भक्त स्वयं ही पवित्र नहीं होता जो उसे देख लेता है, वह पवित्र हो जाता है, जो उसका कथा कीर्तन सुन लेता है, वह पवित्र हो जाता है, जो उसका प्रेमालिंगन करता है, वह पवित्र हो जाता है, जिस वायुमण्डलमें वह साँस लेता है पवित्र हो जाता है। अधिक क्या कहे वह त्रिभुवनको पावन करनेमें सर्वथा समर्थ होता है। रोना उसका व्यापार है। प्रायः वह प्रभु स्मृतिमें रोता ही रहता है।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! रोनेसे क्या होता है, रोवे तो वह जिसकी नानी मर जाय, या जिस पर विपत्ति आवे।"

भगवान् बोले—"भैया! इस संसार जालमें फँसे जीवको क्या कुछ कम विपत्ति है? शुद्ध अन्तःकरण विषयोंके संसर्गसे अशुद्ध बन गया है। जैसे खानमें रहनेसे सुवर्णमें अनेक धातुएँ तथा मल भर जाते है, वह अशुद्ध बन जाता है। उसे अग्निमें तपाकर द्रवित करके उसके मलको पृथक् कर लेते हैं। पिघल जानेसे उसका मल निकल जाता है, वह विशुद्ध बन जाता है, उसी प्रकार प्रभुस्मृति-भगवान्के न मिलने का जो तीव्र ताप है, वही एक प्रकारकी अग्नि है, जब उसके लगनेसे हृदय द्रवीभूत हो जाता है और अन्तःकरण रूपी सुवर्णका मल जल बन कर नयनों से निकलने लगता है, तब अन्तःकरणके मल, विक्षेप आवरण सभी समूल नष्ट हो जाते है। जैसे मैले दर्पण को पोंछते ही उसके ऊपर जमे मलके हटते ही उसमें द्रष्टाका स्वरूप स्पष्ट दिखायी देने लगता है उसी प्रकार प्रेमके द्वारा द्रवित हृदय जब स्वच्छ हो जाता है, तो उसमें मैं स्पष्ट क्रीडा करता हुआ दिखायी देता हूँ। तब जीव कर्मवासनाओंसे विमुक्त हो कर मुझे प्राप्त कर लेता है। मैं तो सबमें आत्मस्वरूपसे सदा सर्वदा निवास ही करता हूँ, मुझे प्राप्त क्या हो जाता है, शुद्ध अन्त करणमें मैं दृष्टिगोचर होने लगता हूँ।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! हृदयकी मलिनता हटे कैसे?"

भगवान् बोले—"उद्धव! कानमें मैल भर जाता है, तो पिचकारी डालकर धोते हैं। फेफडेमें जीवनतत्व कम हो जाता है, तो एक यन्त्रकी पिचकारी द्वारा उसमे प्राणशक्तिको भर देते हैं, जिससे दुर्बलताके कीटाणु मर जाते हैं और प्राणी सबल हो जाता है, उसी प्रकार हृदयकी मलिनताके लिये कानों और जिह्वा के द्वारा पिचकारी दे।"

उद्धवजीने पूछा—"कानों और जिह्वाके द्वारा पिचकारी कैसे दी जाती है महाराज?"

भगवान् बोले—"कानोंसे मेरी कमनीय भागवती कथाओंको निरतर सुनता रहे। मन न भी लगे तो बिना मनके ही उन्हे कानो मे भरता रहे, पहिले तो मनमे आवेगी बिना मनके सुननेसे क्या लाभ? किन्तु बिना मनके तो कोई काम होता ही नहीं। सुनने की दृढता भी मनसे आती है, अत. कैसे भी सुनने से सस्कार बनेगे ही। जहाँ कथा कानमे पडी, तहाँ मनके सब मैल धुल जायँगे। जिह्वासे भगवान्का नाम लेता रहे उनकी कीर्तिका गान करता रहे अन्त करण शनै. शनै स्वच्छ होता जायगा।"

उद्धव बोले—"कहाँ स्वच्छ होता है महाराज! हमने बहुतसे लोगोंको देखा है, जीवन भर राम राम रटते है, नियमसे कथा सुनते हैं, किन्तु व्यापारमें कपट करते हैं, पर स्त्री गमन करते हैं और भी बुरे से बुर काम करते हैं। उन पर तो कथा कीर्तनका कुछ भी प्रभाव नहीं पडता।"

भगवान् बोले—"उद्धव! तुम जो कह रहे हो, वह सत्य है बहुतसे ऐसे लोग भी हैं, जो दभसे ऐसे कथा कीर्तनका सेवन करते हैं, उनके आचरण भी अच्छे नहीं, किंतु इससे यह परिणाम तो नहीं ही निकाला जा सकता कि वे कथा श्रवण या भगवद् गुण गान करते हैं, इससे ऐसे कुत्सित आचरण वाले हो गये हैं। इस-

लिये भजन या कथा श्रवण आदि कार्य करने ही न चाहिये। यदि यही बात होती, तो कथा न सुननेवाले, भगवान् का भजन न करनेवाले सबके सब सदाचारी ही होने चाहिये, किंतु लोकमें ऐसा होता हुआ दिखायी नहीं देता ; भजन पूजन कथा श्रवण न करनेवाले भी पापी होते हैं किंतु जो भजन पूजन करते हैं, उनसे कोई दुराचार अपचार बन भी जाता है, तो उनका हृदय उन्हें टोंचता रहता है, भगवान् की कथा, उनका गुणगान उनके पापोंको नाश करता जाता है। अनन्त जन्मोंके पापोंके संस्कारों से पाप करनेमें प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है। मनुष्य जैसे जैसे मेरी परम पावन कथाओंका श्रवण, मनन चिंतन और कीर्तन करेगा तैसे तैसे उसका चित्त परमार्जित होता जाता है। जैसे ग्रहण लगे चन्द्रमासे राहु की छाया हटती जायगी तैसे तैसे वह प्रकाशित होता जायगा। जैसे भूखा मनुष्य जैसे जैसे ग्रास खाता जायगा। तैसे तैसे उसकी भूख निवृत्त होती जायगी, धूलिसे ढके दर्पणकी धूलि जैसे जैसे पुँछती जायगी, तैसे तैसे उसमें अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देता जायगा। जैसे किसीकी आँखमें जाला फूली पड़ गयी है, किसीने उसे सुंदर अञ्जन दे दिया, कि इसे लगाओ तुम्हारा जाला कट जायगा। वह विश्वास करके अञ्जनका सेवन करने लगा। जैसे जैसे वह उसे लगाता जाता है तैसे तैसे उसका प्रकाश बढ़ता जाता है। अथवा जैसे बहुत ही कोई सूक्ष्म वस्तु है, साधारण आँखोंसे वह दिखायी नहीं देती, किंतु जब कोई दिव्य अञ्जन लगा लेते हैं, तो दूरसे दूरकी और सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तु दिखायी देने लगती है वैसे ही कथा कीर्तन अञ्जन हैं जहाँ इनका सेवन किया नहीं, कि चित्त स्वतः ही द्रवीभूत होता है, मेरे विषयमें ऊहापोह करता रहता है, इसलिये उद्धव! निरन्तर मेरी कथा सुननेसे मेरे नाम और गुणोंके कीर्तनसे मैला मन विशुद्ध बन जाता है।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! साधन तो बहुत हैं, मुझे कोई एक गुरुमंत्र बता दीजिये ।"

भगवान् बोले—"उद्धव ! तुम एक प्रश्नको बार बार पूछोगे, मैं बार बार उसका एक ही उत्तर दूँगा, इसमे तुम पुनरुक्ति दोष मत मानना। किसीके शरीरमें भयङ्कर पीडा है, वह निरन्तर

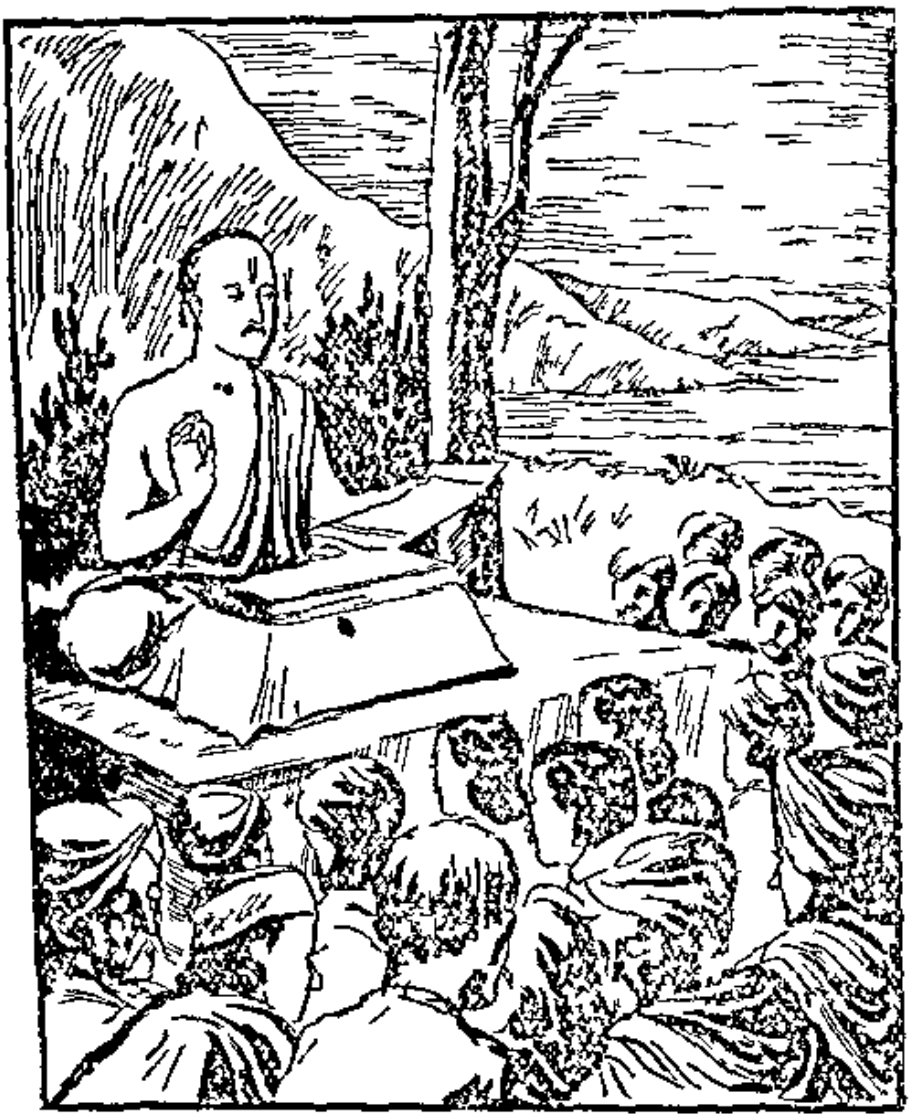

कराहता रहता है, बार बार 'हाय हाय' इसी शब्दको कहता है, एक ही शब्दकी पुनरावृत्ति करता है, वह तब तक पुनरावृत्ति करता रहता है, जब तक उसका कष्ट दूर नहीं हो जाता। सान्त्वना देने-वाले बार बार उसे वे ही पुरानी बातें कह कह कर सान्त्वना देते

हैं। तुम मुझसे बार बार सरल सुगम साधन पूछते हो, मैं उसका एक ही उत्तर देता हूँ, सत्सङ्गका सेवन दुःसङ्गका त्याग।"

उद्धवजीने कहा—"सत्सङ्ग और दुस्सङ्गका प्रभो! मुझे स्वरूप समझाइये और उनका प्रभाव क्या होता है, इसे समझाइये।

हँसकर भगवान् बोले—'उद्धव! मैं तो पीछे बहुत बार इस विषयमें कह आया हूँ, फिर भी कहता हूँ, तुम इस विषयको दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! अब आप दु सङ्ग और सत्सङ्गके प्रभावके सम्बन्धमें श्रवण करें।"

छप्पय

उद्धव! सोचो प्रेमअश्रु बिनु गदगद् बानी।
बिनु तनु पुलकित भये मोह पावें ज्यों प्रानी॥
ह्वैकें भक्त विभोर प्रेममें नाचें गावें।
करि करि प्रेमप्रलाप हँसे रोवें गिरिजावें॥
भक्तियोग साधन सरल, सुलभ शुद्ध अञ्जन सरिस।
कथा कीरतनतें नसै, हियमहँ संचित विषय विष॥

—:❀:—

सत्संग और दुस्संगका प्रभाव

(१२६४)

विषयान्ध्यायताश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरताश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥*

(श्रीभा० ११स्क० १४अ० २७श्लो०)

छप्पय

जो सोचो सो बनो होहि जाको जैसो सँग ।
श्वेत वस्त्र सम चित्त रँगै जैसे होवे रँग ॥
विषयनि चिन्ता करै विषयमय मन बनि जावै ।
मेरी चिन्ता करै भक्त मेरो पद पावै ॥
साधन सबरे असत् हैं, स्वप्न मनोरथ सम सकल ।
तातैं सब तजि मोइ भज, मम चिन्तन साधन सफल ॥

छाया चित्र लेनेका एक यन्त्र होता है। अभिनय कर्ता स्त्री पुरुष पात्र अभिनय करते हैं, उनके चित्र उसमे आते रहते हैं। कोई पात्र प्रेमका अभिनय कर रहा था, उसकी अभिनय की प्रेयसी समीप खडी थी। सिखाया पढ़ाया पालतू सिंह वहाँ

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव! विषयोंका ध्यान करने से चित्त विषयोंमें फँस जाता है और मेरा ध्यान करने से चित्त मुझमें विलीन हो जाता है।"

खड़ा था, वे छाया चित्र बनाने के अभिप्रायसे कुछ नाट्य कर रहे थे, सहसा रंगमें भंग हो गयी, वह पालतू सिंह भड़क उठा और उसने उस नटी को खानेकी भावना से पकड़ लिया। इस दुघटनासे नाट्य तो समाप्त हुआ। पात्र सिंहके भयसे इधर उधर भग गये, किन्तु जो युवक प्रेमका अभिनय कर रहा था, उसने साहस नहीं छोड़ा। उसके हाथमें विद्युत्का तोत्र था उसे लेकर वह सिंहके ऊपर झपटा। अपने प्राणों का पण लगाकर उसने उस युवतीकी रक्षाकी, उसी समय दूसरेने आकर गोली मार दी सिंह मर गया दुर्घटना होते होते बच गयी। नाटकके छाया चित्र लेनेको जो यन्त्र चल रहा था, वह चलता ही रहा। उसमें ये सब भी चित्र आ गये। पीछे जब पात्रोंने उन चित्रोंको देखा, तो वे कहने लगे—"हमने तो ये कार्य अभिनयके अभिप्रायसे किये नहीं थे, यह तो अकस्मात् दैवी घटना घट गयी।" दूसरेने कहा—"चलते हुए यन्त्रके सम्मुख तुम चाहे यथार्थ अभिनय करो चाहे अयथार्थ जो भी करोगे उसीके चित्र यन्त्रमें आजायेंगे। सारांश यह कि मनमें जो भी कुछ सोचेंगे, उसका प्रभाव हमारे मन पर बिना पड़े रह नहीं सकता। मन तो स्वच्छ शुभ्र वस्त्र है, जिस रंगके पानीमें इसे डुबो दोगे उसी रंग में रँग जायगा। जैसी चिन्तना करोगे, जैसे काम करोगे मन वैसाही बन जायगा। जगत्की चिन्तना करोगे मन संसारमय बन जायगा, जगत्पतिकी चिंता करोगे तो उन्हींमें मन मिल जायगा। इसीलिये साधकको चाहिये कि इन संसारी पदार्थोंकी ईंट, पत्थर गारा चूना सोना चाँदी आदि भौतिकनाशवान् पदार्थोंमें चित्तको न रमाना चाहिये। यदि चित्त इनमें रम गया, तो वैसाही होजायगा। जिन वस्तुओं का ध्यान करोगे, उनका संस्कार मनपर पड़ेगा। वह घटना समाप्त होगयी, तो विचार धारा भी समाप्त होगयी सो बात नहीं। कोई भी घटना हृदय पर अपना कुछ न कुछ प्रभाव छोड़कर ही जाती है। बार बार उसका ध्यान

करनेसे उस विषयमें अभिनिवेश होजाता है, आसक्ति हो जाती है। फिर उसके भोगकी कामना होती है, मन उसीसे रंगमे रँग जाता है। तुम्हें रहना है, वृक्षके नीचेभी रह सकते हो फूँसकी झौंपड़ीमें भी रह सकते हो बड़े बड़े महलोंमे भी रह सकते हो। जितना ही बडा जितना ही सुन्दर घर बनाओगे उतनी ही अधिक आसक्ति बढ़ेगी। निर्वाह तो फूँसकी झौंपडीमें भी हो सकता है और राज महलोंमें भी। राजमहलोंमें रहने वालोको कोई दुख न होता हो, कोई असुविधा प्रतीत न होती हो सो भी बात नहीं। वे भी दुखी चिन्तित होते हैं और पूछने पर कह देते हैं—"महाराज! जिस किसी प्रकार निर्वाह कर रहे हैं।" जब निर्वाह ही करना है संसार में अतिथिके सदृश बसना है, तो इन असत् नाशवान् पदार्थोंकी इतनी अधिक चिन्ता तुम क्यों करते हो। इस विषयमें एक बड़ाही सुन्दर दृष्टान्त है।

नारदजी घूमते फिरते वीणा बजाते, हरि गुण गाते कहीं जा रहे थे। उन्हें वनमें एक वृक्षके नीचे झोपडी दिखायी दी। झौंपडी पुरानी थी, देखनेसे ऐसा प्रतीत होता था, कि इसमे कभी पहिले द्वार रहा होगा। किन्तु जिस बाँसके सहारे वह खडी थी उसका एक बाँस वायुसे गिर गया था, झोपडी तो खडी रही किन्तु उसमेंसे निकलने का मार्ग नहीं रहा। नारदजी देखते रहे, उन्हे ऐसा भान हुआ मानों इसके भीतर कोई बैठा है। मनमे कुतूहल हुआ। वीणा एक ओर रख दी और जिस किसी प्रकार छप्परको उठाकर उसमें घुसे। भीतर जाने पर उन्होंने सचमुच एक मुनिको ध्यान लगाये बैठे देखा। कुछ भीतर प्रकाश आया और नारदजी ने ध्यान से देखा, तो उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, वे तो चिरजीवी महामुनि मार्कंडेय थे। नारदजी ने कंधा पकड़ कर उन्हे झकझोरा और कहा—"महाराज! मैं नारद आयाहूँ।"

मार्कंडेय मुनिका ध्यान भंग हुआ उन्होंने कहा—"नारद! भगवान् के गुणानुवाद गाओ।"

नारदजीने हँसकर कहा—"अजी, महाराज! गुणानुवाद तो पीछे गावेंगे, पहिले यह बताइये आप कबसे भीतर बैठे हैं, यह बाँस टूटकर गिर गया है। कुटीमे से निकलने का मार्ग भी नहीं रहा है। एक नया बाँस लाकर आपने इसमे क्यों नहीं लगा दिया।"

डाँटकर मुनिने कहा—"नारद! तुम कैसी बाते बक रहे हो। हमे भैया! इतना समय कहाँ कि वन मे जायँ, बाँस काटें, फिर उसे छीले भूमि खोदें उसमे उसे गाडें छप्पर को उठावें। जिस समय हम इन व्यापारों को करेंगे हमारा मन इन भौतिक वस्तुओं की चिन्ता मे लग जायगा ब्रह्मचिंतना छूट कर बाँसचिन्तना करनी पड़ेगी। मुझे ध्यान करना था, यह कुटी मिल गयी। ध्यान करता रहा। जब इच्छा होगी अन्य स्थान पर जाकर ध्यान करूँगा। ये व्यर्थ की बाते बनाकर समय नष्ट मत करो। समय अति अल्प है, भगवान् के सम्बन्ध मे ही बातें करो।"

अब आप सोचिये मार्कण्डेय मुनि जैसे कल्पजीवी महात्मा के पास इतना भी समय नहीं कि एक टूटे बाँस के स्थान मे नया बाँस लगा दें, तो हम अल्प आयु वाले पुरुष जो बडे-बडे महल बनाते हैं, कितने गधा ईंटो के आये इन्हें गिनते रहते हैं, कितनी बालू आई, कितना चूना आया, इसी की चिन्तना करते रहते हैं उन्हें मरकर ईंट चूना और पत्थर होना पडेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से सरल सुगम साधन के सबन्ध मे पूछा तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! देखो, यह जो चित्त है, वह शुभ्र स्वच्छ वस्त्र के सदृश है। इसे जैसे रँग मे रँग दोगे वैसा ही बन जायगा। हमारे विचार ही प्रभु की प्रार्थना हैं, जो जैसा विचार करेगा, वैसा ही बन

जायगा। यह संसार कल्प वृक्ष है, भगवान् ही इस वृक्ष के बीज हैं। जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष होगा इसलिये इस संसार वृक्ष के नीचे बैठकर जैसा चिन्तना करोगे, वैसे ही बन जाओगे। यदि इसके फलो के खाने मे लग गये तो भटकते रहेंगे। यदि कुछ भी न खाकर-विषयो से दूर रहकर बीज के विषय मे चिन्तना करते रहे तो उसी मे तदाकार हो जाओगे। यह जितना भी दृष्य जगत् है यह सब हमारे ही मनका बनाया हुआ है। जब तक मन इन संसारी पदार्थों में फँसा रहेगा तब तक उसे संसार के ही दर्शन होंगे, जब इनसे मुख मोड कर आँख बन्द करके हृदय कमल मे बैठे मुझ सच्चिदानन्दघन भगवान् का चिन्तन करेगा, तो मुझमे ही मिल जायगा। उद्धव! यह कोई बहुत बडी बात नही है तुम नित्य ही अनुभव करते हो, दिन मे जिस वस्तु का चिन्तन करते हो, सोते समय स्वप्न मे भी वही वस्तु दिखायी देगी, एकान्त मे विचार करोगे, तो उसी के सम्बन्ध में करोगे, बातें भी करोगे, तो उसी की सिद्धि के लिये करोगे। जो बात तुम्हारे मन मे उठी वह कभी न कभी पूरी होगी, यदि बहुत सूक्ष्म वासना है, तो वह स्वप्न में समाप्त हो जायगी। यदि प्रबल वासना है, तो उसके लिये जन्म लेना पड़ेगा। यह हो नही सकता कि जो बात मन मे आयी, उसके संस्कार शेष न रहें। किसी डिब्बी मे कपूर रख दो। कपूर समय पाकर भले ही उड़ जाय किन्तु उसकी वासना-सुगन्धि उसमे कुछ काल तक बनी ही रहेगी। इसीलिये साधक को सदा सर्वदा सचेष्ट रहना चाहिये कि मनमे कभी भी किसी प्रकार भी असत् संकल्प न उठने पावे। कितना भी धनी मानी विद्वान् या भाग्यवान् पुरुष क्यो न हो यदि वह चित्त से निरन्तर विषय चिन्तन करता रहता है, तो उसका चित्त विषयों मे फँस ही जाता है। इसके विपरीत जो विषयो के प्रति सदा उदासीन रहता है चलते फिरते उठते बैठते

सदा मन से मेरा स्मरण करता रहता है वह निश्चय ही अवि-लम्ब ही विना किसी सन्देह के मुझमे ही लीन हो जाता है। इसीलिये मैं बारबार बल देकर डंके की चोट पर कहता हूँ कि अन्य जितने भी सांसारिक साधन हैं असत् साधन हैं। एक मात्र मेरा चिन्तन ही सत् साधन है।

उद्धवजीने पूछा—"तब महाराज! हम करें क्या?

भगवान् बोले—"अरे, भाई बार बार तो बता चुके, अब तुम उसी बातका पिष्टपेशण कराते हो। ये जितने बाह्य साधन हैं, सब असच्चिन्तन मात्र हैं स्वप्नके समान तथा एकान्तमे बैठकर किये हुए मनोरथोंके समान हैं। इन सबको छोड़कर मुझमें ही मन लगा दो।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! लगा तो बहुत दे, किन्तु जब लगे तब न! आपमे चित्तको हठ पूर्वक लगाते हैं, अवसर पाते ही तुरन्त वह भाग जाता है, विषयोंमें चला जाता है यह क्या बात है?"

भगवान् बोले—"भैया! निरन्तर विषयोंका चिन्तन करते करते चित्त अशुद्ध बन गया है, इसे विषयोंमें रमण करनेका अभ्यास हो गया है, इसे जैसे किसीकी एक गौ है, उसने किसी दूसरे स्वामीके हाथमें उसे बेच दिया। उसने उसे खूंटेसे बाँध दिया, जब तक वह दृढ़तासे बँधी रहेगी तबतक वहाँ रहेगी, जब अवसर मिला बन्धन ढीला हुआ, कि अभ्यास वश फिर अपने पुराने स्वामीके ही समीप वह आजायगी। उसकी पूरी आसक्ति तो उसी स्थानमें है। इसी प्रकार यह मन विषयोंमें रमते रमते अशुद्ध बन गया है।

उद्धवजीने पूछा—"तब महाराज! यह अशुद्ध मन शुद्ध कैसे हो 'बिना शुद्ध हुए यह-आप में लग ही नहीं सकता।"

भगवान्—बोले—"शुद्ध होने का उपाय भी मेरा चिन्तन ही है। मन न लगे तो विना मन के ही उच्चस्वर से मेरे नामों को जपे मेरा कीर्तन करे-मेरी कथाओं को वारम्वार मन न भी लगे तो भी लगे तो भी सुने। ऐसा करते रहने से शनैः शनैः चित्त शुद्ध हो जायगा, अब तक जो साधन था, वही चित्त शुद्ध होने पर साध्य हो जायगा। मेरे चिन्तन से शुद्ध हुए चित्त को एक मात्र मुझमें ही मिला दो।

उद्धवजीने कहा—"महाराज! मुझे स्पष्ट समझादो क्या छोडे क्या ग्रहण करे। किस कार्यको छोड दें और कौन कार्य करें।"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव ये बातें संकेत से कहने की हैं अब जब तू सब बात जवनिका को हटा कर स्पष्ट ही सुनना चाहता है, तो तुझे सुनाता हूँ "इसे तू ध्यान पूर्वक श्रवण कर।"

सूतजी कह रहे हैं,—"मुनियों! अब जैसे भगवान् ने ध्यान करने की पात्रता बताई है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

तिरियनिको तजिनेह सग विषयी पुरुषनिको।
धीर वीर गम्भीर बनै प्रिय सब जीवनिको॥
भजन हेतु घर तजै समय नहिँ व्यर्थ बितावै।
निरसि शान्त एकान्त पुण्यथल ध्यान लगावै॥
करै न आलस भजन महँ, कथा कीरतन महँ निरत।
अथवा प्राणायाम करि, करै ध्यान मेरो सतत॥

—::❀::—

ध्यान करने की पात्रता

(१२६५)

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥ *
(श्रीभा० ११ स्क० १४ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

उद्धव बाँधो गाँठ मोक्ष मारग अति दुस्तर ।
पग पग पै अति क्लेश देहिं ये विषय निरन्तर ॥
जैसो होवे क्लेश कामिनी अरु कामिनि तैं ।
तैसो होवे नहीं लोभ मोहादि रिपुनि तैं ॥
संसृति को ही हेतु है, कामधुग को संग नित ।
तातैं तजि अविलम्ब नर, मम चरननि महँ देहिं चित ॥

ऋषियोंने दो ही आनंद बताये हैं विषयानन्द और ब्रह्मानंद । इसलिये दो ही मार्ग हैं, काम मार्ग और राम मार्ग । काम मार्गकी साधिका नारी है, राम मार्गकी साधिका भक्ति है । जहाँ काम है वहाँ राम नहीं रहते और जहाँ राम हैं वहाँ कामका क्या काम ?

उद्धव से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! आत्मवान् पुरुष को चाहिये कि स्त्रियों का और स्त्रीसङ्गियों का सङ्ग दूर से ही छोड़कर निर्भय तथा निर्जन स्थान में स्थित होकर निरालस्य भाव से मेरा चिन्तन करे ।

ध्यान करने की पात्रता

राम किसीके पुत्र नहीं वे चराचरके पिता हैं और काम संकल्पका पुत्र है, इस लिये राम-मार्गकी ओर बढ़ने वालेको जिससे विषयोंका संकल्प हो उसे कामको त्याग देना चाहिये। संकल्प उठता है संगसे। इसीलिए मुमुक्षुओंके लिए निस्संगता ही मुक्तिका प्रधान साधन है। विषयोंके ध्यानसे, चिन्तनसे संग होता है। जहाँ संग हुआ वहाँ कामकी उत्पत्ति हो जाती है। मनमें कामनाके उत्पन्न होते ही चित्तकी वृत्ति तदाकार हो जाती है। यह काम ही अनेक रूप रख कर संसार बन्धन को अधिकाधिक दृढ़ करता जाता है। स्त्री पुरुष के संग से शरीर की उत्पत्ति होती है, अतः शरीर धारी के मन में छिपी हुई कामना रहती है वह कामना मनोनुकूल वस्तु को पाकर उभड आती है और उसके प्रति आसक्ति हो जाती है। जिसमें आसक्ति हो जायगी मन उसी के हाथों बिक जायगा उसी का हो जायगा। अतः मुक्ति की इच्छा वाले पुरुष को स्त्री की आसक्ति और मोक्ष की कामना रखने वाली स्त्री को पुरुष की आसक्ति छोडनी ही पड़ेगी। जब तक ये दोनों परस्पर मे आसक्ति न छोडेंगे तब तक वे भगवान् को हृदय में बिठा नहीं सकते। क्योंकि हृदय की कोठरी बहुत छोटी सी है उसमें दो के लिये स्थान है ही नहीं। या तो वहाँ कोदंडधारी राम ही बैठेंगे या कुसुमायुध काम का ही आसन रहेगा। अन्धकार और प्रकाश दो साथ रहे यह असंभव है।

शौनकादि ऋषियों से सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ध्यान करने की पात्रता कब आती है, इस विषय को बताते हुए भगवान् उद्धव से कह रहे हैं—"उद्धव! लोभ छोड देना कोई कठिन काम नहीं है, बहुत से लोग मत्सर प्रमाद तथा अन्यान्य दुर्गुणों को भी छोड़ देते हैं, किन्तु इस काम पर विजय प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। बड़े बडे त्यागी तपस्वी इसके चक्कर मे फँस गये हैं, पूर्वजन्मों के संस्कारों के कारण मनका स्वभाव ऐसा हो गया, कि विषयों की

ओर वह बिना प्रयास के ही चला जायगा। भगवान् की ओर जाने के लिये प्रयास करना पड़ेगा, इस प्रयास का ही नाम साधन है। साधक का सबसे पहिला कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियों का और स्त्रियों के संगियों का संग सदा के लिये त्याग दें। जिसका चिन्तन होगा, उसमे आशक्ति होगी। स्त्री के चिन्तन से स्त्री के दर्शन से और स्त्री के स्पर्श से मनुष्य साधन से च्युत हो जाता है।

भगवान् से उद्धवजीने पूछा—"महाराज! माता को, बहिन को, गुरु पत्नी को छूते ही हैं आप स्त्री मात्र के स्पर्शका विरोध क्यों कर रहे हैं?"

इस पर भगवान् बोले—"उद्धव! मैं अपने घर से थोड़े ही कह रहा हूँ। ब्रह्माजीने जब रतिको उत्पन्न किया तो उसे देखते ही सबके मन मे उसे पाने को इच्छा हुई। ब्रह्माजी का भी चित्त चंचल हुआ। तब ब्रह्माजीने कामदेवके साथ उसका विवाह कर दिया और कह दिया—बाल्यकाल मे तुम मे दोष न होगा। इसलिये बालकपन मे तो कोई दोष होता नहीं। युवावस्था सम्पन्न पुरुष को तो एकान्त मे अपनी बहिन पुत्री तथा माता का भी स्पर्श न करना चाहिये। यह नियम तो गृहस्थों के लिये है, त्यागी के नियम तो और भी कठिन है। सजीव स्त्रियों के स्पर्श की तो बात ही क्या उन्हें तो स्त्रियों के बने चित्रों को भी न देखना चाहिये। काठ की बनी स्त्री मूर्ति का पैर के अंगूठे से भी स्पर्श न करना चाहिए।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! काठकी पुतलोको छूनेमें क्या दोष? काठ तो काठ ही है।"

भगवान् बोले—"उद्धव! इस धूर्त्त लुटेरे मनका पता नहीं। यह तपस्यासे बलवान् होने पर भी विषयों की ओर झुक जाता

है, तब और भी अधिक अनर्थ करता है। इस विषयमे तुम एक दृष्टान्त सुनो।

एक तपस्वी थे तपस्वी, बड़े त्यागी, बड़े विरागी। एकान्त में रहते सूखे पत्तोको खाते यमुनाजीमें स्नान करते, किसी की ओर देखते भी नहीं थे। निरन्तर तपस्यामे निरत रहते। तपस्या करते करते उन्हे संकल्प सिद्धि हो गयी। मुनिको पता ही नही था, कि मुझे संकल्प सिद्धि हो गयी है।

एक दिन मुनि स्नान करके लौट रहे थे, कि उनके पैरसे एक कठपुतली छू गयी। मुनिने उसे उठाया। देखा किसी कलाकार ने बड़ी सुन्दर मूर्ति बनायी है, मुनि कुतूहलवश उसे अपनी कुटी पर ले आये। कमंडल, रखकर उसे ध्यान पूर्वक देखने लगे। मूर्ति बड़ी सुन्दर बनी थी, उसमे स्त्रियोंके चिन्ह बड़े स्पष्ट और सुन्दरतासे दरसाये गये थे। मुनि उसके अर्धोन्मीलित नेत्रों की ओर देखते के देखते ही रह गये। सहसा उनके मनमे यह विचार उठा कि यह मूर्ति यदि सजीव हो जाती, तो बडी सुन्दर होती।"

इतने दिन की तपस्या में मुनिने कोई इच्छा नहीं की थी, इससे उनके इष्ट उनके आभारी थे, इष्ट चाहते थे, यह कुछ चाहे उसे हम तत्काल पूरा करें। सहृदय पुरुष अपनी स्तुति पूजा करने वाले के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना ही चाहते हैं। मुनिके इष्ट को बड़ी प्रसन्नता हुई, कि आज मेरे भक्त ने कुछ चाहना तो की। सहसा देखते देखते वह काटकी मूर्ति सजीव हो गयी। मुनिको बड़ा आश्चर्य कुतूहल हुआ। उन्होंने उसे गोदी मे उठा लिया। सोचने लगे—"यह बड़ी होती तो इससे बातें करता।" इतना सोचना था, कि वह बड़ी हो गयी। मुनिने प्रेम पूर्वक उसका आलिङ्गन किया। दो विभिन्न लिङ्गके पुरुष जब एक दूसरे को छूते हैं, तो उनका मन खिंच जाता है, विवश हो जाता है। उस समय संयम और साहस दोनो ही भाग जाते हैं।

अब तो मुनि तपस्या फपस्या सब भूल गये, बाबाजीसे बाबूजी बन गये। एक दो बच्चे भी हो गये। तपस्या का लेखा बराबर हो गया। स्त्री भाँति-भाँति की आवश्यकता नित्य बताने लगी। आज यह नहीं है कल यह चाहिये। एक दिन मुनि ने दुखित होकर बहुत धन हो जाय ऐसा संकल्प किया, किन्तु वह पूरा हुआ नहीं, हो भी कहाँ से तप का लेखा तो पूरा हो गया था। एक बार जो मिश्री खा चुका है, उसके स्वाद को वह भूल थोड़े ही सकता है। मुनिको अपनी तपस्याके दिन याद आये। वे सोचने लगे—"हाय! मैं कितना भ्रष्ट हो गया। लकड़ीकी स्त्री मूर्ति पैर से छूने के कारण जब मैं तपस्या से च्युत हो गया तो जो त्यागीका वेष बनाकर युवतियों के साथ रहते हैं, उनका पतन न हो यह असंभव है। इसलिये मैं अपने अनुभवसे कहता हूँ, कि यतिको पैर के अँगूठे से भी काठ की बनी पुतली का भी स्पर्श न करना चाहिये। भूलसे हाथी काठकी हथिनीको छूकर मेरी भाँति बन्धनमे फँस जाता है। ऐसा कहकर वे सब को छोड़कर पुनः तपस्या करने वनको चले गये। भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं "उद्धव! कामिनियोंके संगसे भी बढ़कर पतन का कारण कामी पुरुषों का संग है। जो जैसे विचारका पुरुष होता है, उसके शरीरसे वैसे ही विचार के परमाणु निकलते रहते हैं। जो धूम्रपान करता है उसके मुखसे, शरीरसे उसीकी दुर्गन्धि आती है। एक आदमी बैठा धूम्रपान कर रहा है उसके समीप ही दूसरा बैठा है। दूसरा धूम्रपान नहीं करता किन्तु उसकी दुर्गन्धिको तो वह सूँघता है। कुछ दिनों में उसकी भी इच्छा होने लगेगी। एक दो बार विनोद में पीवेगा, फिर उसका भी अभ्यास हो जायगा। जैसे धूँए के परमाणु समीप वाले के शरीर में प्रवेश करते हैं वैसे ही काम क्रोध के परमाणु प्रवेश करते हैं। कोई हमारी बहिन हैं। दोनों ओर शुद्ध भाव हैं

किसी प्रकार पुरुष के मन में पाप आया और पापभरी दृष्टि से उसने बहिन को देखा तो उसका भी मन विकार युक्त बन जायगा। आँखें ही भावों को स्पष्ट बता देती हैं उनमें से भावों की किरणें निकला करती हैं। कामी पुरुष के शरीर से कामको उत्पन्न करनेवाले परमाणु निकलकर समीपमें रहने वाले के मनको भी कामनायुक्त बना देते हैं। महात्मा पुरुषोंके शरीरसे साधुताके परमाणु निकलते हैं, किन्तु सद्गुणोंकी अपेक्षा दुर्गुणोंका प्रभाव अति शीघ्र पडता है इसलिये मुमुक्षु पुरुषोंको—परमार्थ पथके पथिकों को स्त्री संगियोंका सङ्ग दूरसे ही त्याग देना चाहिये। देखो सौभरि ऋषि किसी का संग नहीं करते थे जल मे डूब कर तपस्या करते थे। वहाँ जलके भीतर उन्होंने मैथुन करते हुए मत्स्यको देखा उस जलचर जीवके मैथुनका प्रभाव मुनिपर पडा। उन्होंने सोचा—"मैंने तपस्यामें ही समय बिताया, जिस सुखमे यह मत्स्य इतनी सुखी है उस गृहस्थ सुखका मैंने अनुभव नहीं किया इसमे क्या है।" इस सकल्पके आते ही वे त्यागीसे गृही बने और पचास राज कुमारियोंसे विवाह किया। पीछे पछताये और रो रो कर बोले—"मुमुक्षुको मिथुनरतियों का कभी संग न करना चाहिये, इन्द्रियों को बाहरी विषयोंकी ओर न दौडाना चाहिये।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धवजी! इन सब उदाहरणोंके देने का अभिप्राय इतना ही है, मुमुक्षुको ऐसे लोगोंका कभी सग न करना चाहिये जिनके सगसे कामके परमाणु अपने शरीरमे प्रवेश करें। जब वह कामियोंका, कामिनियोंका सङ्ग छोड देता है, तभी वह ध्यान करने का अधिकारी होता है।"

इस पर उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! अब आप मुझे ध्यानके ही सम्बन्धमें बतावे। साधकको किस प्रकार ध्यान करना चाहिये

किस रूपमे ध्यान लगाना चाहिये, किस भावसे आपका ध्यान करना चाहिये, कृपा करके मेरे इन प्रश्नो का उत्तर दे।"
इस पर भगवान् बोले—"अच्छी बात है उद्धव! अब मैं तुम्हें ध्यान का ही उपदेश देता हूँ। तुम उसे ध्यान पूर्वक सुनो।

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार—भगवान् ने ध्यान करने की विधि बताई उसका वर्णन मैं आप से करता हूँ।

छप्पय

बोले उद्धव—'नाथ! ध्यान विधि मोइ बतावैं।
कौन भाव किहिं भाँति रूप तव कैसो ध्यावैं॥
हरि बोले—"सुनु सुहृद! प्रथम सम आसन बाँधे।
पुनि पुनि प्राणायाम करै प्राणनिकूँ साधै॥
कमलनाल सम प्रणव ध्वनि, घटा नाद समान स्वर।
तीन काल दश बेर करि, होहि सहज महँ चित्तथिर॥

—❀—

ध्यान की विधि

(१२६६)

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञान क्रियाभ्रमः ॥*

(श्रीमा० ११स्क० १४अ० ४६श्लो०)

छप्पय

हृदय कमलदल अष्ट प्रफुल्लित साधक ध्यावै।
सूर्य चन्द्र अरु अग्नि कर्णिकामाहि बिछावै॥
चिन्तै मस मुख मधुर बाहु वर चार विशाला।
शंख चक्र अरु गदा पदुम पहिने बन माला॥
मकराकृत कुण्डल कलित, श्रीनिवास पट पीत वर।
भुज अङ्गद कटि करधनी, नूपुरयुत पद अति सुघर॥

धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों का नाम संयम है। आसन प्रत्याहार और प्राणायाम ये बाह्य साधन हैं, इनके द्वारा ध्यान की सिद्धि होती है। सिद्ध हुई धारणा ही ध्यान के रूप में परिणित हो जाती है और ध्यान की परिपक्व अवस्था का ही

*उद्धवजी से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! इस प्रकार यदि योगी अत्यंत तीव्र ध्यान योग के द्वारा चित्त का संयम करता है, तो उसके चित्त का द्रव्य, ज्ञान और कर्म सम्बन्धी भ्रम अतिशीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।

नाम समाधि है। यह शरीर दोषों की खान है, इसमे मल ही मल है। नवद्वारों से निरन्तर मल ही निकलता रहता है। दर्पण के आगे जैसी वस्तु आवेगी वैसा ही प्रतिबिम्ब दिखायी देगा। शरीर मे रहने वाले मुख्य दश प्राण हैं, वह शरीर की नाडियो मे संचार करते रहते हैं। नाडियाँ यदि शुद्ध होंगी तो ध्यान भी शुद्ध होगा। यदि नाडियाँ अशुद्ध हुईं तो ध्यान भी अशुद्ध मल का ही होगा। अतः सर्वप्रथम ध्यान करने वाले को नाडी शुद्धि का प्रयास करना चाहिये। बहुत से लोग नाडी शुद्धि के लिये नेति धोति आदि षड्कर्मों का अभ्यास करते हैं, किन्तु इनसे पूर्ण नाडी शुद्धि नहीं होती। भीतर भरा मल कुछ कम अवश्य होता है, किन्तु नाडियो मे भरा सूक्ष्माति सूक्ष्म मल तो एक विशेष प्राणायाम द्वारा ही शुद्ध होता है, उसके शुद्ध होने की मोटी पहिचान है, कि सुषुम्ना नाडी के चलते फिरते उठते बैठते सर्वत्र प्रत्यक्ष दर्शन होने लगते हैं। शरीर मे वैसे तो बहुत नाडियाँ हैं, किन्तु सुषुम्ना प्रधान नाड़ी है। वह गुदा से लेकर मस्तक तक है, समस्त नाडियाँ सुषुम्ना से ही निकली हैं। पीठ के पीछे गुदा से लेकर कंठ तक एक रीढ की हड्डी है, वह एक हड्डी नही है। एक के ऊपर एक कसेरूकायें रखी हैं। वे पोली हैं सुषुम्ना नाडी उन्हीं के भीतर से गयी है, उसी मे से नाडियाँ निकल कर सम्पूर्ण शरीर मे जाल के समान फैली हैं। सुषुम्ना से ही जीवन है। जब सुषुम्ना शरीर का सम्बन्ध छोड़ देती है तभी प्राणी मर जाता है। कुल कुण्डलिनी शक्ति गुदा के मूलाधार चक्र में सुषुम्ना के मुख को अपनी पूछ से रोके साढ़े तीन वलय लगाये सोई हुई पडी रहती है। किसी प्रकार सोई हुई कुण्डलिनी जाग्रत हो जाय तो सुषुम्ना का मुख खुल जाय और वह कुण्डलिनी उलटकर उसी सुषुम्ना के द्वार में घुस कर छैऊ चक्रों को भेदन करते हुए सहस्रारचक्र में पहुंच जाय तभी सदाशिव सच्चिदानंद घन की प्राप्ति होती है। अन्यथा

नहीं। तीव्र ध्यान के ही द्वारा कुण्डलिनी का उत्थान होता है और जब उसकी गति ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है, तभी समाधि सुख की प्राप्ति होती है।

सूत जी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान् से ध्यान के सम्बन्ध मे पूछा तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! ध्यान के लिये सब से पहिले आसन की अत्यंत आवश्यकता है। योग का आरम्भ आसन से ही होता है। यम नियम तो सभी साधनोंमें आवश्यक है, उनके बिना तो साधनो मे प्रवृत्ति नहीं अतः वे तो व्यापक हैं। प्रथम आसन का अभ्यास कर। नस और नाड़ियों को मृदुल कोमल बनाने के लिये अनेक आसन हैं! आसन के जानने वाले तो कहते है चौरासीलाख आसन हैं, अर्थात् जितनी योनियाँ हैं उतने आसन हैं। किन्तु बैठने के बहुत से आसनों मे से पद्मासन सिद्धासन और सहजासन या स्वस्तिकासन ये मुख्य हैं। किसी भी आसन से बैठे रीढ़ की हड्डी को सीधी रखे, शरीर को सम भाव मे स्थिर करे। शरीर को जिस मे सुख हो और घुटने पृथिवी से सटे रहें ही आसन श्रेष्ठ है। आसन बाँधकर शरीर को सीधा करके दोनो हाथो को गोद मे स्वाभाविक रूप से रखे। यह तो हाथ पैर और धड़ का संयम हुआ। फिर सिर का संयम करे। दृष्टि को चंचल न होने दे। आँखोंको न तो पूर्ण बंद ही करले न पूर्णरीत्या खुली रखे। पूर्ण बंद कर लेगा, तो कुछ ही काल मे निद्रा आने लगेगी। पूर्ण रीत्या खुली ही रखेगा तो दृष्टि चंचल होगी, अतः अर्धोन्मीलित रखे। दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में जमाये रखे जिससे अन्य वस्तुओं के दीखने से उनके प्रति संकल्प विकल्प न उठे। फिर प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का शोधन करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"नाड़ियों का शोधन कैसे करे महाराज ?"

भगवान् बोले—पहिले वायुको स्वाँस के द्वारा खींचकर पूरक करे। भरने का नाम पूर्ण करना है। जब वायु भर जाय तो घड़े की भाँति उस भरी हुई वायुको रोके, तदनंतर उसे छोड़ दे, रेचन करदे। पहिले स्वासायाम करे पुनः प्राणायाम करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! स्वासायाम क्या और प्राणायाम क्या ?"

भगवान् बोले—"स्वासायाम कहते हैं स्वासके व्यायाम को। नासिकाओं के छिद्रों द्वारा जो स्वास प्रस्वास लेते हैं उन्हीं से पूरक कुंभक और रेचक करे। पहिले दाहिने नथुने से पूरक करे दोनों को बंद करके कुंभक करे और बाँयें नासिका छिद्र से रेचक करे अर्थात् उस छिद्र से वायु को निकाल दे। ऐसा करने से हृदय की नाड़ियाँ शुद्ध हो जायें तो फिर प्राणायाम करे। मुखसे हम जो खाते हैं पीते हैं, वह सब अन्न जल एक नली द्वारा पक्वाशय में चला जाता है, अन्न जल के साथ उसमें वायु भी चली जाती है। जब पेट भर जाता है तो डकार आती है। डकार क्या है प्राणवायु सूचना देती है, कि पेट भर गया। जिस मार्ग से भीतर से डकार निकलती है उसी मार्ग से बाहर से भीतर वायु को लेजाय। प्रथम-प्रथम वायु टिकेगी नहीं। ज्योंही तुम भरोगे त्योंही डकार की भाँति तुरन्त निकल जायगी। इसका कारण यह है, कि पक्वाशयकी जितनी नाड़ियाँ हैं वे सबकी सब मलाभृत हैं, ज्यों-ज्यों बाहर की वायु पाकस्थली में प्रविष्ठ होगी त्यों-त्यों वह समस्तनम नाड़ियों में विशेष संचार करके उसके मलको एक स्थान पर संचित करेगी। हृदय के ऊपर कफ का स्थान है इसलिये शरीर का जितना विकृत कफ है वह मुखके द्वारा निकलेगा। नाभिके नीचे वायु और मलका स्थान है। जितना संचित मल है और

अशुद्ध वायु है वह अपान वायु बनकर मलद्वारसे निकलेगा। उस समय अपान वायु बड़े वेग से शब्द करती हुई निकला करेगी। नाडियाँ शुद्ध हो गयीं उसकी मोटी पहिचान यह है कि वायु को बाहर से ले जाय और वह पेट मे जाकर पच जाय तुरन्त वही वायु अपान बनकर मलद्वार से निकल जाय तो समझलो नाडियाँ शुद्ध हो गयी। फिर पीई हुई वायुको अपान मार्गसे भी न निकलनेदे उसे शरीर मे ही पचावे। ऐसी दशामें फिर साधकको आहारकी बहुत आवश्यकता नहीं रहती। वायुही आहार हो जाती है, थोडा बहुत अन्न चला जाय उसी से काम चल जाता है। नाडी शुद्ध हो जाने पर शरीर कृश हो जाता है, मुखमंडल पर तेज स्पष्ट झलकने लगता है। शरीर नीरोग बन जाता है। जिह्वालोलुपता नहीं रहती। वाणी बडी मधुर हो जाती है, मलमूत्र दुर्गन्धि हीन और सूक्ष्म होता है। इस प्रकार जब नाडियों की शुद्धि हो जाय, तब ध्यान करे। ध्यान दो प्रकार का होता है, एक सगर्भ दूसरा अगर्भ।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! सगर्भ और अगर्भ ध्यान कैसा?"

भगवान् ने कहा—"जिसमे मेरे साकार रूप का चिन्तन हो उसे सगर्भ ध्यान कहते हैं और जिसमें मेरे निराकार रूप का ध्यान हो उसे अगर्भ ध्यान कहते हैं। इसी प्रकार प्राणायाम भी सगर्भ और अगर्भ है, ओंकार सहित सगर्भ है और ओंकार रहित अगर्भ है। प्रथम प्राणायाम द्वारा निरन्तर होने वाली प्रणव ध्वनि को श्रवण करे। हृदय में निहित कमलनाल सदृश ओंकार को प्राण के द्वारा ऊपर ले जाकर उसमें शब्द की कल्पना करे। जब तक चित्त चंचल रहता है, तब तक वह ध्वनि सुनायी नहीं देती। जब चित्त की वृत्तियो को सब ओर से हटाकर उनको उस ध्वनि

मे लगा दे तो उस स्वर मे घण्टानाद को स्थिर करे अर्थात् ऐसा अनुभव करे कि घण्टा बज रहा है। उस शब्द मे जब मन रम जायगा तो प्राण स्थिर हो जायँगे। प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल तीनो समय दश-दश प्राणायाम करे और उस शब्द को सुने। ऐसा करने से नाड़ी शुद्धि के अनन्तर लगभग एक मास मे ही साधक प्राणवायु को जीतने मे समर्थ हो सकता है, तभी उसका मन स्थिर होने लगेगा। मन की स्थिरता होने से ध्यान लगेगा।"

उद्धवजीने पूछा—"ध्यान कैसे करे भगवन्!"

भगवान् बोले—"अन्तःकरणमे एक हृदय कमल है, वह आठदल वाला है, उसका मुख नीचे है और बन्द है। ध्यानके समय ऐसा अनुभव करे कि वह ऊपर होकर खिल गया है। उस आठ पंखुड़ियों वाले खिले हुए कमलमे मेरा ध्यान करे। आठ पंखुड़ियोंके बीचमें जो स्थान है, उसे कर्णिका कहते हैं, जिसमे जीरेकी भाँति पीली पीली केसर होती है। उस कर्णिका पर ही मेरे मनोहर रूपका ध्यान करे। ऐसा अनुभव करे कि उस कर्णिका पर आसन बिछा है। आसन भी सूर्य, चन्द्र और अग्निका है। प्रथम गोल सूर्य का मंडल है, द्वितीय गोल चन्द्रमा कामंडल है उसके भीतर त्रिकोण अग्निका मंडल है उस अग्नि मंडल के मध्यमें अँगूठेके पोरके सदृश अत्यन्त तेजस्वी मेरे रूपका ध्यान करे। ऐसा अनुभव करे कि मेरा ध्यान समस्त शोक मोह और चिन्ताओ को दूर करनेवाला तथा परम मङ्गल प्रद है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपके कैसे रूपका ध्यान करे?"

भगवान् बोले—"उस समय साधक मेरी परम मनमोहनी मूर्तिका स्वयं ध्यान करे। ऐसा अनुभव करे मानों मेरे अंग प्रत्यंग रूपानुरूप हैं, जैसे सुन्दर सुडौल सुहावने और सुघर हैं वैसा ही सब अङ्गोका ध्यान करे। प्रथम मेरे मुकुट युक्त काले काले घुँघराले

बालोंसे सुशोभित सिरका ध्यान करे, पुनः चंदनचर्चित मनोहर मस्तक का। अनुपम अद्भुत आननका ध्यान करे, जिस पर मंद मंद हास्य छिटक रहा है। मेरी काली काली सुन्दर कृष्ण वर्णकी कमानके समान भौंहो का ध्यान करे, तदनंतर उत्फुल्ल कमलके समान बड़े बड़े नयनोंका ध्यान करे, जिनमे से कृपाकी किरणें सदा निकलती रहती हैं, जिनमें से निकली दृष्टि शरणागतों पर अनुग्रह की वृष्टि रहा करती है। पुनः उन सुचिक्कड गोल गोल आरसीके समान लोल कपोलों का ध्यान करे जिनमें साधकको अपना स्वरूप दिखाई देता है। फिर घुँघराला अलकोंसे आवृत उन श्रवणोंका ध्यान करे जिनमे मकराकृत कुंडल हिल हिल कर संसारी संतापोंसे संतप्त प्राणियों को आश्वासन दे रहे है। तदनंतर उस नासिका का ध्यान करे जिसमे नकवेसर मोटाखारही है और जिन नासिका-पुटोंसे अमृतमयी स्वाँसे निकलकर संसारके अमंगलका नासकर रही हैं। तदनन्तर सुन्दर शुभ्रस्वच्छ दन्तावलीसे युक्त मुखका ध्यान करे जो दो ओष्ठ और अधरोंसे आवृत है, मंदहास्यके कारण जो कुछ कुछ खिला है और ताम्बूलकी लालिमासे कुछ कुछ अरुण हो रहा है, तदनन्तर ओठ और उन गुद गुदे रस भरे बिम्बा फल के समान अधरोंका ध्यान करे जिनके अमृतका पान करनेके लिये गोपाङ्गनायें सदा व्यग्र बनी रहती हैं। जो रससे इतने परिपूर्ण हैं, कि तनिक सी ठेसलगते ही जिनमेंसे सुधारस छलकने लगता है। फिर उस चुबुकका ध्यान करे जिस पर बैठा एकाकी तिल हँस रहा है, जो कृष्ण हृदयवालों को भी आश्वासन दे रहा है। उसके नीचे शंखके समान चढ़ाव उतारकी उस ग्रीवाका ध्यान करे अत्यन्त

मनोहर है, जिसमें वनमाला पड़ी है, पुनः उन विशाल मांसल कन्धोंका ध्यान करे जो सिंह शावकके समान सुन्दर और सुडौल हैं। जिनमेंसे शालाके सदृश दो दो बाहुएँ निकली हुई हैं। फिर उन विशाल बाहुओंका ध्यान करे जो जानु पर्यन्त लटकी हैं जिनके बीचमें आकर व्रजाङ्गनायें कृतार्थ हो जाती हैं, और भक्तोंके लिये जो वरद हैं, जिनमें शंख, चक्र, गदा, पद्म ये उत्तम आयुध सुशोभित हैं। बाजूबन्द कंकड तथा अंगुलीय आदि आभूषणोंसे युक्त हैं, मेरा सम्पूर्ण शरीर तो श्याम वर्णका है, किन्तु नयनोंकी कोर, कपोलोंका मध्य, अधर और ओष्ठ हाथकी हथेली, नख तथा पद-तल ये रक्तवर्णके हैं। बाहुओंके अन्तर मेरे वक्षः स्थलका ध्यान करे, जो एक मात्र लक्ष्मीके रहनेका स्थान है। जिसमें श्रीवत्सका चिन्ह सुशोभित है, जो विप्रपादसे लक्षित है और विशाल तथा विस्तृत है, जिसपर हार, कंठा, कौस्तुभमणि तथा वनवाला शोभा पा रही है, उभरे हुए स्तनद्वय गाढ़े गाढे चंदनसे चर्चित हैं, जिसकी की सुगंधि लेनेके लिये गोपाङ्गनायें व्यग्र बनी रहती हैं और जिसमें अपने वक्षःस्थलको सटाकर विह्वल और आत्मविस्मृत बन जाती हैं। फिर मेरी गंभीर, गोल, नाभिका ध्यान करे जो स्वास प्रस्वाससे निरन्तर उठती बैठती सी प्रतीत होती है, फिर मेरी कटिका ध्यान करे जिसमें विद्युत्के समान चमचमाता हुआ रेशमी पीताम्बर बँधा है, जिसके ऊपर रुनझुन रुनझुन करती हुई करधनी हिल रही है और पीताम्बरसे आवृत स्थूलनितंबोंकी शोभा बढा रही है, फिर मेरी जंघाओंका ध्यान करे जो सुडौल और कदलीके वृक्षके समान चिकनी है जो पीताम्बरसे आवृत

है तदनन्तर घुटनोंका और पिंडरियोंका ध्यान करे। फिर नूपुर युक्त मेरे दोनों चरणोंका ध्यान करे जो भक्तोंके सर्वस्व हैं। जिनकी रजके लिये ब्रह्मादिदेव सदा लालायित बने रहते हैं। जिनके नखोंसे प्रकाश निकलकर साधकोंके हृदयान्धकारको निरन्तर मेटता रहता है।

इसी प्रकार विभिन्न आभूषणोंसे युक्त सर्वाङ्ग सुन्दर हृदय-हारी अति सुकुमार मेरे मधुरातिमधुर रूपका ध्यान करे उसीमें चित्तको लगा दे। यही ध्यान पराकाष्ठा है, यही परिपक्व होकर समाधिरूपमे परिणित हो जाता है, उस समय साधकको मेरे अतिरिक्त किसीका भी कुछ भी चिन्तन न करना चाहिये उसकी दृष्टिमे मेरे मनहररूपके अतिरिक्त कोई चिन्तनीय वस्तु ही नहीं रह जाती।

सगुण उपासकके अतिरिक्त जो निर्गुण उपासक हैं, उन्हे मेरे इस रूपका ध्यान साध्यरूपसे नहीं साधन रूप से चित्त स्थिर करनेकी भावनासे करना चाहिये। उनका रूपमे तो अनुराग है नहीं। वे तो अरूपके उपासक हैं,इसलिये ऐसे साधकोंको भी प्रथम मेरी साकार मूर्ति का ही ध्यान करना चाहिये। देह एक रथ है,इन्द्रियाँ ही घोड़े हैं। मन लगाम है, बुद्धि सारथी है। जीव ही रथी है। प्राप्य स्थान मैं हूँ। इन्द्रियाँ स्वभावसे विषय रूपी बीहड़ वनकी ही ओर बढ़ती हैं। अतः बुद्धिरूपी सारथी की सहायता से मनरूपी लगामको खींचकर इन्द्रियरूपी जो घोड़े हैं, उन्हे संसारकी ओर न जाने देकर मेरी ही ओर बढ़ाना चाहिये, सर्वाङ्ग सुन्दर मेरे समीप ही इस शरीररूपी रथकी सहायतासे पहुँच जाना चाहिये। मैं ही गन्तव्य स्थान हूँ, मैं ही काष्ठा हूँ, मैं ही परागति हूँ।

निर्गुण उपासक पहिले तो सब ओरसे चित्त हटाकर मेरे सुन्दर सर्वाङ्गोंमे मनको लगावे। फिर सर्वाङ्गोंसे खींचकर

चरणमें, हृदयमे या मुखमे एक ही स्थानमें मनको स्थिर करे अर्थात् एक ही अङ्गका ध्यान करे। जब एक अङ्गमें मन स्थिर हो जाय, तब मेरे मंद मंद मुसकान युक्त मुखारविन्दमे ही मनको लगा दे। जब मुखारविन्दमें भलीभाँति चित्त स्थिर हो जाय तो फिर उसे वहाँसे भी हटा ले और बिना रूपके आकाशमें उसे स्थिर करे। जब आकाशमें मन स्थिर हो जाय, तो फिर मेरे शुद्ध सच्चिदानन्द निर्गुण रूपका ध्यान करे।

उद्धवजीने कहा—"महाराज! जब निर्गुण ही है, उसका कोई रूप ही नहीं तो उसका ध्यान कैसे करे। अरूपका ध्यान कैसे हो?"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! यह विषय अत्यंत कठिन है, देहधारीके लिये अरूपका ध्यान करना सहज नहीं अत्यंत कठिन है। यहाँ रूपसे तात्पर्य ज्योतिसे है। निर्गुण उपासक ज्योतिका ध्यान करते हैं, देहकी परिच्छिन्नताको मेटकर अपरिच्छिन्नमें उसे मिला देते हैं, जैसे अग्निकी एक चिनगारी है, उसे लेजाकर प्रज्वलित महान् अग्निमे मिला दिया, वह अल्पाग्नि अपना नाम-रूप छोड़कर महाग्निमें विलीन हो गयी, एक बिन्दु जल है उसे सिन्धु में छोड़ दिया उसने अपना नाम, रूप पृथक्त्व त्याग दिया। इसी प्रकार चित्तके वशीभूत और स्थिर हो जानेपर फिर द्वैत नहीं रहता साधक अपने में मुझको और मुझ सर्वात्मामें अपनेको ही देखता है। यह सब कहने सुनने और तर्क वितर्क करने की बात नहीं। शास्त्रार्थका विषय नहीं। वाणीका विलास-मात्र नहीं है। यह अनुभवकी वस्तु है। तीव्र ध्यान योगके द्वारा चित्तका संयम करनेवाले योगीके चित्तका द्रव्य, ज्ञान और कर्म सम्बन्धी भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।"

उद्धवजीने कहा—'भगवन्! मेरी बुद्धिमें यह बात आई नहीं। द्रव्य, ज्ञान और कर्म सम्बन्धी भ्रम किसे कहते हैं।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! यह सृष्टि संकल्पसे ही है, मनके माने हार है मनके माने जीत। जितना भी हम कुछ देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं अथवा कर्म कर रहे हैं, सब मनसे कर रहे हैं, मन दो प्रकारका होता है, शुद्ध मन और अशुद्ध मन। अशुद्ध मन संसारका रूप है और शुद्ध मन मेरा रूप है, अशुद्ध मन संसारको प्राप्त कराता है, शुद्ध मन मुझ तक पहुँचाता है। समाधि पर्यन्त समस्त साधन अशुद्ध मनको शुद्ध बनानेके निमित्त ही हैं अशुद्ध मन जो पाँच भौतिक पदार्थोंको देखता है, वह भी भ्रमवश देखता है। कोई सुन्दरी स्त्री दिखायी देती है, वह बड़ी आकर्षक और मनमोहक दीखती है। वास्तवमें देखा जाय तो न उसमें कुछ आकर्षण है न सौन्दर्य भ्रमवश वह हमें सुन्दरी दिखायी देती है, हमारा अशुद्ध मन उसमें वासना के अनुसार भ्रमसे प्रियत्वका कल्पनाकर लेता है। इसी प्रकार हम संसारमें धन कमानेके लिये कितना घोर परिश्रम करते हैं, कितनी कठिन कठिन क्रियायें करते हैं, समुद्रोंका पेट चीरकर सात समुद्र पार जाते हैं, विषयोंको एकत्रित करनेके लिये न करने योग्य कामोंको भ्रमवश करते हैं। हमें आशा रहती है इस क्रियाके करनेसे सुख होगा। उस क्रियाके करने पर भी जब सुख नहीं होता तो हम भ्रमवश समझते हैं हमने सावधानी से क्रिया नहीं की फिर उसमें जुटजाते हैं, इसी प्रकार भ्रमवश विकर्मोंमें निरत रहते हैं। जो क्रियायें करते हैं भ्रमके वशीभूत होकर करते हैं। अशुद्ध मनसे हम जो निश्चय करते हैं वह भ्रमवश ही करते हैं। छोटा बालक है, उसने भ्रमवश यह निश्चयकर लिया है, खिलौनाकी प्राप्तिमें ही सुख है वह उसे ही सुख समझता है, उसके खिलौनेको कोई तोड़ दे तो वह बड़ा दुखी होता है।

युवक युवतियोंका निश्चय है कि दाम्पत्य प्रेम ही सुखका साधन है इसी प्रकार सबने भ्रमवश अपने सुखके सम्बन्धमें एक निश्चय कर रखा है। इस ध्यान योगसे वे तीनों प्रकारके भ्रम-द्रव्य सम्बन्धी अर्थात् भौतिक भ्रम-क्रिया सम्बन्धी अर्थात् करे जानेवाले कर्मोंमें भ्रम और ज्ञान सम्बन्धी अर्थात् सुखके सम्बन्धमें निश्चय किया हुआ भ्रम ये तीनों ही इस तीव्र ध्यान योगके द्वारा नाश हो जाते हैं और योगी भ्रमसे रहित होकर यथार्थ ज्ञानी हो जाता है।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, महाराज! अब मेरी समझमें बात आगयी। अब यह मुझे एक बात और पूछनी रही। साधक को आगे पीछेकी सभी बातें सोच लेनी चाहिये। पूर्वपक्ष परपक्ष सब ही सोच लेना चाहिये। कोई साधक साधना कर रहा, व्रत करता है, मौन रहता है, जप करता है, किन्तु इन्द्रियों पर विजय नहीं कर सका है, उसकी साधना किस काम आवेगी।"

भगवान् बोले—"उस अजितेन्द्रिय की साधना वृत्ति बन जायेगी। पेटभरने की आजीविका हो जायगी।"

उद्धवजीने कहा—"मान लिया साधक जितेन्द्रिय है शान्त दान्त और समचित्त वाला है, उसको तो कोई विघ्न नहीं होता।"

भगवान्ने कहा—"ऐसे शान्त, दान्त और समचित्त साधक के सम्मुख सिद्धियाँ आती हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"सिद्धि कितनी हैं और किस-किस धारणासे कौन कौन सी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, कृपा करके आप मुझे इन सब बातों को बता दें। क्योंकि आप ही सब सिद्धों को सिद्धि देनेवाले हैं सब सिद्धियाँ आप के ही अधीन हैं।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"उद्धव! सिद्धियाँ बहुत हैं, उनके भेद भी बहुत हैं अब मैं तुम्हें उन सबके सम्बन्ध में बताता हूँ, तुम सिद्धियों के सम्बन्ध में सावधान होकर सुनो!"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! अब जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी से सिद्धियों का वर्णन किया है उसे मैं आप सबको सुनाता हूँ, आप इसे ध्यान से श्रवण करें।

छप्पय

भाल, नयन, मुख हृदय, नाभि, कटि, उरुचरन तल।
सुघर मनोहर निरखि करै थिर मनकूँ शुभ थल॥
केवल मुखकूँ ध्याइ अन्त महँ ताकूँ त्यागै।
निराकार निरबीज चित्त आत्मा महँ लागै॥
समुझै आत्मा सर्वगत सबकूँ मोमें मोइ सब।
ज्ञान कर्म अरु द्रव्य भ्रम, योगी को नसि जाइ तब॥

सिद्धियों के सम्बन्ध में

(१२६७)

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥

(श्रीभा० ११स्क० १५अ० ३२श्लो०)

छप्पय

योगी ध्यावै मोइ सिद्धि सब तिहि ढँग आवैं ।
उद्धव बोले—"नाथ ! सिद्धिके भेद बतावैं ॥
हरि बोले—"सबसिद्धि अठारह मुनिनिगिनाईं ।
तिन महँ दश हैं गौण आठही मुख्य बताईं ॥
अणिमा महिमा अरु लघिम, आश्रय इनको देह है ।
प्राप्ति सिद्धि उत्तम कही, इन्द्रियजाको गेह है ॥

योग साधनमें सिद्धियोंको विघ्न बताया गया है। वास्तव में सिद्धियाँ हैं भी विघ्नरूपा ही, ये आगे बढने से साधकको रोकती हैं जैसे कोई विद्यार्थी है, वह पढने जा रहा है, मार्ग में उसे कुछ मित्र मिले उन्होंने कहा—"चलो, खेल तमाशा नाटक देखें लडका

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव धारणा योग के पार जानेवाले ऋषियों ने सिद्धियों की संख्या अठारह बतायी है। इनमेंसे आठ मेरी प्रधाना शक्ति और दश गुणोंके उत्कर्षसे प्राप्त होती हैं।"

लडका उनकी बात मानकर पढना छोडकर खेल तमासे मे चला गया। वहाँ उसका मनोरञ्जन भी होता है, उसे अच्छाभी लगता है, चित्त बहल जाता है, किन्तु उसका मुख्य लक्ष्य तो छूट गया। वह अपने ध्येयसे तो पिछड गया। यदि उसे खेल देखनेका व्यसन पड गया तब तो उसका पढना लिखना छूट ही जायगा, यदि वह बीचमे ही सम्हल गया खेल से चित्त हटाकर फिर उसने पढने मे मन लगा लिया तब तो कोई बात ही नहीं। दो दिन खेलकूद और मनोरञ्जनमे बीत गये सो बीत गये आगेके लिये वह सावधान हो जायगा और अपनी परीक्षामे उत्तीर्ण हो जायगा। इसी प्रकार भगवान् की ओर बढने वालेको पहिलेआधिव्याधि संशय प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदि विघ्न दबाते हैं उनसे भी पार होजाय तो स्त्री पुरुष अपनी ओर अत्यधिक आकर्षित होते हैं इन लौकिक चमत्कारो मे आगे बढे तो उसके सामने दिव्य सिद्धियाँ आती हैं। सिद्धियोंका यदि साधनमे कोई उपयोग है तो इतना ही कि उन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जाता है, कि हम साधन मे आगे रहे हैं। क्षुद्र साधक के सम्मुख सिद्धियाँ नहीं आती जो इन लौकिक पदार्थों से आगे बढेगा सिद्धियाँ उसी के सम्मुख आवेंगी। उनमें जो फँस गया वह फँस गया उसकी आगे की गति रुक गयी, वह इसी मायिक जगत्मे बँधा रहा। जो इन्हें पार करके आगे बढ गया वह प्रकृति मडल को पार करके परमात्मा के मण्डलमें पहुँच गया जहाँ माया की पहुँच नहीं। मोहकी जहाँ दाल भी नहीं गलती पुनर्जन्म की जहाँ चर्चा भी नहीं।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियों! जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी के पूछने पर उन्हें सिद्धियो के सम्बन्ध मे उपदेश दिया उसका साराश मैं आप सबको सुनाता हूँ।" भगवान् ने कहा—"उद्धव! सिद्धियाँ अनेक हैं। साधारण

मानव स्वभावसे जो ऊँची बातें हैं सभी सिद्धियाँ हैं, किन्तु उनमें अठारह मुख्य मानी गयी हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! वे अठारह सिद्धियाँ कौन कौन सी हैं ?"

भगवान्‌ने कहा—१-अणिमा २-महिमा ३-लघिमा ४-प्राप्ति ५-प्राकाश्य ६-ईशिता ७-वशिता ८-प्राकाम्य ९-अनूर्मिमत्व १०-दूरश्रवण ११-दूरदर्शन १२-मनोजन १३-कामरूप १४-परकायप्रवेशन १५-स्वेच्छामृत्यु १६-देवक्रीडानुदर्शन १६-यथा संकल्प संसिद्धि १८-आज्ञाप्रतिहता तथा अव्याहतसर्वत्र गति ये ही अठारह सिद्धियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुतसी सिद्धियाँ हैं जैसे १-त्रिकालज्ञता, २-निर्द्वन्दता ३-परचित्ताद्यभिज्ञता ४-अग्निस्तम्भन ५-सूर्यस्तम्भन ६-जलस्तम्भन ७-विषस्तम्भन तथा अपराजितता आदि हैं।

उद्धवजीने पूछा—"महाराज ! इन सिद्धियों का मुझे अर्थ बतावें।"

भगवान् बोले—"अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ती, प्राकाश्य, ईशिता, वशिता तथा प्राकाम्य ये आठ सिद्धियाँ प्रधान हैं। इसीलिये लोग बात-बात पर कहते हैं अजी उनके समीप तो सदा आठों सिद्धि नवों निधि हाथ जोडे खडी रहती हैं। वास्तवमें ये मेरी प्रधाना सिद्धि हैं, ये सिद्धियों मुझे स्वभावसे ही प्राप्त हैं, मेरे भक्तोंको भी ये मेरी कृपा से प्राप्त हो जाती हैं। अच्छा पहिले तुम इन आठों के ही सम्बन्धमें सुनो।

१—अणिमासिद्धि—अणिमासिद्धि उसे कहते हैं, कि योगी जब चाहे तब सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप बनाले। उसका स्थूल देह अत्यंत सूक्ष्म बन जाता है जिस योगीको यह सिद्धि प्राप्त होगी उसे आप सात तालों में बन्द कर दो। जहाँ वायु प्रवेशके लिये

भी छिद्र होगा वहाँ से वह सूक्ष्मरूप रखकर निकल जायगा। हनुमान्‌जी लंकामें गये थे, तब अपना मशक के सदृश अत्यंत सूक्ष्मरूप बनाकर ही गये थे। रावण के महलों में भीतर बाहर सर्वत्र घूम आये, वे इतने सूक्ष्म बन गये थे कि उन्हें कोई देख नहीं सकता था।

२—लघिमासिद्धि—लघिमा सिद्धि उसे कहते है कि योगी जब चाहे तब अपने शरीर को इतना हलका बनाले कि वायुके साथ उड जाय। इतना हलका शरीर बनाकर वह आकाशमें उड कर जहाँ चाहे तहाँ उड सकता है अधर मे लटक सकता है। कंस मामाकी सभामें जब मैं गया था, तब मामा बहुत ऊँचे मंच पर बैठे थे, मैं नीचे था, मैं लघिमा सिद्धि के प्रभाव से हलका होकर उड गया और उन्हें लेकर गिर पडा।

३—महिमासिद्धि—महिमासिद्धि उसे कहते हैं कि योगी चाहे जितना अपने शरीर को बढा सके चाहे जितना भारीकर सके। कंस को पकडने के लिये तो मैंने लघिमा सिद्धि का प्रयोग किया जब उसे लेकर गिर पडा तो मैंने अपनी महिमा दिखायी। हनुमान्‌जी के सम्मुख सुरसानाम की एक सर्पों की माता आई उसने अपनी महिमा दिखाई। अपने मुखको योजनों लम्बा बनादिया। हनुमानजी अपने शरीरको दुगुणा बढ़ाते गये जब उसका मुख बहुत बढ गया तो तुरन्त अणिमासिद्धिके प्रभावसे अतिसूक्ष्म होकर उसके पेट मे घुसकर तुरन्त निकल आये। मैंने भी जब केशी को मारा तो उसके मुखमें हाथ दे दिया था और अपनी महिमाके प्रभाव से उस हाथ को इतना बढ़ा दिया कि अश्वरूप रखे उस असुरकी स्वाँस ही रुक गयी और वह तुरन्त मर गया। इन तीनो सिद्धियोका सम्बन्ध शरीरसे ही है। शरीरको सूक्ष्मसे सूक्ष्म, स्थूलसे स्थूल हल के से हल का और भारीसे भारी बना लेना।

४—प्राप्ति सिद्धि—चौथी सिद्धि का नाम प्राप्ति है, इसका सम्बन्ध इन्द्रियों से है। आँख, कान, नाक, रसना और त्वचा इन इन्द्रियों के विषयों का तुरन्त प्राप्त करलेना। कहीं सुन्दर दर्शनीय पदार्थ है, इच्छा होते ही उसे बुलालेना, कोई श्रवणीय शब्द है, उसे अपने समीप में आह्वान करलेना, कोई सुगन्धित वस्तु है, उसकी सुगन्धि को समीप में खींच लेना। कोई स्वादिष्ट पदार्थ है यहाँ उसका स्वाद ले लेना इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों को इच्छानुसार प्राप्त करा लेना। योगी इसी सिद्धिके प्रभाव से जब चाहते हैं, तब उसी वस्तु को बुलालेते हैं।

५—प्राकाश्य सिद्धि—पाँचवीं प्राकाश्य सिद्धि है। जो भी स्वर्ग आदि पुण्य लोकों के सुने हुए पारलौकिक सुख हैं अथवा देखे हुए लौकिक सुख है उनका इच्छानुसार अनुभव कर लेना। योगी सोचे मैं इन्द्र हो जाऊँ तो वह तुरन्त इन्द्रासन पर बैठकर स्वर्ग के समस्त सुखों का अनुभव करने लगेगा। इसी सिद्धि के प्रभाव से कर्दममुनि ने देवहुति को समस्त सुखों का अनुभव कराया था।

६—ईशितासिद्धि—छठी ईशिता सिद्धि है। मेरी माया को तथा उसके कर्योंको अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकनेकी शक्ति का नाम ईशिता है ऐसा योगी अपनी इच्छानुसार नवीन सृष्टि रच सकता है, अपने संकल्पसे जो चाहे सो उत्पन्न कर सकता है। जब राजा त्रिशङ्कुको देवताओंने विश्वामित्रके पठाने पर भी सशरीर स्वर्गमें न आने दिया, तब क्रोध करके महर्षि विश्वामित्रने ईशिता सिद्धिसे ही नवीन स्वर्गकी—नवीन सृष्टिकी—रचना कर डाली। देवताओंकी बहुत अनुनय विनय करने पर तथा ब्रह्माजी के आश्वासन देने पर तब उन्होंने अपनी हठ छोड़ी। फिर भी उनके बनाये हुए ग्रह तथा सप्तर्षि अब तक विद्यमान हैं।

७—वशितासिद्धि—सातवीं वशितासिद्धि है। जितने पंच-भूत हैं, तथा पंचभूतों से बने भौतिक पदार्थ हैं, उन्हे अपने वशमें कर लेना तथा स्वयं उनके समीप रहते हुए भी उनमे आसक्त न होना। जैसे भरद्वाज मुनि ने भरतजीके स्वागत सत्कारमें जितनेभी भोग्य पदार्थ थे, वे उपस्थित कर दिये, किन्तु स्वय उनकी ओर आँख उठाकरभी नहीं देखा।

८—प्राकाम्य सिद्धि—आठवीं प्राकाम्य सिद्धि है। अर्थात् इच्छित पदार्थों की चरम सीमाको प्राप्त करलेना। तीनों लोकोंमें उसे कोईभी कभीभी ऐसा पदार्थ न हो जो इच्छा करते ही उसके सम्मुख समुपस्थित न हो जाय। सौभरि ऋषि इसी सिद्धिसे अपनी पचासों पत्नियोंको इच्छानुसार भोग देते थे। मैं भी सोलह सहस्र-एकसौ आठ रानियोंको इसी सिद्धिसे सुखी बनाये रहता था। योगियोंको तो ये सब सिद्धियाँ साधनसे मेरी अनुकम्पासे प्राप्त होती हैं, किन्तु मेरे पीछे तो ये स्वभावसे ही लगी रहती हैं।

उद्धवजीने कहा—"महाराज! ये तो आठ सिद्धियाँ हुईं अब अन्य सिद्धियों के सम्बन्धमें भी मुझे बतावें।"

भगवान् बोले—"उद्धव! सब सिद्धियोंके सम्बन्धमे तो मैं कह नहीं सकता। अच्छा, कुछ सिद्धियोके सम्बन्धमे और सुनो।

१—अनूर्मिमत्व—"सबके देहमे क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जन्म और मरण व्याधि ये छै ऊर्मियाँ सदा उठती रहती है। जिस सिद्धि से ये ऊर्मियाँ न उठ उसे अनुर्मिता कहते है।

२—दूरश्रवणदर्शन—एक स्थानपर बैठेही बैठे दूरकी बातें सुनलेना, दूरकी घटनाको प्रत्यक्ष देख लेना।

३—मनोजव—मनके सदृश शीघ्रगति हो जाना। अर्थात् जहाँ मन करे तुरन्त वहाँ पहुँच जाना।

४—कामरूप—इच्छानुसार जैसा चाहे वैसा रूप रखलेना। जिसका चाहे रूप धारण करलेना।

५—परकायप्रवेश—दूसरेके शरीरमे प्रविष्ट होकर अपनी इच्छानुसार उस शरीर से काम करना।

६—स्वच्छन्द मृत्यु—भीष्म की भाँति मृत्यु पर विजय प्राप्त करलेना। अपनी इच्छा के बिना मृत्यु आने ही न पावे।

७—देवक्रीडानुदर्शन—स्वर्गमें देवगण अप्सराओं के साथ कैसे क्रीडायें करते हैं, उसे प्रत्यक्ष देख लेना। नहीं तो देवताओं की क्रीडा साधारण लोगोको इन चर्म चक्षुओ से नहीं दिखाई देती।

८—यथा संकल्प संसिद्धि—जैसा संकल्प करना उसकी तुरन्त उसी प्रकार सिद्धि हो जाना।

९—आज्ञा प्रतिहता—जिसे जो आज्ञा दे दो उसे वह तुरन्त पालन करे।

१०—अप्रतिहतागति—जिस लोकमें चाहे तुरन्त चले जायँ।

इस प्रकार उद्धव! ये दश सिद्धियाँ सत्वगुणके उत्कर्षसे होती हैं, जिसमे सत्वका अंश अधिक हुआ उसे ये सिद्धियाँ हो जाती हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवान्! इन अठारहोंक अतिरिक्त भी सिद्धियाँ हों उन्हे बतावें।"

भगवान् बोले—"बहुतसी सिद्धियाँ हैं जैसे त्रिकालज्ञत्व—भूत, भविष्य तथा वर्तमानकी सभी बातोंको जानलेना, शीत उष्ण, सुख-दुख, राग द्वेष आदि द्वन्दोंके वशमें न होना, दूसरोंके मनकी बातें बिना बताये जानलेना, अग्नि, जल, विष आदिकी शक्तिका स्तम्भन करदेना। इस प्रकार इनके बहुत से भेद हैं।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! ये सिद्धियाँ प्राप्त कैसे होती हैं?"

भगवान्ने कहा—"ये सब सिद्धियाँ धारणा से प्राप्त होती हैं। जहाँ भी मनकी धारणा सिद्ध हो जायगी उसी विषयकी सिद्धि हो जायगी। जैसे तन्मात्राओंमे धारणा करनेमे अणिमा सिद्धि प्राप्त

होती है, महत्तत्वकी धारणासे महिमा, परमाणुकी धारणासे लघिमा, सात्विक अहंकारकी धारणासे प्राप्ति, सूत्रात्माकी धारणा से 'प्राकाम्य, कालकी धारणासे ईशिता, तुरीयमें धारणा करनेसे वशिता सिद्धि, प्राप्त होती है। निर्गुण की धारणासे प्राकाम्य, श्वेतद्वीपाधिपति मुझमें ध्यान करनेसे अनूर्मिता, नादमें धारणा से दूरश्रवण, सूर्यकी धारणासे दूरदर्शन, प्राणवायुरूपसे मेरी धारणा करनेसे मनोजव, मनमें धारणा करनेसे कामरूप, प्राण-प्रधान लिङ्ग शरीरोपाधिक आत्मामें धारणासे परकाय प्रवेश, प्राणके संयमसे इच्छामृत्यु, शुद्ध सत्वमें धारणा करनेसे सुर-कोडादर्शन, सत्यका धारणासे संकल्पसिद्धि, चित्तकी जिसमें धारणा करलो चित्त उसीके गुणवाला हो जायगा, अग्निमय चित्तको करलो, तो जैसे अग्नि-अग्निको नहीं जलाती वैसेही योगीके शरीरको अग्नि, जल, विष आदि नष्ट नहीं करते। मेरे अवतारोंमें धारणा करनेसे साधक अजेय हो जाता है। इस प्रकार योग धारणाके द्वारा मेरी उपासना करनेवाले साधकको सभी सिद्धियाँ पूर्ण रीत्या प्राप्त हो जाती हैं।"

उसपर शौनकजीने कहा—"सूतजी! आप बुरा न मानें तो हम एक बात कहें।"

सूतजीने शीघ्रता से कहा—"कहिये महाराज! बुरा माननेकी कौनसी बात है, मैं तो आपके प्रश्नोंका उत्तर देनेही आपके दिए हुए इस आसन पर बैठा हूँ।"

शौनकजीने कहा—"सूतजी ! उद्धवजी तो भगवान्‌के स्वरूप ही हैं, वे तो इन संकेतोंको समझही गये होंगे, किन्तु सच्ची बात यह है कि हमतो कुछ समझे ही नहीं–धारणा क्या होती है, धारणा कैसेकी जाती है, आपने जिन जिन वस्तुओंमें धारणा बतायी है, वह कैसेकी जाय। इस विषयको स्पष्ट करके विस्तारसे हमें समझावें।"

सूतजीने कहा—"देखिये महाराज ! यह विषय अत्यंत गूढ़ है, कथाप्रसङ्गमें इसका वर्णन करने लगूँ, तो कथा प्रसङ्ग रुक जायगा। यह सर्वसाधारणके लिये है भी नहीं। मैं भी इसका पूर्ण ज्ञाता नहीं, किन्तु मैंने गुरु परम्परा से जो इस सम्बन्धमें कुछ सुना है, उसे यथावकाश फिर कभी योग सम्बन्धी मीमांसाकी जायगी, तब कहूँगा। इस समय तो कथा प्रसङ्ग लगानेको मैंने अत्यंत संक्षेपमें इस विषयका नाम निर्देशमात्र कर दिया।"

शौनकजीने कहा—"अच्छी बात है सूतजी ! यदि ऐसीही बात है तो जाने दीजिये हमे सिद्धियों से क्या लेना। कोई एक ऐसी सरल सीधी सी सिद्धि हमे बतादो जिससे हमारा निस्तार हो जाय।"

इसपर सूतजी बोले—"भगवान्‌ने सब सिद्धियोंका उपसंहार करते हुए अन्तमें भक्तोंके लिए स्वयं ऐसी सबसे सुन्दर सबसे श्रेष्ठ सिद्धिका उल्लेख किया है, उसके प्राप्त करलेने पर समस्त-सिद्धियाँ स्वतः ही आकर हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं।"

शौनकजीने कहा—सूतजी। उसे ही हमें बताइये। हमतो सारग्राही हैं।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब जिस प्रकार भगवान्‌ने अपनी भक्तिरूपा सिद्धि बतायी है उसका वर्णन मैं आपसे करता हूँ, आप समाहित चित्तसे इसे ग्रहण करें।

छप्पय

सिद्धि कही प्राकाम्य ईशिता वशिता उद्धव।
दूर श्रवन परकाय प्रविसि तनु सुघर मनोजव॥
गति आज्ञा अनिवार देवकीड़ा अनुदरशन।
अग्नि सूर्य जल गरल आदि वस्तुनिको स्तभन॥
करै धारना जाहि में, होहि सिद्धि तैसी तहाँ।
भक्तियोग बिनु सिद्धि सब, पावै कामी नर कहाँ?

—:※:—

सर्वसिद्धियों के स्वामी श्यामसुन्दर

(१२६८)

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १५अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

जितनी होवें सिद्धि जन्म ओषधि अरु तपतैं ।
ते सब पावें भक्त नाम मेरे के जपतैं ॥
सब सिद्धिनि को ईश वेदविद मोहि बतावैं ।
तातैं सब तजि चित्त भक्त मम चरन लगावैं ॥
हौं ही सबमहँ रमि रह्यो, देहुँ सिद्धि सबकूँ सकल ।
मम तजि सिद्धिनि महँ फँसे, मेरी माया अति प्रबल ॥

घडा जब तक पूरा भरा नहीं होता तभी तक छलकता है। जहाँ वह पूर्ण हो जाता है, वहाँ उसका छलकना बन्द हो जाता है, परिपूर्ण समुद्र में बाढ़ नहीं आती, क्षुद्र नदियाँ ही वर्षामें बड़े वेगसे

---

*श्री भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! मैं ही समस्त सिद्धियोंका तथा ब्रह्मवादियों द्वारा बताये योग सांख्यका और धर्म आदि समस्त साधनोंका भी हेतु हूँ, स्वामी हूँ और प्रभु हूँ।"

बढती हैं और कुछ ही कालमें उनका उफान शान्त हो जाता है। उसी प्रकार सिद्धियोंके चक्करमें वही साधक पडता है, जिसमें पूर्णता नहीं होती। स्वल्प पाकर ही जो अपनेको कुछ समझने लगता है। जहाँ उसके मनमें यह भाव रचक मात्र भी आया कि हम भी कुछ हैं, वहीं उसकी उन्नति रुक गयी और वह पतनकी ओर अग्रसर हुआ। इसीलिये साधकको कभी भी सिद्धियोंके फन्देमें न फँसना चाहिये। जहाँ मनसे भी सिद्धियों को स्वीकार कर लिया तहाँ मनसे मनमोहन निकल जाते हैं, और सिद्धियोंका अहंकार उनके स्थानको ग्रहणकर लेता है। ससारी लोगोंको सिद्धियाँ भले ही आकर्षक हो साधकके तो पतनका प्रधान कारण ये ही है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवने भगवान् से समस्त सिद्धियोंकी प्राप्तिका सरल उपाय पूछा तो भगवान्ने कहा—"उद्धव! योग की धारणा करनेवाले योगीको ये सब सिद्धियाँ साधनोंसे प्राप्त हो जाती हैं। जिसने अपनी समस्त इन्द्रियोंको अपने अधीन कर लिया है, जो विषयोंका इन्द्रियोंसे सयोग होनेपर व्याकुल नहीं होता, जिसने धारणा ध्यान और समाधि तीनोंका अभ्यास कर लिया है, प्राण जिसके वशमें हो गये हैं ऐसे योगीको कौनसी सिद्धि है जो प्राप्त न हो जाती हो। यहाँ तक कि नवीन सृष्टि बना सकता है, सम्पूर्ण भुवनोंका शासनकर सकता है।"

उद्धवजी ने पूछा—'तो भगवन्! ये सिद्धियाँ आपकी प्राप्तिमें साधिका हैं? इनके प्राप्त होने पर आप शीघ्र प्राप्त हो जाते होंगे।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे भैया उद्धव! ये सिद्धियाँ मेरी प्राप्तिमे साधिका नहीं अपितु बाधिका हैं। इन सब सिद्धियोंका सम्बन्ध ससार से ही है, ये सब लौकिक सिद्धियाँ हैं। साधकका जितने दिनों तक इनमें मन फँसा रहेगा, उतनाही काल मेरी प्राप्ति मे अधिक लगेगा। कोई इन क्षुद्र सिद्धियोंको पाकर ही कृतार्थ हो

जाते हैं, उनकी आगेकी गति रुक जाती है, उनका पतन हो जाता है। सिद्धियाँ अनेक प्रकारसे प्राप्तकी जाती हैं। बहुत सी सिद्धियाँ जन्मसे ही प्राप्त होती हैं, जैसे कछुआ-मछली के बालकों को जन्म से ही तैरना और जलके भीतर रहना आ जाता है, पक्षियोंके बालकोंको जन्मसे ही आकाश में उडनेकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है, चकोर जन्मसे ही अग्निको भक्षण करने लगता है। सिद्धोंको विद्याधरादिको को जन्मसे ही अन्तर्धान आदिकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। बहुत सी सिद्धियाँ ओषधियों से प्राप्त होती हैं। एक ऐसी गुटिका बनाई जाती है, जिसे मुखमें रखलो, तुम तो सबको देखोगे, तुम्हें कोई न देख सकेगा। एक ऐसा अंजन तैयार किया जाता है, उसे आखोंमे लगालो तो आकाशमें उडते हुए देवताओंके विमान दिखायी देंगे। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूल वस्तु उस अंजनके प्रभावसे दिखायी देने लगेगी। एक ऐसा लेप तैयार किया जाता है, उसे पैरोंमे लगालो और जहाँ का संकल्प करो तहाँ तुरन्त चले जाओ। एक ऐसा तिलक लगाया जाता है कि उस तिलक को लगाकर जिसके सम्मुख चले जाओ, वही वशमे हो जाता है। इसी प्रकार बडे यत्नसे ये औषधियाँ बनायी जाती हैं। बहुतसी स्वतः ही होती हैं, उन्हे पहिचानना कठिन होता है। गन्धमादन पर्वत पर एक वृक्ष होता है, जिसकी लकडीसे कोई वस्तु बनाकर खालो तो कभी भूख ही न लगे।"

एक बार की बात है, कि एक भेड चराने वाला अपनी भेडोंको चराते चराते गंधमादन पर्वतकी एक चोटी पर चला गया, वहाँ उसे भूख लगी। उसके पास खिचडी थी, एक लोटेमे उसने खिचडी चढ़ाई, एक पेडसे लकड़ी तोडकर उसे चलाता रहा, जब खिचडी बनगयी तो उसने उसे खा लिया। उसके खाते ही उसकी क्षुधा पिपासा सब बन्द हो गयी। शरीरमें शक्ति पूर्ववत बनी रही। घर वाले लोग बहुत घबराये। वैद्योंको बुलाया, वैद्य कुछ समझ ही न

सके। कई महीनोंसे उसने कुछ भी नहीं खाया था, फिर भी उसे निर्बलता तनिक भी नहीं थी। एक बार कोई मुनि उसी काष्ठको खोजते-खोजते वहाँ आ पहुँचे। घरवालों ने उससे भी कहा। वे समझ गये, कि इसने किसी प्रकार उस काष्ठसे संसर्गित कोई वस्तु खायी है। पूछने पर उसने खिचडीवाली बात बता दी। मुनि उसे लेकर उस स्थान पर गये। बहुत खोजा बहुत परीक्षाकी वह काष्ठ फिर मिला ही नहीं। तब मुनिने एक दूसरी औषधिसे उसे वमन करायी और उस वमनकी हुई खिचडीको स्वयं खा गये। तबसे उनकी क्षुधा पिपासा शान्त हो गयी। इस प्रकार बहुतसी औषधियाँ बनायी जाती हैं। बहुतसी स्वतः ही मिलती हैं, उनके सेवनसे भी नाना प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

तपस्याके प्रभावसे भी सिद्धियाँ तपस्वीके सम्मुख हाथ जोड़े हुए खडी रहती हैं, बहुतसे मंत्रोंके विधि विधानपूर्वक जप अनुष्ठान से भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सबकी सब सिद्धियाँ अकेले योग से प्राप्त हो सकती हैं, योगी योगके प्रभावसे बिना औषधि तप और मन्त्र जापके केवल संयम द्वारा धारणा करने से समस्त सिद्धियोंको प्रत्यक्ष कर सकता है, किन्तु योगका जो मुख्य फल—मेरी प्राप्ति करना है, वह तो मुझमें चित्त लगानेसे ही प्राप्त हो सकता है, उसके लिये अन्य कोई साधन नहीं। इसलिये जो मुझे प्राप्त करना चाहता हो, उसे भूलकर स्वप्नमें भी कभी सिद्धियोंके चक्करमें न पडना चाहिये। समस्त सिद्धियोंका स्वामी तो एक मात्र मैं ही हूँ, मुझे जिसने वशमें कर लिया, उसके वशमें सिद्धियाँ तो अपने आप ही हो गयीं। जिसने पतिको वशमें कर लिया, उसकी आश्रिता तो उसके वशमें स्वतः ही हो गयीं। जिसने राजाको वश में कर लिया, उसके सेवक तो अपने आप वशमें हो ही गये।

जितने भी योग, सांख्य और धर्म आदि साधन हैं, जितनी अणिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता आदि

छोटी बड़ी सिद्धियाँ हैं, ये सब मेरे ही कारण तो होती हैं, मैं ही इन सबका हेतु हूँ, मैं ही सबका स्वामी हूँ, मैं ही इन सबका प्रभु हूँ, ईश्वर हूँ। अतः मुझमें मन लगानेसे सब सिद्धियाँ बिना प्रयास के बिना बुलाये आ जायँगी।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! आप साधक हैं, साधना है या सिद्धि है।"

भगवान् बोले—"मैं ही सब कुछ हूँ। कर्ता भी मैं ही हूँ, कर्म भी मैं ही हूँ और क्रिया भी मैं ही हूँ। जैसे घटमें भीतर बाहर अगल बगल सर्वत्र मिट्टी ही मिट्टी है, मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैसे मनुष्य पशु-पक्षी आदिकी देहों मे भीतर बाहर पंचभूत ही पंचभूत हैं उसी प्रकार इस ब्रह्माण्डके भीतर इस ब्रह्माण्डके बाहर मैं ही मैं हूँ, मेरे अतिरिक्त दूसरा पदार्थ नहीं। मैं ही द्रष्टा हूँ मैं ही दृश्य हूँ और मैं ही सभी क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ रूपसे अवस्थित हूँ। मैं ही बाह्य हूँ, मैं ही आन्तर हूँ। मेरा ही यह विलास है, मेरा ही यह सब क्रीडा है, मेरी ही लीला है, अतः मेरे अतिरिक्त किसीके चक्कर मे न पड़ो। मेरे अतिरिक्त किसी भी मायिक पदार्थ को सत् मत समझो। उद्धव! अनन्य भावसे मेरी उपासना करने से जो भी प्राप्तव्य वस्तु है, वह सरलता और सुगमतासे प्राप्त हो सकती है। अतः जहाँ रहो वहीं मेरी उपासना करो। मायाके आवरणसे आच्छन्न होनेके कारण संसारी प्राणी मुझे देख नहीं सकते।"

यह सुनकर उद्धवजी रोने लगे और रोते रोते बोले—"प्रभो! अब मैं समझ गया आप साक्षात् अनादि अनन्त और आवरण शून्य हैं। आप परब्रह्म हैं। यह संसार आपसे ही उत्पन्न हुआ है, आप ही ब्रह्मा बनकर सबकी उत्पत्ति करते हैं। फिर विष्णु बनकर आप ही सबकी रक्षा करते हैं, तदनन्तर रुद्र बनकर आप ही सबका संहार भी करते हैं। आप ही सबके आदि कारण हैं। कोई भी छोटा-बड़ा ऊँच-नीच स्थावर-जंगम प्राणी नहीं है,

जिसमे आप न रहते हों, आपका अनुभव तो शुद्ध बुद्धि वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं अशुद्ध बुद्धि वालोंके लिये तो आप सर्वथा दुर्विज्ञेय हैं। जिन्होने समस्त परिग्रहों का त्याग कर दिया है, जो लौकिक सुखोंकी इच्छा नहीं करते, जिनको संसारी विषय विषवत प्रतीत होते हैं ऐसे संयमी ब्राह्मण ही आपको सर्वात्म भाव से उपासना करते हैं। इतना सब होने पर भी आपकी उपासना कैसे करें आप तो सर्वत्र फैले हुए हैं ?"

भगवान्ने कहा—"उद्धव ! मेरी विभूतियों में मेरा भाव करके महर्षिगण उपासना करते हैं और उन विभूतियों द्वारा ही मैं उनकी समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करता हूँ।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ! जिन जिन भावों द्वारा भक्ति पूर्वक आपकी उपासना करके साधकगण सिद्धि लाभ करते हैं, उन उन भावों को मुझे बताइये। मुझे सरलता के साथ समझाइये, किस भाव से आप की कहाँ उपासना की जाय। यह तो मैं मानता हूँ आप सर्वान्तर्यामी भी हैं, सबके रोम रोममे आप रम रहे हैं अणुपरमाणुमें अनुस्यूत हैं। सब के भीतर छिपकर आप गुप्त रूप से नाना भाँति की लीलायें कर रहे हैं। आप से तो कुछ छिपा नहीं है। किन्तु ये माया मोहित जीव आपको नहीं देख सकते। आप परदेकी आड़मे बैठे इन कठपुतलियोंको स्वेच्छानुसार नचा रहे हैं। फिर भी कहीं कहीं आपका विशेष चमत्कार दिखायी देता है कहीं २ आप सामान्य से विशेष हो जाते हैं। आपकी विशेषता पृथिवी, स्वर्ग, पाताल तथा दसों दिशाओंमे सर्वत्र दिखायी देती है। जिन २ में आपकी विशेषता दिखाई देती है उन्हीं उन्हीं मे आपकी विभूति के दर्शन होते हैं। कृपा करके यह बताइये कि आपकी विभूतियाँ कितनी हैं। मैं आपकी समस्त विभूतियो के विषय में परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। आप से न पूछूँ तो और कहाँ जाऊँ, आपके अतिरिक्त कोई हितोपदेष्टा गुरु भी तो दूसरा नहीं। इसीलिये मैंने सम्पूर्ण तीर्थों

के आश्रय भूत आपके चरण कमल पकड़े हैं। उन्हीं का एक-मात्र आश्रय लिया है।"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव! मेरी विभूति तो अनन्त है, किन्तु उनमे से कुछ का वर्णन मैं तेरे सम्मुख करूँगा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी से अपनी विभूतियों का वर्णन किया उसे मैं आगे आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

बोले उद्धव—सुनीं सिद्धि सब नाथ बखानी।
अब विभूति निज कहैं मोइ निज सेवक जानी॥
सुनि बोले विश्वेश—पार्थ तैं मैंने रनमहँ।
कछु विभूतिनिज कहीं कहूँ तिनि धारौ मनमहँ॥
जीव, काल, गति, गुन, प्रनव, गायत्री, सुरपति, अनल।
विष्णु नीललोहित, भृगू, मनु नारद कपिला कपिल॥

—•०•—

विभूतियों का वर्णन

(१२६९)

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः ।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १६ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

प्रजापतिनि महँ दक्ष अर्यमा हौं पितरनिमहँ ।
दैत्यनि महँ प्रह्लाद वरुन हौं जल वासिनिमहँ॥
ऐरावत, रवि, नृपति, अहिप, यम, कनक, अश्ववर ।
शेष, सिंह, सन्यास, गंग जल निधि, धनु, शङ्कर ॥
गिरिप, मेरु, अश्वत्थ, यव, कार्तिकेय, अज, वृहस्पति ।
मुनिव सिष्ठ, जल, अनल, रवि, मनु शतरूपा, विष्णु यति ॥

संसार में न कोई किसी की वन्दना करता है न कोई किसी की बात मानता है न कोई किसी के शासन में ही रहता है। जहाँ जहाँ भगवान्‌की विभूति दिखायी देती है, वहाँ २ साधारण लोगोंको

*श्रीभगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव ! मैं ही इन समस्त भूतोंका सुहृद हूँ, । ईश्वर हूँ और आत्मा हूँ। ये सर्वभूत भी मेरा ही रूप है, इनकी जो उत्पत्ति स्थिति और लय है इन सबका कारण भी मैं ही हूँ। अर्थात् सब कुछ तुम मुझे ही समझो।"

विवश होकर नत हो जाना पड़ता है। यह संसार त्रिगुणमय है, तीनों गुणों से ही इसकी उत्पत्ति है। भगवान् भी गुणों के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन रूप रख लेते हैं। भगवान् की विभूतियाँ भी सात्विकी राजसी और तामसी तीनों ही प्रकार की होती हैं। जिस समय जिस गुण का प्राबल्य होता है, उस समय दूसरे गुणोंकी विभूतियाँ दब जाती हैं। हिरण्यकशिपु भी भगवान्के पार्षद का अवतार ही था। नारदजी भी भगवान्के अवतार हैं, किन्तु जब हिरण्यकशिपु का गुणानुरूप प्रभाव बढ़ा तब नारदजी को भी उससे दबना पड़ा। उसके स्वरमें स्वर मिलाना पड़ा। संसारमें जो भी कुछ हो रहा है, भगवान्की विभूतियों द्वारा ही हो रहा है। जिस समय जिस गुणकी आवश्यकता होती है, उस समय वैसे ही गुणों वाली वैसी ही विभूतियाँ उत्पन्न होकर वैसा ही काम करने लगती हैं। अतः साधकको बाह्य दृष्टि भी न करनी चाहिये। सर्वरूपोंमें मेरे स्वामी ही कार्य कर रहे हैं, इसी दृष्टि से जहाँ जहाँ भी तेज, ओज, बल, श्रीकान्ति आदि दिखायी दें उन को मनहीं मन भगवान्की समझकर प्रणाम करना चाहिये। करने कराने वाले ही एक मात्र समस्त विभूतियोंके अधिष्ठाता श्रीश्याम सुन्दर ही हैं। उनके अतिरिक्त कोई भी कुछ नहीं कर सकता। बलियों मे बल देने वाले सुन्दरोंमें सौन्दर्य प्रदान करने वाले और गुणियों मे गुण स्थापित करने वाले वे विश्वेश्वर हैं। संसार उन्हीं की विभूतियोंसे भरा हुआ है।

सूतजीने मिपारण्य निवासी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—मुनियो ! जब उद्धवजीने भगवान्से विभूतियों के सम्बन्धमें प्रश्न किया तो वे कहने लगे—"उद्धव ! तुमने मेरी विभूतियोंके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया, इससे मैं बड़ा प्रसन्न होगया। जो मेरी विभूतियों को समझ लेता है, वह फिर किसीसे राग द्वेष, ईर्ष्या आदि नहीं करता। ईर्ष्या तभी होती है, जब हम अपने को

स्वतन्त्र कर्ता समझते हैं और जिन गुणोंको अपनेमें न्यून देखते हैं, दूसरे में अधिक देखते हैं, तो उसे देखकर मन ही मन ईर्ष्या होती है। जब समझलें कि सब भगवान्‌की विभूति है तब फिर राग, द्वेष क्यों हो। जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है यही प्रश्न मुझसे अर्जुनने किया था।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज ! अर्जुनने आपसे यह प्रश्न कब किया ?"

भगवान् बोले—"जब कौरव पांडवों का कुरुक्षेत्र में युद्ध होने वाला था, तब उस युद्धमें मैंने पांडवोंका पक्ष लिया था। अर्जुनने मुझसे सारथी बनने की प्रार्थना की थी, मैं उसका सारथी बन गया। जब दोनों सेनाओं की भिड़न्त हुई तब उसने मुझसे प्रश्न किया था।"

उद्धवजीने कहा—'महाराज ! लडाईके समय ऐसे प्रश्न करनेकी अर्जुनको क्यों आवश्यकता प्रतीत हुई। वहाँ तो वीरताका प्रश्न करना चाहिये था।"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव ! उसे अभिमान हो गया था कि मैं मारने वाला स्वतन्त्र कर्ता हूँ, ये सब मरने वाले हैं। उसकी बुद्धि प्राकृत हो गयी थी, अहंता ममता ने उसे घेर लिया था। स्व परका उसे अभिनिवेश हो गया था। यह मेरे हैं ये पराये हैं ऐसा उसे मोह हो गया था।

उद्धवजीने कहा—"मोहसे और विभूतियोंसे क्या सम्बन्ध ? मोह हो गया था, तो अपनोंकी रक्षा करता, दूसरोंको मार देता।

भगवान् बोले—"यही तो आपत्ति थी, दोनों ओर उसे अपने ही सगे सम्बन्धी दिखायी दिये। इसलिये राज्यके लिये जाति बन्धुओंके वधको वीभत्स बताकर वह युद्धसे उपरत हो गया।"

उद्धवजीने कहा—"उपरत हो गया था तो अच्छी बात थी, आपने उसे फिर युद्धमे क्यो लगाया, युद्ध में लगाया तो विभूतियों का प्रश्न क्यो किया ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अरे भाई, मैंने उसे सत्य बात बताई, उससे कहा—मारने वाला तू कौन है यह सबतो मैं अपनी विभूतियोसे क्रीडा कर रहा हूँ, जड गांडीव की क्या सामर्थ्य जो किसी को मार सके। मेरी विभूति होने से ही यह सब को मारनेमें समर्थ होता है।"

तब उसने पूछा—"महाराज ! आपकी विभूतियाँ कितनी हैं।"

मैंने कहा—"भाई ! मेरी विभूतियोंकी तो संख्या ही नहीं, वे तो असंख्य हैं, उनमेंसे कुछ तुम्हें बताता हूँ।" इतना कहकर मैंने उसे अपनी विभूतियों को गिनाया।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! मुझे भी उन विभूतियोंको सुनाइये। अर्जुनसे दसबीस अधिकही सुनाना, सुनाने मे कृपणता मत करना।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे भाई, समुद्रके जलको कितनाभी उलीचो उसे सर्वथा रिक्ततो कोई कर ही नहीं सकता। अच्छा मैं अपनी विभूतियो को बताता हूँ। देखो, संसारमे जितने स्थावर, जंगम, उद्भिज, स्वेदज, अंडज और जरायुज प्राणी हैं, उन सबकी आत्मा मैं ही हूँ, किसीसे पूछो-तुम कौन हो ? तो वह कहेगा "मैं हूँ" अपनेको मैं कहेंगे। वह "मैं" मैं ही हूँ। सभी किसी न किसी से प्यार करते हैं वह प्यार मैं हूँ, सबका सच्चा एकमात्र सुहृद् मैं ही हूँ। स्त्री अपने पतिकी आज्ञा मानती है, पुत्र अपने पिताकी आज्ञा मानते हैं सेवक अपने स्वामी की आज्ञा मानते हैं। इन सबमें जो स्वामीपन्ना हैं वह मैं ही हूँ, सबका सच्चा स्वामी तुम मुझे ही जानना, भला ! जो अपने स्वामीका आदर करे तो समझना वह मेरा ही आदर कर रहा है। ये जो तुम्हें घट, पट पशु,

पक्षी, स्त्री पुरुष मानव मात्र पदार्थ दीखते हैं, सब मेरे ही रूप हैं मैं ही इन सब रूपों में हो गया हूँ। जैसे दूध ही जमकर दही हो जाता है, जल ही जमकर हिम बन जाता है, सुवर्ण ही आकृति भेदोंसे आभूषण कहलाता है आदि मे मैं ही अव्यक्त हूँ, बीचमें मैं ही व्यक्त हो जाता हूँ, अन्त में मेरी ही पुनः अव्यक्त संज्ञा हो जाती है। मुझसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है मुझमें ही स्थित रहते हैं अन्तमें मुझमें ही मिल जाते हैं। अब तुम मेरी विभूतियों को सुनो।

देखो, संसार में सभी कुछ न कुछ प्रगति कर रहे हैं, सभी उन्नति या अवनतिकी ओर बढ़ रहे हैं। कंकड़-पत्थर बढ़ते घटते रहते हैं। समस्त गतिशीलों में जो गति है वह मेरी ही विभूति है मेरा ही रूप है।

संसारमें बहुतसे पदार्थ हैं, जो प्राणियों को अपने अधीन कर लेते हैं। शहदकी मक्खियोंमें एक रानी मक्खी होती है, वह सब मक्खियों को अपने वशमें रखती है वह उड़ती है, तो उसके साथ सभी उड़ जाती हैं। मृग तथा गजोंका यूथपति अपने यूथकी मृगी और हथिनियों को अपने अधीन कर लेता है, बंगालेकी स्त्रियाँ जादूसे पुरुषोंको तोता तथा बकरा बनाकर अपने आधीन कर लेती है। तेजस्वी पुरुष अपने तेजसे नर नारियोंको अपने आधीन कर लेता है, सुन्दर स्त्री पुरुष अपनी सुन्दरतासे सौन्दर्योपासक नर नारियोंको अपने अधीन कर लेते हैं। और भगवान् कालदेव समस्त प्राणियोंको अपने आधीन कर लेते हैं, अतः काल मेरी विभूति हैं। जितने कलना करनेवाले हैं उनमें काल मैं ही हूँ। और गुणोंमें समता गुण भी मेरा स्वरूप है।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज गुण कितने हैं ?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"उद्धव ! जैसे मेरे नाम असंख्य हैं, वैसे ही मेरे गुण भी असंख्य हैं। संसारमे गुणोंसे ही प्रतिष्ठा होती है। सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, कोमलता, शम, दम, तप, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य, शूरता, वीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, सम्मान, निरंकारिता तथा समता आदि सहस्रों गुण हैं, इन सब गुणोंमें समता सर्वश्रेष्ठ है, जिसके मनमे समता है, मानो उसके मनमें मेरा निवास है। समता गुण मेरा ही रूप है, मेरी ही वह विभूति है।"

कुछ गुण तो स्वाभाविक होते हैं, कुछ कृत्रिम गुण भी बाहरसे लाद लिये जाते हैं। जैसे बालक वैसे तो बड़ी चंचलता करता है, किन्तु अध्यापकके सामने बड़ा सरल भोला भाला बन जाता है। जैसे बालकपन में मेरा स्वाभाविक गुण था चंचलता। उसके घर जाना, उसका दही माखन चुराना, उसके घरमें आग लगाना, उसके यहाँका बर्तन फोड़ आना। किन्तु जब मैं अपनी मैया यशोदाके समीप जाता तो बड़ा भोला बन जाता मानों कुछ जानता ही नहीं। तब गोपिकायें हँसते हँसते लोट पोट हो जातीं, कहतीं—"श्यामसुन्दर तुम बनना बहुत सुन्दर जानते हो। कैसे झूठे आँसू बहा रहे हो, किन्तु यह तुम्हारा बनावटी रूप हमें उतना सुख नहीं देता जितना तुम्हारा स्वाभाविक गुण। सो उद्धव ! गुणियों में स्वाभाविकता है, जो उनका स्वाभाविक गुण है वह मैं ही हूँ। गुण युक्त वस्तुओं में सूत्रात्मा रूपसे मैं ही रहता हूँ। अब जैसे पका हुआ अंगूर है उसका स्वाभाविक गुण है माधुर्य। उसमें जो क्रिया-शक्ति प्रधान प्रथम कार्य-मधुरता का अनुभव कराना-यह मेरा ही स्वरूप है।

संसारमें आकाश, सुमेरु, समुद्र तथा और भी बहुतसे महान् पदार्थ हैं, इन सब महान् पदार्थों मे सबसे बड़ा महत्व है, सबसे बड़ी महत्ता है वह मैं ही हूँ।

संसारमें एकसे एक सूक्ष्म जीव है, बहुतसे तो इतने सूक्ष्म कीटाणु हैं कि अणुवीक्षण यन्त्र से भी भली भाँति दिखायी नहीं देते। बहुतसे इतने सूक्ष्म होते हैं कि नासिका की साँस लगते ही मर जाते हैं। इन सब सूक्ष्मोंसे सूक्ष्मोंमे जीव सबसे सूक्ष्म है, जीव से सूक्ष्म कोई नहीं, वह जीव मेरी विभूति हैं। जीव मेरा ही स्वरूप है।

संसारमें ऐसे बहुतसे शत्रु हैं, जिनका जीतना कठिन हो जाता है। उन सब कठिनतासे जीतने वालो मे मन सबसे अधिक दुर्जय है, वह मन मैं ही हूँ।

वेदोंके पढ़ाने वाले बहुतसे ऋषि हुए है अत्रि, गौतम, भरद्वाज, जमदग्नि, वशिष्ठ तथा पराशर आदि अगणित ऋषि मुनि हैं, इन सब में हिरण्य गर्भ रूपसे सर्वप्रथम मैं ही हुआ। कमल नाल पर बैठे हुए ब्रह्माको मैंने ही वेदोंका उद्बोधन कराया, इसलिये अध्यापकोंमे आदि अध्यापक हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ।"

वेदोंके असख्यों मन्त्र हैं, उनकी गणना नहीं संख्या नहीं. किन्तु इन सब मंत्रो का आदि कारण प्रणव ही है। प्रणवसे ही समस्त मंत्र उत्पन्न हुए हैं। अतः त्रिवृत ओंकारके रूपमे आदि मंत्र मैं ही हूँ।

अक्षर दो प्रकारके होते हैं स्वर और व्यंजन अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, ये सोलह तो स्वर हैं। क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण. त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ, ये छत्तिस व्यंजन हैं इस प्रकार वामन अक्षर हैं। ये सब अकारके बिना उच्चारण नही हो सकते। अकार ही आदि अक्षर हैं। अतः

अक्षरों में अकार मेरी विभूति है अकार मेरा ही स्वरूप है एकाक्षरी कोषमें अकार का नाम वासुदेव बताया है। छन्दोमें गायत्री छन्द मेरा ही स्वरूप है।

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! छन्द कितनेहैं ?"

भगवान् बोले—"भैया ! लौकिक और वैदिक छन्द तो असंख्यों है, किन्तु इनमें गायत्री, उष्णाक्, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप, जगती, पंक्ति तथा बृहती ये सात वैदिक छन्द मुख्य हैं। इन सब में भी गायत्री छन्द सर्वश्रेष्ठ है मेरी ही विभूति है मेरा ही रूप है।"

देवता भी असंख्य हैं, देवताओंके बहुतसे गण होते हैं, उन सब देवताओंके एक राजा होते है वे देवराज या देवेन्द्र कहाते हैं। वे देवताओंके इन्द्र मेरी ही विभूति हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! देवताओंकी भी तो बहुत संज्ञा है। वसु पृथक् हैं, आदित्य पृथक् हैं, रुद्र पृथक्। इन सबमें आपकी विभूति सम्मिलित ही है या पृथक्पृथक् भी हैं ?"

भगवान् बोले—'नहीं, सबमें मेरी पृथक्पृथक् विभूतियाँ हैं, ऐसी कोई जाति ही नहीं जिसमें मेरी विभूति न हो। ध्रुवादि अष्ट वसुओंमें जो अग्नि नामक वसु है वह मेरी विभूति है। धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, भास्कर और विष्णु ये जो बारह आदित्य हैं इनमें विष्णु नाम का आदित्य मेरी विभूति हैं। सब आदित्यों में विष्णु मेरा ही स्वरूप है।"

इस पर शौनक जी बोले—'सूतजी ! यदि विभूति अपचार न हो तो हम एक बात कहें ?"

सूत जी बोले—"हाँ महाराज ! कहिये, प्रश्नोंमें अपचार नहीं होता।"

शौनकजी ने कहा—"हमारा प्रश्न तो है नहीं एक सुझाव है। वह सुझाव यह है कि आप विभूति योगको शीघ्रशीघ्र कह दें।

ऐसे कहेंगे तो न जाने कब तक कहते रहेंगे। अमुकमें अमुक हूँ, इतना कह कर ही समाप्त कीजिये। नमक मिरच उसमें न लगाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! आप युगयुग जीवें। मैं भी यही चाहता था, आपके भयसे नहीं कहा। संभव है आप कह देते कि अब तो आप घास सी काटने लगे। अच्छा तो सुनिये मैं तडाक पडाक समाप्त किये देता हूँ। भगवान्ने भी उद्धवसे शीघ्र ही शीघ्र कहा था। भगवान् बोले-'उद्धव! मैं ग्यारह रुद्रोंमें नील-लोहित हूँ। ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों और देवर्षियोंमें क्रमशः भृगु, मनु और नारद हूँ। धेनुओंमें कामधेनु, सिद्धेश्वरोंमें कपिल, पक्षियोंमें गरुड, प्रजापतियोंमें दक्ष, पितरोंमें अर्यमा, दैत्योंमें प्रह्लाद, नक्षत्रोंमें सोम और औषधियोंमें सोमलता हूँ। यक्ष राक्षसोंमें कुबेर, गजोंमें ऐरावत, जलवासियोंमें वरुण, तापदीप्त दाताओंमें सूर्य और मनुष्यों में राजा मैं ही हूँ। घोडोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सुवर्ण, दण्डधारियोंमें यम, सर्पों में वासुकि, नागों में शेष, शृंगी दंष्ट्रियोंमें सिंह, आश्रमोंमें संन्यास, वर्णोंमें ब्राह्मण, तीर्थोंमें गंगा, जलाशयोंमें समुद्र, अस्त्र शस्त्रोंमें दिव्य धनुष तथा धनुर्धरोंमें शङ्कर मैं ही हूँ। निवासोंमें सुमेरु, पर्वतोंमें हिमालय, पेडोंमें पीपल, अन्नोंमें यव, पुरोहितोंमें वसिष्ठ, ब्रह्मवादियोंमें बृहस्पति, सेनापतियोंमें कार्तिकेय, पिताओंमें अज, यज्ञोंमें ब्रह्म यज्ञ, व्रतोंमें अहिंसा तथा शोधन करने वाले पदार्थोंमें नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी और आत्मा मैं ही हूँ। योगोंमें मनो निरोध, विजय साधनोंमें मंत्रणा, कौशलोंमें आत्म अनात्मविवेक, विद्या और ख्यातियोंमें विकल्प,

स्त्रियोंमे शतरूपा, पुरूषोंमें स्वायम्भुवमनु, मुनियोमे नारायण, ब्रह्मचारियोमे सनत्कुमार धर्मोमे त्याग, अभय साधनोंमे अन्तर्निष्ठा, गुह्योंमें मधुर-वचन, मोन और जोडाओंमें प्रजापति, सावधान रहने वालोंमे सम्वतसर, ऋतुओंमें वसन्त, मासोंमें मार्गशीर्ष नक्षत्रोंमें अभिजित् तथा युगोमे सत्ययुग मैं ही हूँ।

जितने धैर्यवान् मुनि हुए हैं उनमें देवल असित नामक एक मुनि हुए हैं वे मेरे ही स्वरूप हैं। व्यासों में द्वैपायन व्यास, कवियों मे शुक्राचार्य, भगवानों में वासुदेव और उद्धव भागवतो मे तुम मेरा रूप हो। किंपुरुषों में हनुमान्, विद्याधरों में सुदर्शन, रत्नों में पद्मराग, सुन्दरों मे कमलकोश, तृणों मे कुशा, हवियों मे गोघृत, व्यवसायियों में धन सम्पत्ति, छलियोंमे छल, तितिक्षुओं मे तितिक्षा, सात्विकों में सत्वगुण, बलवानों में बल, उत्साहियों मे उत्साह, भगवद् भक्तों में भक्ति पूर्वक निष्कामकर्म, वैष्णव भक्तो की वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा इन नवमूर्ति मे से वासुदेव नामक सर्वोत्तम मूर्ति मैं ही हूँ गन्धर्वों में विश्वावसु, अप्सराओं में पूर्वचित्ति, पर्वतो मे स्थिरता, भूमि में गन्ध, जल में रस, तेजस्वियों मे अग्नि और सूर्य चन्द्र मुझे ही जानो। ताराओं मे प्रभा, आकाश में उसका गुण शब्द, ब्रह्मण्यों में बलि, वीरों में अर्जुन तथा समस्त प्राणियों में उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश मैं ही हूँ। गतियानों में गति युक्तिवादियों मे युक्ति, त्यागियों मे त्याग, ग्रहण करने वालों में ग्रहण आदि दे देने वालों में आनंद और सुखस्पर्श वालों में स्पर्श मैं ही हूँ। स्वादिष्ट लगने वालों मे स्वाद, सुने जाने वालों मे अर

सूंघे जाने वालो मे घ्राण तथा समस्त इन्द्रियो मे इन्द्रियपना है, वह मैं ही हूँ।

पृथिवी, जल तेज, वायु, आकाश ये पञ्चभूत, अहंतत्व, महत्तत्व जीव, प्रकृति, सत्व, रज, तम और ब्रह्म यह सब मैं ही हूँ। तत्वो की संख्या करना, लक्षणो द्वारा उनकी सिद्धि करना तथा बुद्धि द्वारा उनका निश्चय करना यह सब मेरा ही रूप है। ईश्वर-जीव गुण और गुणी, सब मे रहने वाला सर्वस्वरूप जो भी कुछ कहे सुने और देखे जाते हैं, सब मेरे ही रूप हैं, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

उद्धवजीने पूछा—'महाराज ! आप अब अनुमान से अपनी समस्त विभूतियों की गणना बता दो। करोड सौ करोड, पद्म, महा पद्म। सब आपकी कितनी विभूतियाँ हैं ?

इस पर भगवान् बोले—"उद्धव ! एक गाँव मे कितनी अधिक भूमि होती है, बहुत से गाँवो का मिल कर एक प्रान्त बनता है, बहुत से प्रान्तों का बनकर महा प्रान्त बनता है, महा प्रान्तो का मिलकर देश बनता है। बहुत देशो का मिलकर एक वर्ष या खण्ड बनता है। कई खंडों का मिलकर एक द्वीप बनता हैं। इस पृथिवी पर सात द्वीप और सात समुद्र है। सात नीचे पाताल हैं, सात स्वर्ग हैं, चौदह भुवनो का एक ब्रह्माण्ड है, ऐसे असख्यो ब्रह्माण्डों का मैं स्वामी हूँ, कोई गणना करने वाला चाहे तो ब्रह्माण्ड के धूलिकणो की जल विन्दुओ की संख्या लगा सकता है, किन्तु मेरी विभूतियों की संख्या मैं स्वयं नहीं लगा सकता।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! तब और बहुत बढाना व्यर्थ है आप हमें एक परिभाषा बता दें, जिस के द्वारा यह समझलें कि यह आपकी विशिष्ट विभूति है।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है, उद्धव ! अब मैं गुरुमन्त्र बताऊँगा, जिससे तुम सब मे मेरी विभूतियोंको पहिचान सको।"

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! जिस प्रकार भगवान्ने उद्धवजी को विभूतियोंके पहिचाननेका प्रकार बताया उसे मैं आप को आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

हौं ही सनत्कुमार त्याग अरु मौन प्रजापति।
सवत्सर, सुवसन्त, मास अगहन अरु अभिजित॥
सत्युग, देवल असित, व्यास द्वैपायन भार्गव।
वासुदेव, हनुमान्, सुदर्शन, गोवृत, उद्धव॥
कमलकोश, कुश, पद्ममणि, गुण सत्वादिक, तेज रस।
पूर्वचित्ति, विश्वावसू, हौं ही सब महँ कीर्तियश॥

—:०:—

भगवत् विभूतियोंकी मुख्य पहिचान

(१२७०)

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः ।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥ *

(श्रीभा० ११ स्क० १६ अ० ४० श्लो)

छप्पय

हौं ही ईश्वर, जीव, सत्व, रज और तमोगुन ।
प्रकृति, पुरुष, गति, काल, भूमि जल, नभ, रवि त्रिभुवन ॥
कहूँ कहाँ तक तेज, कीर्ति, श्री जहँ जहँ जानो ।
पुरुषारथ, बल, कान्ति अंश सब मेरे मानो ॥
अपनी कहीं विभूति कछु सब ये मनोविकार हैं ।
परमारथ ये ही नहीं, जगके सब व्यवहार हैं ॥

सम्पूर्ण संसार उन भौमा पुरुषकी विभूति हैं, उन्हींकी विभूति से यह संसार भास रहा है, उनकी विभूति न हो तो न तो दृष्य ही कुछ हो और न दृष्टा ही। वे ही दृष्य बन जाते हैं और दृष्टा बन

---

*भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव! देखो, तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पुरुषार्थ, तितिक्षा और विज्ञान आदि उत्तम गुण जिस जिसमें भी हों वह मेरा अंश ही है। ऐसा तुम समझो।"

कर उस दृश्यको देखते हैं और प्रसन्न होते हैं। वैसे तो वे अणुमें परमाणुमें सर्वत्र व्याप्त हैं, किन्तु विशेष-विशेष स्थानोंमें उनकी विशेष रूपसे अनुभूति होती है। जैसे प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है किन्तु जहाँ सत्व जितना ही अधिक होगा प्रकाश उतना ही प्रस्फुटित होगा। पाषाणमेंसे सूर्य दिखाई नहीं देता, क्योंकि तमका आवरण उसमें अधिक है, चिकनी धातुमें से कुछ कुछ दीखताहै, क्योंकि पत्थरकी अपेक्षा उसमें सत्व अधिक है,काँचमें से स्पष्ट दीखता है, क्योंकि उसमें स्वच्छता सत्वकी मात्रा सबसे श्रेष्ठ है। किसी वस्तुकी स्थिति ही भगवान्के बिना नहीं हो सकती, किन्तु जहाँ कुछ विशेषता दीखती है, वही उनकी विभूति है।

सूतजी कहते हैं—" मुनियो ! जब उद्धवजीने भगवान्से उनकी विभूतियोंकी पहिचान पूछी तो भगवान् बोले—"उद्धव ! जहाँ तुम कोई विशेषता देखो, वहीं मेरी विभूति समझ लेना। जिस पुरुषमें जिस स्थलमें तुम्हें तेज प्रतीत हो समझना यह इस व्यक्तिका तेज नहीं है, इसमें भगवान्की विभूति आगयी है। किसी तेजस्वी व्यक्तिको देखकर अपने आप सिर झुक जाता है,इच्छा न रहने पर भी उसकी बातें मानने को विवश हो जाते हैं, क्योंकि वह तेज मेरी ही विभूतिका चिन्ह है।

किसीकी अत्यधिक शोभा है, चाहे वह धनकी शोभा हो या तपकी। किसीके यहाँ जाते हैं, उसका घर लिपा पुता, धुला धुलाया स्वच्छ है, वस्त्र सबके सुन्दर शुभ्र हैं, भीतर बाहर स्वच्छता है, सबके मुखोंपर एक प्रकारकी आभा छिटक रही है, यह भगवत् विभूतिका चिन्ह है।

किसी व्यक्तिको लाखों आदमियोंने देखा नहीं है, किन्तु उसकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त है, उसके परोक्षमें भी लोग उसके सम्बन्धकी बातें कहते हैं, उसकी घटनाओंका दृष्टान्त देते हैं, उसके चरित्रोंको बड़े चावसे सुनते हैं, उस व्यक्तिकी इतनी कीर्ति क्यों हुई, इसलिये

कि उसमे मेरी विभूतिका अंश है। मेरे ही कारण उसकी इतनी कीर्ति है।

किसी किसीका बडा ऐश्वर्य होता है घरमे रहे या वनमे उनका ऐश्वर्य उनका साथ छोडता नहीं। एक सेठ थे, उनका बडा विभव था, बडे ऐश्वर्यशाली थे। लोगोंका कहना था, वे जहाँ भी जाते थे उनका ऐश्वर्य उनके आगे आगे चलता है। एक नास्तिक व्यक्ति था, उसे इस बातका विश्वास नहीं था, वह पुरुषार्थ वादी था। एक दिन किसी काजसे वह उन्हे अकेला ही नौकामे बिठाकर यमुनाजीकी बीच धारामे ले गया और वहाँ जाकर बोला "सेठजी! हमने सुना है, आपका ऐश्वर्य आपके साथ ही साथ चलता है, यदि यही बात है, तो आप मुझे यही एक लाख रुपये दें।"

सेठजीने तुरत यमुनाजीमे नीचे हाथ किया और कहा— "भैया! देना एकलाख रुपया।" उस नास्तिकके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, जब उसने उनके हाथमे एक लाख रुपयेकी थैली देखी। वह उनके पैरों पड गया और बोला—"यथार्थमे आप ही ऐश्वर्य शाली हैं।" सो उद्धव! ऐश्वर्य शालियोंमे ऐश्वर्य मैं ही हूँ, जहाँ भी तुम्हें मान् ऐश्वर्य दिखायी दे समझ लेना, यह मेरा ही रूप है।"

बहुतोंकी आखें बडी लजीली होती हैं, स्त्रियोंमे पुरुषामें जो मनको हरने वाली लज्जा है, जिस लज्जाको देखकर निर्लज्जोंके हृदयमे भी ठेस लगती है वह लज्जा मेरी ही विभूति है।

बहुतसे लोग इतने त्यागी होते हैं, कि उनके पास जो भी आजाय, तुरन्त उसे दे डालते हैं, वे सग्रह करना भी चाहें तो नहीं कर सकते। दान करते करते जो निर्धन हो जाते हैं। फिर भी जिनकी देनेकी इच्छा नहीं जाती। अथवा अपना सर्वस्व त्यागकर वनमें चले जाते हैं और फिर मनसे भी त्यागी हुई वस्तुओंकी स्पृहा नहीं करते, उन त्यागियोंमे जो त्यागकी वृति है वह मेरा ही स्वरूप है। राजा रघुने अपना सर्वस्व दान कर दिया, वे मिट्टीके

वतनमे सन्ध्या कर रहे थे। उसी समय गुरु दक्षिणाके लिये धन माँगने एक ब्राह्मण आये। राजाकी ऐसी निर्धनता देखकर वह बड़े निराश हुए। पीछे जब राजाको विदित हुआ तो उन्होंने कुबेर पर चढाई करनेकी तैयारी की। राजाके अभिप्रायको समझकर रात्रिमे कुबेरने राजाके धनागारको भर दिया। प्रातःकाल जब कोषाध्यक्ष ने बताया कि धनागार तो सुवर्णसे भरा है, राजाने वह सब धन उस ब्राह्मणको देना चाहा। ब्राह्मण चौदहलक्ष सुवर्ण मुद्रासे अधिक लेना नहीं चाहता था, राजा उसे सर्वस्व देना चाहता था, दोनोंके इस महान् त्यागको देखकर आकाशसे देवतागण पुष्पोंकी वृष्टि करने लगे। दोनो ओर जो त्याग और सन्तोषकी वृत्ति थी, वह मेरी ही विभूति थी।

संसारमे सौन्दर्य भी एक अत्यन्त आकर्षक वस्तु है, जहाँ भी सौन्दर्य होता है, वहाँ पुरुषों का चित्त स्वाभाविक खिंच जाता है। स्वर्गीय अप्सराओमे भूमि की वेश्याओमे सौन्दर्य ही तो होता है, जिसके कारण वे मंगलमुखी मानी जाती हैं। असुरों ने मोहिनी भगवान्‌के सौन्दर्य पर रीझकर ही तो बिना उनका कुल गोत्र जाने अपना सर्वस्व-अमृत उसे सौंप दिया था। कामदेव को भी भस्म कर देने वाले भगवान् भूतनाथ मेरे मोहिनी रूपके सौंदर्यके वशीभूत होकर उसके पीछे भागे। इतने ज्ञानी, ध्यानी विवेकी राजा दशरथ सौंदर्यके ही लोभसे तो कैकेयीके हाथके क्रीडामृग हो गये। व्रजाङ्गनायें मेरे सौंदर्यको देखकर ही तो आत्म विस्मृत हो गयीं। अतः जहाँ जहाँ भी सौंदर्य दिखायी दे उसे मेरी विभूति ही समझनी चाहिये।

सौभाग्य भी संसारमे सभीको प्राप्त नहीं होता। वह स्त्री बडी सौभाग्य शालिनी है, जिसका पति उसे प्राणोंसे अधिक प्यार करता हो, वह पिता परम सौभाग्यशाली है, जिसके पुत्र सदा उसकी आज्ञाका पालन करते हों, वह कन्या परम सौभाग्यशालिनी है

जिसे सुन्दर, स्वस्थ, हँसमुख, युवक और सर्वगुण सम्पन्न कुलीन श्रीमान् पति प्राप्त हुआ हो। वह माता परम सौभाग्यशालिनी है, जिसका पुत्र भगवद् भक्त है, वह देश परम सौभाग्यशाली है, जिसमें भगवद् भक्त का जन्म हुआ हो। उस गृहस्थके सौभाग्यके सम्बन्धमें क्या कहना है, जिसे आतिथ्य सत्कार करनेमें आनन्द आता हो, और जिसके यहाँ सदा अतिथि अभ्यागत आकर सन्तुष्ट होते हों, जिन्हें साधु संतोंकी सेवाका सदा सौभाग्य प्राप्त होता रहता हो इन सबमें जो सौभाग्य है वह मेरा ही रूप है।

बहुतोंको देखा है, वे बड़े पुरुषार्थी होते हैं, सदा कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। वे कभी व्यर्थ नहीं बैठते। कितना भी बुरा स्थान उन्हें दे दो, अपने पुरुषार्थसे उसे सुन्दर स्वच्छ बना देंगे। कैसा भी बिगड़ा हुआ काम उन्हें दे दो, अपने निरन्तरके पुरुषार्थसे उसे बना लेंगे। वह लोग प्रारब्धके भरोसे कभी नहीं बैठते, जब तक सफलता नहीं मिलती तब तक निरंतर पुरुषार्थ ही करते रहते हैं, उन पुरुषार्थियोंमें जो पुरुषार्थ है वह मैं ही हूँ, मेरी ही विभूति है।

बहुतसे तपस्वी गर्मियोंमें पंचाग्नि तापते हैं, जाड़ोंमें जलमें खड़े रहते हैं, वर्षामें मूसलाधार वृष्टिको अपने सिरसे लेते हैं, कोई कटु वचन कहता है उसे सहते हैं, रोग हो जाते हैं तो उन्हें प्रारब्ध का भोग समझकर सहन करते हैं, उनके निवारणकी चेष्टा नहीं करते। सारांश यह है कि वे सब प्रकारके दुःखोंको बिना प्रतीकारके सहन करते हैं, उन सहनशीलोंमें जो तितिक्षा है, वह मेरा ही रूप है।

बहुतसे ज्ञानी होते हैं, उन्हें ब्रह्मका विज्ञान होता है, वे अपने विज्ञानसे इस दृश्य प्रपञ्चको क्षणभंगुर और परिवर्तनशील अनुभव करते हैं, उन ज्ञानियोंमें विज्ञान मैं ही हूँ, अथवा भौतिक विज्ञानमें जो नित्य नये नये आविष्कार होते हैं, वे सब मेरा ही

स्वरूप है। उद्धव ! कहाँ तक कहूँ जहाँ भी कुछ वैशिष्ट्य है वहीं मेरी विभूति है।

उद्धवजी ने पूछा—तो भगवन् ! हम आपकी इन विभूतियोंका ही चिन्तन किया करें।

हँसकर भगवान् बोले—" अरे, भैया ! ये तो मुझे प्राप्त करने के मेरे घरमें प्रवेश करनेके साधन मात्र हैं। तुम इन विभूतियोंको ही परम पुरुषार्थ या परमार्थ मत मान लेना। ये केवल मनोविकार मात्र ही हैं।"

उद्धवजी ने कहा— मनोविकार कैसे हैं, महाराज !

भगवान बोले—"देखो, मैं तुम्हें परमार्थ वस्तु और अपरमार्थ वस्तुकी पहिचान बताता हूँ। जो वस्तु मन तथा वाणीका विषय है वह सब मनोविकार है मायाका पसारा है। यथार्थ जो परमार्थ वस्तु है वह तो मनवाणी का अविषय है, फिर भी इनमें परमार्थ का आभास मात्र है ही। उसी परमार्थकी सत्तासे ये सत्तावान् हैं,अतः इनको ही सब कुछ समझकर प्रयत्न न करना चाहिये। जैसे किसी को दूसरे देशमें जाना है और घोड़ेसे जाना है, किसी ने कह दिया, तुम घोड़ेकी सेवा करोगे, तो वहाँ पहुँच जाओगे। अब वह घोड़े की सेवा तो दिनरात्रि करता है, किन्तु उस पर चढकर चलता नहीं, आगे बढता नहीं, तो उसकी घोड़ेकी सेवा व्यर्थ है। किसी ने कह दिया—तुम धानोंको कूटते रहो तुम्हारी जीवन यात्रा चल जायगी। अब वह धानोंको निरंतर कूटता तो रहता है। किन्तु उन्हें फटककर भूसीको फेंककर चावलोंको निकालकर खाता नहीं, केवल कूटनेमें ही लगा रहता है, तो उसकी जीवन यात्रा नहीं चल सकती। इसी प्रकार मनवाणी के विषय इन विभूतियोंको ही सब कुछ न समझ लेना चाहिये। मनका संयम करके सूक्ष्म बुद्धिको कुशाग्र करे और फिर उसे मुझमें लगादे। जो मनका संयम करते नहीं, मन को तो इधर उधर विषयोंमें भटकने देते हैं। और ऊपरसे बड़े बड़े

कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत करते हैं, घोर तपस्या करते हैं ज्ञानकी बडी बडी डींगे हाँकते हैं, उनके ये सब कार्य उसी प्रकार बिखर जाते हैं जिस प्रकार फटे वस्त्र मे बधे अन्नके दाने बिखर जाते हैं। किसी ने कहा "मिट्टीके घडेमे जल भरा जाता है।" तुम तुरन्त गंगा किनारेसे चिकनी मिट्टी ले आये उसका घड़ा बना लिया उसमे पानी भर लिया। कुछ क्षण वह जल उसमें भले ही टिक जाय, जहाँ मिट्टी गली कि सब जल निकल जायगा। यह सत्य है, कि जल मिट्टी के ही घडेमे भरा जाता है, किन्तु कच्ची मिट्टीके घडेमें नहीं। घडेको बनाओ उसे थपथपाओ धूपमे सुखाओ अग्निमे पकाओ। जब पक्का हो जाय निच्छिद्र हो तब उसमे जल टिक सकता है। यह सत्य है, कि मेरा ज्ञान मनसे ही होता है, किन्तु संसार व्यवहारमें फँसे रहने वाले अशुद्ध मनसे नहीं होता। संयमकी अग्निमे मनको तपाकर शुद्ध कर लो। प्रथम वाणीको जीतो,अन्य इन्द्रियोंको जीतो, प्राणोंको जीतो अपने आत्माके द्वारा बुद्धिको जीतो, इस प्रकार क्रमशः सभी पर विजय प्राप्त करके आत्म निष्ठ हो जाओ, तब तुम इस ससारके आवागमनसे सदा के लिये मुक्त हो जाओगे, इस संसृतिचक्रसे सदाके लिये छूट जाओगे। फिर जन्म-मरणके चक्करमे न पडोगे।

इसलिये सबका साराश यह निकला कि पहिले वाणीका सयम करो, समस्त इद्रियो का संयम करो फिर वाणी, मन प्राण आदिका मेरी भक्तियुक्त बुद्धिसे संयम करो। जो इस प्रकार वाणी, मन, प्राण तथा इन्द्रियों का संयम करके सर्व भाव से मेरी शरण में आ जाता है, इन सबको मुझमे मिला देता है, फिर उसे करने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता, वह कृतकृत्य हो जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है, वह कृतार्थ हो जाता है, जीवन का सर्वश्रेष्ठ फल पा जाता है। यह मैंने तुमसे सक्षेप मे विभूतियों के सम्बन्ध में कहा। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो।"

उद्धवजी ने कहा--"महाराज ! अब मुझे वर्णाश्रम धर्म का रहस्य सुनाइये।"

सूतजी कहते हैं--"मुनियो ! जब उद्धवजी ने भगवान् से वर्णाश्रम धर्म का रहस्य पूछा, तो वे उसे वर्णाश्रम धर्म का रहस्य समझाने लगे। अब इसका विवेचन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

उद्धव बोले—मोइ बतावहिँ वर्णाश्रम हरि।
करि जिनको आचरन जाहिँ जगतैं मानव तरि॥
हौ प्रभु सर्वसमर्थ वेद सब तुमरी बानी।
मूर्तिमान हौ धरम कहैं मुनि पंडित ज्ञानी॥
वर्णाश्रम को प्रश्न सुनि,हरि बोले उद्धव कहूँ।
हौं ही चारिहु युगनि महँ, धरम रूपतैं नित रहूँ॥

—:※:—

वर्णाश्रम धर्म रहस्य

(१२७१)

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

आदि कल्प महँ भयो प्रथमसतयुग हौं जामें ।
हंस रूप तैं रहौं ध्यान तैं पूजैं तामें ॥
मख तैं त्रेता माहिँ करैं पूजा द्वापर महँ ।
नाम कीरतन करहिँ पाहि प्रानी कलियुग महँ ॥
मुख तैं द्विज, भुज क्षत्र उरु, वैश्य शूद्र ममचरन तैं ।
चारि बरन प्रकटित भये, जानहिँ निज निज करम तैं ॥

समाज में सभी प्रकृति के प्राणी होते हैं सबके समूह का नाम ही समाज है। समाज को अध्यात्म्य, शासन, व्यापार और सेवा इन कार्योंकी आवश्यकता रहती है। जो अपना जीवन

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कहर हैं हैं—"उद्धव! विराट् पुरुष के मुख, बाहु, ऊरू और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण उत्पन्न हुए। इनमें अपना अपना आचार ही इनके वर्णका लक्षण है। अर्थात् ये अपने कर्मों द्वारा ही पहिचाने जा सकते हैं।"

अध्यात्म चिन्तन में बिताते हैं, उनके निर्वाह का भार समाज के ऊपर पड़ता है। उन्हें शरीर निर्वाह के लिये प्रथक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जो समाजका शासन करते हैं, उसे समाजके अन्य लोग कर देते हैं, करके द्वारा वह अपना कार्य चलाते हैं। जो व्यापार करते हैं, वे उसके लाभ से अपना काम करते हैं और जो सेवा परायण हैं, उनका आजीविका का प्रबन्ध वे करते हैं, जिनकी वे सेवा करते हैं। इस प्रकार परस्पर के सहयोग से यह समाज रूपी गाड़ी चल रही है। जब समाज में उच्छृंखलता आ जाती है, संकटता बढ़ जाता है, तो एक दूसरे की सहायता नहीं करते, स्वधर्म का परित्याग करके परधर्मका अनुसरण करने लगते हैं, जिससे अधर्मकी वृद्धि होती है, जब अधर्म पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। तो एक साथ पलटा खाता है। जिस प्रकार अधर्म शनै नैन. बढ़ा था, वैसे होधर्म शनै शनै नहीं बढ़ता। वह तो एक साथ कार्य पलट कर देता है। अभी तक घोर कलियुग है। अधर्म का पूर्ण साम्राज्य है, तुरन्त सत्ययुग आ जाता है। घोर अधर्म से सहसा शुद्ध धर्मका प्रसार होने लगता है। यही क्रम सदा से चल रहा है। धर्म अधर्म दोनों के जनक दोनोंक स्वामी प्रभु ही हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से वर्णाश्रम धर्मके सम्बन्धमें प्रश्न किया, तो भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! तुम मुझसे ही यह वर्णाश्रम धर्मका प्रश्न क्यों करते हो?"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! और किससे पूछें? भगवन्! इस पृथिवी तलकी तो बात ही क्या है, साक्षात् वेद गर्भ ब्राह्माजी की सभा में—जहाँ चारों वेद मूर्तिमान् रह कर उनकी उपासना करते हैं—वहाँ भी कोई आपके इस धर्मका व्याख्याता निर्माता तथा रक्षक नहीं है। अत में आपके ही श्रीमुखसे वर्णाश्रम धर्म को श्रवण करना चाहता हूँ। बहुत से लोग वर्णाश्रम धर्मको कर्म

प्रधान ही बताते हैं। यद्यपि वर्णाश्रम धर्मको कर्मकी प्रधानता अवश्य है। किन्तु मैं तो वर्णाश्रमका स्वरूप आपकी भक्तिको ही मानता हूँ, इसलिये मुझे उसी वर्णाश्रमको बताइये जिसके अनुष्ठान से मनुष्योंमें आपकी भक्ति हो सकती हो। आपने ही तो वर्णाश्रम धर्मका उपदेश दिया था।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! मैंने किसको कब वर्णाश्रम धर्मका उपदेश दिया ?"

उद्धव बोले—"भगवन् ! ब्रह्माजी की सभामें जब सनक, सनंदन, सनातन और सनत् कुमार इन चारों ब्रह्मपुत्रों ने अपने पिता कमलयोनि से प्रश्न किये और कर्मकांडमें ही फँसे रहनेके कारण वे कुमारोंके प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर न दे सके तब आपने ही तो हंस रूप रखकर उनके प्रश्नोंका उत्तर दिया था। कुमारोंको तथा ब्रह्माजीको आपने जिस उत्तम धर्मका उपदेश दिया था, वही परम्परासे अब तक चला आ रहा था। अपने पिता-प्रपिता तथा-गुरुओंसे सुनकर लोग उस धर्मका आचरण करते थे। अब अधर्मके बाहुल्यसे तथा अधिक समय व्यतीत हो जानेसे वह अनुशासन रूप धर्म मर्त्यलोकमें नष्टप्राय हो चुका है। उसका प्रचलन अत्यंत न्यून हो गया है। आप ही इस धर्ममें वक्ता, प्रवर्तक रक्षक तथा प्रसारक है। आपकी चेष्टाओंसे प्रतीत होता है कि आप इस धराधाम को त्यागकर अपने लोकको पधारना चाहते हैं। हे अच्युत ! हे मधुसूदन ! आपके स्वधाम पधारने पर इस नष्टप्राय धर्मका उपदेश कौन करेगा, कौन इस अप्रचलित धर्मका पुनः प्रचार करेगा। अतः आप इस भक्ति प्रधान वर्णाश्रम धर्मका मुझे उपदेश दें। किस वर्णके व्यक्तिको, किस आश्रमके आश्रमीको कौनसे धर्मका विधान है, उसे मुख्य किन किन धर्मोंका आचरण करना चाहिये, किन किन कर्मों को करना चाहिये। कृपा करके इसको मुझे बतावें।

सूतजी कहते है—मुनियो ! जब उद्धवजी ने भगवान् से आग्रह पूर्वक अत्यंत विनीत भावसे यह प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव ! तुमने बड़ा ही सुन्दर लोकोपकारी प्रश्न किया। तुम्हारे इस प्रश्नसे धर्मप्रधान पुरुषोंका बड़ा कल्याण होगा, तुम्हारा यह प्रश्न वर्णाश्रमाचारयुक्त सज्जन पुरुषोंके लिये आत्यन्तिक श्रेयः स्वरूप मुक्तिको देने वाला सिद्ध होगा। इसका मैं जो उत्तर दूँगा, उसका जो पालन करेंगे, उनका संसार बन्धन निश्चय ही छूट जायगा। यद्यपि यह मेरा वर्णाश्रम धर्म सनातन है, फिर भी इसका समयके अनुसार क्रमशः विकास हुआ है।"

उद्धवजी ने कहा—"विकास कैसे हुआ है भगवन् ! प्रथम आप मुझे यही बतावें।"

भगवान् बोले—"देखो, उद्धव ! जब कल्पके अन्तमें यह सृष्टि ब्रह्ममें लीन हो जाती है, चारों युग एक एक सहस्र बार जब बीत जाते हैं, तो उसे एक कल्प कहते हैं। उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रलय करके ब्रह्माजी भगवान्के उदरमें सो जाते हैं। उतनीही बड़ी उनकी रात्रि होती है,रात्रिके बीत जाने पर वे पुनः सृष्टि आरंभ करते हैं। उस समय अधर्म छिपा रहता है, शुद्ध सत्वगुण का प्राबल्य होनेसे सबकी बुद्धि शुद्ध होती है, सब मनुष्य भीतर बाहर से विशुद्ध रहते हैं। उस समय न तो मैं मेरा तू तेराका भाव रहता है, न किसी वस्तु में स्पृहा होती है, सबकी धर्ममें मति होती है। सब अपनेको उस जगत्पिताका पुत्र समझते हैं, सब प्रेम से रहते हैं। उस समय एक ही वर्णके सब लोग होते हैं, उन्हें चाहें ब्राह्मण कहलो, पावन कहलो या धर्मात्मा कहलो। ज्ञान स्वरूप शुद्ध होनेसे उनकी 'हंस' संज्ञा शास्त्रोंमें बतायी है। कल्पके आरम्भके सत्ययुगमें एक हंस ही वर्ण था। कोई न तो उस समय घर बनाता था, न अपना किसी वस्तु पर अधिकार ही जमाता था। आजीविकाके लिये किसीको कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता

था। सबका चित्त शुद्ध होनेसे सबके पास संकल्प सिद्धि थी, जिस वस्तुका संकल्प करते तुरन्त वह आ जाती। वृक्ष अपने आप फल दे देते। जहाँ चाहते सो जाते। उस समय वे पूर्ण उन्नत थे। उन्नत वही कहलाता है, जिसे वाह्य वस्तुओंकी अपेक्षा न हो, जो अपने आपमे ही सन्तुष्ट रहे।

असुरोंने देखा कि ये सत्ययुगी मनुष्य तो बड़े आत्मनिष्ठ और दृढव्रत हैं, ये सत्यका पालन करते हैं, किसी वस्तु का परिग्रह नहीं करते, किसीमे ममता नही करते। उनके मनमे ईर्ष्या हुई। उन असुरोमे से एक 'अहंकार' नाम का असुर था। वह बडा मायावी था। वह चुपकेसे कई रूप रखकर लोगो के शरीरो में घुस गया। अब तो कुछ लोग अपने को बडा समझने लगे। उस अहंकार की बहू ममता भी साथ थी। स्त्री जहाँ जायगी वहीं सटर-पटर करेगी। कुछ वस्तुओं पर अधिकार जमावेगी। उसे अपने बालबच्चो की चिन्ता पहिले से ही हो जाती है। चाहें अभी बाल-बच्चे हुए भी न हो। अब अहंकार और ममता दोनों लोगो में रहने लगे। जिनके शरीरोमे ये घुस गये वे अन्य लोगो को छोटा मानने लगे। कुछ स्थानों को अपना कहने लगे। अब अहंकार और ममता का वंश बढ़ने लगा। अहंकारके क्रोध नामक पुत्र होगया। ममताने जिस वस्तु पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है, उसका कोई दूसरा उपयोग करता तो अहंकार का पुत्र क्रोध दाँत निकालकर उनकी ओर दौडता। क्रोधका भी विवाह होगया, उसकी पत्नी का नाम था कलह-इनसे भी अविनय और दुश्शील दो लडके होगये। अविनय की बहू उद्धत्ता ने मोह नामक पुत्र पैदा किया, मोह की स्त्री का नाम मूर्खता था, उससे अज्ञान पुत्र हुआ। अब इन असुरों की सृष्टि बढ गयी। ये लोगोके शरीरोंमे घुसकर उपद्रव करने लगे। उनका जो समत्व का ज्ञान

था वह नष्ट होगया। अहंकार के परिवार ने बढ़कर लोगोंमें अशान्ति उत्पन्न कर दी।

उद्धवजीने कहा—"महाराज! इस अहंकार का पूर्व पुरुष कौन था। यह किसका पुत्र था?"

भगवान् बोले—"इन सबका आदि पुरुष महा-मोह था।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! महा-मोह किससे उत्पन्न हुआ। इसका आदि पुरुष कौन था।

डाँटकर भगवान्ने कहा—"अब उद्धव! तुम वंशावली पूछते हो या कथा सुनते हो, तुम्हें आम खाने हैं या पेड़ गिनने। वह किस किसका लड़का था, उसका आदि पुरुष कौन था, इन बातों से क्या लाभ? सबका आदि पुरुष मैं ही हूँ। और पूछो क्या पूछते हो?"

उद्धवजीने कहा—"नहीं, महाराज! अब मुझे कुछ पूछना नहीं, मैं समझ गया धर्म अधर्म सबके जनक आपही हो। हाँ, तो आगे की कथा सुनाइये। इन काम, क्रोध, लोभ, मोह असुरोंने क्या-क्या उपद्रव किये?"

भगवान् बोले—"हाँ, ये अहंकार और ममता की संतानें मनुष्यों के शरीर मे घुसकर भेदभाव उत्पन्न करने लगीं। जो अपने को बलवान् समझते वे निर्बलों को दुःख देने लगे। अज्ञान के कारण लोगों मे सहानुभूति नहीं रही। एक दूसरेसे ईर्ष्या करने लगे। कुछ लोग दण्ड देनेको उतारू हुए। कुछ एक दूसरे को भला बुरा कहने लगे। लोगों मे विषमता अशान्ति आदि आगयी। अब कुछ भी उपाय न सूझा तो सब लोग मिलकर शिवजी के समीप गये और बोले—"महाराज! हम लोगो के बीचमें कुछ असुर घुस आये हैं, उन्होंने हममें विषमता उत्पन्न करदी है।

शिवजीने कहा—"उन धूर्तों को मार भगाओ।"

लोगोंने कहा—"महाराज! कैसे मार भगावें। अब उनका बल भी बढ़ गया है, सन्तानें भी उनकी बढ़ गयी हैं। हम लोगों ने उनकी यथेष्ट भर्त्सना की, किन्तु उन्हें दबाना हमारा शक्तिके बाहर की बात होगयी है।"

भगवान् शंकरने कहा—चलो, मैं उन दुष्ट असुरोंको मारता हूँ।" यह कहकर पिनाक धारी भगवान् भोलेनाथ आये और उन्होंने अपने आजगव नामक धनुष पर एक चम-चमाता बाण चढ़ाकर आकाश में मारा। उसके लगते ही काम क्रोध और लोभ ये तीनों असुरोंको भूमि पर गिरा दिया। इन सबके वृद्ध प्रपितामह महामोह को भी पटका। शिवजीने तो समझा ये मर गये हैं, अतः वे उन्हें छोडकर चले गये।

प्रजा के लोग सुखी हुए। वे पुनः पूर्ववत् धर्माचरण करने लगे। सबमें समता थी, लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे, इसीलिये उस युगका नाम कृतयुग हुआ। उस समय वेदों का भी इतना अधिक विस्तार नहीं था। जैसे एक ही 'हंस' नामक वर्ण था वैसे ही 'प्रणव' ही वेद था। धर्म अपने चारों चरणोंसे परिपूर्ण रूप मे रहता था।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! धर्मके चार चरण कौन-कौन से हैं?"

भगवान बोले—तप, शौच, दया और सत्य ये ही धर्म के चार चरण हैं। सत्ययुग में धर्म चतुष्पाद रहता है, फिर समयके कारण शनैः शनैः त्रेतामें उसका एकपाद नष्टहो जाता है। द्वापरमे दो ही पैर रह जाते हैं, कलियुगमे धर्म केवल एक पैर पर ही रहता है, कलियुग के अन्तमे उसका वह भी पैर नष्ट हो जाता है, तब मैं अवतार लेकर धर्मके चारों पैरो को पुनः स्थापित करता हूँ।

उद्धवजीने कहा—"हाँ, तो भगवन्! आदि सत्ययुगमें तो आपके कथनानुसार एक ही 'हंस' नामका वर्ण था, फिर चार वर्ण कैसे हो गये?"

भगवान्ने कहा—"वर्ण तो बीज रूपसे चारों ही अनादि हैं। उनका विकाश समयानुसार शनैः शनैः हुआ। विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण धर्म की उत्पत्ति हुई, भुजाओंसे क्षत्रियों की ऊरु से वैश्यों की और चरणों से शूद्रों की।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! विराट् पुरुषके मुखसे झुंड के झुंड ब्राह्मण निकल पड़े। बाहुओंसे राजाओंका समूह, ऊरुओंसे असंख्यो वैश्य और चरणों से शूद्रों की टोलियाँ। यदि ऐसे ही निकले हों तो आदि सत्ययुग में भी ये चारों वर्णोंके होंगे।

भगवान्ने कहा—"अरे भाई! मुख से ब्राह्मणोंका समूह नहीं निकला। ब्राह्मणोंका जो ब्राह्मणत्व है, ब्रह्मधर्म है, वह मुखसे निकला। अर्थात् जैसे सम्पूर्ण शरीरमे मुखही मुख्य और प्रधान स्थान है, उसी प्रकार वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण मुख्य है। जैसे मुखमें अन्न डालनेसे सम्पूर्ण शरीरकी पुष्टि होती है, वैसेही ब्राह्मणको खिलानेसे सम्पूर्ण समाज पुष्ट और उन्नत होता है। जैसे मुखका काम, खाकर सब शरीरको आहार पहुँचाना तथा बोलकर सबको यथायोग्य काममें सबको लगाना है, उसी प्रकार ब्राह्मणका कार्य वेद पढकर पढाकर समाज मे ज्ञानका प्रसार करना है। क्षत्रियोंकी उत्पत्ति भुजाओंसे हुई है। अर्थात् क्षत्रिय धर्म भुजाओंसे उत्पन्न हुआ है। जैसे भुजाएँ सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा करती हैं, अन्नको लेकर मुखमें डालती हैं, शरीरमें कहीं खुजलीहो, तुरन्त हाथ खुजा देते हैं। कोई शरीरको मारने दौडे तो सर्वप्रथम हाथही आगे बढ़कर प्रहारको रोकते हैं। आक्रमण करनेवाले को डंडेसे, अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रोंसे मुक्का या थप्पडोंसे, मारकर भगा देते हैं।

यही काम समाजकी रक्षा करनेमें क्षत्रियोंका है। क्षतसे, दुःखसे रक्षा करनेके कारण उसका नाम क्षत्रिय है।" जैसे ऊरुओंके ही बल पर चलना-फिरना सब होता है, प्रजा की वृद्धि ऊरुओंसे ही होती है उसी प्रकार वैश्य कृषि गोरक्षा और व्यापार करके समाजको अन्न घृत और जीवनोपयोगी वस्त्रादि देते हैं, समाजकी समस्त आवश्यकताओंको पूर्ण करते हैं। वे अन्नादि वस्तुएँ न दें, तो समाजकी वृद्धि कैसे हो। इसी प्रकार जैसे चरण सब शरीरका बोझ ढोते हैं, सबसे नीचे रहकर ऊरु, भुजा और सिर सबका भार वहन करते हैं, उसी प्रकार शूद्र सेवा द्वारा समाजके भारको वहन करते हैं। इन सब बातोंसे यही निष्कर्ष निकला कि विराट् पुरुषके चारों अंगों से चारों वर्णों के धर्म की उत्पत्ति हुई। आवश्यकतानुसार उनका विकास हुआ।"

उद्धवजीने कहा—हाँ, महाराज! मुख्य प्रश्नतो रह ही गया। एक 'हंस' या ब्राह्मण वर्णसे चारों वर्णों का विकास कैसे हुआ?"

भगवान् बोले—"मैं पहिलेही बता चुका हूँ कि महामोह रूपी असुरकी सतानोंने आकर लोगोंके शरीरमे घुसकर गडबडी आरंभ की। यद्यपि शिवजीने अपने बाण से कुछ असुरोंको मार दिया, किन्तु उनका समूल नाश नहीं हुआ। सृष्टि मे समूल नाश किसीका होता भी नहीं। उनकी सन्तानें फिर बढ गयीं। अब लोगोंने जब समाजमे अव्यवस्था देखी, सबने मिलकर एक सभाको और कहा—'भाई, ऐसे काम न चलेगा। समाजकी एक व्यवस्था करो सबके वर्ग बनालो, सबको काम बाँट दो। यह बात सर्वसम्मतिसे स्वीकृत हुई। उनमे जो गौर वर्णके थे, बुद्धिमान थे, पढने-पढानेमें रुचि रखते थे, मेधावी थे, उनको ब्राह्मण बना दिया और उनका यही काम निश्चय हुआ वे वेदों को पढे, पढावें, ज्ञानार्जन करें। जो शरीरमे पुष्ट, शूरवीर, लडाकू और तेजस्वी

थे जो कुछ रक्त वर्णके थे, जिन्हे दूसरोंकी रक्षा करनेमे सुख होता था उनको क्षत्रिय संज्ञा दे दी। वे लोगो पर शासन करें, उसके बदल मे ब्राह्मणो को छोडकर सबसे कर लें। जो लोग कुछ पीत वर्णके थे। जिनकी व्यापार करनेमे तथा संग्रह करनेमें प्रवृत्ति थी, उनको वैश्य बना दिया और जिनकी रुचि पढ़ने लिखनेमे विशेष नहीं थी, उन्हें शारीरिक कार्य करनेके लिए—तीनों वर्णों की सेवा करनेके लिये—नियुक्त कर दिया। उन्हींका नाम शूद्र हुआ। इस प्रकार एकही वर्ण चार भागोंमे विभक्त हुआ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपना पृथक्-पृथक् वर्ण बनाकर अपने-अपने कार्य मे लग गये। मेरे श्वाससे प्रथम ही सूक्ष्मरूपसे ऋक्, साम और यजु, इस वेदमयीका आविर्भाव हुआ था। समय पाकर वे विशुद्ध ब्राह्मणोंके हृदयमे आविर्भूत होने लगे। एक वेद तीन चार रूपोंसे प्रकट हुआ। उस त्रयी विद्यासे होता, अध्वर्यु और उद्गाता के कर्म ये त्रिवृत् यज्ञ रूपसे उत्पन्न हुए। पहिले लोग ध्यानसे ही भगवान्की पूजा करते थे, अब यज्ञयाग होने लगे। त्रयी विद्या होने से तथा धर्मका एक पाद क्षीण होनेसे यह त्रेतायुग कहाया। इसमे वर्णाश्रम धर्मकी ही प्रधानता हो गयी। इन सबके समाज पृथक्-पृथक् बन गये। और ये वेषसे भूसासे रहन-सहन तथा अपने-अपने कर्मों के द्वारा बिना बताये ही स्पष्ट पहिचाने जाने लगे। इन सबके धर्म भी निश्चित हो गये।

जैसे विराट् पुरुष के चार अङ्गोंसे चारों वर्णो की उत्पत्ति हुई है, वैसेही उनके चार अंगोंसे चार आश्रमकी भी उत्पत्ति हुई थी। जैसे मस्तकसे सन्यास धर्म, वक्ष-स्थलसे वानप्रस्थधर्म, हृदय से ब्रह्मचर्य धर्म और जङ्घाओंसे गृहस्थ धर्म। जब चार वर्ण हुए तो चार आश्रम भी होनेही चाहिए। अतः अब अपने अपने धर्म और नियमोंके अनुसार सभी वर्णाश्रम धर्मका पालन-करने लगे।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! किस वर्णका किस आश्रमका क्या क्या धर्म है, इसे मुझे विस्तार से सुनाइये।"

भगवान्‌ने कहा—"भैया, समस्त वेद शास्त्र और पुराणोंमें प्रधानतया वर्णाश्रम धर्म की ही चर्चा है, अतः मैं विस्तारके साथ तो इन्हें सृष्टिके अन्त तक भी नहीं सुना सकता। हाँ, अत्यन्त संकेत मात्रमें इनके धर्मों को सुनाता हूं, तुम इनका अपने मनमें विस्तार कर लेना।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान्‌ने चारों वर्ण और चारों आश्रमके धर्मों का वर्णन किया, उनको मैं संक्षेपमें आप सबको सुनाता हूँ। पहिले वर्ण धर्म कहकर तब आश्रम धर्मों को कहूँगा। वर्णों में सर्वप्रथम आप ब्राह्मणोंके धर्मको ही सुनिये।

छप्पय

वरन सरिस ही चार भये आश्रम विराट् तैं।
मस्तक तें सन्यास धर्म प्रकटित स्वराट् तैं॥
गृह आश्रम वटु धर्म जघन अरु हिय तें जानो।
वक्ष-स्थल तैं वान-प्रस्थ उतपति तुम मानो॥

चार-चार आश्रम वरन, सबके पृथक् स्वभाव हैं।
पावैं फल सब कर्म करि, जिनके जैसे भाव हैं।

—:o:—

ब्राह्मण स्वभाव

(१२७२)

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्ति रार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

पहिले सुनो स्वभाव विप्रको उद्धव ! उत्तम ।
शम दम महँ नित निरत रहै ध्यावै चरननि मम ॥
तत्परता के सहित शौचके पालै नियमनि ।
यथालाभ सन्तोष करै नहिं संग्रह वस्तुनि ॥
अपकारी के दोषकूँ, शक्तिवान् ह्वैके सतत ।
क्षमा करै निष्कपट है, परकारज महँ नित निरत ॥

बिना सिखाये जो जन्म से ही गुण आवें उन्हें स्वभाव या प्रकृति कहते हैं। नैसर्गिक अथवा जो स्वाभाविक गुण हैं, उनका त्याग देना अत्यंत ही कठिन है। गौका दूध स्वभाव से ही

---

*श्री भगवान् कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, ऋजुता, मेरी भक्ति दया और सत्य ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं।"

ीठा होता है, नीम का फल स्वभाव से ही कड़वा होता है। रीतिका स्वभाव से ही रोचक होती है। जो जिस वर्णका होता है, उसमें उस वर्ण के गुण स्वभाव से ही होते हैं।

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने ब्राह्मण के स्वभाव के सम्बन्ध में पूछा तो भगवान् श्री कृष्णचन्द्र कहने लगे—"उद्धव! ब्राह्मण स्वभाव से ही कष्ट सहिष्णु, त्यागी और असंग्रही होता है। उसमें आठ गुण नैसर्गिक होते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! ब्राह्मण में कौन कौन से आठ गुण स्वाभाविक होते हैं।"

भगवान् बोले—सुनो उद्धव! तुम्हें बताता हूँ, ब्राह्मण में सर्व प्रथम गुण तो होता है, 'शम'।

(१) शम—शम कहते हैं चित्त को वश में रखने को। जिसका चित्त वशमें नहीं, वह कोई भी पारमार्थिक साधन नहीं कर सकता। चित्त की चंचलता ही अशान्ति का कारण है। ब्राह्मण का चित्त सदा परमार्थ। चिन्तन में लगा रहता है, वह कभी भी विषयोंका चिन्तन नहीं करता। सुनते हैं, किसी ऋषि ने अपने छोटे से पुत्र को देखा—वह जीवहिंसा में प्रवृत्त हो रहा है, तुरन्त उन्होंने उसका परित्याग कर दिया और कह दिया—"यह ब्राह्मण नहीं, इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हिंसामें है। ब्राह्मण का चित्त कभी भूल से चंचल हो जाय तो वे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। दूसरा ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण है "दम।"

(२) दम—दम कहते हैं, इन्द्रियों के दमन को। ब्राह्मण की इन्द्रियाँ स्वाभाविक उसके वशमें रहती हैं। उसकी वाणी कभी अपशब्द न बोलेगी। वह न देखने योग्य वस्तुओं को कभी न देखेगा। न सुनने योग्य शब्दों में उसकी कभी भी प्रवृत्ति न होगी। महाराज द्रुपद की राजसभामें जब द्रोणाचार्य गये तो राजा ने आचार्य का सम्मान नहीं किया; उनका तिरस्कार किया। इससे दुखी होकर आचार्यने अपने कौरव-पांडव आदि शिष्यों को

भेजकर उसे बँधवा मँगवाया। पीछे क्षमा कर दिया। राजा के मन में द्वेष बना रहा। वह आचार्य को मरवाने के लिये यज्ञ करना चाहते थे, किन्तु कोई भी ब्राह्मण उस हिंसामय यज्ञ को कराने को उद्यत नहीं हुए। तब वे एक मुनिके पास दीन होकर गये और बहुत अनुनय विनय की, तब मुनिने कहा—"राजन्! विशुद्ध ब्राह्मण जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, वह तो इस हिंसामय यज्ञ को करावेगा नहीं। हाँ, जो लोभी होगा, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें न होंगी, वह धन के लोभसे तुम्हारे यज्ञ को करावेगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आप ही किसी दम रहित ब्राह्मण को बतावे।"

मुनि बोले—"मेरे एक भाई हैं, मैं जानता हूँ उनकी इन्द्रियाँ उनके वशमें नहीं हैं। एक दिन हम दोनों साथ-साथ जा रहे थे। वनमें एक सुंदर फल मार्ग में पड़ा था। उन्होंने उसे उठा लिया। न तो उन्होंने उसकी समीक्षाकी कि यह किसका फल है, यहाँ कैसे आया, यह खाने योग्य है या नहीं। न उसे धोया न भगवान् का भोग लगाया, जिह्वा लोलुपतावश वे उसे वैसे ही चलते चलते मार्ग में खा गये। इसलिये मैं अनुमान करता हूँ कि जब वे इतने जिह्वालोलुप हैं, तो धन के लोभ से आप के इस हिंसा परायण यज्ञ को भी करा देंगे।"

यहाँ इस दृष्टान्त के देने का अभिप्राय इतना ही है कि यथार्थ ब्राह्मण की इन्द्रियाँ उसके वशमें रहती हैं। वे मर्यादाहीन व्यवहार करने में जहाँ तक होता है प्रवृत्त नहीं होतीं। तीसरा ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण है 'तप'।

(३) तप—ब्राह्मण जन्म से ही तपस्वी होता है। उसे इन्द्रिय प्रीतिकारक नहीं होते। कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों में उसकी

प्रीति होती है। ब्राह्मण का यह शरीर क्षुद्र कामनाओं के लिये नहीं होता। इसलोक मे जब तक रहता है, वह । करता रहता है। उसीका फल है कि वह मर कर पुण्य

को में दिव्य सुख भोगता रहता है। जो इस लोक में तप नहीं रेगा, इन्द्रियों के भोगों में ही आसक्त रहेगा, उसे मरकर नरक ो यातनायें सहनी पड़ेंगी।"

एक बार महामुनि नारद तुम्बुरु गन्धर्व के साथ जा रहे थे। ार्ग में उन्हें एक बड़ा ही सुंदर वस्त्राभूषणों से अलंकृत राजपुत्र

मिला। उस राजपुत्र ने नारद जी को प्रणाम किया, तब नारदजी ने कहा—राजपुत्र! चिरंजीव! हे राजकुमार! तुम बहुत दिन तक जीते रहो।" यह कह कर वे आगे बढ़ गये।

आगे चलकर उन्हे एक कोपीन लगाये, जटा बढ़ाये, समिधा का गट्ठर लिये ऋषिकुमार मिला। उसने भी नारदजी को प्रणाम किया तब नारदजी ने कहा—"मा जीव ऋषि पुत्रक।" हे ऋषि कुमार तू बहुत दिनो तक जीवित मत रहे। ऐसा कह कर फिर आगे चल दिये।

चलते चलते उन्हें आगे एक अवधूत साधु मिले। उन्होंने भी नारदजी को प्रणाम किया। नारदजी ने कहा—"जीव वा मर वा साधो!" हे साधो! तू चाहे जीवित रहो या मर जा। यह कह कर आगे चल दिये।

आगे एक व्याध हाथ मे पाश लिये हुए मिला, उसने भी नारदजी को प्रणाम किया। तब नारदजी ने उससे कहा—'व्याध! माजीव मा मर। हे व्याधा! तू न तो जीवित ही रह न मरही।"

इस पर तुम्बुरु ने पूछा—"महाराज! आपने इन चारो को चार प्रकार का आशीर्वाद क्यों दिया?"

इसपर नारदजी ने कहा—"देखो, भैया! जिसका जैसा स्वभाव है वह छूटता नहीं। यह व्याधा है जब तक जीता रहेगा हिंसा करेगा, मरेगा तो नरकों मे जायगा। इसलिये मैंने कहा तेरा जीना भी अच्छा नहीं मरना भी अच्छा नहीं। जीनेमें भी तुझे दुख है मरने में भी दुख है। अब रहे ये साधु, ये जब तक जीवेंगे परोपकार करेंगे, मरेंगे तो वैकुंठादि लोकोंमें जायगे। इसलिये इनका जीवित रहना भी अच्छा, मरना भी अच्छा। यह राजपुत्र जब तक जीता रहेगा यथेष्ट सुखोंको भोगेगा, आखेट और सब प्रकार के इन्द्रिय सुखों का अनुभव करेगा मर कर इसे नरकों में जाना होगा। इसलिये मैंने कह दिया तू जितना ही जीवेगा उतना

ही अच्छा है। इस ऋषिपुत्रको मैंने न जीने का वरदान इसलिये दिया कि ब्राह्मण का शरीर तपस्या के ही लिये होता है। यह ऋषिकुमार जब तक जीवेगा तप कर करके कष्ट ही उठाता रहेगा। सुखतो इसे मरने पर ही मिलेगा। अत' जितना ही शीघ्र यह मरे उतना ही शीघ्र इसे सुख मिले, क्योंकि ब्राह्मण को इस जन्म मे शारीरिक सुख नहीं होता, उसे तो तपस्या मयही समस्त जीवन व्यतीत करना पडता है, अत तप ब्राह्मण का नैसर्गिक गुण है। चतुर्थ गुण है 'शोच।'

(४) शोच—शौच कहते हैं, भीतर बाहर की पवित्रता को। जो ब्राह्मण पवित्र नहीं रहता वह ब्राह्मण नहीं। शौच की शिक्षा गुरुकुलमे सबसे प्रथम दी जाती है। शोचहीन ब्राह्मण भी अधम है और शौचसे युक्त श्वपच भी श्रेष्ठ है। इस विषयमे एक दृष्टान्त है।

किसी राजाकी हथेलीमें बाल उत्पन्न हो गया। उसने पडितों को बुलाकर उसका कारण पूछा, तो पडितों ने बताया, महाराज! एक ऋषिके उपचारसे ऐसा हुआ है।

राजाने पूछा—"तो महाराज! इसका उपाय क्या है, किस प्रकार यह मिट सकता है?"

पडितो ने कहा—"महाराज! किसी अधम के हाथ का अन्न हाथ पर रख कर खालें तो आपका यह बाल तुरन्त चला जाय।"

राजा की नगरी मे एक बडा ही भक्त श्वपच रहता था। राजा ने जाकर उससे कहा—"देखो, भाई कल हम तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे।" यह सुनकर श्वपच के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने तुरन्त अपनी झोंपडी मे आग लगा दी। कहीं से शुद्ध नया फूँस लाया, नयी झोंपडी बनायी। शुद्ध पीली मिट्टी और गो का गोबर लाकर उसे लीपा। जितने पुराने कपडे थे सबको जला दिया, नये

कपड़े लाया। बात सर्वत्र फैल गयी—कल राजा इसके यहाँ भोजन करेंगे, अतः उसने जिससे जो माँगा उसने वह वस्तु तुरन्त दे दी। वह ताँबे के सुन्दर बर्तन ले आया, उनमें गंगाजल भर लाया। उसकी स्त्री ने पंचगव्य से स्नान किया, सुन्दर रेशमी वस्त्र पहिने, बड़ी पवित्रता से गंगाजल से रसोई बनायी। महाराज पधारे, उन्हें बैठने को पीढ़ा दिया, रुचि के साथ भोजन कराया। राजा बार बार भोजन को हथेली से लगाते किन्तु हथेली का बाल नहीं गया, नहीं गया। भोजन करके चले आये।

दूसरे दिन उन्होंने फिर पंडितों की सभा की और कहा—"पंडितो! आपने मेरा धर्म भी बिगड़वाया। किन्तु मेरी हथेली का बाल तो गया ही नहीं।"

पंडितों ने कहा—"महाराज! हमने तो आप से नीच के हाथ का भोजन करने को कहा था, नीच वह है जो शौच से हीन है। यद्यपि वह जाति का श्वपच था, किन्तु उसने तो बड़ी पवित्रता से परम शुद्धता से भोजन बनाया था। उसके खाने से आपकी हथेली का बाल नहीं जा सकता।"

राजा ने कहा—"अच्छा, तो महाराज! आप ही बताओ कौन नीच है?"

एक पंडित ने कहा—"अच्छा, महाराज! मेरे साथ आप चलें तो मैं आपको नीच बताऊँगा।"

यह सुनकर राजा उन ब्राह्मण के साथ चल पड़े। गर्मी के दिन थे चलते चलते उन्हें दोपहर हो गया। कड़ाके की धूप पड़ रही थी। राजा आज तक इतने पैदल चले नहीं थे। सामने देखा—एक ब्राह्मण दो अत्यंत दुबले-पतले बैलों से हल जोत रहा है। यद्यपि अब दोपहर हो गया है, बैल चलते नहीं तो भी उनके शरीर में पैना की कील चुभो चुभो कर उन्हें चला रहा है। बैलों के

शरीर से रक्त बह रहा है। वह उसके हाथों मे भी लग गया है। फिर भी वह हल को छोडता नहीं।

राजपंडित ने कहा—"राजन्! सबसे नीच तो यह है। इसके हाथ की रोटी आपको मिल जाय तो अभी आप की हथेली का बाल चला जाय।"

राजा ने कहा—"इसके हाथ का भोजन मिले कैसे?"

पंडित ने कहा—"बैठिये, मैं आपको उपाय बताऊँगा।" यह सुनकर राजा और पंडित दोनो ही समीपके एक वृक्ष की छाया में बैठ गये। इतने में ही उसकी पत्नी रोटी शाक और जल लेकर खेत पर आई। उसकी बगल मे वर्ष सवा वर्ष का एक बालक था। उसने कहा—"दोपहर हो गया है। हल को छोडकर रोटी खालो।"

उस कृषक विप्रने कहा—"तू तो कुछ समझती बूझती नहीं। आज मुझे यह पूरा खेत जोतना है। आज मैं जब तक इसे पूरा न जोत लूँगा। तब तक हल को छोडूँगा नहीं।"

स्त्री ने कहा—"तो रोटी कैसे खाओगे।"

उसने कहा—"मैं हल जोतता जाऊँगा, तू टुकड़े तोड तोडकर मेरे मुख मे देती जा। खेत भी जुतता जायगा और रोटी भी खा ली जायगी।"

स्त्री क्या करती वह साथ-साथ चलकर टुकड़े तोडकर उसके मुख मे देती जाती। बच्चा गोदी में था। उसी समय बच्चे ने लघु-शका कर दी। रोटियो पर भी कुछ छींटे आगये।"

स्त्री ने कहा—"हाय! इस छोरा ने तो सब गुड गोबर कर दिया। मूत दिया।"

उसने डाँटकर कहा—"मूत दिया तो क्या हुआ? 'पूत को मूत प्रयाग को पानी' कुछ डर नहीं, तू ग्रास मेरे मुख में देती जा।"

उसी समय पंडितजी ने राजा से कहा—"महाराज! अब आप इससे माँगलो।"

राजा ने कहा—"पंडितजी! मैं समझ गया। माँगने से तो यह एक ग्रास भी नहीं देने का।" उसी समय एक टुकड़ा उस स्त्री के हाथ से गिर गया।"

पंडितजी ने शीघ्रता से कहा—"महाराज! दौड़ो, काम बन गया।" यह सुनकर दौड़कर राजा ने वह ग्रास उठा लिया। ज्यों ही उसे हथेली पर रखकर खाना चाहा त्योंही उनकी हथेली का बाल टूट कर भूमि पर गिर पड़ा।

तब पंडित ने कहा—"महाराज! जो शौच से हीन है वही नीच है, चाहे वह उच्च वर्ण का हो क्यों न हो। यदि नीच वर्ण का भी शौच से युक्त है तो वह श्रेष्ठ है।"

शौच की बड़ी महिमा है। ब्राह्मणों का नैसर्गिक गुण पवित्रता है। अब पंचम गुण है 'सन्तोष'।

(५) सन्तोष—सन्तोष उसे कहते हैं कि जब जैसी भी परिस्थिति आ जाय उसी में सन्तुष्ट रहना। भगवान् ने आज एक रोटी ही दी, तो उसे ही खाकर प्रसन्न रहना। यदि भर पेट दे दी तो उसी में सन्तुष्ट रहना। संसार में सन्तोष की बराबर कोई भी सुख नहीं। जिसके हृदय में सन्तोष है वह एक चुल्लू जल से भी सन्तुष्ट हो सकता है, जिसके हृदय में संतोष नहीं वह सात द्वीपों का राज्य पाने पर भी असन्तुष्ट और दुखी बना रहेगा। देखो, सुदामा कितने सन्तोषी थे। इतने विद्वान्, त्यागी और शास्त्रज्ञ होने पर भी उन्हें भिक्षा से जो भी मिल जाता उसी पर सन्तुष्ट रहते। कितनी भी अधिक वस्तुएँ अपने समीप क्यों न हो, यदि सन्तोष नहीं तो वे कुछ भी नहीं। यदि सन्तोष है, तो कुछ भी न होने पर सब कुछ है। अजगर कुछ भी नहीं करता। घर बैठे उसे जो मिल जाता है, उसे ही खा लेता है, कुछ नहीं मिलता तो वायु पीकर

ही निर्वाह कर लेता है। किन्तु आहार न मिलने से वह दुर्बल नहीं होता। जैसा का तैसा मोटा बना रहता है। वन के गजों को ऊख कहाँ खाने को मिलती है। सूखी घास खाकर वे कितने बलवान् बने रहते हैं, ऋषि-मुनि वन के कडवे कसैले फलों को ही खाकर जीवन यापन करते करते हैं और ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करते हैं। ये सब दुखी क्यों नहीं होते, इसीलिये कि ये जो मिल जाता है उसी मे सन्तुष्ट रहते हैं। ब्राह्मण के मन मे जहाँ असन्तोष आया नहीं कि वह फिर नष्ट होकर ही रहता है। अतः ब्राह्मण का मुख्य धन सन्तोष है। छटा गुण है, 'क्षमा'।

(६) क्षमा—उसे कहते हैं कि कोई चाहें कितना भी अपना अपकार करदे किन्तु स्वयं उसका कभी अपकार न करना। अपकारी के अपकारो की ओर ध्यान ही न देना, यही नहीं उसका शक्ति भर उपकार करना। एक ब्राह्मण किसी राजा के यहाँ कुछ याचना करने गया, राजा ने उसे वह वस्तु नहीं दी। जब ब्राह्मण चलने लगा, तो फिर उसे बुलाकर बिठाया और फिर उसका अपमान किया। जब ऐसे कई बार किया और ब्राह्मण ने कुछ भी रोष नहीं किया, तब राजा उसके पैरों मे गिर गया और गद्गद् कण्ठ से कहा—"ब्रह्मन्! आपकी क्षमा को धन्य है।"

ब्राह्मण ने कहा—"इसमें धन्यवादकी मैंने कौनसी बातकी। कुत्ते को तो मारते हैं, दुतकारते हैं, फिर भी टुकडेकी आशासे वह चला जाता है। यह गुण तो कुत्ते में भी है।

क्षमा करके और मनमे यह अभिमान भी न आवे, कि मैंने उसे क्षमाकर दिया यही क्षमाका स्वरूप है। क्षमाहीन ब्राह्मण शोभा नहीं पाता। श्रेष्ठ पुरुष उसकी निन्दा करते हैं। राजा सहस्रार्जुन भगवान् परशुरामके परोक्षमे बलपूर्वक उनके पिता जमदग्निकी कामधेनु गौको हर लेगया। वनसे आने पर जब परशुरामजी ने यह सब वृत्तान्त सुना तो वे क्रोध मे भरकर राजा

की राजधानी में गये सेना सहित राजाका वध करके गौ लेकर वे बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने पिताके निकट आये। वे मार्ग में सोचते आते थे, कि पिता जब कामधेनुको देखेंगे और मेरी वीरता की बात सुनेंगे, तो परम प्रमुदित होंगे, मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करेंगे, प्यार करेंगे और आशीर्वाद देंगे, किन्तु हुआ इसके विपरीत ही।

भगवान् जमदग्नि ने जब सुना कि यह राजाको मारकर कामधेनुको छीन लाया है, तो वे अपने पुत्रको धिक्कारते हुए बोले—"परशुराम ! वैसे तुम्हारी ये बाहुएँ तो बहुत बड़ी-बड़ी हैं। किन्तु इनसे तुमने पुण्य न कमाकर पाप ही कमाया ?"

परशुराम जी तो हक्के-बक्के रह गये, उन्होंने कहा—"पिता जी ! मैंने कौन सा पाप किया ?"

महर्षि जमदग्नि ने कहा—"इससे बड़ा और पाप क्या होगा, जिस राजाका विधिवत् राज्य सिंहासन पर अभिषेक हुआ है, जो मूर्धाभिषिक्त है, उसका तुमने वध किया। ऐसा राजाका वध करना तो ब्रह्म बधसे भी बढ़कर पाप है।"

परशुरामजी ने कहा—"महाराज ! उसने भी तो पाप किया। आपने उसका सेना सहित सत्कार किया, उसका कितना उपकार किया। इसके बदले में वह बलपूर्वक आपकी यज्ञीय धेनुको हर लेगया। उसने तो आपके धर्म को ही नष्टकर दिया था।"

धैर्य के साथ महामुनि जमदग्नि ने कहा—"अरे, भैया ! तुम समझते नहीं। उसने जो भी कुछ किया हो वह राजा है। हम ब्राह्मण जो सबसे श्रेष्ठ माने गये हैं वह दण्ड देनेसे, युद्ध करनेसे, अथवा बदला लेनेसे तो बड़े नहीं माने गये हैं। भाई हमारा बड़प्पन तो क्षमाके ही कारण है न ? ब्रह्माजी की सभी सृष्टि है। असुर, राक्षस, भूत, प्रेत पिशाच ये सब नित्य ही कितना पाप करते हैं।

यों दंड देने पर ब्रह्माजी उतारू हो जायँ, तो सभीका एक दिनमें उन्हें संहार करना पड़े। वे सबको सहते हैं, सभीको क्षमा करते रहते हैं, इस क्षमाके प्रभावसे ही तो वे पारमेष्ठ्य पद पर अवस्थित हैं।"

परशुरामजी ने कहा—"महाराज! जिस क्षमासे अपना धर्म-कर्म ही लुप्त हो जाय उस क्षमाको तो मैं उचित समझता नहीं।"

डाँटकर जमदग्निजी ने कहा—"तुम क्या बकबक करते हो। तुमने क्षमाका कुछ महत्व भी समझा है या वैसे ही बडबडा रहे हो। अरे, क्षमावान् के धर्मको भला कोई नष्ट कर सकता है? ब्राह्मणकी ब्रह्मसम्पत्ति क्षमाके कारण और भी चमचम करके चमक उठती है। जिसके हाथ में क्षमा रूपी शस्त्र है, उसका कोई भी शत्रु कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। तुमने शस्त्रसे किसी के पिता को मार दिया, कल कोई तुम्हारे पिता को मार देगा। यह तो कीचको कीचसे धोना हुआ। क्षमावानों के लोक-परलोक दोनों बन जाते हैं। इस लोक में क्षमा शीलकी प्रशंसा होती है, मरकर उन्हे पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है, क्षमावानो पर श्रीहरि शीघ्र प्रसन्न होते हैं। जाओ तुम तीर्थ यात्रा करो, भगवान् भजन करो, अपने पापका प्रायश्चित करो।"

इस प्रकार महर्षि जमदग्नि ने परशुराम जी को क्षमाका उपदेश दिया। ब्राह्मण की श्रेष्ठता बल के कारण नहीं है, क्षमा के कारण है। जो ब्राह्मण जितना ही क्षमाशील होगा, वह उतना ही श्रेष्ठ माना जायगा। सातवाँ ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण है, 'ऋजुता।'

(७) ऋजुता—ऋजुता कहते हैं, कोमलता को। ब्राह्मण का हृदय कभी कठोर नहीं होता। उसका चित्त नवनीत के सदृश कोमल और स्निग्ध होता है, उसे कभी किसी बात पर क्रोध आ भी जाता है, तो वह पानीकी लकीटर के सदृश तुरन्त मिट जाता है। उसके हृदय में द्वेष को संग्रह करके रखने की क्षमता नहीं

होती। देखा गया है, कभी-कभी ब्राह्मण क्रोध में भरकर शाप भी भी दे देते हैं, किन्तु उसी समय कोई अनुनय विनय करता है, तो उनका कोमल चित्त पिघल जाता है। अपनी वाणी की सत्यता की रक्षाके लिये कुछ थोडा बहुत बता देते हैं, नहीं तो उसे तुरन्त क्षमा भी कर देते हैं।

अपने गुरुको दक्षिणा देना पढ़ने के अनन्तर शिष्यका आवश्यक कम माना जाता है। महर्षि वेद का शिष्य उत्तङ्क था। उसने गुरु से प्रार्थना की 'मैं आपको क्या गुरु दक्षिणा दूँ' गुरु ने कहा—"मेरी पत्नी जो कहे वही लादो।"

उत्तङ्क गुरु पत्नी के समीप गया। और पूछा—"माताजी गुरु दक्षिणा मे आप जो भी चाहें वही मैं लादूँ।" स्त्रियो को तो आभूषण ही बहुत प्रिय होते हैं, किसी यज्ञ में वेद मुनि की पत्नी ने राजा पौष्य की पटरानी के कानों मे दिव्य कुंडल देखे होंगे, उसके मनपर चढ गये होंगे। उसने कहा—"तू मेरा प्रिय करना चाहता है। तो आज के चौथे दिन मेरे यहाँ श्राद्ध है। मैं चाहती हूँ। उन कुडलों को पहिनकर ब्राह्मणो को भोजन परोसूँ। तू जैसे बने तैसे उस रानीसे कुंडल माँगला, यही तेरी गुरु दक्षिणा है।

ब्रह्मचारी उत्तङ्क साहसी और सामर्थ्यवान् था। वह राजा पौष्य के यहाँ गया, उसने अपने आने का कारण सुना दिया। योग्य पात्रो के लिये पहिले राजाओं के यहाँ कुछ अदेय नहीं समझा जाता था। राजा ने ब्रह्मचारी को रानी के समीप भेज दिया। रानी ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए वे दिव्य कुंडल जिनमें से सदा अमृत चूता रहता था ब्रह्मचारी को दे दिये।

अब इतना बडा योग्य अतिथि आया है। राजा उसका बिना आतिथ्या किये कैसे मानने वाला था। राजा ने बहुत आग्रह किया—"ब्रह्मन्! बिना भोजन किये आप नहीं जा सकते। उत्तङ्क

मुनि ने बहुत कहा—"राजन्! आपने मेरी मनोकामना पूर्ण कर दी इससे बड़ा और आतिथ्य क्या होगा। यदि मैं समय से इन कुंडलों को लेकर न पहुँचातो गुरुपत्नी मुझे शाप दे देंगी। किन्तु राजा ने कहा—"नहीं ब्रह्मन! अतिथि घर पर आवे और बिना खाये चला जाय, यह हो नहीं सकता।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, जो तुम्हारे यहाँ तैयार हो, वही ले आओ।"

राजा ने दासियों को आज्ञा दी, वे भोजन ले आयीं। भोजन एक तो ठंडा था, फिर उसमे बाल पड़े थे। मुनि जाने की शीघ्रता में थे, ऐसा अयोग्य भोजन देखकर उन्हें कुछ क्रोध आ गया और वे बोले—"राजन्! तुम बाल पड़ा हुआ बासी अयोग्य अन्न मुझे खाने को देते हो जाओ तुम अन्धे हो जाओ।"

राजा भी सामर्थ्यवान् था। उसने कहा—"तुम मेरे शुद्ध अन्न में दोष लगाते हो जाओ तुम्हारे कभी सन्तान ही न हो।"

तब मुनि ने कहा—"राजन्! आप मुझे निरपराध दोष देते हैं, आप इस अन्न को देख तो लें।" यह सुनकर राजा ने उस अन्न को देखा। वह ठंडा था, बासी था उसमें बाल पड़ा था। तब तो राजा ने मुनि के पैर पकड़ लिये और कहा—"अवश्य यह अन्न न खाने योग्य है, आप ऐसा करें, कि मैं अन्धा न होऊ।"

पैर पकड़ते ही मुनि प्रसन्न हो गये और अत्यंत नम्रता के साथ बोले—"राजन्! मैंने तो कभी हँसी में तथा स्वप्न मे भी झूठ नहीं बोला। अतः अन्धे तो आप नाम मात्र को हो ही जायँगे, किन्तु एक दो दिन में फिर दीखने लगेगा। फिर आप ज्यों के त्यों हो जायँगे। मैंने तो अपना शाप लौटा लिया। अब आप भी अपना शाप लौटालें, जिससे मैं सन्तान हीन न होऊ।"

यह सुनकर सूखी हँसी हँसकर राजा पौष्य बोले—"ब्रह्मन्!

मैं अपने शापको नहीं लौटा सकता। मेरा क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ।"

उत्तङ्क मुनि ने पूछा—"आप क्यों नहीं शापको लौटाते।"

तब राजा ने कहा—"देखिये, ब्रह्मन्! ब्राह्मण का हृदय नवनीत के समान कोमल होता है। उसकी वाणी में कटुता कभी भले ही आजाय, किन्तु हृदय उनका ऋजुतासे सदा परिपूर्ण रहता है। क्षत्रिय का हृदय तीक्ष्ण होता है। अतः मैं अपने शापको नहीं लौटाऊँगा।"

इसपर हँसकर ब्राह्मण ने कहा—"तुमने मुझे मिथ्याशाप दिया है, अकारण दिया है। वह मुझे लगेगा ही नहीं।"

यहाँ इस कहानी के कहनेका इतना ही तात्पर्य है, कि ब्राह्मण की वाणी में कभी भले ही तीक्ष्णता आजाय, किन्तु उसके हृदयमें सदा कोमलता भरी रहती है। अब आठवाँ गुण है 'भगवत—भक्ति।'

(८) भगवद्—भक्ति अपने योगक्षेम की कुछ भी चिन्ता न करके भगवान् के ही आश्रय रहकर स्वधर्मका पालन करते रहना यही भगवद्-भक्ति है। लोगों को इस बात का भ्रम है कि बिना धन के धर्मका पालन कैसे होगा। इसलिये धन प्राप्ति के लिये वे भगवान् के भरोसे को भूल जाते हैं। धर्म का महत्व विशेष धन व्यय से नहीं होता, वह तो शुद्ध भावना से होता है।

ब्राह्मण भगवद्भक्तिसे ही सर्वमान्य होता है। यदि चारों वेद पढ़ लिये और भगवान् की भक्ति न हुई तो उसका वेदाध्ययन निरर्थक है। यदि भगवान्की भक्ति है, तो सब गुणों की शोभा बढ़ जाती है। नवम गुण ब्राह्मण का है 'दया'।

(९) दया—दूसरों को दुखी देखकर उसके दुख को दूर करने की भावनाका नाम है, दया। जिसके हृदयमें दीन दुखियोंके प्रति दया है, वह नर रूपमें नारायण है। सुनते हैं, किसी अत्यंत व्रत और तपस्या धारी मुनिको उनके किसी तनिक से अपराधके पीछे

नरकके मार्गसे लेजाया जा रहा था। उनके शरीर की वायु लगते ही जितने नरकवासी प्राणी थे, सबके सब परम प्रमुदित हुए। जब वे जाने लगे—"तो नरकवासी अत्यत दुखित होकर रोने लगे। तब उन व्रतधारी दयालु मुनि ने पूछा—'दूतो! ये नरकवासी अभी-अभी तो बडे प्रसन्न थे, अब रोने क्यों लगे।"

दूतों ने बताया—"महानुभाव! आप धर्मात्मा हैं, दयालु है, आपके शरीर की दिव्य वायु लगने से नरकमे भी इन्हे परम सुख मिला अब जब आप जा रहे हैं, तो ये दुखी हो रहे हैं।"

यह सुनकर उन दयालु महानुभाव ने कहा—"मुझे पुण्यलोकोंमे अब नहीं जाना है, मैं तो अब यहीं नरकमे रहकर सबके बदले का दुख सहूँगा। धर्मराज से कह दो इन सब पापियों को नरकसे मुक्त कर दो, इनके सबके बदले मुझे अनत काल तक जितना दुख सहना पडेगा मैं सहूँगा।"

धर्मराज ने ऐसा ही किया, नरक खाली होगया। तब उन दयालु व्रतधारी महानुभाव ने पूछा—"मुझे अब जबतक नरक मे रखना हो आप रखें।"

यह सुनकर धर्मराजने कहा—"महानुभाव! इस दया के कारण तो आप का धर्म करोडो गुना और बढ गया। अब आप अक्षय लोकों के अधिकारी हो गये।"

कहने का साराश इतना ही है कि दयावान् जहाँ भी जायगा वहाँ दया करेगा और जो सभी प्राणियो पर अधिक दया दिखावेगा। ब्राह्मण मे दया गुण स्वाभाविक होता है। जिस ब्राह्मण का हृदय दूसरों के दु ख को देखकर द्रवित नहीं होता, वह नाममात्र का ब्राह्मण है। दया के कारण ही ब्राह्मण सर्वोत्तम कहे जाते हैं। दशवा नैसर्गिक गुण ब्राह्मणो मे है 'सत्य'।

(१०) सत्य—सत्य उसे कहते हैं, जो जैसे देखा सुना या अनुभव किया हो उसे वैसे ही कहना, बताना। ब्राह्मण की सत्य

में स्वाभाविक रुचि होती है। इस विषय में एक वैदिक आख्यान है।

सत्यकाम नामक एक ब्रह्मचारी हारिद्रुमत गौतम नामक एक आचार्य के समीप गया और जाकर उसने साष्टाग प्रणाम करके उनसे कहा—"भगवन्! मैं आपकी चरण सन्निधि मे रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन करना चाहता हूँ।"

आचार्य ने पूछा—सौम्य! तुम किस गोत्र मे उत्पन्न हुए? तुम्हारे पिता का गोत्र क्या है?

उसने कहा—ब्रह्मन्! "मेरे पिता तो हैं नहीं, मेरी माता हैं, मैंने उनसे पूछा था—"गुरुजी यदि मेरा गोत्र पूछे तो मैं क्या उत्तर दू?"

इस पर मेरी माता ने कहा—"बेटा! मेरी जब युवावस्था थी, तब मैं परिचारिगी थी, बहुत कामधन्धा किया करती थी। उसी समय मैंने तुझे प्राप्त किया। मैं यह नहीं जानती तू किस गोत्र वाला है। मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है।"

इतना सुनते ही आचार्य ने बालक को छाती से चिपटा लिया और बोले—"बेटा! निश्चय ही तू ब्राह्मण है तू किसी ऋषि के वीय से उत्पन्न हुआ है। ब्राह्मण के बिना ऐसा यथार्थ सत्य स्पष्ट भाषण कोई कर ही नहीं सकता, तू समिधा ले आ मैं तेरा उपनयन संस्कार करूँगा। जबाल का पुत्र होने से आज से तेरा नाम "सत्यकाम जाबाल" हुआ।

कहने का साराश इतना ही है कि ब्राह्मण में सत्य बोलने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही होती है।

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! इस प्रकार ब्राह्मण में शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य ये स्वाभाविक जन्म जात गुण होते हैं। इन्हें ब्राह्मणबालक पेट से ही सीख कर आता है। जिसमें जितने

ही न्यून गुण होंगे उसमें उतनी ही त्रुटि होगी। यह मैंने ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव कहे, अब मैं ब्राह्मण के धर्म और वृत्ति को बताता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान् ने ब्राह्मण की वृत्ति और धर्म का वर्णन किया उसे मैं आप से कहता हूँ।"

छप्पय

होवे मृदुल स्वभाव भक्ति मेरी हिय धारै।
सब जीवनि पै दया करैं नहिं जीवन मारैं॥
सदा सत्य व्यवहार विप्रके ये ही सब गुन।
इन गुन तें ही करैं जगत कूँ वशमहँ द्विजगन॥
द्विज स्वभाव मैंने कहे, ब्राह्मण तन महँ रहहिं सब।
करै वृत्ति कैसी रहै, सुनो विप्रको धर्म अब॥

—:o:—

ब्राह्मण वृत्ति और धर्म

(१२७३)

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्ण द्विज तीनि कहावैं।
यज्ञ, दान, अध्ययन तीनि को धर्म बतावैं॥
पढ़ैं विप्र सब वेद द्विजनिकूँ फेरि पढ़ावैं।
स्वयं यज्ञ नित करैं द्विजनिकूँ यज्ञ करावैं॥
देहिँ दान श्रद्धा सहित, लेहिँ विवश ह्वै वृत्ति हित।
रहैं तपस्या महँ निरत, परमारथ महँ रखहिँ चित॥

धर्म और सबकी वृत्तियाँ पृथक् पृथक् बनायी गयी हैं। आर्य वैदिक सनातन धर्म में वर्णाश्रम के ऊपर बहुत ही गंभीरता के साथ विचार किया गया है। यह मनुष्य प्राणी जितना ही अधिक

---

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी कह रहे हैं—"उद्धव! यज्ञ करना, दान देना और वेद पढ़ना ये तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के ही लिये विहित धर्म हैं। किन्तु दान ग्रहण करना, वेदों को पढ़ाना और यज्ञ करना इन कार्यों को ब्राह्मण ही करें।"

बुद्धिमान है उतना ही अधिक उच्छृंखल भी है। यदि इसे धर्मका भय न हो तो यह पशुसे भी बढ़कर हो सकता है। और धर्मको पकड़े रहे तो यह संसार में रहकर भी जीवन्मुक्त हो सकता है। हमारे यहाँ धर्म शब्द अत्यंत व्यापक है। इसमें स्वभाव, वृत्ति, कर्तव्य, सदाचार तथा पूजा पद्धति सभीका समावेश है। जलका धर्म शीतलता है, अग्निका धर्म उष्णता है, यहाँ धर्म शब्द व्यवहार में व्यवहृत हुआ है। ब्राह्मणका तो दान लेना धर्म ही है। यहाँ धर्म वृत्ति अर्थ में लिया गया है। कोई राज कर्मचारी अपने पद पर स्थित है, किसीकी उसने सहायताकी उसने उसके प्रति कृतज्ञता प्रकटकी तो राज कर्मचारी कहेगा—"इसमें धन्यवादका मैंने कौनसा कार्य किया। यह तो मेरा धर्म ही है। यहाँ धर्म कर्तव्य पालनके अर्थ में व्यवहृत है। अपने गाँवकी लड़की दूसरे गाँव में विवाही है। धर्मभीरुपुरुष उस गाँव में जाता है लोग उससे खाने पीनेको कहते हैं, तो वह कहता है, इस गाँव में तो हमारी लड़की विवाही है। यहाँका जल पीना धर्मके विरुद्ध है। यहाँ सदाचारके अर्थमें लिया गया है। कोई आदमी बहुत पूजा पाठ करता है, लोग कहते हैं वह बड़ा धार्मिक है। यहाँ धर्म पूजा पद्धतिके लिये व्यवहार किया गया है। एक आदमी है, झूठ-सच बोलता है, बुरे कर्म भी करता है, किन्तु किसीके हाथका छुआ भोजन नहीं करता। किसी दिन उसने रोटी बनाकर रखी, किसी दूसरे ने उन्हें छू दिया, तो वह बिगड़कर कहता है—"हमने इतने दिन नौकरीकी, झूठ बोला, चोरी करी, व्यभिचार किया, किन्तु अपना धर्म नहीं छोड़ा।"

यहाँ धर्मका अर्थ कुल परम्परागत भोजनकी छूआ-छूतसे है। इस प्रकार धर्म शब्द बड़ा व्यापक है। इसीलिये धर्मके साथ कुछ लगा देते हैं, जैसे राजधर्म ब्राह्मणधर्म, वैश्यधर्म, वर्णधर्म कहने से उस वर्णका कर्तव्य और उस वर्णकी आजीविका से है। जिस

वर्णकी जो आजीविका निश्चय करदी है, उसे उसी आजीविका से निर्वाह करना चाहिये। यदि उस आजीविका से निर्वाह नहीं होता, तो उसके लिये आपद्धर्म पृथक् है। सामान्यतया तो जिसकी जो वंश परम्पराकी आजीविका हो, उसे उस आजीविका का परित्याग नहीं करना चाहिये। किसीका वंश परम्परागत काम बर्तन बनानेका है, कपड़े सीनेका है या खेती करनेका है, तो उसे अपने पैतृक धंधेको कभी भी न छोड़ना चाहिये चाहें वह दोष युक्त और नीचही कर्म क्यों नहो। महाभारत में व्याधगीता है। जातिका व्याध था, उसका वंशपरम्परा का काम मांस वेंचना था। उसने उसे नहीं छोड़ा। इस कार्यको करते हुए भी वह महान् ज्ञानी हुआ। अच्छे-अच्छे ब्राह्मणोंको उपदेश देता था। उसने अपना पैतृक धर्म नहीं छोड़ा। हाँ यदि किसीका पैतृक कर्म चोरी करना हो, मदिरा मांस वेचना हो, नाटकों में स्त्री बनकर या राजा बनकर उससे धन कमाना हो, लोहे या चमड़ेका व्यापार करना हो, ये यदि पैतृक कार्य भी हों और इन्हें कोई छोड़ दे तो उसे दोष नहीं लगता। अन्यथा पैतृक कार्योंको छोड़ने से दोष लगता है। इससे समाज में शान्ति नहीं रहती। लोगों में प्रतिस्पर्धा बढ़ती है, एक दूसरेकी आजीविका छीनना चाहते हैं, संघर्ष होता है, अशान्ति बढ़ती है। जब लोग अपने-अपने धर्मोंको छोड़कर पर धर्मोंको अपनाते हैं, परस्पर में कलह करते हैं उसीका नाम कलियुग है। कलियुगके अन्तमें वर्ण धर्म नहीं होता। सब एक वर्णके म्लेच्छ हो जाते हैं। या आदि सतयुग में जब विशुद्ध धर्मही धर्म रहता है तब भी वर्णोंका विभाग नहीं रहता। बीचके समयों में तो वर्णाश्रम धर्मोंका पालन अत्यावश्यक है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! ब्राह्मणोंका स्वभाव वर्णन करनेके अनन्तर भगवान् वासुदेव उद्धवजी से ब्राह्मणधर्म का तथा उनकी वृत्तिका वर्णन करते हुए कहने लगे—"उद्धव! ब्राह्मण, क्षत्रिय

और वैश्य इन तीनोंकी ही द्विज संज्ञा है। द्विज उसे कहते हैं जिसका दो बार जन्म हो। जैसे पक्षियोंका एक बार तो तब जन्म होता है जब वे अंडाके रूपमें माताके पेटसे निकलते हैं। कुछ दिनों में जब अंडा पक जाता है, तो अंडाके फूटने पर फिर उनका दुबारा जन्म होता है, इसलिये पक्षियोंका भी नाम द्विज है। दाँतोंको भी द्विज कहते हैं एक तो बालकपन में दूधके दाँत निकलते हैं, कुछ दिनमें वे गिर जाते हैं, तो पक्के दाँत निकलते हैं, इसलिये दाँतोंकी भी द्विज संज्ञा है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके बालकोंका एक जन्म तो माताके उदरसे जब बाहर आते हैं तब होता है। दूसरा जन्म जब शिक्षा दीक्षा लेकर गुरुकुल से बाहर आते हैं तब होता है। शूद्रोंके लिये गुरुकुलवासकी आवश्यकता नहीं समझी जाती थी, इसलिये वे द्विजेतर शूद्र कहलाते है।"

जिनकी द्विज संज्ञा है उन तीनों का धर्म एक ही है। जैसे वेद पढ़ना तीनोंका ही धर्म है। यज्ञ करना तीनोंको ही आवश्यक है, तीनोंका ही कर्तव्य है।

उद्धवजी ने पूछा—"जब तीनोंका धर्म एक ही है, तो फिर इनकी पृथक्-पृथक् संज्ञा क्यों है?"

भगवान् ने कहा—"वृत्तिके कारण इनकी पृथक्-पृथक् संज्ञा होगयी है। स्वभाव भी तीनोंका पृथक्-पृथक् होता है। स्वभाव वर्णन तो मैं कर चुका अब ब्राह्मणकी वृत्तिका वर्णन करता हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! ब्राह्मण जन्म से माना जाता है या कर्मसे?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! जन्म और कर्म दोनोंसे ही ब्राह्मण माना जाता है। ब्राह्मणके वीर्यसे ब्राह्मणी में जो उत्पन्न हो, जिसके ब्राह्मणोचित संस्कार हुए हों और जो ब्राह्मणों के से कर्म करता हो वही ब्राह्मण है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन ! कोई आदमी है, उसका जन्म तो ब्राह्मण वंश में हुआ है, किन्तु वह कर्म करता है म्लेच्छों जैसे तो उसे ब्राह्मण कहें या म्लेच्छ ?"

भगवान् ने कहा—"जन्मसे तो वह ब्राह्मण है ही, किन्तु कर्मोंके द्वारा वह पतित हो गया है। ऐसे ब्राह्मण धर्मको पतितही मानना चाहिये। राजा उससे बेगार करा सकता है। फिर भी उसकी संज्ञा तो ब्राह्मण ही रहेगी। उसके विपरीत जो शूद्र है, किन्तु गुणों में ब्राह्मणोंसे भी अधिक है तो उसका ब्राह्मणवत् आदर सत्कार करना चाहिये। किन्तु उसे अनायत् काल में अपनी वृत्तिका परित्याग न करना चाहिये। शूद्रको कभी आपत्ति में भी ब्राह्मण वृत्तिको न स्वीकार करना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना यह तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंका धर्म हुआ, अब ब्राह्मणकी वृत्ति क्या है। वह अपना योगक्षेम कैसे चलावें। निर्वाह कैसे करें ?"

भगवान् ने कहा—"ब्राह्मण वेदों को पढ़कर स्वयं भी वेद पढ़ावें। जो ब्रह्मचारी उसके समीप वेदाध्ययन के निमित्त आवें। वे नित्य भिक्षा लावें, उसी भिक्षा मे से आचार्य ब्राह्मण भी निर्वाह करे। ब्राह्मण वेतन लेकर किसीका नौकर बनकर अध्ययन न करावे। वह स्वयं समर्थ होकर अपने शासन में छात्रोंको रखकर पढावे।"

उद्धवजी ने कहा—"यदि भगवन् ! इससे निर्वाह न हो तो ?"

भगवान् बोले—"तब एक काम करे, जो लोग यज्ञ करावें, उनके यज्ञादि करके उनसे जो दक्षिणा मिले, उससे निर्वाह करे। द्विजोंके संस्कार कराके अथवा नित्य नैमित्तिक तथा काम्य यज्ञोंको कराके उसकी दक्षिणासे अपना निर्वाह करे।"

उद्धवजी ने पूछा—'भगवन्! यदि दक्षिणा द्रव्यसे भी काम न चले, तब क्या करे।"

भगवान् बोले—"तब सत्पात्रसे श्रद्धापूर्वक दान लेकर उसीसे कार्य चलावे। दान लेना ब्राह्मणके लिये उत्तम पक्ष नहीं है। नित्य दान प्रतिग्रह लेनेसे ब्रह्म तेज नष्ट हो जाता है। अतः दान लेने में ब्राह्मणको कभी भी रुचि न दिखानी चाहिये। यथा शक्तिदानसे बचे ही रहना चाहिये। यदि अध्यापन यज्ञ कराने या दान लेने में परावलम्बन अनुभव हो या दीनता दिखायी दे, तो सर्वोत्तम पक्ष तो यह है, कि शिलोञ्छ वृत्तिसे ब्राह्मण निर्वाह करे।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! शिलोञ्छवृत्ति क्या होता है?"

भगवान् बोले—"खेत में से जब किसान अन्न काट ले जाय और उसमें जो कुछ शेष रह जाय, उसे बीनकर उसीसे निर्वाह करनेका नाम शिलवृत्ति है। जो अन्न खेत में शेष रह जाता है उसका नाम शिला है। उञ्छ उसे कहते हैं कि जहाँ अन्न बिकता हो, उस स्थान में चला जाय, अन्न बेचते समय इधर-उधर जो दाने छिटक जायँ उन्हींको कबूतरकी भाँति बीन लावें। उस अन्नका नाम उञ्छ है। कबूतरकी भाँति अन्न चुगकर उससे निर्वाह किया जाता है, इसलिये इसका नाम कापोती वृत्ति भी है। ऐसे कापोती वृत्ति वाले ब्राह्मण बड़े दुर्लभ हैं, उनका तप निस्पृहताके कारण नित्य प्रति बढ़ता ही जाता है। कलियुग में ऐसे ब्राह्मण देखनेको न मिलेंगे केवल उनकी कथा शेष रह जायगी।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! कोई ब्राह्मण शिलोञ्छ वृत्तिसे निर्वाह करे तो उसे दिनभर तो दाने ही बीनने में लग जायगा। कब पूजापाठ करे, कब पुस्तकें लिखे, कब दूसरे मनोरंजनके सांसारिक कार्य करे?"

हसकर भगवान् ने कहा–"दिनभर लग जाय, तो क्या हानि ? यह भी तो तप ही है। उसका जीवन ही सबसे बड़ा ग्रन्थ है तपस्वी ब्राह्मणको संसारी भोग और मनोरंजनकी आवश्यकता नहीं रहती। ब्राह्मणका शरीर तपस्याके लिये बनाया ही गया है, उसे सुख तो परलोक में जाकर मिलेगा। इस प्रकार जो ब्राह्मण सन्तोष पूर्वक दीनता और परावलम्बनसे रहित होकर अपने अति निर्मल महान् धर्मका निष्काम भावसे पालन करता है, वह सर्वात्म भावसे मुझे ही आत्मसमर्पण करके अनासक्त भावसे अपने घर में ही रहता हुआ परम पदका अधिकारी बन जाता है। उसका जीवन तो त्याग और तपस्यामय है ही। वह चाहें वानप्रस्थ या सन्यास आश्रम न भी धारण करे तो भी उसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्। ऐसे ब्राह्मण पर प्रारब्ध वश कदाचित् विपत्ति आजाय, तो समाजका क्या कर्तव्य है।"

भगवान् ने कहा—"उस समय समाजका महान् कर्तव्य है कि ऐसे आपत्तिग्रस्त भक्त ब्राह्मणकी सब प्रकारसे सहायता करे। ऐसे ब्राह्मणकी जो सहायता करते हैं, उनकी सहायता मैं करता हूँ, जो उन्हें संसारी दुःखोंसे उबार लेते हैं, उन्हें मैं संसार सागरसे सदाके लिये उबार लेता हूँ। विचारवान् शासकको ऐसे तपस्वी, ज्ञानी ब्राह्मणोंका ध्यान रखना चाहिये। वह शासक शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, जिसके शासन में बुद्धिजीवी, तपस्वी, सुयोग्य ब्राह्मण धनके कारण क्लेश पाते हैं। जो राजा ऐसे योग्य व्यक्तियोंका ध्यान रखता है वह सूर्यके समान प्रकाशित हो जाता है। इस लोक में

उसकी विपुलकीर्ति होती है। मरकर स्वर्गमें इन्द्रके समान स्वर्गीय ऐश्वर्यको भोगता है।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! यह तो आप सत्ययुग, त्रेता और द्वापर आदि युगोंकी बात कह रहे हैं। कलियुग मे तो खेत में बचे अन्नको शूद्र बीना करेंगे। अन्नके दाने भी तपस्वियोंको अन्नकी मंडी मे न मिलेंगे। यज्ञ कोई करावेगा नहीं, वेद पढ़ेगा नहीं, दान देने मे रुचि न होगी। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण अपना निर्वाह कैसे करें?"

भगवान् ने कहा—"उद्धवजी! तब ब्राह्मणको आपद धर्मका आश्रय लेना चाहिये। वह खेती करे, गौसेवा करके उससे जीविका चलावे, व्यापार करे, लोहे, तेल तथा अन्यान्य रसोंका व्यापार न करे। जहाँ तक हो ब्याजसे निर्वाह न करे।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! इतनेसे भी निर्वाह न हो, तो क्या करे?"

भगवान् ने कहा—"तब निर्वाहके लिये आजीविकाके लिये क्षत्रिय वृत्ति भी धारण करले। अस्त्र शस्त्र लेकर युद्ध करे, किन्तु नीच वृत्ति कभी न करे। जैसे पहरेदारी करना, इधरसे उधर वस्तु ले जाना। धनिकोंके पानी भरना या और भी हेय कर्मोंको करना। इन कार्योंके करनेसे ब्राह्मण पतित हो जाता है। श्वानवृत्ति करनेसे ब्राह्मणका ओज, तेज सभी नष्ट हो जाता है। इसलिये ब्राह्मणको शक्तिभर अपनी ब्राह्मणताका पालन करते हुए आपद् धर्मोंका पालन करना चाहिये।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैंने ब्राह्मणका स्वभाव धर्म और वृत्तिके सम्बन्ध में तो सुना। अब आप क्षत्रियका स्वभाव धर्म और उनकी वृत्तियोंको मुझे और बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवके पूछने पर भगवान् ने जैसे क्षत्रियके स्वभाव आदिका वर्णन किया उस कथा प्रसंगको मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

विप्रवृत्ति तजि नहीं नीच कारज अपनावै।
गौ कृषि अरु व्यापार वृत्ति तें काज चलावै॥
अथवा लैकें शस्त्र युद्ध महँ लड़िवे जावै।
धर्मयुद्ध तें कबहुँ पैर पीछे न हटावै॥
आपद् धर्म अनेक हैं, सदाचार कबहुँ न तजै।
कर्म वचन मन तें सदा, अवचारी हरिकूँ भजै॥

—:*:—

क्षत्रिय स्वभाव

(१२७४)

तेजो बल धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

क्षत्रिय वर्ण स्वभाव सुनो उद्धव मोतैं अब ।
तेजस्वी, बलवान्, धीर अति, सहै दुःख सब ॥
शूरवीर रणधीर दान महँ रुचि नित राखै ।
होवै परम उदार दीन वानी नहिँ भाखै ॥
करत रहै उद्योग नित, थिरता रखि कारज करै ।
दीन दुखिनि के दुख कूँ, स्वय दुख सहिकें हरै ॥

दूसरों की रक्षा या तो बल से की जाती है या तप से । जिसमे बल नहीं, तप नहीं, वह कितना भी बुद्धिमान् क्यों न हो, पर मुखापेक्षी बना रहेगा । उसे अपने जीवन निर्वाह के लिये दूसरों का सहारा लेना पडेगा ।

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता और ऐश्वर्य ये क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव हैं ।"

तपस्या और बल से रहित पुरुषों की क्षमा वास्तविक क्षमा नहीं, निर्बलता है। अतः जिस राष्ट्र को अपना अस्तित्व बनाये रखना है, उसे सर्वप्रथम शक्ति संचय करना चाहिये। जिस राष्ट्र में क्षात्र धर्म जितना ही न्यून होगा, वह राष्ट्र उन्नति की दौड़ में उतना ही अग्रणी समझा जायगा। समस्त राष्ट्रों का संगठन, विगठन उसके क्षात्र धर्म पर ही अवलम्बित है।

सूतजी नैमिषारण्य निवासी ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से क्षत्रिय स्वभाव के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—"उद्धव! क्षत्रियों में जन्म जात कुछ गुण होते हैं। उनकी स्वाभाविकी प्रकृति सम्बन्धी जो गुण हैं उनका मैं अत्यत संक्षेप में वर्णन करता हूँ।

(१) तेज—क्षत्रिय में जन्मजात तेज होता है। तेज उसे कहते हैं, जिसे देखकर आततायी स्वयं ही भयभीत हो जायँ, जिससे आँख मिलाने का किसी को साहस न हो। एक राजा थे, वे एकाक्षी थे और उनके मुख पर शीतला के दाग भी थे। उनके समीप रहने वाले एक सेवक से किसी ने पूछा—"क्यों भाई! तुम्हारे स्वामी एकाक्षी है?"

उसने कहा—"नहीं तो, मुझे तो पता नहीं कि उनके एक आँख नहीं है।"

पूछने वाले व्यक्ति ने कहा—"नहीं, अवश्य ही वे एकाक्षी हैं।"

सेवक ने कहा—"होंगे, मैं तो उनके समीप इतने दिनसे हूँ मेरा तो कभी साहस ही नहीं हुआ कि उनके मुख की ओर देख सकूँ।"

इस कहानी के कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि सच्चा क्षत्रिय तेजस्वी होता है, उसके सम्मुख आँख उठाने का किसी का साहस नहीं होता था। राजा नहुष ऐसा तेजस्वी था कि जिसकी ओर देख लेता, उसका तेज हर लेता था। ऋषियों ने उसे जो शाप

दिया वह छिप कर दिया। क्षत्रिय को देखकर दस्यु भग जाते थे। महाराज वैन यद्यपि क्रूर और नास्तिक था, किन्तु तो भी इतना तेजस्वी था कि दस्यु उसके नाम से भग जाते थे। जो राजा तेजस्वी न होगा, उसका शासन बहुत दिन नहीं चलता। लोग क्षात्र धर्म के तेज के कारण ही अधीनता मानते हैं। दूसरा क्षत्रिय का स्वाभाविक गुण है 'बल'।

(२) बल—बल के तीन भेद है सह, ओज और बल। शारीरिक बल का नाम बल है, इन्द्रिय बल का नाम ओज हैं और मानसिक बल का नाम सह है। क्षत्रिय मे तीनों ही बल होते हैं। वह शारीरिक बल में भी अन्य प्राणियों से बलवान् होता है। सुनते हैं भीम, दुर्योधन, कंस तथा जरासन्ध आदि अनेको राजाओं में दश-दश सहस्र हाथियों के बराबर बल था। अन्धे धृतराष्ट्र में इतना बल था कि दशसहस्र हाथी के बल वाले भीम को यदि वह छाती से लगा कर मसल देता तो उसकी चटनी हो जाती। भीम के भ्रम में उसने लोहे की भीम की मूर्ति को कस कर दबा दिया इससे उसके खण्ड-खण्ड हो गये। जो राजा स्वयं बलवान् न होगा, वह निर्बलों की रक्षा कैसे कर सकेगा।" तीसरा क्षत्रिय का गुण है 'धैर्य'।

(३) धैर्य—विपत्ति आने पर भी जो अत्यंत दुखी न हो, उसे भाग्य का खेल समझकर सह ले वही धैर्यवान् कहलाता है। ऐसे क्षत्रियों के इतिहास पुराणों मे अनेको दृष्टान्त हैं कि उनके पुत्र का कटा सिर सम्मुख पड़ा है, किन्तु वे अपने धर्म से विचलित नहीं हुए हैं। स्वयं कमर कस कर युद्ध में कूद पड़े हैं। विपत्ति में धैर्य रखना यह क्षत्रिय का परम गुण है। पांडव राजकुमार होकर वन-वन भटकते रहे, किन्तु उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा। एक राजा का राज्य छिन गया। सर्वस्व चला गया। किसी ब्राह्मण ने उससे पूछा—"राजन्! अब आपके पास रह ही क्या गया है?"

उसने कहा—"ब्रह्मन्! मेरे पास अब एक मात्र धैर्य ही शेष है।"

ब्राह्मण ने कहा—"महाराज! यदि आप के पास धैर्य है तो सब कुछ है। अभी आपका कुछ भी बिगडा नहीं है।"

राजाके धैर्यका ही परिणाम यह हुआ कि उसके बिछुडे हुए स्त्री बच्चे मिल गये। अपने सम्बन्धी राजाओं की सहायता से उसने पुनः अपना गया हुआ राज्य प्राप्त कर लिया। राजा का चौथा गुण है 'वीरता'।

(४) वीरता—क्षत्रिय बालक जन्म से ही वीर होता है। अभिमन्यु ने माता के गर्भ में ही वीरता की कहानियाँ सुनकर चक्रव्यूह भेद का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। क्षत्रिय बालकों को वीरता की बातें बतानी नहीं पडती थीं, वे पेट में से ही सीखकर आते थे। शकुन्तला का पुत्र भरत जब दो तीन ही वर्ष का था तभी सिंहो के कान पकड़कर उन्हे पेडों से बाँध देता था, क्योंकि वह वीरवर महाराज दुष्यन्त के वीर्य से उत्पन्न हुआ था। जिसमे स्वाभाविक वीरता नहीं वह क्षत्रिय कहलाने का अधिकारी ही नहीं। क्षत्रिय का पाँचवा गुण है 'सहनशीलता'।

(५) सहनशीलता—यद्यपि क्षत्रिय सदा सुख मे पलते हैं, किन्तु तो भी वे सुख दुख को समान ही मानते हैं। अवसर आने पर दुःखों को वे हँसते-हँसते सहते हैं। युद्ध मे बाण के ऊपर बाण छूटते हैं, सब अङ्ग बाणों से विंध जाते हैं, किन्तु उन्हें वीरोचित सहनशीलता के कारण वे कुछ भी नही समझते। मैंने अपनी आँखो से भीष्मपितामह की सहनशीलता देखी थी। उनके शरीर में तिल रखने को भी ऐसा स्थान नहीं था, जहाँ बाण न लगे हों, सम्पूर्ण शरीर में बाण चुभ रहे थे। बाणो की शैया पर वे अधर मे लटके हुए थे, घावों मे अत्यंत वेदना हो रही होगी, किन्तु उनके मुख से आह भी नहीं निकलती थी। यही नहीं हम सब लोग उन्हे घेर कर बैठ गये तो उसी असह्य वेदना में उन्होने अपनी सहनशीलता का महान् परिचय दिया। धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर समस्त शान्ति पर्व की कथा सुनायी। छटा क्षत्रिय का गुण है 'उदारता'।

(६) उदारता—उदारता उसे कहते हैं कि जो अपने से कोई याचना करे और उसे उससे भी अधिक प्रसन्नता से दे दे। भारतीय राजाओ के इतिहास में ऐसे एक नहीं अनेको उदाहरण हैं, कि राजाओं ने भिक्षुक के माँगने पर अपना सर्वस्व दान कर

दिया है। कबूतर को बचाने के लिये अपने शरीर का मांस दे दिया। राजा बलि की उदारता के सम्मुख और कोई दृष्टान्त याद ही नहीं आता, जिसने बामन बने विष्णु को जानकर भी त्रिलोकी का राज्य दे दिया और स्वयं बँध गया। उदारता क्षत्रिय राजाओं की विशेषता थी। सातवाँ गुण है 'उद्योग'।

(७) उद्योग—उद्योग उसे कहते हैं, कि सर्वथा अपने काम में लगे रहना। क्षत्रिय प्रजा पालन के लिये प्रत्येक समय कुछ न कुछ करते ही रहते थे। उनके उद्योग से ही तो आर्य धर्म की विजय वैजयन्ती देश विदेशों में फहराती रहती थी। युद्ध काल में वे वीरता के साथ लड़ते थे और शान्ति काल में बड़े बड़े यज्ञ-याग करके धर्म का संरक्षण संवर्धन करते हुए अपने परलोक को बनाते थे। कलियुगी क्षत्रिय उद्योगहीन हो जायँगे, इसीलिये उनका पतन हो जायगा। क्षत्रिय का आठवाँ गुण है 'स्थिरता'।

(८) स्थिरता–स्थिरता उसे कहते हैं किकिसी को जो वचन दिया हो उस पर दृढ़ रहना अथवा जो सत्संकल्प किया हो उस पर स्थिर बने रहना। राजाओं का यह स्वभाव होता था, जिसे जो वचन दे दिया, उसका वे प्राणपन से पालन करते थे। महाराज दशरथ ने कैकेयी को वचन दे दिया, उसके पीछे अपने प्राणों से प्यारे पुत्रों का विछोह हुआ, स्वयं भी उनका प्राणान्त हुआ, किन्तु वे अपने वचन से विचलित नहीं हुए। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं। क्षत्रिय का नवाँ गुण है 'ब्रह्मण्यता'।

(९) ब्रह्मण्यता–ब्राह्मणों की भक्ति करने का नाम ब्रह्मण्यता है। क्षत्रियों में यही एक भारी गुण था, कि वे इतने बली, शूर, वीर और सामर्थ्यवान् होने पर भी उद्दंड नहीं होते थे, वे ब्राह्मणों से सदा डरते रहते थे, उनके यहाँ ब्राह्मणों के लिये कोई अदेय वस्तु ही नहीं थी। अनेक राजर्षियों की जो अब तक कीर्ति है, वह ब्रह्मण्यता के ही कारण है। प्रह्लाद के पुत्र विरोचन ने ब्राह्मण

वेषधारी देवताओं को अपनी आयु दे दी। राजा बलि ने वामन बने भगवान् को त्रिलोकी का राज्य दे दिया। दानवीर कर्ण ने ब्राह्मण बने इन्द्र को अपने जन्म जात कुंडल और कवच दे दिये। समर-भूमि मे मरते मरते अपने दाँत तोड कर उनमे लगा हुआ सुवर्ण दे दिया। उनका सर्वस्व ब्राह्मणों के ही लिये था। राजा रघु ने अपना सुवर्ण से भरा कोष ब्राह्मण को दे डाला। राजा हरिश्चन्द्र ने ब्राह्मण को अपना सर्वस्व दे दिया। सत्यसन्ध राजा ने ब्राह्मण को अपना शरीर ही दे दिया। उशीनर नंदन राजा शिवि ने ब्राह्मण के लिए अपना शरीर तथा पुत्र दे डाला। काशी के राजा प्रतर्धन ने ब्राह्मण को अपने नेत्र दे डाले। महाराज अम्बरीष ने, सुनते हैं ब्राह्मणों को असंख्यो गौओ का दान दिया था। विदेह पुत्र निमि ने अपना सम्पूर्ण देश ही ब्राह्मणों को दे डाला था। परशुराम जी ने सम्पूर्ण भूमण्डल को जीत कर उसे ब्राह्मणों को दान कर दिया था। शाल्व देश के राजा द्युतिमान् ने महर्षि ऋचीक को अपना राज्य ही अर्पण कर दिया था। राजर्षि लोमपाद ने अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यशृंग को, महाराज मदिराश्व ने अपनी कन्या हिरण्य-हस्त मुनि को, राजा मान्धाताने अपनी पचासों कन्यायें सौभरि ऋषि को, मरुत्त ने अपनी पुत्री अङ्गिरा को, महाराज शर्याति ने अपनी सुकन्या नामक पुत्री च्यवन महर्षि को तथा और भी बहुत से राजर्षियों ने अपनी सुकुमारी कन्यायें अरण्य में घोर तपस्या करने वाले ऋषियों को दी हैं। जरासन्ध को असुर कहते हैं, किन्तु वह इतना ब्राह्मण भक्त था कि बिना ब्राह्मणों के पूछे वह कोई कार्य नहीं करता था। उसकी ब्रह्मण्यता के ही कारण तो मुझे उससे पराजित होकर अपनी पैतृक भूमि को छोड़ कर यहाँ समुद्र के बीच में द्वारका पुरी का निर्माण करना पडा। जितने भी प्रसिद्ध राजर्षि हुए हैं, वे सबके सब ब्राह्मणों के अत्यंत भक्त थे। ब्रह्म-

ण्यता के कारण ही तो मैं जगत् पूज्य बन गया हूँ। दशवा क्षत्रिय का नैसर्गिक गुण है 'ऐश्वर्य'।

(१०) ऐश्वर्य—क्षत्रिय जन्म से ही ऐश्वर्यशाली होते थे, उनके घर से राजलक्ष्मी कभी जाती नहीं थीं, क्योंकि वे सदा धर्म का आचरण करते थे। कलियुग में राजा रहेंगे ही नहीं, जो रहेंगे वे ऐश्वर्य से हीन होंगे। पिछले राजाओं के ऐश्वर्य के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, वर्तमान समय के लोग तो उन पर विश्वास ही न करेंगे।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धव से कह रहे हैं—"उद्धव! इस प्रकार तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता तथा ऐश्वर्य ये सब क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव हैं, ये मैंने संक्षेप में क्षत्रिय स्वभाव कहे और क्षत्रियों की वृत्ति के सम्बन्ध में मैं तुम से कुछ कहूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी से क्षात्रवृत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

यदि होवै सामर्थ्य विप्रकूँ सुख पहुँचावै।
जो मांगै सो देहि नहीं पर तें लोटावै॥
दै विप्रनि कूँ दान अमर बहु भये नृपति गन।
बहुतनि दीयो विप्र वचन तें सरवसु तन धन॥
क्षत्रिनि को ऐश्वर्य नित, रहै सत्य अरु धरम तें।
बढ़ै पुण्य यश जगत महँ, शास्त्रविहित शुभ करम तें॥

—:०:—

क्षत्रिय वृत्ति

(१२७५)

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगयया क्वचित् ।
चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ *

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

सुतवत पालै प्रजा दूर भय करै सबनिको ।
छटवो लेवै अंश हरै दुख नर नरिनि को ॥
दण्ड शुल्क कर क्षात्र वृत्ति ऋषि वेद बतावैं ।
दस्युनि देहिं भगाइ नृपति अति पुण्य कमावैं ॥
वैश्य वृत्ति हू विपति महँ, धारि करैं निर्वाह नृप ।
अथवा बिचरैं विप्र बनि, नहिं त्यागैं तप नियम जप ॥

क्षात्रवृत्तिके सम्बन्धमें महाभारतसे बढ़कर उपयुक्त उदाहरण और कहीं नहीं मिलेगा। इसमें क्षत्रियोंको अनापद् तथा आपत्-कालमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये इसके सर्वाङ्ग उदाहरण

---

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी कह रहे हैं—"उद्धव! आपत्ति-काल में क्षत्रिय वैश्य वृत्ति भी धारण कर सकता है अथवा मृगया द्वारा भी अपना निर्वाह कर सकता है, ब्राह्मण वेष बनाकर भी निर्वाह कर सकता है, किन्तु श्वानवृत्ति का आश्रय न लें।"

है। लोग समझते हैं, पाडवो ने केवल राज्यके लिये ही इतने राजाओंका संहार किया। यह विचार उन भौतिक वादियोंका हैं, जो धन को और शासनको ही सब कुछ समझते हैं। शुद्ध सत्वकी और घोर तमोगुणकी बाहरसे परिस्थिति प्राय. एक सी ही होती है। जिन्हे आध्यात्मिक ज्ञान नही है, वे दोनों परिस्थितियो को एक ही मान कर उनका वर्णन करते हैं, जिससे वे अधर्मके प्रचारमे सहायक होते है। आदि सत्ययुगमे यह सत्य है कि वर्तमानके सदृश वर्ण-भेद, आश्रय-भेद नहीं था। उस समय कोई राजा भी नहीं था। इतने बडे बडे भवन भी नहीं थे। भोग्य सामग्रियोंकी इतना प्रचुरता भी नहीं थी किन्तु यह असभ्यता नहीं थी। अज्ञान जन्म स्थिति नहीं थीं, घोर उन्नति थी। ज्ञानका परम प्रकाश था। कणाद मुनि वृक्षके नीचे रहते थे, कबूतरके सदृश एक एक कण एकत्रित करकेउससे निर्वाह करते थे। वल्कल वस्त्रोंकी एक कोपीन लगाते थे, भोग सामग्री कुछ भी पास नही रखते थे। अब अज्ञानी दरिद्री निर्धनता के कारण फटा चीथडा लपेटकर दाने चुनता फिरे और जिस किसी प्रकार वृक्षोंके नीचे रह कर निर्वाह करे, तो देखनेमें तो कणाद मुनिकी और इसकी स्थिति एक सी ही होगी, किन्तु वास्तवमे वह ज्ञानकी पूर्णस्थिति है, यह अज्ञानकी। वह अपरिग्रह का स्वरूप है, यह असमर्थता की झाँकी है। पाश्चात्य लोगोंका भ्रम है, अब नित नयी उन्नति कर रहे हैं, नित्य नये आविष्कार कर रहे हैं, यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय, तो हम उन्नति नहीं अवनति कर रहे हैं। प्रकृतिसे बहुत दूर हट रहे हैं। इसी प्रकार की आदि सत्य युग में वर्ण व्यवस्था नहीं थी, यह सत्य है, किन्तु अब जो वर्णाश्रम धर्मका ह्रास हो रहा है, यह अधर्म का अज्ञान का द्योतक है। क्षत्रियोंका धर्म यह है कि वह अनापद् कालमें प्रजाकी रक्षा करके उससे जो कर प्राप्त हो उसीके द्वारा निर्वाह करे। अन्य किसी प्रकारसे निर्वाह

न करे। वर्णाश्रम धर्ममे वृत्तिके ऊपर बहुत बल दिया गया है। सत्य पूछा जाय, तो वृत्ति देखकर ही वर्णका निर्णय किया जाता था। जितने शिल्प और कला सम्बन्धी कार्य थे वे सकर वर्णके लोगोंके कार्य थे। जैसे लोहेकी वस्तुएँ बनाना, चित्र बनाना, संगीत सम्बन्धी कार्य, अन्य हाथके कार्य, मकान बनाना, मिट्टी, काठ तथा अन्य धातुओंकी वस्तुएँ बनाना, कपडे रंगना, छापना, चटाई, गलीचे बुनना, कपडा बुनना यावत् कार्य थे सब सकर वर्णके लोगोंके थे। सेवा सम्बन्धी समस्त कार्य शूद्र करते थे। कृषि गोरक्षा तथा वाणिज्य के कार्य वैश्य करते थे। राज्य प्रबन्ध चाहे वह एक अथवा आधे ही गाँवका क्यों न हो, क्षत्रिय करते थे। भूमिपति या भूमिधर क्षत्रिय ही होते थे। दान मे या अन्य किसी प्रकार ग्राम पाने पर भूमिपति ब्राह्मण भी हो जाते थे। पढाने का यज्ञ यज्ञ कराने का तथा दान लेने का कार्य ब्राह्मण ही करते थे। असमर्थ होने पर आपद् धर्मोंसे अपनी आजीविका चलाते थे। क्षत्रिय का धर्म तो यही है, कि वह प्रजापालन करके आजीविका चलावे। असमर्थ होने पर ब्राह्मण वेष बनाकर भिक्षा मागे या अध्यापन भी कर सकता है। अथवा भीख माँगने मे उसे लज्जा लगती हो तो जगलोंमे रहे, मृगया करके उसीसे निर्वाह करे। अब आप विचार करे, पाण्डवो ने इस धर्मका कितनी उत्तमता से निर्वाह किया। दुर्योधन ने पाडवोंको जलानेको लाक्षागृह मे भेजा। वहाँ से वे निकल भागे। अब वे निर्वाह कैसे करें। उस समय उन पर आपत्ति थी। अत. ब्राह्मणोंका वेष बनाकर वे भिक्षा पर निर्वाह करते रहे। उन्होंने किसीकी नौकरी नहीं की, सेवा नहीं की। जब द्रौपदीके साथ उनका विवाह हो गया, उनकी आपत्ति टल गयी, अब वे भीख नहीं माँग सकते थे। वे प्रजा पालन करके ही निर्वाह कर सकते थे। धृतराष्ट्र ने आधा राज्य दे दिया। धर्म पूर्वक प्रजापालन करके राज्य करते रहे।

उस समय ऐसा सदाचार था, कि कोई क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय को युद्ध के लिये या द्यूतके लिये आह्वान करे और वह न जाय तो वह कायर समझा जाता था। क्षत्रियोंमें वह हास्यास्पद माना जाता था। दुर्योधनके आह्वान पर धर्मराज क्षत्रियधर्म समझकर द्यूत खेलने गये और हार गये। अपने प्रणके अनुसार वनमें चले गये। अब वे ब्राह्मण वेष बनाकर भीख तो माँग नहीं सकते थे, राज्य उनका छिन गया था। अब उनके लिये एक ही मार्ग रह गया कि वे मृगयासे निर्वाह करें। वे हरिनोंको मार-मार कर लाते थे उसी को खाते उसीसे अतिथि सत्कार करते। इससे हरिन बड़े दुखी हुए। धर्मराजसे प्रार्थना की कि आप इस वनको छोड़कर चले जाँय। फिर धौम्य मुनिके कहनेसे उन्होंने सूर्यकी आराधना की। एक बटलोही मिल गयी, उससे निर्वाह होने लगा। जब वनवास की अवधि समाप्त हो गयी तो फिर उन्हें अपने धर्मकी चिन्ता हुई। वे युद्ध करना नहीं चाहते थे। दुर्योधन से उन्होंने कहा—"तू हम पाँच भाइयोंको एक एक गाँव दे दे। हम तेरे अधीन रहकर क्षात्र धर्मका पालन करते हुए दिन बिता देंगे। दुर्योधन ने यह भी स्वीकार नहीं किया। तब अन्तमें धर्मकी रक्षाके लिये हम राजपुत्र होकर भीख न माँगे—अन्तमें युद्धका निश्चय करना पड़ा यदि राज्य के ही लिये उन्हें लड़ना था तो श्रीकृष्णचन्द्रजी से दस-बीस गाँव माँग लेते। अपने ससुर द्रुपद से पाँच-पाँच गाँव माँग लेते। किन्तु यह क्षत्रिय धर्मके विरुद्ध था। समर्थ होने पर जो अपने पैतृक राज्यको छोड़कर याचना करता है उस क्षत्रियको पाप लगता है। यही सब सोच समझकर उन्होंने युद्ध किया और अन्त में उस जीते हुए राज्यको छोड़कर धर्म रक्षाके ही निमित्त वीर संन्यास लेकर वनको चले गये। उन्हें राज्य का लोभ नहीं था लोभ था क्षत्रिय धर्मका। हम क्षात्र-वृत्ति द्वारा ही अपना निर्वाह करें, यही उनकी अभिलाषा थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! क्षत्रिय की वृत्तिको बताते हुए भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! क्षत्रियकी वृत्ति प्रजा से दंड शुल्क लेकर निर्वाह करना है। यदि किसी क्षत्रियका राज्य छिन जाय, तो वह ब्राह्मण वृत्तिसे भी निर्वाह कर सकता है, किन्तु दान न ले, न यज्ञ ही करावे। हाँ, अध्ययन करा सकता है, दूसरों को अस्त्र शस्त्र सिखाकर उससे आजीविका कर सकता है। स्यमंतकमणिके कारण क्रुद्ध होकर जब बलदेव जी मिथिला पुरीमें कई वर्षों तक रहे तब वे इसी प्रकार राजकुमारों को अस्त्र शस्त्र सिखाकर अपना निर्वाह करते रहे। इससे भी कार्य न चले तो जंगलों में से फल तोडकर अथवा मृगया करके भी निर्वाह कर सकता है। यदि बहुत ही दरिद्रता आजाय, कुटुम्बके भरण पोषणका कार्य न चलता हो, तो आपत्तिमे वैश्य वृत्तिको भी धारण करले। खेती करके गो पालन करके अथवा व्यापार द्वारा भी अपनी आजीविका चला सकता है, किन्तु शूद्र वृत्तिको धारण न करे। क्षत्रिय का परम धर्म है, दूसरोंकी रक्षा करना, युद्धमे कभी पीठ न दिखाना, समरको देखकर कभी न घबराना और प्रजाके षष्ठांशसे ही निर्वाह करना। जो क्षत्रिय इन धर्मोंका पालन करता है, वह घरमें रहकर भी स्वर्गका अधिकारी हो सकता है।"

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव यह मैंने अत्यन्त संक्षेपमे क्षत्रियोंका स्वभाव और उनकी वृत्तिका वर्णन किया अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?"

उद्धव जी ने कहा—'भगवन्! अब मैं वैश्य वर्णका स्वभाव और उनकी वृत्तिको और सुनना चाहता हूँ, कृपा करके वैश्योंका क्या स्वभाव है और उनकी क्या वृत्ति है यह आप मुझे बतावें।

शौनकादि मुनियोंसे सूतजी कह रहे हैं—"ऋषियो! अब जिस प्रकार भगवान् ने वैश्य वर्ण का स्वभाव और वृत्तिका वर्णन

किया है, उसे भी मैं आपसे कहता हूँ, आप सब समाहित चित्तसे श्रवण करें।

छप्पय

क्षत्रिय धर्म प्रधान प्रजापालन रण थिरता।
दुष्टनि को संहार करै रिपुतैं नहिं मृदुता॥
भाई हू रिपु होहि समर महँ ताहि पछारै।
जग को हावै अहित ताहि बिनु सोचे मारै॥
क्षत्रिय वृत्ति स्वभाव कछु, उद्धव! यह तुम तैं कह्यो।
वैश्य वृत्ति वर्णन करूँ, जो स्वभाव इनने लह्यो॥

—:o:—

वैश्य स्वभाव और वृत्ति

(१२७६)

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

वैश्य कहावैं श्रेष्ठ सरल होवैं आस्तिक अति ।
यथा शक्ति नित दान पुण्य महँ स्वाभाविक मति ॥
विप्रनि सेवा करैं पर्व पै न्योति जिमावैं ।
करैं क्रोध जो विप्र ताहि चितमहँ नहिँ लावैं ॥
शत, सहस्र, दश लक्ष वा, अरब खरब हू होहि धन ।
चाहे जितनौ नित मिलै, तबहुँ न होवै तुष्ट मन ॥

जो धन पैदा करके उसे धर्म में लगावे, धन पैदा करना तो उसीका सार्थक है। पहिले व्यापारी वैश्योंमें इस बात की प्रतिस्पर्धा होती थी, कि कौन धर्म मे अधिक व्यय करता है। सेठों की श्रेष्ठता

---

*श्रीकृष्ण भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! आस्तिकता, दान शीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणों की सेवा सुश्रूषा करना, धन सञ्चय से सन्तुष्ट न होना ये वैश्य वर्ण के स्वभाव हैं।"

उनके धर्म कार्योंके कारण ही होती थी। सभी की इच्छा होती थी यदि हमने धन कमाकर धर्मशाला, पाठशाला, गौशाला, अन्न क्षेत्र अथवा कूआ बावडी न बनाई तो हमारे पुरुखोंका नाम कैसे चलेगा। पहिले समय में लखपती वह नहीं माना जाता था, जिसके पास लाख रुपये हों, अपितु लखपती उसे कहते थे, जो एक बार में लाख रुपये दान करदें। प्रत्येक बड़े नगरमें एक नगरसेठ होता था। सुनते हैं उनके यहाँ सुवर्णके सिक्के वर्षमें एक बार सुखाये जाते थे और वे पूछते थे, कितनी सूख गयी। नगर सेठ वही कहाते थे, जिनके द्वारसे कभी कोई निराश होकर नहीं लौटता था। समय के प्रभावसे आज सेठ भी धर्मको ढोंग समझने लगे हैं। उनके पाससे भी आस्तिकता अब शनैः शनैः खिसकने लगी।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! वैश्योंका स्वभाव वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव! वैश्य वर्णके लोग स्वभावसे ही धर्मभीरु होते हैं। राजासे भी डरते हैं और भगवान्से भी डरते हैं। उनमें निम्न पाँच गुण स्वाभाविक होते हैं।

(१) आस्तिकता—वेद वचनोंमें और भगवान् में आस्तिक बुद्धि रखनेका नाम आस्तिकता है। वैश्य स्वभावसे आस्तिक होते हैं। वे गौब्राह्मण, साधुसन्त और वृद्धोंको देखकर प्रणाम करते हैं। धार्मिक कृत्योंमें वे श्रद्धा रखते हैं। अपने पुरोहितको अपने परिवार वालोंकी भाँति पालते हैं। उनकी सब प्रकारसे सेवा करते हैं। जहाँ भी जायँगे वहाँ अपने कुल पुरोहितको बुलावेंगे। भगवान्के मन्दिरमें जाकर दर्शन करेंगे, समय निकाल कर भगवान्की कथा वार्ता सुनेंगे। दूसरा गुण है वैश्योंका दानशीलता।

(२) दानशीलता—जो भी धन आवे उसमेंसे कुछ न कुछ दान करने की प्रवृत्ति का नाम दानशीलता है। वैसे व्यवहारमें वैश्य एक एक पैसेका बड़ी सावधानीसे ध्यान रखेगा। किन्तु जब दान करने

चलेगातो हृदय खोल देगा। उसका कहना है "हिसाब जौ जौ का दान सौ सौ का।" जहाँ हिसाब रखना होगा, वहाँ जौ जौ का हिसाब रखा जायगा और दान करना हो वहाँ चाहे जितनेका दान कर दिया जाय। दान देनेसे व्यापार बढता है, इसीलिये आस्तिक व्यापारियोंके यहाँ आपका कुछ अंश धर्मादाके नामसे निकाला जाता है। वैश्योंके धनकी शोभा दानमे ही है। जो कुलीन वैश्य होते हैं, उनकी कभीभी प्रवृत्ति माँगनेकी नहीं होती है, वे परिश्रम करके खायेंगे और यथाशक्ति कुछ न कुछ देनेकी ही इच्छा रखेंगे। वैश्यकी आयमें सभी अपना भाग मानते हैं। तीसरा वैश्यका स्वाभाविक गुण है दम्भ हीनता।

(३)दम्भ हीनता—जो जैसा नहीं है, वैसा अपनेको प्रकट करने का नाम दम्भ है। जो राजा नहीं है वह दम्भसे राजा बन जाय। सच्चा वैश्य कभी दम्भ न करेगा। व्यापारमें ठग भलेही ले। व्यापारमे झूठ सच दोनों चलते ही हैं, किन्तु वह अपने वैश्यपने को छिपाकर कोई दूसरा ढोंग न करेगा। चौथा वैश्यका गुण है विप्रसेवन।

(४) विप्रसेवन—वैश्य ब्राम्हणोंके भक्त स्वभावसे होते है। बहुत से ब्राम्हणोंकी आजीविका उनके द्वारा चलती है। वे जानते हैं धर्म कर्म ब्राम्हणोंके ही द्वारा होगा, ब्राम्हणोंको जब आजीविकाकी चिन्तासे मुक्त कर दिया जायगा, तो वे अध्यापन, पूजा य पाठ तथा देवार्चन आदि करेंगे। अतः वे अपनी आयका कुछ नियमित द्रव्य ब्राह्मणोंके लिये निकालते हैं। पाँचवाँ वैश्यका स्वाभाविक गुण है धन सचय से कभी सन्तुष्ट न रहना।

(५)धन सञ्चयसे अतुष्टि—कितना भी धन क्योंन आजाय, यह बात मनमें न आवे कि यह पर्याप्त है। जितना भी आता जाय, उतनी ही अधिक तृष्णा बढती जाय, यह वैश्यका स्वाभाविक गुण है।

कोई वैश्य थे, उनके पूर्वज धनिक थे, कुछ दिनोंसे वे बड़े निर्धन हो गये थे, यहाँ तककि उन्हें अन्नके बिना उपवास भी करने पड़ते थे। कोई महात्मा आये, उनकी सेवा वे करने लगे। महात्माने पूछा—"लालाजी। क्या चाहते हो ? कैसे तुम चिन्तित हो ?"

सेठजी बोले—"महाराज ! क्या करें, हमारे दिन बुरे आ गये हैं। सोना छूते हैं, तो मिट्टी हो जाता है। आमदनीका कोई स्रोत नहीं, घर मे इतने बालबच्चे हैं, निर्वाह नहीं होता।"

महात्माने पूछा—"तो इच्छा क्या है ?"

सेठजी ने कहा—"महाराज ! इच्छा यही है किसीके सामने हाथ न पसारना पड़े। व्यापार से इतना मिल जाय, कि निर्वाह हो जाय।"

महात्माने कहा—"अच्छी बात है। नौन, तेल, मिठाईकी दुकान खोल लो।"

वैश्य को व्यापार करने में लज्जा नहीं होती। भले ही करोड़-पति क्यों न हो, वह भी छोटे से छोटा व्यापार करलेगा। लाला जीने दुकान खोल ली। महात्माके आशीर्वाद से वह चलने लगी। घर का निर्वाह भली भाँति होने लगा।

कुछ काल में महात्मा आये और बोले—"कहो, लालजी ! कैसा काम चल रहा है ?"

लालाजीने कहा—"काहे का काम चल रहा है, दिन पूरे कर रहे हैं !"

महात्माने पूछा—"अब तो आप को कभी उपवास नहीं करने पडते। दुकान तो चल रही है।"

लालाजी बोले—"अजी, महाराज। इसे चलना थोड़े ही कहते हैं। पेट तो कूकर सूकर भी भर लेते हैं। न हमारा कोई जानता है न हमारे पुरुखों का ही। कुछ पैसा पैदा करें, धर्म पुण्य मे लगावें।

बाग बगीचा, कूआ बावड़ी धर्मशाला सदावर्त लगावें, तब काम चलना कहा जा सकता है।"

महात्माने कहा—"अच्छी बात है नगर मे कपड़ों की दुकान खोललो। यह भी सब हो जायगा।"

सेठजीने समीप के ही नगर में कपड़ों की दूकान खोलली। बढ़ते बढ़ते कोठी हो गयी। एक धर्मशाला भी बनवादी। प्याऊ भी लगवादी। अन्नक्षेत्र भी खुल गया।"

फिर महात्मा आये और बोले—"सेठजी ! क्या हाल चाल है।"

सेठजीने निराशा के स्वर में कहा—"काहे का हाल चाल हे महाराज ! समय को धक्का दे रहे हैं ?"

महात्माने कहा—"अब तो आपकी कोठी बन गयी, धर्मशाला प्याऊ लगगयी। अब और क्या चाहिये।"

सेठजी बोले—"अजी महाराज ! एक छोटी सी कुठरिया बनादी इसे कौन जानता है। अमुक सेठ हैं उन्होंने लड़की के विवाह में दश लाख रुपये व्यय किये। मेरी लडकियाँ बड़ी हो गयी हैं। कुलीन धनिक सेठ हमें धनहीन समझकर विवाह ही नहीं करते। जातिका अपमान बडा बुरा होता है।"

महात्माजीने कहा—अच्छी बात है तुम भी उनकी बराबर हो जाओगे।"

महात्मा का आशीर्वाद फला। सेठजी बहुत बड़े धनिक हो गये। लडकियों का विवाह बड़े बड़े सेठों के यहाँ हो गया। फिर एक दिन महात्मा जी आये और बोले—"सेठजी क्या हाल चाल है ?"

सेठजी बोले—"सब दया है महाराज ! हमें आप सेठ क्यों कहते हैं। सेठ तो महाराज ! वे हैं जिनके हाथ में सम्पूर्ण

बाजारका भाव है। वे चाहे जिस वस्तुका भाव घटादे बढादें। हम तो एक प्रकारके आढ़तिया है ?"

हँसकर महात्माजी ने कहा—"सेठजी ! अब आपके बाल पक गये, मरनेके समीप आये कभी आपकी तृप्ति भी होगी।"

हँसकर सेठजी बोले—"महाराज ! मेरी तृप्ति ही होती, तो मैं भी महात्मा न बन जाता। जिस वैश्यकी धनसे तृप्ति हो गयी। जिसने यह कह दिया कि बस अब नहीं चाहिये। वह वैश्य नहीं महात्मा है। व्यापार में धनसे कभी किसीकी तृप्ति नहीं होती। लाभात् लोभ ! प्रजायते। लाभसे लोभः बढता ही रहता है। धन सञ्चयकी असन्तुष्टि ही व्यापारको बढाने वाली होती है।"

भगवान् कह रहे हैं—सो, उद्धव ! धन सञ्चयसे सन्तुष्ट न होना यह वैश्यकी स्वाभाविक प्रकृति है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! वैश्यको किस वृत्तिसे निर्वाह करना चाहिये ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! वेद पढना, यज्ञ करना और दान देना ये तीनो बातें तो वैश्य ब्राह्मण क्षत्रियोकी ही भाँति करे। किंतु उसे अपने निर्वाहके लिये कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और लेन देन ये काम करने चाहिये। इन्हींसे अपनी आजीविका चलानी चाहिये।

कृषि—कृषि उसे कहते हैं भूमिको जोत बोकर उसमेंसे अन्नादि उत्पन्न करना। पहिले इस कार्यको वैश्य ही करते थे। फिर आपद् धर्म समझकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और सकर जातिके लोग भी करने लगे। ब्राह्मण वीर्यसे वैश्य पत्नियोंमें या संकर जातिके अन्य लोगोंसे द्विजाति या सत् शूद्रोंकी पत्नियोंमें जो अनेक जातियाँ बन गयी वे सब भी कृषि करने लगीं। तब वैश्योंने प्राय: कृषि कर्म त्याग दिया। वैसे कृषि कर्म है वैश्योंका ही कार्य किन्तु अब कृषक जाति भी अलग बन गयी, वैश्य प्रायः कृषिके कठिन परिश्रमसे हटकर व्यापार में लग गये।

२--गोरक्षा—वैश्योंका दूसरा कार्य है गौ पालन। गाय भैंसका पालन करके उनका व्यापार करना। पीछे गोप आभीर एक जाति ही बन गयी जिसने गौ पालनका ही काम ले लिया। यह जाति भी कुछ क्षत्रिय और कुछ वैश्य ही है। कर्मणा यह जाति वैश्य ही है। हमारे नंद बाबा गोप ही थे और एक मात्र गोपालनका ही काम उनके यहाँ होता था। इसीलिये मेरा नाम गोपाल पड़ गया।

३—वाणिज्य—एक वस्तु लेकर बदले में दूसरी वस्तु देनेका नाम वाणिज्य है। जहाँ तक हो व्यापार में सत्यका ही व्यवहार श्रेष्ठ होता है, किन्तु व्यापार में सत्य झूठ दोनोंका ही चलन हो

गया है। व्यापार में लक्ष्मीका वास है। इसीलिये व्यापारी श्रीमान् कहलाते हैं। वैश्य व्यापार मे बडे पटु होते हैं, उन्हें व्यापार सिखाना नहीं पडता, वे माताके पेट मे से सीखे सीखे ही उत्पन्न होते है। बनियोंकी वाणी बडी मधुर होती है। जो व्यापारी मधुर भाषी सहनशील न होगा, वह व्यापार मे उन्नति कर ही नहीं सकता। मधुर वाणी होने पर भी वे अपने स्वार्थसे कभी न चूकेंगे। कहावत है "बनिया गुड़की डली न देगा। किन्तु मिश्रीसे भी मीठी बात कह देगा।" व्यापार मे ग्राहकके मनको रखना होता है, जब तक वह आकर्षित न होगा, तक तक व्यापारीको लाभ कैसे होगा। व्यापार एक बड़ी भारी कला है। वह केवल अभ्यास से ही नहीं आती उसके लिये कुछ जन्मजात संस्कारोंकी भी आवश्यकता है। चौथी वैश्यकी वृत्ति है कुशीद-अर्थात् व्याज पर रुपया उठाना।

४—कुशीद—रुपयोंका व्याज पर लेन देन करना कुशीद कहाता है। जैसे दस रुपये किसीको दिये उससे आठ आना प्रति मास व्याजके ले लिये। बहुतसे महाजन अत्यधिक व्याज लेते हैं। यह व्यापार अत्यंत निकृष्ट बताया गया है। वैश्यको यथाशक्ति इसको न करना चाहिये। आपत्ति काल मे करले किन्तु यह धन्धा उत्तम नहीं माना गया है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! यदि वैश्यका कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्यसे कार्य ने चले तो उसे किस प्रकार अपना निर्वाह करना चाहिये?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! यदि वैश्यका व्यापार आदिसे काम न चले, तो उसे नोकरी-चाकरी करके निर्वाह कर लेना चाहिये। आपत्ति काल में शूद्र वृत्ति धारणकर लेनेका वैश्यको विधान है। अथवा और भी कार्य करले। किन्तु ये विधान सदाके लिये नहीं हैं। इन व्यवसायोंको निरन्तर न करता रहे। जब

आपत्ति आजाय, तब इनसे निर्वाह करे। जब समर्थ हो जाय, तब छोड़ दे। इन निम्न वर्णोचित निन्द्य कर्मोंसे निरन्तर द्रव्योपार्जन करनेका लोभ छोड़ दे।

भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव मैंने यह संक्षेप मे वैश्योंके स्वभाव और वत्तिका वर्णन किया, अब शूद्रोंके स्वभाव और वृत्तिको भी सुनलो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने जैसे शूद्रोंकी वृत्ति स्वभावका वर्णन किया उसे मैं आपको सुनाता हूँ।

छप्पय

खेती तैं निर्वाह करै गोपालन नित प्रति।
वस्तुनि को व्यापार करै जोरै धन सम्पत्ति॥
शूद्र वृत्ति हू वैश्य विपति महँ परि अपनावै।
किन्तु न ताकूँ धर्म समुझि नित काज चलावै॥
पालै अपने धर्म कूँ, नृप द्विज देवनि तैं डरै।
पूजै द्विज गौ अतिथि, सुर, सन्ध्या बन्दन नित करै॥

—:o:—

शूद्रोंका स्वभाव और वृत्ति

(१२७७)

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।
तत्रलब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

स्वाभाविक रुचि रहै शूद्र की सेवा माहीं ।
कहैं करन द्विज काज करै नहिं कबहूँ नाहीं ॥
विप्र, धेनु, सुर पूजि नित्य कर्तव्य निवावै ।
सेवा तैं जो मिलै ताहि तैं काम चलावै ॥
गुरुकुलवास न शौच तप, सेवा तिनको कर्म है ।
सेवा ही तप दान व्रत, शूद्रनको यह धर्म है ॥

धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। शूद्रों के लिये सेवा कठिन कार्य है, किन्तु उनके लिये अन्य बातों की सुविधायें दे दी गयी हैं। उनके लिये शौच, आचार, तपस्या, आदि की उतनी आवश्यकता

---

*श्रीभगवान कृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! देवता, ब्राह्मण और गौओं की निष्कपट भाव से सेवा करना, उनकी सेवा द्वारा जो कुछ मिलजाय उसीसे निर्वाह करना और उसी में सन्तोष करना यह शूद्रवर्ण का स्वभाव है।"

नहीं। वे केवल सेवा के द्वारा ही है स्वर्ग लाभकर सकते हैं। कुछ लोगों का कहना है—स्वार्थी लोगों ने अपने कार्य की सिद्धि के लिये लोगों को दास बनाने के लिये—ये सब नियम गढ लिये हैं। यह उन्हीं का विचार है जो शरीरको और संसारी भोगों को ही जीवनका लक्ष्य मानते हैं। वर्णाश्रम धर्मका मुख्य उद्देश्य केवल इसी लोकका सुख नहीं है वह तो विशेष ध्यान परलोक पर ही रखता है। धर्म की व्याख्या ही यह है कि जिससे इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों में श्रेय प्राप्ति हो सके! सब वर्ण और सब आश्रमों को उपने उपने अधिकारानुसार समस्त कार्य परलोक को ही प्रधान मान कर करना चाहिये। जो शूद्र परलोक प्राप्ति की इच्छा से--भगवत् भावना से--कर्तव्य समझकर सेवा करता है, उसे इसलोक मे भी सुख होता है और उसका परलोक भी बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् उद्धवजी से शूद्रोंकी स्वभाव और वृत्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं—"उद्धव! शूद्रो का एक मात्र स्वभाव सेवा करने का होता है। वे ब्राह्मणो की, गौओ की, देवता और पितरों की पूजा करते हैं। द्विजमात्र की कर्त्तव्य समझकर सेवा करते हैं। सेवा के द्वारा जो प्राप्त हो जाय, उसी से निर्वाह करना। सेवा करने मे उनकी स्वाभाविक रुचि होती है। उनके लिये न शौच का विशेष नियम है, न आचार का, वे सदा सेवा मे संलग्न रहे। सबसे कठिन कार्य है तपस्या। सत्ययुग मे केवल ब्राह्मण वर्ण के ही लोग तप करते थे। त्रेता में ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों ही तप करते चले। द्वापर मे वैश्यो को भी तप का विधान है और कलियुग में तो चारो वर्ण वाले तप के अधिकारी हैं। सत्ययुग ब्राह्मण प्रधान युग है। त्रेता क्षत्रिय प्रधान। द्वापर में क्षत्रिय वैश्य दोनो की ही प्रधानता है, और कलियुग में वैश्यों के सहित शूद्रो की ही प्रधानता रहेगी। शूद्र अपने स्वाभाविक सेवा

धर्मको छोड देंगे। यह युगका दोष है। वैसे शूद्रोंकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति सेवामें ही होती है।

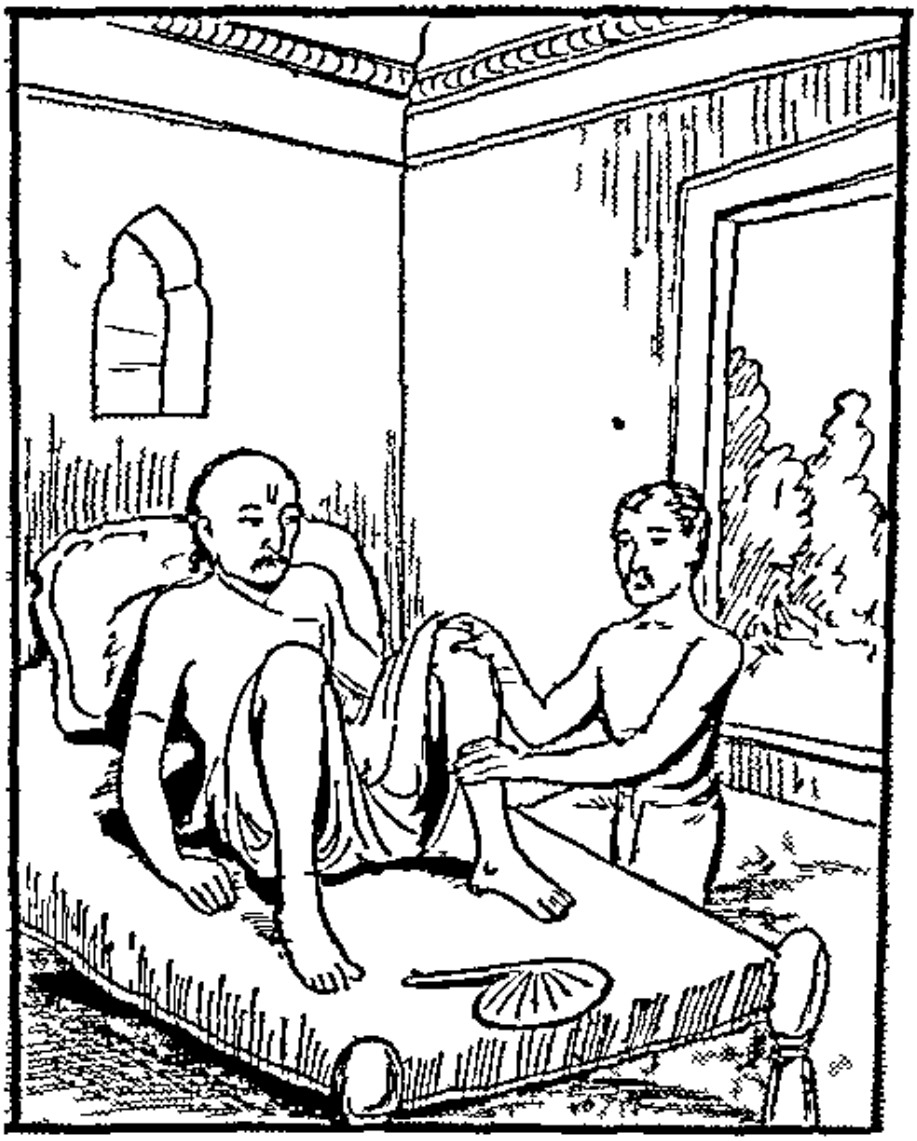

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! शूद्रोंकी वृत्ति क्या है?"

भगवान् ने कहा—"शूद्रोंके निर्वाहका समस्त भार द्विजोंके ऊपर है। सेवासे जो भी प्राप्तहो जाय, उसीसे अपना निर्वाह करे। सेवक को जो कष्ट होता है उसका पाप सेवा लेने वालेको लगता है, अत. गृहस्वामीका कर्तव्य है प्रथम सेवकोंको भोजन कराके तब स्वय भोजन करे। अतिथि, बालक, वृद्ध, गर्भिणी स्त्री और घरके

सेवक ये प्रथम भोजनके अधिकारी होते है। गृहस्वामी और गृह-स्वामिनीको इन सबसे पीछे भोजन करना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! यदि शूद्रका सेवासे निर्वाह न हो तो वह क्या करे?"

भगवान् ने कहा—"शूद्र आपत्ति कालमे गोरक्षा व्यापार आदि भी कर सकता है। अथवा अपनेसे नीचे 'कारु' जातिके लोगोंके कामको कर सकता है।

उद्धवजी ने पूछा—"कारु जातिके कौन होते हैं?"

भगवान् ने कहा—"ब्राम्हण, क्षत्रिय और वैश्य इन द्विजातियोंकी स्त्रियोंमें शूद्र या अन्त्यज वर्णके वीर्यसे जो प्रतिलोम जातियाँ होती हैं उन्हे कारु जाति कहते हैं। इनका काम चटाई बनाना, चमडेकी वस्तुएँ बनाना, वस्त्र, कम्बल बनाना, कपड़े रगना, तथा अन्यान्य वस्तुएँ बनाकर निर्वाह करना है। शूद्र आपत्ति कालमें इन कार्योंको भी कर सकता है, किन्तु आपत्ति हट जाने पर फिर इन कामोंको न करे। वर्ण धर्मका पालन करना धनके लिये नहीं है अपितु अपने धर्मकी रक्षाके लिये है। अत्यत आपत्ति कालमें तो प्रायः सभी वर्ण सभी वर्णोंका कार्य कर सकते हैं। किन्तु अनापद् कालमे जो स्वधर्मका परित्याग करता है, वह पापका भागी होता है।

भगवान् कह रहे हैं—उद्धव! यह मैंने अत्यंत संक्षेपमे ब्राम्हण वैश्य और शूद्रोंके स्वभाव और उनकी वृत्तियोंका वर्णन किया, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?"

इस पर उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! वर्णतो मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारही सुने थे। अब आपने एक पंचम वर्ण अन्त्यज भी बताया। आपने कहा—शूद्र आपत्ति कालमें अन्त्यजोंके कार्योंको कर सकता है। तो ये अन्त्यज कौन हैं। मनु भगवान् तो कहते हैं, वर्ण चारही हैं पंचम कोई वर्णही नहीं।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! वास्तवमे वर्णतो चार ही हैं। यह अन्त्यज वर्ण एक संकरवर्ण है। संकरदो प्रकारके होते हैं एक अनुलोम संकर दूसरे प्रतिलोम संकर, उत्तम वर्णके पुरुषसे अधम वर्णकी स्त्रीमे जो सन्तान होगी वह अनुलोभ संकर कहावेगी। जैसे ब्राम्हण पुरुषसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रमे जो संतान होगी वह अनुलोम कहावेगी। कुछ ऐसे दस्यु होते हैं जो वर्णाश्रमको नहीं मानते हैं। वे चुराकर ब्राम्हणोंकी लडकियोंको, स्त्रियोंको ले जाते हैं, उनसे जो सन्तानें होती हैं वे चांडाल कहाती हैं। वर्णाश्रमी ऐसे अधर्मियोंके साथ कुछ भी संसर्ग नहीं रखते। क्योंकि समाजमें ऐसे लोग मिल जायँगे, तो सम्पूर्ण समाजको ही दूषित कर देंगे। सद्गुणोंकी अपेक्षा दुर्गुणोंका प्रभाव अति शीघ्र हो जाता है। अवगुणोंको साधारण समाजके लोग सरलतासे ग्रहण कर लेते हैं, इसीलिये ये अन्तेवसायी समाजसे वहिष्कृत माने जाते हैं, वर्णाश्रमी इनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते। फिर भी कैसे भी हों हैं तो ये समाजके अङ्ग ही। अपने शरीरमे फोडाहो जाय तो उस सड़े अङ्गको काटकर फेंका तो नहीं जाता, इसीलिये इनके लियेभी समाजमें व्यवस्था है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! इन पंचम वर्णके लोगोंका क्या स्वभाव होता है, इनकी वृत्ति क्या है?"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है उद्धव! अब मैं इन अन्त्यजोंका स्वभाव और वृत्ति तुम्हें बताता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान्ने जैसे अन्तेवसायियों का स्वभावादि बताया है, उसे मैं आपसे कहूँगा।"

छप्पय

शूद्र विपतिके समय करै गोपालन खेती।
अथवा धारै वृत्ति कारु पुरुषनिकी जेती॥
चर्म, चटाई, सूप, ऊनकी वस्तु बनावै।
वनतैं लावै वस्तु वेचिकें काम चलावै॥
आपद् में ही सब करै, पुनि आपद् मिटि जाय जब।
नीच वृत्ति कूँ त्यागी कें, अपनावै निज धर्म तब॥

—:o:—

अन्त्यजों का स्वभाव और वृत्ति

(१२७८)

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्क विग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्पश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनाम् ॥*

(श्रीमा० ११ स्क० १७ अ० २० श्लो०)

छप्पय

हरण नारि करि उच्चवर्ण की जो लै जावे ।
दस्यु म्लेच्छते अधम नीच चांडाल कहावैं ॥
रहैं सदा अपवित्र करैं खल मिथ्याभाषन ।
दैं चोरी महँ चित्त न मानहिँ वेद पितरगन ॥
शिखा सूत्र विश्वास नहिँ, व्यर्थ कलह सब तैं करैं ।
कामी, क्रोधी, लालची, ते मरि नरकनि महे परैं ॥

वर्णाश्रम धर्म का भय उच्छृंखलताका नियंत्रण करता है। मनुष्यों की जो विषय भोगों में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, उसको संयम में लाता है। नित्यप्रति अपने पूर्वजों का सदाचार सुनते

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्दजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—" उद्धव ! पवित्रता से न रहना, मिथ्याभाषण करना, चोरी, नास्तिकता, व्यर्थ कलह, काम, क्रोध और तृष्णा ये ही अन्त्यजों के स्वभाव हैं।"

सुनते उसमें आसक्ति अनुरक्ति और प्रवृत्त हो जाती है। इसलिये तो शास्त्रकारोंने सदाचार श्रवण का इतना भारी माहात्म्य बताया है। जो वर्णाश्रम धमसे पतित हो जाते हैं, वे मनमानी करने लगते हैं। विचारों में नास्तिकता भर जाने से जन्हें परलोकका तो कोई भय ही नहीं रहता। केवल शासकका और राजकीय विधि-विधान का भय रहता है, अतः छल से कपट से उस विधि-विधान से कैसे ही बचकर वे यथेच्छाचार करते हैं और अन्त मे नरक के अधिकारी होते हैं।

सूत जी शौनकादि मुनियो से कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी को अन्त्यजोंका स्वभाव बताते हुए कह रहे हैं—"उद्धव! अन्त्यज वर्णाश्रम धर्म से बहिष्कृत होते हैं। वे अपने दुष्कर्मों के कारण ही निन्द्य माने जाते हैं। उनमे ये आठ दुर्गुण रहते हैं। (१) अपवित्रता—म्लेच्छ लोग पवित्रता से प्रेम नहीं करते हैं। वे जिस लोटे से शौच जाते हैं, उसीसे पानी पीलेते हैं। शौच में शौच के पश्चात् आने पर मृत्तिका का प्रयोग नहीं करते। जिस दँतौन को एक बार कर लेंगे उसे ही कई दिन करते रहेंगे। इनके यहाँ जूठे अजूठेका कोई भेद भाव नहीं, भोजन बनाते बनाते उसे स्त्रियाँ चख लेंगी। असन, वसन, आहार व्यवहार तथा आचार में सर्वत्र अपवित्रता होती है। इन लोगों को अपवित्रता मे आनंद आता है। स्नान शौच इन्हें झंझट प्रतीत होता है, कोई द्विज बहुत स्नान पवित्रता करते हैं, तो उन्हें देखकर हँसते हैं, खिल्लियाँ उड़ाते हैं (२) अनृत—अनृत कहते हैं झूठ बोलने को। ये लोग सत्य का महत्व नहीं समझते। एकबार वचन दे देंगे, तुरन्त उसे पलट जायँगे, कुछ देखा है कुछ बतावेंगे, मनसे दूसरा निश्चय करेंगे, प्रकट दूसरा करेंगे। काम किसी उद्देश्य से करेंगे उसे बतावेंगे दूसरे ही उद्देश्य से।

(३) स्तेय—स्तेय कहते हैं, चोरी करने को। ये लोग विषय भोगों को ही सब कुछ समझने वाले होते हैं। दूसरों के धन को लूट लेते हैं। दूसरों की स्त्रियों का अपहरण करते हैं। इनमें वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा तो होती ही नहीं। चाहे जिसकी स्त्रीको रखलेते है। यहाँ तक कि अपने पितृव्य की लड़की को अपनी स्त्री बना लेते हैं। चोरी करने में इनकी स्वभाविकी प्रवृत्ति होती है मृतक गौका मांस तक खालेते हैं।

(४) नास्तिकता—ये न तो वेद को मानते हैं न भगवान् को। भगवान् के मंदिरों में जाकर प्रणाम नहीं करते। भगवत् विग्रहों को पाषाण बताते हैं। देवता, द्विजों और पूज्यों की पूजा नहीं करता। वेद नहीं है, परलोक नहीं है, मूर्ति पूजा कुछ नहीं है, ऐसे प्रलाप करते रहते हैं।

(५) शुष्क विग्रह—शुष्क विग्रह कहते हैं, व्यर्थ की कलह को ये लोग बड़े झगड़ालू और उग्र प्रकृति के होते हैं। बात बात पर लड़ने को उद्यत रहते हैं। मुख से जब बोलेंगे गाली देकर ही बोलेंगे। गाली देना इनके लिये सामान्य बात है। जो भी बात कहेंगे मर्मस्पर्शी कहेंगे।

(६) कामी—ये लोग बड़े कामी होते हैं। अपनी काम वासना की निवृत्ति के लिये उचित अनुचित सभी कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं। उच्चजाति की स्त्रियों के सतीत्व नष्ट करने में ये अपना गौरव समझते हैं। काम के पीछे ये हत्यायें करने में भी नहीं चूकते।

(७) क्रोधी—इन लोगों की भौंहें चढ़ी रहती हैं, ये सदा क्रोध में भरे रहते हैं। वध करदेना, किसी का अपमान करना, यह इनका सामान्य सा कार्य है।

(८) तृष्णा—इन लोगों की तृष्णा बड़ी बलवती होती है, दूसरों का कितना भी धन लूट लें दूसरों की वस्तुओं को कितनी

छीनले इन्हें सन्तोष नहीं होता। रात्रि दिन लूट-पाट और अन्याय से द्रव्योपार्जन की चिन्ता में निमग्न रहते हैं।

ये आठ लक्षण अन्त्यजों के हैं। जिनमें ये लक्षण हो वे अन्त्यज हैं। वे पापयोनि हैं, जब तक ये पृथिवी पर रहते हैं अशान्त बने रहते हैं और मर कर घोर नरको मे जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! तब तो अन्त्यजपना कर्म से हुआ। अन्त्यज कोई वर्ण विशेष नहीं हैं।

सूतजी ने कहा—"नहीं, महाराज ! वर्ण तो चार ही हैं। अन्त्यज कोई वर्ण नहीं है। वर्णाश्रमियों में से ही ये म्लेच्छ होते हैं। यद्यपि आर्य-अनार्य ये सनातन से चले आये हैं। अनार्य ही द्वेषवश आर्यों से लडते झगडते हैं, उनकी स्त्रियों को चोट कर या बल पूर्वक उठाले जाते हैं, उनसे ही ये वर्णसंकर दस्यु म्लेच्छ हो जाते हैं। म्लेच्छो के संसर्ग से वर्णाश्रमियो मे भी कुछ कुछ म्लेपछना आच जाता है। ये लोग अपना एक संघ बना लेते हैं और जो वर्णाश्रमी काम, क्रोध, लोभ या अपवित्रता के कारण इन म्लेच्छों मे मिल जाते है, वे भी शनैःशनैः म्लेच्छ हो जाते हैं।

शौनकजी ने पूछा—'तो सूतजा ! इन अपवित्रता, असत्य, चोरी करना, नास्तिकता, शुष्क कलह, काम, क्रोध और तृष्णा ये सब इनके धर्म हैं ? क्या इन्हें ये करने ही चाहिये ?

सूतजी बोले—नहीं महाराज ! इनके ये धर्म नही हैं, स्वभाव है। स्वभाव दो प्रकार का होता है, एक धार्मिक, एक अधार्मिक। जैसे सत्य बोलना यह धार्मिक स्वभाव है, असत्य बोलना अधार्मिक स्वभाव है। जो अधार्मिक स्वभाव को छोड देता है, वह पुण्य का भागी बनता है। उसका अन्त्यज और म्लेच्छपन शनैः शनैःछूट जाता है और वह स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है। बहुत से डाकू, भिल्ल सदाचार का पालन करके स्वर्ग के अधिकारी हुए हैं। इस विषय में प्राचीन इतिहास है।

प्राचीन काल में एक डाकू था, उसका नाम था कायव्य। यद्यपि वह डाका डाल कर ही अपना निर्वाह करता था, किन्तु उसमें भी वह मर्यादा पूर्वक कार्य करता था। वह बड़ा शूरवीर बुद्धिमान् और बहुश्रुत था। साधु महात्माओं को वह कभी दुःख नहीं देता था। ब्राह्मणों की सदा रक्षा करता था। वह वनकी एक भिल्लिनी के गर्भ से किसी क्षत्रिय के संसर्ग से उत्पन्न हुआ था। वह वन में ही रहता और बहुत से मृगों को मार कर स्वयं भी खाता उसी से आतिथ्य सत्कार भी करता। साधु महात्माओं को कंद मूल फल देता। कोई डाकू का अन्न न लेना चाहिये, इस भाव से न लेते तो चुपके से उनकी कुटी के द्वार पर रख आता। उसकी चारों ओर ख्याति हो गयी। बहुत से लुटेरे उसके पास आने लगे, वह उनसे भी बड़ा स्नेह करता और उन्हें भी कंद, मूल, फल और मांस आदि खाने को देता।

जो अमर्यादित लुटेरे थे, वे जहाँ भी जिसे पाते वहीं उसे लूट लेते थे। स्त्रियों को भगा लाते थे और व्यर्थ हिंसा भी करते थे। उन सबने सोचा हमारा एक संघ बन जाय तो हम सब सुसंगठित हो जायँ। यह सब सोचकर बहुत से लुटेरे उसके पास गये और बोले—"आप हम सबके राजा बन जायँ।"

उसने कहा—"राजा तो मैं बन सकता हूँ; किन्तु फिर आपको ऐसे मर्यादाहीन होकर डाका न डालना होगा। मेरी बातों को मानना पड़ेगा। मेरे नियमों का पालन करना होगा।

डाकुओं ने पूछा—"वे कौन से नियम हैं हम उन्हें सुने भी तो सही। सुनकर हम बतावेंगे, कि इनका पालन हम कर भी सकते हैं या नहीं।"

यह सुनकर कायव्य डाकू बोला—सुनिये मैं आपको बताता हूँ—

१—आपको स्त्रियों का न तो वध करना होगा, न उनका सतीत्व नष्ट करना होगा और न उनका अपहरण करना होगा।

२—जो डर गये हो आप लोगो से दीन होकर प्राणों की भिक्षा माँग रहे हो, उन्हे न मारना होगा।

३—बालको और तपस्वियों का कभी वध न करना होगा।

४—जो तुम पर प्रहार न करे उस पर तुम भी प्रहार मत करो जो तुम से लड़ना चाहे, उससे तुम भी लडना।

५—ब्राह्मणों को न तो लूटना, न उन्हें मारना,न उनसे कटुवचन कहना, यही नहीं ब्राह्मण की प्राणपण से सदा रक्षा करना।

६—जिस घर में देवता पिता तथा अतिथो का पूजन सत्कार होता हो उस घर में कभी डाका न डालना, तहाँ किसी प्रकार भी विघ्न वाधा उपास्थित न करना।

७—वनमे जो तुम्हारे अधीन हैं उन से कर लेना। जो प्रजा को कष्ट दें उन्हे तुम भी कष्ट देकर प्रजा का उद्धार करो।

८—जो शिष्ट जन्मों को दु:ख दे उसके तो प्राण ही हर लेना। उसे जीवित मत छोडना।

९—जो नीच हैं दूसरों का रक्त चूसने वाले हैं उनसे यथेष्ट धन लेना। क्योंकि अधम लोगो के लिये दण्ड ही एक मात्र उपाय है।

१०—इन दस्यु धर्मों का भली भाँति पालन करना। जो दस्यु होकर भी इन धर्मशास्त्र मे बताये हुए दस्यु धर्म का पालन करते हैं, वे लुटेरे होने पर भी तुरन्त सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

कायव्य की बातें सुनकर सब दस्युओं ने कहा—"अच्छी बात है, आप हमारे राजा बन जायँ। हम इन नियमों का पालन करेंगे उनकी सम्मति पाकर कायव्य उन सब का राजा बन गया। उसने डाकुओं को अमर्यादा से हटाकर एक मर्यादा में रखा था, उन्हें पाप से बचाया था, साधु पुरुषों की रक्षा करायी थी, इससे अन्त में वह स्वर्ग का अधिकारी हुआ।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! यदि बुरा स्वभाव हो तो उसे यथा शक्ति त्याग देना चाहिये। इसी प्रकार पैतृक वृत्ति बुरी और निन्दित हो, तो उसको स्वधर्म समझकर मोह न करना चाहिये। निन्दित वृत्ति का त्याग करने से दोष ही नहीं लगता अपितु पुण्य होता है। नाटकों में स्त्री बनकर अभिनय करना, सूक्ष्म वस्त्र पहिनकर चर्म की पेटी बाँधकर राजा या मंत्री बनना, मद्य बनाना या बेचना, मास काटना या बेचना, लोहे के अस्त्रशस्त्र बनाना या बेचना, चमडे को कमाना या बेचना, ये छै काम वंश परम्परा से चले भी आते हो तो इन्हें त्याग देने से बड़ा पुण्य होता है। जो अन्त्यजों के स्वभाव को और वृत्ति को छोड देता है, वह फिर अन्त्यज नहीं रहता।" शौनक जी ने पूछा—"सूतजी यह तो अन्त्यजों का स्वभाव हुआ अब उनकी वृत्ति बताइये।"

सूत जी बोले—"हाँ, महाराज उद्धव जी ने भगवान् से यही पूछा था। तब भगवान् ने कहा—"उद्धव! चारों वर्ण के लोग कुत्ते के मांस को अत्यत निन्दित बताते हैं। सूकर और कूकर ये विष्ठा खाते हैं। चाटाल लोग कुत्ते को भी मार कर उसे पका कर

खाते हैं इस लिये वे श्वपच या श्वपाक कहलाते हैं। सूअरों को पालते हैं। सूप चटाई, सिरकी आदि बनाते हैं। वन से औषधियों को लाकर बेचते हैं। मृतक के ऊपर के वस्त्रों को ले लेते हैं। मृतक पर चढ़ी मालाओं को पहिन लेते हैं। मृतक के द्रव्य से कार्य चलाते हैं। मृतक-गौ आदि पशुओं का मास खाते हैं। वध करने, सूली फाँसी देने का काम ये करते हैं। इन्हीं सब कार्यों से नगर के बाहर रहकर अपनी आजीविका चलाते थे। कलियुग में तो ये सभी नगरों में रहने लगेंगे और सभी वर्णाश्रमियों में मिल जुल जायँगे। बहुत से विधर्मी मेल्छों के संसर्ग से क्रूर और आततायी हो जायँगे। मैंने संक्षेप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यजों के स्वभाव और उनकी वृत्तियों का वर्णन किया, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

उद्धव जी ने कहा—"प्रभो ! कलियुग में वर्णाश्रम धर्म की प्रधानता ही रहेगी नहीं तो प्रत्येक वर्ण की वृत्ति भी निश्चित न रहेगी। ब्राह्मण भी सुरा मांस बेचने लगेंगे। लोह चर्म और तैल घृत आदि रसों का व्यापार करने लगेगे। अन्त्यज भी उच्च वर्णों का काम करने लगेगे। वर्ण धर्म का सामूहिक सामाजिक रूप में पालन कठिन हो जायगा। हाँ वैयक्तिक रूप से कोई वर्ण धर्म का पालन भले ही करले। अतः आप हमे सामान्य धर्म का उपदेश दें। ऐसे व्यापक धर्म बतावें जिसका पालन सभी वर्ण के, सभी आश्रमों के, यहाँ तक कि भूमण्डल के सभी देशों के स्त्री पुरुष सामान्य रूप से सभी कर सकें।

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् बोले—"उद्धव ! यह तुम ने बड़ा ही उत्तम प्रश्न किया। अब मैं तुम्हारे सम्मुख सार्ववर्णिक धर्म का वर्णन करता हूँ, इसे तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।

सूतजी कहते हैं—"भगवान् ने जैसे सार्ववर्णिक धर्म का वर्णन किया उसे मैं आप से अब कहता हूँ।"

छप्पय

दस्यु धर्म कूँ पालि म्लेच्छ हूँ सद्गति पावें।
अधम वृत्ति कूँ त्यागी, करे शुभ शुचि ह्वै जावें॥
उद्धव ! मैंने वर्ण धर्म सब तोइ सुनायौ।
जो पुरान, इतिहास, वेद, शास्त्रनि ने गायौ॥
यह विशेष सब वर्ण के, धर्म कहे मैंने सकल।
कहूँ, धर्म सामान्य अब, जो सब वर्णनि कूँ विमल॥

—:❀:—

सार्ववर्णिक धर्म

(१२७९)

अहिंसा सत्यमस्तेयमकाम क्रोध लोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥*

(श्री भा० ११ स्क० १७ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

सत्य, अहिंसा शुद्ध चित्त तैं मनमहँ धारैं ।
कबहुँ न चोरी करैं काम बड़ रिपुकूँ मारैं ॥
क्रोध लोभतैं रहित होहिं प्रिय करहि सबनिको ।
प्राणि मात्र तैं प्रेम करैं हित सब जीवनि को ॥
सुखी होहि परसुख निरखि, पर संपति लखि नहिँ जरैं ।
स्वयं न प्रिय व्यवहार जो, तिहि औरनिसँग नहिँ करैं ॥

कुछ लोग धर्म को अलग मानते हैं और चरित्र तथा सदाचार को अलग। उनके मत में उपासना गृह में जाना, पूजा पाठ करना, परमात्मा की प्रार्थना करना यह तो धर्म है और सत्य,

---

*श्री भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव! अहिंसा, सत्य, अस्तेय काम, क्रोध और लोभ से रहित होना तथा प्राणियों की हितकारी और प्रिय चेष्टाओं में संलग्न रहना ये सामान्यतया सभी वर्णों के धर्म हैं।"

अहिंसा परोपकारादि सदाचार हैं। उनका मत है सदाचार के लिये धर्म की धार्मिक क्रियाओं की कोई आवश्यकता नहीं। धार्मिक भी दुराचारी हो सकता है और अधार्मिक भी सदाचारी हो सकता है। किन्तु हमारे यहाँ सदाचार और धर्म दो वस्तु नहीं है। सदाचार धर्म का ही एक अङ्ग है। हमारे यहाँ तो चरित्र सदाचार ये सब धर्म के ही अन्तर्गत हैं, जो सदाचारी नहीं वह धार्मिक कैसे हो सकता है। धर्म का ढोंग भले ही बना ले। आजीविका के लिये धार्मिक क्रियाओं का आश्रय भले ही ले ले वह धार्मिक नहीं। जो आचारहीन है। उसे तो वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। इसी प्रकार जो सदाचारी है, वह अधार्मिक बना रहे यह असंभव है। हमारे यहाँ धर्म की व्याख्या विस्तृत है। वैयक्तिक धर्म, कौटुम्बिक धर्म, जाति धर्म, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, देश धर्म तथा सार्ववर्णिक धर्म। सब पृथक पृथक हैं। यह नहीं कि हम ब्राह्मण हैं और दूसरा शूद्र है, तो दोनों के पृथक पृथक् धर्म होने से हम कभी मिल ही नहीं सकते। अपने अपने धर्मों का पालन करते हुए हम सामाजिक क्षेत्र मे एक होते हैं। कुछ धर्म ऐसे है, जो सभी वर्णों पर सभी आश्रमों पर यहाँ तक मनुष्य मात्र पर एक से लागू हैं।

सूतजी शौनकादि मुनियो से कह रहे हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने सभी वर्णों के धर्म का निरूपण कर दिया, तब उद्धव जी ने उनसे सार्ववर्णिक धर्मके सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसका उत्तर देते हुए वे कह रहे हैं—"उद्धव ! कुछ धर्म ऐसे हैं जिनका सभी लोग समान भावसे पालन कर सकते हैं। वे ये हैं:—

(१) अहिंसा—अहिंसा कहते हैं, तन से, मन से, और वाणी से किसी को कष्ट न पहुँचाना। यों संसार में हिंसाके बिना तो कोई जीवित रह ही नहीं सकता। जीव ही जीवोंका जीवन है। एक जीव दूसरे जीव को खाकर ही जी रहा है। अंडज, जरायुज,

स्वेदज और उद्भिज ये चार प्रकार के जीव हैं। एक दूसरे को खाकर ही उनका जीवन है। स्वेद (पसीना) से उत्पन्न होने वाले खटमल जूँए मनुष्यों का रक्तपान करके ही जीते हैं। अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी एक दूसरे को खाते हैं। मोर सर्प को खा जाता है। सर्प मेढक को खा जाता है। मेढक छोटे-छोटे कीडे मकोडोंको भक्षण कर जाता है। गाय भैंस घास को खाकर जीती हैं। घास मे जीव है। मनुष्य अन्न फल खाता है, इनमें भी जीव है। दूध पीता है, दूध मे भी जीव है। माता का रक्त ही सफेद होकर दूध बन जाता है। दूध को जलाइये चरबी जैसी गंध आवेगी। ये सब हिंसायें स्वाभाविक हैं। जीव इनसे बच नहीं सकता। मनुष्य प्राणी पशु नहीं है, बुद्धिमान् है। उसे जहाँ तक हो अहिंसा से बचना चाहिये। बिना मास के निर्वाह होता हो, तो अपने मास को बढाने के लिये दूसरो का मास न खाना चाहिये। कर्तव्य बुद्धि से धर्म की रक्षाके लिये किसी को मारना हो य दूसरी बात है, किन्तु यों व्यर्थ मे किसी को कभी भी न मारना चाहिये। जब हम जीवन प्रदान ही कर सकते तो हमें किसी को मारने का अधिकार ही क्या है। इसलिये कभी किसी को मारे नहीं। मन से किसी का अनिष्ट न सोचे। मानसिक हिंसा भी बडी भारी हिंसा है। हम वाणीसे भले ही न बोले, शरीरसे भी कोई कार्य न करें। किन्तु मनसे किसीका अनिष्ट चिन्तन करते रहे, तो यह बहुत बडी हिंसा है। अतः मनसे भी किसीका अनिष्ट चिन्तन न करे। किसीको वाणीसे भी कटु वचन न कहे। वाणीकी हिंसा शारीरिक हिंसासे बहुत बडी है। बाणका घाव तो पुर भी जाता है, किन्तु वाग्बाण सदा हृदय में चुभता रहता है, इसलिये वाणी बहुत विचार कर बोले। जिस बात में दूसरोंका हित होता है। जो सत्य हो, मधुर हो और निश्छल भावसे कहीं गयीं हो ऐसी वाणीको बोलें। इस प्रकार जो तन, मन

और वाणीसे अहिंसाका आचरण करता है,वह स्वर्गका अधिकारी होता है। इसमें वर्ण आश्रमका कोईनियम नहीं। मनुष्य मात्र इस धर्मका पालन कर सकता है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! किसीको कष्ट न पहुँचानाही अहिंसा है?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, यह बात नहीं है। कभी-कभी कष्ट न पहुँचाना भी हिंसा हो जाती है। कभी कष्ट पहुँचानेसे भी अहिंसा होती है। कोई आततायी है, किसीकी बहिन बेटी पर बलात्कार कर रहा है, हम-हम यह सोचे कि इसे रोके तो इसको कष्ट होगा, तो हमारा यह विचार हिंसा युक्त हुआ। उस स्त्रीकी रक्षाके लिये यदि मार डालें तो यह अहिंसा ही हुई। आततायीको मारने में कुछ हिंसा नहीं। हिंसा अहिंसाका विशेष सम्बन्ध भावसे है। शास्त्रों में इसका बृहद् रूपसे विवेचन है। कोई जंगली हिंसक पशु था, वह सबको कष्ट देता था। एक दिन वह जल पीरहा था, पीछेसे किसी व्याध ने आकर उसे मार डाला। इस पर देवताओं ने उस पर पुष्पोंकी वृष्टिकी, वह स्वर्गका अधिकारी बना। अतः अहिंसा न मारनेसे ही नहीं होती। अर्जुनको भी यही भ्रम था, कि मैं राज्यके लिये अपने सम्बन्धियोंकी हिंसा क्यों करूँ। इससे तो भीख माँगकर खाना अच्छा। तब मैंने उसे हिंसा अहिंसाका मरम समझाया। धर्मकी रक्षा करते हुए दूसरोंको मनसा वाचा-कर्मणा कष्ट न देना यही अहिंसा है इस परम धर्मका पालन मनुष्य मात्रकर सकते हैं। दूसरा सार्ववर्णिक धर्म है—सत्य।

(२) सत्य—यथार्थ भावोंको बिना छल कपटके व्यक्त करना सत्य है। कभी-कभी सत्यसा दीखने वाला व्यवहार असत्य हो जाता है। कभी असत्यसा दीखनेवाला व्यवहार सत्य हो जाता है। सर्व भूतोंकी हितकी भावनासे यथार्थ व्यवहार सत्य है। समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान,

श्रेष्ठता, धैर्य और दया ये सत्यके ही अन्तर्गत है। कहना चाहिये सत्यके ही प्रकार है।

(३) अस्तेय—जिस वस्तुको सबके सम्मुख छू नहीं सकते उसे छिपकर छूना, जिसका व्यवहार निंदित माना जाता है उसका छिपकर व्यवहार करना ये सब चोरीके ही अन्तर्गत है। चोरी न करना यही अस्तेय है दूसरेकी भोग वस्तुको न अपनाना इसीका नाम चोरी न करना है।

(४) काम—क्रोध लोभादिसे रहित होना ये असद् वृत्तियाँ हैं जैसे समुद्र मे लहर उठती रहती हैं, वैसे ही काम-क्रोधादिकी ऊर्मिया हृदयमें उठती रहती हैं। अपनेको इनसे पृथक् समझकर इनके वश मे होना।

(५) भूतप्रिय हितेहा—प्राणियोंकी हितकारिणी तथा प्रिय लगनेवाली चेष्टाओं में निरन्तर तत्पर रहना अर्थात् जो व्यवहार अपने लिये अच्छा लगे उसीका व्यवहार दूसरोके साथ करना जो अपनेको अप्रिय लगे उसे कभी किसीके साथ न करना। अर्थात् सर्वभूतोंको आत्मवत् मानना।

ये सब ऐसे गुण हैं कि इन्हें चॉडाल से लेकर श्रोत्रियतक समान भावसे कर सकते हैं। ये सब वर्णोंके सामान्य धर्म हैं। यहाँ उन्हें संक्षेप में कहा है, नहीं तो सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, युक्तायुक्त विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शित्व, संत सेवा, सांसारिक भोगोसे शनैः शनैः निवृत्ति, प्रारब्ध निर्भरता, आत्मचिंतन, मौन, प्राणियोंको अन्नादि बॉटकर खाना, प्राणिमात्र में विशेषकर मनुष्यों में भगवत् भाव रखना, भगवत् कथा श्रवण, नाम गुण कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमस्कार, अपनेको भगवान्का दास मानना, सख्यभाव तथा आत्म समर्पण करना ये ३० लक्षणवाला धर्म है। इनका आचरण सभी कर सकते हैं। किसी वर्णका हो, किसी आश्रमका हो, किसी

देशका हो, किसी पंथ, सम्प्रदाय, भूत मतान्तरका व्यक्ति क्यों न हो इन तीस धर्मोंका पालन करनेसे वह सद्गतिको प्राप्त हो सकता है। मान्यता तो अपनी है। ऐसा आग्रह नहीं है कि इस संप्रदाय को छोड़कर इसमें आओगे, तभी उद्धार होगा। आपकी जो मान्यता हो उसे ही मानो। इन धर्मोंका पालन करो तुम जहाँ हो तहाँ ही तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो जायगी। मैं किसी सम्प्रदाय विशेषका नहीं हूँ, जो मुझे जिस भावसे भजते हैं मैं भी उन्हें उसी भावसे भजता हूँ, जो मुझ में वात्सल्य रखते हैं, मैं भी पिता माताका भाव रखता हूँ, जो मुझे सखा मानते हैं मैं भी उन्हें अपना सखा मानता हूँ, जो मुझे स्वामी मानकर पूजते हैं, मैं भी उनकी सेवक भावसे सब रेखदेख करता हूँ, उनके छोटेसे छोटे कामको स्वयं करता हूँ। जो मुझ में पति भाव रखते हैं उन्हें मैं अपनी प्राणप्रियाकी भाँति प्यार करता हूँ। उन्हें अपने हृदयका हार बना लेता हूँ, सब समय सोते जागते उठते बैठते उनका स्मरण करता हूँ। मैं भाव भूखा हूँ। यदि भाव नहीं तो उच्चसे उच्च वर्णका भी नीच है, यदि भाव है तो चांडाल भी श्रेष्ठ है। सत्य अहिंसादि धर्मोंका पालन करनेके ही लिये सब विधि विधान है। यह मैंने अत्यंत संक्षेप में समस्त वर्णोंके धर्म बताये, अब तुम क्या सुनना चाहते हो ?

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैंने आपसे वर्णोंके सम्बध में तो सुना अब मैं आश्रमोंके धर्म और सुनना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं वैसे ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास

चार आश्रम हैं। इनमें सबसे पहिला आश्रम है ब्रह्मचर्य। अतः तुम्हें मैं प्रथम ब्रह्मचारियोंके भेद और उनके धर्म ही बताता हूँ। तुम इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करो।

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान् ने ब्रह्मचारियोंके धर्म बताये उन्हें मैं आपसे कहता हूँ, आप भी सब सावधान होकर सुनें।"

छप्पय

द्विज शूद्रनि अरु सर्व वर्ण को धर्म बतायो।
सबकी वृत्तिनि सहित तोइ सक्षित सुनायो॥
अब जो इच्छा होहि कहूँ जो पूछौ उद्धव।
बोले उद्धव। कहो धर्म आश्रम को केशव॥

हरि बोले आश्रमनिमहँ, ब्रह्मचर्य आश्रम प्रथम।
द्विज बालक उपनयनयुत, बसै तहाँ पालै नियम॥

—::❀::—

ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म

(१२८०)

द्वितीय प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयन द्विजः ।
वसन्गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

गुरुकुलमहँ नित वास करे भिक्षा करि लावै ।
गुरु सम्मुख धरि देहि देहिँ जो सोई खावै ॥
धारै नित उपवीत मेखला अरु मृगछाला ।
दण्ड, कमण्डलु, जटा, अक्षकी उरमहँ माला ॥
अलंकार हित दन्त पट, रँगे न उज्वल करै अति ।
भोजन मज्जन होम जप, महँ नहिं बोले धीर मति ॥

सनातन वैदिक आर्य धर्म का मुख्य उद्देश्य है त्याग । एक मात्र त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है । उस त्याग की शिक्षा द्विजातियों को आरम्भ से ही—बाल्य काल से ही—दी

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! द्विजातियों का उपनयन दूसरा जन्म है। उस दूसरे जन्म को क्रमशः पाकर द्विज बालक गुरुकुल में अपनी इन्द्रियों को वशमें करके निवास करे और गुरु के बुलाने पर वेदका अध्ययन करे ।"

जाती है। द्विजों में द्विजत्व संस्कारों के ही कारण होता है। जो द्विज संस्कार हीन है, वह नाम मात्र का द्विज है, शूद्र सदृश है। गर्भाधान, पुसंवन, जातकर्म, नाम-करण, चूडाकर्ण तथा कर्ण वेधन आदि संस्कारो को कराते कराते जब बालक उपनयन संस्कार करा लेता है, तब उसका दूसरा जन्म होता है और तभी उसकी द्विज संज्ञा होती है। तभी से वह ब्रह्मचर्याश्रम मे प्रवेश करता है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से आश्रम धर्म के सम्बन्ध मे प्रश्न किया, तब वे प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम के सम्बन्ध मे बताते हुए कहने लगे—"उद्धव! द्विजाति अपने बाल्यकाल के संस्कार घर पर ही करावे। ब्राह्मण का बालक जब पाँच वर्ष का हो जाय, क्षत्रियका छै वर्ष का और वैश्य का आठ वर्ष का तब उसे घर से गुरु के समीप गुरुकुल में ले जाय। यह उसका द्वितीय जन्म है। गुरुकुल मे जाने पर गुरु उसका उपनयन संस्कार करावे, वेद माता गायत्रीका उपदेश दे, तब वेदारम्भ संस्कार करावे। गुरु के यहाँ उपनयन कराने पर गायत्रीमंत्र का उपदेश प्राप्त होने पर उसकी ब्रह्मचारी संज्ञा हो जाती है, अब उसके धर्म भी घर से भिन्न हो जाते हैं। ब्रह्मचारी ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों ही वर्णों के होते हैं। अतः तीनों के वेष भूषा व्यवहार ऐसे होने चाहिये कि देखते ही मनुष्य पहिचानलें कि यह अमुक वर्ण का ब्रह्मचारी है। तीनों वर्ण के ब्रह्मचारियों के चिन्हों में कुछ न कुछ भिन्नता होती है। गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारी गुरू के अधीन रहे और जब गुरुजी बुलावें तब हाथ जोड़कर उनके समीप जाय, प्रणाम करके बैठे। पढने के अन्तर भी प्रणाम करके उठे। अपने ब्रह्मचर्य के अनुरूप चिन्हों को सदा धारण किये रहे। ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! ब्रह्मचारी के क्या क्या

चिन्ह हैं ?"

भगवान् ने कहा—मेखला, अजिन, दण्ड, रुद्राक्षकी माला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु और स्वयं बढ़ी हुई जटायें तथा ब्रह्मदण्ड ये ही ब्रह्मचारियों के चिन्ह हैं। अब इनका कुछ विवरण सुनिये :—

(१) मेखला—मेखला मूँज की बनाया जाती है, सुंदर मृदुल सुख स्पर्श पतली मूँजकी रस्सी बटी हो, उसे तिलर करके उसमें तीन या पाँच गाँठें दी हो। कौंधनी के स्थान पर मेखला पहिनी जाती है। ब्राह्मण की मेखला मूँजकी हो, क्षत्रियकी धनुष की या जिस ताँत की बनती है उसकी हो और वैश्य ब्रह्मचारी की मेखला सनकी बनी हो। अथवा तीनोंकी कुशा की हो। मेखला ब्रह्मचारियों को कर्धनी के स्थान मे अवश्य पहिने रहना चाहिये।

(२) अजिन—अजिन कहते हैं कृष्ण मृगचर्म को। ब्रह्मचारी के लिये मृगछाला सदा ही रखने का विधान है। मृग चर्म को ही ओढ़े। मृगचर्म को आसन पर बिछाकर उसे वस्त्र से ढककर उसी पर बैठे। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को काले मृगका चर्म रखना चाहिये। क्षत्रिय ब्रह्मचारी को रुरु नामक मृगके चर्मका विधान है और वैश्य ब्रह्मचारी छाग भेषके चर्मको रखे। इसी प्रकार वस्त्रों के लिये भी है। ब्राह्मण ब्रह्मचारी सनका वस्त्र रखे। क्षत्रिय रेशमका और वैश्य ब्रह्मचारी ऊन का अधोवस्त्र रखे। उत्तर वस्त्र मृगचर्म आदिका ही रखे।

(३) दण्ड—ब्रह्मचारी को दण्ड भी सदा रखनेका विधान है। ब्राह्मण ब्रह्मचारी बेल का या पलास (ढाक) की सीधी लकड़ी का दण्ड रखे। क्षत्रिय बटका या खैरका तथा वैश्य पाकर या उदुम्बर का दण्ड रखे। दण्डकी लम्बाई भी तीनो वर्णोंकी पृथक् पृथक् हो जिससे दूरसे ही लोग पहिचान ले कि यह अमुक वर्णका ब्रह्मचारी है। केश पर्यन्त लम्बा दण्ड ब्राह्मण बालक का हो, क्षत्रिय ब्रह्मचारी का ललाट तक का और वैश्य ब्रह्मचारी का नासिका पर्यन्त लम्बा

हो। ब्रह्मचारी भिक्षा आदिका जहाँ भी जाय इस दण्ड को साथ ही लेकर जाय। वे दण्ड सुंदर हों, देखने मे अच्छे लगते हों, अग्नि आदि से जले न हो और उनके वल्कल निकाल न दिये हों, किन्तु वल्कल सहित हों। जब बहुत से ब्रह्मचारी दण्ड कमण्डलु लेकर चलते हैं तो बड़े ही भले मालूम होते हैं।

(४) रुद्राक्ष की माला—रुद्राक्ष की माला भी ब्रह्मचारियो को पहिने रहना चाहिये या तुलसी की माला ही पहिने रहे।

(५) उपवीत—यज्ञोपवीत ब्रह्मचारियो को अवश्य धारण करे रहना चाहिये। उसमे ब्राह्मणका यज्ञोपवीत कपासके सूतका, क्षत्रियका सनका तथा वैश्यका ऊनका हो। अथवा तीनोंके सूतके ही हो। यज्ञोपवीतको प्रथम तीन सूत्रोंका ९६ चउओंका करके बटके, फिर उससे त्रिगुणा करके त्रिवृत्त बना कर गाँठ देनी चाहिये।

(६) कमण्डलु—ब्रह्मचारी को जलपात्र सदा अवश्य साथ रखना चाहिये, यह चाहे धातुका हो अथवा काष्ठफल आदिका।

(७) जटा जूट—ब्रह्मचारी को बाल न बनवाने चाहिये। सिर के, मूँछोंके, दाढ़ीके, कक्ष (बगल) के तथा उपस्थके इन पाँचो स्थानके बालों को रखे रहना चाहिये। इसीलिये उसे पंचकेशी कहते हैं। उसे नखोंको भी न कटाने चाहिये। यदि पंचकेशी नहीं रहना चाहे तो शिखा रखकर मुंडन करादे।

(८) ब्रह्मदण्ड और पवित्री—दोनों हाथोंकी अनामिका उँगलियोंमे पवित्री पहिनना चाहिये। दायें हाथकी उँगलीमे दो कुशाओं की और बायें हाथकी उँगलीमे तीन कुशाकी चिकनी सुन्दर मृदुल मनोहर पवित्री पहिने। हाथमें यज्ञोपवीतसे बँधा हुआ बहुत सी कुशाओं का मूँठा—जिसे ब्रह्मदण्ड भी कहते हैं—हाथमे धारण किये रहे। ये ही आठ ब्रह्मचारियो के चिन्ह हैं।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! मैंने ब्रह्मचारियों के चिन्हों को तो जान लिया। अब कृपा करके उनके नियमोंको और बतायें। ब्रह्मचारी किन किन धर्मोंका पालन करें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! ब्रह्मचारीका सबसे प्रधान धर्म तो है, सब प्रकारसे ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना, नित्य भिक्षा माँग कर लाना, उसी पर निर्वाह करना, आचार्यकी सेवामें सदा सलग्न रहना, अग्नि तथा सूर्यकी उपासना करना। गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध जन, अतिथि तथा देवताओंकी पूजा करना तथा वेदाध्ययन करना।

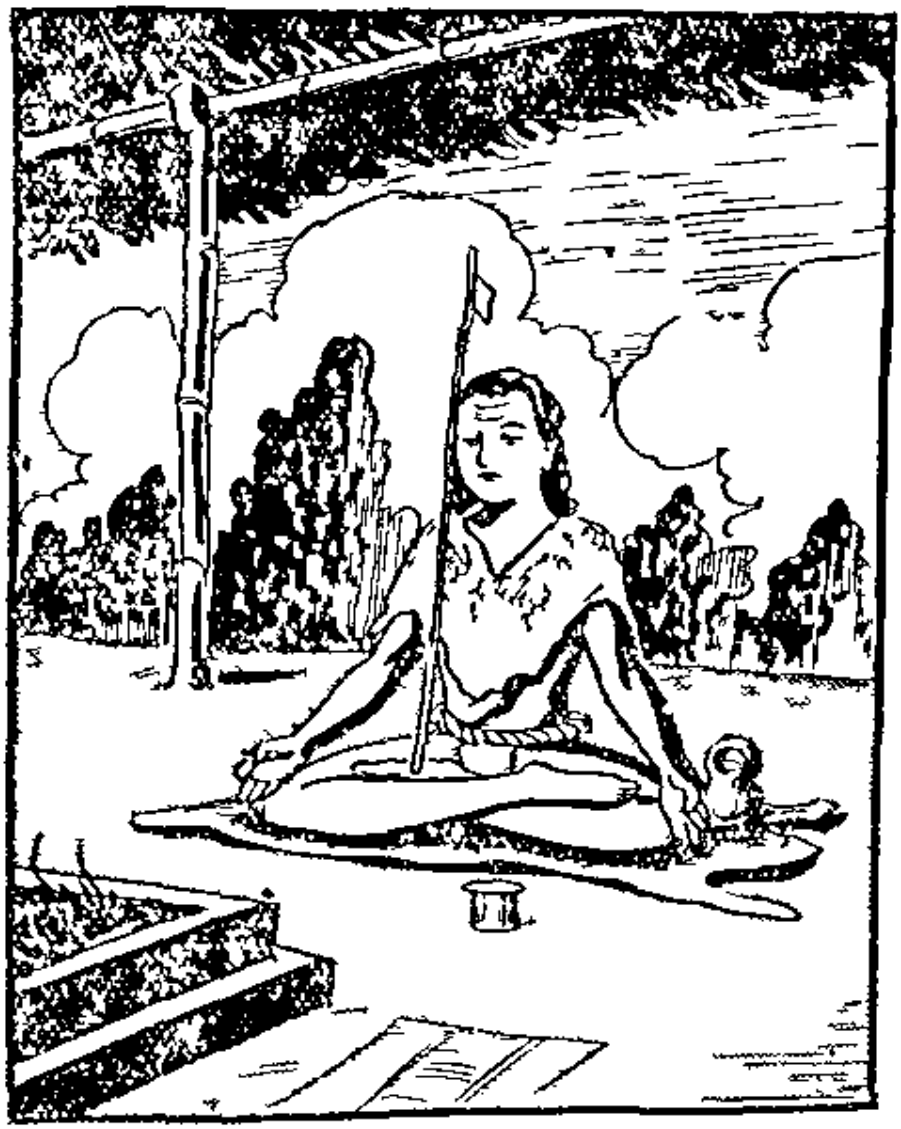

ये ही ब्रह्मचारी के धर्म हैं। ब्रह्मचारी को उपवास तथा तप आदि का विधान नहीं। वह जो अध्ययन करता है वही उसका सर्वोत्कृष्ट-तप है। अब इन नियमों के सम्बन्धमें विशेष विवरण सुनो।

(१) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य ही जीवन है। बिन्दुपात ही मरण है और बिन्दुधारण ही जीवन है, ब्रह्मचारी को सदा दृढ़ताके साथ ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना चाहिये। ब्रह्मचारी को काम भावना से कभी भी स्त्रियोंकी ओर न तो देखना चाहिये, न उन्हें छूना ही चाहिये और न उनसे विशेष वार्तालाप तथा हँसी विनोद ही करना चाहिये।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्मचारी भिक्षा लेने तो गृहस्थों के घरोंमें ही जायगा। भिक्षा तो स्त्रियाँ ही देंगी, यदि स्त्रियोंसे बातें न करे, उनकी ओर देखे नहीं तो उसका काम कैसे चले?"

भगवान् ने कहा—"काम भावसे देखना, छूना और वार्तालाप करना निषिद्ध है और फिर एकान्तमें निषिद्ध है। सबके सम्मुख शुद्ध भावसे देखने, बोलनेमें तथा भिक्षादिके व्यवहारमें कोई नहीं, किन्तु स्त्रियोंसे और स्त्री जातिसे अपनी आवश्यकतानुसार ही व्यवहार रखे। इनसे जो अधिक संसर्ग बढ़ा लेता है, उसे अन्तमें पछताना पड़ता है, उसका पतन निश्चित है।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! शुद्ध भावसे जैसे अपनी माता बहिन बेटी से व्यवहार करता है वैसे ही उनसे एकान्त में व्यवहार करे।"

भगवान ने कहा—'हाँ, भैया! यह तो ठीक है। इसमें कोई दोष नहीं। निन्दा काम व्यवहारकी ही है, किन्तु ब्रह्माजी ने स्त्रियों का अंग प्रत्यंग ऐसा बनाया है कि जिसे इतना ज्ञान है कि यह स्त्री है यह पुरुष, उसका मन युवती स्त्रीको एकान्तमें पाकर कभी कभी विचलित हो ही जाता है। सदा नहीं होता, किन्तु शंका बनी ही रहती है, इसलिये शंकाके कामको करे ही क्यों। जब यह

जानते हैं कि विष खानेसे मृत्यु हो ही जाती है, तो परीक्षाके लिये विष खाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं। प्रमदाको अग्निकी उपमा दी गयी है और पुरुषको घी भरे घड़े की। अग्नि और घृत एक स्थान पर रहे तो घृत पिघल ही जायगा। इसलिये अपनी सगी बहिनके, अपनी सगी पुत्रीके साथ भी एकान्तमें रहना निषेध बताया है। ब्रह्मचर्यव्रत अत्यन्त कठिन असिधारा व्रत है। लोग बुद्धिमानी के साथ सावधान होकर खड्गकी धार पर चल सकते हैं, जहाँ तनिक भी असावधानी हुइ कि पैर कट जायगा। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य मे तनिक भी प्रमाद हुआ कि पतन निश्चित है। पुरुष और स्त्रीकी रचना ही उन तत्वोंसे हुई है कि परस्परमें स्वतः आकर्षण हो ही जाता है। एकान्तमें देखने छूने और हँसी विनोद करनेसे फिर मर्यादा रहती नहीं। अतः ब्रह्मचारी को प्राणपणसे ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि उसका व्रत खंडित न हो, जिस कामसे ब्रह्मचर्य की हानिकी संभावना हो उसे दूरसे त्याग दे। एकान्तमें कभी स्त्रीकी ओर देखे भी नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा— ब्रह्मन्! गुरुपत्नि तो अपनी माताके सदृश है। घर छोड़ने पर वही पालन पोषण करती है, अतः उसे छूनेमें उससे बातचीत करनेमें तो कोई दोष नहीं?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया! दोष क्यों नहीं है। यदि गुरु पत्नी वृद्ध हैं तब तो कोई बातनहीं, उनके पैर छूकर प्रणाम करे, वे जो आवश्यकता होने पर पुत्रकी भाँति सेवा करें उसे मातृभाव से कराले। किन्तु गुरुपत्नी युवावस्थापन्न हो तो उसके पैर छूकर भी प्रणाम न करें। दूर से अपना नाम लेकर प्रणाम कर दे। यदि ब्रह्मचारी युवक हो तो उसे आतुरावस्था में भी गुरुपत्नी से न तो शरीर दबवाना चाहिये न केश झड़वाने चाहिये न आँखों में औषधिआदि लगवानी चाहिये। जिस से शारीरिक संसर्ग हो ऐसा व्यवहार युवक ब्रह्मचारी युवती गुरु पत्नी से कभी न करावे।,

न स्त्रियों की बहुत बातचीत ही करें। बातें करते करते उनके अंगों में, उनकी बातों में असक्ति हो जाती है। स्नान करती या अन्य एकान्त में काम करती स्त्रियो के गुह्य अंगों को कभी न देखे। यदि भूल से दीख जायँ, तो उधर से चित्त को हटाले और और सूर्य दर्शन करके प्रायश्चित्त करें। ब्रह्मचर्याश्रम मे व्रत का पालन ही परम उन्नति है और व्रत का परित्याग ही पतन है। जहाँ दो स्त्री पुरुष एकान्त में बैठे हों, हँसी विनोद या और केलि क्रीड़ा कर रहे हो, उनकी ओर भी न देखे। इस दुष्ट दस्यु और नीच मन का पता नहीं कहाँ बहक जाय। देखो, सौभरि मुनि जल के भीतर डुब्बी लगा कर तपस्या करते थे, वहाँ मत्स्य के मैथुन को देख कर उनकी विवाह करने की तीव्र इच्छा हो गयी और उन्होंने पचास विवाह किये। सारांश यह है कि ब्रह्मचारी को कभी भी भूलसे कोई ऐसा काम न करना चाहिये जिससे व्रत भंग की संभावना हो। सभी उचित उपायो से वीर्य की रक्षा करनी चाहिये। ये ही नियम अविवाहिता कन्या के लिये भी हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! जाग्रत मे तो किसी प्रकार मन परनिमंत्रण किया भी जा सकता है, यदि सोते समय स्वप्नदोष हो जाय तो क्या किया जाय?"

भगवान् ने कहा—"स्वप्न भी जाग्रतके ही दोषसे होता है। यदि पूर्व जन्मोंके संस्कार वश, असावधानी में स्वप्नदोष हो जाय, तो जलमे स्नान करके प्राणायाम करे, गायत्रीका जप करे, इससे स्वप्न दोष जनित दोष छूट जाता है। दूसरा नियम है सन्ध्यावन्धन और जपका।

(२) सन्ध्यावन्दन तथा जप—सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय, प्राणायाम, अघमर्षण, सूर्यार्घ्य, उपस्थान पूर्वक सन्ध्यावन्दन करे। वेदमाता गायत्रीका जप करे। द्विजातियों को दोनों समय की सन्ध्या तथा गायत्री जप परमावश्यक है।

(३) समिधाधान—ब्रह्मचारी को नित्य अग्निकी उपासना करनी चाहिये। घृतसे हवन करना चाहिये या वनके कन्डोंसे ही अग्निमें आहुति देनी चाहिये। मन्त्र पूर्वक भस्म धारण करनी चाहिये।

(४) आचार्योपासना—अपने आचार्यमें सदा ईश्वर बुद्धि रखे। शिष्यके सब धर्मोंका निष्कपट भावसे पालन करे। दासकी भाँति सदा सेवामें लगा रहे। गुरुके कार्योंमें कभी ऊँच-नीचका भेदभाव न करे। गुरु जो आज्ञा दें उसे शिरोधार्य करे और उसको शक्ति भर पूरा करे। बिना आज्ञा दिये ही उनके सब कामोंको कर दिया करे वन से उनके लिये फल-फूल समिधा पत्र पुष्प और कुशा ले आवे। जलका घडा भर कर स्वय लावे। आचार्यका कभी भूलकर भी निरादर न करे, उनमें ईश्वर भाव रखे। उनकी किसी बातकी उपेक्षा या अवहेलना न करे, सदा आज्ञामें तत्पर रहे, क्योंकि गुरुदेव सर्वदेवमय होते हैं। गुरुसे पहिले कभी न सोवे। गुरुके सोनेके अनन्तर शयन करे। उनके जागनेके पूर्व जाग जाय। उनके लिये शौचादिकी आवश्यक वस्तुएँ जुटा दे। गुरु जब खडे हों तो स्वय खडा हो जाय। उनके बैठने पर उनकी आज्ञा पाकर बैठे। उनके सम्मुख कभी उच्चासन पर न बैठे। जब गुरु चलने लगे तो हाथ जोड कर उनके पीछे-पीछे चले। सायं प्रात अपना नाम गोत्र लेकर गुरुके चरणोंमें प्रणाम करे। पढने जाय तब प्रणाम करे। पढने के अनन्तर भी प्रणाम करके उठे। दायें हाथसे दायें चरणको और बायें हाथसे बायें चरणको छूकर प्रणाम करे। सदा ऐसी चेष्टा करता रहे कि आचार्य मेरे व्यवहार से सन्तुष्ट रहें। थके हों तो उनके चरण दबादे, और भी प्रति समय उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहे।

(५) भिक्षावृत्ति—ब्रह्मचारी की दृष्टि में यावत् स्त्री हैं माता के तुल्य हैं, सभी घर अपने हैं। उसे सग्रह करने का अधिकार नहीं। अत वह अपना निर्वाह भिक्षावृत्ति से करे। सायकाल

और प्रातःकाल दोनों समय द्विजों के घरों से बनी बनायी भिक्षा गुरुकी आज्ञा लेकर माँग लाया करे। ब्राह्मण ब्रह्मचारी भिक्षा माँगे तो सम्बोधन को पहिले लगावे, क्षत्रिय मध्य में और वैश्य बालक अन्त में। भिक्षा घरमें स्त्रियों से माँगी जाती है अतः ब्राह्मण बालक कहे—'भवति ! भिक्षा देहि" अर्थात् आप मुझे भिक्षा दें। क्षत्रिय कहे—'भिक्षा भवति देहि' और वैश्य कहे "भिक्षा देहि भवति !"

पहिले सभी द्विजों के बालक गुरुकुलों मे जाते थे और सभी भिक्षा पर निर्वाह करते थे। अतः ब्रह्मचारियों को देखकर गृहस्थ यही समझते थे कि हमारे बच्चे ही आ गये, अतः सभी उन्हें दोनों समय अत्यन्त स्नेह से भिक्षा देते थे। सभी गृहस्थी भोजन बनाकर प्रतीक्षा करते रहते थे कि ब्रह्मचारी भिक्षा ले जायँ तब हम घर के लोग प्रसाद पावें। ब्रह्मचारियों को सब लोग अग्रभुक् मानते थे। शनैः शनैः यह प्रथा हटने लगी। ब्रह्मचारी गण भिक्षा माँगने में आलस्य करने लगे। राम राज्याभिषेक के समय माता कौशल्याने स्वयं ही कहा था—'अमुक शाखा के ब्रह्मचारी जो भिक्षा में आलस्य करते हैं और अच्छा भोजन चाहते हैं, उन्हें इतनी सुवर्णमुद्रा दे दो।" इस प्रकार कुछ लोग गुरुओं को द्रव्य देने लगे, उसी से ब्रह्मचारी निर्वाह करते थे। श्रेष्ठ पक्ष तो भिक्षा ही है यदि सुविधा और श्रद्धापूर्वक मिल सके तो भिक्षा माँगकर उसे गुरु के सम्मुख रख दे। गुरु उसमें से जितनी चाहें अपने अपने लिये रख लें, जितनी दे दें उसी को खाकर सन्तोष करे। जिस दिन गुरु न दें उस दिन उपवास कर जाय। भिक्षा के अतिरिक्त और भी कहीं से कोई कैसी भी वस्तु प्राप्त हो उसे तुरन्त लाकर गुरु के सम्मुख रख दे। अपने पास कुछ भी संग्रह न करे। जो नित्य भिक्षा के अन्न को पाता है, मानों अमृत पान करता है।

(६) मौन—व्यर्थ की इधर उधर की बातें न करे, प्रयोजन की बातें करे। स्नान के समय, भोजन करते समय, सन्ध्यावन्दन और जप करते समय, होम करते समय तथा मलमूत्र त्यागते समय मौन रहे। वैसे भी कभी निपप्रयोजन बातें न करे।

(७) वेदाध्ययन—नित्य गुरु के बुलाने पर नियमित पाठ पढ़े, उसे श्रद्धा और रुचि के साथ श्रवण करे। जो पढ़े उसे याद करके गुरुजी को सुनादे। अनध्यायों के दिनों में, अवकाश के समय में गुरुकुल के अन्य कार्यों को करे।

(८) सेवावृत्ति—जहाँ भी सेवा का अवसर देखे सेवा करे। आश्रम में कोई अतिथि आगया हो, तो उसकी सब प्रकार से सेवा करे। गुरुकुल में जितनी गौएँ हों उनकी सेवा करे, उन्हें चरा लावे, घास पानी दे। सारांश सेवा के अवसर को चूके नहीं। जितना भी शरीर से बन सके, प्राणिमात्र की सेवा करे। ब्रह्मचर्याश्रम में सेवा की शिक्षा ग्रहण करना यही तो प्रधान कार्य है।

(९) सुशीलता—जहाँ भी गौ, ब्राह्मण, गुरुजन, वृद्धजन तथा देवताओं के विग्रह आदि को देखे वहीं उनको प्रणाम करे। सबसे नम्रता के साथ आदर सूचक शब्दों में बातें करे। कभी भूलकर भी किसी का अपमान न करे।

(१०) सादगी और सरलता—ब्रह्मचारी कभी न तो शरीर को सजावे, न वस्त्राभूषणों से अपने को अलंकृत ही करे। वस्त्रों को अत्यन्त उज्वल बनाकर चटक मटक दिखाने को न पहिने। रंग बिरंगे वस्त्रों को न पहिने। दाँतों को भी बहुत उज्वल न करे और न उन्हें पान आदि से रंगे ही। पान न खाय, बहुत भोजन न करे जिससे आलस्य आजाय। आँखों में अञ्जन न लगावे, देह में उबटन लगाकर उसे चमकीली न बनावे, जलमें घुसकर मलमल कर स्नान न करे, स्त्रियों के चित्रों को न देखे, न बनावे, माँस मदिरा की कभी इच्छा भी न करे, भोग बुद्धि से शरीर को

सजाने के लिये न तो पुष्पों की मालाओं को ही पहिने, न शरीर में सुगंधित अंगराग या चंदन का ही लेप करे। सारांश यह है कि उसे बिना किसी बाह्य आडम्बर के अपने व्रत का पालन करना चाहिये और विद्याध्ययन करना चाहिये। जब तक विद्या समाप्त न हो जाय, तब तक उसे गुरुकुल में ही रहना चाहिये। उपनयन से और अध्ययन समाप्त पर्यन्त उसे गुरुकुल में ही वास करना चाहिये।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! ब्रह्मचारी गुरु के यहाँ कितने दिनों तक रहे?"

भगवान् ने कहा—"नियमानुसार तो जब तक वेदों का अध्ययन न हो जाय, तब तक ब्रह्मचारी को गुरुकुल में रहना चाहिये। फिर भी सभी युगों में सभी लोग इतने दिन बालकों को घर से बाहर रखना नहीं चाहते। इसलिये ब्रह्मचारियों के चार भेद कर दिये हैं। सावित्र, प्राजापत्य, ब्राम्ह और बृहत्, ऐसे इनमें चार प्रकार है। अब इनकी व्याख्या सुनो।"

(१) सावित्र—केवल गायत्री मंत्र ग्रहण करने के लिये ही किया हुआ ब्रह्मचर्यव्रत सावित्र कहलाता है। चारों वेदों का अध्ययन करना सबके लिये संभव नहीं। जो कृषि वाणिज्य तथा गौ पालन आदि कार्य करते हैं, वे अपने बच्चों को ४८, ३६, २४ अथवा १२ वर्ष के लिये गुरुकुल में नहीं भेज सकते। किन्तु उपनयन न हो, वेदों का अध्ययन न करे, गुरुकुल में वास न करे, तब तक उसकी द्विज संज्ञा होती नहीं। गायत्री सब वेदों की माता है। यदि चारों वेद न पढ़े तो गायत्री का उपदेश तो द्विज मात्र को लेना ही चाहिये। अतः उपनयन के समय मेखला, दंड, कमंडलु मृगचर्म आदि पहिना कर तीन दिन के लिये बालक को ब्रह्मचारी बना देते हैं। इन तीन दिनों में वह गुरु के यहाँ रह कर गायत्री मंत्र का अभ्यास करता है। चौथे दिन उसका

समावर्तन करा कर घर ले आते हैं। पहिले प्रायः वैश्य बालक ऐसा तीन दिन का सावित्र ब्रह्मचर्य व्रत लेते थे। कलियुग में तो सभी द्विजाति बालकों का यही उपनयन संस्कार रह जायगा। अधिक कलियुग आने पर तीन दिन भी न रखकर उसी दिन यज्ञोपवीत वेदारम्भ संस्कार करा कर उसी दिन समावर्तन संस्कार करा दिया करेंगे। बहुत से द्विजातियों के तो उपनयन संस्कार होंगे ही नहीं। जिनके होंगे वे प्रायः विवाह के पहिले एक दिन के लिये नाम मात्र को इस संस्कार को करायेंगे। घोर कलियुग आने पर वह भी न रहेगा।

(२) प्राजापत्य ब्रह्मचर्य—उपनयन संस्कार कराके बालक एक वर्ष तक ब्रह्मचारियों के नियमों का पालन करे, गुरुकुल में वास करे। गायत्री, पुरुषसूक्त तथा और भी वेदों के भाग को पढ़े। एक वर्ष के पश्चात् समावर्तन संस्कार कराके घर आ जाय, इसे प्राजापत्य व्रत करते हैं। पहिले बहुत से क्षत्रियों के बालक इसी व्रत को धारण करके एक वर्ष पर्यन्त गुरुकुल में रहते थे। कलियुग में यह भी न रहेगा।

(३) ब्राह्म ब्रह्मचर्य—उपनयन संस्कार कराके जब तक चारों वेद, तीन, दो, एक या अपनी सम्पूर्ण शाखा को न पढ़ले तब तक ब्रह्मचर्यव्रत पालन करता हुआ गुरुकुल में वास करे। ब्राह्मण बालक इसी व्रत को पालन करते थे। ब्राह्मण वेदों का अध्ययन किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर नहीं करते थे। वेदाध्ययन करना हमारा धर्म है, इस भावना से वे अनेकों कष्ट सह कर निस्वार्थ भाव से पढ़ते थे। उन्हीं के कारण वेदों का नाम लोग जानते हैं। बहुत से ब्रह्मचारी तो ५०,६० वर्ष की आयु तक गुरु के यहाँ रहकर पढ़ते थे, तब आकर विवाह करते थे। सामान्य नियम यह था कि बारह वर्ष में एक वेद का अध्ययन समाप्त

होता था। जिसे चारों वेद पढने हों उसे ४८ वर्ष तो वेद पढने को चाहिये। ५, ६ वर्ष की अवस्था में वह गुरुकुल गया होगा। जब तक भी अध्ययन समाप्त न हो तब तक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके गुरुकुल मे वास करने का नाम ब्राह्मव्रत है।

(४) बृहत् नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत—जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर। कभी भी समावर्तन सस्कार कराके गृहस्थाश्रम मे प्रवेश न कर, इसे बृहत् व्रत या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत कहते हैं। यह एक प्रकार का सन्यास धर्म ही है। निवृत्तिमार्ग है। घर को छोडा सो छोड दिया, फिर घर मे प्रवेश ही न किया। ऐसा ब्रह्मचारी या तो गुरुकुल मे ही सदा रहता है या किसी तीर्थ में वास करता है। शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थ सेवन, जप, अस्पृश्य वस्तु का स्पर्श न करना, अभक्ष्य पदार्थ को भक्षण न करना, अवाच्य वाणी को मुख से न निकालना, समस्त प्राणियों मे भगवत् बुद्धि रखना, सदा मन, वाणी और शरीर का सयम रखना ये उसके मुख्य धर्म हो जाते हैं। सामान्यतया ये धर्म तो सभी आश्रमों के हैं।

ब्रह्मचर्य मे बडी भारी शक्ति है। ससार मे बहुत से त्याग है। किन्तु कामवासना को छोडने के समान कोई भी त्याग नहीं है। नैष्ठिक ब्रम्हचर्य का पालन करने वाला प्रायः ब्राह्मण ही होता है। किसी कारणविशेष से भीष्म आदि एक आध क्षत्रिय भी नैष्ठिक ब्रम्हचर्य का पालन करते देखे गये हैं, किन्तु यह उनका धर्म नहीं है। क्षत्रिय के लिये नैष्ठिक ब्रम्हचर्य का विधान नहीं है। इस असिधारा व्रत का पालन महान् त्यागी, परम सयमी कोई ब्राह्मण ही कर सकता है। वह अपने ब्रम्हचर्य के तेज से अग्नि के समान तेजस्वी प्रतीत होता है। निरन्तर तीव्र तप करते रहने के कारण उसकी कर्मवासना दग्ध हो जाती है। उसका चित्त निर्मल हो जाता

है और वह मत्परायण बन जाता है। अन्त में उसे उन लोकों की प्राप्ति होती है, जिन्हें पुनरावृत्ति कभी प्राप्तकर ही नहीं सकते। वह मेरे जन होने से जन लोक को प्राप्त होता है, फिर अन्त में मुझे प्राप्त हो जाता है।

कलियुग में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन होना अत्यंत कठिन ही नहीं असंभव है। अतः ऋषियों ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास तीनों का ही कलियुग में निषेध किया है। कलियुग के पाँच सहस्र वर्ष धर्मराज ने माँग लिये थे। अतः इन पाँच सहस्र वर्षों में तो सन्यास आदि देखने में आता था। तब तक जैसे तैसे वर्णाश्रम धर्म चलता था। पाँच सहस्र वर्ष के पश्चात् तो वर्णाश्रम धर्म सामाजिक न रहकर वैयक्तिक हो जायगा। इसलिये उसमें जितना निभ सके, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करके गृहस्थाश्रम को स्वीकार कर ले। उसमें यथाशक्ति आश्रम धर्म का पालन करता हुआ मेरी आराधना करे। या तो गृहस्थी हो जाय अन्यथा बिना कुछ वेष बनाये मत्परायण होकर विचरण करे। गृहस्थ में प्रवेश करने की इच्छा न हो तो संन्यासी यति वानप्रस्थ किसी का वेष न बनावे। मेरी सेवा पूजा को स्वीकार करके रात्रि दिन उसी में लगा रहे। जिस किसी भी स्थिति में रहे, विशुद्ध धर्म का आचरण करता रहे। सब भूतों में समदृष्टि रखकर सब में मेरी ही भावना करे। लिङ्ग धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है। विहित अनुष्ठान ही धर्म में मुख्य कारण है। बृहत् व्रत वाले ब्रह्मचारी का बड़ा भारी दायित्व है। वह शिखा सूत्र का परित्याग भी नहीं करता और पूर्ण यतिधर्म का पालन भी करता है।

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! इस प्रकार ब्रह्मचर्य के चार भेद हैं। ब्रह्मचर्यव्रत एकतो व्रत के लिये किया जाता है दूसरे अध्ययन के लिये बहुत से अध्ययन भी करते हैं, ब्रम्हचर्य व्रत का पालन भी करते हैं। बहुत से अध्ययन को समाप्त करने पर

भी ब्रम्हचर्य व्रत का पालन करते रहते हैं। बहुत से समावर्तन कराकर विवाह कर लेने पर भी पढ़ते रहते हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जिसका उपनयन संस्कार होकर समावर्तन हो गया है, विवाह भी हो गया है। फिर भी वह अध्ययन के लिये गुरु के समीप जाता है। उसे विद्यार्थी ही कहेंगे, ऐसे विद्यार्थी ब्रह्मचारी का क्या नियम हो। अथवा जिसने उपनयन कराकर समावर्तन करा लिया है और गृहस्थी नहीं हुआ है यति धर्म का पालन करता है, किन्तु साथ ही पढ़ना भी चाहता है ऐसे यति विद्यार्थी ब्रह्मचारी का क्या नियम हो।"

भगवान् ने कहा—"इन दोनो विद्यार्थियों की भी ब्रह्मचारी ही संज्ञा है। यद्यपि इन्होने मेखला, दण्ड, मृगचर्म आदि ब्रह्मचारियों के चिन्ह छोड़ दिये हैं फिर भी इन्हें ब्रह्मचारियों के समस्त नियमों का बड़ी तत्परता से पालन करना चाहिये। किन्तु गृहस्थी ब्रह्मचारी के लिये गुरुकुल में रहना ही चाहिये ऐसा आग्रह नहीं। वह चाहे तो गुरुकुल में रहे और चाहे अपने घर में ही रहकर अध्ययन करे। उसके लिये ऋतु काल मे भार्यागमन भी विहित है, इससे उसका ब्रह्मचर्य व्रत खंडित नहीं माना जाता। उसके लिये समय पर तम्बूल आदि भक्षण करना भी उतना दोष नहीं है। सुशील अल्पाहारी आदि गुणों को उसे धारण करना चाहिये।"

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धव से कह रहे हैं—"उद्धव! यह मैंने अत्यंत संक्षेप में ब्रह्मचारियों के चिन्ह, उनके नियम तथा भेदों का तुमसे वर्णन किया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! ब्रम्हचर्य व्रत समाप्त करके द्विजाति बालक किस प्रकार गृहस्थ में प्रवेश करे। गृहस्थियों के क्या धर्म हैं। कृपा करके आप मुझे गृहस्थ धर्म का उपदेश दें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है उद्धव! अब मैं तुम्हें गृहस्थाश्रम के ही सम्बन्ध में बताऊँगा। गृहस्थाश्रम के ऊपर बड़ा उत्तरदायित्व रहता है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास इन तीनों आश्रम के लोग तो असंग्रही तथा भिक्षा जीवी होते हैं। गृहस्थ के ही ऊपर इन तीनों का भार ताहो है। इसीलिये समस्त आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सवश्रेष्ठ बताया है। अब मैं तुम्हें उसी के सम्बन्ध में सुनाऊँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् ने जैसे गृहस्थियों के धर्म बताये उन्हें मैं आपको सुनाऊँगा। आप लोग गृहस्थी तो हैं नहीं फिर भी सुन लीजिये। सुनना अच्छा ही होगा।"

छप्पय

पंच केश कूँ रखै शिखा ही अथवा धारै।
जग-विषयनितैं विरत रहै नित मनकूँ मारै॥
गो, गुरु, द्विज, रवि, अग्नि अतिथिकूँ पूजै नित प्रति।
समुझै गुरु मम रूप करै सेवा निश्चल मति॥
तजै अष्ट मैथुन सदा, भिक्षापै निर्वाह करि।
पढ़ि गुरुकूँ दै दक्षिणा बनै गृहस्थी ब्याह करि॥

गृहस्थाश्रम धर्म

(१२८१)

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सताम् ।
यवीयसीं तुवयसा यां सवर्णामनुक्रमात् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १७ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

कन्या सुघर सवर्ण सुशीला सद्गुनवारी ।
ताके सँग करि ब्याह वृत्ति धारै हितकारी ॥
घरमहँ अतिथि समान वसै रागादिक त्यागै ।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, तृष्णा तैं भागै ॥
सबकूँ स्वप्न समान लखि, सुत, दारा, धन, बन्धु, जन ।
ऊपर तैं कारज करै, राखै मोमें सदा मन ॥

गृहस्थ धर्म भोग के लिये नहीं है, साधना के लिये है। कोई फोडा हो रहा हो और उसे कोई किसी औषधि आदि से दबा दे, तो जो पदार्थ विकृत हो गया है, कहीं न कहीं से तो निकलेगा ही।

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! अध्ययन समाप्त करके जिसकी इच्छा गृहस्थी बनने की हो, उसे चाहिये कि वह अपने अनुरूप अनिन्दित कुलकी तथा अवस्था में अपने से छोटी क्रमशः अपने वर्ण की कन्या से विवाह करे।"

ऐसा न हो कि पैर के फोड़े को दबा दिया जाय और वह पीठ में या कण्ठ में उत्पन्न होकर महान् कष्ट देने वाला हो। जो विकार निकल रहा हो, उसे युक्ति से निकाल दे। उससे शरीर निर्मल हो जाता है, घाव भी नहीं होता। चिन्ह भी नहीं शेष रहता, चीड़ने फाड़ने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार कर्म वासनायें अनादि हैं। मिथुन सुख के अनुभव करने की प्राणिमात्र की इच्छा होती है। पुरुषों में कुछ अपवाद भी होते हैं, किन्तु अपवादों की नियमों में तो गणना होती नहीं। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति का गृहस्थी बनाना परम धर्म है। जिसका विवाह नहीं हुआ, जिसने पुत्रका मुख नहीं देखा; उसके पितरगण पानी के बिना छटपटाते रहते हैं, उसे अवश्य ही नरकों में जाना पड़ता है। जो पुत्रवान् नहीं है उसकी सुगति होती ही नहीं। उसे स्वर्ग तथा पुत्रवानों को प्राप्त होने वाले लोक प्राप्त होते ही नहीं। महाभारत में इस विषय का एक बड़ा ही शिक्षाप्रद इतिहास है।

एक जरत्कारु नामक ऋषि थे। ब्रम्हचर्य व्रत समाप्त करके भी उन्होंने विवाह नहीं किया था। वे सदा निराहार रहकर तपस्या में तत्पर रहते थे। निद्रा को भी उन्होंने जीत लिया था। तपस्वियों का सा उनका अत्यंत कृश शरीर था। वे तीर्थयात्रा के निमित्त पृथिवी पर विचरण करते रहते थे। एक गाँव में एक दिन ही रहते थे। बिना माँगे जो भी कुछ मिल जाता उसी पर निर्वाह करते। एक दिन घूमते फिरते उन्होंने एक अंधे कूएँ को देखा। उसमें लम्बी-लम्बी घास थी। उस घास को पकड़े कुछ दुर्बल मनुष्य उलटे लटक रहे थे। चूहे उस घास की जड़ों को खोद रहे थे।

महामुनि जरत्कारु को उन पर बड़ी दया आई और उन्होंने पूछा—"आप लोग कौन हैं और यहाँ ऐसे उलटे क्यों लटक रहे हैं ?"

उन्होंने कहा—"हम यायावर नाम के तपस्वी हैं, हमारा अब वंश लुप्त ही होना चाहता है, जिस दिन हमारा वंश लुप्त हो जायगा, उसी दिन हम धड़ाम से नीचे गिर पड़ेंगे।"

महामुनि जरत्कारु ने पूछा—आपके वंश मे कोई है क्या ? निराशा के स्वर में वे पितरगण बोले—"अजी, नहीं होने के ही बराबर है। एक महामूर्ख जरत्कारु नाम का हमारे वंश मे व्यक्ति है, वह सदा तपस्या मे ही लगा रहता है, आगे वंश चलाने का वह प्रयत्न ही नहीं करता। जहाँ वह मरा कि हमारा वंश नष्ट हुआ, फिर हम बिना पिंडजल के नीचे गिर जायँगे। वह भी नरक मे जायगा।" हाथ जोड़कर जरत्कारु मुनि ने कहा—"पितरो ! मेरा ही नाम जरत्कारु है, आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं ?"

पितरों ने कहा—"बेटा ! तुम हमारा उद्धार करना चाहते हो तो अपना विवाह करके वंश चलाने का प्रयत्न करो। भैया, जो गति पुत्रवालो को प्राप्त होती है वह गति धर्म कर्मों के फल से, तपस्या से किसी से भी नहीं मिलती।"

जरत्कारु मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, जब आप लोगों की ऐसी आज्ञा है तो मैं विवाह कर लूँगा। किन्तु यदि दो बातें हुई तब तो मैं विवाह करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा।"

पितरों ने कहा—"कौन सी दो बातें ?"

मुनि ने कहा—"एक तो जो लडकी हो वह मेरे ही नाम की हो और वह लडकी भिक्षारूप मे मुझे मिल जाय, तो मैं उसके साथ विवाह करके संतान उत्पन्न करूगा।"

कथा बहुत बडी है, हमारा प्रयोजन इतना ही है कि पूर्व काल में गृहस्थ पालन करना परम धर्म माना जाता था। लोग धर्म पूर्वक विवाह करके संतान उत्पन्न करते थे। जरत्कारु मुनि को वासुकी नाग की बहिन मिल गयी, उसका भी नाम जरत्कारु था। वासुकी ने मुनि को भिक्षा मे उसे दे दिया। उसी से मुनि ने

आस्तीक नामक पुत्र उत्पन्न किया, जिन्होंने जनमेजय के सर्पयज्ञ में सर्पों की रक्षा की थी। जरत्कारु मुनि ने विवाह बहुत टालना चाहा। वासुकी से ठहराव करा लिया कि एक तो मैं इसका भरण-पोषण न करूँगा, दूसरे जहाँ इसने मेरी आज्ञा के विरुद्ध कार्य किया वहीं इसे त्याग दूँगा। वासुकी को तो अपना प्रयोजन सिद्ध करना था। उसने सब स्वीकार किया। आस्तीक जब गर्भ में ही थे तभी मुनि एक छोटी सी बात पर कुपित होकर सदा के लिये वन चले गये। सारांश यह है कि जिसे स्वर्ग की प्राप्ति की इच्छा हो उसे विवाह अवश्य करना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् उद्धवजी को गृहस्थियों के धर्म बताते हुए कह रहे हैं—उद्धव! गृहस्थ धर्म भोगने के लियेनहीं है, त्याग की शिक्षा लेने के लिये है। ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके द्विजाति बालक गुरु को दक्षिणा दे, तब ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति का स्नान करे। उस स्नान के करते ही वह स्नातक हो जाता है। स्नातक होकर वह अपने घर आवे और फिर अपने सदृश लड़की की खोज करावे। उसी कुल की लडकी के साथ विवाह करना चाहिये, जो अपने वर्ण की हो। जिस कुल के लोगों के आचार विचार शुद्ध न हों, जो सर्वभक्षी हों, जिनके यहाँ वैदिक मर्यादा न मानी जाती हो, जिस कुल के लोगों में वंश परम्परागत अर्श (बवासीर) का रोग हो, जिस कुल के लोगों की मृत्यु राजयक्ष्मा रोग से हुई हो, जिस कुल के पूर्व पुरुषों में मंदाग्नि, अपस्मार (मृगी) सफेद कोढ़ या गलित कुष्ठ हो उस कुल की कन्या के साथ यथाशक्ति विवाह न करे। क्योंकि ये रोग प्रायः पैतृक होते हैं। माता पिता को अर्श है, तो वह पुत्रों को भी हो जायगी, फिर यह रोग पूरे परिवार में घर कर लेगा। जिसके पिता पितामह राजयक्ष्मा से मरे हैं उनके लड़कियों में भी उनका कुछ प्रभाव रहेगा। विवाह करते हैं सुख के लिये, धर्म पालन के लिये, यदि घर में वह रोगिणी आ

गयी तो फिर क्या धर्म कर्म बनेगा। दिनभर उसी की सेवा सुश्रूषा मे लग जायगा। इसलिये जहाँ तक हो वंश परम्परागत आने वाले रोगो से कन्या को बचावे। जिसके पीले-पीले बुरे बाल हों, जो जन्म की रोगिणी हो, जिसके अधिक अंग हो, जिसके शरीर पर बहुत लोम हो, या जिसका शरीर लोमो से सर्वथा शून्य हो, जो बहुत ही कटु बोलने वाली हो, जिसके बिल्ली के जैसे नेत्र हो ये सब अशुभ लक्षण की कन्यायें मानी जाती हैं, इनके साथ भी यथासाध्य विवाह न करे। जिसका नाम सुनने में अप्रिय कठोर और भीषण हो उस लडकी को भी शास्त्रकारों ने अशुभ लक्षण बताया है।

कन्या अच्छे सदाचारी कुलकी हो, देखने मे सुन्दरी, सुशीला, मधुर भाषिणी, सुन्दर नाम वाली तथा गुणवती हो उसके साथ विवाह करे। जहाँ तक हो ऐसी कन्या के साथ विवाह करे जिसके भाई भी हो, क्योंकि ससार में साले का सम्बन्ध बडा मधुर है। यदि साला, साली, सरहज न हो तो ससुराल जानें मे सरसता नहीं आती।

विवाह के समय अग्न्याधान होता है। उस अग्नि को साथ लावे। उसमे नित्य अग्निहोत्र करे। अग्निहोत्र न हो सके तो मेरी पूजा ही रखे। मेरी नित्य पूजा महायज्ञ है।

सभी गृहस्थियो को जो आचार विचार से रहते हैं, अपने घर मे भोजन बनाते हैं, उनको नित्य पाँच प्रकार के पाप स्वाभाविक लगते हैं। चूल्हे मे, झाड़ू मे, चक्की में, ओखली मूसल मलने में, पानी के रखने के स्थान में, कितना भी बचाओ हिंसा हो ही जाती है। रोटी बना रहे हैं लकडी में ही कोई जीव जन्तु चला गया, कंडे में ही चला गया। कहाँ तक देखा जा सकता है, भोजन के समय कोई जीव जन्तु मर गया। झाड़ू दे रहे हैं उसी में बहुत से जीव मर गये। अन्न पीस रहे हैं उसमें ही बहुत से

घुन आदि जीव पिस गये। बर्तन मल रहे हैं, धान कूट रहे हैं, कोई छिपा हुआ जीव रह गया, रंगड़ लगने से मर गया। बर्तन रखने के स्थान पर जीव आ जाते हैं, पानी लेते समय, निकालते समय या पानी में ही जीवों की हिंसा हो जाती हैं, इन हिंसाओं से कोई कितना भी बचना चाहे बच नहीं सकता।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्वयं इन कामों को न करे। रोटी कहीं से बनवा लावे, आटा पिसा लावे, झाड़ू को, बर्तन मलने को, धान कूटने को नौकर रखले तब तो ये दोष नहीं लगेंगे?"

सूतजी ने कहा—"लगेंगे क्यों नहीं महाराज! चाहें जिससे कराओ दोष तो कराने वाले को लगेगा, क्योंकि उसका फल तो वही ग्रहण करता है?"

शौनकजी ने पूछा—"तब, फिर इन पापों से छूटने का क्या उपाय है?"

सूतजी ने कहा—"वही तो महाराज! मैं भगवान् के शब्दों में बताता हूँ। इन पाँच दोषों की निवृत्ति के लिये पाँच महायज्ञ-नित्य करने चाहिये। वे ये पाँच यज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथियज्ञ। इन पाँचों यज्ञों के करने से ये पाँच दोष निवृत्त हो जाते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! इन पाँचों यज्ञों की व्याख्या करें।"

भगवान् ने कहा—"किसी को पढ़ा देना यही ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण श्राद्ध यही पितृयज्ञ है, नित्य अग्निहोत्र करना यही देवयज्ञ है, गोग्रास, कुत्ता आदि भूतों के लिये निकाल देना यही भूतयज्ञ है और घर में जो भी अतिथि आ जाय उसे सत्कार पूर्वक भोजन करा देना यही अतिथि यज्ञ है। इन कार्यों को यथाशक्ति नित्य करना चाहिये। मेरी पूजा करने वाले के ये पाँचों यज्ञ

स्वतः हो जाते हैं। जिसके यहाँ मेरी अर्चा पूजा रहती है वह जो भी करता है मेरी पूजा के ही निमित्त करता है। उसकी पूजा को देखकर लोगों की मेरे चरित्रों मे रुचि होती है यही उसका ब्रह्मयज्ञ है। वह मेरे प्रसाद अन्न को अपने पितरों के निमित्त देता है वही पितृयज्ञ है, मेरी पूजा मे वह कलश, शंख दीपक तथा मेरी साङ्गोपाङ्ग पूजा करता है यही उसका दैवयज्ञ है। गो ग्रास आदि निकालता है यही भूतयज्ञ है और सबको प्रसाद बाँट कर तब बचे प्रसाद को पाता है यही उसका मनुष्य यज्ञ है। इस प्रकार मेरी पूजा करने वाले गृहस्थ को मेरी पूजा के प्रभाव से कोई दोष नहीं लगता।

जो गृहस्थ अपने ही लिये भोजन बनाकर बिना मुझे निवेदित किये खा लेता है, वह मानो पाप को ही खाता है। अन्न नहीं खाता, कीडों का भक्षण करता है। इसलिये गृहस्थ को अपने ही निमित्त कभी भोजन न बनाना चाहिये।

जहाँ तक हो हिंसा से सदा बचते रहना चाहिये। बिना प्रयोजन के वृक्षों की डाली को भी न काटना चाहिये।

गृहस्थ को ऋतुकाल के अतिरिक्त कभी भार्यागमन न करना चाहिये। ऋतुकाल में भी धर्म भावना से गमन करे। अपनी ही पत्नी में सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये। जो दूसरों की पत्नी हों उन्हें माता के समान, जो बच्ची हो उन्हें अपनी पुत्री के समान और जो बडी हों उन्हें बहिन के समान मानना चाहिये।

जो अपने घर में अतिथि आ जाय उसकी यथाशक्ति पूजा करे। अतिथि की कोई जाति नहीं, ब्राह्मण हो चाडाल हो, जो भी अपने घर अन्न की इच्छा से आया हो उसे अन्न अवश्य देना चाहिये। ब्रह्मचारी और सन्यासी जो भोजन नहीं बनाते, जो गृहस्थों के ही ऊपर निर्भर रहते हैं उन्हें तो सबसे पहिले भोजन देना चाहिये। यज्ञ शेष तथा अपने पोष्यवर्ग के भोजन कराने पर जो बचे उसी

को सद्गृहस्थ को खाना चाहिये। गृहस्थ का सबके प्रति कर्तव्य है।

(१) माता पिता के प्रति—माता पिता जिन्होंने हमारे शरीर को उत्पन्न किया है, वे हमारे जनक हैं, प्रत्यक्ष देवता हैं, जंगमतीर्थ हैं, उनकी प्राणपण से सेवा करे। उनकी सब आज्ञाओं का पालन करे। उन्हें भोजन कराके तब भोजन करे। उनसे सदा मधुर भाषण करे। अपनी स्त्री से भी ऐसा ही करावे।

(२) आचार्य पुरोहितों के प्रति—ये ज्ञान दाता गुरु हैं। समय समय पर इनकी पूजा कर। इन्हे भोजन करावे। धर्म सम्बन्धी प्रश्न पूछे। धार्मिक कृत्यों को इनके द्वारा करावे। यथासाध्य यथासमय इन्हें दान दक्षिणा मे सन्तुष्ट करे।

(३) जाति वालों के प्रति—जाति वाले अपनी जाति मे किसी को बढ़ता देखते हैं तो उससे आशा लगाये रहते हैं। यथाशक्ति जाति वालों की सहायता करे, उनके हर्ष में, शोक में सम्मिलित हो। जाति मे किसी के विवाह हो तो उनके यहाँ जाय। तन, से मन, से धनसे जैसे भी जितनी भी सहायता दे सके दे। उनके यहाँ कोई बीमार हो, मर गया हो तो भी सहानुभूति प्रदर्शित करने जायें।

(४) भाइयों के प्रति—जो अपने बड़े भाई हों उन्हें पिता के समान, बड़ी भाभियों को माता के समान समझे। छोटे भाइयों को पुत्र के समान, छोटी भाभियों को पुत्र वधू के समान समझे। कदाचित भाई-भाइयों में बटवारा हो तो उनसे झगड़ा न करे। यदि भाई अधिक भी ले लें तो कोई बात नहीं, हैं तो भाई ही। जहाँ तक हो भाई-भाई में कलह न होने पावे. इसे गृहस्थ सदा बचाता रहे, भाई-भाई की लड़ाई अच्छी नहीं होती।

(५) बहिनों के प्रति कर्तव्य—बहिन दया की पात्री है. सदा उसके प्रति दया के भाव रखे। उत्सव पर्वों पर सदा उसे सम्मान

के साथ बुलावे और यथाशक्ति दान मान मे उनका सदा सत्कार करता रहे।

(६) पत्नि के प्रति कर्तव्य—आर्य धर्म शास्त्र मे स्त्री को अर्धाङ्गिनी बताया है। स्त्री अपनी आत्मा ही है, आधा शरीर है। पुरुष स्वयं ही स्त्री के गर्भ से पुत्र रूप मे पुनः उत्पन्न होता है, अतः उसकी जाया संज्ञा है, वह घर की स्वामिनी है। जो भी कार्य करे उसकी सम्मति से करे। धर्म के जितने भी इष्टापूर्त कर्म हैं, वे पत्नी के बिना हो ही नहीं सकते, इसीलिये उसका नाम सह धर्मिणी है। धर्म की कामना वाले सदा स्त्री का सम्मान करे। वह गृह की स्वामिनी होने से गृहिणी कहाती है। गृहिणी के बिना न तो घर है न गृहस्थ धर्म ही है, गृहस्थ धर्म की मूल पत्नी है। जो सदा दान मान सम्मान से अपनी पत्नी को प्रसन्न रखता है, उसे सभी शुभ कर्मों के फल स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं, देवता पितर उस पर प्रसन्न होते हैं। अतः गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य यह है कि अपनी आत्मा की भांति प्रत्येक कार्य में पत्नी का सदा ध्यान रखे।

(७) पुत्रों के प्रति कर्तव्य—आत्मा ही पुत्र बनकर उत्पन्न होता है। अतः अपने मे और पुत्रों मे कोई भेद नहीं। पिता के पश्चात् उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति के पुत्र ही अधिकारी होते हैं। अतः पुत्रों का पालन सदा कर्तव्य बुद्धि से करे। सदा यही कामना करे मेरे पुत्र ससार मे सर्वश्रेष्ठ हों। मनुष्य सबसे पराजित होने मे दुखी होता है, किन्तु पुत्र से पराजित होने मे उसे परम प्रसन्नता होती है। पुत्रों मे किसी प्रकार का भेद भाव न करे। जो बुद्धिहीन हों अपग हों या अन्य प्रकार से असमर्थ हो उनकी भी रक्षा का प्रबन्ध करे। पुत्रों को सब प्रकार से योग्य बनाना पिता का कर्तव्य है।

(८) पुत्रियों के प्रति कर्तव्य—पुत्री गौ के समान पूजनीया और दया की पात्री है। पुत्री का योग्य वर को दान करना सैकड़ों यज्ञों के समान है। पुत्री के पुत्र अपने नाना के वंशजों को जलदान देते हैं। पुत्री का अधिकार जीवन भर लेने का होता है। विवाह के समय उसे भलीभाँति वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके तथा समस्त गृहस्थोपयोगी वस्तुओं को शक्ति के अनुसार देकर विदा करे। फिर पर्वों पर उसके यहाँ कुछ न कुछ सदा भेजता रहे। पर्व पर्व पर उसे भाजी भेजे। जब गर्भवती हो तब भेजे। बच्चे का जन्म सुने तब भेजे, बच्चे को लेकर आवे तब उसे यथाशक्ति दे। जब भी वह आवे तभी उसे कुछ देता रहे। लड़की जब तक जीती है, तब तक पिता के घर से पाती रहती है; यही नहीं उसके बाल बच्चे भी सदा पाते रहते हैं। पुत्री के लड़के लड़कियों का विवाह हो तो भात दे, उनके बच्चे हों तो उन्हें भी, क्यों कि सब मान्य पक्ष के हैं।

(९) सम्बन्धियों के प्रति कर्तव्य—सम्बन्धी दो प्रकार के होते हैं—एक तो स्वयं जिनके मान्य हैं जैसे अपने ससुराल वाले, ननसाल वाले। उनके यहाँ समय समय पर जाय। वे जो प्रेम से दें उसे सदा स्वीकार करें। दूसरे अपने मान्य होते हैं, जिनके यहाँ अपनी बूआ, बहिन, पुत्री या भतीजी आदि विवाही हों। उन मान्य सम्बन्धियों का सदा सम्मान करे, उन्हें पर्वों पर स्मरण करे और यथाशक्ति दे। सम्बन्धियों के सम्बन्धियों से भी प्रेम का सम्बन्ध रखे।

(१०) सर्व भूतों के प्रति कर्त्तव्य—चीटीं से लेकर ब्रह्म पर्यन्त सभी गृहस्थी से कुछ न कुछ आशा रखते हैं। अतः यथा शक्ति सबका सम्मान करे। कोई भी घर पर भूखा आ जाय उसका अन्न से, जल से, आसन से और कुछ न हो तो मधुर वाणी से ही सत्कार करे। यह कभी न सोचे कि हमतो निर्धन हैं, हम

किसी का क्या सत्कार कर सकते हैं? बैठने को भूमि, पिलाने को पानी और हृदय को हर्षित कराने के लिये मधुर वाणी संसार में किसके पास नहीं है। अतिथि इन्हीं से परम सन्तुष्ट होता

है। ब्रह्मचारी सन्यासी, भिखारी, गाय, भैंस, घोड़ा, बैल, पशु पक्षी, जीव जन्तु, देवता, पितर सभी का यथाशक्ति यथासामर्थ्य सदा सत्कार कर। अपने द्वार से कोई अपूजित निराश होकर न लौटने पावे। चींटियों को भी कुछ अन्न देवे। कुत्तों को भी डाल दें। जो खायँ उसी में से गौग्रास निकाल दे। साराश यह कि सदा देने की—दूसरों की सेवा करने की—चेष्टा करता रहे।

अन्य नियम—१—गृहस्थी जो भी कर्म करे, भगवान् की सेवा समझकर ही करे। मन में यही सोचले—मेरे इस कार्य से सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न हों।

२—भागवती कथाओं को सदा महापुरुषों के मुखों से नियमपूर्वक सुना करे। यदि कोई सुनाने वाला न हो तो स्वयं ही पढ़े। वह दिन व्यर्थ समझे जिस दिन भगवान् की और भक्तों की कथायें सुनने को न मिलें।

३—इस बात को सदा विचारता रहे कि ये स्त्री, पुत्र, घर, परिवार मेरे नहीं हैं। भगवान् ने मुझे निमित्त बना दिया है। यही सोच कर उन में अधिक आसक्ति न रखे। केवल प्रयोजन भर को उनसे सम्बन्ध रखे। भीतर से विरक्त बना रहे।

४—जो भी धन यज्ञ कराने से, पढ़ाने से, कर से, खेती से, व्यापार से, परिश्रम से या किसी भी कार्य से आवे उसे सब दान पुण्य में और गृहस्थी के काम में ही लगा दें। जितना पेट में चला जाय उतना तो अपना है। और सब तो जिस निमित्त आता है चला जाता है, उस धन में अधिक ममता न करे।

(५) स्त्री में अत्यंत आसक्त न हो। स्त्रियों में अत्यंत आसक्ति होने से कामवासना बढ़ती है। संसार में कामवासना की अभिवृद्धि से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं। कामी जो चाहे सो पाप कर सकता है। इसलिये कामवासना से स्त्री के अंगों का चिन्तन न करके एकान्त में सदा परमात्मा की महिमा का चिन्तन करते रहना चाहिये।

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! यह तो मैंने अत्यंत संक्षेप में गृहस्थी के कर्तव्यों को बताया, अब तुम गृहस्थी के वृत्ति को श्रवण करो। गृहस्थों को निर्वाह किस वृत्ति से कैसे करना चाहिये।

गृहस्थियों की वृत्ति छै प्रकार बताई है—ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, सत्यानृत और श्ववृत्ति। अब इन की व्याख्या सुनिये।

(१) ऋत—ऋत कहते हैं अत्यंत पवित्र सत्य को। किसान धान काट कर ले जाता है। बनिया अन्न बेचकर दुकान बंद कर देता है। अब खेत मे अथवा दुकान के आगे जो दाने बिखरे रह जाते हैं, उन्हीं को पक्षियों की भाँति बीनकर उसी से निर्वाह करना यह ऋत वृत्ति कही जाती है। इसमे अपने को किसी के अधीन नहीं करना पडता। जैसे पक्षी चुगा बीनकर रहते हैं वैसे ही विशुद्ध वृत्ति वाला विरक्त ब्राह्मण सब संग्रहो से दूर रहकर इस वृत्ति से निर्वाह करे। जिस दिन कुछ मिल जाय उस दिन खाले, जिस दिन कुछ न मिले सन्तोष करले।

(२) अमृत—दूसरी वृत्ति है अमृत। किसी से भी माँगने नहीं जाते। प्रारब्ध के सहारे चुप चाप बैठे हैं। भाग्यवश बिना माँगे कुछ मिल जाय तो उससे निर्वाह कर लिया, न मिला तो हरीच्छा। इस प्रकार बिना माँगे, बिना दीन बने, भगवद् इच्छा से जो भी मिल जाय उसी से काम चलाने का नाम अमृत वृत्ति है। इस वृत्ति को भी ब्राह्मण ही धारण कर सकता है।

(३) मृत—तीसरी वृत्ति है मृत। मृत वृत्ति वह कहलाती है, जिसमे नित्य दूसरों से याचना करनी पडती है। याचना कैसे भी की जाय—या तो पात्र लेकर घर-घर चुकटी माँगी जाय, या दान माँगा जाय अथवा किसी निमित्त से याचना की जाय। ब्रह्मचारी तथा सन्यासियों का तो भिक्षा पर निर्वाह करना धर्म ही है। केवल पेट भरने को अधिकारानुसार माँग लेना कोई दोष नहीं। इसीलिये भिक्षान्न को अमृतान्न कहा और भिक्षा की गणना परिग्रह मे भी नही है। किन्तु माँग कर अपनी वृत्ति चलाना यह अत्यंत निन्दित है। याचक जब धनिकों की देहली के भीतर हीन बनकर याचना करने जायगा, तो उसका दशम द्वार बन्द हो जायगा। उसमे दैवी सम्पति के गुण आ नहीं सकते। इसीलिये नित्ययाच्ञा अत्यंत निन्दित वृत्ति है। दान लेने की ऋषियों ने

प्रशंसा नहीं की। जहाँ तक हो दान परिग्रह से बचता रहे। जब किसी प्रकार निर्वाह न हो तब दान परिग्रह याचना करके काम चलावे।

(४) प्रमृत—चौथी वृत्ति है प्रमृत-खेतीबारी करना। यह वृत्ति वैश्यों की है। आपत्ति काल में क्षत्रिय और ब्राह्मण भी इस वृत्ति से जीविका चला सकता है।

(५) सत्यानृत—पाँचवी वृत्ति है सत्यानृत अर्थात् जिसमें सत्य असत्य दोनों ही मिलेजुले हैं, जैसे व्यापार। वैश्य इसी वृत्ति से काम चलावे। आपत्ति काल मे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा शूद्र भी व्यापार कर सकते है।

(६) श्ववृत्ति—श्ववृत्ति उसे कहते हैं, जहा भी टुकड़ा मिलने की आशा हुई उसी के पैरो मे पड़कर अपना पेट दिखाकर उसकी सेवा में संलग्न रहना, उसकी दासता करते रहना। दासता करके उसकी हाँ में हाँ मिलाकर नीच से नीच सेवा करके इस पापी पेट कोपालना। जहाँ तक हो धर्म में आस्था रखने वाले द्विजातियों को इस वृत्ति को कभी न स्वीकार करना चाहिये। वैसे प्राणी मात्र की सेवा करना तो परम धर्म ही है। जीवों की सेवा करना मेरी ही सेवा है। किन्तु दीन होकर स्वार्थ भावना से आजीविका के लिये अपने आपको बेच देना यह उत्तम नहीं। शूद्रों के लिये यह वृत्ति विहित है। वे सेवा करके आजीविका भी चलावें तो उन्हें बड़ा पुण्य होता है और वे स्वर्ग के अधिकारी होते हैं।

गृहस्थ के लिये संग्रह करना परमावश्यक है, किन्तु ब्राह्मण गृहस्थी होने पर भी संग्रह की ओर ध्यान न दे। अधिक से अधिक गृहस्थ ब्राह्मण तीन वर्ष के निर्वाह योग्य धन संग्रह कर सकता है। इससे अधिक जो करता है वह पाप करता है। ब्राह्मण की चार वृत्तियाँ बताई हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! चार कौन-कौन सी वृत्तियाँ बतायी है?"

भगवान् बोले—प्रथम कुसूल धान्य वृत्ति, दूसरी कुम्भधान्य वृत्ति, तीसरी अश्वस्तन धान्य वृत्ति और चौथी कपोत वृत्ति। अब इन की व्याख्या सुनिये।

(१) कुसूल धान्य वृत्ति—अर्थात् तीन वर्ष के लिये धान्य संग्रह करके घर मे रख लेना। ऐसे गृहस्थ ब्राह्मण को भगवत् भजन, अध्ययन, अध्यापन, दान देना इन कर्मों के अतिरिक्त भोजन की चिंता अर्थात् निमंत्रण भी खाना चाहिये। दान लेना तथा परिग्रह की भी चिन्ता रखनी चाहिये।

(२) कुम्भधान्य वृत्ति—अर्थात् एक वर्ष के लिये धान्य का संग्रह कर लेना। ऐसे गृहस्थी को निमंत्रण आदि में न जाना चाहिये। भगवान् का भजन करे, पढ़े पढ़ावे, दान और प्रतिग्रह को भी स्वीकार करना चाहिये।

(३) अश्वस्तन धान्य वृत्ति—अर्थात् केवल एक दिन का अन्न संग्रह करे। इससे जो भी अधिक आजाय, उसे तुरन्त बाँट दो। कभी दूसरे दिन के लिये संग्रह न करे। ऐसा ब्राह्मण न किसी को पढ़ावे न दान प्रतिग्रह ले। जो भी अधिक आजाय उसका दानकर दे और अपना अध्ययन करता रहे।

(४) कपोत वृत्ति—अर्थात् कबूतर की भाँति दाना बीन कर लावे। उसके लिये अध्ययन के अतिरिक्त कुछ भी कर्तव्य नहीं। अपनी विशुद्ध वृत्ति से जीवन निर्वाह करे, वेदों का अध्ययन करता रहे।

इस प्रकार इन चारों वृत्तियों में से अपनी सामर्थ्य के अनुसार किसी एक वृत्ति को धारण करके गृहस्थी ब्राह्मण निर्वाह करे। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा अन्त्यज अपनी कुल परम्परागत वृत्तियों से काम चलावे। गृहस्थ जो भी हवन यज्ञ, श्राद्ध, तर्पण, बलिवैश्वदेव, अन्नदान, अतिथि पूजन आदि करे सब प्रभुप्रीत्यर्थ

ही करे। ऋषि, देवता, पितर. मनुष्य तथा चराचर समस्त जीवों में मुझे ही मानकर मेरी ही भावना से उनका आदर सत्कार करे। जो अपने आश्रित हो उनका सदा ध्यान रखे, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे। जहाँ तक हो न्याय से उपार्जित धन से ही समस्त गृहस्थी के कार्य चलावे। बहुत हाय हाय न करे। जो भी प्रारब्ध वश प्राप्त हो जाय उसे प्रभु प्रसाद समझकर उसी में सन्तुष्ट हो जाय। गृहस्थाश्रम चिन्ताओं का घर होता है। इसमें नित्य नयी चिन्तायें उठती ही रहती हैं। जैसे नदी के उद्गम में से निरन्तर नया नया जल निकलता रहता है, ऐसे ही गृहस्थी में नित्य नई चिन्तायें निकलती ही रहती हैं। यह कभी न सोचे—इस चिन्ता से निवृत्त हो जायँगे, तब भजन करेंगे। चिन्तायें तो कभी समाप्त होने ही की नहीं। अतः नित्य नियम से मेरा भजन करता रहे। कुटुम्ब चाहे जितना भी बढ़ जाय, भगवद् भजन में कभी भी प्रमाद न करे। इन सबको क्षणभंगुर नाशवान् और अनित्य समझकर मुझ में ही मन लगावे। ये भाई हैं, ये पुत्र हैं, ये परिजन हैं, यह मेरी पत्नी है, यह मेरी माता है, ऐसा समझकर मोह न करे; समझले हम सब भगवान् की ओर जा रहे हैं। भवसागर को पार करते समय ये हमें साथी मिल गये हैं, एक नौका पर साथ साथ बैठ गये हैं। उस पार जाकर ये सब तितर बितर हो जायँगे। सब अपना अपना रास्ता पकड़ेंगे। न तो ये पहिले ही हमारे साथ थे, न अन्त में ही साथ जायँगे। बीच में चार दिन के लिये दर्शन मेला हो गया है। जैसे मार्ग चलते चलते प्याऊ पर पानी पीने को आदमी एकत्रित हो जाते हैं, ऐसे ही ये कुटुम्बी इकट्ठे हो गये हैं।

घर में रहे तो समझे हम धर्मशाला में ठहर गये हैं। कुटुम्बी भी आकर इसमें ठहर गये हैं। हमारा इसमें कुछ भी नहीं है। इस प्रकार निरन्तर मेरा पूजन करता हुआ गृहस्थ में रहे। यदि

घर मे स्त्री अनुकूल है, सब सेवा पूजा मे लगे हैं, अपने मनमे भी कोई मोह ममता नहीं है, तो सदा गृहस्थ मे रह कर मेरा भजन करता रहे। उसे अन्य आश्रम मे जाने की आवश्यकता नहीं। गृहस्थाश्रम के अधिकारी चारों ही वर्ण के लोग हैं। ब्राह्मण को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्त और सन्यस्त इन चारों ही आश्रमों का अधिकार है। क्षत्रिय को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ इन तीन ही आश्रमों का अधिकार है। क्षत्रियो के लिये सन्यास आश्रम का विधान नहीं। हाँ, वह अलिंग सन्यास कर सकता है, अर्थात् सन्यासी वेष न बनावे। मन से सन्यास धर्मों का पालन करे। अथवा वीर सन्यास ले सकता है, अर्थात् बिना अन्न जल ग्रहण किये उत्तर दिशा को चलता ही जाय। वहाँ तक चलता रहे जहाँ तक देह पात न हो जाय। पांडवों ने ऐसा ही वीर सन्यास लिया था। वैश्यों के लिये ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो ही आश्रम हैं। वानप्रस्थ और सन्यास वैश्य के लिये नहीं ह, वह घट छोड़कर भजन करना चाहे या तीर्थयात्रा करना चाहे तो बिना वेष बनाये साधारण रूप से करे। शूद्र के लिये एक ही गृहस्थाश्रम है। भगवान् के भजन में सभी का आधिकार है और सभी को समान फल मिलता है।

गृहस्थी ब्राह्मण चाहे तो गृहस्थ को छोड़कर स्त्री को साथ लेकर वन में जाकर वानप्रस्थ धर्मों का पालन करे। अथवा स्त्री के भरण-पोषण का भार पुत्र को सौंपकर स्त्री को घर पर ही छोड़कर सन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकता है। नियम तो ऐसा ही है गृहस्थ को छोड़कर वानप्रस्थ हो, फिर सन्यासी। उत्कट वैराग्य हो तो वानप्रस्थ के बिना भी सन्यास ग्रहण कर सकता है।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! वानप्रस्थ को कैसे रहना चाहिये। वानप्रस्थियों के क्या धर्म हैं, कृपा करके मुझे बताइये।"

यह सुनकर भगवान् हंसे और बोले—उद्धव ! वानप्रास्थियों के

धर्म अत्यन्त ही कठोर हैं, मैं तुम्हें उन्हीं को अब सुनाता हूँ।"

सूत जी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान् ने वानप्रस्थियों के धर्म सुनाये हैं, उन्हें मैं आप से कहता हूँ, आप सब समाहित चित्त से इस पुण्य प्रकरण को श्रवण करें।"

छप्पय

देव पितर अरु अतिथि करै सेवा प्रानिनिकी।
देवै सबको भाग जीविका जैसी जिनिकी॥
जो कछु कारज करै भाव मोई महँ राखै।
जीवनि दुख नहिं देहि अनृत बानी नहिं भाखै॥
सब भूतनि महँ मोइ लखि, निरभिमान घरमहँ बसै।
घर त्यागै अथवा चतुर, वानप्रस्थ बनि तनु कसै॥

—:o:—

वान प्रस्थाश्रम धर्म

(१२८२)

वन विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीय भागमायुषः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १८ अ० १ श्लो०)

छप्पय

कन्द मूल फल खाइ मूँज, नख, जटा बढावे ।
वन महँ जो मिलि जाइ ताहि तैं काम चलावे ॥
पञ्च अग्नि तप करै कुटी महँ सोवै नाहीं ।
सिर पै वर्षा सहै, शरदमहँ जलके माहीं ॥
करै अग्नि सेवा सतत, स्वय दास बनिकें रहै ।
वर्षा, गरमी ठंढकूँ, यथाशक्ति नित नित सहै ॥

गृहस्थी मे कैसे भी रहा जाय तो भी वहा सुख पूर्वक जीवन बीतता है । बना बनाया समय पर भोजन मिल जाता है । भोजन मे भी षडरस रहते हैं । कभी खीर है कभी पूडी है, कभी मोहन

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! वानप्रस्थ आश्रम जाने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह अपनी पत्नी को या तो पुत्रो के समीप छोड़ जाय या उसे साथ लेकर शान्ति के साथ आयु का तीसरा भाग वन में ही व्यतीत करे ।

भोग है कभी मीठा भात, समोसे, दालमोंट, दहीबड़े, कभी सेव, मठरी, पपडी मोहनथार और न जाने क्या-क्या मिल जाता है। स्त्रियोंकी इच्छा रहती है भोजन सुन्दर से सुन्दर स्वादिष्ट से स्वादिष्ट बने। उनसे बहुत कहो साधारण बने तो भी वे चार वस्तुएँ बना ही देंगी। पहिननेको भी ऋतुके अनुसार कपड़े बन जाते हैं। काम करनेको सेवक सेविकायें रहती हैं। थक जाने पर पत्नी पुत्र सेवक आदि शरीर दबा देते हैं। समय पर भोजन मिलता है, धूप वर्षा तथा ठंडके बचावके सब उपाय होते हैं। कैसा भी दरिद्री गृहस्थी क्यों न हो वह भी अपने घरका शासक है, राजा है। वह भी कुछ लोगों पर अपना प्रभुत्व रखता है। प्रभुत्व में एक अभिमानजन्य सुख होता है। इन्द्रियों की तृप्ति होती है। जीवन में अस्वाभाविकता आजाती है। अस्वाभाविक जीवन मे मरनेवाले की सुगति नहीं होती। क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ तो विषयोंकी आदी होगयी हैं। मरते समय वे ही विषय याद आवेंगे, अतः फिर इन्हीं विषयोंका कीड़ा होना होगा। अतः किसी प्रकार जीवन स्वाभाविक हो। उसके लिये बाह्य उपकरणों की आवश्यकता ही न हो, तब तो सबसे ही उत्तम है। जैसे जंगली पशुपक्षी या वृक्ष अपना स्वाभाविक जीवन बिताते हैं ऐसा तपमय जिसका जीवन हो जाता है वह तप लोकोंको प्राप्त होता है। जैसी स्थिति यहाँ होगी वैसी ही परलोक में प्राप्त होगी अतः गृहस्थके पश्चात् तप करने वनमे चले जाना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब गृहस्थी में रहते-रहते बहुत दिन हो जायँ, तो फिर विवेकी पुरुषको घरकी ममता छोड़ देनी चाहिये। पूर्ण आयु सौ वर्ष की मानी जाय, तो पचास वर्षके पश्चात् वन में जानेकी तैयारियाँ करे। जो अधिक वृद्धावस्था तक घरमे या राजनीति में फँसा रहता है, वह अपने परमार्थको बिगाड़ता है। समाज कोई एक व्यक्ति थोड़े ही है। सब व्यष्टियोंका

मिलकर समष्टि समाज बनता है। इसलिये कोई यह चाहे कि मैं ही सबका उद्धार करने वाला हूँ। मेरे बिना घर का या समाजका काम चल ही नही सकता तो यह उसका मिथ्याभिमान है। जिनसे अपने पद का या घरका मोह थोडा नहीं जाता, वे भाँति भाँतिकी उलटी सीधी बातें बनाते हैं। उनसे कोई कहे कि अब तो आपकी अवस्था भजन करनेकी है। आप अब इन सब झंझटोंको छोडकर भगवत् चिन्तन कीजिये।" तब वे अनेक युक्तियोंको देते हुए कहने लगते हैं—"क्या करें जी, इच्छा तो हमारी भी बडी होती है, किन्तु अभी गृहस्थी कच्ची है। मेरे बिना काम चल नही सकता। यद्यपि देखने में लडका १५, २० वर्ष का हो गया है, किन्तु है अभी सर्वथा बालक ही। उसके ३, ४ छोटे-छोटे भाई हैं, २, ३ बहिनें हैं। इन छोटे-छोटे बच्चो का निर्वाह कैसे होगा? फिर अभी तो मेरे माता पिता भी जीवित हैं। इनकी अत्यन्त वृद्धावस्था है, इन्हे छोडकर जाने से पाप लगेगा। घर का सब ठाठ ही बिगड जायगा। दूसरे लोग धन पर, भूमि पर अधिकार कर लेंगे। बच्चे मारे मारे इधर से उधर घूमेंगे। अभी मैं कैसे घर छोड सकता हूँ, कुछ दिन पश्चात् पुत्र समर्थ हो जायगा तब देखा जायगा।"

कुछ दिन में पुत्र भी पढ लिखकर कार्य योग्य बन गया, उसका विवाह भी हो गया, बच्चा भी हो गया। फिर किसी ने कहा—"अब तो आप को घर छोड देना चाहिये।" तब वह कहता है, कैसे छोडे महाराज! अभी तो बहुत काम है। यह लेना है, वह देना है। मेरे बिना जिन पर ऋण है वे न देंगे। फिर घर छोडने से ही क्या होता है। 'मनचंगा। तो कठौती मे गंगा।" वन में भी किसी से माँगना ही होगा, यहाँ बिना माँगे रोटी मिल जाती है। वहाँ भी तो आश्रय ढूँढना होगा। यहाँ बना बनाया आश्रय है। प्रधान तो भजन है। वह वन में भी हो सकता है, घर मे भी हो सकता है। हमारा तो ऐसा विचार है—घरमे अधिक होता है।"

ऐसी बातें वह घर मे आसक्ति होने के कारण दूसरो को भुलाने के लिये कह देता है। वास्तव में उसकी बुद्धि गृहासक्ति के कारण विक्षिप्त बन जाती है। वह मन्दमति विषयों का कीडा होने से सदा संसारी विषयों से अतृप्त बना रहता है। उन विषय भोगों को स्वेच्छा से त्यागने की उसकी इच्छा होती ही नहीं। उसके भीतर ही भीतर यह भय बैठा रहता है। घर से निकल कर जाऊँगा, तो ऐसी आज्ञाकारिणी सेवा परायणा पत्नी कहाँ मिलेगी। नित्य नया भोजन कहाँ मिलेगा। वन के कडवे कसैले फलो से पेट कैसे भरेगा। तपस्या मय जीवन बिताना बडा कष्टप्रद है।" इन्हीं विचारो से वह गृहान्धा कूप से निकलने की इच्छा नहीं करता और अन्त मे उसी घर मे खटिया पर रोगी होकर मर जाता है और मर कर उसकी दुर्गति होती है। घोर अन्धतम लोकों मे वह जाता है।

जिसे मेरी कृपा से यह संसार अनित्य जान पडे। उसकी इच्छा गृहस्थी छोडकर वानप्रस्थ व्रत धारण करने की होती है। ऐसा वानप्रस्थी बनने का इच्छुक व्यक्ति घर के सभी बन्धनों को छोडकर अपनी अग्निहोत्र की अग्नि को साथ लेकर वन की ओर चल दे। पुत्र समर्थ हों और वे अपनी माता का पालन कर सकते हों तथा उसकी भी इच्छा पुत्रों के साथ रहने की ही हो, तो पत्नी को पुत्रों को सौंपकर अकेला ही वन को जाय, यदि पत्नी का अत्यन्त आग्रह हो और वह किसी प्रकार साथ छोडने को उद्यत ही न होती हो, तो उसे भी वन में साथ ले जाय, किन्तु उससे वन मे स्त्री का सम्बन्ध न रखे। अपनी माता के सदृश उसे माने जाने। जो वन में रहकर भी स्त्री स्त्रीपने का सम्बन्ध रखता है वह आरूढ पतित कहाता है। ऐसे लोगों का तो स्पर्श करना भी पाप है।

घर को छोड़कर वन में गये, तो फिर लौटकर नहीं आना चाहिये। वन में ही रहकर आयु के शेष भाग को बिता देना

चाहिये। वन में रहकर वन की ही वस्तुओं से निर्वाह करे। ग्राम्य की वस्तुओं को न तो व्यवहार मे लावे, न ग्राम्य वातों को सुने ही। नगर के वने सुन्दर स्वादिष्ट भोजन को भी न करे। जो वन में रह कर ग्राम्य वस्तुओं के भोगने की इच्छा करते हैं वे आश्रम के लिये कलंक हैं। वे पतित हैं। ऐसे लोगों का दर्शन करना भी पाप है।

(१) भोजन वृत्ति—वन मे रहकर वन की वस्तुओं से निर्वाह करे। वन में अपने आप उत्पन्न हुए कन्द मूल तथा फलों पर ही निर्वाह करे। जैसे ब्रह्मचारियो मे सावित्र, प्राजापत्य, ब्राह्म और वृहत् चार भेद हैं वैसे ही वानप्रास्थियों में भी चार भेद होते हैं। उनके नाम वैखानस,वालखिल्य, औदुम्बर और फेनप है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! इन चारों की मुझे व्याख्या सुनाइये।"

भगवान् बोले—"उद्धव! वानप्रस्थियो की वृत्ति के ही कारण के चार भेद हैं। वास्तव मे तो वानप्रस्थ धर्म एक ही है। अच्छा सुनो।

(१) वैखानस—वैखानस वे प्रानप्रस्थ कहलाते हैं जो आश्रमों मे ही प्रायः रहते हैं। कुलपतियों की छत्रछाया में अपने धर्मों का पालन करते हुए निवास करते हैं। वे विना हल से जोते वोये—अपने आप उत्पन्न अन्न से निर्वाह करते हैं। भूमि को जोतने वोने में वडी हिसा होती है। वैलों को भी कष्ट होता है, जीव जन्तु भी वहुत मरते हैं। जल के सहारे तीनी के चावल, समा के चावल अपने आप पैदा हो जाते हैं। इन अन्नों की संज्ञा ऋषि अन्न है। ऐसे अन्न का संग्रह कर लिया। उससे देवता पितरों का भी पूजन कर लिया। कोई सन्यासी अतिथि आगया उसका भी सत्कार कर दिया और अपने आश्रम धम का भी पालन किया।

(२) बालखिल्य— बालखिल्य वानप्रस्थी वे कहाते हैं, कि जो अधिक अन्न संग्रह नहीं करते। जहाँ नवीन अन्न मिला कि जितना उनके पास पहिला अन्न था, उस सब को तुरन्त किसी को दे डालेंगे। वन के फल फूलों को भी ले आवेंगे।

(३) औदुम्बर—औदुम्बर वानप्रस्थी दूसरे दिन का भी अन्न संग्रह नहीं करते। प्रातः काल उठने पर जिस दिशा की ओर दृष्टि गयी, उसी ओर चल देंगे। उधर जो भी कन्द मूल फल मिल जायगा उसे तोड लावेंगे। उखाड लावेंगे। उन्हे लाकर उन्हीं से अपना निर्वाह करेंगे। दूसरे दिन के लिये उसे संग्रह करके नहीं रखेंगे।

(४) फेनप—फेनप वानप्रस्थियो का व्रत और भी कठोर है। वे अपने हाथ से न कोई कन्द उखाडेंगे, न फल तोडेंगे। अपने आप पेड से पककर कोई फल गिर जाय, तो उसे ही लाकर उसीसे निर्वाह करेंगे। अथवा अपने आप गिरे हुए सूखे पत्तों को ही खाकर रह जायँगे।

इन चारों मे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। आर्यों मे श्रेष्ठता सग्रह के कारण नहीं होती, त्याग के कारण होती है। जो जितना ही अधिक त्यागी होगा, जिसकी जितनी ही अधिक वृत्ति शुद्ध होगी, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ समझा जायगा।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! वानप्रस्थ की अजीविका तो आपने बता दी। अब यह बताइये वह ग्राम्य वस्त्र तो पहिन नहीं सकता। शरीर का शीतोष्ण निवारण कैसे करे।"

भगवान् ने कहा—"वानप्रस्थी को न्यून से न्यून वस्त्र रखने चाहिये। केवल लोक लाज निवारणार्थ उसे गुह्य अगों को ढकना चाहिये। भोजपत्र अथवा दूसरे वृक्षों के वल्कलों के वस्त्र पहिनने चाहिये। केला की लँगोटी लगाले। भाँग के छिलको के वस्त्र बना ले। साराश यह है, कि वन में उत्पन्न होने वाले वल्कल, तृण, पत्ते

अथवा मृगचर्म आदि से ही निर्वाह करना चाहिये। नगर के सूती रेशमी चटकीले भटकीले वस्त्रों को न पहिनना चाहिये।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! वानप्रस्थी अपना रूप कैसा बनावे।"

भगवान् ने कहा—कुछ भी रूप न बनावे। जो रूप बनाता है, उसे फँसना पडता है। स्वाभाविक रूप रखे। दाढ़ी, मूँछ, केश, बगल कहीं के बाल न बनवावे। जटा जूट रहे। नखों को भी न कटवावे। नाई का कुछ काम ही न रखे। दँतौन भी न करे। शरीर को मलमल कर धोवे भी नहीं। शरीर पर मलजमता है, तो उसे जमने दे, रगड रगड कर उस मल को धोवे भी नहीं। मुसल स्नान करे। चुपचाप जल में घुसजाय, डुबकी लगाकर शनैः शनैः निकल आवे। वस्त्र से शरीर को न पोंछे, न रगडे, शरीर का जल शरीर पर ही सूखने दे। इस प्रकार सदा तीनों समय स्नान करे। यह तो उसके नित्य नियम हैं। इनके अतिरिक्त सदा तपस्या में निरत रहे।

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज। तपस्या कैसे करे?"

भगवान् ने कहा—"शरीर जो भी सुख चाहे उसे न देकर उसके विपरीत ही दे, उसे तपावे, इसी का नाम तपस्या है। जैसे ग्रीष्म ऋतु है। शरीर चाहता है, छाँह में शीतल स्थान में लेटे रहें। धूप में न निकलें, ठंडी वस्तुएँ खाते रहें। वानप्रस्थी को चाहिये वह इसके विपरीत काम करे। अपने लिये वानप्रस्थी कभी कुटी न बनावे। हाँ, अपनी अपनी अग्निहोत्रकी अग्नि के लिये कुटी बनाले या किसी पहाड की कन्दरा में उसे सुरक्षित रखे और स्वयं तीनों ऋतुओं में वृक्षों की भाँति खुले आकाश में रहे।

जब ग्रीष्म ऋतु आवे तब वन से कंडे बीन लावे। खुले मैदान में बैठ जाय, अपने चारों ओर चार कंडों की धूनी लगाकर उनमें आग लगाकर तपस्या करे। चार ओर से तो अग्निका ता

और पाँचवा सूर्य का ताप इस प्रकार पञ्चाग्नितप करे। इस प्रकार नित्य नित्य पचाग्नि तापा करे।

जब वर्षा ऋतु आवे। तो किसी कुटी में या वृक्ष की छाया में न बैठे। सम्पूर्ण वर्षा को अपने सिर पर ही ले। जब वर्षा हो तभी खुले मैदान मे बैठ जाय। जब वर्षा बन्द हो जाय तब उठे। इस प्रकार चारों महीनों की वर्षा को सिर पर से ही उतार दे।

जब जाड़ों के दिन आजाय, तो तड़के प्रात काल ही जाकर कण्ठ पर्यन्त जल में डूबा रहे। जहाँ इतना जल न हो वहाँ गड्ढा खोद कर जलाशय बना ले। अथवा कोरे घड़ों में जल

भर कर रात्रि में उसे खुले मैदान मे रख दे। रात्रि भर ठढे होते रहें। प्रात काल उन्हे अपने सिर पर से उडैले। इस प्रकार गरमी में गरमी, वर्षा में वर्षा और जाड़ो मे जाडे सहकर घोर तपस्या करे।

अग्नि मे पके हुए फल या ऋषि अन्न को खाय, अथवा काल पाकर सूर्य की रोशनी से स्वय पक फलो को ही खाकर काम चलावें। जैसे समा के धान हैं तो उन्हे ओखली मे कूट कर चावल बनाले तब उन्हे रॉधकर खाय। अथवा ओखली का झझट न करे, पत्थरों से ही कूटले। या दॉतों से ही ओखला का काम लेले। चबा चबाकर पेट भर ले। एक बात का सदा ध्यान रखे। अपनी सेवा किसी दूसरे से न करावे। वानवस्थी स्वय ही अपना सेवक होता है। वह जो कद, मूल, फल ऋषि अन्न जो भी लावे स्वय लावे। दूसरों के लाये हुओ का व्यवहार न करे। वे लोग देश काल आदि से अनभिज्ञ रहते हैं। इसलिये दूसरा की लायी हुई वस्तुओं को न ले। कहॉ से फल लाने चाहिये, कैसे लाने चाहिये, कब लाने चाहिये किस प्रकार उन्हे रखना चाहिये, इन सब बातों को तो तपस्या में निरत वानप्रस्थी ही जान सकता है। दूसरे लोग तो इन भेदों को नहीं जानते। वानप्रस्थी को तो अपनी वृत्ति को ही सर्वथा विशुद्ध बनाये रखना है, अतः फल मूलादि लाने में कभी भूल से भी आलस्य प्रमाद न करे।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जब वानप्रस्थी ग्राम्य वस्तुओं का सग्रह ही न करेगा, तो फिर वह अग्निहोत्र किन वस्तुओं से करेगा?"

भगवान ने कहा—"पुरुष जो भी अन्न खाता है। उसके देवता भी उसी अन्न को ग्रहण करते हैं। वानप्रस्थी वन में उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल फलादि से निर्वाह करता है, तो इन्हीं वस्तुओं के बनाये चरु-पुरोडाशि से ही ससय समय पर होने वाले आग्रय-

णादि कर्मों को करे। नित्य का अग्निहोत्र, प्रति मासकी पूर्णिमा का होने वाला पौर्णमास यज्ञ, प्रत्येक अमावास्या को होने वाला दर्शयज्ञ तथा चतुर्मास मे होने वाला चातुर्मास्या यज्ञ, इन सभी यज्ञों को वानप्रस्थी उसी प्रकार करता रहे जैसे घर मे रहकर करता था। हाँ, वेद विहित पशु यज्ञ न करे। क्योंकि उसने अहिंसा का व्रत ले रखा है अतः वैदिकी हिंसा को भी न करे। यज्ञ के निमित्त भी पशुओं की बलि देकर मेरा भजन न करे। इन सब कर्मों को कर्तव्य बुद्धि से करता रहे। वानप्रस्थी का मुख्य धर्म है तपस्या। निरन्तर तपस्या मे निरत रहे। भोजन स्वाद के लिये, इन्द्रिय तृप्ति के लिये न करे। इसलिये कुछ आहार ले लिया करे जिससे यह शरीर बना रहे। शरीर दिन दिन तपस्या के कारण कृश होता रहे। मास नाम मात्र को को अब शेष रह जाय। दूर से ही नस नाडियाँ दिखायी दें, हड्डियाँ गिनी जा सकें।

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज! ऐसे तपस्या कितने दिन तक करे?"

भगवान् ने कहा—"भैया! इसका कोई निश्चित नियम नहीं। जब तक भी पूर्ण वैराग्य न हो, तब तक ऐसी घोर तपस्या करता ही रहे। बारह वर्ष तक करे। बारह वर्ष न कर सके तो आठ वर्ष, चार वर्ष अथवा दोही वर्ष तक करे। न हो तो न्यून से न्यून एक वर्ष तक तो करे ही। तपस्या करते समय अपनी शक्ति सामर्थ्य का भी स्मरण रखे। ऐसा न हो, कि अत्यंत तपस्या करने के क्लेश से बुद्धि ही भ्रष्ट हो जाय, मस्तिष्क ही विकृत हो जाय। अपना बलाबल देखकर तपस्या करनी चाहिये।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! कोई वानप्रस्थी है। तपस्या में प्रवृत्त हुआ, बीच में ही उसे व्याधियों ने घेर लिया। अभी उसे

सन्यासी होने का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसी दशा में वह क्या करे ?"

भगवान् ने कहा—"ऐसी अवस्था मे उसे रोग की यथासाध्य चिकित्सा करानी चाहिये। रोग निवृत्त होने पर उसे पुनः तपस्या में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।"

उद्धव जी ने कहा—"रोग असाध्य हो, उसके छूटने की संम्भावना ही न हो तो क्या किया जाय। अथवा ज्ञान हुआ नहीं वृद्धावस्था ने घेर लिया। वृद्धावस्था के कारण वानप्रस्थियों के नियमों का पालन ही नहीं हो सके तो क्या किया जाय ?"

भगवान् ने कहा—"यदि वृद्धावस्था या रोग के कारण अपनी क्रियाओं को करने मे असमर्थ हो जाय, तो उसे अनशनादि करके शरीर का त्याग कर देना चाहिये। भृगुपात करके शरीर छोड़ देना चाहिये। ऊँचे पर्वत पर चढ़कर वहाँ से गिर पड़े। अथवा अग्नि मे शरीर को भस्म कर दे। शरीर त्याग के पूर्व लययोग की प्रक्रिया से शरीर सम्बन्धी तत्वों को उन उन के उद्भव स्थानों में विलीन कर दे। वैराग्य के अभाव में इस प्रकार शरीर का त्याग करे। यदि वैराग्य हो, तब विधिवत् सन्यास ग्रहण करले। जो सन्यास भी ग्रहण नहीं करता और विधिवत् वानप्रस्थियों के नियमों का पालन करता है अथवा असमर्थ होने से अग्नि मे प्रवेश करके, भृगुपात करके अथवा अनशन के द्वारा शरीर का त्याग करता है, वह शरीर त्याग के अनन्तर तपलोकों को प्राप्त होता है। भूः भुवः और स्वर्ग ये तीन लोक गृहस्थियों के लिये हैं। महलोक उन महर्षियों के लोक हैं जो गृहस्थ होकर भी ऋषि जीवन व्यतीत करते हैं। या जो अवसर प्राप्त प्रजापति, मनु अथवा इन्द्र हैं। जनलोक उन ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को प्राप्त होता है जो भगवान् के जन हैं। तपलोक तपस्वी

वानप्रस्थियों को प्राप्त होते हैं। सत्यलोक सत्य रूप को जानने वाले सर्व त्यागी संन्यासियों को प्राप्त होते हैं और जो मेरे जन हैं, उन्हें तो मेरा ही लोक प्राप्त होता है। अतः इतने कष्ट साध्य तप को जो केवल स्वर्ग की प्राप्ती के ही लिये करता है। हमें उत्तम लोकों की प्राप्ति हो इसी क्षुद्र फल की कामना से करता है, उससे बढकर मूर्ख कौन होगा। अतः जो भी कर्म मेरी प्रसन्नता के निमित्त करे। जिस आश्रम में भी रहे उसी मे मेरे निमित्त कर्म करे तो उसे मेरे ही लोक की प्राप्ति होगी।

यदि तपस्या करते करते इन सभी लोको से विराग हो जाय। ये सभी लोक नरक तुल्य प्रतीत हो तो उस अवस्था में वानप्रस्थाश्रम को त्याग कर सन्यास लेले। सन्यासाश्रम के धर्म मैं आगे बताऊँगा।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! वानप्रस्थ धर्म के नियम तो बड़े कठिन हैं। महाभाग! कलियुगी लोग इतना तप कैसे कर सकेंगे? उनमें इतनी सहन शक्ति कहाँ होगी। एक दिन भी जाडों में कोरे घडो के पानी से प्रातः स्नान किया कि उन्हें नियोनिया हो जायगा। जेठ बैशाख की धूप मे जहाँ भी प्रहर दोपहर तपे कि सदा के लिये तप जायेंगे, फिर कलियुग में इस धर्म का निर्वाह कैसे होगा।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ऋषि तो सर्वज्ञ, होते हैं, वे तो अपनी ज्ञान दृष्टि से भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सभी बातें जानते हैं। ऋषि जानते थे कलियुग में वन ही न रहेंगे। जब

वन ही नहीं तो वानप्रस्थ कैसे ? द्वापर के अंत तक हो ऐसे वन रहेंगे कि जिनके फलो से तपस्वी पेट भर सके। शनैः शनैः वनों पर राजा लोग अधिकार कर लेंगे। पहिले वन किसी के राज्य मे नहीं माने जाते थे। उन पर तपस्वियों का ही पूर्ण अधिकार रहता था। कलियुग आने पर वन का भूमि पर भी शासक अधिकार जमा लेंगे। लोभ और दरिद्रता के कारण वनो को काटकर लोग खेती करने लगेंगे। द्विजाति लोग भी फल बेचने लगेंगे। पहिले पत्र, पुष्प, फल, और जल इन वस्तुओं का कोई मूल्य नहीं होता था। कलियुग में ये सब वस्तुएँ बिकने लगेंगी। पहिले, घास फूँस तृण जो जहाँ से चाहता काट लेता। कलियुग में इन्हें भी लोग न काट सकेंगे। यही सब सोचकर ऋषियों ने कलियुग में वानप्रस्थाश्रम का निषेध किया है। वानप्रस्थाश्रम धर्म का कलियुग मे निर्वाह हो ही नहीं सकता। अतः नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, सन्यास तीनों का ही कलियुग में निषेध है। कलियुग मे तो एकमात्र भगवान् सकीर्तन ही मुख्य धर्म है। कलियुग में केशव कीर्तन से ही सब धर्मों का फल मिल जाता है। कलियुग मे इन आश्रमों क धर्मों को सुनने से ही पुण्य होता है। यथाशक्ति सदाचार पूर्वक रह कर भगवान् की भक्ति करें इसी मे सब कुछ आ जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कथन सत्य है। अब आप कृपा करके हमें सन्यासाश्रम के धर्मों को और सुनाइये।"

सूत जी ने कहा—"भगवन्! उद्धव जी ने भगवान् से वानप्रस्थियों के धर्मों के पश्चात् सन्यासियों के ही धर्मों का प्रश्न किया था। उनके पूछने पर भगवान् ने जैसे सन्यासियों के धर्म बताये, उन्हें मैं आप से कहता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

करै दर्श अरु पौर्णमास मख मोकूँ उर धरि।
वन्य कन्द फल मूल आदि चरु पुरोडास करि॥
तुच्छ स्वर्ग के हेतु व्यर्थ नहिँ देह तपावै।
रुग्ण वृद्ध असमर्थ होहि तनु अनल जरावै॥
यदि होवै वैराग्य तो, अग्नि लीन करि प्रान महँ।
सन्यासी बनि सम रहै, सदा मान अपमान महँ॥

श्री वनमाली

श्री भागवत-दर्शन :—

भागवती कथा

(छप्पनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी), प्रयाग

लक्षोचित मूल्य २-०-रुपया

प्रथम संस्करण] माघ सम्वत् २०१० वि० [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग ।

भागवती कथा खण्ड ५६

(विषय-सूची)

अ० सं०	विषय	पृष्ठ
	गो सेवा व्रत ...	
१२८३	—संन्यासाश्रम धर्म ...	२
१२८४	—संन्यासियों के भेद और परमहंस स्थिति	३
१२८५	—परमहंस चर्या ...	४
१२८६	—ज्ञान-भक्ति सम्बन्धी प्रश्न ...	६
१२८७	—भक्तियोग वर्णन ...	८
१२८८	—भक्ति के परम साधन ...	९
१२८९	—भक्ति के शेष साधन ...	१०
१२९०	—पावन प्रश्नोत्तर ...	११
१२९१	—दानादिक प्रश्नोत्तर ...	११
१२९२	—पण्डितादिकों के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर	१२६
१२९३	—गुण-दोषों के सम्बन्ध में उद्धवजी की शंका	१३२
१२९४	—योगत्रय-विवेचन ...	१३७
१२९५	—मन के निरोध के उपाय ..	१४९
१२९६	—साधन-विहीनों की गति ...	१६१
१२९७	—शुद्धि अशुद्धि विवेचन ...	१७०
१२९८	—शुद्धि अशुद्धि के विशेष नियम ...	१८३
१२९९	—कर्म प्रशंसा श्रेय प्रवृत्ति के नियम हैं ...	१९२
१३००	—शब्द ब्रह्म निरूपण ...	२०२

गो सेवा व्रत

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च ।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

(महा० अनु० ८०४)

सोरठा

कर्‌यो श्याम जिनि नेह, लोक मातु अति विमल शुचि ।
जिनि तनु सब सुरगेह, तिनि सुरभिनि वन्दन करूँ ॥
गैयनि में अति प्रीति, गैयनि में ई नित वसूँ ।
गाऊँ गैयनि गीति, गैयनिकूँ सरबसु गनूँ ॥

उपनिषद की एक कथा है। सत्यकाम नाम का एक बालक था। घर में उसकी अकेली माता ही थी। जब उसकी अवस्था १२ वर्ष की होगयी तब उसने जाकर अपनी जननी से कहा—"माँ, अब मैं १२ वर्ष का हो गया हूँ, अब मुझे गुरु के समीप गुरुकुल मे वास करके वेदाध्ययन करना चाहिए।"

*मैं चलूँ लेटूँ बैठूँ या जो भी कार्य करूँ तभी मेरे आगे गैयाँ रहें, पीछे भी मेरे गैयाँ रहें। चारों ओर से मैं गैयों से ही घिरा रहूँ। यहाँ तक कि मैं सदा गौओं के ही बीच में निवास करूँ।

माँ ने कहा—"अच्छा, बेटा ! जाओ। तुम्हारा मंगल हो।"
सत्यकाम ने कहा—"किन्तु माँ, गुरु मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे, मैं क्या बताऊँगा। मुझे अपने गोत्र का तो ज्ञान ही नहीं, माँ मेरा गोत्र बतादो।"

माता ने कहा—"बेटा ! गोत्र का तो मुझे भी पता नहीं मैं सेवा में सदा तत्पर रहती थी। युवावस्था में तू पैदा हुआ संकोच वश मैं तेरे पिता से गोत्र न पूछ सकी।"

माँ की बात सुनकर सत्यकाम हारिद्रुमत ऋषि के वेदाध्ययन के उद्देश्य से गया। उन्हें प्रणाम करके वह पूर्वक उनकी आज्ञा से बैठ गया।

गुरु ने पूछा—"बालक ! तुम क्या चाहते हो ?"
सत्यकाम ने कहा—"भगवन् ! मैं आपके चरणों में रह कर वेदाध्ययन करना चाहता हूँ।"

गुरु ने पूछा—"तुम्हारा गोत्र क्या है ?"
सत्यकाम बोला—"भगवन्, मैंने अपनी माँ से अपने गोत्र के सम्बन्ध में पूछा था। उसने कहा—मैं सदा सर्वदा आगत अतिथि अभ्यागतों की सेवा में संलग्न रहती थी। युवावस्था में तू उत्पन्न हुआ। मैं कह नहीं सकती तेरे पिता का कौन गोत्र है मैं इतना ही जानती हूँ, तेरा नाम सत्यकाम है और तू मुझ जबाला का पुत्र है।"

यह सुनकर महर्षि अत्यंत प्रसन्न हुए और बोले—'बेटा ! निश्चय ही तू ब्राह्मण है क्योंकि ब्राह्मण के अतिरिक्त इतनी सत्य बात कोई नहीं कह सकता, तू समिधा ले आ मैं तेरा उपनयन करूँगा। तू आज से सत्यकाम जाबाल के नाम से प्रसिद्ध होगा।"

गुरु ने शिष्य का उपनयन किया। उन दिनों रुपये पैसे को बड़ा धन नहीं माना जाता। उन दिनों गौ को ही धन माना जाता

ा, जिसक यहाँ जितना ही अधिक गोधन होता वह उतना ही
डा श्रेष्ठ माना जाता।

दान, धर्म, पारितोषिक, शास्त्रार्थ, यज्ञ तथा सभी देवपित्र
था ऋषि के ऋण मे गो ही दी जाती थी, उपनिषदों मे ऐसा
नेको कथायें हैं, अमुक राजा ने मुनियों से कोई प्रश्न पूछा—
ौर उसमे यही पारितोषिक रखा कि जो इस प्रश्न का उत्तर
वह इतनी लाख गौएं पावे। अमुक ऋषि आए उन्होंने अपने
ष्यों से कहा—"इन गौओं को हाँक ले चलो।" साराश यही
सभी राजाओं ऋषिओं, तथा कृषकों के यहाँ सहस्रो लक्षों
ाएँ रहती थीं।

ऋषियो के समीप जो शिष्य शिक्षा प्राप्त करने आते थे
के लिये सर्वप्रथम यही शिक्षा दी जाती थी कि वे गौ
वा व्रत ले, गौओ के सेवा सुश्रूषा से स्वतः ही उन्हे सर्व शास्त्र
ा जाते थे।

महर्षि हारिद्रुमत के यहाँ भी सहस्रों गौएँ थीं। सत्यकाम
ाबाल का जब उपनयन संस्कार होगया, तब वे उसे लेकर अपने
ौओं के गोष्ट मे गये। सहस्रो सुन्दर दुधार गौओं मे से मुनिने
ार सौ दुबली पतली गौएँ छाँटी और सत्यकाम से बोले-
बेटा! तू इन गौओं के पीछे पीछे जा। और इन्हे चराकर
ष्ट कर ला।"

बारह वर्ष का सत्यकाम गुरु के भाव को समझकर बोला—
'भगवन्! मैं इन गौवो को लेकर जाता हूँ और जब तक ये एक
हस्र न हो जाँयगी तब तक मैं लौटकर न आऊँगा।"

गुरुने कहा—"तथास्तु।"

सत्यकाम उन गौओं को लेकर ऐसे वन मे गया जहाँ हरी-हरी
ब थी, जलका सुपास था और जहाँ जंगली जीवो का कोई
य नहीं था। वह गौओं के ही बीच मे रहता, उनकी सेवा

सुश्रूषा करता, वनके सभी क्लेशों को सहता, गौके दुग्ध पर ही रहता, उसने अपने जीवन को गौओं के जीवन में तदाकार कर दिया। वह गौ सेवा में ऐसा तल्लीन हो गया कि उसे पता ही न चला कि गौएँ कितनी हो गयीं हैं।

तब वायुदेवने वृषभ रूप रखकर सत्यकाम से कहा–"ब्रह्मचारिन! हम अब सहस्र होगये हैं तुम हमें आचार्य के घर ले चलो और तुम्हें मैं एक पादब्रह्म का उपदेश करूँगा।"

यह कहकर धर्मरूपी वृषभ ने सत्यकाम को एक पाद ब्रह्म का उपदेश दिया। गुरु के गृह से वन दूर था। चार दिन का मार्ग था। इसलिये मार्ग में जहाँ वह ठहरा वहीं उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश मिला। इस प्रकार एक पाद वृषभ ने दुसरा पाद अग्नि ने, तीसरा पाद हंसने और चौथे पाद का उपदेश मद्गु नामक जलचर पक्षी ने किया। गौओं की निष्काम सेवा सुश्रूषा से वह परम तेजस्वी ब्रह्मज्ञानी हो गया था।

एक सहस्र गौओं को ले जाकर गुरु के सम्मुख प्रस्तुत किया और उनके चरणों मे साष्टाङ्ग प्रणाम किया। गुरु ने उसके मुखको ब्राह्मी श्री से देदीप्यमान देखकर अत्यन्त ही प्रसन्नता से कहा—"बेटा सत्यकाम। तेरे मुखमंडल को देखकर तो मुझे ऐसा लगता है तुझे ब्रह्मज्ञान होगया है, तू सत्य सत्य बता तुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश किसने किया?"

सत्यकामने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"गुरुदेव! आप की कृपा से ही सबकुछ हो सकता है। आप मुझे उपदेश करेंगे तभी मैं उसे पूर्ण समझूँगा।"

वही ज्ञान गुरु ने दुहरा दिया सत्यकाम पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो गये।

(२)

वेद शास्त्र पुराण तथा उपनिषदों में ऐसी अनेकों कथायें

आती हैं कि गौ सेवासे समस्त अभीष्ट सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। गुरु के समीप समिधा लेकर नम्रता के साथ शिष्य शिक्षा के निमित्त जाता था तो गुरु सबसे प्रथम उसे गो-परिचर्या का ही काम सौंपते थे। बड़े-बड़े ऋषिकुमार बड़े-बड़े सम्राटों के राजपुत्र बड़ी श्रद्धा भक्ति से गौ माता की सेवा करते थे, उन्हें वन मे चराने ल जाते थे इसी से वे इतने तेजस्वी, तपस्वी, यशस्वी प्रभा और कान्तियुक्त होते थे। गौओं की निष्काम सेवा से सभी कुछ प्राप्त हो सकता है, महाराज दिलीपने गौ सेवा करके ही रघु जैसे तेजस्वी, यशस्वी, पुण्यश्लोक पुत्र प्राप्त किया। जिनके नाम से समस्त कुल रघुवंशी कहलाया और जिस कुल मे पुराण पुरुषोत्तम भगवान जानकी ने अवतार धारण किया।

गौओं की सेवा करके ही तो आनंद-कंद व्रज-जीवन-धन श्री कृष्णचन्द्र गोपाल कहलाये। गो-सेवा-व्रत से ही तो सुरभि ने भगवान को गोविन्द की पदवी दी।

(३)

पद्मपुराण के पाताल खण्ड मे राजा ऋतंभर की एक कथा है। राजा के कोई सतान नहीं थी। जाबलि मुनि ने उन्हें उपदेश दिया "राजन्! यदि आप पुत्र प्राप्त करना चाहते हैं तो गो सेवा व्रत करें, गौ माता की कृपा से आपके संतान हो जायगी।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! गौ सेवा व्रत मे क्या-क्या करना होता है?" मुनि ने कहा—"गौ सेवा व्रती को अपने हाथों गौ की सेवा करनी चाहिए। स्वयं उसे चराने वन ले जाना चाहिए। गौ को जौ खिलाकर फिर उसके गोबर मे जौ के जो दाने निकलें उन्हें ही खाना चाहिए। गौ के खाने पर खाना चाहिए। गौके पानी भी पी लेने पर पानी पीना चाहिए। गौओं मे ही निरन्तर रहना चाहिए। गौ को ऊँची जगह बिठाकर स्वयं नीचे बैठना चाहिए।

उसके डांस मच्छर उड़ाते रहना चाहिए, उसके लिए स्वयं घास लाकर खिलाना चाहिए। सारांश अपने जीवन को गौ के जीवन में तन्मय कर देना चाहिये। पुत्रार्थी राजा ऋतंभर ने मुनि की आज्ञा से यही व्रत किया और उन्हे पुत्र की प्राप्ति हुई। पुत्र की प्राप्ति तो एक साधारण बात है गो सेवा से तो ब्रह्मज्ञान तक की प्राप्ति होती है। इसके लिये सत्यकाम जाबालकी कथा हम पीछे कह ही चुके हैं, आज हम दूध तो पीना चाहते हैं किन्तु गौ सेवा नहीं करना चाहते, इसीसे हमारी ऐसी दुर्दशा हो रही है।

(४)

कौन ऐसा हिन्दू होगा जो भारत से गोवध बन्द कराना न चाहता हो, मुझे भली भाँति यह स्मरण है कांग्रेस का स्वराज्य प्राप्ति के साथ गोवध बन्द कराना प्रधान उद्देश्य था, हम लोग जो धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोग कांग्रेस के आन्दोलन में सम्मिलित हुए वह इसी उद्देश्य से कि अंग्रेजो के चले जाने के पश्चात, रामराज, होगा और उसमे गोवध तो कभी होगा ही नहीं। उस समय के महात्मा गाधीजी के या० राजेन्द्र प्रसाद जी के गौ रक्षा के ऊपर भाषण पढ़िय। तो मेरी बात में तनिक भी अतिशयोक्ति प्रतीत न होगी। मैं इन भाषणों के उद्धरण दे सकता हूँ, किन्तु स्थल संकोच से नहीं देता। वे व्याख्यान प्रकाशित हैं, महात्मा गाधी जी ने यहाँ तक कहा था—मैं गो रक्षा के प्रश्न को कई बातों मे स्वराज्य के प्रश्न से भी बड़ा मानता हूँ राजेन्द्र बाबू ने अपने एक भाषण मे कहा—कि हिन्दुस्तान में गायों के लिए इस तरह की धार्मिक भावना हो कि उन्हें मारना लोग पसन्द नहीं कर सकते, इसलिये यह जो बहादुरी की सलाह दी जाती है जितने खराब जानवर हैं उनको कत्ल कर दिया जाय, मैं समझता हूँ इसमें बहादुरी है बुद्धि नहीं। यदि हम इस काम को करना चाहेंगे तो सुधार तो नहीं होगा उल्टे हम

अपने खिलाफ एक जमात पैदा करलेंगे जो हमारा विरोध करेगी।

मेरा कहने का अभिप्राय इतना ही है कि स्वराज्य के पूर्व कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि स्वराज्य प्राप्त होने पर भी भारत मे गोवध बन्द न होगा। सन् २१ के आन्दोलन में मुसलमानो के बडे-बडे मौलाना और मौलवियों ने स्पष्ट शब्दो में व्यवस्था दे दी थी कि गो का बलिदान 'सरह' मे आवश्यक नहीं। इसी प्रकार की एक घोषणा निजाम सरकार की ओर से भी निकलती थी। उस आन्दोलन में मैंने स्वय मुसलमानों के साथ काम किया, उनकी मसजिदों मे और उपासना-स्थलो मे गया, वहाँ व्याख्यान दिया, मेरे कई मित्र मुसलमान भाइयों ने तो एक गोरक्षा मडली बना ली थी, वे ढोलक करताल लेकर गाँव-गाँव गोरक्षा के गीत गा-गा कर ग्रामीणो को अत्यन्त प्रभावित करते थे। बुलन्दशहर जिले मे बसी बुगरासी के पठान बड़े प्रसिद्ध हैं। उन्हीं का यह मण्डली थी। मैं भी कई दिनों तक उनके साथ रहा, हम जब गो वध बन्दी के लिए अत्यन्त अधीर हो उठते तो हमारे कांग्रेसी नेता कहते, हत्या की जड तो अँग्रेज ही हैं इन्हें ही अपनी गोरी फौजों को खिलाने को गो मास चाहिये, इसीलिये हम हिन्दू मुसलमानो को लडाने को इन्होंने धार्मिक प्रश्न बना दिया है। अंग्रेजों को भारत से जाने तो दो, एक दिन मे ये गोवध बन्द हो जायगी। एक कलम के नोक का काम है, जिस दिन स्वराज्य हुआ हम पूर्ण आशा थी कि स्वराज्य की घोषणा के साथ ही गोवध बन्दी की घोषणा भी होगी, किन्तु वह नहीं हुई।

इस पर लोगो को बड़ा आश्चर्य हुआ, कुछ को क्षोभ भी हुआ। सरकार ने भी एक कमेटी बिठाकर पूर्ण गोवध बन्दी के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। हमने सोचा—'हमारी कांग्रेसी सरकार की अभी मुस्लिम तुष्टि की नीति गयी नहीं है, वह सीधे

से न कहकर घुमा फिराकर बन्द करेगी। हमें तो आम खाने से काम, पेड गिनने से क्या प्रयोजन। गोवध बन्द होना चाहिए कैसे भी हो। सभी प्रान्त के शासको और अधिकारियों को भी विश्वास हो गया था, अब गोवध न होगा। कई सरकारों ने कानून तो नहीं बनाये किन्तु गुप्त रूप से डाक्टरो को आज्ञा दे दी कि एक भी गौ को कटने के लिये अनुमति मत दो। हमारे ही प्रान्त मे लगभग दो वर्ष गोवध कानून से नहीं सरकारी आदेशो से सर्वथा बन्द रहा। और जहाँ गो मास मिला उन्हें पकडा गया। कुछ प्रान्तों ने, नगरपालिकाओ ने नियम भी बना दिये कि हमारी सीमा में सर्वथा गो वध न हो।

फिर न जाने कैसे हमारी केन्द्रीय सरकार की बुद्धि बदल गई। उन्होंने प्रान्तो को एक परिपत्र भेजकर यह आज्ञा दी कि गोवध सर्वथा बन्द न किया जाय, जहाँ बन्द कर दिया हो वहाँ उस पर पुनर्विचार किया जाय। इस के पश्चात् ही राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ ने गोवध बन्दी का आन्दोलन उठाया। हमारे प्रधान मन्त्री को सघ के नाम से बहुत चिढ है। सघ वाले कैसा भी कहें उसके विरुद्ध बोलना ही चाहिये। अब ऐसी स्थिति पहुंच गई है कि 'गोवध बन्द हो' ये शब्द काग्रेसियो को गाली के समान बन गये हैं। वे कहते हैं कि गोवध बन्दी का नाम मत लो, गो सम्बद्ध न कहो। अर्थात् सिर को कटा लो, बालों की रक्षा करो। हम लोग समझते थे जहाँ जनता के हस्ताक्षर जायँगे लोकमत का आदर करने वाले राष्ट्रपति तुरन्त कहेंगे ९० प्रतिशत लोगों की माग है। इस देश मे गोवध न होगा किन्तु हस्ताक्षर राष्ट्रपति के पास पहुचने भी न पाये बीच ही मे काग्रेस के सभापति या प्रधान मन्त्री ने पूछे बिना प्रसग निर्णय दे दिया। केन्द्र गोवध बन्दी नहीं कर सकता। सघ वालों की यह राजनैतिक चाल है।

लड़ाई दो दल वालों की हो और गला गौ का काटा जाय। अब हम लोग क्या करें ?

(५)

मेरे मन में भी गौ माता के लिये यत्किंचित् स्थान है। बहुत दिनों से मैं सोच रहा था कि गौ माता के लिये मैं क्या कर सकता हूँ। एक बार जब मैंने भरी रेल गाड़ी में गौओं को कटने को जाते देखा तो मेरे मन में आया मैं रेल की पटरी पर लेटकर अपने प्राण दे दूं। किन्तु सोच लेना सहज है प्राण देना अत्यन्त कठिन है। मैं प्राण नहीं दे सका। आज कल प्रयाग से हजारों गौयें डिब्बे में भर कर कलकत्ते कटने जाती हैं। भरवारी स्टेशन से वे लादी जाती हैं। कसाई उन्हें कलकत्ता ले जाते हैं। मेरे मित्रों ने आकर सब गाड़ियों के नम्बर दिये। मुझे ले जाकर दिखाया। डिब्बे में घुसकर इन असहाय माताओं को मैंने देखा। किन्तु मैं रोने के अतिरिक्त कुछ कर न सका। प्राण न दे सका।

(६)

एक बार मेरे मन में प्रेरणा उठी कि संसद में किसी सदस्य से गोवध बन्दी का प्रस्ताव कराया जाय। जो उसके विरुद्ध मत दें उनका जहाँ भी वे मिलें मुँह काला कराया जाय। कुछ स्वयं सेवक बनाए जायँ और वे स्पष्ट घोषणा कर दें कि हम और कुछ क्षति नहीं पहुंचावेंगे गोवध समर्थकों का मुँह काला करेंगे। जब तक वे जेल न भेज दिये जाँय, अथवा मार न दिये जाय तब तक मुँह काला करने को तत्पर रहें। यह प्रेरणा मुझे स्वर्गीय हासानन्द जी की कार्यप्रणाली से मिली। वे नेताओं का मुख काला करते थे। महामना मालवीय जी, देशबन्धु दास, लाला लाजपत राय और स्वात महात्मा जी का भी उन्होंने काला मुँह किया था। वे गया कांग्रेस गये थे। मैं भी वहाँ था। सब लोगों

ने इस बात को स्वीकार किया कि जब तक भारत में गोवध होता है निश्चय ही तब तक हमारा मुख काला है। इसी के पश्चात् महात्मा गांधी ने गोरक्षा मंडल बनाया।

मैंने अपने परिचित बन्धुओं से सम्मति ली तो लोगों ने इस बात का विशेष समर्थन नहीं किया। मैंने भी सोचा ऐसा आन्दोलन मेरे साधु वेश के अनुकूल नहीं है, दूसरे इतने प्राणों का प्रण लगाने वाले स्वयसेवक मिलने कठिन हैं। स्वयसेवक न भी मिलते, यदि मेरे मन मे यह बात बैठ जाती तो कम से कम मैं अकेला ही कर सकता था।

(७)

फिर सोचा अपने चुनाव क्षेत्र में सर्वत्र सभा करके ग्राम-ग्राम से यह प्रस्ताव भिजवाया जाय कि प्रधान मन्त्री ने गौरक्षा के सम्बन्ध मे भारतीय भावना के विरुद्ध विचार प्रगट किये है अत वे हमारे प्रतिनिधि नहीं हैं। उन्हें त्यागपत्र दे देना चाहिए। यह काम सरल था किन्तु इसमें कई कठिनाइयाँ थीं। पहली तो यही कि मैं चुनाव मे प्रधान मन्त्री से हार चुका हूँ। लोग यही कहेंगे कि अपनी हार की झेंप मिटाने को यह कर रहे हैं। दूसरे प्रचार कार्य में तो कांग्रेसी अत्यन्त निपुण हैं। उनके हाथ में फौज, पुलिस, अधिकारी समाचार-पत्र सभी हैं। वे दिन को रात और रात को दिन प्रचार के द्वारा सिद्ध कर सकते हैं। मेरे विरुद्ध चुनाव के प्रचार मे ही केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की पूर्ण शक्ति लगा दी गई। काश्मीर, बम्बई, कलकत्ता से न जाने कितनी मोटरें युवक युवतियाँ प्राचारार्थ बुलाए गये। केन्द्रीय सरकार के मन्त्रीगण, पटवारी से कलेक्टर तक सभी गाँव-गाँव, घर-घर घूम कर मेरे विरुद्ध ऐसी-ऐसी बातें करते थे जिनमें सत्य का सर्वथा अभाव था। यद्यपि यह मैं मानता हूँ कि प्रधानमन्त्री ने मेरे विरुद्ध एक भी शब्द नहीं कहा, यही नहीं सर्वत्र उन्होंने मेरी

प्रशंसा ही की, किन्तु छुटभैयों का मुख कौन पकड़े, वे तो जो मुख में आती थी कहते थे। एक छोटा-सा उदाहरण लीजिये, मेरा चुनाव चिन्ह नौका था, काग्रेस का चुनाव चिन्ह था बैल की जोडी। इस पर किसी काग्रेसी ने जनता को समझाया 'ब्रह्मचारी जी बड़े गौभक्त बनते हैं। फिर उन्होंने नौका का चिन्ह क्यों लिया। जब चुनाव चिन्ह लेने की बात चली तो नेहरू जी ने कहा—"मैं तो बैलों का चिन्ह लेता हूँ तुम गौ का लो" इस पर ब्रह्मचारी जी ने कहा—नहीं, मैं गौ का नहीं लूँगा, मैं तो नित्य नौका से स्नान करने जाता हूँ, उसी का लूँगा ऐसा मैंने अपने प्रचारकों के मुख से सुना है स्वयं तो किसी भी सभा मे मैं जाता ही नहीं था। मैं कोई चुनाव की शिकायत नहीं करता। चुनाओं में तो ऐसा होता ही है। इसी प्रचार से तो प्रतिपक्षी को पराजित किया जाता है। मेरा कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जनमत की भावना के प्रचार में हम काग्रेसियों से नहीं जीत सकते।

(८)

अपनी बात (१) शस्त्रबल (२) धनबल (३) जनबल और (४) तप बल से मनवाई जा सकती है। (१) शस्त्रबल हम पर है नहीं फिर सैन्यबल का प्रयोग तो अपने भाइयों पर किया नहीं जाता, वह तो आततायी धर्महीन शत्रुओं के लिये है। धन बल का कटु अनुभव हमें इस चुनाव में हो चुका। काग्रेसियों ने प्रचार तो यह किया कि ब्रह्मचारी जी के पास लाखो रुपये है, सैकड़ों मोटरें हैं किन्तु वास्तविक बात यह थी कि हम पर इतने पैसे भी नहीं थे कि मतदाताओं को देने को चुनाव पत्र भी पूरा छपवा सके। सैकडो की कौन कहे, काशी, कानपुर, प्रयाग में प्रयत्न करने पर भी किराये की एक मोटर हमको न मिल सकी। लोगो ने कह दिया था कि जो ब्रह्मचारी जी को मोटर देंगे उनकी मोटर जला दी जायगी। जो लोग मेरा पैर छूने आते थे उन्होंने भी गुप्तचरों

क भय से आना बन्द कर दिया था कि कहीं हमारा नाम न लिख लिया जाय। झूसी में गुप्तचरों का ताँता लग गया था। मैं कुछ संसद में जाने, सदस्यता करने अथवा चुनाव जीतने के लिये नहीं खड़ा हुआ था, एक सिद्धान्त केवल दिग्दर्शन करना था। उस पर यह दशा रही। (३) रही जनबल की बात सो उतने दिनों दासता में रहते रहते हममें अत्यन्त भय, अकर्मण्यता और हीनता आ गई है। स्वराज्य भी हमें बिना क्रान्ति के मिल गया इसलिये जनता हृदय से गोरक्षा चाहती है किन्तु उसके लिये बलिदान करने को तत्पर नहीं। (४) पहले साधु महात्मा ब्राह्मण अपने तप तेज के प्रभाव से शासकों से जो चाहते थे करा लेते थे। आज हम तप से रहित तेजहीन, श्रीहीन, सदाचार हीन बन गये हैं। हममें तप होता तो यह प्रसंग ही नहीं आता। 'एकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम्' यदि एक सच्चा ब्राह्मण कुपित हो जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्र को पराजित कर सकता है। अब वैसा तप तेज कहाँ है?

अब एक ही उपाय है। अपने हृदय को कड़ा करके अपने सिद्धान्त पर बलिदान हो जाय। बलिदान का प्रभाव बहुत होता है। श्री रामालु ने आन्ध्र के बटवारे के लिए प्राण दे दिये, तुरन्त आन्ध्र के बँटवारे की बात मान ली गई। अधिकारी गण कहते हैं कि उसके बलिदान का हम पर कोई प्रभाव नहीं। हम तो आन्ध्र को पृथक करने का पहले ही निर्णय कर चुके थे। किन्तु इसमें सत्याश कम है। उनके बलिदान का प्रभाव अवश्य हुआ। वह उचित हुआ या अनुचित इस विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता।

मेरे भी मन में यह बात आई। तुझे अब करना ही क्या है? तेरे बाल बच्चे नहीं, किसी सभा समिति का भार नहीं। भागवती कथा को पहले ५०-६० भागों में ही लिखने का संकल्प

था। यही उसके पहले विज्ञापनों में सर्वदा छपता भी था। १०८ खन्डों का विचार तो पीछे बना ६० से अधिक भाग लिख भी गये। कथा भाग समाप्त भी हो गया। गौओ के लिये तू अपने प्राणों की क्यों नहीं दे देता।

इस विचार के आने पर मैंने अपने पॉच सात सम्माननीय बन्धुओ से सम्मति की, यदि मुझमें इतना गो प्रेम होता कि एक एक क्षण भी गौ हत्या मेरे लिये असह्य हो जाती तब तो सम्मति आदि की आवश्यकता ही नहीं पडती। गौ प्रेम की न्यूनता से, प्राणों के मोह से और सार्वजनिक प्रश्न होने से मैंने अपने से अधिक अनुभवी और विद्वानो से सम्मति लेना आवश्यक समझा। यह सब मैंने देख लिया कि यह काम अशास्त्रीय तो नहीं है। यद्यपि यह बात मैंने न तो किसी समाचार पत्र मे छपायी न सर्व साधारण में प्रकट ही किया, क्योंकि जिस प्रकार मैं वाणी पर संयम रखने का प्रयत्न करता हूँ उसी प्रकार लेखनी का सयम रखने की चेष्टा करता हूँ। कोई बात असत्य बनावटी न निकल जाय। इसका पालन कहाँ तक होता है इसे सर्वान्तर्यामी प्रभु ही जाने। हॉ, तो बहुत गुप्त रखने पर भी बात फैल-सी गई। बलिया में एक सन्त ने राजर्षि टण्डन से भी कह दी। वे सुनते ही मेरे पास झूसी दौडे आये। उस समय मैं नित्य का कीर्तन कर रहा था। टण्डन जी ने मेरे एक साथी से पूछा "ब्रह्मचारी जी का शरीर ठीक है न ?" उन्होंने कहा "हाँ ठीक है।" फिर उन्होंने पूछा "उनकी बुद्धि ठीक है न ?" इसका वे क्या उत्तर देते। कीर्तन करके जब मैं निवृत्त हुआ तो वे हँसते हुए बोले "मैंने पूछा था तुम्हारी बुद्धि ठीक है न ? मेरे प्रश्न का अभिप्राय तुम समझ-ही गये होगे ?"

मैंने पूछा—" मैंने बुद्धि हीनता की कौन-सी बात कर डाली है ? वे आवेश मे आकर बोले—"यह कायरता का काम है आप जैसे उत्साही व्यक्ति को यह अनशन आदि शोभा नहीं देता। जन मत को जागृत करके गौ रक्षा करो। यह जो आप आत्महत्या बलिदान करना चाहते हो उस शक्ति को दूसरी ओर लगाओ। यह कह कर उन्होंने गीता का यह श्लोक पढ़ा—

कुतस्त्वाकश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

मैंने कहा' बाबूजी, आप को तो कांग्रेस का मोह हो गया है। मैं कोई अशास्त्रीय बात तो कर नहीं रहा हूँ। हम लोगों को तो अनशन करने का, धरना देने का शास्त्रीय विधान है। चित्रकूटमें भरतजी जब श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने गये और जब श्रीरामचन्द्र जी किसी भी प्रकार अवध लौटने को उद्यत न हुए तो भरत जी ने शत्रुघ्न जी से कहा—"शत्रुघ्न, तुम चटाई लेआवो, मैं आर्यपुत्र के सामने बिना खाये अनशन करके धरना दूँगा'। यह सुन कर शत्रुघ्न जी संकोच में पड़ गये, वे श्रीरामचन्द्र जी का मुँह देखने लगे। भरत जी ने जब देखा कि शत्रुघ्न कुशकी चटाई नहीं ला रहे हैं तो वे स्वयं उठे और कुश की चटाई बिछा कर अनशन करने बैठ गये।

इस पर श्री रामचन्द्र जी ने बड़े स्नेह से भरत जी से कहा—भरत मैं कौन-सा अन्याय कार्य कर रहा हूँ जिसके लिये तुम अनशन करने जा रहे हो, फिर मूर्धाभिषिक्त राजाओं के लिये तो अनशन करने का विधान भी नहीं है। हाँ, ब्राह्मण बिना खाये पिये एक करवट लेटकर मनुष्यों को अन्याय से रोकने के लिये अनशन किया करते हैं। यह तो शास्त्रीय विधान है।

ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान्रोद्धुमिहार्हति ।
न तु मूर्धाभि पिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥

इस प्रकार मै कोई अनार्यजुष्ट अस्वर्ग्य तथा अकीर्तिकर कार्य नही कर रहा हूँ। आप इसे आत्म-हत्या बता रहे हैं।

उन्होंने हँस कर कहा—"हाँ भाई, होगा, किन्तु यह सबसे अन्तिम उपाय है। आत्महत्या तो मेरे मुख से निकल गई, इसीलिये पाछे बलिदान कहा। किन्तु इसका अभी समय नहीं। मुझे काग्रेस से कोई मोह नहीं। इसका नाम भी विदेशी है और स्वराज्य मिल जाने पर अब इसका आवश्यकता भी नहीं। काय बहुत समझ-बूझकर करना चाहिए, इस प्रकार जैसे बडे बूढे नेता समझाते हैं बहुत देर तक समझाते रहे।

(६)

भाई जी श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार से भी मैंने इस विषय मे सम्मति ली। व भी बहुत सभ्रम मे पड गये। उनका तार आया 'अभी शीघ्रता न करें'। उन्होंने तुरन्त राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी को एक पत्र लिखा कि ब्रह्मचारी जी का ऐसा-ऐसा विचार है। आप इस विषय में कुछ कर सके तो करें। उनके पत्र का जो उत्तर राष्ट्रपति जी के यहाँ से आया उसे पाठको की जानकारी के लिये यहाँ दिया जा रहा है —

डाक्टर श्री राजेन्द्र प्रसाद जी के पत्र की प्रतिलिपि

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
२४ जनवरी १९५३

प्रिय श्री हनुमान प्रसाद जी

आपका २१ १-५३ का पत्र मिला और उसके साथ ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी के पत्र का उद्धरण भी मैंने पढा। गो सेवा और गोरक्षा की बात इस समय देश मे बहुत चल रही है और इस

विषय में बहुत बातों में काफी प्रगति भी हुई है। गो संवर्धन की बात तो सभी लोग मान गये हैं और उसके लिये जो कुछ होना चाहिए उसका समर्थन भी लोग करते हैं। गोवध के सम्बन्ध में कानून से यहाँ तक मामला पहुँच गया है कि अधिकांश स्थानों में ऐसे गोवंश का वध नहीं हो सकता जो काम के लायक हों। अर्थात् बैल जो अपना काम करने के योग्य हों। कई जगहों में यह कानूनी तौर से पास हो चुका है कि गोवध एकबारगी बन्द हो। इसके लिये आन्दोलन भी काफी चल रहा है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचारी जी का अनशन अनावश्यक प्रतीत होता है। अगर विचार कर स्थिति का विश्लेषण किया जाये तो गोवध का मुख्य कारण भी मालूम हो सकता है। धार्मिक कृत्य के तौर पर जो गोवध होता है वह साल में एक दिन होता है और वह भी बहुत बड़े पैमाने पर नहीं होता। जो वध प्रतिदिन होता है वह आर्थिक कारणों से होता है। जितने गो-वंश कसाईखानों में जाते हैं उनमें से अगर एक-एक का पता लगाया जाये तो मालूम हो जायगा कि उनमें से अधिकांश हिन्दुओं के घर से ही जाते हैं। यदि उन्हें रखकर खिलाना-पिलाना असंभव हो जाता है और बेचने से कुछ पैसे मिल जाते हैं जिनकी भूखे गरीबों को हमेशा ही आवश्यकता रहती है तो हिन्दू भी कोई न कोई बहाना निकाल कर आँख बन्द करके गो वंश को हत्यारे के हवाले कर देते हैं। बाजारों और मेलों में जितने जानवर बिकते हैं उनको जाकर देखा जाये तो जो मैं कह रहा हूँ उसका पूरा प्रमाण मिल जायगा। यदि कानून द्वारा गो-वध बन्द कर दिया जाये तो उसमें वास्तविकता में

गो-वध बन्द नहीं होगा क्योंकि उसका मूलभूत कारण अपनी जगह पर काम करता ही रहेगा। जब कोई कसाई के हाथ नहीं बेच सकेगा और अपने घर में गोवंश को पाल भी न सकेगा तो वह उसको यों ही छोड देगा और जैसा अक्सर देखा जाता है इस तरह गोवश की रक्षा करने वाले उनको मारेंगे तो नहीं मगर वे खाना बगैर मौत के घाट उतर जायँगे। जहाँ कहीं अकाल पडता है वहाँ यह दृश्य देखने में बहुत आता है। पर पर जहाँ अकाल नहीं भी हो वहाँ भी आजकल की महँगी और कठिनाई के दिनों में बहुतेरे लोग जो पालने की शक्ति नहीं रखते और साथ ही वधिक के हाथ बेचना भी यों ही जानवरों को अपने गाँव या घर से कुछ दूर ले जाकर जहाँ लोग पहिचान न सकें कि वे किसके जानवर हैं छोड देते हैं। मैंने भी देखा है कि इस तरह के वे बहुतेरे जानवर गाँवों में फिरते हैं और खाद्य पदार्थों के बदले केवल मार खाते रहते हैं। यदि गो-वंश की रक्षा उद्देश्य है तो इस कारण को किसी न किसी तरह से दूर करना चाहिए और मेरे विचार मे यह सच्ची गो-सेवा और गोरक्षा होगी। मैं चाहता हूँ कि इस विषय में केवल भावुकता से काम न लेकर बल्कि विवेक से काम लेना चाहिए और आप से मेरा आग्रह करके कहे कि जो कठिन व्रत वे उठाना चाहते हैं उससे भी काम सिद्ध न होगा। अगर कानून से बन्द कर दिया जाये तो जैसा मैंने ऊपर बताया है दूसरे कारणों से गोवध बन्द नहीं होगा। यद्यपि छुरी से गला काटकर क्षण में उसका प्रणान्त न किया जायगा पर महीनों भूखा रखकर शनै शनै हम उनको मारेंगे।

इसलिये यदि मेरी राय आप जानना चाहें तो मैं यही कहूँगा कि आप और ब्रह्मचारी जी अपनी सब शक्ति लगाकर विशेष करके हिन्दुओं में इस बात का प्रचार करें कि वे गाय की सच्ची सेवा करें। केवल दिखाने वाली सेवा नहीं और आँख बचाकर गोवध हो या कराया जाये तो उससे ही सतोष मानें। मैंने सुना है कि गावों में यह प्रथा प्रचलित है कि जब गाय वाला गाय बेचना चाहता है तो खरीददार को उसका पगहा पकड़ा देता है। बाजारों और मेलों में जो कसाई के हाथ गाय या बैल बेचता है तो वह सीधे अपने हाथ से कसाई के हाथ में पगहा नहीं पकड़ाता बल्कि पगहा जमीन पर डाल देता है और उसी तरह से कसाई भी रुपये उसके हाथ में न देकर जमीन पर रख देता है जिसे बेचने वाला उठा लेता है और कसाई पगहा उठा लेता है इस तरह की भावना से ही हम सतोष मान लेते हैं यह हितकर नहीं है। इसीलिये मैं समझता हूँ कि वैसा कारण को दूर करने में बहुत काम करना है यदि उसमें ब्रह्मचारी जी अपना समय और शक्ति लगावें तो ठीक गो सेवा कर सकते हैं।

श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार
गीता प्रेस, गोरखपुर

आपका
राजेन्द्र प्रसाद

पत्र मे जो बातें कही गयी हैं उनकी सत्यता और उपयोगिता के सम्बन्ध मे किसी को मतभेद नहीं हो सकता, किन्तु ये सब टालने की बाते हैं। जब किसी बात की उपेक्षा करनी होती है तो मूल बातका उत्तर न देकर इधर उधर की बातें कह दी जाती हैं। (१) वध शालाओं मे गौएँ हिन्दुओं के ही यहाँ से जाती हैं। (२) आर्थिक संकट के कारण गृहस्थ गौओं को वधिकों के हाथों बेंचने को विवश हो जाते हैं। (३) दूध न देने वाली गौओं को तथा बूढ़ी टेढ़ी गौओं को कुछ लोग छोड़ देते हैं (४) खेतों मे पड़ने पर ऐसी गौओं पर मार भी पड़ती है (५) लोग पगहा भूमि पर डालकर रुपया भूमिपर रखवाकर गौ न बेचने का ढोंग भी करते हैं।

इन बातों को हम अस्वीकार नहीं करते, किन्तु यह कहना कि इन बातों को तुम बन्द करदो तो आप से आप गौवध बन्द हो जायगा यह टाल-मटोल है। ऐसे तो हम कह सकते हैं, सब राष्ट्रप्रेम करें फिर सेना की क्या आवश्यकता। सरकार गाँव-गाँव एक-एक उपदेशक रख दे कि चोरी मत करो लड़ाई मत करो, सत्य का व्यवहार करो फिर पुलिस की क्या आवश्यकता, लोगों को उपदेश दे दें प्रत्येक का भाग दे दो फिर न्यायालयों की क्या आवश्यकता। सरकार तो इसीलिये होती है कि वह अपराधियों को दंड दे, जनता की भावना का विचार करके उनके दुख को दूर करे।

विना दूधकी अथवा बूढ़ी गौओं की रक्षा का भार सरकार के ऊपर है।

हम कब कहते हैं ये कारण न हटाये जायँ, ये कारण, अवश्य हटाये जायँ, गौओं की रक्षा का पालन का उनके वंश के सुधारका प्रचार किया जाय। गौ पालन के लिये लोगों को विवश किया जाय साथ ही गौवध को कानून से भी बन्द किया जाय,

जब तक गोवध नियमानुसार बन्द न किया जायगा तब तक सा योजनायें व्यर्थ हैं।

कुछ लोग पश्चिमीय भौतिक वादियों से सीखी हुई बा कहने लगे हैं दूध न देने वाली बूढ़ी, लूली, लँगड़ी गौएँ व्यर्थ दुधार गौओं के चारे को खा जाती हैं इसलिये उन्हें काटकर चम से अधिक आय करनी चाहिये उनके मांस को खाकर अन्न व बचत करनी चाहिए। उनके चारे को बचाकर दुधार गौओं क चारा खिलाकर दुग्ध का उत्पादन बढ़ाना चाहिए।

यह इतना मूर्खता-पूर्ण तर्क है, कि इससे बढ़कर कृतघ्नता और क्षुद्रता के विचार कोई हो ही नहीं सकते। सहृदय पुरुष ऐसी ओछी बात कह नहीं सकता। एक तो चारा तुम्हारे भंडार में भरा नहीं जिसमें से तुम व्यय करो, परमात्मा सब के लिए पैदा करता है, दूसरे यही बात अपने बूढ़े,लँगड़े-लूले, तपेदिक कुष्ट तथा अन्य सक्रामक रोगी सम्बन्धियों के सम्बन्ध में भी तो कह सकते हैं। जैसे हम इन सब का प्रबन्ध करते हैं वैसे ही अनुपयोगी गौओं का भी हमें प्रबन्ध करना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं गौएँ काटी न जायँगी तो वे बहुत बढ़ जायँगी, इधर-उधर बिना स्वामी के अनाथ फिरेंगी मार खायेंगी, भूखों मरेंगी, इससे तो अच्छा है काटकर उनका उपयोग भी किया जाय।

मुझे तो आश्चर्य इस बात का होता है, जिस गौ के एक बूँद रक्त के लिये हम अब तक अँगरेजी-राज्य तक प्राण देने को तत्पर हो जाते थे, उस गौ के सम्बन्ध में हम ऐसी भी सार हीन, हृदय हीन, धर्म विहीन, तर्क दे सकते हैं, यह हमारा कितना नैतिक पतन है। देशी राज्यों में एक तिहाई भारत में कभी भी गोहत्या नहीं होती थी वहाँ तो कभी भी, ऐसी गौएँ मारी- मारी नहीं फिरती थीं। मैं अभी-अभी शिवरात्री पर नैपाल की यात्रा

करके आया हूँ। नैपाल में तो आजतक कभी गोहत्या हुई ही नहीं वहाँ तो एक भी गौ ऐसे मारी नहीं फिरती, यथार्थ बात तो यह है कि हमारे प्रधान मंत्री के मस्तिष्क में किसी ने यह बात भर दी है कि गौ रक्षा का प्रश्न शुद्ध धार्मिक प्रश्न है, इसे यदि सरकार ने स्वीकार कर लिया तो उसकी धर्म निर्पेक्षता नष्ट हो जायगी, जो हमारे प्रधान मंत्री की सब से प्रिय वस्तु है। इसी के लिये ये बहाने बाजियाँ हैं। अनुपयोगी गौओं का, क्या उनकी रक्षा हम नहीं कर सकते ? क्यों नहीं कर सकते जी ? जो सरकार हमारी भावना की रक्षा नहीं कर सकती उसे शासन करने का अधिकार ही नहीं। इस सम्बन्ध की मुझे एक घटना याद आगई। वह घटना यहीं नेहरू जी की जन्मभूमि तीर्थराज प्रयाग की है। घटना लगभग २५-३० वर्ष पहिले की है, दो कुम्भ के पहिले अर्धकुम्भ का मेला था अँग्रेजी शासन था। प्रयाग के माघ मेले का प्रबन्ध सरकार करती है। उस समय गंगा जी ठीक किले के नीचे बह रही थीं स्नान के दिनों में गंगा जी की इतनी तीव्र धारा हो गयी कि जहाँ गंगा जमुना का संगम था। उससे तनिक ही नीचे अथाह जल था। संगम स्नान के लिये जो भी जाय उसका तनिक पैर फिसले कि डूब जाय। अधिकारियोंने बल्ली लगाकर संगम को घेर दिया कि कोई डूबने न पावे, जन रक्षा करना सरकार का कर्त्तव्य ही है महामना मालवीय जीने बड़ी लिखापढ़ी की, गवर्नर को तार दिये कि जनता यहां संगम स्नान के लिये आती है, यदि माघ मकर में संगम स्नान न मिला-तो हमारी धार्मिक भावना की रक्षा न होगी। कलेक्टर ने अपनी विवशता दिखायी कि हम आदमियों को मरने के लिये वहाँ स्नान न करने देंगे। प० जवाहर लाल नेहरू भी संगम स्नानार्थियों में थे तो उन्होंने सरकार की आज्ञा की अवहेलना की। उन्होंने स्पष्ट कह दिया 'हमें इस बात से क्या प्रयोजन कि सरकार को क्या

काठनाई है जैसे भी हो उसे जनता की भावना को पूरी करनी चाहिये।', वे स्वयं बाडा तोडकर घुस गये उनके पीछे सैकडों आदमी घुस गये। इस प्रकार नेहरू जी ने सत्याग्रह करके अधिकारियों की विवशता को और बढा दिया।

अगरेज तो चले गये, किन्तु हम यह कहे बिना न रहेंगे कि वे अपने कर्त्तव्य पालन में आना-कानी नहीं करते थे। कलेक्टर ने सहस्रों आदमी लगाकर प्रवाह को रोकने को वालू और मिट्टी का एक पर्वत ही खडा कर दिया। बोरों में वालू भरा भरा कर संगम को उथलावना दिया। वह टीला आज भी खडा है और नेहरूजी के उस धार्मिक सत्याग्रह की घोषणा कर रहा है उसपर ५-७ पीपल आदि के पेड भी होगये हैं अब कितनी भी बडी बाढ आती है वह टीला नहीं डूबता। जो बात नेहरू जी ने अगरेजों से सगम स्नान की भावना रक्षा के लिये कही थी क्या उसी बात को हम आज उलट कर नेहरू सरकार से गौरक्षा के लिए नहीं कह सकते ?

अरे, मैं तो वहक गया, मै गोसेवा व्रत की बात कहते कहते सरकार की आलोचना करने लग गया जो मेरा मुख्य विषय नहीं था।

हॉ तो मेरे अनशन की बात पर एक महात्मा ने मुझसे एक बडी अच्छी बात कही जो मेरे मन में बैठ गयी, उन्होंने कहा 'क्या यथार्थ में आपके हृदय मे गौ-माता के लिये इतना प्रेम है, कि उनके वध को देखकर आपको अपना जीवन भार प्रतीत हो ?" इस पर मैंने अपने मनको टटोला तो मुझे लगा गौओ के प्रति मुझमें अभी उतना प्रेम नहीं हैं। प्रेम कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं, जो कहीं भी उत्पन्न कर दी जाय। प्रेम स्वाभाविक होता है, हॉ वह दर्शन स्पर्श, सहवास, निष्काम-सेवा तथा और भी अन्य

उपायों से बढ़ाया जा सकता है। जो लोग अनाथालयों में बच्चों की देख रेख रखते हैं या राजकीय चिकित्सालयों में रोगियों की वेतन लेकर सेवा करते हैं वे निरंतर साथ रहने पर भी उनसे प्रेम नहीं बढ़ा सकते। क्योंकि वह उनका व्यवसाय है इसी प्रकार गौओं के काटने वाले गौओं में ही रहते हैं उनका दर्शन, स्पर्श, सहवास करते हैं किन्तु उनका प्रेम उनमें नहीं होता। इसलिये आरंभ से ही हृदय में स्वाभाविक प्रेम हो, वह सेवा से बढ़ाया जा सकता है। जिसने गौ की स्वयं सेवा न की हो उसका गौ में अत्यधिक प्रेम प्रायः नहीं हो सकता। हम लोग गौ का दूध तो पीना चाहते हैं, किन्तु गौ रखना नहीं चाहते। मोटर भले ही चार रख लेंगे किन्तु दूध मोल मँगाकर ही पीवेंगे। कौन गौ के झंझट में पड़े। जबतक हमारी माता-पिता में पूज्य भावना थी तबतक हमारे माता पिता कितने भी बूढ़े हो जाँय हम चाहते थे घर में बड़े बूढ़े बैठे रहें, हमारे घर की शोभा है। जब से श्रद्धा भक्ति कम हुई तब से बूढ़े हमें भार प्रतीत होने लगे हैं। कुछ लोग तो उन्हें अनाथालयों में भी भेजने लगे। आश्चर्य नहीं कुछ दिनों में 'अन्न-बचाओ-आन्दोलन' के अन्तर्गत उनकी समाप्ति के लिये भी कोई ऐसी सुई (इन्जेक्शन) निकले जिससे अनुपयोगी स्त्री पुरुष सदा के लिए समाप्त कर दिये जाँय। मैं अभी कलकत्ता गया था जो लोग दूध का व्यवसाय करते हैं वे हरियाने की दूध देने वाली गौ को मोल ले लेते हैं चार पाँच महीने जब तक दूध देती है तबतक रखते हैं फिर उन्हें वधिकों के हाथों भेज देते हैं। वधिक लोग पंजाब की ओर से दूध देने वाली गौओं को भरकर ले जाते हैं जो बिना दूध की गौओं के बदले एक दूध देने वाली गौ दे देते हैं। वे लोग तो गौ को दूध देने वाली मशीन समझते हैं, बच्चों को मार डालते हैं दूध न देने वाली गौ को एक दिन भी नहीं रख सकते। उन्हें क्यों वे इतने दिन खिलायें और कहाँ रखें। इस

प्रकार दूध देने वाली नयी गौवें लाखों कटती हैं। जब तक गौ के प्रति हमारे मन में पूज्य भाव न होगा तबतक न तो हमें उन्हें रखने का उत्साह होगा न उनसे प्रेम ही होगा।

व्यवसाय के रूपमें जो दुग्धालय चलते हैं बच्चा देते समय गौ की आँखों में पट्टी बाँध देते हैं बच्चा पैदा होते ही उसे पृथक कर देते हैं माता को उस बच्चे को देखने, चूमने-चाटने नहीं देते उसे माता के थन से दूध नहीं पिलाते इसीलिय गौ का उस बच्चे में प्रेम भी नहीं बढता। व्यापारी उन बच्चों को वधिकों या अन्य किसी के हाथों बेच देते हैं, गौ बिना बच्चे के ही दूध देती है वह दूध प्रेमहीन, भावहीन रक्त के समान होता है। उसके पीने से स्वार्थ के भाव बढेंगे। प्रेम, दया, परोपकार के भाव कभी भी न बनेंगे यदि हमें गौओं से अत्यधिक प्रेम बढाना है तो हमें गो सेवाव्रत लेकर निरतर गौओं में ही कुछ काल रहना पडेगा अपने हाथों उनकी सेवा सुश्रषा करनी पडेगी यह बात गो सेवा व्रत से ही सभव है।

(१०)

गो व्रत के नियम

(१) गो सेवा व्रत लेने वाले व्रती को निरतर गौओं के ही बीच रहना होगा।

(२) मुख से या मन से गायत्री का जप या भगवन्नाम का स्मरण करते रहना होगा।

(३) गौ का दूध अथवा गौ को जौ खिलाकर फिर उसके गोबर में जो अन्न के दाने निकलें उन्हें ही खाकर रहना होगा।

(४) स्वय गौ का गोबर-मूत्र उठाना, उनके नीचे की सफाई करना, उनको कुट्टी भूसा चारा आदि देना स्वय चराने जंगल में ले जाना, उनका दूध दुहना, बाँधना-खोलना उनकी ड्यूटी

मच्छरों से रक्षा तथा अन्य सभी प्रकार की सेवा स्वयं करनी होगी। जैसे माता अपने शिशु की सभी प्रकार की ऊँची-नीची सेवा निष्काम भाव से करती हुई प्रेम पूर्वक उसकी देख-रेख करती है, वैसे ही प्रेम श्रद्धा पूर्वक गौ की परिचर्या करनी होगी।

(५) गौ को इष्ट समझकर उसके लिये यथाशक्ति बलिदान के लिये तत्पर रहना होगा।

गो सेवा व्रत की योजना

(१) इस गो सेवा व्रत का इसी आषाढ़ी-पूर्णिमा, गुरु-पूर्णिमा से आरम्भ करने का विचार है।

(२) यह व्रत संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग) में आरम्भ होगा।

(३) विचार तो ऐसा है कि सवत्सा गौएँ एक सौ आठ रखीं जाँय। मिलने पर अधिक भी रखी जा सकती हैं न मिलने पर कम भी।

(४) चार गौओं पर एक गोव्रती रखा जा सकता है जितने भी गोव्रती मिलेंगे, रखे जा सकेंगे।

(५) गौओं की रक्षा के लिये एक छोटी सी समिति रहेगी जो उनके ऊपरी व्यय आदि का प्रबन्ध करेगी।

(६) यह व्रत आषाढ़ी पूर्णिमा रविवार २६ जुलाई से कार्तिक शुक्रवार २० नवम्बर तक होगा। चार महीने तक गौएँ तथा गोव्रती सर्वथा साथ ही रहेंगे। गौओं के चराने के लिये कुछ किराये पर भूमि ली जा सकेगी जिसमें गौएँ चर सकें तथा कुछ हरा चारा भी उत्पन्न कर सकें।

(७) गौओं का गोव्रतियों से बचा हुआ दूध अथवा मट्ठा शिशुओं को तथा अन्यान्य व्यक्तियों को बाँट दिया जायगा। इससे कोई व्यापारिक कार्य नहीं किया जायगा।

(८) कार्तिकी पूर्णिमा पर ये सब गौएँ योग्य व्यक्तियों को दान कर दी जायँगी। उनसे प्रतिज्ञा करली जायगी कि वे गौ को बेचें नहीं और कम से कम उसकी एक बछिया वे भी किसी योग्य व्यक्ति को दान कर दें।

(९) कार्तिकी पूर्णिमा के पश्चात् गोव्रती अपने-अपने नगरों को चले जायँगे किन्तु उनके व्रत का एक शेष रह जायगा। वह कि वे अपने नगर से एक गौ लेकर पुनः प्रयाग की पैदल यात्रा करें। पूरी नकर सकें तो जितनी कर सकें उतनी पैदल यात्रा करें। अब की प्रयाग में बारह वर्ष के कुम्भ का मेला है अतः वे माघी अमावस्या तक यहाँ पहुँच जायँ। त्रिवेणी स्नान करके :माघ की पूर्णिमा को उस गौ को दान दें। इस प्रकार चार और चार आठ महीने का व्रत है।

(१०) गौ-प्रेम जिनका जितना ही बढ़ेगा उनमें उतनी ही अधिक गौ के लिये बलिदान की भावना बढ़ेगी। माघ की पूर्णिमा के पश्चात् का कार्य क्रम पुनः प्रकाशित होगा।

मेरी अन्तिम प्रार्थना

मैंने अत्यन्त संक्षेप में गो सेवा व्रत की आवश्यकता, उसके नियम और इस संकल्प के उठने का इतिहास पाठकों को बतलाया। गो-सेवा से इहलौकिक तथा पारलौकिक सभी कामनाएँ पूरी हो सकती हैं-पुत्रार्थी को पुत्र, धनार्थी को धन, विद्यार्थी को विद्या, यश की इच्छा वाले को यश, तथा स्वास्थ्य की कामना वाले को सुन्दर स्वास्थ्य प्राप्त हो सकता है। बहुधा बड़े घरों की स्त्रियाँ सर्वदा रोगिणी बनी रहती हैं। चिकित्सा और औषधियों में उनका नियमित बहुत व्यय होता है। जब वे स्वयं अपने हाथों गौ की सेवा करने लगती हैं तो व्यय तो बच

ही जाता है स्वास्थ्य भी सुधर जाता है। इन कामनाओं वाले अपने घर पर रह कर गो सेवा व्रत कर सकते हैं।

हमारा यह गोव्रत, भारत में गोवध बन्द हो इस सकल्प से है। जो भाई हमारे इस काम मे सहयोग देना चाहें वे हमसे पत्र व्यवहार करें। गोव्रत करने के इच्छुक धार्मिक प्रवृत्ति के हों। उन्हें व्रत उपवास पर विश्वास हो। उन्होंने कभी-कभी कुछ व्रत उपवास किया भी हो। बिना अनुमति के कोई भाई न चले आवें क्योंकि यह व्रत दृढता का है। भावुकता वश जोश में आकर न किया जाय।

प्रभुदत्त
सकीर्तन भवन,
झूसी प्रयाग

सन्यास आश्रम-धर्म

(१२८३)

यदा कर्म विपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु ।
विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १८ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

सन्यासी तजि अग्नि काम्य कर्मनिकू छोरै ।
सबकी तजि आसक्ति जगततैं मुखकूँ मोरै ॥
दण्ड कमण्डलु रखै वस्त्र कौपीन लगावै ।
दृष्टि पूत पग धरै माँगिकें भिक्षा खावै ॥
षड वर्गनिकूँ जीतिकें, राखै मोमें सतत चित ।
अनुभव परमानन्द करि, विचरै है स्वच्छन्द नित ॥

सुख तीन प्रकार के होते हैं देखे, सुने और अनुभव किये। संसार मे बडे-बडे राजे महाराजे सेठ साहूकार हैं, वे बडे-बडे सुन्दर सुखद वाहनो मे चलते हैं, लिपे पुते स्वच्छ सुघर घरो मे रहते हैं,

---

*भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव ! जब प्रारब्ध कर्मों का विपाक हो जाय और इन नरक तुल्य स्वर्गादि लोकों में पूर्ण वैराग्य हो जाय, तो उस वानप्रस्थी को आहवनीय आदि अग्नियों को त्याग कर सन्यासी हो जाना चाहिये ।

सुन्दर से सुन्दर भोजन करते हैं। उनके सुखों को देखकर वैसा सुख भोगने की इच्छा होती है। शास्त्रों में सुनते हैं :—'स्वर्ग में इतनी सुन्दरी अप्सरायें हैं। इतने रमणीक कानन हैं, उनमें कल्पवृक्ष पारिजात के अम्लान पुष्प हैं। सदा उनमें से दिव्य सुगंधि निकलती रहती है। अमृत पान करने को मिलता है, चढने को विमान मिलता है। ये सब श्रुत सुख हैं। इन्हें सुनकर इच्छा होती है हम दानपुण्य आदि सुकृत करें जिससे हमें ये सुख प्राप्त हों। कुछ ऐसे सुख हैं जिनका जीवन में स्वय अनुभव किया है और बारबार करके भी उनसे तृप्ति नहीं होती, यह इच्छा बनी ही रहती है ये सुख हमे अधिकाधिक प्राप्त हों।

इन तीनों ही सुखों की जब अत्यन्त निवृत्ति हो जाय। ये तीनों ही प्रकार के सुख विषवत् प्रतीत होने लगें, तब मनुष्य सन्यास का अधिकारी हो जाता है। जो इहलोक और परलोक और परलोक के समस्त सुखों को ठुकरा कर घर से निकल पडता है वही परिव्राजक कहलाता है। न्यास कहते हैं त्याग को। जो भली भाँति सब वस्तुओं का त्याग कर देता है वही सन्यासी है। सन्यासी के लिये ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक नरक के सदृश हैं। वह तो इस ब्रह्माण्ड को भेद कर परमधाम को चला जाता है। जहाँ जाने से सदा के लिये आवागमन मिट जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वानप्रस्थ के धर्मों को बताने के अनन्तर भगवान् उद्धव को सन्यास धर्मों को बताते हुए कह रहे हैं—"उद्धव! यदि वानप्रस्थ धर्मों का पालन करते-करते, घोर तपस्या का जीवन बिताते-बिताते इस देह से तथा स्वर्गादि लोकों से सर्वथा विराग हो जाय, तो फिर अग्निहोत्र का जो एक बन्धन रह गया है उसे भी तोड दे। आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि जो अग्नियाँ हैं उन सबको अपने प्राणों में लीन करके निरग्नि हो जाय। किसी ऋत्विक् को बुलाकर विधिवत् सन्यास धर्म की दीक्षा

ले। पहिले अष्टका श्राद्ध करे फिर अग्नि मे प्राजापत्य यज्ञ करे और सन्यास मे जो-जो विधान बताये हैं उन्हे करके अपना सर्वस्व ऋत्विक् को दे दे। सब कुछ छोड़कर स्वच्छन्द होकर विचरण करे।

सन्यास लेते समय किसी के भी मोह मे न पड़े। ब्राह्मण जब सन्यास लेने का विचार करता है, तो सभी प्रकृति उसके प्रतिकूल हो जाती है। देवगण आकर भाँति-भाँति के विघ्न करते हैं।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! देवतागण विघ्न क्यों करते हैं? सन्यास लेने से उनको क्या हानि है?"

भगवान् ने कहा—"भैया, जो जिसका बलिपशु है, यदि वह अपने अधिकार से निकलकर स्वच्छन्द होता है, तो सभी को दुख होता ही है। देवतागण उसकी इन्द्रियो मे बैठ कर उन उन इन्द्रियो के भोगों को भोगते हैं। जब तक मनुष्य कर्म काण्ड मे फँसा रहता है, तभी तक देवताओं का पितरो का भाग देता है उनके निमित्त कर्म करता है। जब वह सब कर्मों का सन्यास कर देगा, तो देवताओं को पितरो को बलि क्यो देगा। यही नहीं वह ब्रह्माण्ड को फोडकर परमपद को प्राप्त हो जायगा। देवता ज्यों के त्यो फँसे ही रह जायँगे। इन्हीं सब कारणो से देवगण विघ्न करते हैं। वे सोचते हैं—"यह हमारे लोको को लाँघ कर परम धाम को प्राप्त न हो, सदा हमारा बलिपशु बना रहे।" इसी लिये वे कभी सुन्दर स्त्री का रूप रखकर, कभी अत्यन्त घनिष्ट स्नेही प्रेमी का रूप रख कर भाँति-भाँति से उसे गिराना चाहते हैं। इसलिये धीर धीर त्यागी को इन विघ्नों से घबराना न चाहिये। बडी सावधानी से सर्वस्व त्याग कर परिव्राजक बन जाय। यति धर्म की दीक्षा ले ले।

सन्यासी को सब कुछ त्याग देना चाहिये। यहाँ तक कि वस्त्रों को भी त्याग देना चाहिये। यदि वस्त्र धारण करने की आवश्यकता ही समझे तो केवल कौपीन मात्र धारण करे। एक साफी भी रख

सकता है जिससे कौपीन ढक जाय। यदि अस्वस्थ हो या शीतादि की बहुत बाधा हो तो एक कंथा भी रख सकता है। नहीं तो केवल एक कौपिन एक साफी। दन्ड और कमन्डलु ये ही वस्तुएँ अपने पास रखे। अधिक किसी भी वस्तु का संग्रह न करे। सब कुछ त्याग कर भी यतिधर्मों का सदा पालन करता रहे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! यतियों के क्या धर्म हैं? यतियो के मुख्य-मुख्य धर्म मुझे बताइये।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! यति का मुख्य धर्म है प्राणिमात्र को अभय प्रदान करना। सन्यासी को देखकर किसी के भी मन मे उद्वेग न होना चाहिये। वह प्राणि मात्र पर कृपा की दृष्टि रखे। मनसा वचसा और कर्मणा किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अपने हाथ से दँतोन के लिये वृक्ष की डाली को भी न तोड़े।

(१) रास्ते मे जब चले तो एक हाथ की भूमि को भली भाँति देख कर तब पैर रखे। ऐसा न हो कोई जन्तु पैर के नीचे दब जय।

(२) जल पीना हो तो उसे अगोछे से छान कर पीवे। ऐसा न हो कोई छोटा मोटा जीव जल के साथ चला जाय।

(३) जो भी बात बोलनी हो उसे पहिले भली भाँती विचार ले। सत्य के तराजू पर तोलले। ऐसा न हो कि शीघ्रता मे कोई असत्य, अप्रिय तथा अहितकारी बात मुख से निकल जाय, जिससे दूसरो को क्लेश हो। कभी कभी वाणी की हिंसा शस्त्र की हिंसा से बढ कर दुखदायी होती है।

(४) जो भी कार्य करे उसे सोच समझकर करे। बिना सोचे समझे सहसा कोई कार्य कर डाला जिससे दूसरों को क्लेश हुआ तो यह यति धर्म के विरुद्ध कार्य हुआ। इसका सदा ध्यान रखे।

(५) सदा त्रिदण्ड धारण किये रहे।

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! बाँस के तीन दण्ड धारण करने का अभिप्राय क्या है ?

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! ये तीनों दण्ड शरीर, वाणी और मन इन तीनों दण्डों के प्रतीक हैं। शरीर धारियों का अभ्यास होता है वे कुछ करते रहे। खाली बैठे रहने से उनका मन नहीं लगता। यति के शरीर का दण्ड तो यह है कि वह सदा निष्क्रिय बना रहे सर्वारम्भ परित्यागी रहे। वाणी का स्वभाव है कुछ न कुछ इधर उधर की बातें बोलती रहे। इस लिये वाणी का दन्ड यह है कि उसे मौन रखे। संसारी कोई भी बात वाणी से न बोले। मन का स्वभाव है कुछ न कुछ ऊहा पोह करता रहे। इसीलिये प्राणों का संयम करे। प्राणायाम का अभ्यास करे। प्राणों के संयम से मन का संयम स्वतः ही हो जायगा। ये ही वास्तविक तीन दण्ड हैं। जो यति इनको तो धारण करता नहीं। मनमानी बातें बकता रहता है, शरीर से संसार भर के प्रपंच करता है, मन से संसार भर के व्यर्थ विधान बनाता रहता है और संसार में त्रिदण्डी प्रसिद्धि होने के लिये बाकी तीन लकड़ियों को लिये रहता है, तो वास्तव में वह त्रिदण्डी सन्यासी नहीं है ढोंगी है उसे सन्यास का फल नहीं मिलता। वे तीन लकड़ियाँ केवल उसकी आजीविका का साधन मात्र हैं।

(६) सन्यासी को सदा भिक्षान्न पर ही निर्वाह करना चाहिये। चारों वर्णों के यहाँ जाकर मधुकरी माँगलावे। जो लोग नीच हों, जाति च्युत हों, गौ घाती हों, ऐसे लोगों के यहाँ भिक्षा माँगने न जाय। भिक्षा को भिक्षा के ही रूप में माँगे। दम्भ न करे। परिचितों के यहाँ नित्य-नित्य भिक्षा करने न जाय। जहाँ सम्मान से भिक्षा मिले वहाँ भी लोभवश नित्य माँगने न जाय। एक के ही ऊपर भार न दे दे। सात घरों में माँगने जाय। जिन घरों में माँगने जाय; उन्हें पहिले से ही निश्चय न करले कि अमुक-अमुक घर

माँगने जाना है। भिक्षा करने चल दे और अनिश्चित घरों में माँगने जाय। भिक्षा माँगते समय अपना प्रभाव प्रदर्शित न करे, कि हम पहिले ऐसे थे, हमने ऐसा त्याग किया है। अपने पूर्व आश्रम के ऐश्वर्य, बल, विद्या तथा प्रभाव को जता कर लोगों को प्रभावित न

करे। ज्योतिष वैद्यक आदि करके उनसे आजीविका न चलावे। न किसी की हस्तरेखा आदि देख कर भविष्य बतावे। अपरिचित भिक्षुक की भाँति भिक्षा माँगने जाय। सात घरों से जो भी मिल जाय उसीसे सन्तुष्ट रहे। भिक्षान्न को भिक्षापात्र में या वस्त्र में

ले। उसमें खट्टे, मीठी नमकीन आदि का भेद न करे। सब को में,ले ले। फिर नगर के बाहर जाकर जहाँ कोई नहीं, तालाब जलाशय हो वहाँ जाकर बैठे। जल छिड़क कर भूमि को शुद्ध फिर उस भिक्षान्न को भी जल छिडक कर या जल में डुबोकर करे। आस पास और भी जीव जन्तु हो उनको कुछ भाग निकाल कर शेष बचे हुए अन्न को मौन होकर खा ले। फिर के लिये बचा कर न रखे। जहाँ तक हो धनिकों के यहाँ भिक्षा करने न जाय। धनिको के यहाँ भिक्षा तो चिकनी चुपडी स्वादिष्ट मिलेगी, किन्तु उनका अन्न विशुद्ध नहीं होता। न जाने कितने लोगों का रक्त चूस-चूस कर कितने पाप करके धन एकत्रित किया है। यद्यपि यति अपने तप के प्रभाव से अग्नि की भाँति सब को पचाने में समर्थ है, फिर भी उसे जहाँ तक हो तहाँ तक शुद्धवृत्ति वालों के ही यहाँ से भिक्षा लानी चाहिये। जहाँ तक वानप्रस्थियों के ही यहाँ भिक्षा मिल सके तहाँ तक अन्य की भिक्षा ग्रहण न करे। कारण कि वानप्रस्थियों का अन्न बडा ही शुद्ध होता है, वे ऋषि अन्न को स्वयं ही जाकर एकत्रित करते हैं। उनकी वृत्ति विशुद्ध होती है। वे शिला बीनकर या उञ्छ वृत्ति से अन्न लाते हैं। अन्न जितना ही विशुद्ध हो, उतना ही शीघ्र उसके खाने से चित्त शुद्ध होगा और निर्मोह होने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जायगी।

(७) किसी मे भी आसक्ति न रखे। न एक गाँव या नगर मे ही डेरा डाल दे। एक नगर मे एक दिन रहे। तीर्थ या बड़े नगरों में ३, ५ दिन तक भी रह सकता है।

(८).निरन्तर आत्मचिन्तन में ही लगा रहे। कार्य कारण से परे आत्मा में ही सम्पूर्ण प्रपञ्च को अध्यस्त समझे तथा इस कार्य कारण रूपात्मक जगत् में सर्वत्र सब में समान रूप से व्याप्त आत्मा को ही व्याप्त अनुभव करे।

(९) दृष्य प्रपञ्च से चित्त हटा कर आत्मा मे ही रमण करता रहे। आत्मक्रीड़ आत्मरति होकर बालको की सी क्रीड़ा करे।

(१०) जो भी शरीर सम्बन्धी सुख दुख आजाय उन्हें धैर्य के साथ सहन करे, सब में समान भाव रखे। यह ध्यान सदा रखे कि एक ही आत्मा सब मे समान भाव से व्याप्त है। विषमता तो है ही नहीं।

(११) किसी को साथ न रखे। बहुतों के साथ रहने से कलह हो ही जाता है। दो साथ रहने से भी इधर उधर की बातें हो जाती हैं, अतः अकेला ही विचरे।

(१२) सदा एकान्त मे निर्जन स्थान मे रहे। जहाँ हिंसक पशुओं का दंश मशको का उपद्रव हो ऐसे भययुक्त विघ्नवाले स्थान में भी न रहे। मेरी भक्ति मे सदा निमग्न बना रहे। फिर अपनी आत्मा का मेरे साथ अभेद भाव से चिन्तन करे।

(१३) एकान्त मे बैठ कर विचार करता रहे, कि प्राणी संसार में फँसता क्यो है। इन्द्रियो कि चंचलता से। यदि मछली अन्न के लोभ का संवरण कर ले तो जाल मे क्यो फँसे। यदि हरिण कान को वश मे कर ले तो वह बहेलिया के द्वारा क्यों मारा जाय। यदि पतंगा रूपासक्ति के चक्कर मे न फँसे तो उसे भस्म क्यों होना पड़े। इससे निष्कर्ष निकला कि बन्धन का कारण इन्द्रियों की चंचलता ही है। जिसने इन्द्रियों का संयम कर लिया वह बन्धन मुक्त बन गया। वह मोक्ष का अधिकारी हो गया। इसलिये पाँचों इन्द्रियों तथा छठे मन को जीत कर सांसारिक क्षुद्र कामनाओं को सदा के लिये तिलाञ्जलि देकर अपने हृदय के भीतर निरन्तर परमानन्द का अनुभव करता रहे।

(१४) तीर्थ यात्रा को उपलक्ष्य बनाकर सम्पूर्ण पृथिवी पर निर्भर होकर विचरे। एकान्त स्थानों मे अधिक चित्त एकाग्र होता है। अतः बीहड़ वनों में घोर अरण्यों में,नदियों के तटों पर, पर्वतों पर, ऋषि मुनि और वानप्रस्थो के आश्रमों के निकट विचरा करे। गाँवों में, पुरों में गोपों के गोष्ठों में, तथा तीथ यात्रियों के झुंडों में केवल भिक्षा करने ही चला जाय। जहाँ पेट भरा तहाँ जंगल की ओर चल दे।

(१५) नित्य प्रातः सायंकाल जाग्रत और सुषुप्ति की सन्धि में आत्म साक्षात्कार कर के बन्धन और मोक्ष के रहस्य का अनुसन्धान करे। इस दृश्य प्रपञ्च को कभी भी वास्तविक और अविनाशी न समझे। क्योंकि जो दृश्य है वह नष्ट है। इसलिये लौकिक, पार लौकिक समस्त कामनाओ का त्याग कर दे। इस प्रकार कर्मों का त्याग करने पर भी यति धर्मों का पालन तत्परता से करता रहे। जब ऐसी स्थिति आजाय कि कुछ भी भेद भाव न रह जाय तब सन्यास आश्रम के चिन्हो का भी त्याग करके परमहंस हो जाय। जैसे ब्रह्मचारियो और वानप्रस्थियों के भी चार भेद हैं। सबसे अन्तिम स्थिति है परमहंस अवधूत की। उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। वह विधि निषेध के बन्धन से ऊपर उठ जाता है। उसे सब समय, सब में आत्मा का अनुभव होता रहता है। इसीलिये वह न कभी किसी का विरोध करता है न समर्थन। बालवत काल यापन करता है।

शौनक जी ने कहा—"सूत जी! पहिले हमें आप सन्यासियों के भेद बतावें, फिर आप हमे परमहंस अवधूत की स्थिति विशेष रूप से समझावें। इन सब बातों को जानने की हमारी बडी इच्छा है।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! पहिले मैं सन्यासियों के भेद बताकर फिर परमहंस अवधूतो की रहनी सहनी बताऊँगा आप इस परम पावन पुण्य प्रसंग को प्रेम पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

समुझै नहिँ सत् कबहुँ दृश्यकूँ यति वैरागी।
अनासक्त नित रहै काम्य करमनि तैं त्यागी॥
मन बानी सघात रूप जग माया मानै।
नित परिवर्तन शील असत् नश्वर सब जानै॥
नेति नेति तैं बाध करि, नहिँ माया चक्कर परै।
थित ह्वै नित्य स्वरूप महँ, ब्रह्म एक निश्चय करै॥

—:०:—

सन्यासियों के भेद और परमहंस स्थिति

(१२८४)

ज्ञान निष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः ।
सलिङ्गानाश्रमास्त्यक्त्वा चरेदविधि गोचरः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १८ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

जगतैं होहि विरक्त ज्ञानमहँ अथवा थिरमति ।
चाहै होवै भक्त कृष्ण चरननिमहँ दृढरति ॥
तजि वरणाश्रम चिन्ह मिलै भिक्षा जहँ खावै ।
विधि निषेधतैं रहित मुक्त बन्धन ह्वै जावै ॥
बालकवत ड़ा करै, जडवत् अरु उनमत्तवत ।
पशुवत हू चर्या करै, रहै न जग कारज निरत ॥

समस्त नियमों का पर्यवसान नियम रहित होने में है। समस्त संग्रहों का अन्त असंग्रह ही होने में है और समस्त ग्रहण का अन्त त्याग में है। पहिले अधर्म को, असत्य को छोडो। फिर धर्म को, ऋतु को छोड़ो। तदनन्तर जो बुद्धि यह धर्म है यह अधर्म है यह

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! चाहे ज्ञान निष्ठ हो, विरक्त सन्यासी हो अथवा किसी भी वस्तु की अपेक्षा न रखने वाला मेरा भक्त हो, वह सभी आश्रमों को तथा उनके चिन्हों को छोड़कर विधि निषेध से परे होकर आनंद से विचरण करे।"

सत्य है यह अमृत है इसे निर्णय करती है उसे भी छोड़कर गुणातीत निर्द्वंद्व हो जाओ। अपने स्वरूप की आसक्ति के अतिरिक्त और जो भी कुछ है त्याज्य है अग्राह्य है। जो सीढ़ी सीढ़ी ऊपर चढ़ते हैं वे सबसे ऊपर चढ़ जाते हैं, जो सीढ़ियों को छोड़कर सब से ऊपर छलांग मारते हैं तो कोई विरले पहुँच भी जाते हैं, नहीं तो अधिकांश गिर कर चकना चूर हो जाते हैं। अतः एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाय। जब एक स्थिति दृढ़ हो जाय तब तृण जलौका की भाँति दूसरे को पकड़कर तब पीछे को छोड़े। इस प्रकार जो सम्हल सम्हल कर पैर रखते हैं वे निस्संदेह अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धव जी से परमहंसो की चर्या बताते हुए कह रहे हैं—"उद्धव! सन्यासाश्रम नियम पालन के लिये नहीं। वह तो नियमातीत अवस्था प्राप्त करने के लिये है, किन्तु नियमातीत तभी होगा जब पहिले नियमों का पालन करेगा। अतः आरम्भ मे सन्यासी को सन्यास धर्म के सभी नियमों का पालन करना चाहिये। जैसे ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थियों के चार चार भेद बताये वैसे ही सन्यासियो के भी चार भेद होते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! सन्यासियों के चार भेद कौन कौन हैं?"

भगवान् बोले—"कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस ये चार भेद सन्यासियों के हैं। अब इनके भेद सुनो।

१—कुटीचक—कुटीचक वह सन्यासी कहलाता है जो कुटी में रहकर अपने आश्रम धर्म का पूर्णरीत्या पालन करता है। कुटीचक सन्यासी शिखासूत्र का परित्याग नहीं करता। भिक्षा का भी उसका ऐसा आग्रह नहीं होता कि वह सात घरों में जाकर भिक्षा

लावे ही। उसके स्थान पर जो दे जाता है उसी को पाकर अपने नियमों में निरन्तर लगा रहता है। गृहस्थ से चौगुना शौ सन्यासी को बताया है उसी शौच का वह पालन करता है आश्रम के अनुसार जप तर्पण आदि करता है। साराश यह कि वह एक स्थान पर रहकर सन्यासधर्मों को ही तत्परता के साथ पालता रहता है।

२—बहूदक—बहूदक सन्यासी एक स्थान पर नहीं रहता वह निरन्तर विचरता रहता है, एक स्थान से दूसरे स्थान में दूसरे से तीसरे मे ऐसे घूमता रहता है। बहुत स्थानों का पानी पीता रहता है। वह भी सन्यासी के नियमों का यथा शक्ति पालन करता है, किन्तु कर्म काण्ड की ओर उसकी रुचि गौण रहती है उसका प्रधान लक्ष्य ज्ञान ही है फिर भी उसकी कोटि साधक सन्यासियों में ही है वह साधना ही करता है अतः उसे सन्यासी धर्मों का पालन करना पडता है।

३—हंस—हंस वे सन्यासी कहाते हैं जो प्राणायामादि साधनों द्वारा ज्ञानाभ्यास मे निरन्तर तत्पर रहते हैं। किन्तु अभी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है अतः इनकी भी अभी साधनावस्था ही है।

४— परमहंस वे सन्यासी कहलाते हैं। जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है। वे कर्म काण्ड की ओर से उदासीन होकर सर्वथा निष्क्रिय हो जाते हैं। उन्हें कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। उनके लिये न कोई विधि रहती है न निषेध। इस प्रकार सन्यासियों मे दो भेद हुए एक साधक या जिज्ञासु सन्यासी, दूसरे सिद्ध या पूर्व ज्ञानी सन्यासी। कतव्य आदि सब साधक या जिज्ञासु सन्यासियों के ही लिये हैं। सिद्धि प्राप्त होने पर कर्तव्य अकर्तव्य कुछ रह ही नहीं जाता।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! जिज्ञासु सन्यासी के क्या कर्तव्य हैं। उन्हें कैसे रहना चाहिये। किस प्रकार साधना करनी चाहिये, कृपा करके पहिले मुझे सन्यासियों के कर्तव्य कर्म बतावें। फिर परमहंस यतियों की रहनी सहनी का दिग्दर्शन करावें।"

भगवान् ने कहा—'उद्धव ! ज्ञान एक ही जन्म में प्राप्त नहीं होता। ज्ञानवान् बहुत जन्मों के प्रयत्न से मुझे प्राप्त हो सकते हैं। सन्यास लेने पर भी सभी सन्यासियों को ज्ञान नहीं हो जाता। जो जिज्ञासु है, ज्ञान की प्राप्ति के लिये जिन्होंने सन्यास धारण किया है, ज्ञान के लिये सतत प्रयत्न करते हैं, किन्तु ज्ञान प्राप्ति के पूर्व ही मर जाते हैं, तो भी उन्हें फिर जन्म नहीं लेना पडता वे सन्यास धर्म के प्रभाव से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, वहाँ वे ब्रह्मा की आयु पर्यन्त रहते हैं। ब्रह्माजी उनके ज्ञान की कमी को पूर्ण कर देते हैं। महा प्रलय मे जब ब्रह्माजी भगवान् मे लीन हो जाते हैं, तो उनके साथ ही उस जिज्ञासु सन्यासी की भी मुक्ति हो जाती है। ज्ञान योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म का अतिवर्तन कर जाता है।

जो ज्ञान का या भगवत् तत्व का जिज्ञासु है उसकी सबसे मोटी पहिचान तो यह है कि ये संसारी विषय भोग विषवत् प्रतीत होते हैं। उसका ससारी किसी भी पदार्थ मे आकर्षण नहीं होता। कितनी भी सुन्दरी स्त्री हो उस का शरीर उसे शवके समान प्रतीत होगा। सुवर्ण में, मिट्टी मे उसकी स्वप्न में भी विषमदृष्टि न होगी। इन्द्रियों के सन्मुख उनके उत्तम से उत्तम विषय रखे रहे उसकी इन्द्रियो मे उनसे तनिक भी चचलता न होगी।

एक जिज्ञासु एक सन्यासी के पास गया और उसने प्रार्थना की कि मुझे सन्यास धर्म की दीक्षा दे दें।

सन्यासी ने पूछा—तुम जिज्ञासु हो, इसका क्या प्रमाण है ?

जिज्ञासु ने कहा—"भगवन्! मेरी परिक्षा करलें।"

तब सन्यासीजी ने कहा—"अच्छा, जीभ निकालो।" जिज्ञासु ने जीभ निकाली महात्मा ने एक चुटकी सुन्दर स्वच्छ शर्करा उसकी जीभ पर रखदी। कुछ देर तक बैठे रहे। फिर फूँक मारी। सब शर्करा सूखी हुई उड़ गयी। जीभ मे तनिक भी जल नहीं आया। तब उन्होंने कहा—"हाँ, तुम दीक्षा लेने के अधिकारी हो।"

कहने का सारांश यह कि विषयों की ओर मनमे तनिक आसक्ति न हो तथा जिसे भागवत धर्मों की पूर्ण जिज्ञासा हो वही जिज्ञासु है। वही सन्यास लेने का अधिकारी है। संसार से तो उसे विरक्ति हो गयी है, किन्तु अभी उसने भागवत धर्मों को जाना नहीं है, उसे सर्व प्रथम सद्गुरु की शरण लेनी चाहिये उन गुरु देव मे और मुझ सर्वव्यापक देव मे अभेद भाव रखे। उनकी सेवा शुश्रूषा अत्यंत भक्ति भाव तथा आदर भाव से करता रहे। सर्वदा उनकी सन्निधि मे ही रहे। सद्गुरु की निरन्तर की सेवा से शनैः शनैः उसकी सभी शंकाओं का समाधान हो जायगा और उसे ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होगी, जब ब्रह्मज्ञान होजाय तब चाहे तो स्वच्छन्द विचरे। जबतक ज्ञान हो, तबतक एक सच्चे जिज्ञासु के सदृश उनकी समस्त आज्ञाओं का पालन करता रहे। उनके किसी कार्य क आलोचाना न करे और न उनके प्रति अश्रद्धा के भाव ही व्यक्त करे

जबतक पूर्ण ब्रह्मज्ञान न हो तबतक सदा संयम से रहे। कभी आलस्य और प्रमाद न करे, निरन्तर जागरूक बना रहे। अपने शत्रुओं से सदा युद्ध करता रहे और मेरा स्मरण भी करता रहे। जो साधक अपने शत्रुओ को दबाये रहेगा उसकी विजय होगी और जो शत्रुओं के अधीन हो जायगा, उसकी पराजय तथा पतन तो अनिवार्य है ही।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! शत्रु कौन हैं?

भगवान् ने कहा—"काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये ही छै प्रबल शत्रु हैं जिसने इन्हें जीत लिया उसने ससार को जीत लिया वह आवागमन के चक्कर से सदा के लिये छूट गया। जो इनके अधीन हो गया वह ससार मे और भी अधिकाधिक जकड गया। देखो, उद्धव! यह देह रथ है। देही रथी है। पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ इस देहरूप रथ के घोडे हैं बुद्धि ही सारथी है। बुद्धि रूप सारथी यदि मन रूपी लगाम से इन्द्रिय रूपी घोडो को वश मे रखेगा, तब तो ये सन्मार्ग की ओर बढेंगे, यदि तनिक भी ढिलाई कर दी तो ये कुमार्ग की ओर दौड कर खदक मे गिरा देंगे, संसार रूपी अध कूपमे पटक देंगे। इसलिये इन्द्रियो को सदा वश में रखना चाहिये। काम क्रोधादि षड रिपुओ पर विजय करना चाहिये।

मोक्षका मार्ग बडा दुर्गम है, इसमे वही चल सकता है, जिसके पास यथेष्ट पाथेय हो, जो पाथेय से शून्य है, वह इस मार्ग मे कभी आगे बढ नहीं सकता। वह इस पथ का पथिक होने के अधिकारी नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! मुक्ति पथ का पाथेय क्या है?"

भगवान् ने कहा—"ज्ञान और वैराग्य ये ही मुक्ति पथके पाथेय हैं। जिसके पास ये पाथेय है वह सुख पूर्वक गन्तव्य मार्ग तक पहुँच सकता है, फिर चाहे उसने सन्यासी का बाह्यवेष बनाया हो या न बनवाया हो किन्तु जिसके पास ये पाथेय नहीं, उसने चाहे वस्त्रो की तो बात ही क्या सम्पूर्ण शरीर को चाहे गेरू से क्यों न रँग लिया हो, कितने भी दड क्यो न ले लिया हो, कितना भी चिकना कमन्डलु उसने धारण कर लिया हो। वह दम्भी है,

पाखंडी है, धूर्त है, वेष को कलंकित करने वाला है। वह अजितेन्द्रिय केवल पेट भरने के लिये साधु का वेष बनाये हुआ है वह यतिधर्म का दूषक है वह संसारी लोगोंको ठगता है,अपने यजनीय देवताओं की वंचना करता है, अपने को ठगता है तथा किसी से भी न ठगा जाने वाला मुझ सर्वान्तर्यामी को भी ठगने का प्रयत्न करता है। जो ज्ञान वैराग्य से शून्य है अजितेन्द्रिय है और सन्यासी का बाना बनाये हुए है ऐसा मूढ तो उभय भ्रष्ट है, उसका न यह लोक ही बनता है न परलोक ही बनता है, दोनों ही ओर से मारा जाता है। "इतो भ्रष्ट स्ततो भ्रष्टः" हो जाता है जिस आश्रम मे रहे उस आश्रम के मुख्य धर्मों का पालन अवश्य करे। तभी वह कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर हो सकता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! किस-किस आश्रम के कौन-कौन मुख्य धर्म हैं?"

भगवान् ने कहा—"ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म है गुरु शुश्रूषा। गुरु सेवा में सभी धर्मों का समावेश हो जाता है ब्रह्मचारी सदा गुरु सेवा में संलग्न रहे तो वह सभी पापों से स्वाभाविक ही बच सकता है। गृहस्थी के मुख्य धर्म हैं प्राणिमात्र की रक्षा करना और अपने आश्रम और शक्ति के अनुसार यज्ञ करते रहना इन दो मे उसके सभी धर्म आ जाते हैं। वानप्रस्थी के मुख्य धर्म हैं तप और ईश्वर चिन्तन। भगवान् का चिन्तन करते हुए निरन्तर तप में ही लगा रहे। इसी प्रकार सन्यासी के मुख्य धर्म दो हैं भीतर बाहर की शान्ति और अहिंसा व्रत का पालन करना। जिसने प्राणि मात्र को अपनी ओर से अभय दान दे दिया है जिसने इन्द्रियों की चंचलता को मेट कर षड रिपुओं पर विजय करके शान्ति स्थापित कर ली है वही यति यथार्थ में यति कहलाने का अधिकारी है। ब्रह्मचर्य,

तपस्या, शौच, सन्तोष, तथा प्राणिमात्र पर दया रखना ये सब के लिये आवश्यक धर्म हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सन्यासी के लिये तो ब्रह्मचय व्रत उचित ही है, किन्तु यदि ब्रह्मचर्य व्रत गृहस्थी भी धारण करे, तो उसका काम कैसे चले ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! जो गृहस्थ अपनी ही पत्नी में सन्तुष्ट है और केवल ऋतु गामी ही है, वह भी ब्रह्मचारी ही है। गृहस्थो के लिये ऐसे ही ब्रह्मचर्य का विधान है। इन सब धर्मों के ऊपर है मेरी भक्ति। चाहे कितना भी तप करो, कितने भी नियमों का पालन करो, किन्तु मेरी भक्ति न हो तो सब व्यर्थ है। मेरी भक्ति मे वर्ण आश्रम का कोई बन्धन नहीं किसी भी वर्ण का हो, किसी भी आश्रम का हो, किसी भी देश का रहने वाला हो, किसी भी सम्प्रदायका हो, मेरी भक्ति का अधिकारी मनुष्य मात्र माना गया है। मेरी उपासना करना प्राणिमात्र का परम धर्म है। कहीं भी रहे, किसी भी वर्ण का हो, किसी आश्रम का हो अपने धर्म का पालन करे और सम्पूर्ण प्राणियों मे मेरी भावना करके जो अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, उसे ही मेरी विशुद्ध भक्ति की प्रगप्ति होती है। सन्यासी है त्याग वैराग्य के साथ शान्ति और अहिंसा धर्म का पालन करतेहुए मेरी उपासना में लगा रहता है वह अन्त में मुझे ही प्राप्त हो जाता है। मुझे प्राप्त करना ही तो प्रणियों का चरम लक्ष्य है। मैं ही इन सम्पूर्ण लोकों का एक मात्र स्वामी हूँ। जगत् की उत्पत्ति मुझसे ही है, मेरी ही शक्ति से यह स्थित है और अन्त में मुझमें ही लीन हो जाता है। चराचर विश्व का एक मात्र कारण मैं ही हूँ, जिसने मुझे प्राप्त कर लिया फिर उसके लिये प्राप्त करने को शेष ही क्या रह

जाता है। मैं प्राप्त होता हूँ केवल एक मात्र अनपायिनी भक्ति द्वारा ही।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन ! स्वधर्म पालन का प क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"स्वधर्म पालन रूप कर्म से अन्तः कर निर्मल हो जाता है। स्वच्छ अन्तः करण में मेरा स्वरूप भास लगता है। क्योंकि मैं सब क अन्तः करण में विराज मान हूँ। कोई दर्पण है। उसके ऊपर धूलि जम गयी है, उसमे मुख दिखायी नहीं देता तो हमे उसमे मुख दीखने के लिये कहीं से कोई वस्तु लाकर रखनी न पडेगी। एक वस्त्र लेकर शनै· शनै· उसकी जमी हुई धूल को पोंछ दो। जहाँ धूलि हट गयी, वहीं उसमे मुख दिखायी देने लगेगा। स्वधर्म पालन से जहाँ अन्त· करण मल रहित हुआ तह मेरे ऐश्वर्य का ज्ञान होने लगता है। ससार से वैराग्य हो जाता है। ऐसा ज्ञान विज्ञान सम्पन्न विरक्त पुरुष शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये सभी अपने-अपने धर्मो का अधिकारानुसार पालन करें तो यह उनका धर्म है आचार है। इनके पालन से उन-उन लोकों की श्री और यश की प्राप्ति होगी। इन धर्मो से स्वर्गादि लोक प्राप्त होंगे। किन्तु ये ही सब धर्म मेरी भक्ति से युक्त होकर किये जायँ तो परम निःश्रेयस के कारण हो जाते हैं। जैसे गृहस्थ है। स्वधर्मो का पालन करता है तो उसे स्वर्ग लोक की प्राप्ति होगी यदि वही मेरी भक्ति से युक्त होकर स्वधर्म पालन करता है तो वह गृहस्थी में रह कर भी मुक्ति का अधिकारी होगा। इसी प्रकार सन्यासी यदि सन्यास धर्म का पालन करता है तो उसे सत्य लोक की प्राप्ति होगी यदि वह भक्ति युक्त होकर सन्यास धर्मों का पालन करता है तो वह यहीं परम पद का अधिकारी हो जाता

है। ये मैंने संक्षेप में जिज्ञासुयति के धर्म बताये। अब तुम और यक्ष पूछना चाहते हो ?"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! आपने कुटीचक, बहूदक, हंस इन तीन सन्यासियों की साधक संज्ञा बतायी और परमहंसों को सिद्ध कहा। अब मैं जानना यह चाहता हूँ कि परम हंसोंकी कैसी स्थिति होती है ?"

भगवान् ने कहा—"परमहंसो के कोई नियम नहीं वे तो नियमों से परे हो जाते हैं। वास्तव मे बुद्धि के भण्डार होते हैं, किन्तु बच्चो की भाँति खेल करते है। बच्चो के साथ बच्चे बन जाते हैं, खेलने लगते हैं। वे सब संसार की गति विधि जानते हैं, किन्तु देखने मे ऐसे भोले भाले दीखते हैं मानो कुछ जानते ही नहीं। किसी की बात का विरोध नहीं करते। प्रत्येक घटना को देखकर हँस जाते हैं। समझते हैं ये गुण गुणो मे वर्त रहे हैं, किन्तु बातें करेंगे, तो ऐसी मानों ये कुछ जानते ही नहीं। कभी कभी आचरण भी ऐसे करेंगे, कि लोग उन्हें मूर्ख समझने लगे। खडे खड़े ही लघुशंका कर दी। स्नान ही नहीं किया। पशुओं की भाँति पानी पीने लग जायँ। कभी पंडितो का सा आचरण करने लगे सारांश यह है कि उनके लिये कोई नियम नहीं रह जाता।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! परमहंस गति ही सबसे अन्तिम गति है। मै परमहंस धर्मों के विषय में कुछ विशेष सुनना चाहता हूँ। कृपा करके परमहंसों की रहनी सहन तथा उनकी चर्याका का विस्तार से वर्णन करें !"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"उद्धव ? परमहंसों की गति तो जगत् से भिन्न ही हैं। वे नित्य अपने रूप में स्थित होकर परमानन्द में निमग्न बने रहते हैं। वे संसारी निन्दा स्तुति से परे रहते हैं। अच्छी बात है मैं कुछ परमहंसों को गति के सम्बन्ध में सुनाता हूँ ?"

सूत जी कह रहे हैं–'मुनियो ! भगवान् ने जैसे परमहंसों की स्थिति के सम्बन्ध में कहा, उसे मैं आप से कहता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

यदि होवै जिज्ञासु सिद्ध गुरु के ढिँग जावै।
मन इन्द्रिनिकूँ रोकि हृदयकूँ शुद्ध बनावै॥
शान्ति अहिंसा ज्ञान धारि वैराग्य जगततैं।
मोमें राखै चित्त मोरिके सुखकूँ इततैं॥
वर्णाश्रमके धर्म सब, पालै मम सेवा करै।
काहू आश्रममहँ रहै, अनायास जग तैं तरै॥

— ०'—

पारमहंस्य चर्या

(१२८५)

बुधो बालकवत्क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १८ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

परमहंस सब त्यागि कर्म मय वेदवाद रति ।
रहै धीर गम्भीर अमानी सहनशील यति ॥
सुख दुखमहँ सम रहै रहूँ जैसे हौं माधव ।
लीला सम सब करै दैव आधीन समुझि सब ॥
भिक्षाकूँ औषधि समुझि, खाइ उदर केवल भरै ।
फट्यो पुरानो जो मिलै, पट ताकूँ धारन करै ॥

स्वाभाविकता से हट कर ज्यों ज्यों मनुष्य अस्वाभाविकता की ओर बढ़ता है, त्यों ही त्यों वह पतित होता जाता है। भगवान् की माया तो देखिये वह अवनति को

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! परमहंस यति बुद्धिमान् होने पर भी बालकों के सदृश क्रीड़ा करे। कुशल होने पर भी जड़ के समान आचरण करे। विद्वान् होने पर भी उन्मत्त के समान भाषण करे। निगम आगम की विधि को जानकर भी पशु के सदृश व्यवहार करे।"

उन्नति समझ कर बढ़ता है, विनाश की ओर पग बढ़ाते हुए भी अपने को अमृतत्व की ओर जाता हुआ अनुभव करता है। छोटा सा सरल स्वाभाविक शिशु है। उसके लिये न कोई अपना है न पराया। जो भी स्तन उसके मुख में दे दो उसी को पीने लगेगा। चाहे जिसकी गोद में चला जायगा। जो दे दो उसे मुख में रख लेगा। नीच ऊँच, मान अपमान, अपना पराया, अच्छा बुरा उसके लिये कुछ नहीं। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है त्यों-त्यों अपने पराये का भाव उसका बढता जाता है। ये सुहृद् हैं ये शत्रु हैं ये सम्बन्धी हैं ये उपेक्षणीय हैं। कैसे व्यवहार चलाया जाता है, कैसे दूसरों को ठगा जाता है यही बातें वह सीखता है। माता पिता भी कहते हैं लड़का अब चतुर हो गया है। अपने पराये का विवेक करने लगा है। हानि लाभ अनुभव करने लगा है। ज्या-ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-त्यों उन्नत होता जायगा। यही मूढ़ता है यही अज्ञान है यही बन्धन का कारण है। अस्वाभाविकता को छोड़कर पुनः स्वाभाविकता की ओर आना। बड़े बनने के अभिमान को त्याग कर पुनः बालकवत् व्यवहार करना। चतुरता को छोड़कर पुनः उन्मत्तों के सदृश लोक से बाह्य होना, यही ज्ञान की चरम स्थिति है। जगत् से मुख मोड़कर जगत्पति की शरण मे जाना उन्हें ही अपना सर्वस्व समझना यही यथार्थ उन्नति है। समस्त साधन इसी स्थिति को प्राप्त करने के निमित्त हैं।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! जब उद्धवजी ने परमहंसों की रहनी-सहनी और स्थिति के सम्बन्ध में भगवान् से पुनः प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! परमहंस मुनि स्वच्छन्द होकर विचरें। कर्मकाण्ड का विशेष व्याख्यान आदि न करे, वेद-वाद में निरत न रहे। लोगों को

ठगने को व्यर्थ वेष धारण न करे। न कभी किसी प्रकार के पाखण्ड का ही आश्रय ग्रहण करे। जहाँ लोग कोरा वाद विवाद करते हो, वहाँ अधिक न बैठे-बैठना ही हो तो किसी का भी पक्ष लेकर उस वाद-विवाद में सम्मिलित न हो। उपनिषद् वचनों मे श्रद्धा रखे, केवल तर्क परायण न बने। अपने को बहुत सम्मानित प्रदर्शित न करे। कोई भी ऐसा कार्य न करे जिससे लोगों मे उद्वेग उत्पन्न हो जाय। न तो स्वयं किसी से उद्विग्न हो न किसी अन्य को अपने से उद्विग्न होने दे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! उद्वेग किन कारणों से होता है?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! उद्वेग का प्रधान कारण है सम्मान की इच्छा। जो अपने को सम्मानित समझता है और दूसरे लोग उसका उतना सम्मान नहीं करते, तो वह स्वयं उद्विग्न होता है और दूसरो को उद्वेग उत्पन्न कराता है। यदि कोई उसका अपमान करदे, तब तो कहना ही क्या? परमहंस यति को मान सम्मान के चक्कर मे कभी भूलकर भी न फँसना चाहिये जितना भी हो सके निन्दा आदि को सहन करे। निन्दा के सहन से तप की वृद्धि होती है। सम्मान से तप क्षीण होता है। इसलिये सम्मान की स्वप्न मे भी आकांक्षा न करे और किसी दूसरे को भूलकर भी अपमान न करे। लडाई-झगडा भी न करे। लडाई के प्रधान तीन कारण पत्नी, पृथिवी और पैसा। इन तीनो का तो यति मन से त्याग ही कर चुका है। उसे केवल उदर भरने को रूखा-सूखा जैसा भी मिल जाय अन्न चाहिये। उस भोजन के लिये भी पशुओं की भाँति लडाई न करे। पशु भी तो कुछ संग्रह नहीं करते। किन्तु भोजन के पीछे लड पडते हैं। ऐसा पशुवत् व्यवहार कभी भूल से भी न करे। जो भी मिल जाय

उसी मे सन्तुष्ट रहे। कभी कभी समय पर भिक्षा न भी मिले मन में दुःख न माने कि देखो कैसा समय आ गया लोग को भोजन भी नहीं देते। और कभी किसी ने सम्मान सुन्दर भिक्षा करा दी तो हर्षित न हो। यह विचार करले कि ससार में कोन किसी को खिलाता है, कौन किसका सम्मान अपमान करता है। यह सब तो दैवाधीन है। सब अपने अपने प्रारब्ध कर्मों के अनुसार भोग-भोग रहे हैं। जिसका जब जिससे जैसा सम्बन्ध होना होता है उसका तब तिससे तैसा सम्बन्ध हो ही जाता है। आहार के लिये बहुत प्रयत्न भी न करे और इस बात का हठ भी न करे कि कोई बिना माँगे देगा तभी खायँगे। बहुत भूख लगे तो केवल आहार मात्र के लिये चेष्टा भी कर ले। इधर उधर जाकर भिक्षा भी माँग लावे। क्योंकि प्राणों की रक्षा करना परमावश्यक है। जब शरीर मे स्वस्थ प्राण रहेंगे तभी तो तत्व चिन्तन करने में मन भी लगेगा। परमपद अथवा मोक्ष का सा धन यह शरीर ही तो है। भूख प्यास यह प्राणों का ही धर्म है। शरीर मे प्राण रहेंगे तो परमार्थ साधन बन सकेगा उसके द्वारा आत्म स्वरूप का साक्षात्कार होगा। आत्म-ज्ञान हो जाना ही मोक्ष है। इसलिये अन्न को स्वाद के लिये नहीं प्राण धारण के लिये खाय। यह विचार न करे कि यह अच्छा अन्न नहीं है। स्वादिष्ट नहीं है सुन्दर थालों मे सजाया नहीं। सम्मान पूर्वक लाया हुआ नहीं है। प्रारब्ध वश जैसा भी अन्न मिल जाय। अच्छा या बुरा, रूखा या चिकना उसी को खाकर प्राण रक्षा करे। चाहे तो दिगम्बर रहे। यदि कपडा पहिनना ही हो तो फटा पुराना जैसा भी मिल जाय उसे शरीर मे लपेट भूमि मिल जाय वहीं लेट रहे। कहीं बिछौना मिल जाय उसी पर पड़ रहे, किन्तु इसके लिये प्रयत्न न करे। सर्वत्र मुझे ही देखे। पात्र

भेद से जैसे सूर्य बहुत से दीखते हैं, किन्तु हैं वास्तव में एक ही सूर्य वैसे ही सब में आत्मरूप से मैं ही अवस्थित हूँ, और देह भी सब पंच भूतों के निर्मित हैं, फिर भेद भाव या द्वैत के लिये स्थान ही कहाँ है !"

परमहंस विधि निषेध के चक्कर में भी न पड़े ? वैसे स्वभावानुसार शौच रखे। स्नान कर ले भोजन के आदि अंत में आचमन करें किन्तु ऐसा करना ही चाहिये। इस शास्त्र विधि मे बँधकर न करे। लीला पूर्वक करता रहे। उद्धव ! तुम जानते ही हो तीनों लोकों में मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है फिर भी मैं लीला पूर्वक सभी कुछ करता ही हूँ, इसी प्रकार ज्ञाननिष्ठ परमहंस सब कर्मों को लीला पूर्वक करता रहे। यह संसार कुछ है थोड़ा ही। शशक का जैसे सींग, बन्ध्या का जैसे पुत्र ऐसे ही यह संसार है। इसमें एकमात्र मैं ही सत्य हूँ। जिसे मेरा साक्षात्कार हो जाता है। उसके लिये यह संसार उसी प्रकार नहीं रहता जिस प्रकार अँधेरे घर में प्रकाश आ जाने पर अँधेरे नहीं रहता। इसी प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में यह संसार रहता ही नहीं। फिर भी यह देह तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ ही है। जब तक देह है तब तक प्रारब्ध वश कभी कभी संसार की प्रतीति हो ही जाती है। ज्ञानी इसके लिये भी कोई चिन्ता न करे। जब तक देह रहे तब तक मेरे ध्यान में निमग्न रहे देह का अन्त होने पर तो वह मुझ में मिल ही जायगा।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! यह तो आपने बहुत ही ऊँची स्थिति बताई ।" मनुष्य शरीर तो चिताओं का घर है। कुछ भी संग्रह न करो तो भी नाना प्रकार की चिन्तायें आकर मन को उद्विग्न करती ही रहती हैं। मन तो एक क्षण को भी स्थिर नहीं होता। इस प्रत्यक्ष दीखने वाले संसार की उपेक्षा कैसे की जा

सकती है। इस शरीर से ही जीवन्मुक्ति का आनंद क्या संभव है।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! संभव न होता तो मैं वेद शास्त्रों में इसका वर्णन ही क्यों करता असंख्यों ज्ञानी इस शरीर से ही जीवन्मुक्ति का आनंद लेकर मुझ में मिल गये हैं। ऐसे ही एक जीवन्मुक्त महापुरुष भक्तवर प्रह्लाद को मिले थे। उनकी स्थिति देखकर वे परम विस्मित हुए। उन्हीं से उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। उनका सम्वाद बड़ा ही शिक्षाप्रद है। संसार में सदा से ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष रहे हैं और अब भी हैं तुम इसमें सन्देह मत करो।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भक्तराज प्रह्लादजी की किन परमहंस यति से भेंट हुई और उन दोनों का परस्पर में क्या सम्वाद हुआ, कृपा करके इस आख्यान को आप हमें सुनावें। एक तो प्रह्लादजी ही परम भागवत तथा भगवद्भक्तों में मुकुट मणि हैं, फिर उनका सम्वाद एक जीवन्मुक्त महा पुरुष से हुआ होगा, तब तो उन दोनों में बड़ी ही सुन्दर बातें हुई होंगी। उनका सम्वाद तो संसार बन्धन को काटने के लिये परम उपयोगी हुआ होगा, उसे हमारी सुनने की बड़ी ही प्रबल इच्छा है, यदि आप हमे उसका अधिकारी समझते हों तो अवश्य सुनावें।"

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी बोले—'भगवन् ! आप जैसा कह रहे हैं वैसा ही परम सुख कल्याण प्रद उन परमहंस मुनि का और प्रह्लादजी का वह सम्वाद है। उसे मैं आपको सुनाता हूँ।"

एक बार दैत्यराज प्रह्लादजी लोक तत्व की जिज्ञासा के निमित्त अपने कुछ तत्वज्ञानी मन्त्रियों के सहित तीर्थ यात्रा के प्रसंग से पृथ्वी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों में विचरण करने लगे। वे बड़े

बड़े तीर्थों में गये। प्रसिद्ध प्रसिद्ध ऋषि मुनियो से मिले और बहुत से भगवद्भक्तों से भी उन्होंने भेंट की। इसी प्रकार घूमते-फिरते वे दक्षिण देश की ओर चले गये। वहाँ सह्य पर्वत पर इधर उधर भ्रमण करने लगे। वहाँ भगवती कावेरी अपने कल-कल शब्द से प्रवाहित होती हुई सह्य पर्वत की शिलाओं से अठ खेलियाँ कर रही थी। कावेरी के किनारे-किनारे सघन वन था। हिंस्रक जन्तु उन वनों में स्वच्छन्द विहार कर रहे थे। प्रह्लादजी सह्य पर्वत की तथा कावेरी के कूलो की कमनीय छटा निहारते हुए सुख पूर्वक भ्रमण कर रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि एक नगे पुरुष क ऊपर पड़ी। सह्य पर्वत पर कावेरी के तट पर सुकोमल बालुका पडी थी। उसी पर एक नग धडगे महात्मा लेट लगा रहे थे। उनके मुख मडल से एक विचित्र विमल तेज निकल रहा था। वे आनंद सागर मे निमग्न हुए पडे थे। उनका सम्पूर्ण शरीर धूलि धूसरित था। शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं था। दशों दिशायें ही उनका अम्बर था। वे पागलों की सी चेष्टा कर रहे थे। कभी खिल-खिला कर हँस पडते। कभी अपने आप कुछ कहने लगते। कभी उठकर बैठ जाते। कभी फिर लेट जाते। कभी पानी को थप थपाने लगते उनके कर्मों को देखकर, उनके धूलि धूसरित नग्न शरीर को देखकर उनकी व्यर्थ की बातों को सुनकर तथा शिखा सूत्र तथा किसी भी बाह्य चिन्हों को देख कर कोई यह नहीं कह सकता था कि ये कोई सिद्ध महापुरुष हैं। साधारण लोग तो उन्हें देखकर यही समझते थे, कि यह कोई पागल उन्मत्त है। उसका मस्तिष्क विकृत हो गया है। इसीलिये यह ऐसी अट सट चेष्टाये करता रहता है, किन्तु प्रह्लाद जी तो परम भागवत थे। वे तत्वज्ञान में निष्णात थे। उन्हें ज्ञानियों की रहनी सहनी और चर्या का ज्ञान था, अतः

वे देखते ही समझ गये, कि ये कोई ज्ञानी परमहंस यति हैं। आज मेरी यात्रा सफल हुई। इस शान्त एकान्त निर्जन वन में ऐसे तत्वज्ञानी अवधूत के दर्शन हुए। वे तुरन्त दौड़ कर मुनि के समीप गये, दूर से ही पादत्राण उतार कर दोनों हाथों की अंजलि बाँध कर वे मुनि के निकट पहुँचे। उनके चरणों में अपना मस्तक रख कर उन्होंने विधिवत् मुनि को प्रणाम किया, फिर यथा लब्धोपचारों से वन के पत्र पुष्प तथा फलों से मुनि की पूजा की और हाथ जोड़ कर उनके सम्मुख बैठ गये। वे परमहंस मुनि आनंद से पड़े ही रहे। उन्होंने न प्रह्लाद जी की पूजा की ओर ध्यान दिया न उनका अभिनंदन ही किया। प्रह्लाद जी की ओर देखकर मंद मंद मुस्कराते रहे। उनकी प्रसन्न आकृति को देखकर प्रह्लाद जी का साहस बढ़ा वे हाथ जोड़कर उनसे बोले—"ब्रह्मन! मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो कुछ पूछूं।"

यह सुन कर वे परमहंस महामुनि खिल खिला कर हँस पड़े और सिर हिला कर संकेत किया "हाँ पूछो।"

तब प्रह्लादजी बोले—"ब्रह्मन्! पूछना मैं यह चाहता हूँ, कि आपका यह शरीर इतना सुन्दर सुगठित और मोटा कैसे हो गया।"

यह सुनकर परमहंस मुनि अट्टहास करते हुए बोले—"यह क्या प्रश्न हुआ। शरीर कोई मोटा होता है कोई पतला होता है। यह शरीर मोटा है। क्या तुमने संसार में मोटे शरीर वाले पुरुष नहीं देखे हैं?"

प्रह्लादजी ने शीघ्रता से कहा—"हाँ, महाराज! मैंने संसार में बहुत से मोटे आदमी देखे हैं। आपसे मोटे देखे हैं, किन्तु मोटे प्रायः वे ही होते हैं जो धनी होते हैं क्योंकि धन के बिना मुटाई आ ही नहीं सकती। धन होगा तभी दूध, मलाई, रबड़ी, पूड़ी,

कचोडी, खीर हलुआ आदि वस्तुएँ खाने को मिलेंगी। इन्हीं वस्तुओं से शरीर मोटा होता है। निर्धनों के पास धन नहीं होता। इससे वे मोटे भी नहीं होते। धन प्राप्त होता है उद्यम से। व्यापार में ही लक्ष्मी का वास है। मैं देखता हूँ आप कोई उद्यम तो करते नहीं। एकान्त वन में पडे रहते हैं। न कहीं व्याख्यान देने जाते हैं न व्यापार करते हैं न राजद्वार में अभियोगों की ही सम्मति देते हैं। जिन कामो से रुपया पैसा प्राप्त होता है उन कामो से एक भी काम आप नहीं करते। फिर भी धनिकों के सदृश—अच्छे योगी पुरुषों के समान आप हृष्ट पुष्ट और मोटे हैं। इसीलिये मुझे आश्चर्य हो रहा है कि बिना धन के यह मुटाई आपके शरीर मे कैसे आ गयी।"

हँस कर परमहंस बोले—"भैया! क्या सभी उद्योगी पुरुष धन प्राप्त कर लेते हैं?"

प्रह्लादजी ने कहा—"महाराज! उद्योग करने पर भी किसी को धन प्राप्त न हो यह तो प्रारब्ध की बात है, किन्तु उद्योग से धन प्राप्त होता ही है। आप चाहते तो धन प्राप्त कर सकते थे। मैं देखता हूँ आप असमर्थ आलसी या अयोग्य नहीं हैं। आपकी बातों से ही प्रतीत होता है। आप लोक व्यवहार में दक्ष हैं। आपकी वाणी मे कितना स्वारस्य है, कितनी मधुरिमा है कितना आकर्षण है। एक बार कोई आपका प्रफुल्लित मुख देख ले आप की मीठी मीठी वाणी सुन ले वह आपके अधीन हो जाय। लोगो को वश मे करने की कला भी आप जानते हैं। इतना सब होने पर भी आप कोई काम नहीं करते। अयोग्य पुरुष रात्रि दिन कर्मों में व्यग्र बने रहते हैं, किन्तु इतनी योग्यता होने पर भी आपकी इच्छा किसी कार्य में प्रवृत्त होने की नहीं होती। आप सर्वदा उदासीन भाव से पडे पड़े एक दर्शक की भाँति-निरपेक्ष

भाव से जगत् के व्यवहारों को देखते रहते हैं इसका कारण है ?"

यह सुन कर परमहंस मुनि फिर खिला खिला कर हँसे और उठकर बैठ गये। तदनंतर अत्यंत स्नेह के साथ प्रह्लादजी को सम्बोधित करते हुए बोले—प्रह्लादजी ! मैं आपको जानता हूँ। यदि कोई सांसारिक साधारण मनुष्य ऐसी बात पूछता तो उसे हँस कर टाल देता। या तो उसका कुछ उत्तर ही न देता या उन्मत्तों की भाँति कुछ ऐसी ही अटपटी चेष्टा करके उसे टरका देता। किन्तु तुम तो भक्त शिरोमणि हो। साधु-समाज में आप सम्मानित समझे जाते हैं। शत्रु भी आपके सद्गुणों की प्रशंसा करते हैं और आपके आचरणों को प्रामाणिक मानते हैं। आप ज्ञानी हैं। आप जानते हैं कि प्रवृत्ति मार्ग का क्या परिणाम है और निवृत्ति मार्ग का क्या परिणा है। तुम भगवान् के अनन्य भक्त हो, तुम्हारी अहैतुकी भक्ति से श्रीमन्नारायण सदा तुम्हारे हृदय में वास करते हैं, जहाँ सच्चिदानंद ज्ञान स्वरूप भगवान् का निवास है वहाँ अज्ञान रह ही कैसे सकता है। जहाँ सूर्य का प्रकाश विद्यमान है वहाँ अन्धकार का अस्तित्व असंभव है। इस लिये आपके प्रश्नों का उत्तर देना प्रत्येक परमार्थ पथ के पथिक का प्रधान कर्तव्य है। जिन्हें अपने अन्तःकरण को विशुद्ध बनाने की इच्छा हो उन्हें आपका सम्मान अवश्य करना चाहिये। इसी लिये इस विषय में मैंने जो कुछ सुना है अनुभव किया है, उसे मैं आपको बताता हूँ। हाँ, तो आपका प्रथम प्रश्न यह है कि आप कौन हैं ? आप मेरा परिचय प्राप्त करना चाहते हैं।

मैं अपना परिचय आप को क्या दूँ ? राजन् ! यह देह तृष्णा से ही उत्पन्न होता है। तृष्णा बड़ी प्रबल है। इसका पेट बहुत बड़ा है। कितना भी आहार क्यों न करले यह तृष्णा कभी

शान्त नहीं होती। बाल पक जाते हैं, दाँत गिर जाते हैं, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर बूढ़ा हो जाता है, किन्तु तृष्णा सदा तरुणी ही बनी रहती है। यही नहीं वृद्धावस्था में यह और भी बलवती हो जाती है। आज जो इच्छा उत्पन्न हुई, उसे भोग कर भी तृष्णा शान्त न होगी भोग पाने से वह और भी अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। जैसे चक्र वृद्ध ब्याज निरन्तर बढ़ता ही रहता है। इस तृष्णा से ही जन्म मरण का चक्र निरन्तर चलता रहता है। तृष्णा के ही कारण जीव नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है चौरासी के चक्कर मे घूमता रहता है। राजन् उसी तृष्णा के अधीन होकर मैं भी अनेक योनियों में घूमता रहा कभी बाघ हुआ कभी सिंह हुआ, कभी पशु, पक्षी, वृक्ष तथा कीट पतंग हुआ। उन उन योनियों में जाकर उनके अनुरूप मैं अनेकों अनुकूल प्रतिकूल कर्म भी करता रहा। इस कुटिनी तृष्णा ने अनेक योनियों मे मुझसे अनेक कर्म कराये। अनेक योनियों के सुख दुख भुगवाये। तृष्णा के कारण कर्मों की प्रेरणा से भवसागर में भटकते भटकते प्रारब्ध वशात् मुझे मनुष्य योनि प्राप्त हुई, जो मोक्ष का द्वार है।

प्रह्लादजीने पूछा—"भगवन्! क्या मनुष्य योनि में आकर सभी मुक्त हो जाते हैं? आप मनुष्य योनि को मोक्ष का द्वार क्यों बताते हैं?"

अवधूत परमहंस बोले—"राजन्! सभी मनुष्य मुक्त नहीं हो जाते, किन्तु मुक्ति प्राप्त करने की यही एक योनि है। और योनि के जीव या तो स्वभावतः ऊपर की योनियों में जायँगे या अपने से नीचे की योनियों में जायँगे। कुछ जीव अधोगामी होते हैं कुछ अपने से ऊँचे जाने वाले। मनुष्य योनि से जाने के चार मार्ग हैं।"

प्रह्लादजी ने पूछा—"भगवन्! वे चार मार्ग कौन कौन से हैं?"

परमहंस मुनि बोले—"मनुष्य योनि में यदि पुण्य करोगे तो स्वर्गादि लोकों में जाओगे। पाप करोगे तो नरकों में जाओगे नरकों से निकलकर सर्प कीट पतंग आदि होंगे। पाप पुण्य दोनों समान प्रायः होंगे तो फिर मनुष्य होंगे। यदि ज्ञान हो गया तो जन्ममरण के चक्कर से सदा के लिये छूट जाओगे विमुक्त बन जाओगे। मुक्ति का साधनभूत यही शरीर है।"

प्रह्लादजी ने पूछा—"भगवन् चौरासी लाख योनियों मे श्रेष्ठ इस नर शरीर को भी पाकर लोग मोक्ष के लिये प्रयत्न क्यों नहीं करते?"

परमहंस मुनि बोले—"राजन्! करें कैसे! मनुष्य तो विकर्मों में निरत है। सुख तो चाहते हैं, किन्तु कार्य उलटा करते हैं। शाश्वत सुख तो नित्य मे है। संसारी लोग अनित्य में सुख खोजते हैं। पुरुष स्त्री के शरीर मे सुख का अनुभव करता है स्त्री पुरुष के शरीर मे। वास्तव में शरीर तो हाड, मास, रक्त, शुक्र, रज, वात, पित्त, कफ तथा नाना मलों का स्थान है इसमे सुख कहाँ! ज्यों ज्यों स्त्री पुरुष शरीरों में आसक्त होते हैं, त्यों त्यों वे सुखी होने की अपेक्षा अधिकाधिक दुखी ही होते जाते हैं। मनुष्य शरीर पाकर जब मैंने देखा कि स्त्री पुरुष के सयोग में सुख नहीं, कर्म तो बन्धन का कारण है तो मैं कर्मों से उपरत हो गया। निष्क्रिय बन गया।'

प्रह्लादजी ने पूछा—"भगवन्! नित्य सुख कैसे प्राप्त हो?"

हँसते हुए अवधूत मुनि बोले—"सुख कहीं बाहर से लाना थोड़े ही है। आत्मा का अनुभव होने से सुख तो आप से आप प्राप्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा तो सुख स्वरूप ही है। परन्तु वह

सुख कब मिलेगा जब इन्द्रियों को विषयों से हटा लोगे। इन्द्रियों के गोलकों का मुख बाहर की ही ओर है अतः ये बाह्यवस्तुओं को ही देखती हैं, सब प्रकार की चेष्टाओं से निवृत्त होकर भीतर की ओर देखने लगोगे, तो वह सुख स्वरूप आत्मा स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। जब तक कर्म करते रहोगे, तब तक फल भोगते रहोगे। ये जितने संसारी भोग हैं य केवल मनोरथ मात्र हैं, कल्पित हैं। इसलिये मैं कर्मों से निवृत्त होकर केवल प्रारब्ध के आधीन होकर निर्द्वंद पड़ा रहता हूँ। जब तक शरीर का प्रारब्ध है बना रहेगा। जब प्रारब्ध समाप्त हो जायगा, छूट जायगा। अब मैं न स्वर्ग की इच्छा करता हूँ न नरक की न जीवन ही चाहता हूँ न मृत्यु ही। सबसे उदासीन होकर आत्मा पर लक्ष्य रखता हूँ।"

प्रह्लादजी ने पूछा—"भगवन्! जब आत्मा सर्वगत है, व्यापक है सबके अन्त. करण में स्थित है, तो सब को उसका अनुभव क्यों नहीं होता?"

परमहंस मुनि बोले—"राजन्! देखो, कोई सरोवर है। उसमें बहुत सी शैवाल घास उत्पन्न हो गयी है, उसने सब जल को ढँक लिया है। ऊपर से घास ही घास दिखायी देती है। कोई प्यासा आदमी आता है उस सरोवर के किनारे बैठ जाता है, यद्यपि वह जल के निकट ही बैठा है, किन्तु शैवाल से ढँके रहने के कारण उसे जल दीखता नहीं। दूर से चमकती हुई बालू में उसे जल का भ्रम होता है। उस मृग तृष्णा को जल समझकर वह समीप के जल को छोड़ कर उसे पाने को दौड़ता है। ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता है त्यों त्यों उसे वह मिथ्या जल भी आगे दिखायी देने लगता है। वह कितना भी दौड़े मृग तृष्णा से उसकी प्यास कभी भी न बुझ सकेगी। यदि कोई सत

कृपा कर दें और उसे बतादें कि अरे, तू दूर क्यों ... है जल तो तेरे समीप ही है। जल से ही उत्पन्न इस शैवाल हटा दे तुझे सुन्दर शीतल सलिल समीप ही मिल जायगा। वह ऐसा करता है तो उसे अगाध जल मिल जाता है, जिसे वह तृप्त हो जाता है स्नान करके शान्ति लाभ करता है। प्रकार जो आत्मा से अन्यत्र इन संसारी पदार्थों की प्राप्ति मे पुरुषार्थ मानता है। वह आत्मानुसन्धान से विमुख होकर की ओर दौड़ता है और क्लेश उठाता है। उसकी सभी की चेष्टायें विपरीत फल देने वाला होती हैं उसे कभी शाश्वतीय शान्ति नहीं मिलती। यदि कभी कुछ थोड़ा बहुत सुख मिल भी जाता है, तो उसका भी परिणाम दुःख ही होता है. जिस धन को सुख की इच्छा से एकत्रित करता है, उसी के पीछे कभी प्राण गँवाने पड़ते हैं, कोई ले जाता है तो आन्तरिक पीड़ा होती है। जिस स्त्री को सुख का भंडार समझता है उसी के द्वारा नाना क्लेश मिलते हैं। जिस शरीर से सुख का अनुभव करना चाहता है यह स्वयं रोगों का घर है मरणशील और नाशवान् है। नाशवान् शरीर से नाशवान् भोगों द्वारा अविनाशी सुख मिल ही कैसे सकता है!"

प्रह्लादजी! संसार में सब लोग धन के लिये प्रयत्न करते हैं। कहावत भी है, सबसे बड़ो रुपैया। नहीं बाप न नहिं भैया।" 'धन से ही सब सुख मिल सकते हैं। राजन्! यह भ्रम उन्हीं को होता है जो धनी नहीं हुए हैं या धनिकों के समीप नहीं बैठे हैं। धनिकों से जाकर पूछिये उन्हें कितना क्लेश होता है। मैं धनिकों के पास बहुत जाता हूँ। जाता क्या हूँ धनिक मुझे लिवा ले जाते हैं। वे सोचते हैं—"इनके ले जाने से हमें लाभ होगा।" वे मुझ से आग्रह करते हैं तो मैं चला जाता हूँ। मेरे मन में तो कोई भेद

व है ही नहीं। मेरे लिये तो जैसे ही धनी वैसे ही निर्धनी। निकों के यहाँ जाकर मैंने देखा है वे लोग बड़े दुखी रहते हैं।

पहिला क्लेश तो उन्हें यही होता है कि जितना वे चाहते हैं तना उन्हें धन मिलता नहीं। अतः सदा धन के लिये लोलुप बने हते हैं रात्रि दिन इसी चिन्ता में रहते हैं कि धन कैसे बढ़े कैसे धिक से अधिक एकत्रित हो।

दूसरा क्लेश उन्हें यह होता है कि उनकी इन्द्रियाँ जितना ोग चाहती हैं उतना उन्हें मिलता नहीं। वे स्वादिष्ट से स्वादिष्ट अधिक मात्रा में भोजन करना चाहते हैं, किन्तु पाचनशक्ति काम नहीं देती। इसी प्रकार अन्य भोगों को भी भोगना चाहते हैं, किन्तु मनमाने भोग भोग नहीं सकते।

तीसरा क्लेश यह है कि उन्हें सब पर सदा सन्देह बना रहता है। कोई साधु भिक्षुक आ गया तो वे डर जायँगे, कि कहीं यह कुछ माँग न बैठे। सबसे शंकित बने रहेंगे। अपने पुत्र पर भी विश्वास न करेंगे। राजा से, चोर से, शत्रु से, मित्र से, स्वजन से, पशु पक्षी से, याचक से काल से कहाँ तक कहे धनवानों को अपने आप से भी भय बना रहता है, कहीं मैं रखकर भूल न जाऊँ। आवेश मे आकर किसी को दे न डालूँ। चिन्ता और भय के कारण रात्रि में नींद तक नहीं आती। धन के ही समान प्राणों का भी भय बना रहता है। जितने भी शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, कायरता तथा श्रम आदि होते हैं सब धन और प्राणों के लोभ से ही होते हैं। इनकी आसक्ति के ही कारण ये सब उपद्रव होते हैं। अतः जो सच्चे सुख का इच्छुक है उस बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि इनमें से आसक्ति को निकाल दे। सब कुछ प्रारब्ध के ऊपर छोड़दे।

प्रह्लादजी ने पूछा—"भगवन्! यह तो आपने बड़ा ही गूढ़ ज्ञान बताया। मैं जानना चाहता हूँ आपने यह विरक्ति और निश्चेष्टता की शिक्षा किस गुरु से प्राप्त की है!"

यह सुनकर परमहंस मुनि हँस पड़े और बोले—"राजन्! मेरे गुरु तो बहुत हैं, किन्तु विरक्ति की शिक्षा तो मैंने मधु मक्षिका से ली है और निश्चेष्टता की शिक्षा ली है अजगर से। जैसे मधु मक्षिकायें कितनी कठिनता से मधु को एकत्रित करती हैं, किन्तु उनके सम्मुख ही मधुप आता है और उन्हें मार कर भगा कर मधु लेकर चला जाता है। ऐसे ही धनिक कितने कष्ट से रात्रि-रात्रि भर जाग कर धन को बटोर-बटोर कर रखते हैं। किसी दिन चोर आता है, मार कर सब माल लेकर चला जाता है। राजा कर लगा कर सब निकलवा लेता है। न देने पर कारा-वास में भेज देता है, अतः धन से विरक्त रहना चाहिये। यह शिक्षा मधु मक्षिका से लेकर मैं कभी धन संग्रह नहीं करता।

अजगर जैसे बिना कुछ किये निश्चेष्ट पड़ा रहता है। प्रारब्ध वश जो आ जाता है उसी से सन्तुष्ट रहता है, ऐसे ही मैं भाग्य के सहारे पड़ा रहता हूँ। कभी थोड़ा मिल गया थोड़ा खा लिया। किसी दिन पेट भर कर मिल गया पेट भर कर खा लिया। अज-गर की भाँति पड़ा रहने से सब मुझे आजगर मुनि कहते हैं।"

प्रह्लादजी ने पूछा"तो भगवन्! आप एक ही स्थान पर पड़े रहते हैं, कहीं जाते आते नहीं।"

आजगर मुनि बोले—"राजन्! मैंने कह तो दिया, मेरा कोई नियम थोड़े ही है। स्वेच्छा से मैं कुछ काम नहीं करता। सब काम मैंने प्रारब्ध के ऊपर छोड़ दिया है। मेरे सब काम परेच्छा पर निर्भर हैं। कभी जंगल में पड़ा हूँ तो कई दिनों तक पड़ा ही रह गया। कुछ भी नहीं खाया। कोई लकड़हारा किसान

आया दो रोटी दे गया उन्हीं को खाकर पानी पी लिया। किसी ने मट्ठा दे दिया मट्ठा ही पी गये किसी ने गुड़ की राब दे दी उसी को चाट गये। कोई धनिक आया और बोला—"बाबाजी! मेरे यहाँ चलो।" तो उसी के साथ चल दिये। उसने ५६ प्रकार के व्यंजन बना कर सुवर्ण के थाल मे परोस कर सम्मान पूर्वक भोजन कराया तो उन सबको भी डटकर खा लिया। कोई दरिद्र ले गया, उसने बासी रूखी रोटियाँ रख दी तो उन्हें भी खा गये। किसी ने अपमान पूर्वक दे दिया तो उसे भी संतोष के साथ ले लिया। कभी दिन मे एक बार ही खाया। कभी कोई भक्त पीछे पड गया और उसने चार बार खाने का आग्रह किया तो चार बार भी खा लिया। मेरा नियम नहीं।

किसी ने लाकर दुशाला उढा दिया उसे ही ओढ़े रहे। जब चले और शरीर से उतर गया, तो फिर उसे उठाकर पहिना नहीं। किसी ने सूती उढ़ा दिया सूती ओढ़ लिया। किसी ने वल्कल पहिना दिया वल्कल पहिन लिया। किसी ने मृग चर्म उढ़ा दिया उसे ही ओढ़ लिया। शरीर से उतर गये तो नंगे ही लेट लगाते रहते हैं। मैं समझ लेता हूँ जो मेरे प्रारब्ध का होता है आ जाता है, जब प्रारब्ध समाप्त होता है, अपने आप शरीर से पृथक् हो जाता है।

सोने का भी मेरा नियम नहीं। अभी देखो पृथ्वीपर पडा हूँ ऐसे ही पडा रहूँगा। कोई पत्थर की चट्टान मिल जायगी उसी पर लेट लगाता रहूँगा, किसी ने आसन चटाई या पत्ते बिछा दिये उन्हीं पर सो जाऊँगा। कहीं स्मशान मे मृतको की भस्म पर ही सो जाऊँगा। कोई राजा मिल गया उसने कहा—"महाराज! मेरे साथ मेरी राजधानी मे चलो।" तो मैं उसके साथ भी रथ में

बैठकर चल देता हूँ। वह वहाँ जाकर अपने सेवकों से मुझे मल-मलकर स्नान कराताहै,उबटन लगवाता है,तैल फुलैल लगवाता है, अच्छे अच्छे सुन्दर रेशमी वस्त्र पहिना देता है। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन कराता है। सुन्दर गुदगुदे मृदुल गद्दों वाली शय्या पर सुलाता है तो वहीं सो जाता हूँ, वह रथ में बैठाकर या हाथी पर चढ़ाकर नगर भ्रमण कराने या वायु सेवन कराने ले जाता है, तो वहाँ भी चला जाता हूँ। अवसर देखता हूँ तो वहाँ से भाग निकलता हूँ। फिर नंग धड़ंग होकर सम्पूर्ण शरीर में मिट्टी राख लपेट कर भूत-प्रेत पिशाचों की भाँति चक्कर लगाता रहता हूँ। कोई चन्दन लगाकर माला पहिना देता है उससे हर्षित नहीं होता। कोई फटे पुराने जूतों की माला पहिना देता है तो उसे ही पहिने घूमता रहता हूँ, उस पर क्रोधित भी नहीं होता।

मैं समझता हूँ, सभी अपने अपने स्वभाव से विवश हैं। सभी के स्वभाव एक से नहीं है। मुंडे मुंडे मति भिन्ना होती है यही समझ कर जो मुझे गाली देते हैं उनसे क्रुद्ध नहीं होता, जो मेरी स्तुति करते हैं उनसे प्रसन्न नहीं होता। स्वयं भी मैं न किसी की निन्दा करता हूँ न स्तुति। समझ लेता हूँ, सब अपने अपने स्वभाव के अनुसार कार्य कर रहे हैं। इनकी क्या स्तुति करें क्या निन्दा करे। मैं सबकी मंगल कामना रखता हूँ, सब सुखी हों, सब मुक्त हों सबको भगवान् की प्राप्ति हो, सबका संसार बन्धन छूटे यही मैं भावना रखता हूँ। सबको स्वाहा करके लय योग के द्वारा आत्म स्वरूप में स्थित हो जाय।

प्रह्लादजी ने पूछा—"भगवान्! सबको स्वाहा कैसे करें?"

आजगर मुनि बोले-"ये जो संकल्प विकल्प करनेवाली चित्त की वृत्ति है इसमें द्रव्य जाति तथा विकल्प को लीन करदे। चित्त की वृत्तियों को मन में विलीन करदे। मनको सात्विक अहंकार

में लीन करे। अंकार क महत्व मे। महत्व को प्रकृति में और प्रकृति या भाषा को आत्मानुभव में लीन करदे बस, फिर आत्मानुभव से आत्मनिष्ठ होकर निर्द्वंद्व हो जाय सब कर्मों से उपरत होकर जीवन्मुक्ति के सुख का आस्वादन करे। मेरा यह वृत्तान्त लोक शास्त्र से विरुद्ध सा है, मैं किसी को बताता नहीं हूँ, किन्तु तुम से मैंने ये सब बातें बतादी, तुम भगवद्भक्त हो। ज्ञानी हो और विचारवानों में शिरोमणि हो।"

प्रह्लादजी ने कहा—"भगवन्! आपने बड़ी कृपा की जो इस दीन हीन अकिंचन को ऐसा दिव्य उपदेश दिया। आपके उपदेश से मैं कृतार्थ हो गया। आज्ञा हो तो मैं आपका पूजन कर लूँ।"

हँसकर आजगर मुनि बोले—"जैसी आपकी इच्छा हो। मेरे लिये तो पूजन क्रोशन सब बराबर है। आपको जो उचित प्रतीत हो वह कर लें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! प्रह्लादजी ने उन मुनिका विधिवत् पूजन किया फिर उनके चरणों में प्रणाम करके वे चले गये। आजगर मुनि भी इच्छानुसार विचरण करने लगे। मुनियो! यह तो ज्ञाननिष्ठ मुनि की चर्या है, जो वर्णाश्रमादि चिन्हों से रहित अनपेक्षक भगवद्भक्त है उसकी भी ऐसी ही चर्या होती है भक्ति के द्वारा सब कुछ प्राप्त हो सकता है। भगवद् भक्त भी जब भक्ति का साधन करते करते सिद्ध भक्ति को प्राप्त कर लेता है, तो वह लोक बाह्य हो जाता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भक्ति की बड़ी महिमा गायी है। इस वर्णाश्रम धर्म में भी सबत्र भक्ति की ही प्रधानता बताई है। कृपा करके हमें भक्ति के सम्बन्ध में अब सुनावें।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! इसके अनन्तर उद्धवजी ने भी भगवान् से भक्ति के ही सम्बन्ध का प्रश्न किया था। भगवान् के कहे हुए भक्ति के साधनों को ही अब मैं आपको सुनाऊँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

शौच आचमन नियम करै नहिँ विधिमहँ बँधिकें।
केवल लीला समुझि करै सब नियमनि तजिकें॥
ज्ञानी कूँ ससार स्वप्नवत् असत् लखावै।
होहि प्रतीति कबहुँ समुझि मिथ्या हँसि जावै।
जब तक तनु तब तक कबहुँ, यदि भासै जग नहिं हिलै।
होहि पतन जब देह को, होहि एक मो में मिलै।

ज्ञान भक्ति सम्बन्धी प्रश्न

(१२८६)

ज्ञान विशुद्ध विमल यथैतद्,
वैराग्यविज्ञानयुत पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते,
त्वद्भक्तियोग च महद्विमृग्यम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १९ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

ज्ञानी तो सर्वस्व एक माई कूँ माने ।
मो प्रमुतै अतिरिक्त स्वर्ग अपवर्ग न जाने ॥
ज्ञानी अति प्रिय मोइ निरन्तर मोकूँ ध्यावै ।
तत्व ज्ञान बिनु सिद्धि कबहुँ साधक नहिँ पावै ॥

बोले उद्धव—"जगत्पति ! हो ।। ज्ञान कैसे विमल ।
भक्तियोग वरनन करै, सुनिवेकी इच्छा प्रबल ॥

जो ज्ञान समस्त अनेकताओं को मेटकर एकत्व का साक्षात्कार कराता है, जो जडता की ओर से हटाकर चैतन्य की

---

*उद्धवजी भगवान् से प्रश्न करते हुए कहते हैं—"हे विश्वेश्वर ! हे विश्वमूर्ते आपने मुझे विशुद्ध वैराग्य विज्ञान युक्त सनातन ज्ञान बताया अब जिस प्रकार यह ज्ञान सुदृढ हो जाय उस उपाय को मुझे बताइये तथा महत्पुरुष भी जिसकी निरन्तर खोज करते रहते हैं, उस भक्तियोग का भी वर्णन मुझसे कीजिये ।"

ओर ले जाता है। जो असत् पथ से फेर कर सत्पथ की ओर चलाता है उस ज्ञान की प्रशंसा कोई करे भी तो कैसे करें। संसार की ओर अधिकाधिक बढ़ना अज्ञान है आत्मा का साक्षात्कार करना ज्ञान है। ज्ञान होने पर जो आत्मा से प्यार करता है भजन करता है वही भक्त है। भक्ति रसायन है जो सर्वत्र सरसता का संचार करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पारमहंस्य धर्मों का वर्णन करते करते भगवान् अपने आप ही उद्धवजी से कहने लगे—"उद्धव! जो विद्या और शास्त्रीय ज्ञान से सम्पन्न है, जो श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ है वही आत्मदर्शी तथा आत्मज्ञानी है, जो केवल शब्दज्ञानी है, जिसे अपरोक्षानुभव नहीं हुआ है, केवल अनुमान से ही उसने कुछ का कुछ समझ लिया है, उसे ज्ञानी नहीं कह सकते आत्मज्ञानी तत्वदर्शी तो द्वैत प्रपञ्च को तथा इसकी निवृत्ति के साधन रूप वृत्ति ज्ञान को माया मात्र मानकर मुझमें लीन कर देता है। संसार और उसकी निवृत्ति के साधन रूप वृत्ति ज्ञान मुझ परमात्मा में ही अध्यस्त हैं। तत्वज्ञानी मेरे अतिरिक्त किसी को सत् नहीं मानता। उसका अभीष्ट पदार्थ मैं हूँ, उसका सर्व श्रेष्ठ स्वार्थ मैं हूँ, उसके समस्त साधन मेरी ही प्राप्ति के लिये हैं। उसका स्वर्ग तथा अपवर्ग मैं ही हूँ, अधिक क्या कहें उसका सर्वस्व मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त उसे अन्य कोई भी पदार्थ प्रिय नहीं।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! संसारी लोगों को तो ये विषय ही अत्यन्त प्रिय हैं। जब आत्म स्वरूप आपही सब से अधिक प्रिय हैं, तो आपकी प्रियता का अनुभव इन संसारी लोगों को क्यों नहीं होता?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! जिसे मिश्री का ज्ञान ही नहीं जिसने मिश्री का स्वाद चखा ही नहीं उसे मिश्री प्रिय कैसे लगेगी। वह तो गुड के मैल सीरा को ही मीठा समझता है। सीरा में जो मीठापन है वह ईख के रस के ससर्ग से है, किन्तु वह मैल है, जब रस का सम्पूर्ण मैल पृथक् करके उसकी मिश्री बन जाय वह शुद्ध वस्तु होगी। जिसे उसका ज्ञान हो जाय, जो उसका रस चख ले वह फिर सीरा की ओर दृष्टि उठाकर भी न देखेगा। उसे चखना तो पृथक् रहा। अज्ञानी पुरुष मेरे स्वरूप को नही जानते हैं। इसीलिये वे असत् नाशवान और परिणाम में दुःख देने वाले विषयों मे सुखानुभूति करते हैं। ज्ञान विज्ञान से परिपूर्ण सिद्ध पुरुष मेरे परम श्रेष्ठ पद को पहचानते हैं, इसीलिये मुझे सब से अधिक प्यार करते हैं और वे भी मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। ज्ञानी तो अपने अन्तःकरण मे मेरी निरन्तर अनुभूति करता है, मुझे वह हृदय मे धारण किये रहता है। उद्धव ! तपस्या करना, तीर्थों मे भ्रमण करना, पुण्य-तीर्थों में निवास करना, इष्ट मन्त्र का जप करना, विविध प्रकार के दान देना, कुआँ खुदवाना, तालाब बनवाना, बाग बगीचा लगवाना तथा और भी शुभ कर्म करना ये सब मिल कर भी ज्ञान की एक अंशमात्र सिद्धि की बराबरी नहीं कर सकते। इसीलिये ज्ञान की इतनी महिमा गायी है। अतः तुमको चाहिये कि तुम ज्ञान विज्ञान सम्पन्न होकर भक्ति पूर्वक एक मात्र मेरा ही भजन करो। जो आत्म स्वरूप को जान लेता है वही मेरी भक्ति कर सकता है। ज्ञान विज्ञान यह एक प्रकार का सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। जितने भी बड़े बड़े ज्ञानी विज्ञानी ऋषि महर्षि हुये हैं, उन सबने अन्तःकरण रूप यज्ञ पात्र में आत्म रूप से मेरा भजन

करके परम सिद्धि प्राप्त की है। सिद्धि में उन्हें समस्त यज्ञों का पति मैं ही उन्हें प्राप्त हुआ हूँ।"

उद्धवजी ने कहा—"तब भगवन्! मुझे क्या करना चाहिये!"

भगवान् ने कहा—"मुझे कहने से तुम्हारा क्या अभिप्राय? यदि तुम देह को मैं कहते हो, तो तुम शरीर तो नहीं हो। यह शरीर तो त्रिविध विकारों का समष्टि रूप है तुम शरीर नहीं हो शरीर तो तुम में आश्रित है। यह शरीर उत्पन्न होने से पहिले नहीं था अन्त होने पर भी न रहेगा। इसलिये यह शरीर तो माया के अन्तर्गत ही है। शरीर जन्मता है, मरता है तुम्हारा इससे क्या सम्बन्ध? जिसका आदि असत् है, अन्त असत् है, वह मध्य में सत् कैसे हो सकता है। घड़ा बनने के पूर्व भी मिट्टी थी घडा फूट गया तो भी मिट्टी ही हो गई तो मध्य में जब उसकी घड़ा संज्ञा थी तब वह मिट्टी के अतिरिक्त अन्य कैसे हो सकता है। जब सब उसे घड़ा घड़ा कहते हैं तब भी वह मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं। अतः तुम नाशवान् देह नहीं हो। अविनाशी आत्मा हो। इसे तुम निश्चय कर लो। अपनी धारणा को सुदृढ़ बनालो कि मैं आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ।"

यह सुनकर उद्धवजी ने बड़ी ही दीनता के साथ कहा—"भगवन्! मैं अज्ञ हूँ। मेरी बुद्धि बड़ी स्थूल है और यह ज्ञान विज्ञान का विषय बड़ा गूढ़ है। अतः आप कृपा करके इस वैराग्य और विज्ञान से युक्त सनातन विशुद्ध ज्ञान को ऐसी सरलता के साथ समझाइये जो मेरी बुद्धिमे बैठ जाय और मुझे निश्चय हो जाय कि यथार्थ ज्ञान यही है। ज्ञान के साथ ही साथ उस भक्ति को भी मुझे समझाइये जिसकी प्रशंसा करते करते आप अघाते नहीं हैं। जिस भक्ति की खोज में ब्रह्मादिक देवता गण निरन्तर लगे रहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! यह विषय बहुत बकने बकाने का नहीं है। समस्त पारमार्थिक साधन श्रद्धा पर ही अवलम्बित हैं। अतः तुम किसी सद्गुरु का आश्रय ग्रहण कर लो। जब मनुष्य अपना सब कुछ सद्गुरु को सौंप देता है तो उसके उत्थान पतन का समस्त उत्तरदायित्व सद्गुरु के ऊपर आ जाता है। जैसे बिल्ली का बच्चा अपना कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता सर्वात्म-भाव से वह अपनी माता के ऊपर ही निर्भर रहता है। उसकी माँ उसे जहाँ भी चाहती उठाकर रखती है, जो चाहती है खिलाती पिलाती है, वह अपनी ओर से कुछ भी आपत्ति नहीं करता। जो सद्गुरु रूपी,माता के लिये अपने आपको सौंप देता है फिर उसका हित स्वयं सद्गुरु ही करते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"प्रभो ! यह संसार पथ बड़ा ही विकट है, अत्यन्त ही दुरूह है, कटकाकीर्ण और तप्त बालुका मय है। इसमें जो पथिक चलते हैं उन्हें निरन्तर तीनों ताप तापित करते रहते हैं। इन तापों से सतप्त पथिक निरन्तर पीडित बना रहता है। उनको यदि कोई सुन्दर छाता मिल जाय, तो उनके समस्त संताप दूर हो जायँ। छाता भी ऐसा हो जिसमें से निर-न्तर अमृत की वर्षा होती रहती हो। मैं देखता हूँ, ऐसे अमृत वर्षी छाते तो आपके युगल चरणारविन्द ही हैं। जिसने इन सुखद, मृदुल, संताप हारा, परम शीतल अरुण पादारविन्दों का आश्रय ग्रहण कर लिया उसके लिये फिर संसार पथ में किसी प्रकार का आयास प्रयास या त्रास नहीं होता। मेरे लिये तो ये चरण ही परमाश्रय हैं, इनके अतिरिक्त मुझे और कोई आश्रय दृष्टि-गोचर नहीं होता। प्रभो ! मैं भाग्य वश बिना जल वाले इस संसार रूप अन्ध कूप में गिर गया हूँ। यहाँ न प्रकाश है और न जीवनोपयोगी कोई साधन ही। साथही कालरूप भयकर विषधर भुजंग द्वारा डसा गया हूँ। विषय सुख की जो तीव्र

तृष्णा है वही भयंकर वेदना है उस वेदना से मैं तड़प रहा हूँ, अत्यंत व्याकुल हो रहा हूँ ऐसी स्थिति में आपके अतिरिक्त मेरा उद्धार करने वाला कोई अन्य दृष्टि-गोचर नहीं होता। नाथ! मैं आप की शरण हूँ। मैं आपका अकिंचन भक्त, दास तथा सेवक हूँ। हे अशरण शरण! मुझे अपने चरणों की शरण प्रदान कीजिये। काल व्याल के विष से मेरा सम्पूर्ण शरीर जल रहा है अपने वचन रूपी अमृत को छिड़क कर शान्ति प्रदान कीजिये। जिज्ञासु होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ मुझे ज्ञान और भक्ति का रहस्य समझाइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब परम भागवत, भक्त शिरोमणि उद्धवजी ने अत्यंत दीनता से ज्ञान तथा भक्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न किया तब भगवान् प्रसन्नता प्रकट करते हुये अत्यन्त प्यार के साथ कहने लगे—"उद्धव! जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है, वही प्रश्न धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने पितामह देवव्रत भीष्म जी से किया था।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! धर्मराज ने भीष्म पितामह से कब प्रश्न किया और क्यों किया?"

भगवान् ने कहा—"जब कौरव पांडवों का युद्ध समाप्त हो गया, दोनों ओर की सेनायें मर गयीं। दुर्योधन अपने भाई बन्धु तथा सगे सम्बन्धियों सहित मर गया, पांडवों की विजय हो गयी, तब सब ने मिलकर धर्मराज से राज सिंहासन पर बैठने को कहा। उस समय धर्मराज बन्धुओं के वध से व्याकुल हो रहे थे। मेरे बहुत समझाने पर भी वे राजा बनने को उद्यत न हुए, तब मैं ही उन्हें शर शय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह के समीप ले गया। वहाँ जाकर धर्मराज ने उनसे राजधर्म, वर्णाश्रम धर्म, स्त्रीधर्म तथा अन्यान्य विविध प्रकार के धर्मों को पूछा। बहुत से

धर्मों को सुनने के पश्चात् तब उन्होंने मोक्ष धर्म के सम्बन्ध मे प्रश्न किया। उनके प्रश्नों के पितामह ने जो उत्तर दिये वे अत्यत ही उपादेय तथा अलौकिक थे। वे ज्ञान-विज्ञान वैराग्य, श्रद्धा तथा भक्ति से परिपूर्ण थे। उन मोक्ष धर्मों को सुनकर धर्मराज के सब संशय दूर हो गये। उन्हीं मोक्ष धर्मों को मैं तुम्हे सुनाऊँगा।"

यह सुनकर उद्धवजी आश्चर्य चकित होकर बोले—"भगवन्! छोटे लोग बडों के वचनों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया करते हैं। ऐसे ही मनुष्यों के वचनों को प्रमाण दिया जाता है जो अपने से श्रेष्ठ हों निभ्रान्त हों। यह सत्य है कि भीष्म पितामह बडे सदाचारी ज्ञानी थे, किन्तु आपके सम्मुख उनका ज्ञान-विज्ञान नहीं के ही बराबर है। वे आपके वचनों का उद्धरण देते यह तो उचित ही था, किन्तु आप कह रहे हैं कि जो ज्ञान मैंने भीष्म के मुख से सुना है उसे ही तुम्हें सुनाता हूँ।' इसे सुन कर मेरी बुद्धि भ्रम में पड गयी है। भीष्म पितामह तो सदा आपसे उपदेश लेने के लिये इच्छुक बने रहते थे। वे आपको क्या सुनावेंगे! फिर आप उनको इतना गौरव क्यों दे रहे हैं?"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव! भीष्म भगवान ने भी मुझ से यही बात कही थी। जब मैंने उनसे धर्मराज को उपदेश देने को कहा, तब वे बोले—"केशव! आप ही धर्मराज को उपदेश क्यों नहीं देते! आपके सम्मुख मैं इन्हें क्या उपदेश दे सकता हूँ!" तब मैंने उनसे कहा था—'पितामह! मैं संसार में आपकी विमल कीर्ति फैलाना चाहता हूँ। मुझे भक्तों की कीर्ति मे बडा सुख होता है तुम्हारी वाणी पर बैठकर उपदेश तो मैं ही दूँगा, किन्तु नाम तुम्हारा होगा। मेरे भक्तों का नाम हो, सबलोग उनके यश का गान करें यही मुझे अभीष्ट है

अर्जुन की वीरत की ख्याति से मुझे अत्यंत सुख हुआ। भीष्म के कहे हुए ज्ञान को लोग पढ़ेंगे, सुनेंगे उनका यश गान करेंगे। इससे मुझे आन्तरिक प्रसन्नता होगी। माता को इतना सुख सुन्दर स्वादिष्ट वस्तु स्वय खाकर नहीं होता जितना उसे पुत्र को खिलाकर होता है। इसी प्रकार मैं अपने यशोगान से उतना तुष्ट नहीं होता, जितना भक्तों के यशोगान को सुनकर होता हूँ।" इसलिए भीष्म पितामह द्वारा कहा हुआ ज्ञान यद्यपि मेरा ही ज्ञान है, फिर भी मुझे उन से भीष्म द्वारा कहा हुआ कहने मे सुख मिलता है। भक्त मुझे अपना इष्ट मानते हैं मैं भक्तों को अपना इष्ट मानता हूँ। वे मेरा यश गान करते हुए सुखी होते हैं, मुझे उनकी प्रसशा करने मे सुख होता है। भीष्म पितामह द्वारा कहा हुआ ज्ञान तो बहुत है मैं उसे अत्यंत संक्षेप मे तुम्हें सुनाऊगा।"

"उद्धव! मेरे ज्ञान का नाम साख्य है। सांख्य इसलिये कहते हैं कि इसमे तत्वों की संख्या की जाती है। जो इन तत्वों की संख्या जानकर इनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह मुक्त हो जाता है।"

उद्धवजी ने पूछा--"भगवन्। सब तत्व कितने हैं?"

भगवान ने कहा—"तत्वों के सम्बन्ध मे ऋषियों मे बहुत मत भेद हैं। भिन्न भिन्न मुनियों के भिन्न भिन्न मत हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे तत्व ज्ञानी मुनियों के इतने भिन्न मत क्यों हैं?"

भगवान् ने कहा—"इस विषय का विशद रूप से विवेचन मैं आगे करूँगा। वहीं पर सब ऋषियों के वचनों का समन्वय करूँगा इस समय तो तुम एक सर्व सम्मत सिद्धान्त को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करलो मुनियों ने मुख्य अट्ठाईस तत्व माने हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! वे अट्ठाईस कौन कौन से तत्व हैं?"

भगवान् ने कहा—"देखो पुरुष सहित नौ तो प्रकृति हैं।' एक मूल प्रकृति, एक महत्तत्त्व, एक अहंकार और शब्द, रूप, रस, गंध तथा स्पर्श ये पाँच तन्मात्रायें इस प्रकार आठ तो ये प्रकृति हुई एक पुरुष। इस प्रकार नौ तो ये हुए। मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ। चक्षु, श्रोत्र, रसना, घ्राण और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। हाथ, पैर, वाणी,गुदा और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन इस प्रकारा ग्यारह ये हुई। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश पाँच भूत तथा सत्व, रज और तम ये तीन गुण। सब मिलकर कितने हुए? नौ और ग्यारह बीस हुए। पाँच भूत पच्चीस हुए, इनमें तीन गुण मिला दो सब अट्ठाईस हुए। जो इन अट्ठाईस तत्वों को भली भाँति जानता है, तथा इन सब में अधिष्ठान रूप से जो आत्म तत्व अनुगत है उसे जानता है वास्तव मे वही ज्ञानी है, उसी को ये निश्चित ज्ञान है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! यह तो हुआ ज्ञान। अब विज्ञान किसे कहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"विशेष ज्ञान का ही नाम विज्ञान है। जैसे दूर से पडी हुई रस्सी में हमे सर्प का भान होता है, किसी ने कहा—'यह सर्प नहीं रज्जु है।" उनके कथन से हमे ज्ञान तो हो गया कि यह रज्जु है, किन्तु उसके आकार में सर्प का दर्शन ज्ञान होने पर भी होता है। उस रस्सी को उठाकर हम ऐसे बाँध दें कि उसमे त्रिकाल में भी सर्प का भ्रम न हो। यही विज्ञान है। इसी प्रकार ज्ञान से यह तो निश्चय हो गया कि यह जगत मिथ्या हैं, किन्तु त्रिगुणात्मक भाव ज्ञान होने पर भी दिखायी देते हैं। जब आत्म तत्व के निरन्तर अपरोक्षानुभव के कारण कभी भी त्रिगुणात्मक भावों की उत्पत्ति, स्थिति

और लय स्वप्न मे भी दिखायी न दे। सदा सर्वदा अखंड एक रस आत्म सत्ता का ही अनुभव होता रहे यही विज्ञान है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन ! फिर सत् क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे घड़ा सकोरा, नाद, मटुकी, हंडी इन के बनने से पहिले भी जो थी, इनके बनते समय भी जो बनी रही। इन के बन'जाने पर भी जो रही आई और इनके मिट जाने पर भी जो अवशेष रही वही मिट्टी है। वही एक मृत्तिका सत्य है बीच में जो घडा सकोरा नाद आदि संज्ञाये हुई वे सब असत् हैं ज्ञानी की दृष्टि मे घडा सकोरा ये कुछ भी नहीं वह ता सब बर्तनों मे एक मिट्टी को ही देखता है। इसी प्रकार प्रकृति से जो महत्तत्व त्रिगुण अहंतत्व तथा तन्मात्रादिकों की जो उत्पत्ति हुई उत्पन्न होकर इन से बने पदार्थों की स्थिति रही और फिर ये सब अपने अपने कारणों में विलीन हो गये। इन तीनों अवस्थाओं में जो विद्यमान रहा है जो एक कार्य से दूसरे कार्य के अन्तर्गत अनुस्यूत है। जो सब के लय हो जाने भी जो अवशेष रहा जाता है। उसी का नाम सत् है। उसे ही ब्रह्म कहलो, आत्मा कहलो परमात्मा कहलो भगवान् कहलो। वही सत्य है शेष सब मिथ्या है।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! यह जगत् तो देखने में प्रत्यक्ष सत्य सा दिखायी देता है इसे मिथ्या कैसे समझे ? इससे वैराग्य कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—"भैया ! जो दीखे वह सत्य ही है यह तो बात नहीं। आकाश नीला नीला दीखता है क्या आकाश कोई नीला पदार्थ है। इन्द्र धनुष प्रत्यक्ष दिखायी देता है। वह कोई आकाश में रखा हुआ वास्तविक धनुष है ? मरु भूमि में चमकती हुई बालू सूर्य की किरणें पड़ने से प्रत्यक्ष समुद्र सा दिखाई देता है, क्या वह वास्तव में जल है ! जो प्रमाणों से सिद्ध हो वही वास्तविक है।"

उद्धवजी ने कहा—'भगवन्! प्रमाण कितने प्रकार के हैं और प्रमाणों से जगत् मिथ्या कैसे सिद्ध होता है?"

भगवान् ने कहा— 'मुख्य चार प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, शब्द प्रमाण और ऐतिह्य प्रमाण।" प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो प्रत्यक्ष दीखे। जैसे वस्त्र है। अब वस्त्र मे देखते हैं क्या एक ताना है एक बाना है। ताने बाने से मिलकर वस्त्र बना है। ताने मे क्या है? सूत्र। बाने मे क्या है? सूत्र इससे सिद्ध हुआ सूत्र ही सत्य है और सब मिथ्या है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं पट मे सूत्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है। घट मे मृत्तिका के अतिरिक्त कुछ नहीं। अत. सूत्र मृत्तिका सत् है, शेष नाम रूपमिथ्या हैं। जगत् मे भी एक ब्रह्म सत्य है शेष सब मिथ्या है। अनुमान प्रमाण उसे कहते हैं जैसे कहीं धुआ देखा। उस धुआ को देखकर अनुमान लगा लिया कि वहाँ अग्नि होगी। यद्यपि अग्नि को प्रत्यक्ष नहीं देखा है, किन्तु पहिले जहाँ भी धुँआ देखा था वहीं अग्नि थी। इसलिये यह अनुमान लगा लिया कि जहाँ जहाँ धुआ होगा वहाँ वहाँ अग्नि होगी। सीप दूर से चाँदी की भाँति दिखाई देती है, किन्तु वहाँ चाँदी न थी न है न होगी। इसी प्रकार यह जगत् मिथ्या प्रतीत हो रहा है न पहिले था न है न होगा। शब्द प्रमाण उसे कहते है जो वेद मे कहा गया हो। वेद डके की चोट कह रहा है। "यह नानात्व कुछ भी नहीं है। ऐतिह्य प्रमाण उसे कहते हैं जो महाजनों द्वारा परम्परा से प्रसिद्ध हो। जितने भी महापुरुष हो गये हैं वे सब एक स्वर से कहते आये हैं। ब्रह्म ही सत्य है जगत् परिवतन शील है। मिथ्या है। इन चारों प्रमाणों के द्वारा जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। अतः इस जगत् से उपराम हो जाय, वैराग्य धारण करले। जगत् से उपराम हो जाना यही वैराग्य है। विज्ञानी पुरुष चारों प्रमाणों में अनावस्था होने के कारण विकल्प रूप संसार से विरक्त हो जाता है।"

उद्धवजी ने कहा —"भगवन् ! अच्छा, इस लोक की तो सब वस्तुएँ नाशवान हैं, किन्तु स्वर्गादि लोकों की वस्तुएँ तो दिव्य हैं उनसे तो वैराग्य न करे ?"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, यह बताओ स्वर्गादि लोक कैसे प्राप्त होते हैं ?"

उद्धव जी ने कहा— 'पुण्य कर्मों से ही ये दिव्य लोक प्राप्त होते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"कर्म सब परिणामी हैं। कितना भी पुण्यकर्म हो, कभी न कभी वह भी क्षीण होगा। जब कर्म ही परिणामी है, तो उनसे प्राप्य लोक अविकारी और नित्य कैसे होगे ? जैसे कारण होता है वैसा उसका कार्य होगा। मृत्तिका की जो भी वस्तु बनेगी वह मिट्टी ही होगी। नाशवान् अन्न से जो देह बनेगा वह भी नाशवान् ही होगा। इसलिये कर्मों के द्वारा प्राप्त ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने लोक हैं वे सब नाशवान् हैं। अतः जो विकारवान हैं वे अमङ्गल रूप हैं। इसीलिये विचारवान् व्यक्ति को चाहिये कि इस लोक के सदृश स्वर्गादि समस्त लोकों को भी विनाशी ही समझे उनकी ओर से भी विरक्त हो जाय। यह मैंने तुझे ज्ञान-विज्ञान, सत् और वैराग्य के सम्बन्ध में बताया अब तू और क्या सुनना चाहता है ?"

उद्धवजी ने कहा—'भगवन् ! भक्ति के विषय मे मैं और सुनना चाहता हूँ।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अरे भाई, मैंने कितनी बार तो तुझे भक्ति के सम्बन्ध मे बताया है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! इस विषय मे सुनते-सुनते मेरी तृप्ति ही नहीं होती है। मेरी इच्छा होती है, कि इस विषय को मैं बार-बार सुनता रहूँ और विशेष कर आपके श्रीमुख से।' अब आप कृपा करके मुझे भक्ति के परम साधन बता दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! भक्ति शास्त्र अगाध है। इसके भेद भी असंख्यो हैं। मैं देखता हूँ भक्ति के विषय मे श्रवण करने की तुम्हारी रुचि आरम्भ से ही है। जब कोई मनोनुकूल सुनने समझने वाला योग्य श्रोता मिल जाता है, तो वक्ता का उत्साह भी अधिक बढ जाता है। उस समय वह अपनी रहस्य से रहस्य ज्ञान को बताने के लिये उद्यत हो जाता है। तुम्हे योग्य अधिकारी समझकर अब मैं अपनी भक्ति के परम साधन तुम्हें बताता हूँ।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मुझे स्पष्ट करके समझावे। आपकी भक्ति प्राप्त करने के मुख्य-मुख्य साधन कै हैं।"

भगवान् ने कहा—"मेरी भक्ति प्राप्त करने के मुख्यतया चौदह साधन हैं। इनमें से किसी एक को ही करने से सिद्धि प्राप्त हो जाती है, फिर जिनमें ये चौदह वर्तमान हैं उनके सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है अब मैं तुम्हें उन चौदह साधनो को ही क्रम से सुनाऊँगा। इन्हे तुम दत्त-चित्त होकर सावधानी से श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने जो भक्ति प्राप्ति के चौदह साधन बताये उन्हें मैं आगे आपसे कहूँगा। आप भी इस परम पावन पुण्य प्रसंग को श्रवण करने के लिये सम्हल जायँ।"

छप्पय

हरि बोले—"जो ज्ञान भीष्म पाडवकूँ दीयो।
ताही कूँ हूँ कहूँ प्रश्न तुमने जो कीयो॥
नौ, ग्यारह अरु पाँच तीन अट्ठाइस ये सब।
कहे तत्व इन माँहि एक अनुगत हौं उद्धव॥
ज्ञान कह्यो अपरोक्ष है, दृढ़तर सो विज्ञान है।
नेति नेति तै जो बचै, वही ब्रह्म भगवान् है॥

—:❀❀:—

भक्ति योग वर्णन

(१२८७)

भक्ति योगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणायतेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १९ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

परिणामी सब कर्म लोक परलोक अशाश्वत ।
जानि असत् सब तजै जगत्कूँ ज्ञानी विषवत् ॥
भक्ति योग अब कहूँ समुझिकें तुमरी रुचि अति ।
कथा सुनै अरु करै नाम कीर्तन मम नित प्रति ॥
मेरी पूजामहँ सतत, रहै भक्त सलग्न नित ।
त्यागि जगत् व्यवहार सब, समुझै सेवा माहिँ हित ।

जितने कर्मारम्भ हैं सब दोष युक्त हैं। जो भी कर्म करोगे उनका कुछ फल होगा, वह फल कभी न कभी नाश होगा। कर्मों से प्राप्त जितने लोक हैं वे सब क्षयिष्णु हैं नाशवान् हैं। कर्मों का एक ही उपयोग है अन्तःकरण की शुद्धि शुभ कर्म करते करते अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान का

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! मैंने भक्ति योग तो तुम से पहिले ही कहा था, किन्तु देखता हूँ तुम्हारी इस ओर अधिक प्रीति बढ़ी हुई है, अतः मैं फिर से तुम्हें अपनी भक्ति के परम साधन कहता हूँ।"

प्रकाश होगा और ज्ञान से मुक्ति होगी। ज्ञान मार्ग में कर्मों का त्याग अत्यावश्यक है।

एक दूसरा ऐसा मार्ग है, जिसमें कर्मों का त्याग नहीं किया जाता वे कर्म निष्काम भाव से प्रभु प्रीत्यर्थ किये जाते हैं। उसे चाहे निष्काम कर्म योग कह लो या भक्ति योग; कर्म करो, किन्तु सांसारिक कर्म की इच्छा से मत करो। मेरे इस कर्म से सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न हो जायँ इसी भावना से करो। इससे दो मार्ग सिद्ध हुए एक ज्ञान मार्ग दूसरा भक्ति मार्ग केवल वैदिक। यज्ञ यागादि कर्म द्वारा की हुई भक्ति का नाम उपासना है। वेद, तन्त्र तथा पुराणादि विधि से भगवान् के पूजन का नाम भक्ति है। भक्ति और ज्ञान दोनों स्वतन्त्र मार्ग हैं। जो भक्ति को प्रधान मानते हैं, वे ज्ञान को भक्ति का साधन मानते हैं और जो ज्ञान को प्रधान मानते हैं, वे भक्ति को ज्ञान का साधन मानते हैं। किन्तु भागवत शास्त्रों में भक्ति को ही प्रधानता दी गयी है, वहाँ मुक्ति को भी तुच्छ और अग्राह्य बताया है जो ज्ञान का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार भक्ति की महिमा अत्याधिक है। भक्ति मार्ग सरस है सरल है सुन्दर है, हृदयग्राही है, मानव रुचि के अनुकूल है और स्वाभाविक है। उस भक्ति योग के विषय में जितना भी कहा जाय उतना ही अल्प है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से भक्ति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् भक्ति के मुख्य तथा चौदह साधनों का वर्णन करते हुए कहने लगे—"उद्धव! मेरी भक्ति प्राप्त करने के बहुत उपाय हैं, उनमें चौदह मुख्य हैं। उनमें सर्व प्रथम है मेरे सम्बन्ध की अमृतमयी कथाओं को सुनना।"

१–श्रवण श्रद्धा–"भगवान् के नाम की महिमा के सम्बन्ध में सुनना, उनके परम पावन चरित्रों को सुनना और उनके दिव्य अलौकिक गुणों को श्रवणकरना, यह भक्ति का प्रथम और मुख्य

साधन है। उद्धव ! नाम और नामी का अभिन्न सम्बन्ध होता है। जिसका नाम दूध है और जो दूध पदार्थ है वह एक ही वस्तु है। मैं और मेरा नाम दो वस्तु नहीं है। मेरे नाम की महिमा सुनना मेरी ही महिमा सुनने के समान है। संसार रूपी सर्प से डसे हुए, पुरुषों के लिये एक ही सबसे सुन्दर अमोघ अचूक औषधि है। कि वह सभी अवस्थाओं मे सर्वत्र सदा मेरे नामों का कीर्तन करे। जैसे अजामिल मेरे नाम के ही प्रभाव से तर गया, इसी प्रकार नामानुरागी भक्तों की कथा सुनना तथा जिन वचनो मे मेरे नाम की महिमा गायी गयी हो उन्हें सुनना यह तो नाम श्रवण है। अब दूसरा है चरित्र श्रवण।

मेरे जितने व्रज के गोष्ठ के निकुञ्ज के, मथुरा तथा द्वारका के चरित्र हैं उन्हें बैठकर परस्पर में प्रेम पूर्वक सुनना यह भी भक्ति बढ़ाने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। उद्धव ! जहाँ मेरे बहुत से सहृदय भावुकभक्त बैठकर मेरे चरित्रों की चर्चा करते हैं। सभी के नेत्रों से प्रेमाश्रु बहते रहते हैं, सभी का शरीर पुलकित होता है, सभी के कंठ गद्गद् हो जाते हैं, उस समाज में तो मैं पलथी मार कर बैठ जाता हूँ। अहा ! जहाँ पर भक्त मेरे चरित्र सुनते सुनते अघाते नहीं हैं, सभी नित्य उन्हीं चरित्रों को सुनने के निमित्त व्यग्र बने रहते हैं। उनमें से कोई एक उत्कृष्ट भक्त अपनी अमृत मयी वाणी से कथामृतका प्रवाह बहाता है और उस वेगवान् प्रवाह से अनेको धारायें फूट कर भक्तों के हृदयों को परिप्लावित करती रहती हैं, उस समाज के सुख के सम्बन्ध मे तो कहा ही क्या जा सकता है। वहाँ तो भक्ति महारानी मूर्तिमयी होकर नृत्य करने लगती है। वह स्थल परमधन्य है सब तीर्थों से भी श्रेष्ठ है जहाँ मेरे बहुत से भक्त आनंद में विभोर होकर नित्य नियम से मेरी कथा श्रवण करते हैं।

उद्धव ! जब मैंने महाराज पृथु से वर माँगने को कहा, तो

उन्होंने मुझसे यही वर माँगा कि "प्रभो! आपके चरित्र श्रवण के निमित्त मेरे दश सहस्र कान हो जायँ।" मेरे भक्त मेरे चरित्रों को सुनते सुनते सतुष्ट नहीं होते उनकी अधिकाधिक श्रवण की लालसा बनी ही रहती है। इसी प्रकार मेरे गुणों का श्रवण करें। नाम लीला गुण श्रवण से मेरी भक्ति हृदय में स्वतः प्रादुर्भूत होती है। यह तो श्रवण भक्ति हुई। दूसरा उपाय है कीर्तन।

२–नाम कीतन–श्रवण तो कानों का साधन है, कीर्तन वाणी का साधन है। मेरे नामों का लीला तथा गुणों का उच्च स्वर से उच्चारण करने का नाम कीर्तन है। जप मे और कीर्तन में अन्तर है। मेरे प्रणत्व बीज तथा व्याहृति युक्त नमः स्वाहा स्वधान्त मन्त्रों का तथा नाम मंत्रों का जप एकान्त मे बैठकर होता है उसके लिये माला की सख्या की अपेक्षा रहती है, किन्तु कीर्तन के लिये इन सबकी अपेक्षा नहीं। केवल उच्च स्वर से वाणी से उच्चारण ही यही कीर्तन है। नाम सकीर्तन जैसे :—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीताराम॥
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

और भी जो मेरे नाम हैं उनका ताल स्वर तथा बाजेके साथ अथवा वैसे ही उच्च स्वर से उच्चारण करने का नाम कीर्तन है। इस नाम सकीर्तन में नारदजी की पूर्ण निष्ठा है वीणा बजा कर मेरे राम कृष्ण हरि इन नामों का निरन्तर कीर्तन करते रहते हैं। लीला, लीला कीर्तन तथा गुण कीर्तन व्यास, शुक तथा अन्यान्य ऋषि महर्षि करते रहते हैं। शौनकजी ने तो मेरे लीला गुणों की प्रशसा करते हुए यहाँ तक कहा है कि बुद्धिमान पुरुषों के लिये तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, सत्कथन, ज्ञान और समस्त दान धर्म आदि अखिल सत्कर्मों का एक मात्र अक्षय फल यही है कि

भगवान् उत्तम श्लोक के गुणानुवाद का वर्णन कियाजाय। मेरे नाम, लीला तथा गुणों के गान से मैं विवश होकर चला आता हूँ, मेरे नामों का अविश्रान्त सतत कीर्तन करते रहना यह मेरी भक्ति प्राप्त करने का सर्वोत्कृष्ट सर्व सुगम सर्वोपयोगी सुन्दर साधन है। तीसरा साधन है मेरी पूजा में तत्परता रखना।

३–पूजा तत्परता–मेरी पूजा को बडे उत्साह के साथ करना। बिना पूजा किये भोजन आदि कुछ भी न करना। पूजा करना यह जीवन का एक प्रधान कार्य हो जाय। बिना निष्ठा के कोई भी कार्य नहीं होता। अतः दिखाने के लिये नहीं मेरी पूजा में निरन्तर परिनिष्ठा रखना। भक्त का सर्वस्व मेरी पूजा ही है। जो भक्त मेरी पूजा मे प्रमाद करता है वह वास्तविक भक्त नहीं। अतः मेरी पूजा में निष्ठावान् होना यह मेरी भक्ति की प्रमुख साधना है। चौथा साधन है स्तोत्रों द्वारा मेरी स्तुति करना।

४–स्तुति स्तवन–भगवान् के उद्देश्य से जो भी कुछ विनती की जाय, वह भगवान् के बद द्वार खोलने की कुंजी है। उन्हीं विनय वचनों को ऋषियो ने स्तोत्र या स्तवन कहा है। वह स्तुति कई प्रकार की जाती है। एक तो सप्रार्थना मयी होती है। जैसे कहते हैं—"हे प्रभो! जैसे कामियों को मनोनुकूल कामिनी प्यारी होती है और कामिनियों को मनोनुकूल युवक प्रेमी जार प्रिय लगता है, ऐसे ही हे कान्त! तुम मुझे कब प्यारे लगोगे। जैसे लोभी को पैसा अत्यत प्यारा लगता है ऐसे ही हे मेरे हृदय धन! तुम मुझे प्यारे लगो।

दूसरी अत्यत दीनता पूर्वक स्तुति होती है—"जैसे—मैं पाप

रूप हूँ, पापात्मा हूँ पाप संभव हूँ। आप सभी पापों को हरने वाले हैं हे हरे! मेरी रक्षा करो रक्षा करो।' हे नाथ! हे प्रभो! मेरे समान कोई अपराधी तथा पापात्मा नहीं है, मुझे तो आप से कुछ कहने में भी बड़ी लज्जा लग रही है, अब मैं क्या कहूँ, क्या विनती करूँ।" एक लालसामयी स्तुति होती है—"जैसे मैं उस वृन्दावन मे जिसमें मेरे स्वामी हलधर सुदामादिकों के साथ गौओं के पीछे-पीछे मुरली बजाते हुए घूमते रहते हैं। उसी वन में रो-रोकर यह पुकारता हुआ कि हे नाथ! आप मुझ पर प्रसन्न हों कृपा करें ऐसा कब होऊँगा।" हे नाथ! मैं वृन्दावन में यमुना पुलिनों पर आपके नामों का कीर्तन करते हुए, नेत्रों से अश्रुबहाते हुए कब तांडव नृत्य करते करते मूर्छित होकर व्रज रज में गिर पड़ूँगा।"

इसी प्रकार की अनेकों स्तुतियाँ, अथवा गजेन्द्र स्तुति, प्रह्लाद स्तुति, वेदस्तुति तथा अन्यान्य महा पुरुषों के बनाये हुए स्तोत्रों को मधुर वाणी से भगवान् के सम्मुख कहना उनका गान करना।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्तुति करने से क्या लाभ होता है?"

सूतजी बोले—"महाराज! स्तुति करने से हृदय द्रवी भूत हो जाता है। अपनी दीनता भगवान् के सम्मुख प्रकट करते हैं, उनकी भक्तवत्सलता का स्मरण करते हैं, तो हृदय में एक प्रकार की हिलोरें उठने लगती हैं। ऐसा विश्वास होने लगता है कि जब भगवान् पतित पावन हैं अधमोद्धारक हैं, तो अवश्य ही वे हमारा उद्धार करेंगे। भगवन्! यह मनुष्य बड़ा अभिमानी है, यह किसी के सम्मुख स्वेच्छा से सिर झुकाना नहीं चाहता। जहाँ इसे अपनी अल्पज्ञता का अपनी अधमता का बोध हुआ और भगवान् की

भक्त वत्सलता और महत्ता का भान हुआ तहाँ इसका समस्त अज्ञान नष्ट हो जाता है, फिर इसके उद्धार मे कोई सन्देह नहीं रह जाता। अतः प्रातः सायं पूजा के अनन्तर नित्य ही नियम से स्तुति प्रार्थना स्तोत्र पाठ करने चाहिये। ये मैंने भगवान् के कहे हुए चार उपाय बताये शेष उपायों को आगे बताऊँगा। बडी गर्मी है मुख सूखता है, तनिक गंगा जल पान करलूँ।'

छप्पय

है के अति ई आर्त करै स्तव मेरो सादर।
परम दीनता प्रकट करै मेरे प्रात आदर॥
करुनामय इस्तोत्र कंठ गद् गद् ह्वै गावै।
मम मन्दिर महँ भक्ति भाव तैं गाइ सुनावै॥
मेरी सेवामहँ सदा, प्रेम रखहि सेवा करै।
मेरे सम्मुख दण्डवत्, प्रेम सहित भूपै परै॥

भक्ति के परम साधन

(१२८८)

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्त पूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १९ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

सब अङ्गनि तैं करै बन्दना मम भक्तनि की ।
पूजा मोतैं अधिक करै श्रद्धातैं उनि की ॥
निज पूजा कूँ निरखि होहुँ नहिँ उतनो हरषित ।
जितनो पूजित भक्त निरखि होवै अंग पुलकित ॥
थावर जगम जीव सब, अचर सचर चैतन्य जड़ ।
निरखै मोकूँ सबनि महँ, जगमहँ सोई भक्त बड ॥

भक्ति मार्ग मे सब से बडी दो बात है अपने को सबका सेवक समझो और जो भी कुछ करो प्रभु की पूजा समझ कर ही करो। अर्थात् तुम्हारे समस्त कर्मों का उद्देश्य यही हो कि हम अपने स्वामी की सेवा कर रहे हैं। भक्त भगवान् को अत्यंत प्रिय

---

*भगवान् श्री कृष्ण चन्द्रजी भक्ति की परम साधनों को बताते हुए कहते हैं—"उद्धव मैं भक्ति बढ़ाने के चार साधन बता चुका अब कुछ और ये हैं। जैसे मेरी परिचर्या के प्रति प्रेम प्रदर्शित करना, सर्वाङ्गों से मुझे प्रणाम करना, मेरे भक्तों की मुझसे भी अधिक पूजा करना और सम्पूर्ण प्राणियों में मेरी ही बुद्धि रखना।"

हैं भगवान् भक्तोंको अपना सर्वस्व मानते हैं। इसलिये जिन्हे भगवान् को पाना हो, वे भक्तों की शरण मे जायँ। जिसपर भक्त प्रसन्न हो गये उन पर भगवान् को प्रसन्न होना ही पडेगा। किन्तु जो भक्तों की उपेक्षा करके सीधा भगवान् से ही सम्बन्ध जोडना चाहता है, भक्तों को कुछ समझना ही नहीं उसे अंत मे पछताना पडता है, क्योंकि भगवान् तो भक्तो के वश में हैं जो उनके प्रेमियों का अपमान करता है उसे भगवान् कैसे अपना सकते हैं

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भक्ति के प्रधान चौदह साधनो में से चार साधनों को बताकर अब भगवान् पाँचवा साधन बताते हुए कह रहे हैं—"उद्धव ! पंचम साधन है मेरी परिचर्या के प्रति आदर भाव।

५—परिचर्या आदर—भगवान् की पूजा जो उपकरण हैं उनके प्रति अत्यंत ही ममत्व रखना। जैसे मेरे लिये जो आसन हो वह अपनी सामर्थ्यानुसार उत्तम से उत्तम हो। पाद्य आचमनीय तथा स्नान के लिये जल हो वह उत्तम से उत्तम पात्र में माँजकर पवित्रता के साथ लाया गया हो। मेरे पचामृत स्नान के लिये जो दुग्ध, दधि, घृत,शर्करा तथा मधु एकत्रित किया हो वह उत्तम से उत्तम हो। वस्त्र,यज्ञोपवीत सुन्दर से सुन्दर हो। पुष्प सुन्दर सुगधित और अम्लान हों, माला श्रद्धा सहित गुंथी हुई हो। साराश यह कि नैवेद्य , पत्र, पुष्प, फल या जो भी पूजा सम्बन्धी वस्तुएँ हों वे सुन्दर स्वच्छ और उत्तम हों मेरे मन्दिर में लज्जा छोडकर स्वयं झाडू दे, स्वयं उसके पार्षदों को स्वच्छ करे और पूजा के उपकरणों को अत्यंत आदर के सहित एकत्रित करें। तब पूजा करने बैठे और प्रेम पूर्वक पूजन करे। छटा साधन है साष्टाग दंडवत्।

१—सवाङ्ग अभिवादन—श्रद्धास्पद के प्रति नत होकर उनके प्रति आदर भाव प्रकट करना, इसे ही प्रणाम कहते हैं। प्रणाम के बहुत भेद हैं। हाथ जोड लेना, सिर झुका देना, चरण स्पर्श कर

लेना, पंचाङ्ग प्रणाम कर लेना तथा साष्टाङ्ग दंडवत् करना। इन सब में साष्टाङ्ग दंडवत् का महत्व अत्यधिक है। अपने श्रद्धास्पद को देख कर उनके सम्मुख आठो अङ्ग से दण्डे के सदृश पड़ जाने का नाम साष्टाङ्ग दण्डवत है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान् आठ अङ्ग कौन कौन से हैं?"

भगवान्ने कहा—"दोनों पैर दोनों हाथ, हृदय सिर, मन और वाणी ये ही आठ अङ्ग हैं। दोनों हाथों को दोनों पैरों दोनों को लाकर भूमि में लोट जाय, पैरों के पंजे हाथों के पंजे हृदय और सिर भूमि में लगा रहे। फैले हुए हाथों की मुकुलाकार अञ्जलि बँधी रहें मन से मेरे चरणों की चिन्ता करता रहे और वाणी से कहे "हे प्रभो! मृत्यु के भय से भयभीत हो रहा हूँ मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूँ।" इस प्रकार सदा मेरे मंदिरों में जाकर मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करे, तथा मेरे भक्तों के लिये तथा मेरे अभिन्न रूप के लिये भी सदा साष्टाङ्ग प्रणाम करे। अभिवादन से दीनता तथा मृदुता आती है। सातवाँ साधन है मेरे भक्तों की पजा करना।

७—भक्त पूजा प्रेम—भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! संसार में जितना मुझे भक्त प्रिय है, उतना प्रिय कोई भी नहीं है। लक्ष्मी जी मेरी अर्धाङ्गिनी हैं, किन्तु भक्तों के पीछे मैं उन्हें भी छोड़ सकता हूँ। कमलयोनि ब्रह्मा मेरे पुत्र हैं, किन्तु भक्त मुझे उन से भी अधिक प्रिय हैं, मैं तुम्हें कहाँ तक बताऊँ भक्त मेरी आत्मा हैं मेरे इष्ट हैं सर्वस्व हैं। मेरा कोई चाहे कितना भी भक्त क्यों न हो यदि वह मेरे भक्तो से द्वेष करता है, तो मैं उसका आदर नहीं करता। जो केवल मेरे ही भक्त हैं, वे वास्तव में भक्त नहीं हैं यथार्थ भक्त तो हैं जो मेरे भक्तों के भक्त हैं। मेरे भक्तों की सदा सेवा करने वाले राजर्षि अम्बरीष थे। जहाँ उन्होंने तुलसी माला धारण किये शंख चक्राङ्कित, गोपी चंदन का तिलक लगाये

वैष्णव को देखा वहीं वे उसको साष्टाङ्ग प्रणाम करते, जिसके मुख में भगवान् का नाम हो, जो भगवान् की कथा कहते हों, जो भगवान् का कीर्तन करते हों उन सब को देखकर वे प्रणाम करते और उनकी सब प्रकार की सेवा करते। दुर्वासा भी मेरे भक्त थे, किन्तु वे मेरे भक्तों को कुछ नहीं समझते थे। अपने तप के अभिमान में सदा भरे रहते थे। उनके आने पर अम्बरीष ने उनका आदर किया धर्म संकट में पडकर उन्होंने उनको भोजन कराने के पूर्व जल पान कर लिया। इसी पर वे क्रुद्ध हो गये। कृत्या उत्पन्न कर दी। अम्बरीष तो कुछ नहीं बोले किन्तु मेरे दिव्यायुध सुदर्शन चक्र से मेरे भक्त का अपमान न सहा गया। उसने दुर्वासाजी का पीछा किया, दुर्वासा जी तीनों लोकों में घूमे सब की शरण गये, किसी ने भी न शरण दी। हार कर मेरे समीप आये। मुझसे बोले—"आप मुझे शरण दीजिए।"

मैंने कहा—"मैं विवश हूँ; तुम्हें शरण नहीं दे सकता।"

वे बोले—"आप तो शरणागत वत्सल हैं। अशरण शरण हैं।"

मैंने कहा—"मैं सब कुछ हूँ, किन्तु भक्तों के अपराधियों के लिये मेरे यहाँ स्थान नहीं। मैं भी तो दूसरों के अधीन हूँ। वे आश्चर्य चकित होकर बोले—"आप किनके अधीन हैं?"

मैंने कहा—मैं भक्तों के अधीन हूँ।"

तब वे बोले—"तो मेरा कहीं भी उद्धार न होगा?"

मैंने कहा—"होगा क्यों नहीं, अवश्य होगा।"

वे बोले—"जब सब के शरण देने वाले आपने ही मना कर दिया तो और कौन स्थान रहा जहाँ मेरा उद्धार होगा।"

मैंने कहा—"भक्तों की शरण मे ही जाने से उद्धार होगा। उन्हीं राजर्षि अम्बरीष की शरण में जाओ।"

यह सुनकर वे राजा की शरण में गये, तब संकट से बचे। उद्धव ! अपने अपराधी को क्षमा करने में मुझे कुछ भी कष्ट नहीं, किन्तु भक्तों के अपराधियों को मैं क्षमा करने में असमर्थ हूँ। दुर्योधन मेरा तो मान सम्मान करता ही था। किन्तु मेरे भक्त पांडवों से वह द्वेष रखता था, इसीलिय मैंने उसके यहाँ भोजन नहीं किया।

जब मैं मिथिला में श्रुतदेव ब्राह्मण के घर बहुत से ब्राह्मणों के साथ गया, तब उसने मेरी तो बहुत पूजा की ब्राह्मणों की मेरे भक्तों की उतनी नहीं की तब मैंने उसे डाँटते हुए कहा—"तू मुझसे भी अधिक इन मेरे भक्तों की पूजा कर।"

उद्धव जी ! केवल मेरी पूजा से तो अकेली मेरी ही पूजा होती है, भक्त की पूजा करने से भक्त और मेरी दोनों की पूजा होती है। मुझे लाकर पत्र, पुष्प, फल चढा दिये तो मेरी पूजा हो गयी। उन्हीं वस्तुओं को भक्त के सम्मुख रखो तो वे बिना मुझे भोग लगाये तो कुछ खाते ही नहीं। मुझे भोग लगावेंगे प्रसाद बाँटेंगे तब पावेंगे इससे दोनो की पूजा हो गयी। अत भक्तो की पूजा मुझसे भी अधिक करनी चाहिये। मैं भक्तों की पूजा देखकर बहुत अधिक प्रसन्न होता हूँ।" आठवाँ साधन है, सब भूतों मे मेरी भावना करना।

८—सर्वात्म दर्शन—किसी भी जड चैतन्य, सजीव निर्जीव प्राणी की मेरे बिना सत्ता नहीं। चराचर विश्व में मैं ही रम रहा हूँ। मेरा भक्त सब में मेरा दर्शन करता है। जब वह सब में मुझे ही देखता है, तो किससे विरोध करेगा, किसकी निंदा करेगा। विरोध अन्य से किया जाता है, निन्दा अपने से भिन्न स्वभाव वाले की की जाती है। जिस की ऐसी मति निश्चित है, कि सब मेरे इष्ट के ही रूप हैं वे ही नाना रूपों मे क्रीडा कर रहे हैं, उसकी द्वेष बुद्धि रहेगी ही कैसे ? वह शोक मोह से सदा दूर ही

रहेगा। नवमाँ साधन है—

९—मेरे ही निमित्त सम्पूर्ण अंगो की चेष्टा करना।

१०—समस्त चेष्टायें प्रभु निमित्त—सम्पूर्ण अङ्गों की जो चेष्टाये हों वे मेरे ही निमित्त हो, किसी अन्य के निमित्त न हों। जैसे पतिव्रता अपना सर्वस्व पति को ही अर्पित कर देती है। उस की जितनी भी चेष्टायें होंगी, पति के ही निमित्त होंगी। वह शरीर पर उबटन लगावेंगी, उसे वस्त्राभूषणो से सजावेगी, शृंगार करेगी, वह सब पति की ही प्रसन्नता के लिये करेगी। कर्म न कोई बुरे हैं न अच्छे। भावना के ही अनुसार वे अच्छे बुरे हो जाते हैं। एक ही कर्म दो करते हैं एक के कर्म की सब प्रशसा करते हैं, दूसरे के उसी कर्म की निन्दा होती है। जिस प्रकार पतिव्रता शृंगार करती है, उसी प्रकार वेश्या भी शृंगार करती है, किन्तु वेश्या का शृंगार प्रदर्शन के लिये है, वह एक के लिये नहीं है। इसलिये उसकी निन्दा होती है, पतिव्रता अपने अपने पति को छोडकर दूसरे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती, इसलिये उसका वही कार्य वन्दनीय और श्लाघनीय समझा जाता है। संसारी लोग भी तो दिन भर देह के ही पीछे चिन्तित होते रहते हैं। आज यह नहीं पचा अमुक चिकित्सक को बुलाओ अमुक वस्तु खाओ। अमुक वस्तु अमुक स्थान से मँगाओ। उसका इस प्रकार उपभोग करो। इन्हीं बातों मे वे लगे रहते हैं। भक्त का अपना तो कुछ है ही नहीं। वह जो भी करता है प्रभु पूजा के ही मिमित्त करता है। वह दन्त धावन, शौच, स्नान, तथा भोजन आदि जो भी करता है प्रभु सेवा के ही निमित्त करता है। वृक्ष लगाता है तो इसीलिये कि इन पर जो पत्र, पुष्प तथा फल आदि आवेंगे, वे प्रभु की सेवा में लगेंगे। साराश यह है कि वह जो भी लौकिक वैदिक क्रिया करता है सब हरि सेवानुकूल ही करता है। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग की प्रत्येक चेष्टा सदा सर्वदा मेरे निमित्त ही

होती है। वाणी से वह जो बोलता है वह भी मेरे ही गुणों का गान करता है।

११—वाणीगुणानुकथन—जप, कीर्तन, स्तुतिपद, गान करते समय भगवान् के नामों का उनके गुणों का तो उच्चारण होता ही है। साधारण बातों में भी सदा सर्वदा मेरे ही गुणों का गान हो। थोडा ठंडा जल पिया तुरन्त बोल उठे—अहा! भगवान

कितने दयालु हैं देखो जल रूप मे जीवन बनकर उपस्थित हो रहे हैं। बडी भारी गरमी लग रही है कहाँ से शीतल वायु आ गयी अहा! भगवान् ने कैसी वायु भेज दी। जाडे से काँप रहे हैं, अग्नि मिल गयी, समझ लिया भगवान् ही आ

गये हैं। साराश यह है दुःखमें सुख में वाणी से जो भी निकलें भगवान् के गुणानुवाद ही निकले। सदा उनकी कृपा का ही अनुभव करके वाणी बोले। ग्यारहवाँ साधन है मन को भी सदा मुझ में ही लगाये रहना।

११—मानसिक समर्पण—"जो भी काम करे उसे मेरे ही अर्पण कर दे। मन को इधर उधर भटकने से रोके। जब मन इधर उधर भटकेगा, तो अनर्थ करेगा मनमानी करेगा, अपने में कर्तापने का अभिमान आरोपित करेगा जिससे उन कर्मों के फलों का भी उसे भोक्ता होना होगा। जब मन को मुझ में लगा कर मेरे निमित्त जो कार्य करेगा उसे सुख दुख आदि का भोग भी न करना पडेगा। वह मन से यही सदा सोचता रहेगा—'मैं करने कराने वाला तो हूँ नहीं। सब तुम्हीं करते हो, तुम्ही कराते हो और इन के फल भोक्ता भी तुम्हीं हो और। इस प्रकार जो मुझ में ही मन लगाकर कर्म करता है उसे कर्मजन्य दोष नहीं लगता। बारहवाँ साधन है, समस्त कामनाओं को छोड देना।

१२—कामना परित्याग—मन में कामनायें तभी उठती हैं जब अपने आप को सुखी बनाने की भावना हो। आँखों से सुन्दर-सुन्दर रूप देखकर हम सुखी हों, कानों से श्रुत-मधुर सगीत या हृदयहारी शब्द सुनकर सुखी हो। त्वचा से अत्यन्त सुखद वस्तुओं का स्पर्श करके सुखी हो, नासिका के सुदर सुगधित वस्तुओं को सूघकर सुखी हो, तथा रसना से स्वादिष्ट सुदर षडरस पदार्थों का स्वाद लेकर सुखी हों किन्तु मेरे भक्त की अपनी कोई कामना तो रह ही नहीं सकती, वह तो अपनी समस्त कामनाओं को त्याग देता है, मेरी कामना में मिला देता है। मैंने जब अपने भक्त प्रह्लाद से प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा और यहाँ तक कह दिया कि जो भी तेरी कामना हो वही वर तू मुझसे माँग ले।"

तब उसने बड़ी दीनता से कहा—'प्रभो ! मैं तो स्वभाव से ही कामनासक्त हूँ, फिर आप मुझे वरों का लोभ क्यों दे रहे हैं। इन कामनाओं से डरकर ही तो मैंने आपके चरण कमलों का सहारा लिया है। अतः मुझे आप लोभ में न फँसावें।"

मैंने कहा—"ना, भैया ! मेरी इच्छा तुझे कुछ देने की है, तू चाहे जो माँगले। मुझसे कुछ न कुछ तो तुझे माँगना ही होगा।"

तब उसने कहा—"अच्छा, प्रभो ! जब आप आग्रह ही कर रहे हैं और आज्ञा ही दे रहे हैं तो मैं आपकी आज्ञा को कैसे टाल सकता हूँ। यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो मैं ना आपसे यही याचना करता हूँ, कि मेरे हृदय मे किसी प्रकार की कामनाओं का अंकुर ही उत्पन्न हो। क्योंकि जहाँ मनुष्य के मनमें कैसी भी सासारिक कामना उत्पन्न हुई कि तहाँ उसके प्राण इन्द्रिय, मन, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, स्त्री, श्री, तेज, स्मृति तथा सत्य आदि सभी नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। जिस समय मनुष्य अपने हृदय में स्थित समस्त कामनाओं को त्याग देता है, तभी उसे भगवद् भाव की प्राप्ति हो जाती है।"

उद्धव ! यही मेरे भक्तो की भावना होताहै वे मेरे लिये समस्त कामनाओं का परित्याग कर देते हैं, स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक यहाँ तक कि वे मेरी सेवा के पीछे मोक्ष तक को ठुकरा देते हैं। वे मेरे अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की स्वप्न मे भी कामना नहीं करते।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी को भक्ति के बारह परम साधन बताये अब शेष दो को मैं फिर बताऊँगा। आज रामजी की इच्छा से कुछ प्रसाद अधिक हो गया। कोई बात नहीं 'अधिकस्याधिक

फलम्' तनिक विश्राम लेकर शेष साधनों को भी सायंकाल तक सुख से सुनाऊँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

चेष्टा मेरे हेतु करै अङ्गनिको सबई।
करै गान गुण सतत उचारै बानी जबई॥
जो कछु कारज करै मोइमह चित्त लगावै।
मनसा वाचा कर्म सदा मोईकूँ ध्यावै॥
जगकी जितनी कामना, तिनि सब कूँ मन-तैं तजै।
जग के नाते तोरि सब, केवल मोईकूँ भजै॥

—·—

भक्ति के शेष साधन

(१२८९)

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥*

(श्री भा० ११ स्क० १९ अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

मम हित धन अरु भोग तजै सुख सबरे मन तैं।
करै यज्ञ ब्रत दान हवन जप तप जो तन तैं॥
मम अरपन करि देइ न अपने महँ कछु राखै।
मैंने यह शुभ करयो न कबहूँ मुख तैं भाखै॥
जो इन धरमनि कूँ करैं, पालन श्रद्धा सहित सुनि।
होवै प्रकटित भक्ति मम, का तिनिकूँ अवशेष पुनि॥

संसारी भोग तो प्रारब्धानुसार सूकर कूकर सभी योनियों

---

*श्रीभगवान् उद्धवजी से भक्ति के शेष साधन बताते हुए कह रहे हैं--"उद्धव! मेरे लिये धन का परित्याग करना तथा भोगों तथा सभी संसारी सुखों को छोड़ देना, जो भी यज्ञ, दान, हवन, जप, तप तथा व्रत आदि किया जाय उसे मेरे ही निमित्त करना उद्धवजी! इन्हीं धर्मों का पालन करते हुए समर्पण करने वाले लोगों को मेरी भक्ति उत्पन्न होती है और यदि जिसके हृदय में मेरी भक्ति उत्पन्न हो गयी तो फिर उसके लिये करने कराने को शेष ही क्या ? फिर उसे किस पदार्थ की कामना रह सकती है ?

प्राप्त हो सकते हैं, इन्हे पा लेना न कोई पुरुषार्थ है और न इसमें कोई बडाई या प्रशंसा की बात है। मानव जीवनकी सार्थकता तो इसीमे है कि हृदयमे भगवत् भक्ति उत्पन्न हो जाय। मनमें तभी तक ये वासनायें उत्पन्न होती है जब तक भगवान्‌की भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं होता। तभी तक मनुष्य इच्छा करता है यह भी हो, वह भी हो, यह भी मेरा हो जाय, वह भी वस्तु मेरे पास आ जाय, इसका भी भोग कर लूँ इसे भी ले लूँ। जहाँ भक्तिभवानी ने हृदय मन्दिरमे प्रवेश किया, तहाँ सभी सन्सारी इच्छायें समाप्त हो जाती हैं, न फिर भोगों की वासना रहती है, न किसी अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा ही अवशेष रहती है। जैसे अग्निकी ज्वाला जलने पर अंधकार स्वतः ही भाग जाता है, अतः शास्त्र में बताये हुए साधनों को इस अभिलाषा से करते रहना चाहिये कि हमारे हृदय में भगवान् की भक्ति उत्पन्न हो जाय।

सूतजी कहते हैं"—मुनियो! आनंद कंद भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी ने भक्ति के मुख्य साधनों मे से बारह साधनो को महा भागवत श्री उद्धव जी के प्रति बताया अब शेष दो साधनों को बताते हुए कहते हैं—उद्धव! तेरहवाँ साधन है मेरे निमित्त अनुभोग और सुख को त्याग देना।

१३-धन, भोग और संसारी सुखों का त्याग—सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! संसारी लोगो को धन से बढ़ कर कोई वस्तु प्यारी नहीं होती। न जाने इस धन में कैसा अद्भुत आकर्षण है, कि मनुष्य इसके लिये प्राणों का पण लगा देता है, जिसको धन के प्रति लोभ नहीं वह संसारी प्राणी नहीं वह तो दिव्य लोक का जीव है। लोग धन के लिये प्राणों को छोड देते हैं, प्राण जाय पैसा न जाय, यह कहावत प्रसिद्ध है। देखो चोर प्राणो का पण लगाकर ही दूसरों के घर में घुस जाता है, सैनिक

कुछ पैसों के पीछे ही युद्ध में जाकर कट मर जाते हैं, व्यापारी बड़े बड़े पोतों पर चढ़कर प्राणों को हथेली पर रखकर सात समुद्र पार जाते हैं, यन्त्र चलाने वालों का सदा सर्वदा एक पैर मृत्यु के मुख में ही रहता है न जाने कब दूसरे पैर को भी खींचले, किन्तु पैसे के लालच से वे मृत्यु का आलिंगन करते रहते हैं श्रावण भादो की बढ़ी चढ़ी वेगवती नदी में उस पार से इस पार लकड़ हारे लकड़ी बेचने आते हैं और तैरकर ही जाते हैं, नित्य प्रति उन्हें मृत्यु के मुख में जाना आना पड़ता है।

भूख शान्त करने को ही द्रव्योपार्जन किया जाता हो सो भी बात नहीं, किन्हीं किन्हीं को पैसे के प्रति अत्यधिक मोह होता है, अपनी सगी स्त्री को भोजन वस्त्र नहीं देते, बच्चों को भूखों मरने देते हैं, स्वयं भी नहीं खाते किन्तु रुपयों को जोड़ जोड़कर रखते जाते हैं। बहुत से भिक्षुको पर-जो दिन भर पाई पैसा के लिये गिड़ गिड़ाते रहते हैं—मरने पर सहस्रों लाखों रुपये निकलते हैं। एक राजा थे उनकी रानी को रोग हुआ, बाहर से चिकित्सक इसीलिये नहीं बुलाया कि उसे कुछ देना होगा, अधिक अस्वस्थ होने पर उनके भाई के यहाँ भेज दिया। वे जब वन में आखेट को जाते तो घर से रोटी बनवा कर ले जाते उन्हें ही दिनों तक खाते। एक भृत्य को उन्होंने इसी लिये अपनी सेवा से हटा दिया कि उसने बासी रोटी कुत्ते को डाल दी इसी प्रकार के अनेकों घटनायें हैं धन के प्रति संसारी लोगों की बड़ी ममता रहती है। सब जानते हैं यह धन साथ न जायगा। यहीं रह जायगा, फिर भी ममता छोड़ी नहीं जाती। ऐसे धनको जो भगवान् के लिये व्यय कर देता है, भगवान् के उत्सव पर्वों पर हृदय खोल कर लगा देता है। भगवत् भक्तों को श्रद्धा सहित भोजन कराता है, उनकी सेवा में धन का प्रसन्नता पूर्वक उपयोग करता है, ऐसे उदार मना प्राणी के हृदय में अवश्य ही भगवान् की भक्ति उत्पन्न

होगी। भगवान् के निमित्त धन का व्यय करना यह भक्ति मार्ग का परम साधन है। इसी प्रकार भोगों का भी परित्याग करना है।

शरीरधारियों को संसारी भोगों के प्रति इतनी आसक्ति है कि हम दूसरों के सुखों की कुछ भी अपेक्षा न रख कर स्वयं ही भोगों को भोगना चाहते हैं। इन्द्रिय जन्य सुखों के प्रति स्वाभाविक ममता होती है। जिह्वा चाहती है, सदा सुन्दर स्वादिष्ट लुचुलुचे, कुरू कुरे भुरभुरे, पदार्थ खाने को मिलते रहें। नेत्र चाहते हैं सदा सुन्दर शृंगार मय वस्तुएँ देखने को मिले। घ्राणेन्द्रिय चाहती है, अत्यंत सुगंधित कामोद्दीपक पदार्थ सुंघनेको मिले। श्रवण सरस सुखद सङ्गीत तथा कामिनियों की कोमल मधुमय वाणीको सुनने के लिये समुत्सुक बने रहते हैं। त्वचा सुखद मृदुल रोमांच कर देने वाले पदार्थों को चाहती हैं। इन भोगोंके उपभोगसे और भी विषय वासना बढ़ती है। विषयी लोग संसारी भोगोंको ही सर्वोपरी मानने लगते हैं। ऐसे भोगोंको भगवानके निमित्त त्यागा जाय तो चित्त विषयोंसे हटकर भगवान्की ओर लगने लगेगा। इसके लिये व्रत नियम आवश्यक हैं कि अमुक काल तक अमुक अमुक वस्तुको खायँगे, इतने दिन उपवास करेंगे। भूमिपर शयन करेंगे, मृदुल बिस्तर पर शयन न करेंगे आदि आदि इस प्रकार भगवान् के निमित्त भोगोंका त्याग करनेसे मनकी मलिनता मिटती है।

इसी प्रकार भगवान्के निमित्त संसारी सुखोंका भी परित्याग करना चाहिये। विवाहमे पुत्रजन्ममे तथा अन्यान्य सांसारिक सम्बन्धोंके कारण एक प्रकारकी लौकिक सुखानुभूति होती है, इस प्रकार की सभी सुखानुभूतियोंका मनसे परित्याग करनेसे भगवत् भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। धन, भोग्य पदार्थ और संसारी सुखोंका परित्याग करना भगवद् भक्तिके साधनोंमें तेरहवाँ साधन है। चौदहवाँ साधन भगवान् बताते हैं जो भी कुछ यज्ञ

दान, हवन, जप, तप तथा व्रत किये जायँ वे सब मेरे ही निमित्त किये जायँ।

१४–ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करना—भगवान् कह रहे हैं—उद्धव! सबसे अंतिम और सबसे श्रेष्ठ साधन है जो कार्य किया जाय प्रभुप्रीत्यर्थ ही किया जाय। जैसे बलिवैश्वदेव दर्श, पौर्णिमास्य, चातुर्मास्य, पशु यज्ञ सोमयज्ञ या अन्यान्य प्रकार के जितने यज्ञ हैं, वे बिना लौकिक फल की इच्छा के ब्रह्मार्पण भाव से किये जायँ। यज्ञ याग करने के अनंतर विनीत भाव से कहे इस यज्ञ कर्म से सर्वान्तर्यामी भगवान् प्रसन्न हों, यह यज्ञ मेरे लिये न होकर ब्रह्म के अर्पण हो। उन्होंने ही साधन जुटाये, उन्होंने ही सामग्री उपलब्ध की उन्होंने ही प्रेरित करके स्वयं किया, वे ही इसके फल के भी भागी हों।

इसी प्रकार भूमि, गौ, कन्या, वस्त्र, आभूषण, अन्न, जल, तिल, तैल, वाहन, भाजन तथा अन्यान्य सुवर्णादिधातु और विविध वस्तुओं का दान करे तो उनसे कोई संसारी भोग स्वर्गादि सुख न चाहे, दान करने के अनंतर यही कहे कि इस दान रूप कर्म से सबसे दयालु दाता दयानिधि श्रीहरि प्रसन्न हों।

हवनीय पदार्थों से अग्नि मे हवन करे या खीर, हलुआ मालपूआ आदि ऐसे सरस सुखद् स्वादिष्ट हव्य पदार्थों से जो मधुर गरमा गरम हों जिनमे से घृत चू रहा हो उनसे ब्राह्मणों के मुख में हवन करे तो इस हवन से भी भगवत् चरणारविन्दों की भक्ति ही चाहे। हवन के समस्त फलों को भगवत् अर्पण कर दे।

गायत्री, अष्टादशाक्षर, द्वादशाक्षर, अष्टाक्षर, षडाक्षर, चतुरक्षर, द्विक्षर तथा एकाक्षर आदि मंत्रों का जप करे उसे भी केवल भगवत् प्रीत्यर्थ ही करे। मेरे इस तप जप के अधिष्ठातृ देव प्रसन्न हों। इसी प्रकार किसी भी प्रकार का तप करे उसे भी प्रभु

प्रीत्यर्थ ही करे चान्द्रायणादि जो व्रत करे वे भी भगवान् की भक्ति के ही निमित्त करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! निष्काम भाव से कम करने से क्या होता है। संसार मे सभी काम किसी न किसी कामना से ही होते हैं, बिना कामना के कार्य करने मे प्रवृत्ति ही नहीं होती।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! किसी स्वार्थ को रखकर काम करना तो वणिक् वृत्ति है, व्यवहार है। हम यह देते हैं, इसके बदले मे तुम हमे यह दो। इस प्रकार के व्यवहार मे प्रेम नहीं होता वह तो रुखाई का व्यवहार है। एक भृत्य है उसे नियत वेतन मिलता है, नियमित काम करता है, जिस दिन काम नहीं करता उस दिन का वेतन काट लिया जाता है, अपराध करता है उसे निकाल बाहर करते हैं, उसके प्रति ममता नहीं, सहानुभूति नहीं अपनापन नहीं। दूसरा है जो किसी कामना से सेवा नहीं करता, वेतन भी नहीं चाहता, उपकार बुद्धि से भी नहीं करता, केवल स्वामी की प्रसन्नता के लिये ही कार्य करता है, तो उसकी निष्काम भावना से स्वामी का उसके प्रति अनुराग ममत्व, अपनापन या प्रेम तो होता ही है, साथ ही उसे भृत्य से अधिक अन्य वस्तुओं की प्राप्ति अनायास बिना ही प्रयत्न के हो जाती हैं। जब स्वामी ही अपने हो गये तो उनकी सभी वस्तुएँ अपनी हैं उनके उपयोग करने मे संकोच ही कैसा? सत्-पिता की सभी वस्तुएँ सत्पुत्र की ही तो होती हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त धर्मों का आत्म समर्पण बुद्धि से पालन करता है अर्थात् उन्हें केवल स्वामी के ही निमित्त कर्तव्य बुद्धि से करता है, तो उसके हृदय मे मेरी भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! आपकी भक्ति हृदय मे हो जाती है, तो फिर क्या होता है, भक्ति को प्राप्त करके भक्त का क्या

कर्तव्य रह जाता है ?"

यह सुनकर भगवान हँस पड़े और बोले—"उद्धव ! जिसने अपने पेट को कंठ तक खीर, मोहनभोग, मालपुआ अन्य स्वादिष्ट पदार्थों से भर लिया है क्या उसके लिये फिर कुछ अन्य खाने की इच्छा रहती है क्या ! जिसने भर पेट अमृतपान कर लिया है उसके लिये फिर कुछ पीने की इच्छा शेष रहती है क्या ? जिसने श्रद्धा सहित गंगाजी में स्नान कर लिया उसके लिये फिर किसी अन्य तीर्थ में स्नान की आवश्यकता है क्या ? जिसने श्री मद्भागवत को पढ़ लिया उसे फिर अन्य ग्रन्थों के पढ़ने की आवश्यकता रहती है क्या ? इसी प्रकार जिसे मेरी निष्काम भक्ति प्राप्त हो गयी, फिर उसे किसी अन्य पदार्थ की इच्छा रह सकती है क्या ?"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, प्रभो ! आपका यह कहना तो यथार्थ है, किन्तु फिर भी आपके भक्त बड़े ज्ञानवान् वैराग्यवान् तथा धर्म प्रेमी होते हैं, ये गुण उन्हें कैसे प्राप्त होते हैं ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! तुम गोकुल से वृन्दावन जाओ तो मथुरा का दर्शन तो बिना प्रयास के बीच में ही हो जायगा। तुम काँच के बर्तन मँगाओ तो काष्ठ की पेटिका पुआल आदि की प्राप्ति तो बिना इच्छा के ही हो जायगी। जो मेरी भक्ति करेगा, उसे सद्गुण तो स्वतः ही प्राप्त हो जायँगे। इसी प्रकार मेरे भक्तों को ज्ञान, वैराग्य तथा धर्म की प्राप्ति हो जाती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"इन गुणों की प्राप्ति कैसे होती है प्रभो।"

भगवान् बोले—"देखो, उद्धव निष्काम भाव से सत्कर्म करने से चित्त सत्वगुण प्रधान हो जाता है, सत्वगुण के उद्वेग से हृदय भर आता है, सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य छा जाता है, स्वच्छ निर्मल प्रकाश दृष्टिगोचर होता है, शनैः शनैः वह उद्वेग

शान्त होता है, तो जो, चित्त की वृत्ति ससारी पदार्थों में लगी हुई थी वह उलट कर आत्मा मे लग जाता है, चित्त जहाँ आत्मा की ओर मुडा कि उसे धम, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य स्वय प्राप्त हो जाते हैं, जैसे कोई सुन्दर सजी हुई पुष्प फलो से लदी हुई वाटिका मे होकर अपने गन्तव्य मार्ग को जाय, तो इच्छा न रहने पर उन पुष्पों की हृदय को प्रफुल्लित करने वाली गध स्व य ही प्राप्त हो जायगी, उसके लिये प्रथक प्रयाम न करना पडेगा।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! यह सब मन का खेल है, गुणों का विस्तार है। यह चित्त धुले हुए स्वच्छ वस्त्र के समान है, जिस रग मे भी रग दो उसी के रग का हो जाता है। इस चित्त को विकल्प रूप ससार में लगा दो तो वह इन्द्रिया द्वारा उसी ससार में दौडता रहेगा यह ला, वह ला, इसे एकत्रित कर, उसका उपभोग कर, यह भी मेरा हो जाय, उस पर भी मेरा स्वत्व हो जाय। इस प्रकार इन असत् मिथ्या पदार्थों में मोह करेगा तो वे ही मिलेंगे। क्याकि जैसे का सग होता है वैसे ही बुद्धि बन जाती है। इसी प्रकार रजोगुण प्रधान और मिथ्या पदार्थों में प्रीति करने वाले चित्त को विपयय कहलाने वाले अधर्मादि की ही प्राप्ति होती है।"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, प्रभो! अब मेरी समझ में आ गया। इन भागवत धर्मों का निष्काम भाव से पालन करने पर ही आपकी भक्ति प्राप्त होती है और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यादि गुण तो उसे अनायास बिना प्रयत्न के प्रसगवश लवाब में मिल जाते हैं। अब मेरे कुछ प्रश्न और शेष रह गये हैं, आज्ञा हो तो उन्हें पूछें?"

भगवान् बोले—"हाँ पूछो, क्या पूछना ह?"

उद्धवजी बोले—'भगवान्! आपने अभी धर्म, ज्ञान,

वैराग्य तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति बतायी धर्म क्या है ? मैं जानना चाहता हूँ।"

हँसते हुए भगवान् बोले—"उद्धव ! धर्म की तो बड़ी लम्बी व्याख्या है, नाना ऋषियों ने धर्म शास्त्रों में धर्म की ही विविध भांति से व्याख्या की है, किन्तु मैं अत्यंत ही संक्षेप धर्म की सरल सुगम व्याख्या बताये देता हूँ जिस कार्य से मेरी भक्ति प्राप्त हो जाय वही धर्म है और इसके विपरीत जो कार्य मेरी भक्ति से विमुख करे वह अधर्म है।"

उद्धव बोले—"अच्छा, धर्म की व्याख्या तो मैं समझ गया, अब कृपा करके ज्ञान की भी ऐसी ही सरल सुगम संक्षिप्त व्याख्या बता दें।"

भगवान् बोले—"समस्त शास्त्रों में ज्ञान का ही तो वर्णन है, गुरुदेव अज्ञान का नाश करके ज्ञान का ही तो प्रकाश करते हैं। ज्ञान की भी शास्त्रों में विशद व्याख्यायें हैं, किन्तु तुम संक्षेप में यों समझ लो कि सम्पूर्ण चरा-चर संसार में केवल एक ही आत्मा का अनुभव होने लगे। भेद भाव मिथ्या प्रतीत हो उसे एकात्म्य दर्शन का नाम ज्ञान है।"

उद्धवजी ने पूछा—"अच्छा प्रभो ! वैराग्य किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—'उद्धव ! ये जितने भी संसारी विषय हैं, ये सभी त्रिगुणात्मक हैं, प्राणी इनमें राग करके ही जन्म मरण के चक्कर में फँस जाता है, इनसे चित्त को हटा लेने से-विरत होने से मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है। अतः इन विषयों में अनासक्त रहना ही वैराग्य है।

उद्धव जी ने कहा—"भगवान् ! धर्म, ज्ञान और वैराग्य की व्याख्या तो मैं समझ गया, अब कृपा करके ऐश्वर्य क्या है इसे बताइये।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! मैं पीछे, अणिमा गरिमा महिमा आदि सिद्धियों का वर्णन कर ही चुका हूँ इन सिद्धियों का नाम ही ऐश्वर्य है। यद्यपि ये मुक्तिमार्ग में सभी साधकों को मिलती हैं, किन्तु साधक इनमें फँसते नहीं इन्हें पार करके आगे बढ़ते हैं, जो इनमें फँस जाते हैं, वे मोक्षमार्ग से दूर हट जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने उद्धव जी को चौदह भक्ति के साधन बताये, उनको मैंने आप से कहा—अब उद्धव जी भगवान् से जैसे कुछ प्रश्न करगे और भगवान् उनका जो उत्तर देंगे उस पावन प्रश्नोत्तर प्रसंग को मैं आप से कहता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

बढ़ै सत्व चित शान्तहोहि आत्मा महँ जावै।
धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्यहिं लावै॥
यदि चित जग महँ लगै विषय भोगनि महँ भटकै।
जनम मरन अरु रोग शोक दु खनि महँ पटकै॥
भक्ति बढ़ै सो धर्म है सब महँ आत्मा ज्ञान है।
अणिमादिक ऐश्वर्य है, विषय विरत वैराग्य है॥

—o—

पावन प्रश्नोत्तर

(१२९०)

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो!*

श्री भा ११ स्क० १९ अ० २८ श्लो०

छप्पय

उद्धव बोले—"प्रभो! प्रश्न कछु पूछूँ पावन?
पूछो, बोले कृष्ण—देहुँ उत्तर मन भावन॥
'यम कितने हैं नाथ! कहे उद्धव! बारह सुनि।
सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अभय पुनि॥
आस्तिकता, ह्री, मौन अरू, क्षमा, असञ्चय दश भये।
थिरता, विषय असंगता, यों सब बारह ह्वै गये॥

पारमार्थिक प्रश्न और उत्तरों का एक मात्र ध्येय यही है, कि किसी न किसी प्रकार जीवन में सद्गुणों का विकास हो। समस्त वेद पुराण तथा धर्मशास्त्र के अन्यान्य ग्रन्थों में बार बार इसी

---

*उद्धव जी भगवान से पूछ रहे हैं—"हे प्रभो! यम कै प्रकार के हैं और हे रिपुकर्शन! नियमों को भी बतावें। शम किसे कहते हैं, दम किसका नाम है और हे कृष्ण तितिक्षा तथा धृति के सम्बन्ध में भी बतावें।"

बात पर बल दिया है, कि जो सदा सद्गुणों का सेवन करता रहेगा सत्य अहिंसा आदि दैवी सम्पत्ति के गुणों को अपनाता रहेगा, उसके लिये भगवत् प्राप्ति कठिन नहीं रहती। उसे अपने अन्तःकरण में ही भगवान् दिखायी देने लगते हैं।

इसीलिये पुनः पुनः पदे पदे इन सद्गुणों का उल्लेख है इनकी महिमा गायी है। मानव समाज में सुख शान्ति इन सद्गुणों के प्रसार से ही सकती है, आसुरी सम्पत्ति तथा दुर्गुणों के प्रसार प्रचार से शान्ति भङ्ग हो ही जाती है और मनुष्य अपने यथार्थ ध्येय से च्युत होकर मोक्ष से दूर हट जाता है अतः मोक्षार्थी को सदा सद्गुणों का ही सेवन करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से प्रश्न पूछने की आज्ञा माँगी और भगवान् ने प्रसन्नता पूर्वक आज्ञा दे दी। तब उद्धवजी उनसे पूछने लगे—"भगवन्! आपने अनेक बार यम नियमों पर बहुत बल दिया है, अतः मैं जानना चाहता हूँ कि यम कितने प्रकार के हैं?"

भगवान् ने कहा—"उद्धवजी! भिन्न भिन्न ऋषियों ने यमों की संख्या भिन्न भिन्न बतायी है। कोई यम पाँच ही बताते हैं किसी के मत में दश हैं, किन्तु मैं तो यमों की संख्या बारह बताता हूँ। मेरे मत में बारह यम हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"बारह यम कौन कौन से हैं भगवन्!"

भगवान् बोले—"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असङ्गता, ह्री, असञ्चय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय। ये ही बारह यम हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! इनकी व्याख्या करके समझावें।"

भगवान् बोले—"अरे, भाई ! अनेकों बार तो इनकी व्याख्या कर चुका हूँ, सत्य अहिंसादि सद्गुण इतने प्रसिद्ध हैं, कि इनकी व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं । बार बार बताने पर भी प्रसङ्गानुसार इनकी अति संक्षिप्त व्याख्या मैं करता हूँ।'

१—अहिंसा—मनसा, वाचा कर्मणा कभी किसी प्राणी को दुख देने का प्रयत्न न करना ।

२—सत्य—जो बात यथार्थ हो, जैसे देखी, सुनी या अनुभव की हो, उसे ही प्रकट करना ।

३—अस्तेय—किसी भी वस्तु की चोरी न करना दूसरे की वस्तु पर छिपकर अपना अधिकार न कर लेना ।

४—असंगता—किसी भी संसारी वस्तु में आसक्त न हो जाना । सबसे निस्पृह बने रहना ।

५—ह्री—लोक लाज का सदा ध्यान रखना । बुरे कामों को करने में सदा लज्जा करना । बड़े बूढ़ों का सदा संकोच करते रहना ।

६—असञ्चय—आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का व्यर्थ सञ्चय न करना ।

७—आस्तिकता—वेद वचनों में तथा आप्त वचनों में श्रद्धा रखना। भगवान् हैं इस पर विश्वास रखना।

८—ब्रह्मचर्य—अपत्नी व्रती पुरुषों को सदा अष्ट प्रकार के मैथुनों से बचे रहना । गृहस्थियों को स्वपत्नी में ही ऋतु गामी होना ।

९—मौन—अनावश्यक बातों को कभी न बोलना, सदा वाणी का संयम करते रहना ।

१०—स्थिरता—जो भी विवेक बुद्धि द्वारा स्थिर करे, उससे लोभ-वश विचलित न होना सदा दृढ़ता के साथ उस पर स्थिर बने रहना ।

११—क्षमा—सामर्थ्य रहते हुये भी अपने अपराध करने वाले पर क्रोध न करना। बदले की भावना से उस पर प्रहार न करना।

१२—अभय—सत्य मार्ग से किसी प्रलोभन द्वारा दुखों के कारण विचलित न होना। भय से अन्याय के सम्मुख सिर न झुकाना।

ये ही बारह यम हैं। इनके ही पालन करने वालों को यमी कहते हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! नियम कितने हैं?"

भगवान् ने कहा—"मेरे मत मे नियम भी बारह ही हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"वे बारह नियम कौन कौन से हैं, कृपा करके सव्याख्या उन बारहो नियमों को बताइये।"

भगवान् ने कहा—"शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथिसेवा, मेरा पूजन, तीर्थ भ्रमण, परोपकार की चेष्टा, सन्तोष और गुरु-सेवा अत्यन्त संक्षेप मे इनकी व्याख्या भी सुनो।

१,२—शौच—भीतर बाहर से पवित्र रहना। भीतर की पवित्रता सद्गुणों से होती है, बाहरी पवित्रता मिट्टी, जल तथा पंचगव्यादि पदार्थों से होती है। इसी प्रकार एक भीतरी शौच एक बाहरी शौच दो हुये।

३—जप—इष्ट मन्त्र का बार बार उच्चारण करना इसी का नाम जप है। वह मानसिक, उपांशु और वाचिक तीन प्रकार का होता है।

४—तप—शास्त्रीय विधि से व्रत उपवासादि द्वारा शरीर को तपाना।

५—होम—शास्त्रीय विधि से शास्त्रोक्त हवनीय पदार्थों द्वारा विधिवत् अग्नि में हवन करना।

६—श्रद्धा—वेद, गुरु तथा श्रेष्ठ पुरुषों के वचनो पर आस्था

रखना। श्रेष्ठों के प्रति हृदय से आदर प्रदर्शित करना।

७—आतिथ्य—अपने घर पर जो कोई भी अतिथि आ जाय, उसकी प्रेम पूर्वक सेवा शुश्रूषा करना। कभी उसे विमुख न जाने देना।

८—मदर्चन—मेरी अर्चा विग्रह की विधिवत् श्रद्धा सहित नित्य पूजा करना।

९—तीर्थाटन—शास्त्रों मे जो तीर्थ कहे हैं। ऐसे काशी, प्रयाग, पुष्कर तथा अन्यान्य तीर्थों मे भ्रमण करना।

१०- परार्थेहा—संसार मे प्रायः सभी लोग दुखी हैं। अपने शरीर से ऐसी चेष्टा करते रहना जिससे सबका उपकार हो, सब सुखी हो।

११—सन्तोष—भगवत् इच्छा से समय पर जो भी कुछ प्राप्त हो जाय उसी में सन्तुष्ट रहना।

१२—आचार्य सेवन—जो अपने ज्ञान दाता, मंत्रदाता विद्यादाता या जन्मदाता गुरु हैं उनकी सेवा में संलग्न रहना। विशेष कर विद्यादाता आचार्य की ही करना।

ये ही बारह नियम हैं। अब तुम और जो पूछना चाहो वह पूछो। यम नियमों के पालन करने वाले पुरुषों की सभी कामनायें पूर्ण होती हैं।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! शम किसे कहते हैं? शम का लक्षण मुझे बतावें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! समस्त सांसारिक विषयों का शम न होकर बुद्धि एक मात्र मुझ परमात्मा में ही लग जाय, इसी का नाम शम है सर्वात्म भाव से बुद्धि की अविच्छिन्न गति मेरे ही में तादात्म्य हो जाय।"

उद्धवजी ने पूछा—"अच्छा भगवन्! दम किसका नाम है?"
भगवान् ने कहा—"भैया! ये इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। जिह्वा

चाहती है, सदा सुन्दर रसीली स्वादिष्ट पदार्थों को चखा करें। आँखें सुन्दर शृङ्गार युक्त रूप दर्शन चाहती हैं इसी प्रकार जैसे बहु पत्नी वाले पुरुष को भिन्न भिन्न स्वभाव की पत्नियाँ दुःख देती हैं अपनी अपनी ओर खींचती हैं उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ पुरुष को विषयों के लिये विवश करती हैं। इन सभी इन्द्रियों का दमन करके इन पर अपना अधिकार जमाये रखने का नाम ही दम है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! शम दम तो मैंने समझ लिये, अब तितिक्षा का अर्थ बतावें।"

भगवान् ने कहा—"बिना प्रतीकारके जो आये हुये शीतोष्णादि दुःखों को सह लिया जाता है उसी का नाम तितिक्षा है। तितिक्षु न तो जाड़ों में रूई या अग्नि खोजता है और न गरमियों में हिम तथा शीतल स्थान उसे जो भी प्राप्त होता है उसे साहस के साथ सहता है। उसी का नाम तितिक्षु है।"

उद्धवजी ने कहा—"धृति अथवा धैर्य किसका नाम है।

भगवान् ने कहा—उद्धव! संसार में दो वेग बड़े ही प्रबल होते हैं, एक तो रसना के स्वाद का वेग दूसरा काम का वेग। इन दो वेगों का साहस के साथ निग्रह करने का ही नाम धैर्य है। विकारों के कारण समुपस्थित होने पर भी जिह्वा और उपस्थ के भोग सम्मुख रहने पर भी जिसके मन में विकार उत्पन्न नहीं उन्हें भोगने की इच्छा नहीं होती वही धैर्यवान् पुरुष है।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! आप अत्यन्त सक्षेप में सब की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या बता देते हैं, मेरी इच्छा है मैं दान तपादि के सम्बन्ध में और भी प्रश्न करूँ।"

भगवान् ने कहा—"भैया! मैं मना थोड़े ही करता हूँ तुम जो भी पूछोगे उसी का मैं उत्तर दूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! उद्धवजी दान तपादि के सम्बन्ध में जो प्रश्न पूछेंगे उनका वर्णन मैं आगे करूँगा ।"

छप्पय

नियम बताओ नाथ ! कहे बारह सज्जन ।
भीतर बाहर शौच, होम, जप,तप, मम पूजन ॥
श्रद्धा अरु सतोष, तीर्थ-गुरुसेवा उद्धव ।
पर कारज, आतिथ्य, भये बारह पूछो अब ॥

शम, दम, धीरज, तितिक्षा, अर्थ बतावें रिपु दमन ।
शम-मम घी, गो-दमन दम, कहे तितिक्षा दुख सहन ॥

—:❀:—

दानादिक प्रश्नोत्तर

(१२९१)

किं दान किं तपः शौर्यं किं सत्यमृत मुच्यते ।
कस्त्यागः किंधनं चेष्ट को यज्ञः काच दक्षिणा ॥

(श्री भा० ११ स्क० १९ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

जिह्वा और उपस्थ विजय धृति वेद बतावें ।
उद्धव बोले—'दान, वीरता, तप समुझावें ॥
सत्य और ऋत, त्याग, इष्टधन, यज्ञ अर्थ विभु ।
नरबल भग, बड लाभ, दक्षिणा, विद्या, ह्री प्रभु ॥
हरि बोले—'है दान बड, भूत द्रोह तजिबो सतत ।
मन वश करिबो शूरता, सत प्रिय बानी कहहिं ऋत ॥

गुरुदेव स्वय ही प्रश्न कराते हैं और स्वय ही उन प्रश्नों का अर्थ समझाते हैं। प्रश्न करने की भी तो योग्यता होती है। अल्पज्ञ शिष्य की इतनी सामर्थ्य कहाँ है, कि गुरुदेव के उत्तर

---

*उद्धव जी भगवान् से पूछ रहे हैं—"भगवान् ! दान किसे कहते हैं ? तप क्या है ? शूरवीरता किसका नाम है ? सत्य और ऋत किसे कहते हैं। त्याग क्या होता है ? इष्ट धन किसका नाम है। यज्ञ क्या है दक्षिणा किसका नाम है ?"

देने के अनुकूल प्रश्न कर सके। गुरुदेव जब प्रसन्न होते हैं, बताने की इच्छा जब उनके मनमें जागृत होती है, तो प्रथम उ ही इच्छा शक्ति सत् शिष्यके हृदय में प्रवेश करती है। इच्छा के सहारे शिष्य प्रश्न करता है, गुरुदेव उसका उत्तर है। जैसे मकड़ी अपने ही मुख से सूत निकाल कर जाल रचना करता है, फिर अपने ही आप उसमें किलोल करती वह शिष्य धन्य हैं, जिन्हें निमित्त बनाकर गुरु पावन प्रश्नों उत्तर देते हैं। उन सद्गुरु के विषय में तो कहा ही क्या सकता है, जो ज्ञान के भंडार हैं और अपने उत्तरों से के अपने एक ही शिष्य के अज्ञानान्धकार को दूर नहीं करते, औ उसे उपलक्ष्य बनाकर सम्पूर्ण संसार को उपदेश देते हैं।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! धैर्य त प्रश्न करने के अनन्तर उद्धवजी ने भगवान् से पूछा—"प्रभो दान किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! अन्न दे देना, भूमि दान करन कन्या दान करना, गौ किसी योग्य ब्राह्मण को दे देना। ये स दान कहलाते हैं किन्तु वास्तव में देखा जाय, तो यह दान क हुआ। सब में मैं ही रम रहा हूँ, सब मेरी ही वस्तु हैं। मे वस्तुओं को मुझे ही देना दान तो नहीं है। यथार्थ दान तो य है। सम्पूर्ण भूतों से द्रोह त्याग देना। तृण से लेकर ब्रह्मा त सब को अभय प्रदान कर देना। सबको मेरा रूप समझकर किस से भी कभी द्रोह न करना यही सबसे बड़ा दान है।"

उद्धवजी ने पूछा—"अच्छा, भगवान् तप क्या है?"

भगवान् ने कहा—"लोग शरीर के तपाने को तप कहते हैं किन्तु मेरा मत और ही है। ये जो भोगों की इच्छायें हैं ये ही प्राणियों को सदा संतप्त करती रहती हैं, इन सांसारिक भोगों की कामनाओं को छोड़ देना मेरे मत में तो यही परम तप है। जब

तक हृदय में भोगवासनायें बनी हैं, तब तक चाहे पचाग्नि तापो या वर्षा को सिर पर सहो सब व्यर्थ है। जब कामनायें छूट जांय, तभी समझो हमारा तप हुआ।

उद्धवजी ने पूछा —"भगवान् शौर्य किसका नाम है? शूरवीरता का भावार्थ क्या है?"

भगवान् बोले—"उद्धव! बल के द्वारा दूसरों को वश करने को ही लोग शूरवीरता कहते है। किन्तु बहुत से लोग भय के कारण ऊपर से अधीन हो जाते हैं, भीतर से तो उससे द्वेष ही रखते हैं। शूरवीरता दूसरों पर प्रकट नहीं की जाती। वह तो प्रथम अपने भीतर ही कार्य करती है। वासनामयी चित्त की बिखरी वृत्तियों को वशीभूत करने का ही नाम शूरवीरता है। जिसने चित्त की बिखरी वृत्तियो का निरोध कर लिया, वही यथार्थ मे शूरवीर है। जिसकी वृत्तियाँ वश मे नहीं है वह चाहे कितना भी बली और बुद्धिमान क्यों न हो कायर ही कहा जायगा।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! सत्य की परिभाषा कीजिये।"

हँसकर भगवान् बोले—"जो कुछ दीखता है वह सब नष्ट होने वाला है। जो नष्ट होने वाला है वह सत्य कैसे हो सकता है। जो सबमे एक रूप से रम रहा है जो अविनाशी और सर्वान्तर्यामी है उसी को सबमे समान रूप से देखने का नाम सत्य है। समदर्शन को ही परम सत्य कहते हैं।"

उद्धव जी ने कहा— "सत्य की परिभाषा तो यह हो गयी ऋत किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"सत्य मे झूठ मे कोई विशेष अन्तर नहीं। समदर्शन का नाम सत्य है और सत्य तथा मधुर वाणी को ही विद्वान् लोग ऋत कहते हैं। प्रायः सत्य वचन में कुछ

रुक्षता रहती है। उस रुक्षता को मिटा कर उसमें मधुरता भर देना और सत्य को विकृत न बनाना इसी का नाम ऋत है। ऐसे हित कर और मनोहारी वचन दुर्लभ होते हैं।

उद्धव जी ने पूछा— "भगवन्! शौच किसका नाम है?"

भगवान् ने कहा—"जल तथा मृत्तिका से पवित्रता रखना यह शौच तो प्रसिद्ध ही है। वास्तविक शौच तो उसे कहते हैं, जिससे कर्मों में आसक्ति न हो। कर्मों की अनासक्ति का ही नाम यथार्थ शौच है।"

उद्धव जी ने पूछा— "भगवन्! सन्यास किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"कर्मों को करते रहना ही ग्रहण है और कर्मों के त्याग का ही नाम सन्यास है। कर्म जब तक होंगे तब तक कुछ न कुछ कर्मों का लगाव रहेगा ही। जब कर्म सर्वथा छूट जायें, तभी समझो सन्यास हो गया।"

उद्धव जी ने पूछा—'भगवन्! प्राणियों का इष्ट धन क्या है?"

भगवान् ने कहा— "उद्धव! लोग रुपये पैसे तथा भूमि आदि के संग्रह को धन कहते हैं, किन्तु ये सब नश्वर हैं। अविनाशी तो एक धर्म है। इसलिए वही वास्तव में इष्ट धन है। जो धर्म से हीन है वही निर्धन है।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! यज्ञ किसे कहते हैं?

भगवान् ने कहा—"जिससे यश ऐश्वर्य प्रकट हो वही यज्ञ है। जितने परम ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, उन सब मे परम श्रेष्ठ मैं ही हूँ। यज्ञ पुरुष मेरा ही नाम है अतः मुझे ही लोग यज्ञ कहते हैं। सब यज्ञों का अधिष्ठातृ देव मैं हूँ। जिसने मेरा पूजन कर लिया, उसने मानों सब यज्ञ कर लिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो दक्षिणा किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—'उद्धव ! दक्षिणा देवी का एक पौराणिक इतिहास है। गो लोक में जहा मैं अपनी प्रिया राधिका के साथ नित्य विहार किया करता रहता हूँ, वहाँ मेरी करोड़ों गोपिकायें हैं। उन सबकी स्वामिनी श्री राधिका जी हैं। मैं सब के साथ नित्य नूतन-नूतन क्रीड़ायें किया करता हूँ। वहाँ की असंख्यों गोपियों में से एक सुशीला नाम की गोपी थी। वह अत्यन्त ही सुंदरी, सुदती, सुभगा तथा सरला गोपी थी, एक दिन एकात में मैं उसके साथ बैठकर अत्यत प्रेम की मीठी-मीठी बाते कर रहा था। मेरे युगल चरण उसकी गोद मे रखे थे। वह भाव-विभोर होकर उन्हें सहला रही थी। इतने मे ही वहाँ राधा जी आ गयीं। मैं उनसे बहुत डरता था। द्वार खुला हुआ था, मैं सकपका गया क्या करता, तुरन्त अन्तर्धान हो गया। मुझे अन्तर्हित होते देखकर मेरी प्रिया सुशीला भी वहीं अन्तर्हित हो गयी। राधिका जी को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उसी दुःख मे शाप दे दिया कि यदि आज से सुशीला गो लोक में आयगी तो वह भस्म हो जायगी।"

शाप की बात सुशीला ने भी सुनी अब वह क्या करती, उसने घोर तप किया। तप करके वह वैकुंठ लोक वासी महाविष्णु की पत्नी महालक्ष्मी जी के शरीर में प्रविष्ट हो गयी और वहीं रहने लगी।

इधर लोग भारतवर्ष में यज्ञ याग करने लगे। लोग बड़े-बड़े यज्ञ करें, किन्तु उनका फल कुछ भी न हो। तब देवताओं को बड़ी चिन्ता हुई। ब्रह्माजी को आगे करके देवताओं का एक शिष्ट मडल जगत्पति भगवान् नारायण के समीप गया। सबकी ओर से ब्रह्मा जी ने कहा—"ब्रह्मन् ! हमलोग यज्ञ करते हैं किन्तु उनका फल कुछ नहीं होता इसका कोई उपाय बतावें जिससे यज्ञ का फल हो।

हँसकर भगवान् बोले—"अरे, भैया ! बिना बहू के क फल मिलता है। जिस यज्ञ की तुम उपासना करते हो, वह तो अविवाहित। अविवाहित को तो सदा अपनी ही रोटियों चिन्ता लगी रहती है, यह दूसरों को क्या फल देगा ?"

ब्रह्माजी ने कहा – "महाराज ! आप सर्व समर्थ हैं, यज्ञ आपका ही रूप है, उनके लिये कोई सुशीला बहू खोज दीजिये।

सुशीला का नाम सुनते ही श्रीमन्नारायण को गो लोक गोपी सुशीला का स्मरण हो उठा उन्होंने यह भी जान लि

सुशीला तपस्या द्वारा लक्ष्मीजी के शरीर में निवास कर रही है अतः लक्ष्मीजी के शरीर से सुशीला को निकाल कर भगवान्

विष्णु ने ब्रह्माजी को दिया। ब्रह्माजी ने उसका विवाह यज्ञ के साथ कर दिया। उसी का नाम दक्षिणा हुआ। यज्ञ भगवान् इतनी सुन्दरी सुशीला पत्नी को पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्हीं के गर्भ से फल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पितरों की पत्नी स्वधा है, अग्नि की पत्नी स्वाहा है, वैसे ही यज्ञ की पत्नी दक्षिणा है। तभी से यज्ञों में दक्षिणा देने की प्रथा प्रचलित हुई। दक्षिणा से फल मिलता है, बिना दक्षिणा के सभी शुभ कर्म निष्फल हो जाते हैं। दक्षिणा ही महाफल को उत्पन्न करनेवाली है। महाफल है ज्ञान। अत ज्ञानोपदश वास्तविक दक्षिणा है। दक्षिणा मुझ यज्ञ पुरुष की पत्नी है और मैं स्वय ज्ञान स्वरूप हूँ। पत्नी और पति में तो भेद होता ही नहीं। अतः ज्ञानदान ही परमा दक्षिणा है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! लोग कहते हैं बलवान् ही सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। वह बल क्या है? परम बल किसका नाम है?"

भगवान् ने कहा—"सबसे बलवान् प्राण हैं। उन प्राणों का आयाम करना यही सबसे श्रेष्ठ बल है। प्राणायाम से बढ़कर और कोई उत्तम बल नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन भग किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"मेरे समस्त ऐश्वर्य का ही नाम भग है। इसलिये मैं भगवान् कहलाता हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! परम लाभ अथवा कल्याण किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! ससारी लोग तो धन, यश, ऐश्वर्य तथा आरोग्य आदि का प्राप्ति को ही लाभ कहते हैं। किन्तु मेरे मत म तो मेरी भक्ति का प्राप्त हो जाना ही परम लाभ है। जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी उसे पूर्ण लाभ प्राप्त

हो चुका जिसे मेरी भक्ति की प्राप्ति नहीं हुई और अन्य सब कुछ सांसारिक वस्तुएँ प्राप्त हैं तो उसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। वह घाटे मे ही रहा।"

उद्धवजी ने पूछा--"भगवन्! विद्या किसका नाम है?"

भगवान ने कहा—"आत्मा मे भेद बुद्धि का न रहना ही विद्या है। सबमे एकत्व भावना हो जाना यही विद्या है।

उद्धवजी ने पूछा--"भगवन्! ह्री किसका नाम?"

भगवान् ने कहा--"उद्धव! यह प्राणी जब विषया सक्त हो जाता है, तब निर्लज्ज बन जाता है। मेरे इस व्यवहार को देखकर गुरुजन तथा समाज के लोग क्या कहेंगे, इसकी वह तनिक भी चिन्ता न करके विषयों के पीछे पागल हो जाता है, जो कार्य न करना चाहिये उसे भी कर बैठता है इसी का नाम निर्लज्जता है। और दुष्कर्मों से दूर रहना ही लज्जा या ह्री है। जिसके हृदय मे लोक मे लाज या गुरुजनों का संकोच है वह बहुत से अनर्थों से बच सकता है।"

उद्धव जी ने पूछा— 'भगवान्! श्री किसे कहते हैं?--"

भगवान् ने कहा— 'लोक मे श्री नाम तो लक्ष्मी का प्रसिद्ध है, किन्तु मेरे मत में तो किसी से कुछ भी अपेक्षा न रखना सदा निर्भय रहना, यथा शक्ति दान देना, यज्ञ करना, सत्य बोलना आदि सद्गुणों का ही नाम श्री है। ये सद्गुण जिनमें हो वे ही वास्तविक श्रीमान् हैं।"

उद्धव जी ने पूछा— "प्रभो! सुख किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा —"उद्धव! संसार मे अनुकूल वेदना का नाम सुख है और प्रतिकूल वेदना का नाम दुख दोनों से ही परे हो जाने का नाम परम सुख है। सुख दुख दोनो ही परस्पर में सापेक्ष हैं, किन्तु जहाँ दोनों की ही अपेक्षा न रहे वही यथार्थ सुख है।

उद्धव जी ने पूछा— "फिर भगवान्! दुःख क्या रहा?"

भगवान् ने कहा— 'सासारिक विषयो की अपेक्षा रखना ही दुःख है। ये ससारी जितने पदार्थ हैं, सब नश्वर हैं, इन सब का परिणाम दुःखद ही है। इसलिये जितनी ही जिसे इन विषयों की अपेक्षा है, वह उतना ही अधिक दुखी है।"

सूत जी कहते हैं— "मुनियो! अब उद्धव जी ने पंडित और मूर्खों के विषय मे जो प्रश्न किये हैं उन प्रश्नो को उत्तर सहित मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

सम दरशन ही सत्य शौच आसक्ति न करमन।
करम त्याग सन्यास, धर्म ही कह्यो इष्ट धन॥
हौं ही उत्तम यज्ञ ज्ञान उपदेश इच्छना।
बल बड प्राणायाम लाभ अति भक्ति भावना॥
आत्मा अरु परमात्मा महँ, अभेद विद्या कही।
भग ही मम ऐश्वर्य है, दुष्कर्मनि को त्याग ही॥

छप्पय

उद्धव बोले—"कहैं आप 'श्री' का कू स्वामी।
सुख, दुख, पडित, मूर्ख अर्थ का अन्तरयामी॥
कौन कुपथ, का सुपथ स्वरग अरु नरक बताओ।
बन्धु कौन, घर कहा, कौन निरधन समुझाओ॥
को ईश्वर विपरीत को, धनी कौन को कृपन है।
मेटें मेरे मोह कूँ, प्रभु तो अशरन शरन है॥

—:o:—

पंडितादिके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर

(१२९२)

कः पंडितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्चकः ।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित्कोबन्धुरुतकिंगृहम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १६ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

सम सुख दुख-सुख कह्यो कही श्री सद्गुण संचय ।
विषय अपेक्षा दुःख काम ही रिपु अति दुर्जय ॥
बन्ध मोक्ष तैं विज्ञ होहि सो पंडित ज्ञानी ।
मैं मेरी महँ फँस्यो कह्यो मूरख अज्ञानी ॥
बढ़ै सत्वगुन स्वर्ग सो, मम ढिँग लावै सो सुपथ ।
बढ़ै तमोगुन सो नरक, चित चंचलकर सो कुपथ ॥

एक कहावत है "सौ सयाने एक मत" इस बात में किसी भी आस्तिक का मत भेद नहीं है, कि जो भगवान् की ओर बढ़ रहा है, वही पंडित है और जो भगवान् से विमुख हो रहा है वही मूर्ख है। जीव का परम पुरुषार्थ यही है, कि प्रभुसे प्रेम करे, जो

*श्री भगवान् उद्धवजी से पूछ रहे हैं—"भगवन्! पंडित किसे कहते हैं? मूर्ख कौन है? पन्था किसका नाम है? उत्पथ किसे कहते हैं? स्वर्ग क्या है? नरक किसका नाम है? बन्धु किसे कहते हैं और घर क्या है?

प्रभुसे न प्रेम करके विषयोंसे प्रेम करता है, वह मानो माया द्वारा ठगा गया। वही सद्गुण है जो प्रभु प्राप्तिमें सहायक हो और वे दुर्गुण हैं, जो प्रभुसे विमुख करें संसार तो दुःख सुख पुण्य पाप आदि द्वंदोंका घर है, जो इसकी ओर देखता है वही दोषी है, जो इसकी ओर ध्यान न देकर गुणातीत मुझ विशुद्ध ब्रह्मकी ओर दृष्टि रखता है वही निर्दोष है। वही सुपथगामी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजीके बहुतसे प्रश्नोंका भगवान्ने उत्तर दिया, तब और भी प्रश्न पूछनेकी इच्छासे उद्धवजी कहने लगे—"हे जगन्नाथ! आपके उत्तरोंसे मुझे बड़ा सन्तोष हो रहा है। अब मैं यह पूछना चाहता हूँ, कि पंडित किसे कहते हैं?"

भगवान्ने कहा—"उद्धव! संसारमें तो लोग उसीको पंडित कहते हैं, जो शास्त्रोंको पढ़ा हो, किन्तु शास्त्रोंको पढ़कर भी जिसे यह ज्ञान नहीं, कि कौनसे कर्म करनेसे बन्ध होता है और किन कर्मोंके आचरणसे मुक्ति होती है, तो वह वास्तवमें पंडित नहीं। पंडित तो वही है जो बन्ध और मोक्षको जानता हो।"

उद्धवजीने पूछा—"फिर भगवन्! मूर्ख कौन है?"

भगवानने कहा—"उद्धव? लोकमें तो मूर्ख उसे ही कहते हैं जो अपने सांसारिक स्वार्थोंमें कुशल न हो। जो अपने धनकी भूमिकी रक्षा न करता हो, किन्तु वास्तवमें मूर्ख तो वह है जो इस शरीर तथा शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली सांसारिक सामग्रियोंमें अहंबुद्धि रखता है। "मैं विद्वान् हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, अन्य सब मुझसे नीच हैं। यह मेरा घर है, यह मेरी सम्पत्ति है, इसका मैं स्वामी हूँ, कोई दूसरा इसकी ओर दृष्टि उठाकर भी देखेगा, तो मैं उसका सिर फोड़ दूँगा।" इस प्रकार जो अहंता ममतामें फँसकर प्राणियोंसे राग द्वेष रखता है वही मूर्ख है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ? सुमार्ग क्या है ?" पुण्य पन्थ किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! लोक मे तो सभी अपने अपने पन्थ को सुपथ बतलाते हैं, किन्तु जिसके द्वारा मेरी प्राप्ति होती है वास्तव मे तो वही सन्मार्ग है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! कुपथ किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"सुपथ के विरुद्ध जो है वही कुपथ है। जो मार्ग मुझ तक पहुँचा दे वह सुमार्ग है और जो गहन संसार की ओर ले जाय वही कुपथ या कुमार्ग है। अहंता और ममता का ही नाम संसार है। अहंता ममता से ही चित्त में विक्षेप होता है, अतः जिससे चित्त मे विक्षेप हो वही कुपथ है।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो ! स्वर्ग किसका नाम है ?"

भगवान् ने कहा—"लोक मे तो स्वर्ग नाम का लोक है वह तो प्रसिद्ध ही है जहाँ अमृत है,अप्सरायें है, नंदनवन हैं, देवलोक है, विमान हैं तथा अन्यान्य स्वर्गीय पदार्थ हैं, किन्तु मेरे मत मे तो जहाँ भी जिस समय सत्वगुण का उदय हो जाय, वही स्वर्ग है।"

उद्धवजी ने पूछा—"फिर नरक किसका नाम है ?"

भगवान् ने कहा—"लोक मे तो रौरव, महारौरव, अन्धतामिस्र तथा अन्यान्य नरक प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु मेरे मत मे तो जहाँ भी जिस समय भी तमोगुण का प्राबल्य हो जाय वही नरक है।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो ! बन्धु किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो हमे अपने स्नेह सम्बन्ध से बाँध ले वही बन्धु है। सम्पूर्ण प्राणियों का एकमात्र सच्चा सुहृद् मैं ही हूँ। अतः गुरुरूप से मैं ही सब का बन्धु हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो ! घर किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जहाँ पहुँच कर प्राणी सुखी हो जाय। और योनियों मे तो सब कार्य स्वभावानुसार करना पड़ता है। एक

मनुष्य योनि ही ऐसी है, कि जहाँ से मनुष्य मुक्त हो सकता है। अतः सच्चा घर मनुष्य शरीर ही है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! धनवान् किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! लोक में तो लोग उसी को धनी कहते हैं, जिसके पास कुछ सुवर्ण चाँदी के ठीकरे हों। किन्तु मेरे मत में तो सच्चा धनी वही है जिसमें सद्गुण निवास करते हों। वास्तव में गुणवान् ही यथार्थ धनवान् है।"

उद्धवजी ने पूछा—"अच्छा प्रभो! निर्धन कौन है?"

भगवान ने कहा—"उद्धव! जिसके पास अमूल्य नर देह है, दश इन्द्रियाँ हैं मन है बुद्धि है ऐसा कोई भी निर्धन नहीं है, किन्तु जिसके पास सब कुछ है अटूट धन है, किन्तु सन्तोष नहीं है तो वह सब रहने पर भी निर्धन है। वास्तव में जो असन्तुष्ट है वही निर्धन है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् कृपण कौन?"

भगवान् ने कहा—"लोक में तो कृपण उसे कहते हैं, जो धन रहते हुए भी उसे व्यय नहीं करता। किन्तु मेरे मत मे तो कृपण वही है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं है। अजितेन्द्रिय ही वास्तव में दीन है कृपण दरिद्री है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! ईश्वर किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"जो स्वाधीन है, जो विषयों में अनासक्त है वही ईश्वर है। जो विषयों दास है, वह ईश्वर कैसे हो सकता है। नाम का ईश्वर भले ही हो?"

उद्धवजी ने पूछा—"अनीश्वर कौन है भगवन् !"

भगवान् ने कहा—"ईश्वर के विपरीत अनीश्वर है। अर्थात जो पराधीन है तथा विषयों में संलग्न है, विषयों के अधीन है। उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! अशम, अदम, अधैर्य इन सबकी भी क्या व्याख्या करें।"

हँसकर भगवान ने कहा—"अरे, भैया ! ऐसे कहाँ तक व्याख्या करते रहेंगे। जो शम से विपरीत है अर्थात् बुद्धि का मुझमें न लगना ही अशम है। ऐसे ही अदम अधैर्य सभी का अर्थ लगा लो। इस प्रकार मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया अब तुम और क्या पूछना चाहते हो ?"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् संक्षेप में गुण और दोष की मुझे कोई मोटी सी परिभाषा बता दें, जिससे मैं समझ लिया करूँ कि यह गुण है यह दोष है ?"

हँसकर भगवान् बोले—"गुण दोषों का देखना ही सबसे बड़ा दोष है। दूसरे के गुण दोषों को न देखना यही सबसे बड़ा गुण है। अतः गुण दोष दर्शन की भावना को ही छोड़ देना चाहिये। संसार में सब गुण गुणों में बरत रहे हैं। क्या दोष क्या गुण। सब मेरी माया है, खेल है क्रीडा है, जो गुण दोष देखने के चक्कर में फँसेगा वही दुखी होगा। और जो गुण दोष से ऊपर उठ जायगा वही सुखी होगा।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! यह सुनकर उद्धवजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे गुण दोष दीखें ही नहीं यह कैसे

संभव हो सकता है, इसके विषय मे वे जो भगवान् से शंका करेंगे, और भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

हौं ही गुरुवर बन्धु मनुज तनुधर अति मनहर।
गुणी धनी ही सत्य विषय निरलिसहि ईश्वर॥
विषयी ईश्वर नहीं तासु चित नहीं समाहित।
निरधन जो नहिं तुष्ट कृपन जो नहि इन्द्रियजित॥
सब प्रश्ननि उत्तर दयो, उद्धव! अब अति सार सुन।
गुन दोषनि को देखिबो, दोष, न देखन उभय गुन॥

गुण दोषों के सम्बन्ध में उद्धवजी की शङ्का

(१२९३)

गुण दोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वतः।
निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः॥*
(श्री भा० ११ स्क० २० अ० ५ श्लो०)

छप्पय

सुनिकें प्रभु के वचन प्रश्न कीया उद्धव पुनि।
'भगवन्! मन भ्रम भयो बात गुण दोषनि की सुनि॥
यह गुन है यह दोष सतत श्रुति वचन बतावें।
विधि निषेध के हेतु कर्म गुन दोष दिखावें॥
द्रव्य, देश, वय, काल अरु, स्वरग नरक उत्तम अधम।
वेद भेद प्रति पद कहैं, कैसे फिरि तजि देहिँ हम॥

वेदों मे बहुत से वाक्य परस्पर विरोधी से दिखायी पडते हैं। कहीं पर उसी बात को करने की आज्ञा दी है दूसरे स्थान पर उसी का निषेध किया है। जो अल्पश्रुत हैं। जिन्होंने विधिवत गुरुजनों की सेवा शुश्रुषा करके ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वे ऐसे वचनों

*उद्धवजी शङ्का करते हुए भगवान् से कह रहे हैं—"हे प्रभो! यह गुण दोषमयी भेद दृष्टि तो आपकी आप रूप श्रुति से ही है स्वतः तो है नहीं। और फिर श्रुति से ही इसका अपवाद भी होता है। इन दोनों विरुद्ध बातों से मुझे भ्रम हो रहा है।"

को सुनकर भ्रममे पड जाते हैं, बहुतसे अज्ञ तो कहने भी लगते हैं, कि वेदमे तो बहुतसे परस्पर विरोधी वचन हैं।" वे अज्ञ यह नहीं समझते कि यह वचन किस प्रकरणमे किस उद्देश्यसे कैसी परिस्थिति के लिये कहा गया है और जहाँ पर इसका विरोधी वचन है, वह किस परिस्थितिके लिये है। इसका रहस्य गुरुमुखसे ही समझा जा सकता है। वे ही परस्परमे विरोधीसे दीखनेवाले वचनोंकी मीमांसा कर सकते हैं, वे ही उनका सच्चा समन्वय करनेमे समर्थ हैं। अतः ऐसी शङ्का मनमे उठे तो सच्चे हृदयसे बिना छल कपटके सद्गुरुके चरणोंमे जाकर उसे निवेदन करना चाहिये। वे शिष्यकी शङ्का का समुचित रीति से समाधान कर सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—" मुनियो! जब भगवान् ने यह कहा कि 'गुण दोषों का देखना ही दोष है और इन दोनों का न देखना ही गुण है' तो इसे सुनकर उद्धवजी के मन मे शङ्का हुई। उन्होंने कहा—"प्रभो! आपके वचनो मे मुझे शङ्का तो न करनी चाहिये, किन्तु फिर भी मुझे शङ्का हो गयी है, आज्ञा हो तो पूछूं?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, अवश्य पूछो।"

उद्धवजी ने कहा—'वेद तो भगवन्! आपकी आज्ञा ही हैं। वेदों में, शास्त्रों में, पुराणों तथा स्मृतियों मे सर्वत्र विधि निषेधमय वाक्य मिलते हैं। यह कार्य करना चाहिये यह न करना चाहिये। इसके करने से पुण्य होगा, इसके करने से पाप होगा। यह अच्छा काम है यह बुरा काम है। जो भी प्राणी कर्म करता है, उसमें गुण है या दोष इसका विवेचन वेद शास्त्र ही करते हैं। यह काय है यह अकार्य है, इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, कर्तव्या कर्तव्य का निर्णय शास्त्र ही तो करते हैं। कोन धर्म है कोन अधर्म है इसका निर्णय मेरी वेद-वाणी के द्वारा ही होता है।"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, तो भगवन्! मेरी शङ्का तो रह गयी। मैं कह रहा हूँ कि सबसे अधिक गुण और दोष तो ही देखता है। यह ब्राह्मण है, यह शूद्र है। इसने यह दोष कि इसे इसका यह दण्ड मिलना चाहिये। यदि शूद्र ने कि ब्राह्मणी से सन्तान उत्पन्न कर ली तो वह प्रतिलोमज वर्ण सं समस्त शुभ कर्मों से बहिष्कृत है। यदि उच्च जाति के पुरुष ने ह जाति की स्त्री से सन्तान उत्पन्न कर ली तो वह अनुलोमज सं है। यह यह कर्म कर सकता है, यह यह कर्म नहीं कर सक्त इसी प्रकार यह द्रव्य शुद्ध है यह अशुद्ध है। यह अमुक के लि ग्राह्य है अमुक के लिये त्याज्य है। अमुक देश शुद्ध है अमु देश अशुद्ध है। इन इन देशों मे यदि तीर्थ यात्रा के बिना च जाय तो उसे अमुक अमुक प्रायश्चित्त करना चाहिये। अमुक अ स्था मे अमुक कार्य करना उपयुक्त है, अमुक मे अनुपयुक्त है अमुक काल में अमुक कार्य करना पाप है, वही कार्य दूसरे काल में करना पाप नहीं है। इस कर्म के करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इस कार्य को करने से नरक मे जाना पडता है। इ सब भेदों को कौन बताता है?"

भगवान् ने कहा—"वेद ही इन सब बातों को बताता है।"

अपनी बात पर बल देते हुए उद्धवजी ने कहा—"हाँ, यही तो मैं कह रहा हूँ, कि बिना गुण दोषों का विवेचन किये हुए वेद भी मनुष्यों का कल्याण नहीं कर सकता। उसे भी गुण दोषमयी भेद दृष्टि के ही द्वारा लोगों के कर्तव्यों का निर्णय करना होगा। साधारण लोग क्या समझ सकते हैं कौन साध्य है कौन साधन है। घट पट सम्मुख हो दृष्टि से देखने की वस्तु हो तो साधारण लोग बता सकते हैं, यह घडा कच्चा है, यह पक्का है। यह वस्त्र पीला है, यह लाल है यह शुभ्र है, किन्तु स्वर्ग अपवर्ग ये विषय तो अदृष्ट हैं, इनका निर्णय तो वेद से ही हो

सकता है। देवता पितर मनुष्य सभी वेदों को ही प्रमाण मानते हैं। जब सबके एकमात्र प्रमाण भूत वेदों में ही गुण दोषमयी भेद दृष्टि विद्यमान है, तो फिर हम साधारण लोग गुण दोषों को न देखें यह कैसे संभव हो सकता है। फिर वेद में ऐसे भी वचन मिलते हैं दूसरे के गुण दोषों को तुरन्त त्याग कर अमृतत्व लाभ करो।" एक ओर तो वेद स्वयं गुण दोषों को देखते हैं। वेदों की भित्ति ही विधि निषेध गुण दोषों के ऊपर अवस्थित है। वेदों में विधि निषेध, गुण दोष दर्शन को निकाल दो तो उसमें रह ही क्या जायगा। दूसरी ओर स्वयं वेद ही कहता है गुण दोषों को देखो ही नहीं। इन विरोधी वचनों से मुझे भ्रम हो रहा है, कृपा करके मेरे इस भ्रम को दूर कीजिये मेरी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! वेद किसी एक के लिये तो है ही नहीं। वह तो सभी प्रकार के लोगों के लिये है। उसमें सात्विक लोगों के लिये भी उपाय है, राजस प्रकृति के लोगों के लिये और तामस प्रकृति के लोगों के लिये भी हैं। गुणातीत पुरुषों के लिये भी उपाय है। जैसे पंसारी की दुकान है उसमें सभी वस्तुएँ हैं। संखिया भी है जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, वह उससे प्राप्त करता है। अधिकारी भेद से उसमें तो गुण दोषों के विवेचन की सभी बातें हैं। जिन्हें परम पद की प्राप्ति करनी हो उन्हें अपने अनुकूल निःश्रेयस के उपाय को अवलम्बन कर लेना चाहिये। आयुर्वेद में एक ही रोग की भिन्न भिन्न प्रकृति होने से औषधियाँ भी भिन्न भिन्न हैं। मान लो तीन आदमियों को एक सा ही ज्वर है, किन्तु उन तीनों की प्रकृति भिन्न भिन्न हैं। किसी की वात प्रकृति है, किसी की पित्त प्रकृति है और किसी की कफ प्रकृति

है तो तीनों का निदान पृथक् पृथक् होगा। परम पद प्राप्ति के भी वेदों मे पृथक् पृथक् मार्ग बताये हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! वेदों मे परमपद के मुख्यतया कै उपाय हैं?"

भगवान् ने कहा—"मुख्यतया तीन उपाय वेदों में कहे हैं। एक ज्ञान योग दूसरा भक्ति योग और तीसरा कर्म योग। यह विधि निषेध का विवेचन कर्म मार्ग मे ही है। जो ज्ञान मार्ग आरूढ हो गये हैं या जिन्हें भक्ति की परिपक्वावस्था प्राप्त चुकी है उनके लिये विधि निषेध, गुण दोष अथवा हेय उपादे कुछ रह ही नहीं जाता।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मुझे ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग के सम्बन्ध मे विस्तार के साथ बतावें। इन तीनों मार्ग को भली भाँति समझावें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है सुनो, मैं इन तीनों का अत्यत सक्षेप में तुम्हें परिचय कराता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान तीनों मार्गों का विवेचन करेंगे उसे मैं आपसे कहता हू।"

छप्पय

पुनि श्रुति ही यों कहे, दोष गुन नहीं निहारो।
त्यागि दोष गुन भक्ति करो या मग विचारो॥
लखि विरोध भ्रम भयो बुद्धि मेरी चकराई।
मम भ्रम मेटो नाथ भक्त वत्सल यदुराई॥
तब बोले भगवान् सुनु, उद्धव तू अति तत्वज्ञ।
तीन योग मैंने कहे, पुरुषनि के कल्यान हित॥

योगत्रय विवेचन

(१२१४)

योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

(श्रीमा० ११ स्क० २० अ० ६ श्लो०)

छप्पय

ज्ञान कर्म अरु भक्ति योग ये तीनि पुरातन ।
जो विरक्त निष्काम ज्ञान तिनि हेतु सनातन ॥
अधिकारी ते कर्मयोग के, जो सकाम जन ।
नहिँ विरक्त अति रक्त न तिनिको भक्ति परमधन ॥
जब तक विषय विराग नहिँ, मम गुन करमनि श्रवन रुचि ।
तब तक तजि फल कर्म करि, होवै अन्तः करन शुचि ॥

वही सुपथ है जो साधक को प्रभु के पाद पद्मा तक पहुँचावे। सत्ययुग से लेकर अब तक तीन माग चले आये हैं। उन्हें कर्म उपासना और ज्ञान मार्ग कहते हैं। जो लोग एकमात्र ज्ञान को ही मुक्ति का कारण मानते हैं वे कर्म और उपासना को पृथक् मार्ग न मानकर इन्हें ज्ञान का कारण मानते हैं। वे इन तीनों मार्गों को सगति या लगाते हैं, कि शुभ कर्मों द्वारा

*श्री भगवान् उद्धवजी को उत्तर देते हुए कह रहे हैं—"उद्धव ! मैंने मनुष्यों के कल्याण निमित्त तीन योग कहे हैं। वे ज्ञानयोग कर्मयोग और भक्तियोग ये ही हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।"

अन्त.करण की शुद्धि होती है। शुद्ध अन्तःकरण में भगवान् का सगुण उपासना की योग्यता आ जाती है। उपासना करते करते जब वह अहंग्रह उपासना के रूप में परिणित हो जाता है, तो अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान होता है। उसी ज्ञान के द्वारा मुक्ति होती है। उनका मत है कर्म और उपासना स्वतंत्र रीति से मुक्ति के कारण नहीं हैं। परम्परया कारण हैं। शुभ कर्मों से अन्त.करण की शुद्धि उपासना से ज्ञान का अधिकार और ज्ञान से मुक्ति। उनका कहना है, ज्ञान के अतिरिक्त और किसी साधन से मुक्ति हो ही नहीं सकती।

वैदिक उपासना का नाम उपासना है, वही जब वेद, तन्त्र तथा अन्य पाँच रात्रादि शास्त्रों द्वारा उपासना की जाती है तो उसी का नाम भक्ति है भक्ति शास्त्र वाले कहते हैं, एकमात्र भक्ति के द्वारा ही परमपद की प्राप्ति हो सकती है उसके लिये ज्ञान की अपेक्षा नहीं। ज्ञान भक्ति का साधन हो सकता है। किन्तु भक्ति तो मुक्ति से भी बढ़कर है, जो मुक्ति ज्ञान का कारण है।

मीमांसक कहते हैं। वेद एकमात्र कर्म का ही प्रतिपादन करता है, वेद में केवल कर्म करने का ही आग्रह है, कुछ उपासना और ज्ञानपरक वचन भी मिलते हैं, वे केवल प्रशंसापरक हैं। उनका मत है, जब तक जीओ, तब तक वेदोक्त शुभ कर्मों को करते रहो। उन शुभ कर्मों के फल से स्वर्गादि लोकों में जायेंगे। वहाँ अमृत पीवेंगे विहार करेंगे यदि पुण्य कर्म कभी क्षीण भी हो गये तो हम यहीं शुचि श्रीमानों के घरों में जन्म लेंगे फिर शुभ कर्म करेंगे फिर वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान करेंगे फिर अक्षय पुण्य लोकों में जायेंगे, उनके मत में स्वर्गादि के सुख ही मुक्ति है। इन सुखों के अतिरिक्त और कोई मुक्ति नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं, ज्ञान मार्ग भक्तिमार्ग और कर्म मार्ग ये तीन मार्ग सनातन हैं। अब विचार यह करना है, कि ये तीनों ही लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ हैं या कोई इनमें से बीच में ही छोड़ देने वाला है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! योगत्रय का वर्णन करते हुए भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—' उद्धव ! मनुष्यों के कल्याण के निमित्त मैंने ज्ञानयोग भक्तियोग और कर्मयोग ये ही तीन मार्ग बताये हैं। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा कोई अन्य मार्ग है ही नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! आपने तीन योग क्यों बताये। एक ही योग बताते।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! सबकी प्रकृति भिन्न भिन्न है। अधिकारी भेद से मैंने ये तीन योग बनाये। जो जिस योग का अधिकारी होगा, वह उसी योग को ग्रहण कर लेगा।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! प्रथम मुझे आप इन तीनों योगों के अधिकारियों के ही सम्बन्ध में बतावें। अच्छा ज्ञान-योग का कौन अधिकारी है ?"

भगवान् ने कहा—"जिन्हें आरम्भ से ही यह संसार दुःख-मय प्रतीत होता है, जो अनुभव करते हैं, कि जितने कर्मों के आरम्भ किये जाते हैं, वे सभी दोष पूर्ण किये जाते हैं। इस-लिये उनकी किसी भी कर्म में प्रवृत्त होने की स्वाभाविक रुचि ही नहीं होती। जो अच्छे बुरे सभी कर्मों से विरक्त होकर उन्हें त्याग देना चाहते हैं। हुए कर्मों से अनासक्त रहनेवाले ज्ञानयोग के अधिकारी होते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"अच्छा, भगवन् ! कर्मयोग के अधिकारी कौन है ?"

भगवान् ने कहा—' जिनकी कर्मों में स्वाभाविक रुचि हो।

जिन्हें कर्म करते रहने मे आनन्दानुभव होता हो। जिनको कर्मों के प्रति अनुराग है ऐसे सकामी पुरुष कर्मयोग के अधिकारी हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"फिर भक्तियोग के अधिकारी कौन रहे ?"

भगवान् ने कहा—"भक्तिमार्ग मध्यम मार्ग है। मध्यम प्रवृत्ति के लोग भक्तियोग के अधिकारी होते हैं। जिनको कर्मों से न तो अत्यंत विरक्ति ही है और न कर्मों के प्रति अत्यंत आसक्ति ही है। कर्म सम्मुख आ जायँ, तो उन्हें देखकर भयभीत नहीं होते, न आवे तो उनके लिये अत्यंत प्रयत्नशील भी नहीं होते। सौभाग्यवश जिनको मेरी भागवती कथाओं के श्रवण में स्वाभाविकी रुचि है। मेरी कथा सुनते ही जो प्रफुल्लित हो जाते हैं, ऐसे लोग भक्तियोग के अधिकारी हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् आपके कथन से ऐसा प्रतीत हुआ, कि कर्म करना कोई आवश्यक नहीं है। यदि कर्म अनावश्यक ही हैं तो इन्हें छोड़ ही क्यो न देना चाहिये।"

भगवान् ने शीघ्रता के साथ कहा—"न, उद्धव ! जब तक कर्मों से पूर्ण वैराग्य न हो जाय, अथवा मेरी कथाओं के कथन श्रवण में ही पूरी आसक्ति न हो जाय, तब तक कर्मों को करते ही रहना चाहिये। न तो ज्ञान ही हुआ न मेरे नाम गुण श्रवणादि में भक्ति ही हुई। ऐसी दशा मे जो कर्मों को छोड देगा, वह अकर्मण्य या आलसी हो जायगा। इतो भ्रष्टस्ततोभ्रष्टः बन जायगा। इसलिये जब तक कर्म त्याग की योग्यता न हो तब तक कर्मों को करते रहना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! कर्म कै प्रकार के हैं।"

भगवान् ने कहा—"कर्म चार प्रकार के होते हैं, नित्यकर्म जैसे सन्ध्यावन्दन श्राद्धतर्पण आदि, नैमित्तिककर्म जैसे श्राद्ध,

ग्रहण स्नान आदि जो किसी निमित्त से किये जाते हैं। काम्य-कर्म जैसे स्वर्ग की कामना से अश्वमेध करना। पुत्रकी कामना से पुत्रेष्टियज्ञ करना। किसी भी कामना की पूर्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे काम्यकर्म कहाते हैं। निषिद्धकर्म जैसे पर स्त्री गमन, सुरापानादि।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! इन कर्मों का फल क्या है?"

भगवान् ने कहा—"नित्यकर्म तो कर्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं, इनके न करने से पाप लगता है, करने से कोई विशेष पुण्य नहीं। नैमित्तिककर्म करने से देवता पितर आदि सन्तुष्ट होते हैं। काम्यकर्म करने से कामनाये पूर्ण होती हैं, स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। निषिद्धकर्म करने से नरकादि लोकों की प्राप्ति होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तब तो ये कर्म बन्धन के ही कारण हुए। जैसा नरक बन्धन है वैसा ही स्वर्ग बन्धन है। एक मूँज की कडी रस्सी का बन्धन है, दूसरा रेशमी मृदुल रस्सी का बन्धन है। तब तो कर्म करना सर्वथा दोषयुक्त ही सिद्ध हुआ।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! तुम्हारा कथन यथार्थ है। यदि कर्म सकाम बुद्धि से किये जायँगे, तो वे अवश्य ही बन्धन का कारण होंगे, किन्तु कर्म निष्काम भाव से किये जायँ और वे निषिद्ध तथा काम्यकर्म न हों। स्वधर्म का पालन करते हुए कर्मों के फलों की आशा न रखकर कर्तव्य बुद्धि से किये जायँ, तो न उनसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी न नरक की।"

उद्धवजी ने पूछा—"तब भगवन्! उन कर्मों का फल क्या होगा, कोई भी कर्म निष्फल तो हो नहीं सकता।"

भगवान् ने कहा—"देखो, ब्रह्मज्ञान या भक्तितत्व है, वह या तो ज्ञान मार्ग से प्राप्त होता है या भक्ति मार्ग से। कर्म मार्ग को अदृढ़ नौका बताया है। कर्म स्वतः परतत्व तक पहुँचाने मे अस-

जिन्हें कर्म करते रहने में आनन्दानुभव होता हो। जिनको कर्मों के प्रति अनुराग है ऐसे सकामी पुरुष कर्मयोग के अधिकारी हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"फिर भक्तियोग के अधिकारी कौन रहे ?"

भगवान् ने कहा—"भक्तिमार्ग मध्यम मार्ग है। मध्यम प्रवृत्ति के लोग भक्तियोग के अधिकारी होते हैं। जिनको कर्मों से न तो अत्यंत विरक्ति ही है और न कर्मों के प्रति अत्यंत आसक्ति ही है। कर्म सम्मुख आ जायँ, तो उन्हें देखकर भयभीत नहीं होते, न आवें तो उनके लिये अत्यंत प्रयत्नशील भी नहीं होते। सौभाग्यवश जिनको मेरी भागवती कथाओं के श्रवण में स्वाभाविकी रुचि है। मेरी कथा सुनते ही जो प्रफुल्लित हो जाते हैं, ऐसे लोग भक्तियोग के अधिकारी हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् आपके कथन से ऐसा प्रतीत हुआ, कि कर्म करना कोई आवश्यक नहीं है। यदि कर्म अनावश्यक ही हैं तो इन्हें छोड़ ही क्यों न देना चाहिये।"

भगवान् ने शीघ्रता के साथ कहा—"न, उद्धव ! जब तक कर्मों से पूर्ण वैराग्य न हो जाय, अथवा मेरी कथाओं के कथन श्रवण में ही पूरी आसक्ति न हो जाय, तब तक कर्मों को करते ही रहना चाहिये। न तो ज्ञान ही हुआ न मेरे नाम गुण श्रवणादि में भक्ति ही हुई। ऐसी दशा में जो कर्मों को छोड़ देगा, वह अकर्मण्य या आलसी हो जायगा। इतो भ्रष्टस्ततोभ्रष्टः बन जायगा। इसलिये जब तक कर्म त्याग की योग्यता न हो तब तक कर्मों को करते रहना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! कर्म के प्रकार के हैं।"

भगवान् ने कहा—"कर्म चार प्रकार के होते हैं, नित्यकर्म जैसे सन्ध्यावन्दन श्राद्धतर्पण आदि, नैमित्तिककर्म जैसे श्राद्ध,

ग्रहण स्नान आदि जो किसी निमित्त से किये जाते हैं। काम्य-कर्म जैसे स्वर्ग की कामना से अश्वमेध करना। पुत्र की कामना से पुत्रेष्टियज्ञ करना। किसी भी कामना की पूर्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे काम्यकर्म कहाते हैं। निषिद्धकर्म जैसे पर स्त्री गमन, सुरापानादि।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! इन कर्मों का फल क्या है?"

भगवान् ने कहा—"नित्यकर्म तो कर्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं, इनके न करने से पाप लगता है, करने से कोई विशेष पुण्य नहीं। नैमित्तिककर्म करने से देवता पितर आदि सन्तुष्ट होते हैं। काम्यकर्म करने से कामनायें पूर्ण होती हैं, स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। निषिद्धकर्म करने से नरकादि लोकों की प्राप्ति होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तब तो ये कर्म बन्धन के ही कारण हुए। जैसा नरक बन्धन है वैसा ही स्वर्ग बन्धन है। एक मूँज की कड़ी रस्सी का बन्धन है, दूसरा रेशमी मृदुल रस्सी का बन्धन है। तब तो कर्म करना सर्वथा दोषयुक्त ही सिद्ध हुआ।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! तुम्हारा कथन यथार्थ है। यदि कर्म सकाम बुद्धि से किये जायँगे, तो वे अवश्य ही बन्धन का कारण होंगे, किन्तु कर्म निष्काम भाव से किये जायँ और वे निषिद्ध तथा काम्यकर्म न हों। स्वधर्म का पालन करते हुए कर्मों के फलों की आशा न रखकर कर्तव्य बुद्धि से किये जायँ, तो न उनसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी न नरक की।"

उद्धवजी ने पूछा—"तब भगवन्! उन कर्मों का फल क्या होगा, कोई भी कर्म निष्फल तो हो नहीं सकता।"

भगवान् ने कहा—"देखो, ब्रह्मज्ञान या भक्तितत्व है, वह या तो ज्ञान मार्ग से प्राप्त होता है या भक्ति मार्ग से। कर्म मार्ग को अदृढ़ नौका बताया है। कर्म स्वतः परतत्व तक पहुँचाने में अस-

मर्थ है। जो निष्काम भाव से स्वधर्म में तत्पर रहेगा, और अपने यज्ञादि कर्मों का कुछ भी लौकिक फल न चाहेगा, उसके उस निष्काम कर्म के प्रभाव से समस्त अशुभ संस्कार क्षीण हो जायँगे, वह निष्पाप तथा पवित्र बन जायगा उसका अन्तःकरण इसी लोक मे रहकर विशुद्ध तथा निर्मल हो जायगा यदि वह मस्तिष्क प्रधान हुआ तथा उसके पूर्व संस्कार विचार प्रधान हुए तो, उसे निष्काम कर्मयोग के प्रभाव से विशुद्ध आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी, जिससे वह मोक्ष का अधिकारी हो जायगा। यदि वह हृदय प्रधान हुआ तो उसकी अत्यधिक रुचि मेरी भागवती कथाओं के श्रवण में होगी और उसे मेरी पराभक्ति की प्राप्ति हो जायगी। अतः मेरी प्राप्ति के मुख्यतया दो ही साधन हैं। ज्ञान-मार्ग और भक्तिमार्ग। ये दोनों साधन मनुष्य शरीर से ही प्राप्त किये जा सकते हैं, अतः मनुष्य का एक नाम साधक भी है।"

उद्धवजी ने पूछा—"क्या भगवन्! अन्य शरीरों से ज्ञान भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती?"

भगवान् ने कहा—"अन्य शरीरों से ज्ञानभक्ति की प्राप्ति कैसे होगी, अन्य सब योनि तो भोग योनि हैं। नरकलोक के नारकीय जीव अपने पापो का फल भोग रहे हैं वे नया कार्य कर ही नहीं सकते। इसी प्रकार स्वर्गीय देवगण अपने पुण्यों का भोग कर रहे हैं। पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आ जायँगे, वे भी नया साधन नहीं कर सकते। कीट पतंग, पशु पक्षी, वृक्ष लता तथा अन्यान्य योनि वाले सब स्वतः साधन करने में असमर्थ हैं। एक मनुष्य देह ही ऐसी है, जिससे साधन किये जा सकते हैं। अशुभ कर्म करके नरक जा सकते हैं, शुभ कर्म करके स्वर्ग जा सकते हैं और ज्ञान के द्वारा मोक्ष तथा भक्ति के द्वारा मुझे प्राप्त कर सकते हैं।"

उद्धवजी ने आश्चर्य के साथ कहा—"तब तो भगवन्! यह

मनुष्य देह बड़ी अमूल्य है। हम तो इसे साधारण ही योनि समझते थे।"

भगवान ने कहा—'उद्धव ! किसी को सहसा कोई अमूल्य मणि मिल जाती है, तो उसकी दृष्टि मे वह साधारण सी वस्तु हो जाती है, जब कोई पारखी उसका मूल्य समझकर उसे बताता है, तब उसे आश्चर्य होता है, ओहो ! यह इतनी बहुमूल्य वस्तु है। ससारी मनुष्यों को मनुष्य शरीर सुगमता से प्राप्त है, वह उसका आदर नहीं करता तनिक से ससारी प्रलोभन के पीछे मोक्ष मार्ग से च्युत हो जाता है। उद्धव ! स्वर्गीय देवता भी यही इच्छा करते रहते हैं, कब हमें मनुष्य योनि प्राप्त हो, कब हम मोक्ष के लिये उपाय करें नरकलोक वाले जीव भी तडफा करते हैं वे भी बारबार कहते हैं—"हाय ! हमने कैसे कैसे पाप किये। अब किसी प्रकार इन नरकों से निकलकर मनुष्य योनि प्राप्त कर लें, तो फिर ऐसी भूल कभी भी न करेंगे। मनुष्य शरीर पाकर ज्ञान या भक्ति का अवलम्ब ले गे। स्वर्ग और नरक दोनो मे ही साधन नहीं हो सकता दोनो ही भोगलोक हैं।

उद्धवजी ने कहा—"तब तो प्रभो ! बारम्बार मनुष्य योनि मले इसी बात की इच्छा करनी चाहिये।

हसकर भगवान् बोले—"अरे, इच्छा ही करनी हो, तो योनियों में पडने की इच्छा क्यों करें। हम किसी भी योनि में न जायँ। न स्वर्ग जायँ न नरक मे जायँ तथा अब आगे से हमे मनुष्य योनि भी प्राप्त न हो। इसी शरीर से हम जन्ममरण तथा आवागमन के चक्कर से छूट जायँ, इसी के लिये सतत प्रयत्नशील होना चाहिये।'

उद्धवजी ने कहा—"महाराज जिस मनुष्य शरीर से भगवान् की भक्ति तथा मुक्ति प्राप्त होती है, उस इतने उपकारी शरीर के प्रति आसक्ति होना स्वाभाविक ही है।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"कार्य होने पर साधन की ओर कोई ध्यान नहीं देता। हमें पार जाना है। पार नौका से होना होता है। जब तक हम पार नहीं जाते नौका की ओर टकटकी लगाये देखते रहते हैं। जहाँ पार हो गये कि फिर नौका की ओर ध्यान नहीं देते। हमें चना भुजाना है। भडभूजे की दुकान पर भुनाने ले गये। वहाँ भुनाने वालों की भीड़ है। जब तक हमारा चबेना नहीं भुनता हम गरम बालू की ओर देखते रहते हैं। जहाँ हमारा चबेना भुन गया फिर हम उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। हमें अपने घर किसी गाडी के द्वारा पहुँचना है। जब तक गाड़ी नहीं मिलती उसी की ओर देखते रहते हैं गाडी आयी हम उसमें बैठ गये गन्तव्य स्थान पर उतर गये हम गाडी का ध्यान भी नहीं रखते। इसी प्रकार यह शरीर गन्तव्य स्थान तक हमें पहुँचाने वाला है। यदि साधक की देह में अत्यधिक आस्था हो जाय, तो फिर वह पारमार्थिक साधनों में प्रमाद करने लगता है। सब समय शरीरों के ही सजाने बजाने तथा स्वच्छ करने में लगा रहता है। अतः शरीर में भी आसक्ति न रखे।

उद्धवजी ने कहा—'तो भगवन्! इस शरीर की उपेक्षा कर दे ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं सर्वथा उपेक्षा भी न करे। उपेक्षा करने से यह शरीर अस्वस्थ हो जायगा। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के साधन इस शरीर से ही तो किये जा सकते हैं। साधन स्वस्थ शरीर से होते हैं। आरोग्य ही पुरुषार्थ चतुष्टय का मूल कारण है। प्रतिक्षण इस बात का ध्यान रखे, कि यह शरीर नश्वर है नाशवान् है। जब तक इसका नाश न हो तभी तक इससे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति कर ले। देहपात के पूर्व ही हमें अपुनर्भव की उपलब्धि हो जाय, हमारा आवागमन सद के लिये छूट जाय।" ऐसा साधक को सदा विचार रखना चाहिये।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! देह तो घर है, इसमें रहनेवाले देही को देहपात होते समय क्लेश तो होगा ही।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया जब यह निश्चय हो जाय, कि यह शरीर नाशवान् है और आत्मा अविनाशी है, तो फिर कभी भी देह का पात हो जाय, तुरन्त देही उससे पृथक् होकर एक ओर खड़ा हो जाता है।"

अब जैसे कोई वृक्ष है उसपर किसी पक्षी ने घोंसला बना लिया है, तो वह घोंसला ही पक्षी नहीं है, वह तो पक्षी के रहने का स्थान है। जो पक्षी घोंसला को ही अपना रूप समझता है वह वृक्ष के नष्ट होने पर भी उसके जलने पर भी घोंसले को नहीं छोड़ता तो नष्ट हो जाता है। जो पक्षी समझता है, कि मैं पृथक् हूँ मेरे रहने का घोंसला पृथक् है। वह जब किसी को वृक्ष की डाल काटते देखता है, तो वृक्ष के गिरने के पूर्व ही घोंसला छोड़कर अलग हो जाता है। इसी प्रकार देही का यह देह घोंसला है। यम के दूत उसे काटने लगते हैं, तो यह जीव रूप पक्षी आनन्द से उड़कर चला जाता है, उसे तनिक भी आसक्ति नहीं होती, जिसको मरते समय देह की आसक्ति होती है उसे बार बार जन्म लेना पड़ता है बार बार मरना पड़ता है।

कुछ मनुष्य एक अन्धे कूए में घास को पकड़े हुए लटक रहे हैं। उस कूए की दूसरी ओर एक सुन्दर नसैनी बनी है। वह तभी पकड़ी जा सकती है जब घास से छूटे। उस घास की जड़ों को दो चूहे काट रहे हैं। एक सफेद चूहा है एक उसकी काली बहू है। दोनों ही अपने तीक्ष्ण दाँतों से निरन्तर घास की जड़ों को कतरने में लगे हैं। जो केवल कटती हुई घासों की जड़ों को ही देखते हैं वे रोते हैं, कि हम अब निरालम्ब हो जायँगे अन्धे कूए में गिर जायँगे अतः वे रोते हैं बार बार चेष्टा करते हैं यह घास हाथ से न छूटे। किन्तु जो समझता है, कि एक दिन

इस घास की जड़ें अवश्य ही कट जायँगी। नीचे हमको सीढ़ी मिलेगी जिससे चढ़कर हम सदा के लिये इस अंधे कूप से बाहर निकल जायँगे, वह घास की जड़ों को कटते देखकर हँसता है और उनकी रक्षा के लिये किसी प्रकार की चेष्टा भी नहीं करता। शान्त होकर और उन जड़ों के कटने की प्रतीक्षा करता रहता है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैं इस कथा का अभिप्राय अभी नहीं समझा।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव यह संसार ही अन्धा कूआ है। ज्ञानभक्ति रूप ही इसमें से निकलने की नसैनी लगी है। मनुष्य देह ही घास है। इसके सहारे ही जीव इस संसार रूप अंधे कूप में लटक रहे हैं। दिन ही सफेद चूहा है। रात्रि ही उसकी काली वह है। दिन रात्रि मिलकर जीवों की जड़ रूप आयु को काट रहे हैं। अज्ञानी जीव तो शरीर के नाश के भय से भयभीत रहते हैं शरीर बना रहे इसके लिये भाँति भाँति की चेष्टा करते हैं। जिन्हें सीढी का ज्ञान है वे शरीर के नष्ट होने से दुखी नहीं होते। वे अनासक्त भाव से चेष्टा हीन होकर शान्त बने रहते हैं। देह छूट जाने पर ज्ञान भक्ति द्वारा आवागमन से छूटकर परमपद के अधिकारी होते हैं। कहो कैसी कहानी रही?"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! बडी सुन्दर रही।"

भगवान ने कहा—"कहो तो एक ऐसी ही और सुनाऊँ?"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, महाराज! अवश्य अवश्य सुनाइये?"

भगवान् ने कहा—"देखो, एक अगाध सागर है। उसमें बडी बडी हिलोरें उठ रही हैं। उसके बिना पार जाये सुख नहीं। शान्ति नहीं। उस समुद्र को पार करने की इच्छा सभी रखते हैं, किन्तु सब किनारे तक आ नहीं सकते। कुछ लोग साहस करके

किनारे पर आ गये, उसी समय उन्हें एक सुदृढ नौका दिखायी दी। उसमें बडा सुयोग्य एक मल्लाह भी बैठा है। संयोग की बात कि उस समय वायु भी अनुकूल चल रही है। इसमें बैठते ही वायु स्वतः नौका को उस पार उडा ले जायगी। मल्लाह कहता है-आओ तुम्हें पार कर दे। किन्तु बहुत से लोग उस नौका को भी पाकर पार जाना नहीं चाहते, उन्हें क्या कहेगे ?"

उद्धवजी ने कहा—"उन्हे महाराज, महामूर्ख, वज्रमूर्ख और अभागी कहेगे।"

भगवान् ने कहा—"इसी प्रकार ये साधनहीन पुरुष अभागी हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैं इस कहानी का अर्थ नहीं समझा।"

भगवान् ने कहा—"यह संसार ही उत्ताल तरङ्गों वाला सागर है। मनुष्य शरीर ही इससे पार होने की सुदृढ़ नौका है। श्री गुरुदेव ही इसके सुयोग्य कर्णधार हैं। मेरी कृपा अनुकम्पा ही अनुकूल वायु है। ऐसा सुयोग पाकर भी जो पुरुष इस संसार सागर से पार नहीं होता वह आत्मघाती है। इसलिये उद्धव! इस मनुष्य शरीर को पाकर योगाभ्यास करना चाहिये मुक्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। विषय भोगो मे ही समय को व्यर्थ न बिताना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! योगाभ्यास कैसे करे, इस कभी स्थिर न होनेवाले चंचल मन को वश में कैसे करे। कृपा करके मन को वश में करने का उपाय मुझे बतावें।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"उद्धव! यह मन ही तो हत्या की जड है। यही दुष्ट तो सब गुड गोबर एक करता रहता है। यही तो शान्त नहीं होता। यदि मन वश में हो जाय, तब तो सभी काम बन जाय, फिर जन्ममरण के चक्कर में बार

बार क्यो फँसना पड़े। इसका वश में होना कठिन है, किन्तु असम्भव नहीं। यह भी वश में किया जा सकता है अच्छी बात है, अब मैं तुम्हें मन को वश मे करने का ही सहज उपाय बताऊँगा।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! भगवान् ने जैसे मन को वश में करने का उपाय बताया है उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

भक्ति ज्ञान की प्राप्ति मनुज तनु तें ही होवै।
पाइ मनुज तनु विषय भोग महँ ताकूँ खोवै॥
सो अति मूरख अधम अमृत तजि विषकूँ पीवै।
मृतक सरिस सो अज्ञ देखिबे कूँ ही जीवै॥
नौका नर तनु अति सुदृढ, करनधार गुरुके चरन।
होहिँ अज्ञ भवपार नहिँ, मम प्रेरित पावन पवन॥

———

मन के निरोध के उपाय

(१२९५)

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥

(श्री भा० ११ स्क० २० अ० १८ श्लो०)

छप्पय

हावे विषय विराग तबहि इन्द्रिय सयम करि ।
चितकूँ करि थिर चचलता सब मन की परिहरि ॥
चचल हय के सरिस चित्तकूँ सीख सिखावै ।
हौलें करि अनुराध योग महँ नित्य लगावै ॥
साख्य योग तैं उदय लय, कौ मन तैं चिन्तन करै ।
यों अनात्म महँ आत्मधी की जडता कूँ परि हरै ॥

जहाँ भी मन के निरोध का प्रश्न उठेगा वहीं अभ्यास और वैराग्य ये ही दो उपाय बताये जा रहे। अभ्यास और वैराग्य के बिना चित्त ससार से हटता नहीं। जब चित्त इस नश्वर अनित्य

---

*श्रीभगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! जिस समय मन कर्मारम्भों से उदासीन तथा विरक्त हो जाय, उस समय योगी इन्द्रियों का यम करके आत्मचिन्तन के अभ्यास द्वारा अपने मन को स्थिर करे !"

संसार में ही लगा रहेगा, तब सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव कैसे कर सकेगा। हाँ भाग्य से गुरु चरणों की कृपा से किसी प्रकार भागवती कथाओं के श्रवण में मन लग जाय कथाओं को सुनते सुनते प्रभु पादपद्मों में भक्ति हो जाय, तो फि उसके लिये ज्ञान वैराग्य किसी की भी आवश्यकता नहीं र जाती। वह तो भक्ति महारानी का प्रसाद पाते ही कृतार्थ हो ज है। ज्ञान से तो मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु भगवत्भक्त मोक्ष को भी ठुकरा देता है, अतः चाहे ज्ञान में या भक्ति में क भी एक निष्ठा हो जाय फिर उसका कल्याण ही कल्याण है।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! उद्धव ने जब भगवान् से मन को वश में करने का उपाय पूछा, भगवान् उन्हें समझाते हुए कह रहे हैं—"उद्धव! जब तक कर्म में अत्यंत आसक्ति है तब तक बन्धन है। जब मन से कर्मों प्रति अनासक्ति हो जाय, ये विषय भोग धन वैभव फीके फीके से प्रतीत होने लगें, तब समझना चाहिये कि अब कुछ कुछ सत्व का उदय हुआ है। अब साधन की योग्यता का सूत्रपात हुआ है। तब सब से पहिला काम यह है, कि पहिले इन्द्रियों का संयम करे। जो लोग साधन करना नहीं चाहते हैं, वे कह देते हैं, किसी काम को मन चल रहा है, केवल इन्द्रियों को रोकने से क्या होगा।" यह उनका कहना मिथ्या है। बिना मन की दृढ़ता के इन्द्रियाँ रुक ही नहीं सकती। जैसे हमारा मन किसी सुन्दर स्वादिष्ट वस्तु को खाने के लिए चल रहा है जीभ लपलपा रही है, पानी बहा रही है किन्तु मन कितना भी चले, तुम उसे खाओ मत। यह साधन की प्रथम सीढ़ी है। इन्द्रियों को विषय से हठ पूर्वक रोकना। जो इन्द्रिय जिस विषय की इच्छा करे उसे वह विषय देना ही नहीं। इस प्रकार कठोरता से इस नियम का पालन करोगे, तो शनैः शनैः फिर चित्त की वृत्ति शान्त होने लगेगी।

जलती हुई अग्नि में यदि आहुति डालते रहोगे, तो वह बढ़ती जायगी। यदि आपति ही न डालोगे तो आहार के अभाव मे शनैः शनैः शान्त हो जायगी। अतः विषयों से विरक्ति होने पर प्रथम काम यही है, कि इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् इन्द्रियों का संयम करके फिर क्या करे ?"

भगवान् ने कहा—"फिर आत्मचिन्तन के द्वारा अभ्यास द्वारा अपने इधर उधर भटकने वाले चंचल चित्त को स्थिर करे।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज, हम तो जब चित्त को स्थिर करने बैठते हैं तो वह और अधिक चंचल हो जाता है। वैसे तो साधारणतया चित्त अच्छा रहता है जहाँ माला लेकर बैठे तहाँ यहवड़ी लम्बी छलांगें भरने लगता है। संसार भर की बात ध्यान पूजन में बैठते ही स्मरण होने लगती हैं। सब से अधिक चित्त चंचल पूजा के ही समय होता है।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"न, भैया ! यह बात नहीं है। साधारण अवस्था में तो तुम चित्त के ऊपर ध्यान ही नहीं देते, उसे खुला छोड़ देते हो। इच्छानुसार तो सोचता है। ध्यान के समय तुम उसे बाँधना चाहते हो, तब वह भड़कता है। नये घोड़े को साधारणतया छोड दो इच्छानुसार चरता रहेगा, जहाँ उसके लगाम डाल दी वहाँ भड़कने लगेगा। इसी प्रकार जब ध्यान मे तुम मनको वश में करना चाहते हो, वह भागता है तब तुम अनुभव करते हो चित्त बड़ा चंचल है।

एक मोरी है, उसमें नीचे सड़ी कीच दब रही है उसके ऊपर से गन्दा पानी बहता रहता है। उसकी दुर्गन्ध दबी ढकी रहती है। जब तुम उस मोरी को स्वच्छ करना चाहोगे वहाँ की कीच हटाओगे तो पहिले पहिले अत्यधिक दुर्गंधि उठेगी ज्यों ज्यो उसे स्वच्छ करोगे त्यों ही त्यों नीचे की सडी कीच निकल कर दुर्गंधि

बढावेगी। किन्तु तुम यदि निरन्तर उसकी स्वच्छता के लिये प्रयत्नशील बने रहोगे उसे गन्धनाशक ओषधियों और जल से धोते रहोगे तो कभी न कभी वह स्वच्छ हो ही जायगी। इसी प्रकार ध्यान के समय चित्त की चंचलता बढ ही जाती है अपने को जान बूझकर बन्धन में कौन डलवाना चाहेगा। किन्तु साधक को उस चित्त की चंचलता से घबराना न चाहिये उसे अवरोध पूर्वक युक्ति से अपने वश में कर लेना चाहिये। किसी बात पर चित्त बहुत अड जाय, तो कुछ कुछ उसकी इच्छा को भी पूरी कर दे। फिर उस पर नियन्त्रण लगा दे। जैसे लडका बहुत ही रोवे तो उसे इधर उधर की कुछ बातें बनाकर कुछ फुसला कर कुछ थोडा देकर चुप कर दे। उसी प्रकार मन के ऊपर नियन्त्रण रखे। उसे स्वच्छन्द न छोड दे। यह दुष्ट मन जहाँ स्वच्छन्द हुआ तहाँ दौडकर सर्व प्रथम यह विषयों में ही जाता है।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! किन किन उपायों से मन को वश में करे। इसके लिये कुछ उपाय बतावें।'

भगवान्‌ने कहा—"इसके लिये सर्व प्रथम तो आहार शुद्धि की बडी आवश्यकता है। आहार शुद्ध सात्विक हो। उसे बनानेवाले लानेवाले अपने अनुकूल स्वभाव के प्रेमी हों। ऐसे जहाँ तहाँ जिस तिसके हाथका न खा लेना चाहिये। आहार शुद्धि से बुद्धि सात्विकी होती है। सात्विकी बुद्धि से मन वश में हो जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से भी इन्द्रिय और मन वश में हो जाते हैं। उद्धव मन एक नया बछेडा है। इसे वश में करना बडी युक्ति का काम है। नये घोड़ो पर चडढी करने वाले उसे चाल सिखाने वाले कैसी युक्ति से काम लेते हैं। पहिले उसके ऊपर चढ जाते हैं। नई ही नई पीठ पर सवार को चढा देखकर वह बार बार पीठ को हिलाता है ऐसा प्रयत्न करता है कि इसे पीठ से गिरा दूँ। कभी आगे के दो पैरों को ऊपर करके खडा हो जाता

है, कभी भागने लगता है, कभी फुरफुरी लेता है। सवार तो सब युक्तियाँ जानता है उसे अपने मनोनुकूल चलाने के लिये कुछ देर को उसका मन रख देता है, जिधर वह जाता है उधर ही जाने

देता है। जब देखता है आगे यह गड्ढा में गिरा देगा, तो तुरन्त लगाम खींचकर उसे रोक देता है। इस प्रकार कुछ उसकी इच्छा को रखकर कुछ अपने अनुकूल चलाकर अनुरोधपूर्वक उसे अपने वश में कर लेता है। इसी प्रकार साधक इन्द्रियों का संयम करके प्राणायाम के द्वारा सात्विक बुद्धि से मन को अपने वश में कर लेता है। इसी प्रकार मन के निग्रह का नाम राजयोग है। एक मन को वश में करने की सांख्य विधि भी है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! सांख्य विधि क्या है।"

भगवान् ने कहा—"सांख्य में तत्वों की संख्या करनी पड़ती है। प्रकृति से महत्तत्व उससे अहङ्कार फिर इन्द्रिय मन, पंचभूत आदि। बुद्धिमान् साधक की दृष्टि जिधर पड़े उधर ही पदार्थों के उद्भव और प्रलय के सम्बन्ध में सोचे। जैसे वृक्ष को देखा। उसे देखते ही सोचना चाहिये इसमें क्या है, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश है। कैसे उत्पन्न हुआ? बीज से उत्पन्न हुआ। उवरा भूमि के जल के संयोग से बीज अंकुरित हुआ फिर पल्लवित हुआ। तदनन्तर पुष्पित हुआ इसके पश्चात् फलवान् हुआ। अन्त में इसके भौतिक पदार्थ भूतों में मिल जायँगे। जलीय अंश जल में, पार्थिव अंश पृथिवी में वायव्याश वायु में तैजस अंश तेज में और आकाश का अश आकाश में। केवल बीज रह जायगा। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के विषय में अनुलोभ और प्रतिलोभ क्रम से तब तक चिन्तन करता रहे जब तक मन शान्त होकर यह निश्चय न कर ले कि इस संसार महीरुह का एकमात्र बीज परमात्म स्वरूप मैं हूँ। सबमें ही मेरी सत्ता व्याप्त है। मेरी ही सत्ता के कारण सब सत्तावान् हैं। मनुष्य एकान्त में सोचता है, फिर भूल जाता है। इसकी तो अनात्म में आत्म बुद्धि हो गयी है।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! कब तक ऐसा चिन्तन करे।"

भगवान्ने कहा—"जब तक दृढ ज्ञान न हो। प्रथम गुरुदेव की शिक्षा दिये हुए आत्मतत्व को भली भाँति समझ ले। फिर संसार से उदासीन तथा विषयों से विरक्त बन जाय। इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करते करते मन अपने दौरात्म्य का परित्याग कर देता है। अथवा योग मार्ग से मन को वश में करे।"

उद्धवजी ने कहा—"योगमार्ग कौन सा भगवन्!"

भगवान ने कहा—"यही अष्टाङ्गयोग जैसे यम, नियम, आसन,

प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि। इनके अभ्यास से भी मन वश में हो जाता है। कैसे भी किसी प्रकार भी किसी साधन से मन को मेरे चरणारविन्दों में लगा दे। मेरी मूर्ति की उपासना से भी चित्त मुझमें लग जाता है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! एक बात मैं पूछना चाहता था, उसे भूल गया। अब उसे पूछना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, पूछो।"

उद्धवजी बोले—'प्रभो! पूछना मैं यह चाहता हूँ, कि को योग का साधक है। वह साधना कर रहा है। साधना के बीच मे भूल से-प्रमादवश-उससे कोइ निन्दनीय कार्य बन जाय, तो योग छोडकर उसे स्मृतियों के बताये प्रायश्चित्तों मे लगना चाहिये या योग को करते ही रहना चाहिये?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! जो मेरी आराधना करेगा, उससे प्रथम तो कोई निन्दनीय कार्य बनेग ही नहीं। कदाचित् कोई बन भी जाय, तो उसे बहुत बडे प्रायश्चित्तों के पचडों में न पडना चाहिये। योग की अग्नि ऐसी तीव्र होती है, कि वह सभी पशुओ को भस्मसात कर सकती है। योग साधना में और दृढ हो जाना अपने संयम को और तीव्र कर देना यही उसका प्रायश्चित्त है। अन्य किसी साधन के अवलम्बकी आवश्यकता नहीं है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो भगवन् निन्दनीय कर्म के कारण उसे दोष तो लगेगा ही?"

भगवान् कहा—"पहिले तुम गुणदोष की परिभाषा समझ लो। देखो, जिसका जो अधिकार है, उस अपने अधिकार में दृढ-ता के साथ एक निष्ठ रहना यही गुण है। गृहस्थी है यदि वह यतियों के धर्म का पालन करता है तो उसके लिये यह दोष है। गृहस्थ धर्मों में ही निष्ठा रखना उसके लिये गुण है। कोई यति है वह गृहस्थ धर्म का पालन करता है तो उसका वह दोष है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! वेद में जो पाप कर्मों के त्याग का नियम बताया है वह तो सब के लिये एक सा ही है।"

भगवान् ने कहा—"कुछ साधारण नियम तो मनुष्य मात्र के लिये एक से ही हैं।"

अनेक जन्म जन्मान्तरों के संस्कार वश जन्म से ही कुछ कर्मों में प्रवृत्ति होती है। उन पाप कर्मों की प्रवृत्ति को छुड़ाने के निमित्त-उनमें आसक्ति न हो, इसी लिये में नियम बनाये गये हैं, कि यह गुण है यह दोष है ' योगी जब योग साधना में प्रवृत्त है, तो उसके सभी अशुभ उस योगाग्नि में जल जायँगे।"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ तो भगवन्! आपने राजयोग सांख्य योग तथा अष्टांङ्गयोग द्वारा तो मनको वश में करने के उपाय बताये अब मुझे भक्तियोग का उपदेश करे। भक्ति मार्ग का अधिकारी कौन है से क्या करना चाहिये ?"

भगवान्ने कहा—"उद्धव मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि भक्ति मार्ग मध्यम मार्ग है, इसके अधिकारी के लिये न तो उत्कट वैराग्य की आवश्यकता होती है, न कर्मों में अत्यंत आसक्त पुरुष ही भक्ति मार्ग का अनुसरण कर सकता है। यह भक्ति मार्ग का अधिकारी है, इसकी सब से मोटी पहिचान यह है कि उसकी मेरी भागवती कथाओं के श्रवण पठन और मनन में अभिरुचि हो। जिसकी मेरी कथाओं में श्रद्धा हो गयी है वह भक्ति मार्ग का बटोही है, यद्यपि मेरी कथाओं मे अनुरक्ति होने के कारण उसे अन्य सांसारिक कर्मों से वैराग्य है, यद्यपि वह सम्पूर्ण लौकिक कामनाओं को दुःख रूप जानता है, अनुभव करता है, तथापि उन्हें छोड़ नहीं सकता। ऐसी दशा में उसे उन कर्मों को करते तो रहना चाहिये, किन्तु विवशता दिखाकर खीजकर करना चाहिये।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैं समझा नहीं और स्पष्ट समझावें।

भगवान् बोले—"जैसे भक्त जानता है, कि लोकेष्णा के लिये प्रवचन करना, पुस्तकें लिखना तथा अन्यान्य चेष्टायें करना अच्छा नहीं। ये काम परमार्थ मे बाधक हैं ये सब परिणाम मे दुःखप्रद हैं, किन्तु दैववशात् इन कर्मों मे प्रवृत्ति हो गयी है, यह जानते हुए भी कि करने कराने वाले सब सर्वेश्वर ही हैं, हमारे करने से न उन्नति होगी न अधर्म का ही ह्रास होगा, तथापि कर्म छोड़े नहीं जाते, तो इन्हें करे तो सही, किन्तु उनकी निन्दा करते हुए करे। बार बार यह कहे—"भगवान् ने हमें कहाँ फँसा दिया। हाय! हम अपने अमूल्य समय को इन लोकरंजन कार्यों मे बिता रहे हैं। इन कर्मों को बिना मन के एक भार समझ कर करे और मेरे भजन मे अधिकाधिक समय लगावे। दृढ़ निश्चया बनकर श्रद्धा के सहित प्रेमपूर्वक अधिकाधिक भजन करे। इस प्रकार इन लौकिक कर्मों की निरन्तर निन्दा करते रहने से शनैः शनैः इनमे से आसक्ति हट जायगी और भजन मे अधिक निष्ठा बढ़ती-जायगी। भजन के आधिक्य से उसकी समस्त हृदय स्थित वासनायें नष्ट हो जायँगी।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैं मेरी की ऐसी गाँठें हृदय मे पड गयी हैं कि वे भजन में मन लगने ही नहीं देती। सासारिक कार्यों में तो मन बहुत लगता है। नाच हो, ग्राम्यगीत हों उनमे चित्त तन्मय हो जाता है। किन्तु भजन में तो लगाने से भी नहीं लगता।"

भगवान् ने कहा—"इन हृदय की गाँठों के खोलने का उपाय भी तो भजन ही है, ज्यों-ज्यों भजन बढ़ता जायगा त्यों त्यों हृदय की ग्रन्थियाँ अपने आप ही खुलती जायँगी। जो भक्तियोग के द्वारा निरन्तर मेरे भजन में लगा रहेगा, उसकी शीघ्र ही

हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ छिन्न भिन्न हो जाती हैं। उसके समस्त संशय निवृत्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं।

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्। हृदय की ग्रन्थि के खुलने के लिये अज्ञानके नाशके लिये तो ज्ञान वैराग्य की अत्यंत आवश्यकता है। जब तक उत्कट वैराग्य न हो तब तक अज्ञान का नाश कैसे होगा ?"

भगवान् ने कहा—"इसे तो मैं ज्ञान मार्ग के साधन में बता ही आया हूँ। ज्ञान वैराग्य तो आवश्यक हैं ही, किन्तु जो मत्परायण हो गये हैं, जो मेरी भक्ति से युक्त हैं उनके लिये प्रायः ज्ञान और वैराग्य श्रेय के साधक नहीं होते। मेरी भक्ति स्वतः ही संसार से विराग करा देती है। मेरा भक्त अज्ञानी रह ही नहीं सकता। उसे ज्ञान वैराग्य की उपलब्धि के लिये प्रयत्न शील नहीं होना पडता। मेरा भक्ति मार्ग सुविस्तृत राजपथ है, इसमें न धाम है न ककण पत्थर। न ऊँची नीची भूमि है। छायादार, पक्की एक परम मृदुल भूमि है। आँख मींचकर इस पर चले जाओ। बहुत से लोग शुभ कर्मों से ब्रह्मलोक तक प्राप्त कर लेते हैं। कुछ लोग तप के द्वारा उच्च से उच्च लोकों में पहुँच जाते हैं। कुछ ज्ञानी लोग ज्ञान से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। कुछ वैराग्यवान् लोग वैराग्य के द्वारा ब्रह्मलोक तक को तृण के समान समझते हैं। कुछ लोग योग के द्वारा उत्तमोत्तमलोकों को प्राप्त कर लेते हैं, कुछ लोग दान धर्म, वर्णाश्रम धर्म तथा अन्यान्य धर्मों द्वारा कोई स्वर्ग को कोई मुक्ति को कोई शिवलोक विष्णुलोक तथा अन्यान्य मेरे धामों को प्राप्त कर लेते हैं। मेरा भक्त यदि चाहे तो वह केवल एकमात्र मेरी भक्ति करके ही इन सब फलों को प्राप्त कर सकता है।"

उद्धवजी ने कहा—"तब तो भगवन्! आपके भक्त बड़े लाभ में रहे वे तो स्वर्ग का अनन्द से सुख भोगते रहते होंगे ?"

हँसकर भगवान् ने कहा,, उद्धव भक्त स्वर्ग या वैकुंठ कुछ चाहें तो मुझे बडी प्रसन्नता होती किन्तु आपत्ति तो यह है कि वे स्वर्ग की तो बात क्या मुक्ति को भी नहीं चाहते। मैं उन्हें बुलाकर प्रेमपूर्वक चार प्रकार की मुक्ति देना चाहता हूँ, किन्तु वे ग्रहण ही नहीं करते। वे मेरी सेवा के अतिरिक्त मुक्ति फुक्ति कुछ नहीं लेते। उनके मन मे निरपेक्षता ही उत्कृष्ट एवं महान निःश्रेयस हैं। जो इस प्रकार निष्काम और निरपेक्ष है जिसकी दृष्टि में स्वर्ग अपवर्ग भी कुछ नहीं ऐसे ही पुरुषों को मेरी भक्ति प्राप्त होती है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! कभी कभी भक्तों के मन मे भी विकार देखा जाता है?"

हँसकर भगवान् बोले—"उद्धव! जो बुद्धि से परमत्व को प्राप्त हुए हैं ऐसी पूर्ण ज्ञानियों को और मेरे अनन्य भक्तों को गुण दोष दृष्टि से होने वाले विकार नहीं होते। कहीं विकार से प्रतीत भी हों तो वह उनकी क्रीडा है, विनोद है। वे तो मेरे रूप ही हो जाते हैं।"

इस प्रकार उद्धव मैंने तुम्हें मन को वश करने के कई उपाय बताये। जो साधक इन उपायों का अवलम्बन करते हैं, वे मेरे क्षेममय परम धाम को प्राप्त होते हैं। उन्हें मेरे ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है। ये मैंने संक्षेप में मनवश करने के उपाय बताये अब तुम और क्या पूछना चाहते हो?"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जो आपके इन उपायों को को नहीं करते उनकी क्या गति होती है?"

हँसकर भगवान् बोले—"अच्छा, यह तुम्हारा प्रश्न बडा उपयुक्त है, इसका उत्तर मैं आगे दूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् जैसे बहिर्मुख पुरुषों की गति का वर्णन करेंगे उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

मेरी पूजा करै कथा सुनि मम गुन गावै।
होहि कर्म आसक्ति ताहि नित निन्द्य बतावै॥
भजन भावकूँ नित्य बढावै करमनि त्यागै।
करत-करत अभ्यास वासना हिय की भागै॥
भक्ति मार्ग अति सुमग सुठि, है निरपेक्ष निकाम नित।
त्यागि स्वर्ग अपवर्ग सुख, मोमें राखै भक्त चित॥

—:०:—

साधन विहीनों की गति

(१२९६)

ए एतान्मत्पथो हित्वा भक्ति ज्ञान क्रियात्मकान् ।
क्षुद्रान्कामांश्चलै : प्राणैर्जुषन्तः ससरन्ति ते ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २१ अ० १ श्लो०)

छप्पय

ज्ञान करम अरु भक्ति कहे साधन परमारथ ।
जे तजि इनकूँ छुद्र विषय सुख साधें स्वारथ ॥
पुनि पुनि जनमें मरें घोर ते नरकनि जावें ।
पाइ मनुजतनु विषय निरत ते पुनि पछितावें ॥
चौरासी के चक्र महँ, घूमि पाहिँ पुनि मनुज तन ।
तब छूटैं ससार तैं, यदि साधन महँ देहिँ मन ॥

बन्धन और मोक्षका कारण मन ही है। मन यदि सासारिक विषयों में लगा रहेगा, तो सदा ससार ही प्राप्त होता रहेगा। पुनः जन्म होगा पुन। मृत्यु होगी नाना योनियों मे ये ही विषय प्राप्त

---

*श्री भगवान् उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव! जो मेरी प्राप्ति के ज्ञान, भक्ति और कर्म रूप इन उपायों को छोड़कर अपनी चचल इन्द्रियों से क्षुद्र सांसारिक भोगों को भोगते रहते हैं वे पुन पुन जनते और पुन. पुन मरते रहते हैं उनका आवागमन लगा ही रहता है।"

होते रहेंगे। आहार मैथुनादि सुख तो सभी योनियों में हैं। सूकर कूकर भी अपने आहार को बडी रुचिसे खाते हैं और इन्द्र भी अमृत का पान बडी रुचि से करते हैं। इन्द्र जितने सुखी अपनी इन्द्राणी के साथ हैं उतना ही सुख सूकर अपनी सूकरी के साथ अनुभव करता है। विषय तो चाहें स्वर्ग लोक के हों या तुच्छ मनुज लोक के सब बराबर ही हैं। अत' विषयों की इच्छा रखने वाले को बार बार ससार में आना जाना पडेगा। जो इन विषयों को हेय समझ कर परमार्थ साधन मे लग जायँगे वे इस ससार सागर से पार हो जायँगे।

यह आवश्यक नहीं कि हम जन्म से ही परमार्थ का साधन करें तभी हमें परम कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। जिस क्षण भी चेत हो उसी क्षण से परमार्थ साधन मे लग जाना चाहिये। चाहे कोई कितना भी बडा पापी क्यों न हो, यदि उसकी पाप से घृणा हो जाय, और वह ज्ञान मार्ग अथवा भक्तिमार्ग किसी भी मार्ग का आश्रय ग्रहण करले, तो उसके समस्त पाप साधना के द्वारा भस्म हो जायगे। फिर वह पतन की ओर नहीं जा सकता। एक जन्म में दो जन्म मे अथवा तीन जन्मों में साधक निश्रेयस् का अधिकारी हो सकता है। इस विषय म एक पौराणिक इतिहास है।

कोई ब्राह्मण का युवक पुत्र था। उसकी प्रवृत्ति विषयो म थी। पिता उसे बहुत रोकते थे, किन्तु उसे विषयों में ही सुख प्रतीत होता था। बालकपन मे तो वह पिता के शासन में रहता था, किन्तु जब उसकी युवावस्था हुई तो उसने सब बन्धन तोड फेंके। वह स्वच्छन्द हो गया। यौवन के उमग में उसने एक चाँडाला से अपना सम्बन्ध जोड लिया और उसी के साथ रहने लगा। उसके गर्भ से उसके कई सन्तानें भी हुई। वह भी एक प्रकार से चाडाल ही बन गया।

वह जो चांडाली थी, उसे मांस मदिरा अत्यंत प्रिय था। वह सदा मॉस खाती और मदिरा पान करती, किन्तु इस युवक की मांस मदिरा मे रुचि नहीं थी। वह कभी भूलकर भी मदिरा पान नहीं करता था। वह चाडाली बार बार कहती—"प्राण नाथ आप मांस खाया करें मदिरा पान किया करें।"

इस पर यह विषयी विप्रकुमार कह देता—"प्रिये! क्या बताऊँ, मदिरा का नाम सुनते ही मुझे उबकाई आने लगती है। तू मेरे सम्मुख मदिरा का नाम न लिया कर।" यह सुनकर चांडाली चुप हो जाती, किन्तु उसकी इच्छा बनी ही रहती, कि यह मेरा जार पति भी मदिरा पीया करे।"

एक दिन वह युवक दिन मे अपनी स्त्री के समीप सो रहा था। उसका मुख कुछ फट गया था। उस स्त्री ने सोचा—'इस समय तनिक सी मदिरा मैं इनके मुख मे डाल दूँ। इन्हे जब इसका स्वाद लग जायगा, तो ये पीने लगेंगे। यही सोचकर उसने मदिरा की कुछ बूँदें उस युवक के मुख मे डाल दी। मदिरा डालते ही एक ऐसी प्रचंड अग्नि निकली कि वह चांडाली जलकर भस्म हो गयी, घर भी जल गया किन्तु ब्राह्मण कुमार न जला। पीछे आकाश वाणी हुई कि—"हे युवक! यह तुम्हारे व्रत के ही कारण तुम्हारे मुख से अग्नि निकली।" अब उस युवक को ज्ञान हुआ, कि हाय! मेरे भीतर इतनी शक्ति थी, उसे मैंने इन क्षुद्र विषयों मे लगा कर नष्ट—कर दिया। अब हुआ सो हुआ आगे से मैं ऐसा न करूँगा। अब मैं परमार्थ के लिये प्रयत्न करूँगा।" ऐसा निश्चय करके उसने परमार्थ साधन प्रारम्भ कर दिया। उस साधन से उसके समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो गये और वह मोक्षका अधिकारी बन गया। अतः जब से भी चेत हो तभी से शास्त्रोक्त साधनों में लग जाना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते उन्हें बार बार जन्मना और मरना पड़ता है। चौरासी के चक्कर मे ऐसे ही

घूमते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से साधन विहीन पुरुषों की गति के सम्बन्ध मे पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! जीव का एक मात्र परम पुरुषार्थ मेरी प्राप्ति करना ही है। समस्त शुभ साधन मुझ सर्वेश्वर की प्राप्ति के ही निमित्त किये जाते हैं। मेरी प्राप्ति शुद्ध अन्तः करण से होती है। अन्तःकरण की शुद्धि शुभ कर्मों के अनुष्ठान से होती है। शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते करते या तो ज्ञान मार्ग मे प्रवृत्ति हो जाती है, या भक्ति मार्ग में। इन दोनों ही मार्गों से वह कल्याण का अधिकारी हो जाता है। जो न तो शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान करते हैं न भक्ति तथा ज्ञान के लिये ही प्रयत्न शील होते हैं, उन लोगो की बुद्धि अस्थिर हो जाती है। बुद्धि तो बहुमुखी है, उसे केन्द्रित करने के लिये कोई अवलम्बन चाहिये। ज्ञान भक्ति यही अवलम्बन हैं, जो इनका आश्रय ग्रहण नहीं करते क्षुद्र सांसारिक भोगों के ही पीछे पागल बने रहते हैं वे नरकादि लोकों में पापों का फल भोग कर आते हैं और क्षुद्र योनियों को पाकर उनमें जन्म से ही पाप करने लगते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जन्म से तो सभी बालक एक से होते हैं बिना सिखाये आरभ से ही जीव पाप कैसे करने लगते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवान्! यह शरीर पाप पुण्यों प्राप्त होता है। पुण्यात्मा पुरुष होगा, तो माता पिता के रजवीर्य में पुण्यमय परमाणु एकत्रित होंगे। यदि पापात्मा पुरुष का जन्म होना होगा, तो माता पिता के रज वीर्य में पापमय परमाणु एकत्रित होंगे। वे पापमय परमाणु, पाप मय वेग उत्पन्न करेंगे उनसे जो गर्भाधान होगा वह पाप मय होगा उससे जो सन्तानें होंगी, उनकी पाप में स्वतः प्रवृत्ति होगी। संस्कार तो उनके जन्मों के

रहते हैं, जैसे जिसके संस्कार होते हैं वैसा ही वह काम करने लगता है। कभी शुभ कर्म बन गया, तो कभी स्वर्ग भी चला जाता है, पुण्य समाप्त होने पर फिर पृथिवी पर जन्म लेता है। पाप करता है तो नरकों मे जाता है। इस प्रकार स्वर्ग नरक तथा नाना योनियों के चक्कर मे घूमता रहता है। नरक अनेकों हैं। मृत्यु होने पर जीव को भोग शरीर मिलता है। उस शरीर को बिच्छू, सर्प, मच्छर, गिद्ध तथा बडी बडी चोंचवाले अन्यान्य पक्षी नोचते रहते हैं। इस जीव को बडा क्लेश है, भूख प्यास लगती तो बहुत है, किन्तु उसे कुछ आहार नहीं मिलता। कभी उन्हें ऊपर से गिराया जाता है, कभी गरमा गरम बालू मे चबेने की भाँति भूना जाता है, कभी गरम तैल के कड़ाहे मे पकौडी की भाँति तला जाता है, कभी मूत्र विष्ठा, रज, वीर्य तथा रक्त आदि के कुंडों में निरन्तर डुबोया जाता है, कभी हिमके खंडों पर लिटा दिया जाता है, कभी कोल्हू में पेरा जाता है, जैसा यहाँ पाप किया है उसीके अनुसार उन्हे दंड दिया जाता है। जो व्यभिचारी स्त्री पुरुष हैं उन्हे नग्न कर दिया जाता है यदि स्त्री है तो उसे लोहे की तपी हुई लाल पुरुष की मूर्ति से आलिंगन कराया जाता है, यदि पुरुष है तो उसे ऐसी ही लोहें की स्त्री से कराया जाता है। उस समय वे हाय हाय करते हैं यम दूत उन्हें गरम गरम लोहों की सलाकाओं से मारते हैं। वहाँ पर मुख्यतया उन पापों का दंड भोगना पडता है, जिनका यहाँ प्रायश्चित्त नहीं किया है।

कहीं अगों को काटा जाता है, फिर वह जुड जाता है, फिर उसे काटते हैं। यातना शरीर की मृत्यु नहीं होती। उसे चाहे काट दो जला दो जल में डुबा दो। यन्त्रणा तो मिलेगी किन्तु मरेगा नहीं। जैसे जैसे नरक होते हैं उन में वैसी ही वैसी यातनायें दी जाती हैं। नरक अनन्त हैं, पुराणों में बडे विस्तार के साथ इन सबका वर्णन है। कुछ पाप शेष रह जाने के अनन्तर जैसा पाप

होता है उसी के अनुसार उसे फिर पृथिवी पर हीन योनि में जन्म लेना पड़ता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! किस पाप से किस हीन योनि में जन्म लेना होता है।

हँस कर सूतजी बोले—"अजी महाराज ! कहाँ तक गिनाऊँ चौरासी लाख योनियाँ है। किसी न किसी पाप पुण्य से कोई न कोई योनि प्राप्त होती ही है। इन सबका विवरण सुनाने लगूँ, तो एक अलग ही महाग्रन्थ बन जाय। इसलिये उदाहरण के लिये कुछ का वर्णन करता हूँ।

ब्राह्मण होकर जो पतितों से दान लेता है उसे गदहा होना होता है। पतितों से जो वैदिक यज्ञ कराते हैं वे नरक भोग कर कीड़े मकोड़े होते हैं। कुत्ते की योनि उसे प्राप्ति होती है जिसने पहिले गुरु के साथ छल कपट का व्यवहार किया हो। अपनी भाभी का अपमान करने वाला कबूतर होता है। उसे जो पीड़ा पहुँचावे वह जल का कछुआ होता है। स्वामी का अन्न खाकर उसका जो कार्य नहीं करता वह नरक भोगकर बंदर की योनि मे आता है। जो सदा दूसरों के दोषो को ही देखता रहता है वह नरकों में यातनाये सहता है, फिर आकर राक्षस होता है। जो किसी को विश्वास दिला कर फिर विश्वास घात करता है वह मछली होता है। जो दूसरों का अन्न आदि चुराता है, वह मूसा होता है। जो पर स्त्री गामी होता है, वह नरकों की यातना भोगने के अनंतर भेडिया होता है। ये जितने व्यभिचारी विषयासक्त पुरुष हैं ये मर कर कुत्ता सियार, बगुला, गिद्ध, सर्प, कौआ तथा सूअर आदि होते हैं। जो देवता पितरों को बिना पूजे बिना भगवान् का भोग लगाये भोजन करता है वह कौआ होता है। सूअर, कृमि, विष्ठा का कीड़ा तथा अन्यान्य क्षुद्र अधम योनियाँ अपने से श्रेष्ठ स्त्री के संसर्ग के पाप से मिलती है। जो भोजन चुरा लेता है वह

मक्खी होता है। साधारण अन्न चुराने वाला बिल्ली, तिलमिश्रित खिचडी रेवडी आदि चुराने वाला चूहा, घी मिश्रित वस्तु चुराने वाला नेवला दूध को चोरी करने वाला बगुला, मीठी वस्तु माल पूआ आदि चुराने वाला चींटी होता है। इसी प्रकार धातुओं तथा वस्त्रों की चोरी करने वाले चकवा, रेशमका कीडा, डॉस कीडा तथा अन्यान्य योनियों में जाते हैं। जो लोग नरकों से लौट कर इन पाप योनियों को भोगकर फिर मनुष्य होते हैं, वे नारकीय अपने लक्षणों से ही पहिचान लिये जाते हैं कि ये नरक से लौटे हुए जीव हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! उन नारकीय पुरुषों की क्या पहिचान है? किन लक्षणों से हम जानें कि ये नारकीय जीव हैं?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! जो लोग नरक से लौट कर किसी तरह मनुष्य योनि में आते हैं उनकी सब से मोटी पहिचान तो यह है कि वे सदा दूसरो की निन्दा किया करते हैं। उन्हें बिना बात दूसरों की निन्दा करने में एक प्रकार के सुखका अनुभव होता है। वे लोग किसी का उपकार नहीं मानते। जीवन भर उनके साथ उपकार करो तनिक सी बात उनके मन के विरुद्ध हुई, तो वे शत्रु बन जायँगे और उपकारी का अनिष्ट करेंगे। दूसरो के गुप्त भेदो को खोलने में वे एक प्रकार के गर्वका अनुभव करते हैं और चाहें सत्य न भी हो, तनिक से सन्देह पर लोगों को लॉछित कर देते हैं। वे निष्ठुर और निर्दयी होते हैं। अपनी स्त्री को त्याग कर पर स्त्री गमन मे उनकी अत्यधिक रुचि रहती है। दूसरों के धन पर दूसरो की वस्तुओ पर सदा दृष्टि लगाये रहते हैं, वे अपवित्र रहते हैं कृपण होते हैं, दूसरो को ठगने के सदा प्रयत्न करते रहते हैं। निषिद्ध कर्मों मे स्वभाव से उनकी प्रवृत्ति रहती है। बुरे लोगों के संसर्ग में उन्हें आनंद आता

है। इन सब लक्षणों से समझ लेना चाहिये कि यह नरक से लौटा हुआ जीव है। कुछ लोग स्वर्ग से भी लौट कर मनुष्य होते हैं, वे भी अपने कर्मों से पहिचाने जाते हैं, कि ये स्वर्गीय जीव हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्वर्गीय लोगों की क्या पहिचान है?"

सूतजी बोले—"महाराज! जो लोग स्वर्ग से लौट कर मनुष्य शरीर में जन्म लेते हैं, वे स्वभाव से सभी पर दया करते हैं, वे सब से प्रेम पूर्वक हितकर वचन बोलते हैं, उनकी पुण्य कर्मों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, वे यथा साध्य असत्य भाषण नहीं करते, वेदों पर, गुरु वचनों पर देवता, पितर सिद्ध ऋषि तथा सन्तों के वचनों पर विश्वास रखते हैं और सदा इनका सत्कार करते हैं। उन्हें सज्जनों की संगति प्रिय होती है वे सदा अच्छे कर्मों में लगे रहते हैं, दान धर्म के कार्यों को करते हैं। इन सभी कार्यों से अनुमान लगाया जाता है, कि ये स्वर्गीय जीव हैं। स्वर्ग हो नरक हो ये सब बन्धन के कारण हैं। इनसे संसार का आवागमन तो नहीं छूटता। ज्ञान भक्ति से ही परम शान्ति की प्राप्ति होती है। अतः मनुष्य शरीर पाकर भक्ति, ज्ञान तथा कर्म मार्ग इनमें से किसी को ग्रहण करके संसार को भूलकर भगवान् की ओर लगना चाहिये। जिसका जो धर्म हो अपने अपने अधिकार के अनुसार उसी में दृढ़ता पूर्वक स्थित हो जाना चाहिये। यही सब से बड़ा गुण है और जो अपने धर्मका को छोड़ कर अनाधि चेष्टा करता है यही बड़ा दोष है। वस्तुओं का व्यवहार करते समय इस बात की सदा सावधानी रखनी चाहिये कि यह शुद्ध है या अशुद्ध यह सदोष है या निर्दोष।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियों! सब काम सोच समझकर निष्ठा के साथ करना इसी का नाम तो साधन है। जो वैसे ही

आँख मूंद कर करता जायगा उसका संसार बन्धन कभी न समाप्त होगा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कौन वस्तु शुद्ध है कौन अशुद्ध है, कौन सदोष है कौन निर्दोष है, कौन शुभ है कौन अशुभ है, इसका भी विवेचन कीजिये इस विषय को भी हमे समझायें।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! मैं आप को भगवान् और उद्धव का सवाद सुना रहा था। उद्धवजी ने भी भगवान् से शुद्धि अशुद्धि, गुण दोष तथा शुभ अशुभ के ही सम्बन्ध मे प्रश्न किया था। अब भगवान् ने जैसे उद्धवजी के प्रश्नो का उत्तर दिया, उन्हें सक्षेप में शुद्ध अशुद्ध के सम्बन्ध में बताया इस सबका वर्णन मैं आप से करूँगा। यह बडा ही आवश्यक विषय है। परमाथ पथ के पथिक को इस विषय का जानना परमावश्यक है। आप सब इस विषय को सावधानी के सहित श्रवण करें।"

छप्पय

जो जाको अधिकार सुदृढता ता महँ गुन है।
अनधिकार विपरीत कर्म सोई अवगुन है॥
परिभाषा गुन दोष विवेचन जिही बताई।
वस्तु सकल सम किन्तु भिन्नता वेद जताई॥
शुद्धि अशुद्धि विचार है, धर्म हेतु पुनि दोष गुन।
कहे सकल व्यवहार हित, यात्रा हित शुभ अशुभदिन॥

शुद्धि-अशुद्धि विवेचन

(१२९७)

शुद्ध्य शुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ॥

(श्री भा०·११ स्क०·२१ अ० ३ श्लो०

छप्पय

पञ्च भूतमय देह कहे अजतैं नग द्रुम तक।
भिन्न भिन्न हैं नाम रूप तनके सब साधक॥
करमनि नियमित करन देश कालादि बखाने।
शुद्ध देश कछु कहे कछुक अति शुद्ध न माने॥
द्रव्य सँयोग स्वभाव तैं, होहि कर्म जिहि काल महँ।
वही शुद्ध, नहिं कर्म जब, होहि अशुद्ध विकाल महँ॥

शुद्धि क्या है अशुद्धि क्या है. शुचि क्या है अशुचि क्या है, शुभ क्या है ये सब बातें तर्क से नहीं जानी जा सकतीं। इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र जिसे शुचि कह दे वह शुचि है जिसे अशुचि कह दे वह अशुचि है। हड्डी अशुचि है, किन्तु शंख नामक जीव की हड्डी शुचि मानी गयी है, शंख को मुँह से

---

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! समान वस्तुओं में भी द्रव्य की विचिकित्सा के निमित्त शुद्धि अशुद्धि, दोष गुण तथा शुभ और अशुभ का विधान किया गया है।"

बजाते हैं, शंख के जल से शालग्राम जी को स्नान कराते हैं। शंख का जल डालने से भोजन पवित्र हो जाता है। इसी प्रकार चर्म अपवित्र है, किन्तु मृग का चर्म पवित्र माना गया है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा यति मृग चर्म ही ओढ़ते बिछाते हैं। जूठी वस्तु अपवित्र मानी गयी है, किन्तु मधु को मधुमक्खियाँ मुँह में ही लाती है उसे पवित्र माना गया है। कुत्ता से किसी वस्तु का स्पर्श हो जाय, कुत्ता किसी वस्तु को सूंघ दे। वह महा अपवित्र हो जाती है। किन्तु आखेट में कुत्ता मृतक जीव को मुख मे दबाकर लाता है उसे पवित्र माना गया है। इसमें तर्क नहीं चलती। इस विषय मे शास्त्र ही प्रमाण है। स्मृतिकारों ने विशेष रूप से शुद्धि अशुद्धि के ही विषय का विवेचन किया है। अन्य शास्त्र भी इस विषय का सामान्य रूप मे वर्णन करते हैं।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! 'अब मैं उस धर्म शास्त्र के विषय को सुनाता हूँ, जिसका वर्णन उद्धवजी के पूछने पर श्री भगवान् ने किया है। भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! वस्तुएँ सभी एक सी हैं। सभी पंचभूतों से निर्मित हैं संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो पंचभूतों से न बनी हो। जब सभी मे एक ही तत्व है तो उसमे कौन शुद्ध कौन अशुद्ध। भूमि से ही लहसुन प्याज आदि वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उसी से तुलसी बिल्व पत्रादि भी। प्याज लहसुन त्याज्य है। बिल्व तुलसी पत्र परम शुद्ध है। माता, बहिन, पुत्री, पत्नी, तथा सभी स्त्रियाँ एक सी ही धातुओं की बनी हैं किन्तु इनमें कौन अगम्या है कौन गम्या है। इसका निर्णय शास्त्र ही करता है। मनुष्यो की वासना मूलक स्वाभाविक प्रवृत्ति का संकोच करने के ही निमित्त यह शङ्का की जाती है यह ग्राह्य है यह त्याज्य है, यह हेय है यह उपादेय है। नित्य के व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं के विषय में शास्त्र निर्णय करता है यह वस्तु शुद्ध है अतः व्यवहार्य है, यह

अशुद्ध है अतः त्याज्य है। इस अशुद्ध वस्तु की शुद्धि कैसे हो सकती है। अमुक कार्य करना गुण है अमुक कार्य करना दोष है। अमुक काल शुभ है अमुक अशुभ है। इन सब का विचार आचारवान् पुरुषों को सदा करना पड़ता है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! शुद्धि अशुद्धि का विचार करते ही क्यों हैं।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई शुद्धि अशुद्धि का विचार न करें तो धर्म का पालन कैसे हो। शौच का लोटा है अशुद्ध है, जब तक उसे तीन बार शुद्ध मृत्तिका से न मला जाय, तब तक वह अशुद्ध ही बना रहेगा। इसी प्रकार सूतक पातक में अशुद्धि हो जाती है, १० दिन मे १३ दिन में जैसा जिसका वर्ण है वैसे ही उसके लिये शुद्धि होती है।

उद्धवजी ने पूछा—'अच्छा, फिर गुण दोष का इतना विवेचन क्यों किया जाता है?

भगवान् ने कहा—'गुण दोष का ऐसा विवेचन न किया जाय, तो व्यवहार कैसे चले। लौकिक व्यवहार के लिये गुण दोष का विचार परमावश्यक है। बड़ों के सम्मुख नम्र रहना अशिष्टता न करना यह गुण है। उनके सम्मुख अकड़ जाना, अशिष्टता करना यही दोष है। गुण दोष के बिना व्यवहार शुद्धि होती ही नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! शुभ अशुभ का विचार क्यों किया जाता है?"

भगवान् ने कहा—"लोक यात्रा के लिये शुभा शुभ विवेचन करना ही पड़ता है। अमुक ग्रह हमारे लिये शुभ है या अशुभ। अमुक तिथि अमुक वार, अमुक नक्षत्र अमुक चन्द्रमा हमारे लिये शुभ है या अशुभ है। अमुक दिन अमुक दिशा में जाना शुभ होगा या अशुभ इसी प्रकार लोकयात्रा सम्बन्धी सभी बातों

पर शुभा शुभ का ध्यान रखकर कार्य किया जाता है। कोई आपत्काल है यात्रा मे हैं, असत् का प्रतिग्रह लेना अशुभ बताया है, किन्तु वहाँ प्रतिग्रह न लें तो प्राण रक्षा न हो। ऐसी दशा में केवल प्राण रक्षा के लिये असत्ग्रह ले लेना अशुभ नहीं है। यह आपद धर्म है। इसी प्रकार के अन्य विषयों मे शुभ अशुभ का विचार किया जाता है।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! यह तो बड़ी भारी शृंखला है। दिन भर शुभ-अशुभ शुद्धि अशुद्धि का ही निर्णय करते रहो।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"उद्धव! किया क्या जाय। अधिकांश लोगों की प्रवृत्ति, विधि निषेध रूप धर्म में ही है। जो केवल धर्म का ही भार वहन करने वाले मनुज हैं उन्हीं के निमित्त मनु याज्ञवल्क्य आदि रूपों से मैंने यह स्मार्त धर्म आचार विचार का मार्ग प्रदर्शित किया है। शुद्धि अशुद्धि गुण दोष तथा शुभ अशुभ विचार बिना किये धर्म का निर्वाह हो ही नहीं सकता। जहाँ नाम रूपात्मक जगत् है वहाँ तो भिन्नता करनी ही पड़ती है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! सब मे समान रूप से भौतिक तत्व हैं तो नाम रूपों की व्यर्थ कल्पना क्यों की गयी।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"भैया! नाम रूप की कल्पना न हो, तब तो फिर कोई पुरुषार्थ ही न हो, धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष के सभी साधन व्यर्थ हो जायँ।। नामरूपों की कल्पना न हो तब तो इनकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती। यद्यपि ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी प्राणियों के उपादान कारण पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश ये ही पंचभूत हैं। समस्त चर अचर जड चेतन शरीर इन पंचभूतों से ही निर्मित हैं और इन सभी में आत्मारूप से मैं व्याप्त हूँ, तथापि इन शरीरों के धर्माधर्म रूप

पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये वेद ने इनके भिन्न भिन्न नामरूपों की कल्पना की है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! फिर इसकी आवश्यकता क्या थी?"

हँसकर भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! कर्म तो अनन्त हैं सब कर्मों को सब थोड़े ही कर सकते हैं। सबके धर्म पृथक् पृथक् न किये जायँ, तो सब एक में गड़बड़ घुटाला हो जाय। अतः कर्मों को नियमित तथा संकुचित करने के ही निमित्त मैंने यह पृथकता कर दी है, कि यह देश है यह काल है। ये देश पवित्र हैं ये अपवित्र हैं, यह काल शुभ है यह अशुभ है। यह वस्तु शुभ है यह अशुभ है। ऐसा न करता तो सब देश एक से ही हो जाते। भूमि तो सबकी एक सी ही है, किन्तु शास्त्र दृष्टि से देखा जाता है यह देश शुभ है या अशुभ।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! शुभ और अशुभ देश की परिभाषा क्या है? किस देश को शुभ मानें किसे अशुभ।"

भगवान् ने कहा—"पवित्र देश की सामान्य परिभाषा यह हैं, कि जिन देशों में कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करें, वह देश पवित्र है। वह यज्ञीय देश है, उसमें यज्ञादि करने से परम पुण्य होता है। जैसे गङ्गा यमुना के मध्य की ब्रह्मावर्त देश की भूमि तथा गङ्गा यमुना के दोनों किनारों के देश। साथ ही उन देशों के निवासी ब्राह्मण भक्त भी हों।

उद्धवजी ने पूछा—"अपवित्र देश कौन कौन से हैं भगवन्!" भगवान् ने कहा—"जहाँ कृष्णसार मृग स्वच्छन्द विचरण न करते हों तथा जहाँ के लोग ब्राह्मणों के भक्त न हों वे देश अपवित्र हैं। साथ ही कुछ देशों की कीकट संज्ञा है, उनमें चाहें कृष्णसार मृग स्वच्छन्द विहार करते भी हों, तो भी वे अपवित्र हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! किन देशों की कीकट

संज्ञा है ?"

भगवान् ने कहा—"कन्या कुमारी से हिमालय तक के देश का नाम भारतवर्ष है। वर्णाश्रम धर्म इतने के ही बीच मे है। इसके अनन्तर समुद्र पार जितने अनार्य देश हैं वे वर्णाश्रम से हीन दस्यु देश हैं। समुद्र पार करके व्यापारादि के लिये जाना हो, तो प्रायश्चित्त करना चाहिये। भारत मे अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सौराष्ट्र, मगध, मद्रादि ऐसे देश हैं, कि इनमें तीर्थयात्रा के बिना जाया जाय, तो पुनः संस्कार कराना चाहिये। अर्थात् यज्ञोपवीत बदल देना चाहिये।" जैसे म्लेच्छों के आवास स्थान अपवित्र बताया है। वैसे ही ऊसर भूमि को भी अपवित्र बताया है। ऊसर भूमि मे यज्ञ आदि पुण्य कार्य करने निषेध हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् आप ने देश की शुद्धि अशुद्धि तो बताई अब काल को शुद्धि अशुद्धि और बतावें। कौन सा काल शुद्ध है ?"

भगवान् ने कहा—"जो द्रव्य जिस काल में आवश्यक हो और वह उस काल मे मिल जाय, वही काल शुद्ध है। अथवा स्वभाव से भी काल शुद्ध माना गया है। जैसे प्रातःकाल है प्रातः सन्ध्या के लिये वह शुभ काल है। सायंकाल का समय है सायं-कालीन सन्ध्या के लिये वह शुभ है। विवाह सम्बन्धी लग्नें हैं वह काल विवाह के लिये शुभ है। यज्ञोपवीत को लग्नें हैं वह यज्ञोपवीत के लिये शुभ है। दिशाशूल बायें हो, राहु और योगिनी पीठ पीछे हों सम्मुख चन्द्रमा हो। रिक्ता से रहित नन्दा भद्रा जया और पूर्णा तिथि हों ऐसा काल यात्रा के लिये शुभ है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! अशुद्ध काल कौन सा है ?

भगवान् ने कहा—"इसके जो विपरीत काल है वह अशुभ है। जिसमे कर्म वर्जित हैं वह काल भी अशुभ है। जैसे ग्रहण

लगने पर यह न करे। सूतक पातक में यह कर्म न करे। अमुक समय में यह न करे, तो उन उन कर्मों के लिये वे वे काल अशुभ माने गये हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! पदार्थों की शुद्धि अशुद्धि कैसे होती है?"

भगवान् ने कहा—"पदार्थों की शद्धि अशुद्धि में कई कारण हैं। पदार्थों से भी पदार्थों की शुद्धि अशुद्धि होती है। जैसे शौच का लोटा है उसे मिट्टी से मलकर धोओ तो शुद्ध हो जायगा। उसी को दूसरे अपवित्र जल से धोओ तो अशुद्ध ही बना रहेगा। वचन से भी वस्तुओं की शुद्धि अशुद्धि होती है। जैसे किसी वस्तु के विषय शङ्का हो गयी, कि जाने यह शुद्ध है या अशुद्ध जब तक विद्वान् वेदज्ञ ब्राह्मण से पूछ नहीं लेते तब तक वह अशुद्ध है। जहाँ ब्राह्मण ने कह दिया शुद्ध है तुरन्त वह शुद्ध हो गयी, उसका कुछ भी संस्कार न करना पडा। यज्ञ मे कोई नियम की क्रिया की अशुद्धि रह गयी ब्राह्मणो ने कह दिया सब परिपूर्ण हुआ सब शुद्ध हुआ। बस, ब्राह्मणों के वचनों से सब अशुद्धि दूर हो गयी मैं तो यहाँ तक कहता हूँ, यात्रा मे चाहे राहु, योगिनी, दिशाशूल, चन्द्रमा तथा नक्षत्र आदि सब विपरीत हों, किन्तु ब्राह्मण कह दे सब शुद्ध है तुम यात्रा करो, तो ब्राह्मण वाक्य को मानकर यात्रा करनी चाहिये उसमें सभी अनुकूल हो जाते हैं। वचनों पर जैसा विश्वास होता है, वैसा ही फल मिलता है। संस्कार से भी शुद्धि अशुद्धि होती है।

उद्धवजी ने पूछा—"संस्कार से कैसे शुद्धि अशुद्धि होती है?"

भगवान ने कहा—"जन्म से बालक शूद्रवत होता है। संस्कारो के ही कारण उसकी द्विज संज्ञा होती है। संस्कार हो जाते हैं, तो शुद्ध हो जाता है नहीं अशुद्ध ही बना रहता है। मृगचर्म है, उसका भली भाँति संस्कार हो जाता है तो शुद्ध हो जाता है

नहीं अशुद्ध ही बना रहता है। पुष्प है जल छिड़कने से शुद्ध हो जाता है। उसे जल में डुबो दो, भूमि पर गिरा दो, सूँघ लो, अरंड के पत्तों मे रख दो तो अशुद्ध हो जायगा। कहीं काल से शुद्धि अशुद्धि होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—'भगवन् काल से शुद्धि अशुद्धि कैसे होती है।"

भगवान् ने कहा—"जैसे भोजन बनाकर रखा उस समय शुद्ध है। बना बनाया भोजन एक दिन रखा रहा वह अशुद्ध हो गया। इसी प्रकार बहुत सी वस्तुएं एक समय शुद्ध मानी जाती हैं दूसरे समय वे ही अशुद्ध मानी जाती हैं। छोटे बड़े पन से भी शुद्धि अशुद्धि है?"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! छोटे बडे पन से शुद्धि अशुद्धि कैसे है?"

भगवान ने कहा—"जैसे बहुत सा जल भर रहा है उसके ऊपर चाहें कोई जल पीवे नहावे जो चाहे करे, नीचे हम नहा रहे हैं सन्ध्या वन्दन कर रहे हैं, इसमे कोई अशुद्धि नहीं। वही जल गड्ढे में हो, तो दूसरे के हाथ धोने नहाने से अशुद्ध हो जायगा। छोटे पात्र मे तो दूसरे के छूने से ही अशुद्ध माना जायगा। कहीं सामर्थ्य या असामर्थ्य से शुद्धि अशुद्धि मानी जाती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन! सामर्थ्य असामर्थ्य के अनुसार शुद्धि अशुद्धि कैसे मानी जाती है?"

भगवान् ने कहा—"जैसे सूर्य चन्द्र ग्रहण के तीन चार प्रहर पूर्व सूतक माना जाता है, उसमें भोजनादि वर्जित है, किन्तु जिनकी शक्ति नहीं जो असमर्थ हैं, जैसे बालक, वृद्ध, अथवा रोगी, उनके लिये यह नियम नहीं है। बिना स्नान के कुछ खा लेना दोष है, किन्तु जो रोगी हैं असमर्थ हैं उनके लिये दोष नहीं

है। इसी प्रकार जानकारी तथा अज्ञान के कारण भी शुद्धि अशुद्धि मानी जाती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"जानकारी अनजानकारी से शुद्धि अशुद्धि कैसे मानी जाती है।"

भगवान् ने कहा—"जैसे किसी के पुत्र हुआ, उसने जान लिया कि मेरे पुत्र हुआ है तो उसे सूतक लगेंगे। यदि वह घर में न हुआ परदेश में हुआ यद्यपि घर पर उसके बच्चा हुआ है, किन्तु उसने परदेश में सुना नहीं तो उसे सूतक जन्य अशुद्धि न लगेगी। इसी प्रकार घर में कोई मर गया है और हम इस बात से अनभिज्ञ हैं तो हमें तब तक सूतक न लगेगा जब तक सुन न लें। इसी प्रकार वैभव के अनुसार भी शुद्धि अशुद्धि होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! वैभव के अनुसार शुद्धि अशुद्धि कैसे होती है?"

भगवान् ने कहा—"जैसे जीर्ण वस्त्र तथा मलिन वस्त्र पहिनना दोष है, किन्तु कोई दरिद्री है, उसके पास फटे तथा मलिन ही वस्त्र हैं, तो उसे फटे वस्त्र पहिनने में दोष न लगेगा, किन्तु जो वैभवशाली है, जिसमें शुद्ध स्वच्छ धुले वस्त्र पहिनने का सामर्थ्य है, फिर भी वह फटे तथा मलिन वस्त्र पहिनता है, तो वह दोष का भागी होता है। शास्त्र का वचन है अमुक तिथि पर अमुक पर्व पर अमुक अवसर पर ऐसा दान करना चाहिये यदि सामर्थ्य रहते वह ऐसा नहीं करता तो दोष का भागी है, यदि देने की सामर्थ्य ही नहीं तो उसे दोष न लगेगा।"

शुद्धि ये जितनी द्रव्य, वचन, संस्कार, काल तथा महत्व आदि की शुद्धि बतायी हैं, ये सब भी देश काल तथा अवस्थादि के अनुसार होती हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! इसे स्पष्ट करें। देश, काल, तथा अवस्था आदि के अनुसार कैसे होती है?"

भगवान् ने कहा—"जैसे द्रव्य आदि की शुद्धि बतायी हैं तो ये वहीं लागू होंगी जहाँ हम निर्भय होकर स्वेच्छा से धर्माचरण कर सकते हों। किसी ऐसे दस्युओं के देश में पहुँच गये, जहा प्रतिक्षण प्राणों का ही भय बना रहे, तो वहाँ शुद्धि अशुद्धि का निर्णय इस प्रकार होगा। वहाँ जैसे काम चले वैसे निर्वाह करना होगा। शीत प्रधान देश है वहाँ त्रिकाल स्नान का आग्रह नहीं। वहाँ स्नान के स्थान में मार्जन से भी काम चलेगा। काल के अनुसार शुद्धि अशुद्धि मे भेद हो जाता है जैसे सूतकों मे ग्रहण मे तथा रुग्णावस्था में दूसरा ही शौच होता है। अवस्था के अनुसार भी शुद्धि अशुद्धि होती है। एक ही मनुष्य है बाल्य-काल को अवस्था में उसका शौचाचार दूसरा है, युवावस्था में दूसरा है और वृद्धावस्था में दूसरा है। सब वस्तुओं की शुद्धि भी पृथक् पृथक् होती हैं। बहुत से पदार्थों की शुद्धि कालसे, वायुस, अग्नि, मृत्तिका एवं जल से होती है।"

उद्धवजी ने कहा 'काल, वायु, अग्नि, मृत्तिका एवं जल से कैसे शुद्धि होती है?"

भगवान् ने कहा—'जैसे धान्य है कोई इन्हें छू लो। कोई ले आओ जहाँ वायु लगी तहाँ शुद्ध हो गये। काष्ठ है इसमे अशुद्धि होती ही नहीं। समय पाकर वायु लगने से शुद्ध हो जाता है। भूमि है किसी ने विष्ठा कर दी। मल मूत्र त्याग दिया कुछ काल बीत जाने पर अपनेआप शुद्ध हो जाती है। हाथी दाँत है, उसे शुद्ध कर लिया सूख गया शुद्ध हो गया। शख की हड्डी है, समुद्र से निकाल लो सूख गयी उसकी दुर्गंधि छूट गयी शुद्ध हो गयी। सूत है जल से धो दिया शुद्ध हो गया। घृत, शहद, दूध, दही आदि रस हैं वायु लगी शुद्ध हो गये। सुवर्ण चाँदी के बर्तन हैं किसी ने जूठे कर दिये, केवल जल से धो देने से ही शुद्ध हो गये उसके लिये मृत्तिका लगाने की भी आवश्यकता

नहीं। सुवर्ण चाँदी के सिक्के हैं वे वायु से ही शुद्ध हो जाते हैं
चम है, जब तक उसमें रक्त मास लगा है अशुद्ध है। जहाँ उ
शुद्ध कर दिया, सूख गया, दुर्गंधि मिट गयी व्यवहार के योग्य व
गया। जल का घडा है, जल का सकोरा है पहिले शुद्ध था कि
ने पानी पी लिया अशुद्ध हो गया। उसे फिर से अग्नि मे त
लो शुद्ध हो गया। शौच का लोटा है जल मिट्टी से मल दि
शुद्ध हो गया। इसी प्रकार देश, काल तथा अवस्था के अनुस
कहीं जल मृत्तिका आदि एक एक से कहीं कहीं मिलाकर शु
होती है। जैसे काठ की कठैली है, उसमे कोई अशुद्ध पदार्थ ल
गया तो उसे छील दो। वह शुद्ध हो जायगी। हाथों में दुर्ग
युक्त पदार्थ लग गया, मृत्तिका उसे तब तक धोते रहो जब त
गन्ध न छूटे गन्ध छूट जाने पर शुद्ध हो गये। कोई वस्त्र है उस
कोई अशुद्ध पदार्थ लग गया है उसे जल से धो दो वह शुद्ध
जायगा।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! यह तो आप बाह्य शुद्धि
वर्णन किया अब आप यह बतावें कि चित्त शुद्ध होने का क
उपाय है?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! बाहरी शुद्धि भी चित्त शुद्धि
लिये ही की जाती है, किसी के वस्त्रों मे मलमूत्र लगा है, तो उ
देखकर चित्त भी बिगड जाता है, अतः बाहरी शुद्धि अत्यावश्य
है। चित्त की शुद्धि के लिये एक तो स्नान परमावश्यक है। स्ना
करने से चित्त शुद्ध होता है। अतः नियमपूर्वक धर्म समझ
स्नान अवश्य करना चाहिये यदि गङ्गादि तीर्थों मे स्नान करने
मिले, तब तो पूछना ही क्या?"

चित्त शुद्धि का दूसरा कारण है दान। जो धन कमाकर
दान नहीं करते जोड जोडकर रखते ही जाते हैं, उन कृपणों
मन मलिन हो जाता है। धन की शोभा दान से ही है। दान

से अन्तरात्मा प्रसन्न होती है, जिससे अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

तपस्या से भी चित्त शुद्ध होता है अतः यथाशक्ति तप करना चाहिये। जैसे जाड़ों में जाकर अरुणोदय मे स्नान करना एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी, प्रदोष तथा रविवार आदि का व्रत करना और भी चातुर्मास्य आदि का व्रत करना। साधारणतया ये तप हैं इनसे भी मनकी मलिनता दूर होती है।

अपनी अवस्था को देखकर उसके अनुसार ही व्यवहार करने से तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान, धर्म पुण्य कर्मादि करने से भी चित्त की शुद्धि होता है। अपने कुलानुसार

संस्कार करने से तथा वेद विहित सस्कारों से भी चित्त की शुद्धि होती है। वर्णाश्रमानुसार सत्कर्म करना भी, चित्त की शुद्धि का कारण है। और उद्धव ! सबसे बढकर चित्त शुद्धि का कारण है मेरा स्मरण करना। मेरे निरन्तर के स्मरण से चित्त के सब मल धुल जाते हैं और वह विशुद्ध बन जाता है, अत. ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि सतत मेरा स्मरण बना रहे। यह तो मैंने सामान्य शुद्धि अशुद्धि के विषय में कहा अब शुद्धि अशुद्धि के विषय में जो विशेष नियम हैं उन्हे आगे कहूँगा।"

सूतजी कहते हैं "मुनियो ! अब भगवान् जो विशेष शुद्धि अशुद्धि का विवेचन करेंगे उसे भी मैं आप से कहता हूँ, आप इस परम उपयोगी प्रसङ्ग को दत्त चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

कहे हेतु कछु शुद्ध अशुद्धि पदार्थनि मधिमहँ।
द्रव्य, वचन सस्कार, काल, बहु, स्वल्प सबनिमहँ॥
शक्ति बुद्धि अरु वित्त विभव कारन कछु भाखे।
होहिँ दोष गुन, देश काल अनुसारहि राखे॥
स्नान, दान, तपअवस्था, शक्ति, कर्म, सस्कार तैं।
चित्त शुद्ध होवै अवसि, सुमिरन मम पद प्यार तैं॥

——

शुद्धि अशुद्धि के विशेष नियम

(१२९८)

क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपिविधिना गुणः।
गुण दोषार्थ नियमस्तद् भिदामेव बाधते ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २१ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

परिज्ञान त मंत्र-शुद्धि कर्म हु अरपन तैं।
देश, काल अरु वस्तु, कर्म, कर्ता, मनु इन तैं।
धर्म शुद्धि महँ हेतु कहे छै ये सब उद्धव।
शुचि तैं होवै धर्म अशुचि तैं अधरम यादव॥
कबहुँ दोष गुन के सरिस, गुन होवै कहुँ दोष सम।
कह्यो बली सामान्य तैं, अधिक विशेष निगम नियम॥

सामान्य नियम से विशेष नियम बलवान् होता है। जैसे सामान्य नियम है एकादशी के दिन निराहार व्रत करना चाहिये। फिर जहाँ चान्द्रायण का प्रकरण है वहाँ नियम है

*श्री भगवान् उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव! कहीं शास्त्र विधिसे गुण भी दोष हो जाता है और कहीं दोष भी गुण हो जाता है। विशेष आज्ञा से सामान्य वचनों द्वारा प्राप्त गुण दोष विभाग का वह विशेष नियम बाध करने वाला होता है।"

कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन ग्यारह ग्रास खाने चाहिये और शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन चार ग्रास खाने चाहिये। न खाने का नियम सामान्य रूप से सभी एकादशियों के लिये है किन्तु ग्यारह और चार ग्रास खाने का नियम केवल पिपीलिका चान्द्रायण में है। चान्द्रायण तो विशेष रूप से किये जाते हैं। अत यह विशेष नियम है, इसने सामान्य नियम को दबा दिया अत पिपीलिका चान्द्रायण में ग्रासों का खाना धर्म हो जाता है। विशेष नियम सामान्य को बाध करके लागू होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तक तो भगवान् ने सामान्य शुद्धि का बात बतायी। जब वे विशेष नियम बताने लगे तब उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! मंत्र की शुद्धि कैसे होती है?"

भगवान् ने कहा—'बिना परिज्ञान के मंत्र साधारण अक्षरों के समान हैं। मंत्र का गुरु मुख से श्रवण कर, उसका भली भाँति परिज्ञान कर, तब मंत्र की शुद्धि होती है। वही मंत्र फल दायक होता है। जो मनमानी मंत्र जपा जाता है, उसका फल नहीं होता। ये तो मेरे नाम ही ऐसे हैं, कि जिन्हें उलटा जपो चाहे सुलटा टेढा जपो चाहे सीधा कभी निष्फल होते ही नहीं। शुद्धि अशुद्धि सब कर्मों में देखी जाती है। जो शुद्धि के साथ कर्म किया जाता है, वह धर्म होता है, जो शुद्धि का ध्यान न रखकर अशुद्धता पूर्वक कर्म किया जाता है, वह अधर्म है।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रत्येक कर्म में किन किन बातों पर शुद्धि का ध्यान रखा जाय।"

भगवान् ने कहा—"छै वस्तुओं के शुद्ध होने से धर्म होता है और उन्हीं के अशुद्ध होने से अधर्म हो जाता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"वे छै वस्तुएँ कौन सी हैं?"

भगवान् ने कहा—"देखो, उद्धव प्रथम शुद्धि तो देश की चाहिये।

१-देश-जिस देश में कर्म किया जाय, वह म्लेच्छ देश न हो, शास्त्रों में जो निषिद्ध न बताया हो। कर्मों पर देश का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अशुद्ध देश में कर्म किये जायँगे, तो उनमें अशुद्धि आही जायगी। क्यों कि उस देश के निवासी अधर्म को ही धर्म मानते हैं, शास्त्र जिन कार्यों को निषिद्ध बताता है उस देश के लोग उन्हीं कार्यों को प्रतिष्ठा का द्योतक समझते हैं। अतः प्रथम देश की शुद्धि पर ध्यान रखना चाहिये। दूसरी शुद्धिका विषय है काल।

२-काल-सभी शुभ कर्म शुभ काल में किये जाने चाहिये। अच्छा योग नक्षत्र, वार कर्ण और मुहूर्त हो। भद्रा न हो। शुभ महीना हो। इसी लिये विवाहादि शुभ कर्म मुहूर्त देखकर शुभलग्न में किये जाते हैं। तीसरे शुद्धि का विषय है पदार्थ।

३-जिस शुभ कर्म में जो पदार्थ प्रयुक्त हों वे शुद्ध हों। अशुद्ध पदार्थों से यज्ञादि शुभ कर्म करने से उनका फल विपरीत ही होता है। अतः पदार्थों की भली भाँति परीक्षा कर के तब उन्हें उपयोग में लाना चाहिये। चौथा शुद्धि का कारण है कर्ता।

४-कर्ता-कर्ता के ही ऊपर तो कर्म का सब फल निर्भर करता है। यदि कर्ता शुद्ध है तो उसका कर्म भी शुद्ध होगा। यदि कर्ता मलिन हृदय का अधार्मिक तथा अन्यायी है, तो उसके किये हुए समस्त कर्म भी अधर्म तथा अन्याय पूर्ण होंगे अतः कर्ता की शुद्धि पर सबसे विशेष ध्यान देना चाहिये। कर्मों का मूल कर्ता ही है। यदि मूल की ही शुद्धि न होगी तो शाखा पत्र फल मूल कैसे शुद्ध होंगे पाँचवाँ शुद्धि का कारण है कर्म।

५-कर्म-कर्म यदि शुद्ध होगा, तो उसका फल भी शुद्ध होगा। यदि कर्म अशास्त्रीय है तो कर्ता के शुद्ध होने पर भी उसका फल विपरीत होगा अतः कर्म शुद्धि पर ध्यान देना परमावश्यक है। छटा कारण है मंत्र।

६–मंत्र–यदि मंत्र शुद्ध उच्चारण होगा, तो उसका फल शुद्ध होगा, यदि अशुद्ध प्रयुक्त होगा तो विपरीत फल को उत्पन्न करेगा। इसलिये इन छै के शुद्ध होने से तो धर्म होता है और ये छै अशुद्ध हुए तो उनसे अधर्म होता है। धर्म अधर्म का निर्णय केवल कर्मों से नहीं किया जाता। कहीं ऊपर से धर्म सा दीखने वाला अधर्म हो जाता है और कहीं अधर्म सा दीखने वाला धर्म हो जाता है। जैसे प्राणियों की हिंसा न करना यह परम धर्म है, किन्तु जो आततायी हो, प्रजाको निरन्तर पीडा पहुँचाता हो उसके प्राणों की रक्षा का आग्रह करना अधर्म है। इसके विपरीत हिंसा महा-अधर्म है, किन्तु कोई प्राणियों को पीड़ा देने वाला है, सदा लोक के अकल्याण में निरत रहता हो, उसे मार देना अधर्म नहीं है। प्रत्युत धर्म ही है। इसीलिये कहीं कहीं पर विशेष शास्त्र विधि के कारण गुण भी दोष हो जाते हैं और कहीं दोष भी गुण।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! गुण दोष और दोष गुण क्यों हो जाते हैं?"

भगवान् ने कहा—"पात्र भेद से ऐसा हो जाता है। जैसे घी, दूध तथा दही इनकी अमृत संज्ञा है यदि ये ही ताम्र के पात्र में रख दिये जायँ, तो विष तुल्य हो जायँगे। वेद पढ़ना गुण है, किन्तु उन्हें ही अन्त्यज शूद्रादि अपात्र पढ़ेंगे तो पढ़ना दोष हो जायगा। मांस का व्यवसाय करना, चर्म आदि बेचना ये सब दोष युक्त कार्य हैं, किन्तु इन्हीं कार्यों को चर्म कार या चांडाल करे तो कोई दोष नहीं। उनका तो यह सहज कर्म-पैतृक व्यवसाय-है। इनके अन्य जो करेगा वह पतित हो जायगा।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! पैतृक व्यवसाय यदि सदोष हो, तो भी उसे करते रहना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! व्यवसाय के लिये कोई भी कर्म सदोष नहीं हैं या फिर सभी में कुछ न कुछ दोष है। शास्त्र का

तात्पर्य कर्मों में प्रवृत्त कराना नहीं है वह तो सब प्रकार से कर्मों का त्यागही कराना चाहता है। मेरी सेवा पूजा कथा, कीर्तन आदि कर्म वास्तव में कर्म नहीं है। ये सब तो नैष्कर्म्य हैं व्यवसाय के लिये जो भी कर्म किये जाते हैं सब सदोष हैं। दान लेना कोई अच्छा कार्य थोड़े ही है। प्रजा का शासन करके उससे भाँति भाँति से कर लेना। दंड के द्रव्य से कार्य चलाना ये प्रशसनीय कार्य नहीं है। कृषि मे कितनी हिसा होती है वाणिज्य मे असत्य भाषण करना ही पडता है। पशुपालन में भी हिंसा है। इस प्रकार सभी भी कर्म सदोष हैं। यदि प्रत्येक आदमी समाज मे अपना कर्म चुनता रहे तो समाज मे अशाति बढ़ जायगी। धार्मिक भावना लुप्त हो जायगी अर्थ तृष्णा बढ जायगी। कोई किसी का शील सकोच न करेगा। दास गण यदि धर्म समझकर सेवा न करेंगे, तो वे अधिकारो के लिये संघर्ष करते रहेंगे। परस्पर मे प्रेम तथा सहानुभूति का अभाव हो जायगा। अतः जो अपना वशपरम्परा गत व्यवसाय है उसे छोडना न चाहिये। अपनी जाति के अनुरूप जो कर्म है, वह स्वरूप से सदोष होने पर भी उसका आचरण करना पतितों के लिये पातक नहीं है।"

जैसे जिनका रेशम बनानेका काम है, लाह बनाने का काम है, मांस तथा रस आदि बेचने का काम है, वे उन्हें छोडें नहीं। उनका परम्परागत व्यवसाय है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान् निषिद्ध व्यवसाय करने से दोष तो लगता ही होगा।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! दोष तो परधर्म का आचरण करने मे लगता है। कोई शूद्र है, यदि वह ब्राह्मण का व्यवसाय करता है, तो उसे दोष लगता है। या कोई ब्राह्मण है, वह नीच कर्म करता है, तो पतित होता है, जिसका जो कार्य है उसे दोष लगेगा। जो छत के ऊपर बैठा है, गिरने का भय तो

है, जो भूमि पर ही बैठा है वह क्या गिरेगा। जो तख्त पर सो रहा है वहा गिर सकता है, जिसका बिस्तर भूमि पर लगा है वह कहाँ गिरगा। जिन कर्मों का सम्बन्ध जाति से विहित है वे कर्म उन जाति के लोगो के लिये दोष युक्त नहीं होते। कर्म निवृत्ति के लिय किये जाते हैं। फँसने के लिये नहीं। कर्म करते करते हम नैष्कर्म्य पदवा प्राप्त करल यही सब कर्मों का उद्देश्य होता है। पहले तो लगन से अत्यंत उत्साह के साथ कर्मों को करो फिर उन्हें छोड दो जैसे सूर्य नारायण प्रातः काल से मध्यान्ह तक चढते हैं, फिर अस्ताचल की ओर छिपने की तैयारियाँ करते हुए उतरते हैं और छिप जाते हैं। कर्म उपरति के लिये करने चाहिये।"

उद्धव जी ने पूछा--'कर्मों के करने से तो भगवन्! और अधिक रति होगी उनसे उपरति कैसे हो सकती है?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! ससार में जितनी भी प्रवृत्ति हैं सभी परिणाम में दुख देने वाली हैं। कर्मों मे प्रवृत्त होना ही बन्धन में बधना है और कर्मों से उपरत होना ही बन्धन से छूटना है। कोई भी कर्म आरंभ किया उसमें दुःख हुआ उससे मनुष्य को शिक्षा लेनी चाहिये कि ऐसे ही समस्त कर्म दुःख देने वाले हैं। इस प्रकार जो उनके परिणामों से शिक्षा लेता हुआ कार्य करेगा, तो उसका चित्त जिस जिस प्रवृत्ति से उपरत होता जायगा, उस ओर से वह बन्धन मुक्त होता जायगा।"

उद्धवजी ने पूछा—"कर्मों की निवृत्ति से क्या परिणाम होगा?"

भगवान् ने कहा---"अरे, भाई यह तो सर्वथा सीधी बात है कर्मों की प्रवृत्ति से शोक मोह और भय होता है, तथा उनसे निवृत्ति होने पर मोहरहित अशोक तथा निर्भय हो जाता है।"

उद्धवजी ने पूछा--"भगवन्! कर्मों की प्रवृत्ति से मनुष्य

को शोक मोह और भय की प्राप्ति कैसे होती है, ये तो पतन के पूर्ण चिन्ह हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ कर्मों की आसक्ति से पतन ही होता है और कर्मों की निवृत्ति से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इसका एक क्रम है मनुष्य का जिस विषय में गुण बुद्धि हो जायगी उसमें उसकी आसक्ति हो जायगी। जैसे सब लोगों की धन में गुण बुद्धि है। धनिक कैसा भी व्यभिचारी गुण हीन, निर्दयी, अभिमानी तथा कामी क्रोधी हो, लोग उसका आदर करते हैं। उसका क्या आदर करते हैं, धनका आदर करते हैं। कल वही निर्धन हो जाय, तो सगे सम्बन्धी भी उसकी बात नहीं पूछते। जिनकी दृष्टि में धन श्रेष्ठ था धन में गुण बुद्धि थी धन के कारण ही उसका आदर सत्कार करते थे। जिसकी जिस वस्तु में गुण बुद्धि होगी उसकी उसमें आसक्ति हो जायगी। इसीलिये प्रायः धनिक बड़े कृपण होते हैं। एक एक पैसा करके तो उन्होंने धनका संचय किया है उसमें उनकी आसक्ति हो गयी है, इसीलिये जब तक विवश नहीं हो जाते तब तक धनिक किसी को धन नहीं दे सकते।"

उद्धवजी ने पूछा—"आसक्ति हो जाने से क्या होता है?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! संग या आसक्ति से कामना बढ़ती है। जिसमें मनुष्यों की अत्यधिक आसक्ति होगी उन्हें अपने से भरसक पृथक करने की इच्छा न होगी। कोई अन्य संकल्प में विघात उत्पन्न करता है, तो उस पर मन भेद होता है। जो व्यवहार हम नहीं चाहते जो हमारी इच्छा में विघ्न उपस्थित करता है उससे मन भेद होता ही है। मन भेद बढ़ने से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध से दुःसह क्रोध होता है। क्रोध का सगा भाई है अज्ञान। बिना अज्ञान के क्रोध

की दृष्टि में तो सभी असत्य है, वह किसी पर क्रोध क्यों करेगा। क्रोध तो उसीके हृदय में उत्पन्न होगा जो असत् को सत् समझेगा और कामना से जिसका हृदय कलुषित हो गया होगा। इसलिये जहाँ क्रोध है वहाँ अज्ञान है। क्रोध आने पर अपने पराये का विवेक नहीं रहता। अज्ञान जन्य क्रोध मनुष्य की व्यापक स्मरण शक्ति को ढक लेता है। सद् असद् विवेकिनी बुद्धि आवृत हो जाती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! फिर क्या होता है?"

भगवान् ने कहा—"होता क्या है, स्मरण शक्ति से हीन पुरुष सत् असत् का निर्णय करने में असमर्थ होकर शून्य वत् हो जाता है। फिर उसे स्वार्थ परमार्थ का भी विवेक नहीं रहता। उसका जो यथार्थ साधन है वह भी समाप्त हो जाता है। वह जीवित ही मृतक के समान हो जाता है। जीवन के उसमें कोई भी चिह्न नहीं रहते?"

उद्धवजी ने पूछा—"तो क्या वह स्वास नहीं लेता।"

भगवान् ने हँस कर कहा—"अरे भाई स्वास लेना ही क्या जीवन का चिह्न है? क्या लुहार की धौंकनी स्वाँस नहीं लेती? उसे कौन जीवित कहेगा। समय काटना ही तो जीवन नहीं है। वृक्षों की कितनी बड़ी बड़ी आयु होती है, कितने दिनों तक वे जीवित रहते हैं, किन्तु वे परमार्थ साधन नहीं कर सकते। जो विषय लम्पटता में फँसा है, जिसे आत्मा परमात्मा का विवेक नहीं वह तो जीवित ही मृतक के समान है। इसलिये कर्मों का सेवन करना तो चाहिये किन्तु निवृत्ति भावना से करना चाहिये कि एक दिन हमें इनसे पृथक होना है। जिनकी कर्मों में आसक्ति हो जाती है उनका पतन निश्चित है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! वेदों में तो कर्मों की बड़ी प्रशंसा है। वहाँ तो बार बार कहा है—"जब तक जीओ अग्निहोत्र आदि शुभ कर्मों को करते ही रहो। वहाँ तो कर्म त्याग की निन्दा की है?"

भगवान् ने उद्धवजी से हँस कर कहा—"उद्धव! वेदों के तात्पर्य को न समझ कर ही लोग उनका अट सट अर्थ करते हैं। वेदों की कर्म प्रशंसा में एक गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है उसे मैं तुम्हें समझाऊँगा, तुम इस विषय को ध्यान पूर्वक श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अब जैसे कर्मों के रहस्य को समझावेंगे उसे भी मैं आप से कहता हूँ कर्म क्या है अकर्म क्या है, इस विषय में बड़े बड़े ज्ञानी भी विमोहित हो जाते हैं। जिनकी कर्मों में जन्म जात आसक्ति है, वेदों का अर्थ भी कर्म परक ही लगाते हैं, किन्तु वेदों का अर्थ क्या है इसे तो भगवान् ही जानते हैं, गीता तथा भागवत ही उनके वेदवाक्यों के भाष्य हैं। उन्होंने अपने श्री मुख से जो कहा है वही वेदों का यथार्थ तात्पर्य है। भक्त उन्हीं की टीका को प्रमाण मानते हैं। भगवान् अपने वचनों की स्वयं ही जो व्याख्या करते हैं उसे आप सुनें।

छप्पय

जो जाको कुलधरम दोष नहिँ ताकूँ ता में।
चाहे होइ सदोष पतित ते नहिं हों ग्वामें॥
होइ प्रवृत्ति तैं दुःख निवृत्ति तैं सुख निरभयता।
विषयनि सुखप्रद लख होइ तब तिन महँ ममता॥
होहि कामना कलह पुनि क्रोध मोह अज्ञान हू।
स्मृति नाश मृतवत् बनै, नसै ज्ञान विज्ञान हू॥

कर्म प्रशंसा श्रेय प्रवृत्ति के निमित्त है।

(१२९९)

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचन परम्।
श्रेयो विवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्॥*

(श्री भा० ११ स्क० २१ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

करम बन्ध के हेतु सकामिनि हित वेदनि महँ।
कहे प्रशंसा परक वचन नर फँसिहैं तिनिमहँ॥
दै मीठे को लोभ शिशुनि कटु औषधि प्यावैं।
त्यों श्रुति कहि श्रुत मधुर वचन मुख माँहिं लगावैं॥
अज्ञ न समुझैं रहसकूँ, सब कछु समुझैं करमकूँ।
हिंसामहँ निन निरत ह्वै, तजैं मोक्ष सुख धरम कूँ॥

वचन कई प्रकार के होते हैं, उनमें रोचक, भयानक, यथार्थ और मिथ्या ये चार प्रकार के प्रधान हैं। रोचक वचन तो वे कहाते हैं, जो प्रवृत्ति कराने को कहे जाते हैं। जैसे बच्चों से कहते

---

*श्री भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! पुरुषों के लिये ये जो वेद की फल श्रुतियाँ हैं वे परम पुरुषार्थ प्रतिपादक नहीं हैं, वे तो केवल श्रेय की ओर प्रवृत्त करने के लिये रुचिवर्धक मात्र हैं, जैसे कटु औषधि पिलाने को बालकों को मिठाई का प्रलोभन देते हैं।"

हैं, कि तू दूध पीवेगा, तो तू राजा हो जायगा, काजर लगावेगा तो राजा बन जायगा। यहाँ माता पिता का तात्पर्य बच्चे को दूध पिलाने या काजर लगवाने में है। राजा बनने का प्रलोभन उन कामों में प्रवृत्ति कराने के निमित्त है। जैसे मन्दिर में एक दीपक जल रहा था, उसकी बत्ती को खाने को एक चुहिया आई। ज्यों उसने हाथ डाला पीछे से बिल्ली ने उसे पकड़ लिया। भूल से पंजा लगने से बुझती हुई बत्ती और अधिक ऊँची होने से जलने लगी। इसी पुण्य से उसे करोड़ वर्ष स्वर्ग का सुख मिला और अन्त में वह सम्राज्ञी हुई। इस कथा का तात्पर्य इतना ही है, कि मन्दिर में दीपक जलाना शुभ कार्य है यह जो कथा है यह रोचक वचन है।

इसी प्रकार भयानक वचन होते हैं। बच्चा रात्रि में बाहर जाने को हठ करता है। माता कहती है "बाहर जायगा, तो हौआ पकड़ लेगा।" वास्तव में बाहर कोई हौआ तो है नहीं माता का तात्पर्य डराकर उसे बाहर जाने से रोकने में है। पीने से बचे पानी को पी लेने पर पैर धोने से बचे पानी को पी लेने पर अमुक अमुक नरकों में जाना पड़ता है। ये भयानक वचन हैं इनका तात्पर्य इतना ही है, ऐसे जल को नहीं पीना चाहिये। उस जल को पीने की प्रवृत्ति रोकने को ऐसे वचन हैं। यथार्थ वचन वे हैं—"जैसे धर्म का आचरण करो सुख मिलेगा। माता, पिता, गुरु तथा पूज्य जनों की सेवा से पुण्य होगा। ये यथार्थ वचन हैं। मिथ्या वचन वे कहलाते हैं, जो होने पर भय या स्वार्थवश असत्य कहे गये हों।

वचनों के शब्दों पर ही ध्यान न देना चाहिये सोचना यह चाहिये ये किस भाव से प्रयुक्त किये गये हैं। जो वचनों के भाव को समझकर उनका अर्थ लगाता है वही यथार्थ तात्पर्य को [illegible] मता है जो केवल शब्दों के ही तोड़ मरोड़ में अपनी शक्ति

व्यय करता है वह सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से यह बात पूछी कि वेदों में कर्मों की इतनी प्रशंसा क्यों है, तब इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे—"उद्धव! देखो, जो पुरुष स्वभावतः सकाम हैं, कर्मों में आसक्त हैं, उन्हें कल्याण मार्ग की ओर प्रवृत्त करने के निमित्त श्रुतियों ने कर्मों की प्रशंसा की है। वहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि कर्मों के द्वारा तुम्हें परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होगी।

उद्धवजी ने कहा—"कैसे भी सही, कर्मोंकी प्रशंसा तो की ही है, यदि श्रुति को कर्म कराना अभीष्ट न होता, तो कर्मों की इतनी बड़ाई क्यों की जाती है?"

भगवान् ने कहा—"श्रुति का तात्पय कर्मों में प्रवृत्त करना नहीं है अपितु उनसे निवृत्त कराना ही है। सकामी कर्म संगी पुरुष सीधे कहने से तो कर्मों को छोड़ नहीं सकते। अतः पहिले उन्हें निषिद्ध कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों में लगायेंगे। शुभ कर्म करते करते जब अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, तो उन्हें भी छोड़ही देने का उपदेश देंगे। जैसे कोई बालक है मीठा उसे प्रिय है, किन्तु उसे ज्वर आता है ज्वर में कड़वी ओषधि देनी है। कड़वी वह खाता नहीं। अतः उस कड़वी ओषधि को मिश्री या बतासे में रखकर देते हैं और कहते हैं—"ले यह कैसी मीठी वस्तु है इसे खा ले।" बच्चा मीठे के लोभ से उसे खा लेता है। माता पिता का अभिप्राय तो उसे कड़वी ओषधि खिलाने में है, मिठाई तो केवल प्रवृत्ति करने के निमित्त है। इसी प्रकार कर्मों की प्रशंसा करके शुभ कर्मों में प्रवृत्त कराना है श्रुति का यथाथ उद्देश्य तो नैष्कर्म्य स्थिति प्राप्त कराना है।"

उद्धवजी ने कहा—"इसे हम कैसे समझें कि श्रुति का तात्पर्य कर्मों से निवृत्ति कराने में ही है।"

भगवान् ने कहा—"तुम तो बुद्धिमान् हो विचार से अनुमान से तुम सोचो। प्यासे के लिये यह उपदेश कोई न देगा, कि प्यासे को पानी पाना ही चाहिये। प्यास में तो पानी की स्वतः ही प्राप्त होती है। उपदेश तो अप्राप्त वस्तु का दिया जाता है। मासाहारी को यह उपदेश देना कि मास खाना चाहिय, यह ता कोई विलक्षण बात नहीं। जिसमें स्वाभाविकी प्रवृत्ति है उसके लिये उपदेश क्या देना। इसी प्रकार प्राणी की ममता तथा अनर्थ रूप कर्म वासनाओं में तो जीवो की जन्म से स्वाभाविक ही रुचि है। आत्मा के लिये अनथ रूप इन विषयों को भागते हुए अपने वास्तविक स्वाथ को न जानकर जीव नाना योनियों मे जन्म लेता है मरता है। इस प्रकार चौरासी लाख योनियो मे भटकता फिरता है। स्वर्ग और नरकों की यातनाओं को सहता हुआ एक योनि से दूसरी योनि में आता जाता रहता है और जन्म, जरा तथा मृत्यु के दु.खों को भोगता रहता है। यह सब होता है कर्मों के फलों के द्वारा इस प्रकार के घोर अन्धकार में पडे हुए दीन हीन पुरुषों के लिये वेद फिर कम करने का आग्रह क्यों करेगा। उसे तो कोई विलक्षण बात कहनी चाहिये न।"

उद्धवजी ने पूछा—"तब भगवन्! ये मीमासक आदि कर्मों के विषय मे इतना आग्रह क्यों किया करते हैं?",

भगवान् ने कहा—"वे लोग वेद के इस मुख्य अभिप्राय को समझ ही नहीं सकते। कर्मों मे अत्यधिक आसक्ति होने के कारण अज्ञान उनके विवेक को आवृत्त कर लेता है, वे आपात रमणीय फल श्रुतियों को ही परम फलमान बैठे हैं। पुष्प को ही देखकर प्रलोभित हो जाते हैं। फल की ओर ध्यान नहीं देते। जिन्होंने वेदका भली भाँति मर्म जान लिया है, वे इस भूल भुलैय्यों के चक्कर में नहीं फँसते।

जो अज्ञानी कर्मों मे अत्यत आसक्त हैं, वे दूर से ही

हुए सुन्दर पुष्पों को देखकर विमुग्ध बन जाते हैं। वे कृपण उसी को वृक्ष का सर्वस्व समझकर उसे ही प्राप्त करने दौड़ते हैं। वेदों में कहा है "स्वर्ग की कामना से अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये।" बस, वे स्वर्ग सुख को ही परम पुरुषार्थ मान बैठते हैं। उनका परमसाध्य स्वर्ग ही बन जाता है। उस स्वर्ग की प्राप्ति के लिये अग्नि से होने वाले यज्ञ यागादि कर्मों में ही वे मुग्ध होकर निरन्तर लगे रहते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"उन कर्मासक्त पुरुषों की क्या गति होती है?"

भगवान् ने कहा—"दो मार्ग हैं, एक तो धूम मार्ग एक दीप्ति मार्ग। धूममार्ग से जाने वालों को तो स्वर्गादि सुख भोगकर फिर पृथिवी पर जन्म लेना पड़ता है, उनका जन्ममरण छूटता नहीं, किन्तु जो दीप्ति मार्ग से जाते हैं, वे विमुक्त हो जाते हैं। ये स्वर्ग को ही सर्वस्व समझने वाले धूममार्ग से जाकर फिर फिर जन्म लेते हैं, फिर फिर मरते हैं वे अपने निज धाम निर्वाण पद से वञ्चित रह जाते हैं इन कर्मासक्तों को मेरे दर्शन दुर्लभ हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! यज्ञ भी तो आप का ही रूप है, फिर वे आपके दर्शनों से वञ्चित क्यों रहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! मैं तो उनके समीप ही हूँ, सबके अन्तःकरणों में विराजमान हूँ किन्तु वे तो कर्म को ही अपनी सिद्धि का अमोघास्त्र समझते हैं। कामनाओं से उनका अन्तःकरण कलुषित हो जाता है, इसीलिये वे प्राण पोषक पुरुष सबके हृदय कमल में स्थित सबके जनक मुझको नहीं देख पाते। जैसे जिनकी आँखों में मोतिया बिन्दु हो जाता है यद्यपि उनकी आँखें बनी रहती हैं, किन्तु उनपर धुन्ध छा जाने से वे समीप में स्थित पुरुष को तथा अन्य पदों को नहीं देख सकते। वे हिंसा करने में ही प्रसन्न होते हैं। हिंसा प्रधान यज्ञों को करते हैं और

उसी के सहारे मांस खाकर अपने मांस का बढ़ाते हैं जिह्वा लोलुपता वश पशुओं को मारते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! यज्ञ मे पशु बलि करने की तो वेद की आज्ञा है।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, भाई! वेद का यह अभिप्राय कभी नहीं है, कि किसी के प्राण ले लो। यज्ञीय कार्य तो चरु पुरोडास चावलों की खीर तथा फल फूलों से भी सम्पन्न हो सकता है। यदि किसी की हिंसा मे ही विशेष प्रवृत्ति हो, उसके लिये एक नियम बना दिया है कि वह केवल यज्ञ मे ही करे। इससे एक नियम संयम बना दिया है। हिंसा की आज्ञा नहीं दी है। जैसे किसी को स्वॉस का रोग है, उसे दही खाना मना है, किन्तु रोगी की दही में अत्यन्त रुचि है, तो वैद्य उससे कहता है, एक बार ही दही खा सकते हो, छटांक भर ही खा सकते हो। उसमें मीठा नहीं मिला सकते। खाली दही भी नहीं खा सकते। उसमें सैंधा नमक, हींग भुनी राई, चित्रक तथा भुना जीरा और सोंठ का चूर्ण भी मिलाना होगा। यहा इतने नियम लगाने का अभिप्राय इतना ही है, कि दही हानि कारक है उसे नहीं खाना चाहिये यदि तुम्हारा आग्रह ही है तो इस विधिसे खाने से विशेष हानि न करेगा। वैद्य की आज्ञा का तत्पर्य भी निषेध में ही है। इसी प्रकार वेद जो यज्ञ मे पशु बलिकी आज्ञा देते हैं, वह हिंसा की प्रवृत्ति को रोकता है। ये स्वार्थी विषयी लोग वेद के इस गूढ़ अभिप्राय को तो समझते नहीं, केवल हिंसा करने मे निरत हो जाते हैं। यज्ञ को निमित्त बनाकर अपने प्राणों का पोषण करते हैं, अपनी जिह्वा-लोलुपता को शान्त करने के निमित्त देवता, पितर और भूत पतियों के नाम से जीवों का सिर काटते हैं और उनके मांसों से अपनी तोंद को बढ़ाते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! वे जो भी करते हैं, वेद की

आज्ञा से ही तो करते हैं। उसी प्रकार उनको फल भी मिलता होगा ?"

भगवान् ने कहा– "अरे, भैया! न तो वे वेद की यथार्थ आज्ञा का पालन ही करते हैं और न उन्हें वैसा फल ही मिलता है। बात यह है, कि वे सकाम होते हैं, सुनने में अत्यत मधुर लगने वाले स्वप्न के सदृश मिथ्या स्वर्ग के सुखों की इच्छा से वे यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। जिह्वालोलुपता वश जीवों की हिंसा करते हैं। प्रतिष्ठा के लिये धन व्यय करते हैं। भोगों लिये मन ही मन संकल्प करके थोडे व्यय में अधिक लाभ चाहते हैं। उन्हें अधिक लाभ तो होता नहीं, उलटे वे अपने मूल धन को भी खो बैठते हैं। वे कामनाओं से कलुषित होने के कारण स्वर्गादि लोकों को तो प्राप्त कर नहीं सकते, हाँ उन हिंसामय यज्ञों मे धन को व्यर्थ नष्ट अवश्य कर देते हैं। अपनी भावना के अनुसार किसी देवता को भले ही प्राप्त करले मुझ गुणातीत को तो वे पा ही नहीं सकते।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! देवादिक भी तो आपके ही अंश हैं, जब वे देवताओं को प्राप्त कर लेते हैं, तो आपको क्यों न पा सकेंगे।

भगवान् ने कहा—"यह संपूर्ण संसार त्रिगुणात्मक है, मैं गुणातीत हूँ। सात्विक उपासना करने वाले इन्द्रादिक देवताओं को प्राप्त कर सकते हैं रजो गुणी उपासना वाले यक्ष राक्षसों को तथा तमोगुणी उपासना वाले भूत, प्रेत, पिशाच डाकिनी साकिनी आदि तमोमय देवों को प्राप्त कर सकते हैं। मैं तो दोनों गुणों से परे हूँ अत वे मुझ गुणातीत की उपासना नहीं कर सकते।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! जब ऐसे यज्ञ करने वाले वेदों की आज्ञानुसार ही यज्ञ करते हैं, तो वेदों मे तो आपने स्पष्ट आज्ञा दी है, एक मात्र त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

अहिंसा ही परम धर्म है। एकमेव अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है। फिर वे इन आप के वेद वाक्यों को क्यों नहीं मानते ?"

हँसकर भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! उन्हें तो काल्पनिक स्वर्ग दिखाकर विमूढ़ बना दिया गया है। वे तो सोचते हैं--"यहाँ हम यज्ञों में बलिदान देकर देवताओं का यजन करेंगे। बड़े बड़े व्यय साध्य यज्ञ यागों को करके स्वर्ग प्राप्त करेंगे। वहाँ विमानों में विहार करेंगे अप्सराओं के साथ आनंद लूटेंगे अमृत का पान करेंगे स्वर्गीय नन्दन काननों में घूमेंगे। दिव्याति दिव्य भोगों को भोगेंगे। इसके पश्चत् पुण्य क्षीण होनेपर इस लोक में पवित्र श्रीमानों के उच्चकुलों में जन्म लेकर बड़े भारी कुटुम्बी बनेंगे। फिर यज्ञ करेंगे, फिर स्वर्ग जायेंगे।" इस प्रकार के चित्र विचित्र श्रुत मधुर वचनों से उनका चित्त चञ्चल हो जाता है। उनकी उन कल्पित भोगों में आसक्ति हो जाती है। वे अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं। अभिमान के आधिक्य के कारण वे अत्यन्त उद्दण्ड हो जाते हैं, उन्हें मेरी बात अच्छी ही नहीं लगती। वेद के सिद्धान्त वाक्यों पर उनका चित्त ठहरता ही नहीं। वेदों के अस्पष्ट वचनों के जाल में ही फँसे रह जाते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! आपने वेद में ऐसे मोहक वचन क्यो कह दिये, जिससे लोग भ्रममें पड़ जाते हैं। लोगों में नानामत भेद उत्पन्न हो जाते हैं। कोई कर्म को ही श्रेष्ठ बताता है, कोई उपासना पर ही बल देता है और कोई ज्ञान को ही सर्व श्रेष्ठ बताता है।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"उद्धव ! वेदो मे कर्मकाण्ड भी है, उपासना भी है और ज्ञानकाण्ड भी है। ये तीनो ही काण्ड ब्रह्मात्म विषय हैं। अर्थात् ब्रह्म और आत्मा की एकता का ही निरूपणी करते हैं। किन्तु मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने विषय का वर्णन स्पष्ट शब्दो मे नहीं किया है। रहस्य के साथ वर्णन किया है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! रहस्य के साथ-छिपकर-अस्पष्ट वर्णन क्यो किया है ? खोलकर स्पष्ट वर्णन क्यों नहीं किया ?"

हँसकर भगवान् ने कहा—'स्वारस्य के लिये रहस्य का वर्णन किया है। देखो, पति पत्नी मे कोई छिपाव नहीं दुराव नहीं। फिर भी पत्नी जब घूँघट की ओट मे से एक आँख से पति को देखती है, तो उस दर्शन मे स्वारस्य होता है मधुरिमा तथा सरसता होती है। इसी प्रकार मन्त्र दृष्टा ऋषि परोक्ष प्रिय होते हैं। उनका भी दोष नहीं। यथार्थ बात तो यह है मैं स्वय परोक्ष प्रिय हूँ, मुझे संकेत से कही हुई बात अच्छी लगती है। सकेत की बात को अधिकारी ही समझते हैं अनधिकारी उससे वञ्चित ही रह जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मवाद भी रहस्यमय विषय है। ब्रह्म के दो रूप हैं। शब्द ब्रह्म और पर ब्रह्म। शब्द ब्रह्म को समझ लेने पर ही पर ब्रह्म का ज्ञान होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—'भगवन् ! शब्द ब्रह्म क्या है, कृपा कर के मुझे शब्द ब्रह्म का रहस्य समझाइये।

भगवान् ने कहा—"वेद ही शब्द ब्रह्म है। इसक

उत्पत्ति हुई यह मैं अत्यंत संक्षेप में तुम्हें समझाता हूँ तुम सावधान होकर इस गूढ विषय को—श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् शब्द ब्रह्म के विषय में बतावेंगे, उसको मैं आप से कहूँगा।

छप्पय

स्वर्ग समान अमान मधुरश्रुत स्वरग आदि सुख।
तिनिहित हिंसा करै अन्त महँ पावै बहु दुख॥
गुन मय देवनि भजे गुननिमहँ ही फँसि जावैं।
ते निरगुन परमात्वतत्व मोकूँ नहिं पावैं॥
सुनि करमनिकी प्रशंसा, गूढ़ रहस नहिं धरहिं हिय।
ऋषि परोक्ष वरनन करैं, है परोक्ष अति मोइ प्रिय॥

शब्द ब्रह्म निरूपण

(१३००)

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २१ अ० ३६श्लो०)

छप्पय

शब्द-ब्रह्म दुरबोध पार सब ताहि न पावैं ।
पश्यन्ती अरु परा मध्यमा त्रिविधि बतावैं ॥
नाद रूप तैं प्रथम फेरि बनि बरन सुहाये ।
बरन छन्द बनि गये भेद बहु मुनिनि बताये ॥
गायत्री, उष्णिक, बृहति, जगती, त्रिष्टुप् पंक्ति सब ।
अतिच्छद अत्यष्टि ये, अति जगती बीराट तब ॥

मनुष्य ज्ञान के लिये बाहर भटकता है। यहाँ जा वहाँ जा, इस ग्रन्थ को पढ इसी में भटकता रहता है। भीतर की ओर देखता नहीं, अपने आप में विचार करता नहीं। सम्पूर्ण गूढ

---

*श्रीभगवान् उद्धवजी से कहते हैं—"उद्धव ! शब्द ब्रह्म अत्यन्त ही दुर्बोध है, वह प्राण, इन्द्रिय और मनोमय है तथा समुद्र के सदृश अनन्तपार, गम्भीर और दुर्विगाह्य है ।

ज्ञान तो अपने भीतर ही छिपा है। मनुष्य जो शब्द बोलता है उसी पर ध्यान दे उसीकी उत्पत्ति का अन्वेषण करे, तो उसे सृष्टि का समस्त रहस्य अपने आप समझ में आ जाय। इस अपने शरीर की रचना को ही समझ ले तो सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाय। ब्रह्माण्ड कोई बाहर थोडा ही है, उसको रचना हम अपने आप करते हैं। हमारे विचार ही ब्रह्माण्ड का रूप रख लेते हैं। जाला मकरी से पृथक् थोडा ही है। अपने भीतर से सूत्र निकालकर वह जाला बनाती है और इसमे विहार करती है। यदि वह उसे निगलना भूल जाय, तो जाले में फँस जायगी। मनुष्य भीतर से इस बाह्य जगत् को बना तो लेता है। किन्तु उसे समेटना भूल गया है। उसे यह विस्मरण हो गया है कि हमारे भीतर का ही मूर्त रूप बाहर प्रकट हो गया है। यही अज्ञान है यही अविद्या है। यही मोह है यही माया है। यदि मनुष्य भीतर देखना आरंभ करे। स्रोत का पता लगाले, तो फिर बन्धन क्या दुःख क्या ?

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! जब उद्धव जी ने भगवान् से शब्द ब्रह्म के विषय में पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव ! शब्द ब्रह्म का समझना सरल काम नहीं वह अत्यत दुर्बोध है ?"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन् ! दुर्बोध क्यों है ?

भगवान् ने कहा—"क्योंकि वह अपार है। जैसे एक नदी है, उसके किनारे खड़े होते हैं तो हमे उसका दूसरा किनारा दिखायी देता है। इस पार से उस पार तैरकर सरलता से चले जाते हैं। किन्तु समुद्र के किनारे खडे होते हैं तो उसका आरपार दिखायी ही नहीं देता उसमे कूद पडें तो भटकना ही होता है। हाँ युक्ति से पार होना चाहें तो हो भी सकते हैं। यदि बाहुबल से ही तैरना चाहें तो बडी कठिनता हो जाती है। समुद्र अनंत है। उसका अंत दिखायी नहीं देता, वह परम गम्भीर है। बहता

नहीं। उसे युक्ति पूर्वक कठिनता से-पोतों द्वारा—पार किया जा सकता है। इसी प्रकार यह शब्द ब्रह्म समुद्र के समान गम्भीर और दुष्पार है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! इस शब्द ब्रह्म को किसने इतना बढा दिया। कैसे इसका इतना अधिक विस्तार हो गया?"

भगवान् ने कहा—'इसका इतना विस्तार मैंने ही किया है। मेरी अनन्त शक्ति है। मैं बृहत् हूँ इसीलिये मुझे ब्रह्म कहते हैं। मैं सर्वत्र हूँ। इसीलिये मेरा नाम सर्व व्यापक है। मैं स्वय ही शब्द ब्रह्म के रूप मे प्राणियो के हृदय में व्यक्त होता हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"शब्द ब्रह्म के रूप से भगवन्! आप कैसे व्यक्त होते हैं?"

भगवान् ने कहा—'जैसे मैं नित्य हूँ वैसे ही शब्द भी नित्य है। जैसे मेरा नाश नही होता वैसे ही शब्द का कभी नाश नहीं होता जैसे मैं क्षर न होने से अक्षर कहाता हूँ वैसे ही शब्दों की अभिव्यक्ति अक्षर कहलाती है। जैसे मैं अव्यक्त हूँ वैसे ही प्रथम शब्द भी अव्यक्त रहता है। जैसे मैं निर्गुण से सगुण हो जाता हूँ, वैसे ही शब्द भी प्रथम निर्गुण होता है और फिर प्राण तथा स्पर्श के सहारे सगुण बन जाता है। जैसे मैं धर्म को समझाने को अवतार लेता हूँ, वैसे ही भावों को व्यक्त करने शब्द ब्रह्म का अवतार होता है। जो अव्यक्त और व्यक्त के भेद को समझता है वही इस दुष्पार शब्द ब्रह्म का पार पा सकता है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! अव्यक्त से शब्द व्यक्त कैसे होता है?"

भगवान् ने कहा—"देखो, शब्द ब्रह्म के चार रूप हैं। एक तो प्राणमय रूप है, सबसे परे वाणी होने से उसका नाम 'परा' है। उसकी अभिव्यक्ति मूलाधार चक्र में होती है। दूसरी वाणी मनोमय है, उसे बडे बडे योगी गण समाधि में देखते हैं। उसका

साक्षात्कार करते हैं। इसीलिये योगी उसे 'पश्यन्ती' कहते हैं। वह हृदय कमल मे रहता है। एक बीच की इन्द्रियमय वाणी है। जिसमे देवता गण बातें करते हैं बीच की वाणी होने से वह 'मध्यमा' कहाती है। वह कठ देश मे रहती है। एक सबसे निकृष्ट चौथी वाणी है, जो मुख के द्वार से बाहर निकल जाती है। इस वाणी से मनुष्यादि प्राणी बोलते हैं। इन वाणियों मे से तीन तो अव्यक्त रूप से भीतर ही छिपी रहती हैं केवल एक वैखरी वाणी ही व्यक्त होकर प्रकट होती है। मनुष्य उस वाणी के भी रहस्य को समझ लें तो ससार सागर से सहज मे ही पार हो जायँ। क्योंकि यह वैखरी वाणी भी तो भीतर से ही आती हैं। परा वाणी का ही तो यह व्यक्त रूप है। परा ही पश्यन्ती के रूप मे परिणित हो जाती है। पश्यन्ती ही मध्यमा बन जाती है और मध्यमा ही कठ से मुख द्वार से प्रकट होकर वैखरी रूप धारण कर लेती है। जो पराके के भेद को जानते हैं वे ही पडित हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! परा ही वैखरी बनकर कैसे प्रकट होती है। उसका क्रम क्या है।"

भगवान् ने कहा—"देखो, शब्द तो नित्य है। वह मेरा स्वरूप है। प्रकृति से महत्तत्व और महत्तत्व से अहतत्व से पचभूतों में सर्व प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। सर्वप्रथम शब्द की अभिव्यक्ति आकाश में ही हुई। इसीलिये आकाश का शब्द गुण बताते हैं आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई और शब्द से स्पर्श की इसलिये वायु में शब्द गुण तो आकाश से आया और स्पर्श अपना निजी गुण रहा। अब वायु से तेज की उत्पत्ति हुई और स्पर्श से रूप की उत्पत्ति हुई इसी प्रकार तेज से जल की जल से पृथिवी की उधर स्पर्श से रूप की रूप से रस की और रस से गध की। यहाँ यह सब कहने का अभिप्राय इतना ही है गध पुत्र का पिता रस है पितामह रूप है प्रपितामह स्पर्श है और वृद्ध प्रपितामह

शब्द है। जितने गुण हैं सब का आदि पुरुष शब्द है। आकाश उसके रहने का घर है। सर्वप्रथम शब्द नाद रूप से आकाश में प्रकट हुआ।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! शब्द का नाद रूप कौन सा है।"

भगवान् ने कहा—"घोर जंगल में बैठ जाओ जहाँ चारो ओर आकाश ही आकाश हो, चित्त को स्थिर करो। तो आकाश में साँइ साँइ ऐसा शब्द सुनाई देगा। वही नाद ब्रह्म है। पशु पक्षी या अन्य शब्दों के मिलने से वह स्पष्ट न सुनायी दे तो कानों के छिद्रों को उँगलियों से या रुई आदि से बन्द कर लो तो वह शब्द और स्पष्ट सुनाई देने लगेगा। योगी उसी शब्द पर मनको स्थिर करके नादानुसन्धान किया करते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"फिर उस अव्यक्त नाद शब्द से शब्दों का रूप कैसे बना?"

भगवान् ने कहा—"हाँ—इसे बहुत सूक्ष्म रूप से विचार करो। उस नाद की ध्वनि को ध्यान पूर्वक सुनो। जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। या यों कहो पिंड ने ही ब्रह्माण्ड का रूप रख लिया है। पिंड में हृदयाकाश है। उस हृदयाकाश में ही नाद ब्रह्म प्रकट होता है। जैसे कमल की पोली डंडी में अति सूक्ष्म मकरी के सूत से भी सूक्ष्म तन्तु उत्पन्न हुआ। कमल नाल के ये तन्तु जैसे कमल के फूल को उत्पन्न करते हैं ऐसे ही उस सूक्ष्म-नाद ने स्थूल शब्द को उत्पन्न किया। मकड़ी के पेट में तन्तु बहुत सूक्ष्म अव्यक्त रूप से उत्पन्न होता है। जब उसी को मुख द्वारा वह उगली है तो उसी तन्तु का व्यक्त जाला बना लेती है। रेशम के कीड़े के पेट में बहुत सूक्ष्म सूत होते हैं। यदि उन्हें वह पेट में ही रखे तो न बँधे। किन्तु जब उन्हें वह व्यक्त करता है और निरन्तर मुख से सूत को उगलता रहता है तो शनैः शनैः

वह विस्तार होने से बँध जाता है। इसी प्रकार प्राणियों के अन्तः करण में प्रथम नाद अव्यक्त सूक्ष्म था। वह शब्द प्राणमय था। प्राणों के अधिष्ठातृदेव भगवान् हिरण्य गर्भ का जो अमृत मय है तथा वेदमय हैं। उनका मन से संयोग हुआ। मन का स्वभाव संकल्प करना है। संकल्प से काम की उत्पत्ति होती है। स्नेह से रति होती है। दोनों का संयोग होने से सन्तानें उत्पन्न हो जाती हैं। पुरुष के मन में पहिले सूक्ष्म वासना होती है। वह बढ़कर काम के रूप में हो जाती है रतिमती पत्नी के संयोग होने से वह व्यक्त और स्थूल होकर संतान के रूप में सब के सम्मुख आ जाती है। इसी प्रकार हृदयाकाश मे नाद रूप उपादान कारण से संकल्प विकल्पात्मक मन रूप निमित्त कारण द्वारा शब्द उत्पन्न हो गये। वह जो सूक्ष्मनाद था, ध्वन्यात्मक था। कानों को उँगलियों से बन्द करके सुनों तो उस नाद में 'ओं' ऐसा शब्द ही समस्त शब्दों का बीज है। प्राण तथा उसके अधिष्ठातृ देव का जब मन से स्पर्श हुआ तो उस ओंकार से कुछ शब्द उत्पन्न हो गये। स्पर्श से हुए इसलिये उन शब्दों की संज्ञा स्पर्श है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् स्पर्श शब्द कौन कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—"क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, और म इन्हीं शब्दों की स्पर्श संज्ञा है।"

उद्धवजी ने पूछा—'क्या भगवन्! सब इतने ही हैं ?"

भगवान् ने कहा—"सब शब्दों का चार संज्ञायें हैं। जो बोलने में सहायक हैं और स्वयं शोभित होते हैं। वे स्वर कहलाते हैं, जो भावो के अभिव्यंजक हैं व्यजन कहलाते हैं। व्यंजन भी तीन प्रकार के हैं। जिनमें मन और प्राण का अधिक स्पर्श होता है, वे क से म तक स्पर्श संज्ञक है। जो अन्तःस्थ हैं, जिनमे स्पर्श कम हैं। उन 'य, र, ल, और व, की अन्तःस्थ संज्ञा है जिनमें ऊष्मा

अधिक हैं उन 'श, ष, स, और ह, की ऊष्मा संज्ञा है, तथा अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः इन सोलह की स्वर संज्ञा है। शब्द के बोलने के लिये सबसे प्रथम तो आकाश की आवश्यकता है, आकाश के बिना शब्द का उच्चारण नहीं हो सकता। दूसरे स्पर्श की और वायु की आवश्यकता है। जहाँ वायु नहीं स्पर्श नहीं वहाँ शब्द नहीं। संसार की समस्त भाषायें, समस्त वाक्य इन्हीं शब्दों से व्यक्त होंगे। कोई भी ऐसा वाक्य नहीं जो इन शब्दों के बिना बोला जा सके। इन सब शब्दों के पृथक् पृथक् स्थान हैं। जैसे अ, क, ख, ग, घ, ङ, और ह ये कण्ठ से बोले जाते हैं, इनके बोलने में जिह्वा की विशेष आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार कोई दाँतों से ओष्ठ से और कोई विशेष कर जिह्वा से बोले जाते हैं। ये अक्षर ही मिलकर वाक्य बनते हैं फिर इनसे छन्दों का निर्माण होता है। तीन अक्षरों वाला ओंकार सब से छोटा छन्द है। उत्तरोत्तर चार चार अधिक वर्णों वाले बहुत से छन्द बन गये। इन छन्दों से विचित्र भाषाओं के रूप में वृद्धि को प्राप्त होने वाली वैखरी वाणी मेरे ही द्वारा बढ़ती है। मैं ही असंख्यों भाषाओं में असंख्यों छन्दों के रूप में परिणित हो जाता हूँ। अन्त में सब फिर मुझमें ही लीन हो जाते हैं। मैं स्वयं ही शब्द ब्रह्म रूप से विस्तृत हो जाता हूँ और स्वयं ही उसका उप संहार भी कर लेता हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"आपने कहा कि चार चार अधिक वर्ण होने से बहुत सी छन्दें बन जाती हैं, वे छन्दें कौन कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—"छन्द तो वैदिक लौकिक बहुत हैं, उनमें से गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती और विराट ये छन्दें बहुत प्रसिद्ध हैं। जैसे वर्णों का व्याकरण शास्त्र पृथक् है वैसे ही छन्दों का भी छन्द शास्त्र पृथक्। इसका यदि विस्तार किया जाय, तो

प्रसङ्ग बहुत बढ़ जायगा। यहाँ मेरा कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि शब्द ब्रह्म दुष्पार और दुर्बोध है, मैंने ही स्वयं इसे बढ़ाया है। मनुष्य जो बोले उसका रहस्य समझ ले, स्वर से बोले, उदात्त, अनुदात्त का विचार करे। यदि एक भी शब्द शुद्ध रीति से उच्चार करे। तो वही स्वर्ग लोकमें कामधेनु के समान सुखप्रद होता है। छन्दों के रूपमें ही कर्म, उपासना और ज्ञान का निरूपण वेदोंमें किया है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! समस्त झगड़ा तो इसी बात को लेकर होता है। कोई किसी ऋचाको कर्मकांड परक मानते हैं। दूसरे उसे उपासना परक तथा अन्य उसे ही ज्ञान कांड परक बताते हैं। इसका निर्णय कौन करे?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! यह मेरी बृहती वाणी कर्मकाण्ड में किसका विधान करती है। उपासना काण्ड में किसे कहती है तथा ज्ञान काण्ड में किसका अनुवाद करती हुई क्या विकल्प करती है यह बड़ा ही गूढ़ विषय है। इसे लोक में मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई भलीभाँति जानता ही नहीं।"

उद्धवजी ने कहा—"प्रभो! मुझे आप ही शिक्षा दें। यह बृहती वाणी किसका विधान करती है। किसका वर्णन करती है। किसके विषय में विकल्प करती है।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मेरे वेद वचनों का एकमात्र उद्देश्य मेरी प्राप्ति कराना है। वेदों के आदि में। मध्य में। अन्त में तथा सर्वत्र मेरा ही वर्णन है। अनेक रूपों में मेरा ही कथन किया गया है। कर्मकाण्ड की श्रुतियाँ जो भी विधान करती हैं। वे मेरा ही करती हैं। उपासना परक श्रुतियाँ उपास्य रूप से मेरी ही प्रशंसा करती हैं मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकांड में आकाशादि रूप से प्रथम मेरा ही आरोप किया जाता है और फिर अन्त में श्रुति मेरा ही बाध करती है। सारांश यह है कि

सब में सर्वत्र एकमात्र मैं ही मैं हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। शब्द ब्रह्म मेरा ही रूप है मेरा ही कथन करता है और मुझे ही भेद-भाव रहित सिद्ध करता है। सम्पूर्ण वेद का यही अर्थ है। यही भाव है। यही अभिप्राय है तथा यही यथार्थ अर्थ है। वेद एक मुझे ही अद्वय बताता है। मेरा ही आश्रय लेकर यह जो भेदभाव दिखायी देता है उसे माया मात्र बताता है। वह कहता है संसार में यह जो नानात्व दिखायी देता है। वह कुछ भी नहीं है। इस दृश्य प्रपंच में जितने पदार्थ उसे दिखायी देते हैं। सब के विषय में शंका करता है। क्या अन्नमय कोश ब्रह्म है? फिर कहता है नहीं यह ब्रह्म नहीं है।'फिर कहता है। प्राणमय है। मनोमय है। सभी को नहीं है। यह नहीं है ऐसा कहते कहते चुप हो जाता है। जहाँ चुप हो जाय वही मेरी सिद्धि है। वेद भी मेरा परोक्ष रूप से वर्णन करता है। क्योंकि मैं परोक्ष प्रिय हूँ। भेद की चरम सीमा पर पहुंचाकर वेद शान्त हो जाता है। अर्थात् संकेत से कह देता है। भेद की सीमा को पार करके पहुँच जाओ वही ब्रह्म है। कथोपकथन तो भेद में ही संभव है। अभेदमें तो कहना सुनना सब समाप्त हो जाता है। इसलिये जिज्ञासु को सर्व प्रथम तत्वज्ञान करना चाहिये।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! तत्व ज्ञान क्या?"

भगवान् ने कहा—"तत्व कहते हैं सार को। जैसे दुग्ध का तत्व है घृत। इसी प्रकार इस संसारमें बहुत सी वस्तुएँ हैं। पहिले तो दार्शनिक रूपसे इसकी मीमांसा करे। जब तत्व का निर्णय हो जाय। तो फिर इन सब तत्वों में परम तत्व क्या है इसे विचार करे। सर्वप्रथम तो यह संसार ही दीखता है प्रथम तो इसी का विवेचन करना चाहिये।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! तत्वोंके विषय में तो ऋषियोंमें भी बड़ा मतभेद है। आपने तो पीछे अट्ठाईस तत्व बताये हैं।

ईश्वर, जीव, महातत्व और अहङ्कार चार तो ये पृथिवी, जल तेज, वायु और आकाश पाँच ये। इस प्रकार चार और पाँच नौ हुए। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन इस प्रकार ग्यारह ये हुए। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श पाँच ये तन मात्रायें सत्व, रज और तम तीन ये गुण। इस प्रकार नौ, ग्यारह, पाँच और तीन सब मिलाकर अट्ठाईस तत्व हुए। उनका आप ने वर्णन किया मैंने उन्हें ध्यानपूर्वक श्रवण किया, किन्तु कोई छब्बीस ही तत्व बताते हैं, कोई कहते हैं पच्चीस ही तत्व हैं, कोई सत्रह तत्व बताते हैं तो, कोई सोलह कोई कहते हैं तेरह ही तत्व हैं। कोई ग्यारह ही कथन करते हैं, किसी के मत मे नौ ही तत्व हैं कोई सात ही बताते हैं, कोई छै ही सिद्ध करते हैं कोई कहते हैं नहीं केवल चार ही तत्व हैं यह तो बडी गडबड की बात है। साधक किसके वचन को सत्य माने, किसके वचन को असत्य माने। एक दो सख्या का मतभेद हो, तो उसका किसी प्रकार समाधान किया भी जा सकता है। किन्तु जहाँ इतने मतभेद हो, वहाँ जिज्ञासु क्या करे। कहाँ, चार कहाँ अट्ठाईस। आकाश पाताल का अन्तर है। प्रभो! तत्व ज्ञानी ऋषियो मे इस विषय पर इतना मतभेद क्यो है, वे किस अभिप्राय से इतनी भिन्न भिन्न सख्यायें बताते हैं। एक ही विषय पर उनमें इतना मतभेद क्यों है?"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव! यह मतभेद ऊपर से ही दिखायी देता है। ध्यान पूर्वक विचार करो। तो इस मतभेद में कुछ भी सार नहीं। सब एक ही बात को भिन्न भिन्न रूपों से कह रहे हैं। सौकहले या पाँचसौसी। बात एक ही है। अच्छी बात है, मैं तुम्हे इस मतभेद के रहस्य को समझाता हूँ। तुम सावधानी के साथ इस विषय को श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं--"मुनियो ! जिस प्रकार भगवान् तत्वों का समन्वय करेंगे उस विषय को मैं आगे कहता हूँ।

छप्पय

छन्दनि में ही भये व्यक्त सब भाव जगत के।
कर्म उपासन ज्ञान काड प्रकटित इतउत के॥
आदि मध्य अरु अन्त कह्यो हौं ही वेदनिमहँ।
हैं सब मायामात्र पदारथ सत् हौं इनिमहँ॥
तत्वनि को निश्चय करौ, परमतत्व कूँ पुनि लहौ।
उद्धव बोले तत्व कै, यदुनन्दन मोतें कहौ॥

———

॥ श्री हरिः ॥

श्रीब्रह्मचारीजी की कुछ अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँसे मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में, ५६ खण्ड छप चुके हैं) प्रति खण्डका मूल्य १।) , दस आना डाकव्यय पृथक् । १६।) में एक वर्ष के १२ खण्ड डाकव्यय रजिष्ट्री सहित।

२—श्री भागवत चरित—लगभग १००० पृष्ठकी, सजिल्द मूल्य ५।)

३—बदरीनाथदर्शन—बदरीनाथजीपर खोजपूर्ण महाग्रन्थ, मूल्य ५)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३४५ मू० २॥।)

५—मतवाली मीरा—भक्तिका सजीव साकार स्वरूप, मूल्य २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्धमें उठने वाली तर्कों का युक्ति पूर्ण विवेचन। मूल्य ॥)

७—श्री शुक—श्रीशुकदेवजीके जीवनकी झाँकी (नाटक) मूल्य ॥)

८—भागवती कथाकी बानगी—(आरंभके तथा अन्य खण्डोंके कुछ पृष्ठोंकी बानगी) पृष्ठ संख्या १२५ , मूल्य ।)

९—शोक शान्ति—शोक शान्ति करने वाला रोचक पत्र (पृ० ६४) इसे पढकर अपने शोक संतप्त परिवारको धैर्य बँधाइये। मूल्य ।-)

१०—मेरे महामना मालवीयजी और उनका अन्तिम संदेश—मालवीयजीके जीवनके सुखद संस्मरण। पृष्ठ १३० ; मूल्य ।)

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दू हिन्दू बन सकते हैं ? इसका शास्त्रीय विवेचन। पृष्ठ सं० ७५ मूल्य ।-) पाँच आना

१२—प्रयाग माहात्म्य—प्रयाग के सभी तीर्थों का वर्णन, मूल्य -)

१३—वृन्दावन माहात्म्य—मूल्य -)

१४—राघवेन्दुचरित—(भागवतचरितसे ही पृथक् छापा गया है) मूल्य ।(-

१५—प्रभुपूजा पद्धति—भगवान्की पूजा करनेकी सरल सुगम पद्धति मूल्य -)॥

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।

॥ श्रीहरिः ॥

[ब्रजभाषा में भक्ति भाव पूर्ण, नित्य पाठ के योग्य अनुपम महाकाव्य]

श्रीभागवतचरित

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धमावलम्बी हिंदुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषा में रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी; जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागोंमें विभक्त हैं, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल,सरस तथा प्रांजल छन्दोंमें गाया गया है। आज से लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ की तीन सहस्र प्रतियाँ छपी थीं, जो थोड़े ही दिनों में हाथों हाथ निकल गयीं। सैकड़ों नर नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत सर पंडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ की पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़े की टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उस पर रंग न कवरपृष्ठ है। बाजार में ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मगाकर अपने लोक परलोक को सुधार लें। न्योछावर केवल ५।) सवापाँच रुपये, डाकव्यय पृथक्।

७६६१

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग

विषय सूची

अ० संख्या	विषय	पृष्ठ सं०
१३०१	—तत्वों की संख्या में मतभेद का कारण ...	१
१३०२	—प्रकृति पुरुष विचार	१४
१३०३	—हरि विमुखों की गति	२३
१३०४	—सत् असत् विवेक	३७
१३०५	—एक कृपण की कहानी	५०
१३०६	—कृपण को वैराग्य	६४
१३०७	—कृपण सन्यासी की सहनशीलता ...	७९
१३०८	—भिक्षु गीत आरम्भ	९१
१३०९	—देह देह को दुख नहीं देती	१०१
१३१०	—कभी भी कोई किसी का दुख नहीं दे सकता	१०६
१३ १	—सांख्य विधि से सृष्टि	११५
१३१२	—सांख्य विधि से प्रलय	१२७
१३१३	—तीनों गुणों की वृत्तियाँ	१३६
१३१४	—गुणों का सन्निपात और उनका स्वरूप ...	१४४
१३१५	—त्रिगुणात्मक जगत और इससे तरने का उपाय	१५४
१३१६	—ऐल गीत	१६८
१३१७	—संत समागम माहात्म्य	१८२
१३१८	—क्रिया योग का उपदेश ...	१९
१३१९	—अग्नि आदि मे पूजन ...	

गो-सेवाव्रत का उपसंहार

(भूमिका)

देवेऽवर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मवर्षानिलैः ।
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन् ॥
उत्पाट्यैकं करेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा ।
बिभ्रत् गोष्ठमपान्महेन्द्र मदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० २६ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

गाय न यदि अब बचीं दुरदशा जग की होई ।
गाय गाय हम कहें गाय की सुनत न कोई ॥
गायनि की लखि विपति सपदि मम हियो हिलत है ।
गाय हमारी माय हाय ! नित छुरी चलत है ॥
गाय इन्द्र गोविन्द ! तुम, रहे न का नँदलाल हो ?
गाय कटति नित अवनि पै, कैसे तुम गोपाल हो ?

जिस स्थान मे गौओं का वध होता हो, उस स्थान से दश दश कोश तक न तो कोई वैदिक तान्त्रिक मन्त्र ही सिद्ध हो सकता है,

---

*अपने वार्षिक यज्ञ के भग हो जाने से कुपित हुए इन्द्र जब घोर वर्षा करने लगे उस समय समस्त व्रज वासियों को स्त्री और गौओं के सहित ओलों के बौछारों तथा प्रचड पवन से पीड़ित होने के कारण अपनी शरण म आये हुए देखकर जिन श्री कृष्णचन्द्र जी ने उन सब पर कृपा करने के निमित्त हँसते हँसते ली । पूर्वक एक ही हाथ स

न जप, तप, पूजा, पाठ अनुष्ठान ही सांगोपांग पूर्ण हो सकता है। जिस देश ने गोवध को मान लिया वहाँ आध्यात्मिकता रह ही नहीं सकती। आध्यात्मिकता के मूल कारण हो ही हैं, वेदवित् ब्राह्मण और कामधेनु गौ। ब्राह्मण ज्ञान को—वेद को-धारण करती हैं। गौएँ यज्ञ की हवि को धारण करती हैं। आत्मा को पुष्ट करने वाला ज्ञान और यज्ञ को पूर्ण करने वाला हवि। जहाँ ज्ञान नहीं यज्ञ नहीं, वहाँ हाय रोटी, हाय हाय बुभुक्षा, लाओ रोटी पेट भरो यही एक रटन है। रोटी की कोई सीमा नहीं मर्यादा नहीं, बुभुक्षा की सीमा नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के खाद्य पदार्थ मिलने पर भी बुभुक्षा शान्त नहीं होती, विश्व ब्रह्माण्ड को निगल जाने पर भी पेट नहीं भरेगा। इच्छा कभी पूर्ण न होगी, तृष्णा कभी शान्त नहीं होगी, भोगों से कभी तृप्ति न होगी। होगा क्या? कलह, अशान्ति, संघर्ष, ईर्ष्या, जलन, एक दूसरे को नष्ट करने की इच्छा। यह सब होगा उन्नति के नाम पर। क्योंकि "अधर्मं धर्मइति मन्यते तमसावृता।"

बड़ी इच्छा थी जीवन में भगवत् प्राप्ति की कुछ देश धर्म की सेवा करने की, सो हुई नहीं। मन में एक भावना है। वेदना है, या अंधपरम्परा है कि देश से गोवध बन्द हो जाय। भारत मे भारतीय शासन हो और फिर भी गोवध चालू ही रहे। इससे बढ़कर दुःख, लज्जा, आश्चर्य और खेद की कौन-सी बात होगी देश से गोवध कैसे बंद हो? यह काम उनका है जिनके हाथ में देश का शासन सूत्र है। जिनके हाथ में शासन सूत्र है, उनके हृदय

गोवर्धन पर्वत इसी प्रकार उठाकर धारण कर लिया जिस प्रकार छोटा बच्चा छत्राक (कुकुरमुत्ता) को उठाकर धारण कर लेता है, इस प्रकार जिन्होंने समस्त व्रज की रक्षा की वे ही इन्द्र के मद को चूर्ण करने वाले गौओं के इन्द्र गोपाल गोविन्द हम पर प्रसन्न हों।"

में भारतीय परम्परा के प्रति सम्मान नहीं। आर्य संस्कृति के प्रति आदर नहीं, धर्म के प्रति प्रेम नहीं, भारतीयता का गौरव नहीं। वे पश्चिमीय शिक्षा दीक्षा में दीक्षित हैं, उनके लिये गंगाजल साधारण पानी है, पीपल सामान्य वृक्ष है, वेद असभ्यता के अवशेष हैं। गौ साधारण पशु है धर्म सब धर्म नहीं केवल हिन्दु धर्म एक अवनति तथा कलह का कारण है। उससे निरपेक्ष रहना उसे मटियामेट कर देना यही उन्नति का मूल है। छल से, बल से, कपट से, माया से किसी भी प्रकार शासन सूत्र को अपने हाथों मे रखना यही उनका ध्येय है।

कलि अधर्म का बन्धु है, उसके प्रभाव से सर्वसाधारण मे भी धर्म के प्रति अनुराग नहीं। सर्वसाधारण तो लगुड से चलने वाले है उनका शासक उन्हें चाहे जिधर ले जाय। जनमत की तो एक ओट है पहिले निरकुश शासको को ऋषि मुनि तपस्या क बल से मना लेते थे। आज हममें तप बल भी नहीं रहा। स्वधर्म पालन मे हम उदासीन हो गये, सदाचार से हम हीन हो गये, इसलिय वाणी मे वह ओज तेज नहीं रहा। परान्न पापान्न खाते खाते हमार हाथ दग्ध हो गये, परनिंदा करते करते वाणी कुंठित हो गयी। मातृजाति को कामिनी रूप में निहारने से हम दृष्टिहीन हो गये फिर कैसे किसी पर हमारा प्रभाव पडे, कैसे लोग हमारी बात मानें। फिर भी मन मानता नहीं कुछ न कुछ होना चाहिये।

गो-हत्या कैसे बद हो, यह प्रत्येक भारतीय की भावना है कोई उसे व्यक्त नहीं कर सकते। जो कुछ करते हैं, वे द्वेष माल ले लेते हैं, निरतर दूसरों के दोषा का ही गान करत है, 'इसस यह' भावनामूर्त रूप धारण नहीं कर सकती। जीवन याद सदाचार पूर्ण हो, हम स्ववर्ण स्वधर्म, क अनुरूप आचरण कर सकें तो

कोई भी शक्ति हमे रोक नहीं सकती। उसी के अभाव मे यह सब गडबडी है।

गोहत्या निवारण के निमित्त अनशन की सोची-उसके लिये साहस नही हुआ। लोगो की सम्मति का तो बहाना है, जिस के हृदय मे प्रबल भावना है, वह गौओं की हत्या को देख सुन कर क्षणभर भी जीवित न रह सकेगा। किन्तु हमारी छिपी भावना यह है—हमारा नाम हो। सब लोग हमे जान जायँ हमारा नेताओ मे नाम लिख जाय। इसी भावना से काम हम लोग करते हैं। भगवान् उसे पूरा कर देते हैं, कल्पतरु भगवान् सब के घट की जानते हैं।

हाँ तो अनशन वाली बात तो स्थगित रही। अब सोचा गो सेवा व्रत करें। १०८ दूध देने वाली गौओं को रखकर वर्षा के चार महीने उनकी सेवा करें पीछे योग्य पात्रो को उन्हें दान कर दें। ऐसा सकल्प गत माघमास मे उठा। वैशाख में एक घटना घटित हो गयी। हमारे यहाँ भरवारी सिराथू तथा प्रयाग के आसपास के स्टेशनो से सहस्रा गौएँ कटने को कलकत्ते ले जायी जाती हैं। उनमे कुछ तो क्रय की हुई होती हैं कुछ चोरी की। वधिक-कसाइयो-के दलाल लगे रहते हैं जिनमे कुछ हिन्दु नामधारी पापी भी सम्मिलित हैं, वे नगरों मे जगलो में इधर उधर छूटी हुई गौओं को पकड कर ट्रक मे लादकर ५०। १०० मील के स्टेशनों पर छोड आते हैं। कसाई लोग स्टेशन के कर्मचारियों को कुछ ले दे कर तत्काल डिब्बा लेकर उन्हे रेल मे भरकर कलकत्ते कसाई खाने में भेज देते हैं। जहाँ रेल में भर गयी। फिर कौन पूछता है। गो का स्वामी १०।२० दिन फटफटाता है घूमता है। अत में चुप बैठ जाता है। पहिले गौएँ स्वतन्त्र घूमा करती हैं, अब भी प्रयाग, काशी, कानपुर आगरा आदि

बडे बडे नगरों मे बहुत सी गाये ऐसे ही दिन रात्रि घूमती हैं। बधिक उनको चुराकर उससे लाभ उठाते हैं।

ऐसी ही ३० गौएँ चोरी के सदेह पर प्रयाग स्टेशन पर पकडी गयीं और वे रोक ली गयीं। उनकी सेवा का भार अनायास ही अपने सिर आया। जिस समय वे तीन चार दिन की भूखी प्यासी गौएँ रेल के डिब्बों से उतरीं उस समय की उनकी दशा को देखकर वज्र हृदय पुरुष का भी हृदय बिना पिघले नहीं रहा। वे फाटक खुलते ही अपने आप कूद पडीं। हम उन्हें यमुना जी मे लाये, सब ने ४-/-५-५ बालटी पानी पिया यमुना जी मे स्नान कराया, चारा दिया। एक दिन मे ही वे हमारे परिवार में सम्मिलित हो गयीं हमें पहिचानने लगीं। एकगौ तो जिस दिन आई उसके प्रातः ही ब्याइ पडी। हम सब ने उसका नाम रखा वत्सला। वह अपने बच्चे को अत्यधिक प्यार करती थी आषाढी पूर्णिमा से हमारा गो सेवा व्रत आरभ हुआ। उसमें नियम था, कि गौ से प्राप्त ही सब वस्तु खाई जायँ गौ का दूध गौघृत दधि मठा पर ही रहा जाय जिसे अन्न खाना हो गो को जौ खिलाकर उसके गोबर मे से जो दाने निकले उन्हे ही खाय। श्री राम स्वरूप दास जी तथा कुछ मातायें ऐसे ही अन्न को खाते थे। मैं बहुत वर्षों से अन्न खाता ही नहीं हूँ, फलाहारी अन्न-कूट लेता हूँ। कोई गौ खडा साबित कूट-खाती ही नहीं थी। एक वत्सला ही प्रेम से कूट खाने लगी। उसी के गोबर में से जो कूट के दाने निकलते वे ही मेरे भगवान् के भोग के काम में आते। इस प्रकार वत्सला का नाम कूटवाली गौ' भी पड गया।

१०८ दूध देने वाली गौएँ तो प्राप्त न हो सकीं। हमने ऐसी बहुत चेष्टा भी नहीं की। अनायास अपने सहयोगी बन्धुओं के द्वारा ५० के लगभग गौएँ और आईं। छोटी बडी सब मिलाकर

सवा सौ से अधिक गौएँ हो गयीं। गो सेवा व्रती भी अधिक नहीं आये जैसा कि हमने समझा था। फिर भी ८-१० तो हो गये। राम स्वरूपदास जी के साथ-गंगादास जी रामदास जी, रामकमल दास जी तीन थे, श्री भागवतानंद जी और मौनी फलाहारी आन्ध्र के राजू तथा दो चार ऐसे भी थे जो कुछ समय ही रहे इस प्रकार गो सेवाव्रत आरंभ हुआ। शीघ्रता में गोशालायें चार ही जल के नल पानी की चार ही सब बनवाई गयीं। देवशयनी एकादशी से व्रत आरम्भ हुआ। हमने सुविधा के लिये टाट पहिनना आरंभ कर दिया। बाँस के छाते मँगाये तथा उड़ीसा बंगाल में बाँस के टोप जैसे होते हैं। वे मँगा लिये। जैसे हमारी भावना थी कि चौबीसों घंटे गौओं की सेवामें ही संलग्न रहेंगे, समस्त सेवायें स्वयं करेंगे गौओं के बीच में ही पड़े रहेंगे। उनके जाने पर जायेंगे आने पर आवेंगे। वैसी सेवा तो हम कर नहीं सके। यथार्थ में सेवा तो बनी ही नहीं। इतना ही हुआ ६।७ महीने गौओं के बीच में गौशाला में पड़े रहे गौओं को देखते रहे। इसे गो सेवाव्रत न कह कर गो-ईक्षणव्रत कहा जाय तो उपयुक्त होगा। कुछ भी हो वे दिन सुन्दर बीते। अब उनकी याद करके हृदय में हूक-सी उठती है। कैसे प्यारे प्यारे दिन थे वे। गौओं के ही मध्य में रहना उन्हीं के विषय में सोचना उन्हीं का ध्यान करना। अब वे दिन स्वप्न से हो गये।

प्रातः चार बजे ही गौशाला में कोलाहल मच जाता। उठो, सानी लाओ, भूसा क्यों नहीं भिगोया, वह अभी तक सोता ही है, बिजली क्यों नहीं जली। उस सेवक का पता नहीं, गोबर अभी तक नहीं उठा कई महिलायें गोबनी थीं। सबसे पहिले गोबर उठाने को वे ही आतीं। दिगंबर बाबा नौका में रहते वे सोचते सबसे पहिले मैं ही गोबर उठा डालूँ। तीन बजे ही वे

बिना वस्त्र के आकर गोबर उठाने लगते। होड़ लग जाती। सूर्योदय के बहुत पहिले सभी गौओं का गोबर उठ जाता। फिर दुहने का लग्गा लगता। दूध मे बड़ी चखचख। नगर भर मे हल्ला मच गया वहाँ तो मनो दूध होता है, जो चाहो पीओ। दूध के लिये नित्य वहा सुनी, नित्य ही चखचख, मट्ठा माँगने वालो की भीड़, वह एक दर्शनीय दृश्य था। कहने से उस दृश्य का चित्र चित्रण हो नहीं सकता। वह तो देखने की ही वस्तु थी। कुछ व्रतियों के साथ वैतनिक सेवक गौओं को खोलकर चराने ले जाते, हम पूजा करके पीछे से जङ्गल में चराने के स्थान पर पहुँचने।

कभी वट के नीचे बैठते, कभी आम्र के और कभी महुए के। अधिकतर तो महुए के नीचे ही बैठक होती। गो रक्षण के साथ कृषिका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। कृषि न हो तो गो रक्षण हो ही नहीं सकता। अतः रेल के किनारे किनारे जो रेलवे की परती भूमि पड़ी थी, उसमें पचासों बाघे हमने बाजरा की खेती भी कर ली थी। उन सब खेतों को देखते देखते हम गौओं के बीच मे मधुपवन में पहुँचते। वहाँ कथा होती। तभी तक उर्मिला आदि दूध, मठा लेकर पहुँच जाती। सभी समुपस्थित श्रोता, सेवक, दर्शक मट्ठापान करते कोई दूध पीते। मट्ठा बढ़ाने में तो कोई असुविधा थी ही नहीं। नमक बढ़ाते चलो, दैदनादन पानी जब तक सफेदी रहे पानी बढ़ाते रहो। सायकाल वहीं वन मे कथा होती, कीतन होता। रेलका किनारा होने से-स्टेशन के संनिकट होने से-प्रयाग से भी प्रायः नित्य बहुत से दर्शक आ जाते थे। एक कुतूहल था। चलो देखें ब्रह्मचारी जी कैसे गौ चराते हैं, टाट पहिन कर लकुटि लेकर बाँस का छत्ता लगाकर वे कैसे लगते हैं। नंगा रहने से शरीर काला पड़ गया था, दुर्बल भी होगया था, किन्तु मन मे मोद था, खेद यही था कि यह सेवा नहीं ढोंग हो रहे हैं। शरीर

से गौओं की सेवा तो कुछ होती नहीं। चराने वाले चराते हैं हम तो वन में वृक्ष के नीचे बैठकर बातें बनाते रहते थे, आज्ञा चलाते रहते थे।

सायंकाल को गौओं के पीछे पीछे आते थे, वह शोभा अवर्णनीय थी। फिर दुहो फिर बाँधो चलियो रे, लइयोरे वह बछड़ा पी गया, उस गौ ने दूध नहीं दिया। रात्रि ९-१० बजे तक यही हल्ला मचा रहता था।

सब गौएँ चरने गयीं, किन्तु वत्सला ने पैर नहीं रखा उसे मार पीटकर जैसे तैसे ले जाओ, तुरन्त भागकर आश्रम में आ जायगी। सोचा वत्स के प्रेम के कारण न जाती होगी, एक दिन मैं उसे बाँधकर ले गया साथ में उसकी बछिया को भी छोटी छोटी दो लडकियाँ बछिया को पकडे हुए थीं। वत्सला ने सत्याग्रह कर दिया चार डग चले फिर भाग खड़ी हो, फिर दौडकर पकडे वह सिंहनी की भाँति फुफकार छोड़े। बच्चे को छोडकर भी भाग जाय। उस दिन से नियम ही हो गया वत्सला आश्रम के बाहर न जायगी उसके साथ १०। २० गौएँ और भी आश्रम में ही रहने लगी।

हमारी खेती उपज आई थी, अब हमारे लिये कौतूहल हो गया, कितनी खेती बढी आज के अंगुल की हो गयी। एक बार सभी खेतों पर चक्कर लगा आना, उन्हें निराना देखना, पशुओं से रक्षा करना।

बहुत ही छोटी अवस्था में मैं घर छोड आया था। घर पर तो गो पालन खेती की नहीं। कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं था साधुवेष बनाने के पश्चात् भी कृषि, गो रक्षा और वाणिज्य भी करना पडेगा किन्तु भावी को कौन मेट सकता है, प्रारब्ध को

अन्यथा करने की शक्ति किसमें है। यद्यपि वह एक प्रकार का खेल ही था। खेत कुछ अपने नहीं थे, गौएँ भी सेवा के लिये रखी थीं पुस्तकों का व्यापार भी कुछ व्यापार की दृष्टि से नहीं है, फिर भी काम तो सब वे ही हैं।

हमारी खेती बढने लगी, गौओं का वंश भी बढने लगा साथ ही हमारा उत्साह भी बढने लगा। बिना पैसा के कार्य आरम्भ कर देना यह मेरे कोई नक्षत्र मे ही है, चिन्ता रहती तो यही कि आज चूनी नहीं आज खला नहीं आज चारा नहीं। जब भी गाडी अटकती भगवान् कहीं न कहीं से भेज देते। ऐसे कार्तिक शुक्ला गोपाष्टमी तक बडी धूमधाम से यह नाटक चला। गोपाष्टमी के दिन प्रयाग नगर में गाया की शोभा यात्रा निकली। वह दृश्य तो अवर्णनीय है। समाचार पत्र वालो ने यही लिखा कि प्रयाग मे जैसे भरतमिलाप का दृश्य होता है वैसा ही था।

देवोत्थान से गायों का दान आरम्भ हुआ। बहुत देखकर पहुँच परिचय प्राप्त करके, उनसे प्रतिज्ञा कराके कि गौओं को बेचे नहीं। दान देते। इस प्रकार यह क्रम माघ तक चलता रहा। कार्तिकी पूर्णिमा के पश्चात् बहुत से गो सेवक तो व्रत समाप्तकरके चले गये, किन्तु मैं गौशाला मे ही रहा और माघ की पूर्णिमा को जब महाकुम्भ का उत्सव समाप्त हो गया तब अपनी कुटिया मे आया। गौएँ अब भी ५० । ६० शेष थीं। इस भय से किसी को देने का साहस भी नहीं पडता था कि सेवाभाव तो लोगों में रहा नहीं–दूध वाली गौओं को तो सब छाँटकर ले गये, अब बिना दूध की या ऐसी वैसी रही हैं उन्हें किसी को दे दे तो वे इर फिर कर कसाइयों के ही हाथों पड जायँगी। बहुत से दूध न देने वाली गौ को बेचते तो हैं नहीं वैसे ही छोड देते हैं। उन्हे भी कसाई चोरी से–या पशु कारावास–कानी हाउस के द्वारा ले जाते हैं।

महाकुम्भ के अवसर पर गो प्रदर्शिनी, गोहत्या निरोध सम्मेलन हुआ। उसमें सरकार को चेतावनी दी गयी कि यदि उसने जन्माष्टमी तक वैधानिक रूप से गोहत्या बंद न की तो हम इसके लिये प्रबल आन्दोलन करेंगे कुछ सक्रिय सत्याग्रह आदि करेंगे। अपने मे उतनी आध्यात्मिक शक्ति नहीं कि यहाँ बैठे बैठे सभी को प्रेरित कर दें, इसलिये जन जागरण के लिये सभी प्रान्तो मे जाना आवश्यक हुआ। इसीलिये कुंभ मेले के पश्चात् ही महाशिवरात्रि के दो दिन पूर्व हम यात्रा के लिये निकल पड़े।

यद्यपि मेरा ऐसा नियम सा था कि प्रायः तीर्थयात्रा के ही लिये कहीं जाना। नेतागीरी करने किसी उत्सव आदि में जहाँ तक हो न जाना। तीर्थयात्रा प्रसङ्ग मे कहीं उतरना हो उतर पडे। हमारे यहाँ तो कोई ऐसा प्रात नहीं जिसमें तीर्थ न हों। भारत भूमि में पग पग पर तीर्थ हैं, इसलिये अबकी यात्रा में तीर्थों का लक्ष्य अवश्य रहा किन्तु मुख्य उद्देश तो गोरक्षा के लिये जन जागरण ही था। यहाँ से पटना, नैपाल, रिक्सौल, सीतामढी, जनकपुर, मुजफ्फरपुर, पटना, आरा, गया, और भागलपुर, इतने तो बिहार के मुख्य मुख्य स्थानो मे गये। बगाल मे कलकत्ते मे ही रहे; आसाम मे गोहाटी, शिलाग, कामाख्या, डिब्रूगढ और तन सुखिया वायुयान से गये। उत्कल उडीसा प्रान्त में श्री जगन्नाथ पुरी, साक्षीगोपाल, भुवनेश्वर, कटक, संभलपुर, और झार छोकरा में गये। फिर कलकत्ते से कानपुर होते हुए परसों प्रयाग पहुँचे।

कहाँ गोपाल का जीवन कहाँ आधुनिक जन्तु नेता का तूफानी दौरा आकाश पाताल का अंतर। वैसे तो परमज्ञानी परमहंस तथा भगवत्भक्त को छोड़कर ऐसा कौन होगा जिसे कीर्ति प्रतिष्ठा

तथा नाम की आकांक्षा न हो। किन्तु मैं सत्य कहता हूँ इस प्रकार की नेतागिरी की दौड़धूप और अशान्ति कर जीवन मुझे प्रिय नहीं है। जैसे किसी का अर्श-बवासीर-का रोग हो और शौचालय दुर्गन्ध पूर्ण हो, फिर भी उसे इच्छा न रहने पर नाक मूँदकर बहुत काल तक शौचालय मे बैठा ही रहना पडता है, उसी प्रकार मुझे भी विवश होकर प्रारब्ध वशात्-ये सब बाह्य प्रवृत्ति और प्रपंच के कार्य करने ही पडते हैं न भी करना चाहूँ, तो मन मानता नहीं अवश हूँ, विवश हूँ कोई बलपूर्वक कराता है। यदि यह मेरा दस्यु लुटेरा कीर्ति लोलुप मन है तब तो नीचे ले जायगा और यदि इसमें प्रभु प्रेरणा है तो जो भी उनकी इच्छा हो।

भागवती कथा के पाठक पाठिकों का मेरे ऊपर बडा रोष है, कि तुम अब 'भागवती कथा' की ओर से उदासीन हो गये हो आगे के खंड छापते नहीं। उनसे मेरा निवेदन है, कि भागवती कथा आर्थिक संकोच के कारण नहीं छपती। वास्तव में हमा दिवाला निकलने वाला था, हमने लज्जा के कारण उसे घोषित नहीं किया, किन्तु भगवान् ने हमारी लाज रखली दिवाला निकलते निकलते रह गया। अब हमने ६० खंडों तक छापने का प्रबन्ध कर लिया है। बहुत संभव है ५६, ५७, ५८, ५९ और ६० ये चारों खंड एक साथ ही पाठकों की सेवा में पहुँचे साठ खण्डों मे 'भागवती कथा' परिपूर्ण हो गयी। कथा भाग सर्वथा समाप्त हो गया। अब रह गया दर्शन भाग।

यदि गौमाता ने मेरा बलिदान स्वीकार कर लिया और मेरे शरीर का अन्त हो गया तो पाठक इतने से ही संतोष करलें ६० भाग बहुत होते हैं और कथा में भी प्रसङ्गानुसार सभी ज्ञान भक्ति तथा दार्शनिक सिद्धान्त आ ही गये हैं। यदि गौमाता ने मेरा बलिदान स्वीकार नहीं किया और शरीर रहा-भगवान् ने

फिर इसी पचडे मे रखा तब तो आगे के खण्ड क्रमशः निकलते ही रहेंगे। प्रेस का विस्तार होने से आशा है आगे उतनी आर्थिक कठिनाई भी न रहे। किन्तु आर्थिक कठिनाई तो तब तक रहेगी जब तक इसके ग्राहक न बढेंगे। ग्राहक बनते हैं प्रचार से विज्ञापन से दौडधूप से वह मेरा काम है नहीं। मैं किसी से कहूँ तुम मेरी लिखी पुस्तकें पढो ग्राहक बनो तो यह लज्जा की बात है मुझसे होगा भी नहीं अच्छा जो भगवान्‌को करना होगा वही होगा, आगे की क्या सोचे। पाठक यही सतोष करें कि भागवती कथा भाग लिख गया और मेरे जीवन मे ही वह छप भी गया आगे की किसने देखी है।

मैं युक्त पुरुष नहीं सुखी नहीं युक्त तो इसलिये नहीं कि मैं काम क्रोधोद्भव वेगों को रोकने मे समर्थ नहीं। सुखी इसलिये नहीं कि जैसा सदाचार पूर्ण भक्तिमय प्रेममय जीवन बिताना चाहता हूँ, वैसा बिता नहीं पाता * उसकी छाया भी नहीं। जीवन मे तितिक्षा नहीं भोग लालसा है पूर्ण सत्यता नहीं। दम्भाडंबर है। दृढ भगवत् विश्वास नहीं। आँख मींचकर मझधार मे उन्हीं के सहारे नौका छोड दी है। अनुकूल विपरीत परिस्थितियो से हृदय धक धक करता है, किधर वहा ले जायँ, किस किनारे पर ले जाकर वे लगावें, वे ही जाने। परन्तु इन बातों से भागवती कथा के पाठकों से क्या प्रयोजन। यह मेरा पुराना रोना है—राज-

---

* शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
काम क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः
(गीता)

रोग है।

गौएँ अब भी छोटी बडी ५० के लगभग थीं। न रहने पर उनकी चिन्ता रहती। इसीलिये अबके मीचे कानपुर की गोशाला जो कानपुर से १० मील दूर—भौंतीग्राम में—अवस्थित है। वहाँ

प्रबन्ध मुझे संतोषजनक दिखायी दिया कई सौ बीघा खेती होती है, दुग्ध का भी समुचित प्रबन्ध है, इसीलिये गौओं को वहाँ भेजने का निश्चय किया। जिस दिन गाएँ आईं थीं उस दिन आते ही वत्सला बछिया से ब्याई अब जब गौएँ विदा होने लगी तब भी दुबारा वत्सला बछिया से ब्याई।

कल पाँच ट्रक मँगायी छोटी बडी लगभग ४० गौओं को लादकर कानपुर को विदा किया। विवाह कर परिवार मे से जैसे लडकी विदा होने पर संपूर्ण घर सूना सूना दीखता है वैसे ही आज आश्रम सूना सूना दीख रहा है, हृदय भर रहा है। आश्रम में रहने वाले ८-१० गौओं को छोडकर सब चली गयीं एक दिन सभी को जाना है सभी से विछोह होना है। सदा साथ कौन रहेगा। राजाओं के राज्य चले गये, जमींदारो की जमींदारी चली गयीं कभी इन मत्रियों का मंत्रीपन भी चला जायगा। ये भी कभी ऐसे ही मारे मारे फिरेंगे। इस सदा चलते रहने वाले संसार मे स्थायी क्या है। धर्म स्थायी है। जो धर्म कर लेगा। सभी धर्मों की मूलभूत गौकी जो जितनी ही अधिक सेवा कर लेगा, उसके लिये प्राणों का उत्सर्ग कर देगा वही उसका रह जायगा, नहीं यह शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है। भगवान् करे हमारे द्वारा किसी का अहित न हो, सभी कुशल से रहे, गौओं का रक्षण हो, देश से गोवध बन्द हो। यही मेरी राम कहानी है, यही गो सेवा व्रत का उपसंहार है। अब भाग्य कहाँ ले जाता है, कहाँ कहाँ की ठोकरें खानी शेष हैं। कारावास मे जाते हैं या गोली से मरते हैं इसे गोपाल ही जानें।

यशोदा मैया ! पूतना से भयभीत कृष्ण की तुमने गोरज और गो पुच्छ से गोविन्द के नाम ले लेकर रक्षा की थी। माँ कृष्ण को तो दबाया नहीं था झूठमूठ तुम्हें संदेह ही हो गया था, किन्तु इस वासनारूपी डाइन ने मुझे तो सचमुच ही दबा रखा है। माँ गौ पुच्छ से मेरी भी रक्षा कर दो मेरे अङ्गों को भी गोरज से

स्नान करा दो मुझे भी अभय बना दो। कहाँ हो मैया! आ जाओ। गैया आज दुख पा रहा है, तड़प रही है, बिलबिला रही है। उनकी ओर भी देखो और इस नीच वासनापूर्ण बालक की भी ओर निहारो।"

छप्पय

यशुमति मैया! आइ अबमकूँ अबसि उबारो।
भर वासना बीज तिनहिँ अब जननि निकारो॥
मैया! गैया बचें सबनि की रक्षा होवै।
भारत धेनु कलंक कालिमा सब अब धोवै॥
यशदा! धनदा! बुद्धिदा, माता हिय चिपकाइलै।
कटीं बहुत दिन गाय अब, गोवध-बंद कराइलै॥

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग) { वत्स-
चैत्र-कृष्णा १०। २० १० वि० { प्रभुदत्त

तत्वों की संख्या में मतभेद का कारण ।

(१३०१)

परस्परानु प्रवेशात्तत्वाना पुरुषर्षभ ।
पौर्वापर्यप्रसख्यान यथा वक्तु विवक्षितम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २२ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

अट्ठाइस प्रभु कहे तत्व कछु चार बतावै ।
कछु नौ, छै, छब्बीस, सात, पच्चीस गिनावै ॥
क्यों इतना मतभेद रहस का जाके भीतर ।
उद्धव शङ्का सुनी विहँसि के बोले यदुवर ॥
विज्ञ विप्र जो कछु कहैं, युक्ति युक्त सब तात है ।
मेरी माया मह कहो, कौन असंभव बात है ॥

जितने वाद विवाद हैं सब अज्ञान जनित हैं। लोग कुछ से कुछ समझ लेते हैं इसीलिये लडने लगते हैं। किसी से कहो मेरे पिता की पत्नी, तो वह लडने लगेगी उसी से कहो माता जी तो

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं—"हे पुरुषों में श्रेष्ठ उद्धवजी ! ये सब तत्व परस्पर में मिले जुले रहते हैं, इसी कारण कहने वालों को जिस प्रकार बताना अभीष्ट होता है, उसी के अनुसार कार्य कारण भाव से अथवा इच्छानुसार न्यून अधिक मानने के अभिप्राय से तत्वों की संख्या में इस प्रकार की विभिन्नता दिखाई देती है। यह वास्तविक है नहीं।"

प्रसन्न हो जायगी। किसी को कहो मेरे बहनोई की साली तो अप्रसन्न होगी, उसी से कहो बहिन जी तो प्रसन्न हो जायगी। वास्तव में दोनों का अर्थ एक ही है किन्तु शब्दों के कारण भ्रम-वश क्षोभ हो जायगा, और इसी बात पर लाठी चल जायगी मार पीट हो जायगी।

किसी घर में अपने परिवार के दश आदमी हैं किसी ने पूछा —"आप इतने एक ही घर में क्यों हैं ?"

उनमे से एक कहता है—"दूसरा कोई है ही नहीं।"

वास्तव मे वहाँ एक आदमी दश हैं, वह कहता है कोई दूसरा है ही नहीं। अब लड़ने वाला कहे—"तुम तो झूठ बोलते हो, यहाँ तो दश आदमी हैं, तुम कहते हो कोई दूसरा नहीं।" यह उसके समझने का अन्तर है। यहाँ दूसरे का अभाव बताने से तात्पर्य यह है कि कोई अन्य नहीं है। हम सब एक ही परिवार के घरके लोग हैं। उसने दशों का समावेश एक में ही कर लिया। एक स्थान पर गौ का दही, गौ का घृत तथा गौका मठा रखा है। एक ने पूछा—"यहाँ कितनी वस्तुएँ हैं।"

दूसरे ने उत्तर दिया—"यहाँ तो गव्य है।" अब वह लड़ने लगे कि तुम असत्य भाषण कर रहे हो। एक ही गव्य वस्तु बता रहे हो यहाँ तो दूध, दही, घृत तथा मट्ठा चार वस्तुएँ हैं, यह तो उसके बुद्धि कोनिर्बलता है।'कहने वाले ने तो गव्य कहकर दूध दही घृत आदि गौ से उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं का एक मे ही समावेश कर दिया, किन्तु वह इसे बिना समझे झगड़ा करता है। चार कहकर अपने ही मत को पुष्ट करने में एक कहने वाले को झूठा बताता है। इसी प्रकार जितने वाद विवाद झगड़े टंटे होते हैं, केवल बिना समझे बूझे अज्ञान वश होते हैं। यदि सब मे एक तत्व का जिसे बोध हो जाय, वह इन व्यर्थ की बातों में अपना समय व्यर्थ नष्ट क्यों करेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से तत्वों के विषय में इतना मतभेद क्यों है ?"यह प्रश्न किया तब हँसते हुए भगवान बोले—"उद्धव ! तुम्हें जो मतभेद दिखायी देता है वह ऊपर से ही है, यदि तुम ध्यान पूर्वक देखो तो मतभेद नहीं है।'

उद्धवजी ने कहा—"मतभेद तो महाराज ! स्पष्ट ही दिखायी देता है कोई अट्ठाईस बताते हैं, कोई छब्बीस कोई पच्चीस कोई नौ, छै, चार तथा कोई सोलह सत्तरह तेरह बताते हैं।

भगवान् ने बात पर बल देते हुए कहा—"भैया ! ऋषिगण जो भी बताते हैं सब युक्ति युक्त है सब ही यथार्थ है। जितने भी तत्व हैं, सब मे सर्वत्र अन्तर्भूत हैं, किसी ने किसी मे मिला दिया किसी ने किसी मे। बीस प्रकार के शाक हैं। किसी ने सभी को एक मे मिलाकर बना दिया, तो लोग कहते हैं केवल एक शाक' बना था और रोटी। दूसरे ने आलू बेगन एक में मिला दिये, इसी प्रकार दो दो शाक एक में मिलाकर बना दिये उसके लिये दश प्रकार के शाक हो गये। किसी ने बीसों को पृथक बनाया बीस हो गये। इसी प्रकार सब तत्व सर्वत्र अन्तर्भूत हैं। किसी ने किसी मे मिला दिया किसी ने किसी में। भैया, मेरी माया के लिये कुछ दुर्घट नहीं। मेरी माया मे सब संभव है। माया के आश्रय में सभी कुछ कहा जा सकता है। माया का अर्थ ही ऐसा है। मेरी सत्वादि शक्तियों के कारण ही यह झमेला हो गया है।

उद्धवजी ने कहा—"जगत् का हेतु तो एक ही है, फिर इतना विवाद क्यों ?"

भगवान् ने कहा—"हेतु भले हीएक हो, किन्तु उसेग्रहण करने वाली शक्तियाँ तो भिन्न भिन्न हैं। ब्रह्माजी के पास देवता, असुर, राक्षस तथा मनुष्य उपदेश के लिये गये। ब्रह्माजी ने 'द द, द' यह

तीन बार कह दिया। एक ही 'द' का अर्थ किसी ने दम लगाया किसी ने दान लगाया किसी ने दया लगाया। अपनी प्रकृति के अनुसार जिसने जो निश्चय कर लिया है, वह भिन्न भिन्न प्रकृति वालों से लड़ता है। एक कहता है—'मैंने जैसा कहा है वही सत्य है।"

दूसरा कहता है—"तुम्हारा कहना सत्य कैसे है, मेरा कहना सत्य है। तुम्हारा कथन सर्वथा मिथ्या है।" तीसरा कहता है—"तुम दोनों ही मिथ्या कह रहे हो, कथन तो मेरा सत्य है तुम लोग भ्रम में हो।" इस प्रकार जगत् के हेतु के सम्बन्ध में भाँति भाँति से वाद विवाद करते हैं लडते झगड़ते हैं। इसका कारण मेरी सत्वादि शक्तियाँ ही हैं। उन्हीं शक्ति के क्षोभ से यह विकल्प रूप प्रपञ्च वादी प्रतिवादियों के लिये समर क्षेत्र बन गया है। सभी आ आकर अपना बल पुरुषार्थ दिखाते हैं। अपने अपने अभिनय का इस रंग मंच पर आकर प्रदर्शन करते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"यह मतभेद वाद विवाद किसी प्रकार शान्त भी हो सकता है?"

भगवान् ने कहा—"हो क्यों नहीं सकता यदि वाद विवाद करने वालो की इन्द्रियाँ वश मे हो जायँ, चित्त शान्त हो जाय वे शम दम का आश्रय ग्रहण कर लें तो वाद विवाद अपने आप शान्त हो जायगा। यह तो मन और इन्द्रियों की चंचलता से ही वाद विवाद तथा लडाई झगडा होता है। यह विकल्प रूप प्रपञ्च तभी तक है जब तक चित्त चंचल है, चित्त के स्थिर होने से यह रहता ही नहीं फिर वाद विवाद किसके लिये होगा?"

उद्धवजी ने कहा—"तो तत्वों की विविधता का मुख्य कारण क्या हुआ?"

भगवान् ने कहा—"मुख्य कारण क्या है, कहने वाले की इच्छा। तत्व तो सब मिले जुले हैं ही जैसे मिट्टी और घडा। घडे

मे भी मिट्टी है और मिट्टी से ही घडा बना है। कहने वाले को जो अभीष्ट होगा, उसी के अनुसार वह एक दूसरे में मिलाकर सख्या बतावेगा, अथवा उसकी इच्छा होगी भिन्न भिन्न करके बतावेगा। भिन्न भिन्न करके बतावेगा, तब तो तत्वों की संख्या अधिक हो जायगी और जब एक दूसर में मिलाकर बतावगा तो सख्या न्यून हो जायगी। कार्य कारण में अभिन्नता होती है। सूत्र कारण है वस्त्र का कार्य है मिट्टी कारण है, घडा सकोरा आदि मिट्टी से पात्र कार्य है। बीज कारण है, वृक्ष उसका कार्य है, पिता कारण है, पुत्र उसका कार्य है। इसी प्रकार कारण तत्व अथवा कार्य तत्व में एक एक में दूसरे दूसरे तत्व भी सम्मिलित दृष्टि गोचर होते हैं इसीलिय कार्य-कारण रूप से तत्वों में न्यूनता अधिकता प्रतीत होती है। जिसने प्रबल युक्ति देकर जिसे जिसमें अन्तभूत करके तत्वो की जितनी सख्यायें स्थिर कर दीं वे उतनी ही युक्ति सगत दिखायी देती हैं। उनके अनुयायी उन्हें ही स्वीकार कर लेते हैं। इसी क्रम से मिला लो। कोई किसी को स्वतन्त्र मान लेते हैं कोई किसी का दूसरे मे समावेश कर लेते हैं। जैसे पच्चीस तत्व मानने वाले हैं। वे प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व अहतत्व और मन पाँच तो ये हुए, पञ्च महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पचतन्मात्रायें इस प्रकार पाँच पाँच के पाँच गण होने से पच्चीस तत्व हुए। ये लोग सत्व, रज, और तम इन तीनों गुणों को प्रकृति के अन्तर्गत मान लेते हैं क्योंकि तीनों गुणो का साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। इसलिये उन्हें तत्वो मे नहीं गिनते जो पृथक मानकर गिनते हैं उनके मत में अट्ठाईस तत्व हो जाहैंत ।

जो पच्चीस तत्व मानते हैं, वे आत्मा और परमात्मा में अणुमात्र भी भेदभाव नहीं मानते इसीलिये वे किसी पुरुष की विशेष कल्पना नहीं करते। प्रकृति का जो सत्वगुण है उसी के व्यापार

का नाम ज्ञान है। रजोगुण के व्यापार का नाम कर्म और तमोगुण का व्यापार है अज्ञान। जब इनकी साम्यावस्था रहती है, उसी का नाम शुद्ध प्रकृति है, जब इनमे क्षोभ होता है कुछ विषमता होने लगती है, तो उस विषमता के हेतु का ही नाम काल है क्योंकि काल पाकर ही तो विषमता होती है, समता से विषमता हो जाना इस स्वभाव को ही महत्तत्व कहते हैं। मेरे मत में सत्व, रज, और तम ये तीन गुण पृथक् हैं इसलिये पच्चीस में ये तीन और मिला देने से अट्ठाईस तत्व हो जायँगे। अब तुम फिर से संख्या जोड़ लो। पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंतत्व, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इस प्रकार नौ तत्व तो ये हुए। अब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, जैसे आँख, कान, नाक रसना और त्वचा। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, जैसे हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ। ये दश तो बाह्य करण हैं, मन अन्तःकरण की एक वृत्ति है, वह भी इन्द्रिय ही है। वह उभयात्मक है। ज्ञान के समय ज्ञानेन्द्रियों में मिलकर मनन करता है कर्म के समय कर्मेन्द्रिय से कर्म कराता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय हैं। जैसे शब्द यह कर्णेन्द्रिय का विषय है, स्पर्श त्वचा का विषय है, रूप देखना यह चक्षुओं का विषय है, रसका स्वाद चखना यह रसनेन्द्रिय का विषय है और सुगन्ध दुर्गंध सूँघकर उसका निर्णय करना यह घ्राणेन्द्रिय का विषय है। इस प्रकार शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच विषय हैं इन्हें तन्मात्रा भी कहते हैं। कर्मेन्द्रियों के भी पाँच कर्म हैं। जैसे लेना उठाना धरना शिल्प आदि कर्म ये हाथों का कर्म है। चलना पैरों का कर्म है, बोलना व वाणी का मूत्रादि त्यागना मूत्रेन्द्रिय का मल त्यागना मल इन्द्रिय का काम है। इस प्रकार मूल में अट्ठाईस तत्व हैं। इन्हीं को घटा बढ़ाकर कोई कुछ मानते हैं कोई कुछ। तीनों गुणों का प्रकृति में ही समावेश कर दिया तो पच्चीस ही हो गये।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् अट्ठाईस और पच्चीस की बात तो समझ में आ गयी अब यह बताइये छब्बीस तत्व मानने वाले कौन सा तत्व विशेष मानते हैं।"

भगवान् ने कहा—"पच्चीस तत्व मानने वालों के मत मे, तो प्रकृति जड है, पुरुष चैतन्य है, किन्तु निष्क्रिय है, स्वतः वह करने में समर्थ नहीं। प्रकृति भी अकेली कुछ कर नहीं सकती। क्योंकि उसमें चैतन्य नहीं। यदि दोनों का संयोग हो जाय तो कार्य होने लगे। जैसे किसी उद्यान मे सुन्दर सुन्दर आम पके हुए हैं। एक अंधा वहां बैठा हुआ है और एक लूला। अन्धे को आमों की सुगन्ध आ रही है, किन्तु उसे आम दीखते नहीं। लूले को आम दीख तो रहे हैं, किन्तु वह अपने स्थान से उठकर तोड नहीं सकता। दैवयोग से दोनों का संयोग हो गया। लूले ने पूछा—"कहो, सूरदास जी! राम राम क्या हाल चाल है? क्या सोच रहे हो?"

प्रज्ञाचक्षु जी बोले—"राम राम महाराज! राम राम धन्य-भाग आप के दर्शन हुए। आप तो मुझे देख रहे होंगे?"

हँसकर लूले ने कहा—"हाँ, सूरदास जी! मैं आप को भी देख रहा हूँ और इन पके पके आमों को भी देख रहा हूँ, जिनकी सुगन्ध से आपकी लार टपक रही है।"

प्रज्ञाचक्षुजी ने दीनता के स्वर में कहा—"भगवान् करे आप का बेटा जीवे। कृपा करके मुझे कुछ आम तोडकर दे दें।"

हँसकर लूले बाबू बोले—'सूरदास जी! बेटा तो मेरे है ही नहीं जिह्वा है सो वह भी आमों के लिये लार बहा रही है। यदि

मैं तोडने मे समर्थ होता, तो अब तक न जाने कितने तोडकर खा लेता।"

अन्धेजी ने कहा—"क्यों क्या है, आपके हाथ नहीं।"

लूले बोले—"हाथ तो हैं, किन्तु दोनों पैरों में से मेरे एक भी पैर नहीं।"

यह सुनकर सूरदास जी हँस पडे और बोले—"राम मिलायी जोडी। एक अन्धा एक कोढी।"। कोई चिन्ता नहीं। आप के पैर नहीं किन्तु आँखें तो हैं, मेरे पैर हैं, किन्तु आँखें नहीं। आइये आप मेरे कधे पर बैठ जाइये। बैठकर आम तोडिये। दोनों खायगे।"

यह युक्ति लूले को बहुत सुन्दर लगी वह अधे के कधे पर बैठ गया। आम तोडे और खाये।"

इस कहानी का सारांश इतना ही है, कि दोनों पृथक् रहते तो आम तोडने में दोनो असमर्थ थे। जब दोनों मिल गये तो दोनों ने भर पेट आम खाये। इसी प्रकार पुरुष और प्रकृति जब पृथक् पृथक् रहते हैं तब सृष्टि नहीं। व्यापार नहीं। जहाँ दोनों का संयोग हुआ तहाँ काल पाकर गुणों में क्षोभ होता है सृष्टि होने लगती है। यह सब सृष्टि कार्य प्रकृति का है। पुरुष तो साक्षी रूप में रहता है। अब प्रश्न यह होता है, कि फिर यह होता कैसे हैं ? इस पर वे कहते हैं—कि इसमें मुख्य कारण कर्म है। कर्म अनादि हैं और कर्मों के ही अनुसार ही जीव भोगों को भोग रहे हैं। कर्म ही सब कुछ है। जिसे प्रकृति पुरुष का ज्ञान हो जाता है तब वह इस संसार चक्र से मुक्त हो जाता है, प्रकृति पुरुष के भिन्न ज्ञान का नाम ही मोक्ष है।

अच्छा अब जो छब्बीस तत्व मानने वाले हैं उनका कथन यह है, कि अनादि काल से अविद्याग्रस्त पुरुष को अपने आप आत्म ज्ञान कैसे हो सकता है। जब कर्म अनादि हैं और प्रवाह

रूप से यह जगत् भी अनादि है, तो जहाँ कर्मों में प्रवृत्त हुआ कि फिर प्रवृत्त ही बना रहेगा। प्रकृति तो जड है उसमें ज्ञान संभव नहीं। तुम्हारा पुरुष निष्क्रिय है वह स्वतः कुछ कर नहीं सकता। कर्म जड है उनका कोई नियामक चाहिये। इसलिये कर्म बन्धनों में प्रवृत्त पुरुष को ज्ञानोपदेश देने के लिये किसी तत्व ज्ञानी की आवश्यकता है। इसीलिये वे दुःखादि से रहित स्वतः सिद्ध सर्वज्ञ परमेश्वर को और मानते हैं। इस प्रकार पचीस तो वे और छब्बीसवाँ परमात्मा ईश्वर। इस तरह वे छब्बीस तत्व बताते हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जो सत्रह ही तत्व मानते हैं, उनके मत में कौन कौन से तत्व हैं?

भगवान् ने कहा—"वे लोग पंचभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और पच तन्मात्रायें एक मन तथा आत्मा। उनके मत मे आत्मा ही प्रकृति पुरुष दोनों का अधिष्ठान है उसी से महत्तत्वादि की उत्पत्ति होती है। पंचज्ञानेन्द्रियों में ही पंचकर्मेन्द्रियों का समावेश कर लेते हैं। इस प्रकार वे सत्रह ही तत्व मानते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"जो सोलह तत्व मानते हैं, वे एक किसे कम करते हैं।"

भगवान् ने कहा—"उनके मत मे मन और आत्मा पृथक पृथक् नहीं हैं। आत्मा ही जब इन्द्रियो के साथ कर्मों में प्रवृत्त होता है तो उसकी मन संज्ञा है। विचार करने से बुद्धि और अहङ्कार करने से अहं तत्व। वे लोग आत्मा को ही मन कहते हैं।'

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! जो तेरह ही तत्व मानते हैं। उनके मत मे कौन कौन तत्व हैं।"

भगवान् ने कहा—"वे लोग पंचभूतों को मानते हैं और पंच ज्ञानेन्द्रिय। तन्मात्राओं और कर्मेन्द्रिय का समावेश वे ज्ञानेन्द्रियों

में ही कर लेते हैं क्योंकि तन्मात्रायें तो ज्ञानेन्द्रियों का विषय ही हैं कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रिय तथा मन के ही अधीन हैं। अतः इन दश अतिरिक्त ग्यारहवें मन को मानते हैं। एक जीवात्मा और एक परमात्मा इस प्रकार उनके मत मे तेरह ही तत्व हैं। जीवात्मा में ही वे प्रकृति आदि का समावेश कर लेते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! ग्यारह मानने वालों के मत में कौन कौन तत्व हैं?

भगवान् ने कहा—"वे लोग पंचभूत और पंच ज्ञानेन्द्रियों में ही तन्मात्रों और और कर्मेन्द्रियों का समावेश कर लेते हैं। प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व अहंतत्व तथा मन इन सब को आत्मा के ही अन्तर्गत मान लेते हैं। अतः इनके मत में पंचभूत पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक आत्मा इस प्रकार ग्यारह ही मुख्य तत्व हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—'नौ मानने वालों के मत में कौन कौन तत्व हैं?"

भगवान् ने कहा—"उनके मत में महत्तत्व, अहंतत्व, मन और पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश ये पंचभूत इस प्रकार ये आठ तो प्रकृति और एक आत्मा। इन नौ तत्वों में ही वे सब का समावेश कर लेते हैं। उनके मत में इन्द्रियाँ तन्मात्रायें ये सब भूतों से ही होती हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! जो सात ही तत्व मानते हैं। उनकी संख्या किन किन तत्वों से पूरी होती है?"

भगवान् ने कहा—"सात तत्व मानने वालों का कहना है कि जब सृष्टि होने को होती है, तब कार्य कारण रूप प्रकृति ही गुणों के विषम होने से सत्वादि गुणों के द्वारा इन सब अवस्थाओं को धारण करती है। प्रकृति का ही यह सब पसारा है अव्यक्त पुरुष कुछ करता नहीं वह तो साक्षीमात्र है। इस पुरुष के केवल ईक्षण मात्र से ही—साक्षी बने रहने मात्र से ही-प्रकृति

के जो महत्तत्वादि कारण तत्व हैं, वे ही परस्पर मिलकर प्रकृति के बल से इस विश्व ब्रह्माण्ड की रचना किया करते हैं इस प्रकार एक तो पुरुष साक्षी हुआ प्रकृति साक्ष्य हुई।इन दोनों का अधिष्ठान परमात्मा है। उनके मत में एक तो परमात्मा है। और एक उस परमात्मा का ज्ञान करने वाला अर्थात् जीव है। दो तो ये और पंचभूत बस, वे सात ही तत्व मानते हैं। उनका कथन है देह, दशों इन्द्रियाँ, दशों प्राण आदि ये सब तो भूतों ही द्वारा ही निर्मित हैं, अतः इन सब दशों इन्द्रियों तन्मात्राओं तथा प्राणादि तो भूतो के ही अन्तर्गत हैं। इस प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, जीवात्मा और परमात्म। वे सात ही सत्व मानते हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जो छै ही तत्व मानते हैं, वे एक किसे घटा देते हैं?"

भगवान् ने कहा—"वे लोग जीवात्मा परमात्मा में भेद नही करते। जीव से एक परमात्म तत्व और एक पंचभूत इस प्रकार छै तत्व ही सृष्टि के लिये उनके मत मे पर्याप्त हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! चार तत्व वालों का क्या मत है, क्या वे पंचभूतों को भी नहीं मानते।"

भगवान् ने कहा—"वे लोग इन्द्रियों को तन्मात्राओं को देह, प्राण तथा मन आदि को कार्य मानते हैं। उनके मत में एकमात्र आत्मा से तेज, जल और अन्न ये तीन वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। आत्मा से सर्व प्रथम तेज उत्पन्न हुआ। उस तेज से जल की उत्पत्ति हुई जल से अन्न हुआ। अन्न से ही फिर यह सब दृश्य प्रपञ्च हुआ।

इस प्रकार उद्धव भिन्न भिन्न मुनियों ने अपने बुद्धि चातुर्य से अनेक प्रकार की कल्पनायें की हैं। सब में युक्तियाँ दी हैं। अपने मत को सिद्ध करने को बडे बड़े प्रमाण दिये हैं। सभी के मत युक्ति संगत प्रतीत होते हैं। मुझे तो इस भिन्नता में अभि-

शता ही दिखायी देती है मेरे मत में तो ये सभी सिद्धान्त युक्ति युक्त होने से सब उचित हैं सब न्याय हैं सभी मान्य हैं, विद्वानों के लिये मुझे तो इसमें कोई अशोभन बात दिखायी देती नहीं। मेरे मत मे तो इस विषय मे हठ तथा दुराग्रह अज्ञान के ही कारण की जाती है। जिसे जो अनुभूत हुआ है, उसने वही कह दिया है।"

हँसकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! यह तो आपने भगवान् के बताये हुए भिन्न भिन्न मुनियों के मत गिनाये। अब मैं यह पूछता हूँ, कि आपने भी तो पुराणों का विधिवत् अध्ययन किया है, आप अपना अनुभव सुनाइये आपके मत में कै तत्व हैं। आपने ये कुछ उडती सी अधूरी अधूरी बातें कहीं ये हमारी समझ मे अच्छी प्रकार आयीं भी नहीं। आप अपना मत बतावें।"

गंभीर होकर सूतजी बोले—"महाराज ! यह दर्शन का विषय बडा गूढ है। बुद्धि के व्यायाम के लिये इसमे बड़ा विस्तार करना पड़ता है, तभी कहीं तीक्ष्ण बुद्धि वालों को समझ में आता है। यहाँ तो मैं कथा प्रसङ्ग कह रहा हूँ. कथा प्रसङ्ग में इससे अधिक विस्तार हो भी नहीं सकता। यदि आपकी कृपा रही और दार्शनिक विषय सुनाने का आपका आपका आग्रह बना रहा, तो आगे मैं केवल दार्शनिक विवेचन में इसका विस्तारकरूँगा। आप ने जो मेरा मत पूछा, तो भगवन् ! सच्ची बात तो यह है, कि मेरे मत में बस, एक ही तत्व है मैं तो इन तत्वों को गिनाने वाले उद्धव को उपदेश देने वाले, टेढ़ी टाँग वाले मुरली बजाने वाले, गोपियों की ओर कनखियों से बार बार देखने वाले इन काले कृष्ण को छोड़कर अन्य किसी भी तत्व को नहीं जानता। मेरे मत में तो बस यह

परमोज्वल, परमस्निग्ध, परममोहक चैतन्य घनसार नीलबाल घनश्याम ही एक परम तत्व है।"

यह सुनकर शौनकजी अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"सूतजी! भगवान् आप का भला करें। हमारा भी यही मत है। सब तत्व इन्हीं श्यामसुन्दर की छाया हैं। हाँ तो आगे उद्धवजी ने क्या पूछा?"

सूतजी बोले—"भगवन्! उद्धव जी ने जो आगे पूछा उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

तत्व परस्पर मिले जुले कछु पृथक बनावै।
कछु एकहि महँ कहूँ कछू द्वै चार मिलावै॥
प्रकृति, पुरुष, महतत्व, अह, मन, मात्रा, इन्द्रिय।
पञ्चभूत पच्चीस भये अट्ठाइस गुन त्रय॥
छब्बिस ईश्वर सहित हैं, कहूँ भूतइन्द्रिय अलग।
कहुँ आतमा परमातमा, एक कह्यो कहुँ सो विलग॥

प्रकृति पुरुष विचार

(१३०२)

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥

(श्री भा० ११ स्क० २२ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

बोले उद्धव—'तत्वज्ञान तो सुन्यो मुरारी ।
प्रकृति, पुरुष को भेद बतावैं भवभय हारी ॥
हरि बोले—'है प्रकृति पुरुष महँ भेद परम प्रिय ।
माया तैं जग होहि पुरुष सत चेतन निष्क्रिय ॥
भेद त्रिविध गुन तीन हैं, सब प्रपञ्च इन तैं भयो ।
आत्मा ज्ञान स्वरूप नित, अविकारी वेदनि कह्यो ॥

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न मुनियों के भिन्न मत हैं। कोई किसी रूप से बताते हैं, कोई किसी रूप से किन्तु इस विषय में बहुतों का मत एक है कि प्रकृति में गुणों के क्षोभ होने से ही इस दृश्य प्रपञ्च की उत्पत्ति हुई है। कुछ विद्वानों का मत है, सृष्टि न कभी हुई है न है और न आगे होगी। यह सब अज्ञान के कारण अपने

---

* भगवान् श्री कृष्ण चन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—'हे पुरुषर्षभ उद्धव ! प्रकृति और पुरुष इन दोनों में विकल्प है। अर्थात् इन दोनों में विशेष भेद है। 'यह जो सर्ग है अर्थात् प्राकृत प्रपञ्च है वह वैकारिक है क्योंकि यह तीनों गुणों के क्षोभ से ही तो हुआ है।'

मे ही दीख रहा है। ज्ञान हो जाने पर यह दृश्य प्रपञ्च कुछ भी दिखाई न देगा। यह चला न जायगा, चला तो तब जाय जब कुछ हो। यह तो केवल भ्रम था, सो दूर हो जायगा। उनके मत मे सृष्टि उत्पन्न होती ही नहीं। फिर भी वे लोग व्यवहार की सिद्धि के लिये प्रकृति पुरुष को मानते हैं, सृष्टि की एक प्रक्रिया स्थापित करते हैं। प्रकृति और पुरुष ऐसे मिल जुल गये हैं जैसे दूध और पानी। इन्हे कोई भिन्न समझता ही नहीं, किन्तु वास्तव मे ये दोनों ही भिन्न हैं। काई नीर क्षीर विवेका हँस ही इन्हें पृथक् करके समझा सकता है। जहाँ प्रकृति पुरुष का भिन्न ज्ञान हुआ, तहाँ भ्रम रहता ही नहीं। सृष्टि का सब रहस्य समझ में आ जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् तत्वों के विषय म भिन्न भिन्न मतो का समन्वय कर चुक तब उद्धवजी ने पूछा—भगवान्! यद्यपि प्रकृति और पुरुष स्वरूप से भिन्न भिन्न हैं। आपने भी दोनों को पृथक् ही बताया है, किन्तु ये दोनों ऐसे मिल जुल गये हैं, कि इनकी विभिन्नता दिखायी नहीं देती। प्रकृति पुरुष के आश्रय में रहती है, पुरुष प्रकृति के बिना कुछ कर नहीं सकता। उसका पुरुषत्व प्रकृति के बिना दिखायी ही नहीं देता। दोनो ही एक दूसरे के आश्रित हैं, अत' इनमें भेदभाव प्रतीत ही नहीं होता। प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति दोनो परस्पर में ऐसे तादात्म्य हो गये हैं, कि दूध शक्कर की भाँति घुल मिलकर एक से हो गय हैं अब आप कृपा करके यह बतावें कि वास्तव म ये भिन्न हैं या केवल कथन के ही लिये इनकी भिन्नता बतायी है। इस विषय मे मुझे बडा सदेह है। जब तक प्रकृति पुरुष का विवेचन हो तब तक तत्वों का भली भाँति ज्ञान कैसे हो सकता है। आप सर्वज्ञ हैं सर्वविद् हैं सब कुछ जानते हैं, समस्त सशयों को उच्छेदन करने में समर्थ हैं कृपा करके

अपने तर्क प्रवीण वचन बाणों द्वारा मेरे हृदय में बैठे हुए सशय रूप सर्प को काट दीजिये। सशय को आपने ही रचा है आप ही इसे नाश भी कर सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"मैंने सशय को काहे को रचा है ?"

उद्धवजी ने कहा—"आपने न रचा आपकी माया ने रचा। आपकी माया शक्ति के प्रभाव से ही तो ज्ञान पर अज्ञान का आवरण पड जाता है। फिर वह अज्ञान आपकी ही कृपा कटाक्ष से ज्ञान के उदय होने पर नष्ट हो जाता है। आपकी यह ठगिनी माया ऐसी अचिन्त्य है, कि इसका रहस्य आप के अतिरिक्त कोई अन्य जानता ही नहीं। आप ही इस अपनी अद्भुत माया की विचित्र गति को जानते हैं। इसलिये आप ही इसके यथार्थ रहस्य को समझावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से माया के सम्बन्ध में पूछा। प्रकृति पुरुष के रहस्य को समझने की जिज्ञासा की तब भगवान् हँसते हुए उनसे कहने लगे—'उद्धव! तुमने यह बडा ही सुन्दर प्रश्न किया। प्रियवर! ऐसा प्रश्न मायाबद्ध साधारण पुरुष कभी कर ही नहीं सकता। तुम तो समस्त पुरुषों मे श्रेष्ठ हो पुरुषोत्तम हो तभी तो तुम्हारे हृदय में ऐसा गूढ प्रश्न परिस्फुटित हुआ। तुमने जो प्रकृति पुरुष की एकता बताई सो उचित नहीं। प्रकृति और पुरुष मे सामान्य भेद नहीं अत्यन्त भेद है।"

उद्धवजी ने पूछा—"क्या भेद है भगवान्!"

भगवान् ने कहा—"प्रकृति कहो, माया कहो, आवरण शक्ति कहो सब एक ही बात है। यह त्रिगुणात्मिका है। इसके गुणों में जब क्षोभ होता है, तभी यह दृश्य प्रपञ्च उत्पन्न होता है। इसीलिये यह प्रकृति प्रपञ्च विकारवान् है क्योंकि क्षोभ—विकार का ही यह परिणाम है।

उद्धवजी ने पूछा—'विकारवान् तो होनी ही चाहिये किन्तु इसमें इतना नानात्व, पृथक्त्व कैसे हो गया। भाँति भाँति के भेद कैसे हो गये ?"

भगवान् ने कहा—"यह जो त्रिगुणात्मिका माया है। इसके गुणों का स्वभाव ही है कि जब वे विकार को प्राप्त होते हैं तब नाना रूपों में परिणत हो जाते हैं। यह माया अपने गुणों द्वारा नाना प्रकार की भेद बुद्धि उत्पन्न कर देती है। गेहूँ, चावल, मूँग जब तक अपने स्वरूप में थे तब तीन थे। जहाँ इनमें विकार हुआ। आटा, भात दालका रूप रखा तहाँ इनके अनेकों भेद हो जाते हैं। रोटी, पूडी, दाल, चावल, खिचडी और न जाने क्या क्या। जब तक माया अविकारवती रहती है तब तक इसमें भेद दृष्टि गोचर नहीं होते हैं—जहाँ यह विकारवती बनी तहाँ नाना प्रकार के भेद वाली होकर इस संसार की रचना करती है।"

उद्धवजी ने कहा—"मुख्य इसके कितने भेद हैं ?"

भगवान् ने कहा—"इसके मुख्य तीन भेद हैं, आध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! यह विषय बडा गूढ है। मेरी अल्प मति है, कृपा करके इस विषय को और स्पष्ट करके दृष्टान्त देकर सरलता के साथ समझावें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा देखो, यह तुम्हारी चक्षु इन्द्रिय है। इसमें क्या क्या वस्तुएँ हैं। एक तो चक्षु नामक इन्द्रिय है क्योंकि बिना चक्षु के दिखायी नहीं देता। दूसरी वस्तु है रूप। यदि रूप न हो तो आखें देखें किसे। इसीलिये चक्षु इन्द्रिय की तन्मात्रा रूप है। रूप के बिना चक्षु व्यर्थ है। तीसरी वस्तु है नेत्रों का प्रकाश अर्थात् नेत्र गोलक गत सूर्य का अंश। इन तीनों में चक्षु इन्द्रिय तो अध्यात्म है। अध्यात्म उसे कहते हैं

जिसका आत्मा से सीधा सम्बन्ध हो। आत्मा की शक्ति का नाम अध्यात्म है बाहरी रूप भी सब हैं। चक्षुओं के गोलक भी सब बने हुए हैं, किन्तु चक्षु इन्द्रिय आत्मा की सहायता से उस झरोखे से देखती नहीं सब व्यर्थ है। देवता की शक्ति का नाम अधिदैव है। जैसे चक्षु के अधिष्ठातृ देवता सूर्य हैं, तो सूर्य का जो नेत्र गोलक गत अंश है वही अधिदैव है। भूतों की शक्ति का नाम अधिभूत है। जैसे नेत्र में मुख्य भूत तेज है। तेज के लिये रूप की आवश्यकता है, जितने रूप दिखायी देते हैं ये सब अधिभूत हैं। अब तीन वस्तुएँ हुईं एक चक्षु इन्द्रिय, दूसरा नेत्र में रहने वाला तेज और तीसरा रूप। इन तीनों का ही परस्पर में अन्योन्य सम्बन्ध है तीनों ही एक दूसरे के आश्रय से सिद्ध होते हैं। चक्षु न हो तो रूप तथा प्रकाश व्यर्थ है। रूप न हो तो चक्षु और प्रकाश व्यर्थ हैं, प्रकाश न हो तो चक्षु रूप ये व्यर्थ हैं। इन तीनों के प्रकाशक हैं आकाश में स्थित सूर्य नारायण। वे नेत्र में भी प्रकाश प्रदान करते हैं और रूपों को भी प्रकाशित करते हैं। रात में वे रूपों को प्रकाशित नहीं करते चक्षु में अंश रूप से हैं तो भी दिखायी नहीं देता। और दिन में सब रूपों को प्रकाशित करते हैं, किन्तु अन्धे की आँख में प्रकाश प्रदान नहीं करते अतः रूपों के प्रकाशित होने पर भी अंधा देख नहीं सकता। आँख को तो सूर्य देव से प्रकाश की याचना करनी पड़ती है, किन्तु सूर्य तो स्वयं प्रकाशित हैं। चक्षु, रूप और नेत्र गोलक गत प्रकाश तो एक दूसरे के आश्रय के बिना सिद्ध नहीं हो सकते, किन्तु आकाश स्थित सूर्य भगवान तो स्वयं सिद्ध हैं। उन्हें सिद्ध करने के लिये किसी भी दीपक आदि के प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। सूर्य देव चक्षु, रूप और नेत्रगत प्रकाश इन तीनों से पृथक हैं।"

इसी प्रकार तुम आत्मा को समझ लो। ये जो पंचभूत हैं

तथा जितने भौतिक विकार हैं यद्यपि इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा नित्य एक रस है ये परिवर्तनशील हैं। आत्मा चैतन्य घन है ये जड हैं। यथार्थ इन सबका आदि कारण तो आत्मा ही है। आत्मा की सिद्धि के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं उसी के प्रकाश से ये सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि प्रकाशित हो रहे हैं। वह समस्त प्रकाशकों का प्रकाशक है।

उद्धवजी ने पूछा—"क्या भगवान्! यह अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत चक्षु इन्द्रियों के विषय में है?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, यह तो सभी में एक है। इसी प्रकार सभी में लगा लो। जैसे त्वचा इन्द्रिय है। तो त्वगिन्द्रिय अध्यात्म है वायु अधिष्ठातृ देव होने से अधिदैव है और वायु की तन्मात्रा स्पर्श है अतः स्पर्श अधिभूत है। कर्णेन्द्रिय का अध्यात्म रूप श्रवण है, अधिदैव दिशायें हैं और अधिभूत शब्द है। चक्षु का तो दृष्टान्त में बता ही चुके हैं चक्षु अध्यात्म है सूर्य अधिदैव हैं और रूप अधिभूत है। जिह्वा का रसना अध्यात्म है, वरुण अधिदैव हैं और रस अधिभूत है। नासिका का घ्राणेन्द्रिय अध्यात्म रूप है अश्विनी कुमार अधिदैव हैं और गन्ध अधिभूत है। चित्त का चित्त अध्यात्म है वासुदेव अधिदैव हैं और चेतायित्व अधिभूत है। मन अध्यात्म है, चन्द्रमा अधिदैव हैं मन्तव्य अधिभूत है। अहंकार अध्यात्म है, रुद्र अधिदैव हैं हैं और अहकर्तव्य अधिभूत है। बुद्धि अध्यात्म है, ब्रह्मा अधिदैव हैं और बोद्धव्य अधिभूत है। इसी प्रकार जितने भी पदार्थ हैं सबके अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत ये भेद हैं। ये जितने भी पदार्थ हैं प्रकृति के गुणों मे क्षोभ होने के कारण हुए। आदि में त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति हुई।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान ! मूल प्रकृति से विकृतियाँ कैसे उत्पन्न हुई ?"

भगवान् ने कहा—"प्रकृति से सर्व प्रथम गुण क्षोभ होने पर 'महान्' नाम की एक वस्तु हुई। जिसे बहुत कहते हैं। जब तक गुणों की साम्यावस्था थी, तब तक न्यून अधिक का कोई भेद भाव ही नहीं था। जब गुणों में न्यूनाधिक्य हुआ—क्षोभ हुआ तो एक महान् नाम की वस्तु हुई। सर्व प्रथम तत्व होने से ही उसका नाम 'महत्व' हुआ। प्रकृति में क्षोभ काल-कर्म और स्वभावानुसार समय आने पर स्वतः ही होता है। महत्तत्व होने से उसमें मैं हूँ यह अभिमान हुआ। इसीलिये उसका नाम अहंतत्व था। महत्तत्व कह लो बुद्धितत्व ब्रह्मा कह लो एक ही बात है। महत्तत्व के अधिष्ठातृ देव ब्रह्मा हैं। अहंतत्व के रुद्र। इसीलिये रुद्र ब्रह्मा के पुत्र हैं, क्योंकि ब्रह्माजी के पश्चात् हुए। अहतत्व तीन प्रकार का है। एक वैकारिक अर्थात् सात्विक उससे इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव और मन की उत्पत्ति हुई। ऐन्द्रियिक अर्थात् राजस अहंकार इससे इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई और तामस अहंकार से पंचभूतों को। मोह विकल्प तथा भेदभाव का मुख्य हेतु यह अहंकार है। सृष्टि की वृद्धि इसी अहंकार से होती है। अहकार न हो तो सृष्टि बढ ही नहीं सकती। समस्त प्राकृत जग प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। पुरुष अथवा आत्मा प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान् ! यही तो मेरा प्रश्न है मैं यही जानना चाहता हूँ प्रकृति पुरुष में भिन्नता क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"प्रकृति का सब कार्य माया मोहमय है। आत्मा माया मोह से रहित है। प्रकृति प्रपञ्च अज्ञान जनित है, आत्मा ज्ञान स्वरूप है।"

उद्धवजी ने कहा—"आत्मा के विषय में भी तो बडे वादविवाद

हैं। कोई कहता है आत्मा है कोई कहता है नहीं है। कोई कहता है सगुण है कोई कहता है निर्गुण है। कोई भाव मानते हैं कोई अभाव बताते हैं, कोई सत्य सिद्ध करते हैं, कोई मिथ्या कह कर खंडन करते हैं। नाना प्रकार के मतभेद हैं।"

भगवान ने कहा—"यह वाद विवाद भी भेद दृष्टि के कारण ही विद्यमान है। यह भी माया के ही संसर्ग से है मेरे अंशभूत जीव का जब प्रकृति से संसर्ग हो जाता है तभी यह सब भेद दृष्टि होने लगती है। यद्यपि यह सब व्यर्थ है, किन्तु जब तक पुरुष अपने स्वरूपभूत मुझसे विमुख रहता है, तब तक यह निवृत्त होता नहीं। अतः प्रथम यह निश्चय करना चाहिये प्रकृति और पुरुष दोनों भिन्न हैं। एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। यह भेद ज्ञान जहाँ हुआ, तहाँ सभी वाद विवाद शान्त हो जाते हैं सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! जो जीव माया से मोहित होकर आपसे विमुख हो गये हैं, उनकी क्या दशा होती है?"

भगवान् ने कहा—"वे कर्म बन्धनों में बँधकर बार बार मरते हैं बार बार जन्म लेते हैं। कभी उच्च योनियों में जाते हैं, कभी नीच योनियों में जन्मते हैं।'

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! वे किस प्रकार उच्च नीच योनियों में जाते हैं, कृपा करके इस विषय को भलीभाँति समझावें प्रभो! जो पुरुष आत्म ज्ञान से सर्वथा शून्य हैं, वे तो इस विषय को समझ ही नहीं सकते। लोग प्राकृत पदार्थों के संयोग से बड़े बड़े आविष्कार करते हैं। किन्तु वे भौतिक पदार्थों तक ही सीमित रहते हैं। आत्म तत्व को जानने वाले तो कोई विरले ही होते हैं, इस लोक में आत्म तत्व के ज्ञाता तो प्रायः नहीं के ही बराबर हैं। क्योंकि हम जिसे भी देखते हैं वही आपकी मोहिनी माया के चक्कर में फँसा है। कोई मोटी माया के चक्कर

में कोई पतली के। कोई स्थूल माया में बँधा है कोई सूक्ष्म में कृपा करके मुझे जीवों की गति बताइये और आत्मतत्व का उपदेश कीजिये।

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है उद्धव! अब मैं तुझे जीवों की गति ही समझाता हूँ, यह विषय बड़ा गूढ़ है। चित्त तनिक भी चंचल हुआ तो फिर बात समझ में न आवेगी अतः ध्यान पूर्वक सुनना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् ने भगवान् से विमुख कर्मों के अधीन पुरुषों की गतियों का जो वर्णन किया उसे आप भी सुनें।"

छप्पय

उद्धव पूछैं—"प्रभो! विमुख जो तुम तैं प्रानी।
का तिनकी गति होहि कर्म के जे अभिमानी॥
आत्म ज्ञान तैं रहित पुरुष यह भेद न जानें।
जग प्रपञ्च महँ फँसे देहकूँ सब कछु मानें॥
फँस्यो मोह महँ दया निधि! गहे कृपामय तव चरन।
उद्धव की सुनिकें विनय, वनवारी बोले बचन॥

———

८६६२

हरि विमुखों की गति

(१३०३)

मनः कर्ममय नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोक प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥*

(श्री भा०११ स्क० २२ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

प्रियवर ! मन है करमयुक्त इन्द्रिय तें सयुत ।
जीव सग लै फिरै लोक लोकनि महँ इत उत ॥
मनने जो कछु सुन्यो करयो तिहि नित्य विचारै ।
जाइ जहाँ तहँ रमै पूर्व निज रूप विसारै ॥
अहभार स्वीकार ही यही जीव को जनम है ।
नहीं जीव अनमै मरै, यही, यथारथ मरम है ॥

जीव जब अहकार के अधीन हो जाता है तब वह मन का अनुगामी होकर नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। मन

भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! मनुष्यों का मन पञ्च इन्द्रियों से युक्त तथा कर्ममय है। यही मन एक लोक से अन्य लोक में जाता है और जीवात्मा भी उसी का अनुवर्तन करता है।"

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जीव को भोग भुगाता है। मन ने जिन जिन विषयों का स्वाद चखा है, उनका संस्कार उससे सूक्ष्म रूप रखकर लिपट जाता है। उस विषय के न रहने पर भी उसके सूक्ष्म संस्कार मन में लगे ही रहेंगे। अब मन एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाय तीसरे में जाय चौथे में जाय, चाहें जितने शरीरों में जाय, उससे वे भोगे, देखे सुने संस्कार साथ ही जायँगे। यही संसार चक्र है। यदि मायाबद्ध जीव का देहादि में मिथ्याभिमान दूर हो जाय- वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाय तो यह संसार का आवागमन सदा के लिये छूट जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब उद्धवजी ने भगवान् से मायाबद्ध जीव की ऊँच नीच गतियों के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब भगवान् कहने लगे—"उद्धव ! जीव की उच्चनीच गतियाँ कर्मों के द्वारा होती हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"कर्म कहाँ रहते हैं भगवन् !

भगवान् ने कहा—"कर्मों के संस्कार मन में रहते हैं। बन्ध और मोक्ष का कारण मन है यदि मन विषयासक्त होता है तो संसार के बन्धन में पड़ जाता है, यदि विषयों से विरक्त होकर विशुद्ध बन जाता है तो वही मोक्ष का कारण बन जाता है। इन्द्रियों द्वारा मन जिन जिन भोगों का अनुभव करता है वे विषय मन में समा जाते हैं। मन इन्द्रियों से संयुक्त होकर पाप पुण्य की वासनाओं को लिये हुए एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। जीवात्मा भी मन का अनुसरण करता है।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! मन तो जड़ है। जीवात्मा चैतन्यांश है। उससे सर्वथा पृथक् है, फिर मनका अनुसरण क्यों करता है ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, यह सत्य है कि जीवात्मा मन से

भिन्न है फिर भी वह इस इन्द्रियों से युक्त कर्ममय मन में अहंकार बद्ध हो जाता है। मेरा मन मेरी इन्द्रियाँ इस प्रकार का उसे मोह हो जाता है, इसी मोह से कारण विवश होकर उसे मनका अनुसरण करना पडता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जब जीव अनेक योनियों मे भ्रमण करता है, तो उसे याद क्यों नहीं रहती। हम तो जितने नगरों मे भ्रमण करते हैं उनकी कुछ न कुछ स्मृति तो रहती ही है।

भगवान् ने कहा—"नहीं, तुम जितना अनुभव करते हो, सब स्मृति तो तुम्हें नहीं रहती। अच्छा रहती हैं तो बताओ आज से मास पूर्व तुमने क्या स्वप्न देखा था।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! स्वप्न की बातें तो याद नहीं हैं।"

भगवान् ने कहा—"इसलिये स्वप्न की बातें स्मरण नहीं हैं कि तुम अन्य आवश्यक बातों में लीन रहते हो। इसी प्रकार यह मन भी कर्मों के अधीन होकर जो जो ससार में देखता है, शास्त्र आदि में सुनता है, उन विषयों का ध्यान करता रहता है। उन कर्मों के भोग में ऐसा तन्मय हो जाता है, कि उसकी पूर्व स्मृति नष्ट हो जाती है। बालकपन में मनुष्य इसी शरीर से न जाने क्या क्या करता है, युवावस्था में वे सब बातें याद नहीं रहतीं। बहुत सी युवावस्था की बातें वृद्धावस्था में याद नहीं रहतीं। इसी प्रकार वर्तमान शरीर में दृढ आस्था हो जाने से तथा विषयों में तल्लीन होने से पूर्व स्मृति नष्ट हो जाती है। यदि मनुष्य को पूर्व जन्मों की सभी बातें स्मरण बनी रहें तो वह विषयों मे ऐसा तल्लीन क्यों हो। शरीर की तो मृत्यु होती नहीं, एक शरीर पचभूतों का था पचभूतों में मिल गया, दूसरा पाँच भौतिक शरीर मिल गया। जैसे एक वस्त्र जीर्ण हुआ दूसरा पहिन

लिया। जीवात्मा की मृत्यु होती ही नहीं। वह अजर अमर है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तब फिर मृत्यु किसकी होती है?"

भगवान् ने कहा—"किसी भी कारण से पूर्व देह की अत्यन्त विस्मृति का ही नाम मृत्यु है। सोते समय भी देह की विस्मृति हो जाती है, पेड आदि से गिरने पर मूर्छा हो जाने पर भी देह की विस्मृति हो जाती है, किन्तु अत्यन्त विस्मृति नहीं होती। सोते समय भी आदमी सुनता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! सोते समय तो आदमी कुछ भी नहीं सुनता।'

भगवान् ने कहा—"नहीं भैया! सोते समय भी आदमी सुनता है, यदि न सुनता होता तो नाम लेकर पुकारने पर वह उठकर खडा कैसे हो जाता सुनता अवश्य है, किन्तु अधिक चिल्लाने से सुनता है इससे उसे शरीर की अत्यन्त विस्मृति नहीं होती। जागने पर उसे सब पुरानी बातें याद आ जाती हैं। मरने पर उसकी पूर्वस्मृति नष्ट हो जाती है यही मृत्यु है।'

उद्धवजी ने पूछा—"फिर जन्म किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—'कर्मानुसार, देवता, मनुष्य पशु पक्षी का जो भी शरीर मिल जाय उस देह में तथा उस देह के सम्बन्ध से प्राप्त हुए विषयों में अहता ममता हो जाना उन्हें पूर्णतया अपना कहकर स्वीकार कर लेना यही जन्म है। जन्म से पूर्व जीव का इस देह से कोई सम्बन्ध नहीं था जब देह को प्राप्त करके गर्भ से बाहर आता है तो देह के सुख दुख को अपना मानता है, देह सम्बन्ध से सम्बन्धियों को अपना स्वीकार कर लेता है। ये मेरे पिता हैं चाचा हैं ताऊ हैं, माता, हैं, चाची हैं, ताई हैं, बहिन है। इसी में मेरी का नाम जन्म है जिसे देह में तत्सम्बन्धी विषयों में भी ममता नहीं। उसका जन्म ही नहीं।"

वास्तव में देखा जाय, तो जीव का जन्म मरण ही नहीं। यह तो मानने की बात है। जिसे अपना कहकर स्वीकार कर लिया जिसमें अभिनिवेश हो गया वही जन्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मानना ही जन्म कैसे है यह बात हमारी समझ में नहीं आई।"

सूतजी बोले—"महाराज! वास्तव में तो जीव एक ही है, वही नाना देहों में भोग भोगता है। देह तो स्वयं जड़ है मृतक हैं। जो स्वयं जड है-स्वयं मृतक है उसका जन्म मरण होगा क्या? जीव अजर अमर है। फिर मृत्यु किसकी जन्म किसका?"

शौनकजी ने पूछा—'फिर यह जन्मा यह मर गया। ऐसा लोग क्यों कहते हैं?

सूतजी बोले—"महाराज! यह तो व्यवहार है। जैसे कोई बैठे बैठे मन से सोचता है, एक बड़ा सुन्दर आम का पेड है, उसपर पके पके अत्यन्त मीठे सिंदूरिया आम लग रहे हैं। उसने एक ईंट मारी कई आम गिर पडे। वह ज्यों ही खाने को उद्यत हुआ त्यों ही एक पुत्र ने आकर कहा—"पिता जी क्या सोच रहे हैं चलो भोजन तैयार है अम्मा बुला रही हैं।"

इतना सुनते ही उसका चित्त दूसरी ओर चला गया, उसके जो मनोरथ के आम थे वे नष्ट हो गये। अब वास्तव में न तो आम का पेड़ था न उसपर आम ही थे केवल मन ने कल्पना कर ली। लडके के बोध कराने पर वह मनोरथ नष्ट हो गया। स्वप्न में हम देखते हैं, राजा बन जाते हैं राजाओं के से भोग भोगते हैं हाथी घोडों पर चढ़ते हैं। जहाँ आँखें खुलीं तहाँ न छत्र न मुकुट, न सिंहासन और न राजसी ठाठ। सोता हुआ मनुष्य जिस समय स्वप्न देख रहा था, उस समय तो वह सोलहू आने आने अपने को राजा माने बैठा था। स्वप्न में वह अपने को भूल

हो गया था, कि मैं दरिद्र हूँ, अपने पूर्व रूप का विस्मरण हो गया था। किन्तु जगाने पर वह राज पाट, सिंहासन सभी को कल्पित समझकर अपने दरिद्री रूप को ही सत्य समझता है। इसी प्रकार अहंकार के अधीन होकर अपनी पूर्वस्मृति के नष्ट हो जाने पर जिस देह में ममता कर लेता है उसी में फँस जाता है उसी में उसकी दृढ़ आसक्ति हो जाती है, इस विषय में एक दृष्टान्त है।

कोई ज्योतिषी थे। उन्होंने ज्योतिष देखकर यह जान लिया अगला जन्म मुझे कौवा का जन्म लेना पड़ेगा।" इस बात से उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने अपने एक मित्र से कहा—"देखो, भैया! मेरी मृत्यु निकट है, मैं अमुक वृक्षपर एक कौए का बच्चा हूँगा। मेरी यह पहिचान रहेगी, कि मेरा एक पर सफेद होगा। तुम मुझे जन्म लेते ही मार देना जिससे मुझे विष्ठा न खानी पड़े।"

मित्र ने कहा—"अच्छी बात है मैं ऐसा ही करूंगा।"

कालान्तर में ज्योतिषी जी की मृत्यु हो गयी। दैववश से उन्हें कौए का जन्म मिला उनके मित्र भूल गये। कौआ बड़ा हो विष्ठा खाने लगा।

एक दिन उनके मित्र किसी काम से जा रहे थे, उसी पेड़ के नीचे से निकले जहाँ इनके मित्र ज्योतिषी कौए की योनि में रहते थे। वहाँ उन्होंने एक सफेद पंख के कौए को देखा। देखते ही उन्हे याद आगयी और वे उसे मारने को उद्यत हुए। तब कौए ने पूछा—"आप मुझे क्यों मारते हैं?"

उस व्यक्ति ने कहा—"मेरे मित्र ज्योतिषी कह गये थे कि मैं ऐसा कौआ बनूँगा मुझे मार देना।"

तब वे बोले—"महानुभाव! आपका कथन सत्य है। मैं हूँ तो आपका मित्र ज्योतिषी ही, किन्तु अब मैं पुरानी सभी बातों

को भूल गया हूँ। मेरी इस कौए के शरीर मे आसक्ति हो गयी है और मैंने कौए क आहारादि को स्वेच्छा से स्वीकार भी कर लिया। अब मेरा जन्म कौए की योनि में हो गया है अब आप मुझे न मारे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब आप सोचें—"उसका कौए का जन्म क्या हुआ जीवात्मा तो वही है जो मनुष्य शरीर में था। मनुष्य शरीर भी पॉचभौतिक और जड था उसी प्रकार यह कौए का शरीर भी पाचभौतिक जड है। मनुष्य शरीर के सम्बन्धों को उनकी बातों को भूल जाना यही मृत्यु है। कौए के शरीर को अपना मान लेना कौए के आचार व्यवहार को स्वीकार कर लेना यही जन्म है। कुछ आदमी विधर्मी बन जाते हैं, अन्य धर्म में चले जाते हैं। विधर्मी होने पर उनका रसरक्त मास मज्जा आदि तो ज्यों का त्यों रहता है केवल विधर्मी आचार व्यवहार को स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिये अत्यन्त विस्मृत ही मृत्यु है और अहता पूर्वक स्वीकार कर लेना ही जन्म है।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आपका कथन तो सत्य है, किन्तु ससार मे हमे जो उत्तम, मध्यम, अधम, ऊँच नीच आदि भेद दिखायी देते हैं ये तो सत्य से ही हैं?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! यही बात उद्धवजी ने पूछी थी। उसका उत्तर देते हुए भगवान् ने उन्हें समझाया—"उद्धव! तुम इस विषय को गम्भीरता पूर्वक विचारो। देखो, स्वप्न में मनुष्य देखता है, एक बडा भारी भवन है। उसके दो खण्ड तो भूमि के नीचे हैं। पॉच खण्ड ऊपर हैं। बाहर बडा भारी दल्लान है भीतर कई बैठने के बडे बडे घर हैं। वास्तव में न तो घर है न उसमें ऊपर नीचे बाहर भीतर ही है, किन्तु जब स्वप्न देखता है, तब तो ये भेद यथार्थ ही प्रतीत होते हैं। स्वप्न काल में इस भेद भावों में किञ्चित भी असत्यता प्रतीत नहीं होती।

इसी प्रकार यह मन इन्द्रियों की सहायता से पदार्थों की रचना करता है। भेदभाव से रहित इस आत्मा में ही उत्तम, मध्यम, और अधम की कल्पना करता है। आधिभौतिक आधिदैविक तथा अध्यात्मिक आदि त्रिविध भेद स्थापित करता है। ये सब मिथ्या होने पर भी वाह्य और आन्तरिक सुख का अनुभव करने लगता है। वास्तव मे आत्मा तो सुख दुख से रहित है। देहो में परिवतन होने को ही लोग जन्म मृत्यु कहते हैं। और यह जन्म तथा मृत्यु प्रतिक्षण होती रहती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रतिक्षण जन्म मृत्यु कैसे होती है मनुष्य तो सैकड़ों वर्ष तक जीवित रहता है। वृक्ष सहस्रों वर्ष जीवित रहते हैं। प्रतिक्षण मृत्य तो होती नहीं।।"

भगवान् ने कहा—" यह विषय बडा गहन है, इसे अत्यन्त एकाग्र मन से विचार करो। अच्छा देखो मरने में होता क्या है, एक शरीर बदल जाता है। जन्म में होता क्या है एक नया शरीर मिल जाता है जीवात्मा का तो न जन्म है न मरण। पुराना चला जाना नया आ जाना यही जन्म और मृत्यु है। यह प्रवाह तो निरन्तर लगा ही रहता है। गंगाजी के किनारे बैठो प्रतिक्षण नया नया पानी आता रहता है पुराना पुराना बहता रहता है। मूर्ख लोग समझते हैं, हम कल जिस गंगा जल में नहाने गये थे उसी में आज नहा रहे हैं। उन्हें पता नहीं कल का गंगा जल न जाने कहाँ चला गया। दीपक की लौय है वह प्रतिक्षण में बदलती रहती है। जो लोय उठी वह आकाश में विलीन हो गयी दूसरी उठी, किन्तु वे क्रम बद्ध इतनी शीघ्रता से उठती और विलीन होती रहती हैं, कि मूर्ख लोग समझते हैं। यही दीपक रात्रि भर जल रहा है। वृक्ष में फल है, प्रथम वह छोटा था फिर बदल गया उससे कुछ बड़ा हुआ फिर बड़ा हुआ प्रतिक्षण बढ़ता है, बदलता है, किन्तु हमें उसका परिवर्तन तब प्रतीत होता

है जब वह पक जाता है। इसी प्रकार वृक्ष है बीज से अंकुर हुआ और प्रतिक्षण बढते बढ़ते अन्त में गिर जाता है।

यह काल चक्र अत्यन्त ही वेग के साथ घूम रहा है। इस काल के साथ ही साथ समस्त प्राणियों की आयु और अवस्थाएं बदलती ही रहती हैं। प्राणियों के शरीरो के परमाणु प्रतिपल बदलते रहते हैं। जो बालक प्रातःकाल है दूसरे ही पल उसके सब परमाणु बदल गये तीसरे पल वे भी बदल गये। अत्यन्त शनैः शनैः बदलने के कारण हम यही समझते हैं कि यह वही देवदत्त है, जिसे हमने कल देखा था। वास्तव मे जिस देवदत्त को कल हमने देखा था उसके तो न जाने अब तक कितने जन्म और मरण हो गये। प्रतिपल उसके परमाणु बदलते गये। भ्रमवश हम कल के देवदत्त को आज का कहते हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! यह भ्रम क्यों होता है?"

भगवान् ने कहा—'यह भ्रम होता है सादृश्य से। एक सी वस्तु होने से मनुष्य को भ्रम हो जाता है। जैसे जल के सब कण एक से हैं। यद्यपि जिस जल में हमने कल स्नान किया था वह न जाने कहाँ चला गया, किन्तु उसके स्थान पर वैसा ही जल और आ गया, इसीलिये हम आज के जल को भी वही जल समझते हैं। रात में जो हमने दीपक की लोय देखी थी, वह जाने कहाँ चली गयी, किन्तु उसके स्थान मे वैसी ही लोय आ जाने से हम रात के ही दीपक को समझते हैं। देवदत्त के कल के शरीर के परमाणु न जाने आज तक कितनी बार बदल गये किन्तु सादृश्य होने से अज्ञानी पुरुष कल के ही देवदत्त को आज भी समझते हैं। यह कहना तथा समझना अज्ञता है, मूर्खता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो जन्म अज्ञानी पुरुषों का होता है, ज्ञानी का नहीं।"

अपने कर्म रूप हेतु से जन्म नहीं लेता। जीव तो अजर अमर है, उसमें ज्ञानी अज्ञानी का क्या प्रश्न। जीव का तो जन्म होता ही नहीं वह तो नित्य है।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! यह बात मेरी बुद्धि में बैठी नहीं।"

भगवान् ने कहा—"जैसे अग्नि सर्व व्यापक है, क्यों है या नहीं?"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, अग्नि तो सर्वत्र है ही। अग्नि न हो तो प्राणियों का जीवन ही न हो उदर में भी जठराग्नि है। प्रत्येक काष्ठ में अग्नि व्याप्त है।"

भगवान् ने कहा—"देखो, दो लकड़ियों को रगड़ कर अग्नि उत्पन्न होती है, जिसमें उत्पन्न होती है उस अपने आश्रय को जलाकर शान्त हो जाती है, तो क्या अग्नि मर गयी?"

उद्धवजी ने कहा—"नहीं, महाराज! मरने का तो यहाँ प्रश्न नहीं। सर्व व्यापक अग्नि का काष्ठ मन्थन से आविर्भाव हो गया, फिर अपने अधिष्ठान में—व्यापक अग्नि में—मिल गयी। यह तिरोभाव है।"

भगवान् ने कहा—"इसी प्रकार जीव का समझ लो। देह से सयोग होने से कर्म करने लगता है यही जन्म है। एक शरीर को छोड़कर दूसरे मे चला गया यही मृत्यु है। शरीर को धारण करके भी उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं। वैसे तो प्रतिपल शरीर बदलता रहता है, किन्तु देह की नौ अवस्थायें बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रतिपल के परिवर्तन को तो ज्ञानी ही अनुभव कर सकता है किन्तु नौ अवस्थाओं का तो सभी अनुभव करते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! वे नौ अवस्थायें कौन कौन सी हैं?"

भगवान् ने कहा—"प्रत्येक प्राणी की ये नौ अवस्थायें ऐसी हैं, जिन्हें सभी जानते हैं। उनमे सर्व प्रथम है गर्भप्रवेश।"

१—गर्भप्रवेश—"माता पिता के रजवीय का संयोग होने से जो गर्भ रह जाता है, उसी समय उसमें जन्म लेने वाला जीव संस्कार रूप से उसमे प्रवेश कर जाता है। यदि संस्कार रूप से प्रवेश न करे तो गभ की वृद्धि ही न हो। अतः गर्भ प्रवेश के अनन्तर गभ वृद्धि होती है।"

२-गर्भ वृद्धि—"गर्भ वृद्धि को सभी जानते हैं आज एक महीने का हुआ, दो महीने का हुआ। ज्यों ज्यों गभ बढता जाता है, माता के उदर की भी वृद्धि होती जाती है। लोग उदर वृद्धि से ही अनुमान लगा लेते हैं इतने दिन का गभ है। जब गर्भ पूर्ण हो जाता है, ९ वें महीने के पश्चात् १०,११ या इससे भी अधिक महीने में उदरस्थ बालक उदर से बाहर आ जाता है, उसे ही जन्म कहते हैं।"

३-जन्म—"गर्भ पूर्ण हो जाने पर प्रसूति मारुत बालक को गर्भ से बाहर फेंकता है। उस समय माता को बडा कष्ट होता है। जैसे तैसे बालक उदर से बाहर मूर्छित होकर निकलता है। जब तक गर्भ में था, तब तक सब लोग उसे गर्भ कहते थे। आठ महीने का गर्भ है, नौ महीने का गर्भ है, गर्भ पूरा हो गया आदि आदि। जब बाहर आ गया तो उसकी बालक सज्ञा हो गयी। अब उसकी गणना के काल को बाल्यकाल कहने लगे।

४-बाल्यावस्था—"जन्म लेने के अनन्तर जब तक बालक खेलता रहता है उसे बाल्यावस्था कहते हैं। सामान्यतया ५ वर्ष तक बाल्यावस्था है। जब पॉच वर्ष से अधिक हो जाता है, कुछ समझने लगता है, लिखने पढने का अभ्यास करने लगता उसे कुमारावस्था कहते हैं।"

५–कौमार—पॉच वर्ष से लेकर पन्द्रह वर्ष की अवस्था का नाम कुमारावस्था है। यह यौवन और बाल्यकाल की अवस्था का मध्य भाग है। इस अवस्था में न तो बाल्यकाल की भॉति अज्ञान ही होता है और न परिपक्व ज्ञान ही। यह उन्नति की अवस्था है। इसके पश्चात् ही युवावस्था आ जाती है।

६–यौवन—पन्द्रह वर्ष से लेकर चालीस वर्ष तक यौवनावस्था है। इन पचास वर्षों को लोग गधा पचीसी भी कहते हैं। इस अवस्था में अंग अङ्ग से उत्साह निकलता है। भोगों की ओर अधिक रुचि रहती है। युवावस्था का मद प्रायः सभी को चढता है, जिसे न चढे वह या तो नपुंसक है या कोई अलौकिक महा पुरुष। फिर वृद्धि रुक जाती है, शरीर की शक्ति क्षीण होने लगती है यह वृद्धावस्था और युवावस्था के मध्य की अवस्था है, इसे प्रौढावस्था कहते हैं।"

७–प्रौढावस्था—"चालीस पैंतालीस वर्ष के पश्चात् इन्द्रियों की शक्ति में ह्रास होने लगता है बाल पकने लगते हैं दॉतों की जडें दुर्बल होने लगती हैं। शरीर में शक्ति रहती है, भोगों को भोगने की सामर्थ्य भी रहती है किन्तु यौवन का सा उत्साह नहीं रहता। उतनी स्फूर्ति नहीं रहती इस अधेड अवस्था में विचार भी प्रौढ हो जाते हैं। ज्यों ज्यों अङ्ग शिथिल होते जाते हैं,

८–वृद्धावस्था—प्रौढावस्था के पश्चात् वृद्धावस्था आती है। साठ पैंसठ वर्ष के पश्चात् सब लोग बुड्ढे बाबा कहने लगते हैं। बाल पक जाते हैं मुख भी पोपला होने लगता है। कडी वस्तु नहीं चबायी जाती। भोग शक्ति भी क्षीण हो जाती है। अब सब उन्हें फूल का वृक्ष, पका फल कहने लगते हैं। जीवन के दिन पूरे करते हैं। पाचन शक्ति मन्द पड जाती है। फिर एक दिन राम नाम सत्य हो जाती है।

९–मृत्यु—जहाँ प्राणों का गति बन्द हुई, जीवात्मा शरीर से

पृथक् हुआ तहाँ सब उस देह को मिट्टी कहने लगते हैं। फिर इस शरीर को घर में नहीं रखते या तो उसे अग्नि में जलाते हैं, या भूमि में गाड देते हैं अथवा जगल या नदी में फेंक आते हैं। ये नौ अवस्थायें शरीर की देखी जाती हैं। जीव तो अपरिवर्तन शील है। वह तो न जन्म लेता है न मरता है और न बालक, कुमार, युवक, अधेड या बूढा ही होता है, ये सब तो इस देह की ही अवस्थायें बतायी गयी हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! फिर यह कौन कहता है, मैं बालक हूँ, युवक हूँ, बूढा हूँ। देह तो जड है वह कहेगा ही क्या?"

भगवान् ने कहा—"कहता तो यह जीव ही है, किन्तु शरीर मे मिथ्याभिनिवेश होने के कारण कहता है। जैसे किसी की घर में अत्यन्त आसक्ति है, उसका घर किसी ने नष्ट कर दिया तो वह रोता हुआ कहता है-मैं तो नष्ट हो गया।" यद्यपि कहने वाले से घर पृथक् है। ईंट पत्थर के घर के नष्ट होने से व' नष्ट नहीं हुआ, किन्तु उसने घर में अपना मिथ्याभिनिवेश स्थापित कर रखा है। उसके नष्ट होने पर अपने को भी नष्ट हुआ मानता है। इसी प्रकार जीवात्मा से शरीर भिन्न है ये ऊची नीची बाल्य कौमार और वृद्धादि अवस्थायें केवल मनोरथ मयी ही हैं फिर भी गुणों के सग से अज्ञान वश इन अवस्थाओं को अपनी मानकर मैं बूढा हूँ मैं युवक हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु, पक्षी, देवता या गन्धर्व हूँ, ऐसा अभिमान करने लगता है। इस अज्ञान के कारण ही नाना योनियों में भटकना पडता है। एक योनि से दूसरी योनि में जाना पडता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तब तो भगवन्! जीव को सदा भटकना ही पडेगा।"

भगवान् ने कहा—"नहीं सदा क्यों भटकना होगा। भटकना

तो तभी तक होगा जब तक अज्ञान है। मिथ्या को अपने सत्य मानकर आरोप किये हुए हैं, जब विवेक हो जायगा और आत्मा की भिन्नता का यथार्थ ज्ञान हो जायगा तो यह आवागमन नष्ट हो जायगा। अपने को इन सब अवस्थाओं से पृथक् अनुभव करने लगेगा।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् विवेक कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—"विवेक होता है विचार से सब घटनाओं को देखकर उसका विचार करो कि इसका परिणाम क्या है। जीवों की नाना गतियों पर विचार करो। देह और देही का विचार करो तब यथार्थ ज्ञान होगा अब मैं तुम्हें इस विषय को आगे समझाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"अब भगवान् जैसे सत् असत् के विवेक का वर्णन करेंगे उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

करै स्वप्नमहँ भेदभाव ज्यों बहु बिधि प्रानी।
त्यों आश्रय करि करण बनै आत्मा अज्ञानी॥
प्रतिपल होवै जनम मरन मूरख नहिँ जानैं।
परिवर्तित तनु होहि अबुध नित नहिँ पहिचानैं॥
गरभ, वृद्धि, उतपत्ति, शिशु, कुमर, युवक, पुनि प्रौढ़ वय।
जरा, मरन नव अवस्था, तनुकी जीव सदा अभय॥

———

सत्-असत् विवेक

[१३०४]

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥

(श्री भा० ११ स्क० २२ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

बोयौ पौधा भयो काटि कें बीज निकारौ ।
द्रष्टा इनतैं पृथक जीव त्यौं तनु तैं न्यारौ ॥
प्रकृति पुरुष को भेद समुझि जे नहीं विचारैं ।
भटकैं योनिनि माँहि, मरैं पुनि पुनि तनु धारैं ॥
चाईं माईं शिशु करैं, कहैं भूमि घूमै फिरै ।
त्यों कर्ता नहि जीव है, भ्रम वश चक्कर महँ परै ॥

एक कहानी है, कि कोई राजा अत्यन्त विषय में फँस गये। उनके गुरु एक दिन आये और बोले—"राजन्! अब आपकी वृद्धावस्था है, आप अपने पुत्र को राज्य देकर तपस्या करने वन चले जाइये।"

राजा ने कहा—"भगवान्! इच्छा तो मैं भी करता हूँ, कि

---

* भगवान् कहते हैं—"उद्धव! जैसे एक बीज है, बो दिया वृक्ष होकर पक गया काट लिया। अब उसकी उत्पत्ति और विनाश को जानने वाला जो व्यक्ति है वह केवल द्रष्टा है साक्षी है, वृक्ष से पृथक् है। वैसे ही इस शरीर का साक्षी आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है।"

किसी प्रकार इस झंझट को छोड़ूं, किन्तु क्या करूं, लोग मुझे छोड़ते नहीं। यद्यपि राजकुमार बड़ा हो गया, फिर भी जब मैं जाने की बात कहता हूँ, तो रोने लगता है। रानी तो मूर्छित ही हो जाती है। प्रजा के लोग भी नहीं चाहते। बूढ़े मन्त्री मर गये हैं, उनके स्थान पर जो उनका पुत्र हुआ है, यद्यपि वह बुद्धिमान है, कार्य कुशल है, कार्य वही देखता है फिर भी वह चाहता है मेरा हाथ उसके ऊपर बना रहे। इन सभी कारणों से मैं तपस्या करने नहीं जा सकता। मुझे कोई छोड़ना ही नहीं चाहता। दूसरों को कष्ट देकर तपस्या करने में क्या लाभ।"

यह सुनकर गुरुदेव चुप हो गये, वे समझ गये राजा विषयों में आसक्त होने से अपने कर्तव्य को भूल गया है। ग्रहण त्याग के लिये किया जाता है। जो इस बात को भूलकर ग्रहण की हुई वस्तु में निरन्तर लिपटा रहता है, स्वेच्छा से उसका परित्याग नहीं करता, तो उसे विवश होकर त्याग करना पड़ता है, स्वेच्छा से त्यागने में सुख है, विवश होकर बलपूर्वक परेच्छा से त्यागने में दुःख है। इस राजा को किसी प्रकार उपदेश देना चाहिये।"

यही सोचकर वे कुछ दूर चले गये। आगे एक पेड़ था उसकी उन्होंने जेट भर ली। और उसे पकड़े रहे। दोपहर को जब वे भोजन करने न आये, तो सब जगह ढूँढ़ मची। लोग राजा के यहाँ आये। राजा ने कहा—"यहाँ से तो वे प्रातःकाल ही चले गये।" किसी ने बताया—"गुरुजी तो उस पेड़ की जेट भरे प्रातःकाल से खड़े हैं।"

यह सुनकर लोग उनके समीप गये, लोगों ने बहुत कहा—"महाराज! घर चलें भोजन करें।"

वे कह देते—"कैसे चलूँ भाई! चलने की इच्छा होने पर भी मैं नहीं चल सकता। मुझे वृक्ष ने पकड़ लिया है।" सब लोग बहुत समझाते, किन्तु पंडितजी किसी की बात मानते ही

नहीं थे। सब समाचार सुनकर राजा भी वहाँ आये और बोले—"गुरुजी! आप वृक्ष को क्यों पकडे हुए हैं, इसे छोड़ दें।"

गुरुजी बोले—"राजन्! मेरी छोड़ने की तो बहुत इच्छा है, किन्तु मेरी इच्छा से क्या होता है, वृक्ष मुझे छोड़े तब तो मैं छोड़ूँ?"

राजा ने हँसकर कहा—"भगवान्! आपही तो वृक्ष को जेट मे भरे हुए हैं। वृक्ष ने आपको कब पकडा है, आप जेट भरना छोड़ दीजिये, तुरन्त उससे पृथक् हो जायँगे।"

गुरुजी ने कहा—"राजन्! गुरु बनकर जो तुम मुझे शिक्षा दे रहे हो, उसे स्वयं ही क्यों नहीं व्यवहार में लाते। राज्य ने तुम्हें पकड़ रखा है या तुमने राज्य को पकड़ रखा है। तुम हृदय से त्याग की भावना करो आज ही छोड़ सकते हो। बँधे तो तुम विषयों में हो, कहते हो—"मुझे प्रजा ने पकड़ रखा है मेरे बिना राज्य न चलेगा।" अरे, किसी के बिना कोई काम रुक सकता है। करने कराने वाले तो श्री हरि है। मनुष्य तो निमित्त मात्र है उसे अपने कर्तव्य से न चूकना चाहिये।"

गुरु की ऐसी शिक्षा सुनकर राजा को ज्ञान हुआ। वे सब छोडकर वन में चले गये।

सूतजी कहते हैं—"इसी सत् असत् के विवेक का उपदेश देते हुए भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! जो जन्मा है वह मरेगा और जो मरा है वह जन्मेगा। इसकी शिक्षा स्वयं ही लेनी चाहिये। अपने जन्म की याद नहीं रहती, किन्तु अपने घर में ही कितने बालकों का जन्म होता है। एक पिता के ही कितने पुत्र होते हैं। पिता को पुत्र पैदा होते देखकर अनुमान लगा लेना चाहिये कि इसी प्रकार कभी हम भी अपने माता पिता से ऐसे ही उत्पन्न हुए होंगे। अपने पिता को सगे सम्बन्धियों को मरते देखकर अनुमान लगाना चाहिये एक दिन

हमारी भी ऐसी ही गति होनी है। फिर विचार करना चाहिये। मृत्यु क्या है। जन्म क्या है। एक शरीर को अहंकार पूर्वक स्वीकार कर लेना जन्म है, पिछले शरीर की बातों को सर्वथा भूल जाना यही मृत्यु है। यह जन्मा यह मरा इसको जानने वाला पृथक् है इसी प्रकार जन्म मरण रूपी धर्मों का ज्ञाता जीव जन्म मरण दोनों से ही रहित केवल साक्षी मात्र है। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त लो।

जैसे एक किसान है। अन्न के बीज लेता है, खेत में बो देता है, उनसे अंकुर होता है, पेड होते हैं, पक जाते हैं काट लेता है। उत्पत्ति और पक कर काट लेना ये दोनों बातें बीज से हुई। इन दोनों का दृष्टा कृषक पृथक् है उत्पत्ति और नाश बीज का हुआ। देखने वाला तो उससे सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार जन्म और मरण यह तो देह की अवस्थाएँ हैं इनका साक्षी जीवात्मा तो इन अवस्थाओं से भिन्न है। वह तो दृष्टा मात्र है। किन्तु जब वह देह मे अहंभाव के कारण अत्यन्त आसक्त हो जाता है, तो जन्म मरणादि अवस्थाओं को अपने मे ही आरोपित करता है।

उद्धवजी ने पूछा—'भगवान्! अहंकार के कारण विमूढ़ सा बना वह अविवेकी जीव कहाँ कहाँ भटकता है? उसे भिन्न भिन्न योनियाँ कैसे प्राप्त होती हैं?"

भगवान् ने कहा—'उद्धव! नित्य शुद्ध आत्मा में तो आना आना बनता ही नहीं। जब देह के संसग से वह कर्मों को अपने किये हुए मानने लगता है, तो उसे उसका फल भी भोगना पडता है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन! जो मिथ्या वस्तु है उसका फल क्यों भोगना पडता है?"

भगवान् ने कहा—"मिथ्या को जो सत्य मान लेता है, तो

उस मिथ्या वस्तु से भी बहुत से काम होते ह। खेतों मे किसान लोग एक लकड़ ाड कर उसे कुता पाहना कर मनुष्य की सी आकृति बना देते है वास्तव में वह मनुष्य नहीं है। किन्तु उस मिथ्या पुरुष को देखकर मृग आदि भाग जाते हैं। रात्रि मे किसी छाया को देखकर भूत का भ्रम हो जाता है जहाँ उसे भूत मान लिया तहाँ उसकी आँखें दाँत तथा अन्य चेष्टायें सत्य सी दिखायी देती हैं। उस मिथ्या छाया से भी भय होता है बहुत से मर भी जाते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

एक व्यक्ति बडा बलवान् था, वह कहा करता था—"मैं भूत आदि किसी को नहीं मानता मेरा भूत क्या कर लेगा।" एक दूसरा युवक था वह बहुत चंचल और हसौड था उसने कहा—"अच्छी बात है जब भूत को देखोगे तब पता चलेगा।"

कुछ काल के पश्चात् उस हसोड लडके ने एक भयंकर रूप बनाया। पैरों में बॉस बॉध लिये विकराल रूप बना लिया और वह बलवान् पुरुष जिस पेड के नीचे सो रहा था उसी पर से रात्रि मे उतरा। उसने उतरते ही हू हू ऐसा शब्द किया। देखते ही उस बलवान् पुरुष को मूर्छा आ गयी और वह कुछ दिनों में मर गया।"

अब देखना यह भूत तो था नहीं, भूत उस हसोड युवक के शरीर में सर्वथा मिथ्या था, किन्तु उससे मृत्यु हो गयी, भय ज्यादा हो गया। छाया पुरुष की उपासना करने वाले छाया पुरुष को प्रत्यक्ष कर लेते हैं और उस छाया पुरुष से बहुत से काम चला लेते हैं। दर्पण मे मुख दीखने वाला मुख सर्वथा मिथ्या है। किन्तु उसे देखकर तिलक लगा लेते हैं, बाल सम्हाल लेते हैं, दाँतों मे, नाक पर, आँखों में मैल हो उसे पोंछ लेते हैं, व्रण आदि देख लेते हैं ये सब काम मिथ्या प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, इसी प्रकार जब जीव मिथ्या देह में अहंभाव कर

लेता है, तो उस मिथ्या आरोप से भी वह जन्म मरण के चक्कर में फँस जाता है। जो आत्मा को प्रकृति से पृथक् नहीं मानता, उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानता। दोनों को एक ही मान कर नियमों मे विमोहित हो जाता है, उसे चौरासी के चक्कर मे फँसना ही पडता है, वह बार बार जन्मता है वह बार बार मरता है। उसे छोटी बडी अनेकों योनियाँ मिलती हैं। कभी देवता बन जाता है, कभी मनुष्य और कभी पशु पक्षी आदि।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! ये ऊँची नीची योनियाँ किस कारण से प्राप्त होती हैं?"

भगवान् ने कहा—"ये प्राप्त होती हैं, त्रिगुणों के अनुसार। जिसके जैसे कर्म होते हैं उसे वैसी ही योनियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जीव के भटकने का कोई कारण नहीं। जब वह अपने को कर्मों का कर्ता मान बैठता है, तो अपने कर्मों के अनुसार आवागमन के चक्र में भटकता रहता है। कर्मों के अनुसार फल चखता है। कर्ता पनेका आनन्द लूटता है। सात्विक कर्म करता है तो देवता आदि योनियों को प्राप्त करता है राजस कर्मों के करने से असुर मनुष्य आदि योनियाँ और तामस कर्मों से भूत प्रेत पिशाच सप आदि तिर्यक् योनियाँ मिलती हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! एक ओर तो आत्मा को निष्क्रिय बता रहे हैं, दूसरी ओर कहते हैं उसे नाना योनियों में जाना पडता है ये जो कर्म हैं सब मन बुद्धि तथा इन्द्रियों के कार्य हैं, इनमें आत्मा लिप्त क्यों हो जाता है, दूसरों के कामों में क्यों कूद पड़ता है।

हँसते हुए भगवान् बोले—"उद्धव! यही तो मेरी माया है। सभी लोग दूसरों के कामों में कूद पडते हैं। किसी की आँख दुखने आई हो तो उसकी लाल लाल आँखों को देखकर हमारी

आँख भी किरकिराने लगती है। किसी को जमुहाई लेते देखकर हमें भी जमुहाई आ जाती है। किसी को रोते देखकर हमारा भी हृदय भर आता है, किसी को हँसते देखकर हम भी हँसने लगते हैं। किसी को नीबू खाते देखकर हमारी जिह्वा से भी पानी छूटने लगता है, किसी को वैषयिक चेष्टा करते देखकर हमारा भी चित्त चंचल हो जाता है, किसी को गाते देखकर हम भी तान तोड़ने लगते हैं, सिर हिलाने लगते हैं, हाथ पैर चलाने लगते हैं। ये सबके सब दूसरों के काम के काम में कूद पड़ते हैं। इसी प्रकार बुद्धि के गुणों को देखकर आत्मा निष्क्रिय होकर भी इसका अनुकरण करने के लिये विवश हो जाता है। वास्तव में आत्मा में कोई दोष नहीं। वह तो विशुद्ध ही बना रहता है, फिर भी लक्षित ऐसा ही होता है, कि जीवात्मा का जन्म होता है, वही मरता

उद्धवजी ने पूछा--"भगवान्! यह कैसे हो सकता है, कि जीवात्मा इतनी योनियों में जन्म ले और फिर विशुद्ध का विशुद्ध बना रहे।"

भगवान् ने बात पर बल देते हुए कहा—"अरे, भाई बार बार तो तुम्हें बता चुके। आत्मा न मरता है न जन्म लेता है। जन्मना मरना ये तो देह के धर्म हैं। उसके संसर्ग से अज्ञानियों को वे आत्मा में ही प्रतीत होते हैं। जैसे हम किसी वेगवती सवारी से जा रहे हैं, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है, ये वृक्ष भी हमारे साथ साथ दौड़ रहे हैं। वास्तव में वृक्ष दौड़ते नहीं, किंतु संसर्ग से ऐसा भ्रम होता है। छोटे छोटे बच्चे चाईं माईं चाईं माईं कह कर घूमते हैं तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, मानों हमारे साथ पृथिवी भी घूम रही है। वास्तव में उन्हें घूमने से ऐसा प्रतीत होता है पृथिवी तो अपने स्थान पर ही है। आँख में उँगली लगाने से दो चन्द्रमा दिखायी देते हैं, किसी सरोवर के

किनारे वृक्ष लगे हुए हैं उनका प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है। जल जब चलता है तो वे प्रतिबिम्बित वृक्ष भी चलते से दिखायी देते हैं। स्वप्न में दीखने वाले पदार्थ मिथ्या हैं, किन्तु स्वप्न में वे सत्य दिखायी देते हैं। मन से कल्पित लड्डू यद्यपि मिथ्या हैं, किन्तु जब एकान्तमें तन्मय होकर उन्हें सोचते हैं तो लड्डुओं का सा ही आनन्द आता है। स्वप्न में खीर मालपुआ रसगुल्ले दीखते हैं। उन्हें खाते हैं तो बड़ा आनन्द आता है। उसी समय तो ऐसा लगता है मानो हम प्रत्यक्ष खा रहे हैं, किन्तु वास्तव में न वहाँ मालपुआ है न खीर और न रस में डूबे हुए लाल लाल गोल गोल रसीले रसगुल्ले ही। जिस प्रकार मिथ्या होने पर वे उस समय सत्य से लगते हैं, वास्तव में वे मिथ्या ही हैं, इसी प्रकार जीवात्मा विषयानुभव रूप संसार सत्य सा प्रतीत होने पर भी वह यथार्थ में मिथ्या है।

उद्धवजी ने पूछा—"तब भगवान्! इस मिथ्या संसार की निवृत्ति कैसे हो?"

भगवान् बोले—"उद्धव! जब तक काल्पनिक भूत से तुम डरते रहोगे, उसकी चेष्टाओं को सत्य समझते रहोगे, तब तक छाया होने पर भी वह भूत का काम करती रहेगी, भय पहुँचाती रहेगी। जैसे स्वप्न में किसी ने देखा—एक बड़ा भारी सिंह आया है उसने पंजों से पकड़ हमें दाँतों से काटना आरम्भ कर दिया है, स्वप्न में ही हम दुखी हो रहे हैं। यद्यपि स्वप्न का सिंह मिथ्या है। उससे होने वाला दुःख भी मिथ्या है, किन्तु उस दुःख से निवृत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक हम स्वप्नावस्था का परित्याग करके जाग्रतावस्था को प्राप्त न कर लें। इसी प्रकार यद्यपि वास्तव में कोई अर्थ है नहीं ये संसारी सभी पदार्थ असत् और नाशवान् हैं, फिर भी जब तक मन विषयों में आसक्त है। संसारी विषयों का भोग बुद्धि से चिन्तन

करता रहता है, तब तक संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती नहीं हो सकती चित्रकला में भी नहीं हो सकती।

उद्धवजी ने कहा—"यही तो भगवन्! मैं पूछ रहा हूँ, कि फिर निवृत्ति हो कैसे?"

भगवान् ने कहा—"देखो, ये जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी भोग हैं इन्हें इन असत् इन्द्रियों से भोगना छोड़ दो। छोड़ क्या दो इनमें आसक्ति मत रखो। यह दृढ़ता के साथ निश्चय कर लो कि ये सब भोग्य पदार्थ असत् हैं, एक मात्र आत्मा ही सत् है। इस सम्पूर्ण संसार-भ्रम को आत्म स्वरूप के अज्ञान से ही भासित समझो। जब एक मात्र आत्मा ही सत् है, तो फिर क्षोभ का चिंता तथा दुःख का क्या कारण है। स्व स्वरूप में स्थित हुए पुरुष को किसी भी घटना से क्षोभ नहीं होता।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! जब कोई हमारा अपमान करता है, गाली देता है, कटु वचन कहता है, तब तो चित्त में क्षोभ हो ही जाता है।"

भगवान् ने कहा—"उसी समय तो विचार करने की आवश्यकता है। उस समय सोचना चाहिये इसने किस वस्तु का अपमान किया किसे गाली दी। जैसा किसी ने हमसे 'साला' कहा। अब सोचना चाहिये कि साला किसे कहते हैं। बहू के भाई का नाम साला है। पहिले सोचे गाली देने वाले के बहू है या नहीं। यदि उसके बहू है ही नहीं तो वह हमारी बहिन होगी कैसे? यदि उसके बहू है, तो सोचना चाहिये बहिन है या नहीं। यदि हमारे बहिन नहीं है, तो फिर बुरा मानने की क्या बात झूठी बात पर क्रोध क्यों? यदि उसके बहू भी है और हमारे बहिन भी है, तो सोचना चाहिये उसकी बहू हमारी बहिन है या नहीं। यदि बहिन है तो सच्ची बात में बुरा क्या

मानना। यदि वह बहिन नहीं है। तो उसे बकने दो, बहुत से लोग झूठ बोलते हैं, उसे भी बोलने दो। फिर हमारे बहिन है तो उसका विवाह किसी के साथ हुआ ही होगा। किसी के साले होंगे ही। जब कोई हमसे साला कहने वाला है ही तो इसमें बुरा मानने की कौन सी बात। आप कहेंगे हम किसी के साले होंगे यह क्यों साला कहता है। तो ससुराल में बहुत से ऐसे लोग होते हैं, जिनके साले नहीं होते वे भी साला कहते हैं और हम हँस जाते हैं। यदि 'साला' शब्द में ही बुराइ है तो वहाँ भी क्रोध करना चाहिये।"

इस पर तुम कह सकते हो—"ससुराल में तो साला प्रेम से कहते हैं, हँसी करते हैं, इसने तो हमारा अपमान किया, हमें नीचा दिखाने को कहा।"

इस पर विचार करो अपमान किसका करता है। शरीर में दो वस्तुएँ हैं शरीर और आत्मा जड तथा चैतन्य। चैतन्य आत्मा तो मान अपमान से रहित एक अद्वय है उसमें तो मान अपमान संभव नहीं। शरीर तो जड है। जड मे क्या मान क्या अपमान। शरीर से जब चैतन्य पृथक हो जाता है, तो इस शरीर को जला देते हैं, फेंक देते हैं इससे बडा और इसका क्या अपमान होगा दो दिन रखा रहे तो सड जायगा कीडे पड जायँगे। ऐसे स्वय अपमानित निंदित शरीर का मान अपमान हा क्या। यही सब सोच विचार कर यदि असाधु पुरुष तिरस्कार करें, तो उसे तिरस्कार न समझना चाहिये। अपमान करें तो उसे सह लेना चाहिये, हँसी करें ता बुरा न मानना चाहिये। निन्दा करे तो हँस जाना चाहिये। मारें तो मार को सह लेना चाहिय। बाँध दें तो चुपचाप बँध जाना चाहिये। आजीविका से पृथक् कर दें तो पेट की चिन्ता न करनी चाहिये। शरीर के

ऊपर थूक दें तो उत्तेजित न होना चाहिये। शरीर पर मल मूत्र त्याग कर दें तो भी मन में रोष न लाना चाहिये।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्। ऐसे अन्याय को चुपचाप कैसे सहा जा सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया सबसे अधिक तो यह जीव ही अन्याय कर रहा है। यह शरीर मिला है, भगवत् चिन्तन के निमित्त, किन्तु इससे करता रहता है सदा सर्वदा विषय चिन्तन। अपने ही कल्याण की चिन्ता करनी चाहिये। अपना कल्याण करने वाला ही जगत् का कल्याण कर सकता है। भीतर की ओर देखने वाला ही सबमें एकत्व का साक्षात् कार कर सकता है। इसीलिये मूर्खों की इन बातों की ओर ध्यान ही न देना चाहिये। अज्ञानियों के द्वारा भाँति भाँति से विचलित किये जाने पर भी अपने धैर्य को न छोड़ना चाहिये। जिसे संसार सागर से पार होने की इच्छा है, जो मोक्ष की इच्छा रखता है उसे स्वयं ही ऐसी कठिनाइयों मे पडने पर अपने आप अपने विवेक विचार द्वारा ही स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिये। संसारी मूर्ख लोग बकते रहे, स्वयं अपने को भगवान् के भजन में लगे रहना चाहिये। श्रद्धा, विश्वास और धैर्य के साथ क्रोध को जीत कर मेरा ही भजन करना चाहिये।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! आपका कथन है तो बहुत ही सत्य। किन्तु भगवन्! जब दुष्ट पुरुष मर्म स्पर्शी विष उगलते हुए अत्यन्त कटु वचन बोलते हैं, तब ये सब ज्ञान की बातें भूल ही जाती हैं। उस समय तो ऐसी इच्छा होती है या तो इसे मार दें या स्वयं ही इससे लडकर मर जायँ। दुष्टों द्वारा अपमानित होने पर भी जिसके मन में कोई विपरीत भाव न उठे ऐसे पुरुषों को मैं अत्यन्त ही दुर्लभ मानता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"भैया! कठिन तो है ही, किन्तु असंभव

नहीं है। यदि मनुष्य स्वस्थ चित्त से अपमान की घटना पर शांत होकर विचार करे तो फिर उसे दुःख नहीं हो सकता।'

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! विचार कैसे करना चाहिये। उस समय क्या सोचना चाहिये। इस विषय को मुझे सरलता के साथ विस्तार पूर्वक बतावें। जिससे मेरी बुद्धि में यह विषय आ जाय।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव इसी बात का विस्तार तो समस्त वेद शास्त्रों में किया गया है। विस्तार के साथ नहीं संक्षेप में मैं तुम्हें सुनाऊँगा।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! अत्यन्त संक्षेप न करें, मेरी अल्प मति है और यह विषय अत्यन्त गहन है। आपके भक्तों के लिये तो कुछ असम्भव है ही नहीं। जो निरन्तर आप के ही धर्मों मे निरत हैं, आपकी ही सेवा पूजा में आठों प्रहर लगे रहते हैं। जिन्होंने आपके चरणारविन्दों का ही आश्रय ग्रहण कर लिया है, उन साधु स्वभाव के सरल शान्त चित्त भक्त तो सब कुछ सह सकते हैं। उनके अतिरिक्त कैसा भी विवेकी क्यों न हो, अपमान से एक बार तो उसे भी क्षोभ हो ही जाता है। करें क्या भगवन्! यह मानव प्रकृति अत्यन्त ही बलवती है। सबका अपमान सहना अत्यन्त कठिन हो जाता है।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, उद्धव! तुम्हारा कथन सत्य है, किन्तु जो मेरा आश्रय लेकर विचार करता है वह सब कुछ सह सकता है। इस विषय में मैं तुम्हें एक इतिहास सुनाता हूँ, उससे तुम समझ सकोगे कि अपमानित होने पर कैसे विचार करना चाहिये कैसे अपमान को सहना चाहिये। इस कथा को तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अब भगवान् जैसे दृष्टान्त

देकर उद्धव को समझायेगें उस कृपण पुरुष के चरित्र को मैं तुम्हे सुनाता हूँ।"

छप्पय

होहि अरथ नहिँ तऊ जगत चिन्तन है अनरथ।
स्वप्न माँहि जो लखै तिन्हें सत् समुझै स्वारथ॥
भ्रम वश भासित होहि सत्य जग कूँ मत जानो।
सल जो कछु कटु कहैं, बुरो ताको मत मानो॥
उद्धव बोले—'प्रभु! नहीं, सह्यो जात अपमान है।
कैसे समदरसी बनैं, हिय महँ बट अज्ञान है॥

एक कृपण की कहानी ।

(१३०५)

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव ।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

हरि हँसि बोले–'सखे ! सहन अपमान कठिन अति ।
वाक्य बानतें बिधे व्यक्ति की बिगरै गति मति ॥
सुनौ एक दृष्टान्त अवन्ती नगरी नामी ।
तामें द्विज इक बसै कृपन अति क्रोधी कामी ॥
भयो नाश धन कृपन को, दान भोग नहिँ कछु करयो ।
हरयो चोर, नृप, स्वजन, खल, जोरि जोरि जो धन धरयो ॥

जिसको व्यसन लग जाता है, वह उसमें अन्धा हो जाता है, उसके गुण दोषों की ओर दृष्टि पात ही नहीं करता । लाग

*उद्धवजी के पूछने पर भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! इस विषय में एक अति पावन प्राचीन इतिहास को ऋषि लोग कहा करते हैं उसी को मैं तुम से कहता हूँ, तुम समाहित चित्त से उसे श्रवण करो ।"

चार कोई उसके दोष बतावे किन्तु वह ध्यान ही नहीं देता। नहीं तो तमाल पत्र को पीने मे खाने में सूँघने में क्या सुख है, किन्तु जिन्हें इन बातों का व्यसन हो जाता है, वे छोड़ नहीं सकते। इसी प्रकार धन को जोड़ने का भी एक व्यसन होता है। धन का उपयोग है दीन दुखियों की सहायता करना, अपना वैभव दिखाना अच्छे अच्छे भोग भोगना, किन्तु कृपण लोग यह सब नहीं करते। उसे जोड जोड़कर रखते जायँगे। न स्वयं खायँगे न शक्ति भर किसी दूसरे को देंगे। यहाँ तक कि अपनी पत्नी से, पुत्रों से सगे सम्बन्धियों से भी छिपावेंगे। उनसे कोई पूछे—"अच्छा, यह बताइये आप इसे जोड जोड़कर क्या करेंगे। यदि आप के पुत्र सुपुत्र हुए तो उन्हें आपके धन की अपेक्षा ही नहीं, वे अपने बाहुबल से विपुल धन कमा लेंगे। यदि कुपुत्र हुए तो कुछ ही दिनों मे उडा देंगे। आपका इसे जोडने से यह लोक परलोक दोनों ही बिगड जायँगे।" किन्तु वे इन बातों को सुनते ही नहीं। द्रव्य व्यय करने मे प्राणान्तक कष्ट होता है, बहुतों के तो धन के पीछे प्राण ही चले जाते हैं, फिर भी वे धन को नहीं बताते। यह बात पुत्र पौत्र वाले घर गृहस्थियो की ही हो सो बात नहीं। जिनके पुत्र, स्त्री, भाई बन्धु कोई नहीं है। घर बार छोड आये हैं, विरक्तों का सा वेष भी बना लिया है, फिर भी जिन्हें संग्रह व्यसन होता है, वे धन को जोड़ जोडकर रखते ही हैं। जो ऐसे धन को जोडते हैं उनके धनका अन्य लोग ही उपभोग करते हैं। वे तो केवल संग्रह करने वाले ही होते हैं। धन नष्ट होने पर जिसे उससे विराग हो जाय उसके मानो पूर्व जन्म के अनन्त पुण्य उदय हो जाते हैं। धन के नष्ट होने पर उसके अशुभ संस्कार भी सब नष्ट हो जाते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से अपमान सहन करने को अत्यन्त कठिन बताया और माना-

पमान में सम बुद्धि कैसे रहे इसका उपाय पूछा, तब भगवान अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उद्धवजी के प्रश्न की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"उद्धव ! यह तो तुमने लोक कल्याणार्थ बड़ा ही उत्तम प्रश्न किया। हे भगवत् भक्तों में अग्रणी ! यह प्रश्न तुम्हारे अनुरूप ही है। तुम जैसे परोपकारी पुरुष ही ऐसे पुण्य प्रद प्रश्न पूछ सकते हैं। साधारण लोगों की बुद्धि में ही यह बात न आवेगी। तुम तो सब कुछ समझते ही हो, किन्तु साधारण मनुष्यों की बुद्धि में भी यह विषय बैठ जाय, इसीलिये तुम पूछ रहे हो। क्यों न हो तुम तो देवताओं के गुरु बृहस्पति जी के शिष्य हो। तुम विद्या बुद्धि में अपने गुरु से न्यून नहीं हो। तुम्हारा कथन सोलहू आने सत्य है, दुर्जनों की दुरुक्ति . वज्र बाणों को सहन करने वाले सज्जन संसार में सर्वत्र नहीं मिलते। लाखों करोड़ों में ऐसे सम बुद्धि, सहन शील, साधु स्वभाव के सज्जन संत मिलते हैं। विष बुझे बाणों के प्रहारों को भी लोग हँसते हँसते सहन कर सकते हैं, किन्तु दुष्ट पुरुषों के मर्म स्पर्शी कठोर वचन रूपी बाणों को सहन करने वाले व्यक्ति विरले ही होते हैं। अपरिचितों का अपमान तो एक बार सहा भी जा सकता है, किन्तु परिचितों द्वारा किया हुआ अपमान तो हृदय में नासूर उत्पन्न कर देता है और उसकी पीड़ा जीवन भर बनी रहती है।

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! परिचितों के दुर्वचनों का इतना प्रभाव क्यों पड़ता है ?"

भगवान् ने कहा—"जहाँ हमें कोई जानता नहीं, वहाँ कोई अपमान कर दे तो प्रायः लोग उसकी उपेक्षा कर देते हैं। सोचते हैं—"इससे हमारा क्या सम्बन्ध न यह हमें जानता है न हम इसे जानते हैं।" किन्तु जब अपने आस पास अपने सम्बन्धी घनिष्ट मित्र आदि होते हैं उस समय बड़ी चोट लगती है।

यथार्थ सहन शीलता की परीक्षा तो तभी होती है। एक महात्मा थे, उसके समीप एक बहुत बड़ा व्यक्ति गया और उसने प्रार्थना की—"महाराज ! मुझे दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लीजिये।"

महात्मा ने कहा—"अभी तुम कुछ काल मेरे समीप रहो, मैं तुम्हारी पात्रता की परीक्षा करूँगा, कि तुम दीक्षा के योग्य हो या नहीं।" यह सुनकर वह महात्मा की सेवा में रहने लगा।

वह राजा की ओर से एक प्रान्त का शासक रह चुका था। महात्माजी ने कहा—"तुम अपना मुंड मुड़ा लो और सबेरे यहाँ से एक एक मुट्ठी अन्न की भीख माँगकर लाया करो।

जिस प्रान्त के वे शासक रह चुके थे, वहीं मुंड मुड़ा कर भीख माँगने जाते। कोई मान करते कोई अपमान भी कर देते, किन्तु वे उन दोनों में ही सम भाव से बने रहते। महात्मा ने जब देखा अपमान से इनके मन में क्षोभ नहीं होता तो उन्हें दीक्षा देकर शिष्य बना लिया।

अपमान होने पर भाग्यवश जिसके मनमें विवेक उत्पन्न हो जाय, उसका तो समझना चाहिये बेड़ा पार ही है। इस विषय में एक बड़ा ही प्राचीन पवित्र इतिहास है, कहो तो मैं तुम्हें उसे सुनाऊँ।"

दीनता के साथ उद्धवजी ने कहा—"प्रभो ! उस पुण्यप्रद पावन इतिहास को मुझे अवश्य सुनावें। दृष्टान्त से विषय भली भाँति समझ में आ जाता है।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! सुनो मैं उस परम पुण्यप्रद इतिहास को सुनाता हूँ, किन्तु तुम मनको इधर उधर मत जाने देना बड़ी सावधानी से समाहित चित्त होकर इसे सुनना। उसमें उसी व्यक्ति का इतिहास है जिसे दुर्जनों ने प्रपीडित किया था और उसे विवेक हो गया था।

यह बहुत पुरानी बात है। सप्त पुण्य प्रदायनी पुरियों में एक

अवन्तिका पुरी भी है। पुण्य सलिला भगवती क्षिप्रा नदी के तट पर अवस्थित यह नगरी उन दिनों परम समृद्धि शालिनी थी। वाणिज्य व्यापार का यह केन्द्र ही बनी हुई थी। उसी प्राचीन नगरी में एक ब्राह्मण रहता था। जन्म से तो वह ब्राह्मण ही था, किन्तु वृत्ति उसने वैश्यों की स्वीकार कर ली थी। ब्राह्मण तो निष्किञ्चन होते हैं, वे तो अपने पास कुछ संचय करते नहीं किन्तु उसे सञ्चय करने का अत्यन्त व्यसन था। लक्ष्मी का निवास व्यापार मे है, इसीलिये वह व्यापार भी करता था और खेती भी कराता था। रात्रि दिन खेती व्यापार की ही चिन्ता में मग्न रहता था। भाग्य उसके अनुकूल था अतः उसे व्यापार में लाभ ही होता था, इससे उसका धन उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और कुछ ही दिनों में वह बड़ा भारी धनाढ्य हो गया। नगरी के बड़े बड़े धनिकों मे उसकी गणना होने लगी। किन्तु वह कृपण ऐसा था, कि एक पैसा भी यथाशक्ति व्यय नहीं करता। एक पैसे की भी कहीं बचत दीखती तो पूरा प्रयत्न करके बचाता। यदि कहीं एक पैसा व्यय होने की संभावना होती, तो वहाँ से दूर ही रहता न तो वह स्वयं पेट भरके अच्छा भोजन खाता न घर वालों को ही खाने देता। उसके यहाँ अन्न की खत्तियाँ भरी रहतीं। जब खत्तियों को खोलता, तो उसमें से अच्छे अच्छे अन्न को बेचकर उसका रुपया बनाकर भूमि में गाड़ देता जो नीचे का सड़ा गला घुना अन्न पोता उसे ही घर में खाने को देता घर वाले कहते—"यह तो सड़ा अन्न है इसमें गन्ध आती है, तो वह कहता—"अन्न देवता का अपमान नहीं करते। अन्न का क्या सड़ा है, धो लो सुखाकर पीस लो। अधिक खाओगे, तो हानि होगी। कम खाओ यह तो अमृत के समान है।' इस प्रकार सब को समझा देता।

साक भाजी लेने को वह स्वयं जाता जब सब लोग साक

साक क्रय कर ले जाते, तो सब के पीछे जाता। जो सडा गला सब से पीछे रह जाता उसी को एक छदाम मे ले आता। घर वालों से कहता—"इसी को बीन बीन कर बना ल।" घर वाले क्या करते। माल टाल तो उसने सब अपने अधीन कर लिया था, किसी को बताता ही नहीं था।

कपडे लेने भी वह स्वयं ही जाता। जो फटे हुए कपडे किसी के काम के नहीं होते उन्हें ही लाता और उनमें थेगरी लगा लगा कर स्वय पहिनता और सभी को पहिनाता। उससे कोई व्यय करने की बात कहता, तो सुनते ही मारे क्रोध के आग बबूला हो जाता वह कामी भी था, किन्तु कोई भी काम की क्रीडा ऐसी नहीं करता जिसमे कुछ धन व्यय हो। धन की रक्षा वह प्राणों से भी अधिक करता था।

परिवार मे किसी के विवाह हो, उत्सव हो, भोज हो मृत्यु हो वह किसी के यहाँ नहीं जाता था। वह सोचता था—'यदि मैं किसी के यहाँ खाने को गया, तो मुझे भी लोगों को खिलाना पडेगा। किसी के विवाह में जायें तो वहाँ कुछ देना पडेगा। किसी की मृत्यु में गये तो वहाँ भी कुछ करना होगा। इन्हीं सब बातों को सोचकर वह किसी के भी यहाँ व्यवहार मे नहीं जाता। उसके जाति के सगे सम्बन्धी उसके यहाँ आ जाने, तो उनसे मुखसे भी नहीं बोलता। भोजन तथा इलायची की तो बात ही पृथक रही। किसी अतिथि को, सगे सम्बन्धी को आते देखना तो खिड गार लेना। दिन भर बैठे हैं, तो बैठे रहें वह दूसरे मार्ग से निक-लता, किसी से भोजन की बात ही न करता। इसीलिये सब ने उसके यहाँ आना छोड दिया था कहावत है—

घर मिन्तर महमान को, इनको यही स्वभाव।
तीन दिना लंघन करे, फेर न देंगे पाँव॥

घर में स्त्री कहती—'आज अमावस्या पूर्णिमा है, किसी को

एक सीधा दे दो। तो वह अत्यन्त क्रोध करके कहता—"दे किसे दें हम तो स्वयं ही ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण का काम दान लेना है। स्त्री कहती—"आज श्वसुर जी का श्राद्ध है, एक ब्राह्मण जिमा दो।"

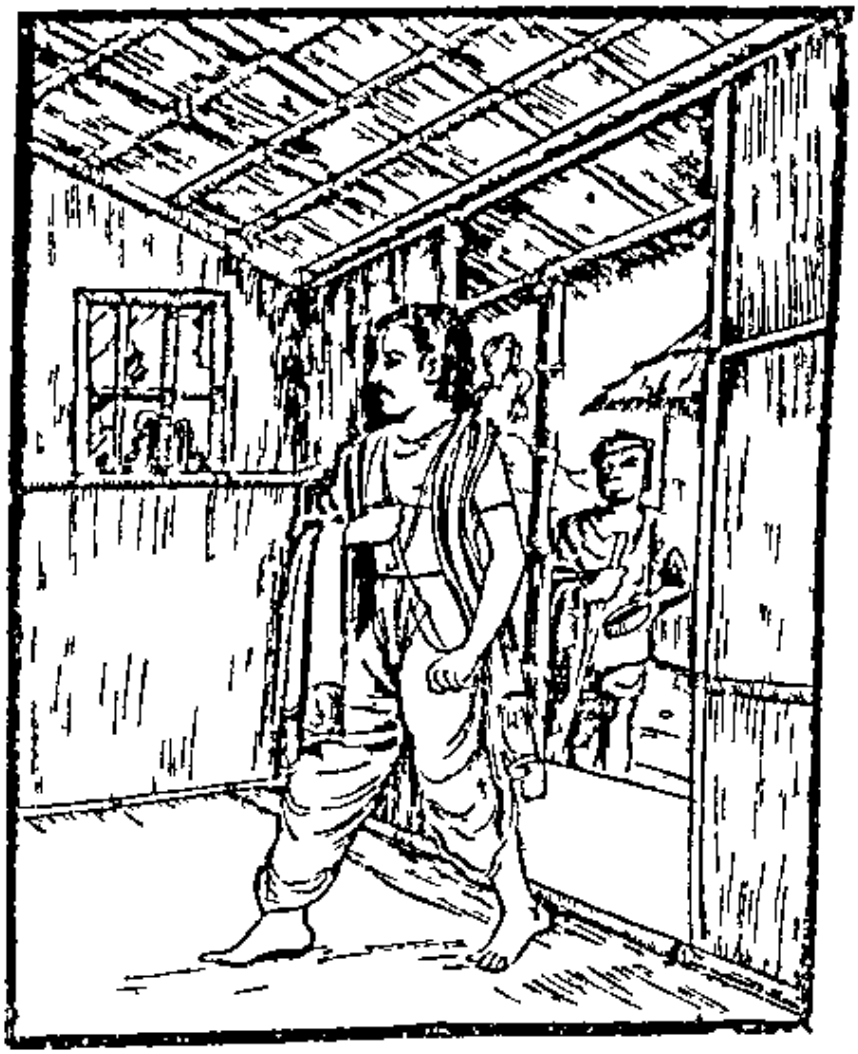

तब वह क्रोध करके कहता—"तू तो भोली भाली है। स्त्री ही ठहरी तुझमें इतनी बुद्धि कहाँ है। ये सब पंडितों की ठग विद्या है। अपने पेट को भरने को ये युक्तियाँ लगा रखी हैं, नहीं तो जो मर गया मर गया। ब्राह्मण को जिमाने से मरे हुए को कैसे मिल जायगा।" यह सुनकर स्त्री चुप हो जाती। इस इस प्रकार वह धर्म कर्म से सदा विहीन ही बना रहता। न तो देवता पितरों के निमित्त से किसी को देता और न स्वयं ही उस

धन का उपभोग करता। उसे निरन्तर यही धुनि लगी रहती कि अब पचास लाख हुए अब साठ लाख हुए। करोड़ होने में कितनी कमी है।

उसके बहुत से पुत्र पुत्री थे। पुत्रों को न तो एक पैसा देता न उन्हें पढ़ाता ही लिखाता घुने चनों की सूखी रोटी देता, इससे वे मन ही मन उससे चिढ़े रहते थे और सोचते थे-"यह कब मरेगा।" लड़कियाँ विवाह योग्य हो गयीं थीं, किन्तु वह विवाह का नाम भी नहीं लेता इसलिये लड़कियाँ मन ही मन उसे सदा कोसती रहती थीं। स्त्री निरन्तर रोती रहती थी। इस धन का ये क्या करेंगे। मेरी लड़कियाँ कितनी बड़ी हो गयी हैं। अभी तक इनका विवाह नहीं हुआ हमारे कुल मे कलंक लग जायगा। लड़के बिना पढ़े रह गये।" किन्तु वह कर ही क्या सकता थी, पराधीन जो थी।

जाति वर्ण के बन्धु बान्धव अपने धनिक स्वजन से कुछ आशा रखते हैं। यह उन सबकी आशा पर पानी फेर देता किसी को दमड़ी भी नहीं देता, इससे बन्धु बान्धव तथा जाति वर्ण वाले भी चिढ़े रहते। नौकर चाकर से भी वह दिन रात काम लेता, उन्हें भी खाने को सड़ा अन्न देता और भाँति भाँति से उन्हें कष्ट देता। इसीलिये वे उसके सम्मुख तो काम करते जहाँ वह दृष्टि के सम्मुख से हटा कि वे तान दुपट्टा सोते। उसका कोई शुभ चिन्तक नहीं था। सभी चाहते थे यह कृपण कब मरे, कब हम इसके शासन से मुक्त हों। वह न देवताओं के निमित्त कभी कोई यज्ञ करता न पितरों के लिये श्राद्ध न ऋषियों के निमित्त कोई कृत्य करता और न आगत अतिथियों का स्वागत सत्कार ही करता तथा न भूतों के लिये भूलकर भी वह बलि देता।

जिससे जो आशा रखता है, जिससे कुछ पाने का जो अपना अधिकार समझता है, यदि उसे कुछ न मिले तो वह क्रुद्ध

हो जाता है। देवता, पितर, ऋषि, अतिथि तथा अन्य छोटे बड़े सभी प्राणी गृहस्थी से आशा रखते हैं। इसी लिये गृहस्थ को पञ्चयज्ञ नित्य करने का विधान है, वह पाँचों यज्ञों मे से एक भी यज्ञ नहीं करता था, इससे उससे पाँचों ही प्रकुपित हो गये।

धन की तीन ही गति हैं। दान, भोग और नाश। देने के नाम पर तो वह किवाड दे लेता था अर्थात् जिस किसी अतिथि याचक को दूर से आते देखा कि तुरन्त किवाड दे दीं। अर्थात् द्वार बन्द करके चले गये। भोगों मे वह कभी कुछ व्यय करता ही नहीं था। जो धन को न भोगता है और न दान धर्म मे व्यय ही करता है उसकी तीसरी गति ही होती है अर्थात् उसका नाश ही हो जाता है। इसलिये धनका कभी भी मोह न करना चाहिये। लक्ष्मी तो चचला है उसका कभी भी विश्वास न करना कि वह स्थिर होकर कहीं रहेगी। अत. घर मे धन बढ जाय, नौका में पानी भर जाय घाव में पीव भर जाय तथा मोरी मे कीच भर जाय, तो उसे तुरन्त निकाल देना चाहिये। ये जमा होकर अनर्थ ही की उत्पत्ति करते हैं। इस बात को वह कृपण ब्राह्मण नहीं समझता था, जैसे यक्ष कुबेर के धन की रक्षा करते रहते हैं, वैसे ही वह केवल धन का रखवाला ही था, उसमें से एक पैसा भी यह व्यय नहीं करता था। दान भोग से रहित धन न तो बुरे कामों में ही जायगा। जो धन को व्यय नहीं करते उन्हें कोई भयंकर रोग हो जाता है, उसमें धन व्यय होता है, चिकित्सक ले जाते हैं। राजद्वार में कोई अभियोग चल जाता है। राज कर्मचारी तथा सम्मतिदाता खा जाते हैं। घर में कोई ऐसा उत्पन्न हो जाता है, जो बुरे कामों मे उसे उडा देता है। धन तो किसी न किसी प्रकार नाश होगा ही उस ब्राह्मण का भी धन इसी प्रकार अब नष्ट होने लगा। क्योंकि उसने देवता तथा पितर आदिकों का अपमान किया था। उसका पूर्व पुण्य क्षीण

हो गया था। अब तक तो वह, नाना कष्ट सहन करके अथक परिश्रम करके इसे एकत्रित करता रहा। जैसे जब सूर्य सिर के ऊपर चढ जाता है, तब उनका पतन आरम्भ होता है, उसी प्रकार संग्रह के अनन्तर व्यय न करने के कारण उसका नाश आरम्भ हुआ।

लडके बडे हो गये थे। उन्होंने एक दिन अपनी माता से कहा—"माँ! पिता जी तो कुछ देते नहीं। हम भी कुछ करना चाहते हैं, किन्तु रुपये पैसे के बिना कैसे काम हो। हमारी बहिनें भी बडी हो गयीं हैं उनका भी विवाह करना है, काम कैसे चले।"

माता ने कहा—"बेटाओ! मैं क्या करूँ, मेरी भी तो वे सुनते नहीं। तुम देखते हो मेरे पास एक भी नयी धोती नहीं। उन्हें तो जमा करने की धुनि है न जाने जमा करके क्या करेंगे?"

लडकों ने कहा—"माँ! एक उपाय तो है तुम आज्ञा दे दो तो हम करें।"

माता ने पूछा—"वह क्या उपाय है?"

लडकों ने कहा—"अब के जब रुपये लावें तब हम उनसे छीन लें।"

माता ने शंकित चित्त से कहा—"अरे बेटा ओ! मार पीट हो जायगी। यह बात अच्छी नहीं। ऐसे छीनना उचित नहीं।"

लडकों ने कहा—"माँ और कोई उपाय ही नहीं। छोटे चाचा की भी यही सम्मति है।"

माँ भी बुढी हुई थी, उसने कहा—"अच्छा भैया! तुम्हें जैसा उचित जान पड़े वैसा करो, किन्तु अपमान न करना।"

लड़कों ने कहा—"न माँ! हम अपमान क्यों करेंगे। हमें तो रुपयों से काम है।"

माता की अनुमति पाकर वे ताड़ लगाते रहे। एक दिन जब वे दश सहस्र रुपये लेकर चुपके से घर में घुसे तो लड़कों ने उन्हें घेर लिया और कहा—"पिता जी! बहिनें बड़ी हो गयीं हैं उनका विवाह करना है।" कुछ रुपया दे दीजिये।"

अत्यन्त क्रोध के साथ वह बोला—'मेरे पास रुपया कहाँ हैं?"

एक ने कहा—"यह आपकी पोटली में क्या है?"

उसने कहा—"कुछ भी हो, तुम से क्या?"

लड़कों ने कहा—"हमें तो रुपया चाहिये।"

उसने कहा—"मेरे पास रुपया नहीं है।"

लड़की ने कहा—"अच्छा, देखें इसमें क्या है। वह बहुत विरोध करता रहा। बड़े लड़के ने उन्हें कसकर पकड़ लिया। दो लड़के रुपयों की गठरी को लेकर चम्पत हुए। वह बहुत बड़बड़ाता रहा, किन्तु राजभय तथा लोगों में बात न फैल जाय, इसलिये कुछ कहा नहीं। मन मार कर बैठ गया। बात तो फैल ही गयी।"

बहुत से चोर तो बहुत दिनों से घात में बैठे थे। किसी प्रकार उन्हें पता चल गया अमुक कोठरी में रुपया गड़ा हुआ है, एक दिन दस बीस मिलकर घर फोड़कर उस कोठरी में घुस गये। उसे खोदकर जो वहाँ मिला उसे लेकर चम्पत हुए। दूसरे दिन जब वह देखने गया, तो वहाँ कुछ भी नहीं भूमि खुदी पड़ी थी हाथ मलकर रह गया। किसी से कहे भी तो किस मुख से कहे। उससे सहानुभूति रखने वाला तो कोई था ही नहीं। सब उसकी हँसी उड़ाते। इसलिये किसी से उसने यह बात कही नहीं।

अब जो लोग कलहोपजीवी हैं, वे चाहते थे, किसी प्रकार इसपर कोई अभियोग चले तो हमें कुछ प्राप्त हो। एक दिन किसी

मूर्ख बलवान् को कुछ लोगों ने सिखा दिया उसने सबके सम्मुख उसे भली भाँति पीटा और राजद्वार में अभियोग भी चला दिया। उससे तो सब चिढ़ते ही थे, किसी ने उसकी साक्षी नहीं दी राजा ने उसको कृपण समझकर बहुत अधिक दंड दिया। राजा के सम्मुख वह क्या करता उतना धन उसे बड़े कष्ट से देना ही पड़ा।

कुछ धन उसने गाड़ कर रखा था न जाने वह कहाँ चला गया। बहुत प्रयत्न करने पर भी उसे वह धन नहीं मिला। कुछ धन उसने गाड़ा था उसका कोयला हो गया। जिन लोगों पर उसका ऋण था, उन्होंने ऋण नहीं दिया। व्यापार में भी उसे बहुत अधिक घाटा हो गया। जिसका देना था उसने इसका राजा की सहायता से सब धन ले लिया घर आदि बिकवा दिया। स्त्री बच्चे तो धन मिलते ही उससे अलग रहकर अपना निर्वाह करने लगे थे। अब इसके पास कुछ भी धन नहीं रह गया। गाँव और घर के लोग इसकी कृपणता के कारण इससे क्रुद्ध रहते थे, किसी की इसके साथ सहानुभूति नहीं थी। अब तक धन रहने से यह किसी की अपेक्षा नहीं रखता था। अब जब इसका सर्वस्व नष्ट हो गया, तो यह कुटुम्बियों से सहायता चाहने लगा। कहावत है अपना ही भात दूसरे का पत्तल में खाया जाता है। जिसने स्वयं कभी दूसरों का दुःख में सहायता नहीं की उसकी भला विपत्ति में कौन सहायता कर सकता है। जहाँ जहाँ भी यह सहायता की आशा से जाता वहीं इसका तिरस्कार होता, लोग हँसी उड़ाते और भाँति भाँति के न कहने योग्य वचन कहते। धर्म उसने कभी किया नहीं जो इसका साथ देता। धन रहते हुए कभी उसने घृत आदि पौष्टिक पदार्थ खाया नहीं जिससे शरीर वृद्धावस्था में काम देता। अब तक धन के उत्साह से काम करता रहा। धन नष्ट होने से उसका शरीर भी शिथिल हो गया। तिरस्कार के

कारण उसकी श्री नष्ट हो गयी। धर्म हीन होने के कारण वह प्रभाव हीन और निस्तेज बन गया। यदि उसने धर्म में कुछ द्रव्य व्यय किया होता, तो उसे सन्तोष भी रहता कि इतना पैसा मेरा सुकृत मे लगा। उसके लिये तो उसका धन चिन्ता और दु:ख का कारण हो गया। अब तो वह बडा ही दुखी तथा चिन्तित रहने लगा। उसका हृदय निरन्तर अग्नि पर पडी धान की भूसी के समान सुलगता रहता था। अन्त करण सतत सतप्त बना रहता। चित्त सदा खिन्न बना रहता। स्वजनों के तिरस्कार से तथा अपनी करतूत के कारण उसके नेत्रों से निरन्तर निराशा से नीर निकलता रहता। कंठ के भरे रहने से वह किसी से बोल नहीं सकता था, किसी से अपने कष्ट को कह भी नहीं सकता था। स्नेहियों के सम्मुख कष्ट को कहने से पेट भर कर रो लेने से हृदय हलका हो जाता है। किन्तु वह किसके सम्मुख रोता, किससे कष्ट की कहानी कहता। कोई भी तो उसके साथ सहानुभूति रखने वाला नहीं था। सभी तो मन ही मन उससे द्वेष करते। सभी तो उसकी विपत्ति से प्रसन्न थे। अब उसकी चिर सगिनी एकमात्र चिन्ता ही थी। जिधर भी आशा करता उधर से ही उसे निराश होना पडता। ऐसी स्थिति में उसे ससार से वैराग्य हो गया। यथार्थ मे अनुभव हो गया, कि यह ससार दु:ख मय है, इससे सुख की आशा रखना मूर्खता है। वैराग्य होते ही उसका चित्त शान्त हो गया उसे मेरी याद आई।

उद्धवजी से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! जीव को कभी भी कैसे भी मेरी याद आ जाय, तो मैं उसका उद्धार कर देता हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! आप ने उस दान धर्म से हीन कृपण ब्राह्मण का उद्धार किया?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, किया! जैसे किया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब आप उस कृपण द्विज-
अभ्युदय की बात सुनिये। उसे वैराग्य कैसे हुआ इसी प्रसङ्ग
मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

भयौ कृपन धन रहित बात अब कोइ न बूझै।
मारयो मारयो फिरै न मारग सुखकर सूझै॥
आशा करिकें जाइ जहाँ तहँ धक्का पावै।
ह्वै चिन्ता महँ ग्रस्त नयन तैं नीर बहावै॥
अब पछितावत कृपन अति, लई भक्त चरननि शरन।
गहि पद गद् गद् कंठ तैं, विकल विलखि बोल्यो वचन॥

———

कृपण को वैराग्य

(१३०६)

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

मैं नहिं कीयो धरम करम कछु द्रव्य कमायो ।
सोऊ सब नसि गयो काम मेरे नहिं आयो ।
कृपननि को धन धरम भोग महँ काम न आवै ।
दुख को कारन बनै लोक परलोक नसावै ॥
धन अर्जन, व्यय, नाश मह श्रम भ्रम, भय, मद, होहि दुख ।
चित चिन्तित सब जन कुढ़ै, कहा द्रव्य मह कौन सुख ।

जिस दुख से दुखहारी दयानिधि याद आवें, जिस दीनता से दीनबन्धु का स्मरण हो, जिस चिन्ता से चितचोर का चिन्तन हो और जिस निर्धनता से निष्किंचनों के परमधन परमेश्वर के पाद पद्मों में प्रेम पैदा हो, तो इन सब को भगवान की परम

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धव जी से कह रहे हैं—'उद्धव ! इस प्रकार उस कृपण की जब समस्त धन राशि नष्ट हो गयी, तब वह खिन्न और संतप्त हो गया, आँखों से अश्रु की धारा बहने लगी, कण्ठ भर आया । इसी दशा में बहुत दिनों तक चिन्ता करते रहने से उस को महान् वैराग्य उत्पन्न हो गया ।

कृपा समझनी चाहिये। प्रायः दुःख में लोगों को पाप सूझता है और उनकी प्रवृत्ति अन्याय के कार्यों में हो जाती है, जिसे दुःख में चिन्ता में कोई भी प्रेमी आश्रय न दे और भगवत् भक्तों की शरण में वह चला जाय, तो समझना चाहिये उसके अनन्त जन्मों के महान् पुण्य उदय हो गये है। भगवत् भक्तों की शरण में जाकर कौन दुखी रह सकता है। उसके लोक परलोक दोनों ही बन जाते हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! उद्धव जी को कृपण विप्र का वृत्तान्त सुनाते हुए भगवान कह रहे हैं—"उद्धव! संसार से लोगों का प्रेम स्वार्थ मूलक होता है सहैतुक होता है। कोई धन के कारण प्रेम करते हैं। जब तक धन रहता है 'तब तक तो कहते रहते हैं, तुम इन्द्र हो', कुबेर हो, वरुण हो इत्यादि इत्यादि जब धन नष्ट हो जाता है, तो वे बात भी नहीं पूछते। बहुत से रूपासक्ति के कारण प्रेम करते है। किसी का सुन्दर रूप देखा, कि उसी की ओर आकर्षित हो जाते हैं। उसके ऊपर सब कुछ निछावर कर देते हैं, वह भी धन के पीछे उससे प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। जहाँ उसका रूप नष्ट हुआ तहाँ उनका प्रेम भी समाप्त हो जाता है, अथवा इनका धन नष्ट हुआ तो वह भी प्रेम नहीं करते। कोई कला से प्रेम करते हैं। किसी का सुन्दर सुरीला कंठ देखा अथवा और कोई कला देखी, प्रेम करने लग गये, वह कला न रही या उसे प्रदर्शित करने की शक्ति न रही तो उनका प्रेम भी नष्ट हो जाता है। एक मात्र मेरे भक्त ही ऐसे है जो केवल हृदय देखकर निस्वार्थ प्रेम करते हैं, कैसा भी दीन दुखिया हो, वे दुखी को धैर्य बँधाते हैं, उनकी दुख सुख की बात पूछते हैं, उनकी योग्यता के अनुसार उसे कल्याण का पथ भी दिखाते हैं, दुःख निवृत्ति के सुख कर उपाय भी बताते हैं। उस कृपण विप्र को भाग्यवश एक भगवद् भक्त के दर्शन हो गये।

धन नष्ट होने पर वह कदर्य ब्राह्मण निरन्तर दुखी रहने लगा। कहीं कुछ खाने को मिल जाता तो खा लेता नहीं तो भूखा ही रह जाता। नयनों से नीर बहाता रहता और किसी को मुख दिखाने में भी वह लजाता था।

एक दिन भूख प्यास से व्याकुल वह एक परम भागवत महात्मा के आश्रम पर पहुँचा। वे महात्मा वैष्णव त्रिदण्डी सन्यासी थे। अत्यन्त खिन्न चित्त भूख प्यास से सतप्त वह महात्मा की कुटी के पास सम्मुख बैठ गया। महात्मा ने जब देखा कि कोई अतिथि उनके द्वार पर बैठा है, तो वे उठे और आकर उससे पूछने लगे—"भैया! तुम कौन हो, इतने उदास क्या हो रहे हो?"

जब से उसका धन नष्ट हुआ था, तब से आज ही सर्व प्रथम उसने इतने सहानुभूति सूचक वचन सुने। उसने विषण्णता भरी वाणी में कहा—"क्या बताऊँ स्वामी जी! मैं लोक वेद से निंदित एक अत्यन्त अभागी पुरुष हूँ।"

महात्मा ने देखा, प्यास के कारण इसका कंठ सूख रहा है भूख से भी यह व्याकुल है, अतः तुरन्त ही भीतर से लाकर उन्होंने भगवान् का प्रसाद दिया। पाने को ठंडा जल दिया। तुलसी मिश्रित प्रसाद को पाकर उसकी भूख ही शान्त नहीं हुई अपितु उसका अन्तःकरण भी शुद्ध हो गया। महात्मा की सहानुभूति और अहैतुकी कृपा पाकर उसका हृदय भर आया। वह महात्मा जी के चरणों में पड़ कर फूट फूट कर रोने लगा। महात्मा जी ने उसे अत्यन्त ही स्नेह से प्रेम पूर्वक पुचकारते हुए कहा—"उठो, भैया! मंगलमय भगवान् सब कल्याण करेंगे। वे तो अशरण शरण हैं दीनानाथ हैं शरणागत वत्सल हैं। तुम मुझे अपना परिचय बताओ, अपने दुःख का कारण सुनाओ तुम कौन हो।"

। रोते रोते कदय ब्राह्मण ने कहा—"भगवन्! मैं एक अत्यन्त
ो नीच द्विजाधम हूँ। मेरा केवल जन्म ही ब्राह्मण वंश में हुआ
है। मैंने धन कमाने के लिये व्यापार कृषि आदि में ही सम्पूर्ण
ामय बिताया है। ब्राह्मण अपने का कोई भी कार्य नहीं किया।'
। महात्मा जी ने कहा—'भैया! धन कमाना कोई बुरी बात
ाड ही है। धन से ही तो धर्म होता है। यज्ञ दान, देवता, ऋषि
था पितरों का तर्पण धन से ही होता है।"
। रोते हुए विप्र ने कहा—'यदि यही होता, तब तो मेरा धन
माना सार्थक ही हो जाता। जिसका धन धार्मिक कामों में लगे
ससे बढ़कर भाग्यशाली संसार में कौन होगा। प्रभो! मेरा धन
ो मेरे लिये दुःख का ही कारण बना। हाय! जिस धन के लिये
नि इतने पाप किये, घर वालों का बुरा बना, लोक निन्दित कह-
ाया। वह धन मेरे किसी भी काम में नहीं आया। न तो उससे
नि यज्ञ याग आदि कराये न भगवान् के मन्दिर का ही निर्माण
राया और न पाठशाला, गोशाला, धर्मशाला, वापी, कूप,
डाग, आराम वाटिका तथा अन्य कोई परोपकार का स्थान बन-
ाया न अपने शरीर के ही सुख भोगे और न कुटुम्ब, परिवार
था जाति वालों का ही कोई हित किया। निरन्तर कमा कमाकर
ाड़ने की चिन्ता में ही लगा रहा।"
महात्मा ने कहा—'अरे, भैया! इतना धन कमाया उससे
छ भी सुख तो तैंने भोगा ही होगा।"
। कृपण ने कहा—"भगवन्! सुख होता है उदारता में। उदार
रुष ही धन के द्वारा सुख का अनुभव करते हैं, कृपण पुरुषों का
। धन से लोक परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं। उन्हें न इस लोक
सुख मिलता है न परलोक में। जब तक वे जीवित रहते हैं,
ब तक कमाने की चिन्ता में निमग्न रहते हैं। मेरा धन नष्ट न
जाय कैसे यह बढ़ता ही जाय, इसी चिन्ता में उन्हें रात रात

भर निद्रा नहीं आती। जब तक जीते हैं सदा संतप्त बने रहते हैं। मर कर नरकों के भीषण दुःखों को भोगते हैं। यदि धर्म किया होता तो संसार में आत्म संतोष होता मरकर स्वर्ग में जाते।

महात्मा ने कहा—"तुमने धनोपाजन ही तो किया। ब्रह्महत्या सुरापान, सुवर्ण चोरी तथा गुरुशैय्या गमन आदि कोई महा पाप तो नहीं किय ?"

कृपण ब्राह्मण ने कहा—भगवन्! मैं समझता हूँ, लोभ से बढ़कर दूसरा कोई भी बड़ा पाप नहीं। लोभ ही सब पापों का मूल है। जितने भी बड़े छोटे पाप होते हैं, सब लोभ के ही कारण होते हैं। लोभी लोभ के वशीभूत होकर कौन सा पाप नहीं कर सकता। मनुष्य में कितने भी गुण हों, यदि उसमें तनिक भी लोभ होता है, तो सब गुड़ गोबर हो जाता है, उसके सब गुण धूलि में मिल जाते हैं। आदमी कितना भी सुन्दर क्यों न हो, यदि उसके शरीर मे तनिक सा भी कुष्ट हो जाता है, तो सब अङ्ग व्यर्थ बन जाता है। कितने भी यशस्वी हो, जहाँ तनिक लोभ किया सब यश अपयश के रूप मे परिणत हो जाता है, कितना भी गुणी हो लोभ के कारण उसके सब गुण नष्ट हो जाते हैं।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा, तुमने धन से धर्म नहीं किया शारीरिक सुख नहीं भोगा यह तो सत्य है, किन्तु तुम्हें आत्म सन्तोष तो रहता ही होगा कि हमने इतना धन एकत्रित कर लिया ?"

ब्राह्मण ने कहा—'न, महाराज ! सन्तोष कहाँ होता है जितना धन बढ़ता जाता है उतना ही कृपणों को लोभ बढ़ जाता है। लाभ से लोभ की वृद्धि होती है।"

धन को पैदा करने में निरन्तर चिन्ता लगी रहती है, कि ऐसा न हो कि हमें व्यापार में घाटा लग जाय, जिसे दें वह लौटावे नहीं। कोई माल बुरा न दे दे। कभी कभी चित्त में विभ्रम

जाता है इसमे धन मिलेगा या नहीं। जैसे तैसे किसी प्रकार धन मिल भी जाय तो फिर असन्तोष बढ़ता है। कैसे इसका दुगुना चौगुना हो, कौन व्यापार करने मे वृद्धि हो। वृद्धि में भी बड़ा परिश्रम करना पड़ता है चिन्ता बनी रहती है, भय तथा भ्रम का सामना करना पड़ता है। यदि बढ़ भी गया तो फिर उसकी रक्षा में निरन्तर शंकित चित्त रहना पड़ता है। चोर न चुरा ले जाय, जिसके पास रखें उसका दिवाला न निकल जाय अन्याय से मार न ले। व्यय करने में तो दुःख होता ही है। हाय! इतना रुपया व्यय हो रहा है। इसे कैसे बचावें। हम भूल तो नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार धन के पैदा करने में, वृद्धि करने में, तथा व्यय करने में दुःख ही दुःख है। धन से बहुत अनर्थ होते हैं, किन्तु मैंने सुना है पन्द्रह अनर्थ तो धन से ही होते हैं।

महात्मा ने पूछा- "अच्छा बताओ कौन कौन से पन्द्रह अनर्थ धन से होते हैं।"

ब्राह्मण ने कहा—'महाराज! मेरे पिता जी बड़े सात्विक वृत्ति के ब्राह्मण थे। मैं ही उनके वंश में न जाने कहाँ से कुपूत पैदा हो गया जब मैं बालक था तब उनके ही मुख से मैंने धन से होने वाले पन्द्रह अनर्थों की बात सुनी थी। धन से पहिला अनर्थ तो होता है चोरी १—चोरीकी धन पैदा करने वाले की सदा ऐसी वृत्ति बनी रहेगी, कि किस प्रकार लोगों को ठग कर द्रव्योपार्जन करे।' बहुत से धन के लोभ से कम से कम तौलते हैं डाँडी मारते हैं। राज कर्मचारी छिपकर उत्कोच (घूस) लेते हैं। सारांश जिसका जैसा क्षेत्र है वह किसी न किसी प्रकार धन के लिये ही चोरी करता है।

२—हिंसा जिनको एक मात्र धन को एकत्रित करने का ही व्यसन होता है, वे उसके लोभ से दूसरों के दुःखों को नहीं देखते। यदि किसी को मरवाने से धन प्राप्त होने की संभावना हो तो वे

उसकी हिंसा भी कर देते हैं। भूख से किसी के बच्चे विकल रहे हैं, उनका उन पर कुछ चाहिये, तो वे बच्चों की चिंता करते उनका सर्वस्व छीन लेते हैं।

३—मिथ्या भाषण धनिक कोई विरला ही ऐसा होगा, सत्यभाषण करे। कोई उनसे पूछे—"आप पर कितना धन है तो कह देंगे—"अजी हम पर धन कहाँ है, किसी प्रकार चला रहे हैं। व्यापार में तो सत्य असत्य दोनों मिले ही रहते धन का लोभी दूसरों की तो बात ही क्या अपनी स्त्री से अ बच्चों से भी सत्य भाषण न करेगा। धन के सम्मुख उसकी दृ में सत्य का कोई महत्व नहीं।"

४—पाखण्ड जो बात हम में हो नहीं उसे प्रकट करने नाम पाखण्ड है। धन के लिये लोग कितने कितने पाखण्ड क हैं, कितने कितने वेष बनाते हैं, इसे सभी जानते हैं। ऊपर त्यागियों का सा वेष बना लेते हैं। धन को तुच्छ और मिथ बताते हैं, लोगों को अपने वाग्जाल में फँसाते हैं किन्तु उनक यह सब करने का एक मात्र उद्देश्य होता है पैसा पैदा करना इस प्रकार धन के लिये लोग अनेकों स्वाँग रचते हैं।

५—काम 'जिसके पास पैसा नहीं, खाने को अन्न नहीं उ काम वासना कैसे उठेगी। जब पेट-भर जाता है, तब काम वास उठती है। धनी प्रायः अत्याधिक कामी होते हैं, क्यों कि क वासना पूर्ति में धन आवश्यक होता है।

६—क्रोध धनिकों की कोई इच्छा पूर्ति नहीं होती कोई उन विरुद्ध बात करता है, तो वे तुरन्त बिगड़ जाते हैं। धन के अभि मान में वे किसी को कुछ समझते नहीं। क्रोधवश सगे सम्बन्धि तक को मरवा देते हैं। उनकी आज्ञा पालन में किसी ने आन कानी की, कि वे आग बबूला हो जाते हैं। उन्हें इस बात क गर्व रहता है कि हम धन के द्वारा सब कुछ कराने में समर्थ हैं।

७—स्मय-स्मय कहते हैं गर्व को। धन के कारण वे सर्वत्र अपने को श्रेष्ठ अनुभव करते हैं। दूसरे निर्धनों को तो वे तृण के समान समझते हैं।

८—अहंकार धनिक कुछ भी कार्य करेगा, ऐसा प्रदर्शन करेगा, यह कार्य मैंने किया। मेरे द्वारा इतने लोगों का पालन होता है। मैं ऐसा न करता, तो यह काम ऐसा हो ही नहीं सकता। अहंकार के कारण वे ही अपने को करने कराने वाला मानने लगते हैं।

९—भेदबुद्धि "धन जहाँ आया नहीं तहाँ तुरन्त भेद बुद्धि हो जाती है। यद्यपि ये हमारे सगे सम्बन्धी हैं, किन्तु ये निर्धन हैं इनके साथ हम नहीं बैठ सकते। यह छोटा है यह बड़ा है। सभी कामों में वे भेद भाव का वर्ताव करने लगते हैं।

१०—वैर धन जहाँ आया नहीं तहाँ वैर भाव बँधा नहीं। एक वस्तु के चाहने वाले जहाँ अनेक हो जाते हैं, वहाँ परस्पर में वैर हो जाता है। धन को तो सभी चाहते हैं। जिन पर धन नहीं है वे मन ही मन धनिकों से कुढ़ते रहते हैं। औरों की तो बात ही क्या घर वाले शत्रु बन जाते हैं, वे भी धन के पीछे वैर भाव करने लगते हैं। किसी पक्षी को मांस लेकर उड़ते देखते हैं, तो दूसरे बिना मांस वाले पक्षी उससे लड़ते रहते हैं और जब तक उसकी चोंच में मांस रहता है तब तक उसका पीछा करते रहते हैं।

११—अविश्वास धनिक सहसा किसी पर विश्वास नहीं करता। उसे चारों ओर ठग ही ठग दिखायी देते हैं। कैसा भी अपना विश्वासी हो धन के पीछे उस पर भी अविश्वास होने लगता है। मित्रता में यह धन बड़ा बाधक है। कोई हमारे अभिन्न मित्र हैं, उन पर कोई विपत्ति पड़ी। वे कुछ ऋण ले गये। उन्हें आशा थी, इतने दिन में आ जायगा, तब दे देंगे। संयोग की बात उतने दिन में नहीं आया। न दे सके, अब मित्रता में ग्रन्थि पड़ गयी। जिस से ले गये थे, वह सोचने लगा—"अरे, इसने

धन के लिये ही इतना प्रेम प्रदर्शित किया था, इसने मुझे ठगा अब उसकी यथार्थ स्थिति से तो वह पूर्णतया परिचित नहीं। धन के पीछे उसका अविश्वास करने लगता है। अतः जिसे अपना विश्वास स्थिर रखना हो उसे चाहिये कि वह द्रव्य का लेन देन न करे।

१२—स्पर्धा धनिकों में होड बहुत लगती है। वैसे चाहें एक पैसा भी व्यय न करेंगे, किन्तु अपने प्रतिस्पर्धी को नीचा दिखाने के लिये चाहें जितना धन उड़ा देंगे। उसने विवाह में एक लाख व्यय किया, तो हम तीन लाख करेंगे। जिस पर पैसा ही नहीं वह किसी से स्पर्धा ही क्या करेगा।

१३—वेश्या संसर्ग धन आने पर कामासक्ति बढ़ जाती है। बुरे स्वभाव की स्त्रियाँ उसे अपने रूप जाल में फँसा लेती हैं। धनी लोगों के आस पास ऐसे लोग घिर जाते है, जो उन्हें बुरे बुरे व्यसनों में लगा देते हैं। धनी पुरुष को जो व्यसन लग गया फिर जब तक उस पर धन है, उसे छोड़ना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

१४—द्यूत जूआ धन से ही खेला जाता है। द्यूत का ऐसा व्यसन है, कि जहाँ एक बार लग गया, तहाँ फिर इसका छूटना परम दुस्त्यज हो जाता है। उसमें यही आशा बनी रहती है, कि अब के मैं अवश्य जीत जाऊँगा। जीतने पर तो उत्साह बढ़ता ही है, हारने पर इससे भी अधिक तन्मयता हो जाती है। जिसके पास धन नहीं है, वह जूआ खेल ही कैसे सकता है।

१५—सुरापान सुख को जब तक नहीं पाते तभी तक उससे विरत रहा जा सकता है। जहाँ दो चार बार उसे पिया तहाँ फिर उसके बिना रहा नहीं जाता यह व्यसन भी धन से ही बढ़ता है।

कृपण ब्राह्मण महात्मा जी से कह रहा है—"इस प्रकार भगवन्! यह अनर्थ की खान है। लोग कहते तो इसे अर्थ हैं, किन्तु

मेरे विचार में यह सर्वथा अनर्थ ही है। ये पन्द्रह दोष धन के ही कारण हुआ करते है। अतः जिसे अपना लोक परलोक बनाना हो, उसे धन की आशा को त्याग देना चाहिये भाग्यवश जो मिल जाय, उसे तुरन्त व्यय कर देना चाहिये।"

महात्मा जी ने पूछा—"अरे भाई! तुम्हारे घर वाले तुम्हारी कुछ सहायता नहीं करते तुम्हारे घर में कौन कौन है।"

ब्राह्मण ने कहा—"सब हैं महाराज। भाई हैं बन्धु हैं, स्त्री है पुत्र हैं पौत्र हैं, किन्तु वे मेरे किस काम के। मैंने उनके साथ कुछ किया होता तो वे भी करते। मैंने उनसे अपना धन छिपाया अब वे मुझे धन क्यों देंगे।"

महात्मा जी ने कहा—'अरे भाई! कुटुम्बियों का तो सहज स्नेह होता है।"

ब्राह्मण बोले—"सहज स्नेह वाले कुटुम्बी भगवन्! विरले ही होते हैं। नहीं तो सब स्वार्थी होते हैं। भाई बन्धु, माता पिता, स्त्री बच्चे तथा अन्यान्य कुटुम्ब परिवार के लोग सुहृद् सम्बन्धी तभी तक घुले मिले रहते हैं जब तक उनके स्वार्थ में व्याघात नहीं होता। जहां उनके स्वार्थ में ठेस लगी, तहां वे सब प्रेम भुला देते हैं। महाराज! अधिक धन की बात तो पृथक् रही थोड़े कौड़ी के कारण अपने लोग पराये बन जाते हैं आपस में शत्रु का भाव रखने लगते हैं।"

महात्मा जी ने कहा—"अरे, भाई! पुत्र तो अपनी आत्मा ही हैं, पुत्रों को कुछ भी मोह नहीं होता।"

कृपण ब्राह्मण बोला—"महाराज! ये पुत्र पौत्र सब मांस चौंथने वाले होते हैं। जब तक इनके लिये कमाते रहो, तब तक बाबू जी बाबू जी करते रहते हैं। जहाँ कमाने में असमर्थ हुए—वृद्धावस्था आई—वहाँ अपने ही बनाये घर से वे निकाल देते हैं। द्वार पर कुत्ता रखाने का काम सौंप देते हैं। कुत्तों का सा व्यवहार

करते हैं। यदि अपने पास धन हो उन्हें न दो तो तनिक से धन के पीछे क्षुब्ध होते हैं, मन ही मन अनिष्ट सोचते हैं। मेरे लड़कों ने ही डाकुओं की भाँति मुझे पकड़ कर मेरा धन छीन लिया। अब मेरे ही धन से आनन्द उड़ा रहे हैं, मैं यहाँ मारा मारा फिर रहा हूँ। यह धन इतनी बुरी वस्तु है कि इसके पीछे मनुष्य न करने योग्य कामों को भी कर डालता है। जहाँ अपना स्वार्थ सिद्ध न हुआ, तहाँ बड़े से बड़े प्रेमी क्रुद्ध हो जाते हैं, समस्त प्रेम भाव को तिलाञ्जलि दे देते हैं। स्पर्धा करने लगते हैं और सर्व नाश करने पर उतारू हो जाते हैं। मुझे तो भगवन्! इन सभी बातों का अत्यन्त ही कटु अनुभव है।"

हँसकर महात्मा जी बोले—"तुम ब्राह्मण होकर धन के चक्कर में क्यों फँस गये। ब्राह्मणों का धन तो तप ही है। इसी लिये ब्राह्मण तपोधन कहाते हैं।"

अत्यन्त ही आत्मग्लानि के स्वर में ब्राह्मण ने कहा—"क्या बताऊँ भगवन्! मेरी कुमति थी। ब्राह्मण शरीर तो अत्यन्त ही भाग्य से प्राप्त होता है। यह मनुष्य शरीर ही अत्यन्त दुर्लभ है। देवता भी इस शरीर की इच्छा करते हैं। इस मनुष्य शरीर को पाकर भी मैंने मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं किया। ब्राह्मण होकर भी मैं जड़ पदार्थों में ही फँसा रहा। हाय! मैंने अपना सर्वनाश अपने ही हाथ कर डाला। मैं सच्चे स्वार्थ को छोड़कर तुच्छ स्वार्थ में ही भूला रहा। न जाने अब मेरी क्या दुर्गति होगी, किस महानीच गति को मैं प्राप्त होऊँगा।"

महात्मा जी ने कहा—"भैया! भविष्य का किसे पता है, क्या हो। न जाने भगवान् तुम्हारे ऊपर कृपा ही कर दें। तुम्हें सुगति ही प्राप्त हो जाय।"

ब्राह्मण ने कहा—"भगवन्! जन्म जन्मान्तरों की बातें चाहे न भी ज्ञात हों किन्तु तीन जन्मों की बातें तो सभी

को विदित रहती हैं। इस जन्म में मैंने कृपणता की, किसी को कुछ दिया नहीं न देवताओं का पूजन किया न ऋषियों का सम्मान, पितरों के निमित्त श्राद्ध तर्पण भी नहीं किया, अन्य प्राणियों के प्रति भी प्रेम प्रदर्शित नहीं किया, कुटुम्ब परिवार तथा जाति वालों की सहायता नहीं की। और भी जो धन के भागी माने जाते हैं, उन्हें स्वेच्छा से कुछ भी नहीं दिया। इन कारणों से ये सब के सब असन्तुष्ट हो गये अनुमान लगाया जाता है, कि पूर्व जन्म में मैंने कोई पुण्य कर्म नहीं किया। पुण्य कर्म किये होते, तो इस जन्म में दानादि देने में मेरी स्वाभाविक रुचि होती। इस जन्म में कुछ करते तो अगले जन्म में मिलता। इस जन्म में मैंने कुछ किया नहीं यक्ष के समान केवल धन की रक्षा में ही सदा लगा रहा। इस लिये मेरी अधोगति तो होगी ही। स्वर्ग और अपवर्ग के द्वार रूप इस मानव तन को पाकर भी जो अनर्थों के आश्रय भूत धन की रक्षा में लगा रहता है दान, पुण्य तथा अन्यान्य शुभ कर्म नहीं करता, वह दूसरे जन्म में सर्प बनता है और उस धन पर बैठा रह कर उसकी रक्षा करता है।"

महात्मा जी ने कहा—'तो अरे, भैया! अभी तेरा क्या बिगड़ा है? बीती ताहि बिसार दे आगे की सुधि लेउ।" अभी से पुण्य धर्म करने लग जाओ।"

अवहेलना के स्वर में ब्राह्मण ने कहा—"अजी, स्वामी जी। बूढ़े, तोता कहीं पढ़ते हैं। महाराज! जब घर में आग लग जाय, तब कुआ खोद कर आग बुझाई जा सकती है। परमार्थ साधन तो तभी तक किया जा सकता है, जब तक शरीर निरोग हो, इन्द्रियाँ शिथिल न पड़ी हो, वृद्धावस्था न आई हो। बूढ़े बैल से बोझ नहीं उठता। मैंने अपना सुवर्ण समय प्रमाद में लोभ में मोह में खो दिया। जब मेरा साधन करने का समय था उसे तो मैंने उन्माद में खो दिया। बल पुरुषार्थ क्षीण हो गया। उसी

अवस्था में विवेकी पुरुष साधन सम्पन्न हो कर सिद्धि लाभ करते हैं। यह समय तो मेरा अनर्थ रूप इस अर्थ के संचय में व्यतीत हो गया। अब इस वृद्धावस्था में क्या साधन कर सकता हूँ।"

महात्मा ने कहा—"भैया! तुम इतना सब जानते हुए भी धन के संग्रह में इतने व्यस्त क्यों हो गये?

दुःख के साथ ब्राह्मण ने कहा—"यही तो भगवान् की अत्यन्त मोहिनी माया है। जानकर भी लोग अज्ञानी बन जाते हैं। जो सब अनर्थों का मूल है उसे ही सर्व समझते हैं। मूर्ख ऐसा करें तो उनका अज्ञान ही माना जायगा, किन्तु मैं सोचता हूँ, कि विवेकी पुरुष धन की व्यर्थ तृष्णा से निरन्तर क्यों सन्तप्त रहते हैं। महाराज! सोचने की बात यह है, कि इस शरीर का विश्वास नहीं आज है, क्षण भर में नष्ट हो जाय। यही दशा धन की है। आज जो करोड़ पति है, कल वही द्वार द्वार का भिखारी बन जाता है। लोग धन के लिये इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देवताओं की आराधना करते हैं, वे देवता भी सदा दुखी बने रहते हैं, दूसरों को तप करते देखकर उनके हृदय में जलन होने लगती है। बहुत से लोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये भाँति भाँति के कर्म करते हैं, किन्तु आज तक समस्त कामनायें किस की पूरी हुई हैं। मैंने इतना धन पैदा किया इससे मुझे क्लेश के अतिरिक्त और क्या मिला।"

महात्मा ने कहा—"भैया! तुम बड़े दुखी हो, तुम पर कोई दैवी कोप हो गया, जो तुम्हारी ऐसी दुर्दशा हो गयी।"

उसने इतनी देर महात्मा से बातें की थीं। भगवान का प्रसाद [illegible] था, अत्यन्त दुःखों से उसका हृदय पक गया था, महात्मा के प्रेम को [illegible] वह पका हृदय फूट गया। परमात्मरूपी औषधि से उसे शान्ति हुई अतः वह बोला—"प्रभो! इसे तो मैं उन सर्वमय श्रीहरि का परम अनुग्रह ही समझता हूँ। यदि मेरा धन

नष्ट न हुआ होता, तो मैं पाप पंक में फँसा ही रहता। धन के लिये न जाने और क्या क्या अनर्थ करता। भगवान् ने बड़ी कृपा की जो मुझे इस दशा में पहुँचा दिया। यह जो मुझे हृदय से पश्चात्ताप हो रहा है, अपने असत कर्मों पर ग्लानि हो रही है, संसार से जो निर्वेद हो रहा है। यही मुझ संसार सागर में डूबते हुए को सहारा हो जायगा। यह पश्चात्ताप ही मुझे पार लगाने के लिये नौका का काम देगा।

महात्मा जी ने पूछा—"तो तुमने अब निश्चय क्या किया है?"

कृपण विप्र ने कहा—"भगवन्! मेरे निश्चय से क्या होगा आप कृपा करें, तभी सब कुछ हो सकता है। भगवान् की अनुग्रह हुई और मेरी आयु शेष रही, तो अपने समस्त धर्म साधनों से सावधान और सन्तुष्ट चित्त से रह कर घोर तपस्या करूँगा। और तपस्या करते करते इस शरीर को सुखा कर अपने पूर्व पापों का प्रायश्चित करूँगा।

महात्मा जी ने कहा—"भाई, तुम्हारी आयु तो अब थोड़ी ही शेष है।"

ब्राह्मण बोला—"महाराज! आप कृपा करें और देवता मेरे इस संकल्प का अनुमोदन करें तो मैं इस थोड़े ही समय में सब कुछ कर सकता हूँ। महाराज खट्वांग ने तो मुहूर्त भर में ही ब्रह्म-लोक को प्राप्त कर लिया था। मेरी तो अभी कुछ भी शेष है।"

महात्माजी ने पूछा—"अच्छा, तो तुम क्या चाहते हो?"

कृपण विप्र ने कहा—'प्रभो! मुझे अब अपनी शरण में ले लें। मुझे सन्यास की दीक्षा दें। अब मैं संसार से ऊब गया हूँ।"

भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव! जब उस ब्राह्मण ने महात्मा की शरण ग्रहण की तो महात्मा ने उस पर कृपा की। उसका दृढ़ निश्चय समझकर उसे

सन्यास की दीक्षा दी और वह त्रिदण्डी मौनी भिक्षु सन्यासी बन गया। सन्यासी होकर उसने जैसी सहन शीलता दिखायी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! अब आप उस कदर्य ब्राह्मण श्रेष्ठ की सहनशीलता की बात को ध्यान पूर्वक दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

चोरी, जारी, काम, क्रोध, मिथ्या भाषन अति।
अस्मय, मद, पाखण्ड वैर अरु भेद व्यसन मति॥
इस्पर्धा, विश्वासहीनता, हिंसा, अनरथ।
होहि अर्थ त सकल सधै का धन तें स्वारथ॥
सब व्यसननि को जनक धन, तृस्ना अब नहिं करुंगा।
करै कृपा करुनायतन, ता सब तजि हरि भजुंगा॥

कृपण सन्यासी की सहन शीलता

(१३०७)

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूत मसज्जनाः ।
दृष्ट्वा पर्यभवन्भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः ॥

(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

यों निश्चय करि विप्र भयो दण्डी सन्यासी ।
प्रान, करन, मन साधि बन्यो भगवत विश्वासी ॥
भिक्षा कूँ जब जाइ करैं अपमान असज्जन ।
छीनैं कन्था, दण्ड, कमण्डलु, माला, आसन ॥
करन लगे भिक्षा जबहिँ, त्यागि देहिँ मल मूत्र खल ।
देहिँ विविधि विधि यातना, तऊ न होवै द्विज विकल ॥

ससार मे दुष्ट जन न हों, तो सज्जनों की सज्जनता की परीक्षा कैसे हो। विपत्तियाँ न हों, तो धैर्य की परीक्षा कैसे हो। अग्नि न हो तो सुवर्ण की परीक्षा कैसे हो ? अग्निदेव सुवर्ण की शुद्धता को बताते ही नहीं हैं, अपितु उसके मल का भक्षण भी कर जाते हैं। इसी प्रकार दुष्ट जन सज्जनों की सज्जनता को ही सिद्ध नहीं

---

* श्री भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! इस प्रकार जब वह कृपण विप्र सन्यासी बन गया, तो उस वृद्ध अवधूत भिक्षु को देखकर दुष्ट पुरुष भाँति भाँति से उसका अपमान करने लगे।"

करते अपितु उनके पापों को भी ले लेते हैं। जो दूसरों के गुणों की प्रशंसा करता है, उस प्रशंसक पर उनके गुण आ जाते हैं, इसी प्रकार जो किसी की निंदा करते हैं, तो निंदक उसके चौथाई पापों का लेता है। किसी के वस्त्र को कोई धोवे तो उस धोने वाले को पारिश्रमिक भी तो मिलता है। किसी के फलों को कोई तोड़े शुद्ध करे तो उसे कुछ फल दे दिये जाते हैं किसी के अन्न का काटे या उसको शुद्ध करे तो कुछ अन्न उसे मिलता है। इसी प्रकार जो किसी की निंदा करके उसके पापों को धोता है उसे भी कुछ पापों का भागीदार बनना पड़ता है। अतः परमार्थ पथ के पथिक को न तो निन्दकों की निन्दा ही करनी चाहिये और न उन्हें अपना शत्रु ही समझना चाहिये। निन्दकतो हमारे हितैषी हैं, वे निन्दा करके हमें कष्ट पहुँचाकर हमारे हृदय का भी शुद्ध करते हैं और स्वयं पाप के भागी बनते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब वह ब्राह्मण अत्यन्त दुखी हुआ और धन से होने वाले अनर्थों से भलीभाँति परिचित हो गया, तो उसने उन महात्मा से सन्यास की दीक्षा ले ली। इसी कथा को चालू रखते हुए भगवान् श्री कृष्ण चन्द्रजी श्री उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! जब उस कृपण विप्र ने अत्यन्त दुखी होकर बड़ी दीनता के साथ उन वैष्णव महात्मा की शरण ली, तब उन्होंने अपने योग बल से समझ लिया, कि इसे वास्तविक पश्चात्ताप है, हृदय से वैराग्य है। अब यह भजन करने का अधिकारी हो गया। कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो, कैसे भी महा घोर पाप उसने किये हों, यदि वह सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करके प्रभु की शरण में आ जाता है, तो वह परम साधु हो जाता है। फिर उसके उद्धार में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। इसे हृदय से अपने कुकृत्यों पर आत्मग्लानि है। इसे मैं सन्यास धर्म में दीक्षित करूँगा।" ऐसा निश्चय करके महात्माजी ने उसे

वैष्णवों की विधि से सन्यास की दीक्षा दी। शरीर, वाणी और मन इन तीनों दण्डों के प्रतीक रूप तीन दण्ड उसे विधिवत दिये। इससे वह त्रिदण्डी सन्यासी बन गया। त्रिदण्डी सन्यासी बनकर ब्राह्मण ने अपने गुरुदेव से पूछा—"प्रभो! मैं क्या करूँ?'

महात्मा ने कहा—"देख, तू मौन व्रत धारणकर ले। कलह, लड़ाई भिड़ाई की जड़ तो सांसारिक बातें करना ही है। तू भगवान् के सुमधुर नामों के अतिरिक्त कोई संसारी बात किसी से मत करना। कोई कितना भी बुरा भला कहे तू मन में विषम भाव मत लाना। तुझे लोग मारें पीटें भी तो भी तू उनका अपकार न करना। गृहस्थियों के घरों में जाकर वहाँ से भिक्षा माँग कर उसी पर निर्वाह करना। कोई सम्मान से दे, तो उसकी प्रशंसा मत करना। कोई अपमान के साथ घृणापूर्वक दे।' न दे और उलटे कटु वचन सुनावे, तो इन बातों से रोष भी मत करना। सहनशीलता में ही साधुता है। क्षमा ही साधुओं का भूषण है। अपने से किसी को उद्वेग न पहुँचे। स्वभावानुसार जो पीड़ा देता है उसे प्रारब्ध का भोग समझ कर सहन करना।

अपने गुरुदेव के मुख से ऐसी शिक्षा श्रवण करके वह सन्यासी ब्राह्मण मन, इन्द्रियों और प्राणों का संयम करके, सब ओर से अनासक्त होकर विरक्त वैष्णवों की भांति पृथिवी पर विचरण करने लगा। सत्पात्र गृहस्थियों के घर से भिक्षा ले आता, नदी के किनारे उसे धोकर पा लेता और मौन रहकर सदा ही चिंतन करता रहता। कुछ काल घूम फिर कर वह फिर उज्जैनी में ही आ गया। अब जब सब लोगों ने उसे सन्यासी के वेष में देखा, तो सब ठहाका मारकर हँसने लगे। लोग कहने लगे:—

"नारि मुई घर सपति नासी। मूड मुड़ाइ भये सन्यासी।"
देखो, अब इसने कैसा ढोंग बनाया है। अब धन कमाने के इसने दूसरा ही उपाय सोचा है।

कोई कहता—'अरे, भैया!"

'करें चाकरी आवै चोट। सबसे भले भीख के रोट।"

अब बूढ़ा हुआ बाबा जी बन गया।

कोई कहता—'अरे, भैया! चार पैसा देकर मूड मुडाने में बड़े बड़े गुण हैं।"

'मूड मुडाय तीन गुण, सिर की मिटि जाय खान।
खान को पूआ मिलें, लोग कहे महारान॥"

दूसरा बोला—'अरे! भैया, यह साधु वेष बड़ा सरल है। इसमें सभी पाप छिप जाते हैं। कल तक जो महा ठग, लुच्चा, चोर, उठाईगीर है आज उसने थैले का गेरू मँगाकर कपड़े रंग लिये। स्वामी जी बन गये। होठों को चलाते रहो। लोग समझेंगे स्वामी जी भजन कर रहे हैं, किन्तु स्वामी जी का भजन दूसरा है —

राम नाम जपना। पराया माल अपना॥

गेरुआ कपड़ा पहिन लो, किसी भी जाति का क्यों न हो सबसे पैर छुआ लेगा। इसीलिये लोग कह देते हैं —

धुरी दबाई और मुडे बाबाजी की क्या जाति।

इस कृपण को ही देखो, कल तक तो छदाम छदाम पर प्राण देता था। इसका सिद्धान्त था 'चाम भले ही चला जाय, दाम न जाय।' वही आज त्रिदण्डी सन्यासी बन गया है। भीख माँगने के लिये अच्छा वेष बना लिया। कुछ खायगा कुछ जोड़कर रख जायगा। कृपण कैसा भी साधु बन जाय उसका स्वभाव थोड़े ही बदलेगा। और कुछ न मिलेगा, रोटी ही बेंचेगा।

कुछ लोगों ने कहा—"अच्छा उसकी परीक्षा लेनी चाहिये

कि इसने ढोंग ही बना लिया है या इसमें कुछ त्याग वैराग्य भी है।'

इस पर दूसरा जरैला बोला—"अरे, परीक्षा करी करायी है, जब कहीं ठिकाना न लगा तो उसने यह वेष बना लिया, इसमें खाने को भी मिलेगा।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें दूसरों की निन्दा किये बिना भोजन ही नहीं पचता। वे केवल दूसरों की निन्दा करके ही अपने समय को काट लेते हैं। किसी से छेड़खानी नहीं करते। दूसरे दुष्ट ऐसे होते हैं, जिन्हें दूसरों को दुख देने में ही आनन्द आता है। वे अपने आनन्द के लिये दो जीवों को लड़ा देते हैं, दूसरों के घरों में आग लगा देते हैं, दूसरों के जीवन को नष्ट कर देते हैं। ऐसे खल सर्वत्र पाये जाते हैं।"

यह ब्राह्मण वृद्ध हो गया था, इसे हृदय से अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप हो गया था। धन की आशा इसकी नष्ट हो गई थी। बोलना इसने बन्द कर दिया था। मन और प्राणों का संयम करके वह मन ही मन गुरुमन्त्र का चिन्तन करता रहता और भिक्षा पर ही अपना निर्वाह करता। किन्तु दुष्ट लोग उसे दुख देने लगे।

वह अपने दण्ड कमण्डलु आदि लिये हुए जा रहा है, किसी ने उसका दण्ड ही छीन लिया। अब वह चुपचाप बैठा है। दूसरे कह रहे हैं—"अरे, भैया! दे दो, क्यों इसको दुख देते हो। इसी के सहारे तो यह माँगता खाता है।"

फिर कोई बोल उठता—"अरे इन बाँस के डंडों से क्या होगा। बाबाजी का कमण्डलु बड़ा अच्छा है, मैं तो इसमें भर-कर दूध पिया करूँगा।" यह कहकर कोई उसके कमण्डलु को ही लेकर भाग जाता।

कोई आसन को लेकर कहता—"कहो, बाबाजी! यह कहाँ से उड़ाया? यह तो हमारे योग्य है।" ऐसा कहकर वह आसन को लेकर भाग जाता।"

कोई उनकी रुद्राक्ष की माला को देखकर कहता—"बाबाजी! हमें भी चेला बना लो यह माला तो बड़ी सुन्दर है। लाओ, हम भी भजन करेंगे।" यह कहकर वह उनसे माला छीन लेता। कुछ देर तक उसे झूठमूठ घुमाता फिर खीसा में रखकर चल देता।"

कोई उनके भिक्षा के काष्ठपात्र को ही उठाकर नौ दो ग्यारह होता। कोई उनकी गुदड़ी को ही लेकर चंपत हो जाता। कोई उनके कटिवस्त्र को उठा ले जाता और कुछ दूर जाकर फिर लौट आता और कहता—"अच्छा, तुम महात्मा हो, तुम्हारा रंगा वस्त्र हम क्या लें। जब घर छोड़कर तुम्हारे शिष्य बनेंगे तब ले लेंगे। लो, इसे ले लो।" ऐसा कह कर वह देने लगता। वह सन्यासी विप्र ज्यों ही लेने जाता त्यों ही बिना दिये उन्हें चिढ़ाकर वह फिर भाग जाता। इस प्रकार उसकी विविध भाँति से हँसी करने लगे।"

कोई उसी की भाँति कमर लचाकर झूठा दण्ड बनाकर उसका अनुकरण करता। कोई पूछता—"बाबाजी! कितना धन कमा लिया है, सच सच बताना, मिथ्या भाषण मत करना। कोई कहता—"बाबाजी! अपनी ब्राह्मणी को भी सन्यासिनी बना लो। दोनों को अधिक भिक्षा मिलेगी।" इस प्रकार सब उससे कहने न कहने योग्य सभी भाँति की बातें कह देते। वे तो मौनी ही थे, किसी की बात का वे कभी उत्तर ही न देते थे।

जब वे भिक्षा लेने जाते, तब दुष्ट लोग भाँति भाँति यातनायें देते। जैसे तैसे लोगों की आँखें बचा कर वे भि

माँग भी लाते, तो लोग उन्हें भिक्षा पाने के स्थान मे अकार दु:ख देते। वे भिक्षा माँगकर नदी के तट पर आते। भिक्षा पर ही निर्वाह करने वाले यतियों का नियम है, कि वे खट्टा, माठा, चरपरा तथा और भी जैसा अन्न भिक्षा में मिले, सबको एक ही झोली में ले। फिर उसे नदी तट पर ले जाय तीन बार उस भिक्षा की झोली को जल म डुबावे जिससे खट्टा, माठा सब एक स्वाद हो जाय, तब गौ आदि का भाग निकालकर भिक्षान्न को अमृत क समान समझकर प्रेम पूर्वक पावे। उसमें से रात्रि के लिये शेष न रखे।

वे भिक्षुक ब्राह्मण यति ऐसा करते थे। जब भिक्षा माँगकर उसे नदी तट पर पाने जाते, तो दुष्ट लोग वहाँ भी उनका पीछा न छोडते। जाकर कहते—'बाबाजी! तनिक भिक्षा हमको भी दे दो। अकेले ही अकेले ऐसे सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थों का उडाना उचित नहीं।" अब वे कहते क्या? चुप हो जाते। बहुत कहते तो एक रोटी दे देते। तब दुष्ट लोग उस रोटी को लौटा देते और कहते—"अच्छा लो, हम भी तुम्हें भिक्षा देते हैं। सन्यासी को भिक्षा देने क पश्चात् हाथ पर आचमनीय जल देना चाहये। लो, जल भी ले लो। यह कह कर उनके ऊपर मूत देते। कुछ दुष्ट लोग आकर उनके ऊपर मल ही त्याग देते। कुछ लोग हँसते हँसते आते और उनके ऊपर थूक देते।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! दुष्ट लोग ऐसे काम क्यों करते थे? इन कामों से उन्हें तो कोई लाभ होता न होगा।"

यह सुनकर भगवान् बोले—'भैया उद्धव! दुष्ट लोगों को यही परम लाभ है, दूसरों को पीडा पहुँचे। दूसरों के दुख देखकर ही वे प्रसन्न होते हैं। दुष्टों का स्वभाव होता है, किसी को जब वे शुभ कर्म करते देखते हैं, तब उनके मन में एक प्रकार की जलन होती है। वे चाहते हैं किसी न किसी प्रकार इसके इस शुभ

कार्य में विघ्न हो, यह पूरा न होने पावे। जब उसके शुभ काम में कोई विघ्न वाली बात देखते हैं, तब तो उन्हें ऐसा लगता है, मानो हमें त्रिभुवन की सम्पत्ति मिल गयी। किसी का कोई शुभ नियम होगा, तो उसे हठ करके भंग करावेंगे। उन भिक्षु ब्राह्मण ने मौन व्रत ले रखा था। दुष्ट लोगों के सर्व-प्रयत्न इसीलिये थे कि यह मौन को छोड़कर बोलने लगे। जिससे हमें चिढ़ाने में और अधिक आनन्द आवे। इसीलिये उनके ऊपर मल, मूत्र विष्ठा तथा खखार आदि छोड़ देते। इतने पर भी वे न बोलते—सब यातनाओं को चुपचाप सह लेते, तब भी वे दुष्ट न मानते। फिर वे कोई दूसरा उपाय सोचते।"

कोई पेड़ों की डाली तोड़ लाते, उन्हीं से उन्हें पीटते। कोई डंडा मार देते, कोई ईंट पत्थर-ही उठाकर उनके ऊपर फेंक देते।

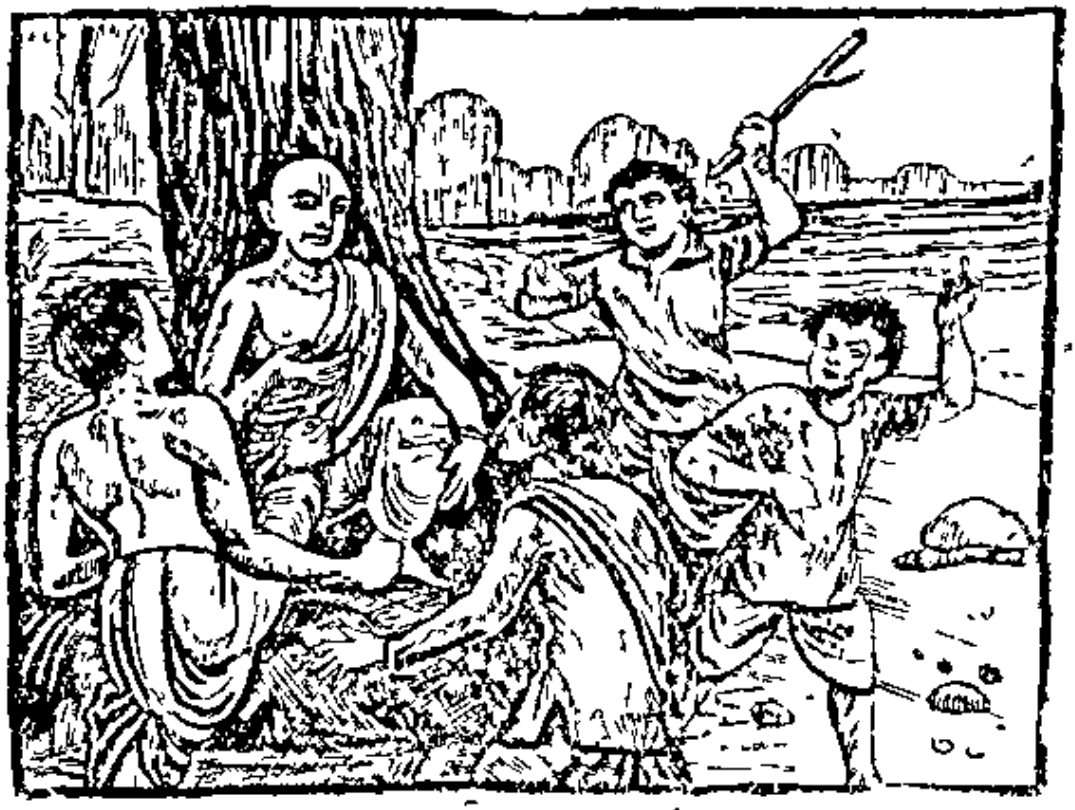

कोइ कहता—"अरे, भैया! यह आसन तो मेरा है, इस पर कहाँ से आ गया।"

दूसरा कहता—"अरे, यह तो पक्का चोर है साधुवेष बनाकर यह चोरी ही तो करता है।"

इस पर अन्य कहता—"अच्छा, यह चोर है तो मैं आज्ञा देता हूँ, इसे बाँधकर ले चलो।"

इस पर सब ताली बजाकर चिल्लाने लगते हैं—'अवश्य ही यह चोर है। इसे बाँधो बाँधो। देखो, कहीं भाग न जाय।" ऐसा कहकर वे उन्हें रस्सी से बाँध लेते। कुछ काल बाँधकर बन्दरों की भाँति इधर उधर घुमाते, फिर छोड़ देते।"

इस पर कोई कहते—"देखो, कैसा इसने ढोंग रचा है। स्वाँग भी कैसा बनाया है। कल तक तो असत्य, प्रपञ्च, ठगी और न जाने क्या क्या कुकृत्य करता था। अब मौनी बने कुछ बोलता नहीं।"

इस पर दूसरा कहता—"अरे भैया! करे भी तो और क्या करे। बूढ़ा हो गया हाथ पैरों का पौरुष नष्ट हो गया। धन इसका नष्ट ही हो गया। घर वालों ने इसे इस प्रकार निकाल फेंका जैसे दूध में से मक्खी।" जो असमर्थ है कुछ नहीं कर सकता। उसे तिलक फटाके लगाकर वैष्णव ही बन जाना चाहिये। साधु वैष्णव ही ऐसा वेष है जिसमें ढोंगी, आलसी तथा अकर्मण्यों का भी निर्वाह हो जाता है। हम तो इसे धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते कि इसने धर्म का ढोंग भी बनाया तो सोलहू आने बनाया। भीख के गोट खा खा कर कैसा मेढक के समान फूल गया है। हिमालय के समान सहन शील बन गया है। पूरा बगुला भगत बन गया है। बगुला गंगा जी के किनारे आँख मींचकर एक पैर से कैसे चुपचाप खड़ा हो जाता है दूसरे देखते ही समझ जायँ कोई ठडमरी महात्मा तप कर रहे हैं। चलता भी तो इतनी मन्द गति से मानो फूँक फूँककर पग रख रहा हो, किन्तु जहाँ मछली देखी तहाँ

गोविन्दाय नमो नमः—गप्प से निगल जायगा। इसी प्रकार यह भी बिना बोले अपने समस्त स्वार्थों को सिद्ध कर लेता है। कहावत है "एक चुप्पी हजारों को हराती है।"

इस पर अन्य कहता—"यह हमसे ही नहीं बोलता वैसे अपने पोपले मुख को निरन्तर चलाता ही रहता है, मानों सदा कुछ खाता रहता हो।" यह सुनकर दूसरे लोग ठठाका मारकर हस जाते। कुछ लोग कहते—'यह तो विचित्र जन्तु है इसे पिंजड़े में बन्द करके पाल लो। कोई कहता—"इसे घर के भीतर बन्द कर दो। कुछ लोग उन्हें बन्द भी कर देते। किन्तु तिस पर भी ये आपत्ति न करते। इस प्रकार दैविक दैहिक तथा भौतिक जैसे जैसे भी दुःख उन्हें प्राप्त होते उन सबको वे बड़े धैर्य से साथ सहन करते। वे सोच लेते—"जैसा हमारे प्रारब्ध में है, वह तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा। भाग्य के लिखे को कौन मेट सकता है। ये लोग तो मेरा बड़ा उपकार कर रहे हैं, मेरे पुराने पापों का प्रायश्चित करा रहे हैं।"

इस पर उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! मुझे तो इस कथा मे कुछ अत्युक्ति जान पड़ती है। यह सत्य है कि विवेकी पुरुष दुष्टों के दो चार बार के अपराधों की उपेक्षा कर सकता है, किन्तु निरन्तर दुःख देने पर भी मन में विकार का होना अत्यंत ही कठिन है। मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है, कि सब कुछ जानते हुए भी क्रोध आही जाता है।"

भगवान् ने कहा—"हाँ उद्धव, तुम्हारा कथन सत्य है। मेरी मोहिनी माया ऐसी प्रबल है कि बड़े बड़े ज्ञानियों के मन में भी मोह हो जाता है। यह संसार सर्प सभी को डस लेता है, किन्तु जो सदा सचेम्ट रहता है, सर्प की औषधि निरन्तर अपने पास रखता है उसे सर्प नहीं काट सकता। इसी प्रकार उन धर्म से गिराने वाले दुष्टों के दुर्वचन सुनकर भी वह धैर्य पूर्वक

अपने यति धर्म में स्थिर रहकर सदा मन को समझाता रहता था। एक विवेक पूर्ण गीत गाता रहता था। इस गीत रूप औषधि के प्रभाव से ही उसे क्रोध रूप सर्प काटने में असमर्थ नहीं हो सकता था।"

उद्धवजी ने पूछा—'भगवन्! वह कौन सा गीत था, जिसके गाने से दुष्टों द्वारा इतनी यातना देने पर भी उस भिक्षु यति का क्रोध नहीं आता था।"

भगवान् ने कहा—"भिक्षु जिस को गाता था, उसका नाम भी भिक्षु गीत ही पड गया। उस कृपण ब्राह्मण का सन्यास लेते समय उसके गुरु ने यह ज्ञान सिखाया था। इस ज्ञान को वह विप्र नहीं भूला था, इसलिये वह समस्त दैविक दैहिक तथा भौतिक दुखों को बिना प्रतीकार के सहन करता था।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! कृपा करके उस भिक्षुगीत को मुझे भी सुनाइये। जिससे मैं भी उस गीत के ज्ञान को धारण करके ऐसा ही सहनशील बन जाऊ।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! अच्छी बात है, उस भिक्षुगीत क ज्ञान को मैं सक्षेप में तुम्हें सुनाता हूँ, तुम्हें भी तो अब वही वृत्ति धारण करनी है। तुम इस पुण्य प्रसङ्ग को प्रेम पूर्वक एकाग्र चित्त से श्रवण करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् उद्धवजी स भिक्षुगीत कहेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब तो त्यागी विरागी यति ही हैं। यह प्रसङ्ग आपके लिये अत्यन्त ही हितकर है, अतः आप इसे सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

डाँटैं डपटैं दुष्ट बाँधि कपि मरिस नचावैं।
नित कटु कहैं कुवाक्य धूर्त, खल, चोर बतावैं॥
कहैं द्रव्य हित कृपन फिरै नित वेष बनाये।
तजै मौन खल करैं यतन नहिँ डिगै डिगाये॥
दैविक दैहिक परहिँ दुख, भाग्य समुझि सबकूँ सहै।
गीत गाइ समुझाइ कै, बार बार मन तैं कहै॥

भिक्षु गीत आरम्भ

(१३०८)

नाय जनो मे सुख दुःख हेतु—
न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ।
मनः परं कारणमामनन्ति,
ससारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २३)

छप्पय

देवै दुख सुख कौन देव गति तैं सब होवै ।
अमुक देहि दुख समुझि अज्ञ पछितावै रोवै ॥
स्वजन, देवगन, काल, करम कारन सब नाही ।
मन ही सुख दुख रचै घुमावै जग के माहीं ॥
गुन वृत्तिनि उपजाइ मन, त्रिविध करम करवाइ कें ।
आत्मा नित्य निरीह परि, बँधै गुननि मनवाइ कें ॥

शरीर सम्बन्धी सुख दुख पडने पर हमलोग अधार हो जाते हैं। जो सुख दुख मे निमित्त होते है उनकी निन्दा स्तुति

* भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—उद्धव ! अपने मन को समझाता हुआ वह भिक्षु कह रहा है—"मेरे सुख दुख के हेतु न तो ये स्वजन हैं, न देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म तथा काल आदि ही हैं। इनका एक मात्र कारण तो उस मन को ही बताया जाता है, जो संसार चक्र को निरन्तर चलाता रहता है।"

करने लगते हैं। वास्तव मे विचार करना चाहिये सुख क्या है, दुख क्या है। एक जिसे सुख समझता है, दूसरा उसे ही दुख मानता है। जिस घटना से एक सुखी होता है, दूसरा उसी से दुखी होता है। किसी का घर है। वह ऋण के कारण बिकता है, तो बेंचनेवाले को दुख होता है, जो उसे क्रय करता है उसे सुख होता है। किसी त्यागी विरागी के यहाँ रुपये रख आओ, तो वह सर्प बिच्छू की भाँति उन्हें देखकर भयभीत हो जायगा। उन्हीं को किसी कृपण के यहाँ रख आओ तो वह अत्यंत प्रसन्न होगा। रुपये एक ही हैं, यदि वे सुख का कारण होते तो सभी को सुख देते। इससे सिद्ध हुआ कि सुख दुख वस्तुओं मे नहीं है। मन ने जिसे सुख मान लिया है वही सुख है. जिसे दुख मान लिया है वह दुख है। जिसका मन वश में है उसे बाहरी घटनायें न सुखी बना सकती है न दुखी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब दुष्ट लोग उस कृपण भिक्षु को भाँति-भाँति के क्लेश देने लगे, तो वह अपने मन को समझाने लगा। वह अपने आप ही प्रश्न करता और विवेक बुद्धि द्वारा अपने आप ही समाधान करता। वह सोचने लगा—"मुझे दुख कौन दे रहा है। मेरे दुःख का कारण कौन है?"

मन ने कहा—'दुःख का कारण ये घर के बन्धु-बान्धव तथा परिजन पुरजन हैं। लडके द्रव्य न छीनते, सगे सम्बन्धी मेरे साथ अन्याय न करते। राजा दण्ड न देता तथा चोर चोरी करके धन न ले जाते तो दुःख न होता।"

उसने सोचा—"नहीं, यह बात नहीं है। स्वजन, परिजन तथा पुरजन आदि मेर दुख का कारण नहीं है। जब मेरे पास धन ही था, तभी मुझे क्या सुख था। अब जो खाता हूँ, उससे अच्छा तब भी नहीं खाता पहिनता था। केवल तब मेरे पास धन था अब नहीं है। अब भी वह धन कहीं चला थोड़े ही गया है।

तब भी पृथिवी में गड़ा ही रहता था। अब भी वह कहीं गड़ा होगा। गड़ा न होगा पृथिवी पर कहीं बाहर रखा होगा। उस समय मुझे मानसिक सन्तोष था यह मेरा धन है। अब मानसिक असन्तोष है मेरा सर्वस्व लुट गया। इस से तो सिद्ध हुआ सुख-दुख का कारण मन ही है।"

मन ने कहा—"नहीं, यह बात नहीं है। दुख के कारण देवता-गण हैं। तुमने देवताओं की आराधना नहीं की। उनके पूजन आदि में धन व्यय नहीं किया इसीलिये कुपित होकर उन्होंने धन का नाश कर दिया।"

फिर उसने सोचा—"देवताओं से मेरा क्या वैर था। देवता मेरे धन को क्यों नष्ट करते। देवता तो सभी के शरीरों में इन्द्रिय-अधिष्ठातृ देव से निवास करते हैं वे तो अब भी मेरी इन्द्रियों में विराजमान हैं। कुपित होते तो इन्द्रियों को छोड़कर चले जाते। धन पहिले भी मेरा नहीं था, अब भी मेरा नहीं है। जो आदि में अपना नहीं अन्त में अपना नहीं रहा वह मध्य में अपना कैसे हो सकता है। भूल से मन ने उसे अपना मान लिया था, अतः दोष मन का ही है। देवताओं का नहीं।

मन ने कहा—"नहीं जी! दोष ग्रहों का है। जन्म कुंडली में दूसरा स्थान धन का है। धन स्थान में ऐसे क्रूर ग्रह आ गये कि इन्होंने तुम्हारे धन को नष्ट कर दिया।

इस पर उसने सोचा—"ग्रहों का मैंने क्या बिगाड़ा था, वे मेरे ऊपर क्यों कुपित हुए और फिर कुपित होकर उन्होंने मेरा क्या बिगाड़ा। जैसा मैं पहिले था वैसा अब भी हूँ। पहिले जैसे खाता पीता था वैसे अब भी खाता पीता हूँ। पहिले मुझे यह मानसिक सन्तोष था कि मैं अपना खा रहा हूँ। अब यह असन्तोष है कि मैं दूसरे के अन्न पर निर्वाह कर रहा हूँ। वास्तव में अन्न तो सब एक का ही है। मन ने ही यह भेदबुद्धि कर ली है

कि यह मेरा अन्न है यह दूसरे का अन्न है। मन जब यह मान ले कि सब अन्न एक का ही है, तब तो सुख-दुख का कोई कारण नहीं। अतः मेरा पराया भेद करने वाला मन ही यथार्थ में दुख का कारण है।"

मन ने कहा—"नहीं जी! आत्मा दुःख का कारण है।"

उसने फिर सोचा—"आत्मा तो सुख-दुख से परे है। उसमें तो न सुख है न दुख उससे मुझे दुख क्यों होने लगा।"

मन ने कहा—"अच्छा, कर्म से तो दुख सुख मिलता है। अच्छे कर्म करोगे सुख मिलेगा, बुरे कर्म करोगे दुःख मिलेगा? इसलिये दुख सुख में प्रधान कारण कर्म ही है।"

उसने सोचा—"यदि कर्म ही सुख दुख का कारण होता तो एक कर्म से एक सा ही फल मिलता। एक से ही कर्म करने वाले दो व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न दुख सुख होता है। जैसे भोजन एक सा ही है। एक को उसके करने से सुख होता है दूसरे को अत्यन्त दुख। भोग्य वस्तु एक ही है। उसके भोगने रूप कर्म से एक को आनन्द होता है दूसरे को अत्यन्त क्लेश इससे सिद्ध होता है कर्म सुख दुख का हेतु नहीं। सुख दुख का हेतु तो मन है। मन की जैसी भावना होगी वैसा ही सुख दुख होगा।"

मन ने कहा—"सुख दुख का कारण काल है। जाड़े के दिन आने पर सभी को जाड़ा लगता है, गरमी आने पर सब को गरमी लगती है। युवावस्था आने पर सभी को मद होता है।"

फिर उसने सोचा—"यदि काल ही दुःख सुख का कारण होता, तो सुख के काल में सभी को सुखी होना चाहिये था, दुख के काल में सभी को दुख होना अनिवार्य होता, किन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता। एक ही काल में कुछ सुखी हैं कुछ दुखी। किसी को जाड़ा आने पर सुख होता है किसी को दुख। इन बातों से सिद्ध होता है कि दुख का कारण काल न होकर मन है। मन जिस समय जिस घटना से सुख अनुभव करता है वह सुख का समय

कहलाता है, जिससे दुख का अनुभव करता है वह दुख का समय कहलाता है। एकमात्र मन के ही द्वारा यह संसार चक्र चलता रहता है।"

मन ने कहा—"मेरे कारण यह ससार चक्र कैसे चल रहा है ?"

उसने मन से कहा—"देख, भाई ! जैसे समुद्र मे ऊर्मियाँ आती है। उनमें कोई छोटी होती है, कोई बडी होती है, कोई ऊँची होती है, कोई नीची होती हैं। उसी प्रकार तुझमें ऊर्मियाँ उठती रहती हैं। तुझ मन मे कभी सात्विक ऊर्मियाँ उठती हैं, उससे सात्विक कर्म होते है, राजस ऊर्मियाँ उठती हैं राजस कर्म होते हैं, तामस ऊर्मियाँ उठती हैं तामस कर्म होते हैं। गुणों की वृत्तियो को उत्पन्न करने वाला तो भैया ! तू ही है। प्रायः लोग कहते हैं—उस आदमी ने मुझे मारा, उसने मेरा सम्मान किया।' सम्मान और अपमान करने वाला व्यक्ति नहीं है। मन में सात्विक वृत्तियाँ उत्पन्न हो गयीं सम्मान कर दिया, राजस तामस उत्पन्न हुईं अपमान कर दिया। इन सब का कारण हे मन ! तू ही है। तेरा अनन्त बल है तेरे बल का कोई पार नहीं पा सकता। तेरा अपार वेग है, तेरे वेग के सम्मुख पवन, हनुमान् तथा गरुड आदि महावेगशाली भी हार जाते हैं वे भी तेरी बराबरी नहीं कर सकते। अतः जीव की कर्मानुसार होनेवाली त्रिविध गतियो का समस्त उत्तरदायित्व तेरे ही ऊपर है।

मन ने कहा—'अजी, मैं तो जड हूँ। जड भला क्या कार्य कर सकता है ?"

उस भिक्षु ने कहा—'कार्य तो सब जड के ही द्वारा होता है, चैतन्य तो केवल साक्षी रहता है। वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे एक विज्ञानवेत्ता बैठा है, उसने विद्युत के द्वारा एक यन्त्र का आविष्कार किया। एक जड़ यन्त्र बनकर तैयार हो गया। वैज्ञा-

सूँघ नहीं सकती और त्वचा तुम्हारे (मन) के बिना स्पर्श का अनुभव नहीं कर सकती। इसी प्रकार तुम्हारी प्रेरणा के बिना हाथ आदान-प्रदान नहीं कर सकते। पैर चल नहीं चल सकते। वाणी बोल नहीं सकती। उपस्थ तथा गुद मल-मूत्र का त्याग नहीं कर सकतीं। ये सब तुम्हारे वश में हैं तुम इन में से किसी के भी वश में नहीं हो। तुम सब से बली हो। तुम ने सब को जीत लिया है। तुम्हें जीतना बड़ी टेढ़ी खीर है।"

मन ने कहा—"बहुत से लोग मुझे भी तो अपने वश में कर लेते हैं।"

उसने कहा—"अजी; मन देवता जी! तुम्हें वश में करना कोई सरल काम नहीं है। बहुत से देवता तो चूल्लू भर जल से तुलसी के पत्र से ही प्रसन्न हो जाते हैं बहुत से चार बिल्व पत्र चढ़ाने और गाल बजाने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, किन्तु तुम तो देवता जी! बड़े भयङ्कर हो। तुम संसार के बलवानों से भी अधिक बलवान् हो। जिसने तुमको वश में कर लिया वह देवताओं का भी देवता है। सब से बड़ा जितेन्द्रिय है। उससे बड़ा देवता संसार में कोई नहीं। बड़े-बड़े देवता भयङ्कर असुरों को जीत सकते हैं, किन्तु वे भी तुम्हारे (मन के) सम्मुख घुटने टेक देते हैं। अतः देवता जी हम आप के पाद पद्मों में प्रणाम करते हैं और जो आपको भी जीत लेते हैं उनके पुनीत पाद पङ्कजों में पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं। संसार में जीतने के लिये तुम ही सब से बड़े शत्रु हो।"

मन ने कहा—"अरे भाई! मुझे ही प्रबल शत्रु क्यों बताते हो? मैं तो अकेला हूँ। संसार में इतने बड़े-बड़े शत्रु होते हैं। जिनके पास लाखों करोड़ों सशस्त्र सैनिक होते हैं। उनके समीप भाँति-भाँति के तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र होते हैं। उन शत्रुओं को जीतो।"

उस भिक्षु ने कहा—"मन देवता जी! आपसे प्रबल शत्रु संसार में और कोई नहीं। आप अकेले ही समस्त शत्रुओं से अत्यधिक बलवान हो। और शत्रु तो जीत भी जा सकते हैं, किन्तु आप तो दुर्जय हो। आपके प्रबल वेग के सम्मुख कौन ठहर सकता है। आपका वेग असह्य है। संसार में वे लोग अत्यंत ही मूर्ख हैं जो सबसे प्रबल आप (मन रूप) शत्रु को न जीतकर अन्य लोगों के साथ युद्ध करते हैं। जिसने आप (मन) को जीत लिया उसने संसार को जीत लिया। जिससे आप नहीं जीते गये, वह त्रिभुवन का स्वामी होकर भी पराजित ही है। संसार में न कोई अन्य शत्रु है न मित्र और न उदासीन। सब में भेद-भाव करने वाले आपही ही हैं। जिसे शत्रु मान लो वह शत्रु हो जाय, जिसे उदासीन या मित्र मान लो, वह उदासीन मित्र बन जाय। जैसे लडके गीली मिट्टी से कभी हाथी बना लेते हैं, फिर तुरत उसे बिगाड कर ऊँट बना लेते हैं फिर घोडा बछेडा आदि बनाते हैं। वास्तव में मिट्टी में न हाथी है न घोडा न ऊँट है न बछेडा सब बनाने वाले की कल्पना है। इसी प्रकार संसार मे न कोई शत्रु है न मित्र न हार है न जीत। मन के माने हार है मन के जीते जीत।"

अन्ध बुद्धि मूर्ख लोग इस मनो मात्र देह मे यह मैं हूँ यह मेरी वस्तु है, ऐसी अहंता ममता कर लेते हैं और इसके कारण नाना क्लेश उठाते हैं इस मिथ्या भेद-भ्रम के ही कारण अनन्त अज्ञानान्धकार में इधर से उधर भटकते रहते हैं। चौरासी के चक्कर में पडे ठोकरें खाते रहते हैं।"

मन ने कहा—"नहीं जी! मैं किसी के साथ शत्रुता नहीं करता। शत्रु तो बाहर ही है। जिसकी प्रिय वस्तु को तुम लेना चाहोगे, वही शत्रु बन जायगा। किसी का घर है, खेत है, धन है स्त्री है या अन्य कोई भोग्य पदार्थ है, उस पर तुम मन चलाओगे

तो उसका पूर्व का स्वामी तुम से शत्रुता करेगा।"

भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं–"उद्धव! मन की ऐसी तर्क सुनकर वह भिक्षु ब्राह्मण हँसा और मन को समझाने लगा, कि कोई व्यक्ति किसी का शत्रु नहीं हो सकता। जैसे उसने मन को समझाया इस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! आप भी इस पुण्य प्रसङ्ग को प्रेम पूर्वक सुनें।"

छप्पय

दान, धरम, यम, नियम, वेद पढिबो, व्रत धारन।
वरनाश्रम शुभकरम सकल मन वश के कारन॥
यदि मन वश महँ भयो न फिरि आवश्यक साधन।
हैं साधन सब व्यर्थ होहि नहिँ वश जिनितैं मन॥
यह मन अति बलवान् रिपु, सकल करन प्रेरक प्रबल।
जाके वशमहँ सब रहैं, करहिं जाहि वश नर विरल॥

देह देह को दुख नहीं देती

(१३०९)

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्,
किमात्मनश्चात्र हि भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित्सदशति स्वदद्भि—
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० ५१श्लो०)

छप्पय

अज्ञ न जीतैं जाहि विजय हित इत उत अटकै ।
बिनु मन जीते पुरुष विविध यातनि महँ भटकै ॥
यदि सुख दुख को हेतु मनुज कूँ ही तुम मानों ।
देह परस्पर लड़ैं आतमा निष्क्रिय जानों ॥
सोचो, यदि निज दाँत तै, कटै जीभ भोजन समय ।
करौ क्रोध फिरि कौन पै, कौन करै अनुनय विनय ॥

जितना राग, द्वेष, सुख, दुख आदि का भान होता है सब भ्रमवश। एक आदमी ऊपर से नीचे तक चद्दर ओढे हुए है।

---

* भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—'उद्धव ! अपने मनको समझाते हुए भिक्षु कह रहा है—मान लो मनुष्य ही यदि सुख दुःख का हेतु है, तो फिर इससे आत्मा को क्या ? भूतों से उत्पन्न दो देहों के संघर्ष से जो सुख दुःख होगा वह देहों को ही तो होगा। जैसे अपने ही दाँत अपनी जीभ को काट लें, तो उसमें होने वाली वेदना के लिये क्रोध किस पर करे ?"

उसकी चद्दर में आग लग गयी। अब वह चिल्ला रहा है। मैं जल रहा हूँ। वास्तव में अभी वह जल नहीं रहा है। जल रही है चद्दर यदि चद्दर को अपने शरीर से पृथक् समझ कर फेंक दें, तो उसे कुछ भी कष्ट न हो, किन्तु उसने तो भ्रमवश शरीर मे और चद्दर में एकात्मभाव स्थापित कर रखा है वह तो चद्दर को ही अपनी आत्मा समझता है। शरीर हाड चाम का है। चद्दर सूत्रों की है। चद्दर निर्जीव वस्तु है शरीर सजीव है। शरीर आच्छाद्य है चद्दर आच्छादक है। इतने पर भी वह चद्दर को कसकर शरीर से लपेटे हुए है और दुख का अनुभव कर रहा है। उसे यह निश्चय हो जाय कि चद्दर शरीर से सर्वथा भिन्न है और उसका शरीर से कोई भी सम्बन्ध नहीं तो वह झुलसने से अग्नि की लपटों से बच जायगा। इसी प्रकार जीव जब तक आत्मा और शरीर अभिन्न मानकर अहंता ममता की रज्जु मे बँधा रहेगा तब तक अनन्त अज्ञानान्धकार में इधर से उधर दुखी बना भटकता रहेगा। आत्मा निरीह निष्क्रिय, निरलेप, निरंजन, निष्कल, नित्य तथा निर्द्वंद है और देह का उससे कोई सम्बन्ध नहीं भ्रमवश अज्ञजन देह को ही आत्मा मान लेते हैं।" इस ज्ञान के होते ही जीव के सब सांसारिक सुख दुख छूट जाते हैं, वह परमानन्द में निमग्न हो जाता है। सब शास्त्रों का यही सार है। समस्त साधन इसीलिये हैं। भाँति भाँति से नाना दृष्टान्त देकर शास्त्र यही समझा रहे हैं कि देह आत्मा नहीं। देह के सुख दुःखों का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजी! से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! जब दुष्ट लोग उस भिक्षु विप्र को भाँति भाँति के क्लेश देने लगे, तब वह एकान्त में बैठकर अपने मन को समझाने लगा। उसने मन से कहा—"देखो, मनुआ बाबू! तुम कहते हो, शत्रु तो बाहर हैं, जिनकी वस्तु को हम लेते हैं, या लेने की

इच्छा करते हैं, वे हमारे शत्रु बन जाते हैं।" अच्छा मान लो मनुष्य ही शत्रु मित्र हैं, मनुष्य ही सुख देने वाला है तो फिर दुःख सुख होता किसे है ?"

मन ने कहा—"जिनको दुःख सुख दिया जाता है, वे दुःख सुख के भोक्ता होते हैं और जो देते हैं, वे देने वाले होते हैं।"

उसने कहा—"पहिले विचार करो कौन दुःख सुख देता है कौन भोक्ता है ? शरीर में हाथ हैं, पैर हैं, आँख, कान, नाक, मुख, उदर, मलमूत्र द्वार तथा अन्यान्य शरीर के अंग हैं। रसरक्त आदि धातु हैं। इनमें से कौन दुःख सुख देता है ?"

मन ने कहा—"सब अङ्ग उपाङ्गों को मिलाकर ही शरीर कहलाता है। वही सुख दुख देता है।"

उसने कहा—'यदि शरीर ही सुख दुख देता है, तो मृतक के शरीर में तो सभी अङ्ग उपाङ्ग ज्यों के त्यों बने हुए हैं, वह सुख दुख क्यों नहीं देता ?"

मन ने कहा—"वह सुख दुख क्या देगा, वह तो जड है। उसमें से चैतन्यांश तो निकल गया। जब तक 'जीवन रहता है तब तक ही कर्म संभव है। जब वह मृतक हो गया तो मृत्तिका के सदृश बन गया।"

उसने कहा—"इससे सिद्ध हुआ शरीर मे दो वस्तु हैं। एक तो पचभूतों का बना शरीर दूसरे जीवात्मा। अब प्रश्न यह है कि इन दो में से दुःख देने वाला या दुख पाने वाला कौन है। तुम कहो कि आत्मा दुःख सुख देता है तो आत्मा तो एक है। सुख दुख से परे हैं। जब सब शरीरों में एक ही आत्मा है तो आत्मा दुःख कैसे देगा। तुम कहो कि सब के शरीर में पृथक् पृथक् आत्मा है तो आत्मा को आत्मा दुःख दे तो इसमें बुरा मानने की बात क्या ? यदि आत्मा को दुःख सुख से रहित मानो तब तो उसमें दुःख देने और दुख पाने का प्रश्न ही नहीं

उठता। यदि दुःख देना उसका स्वभाव मानों तो स्वभाव तो दुरतिक्रम बताया है उसे कोई हटा नहीं सकता। यदि दुःख देना उसका स्वभाव नहीं है तो दुःख देगा ही क्यों ?"

यदि कहो, कि एक देह दूसरी देह को दुःख सुख देती है। तो देह तो सभी पंचभूतों की ही बनी है। पंचभूतों की निर्मित देहें दूसरी देहों को दुःख सुख दें तो उसके लिये दोष किसे दें। क्या अग्नि,अग्नि को जला सकती है ?'क्या जल जल को गीला कर सकता है। क्या वायु वायु को उड़ा सकती है। क्या आकाश आकाश को गिरा सकता है। यदि नहीं तो एक देह दूसरी देह को क्या दुःख देगी। अच्छा मान लो एक देह दूसरी देह को दुःख देती ही है तो क्रोध किस पर किया जाय। अपने ही दाँतों से अपनी जीभ कट जाय तो कौन बुद्धिमान होगा जो पत्थर लेकर इन दाँतों को तोड़ डालेगा। चलते समय अपने ही पैर से अपना पैर दुख जाय, तो क्या कोई उस दुखाने वाले पैर को काट देगा। अपनी ही दाढ़ से मुख के भीतर का मांस कट जाय, तो कोई दाढ़ को तोड़ देगा ? अपनी ही जाँघों से अपनी जांघें छिल जायँ, तो कोई जाँघ को तो न काट देगा। इस प्रकार देह सभी पंच-भूतों की बनी हैं सबमें एक ही तत्व है, एक देह दूसरी देह को दुःख पहुँचावे तो फिर कोप किस किस पर किया जाय ? आत्मा पर कोप करना तो बनता नहीं। शरीर पर कोप करें, तो दोनों पृथिवी आदि भूतों के विकार हैं दोनों एक ही शरीर के अङ्ग हैं अतः सिद्ध हुआ कि कोई पुरुष किसी पुरुष को दुःख सुख नहीं देता।

मन ने कहा—"तो दुख के कारण देवता होंगे अथवा आत्मा ग्रह, कर्म, या काल इनमें से कोई होंगे।"

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—'उद्धव! देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म अथवा काल ये सुख दुख के कारण

नहीं इस बात को संक्षेप में पीछे ही वह मन को समझाया है अब फिर उसी का स्पष्टीकरण करते हुए वह मन को समझाता है, कि इन सब में से कोई भी दुःख का कारण नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसे उस भिक्षु विप्र ने तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया कि देवता, ग्रह, कर्म काल अथवा आत्मा दुख सुख का कारण नहीं है, उस प्रसङ्ग को जैसे भगवान् ने उद्धवजी से कहा, उसे आगे मैं आप से कहूँगा, आप सब एकाग्र चित्त से इस पुण्य प्रसङ्ग को श्रवण करें।"

छप्पय

देहिँ देवता दुःख लडैँ यदि स्वय परस्पर।
आत्मा की का हानि गिरै जल जल के ऊपर॥
सुख दुख तें है परे आत्मा का दुख देवै।
निजानन्द महँ तुष्ट नहीं विषयनि कूँ सेवै॥
यदि ग्रहगन ही देहिँ दुख, सहै देह आत्मा नहीं।
स्वप्न काल का अहि कहा, काटे जाग्रत महँ; कहीं॥

कभी भी कोई किसी को दुःख नहीं दे सकता ।

(१३१०)

न केनचित्क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य ।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या—
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० ५७ श्लो०)

छप्पय

नहीं करम सुख दुःख देहिँ आत्मा है न्यारो ।
जड चेतन हैं भिन्न नहीं दुख देहि, विचारो ॥
काल कहा दुख देहि अंश आत्मा को जानो ।
आत्मा अज, निर्द्वंद प्रकृति तैं पर पहिचानो ॥
अहंकार संसृति जनक भ्रमवश होहि प्रतीत दुख ।
समुझै जो जा ज्ञान कूँ होवै ताकूँ नित्य सुख ॥

सुख दुख का देनेवाला कोई दूसरा नहीं है । अपने आप ही प्राणी दुख का अनुभव करता है अपने आप ही सुखी समझने

---

* श्री भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! उस भिक्षु ने निश्चय किया, कि उस आत्मा को कभी भी किसी के द्वारा किसी प्रकार भी पाप पुण्य सुख दुख आदि द्वन्दों से उपराम नहीं हो सकता क्योंकि वह प्रकृति से परे है । यह सब तो संसृति रूप अहङ्कार में होता है । जो इस प्रकार भली भाँति जान लेता है वह भूतों से भयभीत नहीं होता ।"

लगता है। कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है, उसकी रगड से उसकी दाढ़ों से रक्त निकलने लगता है। उस रक्त को चाटकर वह प्रसन्न होता है और ऐसा अनुभव करता है मानों यह रक्त हड्डी से निकल रहा है। विचार करने की बात है रक्त उसी का है, उसी के भीतर से निकल रहा है, किन्तु उसका आरोप कर रहा है हड्डी में। इसी प्रकार भौतिक वस्तुओं के द्वारा मन सुखदुख का अनुभव करता है उसे जीव अपने में आरोप करता है मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ, अमुक ने मुझे कष्ट दिया, अमुक ने मेरी विपत्तियों में सहायता की। आत्मज्ञानी न तो कभी किसी को दोष देता है न किसी के प्रति कृतज्ञता ही प्रकट करता है, क्योंकि वह जानता है आत्मा तो नित्य शुद्ध, बुद्ध आनन्द स्वरूप है। उसे कोई क्या सुख दुख दे सकता है। उसके अतिरिक्त कोई है नहीं। गुण गुणों में वर्त रहे हैं इससे आत्मा को क्या सुख दुख।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उसी कृपण भिक्षु की कथा को चालू रखते हुए भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! वह भिक्षु अपने मन को प्रबोध करते हुए कह रहा है। मान लो, इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता ही सुख दुख के कारण हैं, तो इसमें आत्मा की क्या हानि। एक देवता दूसरे देवता को दुख सुख देते रहेंगे। आत्मा तो देवों का भी देव है उसे तो किसी की अपेक्षा नहीं। वह तो निर्लेप है किसी ने खड्ग लेकर किसी की आँख फोड दी। तो तुम कहोगे हाथ के अधिष्ठातृ देव इन्द्र ने चक्षु के अधिष्ठातृदेव सूर्य को दुख दिया। सब के शरीर की इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव एक ही हैं। किसी के हाथ के अधिष्ठातृ देव ने आँख के अधिष्ठातृ देव को पीडा दी, तो फिर क्रोध किस पर किया जाय। मोटे आदमियों की चलते समय जाँघें सट जाने से छिल जाती हैं। दोनों ही जंघायें उसके शरीर का अंग हैं, इस विषय

मे बुरा भला किसे कहें। इससे सिद्ध हुआ, कि यदि देवता सुख दुखके कारण हों भी तो आत्मा की इसमे कोई हानि नहीं।

अच्छा, कहो कि सुख दुःख का कारण देवता न होकर आत्मा ही है। तो इसमे भी कोई हानि वाली बात नहीं। आत्मा दो होते तो आपस में गुत्थम गुत्था करते। लडाई भिडाई करते। किन्तु आत्मा तो अद्वय है। उसका प्रतिद्वंदी कोई दूसरा नहीं है। जैसे सौ घडाओं मे जल भर कर रख दो, सब में सूर्य का प्रतिबिम्ब पृथक् पृथक् दिखायी देगा, इससे सूर्य तो अनेक सिद्ध नही होते। इसी प्रकार शरीर चाहे जितने हो आत्मा तो एक ही है। इसलिये आत्मा के अतिरिक्त कोई कुछ है भी तो वह मिथ्या है। असत् है। सत् तो एकमात्र आत्मा ही है। अपने आप से किसी को न लज्जा होती है न भय संकोच दूसरे के सम्मुख नगा होने मे संकोच करते है, किन्तु अपने आप से किसी का संकोच नही होता। इसलिये अपने आपसे दुख सुख नहीं होता फिर चिन्ता और क्रोध का काम ही क्या ?"

अच्छा, कहो कि सुख दुख का कारण ग्रह हैं। आज कल हम रोगी हैं, क्योंकि अमुक क्रूर ग्रह की अमुक ग्रह पर दृष्टि है, वह ग्रह अमुक ग्रह को पीडा पहुँचा रही है किसी की कर्क राशि है और उस पर साढे सात वर्ष का शनीचर आया है तो वह अजन्मा अजर अमर आत्मा की तो कुछ हानि कर ही नहीं सकता। ग्रह पीडा पहुँचावेंगे, भी तो शरीर को पहुँचावेंगे, आत्मा तो उससे पृथक् है। शरीर तो जन्म मरण शील है ही। इसे तो शास्त्रकारो ने व्याधि का मंदिर बताया ही है। यदि एक ग्रह के दूसरे ग्रह के स्थान पर दृष्टि पड़ती है वह अनिष्टकारी है, तो होती रहे आत्मा के उपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं।

अच्छा, कहो कि सुख दुःख का कारण कर्म है। तो कर्म दो प्रकार से होता है एक विकार युक्त वस्तु के लिये एक हिताहित

ज्ञान के लिये। जैसे घृत, शक्कर और आटा या खोया आदि ये विकारवान् वस्तुएँ इनकी स्वाद के लिये नाना वस्तु बनाना। अनेक प्रकार की सामग्री एकत्रित करना यह विकार युक्त वस्तु के निमित्त कर्म है इससे जो वस्तुएँ बनेंगी वे भी विकारवान् होगी और इनका परिणाम की विकार ही होगा। इन्द्रिय तृप्त्यर्थ विषय भोगों के निमित्त कम करना विकार युक्त कर्म हैं इन्हीं वस्तुओं को भगवान् के भोग के निमित्त जुटाना। बडी श्रद्धा से भगवान् का भोग बनाना। भगवान् को नैवद्य लगाना यह शाश्वत कम है। वस्तुओं को देखकर विचार करना कि इसमे सत् क्या है असत् क्या है। अन्न मय कोश सत्य नहीं प्राण मय कोश सत् नहीं मनोमय काश मत् नहीं। य सब जड़ है इस प्रकार विचार करते करते आत्मा तक पहुँच जाय तो यह कर्म हिताहित कर्म कहलाता है। इस विचार रूप कर्म से यह निर्णय हो जाता है कौन वस्तु हमारे लिये हित कर है कोन अहितकर, कोन जड है कौन चैतन्य, कौन सत् है कौन असत्। यदि कर्म विकार युक्त है तो वह जड है, उसका चैतन्य आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। यदि वह आत्मा के लिय कर्म है तो ज्ञान मय हैचैतन्य है वह सुख दुख का कारण हो नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि यदि कर्म को सुख दुख का कारण माना जाय, तो इसमे आत्मा की क्या हानि। एक पेड पर पक्षी रहता है। पेड कट गया, तो इसमे पक्षी की क्या हानि हुई। इस पेड को छोडकर दूसरे पेड पर चला जायगा। इसी प्रकार यह शरीर तो जड है। इसमें चैतन्य आत्मा पक्षी रूप से निवास करता है पेड के सुख दुख पक्षी को स्पर्श नहीं कर सकते। इसी प्रकार आत्मा का कर्मों से कोई सम्बन्ध नहा। आत्मा तो नित्य निरंजन निष्क्रिय है।

अच्छा तुम कहो कि सुख दुःख का कारण काल है, तो वह तो आत्मा को दुःख दे ही नहीं सकता। क्योंकि वह तो उसका

अंश है। क्या बिन्दु सिन्धु को दुख दे सकता है। क्या अग्नि के विस्फुलिङ्ग अग्नि को जला सकते हैं ? क्या हिमकण हिम खण्डों को गला सकते हैं ? ये सब बातें संभव नहीं क्योंकि अंश अंशी तत्व में एक ही है उनमें द्वंद्व संभव नहीं। द्वन्द्व तो विरोधी वस्तुओं मे होता है। आत्मा तो एक अद्वय है उसमें जब द्वन्द है ही नहीं तो काल उसके सुख दुःख का कारण कैसे हो सकता है फिर क्रोध करने का काम ही क्या है ?"

भिक्षु अपने मन को समझाते हुए कह रहे हैं—"रे मन ! इन सब बातों से क्या सिद्ध हुआ ? यही न कि आत्मा प्रकृति से परे है, प्रकृति में होने वाले विकारों से उसका सम्बन्ध नहीं संसर्ग नहीं। इसीलिये उसे कभी भी किसी भी प्राकृत पदार्थ द्वारा, किसी काल में भी सुख दुःख प्राप्त नहीं हो सकता। दुःख सुख आदि द्वन्द तो इस संसृति रूप अहङ्कार मे ही प्रतीत होते हैं। जिसे ऐसा ज्ञान होगा, वह सुख दुख के लिये किसी को दोषी न बतावेगा। उसे फिर किसी भी भौतिक पदार्थ से भय नहीं, शङ्का नहीं, संदेह नहीं संशय तथा आशङ्का नहीं।"

मन ने कहा—"ससारी लोग तो सब काम इन्द्रिय सुख के लिये—भोगों को भोगने के लिये—किया करते हैं, तुम्हारा क्या उद्देश्य है।"

भिक्षु ने कहा—"इस अनन्त अपार संसार सागर को पार करना हा मेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।"

मन ने कहा—"इसके लिये तुमने उपाय क्या सोचा है ?"

भिक्षु ने कहा—"यही उपाय है, कि ये जो बातें मैंने तुम से कहीं हैं, ये स्वयं मेरी गढी हुई बातें नहीं हैं। पूर्वाचार्य महर्षियों द्वारा कथित यह ज्ञान है, मैं इस परमात्म निष्ठा रूप ज्ञान में स्थित होकर भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की सेवा के द्वारा

इस संसार रूप अगाध उदधि को बात की बात में सुगमता के साथ पार हो जाऊगा।"

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! भाग्य की बात देखो, जिस धन के लिये ससारी लोग निरन्तर लालायित बने रहते हैं, उसी धन के नष्ट हो जाने पर उस कृपण ब्राह्मण को परम धन मिल गया। अब तक धन के पीछे उसे नित्य निरन्तर नाना क्लेश उठाने पडते थे। धन सग्रह की, सग्रहीत धन की रक्षा की, वृद्धि की, कैसे व्यय किया जाय इसकी तथा और भी अनेकों प्रकार की चिन्तायें थीं। धन नष्ट होने पर उसे अत्यधिक क्लेश था किन्तु जहाँ उसे ऐसा ज्ञान हो गया, तहाँ

उसकी समस्त चिन्तायें कपूर के सदृश अपने आप ही उड़ गयीं। वह क्लेश रहित होकर तथा चिन्ताओं की आलय अपने घर बार कुटुम्ब परिवार को छोड़कर-विरक्त बनकर पृथिवी पर विचरण करने लगा। ये अध्यात्म ज्ञान युक्त गीत उसने हृदयङ्गम कर लिये थे। इन्हीं के प्रभाव से वह दुष्टों द्वारा तिरस्कृत होने पर भी अपने यति धर्म में अटल बना रहा। इस आध्यात्म्य गीत को गाता रहता था। इसलिये हे उद्धव! तुम भी इस बात को पूर्णरीत्या निश्चित कर लो कि किसी को कोई कभी सुख दुःख नहीं दे सकता। अमुक ने हमें सुख दिया अमुक ने हमें दुख दिया, यह सब तो चित्त का एकमात्र भ्रम ही है।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! जैसे एक ही चीनी के नाना खिलौने बना लेते हैं, उसी से मृग बनाते हैं उसी से सिंह, उसी से बिल्ली उसी से चूहा। सर्प मयूर, कुत्ता बिल्ली, वृक बराह तथा और भी नाना आकृतियाँ बनाकर उनको कल्पित नामों से पुकारते हैं, ऐसे ही अज्ञान से रचित इस संसार में भी नाना कल्पनायें होती हैं। किसी को शत्रु बताते हैं, किसी को मित्र के नाम से पुकारते हैं, किसी को उदासीन मान कर देते हैं वास्तव मे न कोई शत्रु है, न मित्र और न उदासीन ही। एकमात्र आत्मा ही सत् है और सब असत् है, मिथ्या है अज्ञान तथा भ्रम है। इसलिये तुम इस ससार से मन को हटा लो।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मुझे आप योग का सार तत्व बता दें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! तुम ससार में लगी हुई बुद्धि को हटाकर मुझ में लगा लो। और पूरी शक्ति लगाकर दृढता के साथ कटिबद्ध होकर युक्तिपूर्वक मन का निरोध करो। यही योग का सार संग्रह यहा संसार सागर से पार जाने का सरल सुगम मार्ग है। यह मैंने तुम्हे अत्यन्त गूढ़ ज्ञान युक्त भिक्षु गीत

सुनाया। उसे तुम साधारण गीत मत समझना यह ब्रह्मनिष्ठा से युक्त पुण्य प्रसङ्ग है। इसे जो सावधान पूर्वक समाहित चित्त से श्रद्धा सहित श्रवण करते हैं वे शाश्वती शान्ति को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रसंग को जिज्ञासु मुमुक्षुओं को शुद्ध चित्त से सुनाते हैं, वे भी परम पद के अधिकारी बन जाते हैं, सुनकर और सुनाकर जो इसे हृदयङ्गम करते हैं धारण करते हैं, वास्तविक लाभ तो उन्हीं को होता है फिर वे किसी को दोष नहीं देते, कि अमुक ने मुझे दुःख दिया और न किसी की स्तुति ही करते हैं कि अमुक ने मुझे सुख दिया। सुख दुख देने वाला दूसरा कोई है ही नहीं। जिसे आत्म ज्ञान हो जाता है, फिर वह कभी भी सुख दुःखादि द्वन्दों के वशीभूत नहीं होता। उसे किसी के द्वारा क्लेश का अनुभव नहीं होता संसारी घटनाओं को भाग्य के भरोसे छोड़कर वह आत्मानन्द में नित्य निमग्न बना रहता है। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप मे तुम से भिक्षुगीत कहा, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैं साख्ययोग का प्रक्रिया फिर से सुनना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! कितनी बार तो मे तुम्हे साख्य सम्बन्धी ज्ञान सुना चुका हूँ साख्य शास्त्र मे वे ही इने गिने तत्व जिनका उल्लेख मैं अनेक स्थानों पर प्रसङ्गवश कर ही चुका अब तुम और कोई बात पूछो।"

उद्धवजी ने कहा—'महाराज! गूढ विषय को बार बार ही सुनना चाहिये। उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं होता। यद्यपि आप कई बार बता चुके हैं, फिर भी मेरी इच्छा पुन साख्य योग के सम्बन्ध में सुनने की है। आप कृपा करके साख्य की मुझे विधि प्रक्रिया समझावें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है अब मैं तुम को साख्य-योग ही अत्यन्त संक्षेप मे समझाऊँगा। तुम इसे भली भाँति हृदयङ्गम कर लो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् "उद्धव को साख्ययोग का उपदेश देंगे उसे मैं आगे आप से कहूँगा।"

छप्पय

नहीं दुःख सुख देहि कबहुँ काहू कूँ कोई।
दुख को कारन अन्य बतावें तिनि मति सोई॥
मारें बाँधे चाहि देहिं दुख मोकूँ सबजन।
समुझि दैवगति कबहुँ होहुँ नहि दुसित मलिन मन॥
कहें कृष्ण—"उद्धव! सुनो, भिक्षु कृतारथ ह्वै गयो।
सहीं यातना खलनि की, गाय गीत प्रमुदित भयो"॥

———

सांख्य विधिसे सृष्टि

(१३११)

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वविनिश्चितम् ।
यद्विज्ञाय पुमान्सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम् ॥

(श्री भा० ११ स्क० २४ अ० १ श्लो०)

छप्पय

उद्धव बोले—'प्रभो ! साख्य अब मोइ सुनावें ।
कितने हैं सब तत्व ? भये कैसे ? समुझावें ॥
हरि बोले—"हौं प्रथम एक ही अद्वय सतचित ।
दृष्टा दृश्य स्वरूप प्रकृति अरु पुरुष भये इत ॥
प्रकृति पुरुष सयोग तैं, क्षोभ भया जब गुननिमें ।
एकादश अरु देव मिलि, भयो अड इन सबनिमें ॥

समस्त बुद्धिमानों के सम्मुख यह प्रधान प्रश्न है, कि इस ससार की उत्पत्ति कैसे हुई । कैसे यह नानायोनियोंवाला नहीं, पर्वत, वन तथा उपवनों से युक्त ससार उत्पन्न हुआ । इसमे कितने

---

*भगवान श्रीकृष्ण चन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! अब मैं तुमसे उस साख्ययोग का वर्णन करता हूँ, जो पूर्वाचार्यों द्वारा सुनिश्चित है और जिसके जान लेने पर मनुष्य वैकल्पिक भ्रम को तत्काल त्याग देता है ।"

तत्व हैं और उन प्रधान तत्वों की संख्या कितनी है। इस विषय मे सभी एक मत नहीं है, सबके भिन्न भिन्न मत हैं। कोई तत्वोंकी संख्या कुछ बताते हैं कोई कुछ। सख्या करने से ही इस शास्त्र का नाम सांख्य है। सांख्य कहते हैं सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान प्राप्त करके उनके मुख्य तत्वों को बता देना आगे चलकर यह पचीस तत्व मानने वालों के लिये रूढ़ि हो गया। सांख्यमत वाले भी दो कहे जाते हैं एक निरीश्वर सांख्य एक सेश्वर सांख्य। योग दर्शनकार सांख्यके सब तत्वों को मानते हैं। फिर भी वे एक पुरुष विशेषको ईश्वर भी मानते हैं, इसलिये उनके मत में पचीस तत्व न होकर छब्बीस तत्व हैं। सेश्वर सांख्य का विशेष उल्लेख श्रीमद् भागवत संहिता में ही है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने भगवान् से सांख्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! प्रलय के अन्त में तथा सृष्टिके आदि में जब सबसे प्रथम सत्य-युग था, तब एक अद्वय, निर्विकल्प, निरीहनिरञ्जन ब्रह्म ही था दृष्टा और दृश्य ये दो भेद नहीं थे, उसे ही दृश्य कहलो उसीको दृष्टा। उसीकी ज्ञान संज्ञा थी और अपने आप ही उत्पन्न विषय था। जैसे किसी के एक ही लड़का था। बाहर से कुछ लोग आये। उन्होंने आकर पूछा—"पंडितजी! आपका बड़ा लड़का कौन सा है?

समीप मे बैठे हुए अपने बड़े लड़के की ओर संकत करके उन्होंने कहा—"यही मेरा सबसे बड़ा लड़का है।"

फिर उन्होंने पूछा—"छोटा कहाँ है?"

तब भी उन्होंने उसी की ओर संकेत करके कहा—"यही मेरा छोटा लड़का है।"

सारांश यह कि जब एक ही है, तो उसे चाहें सबसे छोटा

कह लो, मध्यम कहलो बडा कहलो। इसी प्रकार विवेक सम्पन्न पुरुष आदि मे एकही ब्रह्म मानते थे। उसे द्रष्टा कहलो दृश्य कहलो। वास्तव मे वह एक ही है। पीछे वही वाणी और मनसे अगोचर निर्विकल्प सत्य स्वरूप ब्रह्म दृश्य और द्रष्टा रूप से दो प्रकार के हो गये। दृश्य की माया सज्ञा हुई और द्रष्टा को ब्रह्म कहलो। साख्यके शब्दोंमे उनमेंसे मायाको तो प्रकृति कहते हैं दूसरा जो ज्ञान स्वरूप द्रष्टा है उसीकी पुरुष सज्ञा है। अब एक अद्वय निर्विकल्प प्रकृति और पुरुष दो हुए। वह प्रकृति दो प्रकारकी है कार्य रूपा प्रकृति कारण रूपा प्रकृति मूल प्रकृति कारण रूपा है, उससे जो विकृति हुई वही कार्यरूपा है। गुणो की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। जब तक तीनो गुण काँटे में तुले हुए बराबर बराबर बने रहते हैं, तब तक प्रकृति मे क्षोभ नहीं होता, तब तक वह सृष्टि करनेमे समर्थ नहीं। सृष्टि विषमता में ही होती है। समतामें सृष्टि नहीं। माता पिताका रज वीर्य विषम होगा तभी सन्तानोत्पत्ति होगी। वीर्य अधिक हुआतो पुत्र होगा, रज अधिक हुआ तो पुत्री। यदि दोनो समान हुए तो सतति न होगी। इसी प्रकार जब तक गुण सम बने रहेंगे, प्रकृतिसे विकृति होती ही नहीं। सृष्टि का आरभ करना था। अतः मैंने ही प्रकृतिको क्षुब्ध किया।

उद्धवजी ने पूछा—"आपने प्रकृति को क्षुब्ध क्यों किया महाराज ?"

हसकर भगवान् बोले—"पुरुषको देखकर प्रकृति क्षुब्ध हो ही जाती है भैया ! यह ढाँचा ही ऐसा बना है। जननोन्मुख जीवों क अदृष्टानुसार मेरी प्रेरणा से प्रकृतिमे क्षोभ हो ही जाता है। माता पिता जो अन्न पाते हैं जल पीते हैं, उन सबमें जीवन होता है रजवीर्य के कीटाणु बनते हैं। वे अपने भोग भोगनेको व्यग्र

होते हैं। इसीलिये पुरुषकी प्रेरणासे प्रकृतिमें क्षोभ होता है। सन्तानें उत्पन्न होती हैं सृष्टि बढती है।

उद्धवजी ने पूछा—"सृष्टिके आदिमें जीव आ कहाँसे गये? उन्होंने अभी तो कोई कर्म किये ही नहीं फिर वे उन कर्मोंके फलों को भोगने के लिये व्यग्र कैसे हुए? उनका अदृष्ट कैसे बना?"

भगवान् ने कहा—'उद्धव! यह संसार तो प्रवाह रूपसे नित्य है। इसके विषयमे यह नहीं कह सकते कि यह अमुक तिथिसे सृष्टि आरंभ हुई। अमुक दिन इसका आदि था। इसका आदि तो है ही नहीं। अनादि है। पूर्व कल्पोंके जीवोंके अदृष्ट रहते हैं। प्रलयके अनंतर जब सृष्टि आरम्भ होनेका काल आ जाता है जीव भोग भोगनेके लिय कालकी प्रतीक्षा करते हैं, काल आने पर मेरी प्रेरणासे प्रकृतिमें विकृति हो जाती है। अब तक जो तीनों गुण समान होनेसे एक बने हुए थे, अब जब उनमें विषमता आ गयी, तो सत्व, रज और तम ये तीनों पृथक पृथक हो गये। मेरी इच्छाशक्ति जब प्रकृतिमें प्रविष्ट हुई तब उसमे विकृति हुई अर्थात् तीनों गुण हुए उन तीनों गुणोंसे क्रिया शक्ति सम्पन्न सूत्र उत्पन्न हुआ।

उद्धवजी ने कहा—'सूत्र किसे कहते हैं महाराज!"

भगवान् ने कहा—"जो बाँधता है और उत्पन्न करता है। उस सूत्र से ज्ञानशक्ति प्रधान एक महान तत्व उत्पन्न हुआ।"

उद्धवजी ने पूछा—तो क्या भगवान्! यह महत्तत्व से पृथक कोई सूत्र तत्व है।

भगवान ने कहा—'नहीं, ये दोनों एक ही हैं ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों मिलकर महत्तत्व ही कहलाती हैं। अतः प्रकृति की प्रथम विकृति का महत्तत्व ही संज्ञा है। जैसे मालाके दानोंको सूत्र एक में स्थिर रखता है वैसे ही सूत्रात्मा सब तत्वोंको

एकमें मिलाये रखता है। सबसे महान् तत्व होनेसे ही उसे महत्तत्व कहते हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! प्रकृतिकी प्रथम विकृति तो महान् या महत्तत्व हुआ, उस विकार युक्त महत्तत्व से क्या उत्पन्न हुआ?"

भगवान् ने कहा—"उससे उत्पन्न हुआ अहंकार।"

उद्धवजी ने पूछा—"अहंकार का कार्य क्या है?"

भगवान् ने कहा—"अहंकारका कार्य है जीवको मोहमें डालना जब तक देहादिमें अहंभाव न होगा, तब तक मोह हो ही नहीं सकता। अहंकार ही समस्त भेदभावों का जनक है। वह तीन प्रकार का हुआ। सात्विक अहङ्कार राजस अहङ्कार और तामस अहङ्कार। इन तीनों ही रूपोंसे इसने सृष्टि उत्पन्न की।"

उद्धवजी ने पूछा—"किस अहङ्कार से कौन सी वस्तु उत्पन्न हुई?"

भगवान् ने कहा - "सात्विक अहङ्कार से दश इन्द्रियों और ग्यारहवें मनके ग्यारह अधिष्ठातृदेव उत्पन्न हुए। उनके नाम वायु सूर्य, वरुण, आश्विनीकुमार इन्द्र, विष्णु, प्रजापति, नैऋत, अग्नि और चन्द्रमा हैं। राजस अहङ्कारसे दशो इन्द्रियाँ और तामस अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रायें और उनसे पाँचो भूत।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान् यह अहङ्कार जड़ है या चैतन्य?"

भगवान् ने कहा—"चैतन्यका आभास होनेसे इसमें चेतनता भी है और जड़ तो यह है ही इसे लिये इसे चित् अचित् अर्थात् जड़चेतनमय कहते हैं। केवल जड़ भी नहीं और शुद्ध चैतन्य भी नहीं। कुछ मिलाजुला सटर पटर है।

उद्धवजी ने पूछा—"फिर इन सबने उत्पन्न होकर किया क्या?"

भगवान् ने कहा—"ये सब पृथक् पृथक् थे। जब तक सूत्र पृथक् पृथक् रहते हैं तब तक वे कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं एक बकरी भी उसे तोड़ सकती है। जब बहुत सूत्र परस्परमें मिल-जुल जाते हैं, तो मत्तगयन्द को भी रोकने में समर्थ हो जाते हैं, उनमें महान् शक्ति हो जाती है, किन्तु उसे जोड़नेवाले परस्परमें मिला देने वाला कोई शक्तिशाली ही व्यक्ति चाहिये। अतः मेरे द्वारा प्रेरित होकर ये जितने जगत्के कारण तत्व उत्पन्न हुये थे, इन सबने परस्पर मिलजुलकर मेरा आश्रयरूप यह अंड बनाया। जब यह अंडा जीवन रूप जलमें स्थित हुआ तो मैं इस अंडमें विराजमान हो गया। मै इस जगत्के समष्टिरूपमें अंडमें जब घुस गया तो मेरी नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। कमल क्या था वह सम्पूर्ण चराचर विश्व ही था, उस कमल पर मैंने देखा एक चार मुखवाला देव बैठा है। वह अपने आप उत्पन्न हुआ था, इसलिये उसका नाम 'स्वयम्भू' पड़ा। जन्म न लेनेसे अज तथा विश्वमें व्याप्त होने से ब्रह्मा भी उसकी संज्ञा हुई।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! उन चतुर्मुख ब्रह्माने क्या किया ?"

भगवान् बोले—"उन्होंने मेरी प्रेरणा से तप किया। फिर मेरी अनुग्रहसे रजोगुण द्वारा लोकपालों के सहित इस त्रिभुवन की रचनाकी जिन्हें भूः भुवः और स्वः तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग कहते हैं। वह अंडा बीच से दो हो गया था नीचे के भाग से पृथिवी और उसके भीतर ऊपरके भागसे स्वर्गादिलोक और बीचमें जो अवकाश रह गया। उससे भुवर्लोक बना। पृथिवी पर मनुष्य आदि प्राणी रहने लगे। भुवर्लोकमें वायुके आधार पर रहनेवाले भूत, प्रेत पिशाच आदि रहने लगे। स्वर्गमें देवता-गण तथा स्वर्गसे ऊपर महर्लोकमें सिद्ध महर्षिगण रहने लगे, जनलोकमें ऊर्ध्व रेता ब्रह्मचारीगण, तपलोकमें तपस्वी वानप्रस्थ

आदि और सत्यलोक में महान् पुण्यात्मा तथा ज्ञानीजन निवास करने लगे। पृथिवीके नीचे के अतल वितल सुतलादि विवरोंमें नाग, असुर आदि का वास हुआ। स्वर्गादिलोकोंमे शुभ कर्म करने वाले महापुरुष जाते हैं। जैसे त्रिवर्गोंका सविधि अनुष्ठान करनेवाला स्वर्गलोकमे जायगा। गार्हस्थ धर्मका सविधि आचरण करनेवाले महर्षिगण तथा अवसर प्राप्त इन्द्र तथा मनु आदि अधिकारीगण महर्लोकमे जायगे। योग साधन करनेवाले भगवान् के जन-ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारीगण-जनलोकमे जाकर योग का अभ्यास करेंगे। तपस्यामे निरन्तर निरत रहनेवाले वन वासी वानप्रस्थी तपलोक जाकर अपनी तपस्याकी पूर्ति करेंगे। सन्यास धर्मका आचरण करनेवाले ज्ञानी सत्यलोक अथवा ब्रह्मलोकमें जायेंगे।

उद्धवजी ने पूछा—भगवान्! धर्मानुष्ठान, कर्मयोग, अष्टाङ्ग-योग, तपस्या तथा सन्यास से प्राप्त होनेवाले लोकोंका तो आपने वर्णन किया, किन्तु जो एकमात्र आपकी ही अनन्य भाव से उपासना करते हैं, उन आपके भक्तोंको कौन सी प्रगति प्राप्त होगी? उन्हें कौनसे लोक मिलेंगे?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! यह भी कोई पूछनेकी बात है। लोकोंकी प्राप्ति तो भावनाके अनुसार होती है। जिनका चित्त तपमे ही लगा है उन्हे तपलोक की प्राप्ति होगी, जो सन्यास रूप सत्य के ही अनुष्ठान में लगे हुए हैं उन्हे सत्यलोक की प्राप्ति होगी और जो अनन्यभाव से मेरी ही उपासना करते हैं। भक्ति-योग द्वारा मेरी ही आराधना करते हैं, उन्हे मेरे परमधाम की प्राप्ति होगी। मेरा भक्त तो मुझी को प्राप्त होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! ये प्राणी आपके चरणारविन्दों का परित्याग करके इस असार संसार सागर मे इधर-उधर व्यर्थ क्यों भटकते रहते हैं?"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"उद्धव! यह सब

से हो रहा है। मेरा एक स्वरूप है काल। कालयतीतिकाल। जो सबकी गणना करता रहे। काल रूप से जगत् को मैं ही कर्मों में प्रवृत्त करता हूँ। कर्म कलाप में पड़ा हुआ प्राणी सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के प्रवाह में कभी डूबता है कभी उतराता है। अर्थात् कभी किसी योनि में जाता है कभी किसी में कभी शुभ कर्म बन गया तो देवता आदि उन्नत योनियों में चला गया, कभी पाप कर्म बन गया तो पशु, पक्षी, कीट पतंग तथा नारकीय योनियों में जाता है। इस प्रकार यह गुण प्रवाह मुझ कालात्मा भगवान् की प्रेरणा से चलता रहता है यह सब जगत् प्रकृति पुरुष के संयोग से हुआ है। छोटे से छोटा पदार्थ जैसे परमाणु, बड़े से बड़ा पदार्थ जैसे महत्तत्व, पतले से पतला जैसे आकाश, स्थूल से स्थूल जैसे पृथिवी पर्वत आदि ये सभी प्रकृति पुरुष दोनों से मिलकर ही बनते हैं। इन दोनों के संयोग के बिना किसी की उत्पत्ति संभव ही नहीं। किन्तु तुम्हें जो यह इतना प्रपंच दीख रहा है, यह सब सत्य नहीं है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो सत्य क्या है, महाराज ?"

भगवान् ने कहा—"इन सब में सत्य तो केवल शुद्ध ब्रह्मरूप से मैं ही हूँ।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! आप ही तो कह रहे हो काल रूप से मैं प्रेरणा करता हूँ, प्रकृति पुरुष के संयोग से यह सब होता है, तो आप तो पुरुष ही हो, काल और प्रकृति को भी सत्य ही होना चाहिये।"

भगवान् ने गम्भीरता के साथ कहा—"इस विषय को तुम भलीभाँति विचार करो। एक सिद्धान्त है जो पदार्थ जिसके आदि और अन्त में रहता है वही सत्य है और वही बीचमें भी बना रहता है। बीच में जो उसके नाना नाम और रूप प्रसिद्ध हो जाते हैं, वे सब मिथ्या हैं। जैसे चीनी है उसके हाथी घोड़ा आदि

खिलौने बने। फिर उन्हें तोड कर चीनी बनाला। अब विचारिये आदि में भी चीनी थी। अन्त में भी चीनी ही शेष रह गयी। बीच में जो हाथी घोडा आदि भिन्न भिन्न आकृतियाँ बन गयीं भिन्न भिन्न उसके नाम हो गये उस उस समय भी चीनी कहीं चली नहीं गयी। चीनी की सत्ता उस समय भी विद्यमान् थी। अतः बीच में जो उसके नाम रूप प्रसिद्ध हुए वे मिथ्या हैं एक मात्र चीनी ही सत्य है। इसी प्रकार सबमें घटाला आदि में सुवर्ण ही था, उसके कटक आदि आभूषण बने। अब उसे सभी लोक सुवर्ण न कह कर कठा, अगूठी, कुडल तथा अन्यान्य नामों से पुकारने लगे। फिर उन्हे तोड दिया तो सुवर्ण का सुवर्ण ही रह गया। बीच में जब उसके कठा कुडलादि बन गये थे, तब भी सुवर्ण की सत्ता समाप्त नहीं हो गयी था सुवर्ण तब भी था। इससे सिद्ध हुआ कि तीनों कालों में समान रूप से रहनेवाला सुवर्ण ही सत्य है उसके जो भूषणादि नाम रूप हुए वे मिथ्या हैं। तीसरा उदाहरण लीजिये।

प्रथम मृत्ति का हा थी, उसके घड़े सकोरे नाद तथा अन्यान्य मिट्टी के बर्तन बन गये। बर्तन फूट गये फिर मिट्टी की मिट्टी ही रह गयी। जब घडे सकोरे आदि बने थे, तब भी मिट्टी कहीं चली नहा गयी थी, मृत्तिका तब भी ज्यों की त्यों थी। मिट्टी तीनों कालों में विद्यमान था। इससे सिद्ध हुआ एक मात्र मृत्तिका ही सत्य है उसके जो विकार हुए वे सब मिथ्या थे, वे केवल व्यवहार के निमित्त थे। उनकी सत्ता क्षणिक और व्यवहारिक थी। जैसे नाटक का पात्र। नाटक खेलने से पहिले भी वह देवदत्त था, जब नाटक खेल चुका तब भी वह देवदत्त ही रहा। बीच में वह जो रानी दासी बना था। वह व्यवहार के लिये। उस समय भी उसका देवदत्त बना नष्ट नहीं हुआ था। यद्यपि वह नाटक में दमयन्ती। तिलोत्तमा आदि नामों से पुकारा जाता था और वह उन नामों

से बोलता भी था, किन्तु उसका वह नाम रूप मिथ्या था, नाटक चलाने के लिये व्यवहार्य। तब भी जानने वाले जानते थे यह देवदत्त ही है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! बीच में जो नाम रूप हुआ, उसकी भी तो सत्ता थी, उसे ही हम सत्य क्यों न मान लें।"

भगवान् ने कहा—"ऐसे तुम अपने आप 'सत्य' कैसे मान लोगे। सत्य की तो परिभाषा यह है कि जो तीनों कालों में एक रस बना रहे। कुम्हार मिट्टी की खान से मिट्टी खोदकर लाता है। उसके पिंड बनाता है। चाक पर रखता है डंडे से घुमाता है। घड़ा बनाता है। घड़ा तो उसका कार्य हुआ। चाक, डंडा, डोरा आदि घड़े बनाने में निमित्त कारण हुए। मिट्टी उपादान कारण है। घड़ा बनाने पर चाक भी घड़े से पृथक् हो गया, डंडा भी पृथक् हो गया, डोरा भी पृथक् हो गया। जल भी सूख गया। किन्तु मृत्तिका जो घड़े का उपादान कारण थी। वह घड़ा बनने पर भी ज्यों की त्यों उसके साथ बनी रही। घड़ा फूट गया, उसका घड़ापन भी नष्ट हो गया। अब कोई उसे घड़ा नहीं कहता, परन्तु मिट्टी ने साथ नहीं छोड़ा। अन्त में फिर उसकी संज्ञा मिट्टी ही रही। मिट्टी से पुनः मिट्टी होने तक उनके नाम रूप तो बहुत बने, किन्तु मृत्तिका ने उसका साथ क्षण भर को भी नहीं छोड़ा। इसलिये मृत्तिका ही सत्यसिद्ध हुई अन्य सब मिथ्या हो गये। क्योंकि किसी परम उपादान के आश्रय से किसी दूसरे कार्यरूप भाव को, पहिला उपादान कारण उत्पन्न करता है तो जो जिसके आदि अंत में रहता है वही सत्य कहलाता है, शेष सब मिथ्या हैं।"

उद्धव जी ने पूछा—"फिर इस कार्य रूप संसार का उपादान कारण कौन हुआ।"

भगवान् ने कहा—"इस दृश्य प्रपञ्चरूप कार्य का उपादान

कारण प्रकृति है, जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी सानकर उसके बनाये हुए गोले थे। जिस मिट्टी के गोले बनाये गये थे इस का परम कारण मिट्टी की खानःथी जहाँ से मिट्टी लायी गयी थी। तो उस मिट्टी के पिंडों का भी परम कारण खानि थी। इसी प्रकार प्रकृति का भी अधिष्ठान परमात्मा हैं। जैसे मिट्टी के पिंड में घडा कहीं से लाकर रखा नहीं गया। घडा उसमें पहिले से ही था, उसे कुम्भकार ने प्रकट कर दिया इसी प्रकार प्रकृति मे यह दृष्य प्रपञ्च प्रथम से ही निहित था उसे मेरे अंश रूप काल ने प्रकट कर दिया। काल इस जगत् का कर्ता नहीं अपितु अभिव्यंजक मात्र है। अब प्रकृति, पुरुष और काल ये तीन ही जगत् के मुख्य कारण सिद्ध हुए। इन तीनों का भी उपादान कारण शुद्ध ब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ। अतः जगत मिथ्या है, एक मात्र मैं शुद्ध ब्रह्म ही सत्य हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! जब यह दृष्य प्रपञ्च सब सब मिथ्या है, तो फिर इसे अनादि आप क्यों बताते हैं?"

भगवान् ने कहा—"प्रवाह रूप से यह अनादि है। जब तक उत्पन्न हुए संसार की स्थिति हैं जब तक यह प्रलय को प्राप्त नहीं होता और जब तक इसकी ओर परमात्मा देखते रहते हैं। तब तक यह निरन्तर चलता ही रहता है। पिता ने पुत्र को उत्पन्न किया, उसने और पुत्रों को उत्पन्न कर दिया अब वह पिता बन गया, फिर उसका पुत्र पिता बन गया। परम्परा अनादि काल मे चल रही है अनन्तकाल तक चलती रहेगी।"

उद्धवजी ने पूछा—"यह ऐसी पिता पुत्र की परम्परा क्यों चलती है?"

भगवान् ने कहा—"जीवकृत कर्मों के फल भोगने के ही लिए यह परम्परा चल रही है। जब काल आ जाता है तब प्रलय हो जाती है सब तत्व अपने कारणों मे विलीन हो जाते हैं। इन

सातों भुवनों का नाम रूप नहीं रहता जगत के पञ्चीभूत अपने अपने जनकों में एकी भूत हो जाते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! आपने उत्पत्ति का क्रम तो बताया अब कृपा करके प्रलय का क्रम और बतावें। किस प्रकार प्रलय होती है। सब तत्व अपने अपने कारणों में कैसे विलीन होते हैं। अन्त में क्या बच जाता है।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—'उद्धव! यह तो मैंने तुम्हें बताया ही कि जो आदि अन्त में रहता है वही मध्य में भी सदा है वही सत्य है। आदि में एक मात्र मैं ही था, मुझसे ही प्रकृति पुरुष की उत्पत्ति हुई। प्रलय के अन्त में सब मुझ में ही आकर विलीन हो जाते हैं। यह विलयन कैसे होता है, इसे मैं तुम्हें समझाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी को प्रलय का क्रम बताया। उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

सलिल माँहि सो रह्यो विराज्यो तामें हौं जब।
भयो नाभि तैं कमल प्रकट अज भये स्वयं तब॥
तप करि त्रिभुवन रचे चतुरदश लोक बनाये।
मनुज, भूत, सुर, असुर लोक सब माहिं बसाये॥
प्रकृति पुरुष तैं होहि जग, काल पाइ होवें सकल।
रहूँ बस हौं ही सदा, मोतैं नहिं कोई प्रबल॥

सांख्य विधि से प्रलय

(१३१२)

एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थि भेदनः।
प्रतिलोमानु लोमाभ्यां परावर दृशा मया ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २४ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

प्रलय काल जब होहि कार्य कारन मिलि जावे।
देह अन्न महँ मिलै बीज महँ अन्न समावे॥
बीज भूमि महँ भूमि गन्ध जो जल, जल रस महँ।
यों क्रम तैं सब भूत लीन ह्वै जावें नभ महँ॥
इन्द्रिय, मात्रा, भूत गन, अहंकार महँ होहिं लय।
अहंकार महतत्व महँ, प्रकृति माँहि सोऊ विलय॥

प्रकृति का ऐसा नियम है जो जिससे उत्पन्न होता है, अन्त में वह उसी में लीन हो जाता है। घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होता है अन्त में मिट्टी ही हो जाता है देह पंच भूतों से उत्पन्न होती है,

---

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव! यह मैंने तुमसे अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से सांख्य की विधि बतायी यह संशयरूप हृदय ग्रन्थि को खोलने वाली है। मैं स्वयं कार्य—कारण का साक्षी हूँ।

अन्त मे पच भूतो में ही मिल जाती है। वृक्ष बीज से ही उत्पन्न होता है अन्त मे बीज ही रह जाता है। आभूषण सुवर्ण से बनते हैं अन्त मे उसी मे लीन हो जाते हैं। जिसका जो कारण होगा वह कार्य को अपने मे मिला लेगा। जो स्वयं किसी का कारण नहीं और वही सब का एक मात्र कारण है अन्त में सब उसी मे आकर समा जाते हैं। इसी लिये भगवान् को 'अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहते हैं। उपादान कारण उसे कहते हैं अपने को लेकर कार्य को कर दे। निमित्त कारण उसे कहते हैं जो उस कार्य में सहायता दे। जैसे घडे का उपादान मिट्टी है। मिट्टी से ही घडा बनता है। मिट्टी मे घडा व्याप्त है, किन्तु स्वय मिट्टी घडा नहीं बना सकती। उसके बनने बनाने के लिये उपकरण चाहिये। एक तो बनाने वाला कुम्हार चाहिये, चाक चाहिये डोरा चाहिये, और भी आवश्यक वस्तुएँ चाहिये। ये सब निमित्त कारण हैं। मिट्टी न हो तो इन सब वस्तुओं के रहने पर भी घडा नहीं बन सकता और मिट्टी चाहें जितनी रही हो, जब तक उसका बनाने वाला तथा बनाने को सामग्री न हो तब तक घडा बन नहीं सकता। इसलिये उपादान कारण और निमित्त कारण दो का होना आवश्यक है। किन्तु भगवान् के लिये यह बात नहीं। इस ससार के वे ही उपादान कारण हैं और वे ही निमित्त कारण भी हैं। अपने आप से ही बिना बाह्य उपकरणों के वे इस जगत् को बना भी लेते हैं और फिर अपने आप ही बिना किसी की सहायता के समेट भी लेते हैं। जैसे मल्लाह के लिये तो जाल बनाने के लिये सूत रस्सी आदि उपकरणों की आवश्यकता है, इन सब के बिना वह जाल नहीं बना सकता, किन्तु मकडी के लिये जाल बनाने के लिये किसी भी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं। वह अपने आप ही मुख में से सूत्र निकाल कर उस सूत से जाल बना लेती है। जितने काल तक उसकी इच्छा होती है, विहार करती है,

मे फिर जब उसे समेट ने की इच्छा होती है, सब को अपने पेट मे समेट कर एकाकी तान दुपट्टा सो जाती है। वह अपने जाल का उपादान कारण भी है निमित्तकारण भी है। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् हरि से ही उत्पन्न हुआ है। हरि ही जगत् हैं जगत् ही हरि है। जब उनकी इच्छा होती है स्वयं ब्रह्मा बन कर सृष्टि करते हैं, विष्णु बन कर स्वयं ही की हुई सृष्टि का पालन करते हैं और अन्त मे रुद्र बन कर उसका संहार करके एक अद्वय होकर लेट लगाते हैं। सृष्टि होती है प्रलय के लिये। प्रलय होती है सृष्टि के लिये। सूर्य उदय होते हैं अस्त होने के लिये। अस्त होते है उदय के लिये। जिसको सृष्टि, स्थिति और लय का ऐसा पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वह फिर किसी भी घटना से मोह को प्राप्त नहीं होता।

सूतजी कहते है—'मुनियो! जब उद्धव जी ने भगवान् से प्रलय के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! यह संसार उत्पत्ति और विनाश शील है। बार बार उत्पन्न होता है, बार बार विलीन हो जाता है। जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश है, जिसका नाश है उसकी उत्पत्ति है। यह जो दृश्य प्रपञ्च विराट् रूप से अवस्थित है इसकी जैसे उत्पत्ति होती है वैसे ही इसका विनाश भी होता है। स्थूल वस्तु सूक्ष्म मे विलीन होती जाती है।"

उद्धव जी ने कहा—"सब से स्थूल वस्तु संसार मे क्या है?"

भगवान् ने कहा—"सब से स्थूल वस्तु है देह और सब से सूक्ष्म सब व्यापक वस्तु है आत्मा। आत्मा से ही यह सब उत्पन्न हो गया है आत्मा मे ही सब का उपसंहार हो जाता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"देह किसे कहते हैं महाराज?

भगवान ने कहा—"जिसमें देही रहे वही देह। जैसे पर्वत

की देह वृक्ष की देह, हाथी की देह मनुष्य की देह तथा चींटी आदि की देह। सब देह अन्न से उत्पन्न होती हैं।"

उद्धव जी ने पूछा—"अन्न क्या है महाराज ?

भगवान् ने कहा—"अत्तीति अन्न। जो खाया जाय वही अन्न है। संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो खाई न जाती हो, जो किसी न किसी का आहार न हो। अन्न का नाम ओषधि भी है। इसी लिये वैद्यक शास्त्र वाले कहते हैं—"संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो ओषधि न हो। गौ का अन्न घास है। कूकर सूकर आदि का अन्न विष्ठा है। बड़ी मछलियों का अन्न छोटी मछलियाँ हैं। अन्न से देह की उत्पत्ति है। देह कार्य है अन्न कारण है। प्रलय काल समुपस्थित होने पर देह रूप कार्य अपने कारण रूप अन्न में विलीन हो जाती है। प्रलय कालीन वर्षा होने पर देह नहीं रहतीं। केवल अन्न शेष रह जाता है।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन् ! अन्न की उत्पत्ति किससे है ?" भगवान् ने कहा—"अन्न उत्पन्न होता है बीज से। बीज न हो तो अन्न की उत्पत्ति न हो।"

उद्धव जी ने पूछा—"अन्न में और बीज में क्या अन्तर है, हम तो अन्न को ही बीज समझते हैं ?" अन्न के दाने हैं जैसे गेहूँ जौ आदि। वे ही बीज हैं। उन्हें बोने से दूसरे बीज उत्पन्न होता है। यदि अन्न ही बीज होता तो चावल बोने से अंकुर क्यों नहीं उत्पन्न होता। उसका छिलका पृथक कर देने से उसमें अन्न तो रहता है, उसका बीजत्व नष्ट हो जाता है। गेहूँ चना आदि का भून देने से वह अन्न तो रहता है, किन्तु उसका बीजत्व निर्बल हो जाता है। इसलिये बीज का देह अन्न है। अन्न में बीज रहता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"बीज किस से उत्पन्न होता है ?"

भगवान् ने कहा—'बीज उत्पन्न होता है भूमि से भूमि न

हो, तो बीज की उत्पत्ति ही न हो। भूमि सब के बीजों को उत्पन्न करती है और समय आने पर सब बीजों को अपने मे छिपा भी लेती है महाराज पृथु ने पृथिवी को डाँट डपट कर उससे छिपाये हुए बीज निकलवाये थे, क्यों कि तब प्रलय का समय तो था नहीं। जब प्रलय का समय आता है तब सब बीज भूमि अपने गंध गुण में विलीन हो जाती है। गन्ध की उत्पत्ति जल से है, गन्ध से ही पृथिवी उत्पन्न होती है। पृथिवी की तन्मात्रा गन्ध है इसी लिये पृथिवी गन्धवती कही जाती है। पृथिवी गुणवती है गन्ध उसका गुण है। पृथिवी जब गन्ध को छोड देती है—स्वयं गन्ध मे समा जाती है—तो पृथिवी के बिना गन्ध रह नहीं सकती। वह भी अपने कारण जल में विलीन हो जाती है।"

उद्धव जी ने पूछा—"जल का गुण क्या है ?

भगवान् ने कहा—"जल का गुण है रस। जब जल रस में लीन हो जाता है, तो जल के बिना रस रह नहीं सकता। जैसे सूर्य के बिना प्रभा नहीं रहती। तब रस अपने कारण तेज में समा जाता है। तेज भी अपने कारण रूप में समा जाता है। जब तेज नहीं तब रूप कैसा ? अंधेरे मे कोई भी रूप दिखायी नहीं देता। रूप तेज के बिना रह ही नहीं सकता, अतः वह अपने पिता वायु के शरीर में छिप जाता है। वायु का गुण है स्पर्श अतः वायु स्पर्श में विलीन हो जाता है, वायु के बिना स्पर्श का अस्तित्व संभव नहीं अतः स्पर्श आकाश मे विलीन हो जाता है। शब्द देही है और आकाश देह है। सब से प्रथम शब्द हुआ तब उसके रहने को आकाश की उत्पत्ति हुई। शब्द आकाश के बिना रहेगा कहाँ, जब आकाश अपनी तन्मात्रा शब्द में विलीन हो गया। शब्द तन्मात्रा पांचों भूतो के जनक तामस अहंकार मे लीन हो गया।

उद्धवजी ने पूछा—'महाराज ! इन्द्रियो का क्या हुआ ?"

हँसकर भगवान् ने कहा—"इन्द्रियों का वही हुआ जो अन्न, जल और वायु के बिना प्राणों का होता है। जब इन्द्रियों को विषय न प्राप्त होंगे तो वे करेंगी क्या। मीन को रहने को जल न मिले तो वह अपने कारण में लीन हो जायगी मर जायगी। इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जब ये ही नष्ट हो गये, पंच भूत रहे नहीं तो इन्द्रियाँ भी अपने कारण भूत राजस अहंकार में लीन हो गयीं।

उद्धव जी ने कहा—"फिर इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव तथा मन कहाँ रहे ?"

भगवान् ने कहा—'अरे, भाई ! जिसका घर ही नष्ट हो गया, वह रहेगा कहाँ। जब इन्द्रियाँ ही नहीं रहीं तो उनके अधिष्ठातृ-देव तथा उनका प्रेरक मन ये सब भी अपने पिता सात्विक अहंकार में लीन हो गये। अब शेष रह गया त्रिविध अहंकार। उसने देखा, जब सब अपने अपने जनक के अंक में लीन हो रहे हैं, तो मैं अकेला रह कर करूगा भी क्या। यही सब सोच समझकर सम्पूर्ण जगत् को मोहित करने वाला वह अहंकार अपने कारण महत्तत्व में लीन हो गया। महत्तत्व मे ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दोनों ही मिली हुई थीं। क्रिया शक्ति प्रधान :सूत्रात्मा था और ज्ञान शक्ति प्रधान महत्तत्व। अपनी ज्ञान और क्रिया दोनों शक्तियों से युक्त वह महत्तत्व अपने कारण भूत तीनों गुणों में लीन हो गया। तीनों गुण अपनी माता प्रकृति की गोद में समान रूप से समा गये। काल आने पर प्रकृति उस अव्यय काल में विलीन हो गयी. जिसके आने पर उसमें क्षोभ हुआ और वह प्रसवोन्मुखी हुई।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन् ! काल का पर्यवसान किस में हुआ।"

भगवान् ने कहा—"काल जीव में लीन हो गया और जीव आत्मा में।"

उद्धव जी ने पूछा—"जीव में और आत्मा मे अन्तर क्या ?"

भगवान् ने कहा—"अन्तर क्या है अंश और अंशीका अन्तर है। परमात्मा अंशी है जीवात्मा अंश है। परमात्मा माया से रहित है, जीव माया मय है। जीव गुणों के संसर्ग मे बद्ध सा हो जाता है, परमात्मा अज अव्यय तथा एक रस है। जीव का परमात्मा आश्रय है, परमात्मा का कोई आश्रय नहीं। जीव आत्मा मे लीन होता है, परमात्मा का किसी में लय नहीं यह संसार की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का अधिष्ठान है। उससे कोई ज्येष्ठ नहीं श्रेष्ठ नहीं उसके कोई समान भी नहीं वही काष्ठा है वही परा गति है। वही सब की एक मात्र अन्तिम अवधि है। वह परमात्मा मैं ही हूँ। मुझ से ही सब का उत्पत्ति है और मुझ मे ही सब का पर्यवसान है। जगत् मे सर्वत्र मैं ही व्याप्त हूँ। मेरे अतिरिक्त सत् पदार्थ कोई अन्य है ही नहीं।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! इस नाना रूपों मे भासित होने वाले संसार को देख कर फिर भ्रम क्यों हो जाता है ?"

भगवान् ने कहा—"भ्रम होता है अज्ञान से। जब जीव असत् को सत् समझ लेता है, अनित्य में नित्य बुद्धि कर लेता है तभी वह माया मोहित होकर भ्रम में पड़ जाता है और जान बूझकर दुःखों को मोल ले लेता है। जिसे गुरु कृपा और सत्संग से यह बोध हो गया कि संसार मे एक मात्र मैं परमात्मा ही सत् हूँ, तब उसे इस मिथ्या प्रपञ्च में भ्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है।"

उद्धव ने कहा—"भगवन्! यह संसार तो ऐसा मोहक है कि बड़े बड़े ज्ञानियों को भी मोह हो जाता है।"

भगवान् ने कहा—"भैया! ज्ञानियों को तो कभी मोह होता नहीं। हाँ मेरी मोहिनी माया की प्रबलता से कभी कभी ज्ञानियों

को भी इस संसार की स्फूर्ति हो जाती है, किन्तु वह चिरकाल तक उनके हृदय में ठहरती नहीं। जैसे भगवान् शंकर को मेरा मोहिनी रूप देख कर कुछ काल को मोह हो गया था, किन्तु जहाँ उन्हें स्मृति हुई तहाँ वे तुरन्त अपनी निष्ठा में अवस्थित हो गये। जैसे सूर्य कभी कभी बादलों से ढक जाता है, जहाँ बादल हटे तहाँ वह पुनः पूर्ववत प्रकाशित होने लगता है। सूर्य के प्रकाशित होने पर फिर अन्धकार रह ही कैसे सकता है ?"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! यह मैंने तुम से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की कथा सुनायी। देखो कार्य और कारण का एक मात्र साक्षी मैं ही हूँ। मेरे द्वारा ही इस प्रपञ्च की सृष्टि होती है और मुझ मे ही यह विलीन हो जाता है। जो इस सृष्टि और प्रलय के क्रम को ध्यान पूर्वक सुनता समझाता है, उसका अज्ञान दूर हो जाता है। उसके हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय मिट जाते हैं और वह कर्म बन्धनों से विमुक्त बन जाता है। यह मैंने सांख्य विधि से प्रलय और सृष्टि का वर्णन किया, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन ! मैं यह जानना चाहता हूँ, कि सब मनुष्य एक से ही विचार के क्यों नहीं होते ? इनमें इतनी भिन्नता क्यों होती है ?"

भगवान् ने कहा—"सत्व, रज और तम इन गुणों के कारण भिन्नता होती है। भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ गुणों के ही कारण होती हैं।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन् ! मुझे गुणों की प्रवृत्तियों के विषय मे समझावें। किस गुण की कैसी प्रवृत्तियाँ होती हैं ?'

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, अब मैं तुम्हें तीनों गुणों की प्रवृत्तियों के ही विषय में बताऊँगा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! अब जिस प्रकार भगवान् ने

गुणों की प्रवृत्तियों का निरूपण किया, उसे मैं आप को सुनाता हूँ।"

छप्पय

प्रकृति काल महँ विलय जीव महँ काल समावे।
हौं अव्यक्त अनादि जीव मोमें मिलि जावे॥
नहिं काहू में मिलूँ अवधि सब की हौं उद्भव।
अति समास तैं कही सृष्टि लय कहूँ कहा अब॥
बोले उद्धव—"नाथ अब गुन वृत्तिनि वरनन करें।
ज्यौं प्रानिनि महँ विषमता, नट नागर संशय हरें॥

———

प्रभाव सभी पर पड़ता है। जो शुद्ध सत्वगुण प्रधान हैं उनको भी कभी समय आने पर रज और तम दबा लेता है। इसके विपरीत जो घोर रजोगुणी या तमोगुणी हैं, उनके जीवन में भी सत्वगुण का उदय होता है। जो गुणों में वर्त रहा है गुणों के अधीन होकर कर रहा है उसका आवागमन छूटता नहीं, किन्तु जो गुणातीत हो गये हैं देह और आत्मा के रहस्य को जिन्होंने भली भाँति समझ लिया है फिर वे संसार के चक्कर में नहीं फँसते उनका आवागमन नष्ट हो जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने तीनों गुणों की वृत्तियों के सम्बन्ध में पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! सत्व, रज और तम ये तीन गुण, जिस समय जिस गुण का प्राबल्य होता है वैसे ही कार्य होने लगते हैं। यदि सत्व गुण का प्राबल्य हुआ, तो सात्विक भाव उठने लगते हैं, रजोगुण के प्राबल्य से रजोगुणी वृत्तियाँ हो जाती हैं और तमोगुण की अधिकता से तमोगुणी।"

उद्धवजी ने पूछा—"सत्वगुण के प्राबल्य होने पर कैसे भाव होते हैं, सत्वगुण की कौन कौन सी वृत्तियाँ हैं।"

भगवान् ने कहा—"सत्वगुण का वर्ण शुभ्र है। सत्व की वृद्धि होने पर शुभ विचार होते हैं। सत्व से ज्ञान होता है, इसलिये ज्ञान की सहायिका वृत्तियाँ उठती हैं। जैसे शम और दम मन तथा इन्द्रियों को वश में करने की इच्छा होना। सुख दुख में समभाव रखना, द्वन्दों को सहन करना। यह सत् है यह असत् है इसका विवेक बना रहना। तप करने में मन का लगा रहना सत्य का आचरण करना। मुख से वाणी बोलना सत्य ही बोलना व्यवहार में सत्य का अनुसरण करना, मन से सत्य बात ही सोचना, प्राणिमात्र के प्रति दया के भाव रखना, दीन दुखियों के दुःखों को देखकर द्रवित हो जाना। किसी कार्य को सहसा न

कर डालना। कार्य करते समय पूर्वापर का विचार रखना कि इस कार्य के करने से लाभ है या हानि इसका अन्तिम परिणाम क्या होगा। जो कुछ भी भाग्यवश मिल जाय उसी पर सन्तोष रखना। निरन्तर योग क्षेम की चिन्ता में निमग्न न रहना। मन में संग्रह की इच्छा का न रहना निरन्तर योग में ही चित्त को लगाये रखना। जो भी अपने पास वस्तु हो यदि उससे दूसरे का भला होता हो तो उसे तुरन्त दे डालना। विषयों के प्रति उदासीन बने रहना। विषय सम्मुख हो भी तो भी उन्हें अधर्म पूर्वक सेवन न करना। सत्कार्यों में, सज्जनों में, सत्संग में तथा प्रत्येक शुभ कार्य में श्रद्धा रखना। बड़ों के सम्मुख संकोच पूर्वक बात करना, बुरे कर्मों के मन में आने पर भी लज्जा जाना। अपनी लज्जा की शक्ति भर रक्षा करना। यथा शक्ति दान देना, दुखी प्राणियों को देखकर यथाशक्ति उनकी रक्षा करना, यदि दुष्ट किसी को कष्ट देते हों, तो उन्हें दुष्टता से निवृत्त करना। सुख के लिये बाह्य उपकरणों की अपेक्षा न रखना, अपने आप में ही तुष्ट रहना आत्मा के साथ ही क्रीड़ा करना आत्मरति का अनुभव करना ये सब सत्वगुण की प्रवृत्तियाँ हैं। जिसके हृदय में इस प्रकार की वृत्तियाँ निरन्तर उठती रहे उसे सत्वगुण प्रधान पुरुष समझना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! रजोगुण की कौन कौन सी वृत्तियाँ हैं?"

भगवान् ने कहा—"रजोगुण का वर्ण रक्त है। कर्मों में प्रवृत्ति होना यही रजोगुण का कार्य है। भाँति भाँति की इच्छाओं का उठना यह रजोगुण का ही कार्य है। यह करेंगे वह करेंगे। वहाँ जाने से हमारा सम्मान होगा, उस कार्य को करने से हमारी प्रसिद्धि होगी, इस प्रकार की अनेक इच्छायें रजोगुण से ही हैं। कर्मों में प्रवृत्ति बिना रजोगुण के हो ही नहीं सकती,

मन में जो इच्छा उठी उसके लिये प्रयत्न आरम्भ कर दिया। वहाँ से धन इकट्ठा करना, वहाँ से लोगों को संग्रह करना, अमुक से मिलकर अमुक विषय पर चर्चा करना शीघ्रगामी यान पर चढ़कर वहाँ पहुँचना, इस प्रकार के अनेक प्रयत्न रजोगुण द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। रजोगुण की प्रथम प्रवृत्ति है अभिमान अभिमानी रजोगुणी सदा मूँछ मरोडता रहेगा। ठसक के साथ चलेगा। रोष पूर्वक इधर उधर निहारेगा अमुक ने मेरी नहीं मानी, अमुक ने मेरा सम्मान नहीं किया, उसने मुझे समझ क्या रखा है, उसे लोहे के चने चबवा दूँगा। इस प्रकार की अभिमान पूर्ण बातें करना। विषयों की मन में तृष्णा बनी रहना। भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये निरन्तर चिन्तित रहना। भोगों को भोग लेने पर भी तृप्त न होना। अपने को बहुत कुछ समझना अपने से जो छोटे लोग हैं उनसे बातें न करना, बात बात पर गर्वोक्ति का प्रयोग करना। धन की चिन्ता बनी रहना। यश के लिये परोपकार सम्बन्धी काम करना उनके लिये लोगों से दान के रूप में धन लेना अथवा देवताओं से धन की याचना करना। सकाम अनुष्ठान करके उनके द्वारा धन तथा भोगों की अभिलाषा रखना, छोटे बड़े का सदा भेद भाव रखना। अमुक हमारे समीप आ सकता है, अमुक का अधिकार नहीं है। अमुक हमारी बराबर कैसे बैठ गया, हमारे लिये सब से ऊँचा आसन लगाना चाहिये हम सर्व साधारण के साथ नहीं बैठ सकते। अमुक के साथ व्यवहार करना हमारी पद प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। प्रत्येक बात में प्रत्येक स्थान में भेद बुद्धि करना, विषय सुख के लिये सदा समुत्सुक बने रहना, विषयों का ही निरन्तर चिन्तन होना। रजोगुणी कामों में उत्साह दिखाना। उसे मारना है तुरन्त घोड़े पर चढ़कर चल दिये, अमुक से लड़ना है, अमुक को नीचा दिखाना है, अमुक के विरुद्ध व्यर्थ आरोप लगाने हैं, अमुक पर

अभियोग लगाना है, अमुक को जनता की दृष्टि में हेय सिद्ध करना है। इस प्रकार मद जनित कार्यों में अत्यन्त स्फूर्ति का अनुभव होना। जो भी काम करना अपनी प्रशंसा के ही निमित्त करना। इधर उधर से धन संग्रह करके कोई सार्वजनिक भवन बनवाया, किन्तु उसके द्वार पर अपना नाम अवश्य खुदवा देना, जो लोग अपनी झूठी सच्ची कैसी भी प्रशंसा करें उनका सम्मान करना, यथाशक्ति उनकी सहायता करना, जो अपने कामों की प्रसिद्धि करे उसका आभार मानना, पद उपाधि के लिये प्रयत्नशील होना। सारांश यह कि जिन कामों से अपनी प्रशंसा होती हो उनसे प्रेम रखना।

हास्य रसका आलम्बन करना। हास्यरस की बातों में, हास्यरस की पुस्तकों में प्रेम रखना, निरन्तर सांसारिक कामों में जुटे ही रहना, इधर उधर के कार्यों में पुरुषार्थ प्रकट करना। तथा बल पूर्वक उद्यम आदि करना ये सब रजोगुण की प्रवृत्तियाँ हैं। रजोगुण के बिना इन सांसारिक कार्यों में इतना उत्साह इतनी चंचलता, इतनी तत्परता तथा इतनी लगन होती ही नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! तमोगुण की कौन कौन सी वृत्तियाँ हैं ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! क्रोध तमोगुण के बिना आता ही नहीं। काम तो रजोगुण का कार्य है किन्तु जहाँ काम क्रोध के रूप में परिणित हो गया, वहाँ समझो तमोगुण ने अपना अधिकार जमा लिया। क्रोध में हिंसा का होना अनिवार्य है अतः किसी को क्रोध में भर कर मार डालना यह तमोगुण है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! क्षत्रिय भी तो युद्ध में क्रोध करके शत्रुओं को मार डालता है लोगों की हिंसा करता है, तो क्या यह काम भी तमोगुणी है ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, यह तो क्षत्रिय का धर्म है, यह तो

कर्तव्य पालन है, इसका नाम हिंसा न होकर वीरता है। वह तो शत्रु को ललकारता है और उससे वीरता पूर्वक युद्ध करता है युद्ध मे सम्मुख प्राण त्यागने से सीधा स्वर्ग जाता है। हिंसा तो उसे कहते हैं कोई जा रहा है पीछे से उसके पेट मे छुरी भोंक देना, कोई असावधान है, क्रोध से भरकर उसे मार देना। जब क्रोध में भरकर आदमी अपने आपे मे नहीं रहता तो उसे समझना चाहिये यह घोर तमोगुण मे व्याप्त है, उस समय वह शूर वीर न कहलाकर आततायी हो जाता है, आततायी को मार देने में भी कोई दोष नहीं।

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, भगवन् ! हिंसा और वीरता का अन्तर मैं समझ गया, अब आप कृपा करके मुझे तमोगुण की अन्य वृत्तियों को भी बतावें।"

भगवान् बोले—"उद्धव ! लोभ होना भी तमोगुण है। लोभ में क्या होता है, मेरा सोना चाँदी तथा अन्यान्य धन नष्ट न होने पावें बढ़ता ही जाय। इन तमोगुण प्रधान जड़ पदार्थों में अभिनिवेश हो जाना यह घोर तमोगुण है। जब जड़ पदार्थों में आसक्ति हो जाती है, तभी आदमी मिथ्या भाषण करता है। लोभ वश ही आदमी असत्य बोलता है, अतः लोभ और असत्य दोनों ही तमोगुण के कार्य हैं। जिस किसी से याचना करना जैसे हम हैं नहीं वैसा अपने को प्रकट करना दम्भ पाखण्ड का आश्रय लेना, अत्यधिक शारीरिक परिश्रम करना, आपस मे कलह करना, बात बात मे लोगों से लड़ जाना, मन में शोक मोह और विषाद का होना। दूसरों को पीड़ा पहुँचाना, स्वयं दूसरों से अपने को पीड़ित होने की सदा शंका बनी रहना। अत्यधिक निद्रा का आना, जहाँ आशा की क्षीण रेखा भी न हो, वहाँ भी अत्यधिक आशा रखना, मन मे सदा दूसरों का भय बना रहना, कुछ भी काम करने की इच्छा न होना,

पड़े ऊँघते रहना तथा निरुद्योगी होकर आलस्य तन्द्रा का सहारा लेना ये सबकी सब तमोगुण की वृत्तियां हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! यह तो आपने सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों की वृत्तियों का पृथक् पृथक् वर्णन किया। यह तो दाल, चावल तथा गेहूँ की रोटी इनके समान तीनों वस्तुएँ पृथक् पृथक् हैं। जैसे दाल चावल मिलकर खिचडी हो जाती है या गेहूँ, जौ चना, चूनी और मटर मिलकर पँचमेल रोटी बनती है वैसे ही इन गुणों की खिचडी होती हैं? भगवान् ने कहा- "उद्धव ! खिचडी तो सभी मे हो जाती है। तीनो गुणो में भी खिचड़ी होती है। वैसे तीनों मिले जुले ही रहते हैं, किन्तु कुछ बातें तीनों मे एक सी होती हैं, कुछ मिल जुलकर वर्ण संकरता उत्पन्न करती हैं। एक पुरुष मे ही कभी सत्वगुण की प्रधानता हो जाती है कभी रजोगुण की और तमोगुण की। ये तीनो आपस मे इतने मिले जुले हैं, कि बिना गुणातीत हुए इन तीनों में से एक का भी अत्यन्ताभाव होना अत्यन्त कठिन है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! अब इन तीनों की मिली जुली वृत्तियों की ही सम्बन्ध मे मुझे बताइये और यह भी समझाइये कि किस गुण के बढ़ने से कैसी वृत्ति हो जाती है, हम कैसे समझे अब सत्वगुण बढ़ रहा है, रजोगुण या तमोगुण।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है अब मैं तीनों गुणों का मिली जुली वृत्तियों के ही सम्बन्ध मे बताऊँगा और गुणों की पहिचान के सम्बन्ध में भी कहूँगा।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! अब भगवान् जिस प्रकार उद्धवजी को तीनों गुणों की मिली जुली वृत्तियों के सम्बन्ध तथा तीनों गुणों के कार्य के सम्बन्ध में बतावेंगे। उसका वर्णन मैं

आगे करूँगा। आप इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय को सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

क्रोध, लोभ, पाखण्ड, कलह, श्रम, शोक, मोह, भय।
मिथ्याभासन, नींद, याचना, हिंसा, अपचय॥
पीड़ा और विषाद व्यर्थ आशा नित मन महँ।
अनुद्योग ह्वै रहै अधिक ममता निज तन महँ॥
बढ़ै तमोगुन देह महँ, होवैं ये सब वृत्ति तब।
पृथक कहीं गुन वृत्ति सब, सन्निपात गुन सुनहु अब॥

गुणों का सन्निपात और उनका स्वरूप

(१३१४)

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारति धनावहः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २५ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

अहंकार सुन उद्धव ! होवे तीनिहु गुन महँ ।
इन्द्रिय, मन अरु विषय प्रान तीनिहु गुन इन महँ ॥
धरम, अरथ अरु काम होइ इच्छा जब मन महँ ।
सन्निपात गुन होहि चित्त श्रद्धा, रति धन महँ ॥
गृह रति, रुचि कर्तव्य महँ, करम कामना के सहित ।
समुझहु खिचरी गुननि की, सुनु स्वभाव गुन लाइ चित ॥

जैसे त्याग, सन्तोष, तप, शम, दम दया तथा तितिक्षा आदि सत्व गुण से ही होते हैं, तृष्णा, अभिमान, इच्छा प्रयत्न आदि रजोगुण से और निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा क्रोधादि तमोगुण

* भगवान् श्री कृष्ण चन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! जब मनुष्य धर्म में, अर्थ में अथवा काम में प्रवृत्त होता है, तो यह भी तीनों गुणों की मिलावट (खिचड़ी) ही है। इस मिलावट के परिणाम स्वरूप उसे श्रद्धा, धन और रति की प्राप्ति होती है।

से ही होते हैं। वैसे ही कुछ ऐसे कर्म हैं जो तीनो गुणों मे ही हो सकते हैं। जैसे सात्विक भोजन है सुन्दर है, शुद्धता से बनाया है चिकना है सब उसमें सात्विक गुण है, किन्तु परिणाम से अधिक खा लिया तो वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद को ही उत्पन्न करेगा, सात्विक होने पर भी परिणाम मे वह तामस ही सिद्ध होगा। हिंसा तामस कार्य है, किन्तु कोई बलात्कार करता हो या और कोई आततायीपने का काम करता हो, उसे मार देना शुद्ध सात्विक कार्य है। एक अहंकार को ही ले लीजिये, अहंकार राजस कार्य है। किन्तु त्यागी विरागियों को भी तो अहंकार होता है। भक्त बडे गर्व से कहते हैं—"मैं भगवद्दास हूँ, प्राणिमात्र का किंकर हूँ। अब मैं शान्त हो गया हूँ इत्यादि। यद्यपि यह है तो अहंकार किन्तु सात्विक अहंकार है। मैं बली हूँ, दुर्जय हूँ, मुझसे कौन जीत सकता है। यह राजस से अहकार है। मैं तो यहाँ आलस्य में पडा ऊँघ रहा हूँ, मुझे मोह तथा विषाद हो रहा है यह तामस अहंकार है। इसी प्रकार कुछ कामों में तीनों मिले जुले रहते हैं इसे सन्निपात कहते हैं।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! उद्धव के पूछने पर भगवान् गुणों का सन्निपात बताते हुए कह रहे हैं—"उद्धव! मैं हूँ, यह मेरा है इस प्रकार की बुद्धि में तीनो गुणों का ही समावेश हो सकता है। मैं भक्त हूँ, मैं बली हूँ, मैं क्रोधी हूँ, भगवान् मेरे हैं, यह राज्य मेरा है। यह बासी अन्न मेरा भोज्य है। इस प्रकार तीनों ही गुणों में मैं मेरी का व्यवहार हो सकता है। प्राण, इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषय तथा मन इन सबके संयोग से जो कार्य होते हैं, उनमे भी तीनो गुणों का समावेश होता है। इन सबके मेल से जो व्यवहार होते हैं, वे सात्विक भी हो सकते हैं, राजस तथा तामस भी होते हैं। त्रिवर्ग की प्राप्ति में भी तीनों गुणों का सन्निपात रहता है।"

उद्धवजी ने पूछा—'त्रिवर्ग मे तीनों गुणों का सन्निपात कैसे होता है ?"

भगवान् ने कहा—"धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का नाम त्रिवर्ग है। धर्म सात्विक वृत्ति है, अर्थ राजस और कामसुख तामस वृत्ति है। इन तीनों का परिणाम भी पृथक्-पृथक् होता है, धर्म से श्रद्धा उत्पन्न होती है। धार्मिक कार्य सत्वगुण से होते हैं और उनके करते रहने से श्रद्धा की वृद्धि होती है। अर्थ का चिन्तन करते रहने से धन की प्राप्ति होती है और काम से रति-सुख मिलता है। तीनों यद्यपि एक ही हैं तीनों की त्रिवर्ग संज्ञा है, किन्तु गुणों के अनुसार प्रवृत्तियाँ पृथक्-पृथक् हैं और इनके परिणामों में भी भेद है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि नित्य नैमित्तिक जो कर्म हैं वे तो छोड़े नहीं जाते। उनमें तो धर्म भीरुता तथा स्वभावानुसार मनुष्य लगा ही रहता है, साथ ही सकाम कर्मानुष्ठानों में भी प्रेम रहता है, वह भी नहीं छोड़ा जाता। उसमें भी पूरी आसक्ति बनी रहती है। ऐसी स्थिति जब हो, तो समझना चाहिये इस समय तीनों गुण मिले जुले हैं, तीनों गुणों का सन्निपात हो रहा है।—इसी प्रकार गुणों का साकर्य होने से वृत्तियों और कार्यों में भी संकरता आ जाया करती है। मनुष्यों में तीनों गुण रहते हैं। जिनमें सत्वगुण की प्रधानता होती है वे सत्वगुण प्रधान पुरुष कहलाते हैं, जिनमें रजोगुण की प्रधानता होती है, सत्व और तम अति न्यून होते हैं वे रजोगुणी और तमोगुण प्रधान होने से सब लोग तमोगुणी कहते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज इनकी पहिचान कैसे हो ? हम कैसे जानें ये सत्वगुण प्रधान हैं या रजोगुणी हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जिसका स्वभाव शान्त हो, बहुत बकवाद न करता हो, भाग्यवश जो भी सुख दुख आ पड़े उन्हें भाग्य

समझकर सहन करता हो, सत्य व्यवहार करता हो, किसी को कष्ट देने का मन से भी विचार न करता हो, बुरे कामों से सदा बचता रहता हो, जिसके मुख से सदा शान्ति टपकती रहती हो, उसे समझ लेना चाहिये कि यह सात्विक स्वभाव का पुरुष है।

जिसके मुख मंडल पर रोष ज्यादा रहता हो; काम भोगों की इच्छा सदा बनी रहती हो, सदा विषय भोगों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील बना रहता हो। कटु, आम्ल अति तीक्ष्ण चरपरे पदार्थों के खाने की रुचि बनी रहता हो, अपनी प्रशंसा जिसे अधिक प्रिय हो, गर्व अभिमान तथा मद आदि से व्याप्त हो ऐसी ही अन्य बातों को देखकर समझ लेना चाहिये यह रजोगुणी वृत्ति का पुरुष है।

जिसे निद्रा, आलस्य प्रमाद बहुत आता हो, जो क्रोधी हो, शुचि अशुचि का विशेष ध्यान न हो, झूठ बोलने हिंसा करने तथा कलह करने में जिसे आनन्द आता हो, जिसे अपवित्र, बासी तथा जूठा कूठा खाने में किसी प्रकार का संकोच न होता हो, इसी प्रकार की और भी तमोगुणी बातें जिसमें हों उसे तमोगुणी वृत्ति का व्यक्ति मान लेना चाहिये। मेरे भजन करने वाले भी तीनों गुण वाले होते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! आपका भजन तो सत्व प्रधान पुरुष ही करेंगे, रजोगुणी तमोगुणी आपका भजन क्यों करेंगे। सत्वगुण प्रधान पुरुष तो आपको पाना चाहते है इसलिये आपका भजन करते हैं, रजोगुणी तमोगुणी तो संसार को चाहते हैं वे आपको क्यों चाहेंगे?"

भगवान् ने कहा—'उद्धव! संसार भी तो मेरा ही रूप है। मैं स्वयं भी गुणों के अनुसार बन जाता हूँ। देवरूप मेरा सात्विक है। यक्ष राक्षस मेरा राजस रूप है। भूत, पिशाच

डाँकिनी साँकिनी ये सब मेरे तामस रूप हैं। इन सब रूपों में फल मैं ही देता हूँ। श्मशान में शव के ऊपर बैठकर जो आराधना करते हैं, उनकी आराधना को शव क्या पूरा करेगा। शव तो, स्वयं ही मृतक है जड है। साधक की भावनानुसार भूत, प्रेत पिशाच, छाया पुरुष आदि के रूपों में मैं ही उसकी इच्छा को पूर्ण करता हूँ। जो मुझे जिस रूप से भजता है, मैं उसे वही रूप दिखाकर उसके भावानुसार उनकी कामना पूरी करता हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"कैसे हम जाने कि यह पूजा करने वाला सत्वगुणी है यह रजोगुणी अथवा तमोगुणी ?"

भगवान् ने कहा—"जो पुरुष अथवा स्त्री स्वधर्म का पालन करते हुए, बिना किसी सांसारिक कामना के नित्य नैमित्तिक कर्मों द्वारा मेरा भजन करते रहते हैं। जन्माष्टमी एकादशी, प्रदोश, रामनवमी तथा अन्यान्य व्रत और उपवासों को किसी कामना से नहीं अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। बिना कुछ इच्छा के जो भगवत् सेवा आदि कर्मों को करते हैं, निरन्तर मेरे भजन पूजन में लगे रहते हैं। वे मेरे सात्विक भक्त हैं। वे भजन भजन के लिये करते हैं। मेरी प्राप्ति ही उनके भजन का लक्ष्य है। वे भजन करने वालों में उत्तम हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"रजोगुणी भजन करने वाला की क्या पहिचान है ?"

भगवान् ने कहा—'जो पूजा तो बड़ी विधि से करते हैं। उसमें यथेष्ट धन भी व्यय करते हैं, किन्तु करते हैं धन की तथा अन्य सांसारिक विषयों की कामना से। मुझे अच्छी बहू मिले, पुत्र मिले, सांसारिक सुख सम्बन्धी वस्तुएँ मिलें तो समझना चाहिये ये रजोगुणी भजन करने वाला है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तमोगुणी भजन करने वाले की क्या पहिचान है ?"

गुण

भगवान् ने कह
फल यह चाहता है,
अमुक मेरे वश मे ह
इस प्रकार हिंसा को
भजन करता है।"

उद्धवजी ने पूछा
शरीर के ?"

भगवान् ने कहा-
रहित है। देह स्वय
जीव के हैं। जहाँ मा
हो जाता है। माया
है, किसी मे रजोगुण

उद्धवजी ने पूछा-
लक्षण होते है, कृपा
बतावें।"

भगवान् बोले—
सत्वगुण प्रकाशमान है
सत्व के ससिद्ध मे इन
नहीं होता। इतनी शुद्
अपने शरीर से भी घृ
के मलमूत्र से भरे दुर्ग
उसके मन म उठ ह
बढता जायगा उतना
अन्त म वह शुद्ध सत्व

उद्धवजी ने कहा—
तस सत्वगुण प्रधान पु

भगवान् ने कहा—

—"जो भजन पूजन करता है किन्तु उसका
इस प्रयोग से मेरे शत्रु का नाश हो जाय,
ो जाय, अमुक का मन उच्चाटन हो जाय।
भावना रखकर भजन करने वाला तामसी

—"भगवन्! ये तीनों गुण आत्मा के हैं या

'आत्मा तो तीनों गुणो से सदा सर्वदा
जड है, ये गुण तो चैतन्याश माया मोहित
या से परे हो जाता है तहाँ वह गुणातीत
के ससर्ग से किसी में सत्वगुण बढ जाता
और किसी मे तमोगुण।"

—"प्रभो! तीनों गुणों के बढने पर क्या
करके मुझे पृथक् पृथक् गुणो के लक्षण

'उद्धव! मैं पीछे ही बता चुका हूँ कि
, स्वच्छ और शान्त उसका स्वभाव है।
ससारी लोगों से ससर्ग रखने की इच्छा
ता और पवित्रता से रहने पर भी उसे
ण होने लगती है, फिर अन्य स्त्री पुरुषों
न्ध युक्त शरीरो से ससर्ग रखने की तो
ी कैसे सकती है। जितना ही सत्वगुण
ी रजोगुण और तमोगुण घटता जायगा।
य बन जायगा।"

सत्वगुण के बढ़ने पर होता क्या है,
रूप की स्थिति कैसे होती है ?"

"जब सत्वगुण बढ़ने लगता है, तब पुरुष

को ऐसा प्रतीत होता है, कि सब ओर से ज्ञान एकत्रित होकर मेरे भीतर भर रहा है। उसे एक आन्तरिक सुख का अनुभव होने लगता है। एकान्त में बैठता है, तो उसे प्रतीत होता है—मैं आनन्द के सागर में गोते लगा रहा हूँ। उसकी धर्म कार्यों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होने लगती है, वह ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न अपने को अनुभव करने लगता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"रजोगुण से क्या होता है ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! रजोगुण का कार्य है हृदय को राग रंजित कर देना। रजोगुण के बढ़ने पर कर्मों में शब्दादि विषयों में स्वाभाविक आसक्ति होने लगती है। इच्छा न होने पर भी भेदबुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। छोटे बड़े का धनी निर्धन का भेद हृदय में घर कर लेता है। स्वभाव से कर्मों में प्रवृत्ति होना यह रजोगुण का धर्म ही है। इसलिये रजोगुण की वृद्धि में कर्मों के प्रति अत्यन्त आग्रह हो जाता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"इसका परिणाम क्या होता है ?"

भगवान् बोले—"परिणाम यह होता है ज्यों ज्यों रजोगुण बढ़ता जाता है, त्यों त्यों सतोगुण और तमोगुण दोनों ही घटते जाते हैं। समस्त कर्मों का आरम्भ दोष युक्त है। जैसे कहीं भी अग्नि को ले जाओ धूँआ उसके साथ ही जायगा। इसलिये रजोगुण की प्रवृत्ति में अहंकार तो बढ़ जाता है। एक आन्तरिक अशान्ति सी हृदय में होने लगती है। भगवान् की सेवा रूप कर्म को छोड़कर संसार में ऐसा कोई कर्म नहीं जिसका परिणाम दुखद न हो। अतः रजोगुणी सदा भीतर से दुखी और अशान्त रहता है। यद्यपि उसे सांसारिक सम्पत्ति की कमी नहीं होती। रजोगुणी प्रायः धनिक ही होते हैं, या यों कह लीजिये कि धन आने पर रजोगुण बढ़ ही जाता है, इसीलिये श्रेय की कामना वाले को धन का संग्रह करना निषेध है।"—

उद्धवजी ने पूछा—तमोगुण का क्या स्वरूप है ?"

भगवान् ने कहा—"तम का स्वरूप है अज्ञान, बुद्धि पर अविद्या का आवरण छा जाता है। उस समय बुरी बात ही अच्छी प्रतीत होने लगती हैं, अधर्म ही धर्म सा लगने लगता है। सत्व और तम दोनों को ही दबाकर तमोगुण बढ़ जाता है। तमोगुण का स्वभाव है जड़ता, अतः उसकी बुद्धि भी जड़ हो जाती है।"

उद्धवजी ने पूछा "उसका परिणाम क्या होता है ?"

भगवान् ने कहा—"उसका परिणाम शोक और मोह यही होता है। चित्त में खिन्नता बनी रहती है। हिंसा कर्मों में स्वाभाविक रुचि होती है। निद्रा, आलस्य या प्रमाद के वशीभूत होकर पड़े रहने की इच्छा बनी रहती है, आशा लगी रहती है। किसी पर विश्वास नहीं होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! इन गुणों के बढ़ने पर चित्त की स्थिति कैसी हो जाती है ?"

भगवान् ने कहा—"भैया, अपनी स्थिति से ही गुणों की वृद्धि का पता चल जाता है। जब चित्त में स्वाभाविक प्रसन्नता हो, सभी इन्द्रियाँ स्वतः शान्त हो जायँ, किसी से भी किसी बात का भय न हो, मन में किसी प्रकार की किसी वस्तु में भी आसक्ति प्रतीत न हो, तो समझना चाहिये कि सम्पूर्ण गुणों में श्रेष्ठ—मुझे प्राप्त करने वाला सत्वगुण इस समय बढ़ गया है। इस समय वृत्ति सत्व प्रधान है।"

उद्धवजी ने पूछा—"रजोगुणी वृत्ति का अनुमान कैसे करें ?"

भगवान् ने कहा—"कर्म में तो प्रवृत्ति हो, किन्तु क्रिया विकृत हो जाय। चित्त चंचल हो उठे, बुद्धि विकृत सी बन जावे, इन्द्रियों में अशान्ति सी अनुभव होने लगे। इन्द्रिय लोलुपता बढ़ जाय, भोग वासना प्रबल हो जायँ, विषय वासना के कारण

मन और मिथ्या आहार विहार के कारण शरीर अस्वस्थ हो जायँ तो इन कारणों से अनुमान लगा लेना चाहिये कि इस समय रजोगुण की वृद्धि हो रही है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तमोगुणी वृत्ति का अनुमान किन किन लक्षणों से लगावें भगवन् ?"

भगवान् बोले—"जिस समय ज्ञानेन्द्रियाँ अपना वास्तविक काम करने मे असमर्थ सी हो जायँ। बहिन बेटी है उसे दूसरी ही दृष्टि से देखने लगे। अधर्म की बात को धर्म मानने सुनने लगे। स्वादु पदार्थ को अस्वादु और अस्वादु को स्वादु मानने लगे। ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषय के ग्रहण करने मे असमर्थ होकर अज्ञान के सहित चित्त मे लीन होने लगें, झपकी सी आने लगे, देह टूटने लगे, मन में जडता आ जाय, शून्यता का अनुभव होने लगे, अज्ञान तथा ग्लानि की वृद्धि हो जाय, तो इन लक्षणों से समझना चाहिये कि अब तमोगुण ने अपना रंग दिखाया है वह सत्व और रज को दबा कर बढ गया है। उद्धव! मैं तुम्हें कहाँ तक बताऊ, तुम इतने से ही समझ लो कि ससार मे कोई भी ऐसा नहीं है जो गुणों के अधीन न हो। सभी गुणों के द्वारा प्रेरित होकर समस्त व्यवहार कर रहे हैं। किसी गुण के बढने पर किसी वर्ग की वृद्धि होती है और किसी गुण के बढ़ने पर किसी की।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! किसी गुण के बढने पर किस वर्ग की वृद्धि होती है ?"

भगवान् ने कहा—'सत्वगुण के बढ़ने पर देवताओं की वृद्धि होती है, इसलिये सत्व प्रधान पुरुषों मे दैवी गुणों का अधिक सचार होता है और देवताओं का उस पर आवेश होता है। उसके शरीर को माध्यम बनाकर देवता आदेश देते हैं। रजोगुण के बढ़ने पर असुरों का बल बढता है। वृत्ति आसुरी हो जाती

है। असुरों का भाव होने से आसुरभावापन्न प्राणी हो जाता है। तमोगुण के बढ़ने पर राक्षस, भूत, प्रेत पिशाचों का बल बढ़ता है। उद्धव! संसार में जितने त्रिक हैं ये सब, तीनों गुणों के प्रतीक हैं। ये जो त्रिदोष हैं इनका भी सम्बन्ध तीनों गुणों से ही है। कफ सत्व प्रधान है पित्त रजोगुण प्रधान है और वात तमोगुण प्रधान है। त्रिदेवों में विष्णु सत्व प्रधान है, ब्रह्मा रजोगुण प्रधान हैं और रुद्र तमोगुण प्रधान है। त्रिलोक में स्वर्ग सत्व प्रधान, पृथिवी रजोगुण प्रधान है तथा पाताल तम प्रधान है। अवस्थाओं में जाग्रत अवस्था सत्व प्रधान, स्वप्नावस्था रजोगुण प्रधान और सुषुप्ति तमोगुण प्रधान कही गयी है। इन तीनों से पर जो तुरीयावस्था है वह तो सर्व व्यापक आत्मा के सदृश होने से तीनों में ही व्याप्त है।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! तीनों गुणों के सम्बन्ध का ज्ञान तो अत्यन्त आवश्यक है। कृपा करके मुझे तीनों गुणों के कार्यों का और भी अधिक परिचय करावें।"

भगवान ने कहा—"उद्धव! मैं तुम्हें कहाँ तक परिचय कराऊँ। संसार में सर्वत्र ये ही गुण तो व्याप्त हैं। फिर भी मैं तुम्हें संक्षेप में कुछ सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! भगवान् ने जैसे त्रिगुणों के कार्य बताये हैं उनका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

बढ सत्व शम आदि बढैं गुन चित प्रसन्न अति।
ज्ञानादिक सम्पन्न होहिं सुख धरम माहिँ मति॥
जब रज अति बढि जाय काम सुख ई प्रिय लागै।
चित चंचल मन भ्रमित द्रव्य यश इच्छा जागै॥
तम की होवै प्रबलता, हिंसा, निद्रा, शोक, भय।
बढै ग्लानि मन शून्यवत, खिन्न चित्त अज्ञानमय॥

त्रिगुणात्मक जगत् और इससे तरने का उपाय

(१३१५)

द्रव्य देशः फल कालो ज्ञान कर्म च कारकः ।
श्रद्धावस्था कृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २५ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

देव, असुर अरु यातुधान बल बाढ़े क्रम तें ।
सत्व, रजोगुन और ज्ञाननाशक गुन तम तें ॥
स्वरग, भूमि अरु नरक देवत्रय तीन अवस्था ।
बान, चित्त करु सबनि माहिँ गुन तीन व्यवस्था ॥
भोग, धरम, व्रत, नियम फल, काल, करम, करता, करन ।
द्रव्य, देश निष्ठा, क्रिया, ज्ञान, अवस्था अरु असन ॥

जैसे जाल गुन (डोरियों) से बना रहता है, वैसे ही यह संसार गुणों से बना हुआ है। जैसे वस्त्र में जहाँ भी ताने बाने में आप देखें तहाँ सूत ही सूत मिलेगा। ऐसे ही संसार में जहाँ दृष्टि

* भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कहते हैं—"उद्धव! द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कारक, श्रद्धा, अवस्था, क्रिया और निष्ठा तथा और भी जो कुछ है सब का सब त्रिगुणात्मक ही है।"

दौड़ाइये गुणों का ही प्राधान्य प्रतीत होगा। तीनों गुणों का नाम संसार है। जहां तीनों गुण सम हुए तहाँ प्रलय हो गई। गुणों में जहाँ विषमता आ गयी तहाँ संसार चक्र चलने लगा। इसीलिये संसार में खोजने पर भी समता कहीं नहीं मिलेगी, कुछ न कुछ विषमता तो उनमें अवश्य होगी। एक ही स्थान में एक ही व्यक्ति और एक ही साधन द्वारा निर्मित लाखों करोड़ों वस्तुओं में भी ध्यान पूर्वक देखने से कुछ न कुछ न्यूनाधिक्य प्रतीत हो ही जायगा। यह सब गुणों की विषमता का ही प्रभाव है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। जब उद्धवजी ने तीनों गुणों के कार्यों के सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा की, तब भगवान कहने लगे—"उद्धव! तीनों गुणों के अनुसार गति भी तीन प्रकार की होती है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! किस गुण के द्वारा कौन सी गति प्राप्त होती है?"

भगवान् ने कहा—"जैसे सत्वगुण प्रधान गुण है, उसके द्वारा वेद का निरन्तर अभ्यास करने वाले ब्राह्मण गण उत्तरोत्तर ऊपर के लोकों को जाते हैं। जितना ही सत्व अधिक होगा उतना ही ऊँचा लोक प्राप्त होगा भूः भुवः स्वः महः जन तप तथा सत्व ये सब लोक सत्व गुण प्रधान व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। जो तमोगुण प्रधान हैं उन्हें नीचे के नरकादि लोक प्राप्त होते हैं। यदि वे पृथिवी पर जन्म लेते है तो उन्हें सूकर, कूकर, सर्प बिच्छू तथा वृक्ष लता आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं। जो इन तीनों गुणों से पर हैं उन्हें न स्वर्ग मिलता है न नरक और न उनका पृथिवी पर ही जन्म होता है। वे मेरे उपासक मुझ को ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार कर्म भी त्रिविध हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"कर्म किस प्रकार त्रिविध हैं? कौन-कौन से कर्म सात्विक हैं, कौन राजस और कौन तामस?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्म कर्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं, उनका समस्त फल मेरे अर्पण कर दिया जाता है, कर्ता को कर्तापने का अभिमान रहता ही नहीं। ऐसे सभी निष्काम कर्म सात्विक कहलाते हैं। जो सकल्प पूर्व त्रिवर्ग फल प्राप्ति हेतु सकाल होने पर भी हिंसा दम्भ से युक्त किये जाते हैं जिनका उद्देश्य दूसरों को मारना या कष्ट पहुँचाना है ऐसे सभी कर्म तामस हैं। कर्मों के ही सदृश ज्ञान भी तीन प्रकार का है।"

उद्धव जी ने पूछा—"ज्ञान तीन प्रकार का कौन-कौन है भगवन्?"

भगवान् ने कहा—"आत्मा असग है उसका इस दृश्य प्रपञ्च से कोई सम्बन्ध नहीं। देह पृथक है इसमे रहने वाला देही पृथक है इस प्रकार का ज्ञान सात्विक है। आत्मा द्वारा ही सब कार्य होते हैं, आत्मा ही कर्ता है आत्मा ही भोक्ता है। अर्थात् इस शरीर को ही सब कुछ मान कर पचभूतो से निर्मित पदार्थों की रात दिन खोज करते रहना, उनके सयोग से भाँति-भाँति के घातक अस्त्र शस्त्रों के निर्माण का ज्ञान करना। शरीर को सुख देने की तथा शत्रु को परास्त करने की विधियों का अधिकाधिक ज्ञान होना यह सब राजस ज्ञान है। घट पट आदि साधारण वस्तुओं का ज्ञान होना जैसे बालकों गूँगो तथा बुद्धिहीनो को ज्ञान होता है यह तामस ज्ञान है। और जिसे मुझ गुणातीत परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो गया तो यह ज्ञान तो तीनो गुणों से परे निर्गुण है। क्योंकि मैं स्वयं निर्गुण हूँ। इसी प्रकार निवास भी तीन प्रकार का होता है?"

उद्धवजी ने पूछा—"निवास के तीन भेद किस प्रकार हैं भगवन्?"

भगवान् ने कहा—"देखो, एकान्त शान्त वन में निवास करना यह सात्विक वास है। जो लोग सात्विक प्रकृति के नहीं हैं वे वन

मे वास करके सुस्थिर रह ही नहीं सकते। वहाँ रहेंगे भी तो सब विषय भोगों को एकत्रित करेंगे। वन वास का अर्थ यह है कि वन मे रह कर प्रकृति के ही साथ खेल करना कन्द मूल फलों पर निर्वाह करके मेरे चिन्तन मे ही समय को बिताना। यों तो चोर, डाकू, जुआरी भी वन मे छिपकर रहते हैं, किन्तु उनका वास सात्विक नहीं तामस है। क्योंकि वे वहाँ भजन न करके द्यूत व्यभिचार आदि करते हैं। वही वन का वास सात्विक है जो लता पेड़ों से प्यार करते हुए प्रभु चितन मे समय बिताया जाय। गांवों तथा नगरों के निवास को राजस निवास कहा गया है, विशेषकर बड़े-बड़े नगरों का निवास। वहाँ का जीवन अत्यन्त अशांत हो जाता है, जिधर देखो उधर ही राजसी ठाट दिखाई देते हैं। भाँति-भाँति के राजसी भोजन बिकते हुए दीखते हैं। नृत्य, गीत, नाटक, अभिनय, खेल, विहार तथा प्रत्येक काम राजसी ही होते हैं। सभी अशान्त और व्यग्र बने रहते हैं। वेगवान वाहन इधर से उधर निरन्तर दौडते रहते हैं। राज्याधिकारी आते जाते रहते हैं, उनका राजसी स्वागत सत्कार होता है, इस प्रकार प्रत्यक काम में रजोगुण होने से उसका प्रभाव सब पर पडता है। कैसा भी मन्द प्रधान पुरुष हो यदि वह बड़े-बड़े नगरो मे निवास करेगा तो कुछ न कुछ रजोगुण उसमे अवश्य आ जायगा। इसीलिये नगर और ग्रामों के निवास को राजसी निवास कहा है। जहाँ कलह व्यभिचार तथा द्यूत आदि कुकर्म होते हो उस स्थान के निवास को तमोगुणी बताया है। जूआ चाहें नगर के किसी एकान्त गुफा मे होता हो या वन की किसी एकान्त गुफा मे वे स्थान सभी तमोगुणी हो जाते हैं। इसी प्रकार सुरापान वेश्या गमन तथा अन्यान्य भी वीभत्स कृत्य जहाँ होते हो वह स्थान तमोगुणी हैं। श्रेय की कामना वाले स्त्री पुरुषो को ऐसे स्थानों मे पैर भी न रखना चाहिये, क्योंकि वहाँ का, कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है। कोई

साधु महात्मा शान्त एकान्त स्थान में सघन वृक्ष के नीचे रहकर जप तप करता हो, तो वहा पहुँचते ही तत्काल एक प्रकार की शान्ति का अनुभव होने लगता है। इसके विपरीत जिस स्थान मे चोरी लूट पाट, व्यभिचार, दुराचार सुरापान तथा द्यूत आदि कुकर्म आज नहीं आज से सैकडो वर्ष पूर्व होते हों, तो वहा पहुँच कर अच्छे भले आदमी के मन म बुरे सकल्प उठते हैं।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! कुकर्मों का इतने दिनों तक प्रभाव रहता है?

सूतजी ने कहा—'महाराज! कुकर्म सुकर्म दोनों का ही प्रभाव स्थानों मे बहुत दिना तक रहता है। यदि सुकर्मों का प्रभाव चिरकाल तक न रहता तो फिर तीर्थों को इतना महत्व दिया ही क्यों जाता। तीर्थों म क्या है। अमुक स्थान पर अमुक ऋषि ने तपस्या का वह तीर्थ बन गया। ब्रह्माजी ने अमुक स्थान पर यज्ञ किया। वह स्थल परम पावन हो गया। अमुक स्थान को अमुक देवता ने बनाया वह तीर्थ हो गया। गगाजी को सर्व तीर्थमयी क्या कहा है। वह भगवान् के परम पावन पादारविन्दा से निकला है। उसक किनारे-किनारे असख्या ऋषि महर्षियों ने घोर तपस्या की है। तपस्या तो न जाने उन्होंने कब की होगा, किन्तु उसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है। गगा तट पर शात एकान्त स्थान पर चले जाओ, चित्त स्वाभाविक रूप से एक प्रकार की शान्ति का अनुभव करने लगेगा। यही दशा बुरे कर्मों की है। मैं पाछे भगवान् रामचन्द्र जी की कथा सुना हा चुका हू, एक स्थान क प्रभाव से हा लक्ष्मण जी भगवान् से विरुद्ध हो गये और न कहने योग्य बातों का कहने लगे। ऐसे एक नहा असख्यों उदाहरण हैं।

एक व्यक्ति ने एक घर को क्रय किया। जब वह उस घर में रहने लगा तब उसको बार बार इच्छा होने लगी मैं बकरों का

वध करूं। वह सात्विक प्रकृति का पुरुष था। कभी मांस मदिरा का स्पर्श भी नहीं करता था। जब वह घर मे रहता तब उसके ऐसे विचार उठते, जब बाहर वन मे चला जाता, तब शान्त हो जाते। जब ऐसे विचार निरन्तर ही उठने लगे, तो उसने पंडितों को बुलाकर पूछा। पंडितो ने बताया—"महानुभाव, यह स्थान का प्रभाव है। अवश्य ही इस स्थान पर पहिले कभी हिंसा होती रही होगी।"

यह सुनकर उसने बहुत छानबीन की। पता चला अब से सौ वर्ष पूर्व यहां वधशाला थी, उसमें बकरों का ही वध होता था। अब तक उसके परमाणु वहां व्याप्त हैं।"

इन सब बातों से प्रतीत होता है, कि निवास स्थान का बड़ा प्रभाव होता है। इसलिये जहां तक हो तीर्थ स्थान मे पुण्य क्षेत्र मे निवास करना चाहिये। त्यागी विरागी साधु को ऐसे घरों मे नहीं रहना चाहिये जहां गृहस्थ धर्म मे निरत स्त्री पुरुष साथ रहते हों नहीं तो उसका भी मन दूषित हो जायगा। हम जो भी बोलते हैं जो भी विचार करते हैं उनके सूक्ष्म परमाणु हमारे चारों ओर व्याप्त हो जाते हैं। यदि कोई निर्बल विचार का पुरुष वहां जाता है तो उन विचारों का तुरन्त उसपर प्रभाव पड़ता है, किन्तु उसका प्रभाव कुछ दिनों मे प्रतीत होता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अब हम समझ गये। अवश्य ही स्थान का बड़ा प्रभाव पड़ता है, तभी तो भगवान् ने हमें यहां नैमिषारण्य मे भेजा था। अवश्य ही यहां पहिले भी ऋषि मुनि तपस्या करते रहे होंगे।"

सूतजी ने कहा—"यह महाराज! तपस्थली है। तपस्या के स्थान पर तपस्वी ही ठहरता है। कलियुग मे इसका विपर्यय भी हो जाता है किन्तु साधारणतया स्थान का बड़ा प्रभाव होता है। प्राचीन राजर्षि जब राज्य छोड़कर वन मे जाते थे, तो यह नहीं कि

जहाँ तहाँ कुटी बनाकर रहने लगे। वे प्राचीन मुनियों के तपस्या स्थान मे जाते थे, विश्वामित्र जी राजर्षि भरत तथा अन्यान्य सभी तपस्या करने वालों ने ऐसा ही किया।"

शौनक जी ने कहा—"सत्य कहते हैं आप सूत जी! स्थान के प्रभाव को हम स्वय प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। अच्छा तो फिर उद्धवजी ने भगवान् से क्या पूछा।"

तजी ने कहा—"महाराज! जब भगवान् ने त्रिविध निवासों का वर्णन कर दिया, तब उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! कोई त्रिगुणातीत भी निवास है?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, मेरे मन्दिरो मे रहना यह निवास निर्गुण निवास है। क्योंकि मैं स्वय गुणातीत हूँ। जो मेरी अर्चा विग्रह स्थापित करके किसी भी ससारी बातो का चिन्तन न करते हुए—निरन्तर मेरी ही चिन्ता मे निमग्न रहता है वह मानो निर्गुण स्थान में रहता है। यों पैसा पैदा करने को तो मूर्ति स्थापित करके बहुत से देवल निवास करते हैं उनका वह वास तमोगुणी है। मेरा मन्दिर मेरे ही लिये हो उसमे मेरी ही चिन्ता करे तो उसे अन्त में निश्चय ही मेरे लोक को प्राप्ति होगी। इसी प्रकार कर्ताओं के भी तीन भेद हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"कर्ताओं के तीन भेद कौन-कौन से हैं, प्रभो!"

भगवान् ने कहा—"देखो, जो कर्ता अनासक्त भाव से कर्म करता है, उन कर्मों का कुछ भी फल नहीं चाहता वह सात्विक कर्ता है। जो रागयुक्त होकर आसक्ति के सहित सभी कर्मों को किया करता है वह राजस कर्ता है और जो अन्धाधुन्ध कर्मों को करता ही रहता है, पूर्वापर का कुछ विचार ही नहीं करता। गधे की भाँति जो लाद दिया उसी को लेकर चल दिया, ऐसा कर्ता तामस कहलाता है। किन्तु जिसे कर्तापने का अभिमान ही नहीं।

कर्म करते हुए भी जिसकी बुद्धि निर्लिप्त बनी रहती है जो एक मात्र मेरे आश्रित होकर ही कर्मों को किया करता है, केवल मेरी प्रसन्नता प्राप्त करना ही जिसका एक मात्र कर्म रह गया है ऐसा कर्ता तो मेरा स्वरूप ही है, जैसे मैं निर्गुण हूँ, वैसे ही वह कर्ता भी गुणों से रहित है। इसी प्रकार श्रद्धा के भी तीन भेद हैं।"

उद्धव जी ने पूछा—"श्रद्धा के कौन-कौन से भेद हैं भगवन्!"

भगवान् ने कहा—"देखो, उद्धव! आत्मज्ञान सम्बन्धी श्रद्धा सात्विकी श्रद्धा कहाती है। उस श्रद्धा का आधार अन्य कोई वस्तु न होकर एक मात्र आत्मा ही है। अर्थात् जो आत्म ज्ञानी पुरुष हों उनमें श्रद्धा रखना। सब मे एक ही आत्मा व्याप्त है इस बुद्धि से प्राणी मात्र को श्रद्धा पूर्वक प्रणाम करना यह आत्मा क सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है इसलिये सात्विकी श्रद्धा है। जो श्रद्धा कर्म द्वारा उत्पन्न होती है वह राजसी है। जैसे अमुक बड़े कर्म-योगी है, उन्होंने इतनी पाठशालाएँ इतनी गौशालाएँ स्थापित की हैं, वे बड़ा सुन्दर प्रवचन करते हैं, वे बड़े अच्छे लेखक, चित्रकार, कथावाचक, वक्ता, कलाकार तथा अन्य कर्मों में निष्णात हैं अतः श्रद्धेय हैं। यह श्रद्धा स्थाई बनी ही रहे यह आवश्यक नहीं जिस कर्म के द्वारा श्रद्धा थी वह कर्म न दीखा श्रद्धा हट गई। स्वयं भी कर्मों पर ही श्रद्धा रखकर कर्म करना। कर्म करने ही चाहिये ऐसी अपनी दृढ़ श्रद्धा व्यक्त करना। इस प्रकार जिस श्रद्धा का सम्बन्ध कर्म से है वह राजसी श्रद्धा है। अधर्म मे श्रद्धा रखना यह तामसी श्रद्धा है। बहुत से परम्परा के गुरू आचार्य अधर्मी हैं। बहुत से साधु वेषधारी दुराचारी व्यभिचारी हैं, किन्तु उनके प्रति भी श्रद्धा बनाये रखना। उनके अधर्म कार्यों का युक्ति पूर्वक समर्थन करना उनकी श्रद्धा के वशीभूत होकर सहायता

करना स्वयं भी अधर्म कार्यों में श्रद्धा रखना। किसी ने कहा अमुक देवता के यहाँ मुर्गा काटने से तुम्हारे पुत्र होगा। बिना विचारे श्रद्धा पूर्वक उसे कर आना। इस प्रकार की श्रद्धा तामसी कही गई है। जिनकी एकमात्र मेरी सेवा पूजा अर्चा तथा पर्वोत्सवादिकों में ही श्रद्धा है ऐसी श्रद्धा निर्गुण है, क्योंकि उस श्रद्धा का एकमात्र सम्बन्ध मुझसे ही है। मुझसे जिन कार्यों का भी सच्चा सम्बन्ध हो गया, वे सब के सब निर्गुण बन जाते हैं। इसी प्रकार आहार भी तीन प्रकार का होता है ?"

उद्धव जी ने पूछा—"आहार किस प्रकार भगवन्! तीन प्रकार का होता है ?"

भगवान् ने कहा—'जैसे स्वच्छता से शुद्ध भावना से बनाया हो। रसीला चिकना पौष्टिक हृदय को सुख पहुँचाने वाला मधुर पथ्य तथा बिना अधिक परिश्रम के अनायास प्राप्त हुआ हो वह आहार सात्विक है। जो अत्यन्त कड़वा, अत्यन्त चरपरा, अत्यन्त गरमागरम, अधिक नमक वाला जिसके खाने से रसना इन्द्रिय चंचल होती हो। जबतक चटपटा न हो तब तक रसना तृप्त ही न होती हो इस प्रकार का उत्तेजक आहार राजस कहा गया है। जो बासी हो, नीरस और अत्यन्त ठंडा हो गया हो, जिसमें से दुर्गंध आती हो, जूठा हो अपवित्र हो परिणाम में दुःख देने वाला हो ऐसे आहार को तामस आहार कहते हैं। मेरा नैवेद्य तो निर्गुण आहार है ही क्योंकि उसे मुझ निर्गुण ने भक्षण किया है इसी प्रकार सुख भी तीन प्रकार का है ?"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! सुख के तीनों भेदों को भी मुझे बताइये।"

भगवान् ने कहा—"आत्मा से प्राप्त होने वाला सुख सात्विक सुख है। उसमें किसी बाह्य वस्तु की उपेक्षा नहीं। एकान्त में बैठकर आत्म चिंतन कर रहे हैं, अश्रु पुलक हो रहे हैं, कंठ गद्-गद्

हो गया है यह सात्विक सुख है। किसी सुन्दर नृत्य को देखकर सुखकर नाटक को देखकर सुन्दर स्त्री पुरुष बालक या अन्य किसी भी वाह्य वस्तु को देखकर जो सुख होता है वह राजस सुख है। किसी व्यभिचारी पुरुष या व्यभिचारिणी स्त्री के फन्दे मे फँसकर पुत्र या अन्य किसी सगे सम्बन्धी के मोह मे फँसकर, किसी के सम्मुख गिड़गिडाकर दीनता के साथ याचना की उसने कुछ द्रव्य दे दिया उसे प्राप्त करके या और भी किसी प्रकार की दीनता दिखाकर जो कार्य सिद्ध कर लिया इन सब से प्राप्त होने वाला सुख तामस सुख है। इसी प्रकार द्रव्य भी तीन प्रकार के होते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"द्रव्य कैसे तीन प्रकार के होते है ?"

भगवान् ने कहा—"जो सत्व गुण को उत्पन्न करने वाले हैं, वे सत्वगुणी, रजोगुण को उत्पन्न करने वाले रजोगुणी और तमोगुण को उत्पन्न करने वाले तमोगुणी हैं। जो अनायास विना माँगे सरलता से शुद्धता से धर्म पूर्वक मिलें, वे सत्वगुणी हैं, जो जो मांगने से अत्यन्त प्रयास से अनेक युक्तियो के द्वारा दूसरों की हानि करके प्राप्त हो वे रजोगुणी। जो छल, कपट, दबाव तथा नाना प्रकार के अनुचित उपायोंके द्वारा दूसरो से लड़ झगड़कर प्राप्त हो वे तामसी हैं। उद्धव ! अब तुम्हें कहाँ तक गिनाऊ जितने भी देश, काल, फल, स्वभाव, कर्ता, करण, क्रिया, निष्ठा तथा व्यवहार हैं, सब त्रिविध हैं सभी के सात्विक, राजस और तामस भेद हैं। इन सब की गणना करना अत्यन्त ही दुष्कर है जो प्रकृति से अधिष्ठित देखे जाने वाले, सुने जाने वाले, अनुमान किये जाने वाले तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सोचे जाने वाले पदार्थ त्रिगुणमय हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! यह त्रिगुण मय संसार बन्धन जीव को प्राप्त ही क्यों होता है ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! संसारी सभी कर्म त्रिगुणमय हैं, जो कर्म करेगा उसे संसार की प्राप्ति अवश्य होगी, फिर चाहे ब्रह्म लोक प्राप्त हो अथवा स्वर्ग, नरक या मर्त्य लोक। कर्म के वशीभूत होकर ही जीव संसार में आकर नाना योनियों मे भटकते रहते हैं।

उद्धवजी ने कहा—"तब तो भगवन् ! जीव का यह संसार चक्र कभी छूट ही नहीं सकता, क्योंकि कोई भी प्राणी एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, छूट क्यों नहीं सकता। जब ये गुण जीत लिये जाते हैं, तो जीव संसार बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज ! ये गुण जीते कैसे जा सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"भक्तियोग द्वारा ये गुण जीते जा सकते हैं। जब जीव सभी से आशा छोड़कर एक मात्र मुझ सच्चिदानन्द घन में ही अपनी समस्त वृत्तियों को लगा देता है। मेरे लिये ही वह सब कार्य करता है, तो वह मुझ में अनन्य निष्ठा रखने वाला भक्त मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अतः तीव्र पुरुषार्थ द्वारा इन गुणों को जीत ले।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन् ! तीव्र पुरुषार्थ किस का नाम है ?"

भगवान् बोले—'इस गुण संग रूप संसारी सुखों को तिलाञ्जलि देकर अहर्निशि मेरा ही चिन्तन करे, मेरा ही भजन करे, मेरे ही नाम और गुणों का कीर्तन करे। कहाँ तक बतावें जो भी करे मेरे ही उद्देश्य से करे क्योंकि ज्ञान विज्ञान प्राप्ति के साधन भूत इस मानव शरीर का यही सब से श्रेष्ठ परम पुरुषार्थ है। इसी के द्वारा यह भगवान् का साक्षात् कार कर सकता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो भगवन्! सहसा गुणातीत कोई हो कैसे सकता है। हम गुणों से ही उत्पन्न हुये गुणों मे ही बरत रहे हैं। एक साथ ही कुछ न सोचना गुणों से ऊपर उठ जाना यह तो कल्पनातीत बात है। इसका तो अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता।"

भगवान् ने कहा—"एक साथ गुणातीत होने के लिये भाई! कौन कह रहा है। विचारशील बुद्धिमान् विवेकी पुरुष को चाहिये कि प्रथम रजोगुण के द्वारा तमोगुण को जीत ले, फिर सत्वगुण के द्वारा रज और तम दोनों को जीत ले। सत्व की ज्यों ज्यों वृद्धि होती जाय, त्यों त्यों शनैः शनैः इन्द्रियों को वश में करता जाय, उनका संयमन करे फिर प्रमाद वश जो विषयों की ओर मन जाता है और उन विषयों में जो अत्यन्त आसक्ति हो गयी है उधर से मन को हटाता जाय। ज्यों ज्यों चित्त विषयों से हटता जायगा, त्यों त्यों वह आसक्ति हीन होता जायगा। मन आधार के बिना तो टिक नहीं सकता। इसके लिये कुछ न कुछ आधार अवश्य चाहिये, अतः मुझे ही आधार बना लो। मुझमें ही मन को लगा दे, निरन्तर मेरा ही भजन ध्यान करता रहे। इस प्रकार जब पूर्ण सत्व गुण आ जाय तब उसमें भी आसक्त न हो शान्त चित्त और निरपेक्ष भाव से शास्त्र मे बतायी नाना युक्तियों के द्वारा सत्वगुण पर भी विजय प्राप्त कर ले।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! सत्वगुण को जीतने की युक्ति क्या है।"

भगवान् ने कहा—"जो जिसका निरन्तर ध्यान करता है, वह वैसा ही हो जाता है मैं गुणों से रहित हूँ, निरन्तर मेरा ध्यान करते रहने से जीव अपने जीवत्व को त्यागकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है। अभी तक तो जीव अपने को अपूर्ण अनुभव करता है। क्योंकि वह लिङ्ग शरीर रूपी उपाधि से युक्त है। जब वह

अन्तःकरण से इस उपाधि का परित्याग कर देगा तब अपनी अपूर्णता को त्याग कर मुझ परिपूर्ण ब्रह्म को प्राप्त हो जायगा। तब वह न बाह्य विषयों का ही चिन्तन करेगा न आन्तरिक विषयों का। विषयों से रहित गुणातीत, शुद्ध परिपूर्ण बन जायगा। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप मे तुम्हें गुणों का कार्य बताया और गुणातीत होने की युक्ति भी बताई, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! नित्य भोगते रहने पर भी इन संसारी विषयों से वैराग्य नहीं होता। एक बार भोग लिया फिर उनके भोग की इच्छा बनी ही रहती है। यही नहीं जितना ही भोगों को भोगते हैं उतना ही इच्छा भी बढ़ती जाती है। इसका क्या उपाय किया जाय।"

भगवान् ने कहा—"इसका एक ही उपाय है दुस्संग से चित्त को हटावे सत्संग में चित्त को लगावे। इस प्रकार सत्संग के प्रभाव से चित्त हटता जायगा। विषयों के प्रति जहाँ वैराग्य हुआ तहाँ मन मुझमे स्वतः ही लग जायगा।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! विषयों से वैराग्य कैसे हो, कृपा करके इसकी युक्ति मुझे बतावें। इस विषय को स्पष्ट करके विस्तार से समझावें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है अब मैं तुमको संसार से वैराग्य होने का ही उपाय बताता हूँ। इस सम्बन्ध में महाराज ऐल ने एक गाथा गायी है उसे ही तुम सुनो।"

सूतजी कहते हैं—' मुनियो ! अब आप भगवान् के बताये हुए वैराग्य के उपाय ऐसे गीत को सुनें।"

छप्पय

सब ई हैं त्रिगुनात्म प्रकृति अरु पुरुष अधिष्ठित।
देखे समुझे सुने बुद्धि द्वारा जो निश्चित॥
होहि करम बश बन्ध भक्ति तें गुन भगि जावें।
मो में राखें भाव भक्त ते माकूँ पावें॥
रज, तमकूँ जय सत्व तें, करै सत्व मम भजन ते।
होवै त्रिगुनातीत तब, लिपटै सो मम चरन ते॥

— ❀ —

ऐल गीत

(१३१६)

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।
उर्वशी विरहान्मुह्यन्निर्विण्णः शोक संयमे ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० २६ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

मानव तनु लहि रहै चरन मेरे लिपटानों।
नर जीवन फल लहो यथारथ तानें जानों॥
हारे जबई ज्ञान जगत माया नसि जावै।
अज्ञानिनिकों संग करै विषयनि फँसि जावै॥
फँसे उरवशी मोह मह, ऐल नृपति सम्राट जब।
भया ज्ञान पछिताइ पुनि, सुखकर गाये गीत तब॥

जीव का वास्तव में कोई बन्धन नहीं है, विषयों के संग से अज्ञान के वशीभूत होकर उनके गुणों को अपने में माने बैठा है इसी लिये अपने को सुखी दुखी अनुभव करता है। जहाँ वह

* भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—'उद्धव! अत्यन्त कीर्ति शाली इला के पुत्र महाराज ऐल ने उर्वशी के विरह में उन्मोहित बन कर उस योषिता अन्त होने पर पश्चात्ताप के सहित यह गाथा गाई थी।'

ज्ञान हो जाय, कि इन विषयों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तहाँ सुख है न दुख सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। माया के स्वरूप को बिना जाने उसके फंदे में फँस गया है। उसके स्वरूप का ज्ञान हो जाय, तो लाजवती माया फिर इसके पास भी नहीं फटकने की। इस सम्बन्ध में एक कथा है।

एक बड़ा शुद्ध सदाचारी ब्राह्मण युवक था। उसके समीप एक स्त्री रहती थी। ऊपर से देखने में वह बड़ी सुन्दरी सुशीला लज्जावती, गुणवती और सदाचारिणी प्रतीत होती थी, किन्तु वास्तव में वह थी व्यभिचारिणी। जिसे भी सरल सीधा सादा देखती उसे ही वह अपने फंदे में फँसाती। यदि वह सर्वसाधारण वेश्याओं की भाँति होती, तो भले आदमी उसके समीप ही न जाते। किन्तु उसने तो अपना वास्तविक रूप छिपा रखा था। घूँघट मार कर लजाती हुई ऐसी निकलती थी, कि सब लोग उसे सदाचारिणी ही समझते थे। अच्छे अच्छे लोग उसके रूप जाल में फँस जाते उसकी चिकनी चुपड़ी ममता भरी बातों में फँस जाते। वह जिससे सम्बन्ध जोड़ती उससे ही लाखों शपथ खाकर कहती, कि एक मात्र मैं तुमको ही प्यार करती हूँ, तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कोई प्रेमी नहीं है। संसार में मेरे लिये तुम ही तुम हो। उस सदाचारी युवक पर भी उसने अपना फन्दा डाला। उसकी मीठी मीठी मोहक बातों में वह फँस गया। उसके मोहक रूप ने उसे मोह लिया। वह उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करने लगा। वह भी भाँति भाँति की शपथें खाकर यह प्रकट करने लगी कि मेरे सर्वस्व तो आप ही हो।

एक दिन वह ब्राह्मण कुमार यों ही अकस्मात् उसके घर चला गया उसने देखा कोई दो आदमी बातें कर रहे हैं, चुप चाप खड़ा होकर सुनता रहा। उसने देखा एक युवक है और

मायावती सुन्दरी उससे भी अक्षरशः वे ही बातें कह रही है, जो उससे कहती थी। अब तो उसे ज्ञान हो गया। अरे मैं तो भ्रम में था, इस मायावती ने मुझे अन्धकार मे रखा मुझे प्रेम का असत्य नाटक दिखाकर ठग लिया। सहसा उस मायावती ने किवाड़ खोलीं बाहर उसे खड़ा देखा। वह समझ गयी, इसने मेरी सब बातें सुन ली हैं। किसी भी स्वैरिणी सही, फिर भी स्त्री सुलभ लज्जा तो उसे थी ही। वह अत्यन्त लज्जित हुई। वह जान गयी, कि इस युवक ने मेरा यथार्थ रूप जान लिया। युवक का मोह नष्ट हो गया था उसे अपने सदाचार की पूर्व स्मृति जाग गयी थी, वह स्वस्थ हो गया। पहिले जब कभी वह उसे आते हुए देखता था, तो उसका हृदय बाँसों उछलता था, किन्तु अब जब उसने उसके यथार्थ मर्म को जान लिया तो उसके लिये वह नगण्य वस्तु हो गयी। उसे देख कर उसके मन में कोई विशेषता न रह गयी। वह स्त्री भी समझ गयी, कि इसे मेरे यथार्थ रूप का ज्ञान हो गया, अतः ! लज्जावश वह भी फिर कभी उसके समीप नहीं आई। यह तो हुआ दृष्टान्त अब इसका दार्ष्टान्त यह है कि यह ठगिनी माया ही स्वैरिणी स्त्री है, जीव ही सदाचारी युवक है। जब तक यह इस माया के यथार्थ रूप को नहीं जानता, तब तक चौरासी के चक्कर में घूमता रहता है। जब इसे माया के यथार्थ रूप का ज्ञान हो जाय, तो माया कहीं चली नहीं जाती, इसके सम्मुख आने में लजा जाती है, इसका पीछा छोड़ देती है। फिर जीव इस शरीर में रहे भी तो भी संसार की कोई घटना इसे क्षुब्ध नहीं कर सकती। जीवन्मुक्त होकर ब्रह्म सुख का अनुभव करता रहता है। माया से मन हटते ही मायेश के चरणों में वही प्रेम हो जायगा जो सच्चिदानन्द स्वरूप है।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! जब उद्धव जी ने वैराग्य के

सम्बन्ध मे जिज्ञासा की, तब भगवान् कहने लगे—"उद्धव! किसी दरिद्र को बिना परिश्रम के विपुल धन मिल जाय, तो वह धन का मूल्य नहीं जान सकता। जिसे सहज में पुत्र प्राप्त हो जाय, वह पुत्र की महत्ता का अनुभव नहीं कर सकता। जिसके पुत्र न होता हो और चिर काल तक अनेक उपाय करते करते वृद्धावस्था में एक पुत्र हो जाय वह उसकी यथार्थ महत्ता का अनुभव कर सकता है। इसी प्रकार जीव को यह मेरे स्वरूप ज्ञान का साधन रूप सुदुर्लभ मनुष्य शरीर सहज में ही प्राप्त हो गया है। इसलिये यह इसकी महत्ता को समझ नहीं सकता। तभी तो इस अमूल्य मानव देह का उपयोग इन तुच्छ नाशवान् भोगों के भोगने में ही करता है। जिसे इस मानव शरीर की महत्ता का बोध हो गया, वह फिर इन क्षणिक सुखों में अपने समय को न बितायगा, वह सदा सर्वदा भगवत सेवा, पूजा, उपासना तथा अन्य कथा कीतनादि भगवत् धर्मों में ही लगा रहेगा। इस प्रकार निरन्तर मेरी ही परिचर्या में लगा रहने वाला पुरुष फिर इस ससार में लौट कर नहीं आता, वह अपने अन्तः करण मे स्थित मुझ आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा को ही प्राप्त हो जाता है।

उद्धव जी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! आपका ज्ञान होते ही यह नाशवान् भौतिक शरीर छूट जाता है?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, छूटने की क्या आवश्यकता है। इस शरीर में रह कर भी वह ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव कर सकता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"फिर ये माया के तीनों गुण उसे बाधा नहीं पहुँचाते?"

भगवान् ने कहा—"जीव को जीवावस्था तभी तक है, जब तक वह गुणमयी माया के चक्कर में है। जहाँ ज्ञान निष्ठा के द्वारा उसे मुझ त्रिगुणातीत का यथार्थ ज्ञान हुआ तहाँ ये सब माया के

-गुण उसे अवास्तविक प्रतीत होने लगेंगे। फिर वह इनकी ओर आकर्षित होगा ही नहीं। प्राचीन काल मे रानियों की रक्षा के लिये जो रखे जाते थे वे देखने मे तो पुरुष होते थे, किन्तु उनका पुरुषत्व नष्ट कर दिया जाता था, फिर उनके रहने में कोई आपत्ति नहीं थी। बीज को यदि भून दो तो वह बना तो वैसा का वैसा ही रहेगा, किन्तु उसमे अकुर उत्पन्न होने का सदेह न रहेगा। इसी प्रकार गुणों की अवास्तविकता का ज्ञान होने पर मायामात्र गुणों मे वर्तमान रहते हुए भी पुरुष उनमे फंसता नहीं उनसे निर्लिप्त ही बना रहता है।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! कौन ऐसा सरल सुगम साधन है, जिस के करने से पुरुष इस माया के चक्कर में न फँस सके।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मैं इस प्रश्न का उत्तर अनेकों बार दे चुका हूँ, फिर भी देता हूँ यदि तुम निरन्तर विषयियों का सग करागे तो विषयों मे अवश्य फँस जाओगे, निश्चय रूप से फस जाओगे। अतः जो विषयो के दास हैं, पेट भर लेना काम वासना को तृप्त कर लेना इसी को जो परम पुरुषार्थ मानते हैं, उन शिश्नोदर परायण असत् पुरुषों का श्रेय की इच्छा रखने वाले पुरुषो को—कभी भूल कर भी संग न करना चाहिये। त्यागी सदाचारी इन्द्रियजित् सत्पुरुषों का ही संग करना चाहिये। उद्धव तुम विचार करो। तुम्हें कोई मार्ग मालूम नहीं है, नेत्रो से दिखाई भी नहीं देता यदि तुम उस मार्ग के ज्ञाता किसी सुन्दर दृष्टि वाले पुरुष के पीछे पीछे चलोगे, तो अवश्य ही गन्तव्य स्थान को पहुँच जाओगे। और यदि किसी अन्धे के पीछे लग गये, तो वह अंधा भी किसी कूए मे गिरेगा और उसके पीछे पीछे चलने वाले दृष्टि हीन तुम भी उसी का अनुकरण करोगे। जो स्वय ही विषयों का दास है, उसका संग करोगे—उसके पीछे पीछे चलोगे तो तुम भी विषयी हो जाओगे। कलियुगी गुरु उद्धव! ऐसे ही होते हैं।

वे पर धन और पर स्त्री के पीछे घूमते रहते हैं। कुछ अपने ही जैसे लोगों को साथ ले लेते हैं, भोले भाले लोगों को फँसाते हैं उन्हें चेले शिष्य बनाते हैं वे स्वय तो नरकों में पडते ही हैं। साथ ही उन चेलों को भी ले जाते हैं। इसलिये जिन्हें यथार्थ परमाथ लाभ करना हो उन्हें ऐसे विषय लोलुप, लोभी और कामी पुरुषों के पाछे कभी भी न चले। जब तक संसार से यथार्थ वैराग्य नहीं होता तब तक चाहे मूँड मुडा लो या जटा रखा लो, कपडा रँगा ले या माला सटका लो मन विषयों की ही ओर दौड़ेगा। भगवत् कृपा से जब विषयों से वैराग्य हो जायगा तब ये विषय विषवत् प्रतीत होने लगेंगे। देखिये, महाराज पुरूरवा को जब विषयो से वैराग्य हो गया, तब वही उर्वशी जिसके बिना वे पल भर भी नहीं रह सकते थे, तुच्छ और घृणित कामिनी प्रतीत होने लगी।"

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज! सम्राट् पुरूरवा को उर्वशी से प्रेम कैसे हो गया और फिर उन्हें उसक कारण वैराग्य क्यों हुआ?"

भगवान् ने कहा—"महाराज पुरूरवा इला के पुत्र थे वे बडे सुन्दर थे, एक दिन स्वर्ग में उर्वशी उनके रूप से मोहित हो गयी, वे भी उसके रूप से मोहित हो गये। उर्वशी शापवश राजा का पत्नी हुई राजा उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। प्रण पूरा न होने पर उर्वशी राजा को छोड़ कर चली गयी। राजा की उस समय बुरी दशा थी। यद्यपि राजा बड़े यशस्वी थे। सप्तद्वीपवती वसुन्धरा के एक मात्र सम्राट् थे। बड़े बड़े महाराजा अपने सुवर्ण मंडित मणिमय मुकुटों से उनके चरणों प्रणाम करते थे। फिर भी वे उस स्वर्गीय वेश्या के विरह में इतने विमोहित बन गये, कि उसके पीछे विह्वल होकर—उन्मत्तों के समान-नंगे ही दौड़ने लगे और दीन होकर बारम्बार कहने लगे—"अरी कठोर हृदय वाली

कामिनी ! तनिक ठहर कर मेरी दो बातें तो सुनती जा। तेरे बिना कैसे जीवित रहूँगा।" किन्तु उस स्वर्गीय ललना ने राजा की बातें अनसुनी कर दीं वह चली ही गयी। राजा मूर्छित हो गये।

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! इस क्रूर काम की करतूत तो देखो, जिस स्वर्गीय ललना उर्वशी के साथ महाराजा वर्षों रहे, जिसमें आसक्तचित्त होने से राजा को कब दिन हुआ कब रात्रि हुई यह भी ज्ञान नहीं रहा निरन्तर जिसके अधरामृत का पान करते रहने पर भी राजा की तृप्ति नहीं हुई, उसी से क्षण भर मिलने के लिये राजा व्यग्र बन गये। इस काम की कैसी विडम्बना है। उस अप्सरा के विरह में बहुत दिनों तक राजा विह्वल बन रहे। अन्त में राजा के शोक का अन्त हुआ। उन्हें विषयों से वैराग्य हो गया। अब तो उन्हें उर्वशी के वे अङ्ग जिन्हें देखते देखते वे तृप्त ही नहीं होते थे परमनिन्दनीय और घृणित प्रतीत होने लगे। उसी वैराग्य के समय राजा ने अपने को धिक्कारते हुए ये गीत गाये।

ऐल गीत

(१)

हाय ! यह जीवन वृथा गँवायो।
मोहमयी मदिरा पी पी कें कामिनि हाथ बिकायो ॥१॥ हाय।
मृगनयनी वधिकिनि बन सम्मुख, मोहक जाल बिछायो।
डारिरूप को चुगो चहूँ दिशि, चचल चित्त फँसायो ॥२॥ हाय
हों नरपति भूपति-पद वन्दित, खग मृग सरिस नचायो।
त्यागि मोह ठगिनी चलि दीनि, नेक न नेह निभायो ॥३॥ हाय।
ह्वेकें विकल त्यागि पट भूषण, पीछे नगो धायो।
तेज, ओज, बल पौरुष त्यागो, हों नहिं नीच लजायो ॥४॥ हाय
भया दुखी कातर अति विह्वल, अतिशय नेह जतायो।
खर ही झारत लात दुलत्ती, खरवत् पीछे धायो ॥५॥ हाय

वृथा ताको जप तप अरु दान।
जाके हिय महँ धँसी नारि की, मद मृदुल मुसकान ॥१॥ वृथा
पढ़ै शास्त्र, फल फूल खाय व्रत करयो वेद को गान।,
व्यरथ सकल साधन यदि चाहे, मन अधरामृत पान ॥२॥ वृथा
तब तक शील, सँकोच, सरलता, जाति वरन, कुल कान।
जब तक हिय महँ चुभे न चाखे नारि नयन वर बान ॥३॥ वृ०
बार बार धिक्कार जार कूँ, कुलटा रूप लुभान।
मानत सुख जा हाड़ चाम महँ, नहिँ सुमिरत भगवान ॥४॥ वृ

(३)

हाय! मन मूढ न मेरो मान्यो।
जो अतिअशुचि मूत्रमल आलय, ताकूँ सुखकर जान्यो ॥१४॥ हाय
खग मृग सरिस समुझि मोह वधिकिनी, निजकटाच्छसर तान्यो।
अपने आपु फँस्यो फदा में, भयो न दुखी रिस्यान्यो ॥२॥ हाय
सुधा समुझि विष बेलि अधम पशु, पाइ ताहि हरषानो।
अति उनमत्त भयो मद पीक, नहिं पहिले पहिचान्यो ॥३॥ हाय
चन्द्र वदन कजरारे नयना, अग अँग निरखि लुभानो।
देखि राग भरमायो कामी विष अमिरत नहिं सान्यो ॥४॥ हाय

(४)

त्रिया की देह परम प्रिय जानी।
जो मल मूत्र रुधिर मज्जा अरु कफ खकार की खानी ॥१॥ त्रिय
रुधिर राधि मल कफ के कीरा, सुधा सरिस इनि जानी।
कुलबुलात हरषात इनहिँ महँ, ह। तैसो ही प्रानी ॥२॥ त्रिया०
जोहत रहत नयन मुख पल पल, समुझि आपुनी रानी।
तृन सम तारि नेह की डोरी, छिन महँ भई बिरानी ॥३॥ त्रि०
भ्रमवश सरपिनि गल लपटानी, मनहर माला मानी।
कब आयी कब गयी सयानी, अब रहि गई कहानी ॥४॥
माया नाना नाच नचावे, ठगिनी परम पुरानी।

हे मायेश बचाओ गिरिधर, यदुवर सारँगपानी ॥५॥

(५)

जगत के विषय बड़े बलवान।

इनते रहो सचेत सदाई, जो चाहो कल्यान ॥१॥ जगत
विषयी विषय बात बतरावें, करत विषय गुनगान।
तातैं तजो सग विषयिनि को, विघन रूप इनिजान ॥२॥ जग
मन अरु करननि मति पति आओ, ये रिपु अति बलवान।
गहो चरन प्रभु भली करेंगे, दीन बन्धु भगवान ॥३॥

भगवान कह रहे हैं—"उद्धव ! इसी प्रकार राजा को उर्वशी के वियोग से बड़ी आत्म ग्लानि हुई वे बार बार अपने को धिक्कारने लगे। मेरी उन पर कृपा हो गयी ! उन्हें विषय भोगों के यथार्थ रूप का ज्ञान हो गया वे बारम्बार लम्बी लम्बी साँस छोड़ते हुए कहने लगे—"हाय ! मैं अपने को बड़ा भारी पडित समझता था, किन्तु वास्तव में मैं निकला महा मूख जो राजराजेश्वर होकर भी—पृथिवी का शास्ता रक्षक और पालक कहाने पर भी कामिनी का क्रीडा मृग बन गया। उसके संकेतों पर नाचने लगा। मैंने अपनी बुद्धि तथा विचार शक्ति, सभी खो दी। मैं घोड़ा, गधा तथा साड़ों के समान सब कुछ भूल कर स्त्री के पीछे लग गया। मैं चाहता क्या हूँ, यही न कि वह मुझे एक बार और मिल जाय। एक बार मिल ही गयी तो इससे तृप्ति तो होगी नहीं। काम वासना तो और बढ़ेगी। जलती हुई अग्नि में घृत की जितनी ही आहुति छोड़ोगे उतनी ही उसकी वृद्धि होगी। यदि एक बार मिलने से ही उसकी तृप्ति होती तो वह तो मेरे समीप वर्षों रही है। क्यों मेरी क्षण भर को भी तृप्ति हुई है ? हाय ! मेरा मन उस कुलटा कामिनी ने चुरा लिया अब मैं कहाँ जाऊँ, किस की शरण में जाने से शान्ती मिलेगी, ऐसा कौन सम्बन्धी सुहृद तथा हितैषी है ? संसार के सभी लोग तो स्वार्थी हैं, उनकी मैत्री तो

स्वार्थ साधने के निमित्त होती है। एक मात्र मुनि जन सेवित भक्तों द्वारा वन्दित सब के सुहृद सर्वेश्वर ही मुझे इस दुःख से बचा सकते हैं, उन्हीं की शरण में जाने से सच्ची शान्ति मिल

सकती है। हाय ! उस कामिनी ने तो मुझे पहिले ही सचेत कर दिया था, उसने स्पष्ट कह दिया था "हम स्वैरिणी हैं, किसी एक से बंधी नहीं रह सकती हैं, हम नित्य ही नूतन नूतन पति की चाह करती रहती हैं। हम जाति, वरण, विद्या, कुल, ऐश्वर्य नहीं देखतीं, स्थान अस्थान, शुचि अशुचि, समय असमय का विचार नहीं करतीं। जहाँ भी, जिस समय भी, जिससे भी हमें काम सुख मिलता है उसी की बन जाती हैं। इस प्रकार उसने सत्य

यथार्थ वचन कह कर मुझे सचेत भी किया था, किन्तु मेरी बुद्धि पर तो उस समय पत्थर पड गये थे। मैं तो कामान्ध होकर अपनी विवेक शक्ति को खो बैठा था। मुझे उसके ये शब्द भी अमृत के तुल्य प्रतीत हुए और इनसे मेरे मोह मे न्यूनता होने की अपेक्षा वृद्धि ही हुई। वह तो बार बार कहती रही।

मैं उसको दोष नहीं देता। उसे दोष देने का कोई कारण भी नहीं है कोई टेढ़ी मेढ़ी पड़ी रस्सी को सर्प समझले, तो दोष तो समझने वाले का है, रज्जु का तो कोई दोष नहीं यदि मैं अपनी इन्द्रियों को वश मे रखता, चित्त को चंचल न होने देता, उसे अवसर न देता, उसका स्पर्श आदि न करता, तो वह बल प्रयोग तो करती ही नहीं। मैंने तो जान बूझ कर प्रसन्नता से विष का पान कर लिया।

हाय! मैं ठगा गया। मेरा सर्वस्व लुट गया, मैं कहीं का भी न रहा। मेरी मति मारी गयी, मैं अन्धा हो गया। सुख भी समझा तो मैंने अपवित्र वस्तु मे। जिस शरीर के अंग प्रत्यंग से दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध निकलती है उसी शरीर को मैंने सुख का सागर माना। जिसे मैं अधरामृत कह कर पान करता था। वह क्या था चर्म से ढका हुआ रक्त युक्त पतला मांस था थूक से वह सना हुआ था, क्या विवेकी पुरुष उस अपवित्र वस्तु की ओर आंख उठाकर भी देख सकता है, किन्तु मैंने उसे ही सर्वस्व समझा। मूत्र औ रक्त से भीगे अंगों को पाकर मैं प्रसन्न होता था। विष्ठा के कीड़े भी तो मल में राध में पीव में कुल बुलाते हुए सुख अनुभव करते हैं, उन विष्ठा तथा पीव के कीड़ों मे और मुझ में अन्तर ही क्या रहा। मैं बारम्बार प्रेम प्रेम चिल्लाता रहता था। मानों प्रेम चिल्लाता रहता था। मानों प्रेम शब्द का भी अपमान करता होऊँ। प्रेम तो नित्य वस्तु है साक्षात् भगवान का स्वरूप है। प्रेम तो प्रभु से ही किया जा सकता है। कहाँ तो असत् मलिन और परम घृणित यह शरीर और कहाँ सत्य, शुद्ध और

सर्व श्रेष्ठ प्रेम ये शब्द यथार्थ मे मैंने अमृत में विष घोल दिया। हलाहल को सुधा कह कर सम्बोधित किया।

प्रेम तो भगवान् का रूप है, किन्तु यह शरीर किसका है कुछ पता ही नहीं चलता माता पिता कहते हैं पुत्र का शरीर हमारे रज, वीर्य से बना है अतः हमारा है। स्त्री कहती है जब तुमने पैदा किया होगा अब तो अग्नि को साक्षी देकर मुझे मिला अतः मेरे प्राणनाथ का शरीर मेरा है। जिसके यहाँ काम करता है, वह कहता है मैंने इसे द्रव्य देकर क्रय कर लिया है अतः शरीर पर मेरा अधिकार है। सियार, गृद्ध, कुत्ते तथा अग्नि ये सब कहते हैं तुम बकते रहो जिसको जो खाता है उसी की वह वस्तु होती है। अन्त मे तो हमें ही खाना है। इस प्रकार इस शरीर के बहुत के ग्राहक हैं। और होता किसी का नहीं अन्त में पंच भूतों में मिल जाता है मुट्ठी भर भस्म हो जाती हैं। उसी अनित्य शरीर के पीछे स्त्री पुरुष मर रहे हैं। स्त्री कहता है—"तुम मेरे जीवन सर्वस्व हो प्राणनाथ हो जीवनाधार हो। पुरुष कहता है तुम चन्द्रवदनी हो, मृगनयनी हो, सुजघना विपुला हो, कमल नयनी हो, मेरी प्राणप्रिया हो तुम्हारी मन्द मन्द मुसकान पर मैं सब कुछ त्याग सकता हूँ। काम का कैसी क्रूरता पूर्ण क्रीडा है। माया का कैसा ममता पूर्ण मोहक पित्र है।"

इसका एक मात्र उपाय यही है, कि इन्द्रियों को विषयों से हटाकर विरक्त हो जाय। विषय और इन्द्रियों के संयोग से मन में विकार हो ही जाता है। जो विषय कभी देखे सुने या भोगे नहीं होते उनके देखने से भी चित्त मे उनकी वासना भी नहीं उठती। इसलिये ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि शक्ति भर इन्द्रियों का विषयों से अधिक संयोग ही न हो। ऐसा करने से शनैः शनैः चित्त की चचलता नष्ट हो जाती है और मन स्थिर तथा शान्त

हो जाता है। इसलिये जहाँ तक हो कामियों का और कामिनियों का कभी भूल कर भी संग न करना चाहिये। त्याग मार्ग की दीक्षा लेने वाले को मन से भी इनका संग न करना चाहिये। जो भूल कर भी इनका संग करता है वह निश्चय ही फँस जाता है। मन का कभी विश्वास न करे कि यह मेरे वश मे हो गया। बड़े बड़े ज्ञानी ध्यानी और विवेकी पुरुषों को अभिमान आते ही यह चारों कोने चित्त पटक देता है और उनके अभिमान को चकना चूर कर देता है। अतः मैं उस अप्सरा का चिन्तन न करके निरंतर अच्युत भगवान् का ही चिन्तन करूँगा। उन्हीं की शरण में जाऊँगा।

भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी कहते हैं—"उद्धव! इस प्रकार महाराज पुरूरवा उर्वशी के लोक को छोड कर चले गये और अपने अन्तः करण में आत्मा रूप से स्थित मुझ परमात्मा को पहिचान कर सुखी और शान्त हो गये। राजा को इतना मोह संग के कारण हुआ इसलिये परमार्थ की इच्छा रखने वाले पुरुषों को भी कामी पुरुषों का कुसंग न करना चाहिये। सदा सर्वदा संत जनो का संग करना चाहिये। जो मन कामियों में लगा है उसे ही भगवद् भक्तों में लगाना चाहिये। उन्हीं से स्नेह अनुराग करना चाहिये। उन्हीं से स्नेह अनुराग करना चाहिये। निरन्तर सन्तों के समीप जाने से परमार्थ मे अपने आप रुचि होगी। सन्त जन भागवती कथाओं को सुनाते रहेंगे सदुपदेश देते रहेंगे इस से मन की विषया सक्ति नष्ट हो जायगी।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! अपने दुस्संग का परिणाम तो बताया अब सत्संग की महिमा को और सुनावें। सन्तों के समीप जाने से क्या लाभ होता है"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है· उद्धव! अब मैं तुम्हें सत्संग का ही माहात्म्य सुनाता हूँ।"

सूत जी कहते हैं--"मुनियो ! भगवान् के शब्दों में आप सब सत्संग की महिमा श्रवण करें ।

छप्पय

यों बहु विधि पछिताइ उरबशी पुर तजि आये ।
मन महँ मो कूँ धारि शान्त ह्वै अति हरषाये ॥
भयो यथारथ ज्ञान मोह को नातो तोरयो ।
सब जग तें मुख मोरि प्रेम मोई ते जोरयो ॥
जो चाहे कल्यान निज, जाइ न कबहुँ कुसग महँ ।
कामी कामिनि सग तजि, रहे सदा सतसग महँ ॥

संत समागम माहात्म्य

(१३१७)

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥
तेषु नित्यं महाभाग ! महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां अपुनन्त्यघम् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० २६ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

समदरशी शुचि सत सरलचित शान्त अमानी ।
भोरे ममताशून्य अकिंचन निरमम ज्ञानी ॥
होवै तिनके यहाँ कथा नित हरि की मनहर ॥
सुनत होत अघनाश होहिं हिय निरमल सुखकर ॥
सन्तनिके ढिँग बैठिकें, सुनैं कथा जे चाव तैं ।
ते पावैं ध्रुव परम पद, करैं कीरतन भाव तैं ॥

यह जगत भाव मय है । मनुष्य जैसी भावना करेगा वैसा ही हो जायगा । शरीर क्या है, परमाणुओं का पुञ्ज है । जो जैसे

* भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! सन्तजन, निरपेक्ष, मुझमें चित्त लगाने वाले, प्रशान्त समदर्शी, निर्मम, निरहंकार निर्द्वन्द्व तथा निष्परिग्रह होते हैं । हे महाभाग ! उन महाभाग सन्तों के यहाँ नित्य ही मेरी भागवती कथायें होती रहती हैं, जो कथायें मनुष्यों के लिये हितकारिणी तथा उनके सेवन करने वालों के सम्पूर्ण पापों को नाश करने वाली होती हैं ।"

परमाणुओं से निर्मित होगा, वह वैसा प्रभाव अपने चारों ओर स्थापित कर लेगा। एक व्यापारी है व्यापार करते करते उसके अणु परमाणु मे व्यापार ही व्यापार घुस गया है। उसे जहाँ भी बैठा दो वहीं पर व्यापार की ही बात सोचेगा। बालू मे बिठा दो तो बालू के ही व्यापार की युक्ति लगावेगा। भिखारी को बैठा दो तो भीख की ही बात सोचेगा। जिसके विचार जितने ही दृढ़ होंगे, वह उतना ही अधिक अपने से निबल विचार वालो को प्रभावित कर सकेगा। एक मनुष्य है डाका डालते डालते उसके विचार दृढ हो गये हैं। दूसरा आदमी है डाका डालने को बुरा समझता है, किन्तु आजीविका के लिये विवश है, उसके मन म कभी क्षीण सा विचार हुआ कि इससे तो अच्छा यही था कि मैं डाका ही डालता। संयोग वश उसे वह दृढ विचार का डाका डालने वाला पुरुष मिल गया, उसने उसके प्रति सहानुभूति दिखलायी। अब उसके दृढ़ विचारों ने उसे उत्तेजित किया वह भी डाकू बन गया। डाकुओं का दल ऐसे ही तैयार हो जाता है। उनमें सभी डाकू नहीं होते दलपति के प्रभाव से प्रभावित होकर उनके ऐसे भाव हो जाते हैं।

हम जो बड़े बड़े ऋषि मुनियों के सम्बन्ध में पढ़ते सुनते हैं, कि उन्होंने इतने सहस्र वरष तक घोर तप किया फिर उस अप्सरा के फन्दे में फस गये यह भी वैसे ही बात है। प्राणि-मात्र के हृदय में काम वासना स्वाभाविक होती है। उसे दबाकर तप करते हैं। जब काम वासना उत्पन्न होती है तब उसे वे दबाते हैं। यदि कोई शुद्ध आचरण की स्त्री उनके समीप जाय तो उनके मन मे कोई भाव ही नहीं उठता, क्योंकि दोनों के परमाणु शुद्ध हैं। अब जो अप्सरायें आती हैं, उनका तो काम है स्व-र्गीय पुरुषों को काम सुख पहुँचाना। स्वर्गीय-पुरुषों का संग करते करते उनके काम के संस्कार सुदृढ़ हो जाते हैं। वे आकर

तपस्वी ऋषि मुनियों के समीप विनय दिखाती हैं सेवा सुश्रूषा करती हैं। प्रेम की भूख संसार मे प्राणिमात्र को है विशेष कर नारी जाति मे। जब वह तपस्वी के प्रति प्रेम प्रकट करती हैं, तो उनका आकर्षण होता है। वे उसका संग करते हैं, उसके संग से जिन काम के भावों को दबा रखा था, वे प्रबल परमाणुओं को पाकर उभर जाते हैं। और सम्मुख ही काम का आहार पाकर अत्यधिक उत्तेजना पूर्ण हो जाते हैं।"

यही दशा शुभ विचारों की है। संसार की अनित्यता देखकर सभी को थोडा बहुत वैराग्य अवश्य होता है, सभी शान्ति चाहते हैं, किन्तु घर गृहस्थी तथा सांसारिक झंझटों के कारण न तो वैराग्य टिकता है न चित्त शान्त ही होता है। साधु महात्मा निरन्तर संसार नाशवान् है ऐसी वैराग्य की ही बातें सोचते रहते हैं। वे मन को एकाग्र और शान्त करने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। उनके सम्मुख जब संसार की चपेट खाकर अशान्त चित्त को लेकर मनुष्य जाता है, तो उनके वैराग्य के प्रबल परमाणुओं से उसके वैराग्य के भाव उमड आते हैं उसे शान्ति का अनुभव होने लगता है। जब वे हट जाते हैं, फिर संसारी लोगों से बातें होने लगती हैं वह भाव शान्त हो जाता है, फिर संसार याद आ जाता है। विरागी के यहाँ जीवनोपयोगी अपनी इच्छानुसार सुविधा न देखकर भी वैराग्य ठंडा पड जाता है।

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसे अपने से दृढ़ विचार वालों का संग करना चाहिये। जिसे काम सुख की इच्छा हो उसे कामियों का और कामिनियों का संग करना चाहिये और जिसे भगवत् भक्ति प्राप्त करने की इच्छा हो उसे भगवत् भक्त सन्तों का संग करना चाहिये। सत् संग से बढ़कर परमार्थ प्राप्ति का और कोई भी

अन्य साधन नहीं। सत्संग से ही परमार्थ वस्तु की यथार्थ प्राप्ति हो सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने सत्संग के सम्बन्ध में समुत्सुकता प्रकट की तब उनको समझाते हुए श्याम-सुन्दर कहने लगे—"उद्धव! जिन्हें इस संसार सागर से पार

जाने की प्रबल इच्छा हो उन्हें सदा सर्वदा सत्पुरुषों का ही संग करना चाहिये। कभी भूलकर भी कामिनियों का संग न करे। सज्जनों से अनुराग बढ़ाना चाहिये। जिसका जिससे अनुराग हो जाता है, वह उसे अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु दे डालता है। सन्तों के पास सब से प्यारी वस्तु क्या है ज्ञान, वैराग्य और

भक्ति । ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के पुत्र ही हैं । भक्ति होने पर ये बालक तो अपने आप ही पीछे पीछे लगे चले आते हैं। इसीलिये भक्त गण अपने आश्रितों को भगवान् की भक्ति का उपदेश देते हैं। साथ ही इस असार संसार से वैराग्य भी कराते हैं। संसारी समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं, क्षणभंगुर है अशाश्वत है अतः इनमे मोह न करना चाहिये।"इस प्रकार क सदुपदेश दे दे कर वे उनके मनकी विषयासक्ति को जडमूल से मेंट देते हैं। सन्तों के समीप जाने वालों का कभी भी अकल्याण नहीं होता।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! सन्तों की पहिचान कैसे हो? उनमे क्या क्या विशेषतायें होती हैं?"

भगवान् ने कहा—"सन्त छिपे नहीं रहते। जैसे कस्तूरी नहीं छिपी रहती। सन्तों के गुण ऐसे अलौकिक होते हैं, कि वे बिना कहे ही प्रकट हो जाते हैं सन्तों में वैसे तो समस्त गुण ही गुण हाते हैं, वे गुणों की खान ही हैं। फिर भी इतने गुण उनमे विशेष होते हैं—

१–निष्काम—सन्तों के मन में कोई सासारिक कामना नहीं होती। वे जो भी कर्म करेंगे कामना हीन होकर प्रभु प्रीत्यर्थ ही करेंगे किसी से मिलेंगे तो भी निस्वार्थ होकर परमार्थ भावना से ही मिलेंगे। सन्तों को कामना रह ही क्या सकती है, जिन्होंने समस्त कामनाओं के उद्गम स्थान, कामपूरक श्रीहरि को प्राप्त कर लिया है वे इन संसारी क्षणिक नाशवान् शब्द, रूप रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी सुखों की कामना कर ही कैसे सकते हैं।

२–मच्चित्त मद्गत प्राण—सन्तों का चित्त सदा मुझमें ही लगा रहता है। ऊपर से व्यवहार की बातें करेंगे साधारण लोगों की भाँति अन्य व्यापार भी इन्द्रियों से करेंगे किन्तु उनका चित्त

रहेगा मुझमें ही उनके प्राण स्वास स्वास पर मेरे ही नाम का उच्चारण करेंगे। उनका समस्त व्यापार मेरे ही निमित्त होगा।

३-प्रशान्त—सन्तजन सदा अत्यन्त शान्त रहते हैं, उनके मुख मण्डल से शान्ति टपकती रहती है। वे अत्यन्त उत्तेजना पूर्ण घटना से भी अशान्त नहीं होते। बिना तरगों के समुद्र के सदृश शान्त और गंभीर बने रहते हैं।

४-समदर्शी—सन्तों के हृदय मे यह भेदभाव नहीं रहता, कि ये मेरे घरके हैं ये बाहर के हैं, ये जाति कुटुम्ब तथा परिवार के हैं ये अन्य हैं। उनकी दृष्टि मे प्राणिमात्र सभी आत्म स्वरूप है। वैसे तो योनियो के अनुसार व्यवहार मे भेद करना ही पडता है। कोई रुग्ण है कोई स्वस्थ है उनके भोजन में भेदभाव करना ही होगा। कोई तीव्राग्नि वाला है, कोई मस्तिष्क का काम करने वाला है कोई शारीरिक श्रम करने वाला है उनके भोजन मे विषमता करनी ही होगी। कोई यजमान है कोई पुरोहित है कोई परिचारक है स्थान में भी भेदभाव करना होगा। इन बाहरी भेदों के होते हुए भी मनसे सब में एक ही आत्मा व्याप्त है इस भाव से जो सब में समभाव रखता हो। जिसकी दृष्टि में प्राणी एकमात्र सब बराबर हों वही सन्त हैं।

५-ममता शून्य—संसारी लोग ममता में फँसे हुए हैं, यह मेरा घर है, यह मेरा धन है ये मेरे बालक बच्चे, कुटुम्ब परिवार के लोग हैं, इनका दायित्व मेरे ही ऊपर है इन्हीं सब में ममता होने के कारण ससारी लोग दुखी और चिन्तित रहते हैं। संत समझते हैं हमारे तो एकमात्र श्रीहरि ही हैं। मुझे ही अपना सर्वस्व समझते हैं। मुझमें ही संसार की समस्त ममता को बटोरकर लगा देते हैं। जो भी करते हैं मेरी ही सेवा समझकर करते हैं, न वे किसी को अन्य समझते हैं न अपना सबको मेरा ही रूप

मानते हैं। इसलिये मुझे छोड़कर अन्य किसी में उनकी ममता नहीं होती।

६–अहंकार रहित—"संतो को यह अहंकार नहीं होता कि हम ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं। सब हमारी पूजा करें जो प्रतिष्ठा करें। जो हमारा आदर नहीं करता वह हमारा द्वेषी है शत्रु है यह जो शत्रुता लड़ाई भिड़ाई आदि होती हैं सबका कारण अहंकार ही है।

७–निर्द्वन्द्व—'सुख दुख, पाप पुण्य भला बुराई, ऊँच नीच, छोटा बड़ा, हानि लाभ, जीवन मरण कीर्ति अकीर्ति तथा और जितने संसार के द्वन्द्व हैं वे सब सन्तो मे नहीं होते। क्योंकि भगवान् में द्वन्द्व हैं ही नहीं फिर भक्तों में कहाँ से होंगे। वे तो द्वन्द्वातीत होकर आनन्द पूर्वक मेरे भजन मे लगे रहते हैं।

८–आकिञ्चन—"ससारी लोग भोग्य वस्तुओं का संग्रह इसलिये करते हैं, कि न जाने हमें समय पर अमुक वस्तु मिले या न मिले। इसलिये वे बहुत सी वस्तुओं का सग्रह करके रखते हैं, किन्तु भगवत् भक्त समझते हैं योग क्षेम चलाने वाले तो श्रीहरि ही हैं। जब वे जिस वस्तु को हमारे लिये उपयोगी और आवश्यक समझेंगे, तब उसे अवश्य दे देंगे, फिर सग्रह की चिन्ता क्यों करें। यही सोचकर वे किसी वस्तु का परिग्रह नहीं करते। हाँ कथाकीर्तन और मेरी पूजा की आवश्यक वस्तुओं का परिग्रह वे अवश्य करते हैं। मेरी पूजा के निमित्त की हुई वस्तुओं का संग्रह परिग्रह नहीं कहाता। क्योंकि मेरे सम्बन्ध से तो सभी वस्तुए निर्गुण बन जाती हैं। अपने या अपने आश्रितो के निमित्त वे कुछ भी नहीं रखते।"

इस प्रकार अकिञ्चन निर्द्वन्द्व सन्त मिल जायँ, तो उनके सत्संग से संसार बन्धन अति शीघ्र ही कट जाता है। अतः ऐसे सन्तों का ही सदा सत्सङ्ग करते रहना चाहिये।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! ये गुण तो भीतरी हैं। कोई बाहरी चिन्ह बताव जिससे हम सन्तों को पहिचान सकें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! जैसे ससारी लोग बिना खाये नहीं रह सकते, वैसे ही सन्त मेरी कथा बिना सुने नहीं रह सकते। उन्हें मेरी कथा सुनने का व्यसन होता है। जैसे मद्यपायी को एक बार भोजन न मिले तो रह सकता है किन्तु मद्य के बिना वह घबराने लगता है। उसी प्रकार मेरे भक्तों को प्रसाद न मिले तो उसकी चिन्ता नहीं किन्तु कथाकीर्तन तो अवश्य ही चाहिये इसीलिये मेरे भक्तों के स्थानों पर बिना व्यवधान के बारहो महीने मेरी कथा हुआ करती है। वे सौभाग्यशाली सन्त परस्पर में बैठकर मेरे ही सम्बन्ध की कथा करते रहते हैं। भागवती कथाओं की ही भाँति भाँति से आलोचना प्रत्यालोचना होती रहती है। ससारी लोगों के यहाँ इधर उधर की व्यर्थ बात ही होंगी, किन्तु मेरे भक्तों के यहाँ मेरे सुमधुर नामों का कीर्तन और मेरी मनहारिणी कथाओं का गान यही व्यापार होता रहता है। इन कथा और कीर्तन आदि कार्यों से ससार के सभी लोगों का कल्याण होता है। कथा सुनते हैं कीर्तन करते अथवा सुनाते हैं उन सब लोगों के पाप नाश हो जाते हैं। जो कथा कीर्तन को सुनकर प्रसन्न होते हैं, एकान्त में उनका मनन करते हैं दूसरों को सुनाते हैं, अनुमोदन समर्थन करते हैं दूसरों को करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं उन्हें मेरी अनन्य भक्ति प्राप्त होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! आप की भक्ति के अतिरिक्त उन्हें और क्या प्राप्त होता है ?"

हँसकर भगवान् ने कहा—"अरे, जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी उसे प्राप्त करने को अवशेष ही क्या रह गया। एकमात्र मेरी

भक्ति हो तो प्राणियों का परम प्राप्य स्थान है यही तो चरम लक्ष्य है। मुझ अनन्त-गुण-सम्पन्न, आनन्दानुभव स्वरूप, सच्चिदानन्द घन, करुणावरुणालय, परब्रह्म परमात्मा में अनन्य भक्ति प्राप्त होना यही तो सब सुकृतों का फल है। जहाँ मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, वहाँ सभी इच्छाएँ एक साथ ही पूर्ण हो जाती है। जैसे कोई मनुष्य हिंस्रक जन्तुओं से पूर्ण घोर जंगल में अकेला माघ के महीने की रात्रि मे नगा पड़ा है। अब एक तो उसे बडा भारी जाड़ा लग रहा है, दूसरे उसे पग पग पर सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं का भय लग रहा है तीसरे अन्धकार के कारण दुखी है। अब उसे ठंड निवारण के लिये कुछ चाहिये, अन्धार मेटने को भी चाहिये और भय दूर करने को भी कुछ चाहिये। सब के लिये पृथक् पृथक् उपाय न करके अन्धकार मेटने के लिये उसने काष्ठ एकत्रित करके अग्नि जला दी। अग्नि जला देने से अंधकार भी मिट गया, तापने से जाडा भी भा गया और अग्नि के समीप हिंस्रक नहीं आते इससे भय भी दूर हो गया। जैसे एक अग्नि के जला देने से अन्धकार, शीत अ र भय तीनो ही निवृत्त हो जाते हैं वैसे ही भगवान् की भक्ति होने से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। साधु पुरुषों का सत्सग करने से जन्म जन्मान्तर के पाप, ससार का भय और अज्ञान ये तीनों ही निवृत्त हो जाते हैं। इसलिये सुख की इच्छा रखने वाले पुरुषों को निरन्तर साधु सेवन करना चाहिये। इस संसार सागर मे डूबने उतरने वाले छटपटाने वाले और अवलम्ब की खोज करने वालों को एकमात्र ब्रह्मवेत्ता तथा शान्तचित्त समदर्शी साधु ही अवलम्ब हैं। भव जलधि में डूबते हुओं के लिये भगवद् भक्त महापुरुष ही सुदृढ पोत के सदृश हैं। जैसे वायु, जल और अन्न ही प्राणियों का आधार है, मछलियों के लिये जल ही जीवन है। वैसे ही देहधारियों के लिये

मैं ही जीवन हूँ। जैसे अन्धे को लकडी का सहारा है, सद्यजात शिशु को माता के दूध का ही सहारा है उसी प्रकार दीन दुखियों का एकमात्र मैं ही सहारा हूँ। जैसे विद्वानों का विद्या ही धन है, व्यापारियों के लिये द्रव्य ही धन है परलोक मे धर्म ही धन है, उसी प्रकार ससार से भयभीत पुरुषो के लिये सन्तजन ही एकमात्र धन हैं। वे ही उनके परम आश्रय हैं।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! सन्तानों को माता पिता तथा पत्नी को पति ये भी तो सुख देते हैं। इन सब से बढकर सन्तों की इतनी महिमा क्यों है?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! माता पिता तथा पति आदि तो सासारिक सुविधाओं का विशेष ध्यान रखते हैं। किन्तु सन्तजन तो परलोक का ही विशेष ध्यान रखते हैं। सूर्य उदय होकर बाह्य चक्षुओं को प्रकाशित करते हैं, किन्तु सन्तजन तो भीतर के चक्षुओं को भी खोल देते हैं, वे तो मेरा साक्षात्कार करा देते हैं। इसीलिये सन्तजन माता पिता हैं, सगे सम्बन्धी हैं, सुहृद् मित्र हैं सेवक और स्वामी है, इष्ट तथा देवता हैं, आत्मा तथा परमात्मा हैं कहाँ तक कहूँ उद्धव! सत में और मुझ भगवन्त में तनिक भी अन्तर नहीं। सन्त मेरा स्वरूप ही हैं। उन्हीं का निरन्तर संग करना चाहिये।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! प्रतिष्ठानपुर पति महाराज पुरूरवा ऐसा निश्चय करके उर्वशी के लोक से पृथिवी पर चला आया और यहाँ आकर सन्तो का संग करते हुए स्वच्छन्द होकर तीर्थस्थानों मे विचरण करने लगा। वह अनासक्त और आत्माराम होकर अवनिपर पर्यटन करता हुआ जीवन्मुक्ति का आनन्द लूटने लगा। इसी प्रकार उद्धव! तुम भी सबकी मोह ममता छोडकर पृथिवी पर विचरते हुए कालक्षेप करो। तुम्हारे लिये भी अब मेरी कृपा से कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया है। तुम एक-

मात्र मेरे पूजन को ही अपना कर्तव्य समझो। क्रियायोग द्वारा मेरा ही निरन्तर भजन करते रहो।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! क्रियायोग किसे कहते हैं? भक्तजन आपकी किस मूर्ति का ध्यान करते हैं? किसकी उपासना करते हैं? कैसे करते हैं? कृपा करके उस क्रियायोग को मुझसे कहिये।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! सभी ऋषि मुनियों ने मेरे क्रिया योग का वर्णन किया है।"

उद्धवजी ने कहा—"इसीलिये तो मुझे अत्यधिक जिज्ञासा हो रही है। देवर्षि नारदजी ने पाञ्चरात्र आदि में इसी का विस्तार किया है अङ्गिरा नन्दन भगवान् बृहस्पति ने, वेदों का व्यास करने वाले भगवान् व्यासदेव तथा अन्यान्य ऋषि महर्षियों ने भी मनुष्यों के परम कल्याणार्थ बारम्बार इसी क्रिया को परम साधन बताया है। आप ही इस क्रिया योग के आदि आचार्य हैं। आपने अपने पुत्र ब्रह्माजी के प्रति इस योग का वर्णन किया था। फिर ब्रह्माजीने इसका उपदेश अपने भृगु, शकर आदि पुत्रों को किया। शकरजी ने पार्वती के पूछने पर उन्हें सुनाया। भगवन्! और वैदिक कर्म काण्ड आदि के लिये तो नियम है, अमुक न पढ़े अमुक पढ़े, किन्तु इस क्रिया योग का तो सभी आश्रम के लोगों को अधिकार है। स्त्रियाँ तथा शूद्र भी इस योग का आचरण करके अपना कल्याण कर सकते हैं। मेरे मत में इस क्रिया योग से सभी को परम लाभ हो सकता है। हे नाथ! उसी कर्मयोग की मेरी सुनने की इच्छा है। हे कमल नयन! आप मुझे इसका उपदेश दें हे जगदीश्वर! आप मेरी इच्छा पूर्ण करें। हे स्वामिन्! मेरी विनती स्वीकार करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने इस प्रकार प्रभु से प्रार्थना की, तब भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है उद्धव!

अब मैं तुम्हें क्रिया योग का ही उपदेश दूँगा।" अब भगवान् ने जैसे क्रिया योग का उपदेश दिया। उसे मैं आगे आप से कहूँगा।

छप्पय

शरन हुतासन लेत शीत तम सब नसि जावैं।
त्यों सतनि संग पाप ताप तम सब नसि जावैं॥
सत् संगति फल समुझि ऐल नृप सुखी भयो अति।
करि उद्धव-सत्संग लगाओ मम चरननि मति॥
उद्धव बोले दयानिधि, क्रियायोग मोते कहैं।
कैसे तुमकूँ पूजि हम, नित पद पदमनि महँ रहैं॥

—:o:—

क्रियायोग का उपदेश

(१३१८)

न ह्यन्तोऽनन्त पारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २७ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

हरि बोले—यह क्रिया-योग है विस्तृत भारी।
अति सुगम तें कहूं सबनिको जो हितकारी॥
वैदिक, तान्त्रिक, उभय तीनि विधि पूजा मम प्रिय।
पचभूत, द्विज, अतिथि, मूर्तिमहँ अथवा निज हिय॥
करै नित्यकरमनि निबटि, प्रतिमा सुघर बनाइकें।
पत्र, पुष्प, फल नीर तें, मोमें चित्त लगाइकें॥

नित्य नियम से भगवान् की कथा सुनना, कीर्तन करना, सेवा पूजा करना, वैष्णवोचित तिलक आदि धारण करना सदा अमानी बने रहना, सबका मान करना, सब में भगवान् को देखना, जीव-

---

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव यह कर्मकाण्ड का विषय अनन्त है, इसका पार ही नहीं पाया जा सकता। इसलिये मैं पूर्वापर क्रम से संक्षेप में इसका वर्णन करता हूँ।"

मात्र पर दया करना, सभी कार्य भगवान के ही निमित्त करना, विषयवासनाओं से बचते रहना, समस्त कर्म केवल प्रभु प्रीत्यर्थ ही करना सदा सतो की सेवा करना, प्रभु प्रसादी पदार्थों को पाकर ही सन्तुष्ट रहना ये ही सब भगवद् भक्तों के लक्षण हैं। वैष्णव शास्त्रों में बार बार इन्हीं का वर्णन मिलता है। जिसने भी प्रश्न किये हैं इन्हीं से मिलते जुलते या ये ही प्रश्न किये हैं। इन सब मे प्रभु पूजा प्रधान है। इसलिये प्रभुपूजा पद्धति का प्रश्न कई बार हुआ है और जिससे जिसने प्रश्न किया है, उसने उसे नानाप्रकार से इसका उत्तर दिया है। भगवान् का पूजा के अनेक प्रकार हैं, जिसे जो अनुकूल पडे, जिसका जो अधिकारी हो उसके लिए वही उचित है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने भगवान् से क्रिया योग के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! इस कर्मकाण्ड का कहीं पार नहीं है। कर्मकाण्ड इतना विस्तृत है कि वेद, पुराण शास्त्र तथा समस्त स्मृतियो मे इसी का विस्तार है। सर्वत्र विधि निषेध का ही तो कथन है असख्यों तन्त्र हैं उन सब मे भी क्रिया योग का ही कथन है। कैसे पूजा करनी चाहिये, किसकी पूजा करनी चाहिये किन किन द्रव्यो से करनी चाहिये यही सबका प्रधान विषय है।

उद्धवजी ने पूछा—'भगवान! पूजा कै प्रकार की होती है?"

भगवान् ने कहा—"पूजा के अनन्त भेद हैं, किन्तु उन सब का तीन मे समावेश हो जाता है। वैदिकी पूजा, तान्त्रिकी पूजा और उभयात्मिका मिश्रित पूजा। जो वैदिक विधि से वेद मन्त्रों द्वारा पूजा की जाती है, वह वैदिकी पूजा कहलाती है। जो पौराणिक तथा अन्य तान्त्रिक विधि से उन्हीं के मन्त्रो से पूजा होती है वह तान्त्रिकी पूजा कहाती है, जो दोनो मिली जुली विधि से, वेद तन्त्र दोनों के ही मन्त्रो से पूजा होती है वह मिश्रित पूजा

कहलाती है। जिसे जो पूजा अनुकूल पड़े वही उसको करनी चाहिये। तन्त्र पुराण मन्त्रों से पूजा स्त्री शूद्र आदि भी कर सकते हैं। वैदिकी तथा मिश्रित पूजा में अधिकार द्विज मात्र का ही है।"

उद्धव जी ने कहा—"हाँ, भगवान् ! अब पूजा का प्रकार बतावें।"

भगवान् बोले—"देखो, जैसी पूजा करनी हो, पहिले उसका अधिकार प्राप्त करे। जैसे द्विज है, तो उसे शास्त्र विधि के अनुसार अपना यज्ञोपवीत संस्कार कराना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों का प्रथम जन्म तो माता के उदर से होता है और दूसरा जन्म यज्ञोपवीत संस्कार के समय होता है। तभी उनकी द्विज संज्ञा होती है। इस प्रकार उपनयन के द्वारा द्विजत्व प्राप्त करके वह तीनों प्रकार की पूजा का अधिकारी हो जाता है। फिर उसे अत्यंत श्रद्धा भक्ति के सहित मेरी पूजा करनी चाहिये।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन् ! आपका कोई एक निश्चित आकार तो है नहीं आप तो निर्गुण निराकार हैं साधक आपकी पूजा कहाँ पर करे।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! मैं तो सर्वव्यापक हूँ। मुझे साधक प्रेम से जहाँ भी जिस स्थान में भी पुकारता है, वहीं मैं प्रकट हो जाता हूँ। मेरे भक्त प्रह्लाद ने खंभे को दिखाकर कहा—इसमें मेरे भगवान् हैं; तो मैं तुरन्त खंभे से ही निकल पड़ा। इसलिये जहाँ पर, जिस वस्तु में अपना विश्वास जमे वहीं मेरी पूजा करनी चाहिये।"

उद्धव जी ने कहा—"फिर भी महाराज ! कुछ स्थानों का नाम निर्देश कर दें।"

भगवान् ने कहा—"मेरी प्रतिमा में पूजन करे प्रतिमा न

मिले पृथिवी में ही चबूतरा बनाकर वहीं पूजन कर ले, अग्नि में, सूर्य में, जल में, हृदय में, अतिथि तथा ब्राह्मण के शरीर में मेरी भावना करे उनकी श्रद्धाभक्ति पूर्वक पूजा करे। गुरुदेव को साक्षात परब्रह्म मानकर उनकी यथोचित् सामग्रियों से पूजा करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! पूजा के प्रथम कौन कौन कृत्य करना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! नित्य कर्म से निवृत्त होकर ही तो पूजा होती है। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठे। लघुशंका आदि करके हाथ पैर धोकर कुल्ला करे। फिर प्रातःकालीन मेरा स्मरण करे। शास्त्रोक्त विधिसे शौच जाय, हाथ पैर आदि में मिट्टी लगाकर शुद्ध हो, फिर शुद्ध वृक्ष की दातौन करे। फिर नदी तालाब अन्य जलाशय कूप अथवा घर में ही स्नान करे। स्नान से पूर्व स्नान करने के जो वैदिक तान्त्रिक मंत्र श्लोक हैं उनका उच्चारण करे। फिर मंत्र पढ़कर शरीर में मिट्टी लगावे। संकल्प पूर्वक स्नान करे। सन्ध्या वन्दन आदि जो वैदिक नित्य कर्म हैं, उन्हें प्रथम कर ले। सन्ध्या तर्पण आदि से निवृत्त होकर तब कर्मों को पावन तथा कल्याण कारक बनाने वाली प्रतिमा आदिमें मेरी पूजा करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! आपकी प्रतिमा किस वस्तु की बनी हो?"

भगवान् ने कहा—'मेरी एक प्रतिमा थोड़ी ही है। प्रतिमाओं के अनेक भेद हैं। उनमें आठ भेद मुख्य हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"आठ प्रकार की प्रतिमा कौन कौन सी होती हैं। कृपा करके प्रथम आठ प्रकार की प्रतिमाओं के ही भेद बतावें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मेरी आठ प्रकार की प्रतिमायें ये हैं—

१–पाषाण प्रतिमा—"पत्थर को काटकर या पत्थर मे ही मेरी प्रतिमा बना लेना यह पाषाणमयी शैली प्रतिमा कहाती है। पत्थर लाल, सफेद, काला अथवा संगमरमर कैसा भी हो, जिसे जैसे पत्थर की जैसी प्रतिमा अनुकूल पड़े वैसी प्रतिमा बनाने वाले से बनवा लेनी चाहिये। या बनी बनायी क्रय कर लेना चाहिये।

२—दारुमयी प्रतिमा—"चंदन, नीम तथा अन्य शास्त्रोक्त वृक्षो की लकडी से जो प्रतिमा बनायी जाती है यह दारुमयी कहाती है। जैसे मेरा जगन्नाथ जी का कलेवर है।

३–धातु प्रतिमा—"सुवर्ण, चाँदी, पीतल, लोहा अष्ट धातु अन्यान्य धातुओं से जो प्रतिमा बनायी जाती है। उसे लौही प्रतिमा कहते हैं। ये प्रतिमायें साँचों मे ढाली जाती हैं, या धातुओं के पत्रों पर खोद कर निर्माण की जाती हैं।

४—लेप्या—चंदन को घिसकर या अन्न आटे आदि के लेप से जो प्रतिमायें बनायी जाती हैं वे लेप्या कहाती हैं। ऐसी प्रतिमायें बहुत दिन नहीं चलतीं।

५–लेख्य—गेरू आदि रंगों से जो भीत आदि पर बनाया जाती हैं अथवा अनेक रंगोंसे भोजपत्र या कागदो पर लिखी जाती हैं वे सब चित्रित की हुई प्रतिमायें लेख्या कहलाती हैं। यदि कागदों पर लिखी हों तो उनकी रक्षा क लिये काँच आदि लगाया जाता है।

६–सैकती—मिट्टी की अथवा बालू की जो प्रतिमायें बनायी जाती हैं, वे सैकती कहलाती हैं। रामावतार में मैंने श्री रामेश्वर जी की बालुकामयी ही शिवजी की पिंडी स्थापित की थी।

७—मणिमयी—इन्द्रनील मणि अथवा अन्य मणियों का भी प्रतिमा बनायी जाती हैं जैसे चिदम्बरम में श्री शिवजी की मूर्ति।

८–मनोमयी—मन से मेरी अपनी इच्छानुसार मूर्ति की

कल्पना करके उसकी मानसिक ही पूजा की जाती है। इस भाँति आठ प्रकार की मेरी प्रतिमायें हैं। इनमें जब तक प्राण प्रतिष्ठा नहीं होता तब तक पूजा के योग्य नहीं होतीं।

उद्धवजी ने पूछा—"प्राण प्रतिष्ठा क्या भगवन्?"

भगवान् ने कहा—"जब ये मूर्ति बन जायँ, तब शास्त्रोक्त विधि से इनमें प्राण की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। यह कहे—"इस प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठित हों। यदि और कुछ न भी कर सके तो मेरे नामों को लेकर समस्त अङ्गों को स्पर्श करना चाहिये और यह भावना करनी चाहिये कि यह मूर्ति सजीव हो गयी है। शालग्राम शिला में प्राण प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता नहीं। वे तो सदा सजीव ही हैं। मैं ही वृन्दा के शाप से शालग्राम रूप में परिणत हो गया हूँ। प्राण प्रतिष्ठा होने पर ही मूर्ति स्थापित होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो क्या भगवान्! प्राण प्रतिष्ठा हो जाने पर प्रतिमा को वहाँ से कभी हटाना ही न चाहिये?"

भगवान् ने कहा—"प्रतिष्ठा दो प्रकार की होती है, एक चला प्रतिष्ठा दूसरी अचला प्रतिष्ठा। जिस प्रतिमा की चला प्रतिष्ठा होती है उसे तो चाहे जहाँ उठाकर ले जा सकते हैं, किन्तु जिसकी अचला प्रतिष्ठा है, वह तो एक स्थान पर ही स्थिर होकर रहता है। वह वहाँ से हटायी नहीं जा सकती। मेरे निवासस्थान रूप ये दोनों ही प्रकार की प्रतिमायें पूजनीय हैं। दोनों ही की पूजा पद्धति एक ही प्रकार की है। प्रथम आवाहन करे।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! चला-अचला दोनों प्रकार की प्रतिमाओं में आवाहन किया जाता है?"

भगवान ने कहा—"जो मेरी अचला मूर्ति है, उसमें न आवाहन किया जाता है न विसर्जन उसमें तो मेरा नित्य ही निवास है। जो प्राण प्रतिष्ठा की हुई चला प्रतिमायें हैं उनमें चाहे तो

आवाहन विसर्जन करे चाहे न करे। क्योंकि वे भी तो नित्य ही हैं। जैसे तत्काल पूजन के लिये बालुकाकी मृत्तिका का, गोबर की प्रतिमा बनाते हैं तो उनका आवाहन विसर्जन तो आवश्यक ही है। ऐसी प्रतिमायें तो पूजन करके विसर्जित कर दी जाती हैं। चित्र आदि में भी आवाहन विसर्जन पूजक की इच्छा पर निर्भर है। जितनी पूजन की सामग्री जुटा सके एक बार जुटाकर रखले।"

उद्धवजी ने पूछा—"समय पर किसी द्रव्याभाव से या अन्य किसी कारण से पूजा की कोई आवश्यक सामग्री न मिले तो?"

भगवान् ने कहा—"तो न सही, जो वस्तु न मिले उसके लिये दुःख न करना चाहिये। अरे भाई मुझे सामग्रियों की कमी थोड़े ही है। मैं तुम्हारे नैवेद्य आदि वस्तुओं का भूखा थोड़े ही हूँ, मैं तो भाव का भूखा हूं। जो मेरा सच्चा भक्त है और वह भक्तिभाव से केवल मुझे जल ही देता है; एक चुल्लू जल मुझे अमृत से भी बढ़कर प्रिय है। और जो मेरा भक्त नहीं है केवल लोक दिखावे को अपना वैभव प्रदर्शित करने को वह मेरी भाँति भाँति के बहुमूल्य वस्तुओं से पूजा करता है, तो वह सामग्री मुझे उतनी प्रिय नहीं जितना भक्त का दिया हुआ केवल जल प्रिय है। कोई चाहे बिना भावभक्ति के सुन्दर चंदन छिड़ककर चार धूप बत्ती जलाकर, दीप दिखाकर पुष्प, माला तथा नैवेद्य आदि चढ़ा कर मुझे वश में कर ले यह असम्भव है।"

उद्धवजी ने कहा—"प्रभो! अब पूजा की प्रक्रिया बतावें।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, तो स्नानादि से निवृत्त होकर पूजा करने बैठे। पूजा करने को सुन्दर कुशासन बिछावे। जिन कुशाओं के अग्र भाग पूर्व की ओर हों। उस पर मृगचर्म वस्त्र बिछाकर पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर बैठे मूर्ति अपने सम्मुख होनी चाहिये। मूर्ति के सम्मुख बैठने में दिशा का विचार नहीं

होता। जैसे स्थिर प्रतिमा का मुख उत्तर की ओर है तो उनके सम्मुख दक्षिण पड़ता है, वैसे दक्षिणाभिमुख दैव कर्म में बैठना प्रशस्त नहीं है, किन्तु मूर्ति के सम्मुख कोई दोष नहीं। पूजा की समग्र सामग्री सजाकर अपने दाय ओर किसी पीढ़ा आदि पर रख ले जिस मन्त्र से पूजन करना हो उससे प्रथम अपने शरीर में अङ्गन्यास करन्यास कर ले। जिस मन्त्र से पूजन करना हो उस मन्त्र के ऋषि का शिर में न्यास करे, छन्द का मुख में और देवता का हृदय में। जैसे गायत्री मन्त्र है। इसके ऋषि विश्वामित्र हैं, छन्द गायत्री ही है और देवता सूर्य हैं। तो इन्हें क्रमशः सिर, मुख और हृदय में न्यास करे। स्वयं अङ्गन्यास करन्यास करके मूर्ति में भी वैसे ही करे। क्योंकि स्वयं देवता होकर ही देवता का पूजन करना चाहिये। मन्त्रन्यास के अनन्तर प्रतिमा के आगे जो कल के पुष्प आदि रखे हों उन्हें हटाकर एक पात्र में रख दे। उनके सिंहासन आदिको स्वच्छ करे जिस कलश के जल से पूजा के लिये जल लेते हैं, उस कलश का तथा प्रोक्षिणीपात्र का यथावत् संस्कार करे। कलश का पूजन करे। फिर उस पूजा किये हुए जल को लेकर पूजा की समग्र सामग्री पर जल के छींटे दे। अपने शरीर का तथा पूजा स्थान का भी प्रोक्षण करे। अब तक ये सब पूजा की तैयारियाँ हुईं। अब पूजा आरम्भ करे। हाँ एक बात तो रह ही गयी। पञ्चपात्रों को यथा क्रम लगाकर उनमें जल भर रखे।"

उद्धवजी ने पूछा—"पञ्च पात्र किसे कहते हैं भगवान्?"

भगवान् ने कहा—"देखो, एक बड़े पात्र में पाँच कटोरियों को रखे। एक कटोरी बीच में रहे चार उसके इधर उधर जैसे चार दल का कमल। बीच की कटोरी कर्णिका के स्थान में रहे उसके चारों कोनों की चार कटोरी चार दल के सदृश। उन पाँचो पात्रों का ही नाम पञ्च पात्र है। एक चमची उसमें रख दे। पाँचों

पात्रों मे जल भर दें। पात्र या तो तावें के हो या सुवर्ण अथवा चाँदी के। उनमे केशर चंदन आदि डाल दे। बीच की कटोरी शुद्ध जल की। एक पाद्य की एक अर्घ्य की एक आचमनीय जल की और एक स्नानीय जल की। उन सब मे शास्त्र विहित वस्तुएँ डाल दे। जैसे पाद्य-पैर धोने के जल में समाँ, दुर्वा, विष्णु क्रान्ता तथा तुलसी दल और गंध आदि। अर्घ्य के पात्र मे गन्ध, पुष्प, अक्षत (विष्णु के लिये सफेद तिल या जल) सरसों, दुर्वा, कुश तथा दूध, दही भी डाल दे। आचमनीय जल मे लवग, जायफल, कर्पूर आदि सुगन्धित वस्तुएँ डाल दे। नहीं तो सब म तुलसीदल ही डाले। फिर त्रिपदा गायत्री के तीन पादों से-हृन्मन्त्र, शिरोमन्त्र और शिखामन्त्र से-क्रमशः पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय के पात्रों को अभिमन्त्रित करे और अन्त मे सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र से पाँचो पात्रो को अभिमन्त्रित करे। तदनतर कोष्ठ शुद्धि करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"कोष्ठशुद्धि किसे कहते हैं, भगवन्!"

भगवान् ने कहा—"प्राणवायु सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है उसी से जीवन है। जठर मे रहनेवाली अग्नि ही समस्त धातुओं को पकाती है। ऐसी भावना करे, कि यह सम्पूर्ण शरीर प्राणवायु और जठराग्नि द्वारा उसी प्रकार शुद्ध हो रहा है, जिस प्रकार अग्नि में तपाया जाने वाला सुवर्ण फूँकनी का वायु से तपकर शुद्ध और निर्मल बन जाता है। जब पिंड शुद्धि हो जाय तो हृदय मे स्थित अष्टदल कमल मे रहनेवाली मेरी उस परम सूक्ष्म और उत्तम जीवकला का ध्यान करे जिसका सिद्धगण नाद के अन्त मे भावना द्वारा ध्यान करते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"नाद के अन्त मे सिद्धगण किस जीव कला का ध्यान करते हैं प्रभो!"।

भगवान् ने कहा—"मैं वाच्य हूँ, प्रणव मेरा वाचक है। प्रणव की पाँच कलायें हैं। अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद। नाद के पश्चात् ही मैं परात्पर ब्रह्म हूँ अतः मेरा ही ध्यान करना चाहिये। मैं अन्तर्यामी रूप से घट घट में व्याप्त हूँ। जितने शरीर हैं, सब मेरे रहने के मन्दिर हैं। मैं आत्मभूत जीवकला के रूप में सब में प्रतिष्ठित हूँ, अतः सब प्रथम मानसिक उपचारों से पिंड में ही मेरी पूजा कर लेनी चाहिये। क्योंकि जो पिंडमें है वही ब्रह्माण्ड में है। जिसकी पिंड में मानसिक पूजा की जाती है उसी की प्रतिमा रूप से नाना सामग्रियों द्वारा बाह्य पूजा होती है। इसलिये भीतर मानसिक पूजा करके उनका ही प्रतिमायें आदि में आवाहन करके स्थापित करे। फिर मन्त्रों द्वारा यथा विधि अङ्गन्यास करके तब पूजा प्रारम्भ करे। आवाहन के अनन्तर आसन प्रदान करे। ऐसी भावना करे कि आसन अष्टदल कमल का बना हुआ है। उसके आठों दिशाओं के आठों दलों पर आठशक्ति हैं और बीच की कर्णिका पर नवमी शक्ति स्थित है। उन नव शक्तियों के आसन को मुझे बैठने को दे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! नव शक्तियाँ कौन कौन सी हैं?"

भगवान् ने कहा—"विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, इशाना और अनुग्रहा ये नव शक्तियाँ हैं। मेरे आसन पीठ की पर्यङ्क रूप में भावना करे। उस पर्यङ्कपीठ में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये तो चार पाये हैं। अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारों दिशाओं के डंडे हैं। पीठ में जो सहारा लेने को पृष्ठ भाग है उसमें सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इस दिव्य आसन की कल्पना करके उस पर मुझे बिठावे। तब पाद्यादि से पूजन आरम्भ करे।

पूजा के प्रथम यथास्थान मेरे अस्त्र आयुध और पार्षदों को स्थापित कर।

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज! आपके अस्त्र आयुध पार्षद कौन कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—"सुदर्शन चक्र, पाञ्च जन्य शङ्ख, कौमोदिकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मुसल, ये आठ आयुध हैं, इन्हें यथा स्थान स्थापित करे। फिर कौस्तुभमणि, वैजयन्ती माला, तथा श्रीवत्स का चिन्ह ये भी मेरे नित्य अङ्ग है। नन्द, सुनन्द, गरुड, चण्ड, प्रचण्ड, बल, महाबल, कुमुद, कुमुदेक्षण, दुर्गा, विनायक, व्यास, विष्वक्सेन, गुरुओं तथा देवताओं को भी यथा स्थान स्थापित करे। इनका भी प्रोक्षण करके पूजन करे। पहिले पार्षदों का पूजन करके तब मेरा पूजन करे। अथवा साङ्गाय सपरिवाराय कह कर साथ ही पूजन कर दे।

आवाहन आसन के अनन्तर पाद्य दे। अर्घ्य आचमन देकर स्नान करावे। यदि सामर्थ्य हो तो नित्य पञ्चामृत से स्नान करावे। चन्दन, उशीर, कर्पूर कुङ्कुम और अगुरु द्वारा सुगन्धित जल से स्नान करावे। अभिषेक के जो वैदिक मन्त्र हैं जैसे स्वर्ण धर्मानुवाक, महापुरुष विद्या, पुरुष सूक्त अथवा सामवेदोक्त राजनादि मन्त्र इनका पाठ करता हुआ मुझे स्नान करावे।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवान्! पाषाण तथा धातु आदि की प्रतिमा में तो स्नान कराना उचित ही है, किन्तु कोई प्रतिमा भीत पर लिखी जाय या कागद आदि पर बनायी जाय, और उसे स्नान कराया जाय, तब तो वह गल ही जायगी।"

भगवान् ने कहा—'देखो, स्नान तो पाषाण धातु आदि की ही प्रतिमा में होता है। जो भीत आदि पर लिखी हो, उसमें केवल छींटा दे दे। कागद आदि पर बनायी हो, तो गीले कपड़े से मार्जन कर दे। इसी प्रकार वस्त्र और अलंकारों के सम्बन्ध में

है। धातु पाषाण आदि की प्रतिमा में अलंकार धारण करावे वस्त्र पहिनावे, किन्तु जो चित्रपट है भीत आदि पर हैं उनको वस्त्रालंकार कैसे पहिनाये जा सकते हैं।" स्नान के अनन्तर मेरी प्रतिमा को यथोचित वस्त्र पहिनावे, अलंकार धारण करावे, चन्दन लगावे, पत्र, पुष्प आगे रखे, माला पहिनावे, इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओं को लगावे। इस प्रकार यथोचित रीति से मेरी प्रतिमा का सुन्दर शृंगार करे। इस प्रकार आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, आभूषण यज्ञोपवीत, चन्दन, पुष्प, माला, इत्र, धूप, दीप आदि से पूजा करके फिर नैवेद्य लगावे।"

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज ! नैवेद्य किस वस्तु का लगावे।"

भगवान् ने कहा—"अरे भाई ! नैवेद्य का कोई नियम थोड़े ही है। जैसी अपनी शक्ति सामर्थ्य हो। बहुत से चार बतासे ही नैवेद्य में रखते हैं। यदि सामर्थ्य हो सके तो सुन्दर से सुन्दर उत्तम से उत्तम स्वादिष्ट, मनोहर परमान्नों का भोग लगावे। गुड़ शर्करा की बनी नाना भाँति की मिठाइयाँ हैं, हैं, बादाम, पिस्ता तथा मेवा पड़ी हुई शुद्ध अधौटा दूध की खीर है, रबड़ी है, मोहन थार है, पपड़ी हैं, माल पुए हैं पूड़ी, पूआ, लुचई, मठरी, हलुआ, दही बड़े, श्री खण्डघृत की बने और भी अनेकों पदार्थ, लड्डू, पेड़ा, बरफी, जलेबी, दाल मोंठ, रायते, पापड़, गुझियाँ चटना, अचार, साग, दाल, भात, कढ़ी तथा और भी खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन सोंधे षड् रस युक्त छप्पन प्रकार के भोग नित्य लगावे। नित्य न लगा सके तो पर्वों पर छप्पन भोग अन्न कूट करे। उन पर्वों पर विशेष स्नान अभिषेक करावे, सुन्दर सुगन्धित तैल, उबटन दर्पण, दन्त धावन तथा विशेष फल, फूल तथा भोज्य पदार्थों को संग्रह करे। नृत्य कर-

वावें, भाँति भाँति के बाजे बजवावे, नाटक अभिनय करावे सारांश यह कि महाराजाओं का विभूति से मेरी अर्चा करे। महामहोत्सव मनावे। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में क्रिया बतायी, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! आपने पीछे कहा था कि मेरी पूजा जल में, थल में, अग्नि में, हृदय में, ब्राह्मण में तथा प्रतिमा मे करे। उनमें से आप ने प्रतिमा पूजन को विधि तो बतायी अब जल मे, स्थल में, अग्नि तथा हृदय आदि मे आपकी पूजा कैसे की जाय, कृपा करके इनकी विधि और बताइये।"

भगवान् ने कहा—"देखो भैया,! पूजन तो प्रायः सब मे एक सा ही होता है फिर भी अग्नि जल आदि में मेरी भावना से पूजन करने मे कुछ अन्तर हो जाता है। उसको भी मैं अत्यन्त संक्षेप में तुम्हे बताऊंगा।'

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् अग्नि आदि मे अपनी पूजा का प्रकार बतावेंगे उसे भी मैं आप से कहता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

जो मिलि जावे वस्तु अल्प वा बहु पूजन की।
साङ्ग सहित परिवार करै पूजा इन सब की॥
पाद्य अरघ इस्नान, धूप दीपादिक दै कें।
नानाविधि नैवेद्य धरै, अति हरषित ह्वै कें॥
दै मुखशुद्धी, प्रदच्छिन, समायाचना बहु करै।
भाग लोह निज शीश पै, चंदन चरनामृत धरै॥

———

अग्नि आदि में पूजन

(१३१९)

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥*

(श्री० भा० ११ स्क० २७ अ० ५८ श्लो०)

छप्पय

वेदी सुघर बनाइ अगिनिमहँ पूजै विधिवत ।
करि पुनि मेरो ध्यान समिध आहुति दे घृतयुत ॥
आज्यभाग आधार देहि शाकल्य आज्यमय ।
मूल मन्त्र पढ़ि देहि स्विष्टकृत् करै सदाशय ॥
रवि उपासना अरघ दै, जलमहँ जल तरपन करै ।
अतिथि विप्र नैवेद्य तैं, पूजै यों करमनि करै ॥

अग्नि में हवन करो, जल में तर्पण करो, अथवा विप्र के मुख में अन्न की आहुति दो, गौ को घास खिलाओ अथवा समस्त भूतों में भगवान् को समझकर सब का श्रद्धा भक्ति सहित आदर

* भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी कह रहे हैं—"उद्धव ! उपासना करने वाले को प्रतिमा, अग्नि, जल आदि में जहाँ जिस समय जिसमें श्रद्धा हो वहाँ उसी में उपासना करे, क्योंकि मैं तो सभी प्राणियों में तथा अपने स्वरूप में सर्वात्मभाव से अवस्थित हूँ ।"

सत्कार करो ये सब भगवान् की ही पूजायें हैं। सर्वव्यापक भगवान् को जहाँ जिस भावना से भजोगे—पूजोगे—तहाँ वे उसी भावना से प्रकट होकर पूजा ग्रहण करेंगे। वे सर्वात्मा सर्वेश्वर भाव से सन्तुष्ट होते हैं। जिसे जहाँ अनुकूल पड़े उसे वहीं पूजा करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवजी ने प्रतिमाओं के अतिरिक्त अन्य स्थानों की पूजा का प्रश्न किया तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! जैसे प्रतिमा में पूजन होता है, वैसे ही अग्नि में भी मेरा पूजन होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—'महाराज! अग्नि में आप का पूजन किस विधि से होता है?"

भगवान् ने कहा—"अग्नि में मेरी पूजा करने वाले साधक को चाहिये कि हवन करने की एक वेदी बनावे। वह वेदी मेखला और गर्त से युक्त हो। चाहे तो हवन कुन्ड खोदकर बनावे या वैसी ही वेदी बना ले। फिर उस वेदी पर अथवा कुण्ड में विधिवत अग्नि की स्थापना करे। तदन्तर उसे प्रज्वलित करे। या तो फूँकनी से फूँके या पंखा से जलावे अथवा ब्राह्मण हाथ में फूक लगाकर उसे फूँके। सीधी अग्नि में फूँक कभी भी न मारे। अग्नि के प्रज्वलित होने पर कुशकण्डिका करे। अर्थात् वेदी के चारों ओर कुशा बिछावे। कुशा बिछाते समय इतना ध्यान रखे कि कुशाओं का अग्रभाग दक्षिण की ओर न होने पावे। कुशाओं के बिछ जाने पर उनका प्रोक्षण करे। फिर समिधाओं का अन्वाधान (एकत्रित-करण) कर्म करके अग्नि के उत्तर भाग में हवनीय समस्त सामग्री को रखे। जितने पात्र हैं उन सबको धोकर स्वच्छ कर ले। फिर प्रोक्षिणी पात्र से होमोपयोगी समस्त सामग्री का प्रोक्षण करे। आचमन करे, प्राणायाम करे और अग्नि में मेरे चतुर्भुज रूप का ध्यान करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"ध्यान कैसे करें भगवन्।"

भगवान् ने कहा—"तप्त सुवर्ण के सदृश मेरा तेजोमय वर्ण है। चार विशाल भुजायें हैं, उनमे शख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं। मेरे सुन्दर सुकुमार शान्त शरीर पर कमल के शरके सदृश पीताम्बर शोभा पा रहा है, मनोहर दिव्य अङ्गो मे मणिमय दिव्य आभूषण हैं। यथा सिर पर किरीट, कानो मे कुडल, नाक मे नकवेसर, कठ मे हार तथा वनमाला करो मे कङ्कण, भुजाओं मे भुजबन्द, वक्ष.स्थल मे श्रीवत्स और कमनीय कान्तियुक्त कौस्तुभ मणि, कटि में करधनी तथा चरणो मे नूपुर शोभायमान हैं, ऐसे मेरे त्रैलोक्य मोहन रूप का ध्यान करे। फिर पूजा के बारह बारह अगुल की तीन समिधाओ को घृत मे डुबोकर आहुति दे। फिर प्रजापति और इन्द्र के लिये तथा अग्नि और सोम के लिये आधार और आज्य भाग नाम की दो दो घृत की आहुतियों को दे। तदनन्तर शाकल्य की आहुतियो को दे।"

उद्धवजी ने पूछा—"आहुति किस मन्त्र से दे भगवन्।"

भगवान् ने कहा—"जिसका जो मन्त्र हो उसी मूल मन्त्र से आहुति दे। अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर, गायत्री अथवा पुरुष सूक्त से स्वाहा अन्त में लगाकर हवन करे। फिर जैसा शास्त्रों मे बताया है पूजन क्रम से धर्मादि देवताओं के लिये भी उन उन मन्त्रा से आहुति दे। अन्त मे स्विष्टकृत् हवन करे। स्रुवा से घृत की आहुति देकर जो थोडा बचे उसे—"यह अमुक देवता का भाग है मेरा नहीं।" ऐसा कह कर जल पात्र मे छोडता जाय।"

इस प्रकार हवन करके पूर्णाहुति दे। पूजा और नमस्कार के अनन्तर नन्द सुनन्ददादि भगवत् पार्षदा को बलि प्रदान करे। तदनन्तर भगवान् का स्मरण करता हुआ मूल मन्त्र का कुछ काल

जप करे। भगवान् के पार्षदों में जो विश्वक्सेन जी हैं, वे भगवान् के प्रसाद को ही पाते हैं। अतः भगवान् के भोग को उसार कर आचमन कराकर—भगवत् प्रसाद को विष्वक्सेन जी को निवेदन करे। मुख शुद्धि के लिये ताम्बूल आदि देकर फिर आरती और पुष्पाञ्जलि करे। फिर मेरे नामों का गुणों का गान करे, मेरी कथा कहे सुने, मेरे चरित्रों का अभिनय करे। तदनन्तर सब पूजा पाठ नाच गान करके कुछ काल विश्राम करे।

सब प्रकार की पूजाओं में आरती, प्रदक्षिणा, पुष्पाञ्जलि, क्षमा प्रार्थना एक सी ही हैं। वेदों के मन्त्रों से पुराणों के मन्त्रों से अथवा प्राकृत भाषा के स्तोत्रों से मेरी स्तुति करे। सब साधारण में जो स्तुति, विनय पद प्रचलित है। भक्तगण जिन्हें भगवान् के सम्मुख गाते हैं पाठ करते हैं उनसे विनय करे और गद्गद् कंठ से कहे—'हे प्रभो! आप इस पामर प्राणी पर प्रसन्न हो जाइये। हे परमात्मन्! मेरे समस्त अपराधों को क्षमा कीजिये।" इस प्रकार विनती करके भूमि में लोटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे। अपने सिर को मेरे चरणों में रखे और दायें हाथ से मेरा दायाँ चरण और बायें हाथ से बायाँ चरण पकड़कर विनती करे—'हे प्रभो! मैं इस मृत्यु रूप ग्राह से युक्त संसार सागर से भयभीत हो रहा हूँ, हे शरणागत-वत्सल! मुझ शरणागत की आप रक्षा करें।"

इस प्रकार साष्टाङ्ग प्रणाम करके मेरा निर्माल्य नैवेद्य, चरणामृत ले। मेरी चढ़ी माला को श्रद्धा भक्ति पूर्वक मेरा प्रसाद मानकर मस्तक पर धारण करके पहिन ले। प्रसाद चरणामृत ले। यदि प्रतिमा विसर्जन की हो तो उत्तर पूजन करके उनसे कह दे—"हे सुर श्रेष्ठ! अब आप अपने स्थान जायँ मेरी इष्ट वस्तु तथा मनोकामना की पूर्ति करें और जब मैं फिर आवाहन

करूँ तब आप पुनः पधारें।' यदि विसर्जन न करना हो तो प्रणाम करके शयन करा दे।"

इस प्रकार अग्नि में आहुतियों द्वारा, सूर्य नारायण में अर्घ्य आदि से। जल में तर्पण आदि से तथा प्रतिमादि में सविधि पूजनादि से मेरी पूजा करे। उपासक की जिस समय जहाँ पर जैसी श्रद्धा हो, उस समय वहाँ पर वैसी ही पूजा करे। क्योंकि

मैं तो सदा सर्वदा सब में समान भाव से विराजमान हूँ। इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार वैदिकतान्त्रिक अथवा मिश्रित विधि से मेरा पूजन करके साधक लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। यह मैंने अत्यंत संक्षेप में प्रतिमादि के पूजन की विधि कही अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?'

उद्धवजी ने कहा—'महाराज! प्रतिमा को घर में ही स्थापित करके पूजा करे?'

भगवान ने कहा—"भैया, यह तो अपनी सामर्थ्य के ऊपर निर्भर है। जिसकी इतनी सामर्थ्य न हो, कि मेरा पृथक् मन्दिर बनवा सके, वह घर में ही एक पूजा स्थान बनाकर पूजा करे। जिसमें सामर्थ्य हो, वह मेरी जितने भी वैभव से पूजा कर सके करे। संसार की समस्त सामग्रियाँ तभी सार्थक समझी जाती हैं, जब वे मेरी सेवा पूजा के उपयोग में आवें। धन होने पर भी जो चित्त शाठ्य करता है, धन को मेरी सेवा पूजा में नहीं लगाता, वह कृपण है, उसका धन व्यर्थ है, वह उसे चोरी की वस्तु की भाँति विधवा के गर्भ की भाँति सदा छिपाये रहता है। इस पाप से वह नरकों में जाता है। अरे, धन को आज तक कौन संग ले गया है। जितना परमार्थ में लग जायगा उतना ही साथ जायगा। जितना यहाँ जमा होता जायगा उतना ही अनर्थ होता जायगा उतना ही अनर्थ करेगा, इसलिये अपने को केवल धन का सरक्षक समझे और उससे भगवान् की पूजा सम्बन्धी ही कार्य अत्यन्त उल्लास और प्रमोद के साथ करे।'

उद्धवजी ने पूछा—"धन होने पर क्या क्या करे महाराज?"

भगवान् ने कहा—"यदि भाग्यवश धन मिल जाय, तो उसे अपना न समझे। अपने को तो केवल उठाने धरने वाला लेखा लिखने वाला सेवक और लिखिया माने सुन्दर सुन्दर पाषाण मँगवाकर अत्यन्त दिव्य देवालय बनवाये। उसमें मनोहर चित्रकारी करावे। आसपास में सुन्दर पुष्पोद्यान लगवा दे। विद्यार्थियों के लिये पाठशाला खुलवा दे। मेरी नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकार की पूजा का यथोचित प्रबन्ध कर दे। नित्य भगवान् का दिव्य भोग लगे। साधु, महात्मा, अतिथि अभ्यागत, विद्यार्थी तथा कर्मचारी भगवान् का प्रसाद पावें। नित्य धूमधाम से आरती हो, विद्यार्थी गण वेदपाठ करें। बड़े बड़े उद्यान हों। उत्सव स्थान हों, उनमें सुन्दर फल पुष्पयुक्त वृक्ष हों। नाना

भाँति पुष्पों की बड़ी बड़ी नित्य मालायें बने। फल मेरे भोग के काम आवें। तुलसीजी का बहुत सा क्यारियाँ हों। नित्य चंदन, चरणामृत, तुलसी प्रसाद माला आदि बाँटा करें। नित्य की पूजा सविधि हो। नित्य की पूजा के अतिरिक्त नैमित्तिकी पूजा भी समय समय पर हुआ कर।"

"नैमित्तिकी पूजा क्या भगवन्?"—उद्धवजी ने पूछा।

भगवान् बोले—"विशेष पर्व और उत्सवों की पूजा को नैमित्तिकी पूजा कहते हैं। जैसे रामनवमी, जन्माष्टमी, नृसिंह चतुर्दशी, वामन द्वादशी, रथ यात्रा, दोलोत्सव, दीपावली, दशहरा तथा अन्यान्य विशेष पर्व। इन पर्वों पर विशेष धूम धाम के सहित पूजा करे। मेरी सवारी निकाले बाजे बजवावें, नृत्य, गीत, सकीर्तन, अभिनय तथा और भी आनन्दोल्लास के कार्य करे। मेरी सवारी को गाजे बाजे के सहित नगर में घुमावे। वसन्त आदि का उत्सव करे। झूलनों में झूला डाले दोलोत्सव में दोला बनावे। जयन्तियों में जयन्ती उत्सव मनावे। ऐसा प्रबन्ध कर दे कि ये उत्सव सदा चलते रहें।"

उद्धवजी ने पूछा—"सदा उत्सव चलते रहें, इसके लिये क्या करे?"

भगवान् ने कहा—"मेरी पूजा के लिये पृथक् निधि निकाल दे। राजद्वार में उसकी लिखा पढ़ी कर दे। कुछ गाँवों तथा नगरों को देवता के नाम लगा दे। उपजाऊ खेतों को बाग बगीचों को मन्दिर में लगा दे। उपजाऊ खेतों को बाग बगीचा को मन्दिर में लगा दे। बड़े बड़े नगरों में दुकानें हैं—जो किराये पर उठती हैं, उन दुकानों को मन्दिर में लगा दे। और भी जो नियमित आय के साधन हों उन्हें कर दे। जिससे मासिक, वार्षिक आय आती रहे। जो इस प्रकार इस लोक में मेरे नाम से ऐश्वर्य

लगा देते हैं उन्हें अन्त मे मेरे ही समान ऐश्वर्य प्राप्त होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—'किस पूजा के कृत्य से कौन सा ऐश्वर्य प्राप्त होता है ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे कोई पुराना मन्दिर है उसकी प्रतिमा खडित हो गयी है। अथवा कोई मन्दिर बनाकर छोड गया है प्रतिमा स्थापित नहीं कर गया है। ऐसे मन्दिरों में जो प्रतिमा प्रतिष्ठा कर देता है। वह इस कर्म के फल से स्वर्ग में जाता है और स्वर्ग के सुखों को भोगकर अन्त मे सार्वभौम राज्य को पाता है। कोई मन्दिर है, टूट गया है जीर्ण हो गया है उसे तीनों लोकों का आधिपत्य प्राप्त हो जाता है, वह स्वर्ग में जाकर देवताओं का राजा इन्द्र बन जाता है। कोई मन्दिर है उसमें मूर्ति भी स्थापित है। मन्दिर भी सुन्दर सुदृढ बना है, किन्तु वहाँ सेवा पूजा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं। उस मन्दिर मे जो द्रव्य लगा कर सेवा पूजा तथा नित्य नैमित्तिक उत्सवों का प्रबन्ध कर देता है, तो उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और जो स्वय ही मन्दिर बनवाता है, स्वय ही उसमें अत्यन्त श्रद्धा भक्ति के सहित प्रतिमा को प्रतिष्ठित करता है, स्वय ही उसकी सेवा पूजा का समुचित प्रबन्ध भी कर देता है, तो उसे इन तीनों परम पुण्य प्रद कर्मों के करने वाले के सम्बध में तो कहना ही क्या, वह तो मेरे समान ऐश्वर्य वाला हो जाता है। यदि बिना किसी कामना के निष्काम भक्तियोग से जो भक्त मेरी पूजा करता है, वह तो बिना किसी सदेह के मुझको प्राप्त कर लेता है। जो विधि पूर्वक भक्ति की इच्छा से पूजा करता है उसे मेरा भक्तियोग प्राप्त होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन ! जैसे कोई व्यक्ति है, वह तो अपने जीवन में आपके मन्दिर का पूजा के निमित्त आजीविका

लगा गया। खेत, बाग, बगीचा, ग्राम तथा अन्य दुकान आदि लिख गया। किन्तु उसके पश्चात् उसके पुत्र पौत्रों ने तथा अन्य उत्तराधिकारियों ने उन्हें छीन लिया। मन्दिर के कार्यों में व्यय न करके उसे अपने कार्य में व्यय करने लगे, तो लगाने वाले को तो कुछ दोष न होगा ?'

भगवान् ने कहा—"लगाने वाले को क्या दोष होगा। वह तो शुद्ध चित्त से दान कर ही चुका। हाँ, जो उस देवोत्तर सम्पत्ति को हरण करते हैं उनको अवश्य दोष होगा ?"

उद्धवजी ने पूछा—"उनको क्या दोष लगेगा ?'

भगवान् ने कहा—'अरे, भैया, उनके दोष को मत पूछो। ऐसे लोग लाखों वर्षों तक विष्ठा के कीड़े होते हैं। देवता अथवा ब्राह्मण को दी हुई वृत्ति को जो हरण करता है। वह वृत्ति चाहें स्वयं अपने आप ही उसने दी हो या उसके पूर्वजों ने, सम्बन्धियों ने अथवा किसी अन्य पुरुष ने दी हो, ऐसी वृत्ति को हरण करने वाले सभी रौरव नरकों में जाते है तथा विष्ठा के कीड़े होते हैं। इसलिये ब्राह्मण को दान की हुई वस्तु को तथा देवोत्तर सम्पत्ति को कभी भूलकर भी न लेना चाहिये। यही नहीं कि करने वाले को ही दोष लगता हो, जो उसमें सहायता देता है, अनुमोदन करता है तथा ऐसा करने को प्रेरित करता है सभी को दोष लगता है हरण करने वाला, सहायक, प्रेरक और अनुमोदक ये चारों के चारों समान पाप के अधिकारी होते हैं। इसी प्रकार जो इन पुण्य कार्यों को करते हैं, ऐसे कार्यों में यथाशक्ति तनमन धन से सहायता करते हैं, ऐसे काम करने वालों को प्रेरित करते हैं करने वालों के कामों का अनुमोदन करते हैं उन्हें उत्साहित करते हैं इन सबको समान पुण्य होता है। इसलिये सदा ऐसे कामों का अनुमोदन करते रहना चाहिये।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैंने पूजा विधि तो सुनी, अब

आप मुझे सारातिसार उपदेश करें। संसार में परमार्थ क्या वस्तु है। कैसे हम समझें कि यह परमार्थ पथ का पथिक है। इसने यथार्थ में परमार्थ को प्राप्त कर लिया है या नहीं।"

यह सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"उद्धव! तुमने यह बड़ा ही उत्तम प्रश्न किया। अब मैं तुम्हें सारातिसार परमार्थ तत्व बताता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् जैसे परमार्थ तत्व का निरूपण करेंगे उसे मैं आप सबसे कहूँगा।"

छप्पय

धन को सत उपयोग जिहो मम पूजा होवै।
धरमहीन धन जोरि व्यरथ नर आयुष खोवै॥
मन्दिर सुघर बनाइ भोग नित नव लगवावै।
बाँटे प्रभु परसाद स्वय बन्धुनि सँग पावै॥
खेत, नगर आजीविका, पूजा हित अरपन करै।
करि धन व्यय सेवा निमित, भवसागर नर ध्रुव तरै॥

श्री भागवत-दर्शन :-

भागवती कथा

(अट्ठावनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २. ० रुपया

प्रथम संस्करण] चैत्र सम्वत् २०११ वि० [मूल्य १) २

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग ।

विषय सूची

अ० संख्या	विषय	पृष्ठ स०
१३२०—	सारातिसार उपदेश ...	१
१३२१—	संसार की असारता ...	१०
१३२२—	साधनावस्था से सिद्धावस्था ...	२३
१३२३—	योग साधन के विघ्न और उनके उपाय	३९
१३२४—	उद्धवजी का भक्ति सम्बन्धी पुनः प्रश्न	४९
१३२५—	भागवत धर्म निरूपण	५६
१३२६—	उद्धवगीता का उपसंहार	६६
१३२७—	उद्धवजी की विदाई	७४
१३२८—	यदुवंश-विनाश की प्रस्तावना	८४
१३२९—	यदुवंश-विनाश	९१
१३३०—	भगवान् के स्वधाम पधारने का निमित्त	१०१
१३३१—	व्याध को सद्गति	११०
१३३२—	दारुक और भगवान् वासुदेव	११८
१३३३—	श्यामसुन्दर का स्वधाम गमन	१२३
१३३४—	यदुवंश विनाश का उपसंहार	१३१
१३३५—	कलियुग के राजाओं का वर्णन	१४१
१३३६—	शिशुनाग आदि राजागण	१६५
१३३७—	नन्द वंश विनाश	१७२
१३३८—	चन्द्रगुप्त मौर्य	१८०
१३३९—	वारिसार अशोक तथा अन्यान्य मौर्यवंशीय नृपतिगण	१९३
१३४०—	शुङ्ग कण्व तथा आन्ध्र जातीय नृपतिगण	१९८
१३४१—	आभीर तथा गर्दभी वंश	२०६

॥ श्री हरिः ॥

नमो गोभ्यः श्री मतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ।
नमो ब्रह्म सुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥

छप्पय

गैया मैया ! छिमा करो हम अति अपराधी ।
सुत कहायँ परि नहीं साधना तव हित शाधी ॥
सूखे तृन भुस खाइ दूध, दधि, घृत नित देवौ ।
बछरा बछिया देउ न बदले में कछु लेवौ ॥
फिर हू कटवावैं तुम्हें, कैसे हम सुख चाइंगे ।
माँ ! चाहे मरि जाइंगे, अब न तुम्हें कटवाइंगे ॥

भारतवासियों को विशेषकर आर्य सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं को गौरक्षा का महत्व समझाया जाय, इससे बढकर आश्चर्य, दुःख और हँसी की कौन सी बात होगी। गौ भक्ति हमारी नस-नस में भर दी गयी है। गीता, गंगा, गायत्री, गोविंद और गौयें हिन्दुओं के पंच-सर्वमान्य गकार हैं। उनमें से भले ही बहुत से हिन्दू गीता को भगवद्-वाक्य न मानते हों। भले ही बहुत से गायत्री मन्त्र की उपेक्षा करते हैं, ऐसे भी कुछ लोग हिन्दू-समाज में मिल सकते हैं, जिन्हें गंगाजी की पावनता में सन्देह हो। साकार गोविन्द के स्थान निराकार के उपासक तथा अनीश्वर नास्तिक भी मिल सकेंगे। इन विषयों में हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदायों में मतभेद भले ही हो, किन्तु गौ के सम्बंध में सभी एक मत हैं, गौ को सभी पूजनीया तथा अवध्या मानते हैं। फिर चाहे वे सनातनी हिन्दू हों अथवा आर्य समाजी, जैनी,

सिक्ख, बौद्ध या अन्यान्य सम्प्रदाया के। गौ सबकी दृष्टि में अवध्या है। ब्रह्मा के बौद्ध-भिक्षुओं ने आन्दोलन करके वहाँ से गो-वध बन्द करा दिया। गौ का एक ऐसा प्रश्न है, जिनमें किसी भी पन्थ, सम्प्रदाय या दल से हिन्दू को मतभेद नहीं। यह एक सर्वमान्य प्रश्न है, गौ-वध-बन्दी के प्रश्न पर हिन्दू मात्र एकमत हैं। आज नहीं बल्कि अनादि काल से गौ को हम माता के सदृश मानते आये हैं। उसे हमने पशु न मानकर अपने परिवार मे ही सम्मिलित कर लिया है।

हमारे यहाँ एकादश रुद्र, अष्टवसु और द्वादश आदित्य ये प्रधान देवता माने गये हैं। समस्त सृष्टि के मूलभूत ये ही हैं। महर्षियों से ही, मनुष्य, देवता, पितर, पशु, पक्षी, लता आदि की उत्पत्ति है। इन देवताओं से गौ का क्या सम्बन्ध है। वेद मे बताया है। गौ रुद्रों की तो माता है, वसुओं की पुत्री है और आदित्योंकी बहिन। ❀ गौ को वेदोंमें सर्वत्र अघ्न्या बताया है।❀ इसका अर्थ है, गौ किसी भी दशा में वध न की जाय। वेद-मन्त्रों की स्पष्ट आज्ञा है, गौ का वध मत करो।

कुछ लोग कहते हैं, वैदिक काल मे यज्ञों में गौ-मेध होता था, सम्भव है, कुछ आसुरी प्रकृति के लोग करने लगे हों, किन्तु वैदिक मन्त्रों में सूत्र ग्रन्थों में इसका कड़ा विरोध किया गया है। गौ के शरीर में तैंतीस कोटि देवताओं का निवास बताया है। गौ के वध से तैंतीस कोटि देवताओं का वध बताया है। पुराणों

❀ माता रुद्राणां दुहिता वसूना स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोच चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्टः॥
(अथर्ववेद)

❀ अघ्न्या यजमानस्य पशून् पाहि (यजुर्वेद)

❀ गोषु प्रतिमा न विद्यते।

में गौ की महिमा से आख्यायिकाएँ भरी पड़ी हैं। एक ऋषि जब मछलियों के जाल में आ गये और ऋषियों की आज्ञा से राजा नहुष के पास उन्हें बेचने ले गये, तो राजा ने अपना सर्वस्व राज-पाट देना स्वीकार किया, तो भी मुनि ने उसे अपना मूल्य नहीं माना। जब एक गौ उनके बदले में देनी चाही, तब मुनि सन्तुष्ट हुए और कहा—हाँ, हाँ, यह मेरा यथार्थ मूल्य है। इसी प्रकार कृष्ण-पत्नी रुक्मिणीजी ने एक बार श्री कृष्ण भगवानका तुला-दान करना चाहा, तो पलड़े पर सहस्रों मन मणि-मुक्ता, स्वर्ण आदि चढ़ा दिये; किन्तु श्रीकृष्ण का पलड़ा भूमि से उठा ही नहीं, किन्तु जब नारदजी के उपदेश से उन्होंने एक पलडे में गौ रख दी तब श्रीकृष्ण का पलड़ा ऊँचा उठ गया। इससे यही सिद्ध किया कि गौ भगवान् से बड़ी है। गौ की बराबरी की कोई वस्तु है ही नहीं।

पुराणों में इस सम्बन्ध की अनेकों कथाएँ हैं। महर्षि विश्वामित्र वशिष्ठ का युद्ध गौ को ही लेकर हुआ, परशुराम भगवान् ने एक गौ के अपमान के कारण इक्कीस बार आततायी क्षत्रियों का विनाश किया। जानकर गौ की हिंसा तो महा भारी अपराध माना ही है। अनजान में भी यदि गौ को काट दे, तो उसे भी कड़े से कड़ा दण्ड दिया जाता था। पुराणों में कथा है—चक्रवर्ती आदि राजा मनु के पुत्र पृषध्र की कथा पुराणों में बड़े विस्तार से आती है। पृषध्र को उनके कुल-गुरु वसिष्ठ ने अपनी गौओं की रक्षा का भार सौंपा। आदि राजा चक्रवर्ती का पुत्र हाथ मे धनुष-बाण लेकर सदा गौओं की रक्षा किया करता था। एक दिन रात्रि में गौओं के बीच में सिंह घुस आया। गौओं में जब भगदड़ मची, तब राजकुमार तुरन्त वहाँ हाथ में खड्ग लेकर पहुँचा। सिंह ने एक गौ को पकड़ लिया था। आकाश में मेघ छाया हुआ था, भयंकर अन्धकार था। राजकुमार ने सिंह पर प्रहार

किया, दैव-योग से राजा का खड्ग गौ के लग गया। सिंह का तो कान ही कटा, गौका सिर कट गया। सिंह तो भाग गया। पीछे जब राजकुमारने उजाला मेंदेखा, तो देखा गौ मर गयी है। उसने गुरुजी से निवेदन किया, गुरु ने उसे शाप दिया, यह तुमसे—अनजान मे ही सही—बडा भारी पाप हो गया। इससे तू अधम क्षत्रिय ही रहेगा, शूद्र हो जायगा।*

पहिले क्षत्रियों से कोई बडा अपराध हो जाता था, तो उसे क्षत्र-बन्धु अर्थात् अधम क्षत्रिय—कर देते थे, किन्तु अनजान में गौ-हत्या के अपराध पर उसे क्षत्रित्व से गिरा दिया। इसी से आप अनुमान कर सकते हैं कि प्राचीन काल में गौके प्रति समाज में कितना आदर था और उसके वध करने वालों को कितना भारी दण्ड दिया जाता था। चक्रवर्ती का पुत्र, प्रथम तो उसे गौ की सेवा मे लगाया, हवन करते हाथ जले, गौ की रक्षा मे भूल से गौ-वध हो गया, अपने कुलाचार्य द्वारा ही उसे कितना भारी दण्ड दिया गया। किन्तु धर्म में बहाना नहीं चल सकता, धर्मका पालन ऐसे ही होता है। उसमे शील-संकोच से काम चलता नहीं। अब तक नैपाल राज्य में गौ-वध करने वाले को आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता है, उसे एक लोहे का गोला सदा कण्ठ में डाले रहना पडता है। भारत में जो अभी ५००-६०० राज्य विलीन हुए हैं, सभी मे राज्य नियम से गो वध बन्द था। भारतीय शासन में गो-वध हो, इसकी तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। गो-वध तो दूर रहा, यदि मरते समय गौ के गले में रस्सी भी भूल से बँधी रह जाती थी, तो उस आदमी

---

* तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः।
न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वम् कर्मणा भवितासुना॥
(श्री भा० ९ स्क० २ अ० ९ श्लो०)

को अभी तक सामाजिक दण्ड दिया जाता था। हमारे बालकपन में मुँह ढके बहुत से कलंकी आया करते थे। गाँव के बाहर वे चिल्लाते थे—गाँव के बाहर कलंकी खड़ा है कोई भीख डाल जाय। हम बालक लोग दौड़कर जाते, उसे आटा देते, उसके पात्र में पानी देते, वह किसी को अपना मुख भी नहीं दिखाता था, मुख बन्द किये ही सब लेता था। हम पूछते थे तुम्हें कैसे कलंक लगा—तो वह कहता था, खेत पर बछिया को भगा रहा था, उसमें डंडा लग गया, कई दिन बाद मर गयी। पंचों ने मुझे दण्ड दिया ५० गाँवों मे भीख माँगता हुआ गंगा स्नान करे। वह अपनी लाठी में गौ की पूँछ को बाँधे रहता था।

अब भी प्रयाग में कभी-कभी ऐसे कलंकी देखने को मिलते हैं, किन्तु देशी पंचायत परम्परा नष्ट हो जाने से यह प्रथा नष्ट हो गयी। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जान में, अनजान में, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष कैसे भी गौ-वध हो जाय, तो समाज उसे क्षमा नहीं करता था, कड़े-से-कड़ा कठोर दण्ड देता था। अपना घर-द्वार, राज-परिवार भले ही चला जाय, प्राणों की बाजी भले ही लगानी पड़े, किन्तु अपने द्वारा गौ का रक्त भूमि पर न गिरने पावे।

फर्रुखाबाद जिले मे गंगा तट पर शमसाबाद नामक एक गाँव है। जिन दिनों मैं गंगा किनारे-किनारे भ्रमण करता था, उन दिनों मैंने वहाँ एक गंगाजी के तट पर ही फूटा हुआ एक बड़ा भारी किला देखा, पूछने पर पता चला कि यहाँ पहिले एक क्षत्रिय राजा था, मुसलमान उसे नहीं जीत सके तो हजारों गौओं के झुण्डों को आगे करके वे राजा से लड़ने लगे। क्षत्रिय वीरों ने यह उचित नहीं समझा कि हमारे बाणों से गौओं का एक बूँद भी रक्त भूमि पर गिरे, राजा सुरंग के मार्ग से भाग कर नैपाल चले गये। सुनते हैं उनके वंशधर अब भी नैपाल राज्य में हैं। उन्होंने

राज-पाट, घर-द्वार कुटुम्ब-परिवार को त्यागना तो स्वीकार किया, किन्तु गौओं पर भूल से भी प्रहार करना स्वीकार नहीं किया।

राजपूता में देवी राणसती की एक बडी भारी जात लगती है। उसकी कथा ऐसे बतायी जाती है—एक राजकुमार घोडे पर चढकर कहीं जा रहा था। बीच में पानी पीने को एक तालाब पर उतरा, वहाँ उसने एक गो को खडे देखा। गौ के पैर से एक काला भुजग लपटा हुआ था। क्षत्रिय वार भला अपने सामने गौ क प्राण कैसे जाने दे। राजकुमार पानी पीना तो भूल गया, अब उसे चिन्ता हुई इस गौ को मैं कैसे बचाऊँ। उसने सोचा—मैं खडग मारता हूँ, तो सर्प तो कट जायगा, सम्भव है उसका विष गौ के अग में लग जाय, या मेरे खड्ग से ही गौ का रक्त भूमि पर गिर जाय, तो मैं गौ का रक्त बहाकर अपने कुल को कलकित नहीं कर सकता। गौ के प्राण बचाना भी आवश्यक है। यहा साचकर उसने धीरे से जाकर बल पूर्वक भुजग का फन पकड कर उसे एक झपट्टा दिया। गौ ता बचकर भाग गयी, किन्तु सप ने राजकुमार को काट लिया और वह वहीं तालाब पर मर कर गिर गया। नगर में हल्ला मच गया।

जब रानी ने सुना मेरे पति ने गौ की रक्षा में अपने प्राण गवाँय हैं, तो उसे सुनकर अपार आनन्द हुआ। उसने सोलह शृगार किये, पालकी में बैठकर पति के शव के समीप आयी। पति के शव को परिक्रमा की, उसे गोद में लेकर हँसते हँसते वह वहीं सती हो गयी। अब तक झुनझुनू राजस्थान में वह सती का चबूतरा बना है, प्रति वर्ष जात लगती है, लाखों आदमी आते हैं।

मुसलमानों ने गौ माँस खानेके लिये गौ वध आरम्भ किया।

अच्छे सम्पन्न मुसलमान तो अब भी गोमॉस नहीं खाते। जो निर्धन हैं या असमर्थ हैं वे ही खाते हैं। पीछे कुछ लोग ईद बकरीद पर गौ का बलिदान करने लगे। वह भी हिन्दुओं को चिढाने के लिये, मुसलमानो के धर्म मे गौ का बलिदान (कुर्बानी) आवश्यक नहीं। यदि मुसलमान धर्म में गौ की कुर्बानी आवश्यक ही होती तो अनेकों कट्टर मुसलमान बादशाह राजाज्ञा निकालकर गो वध बन्द क्यों करते? हुमायूँ, अकबर, शेरशाह, बहादुर शाह तथा और भी कई मुसलमान बादशाहो के राज्य मे कानून से सर्वथा गो वध बन्द था। यहाँ तक कि जो औरगजेब मूर्तियो का विध्वसक समझा जाता था और हिन्दू धर्म का शत्रु, उसके राज्य मे भी खुलकर गोवध नहीं होता था।

मुसलमानों के पश्चात् मराठों का साम्राज्य देश मे हुआ। वह चाहे थोडे ही दिन को हुआ, किन्तु सम्पूर्ण देश में उनका प्रभाव फैल गया। उनके साम्राज्य का तो मुख्य उद्देश्य ही गौओं की रक्षा का था। छत्रपति शिवाजी ने तो बाल्यकाल मे ही वधिक से गो छुडाकर उसका वध कर दिया था। उनके राज्य में कहीं भी गो वध नहीं होता था। इधर पजाब में सिखों का साम्राज्य हुआ। सिक्खो का तो नारा ही गौ माता की रक्षा था। अन्तिम सिक्ख राजा महाराजा रणजीत सिंह के राज्य मे गो हत्यारे को कडा से कडा दण्ड दिया जाता था। यही नहीं वे तो गौ मास खानेवाली फौज को भी अपने प्रदेश में पैर नहीं रखने देते थे। अगरेजों से उन्होंने लिखित प्रतिज्ञा करा ली थी कि उनकी फौजें कभी उनके किसी प्रदेश से निकलें तो वे गौ वध न करें। यही प्रतिज्ञा उन्होंने अपने निकटवर्ती अफगानिस्तान आदि के मुसलमानी बादशाहों से भी करा ली थी। महाराज रणजीत सिंहजी के स्वर्गवासी होने पर उनके पुत्र महाराज दिलीप सिंह हुए तो उन्हें अगरेजों ने अपने चंगुल में कैसे

फँसाया, कैसे उन्हें धर्म भ्रष्ट बनाया, कैसे पंजाब को अँगरेजी राज्य में मिलाया, यह एक बड़ी ही दुखद और षडयन्त्रमयी कहानी है। पीछे अँगरेजों ने किस युक्ति से वहाँ कसाईखाने खुलवाये, कैसे वहाँ मॉस की दुकानें बनीं यह एक रोमांचकारी वृत्त है, किन्तु इस पर भी वीर सिक्खों ने स्वेच्छा से वहाँ कसाईखाने नहीं बनने दिये। नामधारी सिक्खों ने इसके लिये कैसे कैसे बलिदान किये यह रोमांचकारी इतिहास है। हँसते हँसते नामधारी सिक्ख गौ रक्षा के लिये अपने आप फाँसी के तख्तों पर लटक गये, तोपों के सामने स्वयं ही उडने के लिये आ गये। अंगरेज जब सिक्खों को तोपों से उड़ा रहे थे, तो एक वीर बालक सम्मुख आया और बोला मुझे भी तोप से उड़ाओ।

अँगरेजों ने कहा—तू छोटा है, तोप के मुख के सामने नहीं आ सकता चला जा। यह सुनकर वह बहुत से ईंटें ले आया और उनका एक चबूतरा बनाकर उस पर खड़ा होकर बोला—"लो, अब तो मैं ऊँचा हो गया।" तुरन्त ही गोला छोड़ा गया और वह उड़ा दिया गया। अमृतसर में घण्टा घर के सामने बने नये कसाई खाने को नष्ट करने और गौओं को भगा देने के अपराध में जब निहंगों (अकालियों) को मृत्यु दण्ड दिया गया, तब नामधारी सिक्खों ने अपने सद्गुरु भैणी साहब से कहा कि अकालियों ने नहीं हमने कसाईखाने को विध्वंस किया है।" तब सद्गुरु ने कहा—तुम अपना अपराध स्वीकार करके निरपराध अकालियों को बचाओ। सद्गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके वीर नामधारी सिक्ख गये। अपराध स्वीकार कर लेने पर लाहिड़ा सिंह, फते सिंह, हाकिम सिंह और बीहाला सिंह इन चार को फाँसी—३ को कालापानी का दण्ड हुआ। उनकी फाँसी का वृत्तान्त बड़ा ही रोमांचकारी है, वे ढोलक करताल बजाते कीर्तन करते, सद्गुरु की जय बोलते स्वयं ही फाँसी पर चढ़ने गये। उन्होंने

कहा—हमें ताँत की रस्सी से फाँसी न दी जाय, हम 'स्वयं फाँसी की रस्सी अपने गले में बाँधेंगे। अधिकारियों ने उनकी बात स्वीकार की, वे हँसते-हँसते गौ माता की जय बोलते हुए फाँसी के तख्ते पर चढ़ गये।

हाकम सिंहकी माता आई और स्वयं उन चारों के मृत शरीर को ले गयी। अमृतसर के पवित्र जल में स्नान कराके गुरुबानी का गान करते करते हँसते हँसते उसने अपने हृदय के टुकड़े को जलाया। माँ तुम धन्य हो। जननी! पुत्रवती होने का फल तुमने ही पाया। जिसका पुत्र गौ की रक्षा में प्राण उत्सर्ग करे यथार्थ मे माता तो वही है। गौ तो जगत की माता है वसुओं की जननी है। ऐसी गौ की रक्षा के लिये इस भारत में असंख्यों बलिदान हुए हैं असंख्यों होंगे। जीवन की सार्थकता तो इसी में है नहीं तो असंख्यों सूकर कूकर कौए विष्ठा खाकर अनेकों वर्ष जीते रहते हैं गौ माता की रक्षा के लिए जो मरते हैं वे ही वास्तविक जीते हैं। जो गौ को कटते हुए देखकर भी मौन हो जाते हैं, उपेक्षा कर जाते हैं, पैसों के लोभ से भयभीत हो जाते हैं, वे तो जीते हुए भी मरे हैं। आज नामधारी सिक्खों में जो भी कुछ आचार, विचार, उत्साह भाव तथा जीवन है वह उन्हीं गौरक्षक वीरों के बलिदान के ही कारण है।

जब यहाँ विदेशी विधर्मी शासन के कारण गो वध होता ही रहा तो माँस के साथ चमड़े का भी उपयोग होने लगा और उससे लाभ होने लगा। इस प्रकार अँगरेजी राज्य में गोवध एक व्यवसाय बन गया। विज्ञान ने जहाँ उपयोगी नये नये आविष्कार किये वहाँ उसने वध के भी अनेक उपाय निकाले। गौ की प्रत्येक वस्तु पर खोज आरम्भ की। अब तो गौ की सभी वस्तुएँ उन्हें उपयोगी प्रतीत हुई। गौ का रक्त, गौ की आँतें, गौ की जिह्वा, गौ की हड्डी, गौ के सींग, गौ के खुर, जीवित गौ का माँस, चर्म

बाल, सुई लगाने को थन, यहाँ तक कि कोई गौ की कोई भी वस्तु अनुपयोगी नहीं सिद्ध हुई। जीवित गौ मरी लगभग २००) रुपये के मूल्य की सिद्ध हुई। इसलिये गौ वध अब एक बडा भारी व्यापार हो गया। इस समय अँगरेजी काल से भी बहुत अधिक मात्रा में गो वध होता है। जीवित बछडों की खाल गोसल्ले की विदेशों में बहुत माँग है। हमारे यहाँ से निरीह असहाय बछडे मारकर जीवितावस्था म ही उनका सुकोमल चर्म उधेडकर विदेशों मे भेजा जाता है, उनके सुकोमल जूते, बैग आदि लेकर हम गौरव अनुभव करते हैं, यह हमारी कैसी विवशता है, कैसी पराधीनता है। हाय! भारत में भारतीय शासन हो और गो वश का ह्रास हो इससे बढकर लज्जा की बात और क्या होगी। आप सरकारी आँकडों से अनुमान कर सकते हैं कि अँगरेजी काल में—जब हिन्दुस्तान पाकिस्तान एक थे—तब से और अब जब भारत में भारतीय शासन है, स्वराज्य है, उसमें कितना अधिक गोवध बढ गया है। जिस स्वराज्य में गो वध ही बढा हो उस स्वराज्य का लेकर हम क्या करेंगे। जिस राज्य में गौ रक्षा के विघातक तत्व गोवश के नष्ट करने की वस्तुओं का प्रचार हो उस स्वराज्य से भारतीयों को क्या लाभ। गौ का उपयोग हम दूध, दही, घृत के लिये करते हैं, उसके बछड़ों से खेती कराते हैं, उसकी खाद से अन्नोत्पादन की वृद्धि करते हैं। मक्खन निकले अनुपयोगी, रोगों को बढाने वाला, शक्ति को क्षीण करने वाला—दूध का सूखा चूर्ण हम हालैंड तथा दूसरे देशों से मँगाते हैं। सुनते हैं मूँगफली का कृत्रिम दूध दही भी बनने वाला है। तेल को जमाकर उसमें मछली आदि का तेल मिलाकर घृत के नाम से वनस्पति आदि विविध नामों से कृत्रिम घृत को प्रोत्साहन देते हैं। बैलों को अनुपयोगी बनाने को करोडों रुपये के विदेशों से टैक्टर मँगाये जाते हैं, गौ के शुद्ध खाद के स्थान पर विदेश से वैज्ञानिक खाद

मँगायी गई, ये सभी तत्व गौ रक्षा के स्वार्थी विरोधी हैं। यदि सरकार ने गोवध पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया, इन गो विरोधी तत्वों की रोकथाम नहीं की तो देश में गौओं के दर्शन दुर्लभ हो जायँगे।

अँगरेजी राज्यकाल में गो वध पर प्रतिबन्ध लगे, इसके लिए प्रत्येक भारतीय नेता ने यथाशक्ति प्रयत्न किये। कॉंग्रेस के सभी नेता एक स्वर से गोवध पर प्रतिबंध लगे इसके पक्षपाती थे, महात्मा गाँधीने तो गोरक्षा पर अनेकों लेख लिखे। अपने आश्रम में गो सेवासदन खोले, गो रक्षिणी सभायें बनाई, इस समय सभी को सोलहों आने यह विश्वास था कि जिस दिन स्वराज्य हो जायगा उसी दिन भारत मे सदा के लिये गो वध बन्द हो जायगा। गो रक्षा के लिये आंदोलन हुए। श्री करपात्री जी के नेतृत्व मे कितने ही लोग जेल गये, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा दो करोड के करीब हस्ताक्षर सरकार को भेजे गये, आर्य समाज ने आन्दोलन किया किन्तु गो हत्या बन्द नहीं हुई।

स्वराज्य होने के पश्चात् गो-रक्षा एक गम्भीर प्रश्न बन गया। स्वराज्य की घोषणा के साथ गो रक्षा की घोषणा जब नहीं हुई, तब लोगों ने आन्दोलन आरम्भ किया। सरकारकी ओर से गो-रक्षा-उन्नति-कमेटी बनी, उसने सर्वथा गो हत्या बन्दी के सिद्धात को स्वीकार किया। भारत के संविधान में भी सर्व सम्मति से गो-रक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार किया। धारा ४८ में स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया गया है। इन बातों से हमें ऐसा भान हुआ कि सरकार शनैः शनैः गो-वध बन्द कर देगी।

किन्तु जब केन्द्र से प्रान्तीय सरकार के पास परिपत्र भेजा गया कि ४८ धारा का अर्थ सर्वथा गो-वध बन्द करना नहीं है। उसका अभिप्राय उपयोगी पशुओं के वध बन्द करने से है, अतः

सर्वथा गो-वध बन्द किया जाय, जहाँ ऐसा नियम बना लिया हो वहाँ उस पर पुनर्विचार हो।

तब हमने समझा सरकारकी इच्छा सर्वथा गो-वध बन्द करने की नहीं है। फिर तो कृषि-मन्त्रियों के सम्मेलन में हमारे देश के प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट ही कह दिया कि अनुपयोगी पशुओं का वध तो होता ही रहेगा, पशुओं को पूज्य मानने की अन्ध-परम्परा तो मिटानी होगी। तब हमने समझा हमारी देशी सरकार तो विदेशियों से भी बढ़-चढ़कर है, तब हमने जनमत जाग्रत करने का विचार किया। हमारे देश में सबसे अधिक उत्तरदायी प्रधान मन्त्री ही माने जाते हैं, वे ही कांग्रेस दल के अध्यक्ष भी हैं, जिस दल का शासन मे बहुमत है, वे ही अनुपयोगी गौओं के सबसे अधिक वध के पक्षपाती भी प्रतीत होते हैं, इसलिये जिस क्षेत्र से वे चुने गये हैं, उस क्षेत्र के मतदाताओं का क्या मत है, इसके लिये राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा अन्यान्य लोगों ने नेहरूजी के चुनाव क्षेत्र में गो-वध-बन्दी के पक्ष में मत-संग्रह किये। नेहरूजी को उस क्षेत्र से २३३५७१ मत मिले थे, हमने अल्पकाल में ३२४८४२२ मत तो एकत्रित किये और भी प्रयत्न करते, तो पूरे-के-पूरे मत हमें निश्चय ही प्राप्त होते, किन्तु श्रम-साध्य अर्थ-साध्य और काल-साध्य होने से हमने अभी अधिक मत-संग्रह स्थगित कर दिया है। यदि हमें कोई चुनौती दे, तो हम आत्म-विश्वास के साथ कह सकते हैं कि मुट्ठी-भर कांग्रेसी कार्यकर्ता तथा कुछ विधर्मियों को छोड़कर सब-के-सब गौ-माता की रक्षा के पक्ष में ही मत देंगे।

यदि कोई जनतन्त्रीय सरकार होती, तो उसे तुरन्त जनमत के सम्मुख नत-मस्तक हो जाना था, किन्तु हमारी सरकार तो केवल नाममात्रकी ही प्रजातन्त्रीय है, उसके सूत्रधारके मस्तिष्क में जो भी बात बैठ जाय, फिर चाहे वह भारतीय परम्परा, भारतीय धर्म,

भारतीय संस्कृति के विरुद्ध ही क्यों न हो, उसे वह बलपूर्वक सबके सिर पर थोपना चाहते हैं।

तीर्थराज प्रयाग में महाकुम्भ के पवित्र अवसर पर गौ-रक्षा के पक्षपाती सभी दलों तथा सज्जनों ने मिलकर एक, "गौ-हत्या निरोध-समिति" बनायी, उसकी ओर से सम्पूर्ण कुम्भ मेले में गौ रक्षा प्रचार किया गया, साहित्य वितरित हुआ, गो-प्रदर्शिनी हुई, गौ-माता के लिये लाखों नर-नारियों ने उपवास किया, साधुओं की शाही के साथ सजी-सजायी गौएँ निकाली गयीं, शोभा यात्रा निकाली, स्थान-स्थान पर गौ-रक्षा-सम्मेलन हुए तथा और भी गौ-माता की रक्षा के विभिन्न कार्य हुए। कहना चाहिये सम्पूर्ण कुम्भ मेला गो-रक्षा-आन्दोलन के ही रूप में परिणत हो गया है। उसी सम्मेलन में यह भी निश्चय हुआ कि सरकार ने यदि आगामी जन्माष्टमी तक गो-वध बन्द न किया, तो प्रबल आन्दोलन करके कोई उग्र उपाय किया जाय। भगवान् करें हमें अपनी ही सरकार के—जिसे हमने अपने रक्त से सींचा है—जिसके लिये हमने जेलों की यातनाएँ झेली हैं, उसके विरुद्ध हमें उग्र उपाय न करना पड़े। पर यदि हमें विवश होना पड़ा, तो हम इसके लिये भी न चूकेंगे। इसलिये हमें अभी से जनमत तैयार करके जन-जागृति का काम करना चाहिये। इतने काम हमें करने हैं :—

(१) स्थान-स्थान पर-गौ हत्या-निरोध-समितियों की स्थापना करें।
(२) गौ-माता के लिये प्राण देने के लिये गौ-सेवकों से प्रतिज्ञा-पत्र भरावें।
(३) जो प्राण न दे सकते हो, वे साधारण-सेवकों के नियमों के प्रतिज्ञा-पत्र को भरकर साधारण सेवक बनें।
(४) गो-सेवा सम्बन्धी साहित्य-प्रचार, सभा, प्रभात-फेरी, शोभा-यात्रा आदि में सक्रिय भाग लें।

प्राणों को दे दें, तो वे इन पापों से छूट जाते हैं। जिनसे कोई पाप न बना हो, ऐसा यदि निष्पाप एक भी प्राणी स्वेच्छा से प्राण दे दे, तो उसके पुण्य-प्रताप से गो-वध तो बन्द हो ही जायगा, उसका यश दिगदिगन्तों में फैल जायगा। यदि पापी भी गौ के निमित्त प्राण दे दे, तो वह पाप से मुक्त होकर विशुद्ध बन जायगा। मैं भी प्रायश्चित करना चाहता हूँ। गो-माता के नाम पर अपने प्राणों का उत्सर्ग करने की शक्ति के लिये भगवान् के द्वार का भिक्षुक हूँ, वह कब और कैसे मिले इसे भगवान् ही जानें।

उन पापहारी जगत् पिता परमात्मा के पाद-पद्मों में मेरी पुनः पुनः प्रार्थना है कि वह हमें बलिदान की शक्ति प्रदान करें, जिससे हम गौ-माता के लिये बिना भय के हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग कर सकें। मैं निष्पाप निष्कलंक तो हूँ नहीं, मैं नेता बनने योग्य भी नहीं, विद्या-बुद्धि, तपस्या तथा सिद्धि का भी मुझमें अभाव है, गौ-रक्षा के लिये कुछ भावना अवश्य है, उस भावना में यदि कुछ बल है, तो मैं इस बलिदान-यज्ञ में अपने देश के नवयुवकों को आह्वान करता हूँ और उनसे बल पूर्वक कहता हूँ युवको! अब देश स्वतन्त्र है, अब तो भारत से गोवध बन्द होना ही चाहिये अब तो गो-हत्या का कलंक भारतमाता के भाल से मिटाना ही चाहिये। वीरो! आओ प्राणों का उत्सर्ग कर दो, गौ-माता के प्राणों को बचा लो।

छप्पय

वीरो! वीरो!! उठो! उठो!! अब देर न लाओ।
गो-माता डकराइ ताइ अब आइ बचाओ॥
चलीं बहुत दिन छुरी गले पै अब न चलिहैं॥
मिलीं बहुत धिक्कार जगतमें अब न मिलिहैं॥
माँ के हित मिट जायेंगे, गो-वध बन्द कराइंगे।
पीछे पग न हटाइंगे, गो-रक्षक कहलाइंगे॥

सारातिसार उपदेश

(१३२०)

परस्वभाव कर्माणि न प्रशसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मक पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० १ श्लो०).

छप्पय

उद्धव बोले—"प्रभा ! करें परमार्थ निरूपन ।
हरि बोले–"नहिं लखै कबहुँ परगुन अरु दूषन ॥
निन्दा इस्तुति करैं जीव की जो जड़ प्रानी ।
परमारथ ते गिरें द्वैत करिके अज्ञानी ।
का जग में शुभ अशुभ है, ये सब गुन के खेल हैं ।
जगत पदारथ असत हैं, विकृत गुननि के मेल हैं ॥

अज्ञान की सब से मोटी पहिचान है परचर्चा । जिसका मन जितना ही परचर्चा में निमग्न रहेगा वह उतना ही अज्ञानी है । हम लोग दश पाँच आदमी जहा बैठते हैं, वहाँ ये ही बातें होती

---

* श्री भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! दूसरों के स्वभाव की न तो निन्दा करे और न प्रशसा । क्योंकि प्रकृति और पुरुष के सहित यह विश्व एकात्म भाव से अवस्थित है ।"

हैं—"वह बड़ा दुष्ट है, उसने उसे मार डाला, पर स्त्री गमन किया, उसका इतना धन चुराया। हम तो उस व्यक्ति को अच्छा मानते हैं। उसके पास हम अमुक काम के लिये गये। हमें देखते ही उठ खड़ा हुआ। हमारे काम को तत्काल कर दिया। एक उसके अमुक भाई भी है। मार्ग में कहीं मिलते हैं मुँह छिपा लेते हैं, बात भी नहीं करते।" इसी प्रकार से किसी की निन्दा करेंगे किसी की स्तुति। निन्दा स्तुति करने वाला इस जगत् को सत्य मानता है। इनके पदार्थों को अपरिवर्तन शील शाश्वत मानकर उनके लिये झगड़ता है। जो इसके स्वार्थ में सहायक होता है उसकी स्तुति करता है, जो स्वार्थ में विघ्न डालता है उसकी निंदा करता है। सोचता यह नहीं है कि जिस वस्तु के लिये मैं लड़ रहा हूँ, वह वस्तु ही सत्य नहीं है। एक कहानी है, दो आदमी थे बैठे बैठे बातें करने लगे—"भाई अब के हम तुम दोनों मिलकर ईख बोवें।"

एक ने कहा—"बीज कहाँ से ले आओगे?"

दूसरे ने कहा—"अरे, अमुक के यहाँ बहुत सुन्दर गन्ने हुए थे उसी से ले आवेंगे।"

पहिले ने कहा—"कै बीघा बोओगे।"

दूसरे ने कहा—'दस बीघा बहुत है।"

पहिला बोला—"हाँ उस खेत में बहुत खाद पड़ी है। बड़ी लम्बी लम्बी ईख होगी। मैं तो नित्य प्रातः उठकर नित्य कर्म से निवृत्त होकर पाँच गन्ने चूसा करूँगा।"

दूसरे ने कहा—"भैया! मैं तो दस चूसा करूँगा।"

इस पर पहिला बोला—"वाह जी, तुम दस कैसे चूसोगे। यदि दस चूसोगे तो मैं बीस चूसूगा।"

इस पर दूसरे को आवेश आ गया। बोला—"तुम बीस चूसने वाले कौन हो? मैं तुम्हारा सिर फोड़ दूँगा।"

इस पर दूसरा भी क्रुद्ध हो गया। लाठियाँ चल गयीं दोनों का ही शरीर क्षत विक्षत हो गया। राजद्वार में अभियोग गया। न्यायाधीश ने सब सुनकर कहा—"भाई! तुमने दस बीघा खेत तो जोत लिया। ईख भी बो दी। गन्ने भी चूस लिये, उन पर लड़ाई भी हो गयी। पहिले दस बीघा का भूमि-कर दो।"

इस पर वे बोले—'महाराज! हमने खेत जोता कहाँ न हमने गन्ने ही खाये। हममें लड़ाई तो कल्पित गन्नों के पीछे हुई।"

न्यायाधीश ने कहा—"तुम से अधिक मूर्ख और कौन होगा जो मिथ्या गन्नों के पीछे आपस में लड़ गये। जब लड़े ही तो इसका दंड भोगो।"

कहने का साराश इतना ही है, कि हम मिथ्या पदार्थों में सत्य का अभिनिवेश करके दूसरों की निन्दा स्तुति करते हैं परमार्थ से पतित होते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से सारातिसार परमार्थ तत्व पूछा, तो भगवान् ने कहा—'उद्धव! समस्त उपदेश और शिक्षाओं का सार यह है, कि कभी भूलकर भी न तो किसी की निन्दा करे न स्तुति।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! ऐसा कैसे होगा, जिसका बुरा स्वभाव होगा उसे बुरा कहा जायगा, जिसका अच्छा स्वभाव होगा, उसे अच्छा कहा जायगा।"

भगवान् ने कहा—"स्वभाव कहते हैं प्रकृति को। प्रकृति होती है, त्रिगुणात्मिका। जब उसके गुणों में सृष्टिकाल आने पर विकृति होती है तो पुरुष की सहायता से इस विश्व की सृष्टि होती है। मकड़ी के जाले में क्या है, ताने में भी सूत्र बाने में भी सूत्र। तुम ताने की निन्दा करो तो सूत्र की निन्दा होगी, बाने की

निन्दा करो तो सूत्र की निन्दा होगी। सूत्र के अतिरिक्त जाल में कोई दूसरी वस्तु हो, तो उसकी निन्दा स्तुति की भी जा सकती है। इसी प्रकार जगत् में मेरे अतिरिक्त कोई सत् पदार्थ है ही नहीं। दृश्य प्रपञ्च जितना है सब असत् है। इसको जो सत्य मानकर व्यवहार करता है उसका शीघ्र ही पतन हो जाता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"यदि असत् को सत् मान ही लें तो इसमे हानि ही क्या है?"

भगवान् ने कहा—'हानि तो बहुत है, तुम असत् का चिंतन करते रहोगे, तो इसमे अभिनिवेश हो जायगा। जैसे विचार करो ये इन्द्रियाँ क्या हैं?"

उद्धवजी ने कहा—"प्रकृति से महत्तत्व और महत्तत्व से अहंकार होता है। वह सात्विक राजस और तामस तीन प्रकार का होता है, राजस अहंकार से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।"

भगवान ने कहा—"हाँ, यथार्थ है, अच्छा तो विचार करो इन्द्रियाँ जब तमोगुण की अधिकता से निद्राग्रस्त हो जाती हैं, तब शरीरस्थ जीव को चेतना नहीं रहती। उस समय स्वप्नावस्था मे एक स्वप्न जगत् की सृष्टि करता है, अथवा सुषुप्ति अवस्था मे अत्यन्त विस्मृति होने से गाढ निद्रा को या मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिसके मन में सदा भेदभाव बना रहेगा वह भेदभाव को ही प्राप्त होगा। असत् का चिन्तन करते रहने से असत् की ही प्राप्ति होगी। जहाँ नानात्व है ही नहीं वहाँ नानात्व स्थापित करके माया के चक्कर मे फँसकर बार बार जन्मता रहेगा बार बार मरता रहेगा।"

उद्धवजी ने कहा—"फिर भी महाराज! बुरे को बुरा और भले को भला कहना ही पड़ेगा।"

भगवान ने कहा—"फिर वही बात। अरे, इस संसार मे क्या

बुरा क्या भला। अच्छा हम तुमसे हा पूछते हैं, तुम हमें जगत् में से छाँटकर बता दो इसमे कितना अश बुरा है कितना अच्छा है। कितना शुभ है कितना अशुभ है।"

उद्धवजी ने कहा—"अब महाराज ! आप हा बतावें ससार म जिसे हम भला कहते हैं दूसरे बहुत से लोग उसे बुरा कहते हैं। हम जिस वस्तु को बुरी बताते हैं दूसरे उसके लिये प्राण देते हैं। अतः यह निभ्रान्त निणय होना कठिन है कि इतना बुरा है इतना भला है इतना शुभ है इतना अशुभ है।"

भगवान् ने कहा—"भैया ! इस ससार में तुम्हें जो भी दिखायी देता है सब नाशवान् है। जो नाशवान् है वह मिथ्या है। वाणी से तुम जिन घट पट को बोलते हो, मन से जिनका चिंतन करते हो ये सभी वस्तु असत् हैं मिथ्या हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! मिथ्या वस्तुओं से तो व्यवहार नहीं हो सकता। काठ का मिथ्या घोडा बनाकर रख दें तो उससे यात्रा तो नहीं की जा सकती। बालू के मिथ्या लड्डू बनाकर रख दिये जायँ तो उनसे भूख तो नहीं मिट सकती। इसी प्रकार यदि वास्तव में ससार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं तो इनके कारण हमें क्लेश क्या होता है।"

भगवान् ने कहा—"मिथ्या वस्तुओं से भी तो क्लेश होता है। रात्रि मे तुम्हें एक टेढी मेढी लकडी की छाया दिखायी देती है उसे देखकर किसी को भूत का भ्रम होता है, जब तक उसका भ्रम दूर नहीं होता तब तक वह उस मिथ्या छाया को ही देखकर डरता रहता है। बहुत से तो उस छाया के डर से ही मर जाते हैं। वास्तव में वह भूत नहीं था सवथा मिथ्या छाया थी, किन्तु भ्रम होने से उसमें में सत्यत्व की प्रतीति होने लगी उससे भय हुआ। छाया से काम भी होता है। बहुत से लोग छाया पुरुष को सिद्ध करके उससे इच्छानुसार बड़े बडे कार्य करा लेते हैं

दूसरा दृष्टान्त लीजिये पक्के घरो में गुफाओं मे बच्चे बोलते हैं उस बोलने की प्रतिध्वनि घर से निकलती है। अज्ञानी लोग समझते हैं घर बोल रहा है, गुफा से ध्वनि निकल रही है। एक कूप में सिंह ने दहाड मारी। कूए मे से उसकी दहाड की प्रतिध्वनि सुनायी दी। उसने समझा कोई भीतर दूसरा सिंह बोल रहा है, वह कूए मे कूद पडा और मर गया। देखा जाय तो वास्तव में जो प्रतिध्वनि का शब्द कुए मे से निकला था वह सर्वथा मिथ्या था, किन्तु उससे कार्य तो हो ही गया। सिंह का प्राणान्त तो उसने कर ही दिया।

एक टेढी मेढी रस्सी पडी है, दूर से किसी ने उसे सर्प समझा। वह डर गया। वास्तव में उसमे सर्प त्रिकाल मे नहीं था किन्तु उसे मिथ्याभास हो गया। वह तब तक भयभीत रहेगा, जब तक उसका भ्रम निवृत्त न होगा। किसी को दूर से पडी हुई सीपियों में चाँदी का भ्रम हो गया। वह उन्हें लेने दौडा और ठोकर खाकर गिर गया। चोट लग गयी, सीपियो मे चाँदी न पहिले थी, न अब है न आगे होगी, किन्तु मिथ्या भ्रम से उसे चोट तो लग ही गयी। इससे यह नहीं कह सकते, कि मिथ्या वस्तु से कुछ काम होता ही नहीं। इस देह को ही ले लो सभी जानते हैं यह सत् नहीं, एक रस नहीं, परिवतन शील है, नाशवान है किन्तु फिर भी मृत्यु पर्यन्त इसके कारण नाना क्लेश होते ही रहते हैं।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! कर्ता के बिना तो कार्य होता नहीं। एक कार्य होता है एक उसका करने वाला होता है। कार्य कर्ता से पृथक् होता है। जैसे कोई देवदत्त है उसने घर बनाया, तो घर पृथक् है, देवदत्त पृथक् है देवदत्त ही तो घर नहीं बन गया। जैसे कुम्हार है घडा है। घडा कुम्हार से पृथक् है। कुम्हार ही स्वय घडा नहीं है।

भगवान् ने कहा—"कर्ता और कार्य तो पृथक ही हों ऐसी बात नहीं। दूध ही जैसे दही के रूप मे परिणत हो जाता है। मकड़ी ही अपने खेल के लिये जाला बनाकर खेलती है, फिर उसे अपने मे विलीन कर लेती है। ऐसे ही आत्मा ही आत्मा रूपप्रभु ही विश्व मे परिणत हो गये है। स्वय वे ही ब्रह्मा बनकर जगत् को रचने वाले हैं स्वयं ही रचे जाने वाले जगत् हैं। स्वयं ही वे विष्णु बनके पालन करते हैं। स्वय ही विश्व बनकर पाल्य हो जाते हैं। स्वयं ही रुद्र बनकर जगत् के संहारक बनते हैं और स्वयं ही संहृत हो जाते हैं। जैसे अन्य पदार्थों को प्रकाशित होने के लिये सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि आदि के प्रकाश की आवश्यकता है, किन्तु सूर्य स्वय ही अपने प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है उसे अपने प्रकाश के लिये अन्य किसी बाह्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार आत्मा स्वयं प्रकाश है उसे अन्य किसी की अपेक्षा नहीं। जो भाव आत्मा से भिन्न से प्रतीत होते हैं वे भी किसी अन्य पदार्थ द्वारा निरूपित नहीं होते।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! जब आत्मा सत्य है, तो इस असत् की प्रतीति किसमे होती है?"

भगवान् ने कहा—"सत् असत् सबकी प्रतीति का अधिष्ठान आत्मा ही है। आत्मा मे ही आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनो भावो की प्रतीति होती है।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! कारण के बिना कार्य नहीं होता। यह जो आत्मा मे तीन प्रकार की प्रतीति हो रही है, वह किस कारण से होती है।"

भगवान् ने कहा—"कारण कुछ नहीं अकारण ही प्रतीति हो रही है, निर्मूल ही यह भासित हो रहा है। मेरी इच्छा ही एक-मात्र कारण है। यह जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि-भौतिक प्रतीति होती है यह गुणमयी है और माया कृत है।

जब सब मायाकृत है, तो इसमें सत्यत्व बुद्धि करके आसक्त क्यों हों। जब हम एक की निन्दा करते हैं और दूसरे की स्तुति करते हैं। तब इन सांसारिक वस्तुओं मे हमें सत्यता प्रतीत होने लगती है। जैसे बच्चे मिट्टी के खिलौने बना लेते हैं, उनमें से एक को प्यार करते हैं दूसरे का तिरस्कार करते हैं। मिट्टी मिट्टी सब एक सी। नाम और आकृति को निकाल दो मिट्टी ही रह जायगी। नाम रूप दोनों ही मिथ्या हैं, फिर निन्दा स्तुति के लिये स्थान कहाँ है ?"

उद्धवजी ने कहा—"जब भगवन् ! किसी की निन्दा करे न स्तुति करे तो फिर करे क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जिसमें ऐसी ज्ञान विज्ञान की प्रवीणता आ गयी, फिर उसे करने लिये शेष ही क्या रह जाता है। आनंद से निर्विकार होकर विचरण करे। जिस घटना को भी देखे, उसे ही देखकर सोच ले ये गुण परस्पर में बरत रहे हैं। किसी को रजोगुण बढ़ गया क्रोध आ गया, तमोगुण बढ़ गया सो गया या कोई उत्पात करने लगा। सत्वगुण बढ़ गया तो ज्ञान ध्यान की बात करने लगे। तीनों भुवनों मे ऐसा कोई दिखाई न देगा, जो किसी न किसी गुण मे बरत न रहा हो। यह संसार माया-मात्र और त्रिगुणमय तो है ही। इसमे भेदभाव तभी होता है जब अपने मन में भेदभाव रहता है। सूर्यनारायण हैं, धर्मात्मा के घर भी प्रकाश करते हैं। और चांडाल तथा गोघाती को भी उतना ही प्रकाश देते हैं। गंगाजल को भी अपनी किरणों से सोखते हैं और विष्ठा मूत्र में से भी जल सोखते हैं। बिना भेद-भाव के वे निर्लिप्त भाव से सदा सर्वदा व्यवहार करते हैं इसी प्रकार तत्वदर्शी को सभी भेद भावों को भुला देना चाहिये। वह निर्द्वन्द्व, निरीह तथा निर्लिप्त होकर समान भाव से सदा सर्वदा सर्वत्र विचरण करता रहे।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन ! ससार से असंगता हो कैसे ?"

भगवान् ने कहा—"आत्मा तो असग है ही। भ्रमवश मिथ्या प्रपञ्च में आसक्ति हो गयी है, उसे विचार विवेक से हटाता रहे। स्वय मरते हुओं को देखे कि जिस शरीर को ये कितना प्यार करते थे, शरीर को ही सब कुछ समझते थे। शरीर के लिये ही झूठ, पाप तथा छल कपट करते थे। वही शरीर आज धूलि मे पडा है, मक्खियाँ भिन भिना रही हैं। फूँक दिया या फेंक दिया पाँचों भूत पाँचों भूतों में मिल गये। ऐसे शरीर मे क्या आसक्ति करनी।

अनुमान से भी विचार करे। जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होगा। मिट्टी का चाहे जो पदार्थ बना लो कैसा भी उसे सजा लो रहेगा वह मिट्टी का ही। इसी प्रकार यह शरीर, दाल भात रोटी साग तथा अन्य पदार्थों से बनता है। आज चावलों को बनाकर रख दो। दो दिन मे सड जायेंगे, दुर्गन्ध आने लगेगा, आज रोटियाँ बनाकर रख दो, तीसरे दिन इनमे फफूंद पड जायगा। खाने योग्य न रहेगी। इन नाशवान् अनित्य सडने और बिगडने वाले पदार्थों से बना शरीर नित्य हो ही कैसे सकता है। नीम के वृक्षपर आम कैसे लग सकते हैं।

शास्त्रों के वचनों पर भी विश्वास करने से ससार की अनित्यता सिद्ध होती है। सभी शास्त्र डके की चोट पर चिल्ला चिल्ला कर कह रहे हैं। यह शरीर अनित्य है। ससारी सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। इनमें मोह मत करो।"

शास्त्र को भी न माने तो स्वय ही अनुभव करे। पहिले हम बालक थे, युवक हुए अब बुड्ढे हो गये अङ्ग शिथिल पड गये। दिन दिन क्षीणता की ही ओर जा रहे हैं। ऐसे शरीर से क्या ममता कैसा मोह। इसका तो नाश अवश्य ही होगा। फिर

इस नाशवान् से क्या नाता जोड़ना इसे क्यों अपना समझना। ये जितने भी संसार के पदार्थ हैं अनात्म हैं असत् हैं आदि अन्त युक्त हैं तथा असार हैं, फिर इनमें सङ्ग क्यों करना, निस्संग होकर आत्मा में रमण करते रहना।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! एक मुझे शंका है। इस प्रपञ्च की प्रतीति होती किसे है। शरीर में दो वस्तु हैं एक आत्मा दूसरा शरीर। आप कहो कि प्रपञ्च की उपलब्धि आत्मा में होती है, तो आत्मा तो स्वयं प्रकाश है ज्ञान स्वरूप है साक्षी मात्र है इसमें अज्ञान की प्रतीति तो हो नहीं सकती जहाँ सूर्य है वहाँ अन्धकार कैसे रहेगा? साक्षी को अपराध नहीं चिपटता। यदि आप कहें कि स्वयं प्रकाश साक्षी आत्मा को उपलब्धि नहीं होती। देह को होती है, तो देह तो जड है। जड को भला क्या प्रतीति होगी। अन्धकार को अन्धकार ने खा लिया यह तो पिष्ट पेषण मात्र है। जड में जड का क्या भान होगा। जैसे अग्नि सर्व व्यापक है, अव्यय है, मल से रहित विशुद्ध स्वयं प्रकाश अनावृत तथा निर्गुण है। देह काष्ठ के समान जड है। फिर यह प्रपञ्च दीखता किसको है?"

यह सुनकर भगवान् हंस पड़े और बोले—"उद्धव! तुम ने प्रश्न तो बहुत उत्तम किया। ऐसा प्रश्न तुम्हीं कर सकते हो। जिनको विषय के समझने की क्षमता ही नहीं वह शंका क्या करेगा। करेगा भी तो कुछ भी कुछ करेगा। तुम्हारी शंका युक्ति युक्त है। अब मैं तुम्हारी शंका का ही समाधान करूँगा। तुम्हारे प्रश्न का ही उत्तर दूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने जैसे उद्धवजी की शंका का समाधान किया उसे मैं आप से कहता हूँ, आप इसे समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

हरि ही सब बनि गये करन अरु कारन कर्ता।
वे ही पालक पाल्य बने सहृत संहर्ता॥
होवे त्रिविधि प्रतीति गुनमयी माया मानों।
निज अनुभव प्रत्यक्ष वेद तें जाकूँ जानों॥
उद्धव पूछें—"देह जड, आत्मा स्वयं प्रकाश है।
होइ प्रतीती कौन कूँ, का में भ्रम को बास है॥

संसार की असारता

(१३२१)

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् ।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० १२, श्लो०)

छप्पय

हँसि बोले भगवान—"असत जग आत्मा है सत ।
देह, करन, मन, प्रान रहे जब तक सम्बन्धित ॥
तब तक यह अज्ञान रहे नहिँ छूटे बन्धन ।
ज्यों नहिँ छूटे स्वप्न, होहि अनरथ नहिँ छिन्दन ॥
देह, करन, मन प्रान को, अभिमानी ही जीव है ।
अहं अविद्या तें रहित, स्वयं प्रकाशित शीव है ॥

एक कहावत है "मानो तो देव न मानो तो पत्थर है।" वास्तविक रूप से देखा जाय तो यह संसार मान्यता के ही ऊपर

* भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव ! जब तक अविवेकी पुरुष का शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मन से सम्बन्ध है, तब तक संसार के सर्वथा असत् होने पर भी उस को यह सुख दुःख रूप फल को देने वाला होता ही है।"

चल रहा है। कहाँ लडकी पैदाहुई, कहाँ लडका पैदा हुआ। दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं, जान नहीं पहिचान नहीं। परस्पर में दोनों ने एक दूसरे को पति पत्नी मान लिया। स्वीकार कर लिया कर लेने पर कष्ट सह कर भी निभाते हैं एक दूसरे की बात सहते हैं। ये हमारे गुरु हैं, मित्र हैं सगे सम्बन्धी हैं ये सभी बातें मान्यता पर निर्भर हैं। मन जिसे अच्छा मान ले वह अच्छा लगने लगता है, मन जिसे बुरा कह दे उसमें बुराई ही दिखायी देने लगती हैं। वास्तव मे न कोई अच्छा है न बुरा सबत्र एक ही तत्व है। एक ही सुवर्ण नाना आभूषणों के रूप में बन गया है। आभूषण बनने के पूर्व भी सुवर्ण था, अन्त में आभूषणों के तोडने पर भी सुवर्ण ही शेष रह जाता है। बीच मे जो नाम रूप की उपाधियों के कारण उसे जजीर, तोडा, पँचमनिया, कंकण, करधनी तथा अगूठी आदि कहने लगे थे वे सब मिथ्या थे। जब वह आभूषणों के रूप में परिणत हो गया था, तब भी उसका सुवर्ण-पना नष्ट नहीं हुआ था, क्यों कि यह सिद्धान्त है, कि जो आदि और अन्त में रहता है वही मध्य मे भी रहता है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने यह पूछा कि देह जड है आत्मा चैतन्य और स्वयं प्रकाश है, फिर प्रपञ्च की प्रतीति किस में होती है? तो इस पर भगवान् कहने लगे—"उद्धव! यह प्रतीति न जड में है न चैतन्य में भ्रम मे ही भ्रम की प्रतीति हो रही है।"

उद्धव जी ने चौंक कर पूछा—"महाराज! भ्रम की प्रतीति कैसे होती है। भ्रम कहाँ रहता है।'

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! सब का अधिष्ठान आत्मा ही है।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! आत्मा तो स्वय प्रकाश ज्ञान

स्वरूप है, उसमें भ्रम कैसे रहेगा। प्रकाश होने पर अन्धकार का अस्तित्व कैसे रह सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"प्रकाश अन्धकार की निवृत्ति करता है, किन्तु प्रकाश के होने पर कहीं अन्धकार रहे ही नहीं ऐसी बात तो नहीं है। स्वयं ही दीपक के नीचे ही अन्धकार बैठा रहता है। किन्तु वह अन्धकार प्रकाश के सम्मुख कुछ अनर्थ नहीं कर सकता। इसी प्रकार संसार सर्वथा असत् है एक मात्र आत्मा ही सत् है। फिर जब तक शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, प्राण तथा मन से पुरुष का सम्बन्ध है, और अविवेक है। तब तक संसार की प्रतीति होगी, उससे होने वाले पुण्य पाप भी होंगे और उनके फल सुख दुःख भी भोगने ही पड़ेंगे। जब जीव का अज्ञान निवृत्त हो जायगा तो संसार की सत्यता भी निवृत्त हो जायगी।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज ! जो वस्तु असत् है, उससे दुख मिल नहीं सकता है। जिस वन्ध्या के पुत्र है ही नहीं उसको पुत्र के सिर में पीड़ा जनित दुःख होगा ही कैसे ?"

भगवान् ने कहा—"असत् वस्तु से भी दुःख मिल जाता है। स्वप्न में हम देखते हैं, एक भयंकर आदमी हाथ में तीक्ष्ण छुरा लेकर आता है, हमें काटने लगता है, उस समय बड़ा क्लेश होता है। स्वप्न का पुरुष, स्वप्न का छुरा दोनों ही असत् हैं, किन्तु जब तक स्वप्न टूटता नहीं जाग्रत अवस्था को प्राप्त नहीं होते तब तक उन असत् वस्तुओं से कष्ट होता ही है। स्वप्न में तो ये सब न होने पर भी सत्य से ही दिखायी देते हैं कष्ट भी उतना ही होता है, जितना जाग्रत में यथार्थ में छुरा मारने से होता है। घबड़ाहट भी वैसी ही होती है। इसी प्रकार यह संसार सर्वथा असत् है, किन्तु अज्ञान में पड़ा हुआ प्राणी जब तक इसे सत् मान कर शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी सुख वाले विषयों का चिन्तन करता रहेगा तब तक यह संसार निवृत्त नहीं

होगा, नहीं होगा त्रिकाल मे भी नहीं होगा। जब तक सोता रहेगा स्वप्न देखता रहेगा क्लेश सहता रहेगा। जागने पर उसे न भय होगा न शोक, न मोह और न पश्चात्ताप ही वह केवल हँस पड़ेगा। वे स्वप्न की वस्तुएँ विलीन हो जायँगी। विलीन क्या हो जायँगी वे तो थी ही नहीं। इसी प्रकार अज्ञानावस्था मे ही मनुष्य को इन मायिक असत् पदार्थों से भय लगता है, ज्ञान के उदय हो जाने पर निर्भय हो जाता है। अच्छा तुम विचार करो एक पुत्र है वह मर गया इससे पिता को अत्यन्त शोक हो गया। एक पुत्र उत्पन्न हो गया हर्ष हो गया। किसी बलवान को हाथ मे शास्त्र लेकर मारने को आते देखकर भय के कारण काँपने लगे, किसी ने हमारी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर दिया उस पर क्रोध आ गया। कहीं से द्रव्य मिल गया उसे देख कर लोभ बढ़ गया, अत्यंत सुन्दर पत्नी से अत्यन्त सुकुमार नन्हें से बच्चे से या अन्य किसी भी वस्तु से मोह हो गया, जो वस्तु हम पर नहीं है उसे प्राप्त करने की इच्छा हो गयी। हमारे सगे सम्बन्धी मर गये या उनके सन्तान हो गयी। ये सब काम किस मे होते हैं।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! ये सब काम तो संसार में रहने से होते हैं।"

भगवान् ने कहा—"संसार मे कितने नित्य बालक होते हैं, कितने मरते है। उन सब के मरने पर न हमे दुःख होता है और पैदा होने से सुख।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! उनसे हमारा कोई सम्बन्ध तो है नहीं। जिनसे कुछ सम्बन्ध होगा उनके मरने पर उत्पन्न होने पर हर्ष शोक अवश्य होगा।

भगवान ने कहा—"हाँ, यही बात है। शोक हर्ष भय, क्रोध, लोभ, मोह और स्पृहा तथा जन्म मृत्यु ये जो सब भाव हैं ये सब के सब अज्ञान जनित अहंकार में ही होते हैं। अहंकार के कारण

ही ममत्व होता है। अहंता ममता के ही कारण संसार की प्राप्ति होती है। आत्मा तो नित्य शुद्ध बुद्ध है उससे और इन सब सुख दुखादि द्वन्द्वों से कोई सम्बन्ध नहीं।"

उद्धव ने कहा—"महाराज! मेरा प्रश्न तो रह ही गया। इस प्रपञ्च की प्रतीति चैतन्य आत्मा को होती है या जड़ देह को?"

भगवान् ने कहा—"न आत्मा को होती है न शरीर को। इस प्रपञ्च की प्रतीति होती है जीव को।"

उद्धव जी ने कहा—"जीव किसे कहते हैं भगवन्।"

भगवान् ने कहा—"देखो, देह, इन्द्रिय, प्राण और मन आदि का अभिमानी जो अन्तरात्मा है उसी की जीव संज्ञा है। गुण और कर्म ही उसकी मूर्ति है। उसी को कोई सूत्रात्मा कहते हैं कोई महान् या महत्तत्व कहते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं मे उसे अनेकों नामों से कहा गया है। वही अन्तः करण का अभिमानी जीव काल कर्म के अधीन होकर संसार में जन्मता मरता सा प्रतीत होता है और नाना ऊँची नीची योनियों मे भ्रमण करता रहता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! फिर यह संसार चक्र छूटे कैसे? आत्म ज्ञान कैसे प्राप्त हो।"

भगवान् ने कहा—"संसार में जो तुम अच्छा, बुरा, सुन्दर, सुख दुख देख रहे हो यह वास्तव मे कुछ है थाडा ही हमारा मन नाना रूप रख कर आता है। मन के पीछे इन्द्रियाँ जाती हैं प्राण भी उसी का अनुसरण करने लगते हैं शरीर भी उसी के संकल्प से कर्म करने लगता है। संसार की सभी चेष्टायें होने लगती हैं। ये सब की सब निर्मूल और भ्रान्त हैं। विषयों में दौडता हुआ मन अनुकूलता खोजता है, विषयों में अज्ञान वश सुखानुभव करता है, उनमें तृष्णा हो जाती है, संसार और सुदृढ़ होता जाता है। ममता होने से आसक्ति होती ही है। संसारासक्ति

ही बन्धन का मूल कारण है। अतः सद्गुरु के चरणों में जाकर उनकी सेवा शुश्रूषा करे। निष्कपट भाव से उनकी उपासना करे। ज्ञान कहीं से लाना थोड़ा ही है। उपयोग न करने से वह कुठित हो गया है उस पर काई जम गयी है। जैसे तुम आँखों पर पट्टी बाँधे रहो, तो कुछ काल में काम न लेने से आँखों की ज्योति चली जायगी, फिर दिखायी न देगा। हाथ को ऊपर उठाये रहो, तो कुछ काल में फिर वह झुकेगा नहीं। एक दर्पण है उसे काम में मत लो यों ही रखा रहने दो कुछ काल में उस पर धूलि जम जायगी अपना स्वरूप दिखायी न देगा। यहाँ तक कि दर्पण भी ढक जायगा। भाग्यवश कोई ज्ञानी गुरु आ जाय और वह आज्ञा दे कि इस दर्पण की धूलि को पोंछ डालो। तुमने उनकी बात मान ली, तो तत्क्षण तुम्हें दर्पण में अपना स्वरूप दिखायी देने लगेगा। गुरुदेव ने कहीं से लाकर दर्पण में तुम्हारा स्वरूप नहीं रख दिया। उन्होंने ने तो केवल आवरण हटा दिया है। स्वरूप दिखाने की क्षमता तो दर्पण में पहिले ही से थी। गुरुदेव ने उसे निर्मल बनाने की युक्ति बता दी। एक पेड़ है उसके चारों ओर घास कूड़ा बढ़ गया है। तुम्हारे पास खुरपी भी है, किन्तु उससे काम न लेने के कारण वह कुठित हो गयी है, उस पर मैल जम गया है। किसी गुरु ने आकर पत्थर दिखा दिया उस पर खुरपी को पैना लो। तुमने खुरपी पैनाली इधर उधर की घास को काट दिया, पेड़ दिखायी देने लग गया। इसी प्रकार गुरु की बताई उपासना द्वारा ज्ञान खड्ग को तीक्ष्ण करके ये अज्ञान जनित जितने शोक मोह आदि घास कूड़े हैं सब को काटकर तृष्णा से रहित बन जाओ, फिर निर्द्वन्द्व होकर चाहे जहाँ पृथ्वी पर विचरण करो, फिर चिन्ता की कोई बात नहीं रह जाती। ज्ञानी लोग इसी प्रकार तृष्णा का उन्मूलन करके ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करते हुए इस शरीर में ही जीवन्मुक्ति का आनन्द लूटते हैं। इसलिये

मैं इस बात पर बारबार बल देता हूँ इसे अनेक बार दुहराता हूँ-कि इस जगत् के जो आदि अन्त में तत्व है वही मध्य में भी रहेगा। पहिले एक मात्र सत् ही था, सृष्टि के अन्त में सब का संहार हो जायगा, केवल सत् ही शेष रह जायगा। जब आदि में भी सत् अन्त में भी सत् तो फिर मध्य में असत् कैसे हो सकता है। मध्य में भी वह प्रकाशक और उपादान कारण रूप में अवस्थित है। जिसे ऐसा विवेक नहीं है वह अज्ञानी है जिसे विवेक हो गया वही ज्ञानी है।

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! ऐसा ज्ञान है तो बड़ा कठिन।"

भगवान् ने कहा—"भैया, कठिन तो है ही, छुर की धार है। किन्तु गुरु की कृपा से उपासना द्वारा यह ज्ञान हो सकता है, अनेकों को हुआ है।" ज्ञान के अनेक साधन हैं, उनमें वेद पढ़ना तपस्या करना, स्वधर्म का पालन करना, स्वयं संसार की अनित्यता को देखकर अनुभव करना। जितने पुराने ऐतिहासिक राजे महाराजे तथा प्रसिद्ध पुरुष हो गये हैं, उन्होंने भोगों को भोगकर अन्त में क्या निर्णय किया है नित्य प्रति की घटनाओं से क्या अनुमान किया जाता है इस प्रकार का और भी मीमांसा करते रहना ये मुख्य साधन हैं। शास्त्रों में जितने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपभोग शब्द तथा ऐतिह्य आदि प्रमाण बताये हैं उनकी कसौटी पर इस संसार को कसते रहना ये ही ज्ञान के साधन हैं। संसार में मेरे अतिरिक्त कुछ भी सत् नहीं है। खिलौने बनने से पहिले भी चीनी थी, खिलौने फूट गये तब भी चीनी रही और जब उसके अनेक नाम और अनेक आकृतियाँ बन गयीं तब भी उनमें चीनी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। देखो, सत्व, रज और तम इसके पूर्व क्या था निर्गुण। वह निर्गुण मैं ही हूँ, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों से पूर्व कौन अवस्था थी, तुरीया वह तुरीय मैं ही हूँ।

कार्य, कारण और कर्ता इन सब को तुम समन्वय और व्यतिरेक से विचार करो, तो एक मात्र मैं ही अवशिष्ट रहूँगा।

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! यह हमने मान लिया कि सब आप से ही उत्पन्न होते हैं किन्तु उत्पन्न होकर तो आप से पृथक् हो ही जाते हैं, पिता से पुत्र उत्पन्न होता है, तो उसका अस्तित्व पृथक सभी देखते हैं?

भगवान् ने कहा—"नहीं, पिता से पुत्र पृथक् नहीं होता। श्रुति कहती है आत्मा ही पुत्र रूप में प्रकट हो जाता है। प्राणी स्वयं अपने आप गर्भ रूप से पत्नी के उदर से पुनः प्रकट होता है इसीलिये उसकी जाया संज्ञा है। पुत्र पिता से पृथक् नहीं। जैसे अग्नि से विस्फुलिंग उत्पन्न होते हैं, तो वे अग्नि से पृथक् नहीं होते। जल से बबूले उत्पन्न होते हैं तरंगे उत्पन्न होती हैं वे जल से पृथक् नहीं। बबूला उठने के पूर्व भी जल था, बबूला फूट गया पुनः जल हो गया, फिर बीच में नाम रूप के कारण उसकी पृथक संज्ञा हुई वह सत्य नहीं केवल कथन मात्र को ही है। इसलिये शास्त्र का निश्चित सिद्धान्त है कि उत्पन्न हुई वस्तु अपने उत्पादक और प्रकाशक का रूप वही होती है। मिट्टी से उत्पन्न हुई वस्तुएँ मिट्टी से भिन्न न होंगी। सूर्य नेत्र में प्रकाश प्रदान करता है, वह चक्षु इन्द्रिय प्रकाश से भिन्न नहीं है। यह जो विद्यमान न होने पर भी समुदाय रूप राजस मार्ग प्रतीत हो रहा है यह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है नहीं सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, तनिक भी नानात्व इसमें नहीं स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द घन ही है। इन्द्रिय रूप में जो दिखायी दे रहा है वह भी ब्रह्म है। इन्द्रियों के उपभोग्य नाना विषयों के रूप में जो दृष्टि गोचर होता है वह भी ब्रह्म है, मन के रूप में जो मनन करता हुआ अनुभव होता है वह भी ब्रह्म है, पञ्च भूतों के रूप में जो यह दृश्य प्रपञ्च दिखायी दे रहा है यह भी ब्रह्म ही है। उद्धव! कहाँ तक तुम से कहें चित्र विचित्र रूपों

में जो भी कुछ भी दिखायी दे रहा है सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा यह निर्णय करे, कि यह जो प्रपञ्च भासित हो रहा है वह त्रिकाल में भी सत् नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा अनात्म पदार्थों के बाध से अपने हृदय के सन्देह को युक्तियों द्वारा दूर करे। फिर विषयों से उपरत होकर आत्मानन्द में निमग्न हो जाय।

उद्धव ने पूछा—"महाराज! बाध कैसे करे।"

भगवान् ने कहा—"यही विचार कि यह शरीर आत्मा नहीं है। क्यों कि नाशवान् है। आत्मा अविनाशी है। इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं क्यों कि ये पर प्रकाशित हैं, आत्मा स्वय प्रकाश है। इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव आत्मा नहीं हैं, क्यों कि वे पर तन्त्र हैं आत्मा स्वय स्वतन्त्र है। प्राण, वायु, जल, अग्नि पृथिवी, आकाश, अन्नमयकोष, मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, महत्व तथा प्रकृति इन सब में से कोई भी आत्मा नहीं, क्या कि ये सब क सब जड हैं।

उद्धव जी ने कहा—'भगवन्! आप इन्द्रिय और मन आदि को जड बता रहे हैं, किन्तु हत्या की जड ता य इन्द्रियाँ ही हैं, ये नाना विषयों को भोगती है, चित्त को चचल बनाती हैं।"

भगवान् ने कहा—"भैया! ये भीतरी बाहरी दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ अज्ञानी को ही दु ख देती हैं। जिसको आत्म ज्ञान हो गया है उसको ये गुणमयी इन्द्रिया क्या बिगाड सकती हैं। ये विक्षिप्त हो जायँ तो उसे ज्ञान से विचलित नहीं कर सकतीं। समाहित हो जायँ, तो उसे उससे अधिक आनन्द नहीं दे सकतीं। जो बीज भुन गया है उसे चाहे जितनी गीली खाद मे रख दो कितने पदार्थ डालो कोई भी उसमें से अकुर उत्पन्न नहीं करा सकता। ये जड वस्तुएँ अज्ञानी को ही चक्कर में डालती हैं। आत्मा तो आकाश के सदृश निर्लेप है, उसमें कितनी भी धूलि उडे, कितने भी जलकण व्याप्त हों, कितनी भी प्रकाश की सूक्ष्माति

सूक्ष्म किरणें छिटकती रहें कितनी भी वायु भर जाय किन्तु ये सब अपने कार्यों से तथा शीत, वर्षा और ताप ये ऋतुएँ अपने गुणों से आकाश को लिप्त नहीं बना सकतीं। आकाश पर इन सब का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। सूर्य के ऊपर से कितने भी बादल चले जायँ, कितने भी उसे चारों ओर से घेरे रहें जैसे वे उसकी कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते ऐसे ही ये प्राकृत पदार्थ आत्मा को आच्छादित नहीं कर सकते। आत्मा तो अहंकार से रहित अक्षर और निर्विकार है, वह जगत् के कारण भूत इन तीनों गुणों के मल से मलिन कैसे हो सकता है ?

उद्धव जी ने पूछा—"जब आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध है, तो दुस्संग मत करो ऐसे विधि वचन क्यों हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ये सब वचन साधकों के लिये हैं। जब तक मुझ में दृढ अनुराग न हो, मेरी भक्ति द्वारा मन का मल रूप रजो गुण निवृत्त न हो जाय, तब तक इन माया रचित गुणों का संग त्यागना ही चाहिये। निरन्तर सत्संग और कथा श्रवणादि सत्कार्यों में लगे ही रहना चाहिये। इस प्रकार जो शास्त्रीय विधि से साधन करता है उसे सिद्धि प्राप्त होती है, फिर उसके लिये विधि निषेध का बन्धन नहीं रहता।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! शास्त्रीय साधनों द्वारा सिद्धि प्राप्त होने पर साधक की कैसी अवस्था होती है, कृपया साधन और सिद्धावस्था के सम्बन्ध में आप मुझे बतावें।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने इस प्रकार प्रश्न किया तो भगवान् ने जिस प्रकार साधनावस्था से सिद्धावस्था को प्राप्त होते हैं और सिद्धावस्था में कैसी स्थिति हो जाती है इस प्रसंग को कहा उसे मैं आप सब को सुनाऊँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

एक तत्व नित नयो विविध रूपनि महँ भासे।
नहीं प्रकाश प्रकाश्य दृश्य कूं नित्य प्रकासे॥
आदि अन्त जग नाहिं मध्य में हूँ न रहेगो।
क्यौं ज्ञानी फिरि सोच करै क्यौं दुःख सहेगो॥
अन्वय अरु व्यतिरेक तें आत्म तत्व निश्चय करै।
जब तक दृढता होहि नहिं तब तक शुभ साधन करै॥

७६६३

साधनावस्था से सिद्धावस्था

(१३२२)

यथा मयोऽमाधुचिकित्सितो नृणाम,
पुनः पुनः सतुदति प्ररोहन् ।
एव मनोऽपक्वकषाय कर्म,
कुयोगिन विध्यति सर्वसङ्गम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

रोग उपेक्षा कर उभरि वह पुनि पुनि आवै ।
त्यों विषयनि आसक्त चित्त साधकहिँ डुबावै ॥
काम करम वश होहिँ स्वय स्वय कर्ता बनि जावै ।
जो कर्ता बनि जाय अन्त महँ सो फँसि जावै ॥
रहै कमल जल में यथा, त्यों ज्ञानी जग महँ रहै ।
करै प्रकृति वश काज सब, किन्तु न बन्धन दुख सहै ॥

यह सत्य है कि प्रचड प्रज्वलित अग्नि में गाला सूखा जो भी कुछ डाल दो वह तुरन्त भस्म हो जायगा किन्तु यदि अग्नि मद हो, तो वह घृत डालने पर भी बुझ जायगी । इसी प्रकार यद्यपि ज्ञानी

* श्री भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! जैसे कोई रोग है उसकी यदि भली भाँति लगकर चिकित्सा न की जाय, तो वह बार बार उभर कर मनुष्यों को कष्ट देता ही रहता है । इसी प्रकार अपक्व कषाय कर्मवासना सब में आसक्त हुआ मन कुयोगी को गिरा देता है ।"

के लिये न तो कुछ शुभ है न अशुभ, न कोई विधि है न निषेध, न कर्तव्य है न अकर्तव्य। उसके समस्त शुभ कर्म ज्ञान रूपी अग्नि में भस्म सात हो जाते हैं, किन्तु जिसका ज्ञान परि पक्व नहीं हुआ है, यदि वह ऐसा विधि निषेध रहित व्यवहार करेगा। तो उसका निश्चय ही पतन हो जायगा, क्योंकि इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर ही खुले हैं। इन्द्रियों को विषयों मे स्वाभाविक रुचि है। तनिक ज्ञान का आभास होने पर यह निश्चय कर ले, कि संसार मे कुछ अच्छा बुरा नहीं है। गम्या अगम्या का भेद, खाद्य अखाद्य का विश्वास, पेय अपेय का विधान अज्ञान जनक है, तो ऐसे निश्चय से पतन के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। अतः साधना वस्था में विधि निषेध का पालन करता हुआ मन को सयम मे रखे। इस मन का अन्त तक भी विश्वास न करे कि यह मेरे वश में हो गया। यदि सिद्धावस्था प्राप्त होने पर भी केवल लोग संग्रह के निमित्त साधकों का सा व्यवहार करता रहे, तो हानि ही क्या है। वैसे सिद्धावस्था होने पर शरीर का ही भान नहीं रहता, तो शुभाशुभ कर्मों का क्या भान रहेगा, फिर भी पूर्व स्वभावानुसार ज्ञानी से प्रायः लोक विरुद्ध दुराचरण होता नहीं। कदाचित हो भी जाय तो उसे पाप पुण्य स्पर्श भी नहीं करता। क्योंकि पाप पुण्य तो कर्ता की भावनानुसार ही होता है, जिसे कर्तापने का ही भान नहीं उसे कर्म जनित पाप पुण्य कैसे लगेंगे।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब उद्धवजी ने पूछा-'भगवन्! साधनों द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने पर कैसी स्थिति हो जाती है।" तो भगवान् ने कहा—'उद्धव! यद्यपि ज्ञानी का सत्संग कुसंग दोनों में कुछ भी भेद नहीं रहता। उसके लिये सत् असत् का भेद भाव ही नहीं शेष रह जाता। तथापि जब तक मेरी पूर्ण भक्ति प्राप्त न हो जाय, तब तक सदा सत्संग का ही आग्रह करता रहे।

बुरे लोगों के संग को हठ पूर्वक छोड कर संतो की सन्निधि मे ही काल क्षेप करे।

उद्धवजी ने पूछा—"जब यह निश्चय हो ही गया कि संसार में सत् असत् कुछ है ही नहीं सर्वत्र एक ही आत्म तत्त्व व्याप्त है, तो फिर सत्सङ्ग के लिये इतना आग्रह क्यों किया जाय ?"

भगवान् ने कहा—"भैया वाचिक ज्ञान हो जाना दूसरी बात है, उसे दृढ करके धारण कर लेना नित्य के जीवन में परिणत कर लेना दूसरी बात है। तुमने किसी से सुन लिया छने हुए आटे को भिगोकर उसकी जलेबी बनती है उसे शर्करा के पाक में डुबो देते हैं। केवल इतना ज्ञान होने मात्र से ही तो कोई जलेबी नहीं बना सकता। जबतक उसके ज्ञाता के निकट बैठकर उसके बनाने का अभ्यास न कर ले बिना अभ्यास के केवल सुनकर बनाने लगेगा, तो विशुद्ध जलेबी तो बनेगी नहीं, कुछ का कुछ बन जायगा। इसी प्रकार जिन्होंने शास्त्र गुरु के बतायी हुई विधि के अनुसार अभ्यास तो किया नहीं है केवल इधर इधर से सुन लिया है कि ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है। शुभ अशुभ कुछ नहीं है।' इसी श्रुतज्ञान के आधार पर व्यवहार करेगा, तो निश्चय ही वह विषयो मे फँस जायगा।"

उद्धव जी ने पूछा—"ऐसा महाराज ! क्यों होता है ? जब एक बार निश्चय हो गया तब तो पतन न होना चाहिये तब तो संसार बन्धन न होनी चाहिये।'

भगवान् ने कहा—'वह तो उसने विषय भरे मन से निश्चय किया है। कोई आदमी है उसकी मोरी में गाढी-गाढी कीच जम गयी है। ऊपर से उसने पनी बहा दिया और कह दिया 'मेरी मोरी तो स्वच्छ हो गई। तो उसके कहने से ही तो वह स्वच्छ न हो जायगी। जब भी उसमें किसी पशु का पैर जायगा या लकडी घुस जायगी तब ही दुर्गन्ध करेगी। जब तक उसकी कीच,को

जड मूल से निकाल कर न बहाया जाय, तब तक जब भी अवसर मिलेगा तब ही वह दुर्गन्ध फैलाती रहेगी। किसी के फोडा हो गया है, उसके नीचे सडी हुई गाध भर रही है। ऊपर से उसका मुँह बन्द हो गया है, तुम समझ लो हमारा फोडा अच्छा हो गया, तो तुम्हारे समझ लेने से ही तो वह अच्छा न हो जायगा। जब अवसर होगा उसमें से गाध निकलने लगेगी। भर जायगा फिर फूट जायगा, इस प्रकार भरिया फूटा फोडा हो जायगा। जब तक उसे चिरवा कर भीतर से समस्त सडी हुई गाध न निकाल दी जाय, तब तक वह अच्छा न होगा। इसी प्रकार ऊपर से तुम कह दो विषय सब मिथ्या है किन्तु जहाँ मन के सम्मुख विषय आये कि मन हठ पूर्वक उनकी ओर दौडेगा। उनमे आसक्ति बढेगी। आसक्ति से संसार बन्धन होगा। इसलिये जो अधकचरे साधक थोडा सा साधन करके मन मानी करने लगते है। विधि निषेध की शृखला को तोड देते हैं, उनका अवश्य ही पतन हो जाता है वे बुरी तरह विषयों मे फँस जाते हैं। भ्रष्ट हो जाते है।"

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज! साधक तो आपका भजन पूजन करता है। आपके मंत्र का जप करता है, कथा कीर्तन मे चित्त लगाता है, फिर भी उसे अहंकार क्यों हो जाता है, वह विषयो मे क्यों फँस जाता है?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! साधना मे त्रुटि हो जाती है। उस आदमी जहाँ स्वामी जी महाराज जा कहने लगते हैं, वही अहकार आ जाता है। अहंकार आते ही देवता विघ्न कर देते हैं। पहिले साधारण प्रलोभन देते हैं। धनिक आकर पैरों पर पडते हैं राजे महाराजे आज्ञा मानते हैं। सुन्दरी युवती स्त्रियाँ आकर अत्यन्त भक्ति भाव प्रकट करती हैं। इतने पर भी साधक अपने पथ से विचलित नहीं होता, तो फिर स्वर्ग की अप्सरायें आती हैं

सारांश यह है कि जो जितनी ही दृढ़ता दिखाता है उसके लिये उतने ही उत्तम से उत्तम प्रलोभन आते हैं। यह देवताओं द्वारा विघ्न रूप मे भोग समुपस्थित किये जाते हैं। देवताओं का भी क्या दोष है, साधनावस्था मे जो अच्छा बुरा संकल्प उठ जाता है, उसे मैं किसी न किसी प्रकार से पूरा करा ही देता हूँ।"

उद्धव जी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! जिनके साधन में विघ्न हो जाते हैं, जो साधक प्रलोभन आने पर साधन छोड़कर विषयों मे फँस जाते हैं, उनका फिर सदा पतन ही होता जाता है, क्या उनका इतने दिन का किया हुआ समस्त साधन व्यर्थ हो जाता है?"

भगवान् ने कहा—"कोई भी कल्याण कृत कार्य व्यर्थ नहीं होता। तुम किसी पुस्तक को आधी पढ़कर छोड़ दो। पुस्तक पढ़ने में तुम्हारा मन लगा हुआ है किन्तु बीच मे कोई विघ्न आ गया, पढ़ना छूट गया, किन्तु फिर जब भी विघ्न हट जायगा संस्कार वश तुम फिर उस पुस्तक को वहीं से पढने लगोगे। इसी प्रकार साधना करते करते कोई विघ्न आ भी जाय, तो विघ्न के हट जाने पर पूर्वाभ्यास के कारण साधक फिर से योग मे ही प्रवृत्त होगा।'

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज, ये साधन में विघ्न होते क्यों हैं?"

भगवान् ने कहा—"संसार में जितने भी काम होते हैं, सब मे मेरी इच्छा ही प्रधान है। उसमें निमित्त कोई हो जाता है। जैसे मुझे किसी से कोई काम कराना है उसकी इच्छा न भी हो तो भी मैं उससे करा लेता हूँ। जैसे अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहता था उससे मैंने करा लिया किसी काम मे अपनी इच्छा कारण हो जाती है किसी में परेच्छा। बात एक ही है, किन्तु एक को स्वेच्छा प्रारब्ध कहते हैं दूसरे को परेच्छा प्रारब्ध।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! स्वेच्छा प्रारब्ध क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जिस काम में अपनी ही इच्छा से प्रवृत्त हो वह स्वेच्छा प्रारब्ध जन्य विघ्न है। जैसे विश्वामित्र जी जप कर रहे थे, मेनका आयी। मुनि ने अपनी इच्छा से प्रसन्नता पूर्वक उसे आश्रम में रख लिया इसे स्वेच्छा प्रारब्ध जनित विघ्न कहेंगे। मृकण्ड मुनि पराशर मुनि सौभरि मुनि तथा अन्यान्य मुनियों के विघ्न इसी श्रेणी के हैं। परेच्छा विघ्न वे होते हैं जिस में अपनी इच्छा तो होती नहीं परेच्छा क सम्मुख विवश हो जाना पडता है। जैसे कुन्ती नहीं चाहती थी किन्तु सूर्य भगवान् की इच्छा से मत्र के व्यर्थ न हो जाने के भय से उसे कुमारी अवस्था में ही कर्ण को जन्म देना पडा। महाराज ययाति शर्मिष्ठा में पुत्रोत्पत्ति नहीं करना चाहते थे किन्तु उसक अत्यत आग्रह से धम के भय से उन्हे ऐसा करना पडा। मनुष्य परिस्थितियो के वश मे होकर अपनी इच्छा न होने पर भी विवश हो जाता है, प्रवृत्त होने पर उसकी भी प्रवृत्ति हो ही जाती है। इस विषय में मैं आप को एक बडा ही सुन्दर दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक बडे तेजस्वी ब्राह्मण थे। वे सदाचारी सत्य निष्ठ कर्मकाडी थे। धन की भी उनको कमी नहीं थी। इसलिये वे सन्तान के लिय बडे लालायित रहते थे। साधु महात्माओं की भी बहुत सेवा शुश्रूषा किया करते। किन्हीं महात्मा ने उन्हे पुत्र होने का आशीर्वाद दिया। कालान्तर में उनके एक अत्यन्त ही सुन्दर पुत्र हुआ। माता पिता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे अत्यन्त लाड प्यार से उसका पालन करने लगे। लडका अत्यन्त ही सुशील तथा कामदेव के समान सुन्दर था। देखने में वह राजकुमार के समान लगता था। ब्राह्मण के धन की तो कमी थी ही नही राजकुमारों के ही समान उसे अत्यन्त सुख से रखने लगे। माता की बडी इच्छा था कि मैं पुत्र को बहू के साथ देखूँ, किन्तु उसकी यह इच्छा परा

नहीं हुई। बच्चा आठ वर्ष का भी नहीं हुआ कि वह इस संसार से चल बसी। अब बाप बेटा दो ही रह गये। पिता ने पुत्र को यथेष्ट धन व्यय करके पढाया। जब उसकी अवस्था विवाह योग्य हो गयी, तो पिता ने विवाह के लिये बहुत आग्रह किया। उसने कहा—"पिताजी! मैं विवाह न करूँगा, यदि आप मुझे बहुत विवश करेंगे, तो मैं गंगाजी मे डूब जाऊँगा।" पिता का इकलौता पुत्र था, उसकी ऐसी दृढता देखकर पिता ने फिर उससे विवाह करने को नहीं कहा। अठारह वर्ष की अवस्था में लडके ने एक बड़े विद्वान सन्यासी महात्मा से सन्यास की दीक्षा ले ली और सन्यासी महात्मा की ही सेवा में रहने लगा। घर का नाम उसका वासुदेव था। सन्यास का नाम पडा वासुदेवानन्द। उनके गुरु सिद्ध पुरुष थे उन्होंने अपने सुयोग्य शिष्य को सब प्रकार से साधन सम्पन्न बनाया योगाभ्यास भी कराया। कुछ काल मे वृद्ध पिता का भी देहान्त हो गया। अब तो वे युवक सन्यासी निर्द्वन्द्व होकर भजन पूजन योगाभ्यास करने लगे। दस वर्ष पश्चात् गुरु देव भी इस धरा धाम को त्यागकर चल बसे। गुरु के वियोग से उन्हें बडा दुःख हुआ और वे तीर्थ यात्रा के लिये निकल पड़े।

तीर्थ यात्रा करते-करते वे एक राजधानी में पहुँचे। वहाँ एक छोटा राजा राज्य करता था। गंगा किनारे उसका बडा भारी मंदिर था, उसी में अतिथि शाला थी। आगत साधु महात्मा वहीं ठहरते और उनका राजा की ओर से भलि भाँति स्वागत सत्कार होता। वे युवक सन्यासी भी वहाँ आकर ठहर गये। गंगा किनारे स्थान बडा रमणीक था। उनका वहाँ मन लग गया। उन्होंने सोचा—"यहाँ ४, ६ दिन रहकर विश्राम करें। भिक्षा का भी सुपास था। पढ़े लिखे ऐसे सुन्दर सन्यासी को देखकर पुजारी जी ने भी उन्हें बड़े प्रेम से ठहराया।

राजा की एक बड़ी सुन्दरी लडकी थी। उसके अतिरिक्त उनके

कोई सन्तान नहीं थी। इसीलिये चौदह वर्ष की अवस्था में उन्होंने समीप के ही एक साधारण भूमिधर के सुन्दर सुशील लड़के से उसका विवाह करके उसे घर जमाई रख लिया। दो वर्ष तक वह लड़का वहाँ रहा। एकबार काशी से कुछ सन्यासी आकर राजा के मंदिर में ठहरे, कुछ दिन रहकर वे चले गये। दूसरे ही दिन से वह लड़का नहीं मिला। बहुत खोज की किन्तु उसका कहीं पता नहीं चला। प्रसिद्धि ऐसी हो गयी, कि उसे सन्यासी ले गये और चेला बना लिया। दस वर्ष में बात पुरानी हो गयी।"

अब जब यह युवक सन्यासी आया तो इसका रूप रंग उससे मिलता जुलता था। पुजारी को सन्देह हुआ कि हो न हो यह राजकुमार ही है। उसने पूछा—"स्वामी जी! आपको किस नाम से पुकारते हैं?"

स्वामी जी ने कहा—'वासुदेवानन्द।"

पुजारी जी ने पूछा—"आपका घर का नाम क्या था?"

स्वामी जी ने कहा—"घर का भी नाम वासुदेव ही था।"

संयोग की बात कि उस लड़के का भी नाम वासुदेव ही था। पुजारी जी ने यह समाचार रानी जी के पास भेजा। रानी जी चुपके से लड़की के साथ दर्शन करने आयीं। उनको भी कुछ संदेह हुआ। लड़की से पूछा—"लड़की ने कह दिया—'हाँ, निश्चय ही वे ही हैं।"

राजा ने भी देखा। उन्होंने कहा—"वह नहीं हैं। फिर भी उन्होंने भोजन करने के लिये स्वामी जी को आमन्त्रित किया। सरलता से स्वामी जी चले गये। तभी राजा ने इस लड़के की माता को बुलाया कि एक सन्यासी आया है वह तुम्हारे लड़के की भाँति है।"

यह सुनते ही बुढ़िया दौड़ी आयी। उसने आते ही रोना आरंभ किया—'हाय! बेटा तू सन्यासी क्यों हो गया।" अब

तो स्वामी जी घबड़ाये। वे बोले— माता जी! आपको भ्रम हो गया है, मैं तो ब्राह्मण का बालक हूँ काशी मेरा घर है। किन्तु बुढ़िया मानती ही नहीं थी। लड़की भी रो रही थी। सब को निश्चय हो गया वही है। नाम रूप सभी तो एक है। अपने को छिपाने के लिये यह ब्राह्मण बनता है। राजा ने बलपूर्वक उनका संस्कार कराया कपड़े बदलवा दिये। पहरे में रख दिया। क्या करते कहीं जा भी नहीं सकते थे। फँस गये चक्कर में रहने लगे गृहस्थी बनकर। एक लड़का एक लड़की भी हो गये। एक दिन अवसर मिला तो चुपके से भाग आये। आकर फिर सन्यास लिया। फिर से अभ्यास करने लगे। यह परेच्छा प्रारब्ध था। वैसे होता है सब भगवान् की ही इच्छा से।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आपका कथन सत्य है मनुष्य कर्म करने को विवश हो जाता है। नहीं करना चाहता तो भी स्वभाववश कर ही बैठता है। यद्यपि व्याकरण शास्त्र में कर्ता को स्वतन्त्र बताया है, किन्तु हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणी कर्म करने में परतन्त्र है। कोई इससे कर्म कराता है, कोई इसे बल पूर्वक घुमाता है। हाँ, तो महाभाग! उद्धव जी ने भगवान् से फिर क्या प्रश्न किया?"

सूतजी ने कहा— 'भगवन्! उद्धव जी ने भी यही बात पूछी, कि प्रभो! यह प्राणी भले बुरे कर्मों को करता ही क्यों है?"

इसपर भगवान् ने कहा—"उद्धव! जीव किसी अन्य की ही प्रेरणा से मरणपर्यन्त कर्म करता रहता है।"

उद्धव जी ने पूछा—'तब फिर महाराज! ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर ही क्या रहा। ज्ञानी किसी की प्रेरणा से तप स्वाध्याय आदि करता है अज्ञानी चोरी जारी आदि कर्म करता है। दोनों ही कर्म करने में परतन्त्र हैं। फिर अज्ञानी की निन्दा क्यों की

जाती है, ज्ञानी की स्तुति क्यों की जाती है। दोनों ही तो एक से हैं, दोनो ही तो विवश होकर पर प्रेरणा से कर्म कर रहे हैं।"

भगवान ने कहा—"हाँ, सत्य है। ज्ञानी अज्ञानी दोनों ही किसी अन्य की प्रेरणा से कर्म करते हैं किन्तु ज्ञानी और अज्ञानी दोनो मे एक बडा भारी अन्तर है। अज्ञानी अपने को ही उन कर्मों का कर्ता मान लेता है बन्धन या दु ख के कारण कर्म नहीं है, उनमे जो ममता हो जाती है वही दुःख का कारण है। धन दुःख का कारण मृत्यु नहीं है अपने की मृत्यु ही दुःख का कारण है धन नाश हो जाना दुख का कारण नहीं है। नित्य ही कितनों का धन नाश होता है। अपने ही नगर में बहुत से लोग लखपती से भिखारी बन जाते हैं उनका सर्वस्व नष्ट हो जाता है, किसी को दुःख नहीं होता। हाँ जिनका उनसे अपनापन है उन्हीं को दु.ख होता है। ज्ञानी और अज्ञानी कर्मों को तो समान भाव से करते ही हैं, किन्तु अज्ञानी अपने को ही कर्ता मानता है, ज्ञानी अपने को कर्ता नहीं मानता। वह सोचता है जीव का धर्म है कुछ करते रहना। बिना किये कोई क्षण भर ठहर ही नहीं सकता। होता है होता रहे, मैं तो कर्ता हूँ नहीं। जो अपने को कर्ता नहीं मानता वह बन्धन में कैसे फँसेगा। उसे दु:ख क्यो होगा। एक व्यापारी है वह शरीर से तो कुछ करता नहीं। करते धरते सब उसके मुनीम हैं, किन्तु वह अपने को स्वामी मानता है इसीलिये व्यापार में जो घाटा होता है उसका दुःख भी उसे ही सहन करना पड़ता है। मुनीमों को अपने वेतन से काम। ऊपर से लोक दिखाने को हर्ष शोक भले ही प्रकट करें। उसके साथ ममता न होने से हानि लाभ मे वे सम भाव से बने रहते हैं। इसी प्रकार अविवेकी पुरुष कर्तृत्वाभिमान के कारण बँध जाता है, विवेकी ज्ञानी पुरुष अपने को कर्ता न मानने से लौकिक विषयों में रहते हुये भी देह सम्बन्धी कर्म करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता और तृष्णाहीन होकर

होकर नित्य आनन्द सागर में निमग्न बना रहता है चिन्ता उसके समीप फटकने भी नहीं पाती। दुःख उसे स्पर्श भी नहीं करता। विषय असत् है, एक मात्र आत्मा ही सत् इस प्रकार की भावना करते करते उसकी स्वरूप मे अवस्थिति हो जाती है। वह कर्ता भोक्तापने के अभिमान से सदा सर्वदा अपने को पृथक ही अनुभव करता है।

उद्धवजी ने पूछा—'भगवन्! ऐसी स्थिति मे पहुँचा हुआ पुरुष क्या शारीरिक कर्म नहीं करता?'

भगवान् ने कहा—'अरे, भाई! करता क्यों नहीं। भूख प्यास जो प्राणों के धर्म हैं वे तो जब तक शरीर है तब तक रहेंगे ही, किन्तु इन गुणों का आरोप वह आत्मा में नहीं करता। वह भोजन करता है, किन्तु उस भोजन को आत्मा के द्वारा खाया हुआ नहीं मानता। वह उठता है, बैठता है, चलता है, फिरता है, सोता है, मल-मूत्र त्याग करता है और भी स्वाभाविक क्रियाओं को करता है, किन्तु अपने को शरीर से सदा पृथक् अनुभव करता है। उसे कोई कर्म बाधा नहीं पहुँचाते। वह सुख दुःख, हानि लाभ, जीवन मरण सबसे अपने को पृथक् मानता है।

उद्धव जी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! ज्ञानी को सर्वथा इन इन्द्रियजन्य विषयों की प्रतीति नहीं होती?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया! होती क्यों नहीं, जब तक शरीर है इन्द्रियाँ है तब तक विषयों की प्रतीति होना स्वाभाविक है, किन्तु उसका विवेक उसके साथ रहता है वह उसे सदा सचेत करता रहता है, कि यह जो दिखायी दे रहा है यह सत्य नहीं मिथ्या है। अब जैसे किसी ने स्वप्न में सिंह देखा। उससे वह डर गया। निद्रा खुल गयी, किन्तु अभी तक शरीर रोमाञ्चित है, नेत्रों से अश्रु बह रहे हैं, शरीर काँप रहा है, फिर भी उसे जाग्रत अवस्था प्राप्त होने के कारण यह ज्ञान है, कि जिस स्वप्न के सिंह

से मेरी यह दशा हो रही है, वह सर्वथा मिथ्या है, वह मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता। इसी प्रकार ज्ञानी को जब तक ज्ञान नहीं हुआ था तब तक उसे यह संसार सत्य प्रतीत होता था। इसकी घटनाओं से उसे दुख सुख होता था। अब जब ज्ञान हो गया, तो उसकी दृष्टि के सम्मुख संसार तो है ही, किन्तु उसे वह असत् समझता है उसका ये सांसारी विषय कुछ अनिष्ट नहीं कर सकते। यदि उसे कोई वस्तु सत् प्रतीत होने भी लगती है, तो अनेक युक्तियों से नाना प्रकार के अनुमानों से असत सिद्ध कर देता है। उसे आत्मा से भिन्न मानकर मिथ्या ठहरा देता है क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त जो भी कुछ है सब असत् है।'

उद्धवजी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! आत्म ज्ञान होने पर वह आत्मा को छोड़कर सब का त्याग कर देता है?"

भगवान् ने कहा—"त्याग तो तब संभव है जब आत्मा में मिलावट हो। किसी ने सीपी में चांदी है यह निश्चय कर लिया और जब वह सीपी के समीप गया, तो वहाँ चांदी नहीं केवल सीपी ही सीपी है। वह सीपी को उठा लाया, तो यह नहीं कह सकते कि उसे जो सीपी में चांदी दीख रही थी, उसे तो छोड़ आया, केवल सीपी को ही उठा लाया। सीपी में तो चांदी थी ही नहीं। उसमें होती तब त्याग संभव भी था। उसमें तो थी ही नहीं ज्ञान होने पर उसके भ्रम का निवारण हो गया। इसी प्रकार विविध भाँति के गुण कर्मों से युक्त जिन देह इन्द्रियां तथा विषय आदि अज्ञान जन्य पदार्थों को ज्ञान होने के पूर्व जो साधक आत्मा से संश्लिष्ट समझता था, अब उन्हीं को ज्ञान होने पर मिथ्या मानने लगता है। आत्मा से वे पृथक् होकर कहीं चले नहीं जाते। चले तो तब जाते जब आत्मा में मिले हुये होते। आत्मा में न तो ग्रहण है त्याग, वह तो नित्य, शुद्ध बुद्ध, असंग और निर्लेप है। अब जैसे एक भवन में अनेक वस्तुएं रखी हैं, अन्धकार के

कारण तुम्हें एक भी वस्तु दिखायी नहीं देती। उस भवन में सूर्य, नेउदित होकर प्रकाश फैला दिया तो उसमें रखी सब वस्तुएँ स्पष्ट दिखायी देने लगीं। सूर्य ने कहीं बाहर से लाकर उन वस्तुओं को रखा नहीं, केवल तुम्हारे नेत्रों पर जो तम का आवरण था वह हटा दिया। उसके हटते ही सब स्पष्ट दिखाई देने लगा। इसी प्रकार आत्म ज्ञान से अन्तःकरण पर छाया हुआ अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। आत्मा का यथार्थ रूप प्रकाशित हो जाता है। कोई विलक्षण वस्तु कहीं से आ नहीं जाती।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! आत्मा को कौन प्रकाशित करता है?"

भगवान् ने कहा—"आत्मा तो स्वयं ही प्रकाशित है, उसे प्रकाशित कौन करेगा। जितना भी संसार में प्रकाश है, उसको भी प्रकाश आत्मा से ही प्राप्त होता है। वह स्वयं प्रकाश है। यह भी नहीं कि यह किसी से उत्पन्न होकर व्याप्त है, यह तो अनादि अजन्मा अनन्त और अप्रेय है। एक अद्वय है, महानुभाव तथा सर्वानुभव स्वरूप है। शब्दों में व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं क्योंकि यह वाणी का विषय है ही नहीं। मन और वाणी उसे प्राप्त न करके लौट आते हैं, फिर भी मन, प्राण तथा इन्द्रियों को वहाँ से प्रेरणा प्राप्त होती है, उसी की प्रेरणा से ये सब अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।"

उद्धव जी ने पूछा—"जब आत्मा में यह सब नहीं है, तो यह निराधार की धारणा हुई कैसे। इस विकल्प का अवलम्ब क्या है?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई इसे अनेकों बार तो बता चुके इसका कुछ भी अवलम्ब नहीं है यह निरालम्ब है। यह चित्त का मोह है, मनका भ्रम है। रज्जु का सर्प है। बालकों को हाऊ बिलाऊ का भय दिखाते हैं। हम जब छोटे थे तो यशोदा मैया हम से कहा

करती थीं—"बेटा ! वन में अकेले मत जाना वहाँ हाऊ बिलाऊ हैं। जब हम बडे हुए तो बारहू वन बारहू उपवन सब खोज डाले हमें तो आज तक हाऊ बिलाऊ मिले नहीं। इसी प्रकार यह संसार हाऊ बिलाऊ है। परम्परा गत व्यर्थ की रूढि है। जो लोग आत्मा में विकल्प मानते हैं उसका अपने आत्म स्वरूप मन के अतिरिक्त अन्य कोई भी आश्रय नहीं है।

उद्धव जी ने कहा—"भगवन् ! यह ससार प्रत्यक्ष दिखायी देता है। समस्त व्यवहार इसी ससार से चल रहे हैं। पुराणों में नाना भाँति से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है इस सृष्टि की रक्षा के लिये धर्म की स्थापना के लिये आप अनेक अवतार धारण करते हैं। दुष्टों का दमन करते हैं मर्यादा स्थापन करते हैं। यह संसार असत् होता तो ये काय कैसे होते ? यदि आत्मा के अतिरिक्त जीव और जगत् सत्य न होते तब तो समस्त साधन ही व्यथ है। द्वैत के बिना उपासना हो ही नहीं सकती। जब तक एक उपास्य और दूसरा उपासक न हो तब तक उपासना होगी कैसे ?

भगवान् ने कहा—"तुम्हें वेद वाक्यो पर विश्वास नहीं। वेद में तो सर्वत्र आत्मा को एक अद्वय बताया है।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज ! विश्वास क्यों नहीं। विश्वास तो है, किन्तु वेद तो परोक्ष रूप से वर्णन करता है। वेद में रोचक भयानक यथार्थ तथा अर्थवाद सम्बन्धो नाना प्रकार के वचन है। जैसे स्त्री को कह दिया 'चन्द्रमुखी' अर्थात् जिसका मुख चन्द्रमा हो। किस स्त्री के मुख में चन्द्रमा जडा रहता है। यहाँ चन्द्रमुखी का अभिप्राय है चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख। इसी प्रकार वेद में वचन आते हैं, "यह यूप ही आदित्य है।" लकडी का बना हुआ यूप आदित्य कैसे हो सकता है। इसे तो छोटा बालक समझ सकता है कि सभा सूर्य नहीं है। यहाँ यूप को आदित्य कहने से

अभिप्राय इतना ही है, कि यह खम्भा जैसे सूर्य उज्वल है वैसे उज्वल है। केवल प्रशसा परक उपमा मात्र में ही तात्पर्य है। किसी धनी को कह देते हैं तुम इन्द्र हो, वरुण हो कुबेर हो। साधारण पुरुष इन्द्र, वरुण, कुबेर के समान ऐश्वर्यशाली कैसे हो सकता है। केवल उसकी प्रशसा मे ऐसे श्रुत मधुर वचन कह दिये जाते हैं। इसी प्रकार यज्ञ करने वाले यजमान को बढावा देने के के लिये कह देते हैं वह आत्मा तुम ही हो।" भला जीव आत्मा कैसे हो सकता है। ऐसे वचन केवल प्रशसा परक हैं, अर्थवाद हैं। इनसे जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता।"

इनपर हँसते हुए भगवान् ने कहा—"उद्धव! मीमासक लोग भी ऐसा ही कहते हैं, वे ऐसे वाक्यों को प्रशसा परक मानते हैं। इधर जो ज्ञानी हैं वे भी सकाम कर्मों की प्रशसा वाले वाक्यों को श्रुत मधुर प्रशंसा परक मानते हैं। वास्तव में तो यह नाम और रूप द्वारा ग्रहण किया जाने वाला पाञ्च भौतिक द्वैत बाधित ही है। ये जितने लौकिक अचित् असत् पदार्थ हैं सब मिथ्या हैं, निरानन्द हैं। परिणाम मे दुख देने वाले हैं। अतः शास्त्रोक्त साधनों द्वारा एक मात्र मुझे ही सत्य जाने भक्तियोग द्वारा मुझे ही प्राप्त करने के लिये सदा साधक भजन करता रहे। साधनों में विघ्न सबको आते हैं, उन विघ्नों को देखकर हतोत्साह न हो। साधना करते करते विघ्न उपस्थित हो जायँ, तो उन विघ्नों को भी अनेक उपायों द्वारा शान्त करे।

इस पर उद्धव जी ने दीनता के साथ कहा—"भगवन्! जितने भी साधक हैं उन्हें साधन काल में विघ्न अवश्य आते हैं। यही नहीं जो जितना बडा साधन करता है उसे उतने ही भारी भारी विघ्न आते हैं। जिसे साधन काल में विघ्न न आवे उसे या तो जन्म सिद्ध जीवन्मुक्त समझना चाहिये या फिर उसका साधन दम्भ मात्र है। नहीं तो साधन क्षेत्र तो विघ्नों से ही आरम्भ होता

है और विघ्नों का जहाँ अन्त हो जाता है वहाँ साधन की भी समाप्ति होती है। अतः कृपा करके मुझे आप यह बतावें कि विघ्न आने पर वे किन किन उपायों से शान्त किये जा सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! साधनों के विघ्नों की कोई संख्या तो है ही नहीं। अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं और उनके अनेक ही शान्त करने के साधन हैं, उनमें से कुछ को मैं यहाँ तुम्हें बताता हूँ, उसी से तुम अन्य विघ्नों के शान्त करने का भी उपाय समझ सकते हो। साधन कंटकाकीर्ण है साधन में आने वाले विघ्न ही बड़े बड़े तीखे कंटक हैं। धैर्यवान् ही इस छुरा की धार वाले पथ को पार कर सकता है। इसलिये साधना में विघ्न आ जायँ तो कभी भी हतोत्साह न होना चाहिये। अरे भाई! जो घोड़े पर चढ़ेगा वही गिरेगा। जो घर में बैठ कर चक्की पीसने वाली स्त्री है उसे तुमने कभी सुना है कि घोड़े से गिर गयी। एक विघ्न आ जाय उसे दूर करे दूसरा आ जाय उससे लड़े। इस प्रकार विचलित न हो। अब मैं तुम्हें साधन में आनेवाले विघ्नों को शांत करने के कुछ उपाय बताता हूँ।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् विघ्नों के शान्त करने का उपाय बतावेंगे उसे मैं आपसे कहूँगा।"

छप्पय

है विकल्प तें रहित आतमा चित्त मोह वश।
करै द्वैत को मान भेद करि राजस तामस॥
अर्थ वाद जो कहैं, अज्ञ ते पंडित मानी।
भोगनि महँ सुख लहैं असत् कर्मनि अभिमानी॥
करै साधना योग की, विघ्न डिगावैं आइ कें।
तौ विघ्ननि कूँ नाश करि, बढ़ैं फेरि हरषाइ कें॥

योग साधन के विघ्न और उनके उपाय

(१३२३)

योगधारणया कांश्चिदासनै र्धारणान्वितैः ।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

होइ शीत सताप सूर्य शशि करै धारना ।
वात आदि बढि जाइ करै आसननि कल्पना ॥
होहिँ भाग्यवश पाप तिनिहि तप करिकें जारै ।
वात पित्त कफ बढै औषधिनि तें सहारै ॥
कोप क्रूर ग्रह करहिँ यदि, तौ मन्त्रनि को जप करै ।
काम वासना यदि उठै, ध्यान सतत मेरो धरै ॥

इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है। जिसके करने से साध्य की प्राप्ति होती है उसे साधन कहते हैं। उपकरणों का समावेश भी साधन में ही है जैसे हमें अन्न उत्पन्न

---

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव ! योग साधना में होने वाले विघ्नों में से किन्हीं विघ्नों को तो योग धारणा से, किन्हीं को धारणा सहित आसनों से, किन्हीं को तपस्या, मन्त्र तथा औषधि से साधक शान्त करे।"

करना है, तो उसके लिये भूमि गोड़ना बीज खोजना. बीज बोना, पानी देना ये सब साधन हैं और हल बैल आदि उपयोग में आने वाली वस्तुओं की साधन संज्ञा है। यदि साधन समुचित रूप से किया जाय और भाग्य अनुकूल हो, तो उपयुक्त साधनों के द्वारा सिद्धि अवश्य ही प्राप्त होगी। साधन करने के समय जब तक साध्य की प्राप्ति न हो और बीच में कुछ विघ्न आजायँ, तो साधन को शिथिल न करना चाहिये समस्त शक्ति उस विघ्न के हटाने में लगानी चाहिये। जैसे अन्न प्राप्ति के लिये हमने खेत जोत कर उसमें बीज बो दिया, इतने से ही हमारा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता। इतने मात्र से ही अन्न प्राप्त हो जाना चाहिये, किन्तु जब तक अंकुर बढ़ा नहीं, उसमें दाने पड़े नहीं। पड़े हुए दाने पके नहीं और पके हुए कट घर आये नहीं, इसके बीच में अनेकों विघ्न हैं कीड़े लग गये, मूसे निउले, दीमक, टिड्डी आ गयी कोई खेती को नष्ट करने वाला विघ्न हो गया, तो उसे हटाने का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिये। जो आगत विघ्नों को हटाने के लिये कटि बद्ध नहीं होता, उनसे डर कर भाग जाता है, उसे इष्ट वस्तु की कभी प्राप्ति होती ही नहीं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने भगवान् से साधन में आने वाले विघ्नों को हटाने के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! साधन काल में अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं। जैसे शरीर में व्याधियों का हो जाना, साधन में संशय हो जाना, मन में काम क्रोधादि विकारों का हो जाना तथा अन्यान्य दैहिक दैविक, भौतिक और मानसिक विघ्नों का हो जाता इन सब विघ्नों को विविध उपायों से नाश करे।

उद्धव जी पूछा—"महाराज! किन किन उपायों से किन किन रोगों का नाश करे।"

भगवान् ने कहा—"साधना में सब प्रथम विघ्न तो आते हैं,

शारीरिक रोग। ऐसे बहुत ही कम साधक होंगे, जिन्हे साधन करने के समय भयकर रोग न हुए हो। इसी से साधारण लोग कहने लगते हैं—"अजी, साधना से शरीर रोगी हो जाता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! साधक तो साधना जैसा परम पवित्र कर्म कर रहा है, फिर उसे रोग क्यों होते हैं। 'पूर्व जन्म कृत पाप ही व्याधि रूप से आकर बाधा पहुँचाते हैं।"

भगवान् ने कहा—"देखो, श्रेय कर्मों में विघ्न हुआ ही करते हैं, इस शरीर का सम्बन्ध इसी जन्मों के कर्मों से थोड़ा ही है। जन्म जन्मान्तर के कर्म सचित रहते हैं। प्रारब्ध में जो सुख दुख है वे अवश्य भोगने ही पडेगे संचित कर्म भले ही भस्म हो जायँ, क्रियमाण कर्म भले ही आगे के कर्मों का संचय न करे किन्तु प्रारब्ध का तो बिना भोग के क्षय होने का ही नहीं। इसलिये प्रारब्ध कर्मों के भोग के अनुसार रोग होते हैं। दूसरे जैसे मोरी कीच का घर है वैसे ही शरीर रोगों का घर है। मोरी रहेगी तो उसमें कीच बहेगी और जमा होगी। यदि तुम चाहो कि मोरी की समस्त कीच को निकाल कर उसे स्वच्छ और निर्मल कर दें तथा आगे से उसमे कीच न आने दे तो सर्व प्रथम तो तुम्हें मल जमा होने का द्वार बन्द करना होगा, कि अब इसमें कीच न आवे। फिर तुम्हें उसकी समस्त कीच को निकालना होगा अब तक तो वह दबी ढकी बनी हुई थी, इसलिये किसी का ध्यान नहीं जाता था। अब जितनी कीच निकालते हैं उतनी ही उसमे मे से दुर्गन्ध आती है। निरन्तर निकालते निकालते अन्त में वह स्वच्छ हो जाती है। इसी प्रकार जब तक मन ससार में फँसा रहता है, तब तक तो अपने दोष दीखते ही नहीं। जब तक भली भाँति खटिया पर न पड जायँ, तब तक सैकडों रोगों के रहने पर भी उनकी ओर ध्यान नहीं देते। पेट में अपच है अजीर्ण है, फिर भी भोजन किये बिना मानेंगे नहीं। सिर में पीडा है, पेट भारी है,

फिर भी काम काज करते ही रहेंगे। ऐसे कहाँ तक ठाली बैठे रहे। बिना किये मन भी तो नहीं लगता किन्तु जब संसार से चित्त को हटा कर परमार्थ साधन में लगाते हैं, तब सम्पूर्ण शरीर में दोष ही दोष दिखायी देने लगते हैं। अंग अंग में रोग प्रतीत होने लगते हैं। मैले कपड़े को जब तक न धोओ तब तक ध्यान ही नहीं जाता मैले का क्या मैला होना। किन्तु जब से चार आदि से स्वच्छ करते हैं तो जितना ही धोते हैं, उतना ही मैल निकलता है। साधन काल में रोग आवें तो घबड़ाना न चाहिये। पहिले तो आहार को मित और पवित्र करना चाहिये। अन्न को औषधि समझ कर खाना चाहिये। रोग वात प्रधान हो, तो कफ और पित्त प्रधान पदार्थ खाने चाहिये। पित्त प्रधान हो तो कफ वात प्रधान वस्तुओं का अधिक व्यवहार करना चाहिये कफ प्रधान हो तो गरम सूक्ष्म तथा चरपरे आदि वात पित्त प्रधान पदार्थों का अधिक सेवन करना चाहिये। कुछ अन्य उपयोगी औषधियों का भी प्रयोग करना चाहिये। ये आरम्भिक साधारण विघ्नों के उपाय हैं, यदि साधन करते करते धारणा तक स्थिति पहुँच गयी हो और फिर भी शीत तथा उष्णादि का प्रकोप हो, तो इन विघ्नों को धारणा से दूर करे।"

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज! धारणा से कैसे विघ्नों को दूर करे।"

भगवान ने कहा—'जैसे कहीं पर्वत आदि में साधना कर रहे हैं। वहाँ हिम का अधिक प्रकोप है शीत के कारण साधन होता नहीं, इसलिये वहाँ सूर्य की धारणा करनी चाहिये। जिसकी धारणा करोगे उसी के स्वभाव का मन हो जायगा। स्त्री किसी कामी पुरुष की, तथा पुरुष किसी कामिनी की मन से धारणा करता रहेगा, तो उसका मन भी काम वासना युक्त बन जायगा।

इसी प्रकार सूर्य की उपासना करने से हिमकण गल जायेंगे और शरीर भी गरम हो जायगा। ऐसे ही चन्द्रमा की धारणा से कितनी भी उष्णता क्यों न बढ़ रही हो सब शान्त हो जायगी। इसी प्रकार सब प्रकार की धारणाओं से सब प्रकार के विघ्न हटाये जा सकते हैं। धारणायुक्त प्रत्येक आसन से भी दोषों की निवृत्ति होती है। जैसे कोई कार्य सिद्ध नहीं हो रहा है उसमें मन उद्विग्न है, तो सिद्धासन से बैठ कर किसी सिद्ध की धारणा करने से कार्य सिद्ध हो जायगा मन शान्त हो जायगा। अपने शरीर में या आस पास दुर्गन्ध आ रही है, तो पद्मासन से बैठ कर पद्म में धारणा करने से दुर्गन्ध हट जायगी कमल की जैसी सुगन्धि भर भर जायगी। इसी प्रकार अनेक धारणा युक्त आसनों से अनेक विघ्न दूर हो सकते हैं। कोई पाप बन गया, तो उसे व्रत उपवास आदि प्रायश्चित्तों से नाश कर दे।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! योग साधना में तो अनाहार अत्याहार दोनों वर्जित हैं, फिर उपवासादि से योग में आये विघ्नों की शान्ति कैसे हो?"

भगवान् ने कहा—"जिस समय प्रायश्चित्तादि करने हों उस समय उस योग साधना को स्थगित करके व्रतादि से पापों की शान्ति करे। यह आरम्भिक साधकों के लिये। जिनकी साधना बढ़ी चढ़ी है, उनसे यदि कोई नियम विरुद्ध कार्य बन जाय तो उन्हें योग साधन के ही द्वारा उसे भस्म कर देना चाहिये उनके लिये अन्य व्रतादि प्रायश्चित्तों का विधान नहीं है। वास्तव में तो सांसारिक भोगों के त्याग का ही नाम तप है। योगियों के लिये युक्ताहार विहार ही श्रेष्ठ तप है।

कुछ विघ्न ऐसे आ जाते हैं, जो मन्त्रों के जाप से ही शान्त हो जाते हैं। अपने गुरु मन्त्र का गायत्री मन्त्र का तथा सिद्धों द्वारा बताये मन्त्रों के जपने से तुरन्त शान्त हो जाते हैं। साधना

में सब से बड़ा विघ्न है काम। उस पर जितने विजय प्राप्त कर ली, उसने मानों सब को जीत लिया।"

उद्धव जी ने कहा—"हाँ, भगवन्! यह दुष्ट काम ही समस्त अनर्थों की जड़ है। यह काम बड़े बड़े ज्ञानी, ध्यानी, योगी तथा यतियों को पछाड़ देता है यह काम ही क्रोध का भी रूप रख लेता है। यह बड़ा भुक्खड़ है इसका पेट ही नहीं भरता। इसे कैसे जीता जाय।"

भगवान् ने कहा—"भैया, इस काम ने ब्रह्मादिक देवों को भी पथ से विचलित कर दिया है। शिव जी ने इसे भस्म अवश्य कर दिया, किन्तु काम न आकर उन्हें क्रोध आ गया। बात तो एक ही हुई। मेरे पास भी यह बद्रीनाथ में आया था। मैंने इसे भी बुरा भला न कहा और न क्रोध किया। तब तो यह बड़ा लज्जित हुआ और मेरा चेला बन गया। इसलिये जहाँ यह आ जाय, वहाँ मेरा ध्यान करने से यह लज्जित हो जाता है और वहाँ से चला जाता है। इस समस्त विघ्नों के राजा को जीतने के लिये मेरे प्रगाढ़ ध्यान के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय है ही नहीं। मन में जब और बुरे बुरे विचार उठने लगे या सांसारिक बातें याद आने लगें तब किसी वीत राग महात्मा का ध्यान करना चाहिये। ऐसे महात्मा के दर्शन हुए हों उन पर अपनी श्रद्धा हो तो उनकी मूर्ति का ध्यान कर। अथवा प्राचीन योगेश्वर जैसे नारद, कपिल सनक, सनन्दन, सनातन, सनत् कुमार या और व्यास शुक आदि योगेश्वरों का ध्यान करे।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! मुझे कोई समस्त विघ्नों के नाश करने का सरल सुगम सा उपाय बता दें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मेरे नाम संकीर्तन से बढ़ कर विघ्नों के नाश करने का दूसरा कोई सरल सुगम साधन है ही नहीं। जब भी कोई विघ्न आ जाय, तब उच्चस्वर से मेरे सुमधु

नामों का कीर्तन करने लगे। मेरे नाम के कीर्तन से समस्त विघ्न उसी प्रकार भाग जाते हैं जैसे सिंह की गर्जना सुनकर समस्त वन के जन्तु भाग जाते हैं इसलिये मेरे नाम सकीर्तन से बढ़कर और कोई सर्वोपयोगी साधन है ही नहीं "

उद्धव जी ने कहा--'भगवन्! जैसे रोगों के आने के पूर्व ही उनके रोकने का उपाय करने से रोग नहीं आते। ऐसे ही विघ्नों के आने के पूर्व ही पहिले मन्त्र औषधियों द्वारा शरीर को युवावस्थापन्न सुन्दर और निरोग बना ले, तब अन्य साधना करे, तो फिर विघ्नों का भय न रहेगा।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, ऐसा भी लोग करते हैं,। प्रथम षट कर्मों के द्वारा शरीर को शुद्ध करते हैं। अनेक लोग रसायनों से शरीर का कल्प करते हैं सफेद बालों को काले कर लेते हैं। जरावस्था को मिटा कर युवावस्थापन्न हो जाते हैं। जब उन्हें शारीरिक सिद्धियाँ अर्थात् निरोगता, स्वस्थता आदि प्राप्त हो जाती हैं, तो

अणिमा, गरिमा, लघिमा तथा ईशत्व वशित्व आदि सिद्धियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, एक एक सिद्धि को प्राप्त करने में बीसों वर्ष लगा देते हैं, किन्तु बुद्धिमान पुरुष उनके इस काम की प्रशंसा नहीं करते।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवान्! बुद्धिमान् पुरुष इसकी प्रशंसा क्यों नहीं करते? आकाश में उड़ जाना, जल पर पृथिवी की भाँति चले जाना, अग्नि को उत्पन्न कर लेना तथा अदृश्य आदि हो जाना ये साधारण कार्य तो नहीं हैं।"

भगवान् ने कहा—'असाधारण ही कार्य सही, किन्तु मेरी प्राप्ति में इनका क्या उपयोग? यदि आकाश में उड़ने से ही मेरी प्राप्ति हो जाती तो ये पक्षी सभी मुझे पा लेते। यदि जल पर चलने से ही सिद्धि होती, तो ये मछलियाँ जो विपरीत धारा को काट कर चली जाती हैं और रात्रि दिन जल में ही उठती बैठती, खाती पीती तथा सोती, जागती हैं ये सभी सिद्ध बन जातीं। इस विषय में एक बड़ा रोचक दृष्टान्त है।

एक कोई लड़का था, उसे योग सीखने की इच्छा हुई। किसी योगी के समीप जाकर उसने योग की शिक्षा प्राप्त की जब वह सीख कर अपने गाँव में आया, तो हल्ला हो गया—'अमुक बड़ा सिद्ध होकर आया है।" बहुत से लोग उसकी प्रशंसा सुनकर वहाँ एकत्रित हुए और उससे कुछ सिद्धि दिखाने की प्रार्थना करने लगे। सब के कहने पर उसने सिद्धियाँ दिखायीं। पहिले वह खड़ाऊँ पहिन कर भरी गंगा में बिना नौका के पार हो गया। एक दूसरा आदमी था वह एक मल्लाह की नौका पर चढ़ कर पार हो गया।

फिर उसने सूखी लकड़ियों पर जल छिड़क दिया, वे तुरन्त जलने लगीं बुद्धिमान पुरुष ने एक लोहे के टुकड़े से चकमक को घिसा उससे अग्नि हो गयी। लोगों ने उस योगी की सिद्धि की

बड़ी प्रशंसा की और उस बुद्धिमान व्यक्ति से पूछा—"आपने देखा, कैसी अद्भुत सिद्धियाँ इन्हें प्राप्त हो गयी हैं।"

बुद्धिमान् पुरुष ने कहा—'हाँ, तीन पैसे की सिद्धि तो हो गयी है।"

लोगों ने पूछा—"तीन पैसे की सिद्धि कैसे है?"

बुद्धिमान व्यक्ति ने कहा—"देखिये वे तो खड़ाउओं पर चढ़ कर गये मैं दो पैसे की नौका करके उस पार चला गया। पार तो दोनों ही हो गये। उन्होंने पानी छोड़ कर सूखी लकड़ियों को जला दिया। मैंने पैसे के लोह चकमक से अग्नि जला दी। जो काम उनकी अग्नि से हो सकता है, वही मेरी जलाई हुई अग्नि से हो सकता है। इसलिये मेरी दृष्टि में उनकी सिद्धि का मूल्य तीन पैसे से अधिक नहीं है।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! इसीलिये बुद्धिमान पुरुष इन सिद्धियों के ही पीछे लगे रहने वालों का आदर नहीं करते। अब भला तुम ही सोचो, यह शरीर सहस्र दो सहस्र वर्ष बना भी रहा, तो क्या हुआ। जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्य होगा। जो वृक्ष पर लगा है वह गिरेगा अवश्य। चाहे कच्चा ही गिरा दिया जाय या पक कर। इसीलिये बुद्धिमान योगी गण शरीर की सिद्धियों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। जो विधिवत् यम नियमों का पालन करेगा। उसकी कायाकल्प तो हो ही जायगी। उसका तो शरीर स्वतः ही दिव्य बन जायगा। किन्तु ऐसा होने पर अभिमान न करे कि मुझे तो बड़ी सिद्धि मिल गयी। शरीर का फूल की भाँति हलका हो जाना, निरोग बन जाना जिह्वालोलुपता का लुप्त हो जाना, शरीर आकर्षक बन जाना ये सब बातें योग की आरम्भिक सीढ़ी हैं। ये सब बात तो साधक को योग साधना करते समय प्रथम ही प्राप्त हो जाते हैं। जो इन्हें ही पाकर अपने को कृत कृत्य मानने लगते हैं, उनकी आगे

की उन्नति रुक जाती है, फिर वे आगे नहीं बढ़ सकते। इसलिये इन क्षुद्र सिद्धियों की ओर विशेष ध्यान न देना चाहिये।"

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज! ऐसा उपाय बतावें, जिससे विघ्न उपस्थित ही न हो?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! विघ्न होते हैं कामना से। जो साधक निष्काम भाव से मेरा भजन करता है और निरन्तर स्वानन्दानुभव में मग्न रहता है उसको कभी विघ्न होते ही नहीं। यदि कदाचित् हो भी जायँ, तो वह उन्हें कुछ समझता ही नहीं। अतः सदा सर्वदा मेरा आश्रय लेकर योग साधना में लगे रहना चाहिये।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! इतना कह कर भगवान् चुप हो गये।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! इसके अनन्तर उद्धव जी ने भगवान से क्या पूछा?"

सूत जी ने कहा—"महाराज! इसके अनन्तर उद्धव जी ने भगवान् से अत्यन्त विनीत भाव से भागवत धर्मों का प्रश्न किया। उद्धव जी ने जैसे प्रश्न किया और भगवान ने जैसे उत्तर दिया इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

है विघ्नन के नाश हेतु प्रभु नाम कीरतन।
काम क्रोध नसि जायँ करै जो मेरो सुमिरन॥
नश्वर समुझै देह न जामें मोह लगावै।
यदि है जावै सुदृढ़ तऊ नहिं लखि इतरावै॥
सिद्धि पड़ै कै योग की, मन न फँसै जग महँ कहीं।
जो आश्रय मेरो गहैं, होहिं विघ्न तिनकूँ नहीं॥

———

उद्धवजी का भक्ति सम्बन्धी पुनः प्रश्न

(१३२४)

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २९ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

उद्धव बोले–'विभो ! याग अति दुष्कर मानूँ ।
मैं तो लीला, धाम, नाम अरु रूपहि जानूँ ॥
कोई सुगम उपाय कृपा करि और बतावें ।
अनायास सब सिद्धि सरलता तें मिलि जावें ॥
कमल सरिस कोमल सुखद, परम मृदुल अति अरुनवर ।
गही शरन तव चरन की, जा कमला सनापहर ॥

प्रश्न दो प्रकार के होते हैं एक तो मुख्य प्रश्न दूसरा पूरक

---

* श्री उद्धवजी भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे ईश ! मनीषी आप्तगण आपके उपकारों का प्रत्युपकार यदि करना भी चाहें तो ब्रह्मा के समान आयु पाकर भी नहीं कर सकते, क्योंकि आप प्राणियों के बाह्य और आन्तरिक मल को आचार्य तथा अन्तर्यामी रूप से दूर करके उन्हें अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं। इसलिये वे सदैव आप के उपकारों को स्मरण करके ही मन ही मन प्रमुदित होते रहते हैं।"

प्रश्न। पूरक प्रश्नों में मुख्य प्रश्न के अत्यन्त समीपी सम्बन्ध की या दूर सम्बन्ध की बातें होती हैं। उन बातों को जान लेने पर मुख्य प्रश्न के समझने में सुविधा होती है, किन्तु पूरक प्रश्नों से मुख्य प्रश्न स्पष्ट हो जाय यह आवश्यक नहीं। कभी पूरक प्रश्नों से ही मुख्य प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। कभी पूरक प्रश्नों को सुनकर पुनः मुख्य प्रश्न को फिर से समझने की जिज्ञासा होती है। जैसे कोई भक्तियोग का अधिकारी है। उसका मुख्य प्रश्न तो भक्तियोग के सम्बन्ध में है। वक्ता ने समझाने के हेतु ज्ञानयोग, लययोग, कुंडलिनी योग, हठयोग तथा अन्यान्य योगों का भी वर्णन किया और उन योगों को समझने की भावना से प्रश्नकर्ता ने उन योगों में उठने वाली शंकाओं को भी किया, वक्ता ने उन शंकाओं का समाधान किया। सब योगों का वर्णन करते हुए सामान्य रूप के भक्तियोग का भी वर्णन हो गया। यदि वह केवल योगों की ही जानकारी करने वाला होता, तब तो उसे फिर प्रश्न करने की आवश्यकता ही न रहती, किन्तु यह तो भक्त है, भक्ति योग के ही सम्बन्ध में विशेष जानना चाहता है। इन प्रसंगोपात्त योगा का वर्णन सुनकर अब वह फिर भक्ति के ही सम्बन्ध के अपने मुख्य प्रश्न को दुहरायेगा। उद्धवजी भगवत् भक्त थे, अतः सब धर्मों को सुन लेने के पश्चात् उन्होंने भागवत धर्म का प्रश्न किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् उद्धवजी को योगचर्या का उपदेश देकर शान्त हो गये, तब उद्धवजी ने अत्यन्त ही दीन होकर गद्गद् वाणी से अत्यंत नम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! आपने इस दीन हीन मति मलीन अपने पतित दास पर अत्यन्त अनुग्रह की जो मुझे ऐसी ऐसी रहस्य की बातें बतायीं, किन्तु प्रभो! आपने जिस योगचर्या का वर्णन किया, उसका आचरण तो यम नियमादि साधन सम्पन्न

कोई उच्चकोटि का जितेन्द्रिय अधिकारी ही कर सकता है मुझ जैसे अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिये तो ऐसी योगचर्या दुःसाध्य ही है। मैं तो कोई ऐसा सरल सुगम सर्वोपयोगी सीधा सादा साधन चाहता हूँ, जिससे बिना इतना बखेड़ा किये हुए सुगमता से अनायास ही सिद्धि प्राप्त हो सके।

भगवान् ने कहा—'अरे, भाई! हत्या की जड़ तो यह मन है। यह जब संसार में लग जाता है, तो नाना संकल्प विकल्प करने लगता है। चित्त की विभिन्न नाना वृत्तियाँ है वे भिन्न भिन्न विषयों में दौड़ती रहती है। उन चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध करके मुझ में लगा देना यही सब योगों का लक्ष्य है और यही समस्त साधनों का सार है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! यही तो मुझे अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। बहुत से योगिजन मन को वश में करने का ही सतत प्रयत्न करते रहते हैं, किन्तु जैसे वायु को गठरी में बाँधकर बहुत दिनों तक रखना कठिन है वैसे ही चित्त को एकाग्र करना उसका निग्रह करना अत्यन्त कठिन है। प्रयत्न करते करते बहुत से साधक दुर्बल हो जाते हैं और जब यह वश में नहीं होता, तो फिर इधर से उदासीन हो जाते हैं। वे किंकर्तव्य विमूढ़ बनकर साधन रहित बन जाते हैं। इसके विपरीत जो सारग्राही भक्तजन चित्त के पीछे व्यग्र नहीं होते, किन्तु आप विश्वनाथ कमल नयन के चारु चरणारविन्दों का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, उन पाद पद्मों को ही सब कुछ समझकर उन्हीं का चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें कुछ भी प्रयास नहीं होता। वे अनायास ही आप की माया से परे हो जाते हैं, किन्तु जिन्हें अपने कर्मों का अभिमान है कि हम षटकर्म करके नाड़ियों को शुद्ध कर लेंगे, खेचरीमुद्रा करके अमृत पान कर लेंगे, हमें भक्ति फक्ति से क्या लेना देना, यह तो स्त्रियों तथा मूर्खों के लिये उपाय है।

ऐसे अभिमानी पुरुषों की मति आपकी माया के कारण विपरीत बन जाती है। न उन्हें कभी आन्तरिक शान्ति मिलती है और न वे सुखी ही होते हैं। सदा उद्विग्न बने रहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"अरे भैया! भक्तों की क्या बात है। भक्तों ने तो मुझे बिना मूल्य क्रय कर लिया है। मेरे भक्त तो मुझे जैसा भी नाच नचाते हैं वैसा ही नाच मैं उनके अधीन होकर नाचता हूँ।"

आँखों में आँसू भरकर गद्गद् कण्ठ से उद्धवजी कहने लगे—"क्यों न हो, भगवन्! आपका नाम ही भक्त वत्सल है, आप अपने शरणागतों को आत्म समर्पण कर देते हैं। हे सर्व सुहृद्-अच्युत! भक्तों के वश होकर आप न करने योग्य कार्यों को करते हैं। उनके कुल शील तथा चरित्र की ओर भी ध्यान नहीं देते। नहीं तो ब्रह्मा, इन्द्रादि देवगण, बड़े बड़े लोकपाल गण अपने मणिमय दीप्तिमान मुकुटों से डरते डरते आपके पाद पद्मों में प्रणाम करते हैं। ऐसे अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली आपने रामावतार में वानर भालुओं से मित्रता की। आप वृक्ष के नीचे मूल में बैठते थे और वे आपके सिर पर ऊपर चढ़कर बैठते थे। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं आप तो अपने अनन्य-शरण सेवकों के सर्वथा अधीन ही हो जाते हैं। इसलिये भक्त गण भोगों की इच्छा न करके आपके चरणों का चिन्तन करते रहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! भक्तगण बड़ा ही दुष्कर्म करते हैं, वे संसार के सभी सम्बन्धियों की चिन्ता छोड़ कर एक मात्र मेरी ही चिन्तन करते रहते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! आप से बढ़कर जीव का सच्चा सुहृद् कौन होगा। आप ही समस्त चराचर प्राणियों के आत्मा हैं। प्यारे से प्यारे और दुलारे से दुलारे आप ही हैं। आप ही

सबके माता, पिता, भाई, गुरु सुहृद्, स्वामी और सर्वस्व हैं। जो आपकी शरण मे आ जाते हैं उनकी समस्त कामनाओं को आप पूर्ण करते हैं। उनके योग क्षेम का स्वय प्रबन्ध करते हैं। ऐसे परम उपकारी को भूलकर कौन मूर्ख इन नाशवान् क्षणभंगुर सम्बन्धियों से स्नेह करेगा। इन ससारी सम्बन्धियो से अधिक से अधिक ससारी भोग ही प्राप्त होंगे। ये ससार के भोग मोह को उत्पन्न करने वाले और परिणाम में दुःखद हैं। इन अनित्य भोगो का आप के सम्मुख अविवेकी ही इच्छा करेगा। जिसे तनिक भी विचार होगा, वह तो आपके पाद पद्मों के पावन पराग को पाकर ही परम प्रमुदित होगा। हमने तो आपके चरण कमलो का हा आश्रय ले लिया है, अब हमारे लिये दुर्लभ कौन सी वस्तु है ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! भक्तगण तो अपना कुटुम्ब परिवार घर द्वार तथा सर्वस्व छोडकर मेरा ही चिन्तन करते हैं, उन्होंने तो अपने निस्वार्थ निष्कपट प्रेम से मुझे क्रय कर लिया है, उनके उपकार का मैं कहाँ तक बदला दे सकता हूँ ?"

उद्धवजी ने कहा—"प्रभो ! यही तो आपकी भगवत्ता है, भक्तों के प्रति इतनी कृतज्ञता प्रकट करना यही तो आपके कृपालु पने की पराकाष्ठा है, नहीं तो हे सच्चिदानन्द घन ! सर्व समर्थ ! हे जगदीश्वर ! अज्ञों की बात तो छोड दीजिये, जो विज्ञ हैं विवेकी हैं ब्रह्मवेत्ता हैं, यदि उन्हें अनन्त ब्रह्माओं की बराबर आयु प्राप्त हो जाय और इतनी बडी आयु से वे आपके उपकारों का बदला चुकाना चाहें तो नहीं चुका सकते। आप के अनन्त उपकारों की कोई सीमा ही नहीं। आपने कैसा सुन्दर सर्व साधन सम्पन्न शरीर प्रदान किया। जीव पाप में प्रवृत्त होता है तो आप अन्तर्यामी रूप से उसे रोकते हैं। गुरुरूप रखकर शिक्षा दीक्षा देते हैं। देहधारियों के भीतर बाहर के मलको धोकर उसे स्वच्छ निर्मल

बनाते हैं। उनसे अपने अनुपम अद्भुत गुण और नामों का कीर्तन करते हैं। आपके एक या दो या दस बीस उपकार हों तो उनकी गणना भी की जाय। भक्तगण तो आपके उपकारों का स्मरण कर करके ही रुदन करते रहते हैं। उन्हें उनके स्मरण में ही ब्रह्मानंद सुखका अनुभव होता है।

भगवान् ने कहा—"अच्छा, ये सब बातें तो हो गयीं। अब यह बताओ कि तुम चाहते क्या हो? कुछ तुम्हें और पूछना है?"

इस पर उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! आपने सब कुछ उपदेश कर दिया। योग, सांख्य, भगवद्भक्ति तथा भागवत धर्मों का भी निरूपण किया, किन्तु प्रभो! ये सब उपदेश ऐसे मिल जुल गये, कि इनमें से भागवत धर्मों को पृथक करना बड़ा कठिन कार्य है। सबके अधिकारी पृथक् पृथक् होते हैं। जो जिस साधन के अधिकारी होते हैं, उन्हें वह साधन सरल प्रतीत होता है, अन्य साधन कठिन लगते हैं। जो योग का अधिकारी है उसे योग साधन समझने में ही सरलता तथा सुविधा होती है। प्रभो! मैं तो एकमात्र आप के चरणों का आश्रय ग्रहण करना ही जानता हूँ। जो आप के भक्त हैं आप में सदा अनुरक्त हैं, वे कैसे व्यवहार करते हैं, कौन सा साधन करते हैं। कृपा करके मुझे स्पष्ट रूप से भागवत धर्मों को समझा दें। विशुद्ध भागवत धर्मों की एक संक्षिप्त सी तालिका बना दें। जो आपकी भक्ति करना चाहता है उसके मुख्य मुख्य कर्तव्य क्या हैं। अन्त में जो सार सिद्धान्त होता है उसी का तत्व रूप से उपदेष्टा बताते हैं। उपसंहार में वक्तव्य का यथार्थ मर्म जता देते हैं। अब आप उपसंहार में मुझे भागवत धर्म ही बतावें।"

भगवान् ने कहा—'उद्धव! मैं कई बार तो तुम्हें भागवत धर्मों के सम्बन्ध में बता चुका, किन्तु देखता हूँ भागवत धर्मों को सुनते सुनते तुम्हारी तृप्ति नहीं होती। यह बड़े सौभाग्य की बात

है कि तुम्हारी भागवत धर्मों मे प्रीति तथा अत्यंत अभिरुचि उत्पन्न हो गयी है। मेरी भक्ति का प्रधान लक्षण यही है कि मेरी कथा सुनते सुनते तृप्ति न हो। अच्छी बात है अब मैं तुम्हे फिर अत्यत संक्षेप मे भागवत धर्मों का सुनाता हूँ। तुम इन्हे दत्त चित्त होकर श्रवण करो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने जिस प्रकार उद्धव-जी को भागवत धर्मों को सुनाया, उस प्रसङ्ग को मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

सुनिकें उद्धव विनय विहसि बोले बनवारी।
है अति पावन परम विमल मति तात तुम्हारी॥
विषय वासना फँस्यो व्यरथ वय प्रानी खोवे।
मम धरमनि अनुराग भाग्य ही तें प्रिय होवे॥
अब फिरितें अपने धरम, कहूँ सुमङ्गल शान्तिमय।
करि जिनको आचरन शुभ, करै मृत्यु पै नर विजय॥

—::o::—

भागवत धर्म निरूपण

(१३२५)

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान्सुमङ्गलान् ।
याञ्छ्रद्धया चरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २९ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

मोमें मन चित लाइ करै सुमिरन मेरो नित ।
असन बसन जो करम करै तिनिकूँ मेरे हित ॥
रहैं भागवत जहाँ तहाँ ही समय बितावै ।
भक्तनि को नित करै आचरन तिनि गुन गावै ॥
मेरे पर्वनि पै करै, महामहोत्सव प्रेम तें ।
धूमधाम और ठाठतें, करै काज सब नेम तें ॥

भगवान् की सेवा पूजा करना, भागवत धर्मों का आचरण करना कैसा सुखकर काय है। भागवत धर्म विशाल धर्म है, इसमें संकीर्णता नहीं, अनुदारता नहीं। यह सार्वभौम धर्म है, मानव

* श्री भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! अच्छी बात है मैं फिर से तुम्हें अपने उन भागवत धर्मों को सुनाता हूँ, जो अत्यन्त ही मङ्गलमय हैं और जिनका श्रद्धा सहित आचरण करने से प्राणी दुर्जय मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।"

स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है। इसमें मन, इन्द्रिय, तथा प्राण सभी को सन्तोष होता है। इसमे न तो भोगों को त्यागने की आवश्यकता है, न नाक कान मुख को बन्द करके छटपटाने की आवश्यकता है। इसमे केवल भाव बदलने की आवश्यकता है, तुम अपने सब कर्मों को भगवान् के निमित्त करो, भगवत सम्बन्ध से ही कार्यों मे प्रवृत्त होओ। यही नहीं कि तुम रसना इन्द्रिय पर विजय करने को कड़ये कसैले पदार्थों को हठ पूर्वक कठ से नीचे उतारलो। भागवत धर्म प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने की सम्मति नहीं देता। तुम सुन्दर से सुन्दर पदार्थ बनाओ, उत्तम से उत्तम व्यंजनों को तैयार करो, किन्तु करो भगवान् के निमित्त। उन्हें उन्हें बनाकर श्रद्धाभक्ति पूर्वक भगवान को भोग लगाओ, भोग लग जाय तो यथेष्ट पेट भरके प्रसाद पाओ। भागवत धर्म यह नहीं कहता तुम किसी मनुष्य का मुख मत देखो सर्वसंग परित्याग करके घोर बनमें—विविक्त देश में—वास करो। जन संसर्ग से सदा दूर ही रहो। तुम यथेष्ट जन संसर्ग करो। चाहे जितने लोगों के बीच मे रहो, किन्तु रहो कथा, कीर्तन और भगवान् के उत्सवों के ही निमित्त से। जहाँ कथा कीर्तन नहीं, भगवान् के सम्बन्ध का उत्सव न हो वहाँ तुम पैर भी न रखो। सारांश यह कि भगवान् के ही निमित्त सब चेष्टायें करना यही भागवत धर्म का सार सिद्धान्त है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने अत्यंत दीनता के साथ प्रेम पूर्वक प्रभु से प्रश्न किया, तब जगत् मे नित्य नयी क्रीड़ा करने वाले ईश्वरों के भी ईश्वरों के भी ईश्वर त्रिदेव रूप नटनागर अत्यंत प्रसन्नता प्रकट करते हुए मधुरमधुर मंद मंद मुसकान के सहित उनसे कहने लगे—"उद्धव! अच्छी बात है अब मैं फिर से तुम्हें भागवत धर्मों के सम्बन्ध मे सुनाता हूँ।

भक्तों के लिये सर्वप्रथम बात तो यह है कि वे जो कुछ करें मेरे ही निमित्त करें। समस्त कर्म मेरी सेवा की भावना से ही किया करें।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! कह देना तो बड़ा सरल है, किन्तु इसका आचरण करना अत्यंत ही कठिन है। यह मनुष्य प्राणी इतना अभिमानी है, कि इसके रोम रोम में अभिमान भरा हुआ है कुछ भी करता है, तुरन्त अभिमान आ जाता है, यह मैंने किया। ये मेरा है यह मेरे सुख के लिये बना है। उस समय आपका तो ध्यान ही नहीं रहता।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! तुम्हारा कथन सत्य है। किन्तु शनै शनै अभ्यास करने से चित्त मुझमें लगने लगता है। मन की गति को मुझ में ही लगा दे, मेरा ही चिन्तन करे। जब मन से मुझमें अनुराग होने लगता है, तो फिर मेरी सेवा पूजा अच्छी लगने लगती है। फिर इस भाव को बढ़ाने का प्रयत्न करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! यह भाव बढ़े कैसे?"

भगवान् ने कहा—"देखो, संग का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अपने सङ्गी साथी जो गौरव के साथ खाते हैं उसे स्वयं भी खाने की इच्छा होती है। जिन वस्त्रों को पहिनकर वे गौरव का अनुभव करते हैं, उन वस्त्रों को पहिनने की अपनी भी आन्तरिक लालसा होती है, जो काम करके वे प्रसन्न होते हैं उसे हम स्वयं भी करना चाहते हैं। विषयियों को विषय वार्ता ही प्रिय है, भोग विलास की वस्तुओं की प्रचुरता से ही वे अपने को गौरवान्वित समझते हैं अतः उनके समीप रहने वाले भी वैषयिक वस्तुओं के लिये सतत प्रयत्न शील बने रहते हैं। इसलिये भागवत धर्म में अनुराग रखने वालों को विषयियों का सहवास कभी भूलकर भी न करना चाहिये। जहाँ भगवान् की सेवा पूजा में निरत भगवत

भक्त रहते हैं। वहीं रहना चाहिये उनके ही बीच मे समय बिताना चाहिये। उनका साथ करने से उनकी दिन चर्या देखने से उनका अनुकरण करने की स्वाभाविक इच्छा होने लगती है। वहाँ रहकर चुपचाप बैठा न रहे। मेरी तथा मेरे भक्तों की कथाओं को सुनता रहे।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! आपकी कथा सुनना तो उचित ही है, किन्तु आपके भक्त तो मनुष्य ही हैं। बहुत से असुर राक्षस भी आपके भक्त हो गये हैं, उनकी कथा सुनने से क्या लाभ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मेरे भक्त तो मुझसे भी श्रेष्ठ हैं। मैं तो भक्तों की चरण रज के लिये सदा उनके पीछे पीछे घूमता रहता हूँ। मेरे भक्त चाहे मनुष्य हों, सुर हों, असुर राक्षस कोई क्यों न हो, उन सब के चरित्रों को श्रद्धा सहित श्रवण करना चाहिये और उनके भक्तिमय चरित्रों का अनुकरण भी करना चाहिये। उन्होंने मेरी प्राप्ति के लिये जैसे आचरण किये हैं वैसे आचरण करने चाहिये। तथा मेरे सम्बन्ध से महोत्सव करने चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! आपके सम्बन्ध से उत्सव कैसे करे?"

भगवान् ने कहा—"जैसे मेरे जन्माष्टमी, रामनवमी, नृसिंह चतुर्दशी, वामन द्वादशी तथा अन्यान्य पर्व हैं, उनको सबके साथ मिलकर अत्यन्त धूम धाम से मनावे। नगर में मेरी सवारी निकाले कथा, व्याख्यान, नाटक, नृत्य, गायन तथा अन्यान्य उत्सव सम्बन्धी कार्य करावे। नाना भाँति के बाजे बजवाये। राजा महाराजाओं के उचित ठाठबाट से सवारी निकलवायें नगर कीर्तन करावे। इस प्रकार भगवत् सम्बन्धी महोत्सव करने

से सबको लाभ होता है, देश का देश पावन बन जाता है। मन को भी शुद्ध करे। भेदभाव को हृदय में स्थान न दे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! इसके लिये क्या करे?

भगवान् ने कहा—"इसके लिये सबमें समभाव रखे। अपने चित्त को भक्ति के साधनों द्वारा स्वच्छ और निर्मल बनावे। सदा यह भावना करता रहे, कि सब प्राणियों के तथा मेरे भीतर एक ही आत्मा है। सब में मेरी भावना रखे। आकाश के के समान सर्वत्र मुझे व्याप्त समझे। जैसे आकाश सब के भीतर बाहर निरावरण रूप से अनुस्यूत है वैसे ही मुझे माने। ज्ञान दृष्टि से विचार पूर्वक मुझे ही सबमें माने। सबका मेरी ही बुद्धि से सत्कार कर। यह उच्च है यह नीच है यह ब्राह्मण है यह चोर है यह सदाचारी है, यह भक्त है यह अभक्त है, यह सुर है यह विस्फुलिंग है, यह क्रूर यह कृपालु है ये सब बाह्य भेद हैं आत्मरूप से तो सब में एक ही तत्व है एक ही मेरी शक्ति सर्वत्र समान रूप से कार्य कर रही है इसलिय किसी की निंदा न करे किसी को अपने से अधम मान कर अहंकारवश उसका तिरस्कार न करे।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! बहुत प्रयत्न करने पर भी अहंकार आही जाता है, दूसरे को हेय समझ ही लेते हैं, इसके लिये क्या उपाय करें।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, भैया! स्वभाववश ऐसा हो ही जाता है, किन्तु ऐसा होना न चाहिये। निरन्तर यही ध्यान रखना चाहिये सबमें एक ही आत्मा है, सबमें सदा मेरी भावना करते रहने से शनैः शनैः भेदभाव हटता जाता है और मनुष्य के स्पर्धा, असूया, तिरस्कार के भाव तथा अहङ्कार आदि दुर्गुण हटते जाते हैं। कहो तो समभाव स्थापित करने के लिये एक अत्यन्त सुगम उपाय बताऊँ, यदि तुम कर सको तो?"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, महाराज! ऐसा ही उपाय बतावें। यह मन तो बड़ा चंचल है। मन से भाव करते हैं, कुछ काल में भूल जाते हैं। मन पर विचारों का शीघ्र स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता।"

भगवान् ने कहा—"जिसे जीवन में समता का अभ्यास करना हो, वह जिसे भी देखे उसी को भूमि में लोटकर प्रणाम करे चाहे वह पण्डित हो मूर्ख हो, ब्राह्मण हो अन्त्यज हो, अपना स्वजन हो अन्य कोई हो, सज्जन हो दुर्जन हो, अपनी हँसी उड़ाने वाला हो स्तुति करने वाला हो। मनुष्य को ही नहीं। कुत्ता बिल्ली, गौ गधा कोई भी क्यों न हो, बिना भेद भाव के सबको साष्टाङ्ग प्रणाम करे प्रणाम करते समय मन से यह भावना करे कि इसमें परमात्मा हैं। गधारूप भगवान् को प्रणाम है चाण्डालरूप भगवान् को प्रणाम है, विप्ररूप भगवान् को प्रणाम है। इस प्रकार मन, वाणी और शरीर से आत्मभावना करके सबको नमन करे। इससे अति शीघ्र समत्व भाव स्थाई हो जायगा।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! तब तो दिन भर प्रणाम करते ही बीतेगा?"

भगवान् ने कहा—"यह तो और भी अच्छी बात है। अरे भाई मनुष्य अपने इष्ट की प्राप्ति के लिये क्या क्या नहीं करते। देखो, भृत्य कुछ पैसों के पीछे अपने शरीर को बेच देता है। आठों प्रहर स्वामी की सेवा में संलग्न रहता है। राजकर्मचारी कुछ पैसों के लिये दिन भर बैठे बैठे काम करते रहते हैं। व्यापारी कुछ पैसों के लिये प्रात काल से लेकर आधीरात तक गद्दी पर डटा रहता है। वहीं भोजन मँगा लेता है, दिन भर झूठ बोलता और बिना विश्राम के लगा रहता है। परीक्षा के दिनों में छात्र शयन भोजन तक को भूलकर पढ़ते रहते हैं। जब

क्षुद्र स्वार्थों के लिये लोग व्यर्थ के संसारी कामों में लगे रहते हैं, तो यह तो महान् कार्य है। जब भी जिस जीव को देखे उसे ही मन से भगवान् का स्वरूप समझ कर साष्टाङ्ग कर ले। इस बात का ध्यान भी न रखे कि लोग हमारी हँसी उड़ावेंगे, हमें पागल बतावेंगे। हँसी उड़ाते हैं तो उड़ाते रहें, पागल बताते हैं तो बताते रहें। लोग जुआरियों को कितना बुरा भला कहते हैं। राज्य की ओर से भी उन्हें दण्ड दिया जाता है। कारावास भेज दिये जाते हैं। किन्तु वहाँ जाकर भी वे खेलते हैं। किसी की बात नहीं मानते। जब एक क्षुद्र व्यसन के पीछे वे इतने प्रमत्त हो जाते हैं, तो यह तो सबसे बड़ा लाभ है। लाख लाज को तिलाञ्जलि देकर सबको प्रणाम करे।"

उद्धवजी ने कहा—"ऐसे महाराज! साष्टाङ्ग प्रणाम कब तक करता रहे?"

भगवान् ने कहा—"तब तक करता रहे, जब तक सम्पूर्ण चराचर में मेरी भावना दृढ़ न हो जाय। ऐसी भावना दृढ़ हो जाने पर—सर्वत्र आत्मभाव की भावना होने पर—उसे सम्पूर्ण संसार ब्रह्ममय प्रतीत होने लग जाता है। उसे आत्म बुद्धिरूप ब्रह्म विद्या की प्राप्ति हो जाती है। उसे सर्वत्र शान्ति और सुख का अनुभव होने लग जाता है। वह पूर्णरूप से निर्भय हो जाता है। क्योंकि भय सदा दूसरे से ही होता है। जिसकी सब में आत्मबुद्धि है, वह किससे द्वेष करेगा और किससे भयभीत होगा। जब ऐसी बुद्धि हो जाय, किसी प्रकार का सन्देह चित्त में न रहे तब उपरत हो जाय। तब सबमें मन से आत्म भावना रखता रहे। फिर ऐसे आत्म ज्ञानी के लिये लौकिक वैदिक किसी प्रकार के कर्मों में विधि निषेध का बन्धन नहीं रहता। आत्म भावना के बल से वह त्रिगुणातीत हो जाता है। मेरी प्राप्ति का इससे सरल सुगम अन्य कोई उपाय नहीं। जैसे भी हो सके, जिस

साधन से भी हो सके, उसी से मन वाणी और देह की समस्त वृत्तियों से सभी प्राणियों में मेरा ही भावना करे सर्वत्र मेरा ही अस्तित्व माने। यही मेरी प्राप्ति का सर्व सुगम सबसे सुन्दर श्रेष्ठ साधन है।"

उद्धवजी ने पूछा—'महाराज! समत्व भाव का भावना करें और बीच में विघ्न आ जायें तो क्या करे?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! विघ्न को भी मेरा ही स्वरूप समझे हम चोर को देखकर क्यों डरते हैं, कि हम अपने पास की वस्तुओं को अपनी समझते हैं चोर के समीप की वस्तुओं को दूसरे की। जब सब वस्तुओं को अपनी ही समझेंगे तो चोर से डरने की तो कोई बात नहीं। कोई भी वस्तु कहीं भी है अपनी ही है। बड़े बड़े व्यापारियों की बहुत से नगरों में शाखायें होती हैं। उन शाखाओं में बहुत सी वस्तुएँ रहती हैं। उन सबका वे उपयोग भी नहीं करते। बहुत सी वस्तुएँ तो उन्होंने देखी तक नहीं केवल भावनावश अपनी कहते हैं। उसी भावना को व्यापक कर दो तो सब अपना ही अपना है जहाँ सर्वत्र अपने मन की भावना का अभ्यास है वहाँ विघ्नों की सम्भावना ही नहीं। इस मेरे धर्म को प्रारम्भ कर देने के अनन्तर इसका विघ्नबाधाओं के द्वारा अणु मात्र भी ध्वंस नहीं होता बाधा तो प्रकृति के गुणों में संभव है। मैं स्वयं प्रकृति के गुणों से परे हूँ अतः मेरा धर्म भी अप्राकृतिक चिन्मय

है, अत इसमें किसी भी प्रकार की विघ्नबाधाओं की सम्भावना नहीं।'

उद्धवजी ने पूछा—'भगवन्! सभी जानते हैं कि जरा, मृत्यु वियोग तथा आधि व्याधि ये आवश्यम्भावी हैं, फिर भी इनसे दुःख होता ही है, इनसे बचने का क्या उपाय है?"

भगवान् ने कहा—'तुम्हें कितनी बार तो मैं बता चुका सब दुःखों से बचने का एक ही उपाय है सबसे बचने का एक ही उपाय है सब में ब्रह्म भाव रखना। जो भी कुछ कर्म इच्छा से करे अनिच्छा से करे सबको मेरे अर्पण कर दे। जो भी सत् असत् अच्छे बुरे, सार्थक निरर्थक भाव उठें उन्हें निष्काम भाव से मुझे अर्पण कर दे। असत् भावों का समर्पण भी मेरी प्राप्ति का साधन है। फिर सद्भावों के विषय में तो कहना ही क्या है। देखो, उद्धव! यह मानव देह अनित्य है नाशवान् है इसका एक दिन अन्त अवश्य होगा। जिन वस्तुओं को मेरी मेरी कहकर दुखी होता है। वे वस्तुएँ भी यहीं रह जायेंगी। जिस देह को नित्य मलमल कर धोता है, उसकी भी भस्म हो जायगी या विष्ठा बन जायगा। ऐसे क्षणभंगुर नाशवान् शरीर से, मुझ नित्य अविनाशी और शाश्वत परमात्मा को जो प्राप्त कर लेता है वही बुद्धिमान है वही चतुर तथा पण्डित है। चार श्वेत मिट्टी (चाँदी) के ठीकरे जमाकर लिये इसमें क्या बुद्धिमानी। अनित्य से तो अनित्य मिल ही जाता है। अनित्य से नित्य को प्राप्त कर लेना यही बुद्धिमत्ता है। इस प्रकार मैंने तुम्हें यह अत्यन्त दुर्लभ ज्ञान दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के इस प्रकार पूछने पर उद्धवजी रोने लगे, उन्होंने कुछ भी भगवान से नहीं पूछा। अब भगवान् जिस प्रकार उद्धवगीता का उपसंहार करेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

आत्मा गगन समान समुझि नित नेह बढ़ावे।
करि सबको सत्कार द्वैत मन माहिं न लावे॥
विप्र, श्वपच, खर, धेनु करै डंडौत सबनि कूँ।
मेरे अरपन करै सकल तन मन करमनि कूँ॥
अपनों कछु समुझै नहीं, तन मन जन गृह वित्त कूँ।
या अनित्य तनतें चतुर, करै सो 'अज' नित्य कूँ॥

———

उद्धवगीता का उपसंहार

(१३२६)

स एवमादर्शितयोग मार्ग-
स्तदोत्तम श्लोकवचो निशम्य ।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्ध कण्ठो-
न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २९ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

ज्ञान सार को सार कह्यो उद्धव ! यह तोतें ।
शङ्का यदि कछु रही पूछि ग्वाकूँ तू मोतें ॥
जे श्रद्धायुत सुनहिँ हिये में जाकू लावैं ।
ते पावैं मम भक्ति अन्त मम धामहिँ जावैं ॥
अब उद्धव तुमरो कहो, शोक मोह का नसि गयो ।
मेरो माया तें रहित, रूप - हिये में बसि गया ॥

सद्गुरु शिष्य के समस्त संशयों को मेंटकर अन्त में उससे पूछते हैं—"क्या तेरे सब प्रश्नो का उत्तर तुझे मिल चुका ?

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! उत्तम श्लोक भगवान् वासुदेवजी से उद्धवजी इस प्रकार योग मार्ग का उपदेश पाकर तथा उनके वचनामृत का पान करके मौन हो गये । उनके नेत्रों में नेह का नीर भर आया, प्रेमाधिक्य के कारण उनका कण्ठ अव रुद्ध हो गया, वे बोलने में असमर्थ होने के कारण हाथ जोड़े के जोड़े खड़े ही रह गये ।"

क्या इन उत्तरों से तुझे संतोष हुआ है, क्या तेरा शोक मोह दूर हो गया ?" इस पर यदि शिष्य सन्तोष की सांस लेकर सहर्ष कह दे—"हाँ मेरा मोह नष्ट हो गया मेरे प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो गया।" तो सद्गुरु अपने श्रम को सफल समझता है। सम्वाद की समाप्ति इसी स्थल पर हो जाती है, किन्तु इसके पीछे भी एक सदाचार शेष रह जाता है। सद्गुरु इस ज्ञान के अधिकारी का अन्त में निरूपण करता है। इस ज्ञान को कैसे अधिकारी को देना चाहिये और कैसे को न देना चाहिये। साथ ही इस ज्ञान की परम्परा-सम्प्रदाय और महात्म्य को भी बताता है। गुरु व शिष्य का अन्तिम प्रश्नोत्तर उपदेश महात्म्य तथा अधिकारी का निरूपण इनका ही नाम उप संहार है। उपसंहार मे शास्त्र का सार सिद्धान्त आ जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब समस्त उपदेश देकर भगवान् ने उद्धवजी से पूछा—"उद्धव! अब तुम्हें कुछ और पूछना है ?" इस प्रश्न को सुनकर जब उद्धवजी ने कुछ भी प्रश्न नहीं किया, वे नयनों से नेह का नीर बहाने लगे, तब भगवान् ने अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए सबसे प्रथम इस ज्ञान क महात्म्य को बताते हुए कहा—"उद्धव! यह मैंने ब्रह्मवाद का सम्पूर्ण सार सग्रह कहीं सक्षेप से कहीं विस्तार के साथ तुम्हें बताया। मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि मैंने यह अपना ज्ञान बीज उत्तम अधिकारी के कानों द्वारा विशुद्ध हृदय क्षेत्र में वपन किया है। उपदेश देते समय मैंने अधीरता नहीं दिखायी। तुमने जो भी पूछा, उसका उत्तर मैंने धैर्य के साथ दिया। एक प्रश्न को तुमने कई बार पूछा। जितनी बार तुमने प्रश्न किया, उतनी ही बार मैंने उसका उत्तर दिया। बारम्बार कहने से पुनरुक्ति दोष भी हो सकता है। किन्तु भागवत धर्म में पुनरुक्ति दूषण न होकर भूषण ही है। जो जितनी ही पुनरुक्ति करेगा, वह

उतना ही बडा भक्त है। भगवान् के एक ही नाम को जितनी बार भी लो उतनी ही बार उत्तम है। भगवान् की कथाओं को जितनी बार सुनो, जितनी ही बार पढ़ो, जितनी बार भी पूछो, उतना ही वे अधिक लाभप्रद होती जाती हैं। अतः तुमने मुझसे बहुत से प्रश्नो को बार बार पूछा, मैंने भी बार बार ही उनका उत्तर भी दिया। मेरे इस ज्ञान को जान लेने से पुरुष विमुक्त बन जाता है। अब अन्त मे मै एक आशीर्वाद देता हूँ।"

जो पुरुष हमारे तुम्हारे इस सम्वाद को श्रद्धा सयम सहित सुनेंगे, सुनावेंगे, पढेंगे, पढावेंगे, प्रचार करेंगे, करावेंगे तथा भक्ति पूर्वक हृदयङ्गम करेंगे, सुनकर मनन निदिध्यासन करेंगे, वे वेदों के भी परम रहस्य मय-मुक्त सनातन परब्रह्म को अवश्यमेव प्राप्त कर लेंगे, इसमे अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। स्वय पढने की अपेक्षा जो मेरे अल्पज्ञ अनपढ श्रद्धालु भक्तो को भलीभाँति समझा समझाकर सुनावेंगे। उन ज्ञान दाताओं का तो मैं ऋणियाबन जाऊँगा। वे चाहे मुझे आत्म समर्पण करें या न करें मैं स्वय उन्हे आत्म समर्पण कर दूँगा। यह तो हुआ सुनाने का फल। अब तुम नित्य पाठ करने का भी फल श्रवण करो।

जो कोई भक्त श्रद्धा भक्ति के साथ इस हमारे तुम्हारे सम्वाद रूपी गीता का नित्यप्रति नियम से पाठ करेगा, उसके हृदय के समस्त तम भाग गया उसे ज्ञान रूपी दीपक प्राप्त हो जायगी। उस दीपक के पुण्य प्रकाश में वह मेरा साक्षात्कार करके परम पावन बन जायगा। जो पाठ करने मे समर्थ न हो, वह यदि किसी दूसरे से श्रद्धा पूर्वक नित्य श्रवण करता है, वह भी मेरी अति दुर्लभ परा भक्ति के प्राप्त करके समस्त कर्म बन्धनों से सदा के लिये छूट जाता है।'

उद्धवजी ने रोते रोते पूछा—'प्रभो! हृदय की अज्ञान

ग्रन्थियों को खोलने वाले आपके इस परम पावन ज्ञान को किसे दें ? कौन इस ज्ञान के प्राप्त करने के अधिकारी हैं ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! मेरी इस बात को गाँठ बाँध लो। देखो, जिसका हृदय छलकपट से रहित निर्दोष हो, प्रेमी हो, साधु स्वभाव का हो, मृदुल हो। जो चरित्रवान् हो जिसका आचरण शुद्ध हो उसको ही इस ज्ञान को देना।'

उद्धवजी ने पूछा—'महाराज ! जैसे वेदों का उपदेश स्त्री, शूद्रों के लिये निषेध है वैसे इस ज्ञान के लिये तो कोई नियम नहीं।"

भगवान ने कहा—"उद्धव ! मेरी वाणी का ही नाम वेद है। यह भी मेरे द्वारा ही कहा हुआ ज्ञान है, वेदों के सदृश ही है। कई अर्थों में तो यह वेदों से भी बढ़ कर है। क्योंकि वेदों का प्रकाश तो मैंने परम्परागत ऋषियों द्वारा कराया है। ध्यान में ऋषियों के हृदय में ही वेद की ऋचाएँ उद्भूत होती हैं। यह ज्ञान तो मैंने स्वयं ही अपने मुख से कहा है। फिर भी इसमें ऐसा कोई नियम नहीं कि अमुक को दो, अमुक को न दो जो अधिकारी हो वह फिर चाहे, स्त्री, शूद्र कोई भी क्यों न हो सभी को इस ज्ञान का देना चाहिये। जो अधिकारी न हो, वह फिर चाहे द्विज ही क्यों न हो, उसे इस ज्ञान का उपदेश न देना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! इस ज्ञान के प्राप्त करने के अनधिकारी कौन हैं ? कृपा करके बताइये, कैसे लोगों को इसे न देना चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—"जो दाम्भिक है। अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये मिथ्या वेष बना लेता है जैसा है नहीं वैसा अपने को प्रकट करता है। जिसे वेद में ईश्वर में विश्वास नहीं। जो दुष्ट प्रकृति का है, जो सुनना नहीं चाहता हो। जिसे मुझमें

मेरे भक्तों गौ ब्राह्मणों में तथा वेद शास्त्रों में भक्ति न हो तथा और भी जो मिथ्याभिमानी हो, ऐसे लोगों को कभी भी इस का उपदेश न देना चाहिये। ऐसे लोगों को उपदेश देना ऊसर में बीज बोने के समान है। उसमें अंकुर तो उपजेगा ही नहीं उलटे बीज की भी हानि होगी। अतः श्रद्धा से विहीन बड़े से बड़े पुरुष को भी इस ज्ञान को न सुनाना चाहिये। श्रद्धावान् कोई भी क्यों न हो उसे ही प्रेमपूर्वक इसे सुना देना चाहिये। क्योंकि मेरी भक्ति श्वपचों को भी पावन बना देती है। यह मेरा परिपूर्णतम ज्ञान है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! परिपूर्णतम का क्या अर्थ?"

भगवान् ने कहा—"कुछ ज्ञान ऐसा होता है, कि बिना दूसरा शास्त्र सुने वह पूर्ण नहीं समझा जाता। किन्तु यह ज्ञान ऐसा है कि इसे सुन लेने के अनन्तर कुछ भी सुनने को शेष नहीं रहता। जैसे अमृत को पी लेने पर कुछ भी पीने को शेष नहीं रहता। ज्ञानयोग के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, कर्मयोग के द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है वाणिज्य से अर्थ की प्राप्ति होती है और यश ऐश्वर्य तथा राज्य से कामादि सुखों की प्राप्ति होती है। किन्तु तुम्हारे जैसे मेरे अनन्य भक्त मुझे ही सर्वस्व समझते हैं मेरे पीछे वे त्रिवर्गों की तो बात ही क्या मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं। वे मुक्ति न चाहें, किन्तु जो सब कुछ त्याग कर अनन्य भाव से मेरी ही उपासना करते हैं, मुझे आत्म समर्पण कर देते हैं, तो वे सब जीवों से विशिष्ट बन जाते हैं। उनका आवागमन सदा के लिये छूट जाता है। वे मेरे ही बन जाते हैं, मुझमें ही आत्मसात् हो जाते हैं। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में तुमसे इस ज्ञान का महात्म्य बताया। अब तुम यह बताओ, कि तुमने मुझ पर ब्रह्म का सत्य स्वरूप भलीभाँति समझ तो लिया? तुम्हारे मन में कोई शंका शेष तो नहीं रही? तुम्हारे मन का

मोह मिट गया न ? तुम्हारा समस्त शोक सन्ताप शान्त हो गया है ?"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! भगवान के ऐसे स्नेह से भरे वचन सुनकर उद्धवजी का हृदय उसी प्रकार फूटकर बहने लगा जैसा पका हुआ फोडा फूटकर बहने लगता है। उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो गये, कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वे बोलना

चाहते थे, किन्तु एक भी शब्द मुख से नहीं निकलता था। वे बडी देर तक हुचकियाँ मारते रहे। जब कुछ चित्त शान्त हुआ, हृदय हलका हुआ तब धैर्य पूर्वक प्रेमावेश से विह्वल बने अपने चित्त को रोक पर प्रभु के पादपद्मों में पड गये और अपने स्नेहाश्रुओं से उनके चरण कमलो को भिगोते हुए कहने लगे।"

उद्धवजी बोले—"हे सर्व समर्थ प्रभो ! आपके वचनामृतों से मेरा मोह दूर हो गया। जिस महा मोहमय घोर तिमिर के आश्रय में रहकर मैं किंकर्तव्य विमूढ़ बना हुआ था वह अज्ञानान्धकार आपके ज्ञान रूप भास्कर के उदय हो जाने पर दूर हो गया। आपके सुखद सहवास से समस्त संशय शान्त हो गये।"

भगवान् ने पूछा—"अब भी कोई संशय शेष रहा हो, तो तुम मुझसे कह दो।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! जाड़े के दिनों में घोर अंधकार-मय रात्रि के समय वन में यदि अग्नि जल जाय, तो उसके जलते ही जैसे शीत, भय और अन्धकार एक साथ ही नष्ट हो जाते हैं वैसे ही आप ज्ञान स्वरूप के आश्रय से अशान्ति, भय और अज्ञान तीनों ही विलीन हो गये। अब मैं शान्त स्वस्थ, निर्भय, निर्द्वन्द्व तथा आनन्दमय बन गया। ज्ञान स्वरूप तो मैं पहिले ही था, किन्तु बीच में किसी अनिर्वचनीय कारण से मेरा वह स्वाभाविक ज्ञान आपकी मनमोहिनी माया ने अपहरण कर लिया। उस ज्ञान से रहित होकर मैंने आपके चरणों का आश्रय ग्रहण किया। आप अहैतुक कृपालु हैं, आपने मेरे ऊपर दया करके माया के द्वारा अपहरण किये ज्ञान को पुनः मुझे प्रदान कर दिया। जिसे आपकी इस कृपालुता तथा दया का अनुभव है, वह ऐसा कौन अत्यन्त कृतघ्न पुरुष होगा, जो आपके संसार सागर से सहज में ही पार करने वाले उन अरुण मृदुल चरणों का आश्रय त्याग कर अन्य किसी का आश्रय ग्रहण करेगा। प्रभो ! आपकी माया से मोहित होकर ही मैं भूला हुआ था और समझता था मैं इन यादवों के दशार्ह, वृष्णि, अन्धक तथा सात्वत कुलों में का हूँ। ये ही सब मेरे सुहृद हैं, किन्तु अब मैं समझ गया कि चराचर जीवों के एकमात्र सुहृद सम्बन्धी सखा तथा सर्वस्व आप ही हैं। मेरा इन मधुभोज दाशार्ह, कुकुर

तथा अन्य कुल वालों का मोह छूट गया। जो स्नेह पाश आपने अपनी माया के द्वारा मेरे हृदय में फैला रखा था, उसको आज आपने अपनी अहैतुकी अनुग्रह से अन्त कर दिया। आत्मबोध रूपी तीक्ष्ण खड्ग से उसे जड़मूल से काट दिया अब भगवन्! मुझे आप क्या आज्ञा देते हैं? अब आप मुझे ऐसी युक्ति बतावें, जिससे यह मोहिनी माया फिर मेरे ऊपर अपना प्रभाव न डाल सके। आपके चरणारविन्दों में मेरी निरन्तर सुदृढ़ अविचल भक्ति बनी रहे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजी के ऐसा प्रश्न करने पर भगवान् श्याम सुन्दर मौन हो गये और उद्धवजी के विषय में सोचने लगे।"

छप्पय

उद्धव सुनि प्रभु प्रश्न चरन कमलनि लपटाये।
कण्ठ भयो अवरुद्ध नयन जल तें भरि आये॥
पुनि कछु धरिकें धीर कहें—"प्रभु! सब कछु जानों।
भयो यथारथ ज्ञान मोह मद मान नसानों॥
भयो नाथ! जीवन सफल, पुनि पुनि पद पदमनि परूँ।
कृष्ण, कृपा करिके कहें, है कृतार्थ अब का करूँ॥

उद्धवजी की विदाई

(१३२७)

सुदुस्त्यज स्नेह वियोग कातरो
न शक्नुवस्तं परिहातुमातुरः ।
कृच्छ्र ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २९ अ० ४६ श्लो०

छप्पय

सुनि बोले यदुनाथ—'वत्स ! बदरीवन जाओ ।
कन्द, मूल फल खाइ अलकनन्दामें न्हाओ ॥
शीत उष्ण को सहन करो नित ध्यान लगाओ ।
तो तुम तजि भव बन्ध अन्त महँ मोकूँ पाओ ॥
श्याम सीख सुखमय सुनी, पुनि पद पद्मनि परि गये ।
प्रभु चरननि बिछुरन सुमिरि, उद्धव अति विह्वल भये ॥

कितना भी ज्ञान वैराग्य हो जाय, किन्तु जो भावुक हैं, सरस हैं सहृदय हैं उनका किसी स्नेही भगवत् भक्त से विछोह होत है, तो उसका हृदय भर ही आता है। नेत्रों से नेह का नी

---

*श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! भगवान से विदा होते समय उनके भावी वियोग को स्मरण करके उद्धवजी व्याकुल हो गये। क्योंकि भगवान् का स्नेह अत्यन्त ही दुस्त्यज है

निरन्तर निकलने ही लगता है। चित्त में विकलता हो ही जाती है, किन्तु ये मोह के चिह्न नहीं हैं विशुद्ध प्रेम के चिह्न हैं। जब भक्तों के वियोग के समय ऐसी दशा होती है, तब सौन्दर्य धाम साकार श्याम सुन्दर से वियोग हो रहा है, तो उस समय चित्त की कैसी वृत्ति होगी, इसे भुक्तभोगी के अतिरिक्त अन्य कोई भी अनुभव नहीं कर सकता। अपना अत्यन्त अनुरागी आँखों से ओझल हो रहा हो, तो उस समय हृदय की एक विचित्र ही दशा होती है हृदय मे एक मीठा मीठी पीडा होता है। उसे सुख कहें या दुख जो भी कुछ कह लो ऐसा अनिर्वचनीय सुख दुख परम भाग्यशाली पुरुषा को ही होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से अपने अन्तिम कर्तव्य के विषय मे जिज्ञासा की, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! यदुकुल को ब्राह्मणों का शाप हो गया है। इस कुल का अब अतिशीघ्र ही विनाश हो जायगा।"

उद्धवजी ने रोते रोते कहा—"प्रभो! मुझे यदुकुल से क्या लेना देना, कल न करके उसका आप आज ही विनाश कर दें। मुझे तो आप चाहिये और आपका कभी नाश होने का नहीं, क्योंकि आप अविनाशी हैं।"

भगवान ने कहा—"हाँ, मेरा क्या नाश होना, मैं तो कालका काल हूँ, फिर भी मैं इस धराधाम को त्यागकर स्वधाम को चला जाऊँगा।"

दीनता के साथ अश्रु विमोचन करते हुए उद्धवजी ने विनय की—"प्रभो! मुझे भी अपने साथ स्वधाम ले चलें।"

सहसा चरणों का त्यागना कठिन होने के कारण उन्होंने अति आतुर होकर अपने स्वामी की चरण पादुकाएँ लेकर सिर पर धारण कर लीं। और उन्हें लेकर तथा पुनः पुनः प्रणाम करके वे कठिनता के साथ द्वारकाजी से चल दिये।"

अत्यन्त ममता के साथ सम्पूर्ण दुलार बटोर कर भगवान् ने कहा—"नहीं, भैया! अभी तुमसे बहुत काम लेना है। अभी तुम पृथिवी पर ही रहो।"

रोते रोते उद्धवजी ने कहा—"नाथ! आपके त्यागे इस धरा-धाम पर मैं कैसे रहूँगा। आपकी आज्ञा को तो कोई टाल ही नहीं सकता। किन्तु मैं रहूँगा कहाँ?

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया! अधीर नहीं होते हैं। तुम बदरीवन में चले जाओ। वहाँ मेरा अति पवित्र शान्त एकान्त कोलाहल से रहित आश्रम है। वहाँ मेरे चरणों से निकली हुई अलकनन्दा नामक गंगा है। उसका जल अत्यन्त स्वच्छ, निर्मल तथा अमृतोपम है। उसका यथेष्ट पान करना। उसमें स्नान करना, वहाँ वन में कन्दमूल, फल उत्पन्न होते हैं उन्हीं को खाकर निर्वाह करना और मेरा ध्यान करते रहना। भगवती अलकनन्दा में स्नान पान की बात ही क्या है, उनके जल के दर्शन मात्र से ही समस्त पाप दूर हो जाते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! वहाँ तो बड़ा शीत पड़ता होगा?"

भगवान् ने कहा—"तो क्या हुआ? शीत उष्ण के सहन करने का ही नाम तो तप है शीत, उष्ण, सुख दुख आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए वहाँ निवास करना। सुशील शान्त चित्त, जितेन्द्रिय होकर, बुद्धि को समाहित और स्थिर करके मेरे ध्यान में लगे रहना। ज्ञान और विज्ञान से युक्त होकर निर्द्वन्द्व होकर वहाँ के वनों में विचरना। वहाँ के प्रत्येक औषधि में गन्ध आती है। इसीलिये उस पर्वत का नाम गन्धमादन है। उस पर्वत पर निवास करके मेरे ही बताये हुए भागवत धर्मों का पालना करना मन से मेरे ही मनहर रूप का मनन करते रहना, वाणी से मेरे ही श्रुति मधुर पावन नामों का कीर्तन करते रहना। जो मैंने तुम्हें

शिक्षा दी है उसको स्मरण रखकर निरन्तर उसीका अनुभव करते रहना। यदि तुम ऐसा करोगे, तो त्रिगुणातीत होकर अन्त में मुझ परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त हो जाओगे। तुम्हारे द्वारा मुझे साधनों का प्रचार प्रसार कराना है।"

रोते रोते उद्धवजी ने कहा—"प्रभो! आप मुझ दीन हीन का त्याग क्यों कर रहे हैं, मेरे तो सर्वस्व आप ही हैं। प्रभो! मैं आपके बिना जीवित नहीं रह सकता।

भगवान् ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ कहा—"अरे, भैया! मैं तुझे त्याग कहां रहा हूँ। बदरीकाश्रम मेरा नित्यधाम है—भू वैकुंठ है—वहाँ तुम निरन्तर मेरा स्मरण करते रहना।"

उद्धवजी ने अधीरता के साथ कहा—"हे अशरणशरण! हे भक्तवत्सल! सब कुछ सत्य है, किन्तु मुझे ये चरणारविन्द कहाँ मिलेंगे। इनकी परमपावन रज मुझे मस्तकपर मलने को कहाँ मिलेगी। मैं जीवन भर इन चरणों की सन्निधि में ही रहा हूँ, इनका परित्याग मैं कैसे कर सकूँगा?"

उद्धवजी जब अत्यन्त ही अधीर हो गये तथा फूट फूटकर रोने लगे, तब उन्हें सान्त्वना देते हुए और उनकी पीठ पर अपना वरद मृदुल श्रीहस्त फेरते हुए अत्यन्त ही ममता के साथ पुचकारते हुए भगवान् बोले—"देखो, भैया! इस प्रकार तुम्हें अधीर न होना चाहिये। यदि तुम्हें मेरे चरणों का ही मोह है, तो लो, ये मेरी चरणपादुकायें ले जाओ इन्हीं को तुम नित्य पूजा करना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अपने चरणों में से उतार कर उद्धवजी को अपनी चरणपादुकाएँ प्रदान कीं, तो उन्होंने अत्यन्त ही प्रेम तथा ममता के साथ उन्हें सिर पर चढ़ाया बार बार नयनों से लगाकर उन्हें पाद्य अर्घ्य आचमनीय तथा स्नान के लिये नयन नीर प्रदान किया। प्रभु की चरणपादुकाओं को प्राप्त करके उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों भगवान् के ये चिन्मय

दो उपाङ्ग ही हैं। प्रभु ने अब पादुकाएँ प्रदान कर दीं और मुझे बदरीवन जाने की आज्ञा दे दी, अब तो जाना ही होगा, यह सोचकर वे बड़े कष्ट से उठे। अब भगवान् भी धराधाम को त्यागकर स्वधाम पधार जायँगे प्रभु के बिना द्वारावती नगरी भी न रहेगी, यही सब सोचकर उद्धवजी विह्वल हो गये, वे बालकों की भाँति ढाह मारकर रोने लगे। रोते रोते उन्होंने प्रभु की प्रदक्षिणा की बार बार उनके चरणोंमें लोटकर प्रणाम की।

यद्यपि भगवान् के दिव्योपदेश से उन्हें ज्ञान हो गया था, तो भी वियोग को स्मरण करके उनका हृदय फटने लगा। प्रेमातिरेक के कारण वे आत्म विस्मृत से बन गये थे। श्रावण भादों के मेघों

के समान उनके युगल नयन अश्रुओं की वर्षा कर रहे थे। जिनको सोते जागते उठते बैठते कभी पलभर को भी नहीं छोड़ा था, जिनके पीछे छाया की भाँति वे निरन्तर रहते थे, उन्हीं दुस्त्यज प्रभु की मनमोहिनी मूर्ति को त्याग कर दूर देश मे जाना होगा, इससे उनकी कातरता पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी। उन्होंने भगवान् की चरणपादुकायें कृपण के धन के सदृश सिर पर रख ली। वे शरीर से तो हट रहे थे, किन्तु मन से अधिकाधिक मिल रहे थे। एक पैर चलते फिर रो पड़ते, भगवान् के दर्शन करते फिर एक पैर चलते। इस प्रकार बड़े कष्ट से वे द्वारकाजी से चल दिये।

इनका मन जाने को करता नहीं था, किन्तु प्रभु की आज्ञा है इसलिये जाना ही होगा। इसलिये चलते, किन्तु फिर कुछ सोचकर रुक जाते। बहुत इच्छा करने पर भी वे आगे न बढ़े छिप कर भगवान् के पीछे पीछे प्रभास तक गये, फिर वहाँ से भगवान् से पुनः उपदेश प्राप्त करके वे व्रज में आये। विदुरजी से भेंट हुई एकरात्रि उनके साथ रहे। रात्रि भर श्रीकृष्ण कथा होती रही। प्रातःकाल विदुर जी रोते हुए मैत्रेय मुनि से भागवत् सुनने हरिद्वार चले गये और उद्धवजी आगे बढ़े।

उद्धवजी ने सोचा—"मैं जब श्यामसुन्दर की आज्ञा से गोपियों को ज्ञान सिखाने वृन्दावन आया था, तब उनके अद्भुत प्रेम को देखकर मैं उनका शिष्य सेवक बन गया। तभी मैंने प्रार्थना की थी—"प्रभो! मुझे वृन्दावन में कोई लता गुल्म बना दो, जिससे इन महाभागा व्रजवासिनी वनिताओं की चरण रेणु उड़ उड़कर मेरे अङ्गों पर पड़े। मेरी अभिलाषा तो यह थी किन्तु श्यामसुन्दर ने अन्त समय मुझे आज्ञा दी है, कि मैं बदरिकाश्रम में जाकर साधन करूँ। भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तों की छोटी से छोटी बड़ी से बड़ी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं।

अब वे मुझ ब्रज का दिव्य रस चखावेंगे या पहाड़ों में साधन करावेंगे।"

उद्धवजी गोवर्धन की तलहटी में कुसुम सरोवर के निकट मरुस्थल, में बैठे बैठे यह सोच रहे थे, कि उनके दो रूप हो गये। एक रस रूप और एक साधन रूप। वृन्दावन रस भूमि है, अत रसास्वादन करने के निमित्त उनका रस रूप तो लता रूप में प्रवेश कर गया जो गोवर्धन और राधाकुण्ड के बीच में कुसुम सरोवर पर अब तक उद्धव लता के नाम से प्रसिद्ध है और वहाँ वृक्षरूप में उद्धवजी निरन्तर वास करते हैं तथा जो भक्त जाकर भागवत सप्ताह करते हैं उनके सम्मुख प्रकट भी होते हैं। दूसरा जो साधन शरीर था उससे वे बदरीवन में गये और वहाँ अब भी वे भगवान् के उपासक रूप में विद्यमान हैं। उद्धवजी का उत्सव ही स्वरूप है। अत वे उत्सव मूर्ति के नाम से पूजे जाते हैं। वर्ष में एक दिन वे उत्सव रूप में वामन द्वादशी के दिन मूर्तिमाता के यहाँ जाते हैं। उद्धवजी की लायी हुई चरण-पादुकायें अब तक श्री बदरीनाथ भगवान् के मन्दिर में विद्यमान हैं। काल के प्रभाव से उनकी आकृति छोटी हो गयी है। यात्रियों को चन्दन में ठप्पाकर केशर चन्दन की चरणपादुकायें प्रसाद में मिलती हैं। अब तक उद्धवजी तपोमय आचरण करते हुए भगवान् की दिव्य छवि का ध्यान करते रहते हैं। इस प्रकार उन्होंने भगवान् की गति को प्राप्त कर लिया है। वे निर्द्वन्द्व और निरामय हो गये।

मुनियो! यह मैंने अपने गुरुदेव भगवान् श्री शुकदेव के मुख से सुनी हुई उद्धवगीता आपसे कही। इस ज्ञान को किसी ऋषि मुनि ने नहीं सुनाया। स्वयं साक्षात् योगेश्वर आनन्दकन्द श्रीकृष्ण चन्द्र ने अपने मुख से अनन्य ऐकान्तिक भक्त उद्धव को सुनाया था। इस ज्ञान का जो यत् किंचित भी अंश श्रद्धापूर्वक

श्रवण करते हैं, जो इस धर्म का स्वल्प भी पालन करते हैं, वे बड़े बड़े भयो से सहज मे ही पार हो जाते हैं। वे क्या पार हो जाते हैं जगत् ही उनके सङ्ग से मुक्त हो जाता है। उसके लिये संसार रहता ही नहीं। मुनियो! जैसे तिलों में तैल है, किन्तु वह बिना पेरे नहीं निकल सकता, दुग्ध के कणकण में मक्खन है, किन्तु बिना मथे वह नहीं निकल सकता, प्रत्येक पुष्प में मधु है, किन्तु उस मधु को मधुमक्षिका या भ्रमर ही एकत्रित कर सकते हैं। इसी प्रकार वेदो मे समस्त ज्ञान भरा है, किन्तु उसको मथकर सार तत्व भगवान् ही निकाल सकते हैं। इसीलिये भगवान् ने दो बार समुद्र मंथन किया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! एक बार तो क्षीरसागर मे मंदराचल को डालकर तथा वासुकी को नैति बनाकर अजित भगवान् ने समुद्र मथा था, दूसरी बार समुद्र कब मथा गया?"

सूतजी बोले—"महाराज! एक बार का समुद्र मंथन तो प्रसिद्ध ही है, उसमे से जो अमृत का कलश लेकर धन्वन्तरिजी निकले थे, उसे असुर लेकर भाग गये थे, भगवान् ने बड़ी युक्ति से-असुरों से-अमृत छीनकर अपने भक्त देवताओं को पिलाया दूसरी बार यह समस्त वेद-वेदान्त रूपी ज्ञान समुद्र को मथकर जो ज्ञान विज्ञान का सार सिद्धान्त रूप उद्धवगीतामृत निकला उसे यद्यपि भगवान् ने अपने भक्त उद्धव को ही पिलाया, किन्तु उन्होंने समस्त भक्तों के लिये इसका द्वार खोल दिया। जो भक्तगण इस उद्धवगीता रूप ज्ञानामृत का पान करेंगे वे निश्चय ही अमर हो जायेंगे। यह मैंने आप से उद्धवगीता कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब परम भागवत् उद्धवजी द्वारावती से बदरीवन को चले गये, तो भगवान् ने फिर क्या किया?" क्या भगवान् ब्राह्मणों के शाप को अन्यथा नहीं

कर सकते थे ? भगवान् ने ब्रह्म शाप को स्वीकार करके अपने कुल का संहार स्वयं ही करा दिया ? समस्त इन्द्रियों और मन को परम सुख प्रदान करने वाले अपने विश्वविमोहन वायु को उन्होंने किस प्रकार त्यागा ? अहा ! श्यामसुन्दर का वह स्वरूप कि जिसमें एक बार आँख लग जायँ तो लगी की लगी ही रह जाय। भूलकर भी दृष्टि उधर पड़ जाय, तो वह वहाँ चिपकी की चिपकी ही रह जायँ। महिलाओं के नेत्र जिसमें एक बार जुड़ जाते थे, तो फिर मुड़ने का नाम भी नहीं लेते थे। नेत्र ने दर्शन न भी किये हों, यदि वह रूप माधुरी, कर्णरूपी पान पात्रों द्वारा हृदय में पहुँच जाय तो फिर वह गड़ जाती है, फिर निकलने का नाम भी नहीं लेती। कविगण अपनी वाणी द्वारा जिसका वर्णन करते हैं, तो वह वाणी कृतार्थ हो जाती है। उसमें एक प्रकार की मीठी मीठी मादकता छा जाती है, जो अत्यधिक आकर्षक बन जाती है। जिस रूप माधुरी का पान महाभारत युद्ध में विपक्षियों ने भी पार्थ के रथ से किया था और उसके दर्शन करने मात्र से ही उन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई थी, उस रूप माधुरी को भगवान् ने कैसे तिरोहित कर लिया। कैसे वे अन्तर्हित हो गये, कैसे उन्होंने इस अवनि को अपने चरण स्पर्श सुख से वञ्चित बना दिया, कृपा करके हमें भगवान् के स्वधाम गमन की कथा और सुना दें। सूतजी ! आपकी बड़ी आयु हो, आप हमें ऐसा अमृत पान करा रहे हैं, कि जिसकी उपमा संसार में मिल ही नहीं सकती। महाभागो ! आपने हमें श्रीकृष्ण चरित्र सुना कर कृतार्थ कर दिया।

सूत जी ने कहा—"मुनियो ! मुझ में श्रीकृष्ण चरित्र सुनाने की शक्ति कहाँ है। जैसे सूर्यनारायण, चक्षुरूप से नेत्रगोलक में रहते हैं, फिर सूर्य रूप से स्वयं ही उसे प्रकाशित करके सब वस्तुओं को दिखाते हैं, उसी प्रकार आप मेरे हृदय में प्रेरणा

करके इस ज्ञान को उत्पन्न करते हैं और स्वयं ही श्रोता बनके उसका आस्वादन करते हैं। आपही मुझसे कहला रहे हैं आपही सुन रहे हैं। श्रोता वक्ता दोनों ही आप हैं, मुझे तो आपने निमित्त बना लिया है। जो प्रश्न आपने मुझसे किया है वही प्रश्न महाराज परीक्षित ने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से किया था। इसका उन्होंने जो भी उत्तर दिया, उसे मैं यथाभाँति आपको सुनाऊँगा आप सब उसे समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

चरनपादुका लई धरी सिर प्रभुपद सुमिरत।
पुनि पुनि करत प्रनाम चले बदरीवन बिलखत॥
हरि निज सेवक सखा समुझि सब सीख सिखायी।
शुभ शिक्षा हिय धारि परम गति उद्धव पायी॥
पूछें शौनक—'सूतजी, पुनि यदुनदन का कह्यो?
कैसे कुल संहार करि, शेष भार भू को हर्‌यो॥

यदुवंश-विनाश की प्रस्तावना

(१३२८)

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान्समुत्थितान् ।
दृष्ट्वासीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ॥*

(श्री भा०११ स्क० ३० अ० ४ श्लो०)

छप्पय

कहें सूत अप शकुन पुरी महँ नित नित होवें ।
करि करि कर्कस शब्द सियारिनि दिन मह रोवें ॥
काक कंक अरु गीध अशुभ खग इत उत डोलें ।
उल्लू श्वान कपोत भयङ्कर बोली बोलें ॥
हरि बोले—'यादव सुनहुँ, इन उत पातनि शमन हित ।
सब प्रभास मिलिकें चलो, दान धरम महँ देहु चित ॥

जैसा होना होता है, उसकी सूचना पहिले ही हो जाती है। जो अहङ्कार के मद में मद मत्त बने रहते हैं, वे अप शकुनों की सूचना की भी अवहेलना कर देते हैं। वे अभिमान के वशीभूत

* श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने जब आकाश, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष में महा उत्पातों को उठते हुए देखा, तो वे सुधर्मा सभा में बैठे हुए यादवों से इस प्रकार कहने लगे।"

होकर उस ओर ध्यान नहीं देते। नहीं तो पशु पक्षी भी भावी अपशकुनों के लक्षणों से अपने स्थान को छोड़ देते हैं। जो होना होना है, वह तो अवश्य ही होकर रहता है। प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता। इतनी बात है, कि दान धर्म करने से तीर्थ आदि पवित्र स्थानों में रहने से अशुभ गति नहीं होती। इसी लिये जब विपत्ति का समय आवे, तब अच्छे साधु सन्तों का सत्सङ्ग करना चाहिये। दान पुण्य आदि सत्कर्मों में मन लगाना चाहिये तथा पुण्य क्षेत्रों में उत्तम उत्तम तीर्थों में जाकर समय बिताना चाहिये। इन कामों से अशुभों का नाश होता है, तथा सद्गति की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी भगवान् से विदा हो गये, तब भगवान् ने देखा, द्वारका पुरी में नित्य ही नये नये उत्पात होते हैं। बिना बादलों के बिजली गिरती है। वन के पक्षी नगर में आकर रोते हैं। देव मूर्तियों के शरीरों से स्वेद निकलता है। रक्त मांस की वर्षा होती है, रूखी वायु चलती है, तथा इसी प्रकार के और भी अनेकों उत्पात होते हैं। इन सब प्रलय के सूचक उत्पातों को देखकर भगवान् ने सभी यादवों को बुलाया और सबको समझाते हुए कहने लगे—"क्यों, भाई तुम लोग देख रहे हो, ये जो नित्य नये भयङ्कर उत्पात होते हैं, असंख्यों अपशकुन होते रहते हैं, इसका परिणाम क्या होगा?"

आकुलता के साथ यादवों ने कहा—"प्रभो! हम तो कुछ भी नहीं समझते। आपही बतावें इनका फल क्या होगा?"

भगवान् ने कहा—"ये सब लक्षण प्रलयकारी हैं। इन लक्षणों से सिद्ध होता है, यदुकुल के ऊपर कोई बड़ी भारी विपत्ति आने वाली है।"

अत्यन्त ही भयभीत होकर सब ने कहा—"तो भगवन्! अब हमारा क्या कर्तव्य है?"

भगवान् ने कहा—"द्वारावती में ये उत्पात क्या हो रहे हैं, मानों यमराज हमें बुलाने को झंडी दिखा रहे हैं। ऐसी दशा में अब हमें यहाँ एक क्षण भी न रुकना चाहिये।"

हड़बड़ाहट के सहित यादवों ने पूछा—"द्वारका पुरी को छोड़कर चलें कहाँ ?"

भगवान् ने कहा—'देखो, जितने बाल बच्चे हैं, स्त्रियाँ हैं तथा बूढ़े बड़े हैं उन सबको तो शङ्खोद्धारक तीर्थ में भेज दो और हम सब मिलकर पुण्य क्षेत्र प्रभास तीर्थ में चलें। वह बड़ा ही पावन क्षेत्र है जहाँ पश्चिम की ओर बहने वाली पुण्यतोया भगवती सरस्वती बहती हैं, वहीं हम अनिष्टों के शमनार्थ प्रयत्न करेंगे।"

यादवों ने पूछा—"वहाँ चलकर हम सब को क्या करना होगा ?"

भगवान् बोले—"देखो, जब ऐसे अनिष्ट सूचक अपशकुन दिखाई दें, तब सब को मिलकर दान, पुण्य, व्रत, उपवास तथा अन्यान्य शुभ कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, देवताओं का पूजन करना चाहिये, ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये और पवित्र मन्त्रों का जप करना चाहिये। प्रभास क्षेत्र में पहुँचकर पहिले तो हम संकल्प पूर्वक स्नान करेंगे। तीर्थ में जिस दिन जाय उस दिन उपवास करे, इस नियम से हम प्रथम दिन उपवास करेंगे। तीर्थ का अन्य देवताओं पूजन करेंगे। दूसरे दिन फिर तीर्थ स्नान से शुद्ध होकर फिर आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, यज्ञोपवीत, वस्त्र, आभूषण, चंदन, धूप, दीप, सुगंधित द्रव्य, पुष्प, माला, नैवेद्य, फल, ताम्बूल, पुंगीफल, शैया, प्रार्थना, प्रदक्षिणा नमस्कार तथा क्षमायाचना आदि से देवताओं का पूजन करेंगे। नाना प्रकार के सुन्दर स्वादिष्ट रसीले षड्रस युक्त पदार्थ बनवावेंगे। उन से ब्राह्मणों को इच्छा भोजन करावेंगे।

उनको विधि पूर्वक सुवर्ण, गो, वस्त्राभूषण, प्रिय पदार्थ, हाथी, घोड़ा, रथ, भूमि भवन तथा उपवनादि दान देंगे। उनके पैरों पड़ेंगे उनसे आशीर्वाद लेंगे। इन्हीं सब कार्यों से तो रोग, शोक आदि अरिष्ट दूर होते हैं। इन्हीं मङ्गलमय कार्यों से आन्तरिक शान्ति होती है। धर्म की स्थिति गौ और ब्राह्मणों के ही कारण है। ब्राह्मण गण ज्ञान का सदा उपदेश देते रहते हैं, जिससे मनुष्य पशुता जडता से ऊँचा उठता है, परमार्थ की बात सोचता है। गौएँ शुद्ध पवित्र दूध देती हैं, जिनसे यज्ञयाग होते हैं, देवता पितर गण तृप्त होते हैं, परलोक बनता है। लोग भौतिकता को हेय समझ कर आध्यात्मिकता की ओर बढते हैं। अत कल्याण की इच्छा करने वालों का सदा इन दोनो का आदर करना चाहिये इसलिये क्षत्रियों का चाहे जैसा राजा हो, उसके राज्य मे इन दो का कभी भी वध नहीं होता। म्लेच्छ राज्यों में यह नियम नहीं। जहाँ गौ ब्राह्मणों वध हो वही म्लेच्छ राज्य है। इन दोनों की पूजा करना ही प्राणियों के जीवन का परम लाभ है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! यह सुनकर सभी वृद्ध यादवों ने साधु साधु कहकर भगवान् की बात का अनुमोदन किया। सेनापति को आज्ञा दी गयी। प्रथम डोलियाँ सजा दी गयीं उनमें स्त्रियो को बिठाकर समुद्र के उस पार पहुँचाया। जब सब स्त्रियाँ और छोटे छोटे बच्चे तथा वृद्ध पुरुष उस पार पहुँच गये तब उन्हें रथों में बिठाकर शखोद्धारक क्षेत्र को भेज दिया गया। अब जो युवक तथा अधेड यादव बच गये, वे सब भी बडे उत्साह से अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध की सामग्रियों के सहित चल दिये।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! तीर्थ यात्रा में अस्त्र सुसज्जित होकर जाने का क्या काम? कैसा भी अधार्मिक राजा हो तीर्थ

यात्रियों पर तो कोई प्रहार करता नहीं। फिर युद्ध की सामग्री लेकर यादव क्यों गये ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! विनाशकाल में बुद्धि विपरीत बन जाती है। उन्हें परस्पर में कट कर मरना था इसलिए सब की बुद्धि ऐसी ही हो गयी सब बड़े उत्साह से समुद्र पार पहुँचे और अपने अपने वाहनों पर चढ़ गये। युवकों के रक्त में बड़ी चंचलता होती है। अत वे परस्पर में होड़ लगा लगा कर घोड़ों को दौड़ाने लगे। एक दूसरे से आगे निकलने की चेष्टा करता था। इस लिये वे अति शीघ्र ही प्रभास पट्टन में पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर सब ने अपने अपने डेरे डाले। समुद्र के तट पर यादवों का पड़ाव पड़ा। सभी लोग यह सुने कि भगवान् अपने बन्धु बान्धवों के साथ तीर्थ यात्रा करने आये हैं, परम प्रमुदित हुए। भगवान् की आज्ञानुसार उस दिन सभी ने उपवास किया।

दूसरे दिन बड़े बड़े वेदज्ञ ब्राह्मण बुलाये गये। बड़े बड़े ऐन वाली हाल की ब्याई हृष्ट पुष्ट बहुत दूध देने वाली बहुत सी गौएँ मँगायी गयीं। उनका ब्राह्मणों ने विधि विधान पूर्वक पूजन कराया, उनके सींग सुवर्ण से मढ़े हुए थे, खुरों में चाँदी लगी थी, पूँछ मोतियों से गुँथी थीं और कंठ में सुवर्ण की मालायें पहिनायी गई थी। दुशाला उनकी पीठ पर उढ़ाया गया था तथा काँसे की दोहनी तथा और भी बहुत सा समान उनके साथ था। ऐसी असख्यों गौएँ दान दी गयीं। रत्न लुटाये गये। जितने भी भी ब्राह्मण वहाँ आस पास में थे, सबको यथेष्ट इच्छा भोजन कराया गया था तथा मणि माणिक्य रत्न आभूषण तथा अन्यान्य सुवर्ण वाहन उन्हें दिये गये थे। इस प्रकार वहाँ यथेष्ट दान दिया गया।

जब सब ब्राह्मण दान ले चुके तथा सभी ने बड़ी रुचि से

तृप्ति पूर्वक भोजन कर लिया तब विप्रों ने यादवों से कहा—'अब आप लोग भी भोजन करें।"

यह सुनकर सबने भोजन करने का निश्चय किया। कल के भूखे थे, सभी को कड़ाके की भूख लगी हुई थी। सबने बड़े प्रेम से मिलकर भर पेट भोजन किया भूखे तो थे ही आवश्यकता से अधिक उड़ा गये। अधिक भोजन करने से इन्द्रियों में चंचलता आ गई। उनलोगों में अधिकांश सुरापान के व्यसनी थे। जब मनुष्यों का धर्म बन्धन शिथिल हो जाता है, तो वह मन मानी करने लगते हैं। स्त्री पर पुरुष की ओर क्यों नहीं देखती। इसीलिये कि वह धर्म बन्धन में बँधी है। पुरुष दूसरों की बहिन बेटी की ओर कुदृष्टि क्यों नहीं दौड़ाता, इसीलिये कि धर्म कहता है। दूसरों की बहिन बेटी अपनी बहिन बेटी के समान है, दूसरे की स्त्री अपनी माता के समान है। जिनका धर्म बन्धन शिथिल हो जाता है वे पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। सुरापान ऐसा व्यसन है, कि वह धर्म बन्धन को शिथिल कर ही देता है। सुरापान करने वाला कितना ही बड़ा विचारक हो उसे सद् असत् का विवेक नहीं रहता। व्यसनी अपने व्यसन में ही सर्वश्रेष्ठ सुख का अनुभव करता है। यादवों को अबतक तो धार्मिक विधि करनी थी, इसलिये उनकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ उधर ही लगी हुई थीं। अब जब वे भोजन करके निश्चिन्त हो गये तो उन्हें अपने व्यसन की याद आई। एकान्त स्थल समुद्र का किनारा सब युवक युवक यादव एक स्थान में बैठ गये।

उनमें से एक ने कहा—"हाँ, भाई पाठ पूजा तो हो चुकी, अब कुछ शक्ति की भी उपासना हो ?"

दूसरे ने पूछा—"शक्ति की उपासना क्या ?"

उसने हँसकर कहा—"अरे, भाई ! तुम तो भौंदू ही रहे।

कुछ छननी चाहिये। सुरा भवानी के सेवन के बिना न शक्ति सचार ही होता है न मन की प्रसन्नता ही होती है।"

इस पर एक ने डाँटते हुए कहा—'दुष्ट, कैसी बात कर रहे हो। अरे तीर्थ मे कहीं सुरापान किया जाता है। अन्य स्थानों का पाप तीर्थ क्षेत्र मे आकर नष्ट हो जाता है और तीर्थ क्षेत्र मे किया हुआ पाप वज्रलेप हो कर लिपट जाता है।"

इस पर वह युवक उत्तेजित होकर बोला—"तीर्थ कहाँ नहीं है। क्या तीर्थ द्वारका नहीं है। तीर्थ का कृत्य हो चुका अब हो हरी हर। बिना शक्ति के आनन्द नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यादवों को तो ब्राह्मणों का शाप पहिले ही मिल चुका था, अतः उन्होंने विरोध का कुछ भी विचार नहीं किया। वे अपने साथ एक बहुत ही मादक उत्तेजक मैरेय नामक वारुणी लाये थे। उसके कलश रखे गये और सब सुवर्ण चसकों मे भर भर कर पीने लगे। आज सब का संयम शिथिल पड गया था। सभी ने यथेष्ट सुरापान कर ली था, अब इसका जो परिणाम होगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

साधु साधु कहि सबनि हरषि अनुमोदन कीन्हों।
सब प्रभास चलि दये पुण्य हित धनवहु लीन्हों॥
अस्त्र शस्त्र लै सग चले सब तुरँग भगावत।
पहुँचे पुण्य प्रभास उदधि लखि सब हरषावत॥
विधिवत करि उपवास पुनि, पूजि प्रेमतें सुरनि कूँ।
धेनु, धान, धन गज तुरग, दईं वस्तु सब द्विजनि कूँ॥

———

यदुवंश विनाश

(१३२९)

पुत्रा अयुध्यन् पितृभिर्भ्रातृभिश्च,
स्वस्रीयदौहित्र पितृव्य मातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भिः,
ज्ञातीस्त्वहन् ज्ञातय एव मूढाः ॥

(श्री भा० ११ स्क० ३०अ० १९ श्लो०)

छप्पय

तीरथ का करि कृत्य यथा रुचि भोजन कीयो ।
भावी वश फिर सबनि द्रव्य मादक बहु पीयो ॥
करन लगे सब कलह परस्पर देवे गारी ।
सकल भये मदमत्त भाग्य ने बुद्धि बिगारी ॥
धनुष, बान, तोमर, खड्ग, लै लै सब लरिबे लगे ।
हरि-माया मोहित भये, नहिं कोई रनते भगे ॥

समस्त शास्त्रों का सार सिद्धान्त यही है कि संसार में जो भी कुछ हो रहा है, प्रभु की इच्छा से हो रहा है। सब कुछ दैवाधीन है। जो होने वाला है वह अवश्य होगा, उसे कोई रोक नहीं

श्री शुकदेव जी कहते हैं—' राजन्! वे यादव मदिरा के मद में उन्मत्त होकर पुत्र पिता से तथा भाई, भानजे, चेरते, मामा सभी एक दूसरे से लड़ने लगे। मित्रों से मित्र तथा सुहृदों से सुहृद भिड़ गये। इसी प्रकार जातीयगण अपने सजातियों को मारने लगे।"

सकता। प्राणी बिना कुछ किये चुपचाप नहीं रह सकता। इसलिये तुम संसार की किसी भी घटना को देखकर न तो चिन्तित हो ओ न विस्मित। चिन्ता का काम क्या? जो होना होगा अवश्य होगा, तुम उसे रोक नहीं सकते अन्यथा नहीं कर सकते। जो पैदा होता है प्रभु की इच्छा से होता है, जो मरता है प्रभु की इच्छा से मरता है, जो बात अवश्यम्भावी है, उसके लिये सोच करने से लाभ ही क्या? तुम्हारे शोक से तुम्हारी चिन्ता से कुछ होने जाने वाला नहीं है। भावी होकर ही रहेगी। विस्मय अथवा आश्चर्य करना भी व्यर्थ है। माया में कुछ भी असभव नहीं। एक नन्हें से सरसों के दाने से भी छोटे वट वृक्ष के बीज से कैसा विशाल वृक्ष बन जाता है। उस छोटे से बीज मे कितना बडा वृक्ष छिपा रहता है, कम आश्चर्य है? एक छोटे से वीर्य बिन्दु से हाथी जैसा जीव उत्पन्न हो जाता है यह विस्मयोत्पादक बात नहीं तो क्या है। भगवान् की माया में समस्त आश्चर्य जनक ही व्यापार भर हैं। माया में सब कुछ सम्भव है। तुम आश्चर्य करके क्या कर सकते हो।

इस पर आप कहेंगे कि फिर तो साधन भजन पुरुषार्थ सब व्यर्थ ही है। जो होना होगा होता रहेगा हम साधन भजन उद्योग क्यों करें। हाथ पर हाथ रखे बैठे रहे।" इसका उत्तर तो हम पीछे ही दे आये हैं, कि प्राणधारी बिना कुछ किये रह ही नहीं सकता। कर्म करने को वह विवश है।"

फिर प्रश्न होता है, जब कर्म करने को सभी विवश तो ज्ञानी और अज्ञानी मे भेद क्या रहा? एक घास खोदकर अपनी जीविका चलाता है एक बुद्धि द्वारा लोगों पर शासन करके काम चलाता है। दोनों ही कर्म करने को विवश हैं दोनों ही एक से हैं, फिर ज्ञानी की प्रशसा क्यों, अज्ञानी की निन्दा क्यों? काम तो दोनों का एक सा ही है।" यह सत्य है कि सब का काम एक सा

है। बुद्धि जीवी शासक या लेखक भी अज्ञानी हो सकता है और श्रम जीवी साधारण घास खोदने वाला भी अज्ञानी हो सकता है। कामों से ही कोई ज्ञानी अज्ञानी नहीं होता। जिसकी यह भावना दृढ़ है, कि जो कुछ हो रहा है प्रभु प्रेरणा से हो रहा है वह ज्ञानी है, जो सोचता है करने वाला मैं हूँ मेरे करने से ही होगा वही अज्ञानी है। इस लिये समस्त साधन और पुरुषार्थों का फल यही है समस्त घटनाओं में समभाव बनाये रखना। यदु कुल का संहार करके भगवान् ने यही शिक्षा दी, कि सभी अवस्थाओं में सम भाव रखो। भावी तो होकर ही रहेगी।

सूत जी कहते हैं—'मुनियो! प्रभास क्षेत्र में सभी यादव मैरेय नाम की एक अति सुरस अत्यन्त मादक महा मदिरा का पान करके मदोन्मत्त हो गये। युवकों के रक्त में एक तो स्वाभाविक उष्णता होती है, तिस पर भी यथेष्ट सुरापान कर ला जाय—गिलोय वैसे ही कड़वी फिर नीम चढ़ी। बन्दर वैसे ही चंचल फिर उसे बीछी से कटा कर सुरा पिला दी जाय। जिस प्रकार उस वानर की चंचलता बढ़ जाती है, उसी प्रकार इन उद्धत युवक यादवों की उद्धत्ता पराकष्ठा पर पहुँच गयी। वारुणी के पान से सब की आँखें लाल लाल हो गयीं थीं। मदिरा के उन्माद में एक ने दूसरे को गाली दी। इस पर उसने डाँट कर कहा—"देखो जी, तुम धनी होगे तो अपने घर के होगे। अपनी वाणी को सम्हाल कर बोलना।"

उसने गरज कर कहा—"अब मैंने किसी का ऋण तो खाया

नहीं। हमे किसी का भय नहीं तुम अपने को बडा शूर वीर लगाते हो, यदि तुममे कुछ सामर्थ्य है तो आजाओ।"

उसने खड्ग को निकाल कर कहा—"हम दबने वाले नहीं हैं। आजाओ हम तैयार हैं।"

यह कह कर उस पर टूट पडा। कुछ इधर हो गये कुछ उधर। होने लगा संग्राम सब ही धनुषों पर बाण चढा कर एक दूसरे को मारने लगे। वे सब भगवान् की माया से मोहित हो गये थे, सभी सुरा के मद मे अपने आप को भूले हुए थे। सब ने अपने अपने अस्त्र शस्त्र सम्हाल लिये। रथों मे तुरन्त घोडे जोत लिये गये। उनकी बँधी हुई पताकायें खोल दी गयीं वे वायु से आकाश मे फहराने लगीं। सभी के ध्वज चिन्ह स्पष्ट दिखायी देने लगे धनुष, बाण, खडग भाला, तोमर, गदा तथा ऋष्टि, आदि अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित सैनिक समरागण मे आकर उपस्थित हो गये। अब समर का कोई नियम नहीं रह गया। जिसकी जिस ओर इच्छा हुई उसी ओर वह हो गया। वे सभी परस्पर मे सगे सम्बन्धी थे। उन सबके अस्त्र शस्त्र रथों मे, घोडा, खच्चर, गदहा तथा बैलों की गाड़ियों मे लदे हुए थे। वे सब के सब प्राणों का पण लगा कर उसी प्रकार लड रहे थे, जिस प्रकार वन में मदोन्मत्त हाथी लडते हों। अथवा बहुत से साँड लड रहे हों।

सब सम्बन्धी होने पर भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाने से प्रारब्ध वश परस्पर मे ही शत्रुओं के सदृश लड रहे थे। प्रद्युम्न अपने भाई साम्ब से, अक्रूर जी भोज से, अनिरुद्ध सात्यकी जी से तथा

जब अस्त्र शस्त्र सब समाप्त हो गये तब वे युद्ध करने को कोई अन्य वस्तु खोजने लगे। सम्मुख ही उन्होंने सरकंडों का

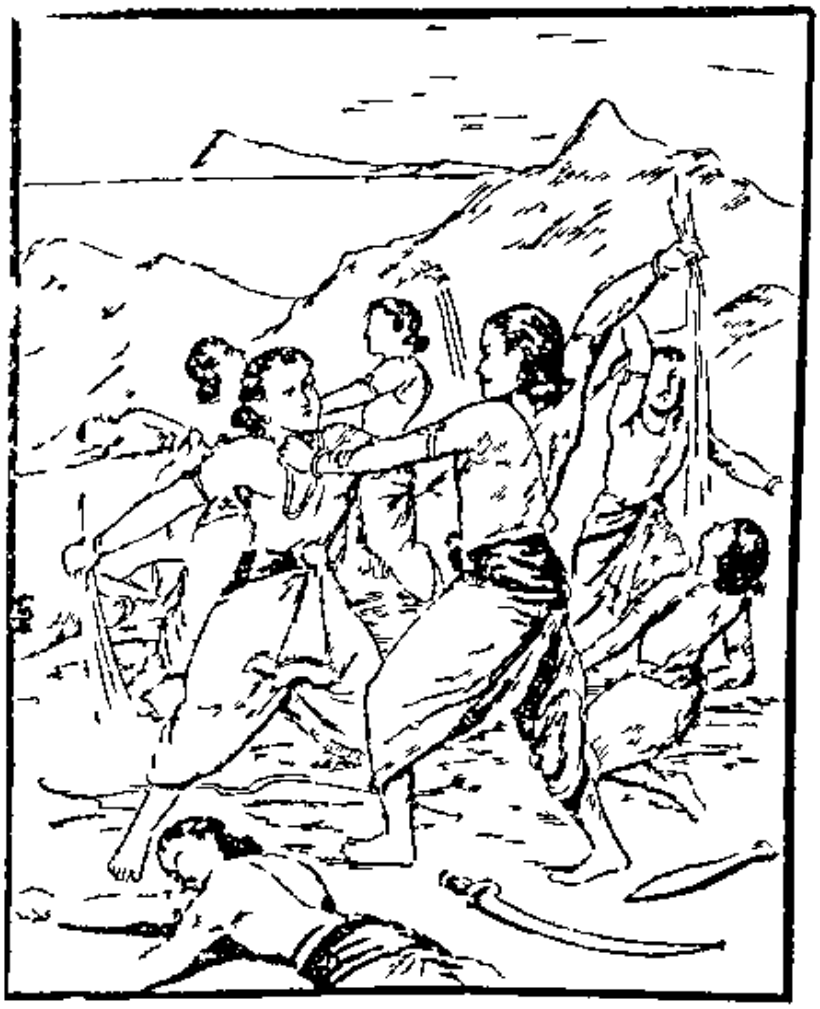

एक सघन वन देखा। अब तो वे सब के सब उन्हीं पर टूट पड़े। सब ने सर कंडे उखाड़ लिये और उन्हीं से वे लड़ने लगे।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी शर पत्र या सर कंडे के पत्ते तीक्ष्ण अवश्य होते हैं, उनसे उँगली चिर जाती हैं। और भी जहाँ शरीर मे लग जायँ, तहाँ रक्त निकल आता है, किन्तु उनसे युद्ध हो सकता है यह बात हमारी बुद्धि में बैठती नहीं। वे कैसे शर पत्र थे जो अस्त्र शस्त्रों के कंठित हो जाने पर युद्ध में काम देते रहे ?

सूत जी ने कहा—"महाराज ! जिसकी जिससे मृत्यु निश्चित होती है उसके लिये वह साधारण होने पर भी वज्र हो जाती है और जिसकी जिससे मृत्यु नहीं होती वह वज्र होने पर भी कुंठित हो जाता है वज्र उसका कुछ बिगाड नहीं सकता। देवेन्द्र का वज्र अमोघ है उससे उन्होंने नमुचि को मारा वह नहीं मरा, किन्तु जब उन्होंने समुद्र के फेन का वज्र बनाया तो उससे मर गया। कहाँ इतना तीक्ष्ण वज्र और कहाँ परम मृदुल समुद्र का फेन। मृत्यु तो संयोग को ढूँढती है। यादव गण जिन सरकण्डो से लड रहे थे, वे साधारण सरकण्डे नहीं थे। शाम्ब के उदर से जो ब्राह्मण के शाप से कुल नाशक मुसल निकला था और जिसे रेती से रितवा कर महाराज उग्रसेन ने समुद्र मे फिँकवा दिया था, वह लोह चूर्ण जल मे बैठा नहीं। जल पर उतराता उतराता समुद्र की लहरो के साथ बहता हुआ प्रभास के निकट आकर किनारे लग गया। उन्हीं लोह कणों से असंख्यों शरपत के वृक्ष उत्पन्न हो गये। वे यदुवंशियों के विनाश के ही निमित्त उत्पन्न हुए थे। अतः ज्या ही यादव वीरों ने उन्हें उखाड उखाड कर मुट्ठियों मे लिया त्यों ही वे लोह दंड तथा वज्र के समान बन गये। जो भी जिसमे उन्हे मार देता वही कला मुडी खाकर गिर पडता और प्राण हीन हो जाता। अब तक भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी तथा बलदेव जी तटस्थ भाव से देख रहे थे, अब जब उन्होंने देखा, कि लक्षों वार धराशाया हो रहे हैं, तो उन्होंने बीच मे खडे होकर कहा—"अरे, यह क्या करते हो ? अपने ही कुल वालों को मार रहे हो।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! उन सब की तो बुद्धि विपरीत हो गयी थी, उन सब के तो सिर पर काल नाच रहा था। वे तो मृत्यु के मुख में जाने को उद्यत थे। उन्होंने समझा ये श्री कृष्ण बलराम हमारे शत्रुओं का पक्ष कर रहे हैं, अतः ये भी हमारे

शेष नहीं रहा। अब मुझे भी इस धरा धाम का परित्याग कर देना चाहिये।" यह सोचकर भगवान् समुद्र की ओर बढ़े।

संकर्षणावतार भगवान् बलदेव अपने स्वामी के हृद्गत भाव को समझ गये अतः भगवान के धराधाम परित्याग के पूर्व ही उन्होंने अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित हो जाने का निश्चय किया। वे एक समुद्र तट की गुफा मे बैठ गये, कुछ ही क्षणों में उनका मानव शरीर अदृश्य हो गया और वे एक बड़े भारी सर्प के रूप में परिणत हो गये। भगवान ने उन महा काय फणीन्द्र के दर्शन किये। और तो कोई वहाँ था ही नहीं जो दर्शन करता समुद्र तट पर समस्त यादवो के कटे हुए धड़ और सिर पडे हुए थे। परात्पर प्रभु तो हर्ष शोक से सदा रहित ही हैं। इसलिये न उन्हें कुछ शोक हुआ न हर्ष। वे जैसे के तैसे ही स्वस्थ शान्त बने रहे।

सूत जी कहते हैं—'मुनियो! जब भगवान् ने देखा मेरे ज्येष्ठ बन्धु भी अदृश्य हो गये तब उन्होने भी स्वधाम गमन का निश्चय कर लिया। वे समुद्र तट के एक परम दिव्य अश्वत्थ वृक्ष के नीचे देदीप्यमान चतुर्भुज रूप धारण करके-अपनी प्रभा कान्ति से दशों दिशाओ को देदीप्यमान करते हुए—निर्धूम अग्नि के समान सुशोभित हुए। अश्वत्थ से सट कर उसका सहारा लेकर अपने एक चरण के ऊपर दूसरे चरण को रख कर सुख पूर्वक बैठ गये। अब भगवान् जिस प्रकार स्वधाम पधारने का निमित्त बनावेंगे वह पुण्य प्रसंग आगे कहा जायगा।

छप्पय

धनुष गये सब टूटि बान तूनीर रहे नहिँ।
तटपै सम्मुख मुसल चूर्ण के सरपत निरखहिँ॥
तिनिकूँ तुरत उखारि परस्पर सब ही मारें।
वज्र सरिस बनि जायँ सकल यादवनि सँहारें॥
राम श्याम बरजन लगे, इनकूँ हू मारन लगे।
ये हू सरपत लै भिडे, गिने न सम्बन्धी सगे॥

—:०:—

भगवान् के स्वधाम पधारने का निमित्त

(१३३०)

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये ।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ३० अ० ३८श्लो०)

छप्पय

सब कटि कटि गिरि गये बच्यो नहिं कोई यादव ।
लखि निज वश विनाश भये प्रमुदित अति माधव ॥
बल अन्तरहित भये, भये अहि तजि मानुष तन ।
उदधि तीर अश्वत्थ तहाँ पहुँचे यदुनन्दन ॥
रूप चतुर भुज दिव्य अति, दिशनि करत आलोक मय ।
श्याम वरन श्रीवत्स युत, धारें कुंडल वर वलय ॥

सब कार्यों का कोई न कोई निमित्त होता है, बिना निमित्त के कोई कार्य नहीं होता। होगा तो वही जो होने को होगा, उसमें कोई न कोई निमित्त बन जाता है। इसीलिये भगवान् ने अर्जुन

---

* हरिन के भ्रम से भगवान् के पाद पद्मों में बाण छोड़ने के अनन्तर व्याध कह रहा है—"हे नाथ! जिन आपके आत्मयोग रचित प्रपञ्च को स्वयं ब्रह्माजी नहीं जानते और सम्पूर्ण विद्याओं के पति उनके पुत्र

से कहा था, ये जो तुम्हें भीष्म द्रोण, कर्ण तथा शल्य बड़े बड़े योद्धा दिखायी दे रहे हैं। इन सब को तुम जीवित मत समझो। मैंने जहाँ संकल्प किया तहाँ ये मर गये। अब केवल उन्हें मृत्यु के मुख में फेंकना शेष है सो तुम केवल निमित्त मात्र बन जाओ। तुम न मारोगे, तो भी ये तो मरेंगे ही। इनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, फिर तुम बहती गंगा में जो क्यों नहीं धो लेते। अनायास प्राप्त होने वाले सुयश को क्यों नहीं ग्रहण कर लेते। तुम्हारा मना करना व्यर्थ है, क्योंकि इनकी मृत्यु का निमित्त तुम्हें ही बनना है, यह तो पहिले से ही निश्चित है। जन्म के प्रथम ही मृत्यु का विधान बन जाता है, उसके निमित्त का भी निर्णय हो जाता है। ज्योतिर्विद देखकर बता भी देते हैं, कि अमुक निमित्त से इनकी मृत्यु होगी। ब्रह्माजी का मृत्यु को यह वरदान है, कि वह किसी न किसी को आगे करके—उसे निमित्त बनाकर—आती है। टट्टी की आड़ में से आखेट करती है। इसलिये उसे कोई भला बुरा नहीं कहता। सब निमित्त को ही दोषी ठहराते हैं। भगवान् भी जब संसार में अवतरित होते हैं, शरीर धारण करते है, तो सब कामों के लिये किसी न किसी को निमित्त बना लेते हैं। होता है सब कुछ उन्हीं की एकमात्र इच्छा से।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने देखा, भूमि का भार उतर गया। असह्य यादव कुल का संहार हो गया। अब अवनि पर कोई कृत्य अवशेष नहीं रहा, और मेरे अंश बलदेवजी भी अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो गये उन्होंने मनुष्य शरीर का परित्याग कर दिया, तो स्वयं भी उन्होंने स्वधाम गमन का निश्चय कर लिया। जिनको स्वयं उत्पन्न किया वे सब के सब मरे

रुद्रादि भी नहीं जानते। क्योंकि तुम्हारी माया से इन सब की दृष्टि भी आवृत है, हम जो स्वाभाविक ही नर हैं नीच योनि वाले हैं, तो फिर हम इस विषय में कह ही क्या सकते हैं।"

पड़े हैं। किसी का सिर धड से पृथक् होने पर भी तड़फड़ा रहा है, किसी का हाथ कटा है, किसी की आँते निकल रही हैं, कोई शरीर कटने पर भी गर्ज रहा है इस प्रकार योजनो तक मृतकों के शरीरो पर ही पैर रखते हुए-हँसते हुए श्यामसुन्दर एक सुन्दर अश्वत्थ वृक्ष के नीचे आ गये। अश्वत्थ उनका रूप ही है। इसीलिये उसकी सुन्दर सघन शीतल छाया में आकर बैठ गये। लीला संवरण का उनका संकल्प दृढ़ था। जिस प्रकार वे कारा-वास की शान्त एकान्त कोठरी मे अकेले ही आविर्भूत हुए थे उसी प्रकार आज शान्त एकान्त स्थान में तिरोहित होने की लीला भी सम्पन्न करना चाहते हैं, क्योंकि ये परोक्ष प्रिय हैं। रहस्यवाद इन्हे अत्यत प्रिय है। और सब काम तो सबके समक्ष बडी धूम धाम से किये, किन्तु आविर्भाव-तिरोभाव की लीलायें वे सबके सम्मुख नही करते। यदि जीव आविर्भाव तिरोभाव के मर्म को समझ जाय, तो फिर वह चोरासी के चक्कर मे पड़े ही क्यो, विमुक्त ही बन जाय। भगवान् तो सदा सर्वदा एक रस ही हैं, किन्तु लीला के अनुरूप वे कभी क्रोध व्यग्रता चिन्ता तथा शोक के भावो को भी व्यक्त करते हैं। यद्यपि ये सब भाव होते हैं कृत्रिम ही, फिर भी लोगो को लोकवत् सत्य ही दृष्टिगोचर होते हैं।

आज भगवान् का मुख मंडल परम गंभीर था, उस पर मंद मंद हास्य की सुखमय सुन्दर किरणें छिटक रही थीं। आज उन्होने दिव्य चतुर्भुज रूप धारण कर रखा था। अपनी भुवन मोहिनी सरस कान्ति से दशों दिशाओं को आलोकित कर रहे थे। वे जाज्वल्यमान धूम्रहीन अग्नि के समान सुशोभित हो रहे थे। उस समय की उनकी शोभा अनिर्वचनीय थी। वे पीपल के सहारे पीठ सटाकर बिना आसन के भूमि पर ही बैठे थे। उनकी मुखाम्बुज श्री अत्यंत शान्त गम्भीर तथा तेज पूर्ण थी, वाणी के

व्यापार को रोक कर वे मौन होकर स्वस्थ चित्त से विराजमान थे। उनके दिव्य मङ्गलमय श्री विग्रह का स्वरूप फूली हुई अलसी के समान, अत्यत सघन अत्यंत हरी दूर्वा के समान, जल भरे मेघों के समान मयूर के कंठ के समान तथा नीले सहस्र दल कमल के समान श्याम वर्ण का था। वक्षःस्थल में श्री वत्स का चिन्ह सुशोभित हो रहा था। तपाये हुए सुवर्ण के समान पीले रंग के दो दिव्य रेशमी वस्त्र प्रभु धारण किये हुए थे। एक को पहिने थे, एक को आढ़े हुए थे। उनके किनारे चौड़े और सुन्दर थे, उन पर सुवर्ण के अत्यंत ही सूक्ष्म बेलबूटे कढे हुए थे। वायु वेग से हिलने पर उनका श्री विग्रह पीताम्बरों के बीच से इसी प्रकार चमकने लगता था मानो विद्युत् के बीच से जलपूर्ण घन चमक रहा हो। सुवर्ण मुकुट के भीतर से नीली नीली अलकावली वायु में विथुर कर श्री मुखका मार्जन सी करती दिखायी देती थीं। विशाल भाल पर दिव्य तिलक शोभा दे रहा था। कानो मे कमनीय कुण्डल हिल हिलकर कपोलों से मिल रहे थे, उन्हें बार बार स्पर्श करके उनकी कान्ति को बढा रहे थे। उत्फुल्ल कमल के समान दो दिव्य नेत्र अपनी मधुमय दृष्टि से वहाँ के वातावरण को सरस बना रहे थे। लाल लाल मृदुल गुदगुदे अधरों पर मधुर मंद मुसकान छिटकती हुई क्रीडा कर रहे थे। गोल गोल कपोल कुछ उभरे हुए नयनों की ओर बढ रहे थे। मकराकृत कुण्डलो के झिल मिलाहट, कपोलों की श्री और नेत्रों की आभा तीनों मिलकर प्रभास में त्रिवेणी का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। कंठ मे हार चमचमा रहे थे। कंधे पर पड़ा यज्ञोपवीत कुछ शिथिल सा हो रहा था। विशाल भुजाओं में बंधे बाजूबन्द अपने गौरव पर हिलते हुए हँस रहे थे। सुवर्ण के कंकण कर कमलों की आभा में मिलकर दमक रहे थे उँगली की अँगूठियों की नगों की कान्ति छिटक कर नीला नीला प्रकाश

बखेर रही थीं। वनमाला कौस्तुभमणि से स्पृहा करती हुई वक्षः-स्थल से सटकर अपना स्नेह व्यक्त कर रही थी। कटि की कधनी शान्त सटी होने पर भी कभी कभी कण कण करके उस प्रशान्त प्रान्त को यदा कदा मुखरित कर देती थी। चरणों के नूपुर वायु मे हिलकर एक अव्यक्त स्वर लहरी की सृष्टि कर रहे थे। वनमाला टेढ़ी होकर चरण स्पर्श करने को व्यग्र सी प्रतीत होती थी। वह कंठ से चरणों तक सटकर स्पर्श सुख के कारण पुलकित सी प्रतीत होती थी। आज भगवान् के शस्त्र, चक्र, गदा और पद्म ये दिव्य आयुध सजीव मूर्तिमान होकर स्वामी की सेवा में समुपस्थित थे। भगवान् श्यामसुन्दर अरुण कमल के सदृश शोभायमान अपने वाम चरण को दक्षिण जंघा पर धारण करके विराजमान थे। उस समय की श्यामसुन्दर की शोभा अकथनीय तथा अनुपम थी।

उस समय समीप के सघन वन में आखेट के निमित्त जरा नामका व्याध विचरण कर रहा था। जिस अश्वत्थ के नीचे श्यामसुंदर विराजमान थे, उसी के सम्मुख प्रायः आधे क्रोश की दूरी पर एक सघन वट वृक्ष था। उस वट वृक्ष की आड़ में छिपा व्याधा चंचल दृष्टि से चारो ओर निहार रहा था। वह किसी चुपचाप बैठे असावधान मृग पर अपना बाण छोड़ने को व्यग्र था। उसे दूर से भगवान् का मुड़ा हुआ चरणारविन्द मृग के मुख सा प्रतीत हुआ। उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा उसने सोचा वृक्ष के नीचे चमकीली बालुका में बैठा हुआ मृग जुगार कर रहा है। लक्ष्यभेदी बाण छोडना तो वह जानता ही था। भगवान् के मुड़े हुए चरण को लक्ष्य करके उसने एक विष बुझी कील वाला बाण छोड़ ही तो दिया। बाण लक्ष्य पर जाकर लगा। भगवान् का अति सुकुमार परम मृदुल, योगिजन पूजित

विश्व वन्दित चरणारविन्द उस बाण से बिंध गया भगवान् की इच्छा पूर्ति हुई।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाभारत की लड़ाई में जहाँ अनवरत बाणों की वर्षा होती रहती थी, वहाँ भगवान् को बड़े बड़े दिग्विजयी वीर कुछ क्षति न पहुँचा सके और यहाँ साधारण से व्याध ने ऐसा बाण छोड़ा कि भगवान् को अपना श्रीविग्रह त्यागना पड़ा, यह क्या बात है?"

सूतजी बोले—"महाराज! यह सब भगवान् की लीला है बात क्या है, भगवान् तो भक्तवत्सल हैं न? वे तो सभी की अच्छी बुरी खोटी खरी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। सूर्पणखा ने काम की इच्छा की थी, दूसरे जन्म में वह कुब्जा हुई भगवान् ने उसकी इच्छा पूर्ण की। बलि की पुत्री ने पुत्र के सदृश दूध पिलाने की इच्छा की दूसरे जन्म में वह पूतना हुई भगवान् ने उसका स्तन पान किया और उसे सद्गति दी। रामावतार में भगवान् की धोबी ने निन्दा की। उसे इस जन्म में वध करके सद्गति प्रदान की इसी प्रकार जिस भक्त की जैसी भी भावना रही भगवान् ने उसे उसी प्रकार पूरा किया। किसी ने शाप दिया तो उसे भी स्वीकार किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् के चरण कमलों में बाण बेधने की भावना किसकी हुई। भगवान् को शाप किसने दिया। कृपया इसका कारण हमें बतावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! इसका एक कारण थोड़े ही है। अनेकों कारण हैं, उनमें से कुछ कारण मैं आपको सुनाता हूँ।

१

जब गान्धारी के सौ के सौ पुत्र मारे गये, तब भगवान् उसे सान्त्वना देने गये। पुत्र शोक के कारण वह व्याकुल हो रही थी। भगवान् को सम्मुख समझकर वह बोली - "हे यदुनन्दन आपने

सर्व समर्थ होने पर भी इस हमारे वंश विनाश को नहीं रोका हमारे कुल का संहार करा दिया, अतः मैं भी आपको शाप देती हूँ, कि आप के कुल का भी ऐसे ही संहार हो। जैसे हमारे कुल वाले आपस में लडकर मरे हैं वैसे ही आपके कुल वाले परस्पर में लड कर मरें और आप भी निजन एकान्त में अपनी लीला का संवरण करें। भगवान् ने उसके शाप को शिरोधार्य किया और उसे सत्य करने को ही यह लीला रची।

२

धर्मराज के राजसूय यज्ञ मे भगवान् ने समस्त आगत विप्रो के के चरण पखारने का काम स्वयं ही स्वीकार किया था। जो भी ऋषि मुनि तथा अन्यान्य ब्राह्मण आते उन सब के स्वयं भगवान् चरण पखारते उसी समय दुर्वासा मुनि आये। भगवान् ने उनके चरण पखारे तो सही, किन्तु एक पैर में कीचड़ लगी रह गयी। उसे देखकर मुनि को क्रोध आ गया और उन्होने शाप दिया—"मेरे पैर मे जहाँ कीचड लगी रह गयी है, वही आपके बाण लगेगा और उसी कारण आप शरीर त्याग करेंगे।

३

भगवान् के चरण में एक कमल का चिन्ह था भगवान् का किसी ने शाप दिया, कि इस कमल में आकर जब बाण लगेगा तभी आप शरीर त्याग करेंगे।

४

रामावतार मे भगवान् ने बाली को छिपकर मारा था। जैसे व्याध छिपकर मृग को मारता है उसी प्रकार उसका वध किया था। उसी का बदला लेने बालि जरा नाम का व्याध बना और उसने छिपकर मृग समझकर भगवान् के चरण को वेध दिया। मरते समय जो उसकी वासना रह गयी थी, उसे पूरा किया।

(५

ब्राह्मणों का शाप था, कि
महाराज उग्रसेन ने उस लोहे
भस्म बना दी कि वह जल में भ
की पहिचान ही यह है कि वह
से फिर किराये नहीं। जल मे
वह प्रभास के किनारे लग
उन्हीं से समस्त यादवों का
कील शेष रह गयी वह किसी
उसे वैसे ही समुद्र में फेंक दि
संयोग की बात वह मछली
पेट चीरने पर वह कील
बाण बना लिया। उसी बाण
वेधा। उसे सत्य करने को
अतिरिक्त भी और अनेकों
सुनाना नहीं चाहता।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ,
से ही संयोग जुटा देते हैं।

सूतजी बोले—"महाराज
जो होना था सो तो हो गया
मरे हुए मृग को लेने के लिये
जानता था। उसने कई बार
भगवान् के श्री चरणों में
बक्का रह गया और भाँति

करने लगा। अब उसकी स्तुति पर जैसे भगवान् ने उसे आश्वासन देकर सद्गति दी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

वाम चरन कूँ धरें दाहिनी जघापै हरि।
पीपल पीठि सटाइ विराजे वंश नाश करि॥
शंख चक्र अरु गदा पदम, सशरीर विराजें।
कुंडल कंकन मुकुट करधनी अगनि भ्राजें॥
जरा व्याध वन में छिप्यो, मुसलकील को बान करि।
सुखासीन मृग के सरिस, पर दूरि तें दृष्टि हरि॥

—::०::—

व्याध को सद्गति

(१३३१)

मा मैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ कामएषकृतोहिमे ।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ३० अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

हरिन समुझि तकि बान चरन महँ व्याधा मारयो ।
दौरयो पकरन तुरत निरखि हरि ज्ञान बिसारयो ॥
पद पदमनि महँ परयो कहे नहिं नाम रिसायें ।
मारयो उनि पद बान जिनहि मुनि योगी ध्यायें ॥
माधव मोकूँ मारिकें, देहिं दरद दानव दलन ।
पुनि न करूँ अपराध अस, सिक्षा पायें अपरबल ॥

जीव संसार में पेट के लिये भटकता रहता है। संसारी वस्तुओं के लिये लालायित होकर कर्म करता है। भाग्यवश संसारी वस्तुओं की खोज करते करते उसका किसी भी प्रकार

भगवान् से सम्बन्ध हो जाय, सकाम कर्म करते करते कभी सब कामनाओं के पूर्ण करने वाले प्रभु से सम्बन्ध हो जाय, तो उसका आवागमन छूट जाता है। वह परमपद का अधिकारी बन जाता है। शुभ अशुभ कर्मों की जहाँ परि समाप्ति हो जाती है, वहीं प्रभु के पाद पद्म प्राप्त हो जाते हैं। प्रभु दर्शनों के अनन्तर भी प्रभु की इच्छा से कोई वासना शेष रह जाती है तो प्रभु ही स्वय अपने उस अनन्याश्रित भक्त का इच्छा पूर्ण करते हैं। वाछा कल्पतरु भगवान् वासुदेव से सम्बन्ध हो जाने पर पाप पुण्य सभी समाप्त हो जाते हैं फिर वह प्रभु का अपना हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब जरा व्याध ने देखा, कि जिसे मैंने मृग का मुख समझकर अपने बाण का लक्ष्य बनाया वह तो भगवान का भुवन पावन पादारविन्द है। जिन्हें मैंने हरिन समझा था। वे तो साक्षात् हरि हैं, तब तो उसकी व्याकुलता का ठिकाना नहीं रहा। भय क कारण उसका सम्पूर्ण शरीर थर थर काँप रहा था वह अपने को अक्षम्य अपराधी अनुभव कर रहा था, वह अत्यन्त दीन होकर भगवान् की शरण मे आया और विह्वल होकर उनक चरणा में गिर पडा। अत्यन्त ही कातर वाणी से वह विनय करने लगा—'हे वासुदेव! मैं अत्यन्त नीच हूँ, हे मधुसूदन मैं महामूर्ख हूँ। नाथ! मुझ दीन हीन मति मलीन साधन हीन अपराधी को क्षमा करें। हे अशरण शरण! अनजान में मुझसे यह अपराध बन गया। हे उत्तम श्लोक! मेरी बुद्धि म भ्रम हो गया। हे अनघ! साक्षात् श्री हरि को मैंने हरिन समझा। हाय! जिन चरणों पर चन्दन, पुष्प चढा चढाकर भक्तगण परम प्रमुदित होते थे, उन्हीं चरणों को मैंने बाण से वधकर रक्त रञ्जित कर दिया। जिन से निसृत अमृत त्रिभुवन को पावन करता है उन्हीं में मैंने तीक्ष्ण विष से बुझा बाण मार दिया। जिन पादारविन्दों का ध्यान योगी जन मुक्ति की कामना से करते

हैं उन्हीं को मैंने कष्ट दिया। जो चरण निरन्तर जग हित में निरत रहते हैं उन्हीं का मैंने अहित किया। मैंने जीवन में कभी पुण्य नहीं किया। जो मृग कभी किसी का अहित नहीं करते। वनों में सदा स्वच्छन्द विचरते रहते हैं और अपने आप उत्पन्न होने वाले तृणों को खाकर जीवन यापन करते हैं। उन्हीं निरपराध मृगों का मैं निरन्तर पेट के लिये मार कर पाप करता रहता था। आज तो पाप पराकाष्ठा पर पहुँच गया। परब्रह्म परमात्मा को पशु समझ कर पीड़ित किया। प्रभो! आप मुझे मेरे भीषण पाप के लिये दण्ड दीजिये। तुरन्त ही मेरे सिर को धड़ से पृथक् कर दीजिये, जिससे फिर ऐसा अक्षम्य अपराध मुझसे अगले जन्मों में न बन सके। महापुरुषों का अपचार करके तो मुझे नरकों में भी स्थान न मिलेगा।

हाय! दीनानाथ! क्या कहूँ, किन शब्दों में अपने घोर पाप के लिये पश्चात्ताप प्रकट करूँ। प्रभो! आपका पाना तो प्राणियों के लिये अत्यन्त कठिन है ही आपकी माया का ही पार पाना ब्रह्मादि बड़े बड़े देवों को शंकर आदि योगीश्वरों को तथा सनकादि ब्रह्मपुत्रों को अत्यन्त कठिन है, स्वयं आपके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। जो सम्पूर्ण विद्याओं में पारगत हैं, जिनके वचन विवाद के स्थलों पर प्रमाण माने जाते हैं वे कभी कभी आपकी माया के चक्कर में पड़ जाते हैं, क्योंकि आपकी मोहिनी माया प्राणियों की दृष्टि को अपने चक्र चौंध से आवृत कर लेती है। जब इतने बड़े तपस्वी, तेजस्वी, ऋषि मुनि भी माया मोहित हो जाते हैं तो फिर हम जैसे पापियों का तो कहना ही क्या, जिनकी स्वाभाविकी रुचि पाप में ही बनी रहती है, जो निरन्तर पाप ही करते रहते हैं। हे भक्त वत्सल, मैं जाति का व्याधा हूँ, प्राणियों की हिंसा करना ही मेरा काम है। दान, धर्म, पुण्य

तथा परोपकार आदि सत्कर्मों को मैं जानता तक नहीं। अतः प्रभो! मुझे मेरे अपराध के लिये समुचित दंड दें।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब जरा व्याध अत्यन्त दीन हो कर प्रभु के पाद पद्मों मे पडा पडा ही अपने पाप के लिये पश्चात्ताप प्रकट करता हुआ दंड के लिये पुनः पुनः प्रार्थना करने लगा, तब मन्द मन्द मुस्कराते हुए माधव बोले—"अरे, जरा! तू भैया! इतना भयभीत क्यों हो रहो है, तू उठकर खडा तो हो, मेरे बात तो सुन तू क्यों रो रहा है। क्यों इतना विह्वल हो रहा है?"

जरा ने रोते रोते कहा—'भगवन्! मैंने आपके श्री चरणों में आघात जो पहुँचाया है। इन्हें बाण के प्रहार से क्षत जो किया है।"

हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—'अरे, मैं तो कालका भी काल हूँ, मुझे भला कौन मार सकता है। सब का आधार तो एकमात्र मैं ही हूँ, फिर मुझे दूसरा कौन आघात पहुँचा सकता है। तेरा क्या साहस जो मेरी ओर दृष्टि उठाकर भी देख सके। यह जो भी कुछ हुआ है, एकमात्र मेरी इच्छा से ही हुआ है, मैं ऐसा कराना चाहता था, तुझे निमित्त बनाना था, इसलिये मैंने तेरे हाथ से ऐसा कराया। संसार में सब कुछ मेरी ही इच्छा से हो रहा है। मेरी इच्छा से ही वायु बहती है, मेरी इच्छा से ही सूर्य चन्द्र उदय और अस्त होते हैं, मेरी ही इच्छा से दिन रात्रि, जनम मरण, सुख दुख, पुण्य पाप, अश अपयश तथा अच्छे बुरे कर्म आदि होते हैं। तैंने अहंकार वश कुछ किया होता, तो उसका तुझे फल भोगना पडता तैंने तो मेरी इच्छा का पालन किया, मैंने तेरे ऊपर कृपा करके तुझसे यह कठिन कार्य करा लिया। अब तू मेरी ही इच्छा से उन पुण्य लोकों में जा, जिनके

पापी लोग दर्शन भी नहीं कर सकते। जहाँ सुकृतिजन ही जा सकते हैं। जो अत्यन्त पुण्यवानों को ही प्राप्त होते हैं। उन लोकों

में तू यथेष्ट भोग भोगकर फिर तू मुझे प्राप्त होगा। देख, तुझे लेने के लिये यह दिव्य विमान समुपस्थित है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान का यह कहना ही था, कि उसी समय सैकड़ों सूर्यों के सदृश प्रकाशमान एक दिव्य विमान वहाँ आकर समुपस्थित हुआ। वह सम्पूर्ण दिव्य सुवर्ण का बना था। जिसमें मणि माणिक्य दमक रहे थे। श्वेत हंस उसमें लगे हुए थे। चतुर्भुज विष्णु पार्षद उसमें विराजमान थे। दिव्य अप्सरायें नृत्य कर रहीं थीं और गन्धर्व दिव्य गान गा रहे थे। उस अत्यद्भुत विमान को देखकर जरा भौंचक्का सा रह

गया। देखते देखते उसका शरीर भी दिव्य बन गया। उसने स्वेच्छा शरीरधारी भगवान् वासुदेव की विनती की, विधिवत् पूजा करके तीन परिक्रमायें कीं और बार बार चरणों में प्रणाम करके उसने विमान में चढकर पुण्य लोकों को प्रस्थान किया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जरा व्याध के प्रस्थान करने के अनन्तर पुण्य श्लोक शिरोमणि भगवान् वासुदेव ने क्या किया इसे सुनने की हमारी इच्छा है, दया करके उस करुण प्रसङ्ग को और सुनावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जरा के चले जाने पर भगवान् का दारुक नामक सारथी उनकी खोज करते करते भगवान् के निकट आ पहुँचा। अब जिस प्रकार दारुक से भगवान् का सम्वाद होगा उस पुण्य प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

यदुनन्दन हँसि कहें—"जरा! भय मत कछु खाओ।
मम इच्छा तैं भयो उठो सुरलोकनि जाओ॥
विनती बहु विधि करी दिव्य तनु व्याधा धारयो।
चढिकें दिव्य विमान बन्दि पद स्वरग सिधारयो॥
इत दारुक नहिँ लखे प्रभु, खोजत खोजत चलि दयो।
चरन चिन्ह पहिचानि कें, कछु कछु आशान्वित भयो॥

—::०::—

दारुक और भगवान् वासुदेव

(१३३२)

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतम् ,
ह्यश्वत्थ मूले कृतकेतनं पतिम् ।
स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः ॥

(श्रीभा० ११ स्क० ३० अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

चरन सहारे आइ लखे पीपर तर यदुवर ।
रथ तें उतरयो तुरत परयो चरननि में आतुर ॥
रोय रोय यों कहे—"नाथ ! सूनों तुम बिनु जग ।
भई नष्ट मम दृष्टि गिरयो तम नहिं सूझत मग ॥
इत रोवत सारथि सतत, उत गरुडध्वज रथ तुरत ।
उड्यो गगन घोड़नि लिये, लीन भयो आयुध सहित ॥

पहिले भगवान् आते हैं, तब उनके अस्त्र, आयुध, वाहन तथा अन्यान्य उपकरण आते हैं। जब भगवान् जाने लगते हैं,

छ श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! चरणचिन्हों के सहारे सारथी ने आकर अपने स्वामी को अश्वत्थ तरु के नीचे आसन लगाये तब तेजोमय मूर्तिमान् आयुधों से आवृत देखा। उन्हें देखते ही वह तुरन्त रथ से कूद पड़ा और प्रेमातुर होकर प्रभु के पादपद्मों में पड़ गया। उस समय इसकी आँखें आँसुओं से भरी हुई थीं।"

तब प्रथम अपने उपकरणों को विदा कर देते हैं, तब स्वयं जाते हैं। भगवान् के बिना उनके अस्त्र आयुध और वाहनों का उपयोग ही क्या ? भगवान् की वस्तुओं का उपयोग भगवान् ही कर सकते हैं। यह आना जाना लीला में ही बन सकता है। सर्व व्यापक सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर में तो आना जाना बनता ही नहीं, वे तो सदा एक रस एक भाव से रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जराव्याध को भगवान् ने सद्गति दी और वे स्वयं भी स्वधाम पधारने के लिये उद्यत हुए। यहीं अश्वत्थ के नीचे बैठकर उन्होंने मैत्रेय मुनि को भागवत का उपदेश दिया। उद्धवजी भी भगवान् के पीछे पीछे प्रभास आ गये थे, चरणपादुका ले लेने पर भी भगवान् का वियोग उनके लिये असह्य हो गया। भगवान् ने दोनों को अन्तिम उपदेश दिया। अब उन्हें दारुक को समझाना और शेष था, किन्तु दारुक वहाँ था नहीं। सब यादव परस्पर में लड़कर कट मरे, सब के रथ टूट गये घोड़ा मर गये। किन्तु भगवान् का रथ तो दिव्य था। वह तो भगवान् की ही भाँति नित्य तथा चिन्मय है। दारुक उसे लिये हुए घूम रहा था। अब उसने देखा समस्त यादवों का संहार हो गया है, तो उसे बड़ा दुःख हुआ, वह अपने स्वामी भगवान् वासुदेव को खोजने लगा। उसे संदेह होने लगा कि भगवान् भी तो कहीं स्वधाम को नहीं पधार गये। वह भगवान् के श्री अङ्ग को समर भूमि में खोजने लगा। फिर उसने सोचा—'भगवान् इस प्रकार प्राकृत पुरुषों की भाँति अपने श्री विग्रह का त्याग न करेंगे। वे मुझे बिना अंतिम दर्शन दिये लीला संवरण भी नहीं कर सकते। अवश्य ही वे कहीं इधर उधर समीप में ही विराजमान होंगे। यही सब सोचकर सारथी चारों ओर रथ को घुमाता हुआ विचरण करने लगा। सहसा उसे भूमि पर उभरे हुए भगवान् श्यामसुंदर के वज्र, अंकुश, ध्वज तथा

पद्मादि चिह्नों से चिह्नित चरण चिह्न दिखायी दिये। उन चरणों के दर्शनों से उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने समझ लिया श्यामसुंदर अभी अभी इधर से ही गये हैं। अब तो उसे एक आधार मिल गया। उन्हीं चरण चिह्नों के सहारे सहारे वह समुद्र तट तक आ गया। दूर से ही उसे अश्वत्थ के सहारे विराजमान अपने स्वामी भगवान् वासुदेव दिखायी दिये। आज उनके शंख, चक्र, गदा और पद्म ये आयुध सशरीर मूर्तिमान् होकर सम्मुख अवस्थित थे। भगवान् परम शान्त मुद्रा में विराजमान थे। दूर से ही स्वामी को देखकर वह सहसा रथ से कूद पड़ा और दौड़कर उनके चरणों में पड़ गया। उस समय की सूत की अवस्था अकथनीय थी। प्रेमाधिक्य के कारण उसके रोम रोम खिल रहे थे। नेत्रों से निरंतर अश्रुओं की दो अविरल धारायें बह रही थीं। अपने अश्रुओं से अच्युत के चरणारविंदों को धोता हुआ गद्गद् वाणी से दारुक कहने लगा—"हे मेरे स्वामी! तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले आये थे, मुझे तो तुम्हारे बिना यह सम्पूर्ण संसार सूना सूना प्रतीत होता है। हे प्रभो! तुम ही तो मेरे नयनों के प्रकाश हो। तुम्हारे ही द्वारा तो मैं देख सकता हूँ। जैसे रात्रि में चंद्र के अस्त हो जाने पर चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखायी देता है उसी प्रकार आपके बिना मेरी आँखें घोर अंधकार से आच्छादित हो गयी हैं। दृष्टि नष्ट हो गयी है, मुझे कुछ भी नहीं सूझता है। हे नाथ! क्या आप इस धराधाम से पधारना चाहते हैं? प्रभो! क्या आप इस अवनि को श्री हीन करने का विचार कर रहे हैं? हे अशरण शरण! मेरा परित्याग न करें। मुझे अपने साथ ले चलें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब दारुक प्रभु के पैरों में गिर पड़कर इस प्रकार प्रार्थना कर रहा था, तभी उसने देखा भगवान् का गरुड की ध्वजा वाला दिव्य रथ, शैव, सुग्रीवादि घोड़ों

के सहित आकाश में उड़कर अन्तर्ध्य हो गया। उसके साथ ही भगवान् के आयुध अदृश्य हो गये। यह देखकर सारथी परम विस्मित हुआ, वह भौंचक्का सा होकर इधर उधर देखने लगा

उसे अत्यन्त आश्चर्यचकित देखकर परम स्नेह के साथ श्याम-सुन्दर उस से बोले—"दारुक! तुम इतने दुखी क्यों होते हो? जो बात अवश्यम्भावी है, उसे कौन टाल सकता है?"

दारुक ने कहा—"प्रभो! सब कुछ करने कराने वाले तो आप ही हैं, आपकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। मेरे लिये क्या आज्ञा होती है?"

भगवान् ने कहा—"दारुक ! तुम अविलम्ब यहाँ से द्वारका पुरी को जाओ।"

रोते रोते दारुक ने कहा—"कृपासिन्धो ! उस उजड़ी हुई द्वारका में जाकर अब मैं करूँगा ही क्या ? नाथ ! आपसे रहित द्वारका मुझे काटने दौड़ेगी। वहाँ मैं कैसे रह सकता हूँ। वहाँ मेरा अब क्या काम है ?"

भगवान् ने कहा—"तुम्हारा न सही, मेरा वहाँ एक काम है, तुम जाकर द्वारका में मेरा सन्देश सुना आओ।"

दारुक ने कहा—"स्वामिन् ! वहाँ सन्देश किसे सुनाऊँगा। स्त्रियाँ तो शंखोद्धारक तीर्थ में चली गयीं। कुछ रक्षक सैनिक बूढ़े बड़े होंगे।"

भगवान् ने कहा—"जो भी वहाँ हों, उन्हीं से जाकर कहना, कि अब द्वारका रहने योग्य नहीं रह गयी। मैंने समुद्र से सौ योजन भूमि कुछ ही दिनों के लिये माँगी थी। अब मैंने द्वारका पुरी को छोड़ दिया। समुद्र से यही हमारा प्रण था कि जब तक हम रहेंगे तब तक तुम इस पुरी से दूर रहना जब हम चले जायँ, तब इसे डुबा देना। अब मेरी त्यागी यदुपुरी समुद्र डुबो देगा। केवल मेरा एक भवन गुप्त रूप से सदा रहेगा, जिसमें मैं अप्रकट रूप से नित्य निवास करूँगा। इसलिये अब वहाँ कोई न रहे।"

दारुक ने रोते रोते कहा—"प्रभो ! सेवक का धर्म बड़ा ही कठिन है। सेवक प्राण छोड़ने में भी स्वतन्त्र नहीं। अब जब आप की आज्ञा ही है, तब तो मुझे जाना ही होगा। वहाँ जाकर और क्या क्या कहूँ ?

भगवान् बोले—"तुम वहाँ जाकर जैसे हमारे बन्धुबान्धव परस्पर लड़ कर मर गये, इन सबका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाना। इनकी पारस्परिक कलह, एक दूसरे से युद्ध करना, सम्पूर्ण यदु

कुल का नाश हो जाना इन सभी घटनाओं को क्रमशः सुनाना। श्री बलदाऊ जी की परमगति की बात भी बताना। मेरी जो दशा तुम देख रहे हो इसे भी सब से कह देना।"

दारुक ने पूछा—"जो लोग द्वारका में हैं या शंखोद्धार में हैं, वे सब रहें कहाँ?"

भगवान् ने कहा—'जो यादव बचे हैं अब उन्हें इस देश में रहने की आवश्यकता नहीं है। अर्जुन को हम अपने साथ नहीं लाये थे जानबूझकर उसे द्वारका में छोड़ आये थे। अभी हमारे माता पिता भी द्वारका में ही हैं। कुछ स्त्री बच्चे शंखोद्धारक भी पहुँचा दिये थे। तुम सबसे कहना-वे लोग अपने धन कुटुम्ब तथा अन्यान्य वस्तुओं को लेकर अर्जुन के साथ हस्तिनापुर को चले जायँ। मेरे माता पिता को भी समझा बुझाकर हस्तिनापुर ही भेज देना। सभव है वे मेरे वियोग के कारण अब जीवित न रहेंगे, फिर भी तुम मेरी ओर से यही कह देना।"

रोते रोते दारुक ने कहा—"प्रभो सबके लिये तो सन्देश दे दिया, इस सेवक के लिये क्या आज्ञा होती है? मैं क्या करूँ? कहाँ रहूँ?"

भगवान् ने गभीरता के साथ कहा—"दारुक! भैया, तुम मेरे बताये हुए भागवत धर्मों का आचरण करते हुए ज्ञान निष्ठ होकर स्वच्छन्द विचरण करो। ससार से निरपेक्ष होकर मेरा भजन करो। इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को मेरी माया ही मानकर मुझ मायापति का ध्यान करो। ऐसा करने से तुम मेरी दुस्तर माया को सहज में ही तर जाओगे। देखो, भैया! अधीर होने का काम नहीं। धीर लोग ही मेरी माया से पार जा सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की ऐसी आज्ञा सुनकर दारुक का हृदय फटने लगा। वह बालकों की भाँति ढाह मारकर

मुक्त कण्ठ से रुदन करने लगा। वह बार बार भगवान् के पैरों में पड़कर प्रणाम करता, प्रदक्षिणा करता फिर अधीर हो कर गिर पड़ता और फिर उठकर प्रणाम प्रदक्षिणा करता। इस प्रकार अनेकों बार प्रणाम और प्रदक्षिणा करके अत्यन्त कष्ट के साथ उदास मन से वह द्वारका की ओर चल दिया।

शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! दारुक के चले जाने के अनन्तर भगवान् वासुदेव ने क्या किया?"

खिन्न मन से सूतजी ने कहा—"अभी, महाराज! अब भी कुछ करने को शेष रह गया क्या? भगवान् तो जो भी कुछ करना चाहते थे, अपनी सब लीला समाप्त करके स्वधाम पधारना चाहते थे। अब वहाँ कोई रहा नहीं। इसलिये भगवान् पधारने को प्रस्तुत हुए। इतने में ही भगवान् की परमधाम यात्रा के दर्शनों को ब्रह्मादि देव आकर उपस्थित हुए उसका वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

रथ आयुध जब गये कहें तब हरि दारुकतें।
सूत! द्वारका जाउ वृत्त यह कहो सबनि तें॥
मेरी त्यागीपुरी डुबावै जल निधि अबई।
इन्द्रप्रस्थ कूँ जाउ संग अरजुनके सबई॥
सदा भागवत धरम तुम, करि पालन निरपेक्ष बनि।
जग प्रपञ्च माया रचित, समुझि असत् मानो सबनि॥

श्यामसुन्दर का स्वधाम गमन

(१३३३)

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतम्,
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तकमपी शमसाधनीशः,
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ३१ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि चल्यो द्वारावति दारुक ।
इत अज, शिव, सुर शक्र श्याम ढिग आये उत्सुक ॥
परमधाम प्रभु गमन निहारन इच्छा मन महँ ।
नयन कमल हरि मूँदि विराजे सुख आसन महँ ॥
अन्तरहित निज तनु कर्यो, गमने श्याम स्वधाम जब ।
धर्म, धैर्य, धी, कीर्ति श्री, सत्य आदि सग गये सब ॥

भगवान् जो भी लीला करते हैं, उसे साङ्गोपाङ्ग करते हैं। यद्यपि उनकी लीला में बहुत से अति मानुष या अमानुषिक कार्य भी हो जाते हैं, उन्हीं कार्यों से सर्व साधारण लोग उन्हें

---

* श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! जो भगवान् अपने गुरु के पुत्र को यमलोक से इस मर्त्य शरीर के साथ ही ले आये। तुमको भी जो शरणागत रक्षक भगवान् ब्रह्मास्त्र से दग्ध होने पर गर्भ से जीवित निकाल लाये, काल के भी काल शिवजी को जिन्होंने

भगवान् मानते हैं, किन्तु साधारणतया वे सभी लोकवत् लीला करते हैं अज होने पर जन्म लेते हैं, दुख से रहित होने पर भी दुखियों के सदृश विलाप करते हैं और अजर अमर होने पर भी मर्त्य धर्म का अनुकरण करते हैं। जीवों के कठिन हृदयों में करुणा का स्रोत बहाने के लिये ही भगवान् की ये लीलायें हैं। भक्तगण इन लीलाओं को स्मरण कर करके अपने हृदयस्थ कल्मषों को धोते हैं और कृतकृत्य होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् की आज्ञा से दारुक द्वारका को चला गया, तो भगवान् ने स्वधाम गमन का निश्चय किया। उसी समय देवताओं को उत्सुकता हुई कि भगवान् कैसे स्वधाम पधारते हैं, अतः उनकी महायात्रा के दर्शनों के लिये देवगण अपने अपने विमानों पर चढ़कर वहाँ आये। ब्रह्माजी को आगे करके भवानी शंकर, इन्द्रादि देवगण, समस्त प्रजापति, ऋषि मुनि, पितर सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, चारण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, अप्सरा तथा द्विजगण सभी परम उत्सुकता के साथ यहाँ आये। सभी पंक्ति बद्ध खड़े होकर अत्यंत भक्ति भाव से भगवान् के गुणों का गान करने लगे, उनकी अनेक दिव्य स्तोत्रों से स्तुति करने लगे। उस समय आकाश में विमान ही विमान दिखायी देते थे। मधुर मधुर स्वर में देवगण दुन्दुभि बजा रहे थे, अप्सरायें अपने नूपुरों के झनकार से सम्पूर्ण आकाश मंडल को मुखरित करती हुई नृत्य कर रही थीं। गन्धर्वगण भगवान् के गुणों का गान कर रहे थे। हाथ में पुष्पाञ्जलि लिये

जीत लिया और अपने चरण में बाण मारने वाले व्याध को सदेह स्वर्ग पठा दिया, ऐसे सर्व समर्थ भगवान् क्या अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे?"

हुए मंत्र पढ़ पढ़कर देवगण स्वर्गीय पारिजात के पुष्पों की भगवान् के ऊपर वृष्टि कर रहे थे।

भगवान् ने ब्रह्मा जी को तथा अन्यान्य आगत अमरों को देखा, वे तनिक मुसकराये और फिर उन्होंने अपने विकसित कमल के सदृश युगल नयन बंद कर लिये। अपने आत्मा को स्वरूप में अवस्थित करके स्वधाम गमन का उपक्रम किया। उनका दिव्य तनु धारणा ध्यान के लिये मंगलमय है और लोक में सब

से अधिक सुन्दर है, उसे योग धारणा की अग्नि से अन्तर्हित करके प्रभु स्वधाम में प्रवेश कर गये। स्वर्ग में दुन्दुभियाँ बज

रही थीं, देवगण निरन्तर पारिजात के पुष्पों की वृष्टि कर रहे थे। जय जय नमो नमः के शब्द सर्वत्र सुनायी देते थे।

भगवान् का दिव्य लीलामय श्री विग्रह अन्तर्हित हो गया, यह श्री सम्पन्न भूमण्डल अभागा बन गया। इसकी श्री नष्ट हो गयी। भगवान के जाते ही कलियुग ने अपने पैर फैलाने आरंभ कर दिये इसलिये सत्य भी अपनी छाया छोड़ कर चल गया। लोगों के बीच में धैर्य ने भी रहना उचित नहीं समझा। अधर्म की प्रबलता और उसका काल समझ कर धर्म भी चल दिये। यह भूमि श्री और लक्ष्मी से हीन हो गयी। भगवान् के अन्तर्हित होते ही उनके साथ ही लोक से सत्य, धर्म, धैर्य कीर्ति तथा लक्ष्मी ये सभी इस लोक का परित्याग कर गये। जैसे देह के सब अंग प्रत्यंग ज्यों के त्यों बने रहते हैं केवल प्राणों के निकलते ही वह श्री हीन तथा जीवन हीन हो जाता है, वैसे ही भगवान् के स्वधाम पधारते ही भूमि के सभी गुण नष्ट हो गये।

जिस समय भगवान् अपने धाम को पधार रहे थे, उस समय ब्रह्मादि देवों ने बहुत चेष्टा की कि हम भगवान् को स्वधाम पधारते हुए देख सकें, किन्तु उनका यह प्रयास असफल रहा, उन अविज्ञात गति भगवान् की गति को कोई भी न पहिचान सके। कोई भी उन्हें स्वधाम में प्रवेश करते हुए न देख सके।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! ब्रह्मा जी तो सर्वज्ञ हैं, वे भगवान् की गति का पार क्यों नहीं पा सके?"

सूतजी बोले—"महाराज! ब्रह्माजी हम सब लोगों की अपेक्षा सर्वज्ञ हैं, अब भगवान् की गति को तो एकमात्र भगवान् ही समझ सकते हैं। देखिये, यह मानी हुई बात है, कि बिजली एक घन से उदय होकर अन्यान्य घनों में प्रवेश करती है, किन्तु कोई जान नहीं सकता कि कब एक घन से दूसरे घन में गयी। इसी प्रकार भगवान् स्वधाम पधारे तो अवश्य, किन्तु उनकी गति को

कोई देख न सका। भगवान् की ऐसी अद्भुत आश्चर्यजनक गति को देखकर सभी अति आश्चर्यान्वित हुये तथा सबके सब उनके गुणों का गान करते हुए उनके पुण्य प्रसङ्गों की प्रशंसा करते हुये अपने अपने लोकों को चले गये।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी! भगवान् ने यह लीला तो अत्यंत दुःखद की। हम लोग तो कर्मों के अधीन हैं, अतः शरीर त्यागने के लिये विवश हैं। भगवान् का शरीर तो कर्माधीन है ही नहीं। वह तो अप्राकृत दिव्य चिन्मय है। उनको ऐसे लोकाभिराम शरीर को अन्तर्हित करने की क्या आवश्यकता थी?"

इस पर सूतजी बोले—'महाराज! रंग मंच पर आकर नट युद्ध करता है, क्षत विक्षत होता है अन्त में मर भी जाता है, किन्तु आप भीतर जाकर देखें तो उसके शरीर में न तो कोई घाव ही लगा है न वह मरा ही है। नाटक खेलकर भीतर हँस रहा है। अपने उत्तम अभिनय पर प्रमुदित हो रहा है। इसी प्रकार भगवान् का जन्म लेना अन्तर्हित हो जाना ये सब नाटक के अभिनय के सदृश है। अजन्मा का भला जन्म कैसा अजर अमर का भला मरण कैसा? फिर भी लोक लीला के निमित्त भगवान् ऐसा करते हैं। अनेक प्रकार की सुखान्त दुखान्त लीलायें करते रहते हैं। अपने आप ही अपनी लीला से इस संसार को वे मकड़ी के जाले के सदृश बनाते हैं, इच्छानुसार कुछ काल तक उसमें क्रीड़ा करते रहते हैं, इच्छा होते ही उस क्रीड़ा को समेट कर क्षीर सागर में जहाँ मक्खी मच्छर डाँस तथा खटमलों का का कुछ भी भय नहीं वहाँ शेष की शैया पर तान दुपट्टा सोते रहते हैं। लक्ष्मी जी चरण के तलुओं को सुहलाती रहती है। ठंडी ठंडी वायु के झोंके आते रहते हैं। भगवान् को कोई भी घटना विचलित नहीं कर सकती। वे इस अपने से उत्पन्न हुए जगत् को अपने में ही लीन करके अपनी महिमा में स्थित हो जाते

हैं। महाराज! जैसी शंका आप कर रहे हैं, वैसी ही शंका मेरे गुरु देव भगवान् शुक से राजर्षि परीक्षित् ने की थी। राजा ने पूछा—"भगवन्! श्री हरि ने शरीर को अन्तर्हित क्यों कर दिया? उन्हें उसका अदर्शन करने को विवश क्यों होना पड़ा?"

इस पर हँसते हुए भगवान् शुक ने कहा—"राजन्! भगवान अपने शरीर को अन्तर्हित करने को विवश नहीं हुए। उनके लिये वशता और विवशता भला क्या हो सकती है। देखिए, उनके गुरु सान्दीपिनी का पुत्र न जाने कितने वर्ष पूर्व समुद्र में डूब कर मर गया था, उसे यमलोक जाकर उसी शरीर से ज्यों का त्यों लौटा लाये। आप सोचें ऐसा कोई साधारण व्यक्ति कर सकता है। इतने दिन के मरे बच्चे को फिर उसी शरीर से ले आना असंभव प्रतीत होता है, किन्तु भगवान् तो संभव असंभव दोनों से परे हैं। द्वारका में ब्राह्मण के मरे हुए दस बालकों को उनकी अवस्था के अनुरूप महाकाल पुर में जाकर भूमा भगवान् के पास से ले आये। औरों की बात छोड़ दीजिये आप ही जब गर्भ में थे, तो अश्वत्थामा ने कुरु कुल का नाश करने के निमित्त अमोघ ब्रह्मास्त्र बाण छोड़कर आपको एक प्रकार से भस्म ही कर दिया था, किन्तु श्यामसुन्दर ने गर्भ में प्रवेश करके अपनी कौमोदिकी गदा से तुम्हारी रक्षा की और तुम्हें सकुशल गर्भ से बाहर निकाल लिया। अन्त समय में उनके चरण कमलों में जिस व्याध ने मृग के भ्रम से बाण मार दिया ऐसे क्रूर पापी अपराधी व्याध को भी जिन्होंने सदेह स्वर्ग भेज दिया। उनके लिये अपने शरीर को बनाये रखना क्या कठिन था। वे चाहते तो उसे अन्तर्हित न करते। उनके लिये कर्तव्य अकर्तव्य, संभव असंभव, साध्य असाध्य कुछ भी नहीं है। वे जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के एकमात्र अनन्य कारण हैं, सर्वशक्तिमान् हैं सर्व समर्थ हैं। वे चाहते तो शरीर को बनाये रखते किन्तु उन्होंने सोचा,

इसका प्रभाव अच्छा न पड़ेगा। जब हम अपने शरीर को प्रकट रूप से स्थायी बनाये रखेंगे, तो जो आत्म ज्ञानी सामर्थ्यवान् पुरुष हैं, वे भी इसी प्रकार का प्रयत्न करेंगे। वे भी मर्त्य लोक में मर्त्य धर्मा शरीर को स्थिर रखकर मर्त्य लोक के भोगों को भोगते रहेंगे, वे दिव्य गति की उपेक्षा करेंगे। सोचेंगे इस मर्त्य शरीर में कोई विशेष गुण न होता तो भगवान् इसे स्थिर क्यों रखते। उन लोगों की नाशवान् शरीरों में आसक्ति न हो इसी लिये भगवान् ने अपना भुवन मोहन दिव्य वपुतिरोहित कर लिया। जिससे सभी इस नाशवान् शरीर की ममता को छोड़ दें।

राजन्! यह प्रभु के परमपद-प्रयाण की परम पावन कथा है, जो लोग प्रातःकाल उठकर अत्यन्त श्रद्धा भक्ति के सहित नित्य नियम से इसका पाठ करेंगे अथवा सुनेंगे उन्हें भी अन्त में यही सर्वोत्तम गति प्राप्त होगी, वे प्रभु के परम धाम को जायगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित को भगवान् के परम पद प्रयाण की यह कथा सुनायी थी, उसका वर्णन मैंने आप से किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनक जी ने कहा—"सूत जी! भगवान् तो स्वधाम पधार ही गये, अब द्वारका जाकर दारुक सारथी ने भगवान् के बन्धु बान्धव यादवों से क्या कहा और उन्होंने सबका निधन सुनकर क्या क्या किया। इसे हमारी सुनने की और इच्छा है। कृपा करके इस पुण्य प्रसङ्ग को आप हमें और सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है मुनियो। अब कथा के इस अवशिष्ट अंश को मैं आप सबको और सुनाता हूँ, आप सब इसे सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

अजहू गति नहिं लखि भये कब हरि अन्तरहित।
ज्यों घनतें घन माहिं न विद्युत दीखत प्रविशत॥
सब सुर निज निज लोक गये प्रभु के गुन गावत।
यों करि क्रीड़ा कृष्ण करुन अति दृश्य दिखावत॥
द्विज सुत, गुरु सुत, मातु सुत, मृतक जिवाये परीक्षित।
नहीं प्रकट फिर तनु रख्यो, योगिनि के उपदेश हित॥

—:o:—

यदुवंश विनाश का उपसंहार

(१३३४)

इत्थं हरे र्भगवतो रुचिरावतार—
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेहच श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ३१ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

प्रभु लीला संवरन करी दारुक इत आयो ।
पहुँचि द्वारका सकल यथावत वृत्त सुनायो ॥
सुन प्रभास सब लोग विकल ह्वै द्वौरे आये ।
रोहिनि अरु वसुदेव, देवकी प्रान गँवाये ॥
हरि, बल अरु वसुदेव सब, यदुवंशिनि की कुलवती ।
निज निज पति हियलाइ कें, भई नारि सबई सती ॥

पति प्राणा पत्नियों के लिये अपने प्राणनाथ पति ही सर्वस्व हैं। जैसे शरीर के बिना छाया नहीं रहती वैसे ही पति के बिना पतिव्रता भी अपने शरीर को नहीं रखतीं। पति इसलोक में

---

*श्री शुकदेव जी कहते हैं— 'राजन् ! इस प्रकार श्री हरि भगवान् के परम कल्याणकारी बाल चरित्रों को तथा रुचिर अवतार पराक्रम को जो इस ग्रन्थ में गाये गये हैं अथवा अन्यान्य ग्रन्थों में कहे गये हैं उन्हें जो सुन कर गान करते हैं, उन्हें परम हंसों के एक मात्र गति भगवान् वासुदेव में परामक्ति हो जाती है।"

रहता है, तो वे इस लोक में उसके सदा साथ रहती
वह परलोक प्रयाण करता है तो उसके साथ स
पकड कर परलोक भी जाती हैं। अपने प्रेष्ठ के लि
काम म कष्ट प्रतात नहीं होता। माता पुत्र के लिये
कष्टों को प्रसन्नता पूर्वक सहती है। अपने कोई अत
जाते हैं, तो उनकी छोटी से छोटी सेवा करने मे सुख
है। जो स्त्रियाँ इतनी कामलाङ्गी होती हैं, कि अग्नि
कौन कहे सूय की तीक्ष्ण किरणों को भी क्षण भर
सकतीं वे ही पति के प्रेम मे पगली होकर प्रसन्नता
लित अग्नि मे हँसते हँसते अपने शरीर को भस्म
प्रेम का पथ बडा ही अटपटा है। प्रेमी के लिये जा
जाता है उससे प्रसन्नता ही होती है।

सूत जी कहते हैं—'मुनियो! भगवान् स्वधाम
देवगण जो उनके महायात्रा के दर्शनों को आये थे,
लोकों को चले गये। इधर भगवान् की आज्ञा से
पुरी में आया। वसुदेव जी देवकी जी तथा अन्य
की मातायें अभी द्वारका में ही थीं। महाराज उग्र
द्वारका में ही विराजमान थे। दारुक सुधर्मा सभा
पछाड खाकर गिर पडा और फूट फूट कर रोने ल
कर सभी वृद्ध यादव व्याकुल हो गये। सब ने सम
अशुभ सम्वाद है। सब ने दारुक को उठाया और
हुए बोले—"दारुक! तुम इतने अधीर क्यो हो रहे
ता सही क्या समाचार है? हमारे सब बन्धु बान्धव

रोते रोते दारुक सारथी ने कहा—'क्या कुशल
अब पृथिवी पर रही ही नहीं। यदुवंशी सभी पर
मर गये। भगवान् बलदेव जी ने भी परमगति प्राप्त

भगवान् श्याम सुन्दर भी जब मैं आया था स्वधाम पधारने को उद्यत बैठे थे, उन्होंने भी लीला संवरण कर ली होगी।"

इतना कह कर वह पुनः मूर्छित होकर वसुदेव जी के चरणों पर गिर पडा और अपने अश्रुओं से उनके चरणों को भिगोने लगा।

इस समाचार को सुनते ही समस्त यादव हाय हाय करके रुदन करने लगे। सभी का चित्त अत्यन्त ही उद्विग्न हो गया और वे सब के सब शोक से कातर होकर मूर्छित हो गये। सभी अधीर होकर नयनों से नीर बहा रहे थे और दोनों हाथों से अपने सिर को पीटते हुए पछिता रहे थे। उस समय सब उसी प्रकार बिल बिला रहे थे, जिस प्रकार जल से पृथक होने पर मछलियाँ तडपती हैं।

अब किसी को कुछ भी नहीं सूझता था। जो जैसे बैठा था, तैसे ही प्रभास की ओर दौड पडा। जो लोग शंखोद्धारक तीर्थ में पहुँच गये थे, उनको भी सूचना दे दी गयी। कुछ ही देर मे सब रोते चिल्लाते विलाप करते हुए प्रभास क्षेत्र मे पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा करोडों मृतक शरीर पडे हैं। वहाँ का दृश्य अत्यन्त वीभत्स हो रहा है। जिस अश्वत्थ वृक्ष के नीचे श्याम सुन्दर ने अपनी इहलोक लीला संवरण की थी उस वृक्ष के नीचे पहुँचते ही वसुदेव जी तथा देवकी रोहिणी आदि उनकी पत्नियाँ घोर रुदन करने लगीं। अपने पुत्रों को न देख कर उनका हृदय फट गया। वे चेतना शून्य कटे वृक्ष तथा बेल के सदृश भूमि पर गिर पडे और भगवद् विरह से इतने व्याकुल हुए कि फिर उठे नहीं। वहीं उन्होंने अपने अपने प्राणों का परित्याग कर दिया।

अब सभी यदुवंश की स्त्रियाँ अपने अपने पतियों के मृतक देहों को खोजने लगीं। किसी को अपने पति का सिर मिला, किसी को धड़ ही मिला किसी को कोई अङ्ग ही मिला। जिसे जो

मिला उसी को लेकर वे सती हो गयीं। लाखों करोड़ों चितायें वहाँ धू धू करके जल रही थीं। उस समय समुद्र का वह तट प्रभास क्षेत्र महाश्मशान की भाँति जाज्वल्यमान् हो रहा था। सभी अपने अपने पतियों के शवों को गोदी में लेकर शृंगार करके प्रसन्न चित्त से चिताओं पर चढ़ रहीं थीं। बलदेव जी की स्त्रियों ने बलराम जी के शरीर को लेकर एक साथ एक ही चिता में प्रवेश किया। रोहिणी जी तथा देवकी जी तो भगवद् वियोग में अपने पति के साथ ही परमधाम पधार गयीं। वसुदेव जी की शेष ग्यारह पत्नियों ने चिता बना कर उसमें वसुदेव जी तथा देवकी जी के मृतक शरीरों को रखा और अग्नि जला कर स्वयं भी सब की सब उस चिता में एक साथ ही जल गयीं।

भगवान् का शरीर तो वहां था नहीं वह तो अन्तर्हित हो गया था। जिस स्थान पर भगवान ने लीला संवरण की थी उसी स्थान पर चिता जलाकर भगवान की आठ पटरानियों ने भी अपने शरीरों को भस्म कर दिया। जो भौमासुर के यहाँ से सोलह सहस्र एक सौ आठ लाई गयीं थीं, उन्होंने अपने शरीर का परित्याग नहीं किया, उन्हें अभी और भी दुर्दिन देखने थे। भगवान् से रहित होकर जो जीना चाहता है उसकी दुर्गति के अतिरिक्त सुगति कैसे हो सकती है। इसी प्रकार भगवान् के पुत्र प्रद्युम्न जी की पत्नियाँ भी पति के शरीर के संग सती हो गयीं। इसी प्रकार जिसे अपने पति का शरीर मिला वह उसके साथ जिसे न मिला वह उसका स्मरण करके ही सती हो गयी।

इस विनाश लीला के अन्तिम पटाक्षेप को देखने के लिये वसुदेव तथा उग्रसेन के साथ अर्जुन भी वहाँ पहुँच गये थे। अपने सुहृद्, सखा, प्रेष्ठ तथा सर्वस्व श्याम सुन्दर को न देखकर उनका हृदय फटने लगा। उन्हें सम्पूर्ण संसार सूना दिखायी देता था। उनकी बार बार इच्छा होती थी, मैं भी यहीं जल मरूँ।

यहीं अपने शरीर का अन्त कर दूँ।" किन्तु महा प्रयाण के समय श्याम सुन्दर उन्हें एक सेना सौंप गये थे। कह गये थे। स्त्रियों और बच्चों को लेकर तुम हस्तिनापुर जाना।" इससे वे प्राण भी नहीं छोड़ सकते थे। स्वामी की आज्ञा तो सब से श्रेष्ठ है। उसका पालन करना सेवक का परम धर्म है। भगवान् के विरह से उन्हें दुःख तो अत्याधिक हुआ, किन्तु उन्हीं के दिये हुए गीतोक्त ज्ञान का बार बार स्मरण करके उन्होंने धैर्य धारण किया। स्वयं ही धैर्य धारण नहीं किया, किन्तु जो बचे हुए बालक तथा स्त्रियाँ थीं उन सब को भी धैर्य बँधाया। फिर शास्त्रीय विधि से जिसका जो भी सम्बन्धी बच गया था, उसी से उसका और्ध्व दैहिक कृत्य कराया। जिनका कोई नहीं था उन सब का स्वयं उन्होंने कृत्य किया।

इधर भगवान् के स्वधाम पधारने के अनन्तर ही समुद्र में एक बाढ़ आई उसने सम्पूर्ण द्वारकापुरी को अपने पेट में रख लिया। सौ योजन की द्वारका को उसने क्षण भर में डुबो दिया। सब घर नष्ट भ्रष्ट हो गये। केवल एक भगवान् का मन्दिर ही अवशेष रह गया, जो समुद्र के गर्भ में भी ज्यों का त्यों अवस्थित है। किसी भाग्यशाली को उसके दर्शन भी होते हैं और उस मन्दिर में भगवान् वासुदेव नित्य निवास करते हैं। उस मन्दिर के स्मरण मात्र से मनुष्यों के समस्त अशुभों का नाश हो जाता है, क्यों कि वह परम मङ्गलमय स्थान है। इस प्रकार यह यदुवंश विनाश के नाटक का अन्तिम पटाक्षेप है।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! फिर क्या हुआ। अर्जुन ने फिर क्या किया?"

उदास मन से सूत जी बोले 'अजी, महाराज! अब भी कोई प्रश्न करने को स्थान शेष रह गया क्या? अर्जुन ने अपने इष्ट भगवान् वासुदेव की आज्ञा का पालन किया। वे संहार से

बचे हुए बालकों तथा स्त्रियों लेकर इन्द्रप्रस्थ के लिये चल दिये। मार्ग में जिस प्रकार दस्युओं ने उन्हें लूट लिया और स्त्रियों को लेकर भाग गये यह सब कथा मैं पीछे कह ही चुका हूँ। इन्द्रप्रस्थ मे आकर उन्होंने रोते रोते यह सम्वाद धर्मराज युधिष्ठिर से कहा। कुन्ती जी ने तो सुनते ही प्राणत्याग दिये। पांडवों ने अपने पौत्र महाराज परीक्षित् को तो हस्तिनापुर की गद्दी पर बिठा दिया और अनिरुद्ध के पुत्र वज्र का राज्याभिषेक व्रजमंडल के सिंहासन पर करके स्वयं हिमालय में गलने चले गये। जो यदु-वंश के छोटे छोटे बालक बच रहे थे उन्हीं से आगे यदुवंश चला।

मुनियो! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप मे हृदय को वज्र का बना कर वज्र के राज्यसिंहासन तक का वर्णन किया। जो नर नारी भगवान् के इन परम मंगलमय परम आनन्द दायक नित्य चरित्रों का श्रद्धा भक्ति और अनुराग के साथ वर्णन करेंगे वे निश्चय ही सभी पापों से छूट जायँगे। संसारी लोग नित्य नाना प्रकार की सांसारिक बातें करते रहते हैं। बिना बातें किये किसी पर रहा ही नहीं जाता। उन बातों में किसी की निंदा होती है किसी की स्तुति। निन्दा करने वाले के पापों के संस्कार अपने हृदय पर छा जाते हैं और स्तुति करने वाले के पुण्य। पाप से नरक की प्राप्ति होती है और पुण्य से स्वर्ग की। इस प्रकार जो संसारी बातें करते हैं उन्हें पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है पुनः पुन मरना पडता है। कभी स्वर्ग जाते हैं तो कभी नरक जाकर वहाँ की यन्त्रणायें सहते रहत हैं। उनका संसार चक्र कभी छूटता नहीं। जो संसारी कथाओं को न कह सुनकर इन भागवती कथाओं को ही सुनते या कहते हैं, वे पुण्य पाप से विमुक्त बन कर भगवान् के नित्य शाश्वत परम धाम में जाते हैं, फिर उन्हें कर्म बन्धनों में बँधकर संसार में लौटना नहीं पड़ता।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी आपने जो भागवती कथायें

सुनाया है उन्हें ही सुनता रहे या अन्य ग्रन्थों की कथाओं को भी सुने।"

इस पर सूत जी बोले—"महाराज ! मैंने कितनी कथायें सुनायी हैं, इनी गिनी कुछ कथाओं का मैंने दिग्दर्शन मात्र किया है। उन अनादि अनन्त भगवान् के चरित्रों की कोई सीमा नहीं परिधि नहीं इयत्ता नहीं। वे तो अनन्त तथा अपार हैं। यह तो क्षुद्र सीमित साम्प्रदायिक भावना है, कि इतनी ही सुने इसके अतिरिक्त कुछ न सुने। ऐसे विचार के लोग तो उन भूमा अनादि अनन्त प्रभु को सीमित कर देते हैं। उन्हें संकीर्णता की परिधि में बाँध देते हैं। वे हठ धर्मी पुरुष कूप मंडूक बन जाते हैं। जहाँ भी जिस ग्रन्थ में भी कथा मिले उसे ही श्रद्धा सहित सुने, किन्तु सुने भगवान् के ही सम्बन्ध की कथा। जो भगवत् कथा न सुन कर लौकिक वैषयिक ग्राम्य कथाओं को सुनते हैं उनका संसार बन्धन और दृढ़तम होता है। जो किसी भी ग्रन्थ में वर्णित भगवान् के बाल पौगण्ड तथा किशोरावस्था के कल्याण कारक चरित्रों को सुनते सुनाते हैं पढ़ते पढ़ाते हैं तथा गाते गवाते हैं, उन पुरुषों के प्रभु के पाद पद्मों में परा भक्ति प्राप्त होती है, इसमें किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं। यह मैंने भगवान् के स्वधाम पधारने तक की कथा कही, अब आप और क्या सुननाचाहते हैं ?"

उदास मन से शौनक जी ने कहा—"सूत जी ! अब सुनने को शेष रहा ही क्या ? आपने तो श्री कृष्ण चरित्र की वारि समाप्त ही कर दी। हमें तो आशा थी, आप इसी प्रकार जीवन पर्यन्त भागवती कथाओं को सुनाते रहेंगे। अच्छा, अब आप इस कथा का परिशिष्ट भाग तो सुनाइये। भगवान् के प्रपौत्र वज्र ने ब्रज में बस कर कैसे राज्य किया। यदुवंश विभूषण भगवान् वासुदेव के स्वधाम पधारने पर इस पृथिवी पर कौन कौन बल

शाली राजा हुए। आगे किस वंश वालों के हाथ में वसुधा का शासन रहा।

सूत जी ने कहा—"महाराज! भगवान् के स्वधाम पधारने पर पृथिवी पर कलियुग का साम्राज्य हो गया। भगवद् भक्ति के प्रभाव से महाराज परीक्षित् ने कलियुग का दमन किया तो अवश्य किन्तु भावी को कौन रोक सकता है। काल का प्रभाव तो अमिट है। यह संसार तो परिवर्तन शील है। द्वन्द्व ही इसकी स्थिति में मूल कारण हैं। न कभी धर्म ही एक सी स्थिति में रह सकता है न अधर्म ही। सत्य युग मे धर्म ही धर्म रहता है, उस समय धर्म का ही प्राबल्य होता है, कलियुग में अधर्म ही अधर्म सर्वत्र छा जाता है। धर्म रूप तो भगवान् ही हैं इसीलिये भगवान् को त्रियुग कहा है। सत्य, त्रेता, द्वापर इन तीनों ही युग में वे प्रकट रूप से रहते हैं। कलियुग मे अवतार होता नहीं जो होते भी हैं, उनसे किसी न किसी प्रकार अधर्म का ही प्रसार होता है। असुरों को मोहने के लिये भगवान् भी विचित्र विचित्र उपदेश देते हैं। सभी शास्त्रों का यही सिद्धान्त है कि कलियुग में योग, जप, तप, ज्ञान, वैराग्य तथा यज्ञ यागादि सभी साधन पंगु हो जाते हैं, इस युग मे एक मात्र भगवन्नाम संकीर्तन ही कल्याण का श्रेयस्कर मार्ग है। जो लोग भगवान् के नामों का निरन्तर उच्चारण करते रहते हैं, भगवान् के नामों का ही गायन करते हैं, भगवान् की ही कथाओं को सुनते हैं और भगवान् के ही आश्रय से रहते हैं, उन्हें तो कलियुग बाधा देता नहीं। इनके अतिरिक्त जितने भी लोग हैं, वे विषय सुखों को ही सर्व श्रेष्ठ समझने लगते हैं, सब की स्वाभाविकी प्रीति इन संसारी विषयों में ही हो जाती है। विषयों का धर्म पूर्वक सेवन करें तो उचित भी है, किन्तु कलियुगी पुरुष तो विषयों का सेवन अधर्म पूर्वक करते हैं।

छल, बल से, झूठ से, कपट से तथा मिथ्याडम्बर से कैसे भी पैसा मिल जाय यही कलियुग के सभी वर्ण सभी आश्रमों की प्रवृत्ति हो जाती है। भागवती कथा मे धार्मिक राजाओं का ही वर्णन होता है, या उनके सम्बन्ध से अधार्मिक राजाओं का भी वर्णन हो जाता है। कलियुग मे तो सभी वर्ण सकर हो जायगे। उनमें तो धर्म रह नहीं जायगा। इसलिये कलियुगी राजाओं का वर्णन करना भागवती कथाओं के उद्देश्य के विरुद्ध है। फिर भी भगवान् के सम्बन्ध से अत्यन्त ही संक्षेप म मैं आपसे भगवान् के तिरोभाव से लेकर अब तक के राजाओं का नाम निर्देश मात्र कर दूँगा। महाराज! भगवान् के चरित्र तो कभी समाप्त होते ही नहीं। वे तो असमाप्त हैं। भगवन्! इस जनलोक मे रहते रहते मुझे बहुत दिन हो गये हैं। आप तो महात्मा हो, कलियुगी जीवों को देखना नहीं चाहते, इसीलिये नैमिषारण्य की पुण्य भूमि को त्याग कर यहाँ जन लोक मे आकर बस गये हो। यहाँ भी आपकी कथा सुनने की लालसा सदा बनी रहती है, किन्तु सुनियो! मेरे तो अभी कुछ संस्कार शेष हैं। मैं तनिक घूम फिर कर मर्त्यलोक का चक्कर लगा आऊँ। वहाँ के बदरी, रामेश्वर तथा अन्यान्य पुण्य क्षेत्रों के दर्शन कर आऊँ, आपकी दया हुई और आपने बुलाया तो फिर आकर कथा सुनाऊँगा। भगवान् के चरित्रों का कभी अन्त थोड़ा ही होता है। अच्छी बात है, तो अब मैं आपको कलियुगी राजाओं का नाम निर्देश मात्र तथा किसी किसी का चरित्र भी सुनाता हूँ आप भगवान् के सम्बन्ध से ही इन्हें सुनें।

छप्पय

सती भईं सब नारि निरखि अरजुन अति रोये।
सम्बन्धी प्रिय सुहृद, सखा सरबसु हरि खोये॥
करि कें सब के श्राद्ध नारि बालक सग लीये।
इन्द्र प्रस्थ मग चले पराजित चोरनि कीये॥
धरमराज प्रभु गमन सुनि, नृपति वज्र ब्रजज में करे।
हथिनापुर नृप परीक्षित्, करे हिमालय में गरे।

—:o:—

कलियुग के राजाओं का वर्णन

(१३३५)

योऽन्त्यः पुरञ्जयो नाम भाव्यो बार्हद्रथो नृप ।
तस्यात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम् ॥
प्रद्योतसञ्ज्ञं राजानं कर्ता यत्पालकः सुतः ।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० २,३ श्लो०)

छप्पय

शौनक पूछें–'सूत ! भये को कलि में भूपति ।
सूत कहें–'मुनिराज ! न कलि में कोई नरपति ॥
सहस पाँच या सात और राजा कछु कमते ।
फिरि कुलीन नहिँ भूप रहें सब आवृत तमते ॥
जरासन्ध के वंश में, शत्रुञ्जय राजा भयो ।
जाहि पुरञ्जय हू कहें, शुनक सचिव ताको कह्यो ॥

प्रायः धर्म परम्परागत ही आता है। क्षत्रियों में जो सर्वश्रेष्ठ है, वह राजा कहलाता है, ब्राह्मणों में जो सर्वश्रेष्ठ होता है ऋषि कहलाता है। ऋषित्व और नृपत्व यह वंश परम्परा से आता है।

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बृहद्रथ के अन्तिम राजा होगा पुरञ्जय उसका मन्त्री शुनक अपने स्वामी को मारकर अपने पुत्र प्रद्योत को मगध देश का राजा बना देगा। उसका पुत्र पालक होगा, पालक का पुत्र विशाखयूप और उसका पुत्र राजक होगा।"

अन्य वर्ण का कोई वीर पराक्रमी शूर तेजस्वी पुरुष हो राजा के सदृश हो सकता है। कर्मणा वह राजा है। वंश परम्परा से जन्मना वह राजा नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार किसी अन्य वर्ण का कितना भी ज्ञानी हो, वह ऋषिवत्-ऋषिकल्प हो सकता है। उसे जन्मजात ऋषित्व प्राप्त नहीं हो सकता। हमने ऐसा सुना है कि सिंह सिंहनी से जीवन में एक बार समागम करता है इसीलिये उससे सर्व प्रथम सिंह ही पुत्र होता है, दूसरी बार समागम करे, तो चीता होता है और तीसरी बार करे तो वृक होता है। अर्थात् सिंह सिंहनी के समागम से जो प्रथम पुत्र होगा वही सिंह कहलावेगा। शेष सब पराक्रमी होंगे सिंह के समान उनका रूप रंग होगा, किन्तु वे सिंह नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार राजा का प्रथम पुत्र राजा होगा; शेष सब क्षत्रिय राजकुँवर या भूमिपति होंगे। राजा भगवान् का अंशावतार होता है, आठों लोकपालों का उसमें अंश रहता है। राजा को साधारण क्षत्रिय नहीं मानना चाहिये। यद्यपि उसका वर्ण क्षत्रिय होता है, किन्तु वह सब साधारण क्षत्रियों से भिन्न होता है। इसी प्रकार ऋषियों के प्रथम पुत्र को ऋषित्व प्राप्त होता है शेष सब ब्राह्मण होते हैं। ऋषिगण सर्व साधारण ब्राह्मणों से भिन्न होते हैं। वे गोत्र प्रवर्तक या प्रवर प्रवर्तक होते हैं। जो ऋषि प्रजापति होते हैं, वे सृष्टि की वृद्धि करते हैं उन्हीं के नाम से गोत्र चलते हैं। वे सभी वर्णों के यहाँ तक कि पशु, पक्षी और वृक्षों तक के जनक हो जाते हैं। ऋषि और प्रजापतियों का वीर्य अमोघ होता है। वह कभी व्यर्थ हो ही नहीं सकता। जहाँ भी प्रयुक्त होगा वहीं सृष्टि करेगा। उसमें क्षेत्र का प्रभाव नहीं पड़ता संकल्प का प्रभाव पड़ता है। ऋषि का वीर्य पशु पक्षी चांडालिनी शूद्री या घड़ा में भी पड़ जाय तो संकल्पानुसार उससे ऋषि ही उत्पन्न होगा। सर्व साधारण पुरुषों का

वीर्य क्षेत्र से प्रभावित होता है। स्वजाति में प्रयुक्त होगा तभी स्व-जातीय सन्तान उत्पन्न कर सकेगा। विजाति में प्रयुक्त होने से एक संकर जाति बन जायगा। जैसे घोड़ा से घोड़ी में जो सन्तान होगी उन्हीं की अश्व संज्ञा होगी। घोड़ा से गदभी में भी सन्तान हो सकती है, किन्तु वह अश्व न होकर अश्वतरी (खच्चर) जाति होगी। खच्चरी फिर किसी जाति की उत्पत्ति न कर सकेगी क्यों कि वह तो स्वयं संकर है। अश्वतरी या तो कभी गर्भ धारण करेगी ही नहीं यदि करेगी तो अपनी मृत्यु के ही लिये करेगी। अर्थात् उसका उदर विदीर्ण करके ही बच्चा निकाला जायगा।

ब्रह्मर्षि और राजर्षि ही धर्म के रक्षक होते हैं। इनमें ब्रह्मर्षिगण तप स्वाध्याय ब्रह्मचर्य तथा यम नियमादि के पालन करने से परम पवित्र होते हैं। उनकी अनुभूति लोक कल्याणमयी होती है। उन पवित्र अनुभवों का प्रयोग राजर्षि करते हैं, अर्थात् उनके बताये हुए सत्य नियमों को कार्य रूप में परिणत राजर्षि-गण करते हैं। इसीलिये राजा को धर्म का कारण बताया है। जैसे क मन्त्र है। उसकी अनुभूति एक ऋषि को हुई। उन्होंने उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति के एक सहस्र लोगों को प्रदान किया। तो मन्त्र का प्रभाव तो सब पर ही पड़ेगा, किन्तु सब में यह सामर्थ्य न होगी, कि वह उस मन्त्र को चैतन्य करके औरों को भी उस मन्त्र से मन्त्रित कर सके। उनमें से सब प्रथम जिसे मन्त्र दिया है ऐसे एक या दो ब्राह्मण शिष्य को ही यह शक्ति प्राप्त हो सकेगी कि वह मन्त्र देकर लोगों को समाश्रत कर सके। इस प्रकार जहाँ तक उस मन्त्र की परम्परा शुद्ध बनी रहेगी तहाँ तक तो वह प्रभावशाली रहेगा। जहाँ उसकी पर-म्परा या सम्प्रदाय छिन्न भिन्न हुई तहाँ फिर वह मन्त्र न रहकर साधारण अक्षर रह जायँगे। उनसे स्वार्थी लोग अज्ञजनों को

ठगकर अपनी आजीविका भले ही चला सकते हैं। किन्तु उन निर्जीव मन्त्रों से कल्याण नहीं हो सकता। जो दशा मन्त्र की है वही दशा विशुद्ध वीर्य की है।

सन्तानें दो प्रकार की होती हैं, एक नाद के द्वारा दूसरा विन्दु के द्वारा। जो मन्त्र देकर शिष्य बनाये जाते हैं वे नाद सन्तान। जो वीर्यदान देकर स्वपत्नी में उत्पन्न होते हैं वे विन्दु सन्तान हैं। ये दोनों सन्तानें तभी तक शुद्ध रहती हैं जब तक इनकी परम्परा शुद्ध बनी रहे। जहाँ इनकी परम्परा में विकृति आई तहाँ ये अशुद्ध हो जाती हैं। धर्म उत्पन्न करने की अपेक्षा अधर्म की सृष्टि करने लगती हैं।

प्राचीन काल में राजवंश की परम्परा को विशुद्ध बनाये रखने पर कितना ध्यान दिया जाता था, इसके लिये वेन की कथा को पुनः स्मरण करना चाहिये। महाराज अङ्ग को किसी विशुद्ध क्षत्रिय कन्या से विवाह करना चाहिये था, किन्तु उन्होंने काम के वशीभूत होकर मृत्यु की कन्या सुनीथा से विवाह किया। ऋषियों को अधिकार था, वे उस विवाह को अनियमित घोषित कर देते, किन्तु उससे एक कठिनाई थी। ऋषि और देवता मनुष्यों के लिये आलोच्य नहीं हो सकते। इनके बुरे कामों की आलोचना अपने समाज में हो सकती है। मनुष्यों को अधिकार नहीं है, कि वह देवता और ऋषियों के चरित्रों की निंदा कर सके। चन्द्रमा ने बहुत अधर्म का काम किया, अपने समाज में उनकी बड़ी निंदा हुई उन्होंने गुरु पत्नी का अपहरण किया, किन्तु फिर भी देवता देवता ही है। उनके पुत्र बुध के द्वारा प्रवर्तित वंश क्षत्रियों में परम श्रेष्ठ माना जाता है। इसीलिये महाराज अङ्ग के विवाह का ऋषियों ने विरोध नहीं किया, क्योंकि मृत्यु तो देवता हैं।

उच्चवर्ण की कन्या का विवाह नीच वर्ण के व्यक्ति के साथ

अत्यंत विवशता वश ही होता है शुक्राचार्य की कन्या देवयानी का विवाह क्षत्रिय राजा ययाति के साथ अत्यंत विवशता में—"कचके शापवश—ही हुआ था उसका परिणाम भी अच्छा नहीं हुआ देवयानी से उत्पन्न सन्तानें क्षत्रियाधम या म्लेच्छ ही हुईं। इसी प्रकार मृत्यु की कन्या सुनीथा का विवाह विवशता वश मर्त्यलोक के राजा अङ्ग के साथ हुआ। सुनीथा दुष्ट स्वभाव की लड़की थी। एक तपस्वी को वह वन में जाकर अकारण पीटा करती थी। इसीलिये उसने शाप दे दिया तेरे गर्भ से जो पुत्र होगा, वह अत्यंत दुष्ट होगा। मनुष्यों की बात होती तो छिप जाती। देवताओं की बात थी। इसीलिये उससे विवाह करने को न कोई देवता सहमत हुआ न उपदेव। विवश होकर मृत्युदेव को एक मर्त्यधर्मा राजा के के साथ उसका विवाह करना पड़ा राजा भी उसे देखकर काम के वशीभूत हो गये थे। भवितव्यता ऐसी थी विवाह हो गया। तपस्वी का अमोघ शाप तो व्यर्थ जाता नहीं। सुनीथा से गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह परम दुष्ट हुआ वेन उसका नाम दुष्टता के ही कारण पड गया। उसमें पिता के वीर्य का प्रभाव न पडकर माता के रजका प्रभाव अधिक पडा। उसे अपने नाना मृत्यु का स्वभाव प्राप्त हुआ। प्रजा उसकी दुष्टता से ऊब गयी। पिता तो उसके कारण घर छोडकर ही भाग गये। मंत्रीगण कोई नहीं चाहते थे, कि वेन को उसके पिता की गद्दी दी जाय। किन्तु राजा के बिना तो धर्म का पालन हो नहीं सकता। राजा चुना नहीं जाता, राजा मिट्टी का बनाया नहीं जाता, वह तो वंश परम्परा से आया है। ऋषिगण जानते थे। चाहे इसमें माता के रजका ही विशेष प्रभाव क्यों न हो, किन्तु यह तो राजर्षि अङ्ग के ही वीर्य से हुआ है। मनुवंश के वीर्य की परम्परा तो विच्छिन्न नहीं हुई है। राजत्व गुण तो परम्परा से प्राप्त होते हैं। मंत्रीगण तथा प्रजाजन तो बाहरी बातों को देखते हैं। हमें तो

मनुवंश की वीर्य धारा को अविकल बनाये रखना चाहिये। सब के विरोध करने पर भी मुनियों ने वेन को ही राजा बना दिया। वेन तो दुष्ट था ही। ऋषियों ने उसे बनाया धर्मरक्षक बन गया वह धर्म भक्षक। जब उसके अत्याचार असह्य हो गये तो ऋषियों ने हुङ्कार से उसे मार डाला। मार डालना तो सहज था, किन्तु अब राजा कौन बने। अङ्ग की गद्दी पर मनुवंश का ही कोई राजा बैठ सकता है। यदि दूसरा कोई राजा बना दिया गया तो परम्परा ही छिन्न भिन्न हो जायगी। वंश ही नाश हो जायगा। पापियों के ही वंश का नाश होता है। महाराज अङ्ग तो पापी नहीं थे। इनकी वंश परम्परा का तो नाश न होना चाहिये। इनके वंश में तो अब तक सब राजा अमोघवीर्य और केशवाश्रय रहे हैं।* तब ऋषियों ने उस अंग के शरीर को मथा। मथने का कारण यह था कि जैसे मक्खन को दही में मिलाकर फेंट दो तो उसमें घृत और मैल दोनों मिल जायँगे। उसे फिर मथकर अग्नि पर तपा लो। घृत अलग हो जायगा मल अलग हो जायगा। दुष्टा के रज के साथ महाराज का विशुद्ध वीर्य मिल गया था। अब ऋषियों ने पाप पुण्य को मथकर पृथक् पृथक् कर दिया। जो पाप अंश था उससे काननचारी निषाद जाति का पुरुष हुआ। जो विशुद्ध था उससे पृथिवी पति पृथु। वैसे तो सभी राजा भगवान की विभूति होते हैं। मनुष्यों से विशिष्ट होते हैं। पृथु परम शुद्ध थे, अयोनिज थे मंत्रों से उत्पन्न थे अतः वे भगवान् के अंशावतार भी हुए।

* नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति।
अमोघवीर्या हि नृपा वंशोऽस्मिन्केशवाश्रयः॥*
(श्री भा० ४ स्क० १४ अ० ४२ श्लो०)

इस कथा से ही अनुमान लगाया जा सकता है, कि पूर्व काल में वंश परम्परा का कितना अधिक ध्यान रखा जाता था।

राजा बनाया नहीं जाता था बना बनाया परम्परागत आता था।

अनार्य परम्परा के मानने वाले भौतिक वादियों ने समाज में एक भ्रमपूर्ण अशुद्ध घातक धारणा उत्पन्न कर दी है, कि समाज अधिकाधिक उन्नति कर रहा है। उनकी धारणा है कि मनुष्य प्राणी पहिले बंदर था। उसकी पूँछ घिसते घिसते वह इस रूप में आ गया है। पहिले वह सर्वथा अज्ञानी था। जैसे बन्दर पेट भरने को फल फूल खाता है वैसे ही पूँछ घिसा यह आदि मनुष्य फल पर निर्वाह करता था। फिर उसने पशुओं को रख लिया उनका दूध पीने लगा। उसने देखा फल की गुठली डाल देने से यह उग आती है, तो बोने लगा। घोर जंगल को काटकर खेत बनाने लगा। बैल आदि से हल जोतने लगा। घर बनाने लगा, उसका ज्ञान बढने लगा। जंगली जीवों को भगाने को पत्थर के शस्त्र बनाने लगा। फिर हड्डियों के तब लोहे आदि के। ज्यों ज्यों उन्नत होता गया त्यों त्यों आविष्कार करता गया। अब वह सब से अधिक ज्ञानी हो गया है उसने भाँति भाँति के उपयोगी यन्त्रों का आविष्कार कर लिया है। प्रकृति को अपने वशमें कर लिया है। पहिले अज्ञानवश मनुष्य अग्नि को ही देवता मानते थे। सर्प से डरकर उन्हें पूजते थे। कुछ पुरोहित लोग गीत बनाकर अग्नि की पूजा करते थे उन्हीं गीतों को पीछे से संग्रह कर दिया गया वे वेद बन गये। वेद बहुत पुराने हैं। सबसे पहिले पुस्तक है। अर्थात् जब मनुष्य प्राणी अत्यत अवनत था। अब उन्नत हो गया है। अर्थात् जैसे उसने उन्नत होकर पत्थर और हड्डियों के अस्त्र शस्त्रों को छोड दिया है उसी प्रकार अब उसे अवनति अवस्था के गीतों को भी छोड देना चाहिये।" यह भ्रामक धारणा उन्हीं भौतिकवादी अनार्य दस्युओं की है, जो इस शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, जिनकी दृष्टि में इस लोक को छोडकर कोई परलोक है ही नहीं। वे वेद पुराणों में वर्जित देवासुर सग्राम को

आर्य अनार्यों का सघर्षमात्र ही मानते हैं। यह विपरीत विचार तमोगुणी लोगों के है। बाहर से देखने पर घोर तमोगुणी और शुद्ध सतोगुणी दोनों ही एक सी दशा में दिखायी देंगे। तमोगुण के आधिक्य के कारण भींत से पीठ सटाकर कोई गाढ निद्रा में सो जाय। और दूसरा शुद्ध सत्वगुण की वृद्धि के कारण समाधिस्थ हो जाय, तो दोनों ही दूर से देखने में निश्चेष्ट बैठे दिखायी देंगे, किन्तु उन दोनों की दशा मे आकाश और पाताल का अतर है। एक घोर अज्ञान में निश्चेष्ट बैठा है दूसरा विशुद्ध विज्ञान मे। इसी प्रकार विचार भौतिकवादी भी करते हैं और आध्यात्मिक वादी भी। भौतिक वादियों का विचार अज्ञान मूलक होता है और आध्यात्मिक वादियों का विचार ज्ञान मूलक। जो तम से आवृत प्राणी हैं वे अवनति को ही उन्नति कहते हैं अधम को ही धर्म मानते हैं। जिसे वे क्रम से विकाश कहते हैं, वास्तव मे में वह है क्रम से ह्रास। प्रकृति पतन शील है, क्रम से विकाश नहीं होता ह्रास ही होता है, क्रम से उन्नति नहीं होती अवनति ही होती है। बढना वृद्धि के लिये नहीं ह्रास के लिये है। बिगडना नवीनता के लिये है। यही भौतिकवाद और आध्यात्मिक वाद में अन्तर है। भौतिक वादी मानता है हम अवनति से उन्नति की ओर बढ रहे हैं। आध्यात्मिक वादी कहता है प्रकृति पतनशील है। प्राकृतिक उन्नति उन्नति नहीं अवनति है। प्राणी उन्नति से अवनति की ओर जा रहा है वह उत्थान से पतन की बढ रहा है। यथार्थ उन्नत, तो वह है जो प्रकृति से सम्बन्ध तोडकर परमेश्वर से सम्बन्ध जोड लेता है। प्रकृति मे विकाश जैसे भौतिकवादी मानते हैं वैसे ही आध्यात्मिक वादी भी मानते हैं। किन्तु उनके विकाशवाद में और इनके विकाशवाद में अतर है। भौतिकवादी कहता है समाज के लोग शनैः शनै उन्नत हो रहे हैं उनमें ज्ञानकी वृद्धि हो रही है।

आध्यात्मिक वादी कहता है आरम्भ में प्राणी उन्नत था ज्यों ज्यों यह प्रकृति से अधिकाधिक सम्बन्ध जोड़ता जाता है उसके अधीन हो जाता है त्यों ही त्यों अधिक अवनति की ओर बढ़ रहा है। उसमें अज्ञान की वृद्धि होती जाती है धर्म से मुख मोड़कर अधर्म को अपनाता जाता है। शनैः शनैः जो बढ़ रहा है वह अवनति के लिये बढ़ रहा है। इसके कुछ दृष्टान्त लीजिये।

एक बच्चा है, वह बढ़ने लगा। भौतिकवादी कहता है वह वृद्धि की ओर जा रहा है उसकी आयु बढ़ रही है। आध्यात्मिकवादी कहता है यह तुम्हारा भ्रम है वह बढ़ नहीं रहा है प्रतिक्षण उसकी आयु क्षीण हो रही है। वह घटता जाता है। घटते घटते उसका अंत हो जायगा। अब वह फिर नया होगा, तो एक साथ बालक हो जायगा।

सूर्यनारायण पूर्व दिशा से उदित हुए अब वे ऊपर को चढ़ते हैं क्रमशः उन्नत होते हैं उन्नति की वह उन्नति नहीं क्रमशः वे अस्ताचल में जाकर अस्त हो जाते हैं। फिर दूसरे दिन वे पूर्व मे आकर उदित हो जाते हैं इसे कोई नहीं देखता। इसी प्रकार कल्प के आदि सत्ययुग में धर्मपूर्ण रूप से रहता है, पुनः वह क्रमशः क्षय होते होते कलियुग में क्षय हो जाता है। कलियुग के अन्त में पुन. सत्ययुग हो जाता है उसकी अवनति तो क्रमशः हुई किन्तु उन्नति सहसा हो गयी। जैसे गंगाजी। हिमालय से निकलकर शनैः शनैः क्रमशः जाकर समुद्र में गिरी। किन्तु समुद्र से वाष्प बनकर वह पुनः अपने स्थान मे क्रमश न आकर सहसा आ गयी। एक बडी भारी नली से पानी नीचे तो क्रमशः आया, किन्तु नीचे के पानी को ऊपर सहसा किसी प्रबल शक्ति ने तुरन्त पहुँचा दिया। अतः भारतीय विकाश वाद में मनुष्य उन्नत न होकर अवनत हो रहा है। धर्म का नित्य क्षय हो रहा है। मनुष्य जितना ही स्वार्थी होता जाता है, उतना ही वह मनु-

न्यता से—पूर्णता से-गिरता जाता है। यह सत्य है, कि आदि सत्ययुग मे वे लोग वस्त्र नहा पहिनते थे, घर नहीं बनाते थे, खेती नहीं करते थे, उन्हें परस्पर में सेवा नहीं करनी पड़ती थी। विवाह की प्रथा नहीं थी, लोग स्वच्छन्द होकर वनों मे रहते। उनमे न कोई राजा था न प्रजा सब एक से थे। प्रकृति उनके अधीन थी सभी संकल्प सिद्ध थे। जो संकल्प उठता तत् क्षण पूरा हो जाता। यह उनकी अवनति की दशा नहीं थी सर्वोत्कृष्ट उन्नति की अवस्था थी। उन्नति की पराकाष्ठा थी। शनैः शनैः उनकी संकल्प शक्ति क्षीण होने लगी। पहिले वे जब चाहते इसी शरीर से स्वर्ग चले जाते, जब चाहते मत्यलोक मे लौट आते। अधर्म की वृद्धि से उनकी गति रुक गयी। पहिले उन्हें शीत बाधा नहीं देता था, उनकी सहनशक्ति बढ़ी हुई थी। ज्यों ज्यों धर्म भावना न्यून होती गयी त्यों त्यों सहन शक्ति भी घटती गयी अब उन्हें शीत निवारण के लिये वस्त्रों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः वे वल्कल धारण करने लगे। वल्कल धारणा करना उनकी निर्बलता थी वह उनकी अवनति थी। ज्यों ज्यो सहन शीलता घटती गयी त्यों त्यों वस्त्रो का चलन भी अधिकाधिक होने लगा। लोगों का अन्त में इतना पतन हुआ, कि वे गरमी के दिनों में भी नख से शिख तक जब तक कपड़ों से लद न जायँ तब तक बाहर नहीं निकलते। पहिले १०। १०। १२। १२ वर्ष के बच्चे नंगे घूमते थे अब मनुष्यो का इतना पतन हो गया कि छै महीने के बच्चे को भी नंगा नहीं रखते कभी ऐसा समय आवेगा, कि लोग अपनी चौकी और खटिया को भी बिना वस्त्र से ढके देखने में लज्जा का अनुभव करने लगेंगे।

पहिले केवल क्षुधा निवृत्ति के लिये कद मूल, फल खाते थे, सो भी जहाँ रहते वहीं प्रकृति स्वयं उत्पन्न करके दे देती। अब लोगो की तृष्णा बढ़ी इधर उधर दौड धूप करके फल संग्रह करने

लगे। फलों से निर्वाह न हुआ तो बीजों को खाने लगे। बीजों में भी जब लोभ बढ़ा तो उन बीजों का संग्रह करने लगे। खेत बनाकर बोने लगे। रात्रि दिन खेती में ही समय बिताने लगे। अन्त में इस मनुष्य प्राणी का इतना पतन हुआ कि भगवान् को भूलकर इसे एक ही चिन्ता में रहने लगी। 'अधिक अन्न उपजाओ' थोड़ा खाओ, अधिक बचाओ। यह इसके अविश्वास की अधर्म की, पतन की पराकाष्ठा है।

पहिले आदमी बहुत कम बोलते थे। शनैः शनैः अधिक बोलने की वासना उत्पन्न होने लगी। जो अधिक बोलेगा, वह व्यर्थ की बातें भी बकेगा। इसलिये लोग व्यर्थ की बातें बकने और सुनने लगे। उनमें कुछ बाव दूक हुए। वे लोगों को हँसाने के लिये या मनोरंजन करने के लिये इधर उधर की बातें सुनाने लगे। जब बोलने का व्यसन बढ़ा तो भाँति भाँति के बोलने के यन्त्रों का आविष्कार हुआ। यहाँ तक कि आप समुद्र पार बोलें और बैठे बैठे यन्त्र के सहारे उनकी बातों को सुने। अधिक बोलने अधिक सुनने की प्रवृत्ति उन्नति नहीं अवनति है।

पहिले लोग केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये कर्तव्य बुद्धि से सहवास करते थे। पीछे उनकी क्रमशः वासना बढ़ने लगी। उस वासना की बाढ को रोकने के लिये धर्म का प्रतिबन्ध लगाया गया विवाहों का चलन चला। मनुष्यों की विषया सक्ति बढ़ने लगी। वे अनेकों स्त्रियों को रखने लगे। स्त्रियों की वासना भी बढ़ने लगी वे स्वैरिणी होने लगीं तब समाज ने उनके दो विभाग कर दिये। एक सर्वभोग्या कामिनी। दूसरी धर्म पत्नी। धर्मपत्नियों की भी जब वासना बढ़ने लगी तो धर्म बन्धन शिथिल होने लगे। पुरुष पर स्त्री गामी, तथा स्त्रियाँ पर पुरुष गामिनी होने लगीं। ज्यों ज्यों वासना बढ़ने लगी अधर्म की वृद्धि होने लगी त्यों त्यों धर्म बन्धन शिथिल होने लगे। अब स्त्री पुरुषों की ओर से माँग

होने लगी। धर्म का बन्धन हटा दिया जाय। स्त्री पुरुष सब स्वतन्त्र कर दिये जाय। जिसकी जहाँ इच्छा हो अपनी वासना की पूर्ति की जाय। तम प्रधान पुरुष इसे उन्नति कहते हैं, स्वतन्त्रता कहते हैं, किन्तु यह है वास्तव में वासनाओं की दासता। घोर अवनति और अधर्म की वृद्धि।

पहिले लोग अपने आप में ही सन्तुष्ट रहते थे, वे मिलने किससे जायँ आत्मा तो एक है। शनैः शनैः वृत्ति आत्मा से हटकर शरीर की ओर लगी। शरीर को सजाने बजाने की इच्छा हुई जब अपना शरीर सजाया बजाया जाने लगा, तो उसे दिखाने का दूसरे के समीप गये। दूसरा भी शरीर को सजाने लगा। वह उसके पास मिलने आया। पहिले सब लोग पैदल आते जाते थे। फिर उनका बल क्षीण होने लगा, वे कुछ श्रम का अनुभव करने लगे तो बैल और घोड़ों पर चढ़कर चलने लगे। उनके चलने से भी श्रम प्रतीत होने लगा तो उन्होंने गाडी रथ बनाये। उन जीवों को जोतने लगे। जब वासना और बढ़ी तो शीघ्र पहुँचने की इच्छा हुई। जीवधारी प्राणी तो एक परिमित सीमा से ही चल सकता है। अतः निर्जीव वाहन अग्नि वाष्प की सहायता से निर्माण हुए। उन्हें बुद्धि द्वारा भूमि पर दौड़ाया जाने लगा। इससे भी वासना शान्त नहीं हुई तो वायुयान बनाये। वायुयानों में उड़ना यात्रा करना मनुष्य की उन्नति का चिन्ह नहीं है यह उसकी वासना की प्रबलता का द्योतक है।

पहिले सब एक से भी रहते थे, कोई संग्रह नहीं करता था, संग्रह करे भी तो क्यों करे। जब हमें समय पर यथेष्ट गंगा जल मिलता है तो संग्रह क्यों करें। वासना वृद्धि होने से वस्तु न्यून होने लगी लोग संग्रह करने लगे। संग्रह होने से आलस्य बढ़ने लगा। लोग अधिक से अधिक संग्रह करने में व्यस्त हो गये।

अधिक वस्तुओं का संग्रह करना उन्नति का चिह्न नहीं दरिद्रता का अविश्वास का चिह्न है।

पहिले बडे छोटे का भेदभाव नहीं था। जब कुछ लोग चोरी करने लगे अपराध करने लगे। तो सबने मिलकर किसी वर्ग में राजत्व स्थापित किया। परम्परा से उसमें राजत्व के गुण आने लगे। वह न्याय करने लगा। जब लोग उसकी बात मानने में आना कानी करने लगे, तो वह सेना रखने लगा, मंत्री आदि बनाने लगा। अब कुछ लोग राजा पर अविश्वास करने लगे। इसलिय परामर्शदातृ समिति का निर्माण हुआ मन्त्रिमंडल बना इस पर भी असन्तोष रहा तो कुछ वर्ग के लोग राजनीति में भाग लेने लगे। राजसत्ता को बटाने लगे। जब और असन्तोष अविश्वास बढ़ा तो वयस्क मताधिकार का प्रचार होने लगा। जन्मना राजा को हटा दिया! सत्ता लोलुप और अविश्वासी लोग सत्ता के लिये परस्पर में लडने लगे। प्रत्येक व्यक्ति का राजनैतिक संघर्ष मे कूदना यह उन्नति नहीं सबसे अधिक अवनति है। अविश्वास और अधर्म का यह नग्न नृत्य है। यही भारतीय विकासवाद है। इसे सब मानते हैं, कि यह संसार परिवर्तनशील है, जो इस समय है वह अगले क्षण नहीं है। अन्तर इतना ही है भौतिकवादी कहते हैं हम उन्नति की ओर बढ़ रहे हैं। अध्यात्मवादी कहते हैं हम प्रकृति के जितने अधीन होते जा रहे हैं उतने ही अवनत हो रहे हैं।

आप कहेंगे, कि यदि नंगा रहना, घर न बनाना, विवाह बन्धन न मानना यदि यही उन्नति का चरम लक्ष्य है तो ये कोल भील जो जंगलों मे बिना घर बार नंगे रहते हैं ये सबसे अधिक उन्नत हैं। इसका उत्तर तो हम पहिले ही दे चुके हैं यह उनकी दशा है जो तम के प्रभाव से गाढ़ निद्रा वाले की और समाधि वाले की। संसार का भान दोनों को ही नहीं है किन्तु

एक परम उन्नत है एक परम अवनत ये जो नंगे रहते हैं साधनों के न रहने के कारण। इनकी इच्छा तो सुन्दर वस्त्र पहिनने की महलों में रहने की होती है, किन्तु ये विवश हैं। साधनों के अभाव में ऐसा कर नहीं सकते। वे जो कल्प के आदि वाले सत्ययुगी लोग नगे तथा बिना घर द्वार और बिना नियम उप-नियमों के रहते थे, उनको इच्छा ही नहीं होती थी। उनमें इन्द्रिय निरोध की सहज शक्ति थी वे सत्व प्रधान थे।

पहिले स्वर्ग जाने की सबमें वैसे ही स्वाभाविक शक्ति थी जैसी पक्षियों मे उडने की तथा मछलियों की जल में रहने और सोने की सिद्धि है जब मनुष्यों में वासना बढ गयी, तो स्वर्ग जाने की शक्ति नष्ट हो गयी। अब कृत्रिम शक्ति पैदा करने लगे। योगाभ्यास से शरीर की स्थूलता को नष्ट करके सूक्ष्म शरीर से जाने लगे। जो योगाभ्यास करने में भी असमर्थ थे कर्मासक्त थे, उनके लिये यज्ञ यागादि कर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। तीन प्रकार की अग्नियों के उत्पन्न होने की कथा भी इसी प्रकार की है। प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के राजा पुरूरवा का सम्बन्ध स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी से हो गया। उर्वशी गन्धर्व लोक में रहती थी। अब राजा की इच्छा गन्धर्व लोक जाने की हुई। पहिले राजा बिना रोकटोक स्वर्ग चले जाते थे। जब से उनका सम्बन्ध उर्वशी से हो गया और वे उसके विरह में पागल होकर सीडी प्रमत्तों की भाँति इधर उधर घूमने लगे तो उस उन्मत्तावस्था में वे अपनी स्वर्ग जाने की सिद्धि को खो बैठे। तब गन्धर्वों ने उन्हें अग्निस्थाली दी। उर्वशी की कामना से उन्होंने यज्ञ किया। तब से काम्य यज्ञ भागों का प्रचलन चल पडा।

पहिले लोग आपस मे लडते भिडते नहीं थे। जब लोगों का नैतिक आचरण गिरने लगा तो आपस मे लडने लगे पहिले पत्थरों से लडे, फिर दूरसे मारने को धनुष बाणों को बनाया। कुछ ने

मंत्र सिद्धि करके मंत्रों के द्वारा अस्त्रों का प्रयोग किया। जो अस्त्रों का प्रयोग नहीं कर सकते थे उन्होंने शस्त्रों का आविष्कार किया। पहिले शस्त्र लोह के बने फिर गोले बने अब पतन होते होते वे शास्त्र अणुबम तक पहुँच गये। ऐसे शास्त्रों का प्रचलन मनुष्य का सब से बड़ा पतन है। उसके सद्गुणों का स्पष्ट दिवालियापन है। पहिले अस्त्र अस्त्रों का प्रयोग ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा के लिये करते थे। महाभारत के पहिले इतना पतन हो गया कि यश ऐश्वर्य के साथ धन के लिये भी इनका इनका प्रयोग होने लगा। जहाँ तक स्मरण होता है। द्रोणाचार्य पहिले ब्राह्मण थे जिन्होंने लोभ वश राजाओं की शरण ली परन्तु तब भी शुद्ध लोभ नहीं था उसमें भी लोभ प्रतिष्ठा दोनों मिली थी। आज वैज्ञानिकों का इतना पतन हो गया है कि वे धन के लिये चाहे जैसे घातक से घातक शस्त्र का प्रयोग कर सकते हैं। धन के पीछे देशद्रोह कर सकते हैं अपने करोड़ों भाइयों का वध करा सकते हैं उत्तम पुरुष मान चाहते हैं। मध्यम मान और धन दोनों, किन्तु अधमपुरुष धन को ही सर्वस्व समझते हैं। पैसों के लिये घातक अस्त्र बनाना, तथा और भी लोक विध्वंसक कार्य करना यह पुरुषों का सबसे अधिक पतन है।

भारतीय संस्कृति की ऐसी मान्यता है, कि यह जो संसार कार्य चल रहा है, एक व्यवस्थित ढंग से चल रहा है। जैसे कोई संस्था या किसी नगर का निर्माण कराते हैं तो उन घरों या अन्य सेतु आदि की आयु उस पर लिख देते हैं, कि इतने दिनों में इनका जीर्णोद्धार किया जाय और इतने दिनों पश्चात् इसे नष्ट कर दिया जाय। इस प्रकार यह जगत् अपने आप सहसा उत्पन्न नहीं हो गया। भगवान् ने इसका निर्माण किया। भगवान् के नाभि-कमल से ब्रह्मा जी निकले ब्रह्माण्ड बना उसमें चौदह भुवन बने देवगण बने। ब्रह्मा जी की सौ वर्ष की आयु

निश्चित हुई। किन्तु काल तो असीम है अपनी अपनी सामर्थ्य-शक्ति और बुद्धि के अनुसार लोगों ने सुविधानुसार उसे विभक्त कर लिया। जितने दिन में हमारा वर्ष होता है उतने का कहीं पर एक दिनरात होती है। हम लोगों की आयु सौ वर्ष की माना गयी है। कोई पचास वर्ष में मर जाता है, तो उसकी मृत्यु को अकाल मृत्यु कहते हैं। बहुत से कीडे मकोडे ऐसे होते हैं, कि उनके हमारे दिन में कई बार जन्म हो जाते हैं। उनके लिये हमारा एक दिन कल्प के समान है। हमारा एक वर्ष ३६० दिन का होता है, किन्तु देवताओं का वह एक दिन ही होता है। देवताओं के ऐसे ही ३६० दिनों का एक वर्ष होता है। जिसे दिव्यवर्ष कहते हैं। अर्थात् हमारे ३६० वर्ष और उनका एक वर्ष बराबर है दिव्यवर्षों से ४८०० वर्ष का सत्ययुग ३६०० वर्ष त्रेता २४०० वर्ष का द्वापर युग और १२०० वर्ष का कलियुग होता है। इनमें ३६० वर्ष का गुणा कर देने से मनुष्यों के वर्ष हो जाते हैं। चारों युग एक बार बीत जाते हैं तो उसे एक चौकडी कहते हैं। ऐसी ऐसी सहस्र चौकडियाँ जब बीत जाती हैं, तो ब्रह्मा जी का एक दिन उतनी ही उनकी रात्रि। सोकर ब्रह्माजी उठते हैं और पुनः सृष्टि पसारा फैलाते हैं, तो जब उस दुकान को फिर जमाते हैं उस काल को कल्प के आदि का सत्ययुग कहते हैं। सभी सत्व गुण प्रधान, दिव्यगुणों से सयुक्त पूर्णता को प्राप्त पुरुष होते हैं। धर्म अधर्म तो साथ ही रहते हैं। दोनों भगवान् के पुत्र हैं। सत्य-युग में अधर्म अव्यक्त रूप से छिपा रहता है। शनैः शनैः वह पैर फैलाने लगता है, ज्यों ज्यों वह अपना प्रभाव बढाता है त्यों त्यों धर्म की रक्षा के लिये नियम, उपनियम धारा अनुधारायें बनायी जाती हैं, लोगों को धर्म के नियमों से जकडा जाता है। फिर वर्णाश्रम धर्म बनाये जाते हैं। बनाये क्या जाते हैं स्मरण किये जाते हैं वैसे तो वे नित्य हैं ही।

जब लोग गडबड करने लगे, तो सब लोग मनुजी के पास गये उन्हें राजा बनाया। शतरूपा उनकी रानी हुई। उनसे सूर्यवश और चन्द्रवश दो शाखायें चलीं। इन वशों को आरभ हुए पौराणिक गणना से अट्ठाईस चौकडियाँ बीत गयीं। यह अट्ठाईसवाँ कलियुग है कलियुग यह नया ही नहीं आया है इस कल्प मे २७ बार बीत चुका है अब अट्ठाईसवीं बार फिर आया है। हाँ इतना अवश्य है कि जैसे पहिले सत्ययुग में जितना धर्म था उतना दूसरे सत्ययुग मे नहीं कुछ सत्यता न्यून हो गयी। इसी लिये प्रथम को छोड़कर सभी सत्ययुगों में वर्णाश्रम धर्म रहता है। इसी प्रकार जितने कलियुग बीतते जाते हैं उतना अधर्म अधिक होता जाता है। प्रत्येक कलियुग के पश्चात् जब सत्य युग आता है तब प्रलय नहीं होती। प्रलय तो तभी होती है जब ब्रह्माजी का एक दिन हो जाता है। अर्थात् चारों युग सहस्र बार बीत जाते हैं। जब ब्रह्माजी की आयु पूरी हो जाती है तब महाप्रलय होती है। फिर दूसरे ब्रह्मा आते हैं। ऐसा प्रवाह अनादि काल से चल रहा है। अनन्तकाल तक चलता रहेगा। कलियुग आने पर देवता प्रथिवी पर सशरीर सबके सम्मुख नहीं आते। मनु. मनुपुत्र प्रजापति और सप्तर्षि भूमि छोडकर महर्लोक में चले जाते हैं। शौनकादि ऊर्ध्वरेता मुनिगण जनलोक में चले जाते हैं। जैसे बड़े आदमी गरमियों में शीतल स्थान पहाड आदि चले जाते हैं। गरमी समाप्त होने पर फिर लौट आते हैं।

एक मन्वन्तर तक एक मनु के वश का ही राज्य रहता है। द्वापर के अन्त मे कुल की बीज रक्षा के लिये सूर्य और चन्द्रवश का एक एक राजा तब रह जाता है, जब उस वश की शुद्धता में सदेह होने लगता है जो वश का पुरुष शेष रह जाता है, वहीं तक उनमें ईश्वराश रहता है, उसके पीछे के राजा अल्पवीय होते हैं। जैसे मनुवश के राजा लाखा वर्ष राज्य करते थे। कई कई

युगों तक उनका राज्य चलता था। पीछे यह स्थिति नहीं रहती। राजा साधारण पुरुषों की भाँति हो जाते हैं और उनकी परमायु नहीं रहती। यह उस समय होता है जब द्वापर और कलि की सन्धि होती है। द्वापर का सन्ध्यांश हो और कलियुग की सन्धि हो उस बीच मे ऐसा होता है। ऐसा होने पर भी कुछ काल तक वंश चलता ही रहता है।

जैसे भगवान् रामचन्द्रजी का अवतार त्रेता और द्वापर की सन्धि में हुआ। त्रेता समाप्त होकर अपने सन्ध्याश में पदार्पण करने वाला था और वह सन्ध्याश द्वापर की सन्धिकाल में मिलने को उत्सुक था। सन्धि और सन्ध्यांश को समझ लेना चाहिये। जैसे सत्ययुग देवताओं के वर्ष से चार सहस्र वर्ष का होता है। उसके आदि मे चार सौ वर्ष और अन्त में चार सौ वर्ष सन्धि सन्ध्यांश के होते हैं। आदि को कहते हैं सन्धि अन्त को कहते हैं सन्ध्याश जैसे सत्युग लगने से पहिले चार सौ वप तो सत्य-युग की सन्धि के हैं। और अतिम चार सौ वर्ष सन्ध्यांश के हैं। फिर तीन सौ वर्ष त्रेता की सन्धि में आ गये तब त्रेता लगा। इस प्रकार सत्ययुग और त्रेता दोनों युगों के बीच में सात सौ वर्ष सन्धि सन्ध्याश के हुए। इस समय में त्रेता और द्वापर दोना के मिलेजुले धर्म रहत हैं। जैसे आषाढ, श्रावण भादौं और चार महीना वर्षा के कार्तिक, अगहन, पौष और माघ चार महीने जाडे के फगुन, चैत्र, वैशाख और ज्येष्ठ ये चार महीना गरमी के होते हैं। यद्यपि इन चार महीनों की गणना वर्षा, जाडा और गरमी इन ऋतुओं मे होती है, किन्तु जाडा और गरमी की तथा गरमी और जाडे की जब सन्धि होती है तब उनमें मिली जुली ऋतु रहती है। जैसे श्रावण भादौं दो महीने तो वर्षा होती है। यद्यपि क्वार की गणना वर्षा मे है और कातिक की गणना जाडों में है, किन्तु क्वार और कार्तिक इनमें मिली जुली ऋतु रहती है-

कभी तनिक मनिक वर्षा भी हो जाती है कुछ कुछ गुलाबी सा जाड़ा भी आरम्भ हो जाता है। अगहन और पौष दो महीने जाड़ा पड़ता है। फिर यद्यपि माघ की गणना जाड़ों में है और फाल्गुन की गरमी में, किन्तु इन दोनों में दोनों ऋतु मिली जुली रहती हैं। जाड़ा कम होने लगता है गरमी कुछ कुछ आरम्भ होती है। इसी प्रकार गरमी समाप्त होने और वर्षा आरम्भ होने के बीच में जो ज्येष्ठ आषाढ़ महीने हैं, उनमें कभी कभी वर्षा हो जाती है गरमी तो रहती है। इसी प्रकार दो युगों के बीच बीच में सन्धि और सन्ध्यांश काल में ही होते हैं।

जब द्वापर समाप्त होने को होता है और कलियुग की सन्धि का समय होता है तभी अधर्म अपने पैर फैलाने लगता है। यद्यपि धर्म रहता है फिर भी कलियुग के प्रभाव से रजवीर्य में दोष आने लगता है तब शुद्ध कुल का एक पुरुष योग समाधि लगाकर गुप्तरूप से पृथिवी पर ही किसी गिरि कन्दरा में बैठ जाता है। उसे साधारण लोग देख नहीं सकते। वह तब तक बैठा रहता है जब तक कलियुग समाप्त नहीं हो जाता। कलियुग समाप्त हो जाने पर जब तक कलियुग का सन्ध्यांश बीतकर सत्युग की सधि का समय आता है, तब वह पुरुष जाकर शुद्ध वंश में अपना विवाह करके फिर अपने वंश की परम्परा को चालू करता है। जैसे त्रेता के अंत में भगवान् रामचन्द्र जी का अवतार हुआ। उनके स्वधाम गमन के अनन्तर उनके पुत्र लवकुश का वंश चला। कुश से लेकर शाग्र तक बीस राजा सूर्यवंशी हुए। मरुका पुत्र हुआ प्रश्रुत। मरु के राज्य से ही अधर्म पैर फैलाने लगा। महाराज मरु कलि और द्वापर की सधि में हुए। उन्होंने जब देखा अब हमारी आगे की सन्तानें अल्पायु होंगी और उनमें हमारे वे गुण न रह जायँगे, तो वे योग समाधि में चले गये और पौराणिकों का ऐसा विश्वास है, कि वे बद्रीनाथसे

ऊपर किसी गुप्त गुफा में अलक्षित भाव से समाधिस्थ हैं, जब कलियुग समाप्त हो जायगा, तो वे फिर सूर्यवंश की स्थापना करेंगे। उनके पुत्रों के जो अब तक के वंशज हैं उनकी गणना फिर न होगी उस सत्ययुग में परम्परा मरु से ही चलेगी। मरु के पश्चात महाराज बृहद्बल महाभारत के युद्ध में थे उनका वध अभिमन्यु ने किया। उनके मरने के पश्चात् उनका पुत्र बृहद् रण सूर्यवंश के सिंहासन पर बैठा महाभारत के पश्चात् इस वंश के तीस राजा और हुए। इस वंश में सुरथ अन्तिम राजा हुआ सुरथ पर जाकर सूर्यवंश की अविच्छिन्न धारा समाप्त हो जायगी। फिर उस सिंहासन पर सूर्यवंशी राजा न बैठकर कोई अन्यवंश क्षत्रिय राजा हो जायगा। वह कहेगा तो अपने को क्षत्रिय ही किंतु वह छात्रबंधु होगा नाम मात्र का क्षत्रिय हो जायगा। क्षत्रियों में सांकर्य दोष आ जायगा। परम्परागत विशुद्धि नष्ट हो जायगी। सूर्यवंशी क्षत्रिय तो नाम मात्र को रहेंगे ही किन्तु उनकी विशुद्ध परम्परा छिन्न भिन्न हो जायगी। सूर्यवंश के क्षत्रिय तो बहुत हैं। जैसे भगवान् के दो पुत्र थे कुश और लव। सुरथ तक कुश की ही परम्परा का वर्णन किया। लव को राजर्षि पद नहीं प्राप्त हुआ। वे केवल क्षत्रिय राजा ही हुए उनके वंशज सब सूर्य-वंशी क्षत्रिय ही हुए। इसलिये सूर्यवंश की शुद्ध परम्परा सुरथ तक ही मानी जाती है।

इसी प्रकार चन्द्रवंश में महाराज ययाति ने नियम विरुद्ध कार्य किया। उन्होंने क्षत्रिय होकर ब्राह्मण कन्या से विवाह किया। वृष पर्वा क्षत्रिय असुर था। उसकी पुत्री शर्मिष्ठा के छोटे पुत्र पुरु को पिता का राज्य मिला। शेष तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनु ये म्लेच्छ देशों के राजा हुए क्षत्रियों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा यदु रहे तो भारतवर्ष में ही किन्तु इनकी गणना शुद्ध क्षत्रियों में नहीं थी। महाराज पुरु की परम्परा में द्वापर और

कलि की सन्धि मे महाराज प्रतीप हुए। प्रतीप के तीन पुत्र हुए देवापि, शन्तनु और वाह्लीक। नियमानुसार देवापि को राजर्षि पद प्राप्त होना चाहिये था, किन्तु अधर्म का प्रसार हो चुका था। देवपि तपस्या करने चले गये। शन्तनु नियम विरुद्ध राजा हो गये। फिर उन्होंने ब्राह्मणों से मिलकर छलबल से अपने को राज्याधिकारी सिद्ध कर दिया, किन्तु यह सब हुआ छल से ही। इसलिये चन्द्रवंश मे विशुद्ध वंश देवापि तक ही सुनते हैं देवापि अब तक तपस्या कर रहे हैं, वे सत्ययुग के आरम्भ में फिर चन्द्रवंश की परम्परा को चलावेंगे। महाराज शन्तनु ने नियम विरुद्ध धीवर की कन्या से विवाह किया। उसे उपपत्नी मान लेते तो कोई दोष भी नहीं था। राजा की ब्राह्मण को छोड़कर सभी जातियों की उपपत्नियाँ हो सकती हैं, किन्तु पत्नीत्व क्षत्रियवंश की नियमानुसार विवाहिता पत्नी को ही प्राप्त होगा। यदि क्षत्रिय कन्या से बिना विवाह किये किसी दूसरे जाति की स्त्री से राजा विवाह कर लेता है, तो वह पतित हो जाता है। उनकी प्रथम पत्नी गङ्गा जी क गर्भ से उनके देवव्रत (भीष्म) पुत्र थे, तो सत्यवती को पत्नीत्व प्राप्त नहीं होना चाहिये था। उसे उपपत्नी ही रहना चाहिये था, किन्तु मल्लाह की हठ से राजा की कामुकता से तथा कुमार देवव्रत की उदारता से सत्यवती को पत्नीत्व प्राप्त हुआ। उसके गर्भ से जो पुत्र हुए वे वीरता से हीन रोगी और अल्पवीर्य हुए। राजक्ष्मारोग पाप से ही होता है, सत्यवती का पुत्र विचित्रवीर्य राजक्ष्मा से ही मर गया। अब पुरुवंश के नष्ट होने का समय आ गया। भीष्म विवाह न करने के लिये वचन बद्ध थे, उन्होंने किसी भी दशा अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग न की। तब नियोग का आश्रय लिया गया। भगवान व्यास ने उन विधवा क्षत्राणियों मे सन्तति उत्पन्न की। भगवान् वेदव्यास ऋषि थे। ऋषि संकल्प सिद्ध होते हैं। अतः उन्होंने शन्तनु वश की रक्षा के

संकल्प से पुत्र उत्पन्न किये अतः वे उसी कुल के कहाये। पीछे महाराज पांडु की पत्नी कुन्तीजी का सम्बन्ध देवताओं से हो गया। देवता और ऋषि ये मनुष्यों के लिये आलोच्य होते ही नहीं अतः पांडु के पुत्र पाँचो पांडव विशुद्ध क्षत्रिय माने गये और धर्मराज उस परम्परा मे परम विशुद्ध समझे गये महाभारत के पश्चात् महाराज परीक्षित् चन्द्रवंश के सिंहासन पर बैठे। इनके अनन्तर छटे राजा नेमिचक्र हुए। इनके समय में गङ्गा में बाढ आई। हस्तिनापुर डूब गया। उसे छोड़कर ये प्रयाग के पास यमुना जी के किनारे अपनी नई राजधानी कौशाम्बी बनाकर रहने लगे। इनके अनंतर इक्कीसवें राजा क्षेमक हुए। इनका वंश नहीं चला। चन्द्रवंश की परम्परा लुप्त हो गयी। अब इधर उधर देशों मे जाकर अन्य चन्द्रवंशी राजाओं ने अपने राज्य बनाये किन्तु परम्परा लुप्त हो गयी। हाँ मगध मे क्षत्रिय राजाओं की परम्परा बहुत दिन तक चलती रही। बौद्ध काल तक वे ही मगध के राजा विशुद्ध क्षत्रियवंश वाले माने जाते थे। बौद्धकाल में नन्दिवर्धन तक इनकी परम्परा शुद्ध रही फिर इस सिंहासन पर विकृतवंश वालों का अधिकार हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अयोध्या मे सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी थी और प्रतिष्ठानपुर (झूसी) फिर हस्तिनापुर तदनंतर कौशाम्बी चन्द्रवंशी राजाओं की राजधानी थी। अयोध्या में सुरथ अन्तिम सूर्यवंशी राजा होकर वह परम्परा समाप्त हो गयी और कौशाम्बी मे क्षेमक के अनन्तर चन्द्रवंश की परम्परा

समाप्त हो गयी। पीछे सब क्षत्रियों ने मिलकर एक यज्ञ किया जिसमें एक राजपूत क्षत्रिय जाति हुई। उसमें परम्परा के अतिरिक्त चन्द्रवंशी सूर्यवंशी क्षत्रिय तो थे ही एक अग्निवंशी क्षत्रिय भी सम्मिलित हो गये। इनमें देशी विदेशी सभी प्रकार के क्षत्रिय थे। कलियुग में कुछ काल तक शुद्ध क्षत्रियों की परम्परा मगध में रही। कहना चाहिये मगध ही कुछ काल तक केन्द्र माना जाने लगा। जरासन्ध का पुत्र सहदेव मगध का राजा हुआ। इस वंश में पुरञ्जय (शत्रुञ्जय) अन्तिम राजा हुआ। इस पुरञ्जय का एक मन्त्री शुनक था। यह शुनक शुद्ध क्षत्रिय नहीं था। प्रायः मन्त्री वे ही लोग होते हैं जो क्षत्रियों की हीनवर्ण की रानियों से उत्पन्न होते हैं। यह शुनक भी किसी हीनवर्ण की क्षत्रिय उपपत्नी का पुत्र था। यह बड़ा कूटनीतिज्ञ था। पुरञ्जय अल्प वीर्य था, उसे उसके मन्त्री शुनक ने छल से मार डाला और अपने पुत्र प्रद्योत को मगधके सिंहासन पर बिठा दिया। महाराज बृहद्रथ का प्राचीन राज्यवंश नष्ट हो गया। अब इसके पश्चात् इस क्षत्रबन्धु शुनक का ही वंश चला।

प्रद्योत नियमानुसार राजा बन गया। अब उसका पुत्र पालक मगधेश्वर हुआ। पालक का पुत्र विशाखयूप हुआ और उसका पुत्र राजक हुआ। राजा का पुत्र नन्दिवर्धन हुआ। यह प्रतापी राजा था, किन्तु इस वंश का यह अन्तिम राजा था। शुनक के पुत्र प्रद्योत के वंश में पाँच ही हुए। ये सब अल्पवीर्य अल्पायु हुए। १३८ वर्ष में ही ये ५ राजा हो गये। अर्थात् एक राजा २५,

३० वर्ष से अधिक राज्य न कर सका। प्रद्योत के वंश के राज्यच्युत होने के अनन्तर शिशुनाग वंशीय राजाओं का राज्य चला।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यद्यपि ये लोग विशुद्ध वंश के नहीं थे, फिर भी इनका व्यवहार रीति नीति सब क्षत्रियों की ही थी। अब आगे शिशुनागवंशी राजाओं का मैं वर्णन करूँगा।

छप्पय

शुनक स्वामि निज मारि कर्यो प्रद्योत पुत्र नृप।
ताको पालक पुत्र भयो पुनि सो मगधाधिप॥
तासु विशाखायूप पुत्र राजक पुनि नरपति॥
राजक के विख्यात नन्दिवर्धन सुत भूपति॥
पाँच भये प्रद्योत के, वंशज नृप अवनीश।
भये नृपति ये सब बरष, एक शतक अडतीस॥

शिशुनाग आदि राजागण

(१३३६)

शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः ।
क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः ॥
विंधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति ।
दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः ॥

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० ५, ६ श्लो०)।

छप्पय

तदनन्तर शिशुनाग भये नृप काक वर्ण सुत ।
क्षेम धर्म सुत तासु तासु क्षत्रज्ञ प्रभा युत ॥
ताके सुत विधि सार बिम्बसारहु कहलावें ।
ताके पुत्र अजात शत्रु जासु पितु तक भय खावें ॥
जिनने कौशल नृपति तें, समर राज हित अति करयो ।
भयो व्याह कौशल सुता, तैं तातैं दर्भक भयो ॥

ज्यों ज्यों अधर्म बढता जाता है, त्यो त्यों लोगों की धर्म से आस्था हटकर सासारिक सुख भोगों की ओर इच्छा बढ़ती जाती है। सासारिक सुख और ऐश्वर्य कामिनी और कांचन ये माया

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! फिर शिशुनाग राजा होगा। उसका पुत्र काकवर्ण, काकवर्ण का क्षेमधर्मा तथा क्षेमधर्मा का पुत्र क्षेत्रज्ञ होगा। क्षेत्रज्ञ के विधिसार (बिम्बसार) उसका पुत्र अजातशत्रु और अजातशत्रु का पुत्र दर्भक राजा होगा।

के दो प्रतीक हैं। कामोपभोग के ये दो प्रधान साधन हैं। संसार इन्हीं के सहारे चल रहा है। विशुद्ध धर्म में इनके प्रति लोगों की आसक्ति होती नहीं। ज्यों ज्यों लोग इन्हें अपनाते जाते हैं। अपनी बनाते जाते हैं त्यों ही त्यों आसक्ति बढ़ती जाती है। ईश्वर कृत सृष्टि बन्धन कारक नहीं होती। प्रत्युत उसके द्वारा तो भगवान् का स्मरण होता है। जीव कृत सृष्टि से बन्धन होता है। उसमें अपनापन हो जाता है। जहाँ एक में अपनापन होता है तो दूसरे में परायापन होना स्वाभाविक ही है। शुद्धता में सृष्टि नहीं। माया के लेश से सृष्टि का आरंभ होता है। ज्यों ज्यों माया में छल कपट का प्राबल्य होता जाता है त्यों त्यों विषयों के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है और राग, द्वेष, हिंसा, क्रूरता, दम्भ तथा प्रपञ्च की वृद्धि होती जाती है।

सृष्टि के आदि में ब्रह्मपुत्र सनकादि उत्पन्न हुए। ब्रह्मा जी ने उन से सृष्टि बढ़ाने को कहा। उन्हें ऐसा लगा मानों कोई हमारे हृदय में बाण चुभो रहा है। किसी भी प्रकार वे सृष्टि के पचड़े में पड़ने को सहमत नहीं हुये। तब ब्रह्माजी ने पंच पर्वा अविद्या को उत्पन्न करके अपने देह के दो भाग किये एक से स्त्री हुई दूसरे से पुरुष। अर्थात् मिथुन हो गये। तब सृष्टि करने की इच्छा हुई। मनु और शतरूपा उत्पन्न हो गये। सृष्टि हुई। उनके ऊपर बल पूर्वक राज्य भार लादा गया। उनको राज्य की इच्छा नहीं थी। कर्तव्य समझ कर उन्होंने राज्य भार सम्हाला। उनके पुत्र उत्तान पाद हुए सुरुचि और सुनीति में मनोमालिन्य हुआ वह ऐश्वर्य जनित ईर्ष्या थी। लोभ नहीं था। सत्ययुग त्रेता में कर्तव्य भार की अपेक्षा ऐश्वर्य और सम्मान की इच्छा बलवती होती गयी। त्रेता के अन्त में तो राज्य के प्रति लोभ भी हो गया। भगवान् रामचन्द्र का वनवास लोभ का ही परिणाम है, किन्तु वह लोभ अकुलीनों में ही था। दासी कुबरी के मन में ही यह पाप उत्पन्न

हुआ और उसने छल प्रपञ्च से महारानी कैकेयी को वश में कर लिया, किन्तु भरतजी के मन मे राज्य का रंचक मात्र भी लोभ नहीं हुआ। चौदह वर्ष राज्य भोग कर भी उसे पुनः रामजी को ज्यों का त्यों लौटा दिया। उस समय राज्य के लिये लोभ का भी गणेश था द्वापर के अन्त में तो राज्य के लिये लोभ पूर्ण रीत्या होने लगा। कंस ने राज्य लोभ से ही पिता को बंदी बना लिया अपनी जाति के लोगों को निर्वासित कर दिया। महाभारत युद्ध राज्य लोभ के ही कारण हुआ। दुर्योधन अन्याय से राज्य देना नहीं चाहता था पाडव चाहते थे हम क्षत्रिय पुत्र होकर राज्य हीन होकर रहना अधर्म समझते हैं हम अपने पैतृक राज्य के अधिकारी हैं। इसी पर युद्ध हुआ। धर्म युद्ध होना बुरा नहीं है, किन्तु कलियुग के प्रभाव से महाभारत युद्ध में अधर्म भी बहुत हुआ। बहुत से कार्य धर्म विरुद्ध हुए। कलियुग आने पर तो राज्य के लिये हत्यायें भी होने लगीं। भाई भाई का राज्य के लिये अधर्म पूर्वक वध करने लगा। जब घोर कलियुग आ जायगा, तब दिन रात्रि राज्य के लिये हत्यायें होंगी। इसी लिये कलियुग मे कोई स्थाई राज्य वंश न रहेगा। जो अधिक धूर्त प्रपञ्चा होगा वही अधिकार कर लेगा, कोई उससे भी बड़ा धूर्त आ जायगा, वह उससे शासन की बागडोर छीन लेगा। लोग इसे उन्नति या धर्म समझेंगे यही भगवान् की माया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रद्योत वंशी पाँच ही राजा हुए। यह अधर्म का फल है कहाँ तो मनु से लेकर कलिकाल तक चन्द्र और सूर्य वंश अविच्छिन्न चले आ रहे थे, कहाँ ये दूसरों को मार कर राज्य लोलुप राजागण दो चार पीढ़ी में ही लुप्त हो जाने वाले पृथिवी के शासक हुये। घोर कलिकाल में दो चार वर्ष ही अथवा कुछ ही दिन राज्याधिकार पाकर ये स्वल्प पुण्य वाले कलियुगी शासकगण पदच्युत कर दिये जायँगे।

प्रद्योत वंशी राजाओं के अनन्तर शिशुनाग राजा हुए। नाग एक उपदेवों की जाति है। उपदेवों का मानवी क्षत्राणियों से सम्बन्ध होने पर एक नाग वंशी क्षत्रियों की जाति हुई। जैसे गन्धर्व और मनुष्यों के संसर्ग से एक गन्धर्व जाति हुई, जिनका शासन पंच नद प्रान्त पर था। कैकय देश के राजा का भी राज्य इन गन्धर्वों ने छीन लिया था। तब भरत जी ने इन गन्धर्वों को विजय करके अपने पुत्रों को राजा बनाया। इसी प्रकार नागवंशी राजाओं का भी माथुर मण्डल चम्पावती आदि पुरियों में राज्य था और उनमें बहुत प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजा भी हुए। शिशुनाग उन्हीं उन्हीं वीर क्षत्रियों में था। प्रद्योत नन्दि वर्धन को जीत कर शिशुनाग मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। काकवर्ण का पुत्र क्षेम धर्मा और क्षेमधर्मा का पुत्र क्षेत्रज्ञ हुआ। क्षेत्रज्ञ का पुत्र विधिसार हुआ जिसे बिम्बसार भी कहते हैं। यह बडा प्रतापी राजा हुआ। यह बौद्ध धर्म से प्रभावित था। इसकी दो रानियाँ थीं। एक तो वैशाल देश की राजकुमारी वैशाली और दूसरी कोशल-राज की पुत्री कोशला या वासवी थी। वासवी बड़ी रानी थी जो निस्संतान थी। वैशाली छोटी थी उसी के गर्भ से अजातशत्रु का जन्म हुआ।

अजातशत्रु बहुत बडा शूरवीर पराक्रमी सम्राट हुआ यह अपने पिता बिधिसार को अपदस्थ करके स्वयं सम्राट हुआ। अपने नाना से इसे काशी का राज्य मिला था और स्वयं यह मगध का राजा था ही। कोशल नरेश प्रसेनजित् से काशी प्रान्त के विषय में संघर्ष हुआ जिसमें अजातशत्रु को हारना पडा। पीछे प्रसेनजित् ने अपनी कन्या वाजिरा कुमारी का विवाह अजातशत्रु से कर दिया। तदनन्तर अजातशत्रु ने दिग्विजय की और उसने बहुत से राजाओं को अपने अधीन बना लिया। यह राजा देश विदेशों में बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसके पश्चात् बौद्ध धर्म की वृद्धि

हुई। गौतम बुद्ध तथा गत इसके समय में वर्तमान थे और भिन्न भिन्न स्थानों में भ्रमण करके उपदेश देते थे।

अजातशत्रु का पुत्र दर्भक हुआ। यह भी पिता के सदृश शूर वीर था। इसकी एक पुत्री पद्मावती का विवाह कौशाम्बी के राजा उदयन के साथ हुआ था। उदयन की बड़ी रानी अवन्ती नरेश की पुत्री वासवदत्ता थी, जो बड़ी प्रसिद्ध हुई। उन दिनों अङ्ग, मगध, काशी, कोशल, वृज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, सूरसेन, अश्वक, अवन्ति, गांधार और कांबोज आदि प्रसिद्ध राष्ट्र थे। इनमें से अधिकांश बौद्धधर्म से प्रभावित थे। मगध का सिंहासन उन दिनों सबसे श्रेष्ठ समझा जाता था। वैसे तो सभी राष्ट्र अपने को स्वतन्त्र मानते थे, किन्तु मगध के प्रति सब का सम्मान था उसे सभी श्रेष्ठ मानते थे, इसी लिये मैं इस राज्य की ही वंश परम्परा सुना रहा हूँ।

सम्राट अजात शत्रु के पुत्र दर्भक हुये। दर्भक के अजय और अजय के नन्दि वर्धन हुये। नन्दि वर्धन का पुत्र महानन्दि हुआ। महानन्दि तक यह वंश शुद्ध रहा। ये दस शिशुनाग वंशी राजा परम्परा से शुद्ध रक्तवीर्य के हुए। तीन सौ साठ वर्ष तक मगध के सिंहासन पर शिशुनाग वंशी राजाओं का आधिपत्य रहा। महानन्दि के पश्चात् इस वंश की विशुद्धता नष्ट हो गई।

राजाओं की बहुत रानियाँ होती थी। सबसे बड़ी पट्टरानी कहलाती थी, वह विशुद्ध राज्यवंश की होती थी, उसके अतिरिक्त जितनी रानियाँ होती थीं वे सब साधारण रानियाँ कहलाती थीं। ब्राह्मण वर्ण को छोड़कर सभी वर्ण की रानियाँ होती थी। पट्टरानी के गर्भ से जो पुत्र होता था वही युवराज कहलाता था। वही पिता के राज्य का अधिकारी माना जाता था। और रानियों से उत्पन्न कुमार भिन्न भिन्न जाति के होते थे। जैसे साधारण क्षत्रिय जाति की रानी से उत्पन्न पुत्र क्षत्रिय होता था। वैश्य जाति

की रानी से उत्पन्न क्षत्री या वैश्य और शूद्र जाति की रानी से उत्पन्न शूद्र प्रायः ही माना जाता था। महानन्दि की एक शूद्रा जाति की रानी थी। उसके गर्भ से नन्द नामक एक पुत्र हुआ। महानन्दि की पट्टरानी से कोई पुत्र नहीं था। जो राज्य का अधिकारी हो सके। यह शूद्रा से उत्पन्न नन्द बड़ा ही बुद्धिमान था। यह वृषल होकर भी मगध के सिंहासन पर बैठ गया। इसके पास विपुल धन था। कहते हैं महापद्म की जो संख्या है इतना धन इसके पास था। शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण यह शुद्ध क्षत्रियों से द्वेष करता था और क्रोधी भी था। सभी राजा इसकी आज्ञा मानते थे, इसकी आज्ञा का उल्लङ्घन देशी विदेशी कोई भी राजा नहीं करता था। इस नन्द के आठ पुत्र हुए। अब निश्चय यह हुआ कि हम आठों भाई क्रम से राजा हों। जैसे प्राचीन प्रथा थी, कि राजा का बड़ा पुत्र ही राज्याधिकारी माना जाय, इस प्रथा को इन्होंने उड़ा दिया और सभी राज्यपुत्र राज्य के अधिकारी माने जाने लगे। आठ नन्द तो ये सुमाल्य आदि थे और एक इनका पिता नन्द इस प्रकार ये नव नन्द कहाये। लग भग एक सौ वर्ष इन नवो नन्दो का राज्य रहा। तदनन्तर मौर्य वंश का राज्य हो गया। नन्द वंश का नाश एक क्रुद्ध ब्राह्मण ने कर दिया और उसी ने चन्द्रगुप्त मौर्य को राजा बना दिया।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! वह ब्राह्मण कौन था? नन्दवंश पर वह ब्राह्मण कुपित क्यों हुआ? उसने किस प्रकार नन्द वंश का नाश किया और चन्द्रगुप्त मौर्य को उसने राजा कैसे बनाया? कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—'भगवन्! ये जो कलियुगी मनुष्य हैं, वे इतिहास का अर्थ यही समझते हैं, कि जो राजा हो गये हैं, उनकी अच्छी बुरी सभी घटनाओं का उल्लेख कर देना। उनके मत में इतिहास का इतना ही उद्देश्य है। अमुक राजा किस

सम्वत् सर मे उत्पन्न हुआ, किस सम्वत् में सिंहासनारूढ़ हुआ, किस से लड़ा किसने उस पर चढ़ाई की आदि आदि। किन्तु पौराणिकों का उद्देश्य है कौन सा राजा कितना धार्मिक हुआ। धर्म मर्यादा का उसने कितना पालन किया। द्वापर तक के राजा धर्मात्मा होते थे, इसलिये उनकी कथायें मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने विस्तार से सुनायीं। अब ये कलियुगी राजा तो शूद्र प्रायः हो गये हैं। इनमे शुद्ध क्षत्रिय रज वीर्य का अभाव हो गया है। ये सब काम वासना से उत्पन्न होने के कारण कामी और लोभी हो गये हैं। नन्द वश शुद्ध क्षत्रिय वंश नहीं था। उसका नाश एक अत्यंत क्रोधी कूट नीतिज्ञ नीति निपुण क्रूर ब्राह्मण ने छल बल से कराया। इसका वर्णन पौराणिक पद्धति के अन्तर्गत नहीं है। क्रम जोडने को मेरे गुरुदेव ने इस घटना का उल्लेख मात्र कर दिया है। फिर भी आपने प्रश्न किया ही है, तो मैं इस कलियुगी चरित्र को अत्यंत ही संक्षेप में सुनाता हूँ। आपके प्रश्नों का उत्तर देता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

दर्भक के सुत अजय नन्दि वर्धन सुत ताके।
महानन्दि तिन भयो शुद्ध नहिँ सुत पुनि ग्वाके॥
है अन्तिम शिशुनाग वश को महानन्दि नृप।
वरष तीन सौ साठ राज्य कीयो सबइनि नृप॥

शूद्रा तैं उतपन्न इक, महानन्दि को सुत बली।
महापद्म धन को अधिप, नन्द परम भूपति छली॥

—:०:—

नन्द वंश विनाश

(१३३७)

नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति ।
तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० १ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

महा पद्म नृप नन्द क्षत्र कुल को संहारक ।
शूर बीर अति बली सकल पृथिवी को पालक ॥
भये तासु सुत आठ कहाये नव नन्दहु सब ।
अति व्यभिचारी वृषल, विप्र प्रकटयो क्रोधा तब ।
परम कुटिल कौटिल्यमुनि, को आदर तिनि नहिं कियो ।
युक्ति सहित तिनि नन्द को, नाश राज्य कुल करि दियो ॥

जैसा लक्ष्य होगा वैसा साधन भी होगा हमारा लक्ष्य संसारी है, तो हमें संसार की भाँति वर्तना होगा और हमारा लक्ष्य परमार्थ है, तो फिर संसार को भुलाना ही पड़ेगा। जिनकी दृष्टि में धन, ऐश्वर्य, प्रभुता तथा सांसारी वस्तुओं का मूल्य है, उन्हें उन वस्तुओं

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! तदनन्तर नव नन्दों को जो कि प्रसन्न हैं उन्हें कोई ब्राह्मण समूल नष्ट कर देगा। उनके अभाव में कलियुग में मौर्य वंशी नृपति गण इस पृथिवी का उपभोग करेंगे।"

को प्राप्त करने के लिये उन्हीं सब उपायों को करना होगा, जिन उपायों से वे प्राप्त होती हैं। अन्तर इतना है, जो निकृष्ट स्वार्थ वश इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये हिंसा तथा अन्यान्य कुटिलतायें करते हैं, वे निन्द्य समझे जाते हैं, किन्तु जो परोपकार भावना से त्याग का आश्रय लेकर इन्हें करते हैं वे स्तुत्य माने जाते हैं, जो निजी स्वार्थ वश बल पूर्वक दूसरों का धन छीन लेते हैं वे चोर डाकू कहलाते हैं, किन्तु राजा राजसूय अश्वमेधादि यज्ञों के निमित्त जो धन छीनते हैं उसकी प्रशंसा ही की जाती है। जिसकी दृष्टि में देह ही सब कुछ है उन्हें सम्मान से सुखी और अपमान से दुखी होना ही पड़ेगा, किन्तु जिनकी दृष्टि में देह नाशवान् और क्षण भंगुर है जो सदा आत्मा में ही रमण करते हैं, उनके लिये मान अपमान दोनों बराबर है। आत्मा तो सब से अधिक सम्माननीय है उसका सम्मान कोई कर ही क्या सकता है उसके अतिरिक्त कोई है ही नहीं, फिर उसका अपमान करेगा ही कौन ?" इसलिये परमज्ञानी मान अपमान दोनों में सम रहते हैं।

एक व्यक्ति का किसी ने अत्यधिक अपमान किया वह एक महात्मा के समीप गया और बोला—'भगवन्! अपमान से बढ़कर क्षोभ करने वाला दूसरा कोई व्यापार नहीं। अमुक ने मेरा घोर अपमान किया है इससे मुझे बड़ा क्लेश हो रहा है, कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे अपमान होने पर भी क्लेश न हो ?"

यह सुनकर महात्मा बड़े हंसे और हँसते हुए बोले—'देखो, एक मोरी है, उसके नीचे गंदे पानी का कुंड है। गृहस्थी उसी में से मल मूत्र बहाता है वह आकर उस कुंड में जमा हो जाता है। तुम उस कुन्ड में बैठ जाओ, और आशा करो कि मेरे ऊपर गंदा पानी न गिरे और दुर्गन्ध न आवे तो यह हो सकता है ?"।

जिज्ञासु ने पूछा—"इसका अभिप्राय क्या हुआ।"

महात्मा बोले—"अभिप्राय यही हुआ कि यह शरीर मल मूत्र का थैला है। इसमें तुम राग करोगे तो मान अपमान दोनों ही होंगे। शरीर में ममता रहे और मान अपमान का अनुभव न हो यह असंभव है। तुम आत्मा में रमण करो शरीर के मान अपमान की ओर ध्यान ही मत दो। तुम्हें कभी भी क्लेश न होगा। यह तो अध्यात्मवाद हुआ। किन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कोई व्यक्ति बहुतों का अपमान करता है दूसरों को क्लेश देता है, तो परोपकार भावना से जैसे हो तैसे उसका अन्त करा देना चाहिये। यदि उसके अन्त कराने में अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं, तो वह कार्य गर्हित नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत नीतिज्ञ लोग उसकी प्रशंसा ही करेंगे।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! मैंने आपको शिशुनाग वंशीय राजाओं का चरित्र सुनाया। अब मैं नवनंदों के राज्य और उनके विनाश की कथा सुनाता हूँ। महानन्दि की शूद्रा रानी के गर्भ से उत्पन्न महापद्म नंद मगध के सिंहासन का अधीश्वर हुआ उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र राजकाज में पूर्ण सहयोग देते थे और वे सब के सब अपने को राज्य का अधिकारी मानते थे। महापद्म नंद वैसे बुद्धिमान तो बड़ा था, किन्तु साथ ही साथ वह क्रोधी भी था। क्रोध को समस्त पापों का मूल बताया है। क्रोधी का कोई साथी नहीं होता उसके सगे सम्बन्धी भी समय पड़ने पर उसके शत्रु बन जाते हैं। महापद्म नंद के दो मंत्री थे। एक का नाम था शकटारक दूसरे का नाम था राक्षस। शकटारक लेखक वर्ण का शूद्र था और राक्षस ब्राह्मण था। शकटारक बड़ा ही कूट नीतिज्ञ तथा बुद्धिमान था। वह राजा का अत्यन्त प्रिय तथा विश्वास पात्र था। नंद राजा क्रोधी स्वभाव का तो था ही किसी बात पर वह शकटार से अप्रसन्न हो गया। तुरन्त उसने शकटारक मंत्री को बन्दी बना लिया। एक भीषण कारागार में उसे बन्द कर दिया।

उसके परिवार भर के लिये उसे केवल दिन भर मे दो सेर सत्तू दिये जाते थे और कुछ भी नहीं दिया जाता था। इस घोर अपमान से शकटार का हृदय जल भुन कर राख हो गया था। कहाँ तो वह एक साम्राज्य का सर्वेसर्वा था कहाँ आज वह परिवार सहित कारावास की कठिन यन्त्रणाओं को सह रहा था। वह भी किसी अपराध के कारण नहीं। केवल नद की हाँ उसने नहीं मिलायी थी। इन्हीं सब कारणों से वह नद वश से चिढ गया। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की, कि मैं अपने जीवन में नद वश का नाश करके ही सुख की सास लूँगा।

जब उसके सम्मुख नित्य दो सेर सूखे सत्तू आते तो उसका क्रोध का ठिकाना नहीं रहता। वह सत्तुओं के पात्र को लेकर अपने परिवार के लोगों के समीप जाता और कहता—'जो एक भी नद का नाश कर सकता हो वही इन सत्तुओं को खाय।" यह सुन कर कोई भी उन सत्तुओं को नहीं खाता था। स्वय उसे विश्वास था कि मैं नद वश का विनाश कर सकूँगा, इसलिये प्राण रक्षा के लिये स्वय वह कुछ सत्तू खा लेता। उसके परिवार के जितने लोग थे वे बिना खाये शनै शनैः सब के सब मर गये। इससे शकटार को दुख तो बडा किन्तु प्रतिशोध की प्रचड भावना के आवेश मे उसने ये परिवार के विनाश तथा कारवास के समस्त दुखों को बडे धैर्य के साथ सहन किया। वह रात्रि दिन वश के विनाश की बात ही सोचता रहता। किसी प्रकार यदि मैं कारावास से निकल जाऊ तो अनेक युक्तियों द्वारा इस नद वश का अन्त कर दूँ। उसी समय भाग्यवश एक ऐसी विलक्षण घटना घटित हुई कि उसका मनोरथ सिद्ध हो गया।

एक दिन राजा नद अन्त पुर में बैठ कर कुल्ला कर रहे थे। एक विचक्षणा नाम की दासी जो राजा के मुँह लगी थी, वह उन्हे पानी दे रही थी राजा कुल्ला करते जाते थे और मुसकराते जाते

कुल्ला करके हाथ पैर धोकर वे भीतर जाने लगे कुछ बात स्मरण आने से वे हँस पड़े। राजा को हँसते देख कर वह मुँह लगी दासी भी हंस पड़ी। राजा भक्की स्वभाव का तो था ही साथ ही क्रोधी भी था। दासी के हँसने पर उसने अपना अपमान अनुभव किया। उसने डाँट कर पूछा"तू क्यों हँसी।

दासी तो मुँह लगी थी ही, उसने समझा महाराज मुझ से विनोद कर रहे हैं, इस लिये तत्काल उत्तर दिया—"जिस बात पर महाराज हँसे उसी बात पर मैं हँसी।"

इस पर राजा को और भी क्रोध आ गया। उसने पूछा—"अच्छा, बता मैं किस बात पर हँसा ?"

राजा की आकृति को देखकर और उसके ऐसे प्रश्न को सुन कर दासी की तो सिटिल्ली भूल गयी। अब वह समझ गयी, मुझसे धृष्टता बन गई राजा इस समय क्रोध में हैं। इस समय मैंने कुछ अट संट उत्तर दिया तो राजा की क्रोधाग्नि और बढेगी और यदि मैंने कुछ भी उत्तर न दिया तो राजा तुरन्त मरवा डालेगा, इस लिये जैसे हो तैसे इस समय को टालना चाहिये।" यही सोचकर उसने हाथ जोड कर मुख मे तृण दबा कर कहा—"अन्नदाता ! मुझे इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये एक महीने का अवकाश मिलना चाहिये।"

राजा तो झोंक में था ही, उसने तुरन्त कहा—"अच्छा, जा एक महीने का समय मैंने दिया यदि एक महीने में तू ठीक ठीक उत्तर न दे सकी, तो तेरा सिर धड से पृथक करा दिया जायगा।"

यह कह कर राजा अन्तःपुर मे चला गया, दासी को तो मानों पाला स मार गया हो। वह ज्यों की त्यों ही खडी रही। उसे सम्पूर्ण संसार सूना ही सूना प्रतीत होता था। जैसे तैसे वह अपने वासस्थान मे गयी। उसका समय कटना भारी हो गया, ज्यों ज्यों दिन बीतते त्यों त्यों उसे अपनी मृत्यु निकट निकट

दिखायी देती थी। उसे भोजन पान कुछ भी नहीं सुहाता था, वह चिन्ता के मारे घुली जाती थी। जब नियत अवधि में कुछ ही दिन अवशेष रह गये, तब सहसा उसे एक उपाय सूझा। उसने सोचा—"महा मंत्री शकटार बड़ा बुद्धिमान है। वह बृहस्पति के सदृश नीतिज्ञ है, आज कल वह कारावास में बन्द है, क्यों नहीं उसी से चल कर यह बात पूछूं। वह अवश्य ही अपनी बुद्धि से मेरी भावी विपत्ति को टाल देगा।" ऐसा विचार आते ही उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह कुछ भोजन की सुन्दर सामग्री लेकर शकटार के समीप गयी। सेवक सभी जानते थे विचक्षणा राजा की कृपा पात्री है अतः उसे मंत्री के समीप जाने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं हुई।

राजा की प्रिय दासीकी ऐसी दशा देखकर शकटार ने उसका कारण पूछा। दासी ने रो रो कर अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया और कहा—"आप ही मेरी इस विपत्ति से रक्षा कर सकते हैं अब मेरा मृत्यु में कुछ ही दिन शेष हैं।"

शकटार ने पूछा—"जब राजा हँसे थे उसके पूर्व कौन काम करते थे।"

दासी ने कहा—"उसके पूर्व क्या करके आये थे यह तो मैं जानती नहीं, किन्तु वे बार बार कुल्ला करते जाते थे और मुसकराते जाते थे।"

मंत्री ने पूछा—"कुल्ला के पानी को वे कहाँ गिराते थे।"

दासी ने कहा—"एक ऊँचा सा पत्थर था उसी पर वे बार बार कुल्ला कर रहे थे।"

यह सुन कर प्रसन्नता प्रकट करते हुए शकटार ने कहा—"मैं राजा के हँसने का कारण समझ गया।"

दासी ने अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ पूछा—"क्या समझ गये महात्य!"

शकटार बोला—"राजा जब कुल्ला कर रहे थे और कुल्ला का पानी उस पत्थर पर गिर रहा था तो उससे अत्यन्त छोटे छोटे बिन्दु उड उड कर इधर उधर गिर रहे थे। उन अत्यन्त छोटे छोटे बिन्दुओं को देखकर राजा को बट के छोटे छोटे बीजों की याद आ गयी होगी और उसे भी ध्यान आया होगा, कि इतने छोटे छोटे से बट बीज मे कितना विशाल वृक्ष छिपा रहता है, पृथिवी पर पडते ही उचित अवसर पाकर जल पडने से वही बीज विशाल वृक्ष के रूप मे परिणत हो जाता है। जब ये छोटे छोटे बिन्दु भूमि मे पडते ही विलीन हो जाते होंगे तो राजा उनकी नश्वरता को स्मरण करके हँस रहा होगा।"

यह सुन कर दासी को कुछ धैर्य हुआ। उसने हाथ जोड कर कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"मन्त्री जी! यदि आपका अनुमान सत्य निकला और मेरे प्राणों की रक्षा हो गयी, तो मैं जीवन भर आपकी दासी बनी रहूँगी और शक्ति भर आपको कारावास से छुडाने का प्रयत्न करूँगी।" यह कह कर और महामन्त्री को प्रणाम करके विचक्षणा चली गयी।

एक दिन राजा के सम्मुख वह दासी पड गयी राजा ने उसे बुला कर पूछा—"तैंने मेरे प्रश्न का उत्तर दिया नहीं?"

यह सुनकर दासी ने भय से काँपते काँपते वही उत्तर दिया जिसे शकटार ने बताया था। इस उत्तर को सुनकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। बात यथार्थ मे यही था। राजा यही सब सोच कर हँस रहे थे। राजा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छा, तू सच सच बता तुझे यह उत्तर बताया किसने?"

इस पर विचक्षणा ने हाथ जोड कर कहा—"यदि दासी का अपराध क्षमा हो तो मैं बताऊँ।"

राजा तो प्रसन्न ही था, उसने कहा—"तेरे सब अपराध क्षमा है, तू मुझे सत्य सत्य बात बता दे।"

दासी ने कहा—"अन्नदाता ! मुझे महामात्य शकटार ने यह यह सब बतायी थी।"

इतना सुनते ही राजा को बड़ा हर्ष हुआ साथ ही अपनी करनी पर दुःख भी हुआ। उसने सोचा—"इतने बुद्धिमान मंत्री को मैंने इतना कठिन दंड देकर अनुचित किया। वह बड़ा ही बुद्धिमान और कार्य दक्ष है।"

अब तो दासी को अवसर मिल गया और उसने विनीत भाव से शकटार को मुक्त करने की प्रार्थना की। राजाओं का चित्त ही जो ठहरा। तुरन्त राजा ने शकटार को कारावास से मुक्त करने की आज्ञा दी। यही नहीं उसे राक्षस के नीचे मन्त्री भी बना दिया। यद्यपि यह शकटार का घोर अपमान था। प्रधान मंत्री से उसे उपमन्त्री बनाया गया, किन्तु नंद वंश के विनाश की प्रतिज्ञा का पूर्ण करने की इच्छा से उसने कारावास की ही भाँति इस अपमान को भी सहर्ष सह लिया और वह उपमंत्री बन कर नंद वंश को नाश करने के उपाय सोचने लगा। उन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गयी कि शकटार को अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने का एक सहज साधन मिल गया।

शकटार एक दिन घोड़े पर चढ़ कर जंगल में जा रहा था। वहाँ उसे वन में एक काला कलूटा कुरूप ब्राह्मण दिखायी दिया। वह बड़ी तन्मयता से कुशों को जड़ से खोद रहा था और उनकी जड़ों में मट्ठा छोड़ रहा था। दोपहरी का समय था सम्पूर्ण शरीर से पसीना चू रहा था। मध्यान्ह के सूर्य उसके मस्तक को तपा रहे थे, किन्तु वह उनकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर निरन्तर कुशों को उखाड़ने में लगा था। शकटार को बड़ा आश्चर्य हुआ। ब्राह्मण के समीप जाकर उसने पूछा—'ब्रह्मन् ! आप कौन हैं ? और इस दोपहरी में इतना श्रम क्यों कर रहे हैं ?"

इस पर ब्राह्मण ने कहा—"महानुभाव ! मैं चणक मुनिका

पुत्र हूँ। चाणक्य मेरा नाम है। मैं गुरुकुल से वेद वेदाङ्गों का अध्ययन करके समावर्तन करा कर स्नातक होकर लौटा था। सोचा था चल कर मैं विवाह करूँगा, किन्तु मार्ग में आते आते एक तीक्ष्ण कुशा मेरे पैर में छिद गयी। इससे मुझे बड़ा क्लेश हुआ। इसलिये मैंने निश्चय कर लिया है, कि जब तक मैं यहाँ की सम्पूर्ण कुशाओं का जड़ मूल नाश न कर दूँगा, तब तक विश्राम न लूँगा।"

आश्चर्य चकित होकर शकटार ने पूछा—"ब्रह्मन्! आप कुशों को जड़ से काट रहे हैं यह तो जाना, किन्तु आप इनकी जड़ मे मट्ठा क्यों छोड़ रहे हैं?"

ब्राह्मण ने कहा—"संभव है कि कुशाओं की कुछ जड़ें भूमि में रह जायँ, जल पड़ने पर उनसे पुनः भी कुशा उत्पन्न हो सकती हैं, अतः मैं इनकी जड़ों मे मट्ठा भी छोड़ता जाता हूँ, मट्ठा छोड़ने से जड़ें तत्काल नष्ट हो जायगी, वे जल जायेंगी, इससे फिर कुशा उत्पन्न होने की संभावना ही न रहेगी।"

शकटार ने सोचा—"ऐसा दृढ़ प्रतिज्ञ ब्राह्मण यदि किसी प्रकार नंद वंश पर कुपित हो जाय तो अवश्य ही यह नंद वंश का जड़ मूल से नाश कर देगा। अब मुझे किसी भी उपाय से इसे नंद वंश से क्रुद्ध कराना चाहिये।"

यही सब सोच कर मन्त्री विनीत भाव से बोला—"ब्रह्मन्! मैं मगधेश्वर का मन्त्री हूँ मैं अपने सेवकों से यहाँ की समस्त कुशाओं को उखड़वा दूँगा, आप मेरे अतिथि हों।"

ब्राह्मण ने कुछ देर सोच कर कहा—"अच्छी बात है, आप यदि ऐसा करा दें तो मैं आपके साथ चल सकता हूँ।"

यह सुन कर मंत्री को बड़ी प्रसन्नता हुई वह महामुनि चाणक्य को साथ लेकर अपने यहाँ चला गया। और उन्हें बड़े ही आदर सत्कार से अपने यहाँ रखा। उनके लिये एक पाठ

शाला खुलवा दी। जिसमें बहुत से विद्यार्थी आ आ कर विद्या-ध्ययन करने लगे।

अब शकटार को एक ही चिन्ता थी, किस प्रकार चाणक्य और नंद राजा का बिगाड़ हो। वह चाणक्य को राजा से कुपित कराने का अवसर ढूँढ़ता रहा। एक दिन ऐसा अवसर आ भी गया।

राजा के यहाँ एक श्राद्ध का पर्व था। श्राद्ध में काला और कुरूप ब्राह्मण निषेध है। महामुनि चाणक्य कृष्ण वर्ण के थे। उनके नेत्र लाल बाल रूखे तथा दाँत कुछ कृष्ण वर्ण के थे। देखने में वे कुरूप भी थे। शकटार ने इसी अवसर को अपनी कार्य सिद्धि के उपयुक्त समझा। चाणक्य को वह निमन्त्रित करके राज भवन में ले गया। जहाँ श्राद्ध होने वाला था वहाँ चाणक्य को ले जाकर प्रधान आसन पर बिठा दिया। और भी ब्राह्मण बैठे थे। वे चाणक्य की विद्या बुद्धि से परिचित थे। जब उन्हें मन्त्री ही प्रधान आसन पर बिठा रहे हैं तो कोई कुछ क्या कहता। जब राजा के आने का समय हुआ तो शकटार किसी कार्य के मिस से वहाँ से खिसक गया। प्रधान मन्त्री राक्षस को लिये हुए राजा जब श्राद्ध स्थान पर आया, तो प्रधान आसन पर उसने एक काले वर्ण के कुरूप ब्राह्मण को देखा। राजा क्रोधी और झक्की तो था ही। उसने क्रोध में भर कर कहा—"यह कुरूप ब्राह्मण यहाँ उच्चासन पर क्यों है, इसे किसने निमंत्रित किया। इसके बाल पकड़ कर इसे यहाँ से निकाल दो।"

इतना सुनते ही क्रोधी चाणक्य के रोम रोम में अपमान की अग्नि प्रज्वलित हो गयी। वह तुरन्त अपने आसन से उठ कर खड़ा हो गया। उसका शरीर क्रोध से काँप रहा था, उसने अपनी बँधी हुई चोटी खोल दी और सब के सम्मुख प्रतिज्ञा करते हुए कहा अब मेरी यह शिखा तभी बँधेगी, जब मैं इस दुष्ट राजा का

सर्वनाश कर दूँगा।" ऐसा कह कर वह तुरन्त राज महल से निकल गया, राजा ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, क्यों कि वह तो बड़ा अभिमानी था, उसने सोचा—"ऐसे ३६०

भिखारी ब्राह्मण फिरते रहते हैं। इस भिक्षुक ब्राह्मण का क्या साहस जो मेरी ओर आँख उठाकर देख सके, अतः उसने ब्राह्मण की बात पर ध्यान ही नहीं दिया, उसकी सर्वथा उपेक्षा करके अपने कार्य में लग गया।

इधर शकटार एकान्त में छिपा छिपा सब देख रहा था। जब चाणक्य क्रुद्ध होकर राजमहल से निकल कर अपने घर जा रहा था, तो मार्ग में शकटार उसे मिला और अत्यन्त ही सत्कार

पूर्वक उसे अपने यहाँ ले गया। उसने राजा की भर पेट निन्दा की और उसकी क्रूरताओं को सुनाया। अपने ऊपर जो बीती थी उसे भी सुनाया। इन सब बातोंने ब्राह्मण की क्रोधाग्नि में घृताहुति का काम किया। ब्राह्मण को अत्यन्त कुपित देखकर शकटार ने कहा—"ब्राह्मन्! नंद वंश के विनाश की जो आपने प्रतिज्ञा की है, उसमें मैं शक्ति भर आप की सहायता करूँगा।"

यह सुन कर चाणक्य को बडी प्रसन्नता हुई उसने शकटार से कहा—"मन्त्री जी। बिना घर के भेदिया के लंका जीती नहीं जा सकती। जब तक कोई अन्तः पुर का भेदिया हमें न मिले, उससे हम सब घर की बातें न जान लें, तब तक हम कुछ भी नहीं कर सकते।"

इस पर शकटार ने कहा—"ब्रह्मन्। मैं आप को अन्तःपुर की एक अत्यन्त ही विश्वसनीय दासी को आप से मिलाऊँगा. जो प्राणों का पण लगा कर सभी प्रकार से आपकी सहायता करेगी और राजा के अन्तःपुर की गुप्त से गुप्त बात आप को बतावेगी।" यह कह कर उसने विचक्षणा को बुलाकर चाणक्य से मिलाया। विचक्षणा ने धर्म को साक्षी देकर चाणक्य के सम्मुख प्रतिज्ञा की कि मैं प्राण रहते रहते आपकी सब सहायता करूँगी। अब चाणक्य अपनी सम्पूर्ण बुद्धि का उपयोग नंद वंश विनाश के ही लिये करने लगा। उसका प्रधान सहायक था राज्य मन्त्री शकटार। चाणक्य दिन रात यही सोचता रहता, कि नंद वंश का विनाश कैसे हो? उसने सोचा नंद वंश का नाश करके राजा किसे बनाया जाय। अब वह एक ऐसे आदमी की खोज करने लगा, जो राजा बनने के उपयुक्त हो, राज्य की उसे इच्छा हो और नंद से जो द्वेष रखता हो।

महापद्म नंद के आठ पुत्र तो उसकी प्रधान रानी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, वे तो राज्य के अधिकारी थे। एक दासी का पुत्र

था। जिसका नाम चन्द्रगुप्त था जो मुरा नाम की दासी से उत्पन्न हुआ था, वह उन आठों नदों से अत्यन्त ही बुद्धिमान शूरवीर और बली था। उसकी विद्या बुद्धि तथा शूरवीरता के कारण नंद उससे द्वेष करते थे और दासी पुत्र कह कर उसका अपमान भी करते थे, उसे राज्य में कोई अधिकार भी प्राप्त नहीं था।

मनुष्य और सब अपमानों को तो सहन कर सकता है, किन्तु जातीय अपमान सहन करना उसकी शक्ति के बाहर हो जाता है, विशेषकर छोटे कुल में उत्पन्न होने का अपमान शूल की तरह चुभ जाता है। चन्द्रगुप्त जानता था कि यह नंद ही कौन-सा कुलीन है। महानन्दि की शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं किन्तु राज्याधिकारी होने के कारण ये अपने को विशुद्ध क्षत्रिय राजा मानते हैं और हमें शूद्र बताते हैं, मैं इन से विद्या बुद्धि, शूर वीरता तथा पराक्रम में किसी भी प्रकार कम नहीं हूँ, किन्तु मेरे हाथ में अधिकार नहीं है। यदि मुझे कुछ भी अधिकार मिल जाय, तो मैं इनको बता दूँ कि मैं तुम से अच्छा शासन कर सकता हूँ। मन ही मन वह नंदों से जलता था और अधिकार प्राप्त करने के लिये अत्यन्त लालायित था। महा बुद्धिमान शकटार से उसके मनोगत भाव छिपे नहीं थे। शकटार इतना बुद्धिमान था, कि वह उड़ती हुई चिड़िया के सम्बन्ध में सब जान लेता था। उसने चन्द्रगुप्तको चाणक्य से मिलाया। चाणक्य को देखते ही महाकूट-नीतिज्ञ चाणक्य समझ गया, कि यह राजा बनने के सर्वथा योग्य है। राज्य की आकांक्षा के लोभ से यह नंद वंश विनाश में हमारी सब प्रकार की सहायता करेगा। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा—"मैं तुझे सम्राट बना दूँगा, यदि तू मेरी आज्ञानुसार कार्य करेगा तो।" चन्द्रगुप्त तो चाहता ही था उसने धर्म को साक्षी देकर प्रतिज्ञा की—"गुरुदेव! आप जो कहेंगे मैं वही करूँगा। किसी

भी दशा में मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन न करूँगा।" बस, अब क्या था नंद वंश विनाश की सुदृढ नींव पड गयी। अब उसके ऊपर महल बनाना अवशेष था।

चाणक्य की पाठशाला समाप्त हो गयी। वह अपनी पुरानी कुटी में आकर रहने लगा। उसने अन्तःपुर का सब भेद विचक्षणा से ले लिया था उसी के द्वारा अनेकों युक्तियों से विष प्रयोग करा कर उसने शनैः शनैः नंद वंश का नाश करा दिया। यह कार्य इतनी कुशलता से हुआ कि किसी को संदेह ही न हुआ। सब नंदों के मरने पर भी राक्षस मन्त्री की बुद्धिमानी से चन्द्रगुप्त राजा न बन सका। नंद का कोई भाई था उसी को राजा बनाया। महाबुद्धिमान चाणक्य अन्य कई राजाओं को मगध पर चढ़ा लाया इस प्रकार अनेकों युक्तियों से उसने नंद कुल का नाश करके चन्द्रगुप्त को मगधेश्वर बना दिया और आप उसका मंत्री बनकर सब राजकाज को चलाने लगा। तभी से नंद वंश के अनन्तर मौर्य वंश का राज्य हुआ। मौर्य वंश के सर्व प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य हुए। यह सब परम कूट नीतिज्ञ चाणक्य ब्राह्मण की बुद्धि के कारण हुआ।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यंत ही संक्षेप में नंद वंश विनाश की कथा आपको सुनायी। अब मैं आप को मौर्य वंश के राजाओं के सम्बन्ध में सुनाऊँगा। उसे आप समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

शकटारक निज सचिव नन्द बन्दी करि राख्यो।
करया मुक्त सुनि युक्ति हास्य कारन जब भाख्यो॥
सचिव वैर मन राखि विप्र चाणक्य बुलायो।
युक्ति सहित अपमान कराय नन्द तैं कुपित करायो॥
चन्द्रगुप्त निज पक्ष में, करि भीषन षडयन्त्र द्विज।
मरवाये नवनन्द हूं, करी प्रतिज्ञा पूर्ण निज॥

—:❀:—

चन्द्रगुप्त मौर्य

(१३३८)

तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ।
स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥*

(श्री० भा० ११ स्क० १ अ० १२ १३ श्लो०)

छप्पय

कूटनीति द्विज करी यवन राजा बुलवाये।
युक्ति सहित मरवाइ हराये कञ्चुक भगाये॥
कुटिल विप्र चाणक्य जथारथ नृप अविनायक।
चन्द्रगुप्त नृप प्रथम मौर्य कुल के संस्थापक॥
चन्द्रगुप्त द्विज कृपा तें, विश्व विदित नृप ह्वै गये।
द्वितिय मौर्य सम्राट नृप, बारिसार तिनि सुत भये॥

प्रतिभावान् पुरुषों की प्रतिभा समय पाकर कभी न कभी अवश्य ही विकसित होती है। संसार मे शारीरिक बल और बौद्धिक बल ये ही दो प्रधान हैं। बुद्धि विहीन शारीरिक बल

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नन्द वंशीय राजाओं के अभाव में इस पृथ्वी का कलियुग में मौर्य वंशीय राजा गण उपभोग करेंगे। जिस चन्द्रगुप्त को लेकर चाणक्य ने नन्द वंश का विनाश कराया था उसे ही वह विप्र सर्व प्रथम मौर्य वंश के राज्य पर अभिषिक्त करेगा। अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य ही मौर्य वंश का प्रथम राजा होगा।"

अभिमान और पाशविकता की ओर ले जाता है और केवल बुद्धि बल बिना शारीरिक बल के पंगु हो जाता है। इसलिये जहाँ दोनों बलों का समुचित समन्वय होगा वहाँ विशेष उन्नति होगी। पहिले क्षात्र बल और ब्रह्म बल दोनों मिल जुलकर शासन करते थे। ब्राह्मणों के बुद्धि बल का उपयोग राजा गण करते थे और राजाओं के शारीरिक सैनिक बल का समुचित प्रयोग ब्राह्मण गण प्रजा के शासन के काम लाते थे। इसी ब्रह्मक्षात्र बल से प्रजा का पालन होता था। जहाँ राजा स्वेच्छाचारी क्रूर और विषयी हो जाते थे, वहाँ की प्रजा दुखी हो जाती थी, शासन शिथिल पड जाता था और प्रजा के लोग अपने को सुरक्षित अनुभव नहीं करते थे। प्रजा को इस विपत्ति से बुद्धिमान ब्राह्मण ही बचाते थे और अयोग्य तथा विषयी राजा को हटाकर उसके स्थान पर योग्य शासक नियुक्त करते थे। जिन शासकों ने बुद्धिमान त्यागी ब्राह्मणों का आश्रय लेकर उनके मत्र को मानकर शासन किया उनका सदा कल्याण ही हुआ है। वैभवशाली और विलासी का त्यागी और बुद्धिमान ही वश में कर सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामुनि चाणक्य ने नंद वंश का विनाश करके चन्द्रगुप्त को ही मगध का राजा बनाया। महानन्दि से लेकर अन्तिम नन्द तक जितने ये राजा हुए ये कुछ ही कुछ समय तक राजा रह सके। कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने शकटारक मन्त्री की सहायता से उन सबको मरवा डाला। चन्द्रगुप्त बाल्यकाल में ही चाणक्य को मिल गया था। नंद वंश से स्वाभाविक ही इसका द्वेष हो गया था। कुछ लोगों का मत है, कि चन्द्रगुप्त का नन्द वंश से कोई रक्त का सम्बन्ध नहीं था। पिप्पली कानन में विशुद्ध मौर्य क्षत्रिय वंश की एक राजधानी थी। उन्हीं मौर्य वंश का कोई सेनापति नन्द के यहाँ था। चन्द्रगुप्त

उसी का पुत्र था। इसके पिता को नन्द ने किसी कारण से कारावास में डाल दिया था। चन्द्रगुप्त राजसभा में रहकर अपने दिन काटता था। किन्तु यह लोगों का भ्रम है। चन्द्रगुप्त अवश्य ही नन्द की शूद्रापत्नी से उसका पुत्र था। इसीलिये चाणक्य ने उसी को नंद वंश का प्रतिद्वंदी चुना। कुछ भी हो। चन्द्रगुप्त नन्द की राजसभा में ही रहता था और वहीं चाणक्य से उसका परिचय हुआ। चन्द्रगुप्त के बाल्यकाल की एक कथा प्रसिद्ध है।

चन्द्रगुप्त की माता अपने पिता के यहाँ थी तब चन्द्रगुप्त कहीं बालकों के साथ ग्राम के समीप खेल रहा था। बहुत से बालक

उसके साथ थे। उन बालकों को प्रजा बनाकर वह स्वयं राजा बना हुआ था और खेल ही खेल में सबका न्याय कर रहा था।

दैवयोग से महामुनि चाणक्य भी उधर से निकले बड़ी देर तक वे बालकों के खेल को देखते रहे। चन्द्रगुप्त की कुशाग्र बुद्धि को देखकर वे विमुग्ध हो गये थे। प्रजा बने बालक जो भी अभियोग लेकर आते, राजा बना हुआ बालक चन्द्रगुप्त उसका बड़ी बुद्धिमानी से निर्णय करता। उसी समय याचक बनकर चाणक्य ने कहा—"राजन्! मैं ब्राह्मण हूँ मुझे एक गौ दीजिये।"

राजा बना बालक चन्द्रगुप्त न तो सकुचाया और न वह सिट पिटाया उसने निर्भीक होकर कहा—"हाँ विप्रदेव! मैं आपकी इच्छा अवश्य पूर्ण करूँगा। सामने ये गौएँ चर रही हैं, इनमें से जो भी आपको अच्छी लगे उसी को आप लें।"

याचक बने चाणक्य ने कहा—"राजन्! न जाने ये किसकी गौएँ हैं, मैं ले लूँगा तो वह मुझसे क्रुद्ध होगा।"

इस पर आवेश में आकर राजा बने चन्द्रगुप्त ने कहा—"मेरे राज्य में ऐसा कौन है, जो ब्राह्मण पर क्रुद्ध हो। आप निर्भय होकर गौ ले जायँ।"

छोटे बालक की ऐसी निर्भीक बात सुनकर चाणक्य को बड़ा हर्ष हुआ। उसी समय बालक की माता आ गयी, उसने जब ब्राह्मण से क्षमा याचना की, तो ब्राह्मण ने कहा—"यह बालक अवश्य सम्राट होगा। तुम इसे राजधानी में ही रखना।" यह कहकर ब्राह्मण चला गया।" संयोग की बात कि जब चाणक्य ने नंदवंश विनाश की प्रतिज्ञा की तब शकटारक ने इसी कुमार चन्द्रगुप्त को उनके सम्मुख समुपस्थित किया और उन्होंने राजा बनने की प्रतिज्ञा की।

चन्द्रगुप्त की बुद्धिमानी के सम्बन्ध की बहुत सी गाथायें प्रचलित हैं, उनमें से यह भी है, कि किसी राजा ने नंद के यहाँ एक पींजड़े में बंद करके सिंह भेजा और कहला दिया बिना पिंजड़ा खोले ही इस सिंह को निकाला जाय। राजसभा के

सभी सभा सद चकरा गये, किन्तु चन्द्रगुप्त ने कहा—"मैं इसे निकाल दूंगा।" उसने अनुमान लगाया कि या तो यह सिंह किसी ऐसी वस्तु से बना है जो पानी डालने से गल जायगा या आग लगाने से पिघल जायगा। इसलिये पहिले उसने पानी डाला तदनंतर गरम लोहे की सॉकर लेकर छुवाया। गरम लोहा लगते ही पिघल गया, क्योंकि वह लाख तथा मोम का बना था। इस पर सभी लोग चन्द्रगुप्त की बुद्धि की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे।

जिन दिनो चाणक्य चन्द्रगुप्त को मगधेश्वर बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, उन दिनों भारतवर्ष मे अनेक छोटे छोटे स्वतन्त्र राजा थे उन सबको जीतने के लिये यवन देश से सिकन्दर अपनी बडी भारी सेना लेकर आया था और उसने कुछ राजाओं को जीत भी लिया था, किन्तु चाणक्य की बुद्धि मत्ता से उसके पैर यहाँ जम न सके, वह अपने देश को लौट गया। उधर चाणक्य ने अनेक उपायों से किसी राजा को मरवा दिया, किसी पर विष कन्या का प्रयोग किया, किसी को किसी से भिडा दिया और अन्त में चंद्रगुप्त मौर्य को मगधेश्वर बना दिया।

चंद्रगुप्त ने अपने बाहुबल तथा चाणक्य की नीति से भारतवर्ष के प्रायः सभी राजाओं को अपने अधीन कर लिया और विदेशों क राजाओं से सन्धि कर ली। सभी उससे मित्रता करने को उत्सुक थे, सभी उसकी वीरता का लोहा मानते थे। उन्हीं दिनों मिस्र आदि देशों का राजा सेल्यूकस ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की और कुछ देशों को जीत भी लिया। चंद्रगुप्त ने उसका सामना किया और उसे परास्त भी किया। सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त से संधि कर ली और अपनी कन्या का विवाह भी चन्द्रगुप्त से कर दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त आसमुद्रान्त पृथिवी का सम्राट हुआ। उसी चन्द्रगुप्त

का पुत्र वारिसार हुआ और वारिसार का पुत्र अशोकवर्धन हुआ जो इतिहास में बहुत ही प्रसिद्ध है, जिसके शिलालेख और सिक्के अभी तक विपुलमात्रा में मिलते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं चन्द्रगुप्त के पुत्र और पौत्र वारिसार, अशोकवर्धन तथा उसके अन्यान्य वंशजों का संक्षेप में वृत्तान्त सुनाऊँगा। यद्यपि ये लोग वृषल होने से वैदिक धर्म के शत्रु हो गये। फिर भी प्रसंग मिलाने को इनका संक्षिप्त इतिहास मैं आपसे कहता हूँ।

छप्पय

वारिसार या बिन्दुसार नृप भद्रसार वर।
चन्द्रगुप्त सुत इन नामिनि तैं भयो उजागर॥
शत्रु सँघाती विदित पिता सम देश विदेशनि।
रहें बिदेशी दूत सभा में भूप असख्यनि॥
तिनिके पुत्र अशोक नृप, भये यशस्वी जग विदित।
मानें नृप आज्ञा सकल, नित्य अहिंसा महँ निरत॥

———

वारिसार अशोक तथा अन्यान्य मौर्य वंशी नृपतिगण

(१३३९)

तत्सुतो वारि सारस्तु ततश्चाशोक वर्धनः ।
सुयशा भविता तस्य सङ्गतः सुयशः सुतः ।
शालिशूकस्ततस्तस्य सोम शर्मा भविष्यति ॥

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

शिलालेख खुदवाइ जीवहिंसा हटवाई ।
भिक्षु धर्म स्वीकारि दया सब पै दरसाई ॥
विप्र, भिक्षु सम्मान दान सबकूँ ही देवें ।
सदाचार सम्पन्न भिक्षु ज्ञानिनि कूँ सेवें ॥
तिनि का सुत सुयशा भयो, सुयशा सुत सगत अजय ।
शलि शूक सगत तनय, तासु शोम शर्मा तनय ॥

पुत्र वही कहाता है जो पिता से प्राप्त द्रव्य तथा गुणों की रक्षा ही नहीं करता अपितु उनको नित्य नित्य बढ़ाता ही रहता है। जो पिता से प्राप्त सम्पत्ति को नष्ट करके उसका ससार

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! चन्द्रगुप्त का पुत्र वारिसार होगा उसका पुत्र अशोक वर्द्धन का पुत्र सुयशा उसका सङ्गत सङ्गत का शालिशूक तथा शालिशूक का पुत्र सोमशर्मा होगा।"

मे अपयश करता है उसे पुत्र न कहकर मूत्र कहना ही उपयुक्त होगा। क्योंकि दोनों एक ही स्थान से उत्पन्न होते हैं। इसीलिये शास्त्र कारों ने कहा है, कि पुत्रके लिये सम्पत्ति एकत्रित करने की विशेष चिन्ता न करनी चाहिये, क्योंकि यदि सुपुत्र हुआ तो वह अपने पुरुषार्थ से थोडी भी सम्पत्ति को बहुत कर लेगा, यदि वह कुपुत्र है, तो उसके लिये चाहे जितनी भी सम्पत्ति एकत्रित करके रख जाओ, वह सबको नष्ट कर देगा। चन्द्रगुप्त का पुत्र वारिसार सुपुत्र ही था, उसने अपने पिता से प्राप्त राज्य की वृद्धि ही की और मौर्य वंश की विजय वैजयन्ती दशो दिशाओं में फैलायी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र वारिसार हुआ। यह यूनानी राजा सेल्यूकस की पुत्री से उत्पन्न हुआ था। इसके बिन्दुसार, बारिसार तथा भद्रसार कई नाम मिलते हैं, यह बडा ही तेजस्वी राजा हुआ। देश विदेश के सभी नृपति गण इसका लोहा मानते थे। विदेशों के बहुत से राजाओं के राजदूत इसकी सभा में रहते थे और अपने देश के बहुत से राजाओं ने भी इसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। यह अपने पिता के बताये हुए मार्ग का ही अनुसरण करता था। इसने भी अपने पिता के समान काल तक राज्य किया। अर्थात् चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज्य किया और इसने २५ वर्ष तक। इसके पश्चात् इसका पुत्र अशोक मौर्य वंश के सिंहासन पर बैठा।

अशोक वर्धन

अशोक तो अपने पिता तथा पितामह। दोनों से ही अधिक यशस्वी और दिग्विजयी हुआ। सम्पूर्ण भारतवर्ष के ही नहीं अपितु विदेशो के राजा भी इसके अधीन थे। अब तक इसके पिता पितामह जिस किसी प्रकार वैदिकधर्म के ही अनुयायी थे, इसने भिक्षुओं की शिक्षा ग्रहण करके बौद्ध धर्म स्वीकार कर

लिया और उसका देश विदेशों में अत्यधिक प्रचार और प्रसार किया। सुनते हैं इसे कलिंग देश के राजा को विजय करने में बहुत बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी, जिसमें लाखों मनुष्यों का संहार हुआ, उसी से इसे लड़ाई से विरक्ति हो गयी। उन दिनों मांस खाने की प्रवृत्ति लोगों की अत्यधिक बढ़ी चढ़ी थी। राजाओं के यहाँ प्रतिदिन सहस्रों जीवों की केवल भोजन के लिये हिंसा की जाती थी। यज्ञ यागों के नाम पर लाखों जीवों की बलि चढ़ाई जाती थी। इसी की प्रतिक्रिया के रूप में बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव हुआ। ये लोग अहिंसा पर ही अत्यधिक बल देते थे। वैसे बौद्धधर्मी भी मांस खाने को बहुत बुरा नहीं समझते थे। बौद्ध भिक्षु भिक्षा में मिले मांस को खा भी लेते थे किन्तु स्वयं किसी जीव की हिंसा नहीं करते थे। पहिले छोटे छोटे राजाओं ने बौद्ध धर्म को ग्रहण किया। यद्यपि यह विशुद्ध भारतीय ही धर्म था, किन्तु नया नया होने से यह देश व्यापी नहीं हुआ था। भारत-वर्ष में यह पहिला ही धर्म था, जो एक ही आचार्य की बात मानने को विवश करता था। वैदिक धर्म में अनेकों ऋषि मुनि तथा आचार्य थे। बहुतों के भिन्न भिन्न भी मत थे। एक आचार्य या ऋषि का मत दूसरे आचार्य से सर्वथा भिन्न होने पर भी वेद उन सब मे एकता करता था। उसमें अहिंसा आदि की सीमित व्याख्या न होकर व्यापक व्याख्या थी। जो जितना ही बुद्धिमान होता वह उन वाक्यों से अपनी बुद्धि के अनुसार वैसा ही अर्थ निकाल लेता और दूसरे आचार्यों के वाक्यों का समन्वय भी कर देता। इससे बौद्धिक दासता नहीं थी। सांप्रदायिक संकुचितता नहीं थी। अनेकता में एकता विराजमान थी बौद्धधर्म ने मानव प्रकृति के विरुद्ध सबको एक आचार्य की बात मानने को विवश किया और अहिंसा आदि की व्याख्या सीमित कर दी। फिर भी भारत में रहने से इस पर भारतीयता की छाप थी।

इसमें सहिष्णुता थी। विदेशों में जाकर जब यही बौद्धधर्म ईसाई और मुहम्मदी धर्म के नाम से प्रचलित हुआ। तो इसमें असहिष्णुता बढ़ गयी। ईसाई धर्म बौद्धधर्म का ही रूपान्तर है। उसमें बुद्ध के वचनों पर विश्वास करने के स्थान में ईसा के वचनों पर विश्वास करने की बात कही गयी है। मुहम्मदी धर्म मुहम्मद साहब तथा अन्यान्य पैगम्बरों (आचार्यों) के वचन माने गये हैं, जिन्हें मुहम्मद साहब ने बताया है, इस धर्म के अनुयायी तो इतने अधिक असहिष्णु हुए कि अपने से विरुद्ध विचार रखने वालों को अपना शत्रु (काफिर) ही मानने लगे और जहाँ भी ये गये पशुबल का प्रयोग करके दूसरे धर्म वालों के उपासना गृह नष्ट किये उनका बलपूर्वक धर्म परिवर्तन किया और उनके साथ पशुओं से भी गया बीता व्यवहार किया। इस धर्म के अनुयायियों ने अपनी असहिष्णुता से इतिहास को कलंकित कर दिया।

बौद्धधर्म ने कभी किसी के साथ बौद्ध बनने को अन्याय या अत्याचार नहीं किया। खड्ग के बल से न किसी को बौद्ध बनाया और न किसी के उपासना गृहों को नष्ट किया। अशोक ने स्थान स्थान पर बौद्ध भिक्षुओं के लिये संघाराम बनवाये। धर्मशालायें औषधालय तथा पाठशालाओं की स्थापना की। अपने सम्पूर्ण राज्य में जीव हिंसा कम से कम होने दी। मांस खाने की मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसे सर्वथा बंद कर देना असम्भव है। फिर भी उसने मांस भक्षण को बहुत अधिक सीमित बना दिया। उसने आज्ञा प्रसारित कर दी कि यज्ञयाग के लिये कभी किसी पशु को न मारा जाय। पशु पक्षियों की गर्भिणी मातायें न मारी जायँ, किसी के बच्चे न मारे जायें। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या पूर्णिमा तथा अन्यान्य पर्वों पर कोई जीव हिंसा न की जाय इन दिनों में कोई मांस न खाय।

सम्राट् अशोक यद्यपि बौद्ध हो गया था फिर भी वह भिक्षुकों के समान ही ब्राह्मणों का भी सम्मान करता ब्राह्मण और भिक्षुओं को समान ही दान देता। उसने संसार में बड़ा नाम पैदा किया। इसके अनंतर इसका पुत्र सुयशा (कुनाल) राजा हुआ उसने आठ वर्ष ही राज्य किया।

सुयशा का पुत्र सङ्गत हुआ। सङ्गत का शालिशूक और शालिशूक का पुत्र सोमशर्मा हुआ। सोमशर्मा का पुत्र शतधन्वा और उसका वृहद्रथ पुत्र हुआ। वृहद्रथ इस मौर्यवंश का अंतिम राजा हुआ। मौर्यवंश के राजाओं ने १३० वर्ष तक राज्य किया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी मौर्यवंश के अनन्तर किस वंश का इस भारतभूमि पर राज्य हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! मौर्यवंश के अनन्तर शुङ्गवंश का राज्य हुआ। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सत धन्वा सुत भयो सोम शर्मा को नामी।
भये वृहद् रथ तासु तनय अति सरल अकामी॥
अंतिम राजा भये मौर्य कुल के ये नर पति।
सेनापति छल करयो भूप की कीन्हीं दुरगति॥
पुष्यमित्र सेना अधिप, राज्य लालची अति भयो।
करिकें बध भूपाल को, स्वय भूप खल बनि गयो॥

—:०:—

शुङ्ग कण्व तथा अन्ध्र जातीयनृपतिगण

(१३४०)

समां भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह ।
अग्निमित्रस्ततस्तस्मात्सुज्येष्ठोऽथ भविष्यति ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

अग्निमित्र सुत तासु सुज्येष्ठ हु ताको सुतनृप ।
भये फेरि वसुमित्र भद्रकहु पुनि पुलिन्द नृप ॥
सुत पुलिंद के घोष घोष के वज्रमित्र सुत ।
भये भागवत तासु देवभूती तिनि श्रीयुत ॥
देवभूति कूँ मारिकें, वासुदेव भूपति भयो ।
तासु पुत्र भूमित्र तिनि, नारायण नृप ह्वै गयो ॥

जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी सदा धर्म रक्षा किया करता है। जो धर्म का छोड़कर राजाओं और विधानों द्वारा रक्षा की आशा करता है, उसे पछताना पड़ता है। धर्म का सम्म-

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'हे कुरुकुलोत्पन्न राजन् ! मौर्य वंशीय राजागण एक सौ तीस वर्ष राज्य करेंगे। फिर शुङ्ग वंशीय पुष्यमित्र का अग्नि मित्र होगा और उसके सुज्येष्ठ नामक पुत्र होगा।"

न्ध हृदय से है। जिसे हम अधर्म समझते हैं उसे शक्ति भर अवसर पाने पर एकान्त में भी न करेंगे। हमारा हृदय हमें सर्वदा सचेत करता रहेगा, कि अधम है। किन्तु जो राजकाय विधान है, जो हमारे ऊपर बलपूर्वक लादा गया है उसे हम केवल राजाज्ञा मानकर ही पालन करेंगे। अवसर पाने पर उसे भग कर सकते हैं, एकान्त पाकर तोड सकते हैं।

पहिले जब हमारे देश में धर्म का प्रचार था, तब राजकुलों की रक्षा उसी प्रकार की जाती थी जिस प्रकार देव मूर्तियों की रक्षा की जाती है। राजवश का कहीं भी कोई किसी दशा में होगा प्रजा उसका देववत् पालन करती थी। इसी से राजकुल अक्षुण्ण बने रहते थे। लाखों वर्ष तक एक ही वंश परम्परागत राज्य सिंहासन पर आसीन रहता था। जब से अधर्म का प्राबल्य हुआ, राज्यकुलों में भी अधर्म का प्रवेश हो गया। राजा भी सर्व साधारण पुरुषों की भाँति हो गये और सभी लोग राज्य-लोलुप हो गये, तो वश परम्परागत मर्यादा छिन्न भिन्न हो गयी। अब धर्माधिकार की तो बात रही नहीं। जिस जाति के भी बली को अवसर मिला वही राजा को मारकर स्वय राजा बन बैठा। पहिले राज्यपद प्रतिष्ठित कुल परम्परागत जन्म सिद्ध स्वत्व माना जाता था। अधर्म की वृद्धि के कारण राज्य को अब एक सुख की वस्तु मानी जाने लगी। जिसकी लाठी उसी की भैंस, वाली कहावत चरितार्थ होने लगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस किसी प्रकार मौर्यवंश के दस राजाओं ने परम्परागत राज्य किया। अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था अतः बौद्धधर्म अब इस देश का राज्य धर्म बन गया। बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में राज सत्ता भी आ गयी। बौद्धों के संघारामों में अगणित धन आने लगा। बड़े बड़े घरों की कुमारियाँ बौद्ध भिक्षुणी बनके संघारामो में रहने लगीं।

राजा भी बौद्ध भिक्षुओं से डरने लगे। भिक्षुओं का इतना अधिकार बढ़ गया वे चाहें जिस राजा को पदच्युत कर दें, चाहें जिसे सिंहासन पर बिठा दें। युवक और युवती लड़कियाँ भिक्षु और भिक्षुणी बनने लगे। उन्हें संघारामों में समस्त सुविधायें मिलने लगीं। भिक्षुओं के बड़े बड़े महन्त धन सम्पत्ति और प्रभुत्व आने से विलासी बन गये। उन्हें जिसको भी कन्या सुन्दरी लगती उसे ही भिक्षुणी बनाने को विवश करते और अनेकों उपायों से उसे भिक्षुणी बनाकर संघारामों में रखते। कहना चाहिये कि ये त्याग वैराग्य के मठ अब काल क्रम से भोग विलास के अड्डे बन गये जनता में बौद्ध धर्म के प्रति जो उसके त्याग वैराग्य के कारण आस्था आई थी वह उठ गयी। लोग मन ही मन बौद्ध भिक्षुओं से घृणा करने लगे, किन्तु खुलकर विरोध नहीं कर सकते थे, कारण कि बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में सभी शक्ति थी। कुछ दिनों के पश्चात् खुलकर भी विरोध होने लगा।

मौर्यवंश का अंतिम राजा बृहद्रथ हुआ। वह अल्पवीर्य था। उसके आचरण के कारण प्रजा असन्तुष्ट थी। प्रजा जब किसी जाति के किसी विशेष धर्म के राज्यवंश से असन्तुष्ट हो जाती है, तब सबकी भावना ऐसी हो जाती है, कि इस जाति या इस धर्म का शासन नष्ट हो जाय, दूसरा कोई नया शासक आ जाय। जैसे विद्यार्थी राजकीय चटसारों में पढ़ते हैं कोई अध्यापक उन्हें बहुत मारता पीटता है, तो वे चाहते हैं कोई नया अध्यापक आ जाय। नया आता है तो वे कुछ दिन प्रसन्न होते हैं, जब वह भी मारने लगता है, तब सोचते हैं—इससे तो वही अच्छा था अब कोई दूसरा नया आवे। असन्तोष में कभी शान्ति नहीं।

बृहद्रथ मौर्य से प्रजा मन ही मन असन्तुष्ट थी। उसका

एक शुङ्ग वंशी पुष्यमित्र नामक प्रधान सेनापति था। वह बड़ा ही शूर वीर बुद्धिमान और राजलोलुप था। प्रजा को राजा के विरुद्ध देखकर एक दिन अवसर पाकर वह राजा को मरवा कर स्वयं राजा बन बैठा। लोगों को उन दिनों बौद्ध भिक्षुओं की विलासिता के कारण बौद्ध धर्म से घृणा थी, अतः उसने बौद्ध धर्म का विरोध करना आरम्भ किया। उसने एक बहुत बड़ी नयी बात की जिससे वह बहुत प्रसिद्ध हो गया था।

अशोक के समय से ऐसा नियम था कि कोई यज्ञों में पशु बलि नहीं दे सकता था। बौद्ध भिक्षु जब विलासी हो गये, तब स्वयं तो मांस खाते थे और उसके लिये दूसरों से पशुहिंसा भी कराते थे। किन्तु नियमानुसार यज्ञों में पशुबलि नहीं दी जा सकती थी। इस नये राजा पुष्यमित्र ने बहुत दिनों से बंद हुए अश्वमेध यज्ञ को फिर से कराया। उसमें उसने यथेष्ट दान धर्म किया सुवर्ण, धन रत्न लुटाये, लाखों गौएँ दान में दीं। बौद्ध धर्म तब अवनति की ओर जा रहा था ब्राह्मण धर्म का फिर अभ्युदय हुआ। पुष्यमित्र का यश चारों ओर फैल गया।

पुष्यमित्र के पश्चात् उसका पुत्र अग्निमित्र राजा हुआ। अग्निमित्र के पश्चात् उसका पुत्र सुज्येष्ठ सिंहासनारूढ़ हुआ। ये चार भाई थे इनसे छोटे वसुमित्र, भद्रक और पुलिन्द ये भी क्रमशः राजा हुए। पुलिन्द का पुत्र घोष, घोष का पुत्र वज्रमित्र, वज्रमित्र का पुत्र भागवत हुआ। और भागवत का पुत्र देवभूति हुआ।

देवभूति ही शुङ्ग वंशीय राजाओं में से सबसे अन्तिम राजा हुआ। वह अत्यन्त ही कामी और स्त्री लम्पट था। निर्वीर्य होने से प्रजा इससे असन्तुष्ट थी और अत्यंत कामी होने से यह अन्याय भी करता था। ऐसा निर्वीर्य राजा कै दिन राज्य कर सकता है। इसका प्रधान मंत्री वसुदेव बड़ा ही बुद्धिमान था।

उसका जन्म कण्व वंश में हुआ था। उसने जब राजा को अयोग्य देखा तो उसका वध कराके स्वयं ही राजा बन बैठा। वसुदेव के पश्चात् उसका पुत्र भूमित्र राजा हुआ, फिर भूमित्र का पुत्र नारायण तदनन्तर नारायण का पुत्र सुशर्मा राजा हुआ। पुष्यमित्र से लेकर सुशर्मा तक ये जितने शुङ्ग और कण्व वंशी राजा हुए ये सब वैदिक धर्मावलम्बी थे। उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णुता नहीं दिखायी, फिर भी बौद्ध धर्म में विलासिता रूपी घुन लग गया था उससे वह जर्जरित हो गया था।

कण्ववंशी सुशर्मा का एक शूद्र जाति का भृत्य था, वह अत्यंत ही दुष्ट अन्ध्र जातीय था। किन्तु था बड़ा ही बुद्धिमान तथा राज्यलोलुप। अवसर पाकर उसने सुशर्मा को मार डाला और स्वयं ही राजा बन गया। उसके कोई सन्तान नहीं थी अतः उसका भाई कृष्ण पृथिवीपति हुआ। कृष्ण का पुत्र श्री शान्तकर्ण बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसका पौर्ण नाम हुआ। इसके अनतर क्रमशः इतने राजा हुए लम्बोदर, चिबिलक, मेघस्वाति, अटमान, अनिष्टकर्मा हालेय, तलक, पुरीषभीरु, सुनन्दन और चकोर।

चकोर के नौ पुत्र हुए। क्रमशः ये नौऊ राजा हुए। इनमें नौवाँ शिवस्वाति हुआ शिवस्वाति के गोतमी पुत्र शातकर्णी हुआ। यह बड़ा प्रतापशाली राजा हुआ।

जिन दिनों वहाँ आन्ध्र जाति के राजाओं का प्राबल्य था तब तक दूसरे देशों की शक आदि जातियां भी बलवान् बन गयी थीं उन्होंने भी इस पुण्य भूमि भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था, किन्तु उनका प्रभाव अधिक नहीं था। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में यवन देश (ग्रीक) के राजा बलवान् हो गये थे और उन्होंने भारतवर्ष पर चढ़ाई की और अपना राज्य भी स्थापित किया, किन्तु पीछे उसे परास्त होना पड़ा। पीछे सेल्यू-

कस ने भी चढाई की अन्त मे उसे भी हारना पडा और उसने अपने जीते हुए काबुल, हिरात, कंदहार और बलूचिस्तान चन्द्रगुप्त को भेंट किये और अपनी कन्या का विवाह भी उसके साथ कर दिया।

इसके अनंतर जिन शकों को महाराज सगर ने वैदिक धर्म से बहिष्कृत कर दिया था और जो भारतवर्ष छोडकर एशिया के अन्यान्य देशो में जा बसे थे और ब्राह्मणों से संसर्ग न होने से जो वृषल हो गये थे उनमे बौद्ध धर्म के भिक्षुओं ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। वे सबके सब बौद्ध हो गये थे। जब वे लोग बली हुए तो मध्य एशिया से दिग्विजय करने को निकले उन्होंने ईरान अफगानिस्तान आदि को जीतकर भारतवर्ष मे प्रवेश किया। तथा पचनद तथा ब्रज के आस पास अपने छोटे छोटे राज्य भी स्थापित किये। जो कुछ दिनों मे नष्ट हो गये, किन्तु राजपूताना और मालवे मे इनके छोटे छोटे राज्य स्थायी हो गये। ये शक राजा भारतवर्ष से ही निकलकर बाहर गये थे। भारतवर्ष में आकर ये ऐसे घुलमिल गये कि इनका पृथक् अस्तित्व रहा ही नहीं। कुछ बौद्ध हो गये, कुछ ने वैदिक धर्म स्वीकार कर लिया और यहाँ के लोगों मे वैवाहिक सम्बन्ध भी होने लगे। पीछे तो ये राजपूतों मे मिल ही गये। ये क्षत्रप और महाक्षत्रप के नाम से विख्यात हुए। इसी प्रकार मध्य एशिया (तुर्किस्तान) से कुशन वंशी भी लोग आये और कुछ स्थानो पर उनका भी अधिकार हुआ।

क्षत्रपों में नहपान ने दक्षिण तथा गुजरात पर अपना अधिकार जमा लिया था। आंध्र वंश के गौतमी पुत्र शातकर्णी ने नहपान को परास्त करके उसका बहुत सा राज्य ले लिया। इसके अनंतर २०। २१ और भी क्षत्रप महाक्षत्रप राजा हुए किन्तु वे साधारण ही राजा थे।

गौमती पुत्र का पुत्र पुरीमान् हुआ। तदनंतर क्रम से मेदःशिरा, शिवस्कन्द, यज्ञ श्री, विजय चन्द्रविज्ञ और मलोमधि ये राजा हुए। इस प्रकार ये अन्ध्रवंशीय तीस राजागण चार सौ छप्पन वर्ष तक इस पृथिवी का शासन करते रहे।

भारतवर्ष मे पहिले वर्णाश्रमी निवास करते थे कुछ वनों में रहने वाले कोल भील निषाद आदि भी थे। यहाँ के वहिष्कृत होने के कारण या किसी अन्य कारण से बहुत से आर्य एशिया के अन्य देशों मे चले गये। वर्णाश्रमियों से संसर्ग न होनेके कारण वे व्रात्य हो गये और वे अनार्यवत् माने जाने लगे। वे अनार्यों में मिल जुल गये किन्तु उनमें भारतीय संस्कार तो विद्यमान ही थे। जब बौद्ध धर्म का द्वीप द्वीपान्तरों मे प्रचार और प्रसार हुआ तो वे सब बौद्ध धर्मावलम्बी बन गये। तब तक ईसाई या मुहम्मदी धर्म का तो जन्म भी नहीं हुआ था। किरात, हूण, पुलिंद, पुल्कस आभीर, कंक, यवन, और खश ये जातियाँ मुख्य थीं ये वर्णाश्रम धर्म से वहिष्कृत थीं। कुछ कुछ समय के अनंतर ये सब जातियाँ भारत को विजय करने आने लगीं। जो भारतवर्ष का सम्राट होता वही सब से बडा महाराजा माना जाता। इसलिये सब जातियों में भारतवर्ष को विजय करने की होड़ सी लग गयी।

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो ! जब देश मे अन्ध्र वंश का पतन हुआ तो फिर देश मे आभीरों का आधिपत्य हुआ जिनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पुत्र सुशर्मा तासु चार ये कण्व वंश नृप।
फेरि अन्ध्र बलि बन्धु सुशर्मा मारि मही पिय॥
भ्राता बलि को कृष्ण भयो नृप अतिशय बलयुत।
तासु पुत्र श्री शान्तकर्ण तिनि पौर्णमास सुत॥
उनिस भूपनि अन्त में, भयो गोमती पुत्र नृप।
भयो सलोमधि नवम पुनि, तीस अन्ध्रवंशी अधिप॥

—:o:—

आभीर तथा गर्दभी वंश

(१३४१)

सप्ताभीराआनभृत्या दश गर्दभिनो नृपाः ।
कङ्का षोडशभूपाला भविष्यन्त्यति लोलुपाः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० २९, श्लो०)

छप्पय

भये सात आभीर कुशन वशी कहलाये ।
करत दिग्विजय यहाँ देश देशनि कूँ आये ॥
इनमें नृप वाझेष्क कनिष्कहु भय वीरवर ।
नृप वासिष्क हुविष्क वासुदेव हु सुयशस्कर ॥
फेरि भये नृप गर्दभी, गुप्तवश के नाम तें ।
अति प्रसिद्ध भूपति भये, प्रजा हितैषी काम तें ॥

धर्म की जब हानि हो जाती है, तब मनुष्य धर्मत अपने अधिकार को प्राप्त नहीं करते, अपितु अधर्म के द्वारा जिसका बल अधिक होता है वही अधिकारारूढ हो जाता है। भारतवर्ष में

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इसके पश्चात् अवभृतिपुरी के निवासी सात आभीर राजा होंगे दश गर्दभी और सोलह अत्यन्त लोलुप कङ्क जातीय नरेश होंगे।"

देशी विदेशी का प्रश्न नहीं होता था। यहाँ धर्म की प्रधानता थी। धर्म के विषय में संसार में भारतवर्ष ही गुरु माना जाता था। दूसरे देशों मे ऐसा विश्वास था, कि जो लोग यहाँ धर्माचरण करेंगे, उनका मरकर भारतवर्ष मे जन्म होगा। यदि कोई दूसरे देश का विजयी यहाँ आता था, तो उसका सम्पर्क साधारण जनता से नहीं होता था। राजाओं के साथ उनका युद्ध होता था। राजाओं को उसने जीत लिया, तो साधारण प्रजाजनों को उसे राजा मानने मे फिर कोई आपत्ति न होती थी। वह भी अपने को भारतवर्ष का राजा मानकर अत्यधिक गौरव का अनुभव करता था और जिस धर्म की प्रधानता होती थी उसे ही स्वीकार कर लेता और उसका आचरण भी करने लगता। पहिले जो विदेशी विजेता यहाँ आते थे वे बौद्ध धर्मावलम्बी होते थे। जब बौद्ध धर्म का क्षय होने लगा और पुनः वैदिक धर्म का अभ्युदय आरम्भ हुआ। राजा गण शैव शाक्त तथा वैष्णव होने लगे तब विदेशी राजा आकर भी उन्हीं धर्मों का आचरण करने लगे और वे हममे दूध पानी की भाँति ऐसे घुलमिल गये कि अब उनकी पृथक् सत्ता अवशिष्ट ही नहीं रही। जैसे नदियाँ समुद्र जाकर अपना नाम रूप खोकर तदाकार हो जाती है, वैसे ही विदेशी जातियाँ भारतीय आर्यों मे तदाकार हो गयी। उस समय हमारी पाचन शक्ति प्रबल थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आभीर भारतवर्ष मे दो प्रकार के होते थे। एक तो आभीर कोल भीलों की भाँति जंगली जाति थी, जो जंगलों मे रहते और कोल भीलों की भाँति निर्वाह करते। इनको पंचम वर्ग का कहा है। दूसरे वे लोग भी आभीर कहाते जो वनों के राजा होते गौओं का पालन करते। गो पालन के कारण उनकी गणना वैश्यों मे की जाती किन्तु शासन हाथ मे रहने से उनमें क्षात्रधर्म भी विद्यमान् रहता और वे बली भी

होते। उनकी लड़कियों से क्षत्रिय विवाह भी करते। जैसे व्रजनन्द जी थे। ये क्षत्रिय और वैश्य दोनों ही वर्णों का धर्म पालन करते। विदेशों से जो कुशनवंशी वीर आये वे प्रथम वर्णाश्रम से रहित होने के कारण आभीरा पंचमस्मृताः" इस न्याय से पचम वर्ण अर्थात् म्लेच्छ कहे जाने लगे। जब उनके हाथ में राजसत्ता आ गयी और वे भक्तिपूर्वक शैव या वैष्णव हो गये, उनके पुत्र राजकुमार हो गये तो शनैः शनैः वे राजपूतों में ऐसे मिलजुल गये कि उनमे देशी विदेशी का भेदभाव नहीं रहा। कुछ दिनों तक नामों में विदेशीपन झलकता था। जैसे पहिला आभीर राजा वाझेष्क हुआ। यह नाम विदेशी है दूसरा इसका पुत्र कनिष्क राजा हुआ। इसने प्रायः सम्पूर्ण भारत पर अपना अधिकार जमा लिया। यह राजा शैव था। इसने अपनी मुद्राओं पर भी शिव की मूर्ति प्रसिद्ध की बौद्ध भिक्षुओं का भी वह आदर करता था और उनके कार्यों मे भी उदारता से सहयोग देता था।

इसका पुत्र वासिष्क हुआ और उसका हुविष्क या हविष्क इन चार राजाओं के नामों में कुछ विदेशीपन है। किन्तु पंचम वासुदेव यह विशुद्ध भारतीय नाम है। यह शैव से वैष्णव हो गया और वैष्णव धर्म की इसने उन्नति की। इसके पीछे भी दो और प्रतापी राजा हुए। फिर शनैः शनैः इनका प्रभाव घटने लगा और तदनन्तर गुप्तवंश या गर्दभी वंश का अधिकार हुआ।

आभीर राजाओं का कोई चन्द्रवंशी क्षत्रिय प्रभावशाली मंत्री था। उसकी वैश्य पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उत्तम वर्ण के पुरुष से अपने से नीचे वर्ण की स्त्री में जो सन्तान होती है। उसकी जाति मानने के स्मृतियों में दो नियम हैं। या तो वह सन्तान माता के वर्ण की मानी जाती है अथवा माता से श्रेष्ठ और पिता से कनिष्ठ उसकी एक तीसरी जाति होती है। वंश

उसका पिताका ही माना जाता है। जैसे विदुर जी यद्यपि दासी के पुत्र थे फिर भी वैचित्र्य वीर्य कहलाते थे। इस प्रकार इन श्रीगुप्ता ने माता के कारण अपनी गुप्त उपाधि धारण की और पिता के कारण ये चन्द्रवंशी कहलाये। गर्दभी इनका वैक या प्राचीन स्थान का नाम होगा। ये राजा विशुद्ध भारतीय थे, अतः इन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार की प्रतिज्ञा की इसलिये सर्व साधारण लोगों ने इनका आदर किया। इस वंश के राजाओं ने विपुल धन व्यय करके अश्वमेध यज्ञ भी किये और दान धर्म भी यथेष्ट किया। पहिले ये महाराज कहलाते थे पीछे से महाराजाधिराज हुए और इनका प्रताप सर्वत्र छा गया। गुप्त का पुत्र घटोत्कच हुआ घटोत्कच का पुत्र चन्द्रगुप्त हुआ। लिच्छिवि वंशी क्षत्रियों मे इसका विवाह हुआ। इसकी रानी का नाम कुमारदेवी था उसी के गर्भ से समुद्रगुप्त का जन्म हुआ। समुद्रगुप्त बड़ा ही प्रतापशाली राजा हुआ तीर्थराज प्रयाग के किले में अक्षयवट के निकट जो अशोक की लाट है उसपर अब तक इसके दिग्विजय की बात खुदी हुई है। इसने अनेकों राजाओं को जीता था प्रतिष्ठानपुर (झूसी) मे जो समुद्रकूप है, इसका भी इसी ने पुनर्निर्माण कराया था। इस प्रतापी राजा ने कलियुग मे चिरकाल से न होने वाला अश्वमेध यज्ञ कराया था।

इसका पुत्र चन्द्रगुप्त (दूसरा) हुआ। यह वैष्णव था। इन्द्र प्रस्थ में अभी तक इसकी गड़वाई हुई लोहे की लाट विद्यमान है। इसके राज्य में प्रजा अत्यत सुखी थी। इसका पुत्र कुमारगुप्त हुआ इसका पुत्र स्कंदगुप्त और स्कंदगुप्त का पुत्र कुमारगुप्त (दूसरा) हुआ। कुमारगुप्त का बुधगुप्त और बुधगुप्त का पुत्र भानुगुप्त हुआ। इस प्रकार इन दस राजाओं ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक लगभग विक्रम की छठी शताब्दी के अन्त तक राज्य

किया। पीछे शक प्रबल हो गये और उनही से मिलते जुलते कंक जातीय राजा हुए।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अब मैं आप से कंक यवन तुरुष्क और गुरुण्ड वंश के राजाओं के सम्बन्ध में अत्यंत संक्षेप में कहूँगा।"

छप्पय

गुप्त घटोत्कच चन्द्रगुप्त ये भूपति अनुपम।
नृप समुद्र पुनि चन्द्रगुप्त दूसर ये पचम॥
गुप्तकुमार नृपाल भये इस्कंद सातवें।
पुने कुमार बुध भानु गुप्त अष्ट नवमें दशवें॥
फेरि गदभी वंश नहिं, रह्यो कक भूपति भये।
राजवंश के पुत्र मिलि, सब एकत्रित ह्वै गये॥

—::::—

॥ श्रीहरि ॥

[ब्रजभाषा मे भक्ति भाव पूर्ण, नित्य पाठ के योग्य अनुपम महाकाव्य]

श्रीभागवतचरित

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिंदुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषा मे रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सके। इस कमी को 'भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ ब्रजभाषा का छप्पय छन्दों मे लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागोंमे विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल,सरस तथा प्राञ्जल छन्दोंमें गाया गया है। आज से लगभग डेढ वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ की तीन सहस्र प्रतियाँ छपी थीं, जो थोडे ही दिनों मे हाथों हाथ निकल गयीं। सैकडों नर नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत सर पंडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ का पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकडों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपडे की टिकाऊ बढिया जिल्द और उस पर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजार मे ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मंगाकर अपने लोक परलोक को सुधार ले। न्योछावर केवल ५।) सवापाँच रुपये, डाकव्यय पृथक्।

पता —संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, (झूंसी) प्रयाग

॥ श्री हरिः ॥

श्रीब्रह्मचारीजी की कुछ अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँसे मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में; ६० खण्ड छप चुके हैं) प्रति खण्डका मूल्य १।) , दस आना डाकव्यय पृथक् । १६।।।) में एक वर्ष के १० खण्ड डाकव्यय रजिष्ट्री सहित।

२—श्री भागवत चरित—लगभग १००० पृष्ठकी, सजिल्द मूल्य ५।)

३—बदरीनाथदर्शन—बदरीनाथजीपर खोजपूर्ण महाग्रन्थ, मूल्य ५)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३४५ मू० २।।।)

५—मतवाली मीरा—भक्तिका सजीव साकार स्वरूप, मूल्य २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्धमें उठने वाली तर्कोंका युक्ति पूर्ण विवेचन। मूल्य ॥)

७—श्री शुक—श्रीशुकदेवजीके जीवनकी झाँकी (नाटक) मूल्य ॥)

८—भागवती कथाकी बानगी—(आरंभके तथा अन्य खण्डोंके कुछ पृष्ठोंकी बानगी) पृष्ठ संख्या १२५ , मूल्य ।)

९—शोक शान्ति—शोक शान्ति करने वाला रोचक पत्र (पृ० ६४) इसे पढकर अपने शोक संतप्त परिवारको धैर्य बँधाइये। मूल्य ।-)

१०—मेरे महामना मालवीयजी और उनका अन्तिम संदेश—मालवीयजीके जीवनके सुखद संस्मरण। पृष्ठ १३० ; मूल्य ।)

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दू हिन्दू बन सकते हैं ? इसका शास्त्रीय विवेचन। पृष्ठ सं० ७५ मूल्य ।-) पाँच आना

१२—प्रयाग माहात्म्य—प्रयाग के सभी तीर्थों का वर्णन; मूल्य -)

१३—भागवत चरित की बानगी—मूल्य ।)

१४—राघवेन्दुचरित—(भागवतचरितसे ही पृथक् छापा गया है) मूल्य ।-

१५—प्रभुपूजा पद्धति—मूल्य ।)॥

१६—चैतन्य चरितावली (प्रथम) १)

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(उनसठवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी), प्रयाग
संशोधित मूल्य २ ० रुपये
संशोधित मूल्य

प्रथम संस्करण] वैशाख सम्वत् २०११ वि० [मूल्य रु० २

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग ।

भागवती कथा—खंड ५९

विषय-सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१३४२—	कंक वंश का वर्णन ...	१
१३४३—	यवन, तुरुष्क और गुरुण्ड ...	१०
१३४४—	कलियुग के अन्यान्य नृपतिगण ...	२२
१३४५—	कलिकाल की कुछ कलुषित करतूतें ...	३२
१३४६—	कलियुग की प्रबलता के चिन्ह ...	४२
१३४७—	वसुधा-गीत ...	५३
१३४८—	राजाओं की कथायें वाणी का विलासमात्र है	७७
१३४९—	कलियुग के दोष और उनसे बचने के उपाय	८८
१३५०—	कलिकल्मषों को कृष्ण कीर्तन ही काट सकता है	१०४
१३५१—	प्रलय के प्रकार ...	११४
१३५२—	परमार्थ विवेचन ...	१३५
१३५३—	महाराज परीक्षित को अन्तिम उपदेश	१४४
१३५४—	श्री शुक के प्रति राजा द्वारा कृतज्ञता प्रकाश	१५२
१३५५—	श्री शुक-गमन, तक्षकागमन ...	१६०
१३५६—	परीक्षित देहत्याग तथा जनमेजय कोप	१७१
१३५७—	सर्प सत्र की समाप्ति ...	१८१

—::०::—

गोहत्या बन्दी राज्य के द्वारा ही होगी

नमो ब्रह्मण्य देवाय गोब्राह्मण हिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ।

छप्पय

गोहत्या जहँ होहि तहाँ शुभ करम न होवे ।
गोहत्या त मनुज सकल पुन्यादिक खोवें ॥
गोतन-मंदिर माँहिं बसें सुरगन मिलि सबई ।
गोमाता तन कटे भगे सुर तहँ ते तबई ॥
गोहत्या करि जगत महँ, यश कोई नहि पाइयो ।
गोहत्या जिहिं राज महँ, होवे सो मिटि जाइयो ॥

आज सबत्र गोरक्षा का प्रश्न एक आवश्यक विचारणीय प्रश्न बन गया है आज ही नहीं, यह प्रश्न सनातन है, गो हमारी दृष्टि में पशु नहीं वह पृथिवी माता भूदेवी का प्रतीक है। भूमाताका पूजा हम गौके ही रूपमें करते हैं। भूमि पर जब जब भी विपत्ति पडी तब तब वह गौ का ही रूप बन कर भगवान के निकट गयी। गो हमारे इह लोक और परलोक के आहार की अधिष्ठात्र देवी है। हमे इहलोकमे भोजन और परलोकमे पुण्य गोमाता की ही कृपासे प्राप्त होता है। गौ स्वय तृण खाकर दूध देती है, जिससे दही, मठा, घृत, खोया, मावा छेना, पनीर, खुरचन, मक्खन आदि

ब्रह्मण्यदेव भगवान् को नमस्कार है, गौ और ब्राह्मणों का हित करने वाले प्रभुको नमस्कार है, सम्पूर्ण जगत् का हित करनेवाले श्री कृष्ण को नमस्कार है और जो गौओं के इन्द्र हैं गौओंके रक्षक हैं, उन गोविन्द भगवान् को बार बार नमस्कार है।

अनेक स्वादिष्ट पौष्टिक पदार्थ बनते हैं, गौओं के-बच्चे बैल खेती करके हमें अन्न साकभाजी, मसाले, दाल आदि देते हैं। इस प्रकार रोटी, दाल, भात और साक तो हमें गौ माताके पुत्र बछड़ों से मिलता है। और इधर दही, घृत, मक्खन तथा खोया की अनेक मिठाइयाँ प्रत्यक्ष गौमाता से मिलती हैं। यह तो इस लोककी बात हुई। अब परलोककी सुन लीजिये।

गर्भाधान संस्कार से लेकर दाहसंस्कार तक ऐसा एक भी संस्कार नहीं जिनमें गो-दानकी आवश्यकता न पड़ती हो, अब तो समय के फेर से प्रत्यक्ष गो-दान न देकर उसके बदलेमें ५) १।) रुपये या पांच आने का गौ-दान करा देते हैं, किन्तु विधि प्रत्यक्ष गौ-दान की ही है। हम हिन्दुओं का विश्वास है, कि मरने पर जो वैतरणी नदी पार करनी पड़ती है वह गौ की पूंछ पकड़ कर ही पार की जा सकती है। अतः प्रत्येक धर्मप्राण हिन्दु मरते समय अब भी कम से कम एक गौ का दान तो करता है। इस प्रकार गौ इस लोकमें भी हमारा उपकार करती है और मरने पर हमें वैतरणीसे पार करती है। ऐसी गौ को जो मारता है, वह अपने इहलोक तथा परलोक के समस्त सुकृतों-पुण्यकर्मों को नष्ट करता है जिस राज्यमें गौ का वध होता है। वह राज्य आध्यात्मिकता से दूर हटता जाता है, वहाँ के निवासियोंको मानसिक शांति नहीं होता, वे आध्यात्मिकतासे हीन-अशांत संशयालु तथा भोगी होते हैं। जो राष्ट्र गौरक्षा में प्रमाद करता है। वह इस संसारमें यश और श्री से हीन हो जाता है। भारतने गौ के महत्व को आजसे नहीं, अनादि कालसे समझा है। वेदोंमें उपनिषदोंमें, पुराणों में सर्वत्र गौ की महिमा गायी गयी है। जब तक भारतीय शासन रहा तब तक गौवध के समान अपराध माना जाता था। जब विधर्मी विदेशी आततायी आक्रमणकारी इस्लाम धर्मावलम्बी लोगोंने इस देशपर आक्रमण किये, तब उन्होंने हिन्दुधर्मको नष्ट करनेके

अनेक उपाय किये। जैसे यहाँके धार्मिक ग्रन्थों को जलवा देना, हिन्दुओंके मन्दिरों को तोडना, बलपूर्वक लोगों को मुसलमान बना लेना उसी समय केवल हिन्दुओं की धार्मिक भावनापर आक्रमण करने के लिये उन्होंने गौ का वध आरम्भ कर दिया। पीछे जब मुसलमान यहाँ बस गये और इसी देशके हो गये तो उनमेंसे अनेक राजाओंने राजाज्ञा निकाल गौ वध बन्द कराया था जिनमें हुमायुँ, अकबर, बहादुरशाह तथा अन्य कई राजाओंका नाम विशेष उल्लेखनीय है, इसके अनन्तर मराठा तथा सिक्खोंका राज्य हुआ, ये राजा तो केवल गो ब्राह्मण का रक्षार्थ ही उदय हुए थे, इनके राज्यमें तो सर्वथा गोवध बन्द था ही।

अंगरेजों ने हिन्दुत्व को मिटानेका प्रयत्न तो किया, किन्तु बहुत छिपकर शनैः शनैः किया। अंगरेजी राज्यमें गोवध होता तो था, किन्तु नियमित संख्या में नियमके भीतर होता था। इसे मिटानेके लिये आरम्भ से ही बडे बडे प्रयत्न किये गये। लोकमान्य तिलक, महामना मालवीयजी, महात्मा गांधी, स्वामी हंसानन्दजी आदि महानुभावोंने गोहत्या रोकने के बहुत प्रयत्न किये। कांग्रेस के साथ गौ रक्षा सम्मेलन होते थे, महात्मा गांधीजीने खिलाफत के आंदोलनमें सहयोग देते हुए कहा था कि मैं मुसलमानों के इस आंदोलनमें इसलिये सहयोग देता हूँ, कि वे मेरी गौकी रक्षा करें। उनदिनों प्रायः सभी मुसलमानोंके मौलवीयों ने व्यवस्था दीथी, कि गौवध करना इस्लामधर्ममें आवश्यक नहीं। उन दिनों सभी मुसलमान नेता गोरक्षा का समर्थन करते थे। कांग्रेसी नेता तो यहाँ तक कहा करते थे, कि विदेशी वस्त्रों को इसलिये मत पहिनो कि इनमें गौकी चरबी लगती है। कुछ तो यहाँ तक कहते थे कि अंगरेजोंसे इसलिये असहयोग करना चाहिये कि ये गोहत्या कराते हैं। उन दिनों कांग्रेसी नेताओंकी गोभक्ति और गोरक्षा के विचारों को सुनकर सभी को पूर्ण विश्वास था, कि जिस दिन स्वराज्य

की घोषणा होगी उसी दिन गोहत्याबन्दी की भी घोषणा हो जायगी। लोग कहा भी करते थे-गोवधबन्दीकी बातें अभी क्यों करते हो, हत्याकी जड़ तो ये अंगरेज हैं, जिस दिन ये अंगरेज चले जायँगे, उस दिन एक लेखनी की नोंकसे गोवध बन्द हो जायगा।

भगवान्‌ने वह दिन दिखाया, स्वराज्य हो गया, अंगरेज भारत से चले गये, हमें आशा थी अब गोवध बन्द हो ही जायगा। इसलिये सरकार के पास इतने तार और पत्र आये कि उनकी गणना ही नहीं हो सकी केवल उनकी तोल की गयी। छ दिन तक पोष्ट आफिस में इतने अधिक तार आये कि उन्हें लेना कठिन हो गया।

तब तो शासकों की आँखे-खुलीं, उन्होंने कहा—हम गो रक्षाके लिये एक समिति बनाते हैं। तुम आंदोलन मत करो। उस समिति में हम गो रक्षा के समर्थकों को रखेंगे। समिति बनी, उसमें ६ सरकारी और ७ अ-सरकारी आदमी रखे। उस समितिने सुझाव दिया दो वर्षमें सर्वथा गोवध बन्द कर दिया जाय। उपयोगी पशुओंका वध तो तत्काल बन्द हो और दो वर्षमें बूढ़ी टेढ़ी लूली लंगड़ी गौओंके लिये गो सदन बनें।

समिति सरकारने ही स्थापित की थी, उसके सुझाव माननेको सरकार बाध्य थी, इसलिये सबको पूर्ण विश्वास हो गया कि दो वर्षमें यह गोवध -रूपी भारतके भालका कलंक अवश्य ही दूर हो जायगा। सब निश्चिन्त थे, आंदोलन करने की आवश्यकता ही नहीं समझी। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, सरकारकी कूटनीति आगे आने लगी। अन्तमें सरकारने सभी प्रान्तीय सरकारों के पास एक गुप्त परिपत्र भेजा। आंदोलन के समय भारतीय संविधानमें एक धारा स्वीकार की गयी थी, जिसमें स्पष्ट स्वीकार किया गया था, कि सभी प्रकारकी गौओंका वध रोकना भारत

सरकारकी नीति होगी। जब आंदोलन ढीला हो गया, तो सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को आदेश दिया कि उस धाराका अर्थ उपयोगी गौ के वधोंको रोकने से है, अतः पूर्ण गोवध बन्द न किया जाय। जहाँ बन्द कर दिया हो, वहाँ उस पर पुनर्विचार हो। उससे स्पष्ट हो गया कि सरकार गौओंको कटानेके पक्षमें है। ऐसा भी मत व्यक्त किया गया, कि १०० में ६० गौएँ अनुपयोगी हैं। अनुपयोगी का अर्थ कम दूध देनेवाला, दुबली पतली, लूली लंगडी, बूढी, छोटी और न जाने क्या ?

हमारे पश्चिमीय सभ्यतामें पले हुए नेताओंका सुझाव था, कि लोगोंकी खाने की आदतोंमें परिवर्तन करके धार्मिक क्रान्ति करके फालतू गोवंशको कटवा दिया जाय। उनके मांसके उपयोगसे अन्न की बचत होगा, उनके चर्म, हड्डी, आंते, सींग आदि को बेच कर विदेशी डालर कमाये जायँ।

इन सब बातों को सुन कर हमारी आँखें खुली। सरकार गोवध बंद न कराने के लिये कटिबद्ध है। प्रधान मंत्रीजी ने कृषिमंत्रियोंके सम्मेलन में स्पष्ट कह दिया,–फालतू गोवंशका वध तो बंद नहीं हो सकता। इस भयसे कि ऐसा करने से लोग हमें मत–वोट–न देंगे। इस भयको निकाल देना चाहिये। अर्थात् हम इस आधार पर चुनाव लडने को तैयार हैं।

स्वराज्य को हुए लगभग सात वर्ष हो गये। गोवध को रोकना तो दूर रहा, उत्तरोत्तर बढता ही जाता है। बम्बई सरकार तो सबसे अधिक बढ़ गयी। उसने कसाईखानों की उन्नति कैसे हो, इसके लिये एक समिति बनायी। उस समिति के सुझावोंको आप पढेंगे तो आश्चर्यचकित हो जायँगे। उसने ऐसी बात बतायी है, गौ काटने से ऐसे नस निकाली जाय। अमुक वस्तुसे यह औषधि बनेगी। अर्थात् उसने खुल्लमखुल्ला गोवध करनेके उपाय बताये।

हमारी कांग्रेसी सरकारको गोवधबन्धी के नामसे चिढ़
इसका कहना है। गोरक्षा न कह कर गोसंवर्धन कहो। अ
गौओंका पालन करो, उनका दूध बढ़ाओ उनकी जाति सुधा
वंशवृद्धि करो। अनुपयोगी गौओं को कटा दो। अर्थात् जो क
हो सब तुम्हीं करो सरकार तो गौ काटने का ही काम करे
गौओंमें उपयोगी अनुपयोगी का भेद करके लोगों में भाँति भाँ
भ्रम फैलाये जाते हैं। लोगों को उलटी सीधी बातें बताकर पथभ्र
किया जाता है, अनेक शंकायें उठा कर गौवधका अप्रत्यक्ष र
से समर्थन किया जाता है। यहाँ पर हमें उन्हीं सब शंकाओं
समाधान करना है।

१. पहिली बात तो यह कही जाती है, कि गोवधबन्दीके लि
'नियम' बनाने की क्या आवश्यकता है? कसाइयों को गौएँ
हिन्दु ही बेचते हैं। हिन्दु कसाइओं को गौएँ देना बन्द कर
अपने आप गोहत्या बन्द हो जायगी। लोगों को समझाओ घ
घर, गौ रखें, कसाइयों के हाथ गौ न बेचें।

—हम कहते हैं—यदि लोग समझाने से ही माननेवाले हों
आप एक एक उपदेशक रख दें। लोगोंको शिक्षा दें, कोई लड़
न करें, चोरी न करें, नियमभंग न करें सबका भाग दे दें। फि
फौज, पुलिस, न्यायालय इन सबको समाप्त कर देना चाहिये
नियम है तो उन्हीं लोगोंके लिये होता है। जो उस नियम के भ
से अपराध न करें। जब चोरी जारी, लड़ाई सबके लिये नियम
तो गोहत्या न करने को नियम क्यों न हो।

२. कुछ लोग कहते हैं गौ तो पशु है, उसको मारने पर दन
की क्या आवश्यकता है?

—हम तो गौ को पशु नहीं मानते हैं। हम तो गौ को मात
कहते हैं। भारतीय संस्कृतिमें गौको देवता माना गया है। हमलोग
प्रतीक उपासक हैं। जैसे सभी जानते हैं। मंदिरों की प्रतिम

पाषाणकी होती हैं। किन्तु हम उनमें देवत्व भावना करते हैं। भारतीय दंडविधान में एक नियम है जो मूर्ति को तोडेगा उसे दंड दिया जायगा। यदि पाषाणकी मूर्तिको कोई दूसरे पाषाण से तोड देता है, तो उसे दंड इसी लिये दिया जाता है कि उसने मूर्तिपूजाओं की भावना को 'ठेस पहुँचायी, जब पाषाणकी मूर्ति को न तोडने का नियम है। तो जिस गौमें हम तेतीस कोटी देवताओंका वास मानते हैं, उसे जो छुरीसे काट कर हमारी भावनाओं,-पर आघात करता है, तो उसे दंड क्यों न दिया जाय ? उसके लिये नियम&कानन -क्यों न बनाया जाय ?"

३. कुछ लोग कहते हैं-हमारी घर की गौ है, हम उसे काटते हैं, इसमें दूसरोंका क्या है, इसके लिये कानन बनानेकी क्या आवश्यकता ?

हम कहते हैं, माता के पेटमें उसी का बच्चा है। उसे वह पैदा होते ही मार देती है तो उसे दंड क्यों दिया जाता है ? हम स्वतंत्र हैं आत्महत्या करने के लिये, किन्तु जो आत्महत्या करता है या करने का प्रयत्न करता है तो उसे दंड क्यों दिया जाता है ? जब हम स्त्री, पुत्र भाई बन्धु तथा,अपने आप की हत्या करने में स्वतंत्र नहीं, तो गौ जो हमारी सदा से पूजनीय है उसके मारनेमें क्यों स्वतंत्र हो सकते हैं ? तब इनके वध पर प्रतिबन्ध होना चाहिये।

४. कुछ लोग कहते हैं, ये सब भावुकताकी बातें हैं तर्कसे ये बातें सिद्ध नहीं होती। पशुने जब तक दूध दिया कामका रहा, बच्चा पाला पोसा जब अनुपयोगी हुआ, उसे मारकर उसका हड्डी चर्म, आंत आदि का उपयोग करो।

-हम कहते हैं, भावनाके बिना तो कोई काम होता नहीं। राष्ट्रीयध्वजमें भावनाके अतिरिक्त और क्या है। भावना निकाल देने पर वस्त्र का टुकडा मात्र है। महापुरुषोंकी समाधियों पर पुष्प क्यों चढाते हैं। मंदिरों में भावना ही तो है, अपने स्वजनों की

भस्मी को इतनी व्यय करके त्रिवेणीमें ले जाते हैं, इसमें भावना ही तो है। भावनाके बिना मानवता नहीं। गौ के प्रति हमारी भावना ही है। वह भावना सौ दो सौ या हजारों लाखों की नहीं। ३३ करोड़ हिन्दुओं की भावना है, प्रजातन्त्रीय सरकार को इतने लोगों की भावना की रक्षा करनी ही पड़ेगी।

५. कुछ लोग कहते हैं, कि यदि बूढ़ी, टेढ़ी गौएं काटी न जायें भी तो वे मारी मारी फिरेंगी, हरे भरे अन्न के खेतोंको खा जायेंगी अन्न और चारे को बरामद करेंगी, अतः ऐसी गौ की रक्षा का आग्रह व्यर्थ है।

–हम कहते हैं यह लोगों का भ्रम है। नैपालमें गौवध करने वाले–को आजीवन कारावासका दंड है, वहाँ गोवध नहीं, मैं तो पांच साल भ्रमण किया था और इस वर्ष भी गया, मुझे तो वहाँ एक भी ऐसी गौ मारे मारे फिरती नहीं मिली, राजस्थान विन्ध्यप्रदेश हिमाचल तथा देशके एक तिहाई भागमें, नियमसे गोवध बन्द है वहाँ ऐसी कोई समस्या नहीं। अतः यह कल्पना निर्मूल है। जो किसान पशु रखता है वह दो बूढ़े भी रख ही सकता है। यदि ऐसे कुछ पशु हों तो उनका पालन करना सरकारका कर्तव्य है। सरकार उसके लिये गोसदन बनवावे।

६. कुछ लोग कहते हैं–पहिले अनुपयोगी पशुओं के लिये गो सदन बनवाओ, गोचर भूमि छुड़वाओ, जब उनका प्रबन्ध हो जाय, तभी कानून बनाने की बात करो, इसके पहिले करोगे तो अनुपयोगी पशु कहाँ जायँगे।

हम कहते हैं गौ तो कभी अनुपयोगी होती ही नहीं। वह दूध और बच्चे न भी दे, तो उसके गोबर मूत्र से ही इतनी आय हो सकती है, कि उतना चारा वह खा भी नहीं सकती। पहिले प्रबन्ध करके गोवधबन्दीका नियम बनावें तो कभी हो ही नहीं सकता "न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।" अंगरेज भी तो यही

हते थे कि पहिले स्वराज्यकी योग्यता प्राप्त कर लो तब स्वराज्य ोंगे। यदि योग्यता की कसौटी उन्हीं पर छोड दी जाती जब तो ारत कभी स्वतन्त्र होता ही नहीं। पहिले गोवधबन्दी का नियम ाना ओ, फिर जो जो असुविधायें आवे उनके निवारणका ायत्न करो।

७. कुछ लोग कहते हैं-गौओं को इतना उपयोगी बना लो कि न्हे काटनेका साहस ही न हो। विदेशामें गौ मन मन भर दूध ेती हैं। ऐसी गौएँ यहाँ हो जायँ तो उन्हे कौन काटेगा ?"

हम विदेशी लोगोंकी भाँति गौ का पालन नहीं करते। दूसरे देशों में गौ केवल दूध के लिये पाला जाता है। उसके बछडे तो खाने के ही काममें आते हैं। खेती घोडों से या अन्य साधनों से होती है। किन्तु हमारे पूर्वजोंने एक गौ से ही दोनों काम ले लिये। गौका दूध पीया, उसके बच्चे-बछडोंसे खेती करके अन्न उपजाया। विदेशोंमें बछडोंको, बूढी गौओंको तथा कम दूध देने वालियों को मार कर खा जाते हैं, केवल दूध के ही लिये जो गौ पाली जाती है उसके बछडे खेतके समय अनुपयोगी होते हैं, हमें तो गौ से दूध भी लेना है, उसके बछडोंसे खेती भी करनी है अपनी भावना की रक्षा भी करनी है। यह तभी सम्भव होगा जब गोवधबन्दी का पहिले राजनियम बन जाय। रही उपयोगी अनुपयोगी की बात ? सो कसाईको सबसे अधिक आय हृष्ट-पुष्ट युवती गौ के वध से होती है। हरियाने आदि से अच्छी से अच्छी दूध देनेवाली गौ को कलकत्ते ले जाते हैं। जब तक वह दूध देती है। तब तक ग्वाला उसे रखता है। जिस दिन दूध देना बन्द करती उसी दिन उसे निकालनेकी चिंता करता है कलकत्ते जैसे बडे नगर में ऐसी दूध न देनेवाली गौको रखनेका न स्थान है न ग्वाला। वर्ष भर उसे खिलाकर उसके अगले ब्याँह तक प्रतीक्षा कर सकता है। कसाई उसके यहाँ आता है एक दूधकी गौ देकर दो बिना

दूधकी गौ उससे ले जाता है। वह गौ उसे २००) में पड़ी उसके चर्म मांस-हड्डी-आंत नसें रक्त आदि से उसी दिन ४००) मिल जाते हैं। जिसमें एक दिनमें इतना लाभ हो ज ऐसे व्यापारको स्वेच्छा से कौन छोड़ना चाहेगा। जो गौ अप देशमें रहकर १०। १५ बच्चे देती है वह एक बच्चा देकर छुरी घाट उतार दी गयी। उसका वधा तो ग्वालेने जाते ही मार दि था। इस प्रकार राज्य नियम न बनने से अच्छी से अच्छी गौ काभी अधिक ह्रास हो रहा है। आजसे १०। २५ वर्ष पूर्व हरिया में घर घर १५। १६ सेर दूध देने वाली गौएँ थीं। अब वे म बम्बई कलकत्ता जाकर कट गयीं। अब कठिनता से ७। ८ सेर की गौएँ मिलती हैं, यदि यही क्रम बना रहा तो ये भी गौ कट जाएँगी, फिर गौओं के दर्शन दुर्लभ हो जायँगे, इस लिये जब तक नियम कानून-नहीं बनता, तब तक न गोसंवर्धन हो सकता है, न गोवंश की वृद्धि हो सकती है, न जाति सुधार तथा दुग्धोन्नति हो सकती है।

८ कुछ लोग कहते हैं-यदि गौओंका वध बन्द कर दिया गया, तो चर्मका अभाव हो जायगा, सैनिकों को चर्म कहां से मिलेगा ?

यह विचार करने की बात है, गौ तो एक ही बार मरेगी-एकबार ही चर्म देगी, चाहे उसे छुरी से काट कर चर्म ले लो या अपनी मौत से मरने के अनन्तर ले लो। मरे हुए पशुओंके चर्म से ही पहिले सब काम चलते थे और उन्हीं के जूते आदि सब व्यवहारमें लाते थे। जितनी गौएँ हैं एक दिन सभी मरेंगी, उनके चर्म तुम्हें मिलेंगे ही।

इस पर कुछ लोग कहते हैं, काटे हुए पशु का चर्म कोमल होता है, मरे हुए पशु का अत्यन्त कठोर होता है, उसके कोमल जूते बैग आदि न बन सकेंगे।

हमारा कहना है, जिस विज्ञानने अणुबम जैसी वस्तु का आविष्कार कर लिया; क्या वह ऐसी कोई औषधि आविष्कार नहीं कर सकता जिससे मृतक चर्म कोमल हो जाय, मैंने सुना है जर्मनीमें ऐसे चर्मको मुलायम बनानेके लिये कार्यालय हैं। हम कहते हैं न हो कोमल चर्म, कठिनता से ही काम चलाया जाय या कागद गत्ता अथवा प्लाष्टिक की वस्तुओं से काम चले, किन्तु चर्म कोमल हो इसलिये गौ माताके गले पर छुरी चले यह उचित नहीं।

कुछ लोग कहते हैं जो गौयें इधर उधर फिरती रहती हैं, अन्न और बाजारके सामानको बिगाडती हैं. जहाँ जाती हैं वहाँ मार खाती है, भूखो मर जाती हैं, इससे अच्छा यही है, एक दिनमें उन्हें काट कर उनका भी दुःख दूर कर दिया जाय और उनके कोमल चर्म, मांस, हड्डी, नस, आंत, सींग आदि से आय बढ़ायी जाय।

यदि गोवध पर प्रतिबन्ध लग जाय और स्थान स्थान पर गोसदन खुल जायें तो ऐसी गौयें कहीं मिलेगी ही नहीं। मान लो ऐसी गौयें भी हों और वे भूखों मरती भी हों, तो मैं यह अच्छा समझूंगा कि वे भूखों अपनी मौतसे तो भले ही मरें किन्तु वे कसाई की छुरी से न कटें इसका कारण यह है कसाई को ऐसी गौ चोरी से या तो बिनामूल्य मिल जाती है या अत्यन्त ही अल्प मूल्य पर। गोवध के कार्यसे मांस, हड्डी, चर्म, रक्त आदि के व्यवसायसे लगभग एक करोड आदमी पलते हैं उनमें अधिकांश गोमांसभक्षक विधर्मी कसाई ही होते हैं तो हम अपनी ही गौओंसे इतने गो हत्यारोंका पालन करके अपने ही पैरो कुल्हाडी क्यों मारें। हमें तो चाहें जैसे भी हो उसे अपनी ही मौत से मरने देना चाहिये। गौका एक बिन्दु रक्त भी इस भारतभूमि पर न गिरे।

१० कुछ लोग कहते हैं-केवल गोवध न करनेका नियम बनाने

से ही काम न चलेगा। यदि ऐसी ही दशा रही तो फिर कस
ग्यानेमें ता गौ कटेगा नहीं, घरोंमें लुक छिपकर और भी अ
गोवध होगा, इस लिये कानून बनाना व्यर्थ है।

"हम कहते हैं, लोग लुक छिपकर चोरी करते हैं। लोगों
ठगते हैं। फिर चोरी करने पर दंड देनेके नियम क्यों बने है
लुक छिपकर जो गोवध करे उसे कड़े के कड़ा दंड देना सरकार
धर्म है। जो सरकार इतनी निर्बल हो कि अपने नियमका दृढ़त
पालन नहीं करा सकती उसे शासन करनेका क्या अधिकार है
फिर नियममें अपवाद हो ही जाता है। बिना नियम बने गो
बन्द हो ही नहीं सकता।

११. कुछ लोग कहते हैं, कुछ जातियोंमें गोवध करना धर्म
हमारी सरकार धर्म निरपेक्ष है, वह दूसरेके धर्ममें कैसे हस्तक्षे
कर सकती है? ऐसा नियम बनाने से उसकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्या
नष्ट होगी। इसलिये गोवधबन्दी का नियम बनाना सरकारक
नीतिके विरुद्ध है।

जहाँ तक मुसलमान और ईसाईओंके धर्मग्रन्थोंसे हमने सुन
हैं किसी के यहाँ गौवध करना धर्म नहीं आवश्यक नहीं। आसाम
प्रान्तकी कुछ जातियाँ ऐसी बताई जाती थीं, किन्तु हमने आसाम
में स्वयं जा कर देखा वहाँ कोई भी ऐसी जाति नहीं जिसके यहाँ
गोवध करना धर्म हो। इसके विरुद्ध हिन्दुओंके यहाँ गौका वध न
करना धर्म है, उनके जीवन मरण का प्रश्न है, उनकी संस्कृति
तथा परस्पर रक्षाका प्रश्न है, तो ऐसी दशामें गोवध कराते रहना
हिन्दुओं के धर्म में प्रत्यक्ष आघात करना है, सरकारकी धर्म
निरपेक्षताकी नीति स्वयं ही नष्ट होती है। ३३ करोड़ हिन्दुओंकी
धर्मभावना पर आघात पहुँचाना क्या यही धर्म निरपेक्षता है?
यह तो धर्मद्वेषता है।

१२. कुछ लोग कहते हैं। कि राज्य में बहुत से लोग नहीं

ते कि गोवधबन्दी का कानून बने तो उनके भावों के विरुद्ध
न सरकार कैसे बनावे ?

हम कहते हैं, बहुत से लोग तो मद्यनिषेध नियम बनाने के
द्ध हैं। बहुत से लोग जमींदारी उन्मूलन के विरुद्ध हैं, बहुतसे
ग हरिजनोंके मन्दिरप्रवेश तथा अस्पर्शता निवारण के विरुद्ध है
र सरकार इनके लिये नियम क्यों बनाती है, गोवध के पक्षमें
बहुत ही कम लोग होंगे।

१३ कुछ लोग कहते हैं यह प्रश्न तो प्रान्तों का है, प्रान्तीय
रकार चाहे तो अपने यहाँ नियम बना ले, केन्द्रीय सरकार को
यम बनाने की क्या आवश्यकता है ?"

प्रान्तीय सभी सरकारें नियम बना लें, तब तो गोवध बन्द हो
जायगा, किन्तु प्रान्तीय सरकारों को तो केन्द्रीय सरकार बाध्य
रती रहती है, तुम सर्वथा गोवध बन्दी का नियम मत बनाओ।
ान लो उन्हे केन्द्रीय सरकार स्वतन्त्रता भी दे दे और उनमें से
क दो भी नियम न बनावे तो सब व्यर्थ है। क्यों कि जो उत्तर
देशमें न कटी बम्बई या मद्रास में जाकर कट गयी। गौ की रक्षा
। इससे नहीं हुई। इसलिये जब तक केन्द्रीय सरकार नियम
ना कर सम्पूर्ण देशमें गोवध बन्दी का आदेश नहीं देगी तब तक
ा की रक्षा नहीं हो सकती।

१४. कुछ लोग कहते हैं, हम गोवधबन्दी का कानून बना दें
ो अमेरिका आदि देश जिन्हे यहाँसे बछड़ो की काटी हुई गौ की
ाले आंते आदि भेजी जाती हैं, वे हमसे अप्रसन्न हो जायेंगे,
फर हमे वे जो उन्नति के नाम पर सहायता देते हैं, उसे बन्द
कर देंगे।

हम कहते हैं इससे बढ़ कर मूर्खताकी दूसरी बात कोई हो
नहीं सकती। कि अपनी माता को कटा कर दूसरे देशों
प्रसन्नता प्राप्त करें। दूसरे देशवाले चाहे कि हम बड़े ईसाई

जायँ तो क्या उन्हें प्रसन्न करनेको हमारी सरकार हमें ई
बनने का आदेश देगी ? हमें अपनी ओर देखना चाहिये, अ
हित अनहित स्वयं ही अपनी दृष्टि से सोचना चाहिये।

१५. कुछ लोग कहते हैं, मुसलमान अल्पसंख्या हैं, हमें उ
भावनाओं का आदर करना चाहिये। जिससे उन्हें दुःख न
ऐसे काम करना चाहिये।

आदर करते करते ही हम आधे देशसे हाथ धो बैठे, भ
का बहुत भाग विशुद्ध इस्लामी राज्य--हिन्दुत्व का विरोधी--
गया, अब भी हम वोटों के लिये--अल्प स्वार्थ के लिये हम अ
गौको कटवायें यह कितनी बुद्धिमानी होगी ?

ये सब बातें तो गौण हैं, यथार्थ बात तो यह है, कि
हमारा विशुद्ध धार्मिक प्रश्न है। धर्मका पालन घाटा सहकर
किया जाता है, अतः गोवध बन्द करने से कितना भी घाटा हो
यद्यपि घाटा नहीं और लाभ भी होगा, तब भी हमें उसे क
करना ही पड़ेगा। गोवध बन्द करनेमें चाहें जितनी अड़चने ह
तैंतीस करोड़ हिन्दुओंकी धार्मिक भावना का आदर करना
पड़ेगा। जो सरकार गोवधका समर्थन करेगी उसे प्रोत्साहन देगं
वह भारतमें कभी टिक नहीं सकती। अतः गोवध पर अविलम्
प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। गोवध बन्दीका नियम कानून--केन्द्री
सरकार को शीघ्रसे शीघ्र बनाना चाहिये। यदि सरकार ऐसा न
करे तो इसके विरुद्ध जनमत तैयार करके प्रबल आंदोलन
करना चाहिये।

यदि शासक शास्त्र को मानता हो, तो उसे शास्त्रीय बात
बताकर मनाया जा सकता है' यदि शासक धार्मिक हो तो उसे
धर्मका मर्म बताकर मनाया जा सकता है, यदि कोई पूर्ण त्यागी
तपस्वी हो, तो शासक को चमत्कार दिखाकर शाप वरदान देकर
मनाया जा सकता है, यदि दो राष्ट्र हों तो अस्त्र शस्त्रों से युद्ध

क मनाया जा सकता है। आज कोई एक अपने को राजा
नता नहीं, प्रजातन्त्र का ढोंग तो रचा जाता है। किन्तु वास्तवम
जातन्त्र क भी शासनमे धमकी उपेक्षा की गयी है, धमनिरपेक्ष
ासन घोषित किया गया है, कोई च्यवन ऋषि की भाँति त्यागी
पस्वी सिद्ध पुरुष भी दिखाई नहीं देता जो इन शासकों क
लमूल का निराध कर द, जिसस य तुरन्त मान जायँ। यह
रकार आदालन करक हा मनाया या हराया जा सकता है,
त हमे गोरक्षा के लिये, भारतीय सस्कृति की रक्षा क लिय-
बल आदोलन करना चाहिय।

एक बात और है, मुसलमानोंने गोक प्रश्न को राज्य हडपने
ा साधन बना लिया, काग्रेसियान भा अपने चुनावका चिन्ह
लोंका जाडा रखकर इस चुनाव जातन का साधन बनाया-गौ
मारा माता है, यह हमारा विशुद्ध धार्मिक प्रश्न है इसलिये इस
र धार्मिक दृष्टि से हा विचार करना चाहिये। कैसे भी हो,
ार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक सभा दृष्टि स गौ रक्षा
आवश्यक है, चाहे जैस हा, हमारे देशस गावध बन्द होना
चाहिय। इसक लिय सभा भारतायनर नारिया को सभा प्रकारका
बलिदान करना चाहिय। कोइ भी काम बलिदान के बिना होता
नहीं, अत गोरक्षाक लिये बलिदान करन क लिये सबको उद्यत
होना चाहिये। अपना गला कटा कर, गौ को बचाना चाहिये,
अपने गले पर छुरा चलवा कर गौ क गले से छुरी हटानी
चाहिय। महाराजा दिलीपने गौको बचानेके लिय सिहका अपना
शरीर अपण कर दिया था, इसी प्रकार हमें वधशालाओं-
कसाईखाना म जाकर अपना शरीर अर्पण कर के गौओंको
बचाना चाहिय। रेल पर गौ कटने जाती हों उन्हे जाने नहीं देना
चाहिये। रेलमें नहीं चढने देना चाहिये, चढ़ गई हो तो उन्हें उतार
ना चाहिये, कसाई के हाथों कभी भूलकर भी गौ न बेचनी

चाहिये, जो बेचता हो, उसे सब प्रकार से समझा बुझाकर गो
चाहिये। सामर्थ्यवान् पुरुषों को ऐसी छुड़ाई हुई गौओंकी
का प्रबन्ध करना चाहिये। इसी प्रकार सभी भाई गौओंकी र
लिये कटिबद्ध हो जायँ तो फिर किसीकी भी शक्ति नहीं, भा
एक भी गौका रक्त बिन्दु गिरा सके।

अन्तमें मेरी सभी भाई बहिनोंसे यही प्रार्थना है कि उन्हें
मन, धनसे त्याग करके विविध प्रयत्न करके गौकी रक्षा क
धर्मलाभ करना चाहिये। भगवान नन्दनन्दन गोपालके पादप
में प्रार्थना है कि वे शीघ्र भारतसे गोवध बन्द करा दें। गोमाता
जय! गोमाताकी जय!! गोमाता की जय!!!

छप्पय

गोकी रक्षा होइ जाइ सब धारें चितमें।
गोवध होवै बन्द होइ आनन्द जगतमें॥
गौ के हित सब त्याग करें तन, मन धन देवें॥
लोक और परलोक माहिं अक्षय फल लेवें॥
गोपालक गोविन्द प्रभु, गैयनिकी रक्षा करो।
गोवध करिकें बन्द अब, 'भारत माँ' के दुःख हरो॥

———

कंकवंश का वर्णन

(१३४२)

ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः ।
भूयो दश गुरुण्डाश्च मौना एकादशैवतु ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

कं क करिकें कुमर राज सब भये भूमिपति ।
ये सब सोलह वंश भये राजा शुभ मति अति ॥
राजपूत सब सूर्य चन्द्रवंशी मिलि आये ।
देश विदेशी भेदभाव तजि छात्र कहाये ॥
कक कुमर ने एक करि, यवननि तें रक्षा करी ।
यों वर्णाश्रम धर्म की, कछु भावी विपदा हरी ॥

उन्नति अवनति, उत्थान पतन तथा जन्म मरण ये एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। जिसने शरीर धारण किया है, वह चाहे मनुष्य हो, देवता हो असुर हो और की तो बात ही क्या चाहे

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इसके अनन्तर आठ यवन वंश चौदह तुरुष्क फिर दश गुरुण्ड और ग्यारह मौन नाम के राजा होंगे।"

भगवान् ने ही अवतार लेकर शरीर धारण क्यों न किया है उत्थान पतन के चपेटे उन्हें भी सहन करने पड़ेंगे। जो चढ़ेगा वह गिरेगा। चढ़ना गिरने के लिये हैं। उत्थान पतन के नि है। यदि बड़ों पर सदाचारियों पर विपत्ति न आती होती इन्द्र को बार बार असुरों से हारकर पथ पथ का भिखारी बनना पड़ता। नल, राम, युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र तथा अन्यान पुण्यश्लोक धर्मात्मा राजाओं को दुःख क्यों सहने पड़ते। जि प्रकार व्यक्तियों का उत्थान पतन लगा रहता है उसी प्रकार राष्ट्र का भी उत्थान पतन होता रहता है। जो राष्ट्र आज से कुछ सौ वर्ष पूर्व असभ्य और जंगली समझे जाते थे। जो समुद्र मछली बीन बीनकर उन्हीं से निर्वाह करते थे। आर्य जाति लोग जिनको नगण्य समझते थे, जिनसे सम्बन्ध रखना तो पृथ रहा जिनको छूना भी पाप समझा जाता था। समय के फेर से वे ही आर्यों के शासक बन गये और आर्यों को दास मानकर उनके साथ भाँति भाँति के अत्याचार करने लगे। आर्य लो जिन्हें अपना शिष्य बनाने में भी अपमान समझते थे वे ही आज गुरु बन गये और आर्य लोग उन्हें गुरु मानने में अपना गौरव समझने लगे। जिन्हें हमने अस्पर्श, व्रात्य कह कर बह बहिष्कृत कर दिया वे ही हम पर विजय प्राप्त करके हमारे नियन्ता बन गये। इसी का नाम संसार चक्र है। आदर्श एक रहता है उसकी क्रियायें बदलती रहती हैं।

वैदिक धर्म जब उन्नति के शिखर पर चढ़ा हुआ था। तब अन्याय अधर्म करने वाला कोई विरला ही मनुष्य होता था। समाज को विशुद्ध बनाये रखने को उनको वर्ग से बाहर कर दिया जाता था, जिससे पूरे समाज में दोष न आ जाय उस समय अपराध की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, किन्तु जब पूरे ही समाज में दोष आ गये तो अपराधियों का बहिष्कार कौन करे।

ने वाले भी तो उन अपराधों से बचे नहीं। ऐसी दशा में पराधों की उपेक्षा की जाती है। समाज एक सरल सा नियम ना लेता है, जिसके अन्तर्गत रहकर हमारी बड़े अपराधों से ज्ञा हो सके।

प्राकृतिक नियम बदलते नहीं, किन्तु अन्य नियम समय के नुसार बदलते रहते हैं। समाज मिलकर जिसे स्वीकार कर ता है फिर उसमें कोई दोष नहीं होता।

"सात पाँच मिलि कीजै काजा।
बिगड़ जाय तो आइ न लाजा॥"

पंचों का निर्णय परमात्मा को भी मान्य होता है।

सूतजी बोले—'महाराज! गर्दभी राजाओं के अनन्तर इस देश में कर्कों का आधिपत्य हो गया। कर्कों से आप वर्णाश्रम हीन किरात, हूण, आभीर, अन्ध्रपुलिंद पुल्कसों के सदृश उन र्कों को न समझें जिन की गणना वर्णाश्रमियों ने पंचम वर्ण के लोगों में की है। यह कर्क एक क्षत्रियों की जाति है। कर्क नामक क अत्यन्त विद्वान्, बुद्धिमान देश कालज्ञ राजकुमार ने देशी विदेशी क्षत्रियों को मिलाकर एक नवीन क्षत्रिय जाति बनायी। जो उसी के नाम से कर्क कहलाये पीछे जो राजपुत्र या राजपूत नाम के प्रसिद्ध हुए।"

बात है, कि काल का कारण राजा ही है। राजा ही प्रजा को अधर्म से बचा सकता है। जैसे राज्य होगा वैसी ही उसकी प्रजा होगी। पहिले इस देश में वर्णाश्रमियों का राज्य था। जो लोग वर्णाश्रम को नहीं मानते थे वे वर्णाश्रमेतर या पंचम कहलाते थे। वर्णाश्रमियों में से भी जो अपराध के कारण या किसी अन्य कारण से वर्णाश्रम से निकाल दिये जाते उनकी गणना पंचमों में की जाती। वैदिक वर्णाश्रम धर्म के जोड़ तोड़ का कोई दूसरा धर्म तो था ही नहीं। इससे जो बहिष्कृत हुए,

वे अपने को धर्महीन मान कर असभ्यों की भाँति समय वि
स्वभावानुसार वैदिक धर्म में जो यहाँ धार्मिक कृत्य करते
उन्हें ही विकृत भाव से पुरोहित और ब्राह्मणों के अभाव में
होता वैसे करते। किन्हीं किन्हीं के साथ पुरोहित भी चले
वे उन्हें यज्ञयागादि भी कराते, उनके मन्त्रादि भी कुछ भि
जाते। जैसे पारसी आर्य ही हैं, वे वैदिक वर्णाश्रमियों की
अग्नि पूजन हवन आदि करते हैं, किसी रूप में यज्ञोपवीत
धारण करते हैं, किन्तु विदेश में जाने से उनकी प्रक्रिया भिन्न
गयी है।

कालान्तर में वैदिक वर्णाश्रम के समकक्ष का
धर्म उत्पन्न हो गया। सौभाग्य की बात कि वह पवित्र भार
में ही उत्पन्न हुआ। जिसे आज से दो ढाई सहस्र वर्ष पूर्व
सभी देश अत्यन्त श्रद्धा भक्ति से देखते थे। वैदिक धर्म की सी
सीमित थीं। उसमें अनार्य संस्कारहीन नहीं घुस सकते थे।
नहीं जो इस सीमा में रहकर कोई नियम विपरीत काम व
उसे बिना संकोच कान पकड़कर इससे बाहर निकाल
जाता। साधारण आदमी ही नहीं बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा इ
पृथक कर दिये जाते। इसका वर्णन पुराणों में बहुत आता
महाराज ययाति ने अपने राज्य के अधिकारी सबसे बड़े
राज को वेद बहिष्कृत कर दिया तथा अपने और भी तीन
को वर्णाश्रम धर्म से निकाल दिया। सगर के समय बहुत
राजा बहिष्कृत किये गये। इनमें से बहुत से राजा तो वि
में चले गये। कैसे भी सही फिर भी ये थे तो राजकुमार ह
राजा जहाँ जायगा वहीं राज्य करेगा, इन लोगों ने देश वि
में अपने राज्य स्थापित किये। राजा तो ये बन गये फिर
इनको यह अपमान तो सदा खलता हो रहा कि हम धर्म
कर दिये गये हैं, हम किसी धर्म के अधिकारी नहीं हैं।

बौद्ध धर्म ने अपनी उन्नति के लिये अपनी परिधि बढा दी। अपने अपने समान में आने के लिये सबके लिये मार्ग खोल दिया। सभी देशवासी भारत के धर्म में सम्मिलित होने के लिये लालायित थे। जब तक बौद्ध धर्म को भारत के सम्राटों ने स्वीकार नहीं किया तब तक देश विदेशों में कहीं भी उसका प्रचार या प्रसार नहीं हुआ। अत्यन्त त्यागी कुछ भिक्षु इधर से उधर धर्मोपदेश करते फिरते थे। जब भारत के सम्राटों ने इस धर्म को विवश होकर स्वीकार कर लिया। विवश वे इसलिये हुए कि वे विशुद्ध क्षत्रिय नहीं थे। वर्ण सकर थे। फिर भी अपने बाहुबल से राजा बन बैठे थे। राजा होने पर भी ब्राह्मणगण इनका आदर नहीं करते थे उन्हें शूद्र ही कहते थे। प्रतिष्ठित होने की आचार्य उपदेशक बनने की सबकी लालसा रहती है चाहे वह छोटा बडा हो, तिरष्कृत हो सम्मानित हो। जब ये राजागण बौद्ध बन गये तो बौद्ध धर्माचार्य इनका अत्यधिक आदर करने लगे। बौद्ध धर्म को ब्राह्मणों ने और विशुद्ध क्षत्रियों ने स्वीकार नहीं किया। पीछे क्षत्रिय और कुछ ब्राह्मण भी सम्मिलित हो गये। बौद्ध धर्म यद्यपि वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार नहीं करता था, फिर भी उसमें ब्राह्मण क्षत्रियों के लिये गौरव था शब्दों से नहीं मन से वे उनकी महत्ता को मानते थे। जब बौद्ध भिक्षु भारत के सम्राटों द्वारा सम्मानित होकर विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने गये और उन्होंने घोषणा की कि भारतीय धर्म का द्वार सब वर्ण और सब जाति के लोगों के लिये खुला है तो सबको बडी प्रसन्नता हुई। सभी लोग धार्मिक बनने को लालायित थे। सब के सब बौद्ध हो गये। भारतवर्ष में भी बौद्ध धर्म की ही प्रधानता हो गयी। इतने पर भी सनातन वैदिक वर्णाश्रम धर्म नष्ट नहीं हुआ क्योंकि उसकी जडें अत्यत सुदृढ थीं क्यों न हों जब तक राजसत्ता अपने हाथ में न हो

तब तक कोई भी धर्म टिक नहीं सकता। नंद वंश के समय से ही विदेशी भारत पर आक्रमण करने लगे थे और उनका भारत की सीमा पर कुछ अधिकार भी हो गया था। बौद्ध धर्म का प्रचार होने पर और अशोक द्वारा उसे अपनाने पर राजागण सब बौद्ध ही हो गये। कुछ राजा वैदिक धर्मावलम्बी भी थे।

जब बौद्ध भिक्षुओं का नैतिक स्तर गिर गया और वे विषय भोगों की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होने लगे तब त्याग प्रधान ब्राह्मण धर्म ने उसे दबा दिया। राजाओं की श्रद्धा भी बौद्ध धर्म से हट गयी। विदेशी वीर जो भारत को विजय करने आते वे बौद्ध बन जाते, क्योंकि उनके लिये यह मार्ग खुला था। बौद्ध धर्म में भक्ति के लिये स्थान बहुत ही कम था। या तो वे लोग ईश्वर के सम्बंध में उदासीन थे या उसका खंडन करते थे। उसमें भी कई सम्प्रदाय महायान हीनयान आदि हो गये। उस त्रुटि को पूरी करके ईसामसीह ने ईसाई धर्म का प्रचार किया। जैसा बौद्ध धर्म में हुआ था कि पहिले बौद्ध केवल धर्मोपदेशक ही थे पीछे राज्य शासन में भी अपना अधिकार जमाने लगे। वैसे ही ईसाई धर्म भी आरम्भ में धर्म प्रचारक ही था। पीछे वह योरोप में राजधर्म हो गया।

इधर अरब में मुहम्मद साहब ने मुहम्मद धर्म इस्लाम धर्म का प्रचार किया। उनसे पूर्व वहाँ भारत की ही भाँति अनेक देवी देवताओं की पूजा होती थी। मुहम्मद साहब ने इनका विरोध किया और उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रचार किया। मुसलमान धर्म भी आरम्भ में केवल प्रचार करने वाला निःशस्त्र अहिंसात्मक वर्ग था। शनैः शनैः जब इसके हाथ में सत्ता आ गयी तो इसने तलवार के बल से धर्म का प्रचार किया। जहाँ भी ये लोग जाते मूर्तियों को तोड़ते मन्दिरों को नष्ट करते लोगों को दास गुलाम बनाते। इस धर्म में ऐसी मान्यता है

गयी कि जो हमारे धर्म (इस्लाम) को नहीं मानता वह नीच (काफिर) है। उसे मारने मे कुछ दोष नहीं। दोष ही नहीं काफिर को मारने मे बडा पुण्य होता है। और जो उसे मार देता है या मुसलमान बना लेता है उसे बडा पुण्य (सवाब) मिलता है। इसी भावना से प्रेरित होकर ये इस्लाम धर्म को बढाने को भाँति भाँति के अत्याचार करते। ससार मे जितनी क्रूरतायें इस्लाम धर्म को बढाने के लिये की गयी है उतनी किसी भी धर्म के प्रचार के लिये नही की गयीं।

इस्लाम धर्म के अभ्युदय के समय में यहाँ भारत मे बौद्ध धर्म पतन की ओर जा रहा था उसके स्थान पर सनातन वैदिक धर्म का प्रभाव बढता जाता था। अब वैदिक धर्मावलम्बियो ने बौद्ध धर्म से कुछ शिक्षा ग्रहण की। अब उसने अपना द्वार दूसरे धर्मावलम्बियों के लिय और विदेशियो के लिये भी खोल दिया। सम्पूर्ण देशवासी बौद्ध हो चुके थे। उन्हे पुन शुद्ध करके वर्णाश्रमी बनाया गया। इसके लिये भगवान् शकराचार्य ने बहुत उद्योग किया। बहुत से राजाओं की सहायता से बौद्ध धर्म को नष्ट किया। जो ब्राह्मण बौद्ध हो गये थे, उन्हें पुनः शुद्ध किया। वे लोग अपना गोत्र भी भूल गये थे। पडितों ने उनका शकराचार्य गोत्र स्थिर किया। बिहार मे अब भी बहुत से शकराचार्य गोत्र के ब्राह्मण विद्यमान हैं।

राजपूताने म हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण प्रतिहार था। उसकी क्षत्रिय पत्नी से क्षत्रिय प्रतिहारों का उत्पत्ति है। उन्हीं प्रतिहारों में ककुया कक्क नामक एक प्रतिहार बडा ही विद्वान दूरदर्शी हुआ है। उसने देखा कि इस्लाम धर्म की अग्नि भारतवर्ष को नष्ट कर देगी तो उसने समस्त देशी सूर्य चद्रवशी राजाओं को बुलाकर सबकी एक नयी क्षत्रिय जाति बनायी। इससे हूण, गुर्जर, वैश्य, क्षत्रप, प्रतिहार, कुशान, गुप्त परमार, नाग,

तोमर, गुहिल, चौलक्य, चौहान आदि सभी राज करने वाली जातियाँ थीं। जिनका सम्बन्ध सूर्य या चन्द्रवंश से था वे तो सब सूर्य चन्द्रवंशी कहलाये और जो हूण नये ही नये आये थे उनकी कंक संज्ञा हुई। ये सब मिलकर यवनों के आक्रमण को रोकने के लिये सन्नद्ध हुए। सबकी इच्छा थी कि भारतवर्ष में ऐसे हिंसा प्रधान धर्म का प्रसार न हो। यहाँ के मठ मन्दिरों में अतुल सम्पत्ति थी। देश धन धान्य से पूर्ण था। उस समय प्रधान प्रधान सोलह राजवंशोंने ऐसा दृढ़निश्चय किया। इस निश्चयसे विदेशी तो भारतीयों में मिल गये, किन्तु क्षत्रियों को डर था, वह होकर रहा। यवनों ने इस पवित्र देश पर आक्रमण किया और समय के फेर से उन्होंने आर्यजाति पर जो जो अत्याचार किये, जिस जिस प्रकार इसके मठ मन्दिरों और देवताओं का अपमान किया, मुनियो! वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारी वर्णन है उसका मैं वर्णन कर नहीं सकता। इसलिये आप सोलह कंकों से सोलह क्रमशः कंक वंश के राजाओं को न समझें। इसका यही अर्थ लगावें, कि उन दिनों किसी एक वंश का अधिपत्य नहीं था। कंक के उपलक्षण मात्र समझें। गर्दभियों के पश्चात् हूणों का तथा अन्या-न्य क्षत्रियों का भारत में आधिपत्य रहा।

इस्लामी धर्म की उत्पत्ति विक्रम सम्वत् ६६७ में अरब में हुई। लगभग सौ वर्षों तक तो वे मध्य एशिया के अन्य देशों में प्रचार करते रहे। विक्रमी संवत् ७६३ में यवनों ने मुसलमानी धर्म के प्रचार के निमित्त भारत पर आक्रमण करना आरम्भ किया। पहिले तो ये लोग लूट खसोट करने ही यहाँ आते थे और लूट खसोट कर चले जाते थे, फिर शनैः शनैः उन्होंने इस देश पर अपने पैर जमाने आरम्भ किये।

गान्धार देश के समीप ही गजनी एक छोटा सा राज्य है प्रथम वहाँ के राजा ने भारत पर चढ़ाई की, तदनन्तर उसके

पुत्र महमूद गजनी ने तो इतने अत्याचार किये और इतने देव-मन्दिर नष्ट किये, कि उन्हें स्मरण करके रोम रोम काँप उठते हैं। मुनियो! दोष किसे दिया जाय यह तो समय का फेर है। अब क्षत्रियों का बल घट गया। इस देश पर यवनों का अधिपत्य हो गया। अब जिस प्रकार यवन और तुरुष्कवंश का इस देश पर आधिपत्य हुआ उसका वर्णन मैं अत्यन्त ही संक्षेप मे आगे करूँगा। आप सब समाहित चित्त से इस रोमाञ्चकारी वर्णन को श्रवण करें।

छप्पय

यवननि करयो प्रवेश नष्ट मठ मन्दिर कीये।
लूट्यो अगनित द्रव्य विधरमी कछु करि लीये॥
तुरक गुलामनि सौंपि गयो अपनी रजधानी।
मरयो जाय, फिर बने गुलामहु भूपति मानी॥
यवननि के कछु वंश पुनि, बने आततायी नृपति।
अति ई निरदय दस्यु सम, अन्यायी अति क्रूर मति॥

यवन तुरुष्क और गुरुंड

(१३४३)

एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दश वर्ष शतानि च ।
नवाधिकां च नवतिं मौना एकादश क्षितिम् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

होनी ह्वैकें रही यवन भारत चढ़ि आये ।
देवालय करि नष्ट लूटि धन देश सिधाये ॥
पुनि यवननि अधिकार करयो कुल आठ भये नृप ।
फिरि क्रम तें कछु तुरक भये जब छीन भयो तप ॥
फेरि फिरंगी नृप भये, पश्चिम दिशितें आइ कें ।
बनिया तें राजा भये, यवननि आर्य लड़ाइ कें ॥

यह संसार त्रिगुणमय है । जब जिस गुण की वृद्धि होने क समय होता है, तब भगवान् उसी गुण में अपनी विशेष शक्ति सन्निहित कर देते हैं । जब तमोगुण का प्राबल्य होता है तब

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! आभीर, गर्दभी, कङ्क, यवन, तुरुष्क और गुरुण्ड ये सब नृपतिगण एक सहस्र निन्यानवे वर्ष पृथिवी का भोग करेंगे और ग्यारह मौन, तीन सौ वर्ष राज्य करेंगे ।

असुर बढ जाते हैं। वे इतने अजेय हो जाते हैं, कि फिर उन्हें भगवान् के अतिरिक्त कोई जीत ही नहीं सकता। हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष रावण कुम्भ कर्ण, कंस जरासन्ध आदि के समय क्या सत्व प्रधान ऋषि मुनि नहीं थे। नारदादि भगवान् के अवतार नहीं थे। परन्तु इनकी कुछ भी नहीं चली वे लोग मनमानी करते रहे। कितने ऋषि मुनियों को ये लोग मारकर खा गये। कितनी कुलवती सतियों के सतीत्व को इन्होंने नष्ट किया। गौ, ब्राह्मण तथा यज्ञयागों का विनाश किया। जब इनके अभ्युदय का समय बीत गया, तो इनका विनाश हो गया। भगवान् को जब जैसा कराना होता है, तब तैसी ही प्रकृति के पुरुषों में शक्ति भर देते हैं। जब यज्ञयागों के नाम से लोग अपनी वासना को पूर्ण करने को आवश्यकता से अधिक हिंसा करने लगे विशुद्ध यज्ञ न होकर दंभ यज्ञ होने लगे। तब स्वयं भगवान् ही बुद्ध रूप से वेदों का खंडन करने को अवतीर्ण हुए। और यज्ञयागों को बंद ही करा दिया। किन्तु जब भगवान् बुद्ध के नाम से भी कदाचार और दुराचार को आश्रय दिया जाने लगा तब भगवान् शंकराचार्य रूप से अवतीर्ण होकर बौद्ध सम्प्रदाय का ही भारत से अन्त कर दिया।

जब धर्म के नाम से लोग मठ मन्दिरों में नाना भाँति के अन्याय करने लगे। मठ मन्दिर वासना पूर्ति के अड्डे बन गये तो भगवान् ने आसुरी शक्ति को बढ़ाया। आततायी दस्युधर्मी यवन इतने प्रबल हो गये कि अनेक क्षत्रिय राजा के रहते हुए भी उन्होंने उन भगवान् की प्रतिमाओं को तोड़ दिया जिनके सम्मुख कोटि कोटि जन श्रद्धा भक्ति से मस्तक नवाते थे। इसे भगवान् की इच्छा के अतिरिक्त हम और कह ही क्या सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हम पहिले ही बता चुके हैं,

कि गुप्तों के अनन्तर राजपूतों के कई वंशों का भारत के भिन्न-भिन्न खंडों पर आधिपत्य हो गया और वे परस्पर में लड़ने भिड़ने लगे। सीमाप्रान्त की ओर से यवन लोग आआकर भारत में इस्लामी धर्म का प्रसार करने के लिये अपना राज्य स्थापित करने लगे कुछ सिन्ध में आकर जम गये।

विक्रमी सम्वत् १०३४ में एक अमीर सुबुक्तगीन ने भारत पर चढ़ाई की। उसने सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया और वहाँ अपना एक राज्याधिकारी छोड़ अपनी राजधानी गजनी चला गया। जब वह मर गया तो उसका उत्तराधिकारी महमूद गजनी हुआ। पहिले तो ये सब लोग बलख बुखारे के राजाओं के आधीन माने जाते थे। अब गजनी के राजा अपने को स्वतन्त्र मानने लगे। अफगानिस्तान आदि सभी देश उसने अपने अधीन कर लिये सभी मुसलमानी नरपति गण उससे भय खाने लगे। उसके पिता ने भारत के कुछ भाग पर प्रथम ही अधिकार कर लिया था। उसे पता था भारतीय क्षत्रिय नृपतिगण परस्पर में ही लड़ते रहते हैं। भारत परम समृद्धि-शाली देश है अतः उसने भारत पर चढ़ाई की मुनियो! यह कितने आश्चर्य की बात है कि यवन दस्यु यहाँ के देवालयों को नष्ट करे मूर्तियों को तोड़े धन का अपहरण करे और मारा जाय इसे दैवेच्छा के अतिरिक्त और क्या कहें।

वह जिस देश को भी विजय करता वहाँ के मन्दिरों को नष्ट करा देता मूर्तियों को तुड़वा देता। विक्रमी सम्वत् १०८२ में उसने प्रभासपट्टन के सुप्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर को नष्ट करके उसकी मूर्ति के खंड खंड कर दिये। वहाँ से वह करोड़ों रुपयों का धन लूट कर ले गया। उसने कुछ प्रान्तों पर अपना अधिकार भी जमाया पीछे उसके वंशजों के निर्बल हो जाने पर भारतीय राजाओं ने उन भागों को छीन लिया। कुछ भागों पर उसके

वंशजों का भी स्वत्व रह गया था। लवपुर (लाहौर) में गजनी के राजाओं की ओर से एक शासनाधिकारी रहता था।

गजनी और हिरात देश के मध्य में गोर नामक एक छोटा सा देश था। उस पर भी यवनों का ही राज्य था ये सब यवन राजे आपस में भी लड़ने लगे। अब इनकी धर्मप्रसार की भावना तो विलुप्त हो गयी। सबकी भावना यह हो गयी कि भारत वर्ष सुवर्ण को उत्पन्न करने वाला पक्षी है। गजनी का राजा यहाँ से असंख्यों मन सुवर्ण ले गया था। गोर देश का राजा जब गयासुद्दीन गोरी हुआ तो उसकी भी लालसा हुई कि मैं भी भारतवर्ष पर चढ़ाई करके वहाँ के धन की लूट से ऐश्वर्यशाली बन जाऊँ। उसने अपने भाई शहाबुद्दीन गोरी को अपना सेनापति बनाकर भेजा। उसने भी यहाँ क्षत्रियों से युद्ध किया लूट-पाट की।

उस समय भारतवर्ष में चौहान राजपूतों की प्रबलता थी। इन्द्रप्रस्थ के सिंहासन पर पृथिवीराज चौहान विराजमान थे। उनकी यवनों से कई बार लड़ाई हुई। कई बार उन्होंने यवनों को परास्त किया। उस समय ऐसा लगता था, कि अब यवन सदा के लिये इस पवित्र देश से चले जायँगे, किन्तु भावी प्रबल थी। काल को कुछ और ही कराना था। यवन सेनापति परास्त होने पर भी हतोत्साह नहीं हुआ। शहाबुद्दीन ने पुनः पुनः चढ़ाई की। अन्त में थाणेश्वर में भारत के अंतिम सम्राट् पृथिवीराज चौहान बन्दी बनाये गये और कारावास में ही उस वीर सम्राट् का देहावसान हुआ मानों भारत का सूर्य ही अस्त हो गया। अब भारत में यवनों के भलीभाँति पैर जम गये।

शहाबुद्दीन गोरी तो अपने देश को लौट गया वह अपने दास (गुलाम) कुतुबुद्दीन ऐबक को जो उसका सेनापति भी था उसे यहाँ का राज्याधिकारी बना गया। उसने यवन राज्य का यहाँ

बहुत विस्तार किया। संयोग की बात शहाबुद्दीन गोरी जब लवपुर से लौट रहा था मार्ग में ही उसे गक्खर जाति के लोगों ने मार डाला। उसके अनन्तर उसका भतीजा गयासुद्दीन महमूद उसका उत्तराधिकारी हुआ। भारतवर्ष में तो कुतुबुद्दीन ऐबक (गुलाम वंश) यवन दिग्विजय कर ही रहा था। पीछे से गौर के राजाओं ने उसे भारत का राजा बना दिया। या वह स्वयं ही अपनी रणचातुरी और वीरता से राजा बन गया। जिस देश पर अब तक वर्णाश्रम धर्मावलम्बी क्षत्रियों का शासन था उस पर यवन के दासवंश (गुलामवंश) शासन हुआ। इसलिये आठ यवन वंशों में सर्व प्रथम वंश गुलामवंश हुआ। इसलिये शहाबुद्दीन गोरी को प्रथम भारत सम्राट् न कहकर गुलाम वंश के कुतुबुद्दीन ऐबक को प्रथम यवन सम्राट् कहना चाहिये।

कुतुबुद्दीन ऐबक विक्रमी सम्वत् १२०६ में दिल्लीश्वर बना और चार वर्ष राज्य करके सम्वत् १२१० में वह घोड़े से गिर कर मर गया। नियमानुसार उसका पुत्र आरामशाह सम्राट् हुआ, किन्तु ये तो दस्युधर्मी थे। इनके यहाँ वंश परम्परागत राज्य के प्रति श्रद्धा नहीं थी। इसलिये कुतुबुद्दीन ऐबक का भी दास (गुलाम का भी गुलाम) शम्सुद्दीन अल्तमस आरामशाह को बन्दी करके स्वयं राजा बन गया। यह यवनों का दूसरा वंश हुआ। इस गुलाम के भी गुलाम वंश में आठ राजा हुए। इनमें छटा राजा नासिरुद्दीन धर्मात्मा हुआ। आठवाँ राजा मुइसुद्दीन कैकूबाद हुआ इसके अनन्तर तीसरा खिलजीवंश का अधिकार हुआ खिलजीवंश के ६ राजा हुए। फिर चौथा तुगलक वंश आया उसके भी दश राजा हुए। फिर पाँचवाँ सैय्यद वंश आया उसके चार राजा हुए फिर छटा लोदी वंश आया। उसके तीन राजा हुए। फिर सातवाँ (तुरुष्क वंश) मुगल वंश आया उसमें बाबर और हुमायूँ दो राजा हुए। हुमायूँ को परास्त करके चुनार-

गढ़ के राज्याधिकारी शेरशाह सूर ने उसका राज्य छीन लिया। इस प्रकार आठवाँ यवनों का वंश सूर वंश हुआ। इसमें पाँच राजा हुए। इस प्रकार यह आठ यवन वंशों का राज्य साढ़े तीन सौ वर्ष के लगभग रहा।

शेरशाह से पराम्त होकर मुगलवंशीय तुरुष्क हुमायूँ जो बाबर का पुत्र था ईरान चला गया वहाँ से सैन्य संग्रह करके वह भारत में आकर विक्रमी सम्वत् १६१२ मे पुनः भारत का सम्राट् हुआ और अन्त तक इसी वंश का राज्य रहा। इस तुरुष्क वंश के चौदह प्रतापी राजा हुए। पन्द्रहवें राजा के समय से गुरुण्डों का आधिपत्य हो गया। वैसे तो तीन राजा और भी इस वंश में नाम के हुए, किन्तु उन्हें राजा न कहकर गुरुण्डों (श्वेत हूणों फिरङ्गी और अङ्गरेजो) का वेतन भोगी ही मानना चाहिये। इसलिए इस वंश के चौदह ही राजा प्रधान हुए। इनमें पाँचवाँ राजा औरङ्गजेब अत्यन्त ही क्रूर हुआ। मुनियो! इन यवन राजाओं मे दो चार को छोड़कर सब बड़े क्रूर वैदिक आर्य धर्म के शत्रु गौ, ब्राह्मण द्वेषी मन्दिरों के विध्वन्सक तथा आर्य धर्म के शत्रु हुए। इन्होंने आर्य धर्म पर जो जो अत्याचार किये उन्हें कहने की मेरी जिह्वा में शक्ति नहीं। कालात्मा भगवान् की कृपा से ही यह सब हुआ।

इस पर शौनक जी ने आँसू पोंछते हुए अत्यन्त ही दुःख के साथ कहा—"सूतजी! किसी को कोई भी सुख दुख नहीं देता सभी अपने कृत कर्मों का फल भोगते हैं। सब के दिन एक से नहीं रहते। सब की सत्ता एक सी नहीं रहती। राज्यलक्ष्मी तो चञ्चला है, वह तो रथ के चक्र के समान ऊपर नीचे आती जाती रहती है। महाराज! अधिक उदारता का ही यह फल है, कि यवनों ने इस देश पर अधिकार कर लिया। यवनों ने आर्यों की धर्मभीरुता से अनुचित लाभ उठाया। आर्यों ने कभी ऐसी चेष्टा

नहीं की, कि विधर्मियों को अपने धर्म में मिलाया जाय। बौद्ध-धर्म तो विदेशी धर्म नहीं था इसलिये बौद्धों को मिला लिया गया। मुसलमानों के आने के पहिले धर्म के सम्बन्ध में तो यहाँ कोई मतभेद था ही नहीं। प्रतीत होता है, धार्मिक असहिष्णुता तो यवनों के आने पर ही हुई ?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! यही बात है। आर्य वैदिक वर्णाश्रम सदा से उदार रहा है, इस धर्म ने कभी यह चेष्टा नहीं कि बलपूर्वक कोई हमारी मान्यताओं को स्वीकार कर ले। इस धर्म का तो मुख्य सिद्धान्त है ये "यथामां प्रपद्यन्ते तांस्ततैव भजाम्यहम्" जो जिस भाव से भगवान् को भजता है भगवान् भी उसे उसी भाव से फल देते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पारसियों के प्रति की हुई उदारता ही है।

ईरान में पहिले भारतवर्ष से गये हुए आर्य ही बसते थे, वे यहाँ की भाँति देवी देवताओं को पूजते और अग्नि की उपासना करते थे। जब मुहम्मदी धर्म का प्रचार करने मुसलमान वहाँ पहुँचे तो वहाँ भी इन्होंने ऐसे ही अत्याचार किये। देवालयों को नष्ट किया और बल पूर्वक मुसलमान बनाने लगे। जो मुसलमान नहीं बनते थे उनकी तुरन्त हत्या करने लगे। प्राणों के भय से बहुतों ने धर्म छोड़ दिया और बहुत से मुसलमान बन गये कुछ परिवार जो धर्म को प्राणों से भी अधिक प्रिय मानते थे वे जल मार्ग से पोतों द्वारा भागकर भारतवर्ष में आ गये। भारत के राजा ने उनका स्वागत किया उन्हें स्थान दिया। कोई दूसरा अनार्य क्रूर शासक होता, तो इन मुट्ठीभर लोगों को या तो दास (गुलाम) बना लेता, या उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करता किन्तु भारत का तो सदाचार, प्रतिज्ञापालन और उदारता सब से ही परमधर्म रहा है। भारतीय नरेश ने उन्हें रहने को स्थान दिया धर्म की स्वतन्त्रता दी और व्यापार करने की आज्ञा दी

अब तक वे पारसी के नाम से अवस्थित हैं। आज से लगभग १२००-१३०० वर्ष पूर्व जो अपनी पूजा की अग्नि लेकर वे अपने देश से आये थे, वह उनकी ज्यों की त्यों अक्षुण्ण बनी है किसी भारतीय नरेश ने कभी उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। वे भारतीयों में ऐसे घुल मिल गये हैं कि इसी देश को वे अपना समझते हैं। यवनों के पश्चात् तुरुष्कों की प्राधान्यता रही।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तुरुष्कों में और यवनों में अनन्तर क्या है। एक बार तो आप तुरुष्कों की यवनों में गणना कर ही चुके हैं, फिर आप तुरुष्कों की गणना पृथक् क्यों करते हैं?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज! तुरुष्क भी यवनों के अन्तर्गत हैं। भारतीय आर्य धर्म को न मानने वाले दस्युधर्मी सभी यवन के नाम से पुकारे जाते हैं। इस देश में मुसलमानों ने आकर बहुत अन्याय और अत्याचार किया इसलिये यह शब्द मुसलमानों के ही लिये व्यवहृत होने लगे। वैसे तो जब मुसलमान धर्म की उत्पत्ति भी नहीं थी, तब भी सिकन्दर आदि जो यूनान आदि देशों से आये थे वे सब यवन कहलाते थे। पुराणों में किरात हूण, यवन सभी के नाम आते है। यहाँ यवन शब्द सभी सम्मिलित वंशों के लिये व्यवहार किया गया है, इसी लिये उनकी वंश परम्परा के राजाओं की गणना न करके उनके वंशों की ही गणना की गयी है। वास्तव में यवन यहाँ राज्य तो करते थे, किन्तु वे अपने को विधर्मी के साथ ही साथ विदेशी भी मानते थे। इसलिये एक दूसरे को मार कर राज्य को हस्तगत करने किसी वंश के दो राजा हुए किसी के चार किसी के दस। इसलिये इन सब की पृथक् पृथक् गणना न करके एक में ही कर दी।

बाबर का पुत्र हुमायूँ भी ८-९ वर्ष राजा रहा। उसे सूरवंशी

यवनों ने मार कर भगा दिया और स्वयं राजा बन बैठे। १६ वर्ष में पाँच राजा सूर्यवंश के भी हो गये। अन्त में हुमायूँ ने आकर फिर सूर्यवंशियों से अपना राज्य छीन लिया और भारत को ही अपना स्वदेश समझकर राज्य करने लगा। ये लोग तुरकिस्तान के थे। आर्य जाति के ही वंशज थे। इसलिये ये दस्युधर्म छोड़कर भारतीय राजाओं की भाँति न्याय पूर्वक राज्य करने लगे। अर्थात् ये कुलीन राजवंशों की भाँति प्रजा के हित का ध्यान रखने लगे। यहाँ तक कि हुमायूँ का पुत्र अकबर तो वैदिक धर्म में दीक्षित होने को भी उद्यत था, किन्तु भारतीय प्रथम ठगे जा चुके थे। उन्हें इन यवनों का कटु अनुभव था। इसलिये उस की इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। फिर भी उसने आर्य कन्याओं से विवाह किया। उन रानियों का धार्मिक स्वतन्त्रता थी। उसका जो पुत्र जहाँगीर हुआ उसने भी भारतीय आर्यकन्या से विवाह किया उसका पुत्र और औरंगजेब अत्यन्त खल और भारतीय वैदिक धर्म का द्वेषी हुआ और उसीके अन्याय अत्याचारों से तुरुष्क वंश के राज्य की जड़ें खोखली हो गयीं। मुनियो! मेरा उद्देश्य इन अन्यायी अधर्मी राजाओं का चरित्र सुनाने का नहीं है इसलिये मैं इन बातों को कहना नहीं चाहता ये तो ग्राम्य कथायें हैं।

तीसरे तुरुष्क जहाँगीर के समय से ही विदेशी व्यापारी समुद्र मार्ग से भारत में आने लगे। इससे पूर्व भारतवर्ष ही एक सभ्यता सदाचार और धर्म का मूल स्थान माना जाता था। यहाँ से जो लोग चले जाते थे वे ही विदेशों में अपना अधिकार जमा लेते। यहाँ से दो प्रकार के लोग जाते थे। एक तो आर्य व्यापारी और दूसरे उनके साथ अनार्य सेवक, जो नौका चलाने और अन्य सेवा सम्बन्धी कार्य करते थे। विदेशों में जाकर बस जाते और वहाँ की जलवायु के कारण उनके अंग गौर वर्ण के हो जाते।

धर्माचार्यों ब्राह्मणों के संसर्ग से पृथक् होने के कारण उनके आचरण म्लेच्छों के से हो जाते और वे सदाचार से हीन हो जाते। भारत से उनका व्यापार सम्बन्ध तो होता किन्तु प्रत्यक्ष नहीं परम्परागत होता। वे लोग भारत को भूल ही गये थे। भारत धर्म

। सदाचार मे समृद्धि मे सर्वश्रेष्ठ था, अतः इन असभ्य या र्ध सभ्य देशों की ओर ध्यान ही नहीं देता था। ये लोग किसी कार जलमार्ग से यहाँ व्यापार करने आ गये। व्यापारियों को ारतीय लोग अपनी प्रजा मे श्रेष्ठ मानते थे। इसीलिये व्यापारी श्य श्रेष्ठ या सेठ कहे जाते हैं।

आर्य राजाओं का यह मुख्य धर्म है, कि वह अपने राज्य में

व्यापार करने वाले व्यापारियों की भय भाँति रक्षा करे। जिसके राज्य में व्यापारी सुरक्षित नहीं होते वह दस्यु राज्य समझा जाता इस परम्परा को तुरुष्कों ने भी पालन किया। ये गुरुंड लोग प्रथम यहाँ व्यापार करने ही आये थे। किसी को स्वप्न में भी इस बातका अनुमान नहीं था कि व्यापारी भी कभी राजा बन सकता है। इस लिये तुरुष्कों ने इन श्वेत गुरुण्डों को व्यापार करने की आज्ञा दे दी। इन्होंने छलबल से अनेक युक्तियों और बुरे कौशलों से पर-स्पर में फूट डालकर अपनी शक्ति बढ़ा ली और पीछे ये व्यापारी से राजा बन गये। मुनियो! विधि की ऐसी विडम्बना है।

तीसरे तुरुष्क राजा जहाँगीर के समय में ये आये और उनकी उदारता से इन्होंने सैन्य बल बढ़ा लिया फिरङ्गी लोग प्रथम तो अपने को भारतीय सम्राटों के प्रजा कहते थे।

चौदहवें तुरुष्क राजा शाहजहाँ (दूसरे) के समय में तो ये पूर्णरूप से राजा ही बन गये। नाममात्र को तीन तुरुष्क राजा और भी हुए किन्तु वे गुरुण्डों के बन्दी या वेतनभोगी दास थे। सम्पूर्ण देश में इन गुरुण्डों का ही आधिपत्य हो गया लगभग दो सौ वर्ष इन गुरुण्डों का आधिपत्य इस देश में रहा। पाँच तो अप्रत्यक्ष और पाँच प्रत्यक्ष, इस प्रकार ये दश गुरुण्ड राजा हुए।

ये गुरुण्ड इतने असंस्कृत छली और विश्वास घाती थे कि इन्होंने भारतीयों को धर्म सदाचार से हीन बना दिया। मुनियो जितना अधर्म असदाचार विश्वासघात इन डेढ़ सौ दो सौ व में इन विदेशी श्वेत गुरुण्डों ने फैलाया उतना बलपूर्वक अत्य चार करके यवन तुरुष्क कोई भी न फैला सके। इन्होंने प्राचं भारतीयता का विनाश करके लोगों के मस्तिष्क में छल प्रप भर दिया। इन लोगों ने अधर्म को ही धर्म माना, दुराचार ही सदाचार सिद्ध किया और भोग को ही जीवन का चरम ल

कहा। इस समय मे भौतिक वस्तुओं का भोग सामग्रियों का आसुरी शक्ति का विकाश अवश्य हुआ किन्तु ये सब आविष्कार सदाचार धर्म के लिय विनाश ही सिद्ध हुए। ये गुरुण्ड लोग भारत को छोड़कर चले तो अवश्य गये, किन्तु अपनी कुप्रवृत्तियों और कुशिक्षा को यहाँ छोड गये जिसका परिणाम भारतीयों को कई पीढियो तक भोगना पड़ेगा।"

शौनकजी ने कहा—'सूतजी! आपने ये कथायें बहुत ही सक्षेप मे कही। अच्छा ही किया इन अधर्मियों की कथा सुनने मे हमें रुचि भी नहीं अब यह बताइये गुरुण्डो के पश्चात् किनका राज्य होगा?"

इस पर सूत जी ने कहा—'मुनियो! यह विषय ऐसा है कि इस विषय को आप न पूछें तो ही अच्छा है।"

शौनक जी ने पूछा—"क्यों सूतजी जब आपने गुरुण्डो तक बताया तो आगे भी बताइये।"

सूतजी ने कहा—"महाभाग! मैं बताऊँगा तो अवश्य, किन्तु इसे बहुत ही सक्षेप मे केवल निर्देशमात्र ही करूँगा और इसका कारण भी बताऊँगा। आप सब सावधान होकर इसे सुनें।"

छप्पय

ये दश भये गुरुण्ड फिरङ्गी नृप व्योपारी।
छल कर कीयो राज सबनि की बुद्धि बिगारी॥
होवें ग्यारह मौन चार मिलि क नृप सुनि।
तेरह बाह्लिक होहिँ क्षात्र द्वै आ ध्र सात पुनि॥
मगध पुरञ्जय क्रूर नृप, यदु पुलिन्द अरु भद्र में।
क्षत्रिय, द्विज अरु वैश्यकूँ, सबनि मिलावें शूद्र में॥

कलियुग के अन्यान्य नृपतिगण

(१३४४)

तुल्यकाला इमे राजन्म्लेच्छ प्रायाश्चभूभृतः ।
एतेऽधर्मानृत पराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः ॥
स्त्री बाल गो द्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः ।
उदितास्तमित प्राया अल्प सत्त्वाल्पकायुषः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० ४०, ४१श्लो०)

छप्पय

फिरि सुराष्ट्र आभीर शूर अर्बुद के द्विजगन ।
म्लेच्छ सरिस बनि जायँ व्रात्य ह्वै जावें सब जन ॥
म्लेच्छ व्रात्य अरु शूद सिन्धु कश्मीर पंचनद ।
इनि देशनि बनि नृपति देहि म्लेच्छनिकूँ सब पद ॥
खण्ड खण्ड बनि देश के, पृथक नृपति बनि जायँगे ।
द्विज द्रोही लोभी परम, प्रजनि क्लेश पहुँचायँगे ॥

संसार के प्राणी अँधेरे में भटक रहे हैं। कल क्या होगा इसका पूर्ण ज्ञान किसी को नहीं है। शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि पुरुष के भाग्य को दैव भी नहीं जानता। भविष्य की

---

*श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! ये जितने भी कलियुगी राजे गिनाये हैं यह नहीं कि क्रम से एक के पश्चात् एक हों। जो बताये हैं ये एक काल में ही होंगे। ये अधर्म और असत्य में तत्पर रहेंगे। अल्प दानी और अत्यन्त क्रोधी होंगे। ये लोग स्त्री, बालक गौ और द्विजों की हत्या करने वाले परधन परनारी के लोलुप क्षण क्षण में रुष्ट और तुष्ट तथा अल्प वीर्य और अल्पायु होंगे।"

घटनायें काल के गर्भ में छिपी रहती हैं। यह मनुष्य प्राणी अपने को सब से अधिक बुद्धिमान और चतुर समझता है। जो सैकड़ा सहस्रा वर्षों से बैठे बैठे विज्ञान बनाया करता है, इसे भी इस बात का यथार्थ ज्ञान नहीं कि अगले क्षण में क्या होगा। अभी अच्छे भले भोजन करके काम से जा रहे हैं। सायकाल को यह करेंगे, कल वहाँ जायेंगे, फिर वह करेंगे ऐसी अनेकों बातें सोचते जाते हैं, सहसा पैर फिसल गया हड्डी टूट गयी। सब विधान धरे के धरे ही रह गये। चारपायी पर पड़ गये। आज कोट्याधीश हैं अपने बराबर किसी को समझते नहीं। रात्रि में दस्युओं ने आक्रमण किया सर्वस्व छीन लिया द्वारद्वार के भिखारी बन गये। यह इतना बड़ा बुद्धिमान प्राणी भविष्य के सम्बन्ध में कितना पराधीन है, कैसी इसकी दयनीय दशा है कैसी इसकी विवशता है। यदि सभी को अपने भविष्य की बातें मालूम होतीं तो लोग दुखी क्या होते। भगवान् ने इन प्राणियों को इतना अपंग क्यों बनाया ?

एक प्रकार से अच्छा भी है हम भूत को भूल जाते हैं भविष्य के विषय में अनभिज्ञ रहते हैं इसीलिये कार्यों में व्यस्त रहते हैं, पुरुषार्थ करते हैं। यदि सब को भविष्य की बातों का ज्ञान हो जाय, तो मनुष्य चिन्ता और दुख के ही कारण मर जाय, जिसे प्राण दण्ड की राजा की ओर से आज्ञा हो जाती है और उसे विश्वास हो जाता है, कि आज से इतने दिन पश्चात् मेरे प्राण ले लिये जायगे, तो उसकी कैसी दशा हो जाती है। उसकी वह दशा मृत्यु से भी अधिक भयावह है। वह एक मात्र इसी आशा पर कष्ट से जीता रहता है कि सम्भव है राजा दया करके मुझे प्राण दान दे दे। इन सब बातों से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं, कि भगवान् ने जो भी किया उचित ही किया। सर्व साधारण

भविष्य के विषय में अन्धकार में ही बने रहें तभी उनका कल्याण है। तभी वे जीवनयात्रा में अग्रसर हो सकते हैं।

सर्वज्ञ ऋषि मुनि त्रिकालदर्शी होते हैं। वे भूत भविष्य और वर्तमान सभी समय की बातें जानते हैं। ज्योतिष आदि से भी भविष्य की बातें जानी जाती हैं, किन्तु वे सर्वथा पूर्ण सत्य ही निकलें इसकी कोई प्रतीक्षा नहीं। कभी कभी वे बातें असत्य भी निकल जाती हैं। इसीलिये त्रिकालदर्शी ऋषि मुनि भविष्य की बातों को स्पष्ट नहीं बताते संकेत से बताते हैं। जैसे वशिष्ठ जी तो त्रिकालज्ञ थे। वे सब जानते थे। श्री रामजी राजा न होंगे, वे वन को जायँगे। किन्तु जब राजा ने उनसे आग्रह किया कि कि 'उन्हें राजा बना दो शुभ मुहूर्त बता दो, तो वशिष्ठ जी ने कहा—श्री रामचन्द्र जी जब भी राजा हो जायँ तब ही शुभ मुहूर्त है। आप अमुक दिन राज तिलक का निश्चय करें। दैव पूरा कर दें तो अच्छा ही है।" इसलिये भविष्य के विषय में बहुत उत्सुकता न करनी चाहिये। जो होने वाला होगा, वह होकर ही रहेगा उसे कोई टाल नहीं सकता। न होने वाला होगा वह कभी हो ही नहीं सकता मंगल के ही लिये करेंगे। शिव की कोई भी चेष्टा अशिव हो ही नहीं सकती। जो हो गया सो तो हो ही गया। उसके विषय में सोचना व्यर्थ है। जो होने वाला है वह होकर ही रहेगा उसे कोई भी टाल नहीं सकता। अतः भूत भविष्य का विचार छोड़कर वर्तमान पर ही दृष्टि रखनी चाहिये। जिसका वर्तमान बन गया उसका भूत भविष्य कभी बिगड़ ही नहीं सकता।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने जो महाराज परीक्षित को उनके पुत्र के पश्चात् के जितने राजाओं का वृत्तान्त सुनाया, उस समय गुरुडों तक वे सब भविष्य के गर्भ में छिपे हुए थे अब मैं जो जन लोक में आप सब को यह कथा सुना रहा हूँ, इस समय तक गुरुडों तक ये सब राजा हो चुके और भूत

के गर्भ में जाकर पुनः छिप गये। गुरुण्डों से आगे जो मौन आदि राजा होंगे, वे अब भविष्य के गर्भ में छिपे हैं। गुरुण्डों के पश्चात् अब इस धरा धाम पर मौनों का अधिपत्य होगा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! मौनों से आपका तात्पर्य किनसे है?"

सूतजी बोले—"महाराज! मौन शब्द के तीन अर्थ हैं, मुनियों के गोत्र वाले वर्णाश्रम धर्मी, मौन व्रत को धारण करने वाले और मुनि (बुद्धभगवान्) को अपना आचार्य मानने वाले। अर्थात् अब भारतवासी और चीन जापान जैसे बौद्धधर्मावलम्बी पुरुषों का ही पृथिवी पर आधिपत्य रहेगा। अब तक जो गुरुण्ड ही अपने को सम्पूर्ण भूमि का अधिपति माने बैठे थे वैसा न होगा अब उनकी सीमा अपने अपने देशों में ही रहेगी। ऐशियायी जातियाँ ही बल शालिनी बनेंगी। गुरुण्डों ने आकर भारतियों की धर्मभावना को बड़ी हानि पहुँचायी। इन्होंने भोगवाद का ही प्रचार किया। नाना भाँति के वाष्पयानों से दुर्गुणों का ही प्रचार किया। मौनों के शासन में पुनः धर्म का प्रसार होगा। लोग अधार्मिक प्रवृत्तियों से ऊब कर फिर एक बार बड़ी भावुकता से भगवान् को मानने पूजने लगेंगे। अब से तीन सौ वर्षों तक मौनों का साम्राज्य रहेगा। ये ग्यारह नृपतिगण तीन सौ वर्षों तक शासन करेंगे।

फिर किलकिला नगरी में एक भूतनन्द नामक राजा होगा। वह मौनों से अधिकार छीनकर स्वयं राजा बन जायगा। फिर बङ्गिरी, बङ्गिरी का भाई शिशुनन्दि तथा यशोनन्द और प्रचोरक ये राजा होंगे। ये सब एक सौ छै वर्ष तक राज्य करेंगे। इनके तेरह पुत्र होंगे जो बाह्लिक नाम से विख्यात होंगे। ये सब के सब राजा संकरवर्ण के होंगे किन्तु अपने को क्षत्रिय ही कहेंगे। इनके पश्चात् क्षत्रिय वंश का राजा पुष्पमित्र होगा। उसका पुत्र दुर्मित्र

होगा। इसके पश्चात् कोई शक्तिशाली राजा न रहेगा। देश के खण्ड खण्ड हो जायँगे। वाल्हीक वंशीय तेरह राजाओं के पुत्र कुछ भूमि के अधिपति हो जायँगे। आन्ध्र देश के सात राजा, और काशल देश के सात राजा होंगे। विदूर देश निषध देशों के राजा भी कई होंगे। फिर कोई सार्वभौम प्रतापी राजा न रहेगा, जिसकी बात सभी माने और सभी राजा गण जिस से मैत्री के लिये उत्सुक रहें।

मगध देश में एक विश्वस्फूर्जि नाम का राजा होगा। वह अपने को पुरञ्जय के नाम से प्रसिद्ध करेगा। यह पुरञ्जय पूर्वोक्त पुरञ्जय से पृथक होगा। पिछले क्षत्रिय और दूसरे राजा वर्णाश्रम धर्म को मानने वाले होंगे, किन्तु यह पुरञ्जय बड़ा दुष्ट अधार्मिक होगा। यह वृषल व्रात्य जिन जिन देशों को जीतेगा—जैसे पुलिन्द, यदु, तथा मद्रादि देशों को—उनमें जितने ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य होंगे उन सब को बलपूर्वक एक कर देगा। जाति और वर्णों को तोड़ कर सब को आचारभ्रष्ट करके म्लेच्छों के समान बना देगा। सभी का सब के साथ विवाह कराने लगेगा। सभी को बलपूर्वक एक पंक्ति में बिठा कर खिलावेगा।

यह पुरञ्जय कुछ प्रभावशाली होगा। यह मगध से आकर पद्मावती पुरी में अपनी राजधानी बनावेगा। गंगा यमुना के मध्य में पवित्र देश पर इसका आधिपत्य हो जायगा, जो कि वर्णाश्रम धर्म का हृदय और आदि स्रोत है। यह दुर्बुद्धि राजा वर्णाश्रम धर्म को पूर्ण रीत्या तो न मेट सकेगा, किन्तु अधिकांश ब्राह्मणों को शूद्र प्रायः बना लेगा। क्षत्रियों से अधिकार छीन लेगा। क्षत्रियों को शासन से निकाल बाहर करेगा। सब को वृषल सदृश बना लेगा और हरिद्वार से तीर्थराज प्रयाग के परम पवित्र भूमि पर अपना शासन करेगा।

इसके अनन्तर सुराष्ट्र, अवन्ती, आभीर, शूर, अर्बुद और

मालवा आदि देशों के राजा भी शूद्र प्रायः हो जायँगे। इन देशों के ब्राह्मण भी संस्कारहीन धर्म कर्म से रहित शूद्रों के समान ही बन जायँगे। सिन्धु देश, चन्द्रभागा के पञ्चनद आदि देश, कौन्ती पुरी कश्मीर मण्डल इन सब में होंगे तो आर्य ही राजा किन्तु वे आर्य राजा संस्कारहीन होंगे। ब्राह्मण भी होंगे तो ब्रह्म तेज से हीन ही होंगे। आचार विचार से रहित होंगे। बहुत से म्लेच्छ भी आर्यों का सा वेष बना कर राजा बन जायँगे।

फिर कोई एक प्रभावशाली उच्च कुलीन वंशीय राजा नहीं रहेगा। सभी म्लेच्छों के समान हो जायँगे। कुलीनता का प्रश्न ही मिट जायगा। जिसके पास शक्ति होगी वही राजा बन बैठेगा। एक ही समय में बहुत से राजा हो जायँगे। ये आपस में लड़ते रहेंगे। धर्म से हीन होने के कारण सभी निस्तेज होंगे उनके यहाँ सत्यासत्य का विचार ही न रहेगा। बात बात पर झूठ बोलेंगे। जो जितना ही छल प्रपञ्च करके झूठ बोल कर अपना स्वार्थ सिद्ध करेगा वह उतना ही अधिक बुद्धिमान माना जायगा। वैसे तो ये दान धर्म से दूर ही रहेंगे, यदि किसी का दान भी देंगे तो अति अल्प मात्रा में। एक पैसा दे दिया तो समझेंगे हमने बहुत बड़ा दान कर दिया। ये क्षण क्षण में रुष्ट होने वाले क्षण क्षण में तुष्ट होने वाले नाम मात्र के राजा बड़े ही चञ्चल चित्तवाले होंगे। ये अल्प वीर्य होंगे। इनकी आयु भी अल्प ही रहेगी। कोई दश दिन राजा रहा तो कोई बीस दिन। इनके कोई संस्कार भी न होंगे। सब संस्कारों से शून्य तथा धार्मिक क्रिया कलाप से रहित होंगे। क्रोध की तो साक्षात् मूर्ति ही होंगे। स्त्रियाँ, बालक, गौ और ब्राह्मण सदा से अवध्य माने जाते हैं। ये कलियुगी राजागण इन सब को बात की बात में मरवा डालेंगे। दूसरे की जहाँ कोई सुन्दरी स्त्री देखी कि तुरन्त उसे छीन लेंगे। दूसरों के धन को बल पूर्वक छीन लेंगे। ये केवल नाम मात्र के राजा होंगे, किन्तु वास्तव

में इन्हें राजा न कह कर म्लेच्छदस्यु ही कहना चाहिये। प्रजा में जिसे भी धनी देखेंगे उसका दिन दहाड़े धन लूट लेंगे। इनके कर्मचारी भी वैसे ही होंगे। प्रजा के लोग भी परस्पर में लड़ते भिड़ते रहेंगे। सर्वत्र अराजकता फैली रहेगी। कोई अच्छा राजा हो गया तो फिर बुरा हो गया। प्रायः अधिकांश में बुरे ही राजा होंगे। प्रजा के लोग सदा अशान्त बने रहेंगे। लड़ते लड़ते सब का अन्त हो जायगा। घोर कलियुग आ जायगा जब कलियुग का अन्त होने को होगा तो कल्कि भगवान् का अवतार होगा।

शौनकजी ने कहा—"सूत जी! यह तो आपने बहुत ही संक्षेप में भविष्य के राजाओं का वृत्तान्त बताया।

सूत जी ने कहा—"महाराज! इन अधार्मिक राजाओं का तो मैंने प्रसंग लगाने को वर्णन कर दिया है। इनका तो चरित्र अन्याय करना अधर्म का आश्रय लेकर विषय भोगों को भोगना यही है। इसलिये मैंने जितना भी कहा है बहुत कहा है। गुरुण्ड राजा इस देश को छोड़ कर चले गये, अब मौनों की प्रबलता पृथिवी पर होगी।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! इस भारतवर्ष में यह बहुत बड़ी बात हो गयी, गुरुण्ड इस देश को छोड़ कर चले गये। विदेशियों का शासन हट कर स्वदेशी लोगों का हो गया। परतन्त्र से देश स्वतन्त्र हो गया, किन्तु इतनी भारी घटना का वर्णन आप की पुराणों में कहीं नहीं है।"

सूत जी ने कहा—"है क्यों नहीं महाराज! सभी जानते हैं गुरुण्ड गोरे रंग के शीत प्रधान देश में रहने वाले विदेशी हैं। मौनी मुनियों को मानने वाले स्वदेशी हैं। यह तो प्रत्यक्ष ही सिद्ध है कि विदेशी गुरुण्ड जब चले जायँगे, तो स्वदेशी मौनों का राज्य होगा। इतना सब होने पर भी महाराज! पुराण कर्ताओं की दृष्टि में स्वदेशी विदेशी का भेद कभी नहीं रहा। उनकी दृष्टि

तो सदा धर्म पर रही है। जो धर्मात्मा हैं भगवान् के भक्त हैं उनके गुणों का गान करना। जो आततायी है, अधर्मी हैं, अत्याचारी हैं उनकी उपेक्षा करना। फिर चाहें वे देशी हों विदेशी हों। जहा के लोग वसुधेव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्त को मानने वाले हों, उनके लिये सब स्वदेशी हैं। स्वदेशी विदेशी का भेदभाव तो इन दस्यु-धर्मी समुद्रपार के लोगों ने किया है, कि अपने देश का आदमी कितना भी अन्यायी अत्याचारी हो उसका पक्ष करना, दूसरे देश का कितना भी सदाचारी धार्मिक सहिष्णु और सज्जन हो उसका उसकी अपेक्षा तिरस्कार करना। भारत की दृष्टि सदा धार्मिक रही है। विदेशियों और विधर्मियों से सम्बन्ध इसीलिये नहीं रखा जाता था कि वे संस्कारहीन हैं। यदि वे आकर इस देश में बस जाते थे। दो चार पीढ़ी रह कर अपने आचरणों की शुद्धता का प्रमाण देते थे तो स्वदेशी विदेशी का भेदभाव छोड़ कर वह समाज में मिला लिया जाते थे। ये विदेश से कितने हूण, शक, मिस्र देश तथा अन्यान्य देशों के लोग आये और शनैः शनैः इस समाज के अङ्ग बन गये। इन विधर्मी गुरुण्डों ने समाज को विकृत कर डाला, यहाँ की संस्कृति पर इनके कारण बड़ा आघात पहुँचा। यद्यपि ये बाह्य रूप से तो चले गये, किंतु इनका प्रभाव तो अब भी शेष ही है। यहाँ के लोगों को अपना ही सा बना गये। अब शनैः शनैः ये भाव जायँगे। प्रकृति स्वयं ही जब जैसी वस्तु की आवश्यकता अनुभव करती है तब वैसी ही वस्तु बना लेती है।

शौनक जी ने कहा—"अच्छा, सूत जी! एक शंका हम को और रह गयी। कलियुग का समय आपने मनुष्यों के वर्षों से चार लाख बत्तीस सहस्र वर्ष बताया। अब तक पाँच सहस्र कुछ अधिक वर्ष कलियुग के बीते हैं। सो पाँच सहस्र वर्ष के

कलिकाल की कुछ कलुषित करतूतें

(१३४५)

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया ।
कालेन बलिना राजन् नंक्ष्यंत्यायुर्बलं स्मृतिः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० २ अ० १ श्लो०)

छप्पय

कलिमें धन ही मुख्य धनी ही पडित मानी ।
बली करै सो न्याय शूररति सोई ज्ञानी ॥
जातें मन मिलि जाय वही नारी अति प्यारी ।
वेष शेष रहि जाय छली सब आश्रमधारी ॥
रँगे वस्त्र स्वामी बने, पडित जे बक बक करैं ।
संसकार तें रहित सब, वेष विविध खलजन धरैं ॥

जैसा समय होता है, वैसी ही सब की बुद्धि बन जाती है। अधर्म कोई किसी को सिखाने नहीं जाता समय आने पर आप से आप लोगों की वैसी ही मति हो जाती है। जाड़ा आने प

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! तदनन्तर काल के प्रबल प्रवाह से दिनों दिन धर्म, सत्य, शौच, दया, आयु, बल तथा स्मृति आदि सद्गुण कलियुग में क्षय होने लगेंगे।"

कोई घर घर कहने नहीं जाता कि अब जाडे के कपडे निकाल लो लोग स्वयं ही मोटे माटे ऊनी सूती पहिनने लगते हैं। जिन वस्त्रों को गरमी के दिनों में पहिनना तो पृथक् रहा, छूने में भी भय लगता था। उन्हीं वस्त्रों का शीत आते ही बडी रुचि से पहिनते हैं। इसी प्रकार सत्ययुग त्रेता आदि धर्म प्रधान युगों में जिन कर्मों को करना तो पृथक रहा सुनना भी पाप समझा जाता था उन्हीं कर्मों को कलिकाल के आने पर लोग बडी रुचि के साथ अभिमान पूर्वक करते हैं और उन्हें करके गर्व का अनुभव करते हैं। इस विषय में दोष किसे दिया जाय यह तो युग धर्म है होकर ही रहेगा। इस काल चक्र की चलती चक्की में जो पडेगा वह पिसेगा। कोई विरला ही कील का—मूल पुरुष का—आश्रय लेकर बच सकता है नहीं तो युग का प्रभाव तो सब पर पडता ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कलियुग के सम्बन्ध में कुछ भी कहने की मेरी रुचि नहीं है। फिर भी आपने प्रश्न किया है, तो मुझे कहना ही पड़ेगा। दूसरे बिना दोष गुणों का परिचय हुए हम दोषों को छोड़कर गुणों को कैसे अपना सकते हैं, इसीलिये अत्यन्त संक्षेप में मैं कलियुग की कुछ करतूतों का परिचय कराता हूँ।

कलियुग में लोगों की धर्म से स्वाभाविक अरुचि हो जायगी। धर्म को क्षयिष्णु होने का शाप ही हो चुका है। अतः सत्ययुग से ही उसका क्षय होना आरम्भ हो जाता है। धर्म को चतुष्पाद वृषभ की उपमा दी जाती है। तप, शौच दया और दान ये उसके चार पैर बताये जाते हैं। सत्ययुग में धर्म के पूरे चार पैर थे। त्रेता में आकर उसका एक पैर टूट गया। अर्थात् लोगों की रुचि तपस्या में नहीं रही। द्वापर में आकर दो पैर टूट गये।

अर्थात् लोग तपस्या भीतरी बाहरी पवित्रता के विषय में उदासीन हो गये। कलियुग में आकर तीन पैर टूट गये। अर्थात् तप, शौच, दया ये लोगों में नहीं रही। धर्म केवल मात्र दान या सत्य के सहारे कलियुग में खड़ा है। क्रमशः उसका यह पैर भी कलियुग के अन्त में टूट जायगा। इससे धर्म पैर हीन पंगु बन जायगा। भगवान् फिर पैर जोड़ देंगे। फिर सत्ययुग आरम्भ हो जायगा। धर्म का जितना ही क्षय होता जायगा उतना ही कलियुग बढ़ता जायगा। कलियुग के भाई अधर्म का उतना ही प्रचार होता जायगा।

कलियुग में सत्ययुग न रहेगा। लोग बात बात पर असत्य भाषण करेंगे। न छिपाने योग्य बातों को भी छिपावेंगे। व्यर्थ में बिना प्रयोजन के असत्य बोलेंगे। लोगों को असत्य भाषण में आनन्द आवेगा।

लोगों में पवित्रता न रहेगी। भीतर के सद्गुण तो नष्ट हो ही जायँगे। बाहरी पवित्रता भी चली जायगी। शौच के अनन्तर लोग मृत्तिका का व्यवहार न करेंगे। छूआ छूत का भेदभाव न रहेगा। मलमूत्र को फेंक कर भी लोग हाथ न धोवेंगे। मलमूत्र फेंकने वालों के साथ बैठकर खाने में बड़ा गर्व समझेंगे। सभी सबके हाथ का बनाया भोजन करने लगेंगे। भोजन सामग्री बनी हुई हाटों में बिकने लगेगी। लोग एक दूसरे का जूठा खाने में संकोच न करेंगे। एक ही पात्र में सभी जल पी लेंगे। दाल रोटी बेचने वाले सभी को एक पात्र में देंगे। जो जूठा अन्न बच जायगा उसे भी दूसरों को परोस देंगे। वस्त्रों की ऊपरी स्वच्छता कुछ कर लेंगे भीतर मलिन वसन पहिने रहेंगे। दाँतों पर मैल ज रहेगा। स्त्रियाँ मासिक धर्म होने पर भी सब को छू लेंगी। स के साथ बैठकर खालेंगी उसका कोई विचार ही न रहेगा। उ

यन्त्रों से सब काम करेंगी। सारांश शौच सम्बन्धी जितने शास्त्रीय आचार विचार हैं उनका कोई पालन न करेगा। सब मनमानी करेंगे।

लोग बडे असहिष्णु होंगे। सदा क्रोध में भरे रहेंगे। अपने स्वजन अपकारी को भी कभी क्षमा न करेंगे। बदला लेने की भावना सदा बनी रहेगी। यहाँ तक कि शिष्य गुरु को पुत्र पिता को तथा अपने पूज्य श्रेष्ठ सम्बन्धियों को भी लोग क्षमा न करेंगे उनको भी दण्ड देने का प्रयत्न करेंगे।

दया तो लोगों के हृदय से उठ ही जायगी। अपना पडोसी कितना भी दुखी हो उसके ऊपर दया न दिखावेंगे। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये सब कुछ अन्याय अत्याचार करेंगे। निर्दय होकर पशुओं का संहार करेंगे जिससे अपने स्वार्थ में तनिक भी व्याघात समझेंगे उसी की हत्या कर देंगे। कलियुगी लोग सदा एक दूसरे से जलते रहेंगे।

इसीलिये अति शीघ्र ही वृद्ध हो जायँगे। राजक्ष्मा आदि राज रोगों का सर्वत्र प्रसार होगा। अन्यान्य युगों मे किसी महा पाप से किसी विरले को ही ये रोग होते थे अब कलियुग में ऐसे रोग घर घर होंगे। इसीलिये कलियुगी लोग अल्पायु होंगे।

कलियुग मे सभी लोग बलहीन होंगे। भीम ने सहस्रों हाथियों को उठाकर आकाश मे फेंक दिया या अर्जुन ने अकेले ही निवात कवचादि असुरों को जीत लिया इन बातों को कलियुगी लोग गप्प समझेंगे। पाप के कारण कलियुग के लोग न तो भोग ही भोग सकेंगे न कोई बलका काम ही कर सकेंगे। यन्त्रों से काम लेंगे। न उनमें शारीरिक बल ही रहेगा और न आध्यात्मिक बल ही। कीट पतङ्गों की भाँति अपने दिन बितावेंगे। तनिक सी विपत्ति

घाती हो जायँगे, व्यवहार इतना कपट पूर्ण हो जायगा कि पिता पुत्र के साथ पुत्र पिता के साथ, पत्नी पति के साथ, पति पत्नी के साथमित्र मित्र के साथ, सम्बन्धी सम्बन्धी के साथ कहाँ तक कहें सभी सभी के साथ कपट करने लगेंगे। ऋण लेकर उसे न देंगे। न्यायालयों में मिथ्या साक्षी देआवेंगे ली हुई वस्तु के लिये भी नट जायँगे। खाने पीने की वस्तु में मिलावट करने में भी संकोच न करेंगे। सहस्रों मनुष्यों को रोगी बनाकर यदि एक पैसा मिलता है, तो लोग इसमें भी न हिचकेंगे। विशुद्ध आटा, विशुद्ध घृत, विशुद्ध दूध तथा अन्यान्य भी खाद्य सामग्री विशुद्ध न मिल सकेगी। लोग इनमें ऐसी ऐसी अशुद्ध वस्तुएँ मिला देंगे जिनका स्पर्श भी पाप है। व्यवहार की विशुद्धता तो प्रायः विलुप्त हो ही जायगी।

ब्राह्मण नाम मात्र के रह जायँगे। सभी लोग ब्राह्मण बनने को लालायित रहेंगे। जो संकर वर्ण के हैं वे भी अपने को ब्राह्मण कहेंगे। वे ब्राह्मणों के यज्ञ, वेदाध्ययन, तप तथा दान आदि कर्मों को न करेंगे। केवल अपने नामों में शर्मा आदि लगावेंगे। केवल एक सूत्र गले में डाल लेना यही ब्राह्मण पने का चिन्ह रह जायगा। उस सूत्र को भी सविधि न पहिनेंगे। वैसे ही इच्छानुसार क्रय करके कण्ठ में डाल लेंगे, जब इच्छा होगी उसे उतार कर फेंक देंगे।

कुछ आश्रम भी नाम मात्र को रह जायँगे। किन्तु उन आश्रमों के कर्म विलुप्त हो जायँगे केवल ऊपरी चिन्ह शेष रह जायँगे। वृद्धावस्था तक झूठ, कपट व्यभिचार दुराचार किया है। दाढ़ी जटा रखा ली ब्रह्मचारी जो बन गये। कल तक ठगी करते रहे लोगों के साथ कपट करते रहे अर्थ अनर्थ करके प्रपञ्च करते रहे आज रंग कपड़े पहिन लिये स्वामी जो बन गये। चाहें जैसी चाहें जिस जाति की स्त्री रख ली, गृहस्थी बन गये। आश्रमों का

धर्म कहीं कहीं ही दिखायी देगा। एक आश्रम के चिन्हों को छोड़कर दूसरे आश्रम के चिन्हों को स्वीकार कर लेना ही आश्रम परिवर्तन हो गया। जब इच्छा हुई रंगे कपड़े छोड़कर फिर स्त्री रख ली इस प्रकार आश्रमों का कोई नियम न रहेगा।

कलियुगी पण्डित विद्वत्ता के कारण पण्डित न कहलायेंगे। जो बहुत बकवाद करे। जो भी मन में आवे अन्ट शट बकता रहे। किसी के सम्मुख संकोच न करे। यही पण्डित की पहिचान होगी। एक ने कहा—"मुझे आपके ऊपर लघु-शंका करनी है।" दूसरे ने कहा—"उसे मुँह में क्यों भरे है, बाहर निकाल।" इसी पर सब लोग हँस पड़ेंगे कहेंगे ये बड़े भारी पण्डित हैं।

कलियुग में कैसा भी भोला भाला सीधा सादा व्यक्ति क्यों न हो, यदि उसके पास धन नहीं है तो उसी को सब लोग असाधु कहेंगे। जो बहुत लम्बी चौड़ी बातें बनावे, दस बीस झूठे दलाल अपने साथ रखे, दिनभर बकवाद करे, जादू टोना करे, भभूत वरदान दे, झूठे ही कह दे हमें भगवान् के दर्शन होते हैं हम क्षण में दर्शन करा सकते हैं। जो सामने आवे उसे ही मूँड ले। सब के यहाँ सब कुछ खाले। स्त्री पुरुषों से प्रपञ्च की ही बातें करता रहे। नाना भाँति के दम्भ रचे वही बड़ा भारी सिद्ध सद्गुरु महात्मा माना जायगा।

विवाह संस्कार हीन होने लगेंगे। उनमें वैदिक तान्त्रिक कोई विधि न रहेगी। सौभाग्य के कोई चिन्ह भी स्त्रियों के न रहेंगे। विधवा और सधवा में कोई भेदभाव न रहेगा। सौभाग्य चिन्हों के न होने से कोई पहिचान भी न सकेगा कि यह विधवा है या सधवा है शृङ्गार बालों का ही रहेगा। बालों को भाँति भाँति से टेढ़े मेढ़े सजा लेना यही सौन्दर्य का चिन्ह माना जायगा। हाथ धो लिये स्नान कर लिया मानों बड़ा भारी शृङ्गार हो गया।

घाती हो जायँगे, व्यवहार इतना कपट पूर्ण हो जायगा कि पिता पुत्र के साथ पुत्र पिता के साथ, पत्नी पति के साथ, पति पत्नी के साथमित्र मित्र के साथ, सम्बन्धी सम्बन्धी के साथ कहाँ तक कहें सभी सभी के साथ कपट करने लगेंगे। ऋण लेकर उसे न देंगे। न्यायालयों में मिथ्या साक्षी देआवेंगे ली हुई वस्तु के लिये भी नट जायँगे। खाने पीने की वस्तु में मिलावट करने में भी संकोच न करेंगे। सहस्रों मनुष्यों को रोगी बनाकर यदि एक पैसा मिलता है, तो लोग इसमें भी न हिचकेंगे। विशुद्ध आटा, विशुद्ध घृत, विशुद्ध दूध तथा अन्यान्य भी खाद्य सामग्री विशुद्ध न मिल सकेगी। लोग इनमें ऐसी ऐसी अशुद्ध वस्तुएँ मिला देंगे जिनका स्पर्श भी पाप है। व्यवहार की विशुद्धता तो प्रायः विलुप्त हो ही जायगी।

ब्राह्मण नाम मात्र के रह जायँगे। सभी लोग ब्राह्मण बनने को लालायित रहेंगे। जो संकर वर्ण के हैं वे भी अपने को ब्राह्मण कहेंगे। वे ब्राह्मणों के यज्ञ, वेदाध्ययन, तप तथा दान आदि कर्मों को न करेंगे। केवल अपने नामों में शर्मा आदि लगावेंगे। केवल एक सूत्र गले में डाल लेना यही ब्राह्मण पने का चिन्ह रह जायगा। उस सूत्र को भी सविधि न पहिनेंगे। वैसे ही इच्छानुसार क्रय करके कण्ठ में डाल लेंगे, जब इच्छा होगी उसे उतार कर फेंक देंगे।

कुछ आश्रम भी नाम मात्र को रह जायँगे। किन्तु उन आश्रमों के कर्म विलुप्त हो जायँगे केवल ऊपरी चिन्ह शेष रह जायँगे। वृद्धावस्था तक झूठ, कपट व्यभिचार दुराचार किया है। दाढ़ी जटा रखा ली ब्रह्मचारी जी बन गये। कल तक ठगी करते रहे लोगों के साथ कपट करते रहे अर्थ अनर्थ करके प्रपञ्च करते रहे आज रंग कपड़े पहिन लिये स्वामी जी बन गये। चाहें जैसी चाहें जिस जाति की स्त्री रख ली, गृहस्थी बन गये। आश्रमों का

धर्म कहीं कहीं ही दिखायी देगा। एक आश्रम के चिन्हों को छोड़कर दूसरे आश्रम के चिन्हों को स्वीकार कर लेना ही आश्रम परिवर्तन हो गया। जब इच्छा हुई रंगे कपड़े छोड़कर फिर स्त्री रख ली इस प्रकार आश्रमों का कोई नियम न रहेगा।

कलियुगी पण्डित विद्वत्ता के कारण पण्डित न कहलायेंगे। जो बहुत बकवाद करे। जो भी मन में आवे अन्ट शट बकता रहे। किसी के सम्मुख संकोच न करे। यही पण्डित की पहिचान होगी। एक ने कहा—"मुझे आपके ऊपर लघु-शंका करनी है।" दूसरे ने कहा—"उसे मुँह में क्यों भरे है, बाहर निकाल।" इसी पर सब लोग हँस पड़ेंगे कहेंगे ये बड़े भारी पण्डित हैं।

कलियुग में कैसा भी भाला भाला सीधा सादा व्यक्ति क्यों न हो, यदि उसके पास धन नहीं है तो उसी को सब लोग असाधु कहेंगे। जो बहुत लम्बी चौड़ी बातें बनावे, दस बीस झूठे दलाल अपने साथ रखे, दिनभर बकवाद करे, जादू टोना कर, भभूत वरदान दे, झूठे ही कह दे हमें भगवान् के दर्शन होते हैं हम क्षण में दर्शन करा सकते हैं। जो सामने आवे उसे ही मूँड ले। सब के यहाँ सब कुछ खाले। स्त्री पुरुषों से प्रपञ्च की ही बातें करता रहे। नाना भाँति के दम्भ रचे वही बड़ा भारी सिद्ध सद्गुरु महात्मा माना जायगा।

विवाह संस्कार हीन होने लगेंगे। उनमें वैदिक तान्त्रिक कोई विधि न रहेगी। सौभाग्य के कोई चिन्ह भी स्त्रियों के न रहेंगे। विधवा और सधवा में कोई भेदभाव न रहेगा। सौभाग्य चिन्हों के न होने से कोई पहिचान भी न सकेगा कि यह विधवा है या सधवा है शृङ्गार बालों का ही रहेगा। बालों को भाँति भाँति से टेढ़े मेढ़े सजा लेना यही सौन्दर्य का चिन्ह माना जायगा। हाथ धो लिये स्नान कर लिया मानो बड़ा भारी शृङ्गार हो गया।

स्त्रियों की भाँति पुरुष भी पटिया पारकर माँग निकाल कर केशों को सजावेंगे मूछों को मुड़ाया करेंगे। तीर्थों में लोगों की आस्था न रहेगी। कोई कह दे यहाँ से दूर पर एक बड़ा भारी सुन्दर स्वच्छ सलिल वाला सरोवर है तो लोग उसी को देखने उसी में स्नान करने दौड़ जायँगे तीर्थ भावना न रहेगी।

जो झूठ कपट करके पेट भर ले वही सबसे योग्य और बुद्धिमान माना जायगा। सत्यता का लोगों में अभाव हो जायगा। धृष्टता ही सत्यता का चिन्ह रह जायगा। किसी का वस्त्र है उठाकर पहिन लिया। अब वह बहुत कहता है मेरा है, किन्तु वह निर्भीकधृष्ट वाचाल निःसंकोच होकर कह देता है आँखों के नख कटा लीजिये, अपने आपे में रह कर बातें कीजिये, आपने भाँग तो नहीं पी ली। अब वह क्या करता, अपना मुख लेकर चला जाता है। सब लोग उसकी धृष्टता से प्रभावित होकर उसे ही साँचाधारी समझ लेंगे।

किसी की वृत्ति बँधी न होगी, ब्राह्मण सुरा बेचेंगे सभी वर्ण के लोग व्यापार करने लगेंगे। शूद्र अन्त्यज उपरोहिती कर्म करावेंगे। यह काम अच्छा है यह बुरा है, यह उच्च वर्णके लोगों के करने का है यह नीच वर्ण वालों का है इस प्रकार के समस्त भेद भाव मिट जायँगे। जैसे हो तैसे पेट भर कुटुम्ब का पालन हो, यही एकमात्र लक्ष्य अवशिष्ट रह जायगा।

लोगों में धर्म करने की भावना न रहेगी। जो धर्म करेंगे भी तो यश के लिये करेंगे। इससे सब हमें जान जायँ। राज्य शासन में हमारी पूछ हो। यह धर्म का काम विधि सहित हो रहा है या विधि हीन हो रहा है इस ओर कोई ध्यान ही न देंगे। धर्म के नाम से धन एकत्रित करेंगे अपनी प्रसिद्धि के काम में जिनसे अपनी प्रशंसा होने की आशा होगी उन्हीं को धन देंगे। योग्य व्यक्ति रह जायँगे, अयोग्य व्यक्ति पा जायँगे धर्म के नाम पर

बड़े बड़े व्यापार होने लगेंगे जो सबसे बड़े धर्मध्वजी कहलावेंगे सबसे अधिक अनर्थ करेंगे।

राजा और शासक परम्परागत न हुआ करेंगे किसी वर्ण किसी भी आश्रम का क्यों न हो जो भी धूर्तता से अधिक निपुण होगा, वही शासन की बागडोर अपने हाथों में ले लेगा। यह तो लोगों के मनसे भावना ही उठ जायगी कि यह ब्राह्मण है वैश्य है क्षत्रिय अथवा शूद्र है। वर्णों का केवल नाम ही नाम शेष रह जायगा। जो शक्तिशाली होगा वही शासक बन जायगा।

शौनकजी बोले—"सूतजी! फिर क्या होगा।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज! और होना ही क्या है अनर्थ ही होगा। जो कुछ ये दस्युधर्मी शासक करेंगे उसका कुछ वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जो भर लेवै पेट वही समरथ कहलावै।
धरम करै यश हेतु विज्ञ जो बात बनावै॥
वर्णाश्रम कछु रहैं न मानै सकल समाजा।
जो होवै अति बली वही बनि जावै राजा॥
लोभी लम्पट क्रूर मति, धन दारा सब हरिहैं।
सबहिँ दुखित ह्वै भागिकैं, बास बननि महँ करिहैं॥

—:::—

कलियुग की प्रबलता के चिन्ह

(१३४६)

क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्स्यन्तेच चिन्तया।
त्रिंशद् विंशति वर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० २ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

कन्द, मूल, मधु, मांस खाइ निरबाह करिहैं।
अनावृष्टि दुष्काल आदि तैं बहुत मरिहैं॥
आधि व्याधि बहु होहिँ चलै अति करकश बायू।
बरष बीस या तीस होहि कलियुग में परमायू॥
धरम बरन आश्रम मिटैं, दुरगुन अति बढ़ि जायँगे।
सब सद् गुन तैं रहित नर, पशुवत समय बितायँगे॥

उन्नति अवनति का मूल कारण भावना है। जिसकी भा
नायें शुद्ध हैं, वह उन्नत है, जिसकी भावनायें अशुद्ध हैं, वह अ
नत है। इसीलिये भगवान् ने कहा है, सात्विक भावनाओं

*श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! क्षुधा, तृष्णा तथा ना
भाँति की व्याधियों और चिन्ताओं मे सन्तप्त रहने के कारण कलियु
मनुष्यों की पूर्ण आयु बीस या तीस ही वर्ष की रह जायगी।"

बढ़ जाना ही स्वर्ग है और तमोगुण की अभिवृद्धि ही नरक है। जिसकी भावना विशाल है वह सत्ययुगी है, जिसकी भावना क्षुद्र तथा सीमित है, वही कलियुगी है। विशाल भाव वाला सब का आदर करेगा विशेष कर अपने से बड़ों की विशुद्ध भाव से सेवा करेगा। उसके प्रति स्वाभाविक स्नेह हो जाने से बड़े लोगों की भावना उसके प्रति उच्च होगी मन ही मन वे उस सत्व प्रधान सत-युगी व्यक्ति की मङ्गल कामना करेंगे। इससे उसकी आयु बढ़ेगी, विद्या बढ़ेगी और यश बढ़ेगा। इसीलिये सत्ययुगी लोग दीर्घायु, विद्वान् और यशस्वी होते थे। कलियुग में तमोगुण के प्राबल्य से सब क्षुद्र विचार और संकुचित भावना के हो जायँगे, इसीलिये वे सब के सब अल्पायु, विद्याहीन तथा यश कीर्ति से हीन होंगे।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! कलियुग की कलुषित करतूतों को कहाँ तक कहूँ, आप यों ही समझ लें कि ज्यों ज्यों कलियुग बढ़ता जायगा, त्यों त्यों अवगुण भी बढ़ते ही जायँगे। बीच बीच में कुछ संत महात्मा उत्पन्न होकर सत्वगुण की अभिवृद्धि करेंगे, किन्तु कुछ काल में फिर वही दशा हो जायगी। जैसे चिरकाल के रोगी को कोई सुचतुर चिकित्सक चन्द्रोदय, मकरध्वज या अन्यान्य औषधि देकर कुछ काल के लिये चैतन्य कर लेते हैं किन्तु जहाँ औषधि का प्रभाव घटा कि फिर ज्यों का त्यों हो जाता है।

कलियुग की आयु ज्यों ज्यों बढ़ती जायगी, त्यों त्यों वह वृद्ध और जर्जरित होता जायगा। समस्त भूमण्डल दुष्ट जनों से व्याप्त हो जायगा। धर्म के चिन्ह जो वर्णाश्रम धर्म हैं, वे लुप्त प्रायः हो जायँगे। शासकों का कोई वंश परम्परागत पृथक वर्ग न रह जायगा। प्रजा के लोगों में से जो भी अधिक छली, कपटी तथा बलशाली होगा वही राजा बन जायगा। जिसके हाथ में शासन की बागडोर आ जायगी, वह चाहेगा सभी संसारी सुख मैं शीघ्रता से एक साथ ही भोग लूँ। वे दुष्ट शासक निर्दयी, क्रूर, लोभी

तथा लुटेरों के समान होंगे। जिस पर भी धन देखेंगे उसी पर भाँति भाँति के कर लगा देंगे। प्रजा के किसी भी मनुष्य पर वे धन न छोड़ेंगे। जिसकी भी युवती सुन्दरी स्त्री देखेंगे उसी को बल पूर्वक छीन लेंगे। ऐसे शासकों के शासन में रहना सब के लिये असंभव हो जायगा। जब वे ग्रामों में नगरों में रह कर अपना निर्वाह न कर सकेंगे, तो बस्तियों को छोड़ कर घोर वनों में चले जायँगे। वहाँ खेती बारी तो हो ही नहीं सकती। कुछ साधन भी न रहेंगे अतः पर्वतों की कन्दराओं में या वृक्षों के नीचे ही अपने डेरे डाल देंगे। वहीं जीवन के दिनों को कष्ट पूर्वक बितावेंगे। वनों में पर्वतों पर घास की पत्ती, शाक आदि जो मिल जायगा उसी को पशु की भाँति खाकर जीवनयापन करेंगे। पर्वतों में अपने आप उत्पन्न होने वाले कड़वे कसैले कंद मिलते हैं। निर्धन पहाड़ी अब भी उन कन्दों को उबाल कर खाते हैं। वह कंठ में खुजली भी करता है और स्वाद भी उसका कड़वा होता है, इसलिये पहाड़ी उसे उबाल कर उसकी बत्ती-सी बना कर शीघ्रता से निगल जाते हैं, उस से पेट तो भर जाता है किन्तु कण्ठ और मुख में अत्यन्त ही कष्ट होता है। कलियुग की प्रबलता होने पर सभी उन कंदों को ढूँढ़ते फिरेंगे और उन्हीं को खाकर निर्वाह करेंगे।

वनों में कोई पशु पक्षी मिल जायगा तो उसको मार कर उसके मांस को संस्कृत भी न करेंगे, वैसे ही कच्चा खा जायँगे। कहीं मधु मक्खियों का छत्ता देखेंगे तो उसी से मधु चुरालेंगे, उसी को खाकर अपनी रसना को शांत करेंगे। जङ्गली फल मिल जायँ तो उन्हीं को खाकर रह जायँगे, फूल, अंकुर जो भी खाये सकते हैं सभी को खाकर इस पापी पेट को भरेंगे। गुठलियों से अपनी भूख की ज्वाला को शांत करेंगे। जैसे हरिण बन्दर व अन्यान्य पशु पक्षी पेट भरने को ही इधर उधर घूमते रहते

वैसे ही कलियुगी लोग एक मात्र उदर को ही भरने को यहाँ से वहाँ वहाँ से यहाँ ऐसे मारे मारे फिरेंगे।

अधर्म बढ जाने पर ऋतुएँ विपरीत हो जायँगी जब वर्षा की आवश्यकता होगी तब तो वर्षा होगी नहीं जब आवश्यकता न होगी, तब अत्यन्त मूसलधार वृष्टि हुआ करेगी। कभी कभी बहुत समय तक वर्षा ही न हुआ करेगी, अनावृष्टि के कारण बहुत से लोग असमय मे ही मर जाया करेंगे। कभी इतनी वृष्टि हुआ करेगी कि उस वृष्टि के कारण ही बहुतों की मृत्यु होगी। सारांश यह है कि दिन दिन प्राणियों का क्षय ही होता जायगा। शासक ऐसे क्रूर नीच और निर्दयी हो जायँगे, कि जहाँ भी लोगों को देखेंगे वहीं कर लगा देंगे। कभी कभी ऐसा शीत पडेगा कि बहुत से लोग शीत पाले से ही मर जायँगे कभी गरमा घाम की प्रबलता से लोगों की मृत्यु होगी। बड़ी भयकर कर्कश मारक वायु चलेगी उससे प्राणियों का सहार होगा। झगडा तो लोग बात बात पर करेंगे। अपने सगे सम्बन्धियों को लोग निर्दय होकर गाजर मूली की भाँति काट दिया करेंगे।

पृथिवी की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जायगा। खाद्य सामग्री का दिनों दिनो अभाव होता जायगा। लोग लोक पर लोक सब कुछ भूल कर दाने दाने अन्न क लिये व्याकुल बने रहेंगे। किसी के पास अन्न का सचय न रहेगा। मुट्ठी भर अन्न के लिये स्त्रियाँ अपने सतीत्व को बेच देगी। भूख क कारण माता बच्चे को बेच देगी। भूख और प्यास मे व्याकुल नर कंकाल स्त्री पुरुष इधर उधर घूमते वृक्षों के नीचे पडे चिल्लाते सर्वत्र दिखायी देंगे। तिस पर भी उनके शरीरों में नाना प्रकार की कुष्ट अतिसार अर्श, भगदर, राजक्ष्मा आदि भयकर भयकर व्याधियाँ होंगी। कोई किसी का सहायता न करेगा। ऐसा कोई भी दृष्टि गोचर न होगा, जो आधि व्याधियों से निरन्तर ग्रस्त न रहता हो। सब का

जीवन अनियमित हो जायगा । ७ । ७ । ८ । ८ वर्ष की कन्यायें प्रसव करने लगेंगी। उनकी सन्तान अत्यन्त निर्बल और रोग ग्रस्त होंगी। वे १० १२ वर्ष तक जीवित रह गये तो बहुत समझो। कलियुग में जहाँ कोई सुनेंगे कि अमुक स्थान पर ३० वर्ष का एक वृद्ध है, तो उसे देखने दूर दूर से लोग आया करेंगे। बीस वर्ष तक कोई विरला ही जीवित रहेगा। बीस तीस वर्ष की आयु सब से बड़ी परमायु मानी जाया करेगी।

रज वीर्य के अपरिपक्व तथा निर्बल होने से बच्चे मूसों की भाँति उत्पन्न हुआ करेंगे। उनके शरीर अत्यन्त छोटे छोटे हुआ करेंगे। निर्बल, रोगी, ठिगने और निर्वीर्य स्त्री पुरुष कंकालों की की भाँति चूहे बिल्लियों के बच्चों के समान इधर उधर बिना घर द्वार के फिरते रहेंगे। उनमें आचार विचार न रहेगा। वर्णाश्रम धर्म तो लुप्त प्रायः हो ही जायगा। पेट की चिन्ता ही मुख्य चिन्ता हो जायगी। वेद मार्ग का कहीं कहीं नाम सुनायी देगा। या तो धर्म रहेगा ही नहीं, जो कुछ यत्किंचित रहेगा भी वह केवल पाखंड ही पाखण्ड रह जायगा। राजा भी न रहेंगे। जो नाम मात्र के राजा रहेंगे भी वे चोरों का सा आचरण करेंगे। किसी की अच्छी वस्तु देखी उठा ले गये। किसी को खाते देखा, छीन ले गये। किसी की हिंसा करके, चोरी करके, असत्य बोल कर या पाखण्ड रच कर जैसे भी पेट भरेगा उसी काम को लोग बड़े हर्ष के साथ करेंगे। सत्य असत्य सदाचार दुराचार इसका तो कोई भेद भाव रहेगा ही नहीं।

धर्म, राज व्यापार तथा सेवा के लिये जो चार वर्ण थे वे कलियुग के अन्त में न रहेंगे। सभी प्रायः एक ही वर्ण के वृषल बन जायँगे। ब्रह्मचारी, सन्यासी आदि त्याग प्रधान आश्रम वाले कहीं दिखायी ही न देंगे। जो ऐसा वेष बना भी लेंगे उनमें एक भी ऐसा न होगा जो स्त्री को न रखता हो। एक ही आश्रम पति

गृहस्थियों का रह जायगा। सब मैथुन धर्मी हो जायँगे। अपने माता पिता के सम्बन्ध से सम्बन्धी न माने जायँगे। लडके की जहाँ बहू आयी, तहाँ वह माता, पिता, भाई आदि से पृथक हो जायगा, फिर उन्हें अपना सम्बन्धी भी न कहेगा। यदि सम्बन्धी समझें भी जायँगे तो बहू के सम्बन्ध से। सारे सरहज, सास ससुर तथा सालियाँ इन्हीं का सम्बन्धी शब्द से बोध होगा। माता, पिता, भाई, बहिन, मौसी, चाची, ताई, चाचा, ताऊ, तथा भाभी आदि इन सम्बन्धों को कोई न मानेगा।

जौ गेहूँ के वृक्ष घास के समान हो जायँगे। अन्न बहुत छोटे राई समा के समान हो जायँगे। गौएँ बकरियों के समान छोटी छोटी हो जायँगी। अधपाव दूध दे दिया तो बहुत दे दिया। घृत का केवल नाम शेष रह जायगा। घृत कहीं सुनेंगे तो दूर दूर से लोग उसे देखने आया करेंगे कि घृत कैसा होता है। वट, पाकर, पीपर आदि के वृक्ष छोटे छोटे हो जायँगे। वे कहीं कहीं दिखायी देंगे नहीं तो छोंकरा, करील, बबूर आदि के छोटे छोटे वृक्ष ही अधिकतर अवशेष रह जायँगे। मेघ गरज कर रह जायँगे, कभी कभी बिजली चमक जाया करगी, किन्तु समय पर कभी वर्षा न होगी।

घर बहुत कम रह जायँगे, जो घर रह भी जायँगे वे गृह धर्म से शून्य हो जायँगे। गृह बनाने का एक मात्र उद्देश्य शास्त्रकारों ने यही बताया है, कि घर पर आया हुआ अतिथि असत्कृत होकर न लौटे। उसका यथा शक्ति कुछ न कुछ सत्कार अवश्य हो। घर में अन्न न भी हो तो कुशा की घास फूँस की चटाई न हो तो भूमि पर ही बिठा दे। एक लोटा जल दे दे। मीठी मीठी दो बातें ही पूछ लीं। घर वालों का मुख्य धर्म ही अतिथि सत्कार है। कलियुग में सभी घर इस धर्म से शून्य होंगे। अतिथि के सत्कार की तो कौन कहे लोग घर पर आये अतिथि से बोलेंगे

भी नहीं। उससे बैठने को भी न कहेंगे। बैठना चाहेगा भी तो उसे निकाल देंगे।

इतना सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! अब रहने भी दो। उन बातों को सुन सुनकर तो हमारा हृदय फटता है। महाभाग! ये दिन हमें देखने न पड़ें इसीलिये, तो हम नैमिषारण्य की पुण्य भूमि को त्यागकर यहाँ जनलोक में चले आये। यहाँ इस दिव्य लोक में भी हमें इन बातों को सुनकर क्लेश हो रहा है। अब यह बताइये कि इन सब अन्याय अत्याचारों का कहीं अन्त भी होगा, या इन अन्यायों के अनन्तर प्रलय ही हो जायगी?"

सूतजी बोले—"महाराज! युग के अन्त में प्रलय थोड़े ही होती है। प्रलय तो कल्प के अन्त में होती है। घोर कलियुग के पश्चात् तो शुद्ध सत्वमय सत्ययुग आ जाता है। धर्म के जब चारों पैर नष्ट हो जायँगे, अधर्म जब पराकाष्ठा पर पहुँच जायगा, तब धर्मरूप भगवान् पुनः धर्म को चतुष्पाद बनाने के लिये कल्किरूप से अवतीर्ण होंगे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अवतार धारण करके भगवान् क्या करेंगे।"

सूतजी बोले—"महाराज! और क्या करेंगे धर्म की संस्थापना करेंगे। इस सम्पूर्ण चराचर जगत् के एकमात्र गुरु सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी सर्वात्मा श्रीहरि अवतार धारण करके धर्म की संस्थापना, अधर्म का क्षय, दुष्टों का विनाश तथा साधु पुरुषों का परित्राण तो किया ही करते हैं। वे अपने भक्तों के जन्मकर्मों के बन्धनों का विच्छेद करके उन्हें दिव्य सुख दिया करते हैं। वे जगत् पति भगवान् अणिमा, गरिमा, लघिमा, ईशत्व, वशित्वादि सिद्धियों के ऐश्वर्यों से युक्त होंगे। उनकी बराबरी संसार में कोई भी न कर सकेगा। उन्हें स्वयं एक देवदत्त नाम का घोड़ा प्राप्त हो जायगा। उस घोड़े पर कल्कि भगवान् चढ़ जायँगे और हाथ

तीक्ष्ण तलवार लेकर पृथिवी पर विचरण करेंगे। जो दस्युधर्मी अधर्मी शासक होंगे उन सब को अपनी तीक्ष्ण करवाल के घाट उतार देंगे राजाओं का वेष बनाये क्रूर कुटिल लम्पट करोड़ों दस्युओं का वे संहार कर देंगे। दस्युओं के नष्ट होते ही यहाँ का वायुमंडल विशुद्ध बन जायगा। उसमें भगवान् के श्रीअङ्ग की विशुद्ध दिव्य सुगन्धि फैल जायगी। उसके सूँघते ही सबकी बुद्धि शुद्ध हो जायगी। सहसा सबके मनमें धर्म भावना जाग्रत हो उठेगी। भगवान् कल्कि के श्रीविग्रह में दिव्य अङ्ग राग की सुगन्धि वायु के साथ मिलकर सबकी घ्राण इन्द्रिय द्वारा हृदय में प्रविष्ट हो जायगी। उससे दशों दिशाओं के अमंगल नष्ट हो जायँगे। चाहें वन में रहने वाले हों या नगर तथा पुरों में वास करने वाले हों सभी के चित्त उस पावन गन्ध से निर्मल तथा पवित्र हो जायँगे।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप तो पीछे कह आये हैं, कि कलियुग के अन्त में सब बलहीन निर्वीर्य अल्पायु होंगे। बीस या तीस वर्ष की परमायु समझी जायगी। उनसे सत्ययुग की स्थापना कैसे हो सकेगी?"

सूतजी बोले—"भगवन् आधि व्याधि अल्पायु ये सब पाप के कारण होते हैं। चाहे वे कितने भी अल्पायु क्यों न हों, जब उनका हृदय शुद्ध हो जायगा और उस शुद्ध मन में सत्वमूर्ति भगवान् वासुदेव विराजमान हो जायँगे, तब उनकी सन्तति उत्तरोत्तर स्थूलकाय और दीर्घजीवी होती जायगी। प्रत्येक युग के आदि में सन्धि और प्रत्येक युग के अंत में सन्ध्यांश होता है। जब कलि का अन्त होगा तब दिव्य एक सौ वर्ष अर्थात् मनुष्यों के वर्षों से छत्तीस हजार वर्ष का सन्ध्यांश काल होगा और सत्युग के पहिले दिव्य चार सौ वर्षों का अर्थात् मनुष्यों के वर्षों से एक लाख चौबीस हजार (१२४०००) वर्षों का सन्धि काल

रहेगा। अर्थात् एक लाख साठ हजार वर्षों में शनैः शनैः लोगों के भावों में आयु में बल में वृद्धि हो जायगी। जैसे कलियुग के अन्त में प्रायः सब लोग २० वर्ष तक जीते थे। भगवान् कल्कि के अवतार के पश्चात् उनके पुत्र इक्कीस वर्ष के होंगे। उनका शरीर भी सुडौल होगा। इसी प्रकार उत्तरोत्तर लोगों की आयु वृद्धि होती रहेगी और सन्धि सन्ध्यांश काल बीतने तक लोगों की लाखों वर्षों तक की आयु होने लगेगी। सबका मन निर्मल हो जायगा। वर्णाश्रम धर्म की पुनः प्रवृत्ति होने लगेगी सभी धर्म कर्मों में हो जायँगे। कलियुग के सन्ध्यांश काल में भगवान कल्कि का अवतार होगा और तभी से सत्ययुग लग जायगा। तब फिर लोगों की सत्व में अभिरुचि होगी। आगामी सन्तानें सात्विक विचार की होने लगेंगी।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सत्ययुग किस सम्वत् से आरम्भ होगा?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! न जाने तब तक कितने सम्वत्सर प्रचलित होंगे, कितने लुप्त हो जायँगे। युग प्रमाण में सम्वतसरों की गणना नहीं की जाती। यहाँ तो ग्रहों की चाल के ऊपर निर्भर रहता है। जब चन्द्रमा, सूर्य और पुष्य नक्षत्र में वर्तने वाले बृहस्पति ये तीन ग्रह एक राशि पर आ जाते हैं, उस समय से सत्ययुग वर्तने लगता है। इसमें अभी लाखों वर्ष की देरी है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अब तक कलियुग के कितने दिन बीते हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज! श्रीकृष्ण भगवान् ने जिस दिन इस धराधाम को त्यागा, उसी दिन से कलियुग की गणना की जाती है। आज के दिन (मार्गशीर्ष) शुक्ला नवमी विक्रम सम्वत्) तक कलियुग के ५ बीते हैं। महाराज परीक्षित् का जि

दिन जन्म हुआ था उस दिन से लेकर प्रथम नन्द के राज्याभिषेक तक एक सहस्र एक सौ पन्द्रह वर्ष हुए थे। उसके पश्चात् और राजागण हुए जिनका वर्णन मैं पीछे कर ही चुका हूँ इस प्रकार सूर्य तथा चन्द्र वंश मे हुए समस्त राजाओं के चरित्र का मैंने आप से वर्णन किया। जो अधिक धार्मिक हुए हैं, उनका चरित्र तो व्यास ने वर्णन किया और जो ऐसे ही साधारण हुए हैं उनका समास से ही वर्णन किया है। भावी राजाओं का भी अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज परीक्षित् किस काल में हुए?"

सूत जी बोले—"भगवन्! जब आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र इस धरा धाम को छोड कर स्वलोक पधारे तभी महाराज परीक्षित् का राज्याभिषेक हुआ। ज्योतिष विद्या विज्ञों का कथन है है कि सप्तर्षियों के सात तारे आकाश मे प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। उनमें से दो तारे प्रथम उदित होते हैं। उन दो प्रथम उदित तारों के बीच मे दक्षिणोत्तर रेखा पर सम भाग में ही ये जितने अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि अट्ठाईस नक्षत्र हैं उनमें से एक नक्षत्र दिखायी देता है, जो नक्षत्र दिखायी देता है, उसी के आश्रय से सप्तर्षि माने जाते हैं। जैसे उन दो तारों के बीच में दक्षिणोत्तर रेखा पर सम भाग में अश्विनी नक्षत्र है तो कहा जायगा कि आज कल सप्तर्षि अश्विनी के आश्रय से स्थिति हैं, अश्विनी के पश्चात् भरणी का आश्रय लेंगे। इसी प्रकार अट्ठाईस सौ वर्ष के पश्चात् फिर अश्विनी का आश्रय लेंगे। मनुष्यों की आयु से एक वर्ष तक सप्तर्षिगण उसी नक्षत्र का आश्रय लेकर उसी स्थिति अवस्थित रहते हैं। जिस समय महाराज परीक्षित् गंगा तट पर गुरुदेव भगवान् शुक से श्रीमद्भागवत की कथा सुन रहे थे

थे। उसी क्रम से गणना कर लीजिये। जब तक सप्तर्षि अश्लेषा नक्षत्र के आश्रय स्थित थे, तब तक धरा धाम पर भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र अवस्थित रहे। जब सप्तर्षिगण अश्लेषा को छोड़ कर मघा पर आये उसी समय भगवान् स्वधाम पधार गये और तभी से दिव्य बारह सौ वर्ष रहने वाला कलियुग आ गया। आ तो कलियुग पहिले ही गया था, किन्तु भगवान् के सम्मुख उसे अपना प्रसार करने का साहस न हुआ। जिस भूमि पर भगवान् वासुदेव का विशुद्ध सत्वमय विग्रह अवस्थित है, जिस भूमि का स्पर्श भगवान् के पावन पादारविन्द किये हुए हैं, उसका स्पर्श कलि कैसे कर सकता है, अतः श्री कृष्ण के सम्मुख कलियुग की दाल नहीं गली। ज्यों भगवान् परम धाम पधारे त्यों ही कलियुग ने अपना विस्तार करना आरम्भ कर दिया। कलियुग के प्रभाव से ही प्रभावित होकर गौ ब्राह्मण रक्षक साधुओं के सत्कार करने वाले, श्री कृष्ण को ही अपना कुल देव समझने वाले सम्राट परीक्षित् ने ध्यानावस्थित मुनि के कंठ में मृतक सर्प डाल दिया। कलि का प्रभाव न होता तो पांडु के प्रपौत्र धर्मराज के पौत्र और अभिमन्यु के पुत्र महाराज परीक्षित् ऐसा अनर्थ कभी कर सकते थे? कदापि नहीं स्वप्न में भी नहीं, किन्तु कलियुग का तब तक प्रसार ही न होता जब तक राजा अन्याय न करता, क्यों कि जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा हो जाती है। महाराज परीक्षित् धर्मात्मा थे इसलिये उनके पुत्र जन्मेजय ने भी धर्म का पालन किया। उनके राज्य में भी कलियुग बढ़ने नहीं पाया। हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा। जब ग्यारह सौ वर्ष बीत गये और सप्तर्षि मघा से पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में आये, उसी समय राजा नन्द का राज्य हुआ। तभी से कलिकाल की वृद्धि होने लगी। जब पांच सहस्र वर्ष बीत गये तब से तो यह और भी अधिक बढ़ने लगा है। विदेशी विधर्मियों ने आकर कलों का प्रचार कर

आदि का अशुद्ध धूँआ फैला कर सर्वत्र कलि का प्रचार किया। ये विनाशक यन्त्र कलियुग की अभिवृद्धि में अत्यधिक सहायक हुए हैं। इसी प्रकार लोग यन्त्रों के अधीन होकर जडता की ओर बढते जायँगे। एक दूसरे का विनाश करने मे ही लोग उन्नति समझेंगे। दिन दिन सद् गुणों का ह्रास होता जायगा। जब कोई वस्तु अत्यन्त नीचे गिर जाती है, तो फिर उसका उत्थान होता है। इसी प्रकार जब धर्म का सर्वथा ह्रास हो जायगा, तो वह फिर उन्नत होगा कलियुग के बीतने पर पुन: सत्ययुग का आरम्भ होगा।

इक्ष्वाकुवंश के महाराज मरु तक सूर्य वंश की विशुद्धता रही। फिर वे उत्तरा खण्ड को चले गये और वहाँ अभी तक तप कर रहे हैं। इसी प्रकार चन्द्र वंश में महाराज प्रतीप तक तो विशुद्धता रही। प्रतीप के देवापि, शन्तनु और बाह्लीक ये तीन पुत्र हुए। यहीं से कलियुगी भाव आरम्भ हुए। नियमानुसार बड़े होने के कारण देवापि राज्य के अधिकारी थे, किन्तु तप में अधिक रुचि होने के कारण वे वन मे तप करने चले गये। शन्तनु राजा बन गये। फिर छल पूर्वक उन्हें वेद विरुद्ध घोषित करा दिया। कहना चाहिये कलियुग का सूत्र पात उसी समय से हो गया था। भगवान् के कारण और देवताओं के अंश से उत्पन्न पाडवो के कारण वह रुका रहा। कलियुग के अन्त होने पर शन्तनु के भाई देवापि फिर से विवाह करके चन्द्रवंश की स्थापना करेंगे और महाराज मरु सूर्य वंश को। ये दोनों ही बीज रूप से कलि

के अन्त तक, महान् योग बल से सम्पन्न होकर कलाप ग्राम में स्थित रहेंगे। सत्ययुग के आरम्भ होने पर ये दोनों भगवान् वासुदेव की प्रेरणा से वर्णाश्रमधर्म की पूर्व की भाँति स्थापना करेंगे। फिर विशुद्ध क्षत्रिय होने लगेंगे। फिर त्रेता आवेगा उसके अन्त में द्वापर फिर कलियुग। ऐसे ही क्रमशः ये युग वर्तते रहते हैं। जब य चरों युग ७१ बार बीत जाते हैं तब एक मन्वन्तर हो जाता है। मनु, इन्द्र, देवता तथा सप्तर्षि आदि सभी बदल जाते हैं। जब ये चारों युग सहस्र सहस्र बार बीत जाते हैं, तब ब्रह्मा जी का एक दिन होता है, ब्रह्मा जी इस त्रिलोकी के पसारे को समेट कर सो जाते हैं। जैसे रथ के पहिये के चक्र कभी ऊपर आते हैं, कभी नीचे चले जाते हैं, फिर नीचे से ऊपर आ जाते हैं, ऐसे संसार की गति है। इसीलिये इसे संसार चक्र कहते हैं। जैसे मैंने क्षत्रिय राजाओं के वंश बताये वैसे ही ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्रों के वंश की भी परम्परा है। कितने बड़े बड़े ऋषि महर्षि, चक्रवर्ती राजा भूपाल इस पृथिवी पर चुके हैं। वे उनके नाम लेने से ही लोग उन्हें पहिचान जाते थे। अब उनकी केवल कथा ही कथा शेष रह गयी है, वे अपनी दिगन्त व्यापी कीर्ति को छोड़ कर न जाने कहाँ विलीन हो गये। उनका यह पाञ्च भौतिक शरीर तो स्थिर नहीं रहा, किन्तु उनकी विमल कीर्ति अद्यावधि विद्यमान है।

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह पृथिवी न आज तक किसी की हुई है, न होगी। जो अज्ञानी हैं, मूर्ख हैं, वे ही इसे मेरी मेरी कहते हैं और अन्त में इसे यहीं छोड़ कर काल के गाल

मे विलीन हो जाते हैं। उनकी मूर्खता पर पृथिवी देवी ने हँसते हुए गीत गाये हैं उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अति अधर्म जब बढ़ै कल्कि प्रकटैं सभल मह।
विष्णुयशा द्विज गेह सिद्धि अणिमादिक सँग महँ॥
लीये कर करबाल अश्व चढि दुष्टनि मारैं।
सब पापिनि कूँ हनैं सकल शत्रुनि संहारैं॥
दिव्य गन्ध हरि देह की, तै सब की हो विमल मति।
बढ़ै धर्म अधरम घटै, सतयुग पुनि शुचि होहि अति॥

—::०::

वसुधा गीत

(१३४७)

दृष्ट्वात्मनि जये व्यग्रान्नृपान् हसति भूरियम् ।
अहो मां विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः ॥

(श्री भा० १२ स्क० ३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

सूर्य चन्द्र के भये, होहिँ, हैं भूप बताये ।
कलि तबई तैं लग्यो श्याम जब धाम सिधाये ॥
ऐसे ही सब वंश होहिँ युग युग में मुनिवर ।
समय पाइकें नसें काल की क्रीड़ा कटुतर ॥
मैं मेरी करि नृप गये, नहिँ वसुधा तिनिकी भई ।
मिल्यो धूरि में विभव सब, कथा शेष ई रहि गई ॥

यह मानव प्राणी जो अपने को बड़ा भारी बुद्धिमान लगाता है। यह आँख रहते हुए भी अंधा है, बुद्धि रहते हुए भी अविवेकी है। नित्य ही देखते हैं, अमुक राजा उस भूमि के लि

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पृथिवी जब देखती है, कि ये राजागण मुझे जीतने के लिये व्यग्र बने हुए हैं, तो उन्हें देख कर यह हँसती है और कहती है—"अरे, ये मृत्यु के खिलौने रूप राजा जीतना चाहते हैं? ये स्वयं ही मर्त्यधर्मी हैं ये मुझे क्या जीतेंगे।"

जीवन भर लडा। लाखों सैनिकों के रक्त से इस वसुधा को रक्त रञ्जित किया, अन्त में उसे जीता। अपनी बनाया। उसे मेरी कहने लगा। चार दिन भी उसे अपनी न कह सका अन्त में काल के सम्मुख पराजित हो गया। सबको यहीं छोडकर मृत्यु के फंदे में फँस गया। काल का कवल बन गया। इसे अन्धा न कहें तो क्या कहे।

जिसे तनिक भी बुद्धि है वह भी इस बात को समझ सकता है, कि मैं और मेरी इस शरीर के सम्बन्ध से है। मेरी भूमि मेरी वस्तुएँ आदि आदि जिसके सम्बन्ध से तुम इन वस्तुओं को अपनी कहते हो, अरे मूर्खो वह देह भी तो नाशवान् है उसका भी तो ठिकाना नहीं कब व्यर्थ बन जाय। जिसके सम्बन्ध से तुम अपनी कहते हो, जब वह क्षण भगुर है, तो उससे सम्बन्ध रखने वाले नश्वर पदार्थों में ममता रखना मूर्खता नहीं तो क्या है। यह सब जानते हुए भी मनुष्य इसे मानता नहीं इसे जडता के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं।

विवेक पूर्वक विचारने से यह बात समझी जा सकती है कि जैसा कारण होता है वैसा ही उसका कार्य होता है। मिट्टी से जो भी वस्तु बनेगी मिट्टी की ही होगी। सुवर्ण का जो भी आभूषण बनाओ—उसका चाहे जो नाम रख दो—रहेगा वह सुवर्ण ही। इसी प्रकार सडने वाले खाद्य पदार्थों से यह शरीर बढता है पुष्ट होता है। तो यह भी उसी के धर्म वाला होगा। एक दिन यह भी सडेगा नष्ट होगा। जब बीज ही नाशवान् है तो उसके शाखा पत्ते आदि अविनाशी कैसे होंगे। नित्य देखता हुआ भी अन्धा बना रहता है, इसे भगवान् की माया के अतिरिक्त और कह ही क्या सकते हैं?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने जितने प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजा हुए हैं, अब हैं तथा आगे होंगे, उनके सम्बन्ध में आपसे कहा।

पृथिवी के समस्त रज कण प्रयत्न करने पर गिने भी जा सकते हैं, किन्तु इस धराधाम पर कितने भूपति हो चुके हैं इसकी गणना कोई नहीं कर सकता। असंख्यों भूपति हुए हैं असंख्यों अब भी हैं और असंख्यों आगे भी होंगे। जितने भूमिपति हुए हैं वे सब इस भूमि को अपनी कहते थे। इसमें अत्यधिक ममता करते थे। उनकी सीमा में से कोई तिल भर भी भूमि लेता तो प्राणों का पण लगाकर उससे लड़ते। बार बार कहते—"यह तो मेरी है। यह तुम्हारी हो ही नहीं सकती। वे ऐसे ही मेरी कहकर मर गये। पृथिवी किन्हीं की आज तक नहीं हुई। ये सबके सब राजा इस पृथिवी को यहीं छोड़कर अन्त में स्वयं नष्ट हो गये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! राजा का तो धर्म ही यह है, कि वह भूमि के लिये धर्म युद्ध करे।"

गम्भीर होकर सूतजी ने कहा—"क्या धर्म है महाराज, एक अनित्य नाशवान् वस्तु के लिये प्राणियों से द्रोह करना। आप सोचिये राजा किसे कहते हैं। यदि आप आत्मा को राजा कहते हैं, तो आत्मा तो एक है, उसमें स्व पर भेद है ही है नहीं। उसे किसी वस्तु को प्राप्त करना ही नहीं है। प्राप्त तो उसे करना पड़ता है, जिसे किसी वस्तु का अभाव हो। आत्मा तो परिपूर्ण है। यदि आप देह को राजा कहते हैं, तो देह तो चाहे राजा की हो या भिक्षुक की सभी एक सी हैं, सभी पाञ्चभौतिक हैं, सभी सभी मरणशील हैं। मृतक होने पर राजा के शरीर की भी तो यही गति हैं। यदि कहीं वन में पड़ा रहा तो सड़कर कीड़े हो जायँगे। यदि सियार, कुत्ता, कंक गृद्ध, कछुआ, मगर, मत्स्य आदि जीवों ने खा लिया तो पचकर विष्ठा बन जायगी और किसी ने अग्नि में जला दिया, तो दो मुट्ठी भस्म हो जायगी। राजा का शरीर कोई सुवर्ण का तो होता नहीं जो कभी न सड़े न

गले। उसके भी शरीर की ये ही गतियाँ हैं। तब फिर व्यर्थ इन नाशवान् पदार्थों मे ममता करने से क्या लाभ। ममता करोगे, तो प्राणियों से द्रोह करना ही पड़ेगा। द्रोह करोगे तो सच्चे स्वार्थ से भ्रष्ट होंगे। जब तक जीवित रहोगे चिन्ता घेरे रहेगी। मरने पर नरक की यन्त्रणायें सहनी पड़ेगी। इतने धर्मात्मा पांडव जो देवताओं के अंश से उत्पन्न हुए थे। साक्षात् परब्रह्म परमात्मा जिनकी सेवा में सदा संलग्न रहते थे, उन्हे भी जब पृथिवी के लिये लड़ना पडा, तो झूठ बोलना पडा और नरक का द्वार देखना पड़ा तो अन्य साधारण छली प्रपञ्ची राजाओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ?

ये मृत्यु के खिलौने राजा निरन्तर यही सोचते रहते हैं—"इस पृथिवी पर मेरे पिता पितामह प्रपितामह वृद्ध प्रपितामह तथा अन्यान्य वंश वालों ने शासन किया इस पर मेरा, मेरे पुत्रों का पौत्रों का तथा प्रपौत्र आदि आगामी वंश वालो का कैसे अधिकार बना रहे। उन मूर्खों को यह ज्ञात नहीं कि इस शरीर का कोई ठिकाना नहीं। इस क्षण जो राजा है दूसरे ही क्षण वह बन्दी भिक्षुक तथा अन्यो का आश्रित बन सकता है। ऐसी स्थिति में आगामी पीढ़ियो के सम्बन्ध में सोचना अज्ञान नहीं तो और क्या है ?

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इस शरीर की अनित्यता को समझते हुए भी लोग इतनी ममता क्यो करते हैं ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! इसी का नाम तो माया है। वे इस शरीर को अनित्य मानते ही नहीं। पचभूतों से निर्मित अन्न जल और तेज के विकार से बने इस शरीर को ही वे आत्मा मानते हैं। वे समझते हैं हम सदा अजर अमर बने रहेंगे। वे यदि यह हृदय से समझ लें, कि एक दिन सबको छोड़कर हमें मरना है, तो फिर वे ममता करें ही क्यों। जिस

शरीर को आत्मा मानते हैं। और उसी के सम्बन्ध से भूमि आदि में ममता करते हैं, अन्त में वे देह और उसके सम्बन्ध से अपनी मानने वाली भूमि आदि को भी यहीं छोड़कर जाने कहाँ चले जाते हैं। काल के उदर में लीन हो जाते हैं। जो राजा भूमि को अपनी कहते थे वे तो अब दीखते नहीं, उनमें से कुछ की कथा अवश्य अवशेष रह गयी है। जो बड़े बड़े प्रतापी राजा थे, जिनका उदय से अस्त पर्यन्त साम्राज्य था। जिनके राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था। वे राजा भी अब दिखायी नहीं देते। जिन्होंने घोर तपस्या करके अजर अमर होने का देवताओं से वर प्राप्त कर लिया था, अन्त में वे भी मर गये, अब उनके भी दर्शन दुर्लभ हो गये। जब इतने बड़े बड़े चक्रवर्ती सम्राट ही पृथिवी को अपनी नहीं बनाये रखे तो इन क्षुद्र भूमिधरों की तो गणना ही क्या है। जब ये थोड़ी सी भूमि वाले भूपति भूमि को पाने को इसे विजय करके अपनी बनाने को व्यग्र होते हैं, तो इनकी व्यग्रता को देखकर भू देवी हँस जाती हैं और मन में सोचती है—"ये काल के खिलौने अल्पज्ञ मनुष्य मुझे कैसे जीत सकते हैं मूर्ख ही नहीं विद्वान् राजाओं की भी यही कामना रहती है, वे देह की अनित्यता को भूल जाते हैं। उनकी मूर्खता पर भूमि देवी ठठका मारकर हँस जाती है और गीत गाने लगती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी पृथिवी क्या गीत गाती है, कृपा करके हमें भी उसके कुछ गीतों का सारांश सुना दीजिये।"

सूतजी बोले—"महाराज! पृथिवी तो बहुत बड़ी है न! इसलिये वह बहुत गीत गाती है और बहुत बड़े बड़े गीत गाती है। उन बड़े बड़े गीतों में से कुछ छोटे छोटे दो चार गीतों का सारांश मैं आपको सुनाता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

भूमि कहती है—"देखो, ये राजा गण कैसे अज्ञ हैं। प्रथम

तो ये सैन्य संग्रह करके अपना बल बढाते हैं भाँति भाँति के अस्त्र शस्त्र संग्रह करके सैनिकों को रण सामग्री से सुसज्जित करते हैं। फिर शत्रु के देश पर चढाई करते हैं—"हम राजा, राजकुमार, मंत्री, सेनापति, पुरोहित तथा कोषाध्यक्ष को जीत लेंगे। फिर राज्य परिषद् के जितने मंत्री होंगे उन्हें स्वाधीन कर लेंगे। राज्य परिषद् को भंग कर देंगे। जो हमारी विजय के विरोधी मन्त्री, आमात्य, पुरवासी, आप्त पुरुष तथा अन्यान्य नागरिक होंगे उनका दमन करेंगे। शत्रु के कोष पर उसके भंडार पर तथा समस्त किलों पर अपना अधिकार जमा लेंगे। फिर हाथी, घोड़ा, रथ तथा सेना को अपनी कर लेंगे। उस समस्त देश के स्वामी हो जायगे। जब उस देश पर हमारा पूर्ण आधिपत्य हो जायगा, तो उससे आगे के देश पर अधिकार करेंगे। ऐसे ही क्रमशः सम्पूर्ण देश को अपने अधीन करेंगे। फिर बड़े बड़े पोत बनावेंगे। उनमें रण सामग्री भरकर समुद्र के उस पार के देशों पर अपना अधिकार जमावेंगे।" इसी प्रकार के वे मूर्ख राज्य लोलुप राजा अनेको मनोरथ करते रहते हैं। एक दिन काल चुपके से आता है और धर दबोचता है, उनके मनोरथ मन के मन में ही रह जाते हैं। मुझे छोड़कर काल के अतिथि बन जाते हैं। यमराज के आगे थर थर काँपने लगते हैं। इन मूर्खों से कोई पूछे अरे, तुम समुद्र पार के देशों का जीतने में तो इतना उत्साह दिखाते हो, उन देशों के राजाओं को शत्रु समझ कर जीतना चाहते हो किन्तु तुम्हारे भीतर जो एक मन रूपी शत्रु बैठा है जिसके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि सहायक साथी हैं इन सबको प्रथम क्यों नहीं जीतते। जब तक इस मन रूपी प्रबल शत्रु को न जीतोगे, तब तक कितने भी देशों पर आधिपत्य कर लो तुम्हें सन्तोष न होगा, संसार की समस्त भोग सामग्री प्राप्त करके भी तुम व्यग्र ही बने रहोगे। सदा अशान्त होकर

इधर से उधर भागते फिरोगे। यदि तुमने सम्पूर्ण संसार के शत्रुओं को जीतकर सप्तद्वीपा वसुन्धरा को अपने वश में कर भी लिया तो तुम्हें क्या मिल जायगा। तुम्हारी तृष्णा तो शान्त होगी नहीं और यदि अकेले मन पर तुमने विजय पाली, तो यहाँ तुम्हें शान्ति मिलेगी और अन्त में मोक्ष के अधिकारी होंगे।

पृथिवी हँसती हुई गा गाकर कहती है—"इन क्षुद्र बुद्धि राजाओं की कुमति तो देखो, महाराज मनु जो मेरे सब प्रथम अधिपति हुए। जिन्होंने वंश चलाये जिनके नाम से मन्वन्तर चलता है। जो दूसरे ब्रह्मा ही माने जाते है, वे भी मुझे त्याग कर चले गये। उनके पुत्र प्रियव्रत उत्तानपाद कितने प्रतापी हुए। जिनके रथ के चक्र की लीक से सात समुद्र बन गये, उनका भी अब नाम ही शेष रह गया। जैसे ये आये थे वैसे ही चले गये न कुछ लेकर आये थे न कुछ लेकर गये। खाली हाथ की मुट्ठी बाँधकर आये थे और हाथ पसारे हुए चले थे। जब ये ही मुझे अपनी कहकर और अन्त में यहीं छोड़कर चले गये, तो जो मूढ़ मति अल्पज्ञ हैं, जिनकी आयु अल्प है, सामर्थ्य अल्प है, वे मुझे अपनी क्या बनावेंगे। वे युद्ध में मुझे जीत कर के दिन अपना शासन चलावेंगे।

राज्य लोलुपता हृदय में आते ही सौहार्द्र प्रेम और अपनापन नष्ट हो जाता है। जिसे भी अपनी इष्ट सिद्धि में विघ्न समझता है उसे ही नष्ट कर देता है। राज्य के पीछे कौरव पांडवों में कैसा घनघोर युद्ध हुआ। भाई-भाई के रक्त का प्यासा बन गया। राज्य के पीछे पिता-पुत्र का, भाई-भाई का द्वेष हो जाता है, एक दूसरे की हत्या कर देते हैं। लाखों आदमियों को रण में झोंक देते हैं, हाथ कुछ भी नहीं लगता। या तो उसी युद्ध में समाप्त हो जाते हैं या उसके कुछ दिनों के पश्चात् इस

संसार से विदा हो जाते हैं। द्रोह, हत्या, वैर भाव, कलह और विद्वेष यहीं शेष रह जाते हैं।

जैसे कुत्ते मृतक के मांस के पीछे लड़ते हैं और लड़ते लड़ते घायल हो जाते हैं, वैसे ही ये राजा गण मेरे पीछे क्रोध में भरकर लड़ते हैं। एक दूसरे की ओर दाँत पीसकर अस्त्र शस्त्र लेकर क्रोध में भरकर कहते हैं—"रे मूर्ख! तू इतनी बढ़कर बातें क्यों बनाता है, इस पृथिवी का स्वामी मैं हूँ, यह वसुन्धरा तो वीर भोग्या है। मैं वीर हूँ, यह तो मेरी ही बन कर रहेगी। तुझे यदि बल का अभिमान है तो आ जा मेरे सम्मुख। अभी मैं तुझे मारकर पृथिवी का एक छत्र सम्राट बनता हूँ।" यह सुनकर वह भी क्रोध में भर कर इन्हीं बातोंका दुहराता है, फिर दोनों मेढ़ाओं की भाँति, सांडों की भाँति आपस में लड़ जाते हैं। एक दूसरे पर प्रहार करते हैं। मारे जाते हैं। मुझे अपनी बनाने को सभी लालायित रहते हैं, किन्तु मुझे कोई आज तक अपनी बना नहीं सका। मनुष्यों की यही तो कुमति है वेश्या के सम्मुख जो जाता है उसी के कंठ में वह बाहु डाल देती है। अज्ञानी लोग समझते हैं यह अब मेरी हो गयी, मुझसे प्यार करती है, किन्तु वास्तव में वह किसी की होती नहीं। लोगों की मूर्खता पर वह मन ही मन हँसती है और सोचती है? इन्हें मैंने अच्छा उल्लू बनाया। इसी प्रकार ये राजा भी उल्लू हैं। ज्ञान रूप सूर्य के होते हुए भी ये अन्धे बने रहते हैं। सूर्य की ओर देखते भी नहीं। यदि ये पिछले राजाओं के चरित्रों का भी विचार करें, तो भी इनका मोह दूर हो। किन्तु ये तो अपने को ही सब कुछ समझने लगते हैं। स्वस्थ चित्त होकर सोचें तो इन्हें पता चल जाय कि जो मुझे मेरी मेरी कहा करते थे वे भी मुझे छोड़ के न जाने कहाँ चले गये।

महाराज पृथु तो अवतार ही थे, मुझे जीतकर उन्होंने पुत्री बना लिया। पृथु की पुत्री होने से ही मेरा नाम पृथ्वी पड़ा है

उन्होंने ही अपने धनुष की नोंक से मुझे विषम से सम बनाया, किन्तु थोड़े दिनों तक अपना तुनतुना बजाकर न जाने कहाँ चले गये। अब उनका नाम ही नाम रह गया है।

प्रतिष्ठान पुराधीश महाराज पुरूरवा कितने प्रतापी थे स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी उनके रूप पर आसक्त होकर उनके महलों में रानी बनकर रहीं। कितना बड़ा उनका सौन्दर्य था कैसी उनकी सुगठित चित्ताकर्षक देह थी, किन्तु अब वह दिखाई नहीं देती। मेरी ही धूलि में उनकी देह नष्ट हो गयी।

महाराज गाधि कितने विश्वविख्यात थे। जिनके पुत्र विश्वामित्र इसी शरीर से क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गये। देवता भी आकर जिनको मस्तक नवाते थे, किन्तु अब उन महाराज गाधि की पुराणों में कथा ही कथा शेष रह गयी है, उनके शरीर की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

महाराज नहुष के तेज, बल, वीर्य तथा शक्ति के सम्बन्ध में अब क्या कहा जाय। मर्त्यलोक के राजा होने पर भी इसी शरीर से स्वर्ग में देवताओं के राजा बनाये गये। बड़े बड़े देवर्षि और महर्षि खड़े होकर जिनकी स्तुति करते थे। ब्राह्मणों को कहारों की भाँति पालकी में लगाकर वे चला करते थे। अब उनका प्रताप न जाने कहाँ चला गया। अब वे नहीं रहे उनकी कहानी रह गयी।

महाराज भरत इस समस्त भू मंडल के राजा थे। अब तक मेरा कुछ खण्ड उन्हीं भरत के नाम से भरत खण्ड कहलाता है। भरत खण्ड तो अब तक है, किन्तु राजर्षि भरत अब नहीं रहे। जब भरत जैसे चक्रवर्ती भी नहीं रहे तो ये क्षुद्र राजा कैसे रहेंगे।

सहस्रार्जुन के बलवीर्य की बात न पूछिये। सहस्र [illegible] से उसने सबको वश में कर लिया था। विश्वविजयी रावण

जिसने बन्दर की भाँति बाँध लिया था। जिसके नाम से देवेन्द्र भी डरते थे। अन्त मे उसकी सहस्रो भुजायें मेरी धूलि मे आत्मसात् हो गयीं। उनका बडा भारी डीलडौल का शरीर पचभूतों मे मिल गया। अब मेरे ऊपर सहस्र भुजाओ वाला एक भी पुरुष दिखायी नहीं देता।

मान्धाता महाराज की महिमा मानवीय मति के परे की बात है। पिता के पेट से पैदा हुए। इन्द्र ने अमृत पिलाकर जिनका पालन किया। अमृत पीकर भी वे मर गये। अब मान्धाता राजा किसी को दिखाया देते हैं। पिता के पेट से पैदा हो या माता के पेट से सबको मिलना है मेरी ही धूल मे।

महाराज सगर की कीर्ति अब भी दशों दिशाओ मे फैली है, जिनके पुत्रो ने पृथिवी को खोदकर सागर बना दिया। जिनके रथ के चक्र को रोकने की कोई भी उन दिनों सामर्थ्य नहीं रखता था, जो अपने समान स्वय ही थे। अब सागर के कारण उनका नाम अवशेष है। शरीर न जाने कहाँ चला गया।

अवधकुल मडन, रघुकुल कमल दिवाकर कोशल्यानन्द वर्धन दाशरथी राम तो साक्षात् परब्रह्म का अवतार ही थे। फिर भी वे राजा बनकर मेरे ऊपर अवतीर्ण हुए। उन्होंने भी सहस्रो अश्वमेध किये दिग्विजय की दशों दिशाओं को जीता। यह सब करके भी क्यो वे यहाँ बने रहे। उन्होने भी मर्त्य लीला समाप्त की। मुझे बिलखती छोडकर न जाने वहाँ कहाँ रम गये। कटका से विद्ध अपने चरणों को मेरे वक्ष स्थल पर रखकर एक कसक छोडकर वे भी मेरा परित्याग कर गये।

खट्वाङ्ग राजा के साहस को स्मरण करके मेरा शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। स्वर्ग मे जो आयु का मुहूर्त शेष रहने पर सत्सग के प्रभाव से मुक्त हो गये वे भी सदा मेरे ऊपर नहीं रहे तो ये अल्पायु कीट पतग राजा मेरा कै दिन भोग कर सकेंगे,

महाराज धुन्धुमार के बल की थाह कौन पा सकता है। इतने बड़े धुन्धु असुर को जो बालू के नीचे से फुफकार छोड़कर आकाश मंडल को धूलि से भर देता था। आकाश में नया समुद्र सा बना देता था, उसे भी जिन्होंने मार दिया उनकी बराबरी करने वाला कोई राजा है क्या ? जब धुन्धुमार भी मर गये, तो धूआं मार राजा कैसे सदा जीवित रह सकेंगे। फिर भी ये साम्राज्य वृद्धि की लिप्सा का परित्याग नहीं करते यही प्रभु की मोहिनी माया है।

महाराज रघु के समान दानी कौन होगा, जो सर्वस्व दान करके निर्धन बनगये थे और विप्र की याचना पर कुबेर के ऊपर चढ़ाई करने को उद्यत हो गये थे। उनके संकल्प से कुबेर ने रातों रात उनके कोष को धन से भर दिया था, ऐसे प्रतापी राजा भी मुझे सदा के लिये छोड़कर चले गये, तो ये अत्यन्त कृपण लोभी दस्यु धर्मी नीच राजा के दिन मुझे अपने वश में रखेंगे।

राजर्षि तृणविन्दु की उपमा किनसे दी जाय, जिन्होंने योग और भोग प्रवृत्ति और निवृत्ति तपस्या और राज्य सभी का विधिवत् अनुभव किया जिनमें निग्रह अनुग्रह शाप;वरदान की सभी शक्तियाँ थीं। काल ने उनको भी नहीं छोड़ा ऐसे धर्मात्मा भूपति भी मेरे ऊपर सदा न रह सके। वे भी नश्वत्व को प्राप्त हुए।

महाराज ययाति कितने प्रतापी हुए, जिन्होंने पृथिवी पर वैकुण्ठ बना लिया, जिनके पुण्य प्रताप को देखकर यमराज के छक्के छूट गये। जो सर्व समर्थ थे, जिन्होंने आई हुई जरावस्था को भी ठुकरा दिया। क्षत्रिय होकर भी जो शुक्राचार्य ऐसे ऋषि जामाता बने उनको भी कालने नहीं छोड़ा। उनकी भी अब केवल कथा ही शेष रह गयी।

सम्राट शर्याति अपने समय के कितने शूरवीर प्रतापी और धर्मात्मा थे। वे भी पृथिवी पति कहलाते थे, किन्तु अन्त में

भी सब यहीं छोड़कर चले गये। उनके शरीर को अग्नि ने भस्म-सात कर दिया। जब ऐसे ऐसे सम्राट् भी सदा मेरा उपभोग न कर सके, तो ये अल्पवीर्य कलियुगी भूमिधर मुझे अपनी कैसे बनाये रखेंगे।

महाराज शन्तनु जिसके ऊपर भी हाथ रख देते थे-वही वृद्ध से युवक हो जाता था, अन्त में वे भी सुरपुर चले गये, उनके पुत्र देवव्रत भीष्म जिन्होंने मृत्यु को जीत लिया था, जो अपनी इच्छा से ही मर सकते थे, अन्त में उन्हें भी शरीर को त्यागना ही पड़ा।

महाराज गय के समान यज्ञ करने वाला तथा दानी ससार में कौन होगा जिनकी कीर्ति अब तक पुराणो मे गायी जाती है, लोकपाल स्वयं जिनके यज्ञों में आकर सोमपान करते थे और साधारण मनुष्यों के सदृश उनके यज्ञ कार्यों में योग देत थे। जा अपने समय क अद्वितीय ही माने जाते थे, कालने उनपर दया नहीं दिखायी। वे भी मेरे सदा स्वामी बने रहे। उन्हें भी एक दिन इस पाञ्च भौतिक शरीर को छोड़ना पड़ा।

जब तक संसार में गङ्गाजी रहेंगी तब तक महाराज भगीरथ का यश दिग दिगन्तों में व्याप्त रहेगा। जो राजर्षि स्वग से सुर-सरि को ले आये जो मेरे ऊपर भागीरथी के नाम से अब तक प्रवाहित होती रहती हैं। उन महाराज भगीरथ का नाम तो शेष है, किन्तु अब वे दिखायी नहीं देते। वे भूत के गभ से विलीन हो गय।

महाराज कुवलयाश्व कितने प्रतापी हुए जो पाताल में जाकर वहाँ से विवाह कर लाये। जो अपने घोड़े पर चढ़कर एक दिन में सब पृथिवी मडल पर घूम आते थे। जो शूरवीर, विद्वान्, बुद्धि-मान्, दानी तथा सर्व विद्या निपुण थे वे भी एक दिन मुझे छोड़

गये। वे भी सदा मेरे स्वामी न रह सके। जब इतने सर्व समर्थ भूपति सदा न रह सके, तब अल्पज्ञों की तो कथा ही क्या है।

रघुकुल में एक से एक प्रतापी राजा हुए महाराज इन्द्रवाह कितने यशस्वी हुए इन्द्र को बैल बनाकर उसके ककुद् पर चढ़कर तब असुरों से लड़ने गये। इसीलिये उनका नाम ककुत्स्थ पड़ा। जिनके कारण भगवान् राम भी अपने को गर्व के साथ काकुत्स्थ कहते थे। वे महाराज इन्द्र को वाहन बनाने वाले इन्द्रवाह भी समय आने पर चल बसे।

महाराज नल कितने धर्मात्मा थे धर्म के लिये उन्होंने कैसे कैसे कष्ट सहे। उनकी पत्नी दमयन्ती कितनी पतिव्रता थी। महाराज नल की कीर्ति अब तक संसार में व्याप्त है किन्तु निषध देश के ऊपर शासन करने वाले वे महाराज नैषध अब नहीं हैं। न जाने उनके शरीर के पंचभूतों के परमाणु कहाँ मेरी धूलि में मिले पड़े होंगे। ऐसे कितने राजा मेरे ही उत्पन्न अन्न के अंश से उत्पन्न हुए और अन्त में उनका शरीर मुझमें ही मिल गया। न वे मेरे ऊपर कुछ लेकर आये और न मेरे ऊपर से कुछ लेकर गये।

महाराज नृग के दान धर्म की कोई सीमा ही नहीं। मेरे रजकणों की गणना हो सकती है, आकाश के तारागण गिने जा सकते हैं, किन्तु उन्होंने जितनी गौओं का दान दिया, इसकी गणना करना असंभव है। वे भी बड़े गर्व से अपने को वसुधाधिप कहते थे, राजसिंहासनपर बैठकर अपने को समस्त पृथिवी का स्वामी मानते थे। अन्त में राजा से गिरगिट हुए। उस गिरगिट का भी अब पता नहीं।

धर्मात्मा ही राजा मरे हों, या उनका ही नाम शेष रहा हो भी बात नहीं। बहुत से असुर भी मर गये, जिन्होंने बड़े अत्याचार किये। भगवान् के विरुद्ध जिन्होंने प्रचार किया। हिरण्यकशिपु ने अभिमान में भरकर प्रह्लाद को कितनी कितनी यात

नायें ही। उस समय हिरण्यकशिपु की बराबरी करने वाला तीनों लोकों में कौन था। जिसके लिये स्वयं भगवान को खम्भे से उत्पन्न होना पडा। उसका वह लम्बा तड़ंगा शरीर मेरे ही कणों में मिल गया।

वृत्रासुर ने अपनी विशाल काया से तीनो लोको को ढक लिया था। इन्द्र को भी उसके वाहन ऐरावत के साथ निगल गया था, देवता उसके नाम से ही थर थर कॉपते थे, वह भी समर में सदा के लिये सो गया। इन्द्र के हाथा मारा गया। उसका विशाल शरीर अब दीखता भी नहीं। मेरे शरीर मे ही वह तदाकार हो गया।

रावण ने सभी लोकों को अपने बल प्रभाव से रुला दिया था। इसी लिये सब उसे रावण कहते थे। देवता उसके यहाँ पानी भरते थे। लोकपाल उसके द्वारपालक का काम करते थे। कोई राजा उससे लडने का साहस नहीं करता था। वह दश शीश बीस भुजा वाला जगत् प्रतापी राजा राम के हाथो मृत्यु को प्राप्त हो गया। राम के सम्बन्ध से जगत मे आज उसके गीत गाये जाते हैं, किंतु दश सिर वाला उसका शरीर काल के उदर में समा गया।

नमुचि को वर प्राप्त था। उसे अभिमान था मैं मर ही नहीं सकता। वह समुद्र के फेन से ही मर गया शम्बरा सुर, भौमासुर, हिरण्याक्ष, तारक तथा अन्यान्य, महिष, बलि, बाण, प्रह्लाद, आदि असुर कुल के बली बात की बात मे भूमि में मिल गये। उनके तेज, बल, वीर्य तथा पुरुषार्थ की केवल कथा ही शेष रह गयी।

कहाँ तक गिनाऊँ, मेरा नाम वसुन्धरा है न जाने कितने नर रत्न मेरे ऊपर हुए और मुझमे ही समा गये। बड़े बडे असुर, सुर, मनुष्य तथा अन्यान्य बली अत्यंत ही ऐश्वर्य सम्पन्न हुए वे

अपने को सर्वज्ञ समझते थे, बड़े शूरवीर, विश्वविजयी अपराजित तथा अनुपम थे, जिनकी अव्याहत गति थी। जिनका रथ पहाड़, वन, समुद्र तथा आकाश में समान रूप से सर्वत्र जा सकता था जो मुझमें अत्यन्त ममता रखते थे। जो विश्व विजयी कहते थे। जो नित्य नये नये मनोरथ किया करते थे। किंतु हाय! कराल काल ने उनके समस्त मनोरथों पर पानी फेर दिया। अपनी समस्त कामनाओं की गठरी के भार को लादे हुए ही वे चल बसे। अब उन प्रतापी राजाओं के केवल कथन मात्र को नाम ही शेष रह गये हैं।"

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! मनुष्य जितनी भी चिन्ता करता है इस शरीर के ही सम्बन्ध से करता है। आत्मा सुख, दुःख से रहित अखण्ड, एक रस परिपूर्ण और स्वजाति विजाति भेदभावों से शून्य है। उसके लिये न किसी वस्तु का अभाव है न उसे कुछ प्राप्त ही करना है। शरीर के ही सम्बन्ध से प्राणी अभिमान करता है—मैं अमुकवर्ण का हूँ, मेरा कुल इतना विशुद्ध है, मैं अमुक आश्रम का हूँ, मैं विद्वान् हूँ, सम्पन्न हूँ, ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सुखी हूँ, शासक हूँ, मेरी आज्ञा को कौन टाल सकता है। मेरे सम्मुख कौन बोल सकता है, मैं विद्वान् हूँ शास्त्रज्ञ हूँ, हूँ, सदा समर विजयी हूँ। एकमात्र मैं ही इस अखिल भूमण्डल का अधिपति हूँ।" ये सब अभिमानपूर्ण वचन इस देह से और इस देह के सम्बन्ध की वस्तु के अभिमान से ही निकलते हैं। कितने लोग इस भूमि पर सुवर्ण चाँदी तथा पत्थर के भवन बना गये। जब वे भवन बनाने वाले ही न बचे तो फिर भवन क्या बचेंगे। जिस भूमि पर असंख्यों बार भवन बन चुके हैं, उस पर एक भवन बनाकर लड़ता है, यहाँ से मैं मोरी न निकाल दूँगा यह मेरी भूमि है। राजा कहते हैं—"इस स्थान में मैं खाई न खोदने दूँगा, यह मेरी सीमा की भूमि है। इन बातों को

भूमि ठठाका मार कर हँसती है और भीतर ही भीतर गुन गुन करके गाती है—

वसुधा भूपनि कूँ समुझावै।
अरे, व्यरथ क्यों कटत मरत हो, हाथ कछू नहि आवै ॥१॥ वसुधा०
कितने भये होयँगे अब हैं, माइ कोन ले जावै।
विजय करत रथ हय गज लैकें, को विजयी कहलावै ॥२॥ वसुधा०
चार दिवस अभिमान बढायो, काल बली पुनि आवै।
मैं ज्यों की त्यों ई रहि जाऊँ, तनु तजि भूपति जावै ॥३॥ वसुधा०
पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुप नृप, को इनका पद पावै।
सगर, राम, गय, नल, ययाति, रघु, केवल अब सुधि आवै ॥४॥ व०
जब इन सबकी नहीं भई मैं, तो क्यों तू ललचावै।
मूरख मोहें ममता तजि के, क्यों हरि पद नहिं ध्यावै ॥५॥ वसुधा०

इस वसुधा के गीत को जो सुन लेता है, वह तो मोह ममता को छोडकर मुक्त बन जाता है, जो इस गीत को नहीं सुनता वही बारबार जन्मता है बारबार मरता है और इसी प्रकार चौरासी के चक्कर मे घूमता रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब कोई राजा सैन्य सजाकर विजय के लिये निकलता है, तब वसुधा इसी प्रकार उसे देखकर हँसती हुई ऐसे गीतों को गाया करती है, किन्तु राज्य के मद में अन्धे और बहरे बने वे भूपति वसुधा के इस गीत को सुनते नहीं परस्पर में वैर भाव बढाते हैं और काल के कवल हो जाते हैं। यह मैंने वसुधागीत आप को सुनाया अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनक जी ने कहा—सूतजी! आपने तो यह सब गुड गोबर कर दिया। महाभाग! बडे बडे प्रतापी राजाओं के चरित सुना कर पीछे सबको आपने काल का खिलौना बना दिया इस पर तो हमें एक कथा याद आ गयी।

सूतजी बोले—"हाँ महाराज! अब तक तो मैं ही कथा सुनाता था, अब आप भी एक कथा सुना दीजिये। कौन सी कथा याद आ गयी।

शौनक जी ने कहा—"महाराज! एक व्यापारी था व्यापारी। उसकी एक बड़ी ही प्यारी दुलारी सुकुमारी पुत्री थी। कमल के फूल के समान उसके सुन्दर अंग थे। जब वह चलती तो ऐसी लगती मानों हंस की पुत्री चल रही है, जब वह अपनी तुतली वानी से बोलती तो ऐसी लगती मानों कमनीय कंठ से वसंत में कोकिल कूज रही है। उसी बड़ी बड़ी आँखें नीलकमल के समान सदा प्रफुल्लित रहती। वह अपने पिता की इकलौती पुत्री थी। माता-पिता ने अपनी समस्त मोह ममता उसी पर उड़ेल दी थी। माता पिता भाँति भाँति के वस्त्राभूषण पहिना पहिना कर उसे सजाया करते थे और मन ही मन सिहाया करते थे। उसे तनिक भी कष्ट हो जाता तो घर भर में व्यग्रता छा जाती। चिकित्सक के ऊपर चिकित्सक आते। इस प्रकार वह अत्यन्त प्यार दुलार के भार को वहन करती हुई शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की किरणों की भाँति बढ़ने लगी। बढ़ते बढ़ते अब वह विवाह के योग्य हो गयी। वह व्यापारी चाहता था कोई ऐसा लड़का हो जो कुलीन भी हो और साथ ही निर्धन भी हो, जिसके साथ विवाह करके मैं उसे घर जमाई रख सकूँ। मेरे यही तो एक संतान है। यही मेरी पुत्री है यही पुत्र है। इधर उधर बहुत से आदमी दौड़ाये गये। बहुत खोज के अनन्तर एक लड़का मिला। उसके पितामह लक्षाधीश थे, बड़ा व्यापार था, समय के फेर से व्यापार में घाटा आ गया वे निर्धन हो गये। जिस किसी प्रकार अपना निर्वाह करते थे। लड़का देखने में सुन्दर था, कुलीन था और साथ ही निर्धन भी। लड़की वाले व्यापारी ने बड़ी प्रसन्नता से उसके साथ लड़की का विवाह कर दिया और घर जमाई रख लिया।

निर्धन का लडका एक साथ ही इतना धन इतनी सुन्दरी वहू पाकर अभिमान मे भर गया, उसका आचरण अच्छा नहीं रहा। लड़की तो अपने माँ बाप की लडैती ही थी। वह उसे अपना भृत्य समझती और उसका कुछ भी आदर नहीं करती। घर जमाई की ऐसी दुर्दशा होती ही है। वह तो स्त्री का एक प्रकार से क्रीतदास ही है। फिर भी ससुर उसका इसलिये आदर करते हैं, कि हमारी पुत्रीको कष्ट न हो। उन्हें जामाता के कष्ट की चिन्ता नहीं रहती. पुत्री को सुखी रखना ही उनका परम लक्ष्य रहता है।

एक दिन किसी बात पर कहा सुनी हो गयी। लडका कहीं चला गया। कई दिनों तक खोज की। लडकी तो स्वाधीन थी, उसे तो पति की चिन्ता नहीं थी, 'किन्तु उसके माता पिता व्यग्र थे। बहुत खोज की लडका नहीं मिला। कुछ दिनो के पश्चात् लडका आया। वह बहुमूल्य वस्त्रा भूषणों से सुसज्जित था। सास ससुर ने उसका आदर किया और स्नेह से उससे पूछने लगे—"बेटा! तुम कहाँ चले गये थे।"

उसने कहा—'पिता जी! ऐसे ही इधर उधर घूमने चला गया था।

ससुर ने पूछा—'इतने दिनो में क्या क्या कष्ट पड़े। क्या क्या अनुभव हुए सब अपनी बातें सुनाओ।"

धनिक जामाता फिर घर लौट आया है यह सुनकर बहुत से लोग एकत्रित हो गये। वह लड़की भी अपने पति के विषय में

जानने को उत्सुक थी, अतः किवाड़ की आड़ में बैठकर उसकी बात को सुन रही थी। सब को सुनते हुए उस लड़के ने कहना आरम्भ कर दिया।

पिता जी! मैं यहाँ से चला गया और भी मेरे साथी हम सब चलते चलते बहुत दिनों में राजधानी में पहुँचे। एक सुन्दर सजा हुआ उपवन देखा। उसी में जाकर मैं तो सो गया। मुझे पता नहीं कब तक मैं सोता रहा। वहीं पर एक राजकुमारी आई, वह मेरे रूप पर मुग्ध हो गयी उसने मुझसे विवाह का प्रस्ताव किया। वह अपने पिता की इकलौती पुत्री थी। जिसके साथ वह विवाह करती वही उस नगर का राजा बन जाता मैंने उसका प्रस्ताव स्वीकार किया और राजा ने मेरा राज्याभिषेक करा दिया मैं राजा बन गया। अब तो सर्वत्र मेरे नाम का जय जयकार होने लगा। सब मेरी सेवा में सदा संलग्न रहते। मैंने अब अपना राज्य बढ़ाने के लिये सेना बढ़ाई। मेरी रानी कहती—"तुम महलों को छोड़कर कहीं मत जाओ। मुझे राजकाज करने जाना ही पड़ता था। इसी समय एक बड़ी दुर्घटना हो गयी। मैं अपनी रानी के संग एक सरोवर के निकट बैठा था, कि इतने में ही एक राक्षस वहाँ आया। वह पर्वत के समान ऊँचा था, बड़ा भयंकर उसका मुख था बड़ी बड़ी तीक्ष्ण दाढ़ें थीं। उँगलियों के नख बड़े पैने और लम्बे लम्बे थे। उसके सिर के बाल लाल लाल कड़े और भयानक थे। वह अंजन पर्वत के समान काला था वह अपने दाढ़ों से एक सुन्दरी जीवित चबा रहा था स्त्री रो रही थी। वह आकर मेरे सम्मुख खड़ा हो

गया। कुछ बोलाचाला नहीं। उस राक्षस को देखकर मेरी रानी चीख मार कर वहीं गिर पडी और मूर्छित हो गयी।" इतना कह कर लडका चुप हो गया।

सभी लोगों की उत्सुकता बढ़ रही थी, सभी आगे का समाचार जानने को व्यग्र थे। लडकी खिडकी की आड में से सुन रही थी और मन ही मन हँस रही थी लडके ससुर ने व्यग्रता पूर्वक पूछा—"हाँ, तो लल्ला फिर क्या हुआ ?"

लड़के ने कहा—"हुआ क्या पिताजी ! फिर मेरी आँख खुल गयी। न वहाँ रानी थी न राक्षस, मैं अकेला पडा पडा सो रहा था। मेरे साथियों ने गत मे लाकर वस्त्राभूषण दिये उन्हें पहिन कर मैं यहाँ आ गया।"

वह लडका यह कह ही रहा था, कि इतने में ही राज कर्मचारी पाँच सात द्यूत खेलनेवालों के हाथों में हथकड़ी डाले हुए वहाँ आये और उस लडके को भी पकडकर उसके हाथों में हथकडी पहिनाकर ले गये।

सो, सूतजी आपने भी इतने राजाओं की ऐसी अद्भुत अद्भुत कथायें सुना कर हमारी उत्सुकता बढ़ा दी। हमने भी प्रश्न के ऊपर प्रश्न करके आपको व्यग्र बना दिया। सबके अन्त में आप कहते हैं, यह सब तो स्वप्न था। राजाओं का अज्ञान था, कि इस पृथिवी को वे मेरी मेरी कहते थे, जब यही बात थी, तो आपने इन सूर्य वंश के और चन्द्रवंश के लाखों राजाओं के व्यर्थ में नाम क्यों गिनाये। क्यों इनकी इतनी लम्बी लम्बी कथायें सुनायीं।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! ये कथायें मैंने आपको निरर्थक नहीं सुनायीं इनके सुनाने का भी कारण है। उस कारण को भी मैं आगे बताऊँगा, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

नृपनि विजय कूँ व्यग्र निरखि वसुधा हँसि जावै।
करि करि उन पै व्यङ्ग मरमयुत वचन सुनावै॥
नृपति खिलौना काल मोइ का जे जीतिङ्गे।
बीते अगनित नृपति कालि ये हू बीतिङ्गे॥
कहो कहा तिन ने लह्यो, कीयो जिनने मोइ वश।
मरि मरि ते नृप नसि गये, मैं तब जैसी अबहुँ तस॥

राजाओं की कथायें वाणी का विलास मात्र हैं

(१३४८)

कथा इमास्ते कथिता महीयसाम्,
वितायं लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञान वैराग्य विवक्षया विभो,
वचोविभूतीर्नतु पारमार्थ्यम् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ३ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

ऐसे भूपति भये नयी जो सृष्टि बनावें ।
सूरज पथ कूँ रोकि रैनि के तमहिँ भगावें ॥
रथतैं करें समुद्र भूमि पै बान चलावें ।
सप्त द्वीप नव खण्ड विजय करि भूप कहावें ॥
किन्तु काल के गाल में, तेऊ फँसि के नसि गये ।
करि जगतैं वैराग्य हरि, गये शरन ते तरि गये ॥

समस्त शास्त्रों का सार इतना ही है कि जगत् के सब पदार्थ अशाश्वत नाशवान् तथा परिणाम में दुःखद हैं, एकमात्र श्री हरि

---

*श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! मैंने आप से उन महापुरुषों की कथायें कही हैं जो इस लोक में अपनी कीर्ति का विस्तार करके चल

ही सुख स्वरूप शाश्वत और अविनाशी हैं।' इसी बात का समस्त शास्त्रों में व्याख्यान किया गया है। नाना भाँति से दृष्टान्त देकर इसी तत्व को समझाया गया है। किन्तु व्याख्यान न करके सहसा इसी बात को किसी से कह दें, तो उसकी बुद्धि में यह बात न बैठेगी। इसी लिये शास्त्र घुमा फिरा कर इधर उधर की बहुत सी बातें बताकर तब संकेत से इस सत्य को कहता है। किसी को घृत चाहिये। और घृत गौ से प्राप्त हो सकेगा, तो प्रथम उसके लिये गौ की आवश्यकता है, गौ भी बाँझ न हो। ब्याने वाली हो, वह भी दूध देती हो, फिर उसे घास दाना दिया जायगा। इतने पर भी वह घृत न देगी। उसे बछड़ा छोड़कर पुहनाया जायगा। फिर भी उसके स्तनों से घृत न निकलेगा, दूध ही निकलेगा, किन्तु उस दूध में घृत छिपा है। फिर उसे गरम करना होगा, गरम कर के जामन देकर जमाना होगा दही बनाना होगा। अब दूध से दही बन गया, फिर दही का मन्थन करना होगा, नवनीत को निकालना होगा। इतने पर भी घृत नहीं निकला। नवनीत को अग्नि पर तपाना होगा। फिर छानना होगा, मैल को पृथक् करने से घृत निकलेगा। घृत निकाला तो गौ के दूध से ही, किन्तु निकालने मे बहुत सी क्रियायें करनी पड़ीं। इसी प्रकार समस्त शास्त्रों का सार तो यही है किन्तु वह सार सरलता से प्राप्त नहीं होता उसके लिये शास्त्रों का मन्थन करना पड़ता है। स्वयं अनुभूति प्राप्त करनी होती है। बिना अनुभव किये कोई उसका स्वाद जान ही नहीं सकता।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! मैं ने इन इतने राजाओं की कथायें आपको इसलिये नहीं सुनायीं कि आप इन सबके जन्म

बसे हैं, ये कथायें केवल वाणी का विलास मात्र हैं, मैंने केवल ज्ञान और वैराग्य का वर्णन करने की इच्छा से ही ये कही हैं। इसे परमार्थ न समझें।"

के, गद्दी पर बैठने के युद्ध जीतने के अश्वमेघ यज्ञ करने के सम्वत सरों को रट लें। इन इतने राजाओं की कथायें मैं ने ज्ञान वैराग्य का वर्णन करने की इच्छा से कहीं। बिना वैराग्य के ज्ञान नहीं। होता और बिना राग के वैराग्य की प्राप्ति नहीं। जीव का धन में स्त्री में और भूमि मे राग स्वाभाविक होता है। सभी चाहते हैं मेरे पास अधिक से अधिक धन हो, सभी चाहते हैं मुझे सुन्दर से सुन्दर सुशील से सुशील पत्नी मिले। इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री चाहती है मुझे गुणी से गुणी ऐश्वर्यशाली से ऐश्वर्यशाली पति मिले। सभी चाहते हैं अधिक से अधिक भूमि पर हमारा अधिकार हो। महाराज! गृहस्थियों की बात छोड दीजिये। जब त्यागी विरागी सन्यासी लोग भी मठ बनाते हैं, तो उनकी भी इच्छा हो जाती है, हम अपने पडोसी की जितनी भी हो सके भूमि पर अधिकार जमा लें। एक एक अंगुल भूमि के लिये लडाइयाँ हो जाती हैं राजद्वार मे अभियोग चलते हैं। जिनके पास अधिक धन ऐश्वर्य होता है जिनकी स्त्रियाँ अधिक सुन्दरी और सख्या में अधिक होती हैं तथा जो अधिक भूमि के अधिपति होते हैं वे राजा कहलाते हैं। इसी लिये मनुष्यों मे राजा का भगवान् का अंश माना गया है। स्त्रियों मे जो अधिक सुन्दरी होती है, उसे कहते हैं—"यह तो रानी सी लगती है। प्यार से सभी अपनी लडकियों को कहते हैं—"बडी रानी बेटी है।" अमुक काम को कर लेगी तो तू रानी बेटी हो जायगी।" इसी प्रकार लडकों से कहते हैं—"तू काजर लगवा लेगा, तो राजा बेटा हो जायगा।" अर्थात राजा रानी होना मनुष्यों में यह बडे गौरव की बात मानी जाती है। इसीलिये मैंने सूर्यवंश और चन्द्रवंश के राजाओं की कथायें सुनायीं कि इस वंश में कितने कितने प्रभावशाली राजा हुए। जिनके रथ की लीक से सात समुद्र हो गये। जिन्होंने इसी शरीर से स्वर्ग तक पर राज्य किया, जिनके सम्मुख इन्द्र भी

आकर हाथ जोड़कर खड़े रहते थे। जिनके चढ़ने को इन्द्र को भी बैल बनना पड़ा। जिनके यज्ञों में देवता भृत्यों के समान काम करते थे। इतने प्रतापी राजा भी अन्त में सर्वस्व छोड़कर चले गये। मेरा तात्पर्य इन राजाओं की कथा सुनाने से संसार से वैराग्य कराने में था। धन ऐश्वर्य तथा भूमि विजय की कथा सुनाना यह तो वाणी का विलास मात्र है। श्रुतमधुर राग है। लोगों की इन विषयों में अधिक रुचि होती है। सूखी ज्ञान वैराग्य की कथा कहो तो निद्रा आने लगती है। चित्त इधर उधर भटकने लगता है। जहाँ कोई कथा कही कि कान खड़े हो जाते हैं। कहने वाला आरम्भ करता है— 'एक राजा था, उसकी एक रानी थी। रानी क्या थी सुन्दरता की साकार मूर्ति ही थी। उसके चरण कमल पंखुड़ियों से भी अधिक कोमल थे। उसका वर्ण तपाये हुये सुवर्ण से भी निखरा हुआ था उसका मुख चन्द्रमा की आभा को भी तिरस्कृत करने वाला था। सहस्र दासियाँ सदा उसकी सेवा में संलग्न रहतीं। कोमल फूलों की शैया पर वह शयन करती। उसके सोने से सुमन मुरझाते नहीं थे।"

जहाँ यह वर्णन सुना कि सब ओर से चित्त वृत्ति हट कर कथा में ही लग जाती है। किसी भी श्रेणी का पुरुष क्यों न हो धन ऐश्वर्य भूमि और स्त्रियों के सम्बन्ध की कथाओं को बड़े मनोयोग से सुनेगा। राजाओं की कथाओं में और होता ही क्या है। सब कथाओं में ये ही बातें होती हैं। राजा के शील स्वभाव का वर्णन उसकी रानी और राजकुमारी के सौंदर्य का वर्णन, उसके ओज, तेज प्रभाव, ऐश्वर्य, दिग्विजय, युद्ध, यज्ञ आदि का वर्णन अन्त में उसकी विपत्ति का वर्णन और मृत्यु का वर्णन सभी राजाओं की कथाओं में ये ही बातें तो कही जाती हैं। उस स्वयंवर में गये उस कुमारी पर आसक्त हुए। उसने या तो जयमाला डाल दी, या ये उसे रथ में बिठाकर भाग गये। अन्त में इतने

सब विभव को यहीं छोड़कर मर गये। कथा का सार इसी में है कि कितना भी संग्रह करो, कितनी भी भोग सामग्री जुटाओ इनसे तृप्ति न होगी। भोगों के भोगने से भोगेच्छा और बढ़ती ही जायगी और अन्त में सब यहीं रह जायगा। परलोक में कुछ साथ जायगा भी तो दान धर्म जायगा। यदि परलोक में दान धर्म ही जायगा तो धन पाकर यथेष्ट दान धर्म क्यों न करें जिस से परलोक में सुख मिले।

फिर देखते हैं परलोक में मिलने वाला स्वर्गादि का सुख भी क्षयिष्णु है। पुण्य क्षीण होने पर फिर स्वर्ग से मर्त्य लोक में ढकेल दिये जाते हैं। तब वह भी यथार्थ सुख नहीं ठहरता यथार्थ सुख तो वही है जिससे संसार का आवागमन सदा के लिये छूट जाय। यह जन्म मरण का चक्र सदा के लिये समाप्त हो जाय। क्योंकि राजा होकर किसी ने यह नहीं कहा कि हमें इन भोगों से पूर्ण शान्ति है, सभी को अशान्त पाया। फूल सी सुकुमारी राजकुमारियों को फूल की शैया पर जब तड़पते हुए देखते हैं, तो संसार से वैराग्य होता है। दाद में खुजली होती है। इच्छा होती है इसे खुजालें तो सुख होगा। नख से उसे खुजाते हैं खुजाते समय क्षण भर को उसमें सुख सा प्रतीत होता है, उसमें से पानी निकलने लगता है, फिर इतना चित्त खिन्न होता है, ऐसी जलन होती है, कि नख लगाने से भी कष्ट होता है। अब बताये दाद को खुजाने में सुख के स्थान में दुःख ही अधिक हुआ। यह जानते हुए भी दूसरे दिन फिर खुजलाहट दौड़ती है तो फिर उसे नख से खुजाते हैं फिर पानी निकलता है फिर दाह होती है। यदि उसे खुजाया न जाय उसकी पीड़ा को कड़ा हृदय करके सह लिया जाय और उसे जलाने को औषधि लगायी जाय, तो दाद सदा के लिये मिट जायगी। नित्य खुजाने और पानी निकालने का झंझट ही दूर हो जाय। यही दशा विषयों के उपभोग की है। इन्द्रियाँ

जब सम्मुख विषय के उपभोग की सामग्री को देखती हैं, तो उन्हें भोगने की उनसे सुख प्राप्त करने की इच्छा होती है। उनका उपभोग करता है, पीछे पछताता है। यदि उनसे मन को हटा ले वैराग्य धारण करले तो ज्ञान की प्राप्ति हो। जबतक संसारी विषयों में राग है तब तक ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। ज्ञान की प्राप्ति तभी होगी जब संसारी विषयों से पूर्ण वैराग्य हो जा। वैराग्य कोई गुड़ का पुआ तो है नहीं कि हाथ से उठाया मुँह में रखा गप्प कर गये अनेक जन्मों की वासनाओं से प्रारब्ध वश विषयों की ओर चित्त स्वतः जाता है। उसे बार बार उनकी ओर से हटावे, वैराग्य धारण करे। उनके आदि करण पर विचारे। ये सब आगमा पायी हैं ऐसा निरन्तर अभ्यास करे। इस प्रकार अभ्यास वैराग्य के द्वारा मनका निरोध करे। प्राचीन राजाओं की कथाओं से सहायता लेता सोचे—"देखो राजा भरत कैसे चक्रवर्ती सम्राट थे! कितनी सुन्दरी सुन्दरी उनकी रानियाँ थीं, कितना अपार ऐश्वर्य उनके यहाँ था। यदि इनमें ही सुख होता तो वे रानियों को मृतक शरीर समझ कर राज्य सुख को तुच्छ समझकर अकेले वन में जाकर क्यों रहते। क्यों केवल कंद मूल और कड़वे कसैले फलों पर ही निर्वाह करते। भाग्यवश उनका एक मृग के बच्चे से मोह हो गया। उस मोह के कारण उन्हें मृग होना पड़ा। पुरञ्जन का पुरञ्जनी में मन फँस गया अन्त में उसे स्त्री होना पड़ा। जिसमें मन फँस जायगा वही होना पड़ेगा। चौरासी लाख योनियों में ऐसे ही घूमना पड़ेगा। इसलिये ऐसा उपाय क्यों न किया जाय जिससे यह जन्म मरण का चक्र सदा के लिये छूट जाय। एक मनुष्य देह ही ऐसी है कि इस चौरासी के चक्कर से छुड़ा सकती है। मनुष्य शरीर पाकर भी विषयों में फँसा रहा तो फिर चौरासी का चक्र सम्मुख रखा ही है। इस विषय में बड़े लोग एक दृष्टान्त दिया करते हैं।

एक बड़ा भारी घर है। उसमें निकलने का एक ही द्वार है। उसमें कोई अन्धा घूम रहा है। किसी विज्ञ पुरुष ने उससे कह दिया है हाथ से टोहता हुआ तू इसके चारों ओर घूम। जहाँ दरवाजा दिखायी दे वहीं से निकल जाना। वह हाथ से टोहता हुआ आगे बढ़ता है। ज्योंही द्वार के समीप आता है उसके सिर में खुजली होने लगती है। सिर को खुजाते खुजाते आगे बढ़ता है द्वार निकल जाता है फिर टोहते टोहते उसे पूरे भवन का चक्कर लगाना पड़ता है। द्वार के समीप आकर फिर हाथ मे खुजली उठती है, फिर दरवाजा निकल जाता है, फिर पूरा चक्कर लगाना पड़ता है। इसी प्रकार वह जब द्वार पर आता है तभी चूक जाता है। अब के उसने निश्चय कर लिया जब खुजली होगी उसे सहन कर लूँगा किन्तु हाथ को न छोड़ूँगा। जहाँ उसने यह निश्चय किया वहीं वह उस कारावास से बाहर निकल जाता है।

यह तो हुआ दृष्टान्त अब इसका दार्ष्टान्त भी सुनिये। यह संसार ही बड़ा भारी भवन है। मनुष्य योनि ही इससे निकलने का एकमात्र द्वार है। अन्धा पुरुष ही जीव है। आचार्य रूप गुरु जो इसे शिक्षा देने वाला है। विषयों के भोग की इच्छा ही खुजली है। मनुष्य देह में आकर भी जो विषयों में फँसा रहता है मुक्ति के लिये प्रयत्न नहीं करता उसे ही बार बार चौरासी के चक्र में घूमना पड़ता है। जो इन विषयों की खुजली को कड़ा हृदय करके सह लेता है, वह इस संसार रूप कारावास से सदा के लिये निकल जाता है। इसलिये मुनियो! राजाओं की कथायें ये तो वाणी का विलास मात्र है लोगों को इस ओर आकर्षित करने को कही गयीं हैं ये परमार्थ नहीं है।

इस पर शौनक जी ने कहा—"तो सूतजी! इसका अर्थ तो यह हुआ कि न कोई मनु हुए न उत्तानपाद प्रियव्रत न कोई पृथु

हुए न सगर मान्धाता। ये सब कपोल कल्पना मात्र हैं। ये सब उपन्यास के कल्पित पात्र हैं।"

यह सुनकर सूतजी ठठाका मारकर हँस पड़े और हँसते हँसते बोले—"महाराज! आप भी कैसा बच्चों का सा प्रश्न कर रहे हैं। महाभाग! यह सम्पूर्ण संसार ही कल्पित है। कल्पना के अतिरिक्त संसार में और है ही क्या? अच्छा बताइये संसार के जितने पदार्थ हैं इनमें यथार्थ कौन सी वस्तु है। खेल दिखाने वाला क्षण भर में आम की गुठली से पेड़ बना देता है, फल लगा देता है पके पके फल सब को खिला देता है, अन्त में उस पेड़ को अन्तर्धान कर देता है। जो चाहता है तुरन्त मँगा देता है। रुपयों की ढेरी कल्पित ही तो है। उस खेल दिखाने वाले का खेल कुछ क्षणों रहता है यह संसार का खेल उससे कुछ अधिक क्षणों रहता है। है सब खेल ही। महाराज! सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे, द्वीप, समुद्र, नदी, नद, स्वर्ग, नरक ये सभी कल्पना हैं। ये सब निस्सार हैं इनमें कुछ भी सार नहीं।"

भौंचक्के से होकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! आपने तो सब पर पानी फेर दिया। जब संसार में सभी निस्सार है, तो फिर तुमने इतनी देर बक बक क्यों की। हमारा भी समय नष्ट किया अपनी भी वाणी को कष्ट दिया। स्वर्गलोक, तपलोक, सत्यलोक चौदह भुवन सभी कल्पित हैं सभी निस्सार हैं, सभी वाणी के विलास हैं, तो फिर कुछ सार भी है या सभी निस्सार है।"

सूतजी ने कहा—"महाराज मैंने जो कहा है उसमें एक ही बात सार है।"

शौनक जी ने पूछा "वह कौन सी बात सार है? सूतजी कृपया उसी को हमें बताइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! इस सम्पूर्ण जगत् में श्री उत्तम श्लोक भगवान् के जिस गुणानुवाद का निरन्तर गान किया जाता

है वही सार है, वही यथार्थ तत्व है उसी से समस्त सांसारिक अमङ्गलों का नाश हो सकता है। भगवान की भक्ति ही जीवमात्र का चरम लक्ष्य है जिसे भक्ति प्राप्त करने की इच्छा हो उसे नित्य नियम से भागवत चरितों का पाठ करना चाहिये। उन्हीं को सुनना चाहिये उन्हीं का गान करना चाहिये।"

शौनक जी ने कहा—'जय सूतजी! भगवान् की लीला कथा ही सार है, तो आपने वाणी विलास के लिये इतने राजाओं की व्यर्थ कथायें क्यों कह डाला केवल हमें भगवान् की ही कथा सुनाते?"

हँसकर सूतजी बोले—'महाराज बिना भक्तों की कथा के भगवान् की कथा रखी किसमें जाती। आप कहें कि हमें दूध दही ला दे दो पात्र मत दो बिना पात्र के दूध दही देंगे किसमें? आप कहो कि हमें तो चावल उगाने हैं चावल ही बोओ उसके ऊपर के छिलके को मत बोओ, बिना छिलके के चावल उत्पन्न कैसे होगा। तुम कहो हमें तो बादाम अखरोट, मूँगफली की मिगी चाहिये पेड़पर से उसके छिलकों को मत तोड़ो। बिना छिलकों के सहित तोड़े उनकी मिगी निकलेगी कैसे। आप कहो गेहूँ जौ के ऊपर के तोखुरों को मत काटो केवल गेहूँ जौ के दाने काट लाओ, तो बिना पूरा बाल को काटे दाने कैसे निकलेंगे। तुम कहो हमें तो तिल के पेड़ में से तेल दे दो तिल को मत लाओ हमें खली की आवश्यकता नहीं किन्तु बिना तिल लाये बिना उसकी खली बनाये तेल निकलेगा कैसे? तुम कहो हमें तो गौ में से मलाई निकालनी है दूध न दुहकर मलाई दुह लो, तो बिना दूध निकाले मलाई निकलेगी कैसे। इसी प्रकार तुम कहो कि बिना सूर्य, चन्द्र, मनु, रघु, अज, शूर वसुदेव, नंद यशोदा आदि की कथा कहे ही हमें राम कृष्ण की कथा सुना दो तो यह असम्भव है। जैसे दूध में से

सार निकाल कर प्रेम से दूध को दूसरों के लिये छोड़ देते हैं मलाई को मीठा मिलाकर स्वयं पा लेते हैं उसी प्रकार इन सब कथाओं में से साररूप भगवान् के चरित्रों का रसास्वादन विज्ञजन करते हैं अन्य रसीली रँगीली कथायें साधारण लोगों को छोड़ देते हैं। कलियुग में अधर्म अन्याय अत्याचार आदि दोष अत्यधिक बढ़ गये हैं, उनके बढ़ जाने से लोगों की भगवान् के गुण श्रवण में रुचि नहीं होती। साधुओं के यहाँ पहिले निरन्तर भगवान् की ही चर्चा होती रहती थी। अब कलियुग के प्रभाव से वहाँ भी कलह, कपट, दम्भ प्रपञ्च और नाना प्रकार की लौकिक बातें होती रहती हैं, कलियुग ने सर्वत्र अपना प्रभाव स्थापित कर लिया है।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! कलियुग के दोषों को दूर करने का कोई उपाय भी है। जब यह कलियुग साधु पुरुषों के ऊपर भी हाथ फेर देता है, तो अन्य साधारण लोगों की तो बात ही क्या है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज ! विष्णुरात परीक्षित् ने भी वसुधागीत सुनकर भगवान् शुक से कलियुग के बढ़े हुए दोषों को दूर करने का उपाय पूछा था और साथ ही कै युग हैं, किस युग के कौन कौन धर्म हैं, प्रलय कैसे होती है, स्थिति कितने दिन रहती है। भगवान् विष्णु की काल मूर्ति का स्वरूप क्या है। ये प्रश्न किये थे यद्यपि इन विषयों में से कुछ का वर्णन मैं समय समय पर पीछे कर चुका हूँ, फिर भी इनका संक्षेप में वर्णन करूँगा। इन विषयों में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। यदि इन्हें पुनरुक्ति कहें तो समस्त वेद शास्त्र पुनरुक्तियों से ही भरे पड़े हैं। एकही सृष्टि का वर्णन वेद पुराणों में भिन्न भिन्न रूप से [illegible] गया है। श्री मद्भागवत में ही सृष्टि का प्रकरण कितनी बार

आया है। इस विषय का अनेक बार वर्णन हो चुका है अतः अत्यन्त ही संक्षेप में मैं इस विषय का कहूँगा।"

छप्पय

पूछे शौनक-सूत! युक्ति अब सरल बतावें।
जातें कलि के दोष दूरि सबरे ह्वै जावें॥
सूत कहें—"युग चारि चारि पद धर्म बताये।
सत्य, दया, तप, दान प्रथम युग सकल सुहाये॥
घटत घटत घटि जायँ गुन, कलि में होवै कलह नित।
काम, क्रोध, मद, लोभ में, सब प्राणिनि को फँसत चित॥

—:o:—

कलियुग के दोष और उनसे बचने के उपाय

(१३४९)

पुंसां कलिकृतान्दोषान्द्रव्यदेशात्मसम्भवान् ।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ३ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

जहँ देखो तहँ ढोंग विषयमें रत सब प्रानी ।
राजा क्रोधी, क्रूर, कुटिल, कामी, अज्ञानी ॥
सती न होवैं नारि कामिनी कुनटा घर घर ।
काम वासना हेतु करें साहस अति दुष्कर ॥
पुरुष काम लोलुप अधिक, कुनटा की सेवा करें ।
यहाँ दुखी नित शोक तैं, मरिकें नरकनि में परें ॥

यह संसार नाम और रूप की रस्सी से बँधा हुआ है। संसारी नाम और संसारी रूप संसार में अधिकाधिक बाँधते हैं और भगवान् का नाम और भगवान् का रूप संसारी बंधनों को खोलते हैं।

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! मनुष्यों के द्रव्य से होने वाले, देश से होने वाले तथा अन्तःकरण से होने वाले समस्त कलिकृत दोषों को अन्तःकरण में स्थित भगवान् पुरुषोत्तम तुरन्त हरण कर लेते हैं।"

कफ के रोगोंमे यदि कफ बढाने वाली ही वस्तुओ का सेवन करोगे तो रोग अधिकाधिक बढता जायगा। इसके विपरीत पित्त बढाने वाली वस्तुओंको खाओगे, तो रोग घटता जायगा। संसारी नाम रूप की आसक्ति से उत्पन्न हुए दोष भगवान् के नाम रूप से ही मिट सकते हैं। यह संसार दुःख का घर है इसमे एक मात्र आश्रय भगवान् का ही है। प्रकृति पतन मुखी है इसीलिये शुद्ध सत्ययुग के अनन्तर बिना प्रयत्न के स्वाभाविक घोर कलियुग आ जाता है। बिना सिखाये सबको स्वभाव की प्रवृत्ति अधर्म में हो जाती है। बड़े बडे प्रभावशाली लोग धर्म को ढोंग और पतन का कारण मानने लगते हैं और पूरी शक्ति लगाकर उसे नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। युग के प्रभाव से उनकी ऐसी मति मारी जाती है, कि उसी को वह उन्नति का उपाय समझते हैं। इस घोर युग मे भी जो भगवन्नाम का आश्रय लेगा, निरन्तर भगवान् के नामों का उच्चारण करता रहेगा, वह काल काल के दोषों से बच जायगा।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! समय बडा बली होता है, यह मनुष्य का मिथ्याभिमान है, कि मैंने यह किया मैंने वह किया। वास्तव में सब समय करा लेता है। जो विश्वामित्र नयी सृष्टि बनाने में समर्थ थे, जिन्होंने नये सप्तर्षि बना दिये, नये देवता बना दिये। नया इन्द्र बनाने को तैयार हो गये वे ही भूख के कारण इतने व्याकुल हो गये कि चाण्डाल के घर से कुत्ते के मांस की चोरी की, समय का महत्व है। जिस अर्जुन के गाण्डीव धनुष ने इतना भारी महाभारत समर जीत लिया। भीष्म, द्रोण तथा कर्ण जैसे विश्वविजयी वीरों को बात की बात मे यमपुर पहुँचा दिया, वही गाण्डीव भगवान् के स्वधाम पधारने के पश्चात् व्यर्थ बन गया। भीलों की लाठियों का बराबरी भी न कर सका। सब बात समय के ऊपर निर्भर है।

जब सत्वगुण की वृद्धि होती है उस समय सत्ययुग वर्तता है। तब धर्म अपने सत्य, दया, तप और दान इन चारों पैरों से युक्त रहता है। उस समय के लोग स्वाभाविक सन्तोषी होते हैं उनको संग्रह करने की रुचि ही नहीं होती समय पर स्वतः जो भी प्राप्त हो गया उसी में मग्न रहते हैं। उनका हृदय करुणा से ओत-प्रोत रहता है। वे दूसरों के दुखों को देख नहीं सकते। परोपकार करने में उन्हें आन्तरिक प्रसन्नता होती है। वे सब प्राणियों के प्रति सौहार्द्र भाव रखते हैं। जो सब प्राणियों के प्रति सौहार्द्र रखता है उसे शान्ति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है अतः उस समय के लोग चंचल प्रकृति के न होकर सबके सब शान्त होते थे। उनकी इन्द्रियाँ अपने वश में होती थीं। आँख, कान, नाक, रसना तथा त्वचा कोई अनुचित विषयों में प्रवृत्त नहीं होती थी। मन व्यर्थकी बातें नहीं विचारता था। वे लोग सुख दुख, शान्ति उष्ण, मान अपमान, लाभ, अलाभ, शत्रु, मित्र तथा अन्य सभी द्वन्दों में समभाव रखने वाले होते थे। द्वन्दों को सहन करने की उनमें स्वाभाविक शक्ति होती थी। वे अपने आप में ही निमग्न रहते। उन्हें मनोरंजन के बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती थी। वे लोग सब में समभाव रखते सब के सब समदर्शी होते। प्रायः सब के सब आत्माभ्यास में निरत रहते।

संसार तो द्वन्द्व से ही बना है। धर्म के साथ अधर्म भी लगा है। सत्य का भाई असत्य भी है। दया की एक भगिनी हिंसा भी है। तप का एक क्रूर भाई असन्तोष भी है और दान का भाई लोभ भी है। जब ये सत्य, दया, तप और दान सत्ययुग में पूर्ण राज्य करने लगे तब इनके भाइयों ने अपना भी स्वत्व सिद्ध किया। यह कहाँ का न्याय है कि सब अधिकारों का तुम ही उपभोग करो। सब पर तुम्हारा ही अधिकार हो। हम भी तो अधर्म के पुत्र हैं। हम भी तो तुम्हारे भ्रातृव्य हैं। पितृव्य पुत्र का भी तो

सम्पत्ति में भाग होता है। भगवान के धर्म और अधर्म दोनों ही पुत्र हैं। धर्म बड़ा है अधर्म छोटा है। इसलिये सत्ययुग में धर्म के चारों पुत्रों ने अधिकार जमा लिया। अधर्म के तबतक कोई सन्तान हुई नहीं थी जब अधर्म के भी सन्तानें हुईं और वे बड़ी हुईं तो उन्होंने भी अपना भाग बटाना चाहा, किन्तु जिस वस्तु पर जिसका प्रथम से अधिकार हो जाता है उसमे से भाग बँटाना कठिन हो जाता है, किन्तु यदि कोइ लगा रहता है, तो किसी न किसी दिन अपना भाग लेकर ही छोड़ता। सत्ययुग में तो अधर्म की सन्तानों की दाल गली नहीं, किन्तु हाँ त्रेता युग मे उन्होंने चार भागों मे से एक भाग बँटा लिया। अब धर्म सोलह आने न रहकर बारह आने रह गया। इसी प्रकार दया, तप और दान मे से भी चौथाई चौथाई भाग हिंसा असन्तोष और लोभ ने ले लिया। इतने पर भी ये अधर्म के पुत्र सन्तुष्ट होकर चुप नहीं बैठे। ये कहते ही रहे हम आधे के स्वामी हैं। हमको आधा भाग मिलना चाहिये।

कहावत है लगा बुरा होता है और जिसके हाथ मे उँगली आ जाती है उसे पहुँचा पकड़ने मे देर नहीं लगती। भारत मे विधर्मी गुरुड लोग व्यापार करने आये थे। उन्होंने अपनी रक्षा के लिये राजा से कोठियाँ बनाने की आज्ञा चाही वह मिल गया, तो वे सेना रखने लगे। देश के एक छोटे भाग पर उन्होंने छल से अधिकार भी कर लिया। जब पैर जम गये तो शनैः शनैः सम्पूर्ण देश के वे स्वामी बन गये। यही दशा अधर्म की सन्तानों की थी। धर्म की सन्तानें कुछ निर्बल भी होती जाती थीं, अतः द्वापर में आकर अधर्म के वंशजों ने सोचा 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः' जब सब जाने का संभावना हो तब बुद्धिमान को चाहिये कि आधे को छोड़ दे। इसलिये सत्य, दया, तप और दान-

ये आधे आधे रह गये असत्य हिंसा, असन्तोष और विग्रह आधा अधिकार इनका हो गया।

जिन अधर्म की सन्तानों का सत्ययुग में तनिक भी अधिकार नहीं था और अपने बल पुरुषार्थ से जिन्होंने आधा भाग बँटा लिया, तो उनका साहस बढ़ा। वे बोले—"इतने दिन धर्म की सन्तानों का एकाधिपत्य रहा अब हमारा एकाधिपत्य होना चाहिये। हम किसी से घटिया थोड़े ही हैं ?

सत्ययुग के लोग सन्तोषी, कारुणिक, सुहृद, शान्त, जितेन्द्रिय, सहनशील, आत्माराम, समदर्शी तथा आत्माभ्यास निरत होते थे, उन्हें अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती थी। त्रेता में धर्म का एक एक अंश घटने से लोग कर्म काण्ड प्रधान हो गये। वे यज्ञ याग में हिंसा भी करते थे किन्तु अन्य कार्यों में हिंसा से बचे रहते थे। वे वैदिक हिंसा को हिंसा नहीं मानते थे। व्यवहार में कुछ कुछ लम्पटता का समावेश हो गया था, किन्तु अधिक नहीं। मोक्ष की इच्छा कम हो गयी अब अधिकांश लोग धर्म अर्थ और काम इन त्रिवर्गों का ही सेवन करने लगे। वे लोग वैदिक कर्म-कांड में कुशल होते थे।

जब अधर्म की सन्तानों ने द्वापर में अपना आधा भाग बाँट लिया तो धर्म के चार के स्थान में दो ही पैर रह गये। दो पाद अधर्म के हो गये। उस समय आधे लोग तो अपने को सुखी रखने लगे और आधे दुखी रहने लगे। तप, सत्य, दया और दान का आधा राज्य नष्ट हो गया उनके आधे भाग पर हिंसा, असत्य असंतोष और द्वेष इन सब ने अधिकार कर लिया। उस समय यज्ञ, उदारता, स्वाध्याय और अध्ययन ये ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रधान वर्णों में ही रह गये। वैश्य और शूद्र इन से प्रायः वञ्चित हो रहे। धनाढ्य कुटुम्बी हृष्ट पुष्ट और सम्पन्न क्षत्रिय ही होते और उनपर ब्राह्मणों का भी अधिकार था।

कलियुग में आकर अधर्म की सन्तानों ने तीन भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। धर्म की सन्तानें निर्बल पड गयीं। ज्यों ज्यों कलियुग बढ़ता जायगा त्यों त्यों अधर्म की सन्तानें वृद्धि को प्राप्त होती जायेंगी। कलियुग के अन्त में सोलहू आने अधर्म की सन्तानों का राज्य हो जायगा। कलियुगी लोग धर्म कर्म से हीन होंगे। कलियुग में शूद्र और श्रम जीवी इनका ही प्राबल्य रहेगा। द्वापरादि युगों में जो लोग दास रहते थे वे ही कलियुग में स्वामी हो जायँगे। मुनियो! यह तो काल चक्र है। कभी गाडी नौका पर रहती है कभी नौका गाडी पर। पानी में गाडी को नौका पर चढा कर पार करते हैं। स्थल में नौका को गाडी पर चढा कर ले जाते हैं।

अन्य युगों में जो शूद्र और दास सेवा करना ही अपना परम धर्म समझते थे, वे कलियुग में निरन्तर राज्यसत्ता प्राप्त करने को व्यग्र रहेंगे और राज्य सत्ता को प्राप्त कर भी लेंगे। वे लोग धर्म को ही अपना शत्रु समझेंगे। अतः धर्म को दबा कर अधर्म का प्रचार करेंगे। ज्यों ज्यों कालयुग का समय बीतता जायगा त्यों त्यों अधर्म का प्रचार बढ़ता जायगा। कलियुग में सत्य, दया, तप और दान आदि का नाम नहीं रह जायगा। लोग बात बात पर झूठ बोला करेंगे सत्यवादी तो करोडों में भी ढूँढने पर न मिलेगा। दया तो किसी के हृदय में रह ही न जायगी। माता पिता अपनी सन्तानों को मार डालेंगे। कुलटा स्त्रियाँ पैदा होते ही बच्चों का गला घोट दिया करेंगी। तपस्या कोई भी न करेगा। दान देने की किसी की प्रवृत्ति ही न होगी। सभी लोग बडे लोलुप होंगे। दुराचार कदाचार तो घर घर में फैल जायगा। लोग बहिन बेटी माता आदि किसी का विचार न करेंगे। सभी निर्दय और कलह प्रिय होंगे। बात बात में लडाई करेंगे। एक दूसरे की हत्या कर डालेंगे। सभी कामुक भाग्य हीन और धर्म रहित होंगे।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! यह सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग होते क्यों हैं। सदा एकसा ही समय क्यों नहीं रहता। भगवान् ने धर्म का प्रतिद्वंद्वी इस अधर्म को क्यों खड़ा कर दिया है। सदा धर्म का ही बालबाला क्यों नहीं रहता।"

इस पर हँस कर सूत जी बोले—"महाराज ! साम्यवाद में में तो सृष्टि रह ही नहीं सकती। सृष्टि तो विषमता में है। जहाँ गुणों का साम्य हुआ वहाँ प्रलय हो गयी। जब तक तीनों गुण समान रहते हैं तब तक कोई भी सृष्टि का काम नहीं हो सकता। काल की प्रेरणा से प्रकृति में जहाँ क्षोभ हुआ गुणोंमें जहाँ विषमता हुई तहाँ ही सृष्टि का चक्र चल पड़ता है। ऊपर का नीचे नीचे का ऊपर होता रहता है यदि रथ का चक्का ऊपर नीचे न हो तो चले ही नहीं। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग दिव्य वर्षों से चार, तीन दो और एक सहस्र वर्षों तक तो रहते ही हैं। साथ ही नित्य भी ये चारों युग बीतते हैं। प्रति दिन प्रतिक्षण प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ये चारों युग आते हैं।

शौनक जी ने पूछा—"प्रतिदिन चारों युग कैसे आते हैं सूत जी। कृपा करके हमें इसे स्पष्ट समझाइये।"

सूतजी बोले—"देखिये महाराज ! प्रत्येक पुरुषके हृदयमें सत्व, रज और तम ये तीन गुण होते हैं। कभी सत्वगुण युक्त वृत्ति हो जाती है कभी रजोगुणी और कभी तमो गुणी। काल की प्रेरणा से ये भाव चित्त में सदा बदलते रहते हैं। कभी चित्त प्रसन्न हो जाता है कभी दुखी हो जाता है तथा कभी शोक मग्न बन जाता है।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! हमें इसे पृथक् प्राक् बताइये। कैसे समझें कि अब हमारे मन में सत्ययुग बर्त रहा है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! कैसा भी लोभी क्यों न हो कभी

उसकी भी देने की इच्छा हो जाती है। कैसा भी निर्दयी क्यों न हो कभी उसे भी दया आ जाती है। कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है जिसके मन मे एकबार सत्ययुग, एकबार त्रेता, एकबार द्वापर और एकबार कलियुग का प्रादुर्भाव न होता हो। जिस समय चित्त में सत्वगुण की वृद्धि होती है उस समय मन शान्त सा होता है बुद्धि निमल सी हो जाती है इन्द्रियों म आह्लाद सा होता है। उस समय आत्मा परमात्मा का प्रश्न उठता है ज्ञान की ओर स्वाभाविक रुचि होती है। कुछ देने की कुछ दान धर्म करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसे पूरी न कर सकें यह दूसरा बात है। बहुत से लोग अनुभव भी नहीं कर सकते किन्तु ऐसी स्थिति होती सबकी एक बार है। जिस समय सत्व की वृद्धि हो जाय वही सत्ययुग है।

जब मनमें धर्म काम और अर्थ सम्पादन की इच्छा प्रबल हो तब समझना चाहिये अब रजोगुण की प्रवृत्ति है और अब त्रेता युग उदय हो गया है। उसमे कुछ अश अधर्म का होता है अधिक अंश धम का।

जब मनमें लोभ की वृत्ति उत्पन्न हो जाय, असन्तोष बढ जाय, मान सम्मान की इच्छा प्रबल हो जाय, दम्भ और मत्सर की ओर मन का झुकाव हो जाय तथा काम्य कर्मों को करने की इच्छा प्रबल हो तो समझ लेना चाहिये अब रज और तम का मिश्रण हो गया है अब द्वापर युग वर्त रहा है।

जब तमकी प्रबलता होती है, तब क्षुद्र विचार मनमें उठने लगते हैं। कपट, असत्य, निद्रा, तन्द्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय और दीनता य भाव मनमें आने लगते हैं। यही तम प्रधान कलियुग क चिन्ह हैं। ये समष्टि रूप से भी रहते हैं और व्यष्टि रूप से भी। जब ये समष्टि रूप से होते हैं तब सर्वत्र कलियुग

छा जाता है सबकी मति ऐसी ही हो जाती है। आजकल पृथिवी पर कलियुग ही वर्त रहा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! पृथिवी पर तो बड़ा अधर्म बढ़ रहा है।"

हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! अभी क्या अधर्म बढ़ रहा है? आप अभी से घबड़ा गये। अभी तो कहीं यज्ञ याग भी सुनाया पड़ते हैं भगवान की कथायें होती हैं, कीर्तन महोत्सव भी होते हैं। ज्यों ज्यों कलियुग बढ़ता जायगा इनका नाम भी लोप होता जायगा। कलियुग में प्रायः सभी लोग भाग्यहीन होंगे वे दिन में अनेक बार खायँगे, खाने में ही उनका चित्त लगा रहेगा। जब जो वस्तु खाने को पावेंगे तुरन्त उसे मुंह में रख लेंगे। बड़े कामी, दुराचारी होंगे। उन्नति के नाम पर वे स्त्रियों को सदा सब समय साथ रखेंगे। वे अपनी काम लोलुपता के लिये स्त्रियों से पुरुषोचित काम करावेंगे स्त्रियों में भी सतीत्व की भावना न रहेगी। सती धर्म की खिल्लियाँ उड़ायी जायँगी। सभी स्त्रियाँ स्वेच्छा चारिणी हो जायँगी। उनमें पर पुरुष और निज पुरुष का भेदभाव ही न रहेगा। चाहे जिसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेंगी। पुरुष भी स्त्रैण, कामुक और सदाचार हीन हो जायगे। रक्षा का प्रबन्ध न रहेगा। चोर लुटेरों का प्राबल्य रहेगा। जहाँ भी किसी के पास पैसा देखेंगे वहीं उसे लूट लेंगे। उपदेशक अधिकांश शूद्र और वर्ण संकर होंगे। वे ऊँचे ऊँचे आसनों पर बैठकर धर्म का उपदेश देंगे। वेद शास्त्रों का नाम तो लेंगे किन्तु वेद शास्त्रों से वे सदा अभिविज्ञ रहेंगे। उपदेशकों में वेष; वाचालता, निर्लज्जता, धृष्टता और स्वार्थपरता ये ही शेष रह जायँगे। ऐसे ठग पाखंडी वेद शास्त्रों को भी दूषित कर देंगे।

कलियुगी राजाओं का एकमात्र उद्देश्य रहेगा जैसे हो तैसे प्रजा को चूसना। वे प्रजा का हित न करके अहित करेंगे।

रक्षक न होकर भक्षक ही बन जायँगे। वे अपने स्वार्थ के लिये घोर पाप किया करेंगे नाम मात्र के वे ब्राह्मण एक प्रकार के लुटेरे ही होंगे।

कलियुग में ब्राह्मण कहा ही कोई दिखायी देगा जो होंगे वे वर्ण संकर नाच और निंदित होंगे। पैसा लेकर नीच से नीच काम करने को उद्यत हो जायँगे। राजद्वार में असत्य साक्षी दे आयेंगे। पर स्त्री गामी, नीच, लम्पट और प्रतिक्षण पेट की चिन्ता में ही निमग्न रहने वाले होंगे। वे धर्म, कर्म, शौच, अध्ययन आदि सब ब्राह्मणोचित कर्मों का त्याग करके केवल गले में सूत्र डालकर उदर पूर्ति करने में ही लगे रहेंगे।

ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत से हीन हो जायँगे वे केवल वेष बनाकर आजीविका के लिये अपने नाम के आगे ब्रह्मचारी शब्द मात्र ही लगाया करेंगे उनमें ब्रह्मचर्य के शौच, अध्ययन, यज्ञ तथा व्रत पालन के कुछ भी नियम न रह जायेंगे। वे अपनी काम वासना की पूर्ति के लिये सब कुछ कुकर्म करने लगेंगे।

जो गृहस्थी सदा सब को देने वाला कहाता था, वह लेने वाला हो जायगा। गृहस्थी भी भीख माँगने लगेंगे। वे भी भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करने लगेंगे। तपस्वी लोग चौराहों पर बैठकर आसन दिखाकर धूनी रमाकर गण्डातावीज देकर स्त्रियों से सम्बन्ध जोड़ेंगे और दुराचार में निरत हो जायँगे। साधु सन्यासी का वेष बनाकर उपदेश देने वाले अत्यत लोभी और कृपण बन जायँगे। अर्थोपार्जन ही उनका एकमात्र लक्ष्य हो जायगा। असत्य बोलकर शिष्य बनाकर गण्डा, तावीज, औषधि तथा अन्य वस्तु देकर वे रुपया पैदा करने में ही लग जायँगे। जिस सन्यासी के पास जितना ही अधिक धन होगा, वह उतना ही बड़ा प्रतिष्ठित माना जायगा।

स्त्रियाँ अत्यंत कामुकी बन जायँगी। वे एक पति के अधीन रहना स्वीकार न करेंगी। वे दुर्बल ठिंगनी और लज्जा हीन हो जायँगी वे वेश्याओं की तरह अपने अंगों को खोलकर सबके सम्मुख चला करेंगी, वे बहुत भोजन करने वाली तथा जिह्वा लोलुपा होंगी। वे निर्जीव छोटे छोटे चूहोंके सदृश बहुत संतानोंको उत्पन्न करनेवाली होंगी। वे बोलेंगी तो ऐसी लगेंगी मानों मुख से विष उगल रही हैं। वे एक पुरुष से सम्बन्ध करेंगी, दश पाँच दिन उसके साथ रहेंगी फिर उसकी चोरी करके माल मसाला लेकर दूसरे के साथ भाग जायँगी। उनका सब व्यवहार कपट पूर्ण होगा। वे सोते हुए पुरुषों की हत्या करेंगी, सन्तानों को मार कर अँधेरे में फेंक आवेंगी, लोगों को विश्वास देकर उनके साथ विश्वासघात करेंगी विष दे देंगी तथा और भी अत्यन्त दुःसाहस पूर्ण कार्यों को सरलता से कर डालेंगी।

व्यापारी नीच विचार वाले हो जायँगे। उन्हें धर्म कर्म का कुछ भी ध्यान न रह जायगा। अर्थोपार्जन के लिये बड़े से बड़ा अनर्थ कर डालेंगे। लोगों को जिस प्रकार भी ठगा जा सके उस प्रकार ठग लेना यही उनका एक मात्र उद्देश्य रह जायगा। कौन सी आजीविका निन्दित है कौन सी विहित है इसका विचार ही न रह जायगा। ब्राह्मण सुगमांस बेचेंगे लोग अपने बहिन बेटियों को बेचकर उनसे आजीविका चलावेंगे। पशुओं को वधिकों के हाथों बेच देंगे। आपत्ति काल न होने पर भी निन्दित से निन्दित आजीविका से धन कमाने का प्रयत्न करेंगे।

स्वामी सेवक का भाव उठ ही जायगा। लोग वेतन लेकर सेवा करेंगे। तनिक से वेतन के पीछे स्वामी का अपमान करेंगे,

उन्हें बुरा भला कहेंगे, स्वामी कितना भी सज्जन हो उसकी सदा निन्दा करेंगे। अधिक वेतन मिलने पर उसे छोड़कर दूसरे स्थान में चले जायँगे ऐसे ही क्रूर स्वामी भी हो जायँगे। सेवक रोगी हो गया तो उसका वेतन काट लेंगे, काम करने योग्य न रहा तो उसे उतर वेतन न देंगे। कुल परम्परा गत सेवक का भी संकोच न करेंगे। स्वामी चाहेंगे सेवक के शरीर के रक्त को भी चूस लें। सेवक चाहेंगे स्वामी के सर्वस्व का अपहरण कर लें। स्वामी सेवक का सम्बन्ध शत्रु जैसा रह जायगा। जो गौ दूध न

देगी उसको वधिक के हाथों बेच देंगे उसे चारा न देंगे। गौओं से से बोझ ढुवावेंगे उन्हें हल में चलावेंगे।

सभी पुरुष शिश्नोदर परायण हो जायँगे। जो स्त्री उनके मन चढ़ जायगी उसकी सब प्रकार से सेवा करेंगे। माता पिता आदि सम्बन्धियों को तो पूछेंगे ही नहीं। किन्तु स्त्री के सम्बन्धियों को और जिनको वह कहेगी उनको सर्वस्व देने को उद्यत हो जायँगे दान लेने के अधिकारी धर्मध्वजी वर्ण संकर ही समझे जायँगे। वे ही बड़े बड़े आचार्य पदों पर प्रतिष्ठित होंगे।

मुनियो! अधर्म की वृद्धि होने से पृथिवी माता बीजों को अपने उदर में छिपा लेंगी। बीज बोने पर भी अंकुर उत्पन्न न होंगे। सर्वत्र अन्न का अभाव हो जायगा। लोग दाने दाने अन्न के लिये व्याकुल होंगे। जब पेट ही न भरेगा, तब देवता और पितरों के कार्यों को कौन करेगा। लोग भूमि में अन्न बोवेंगे अनावृष्टि के कारण उत्पन्न ही न होगा या अतिवृष्टि के कारण गल जायगा। प्रतिवर्ष अन्न की कमी होने से सदा दुर्भिक्ष बना रहेगा। शासक गण शासन के यन्त्र को अत्यन्त व्यय साध्य बना देंगे। उसे चलाने के लिये करके ऊपर कर लगा देंगे। लोग इतने अधिक राजकरों को देने में असमर्थ हो जायँगे। सदा उद्विग्न बने रहेंगे। वस्त्रों का मूल्य बढ़ जायगा। लोग वस्त्रों के बिना इधर उधर घूमेंगे अन्न, जल, वस्त्र, शयन, व्यवसाय सभी के अभाव में लोग दुखी रहेंगे। लोगों की स्नान करने में रुचि न रहेगी। पहिनने को वस्त्र ही न मिलेंगे तो आभूषणों की तो चर्चा ही क्या है। भूखे प्यासे दुखित, अन्न वस्त्र से हीन, बाल बढ़े हुए लोग पिशाचों के समान दिखायी देंगे। तनिक तनिक सी वस्तु के लिये लोग झगड़ा करेंगे। बीस कौड़ी के पीछे सौहार्द्र मैत्री तथा सम्बन्ध आदि को सब भूल जायँगे। दमड़ी छदाम के पीछे हत्या कर देंगे। एक छदाम

के पीछे मर जायँगे तथा मार डालेंगे। सद्भाव को तिलाञ्जलि देकर अपने सुहृदों का भी अन्त कर देंगे।

कलियुगी लोग स्वार्थपरता में इतने अन्धे हो जायँगे, कि अपने वृद्ध माता पिता का भी पोषण न करेंगे। काम न करने योग्य होने पर उन्हें घर से निकाल देंगे। वे इधर उधर भटकते हुए अनाथालयों में अपने दिन व्यतीत करेंगे। इसी प्रकार पिता भी अपने सर्व समर्थ पुत्रों का प्रेमपूर्वक पालन पोषण न करेंगे। लोगों की अधर्म में, अन्याय में, तथा असत् कार्यों में स्वाभाविकी रुचि होगी।

यह सुनकर दुखित मन से शौनक जी ने कहा—"महाभाग! कलियुग की कलुषित करतूतें तो हम आपके मुख से कई बार सुन चुके। अब आप उसी एक गीत को बारबार क्यों दुहराते हैं। हम समझ गये कलियुग में दोष ही दोष रहेंगे, किन्तु इन दोषों से मुक्त होने का कोई उपाय भी तो होगा?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! कलियुग के दोषों से बचने का उपाय तो मैं अनेकों बार बता चुका हूँ, किन्तु इन कलियुगी पुरुषों का उस सरलाति सरल उपाय पर विश्वास तो न होगा। कलियुगी पुरुषों की बुद्धि तो पाखण्ड पथों की प्रबलता से विपरीत तथा विक्षिप्त हो जायगी। जिन श्रीहरि के पादपद्मों में इन्द्रादि लोकपाल अपने मणिमय मुकुटों से युक्त मस्तकों को रगड़ा करते हैं, उन सर्व अवतारी जगत् गुरु श्री अच्युत की ये कलियुगी पापी पुरुष पूजा न करेंगे। मुनिवर! सोचिये, पाप होते कैसे हैं? जब द्रव्य दूषित हो जाते हैं और उन दूषित द्रव्यों द्वारा जो कार्य किये जाते हैं और उन से अन्तःकरण मलिन हो जाता है दूषित वेशों में जो कार्य होते हैं, उनसे भी दोषों की उत्पत्ति होती है।

कर्ता के दोष से शुभ कार्य भी दूषित हो जाते हैं। काल के दोष से भी अन्तःकरण मलिन बन जाता है। यदि भगवान् की मधुर मूर्ति मन में बैठ जाय, यदि अघहारी अच्युत अन्तकरण में आ जायँ, तो सभी प्रकार के दोष क्षण भर में उसी प्रकार भाग जाते हैं, जैसे सिंह के आते ही सभी पशु भाग जाते हैं। हृदय में जहाँ मनमोहन की माधुरी मूरति समायी नहीं तहाँ सम्पूर्ण कलि कल्मष नष्ट हो जाते हैं। भगवान् की ललित लीलाओं का श्रवण, उनके नाम और गुणों का कीर्तन, उनके दिव्य चिन्मय श्री विग्रह का एकाग्र चित्तसे ध्यान, उनका विधिवत पञ्चोपचार प्रेम पूर्वक उनका किया हुआ समादर इन सभी कार्यों के करने से भगवान् भक्त के हृदय में आकर बैठ जाते हैं। हृदय में जहाँ भगवान् आये नहीं तहाँ एक दो या दश बीस जन्मों के पापों की बात तो कौन कहे, दश सहस्र जन्मों के पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। अन्तःकरण तो शुद्ध ही है, उसमें कामवासना के समा जाने से वह मलिन बन जाता है। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण में ताँबा आदि धातुओं के मिलने से उसमें मलिनता आ जाती है। उस मलिन सुवर्ण को अग्नि में डाल दो। अग्नि उसमें प्रवेश होकर उसके समस्त मल को गलाकर उसे विशुद्ध बना देगी। उसी प्रकार भगवान् अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर उसके समस्त मलों को जलाकर भस्म कर के उसे निर्मल बना देते हैं। इसलिये मुनियो! जिसे कलिकल्मषों के नाश करने की इच्छा हो उसे भगवान की कथा सुननी चाहिये, भगवान् के नामों का गुणों का कीर्तन करना चाहिये, उनका ध्यान, पूजन तथा आदर करना चाहिये।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! अन्तः करण की शुद्धि का और भी कोई उपाय है?"

सूत जी ने कहा—"मुनियो! और भी कर्मों से अन्तः करण

शुद्ध होता है, किन्तु आत्यंतिकी शुद्धि तो तभी होगी जब हृदय में भगवान् विराजमान हो जायँगे। इस विषय को मैं आगे आपको समझाऊँगा आप एकाग्र चित्त से इसे श्रवण करें।

छप्पय

कलियुग में पाखण्ड पुजै पथ पुण्य न सूझै।
हाय! अभागो पुरुष प्रेम तैं प्रभुहिं न पूजै॥
जिनि के अघ हर नाम नासि सब दोषनि देवैं।
कलियुग के अति अधम पुरुष तिनिकूँ नहिं लेवैं॥
मरन समय ह्वै कै विवश, राम कृष्ण गोविंद कहैं।
तो फिरि पाप पहाड़ हू, नाम लेत छिन हैं ढहैं॥

कलिकल्मषों को कृष्ण कीर्तन ही काट सकता है।

(१३५०)

विद्यातपः प्राण निरोध मैत्री
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्त शुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ।

(श्री भा० १२ स्क० ३ अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

नामी नाम प्रभाव हिये में तत्छिन आवें।
सकल पाप सन्ताप श्याम के नाम नसावें॥
भूपतितें गुरुदेव कहें—नृप ! मत घबराओ।
मरन समय में नाम लेउ निश्चय तरि जाओ॥
अवगुन ही अवगुन भरे, परि जा कलि में एक गुन।
ध्यान, यज्ञ, पूजानि के, मिलें सकल फल नाम सुन॥

शुद्ध वस्तु में जब अशुद्ध वस्तुएँ मिल जाती हैं, तो फिर युक्ति से अशुद्ध और अनावश्यक वस्तुओं को उनमें से पृथक करके

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! विद्या, तप, प्राणायाम, मैत्री, तीर्थस्नान, व्रत, दान, अथवा जप आदि से भी चित्त की शुद्धि होती है, किन्तु वैसी अत्यन्त शुद्धि नहीं होती जैसी हृदय में श्री अनन्त भगवान के विराजमान होने पर होती है।"

पुनः शुद्ध बनाया जाता है। जैसे गेहूँ, जौ, चना आदि अन्न शुद्ध है। भूमि के संसर्ग से भुस के संसर्ग से उनमें कंकड़ी भूसा या कूड़ा करकट मिल गया तो सूप से फटककर बीनकर उन्हें शुद्ध कर लिया जाता है। कपड़ा धुला हुआ शुद्ध शुभ्र है, उसमें कीचड़ लग गयी, तो क्षार से जल में धोकर उसे पुनः शुद्धकर लिया जाता है। पीतल ताँबे आदि के पात्र हैं उन पर मैल जम गया है, नीबू खटाई आदि से रगड़ कर उन्हें पुनः चमकीला बनाया जाता है। तलवार आदि लोहे की वस्तुयें उनपर काई लग गयी तो चिकनाई आदि से रगड़कर उन्हें निर्मल कर लेते हैं दूध में जल मिल गया है, अग्नि पर चढ़ाकर जल जल को जला देते हैं दूध दूध का अंश बच जाता है। सुवर्ण में अन्य धातुएँ मिल गयीं अग्नि में डालकर सुवर्ण पृथक कर लिया जाता है अन्य धातुएँ पृथक् शुद्ध हो जाने से चमकने लगता है। दर्पण पर धूलि आदि जम गयी है, उसे वस्त्र से पोंछकर निर्मल कर लेते हैं तब उसमें अपना प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है, इसी प्रकार अन्तःकरण तो शुद्ध ही है किन्तु रजोगुण तमोगुण के कारण उसमें काम, क्रोध, लोभ मोहादि दुर्गुणों का समावेश हो गया है इनसे वह अशुद्ध बन गया है। उस अशुद्ध अन्तःकरण का युक्ति से साधनों द्वारा शुद्ध कर लिया जाय तो उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखायी देगा। आत्म साक्षात्कार हो जायगा।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! आपने मुझसे अन्तःकरण को विशुद्ध बनाने के उपाय पूछे, उनमें से मैं कुछ को बताता हूँ। शास्त्रकारों ने इस मलिन मन को निर्मल बनाने के अनेकों उपाय बताये हैं। जिनका मन जिस साधन से शुद्ध हुआ है उसने उसी साधन को सुगम सरल और श्रेष्ठ बताया है, कुछ लोग कहते हैं, मन मलिन होता है अविद्या के कारण। जब पुरुष असत् को सत् और अनित्य को नित्य मान लेता है, तभी सब अनर्थ करने

लगता है। उन्हीं अनर्थों से अन्तःकरण अशुद्ध बन जाता है, उसे शुद्ध बनाने का एक ही उपाय है विद्योपार्जन करना। विद्या से अविद्या का जब नाश हो जाता है तब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और शुद्ध अन्तःकरण वाले को आत्म साक्षात्कार हो जाता है।

कुछ लोगों का कथन है, कि अन्तःकरण के अशुद्ध होने का एक मात्र कारण है, विषयों में भोग बुद्धि होना। जितने ये शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि विषय हैं जब हृदय इनमें सुखानुभूति करने लगता है तब हृदय तदाकार हो जाता है। स्पर्शेन्द्रिय कोमल स्पर्श के लिये निरन्तर लालायित बनी रहती है। जहाँ मनोनुकूल सुन्दर सुखद गुलगुल स्पर्श प्राप्त हुआ कि मन प्रफुल्लित हो जाता है। सुन्दर, नयनाभिराम रूप को देखकर आँखें तृप्त हो जाती हैं। चित्त प्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार अच्छी सुगन्धि को सूंघकर, अच्छे सुन्दर स्वादिष्ट रसों को चखकर सुन्दर हृदय स्पर्शी गायन आदि को सुनकर मन मुदित होता है। इससे आत्मानुसन्धान की इच्छा नहीं उठती। जब तक तपस्या करके शरीर को क्लेश न दिया जाय, सुवर्ण की भाँति इसे तपाया न जाय, तब तक मन विषयों से विरत न होगा! अतः अन्तःकरण की शुद्धि का एकमात्र साधन तप है। तपस्य से ही विषयोंसे वैराग्य संभव है। बिना विषयों से वैराग्य हुए, मन की मलिनता मिट ही नहीं सकती।

कुछ लोगों का कथन है, कि बाह्य तप से विशेष लाभ नहीं। आप कर्मेन्द्रिय का संयम करके विषयों से विरत होकर बैठे रहें और मन से विषयों का चिन्तन करते रहें, तो इससे क्या लाभ। सब अनर्थों की जड़ तो मन है। मन का स्वभाव है चंचलता करना। यदि प्राणों का संयम हो जाय तो मन अपने आप संयम में आ जाता है। जैसे पक्षी के पैर में सूत बाधकर उसे पेड़ की

डाली में बाँध दो। कुछ देर उड़ने की चेष्टा करेगा फिर पङ्ख फड़-फड़ाकर वहीं बैठ जायगा। इसी प्रकार प्राण वश में होने से मन स्वतः ही ही वश में हो जायगा, अतः मन को वश में करने का-अन्तःकरण का विशुद्ध बनाने का-एकमात्र साधन प्राणायाम है। बढ़ा हुआ प्राणायाम ही प्रत्याहार है। वही ध्यान, धारणा और समाधि के रूप में परिणत होता है।

कुछ लोगों का कथन है, अन्तःकरण के अशुद्ध होने का कारण है राग द्वेष। आप कुछ लोगों के प्रति तो राग कर लेते हैं। ये मेरे माता पिता हैं, यह मेरा पत्नी है। ये पुत्र हैं ये बन्धु बान्धव हैं ये मित्र हैं। इनको सुख हो। जो इनके सुख में विघ्न डालते हैं, रोड़े अटकाते हैं उन्हें अपना शत्रु मान लेते हो, उनसे द्वेष करने लगते हो। इसी से अन्त करण अशुद्ध हो जाता है। यदि राग द्वेष को निकालकर सबसे मैत्रीभाव कर लो सभी को आत्म रूप से अनुभव करो तो अन्तःकरण अपने आप ही विशुद्ध बन जायगा। जब सब भूतों को अपने समान अपना आत्मीय ही मानने लगे तो, शोक मोह राग द्वेष को स्थान ही नहीं रह जाता। इन से रहित हुआ अन्तःकरण ही विशुद्ध माना जाता है। अतः सर्वभूतों में मैत्री भाव स्थापित करना ही अन्त करण को विशुद्ध बनाने का श्रेष्ठ साधन है।

कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य शरीर से पापों का होना स्वाभाविक है। मनुष्य शरीर ही पाप पुण्यों से बना है। कोई भी कर्म करो उसमें कुछ न कुछ पाप का अंश रहता ही है। पापों की निवृत्ति होती है तीर्थ स्नान से। जैसे सब कर्मों में पाप रहता है वैसे ही सब तीर्थों में पुण्य रहता है। अतः पाप की निवृत्ति और पुण्यों की प्राप्ति के लिये तीर्थ स्नान करना चाहिये। तीर्थों में स्नान करते करते पुण्य बढ़ जायगा।

कुछ लोग कहते हैं कि पाप आदि अनियमित जीवन के

कारण होते हैं। हमारा जीवन यदि व्रतमय हो हम अपने जीवन को एक नियम में बाँध लें कि अमुक दिन एक बार भोजन करेंगे, अमुक दिन नमक न खायेंगे अमुक दिन उपवास करेंगे। अमुक महीने में चान्द्रायण करेंगे। ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करेंगे इस व्रतमय जीवन होने से अन्तःकरण की मलिनता दूर हो जाती है। व्रत से दीक्षा होती है दीक्षा से श्रद्धा और श्रद्धा से अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि अन्तःकरण के मलिन होने का कारण है संग्रह। जो जितना ही अधिक संग्रही होगा वह उतना ही अधिक कृपण होगा। क्योंकि वह जो काम करेगा फल के हेतु से करेगा उनके अन्तःकरण की शुद्धि दान करते करते उनके मन में जो संग्रह से कालिख पुत गयी है वह धुल जायगा। दान देने से अन्तःकरण में एक अपूर्व सुख होता है उस सुख से ही मन शुद्ध हो जाता है।

कुछ लोगों का कथन है, कि मनुष्य जो यह व्यर्थ की बात बोलता है इसी से अन्तःकरण मलिन होता है। जैसे हमने किसी को कह दिया "मूर्ख" भले ही वह मूर्ख ही क्यों न हो, किन्तु अपने को कोई भी मूर्ख नहीं मानता उसके हृदय में ये दो शब्द बाण की भाँति चुभ जायेंगे। उसे क्षोभ तथा दुःख होगा। अन्तःकरण तो एक ही है, उसको दुख होगा तो तुम्हें भी अवश्य दुख होगा चाहे तुम उस समय क्रोध में उसे अनुभव भले ही मत करो। बोलोगे तो उसमें कोई न कोई ऐसा शब्द निकल ही जायगा जिससे दूसरों को क्लेश पहुँचे। दुःख से ही अन्तःकरण मलिन होता है। अतः वाणी का संयम करो। वाणी का संयम होता है। इष्ट मन्त्रों के जप से। या तो मौन रहो और न रह सको तो सत्य और प्रिय वचन बोलो। नियमपूर्वक इष्ट मन्त्र का जप करो। जप करते करते अंतःकरण अपने आप ही शुद्ध हो जायगा।

कुछ लोग कहते हैं अष्टाङ्ग योग से अंतःकरण शुद्ध होता है, कुछ लोग कहते हैं निष्काम कर्म से कुछ लोग कहते हैं लय योग से इसी प्रकार अनेक ऋषियों के अनेक विचार हैं।

शौनक जी ने कहा—"सूत जी! सब कुछ कहते हैं। आप उनके विचारों से सहमत नहीं है क्या? क्या इन साधनों से अंतःकरण की शुद्धि नहीं होती?"

शीघ्रता के साथ सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज होती है अवश्य होती है। मैं मना कब करता हूँ, परंतु भगवन्!"

शौनक जी ने कहा—"हाँ, सूतजी! उस परंतु को भी बता दीजिये जहाँ, किंतु परंतु तो भी ये शब्द लग जायँ, वहाँ कुछ कसर दिखायी पड़ जाती है।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! इन साधनों से चित्त की शुद्धि होती तो है, किंतु अत्यंत चित्त की शुद्धि नहीं होती। जैसे झाड़ू बुहारू देने से भवन शुद्ध तो होता है, किन्तु अत्यन्त शुद्ध नहीं होता, फिर झाड़ने से उसमें कुछ न कुछ कूड़ा कड़वट निकल ही आता है, अत्यन्त शुद्ध तो सुगन्धित जल में सुन्दर गोबर मिलाकर लीपने से ही होता है। इसी प्रकार विद्या, तपादि साधनों से तो निर्मल बनता ही है, किन्तु जब तक उसमें श्री अनन्त भगवान् आकर विराजमान नहीं होते तब तक वह कुछ न कुछ मलिन बना ही रहता है। इसलिये सभी उपायों से भगवान् को हृदय में बिठाना चाहिये।

मेरे गुरुदेव भगवान् शुक राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! अब आज आप का अन्तिम दिन है। शमीक मुनि के पुत्र शृङ्गी ऋषि के शाप की अवधि अब आना ही चाहती है। आप मोह ममता को छोड़कर हृदय मे केशव भगवान् को विराजमान करो। सावधान होकर श्यामसुन्दर के स्वरूप का स्मरण करो उनके ही मनहर अधहर सुखकर नामों का निरन्तर गायन

करो। ऐसा करने से तुम समस्त संसारी बन्धनों से सदा के लिये छूट जाओगे तुम्हें परमपद की प्राप्ति हो जायगी। जिनकी मृत्यु सन्निकट हो उनके लिये संसारी सभी सम्बन्धों को भुलाकर एकमात्र भगवान् का ही ध्यान करना चाहिये। ध्यान करने वाले व्यक्ति को सर्वाधार सर्वात्मा भगवान् वासुदेव अपने स्वरूप में लीन कर लेते हैं।

दीनता के स्वर में राजा परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! कराल कलिकाल ने मनुष्यों की बुद्धि को ऐसा विपरीत बना दिया है, कि इस युग में लोगों की शुभ कार्यों में प्रवृत्ति ही नहीं होती।"

इस पर मेरे गुरुदेव ने कहा—"राजन् आपका कथन सत्य है। अवश्य ही यह कलियुग दोषों की खान है, किन्तु इतना सब होने पर भी इसमें एक बड़ा भारी गुण है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! ऐसा कौन सा भारी गुण कलियुग में है?"

श्री शुक बोले—"राजन्! कलिकाल में कुछ भी न बन सके, तो केवल वाणी श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण ऐसे भगवान् के नामों का ही उच्चारण करे। केवल भगवान् के नामों का कीर्तनमात्र करने से ही पुरुष सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त हो जाता है।

राजा ने पूछा—"महाराज! इतनी छूट कलिकाल में क्यों दी गयी है।"

श्री शुक बोले—"राजन्! जैसा जीव होता है, भगवान् उसके अनुरूप ही भोजन भी देते हैं। गरुड़ जी तो परम भगवत् भक्त वैष्णव हैं, किन्तु उनका आहार सर्प ही है। जैसा समय होता है वैसे ही वस्त्र पहिने जाते हैं जाड़ों में मोटे और ऊनी वस्त्र पहिने जाते हैं गरमियोंमें पतले और सूती। जैसा मनुष्य होता है उस पर उतना ही बोझा रखा जाता है। बलवान् और बड़ा होता है तो

उस पर अधिक रखते हैं। छोटा बच्चा या दुबला पतला हुआ तो उस पर कम बोझा रखा जाता है। इसी प्रकार जैसा युग होता है उसके अनुरूप ही साधन भी होते हैं। सत्ययुग के लोग अधिक अधिक आयु वाले, अधिक शक्तिशाली, अधिक सहिष्णु तथा शुद्ध सत्व प्रधान होते थे उनको ध्यान द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती थी, उनको बाह्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं रहता था।

त्रेता में आकर कुछ शक्ति क्षीण हुई, आयु भी लोगों की कम होने लगी। रजोगुण भी बढ गया, कुछ बाह्य कर्मकाण्ड की भी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः उस युग में बड़े बड़े यज्ञ, यागों द्वारा ही सिद्धि होती थी। त्रेता में यज्ञयाग ही उपयुक्त साधन समझा गया। द्वापर में रजोगुण के साथ कुछ तमोगुण भी मिल गया। उस युग में वैदिक तान्त्रिक पद्धति से पूजा करने से ही सिद्धि प्राप्ति होती थी। अब कलियुगी लोगों के अन्तःकरण तमोगुण प्रधान हो गये। ध्यान तो होता नहीं। ध्यान करने बैठो तो निद्रा घेर लेगी या ऊट पटाँग विचार आने लगेंगे। वैसे साधारण स्थिति में मन साधारणतया शान्त रहेगा, जहाँ ध्यान में बैठे तो और भी अधिक चंचल होगा। व्यापारी है तो पूरे व्यापार का चिन्तन होने लगेगा, जो हिसाब पहिले नहीं लगता था, वह भजन में बैठते ही लगेगा। उस समय तमोगुण और बढ जायगा क्षण भर भी चित्त भगवान् में नहीं लगता। और जिनका चित्त लग जाता है वे कलियुगी न होकर सत्ययुगी जीव हैं। सर्वसाधारण का चित्त ध्यान में नहीं लगता। रही यज्ञयागों की बात। सो यज्ञ के लिये शुद्ध सामग्री नहीं मिलती। गो के शुद्ध घृत के दर्शन दुर्लभ हो गये। शुद्ध वेद मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले आचार्यों का अभाव हो गया। देश, काल तथा पात्र सभी यज्ञ के विपरीत बन गये। यह भी साधन द्रव्य साध्य और श्रम साध्य हो गया। अब वैदिक या तान्त्रिक विधि से पूजावाला साधन रहा

सो उसमें भी विधि की प्रधानता है। सामग्रियों की अपेक्षा है। कलियुगी लोगों के लिये उन सब को जुटाना असम्भव न भी हो तो कठिन अवश्य है इसलिये कलियुगी लोगों को तो ऐसा साधन चाहिये कि सत्ययुग में जो फल भगवान् के ध्यान से मिलता हो, त्रेता में जो फल यज्ञ से और द्वापर में प्रभु की पूजा से वही फल कलियुग में किसी सरल सुगम सर्वोपयोगी साधन द्वारा मिल जाय। सो राजन्! शास्त्रकारों ने कृपा करके कलियुगी लोगों को ऐसा साधन बता दिया भगवन्नाम संकीर्तन से वे ही सब फल मिल जाते हैं जो दूसरे साधनों से मिलते थे। कलियुग का साधन भगवन्नाम कीर्तन है। इसलिये राजन्! तुम श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण इन नामों को रटते हुए अपने प्राणों को छोड़ो अवश्य ही तुम परम पद के अधिकारी बनोगे। मरना तो एक दिन सभी का है। जो जन्मा है वह मरेगा भी अवश्य। जिसकी सृष्टि है उसकी प्रलय है। लोग कहते हैं प्रलय किसने देखी! प्रलय तो प्रतिक्षण होती रहती है।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रतिक्षण प्रलय कैसे होती है भगवन्! इसे मुझे और समझा दीजिये।"

इस पर मेरे गुरुदेव ने कहा—"राजन्! प्रलय चार प्रकार की होती हैं। उनके नाम नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यंतिक हैं। इनका विवरण मैं तुम्हें बताता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार मेरे गुरुदेव ने चार प्रकार की प्रलय का वर्णन महाराज परीक्षित् से किया उसे मैं

आपको संक्षेप से सुनाऊँगा। महाराज! जो प्रलय के रहस्य को समझ लेता है उसे फिर मृत्यु का भय होता ही नहीं। अतः मरने वालों को प्रलय रहस्य समझलेना अत्यावश्यक है।"

छप्पय

नाम कीरतन सरल सरस सबकूँ सुखदायक।
नाम कीरतन एक जगत में सत्य सहायक॥
नाम कीरतन करत ध्यान नामी को आवै।
नाम कीरतन करत हृदय कालिख धुल जावै॥
नाम कीरतन जा करै, रोइ पुकारें श्याम कूँ।
हरि सम्मुख नाचे निलज, ते पावें प्रभु धाम कूँ॥

—•०—

प्रलय के प्रकार

(१३५१)

नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिकोलयः ।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ४ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

शौनक पूछें–"सूत ! प्रलय को मरम बताओ ।
प्रलयनि के कै भेद सरलता तें समुझाओ ॥"
सूत कहें–"मुनि ! प्रलय चार विधि वेद बतावें ।
नैमित्तिक अज दिवस अन्त में पुनि सो जावे ॥
पूर्ण होहि अब आयु जब, लीन होहिँ प्रकृती सबहिँ ।
भुवन चतुरदश प्रकृति में, मिलें प्रलय प्राकृत तबहिँ ।

संसार एक चक्र है, दीखता हुआ भी नहीं दीखता। जाड़े के दिनों में लड़के एक मिट्टी का छिद्रों वाला पात्र सा बनाते हैं उसमें छोटे छोटे कोयले भरकर अग्नि रखकर घुमाते हैं। घूमने से उसमें

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! ये जो नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक चार प्रकार की प्रलय हैं उनका वर्णन मैंने आपसे कर दिया। महाराज ! इस काल की ऐसी ही गति है।"

से अग्नि की विस्फुलिङ्ग निकलकर एक प्रकार का मडलाकार चक्र बन जाता है। उसे अलात चक्र कहते हैं। दूर से देखने वालो को ऐसा प्रतीत होता है, कि आकाश में एक चक्र स्थित है। वास्तव में वह स्थित नहीं। प्रतिक्षण नय विस्फुलिग निकलते हैं पुराने विलीन होते जाते हैं। इसी प्रकार बारूद का भी एक चक्र घुमाते हैं। बडा शीघ्रता से बारूद निकलकर आकाश मे एक वृत्त सा बना लेता है, दूर से वह स्थिर वृत्तसा दीखता है किन्तु निरतर उसमें से बारूद के कण निकलते रहते हैं। वे न निकले तो वह वृत्त समाप्त हो जाय। यमुनाजी श्रावण भादो म भरी हुई दिखायी देती हैं। लोग दूर से देखकर यही समझते हैं जल इसी प्रकार इसमे सदा भरा रहता है, किन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। क्षण क्षण मे जल कण बदलते रहते हैं। जो जल कण इस क्षण हैं वे आगे बह जाते हैं उनका स्थान दूसरे जल कण ग्रहण कर लेते हैं जब ये भी बहने लगते है तो तत्काल तीसर जल कण उनके रिक्त स्थानो की पूर्ति करते हैं। ऐसे ही निरन्तर यह जल प्रवाह बहता रहता है। वर्षा के दिनो मे दीपक की लोय को देखकर पतगे आते हैं आते ही दीपक की लोय मे जल जाते हैं, तुरन्त दूसर आ जाते हैं। यह क्रम लगा ही रहता है। इसी प्रकार यह ससार प्रवाह है। जो जन्मता है वह मरने क लिये सृष्टि होती है प्रलय के लिये। 'यद्दृष्ट तन्नष्टम्' जो दिखायी दिया वह तुरत नष्ट हो गया। दीपक की लोय क्षण क्षण म नष्ट हो रही है। किन्तु अपनी चतुरता से दूसरी लोय उसका स्थान ग्रहण करता है कि देखने वाले यही समझते हैं यह एक दीपक रात्रि भर जलता रहा। यह माया है यही भ्रम है यही अविद्या है, यही प्रकृति का खेल है।

शौनकजी ने पूछा—"तो हाँ, सूतजी! हमे आप प्रलय के प्रकारो को समझावें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! मेरे गुरुदेव ने प्रलय चार प्रकार की बतायीं हैं। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यंतिक। अब इनकी व्याख्या सुनिये। प्रथम नित्य प्रलय को ही लीजिये।

नित्य प्रलय–सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो सभी वस्तुएँ क्षण क्षण में उत्पन्न होती रहती हैं और तत्क्षण प्रलय को प्राप्त होती रहती हैं। कूए में पानी भरा रहता है, स्थूल दृष्टि वाले यही समझते हैं। ऐसे ही सदा कूए में एक ही जल भरा रहता होगा, किंतु बात ऐसी नहीं है। कूए में पानी के स्रोत आते रहते हैं, उनमें से अनवरत नवीन नवीन जल निकलता रहता है और पुराना जल वाष्प बनकर या लोगों द्वारा निकाला जाकर व्यय होता रहता है। एक बालक उत्पन्न होता है। जिस समय उदर से बाहर निकला उसी क्षण उसके सब परमाणु बदल जाते हैं और प्रतिक्षण नये बनते रहते हैं पुराने विलीन हो जाते हैं। वह क्षण क्षण में बढ़ता है। बढ़ना क्या है पुराने परमाणुओं का नाश होना नये परमाणुओं का आना। शिशु से पौगण्ड होता है तब लोग समझते हैं हाँ बड़ा हुआ, किशोर होता है तब दूसरे लोग समझते हैं हाँ बहुत बड़ा हुआ फिर दाढ़ी मूँछ आती है, बाल सफेद होते हैं। बूढ़ा होता है। हम कब बढ़ते हैं इसका अनुभव हमें स्वयं नहीं होता। हम समझते हैं जैसे हम पहिले थे वैसे ही अब हैं, किन्तु यह भ्रममात्र है। एक सा तो कोई एक क्षण भी नहीं रहता। संसार ही परिवर्तन शील है परिवर्तन का ही नाम प्रलय है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सभी की क्षण क्षण में नित्य ही प्रलय होती है नित्य ही नयी सृष्टि होती रहती है। उत्पत्ति और प्रलय का यह क्रम धारा प्रवाह रूप से चलता ही रहता है। केवल आत्मा में परिवर्तन नहीं होता वह तो एक रस नित्य और अपरिवर्तन शील है, शेष सभी परिवर्तित होते रहते हैं। नदी के प्रवाह की भाँति दीपक की शिखा के भाँति परिणामी पदार्थों की

क्षण क्षण में परिवर्तित होने वाली दशाएँ उनके पलपल मे होने वाले जन्म और नाश की कारण बतायी हैं। सभी के शरीर प्रतिक्षण बनते बिगडते रहते हैं यह काल भगवान् का ही स्वरूप है। इसका न आदि है न अन्त यह अनादि अनन्त है। जैसे आकाश में चलने वाले ताराओं की गति दिखायी नहीं देती, इसी प्रकार काल के कारण प्रतिक्षण होने वाला परिवर्तन प्राणियों को दृष्टिगोचर नहीं होता। नहीं तो संसार की समस्त वस्तुएँ प्रतिक्षण विनाश हो रही हैं उनके स्थान में वैसे ही नयी बनती जा रहीं हैं। यह अत्यत संक्षेप में मैंने नित्य प्रलय का वर्णन किया अब आप नैमित्तिक प्रलय के सम्बन्ध मे सुनिये।'

नैमित्तिक प्रलय—"नैमित्तिक प्रलय उसे कहते हैं, जो किसी निमित्त से होता है। जैसे ब्रह्माजी का एक दिन हो गया। जब उनकी रात्रि होती है, तो वे शेषशायी नारायण में लीन होकर सो जाते हैं। प्रातःकाल उठकर फिर इस त्रिलोकी की सृष्टि करते हैं। जब ये चारों युग (जिनके वर्षों की संख्याओं को मैं पीछे बार बार बता चुका हूँ) एक सहस्र बार बीत जाते हैं, तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है। इस एक दिन मे चौदह मनु तथा चौदह इन्द्रादि बदल जाते हैं। फिर उतनी ही बडी ब्रह्माजी की प्रलय रात्रि होती है। उस समय ब्रह्माजी सब जीवों को अपने उदर में रखकर सो जाते हैं। सृष्टि का समस्त कार्य बन्द हो जाता है। जैसे दुकानदार रात्रि में दुकान की समस्त सामग्री को भीतर धरकर ताला बन्द करके सो जाता है। उस समय बिक्री का कोई कार्य नहीं होता। प्रात काल हुआ फिर दुकान को ज्यों की त्यों सजा देता है। जहाँ कल आटा रखा था वहीं आज आटा रख देगा। दाल, चावल, मिरच मसाले सबको यथा स्थान सजा देगा। कल जितना बिका था उसी में से फिर बेचने लगेगा। इसी प्रकार कल्प की प्रलय होने पर सब जीव अपने अपने कर्मों को लिये

हुए चुपचाप पड़े रहेंगे। दूसरे कल्प के आरम्भ होते ही पूर्व कर्मानुसार पुनः सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त हो जायँगे। इस नैमित्तिक प्रलय में भूः भुवः और स्वः इन तीनों ही लोकों की प्रलय होती है। जन, तप और सत्य ये लोक बच जाते हैं। यह नैमित्तिक प्रलय जैसे हमारे दिन में होती है वैसे ही ब्रह्माजी के दिन को निमित्त मानकर हुआ करती है। ब्रह्माजी के शयन करने के निमित्त से होती है, अतः नैमित्तिक प्रलय कहाती है। अब प्राकृतिक प्रलय को सुनिये।

प्राकृत प्रलय—"यह सृष्टि अव्यक्त प्रकृति से आरम्भ होती है। तभी विश्व ब्रह्माण्ड की रचना होती है। प्रकृति में जब विकृति होती है तब महत्तत्व, अहङ्कार, शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श ये सात प्रकृतियाँ हो जाती हैं। इन्हीं के भूतों के संघात रूप ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है। जब यह ब्रह्माण्ड पुनः अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है, तो उसे प्राकृत प्रलय कहते है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह प्राकृतिक प्रलय कब होती है?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! मैं पहिले कई बार बता चुका हूँ, कि मनुष्यों के ३६० दिनों का एक वर्ष होता है, किंतु देवताओं के ऐसे ३६० दिनों का उनका वर्ष होता है। उसे दिव्य वर्ष कहते हैं। बारह सहस्र दिव्य वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। अर्थात् जब देवताओं के बारह सहस्र वर्ष बीत जाते हैं तब सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये चारों युग एक बार बीतते हैं। जब ऐसी चतुर्युगी सहस्र बार बीत जाती हैं, तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है, उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। ऐसे ३६० दिनों से ब्रह्माजी का एक वर्ष होता है। उसे ब्राह्म वर्ष कहते हैं। एक ब्रह्माजी के वर्ष में तीन सौ साठ बार नैमित्तिक प्रलय होती है। जिनमें तीनों लोक विलीन हो जाते हैं। ब्रह्माजी की पूर्ण आयु सौ

वर्ष की होती है। ब्रह्माजी के प्रथम पचास वर्षों को पूर्वार्द्ध कहते हैं और पचास से आगे सौ तक दूसरे पचास वर्षों को परार्द्ध कहते हैं। जब ब्रह्माजी के दो परार्द्ध अर्थात् सौ वर्ष बीत जाते हैं, तब ब्रह्माजी की आयु समाप्त हो जाती है। उस समय प्रलय हो जाती है, ब्रह्मा भगवान में लीन हो जाते हैं, फिर भगवान् की नाभि से कमल होता है, दूसरे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। इस प्रलय का नाम प्राकृत प्रलय है। क्योंकि सात प्रकृतियाँ शुद्ध प्रकृति में जाकर मिल जाती हैं। तीनों गुणों की साम्यावस्था हो जाती है। सृष्टि विषमता में ही है। साम्य में सृष्टि नहीं होती। ब्रह्माण्ड का कारण है विकृति या विषमता। जब विषमता ही नष्ट हो गयी तो ब्रह्माण्ड कहाँ रहेगा। इसी को प्रलय भी कहते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह महाप्रलय या प्राकृत प्रलय कैसे होती है, महाभाग! इसे हमें विस्तार से सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यही तो पुराणों में एक गूढ़ विषय है, इसका विस्तार तो बहुत हो जायगा, अतः मैं संक्षेप में ही इस विषय को समझाऊँगा।"

ब्रह्माजी के एक दिन में जो नैमित्तिक प्रलय होती है, उसमें तीन ही लोक नष्ट होते हैं, किंतु इस प्राकृत प्रलय में तो चौदहू भुवन-सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही अदृश्य हो जाता है। जब ब्रह्माजी की ही आयु समाप्त हो गयी तो ब्रह्माण्ड कैसे रह सकता है। उस समय कुछ नहीं रहता। सब अपने अपने कारणों में विलीन होते चलते हैं।

जब प्रलय का काल उपस्थित होता है, तब इन्द्र सांवर्तक नामक मेघों को बुलाते हैं। और उनसे कहते हैं—"वर्षा करो।" ये महासांवर्तक मेघ इन्हीं दिनों के लिये बन्द रहते हैं। जहाँ इन्द्र की आज्ञा हुई तहाँ ये बरसना आरम्भ करते हैं। हाथी की सूँड में से जैसी धारा निकले इतनी मोटी धाराओं से बरसते हैं। जब

बरसना आरम्भ करते हैं तो फिर बीच में रुकते नहीं। सौ वर्षों तक निरन्तर बरसते ही रहते हैं। अन्न का तो हो जाता है अभाव खाने के बिना प्राणी मरने लगते हैं भूख मिटाने को एक जीव दूसरे को खाने दौड़ता है। जीव ही जीवों का जीवन है। किंतु कहाँ तक बिना अन्न के निर्वाह चले। यह मनुष्य कृत कोप तो है नहीं जो किसी प्रकार अनुनय विनय करके बच सके। यह तो निर्दय क्रूर कालकृत कोप है। काल भगवान् किसी का भी शील संकोच नहीं करते। अन्न के अभाव में अतिवृष्टि होने के कारण सभी देह धारियों का अन्त हो जाता है। सातों समुद्र मिलकर एक हो जाते हैं सर्वत्र जल ही जल दिखायी देता है। पृथिवी जलमयी बन जाती है। जब जल के अतिरिक्त कुछ भी दिखायी नहीं देता, तब वृष्टि बन्द होती है। अब सूर्यदेव जी की बारी आती है। जैसे वृष्टि के लिये सांवर्तक मेघ रहते हैं, वैसे ही सूर्य की भी कुछ तीक्ष्ण किरणें रहती हैं। वे सूर्य की परम प्रचण्ड किरणें एकार्णव बने जगत् के जल को शोषती हैं। सृष्टि में तो यह नियम रहता है, कि सूर्य अपनी किरणों से जिस जल को शोषते हैं, उसे वर्षा के दिनों में वृष्टि के रूप में बरसा देते हैं, किन्तु महाप्रलय के समय यह नियम नहीं रहता। सूर्य सम्पूर्ण जल को सोखते तो जाते हैं, किंतु उसे वृष्टि के रूप में छोड़ते नहीं। जहाँ भी सूर्य आर्द्रता देखते हैं वहीं के सम्पूर्ण जलको निर्दयता पूर्वक खींच लेते हैं। ये समुद्र, शरीर तथा पृथिवी जल के द्वारा ही स्थित हैं, जब सब में से जलांश शोष लिया जायगा तब सूखा सूखा निर्जीव पदार्थ रह जायगा। उसी समय प्रचण्ड वायु चलेगी और शेषजी के मुख से संवर्तक नामक अग्नि उत्पन्न होगी। वह अग्नि वायु की सहायता से सबको जला डालेगी। अति वृष्टि से पृथिवी तो पहिले ही जन शून्य बन जायगी। कोई सड़ी गली वस्तु रह भी जायगी उसे सूर्य अपनी किरणों से

शोष लेंगे। संवर्तक अग्नि सबको जला देगी। नीचे की तल अतल आदि भू विवरों को भी वह प्रलयाग्नि भस्मसात् कर देगी। जैसे गोबर का कंडा है उसे जला दो तो उसमे केवल भस्म ही रह जायगी जो फूँक मारने से उड जायगी। ऐसे ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सूर्य और अग्नि की ज्वालाओं से जलकर भस्म हो जायगा। अब आकाश मडल मे अग्नि का धूआँ और पवन धूलि ये दो वस्तुएँ रह जायँगीं। जैसे संवर्तक मेघ बरसे थे संवर्तक अग्नि की लपटे उठी थीं उसी प्रकार सवर्तक वायु चलेगी। सौ वर्षों तक अन्धाधुन्ध आँधी चलती रहेगी। उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में वह धूलि और धूआँ यही भर जायगा। फिर सौ वर्षों तक अनेकों प्रकार के चित्र विचित्र मेघ वर्षा करते हुए भयंकर गर्जन तर्जन करते रहेंगे। उस समय समस्त संसार जलमय हो जायगा। अब यहाँ से प्रलय आरम्भ होगी।

जल के नीचे किसी न किसी रूप में जो जली हुई राख थी वही पृथिवी तो रही ही आवेगी, किन्तु उसमे सत्व कुछ भी न रहेगा। फिर भी उसमें राख की गन्ध तो रहेगी ही। उस गन्ध को जल अपने मे मिला लेगा। जिसका गुण नष्ट हो गया मानों उसकी मृत्यु हो गयी। जब पृथिवी गन्ध गुण से हीन हो गयी तब उसकी मृत्यु हो गयी। अब रह गया शेष जल। जल के रस को तेज पी जायगा। जब रस ही नहीं तो जल का अस्तित्व कहाँ रहा। जल भी समाप्त हो गया। तेज में जो रूप गुण है उसे वायु शोष लेगी। जब तेज रूप अपने गुण रूप से रहित होता है तो वायु में विलीन हो जाता है। अब वायु का जो स्पर्श गुण है उसे आकाश हर लेता है, स्पर्शहीन वायु आकाश में लीन हो जाता है। अब पचभूतों मे केवल आकाश शेष रह गया। आकाश का जो शब्द गुण है उसे अहंकार हर लेता है, शब्द हीन आकाश तामस अहङ्कार में विलीन हो जाता है। क्योंकि पृथिवी, जल,

तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों की उत्पत्ति तामस अहंकार से ही होती है, यह सिद्धान्त कि कार्य कारण में विलीन होता है। इन्द्रियाँ राजस अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं, अतः वे अपनी वृत्तियों सहित राजस अहङ्कार में विलीन हो जाती हैं। तामस राजस में मिल जाता है। सात्विक अहङ्कार से इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों की उत्पत्ति होती है। वे सब देवता सात्विक अहङ्कार में विलीन हो जाते हैं। तामस राजस और सात्विक अहङ्कार मिल कर एक हो जाता है। इस प्रकार यह त्रिविध अहङ्कार को महत्तत्व ग्रास लेता है। महत्तत्व की उत्पत्ति सत्व,रज और तम इन तीनों गुणों के क्षोभ होने से हुई थी। प्रकृति की प्रथम विकृति महत्तत्व ही है। उस महत्तत्व को सत्वादि गुण निगल जाते हैं। तीनों गुण जब साम्यावस्था में प्राप्त हो जाते हैं वही अव्याकृत है। काल की प्रेरणा से वह अव्याकृत गुणों को ग्रस लेता है। वह अव्यक्त, अनादि, अनन्त, नित्य, सबका कारण और अविनाशी है। काल के ही कारण घड़ी, पल, प्रहर दिन तथा रात्रि आदि विभाग होते हैं। उस समय अव्याकृत में किसी भी प्रकार के कालकृत परिणामादि विकार नहीं होते।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ऐसा प्रलय क्यों होता है ?"

सूतजीने हँसकर कहा—"महाराज इसलिये होता है कि संसार के सभी पदार्थ क्षण भंगुर हैं, नाशवान् हैं। परिणामी हैं। जब पुरुष और प्रकृति की सम्पूर्ण शक्तियाँ काल से तिरस्कृत हो जाती हैं अर्थात् सबका समय समाप्त हो जाता है, ब्रह्माजी की आयु पूरी हो जाती है। सभी शक्तियाँ अपने कारण में लय होने को विवश हो जाती हैं, तब आप से आप प्रलय होने लगता है। तब केवल जगत् का मूलभूत तत्व अव्यक्त ही शेष रह जाता है। उस समय वाणी आदि बाह्य करण, मन आदि अन्तःकरण सत्व, रज और तम ये तीनों गुण महत्तत्वादि विकार, प्राण,इन्द्रिय

और उनके अधिष्ठातृदेव तथा यह सम्पूर्ण लोक रचना कुछ भी नहीं रहती सबका लोप हो जाता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचभूत, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों दशायें तथा सूर्य चन्द्रादि कुछ भी नहीं रहते। जैसे गाढ निद्रा में सोया हुआ पुरुष शून्य के समान पड़ा रहता है वैसे ही सबको लीन करके एकमात्र अव्यक्त कहो प्रकृति कहो वही शेष रह जाती है। इसीलिये इसका नाम प्राकृत प्रलय है।"

शौनकजी ने कहा—'सूतजी! नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत प्रलय के सम्बन्ध में तो हमने सुन लिया, अब कृपया आत्यंतिक प्रलय के सम्बन्ध में हमें और समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत प्रलय तो सीमित काल के लिये होती है काल पाकर फिर ज्यों की त्यों वस्तुएँ बन जाती है, फिर वैसा का वैसा सृष्टि हो जाती है। आत्यंतिक प्रलय वह है, जो एक बार प्रलय हो जाय फिर कभी हो ही नहीं। सदा के लिये प्रलय हो जाय। उसे मोक्ष भी कहते हैं। कुछ लोगों का मत है, कि यह जगत न कभी उत्पन्न हुआ न है न आगे कभी होगा। भ्रमवश इस जगत की प्रतीति होती है, जहाँ यह भ्रम नष्ट हुआ तहाँ यह संसार अपने आप सदा के लिये विलीन हो जायगा। विलीन हो जाना भी एक उपचार मात्र है, विलीन तो तब हो जब पहिले कुछ हो। यह तो कभी हुआ ही नहीं। जैसे दूर से टेढ़ी मेढ़ी रस्सी सर्प के समान दिखायी दी। कोई उसे सर्प समझकर भयभीत हो गया। अब उसे सर्प मानकर डरा हुआ है। किसी ने दीपक लाकर दिखा दिया टेढ़ी मेढ़ी रस्सी पड़ी रह गयी, सर्प उसमें से भाग गया। देखने वाला निर्भय हो गया। 'सर्प उसमें से भाग गया' यह कहना उपचार मात्र है। वास्तव में तो उस टेढ़ी रस्सी में न पहिले कभी सर्प था, न अब है न कभी उसमें सर्प हो ही सकता है। उसे भ्रमवश सर्प की प्रतीति

होती है, ज्ञान रूपी प्रकाश के आने पर उसे स्वतः अनुभव हो गया –"अरे, यह तो रस्सा था उसे मिथ्या भ्रम था।" ऐसा ज्ञान होते ही उस रस्सी में से सर्प सदा के लिये चला गया। अर्थात जहाँ रज्जु में सर्प भास रहा था वहाँ रज्जु रह गयी। इसी प्रकार इस जगत का अधिष्ठान ब्रम आत्मा है। बुद्धि, इन्द्रिय और विषयों के रूप में वही प्रतीत हो रहा है। जो वस्तु आदि अन्त वाली है वह मध्य में ही सत्य नहीं हो सकती है। क्योंकि वह दृष्य है। दृष्य किसी अधिष्ठान में ही रहेगा। अधिष्ठान तो सत्य है, किंतु वह दृष्य सत्य नहीं और उस दृष्य की अधिष्ठान से पृथक् सत्ता भी नहीं।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह बात हमारी समझ में आयी नहीं, कृपया इसे स्पष्ट समझा दीजिये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यों समझिये कुडल हैं, कंकण हैं, ये तो दृश्य हैं इनका आदि भी है अन्त भी है। इनका अधिष्ठान है सुवर्ण। सुवर्ण के बिना ये बन नहीं सकते। आज कुंडल बना है, कल उसे ताड़कर कंकण बना लिया, परसों उसे तुड़वाकर हार बनवा लिया। ये आज बनने और बिगड़ने वाले दृष्य हैं, वे मिथ्या हैं। आदि में कभी नहीं थे अन्त में भी नहीं रहे। मध्य में जो प्रतीति हुई, वह मिथ्या थी भ्रम था, किन्तु इन कटक कुंडल हार आदि का अधिष्ठान सुवर्ण है वह नित्य है। जब उसमें कटक कुंडल थे तब भी सुवर्ण था तोड़ दिया तब भी सुवर्ण शेष रह गया, बनने के पहिले भी सुवर्ण ही था। अध्यस्त वस्तु की सत्ता अधिष्ठान से पृथक नहीं होती। किन्तु अधिष्ठान या कारण उससे सर्वथा पृथक् होता है कुंडल कनक से पृथक् नहीं, किन्तु कनक कुंडल से सर्वथा पृथक् है। रज्जु में दीखने वाला सर्प रज्जु से पृथक् नहीं, किन्तु रज्जु सर्प से सर्वथा पृथक् है। सीप में दीखने वाली चाँदी सीप से पृथक् नहीं किन्तु सीप चाँदी

से सर्वथा पृथक् है। मिट्टी के बने घडे आदि पात्र मिट्टी से पृथक् नहीं, किन्तु मिट्टी घड़ा नहीं।

इसे दूसरी भाँति से यों समझो कि दीपक की ज्योति ही आँखों में प्रवेश करके देखने की शक्ति देती है, दीपक मे जो दिखाने की शक्ति है वह भी तेज है। जितने रूप हैं वे भी सूर्य के तेज से ही आते हैं। अर्थात् दीपक, नेत्र और रूप ये तीनों ही तेज से भिन्न नहीं हैं। तेज ही द्रष्टा है तेज ही दृश्य है और तेज ही दिखाने वाले हैं, फिर भी वह तेज दीपक, नेत्र और रूप इन तीनों से भिन्न है। इसी प्रकार अन्तःकरण बाह्यकरण और तन्मात्राओं का अधिष्ठान ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही है। ब्रह्म में ही इनकी प्रतीति हो रही है, किन्तु ब्रह्म बुद्धि नहीं, इन्द्रिय नहीं और तन्मात्रा भी नहीं। इन सब से सर्वथा पृथक् है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये जो जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्थायें हैं और इनके विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीन अभिमानी हैं ये किनमें हैं। ये तीन अवस्थायें किनकी हैं, क्या ब्रह्म में यह त्रित्व सत्य है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्म तो न कभी सोता है न उसको कभी स्वप्न होता है, वह तो अखंड एक रस परिपूर्ण और सदा जाग्रत रहता है। ये जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थायें तो बुद्धि की ही कही गयी हैं। इन अवस्थाओं के अभिमानी जो विश्व तेजस और प्राज्ञ रूप से तीन कहे गये हैं वे भी प्रत्यक् आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा में हैं, ब्रह्म में तो यह नानात्व केवल मायामात्र ही है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! नानात्व न हो तो ये इतने पदार्थ दीखते क्यों हैं। महाभाग! कारण से कार्य होता है। आप कपड़े को सत्य न भी मानें किन्तु उसका कारण जो सूत है उसे तो आप को सत्य मानना ही होगा। घड़े सकोरे आदि को सत्य न

माने मिट्टी को तो सत्य मानना ही होगा। जब सबके कारण सत्य हैं, तो उनसे होने वाला कार्य भी सत्य होगा ही।

सूतजी ने कहा—"महाराज! सामान्यतया जगत् में जितने भी सावयव पदार्थ हैं, उनके कारण रूप अवयव सत्य माने गये हैं। जैसे सूत अवयव है और वस्त्र अवयवी है। आप कहीं देखें आप को ऐसा वस्त्र कहीं भी न मिलेगा जिसमें सूत्र न हो। सूत से पृथक् वस्त्र रह ही नहीं सकता, किन्तु वस्त्र से पृथक् सूत्र सर्वत्र दिखायी देगा। इसी प्रकार मिट्टी के बिना घड़े सकोरे न मिलेंगे घड़े सकोरे से पृथक् मिट्टी बहुत मिलेगी। कहीं मिट्टी अपने शुद्ध रूप में दिखायी देती है, कहीं घड़े के रूप में। कहीं सूत शुद्ध सूत रूप में दिखायी देता है कहीं कपड़े के रूप में। कपड़ा होने पर भी सूत्र कहीं चले नहीं जाते। सूत्रों को पृथक कर दो फिर उन्हें कोई कपड़ा नहीं कहेगा। आकाश में मेघ रहते हैं तब भी वह आकाश शुद्ध है नहीं रहते हैं तब भी शुद्ध है। कभी आकाश में मेघ दिखायी देते हैं कभी नहीं भी देते। आकाश की उनके दिखायी देने न देने में कोई हानि नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म में यह सावयव संसार उत्पत्ति के प्रलय के क्रम के कभी होता है कभी नहीं होता।"

शौनकजी ने कहा—"तब ये जगत् के जितने कारण हैं वे सत्य ही हुए?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! सामान्य और विशेष अर्थात् कारण और कार्य रूप से जो भेद की उपलब्धि होती है। वह परस्पर में एक दूसरे से आश्रित है। अर्थात् कारण के बिना कार्य नहीं और कार्य कारण के बिना होता नहीं। किसी कार्य का आरम्भ होगा तो उसका कारण भी होगा। जगत् में कार्य और कारण अन्योन्याश्रित हैं आदि अन्त वाले हैं अतः भ्रमरूप ही हैं। क्योंकि जिसका आदि और अन्त है वही अनित्य है जिसका

आदि है और अन्त भी है यदि वह बीच में दीखता भी है तो उसकी प्रतीति भ्रमवश ही समझना चाहिये। इसी प्रकार इस आदि अन्त वाले प्रपञ्च विकार की प्रतीति होती है, फिर भी इसकी सत्ता अन्तरात्मा के अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं हो सकती। यदि इस जगत् की पृथक् सत्ता माना जाय, तो बड़ा अनर्थ होगा।'

शौनकजी ने कहा—"क्या अनर्थ होगा सूतजी।"

सूतजी ने कहा—"यही कि फिर जैसे चैतन्य स्वरूप आत्मा है वैसे ही चैतन्य रूप यह प्रपञ्च भी पृथक हो जायगा। आत्मा में अनेकता है नहीं।"

शौनकजी ने कहा— मान लो सूतजी! आत्मा में अनेकता हो भी तो इसमें हानि क्या है?'

सूतजी बोले—"अब इसे तो महाराज! आप ही समझें। यदि घड़े का आकाश, घर का आकाश महाकाश से भिन्न है, यदि आकाश में स्थित सूर्य और जल में प्रतिबिम्ब रूप से दिखाई देने वाला सूर्य भिन्न है यदि शरीर के भीतर रहने वाली वायु और बाहर विचरण करने वाली वायु भिन्न है, तब तो यह दृश्य प्रपञ्च और आत्मा भिन्न भिन्न माने भी जा सकते हैं। तब तो नानात्व संभव भी है, किन्तु घटाकाश और महाकाश को कौन बुद्धिमान भिन्न भिन्न बतायेगा।"

शौनकजी ने कहा—'सूतजी! परब्रह्म परमात्मा को भी तो वेदशास्त्र अनेक रूपों से वर्णन करते हैं। उनके भी तो भिन्न भिन्न अवतार और स्वरूप माने गये हैं।"

सूतजी ने कहा—'महाराज! इन सब अनेकताओं में भी एकता निहित है। जैसे काली के उपासक कहते हैं, हमारी काली एक है और वह सर्व श्रेष्ठ है शिव के उपासक कहते हैं, हमारे शिव तो एक अद्वय हैं और वे सब श्रेष्ठ हैं, गणपति के उपासक

कहते हैं हमारे गणपति सबसे श्रेष्ठ है और एक ही हैं। इसी प्रकार, वैष्णव सौर तथा शाक्त आदि सभी उन्हें एक और सर्व-श्रेष्ठ बताते हैं। यदि ये भिन्न भिन्न हैं तब तो अनेक हो गये, किन्तु सभी उन्हें अद्वय कहते हैं, इससे सिद्ध हुआ एक ही सर्वश्रेष्ठ सत्ता है, जिसे रुचि वैचित्र्य से कोई शिव कहते हैं कोई शक्ति कोई सूर्य और कोई गणपति विष्णु। सुवर्ण एक है कोई उसका हार बनाकर उसका हार नाम रखकर प्यार करता है कोई कंकण नाम रखकर प्यार करता है मूल में वस्तु वही एक सुवर्ण है। नाम और आकृति भेद से उनके संकेत पृथक हो जाते हैं, मूल वस्तु एक ही है। इसी प्रकार वेदविद् पुरुष भगवान् अधोक्षज की लौकिक और वैदिक वाक्यों द्वारा भाँति भाँति की व्याख्या किया करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"जब सूतजी! एक ही तत्व है, तो ज्ञान फिर किसके होगा। जब बन्धन ही सत्य नहीं तो मुक्ति होगी किसकी?"

यह सुनकर सूतजी हंस पड़े और बोले—"भगवन्! अब इसका क्या उत्तर मैं दूँ। अच्छा यह बताइये मेघ किससे उत्पन्न होते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"यह तो सभी जानते हैं आठ महीने सूर्य नारायण अपनी किरणों से समुद्र, कूप, नदी तथा सभी प्राणियों के शरीर में से जल चुराते रहते हैं। उन्हीं के मेघ बन जाते हैं। वर्षा में वे ही मेघ बनकर बरस जाते हैं।"

सूतजी ने कहा—"तो इससे यही सिद्ध हुआ न कि मेघ सूर्य से बनते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूर्य से तो बनते ही हैं।"

सूतजी ने कहा—"अच्छा! प्रकाश न हो तो आप मेघों को देख सकते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"प्रकाश न हो, तो सूर्य को क्या हम किसी को भी नहीं देख सकते।"

सूतजी बोले—"तो इससे यह सिद्ध हुआ कि सूर्य से उत्पन्न मेघ सूर्य के ही द्वारा देखे जा सकते हैं।"

शौनकजी बोले—"निःसन्देह यही बात है।"

सूतजी बोले—"अच्छा, सूर्य न हो तो मेघ दिखाई दे सकते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सब वस्तुओं के प्रकाशक तो सूर्य ही हैं। आकाश में मेघ छा रहे हैं यह भी सूर्य के ही प्रकाश से जाना जाता है।"

सूतजी ने पूछा—"अच्छा, नेत्रों को देखने की शक्ति कौन देते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"नेत्र गोलकों के प्रकाशक भी वे ही सूर्य हैं।"

सूतजी ने कहा—"अच्छा, तो बताइये, सूर्य से उत्पन्न, सूर्य द्वारा प्रकाशित मेघ सूर्य के अंश भूत नेत्र के लिये सूर्य दर्शन में कभी कभी प्रति बन्धक क्यों हो जाते हैं? जब घनघोर घटायें छा जाती हैं, तब हमें नेत्रों से सूर्य दिखायी नहीं देते। मेघ उन्हें आच्छादित कर लेते हैं सूर्य से ही उत्पन्न मेघ भला सूर्य को क्या ढक सकते हैं, किन्तु ऐसी प्रतीत होने लगती है। है। इसी प्रकार अहंकार ब्रह्म का ही कार्य है ब्रह्म से ही प्रकाशित होता है, वह अहंकार ब्रह्म के अंशभूत आत्मा के लिये ब्रह्म-दर्शन में प्रतिबन्धक हो जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"तो सूतजी! यह प्रतिबन्ध हटे कैसे ब्रह्म-दर्शन हो किस प्रकार?"

सूतजी ने कहा—"जब सूर्य स्वयं ही अपने से उत्पन्न मेघों को चीर फाड़कर प्रकाशित हो जाते हैं तब सूर्य से ही प्रकाश पाने वाले नेत्र अपने स्वरूप भूत सूर्य को स्वयं ही देख लेते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् स्वयं कृपा करके जीव के अज्ञानान्धकार को दूर कर देते हैं। आत्मा की उपाधि रूप जो यह मिथ्या अहंकार है जब नष्ट हो जाता है तब उसे अपने यथार्थ रूप की स्मृति हो जाती है। जैसे कंठ में पड़े मोती के हार को कोई भूल गया, इधर उधर खोजता फिरता है। प्रकाश में उसे दीख गया तो उसका सब शोक नष्ट हो जाता है। मोती का हार कहीं चला नहीं गया था, न देखते समय कहीं से आ गया। उसे हार की प्राप्ति नहीं हुई। प्राप्ति तो तब होती जब वह कहीं अन्यत्र गिर गया होता। खोने से पहिले भी कंठ में था, जब उसे पुनः प्राप्त हुआ तब भी कंठ में ही था। हार जहाँ था वहाँ का वहीं रहा, केवल उसने भ्रम वश खोया और प्राप्त हुआ मान लिया था। इसी प्रकार ब्रह्म की कभी अप्राप्ति है ही नहीं। वह सर्वथा सब काल में प्राप्त है। जिस समय विवेक रूप खड्ग से यह जीव अपने अहंकार रूप माया बन्धन को काटकर ब्रह्मात्मभाव से स्थित हो जाता है, उस समय 'अहं' कहीं भाग नहीं जाता है। अहं ही ब्रह्म बन जाता है। बन क्या जाता है भासने लगता है। इसी अवस्था का नाम आत्यंतिक प्रलय है। उस समय ज्ञानी की दृष्टि में यह जगत् रहता ही नहीं केवल ब्रह्म ही ब्रह्म दिखायी देता है। ज्ञान हुआ, तो मानों जगत् की प्रलय हो गयी। सब प्रपञ्च ही नष्ट हो गया। ज्ञानी की मुक्ति हुई मानों सब की मुक्ति हो गयी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मेरे गुरुदेव भगवान् व्यास नन्दन ने महाराज परीक्षित् को नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक इन चारों प्रकार की प्रलयों का रहस्य समझा दिया और अन्त में मेघ गम्भीर वाणी में बोले—"राजन्! यह

सर्वान्तर्यामी प्रभु की क्रीड़ा है, लीला है विनोद है। अत्यन्त संक्षेप मे मैंने इस प्रलय रहस्य को तुम्हे बताया यदि विस्तार से कोई इन सब लीलाओं का वर्णन करना चाहे, तो मनुष्यो की तो बात ही क्या कमलयोनि भगवान् ब्रह्मा भी अपनी पूरी आयु में वर्णन नहीं कर सकते।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवान्! यह संसार सागर तो बडा ही दुस्तर है। इसे किस साधन से पार किया जा सकता है। मेरे तो आज सात दिन पूरे भी हो गये?"

इस पर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने कहा—"राजन्! तुम क्यों घबड़ाते हो, तुम तो पार हो ही गये। जिस प्रकार कोई गरमी से व्याप्त हो और उसे केले की जड का रस पिला दो, तो उसकी सब गरमी शान्त हो जाती है उसी प्रकार नाना भाँति के दुःख रूप दावानल से सन्तप्त पुरुषों के लिये भगवान् वासुदेव की लीला कथा रूपी रस के अतिरिक्त दूसरी कोई रामबाण औषधि है ही नहीं। सो उस रस का तो मैंने तुम्हें आकण्ठ पान करा ही दिया है। संसार सागर उन्हीं के लिये दुस्तर है जिनके पास दृढ़तर पोत न हो। जिन के पास कथा कीर्तन रूप पोत है वे तो सुगमता से इस संसार सागर को तर जायँगे। इसलिये राजन्! भगवान् की कथाओं को भागवत चरितों को सभी लोगों को श्रद्धापूर्वक श्रवण करना चाहिये। इनके अतिरिक्त संसार को पार करने का कोई अन्य उपाय है ही नहीं। भागवती कथा बड़े भाग्य से प्राप्त होती है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! यह कथा आप को किनसे प्राप्त हुई?"

इस पर मेरे गुरुदेव बोले—"राजन्! मैं इस कथा की परम्परा पीछे आपको बता चुका हूँ, फिर भी उपसंहार में बताये देता हूँ। समस्त ज्ञान के भंडार भगवान् नारायण ही हैं। उनके

उच्छ्वासका ही नाम वेद है। सदा घूमते रहने वाले एक स्थान पर स्थिर होकर न बैठने वाले मन के प्रतीक श्री नारद जी को समस्त ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा रहती है। नारद जी ने पहिले ब्रह्मा जी से भागवत ज्ञान प्राप्त किया। किसी कल्प में वे घूमते घामते बदरिकाश्रम में गये। वहाँ नारायण ऋषि तपस्या कर रहे थे। नारदजी ने उनसे प्रार्थना की—"भगवन् ! मुझे भागवत ज्ञान दे दो।"

नारदजी की प्रार्थना से प्रभु परम प्रसन्न हुए और उन्हें इस भागवत पुराण संहिता को दिया। नारदजी घूमते घामते मेरे पिता के आश्रम के समीप चले गये। बदरिकाश्रम में ही तो मेरे पिता जी रहते थे। मेरे पिता भगवान् व्यास—की प्रार्थना पर नारद जी ने यह भागवत मेरे पिता को पढ़ायी। मेरे पिता ने इसका व्यास करके मुझ को पढ़ाया। मैंने आप को सुनायी और आप के साथ ही साथ (मेरी ओर संकेत करके बोले) इस सूत लोमहर्षण पुत्र उग्रश्रवा ने सुनी है यह इस वेदानुकूल संहिता को नैमिषारण्य में जाकर शौनकादि अट्ठासी सहस्र मुनियों को—जो नैमिषारण्य-क्षेत्र में रह कर दीर्घकालीन तप कर रहे हैं उनको—सुनावेगा। शौनकादि मुनि इससे भागवत का प्रश्न करेंगे, तब जैसी इसने मेरे मुख से सुनी है वैसी ही सब महर्षियों को सुनावेगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! मेरे गुरुदेव ने तो महाराज परीक्षित् को कथा सुनाते ही समय संकेत कर दिया था, कि शौनकादि मुनि इस सूत से प्रश्न करेंगे। मैं आपके यज्ञ में आया। आपने मुझसे भागवत सम्बन्धी प्रश्न किये। उनका मैंने यथामति जैसा कुछ मुझसे बना आपके प्रश्नों का उत्तर दे दिया। भूल होना मनुष्य से स्वाभाविक है। मुझसे भी भूल हुई होगी। मैं अपने सर्वज्ञ गुरुदेव के वचनों का यथावत व्याख्यान कर सका

हूँगा, किन्तु महर्षियो ! आप सब भी तो सर्वज्ञ हैं आप अपनी सर्वज्ञता से उसे सुधार लें ।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ शौनक जी ने कहा—"अजी, सूतजी ! यह क्या ? आपने तो क्षमा प्रार्थना करके कथा उपसंहार ही कर दिया महाभाग ! हमारी कथा से तृप्ति नहीं हुई हमें और भी कथा सुनाइये ।"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! आप की भागवत की कथाओं से कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती। होनी भी न चाहिये, किन्तु मुझे आपकी सेवा करते करते इस एक ही परमपावन क्षेत्र में बहुत दिवस हो गये अब कुछ अन्य पुण्य क्षेत्रों में भगवतधामों में घूम फिर आऊँ। फिर आप जैसी आज्ञा करेंगे वैसा करूँगा, फिर कथा सुनाऊँगा ।"

शौनक जी ने कहा—"अजी सूतजी ! अभी तो हमें स्तुतियाँ सुननी हैं, स्तोत्र, कवच, सृष्टि रहस्य, कर्म रहस्य, दार्शनिक विवेचन, योग, कर्म भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, जीव, जगत् तथा अन्यान्य विषयों के गूढ प्रश्न करने हैं, इन सबको हमें समझावें।

सूतजी ने कहा—"अजी, महाराज ! आप को क्या समझाना आप तो समझे समझाये बैठे हैं, लोक कल्याण के निमित्त आप मेरे मुख से स्वयं ही ज्ञान देकर कहाते हैं और स्वयं श्रोता बनकर सुनाते हैं । भगवन् ! मन एक स्थान पर अधिक रहते रहते ऊब जाता है इसलिये इसे इधर उधर पुण्य क्षेत्रों में दौडाकर थका लेना चाहिये । फिर बाह्यवृत्ति से क्लेश होगा सत्संग की इच्छा तीव्र होगी, तब पुनः आपके श्री चरणों में आकर कथा वार्ता में कालक्षेप करूँगा। आपका श्रवण मेरे कल्याण के ही निमित्त है ।"

शौनक जी ने कहा—"अच्छा इस कथा प्रसङ्ग को तो पूरा करो। महाराज परीक्षित् को सबसे अन्त में भगवान् शुक ने

क्या उपदेश दिया। सातवें दिन तक्षक ने आकर राजा को काटा या नहीं। यह कथा तो आवश्यक है। इसे सुनने को हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं आपके इन ही प्रश्नों का उत्तर दूँगा। सब से अन्त में मेरे गुरुदेव ने राजा परीक्षित् को परमार्थ का उपदेश दिया। उसी को अब मैं कहता हूँ। यही भागवतरूपी दुग्ध का मक्खन है। इसे आप सब स्थिर चित्त से बड़े मनोयोग के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

आत्यंतिक इक प्रलय मोक्षहू जाकूँ भाखैं।
ज्ञानी निज पर भेद आतमामें नहिं राखैं॥
होहि ज्ञान परिपूर्ण द्वैत सबरो नसि जावै।
जगको पुनि अस्तित्व रहै नहिँ ब्रह्म लखावै॥
छिन छिन पल पल में सकल, जग पदार्थ बदलत रहत।
जग प्रवाह लौ दीपसम, नित्य प्रबल ताकूँ कहत॥

—:※:—

परमार्थ विवेचन

(१३५२)

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशु बुद्धिमिमां जहि ।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्व न नङ्क्षयसि ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ५ अ० २ श्लो०)

छप्पय

इतनी कथा सुनाइ कहें शुक नृप तैं मुनिवर ।
कह्यो भागवत धर्म, मोक्षप्रद नृपवर सुखकर ॥
'अहि काटै मरि जाउँ, भूप ! जा भयकूँ त्यागौ ।
मोह नींदकूँ त्यागि ज्ञान बेला में जागौ ॥
अमर अजनमा आतमा, अजर एकरस नित रहत ।
देह देह तें प्रकट ह्वै मरत जियत जन्मत रहत ॥

जल तो शुद्ध है तृप्ति कारक है, तृषा नाशक है अधिक क्या कहें प्राणियों का जीवन ही है, किन्तु यदि उसमें भाँग मिल जाय, तो वही स्वरूप विस्मृति का कारण हो जाता है। उसे पान करके

---

* श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित्से कह रहे हैं—"राजन् ! तुम इस पशुबुद्धिको त्याग दो कि "मैं मर जाऊँगा ।" देह पहिले नहीं होती फिर उत्पन्न होती है इसीलिये नाश भी हो जाती है, तुम तो पहिले भी थे अब भी हो इसीलिये तुम नाश को भी प्राप्त न होगे ।"

पुरुष मोहान्ध बन जाता है। इसी प्रकार आत्मा तो नित्य शुद्ध परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप है। वही आत्म मायानिर्मित मन के संसर्ग से अनेक योनि में अपने को जन्मता मरता-सा अनुभव करता है। जो आत्माके और मायाके यथार्थ तत्वको जान लेता है, वह फिर संसारी बन्धनों में नहीं फँसता, वह तो स्व-स्वरूपमें स्थित रह कर परमानन्दका नित्य अनुभव करता रहता है।

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! चार प्रकार की प्रलय वर्षा का वर्णन करके मेरे गुरुदेव भगवान् शुक राजा परीक्षित से कहने लगे—"राजन्! मैंने जो आप को यह श्रीमद् भागवत सुनायी है, इसमें सर्वत्र, सब स्थानों में बारम्बार सर्वात्मा श्रीहरि का ही वर्णन किया जाता है। भागवत शास्त्रका अर्थ ही यह है कि भगवत् सम्बन्धी चर्चा हो। भगवत् सम्बन्धी जो भी वस्तुएँ हैं, भगवान् को जो भी अपना सर्वस्व समझते हैं, वे सभी भागवत कहलाते हैं। भागवत कहो, वैष्णव कहो, तदीय कहो सब एक ही बात है। यह सम्पूर्ण विश्व वैष्णव ही है, क्योंकि विष्णु के बिना किसी की सत्ता ही नहीं। उन्हीं विश्वात्मा विष्णु की रजोवृत्ति रूप प्रसन्नता से कमलासन भगवान् ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है और उन्हीं के तमोमय क्रोध से प्रलयकर्ता भगवान् रुद्र का प्रादुर्भाव होता है। मूल में वे एक ही विश्वात्मा विभु हैं।"

राजाने पूछा—तो प्रभो! अब मुझे क्या करना चाहिए।"

श्री शुक बोले—"राजन्! सर्व प्रथम तो तुम्हें चाहिये, कि मृत्यु का भय त्याग दो। मैं मर जाऊँगा, इस बात को सोचो ही मत।"

राजा ने कहा—'भगवन्! जो अवश्यम्भावी है, उसे कैसे भुलाया जा सकता है? जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा भी अवश्य। मेरे पिता, पितामह प्रपितामह, वृद्ध प्रपितामह उनके भी पिता प्रपिता आदि सभी जन्मे और सभी की मृत्यु हुई इसी प्रकार मेरी भी मृत्यु होगी।"

अपनी बात पर बल देते हुए श्री शुक बोले—"राजन्! यही तो समझने की बात है। आप सावधान होकर विचार करें उत्पन्न कौन होता है। एक बट का बीज है, उससे अङ्कुर उत्पन्न हुआ अंकुर से फिर वृक्ष और वृक्ष से फिर बीज हो गया। बीज से फिर अङ्कुर इसप्रकार माता पिताके रज वीर्यसे शरीर उत्पन्न हुआ उस शरीर से और शरीर उत्पन्न हुए। शरीरसे तो शरीर की ही उत्पत्ति होती है। आत्मा तो अजर अमर अजन्मा और नित्य है उसमें तो जन्म और मरण सम्भव ही नहीं। तुम्हारा देह पहिले नहीं था तुम्हारे माता पिता के रजवीर्य से उत्पन्न हुआ। यह नष्ट हो सकता है। तुम तो इस शरीरके उत्पन्न होनेसे पूर्व ही आत्मरूप से अवस्थित थे और इस शरीर के नाश होने पर भी जैसे के तैसे बने रहोगे। जो जन्मा है वह अवश्य ही मरेगा। जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश भी अवश्यम्भावी है। देह तो मरणशील है ही। उसके लिये तुम्हें सोच करने की क्या आवश्यकता है। तुम देह तो हो नहीं आत्मा हो। अतः तुम नाश को भी प्राप्त न होगे।"

राजा ने कहा—"महाराज! सब लोग तो शरीर को ही आत्मा कहते हैं। अहं के माने लोग शरीर ही समझते हैं?"

बात पर बल देते हुए श्री शुक बोले—"राजन्! जो ऐसा समझते हैं, वे पशु हैं। पशु ही शरीरको आत्मा समझते हैं। नहीं तो शरीर से आत्मा सर्वथा पृथक है।"

राजा ने पूछा—कैसे पृथक है भगवन्। इसे तनिक खुलासा करके मुझे समझा दें।"

श्री शुक बोले—"राजन्। यह विषय तो तनिक सूक्ष्म है। इसे ध्यान पूर्वक समझो। सूखे सूखे काष्ठ हैं अग्नि जलने से वे जल रहे है। सर्व साधारण लोग कहते हैं अग्नि जल रही है, एक

काष्ठ में अग्नि व्याप्त है। लोग उसी को अग्नि कहते हैं। वास्तव में काष्ठ में अग्नि व्याप्त है काष्ठ अग्नि नहीं है, वह तो काष्ठ से सर्वथा पृथक है। एक लोहे का गोला है। अग्नि मेंदेने से वह लाल हो गया है अग्नि के वर्ण का हो गया है, किन्तु वह अग्नि नहीं है, लोहा भिन्न है। कोयले को जला दिया अग्नि लगने से वह लाल हो गया। कोई कहता है अग्नि दे दो, तो लोग उस कोयले को उठा कर दे देते हैं। वास्तवमें वह कोयला अग्नि नहीं है, अग्नि उसमें व्याप्त है। इसी प्रकार शरीर भिन्न है आत्मा भिन्न है। शरीर जन्मता और मरता रहता है, आत्मा का तो न जन्म है न मरण है। तुम शरीर नहीं आत्मा हो। दृष्य नहीं दृष्टा हो। शरीर के नष्ट होने पर भी तुम नष्ट न होगे।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! शरीर के मरने पर आत्मा की मृत्यु नहीं होती इसमें क्या प्रमाण है?"

हँस कर श्री शुक बोले—"राजन्! प्रत्यक्ष में प्रमाण की क्या आवश्यकता है। किसी आदमी की अँगरखी है, अँगरखी फटने पर वह आदमी तो नहीं फट जाता। किसी आदमी का घर है, घर के नष्ट होने पर घर वाला तो नष्ट नहीं होता, वह दूसरा घर बना लेता है, इसी प्रकार शरीरों के नष्ट होने पर उसका अभिमानी आत्मा तो नष्ट नहीं होता। दृष्टा कभी दृष्य नहीं होता। दीपक के प्रकाश में तुम चाहें पाप करो या पुण्य दीपक तुम्हें प्रकाश देता रहेगा। पाप पुण्य उसको स्पर्श न करेगा। दोष तो कर्ता को लगता है दृष्टा तो साक्षी मात्र है। स्वप्न में हम देखते हैं हमारा सिर कट गया है। यदि सिर ही दृष्टा होता तो कटते हुए सिर को वह कैसे देख सकता था। इससे सिद्ध होता है देखने वाला साक्षी दूसरा है, कटने वाला अङ्ग उससे सर्वथा पृथक है। जैसे स्वप्न का अभिमानी स्वप्न में सिर काटना आदि देखता है उसी प्रकार जाग्रत में भी रुग्णता, मृत्यु आदिको देखता है। व्यवहार

में भी कहते हैं—"मेरे शरीर में पीड़ा है। मेरा पैर दुखता है, मेरी आँखे दुखने आगयीं। आज मेरा मन ठीक नहीं। मेरी बुद्धि उस समय बिगड़ गयी थी। इनसे भी यही सिद्ध होता है, कि शरीर, हाथ पैर, नाक, कान, मन तथा बुद्धि इनको मेरा कहने वाला इनसे पृथक है। देह आत्मा नहीं है। शरीरादि उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं आत्मा अजन्मा तथा अमर है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! आत्मा भले ही अजन्मा अमर हो, किन्तु जीव तो जन्म लेता है और मरता भी है।

इस पर मेरे गुरुदेव भगवान् शुकने कहा—'राजन्! इस प्रश्न का तो मैं कई बार उत्तर दे चुका हूँ। इन भूत, इन्द्रिय, प्राण तथा मन आदि के अभिमानी का नाम जीव है। वह जीव आत्मा से भिन्न नहीं देह की उपाधि से अज्ञान वश भिन्न सा प्रतीत होता है। जैसे घड़े की उपाधि से घटाकाश को महाकाशसे पृथक समझते हैं। जहाँ घडा फूटा उसकी उपाधि की परिधि समाप्त हुई तहाँ घटा काश महा काश में मिल गया। मिला तो पहिले ही से था, बीच में व्यवधान था इसी प्रकार अज्ञान निवृत्त होने पर देह के नष्ट होने पर जीव फिर ब्रह्मरूप को प्राप्त हो जाता है।"

राजा ने पूछा—"फिर यह जीवात्मा देह को प्राप्त क्यों होता है? जब यह अनादि नित्य तथा शाश्वत है, तो नाशवान् अशाश्वत शरीरों में भोगों को क्यों भोगता है?"

भगवान् शुक बोले—"राजन्! यह सब माया के कार्य है। माया के वश होकर जीव जगत् की नाना योनियो में भटकता रहता है। आत्मा के लिये मन ही देह बनाता है, वही सत्व, रज तथा तम इन गुणो की तथा कर्मों की रचना करता है।"

राज ने पूछा—"यह मन जड़ है या चैतन्य? श्री शुक बोले—"चैतन्य स्वरूप तो एक आत्मा है मन तो जड है।"

राजा ने कहा—"जड मन गुण और कर्मों की रचना कैसे

करता है? जड़ तो स्वयं कोई कार्य कर नहीं सकता?

श्री शुक बोले—"राजन्! जड़ स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकत। किन्तु चैतन्य का संसर्ग पाकर तो जड़ ही कार्य करते हैं। वाष्प के जड़ यन्त्र स्वयं कार्य नहीं कर सकते किन्तु चैतन्य का संसर्ग पाकर वे समस्त कार्यों को करते रहते हैं। जैसे नख तथा बाल जड़ हैं, किन्तु जब तक जीवित शरीर से उनका सम्बन्ध है तब तक चैतन्य के सदृश बढ़ते हैं और चैतन्य से ही दीखते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा के संसर्ग से मन ही देहों की रचना करता है वही बन्धन तथा मोक्ष का कारण होता है।"

राजा ने पूछा—"मन को कौन बनाता है? प्रभो!

शुक बोले—"राजन्! मन को तो माया ही बनाती है। चैतन्य आत्मा का सान्निध्य पाकर यह माया ही सब गोरख धन्धे करती है। मायारूप उपाधि के कारण ही जीव को जन्म मरण रूप इस संसार की प्राप्ति होती है।

राजा ने कहा—"तब तो संसार की कभी निवृत्ति ही न होगी। संसार ऐसा ही सदा बना रहेगा।

श्री शुक बोले—"संसार की स्थिति तो अज्ञान से है। अज्ञान निवृत्तहोते ही संसार निवृत्त हो जायगा। यह सब खेल समाप्त हो जायगा। एक अद्वय आत्मा ही आत्मा अवशेष रह जायगा।"

राजा ने पूछा—"भगवन् संसार और आत्मा को हम पृथक पृथक तो देखते नहीं। वे दोनों तो परस्पर में घुल मिल गये हैं। यदि संसार नष्ट हो जायगा तो फिर आत्मा का भी नाश हो जाना चाहिये?"

कुछ कड़े स्वर में श्री शुक बोले—"राजन्! तुम इतनी कथा सुनकर भी बच्चों के से प्रश्न करते हो? मैं बार बार तो कह चुका हूँ, किआत्मा तो अविनाशी है उसका नाश कैसे होगा, जलती अग्नि पर जल डाल दो तो सर्व व्यापक अग्नि नष्ट थोड़े ही हो

गयी। उस लकडी की अग्नि महा अग्नि में विलीन हो गयी। घडा फोड देने से आकाश थोडे ही फूट गया। अच्छा, जैसे दीपक है। उसमें मुख्य वस्तु क्या है ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! दीपक में मुख्य वस्तु है प्रकाश "।

श्री शुक ने कहा—' तो क्या प्रकाश ही दीपक है ?"

राजा ने कहा—"नहीं, महाराज, प्रकाश तो दीपक नहीं है, किन्तु दीपक में से प्रकाश फैलता है ?

श्री शुक बोले—"तो इस से तो यही सिद्ध हुआ न कि दीपक पृथक है प्रकाश पृथक है।"

कुछ सोच कर राजा बोले—"अब महाराज, पृथक भी कैसे कहें ?"

श्री शुक बोले—"अच्छा, पहिले दीपक को ही समझो दीपक क्या है। काई मिट्टी का या पीतल शीशा आदि धातु का पात्र है, उस मे बत्ती डाल दी, स्निग्धता में उस बत्ती को भिगो दिया और उस स्निग्ध बत्ती का प्रकाश से सयोग हो गया। अब दीपक जलने लगा। दीपक निर्वात स्थान मे तब तक जलता रहेगा जब तक पात्र रहेगा स्निग्धता रहेगी। बत्ती रहेगी और उस बत्ती का अग्नि से सयोग रहेगा। चारों वस्तुओं में से एक भी न रहेगी तब दीपक में से प्रकाश न निकलेगा। पात्र के अभाव मे भी प्रकाश न होगा। बत्ती के बिना भी बुझ जायगा, तैल न रहेगा तो भी प्रकाश न देगा और अग्नि का ससर्ग न होने से भी अन्धकार दूर न करगा। इन चारा का जब तक सयोग रहेगा तब तक दीपक जलता रहेगा। जहाँ तेल समाप्त हुआ बत्ती जल गयी। दीपक बुझ गया। तेल, बत्ती, तथा पात्र ये भले ही नष्ट हो जाय किन्तु तेज का तो नाश नहीं होता। दीपक का तेज महा तेज में मिल जाता है। इसी प्रकार जीव का जीवत्व भी तभी तक रहता है जब तक इस त्रिगुणात्मक देह से सम्बन्ध है। रजोगुण का वृत्ति से उत्पन्न होता

है, सत्व गुण में स्थित रहता है तमोगुण की वृत्ति से नष्ट होता है। जब तक त्रिगुणात्मक जगत् है तब तक यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। अज्ञान नाश से यदि संसार का नाश हो जाय, तो स्वयं प्रकाश आत्मा तो ज्यों का त्यों बना रहता है। उसका नाश सम्भव नहीं।

राजा ने पूछा—"भगवन् आत्मा व्यक्त है या अव्यक्त ?"

श्री शुक इस प्रश्न को सुन कर हँसे और बोले—"राजन्! आत्मा तो अव्यक्त है। वह अवाङ मनस गोचर है उसे कोई भी इन्द्रिय किसी भी नाम से व्यक्त करने में समर्थ नहीं। यदि व्यक्त के विपरीत अव्यक्त मानों तो वास्तव में आत्मा न व्यक्त ही है न अव्यक्त ही। अर्थात् वह सभी प्रकार के द्वन्द्वों से रहित है, वाणी द्वारा उसकी अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। यदि हम कहें कि वह सगुण नहीं है, तो इससे सिद्ध हुआ निगुण होगा। किन्तु वास्तव में वह सगुण निर्गुण दोनों से परे है। उसके समीप तक जब वाणी और मन के पहुँच ही नहीं, तब कहा भी क्या जा सकता है। वह आकाश के समान सब का आधार है। आकाश न व्यक्त है न अव्यक्त किन्तु समस्त प्रपञ्च को अपने में धारण किये हुए है। उसका कोई रूप नहीं कोई आधार नहीं। सब का आधार वही है। वह कहीं चलता भी नहीं चले तो तब जब उससे आगे कुछ हो। वह तो सर्वत्रपरिपूर्ण है। सब की पराकाष्ठा है। जिससे आगे कोई मार्ग ही नहीं। समुद्र का भी कहीं पार है, किन्तु आकाश का कहीं पार नहीं दिखायी देता वह अपार है उसका अन्त नहीं इसलिये अनन्त है। इसी प्रकार आत्मा द्वन्द्वों से रहित समस्त प्राणियों का आधार, निश्चल और अनन्त है।"

यह सुन कर राजा परीक्षित् ने कहा—"तो मुझे एक बात बतादें अब मेरे शरीर का अन्त अत्यन्त ही निकट है। मुनि पुत्र

की नियत की हुई अवधि अब समाप्त ही होने वाली है, मैं अब क्या करूँ ?

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! मेरे गुरुदेव भगवान् शुक यह सुन कर कुछ देर मौन रहे, फिर राजा को जैसे सब से अन्तिम उपदेश दिया उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

माया मन रचि देह, करम, गुन मनहिं बनावै।
मायारूप उपाधि जीव जगमाहिं भ्रमावै॥
तैल, पात्र, अरु वर्ति अग्नि मिलि दीप कहावै।
इनि तै ह्वै कें भिन्न सर्वगत पुनि कहलावै॥
उतपति, थिति अरु प्रलय सब, तीनि गुननि को काज है।
रहै देह तब तक जगत, मोह नसें नसि जात है।

—::०::—

महाराज परीक्षित् को अन्तिम उपदेश

(१३५३)

एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवाभृश प्रभो ।
बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ५ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

ज्यों दीपक नसि जाइ तेज को नाश न होवै ।
त्यों सब जग नसि जाइ आत्मा सुखतैं सोवै ॥
नहीं व्यक्त अव्यक्त सकल आधार निरन्तर ।
आत्मा अखिल अनन्त अनामय अच्युत निर्जर ॥
अन्वय अरु व्यतिरेक तैं, द्रष्टा दृश्य विचार तैं ।
वासुदेव चिन्तन करो, हटो जगत् व्यवहार तैं ॥

बाह्य प्रपञ्च से हटकर मन जब अपने भीतर में ही सुख स्वरूप सत्य का अनुसन्धान करता है तब उसे यथार्थ ज्ञान होता है और उसी समय उसे परमार्थ की प्राप्ति होती है । सत् और असत्

---

* श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! तुम भगवान् वासुदेव का चिन्तन करते हुए द्रष्टा-दृश्य विषयक अन्वय व्यतिरेक के विचार से युक्त अपनी बुद्धि के द्वारा देहादि उपाधि में स्थित अपने आत्मा का स्वयं ही चिन्तन करो ।"

का कुछ ऐसा समिश्रण हो गया है, कि उसमे से असत् को छाँट देना सत् को प्राप्त कर लेना बडी युक्ति का काम है। लोग यथार्थ वस्तु को भूलकर आभास के पीछे पडे हैं। बिम्ब का अन्वेषण न करके प्रतिबिम्ब के ही पीछे पागल बने हुए हैं। इस विषय मे एक दृष्टान्त दिया करते हैं।

कोई एक राजा थे। उनकी एक अत्यंत ही प्यारी सुकुमारी रानी था। राजा अपनी रानी को अत्यधिक प्यार करते थे। रानी के पास एक अत्यन्त ही बहुमूल्य हार था। उसमे ऐसे ऐसे बहुमूल्य रत्न थे जो अन्यत्र कहीं मिलने अत्यन्त ही दुर्लभ थे। हार अद्वितीय था। उसके समान दूसरा हार मिलना अत्यन्त ही कठिन था। रानी उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करती।

एक दिन रानी उस हार को रखकर धूप में स्नान कर रही थी। उसी समय एक बडा भारी मोटा ताजा बन्दर आया और चमकीली वस्तु देखकर उस हार को उठा ले गया रानी बन्दर को देखकर बहुत डर गयी थी, उसके मुख से वाणी भी नहीं निकली। पीछे जब दासियो ने सुना तो हल्ला गुल्ला किया तब तक बन्दर उस हार को लेकर सघन वन मे चला गया। रानी का तो मानो सर्वस्व ही लुट गया। उसने अन्न जल छोड दिया। राजा ने जब यह समाचार सुना तो दौडे दौडे रानी के पास आये उसे भाँति भाँति से समझाया, उस से भी अच्छा हार बनवा देने का आश्वासन दिया, किन्तु वह असत्य आश्वासन था, उससे अच्छा तो क्या उसके समान भी हार बनना अत्यन्त कठिन था। रानी किसी प्रकार नहीं मानी। अब तो राजा को बडी चिन्ता हुई। उन्होने गाँव गाँव नगर नगर यह डोंढी पिटवा दी कि जो मेरी रानी के हार का पता लगा देगा उसे एक लक्ष सुवर्ण मुद्रायें पारितोषिक मे दी जायँगी।" लक्ष सुवर्ण मुद्राओ के लोभ से सहस्रो मनुष्य उसे खोजने लगे, किन्तु हार नही मिला नहीं मिला।

राजा को हार की उतनी चिन्ता नहीं थी, किन्तु रानी को दुखी देखकर वे अत्यन्त चिन्तित थे उन्होंने ढुँढ़वाने का और भी अधिक प्रयत्न किया। यह तो राजा रानी की बात हुई अब उस हार की बात भी सुनिये। बन्दर ने कोई खाने की वस्तु समझी। वन में ले जाकर एक पेड़ पर बैठ कर उसकी मणियों को दाँत से दबाया। उसका दाँत टूट गया, किन्तु मणि नहीं टूटी। जब बन्दर ने देखा यह खाने की वस्तु नहीं है, तो उसी पेड़ की डाली पर उसे लटका कर कहीं चला गया।

उस पेड़ के नीचे एक निर्मल नीर का सरोवर था। उस सरोवर में प्रतिबिम्ब पड़ने से वह हार सरोवर में दिखायी देता था। संयोग की बात उसी मार्ग से एक साधारण कर्मचारी हार को खोजता हुआ वहाँ आ निकला। उसने देखा तालाब में हार दिखायी दे रहा है। उसके रोम रोम खिल उठे। उसने सोचा—"आज हार लेकर जब मैं राजा के समीप जाऊँगा, तो राजा मुझ ार अत्यन्त प्रसन्न होंगे। एक लक्ष सुवर्ण मुद्रा तो देंगे ही और न जाने क्या दे दें। मेरे सात जन्म के दरिद्र कट जायँगे।" यही सब सोचकर अत्यन्त प्रसन्नता में भर कर वह जल में कूद पड़ा। कूदनेसे जल में हिलोरें आयीं कीच उठ आने से जल मैला भी हो गया। प्रतिबिम्ब दिखायी न देने लगा। उसने समझा हार जल में नीचे कीच में खो गया है। अब वह नीची दृष्टि करके उसे कीच में ढूँढ़ने लगा। यदि दृष्टि को ऊँची करके देखता तब तो उसे यथार्थ हार दिखायी दे जाता। उसने तो दृष्टि नीची कर रखी थी, हार पेड़ पर था वह कीच में उसका अन्वेषण कर रहा था। बहुत देर तक वह प्रयत्न करता रहा, किन्तु उसे हार मिला नहीं। निराश होकर किनारे पर आ गया। किनारे पर आते ही उसे फिर जल में हार दिखायी देने लगा। उसी समय १०, ५ मनुष्य और आ गये उन्होंने भी हार को निकालने का प्रयत्न किया सब व्यर्थ

हुआ। होते होते बात राजा तक पहुँची। वह भी सदल बल वहाँ आ गया। राजा भी जल में उतरा किन्तु हार नहीं मिला। सभी चिन्तित थे, कि उसी समय एक महात्मा वहाँ आ गये।

महात्मा ने पूछा—"भाई, तुम सब लोग इतने व्यग्र क्यों हो, किस वस्तु को खोज रहे हो।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मेरी रानी का हार खो गया है, वह जल में दिखायी तो देता है, मिल नहीं रहा है।"

यह सुन कर महात्मा हँसे और बोले—"राजन्! हार जल में नहीं है।"

महात्मा बोले—"राजन् जो दिखाई दे रहा है, यह यथार्थ हार नहीं है, यह तो हार का प्रतिबिम्ब है, तुम नीचे न देखकर ऊपर देखो। प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्ब को देखने का प्रयत्न करो। नीचे खोज न करके ऊपर को दृष्टि दौड़ाओ।"

महात्मा जी का उपदेश मानकर राजा ने नीचे से अपनी दृष्टि ऊपर की। उसे पेड़ की शाखा पर टँगा हार दिखायी दिया तुरन्त ऊपर चढ़कर हार को उतार लिया। उसे अपनी रानी को देकर सुखी और प्रसन्न हुआ।

यह तो हुआ दृष्टान्त अब इसका द्राष्टान्त भी सुन लीजिये। यह शरीर ही एक राज्य है। जीव ही उसका राजा है बुद्धि उसकी पत्नी है। आत्मा ही हार है। अज्ञान ही बन्दर है। अन्तःकरण ही सरोवर है। अज्ञानी जीव उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब देखते हैं, उसी को सत्य समझते हैं। निर्मल अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखायी भी देता है, वही जब पाप कर्म करते करते मलिन हो जाता है, तो वह भी दिखायी नहीं देता। गुरुदेव ही सन्त हैं, जब वे प्रतिबिम्ब के सहारे बिम्ब को लखा देते हैं, तो जीव कृतार्थ हो जाता है अपनी इष्ट वस्तु को पाकर सुखी बन

जाता है। जब तक अपर दिखायी देगा, ऊँची दृष्टि होते ही परा-वर का ज्ञान हो जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव भगवान् शुक राजा परीक्षित् को उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"राजन्! अन्तिम उप-देश यही है, कि तुम भगवान् वासुदेव का चिन्तन करो वे वासुदेव सर्वत्र बस रहे हैं। उनकी सुवास से ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सुवासित है। वासुदेव भगवान् के चिन्तन से ही तुम्हें सब कुछ प्राप्त हो जायगा।"

राजा ने पूछा—"कैसे चिन्तन करें भगवन्!"

मुनि बोले—"राजन्! गुड़ का स्वाद तो स्वयं खाने से पता चलेगा। यह नहीं है, कि देवदत्त गुड़ खाय और यज्ञदत्त को उसके स्वाद का पता चले। देहादि उपाधि में स्थित अपने आत्मा का स्वयं ही चिन्तन करें।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मनकी तो स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ही ओर है। मन तो विषयों का ही चिन्तन करता रहता है। उससे आत्म चिन्तन कैसे करें।"

श्री शुक बोले—"राजन्! मलिन मन ही विषयों का चिन्तन करता है, जब वह विशुद्ध बन जाता है, तो शुद्ध बुद्ध स्वरूप हो जाता है। विषय विचारिणी बुद्धि ही बन्धन कराती है। यदि वही द्रष्टा दृश्यविषयक विचार करने वाली बन जाय। अन्वय और व्यतिरेक से सूक्ष्म विषय को समझने लग जाय, अत्यन्त कुशाग्र हो जाय तो वह आत्मा को प्राप्त कराने में समर्थ हो सकती है। सत् और असत् में से असत् असत् को पृथक कर देना है। असत् को पृथक् करते करते जो शेष रह जाय वही सत्य है। इसी का नाम व्यतिरेक है। सब सत्य ही सत्य है असत्य कुछ है ही नहीं। असत् की प्रतीति हमें भ्रमवश हो रही है। सर्वत्र वही एक सच्चिदानन्द घन परिपूर्ण ब्रह्म ही ब्रह्म व्याप्त है।

इसी का नाम अन्वय है। जब तुम घडा सकोरा, नाद, हँडिया, परिया तथा अन्य सभी पात्रों मे मिट्टी ही मिट्टी देखोगे ऊपर की मिथ्या उपाधियो की ओर ध्यान ही न दोगे, तो घडे के फूट जाने पर तुम दुखी न होगे। घड़े के फूटने पर मिट्टी तो नहीं फूट गयी। घटा काश के नष्ट होने पर महाकाश तो नष्ट नहीं हो गया। इसी प्रकार जब तुम सर्वत्र आत्मा को ही देखोगे, तब तुम्हें तक्षक से क्या भय होगा। आज आप के सात दिन पूरे हो गये हैं। तपस्वी ब्राह्मण का वचन तो असत्य होवेगा नहीं। तक्षक तो आज अवश्य ही आवेगा। अच्छी बात है प्रसन्नता के साथ आवे आकर वह क्या करेगा शरीर को काटेगा। शरीर को काटता रहे। तुम शरीर तो हो नहीं। तुम तो आत्मा हो। आत्मा को दग्ध करने की सामर्थ्य एक तक्षक मे तो क्या करोडों तक्षकों में नहीं हो सकती। तक्षक नहीं तक्षक का बाप भी आ जाय, तो भी वह आपका बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

सन्निपात हो जाना, सर्प काट लेना, विष खा लेना तथा जल में डूब जाना आदि कार्य मृत्यु के कारण हैं इनसे मृत्यु हो सकती है, किन्तु मृत्यु को भी मृत्यु पद पर अभिषिक्त करने वाले परमात्मा का ये कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। परमात्मा तो मृत्यु के भी मृत्यु हैं। चूहिया बिलाड को कैसे मार सकती है। तुम मे और आत्मा मे कोई भेद भाव नहीं। तुम यह सोचो कि जो मैं हूँ वही परमपद रूप ब्रह्म है और जो परमपद रूप ब्रह्म है वही मैं हूँ। अपने को देह से सर्वथा पृथक् समझो। जिसने कपड़े को

मलिन और जर्जर समझकर शरीर से पृथक् कर दिया अब चाहे कोई उसके सामने ही उसके टुकड़े टुकड़े कर दे। चीर चीर फाड़ दे उसे कुछ भी दुख न होगा। इसी प्रकार जब तुम अपने शरीर से पृथक् अनुभव करके अपने आत्मा को निष्फल पर ब्रह्म परमात्मा में स्थित कर लोगे, तब तक्षक आकर तुम्हारे सामने तुम्हारे पैरों में आकर काटे, तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर को अपनी जिह्वा से चाटे तथा तुम्हें अपनी फुफकार से डाँटे तो भी तुम न तो अपने आत्मा से ही उसे पृथक् समझोगे। और न अपने शरीर को तथा विश्व को भी आत्मा से पृथक् मानोगे सर्वत्र तुम्हें परिपूर्ण ब्रह्म ही ब्रह्म दिखायी देगा। सर्वत्र ब्रह्म दर्शन ही होंगे। दशों दिशाओं में उन मुरली मनोहर की मुरली की ही मधुर ध्वनि सुनायी दे सर्व में उन्हीं का रूप दीखे इसी लिये मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् की कुछ लीलाओं का वर्णन किया। जैसे भगवान् अनन्त हैं वैसे ही उनकी लीला भी अनन्त है। परिपूर्ण की सभी बातें परिपूर्ण ही होती हैं। तुमने भगवान् की लीला से सम्बन्धित जो जो प्रश्न किये, जिन जिन अवतारों के सम्बन्ध में मुझ से पूछा उन सब प्रश्नों का मैंने यथा मति उत्तर दिया अब आप और क्या सुनना चाहते हैं। अब भी यदि कोई शङ्का शेष रह गई हो, तो उसे मुझसे पूछो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा परीक्षित् ने जब मेरे गुरु देव के मुख से इतने उदारता पूर्ण प्रेम में पगे हुये मधुर वचन सुने, तो उनका हृदय गद् गद् हो गया। नेत्रों से झर झर अश्रु प्रवाहित होने लगे। अत्यन्त आभार प्रदर्शित करते हुए जिस

प्रकार उन्होंने मेरे गुरुदेव की अभ्यर्चना की उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

आत्म चिन्तना करो अह सत चित्त कहलाऊँ।
परम धाम हौं ब्रह्म परमपद ब्रह्म कहाऊँ॥
परमात्मा में जबहिं आतमा कूँ तुम देखो।
फिरि तक्षक, जग, देह सकल आत्मा में पेखो॥
सात दिवस में यथा मति, भव भय हर सुखकर सुकर।
कही विष्णु गाथा कछुक, कहूँ कहा अब भूपवर॥

—::०::—

श्री शुक के प्रति राजा द्वारा कृतज्ञता प्रकाश

(१३५४)

एतन्निशम्य मुनिनाभिहितं परीक्षित्,
व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन।
तत्पादमूलमुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना
बद्धाञ्जलिस्तमिदमाह स विष्णुरातः॥*

(श्री० भा० १२ स्क० ६ अ० १ श्लो०)

छप्पय

श्री शुक को सुनि प्रश्न नयन नृप के भरि आये।
ह्वै कें अति ही दीन चरन कमलनि लिपटाये॥
पुनि पुनि करें प्रनाम न निकसे मुखतें बानी।
पुनि कछु धरि कें धीर कहें नृप सरल अमानी॥
प्रभो! कृतारथ ह्वै गयो, सुनि कें श्याम चरित्र कूँ।
जनम मरन को भय भग्यो, थापूँ हरि में चित्त कूँ॥

संसार में कोई किसी का कुछ भी कार्य कर देता है, तो करने वाले के प्रति पुरुष कृतज्ञता प्रकट करते हैं। वास्तव में प्रवृत्ति साधारणतया स्वार्थ परक है। सभी अपना स्वार्थ सिद्ध करना

*श्री सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब श्री शुकदेवजी ने राजा परीक्षित् 'और क्या सुनना चाहते हो, यह प्रश्न किया तो उन समदर्शी व्यास नन्दन के इस कथन को सुन कर राजा ने उनके चरण कमलों में सिर से प्रणाम किया और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर कहने लगे।"

चाहते हैं। दूसरो की हानि भले ही हो जाय, अपना कार्य हो जाय। लोगों की बुद्धि देह गेह कुटुम्ब परिवार तक ही सीमित है। जो इससे आगे बढ जाते हैं, वे परमार्थी कह लाते हैं। बहुत से परमार्थ के नाम पर भी स्वार्थ का ही साधन करते हैं, वे परमार्थ भी करते हैं, तो कुछ न कुछ स्वार्थ सम्मुख रख कर ही करते हैं। जो निस्वार्थ भाव से बिना किसी फल की इच्छा के—करुणा के वशीभूत होकर प्राणियों का भला करते हैं, स्वय कष्ट सह कर दूसरो क कष्टो को हरते हैं। वे ही महा पुरुष हैं। उनमे भी जो जन्म मरण के दु:ख को सदा के लिये मेट देते है। जो परमार्थ के पथ को परिष्कृत करके मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं। भगवत् लोक तक पहुँचाते हैं, उन सद्गुरु के प्रति जितनी भी कृतज्ञता प्रकाशित की जावे उतनी ही थोडी है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव साक्षात् पर ब्रह्म स्वरूप ही हैं। वे सम्पूर्ण चराचर मे अपना ही स्वरूप समझते हैं। उनकी दृष्टि में विषमता नहीं। वे सदा ब्रह्मभाव मे भावित रहते हैं। उनके लिये कोई बडा नही, छोटा नही, ऊँच नहीं नीच नहीं। उन्हीं समदर्शी श्री शुक ने जब राजा से यह प्रश्न किया, कि अब तुम और क्या सुनना चाहते हो, तो इस प्रश्न को सुनते ही राजा रो पडे। उनका सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो गया। कृतज्ञता के भार से वे दब से गये। गुरुदेव के अरुण मृदुल चरणारविन्दो मे उन्होंने अपना मस्तक रख दिया। अश्रुओं से उनके पाद पद्मों मे अर्घ्य देते हुए गद्गद् कण्ठ से कहने लगे—"प्रभो! अब पूछने को कुछ भी अवशेष नहीं रहा। मुझे जो पूछना था सब पूछ चुका। मेरा समस्त शकाओ का समाधान हो गया। ससार मे श्रवणीय एक ही पदार्थ है श्री भगवान् का चारु चरित। उसका न आदि है न अन्त है, वह अनादि अनन्त एक रस और नित्य है। उस भगवत् चरित को आपने करुणार्द्र चित्त होकर अपनी

अहैतुकी कृपा से मुझे सुना दिया। मेरी इतनी शक्ति कहाँ थी, जो मैं आपके मुख से इस भागवत चरित को सुनता। आप तो गो दोहन समय तक भी कहीं कठिनता से ठहरते हैं आपकी गति भी अलक्षित है, कोई अपने पुरुषार्थ से आपको ढूँढ़ना चाहे, तो नहीं ढूँढ़ सकता। आपने अपने आप ही अनुग्रह करके इस अधम को दर्शन दिये और दिव्याति दिव्य ज्ञान का उपदेश दिया। आपके मुखारविन्द से निस्सृत ज्ञानामृत को पान करके कृत कृत्य हो चुका। आपके अनुग्रह के लिये मैं अत्यन्त ही आभारी हूँ। जैसे पापियों का पाप करना सहज स्वभाव है उसी प्रकार महा पुरुषों का भी दया करना सहज स्वभाव ही है दीन दुखियों को दुखी देख कर वे दया किये बिना रह ही नहीं सकते। ये संसारी प्राणी दैहिक दैविक और भौतिक (आधि भौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) तापों से सदा संतप्त बने रहते हैं। ऐसे महानुभाव स्वभावतः ही अनुग्रह किया करते हैं। इसमें कुछ विशेषता नहीं। कोई आश्चर्य की बात नहीं।"

श्री शुक बोले—"राजन्! शिष्टाचार करने का अब समय नहीं। आप यह बताओ, कि मैंने जो तुम्हें कुछ सुनाया, उसे तुमने ध्यान पूर्वक तो सुना है न?"

राजा ने श्रद्धा सहित दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे हुए विनीत भाव से कहा--"ब्रह्मन्! यह सात्वत संहिता श्रीमद्भागवत महा पुराण की कमनीय कथा--मैंने आपके मुखारविन्द से भली भाँति सुनी और सुन कर मेरा रोम रोम प्रफुल्लित हो गया, मैं कृत कृत्य हो गया। पुराण तो मैंने और भी बहुत सुने थे, किन्तु इसके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, यह तो स्वादु स्वादु पदे पदे—पद पद पर पुण्य प्रद है, इसका तो अक्षर अक्षर सुख कर है।'

श्री शुक ने पूछा—"राजन्! इसमें ऐसी अन्य पुराणों से विशेषता आप ने क्या अनुभव की?"

राजा परीक्षित बोले—'प्रभो ! संसार को सभी शास्त्रकारों ने असार बताया है, इस असार संसार मे यदि कुछ सार है तो उन उत्तम लोक श्री हरि के नामों का कीर्तन करना, उनके दिव्याति दिव्य मधुराति मधुर लीला चरितों का श्रवण और उनके त्रैलोक्य पावन रूप का ध्यान करना यही सब का श्रेष्ठ सार है। इन्हीं का बारम्बार इसमें वर्णन किया गया है। इस सम्पूर्ण संहिता मे भगवत् महिमा के अतिरिक्त दूसरी कोई बात ही नहीं। बार बार हेर फेर कर वही कृष्ण कथा वही अवतार चरित कोई प्रसंग ऐसा नहीं जो इधर उधर की बातों का हो। प्रथम स्कन्ध में भगवत् भक्ति का माहात्म्य वर्णन करके संक्षेप में अवतार चरित्रों का ही वर्णन है फिर भगवान् के अवतार नारद जी का चरित्र है। उन्होंने अपने मुख से भगवदावतार व्यास जी से कहा है। फिर भगवान् ने जिस प्रकार पाडवों पर कृपा की। गर्भस्थ तुम को बचाया है उसका वर्णन है फिर तुम्हारा मेरा मिलन कथारम्भ है।'

द्वितीय स्कन्ध मे ध्यान धारणा भगवत् लीला तथा भगवत् सम्बन्धी प्रश्न और भागवत के दश लक्षण हैं। तृतीय स्कन्ध में आरम्भ में ही उद्धव जी ने विदुर को भगवान् के चरित्रों को सुनाया। फिर विदुर और मैत्रेय सम्वाद तो भगवत् लीलाओं के सम्बन्ध मे है। सृष्टि का विस्तार वराह चरित तथा कपिलावतार चरित है। चतुर्थ स्कन्ध में ध्रुवनारायण चरित तथा पृथु-अवतार चरित है। पचम स्कन्ध मे ऋषभावतार चरित द्वीप और खण्डों के भिन्न भिन्न अवतारों का चरित है। षष्ठ स्कन्ध में भगवन्नाम महात्म्य हस गुह्य स्तोत्र और नारायण कवच की ही महिमा है। सकर्षणावतार भगवान् की महिमा और ऐश्वर्य का वर्णन है। सप्तम स्कन्ध सम्पूर्ण में नृसिंह चरित तथा धर्म का वर्णन है। अष्टम स्कन्ध मे ग्राह से गज को बचाने वाले हरि भगवान् का चरित, अजित, मोहिनी, कच्छप धन्वन्तरि तथा मन्वन्तर के

अवतारों का तथा भगवान् के वामनावतार का वर्णन है। नवम में श्री राम चरित तथा श्री कृष्ण चरित की भूमिका के लिये अनेक भगवन् भक्त राजाओं का वर्णन है। दशम एकादश और द्वादश इन तीनों में विशुद्ध श्री कृष्ण चरित का ही वर्णन है। आगे बुद्ध कल्कि इन अवतारों का भी वर्णन है। एक अक्षर भी। तो ऐसा नहीं। जो भगवान् और भागवतों के उद्देश्य से न कहा गया हो। एक ही भाँति का पुनः पुनः पिष्ट पेषण किया गया है। जैसे एक ही व्यक्ति के भिन्न भिन्न वेष भूषा तथा चेष्टा के भिन्न भिन्न चित्र हों। एक ही खोआ की भिन्न भिन्न मिठाइयाँ बनायीं हो एक ही चीनी के भिन्न भिन्न खिलौनें बनाये गये हों। एक ही कागद के भिन्न भिन्न फूल बनाये गये हों, एक ही गंगा जल को भिन्न भिन्न रंग के काँच पात्रों में रख दिया हो इसी प्रकार एक ही अवतार कथा को भिन्न भिन्न प्रकार से इसमें कहा गया है। अब मेरा मृत्यु का भय छूट गया।"

श्री शुक ने पूछा—"राजन्! अवतार चरितों को सुन कर मृत्यु का भय तुम्हारा क्यों छूट गया?"

राजा ने कहा—"भगवन्! कोई हाथी है उसे चारों ओर से दावानल ने घेर लिया हो, तो उसे भय होना स्वाभाविक ही है, किन्तु यदि उसे कोई कृपालु गंगाजी धारा दिखा दे, तो उसे पाकर वह निर्भय हो जाता है, उसमें प्रविष्ट होकर वह ताप से मुक्त हो जाता है। कोई जाड़े के दिनों में वायु और वर्षा से ठिठुर रहा है यदि कोई दयावान् उसे सुरक्षित घर और जलती हुई अग्नि दिखा देता है, तो उस सुरक्षित घर को पाकर वह सरदी से छूट जाता है, जिस प्रकार कोई प्रबल धारा में बह रहा हो उसी समय कोई नौका लेकर उसे चढ़ा ले तो वह अपने को सुरक्षित समझता है उसी प्रकार आपने भी मुझे निश्चय पूर्वक निर्भय स्थान दिखा दिया है। अब तो भगवन्! मैं आपकी कृपा से ब्रह्म निर्वाण में

प्रविष्ट हो गया हूँ। अब मुझे किसका भय, अब तो मैं सर्वथा निर्भय हो गया हूँ।"

श्री शुक ने पूछा—"राजन्! फिर भी शरीर को आकर तो तक्षक काटेगा ही।"

दृढता के साथ राजा ने कहा—"महाराज! काटेगा तो काटे। मैं कुछ शरीर तो हूँ ही नहीं। जब मैंने मृत्यु के भी मृत्यु का आश्रय ग्रहण कर लिया, तो फिर मुझे मृत्यु से क्या भय? जिसने राजा का कृपा प्रसाद प्राप्त कर लिया उसे फिर उसके सेवकों से क्या भय?"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् शुक बोले—"धन्य है राजन्! आपको और आपकी विशाल धारणा को। आपने ही मेरी शिक्षा का यथार्थ सार समझा है। तुम्हे कथा सुनाकर मैं भी कृतार्थ हो गया। तुम मुझे सर्व श्रेष्ठ परम उपयुक्त श्रोता मिले अब तुम क्या चाहते हो?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! अब तो सुनने योग्य जो कुछ था, सब सुन लिया। अब तो आप मुझे ऐसी आज्ञा दें, कि भगवन्नामों के अतिरिक्त अब मैं कुछ भी न बोलूँ। वाणी का संयम करके मौन धारण कर लूँ और समस्त कामनाओं से रहित हुए अपने इस विशुद्ध चित्त को भगवान् वासुदेव मे लगाकर तब अपने इस नश्वर पाञ्च भौतिक शरीर का सहज में ही त्याग कर दूँ। भगवन्! किन शब्दों मे आपकी स्तुति करूँ, क्या कह कर कृतज्ञता प्रकट करूँ, कैसे मैं आभार जताऊँ, कैसे मैं विनती करूँ आपने अमल

विमल भगवत् चरित सुनकर ज्ञान विज्ञान में मेरी स्थिति करा दी। मेरे अज्ञानान्धकार को दूर करके ज्ञान का आलोक दिखा

दिया। मेरे सभी संशयों का जड़ से उच्छेदन कर दिया, भगवान् का अत्यन्त मङ्गलमय कल्याणकारी मुक्ति दाता स्वरूप दिखा दिया। अब तो कहने सुनने को कुछ भी अवशेष नहीं रहा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब मेरे गुरु देव भगवान् शुक ने राजा की यह बात सुनी तो वे परम प्रमुदित हुए। राजा को कृतार्थ समझ कर अब वे जाने को उद्यत हुए। जैसे राजा के द्वारा पूजित होकर मेरे गुरुदेव प्रस्थान करेंगे और राजा मौन धारण करके तक्षक की प्रतीक्षा करेंगे उस प्रसङ्ग को मैं आगे

कहूँगा। मुनियो! आपने बड़े धैर्य से कथा सुनी। अब तो कर कॉटे पर कथा आ गयी। अब तो समाप्त होने वाली है। आगे के प्रसङ्ग को और भी समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

तव मुख निस्सृत श्याम चरित अति मधुमय लाग्यो।
श्रवन पुटनि करि पान शोक भय मम भाग्यो॥
पाइ ब्रह्म निरबान भयो हौं देव कृतारथ।
भयो दूर अज्ञान लह्यो अब ज्ञान यथारथ॥
आयसु देवैं दयानिधि, करूँ मौन धारन अबहिँ।
सुनि शुक अति हर्षित भये, गिरे सुमन नभ तें तबहिँ॥

—:०:—

श्री शुकगमन तक्षकागमन

(१३५५)

तक्षकः प्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना ।
हन्तु कामो नृपं गच्छन् ददर्श पथि कश्यपम् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ६ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

शुक की पूजा करी सविधि नृप विह्वल ह्वै कें।
मुनिनि संग शुक गये नृपति कूँ आशिष दै कें ॥
बैठे : कुशा बिछाय विचारें तक्षक आवै।
आत्मा तो है नित्य देह कूँ कोई खावै ॥
इत शृंगी : ऋषि शाप तैं, सर्प नृपहिँ डवेसिवे चल्यो।
विप हारी कश्यप गुनी, तक्षक कूँ मग में मिल्यो ॥

भावी होकर ही रहती है, उसे कोई मेंट नहीं सकता। ज्ञान हो जाने पर उसकी प्रतीति नहीं होती। दुख सुख में समता हो जाती है। दुख को दुख समझना और सुख को सुख समझना यही

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा परीक्षित् को मारने के लिये कुपित मुनिकुमार शृंगी द्वारा प्रेरित तक्षक नाग चला, तो उसने मार्ग में कश्यप नामक ब्राह्मण को देखा।"

अज्ञान है। जब दुख सुख दोनों ही एक से प्रतीत होने लगे। जन्म मृत्यु मे कोई भेद ही न रहे तो फिर जीवन हो या मरण हानि हो या लाभ जय हो या पराजय फिर तो चिन्ता रहती ही नहीं। यही बात भगवान् ने अर्जुन को समझायी थी, कि सुख दुख, लाभ अलाभ तथा जय पराजय इनमे समबुद्धि करके तुम युद्ध के लिये उद्यत हो जाओ तुम्हें पाप नहीं लगेगा। अवश्यम्भावी मृत्यु तो ज्ञानी की भी होगी अज्ञानी की भी होगी। कथा सुनने वाले का भी होगी विषयी की भी होगी, अन्तर इतना ही होगा, विषयी मृत्यु के समय तड़फेगा, रोवेगा, चिन्ता करेगा। ज्ञानी शान्त रहेगा हँसेगा और निश्चिन्त होकर सर्प जैसे केंचुल को छोड़ देता है वैसे शरीर को छोड़कर निर्वाणपद को प्राप्त होगा। कथा श्रवण नाम स्मरणादि का अंतिम फल यही है, कि मृत्यु का भय हृदय से निकल जाय।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने समझ लिया कि राजा को पूर्ण आत्मज्ञान हो गया, इसका मृत्यु का भय भाग गया, इसने अभय पद को प्राप्त कर लिया, तब उन्होंने कहा—"अच्छा बात है राजन्! अब आप वाणी का संयम कर लें। मौन व्रत धारण कर लें, मैं तो अब जा रहा हूँ, अब आप को आत्म ज्ञान हो गया।"

प्रेमाश्रु बहाते हुए राजा बोले—'गुरुदेव! यह सब आपकी कृपा का ही प्रसाद है। आपने ही मुझे भागवती कथाओं को सुना कर अभय पद प्राप्त कराया। प्रभो! अब आप तनिक देर और रुक जायँ मैं आपकी उत्तर पूजा और कर लूँ।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! कृपा के सागर मेरे गुरुदेव पूजा की इच्छा न रहने पर भी राजा का मन रखने के लिये कुछ देर को और रुक गये। राजा ने स्नेह भरित हृदय से परम हंस चक्र चूडामणि भक्त शिरोमणि दिगम्बर व्यासनन्दन भगवान् शुक के

मृदुल अरुण युगल चरणों को चन्दन केशर कर्पूर युक्त गंगाजल से धोया। गन्ध, अक्षत, पुष्प, दुग्ध, कुशा, दूर्वा, शहद आदि पदार्थों से युक्त अर्घ्य उन्हें दिया। आचमनीय जल देकर स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, चंदन, पुष्प, पुष्पमाला, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल पुंगी फल, ऋतुफल और दक्षिणादि अर्पण करके विधिवत् आरती की, स्तुति, प्रदक्षिणा और क्षमा याचना करके साष्टांग दंडवत् की और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। भगवान शुक ने शास्त्रीय विधि से राजा की पूजा को स्वीकार किया और फिर राजा से अनुमति लेकर भिक्षुओं के सहित वहाँ से उठकर चल दिये। महाराज परीक्षित् ने भी कुछ दूर तक उनका अनुगमन किया। राजा को रोक कर उन्हें बार बार आशीर्वाद देकर विरक्तों के शिरोमणि मेरे गुरु देव इच्छानुसार गङ्गा किनारे किनारे हरिद्वार की ओर चल दिये। जब तक भगवान् शुकके दर्शन होते रहे तब तक महाराज एक टक उन्हीं की ओर देखते रहे, जब वे आँखों से ओझल हो गये, तब राजा लौटकर अपने स्थान पर आ गये।

शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! महाराज परीक्षित् ने आकर क्या किया? तक्षक आया या नहीं। महाराज परीक्षित् तो अपनी मृत्यु को रोकने का कोई उपाय करने ही क्यों लगे, किन्तु उनके सर्व समर्थ पुत्र महाराज जनमेजय ने कुछ यत्न किया या नहीं। कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें और सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! यह प्राणी अपनी करनी में कुछ कसर थोड़े ही रखता है। शक्ति भर अपनी या अपने प्रेमी सम्बन्धी की मृत्यु को टालने के सभी उपाय करता है, फिर भी होनी तो होकर ही रहती है, उसमें किसी का भी पुरुषार्थ काम नहीं आता। अच्छी बात है महाराज परीक्षित् के इस नश्वर शरीर का जैसे अन्त हुआ उस वृत्तान्त को मैं आपको सुनाता हूँ।

गुरुदेव के पधारने के पश्चात् महाराज परीक्षित् अपने गङ्गा तट के स्थान पर आ गये वे सभी संशयों से रहित हो गये थे, उन्हें देह, गेह, कुटुम्ब, परिवार तथा राज्य आदि में किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं रही थी। उनकी पूर्णनिष्ठा ब्रह्म में हो गयी थी। ऐसे वे महायोगी वीत राग राजर्षि परीक्षित् गङ्गाजी के पूर्व तट पर कुशाओं का आसन बिछा कर, उत्तर की ओर मुख करके शान्त भाव से बैठ गये। उन्होंने सब ओर से अपने चित्त की वृत्ति को हटाकर उसे आत्मा में ही समाहित किया। अब वे दृश्य प्रपञ्च को सर्वथा भुलाकर भगवान् के ध्यान में ही तल्लीन हो गये। उन्होंने अपने प्राणों का निरोध कर लिया, वे स्थाणु के सदृश सूखे वृक्ष के सदृश चेष्टा हीन हो गये। शरीर की उन्हें सुधि बुधि ही न रही।

इधर महाराज परीक्षित् तो कथा सुन रहे थे, उधर उनके पुत्र चक्रवर्ती महाराज जनमेजय इस बात की चिन्ता में थे, कि किस प्रकार अपने पूज्य पिता जी को तक्षक से बचाया जाय। उन्होंने अपनी शक्ति भर तक्षक से बचाने के सब उपाय किये। दूर दूर से विष उतारने वाले मन्त्र तन्त्रज्ञ व्यक्ति बुलाये गये। विष को हटाने वाली उत्तमोत्तम औषधियाँ मंगायी गयीं। गङ्गाजी में ही उन्होंने ऐसा सुरक्षित काँच का घर बनवाया जिसमें वायु भी बिना अनुमति के न जा सके। उसके चारों ओर विषहारिणी औषधियाँ रख दी गयीं कि कोई विषधर जीव जन्तु प्रवेश न कर सके। चारों ओर सशस्त्र सेना खड़ी कर दी, कि महाराज से कोई भी व्यक्ति न मिल सके। केवल आशीर्वाद देने का विप्रगण ही जा सकते हैं। इसप्रकार जितनी उनमें शक्ति थी सामर्थ्य थी, उसके अनुसार उन्होंने विष रोकने का पूरा प्रयत्न किया। महाराज परीक्षित् तो ध्यान मग्न थे, वे तो शरीर से ऊपर उठ चुके थे, उनके लिए तक्षक काट ले तो भी तैसा न काट ले तो भी तैसा। जन-

मेजय ने जो उपाय किये उनके लिये भी उन्होंने मना नहीं किया और यह करो ऐसा कहा भी नहीं वे तो दुख सुख में सम हो गये।

सात दिन बीत चुके थे, आज ही तक्षक के आने का दिवस था। सत्यवादी अमोघ वीर्य ब्रह्मचारी मुनि पुत्र का शाप व्यर्थ कैसे हो सकता था। उसकी वाणी के अनुरूप ही क्रिया होनी थी, उसी की प्रेरणा से तक्षक राजा को डसने चला। कामरूपी मायावी तक्षक ने ब्राह्मण का रूप बना लिया था वह भली प्रकार सज धज कर राजा की ओर चला। चलते चलते उसे मार्ग में एक वन के बीच में कश्यप नाम का एक बड़ा तेजस्वी ब्राह्मण मिला। वह बड़ी शीघ्रता से गङ्गा तट की ओर जा रहा था। तक्षक ने उससे पूछा-"ब्रह्मन्! आप इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रहे हैं?"

ब्राह्मण ने कहा—"द्विजवर! आज महाराज परीक्षित् को दुष्ट तक्षक काटेगा, वहीं मैं जा रहा हूँ।"

तक्षक ने कहा—"ब्रह्मन्! वहाँ जाकर आप क्या करेंगे?"

कश्यप ने कहा—"तक्षक राजा को काटेगा हम उसे अपने मंत्र प्रभाव से अच्छा कर देंगे।"

तक्षक ने पूछा—"इससे क्या होगा?"

ब्राह्मण ने उत्तेजित होकर कहा—"होगा क्या, धर्मात्मा राजा के प्राण बच जायगे हमारी कीर्ति होगी और हमें विपुल धन पारितोषिक में मिलेगा।"

तक्षक ने पूछा—"यदि आप राजा को न जिला सके तो क्या होगा?"

गर्ज कर ब्राह्मण ने कहा—"न क्यों न जिला सकेंगे। मेरी विद्या कभी भी व्यर्थ नहीं होने वाली। आजतक उसका कोई भी प्रयोग असफल नहीं हुआ है।"

तक्षक ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने साधारण सर्पों के विष को

उतारा होगा। तक्षक साधारण सर्प नहीं है। वह नागराज है उसके विष को उतारना साधारण बात नहीं है।"

आवेश में आकर ब्राह्मण ने कहा—"द्विजवर! आप कैसी अविश्वास की बातें कर रहे हैं। तक्षक नहीं तक्षक का बाप भी आ जाय हम उसके विष को उतार सकते हैं। एक तक्षक नहीं लाख तक्षक मिलकर आ जायँ तो भी वे मेरी विद्या के सम्मुख राजा को नहीं मार सकते नहीं मार सकते।"

तक्षक ने कहा—"ब्रह्मन्! आप तभी तक ये बढ़ बढ़ कर बातें कर रहे हैं, जबतक आपके सम्मुख तक्षक आता नहीं। तक्षक के आने पर आपकी सब सिटिल्ली भूल जायगी।"

घृणा और अवज्ञा के स्वर में कश्यप ने कहा—'छि छिः तुम ब्राह्मण होकर कैसी उत्साह हीन अविश्वास की बात कर रहे हो। तुम भी तो चल ही रहे हो, देखना तक्षक मुझे देखकर भागता है या मैं उसे देखकर भागता हूँ।"

तक्षक ने कहा—"अच्छा, तक्षक यहीं आ जाय, तो आप उसे अपनी विद्या की परीक्षा देंगे?"

आवेश मे आकर ब्राह्मण बोला—"एक बार नहीं लाख बार। तक्षक आवे मेरे सम्मुख।"

हँसकर तक्षक ने कहा—"अच्छा, ब्रह्मन्! मैं ही तक्षक हूँ, दीजिये आप परीक्षा।"

बिना सकोच के निर्भय होकर ब्राह्मण बोला—"अच्छा, आप ही तक्षक हैं। तभी ऐसी बिना सिर पैर की आप बातें कर रहे थे। मैं उद्यत हू लीजिये मेरी परीक्षा। मेरे शरीर में जहाँ भी आपकी इच्छा हो काटिये।"

तक्षक ने कहा—"मैं ब्राह्मण को नहीं काटूँगा और कहीं परीक्षा दीजिये।"

ब्राह्मणने गर्जकर आवेश स्वर में कहा—"तुम्हारी जहाँ कहीं

इच्छा हो वहीं अपने विष का प्रयोग करो। तुम काटो मैं अभी अच्छा करता हूँ।"

तक्षक ने कहा—"देखिये, ब्रह्मन्! यह सम्मुख विशाल वट वृक्ष है, मैं इसी में दाँत मार कर इसे भस्म करता हूँ, आपके मंत्रों में शक्ति हो तो इसे विषहीन बनाकर पुनः हरा भरा कर दीजिये।"

उत्साह के साथ कश्यप ने कहा—"बड़ी प्रसन्नता के साथ आप विष प्रयोग कीजिये।"

इतना सुनते ही तक्षक ने विषधर नाग का रूप रख लिया

और उस विशाल वृक्ष में अपने तीक्ष्ण विष का प्रयोग किया। देखते ही देखते वह इतना बड़ा वृक्ष जल कर भस्म हो गया यहाँ

केवल भस्म की छोटी सी ढेरी रह गयी। उसे भस्म करके तक्षक बोला—"यदि आप इसे पुनः ज्यों का त्यों कर दें तो आपकी विद्या की प्रशंसा है।"

ब्राह्मण ने अविचल भाव से कहा—"अच्छी बात है अभी लीजिये।" यह कह कर उन्होंने हाथ पैर धोये शुद्ध जल से आचमन किया और हाथ में जल लेकर मंत्र पढ़कर उस राख की ढेरी पर छोड़ा। अभिमंत्रित जल के पड़ते ही उस राख में से एक अंकुर उत्पन्न हुआ देखते देखते वह बढ़ने लगा। कुछ ही समय में वह ज्यों का त्यों हरा वृक्ष हो गया, यही नहीं उस पर एक आदमी चढ़ कर सूखी लकड़ियों को तोड़ रहा था वह भी ज्यों का त्यों उस पर लकड़ी तोड़ता दिखायी दिया।"

इस चमत्कार को देख कर तक्षक आश्चर्यचकित हो गया। उसने सोचा—"इस ब्राह्मण के रहते तो मेरी दाल गल नहीं सकती। इसे किसी प्रकार लौटाना चाहिये।" यही सब सोचकर वह बोला—"विप्रदेव! धन्य है आप को और बार बार धन्यवाद है आपकी इस अव्यर्थ विद्या को। आपकी विद्या सफल है, आप का विश्वास दृढ़ है, किन्तु मैं आप से एक बात और पूछना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो पूछूँ?"

ब्राह्मण ने गम्भीर होकर कहा—"हाँ, आप जो पूछना चाहते हैं, प्रसन्नता पूर्वक पूछें।"

तक्षक ने कहा—"विप्रदेव! पूछना मैं यह चाहता हूँ, कि संसार में कोई ऐसा भी है जो प्रारब्ध को मेंट दे, भावी को अन्यथा कर दे?"

हँसकर ब्राह्मण ने कहा—"अरे, भाई! ब्रह्माजी ने यही तो एक मनुष्य में अपूर्णता रख दी है। प्रारब्ध को कोई नहीं मेट सकता भावी को अन्यथा करने की सामर्थ्य ब्रह्माजी में भी

नहीं है। यहीं आकर मनुष्य हार जाता है, भावी तो होकर ही रहती है उसे मिटाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है।"

बड़े स्नेह से तक्षक ने कहा—"ब्रह्मन्! आप तो भावी को भी मेंटने का प्रयत्न कर रहे हैं। मैंने ऋषि मुनियों से पूछ लिया है राजा की मृत्यु मेरे काटने के ही द्वारा लिखी है ऐसा न होता तो परम धर्मात्मा सत्यवादी शृंगी ऋषि राजा को शाप ही क्यों देते। सूर्य चन्द्र की गति अन्यथा भले ही हो जाय, किन्तु ब्राह्मण के वाक्य अन्यथा नहीं हो सकते। राजा की मृत्यु मेरे काटने से होगी ही। फिर आप व्यर्थ में अपनी हँसी क्यों कराना चाहते हैं। वहाँ आपको सफलता न मिलेगी।"

क्रोध में भर कर ब्राह्मण ने कहा—"बस, ऐसी बात आप मुख से न निकालें। सफलता तो मेरी है, मिलेगी क्यों नहीं। मेरी विद्या और व्यर्थ हो जाय। यह असम्भव है।"

धैर्य के साथ तक्षक ने कहा—"ब्रह्मन्! आप ही तो कहते हो कि प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता। होनी होकर ही रहेगी अच्छा, मान लो आपकी विद्या सफल ही हो जाय, तो भी राजा तो बच नहीं सकता। राजा मर गया तो आपकी अपकीर्ति भी होगी, धन भी न मिलेगा। वहाँ धन मिलने में सन्देह है। आपको धन की आवश्यकता है, तो जितना धन आप चाहें, उतना धन मैं देने को तैयार हूँ, बोलिये कितना धन आपको चाहिये। जितना आप कहेंगे उसका दशगुना धन मैं आपको दूँगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"धन तुम दे भी दो, तो राजा नहीं बचेगा।"

दीनता के स्वर में तक्षक ने कहा—"ब्रह्मन्! आप विधि के विधान को मेंटने का व्यर्थ प्रयत्न क्यों करते हैं वहाँ धन मिलने में सन्देह है यहाँ मैं आपको अभी मन माना धन दिये देता हूँ। वहाँ

असफलता होने पर आपकी अपकीर्ति भी हो सकती है। यहाँ न अपकीर्ति है न असफलता। धन आपको मिल ही रहा है। उसे ले जाइये सुख पूर्वक रहिये चैन की वंशी बजाइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसी भवितव्यता होती है वैसे ही सब साधन जुट जाते हैं, वैसी ही सबकी बुद्धि हो जाती है। ब्राह्मण ने सोचा—"गोदी के को छोड़कर पेट के की आशा रखना कौन सी बुद्धिमानी है। तक्षक सत्य ही कह रहा है। राजा की यदि मृत्यु ऐसे ही लिखी है तो उसे कौन टाल सकता है। फिर न धन मिलेगा न यश। यहाँ धन तो मिल रहा है।" यही सोच विचार कर ब्राह्मण बोला—"अच्छी बात है, यदि तुम मुझे यथेष्ट धन दे दोगे, तो मैं नहीं जाऊँगा।"

यह सुन कर तक्षक को बड़ा सन्तोष हुआ उसने ब्राह्मण को यथेष्ट धन देकर लौटा दिया और वह राजा को डसने ब्राह्मण का रूप रखकर चल दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देखो, भगवान् की माया कैसी प्रबल है यदि कश्यप ब्राह्मण धन के लोभ में न आता, तो तक्षक कभी भी सफल नहीं हो सकता था, धर्मात्मा राजा परीक्षित् बच जाते, किन्तु भवितव्यता को अन्यथा कौन कर सकता है, होनी सब कुछ करा लेती है, ब्राह्मण तो धन लेकर चला गया तक्षक राजा को काटने को पहुँच गया।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! इतना सब प्रबन्ध होने पर भी तक्षक ने राजा को कैसे काटा? कृपया राजा के शरीर त्याग का वृत्तान्त हमें सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है मुनियो! अब मैं आपको महाराज परीक्षित् के देह त्याग का ही वृत्तान्त सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

तक्षक पूछै—"आप पधारे द्विजवर! कित कूँ।
तक्षक नृप कूँ डसै उतारें ताके विष कूँ॥
बोल्यो तक्षक—"आपु मंत्र बल मोइ दिखावैं।
काटि भस्म वट करूँ मंत्र तैं आपु जिवावैं॥
स्वीकारयो जब विप्र ने, भस्म गरलतें वट करयो।
करयो विप्र ने मंत्र तें, फिरि ज्यों को त्यों तरु हरयो॥

परीक्षित् देहत्याग तथा जनमेजय कोप

(१३५६)

द्विजरूप प्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम् ।
ब्रह्मभूतस्य राजर्षे र्देहोऽहि गरलाग्निना ॥
बभूव भस्मसात्सद्यः पश्यतां सर्व देहिनाम् ॥*

(श्री भा० १२ स्कं० ६ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

निरस्यो मत्र प्रभाव अधिक आदर अहि कीन्हों ।
विविध भाँति समुझाइ बहुत धन द्विज कूँ दीन्हों ॥
धन लै द्विज फिरि गयो नृपति ढिँग तक्षक आयो ।
तज्यो यथारथ रूप विप्र को वेष बनायो ।
फल में कीडा बनि घुस्यो, डस्यो भूपकूँ भूल में ।
भयो भस्म तनु भूप को, मिली धूरि पुनि धूरि में ॥

शरीर तो जो भी उत्पन्न हुआ है, उसका नाश होगा, चाहे वह ब्रह्मा का शरीर हो, चाहे इन्द्र का अथवा कीट पतंग का। उत्पन्न होने वाले की मृत्यु ध्रुव है, फिर भी शरीर त्यागने के अनन्तर

---

*सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! तक्षक ने ब्राह्मण के वेष में अपने को छिपा कर महाराज परीक्षित् को डस लिया। ब्रह्म भूत राजर्षि परीक्षित् का शरीर सब के देखते देखते सर्प की विषाग्नि से जलकर भस्मीभूत हो गया।"

जिनकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रहे, देह धारण करना तो उन्हीं का सार्थक है। राजा भगीरथ न जाने कब उत्पन्न हुए थे किन्तु उनकी लायी हुई गंगा जी अभी तक विद्यमान हैं जब तक भागीरथी गंगा हैं तब तक उनका नाम अजर अमर बना रहेगा। राजानिमि न जाने कब पैदा हुए, किन्तु जब तक प्राणधारी पलक मारेंगे। निमेष का काल—नेत्र मीलन उन्मीलन—रहेगा तब तक निमि का नाम निरन्तर लिया जाता रहेगा। इसी प्रकार महाराज परीक्षित् न जाने कब हुए। कब उन्होंने शमीक ऋषि के कंठ में मृतक सर्प को डाला। कब उनके पुत्र शृंगी ने उन्हें शाप दिया। कब तक्षक ने आकर उन्हें काटा, किन्तु जब तक श्री मद्भागवत धराधाम पर रहेगी, तब तक महाराज परीक्षित् भी अजर अमर बने रहेंगे। वे पांच भौतिक शरीर तो थे नहीं। शरीर तो पंचभूतों का था, पञ्चभूतों में उसे मिलना ही था। दश दिन पहिले मिला या दश दिन पश्चात् उसका तो यही परिणाम होना था, किन्तु वे ब्रह्मभूत होने से अब भी हैं और सदा इसी प्रकार बने रहेंगे। महा पुरुष कभी मरते नहीं।

सूत जी कहते हैं--"मुनियो ! तक्षक ने विषहारी कश्यप ब्राह्मण को बहुत-सा धन दिया। धन लेकर ब्राह्मण तो अपने घर को लौट गया अब तक्षक बड़ी सावधानी से राजा परीक्षित् को काटने चला। गंगा किनारे पहुँच कर तक्षक ने देखा कि महाराज जनमेजय ने तो ऐसा सुदृढ़ प्रबन्ध कर रखा है, कि प्राणधारियों की तो बात ही क्या वायु भी राजा के समीप स्वेच्छा से नहीं पहुँच सकती। यहाँ तक कि आशीर्वाद देने के लिये जितने ब्राह्मण आये थे उन्हें भी अभी रोक रखा है। राजा के समीप कोई जा ही नहीं सकता था। वन से बहुत से ब्राह्मण फल लेकर राजा को आशीर्वाद देने को आये थे, उन्होंने आग्रह किया हम तो राजा के समीप जायँगे ही। जनमेजय ने उन्हें जाने की आज्ञा दे दी,

क्योंकि सूर्यास्त होने में अब कुछ ही पलों की देरी थी। आज का दिन बीत गया, तो राजा बच गये। मुनि पुत्र की मर्यादा सात ही दिन की थी, सो सात दिन पूरे हो ही गये। ब्राह्मण गण तीर्थों का जल तथा सुन्दर फल लेकर राजा के समीप जाने लगे। तक्षक ने इसी को उपयुक्त समय समझा। वह ब्राह्मण तो बना ही था अत्यन्त कौशल से उन ब्राह्मणों के झुंड मे मिल गया और भीतर चला गया।

ब्राह्मणों को आते देख कर महाराज परीक्षित् परम प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्राह्मणों को अभ्युत्थान दिया-खड़े होकर उनका स्वागत किया तथा कुशल प्रश्न किया। ब्राह्मणों ने परम धर्मात्मा उत्तरानन्दन अभिमन्युसुत राजर्षि परीक्षित् को आशीर्वाद दिये और उनके सम्मुख फल रख दिये। उसी समय काम रूप तक्षक ब्राह्मण का वेष छोड़ कर एक कीड़ा बन गया और एक सुन्दर से फल में चिपक कर बैठ गया। नाग जाति के सर्पों का स्वभाव होता है, कि जब तक कोई काटने को न कहे, तब तक ये काटते नहीं। महाराज नल को भी इसी कौशल से काटा था। उन से कहा—"राजन् आप कुछ पैर चलें और गिनते हुए मुझे बताते चलें जब राजा, एक, दो तीन ऐसे गिनते हुए दश संख्या पर पहुँचे और कर्कोटक नाग से 'दश' कहा तो 'दश' का अर्थ काटना भी होता है। कर्कोटक ने उन्हें काट लिया। इसी प्रकार कुछ नाग ऋषियों को काटने जाते थे। दशनाग मुनि का वेष बना लेते थे और किसी ऋषि से पूछते-ये कितने मुनि हैं।" वे सीधे सादे स्वभाव से कह देते— दश' तुरन्त नाग उन्हे काट लेते।

तक्षक भी जब तक महाराज परीक्षित् न कहे तब तक वह काट नहीं सकता था। राजा काटने को कहते क्यों। इसीलिय तक्षक बहुत ही चमकीला कीड़ा बन गया।

राजा ने उस सुन्दर फल मे ऐसा चमकीला कीड़ा चिपटा

देखकर सहज स्वभाव से उस फल को उठा लिया और कुछ देर तक उसे हाथ से उछालते रहे। उस चमकीले कीड़े को देख कर राजा बड़े आश्चर्य चकित हो रहे थे। उन्होंने खेल खेल में ही उस कीड़े को फल से हटाकर अपने हाथ पर रख लिया और कहने लगे—"यह कैसा कीड़ा है।" आज मुझे काटने तक्षक आने वाला था, सो वह तो आया नहीं। तक्षक के स्थान पर यह कीड़ा ही मुझे काटे, जिससे मुनि पुत्र का वचन अन्यथा न होने पावे।" यह कह कर उन्होंने काटने को ज्यों ही कीड़े को अपने कण्ठ के पास लगाया, त्यों ही वह कीड़ा तक्षक बन गया और तुरन्त राजा को काट लिया। तक्षक के काटते ही, सब के देखते राजर्षि महाराज परीक्षित् का शोभायमान शरीर नाग की विषाग्नि से जलकर भस्म हो गया। ब्राह्मणों ने हाय हाय शब्द किया। सुनते ही तुरन्त इधर उधर से लोग जुट आये। कामरूपी तक्षक वहाँ से गुप्त रूप रख कर भाग गया। पृथिवी में, आकाश में तथा दशों दिशाओं में सर्वत्र हाहाकार मच गया। क्षण भर में यह बात सर्वत्र फैल गयी, कि महाराज परीक्षित् का देहावसान हो गया, उन्होंने अपने नश्वर शरीर को त्याग दिया। देवता, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, नाग तथा समस्त प्राणी आश्चर्यचकित हो गये। देवता आकाश में दुन्दुभी बजाने लगे, कल्प वृक्ष के सुमनों की वर्षा करने लगे, अप्सरायें नाचने गाने लगीं। स्वर्गीय सुरगण साधु साधु, धन्य धन्य जय हो जय हो ऐसे शब्द कहने लगे। राज्य में सर्वत्र शोक छा गया। ब्रह्म भूत राजर्षि परीक्षित् ने शरीर त्याग कर परमोत्तम गति को प्राप्त कर लिया।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! महाराज परीक्षित् के देह त्याग के अनन्तर उनके पुत्र जनमेजय ने क्या किया, कृपया उस वृत्तान्त को आप हमें सुनावें।"

सूत जी बोले—"महाराज! राजर्षि परीक्षित् का देहावसान

क्या हुआ, आर्यावर्त का सूर्य ही अस्त हो गया। ब्रह्मन् सर्प निकल जाने के अनन्तर जिस प्रकार उसका लीक को पीटते रहने से कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार जो दैवेच्छा से घटना हो गयी वह हो ही गयी, अब उसके प्रतिकार के लिये जो भी किया जाय, उससे महाराज परीक्षित् लौट कर तो आ ही नहीं सकते। फिर भी अपने स्वजनों के निधन से दुःख होता ही है। यद्यपि महाराज जनमेजय उस समय बालक ही थे, किन्तु फिर भी उन्हें नागों पर बड़ा क्रोध आया। महाराज परीक्षित् के अनन्तर कुरु कुल के राज्यसिंहासन पर वे बैठे। मन्त्रियों की सहायता से वे राज्यकाज करने लगे। काशी नरेश की वपुष्टमा नाम की परम सुकुमारी राजकुमारी के साथ उन्होंने विवाह किया। जब वे भली प्रकार प्रजा के प्रेम का भाजन बन गये और सब राजा उनके अधीन हो गये, तब उन्होंने अपने पितृघाती नागों से बदला लेने का निश्चय किया। उन्होंने मंत्रियों से पूछा--"तक्षक का मेरे पिता ने क्या अपकार किया था, उनको उस दुष्ट ने क्यों डसा ?"

मंत्रियों ने कहा--"राजन्! आपके धर्मात्मा पिता ने तक्षक का या अन्यनागों का कुछ भी अपकार नहीं किया था। शमीक मुनि के पुत्र परम क्रोधी शृंगी ऋषि ने शाप दिया था, इसीलिये तक्षक काटने आया था। मार्ग में तक्षक को विष उतारने वाले कश्यप ब्राह्मण भी मिले, उन्हें भी तक्षक ने बहुत-सा धन देकर समझा बुझा कर लौटा दिया।"

महाराज जनमेजय ने पूछा--"कश्यप को तक्षक ने क्यों लौटाया ? वह अपना काम करता, कश्यप को अपना काम करने देता।"

मंत्रियों ने कहा--"महाराज! तक्षक की दुष्टता ही है, नहीं तो कश्यप को लौटाने का तो कोई कारण नहीं था। उसने सोचा

होगा, कि मेरे काटे को कश्यप अच्छा कर देगा, तो संसार में मेरी अपकीर्ति होगी, लोग मुझे निर्वीर्य समझेंगे। जब तक्षक ने देखा कि इतने भारी विशाल वट वृक्ष को-जिसे स्वयं तक्षक ने ही काट कर भस्म कर दिया था—कश्यप ने मंत्र प्रभाव से बात की बात हरा भरा ज्यों का त्यों कर दिया, तब तो तक्षक घबड़ा गया और अनेक युक्तियों से कश्यप को लौटा दिया।"

जनमेजय ने पूछा—"अच्छा, यह बताओ कश्यप और तक्षक की बात तो घोर वन में-एकान्त स्थान में-हुई थी, आप लोगों को यह वृत्तान्त कैसे विदित हुआ ?"

मंत्रियों ने कहा—"महाराज ! उस वट वृक्ष पर एक गड़रिया चढ़कर लकड़ी तोड़ रहा था, जब तक्षक ने उस वट वृक्ष को काट कर भस्म कर दिया था, तब वृक्ष के साथ ही, वह गड़रिया भी भस्म हो गया था। जब कश्यप ब्राह्मण ने मंत्र बल से उस भस्म हुए वृक्ष को फिर हरा भरा कर दिया, तो वह गड़रिया भी जी पड़ा। उसी ने आकर हमें तक्षक और कश्यप की सब बातें सुनायीं वृक्ष पर चढ़ा चढ़ा वह सब सुन रहा था।"

जनमेजय ने कहा—"तब तो यह सब नीचता तक्षक की ही है, तक्षक को मुनि पुत्र के शाप के कारण काटना ही था, तो काट कर ही चला जाता। उसे कश्यप को लौटाने की क्या आवश्यकता थी। जिसने विष से भस्म हुआ वट वृक्ष को पुनः ज्यों का त्यों हरा भरा कर दिया। उसके ऊपर के गड़रिये को ज्यों का त्यों जिला दिया, वह मेरे पिता को भी जीवित कर सकता था। यह सब सब तक्षक की ही नीचता है। अच्छा, यह बताओ जिन ब्राह्मणों के साथ मिल कर वह मेरे पूज्य पिता जी के समीप गया था, वे ब्राह्मण कौन थे ?"

मंत्रियों ने कहा—"अजी, महाराज ! वे लोग ब्राह्मण थोड़े ही थे, इस बात का तो हमें पीछे पता चला। इस तक्षक ने ही बहुत

से लोगों को ब्राह्मण वेष बना कर फल, मूल, जल तथा कुशा लेकर भेजा था। स्वयं एक फल में चिपक कर बैठा था।"

यह सुन कर क्रोध में भर महाराज जनमेजय ने कहा—"अच्छा, यह सब षडयन्त्र नागों का ही है।"

मंत्रियों ने कहा—"हाँ, महाराज! नागों का ही तो यह सब षडयन्त्र है। धर्मात्मा शमीक मुनि के दिव्य आश्रम में मरे सर्प का क्या काम यह तक्षक ही वहाँ मृत सर्प बन कर पड गया था। ये नाग महाराज के पीछे पड गये थे।"

इस पर महाराज जनमेजय की क्रोध के कारण आँखें लाल हो गयीं। वे कुछ देर तक सोचते रहे और फिर बोले—"मैं इन दुष्ट नागों का विनाश करना चाहता हूँ, मैं अपने पिता का बदला लेना चाहता हूँ। इसके लिये मैं अभिचार यज्ञ करना चाहता हूँ। ब्राह्मणों को बुलाओ और उनसे पूछो, ऐसा कोई अभिचार यज्ञ वेदों में हो तो हमें बतावें।"

राजा की आज्ञा पाकर मंत्रियों ने अभिचार यज्ञों में निष्णात बडे बडे विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाया और उनका यथोचित आदर करके पूछा—"ब्राह्मणो! मैं अपने पिता के वध करने वाले नागों का विनाश करना चाहता हूँ, आप कोई ऐसा मारण यज्ञ जानते हैं, तो मुझे बतावें।"

ब्राह्मणों ने कहा—"राजन्! आपके पिता को सर्प काटेगा, इस बात का ब्रह्मा जी को प्रथम ही पता था, इसीलिये उन्होंने वेदों में एक सर्प यज्ञ का विधान किया है, इस यज्ञ को आपके अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। आप इस घोर अभिचार यज्ञ को करावें तो सभी नाग अपने आप विवश होकर यज्ञ कुंड में आकर भस्म होते जायँगे।'

उल्लास के साथ महाराज जनमेजय ने कहा—"ब्राह्मणो! इस यज्ञ को आप अवश्य करावें। मैं इसे करूँगा, इसमें जो भी

सामग्री लगे उसे तुरन्त लिखाओ। मंत्रियों से कह कर सब सामग्री एकत्रित करो। बड़ा भारी विशाल यज्ञ मंडप बनाओ। मुझे इन समस्त नागों को भस्म करना है।" राजा की आज्ञा होते ही एक विशाल यज्ञ मंडप बनाया गया और सर्प सत्र की सभी सामग्रियाँ शीघ्रता के साथ जुटायीं गयीं। अन्य यज्ञों में याजक श्वेत या पीत वस्त्र धारण करते हैं, किन्तु यह क्रूर अभिचारिक यज्ञ था, इसलिये सब याजक काले वस्त्र पहिने हुए थे। यज्ञ वेदी बन जाने के अनन्तर राजा ने विधिवत सर्प यज्ञ की दीक्षा ली। उसी समय पौराणिक एक सूत पुत्र सूत्रधार वहाँ आया। उसने यज्ञ वेदी को देखकर राजा जनमेजय से कहा—"राजन्! आपके इस यज्ञ के पूर्ण होने में सन्देह है?"

राजा तो आश्चर्य चकित हो गये, उन्होंने सर्व शास्त्र निष्णात उसे पुराण वेत्ता से पूछा—"सन्देह की कौन सी बात है। मेरे पास विपुल धन है, यज्ञ की सभी सामग्रियाँ हैं। मेरे होता ऋत्विज् शास्त्र निष्णात तथा विधि विधान को जानने वाले हैं। इसमें त्रुटि क्या है।"

सूत्रधार ने कहा—"राजन्! आपको सामग्री की कमी नहीं है। आप का यज्ञ अविधिपूर्वक होगा, ऐसी भी बात नहीं है। आप सर्व साधन सम्पन्न हैं। किन्तु जिस स्थान में और जिस मुहूर्त में यज्ञ वेदी की भूमि नापी गयी है, उससे यही प्रतीत होता है, कि यह सम्भवतया पूर्ण न होने पावे।"

राज ने चिन्तित होकर पूछा—"किसके द्वारा सन्देह है?"

सूत्रधार ने कहा—"सम्भव है कोई ब्राह्मण आकर इस यज्ञ को बन्द करा दे।"

राजा ने दृढ़ता के साथ कहा—"अच्छा इसका प्रबन्ध मैं अभी करता हूँ।" यह कह कर उन्होंने यज्ञ वेदी के चारों ओर सशस्त्र सैनिक खड़े कर दिये। द्वारपालों को कठोर आज्ञा दे दी,

कि मेरी आज्ञा के बिना कोई भी अपरिचित व्यक्ति भीतर न आने पावे।

इस प्रकार सभी रक्षा के प्रबन्ध करके राजा ने ऋत्विजों से यज्ञ आरम्भ करने को कहा। ब्राह्मण गण अभिचार विधि से मंत्र पढ़ पढ़कर अग्नि में आहुतियाँ देने लगे और मंत्रों द्वारा नागों का आह्वान करने लगे। उन सब के मंत्र अमोघ थे। वे कभी व्यर्थ जाने वाले नहीं थे। मंत्रों के प्रभाव से जो नाग जहाँ भी होता वही खिंचकर चला आता और आकर यज्ञ कुन्ड में गिर जाता तथा तड़प तड़प कर अग्नि में भस्म होता। इस प्रकार सहस्रों लाखों सर्प उस यज्ञ कुन्ड मे भस्म हो गये। बड़े बड़े आकार वाले सर्प मंत्र बल से खिंचे हुए आते और अवश होकर यज्ञ कुन्ड मे जल जाते उनकी मांस वसा की गंध चारों ओर फैल गयी।"

तक्षक को भी यह बात मालूम हुई। वह सर्प यज्ञ की बात सुनकर बहुत डर गया। आत्म रक्षा के लिये, वह कामरूपी नाग दौड़ा दौड़ा इन्द्र के समीप गया और दीन वाणी में बोला—"देव-राज! मेरी रक्षा कीजिये। मुझे बचाइये।"

इन्द्र ने धैर्य के साथ पूछा—"नागराज! तुम इतने भयभीत क्यों हो रहे हो, अपने दुःख का कारण बताओ। तुम मेरे मित्र हो, मैं सब प्रकार से तुम्हारी सहायता करूँगा।"

तक्षक ने कहा—"हे सुरेन्द्र! महाराज जनमेजय सर्प यज्ञ कर रहे हैं, मेरी जाति के लाखो नाग उसमें भस्म हो गये। उनकी वसाकी वहाँ एक नदी-सी बह गयी है। अब मुझे भी ब्राह्मण गण मंत्रों के द्वारा आकर्षण करेंगे। मुझे भी अवश होकर मंत्र प्रभाव से जाकर यज्ञ कुन्ड मे भस्म होना पड़ेगा।"

यह सुन कर देव राज ने कहा—"तक्षक! तुम सुख पूर्वक मेरे भवन मे—मेरे समीप रहो। तुम्हारा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।"

सूत जी कहते हैं--"मुनियो ! इन्द्र से अभय पाकर तक्षक वहीं इन्द्रपुरी में रहने लगा। अब जिस प्रकार राजा जनमेजय तक्षक को भस्म करने को ब्राह्मणों से कहेंगे वह वृत्तान्त मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

जग में हाहाकार मच्यो सब अश्रु बहावैं।
भये चकित सुर वृन्द सुमन नभ तैं बरसावैं॥
साधु साधु सब कहैं धन्य कुरुकुल के भूषन।
भये मुक्त सुनि कथा मिटयो द्विजकृत-अघ दूषन॥
जनमेजय नृप-के तनय, कुपित नाग कुल पै भये।
सर्प सत्र करि वे लगे, नष्ट नाग बहु करि दये॥

—::o::—

सर्प सत्र की समाप्ति

(१३५७)

अति वादांस्तितिक्षेत नावमन्येतकञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ६ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

विप्र मंत्र जब पढ़ें सर्प चहुँदिशि तैं आवैं ।
होहिँ विवश अति बली कुन्ड में गिरि मरि जावैं ॥
तक्षक ह्वै भय भीत शरन सुरपति की लीन्ही ।
च्यौं नहिँ तक्षक मरै नृपति जिज्ञासा कीन्ही ॥
रक्षा सुरपति करतु है, जब विप्रनि उत्तर दियो ।
इन्द्र सहित स्वाहा करो, सुनत सुवा द्विज कर लियो ॥

क्रोध पाप का मूल है, फिर भी किसी कारण से किसी पर क्रोध आ जाता है, तो वह सरलता से छूटता नहीं। क्रोध के वशीभूत होकर प्राणी अपने से बड़ों का अपमान तक कर डालता है।

---

*सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! परम पद पाने की इच्छा वाला दूसरों के कठोर वचनों को सहन करे, कभी भी किसी का अपमान न करे और इस देह के कारण किसी से वैर भी न करे।"

क्रोध में भी जो बड़े लोगों की शिक्षा को शिरोधार्य करते हैं, जैसा वे कहते हैं वैसा अपनी इच्छा के विरुद्ध होने पर भी करते हैं, वे महा पुरुष हैं, उनकी कीर्ति संसार में फैल जाती है। अपने से श्रेष्ठ पुरुष जिस बात पर बल दें नाना युक्तियों से समझावें यदि वह बात भगवत् भक्ति में पूर्णरीत्या बाधक न हो, तो उसे अवश्य ही करना चाहिये।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! राजा जनमेजय के सर्प यज्ञ में जब बड़े बड़े लंब तड़ंगे सर्प स्वतः आ आ कर भस्म होने लगे। महाराज इस प्रतीक्षा में थे कि अब मेरे पिता को मारने वाला क्रूर कर्मा तक्षक भी आवेगा। और वह भी भस्म होगा, किन्तु जब वहाँ बहुत देर तक तक्षक नहीं आया तो राजा ने ब्राह्मणों से पूछा—"ब्राह्मणों! आप अन्य नागों को तो अपने मंत्रों से बुलाते हैं, किन्तु नीच तक्षक को नहीं बुलाते। उस सर्पाधम को बुला कर अग्नि में स्वाहा कीजिये। उसे जलते देख कर मुझे अत्याधिक आनन्द होगा।"

ब्राह्मणों ने चिन्तित होकर कहा—"हे राजेन्द्र तक्षक के आने में एक अन्तराय-विघ्न उपस्थित हो गया है।"

राजा ने पूछा—"वह अन्तराय क्या है?"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज! वह सर्पाधम इन्द्रलोक चला गया। देवेन्द्र उसकी रक्षा कर रहे हैं।"

जनमेजय ने कहा—"क्या आप लोग अपने मंत्रों के प्रभाव से उसे इन्द्रलोक से नहीं बुला सकते?"

ब्राह्मणों ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"बुला क्यों नहीं सकते हैं महाराज! किन्तु इन्द्र उसे शरण में आया हुआ समझ कर सब प्रकार से उसकी रक्षा कर रहे हैं। वह उनके सिंहासन के पाये में लिपटा हुआ है। उसका आह्वान करें तो साथ में इन्द्र भी सिंहासन सहित चला आवेगा।"

राजा ने कहा—"क्या हानि है, इन्द्र चला आवे तो अच्छा है। शत्रु का मित्र भी शत्रु के समान ही होता है। जब इन्द्र हमारे सकल्प में विघ्न डाल रहा है, हमारे काम मे रोडे अटका रहा है, तो उसे भी भस्म कर देना न्याय संगत है। आप निर्भय होकर मंत्र पढ़ें और इन्द्र के सहित तक्षक को अग्नि मे जला दें।"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज! हम सब कुछ कर सकते हैं, हमारे मंत्रों का प्रभाव अव्यर्थ है। आपकी आज्ञा की ही देरी थी, लीजिये हम इन्द्र सहित तक्षक को अभी बुलाकर सब के सम्मुख दोनों को स्वाहा करते हैं।" यह कह कर ब्राह्मणों ने हाथ मे स्रुवा लिया और इन्द्र के सहित तक्षक का उस सर्प सत्र में आवाहन किया। सब ने सस्वर इस आशय का मंत्र पढ़ा कि उनंचास मरुद गणों के साथ रहने वाले इन्द्र के सहित तक्षक अभी आकर अग्नि में गिरे।"

यह मंत्र पढना था, कि इन्द्र का सिंहासन विचलित हुआ। वह सुधर्मा सभा से उडकर आकाश मे आया और जैसे आकाश से तारा टूटता है वैसे तक्षक के साथ नीचे गिरते हुए इन्द्र को सबने देखा। देवताओं के गुरु बृहस्पति जी ने जब देखा कि यह तो बडा अन्धेर हो रहा है। इन्द्र अग्नि में स्वाहा हो गया, तो तीनों लोक इन्द्रहीन हो जायँगे। संसार की मर्यादा न रहेगी।" यही सब सोच कर वे तुरंत योगबल से राजा जनमेजय के यज्ञ में आये। अपने मंत्र प्रभाव से उन्होंने इन्द्र को सिंहासन और तक्षक सहित आकाश में ही रोक रखा फिर वे शीघ्रता के साथ राजा जनमेजय से बोले—"राजन्! आप यह बहुत अनुचित कर रहे हैं। जो इन्द्र तीनों लोकों के राजा हैं, उनको इस प्रकार आपको यज्ञ कुंड में जलाना न चाहिये।"

हाथ जोड कर जनमेजय ने कहा—'महाराज! मेरा कोई

इन्द्र से वैर थोड़ा ही है। इन्द्र तक्षक को छोड़ दें, मैं उन्हें न बुलाऊँगा। मैं तो तक्षक को मारना चाहता हूँ।"

देव गुरु बृहस्पति जी ने कहा—"तक्षक के पीछे आप क्यों पड़े हैं, राजेन्द्र ?"

जनमेजय ने रोष में भर कर कहा—"महाराज उसने मेरे पिता को मारा है, मैं उसे छोड़ नहीं सकता। अपने पिता की मृत्यु का बदला मैं अवश्य लूँगा।"

बृहस्पति जी ने बड़े प्रेम से जनमेजय के कंधे पर हाथ रख कर कहा—"अरे, भैया ! तुम इतने बुद्धिमान होकर ऐसी बच्चों की-सी बातें करते हो। देखो, भैया। बिना मृत्यु के कौन किसे मार सकता है। जीवों का जीवन, मरण तथा सद्गति और दुर्गति अपने कर्मों के द्वारा होती है। दूसरे जन्म में जिसे हमने दुःख दिया है, वह शत्रु, मित्र तथा पुत्रादि बन कर हमें दुख देगा। दूसरे जन्मों में जिसे हमने मारा है, वह मृत्यु का कारण बन कर हमें मारेगा। सुख दुख देने वाला कोई दूसरा नहीं है। अपने ही कृत कर्मों से सुख मिलता है और अपने ही कर्मों से दुख।"

राजा जनमेजय ने कहा—"भगवान् ! सर्पादि के द्वारा काटने से मृत्यु होती है, उसे तो अकाल मृत्यु कहते हैं।"

बृहस्पति जी अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"भैया ! अकाल में कभी कोई काम होता ही नहीं सब काम काल से ही होता है। अकाल में मृत्यु हो कैसे सकती है। जिसकी जिसके द्वारा जब जैसे मृत्यु बदी होगी उसकी उसके द्वारा तभी तैसे ही मृत्यु होगी। अकाल मृत्यु का अर्थ है। बिना अवसर के मृत्यु। जैसे कोई २५ वर्ष का युवक है, उसे सर्प ने डस लिया तो उसकी अकाल मृत्यु हो गयी। अर्थात् उसके मरने का यह समय नहीं था, किन्तु उसकी मृत्यु ऐसी ही बदी थी। वह २५ वर्ष से एक

पल भी अधिक नहीं जी सकता था। उसके मरने का यह समय निश्चित था। मृत्यु प्रत्यक्ष नहीं आती। वह कभी सर्प का रूप रख लेती है। कभी, स्त्री का, कभी चोर का, कभी अग्नि का, कभी बिजली का कभी क्षुधा, पिपासा तथा व्याधि का रूप बना लेती है। मृत्यु किसी को कारण बना कर मारती है। काल किसी को प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर नहीं होता। जहाँ जिसका काल आ जाता है, वहीं उसकी मृत्यु का कोई न कोई कारण उपस्थित हो जाता है। काल ही अनेक रूप रख कर कारण बन जाता है।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! काल कैसे नाना रूप रख लेता है?"

सूत जी ने कहा—"महाराज! संसार में कौन सी ऐसी वस्तु है जिससे मृत्यु का भय न हो। संसार में पग पग पर भय है। सभी के द्वारा मृत्यु हो सकती है। लोग कहते हैं अमुक आदमी खुले में था इसलिये बिजली गिरने से मर गया यदि सुरक्षित स्थान में होता तो न मरता। यदि सुरक्षित स्थान में ही मृत्यु से बच जाय, तो समुद्र के भीतर सहस्रों हाथ नीचे जल में मछलियां रहती हैं उनकी मृत्यु न हो। हिम प्रधान द्वीपों में भालू हिमखंडों के नीचे रहते हैं, वहाँ भी मृत्यु पहुँच जाती है। नाना रूपों में काल ही क्रीडा कर रहा है। इस विषय में एक बड़ी सुन्दर कथा है।"

एक राजा था। उसने महाकालेश्वर शिव जी की बहुत दिनों तक आराधना की। आशुतोष भगवान् महा कालेश्वर ने उसकी आराधना से सन्तुष्ट होकर उसे दर्शन दिया और वर माँगने को कहा। राजा ने हाथ जोड़ कर विनती की—"प्रभो! आपकी लीला दुर्निवार है, मैं आपकी लीला प्रत्यक्ष देख सकूँ ऐसा वर मुझे दीजिये।"

तथास्तु, कह कर भगवान् भूतनाथ अन्तर्धान हो गये। कुछ

काल के पश्चात् एक दिन राजा रात्रि में वेष बदल कर घूम रहे थे, कि उन्हें हाथ में अस्त्र लिये एक चोर दिखायी दिया। राजा छिप कर उसके पीछे लग गये। आगे एक व्यक्ति सुवर्ण की कुछ मुद्रायें छिपा कर जा रहा था, उस चोर ने क्षण में उसका सिर धड़ से पृथक कर दिया। राजा ज्यों ही उसे पकड़ने दौड़े कि वह चोर सर्प बन गया।"

राजा बड़े आश्चर्य में पड़ गये। वे उस सर्प के पीछे चले, सर्प एक नदी के निकट पहुँच कर ठहर गया। राजा भी एक ओर छिप गये। इतने में ही मनुष्यों से भरी एक नौका आयी सर्प दौड़ कर उस पर चढ़ गया। सर्प को देखकर उस नौका के यात्रियों में भगदड़ मच गयी। सब एक ओर हो गये नौका उलट गयी सब यात्री मर गये। सर्प वहाँ से उतरा बालू में आकर लोटने लगा तुरंत सर्प से वह एक बड़ी ही सुन्दरी स्त्री बन गयी। दिन निकल आया था स्त्री एक ओर चल दी। राजा भी उसके पीछे पीछे चल दिया। आगे दो भाई आते हुए दिखायी दिये। वे सैनिक थे अवकाश में घर जा रहे थे। वे एक कूए के पास बैठे वह स्त्री भी वहाँ बैठ गयी और बड़े भाई की ओर कुटिल कटाक्षों से देखने लगी। अब तो उस सैनिक का भी साहस हुआ। उसने पूछा—'देवि! तुम कौन हो?'

उस स्त्री ने कहा—"क्या बताऊँ मैं तो विपत्ति की मारी हूँ। मेरे माता पिता महामारी में मर गये। मैं अनाथ हुई किसी आश्रय की खोज में भटक रही हूँ।"

इतनी सुन्दरी युवती को देखकर उस सैनिक का चित्त चंचल हो उठा। उसने बड़े स्नेह से कहा—"देवि! हम सब प्रकार से तुम्हारी सहायता करने को तत्पर हैं। तुम हमारे साथ चलो।"

उसने लजाते हुए कहा—'मैं तो यह चाहती ही हूँ, मुझे कोई अपना ले। तुम लोग तो बली हो कुलीन हो क्षत्रिय प्रतीत होते

हो, मेरी जाति के ही हो, किन्तु मुझे भूख बहुत लगी है, तीन दिन से मैंने कुछ खाया नहीं पहिले मुझे कुछ खाने को दो।"

यह सुन कर बड़े भाई ने कहा—"नगर यहाँ से बहुत दूर नहीं मैं, अभी तुम्हारे लिये मिठाई लाता हूँ।" यह कह कर वह शीघ्रता से मिठाई लेने चला गया।"

उसके चले जाने पर वह स्त्री उस छोटे से बोली—"सुनते हो, लाला जी! मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।"

उसने कहा—"देवि! तुम कैसी धर्म के विरुद्ध बातें करती हो। तुमको मेरे भाई ने अपना लिया, तुम मेरी भाभी हुई बड़ी भाभी माता के समान होती है।"

इस पर वह बोली—"तुम बड़े भोले हो। अजी मेरा उनसे कोई विवाह तो हुआ नहीं। जब तक विवाह नहीं होता, कन्या की कितने वरों से बात चीत चलती है। जिससे बात चीत चले यदि वही वर बन जाय तब तो अनर्थ ही हो जाय। सैकड़ों वर बन जाते हैं। माता पिता बहुतों से बात करते हैं। जिसके साथ अग्नि को साक्षी देकर विवाह हो जाता है। वही पति होता है मेरी और तुम्हारे भाई की तो स्पष्ट बातें भी नहीं हुईं। अब मैं तुम से ही विवाह करना चाहती हूँ।"

इस पर उस छोटे सैनिक ने कहा—"मेरे भाई ने तो मन से तुम्हें वरण कर ही लिया अब मेरे लिये तुम पूजनीया बन गयीं।"

यह सुनकर वह सुन्दरी बोली—'तुम निरे बुद्धू ही रहे। तुम मेरी कितनी अवस्था समझते हो?"

उसने कहा—"यही १५-१६ वर्ष की होगी?"

सुन्दरी ने पूछा—"अच्छा तुम्हारी कितनी है?"

उसने कहा—"मेरी भी २४-२५ वर्ष की होगी।"

सुन्दरी ने पूछा—'तुम्हारे भाई की?"

उसने कहा—"उनकी भी ४५, ४६ की होगी।"

तब सते हुए उस सुन्दरी ने कहा—"अब तुम्हीं बताओ १५, १६ वर्ष की सुन्दरी स्त्री २४ २५ वर्ष के युवक के विवाह करना चाहेगी कि ४५-४६ वर्ष के बुड्ढे घूँसट से। तुम भी कितने मूर्ख हो, कि मैं तुम्हें अपनाना चाहती हूँ और तुम मिथ्या धर्म की दुहाई देकर मुझे ठुकरा रहे हो।"

छोटे सैनिक ने कहा—"देवि! तुम काम के वशीभूत होकर ऐसी बातें कर रही हो। मैं अपने भाई की अपनायी हुई वस्तु पर कभी भी चित्त न चलाऊँगा।"

उस स्त्री ने रोष में भर कर कहा—"अच्छी बात है तुम मेरी बात नहीं मानते तो इसका फल चाखो।" यह कह कर वह धूलि में लौट गयी। अपने हाथ अपने कपड़े फाड़ लिये मुख पर नखों से चिन्ह बना लिये और रोने लगी। तब तक बड़ा सैनिक भाई भी आ गया। उस सुन्दरी की ऐसी दशा देखकर वह हक्का बक्का रह गया। उसने पूछा—"क्यों क्यों क्या हुआ? क्या हुआ?"

उस सुन्दरी ने रोष में भर कर कहा—"हुआ क्या पत्थर। तुम्हारा यह छोटा भाई मेरी लाज ही लेना चाहता था। यह मेरे साथ बलात्कार करने को उद्यत था। जैसे तैसे मैंने अपने धर्म को बचाया है।"

यह सुन कर क्रोध से बड़े भाई की आँखें लाल हो गयीं। उसने कहा—"क्यों रे नीच! तू ऐसा पाप करने को उद्यत था।"

इस पर उस भाई ने कहा—"भैया जी! तुम नीच कुलटा स्त्री के बातों में आ गये। यह तो ठगिनी चरित्र भ्रष्टा है। इसे छोड़ो और अपने घर चलो। इस प्रकार मार्ग चलते किसी अनजान स्त्री को न अपनाना चाहिये।"

इस पर रोष में भर कर बड़े ने कहा—"मैं तेरी सब चतुरता समझता हूँ, इस प्रकार मुझे समझा कर तू इसे अपनाना चाहता है।"

वह स्त्री रोते रोते बोली—"यही तो यह मुझसे कह रहा था, कि मैं युवक हूँ, सुन्दर हूँ, उस घूँसट से क्यों ब्याह करती हो, मेरे साथ भाग चलो।"

इस पर उस बडे ने कहा—"जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं तब तक एक नहीं लाख ऐसे आ जायँ तो भी तुम्हे कोई हम से पृथक नहीं कर सकता। इसने यदि तुम्हारे शरीर से हाथ भी लगाया, तो यह अभी यहीं ढेरी हो जायगा।"

इस पर छोटे भाई को भी क्रोध आ गया। उसने रोष मे भर कर कहा—"तुम इस मार्ग चलती कुलटा वेश्या की बातों का तो विश्वास करते हो, मैं तुम्हारा सगा भाई हूँ मेरी बात का तनिक भी विश्वास नहीं। यह कोई ठगिनी है ठगिनी।"

इस पर बडे भाई ने कहा—"बहुत बकबक मत करे। फिर ऐसी बात मुख से निकाली तो जीभ निकाल लूँगा।" अब क्या था दोनो ही क्रोध मे भर गये। दोनों ने अपनी अपनी बन्दूकें निकाल लीं। उसने उस पर गोली छोडी उसने उस पर दोनों ही मरकर गिर गये। वह स्त्री तुरन्त सन्यासी बन गयी। और नगर की ओर चल दी।"

राजा भी उसके पीछे चल दिये। अब सन्यासीजी जिसे शाप दे देते वही मर जाता। फिर एक क्षण में वही आकाश मे बिजली बनकर उड गये और कुछ लोग काम कर रहे थे उनके ऊपर गिर गये। वे सबके सब मर गये। क्षण भर में वही बिजली से सिंह हो गया। लोगों को पकडकर चबाने लगा। फिर सिंह से सैनिक बन गया और शस्त्र लेकर चला। अब राजा से नहीं रहा गया। राजा ने आगे बढ़कर उसे पकडकर कहा—मैं जबसे देख रहा हूँ आप अनेक रूप रख लेते हैं और अनेक जीवों को मारते हैं आप कौन हैं? क्यों निर्दय होकर सबका संहार कर रहे हैं?"

हँसकर उस व्यक्ति ने कहा—"राजन्! मैं महाकालेश्वर रुद्र ही हूँ। आपकी इच्छानुसार मैंने अपने कुछ रूप दिखाये। नहीं तो मेरे वास्तविक रूप को कोई भी नहीं देख सकता। मैं अनेक रूपों से सबके सम्मुख जीवों का संहार करता हूँ, किन्तु न तो मुझे कोई देखता है न दोष ही देता है। लोग सर्प, चोर, बिजली, अग्नि, क्षुधा, तृषा, सिंह, व्याघ्र, विष तथा रोग आदि का नाम लेते हैं कि इन कारणों से मृत्यु हुई। वास्तव में मैं ही अनेक रूपों में होकर प्राणियों को उनके कर्मानुसार मारता रहता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इसी बात को देवगुरु बृहस्पति राजा जनमेजय को समझा रहे हैं, कि राजन्! आपकी पिता की मृत्यु में तक्षक का कोई भी दोष नहीं था यह तो ऐसा होना ही था काल की गति दुर्निवार है। इसलिये आप इस सर्पयज्ञ को बन्द-कर दीजिये।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मैंने तो प्रतिज्ञा की है, कि मैं बिना सर्पों का नाश किये इस यज्ञ को बन्द न करूँगा।"

यह सुनकर बृहस्पतिजी ने कहा—"राजन्! यदि अनुचित प्रतिज्ञा भ्रमवश कर ली हो, तो उसे त्यागने में ही कल्याण है। आपके पिता को एक तक्षक ने काटा था। इन इतने निरपराध सर्पों ने तो आपका कुछ बिगाड़ा नहीं था। इन सर्पों की मृत्यु भी इसी प्रकार आप के यज्ञ में होनी थी। इन सबको इनकी माता कद्रू का शाप था कि तुम जनमेजय की सर्प यज्ञ में भस्म होंगे। सो, उस शापवश जिनको भस्म होना था वे हो गये। सब मनुष्यों के द्वारा अपना अपना प्रारब्ध ही भोगा जाता है। सबकी मृत्यु का संयोग पहिले से ही निश्चित रहता है। तुम्हारे पिता की मृत्युका संयोग तक्षक से ही था और इन सर्पों की मृत्यु का संयोग आपके सर्पयज्ञ से ही था प्रारब्धवश जो होना था, सो

हो गया। तक्षक की मृत्यु का सयोग आपके सपसत्र से नहीं है। राजन्! आप लाख प्रयत्न करो तक्षक आपके द्वारा नहीं मारा जा सकता। जब देवता और दैत्यों ने मिलकर मदराचल को रई और नागराज वासुकी को नेति बनाकर समुद्र मथा था और उसमे से अमृत निकाला था, उसे इस तक्षक ने भी पी लिया था। इसीसे यह अजर-अमर हो गया है। अब व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं। जो होना था सो हो गया। अब इस हिसामय दारुण यज्ञ को बन्द करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवगुरु बृहस्पतिजी के कहने से महाराज जनमेजय ने उस यज्ञ को बद कर दिया। देवेन्द्र तक्षक के सहित स्वर्गलोक को पुनः लौट गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो सुना राजा जनमेजय के यज्ञ को आस्तीक मुनि ने बन्द कराया।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! आस्तीक मुनिका तो जन्म ही इसी काम के लिये हुआ था। वासुकी नाग को पता था कि माता के शाप से जनमेजय के यज्ञ में सर्प जाति का विनाश होगा और उसे मेरे बहिन जरत्कारु के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ही रोक सकेगा। इसीलिये वह अपनी बहिन के लिये किसी महातपस्वी ऋषि की खोज में था।"

इधर जरत्कारु नाम के ऋषि विवाह करना नहीं चाहते थे। जब उन्होंने अपने पितरों की दुर्दशा देखी और पितरों ने उन्हें विवाह करने की आज्ञा दी तो उन्होंने प्रतिज्ञा की यदि मेरे ही नाम की कोई कन्या हो और उसके अभिभावक स्वय ही आकर मुझे कन्या दे तो मैं विवाह कर लूँगा। वासुकी को जब पता चला तो उसने अपनी बहिन जरत्कारू का जरत्कारु मुनि से विवाह कर दिया। जरत्कारु निठल्ले थे कुछ आजीविका तो थी नहीं। अत्यन्त

उग्र स्वभाव के थे, इसलिये वासुकी ने उन्हें घर जमाई रख लिया। वे नागलोक में रहकर जरत्कारु के साथ गृही धर्म का पालन करते थे। इतने तेजस्वी और उग्र थे कि जरत्कारु उनसे डरती रहती। एक दिन वे अपनी पत्नी की जंघा पर सिर रखकर दिन में सो रहे थे। जरत्कारु डरी कि कहीं इनकी सायंकालीन सन्ध्या का लोप हो गया, तो न जाने कितना क्रोध करेंगे।" यही सोचकर उसने शनैः शनैः इन्हें जगाया। जगते ही ये आग बबूला हो गये और डाँटकर पत्नी से पूछा—"हे नागकुमारी तूने मुझे कच्ची नींद में क्यों जगाया। अब मैं तेरे साथ न रहूँगा।"

स्त्री ने अपने को निर्दोष बताया किन्तु मुनि माने नहीं। स्त्री को छोड़कर चले गये। तब वासुकी ने पूछा—"तेरे पेट में मुनि से गर्भ है।"

उसने लजाते हुए कहा—"अस्ति, अस्ति अर्थात् गर्भ है।"

उसी से जो पुत्र हुए वे आस्तीक मुनि हुए। वे नागलोक में ही बढ़े थे। जनमेजय का जब सर्प सत्र हुआ तो वासुकी नाग ने आस्तीक मुनि को भेजा। पहिले तो द्वारपाल प्रहरियों ने आस्तीक मुनि को भीतर जाने ही न दिया, जब बाहर से ही आस्तीक मुनि राजा की उच्च स्वर में स्तुति करने लगे तब उससे प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें बुलाया और वर माँगने को कहा। आस्तीक मुनि ने सर्प यज्ञ को बंद करने का वर माँगा राजा उन्हें भाँति भाँति के लोभ देकर दूसरा वर माँगने को कह रहे थे। तभी देव गुरु बृहस्पति जी आ गये। उन्होंने भी आस्तीक के वचनों का समर्थन किया। तक्षक और देवेन्द्र को जलाने को मना किया। भावी प्रबल समझकर राजा ने उस सर्प यज्ञ को बन्द कर दिया। तथा बृहस्पतिजी की विधि सहित पूजा की। सब ब्राह्मणों ने राजा को आशीर्वाद दिया। सबको बड़ी प्रसन्नता हुई।"

इसपर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! सभी जानते हैं, प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता। फिर भी जब अपने विरुद्ध कोई घटना

होती है तो बड़े बड़े ज्ञानियों को क्रोध आ जाता है, वे भी मोह में फँस जाते हैं, यह क्या बात है?"

इसपर गम्भीर होकर सूतजी बोले—'भगवन! इस प्रश्न का न जाने मैंने कितनी बार उत्तर दिया है और न जाने आगे कितनी बार इसी उत्तर को दुहराऊँगा। भगवन यह सब उन सर्वात्मा भगवान् विष्णु की नहीं दिखायी देनेवाली महामाया ही है। जिस माया से भगवान् के अंश भूत जीव इन सत्वादि गुणों की वृत्तियों द्वारा संसार में दिखायी देनेवाले देह, गेह तथा स्वजनादिकों में

विमोहित हो जाते हैं। इस माया को सभी ने अबाधनीया कहा है। भगवान् ही इसका निवारण कर सकें तो यह निवृत्त होती है। इस माया के वशो होकर ही जीव नाना प्रकार के, कर्मों को करता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इस माया के चक्कर से कैसे बचें ! इसका भी हमें कोई सरल सा उपाय बता दीजिये।"

इसपर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! चाहें सरल कहो या छुरे की धार कहो इस माया से बचने का एक ही उपाय है।"

शौनक बोले—"वह कौन सा उपाय है सूतजी !"

सूतजी ने कहा—'महाराज ! जितनी ये नाना भाँति की अहंकारादि ऊर्मियाँ हैं, इन सब का बाध करके परमात्म पद में लीन हो जाना सर्वात्मा सर्वेश्वर की ही एकमात्र शरण में जाना। माया के समझने के पूर्व माया पति को समझ लेना चाहिये।"

शौनक जी ने कहा—'सूतजी ! उन माया पति मायेश के ही सम्बन्ध में हमें समझाइये।"

सूतजी बोले—"भगवन् ! श्रुतियों में उन श्री हरि को मायावी कहा है। इन्द्रो मायावी अर्थात् मायावाले। भगवान् के अतिरिक्त माया का अन्य आश्रय ही कहाँ हो सकता है, क्योंकि सर्वाश्रय दाता तो वे प्रभु ही हैं। भगवान् को मायावी मान लेने से फिर माया रहे भी तो वह बुद्धि में स्फुरित नहीं होती। जैसे कोई बाजीगर है, वह भाँति भाँति की माया दिखाकर दर्शकों को बुद्धि में विभ्रम डाल देता है। यदि तुम उस बाजीगर की शरण में जाओ और उस माया का रहस्य समझ लो, तो और लोग भले ही आश्चर्य चकित हो जायँ, किन्तु तुम नहीं हो सकते। फिर वह माया आपके निकट भी न आवेगा आपको फँसावेगी भी नहीं। कोई चोरी करने वाली स्त्री है, वह पहिले आकर तो अपने को सबके

सामने कुलवती प्रकट करती है और लोगों की आँखों में धूल झोंककर चुपके से उन्हें फँसा लेती है उनकी जेब काटती है, किन्तु तुम उसे जान जाओ। और उसे भी विदित हो जाय कि ये हमारे रहस्य को समझ गये, तो फिर वह तुमसे आँखें मिलाना तो दूर रहा पास में भी न फटकेगी दूसरों को भले ही फँसावे आपका कुछ भी न बिगाड सकेगी। दूसरे लोग उसके सौंदर्य के विषय में भले ही वाद विवाद करें, किन्तु तुम्हारा तो उसके सम्बन्ध में कोई विवाद रहेगा ही नहीं और न वह तुम्हारे निकट आवेगी ही। इसी प्रकार आत्मवादी गण जब आत्मतत्व का विचार करते हैं, भगवत् तत्व का विमर्श करते हैं, तो वहाँ यह ठगिनी माया निर्भयता पूर्वक नहीं रह सकती। तब यह नाना प्रकार की विचित्र विचित्र संकल्प करने वाला, माया के आश्रित रहनेवाला मन भी नहीं ठहर सकता यह भी वहाँ जाकर शान्त हो जाता है अर्थात इसका भी अन्त हो जाता है।

श्री हरि के स्वरूप में सभी प्रपञ्च विलीन हो जाता है वहाँ न सृष्टि रहती है न सृष्टि को उत्पन्न करने वाले, बढाने वाले और फैलाने वाले उपकरण ही। वहाँ साध्य साधन का भेद भाव भी नहीं रहता। जीव भाव वहाँ सर्वथा विलीन हो जाता है, फिर सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से युक्त अहङ्कार तो ठहर ही नहीं सकता है। उस समय बाध्य बाधक भाव से रहित केवल परमात्म तत्व ही अवशेष रह जाता है। ध्याता और ध्यान एक मात्र ध्येय में एकी भूत हो जाते हैं।

शौनकजी ने पूछा— 'सूतजी! ध्येय क्या है?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! आत्मा के अतिरिक्त जितना यह अनात्मभाव है इसका जहाँ जाकर सर्वथा बाध हो जाय। एकमात्र आत्म तत्व ही आत्म तत्व अवशिष्ट रह जाय उसी को मनीषियों ने ध्येय बताया है। उन मनीषियों का परब्रह्म परमात्मा

के अतिरिक्त अन्य किसी में भी प्रेम नहीं होता। वे अति सूक्ष्म बुद्धि से नेति नेति वाक्यों द्वारा अनात्म तत्व का बाध कर देते हैं और एकमात्र सच्चिदानन्द घन विग्रह श्री हरि को ही ध्येय मान कर उसी में सभी का पर्यवसान कर देते हैं। भगवान् वासुदेव के परम पद को माया मोहित प्राणी प्राप्त नहीं कर सकते। जिनमें यह मैं हूँ, यह मेरा घर है, यह मेरी देह है, यह दूसरे की है ऐसी अहंता ममता रूप दुर्जनता नहीं है। जो समस्त भूतों को एकमात्र आत्मा में ही देखते हैं वे ही इस दुर्लभ परम पद को प्राप्त कर सकते हैं।

शौनक जी ने कहा—"सूत जी! परम पद तो आपने बताया, फिर भी महाभाग इसे प्राप्त करने का साधन तो बता ही दें। यह सत्य है कि भगवान् की शरण जाने से परम पद की प्राप्ति होती है, किन्तु शरणागत होने की भी तो प्रक्रिया होगी। उसे हमें और बता दें।"

यह सुनकर सूत जी कुछ देर चुप रहे और गम्भीर होकर बोले—"महाराज! एकबार कहलाऊँ चाहें सहस्र बार। जबतक मन से ईर्ष्या द्वेष नहीं निकलता तब तक परम पद की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जो अज्ञानी लोग हैं वे ऐसे ऐसे कठोर वचन कहते हैं, जो हृदय में आर पार हो जायँ। निंदक और द्वेषी पुरुष सदा पीठ पीछे और सामने भी दूसरों की निंदा करते रहते हैं। दूसरों में रायी भर भी दोष होगा तो उसे पहाड़ की भाँति प्रकट करेंगे। उनकी वाणी में ऐसा विष भरा रहता है, कि जब बोलते हैं कटाक्ष वचन ही बोलते हैं। ऐसे दुर्मुख पुरुषों के दुर्वचनों को जो बिना किसी प्रतिकार के सहन कर लेते हैं, और मन में सोच लेते हैं, कि यह सब माया की करतूत है। अपकार करने वाले का भी जो कभी किसी का अहङ्कार में भरकर अपमान नहीं करते, सब बातों को हँसकर टाल देते हैं। जो इस शरीर का आश्रय लेकर

किसी से वैर भाव नहीं करते हैं, वे ही इस परमपद के अधिकारी होते हैं। दुर्जनों के दुर्वचनों को सहना, प्राणीमात्र का हृदय से सम्मान करना और कभी किसी से भूलकर भी वैर न करना यही शरणागत होने की प्रक्रिया है। इन्हीं के द्वारा परमपद की प्राप्ति हो सकती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मुझसे जैसी कुछ बनी यह कथा आपसे कही। मेरे गुरु के भी गुरु मेरे पूज्य पितृदेव के भी गुरु भगवान् व्यास देव ने जब वेदों का विभाग किया। अपने पैलादि शिष्यों को संहितायें दीं, तब मेरे पिताजी को भी पुराणों का उपदेश दिया था। सूत जाति के होने से हमलोग मूल वेदों के पठन पाठन के तो अधिकारी हैं नहीं, किन्तु वेदों का अर्थ जो पुराण रूप में कहा गया है, उसके पढ़ने का सुनाने का अधिकार के नाते मैं आप सब के सम्मुख उच्चासन पर बैठकर पुराणों की कथा सुना रहा हूँ। जितने ऋषि पुत्र थे, सबको मेरे बाबा गुरु ने एक एक वेद की संहिता दी। पहिले तो वेद एक ही था। सर्व-साधारण की सुविधा के लिये भगवान् व्यास ने उसे चार भागों में विभक्त किया। फिर उनकी सहस्रों शाखायें बनीं। इस प्रकार एक ही वेद की बहुत सी शाखायें हो गयीं। भिन्न भिन्न शाखाओं के ऋषि अपनी अपनी शाखा का विधि पूर्वक अध्ययन करने लगे। इसी प्रकार पुराण भी पहिले एक ही था। उसे भी १८ भागों में विभक्त कर दिया फिर उप पुराण ओपपुराण आदि बने। वेदों का व्यास करने से ही मेरे दादा गुरु वेद व्यास कहलाये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने महाराज परीक्षित् के निधन तक की यह दिव्य कथा सुनायी। अब उपसंहार में हम कुछ प्रश्न आपसे और करना चाहते हैं आपने तो सभी पुराणों को पढ़ा है। अन्य पुराणों के अनुसार हमारे प्रश्नों का उत्तर दें।"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! आज्ञा करें, मैं यथा मति आपके प्रश्नों का अवश्य उत्तर दूँगा।"

शौनक जी बोले—"पहिले तो आप हमें यह बतावें कि भगवान् व्यास देव ने जो ऋक, यजु, साम और अथर्व वेद की संहितायें अपने पैल, वैशम्पायन, जैमिनी और सुमन्तु इन चार शिष्यों को पढ़ायीं। इन चारों वेदाचार्यों ने अपने वेद का शाखाओं में किस प्रकार विभाग किया। किस वेद की कौन कौन सी शाखायें हुईं। जब आप इस प्रश्न का उत्तर दे देंगे, तब हम कुछ प्रश्न आपसे और करेंगे।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! आपका यह प्रश्न बड़ा ही गूढ़ है। वेदों की अनेकों शाखायें हैं। वे सब अब उपलब्ध भी नहीं हैं। फिर भी मैं यथा मति अत्यन्त संक्षेप में उसका उत्तर दूँगा।"

छप्पय

लागे पढ़िबे मन्त्र इन्द्र सिंहासन हाल्यो।
सुर गुरु मखमहँ आइ नृपहिं समुझाइ निवारयो॥
मानी मुनि की मीख सर्पमख नृप ने त्यागो।
दियो द्विजनि उपदेश हिये भूपति के लाग्यो॥
हरि माया अतिशय प्रबल, पावैं पार अनन्य हैं।
वैर भाव तजि हरि भजहिं, ते नर जग में धन्य हैं॥

श्री भागवत-दर्शन :-

भागवती कथा

(साठवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी), प्रयाग

प्रथम संस्करण] वैशाख सम्वत् २०११ वि० [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग ।

प्रकाशक
संकीर्तन भवन प्रतिष्ठानपुर
झूसी, प्रयाग

मुद्रक
भागवत प्रेस
झूसी, प्रयाग

विषय सूची

खण्ड ६०

अ० संख्या	विषय		पृष्ठ संख्या
	प्रस्तावना व भूमिका		अरंभ में
१३५८—	वेद और उसकी शाखायें	...	१
१३५९—	यजुर्वेद की दो शाखा होने की कथा	...	१२
१३६०—	साम, अथर्व और दो पुराणों की शाखाओं का वर्णन		२१
१३६१—	मार्कण्डेय मुनि की तपस्या	...	३५
१३६२—	मार्कण्डेय मुनि को नरनारायण के दर्शन	...	४८
१३६३—	" " माया "	...	५९
१३६४—	बालमुकुन्द के उदर में विश्व रूप दर्शन	...	६७
१३६५—	मार्कण्डेय मुनि पर कपर्दी की कृपा	...	७५
१३६६—	भगवान की अंग उपांग आयुधादि रूपा विभूति		९९
१३६७—	द्वादशादित्य-गण वर्णन	...	१०८
१३६८—	लेखक के सम्बन्ध में	...	११८
१३६९—	प्रथमाह की विषय सूची	...	१३०
१३७०—	द्वितीयाह की विषय सूची	...	१४१
१३७१—	तृतीयाह की विषय सूची	...	१५२
१३७२—	चतुर्थाह की विषय सूची	...	१६८
१३७३—	" बची विषय सूची	...	१७८
१३७४—	पञ्चमाह की विषय सूची (प्रथम)	...	१८९
१३७५—	" " " (द्वितीय)	...	१९८
१३७६—	" " " (तृतीया)	...	२०८

प्रकाशक
संकीर्तन भवन प्रतिष्ठानपुर
झूसी, प्रयाग

भागवती कथा लिखने की वासना

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्धमहेऽङ्ग दुःखं सुखं वा गुणकर्म संगात् ।
आस्थाय तत्तत् यदयुङ्क्त नाथश्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः॥

(श्री भा० ५ स्कं० १ अ० १५ श्लो०

छप्पय

बँधे भाग्य की डोरि वासना सब करवावै ।
कबहूँ पटकै स्वरग नरक कबहूँ ले जावै ॥
प्रानी बनि के विवश करै इच्छा बिनु कारज ।
कबहुँ सत्व बढ़ि जाय तमोगुन बढ़ै कबहुँ रज ॥
जब तक क्षय नहिं वासना, होवै तब तक कछु न वश ।
पुन्य पाप शुभ अशुभ नर, करै करम ह्वै के विवश ॥

सत् असत् वासनाओं का पुतला यह प्राणी अपने अभिमान के वशीभूत होकर कैसी कैसी बातें सोचता है, किंतु होता वही है, जो होने वाला होता है। कब कौन सी वासना उदय हो जाय, इसे कौन जानता है। इसीलिये ऋषियों ने वर्णाश्रम की व्यवस्था की। पुरुष के प्राणी के तीन ही अर्थ हैं, धर्म करने की इच्छा अर्थोपार्जन की इच्छा और काम भोग की इच्छा इसीलिये तीन को पुरुषार्थ कहा है, मोक्ष की भी इच्छा होती है, किन्तु वह सभी इच्छा से परम है, परे है—इसके अनन्तर कोई इच्छा शेष नहीं रहता। मोह का क्षय हो जाता है। इसीलिये उसका नाम परम पुरुषार्थ या मोक्ष है। इस जीवन में भी मनुष्य ममता के

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१३७९—षष्ठाह की विषय सूची	...	२१४
१३७८—सप्ताह की विषय सूची (प्रथम)	...	२२६
१३७९—सप्ताह की शेष विषय सूची और माहात्म्य	...	२३५
१३८०—श्रीमद्भागवत का सार—नाम संकीर्तन	...	२४०
१३८१—सब की पावनता नाम के ही कारण है	...	२४९
१३८२—भक्तिहीन वर्णाश्रम धर्म अशोभन है	...	२५६
१३८३—विशेष स्थानों में भागवत श्रवण माहात्म्य	...	२६४
१३८४—भागवती कथा कामधेनु है	...	२७१
१३८५—कलिकलुष काटिनी भागवती कथा	...	२७९
१३८६—नमो नमः	...	२८५
१३८७—अष्टादश पुराणों में श्रेष्ठ भागवत	...	२९२
१३८८—श्रीमद्भागवत-दान तथा पाठ माहात्म्य	...	२९९
१३८९—सत्यं परं धीमहि	...	३०५
१३९०—अन्तिम प्रणाम	...	३१०

—::०::—

भागवती कथा लिखने की वासना

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्धमहेऽङ्ग दुःखं सुखं वा गुणकर्म संगात् ।
आस्थाय तत्तत् यदयुङ्क्त नाथश्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः॥

(श्री भा० ५ स्क० १ अ० १५ श्लो०

छप्पय

बँधे भाग्य की डोरि वासना सब करवावे ।
कबहूँ पटके स्वरग नरक कबहूँ ले जावे ॥
प्रानी बनि के विवश करै इच्छा बिनु कारज ।
कबहुँ सत्व बढ़ि जाय तमोगुन बढ़ै कबहुँ रज ॥
जब तक क्षय नहिं वासना, होवै तब तक कछु न वश ।
पुन्य पाप शुभ अशुभ नर, करै करम ह्वै के विवश ॥

सत् असत् वासनाओं का पुतला यह प्राणी अपने अभिमान के वशीभूत होकर कैसी कैसी बातें सोचता है, किंतु होता वही है, जो होने वाला होता है। कब कौन सी वासना उदय हो जाय, इसे कौन जानता है। इसीलिये ऋषियों ने वर्णाश्रम की व्यवस्था की। पुरुष के प्राणी के तीन ही अर्थ हैं, धर्म करने की इच्छा अर्थोपार्जन की इच्छा और काम भोग की इच्छा इसीलिये तीन को पुरुषार्थ कहा है, मोक्ष की भी इच्छा होती है, किन्तु वह सभी इच्छा से परम है, परे है—इसके अनन्तर कोई इच्छा शेष नहीं रहता। मोह का क्षय हो जाता है। इसीलिये उसका नाम परम पुरुषार्थ या मोक्ष है। इस जीवन में भी मनुष्य ममता के

क्षय होने से शरीर के अंत होने के पूर्व भी मुक्त हो सकता है, उसे जीवन मुक्त कहते हैं, किन्तु जीवन मुक्त होने पर भी शरीर का भोग शेष रह जाता है, कोई प्रारब्ध शेष रह जाता है तो उसका भोग मुक्त को भी करना पड़ता है, किन्तु उसमें उसकी आसक्ति नहीं रहती उसके लिये वह कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता।

वासनायें भीतर भरी रहती हैं, समय आने पर भोगका काल आने पर उसका कारण उपस्थित हो जाता है, वे बलवती बन जाती हैं। उसमें प्राणी सभी बातें भूल जाता है, विवश बन जाता है। विभांडक मुनि के पुत्र ऋष्य शृंग ने जन्म से लेकर युवावस्था तक कभी स्त्री का दर्शन नहीं किया था, वे स्त्री से उत्पन्न भी नहीं हुए थे, हरिणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, अर्थात् जन्म के समय भी उनका स्त्री के किसी अंग से स्पर्श नहीं हुआ था। उनके पिता को अनुभव था कि स्त्री दर्शन से मन में विकार उत्पन्न होता है। काम का एक नाम हृच्छय भी है, अर्थात् वह चुपचाप हृदय में पड़ा सोता रहता है और अवसर आने पर वह तुरन्त जग पड़ता है और प्रबल हो जाता है, अतः उन्होंने अपने पुत्र को स्त्री दर्शन से सर्वथा विमुख रखा। पुत्र को यह भी पता नहीं लगने दिया कि स्त्री नाम की कोई वस्तु भी संसार में होती है। घोर जंगल में पुत्र के साथ रहते, बड़ी सावधानी से सचेष्ट होकर उसकी रक्षा करते। केवल नैष्ठिक ब्रह्मचारियों से ही पुत्र को मिलने देते। उनकी इच्छा थी मेरा पुत्र अखंड ब्रह्मचारी बने। काम भी उनके हृदय में तान दुपट्टा सोता रहा। संयोग की बात वेश्या पुत्री आ गयी, उसने मुनि पुत्र का कस कर गाढ़ालिंगन किया मुनि पुत्र ने समझा यह भी कोई ब्रह्मचारी ही है, किन्तु वह तो काम जगाने वाली थी काम जाग पड़ा। किन्तु मुनि पुत्र को पता ही नहीं था, मेरे भीतर ही काम रूपी

शत्रु सो रहा है, यदि उसे पता होता तो वह कभी कुछ काम के शत्रु अधर्म का आश्रय लेता, इस बात को छिपाता, उसने पिता से सच सच कह दी। किन्तु पिता ने सत्य का आश्रय नहीं लिया। अधर्म के द्वारा धर्म की रक्षा करना चाहिये, झूठ बोलकर, भय दिखाकर, पुत्र को काम वासना से रोकना चाहा, किन्तु जगा हुआ काम बिना कुछ उपद्रव किये सोता ही नहीं। वह तो जहाँ जग पडा तहाँ कुछ अनर्थ करके ही हटेगा। विभांडक मुनि ने अपने पुत्र को बहुत समझाया—'बेटा! जिसे तुम मुनि पुत्र बताते हो, वह राक्षस है, अब वह कभी आवे तो उससे बात मत करना।'

किन्तु पुत्र के हृदय में सोया काम तो जाग उठा था, उसने मुनि पुत्र को भी रात भर नहीं सोने दिया, उसी ठगिनी—जिसे वह ऋषि पुत्र तपस्वी समझे बैठा था और वास्तव में जो कामिनी वेश्या पुत्री थी—का ध्यान करता रहा। दूसरे दिन वह फिर आयी। काम प्रबल हो गया था, उसने सर्व प्रथम अधर्म का आश्रय लिया, उसने पितृदेवोभव, इस वेदाज्ञा का उल्लंघन किया। पिता की आज्ञा के विरुद्ध वह वेश्या पुत्री के संग चला गया।

अजामिल भी विष्णु सहस्र नाम का पाठ करते हुए, संपूर्ण वेदाज्ञा का पालन करते हुए यज्ञ की समिधा लेने वन को गया था, उसे धर्म युक्त काम से तो परिचय था, किन्तु धर्म विरुद्ध काम से परिचय वन में ही हुआ और उस अधर्म युक्त काम ने उसे धर्म के पथ से विचलित कर दिया और पूरा अधर्मी बना दिया। उसने धर्म रक्षा के लिये प्रयत्न न किया हो सो बात नहीं, किन्तु अधर्म का पल्ला भारी रहा प्रारब्ध ने उसे पछाड़ दिया। जनसंग से विमुक्त होकर सौभरि मुनि जल में डूबकर तपस्या करते थे, हृच्छय वहाँ चिरकाल तक उनके हृदय में सोता

रहा। दुष्ट जाग पड़ा एक मीन के मैथुन धर्म के कारण इसमें दोष किसे दें? मीन को, जल को, मुनि को या हृच्छय को? हम तो समझते है प्रारब्ध के अतिरिक्त कोई दोषी इसमें नहीं।

मेरे एक परिचित महात्मा हैं। उन्होंने भगवन्नाम कीर्तन इतना अधिक किया है और कराया कि मेरी दृष्टि में इतना बड़ा नाम निष्ठ महात्मा इस युग मे दूसरा नहीं। वे मुझे अपने जीवन की एक अत्यन्त ही मर्म स्पर्शी कहानी सुनाते थे। वे कहते थे मैं निरन्तर अखंड भगवन्नाम लेता रहता था, करताल लेकर सदा हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे" इस मन्त्र का जोर जोर से कीर्तन करता और घूमता रहता। एक जाति की चमारिनि थी, उस पर मेरा मन ऐसा आसक्त हो गया, कि मैं उसी के पीछे फिरता। वह कहा बीनन जाती उसके पीछे पीछे फिरता रहता। वह घर आ जाती उसके द्वार पर बैठा रहता।' वे बड़े प्रतिष्ठित महात्मा थे, चमार दम्पति ने उनका बड़ा आदर किया, वे चकित रह गये। चमार ने पूछा—'महाराज आज्ञा करो मैं क्या करूं?" उन्होंने स्पष्ट कह दिया ऐसे ऐसे मेरा मन हो गया है।

चमार ने कहा—"मेरा बड़ा सौभाग्य!" उसे अच्छे वस्त्र पहिनाकर महात्माजी के साथ कर दिया, आप चाहे जहाँ इसे ले जायँ, जब तक चाहे रखें, जब चाहें यहाँ कर दें। स्त्री ने भी इसमें कोई आपत्ति नहीं की। महात्मा उस स्त्री का पैर छूकर चले गये. जब भी वे आते चमार दम्पति उनका स्वागत करते, वे कुछ भी नहीं बोलते केवल पैर छूकर चले जाते। इतने से ही उनका मन उससे हट गया।"

यह कथा उन महात्मा ने स्वयं मुझे सुनाई थी, वे महात्मा कहीं चले नहीं गये हैं, अब भी हैं, उनके जीवन के एक नहीं

सैकड़ों हजारों ऐसे चमत्कार हैं, कि भारी से भारी रोग को उन्होंने भगवन्नाम के प्रभाव से अच्छा कर दिया और भी बहुत सी बातें हैं। जिन्हें मैं विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखता।

वासनायें कहीं बाहर से नहीं आतीं जैसे वृक्ष में पुष्प लग जाते हैं, फल लग जाते हैं, तो हम कहते हैं—पेड़ में तो फल पुष्प आ गये, वे कहीं बाहर से आकर थोड़े ही लग गये हैं, पेड़ के भीतर से ही उत्पन्न हो गये हैं, हम किसी से पूछते हैं—"तुम कैसे पड़े हो ?" वह कहता है मुझे ज्वर आ गया।" तो ज्वर कहीं बाहर से थोड़े ही आकर चढ़ गया, वह तो भीतर से ही आया है। वासनायें भीतर भरी हैं, दूसरों से उनका सम्बन्ध है, एक काल निश्चित है, जिस समय जैसी वासना उठने को होती है, वैसा संकल्प उठता है, मनुष्य वैसा ही ध्यान करने लग जाता है, उस संकल्प में आसक्ति हो जाती है, किसी की वासना पूरी हो जाती है, किसी की देर में पूरी होती है, किसी की दूसरे जन्म में और किसी की सहस्रों जन्मों में, जो वासना उठी है, वह पूरी होगी, चाहे स्वप्न में हो जाग्रत में हो। इसीलिये मोक्ष बिना निर्वासना बने संभव नहीं। आप अनुमान करें मनुष्य पल पल में क्षण क्षण में कितने संकल्प करता है, फिर उसे कितने भोग भोगने पड़ते होंगे। इसीलिये इन वासनाओं को अनन्त बताया है, भोग भी अनन्त हैं, जन्म भी अनन्त हैं, योनि भी अनन्त हैं, इसी का नाम संसार चक्र है। जब अनन्त भगवान् कृपा करें, अनुग्रह करें, दया करें, अनुकम्पा करें, अपना लें, अपना करके वरण कर लें तभी जीव का उद्धार हो सकता है, अपने साधनों ही से, केवल अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ से कोई इस असार संसार से पार नहीं जा सकता।

एक बात और है जो जितना ही साधन निष्ठ होगा उसका संकल्प भी उतना ही शीघ्र सिद्ध हो जायगा। ब्रह्माजी ने केवल

तप करके ही केवल संकल्प मात्र से ही इतनी बड़ी सृष्टि बना ली। मेरे संपर्क में अच्छे बुरे बहुत अधिक साधक आये हैं, और भिन्न विचार और संकल्प वाले आये हैं, मैंने देखा कि कुछ दिन साधन करने के अनन्तर ही उनकी छिपी हुई वासनायें जाग्रत हो उठती हैं, और वे प्रबल होती जाती हैं, तत्काल वे सिद्ध हो जाती है, फिर वे फँस जाते हैं, तदनन्तर उनके संकल्प में उतनी प्रबलता नहीं रहती। ध्यान कर रहे हैं, पूजन कर रहे हैं, उनके मन में संकल्प उठा ऐसे एक उत्सव करेंगे, उन उनको बुलावेंगे, वहाँ मंडप बनवावें, वहाँ अमुक को ठहरावेंगे, अमुक को यह काम सौंपेंगे।" फिर ध्यान आया अरे, हम यह क्या कर रहे हैं, कौन उत्सव के झंझट में पड़े.अपने तो भजन करें। फिर माला फेरने लगे, फिर वही धुनाबुनी आरम्भ हुई। यदि उत्सव हो तो ऐसा हो, वह हो अच्छी भाँति हो, धूम धाम से हो" फिर सोचा अरे, कौन झंझट में पड़े। रुपया माँगो उसकी लल्लो चप्पो करो क्या रखा है उन उत्सव फुत्सवों में, किन्तु फिर धुनाबुनी उस आदमी से कहे तो पाँच हजार रुपये तो वह दे ही सकता है, अमुक तो मुझमें बड़ी श्रद्धा रखता है, वह मेरी बात टालेगा नहीं। "फिर सोचा—अजी भाड़ में गया उत्सव। कौन प्रपञ्च में पड़े अपना एकांत में बैठकर भजन करो कौन खटपट में पड़े।"

किन्तु संकल्प तो हो गया, बार बार टालने से वह और पुष्ट होता है, संयोग से कोई आ गया, महाराज इतने रुपये किसी धर्म काम में लगा दो।" कार्य आरम्भ हो गया। संकल्प पूरा हो गया, तो उससे बड़ा करने की वासना तत्क्षण पुनः उत्पन्न हो जाती है, कम हुआ तो ग्लानि होती है, फिर कोई उपाय करके उससे बड़ा बड़ा करने की बात सोचते हैं, इसी प्रकार अच्छी बुरी सभी वासनायें उठती हैं, कभी बुरी वासनायें कुछ काल को

दब जाती है, अवसर आने पर वे फिर बड़े वेग से प्रकट होती हैं, प्राणी इन्हीं वासनाओंकी डोरियोंसे जकड़ा हुआ अवश होकर कार्य करता ही रहता है, शरीर जीर्ण हो जाता है, वासना जीर्ण नहीं होती वे और अधिकाधिक बढ़ती ही जाती हैं, बढ़ती ही जाती हैं।

मेरे मन में भी पुस्तक लिखने की—ख्यातिलाभ करने की—बाल्य-काल से वासना थी, यह अनेक कारणों से अव्यक्त रही। हठ-पूर्वक—अहंकार के वशीभूत होकर उसे रोके रहा। रोके भी क्या रहा—मुझमें इतना सामर्थ्य कहाँ कि उसे रोक सकूँ, कहना चाहिये उसके लिये उपयुक्त काल नहीं आया था, उसके प्रकट होने का अभी अवसर नहीं था। सब काम तो समय से ही होता है, वसंत में ही पतझड़ होकर नवीन पत्ते निकलते हैं, पूर्णिमा को ही चन्द्रमा पूर्ण होता है, तुम लाख प्रयत्न करो, अष्टमी को चन्द्रमा पूर्ण हो जाय, यह असंभव है, अमावस्या को चन्द्र दर्शन चाहें तो नहीं हो सकते।

"चैतन्य चरितावली" लिखने के अनन्तर मैंने सोचा अब लिखने की वासना पूरी हो गयी। जिस लेखनी से उसे लिखा था उसे भी गीताप्रेस भेज दिया, मुझे क्या पता यह वासना इतना वृहद्रूप रख लेगी। आरम्भ में ५०। ६० खण्ड लिखने का संकल्प था, किन्तु ज्यों ज्यों लिखता गया, त्यों त्यों ऐसा लगता गया मानों श्रीमद्भागवत पर अभी कुछ लिखा ही नहीं। स्वयं तो लिखनेकी शक्ति नहीं कोई लिखाता गया लिखते गये। कथा भाग तो इन ६० खण्डों में पूरा हुआ। एक संकल्प की पूर्ति हुई। यह भी भगवत् कृपा ही हुई कि ये ६० खण्ड छप भी गये। अर्थसाध्य श्रमसाध्य प्रयत्नसाध्य होने से पहिले यह काम हिमालय से भारी और ऊँचा दीखता था। पुस्तक लिखना उतना कठिन नहीं, किन्तु छपाने का काम कठिन है और फिर ऐसे व्यक्ति के लिये जो

सभी साधनों से सर्वथा शून्य हो। किन्तु प्रभु सर्व समर्थ हैं वे जो चाहें सो करा सकते हैं, अपने जीवन में ही ये खंड छप गये। वह भी एक बार नहीं कोई कोई खण्ड तो चार चार बार छप गये कोई तीन बार और कोई दो दो बार। यह सत्य है कि इसका जितना प्रचार होना चाहिये था, उतना नहीं हुआ किन्तु प्रचार के लिये प्रयत्न ही कहाँ किया गया, फिर यह काम मेरा है भी नहीं, मुझसे हो भी नहीं सकता। यही बहुत है मेरे सामने छप गयी। अब उत्पद्यते कोऽपि समान धर्म, कालोह्ययं निरवधि विपुला च पृथिवीः" भगवान् ने इसे प्रचार के योग्य समझा तो किसी ऐसे माई के लाल को भगवान् भेज देंगे, जो आनन फानन में इसका प्रचार कर देगा।

अब आजकल लिखने का कार्य बन्द है, आजकल गौहत्या निवारण के लिये अटक से कटक तक और हिमालय से कन्या कुमारी तक दौरा हो रहा है। यह भी एक वासना है, नहीं तो भला मैं किस खेत का बथुआ हूँ, मेरे करानेते क्या गो हत्या बन्द हो सकती है। गौओं से जितना अधिक प्रेम गोपाल गोविन्द करते हैं उस प्रेम महा सागर की एक बिन्दु का मैं तो कोटिवाँ भाग भी प्रेम नहीं कर सकता। गौओं की विपत्ति क्या उनसे अविदित हैं, क्या वे उनकी दुःख की बात को जानते नहीं, या उनमें बन्द करने का सामर्थ्य नहीं। वे जानते भी हैं और उनमें सम्पूर्ण सामर्थ्य है, वे अखण्ड ब्रह्माण्डों को निमिष में बना बिगाड सकते हैं, फिर भी गौओं के गले पर छुरी चलती हैं, उनका निर्दयता के साथ वध होता है, इसमें कुछ हेतु होगा। जब वे चाहेंगे तभी बात की बात में गोवध बन्द हो जायगा।

मेरी सम्पूर्ण देश में वायुयान धूम्रशकटयान और भूयान में भ्रमण करने की, हार माला पहिनने की जय जयकार कराने की, नेता बनने की वासना रही होगी, इसी कारण से वे इसे पूरी करा

रहे होंगे। हम तो उनके यन्त्र हैं, उससे वे लेख लिखा लें, पुस्तक लिखा लें, कीर्तन करा लें, व्याख्यान दिला लें, भ्रमण करा लें, नेतागीरी करा लें, सभी उनके हाथ में है, उनके संकल्प में बोल कौन सकता है, ननुनच करने की सामर्थ्य किसमें है। जैसा वे कराते हैं, इच्छा अनिच्छा पूर्वक करना ही पड़ेगा। आजकल लेखन कार्य बन्द है, भ्रमण चालू है, यह आधी भूमिका बम्बई से कलकत्ता आते समय वायुयान में ही लिखी है, अब कलकत्ते से दूर भगवती भागीरथी के तट पर बाली नामक स्थान में बांगड़जी के बगीचे में बैठकर इस भूमिका को पूरी करते हैं।

गोहत्या आंदोलन में यदि इस शरीर का भगवान् ने बलिदान कर दिया, तो इस अनित्य तुच्छ और नाशवान् शरीर का सदुपयोग हो जायगा, पाठक इन साठ खण्डों को ही पढ़कर सन्तोष कर लें। और किसी प्रकार यह शरीर बच गया और प्रभु प्रेरणा हुई तो आगे के खण्ड फिर आते रहेंगे।

अब तक लोगों को बहुत शिकायतें आईं "भागवती कथा" के आगे के खण्ड क्यों नहीं आये, मैं पिछले किसी खंड में कह भी चुका हूँ, हमारा दिवाला निकल गया था, किन्तु उस दिवाले को हमने घोषित अभी तक नहीं किया। अब उन श्यामसुन्दर की कृपा है, कि दिवालिया भी हुए तो किसी का मारकर नहीं हुए। साठ खंड तक की ही दक्षिणा ली थी, अब यह साठवाँ खण्ड पाठकों की सेवा में पहुँच रहा है लेना पावना बेबाक, पाठक लिख दें कि चुकता भर पाया। अब आगे फिर से व्यापार का लेन देन आरम्भ होगा। देर सबेर हो ही जाती है, फिर भी पाठकों से हम अपने अपराधों के लिये बार बार करबद्ध प्रार्थना करते हैं, कि वे हमें हृदय से क्षमा करें, हमने बहुत लम्बी प्रतीक्षा कराई। किन्तु प्रतीक्षा में भी एक मीठा मीठा आनन्द ही होता है, जैसे गुदगुदी से हम भागते हैं, करने वाले को मना करते हैं, उससे पिंड छुड़ाना

चाहते हैं फिर भी उसमें सुख ही होता है, जीवन में प्रतीक्षा ही तो सार है, जिसे किसी की प्रतीक्षा नहीं, किसी के आने की आशा नहीं वह इतने बड़े लम्बे जीवन के भार को कैसे ढो सकता है, जीवन प्रतीक्षा ही में तो कट रहा है पुत्र प्रतीक्षा करता है, बाप मरे तो मैं घर का स्वामी बनूँ, लड़की प्रतीक्षा करती है, विवाह हो तो मैं बहू बनूँ, बहू प्रतीक्षा कर रही है, पुत्र हो तो मैं माता बनूँ माँ प्रतीक्षा कर रही है मेरे मुनमुना से छगनमगन का विवाह हो बहुआ सी बहू आवे तो सास बनूँ। श्रमिक प्रतीक्षा कर रहे हैं, कि साम्यवाद आवे तो हम स्वामी बनें। शासक प्रतीक्षा कर रहे हैं नया चुनाव हो तो हम पुनः पद पर प्रतिष्ठित हों। सारांश यह कि संसार प्रतीक्षा के ही आधार पर टिक रहा है। मेरी 'भागवती कथा' के पाठकों से भी प्रार्थना है, कि वे निराश न हों, प्रतीक्षा करें, कि हमारे ब्रह्मचारी जी जीवित रहें तो हमें आगे भी पढ़ने को कुछ मिले। मेरी लिखने की वासना ऐसा प्रतीत होता है, अभी पूरी नहीं हुई। कब पूरी करोगे मेरे प्रभो! कब इन व्यापारों से मुक्त करोगे? कब एकमात्र अपने ही चरणों की शरण में लोगे? कब अहर्निशि, अखंड ध्यान मनन आराधन कराओगे? कब निर्वासना बनाओगे। कब पाप पुण्यों के पचड़े से पृथक् करोगे? मेरे स्वामी! कबतक सफेद कागदों को कारे कराने के काम में लगाये रहोगे? जो तुम्हें कराना होगा, कराओगे ही, मेरी बात तो तुम सुनने ही क्यों लगे। अच्छा, इतनी तो मान जाओ तुम्हारा स्मरण चितन सदा बना रहे, इन सब कामों को करते हुए भी कर्ता तुम्हें ही समझूँ, अपने को कर्ता न

अनुभव करके आपका यन्त्र ही मानूँ, इतना तो स्वीकार कर ही लो। करलोगे न मेरे स्वामी !

पाठकों से पुनः पुनः प्रार्थना है, वे स्मरण रखें और भगवान् से मेरे लिये प्रार्थना करें। जीवों के जन्मजन्मान्तरों के सम्बन्ध होते हैं संस्कार होते हैं, आजकल मैं पूरे देश में भ्रमण करता हूँ, ऐसे ऐसे स्थानों पर जाना होता है, जहाँ की कभी कल्पना ही नहीं थी, वहाँ ऐसे ऐसे भक्त मिलते हैं, जिन्हें देखकर रोना आता है कोई कहता है आपकी हमने 'चैतन्यचरितावली' पढ़ी थी तभी से इच्छा थी आपको देखें, मैं अमुक कारणसे जानेमें असमर्थ था सोचे बैठा था इस जीवन में आपके दर्शन काहे को होंगे, आपने घर बैठे दर्शन दिये, कोई कहते हैं हमने अमुक पुस्तक पढ़ी थी तभी से प्रबल इच्छा थी। प्रतीत होता है उन बड़भागी महानुभावों की इच्छा और मेरी वासना दोनों ही मिलकर यह करा रही है। मान भी होता है अपमान भी होता है। बहुत से लोग समझते होंगे इनका सर्वत्र धूमधाम से स्वागत होता है, वायुयान में दौड़ते हैं इतने हार पहिनाये जाते हैं जय जयकार होता है, सर्वत्र मान ही पाते होंगे। किन्तु बात ऐसी नहीं है, कहीं कहीं ऐसा अपमान सहना पड़ता है, कि हमारे सामने पांडव, नल, भगवान् राम आदि के अपमान के ज्वलन्त उदाहरण न हों तो हमें आत्महत्या करने को बाध्य होना पड़े। किन्तु मन को समझा लेते हैं कि जब इतने इतने प्रातः स्मरणीय महापुरुषों का अपमान हुआ तो प्रभुदत्तजी तुम किस खेतकी मूली हो। यह तो सनातन प्रथा है, लाभ हानि सुख दुख मान अपमान का तो जोड़ा ही है। अब भगवान् क्या कराते

हैं किस स्थिति में रखते हैं, इसे तो काल ही बतावेगा और काल कृष्ण के अतिरिक्त दूसरा कोई है नहीं। भगवान् ने स्वयं ही कहा है "कालोऽस्मि" हे काल स्वरूप वाले ! तुम्हारे लाल कमल के सदृश अमल चरणों में पुनः पुनः प्रणाम है। नाथ ! हमें अपना लो, अपना बना लो यही आपके पादारविन्दों में प्रार्थना है।

बांगड़जी का बगीचा
कलकत्ता

आपका
प्रभुदत्त

चैत्र शु० १४, २०११ वि०

वेद और उसकी शाखायें

(१३५८)

पैलादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः ।
वेदाश्च कतिधा व्यस्ता एतत् सौम्याभिधेहिनः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ६ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

शौनक पूछें—सूत ! वेद के कै आचारज ।
कैसे करयो विभाग पैल आदिक मुनि आरज ॥
सूत कहें—अवतार व्यास धरि भूपै आये ।
एक वेद के चारि करे मुनि चारि बुलाये ।
दयौ वेद ऋक् पैलकूँ, वैशम्पायन यजु दयौ ।
जैमिनि मुनि कूँ सामश्रुति, मुनि सुमन्तु चौथो लह्यो ॥

जैसे मूल एक होती है, उस मूल में से शाखायें और शाखाओं में से भी प्रशाखायें निकलती हैं, इसी प्रकार आदि में एकाक्षर वेद (प्रणव) होता है, उसी का विस्तार होते होते अनन्त

---

* शौनक जी सूतजी से पूछ रहे हैं—"हे सौम्य ! जितने ये व्यासजी के शिष्य पैलादि वेदाचार्य हैं, उन्होंने वेदों का विभाग किस प्रकार किया, इसे आप हमसे कहें।"

वेद बन जाता है। उन सब ऋचाओं को एक व्यक्ति धारण करने में असमर्थ होता है, अतः समय समय पर भगवान् ही व्यास बनकर अपने ज्ञान रूप वेद की संहितायें बना देते हैं, उन संहिताओं को भी जब धारण करने की शक्ति नहीं रहती, तब शाखाओं का निर्माण होता है, ऋषिगण अपनी अपनी शाखायें बाँट लेते हैं और अपने वंशजों को उन शाखाओं को पढ़ाते हैं। इसीलिये जहाँ किसी द्विज का वेद, गोत्र तथा प्रवर पूछा जाता है, वहाँ उसकी शाखा भी पूछा जाती है आपकी कौन सी शाखा है। भिन्न भिन्न वेदों की भिन्न भिन्न शाखायें हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे वेदों की शाखाओं का प्रश्न किया। अब मैं सर्व प्रथम वेदों का प्राकट्य वर्णन करके तब वेद की शाखाओं का वर्णन करूंगा।"

शौनक जी ने कहा—"हाँ सूतजी! पहिले आप हमें यही बतावें कि वेदों का प्रादुर्भाव कैसे हुआ?"

सूतजी बोले—"भगवन्! जिसकी भी उत्पत्ति बतायी जायगी, सर्व प्रथम कमल नाभ भगवान् वासुदेव का वर्णन किया जायगा, क्योंकि सब के मूल पुरुष वे ही चराचर जीव, पंचभूत, ज्ञान विज्ञान जो भी कुछ संसार में है, सब पद्मनाभ भगवान् विष्णु से ही है। इसीलिये बारम्बार कहा जाता है 'सर्वं विष्णु मयं जगत्।"

हाँ तो जब उन मायेश भगवान् की इच्छा सृष्टि करने की हुई, तो उनकी नाभि से एक कमल नाल निकला उस कमल पर चतुर्मुख ब्रह्मा बैठे हुये थे। परमेष्ठी ब्रह्मा उस कमल पर बैठकर सोचने लगे—"अब क्या करना चाहिये।" ब्रह्मा जी का यह जानने का संकल्प ही वेद का अङ्कुर है। ब्रह्माजी के मन में 'क्या करना चाहिये' ऐसी जिज्ञासा होते ही उनके हृदयाकाश में एक शब्द हुआ। ब्रह्माजी ने ध्यान लगाकर उस शब्द को सुना, तो

उसमें एकध्वन्यात्मक वर्ण सा सुनायी दिया। ब्रह्माजी के हृदयाकाश में जो शब्द सुनायी दिया वह नया उत्पन्न नहीं था। वह तो अनादि, अनन्त और सर्वव्यापक था। केवल एकाग्र चित्त होने से उन्होंने उसे अनुभव किया, ग्रहण किया। आज भी कोई अपने दोनों कानों को बलपूर्वक बन्द करले तो उसे सायँ सायँ ऐसा अव्यक्त शब्द सुनायी देगा। ब्रह्मा जी ने उसी शब्द को सर्व प्रथम सुना। उसका नाम अनाहद नाद है। अनाहद की उपासना करने वाले योगीजन अपने अन्तःकरण के द्रव्य, क्रिया और करक रूप मल को इसी के द्वारा नष्ट करके परमपद को प्राप्त करते हैं, जन्म मरण के बन्धन से सदा के लिये विमुक्त बनकर अनुभव रूप मोक्ष सुख का अनुभव करते हैं।

ब्रह्माजी ने ध्यान पूर्वक इस नाद में अपनी चित्त वृत्ति को लगाया। अत्यन्त सूक्ष्म वृत्ति से मन लगाने पर उसमें तीन मात्राओं वाला एक शब्द स्पष्ट सुनायी दिया। उसी को मनीषी प्रणव या ओंकार कहते हैं।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ओंकार की उत्पत्ति हुई कैसे?"

सूतजी बोले—"महाराज! ओंकार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई कुछ कह नहीं सकता। उसकी उत्पत्ति बतायी नहीं जा सकती वह अव्यक्त प्रभव है और स्वराट है। अर्थात् किसी के द्वारा प्रकाशित न होकर स्वयं प्रकाश रूप है। वह ब्रह्म का वाचक है अर्थात् परमात्मा भगवान् ब्रह्म का वह बोध कराने वाला है। परमात्मा का वह लिङ्ग अर्थात वाचक है।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! परमात्मा किसे कहते हैं?"

यह सुनकर सूत जी ठठाका मार कर हँस पड़े और बोले—"ब्रह्मन्! कभी कभी तो आप सर्वथा बच्चों का सा प्रश्न कर देते हैं। तो मैं जानता हूँ, एक ही प्रश्न का आप बार बार

लोक कल्याण के निमित्त करते हैं, जिससे सर्व साधारण विषय को भली भाँति समझ जायँ। अच्छा आप यह बतावें, कि आप शब्द किसके द्वारा सुनते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"यह तो प्रत्यक्ष ही है, श्रवणेन्द्रिय द्वारा शब्द सुने जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"अच्छा, श्रवणेन्द्रिय द्वारा ही यदि शब्द सुना जाता है, तो सोते समय शब्द क्यों नहीं सुनायी देता?"

शौनक जी ने कहा—"उस समय श्रवण शक्ति लीन हो जाती है।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! श्रवण शक्ति यदि लीन हो जाती है, तब तो फिर कभी भी न सुनना चाहिये, किन्तु अधिक ऊँचे से पुकारने पर सोता हुआ आदमी भी सुनता है, क्योंकि श्रवणेन्द्रिय भले ही लीन हो जाय, गाढ़ निद्रा में मन भी लीन हो जाय, किन्तु जो इस शरीर रूप क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है जिसमें जाकर ये लीन होती हैं, वह तो जागता रहता है। कानों को कसकर बन्द कर लो, अन्य शब्द सुनायी न देंगे, किन्तु यह अव्यक्त ओंकार तो सुनायी देता ही रहेगा, जो इस ओंकार को सुनता है, सुषुप्ति अवस्था में समस्त इन्द्रियों के न रहने पर भी जो उनके अभाव को ग्रहण करता है, वही परमात्मा है। परमात्मा वाच्य है और ओङ्कार उसका वाचक है। ओङ्कार की हृदयाकाश में आत्मा ही से अभिव्यक्ति होती है, इसी के द्वारा वैखरी वाणी अभिव्यञ्जित होती है। यह ओङ्कार त्रिवर्णात्मक है।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ओंकार में तीन वर्ण कौन कौन से हैं और तीन वर्णों का भाव क्या है?"

सूतजी बोले—"महाराज यह सम्पूर्ण सृष्टि ही त्रिगुणात्मक है, तीनों गुणों के सहारे ही यह प्रपञ्च चल रहा है। ओंकार में सर्व प्रथम अकार है, फिर उकार है और तदनन्तर मकार है।

अ, उ, म् जब ये तीन वर्ण मिल जाते हैं तभी ओंकार बन जाता है। इनमें अकार सत्वगुण, उकार को रजोगुण और मकार को तमोगुण समझो। अकार वासुदेव हैं, उकार कमलासन ब्रह्मा हैं और मकार साक्षात् रुद्र हैं। अकार ऋग्वेद है, उकार यजुर्वेद है और मकार सामवेद है। अकार भूलोक है, उकार भुवर्लोक है और मकार स्वर्लोक है। अकार जाग्रत अवस्था है, उकार स्वप्नावस्था है और मकार सुषुप्ति अवस्था है। कहाँ तक गिनावें जितने गुण, नाम, वृत्ति अर्थ तथा जो भी कुछ हैं सब त्रिगुणात्मक है और इन सबका त्रिवर्णात्मक ओंकार में ही समावेश हो जाता है। इसी ओंकार से ऊष्म, स्वर, स्पर्श, ह्रस्व तथा दीर्घ सभी वर्णों की उत्पत्ति हुई। स्वर, व्यञ्जन मात्रा जितने भी वर्ण समूह हैं सबके जनक ओंकार ही हैं।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! अक्षरों की कौन कौन संज्ञायें हैं?"

सूतजी बोले—"भगवन्! य, र, ल, व इनको अन्तस्थ कहते हैं। श, ष, स, ह ऊष्म कहलाते हैं और अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ये सोलह स्वर कहलाते हैं। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म इनकी स्पर्श संज्ञा है। स्वरों में ह्रस्व और दीर्घ दो भेद होते हैं। ह्रस्व से दीर्घ उच्चारण करने में दुगुना समय लगता है। स्वर और व्यञ्जन सबको मिलाकर अक्षर समाम्नाय या वर्ण समूह कहते हैं। इन अक्षरों द्वारा ही कमल योनि ब्रह्माजी ने यज्ञ की सब वस्तुओं की संज्ञा की। अपने चारों मुखों से होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा चारों ऋत्विजों के कर्मों को बताने के लिये सब कर्मों का विधि विधान बताया। मरीचि आदि अपने पुत्र ब्रह्मर्षियों को व्याहृति ओंकार सहित चारों वेदों को पढ़ाया। ये ब्रह्मर्षि चारों वेदों के अध्ययन में परम प्रवीण थे। ब्रह्मा जी के द्वारा वेदों को पढ़ लेने

पर उन धर्मोपदेष्टा महामुनिश्वरों ने उन वेदों को अपने पुत्र तथा शिष्यों को सविधि सिखाया। फिर उन्होंने अपने पुत्र तथा शिष्यों को पढ़ाया। इस प्रकार परम्परा से वेदों का प्रचार हुआ। ये वेदों का अध्ययन करने वाले ऋषि महर्षि सब सदाचारी थे। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए ये वेदों का अध्ययन करते। समाधि में इन्हें मंत्रों का बोध होता गया। मंत्र द्रष्टा ऋषियों ने इस प्रकार सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में वेदों का बहुत विस्तार किया।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! वेदों का विभाग करने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई?"

सूतजी बोले—"महाराज! वेदों का विस्तार तो बहुत अधिक हो गया, क्योंकि ज्ञान का कोई पार नहीं पा सकता, वह अपार है। वेद इतने बढ़ गये कि सबको धारण करने में लोग असमर्थ हो गये। काल क्रम से पहिले जो लाखों वर्ष की दीर्घायु होती थी वह भी घट गयी। लोग अल्पायु हो गये। उनकी धारणा शक्ति भी न्यून हो गयी। वीर्य पराक्रम कम होने से सब अल्पवीर्य होने लगे। महर्षियों ने जब देखा लोग मन्द मति, अल्पायु, अल्पवीर्य हो गये हैं, तो उन्होंने हृदयस्थित सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर की प्रेरणा से वेदों के पृथक् पृथक विभाग कर दिये। जो ऋषि वेदों का विभाग या व्यास करते हैं, वे वेदव्यास कहलाते हैं। प्रत्येक द्वापर के अन्त में वेद व्यास प्रकट होकर इस कार्य को करते हैं?"

शौनक जी ने पूछा—"सतजी! व्यास द्वापर के ही अन्त में क्यों होते हैं?"

सूत जी बोले—"महाराज! बात यह है न कि द्वापर तक तो लोगों की धारणा शक्ति अच्छी रहती है। उस समय तो वेदों के व्यास की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी होती है। जब सम्पूर्ण वेद को लोग धारण करने में समर्थ नहीं होते तो वेदों के विभाग किये जाते हैं।

पुराण का संग्रह करके उनको भी पृथक् पृथक् भागों में विभक्त किया जाता है। इसीलिये ऋषियों के कोई व्यास होते हैं। इस द्वापर के अन्त में तो साक्षात् भगवान ने ही अवतार लेकर वेदों का व्यास और पुराणों का विभाग किया। जब इस मन्वन्तर में ब्रह्मादि देवों ने शङ्कर आदि लोकपालों ने जब परात्पर प्रभु से प्रार्थना की, तब लोकभावन भगवान धर्म की रक्षा के निमित्त, अपनी अंशांश कला से भगवती सत्यवती में महर्षि पराशर के गर्भ से उत्पन्न हुये उन्हीं के अंशावतार सत्यवती नन्दन भगवान् पाराशर्य ने एक वेद की चार संहितायें बनायीं उन्होंने एक वेद के चार भाग कर दिये।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! क्या ये चारों विभाग सर्वथा पृथक हैं?"

सूतजी बोले—"नहीं महाराज! पृथक काहे को हैं, एक ही हैं। जैसे किसी मणिमाला में नाना जाति की मणियाँ हैं। कहीं लाल है तो कहीं नीली है, कहीं स्फटिक है तो फिर नीली है फिर लाल है। जिस प्रकार बुद्धि मान पिरोने वाला सब मणियों को निकालकर फिर से लाल लाल को एक ओर कर देता है, नीली नीली को दूसरी ओर। यद्यपि वह अपनी ओर से उसमें कोई मणि नहीं मिलाता, उन्हीं असम्बद्ध मणियों को यथा क्रम सुन्दरता से पृथक् पृथक् पिरो देता है। उसी प्रकार भगवान् व्यास ने वैदिक मन्त्र समूह में से भिन्न भिन्न प्रकरणों द्वारा ऋगादि में मन्त्रों की राशि पृथक् कर दी, उसका नाम ऋग्वेद संहिता रख दिया। यज्ञ करने के मन्त्रों को पृथक् कर दिया उसका नाम यजुर्वेद हुआ। गाने के मन्त्रों को पृथक् कर दिया वही सामवेद कहलाया और जितने मारण, मोहन उच्चाटन आदि के अभिचार मन्त्र थे उन्हें पृथक् करके उसकी अथर्व वेद संहिता बना दी।"

चारों वेदों को पढ़ने के लिये उन्होंने अपने चार शिष्यों को बुलाया। उन चारों में से महामुनि पैल को बहुत-सी ऋचाओं वाली बह्वृच संहिता अर्थात् ऋग्वेद संहिता दी। दूसरे महामुनि वैशम्पायन को यजुर्वेद संहिता। जिन छन्दों का गायन होता था ऐसी छन्दों वाली सामश्रुतियों की छन्दोगनामक संहिता जैमिनी मुनि को पढ़ायी और घोर स्वभाव वाली अत्यंत दारुण सुमन्तु मुनि को अथर्वाङ्गिरसी संहिता सुनायी। इस प्रकार महामुनि व्यासजी के चारों महा बुद्धिमान शिष्यों ने चारों संहिताओं को धारण किया। इन चारों ने भी उनकी कुछ शाखायें बनाकर अपने शिष्यों को पढ़ायीं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इन पैल, वैशम्पायन, जैमिनी और सुमन्तु नामक व्यास शिष्यों ने किन किन मुनियों को ये संहितायें पढ़ायीं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! ज्यों ज्यों लोगों की स्मरण शक्ति घटती गयी, त्यों त्यों वेदों की अधिकाधिक शाखायें बढ़ती गयीं। ऋग्वेद के आचार्य पैल ने अपनी संहिता को दो भागों में विभक्त करके इन्द्र प्रामिति और वाष्कल नामक दो मुनियों को दी। इनमें से आत्मज्ञानी महामुनि इन्द्र प्रामित ने अपनी संहिता परम बुद्धिमान् महामुनि माण्डूकेय मुनि को पढ़ायी माण्डूकेय मुनि ने अपने शिष्य देवमित्र को पढ़ायी और देवमित्र ने उसे महर्षि सौभरि को सुनायी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये सौभरि आदि मुनि तो सत्ययुग के हैं, द्वापर के अन्त में आकर इन्होंने ऋग्वेद की शाखाओं का क्यों अध्ययन किया?"

सूतजी ने कहा—"क्यों महाराज! इसमें हानि ही क्या है? शाखाओं के कर्ता तो ऋषिगण ही होंगे। वे ही अपने शिष्य तथा पुत्रों को शाखाओं के अध्ययन का आदेश उपदेश देंगे।

ये मुनि गण तो कल्पजीवी और कोई तो ब्रह्माजी की आयु वाले होते हैं। वेदों का प्रचार प्रसार ही इनका धर्म है। फिर महाराज एक नाम के बहुत से ऋषि होते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कथन सत्य है, हम भी तो सत्ययुग के हैं आपसे पुराण श्रवण कर रहे हैं। अच्छा पैल मुनि के दूसरे शिष्य बाष्कल की शिष्य परम्परा और सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! पैल मुनि के दूसरे शिष्य बाष्कल ने अपनी संहिता के चार विभाग किये और उन्हें अपने शिष्य बोध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर और अग्निमित्र इनको पढ़ाया। फिर इन चारों ने भी अपने शिष्य प्रशिष्यों को सुनाया। ये सभी ऋग्वेदीय ऋषिगण बह्वृच कहलाये। महामुनि इन्द्र-प्रमिती की परम्परा में जो माण्डूकेय मुनि हुए उन्होंने अपने पुत्र शाकल्य को पढ़ायी शाकल्य मुनि के वात्स्य, मुद्गल, शालीन, गोखल्य और शिशिर ये पाँच शिष्य हुए। उन्होंने अपनी संहिता के पाँच भाग करके इन पाँचों को पढ़ाया। महामुनि शाकल्य के एक जातूकर्ण्य शिष्य थे उन्होंने अपनी संहिता को तीन भागों में विभक्त किया। उन्हें निरुक्त के सहित (व्याख्यान रूप में) अपने बलाक, पैज और वैताल इन तीन शिष्यों को दिया और निरुक्त को विरज मुनि को दिया। पैल मुनि के चार शिष्यों के अतिरिक्त एक बाल्कलि नामक पुत्र भी थे, उन्होंने एक बालाखिल्य नामक शाखा रची। उसके भी उन्होंने तीन विभाग

किये और अपने बालायनि, भज्य और कासार इन तीन शिष्यों को पढ़ाया।"

इस प्रकार ऋग्वेद की बहुत सी शाखायें बन गयीं जिन ऋषियों ने ऋग्वेद की शाखाओं को धारण किया, वे सब बह्वृच कहलाये। पीछे इन ऋषि की वंश परम्परा में ये शाखायें प्रधान रूप से पढ़ायी जाने लगीं। मनुष्य इस कलियुग में इन सब शाखाओं को कैसे पढ़ सकता है। एक शाखा का पढ़ना ही कठिन हो जाता है। जो वेदों को या वेद की किसी शाखा को पढ़ते हैं, उनका तो परलोक बनता ही है, किन्तु जो पढ़ न सकें केवल इन वेदों की शाखाओं के विस्तार को सुन ही लें, तो इनके श्रवण-मात्र से ही उनके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वे परम पुण्य के भागी बनते हैं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में ऋग्वेद की कुछ शाखाओं का वर्णन किया। अब मैं यजुर्वेद की शाखाओं के सम्बन्ध में कुछ कहूँगा। यह तो ऋग्वेदीय पैल मुनि की परम्परा हुई अब यजुर्वेदी महामुनि वैशम्पायन की परम्परा कहूँगा। यजुर्वेद के दो विभाग हो गये शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। वैशम्पायन और उनके शिष्य याज्ञवल्क्य में कुछ झगड़ा हो गया इसी विवाद के कारण यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा सूर्यदेव द्वारा प्राप्त हुई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! गुरु शिष्य में झगड़ा क्यों हुआ और वाजसनेयी शाखा कैसे बनी कृपया हमें इसका कारण बताकर तब सामवेद की शाखाओं को कहें।"

सूतजी बोले—"महाराज! इस विषय में एक बड़ी रोचक

कहानी है, उस कहानी से ही सब रहस्य खुल जायगा। उसे मैं आपसे कहता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

पाइ संहिता सकल मुनिनि पुनि शिष्य बनाये।
करि करि शाखा पृथक् सबनि कूँ मन्त्र पढ़ाये॥
शिष्यनि के हू शिष्य भये विस्तार भयो अति।
शाखा सबकी पृथक् भईं तिनिकी तिनि में रति॥
वैशम्पायन शिष्य इक, याज्ञवल्क्य अति तेजयुत।
यजुर्वेद में अति निपुण, देवरात को सौम्य सुत॥

—:०:—

यजुर्वेद की दो शाखा होने की कथा

(१३५९)

याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मंश्छन्दांस्यधिगवेषयन् ।
गुरो रविद्यमानानि सूप तस्थेऽर्कमीश्वरम् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ६ अ० ६६ श्लो०)

छप्पय

अपर शिष्य इक दिवस करै व्रत गुरुहित दुष्कर ।
याज्ञवल्क्य ने कह्यो—करै का यह व्रत गुरु वर ॥
हौं तव हित व्रत करूँ अल्प बीरज यह बालक ।
भये कुपित गुरुदेव कहें—तू द्विजकुल घालक ॥
मेरी विद्या त्यागि दै, तू अब मेरो शिष्य नहिँ ।
उगिल दई विद्या सकल, कठिन वचन नहिँ गये सहि ॥

वाद विवाद लडाई-झगड़े का एक मात्र कारण है अहं मान्यता । जब दोनों ओर दोऊ पक्ष के लोग अपने को कुछ समझने लगते हैं, तब परस्पर में कलह होती है । अहंमान्यता एक

---

* श्री सूत जी कह रहे हैं—"ब्रह्मन् ! जब महा मुनि वैशम्पायन और उनके शिष्य याज्ञवल्क्य में कहा सुनी हो गयी, तब याज्ञवल्क्य ने ऐसी श्रुतियों के प्राप्त करने के संकल्प से-जो उनके गुरु पर भी न हों—भगवान् सूर्य देव की उपासना आरम्भ की ।"

ही ओर हो तो प्रायः कलह नहीं होती मत भेद हो जाता है। यदि अहंमान्यता उपासना में परिणत हो जाय, तो उसका फल सुन्दर होता है। क्यों कि भगवान् में जो भी भाव लग जायगा उसी का परिणाम सुखकर होगा। लोग अभिमान के वशीभूत होकर एक दूसरे का अपकार करने को उद्यत हो जाते हैं यह उचित नहीं। अहंकार आ भी जाय तो उसे पूरे वेग से परमात्मा की ओर लगा दे। भगवान् अशुद्ध भाव को भी शुद्ध बना लेते हैं, बिगड़ी को भी बना लेते हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् व्यास ने यजुर्वेद संहिता को अपने प्रिय शिष्य वैशम्पायन मुनि को पढ़ायी। उन वैशम्पायन मुनि ने यजुर्वेद को पढ़ाने के लिये बहुत से शिष्य अपने यहाँ रखे। सब बड़े मनोयोग से आचार्य प्रवर महर्षि वैशम्पायन से यजुर्वेद की श्रुतियों को पढ़ने लगे।

दूसरे दूसरे युगों में तो एक एक व्यक्ति ही इतने शक्तिशाली होते थे, कि उन्हें किसी की सहायता अथवा संगठन का आवश्यकता ही नहीं रहती थी अपनी अपनी शक्ति के ही सहारे सब कुछ कर लेते थे। ज्यों ज्यों मनुष्यों की आत्मिक शक्ति का ह्रास होता जाता है, त्यों त्यों उसे संगठन और दूसरों के मत संग्रह करने की अपेक्षा प्रतीत होने लगती है। कलियुग में आकर तो ऐसा हो जायगा, कि मनुष्यों में पाप के कारण स्वतन्त्र शक्ति रहेगी ही नहीं वंश परम्परागत समस्त अधिकार छिन जायँगे। कोई राजा रहेगा ही नहीं। कुछ वर्षों को अल्पमति अधर्मी लोग चुन कर किसी को प्रधान बना देंगे। फिर उसे उच्चासन से उतार देंगे। वैयक्तिक शक्ति जब क्षीण होती है, तभी सब संघ के नियम और विधानों के अधीन हो जाते हैं। द्वापर के अन्त में जब लोग मनमानी करने लगे। लोगों की अधर्म में अधिक प्रवृत्ति हुई, तो सभी ऋषि मुनियों ने मिल कर सुमेरु पर एक अखिल भारतवर्षीय

ऋषि-मुनि समिति बनायी। सभी वेदज्ञ ऋषियों को उसका सदस्य बनाया। पूर्णिमा के दिन उसका एक मासिक अधिवेशन रख दिया। उस अधिवेशन में सभी सदस्य मुनियों का आना अनिवार्य रखा गया। उसमें ऐसा नियम बना दिया कि जो इस अधिवेशन में न आवेगा उसे ब्रह्महत्या का पाप लगेगा।"

महामुनि वैशम्पायन भी उस सभा के सदस्य थे, संयोग की बात कि जिस दिन अधिवेशन था उस दिन वैशम्पायन जी के यहाँ श्राद्ध था। श्राद्ध जैसे आवश्यक कार्य को छोड़ कर वे कैसे जा सकते थे। न जाने का सम्वाद भी न भेज सके। नियमानुसार सभा हुई, वैशम्पायन जी को अनुपस्थिति के कारण ब्रह्महत्या लग गयी। एक दिन वे अपने भानजे पर किसी बात पर असन्तुष्ट हो गये थे उसमें एक दो चपत लगाये होंगे, उसी से वह मर गया। अब तो प्रत्यक्ष ब्रह्म हत्या उन्हें लग गयी।

आचार्य बड़े चिन्तित हुए। उनके कुछ छोटे छोटे शिष्य थे, उनसे उन्होंने कहा—"भाई, हमें तो ब्रह्म हत्या लग गयी है, क्या करें।"

बटु बालकों ने कहा—"भगवन्! आपके बदले हम ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करेंगे।" उनमें जो सब से अधिक गुरु भक्त चरकाध्वर्यु था उसने कहा—"गुरु जी! आप चिन्ता न करें, हम सब प्रकार से प्रायश्चित करेंगे।"

आचार्य ने कहा—"अच्छी, बात है तुम सब मिल कर ऐसा करो, कि मेरी ब्रह्महत्या निवृत्त हो जाय।"

इन सब शिष्यों में याज्ञवल्क्य ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ थे। उन्हें अपनी विद्या का भी अभिमान था और सबसे बड़े भी थे। जब उन्होंने छोटे छोटे लड़कों को गुरु जी के निमित्त ब्रह्महत्या निवारक व्रत करने के लिये उद्यत देखा तो वे बोले—"गुरु जी! आप यह क्या कर रहे हैं।। इन छोटे छोटे बच्चों से ऐसे दुश्चर

व्रत को करा रहे हैं। ब्रह्महत्या महा पाप है। पञ्च महा पापों में से प्रधान पाप है, इसके निवारण के लिये दुष्कर घोर तपस्या करनी होगी। ये अल्पवीर्य छोकरे क्या व्रत करेंगे। मुझे आज्ञा दीजिये, मैं अकेला ही इसके निमित्त घोर दुष्कर तप करूँगा।"

गुरु जी को ब्रह्महत्या तो लगी ही हुई थी, शिष्य के ऐसे अभिमान पूर्ण वचन सुन कर उन्हें क्रोध आ गया। क्रोध में भर कर वे बोले—"अरे, तू छोटे मुँह इतनी बड़ी बड़ी बातें क्यों बना रहा है। तू अपने सामने किसी को कुछ लगाता ही नहीं। इन तपस्वी वेदज्ञ ब्राह्मणों को अल्पवीर्य बता रहा है, इन सब का अभिमान में भर कर अपमान कर रहा है। मुझे तुझ जैसे अभिमानी से कोई काम नहीं। तू अभी मेरी पढ़ी हुई विद्या को त्याग दे और तुरन्त मेरे यहाँ से चला जा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! क्रोध को तो पाप का मूल बताया ही है। गुरु की बात सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि को भी क्रोध आ गया। उन्होंने सोचा—"मैं तो गुरु जी के लिये अत्यन्त दुश्चर तप करने को उद्यत हूँ और ये मुझे डाँट रहे हैं, अच्छी बात है मुझे भी ऐसे क्रोधी गुरु की आवश्यकता नहीं।" यही सोच कर वे गुरु से पढ़ी हुई विद्या को त्यागने के लिये उद्यत हो गये उन दिनों सब की विद्या चैतन्य तथा सजीव होती थी वेद मन्त्र सजीव और मूर्तिमान होकर ब्राह्मणों के शरीर में वास करते थे। जैसे कोई आदमी खाये हुए अन्न की कै कर देता है उसे उँगली डाल कर मुख के द्वारा उगल देता है, उसी प्रकार याज्ञवल्क्य मुनि ने अपनी समस्त पढ़ी हुई विद्या उगल दी। वे सजीव वेद मन्त्र दीमक की भाँति चमकीले आँखों कीड़े बन कर वहाँ रेंगने लगे। महामुनि वैशम्पायन ने सोचा यह तो बड़ा अनर्थ हो जायगा यदि ये सजीव तेज युक्त वेदमन्त्र किसी अनाधिकारी के अधिकार में चले गये तो।" यही सोच कर वे अपने शिष्यों से बोले—"अरे,

देखते क्या हो, इन चमकीले सजीव वेद मन्त्रों को तुम सब धारण कर लो।"

उन वटु ब्राह्मणों ने सोचा—"मुख से उगली हुई वस्तु को तो कुत्ता खाता है, इस लिये इस शरीर से तो हम इन उगले हुए वेद मन्त्रों को ग्रहण नहीं कर सकते। ये वेद मन्त्र दीमक बन गये हैं, दीमक को भी ब्राह्मण शरीर से नहीं खा सकते। दीमक को सदा तित्तिर (तीतर) खाता है, क्यों न हम सब तीतर बन कर इन जाज्वल्यमान वेद मंत्रों को अपने हृदयस्थ कर लें।" यही सब सोचकर श्रुतियों के लोभ से सभी विप्रों ने उन श्रुतियों को तित्तिर बन कर ग्रहण कर लिया। इसीलिये वह यजुर्वेद की सुरम्य शाखा तैत्तिरीय शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। जो अभी तक विद्यमान है।"

शौनक जी ने पूछा—"तो क्या सूत जी! फिर महामुनि याज्ञवल्क्य वेद विहीन हो गये।"

सूत जी ने कहा—"नहीं महाराज! वेद विहीन क्यों हुए। उन्होंने अपने पुरुषार्थ से सूर्य देव जी से यजुर्वेद की अन्य शाखा प्राप्त की।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! यजुर्वेद के आचार्य तो महामुनि वैशम्पायन ही थे। यजुर्वेद की सब श्रुतियाँ तो उन्हीं के पास थीं। याज्ञवल्क्य जी ने सूर्य से यजुर्वेद की शाखा कैसे प्राप्त की कृपया हमारे इस सन्देह का निवारण कीजिये।"

इस पर सूत जी बोले—महाराज! वेद तो अनन्त है उसका पार तो वेद गर्भ ब्रह्मा जी भी नहीं पा सकते। वेद व्यास जी ने समस्त यजुर्वेद की श्रुतियाँ वैशम्पायन जी को थोड़े ही दी थीं। अनन्त वेद राशि में से कुछ मुख्य मुख्य श्रुतियाँ ही लेकर भगवान् द्वैपायन व्यास ने चार संहितायें बनायीं। शेष सब का भंडार तो समस्त कर्मों के साक्षी सूर्य देव के ही समीप था। उन्हीं की

प्रार्थना करके याज्ञवल्क्य जी ने वे श्रुतियाँ प्राप्त की जो वैशम्पायन जी के समीप भी नहीं थीं।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! याज्ञवल्क्य जी ने सूर्य से कैसे श्रुतियाँ प्राप्त कीं, कृपया इस वृत्तान्त को भी हमें सुनावें।"

सूत जी बोले—"महाराज! जब महामुनि याज्ञवल्क्य अपने गुरु की दी हुई विद्या को उगल कर गुरु की आज्ञा से आश्रम के बाहर हुए, तो उनका चित्त बड़ा खिन्न हो रहा था, वे सोच रहे थे—"मैंने गुरु जी से कोई अनुचित बात तो कही ही नहीं, उनके निमित्त ब्रह्महत्या व्रत का करने को ही अनुमति माँगी थी, यदि मेरे वचनों में अभिमान था, तो गुरु जी का मुझे प्रेम पूर्वक समझा देना था। वे अकारण मुझ से क्रुद्ध हो गये। मनुष्य स्वभाव ही से ऐसा है। यह अपने विरुद्ध बातें सहना ही नहीं चाहता। अब मैं किसी मनुष्य को गुरु न करूँगा। अब मैं समस्त ज्ञान के प्रकाशक, जगत को ज्योति प्रदान करने वाले सर्व कर्मों के साक्षी ज्ञान स्वरूप भगवान् सविता की उपासना करूँगा और उन्हें तप से तुष्ट करके ऐसी श्रुतियों को प्राप्त करूँगा, जो मेरे गुरु के भी पास न हों।" ऐसा निश्चय करके याज्ञवल्क्य मुनि यजु, श्रुतियों की कामना से भगवान् सूर्य नारायण की आराधना करने लगे और गायत्री के सार भूत इस आशय के मंत्र से निरन्तर उनकी स्तुति करने लगे।

जो अखिल जगत् के आत्मारूप से अकेले ही ब्रह्मा से स्तम्भ पर्यन्त चतुर्विधि भूतों के भीतर रहते हैं तथा सब के बाहर क्षण, लव, निमेष आदि विभागों से वृद्धि को प्राप्त संवत्सर समूह रूप से रहते हैं। जो घड़े आदि की उपाधियों के रहते हुए भी उसके भीतर बाहर आकाश के सदृश व्याप्त रहते हैं और आकाश के ही समान सब से अलिप्त रह कर प्राणियों के शरीरों से तथा जलाशयों से गुप्त रूप से जल ग्रहण करके समय आने पर उसे वर्षा

कर लोक यात्रा का वहन करते हैं, उन ओंकार स्वरूप भगवान सूर्यनारायण सविता देव को नमस्कार है।

हे समस्त देवताओं में श्रेष्ठ भगवान सूर्य देव! वेदविधि से उपासना करने वाले ब्राह्मण गण आपकी प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में उपस्थानादि से उपासना करते हैं और आप भी उनके पाप कर्मों से प्राप्त हुए समस्त दुःख बीजों को भून डालते हैं। आपका जो यह अत्यन्त प्रकाशमान तेजो मंडल देदीप्यमान हो रहा है, उसका हम ध्यान करते हैं। जो आप अपने आश्रित रहने वाले स्थावर-जंगम रूप प्राणियों के मन, इन्द्रिय तथा प्राणों को जो स्वयं तो जड़ हैं, किन्तु आप ही आत्मा तथा अन्तर्यामी रूप से सब को कर्मों में प्रेरित करते हैं ऐसे आपका हम ध्यान करते हैं।

हे प्रभो! आप जो अत्यन्त करुणामय प्रभु हैं, सो अन्धकार संज्ञक अति कराल वदन वाले अजगर के मुख में पड़कर मृतक के सदृश चेतना शून्य देखकर आप ही करुणा के वशी भूत होकर अपनी दृष्टि मात्र से ही इस सम्पूर्ण लोक को उठा कर इसे नित्य प्रति तीनों कालों में अपने कल्याणकारी धर्मरूप आत्मा स्थिति में प्रवृत्त करते हैं। जिस प्रकार राजा दुष्ट पुरुषों को भय देते हुए लोक में विचरण करते हैं, वैसे ही आप भी विचरण करते रहते हैं। ये जितने लोकपाल हैं सब आपको जहाँ तहाँ चारों ओर से कमलकोश सदृश अञ्जलियों से अर्घ्य समर्पण करते हैं। हे भगवन्! उन्हीं त्रिलोक गुरुओं द्वारा वन्दित आपके युगल चरण कमलों की मैं अयातयाम यजुर्वेद की श्रुतियों की प्राप्ति की इच्छा से शरण लेता हूँ।

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! जब एकाग्रचित्त से महामुनि याज्ञवल्क्य ने समस्त कर्मों के साक्षी सम्पूर्ण जगत् को आलोक प्रदान करने वाले भगवान् सूर्यनारायण की उपासना की, तो वे अश्व का रूप रख कर मुनि के सम्मुख उपस्थित हुए सूर्यनारायण

के अश्व वेद मय हैं। अश्वरूप में सूर्य देव को सम्मुख देखकर मुनि ने उनके चरणों में प्रणाम किया और वर माँगने को कहा। तब याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"प्रभो ! मुझे यजुर्वेद की उन श्रुतियों को प्रदान करें जिन्हें मेरे गुरु भी न जानते हों।" यह सुन कर अश्वरूप धारी सूर्य ने उन्हें कभी भी व्यर्थ न होने वाली यजुर्वेद की आयातयामी श्रुतियाँ दीं। ये श्रुतियाँ असंख्यों थीं महामुनि याज्ञवल्क्य ने उन से पन्द्रह शाखायें बनायीं जो वाज (घोड़ा) के द्वारा दी जाने से वाजसनेयी शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुईं। महामुनि वैशम्पायन का यजुर्वेद कृष्ण यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हुआ और याज्ञवल्क्य मुनि को जो यजुर्वेद की श्रुतियाँ मिलीं वे शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हुईं। इनके कण्व और माध्यन्दिन आदि शिष्य हुए इसलिये ये शाखायें उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

इस प्रकार गुरु शिष्य के वाद विवाद के कारण यजुर्वेद की दो संहितायें हुईं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में यजुर्वेद की शाखाओं के सम्बन्ध में कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

शौनक जी ने कहा— 'सूत जी ! हमने आप के मुख से ऋग-वेद और यजुर्वेद की शाखाओं के सम्बन्ध में तो सुना अब हम सामवेद और अथर्व वेद की शाखाओं के सम्बन्ध में और सुनना चाहते हैं। साथ ही आप हमें पुराणों के सम्बन्ध में भी सुनावें। पुराण कितने हैं, पुराणों के लक्षण क्या हैं। इस प्रकार हमें आप वेदों के सदृश पुराणों का भी परिचय कराइये।"

सूत जी बोले—"महाराज ! यह विषय तो बड़ा गहन है विस्तार के साथ तो नहीं अत्यन्त संक्षेप में मैं इस विषय को आपको सुनाता हूँ आप सब एकाग्र चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

उगले सगरे मन्त्र दिव्य दीमक बनि जीये।
तित्तिर बटु बनि गये लोभवश सब चुगि लीये॥
तैत्तिरीय सो भई वेद की शाखा सुन्दर।
याज्ञवल्क्य ने करे तुष्ट तप करकें दिनकर॥
अश्व रूप धरि सूर्य ने, शिक्षा द्विजवर कूँ दई।
वाजसनेयी पृथक यह, यजुरवेद शाखा भई॥

—::::—

साम अथर्व और पुराणों की शाखाओं का वर्णन

(१३६०)

ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः ।
शिष्यशिष्य प्रशिष्याणां ब्रह्मतेजो विवर्धनम् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ७ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

ऐसे ही पुनि सामवेद की शाखा अगनित ।
बहु अथर्व के भये महामुनि चित्त समाहित ॥
पुनि दश आठ पुरान बनाये अति ही सुखकर ।
दश लक्षण तैं युक्त जगत हितकारक मुनिवर ॥
ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव महा, शैव भागवत नारदी ।
मार्कंडेय पुरान पुनि, अग्नि, भविष्य सुशारदी ॥

जिस विषय को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करते हैं उस विषय के कुछ न कुछ संस्कार हृदय पर अवश्य पड़ते हैं। बिना मन के भी बैठे बैठे किसी विषय को सुनते रहो तो कानों में पहुँचने पर वह

---

* श्री सूतजी कहते हैं—"ब्रह्मन्! यह मैंने आपको भगवान् वेद व्यासजी के शिष्य, शिष्यों के भी शिष्य तथा उनके भी शिष्यों का किया हुआ वैदिक शाखाओं का विस्तार सुनाया। यह सुनने वालों के ब्रह्मतेज को बढ़ाने वाला है।"

अपना कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डालेगा। छोटे छोटे बच्चे जो बोलते नहीं, माता पिता समझते हैं, ये अबोध हैं कुछ नहीं जानते इसलिये उनके सम्मुख कामुक चेष्टायें करते हैं काम सम्बन्धी बातें करते हैं। यह उनकी भूल है। उन बातों का संस्कार बच्चों पर पड़ता है। जहाँ वे बड़े हुए तहाँ वैसी ही चेष्टायें करने लगते हैं। इसी प्रकार कथा वार्ता के संस्कार भी हृदय पर अपना प्रभाव जमाते हैं। मातायें कथा सत्संग में जाती हैं तो प्रायः हाथों से कुछ काम करती जाती हैं और कान से कथा सुनती हैं। इतने से ही उन्हें बहुत सी कथायें कण्ठस्थ हो जाती हैं। इसलिये वैदिक तथा पौराणिक शास्त्र साहित्य के सम्बन्ध में इच्छा न रहने पर भी उस विषय को न समझने पर भी—सुनना चाहिये। सुनते सुनते उनके संस्कार जम जाते हैं और इससे ब्रह्मतेज बढ़ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं अत्यन्त ही संक्षेप में सामवेद की शाखाओं का वर्णन करता हूँ। भगवान् व्यासदेव ने सामवेद की संहिता को महामुनि जैमिनी को दिया। जैमिनी मुनि के सुमन्तु नामक एक सुयोग्य पुत्र था उसके भी सुन्वान् नामक पुत्र था। इसलिये उन्होंने अपने वेदकी दो शाखायें कीं। एक अपने पुत्र सुमन्तु को दी और दूसरी अपने पौत्र सुन्वान् को दी।

इन पुत्र पौत्रों के अतिरिक्त उनका सुकर्मा नामक एक तेजस्वी शिष्य था। वह बड़ा मेधावी था अपने गुरु से सामवेद पढ़कर उसने उसकी सहस्र शाखायें कीं और अपने शिष्यों को वे सब भिन्न भिन्न शाखायें पढ़ायीं। उनके जो (कोशल निवासी) हिरण्यनाभ, पौष्यञ्जि, और (अवन्ती के) आवन्त्य आदि शिष्यों ने पढ़ा। पौष्यञ्जि और आवन्त्य के पाँच सौ शिष्य उत्तर दिशा में रहकर सामगान करते थे। उदीची दिशा में रहने से यद्यपि ये औदीच्य थे फिर भी इन्हें प्राच्य सामग भी कहते हैं। पौष्यञ्जि

मुनि के शिष्यों में से प्रत्येक ने सौ सौ संहितायें पढ़ीं। अक्रसुकर्मा के प्रथम शिष्य हिरण्यनाभ के शिष्यकृत हुए। उन्होंने भी अपने शिष्यों को चौबीस संहितायें पढ़ायीं। बहुत सी संहितायें आवन्त्य मुनि ने अपने शिष्यों को पढ़ायीं। इस प्रकार से सामवेद की बहुत सी शाखायें हुईं अब आप अथर्व वेद की शाखाओं के सम्बन्ध में भी सुनिये।

भगवान् वेदव्यास ने अथर्ववेद संहिता महामुनि सुमन्तु ऋषि को दी। उन्होंने उसे अपने शिष्य कबन्ध को पढ़ाया। कबन्ध मुनि ने उसके दो विभाग किये। एक को अपने प्रथम शिष्य पथ्य को पढ़ाया और दूसरी को अपने द्वितीय शिष्य वेद दर्श को पढ़ाया। महामुनि दर्श के चार शिष्य हुए। उनके नाम शौक्लायनि, ब्रह्मबलि, मोदोष और पिप्पलायनि थे। महामुनि पथ्य के भी तीन शिष्य थे, उनके नाम कुमुद, सुनक और जाजलि थे। इनमें शुनक मुनि के बभ्रु और सैन्धवायन ये दो शिष्य हुए। इसके अनन्तर सावर्ण्य आदि अथर्व वेद के ज्ञाता हुए तदनन्तर नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प, कश्यप और आङ्गिरस आदि मुनि हुए। ये सबके सब अथर्व वेद के ज्ञाता और सबके सब परम बुद्धिमान् थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने वैदिक मुनियों का वर्णन तो किया, किन्तु पौराणिक मुनियों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। अब कृपा करके आप हमें पौराणिक आचार्यों के सम्बन्ध में बतावें।

यह सुनकर सूतजी के नेत्रों में जल भर आया और वे बोले—"मुनियो! महाराज पृथु के यज्ञ में सौत्याहनि यज्ञ में चरु के विपर्यय होने से मेरे पिता की उत्पत्ति हुई। चरु के विपर्यय हो जाने से उनकी सूत संज्ञा हुई। वे लोमहर्षण सूत सूतवंश के प्रथम प्रवर्तक हुए। चरु के विलोम हो जाने से [illegible]

जाति की सूतजाति हुई। इसीलिये वे अयोनिज होने पर भी वेदों के अध्यापन के अनधिकारी माने गये। भगवान् व्यासदेव ने उन्हें पुराणों का आचार्य बनाया। उन्होंने पुराणों की ६ संहितायें बनायीं। उनको त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन और हारीत इन छै पौराणिक मुनियों को पढाया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तुम्हारे पिता पुराणाचार्य लोमहर्षण भले ही अयोनिज हैं, फिर भी वे हैं तो सूत जाति के ही। अध्ययन कराने का गुरु बनने का अधिकार तो ब्राह्मणों को ही है, अन्य जाति के लोगों को तो शिष्य करने का अधिकार नहीं, फिर तुम्हारे पिता ने इन मुनियों को अध्ययन क्यों कराया?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज वेद पुराणों के उपदेष्टा तो आप ही लोग हैं। आप जिसे अधिकार दे दें वह अनधिकारी होने पर भी अधिकारी हो जाता है। आप लोग मन्त्रों द्वारा पाषाण आदि की प्रतिमाओं में प्राण प्रतिष्ठा कर देते हैं, वह जगत् पूज्य बन जाती है। इसी प्रकार सूत न होने पर भी मेरे पूज्य पिता को भगवान् वेदव्यासजी ने अपना लिया उन्हें अपना शिष्य बना लिया। उन्हें अपना शिष्य बना लिया और सूत जाति को पुराण बाँचने का अधिकार देकर मुझे उच्चासन पर बिठा दिया है। रही गुरु बनने की बात सो भगवन्! गुरु दो प्रकार के होते हैं एक शिक्षा गुरु दूसरा दीक्षा गुरु। दीक्षा गुरु ब्राह्मण ही होता है। किन्तु शिक्षा गुरु अपवाद रूप में अन्य वर्ण का भी हो सकता है। कई राजाओं के पास शिक्षा लेने बहुत से ऋषि गये हैं और शिक्षा के लिये उन्होंने उन राजाओं का शिष्यत्व स्वीकार किया है। मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेव के दीक्षा गुरु तो उनके पिता ही थे, किन्तु शिक्षा लेने वे राजा जनक के पास गये थे। राजा जनक ने प्रथम तो गुरुपुत्र और ब्राह्मण के नाते उनकी

पूजा की फिर शिक्षा भी दी। स्मृतियों में भी ऐसे वचन मिलते हैं, कि किसी अब्राह्मण से शिक्षा लेनी हो, तो उसे शिक्षा लेते समय प्रणाम करे, शिक्षा लेने के अनन्तर प्रणामादि न करे वाचिक आदर करे। व्यासजी ने जब मेरे पिता को पुराणाचार्य बना दिया तो उन्होंने गुरु आज्ञा से पुराणों की शिक्षा दी। मैं भी आपकी आज्ञा से शिक्षा दे रहा हूँ। मैं वेद मन्त्रों की दीक्षा नहीं दे सकता। जो अब्राह्मण होकर किसी को वेद मन्त्रों की दीक्षा देता है तो देने वाला और लेने वाला शास्त्र विधि का उल्लङ्घन करने के कारण दोनों ही नरक के अधिकारी होते हैं।

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! पुराणों के पठन पाठन का तो आप को अधिकार ही है, आपके पिता हम लोगों को सदा पुराण सुनाया करते थे, और हम भी गुरु की भाँति उनका आदर करते थे। उन्हें उच्चासन देते थे। उनके पश्चात् इस सिंहासन पर आपको बिठाया था। आप भी पुराण के हमारे गुरु हो आप ने किससे संहितायें पढ़ीं।

सूतजी बोले—"महाराज! मैं तो सभी का शिष्य हूँ। आप की आज्ञा शिरोधार्य करके ही इस उच्चासन पर बैठा हूँ। मैंने जो भी कुछ प्राप्त किया है आप महर्षियों से ही प्राप्त किया है। जैसे पिता पुत्र को प्रथम सिखाता पढ़ाता है, फिर स्वयं ही उसे उच्चासन पर बिठाकर सुनता है प्रमुदित होता है। आप जो कहलाते हैं वह कहता हूँ। मेरे पिताजी से तो त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन और हारीत इन छै महर्षियों ने एक एक संहिता पढ़ी, फिर मैंने इन छैओं से सब संहितायें पढ़ी इस सम्बन्ध से तो ये छैऊ मेरे गुरु और पिता जी मेरे परम गुरु हुए। किन्तु कश्यप, सावर्णि और परशुराम जी के शिष्य अकृतव्रण तथा मैं इन चारों ने पिता जी से मूल संहितायें पढ़ी इस नाते से मेरे पिता जी मेरे गुरु हुए। मैंने श्री शुकदेव जी के मुख से गंगा

तट पर यह श्रीमद्भागवत-सात्वत संहिता पढ़ी इसलिये वे मेरे गुरु हैं। मैंने तो जिस महर्षि से भी प्राप्त हुई उसी से पुराण संहितायें पढ़ीं इस प्रकार मुझे अठारहों पुराण कंठस्थ हैं।"

इसपर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! पुराण किसे कहते हैं, पुराणों के लक्षण हमें और सुना दीजिये।"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! पुराणों के लक्षण पुराणों संख्या में तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ।"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! कलियुग का प्रभाव होने से कुछ हम लोगों की भी स्मरण शक्ति न्यून-सी हो गयी है। एक विषय को बार बार सुनने से उसकी पुनरावृत्ति हो जाती है आप पहिले बता तो चुके हैं, किन्तु एक बार फिर बता दें।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! आप तो सर्वज्ञ हैं, आपकी स्मृति कैसे न्यून हो सकती है, आप तो लोक कल्याण के निमित्त ही एक प्रश्न को बार बार पूछते हैं। बालकी खाल निकालते हैं, जिससे सर्व साधारण की समझ में आ जाय। अच्छी बात है अब मैं वेद शास्त्रों के अनुसार ब्रह्मर्षियों के बताये हुए पुराण के लक्षणों को कहता हूँ, उन्हें आप सावधान होकर श्रवण करें।

पुराण कहते हैं, पुरानी वस्तु को जिसमें विश्व का सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, मन्वन्तर, वंश, वंशों के चरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय ये दस बातें हों वही पुराण है। महर्षियों ने पुराण के ये ही दस लक्षण बताये हैं। पुराणों में भी एक महापुराण है एक पुराण जिसमें दस लक्षण हों वह महापुराण जिसमें पाँच ही हों वह पुराण ऐसा किन्हीं महर्षियों का मत है। उप पुराण और औपपुराण भी हैं। इन सब में ये ही दस बातें हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इन दस लक्षणों की फिर से व्याख्या और सुना दीजिये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! पीछे मैं इन दशों के लक्षण बता चुका हूँ अब अत्यन्त संक्षेप में फिर से कहता हूँ।

१—सर्ग-सग कहते हैं, सृष्टि को। पुराणों में आवश्यक रूप से इस बात पर विचार किया गया है, कि यह सृष्टि कैसे होती है। जब यह दृश्य जगत् नहीं था तब तक सत् ही सत् था त्रिगुणात्मिका प्रकृति साम्यभाव में निश्चेष्ट थी। गुणों में क्षोभ होने से उनकी साम्यता नष्ट हो गयी। तीनों गुण कुछ कुछ न्यूनाधिक हुए। सृष्टि का कार्य आरम्भ हुआ। गुणों में क्षोभ होने पर सर्व प्रथम 'महान्' या महत्तत्व' की उत्पत्ति हुई। उस महत्तत्व से ही सात्विक, राजस तथा तामस तीन प्रकार के अहंतत्व की उत्पत्ति हुई। उस त्रिविध अहंकार से ही शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पंचभूत तन्मात्रायें, एकादश इन्द्रियाँ तथा इनके विषयों की उत्पत्ति हुई। इस उत्पत्ति का नाम ही महर्षियों ने सग रखा है।

२-विसग—विशेष रूप से जीवों की सृष्टि का नाम विसर्ग है। मूल प्रकृति से महत्तत्व, अहंतत्व, इन्द्रियादि तत्व तो उत्पन्न हो गये, किन्तु इनसे विशेष सृष्टि कैसे हुई। जैसे आपका एक बीज है, उसे उर्वरा भूमि में बो दिया, उसको प्रकृति के अनुकूल खाद जल मिला, तो उसी बीज से अंकुर होगा। फिर वृक्ष हो जायगा, फल लगेंगे। फल में फिर बहुत से बीज हो जायँगे। एक बीज का उग आना सर्ग है, एक बीज से बहुत बीज हो जाना यही विसर्ग है। इसी प्रकार ईश्वर से अनुगृहीत इन महत्तत्वादि से पूर्व जन्म की वासनाओं के अनुसार नाना प्रकार के जीव समूहों की उत्पत्ति होती है उसी को पुराणों की भाषा में विसर्ग कहा जाता है।

३-वृत्ति—जिसका जिससे निर्वाह हो उसे उसकी वृत्ति कहते हैं—जैसे गौ का निर्वाह घास से होता है जगम प्राणियों की स्वा-

भाविकी जीविका स्थावर प्राणी हैं। मनुष्य कामवश कुछ तो अपने आप अपनी जीविका बना लेता है। कुछ के लिये शास्त्र आज्ञा देता है। इस प्रकार विहित और अविहित दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं।

४-रक्षा—अच्छा, अब जीव तो उत्पन्न हो गये। बहुत से बर्तन जहाँ रहते हैं, परस्पर में खटकते ही हैं। इसी प्रकार जब बहुत से प्राणी हो जाते हैं, तो आपस में लड़ते हैं एक दूसरे को खा जाना चाहते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जीव आपस में लड़ते क्यों हैं ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! लड़ते हैं अपनी आजीविका के लिये। लड़ाई भी स्वाभाविक है। जंगम प्राणियों की आजीविका स्थावर प्राणियों से है। गाय बैल हैं, वे घास भूसा खाते हैं। मनुष्य है ओषधि अन्न, फल मूल खाकर निर्वाह करता है। कुछ बड़े जीव छोटे जीवों को खाकर जीते हैं। यह मनुष्य प्राणी साधक है। यह कुछ तो शास्त्राज्ञा से नियत की हुई जीविका से निर्वाह करता है, कुछ कामवश अपने आप ही निश्चित कर लेता है। इससे आपस में बड़े बखेड़े होते हैं। कुछ लोग कहते हैं हम धर्म को वेदाज्ञा को नहीं मानते। कुछ कहते हैं हम मानते हैं। वेद विरोधी लोग प्रबल हो जाते हैं। धर्म का ह्रास होने लगता है, साधु पुरुषों को खल पुरुष भाँति भाँति की पीड़ायें पहुँचाते हैं। तब भगवान् युग युग में अवतीर्ण होकर जो विश्व की रक्षा करते हैं। वेद विरोधियों को परास्त करते हैं उसी का नाम रक्षा है। भगवान् तिर्यक्, मनुष्य, ऋषि तथा देवताओं में अवतार धारण करके भाँति भाँति की विचित्र विचित्र क्रीड़ायें करते रहते हैं। इससे विश्व की रक्षा होती है।

५-मन्वन्तर—'एक मनु जितने दिन तक रहते हैं, उसे मन्व-

न्तर कहते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन में चारों युग सहस्र सहस्र बार बीत जाते हैं। उनके एक दिन में १४ मन्वन्तर मनु बदल जाते हैं। एक मन्वन्तर में इकहत्तर बार चारों युग बीतते हैं। उस काल में मनु, मन्वन्तर के देवगण, इन्द्र, मनुपुत्र, सप्तर्षि और भगवान् का एक अंशावतार ये ६ रहते हैं। इन ६ के ही शासन काल का नाम मन्वन्तर है। पुराणों में समास व्यास से चौदहों मन्वन्तरों का वर्णन रहता है।

६—वंश—"ब्रह्माजी से सूर्यवंश चन्द्रवंश तथा ऋषिवंश आदि वंशों की उत्पत्ति होती है। उन ब्रह्माजी के जितने वंश धर हो गये हैं, जो हैं अथवा जो आगे होंगे उन्हें 'वंश' कहते हैं पुराणों में बहुत से वंशों का वर्णन रहता है।

७—वंशानुकथा—इन ब्रह्माजी से उत्पन्न वंशों में जो बड़े बड़े पराक्रमी ब्रह्मर्षि राजर्षि तथा अन्यान्य विशिष्ट व्यक्ति हो गये हैं, उनके तथा उनके वंशधरों के चरित्रों को 'वंशानु कथा' कहते हैं।

८—संस्था—जो उत्पन्न होगा उसका नाश अवश्य होगा। जब इस जगत की उत्पत्ति बतायी जाती है, तो संहार भी बताना आवश्यक है। देह जब उत्पन्न होती है, उसके साथ ही साथ उसकी मृत्यु भी होती है। आज हो या सौ वर्ष पश्चात हो सर्ग प्रलय अवश्य होगी। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यंतिक इस प्रकार प्रलय चार भाँति की बतायी गयी हैं, जिसका वर्णन पीछे प्रसंगानुसार कई बार हो चुका है। इस प्रलय को ही पौराणिक भाषा में संस्था कहते हैं।

९—हेतु—अब यह देखना है, कि कारण के बिना कोई कार्य होता नहीं। प्रयोजन के बिना मंद भी किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता। तब इतने बड़े संसार के उत्पन्न होने का हेतु क्या है। शास्त्रकारों ने यही बताया है, कि जीव के भोग भोगने के लिये

तथा मोक्ष के निमित्त यह संसार है। यह जीव कर्मों में प्रवृत्त होता क्यों है ? इस पर बड़ा विवाद है। साधारणभूत होकर ही जीव कर्मों में प्रवृत्त होता है। जीव जड़ नहीं है वह चैतन्य प्रधान है अतः इसे कोई 'अनुशयी' कहते हैं।

ब्रह्म तो निरुपाधिक है, उसमें किसी भी प्रकार की उपाधि नहीं। किन्तु जीव उपाधि प्रधान है। इसीलिये कोई इसे अव्याकृत भी कहते हैं। जीव न हो तो इस चराचर जगत की भी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये इस सर्ग, स्थिति और प्रलय का हेतु जीव को ही बताया है।

१० —अपाश्रय—जो इस जगत् में इसी प्रकार ओतप्रोत है, जिस प्रकार पट में तन्तु तथा घट में मृत्तिका ओत प्रोत है। जो जगत में व्याप्त होने पर भी जगत् से सर्वथा पृथक् है। उस ब्रह्म की ही पौराणिक भाषा में अपाश्रय संज्ञा कही गयी है। जीव की तीन अवस्थायें कही गयी हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों मायामयी वृत्तियाँ हैं। इनमें विश्व, तैजस और प्राज्ञ रूप से ब्रह्म ही ब्रह्म है। इसी का नाम अन्वय है। जैसे सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है। इन तीनों अवस्थाओं से परे जो तुरीय रूप है वही व्यतिरेक है। जैसे अन्न ब्रह्म नहीं है, प्राण ब्रह्म नहीं है। नहीं नहीं करते करते जो बच रहे वही ब्रह्म है। अन्वय और व्यतिरेक से जो सिद्ध हो वही दशम तत्व अपाश्रय ब्रह्म है। समस्त वेद पुराण इसी दशम तत्व का प्रतिपादन करते हैं। इस दशम तत्व की विशुद्धि के निमित्त ही शेष नौ का विस्तार किया गया है। जैसे बच्चों को गौ के नीचे छोड़ना दूध दुहना, दूध को गरम करना, उसमें जामन देना, जमाना, दूसरी हंडी में डालना, रई लेकर बिलौना, मक्खन निकालना फिर उसे तपाकर घृत बनाना। ये जितनी क्रियायें हैं एकमात्र घृत निकालने के ही निमित्त हैं। घृत दुग्ध में सर्वत्र व्याप्त भी है और पृथक् भी है। ऐसे ही ब्रह्म

सम्पूर्ण जगत में व्याप्त भी है और जगत से भिन्न भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! एक ही वस्तु सर्वत्र व्याप्त और उससे सर्वत्र भिन्न कैसे हो सकती है ?"

सूतजी ने कहा—"क्यों, महाराज ! इसमें हानि ही क्या है। देखिये घड़े के अणु अणु में मृत्तिका व्याप्त है, कोई भी घड़े का स्थान ऐसा नहीं जहाँ मिट्टी न हो। इतना सब होने पर मिट्टी घड़े से पृथक् भी है। घड़े के ऊपर नीचे बाहर भीतर नाम रूप को छोड़कर—जो भी कुछ है मृत्तिका ही मृत्तिका है। मृत्तिका के अतिरिक्त उसमें कुछ भी नहीं है। उसी प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सम्पूर्ण अवस्थाओं में अधिष्ठान रूप से ब्रह्म ही ब्रह्म है। जितने भी पिंड हैं सबमें ब्रह्म ही ब्रह्म व्याप्त है। साक्षी रूप से वही सच्चिदानन्द घन विग्रह, निरीह निर्लेप ब्रह्म सबसे पृथक् भी है। उसी की संज्ञा 'अपाश्रय' कही गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म व्याप्त है। तब फिर जीव की अच्छे बुरे कर्मों में प्रवृत्ति क्यों होती है ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! माया के सत्व, रज और तम ये तीन गुण ही जीवको कर्मों में प्रवृत्त कराते हैं। जब तक त्रिगुणात्मिक ऊर्मियाँ उठती रहेंगी तब तक जीव कर्मों में प्रवृत्त होता रहेगा, तब तक उसे शाश्वती शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस समय चित्त सत्वादि तीनों प्रकार की वृत्तियों को त्यागकर गुणातीत बन जाता है, तब स्वयं शान्त हो जाता है। दीपक में जब तक तैल रहेगा, तब तक वह जलता रहेगा, जब तैल समाप्त हो जायगा, तब अपने आप शान्त हो जायगा। उसी प्रकार त्रिगुणात्मिका ऊर्मियों के चुक जाने पर मन शान्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! त्रिगुणमयी ऊर्मियों का अंत कैसे हो ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! सत् असत् के विवेक से सत् वस्तु का अनुभव होने लगता है, तब असत् का अपने आप निराकरण हो जाता है। वैराग्य और विवेक के द्वारा ज्ञान हो जाता है, ज्ञान से मुक्ति होती है। ज्ञान होने पर स्वयं चित्त की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। अथवा योगाभ्यास करने से चित्त की बिखरी वृत्तियों का निरोध हो जाता है और निरुद्ध हुए चित्त का अपने स्वरूप में अवस्थान होता है। जिस किसी प्रकार आत्मतत्व का यथार्थ बोध होना चाहिये। आत्मतत्व का बोध होने पर अविद्या जनित कर्म प्रवृत्ति से चित्त अपने आप निवृत्त हो जाता है।"

इसलिये मुनियो ! सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय इन दश का जिनमें वर्णन हो उनका नाम पुराण है। उनके नाम मैं पीछे कई बार बता चुका हूँ। फिर भी आपको पुनः स्मरण कराये देता हूँ। ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव, शैव, लैङ्ग, गारुड, नारदीय, भागवत, आग्नेय, स्कान्द, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, वामन, वाराह, मात्स्य, कौर्म और ब्रह्माण्ड ये अठारह पुराण हैं। मेरे पिताजी ने भगवान् व्यासजी से सब पढ़े थे। मैंने अपने पिता से तथा अन्यान्य ऋषियों से ये सबके सब पढ़े हैं। इस प्रकार व्यासजी के शिष्य प्रशिष्यों का किया हुआ वैदिक तथा पौराणिक शाखाओं का विस्तार मैंने आपसे बताया। जो कोई इस शाखा विस्तार को पढ़ता सुनता है उसका ब्रह्मतेज बढ़ता है। जो वेदों की शाखाओं को न पढ़ सके उसे इस शाखा विस्तार नामक अध्यायों को अवश्य सुन लेना चाहिये। इन ऋषियों के नाम कीर्तन का भी

बड़ा पुण्य होता है, यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में आपसे वेदों की शाखाओं का तथा पुराणों के लक्षणों का वर्णन किया अब आप और क्या सुनना चाहते हैं। आप ने मेरी कथा बड़े मनोयोग के साथ सुनी भगवान् करें आपकी मार्कण्डेय के समान आयु हो।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अहा, आपने अच्छा स्मरण कराया। भगवान् आपका भला करें। आप समस्त वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं। आपका ज्ञान अमोघ है आपकी स्मरण-शक्ति अद्भुत है। परम पिता परमात्मा के पादपद्मों में हमारी पुनः पुनः प्रार्थना है, कि आपकी आयु बहुत बड़ी हो। आप भी मार्कंडेय के सदृश चिरजीवी हों। एक शंका हमको बहुत दिनों से थी, आपने मार्कंडेयजी का स्मरण करके हमारी शंका को नूतन बना दिया। अब आपसे ही हम उस शंका का समाधान करावेंगे, क्योंकि आप अपार संसार सागर में भटकते हुए प्राणियों के पथ प्रदर्शक हैं। आप कहें तो हम अपनी शंका को आपके सम्मुख प्रकट करें।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! आप आज्ञा करें, जैसा कुछ मैंने गुरु मुख से सुना है, उसके अनुसार मैं आपकी शंका का समाधान करने की चेष्टा करूँगा। आप अपनी शंका को अवश्य कहें।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! हमें शंका यह है, कि सब लोग मार्कंडेय मुनि को चिरायु बताते हैं। हमने ऐसा सुना है कि प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण चराचर जगत् विलीन हो जाता है, उस समय कुछ भी शेष नहीं रहता। फिर भी सुनते हैं, कि मार्कंडेय मुनि उस प्रलयकाल में भी शेष रह जाते हैं। कई प्रलय उन्होंने देखीं हैं। प्रलय होती है कल्प के अन्त में। एक कल्प में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये चारों युग सहस्र सहस्र बार

बीत जाते हैं। किन्तु मार्कंडेय मुनिका जन्मतो इसी कल्प में हुआ है और हमारे ही भार्गव कुल में इनका जन्म हुआ है, तबसे अब तक कोई प्रलय तो हुई नहीं। होती भी कैसे प्रलय का कोई समय ही नहीं था। फिर उन्होंने प्रलय कालीन जल में एकाकी विचरण कैसे किया? वटपत्र के पुट पर शयन करते हुए बाल मुकुन्द भगवान् के दर्शन उन्होंने कैसे किय? कैसे वे उनकी स्वाँस के साथ उनके उदर में चले गये। यह शंका हमें बड़ी भारी है। सूतजी! आप पौराणिकों में अग्रगण्य हैं। हमारी इस शंका का तो आप समाधान कर ही दें। इस विषय को श्रवण करने की हमें अत्यन्त उत्कण्ठा हो रही है। हमें बड़ी चटपटी लग रही है। अतः कृपा करके इसका उत्तर देकर हमारे संशय को दूर कीजिये।"

इस प्रश्न को सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! मैं आपके प्रश्न का अभिप्राय समझ गया। अब आप पुराणाचार्य भगवान् मार्कंडेय का चरित्र सुनना चाहते हैं। पुराण की कथा के अन्त में मार्कंडेय जैसे चिरजीवी मुनियों का चरित्र सुनना ही चाहिये, इससे श्रोता वक्ता दोनों की ही चिरायु होती है। अच्छी बात है अब मैं आपको महामुनि मार्कंडेय का ही चरित्र सुनाता हूँ, इसे आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

ब्रह्मविवर्त पुरान लेहु वाराह पुरातन।
पुनि स्कंध पुरान हु वामन कूर्म सनातन॥
मत्स्य, गरुड, ब्रह्माण्ड अठारह सब मिलि होवै।
पढ़ै सुनै नर नारि सहज जनमनि अघधोवै॥
वेद पुराननि भेद कूँ, नाम मात्र हू जे रटै।
पढ़ै प्रेम तैं नियम युत, तिनके सब पातक फटै॥

—:o:—

मार्कण्डेय मुनि की तपस्या

(१३६१)

प्राप्त द्विजाति संस्कारोमार्कण्डेयः पितुः क्रमात् ।
छन्दांस्यधीत्य धर्मेण तपः स्वाध्याय संयुतः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ८ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

शौनक बोले—सूत ! होहु चिरजीवी भाई ।
भटकि रहे जगमाहिँ गैल अति सरल दिखाई ॥
मार्कण्डेय चिरायु तात ! कैसे कहलावें ।
कल्प प्रलय नहिँ भई प्रलय जल कस तैरावें ॥
सूत कहें—शौनक ! सुनहु, माया में संभव सकल ।
माया की ही प्रलय में, भये महामुनि अति विकल ॥

विद्या विनय को प्रदान करती है। विद्या पढ़कर जिसमें विनय नहीं आयी, वह उस भारी वृक्ष के समान है जो बढ़ तो बहुत गया है, किन्तु फल जिसमें आते ही नहीं। विनय ही विद्या को चमकाती

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महामुनि मार्कण्डेय जी ने जब अन्य संस्कारों के क्रम से यज्ञोपवीत संस्कार को अपने पिता से प्राप्त कर लिया तब धर्मानुसार तप और स्वाध्याय से युक्त होकर वेदाध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने लगे।"

है, विनय बिना विद्या व्यर्थ है निष्फल है, केवल भार है जैसे फलवान् वृक्ष नत हो जाता है, वैसे ही विद्यावान् व्यक्ति बड़ों के सम्मुख सदा नत मस्तक रहता है। समस्त जीवधारियों में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसका सिर ऊपर की ओर है और वह स्वेच्छा से नीचा भी किया जा सकता है। ऊँचा सिर तो उसीका है जिसका आचरण विशुद्ध हो, दीनता पूर्वक वह किसी के सम्मुख नत न हो। यदि सिर नत हो तो भगवान् के देवताओं के आगे अथवा पूज्य गुरुजनों के आगे जिनका स्वभाव अभिवादन शील है। बड़ों को देखते ही जिनका सिर स्वतः ही झुक जाता है, दोनों हाथों की अञ्जलि स्वयं बँध जाती है, उनके लिये संसार में कुछ भी असंभव नहीं वे आयु, विद्या, तथा बल सभी कुछ गुरु जनों की कृपा से ही प्राप्त कर सकते हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! आपने मुझसे महामुनि मार्कण्डेय का चरित्र पूछा उसे ही मैं आप से कहता हूँ। महाभाग शौनक जी ! मार्कण्डेय मुनि के सम्बन्ध का आपका प्रश्न बड़ा ही महत्व पूर्ण है। बहुत से लोगों को इस विषय में शंका हो जाती है। आपके प्रश्न से बहुत लोगों का भ्रम दूर हो जायगा। मार्कण्डेय मुनि के प्रसङ्ग में ही मुझे श्री मन्नारायण की कथा कहने का अवसर प्राप्त हो जायगा। भगवान और भक्तों की कथायें कलि-कल्मष को काटने वाली होती हैं।

आपके ही भृगुवंश में एक मृकण्ड नामक बड़े भारी तपस्वी मुनि हो गये हैं। ढलती अवस्था में उन महा मुनि के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम मुनिने मार्कण्डेय रखा। तदनन्तर महा मुनि मृकण्ड वन में रह कर वानप्रस्थान व्रत का पालन करने लगे। बालक मार्कण्डेय अपने पिता के साथ वन में ही बड़े हुए, वहीं वे पिता के साथ रहने लगे। बालकमार्कण्डेय बड़े ही सुन्दर, सरल और सौम्य थे। वन में वे साक्षात् मूर्तिमान् तप ही प्रतीत

होते। उनके सभी अंग सुन्दर और सुगठित थे। जो भी उन्हें देखता वह मुग्ध हो जाता और बिना प्यार किये रह नहीं सकता।

एक दिन वे आश्रम में पिता की गोदी में बैठे खेल रहे थे, कि उसी समय एक मुनि वहाँ आये। बालक मारकंडेय को देख कर वे विमुग्ध हो गये। उस सुन्दर भोले भाले बालक ने हठात् उनके चित्त को चुरा लिया था। वे मुनि ज्योतिष विद्या में पारंगत थे। हस्तरेखा आदि सामुद्रिक शास्त्र का भी उन्हें ज्ञान था। वे बार बार बालक को नख से शिख तक चकित चकित दृष्टि से निहार रहे थे।

मृकण्ड मुनि ने विनीत भाव से पूछा—"ब्रह्मन्! आप मेरे पुत्र की ओर इस प्रकार चकित दृष्टि से क्यों देख रहे हैं।"

उन मुनि ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञाता हूँ। आपके पुत्र के लक्षणों को देखकर मैं चकित हो रहा हूँ।"

भविष्य की बात जानने की सभी को उत्सुकता रहती है। अतः मृकण्ड मुनि ने जिज्ञासा भरी वाणी में कहा—"ब्रह्मन्! मेरे पुत्र के लक्षण कैसे हैं? आप इसकी रेखाओं को देख कर उनका शुभा शुभ फल मुझ से कहें।"

यह सुन कर वह सामुद्रिक मुनि बोले—"ब्रह्मन् मैं इस बच्चे के शुभ लक्षणों को देखकर चकित हो गया हूँ। एक मनुष्य के शरीर में एक साथ ही इतने शुभ लक्षणों का मिलना अत्यन्त कठिन है। यदि किसी दूसरे के शरीर में इतने शुभ लक्षण होते, तो निश्चय ही वह अजर अमर होता। किन्तु..." इतना कह कर वे मुनि चुप हो गये।

मृकण्ड मुनि ने कहा—"विप्रवर! किन्तु कह कर ही आप चुप क्यों हो गये। इसके आगे भी कहिये। क्या इसके कोई अशुभ लक्षण भी हैं क्या?"

खिन्न मन से मुनि ने कहा—"ब्रह्मन्! एक ऐसा अशुभ

लक्षण इसके पड़ गया है, कि उसका फल सुनकर आपको दुःख होगा।"

उत्सुकता प्रकट करते हुए मृकण्ड मुनि बोले—"हाँ, हाँ, उसे उसे भी बता दीजिये। संकोच करने का काम नहीं, स्पष्ट बता दें कौन-सा अशुभ लक्षण इसमें है।"

ब्राह्मण बोला—"मुनिवर! बताने योग्य तो बात नहीं है, किन्तु न बताने से आपकी उत्सुकता और बढ़ेगी, अतः बताये ही देता हूँ, इसकी एक विशेष रेखा है, इसका फल यह है कि आज के दिन से पूरे छः महीने पश्चात् इसकी अवश्य ही मृत्यु हो जायगी। इसे समझ कर आप ऐसा यत्न करें जिससे लोक परलोक दोनों में इसका कल्याण हो।"

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! इतना कह कर वह ब्राह्मण तो इच्छानुसार किसी दूसरे स्थान को चला गया। मृकण्ड मुनि सोचने लगे—'ऐसा कौन सा उपाय है, जिससे मेरे बच्चे की अल्पायु का योग टल जाय। अभी तो यह पाँच वर्ष का भी नहीं हुआ है। छै महीने पश्चात् इसका मृत्यु योग है पिता के सम्मुख पुत्र की मृत्यु बड़ा ही वीभत्स कार्य है, अल्पायु में ही पिता के सम्मुख पुत्रों की मृत्यु यह बड़े भारी पाप का परिणाम है। अभी तो इसका यज्ञोपवीत भी नहीं हुआ है। ब्राह्मणों का आशीर्वाद अमोघ होता है, यदि किसी प्रकार ब्राह्मण इसे चिरजीवी होने का आशीर्वाद दे दें तो इसका अल्पायु योग टल सकता है।"

यही सब सोचकर महा मुनि मृकण्ड ने अवस्था के पहिले ही इनका यज्ञो पवीत संस्कार कर दिया और फिर सदाचार सिखाते हुए उससे कहा—"देखो, बेटा! तुम जहाँ भी जैसे भी ब्राह्मण को देखो उसे श्रद्धा सहित प्रणाम करो। तुमसे जो बड़े हों सब का अभिवादन करना।"

विनयी पुत्र ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की। वह जहाँ भी

विप्र को देखता वहीं उसे बड़ी भक्ति के साथ विनयावनत होकर प्रणाम करता। उसे गुरुजनों को प्रणाम करने में एक प्रकार का आनन्द आने लगा। इस प्रकार करते करते इसे छै महीने हो गये। छै महीने में तीन दिन ही शेष रह गये।

एक दिन बालक 'मारकंडेय आश्रम के बाहर खड़ा था कि उसे तीर्थ यात्रा प्रसंग में विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ और कश्यप ये सात ऋषि आते हुए दिखायी दिये। बालक मारकंडेय ने बड़े उत्साह से प्रसन्नता प्रकट करते हुए अपना नाम गोत्र लेकर इन सातों ऋषियों के पाद पद्मों में क्रमश प्रणाम किया और सातों ने ही उसे दीर्घ जीवी होने का आशीर्वाद दिया मेखला और दण्ड धारण किये मृग चर्म पहिने हाथ में पवित्री और ब्रह्मदण्ड लिये वह छोटा सा ब्रह्मचारी मूर्तिमपान त के सदृश दिखायी देता था। उन सप्तर्षियों में से महामुनि वशिष्ठ बड़े प्यार से उसकी ओर देखने लगे। सहसा वे कुछ चौंक से पड़े और सब ऋषियों को सुनाते हुए बोले—"ऋषियो! एक बड़ी भारी भूल हम लोगों से हो गयी।"

उन मुनियों ने पूछा—"कौन सी भूल हमसे बन पड़ी?"

वशिष्ठ जी ने कहा—"देखो, हम सब लोगों ने इस बालक को दीर्घजीवी होने का आशीर्वाद दिया है, किन्तु इसका तो आज से तीसरे दिन मृत्युयोग है। हम लोगों को ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे हमारा वचन सत्य हो, हमने तो कभी हँसी में भी असत्य भाषण नहीं किया है।"

उन सप्तर्षियों में से एक दूसरे मुनि बोले—"हाँ, हमारा वचन किसी भी प्रकार असत्य न होना चाहिये। ब्रह्माजी के अतिरिक्त इसके मृत्युयोग को कोई टाल नहीं सकता। अतः इस बालक को हम ब्रह्माजी के पास ले चलें।"

सब ने इस बात का समर्थन किया। अब सब ऋषिगण उस बालक को साथ लेकर ब्रह्माजी की सभा में गये। ब्रह्माजी अनेक देवता तथा ऋषियोंसे घिरे हुए अपनी सभामें बैठेथे। वहाँ जाकर सप्तर्षियों ने ब्रह्माजी के पाद पद्मों में प्रमाण किया और बालक मार्कण्डेय ने भी भक्तिभाव से लोकपिता मह ब्रह्माजी के पैर पकड़े। ब्रह्माजी ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हुए बालक को प्यार किया और दीर्घायु होने का आशीर्वाद दिया। फिर वे सप्तर्षियों से बोले—"ऋषियों! आज आप लोग सब मिलकर कहाँ से आ रहे हैं और यह ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला सरल सौम्य शिशु कौन है। इसे आप लोग कहाँ के पकड़ लाये हैं?"

ब्रह्माजी की बात सुनकर हाथ जोड़कर वे ऋषि बोले—"भगवन्! हम तीर्थयात्रा कहते हुए मृकण्ड मुनि के आश्रम के निकट गये थे, वहाँ यह बालक हमें खड़ा हुआ दिखायी दिया। इसने हम सब को श्रद्धाभक्ति पूर्वक प्रणाम किया और हम सब ने भी इसे चिरजीवी होने का वरदान दिया। पीछे इसके लक्षणों को देखकर हमने समझा कि इसकी तो आज के तीसरे दिन मृत्यु है। इसलिये इसकी मृत्यु को टालने के लिये हम तीर्थयात्रा छोड़कर बीच में ही इसे लेकर आपकी सेवा में समुपस्थित हुए। यहाँ आने पर आपने भी इसे दीर्घजीवी होने का आशीर्वाद दिया। अब आपका यह वरदान सत्य होना चाहिये।"

यह सुनकर हँसते हुए ब्रह्माजी बोले—"ऋषियों! आप लोग सत्यवादी हैं। स्वप्न में भी आपका कहा हुआ वचन व्यर्थ नहीं हो सकता सो आपने तो इस बालक को जाग्रत अवस्था में आशीर्वाद दिया है। एक ने नहीं आप सातों ने ही इसे चिरायु होने का वर दिया है। वह मिथ्या कैसे हो सकता है। मेरे प्रसाद से यह बालक अजर अमर हो जाय वेद वेदाङ्गों का ज्ञाता, यशस्वी,

चिरायु तथा पुराणाचार्य होगा। अब आप इसे शीघ्र ही पृथिवी पर इसके माता पिता के समीप पहुँचा दें।"

यह सुनकर सप्तर्षिगण उस बालक को लेकर तथा ब्रह्माजी को प्रणाम करके पृथिवी पर आ गये और आश्रम के निकट बालक को छोड़कर आगे बढ़ गये। इधर बालक मार्कण्डेय को न देखकर उसके माता पिता छटपटा रहे थे और चारों दिशाओं में खोजकर रहे थे। उसी समय सहसा पुत्र को आते हुए देखकर माता पिता को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने बालक को गोदी में बिठाकर उसका सिर सूंघा और इतनी देर न आने का कारण पूछा। तब मार्कण्डेय जी ने आदि से अन्त तक सभी वृत्तान्त बता दिया। इसे सुनकर माता पिता को अपार हर्ष हुआ। पिता ने पूछा—"बेटा! सप्तर्षि कहाँ चले गये।"

मारकंडेयजी ने कहा—"पिताजी वे ऋषिगण मुझे आश्रम के द्वार पर छोड़कर समीप के ही कुण्ड में स्नान करने चले गये।"

इतना सुनते ही मुनि मृकण्ड दौड़कर उस कुण्ड के समीप गये, वहाँ जाकर उन्होंने सातों ऋषियों की चरणवन्दना की और कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"ऋषियो! आपने मेरा बड़ा उपकार किया है। आप मेरा आतिथ्य ग्रहण करें और मेरे योग्य कोई सेवा बतावें।"

ऋषियों ने कहा—"मुनिवर! यह सौभाग्य की बात है, कि आपका पुत्र अजर अमर हो गया। यह सब ब्रह्माजी की ही कृपा से हुआ है अतः यहाँ आप ब्रह्माजी का एक मन्दिर बनवा दें।"

ऋषियों की आज्ञा शिरोधार्य कर मृकण्ड मुनि ने ब्रह्माजी का मन्दिर बनवा दिया। इस प्रकार सबको प्रणाम करने से बालक मारकंडेय दीर्घायु हो गये। जब उन्हें दीर्घायु और पुराणाचार्य होने का आशीर्वाद मिल गया, तब वे अपने पिता से अनुमति लेकर हिमालय में तपस्या करने चले गये। पुण्यतोया भगवती

पुष्पभद्रा के तट पर रहकर वे तप और स्वाध्याय में निमग्न रहकर भगवान् का ध्यान करने लगे। उन्होंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का बृहद्व्रत ले रखा था। वे नित्य नियम से वेदों का स्वाध्याय करते अपने व्रत की पूर्णताके लिये वे जटाओंको धारण करते। मृगचर्म ओढ़ते तथा दण्ड, कमण्डलु, ब्रह्मदण्ड, पवित्री, मूँज की मेखला रुद्राक्ष की माला और कृष्ण मृगचर्म ये ब्रह्मचारियों के उचित वस्तुओं को भी धारण करते। दोनों समय वेद मन्त्रों से सूर्य का उपस्थान करते, अग्निहोत्र करते तथा ब्राह्मणों की सेवा करते हुए अपने आत्मा में श्रीहरि की आराधना करते रहते। मध्यान्ह तथा सायंकाल में भिक्षा लाकर उसे गुरुजी को अर्पण कर देते गुरुजी जो भी उसमें से दे देते उसे एक समय केवल शरीर निर्वाह के निमित्त भोजन करते। कभी कभी भिक्षा के अलाभ में या वैसे ही उपवास भी कर जाते। उन्होंने जिह्वा लोलुपता तथा इन्द्रियों की चंचलता पर विजय प्राप्त कर ली थी। तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान के द्वारा क्रियायोग का अनुष्ठान करते हुए वे निरन्तर प्रभु के ध्यान में निमग्न रहते। इस प्रकार अखिलेश अच्युत की आराधना करते हुए वे कालजित् हो गये। उन्होंने मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करली।

मारकंडेयजी को इस प्रकार ध्यान मग्न देखकर लोक पितामह ब्रह्मा, भगवान् भृगु, मृत्युञ्जयमहादेव, प्रजापति दक्ष तथा अन्यान्य ब्रह्माजी के मानसिक पुत्र चकित हो गये। वे सबके सब मारकंडेयजी के तप स्वाध्याय की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। उनका अन्तःकरण तप, स्वाध्याय और संयम के द्वारा राग-द्वेषादि मलों से विमुक्त हो गया था वे निरन्तर भगवान् के अधोक्षज के ध्यान में ही मग्न रहते थे। इस प्रकार योगाभ्यास करते करते उन्हें छै मन्वन्तर हो गये। एक मन्वन्तर में ७१ बार चारों युग बीतते हैं। इस प्रकार छै मन्वन्तर पर्यन्त वे ध्यान में ही लगे रहे। अब

जब यह सातवाँ मन्वन्तर लगा, तब इस सातवें मन्वन्तर के इन्द्र को मुनि की तपस्या पर सन्देह हुआ। इन्द्र सोचने लगे—"संभव है, कि मुनि इतना घोर तप मेरे इन्द्रासन को लेने के ही निमित्त कर रहे हों।" जब किसी को किसी पर शंका हो जाती है, और उससे अपने स्वार्थ में व्याघात पड़ने की संभावना होती है, तो सब प्रकार से उसे नीचे गिराने का वह प्रयत्न करता है। इन संसारी विषय भोगों में यही तो एक बड़ा दोष है। विषय तो भगवान् ने परिमित बनाये हैं और इनके भोग की वासनायें अपरिमित बना दी हैं। कितनी भी भोग सामग्रियाँ क्यों न मिल जायँ, उन्हें स्थायी बनाये रहने का तथा उनसे अधिक प्राप्त करने का मनुष्य सतत प्रयत्न करता ही रहता है। देवताओं के राजा इन्द्र पर भोगों की क्या कमी है। वह यह भी जानता है, जब तक मेरा पुण्य है तब तक मुझे इन्द्रासन से कोई हटा नहीं सकता। पुण्य क्षीण होने पर कोई प्रयत्न करने पर भी मुझे रख नहीं सकता। फिर भी वह जिसे अत्युत्कट तप करते देखता है, उसी को देखकर भयभीत हो जाता है और उसके [illegible] के संचित तपरूपी धनको अपने तनिक से स्वार्थ के [illegible] होकर मोहक विषय सामग्री भेजकर नष्ट करा देता है। [illegible] तनिक से स्वार्थ के निमित्त मनुष्य बड़ी बड़ी जातियों को नष्ट कर देते हैं। उनकी सत्ता को समाप्त कर देते हैं। यह स्वार्थ का [illegible] मनुष्यों को विवेक भ्रष्ट बना देता है। महामुनि मार्कण्डेय जी की भी तपस्या को भ्रमवश इन्द्र ने नष्ट करने का निश्चय कर लिया।

उन्होंने कामदेव को बुलाकर कहा—"[illegible]! प्रतीत होता है ये मार्कण्डेय मुनि मेरे इन्द्रासन को लेने के लिये ही घोर तप कर रहे हैं। ये मेरे प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होते हैं। तुम किसी प्रकार इन्हें तप से विरत करो।"

कामदेव ने कहा—"देव! जिन लोगों को देख

मिला, वे ही तपस्या कर करके शरीर को क्षीण करते हैं, जिन्हें एक बार भी मेरे आनन्द का अनुभव हो जाय वह फिर सब छोड़कर मेरी ही प्राप्ति में लग जाता है। संसार में ब्रह्मानन्द और विषयानन्द दो ही तो आनन्द हैं। ब्रह्मानन्द का रसास्वादन करने वाले कोई विरले ही होते हैं। नहीं तो लोग तपस्या भी मेरी ही प्राप्ति के लिये करते हैं। मैं कामिनियोंके हृदय में बैठकर बड़े बड़े मुनियों के मन को भी मथित कर देता हूँ। इसीलिये मेरा नाम मन्मथ है। मैं अभी अपनी सेना सहित जाता हूँ और मुनि के मन को मथित करके उन्हें तप से विरत करके–विषय में रत करके आपके समीप आता हूँ।"

इतना कहकर और इन्द्र को प्रणाम करके कामदेव अपने मन्त्री वसंत मलयानिल, रजोगुण के प्रिय पुत्र लोभ तथा मदको साथ लेकर मुनि को तप से विरत करने चला। नाचने गाने को उसने अत्यन्त सुन्दरी अप्सराओं को तथा गाने में अत्यन्त ही निपुण गन्धर्वों को भी साथ ले लिया। अप्सराओं के मन में बैठकर कामदेव मुनि के आश्रम पर पहुँचा। हिमालय का परम पावन पुण्य प्रदेश था, वसंत ऋतु ने वहाँ चारों ओर पुष्प खिला दिये। उनको स्पर्श करते हुए शीतल, मन्द सुगन्धित मलय मारुत बहने लगे। आम्र की मंजरी पर बैठकर कोकिल कुहू कुहू शब्द करके वसन्त के शुभागमन की सूचना देने लगी। प्रकृति स्तब्ध थी एकाकी अरण्य था। स्वर्ग की सर्व सुन्दरी सुरललनायें अपने नूपुरों की झनकार से उस वन्य प्रदेशों को मुखरित करने लगी। वे हावभाव कटाक्ष दिखाकर स्वर्गीय दिव्य नृत्य करने लगीं। गन्धर्वगण उनकी ताल में ताल मिलाकर स्वर्गीय वाद्यों को बजाने लगे। काम अपनी सम्पूर्ण कलाओं को प्रदर्शित करने लगा। पुण्यतोया पुष्पभद्रा नदी भी मदमाती सी बनकर हरहर शब्द करती हुई अप्सराओं की ताल में ताल मिलाकर टेढ़ी मेढ़ी होकर

अपनी तरंगों के द्वारा नृत्य करने लगी। महामुनि चित्रा नामकी शिला पर सुखासीन हुए प्रभु का ध्यान कर रहे थे। उनका पवित्र आश्रम वैसे ही बड़ा मनोरम था। वह लताओं के वितानों से वेष्टित था। हंस सारस, मोर चकोर तथा अन्यान्य पक्षिगण कल

नख करके उस आश्रम की शोभा बढ़ा रहे थे। यत्र तत्र पवित्र और निर्मल जलाशय स्वच्छ, सुन्दर शीतल सलिल से परिपूर्ण हुए मुनि के मनका प्रतिबिम्ब दिखा रहे थे। उन जलाशयों के शीतल सुखद जल कण बहती हुई वायु में मिलकर प्राणियों के मन में कामभाव को उद्दीप्त कर रहे थे। काम की सहायिका उन अप्सराओं ने मुनि के मन को मोहने के निमित्त मोहमयी माया का जाल फैलाया। कामदेव आम्र की मंजरी में छिपकर अपने

सुमनों के बाणों को मुनि पर छोड़ रहा था। समस्त अप्सराओं में परम रूपवती पुञ्जिकस्थली अप्सरा बिजली की भाँति इधर से उधर आश्रम के शान्त वातावरण को मुखरित करती हुई घूम रही थी वक्षःस्थल के बोझिल होने से तथा कटि प्रदेश के क्षीण होने से वह स्वर्ण लतिका के समान लच जाती, वह क्षीणा तथा चापल्य दोनों का ही प्रदर्शन कर रही थी। क्रीड़ा कंदुक को उछालती हुई रति पति के मनको भी मुग्ध कर रहा थी, वह कौशल से अपने उत्तमांगों को अनावृत कर रही थी मलयानिल उसके कार्य में निरन्तर सहयोग दे रहा था। नाना पुष्प मालाओं से गुम्फित उसका धम्मिल क्षीण साड़ी से आवृत था सहसा केशपाश में बँधी उसकी सुगन्धि युक्त सुमनों की माला खिसक गयी। उनपर पड़ा वस्त्र भी कंधे पर आ गया। अब उसकी चोटी कृष्णा नागिनि के सदृश हिलने लगी। उसी बीच उसकी कमर में बँधी करधनी टूट कर गिर गयी। अवसर पाकर मलयानिल ने उसकी अत्यन्त सूक्ष्म साड़ी को उड़ा दिया। कामदेव निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहा था। महामुनि ने एक बार आँखें खोलीं और फिर बन्द करलीं। उनके ऊपर इन सब घटनाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। कामदेव का सम्पूर्ण प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल हुआ जिस प्रकार बालू को पेलकर उसमें से तेल निकालने का प्रयत्न निष्फल होता है अथवा जल को मथने से मक्खन निकालने का प्रयत्न होता है या भाग्यहीन का किया हुआ सम्पूर्ण उद्योग निष्फल हो जाता है।

जब कामदेव ने वहाँ अपनी दाल गलती न देखी, तो वह अत्यन्त भयभीत हुआ। उसे ऐसा लगा मानों मैंने सोते हुए विषधर को व्यर्थ जगाने का प्रयास किया है। अभी तक उसने फण नहीं उठाया है। यदि कहीं क्रुद्ध होकर उसने फुफकार मार दी तो

मेरा सर्व नाश हो जायगा। यही सब सोचकर कामदेव अपनी सेनासहित तुरन्त ही मुनि के आश्रम से लौट आया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कामदेव तो बड़ा प्रबल है, इसने बड़े बड़े त्यागी तपस्वियों को बात की बात में विचलित कर दिया है, यहाँ तक कि अपने पिता लोक पितामह ब्रह्माजी को भी इसने नहीं छोड़ा। काम के इतने प्रयास करने पर भी मुनि का मन मोहित क्यों नहीं हुआ? यह तो बड़े ही आश्चर्य की बात है?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है, जिनके हृदय में कामारि श्रीहरि सदा निवास करते हैं ऐसे भगवद्भक्त महा पुरुषों के लिये कुछ भी कठिन नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"अच्छा, तो फिर क्या हुआ? कामदेव के पराजित होकर लौटने पर मुनि ने क्या किया?

सूतजी ने कहा—"भगवन्! उनकी ऐसी घोर तपस्या को देखकर बदरी वन में रहने वाले भगवान् नर नारायण मुनि पर अत्यन्त प्रसन्न हुए। जैसे उन्होंने मुनि को दर्शन दिया उस प्रसङ्ग को आगे कहूँगा।"

छप्पय

मुनि मृकण्डु के तनय पुष्प भद्रा तट तपहित।
रहैं करैं व्रत सदा लगावें हरि चरननि चित॥
छै मन्वन्तर करी तपस्या मन न डिगायौ।
देखि घोर तप इन्द्र हृदय में भय अति छायौ॥
मलयानिल अरु अपसरा, काम, लोभ, मद, मुनि निकट।
भेजे मुनि आश्रम जहाँ, करहिं महामुनि तप विकट॥

मार्कण्डेय मुनि को नर नारायण के दर्शन

(१३६२)

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं तपः स्वाध्याय संयमैः ।
अनुग्रहायाविरासीन्नरनारायणो हरिः ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० ८ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

सब मिलि कीयो यत्न मोह मुनि मन नहिँ आयौ ।
काम सेन सँग लौटि इन्द्र कूँ वृत्त सुनायौ ॥
भयो इन्द्र निस्तेज मनहिँ मन मुनिहिँ सरावै ।
ब्रह्म तेज तैं डरै निकट मुनि के नहिँ आवै ॥
मुनि तप तैं सन्तुष्ट ह्वै, नर नारायन आइकें ।
दयो दरश जब स्वयं मुनि, विनय करें सिर नाइकें ॥

विद्या का फल विनय है, धन का फल दान है, धर्म का फल दया है, बल का फल दुखियों का दुख दूर करना है, त्याग का फल शान्ति है, यज्ञ का फल उत्तम लोकों की प्राप्ति है, पांडित्य का फल

---

* श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् नर नारायण ने जब देखा कि मार्कण्डेयजी का चित्त तो निरन्तर तप, स्वाध्याय और संयम में ही निरत है तो उनके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त वे उनके सम्मुख प्रकट हुये ।"

ज्ञान दान है, दारा का फल सन्तान है और तप का फल सफल इष्ट की प्राप्ति है। जिस तप से इष्ट की सिद्धि न हो, तप का यथार्थ फल प्राप्त न हो। इष्ट देव का साक्षात्कार न हो तो वह तप केवल इन्द्रियों का शोषण मात्र ही है। जिस इष्ट के उद्देश्य से तप किया वह इष्ट प्रत्यक्ष सम्मुख उपस्थित होकर सफल वर दे दे, तो समझना चाहिये हमारा तप सविधि और यथार्थ हुआ है। जिस तप से इष्ट प्राप्ति न हो या विपरीत फल की प्राप्ति हो तो समझो उसमें दम्भ आ गया है। तपस्या में काम क्रोधादि बड़े विघ्न होते हैं, बड़े बड़े प्रबल प्रलोभन आते हैं, उन प्रलोभनों से बच जाते हैं। वे ही अमृतोपम फल को पाते हैं नहीं तो तप करके भी लोग कोरमकोर रह जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब कामदेव पूरी शक्ति लगाकर भी मार्कण्डेय मुनि की तपस्या में विघ्न न कर सका, तो वह अपना सा मुख लेकर देवेन्द्र के समीप गया और जाकर बोला—"प्रभो ! उन महामुनि की तपस्या के प्रभाव के आगे मेरी एक भी युक्ति न चली। मैं उनके मन को मथित करने में समर्थ न हो सका। उन सर्वान्तर्यामी प्रभु को धन्यवाद है, कि मैं सकुशल जीवित लौटकर आपके समीप आ गया, नहीं तो वे मुनि अपने तप के प्रभाव से मुझे भस्म कर सकते थे।"

कामदेव के मुख से मुनि का ऐसा प्रभाव सुन कर देवेन्द्र को परम विस्मय हुआ। उन्हें अपने कृत्य पर लज्जा आयी। अब उन्हें विश्वास हो गया, कि जब इतने प्रयत्न करने पर भी मुनि के मन

में विकार नहीं हुआ, तो वे मेरे तुच्छ इन्द्र पद की इच्छा ही क्यों करेंगे।

इधर जब मार्कण्डेय मुनि की तपस्या परिपक्व हो गयी उनके मन मे किसी प्रकार की भी सांसारिक कामना नहीं रही तो उनके तप, स्वाध्याय और संयम से सर्वेश्वर श्री नर नारायण भगवान् परम संतुष्ट हुए। उनके चित्त को सुसंयत समझ कर मुनि के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से मूर्ति नन्दन धर्म सुत ऋषि रूप में अवतीर्ण नर नारायण भगवान् वहाँ प्रकट हुए। तपोधन ऋषियों का स्वरूप ही परम आकर्षक होता है, फिर साक्षात् भगवान् ही दो रूप रखकर मुनि वेष में अवतीर्ण हो जायँ, तो फिर उनकी शोभा का तो कहना ही क्या ? वे दोनों भाई एक ही रूप के थे, दोनों की ही चलन, चितवन, उठन, बैठन, हँसन, मुसकान तथा सभी चेष्टायें समान थीं। दोनों ही चतुर्भुज थे। उनमें नर शुक्ल वर्ण के थे तथा नारायण कृष्णवर्ण के थे। दोनों के ही नेत्र कमल के सदृश विकसित तथा बड़े बड़े थे, दोनों ही मुनियों के सदृश वल्कल वस्त्र पहिने हुए थे तथा कृष्ण मृग के बड़े चर्म को ओढ़े हुए थे। दोनों की ही उँगलियों में मृदुल कुशों की सुन्दरता से बनी हुई पवित्रियाँ शोभा दे रहीं थीं। सुन्दर त्रिवृत यज्ञोपवीत वे पहिने हुए थे। कण्ठ मे पद्मारण्य की बड़ी बड़ी मालायें चमक रहीं थीं दोनों के हाथों में सजल कमण्डलु थे, दोनों ही सीधे बाँस का दण्ड धारण किये हुए थे। मार्ग के जीव पैरों तले दब न जायँ, इसके लिये दोनों ही अपने हाथों में जन्तु मार्जनी लिये हुये थे। पिशङ्ग वर्ण की उनकी दिव्य जटायें सूर्य के प्रकाश में विद्युत के

समान दमक रहीं थीं दोनों का ही श्री विग्रह विशाल तथा उन्नति था। दूर से देखने से यही प्रतीत होता था, मानों साक्षात् तप ही दो रूप रखकर मुनि के तप से तुष्ट होकर उन्हें दर्शन देने आ रहे हैं।

उस समय महामुनि ध्यान मग्न थे, सहसा उनका ध्यान खुला। अकस्मात् श्री हरि के स्वरूप भूत, बदरिकाश्रम के अधिष्ठातृ देव भगवान् नर नारायण को अपनी ही ओर आते देखकर महामुनि व्यग्रता के साथ उनके सम्मान में उठकर खड़े हो गये इतने में ही भगवान् नर नारायण भी उनके निकट ही आ गये। अपने निकट तपस्वी वेष में भगवान् को देखकर मुनि उनके चरणों में दण्ड के सदृश पड़ गये आज मानों उन्हें अपने तप का प्रत्यक्ष फल मिल गया, आज उनकी चिरकाल की साध पूरी हुई प्रभु के दिव्य दर्शनों से उनकी समस्त इन्द्रियाँ खिल उठीं, सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो उठा, नयनों में नेह का नीर छल छल करके छलकने लगा। अंग प्रत्यंग फड़कने लगा, संभ्रम के कारण हृदय धड़कने लगा। देह, मन तथा समस्त इन्द्रियाँ मानों शान्ति सुधा सागर में निमग्न हो गयीं। वे बार बार भगवान् नर नारायण का अपलक दृष्टि से दर्शन करना चाहते, किन्तु जब ही देखते तब ही आँखें अश्रुओं से भर जातीं दर्शनों में व्यवधान उपस्थित कर देतीं। ज्यों ही वे उन्हें पोंछकर सिर उठाते, त्यों ही वे पुनः भर जातीं, इसी कारण वे उनके भली भाँति दर्शन भी न कर सके। उनका रोम रोम इस प्रकार आकुल हो रहा था, कि भगवान् को कस कर आ-

लिंगन कर लें, उन्हें हृदय से सटाकर अपने में मिला लें। नेत्र चाहते थे, उनकी माधुरी को पी जायँ, रसना चाहती थी उनके मधुमय मकरन्द को चाट लें। अत्यंत उत्कंठा के सहित उठकर वे हाथों की अञ्जलि बाँधे हुये खड़े हो गये। वे कुछ कहना चाहते थे, किन्तु कह नहीं सकते थे वाणी गद् गद् हो रही थी। बड़े कष्ट से वे इतना ही कह सके—"नमो नमः, नमो नमः।"

नेत्रों से अधिक नीर निकलने से तथा देर तक दर्शन करते रहने से मुनि को कुछ कुछ बाह्य चेतना हुई। वे सोचने लगे—"अरे, मैंने भगवान् की पूजा तो की ही नहीं। वे कब से खड़े हैं, उन्हें बैठने को आसन भी नहीं दिया, न चरन ही पखारे न अर्घ्य तथा आचमन के लिये जल ही दिया।" इतना सोचते ही वे कुटी की ओर दौड़े, सुन्दर सा आसन उठा लाये उस पर उन्हें बड़े सत्कार से बिठाया शीघ्रता से सुन्दर गंगाजल ले आये उससे दोनों के चरण पखारे। अर्घ्य देकर आचमन कराया। चन्दन लगाया, सम्मुख धूप जलायी सुगंधित पुष्पों की माला पहिना कर यथा प्राप्त सामग्री से विधिवत् पूजा की।

भगवान् नर नारायण ने मुनि की की हुई पूजा को विधिवत् स्वीकार किया, वे मुनि के दिये हुए सुखद मृदुल आसन पर प्रसन्नता पूर्वक बैठ गये। वे कृपा के सागर कृपा वारि से भरे वारिदों के समान कृपा की वृष्टि करने के लिये व्यग्र से प्रतीत होते थे। वे जगद् वन्द्य मुनि रूप धारी श्री हरि मुनि को कृतार्थ करना चाहते थे। अपने इष्ट को अपने सर्वथा अनुकूल समझ कर मुनि

बारम्बार उनके अरुण चरणार विन्दों में प्रणाम करते हुए इस प्रकार गद् गद् वाणी से स्तुति करने लगे—

मार्कण्डेय-स्तुति

जग के प्रभु ! तुम एक सहारे।
माता पिता सगे सम्बन्धी, लगें न तुम बिनु प्यारे ॥१॥ जग०
जगहित नर नारायन बनिकें, कठिन नियम व्रत धारे।
अज, सुर, नर, हर थर थर कापैं, भ्रुकुटि बिलास तिहारे ॥२॥ जग०
गुन के जनक, सर्वगत, सबथल, विविध रूप तुम धारे।
सत्वमूर्ति हे सुखमय स्वामिन्, पकरे चरन तुम्हारे ॥३॥ जग०

माया मोहित जीव न जानें, जानें श्रद्धा वारे।
वेद भेद तुमरो नहिं पावें, नेति नेति कहि हारे ॥४॥ जग०
जानि अकिञ्चन दरशन दीयो, सब अघ कटे हमारे।
चरन कमल प्रभु पुनि पुनि वन्दत, दीन दरसतें तारे ॥५॥ जग०

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महामुनि मार्कण्डेयजी ने इस प्रकार गद्गद् वाणी से भगवान् नर नारायण की स्तुति की तब उनमें से नर के बड़े भाई श्रीनारायणजी अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुनि को सम्बोधन करके कहने लगे—मुनिवर मार्कण्डेयजी! आप समस्त महर्षियों में श्रेष्ठ हैं। तुमने अपने सद्गुणों द्वारा सिद्धि लाभ कर ली है। ब्रह्मन्! तपस्या के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है कारण कि तपस्या में बड़े बड़े विघ्न आते हैं। तपस्या करते करते इन्द्रियों की शक्ति प्रबल हो जाती है। उस समय सामर्थ्य अधिक बढ़ जाने से नरक का तो भय रहता नहीं। काम का वेग प्रबल होता गया तो तपस्या नष्ट हो गयी। क्रोध आ गया तो तप क्षीण हो गयी, लोभ मोहादि ने धर दबाया तो सब किया कराया चौपट हो गया। तपस्या में बड़े बड़े विघ्न होते हैं, चित्त चंचल हो उठता है, कभी कभी नास्तिकता आकर घेर लेती है, कभी तप से विरत होने पर मन विषयों की ओर दौड़ता है। आपने इन सबका बड़ी तत्परता से ध्यान रखा है और इन विघ्नों पर विजय प्राप्त की है। आपने अपने चित्त की एकाग्रता को नष्ट नहीं होने दिया, मुझमें आपका भक्तिभाव निरन्तर अक्षुण्ण एक रस बना रहा। तपस्या के अतिरिक्त समय में आप निरन्तर स्वाध्याय में निरत रहे। बड़ी कठोरता से आपने इन्द्रियों का संयम किया। इन्हीं सब कारणों से आपको सुदुर्लभ सिद्धि प्राप्त हुई। तपस्या में एक बड़ा विघ्न होता है। यह कामदेव तपस्वियों को आकर बहुत पीड़ा पहुँचाता

है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस कामदेव को तपस्या से वैर है। जहाँ तप का तनिक भी आकर्षण हुआ कि न जाने कहाँ से यह स्त्रियाँ को भेज देता है। यदि कोई साहसी संयमी तपस्वी साधारण स्त्रियों की ओर चित्त नहीं चलाता तो स्वर्गीय परम सुन्दरी अप्सराओं को संग में लेकर चढ़ाई करता है। इन्द्र इस कामदेव को उकसाता रहता है। कितने भी बड़े से बड़े तपस्वी हों जहाँ इस काम ने अपनी माया फैलायी तहाँ वे सब तपस्या आदि को ताक पर रखकर विषयों के दास बन जाते हैं। काम के आगे सभी ने घुटने टेक दिये हैं, किन्तु आपके सम्मुख काम की भी दाल नहीं गली। वह अपना सा मुँह लेकर आपके यहाँ से निराश ही लौट गया। यह आपके निष्कपट संयम का ही प्रभाव है इसलिये मैं आपके इस नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के कारण और भी अधिक सन्तुष्ट हूँ।"

हाथ जोड़े हुए मार्कण्डेय मुनि बोले—"प्रभो! मैं क्या कर सकता हूँ करने कराने वाले सब आप ही हो! जिसको आप उबारना चाहें हाथ पकड़ कर उबार लें। जिसे फँसाना चाहें जाल से निकालकर फँसा दें। नारद और पर्वत तो अम्बरीष राजा की लड़की श्रीमती के फंदे में फस ही गये थे। उनको आपने धनुष बाण धारण करके उबार लिया। सौभरि ऋषि तो जगत से आँख मीच कर जमुना जल के भीतर सहस्रों वर्ष तपस्या करते थे आपने उनके पचास विवाह करा दिये। मैं नैष्ठिक व्रत का पालन करने वाला कौन होता हूँ। आप ही पालन करावें तब हो सकता है।"

भगवान नारायण बोले—"मुनिवर! आपका कथन सत्य है, जिनकी मुझमें सदा अनुपम भक्ति बनी रहती है, उनका सर्वथा पतन नहीं होता। अच्छा मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारा सदा मङ्गल ही होगा। अब तुम मुझसे जो भी अपना अभीष्ट वर हो उसे माँग लो।"

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—"प्रभो ! आप समस्त देवताओं के अधीश्वर देवेन्द्र के भी ईश्वर हैं आप अपने शरणागतों के भय को सदा भंजन करते रहते हैं, आप अपने आश्रितों की रक्षा करते हैं। आप अनादि अच्युत और अखिलेश्वर हैं। आप जो मुझे वर माँगने की आज्ञा दे रहे हैं यह आपकी महत्ता ही है। जब समस्त जगत के जगदीश्वर ही मुझ पर प्रसन्न हैं, तो फिर मुझे अब अन्य सांसारिक वरों की ही क्या आवश्यकता है। आपकी कृपा दृष्टि बनी रहे यही वर मेरे लिये यथेष्ट है।"

भगवान् ने कहा—"मुनिवर ! कृपा तो मेरी तुम्हारे ऊपर है ही। फिर भी संसार में जितने वर देने वाले हैं, मैं उन सबका ईश्वर हूँ, जब सर्वसाधारण स्वामियों का सेवकों को कुछ दिये बिना मन नहीं भरता, तो मेरा मन कैसे भरेगा। तुम्हें कुछ न कुछ वर तो मुझसे माँगना ही चाहिये।"

मार्कण्डेयजी ने विनीत भाव से कहा—"अब महाराज ! मैं क्या वरदान माँगू यह मेरी बुद्धि में ही नहीं समाता। आपने मुझे दर्शन दिया। इससे बढ़कर और क्या होगा। बड़े बड़े देवगण ! समाधि में जिनके चरणार विन्दों का ध्यान करते हैं और ध्यान करते करते जब उनका मन योगधारणा में पूर्ण परिपक्व हो जाता है, तब उन्हें आपके दिव्य चिन्मय चरणारविन्दों का ही दर्शन होता है, किन्तु मेरे नयनों के सम्मुख तो भगवान् प्रत्यक्ष सशरीर विराजमान हैं। अब भी मेरे लिये कुछ माँगने को अवशेष रह गया क्या।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, यह सब तो सत्य ही है, फिर तुम मेरी आज्ञा से अपना कोई इच्छित वर माँग ही लो। इससे मुझे प्रसन्नता होगी।"

भगवान् का ऐसा आग्रह देखकर महामुनि विवश हुए। वे

कुछ देर तक सोचते रहे और फिर बोले—"भगवन्! आप नहीं मानते हैं, तो मेरी एक इच्छा है?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, हाँ, अपनी उस इच्छा को मुझसे अवश्य कहो उसकी पूर्ति मैं अवश्य करूँगा।"

इस पर महामुनि मार्कण्डेय बोले—"भगवन्! आप जगत् में जितने पवित्र कीर्ति पुरुष हैं, उनके शिरोमणि हैं। मैंने भगवन् आपकी कृपा से आपके तो दर्शन किये, किन्तु आपकी माया के दर्शन नहीं किये। मै आपकी माया के दर्शन करना चाहता हूँ।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"मुनिवर! मेरी माया तो बड़ी दुर्बोध है। उसका दर्शन करके तुम क्या करोगे, मेरे दर्शन हो गये ये ही पर्याप्त हैं। माया राँड़ में क्या रखा है, उसका क्या देखोगे?"

मार्कण्डेय मुनि बोले—"भगवन्! यहीं तो मुझे भी कौतूहल है, कि लोकपालों के सहित यह सम्पूर्ण लोक जिस आपकी माया से मोहित होकर सत्य वस्तु में भेदभाव देखते हैं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तुम नहीं मानते तो तुम्हें मेरी माया का दर्शन हो जायगा।" इतना कहकर भगवान् चलने को प्रस्तुत हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब मार्कंडेयजी ने देखा, भगवान् तो अब प्रस्थान करना चाहते हैं, तो उन्होंने फिर से भगवान् की उत्तर पूजा की। मुनि की पूजा को स्वीकार करके और अत्यन्त प्रसन्नता प्रदर्शित करते हुए दोनों मुनीश्वर अपने आश्रम

बदरी वन की ओर चले गये। अब जिस प्रकार मार्कंडेयजी को माया के दर्शन होंगे, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

मुनि की इस्तुति सुनी कहन नारायन लागे।
सिद्ध भये मुनिराज! तिहारे सब भय भागे॥
माँगो जो वरदान देहिँ हम जो तुम चाओ।
हमकूँ कछु न अदेय न मन में मुनि सकुचाओ॥
भये दरश सब वर मिले, परसे पद पुनि का कहूँ।
तुमरी माया मोहिनी, कमल नयन! देखन चहूँ॥

—::०::—

मार्कण्डेय मुनि को माया के दर्शन

(१३६३)

तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ पुष्पभद्रातटे मुनेः ।
उपासीनस्य सन्ध्यायां ब्रह्मन्वायुरभून्महान् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ९ अ० १० श्लो०)

छप्पय

एवमस्तु कहि भये तिरोहित नर नारायन ।
मुनि प्रसन्न अति भये करयो व्रतको पारायन ॥
अति उत्कठित भये निहारूँ माया अबई ।
बरषा भई प्रचण्ड चराचर डूबे सबई ॥
सुत मृकण्डु के ही बचे, बहत प्रलय जलमें सतत ।
सबरो जग जलमय भयो, भूख प्यास तैं मुनि दुखित ॥

भगवान् की माया कैसी विचित्र है। भगवान् ने इसका पार पाया हो तो भले ही पाया हो नहीं तो देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, गुह्यक, किंपुरुष, किन्नर, दानव दैत्य असुर, ऋषि, मुनि यहाँ तक

---

* सूतजी कह रहे हैं—"भृगुवंशावतंस शौनकजी हे ब्रह्मन् ! एक दिन मार्कण्डेय महामुनि पुष्पभद्रा नदी के तट पर सन्ध्या के समय बैठे हुए भगवान् की उपासना कर रहे थे, कि उसी समय वहाँ परम प्रचण्ड पवन चलने लगा।"

कि लोक पितामह ब्रह्माजी ने भी इसका पार नहीं पाया। वृन्दावन विहारी को वन में बाल क्रीड़ा को देखकर चतुर्मुख ब्रह्माजी भी माया के चक्कर में फँस गये। इन्द्र भी माया मोहित हो गये। माया में कोई बात असंभव नहीं। जैसे मन से चाहें जितनी मिठाइयाँ बना लो उनमें कुछ लगता नहीं। स्वप्न में क्षण भर में कुछ का कुछ हो जाय इसमें कुछ भी प्रयास नहीं प्रयत्न नहीं। इसी प्रकार माया में क्षण भर में सृष्टि हो जाय क्षण भर में विलीन हो जाय। माया का कुछ दार्शनिकों ने अर्थ किया है या मा अर्थात् जो कुछ न होते हुए भी भासित हो उसे माया कहते हैं। जैसे बाजीगर तुरन्त आम की गुठली से पेड़ बना देता है, पत्ता लगा देता है, फल लगा देता है, फिर कुछ नहीं। इसी प्रकार माया में सब कुछ दीखता है, किन्तु तत्वतः विचार करो तो कुछ भी नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् नर नारायण महामुनि मार्कंडेय को माया दर्शन का वरदान देकर बदरिकाश्रम को चले गये, तब मुनिवर अपने आश्रम में आकर सुखपूर्वक रहने लगे। उनके मनमें चटपटी लगी हुई थी, कि कब भगवान् की माया के दर्शन हों।

वे नित्य नियमानुसार पूर्ववत् सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाश तथा चित्त में सर्वत्र श्रीहरि का ही ध्यान करने लगे। वे सब में अपने इष्ट का ध्यान करते थे। अब वे कृतकृत्य हो चुके थे, उन्हें भगवान् के दर्शन मिल चुके थे, इसलिय उनका हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो गया। पूजा करते करते कभी कभी उनके हृदय में प्रेम का प्रवाह इतना उमड़ता कि उसमें बह जाते, प्रेमार्णव में निमग्न हो जाते, उस समय उन्हें बाह्य जगत् का भान ही नहीं होता था, वे बाह्य पूजा पाठ सभी को भूल जाते, किन्तु वे माया के दर्शनों को उत्सुक बने रहते।

एक दिन की बात है, कि वे सायंकालीन सन्ध्या करने के लिये पुण्य सलिला भगवती पुष्पभद्रा के तट पर बैठे हुए थे। वे भगवान् के ध्यान में निमग्न थे, उसी समय उन्हें दिखायी दिया कि बड़े प्रबल वेग से आँधी आ रही है। पवन के प्रचण्ड वेग से दशों दिशायें व्याप्त हैं, केवल आँधी ही आकर रह जाय, सो भी बात नहीं है, उस परम प्रचण्ड महा भयंकर वायु के पीछे जल भरे मेघ आकाशमें इस प्रकार उमड़ घुमड़ रहे हैं जैसे बड़े बड़े डील डौल वाले काले काले हाथी आकाश में उड़ते हुए चिंघाड़ मार रहे हों। मेघों में से बिजली उसी प्रकार कड़क रही थी मानों घोर अंधकार में उल्कामुख प्रेतनृत्य कर रहे हों। कुछ ही काल में बड़ी भयंकर मूसलाधार वर्षा होने लगी। हाथी की सूँड़ के समान, अक्ष के छिद्र में से गिरती हुई धारा के समान जल की मोटी मोटी धारायें अविरल गिरने लगीं। क्षण भर में समस्त पृथिवी जलमयी बन गयी। अब न तो मनुष्य, पशु, पक्षी तथा अन्यान्य जन्तु ही दिखायी देते थे और न वृक्ष, पर्वत तथा अन्यान्य पार्थिव पदार्थ। चारों समुद्र मिलकर एक हो गये थे। वायु के प्रबल वेग से उठती हुई उत्ताल तरंगें आकाश को स्पर्श कर रही थीं तरंगों के टकराने से धीर गम्भीर घोष होरहा था। समस्त पृथिवी को सलिल ने ग्रस लिया था। अंडों से उत्पन्न होने वाले पक्षी सर्प आदि, स्वेद (पसीना) से उत्पन्न होने वाले खटमल जूँआ आदि, जरायु नाम की झिल्ली से लिपट कर उत्पन्न होने वाले मनुष्य पशु आदि तथा पृथिवी को फोड़कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष आदि ये चारों ही प्रकार के जीव जल में विलीन हो गये थे, प्रचण्ड पवन, मेघों के गर्जन का भयंकर शब्द तथा प्रलय कारिणी विद्युत् की भयावनी चमक दमक से महामुनि मार्कंडेयजी अत्यन्त ही व्यथित हुए। वे पुष्पभद्रा तट पर बैठे थे, उनके देखते देखते समस्त चराचर जगत् जल में विलीन हो रहा था, किन्तु वे स्वयं सावधान हुए अपने

आश्रम के निकट सरिता के तट पर अटल आसन लगाये यह दृश्य देख रहे थे।

प्रलय का रोमाञ्चकारी दृश्य उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। प्रथम उन्होंने देखा बड़े वेग से पवन चला है, फिर भयंकर वर्षा हुई है, चारों समुद्र मिलकर एक में हो गये हैं। प्रलय कालीन अपार जल राशि आँधी के कारण क्षुभित हो रही है ऊँची ऊँची तरंगोंने उमड़ घुमड़कर द्वीप और वर्षों की सीमा को तोड़ दिया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, ग्रह, नक्षत्र, तारागण तथा दशों दिशाओं का विभाग नहीं रहा है। जिधर देखो तिधर जल ही जल दिखाया देता है। मार्कंडेयजी ने देखा केवल मुझे छोड़कर संसार में कुछ भी शेष नहीं है। इस पूरे संसार में केवल मार्कंडेय मुनि ही बचे हुए हैं। इतने में ही एक बड़ी सी लहर आयी वह महामुनि मार्कंडेय को भी बहा ले गयी। अब तो मुनि उस अपार समुद्र में उसी प्रकार तैरने लगे जिस प्रकार कोई जल जन्तु समुद्र के ऊपर तैर रहा हो। मुनि की बड़ी बड़ी सुनहरी जटायें अस्त व्यस्त हुई इधर उधर छिटक रहीं थी। वे यह नहीं समझ सके मैं क्यों बहा जा रहा हूँ, किस ओर जा रहा हूँ। भगवान् की माया से डूबते तो नहीं थे, किन्तु प्रचंड तरंगों की चपेट से इधर से उधर बह जाते। उन्हें दिशाओं का ज्ञान नहीं रहा, कर्म करने की उनकी शक्ति नष्ट हो गयी, वे जड़वत् इधर उधर भ्रमण करने लगे।

समुद्र में कहीं बड़ी बड़ी मछलियाँ दिखायी देती थीं कहीं द्वीपों के समान मकर, कच्छप तिमिङ्गिल आदि भयंकर जीव जन्तु दृष्टिगोचर होते थे चारों ओर उठे बवंडर के घोर तम में, आँधी से अपहृत अपार अंधकार में दैवेच्छा से भटकने लगे। वे क्षुधा पिपासा से व्याकुल बने हुए थे, मकर तिमिङ्गलों के भय से भयभीत हो रहे थे तरंगों की चपेटों से श्रान्त बन गये थे, अप्रत्याशित घटना से विमूढ़ से बन गये थे। इस प्रकार वे पृथिवी तथा

आकाश के ज्ञान से विहीन होकर प्रवाह में तैरने उतरने लगे। कभी वे जल के भयंकर आवर्तों में पड़ जाते, कभी उत्ताल तरङ्गों से ताड़ित होकर तट की खोज करते, किन्तु वहाँ तट कहाँ था, वहाँ तो सर्वत्र अपार अगाध जलराशि ही जलराशि थी। वे चारों ओर जल ही जल देखकर कभी शोकाकुल हो जाते, कभी आश्रम की याद आ जाती, भजन पूजन के छुट जाने से संमोह हो जाता, कभी आपस में ही एक दूसरे को खाकर जीने वाले जल जन्तुओं को देखकर भयभीत हो जाते दुःख सागर में निमग्न हो जाते। कभी सोचते इतनी भारी भारी लहरें उठ रही हैं, किंतु मैं डूबता नहीं, मेरे मुख में पानी भी नहीं भरता, मुझे कोई जलजन्तु खाता भी नहीं, इन बातों को सोचकर कभी आन्तरिक सुख भी होता। कभी फिर अपार जलराशि को देखकर काँपने लगते, कभी कभी ऐसा प्रतीत होता कि मैं मृत्यु के मुख में जा ही रहा हूँ, किंतु फिर बच जाते। कभी शरीर में खारा जल लगकर चिर चिराने लगता। कभी जल से शरीर शून्य सा हो जाता, तथा कभी और भी नाना प्रकार की व्याधियाँ शरीर में प्रकट हो जातीं। उन नाना भाँति की व्याधियों से प्रपीड़ित होकर मुनिवर व्याकुल हो जाते।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मार्कंडेय जी उस प्रलय सागर में सैकड़ों सहस्रों तथा लाखों वर्षों तक वे चक्कर ही लगाते रहे। उन्हें पता ही नहीं चला मैं कितने युगों तक इस जल में घूमा हूँ।

एक दिन की बात है, कि महामुनि उस अगाध जलराशि में बहते बहते बहुत दूर पहुँच गये। वहाँ उनको समुद्र के बीच में एक टीला सा दिखायी दिया। चिरकाल के पश्चात् पृथिवी को देखकर मुनि का मनमुकुर खिल उठा। उन्होंने ध्यानपूर्वक देखा उसी टीले पर नीले नीले पत्तों वाला एक नन्हा सा वटवृक्ष है। उसमें बड़े चौड़े चौड़े अत्यन्त ही कोमल नवीन दो तीन पत्ते लगे

हुए हैं। यह अक्षयवट इतना सुन्दर और सलौना था, कि उसके दर्शन मात्र से ही मुनि के समस्त ताप संताप मिट गये। उस वट-वृक्ष की उत्तर पूर्व की शाखा पर एक पुट पत्र में मुनि ने एक नन्हें

से सुन्दर से सलौने से शिशु को क्रीड़ा करते देखा। वट पुट पत्र पर अपने करारविन्द से पदारविन्द को पकड़कर मुखारविन्द में रखकर चूमते हुए उस अद्भुत शिशु को देखकर मुनि अत्यंत ही विस्मित हुए।

वह बालक अद्भुत था, उसकी शोभा अवर्णनीय थी, उसके सर्वाङ्ग सुन्दर, सुडौल और सलौने थे, वह अपनी दिव्य कान्ति से वहाँ के तम को दूर भगाये हुए था। उसका निर्मल वर्ण महा-मरकत मणि के समान श्याम था। मुखार विन्द अत्यंत ही

आकर्षक तथा मनोरम था। छोटी सी सुडौल ग्रीवा शंख के समान उतार चढ़ाव की थी। अन्य अङ्गों की अपेक्षा उसका वक्षःस्थल विशाल तथा शोभायुक्त था। सुन्दर छोटी सी नुकीली नासिका से मुखारविन्द की शोभा अत्यंत बढ़ गयी थी। बड़े बड़े विशाल उत्फुल्ल नयनों के ऊपर धनुषाकार टेढ़ी भौंहें अत्यंत ही भली प्रतीत होती थीं। मुखारविन्द पर छोटी छोटी घुँघराली लटें लटक रही थीं। वे श्वास प्रश्वास लेने से हिल रही थीं। मानो नृत्य कर रहीं हों। उस सुघड़ शिशु के दोनों कान शंख के समान भीतर से वलयाकार थे, उनमें अर्धस्फुटित अनार के पुष्प खुर से हुए थे। मुख पर सुधासदृश मंद मंद मुसकान छिटक रही थी जब वह श्वेत वर्ण की आभा विद्रुम के सदृश रक्तवर्ण के गुदगुदे रसीले अधरों की आभा से टकराती तो एक अरुण वर्ण की विचित्र ही आभा प्रस्फुटित होती। विशाल और बड़े बड़े कमल नयनों के कोये कमल के भीतरी भाग सदृश कोमल चिकने और लाल वर्ण के थे। उसकी चितवन में टौना था वह जिधर ही देख देता मानों रस का स्रोत ही बहा रहा हो। उसका सुन्दर उदर पीपल के पत्ते के सदृश गोल तथा मनोहर था, उसमें वलयाकार गंभीर नाभि अत्यंत ही भली प्रतीत होती थी। बार बार श्वास प्रश्वास लेने से उदर में पड़ी त्रिवली हिल रही थी, इससे वह चंचलमीन के फुदकने के कारण हिलते हुए सरोवर के जल के समान चंचल प्रतीत होता था। मुनि ने देखा, वह नन्हा-सा बालक निर्भय होकर उस वट के पुट पत्र पर अपने हाथ से पैर के अँगूठे को मुख में देकर स्वाद के सहित उसे चुसुर चुसुर करके चूस रहा है। मुनि तो निर्णय ही न कर सके कि यह बालक कौन है। इस वृक्ष के पत्ते पर एकाकी यहाँ क्यों पड़ा है। यह रोता नहीं हँस रहा है। इसे भय नहीं किन्तु सभी भयों को रहा है।

उस बालक के दर्शन करते ही मुनि के शोक, मोह, दुःख, भय तथा सभी प्रकार के पाप संताप नष्ट हो गये। इतने दिनों तक वे जो उत्ताल तरंगों की चपेट खाते खाते श्रमित हो गये थे, अब उनका सभी श्रम जाता रहा। हृदय आनंद में विभोर हो गया, म्लान मुख प्रफुल्लित तथा विकसित हो उठा नेत्र आनन्द से चमकने लगे, समस्त शरीर रोमाञ्चित हो गया। वे निर्णय ही न कर सके कि मैं क्या देख रहा हूँ। बालक देखने में तो छोटा लगता था, किन्तु उसकी सभी चेष्टायें अलौकिक थीं, सभी भाव अद्भुत थे। अब वे उससे कुछ पूछने की बात मन में सोचने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब जिस प्रकार मार्कण्डेय महामुनि को बालमुकुन्द भगवान् के उदर में विश्वरूप का दर्शन होगा, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आप सब समाहित चित्त से इस पुण्य प्रसंग को सुनने की कृपा करें।"

छप्पय

निरख्यो तब वट वृक्ष फिरत जब इतउत भटकत।
मरकत मनि के सरिस सुघर शिशु तापै विहरत॥
परे पत्रपुट श्याम चरन कूँ मुख तैं चूसत।
चितवत ह्वै अति चकित प्रभा तैं सब अँग विकसत॥
करि दरशन संतापश्रम, शोक, मोह सब नसि गये।
श्याम सलौने सुघर शिशु, मुनि के मन में बसि गये।

—::::—

बालमुकुन्द के उदर में विश्वरूप दर्शन

(१३६४)

तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः,
सोऽन्तः शरीरं मशको यथाविशत् ।
तत्राप्यदोन्यस्तमचष्टकृत्स्नशो-
यथा पुरामुह्यदतीव विस्मितः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ९ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

ज्यों ही सम्मुख गये श्वाँस तब शिशु ने लीन्हीं ।
घुसे नासिका द्वार सृष्टि भीतर सब चीन्हीं ॥
भू, नभ, ग्रह, गिरि, द्वीप, असुर सुर सबहिँ निहारे ।
मुनि अति विस्मित भये श्वाँस तजि फेरि निकारे ॥
देख्यो मुनि वट प्रलय जल, शिशु मन हर क्रीड़ा करत ।
दौरे आलिङ्गन निमित, लीन भयो वट शिशु तुरत ॥

जो सर्वज्ञ है सर्वमय है उसमें भीतर बाहर का भेदभाव नहीं रहता। अग्नि का जलता हुआ अंगार है उसके भीतर भी अग्नि है बाहर भी अग्नि है। जमे हुए जल की शिला है, उसके भीतर

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महामुनि मार्कण्डेय जी ज्यों ही कुछ पूछने उन बालमुकुन्द शिशु के सम्मुख गये, त्यों ही उनकी श्वास से मुनि मच्छर के सदृश उनके उदर में चले गये। उदर में जाकर उन्होंने इस जगत् को ज्यों का त्यों वहाँ वैसा ही देखा जैसा प्रलय से पूर्व बाहर देखा था। इसे देखकर वे परम विस्मित हुए और मोहित भी हो गये।"

भी जल है बाहर भी जल है, जल के अतिरिक्त उसमें कुछ भी नहीं है। भीतर बाहर का भेद भी कल्पित ही है। इसी प्रकार इस जगत् में भीतर बाहर सर्वत्र वे ही श्रीहरि व्याप्त हैं। लोग उनकी मोहिनी माया के चक्कर में फँसकर जगत् को श्रीहरि से भिन्न भिन्न देखते हैं। जो माया के स्वरूप को भली भाँति जान गया, वह मायापति को भी जान जायगा। संसार में देश, काल तथा कार्य कारण भाव की कल्पना माया से ही है। शुद्ध ब्रह्म में तो न देश है न काल है, न कार्य है न कारण। वहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। निरानन्द की सृष्टि तो इस रॉड़ माया ने कर दी है। इस ठगिनी के यथार्थरूप को जो जान जाता है, उससे यह लजा जाती है। घूँघट काढ़ लेती है, फिर मुँह नहीं दिखाती। दौड़ कर घर में छिप जाती है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! प्रलय सागर में जब महामुनि मार्कण्डेय जी ने बाल मुकुन्द भगवान् के वट पत्र पर दर्शन किये तो वे कुछ पूछने के निमित्त उनके सम्मुख आये। वे कुछ पूछना चाहते ही थे, तभी तक बालक ने एक स्वाँस छोड़ी। श्वास छोड़ कर ज्योंही प्रश्वास लीं त्योंही मार्कण्डेय जी मच्छर के समान नासिका द्वार से उन बालक के उदर में चले गये।

मुनि की स्मृति नष्ट नहीं हुई थी, उन्हें सब ज्ञान था, प्रलय कालीन एकार्णव हुए सलिल में कितने दिन घूमे इसका भी उन्हें बोध था और अब नासिका द्वार से इस मनोहर बालक के उदर में प्रवेश कर गये हैं यह भी उन्हें ज्ञात था। भीतर जाकर जो

उन्होंने देखा उसे देखकर तो वे अत्यन्त ही विस्मित हुए। प्रलय से पूर्व जैसा संसार उन्होंने बाहर देखा था, वैसे का वैसा ही संसार इस शिशु के उदर में विद्यमान है। वैसा ही आकाश है, वैसा ही पवन चल रहा है। वैसे ही सूर्य चन्द्र तथा अग्नि विद्यमान है। कूप, नदी, नद तथा समुद्रों में वैसा ही जल भरा है। वैसी ही

शस्यश्यामला और ऊबर खाबर भूमि है। पुर, नगर, खेट, खर्वट, आम, व्रज, घोष तथा अरण्य आदि विद्यमान हैं। स्वर्ग, नरक, ग्रह, नक्षत्र, तारागण, पर्वत, सागर, द्वीप, वर्ष, दिशा, विदिशा, देश, पुर, पत्तन, आश्रम, वर्ण, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, सरीसृप,

यज्ञ, व्यापार, शासन, नीति, सेवा, शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, कहाँ तक गिनावें संसार में जो भी कुछ होता है, वह सब बालक के उदर में अवस्थित है। पञ्चभूत तथा भूतों से निर्मित भौतिक पदार्थ, क्षण, लव, निमेष, पल, घड़ी, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर तथा कल्पों की कल्पना से युक्त काल का वहाँ व्यवहार हो रहा है। जो भी उन्हें दिखायी दे रहा था, सत्य के ही सदृश दीखता था। उसमें तनिक भी बनावट नहीं थी। भीतर भी उन्होंने बड़े बड़े शृंगों वाले हिमालय पर्वत को भी देखा, जिसमें से असंख्यों झरने झर रहे हैं, बहुत-सी नदियाँ निकल रही हैं। उन नदियों में उन्होंने अपनी पुष्प भद्रा नदी को भी देखा। उसमें जो जो मुनि निवास करते थे, वे भी सबके सब दिखायी दिये। कोई भी ऐसी बात नहीं थी जो बाहर न देखी हो। सम्पूर्ण चराचर विश्व उन्हें बाल मुकुन्द भगवान् के उदर में दिखायी दिया। ज्यों ही वे चकित दृष्टि से अपने आश्रम को निहार रहे थे, त्यों ही बालक ने फिर स्वाँस छोड़ी। उसके स्वाँस के साथ नासिका द्वार से फिर बाहर आ गये। बाहर आकर क्या देखते हैं, कि वही प्रलय कालीन समुद्र हिलोरें मार रहा है। वे समुद्र के जल में गिर गये। वही टीला उस पर वही नन्हा सा वट वृक्ष, वृक्ष के पत्र पुट पर शयन करता हुआ वही सलौना शिशु उन्हें दिखायी दिया। फिर बालक ने प्रश्वास ली तो फिर उसके उदर में चले गये, जब उसने स्वाँस छोड़ी, तो फिर बाहर आ गये। इस प्रकार वे छई बार भीतर बाहर हुए। सातवीं बार उन्होंने बालक को देखा

वे अपनी प्रेमामृतमयी मुसकान के सहित कटाक्ष दृष्टि से मुनि को निहार रहे हैं। इतना प्रेम प्रकट कर रहे हैं, मानों मुनि को पी जायँगे बालककी वह अद्भुत छटा नयनों द्वारामुनिके हृदय में प्रवेश कर गयी, वे अपने प्रेमावेग को सम्हालने में समर्थ न हो सके। दौड़कर ज्यों ही वे उस शिशु को हृदय से सटाना चाहते थे, ज्यों ही वे उनका दृढ़तर आलिंगन करने को बड़े क्लेश से आगे बढ़े त्यों ही न वहाँ वह बालक है न टीला और न वह वट वृक्ष ही वह सम्पूर्ण लीला ही समाप्त हो गयी। जिस प्रकार किसी अत्यंत भूखे पुरुष के सम्मुख से परसी हुई थाली उठा ली जाय, जिस प्रकार दरिद्र को अनंत धनराशि देकर तत्काल ही उससे छिनाली जाय, जिस प्रकार अत्यंत कामातुरा के सम्मुख से उसका प्राणपति हटा दिया जाय, जिस प्रकार अत्यंत पिपासित को सुन्दर शीतल जल दिखाकर फिर उस घड़े को उसके सम्मुख फोड़ दिया जाय, इन सब की जैसी दशा होती है, वैसी ही दशा उस समय महामुनि मार्कण्डेय जी की हुई। अपने सम्मुख उन वट पत्र पुटशायी श्याम शिशु को न देखकर वे भौचक्के से बने इधर उधर निहारने लगे। अब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा, न तो वहाँ प्रलय कालीन समुद्र है, न बालक न वट वृक्ष, मुनिवर अपने आश्रम के समीप पुष्प भद्रा नदी के तट पर बैठे हुए सन्ध्या कर रहे हैं। प्रलय का दृश्य देखने के पूर्व जो उन्होंने पुष्पों के सहित अर्घ्य दिया था वे अर्घ्य पुष्प पुष्प भद्रा नदी में अठखेलियाँ कर रहे थे। कहाँ तो सातबार प्रलय हो गयी, करोड़ों अरबों वर्ष बीत

गये, कहाँ अभी एक क्षण भी नहीं हुआ। वे उठकर अपने आश्रम में चले गये। आश्रमप्रस्थित मुनियों ने कहा—"ब्रह्मन्! आज आप अत्यंत ही शीघ्र नदी से लौट आये। नित्य तो बड़ी देर से लौटते थे क्या आज सायंकालीन जप नहीं किया।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अपने आश्रम के ऋषियों के मुख से ऐसा प्रश्न सुनकर मार्कण्डेय जी को और भी अधिक विस्मय हुआ। अब वे समझ गये, यह सब श्रीमन्नारायणका रचा हुआ योगमाया का वैभव है। यही भगवान् की दैवी माया है। मैंने जो भगवान् से माया दर्शन की इच्छा की थी, वही कृपा करके उन्होंने पूरी की। अब मैं और किनकी शरण में जाऊँ, जो इस माया के ईश हैं। जिनकी यह माया चेरी है उन मायेश की ही शरण में मैं जाता हूँ। वे ही मेरी रक्षा करेंगे, वे ही मुझे अपने चरणों की सन्निधि में रखेंगे। "हे प्रभो! आपकी माया अपरम्पार है, ब्रह्मादिक देव भी उसका पार नहीं पा सकते। बड़े-से बड़े ज्ञानी भी आपकी माया में मोहित हो जाते हैं, क्योंकि यह माया सर्वथा सत्य-ही प्रतीत होती है। किसी को इस भ्रम का भेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु जो शरणागत हैं, जिन्होंने एकमात्र आपके ही चरणों की शरण गह ली है, उनका यह माया कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती, क्योंकि आपका नाम शरणागत प्रति पालक है, जो सब कुछ छोड़कर एकमात्र आपकी ही शरण में आ जाते हैं। उनका प्रतिपालन करने के लिये तो आप को विवश होना ही पड़ता है। उनके दुःखों को दूर करने को तो आप बाध्य ही हैं। ये जो आपके युगल मृदुल चरण हैं इनमें शरणागतों को

सदा से आश्रय मिलता आया है, अतः मैं इन्हीं की शरण लेता हूँ हे हरि ! मेरी रक्षा करो।" इस प्रकार मुनिवर मार्कण्डेय मन से ही भगवान् की स्तुति करने लगे। मुनि को माया के दर्शन भगवान् नारायण की कृपा से हुए थे। भगवान् से उन्होंने माया दर्शन का वर प्राप्त किया था। जिस प्रकार मुनिवर हरि ने कृपा की उसी प्रकार सदाशिव भोलेनाथ पार्वती पति हर ने भी कृपा की। मायादर्शन के अनंतर उन्हें पार्वती सहित वृषभध्वज भगवान् शङ्कर के भी दर्शन हुए। जिन पर घनश्याम की कृपा हो जाती है, उनपर सभी कृपा करते हैं। सभी उन पर अनुग्रह की वृष्टि करते हैं।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—सूतजी ! हमारे वंशज महामुनि मार्कण्डेय पर भगवान् महादेव ने कैसे कृपा की ? किस प्रकार पार्वती सहित परमेश्वर ने उन्हें दर्शन दिये। कृपा कर लगे हाथों इस पुण्य प्रसङ्ग को भी हमें सुना दें। मार्कण्डेय जी की कथा तो बड़ी ही अद्भुत है यह तो श्रोता वक्ता दोनों के ही लिये परमहित कर है, इसके श्रवण से तो माया जनित संसार की निवृत्ति होती है। भगवान् वासुदेव के चरणों में अनुराग होता है।

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज भगवान् शङ्कर ने मार्कण्डेय मुनि पर कैसे कृपा की अब मैं इसी पुण्य प्रसंग को सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

प्रलय-सलिल नहि रह्यो पूर्ववत जगत लखायो।
माया दरशन समुझि श्याम चरननि सिर नायो॥
अक्षयवट पुट पत्र करें क्रीडा शिशु के सम।
उदर माँहि सब दृश्य होहिँ मायाते जगभ्रम॥
माया लखी महेश की, भये फेरि मुनि भ्रम रहित।
तब वृष चढ़ि शङ्कर तहाँ, आये पारवती सहित॥

—:o:—

मार्कण्डेय मुनिपर कपर्दी की कृपा

(१३६५)

तमेवं निभृतात्मानं वृषेण दिविपर्यटन् ।
रुद्राण्या भगवान् रुद्रो ददर्श स्वगणैर्वृतः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १० अ० ३ श्लो०)

छप्पय

शिवा कहैं–'सरवेस ! भक्त मुनि कूँ वर देवै ।
शिव बोले–'ये भक्त मोक्ष तक कूँ नहिं लेवै ॥
हरिहिय धारे इननि फेरि का इनिकूँ दुल्लो ।
साधु समागम लोभ बात कछु सुखद करुल्लो ॥
मुनि ध्यावैं सरवेश कूँ, इष्ट नहीं जब हिय लखे ।
खोलि नयन सम्मुख तबहिं, शिवा सहित शंकर दिखे ॥

भक्त और भगवान में भक्त को ही बड़ा बताया है, क्योंकि भगवान् भक्त से कुछ चाहते हैं। भगवान् चाहते हैं भक्त अपना तन, मन, धन, तथा अन्य सभी वस्तुओं को मुझे समर्पण करदे।

---

* सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब मार्कण्डेयजी को भगवान् की माया के दर्शन हो गये तब वे एकाग्र चित्त से अपने आश्रम में बैठे थे तभी अपने गणों से घिरे हुए नन्दी पर चढ़े पार्वती सहित शिवजी ने उन्हें देखा। वे पार्वती के सहित आकाश मार्ग से कहीं घूम रहे थे।"

माता, पिता, भाई, बन्धु, कुटुम्ब, परिवार सभी से नाता तोड़कर मुझसे ही सम्बन्ध जोड़ ले। समर्पण में तनिक-सी भी त्रुटि होती है, तो भगवान् नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। दानवीर बलि को बाँधते समय ब्रह्माजी से भगवान् ने स्पष्ट कह दिया था—"ब्रह्मन्! जिस पर मैं कृपा करता हूँ, उसका सम्पूर्ण धन अपहरण कर लेता हूँ, क्योंकि धन मद से उन्मत्त होकर पुरुष मेरा तथा पुण्य लोकों का तिरस्कार करने लगता है।" भगवान् पक्के व्यापारी हैं, जबतक दो अंगुल की भी त्रुटि होती है, तब तक बन्धन में नहीं बँधते। वे कहते हैं—"देखो, भैया! मुझे छल कपट अच्छा नहीं लगता मुझे तो निरमल मन वाला पुरुष प्यारा लगता है। मैं जिस पर कृपा करूँगा उसका सर्व प्रथम सर्वस्व हथिया लूँगा।"

इस प्रकार भगवान् तो भक्त का सर्वस्व चाहते हैं, किन्तु भक्त भगवान से कभी भी कुछ चाहता नहीं। जो भगवान् से जितना ही चाहता है उसकी भक्ति में उतनी ही त्रुटि है। प्रह्लाद पर प्रभु प्रसन्न हुए और उनसे वर माँगने को कहा। उन्होंने बहुत मना किया—"महाराज, कृपा करो, आप अपना काम करो, मुझे वर कर कुछ भी नहीं चाहिये।" भगवान् अड़ गये। उसकी चिरौरी विनती करने लगे—"भैया! कुछ तो माँग ले। अपने लिये न सही मेरे ही ऊपर कृपा कर। तू कुछ माँग लेगा तो मुझे सन्तोष हो जायगा।" भगवान् का हृदय धुकुर पुकुर कर रहा था, कि मैं जहाँ जाता हूँ वहीं हाथ पसार देता हूँ यदि भक्त ने कुछ न माँगा, तो सदा मेरी आँखें नीची ही बनी रहेंगी। मँगता की आँखें ऊपर उठ ही नहीं सकती। हाँ बदले में यह भी कुछ माँग ले तो दोनों बराबर हो जायँ। भगवान् यही दाँव पेच लगा रहे थे, कि प्रह्लाद कुछ माँगले। इसी लिये वे बार बार उनसे वर माँगने का आग्रह कर रहे थे।

भगवान् जब बहुत विवश करने लगे, तब पहिले तो प्रह्लाद जी ने एक मीठी सी डाँट बतायी—"क्या महाराज! आप रट लगा रहे हो, "माँगलो माँगलो" आपने हमें बनिया समझ रखा है। यह तो मोल भाव हुआ। सौदा लेने वाला सदा घाटा में रहेगा। क्यों कि जो बेचेगा वह रुपये की वस्तु के सवा सोलह आने अवश्य लेगा। पौने सोलह में नहीं देगा। भक्ति के बदले में जो आपसे कामना पूर्ति की इच्छा रखता है वह तो सेवक नहीं कोरा व्यापारी है।"

भगवान् सिटिपिटा गये और बोले—"अरे, भैया! ऐसी बात नहीं। कुछ मुझसे माँग अवश्य लो। इस समय मुझे दिवास लगी है। कुछ देने के लिये मैं व्याकुल बना हूँ।"

प्रह्लादजी ने कहा—"अच्छा, यदि आप नहीं ही मानते हैं, कुछ देना ही चाहते हैं, तो यही वर मुझे दे दो कि मेरे मन में कभी कुछ माँगने की कामना ही न उठे।"

भगवान् ने अपने बड़े बड़े तीक्ष्ण नखों वाले पंजे से अपना माथा ठोंका, कि यह तो मेरा भी बाबा गुरु निकला। इसने तो जड़ ही काट दी। भगवान् की आँखें नीची हो गयीं। इसी लिये भगवान भक्तों के कभी सम्मुख नहीं आते। सम्मुख आते हुए वे लजाते हैं। भक्तों के ऋणिया जो ठहरे उनसे आँखें नहीं मिलाते। चुपके चुपके उनके पीछे पीछे फिरते रहते हैं, उनके चरणों की धूलि को अपने घुँघराले काले काले बालों में भरते रहते हैं। जैसे भक्त भगवान् को अपना इष्ट मानते हैं उसी प्रकार भगवान् भी भक्तों को अपना इष्ट मानते हैं। उनका काम करके प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, उनकी छोटी से छोटी सेवा को भी सहर्ष करते हैं। इसी लिये कहा है राम से बड़ा राम का दास है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! माया के दर्शन करके महामुनि मार्कण्डेयजी का मन शान्त हो गया। अब उनके मन में कोई भी

इच्छा शेष नहीं रही। वे अपने आश्रम में एकाग्र चित्त से बैठे थे, कि उसी समय अपने गणों से घिरे हुए नन्दी पर चढ़े हुए पार्वती सहित भगवान् सदा शिव वहाँ आ पहुँचे। सन्ध्या के समय भगवान् सदा शिव सभी प्राणियों को देखने के लिये अपने भूत प्रेतादि गणों के साथ तीनों लोकों में घूमा करते हैं। दयामयी माँ पार्वती जी प्राणियों को दुखी देखकर अपने प्राणनाथ से उनके दुखों को दूर करने की प्रार्थना करती हैं। औघड़ दानी आशुतोष अपनी प्रिया के आग्रह को टालते नहीं अतः वे कभी कभी अयोग्य को भी विपुल सम्पत्ति दे देते हैं अनेकों ऐसी कथायें हैं कि पार्वती जी ने किसी को दुखी देखकर शिवजी से प्रार्थना की। पहिले तो शिवजी ने टालमटोल की और कह दिया—"यह तो संसार है इस में कोई सुखी है कोई दुखी है, सभी अपने अपने कर्मों के अधीन हैं।" किन्तु जब भगवती गिरिराज किशोरी ने बहुत प्रार्थना की, तो उसके दुख को दूर कर दिया। भक्तों के ऊपर भी कृपा करने के लिये दयामयी माँ शिवजी को प्रेरित करती रहती हैं। इसीलिये भक्तगण शंकरजी से पूर्व भगवती गौरी का नाम लगाकर जप करते हैं। पहिले माता तब पिता। माता का ही हृदय अत्यन्त ममता पूर्ण होता हैं।

महामुनि मार्कण्डेय शान्त भाव से आसन पर बैठकर भगवान् का ध्यान कर रहे थे, कि उसी समय स्वर्ग से शिवजी पार्वती सहित आ रहे थे। माता पार्वती जी की दृष्टि मुनि पर पड़ी। शान्त गम्भीर भाव से ध्यान में मुनि को मग्न देखकर जगन्माता जगत् पिता भगवान् भोले नाथ से बोलीं—"प्रभो! आप इस तपस्वी मुनि को देख रहे हैं, जो पुष्प भद्रा नदी के तट पर बैठा हुआ है।"

भगवान् शंकर बोले—"क्या बात है, बहुत से मुनि

तपस्या करते हैं, यह भी तप कर रहा है इसमें विशेष बात क्या है ?"

पार्वती जी ने कहा—"महाराज ! आप ध्यान पूर्वक देखिये। इस तपस्वी का चित्त कितना शान्त हो गया है। तालाब में जब मछलियाँ इधर से उधर फुदकती हैं, तो जल में चञ्चलता आ जाती है, तरंगें उठने लगती हैं, जब मछलियाँ शान्त हो जाती हैं और वायु भी नहीं चलती, उस समय जैसे सरोवर का जल शान्त हो जाता है, उसी प्रकार इस ब्राह्मण का भी शरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण ऊर्मि रहित बन गया है। इसने अपने मन को जीत लिया है। मन को जीतना ही सबसे कठिन कार्य है।"

शिवजी ने कहा—"तो तुम्हारा अभिप्राय क्या है ? तुम चाहती क्या हो ?"

भगवती पार्वती ने कहा—"महाराज ! मैं यही चाहती हूँ, कि आप सभी कर्मों के फल दाता हैं। इस ब्राह्मण की तपस्या की ओर भी दृष्टि पात कीजिये और इसके तप का प्रत्यक्ष फल प्रदान कीजिये। आप समस्त सिद्धियों के स्वामी हैं। इन्हें भी कोई सिद्धि दे दीजिये।"

पार्वती जी की बात सुनकर उमापति भगवान् शङ्कर हँस पड़े और हँसते हुए कहने लगे—"प्रिये ! इन महात्मा को मैं कुछ दे देता, तो मैं स्वयं कृतार्थ हो जाता।"

पार्वती जी ने कहा—"तो फिर देते क्यों नहीं ? कुछ दे दो !"

शिवजी ने बात पर बल देते हुए कहा—"दूँ कैसे ? जब ये लें तब तो।"

पार्वती जी ने पूछा—"ये लेते क्यों नहीं। तपस्या तो कुछ प्राप्त करने के लिये ही की जाती है तप करके ही लोग इन्द्रपद, ब्रह्मपद, तथा स्वर्गीय सुखों को प्राप्त करते हैं।"

शिवजी ने कहा—"हाँ, सकाम तप करने वाले भोगों की इच्छा से ही तप करते हैं, किन्तु ये तो निष्काम तपस्वी हैं। ये कभी स्वप्न में भी भोगों की इच्छा नहीं करते।"

पार्वती जी ने कहा—"न सही भोग, आप तो मोक्ष के भी स्वामी हैं, इन्हें मोक्ष ही दे दीजिये।"

शिवजी ने हँसकर कहा—"प्रिये! ये लोग मोक्ष भी नहीं चाहते।"

पार्वती ने आश्चर्य से पूछा—"महाराज! मोक्ष भी नहीं चाहते, तो और चाहते क्या हैं। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को तो पुरुषार्थ कहा है और मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है। मोक्ष से बढ़कर तो कोई वस्तु ही नहीं। संसार में मोक्ष ही अंतिम पुरुषार्थ है।"

शिवजी ने कहा—"प्रिये! मोक्ष से बढ़कर भी एक वस्तु है। जिसे पंचम पुरुषार्थ भी कहा है, उसे भगवान् पुरुषोत्तम की परा-भक्ति कहो अथवा 'प्रेम' कहो एक ही बात है। जिन को भगवान् की परभक्ति प्राप्त हो गयी है उन्हें भगवान् चार प्रकार की मुक्ति भी देते हैं तो वे सेवा के बिना मुक्ति को भी स्वीकार नहीं करते। वे तो कुछ चाहते ही नहीं यही चाहते हैं, कि इसी प्रकार सदा भगवान् की सेवा में ही संलग्न रहें।"

पार्वती जी ने कहा—"अच्छा, ये भगवान् के भक्त ऐसे निस्पृह होते हैं, जब ये कुछ चाहते ही नहीं तो आप भी इनसे बातें न करेंगे?"

शीघ्रता के साथ शङ्कर जी ने कहा—"नहिँ देवि! ऐसी बात नहीं है। यद्यपि ये कुछ चाहते नहीं तो भी मैं इनसे वार्तालाप अवश्य करूँगा।"

पार्वती जी ने कहा—"जो कुछ चाहता ही नहीं उससे वार्ता-लाप करने से लाभ ही क्या?"

हँसकर शिवजी ने कहा—"देवि ! रुपये पैसे की प्राप्ति अथवा मान सम्मान, स्वर्ग अपवर्ग का मिलना इसी को लाभ नहीं कहते हैं। संसार में सबसे बड़ा लाभ तो साधु समागम ही है।" जिन्हें साधुओं के दर्शन हो गये उनका जीवन धन्य हो गया, जिन्होंने साधुओं का स्पर्श कर लिया उनका शरीर शुद्ध हो गया, जिन्होंने वार्तालाप कर लिया उनका मन विशुद्ध बन गया और जिन्होंने उनकी सेवा करली उन्होंने मनुष्य जीवन का पूर्ण फल प्राप्त कर लिया ये महामुनि मार्कण्डेय जी साधुओं में श्रेष्ठ हैं, इनसे वार्तालाप करने से मुझे परम लाभ होगा।"

पार्वती जी ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज चलिये। मैं भी आज भक्त और भगवान के मिलन को देखूँगी। भक्त आपकी प्रशंसा करते नहीं अघाते और आप भक्तों की प्रशंसा करते करते नहीं अघाते। इससे मैं तो निर्णय ही नहीं कर सकती कि आप बड़े हैं या भक्त बड़े हैं। चलिये, मुझे भी इन भक्तवर की बातें सुनने की चट पटी लगी हुई है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब पार्वती जी ने अत्यन्त उत्सुकता दिखायी तब शिवजी मुनि के समीप गये। महाराज ! देखिये भक्त की कितनी ऊँची पदवी है। जो शङ्कर सर्व विद्याओं के प्रवर्तक हैं, समस्त चराचर प्राणियों की पशु संज्ञा है, उन समस्त पशुओं के जो पति हैं, वे ही साधु जनों के एक मात्र आश्रय पशुपति भगवान् भोले नाथ आज हर्ष के साथ साधु दर्शनों के लिये जा रहे हैं। शिवजी ने आश्रम में जाकर देखा मार्कण्डेय मुनि पाषाण की प्रतिमा के सदृश स्थिर बैठे हैं, वे न हिलते हैं न डुलते हैं। उन्हें अपने शरीर का अथवा बाह्य जगत् का कुछ भान ही नहीं है। क्योंकि उन्होंने सभी ओर से अपने अन्तःकरण की वृत्तियों को रोक लिया था। वे समाधि सुख का अनुभव कर रहे थे। ध्यान मग्न होने के कारण उन्हें जगदात्मा विश्वनाथ भगवान्

पार्वती पति के पधारने का पता भी न चला। शिवजी शिवा के सहित उनके सम्मुख खड़े हैं और वे स्थिर भाव से समाधि में स्थित हैं।

शिवजी तो समस्त योगों के एकमात्र आचार्य ही ठहरे। वे समझ गये मुनिवर ध्यान में मग्न हैं, अतः वे अपनी योग माया के प्रभाव से उनके हृदयाकाश में उसी प्रकार प्रवेश कर गये, जिस प्रकार रिक्त स्थान में वायु प्रवेश कर जाती है। अब मुनि को अपने हृदय में साक्षात् शंकर के दिव्य दर्शन होने लगे। उन्होंने देखा विद्युत के समान चमचमाते हुए एक अत्यन्त मनोहर देव हृदय में हँस रहे हैं। उनकी पिंगल वर्ण की जटायें विद्युत के प्रकाश में दम दम कर के दमक रही हैं, उनका मनोहर मुखारविन्द बाल सूर्य के सदृश शोभित हो रहा है। अत्यन्त मनोहर उन्नत काय के ऊपर व्याघ्र चर्म की शोभा अकथनीय है। वे दश हाथों में क्रमशः त्रिशूल, धनुष, बाण, खड्ग, ढाल, अक्षमाला, डमरू, कपाल और परशु धारण किये हुए हैं। एक हस्त से भक्तों को अभय दान दे रहे हैं। उनकी मनोहर मुखाकृति अत्यन्त ही लुभावनी है, वे विश्व के कल्याण का ही चिन्तन कर रहे हैं।

ऐसी दिव्य मूर्ति को अपने हृदय में सहसा प्रकटित हुई देख कर महामुनि परम विस्मित हुए। वे बार बार विचार करने लगे, ये कौन हैं, ये कौन हैं, सहसा मेरे अन्तःकरण में कैसे घुस आये। अवाक होकर मुनि ऐसा विचार कर ही रहे थे, कि तुरन्त वह मनोहर मूर्ति अन्तर्हित हो गयी। उसी हड़बड़ाहट में उनकी समाधि खुल गयी। आँख खोलकर वे देखते हैं, कि जिस मूर्ति के अन्तःकरण में दर्शन हुए थे वही मूर्ति प्रत्यक्ष सम्मुख खड़ी है। पार्वती सहित परमेश्वर श्री शंकर सम्मुख खड़े खड़े हँस रहे हैं। वे पर्वत के शिखर के समान नन्दीश्वर के पीठ पर पार्वती सहित

विराजमान हैं। उनके गण उन्हें चारों ओर से घेरे हुये खड़े हैं।

सम्मुख शिवजी को देख कर मुनि सहसा उठकर खड़े हो गये, उन्होंने भूमि में लोट कर भगवान् भूत नाथ के पाद पद्मों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वे सहसा निर्णय ही न कर सके मैं क्या करूँ। बार बार प्रणाम करने लगे। प्रणाम करते फिर उठकर खड़े हो जाते फिर प्रणाम करते शिवजी नन्दीश्वर की पीठ से उतर कर उनके सम्मुख आ गये। अब मुनि को ध्यान आया—"अरे मैंने भगवान् पार्वती पति की पूजा तो की ही नहीं। दौड़कर कुटी में गये आसन उठा लाये, अर्घ्य की समस्त सामग्री ले आये, फल, मूल, धूप, पुष्प, माला जो भी कुछ कुटी में था उठाकर ले आये। आसन, पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, पुष्प, माला, बिल्वपत्र धूप दीप नैवेद्य तथा फल आदि से विधिवत् पार्वती सहित शिवजी की पूजा की। उनके गणों की भी यथोचित पूजा अर्चा की। फिर हाथ जोड़ कर वे शिवजी की स्तुति करने लगे। मुनि ने नेत्रों में प्रेमाश्रु भर कर यह स्तुति गायी—

शिवस्तुति

करें हर कैसे विनय तिहारी।
सुख स्वरूप सर्वज्ञ सर्वगत, सब जग के संहारी ॥१॥ करें०
ज्ञानरूप तुम घट घट वासी, सीमित बुद्धि हमारी।
दया दृष्टि तें हरो अविद्या, हे शङ्कर त्रिपुरारी ॥२॥ करें०
निरगुन शान्त त्रिगुनमय स्वामी, तुम लीला धारी।
पालो, रचो, फेरि, संहारो, बनि अज, रुद्र, मुरारी ॥३॥ करें०
पुनि पुनि चरन सरोरुह बन्दौं, माँ गिरिराजकुमारी।
जननी जनक स्वयं शिशु सम्मुख, आये जग सुखकारी ॥४॥
करें०

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब महामुनि मार्कण्डेय ने पूजा के अनन्तर भगवान आशुतोष की इस प्रकार से स्तुति की, तो उन की स्तुति से परम सन्तुष्ट होकर साधु पुरुषों की एक मात्र गति भगवान् आदि देव महादेव हँसते हुए मुनि से बोले—"मुनिवर! मैं तुम से तुम्हारे नियम व्रत तथा सदाचार से परम सन्तुष्ट हूँ तुम मुझसे अपनी इच्छानुसार कोई वर माँगलो।"

वरदान की बात सुनकर महामुनि संकोच में पड़ गये और लजाते हुए बोले—"प्रभो! मैं क्या वर माँगूँ?"

भगवान् बोले—"जो भी तुम्हारी इच्छा हो वही माँग लो। देखो हम त्रिदेव समस्त वर देने वालों में श्रेष्ठ हैं। हम अमोघ दर्शन कहलाते हैं, हमारा दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसलिये तुम हम से कुछ न कुछ अवश्य माँग लो।"

यह सुनकर महामुनि मार्कण्डेय जी बोले—"प्रभो! मैं सदा आपका पूजन, वन्दन तथा भजन करता रहूँ, यही वर आप मुझे दें।"

यह सुन कर भगवान् शङ्कर हँस पड़े। उनकी हास्य की धवलिमा से दशों दिशायें धवलित हो गयीं। वे हँसते हुए बोले—"मुनिवर! आपही समस्त जीवों द्वारा पूजित, वन्दित तथा उपासना करने योग्य हैं।"

मुनि बोले—"प्रभो! यह आप कैसी उलटी गंगा बहा रहे हैं, कैसी विपरीत बातें कह रहे हैं।"

शङ्कर जी ने कहा—"मुनिवर! मैं विपरीत बात नहीं कह रहा हूँ, सत्य सत्य ही बात बता रहा हूँ। जो ब्राह्मण सज्जन हैं, शान्त स्वभाव के हैं, सभी प्रकार के संगों से रहित हैं, जो बिना भद भाव के सभी प्राणियों पर कृपा करते हैं। जो सरल साधु स्वभाव तथा सर्व भूतों के हित में रत रहते हैं, जो कभी किसी से वैर भाव नहीं रखते। जो शत्रु, मित्र तथा उदासीन सभी को एक ही दृष्टि

से देखते हैं, जो हम त्रिदेवों के अनन्यो पासक हैं ऐसे साधु पुरुषों की वन्दना, पूजा तथा उपासना तो सम्पूर्ण लोकपालों के सहित सभी प्राणी करते हैं, वे सब पूज्य माने जाते हैं। मैं तो ऐसे सरल संतों का सदा भजन करता हूँ। मैं ही नहीं लोकपितामह ब्रह्माजी उनके भी जनक भगवान् विष्णु भी ऐसे सन्तों का भजन करते हैं। बात यह है कि सन्त जनों के दृष्टि में द्वैत रहता ही नहीं। वे मुझ शंकर में, पद्म गर्भ ब्रह्मा में तथा पद्मनाभ विष्णु में, समस्त प्राणियों में और अपने में अणुमात्र भी भेद नहीं समझते। जिनका भेद भाव सर्वथा विलीन हो गया है ऐसे समदर्शी सन्त तो हम लोगों को भजनीय बन ही जाते हैं। वे सम्पूर्ण भुवन को पवित्र करने में समर्थ होते हैं।"

हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से मार्कण्डेय मुनि बोले—"प्रभो! पावन करने का काम तीर्थों का है। प्राणियों को पवित्र तो तीर्थ ही करते हैं।"

हँसकर शिवजी बोले—"मुनिवर! आपका कथन सत्य है। तीर्थ ही पवित्र करते हैं। किन्तु आप तीर्थ किसे कहते हैं? क्या नदी, तालाब, सरोवर, खात आदि जलमय जलाशय ही तीर्थ हैं, क्या पाषाण, मृत्तिका, धातु तथा चित्र आदि की मूर्तियाँ ही तीर्थ हैं?"

मार्कण्डेय जी ने कहा—"तो क्या भगवन्! गंगादि पवित्र नदियाँ, श्री बद्रीनाथ, श्री रामेश्वर आदि प्राणियों को पावन बनाने वाले तीर्थ नहीं हैं?"

शङ्कर जी ने कहा—"मुनिवर! मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि गंगादि पवित्र जलाशय, जगन्नाथ जी, रामेश्वर तथा बद्री-नारायण आदि की मूर्तियाँ तीर्थ नहीं हैं। ये तीर्थ हैं, अवश्य हैं, इनके सेवन से प्राणी पावन भी होते हैं, किन्तु चिर काल तक इनका सेवन किया जाय, तब ये फल देते हैं, तब ये प्राणियों को

पवित्र करते हैं, किन्तु सन्त रूप प्रत्यक्ष चलते फिरते सजीव तीर्थ तो दर्शन मात्र से ही प्राणियों को पवित्र कर देते हैं। अतः ये सब से बड़े तीर्थ हैं। सोचिये मुनिवर! जो सन्तजन नाना भाँति के यमनियमों का पालन करके अपने अत्यन्त चञ्चल चित्त को एकाग्र करते हैं जो संसारी भोगों की इच्छा न रखकर निरन्तर तप और स्वाध्याय में ही निरत रहते हैं जो शौच संयमादि से हमारे वेदत्रयी रूप देह को अपने हृदय में धारण करते हैं, ऐसे ब्राह्मणों को कौन पावन तीर्थ नहीं कहेगा उनके चरणों में कौन प्रणाम न करेगा। ब्रह्मा, विष्णु तथा मैं ऐसे निस्पृह ब्राह्मणों को नित्य नमस्कार करते हैं। महापापी चाण्डाल को भी आप जैसे सन्तों के दर्शन हो जायँ, तो वे पवित्र बन जाते हैं; फिर जो आपके समीप रहते हैं आपसे सम्भाषण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या? मैं जानता था आपको किसी प्रकार के वर की इच्छा नहीं है, फिर भी आप से वार्तालाप करने के लोभ से अपने को पवित्र बनाने के अभिप्राय से मैं आपके समीप आया था। आपके दर्शन से मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अत्यन्त प्रेम नम्रता तथा स्नेह में सने शङ्कर जी के परममधुर वचनोंको सुनकर मार्कण्डेय मुनि के रोम रोम खिल उठे। उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा मानों मेरे श्रवण पुटों में कोई निरन्तर अमृत उड़ेल रहा है। शङ्कर जी की दिव्य वाणी सुनते-सुनते उनकी तृप्तीही नहीं हो रही थी। अब तक तो वे भगवान् की माया के फन्दे में पड़कर क्लान्त से हो रहे थे। प्रलय कालीन समुद्र की चपेटों से अत्यन्त श्रमित हो गये थे। जैसे कोई सूखे वृक्ष पर अमृत उड़ेल दे और वह पुनः हरा भरा हो जाय उसी प्रकार श्री शङ्कर भगवान् के वचनामृत से उनके क्लेश पुञ्ज क्षीण हो गये थे। शङ्कर जी के विनीत वचनों से उनका हृदय भर आया वाणी रुद्ध हो गयी। बड़े कष्ट से वे दोनों हाथों की अञ्जलि

बाँध कर कहने लगे—"प्रभो ! आपकी लीला अपरम्पार है। कोई भी आपकी लीला का पार नहीं पा सकता। भला बताइये जो सब का स्वामी है, सबके जनक, पालक तथा रक्षक हैं, जो सबके शास्ता हैं, मुझ जैसे अगणित जीव जिनके शासन में सदा रहते हैं जैसे सूत्रधार पुतलियों को अपने संकेत पर नचा रहे हैं, वे ही सब के एक मात्र स्वामी हम जैसे क्षुद्र जीवों की वन्दना और स्तुति करें, यह विडम्बना नहीं तो क्या है।"

हँस कर शिव जी ने कहा—"तो क्या मुनिवर आप हमारी इस नमस्कार स्तुति में बनावट समझते हैं।"

शीघ्रता से मार्कण्डेय मुनि बोले—"नहीं नहीं भगवन् ! आप में भला कभी बनावट हो सकती हैं। जैसे पिता पुत्र को खिलते समय उसे राजा कहता है, सिर पर चढ़ा लेता है उसके पैरों को मस्तक पररख लेता है, तो यह उसकाकेवल विनोद ही है। बहुत से सिद्ध पुरुष ऐसे होते हैं, कि उन्हें धर्माचरण की कुछ भी आवश्यकता नहीं। वे धर्म, अधर्म, विधि निषेध से परे होते हैं। फिर भी धर्मोपदेशक के नाते धर्म का स्वयं आचरण करते हैं और उसका अनुमोदन तथा समर्थन भी करते हैं। धर्म का आचरण करते हैं उनकी प्रशंसा भी करते हैं। यह सब वे अपने लिये नहीं करते स्वयं तो उनके लिये कुछ कर्तव्य रहता ही नहीं ! उसी प्रकार आपभी लोकशिक्षा के निमित्त ऐसा करते हैं। आप जो हमें नमस्कार आदि करते हैं, इससे आपके बड़प्पन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। क्यों कि आप अपनी माया मयी वृत्तियों को स्वीकार करके ऐसा आचरण करते हैं। कोई मायावी है, वह माया से नाना वेष बना लेता है, दूसरे उसे देखकर भले ही मोहित हो जायँ, किन्तु उस माया से स्वयं उसके प्रभाव में कोई अन्तर नहीं आता, वह तो ज्योंका त्यों अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है, प्रभो ! आप नमस्कारादि करके जीवों को नमन की विधि सिखा रहे हैं। जैसे

स्वप्न में पुरुष मन से ही समस्त पदार्थों की कल्पना करता है, फिर उन वस्तुओं से होने वाले सुख दुखों को स्वयं कर्ता के समान भोगता-सा प्रतीत होता है उसी प्रकार आप सम्पूर्णविश्व प्रपञ्च को रचकर उनमें अनुप्रविष्ट होकर गुणों की की हुई क्रियाओं से स्वयं कर्ता के सदृश प्रतीत होते हैं। आप समस्त गुणों के नियन्ता हैं, आप ब्रह्म स्वरूप हैं निष्कल हैं, केवल हैं, अद्वितीय हैं, सर्व साक्षी हैं, चराचर जगत् के गुरु हैं, ऐसे कल्याण स्वरूप परमात्मा के पाद पद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।"

शिव जी ने कहा—"मुनिवर! नमस्कार प्रणाम तो हो चुके। इन शिष्टाचार की बातों को छोड़ो, अब तुम मुझ से कोई अभीष्ट वर माँगो।"

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—"प्रभो! क्या अब भी मुझे कुछ माँगने को अवशेष रह गया क्या? जिन बड़ भागियों को आपके देव दुलभ दर्शन हो जाते हैं, उन्हें सभी प्रकार के आनन्द प्राप्त हो जाते हैं, वे आप्त काम बन जाते हैं। दर्शन मात्र से ही सब कुछ देने वालों से अब मैं और क्या मागूँ?"

शिव जी ने कहा—"नहीं, तो भी कुछ तुम अवश्य ही मुझ से माँग लो।"

मार्कण्डेय मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, आपकी आज्ञा ही है. तो मुझे यही वर दीजिये कि भगवान् में, भगवत् भक्तों में तथा आप में मेरी अविचल भक्ति हो। प्रभो! आप मेरी इस कामना को पूर्ण कर दें, क्यों कि आपतो सम्पूर्ण कामनाओं की वृष्टि करने वाले परिपूर्ण प्रभु हैं। आपके द्वार से कोई भी रिक्त हस्त नहीं लौटता।"

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! महा मुनि की ऐसी बात सुन कर उमापति त्रिलोचन भगवान् भोले नाथ हँसे, वे मुनि की पूजा, स्तुति, विनय और निस्पृहता पर सन्तुष्ट हो गये थे। पार्वती जी ने कहा—"यह तपस्वी मुनि जो भी माँगता है उसी को आप

दीजिये।" अपनी प्रिया पार्वती की अनुमति पाकर शिव जी बोले—"मुनिवर ! भक्ति का आशीर्वाद तुम्हें क्या दूँ।" भक्ति तो तुम्हें स्वतः ही प्राप्त है भगवान् नर नारायण ने प्रथम ही तुम पर कृपा की है। जिसकी भगवान् में भक्ति है, उसकी कोई भी कामना शेष नहीं रहती। वह जो चाहता है, वही हो जाता है। तुम जो भी कामना करोगे वही पूरी होगी, मेरे आशीर्वाद से तुम्हें कल्पान्त यश प्राप्त होगा, तुमको परम पुण्य और अजर अमरता भी प्राप्त होगी, तुम सदा ब्रह्म तेज से देदीप्यमान् रहोगे, तुम्हें भूत, भविष्य तथा वर्तमान का सब ज्ञान प्राप्त होगा, तीनों लोकों में तुम्हारे लिये कुछ भी अज्ञेय न रहेगा। तुम्हें वैराग्ययुक्त विज्ञान की प्राप्ति होगी और संसार में तुम पुराणाचार्य विख्यात होगे।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! एक साथ इतने वर पाकर मार-कंडेय जी का हृदय भर आया, उन्होंने पार्वती पति के पाद पद्मों मेंपुनः पुनः प्रणाम किया। शिव जी ने भी उन्हें सब प्रकार से सन्तुष्ट किया और फिर मुनि से अनुमति लेकर अपनी प्रिया पार्वती तथा अपने गणों के सहित कैलाश की ओर चल दिये। मार्ग में पार्वती जी से मुनि के सम्बन्ध की बातें करते गये। किस प्रकार इन मुनि ने ब्राह्मणों को प्रणाम करके अजर अमरता प्राप्त की है, कैसा कैसा घोर तप किया है ये ही बातें सम्पूर्ण मार्ग में बताते गये।"

इधर महामुनि मार्कण्डेय जी भी शिव जी से सम्पूर्ण योग सम्पत्ति पाकर भगवान् के चरणारविन्दों में अनुरक्त होकर इच्छानुसार पृथिवी पर विचरण करने लगे।"

सो मुनियो ! मार्कण्डेय जी ने जिस प्रलय के दर्शन किये थे, वह वास्तविक प्रलय नहीं थी भगवान् की आकस्मिक माया थी। जिस प्रकार ब्राह्मण श्रेष्ठ सोमशर्मा को भगवान् की कृपा से माया

के दर्शन हुए थे उसी प्रकार मार्कण्डेय मुनि को भी माया के दर्शन हुए थे।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! ये सोम शर्मा ब्राह्मण कौन थे, इन्हें भगवान् की माया के दर्शन कैसे हुए, इन्होंने माया देखने की इच्छा प्रकट क्यों की और इन्होंने भगवान् की माया में क्या देखा ? कृपा करके इस आख्यान को भी हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूत जी बोले—"ब्रह्मन्! भगवान् की दैवी माया अचिन्त्य है, इसमें सब कुछ सम्भव है। माया के दर्शन नित्य ही सभी करते हैं, किन्तु जो मायेश की कृपा से माया दर्शन होते हैं, वे माया के समुद्र को पार कर जाते हैं। अच्छी बात है, मैं आपको सोम शर्मा विप्र के आख्यान को सुनाता हूँ।

सोम शर्मा एक अत्यन्त ही शान्त, दान्त, तेजस्वी तपस्वी थे। वे चिरकाल तक कठिन नियमों का पालन करते हुए तीव्र तप करने लगे। उनके तप से तप पति भगवान् विष्णु सन्तुष्ट हुए और उन्हें आकर दर्शन दिया। भगवान् के दर्शन पाकर ब्राह्मण परम सन्तुष्ट हुए। भगवान् ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं तुम्हारे तप से सन्तुष्ट हूँ तुम धन, रत्न, स्त्री, बच्चे, राज्य, स्वर्ग तथा और भी जो कुछ चाहते हो मुझ से कहो। मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छित वस्तु दूँगा।"

इस पर उस ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! मुझे धन, रत्न, स्त्री, बच्चे तथा स्वर्गादि सुख कुछ भी नहीं चाहिये। मुझे यदि आप कुछ देना ही चाहते हैं, तो अपनी माया के दर्शन करा दें।"

भगवान् ने हँस कर कहा—"अरे, ब्राह्मण! तुम सिर्री हो गये हो क्या। मेरी माया तो बड़ी दुर्लभ है। बड़े बड़े देवता, लोकपाल भी इसका पार नहीं पा सकते। मेरी माया देखकर क्या करोगे, कोई अन्य वरदान मांग लो।"

ब्राह्मण ने कहा—"नहीं, प्रभो! मुझे तो आपकी माया की देखने की ही इच्छा है यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है, तो आप मुझे अपनी माया के दर्शन अवश्य करा दें।"

यह सुन कर भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तुम नहीं मानते हो, तो तुम्हें मैं अपनी माया के दर्शन कराऊँगा। तुम हरिद्वार चले जाओ। वहाँ मायापुर एक स्थान है, वहीं तुम्हें मेरी माया के दर्शन हो जायँगे।"

इतना कह कर भगवान् तो अन्तर्धान हो गये और सोमशर्मा अपने दंड कमंडलु लेकर हरिद्वार की ओर चल दिये। कुछ दिनों में मायापुर के समीप पहुँचे। किनारे पर दंड कमंडलु और वस्त्र रख कर गंगा जी में स्नान करने को घुसे ज्यों ही उन्होंने गंगा जी में गोता लगाया, त्यों ही क्या देखते हैं, कि वे एक मल्लाहिनि के गर्भ में आ गये हैं। उन्हें इस बात का पूर्ण स्मरण था कि मैं तपस्वी सोम शर्मा हूँ, किन्तु उनका शरीर गर्भगत बालिका का बन गया। मल मूत्र के थैलों के पास गर्भाशय में वे सिकुड़ कर बड़े कष्ट से रहने लगे। वहाँ चारों ओर से दुर्गन्ध आती थी। वह मल्लाहिनि जब मिरचा खा लेती तो सम्पूर्ण शरीर में दाह होने लगती। भीतर मल मूत्र तथा रज वीर्य के कीड़े काटते। गर्भ के क्लेशों से दुखी होकर मुनि सोचने लगे—"हाय! मैंने ऐसे कौन से पाप किये, जो इस निषाद की स्त्री के गर्भ में आ गया। यह सड़ी मछलियों को खाती है, इसके सम्पूर्ण अंगों से मछली की दुर्गन्ध निकलती है। इसके पेट में कितनी दुर्गन्ध है। हाय! ब्राह्मण होकर मैं इस नरक में कैसे आ गया। मेरे शुभ कर्मों को, संयम और सदाचार को तपस्या, और व्रतादि को धिक्कार है, जिनके फल स्वरूप मुझे इस घृणित दुर्गन्त पूर्ण स्थान में अत्यन्त कष्ट से समय बिताना पड़ता है। यहाँ मैं हिल डुल भी नहीं सकता। न किसी से कुछ कह सकता हूँ, न अपनी रक्षा ही कर

सकता हूँ. यह मल्लाहिनि दिन भर अंट संट खाती पीती है, इसे मेर क्लेश का क्या पता यहाँ कितना दुर्गन्ध युक्त मल भरा है, मांस और रक्त की कीच हो रही है, वात पित्त और कफ की चारों ओर भर मार है। हाय ! मुझे भगवान् के दर्शन हुए थे, वे भगवान् कहाँ गये ? हाय ! मैं नित्य गंगा जी में स्नान करता था, वे गंगा जी कहाँ गयीं। कैसे करूँ, कहाँ जाऊँ, कौन मेरी रक्षा करेगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! गर्भ में पड़ा वह ब्राह्मण दिन रात्रि यही सोचता था, कि सहसा एक दिन पेट में प्रसूति मारुत बढ़ा। मल्लाहिनि पीड़ा के मारे चिल्लाने लगी छट पटाने लगी, उसी समय बालिका बने वे ब्राह्मण जनन द्वार से बाहर आये। बाहर आकर वे सब कुछ भूल गये। निषाद के घर में बढ़ने लगे। निषाद की प्यारी दुलारी कन्या बन गये। अब प्रेम से यथेष्ट मछली खाते, मांस उड़ाते, सुरापान भी करते। नदी में जाकर मछलियों को पकड़ लाते कच्ची मछलियों को खा जाते, कभी भूनकर नमक मिलाकर खाते।

जब वह कन्या बड़ी हुई, तो उस मल्लाह ने एक दूसरे मल्लाह के लड़के के साथ उसका विवाह कर दिया। दोनों ही युवावस्थापन्न थे सर्वथा रङ्ग रेलियाँ करते रहते थे, खाद्याखाद्य पेयापेय, तथा गम्यागम्य का कुछ भी विचार नहीं रहा। प्रत्येक वर्ष में एक सन्तान हो जाती। बहुत से लड़का लड़की हो गये। किसी को स्तन पिलाती किसी को गोदी में बिठाती किसी को खाट पर लिटाती। लड़का लड़की वस्त्रों पर ही मलमूत्र कर देते। सब वस्त्र मल मूत्र में सन जाते। कोई भोजन करते समय ही ऊपर मूत देता, कोई टट्टी कर देता। मैले कुचैले कपड़े पहिने सड़ी मछलियों का झोल खाकर उन बच्चे कच्चों में भी वह अपने को सुखी समझती।

एक दिन बच्चों ने सब कपड़े गंदे कर दिये। मलमूत्र से सने

बहुत से मैले पुराने कपड़ों को धोने की इच्छा से वह मल्लाहिनि गङ्गाजी के किनारे आये। बड़ी गरमी पड़ रही थी। शरीर पसीने से भीग गया था. मल्लाहिनि ने सोचा—"लाओ, आज शिर से स्नान कर लूँ।" ऐसा विचार कर ज्यों ही उसने गङ्गाजी में डुबकी मारी त्यों ही वह स्त्री से फिर सोमशर्मा हो गये. जल से उछल कर वे देखते हैं, कि जहाँ उन्होंने अपना दंड रखा था, वहीं दंड रखा है। वहीं कमंडलु रखा है। वस्त्र ज्यों के त्यों रखे हैं। उन्हें अपने तप स्वाध्याय का पूर्ववत स्मरण है। उन्होंने गीले वस्त्रों को उतार कर वस्त्र बदले। गङ्गाग्रज लगायी। दंड को धारण किया और ब्रह्म का चिन्तन करने लगे। उन्हें अपनी स्त्री शरीर की सब बातें स्मरण थीं। वे सोचने लगे—"मेरा ऐसा कौन सा पाप उदय हुआ कि मुझे मल्लाह के घर में जन्म लेना पड़ा। सो भी पुरुष न होकर स्त्री बना। मैंने कितनी जीवों की हिंसा की। कितने अभक्ष्य पदार्थों को भक्षण किया कितने अपेय पदार्थ पिये। नहीं गमन करने योग्य पुरुषों के साथ गमन किया। मुख से कितनी गालियाँ बकीं। निषाद के संग से कितने पुत्र पुत्री पैदा कीं। ऐसे कौन से ऐसे दुष्कर्म उदित हुए कि इस दशा को मुझे प्राप्त होना पड़ा, ऐसी ऐसी नारकीय यातनायें सहनी पड़ीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! तपस्वी सोम शर्मा ऐसा विचार कर ही रहे थे, कि उसी समय उस मल्लाहिनि का पति अत्यन्त क्रोध में भरा दुःखित चित्त से गङ्गा तट पर आया। उसके साथ कई छोटे बड़े बच्चे थे। आकर वह इधर उधर अपनी स्त्री को खोजने लगा। जब उसे स्त्री नहीं दीखी, तो वह अत्यन्त घब-राया। सम्मुख उसने उस घड़े को देखा जिसे भरने स्त्री आयी थी। घड़ा गङ्गा तीर पर खाली पड़ा था मैले वस्त्रों का ढेर वहाँ लगा हुआ था। इसे देखकर तो मल्लाह की छाती फटने लगी। वह ढाह मार कर मुक्त कंठ से रुदन करने लगा। वह बार बार कहता—

"प्रिये ! तू कहाँ गयी ? देख, ये तेरे बच्चे कब से भूखे रो रहे हैं, छोटा बच्चा तो स्तन के दूध के अतिरिक्त कुछ खाता पीता ही नहीं हाय ! यह तेरे बिना कैसे जीवेगा। मेरा सर्वस्व लुट गया, इस कच्ची गृहस्थी का पालन मैं अकेला कैसे करूँगा।"

उसके करुण क्रन्दन को सुनकर बहुत से स्त्री पुरुष एकत्रित हो गये। किसी ने कहा—"पैर फिसल गया होगा, डूब गयी होगी।"

रोते रोते मल्लाह ने कहा—"वह तो तैरना जानती थी, इतने लोग आस पास स्नान कर रहे हैं, डूबती तो चिल्लाती। या उसकी देह तो मिलती। अभी अभी तो वह आयी थी। ऐसा लगता है कोई मगर उसे निगल गया। तुरन्त उसे लीलकर चला गया होगा।"

इस पर किसी बूढ़ी सी स्त्री ने पूछा—'कुछ घर में खटपट तो नहीं हुई थी, तुमने उससे कुछ कहा सुना तो नहीं था ?"

इस पर रोते रोते मल्लाह बोला—'मैं तो उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करता था। जागृत की तो कौन कहे मैंने तो कभी स्वप्न में भी उससे कड़ी बात नहीं कही ! हाय ! मेरा सर्वस्व लुट गया मैं कहीं का भी नहीं रहा। किस दोष से मेरी स्त्री नष्ट हो गयी। इन मातृहीन बालकों का मैं विधुर होकर कैसे पालन करूँगा।"

उस धीवर के करुण क्रंदन को सुनकर बहुत से लोग उसके प्रतिसहानुभूति प्रकट करने लगे। बहुत से धैर्य बँधाने लगे। बहुत से स्नान करके चले गये।

सोम शर्मा जो मल्लाहिन से फिर ब्राह्मण हो गये थे, वे उस मल्लाह से बोले—"अरे, भैया ! अब रोने धोने से क्या होता है, इन बालकों को तुम ले जाओ इनका पालन करो। भावी प्रबल है, अब तुम्हारी स्त्री मिलेगी नहीं।"

ब्राह्मण के वचन सुनकर मल्लाह ने कहा—"ब्रह्मन्! आप कौन हैं, आप तो मुझे अत्यन्त मधुर वाणी में सान्त्वना दे रहे हैं।"

ब्राह्मण ने कहा—"भैया ! मैं ही तुम्हारी स्त्री मल्लाहिनि हूँ।"

यह सुनकर चौंककर मल्लाह बोला—"विश्वदेव ! मैं तो स्वयं ही दुखी हूँ, आप मेरी हँसी क्यों उड़ा रहे हैं ?'

ब्राह्मण ने कहा—"भैया ! मैं तेरी हँसी नहीं उड़ाता। मैं तो सत्य बात कहता हूँ। मैं तपस्वी ब्राह्मण था, गङ्गाजी में स्नान करने आया था। गङ्गाजी मे डुबकी लगाते ही मैं एक मल्लाहिनि के गर्भ में चला गया। लड़की होकर पैदा हुआ। कुछ दिनों के पश्चात् तुम्हारे साथ मेरा विवाह हुआ। ३ कन्या तथा ३ पुत्र मेरे पैदा हुए। पचास वर्ष मैं इस प्रकार रहा। आज स्नान करने आया, ज्यों ही गङ्गाजी में डुबकी लगायी, फिर मैं जैसा का तैसा हो गया। जहाँ मैं अपने कपड़े दंड कमण्डलु रख गया था, वे ज्यों के त्यों उसी दशा में रखे मिले। पचास वर्ष तक ये कपड़े ज्यों के त्यों कैसे रखे रहे। न मैले हुए न गङ्गाजी की बाढ़ ने इन्हें बहाया। यह कैसे आश्चर्य की बात है।"

ब्राह्मण उस धीवर से ऐसा कह ही रहा था, कि उसी समय वहाँ न धीवर था न उसके बाल बच्चे। इतने में ही कुछ ब्राह्मण मिलकर आये और उस तपस्वी ब्राह्मण से बोले—"ब्रह्मन् ! आज प्रातःकाल आप आये थे, अपने दंड कमण्डलु को वहाँ रखकर स्नान करने चले आये आपको स्नान करते करते बड़ी देर हो गयी, आप अपने वस्त्रों को उठा लावें।"

यह सुनकर तपस्वी ब्राह्मण बड़े विस्मय में पड़ गये वे सोचने लगे—"मुझे तो पचास वर्ष हो गये, ये ब्राह्मण कहते हैं मैं प्रातः ही गया था। ब्राह्मण चिन्ता कर ही रहा था, कि भगवान् उसके

सम्मुख प्रकट हुए। उसने रो रोकर अपना दुःख सुनाया और पूछा—"प्रभो! किस पाप से मुझे मल्लाहिनि बनकर ये यातनायें सहनी पड़ीं।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"ब्रह्मन्! आप तो निष्पाप हैं, आपने कुछ पाप नहीं किया। यह तो मेरी माया थी। आपने मायाके दर्शन करने की इच्छा प्रकट की थी, इसीलिये मैंने अपनी माया आपको दिखा दी। अब जाओ, तुम्हें मेरी माया क्लेश न देगी।" इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार कुछ ही घड़ी में सोमशर्मा को भगवान् ने पचास वर्ष की माया दिखा दी, उसी प्रकार मार्कंडेय जी को प्रलय के कई दृश्य दिखा दिये। वास्तव में यह भगवान् की माया थी, कल्प आदि तब से कुछ भी नहीं व्यतीत हुआ। मार्कंडेयजी तो इसी कल्प में आपके वंश में ही हुए हैं। ब्रह्मन्! माया का स्वरूप दुर्बोध है। जो भी कुछ हो रहा है माया में ही हो रहा है गरमियों में जो गरमी पड़ती है, वर्षा में जो मेघ बरसते हैं जाड़ों में जो जाड़े होते हैं, सूखे तालाब जो जल से भर जाते हैं, भरे तालाब जो सूख जाते हैं। पूर्णिमा को जो चन्द्रमा पूर्ण हो जाता है, वही अमावस्या को पुनः क्षीण हो जाता है, प्रातःकाल जो पूर्व में सूर्य उदय होता है, मध्यान्ह में सिर पर आकर सायंकाल मे जो अस्त हो जाता है। गरमियों में कूओं का जल ठंडा हो जाता है और जाड़ों में गरम हो जाता है यह सब भगवान् की माया है। मुनिवर! देखिये एक नन्हें से वट के बीज से कितना विशाल वृक्ष बन जाता है यह भगवान् की माया का ही चमत्कार है। स्त्री पुरुषों के रक्तवीर्य के बिन्दुओं से कितने बड़े बड़े स्त्री पुरुष बन जाते हैं। पैदा होते समय कितने नन्हे से बालक होते हैं, बढ़ते बढ़ते कितने बढ़ जाते हैं, यह सब भगवान् की माया है कहाँ तक कहें। मन से इन्द्रियों से जो भी कुछ देखा

सुना और चिन्तन किया जाता है सब माया का ही पसारा है। यह विश्व प्रपञ्च भगवान की माया के ही सहारे चल रहा है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! मार्कंडेयजी ने जो भी प्रलय का दृश्य देखा था सब भगवान् की माया का ही खेल था, किन्तु जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते वे इसी को सात कल्पों की सात प्रलय कहकर वर्णन करते हैं। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में भगवान् मार्कंडेयजी के पुण्य चरित्र का वर्णन किया। जो भगवान् के प्रभाव से प्रभावित इस पावन चरित्र को पढ़ेंगे सुनेंगे तथा अन्य लोगों को सुनावेंगे, उनकी कर्म वासनायें समूल नष्ट हो जायँगी, वे जन्म मरण रूप संसार चक्र से सदा के लिये मुक्त हो जायगे उनका पुनर्जन्म न होगा। यह मार्कंडेयजी का चरित्र धन्य है, यश और कीर्ति को देने वाला है, इससे श्रोता तथा वक्ताओं की आयु वृद्धि होती है, संसार जनित क्लेश उनके सदा के लिये छुट जाते हैं। यह मैंने भागवती कथा के उपसंहार में दीर्घजीवी मार्कंडेयजी का चरित्र मंगल के निमित्त कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हम भगवान् के अङ्ग उपाङ्ग और आयुधों के विषय में जानना चाहते हैं। किन किन तत्वों से भगवान् के किन किन अंग उपाङ्ग और आयुधों की कल्पना करते हैं।

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यह विषय बड़ा गूढ़ है। यह एक बड़ा गूढ़ शास्त्र ही है। केवल परिचय के लिये मैं अत्यन्त

संक्षेप में इस विषय का दिग्दर्शन मात्र ही कराये देता हूँ। आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

हर प्रसन्न अति भये भक्ति वर मुनिकूँ दीयो।
बाढयो मुनि मन मोद यथोचित पूजन कीयो॥
महिमा शिवने अधिक भक्त सन्तनि की गाई।
शिव मुख तें सुनि विनय लाज मुनिकूँ अति आई॥
पूजित ह्वैकें शिवा सँग, पुनि शिव अन्तरहित भये।
बिना प्रलय ही ध्यान में, मुनि माया दरशन किये॥

—:०:—

भगवान् की अङ्ग उपाङ्ग आयुधादि रूपा विभूति

(१३६६)

नमस्कृत्य गुरून्वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि ।
याः प्रोक्तावेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः ॥७

(श्री० भा० ११ स्क० १२ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

शौनक पूछे—सूत ! पाञ्चरात्रादि वन्दना ।
अङ्ग उपाङ्गनि सहित करैं कस कृष्ण अर्चना ॥
क्रियायोग को फेरि हमें विस्तार बतावैं ।
सूत कहै—'मुनि धर्म कमण्डल को पार न पावैं ॥
हरिमय जग कूँ मानिकै, करै बहाना आह में ।
तपत भावनि के सहित, पूजै सब कूँ साह में ॥

मृत्तिका के द्वारा निर्मित समस्त पदार्थ मिट्टी मय ही होंगे । लकड़ी की बनी वस्तुओं में ऊपर नीचे ही लकड़ी होगी, चीनी के बने खिलौनों में ऊपर नीचे बाहर भीतर चीनी ही चीनी होगी

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं गुरुओं को नमस्कार करके उन भगवान् विष्णु की विभूतियों का वर्णन करता हूँ, जिनका ब्रह्मादि आचार्यों ने वेद और शास्त्रों में निरूपण किया है ।"

इसी प्रकार विष्णु भगवान् से निर्मित इस समस्त जगत् में विष्णु ही व्याप्त हैं, उनकी अचिन्त्य शक्ति महा विभूति ही सर्वत्र कार्य कर रही है। इसलिये भगवान् के अङ्ग, उपाङ्ग, अस्त्र आयुधों के साथ सम्पूर्ण जगत् के मुख्य तत्वों के साथ तुलना की गयी है।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! आपने मुझसे भगवान् के कर, चरण आदि अंग, गरुड़ आदि उपाङ्ग, सुदर्शन, असि शार्ङ्ग धनु आदि आयुध तथा कौस्तुभ, मुकुटादि आभूषणों की कल्पना जगत् के किन किन तत्वों के साथ की जाती है, यह प्रश्न किया था, इसका मैं संक्षेप में उत्तर देता हूँ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह विश्व वास्तव में है क्या?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यह सब भगवान् की माया का पसारा है। प्रकृति ही विकृत रूप से इस विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में दिखाई देने लगती है। चेतना के अधिष्ठान से यह विश्व चैतन्य दिखायी देता है। दार्शनिकों ने इसमें मुख्य पच्चीस तत्व माने हैं। प्रकृति, सूत्रात्मा, महत्तत्व, अहंकार, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नौ तो ये हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंच भूत ऐसे सोलह थे। सब मिलकर पच्चीस हुए। इसी में यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च बना है। इसी को भगवत् स्वरूप में देखना है। यही चरम साधना है यही परम पुरुषार्थ है। भगवान् के अङ्ग, उपाङ्ग, आभूषण और आयुधों में इन तत्वों की कल्पना करनी है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उन अचिन्त्य भीमा विराट् पुरुष का साकार स्वरूप है।

शौनकजी ने कहा—"तो हाँ, सूतजी पहिले भगवान् के

अंगों को ही बताइये किस अंग में किस तत्व की कल्पना करें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! अंगों के गणना की दो कल्पनायें हैं। कोई शिखा से लेकर नख तक वर्णन करते हैं। कोई नख से लेकर क्रमशः शिखा तक मैं भगवान् के चरणों से ही आरम्भ करता हूँ। पृथिवी तत्व ही भगवान् के चरण हैं। भगवान् के चरणों में पृथिवी की कल्पना करे। उपस्थ में प्रजापति ब्रह्मा की कल्पना करे, गुदा में मृत्यु को, नाभि में आकाश की, चार लोकपाल ही चार भुजाओं को समझे। भगवान् का नीचे का ओठ लोभ है, ऊपर का ओठ लज्जा है। चन्द्रिका दाँत हैं, भ्रम को मुसकान माने, वायु नासिका है, सूर्य नेत्र है, दिशायें कान हैं। यमराज भौंहें हैं। स्वर्ग शिर है, मेघ केश कलाप हैं तथा वृक्ष उनकी रोमावली है। चन्द्रमा भगवान् का मन स्थानीय बताया है। इस प्रकार जो व्यष्टि में है वही समष्टि में भी है जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। सभी पुरुष अपनी बालिस्तिका से सात् बालिस्त के होते हैं। अर्थात् साढ़े तीन हाथ के। यह लोक में महत्व अहंतत्व आर पंचभूत ये सात वितस्ति हैं। इतने ही नाप का यह ब्रह्माण्ड है। यह तो मैं संक्षेप में भगवान् के अंगों में जिन तत्वों की कल्पना की जाती है उसका वर्णन किया। अब इन अंगों में जो मुख्य मुख्य भगवान् आभूषण पहिनते हैं उनके सम्बन्ध में भी सुन लीजिये।"

भगवान् का मुख्य आभूषण है कौस्तुभ मणि। मणि क्या है वह उन प्रभु की अपनी विशुद्ध आत्मज्योति ही है। आत्मज्योति रूप से उसकी कल्पना करे। भगवान् के वक्षःस्थल में श्रीवत्सकालांछन यह मुख्य शोभा है। सर्व व्यापनी प्रभा में उस श्रीवत्स की कल्पना करे। भगवान् की आपाद लम्बिनी

जो वनमाला है वह भी परम शोभा युक्त है, उनकी इस नाना गुण-मयी माया को वनमाला के रूप में ध्यान करे। भगवान् का जो पीताम्बर है वह वेदमय है। जैसे वेद प्रकाश करता है उसी प्रकार प्रकार पीताम्बर की प्रभा भी भक्तों के हृदयाकाश के अंधकार को दूर करती है।

भगवान् का जो तीन लरों वाला यज्ञोपवीत है उसे तीन वर्ण-वाले ओंकार के रूप में समझे। भगवान के दोनों कानों में जो दिव्य मकराकृत कुण्डल हैं उन्हें सांख्य और योग रूप में माने भगवान् का जो दिव्य चमचमाता हुआ मनोहर मुकुट है उसमें ब्रह्मपद की कल्पना करे। भगवान् शेष शैया पर विराज-मान रहते हैं। मूल प्रकृति ही उनका अनन्त नामक आसन है। एक हाथ से भगवान् क्रीड़ा कमल को घुमाते रहते हैं। धर्मज्ञानादि वाला सत्व गुण ही उनका कमल है। अब आप उनके आयुधों के सम्बन्ध में भी सुन लें।

भगवान् के हाथ में रक्त से सनी गदा रहती है। वह उनका मुख्य आयुध है। यह जो ओज सह और बल युक्त प्राण तत्व है, वही उनकी कौमोदिकी गदा है। जल तत्व ही पाञ्चजन्य शंख है। तेजस्तत्व का प्रतीक सुदर्शन चक्र है। जहाँ भगवान् के अष्ट बाहु माने गये हैं वहाँ चार हाथों में तो शंख, चक्र, गदा और पद्म ये चार वस्तु हैं शेष चार में खड्ग, ढाल, धनुष और बाण ये आयुध हैं। चार का वर्णन तो हो ही चुका अब शेष चार में खड्ग को आकाश तत्व, अंधकार के चर्म, काल को शार्ङ्ग धनुष तथा इन्द्रियों को बाण कहा है। जिसमें बाण रखे रहते हैं उस तरकश को कर्म रूप से माना गया है।

भगवान् को रथ में विराजमान बताया गया है। क्रिया शक्ति युक्त मन ही उनका रथ है। पञ्च तन्मात्रायें रथ का बाहरी भाग है। भगवान् जो अभय आदि मुद्राओं को धारण करके विराज-

मान रहते हैं उन मुद्राओं को रथ की क्रिया शीलता के स्थान में बताया गया है। सूर्य अथवा अग्नि मंडल को भगवान् की पूजा का स्थान, चित्त की जो शुद्धि है वही मंत्रदीक्षा के स्थान में है। पापों के नाश करने को भगवान् की सेवा समझना चाहिये।

मुनियो! आप भगवान् शब्द का अर्थ तो जानते ही हैं। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छैः वस्तुओं का नाम भग हैं। ये समग्र रूप से जिनमें रहें उन्हीं का नाम भगवान् है। भगवान् जो क्रीड़ा कमल धारण करते हैं वे ही उनके ऐश्वर्यादि छैः गुण हैं। धर्म और यश को चमर तथा व्यजन रूप से समझना चाहिये। रथ का जो छत्र है वही मानों भगवान् का वैकुण्ठ धाम है।

अब उपाङ्गों को भी सुनिये। ऋक् यजु और साम इनको वेदत्रयी कहते हैं। गरुड ही वेदत्रयी स्थानीय हैं जो उन यज्ञ पुरुष भगवान् को वहन करता है। उन चिद्रूप परमात्मा की अविचल शक्ति का ही नाम भगवती लक्ष्मी है। विश्वक्सेन भगवान् के सभी पार्षदों में श्रेष्ठ माने गये हैं। ये जो पाञ्चरात्रादि आगम हैं वही मानों विश्वक्सेन है। अणिमामहिमा आदि जो अष्ट सिद्धियाँ हैं उन्हीं को नन्द सुनन्दादि अष्ट द्वारपाल कहा गया है।

भगवान् की चतुर्व्यूह रूप से पूजा की जाती है। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये ही चतुर्व्यूह हैं, इन्हीं चार रूपों से भक्तों द्वारा उनकी उपासना की जाती है। अर्थ, इन्द्रिय, आश्रय और ज्ञान रूप से विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय इन वृत्तियों द्वारा उनकी भावना की जाती है। ये षडैश्वर्य सम्पन्न चतुर्व्यूह भगवान् अङ्ग, उपाङ्ग, आयुध और आभूषण से युक्त

होकर विश्व तैजस प्राज्ञ और तुरीय इन चार स्वरूपों को धारण करते हैं।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने इस विषय को

इतने सूक्ष्म रूप से कहा कि इसे हम भली भाँति समझ भी न सके।"

हँसकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! आप तो सब कुछ समझे बूझे हैं, किन्तु वास्तव में यह विषय अत्यन्त ही गूढ़ है। जो समस्त वेदों के उद्भव स्थान हैं, जिन्हें प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी उपकरण की अपेक्षा नहीं जो स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं। जो अपनी महिमा से स्वयं ही परिपूर्ण हैं, उनके

विषय में यह क्षुद्र प्राणी तर्क वितर्क कर ही क्या सकता है। यद्यपि वे एक हैं फिर भी सर्ग स्थिति और प्रलय के निमित्त ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन नामों को धारण करते हैं। किसी भी दशा में उनका ज्ञान आवृत नहीं होता। वे सदा अखंड, एक रस अद्वय तथा केवल बने रहते हैं। भिन्न भिन्न शास्त्रों में ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र रूप से उनका भिन्न के समान वर्णन किया गया है। पुराणों में ऐसी अनेकों कथायें हैं, कि ब्रह्मा विष्णु महेश आपस में लड़ पड़े उन्होंने उनपर प्रहार किया, उन्होंने उनको नीचा दिखाया, किन्तु यह सब वर्णन की शैली है चरित्र वृद्धि का प्रकार है। तीन होते हुए भी वे अपने भक्तों को आत्म स्वरूप से प्राप्त होते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ये अंग, उपाङ्ग आयुध और आभूषणों की कल्पना क्लिष्ट है यह हमारे मन में सरलता से बैठती नहीं कोई सरलसा पूजा का उपाय बताइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! सरल से सरल उपाय तो यह है कि भगवान् के नामों का उच्चारण करता रहे। बार बार कहे—"हे श्रीकृष्ण ! हे अर्जुन के सखा सारथी ! वृष्णि वंशावतंस, हे पृथिवी के भारभूत भूपालों के वंश को भस्म करने वाले ! हे अक्षुण्ण पराक्रम ! हे गोविन्द ! हे गोपाङ्गनाओं के सर्वस्व ! भक्तों के भजनीय ! हे पुण्यश्लोक ! हे गोपाल ! हे श्रवण मंगल ! आप हम सब सेवकों की रक्षा कीजिये रक्षा कीजिये।" इन नामों के उच्चारण से ही सब कल्याण होगा। यह जो मैंने पाञ्चरात्र विधि से चतुर्व्यूह उपासना बतायी है इस परम पुरुष परमात्मा के स्वरूप जो पुरुष प्रातःकाल उठकर स्नानादि से पवित्र होकर एकाग्र चित्त से भगवान् में मन लगाकर जप करेगा। वह अपने अन्तःकरण में विराजमान उन प्रभु के ज्ञान को प्राप्त कर लेगा। यह मैंने

अत्यन्त संक्षेप में क्रियायोग का वर्णन किया अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने हमें अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा के विषय में बताया सो तो ठीक है, किन्तु वेद पुराणों में तो इन प्रत्यक्ष देव सूर्य को ही नारायण कहा गया है, वेदज्ञ ब्राह्मण इन्हीं की उपासना करते हैं, इन्हीं को सायं प्रातः और मध्यान्ह में अर्घ्य देते हैं इन्हीं का उपस्थान करते हैं। गायत्री मंत्र द्वारा इन्हीं सविता देवता की महिमा गायी है, इन्हीं से बुद्धि को शुभ कार्यों में प्रेरित करने की प्रार्थना की गयी है, उन सूर्यदेव के विषय में हम विशेष जानना चाहते हैं।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! मैं प्रसंग वश पीछे बता चुका हूँ, कि बारह महीनों के बारह सूर्य होते हैं, वे अपने सात सात गणों के साथ एक महीने तक एक राशि पर रहते हैं, फिर दूसरी राशि के सूर्य आ जाते हैं। प्रत्येक सूर्य के साथ ऋषि, गन्धर्व, नाग, अप्सरा, यक्ष, राक्षस और देवता रहते हैं।"

शौनक जी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! इसी विषय को हम विस्तार से सुनना चाहते हैं। जैसे प्रत्येक महीने के सूर्य का क्या नाम है, कौन से सूर्य के साथ कौन से ऋषि रहते हैं, कौन गंधर्व, नाग, अप्सरा, यक्ष, राक्षस और देवतागण रहते हैं, इन सबका काम क्या होता है, सूर्य के साथ रहकर क्या क्या करते रहते हैं। चैत्र मास से लेकर फाल्गुन मास के बारहों सूर्यों का उनके गणों सहित वर्णन करें।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप प्रश्न तो बहुत गूढ़ कर देते

हैं और समय तथा स्थल अब अत्यन्त न्यून है, फिर भी मैं इस विषय को संकेत रूप से ही सुनाता हूँ। इसका विस्तार करूँ तो बहुत समय लग जाय। सुनिये, अब मैं सूर्य स्वरूप श्रीहरि के व्यूह का वर्णन करता हूँ, आप सब श्रद्धा सहित इसे श्रवण करें।"

छप्पय

अण्ड माहिँ जो रहैं वही ब्रह्माण्ड बनावैं।
रचि पचि जग कूँ फेरि स्वयं तामें घुसि जावैं॥
द्वापर युग में क्रियायोग बहु विधि तैं गायौ।
केवल कलि में कृष्ण नाम अति गम सुबतायौ॥
करें ध्यान भगवान् को, जे नामनि कूं गायँगे।
ते मख, पूजा पाठ को, सबहिँ सहज फल पायँगे॥

—::o::—

द्वादशादित्य-गण वर्णन

(१३६७)

मध्यादिषु द्वादशसु भगवान् काल रूप धृक् ।
लोकतन्त्राय चरति पृथग द्वादशभिर्गणैः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० ११ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

शौनक पूछें—सूत ! कहे द्वादश रवि तुमने ।
सब के सप्तक कहो सुने पहिले हू हमने ॥
कहें सूत—"प्रति मास रहें रवि सात सहायक ।
नाग अप्सरा, यक्ष, राक्षस, ऋषि, सुर, गायक ॥
चैत्र मास धाता रहें, माधव में रवि अर्यमा ।
ज्येष्ठ मित्र नामक तपें, वरुन तपें आषाढ़ मा ॥

वास्तव में काल तो अव्याकृत है, उसमें न विभाग है, न भेद । सूर्य नारायण के उदय अस्त से ही काल के विभाग की कल्पना करते हैं । सूर्य उदय न हों तो हम कैसे समझें कि आज प्रतिपदा

---

*सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् सूर्य ही काल रूप धारण करते हैं, अर्थात् सूर्यदेव से ही काल का विभाग होता है । वे लोक यात्रा की प्रवृत्ति के निमित्त चैत्र आदि बारहो महीनों में विभिन्न द्वादश गणों के साथ घूमा करते हैं ।"

है आज द्वितीया है, अब चैत्र है अब वैशाख है। काल का विभाग सूर्य ही करते हैं। सूर्य उदय हो गये, प्रातः काल हो गया, सूर्य सिर के ऊपर आ गये, मध्याह्न काल हो गया, सूर्य अस्त हो गये सायंकाल हो गया। सूर्य प्रत्यक्ष देव हैं, इसीलिये ब्राह्मणगण वेद मन्त्रों से तीनों काल में सूर्य का श्रद्धा सहित नित्य उपस्थान करते हैं। हमें जिन सूर्य के दर्शन होते हैं, वह तो उनका मंडल है; उसमें उनका विशाल रथ है, उस पर उस लोक के अधिष्ठातृदेव परम यशस्वी सूर्य नारायण विराजमान रहते हैं। पहिले सूर्यदेव एक ही थे। उनका तेज असह्य था, यहाँ तक कि उनकी पत्नी संज्ञा भी उनके तेज को न सह सकने के कारण भाग गयी। फिर इनके ससुर विश्व कर्मा ने इनके बारह रूप बना दिये। बारह भागों में बँट जाने से इनका तेज सह्य हो गया। इसीलिये प्रत्येक मास में सूर्य बदलते रहते हैं। सूर्य ही नहीं बदलते, उनका जितना मंत्रिमंडल और कार्य वाहक दल है वह भी बदल जाता है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको सूर्य सप्तकों के सम्बन्ध में संक्षेप से सुनाता हूँ। यह लोक तन्त्र भगवान् विष्णु की अनादि अविद्या से रचित है। इसमें क्षण, लव, पल, घडी, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प तथा महाकल्पादि होते हैं। इस प्रकार समय विभाग न हो तो यह लोक तन्त्र चले ही नहीं। काल की कल्पना से ही समस्त व्यवहार होते हैं। इस व्यवहार को प्रवृत्त कराने वाले एक मात्र सूर्य हैं। वे ही काल स्वरूप, सर्व कर्मों के साक्षी सूर्य लोकों के व्यवहारों को देखते हुए द्रष्टा रूप से घूमते रहते हैं। सूर्य नारायण भगवान् से भिन्न नहीं। सम्पूर्ण लोकों के आत्मा और आदि कर्ता श्री हरि ही सूर्य रूप से प्रकाशित होते हैं। जितनी भी वैदिक क्रियायें होती हैं, वे समस्त सूर्य देव द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। समस्त कर्मों के वे ही मूल कारण हैं। एक हैं सत् हैं उन्हें ही वेदज्ञविप्र गण

प्रकार से वर्णन किया करते हैं। यज्ञादि और उसके समस्त कार्य रूप में भगवान् सूर्य ही हैं। यज्ञादि कर्मों में इतने उपकरण होते हैं। सर्व प्रथम काल का विचार किया जाता है। किस काल में कौन सा कार्य करना चाहिये। फिर देश का विचार होता है, किस देश में कार्य करने से वह सफल होगा। फिर यज्ञादि अनुष्ठान जो किया है वह की जाती है। यज्ञादि कर्म में कर्ता की भी प्रधानता होती है, फिर उस क्रिया को करने को करण चाहिये जैसे स्रुक स्रुवा, आजस्थाली आदि यज्ञ पात्र। तब कर्म होता है अश्वमेध, राजसूय आदि याग। यज्ञ यागादि वेद मन्त्रों से होते हैं। वेद मन्त्र न हो तो ये कर्म कैसे हों। यज्ञीय द्रव्य भी चाहिये जैसे तिल, जव, चावल आदि आदि। फिर भी देखना होता है कि इस कर्म का फल क्या हुआ। इस प्रकार काल, देश, क्रिया, कर्ता, करण, कर्म, वेद मन्त्र द्रव्य और फल ये नौ रूप उन सर्वात्मा भगवान् सूर्य देव के ही हैं। काल रूप धारी भगवान् सविता बारहो महीना मे बारह रूपों से अपने गणों के साथ विचरते रहते हैं। उन्हीं के बारहों रूपों को आप सुनें।

शौनक जी ने पूछा—"अच्छा सूतजी! चैत्र के सूर्य का नाम क्या है और उनके गण कौन कौन हैं?"

सूत जी बोले—"महाराज! यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि प्रत्येक सूर्य के साथ एक एक ऋषि, गन्धर्व, नाग, अप्सरा, यक्ष, और राक्षस ये ६ रहते हैं। सूर्य देव को यह सप्तक हो जाता है। अब इन ६ ६ का वर्णन सुनिये। चैत्र मास के सूर्य का नाम धाता है। इनके साथ कृतस्थली अप्सरा, हेति नामक राक्षस, वासुकि नामक सर्प, रथकृत नामक यक्ष, पुलस्त्य नामक ऋषि तुम्बुरु नामक गन्धर्व ये ६ रहते हैं इनके साथ धाता नामक सूर्य चैत्र मास को व्यतीत करते हैं। इनका समय समाप्त हो जाता है, तो फिर वैशाख के सूर्य अपने दल बल के सहित सूर्य के रथ

पर अधिकार कर लेते हैं। चैत्र के सूर्य इन्हें सब कार्य सौंप कर अपने दल के सहित विश्राम करने चले जाते हैं।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी वैशाख के सूर्य का क्या नाम है। उनके छैः गणों को भी बताइये।"

सूत जी बोले—"महाराज! वैशाख के सूर्य का नाम है अर्यमा। इनके साथ में पुलह ऋषि, अथौजा यक्ष, प्रहेति राक्षस, पुञ्जिकस्थली अप्सरा, नारद गन्धर्व और कच्छनीर नामक नाग रहते हैं, फिर ज्येष्ठ के सूर्य आ जाते हैं।"

शौनक जी ने कहा—"ज्येष्ठ के सूर्य का भी वर्णन कीजिये सूत जी।"

सूत जी बोले—"महाराज! ज्येष्ठ के सूर्य का नाम है मित्र। इनके साथ अत्रि ऋषि, पौरुषेय राक्षस, तक्षक सर्प, मेनका अप्सरा, हाहा गन्धर्व और रथस्वन यक्ष ये रहते हैं। फिर आ जाते हैं आषाढ़ के सूर्य।"

आषाढ़ के सूर्य का नाम है वरुण। इनके साथ वसिष्ठ ऋषि, रम्भा अप्सरा, सहजन्य यक्ष, हू हू गन्धर्व, शुक नामक नाग और चित्रस्वन नामक राक्षस रहते हैं इनके साथ ये आषाढ़ मास को बिताते हैं, फिर आ जाते हैं श्रावण के सूर्य।

श्रावण के सूर्य का नाम है इन्द्र। इनके साथ अङ्गिरा ऋषि, विश्वावसु गन्धर्व, श्रोता यक्ष, एलापत्र नाग, प्रम्लोचा अप्सरा और वर्ष राक्षस ये सब मिल कर श्रावण मास का कार्य चलाते हैं। जब श्रावण समाप्त हो जाता है, तब भाद्रपद के सूर्य आ जाते हैं।

भाद्रपद के सूर्य का नाम है विवस्वान्। इन के साथ भृगु ऋषि रहते हैं, इनके संग में उग्रसेन गन्धर्व, व्याघ्र राक्षस, आसारण यक्ष, अनुमोचा अप्सरा तथा शङ्खपाल नामक नाग

रहते हैं। इनसब के साथ विवस्वन् परे भाद्रपद मास को समाप्त करते हैं, तब आते हैं आश्विन के सूर्य नारायण।

आश्विन के सूर्य का नाम त्वष्टा है। इनके साथ जमदग्नि ऋषि रहते हैं। कम्बल नाग, ब्रह्मापेत राक्षस, धृतराष्ट्र गन्धर्व शतजित यक्ष और तिलोत्तमा अप्सरा, ये सब इनकी सेवा में सर्वथा समुपस्थित रहते हैं। इनके साथ ये आश्विन के कार्य को सम्पन्न करते हैं। इनके समय समाप्त के अनन्तर फिर कार्तिक के सूर्य आते हैं।

कार्तिक के सूर्य का नाम है विष्णु। इनके साथ विश्वामित्र ऋषि रहते हैं। अश्वतर नाग रम्भा नाम की अप्सरा, सूर्यवर्चा गन्धर्व, सत्याजित यक्ष, और खमापेत राक्षस ये इनके संपर्क में हैं। इनकी सहायता से ये कार्तिक मास का निर्वाह करते हैं। तदनन्तर मार्गशीर्ष के सूर्य समुपस्थित हो जाते हैं।

मार्गशीर्ष के सूर्य का नाम है अंशु। इनके साथ कश्यप मुनि रहते हैं तथा इनके गण में तार्क्ष्य यक्ष, ऋतसेन गन्धर्व, उर्वशी अप्सरा, विद्युच्छत्रु राक्षस तथा महाशंख नाग ये प्रसिद्ध हैं। जब तक इनका कार्य काल रहता है, तबतक ये अपने सहयोगियों के साथ कार्य चलाते हैं। कार्य काल समाप्त होते ही पौष के सूर्य आ जाते हैं।

पौष के सूर्य का नाम है भग। इनके साथ आयु नामक ऋषि रहते हैं। स्फूर्ज राक्षस, अरिष्ट नेमि गन्धर्व, ऊर्णायक्ष, कर्कोटक नाग तथा पूर्व चित्ति अप्सरा ये इनके गण हैं। इनके सहित ये पौष मास की परि समाप्ति करते हैं तदनन्तर आ जाते हैं माघ के सूर्य।

माघ के सूर्य का नाम है पूषा। इनके साथ गौतम ऋषि रहते हैं। इनके गण में धनञ्जय नाग, वात राक्षस, सुषेणगन्धर्व सुरुचि यक्ष तथा घृताची अप्सरा हैं। फिर फाल्गुन के सूर्य आते हैं।

फाल्गुन के सूर्य का नाम है पर्जन्य। उनके साथ भरद्वाज ऋषि, क्रतुनामक यक्ष, वर्चा नामक राक्षस, सेनजित् अप्सरा, विश्व गन्धर्व और ऐरावत नामक नाग रहते हैं। इस प्रकार मुनिवर! ये बारह मासों के बारह सूर्य लोकयात्रा चलाते हैं। ये बारह भगवान् विष्णु की विभूतियाँ हैं। भगवान् ने ही इस लोक व्यव-

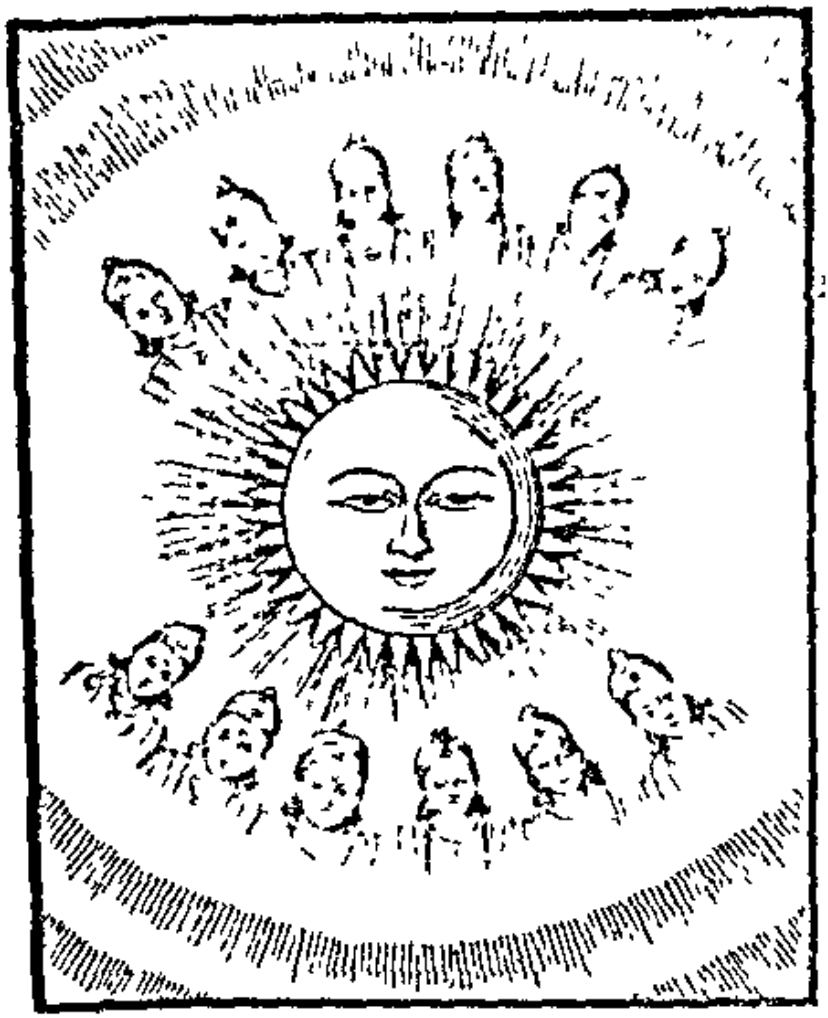

हार को चलाने के लिये बारह रूप रख लिये हैं। इसलिये सभी को सायंकाल और प्रातः काल सूर्य नारायण की पूजा करनी चाहिये, उन्हें अर्घ्य देना चाहिये तथा स्तुति करनी चाहिये। जो इस प्रकार समस्त कर्मों के साक्षी भगवान् सूर्य नारायण की उपासना करते हैं उनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये सूर्यनारायण भगवान् क्या करते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! ये सूर्यनारायण ही तो सब कुछ करते हैं। ये ही समुद्रों में से जल लेते हैं, ये ही वर्षा वर्षाते हैं। ये ही सब को प्रकाश तथा जीवन दान देते हैं। अपने छै गणों के साथ लिये बारहो महीने सर्वत्र घूमा करते हैं तथा लोक परलोक में सुमति का प्रसार करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये जो सूर्य के छै गण हैं इनका काम क्या है ? कौन कौन किस किस काम को किया करते हैं ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! सूर्यदेव का बड़ा भारी रथ है। उसमें बैठकर भगवान् सविता यात्रा करते हैं। जो ऋषि होते हैं, वे वेदत्रयी से उनका स्तवन करते हैं। गन्धर्व उनके समीप रहकर सुन्दर स्वर में स्वर ताल के सहित गायन करते हैं। अप्सरायें सूर्यदेव का मनोरञ्जन करने को नृत्य किया करती हैं। रथ ढीला न हो जाय उसमें किसी प्रकार की त्रुटि न आ जाय इसका भार नागों पर रहता है, वे रथ को कसे रहते हैं, जिससे कभी भी यात्रा में व्यति क्रम न पड़े। रथ का जो साज है उसे सजाने तथा सम्हाले रहने का काम यक्षों का है। उस विभाग की रेखदेख यक्ष करते हैं। रथ के छन्दोमय अश्वों को श्रम न हो इसलिये राक्षस रथ को पीछे से धकेलते रहते हैं। ये गण तो ऐसे हैं, कि प्रति-मास बदलते रहते हैं। इनके अतिरिक्त साठ सहस्र निर्मल स्व-भाव के वालखिल्य नामक महर्षिगण भी सदा सूर्य मंडल में ही रहते हैं। सूर्यनारायण की ओर मुख करके आगे आगे उनकी स्तुति करते हुए चलते हैं। किसी भी मास के सूर्य हों ये एक रस भाव से सबकी स्तुति करते हैं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में बारह महीनों के सूर्य के गणों तथा उनके कार्यों का वर्णन किया। मुनियो!

आदि अन्त से रहित अजन्मा भगवान् क्रीड़ा के निमित्त प्रत्येक कल्प में स्वयं ही अपना विभाग करके क्रीड़ा करते रहते हैं तथा समस्त लोकों का पालन करते हैं। अनन्त विभूति भगवान् वासुदेव की महिमा अनन्त है, उसका पार पाना प्राणियों के लिये बड़ा ही दुष्कर है। इसलिये संसार में जो भी कुछ है उसे भगवान् का ही रूप समझ कर प्रणाम करना चाहिये। सबका श्रद्धा सहित सत्कार करना चाहिये। मुझसे कुछ बना वैसा आपके प्रश्नों का उत्तर दिया। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपकी बड़ी आयु हो। महाभाग आपने बड़ी ही बुद्धिमानी के साथ हमारे सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। अब हमको कुछ पूछना शेष नहीं है। अब आपकी कुछ और इच्छा हो तो सुना दें, नहीं तो अब आप कुछ दिन विश्राम करें। तीर्थयात्रा कर आवें। जलवायु बदल आवें। एक स्थान पर रहते रहते कुछ चित्त ऊब भी जाता है। आजकल पृथिवी पर कलियुग छा गया है। राजवंश नष्ट हो गये हैं। धर्म हीन लुटेरे शासक बन गये हैं। धर्म प्रधान पवित्र भारत भूमि पर आजकल अधर्म का प्राबल्य हो रहा है। धर्म और अधर्म दोनों ही भगवान् से उत्पन्न हुए हैं दोनों का ही समय समय पर प्राबल्य होता है। अब अधर्म का ही समय है, अधर्म और कलियुग में पुरानी मित्रता ही है। अधर्मी लोगों को भी आप कलियुग से बचने का उपाय बताइये। कथाकीर्तन का महत्व समझा आइये।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! समझाने से कौन समझता

है। सभी स्वकर्म सूत्र में आबद्ध होकर कर्म कर रहे हैं। हाँ, एक बात और शेष रह गयी मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार भागवत की कथायें तो सुना दीं। अब जो बीच के भूगोल, खगोल, दर्शन, कर्म, ज्ञान, भक्ति, स्तुति, व्रत तीर्थ आदि विषयों पर कुछ कहना है उसे फिर कभी अवसर मिलने पर सुनाऊँगा। मेरी भी इच्छा अब कुछ विश्राम करने की है, किन्तु मैंने आपको अभी भागवती कथाओं की अनुक्रमणिका नहीं सुनायी। ग्रन्थ की विषय सूची जब तक न हो, तब तक वह पूरा नहीं माना जाता। अब तो प्रथा ऐसी चल गयी है, कि ग्रन्थ के आदि में ही विषय सूची दे देते हैं। प्राचीन प्रथा अन्त में ही देने की है, आप आज्ञा दें तो मैं विषय सूची और सुना दूँ।"

शौनकजी कहा—"अहा, सूतजी ! इसे तो हम भूल ही गये, यह तो अत्यावश्यक विषय है। विषय सूची हमें अवश्य सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! विषय सूची कैसे सुनाऊँ ? प्रत्येक खंड की सुनाऊँ तब तो बहुत विस्तार होजायगा। महाराज परीक्षित् को मेरे भगवान् गुरुदेव शुक ने सात दिनमें भागवत सुनायी थी इसीलिये भागवतका सप्ताह होता है। प्रभुदत्त ने भी भाषा में जो "भागवत चरित" लिखा है वह भी सप्ताह क्रम में ही है। उसी का विस्तार भागवती कथा में है। कहना चाहिये भागवती कथा भागवत चरित का भाष्य ही है। अतः मैं प्रथम लेखक के सम्बन्ध में कहकर तब सप्ताह क्रम से ही विषय सूची सुनाऊँगा।

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! जैसी आपकी इच्छा। सप्ताह क्रम से ही उचित होगा। सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छा, सुनिये महाराज।"

छप्पय

श्रावन में रवि इन्द्र भाद्र में विवस्वान रवि।
त्वष्टा आश्विन रहें विष्णु की कातिक में छवि॥
मार्गशीर्ष में अंशु पौष के भग हैं नामी।
फागुन के परिजन्य माघ के पूषा स्वामी॥
सब मासनि के पृथक रवि, पृथक पृथक गन सबनि के।
स्वयं सच्चिदानन्द हरि, स्वामी सबई गुणनि के॥

—:०:—

लेखक के सम्बन्ध में

(१३६८)

अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
ज्ञानं च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञान संयुतम् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

निज मति के अनुसार कथा मुनिवर ! शुभ भाखी ।
अन्तरयामी श्याम सकल जीवनि के साखी ॥
भई कथा तो पूर्ण विषय सूची अब भाखूँ ।
सब मिलि देहिँ अशीष सदा हिय में हरि राखूँ ॥
धर्म, कृष्ण अरु व्यास, शुक, सब के पुनि पुनि पग परूँ ।
पुन्य भागवत चरित की, अनुक्रमिका बरनन करूँ ॥

प्राचीन परिपाटी ऐसी थी, कि सब काम करने के अनंतर पिछले सब विषयों पर एक विहंगम दृष्टि डालते थे। यात्रा की समस्त तैयारियाँ कर लेने पर फिर एकबार सब वस्तुओं पर एक

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थ में जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के स्थान परम गुह्य ब्रह्म और उनको प्राप्त कराने वाले विज्ञान सहित ज्ञान का वर्णन किया गया है।"

दृष्टि डाल ली जाती है, कि सब आवश्यक सामान आ गया है या नहीं। वाहन से उतरने पर भी फिर सब वस्तुएँ सम्हाल ली जाती हैं, कि कोई वस्तु छूट तो नहीं गयी। इसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ कहने के अनन्तर फिर से उसके सब विषयों का वाचन किया जाता है, कि हमने क्या क्या कहा। इससे कहने वाले को तथा पाठकों को सभी को सुविधा होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भागवती कथा तो समाप्त हो गयी, अब मैंने जिस जिस खण्ड में जो जो भगवत् चरित्र कहे हैं, उनकी एक छोटी सी तालिका मैं आप लोगों को और सुनाता हूँ।"

शौनक जी ने कहा—"हाँ, सूतजी! विषय सूची हमें आप अवश्य सुनावें। सर्व प्रथम आप प्रथमाह की ही विषय सूची कहें।"

सूतजी बोले—"महाराज! इस ग्रन्थ में सब धर्म संगत ही बातें हैं। यह विशुद्ध निर्व्यलीक धर्म ग्रन्थ है, धर्म इस ग्रन्थ में साक्षात् मूर्तिमान् होकर विराजते हैं, अतः सर्व प्रथम मैं हरिभक्ति रूप अत्युत्तम महान भागवत् धर्म को प्रणाम करता हूँ। इस ग्रन्थ के आदि अन्त में सर्वत्र श्री हरि का ही वर्णन है अतः कल्याण कारी सकल कल्मषहारी श्री कृष्ण चन्द्र भगवान् के पाद पद्मों में भी प्रणाम करता हूँ, आप सब ब्राह्मणों ने बड़ी श्रद्धा से इन पुण्य कथाओं को श्रवण किया है, अतः समस्त ब्राह्मणों का भी मैं अभिवादन करता हूँ। सबको प्रणाम करके अब मैं ग्रन्थोक्त सत्य सनातन धर्म के विषयों को कहता हूँ।

मुनियो! समस्त सृष्टि के समस्त कर्मकाण्ड उपासना तथा भक्ति के प्रवर्तक श्री हरि ही हैं। यह सम्पूर्ण जगत् हरिमय ही है। श्री हरि ही लीला विलास के लिये जगन्मय बन गये हैं। सर्वत्र श्री हरि ही हरि हैं। हरि के बिना किसी का अस्तित्व नहीं

वे ही माया है, वे ही विद्या हैं, वे ही अविद्या हैं, वे ही लक्ष्मी हैं, वे ही नारायण हैं। वे ही श्री कृष्ण हैं वे ही श्रीमती राधा हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उन्ही से उत्पन्न होते हैं। उन्हीं में विलीन हो जाते हैं।

इस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने के लिये पहिले भगवान् विष्णु बने, फिर स्वयं ही ब्रह्मा बन गये। अब एक से दो हो गये। ज्ञान अज्ञान का भेदभाव हुआ। ब्रह्माजी को कुछ सूझता ही नहीं था। वे कल्याण का मार्ग खोजने लगे। भागवत धर्म की उनके मन में जिज्ञासा हुई। ब्रह्मा रूप से शिष्यत्व धारण किया, विष्णु रूप से गुरु हो गये। भगवान् ब्रह्मा शिष्य रूप से गुरु रूप हो भगवान् विष्णु की शरण में गये। भागवत् धर्मों की जिज्ञासा की। तब उन्होंने 'तप' इन दो शब्दों में भागवत धर्म का उपदेश दिया। तप करते करते भगवान् ब्रह्मा जी के हृदय में उत्पन्न हुए। उन्हें समस्त भागवत धर्मों का ज्ञान हो गया। फिर ब्रह्मा जी के मानस पुत्र नारद जी को भागवत धर्म की जिज्ञासा हुई। नारद जी की बुद्धि ब्रह्मा जी से कुछ स्थूल ही थी, अतः ब्रह्माजी ने पाँच श्लोकों में समस्त भागवत धर्म का उन्हें उपदेश दिया। फिर पराशर नन्दन व्यास को जिज्ञासा हुई। तब कृपा कर के नारद जी ने कई अध्यायों में उन्हें उपदेश देकर आज्ञा दी—"देखो, मैंने तो तुम्हें संकेत मात्र कर दिया है। तुम समाधि में भगवान् की सब चेष्टाओं का अनुभव करो और उन्हें लोक कल्याण के निमित्त विस्तार से वर्णन करो। जिससे सर्व साधारण लोग इस ज्ञान को समझ लें।"

भगवान् व्यास ने अपने गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य की और इस भागवत संहिता की रचना की। परमहंस चक्र चूड़ामणि मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने अपने पिता भगवान् व्यास से इस संहिता को पढ़ा। जब राजा परीक्षित् को उन्होंने इस सात्वत संहिता को

नाया तब उसका और विस्तार हुआ। उस सभा में मैंने भी उसे
ना और सुनते सुनते ही सबको धारण किया। नैमिषारण्य में
ाकर मैंने आप सबको सुनाया उस समय और भी विस्तार हो
या। तब मेरे मन में गुरु कृपा से एक भावना उठी। मैंने
ोचा—"अब तक तो सभी लोग निर्मल बुद्धि के होते रहे हैं,
नकी धारणा शक्ति विपुल और तीव्र होती रही है। आगे कलि-
गी लोग क्षुद्र बुद्धि तथा मंद बुद्धि वाले होंगे। मैं क्यों नहीं इस
यास कृत संहिता को लिपिबद्ध कर लूँ।" यही सोचकर मैंने
स संहिता को लिपि बद्ध कर लिया। फिर भी मेरे मन में संशय
ह गया, कि कहीं इसमें कुछ त्रुटि तो नहीं रह गयी है। अतः मैं
से लेकर अपने गुरुके भी गुरु जगद्गुरु भगवान् व्यास के समीप
गया। भगवान् व्यास ने आदि से अंत तक इस संहिता का
वलोकन किया और अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए
ोले—"सूत! तुमने यह बहुत ही सुन्दर काम किया। मेरी संहिता
ो तुमने ज्यों का त्यों लिपिबद्ध कर लिया। अब यह सर्वसाधा-
ण के काम की हो गयी। इस अठारह सहस्र श्लोक वाली मेरी
ंहिता का संसार में सर्वत्र प्रचार होगा। मुक्त, मुमुक्षु तथा संसारी
द्ध प्राणी सभी इसे सुनकर प्रसन्न होंगे। अब कलियुग आ गया
, तुम इस संहिता को यहीं छोड़कर ऊर्ध्वरेता ऋषियों के संग
तनलोक में चले जाओ। कलियुग आने पर ये नैमिषारण्य के
अठासी सहस्र ऋषिजन लोक में चले जाते हैं। तुम उन्हें
हाँ जाकर इस कथा को और भी विस्तार के साथ सुनाना।"

अपने परम गुरु भगवान् व्यास की आज्ञा शिरोधार्य करके
ुनियो! मैं आप सब को कथा सुनाने यहाँ चला आया। तब तक
ृथिवी पर सर्वत्र कलियुग का प्रभाव छा गया। जब तक कलि के
ाँच सहस्र वर्ष नहीं हुए थे तब तक इतना अधर्म नहीं था। अब
ो सभी लोग अर्थ परायण हो गये प्रभावशाली कोई उत्पन्न हो

नहीं होता। राजा नष्ट हो गये। विद्वान रहे नहीं। तपस्वियों के दर्शन दुर्लभ हो गये। लोग आठों प्रहर अन्न की चिन्ता में व्यस्त रहने लगे। सद्गुण तो रहे नहीं। कोई प्रभावशाली राजा सम्राट् भी नहीं रहा। सभी शासक बनने की धुन में गुट बनाने लगे। सभी अपने को बुद्धिमान समझने लगे। संस्कृत देववाणी का पठन पाठन छूट गया। सभी विदेशी भाषा पढ़ने में अपना गौरव मानने लगे। जो भौतिक विज्ञान द्वारा अधिक जनसंहारक तथा विषयवर्धक वस्तुओं का आविष्कार कर सके उसी को लोग विज्ञानी कहने लगे। भगवत् चर्चा की ओर से लोग पराङ्मुख हो गये।

तब मुझे बड़ी चिन्ता हुई कि भागवत धर्मों का कैसे अस्तित्व रहेगा। भागवती कथाओं का कैसे प्रचार होगा। सब लोग उपन्यासों की कल्पित दूषित कहानियों के पढ़ने में ही लगे रहेंगे तो उनका कल्याण कैसे होगा। लोग परमार्थ पथ को भूल जायँगे क्या ?" जनलोक में भी मुझे यही चिन्ता बनी रहती थी और आपलोगों को देववाणी में मैं कथा सुनाया करता था। एक दिन घूमते फिरते नारद मुनि जनलोक में आये। आप सब लोगों ने उनका स्वागत सत्कार किया मैं ने भी उनकी अभ्यर्चना की। नारद जी ने मुझसे पूछा—"सूत ! तुम उदास क्यों हो ? ऐसा लगता है, तुम्हें कोई मानसिक चिन्ता है ?"

मैंने कहा—"भगवन् ! आप त्रिकालज्ञ हैं, सबके घट घट की जानने वाले हैं। मेरी मानसिक चिन्ता आप से छिपी थोड़े ही रह सकती है। आप इस समय कहाँ से पधार रहे हैं ?"

नारद जी ने कहा—"मैं सीधा अभी भारतवर्ष से आ रहा हूँ।"

मैंने पूछा—"कहिये, पुण्य-भूमि भारतवर्ष का क्या हाल चाल है ?"

नारद जी ने कहा—"भारतवर्ष का हाल चाल क्या पूछते हो सूतजी ! जिस पुण्य भूमि मे निरन्तर यज्ञ, याग, पर्व उत्सव होते रहते थे, उस भूमि पर न कहीं कृष्ण कथा है न कृष्ण कीर्तन। क्षुद्र धर्मी भौतिकवादी विदेशियों का बोल बाला है उन्हीं की सभ्यता सर्व श्रेष्ठ समझी जाती है, लोग प्राचीन इतिहास पुराणों की खिल्लियाँ उड़ाते हैं। कृष्ण कीर्तन करते समय लजाते हैं। भागवती कथाओं को कपोल कल्पित बताते हैं। साहित्य के नाम से दुराचार का सर्वत्र प्रचार हो रहा है।'

दुखी होकर मैंने कहा—"महाराज ! किसी का इसमें क्या दोष है. समय का प्रभाव है। कलियुग की और अधर्म की घनिष्ट मित्रता है। कलियुग में तो अधर्म बढ़ेगा ही।"

नारदजी ने कहा—"सूतजी ! आपका कथन सत्य है। कलियुगी लोगों की अधर्म में स्वाभाविक प्रवृत्ति है। फिर भी कुछ लोग कथा कीर्तन के लिये उत्सुक रहते हैं। क्योंकि कभी भी किसी वस्तु का बीज नाश नहीं होता। अब भी भारतवर्ष में समय समय पर संत महात्मा भगवत् भक्त उत्पन्न होते हैं और ये नाम संकीर्तन नाम जप का प्रचार करते हैं। कुछ लोग भगवन्नामों का कीर्तन भी करते हैं। धर्म का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। कहीं कहीं यज्ञयाग भी सुनायी देते हैं। भगवन्नाम संकीर्तन के महोत्सव भी होते हैं। किन्तु भागवती कथाओं का उतना प्रचार नहीं है। इसमें उनका भी दोष नहीं उनके पास साधन नहीं हैं।"

मैंने कहा—"महाराज ! लोगों की मूर्खता है, मैं कितनी सुन्दर भागवती संहिता लिपिबद्ध करके छोड़ आया हूँ। लोग उसी का पाठ करें उसी का सप्ताह करें उससे प्राणी मात्र का कल्याण हो सकता है। श्री मद्भागवत में तो भगवान् व्यास ने सर्व वेद इतिहासों का सारातिसार तत्व कह दिया है।"

नारद जी ने कहा—"सूतजी ! आपका कथन सत्य है। श्री

मद्भागवत में सब कुछ है। भागवत धर्म का इतना उत्कृष्ट ग्रंथ और कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता। भारतवर्ष में इसका प्रचार भी है, कहीं कहीं इसके सप्ताह भी होते हैं, किन्तु महाभाग! इस इतने क्लिष्ट ग्रन्थ को सब कोई समझ नहीं सकते। इससे लोगों को रस नहीं मिलता केवल विधिवाक्य से बँधकर इसका लोग पाठ सप्ताह करते हैं।"

मैंने कहा—"महाराज! न समझने की तो ऐसी कोई बात नहीं। भगवान् व्यास ने तो बड़ी सरलता से गूढ़ तत्वों को खोला है।"

नारद जी ने कहा—"भैया, यह सब तो सत्य है, किन्तु युग का भी तो कुछ प्रभाव होता है। पहिले तो सभी को पौराणिक कथाओं का ज्ञान, भक्ति तथा इतिहास का ज्ञान था; सकेत किया और समझ गये अब वह बात तो रही नहीं जब तक पूरी कथा न सुनाई जाय कोई समझ नहीं सकता। दूसरे अब भारतवर्ष की व्यापक भाषा है हिन्दी। हिन्दी में जो बात कही जाय, उसे सब समझ सकते हैं। तीसरे गूढ़ तत्वों के लिये दृष्टान्त चाहिये। ऐसा कोई कथा का विस्तृत ग्रन्थ हो, तब जिज्ञासुओं की पिपासा शान्त हो सकती है। यदि आपकी भावना यह है, कि भारतवर्ष में भागवती कथाओं का प्रसार हो तो आप एक काम करें।"

मैंने पूछा—"कौन काम करूँ महाराज! मुझे तो आप जो भी आज्ञा देंगे उसी को करूँगा।"

नारद जी ने कहा—"अब आप देव भाषा में कथा न कह कर हिन्दी भाषा में कहें। उसका प्रचार भारत वर्ष में होगा।"

मैंने कहा—"महाराज! हिन्दी में तो मैं कह सकता हूँ, किन्तु मैं यहाँ हिन्दी में कहूँगा तो उसका प्रचार भारत वर्ष में कैसे होगा?"

नारदजी ने कहा—"उसका प्रबन्ध मैंने कर लिया है। मैं भी

तो वीणा बजाता हुआ इसी भावना से समस्त लोकों में घूमता रहता हूँ कि लोगों में परमार्थिक भावों का प्रचार प्रसार हो।"

मैंने उत्सुकता के साथ पूछा—"भगवन्! आपने क्या प्रबन्ध किया है, उसे भी तो मैं सुन लूँ।"

नारद जी ने कहा—"प्रतिष्ठानपुर प्रयाग राज में एक अल्प मति व्यक्ति प्रभुदत्त है, वह आपकी कथाओं को हिन्दी भाषा में लिखेगा, उन्हें सभी श्रेणी के लोग बड़ी उत्सुकता से पढ़ेंगे। इससे लोगों में धार्मिक भावना भी जागृत होगी और उनका मनोरंजन भी होगा।"

मैंने कहा—"भगवन्! जो व्यक्ति अल्पमति है, वह मेरी कही हुई कथाओं को क्या लिख सकता है।"

नारदजी ने कहा—"सूतजी! आप भगवन्नाम की महिमा भूल गये क्या? भगवन्नाम के प्रभाव से असंभव भी संभव हो सकता है। अपढ़ भी वेद पाठ कर सकता है। मैंने उसे भगवन्नाम की शिक्षा दीक्षा देकर इस योग्य बना दिया है।"

मैंने कहा—"भगवन्! कलियुग में आप तो किसी को प्रत्यक्ष होकर शिक्षा दीक्षा देते नहीं। फिर आपने प्रभुदत्त को शिक्षा दीक्षा कैसे दी।"

नारद जी ने कहा—"सूतजी! जिससे भी हमें जो काम लेना होता है, उसे वैसा ही बना लेते हैं। मैंने उसे भक्त रूप में नाम की शिक्षा दीक्षा दी।"

मैंने जिज्ञासा भरी वाणी में कहा—"भक्त रूप से अपने उस अल्प मति व्यक्ति पर कैसे कृपा की कृपा करके इसे भी मुझे सुना दें।"

नारद जी ने कहा—"सूतजी! प्रयाग प्रतिष्ठान पुर पृथिवी देवी का जघन स्थान है। स्त्रियों का जघन ही सर्वोत्कृष्ट स्थान है। प्रयाग में त्रैलोक्य पावनी गंगा यमुना आकर मिली हैं। कभी क्षय न होने

वाला अक्षयवट यहाँ है। प्रयागराज समस्त तीर्थों के राजा हैं। संसार में इतना पावन क्षेत्र और कहीं नहीं है। श्री कृष्ण भगवान् ने व्रजभूमि से ठेल ठाल कर प्रभुदत्त को यहाँ भेज दिया। वह रसमयी व्रजभूमि को छोड़कर यहाँ आना नहीं चाहता था, किन्तु जब व्रजेश की ही इच्छा है तो कोई क्या कर सकता है। उसे आना ही पड़ा और संध्या वट के नीचे निवास करना पड़ा। मेरी दृष्टि उसपर पड़ी और मैं तुरन्त समझ गया कि भगवान् व्रजेन्द्र नन्दन ने इसे किस काम के लिये भेजा है। वह नित्य श्री राधा कृष्ण के मन्दिर से पुराणों की कथा सुनकर काशी की ओर एक तालाब तक टहलने जाता था।

माघ का महीना था, मैं अपने कुछ भक्तों के सहित लाल कंडा

लिये "श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस अपने परम प्रिय मंत्र का कीर्तन करते हुये त्रिवेणी की ओर जा रहा था। यह तालाब पर बैठा था, इसने जहां इस मंत्र को सुना इसके सम्पूर्ण अंग में विद्युत सी दौड़ गयी। यह पालतू हरिन की भाँति मेरे स्वर में स्वर मिलाकर इसी मंत्र का कीर्तन करते करते मेरे पीछे पीछे हो लिया। हंसतीर्थ के समीप तक यह मेरे साथ आया। तब से यह मंत्र इसका इष्ट मंत्र हो गया। अहर्निशि यह इसी मंत्र का निरन्तर कीर्तन करता रहता था। तब से यह चार काम करने लगा—

(१) आपकी भागवती संहिता का बिना समझे पाठ
(२) भक्त और भगवत् चरित्रों का लिखना
(३) पुण्य तीर्थों में भ्रमण करना
(४) "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस महा मंत्र का निरन्तर कीर्तन करते रहना।

इन चारों कार्यों के करने से उसमें लिखने की शक्ति आ गयी है, वह आपकी भागवती कथाओं को भाषा में लिख सकेगा। मैं अभी बदरिकाश्रम से आ रहा हूँ। मैंने उससे कहा भी "ऐसे ऐसे तुम्हें भागवती कथाओं को लिखना चाहिये।" उसने कहा— "मुझमें लिखने की योग्यता कहाँ है?"

सूतजी! मनुष्य में यथार्थ में इतनी योग्यता नहीं कि वह भगवान् की लीलाओं को लिख सके। भगवान् को जिससे लिखाना होता है उसे स्वयं ही वे लिखने की शक्ति प्रदान कर देते हैं। सो, मैं उसे इस योग्य कर आया हूँ, अब आप भाषा में कथा आरंभ करें प्रभुदत्त उसे सुनकर लिपिबद्ध कर लेगा। फिर जिसके भाग्य में होगा, वह इन कथाओं को पढ़ेगा सुनेगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ये नारद मुनि कितने परानुग्रह कांक्षी हैं। ये सदा लोगों के उपकार की बात सोचते रहते हैं।

लोगों को परमार्थ का सरल से सरल सुगम से सुगम मार्ग दिखाते रहते हैं। मुझे इस प्रकार आज्ञा देकर देवर्षि नारद तो इच्छानुसार अन्य लोकों में घूमने चले गये। मैंने आप सब को भाषा में कथा सुनानी आरम्भ कर दी।" आप भी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ इस भाषा की 'भागवती कथा' को सुनते रहे। प्रभुदत्त उन सब को लिपिबद्ध करता गया। अब इस भागवत दर्शन ग्रन्थ का कथा-भाग समाप्त हो गया। आपने मुझसे जो जो प्रश्न किये, उन सब के मैंने यथामति श्री मद्भागवत संहिता के आधार से उत्तर दिये। कहीं मैंने किसी विषय का बहुत विस्तार से उत्तर दिया है, कहीं किसी विषय को अत्यन्त ही संक्षेप में कह दिया है। कहीं संक्षेप विस्तार दोनों ही किये हैं। मनुष्यों के पुरुषार्थ का साधन भूत यह भगवान् विष्णु का परम पवित्र दिव्य चरित्र अत्यन्त ही मनोहर है, धन्य है यश, कीर्ति, तथा परम गतिको देने वाला है। इस ग्रन्थ में इधर उधर की विषय सम्बन्धी वार्ता नहीं है. आदि, मध्य, अन्त तथा सर्वत्र ही इसमें समस्त पापों को हरने वाले, समस्त इन्द्रियों तथा मन के प्रवर्तक, शरणागत प्रतिपालक, प्रपन्न पारिजात भक्त वत्सल भगवान् श्री नारायण का ही कीर्तन किया गया है। जो जगत् के एकमात्र उत्पत्ति के स्थान हैं, जो उत्पन्न की हुई सृष्टि का विष्णु बनकर पालन करते हैं और अन्त में रुद्र बनकर संहार भी करते हैं। उन परब्रह्म प्रभु का इसमें सर्वत्र वर्णन है। उनको प्राप्त करने वाले समस्त साधन तथा ज्ञान विज्ञान का भी इसमें वर्णन है। भक्ति योग का भी इसमें विस्तार से वर्णन किया है। साध्य रूपा भक्ति तथा साधन भूता भक्ति का भी इसमें विशुद्ध वर्णन है। मेरे गुरुदेव ने सात दिन में महाराज परीक्षित् को यह कथा सुनायी थी इसलिये इसे प्रथमाह, द्वितियाह, तृतियाह इस प्रकार सप्ताहों में बाँट दिया है। पद्य रूप में इन कथाओं का सार "भागवत चरित" के नाम से पृथक प्रकाशित है। उसमें भी सप्ताह

हैं। अब विषय सूची और शेष है, सो अब विषय सूची आप और सुन लें। फिर मैं कुछ दिन को आप से आज्ञा चाहूँगा। हाँ, तो प्रथमाह की सूची सुनिये।"

छप्पय

मेरो तुमरो मिलन व्यास नारद सम्वादा।
फेरि भीष्म की कही कथा जो सबके दादा॥
तिनि परलोक प्रयान द्वारका पुनि प्रभु आये।
भया परीक्षित् जनम राज में बजे बधाये॥
विदुर और धृतराष्ट्र को, गृह तजि पुनि हरिपुर गमन।
कह्या कृष्ण निरयान पुनि, पाण्डु सुतनि को हिम निधन॥

———

प्रथमाह की विषय-सूची

१३६९

भक्ति योगः समाख्यातो वैराग्यं च तदाश्रयम् ।
पारीक्षित मुपाख्यानं नारदाख्यानमेवच ॥*
(श्री भा० १२ स्कं० १-अ० ५ श्लो०)

छप्पय

विजय परीक्षित् फेरि करयो कलि जैसे वश में ।
दीयो द्विज ने शाप गये नृप गंगा तट में ॥
श्री शुक भूपति मिलन करया ज्यों नृप अभिनन्दन ।
पूजा विधिवत करी लगायो माथे चन्दन ॥
अवतारनि के चरित शुभ सृष्टि कथा संक्षेप में ।
विदुर और उद्धव मिलन, कही सृष्टि पुनि शेष मे ।

कथा कहने के पूर्व उसकी रंगभूमि तैयार करनी पड़ती है, उसे भूमिका भी कहते हैं उसमें कथनीय विषय पर प्रकाश डाला जाता है। भूमिका पढ़ने से पाठक यह समझ जाते हैं, कि वक्ता का कौन-सा विषय कहना है जैसे श्रीमद्भागवत का प्रधान विषय है

---

* श्री सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो ! प्रथमाह में प्रथम भक्ति योग का वर्णन है तथा भक्ति के आश्रित रहने वाले वैराग्य का भी वर्णन है, तदनन्तर महाराज परीक्षित् जी की कथा तथा नारद जी की कथाओं का कथन किया गया है ।"

भक्ति प्रतिपादन। तो आरम्भ में-सर्व प्रथम-उसमें भक्ति का ही महत्व गाया गया है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं अपनी कही हुई भाषा भागवती कथा की विषय सूची कहता हूँ। आरम्भ में लेखक ने अपनी राम कहानी कही है। फिर जयार्थ-मगलाचरण किया है। तदनन्तर नैमिषारण्य का उत्पत्ति आप सब का आगमन और आप के सत्र की बात है फिर मेरे सम्बन्ध की चर्चा की है। कैसे मुझे भागवत संहिता की प्राप्ति हुई, कैसे मेरे पिता की उत्पत्ति हुई बल देव जी ने कैसे उनका वध किया, फिर किस प्रकार आप लोगों ने मुझे यह व्यासासन दिया इन सब बातों का संक्षिप्त वर्णन इस सूत जी नामक अध्याय में है। इसके अनन्तर सर्वोत्कृष्ट नामक अध्याय है।

आप लोगों ने मेरे आने पर जो मुझ से परमार्थ का सर्वोत्कृष्ट प्रश्न पूछा है उसका वर्णन है। तदनन्तर मैंने जो भक्ति को ही परम धर्म बताया है उसका विवेचन भगवत् प्राप्ति कैसे हो, इसका मैंने उत्तर दिया है कि वह नित्य भागवत की सेवा करने से ही हो सकती है। तदनन्तर भागवती प्रक्रिया बतायी है, कि श्रवण से क्या होता है, कैसे अन्तः करण की शुद्धि होती है। तदनन्तर यह ग्रन्थ सर्व प्रथम किसने सुना उन्होंने किनको सुनाया और उनसे किसने सुना इस प्रकार आदि से ही इसकी परम्परा बतायी है।

भक्ति मार्ग में अवतार तत्व ही प्रधान है, अतः सर्व प्रथम जो विराट पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन है। फिर प्रथम अवतार पुरुष कैसे प्रकट हुआ इस को बता कर अन्य अवतारों की साधारण रूप से चर्चा है। फिर आपने जो भागवत धर्म के सम्बन्ध में पावन प्रश्न किये हैं, उनका उल्लेख है, फिर जिनसे इस भागवत धर्म का प्रचार प्रसार हुआ उन भगवान् व्यास की उत्पत्ति की

पावन कथा है। व्यास जी ने बदरिकाश्रम में जाकर कैसे तप किया कलियुगी जीवों को पाप कर्म में निरत समझ कर उनके करुणा पूर्ण अन्तः करण में कैसे करुणा उत्पन्न हुई कैसे उन्हें लोक कल्याण की चिन्ता व्यथित करने लगी इसका विस्तारसे वर्णन है।

उनको चिन्तित समझ कर परानुग्रहकांक्षी भगवान् नारद मुनि वहाँ कैसे आ गये और कैसे उन्होंने उनकी व्याकुलता का कारण जानना चाहा इसका इतिहास है। व्यास जी को चिन्तित समझ कर नारद जी ने कैसे अपने तीन जन्मों का वृत्तान्त बताया। कैसे वे मुनियों के शाप से गन्धर्व हो गये और फिर कैसे शूद्रा के उदर से उत्पन्न हुए। वहाँ उन्हें किस प्रकार साधुओं का सत्संग प्राप्त हो गया। इसका कारुणिक वर्णन है। चार महीने चतुर्मास बिता कर संतगण कैसे चले गये और फिर सन्तों के वियोग में शूद्र बने बालक नारद कैसे विकल हुए इस प्रसंग को पढ़कर किस का हृदय नहीं भर आवेगा। कवि ने अपनी मानसिक व्यथा इन शब्दों में व्यक्त की है।

निरमोही ये संत प्यार करिकें अपनावें।
किन्तु अन्त में बधिक सरिस हिय छुरी चलावें॥
गहकि मिलें जब तलक रहें रसनित बरसावें।
कसक हिये में छोड़ि निठुर बनि कें भगि जावें॥

साधुनि सँग अति प्रेम करि, जग सुख काहू नहिँ लह्यो।
बिलपत ई जीवन गयो, रुदन शेष ई रहि गयो॥

होनी होकर ही रही साधु चले गये। नारदजी की शूद्रा माता मर गयी। नारद जी को भजन के प्रभाव से पुनः ब्रह्मपुत्र नारद शरीर प्राप्त हो गया यहाँ तक नारद जी का ही चरित्र है। जब नारद जी अपना चरित्र सुना चुके तब व्यास जी ने उनसे शान्ति का सरल मार्ग पूछा। तब नारद जी ने उन्हें भागवत लिखने को

कहा। नारद जी की आज्ञा मान कर भगवान् व्यास ने श्रीमद् भागवत महा पुराण की रचना की। उसे अपने परमविरक्त योग्य पुत्र को किस प्रकार पढ़ाया कैसे उन आत्माराम पूर्ण काम महा-मुनि की भागवत पढ़ने की इच्छा हुई इसका कारण बताया गया है।

श्रीमद् भागवत के प्रधान श्रोता हैं राजर्षि महाराज परीक्षित् अतः उनका परिचय कराने के लिये संक्षेप में उनके पूर्वजों का वर्णन है, महाभारत की संक्षिप्त कथा बता कर अन्त में उस प्रसंग को बताया गया है, जिसमें अश्वत्थामा ने पांडवों के पाँचों पुत्रों को सुप्तावस्था में मार डाला था। द्रौपदी के कुपित होने पर अर्जुन अश्वत्थामा को पकड़ लाये थे और फिर द्रौपदी के ही कहने पर उसके सिर की मणि छीन कर उसे प्राणदान दे दिया। इन सब का वर्णन राजर्षि परीक्षित् के चरित्र की भूमिका के ही निमित्त किया गया है। गर्भस्थ महाराज परीक्षित् की भगवान् ने चक्र सुदर्शन से माता के पेट में कैसे रक्षा की इसका वर्णन करके इस प्रसंग को यहीं छोड़ दिया है।

महाभारत समाप्त होने पर श्याम सुन्दर जिस प्रकार द्वारका चलने को उद्यत हुए हैं, जिस प्रकार महारानी कुन्ती ने करुण स्वर से उनकी स्तुति की है, जिस प्रकार भगवान् रुक गये हैं फिर धर्मराज ने अपने मृतक बन्धु बान्धवों के लिये जिस प्रकार घोर पश्चात्ताप किया है, इन सब बातों का हृदयद्रावक भाषा में वर्णन किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी धर्मराज तथा अन्य सभी पांडवों को शर शैया पर पड़े पितामह भीष्म के पास ले गये हैं। पितामह ने जिस प्रकार पांडवों के सम्मुख भगवान् वासुदेव की महिमा का वर्णन किया है, फिर पितामह परलोक को प्रयाण कर गये हैं, फिर भगवान् ने जिस प्रकार द्वारका जाने का विचार व्यक्त किया

है और सभी को शोकाकुल छोड़कर वे द्वारका पुरी को चले गये हैं और द्वारावती में पुरवासियों ने तथा अन्तःपुर की महिषियों ने उनका स्वागत सत्कार किया है, इन सब बातों का बड़ी सरसता से वर्णन है। अन्तःपुर में जब भगवान ने प्रवेश किया है, इन सब बातों का बड़ी सरसता से वर्णन है। अन्तःपुर में जब भगवान् ने प्रवेश किया है, उस वर्णन में बड़ी सरसता आ गयी है। भगवान प्रथम माताओं के ही महलों में गये। वहाँ जाकर बैठ गये। रानियों को बड़ी उत्सुकता थी, कैसे प्राणनाथ के दर्शन हों, किन्तु वे उठने का नाम नहीं लेते। बहुएं सासों के सम्मुख पति के आगे जा नहीं सकती हैं। ऐसा प्राचीन सदाचार है। अतः वे खिड़कियों में से छिप छिप कर देख रही हैं। इससे उनके आभूषण, तथा चूड़ियों की झंकार हो उठती हैं। मातायें समझ गयीं और श्याम सुन्दर से जाने को कहा। अब कवि के ही शब्दों में इसे सुनिये।

सुनि नूपुर की झनक चुरिनि की खनक मनोहर।
माँ बोलीं—"अब जाउ, वस्त्र बदलो भीतर घर॥
मंद मंद मुसकात महल में मोहन आये।
नारि निरखि नँदनन्द नयन तें नीर बहाये॥
मन तें मोहन तें मिलीं, नयन ओट तें चोट करि।
शिशु सौंप्यो पुनि लाइ उर, आलिङ्गन यों किये हरि॥

इधर श्याम सुन्दर द्वारकावासियों को सुख दे रहे थे उधर हस्तिनापुर में महाराज परीक्षित् का जन्म हुआ। धर्मराज ने पंडितों को बुला कर उनके जन्म ग्रहों का फल पूछा। तदन्तर धर्मराज का अश्वमेधयज्ञ करने का विचार उठा भगवान् की आज्ञा से पांडव हिमालय पर जाकर महाराज मरुत्त की यज्ञ से बचे धन को उठा लाये। धर्मराज ने उसी से तीन अश्वमेध यज्ञ किये। यह प्रकरण यहीं समाप्त कर दिया गया है, फिर विदुर जी का

पुण्य परिचय कराया गया है तीर्थयात्रा से लौट कर जैसे वे हस्तिनापुर में आये हैं आकर जिस प्रकार उन्होंने अपने बड़े भाई प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र को वैराग्य का उपदेश दिया है और उन्हें तथा गान्धारी को साथ लेकर जैसे वे छिप कर वन को चले गये हैं उस का वर्णन है।

विपरीत धर्मों को देख कर धर्मराज को चिन्ता हुई कि अर्जुन द्वारका से लौट कर क्यों नहीं आया। उसी समय द्वारका से लौट अर्जुन आ जाते हैं। आकर वे रोते रोते भगवत् निर्याण की बात सुनाते हैं। भगवान् ने कब कब हम पर विशेष कृपा की, इसका विस्तार पूर्वक अर्जुन ने वर्णन किया है। उसमें खांडव दाह के समय की कृपा का, जरासन्ध वध के समय की कृपा का, द्रौपदी चीरहरण के समय की कृपा का, दुर्वासा के शाप से बचाने वाली कृपा का, शिव के साथ हुए युद्ध में की हुई कृपा का, निवात कवच वध के समय की कृपा का, गोधन हरण के समय हुए युद्ध की कृपा का, महाभारत युद्ध में हुई कृपा का तथा रथ हाँकते समय की हुई कृपा का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। अर्जुन को किस प्रकार जंगली गोपों द्वारा पराजित होने का शाप मिला कैसे वे जङ्गली गोपों द्वारा पराजित हुए, किस प्रकार यदुवंश का विनाश हुआ। ये सब बातें धर्म राज से अर्जुन ने आकर जैसे कहीं थीं, उनका विस्तार के साथ वर्णन हुआ है।

भगवत् निर्याण की बात सुन कर उनके वियोग में महारानी कुन्ती ने जिस प्रकार देह त्याग किया। वीर सन्यास का निश्चय करके तथा महाराज परीक्षित् को राज्य देकर पाँचों पांडवों ने जैसे परलोक प्रयाण किया यहाँ तक महाराज परीक्षित् के पूर्वजों की कथा है। अब महाराज परीक्षित् की कथा आरम्भ होती है।

महाराज परीक्षित् ने किस प्रकार दिग्विजय की, वहाँ वाचकों के मुख से 'भगवान् ने पांडवों की कैसे रक्षा

प्रसंग को सुन कर परीक्षित् का प्रसन्न होना। दिग्विजय के ही प्रसंग में पृथिवी तथा धर्म का सम्वाद कैसे हुआ, पृथिवी ने निज दुख का कारण कैसे बताया, कैसे महाराज परीक्षित् की कलियुग से भेंट हुई, धर्म और परीक्षित् में कैसे सम्वाद हुआ, महाराज परीक्षित् ने अधर्मबन्धु कलियुग को भी कैसे अभय दान दिया, कलियुग के रहने को उन्होंने कौन कौन से स्थान दिये, इस सब को बता कर अन्त में उन राजर्षि परीक्षित् के उत्तर चरित के सम्बन्ध में शौनक जी का प्रश्न हुआ है। इस पर सूत जी ने महाराज परीक्षित् के उत्तर चरित्र का वर्णन किया है। जिसमें महाराज का शमीक मुनि के आश्रम में जाना, समाधि में बैठे मुनि से सत्कार न पाने पर उनके गले में मृतक सर्प को डाल कर लौट आना, इस पर मुनि पुत्र शृंगी का महाराज को शाप देना, मुनि शिष्य से सब कुछ सुनकर महाराज का पश्चात्ताप, गंगा तट पर आकर महाराज का बैठ जाना, महाराज का समाचार सुन कर ऋषि मुनियों का आना, तथा महाराज द्वारा ऋषियों से पारमार्थिक प्रश्न पूछना, उसी समय मुनि मंडली में श्री शुक का शुभागमन होना और उनसे राजा द्वारा वही पारमार्थिक प्रश्न का पूछा जाना, फिर श्री शुक द्वारा राजा के प्रश्न का उत्तर देना, समय की न्यूनता पर राजर्षि खट्वाङ्ग का दृष्टान्त देना, तथा फिर राजा द्वारा पुनः बहुत से प्रश्नों का पूछा जाना इन सब विषयों का वर्णन है। अब तक तो यह भागवती कथा की भूमिका हुई। इसके आगे भागवती कथा आरम्भ होती है।

उसमें सर्व प्रथम सूकरावतार की कथा, अन्य अवतारों की कथा तथा श्री रामकृष्णावतारों की कथा आदि संक्षेप में कही गयी है। प्रायोपवेशन करने वाले महाराज परीक्षित् ने जिस प्रकार दृढ़ता दिखायी है और सृष्टि सम्बन्धी प्रश्न किये हैं, इस पर प्रकाश डाला गया है। फिर ब्रह्मा जी को तपस्या द्वारा अपने

अन्तः करण में ही किस प्रकार वैकुन्ठ के दर्शन हुए, किस प्रकार उन्हें पञ्चश्लोकी भागवत की स्फुरणा हुई इसका वर्णन है, फिर दश लक्षण वाली भागवत का, विराट ब्रह्माण्ड का विराट पुरुष की कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का तथा श्रीमद्भागवत की दूसरी परम्परा के वर्णन का उपक्रम है।

प्रथम विदुर मैत्रेय सम्वाद का उपोद्घात है, विदुर जी ने धृतराष्ट्र को कैसे सम्मति दी, उनकी सम्मति का आदर न करके दुर्योधन ने कैसे उनका तिरस्कार किया, तिरस्कृत हुए विदुर जी किस प्रकार हस्तिनापुर को त्याग कर किस प्रकार तीर्थों में भ्रमण करते रहे, वृन्दावन में उनकी उद्धव जी से कैसे भेंट हुई, विदुर जी ने उन से किस प्रकार भगवान् के परिवार सम्बन्धी कुशल प्रश्न पूछे। विदुर जी के प्रश्नों से उद्धव जी को कैसे भाव समाधि हो गयी। फिर किस प्रकार शनैः शनैः प्रकृतिस्थ हो कृष्ण कथा वर्णन का उपक्रम करने लगे इन विषयों की सुखद कहानियाँ हैं। अब उद्धव जी विदुर जी को कृष्ण कथा सुना रहे हैं। भगवान् का कैसा लोकोत्तर सौन्दर्य था उनका कैसा लोकोत्तर माधुर्य था, अजन्मा का जन्म कैसे हुआ, दीन तथा दुष्टों पर दया मय ने कैसे अपार कृपा की, कैसे आत्माराम होकर गधारमण ने रमणियों के साथ क्रीड़ायें कीं, मथुरा में उन्होंने कौन कौन-सी लीलायें की, द्वारावती में कौन कौन सी क्रीड़ायें कीं, यदुवंश का विनाश कैसे हुआ, कैसे भगवान ने उद्धव जी को उपदेश दिया, इन सब विषयों को अत्यन्त संक्षेप में उद्धव जी ने विदुर जी से कहा है। विदुर जी के भागवत धर्म सम्बन्धी ज्ञान माँगने पर उद्धव जी ने उन्हें भगवान् की आज्ञा सुना दी, कि तुम हरिद्वार में जाकर मैत्रेय मुनि से ज्ञान लाभ करो। ऐसा कह कर विदुर जी से विदा होकर उद्धव जी बदरी वन को चले गये, इधर विदुर जी ने हरिद्वार की राह पकड़ी, चलते चलते वे हरिद्वार में मैत्रेय मुनि

के समीप पहुँच गये और वहाँ आकर उन्होंने मैत्रेय जी से कैसे पारमार्थिक प्रश्न किये उन सब का वर्णन है।

अब विदुर मैत्रेय सम्वाद आरम्भ होता है। यह श्रीमद्

भागवत की दूसरी परम्परा है। विदुर जी के पूछने पर मैत्रेय मुनि ने प्रथम ब्रह्मा जी की उत्पत्ति बतायी, फिर सृष्टि रचना के

निमित्त परममोहक सामग्रीकी उत्पत्ति, पृथिवी उद्धार के लिये मनु की प्रार्थना वाराह भगवान् की संक्षिप्त कथा, विदुर जी का वाराह चरित्र विस्तार पूर्वक श्रवण करने का आग्रह, इस प्रश्न के उत्तर में मैत्रेय जी द्वारा दिति का कश्यप जी से प्रदोष के समय अनुचित प्रस्ताव, मन्मथ के प्राबल्य की कथा, गर्भाधान के अनन्तर दिति का पश्चात्ताप, दिति के गर्भ से देवताओं को भय, देवताओं का मिल कर ब्रह्मा जी के पास जाना ब्रह्मा जी द्वारा देवताओं को सनकादि की कथा सुनाना, वैकुन्ठ का वर्णन, सनकादि द्वारा जय विजय को शाप, सनकादिकों को कुपित सुन कर भगवान् का नंगे पैरों आना, भक्त वत्सलता वश उन्हें मनाना, कुमारों की भगवान् से विनती करना, उनसे आज्ञा लेकर जाना, जय विजय का दिति के गर्भ में प्रवेश हुआ है यह कह कर ब्रह्मा जी का देवताओं को सान्त्वना देना। इसके अनन्तर हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष का जन्म, हिरण्याक्ष का दिग्विजय के लिये वरुण के लोक में गमन, हिरण्याक्ष की वरुण से बातचीत, हिरण्याक्ष को सूकर रूप से भगवान् के दर्शन, हिरण्याक्ष और वाराह भगवान् का युद्ध तदनन्तर हिरण्याक्ष के युद्ध की कथा है। ये सब विषय प्रथमाह में हैं। हिरण्याक्ष उद्धार तक प्रथमाह की कथा है। श्री मद् भागवत में यह कथा तृतीय स्कन्ध के अध्याय तक है। "भागवती कथा" के सात खंडों में यह प्रथमाह की कथा कही गयी है, इसमें सब १४८ अध्याय हैं। जो प्रथमाह की कथा को पढ़ते सुनते हैं। उनकी सभी इच्छायें पूर्ण होती हैं, देवता उन पर प्रसन्न होते हैं। श्रद्धा पूर्वक सुनने और पढ़ने वाले को शोक नहीं होता।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में

प्रथमाह की विषय सूची बतायी, अब आप द्वितीयाह की विषय सूची श्रवण करें।"

छप्पय

कश्यप दिति सम्वाद गर्भ ज्यों दिति ने धारयो।
भये असुर जय विजय कुमारनि कूँ ज्यों ताड़्यो॥
हिरनकशिपु हिरनाक्ष जन्म तिनि विजय करी ज्यों।
धरि कें शूकर रूप सुरनि-हरि विपति हरी ज्यों॥
हिरन्याक्ष कूँ मारि कें, अभय करे सुरमुनि यथा।
यहाँ तलक पूरन भई, प्रथम आह की शुभ कथा॥

—::०::—

द्वितीयाह की विषय सूची

(१३७०)

अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः ।
देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता ॥*

(श्री भा० १२ स्कं० १२ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

द्वितीय आह में देवहूति करदम सँग व्याही ।
प्रकटे हरि बनि कपिल मातुकूँ सीख सिखाई ॥
मनु पुत्रिनि को वंश दक्ष शिव शापा शापी ।
सती देह को त्याग दक्ष मारयो संतापी ॥
भई पूर्ति ज्यों यज्ञ की, वंश अधर्म बताइकें ।
कह्यो चरित ध्रुव विष्णु ज्यों, दरशन दीये आइकें ॥

सब शास्त्रों में एक ही बात है, ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध समस्त शास्त्रों में इसी का विवेचन है। कोई कहता है ईश्वर और जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं। कोई कहता है ईश्वर है ही नहीं।

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! तदनन्तर महात्मा भगवान् कपिल का अवतार है, फिर परम बुद्धिमान् भगवान् कपिलजी के साथ उनकी माता देवहूति का सम्वाद है।"

कोई कहता है ईश्वर हो भी तो उसका जगत् के रचने में कोई हाथ नहीं। कोई कहता है जगत् ही नहीं है यह जो हमें प्रतीति हो रही है, मिथ्या है भ्रम है। सीप में रजत भ्रम जैसे मिथ्या है वैसे ही यह जगत् मिथ्या है। कोई कहता है संसार वृक्ष के ईश्वर बीज हैं, उनके बिना कुछ नहीं हो सकता। इस प्रकार समस्त आस्तिक नास्तिक शास्त्र ईश्वर है ईश्वर नहीं है, इसी का विचार करते हैं, उनके वर्णन का मुख्य विषय ईश्वर ही है।

कोई शास्त्रकार बात का सूत्र रूप में कहते हैं कोई वार्तिक रूप में, कोई संक्षेप में कहते हैं कोई विस्तार के साथ। जो शास्त्र का विस्तार करते हैं, वे यह भी जानते हैं, कि बहुत से लोगों पर हमारे इतने विस्तृत ग्रन्थ के पढ़ने का समय न होगा। अतः वे ग्रन्थ को विस्तार के साथ लिखकर उसकी सूची बना देते हैं, जिससे जिनपर समय न्यून है, वे उस विषय सूची को ही पढ़कर ग्रन्थ के समस्त विषय का समझ जायँ। अतः भागवती कथा जो इतनी विस्तार से लिखा गयी है अब संक्षेप में उसके द्वितीय दिवस की सूची सुनिये, जिससे सभी विषयों का आभास मिल जायगा।

सूतजी कहते हैं—"हाँ, तो मुनियो! हिरण्याक्ष वध तक तो प्रथमाह की कथा विषय सूची हो गयी अब आगे द्वितीयाह की सूची मैं आप को सुनाता हूँ। हिरण्याक्ष वध तक की कथा "भागवती कथा" के सात खंडों तक में वर्णित है। अष्टम खंड से द्वितीयाह की कथा आरम्भ होती है।

द्वितीयाह में सर्व प्रथम श्री ब्रह्माजी द्वारा रचित विविध प्रकार की सृष्टि का वर्णन है। सृष्टि का वर्णन करते करते मनुशतरूपा की उत्पत्ति बतायी है। महाराज स्वायम्भुव के प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र तथा आकूति प्रसूति और देवहूति के चरित्र का वर्णन है। भगवती देवहूति का विवाह ब्रह्मपुत्र कर्दम मुनि से

हुआ। कर्दममुनि ने ब्रह्माजी की आज्ञा से सृष्टि वृद्धि के निमित्त कैसे तप किया, किस प्रकार भगवान् ने कर्दममुनि को दर्शन दिये। कर्दममुनि ने जब बहू का वरदान माँगा तब हँसकर भगवान् ने किस प्रकार परसों ही विवाह होने का तुरन्त वरदान दिया।

इधर नारदजी के कहने से महाराज मनु अपनी महारानी शतरूपऔर विवाह योग्य हुई सयानी पुत्री देवहूति को लेकर कर्दम मुनि के आश्रम पर आते हैं। मुनि से विवाह का प्रस्ताव करते हैं, कुछ आनाकानी के पश्चात् दोनों का विवाह हो जाता है। दूल्हा दुलहिनि मिल जाते हैं, जङ्गल में मङ्गल हो जाता है। कवि कहता है—

दुलहा दुलहिनि मिलि गये, जंगल महँ मङ्गल भयो।
कनक अगूठी जस मुघर, तस सुन्दर नग जड़ि गयो॥

विवाह के पश्चात् मुनि पुनः तपस्या में लग गये। राजपुत्री मुनि की सेवा करती रहीं। सेवा से सन्तुष्ट हुए मुनि ने भगवती देवहूति को सन्ततिवती होने का वर दिया। सुन्दर रमणीक विमान बना योग बल से उस विमान के सहित ही उड़कर सपत्नीक मुनि लोकपालों की पुण्य पुरियों में सैर सपाटा करते रहे। पुनः आश्रम में आकर नौ कन्यायें हुईं। मुनि की वैराग्य की दबी अग्नि पुनः चमक उठी। दंड कमंडलु सम्हाल कर पुनः तप को चलने लगे। देवहूति ने विनयपूर्वक समझाया, मुनि रुक गये। तभी देवहूति के गर्भ से भगवान् कपिल का अवतार हुआ। नौ कन्याओं को नौ मुनियों को देकर कर्दमजी पुनः तप करने चले गये।

इधर माता देवहूति जी ने अपने परमात्मा पुत्र कपिल से तत्वज्ञानकी जिज्ञासा की। भगवान् कपिलने माता को भक्तियोग ज्ञानयोग तथा अष्टांगयोग आदि की बड़ी ही मार्मिक शिक्षा दी, जिससे माता ने जीवन्मुक्ति की स्थिति प्राप्त कर ली। माता को सत् शिक्षा देकर कपिल भगवान् वन को चले गये। माता ने

निर्वाण पद प्राप्त किया। वे ब्रह्मलीन हो गयीं। इस प्रकार संक्षेप में कपिल चरित कहा गया। पुनः दत्तात्रेय भगवान् के अवतार की कथा है। किस प्रकार तीनों देव कर्दम पुत्री अनसूया के यहाँ पुत्र बने। पातिव्रत के प्रभाव से तीनों देव कैसे मुग्ध हुए। पुत्र प्राप्ति के लिये कर्दममुनि ने कैसे तपस्या की कैसे तीनों देव प्रकट होकर साथ ही मुनि को वर देने आये, किस प्रकार दत्तात्रेय भगवान् का अवतार हुआ। इसी कथा प्रसङ्ग में भागवती कथा का अष्टम खंड समाप्त होता है।

नवम खंड में उसी दत्त भगवान् की कृपा को चालू रखते हुए उन्होंने जिस प्रकार सहस्रार्जुन यदु आदि राजाओं पर कैसे कृपा की इसका वर्णन है। दत्त भगवान् के चरित्र को समाप्त करने के अनन्तर देवहूति की नौ कन्याओं के विशद वंश का वर्णन है। इसी प्रसङ्ग में भृगुपुत्री श्री की भी कथा कही गयी है। अब फिर मनुकी तृतीय पुत्री प्रसूति के वंश का वर्णन है। फिर भगवती मूर्ति के गर्भ से भगवान् नर-नारायण का अवतार कैसे हुआ, उन्होंने कैसे तपस्या की इसका दो अध्यायों में प्रसङ्ग है। फिर अग्नि और पितरों के वंश का वर्णन है। अब फिर सती चरित्र आरम्भ होता है।

दक्ष प्रजापति की पुत्री सती का सदाशिव के साथ कैसे विवाह हुआ, प्रजापतियोंके यज्ञ में दक्ष शिवजी पर कैसे कुपित हुए आपस में कैसे शापा शापी हुई। इसकी कटु कथा है। इस कटुता को मेंटने के लिये कुछ शिव महिमा गायी गयी है, प्रसंग वश उपमन्यु महर्षि के चरित्र का गान किया गया है।

प्रजापतियों के यज्ञ में क्रुद्ध हुए दक्ष ने शिवजी से बदला लेने को बृहस्पति सव नामक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें शिव जी को निमंत्रित नहीं किया गया। वस यज्ञ में जाती हुई विमा-

नस्थ देवाङ्गनाओं को देखकर सती जी की उत्सुकता बढ़ी। उन्होंने शिवजी से दक्ष यज्ञ में चलने का आग्रह किया, शिवजी ने सती जी को विविध भाँति से समझाया, किन्तु देवी नहीं मानीं नहीं मानीं, वे शिवजी की आज्ञा की अवहेलना करके पिता के यज्ञ में चली ही तो गयीं। यज्ञ में प्रवेश करने पर न पिता ने उनका आदर किया न अन्य किसी सभासद ने ही। इसपर देवी को क्रोध आया, उन्होंने शिवगुण गान किया। यहाँ तक भागवती कथा के नवम खण्ड तक की कथा हुई।

अब दशम खण्ड की कथा आरम्भ होती है। उसी दक्ष यज्ञ की कथा को चालू रखते हुए जिस प्रकार सती वहीं यज्ञ में भस्म हो गयीं हैं। उसका वर्णन है, फिर जिस प्रकार लोग दक्ष को धिक्कारने लगे, देवगण कुपित हुए नारदजी ने शिवजी को यह समाचार सुनाया, सुनकर जिस प्रकार शिवजी ने वीरभद्र को उत्पन्न किया, वीरभद्र ने दक्ष यज्ञ का विध्वंस किया, रुद्र पार्षदों ने किस वीभत्सता से यज्ञ का विनाश किया और दक्ष का सिर काट कर हवन कर दिया ये सभी विषय वर्णित हैं।

पुनः दक्ष यज्ञ को कथा को ही चालू रखते हुए देवादिकों का ब्रह्माजी के समीप जाना, कैलाश की शोभा देखते हुए शिवजी के समीप पहुँचना, उनकी स्तुति करना, शिवजी द्वारा दक्षयज्ञ पूर्ति का वरदान पाना, दक्षयज्ञ का पुनरुद्धार होना, यज्ञ में श्री विष्णु भगवान् का प्रकट होना सबके द्वारा भगवान् की भाँति भाँति से स्तुति प्रार्थना करना आदि विषयों को कहकर अन्त में दक्षयज्ञ की समाप्ति का वर्णन किया गया है।

फिर दक्षयज्ञ में भस्म हुई सती जी ने किस प्रकार हिमांचल की पत्नी मैना के गर्भ से पार्वती रूप में जन्म धारण करके शिव जी की प्राप्ति के लिये तप किया और कैसे उनका शिवजी के साथ पुनः विवाह हुआ इन विषयों का वर्णन करके भगवान् शिव के

चरित्र को समाप्ति की गयी है। अन्त में अधर्म का वंश कहकर भागवती कथा के दशम खण्ड की समाप्ति की गयी है।

अब ग्यारहवें सम्पूर्ण खण्ड में परम भागवत श्री ध्रुवजी का ही चरित्र है। महाराज उत्तानपाद की सुनीति और सुरुचि दो रानियों में से सुनीति के गर्भ से ध्रुवजी का जन्म हुआ। सुरुचि के संकेत से पिता ने गोद में चढ़ते हुए ध्रुव को रोक दिया, इस तिरस्कार से दुखी हुए ध्रुवजी रुदन करते हुए माता के समीप गये। माता ने धैर्य बँधाकर भगवान् की शरण में जाने का उपदेश दिया। माँका उपदेश पाकर ध्रुवजी बनको चल दिये। मार्गमें वीणा बजाते हरिगुण गाते नारदजी मिल गये। नारदजी ने परीक्षा लेकर उपदेश दिया, उपदेश देकर नारदजी राजा उत्तानपाद को भी समझा आये कि तू सोच मत कर। इधर ध्रुवजी नारदजी से उपदेश पाकर मधुवन में आकर घोर तप करने लगे। उनके घोर तप से चराचर की साँस रुकने लगी। देवता दौरे दौरे दयानिधि के द्वार पर गये। देवताओं को समझा बुझाकर भगवान् ध्रुवजी को दर्शन देने चलने लगे। उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

देव गये निज धाम सजे घनश्याम हमारे।
शङ्ख चक्र अरु गदा पद्म कर कमलनि धारे॥
पीताम्बर फहरात जात विद्युत सम चमकै।
मणिमय मनहर मुकुट अलक सँग दमदम दमकै॥
भक्त दरस कूँ व्यग्र अति, उपमा किहि सम देहिँ कवि।
गरुड़ पीठि चढ़ि जाहिँ ज्यों, अस्ताचल कूँ सहस रवि॥

ध्रुवजी हरि दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये, उन्होंने स्तुति करनी चाही किन्तु कुछ भी पढ़े न होने से कर न सके। भगवान् ने प्रेम से शङ्ख द्वारा उनके कपोल का स्पर्श किया। शङ्ख स्पर्श पाते ही उन्होंने दिव्य स्तुति की। भगवान् ने ध्रुवपद का वर दिया, वर

पाकर वे खिन्न मन होकर लौटे। मोक्षदाता भगवान् से राज्य ही क्यों माँगा इसपर ध्रुवजी के पूर्व जन्म का वृत्तान्त बताकर जन्मान्तरीय संस्कारों के दृष्टान्त दिये गये हैं।

ध्रुवजी नगरके निकट आ गये। समाचार सुनकर सैन्य सजाकर पुरवासियों के सहित माता पिता उनको लेने आये। ध्रुवजी घर में आये, राज्य मिला। माता की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं। अवसर पाकर एक दिन एकान्त में माता जी ने अपने पुत्र से कुछ कहा—

बोली इकदिन मातु—'बहू अब बेटा आवै।
मेरे पूजै पैर तोइ भोजन करवावै॥
रुनुझुनु रुनुझुनु करति फिरै मन मोद बढ़ावै।
बहू संग लखि तोहि सफल जीवन ह्वै आवै॥
हँसे जननि ममता लखी, मुदित मातु मन अति भयौ।
कन्या भ्रमि शिशुमारकी, संग ब्याह ध्रुव करि लयौ॥

हँसे जो फँसे, ध्रुवजी गृहस्थी बन गये। उनके भाई गौतम को यक्षों ने मार दिया। क्रोध करके ध्रुवजी ने यक्षों पर चढ़ाई की, घमासान युद्ध हुआ, स्वर्ग से स्वायंभुव मनु आये, ध्रुव को समझा बुझाकर युद्ध से निवृत्त कर दिया। इस पर प्रसन्न होकर कुबेरजी ने ध्रुवजी को भक्ति का वरदान दिया। इतनी कथा 'भागवती कथा, के ग्यारहवें खण्ड में वर्णित है।

बारहवें खण्ड में ध्रुव चरित्र को ही चालू रखते हुए बदरिकाश्रम में जाकर जिस प्रकार ध्रुवजी ने तपस्या की उसका वर्णन है, फिर ध्रुवजी जिस प्रकार ध्रुवलोक पधारे उसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। तदनन्तर ध्रुवजी का महात्म्य कहकर उनके वंश को बताया। गया है इस प्रकार यहाँ तक ध्रुव चरित का प्रसंग है।

इसके अनंतर अंग पौत्र महाराज पृथु के अवतार का वर्णन है। किस प्रकार मृत्यु पुत्री सुनीथा के साथ महाराज अंग का

विवाह हुआ उसके गर्भ से क्रूरकर्मा वेन का जन्म कैसे हुआ, वेन की क्रूरता से महाराज अंग का राज्य छोड़कर चुपके से चले जाना, राजा बनने पर वेन की निरंकुशता, मुनियों का जाकर उसे समझाना, वेन के द्वारा मुनियों का अपमान, मुनियों के हुङ्कार द्वारा वेन की मृत्यु, यहाँ तक पृथु के जनक वेन का वर्णन है।

बिना राजा के देश में अराजकता हो जाना, उसे देखकर दयालु विप्रों का दुखित होना, सुनीथा के समीप जाकर वेन के शरीर को माँगना, उसके मंथन से महाराज पृथु का प्रादुर्भाव होना, सब ऋषि मुनियों द्वारा उनका राज्याभिषेक करना, सूत बन्दियों द्वारा उनकी स्तुति, प्रजाजनों का दुःख सुनकर पृथु का पृथिवी पर कोप, पृथिवी के साथ उनका सुन्दर सम्वाद, पृथिवी का दोहन तथा महाराज द्वारा पृथिवी का सस्कार कराना ये भी सभी विषय भागवती कथा के बारहवें खण्ड में वर्णित हैं। अब आता है तेरहवाँ खण्ड।

तेरहवें खंड में पृथु चरित्र को ही चालू रखते हुए सनकादि महर्षियों ने पधार कर उन्हें जो उपदेश दिया उसका वर्णन है। तदनंतर महाराज पृथु का वन गमन तथा उनके परलोक प्रयाण की कथा है। फिर प्रचेताओं का पुण्य परिचय उनके ऊपर शिव जी की कृपा, रुद्रगीत उन सबकी घोर तपस्या तथा नारदजी का उनको उपदेश का वर्णन है।

इधर नारदजी कर्म में आसक्त प्रचेताओं के पिता महाराज बर्हि को ज्ञान देने उनके निकट आये। पुरञ्जनो पाख्यान के व्याज से उन्हें अध्यात्म ज्ञान का उपदेश दिया। पुरंजन (जीव) अपने रहने के लिये स्थान खोजते खोजते एकपुरी (मानव शरीर) में पहुँचा। वहाँ एक स्त्री पुरंजनी (बुद्धि) मिली, उससे पुरंजन ने उसका परिचय दिया। दोनों में सांठ गाँठ हुई। दोनों का विवाह हो

गया, दोनों बहू दुलहा बन गये। दोनों ही हिलकर आनंद विहार करने लगे। कवि ने कहा है—

फँस्यो प्रेम के फन्द अन्ध सम भयो पुरञ्जन।
निरखि नारि सब करै, भुलाये भवभय भञ्जन॥
पीवे वह तो पान करै खावै तो खावै॥
रोवै वह तो रुदन करै गावै तो गावै॥
नारी धनकी, धरमकी, बनी स्वामिनी गेहकी।
करै मूर्ख अनुकरन यों, जैसे छाया देहकी॥

पुरञ्जन एक दिन मृगया के लिये निकल जाता है। उस पर पुरंजनी मानकर बैठती है। कामी पुरंजन उसे मनाता है, पैरों पड़ता है, हाहा खाता है, इस पर मानिनी हँस जाती है, मान कपूर की भाँति उड़ जाता है दोनों फिर मिल जाते हैं। पुरंजन पत्नी, पुत्र पुत्रियों में आसक्त होकर समय को बिताता है। उसी समय (जरा, भय, मृत्यु, काल आदि) शत्रु उसकी पुरी पर चढ़ाई करते हैं। काल कन्या (जरा) का परिचय दिया गया है। सब मिलकर पुरञ्जन के पुर को विध्वंस कर देते हैं, पुरी नष्ट हो जाती है। पुरंजन पुरंजनी का ध्यान करते करते मरता है, अतः दूसरे जन्म में स्त्री योनि में प्रकट होता है। वहाँ भी उसके पुत्र पुत्री होते हैं, उसका पति उसे लेकर वन में तप करने जाता है, वहाँ उसकी मृत्यु होती है, उसी समय हंस आकर उपदेश देता है। पुरंजन को मुक्ति हो जाती है। फिर इस आख्यायिका का आध्यात्मिक अर्थ बताकर उससे होने वाली शिक्षा बतायी गयी है। इस कथा को सुनकर प्राचीन बर्हि को ज्ञान हो जाता है नारदजी चले जाते हैं। इस प्रकार नारदजी और प्राचीन बर्हि के सम्वाद की समाप्ति की गयी है।

इधर तप में निरत प्रचेताओं को भगवान् के दर्शन होते हैं। कृतार्थ होकर जब प्रचेता संसार में वृक्ष ही वृक्षों को देखते हैं तो

वे मुख से अग्नि निकाल कर उन्हें जलाने लगते हैं। ब्रह्माजी आकर उन सब को समझाते हैं और वृक्षों की कन्या वार्क्षी की कथा सुनाकर उसके साथ सब को विवाह करने की आज्ञा देते हैं। ब्रह्माजी की आज्ञा मानकर दशों प्रचेता वार्क्षी के साथ विवाह करते हैं, गृहस्थ धर्म का पालन करते हैं।

दक्ष प्रजापति को जो ब्रह्मज्ञान न होने का शाप हुआ था और यज्ञ में जो उन्होंने शिवजी का अपमान किया था, इसी कारण उन्हें पुनर्जन्म लेना पड़ा। वे ही दक्ष आकर वार्क्षी के उदर से पैदा हुए। इस जन्ममें भी उनका नाम दक्ष ही पड़ा। जब पुत्र हो गया तब प्रचेता गृहस्थाश्रम को त्यागकर वन में चले गये। यहाँ तक की कथा "भागवती कथा के तेरहवें खंड में है। अब आया चौदहवाँ खंड।

चौदहवें खंड में नारदजी के द्वारा प्रचेताओं को जो सदुपदेश प्राप्त हुआ सर्व प्रथम उसकी कथा है। यहाँ प्रचेताओं का प्रकरण पूरा हुआ। साथ ही विदुर मैत्रेय सम्वाद की भी समाप्ति हुई। अब भगवान् ऋषभ देव का चरित्र आरम्भ होता है।

महाराज मनु के प्रथम पुत्र उत्तानपाद का चरित्र तो पहिले ही कह आये हैं अब उनके द्वितीय पुत्र प्रियव्रत का चरित्र कहते हैं, किस प्रकार महाराज प्रियव्रत गृह त्यागकर वन में नारदजी की शिक्षा सुन रहे थे, उसी समय ब्रह्माजी को लिये हुए उनके पिताजी पहुँच गये। ब्रह्माजी ने उन्हें गृहस्थाश्रम की उपयोगिता बतायी, ब्रह्माजी की आज्ञा मानकर प्रियव्रतजी ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। गृहस्थाश्रम में रहकर भी वे विषयों से उदासीन रहते थे, जब उनके पुत्र हो गया, तो अपने को धिक्कारते हुए गृह छोड़कर चले गये। उनके पुत्र आग्नीध्र राजा हुए। ब्रह्माजी की भेजी हुई पूर्वचित्ति अप्सरा पर मोहित हो गये, उसके साथ विवाह किया और पुत्रों को उत्पन्न किया। उन सब पुत्रों में

बड़े नाभि थे। वे ही राजा हुए। इन्हीं महाराज नाभि को भगवान् ऋषभ के पिता श्री बनने का सुरदुर्लभ पद प्राप्त हुआ।

महाराज नाभि ने यज्ञ किया। यज्ञ में भगवान् प्रकट हुए। ब्राह्मणों ने भगवान् से कहा—"ये राजा आप जैसा पुत्र चाहते हैं।" भगवान ने कहा-मेरे समान तो मैं ही हूँ। मैं ही इनके घर पुत्र रूप में प्रकट होऊँगा। इसीलिये पारमहंस्य धर्म पृथिवी पर प्रकट करने के निमित्त भगवान् ऋषभ हुए। उनके सौ पुत्र हुए। जिनमें भरतजी सबसे श्रेष्ठ हुए। नौ पुत्र नौऊ खंड के राजा हुए। ऋषभदेव जी ने नौऊ पुत्रों को उपदेश दिया। फिर अवधूत वृत्ति को धारण किया, आजगरी वृत्ति का प्रदर्शन किया, स्वयं आयी हुई सिद्धियों को ठुकरा दिया, अन्त में दावाग्नि में शरीर को भस्म करके निर्वाण पद प्राप्तकिया। इसके अनन्तर श्री भरत-जी का चरित्र प्रारम्भ होता है। इस प्रकार ऋषभ चरित पर्यन्त द्वितीयाह की कथा है। यहाँ आकर द्वितीयाह समाप्त होता है किंतु "भागवती कथा का चौदहवाँ खंड समाप्त नहीं हुआ। तृतीयाह की कुछ कथा अभी इस खंडमें शेष है। भरत चरित तृतीयाह में है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में द्वितीयाह की विषय सूची कही। अब आप तृतीयाह की विषय सूची ध्यान पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

ध्रुव चरित्र करि पूर्ण वेनको चरित बखान्यो।
पुनि पृथुराज चरित्र प्रचेतनि मुनि सम्मान्यो॥
कही पुरञ्जन कथा भूरकूँ शिक्षा दीन्ही।
पुनि प्रियव्रत को चरित ऋषभ ज्यों शिक्षा कीन्ही॥
ऋषभ चरित अति ही सुखद, मुनि समास ही तें कह्यो।
यहाँ तलक सप्ताह में, द्वितिय आह पूरन भयो॥

—:०:—

तृतीयाह की विषय सूची

(१३७१)

दक्ष जन्म प्रचेतेभ्यस्तत्पुत्रीणां च सन्ततिः।
यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः॥
त्वाष्ट्रस्य जन्म निधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः।
दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः॥*

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

तृतिय आह में प्रथम भरत जड़ चरित बखान्यो।
कह्यो फेरि भूगोल ध्यान तें मुनिवर जान्यो॥
नरकनि को कछु वृत्त अजामिल चरित बतायो।
नाम महातम कह्यो विविध विधितें समुझायो।
नारदजी कूँ दक्ष ने, दयो शाप पुनि सो कथा॥
विश्व रूप सुर पुरोहित, सुरपति काट्यो सिर यथा॥

यह सम्पूर्ण संसार भेद से बना है, भिन्नता में ही सृष्टि है। समता में सृष्टि का अभाव है। सर्वज्ञ ऋषियों के मतों में कहीं

* श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तदनन्तर प्रचेताओं से जिस प्रकार प्रजापति दक्ष का जन्म हुआ उनकी पुत्रियों के जैसे सन्तानें बढ़ीं, उनसे जिस प्रकार सुर, असुर, नर, नग तथा खग आदि का जन्म हुआ वृत्रासुर का जैसे जन्म और निधन हुआ, दिति पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष तथा महात्मा प्रह्लाद जी का चरित्र (ये सब विषय तृतीयाह में वर्णित हैं)

कहीं भिन्नता-सी दृष्टि गोचर होती है। ग्रन्थ के पाठ में भिन्नता, सिद्धान्त में भिन्नता, विभाजन में भिन्नता यहाँ तक कि एक ही पद के अर्थ में विभिन्नता है। एक ही श्लोक के कई भाँति से अर्थ किये जा सकते हैं। इसी प्रकार सप्ताह पारायणों में भी स्थलों की भिन्नता है। कहीं तो द्वितीयाह की कथा ऋषभावधि बतायी है कहीं भरतावधि हमने ऋषभावधि मानी है। ऋषभ चरित की समाप्ति पर द्वितीयाह की कथा समाप्त हुई अब भरत चरित से तृतीयाह की कथा आरम्भ होती है। भागवती कथा के चौदहवें खण्ड में ऋषभदेव जी के चरित के अनन्तर राजर्षि भरत की तीन जन्मों की कथा है। महाराज भरत अपने पिता के अनन्तर किस प्रकार इस अजनाभ खण्ड के राजा हुए। ये ऐसे प्रतापी हुए कि उन्हीं के नाम से यह खंड भरत खंड के नाम से विख्यात हुआ। राजपाट त्याग कर ये पुलाहाश्रम में जाकर तप करने लगे। वहाँ जिस प्रकार गंडकी तट पर सन्ध्या करते समय गर्भिणी हरिणी आई, सिंहका दहाड़से उछलते समय जैसे उसका बच्चा नदी में गिर पड़ा, भरतजी जैसे उसे आश्रम पर लाकर पुत्रवत पालने लगे, फिर उनका जिस प्रकार उसमें मोह हो गया, उस मोह के कारण वियोग होने पर जैसे उन्हें अपार दुःख हुआ, उसी दुःख में मृत्यु होने पर फिर जैसे उन्हें मृगयोनि की प्राप्ति हुई यह भरत जी के प्रथम जन्म का चरित्र है। द्वितीय जन्म में वे हरिणी के गर्भ से हरिणी होकर जनमे। जाति स्मरण होने के कारण वे अपने जन्म स्थान कालिंजर पर्वत को त्याग कर पुनः गंडकी तट पुलहाश्रम में चले आये और शुष्क पत्ते खाकर गंडकी के जल में जैसे उन्होंने भगवन्नामों का उच्चारण करते हुए मृग शरीर को त्याग दिया यह भरतजी के दूसरे जन्म का चरित्र है।

तीसरे जन्म में भरतजी आंगिरस गोत्री ब्राह्मण के रूप में उत्पन्न हुए। जाति स्मर होने से ये किसी से किसी प्रकार का

सम्बन्ध नहीं रखते थे, जड़वत् व्यवहार करते थे अतः वे भरत से जड़ भरत हो गये। सब लोग उनसे मनमाने कार्य कराते थे, भाइयों ने भी उन्हें खेतों का रखवार बना दिया। वहाँ से जैसे उन्हें वृषल राजा के भृत्य पकड़कर बलि देने ले गये, वहाँ जिस प्रकार वे देवी के कारण बचकर जंगल में चले गये। वहाँ पालकी में बैठकर राजा रहूगण आ गया। नौकरों ने जैसे जड़ भरतजी को कहार के स्थान में पालकी में लगा दिया, इस सम्बन्ध से रहूगण से जैसे उनकी भेंट भयी यहाँ तक की कथा 'भागवती कथा' के चौदहवें खण्ड में वर्णित है।

पन्द्रहवें खंड में जड़ भरतजी के चरित्र को ही चालू रखते हुए जिस प्रकार राजा रहूगण ने भरतजी से व्यंग वचन बोले और उन्होंने उसके प्रश्नों का जैसे उत्तर दिया उसका युक्ति युक्त वर्णन है। भरतजी की विज्ञान भरी बातों को सुनकर राजा जैसे शरणापन्न हुआ, उनसे जो जो शंकायें की और भरतजी ने जैसे जैसे उनका उत्तर दिया जिस प्रकार व्यवहार और परमार्थ का विवेचन किया, मनको ही बन्धमोक्ष का कारण बताते हुए संगके प्रभाव को समझाया फिर आलंकारिक भाषा में जिस प्रकार भवाटवी में भटकते हुए बटोही का विपद वर्णन करके भाष्य रूप उसका भावार्थ बताया, इन सब बातोंको बताते हुए अन्तमें रहूगण और जड़ भरत के सम्वाद को समाप्त कर दिया है यहाँ तक जड़ भरत का चरित है। फिर राजर्षि गयके चरित्र को बताया है। अंत में प्रियव्रतवंश के शेषांशको कहकर नरकों का वर्णन है। महाराज परीक्षित् के प्रश्न करने पर शुकदेवजी ने यह बात बताई है, कि किन किन पापों के करने से कौन कौन नरक मिलते हैं नरकों में कौन कौन गति होती हैं। महा पाप कौन कौन से हैं, उन पापों को करने वालों को कौन कौन सी नारकीय यातनायें भोगनी पड़ती हैं इन सबका वर्णन है, जब राजा ने प्रश्न किया कि नरकों से

कैसे बचा जाय ? पापों का प्रायश्चित क्या है, तो इस पर कुछ प्रायश्चितों को गिनाकर अंत में प्रभु प्रेम की महिमा बताते हुए यह कहा गया कि एकमात्र भगवन्नाम संकीर्तन ही समस्त पापों को नाश करने के निमित्त पर्याप्त है। इसी प्रसंग में अजामिल का चरित्र कहा गया है।'

अजामिल प्रथम किस प्रकार सदाचारी कर्मकांडी ब्राह्मण था, कैसे समिधा लाते समय वन में वेश्या से समागम हो गया और वह कैसे उसके मोह में फँसकर धर्म भ्रष्ट हो गया, कैसे उसने कुलटा कामिनी को आत्म समर्पण कर दिया इन सबका वर्णन है। प्रसंग वश पूर्व जन्म के संस्कार ही सम्बन्ध में कारण हैं, इस प्रसंग को समझाने के लिये अजामिल के पूर्व जन्म का वृत्तांत बताया गया है।

महात्माओं के उपदेश से अजामिल ने अपने अन्तिम पुत्र का कैसे 'नारायण' नाम रखा और उस नारायण पुत्र में कैसे उसकी अत्यधिक आसक्ति हो गयी इस प्रसंग को बताते हुए कवि ने कहा है—

लै नारायण नाम प्रेम तें मुखकूँ चूमें।
गोदी में बैठाइ नरायन कहि कहि घूमें॥
अपने पीछे खाय नरायन प्रथम खवावै।
पीवै जो कछु पेय नरायन संग पिवावै॥
नारायन कूँ संग लै, यों खावत पीवत चलत।
नारायन भूलै नहीं, जागत हू सोवत उठत॥

इसी अभ्यास के कारण मृत्यु निकट आने पर यमदूतों को देखकर उसने उच्च स्वर से "नारायण" नाम को पुत्र के मिस से उच्चारण किया। यहाँ तक की कथा भागवती-कथा के पन्द्रहवें खण्ड तक वर्णित है।

सोलहवें खण्ड में अजामिल चरित को ही चालू रखते हुए

सर्व प्रथम यह प्रसंग है, जब नारायण नाम को सुनकर विष्णु पार्षद अजामिल के समीप आये, इधर यमदूत पहले से ही वहाँ आकर डटे थे, दोनों की भिड़न्त हुई, दोनों में शास्त्रार्थ फिर शास्त्रार्थ हुआ। विष्णु पार्षद कुछ तगड़े पड़ते थे, यमदूतोंकी भली भाँति कुटाई की। उनकी नस नस ढीली कर दी।

भगवन्नाम माहात्म्य के प्रसंग में बहुत सी आख्यायिकाएँ भी कही गयी हैं। उनमें हरिनाम से पापों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है, हँसी विनोद में भी भगवन्नाम श्रेयस्कर है, हरि उच्चारण मात्र से ही पापों को हरते हैं, नामोच्चारण का फल अमोघ है ये प्रसंग मुख्य हैं। विष्णु पार्षद और यमदूतों के सम्वाद को सुनकर अजामिल की भगवन्नाम में श्रद्धा हुई, उसे अपने पूर्व पापों पर पूर्ण पश्चात्ताप हुआ। घर छोड़कर वह हरिद्वार में चला गया और वहाँ उसे भगवत् पार्षदपद की प्राप्ति हो गयी।

इधर कुटपिट कर यमदूत यमराज के समीप रिक्त हस्त पहुँचे और उनसे सब वृत्तान्त कहा। सब सुनकर यमराज ने अपने दूतों के प्रश्नों का यथावत् उत्तर दिया और कह दिया—

कृष्ण कीरतन गुन गौरव जे गान करहिँ नर।
वे कबहूँ नहिँ भूलि निहारें नीरस मम घर॥
सब पापनि को एक प्राइचित मुनिनि बखानों।
होयँ नामके रसिक उनहिँ मेरो गुरु मानों।
यम आज्ञा दूतनि सुनी, शिरोधार्य सबने करी।
हरि कीर्तन करिकें चले, सब मिलि बोले जयहरी॥

इस प्रकार भगवन्नाम माहात्म्य से पूर्ण यह अजामिल चरित समाप्त हुआ, अब फिर प्रचेताओं के पुत्र दक्ष की कथा आरम्भ हुई। प्रजावृद्धि के हेतु प्रजापति दक्ष ने कैसे तप किया, किस प्रकार उन्हें भगवान् के दर्शन हुए। भगवत् आज्ञा से दक्ष ने

किस प्रकार मैथुनी सृष्टि करके हर्यश्व नामक दश सहस्र पुत्र उत्पन्न किये। प्रजावृद्धि के हेतु वे सबके सब नारायण सरोवर पर तप करने चले गये वहाँ उन्हें वीणा बजाते हरिगुण गाते नारदजी मिल गये। नारदजी ने उन सबसे दश कूट प्रश्न किये। भोले बालकों ने बाबाजी के वचनों पर विमर्श किया, परिणाम यह हुआ कि वे सबके सब बाबाजी बन गये। पुत्र वियोग से दुखित दक्ष ने पुनः सहस्र शबलाश्वों को उत्पन्न किया। नारदजी की तो दाढ़ गदक गयी थी, लाभ से लोभ बढ़ता है, उन सबको भी वे ही कूट वचन सुनाकर चेला बना लिया। दक्ष का अत्यन्त क्रोध आया घूमते रहने का शाप नारदजी को दे ही तो डाला। ब्रह्माजी ने कहा—छोरा पैदा करना बन्द करो छोरियों को पैदा करो। नारद यदि छोटियों से ऐसे घुल घुलकर बातें करेगा, तो स्वयं ही चेला बन जायगा। बूढ़े बाबा ब्रह्मा की बात दक्ष की बुद्धि में बैठ गयी। साठ कन्याओं को उत्पन्न किया। नारदजी ने आँख उठाकर भी उन परम सुन्दरी सुकुमारियों को नहीं निहारा। उन्हीं साठों की सन्तानों से यह संपूर्ण संसार भर गया। दक्ष की कन्याओं के वंश वर्णन प्रसंग में गरुड़ और अरुण की उत्पत्ति कही है। चन्द्रमा को दक्ष ने शाप क्यों दिया यह कथा बतायी है, फिर कश्यप जी की पत्नियों से किस किसकी उत्पत्ति हुई उनका वर्णन है। इसी प्रसंग में इन्द्र ने जैसे अपने गुरु बृहस्पतिजी का अपमान किया उनके आने पर उन्हें अभ्युत्थान नहीं दिया। यहाँ तककी कथा "भागवती कथा" के सत्रहवें खंडमें वर्णित है।

अब आया सत्रहवाँ खंड। इन्द्र ने अपने गुरु बृहस्पतिजी का जो अपमान किया उसका जो परिणाम उसकी कथा सत्रहवें खंड में आरम्भ होती है, अपमानित हुए देवगुरु ने देवताओं को [illegible]

देवता पराजित हो गये और दुखित होकर ब्रह्माजी की शरण में गये ब्रह्माजी ने उपदेश दिया कि गुरु द्रोही का कल्याण गुरु कृपा के बिना नहीं हो सकता, तुम लोग एक काम करो विश्वरूप को अपना पुरोहित बनालो। पितामह की आज्ञा से देवगण विश्वरूप के निकट गये, सब सुनकर विश्वरूप ने पौरोहित्य कार्य में अपनी अनिच्छा प्रकट की। बहुत कहने सुनने पर वे देवताओं के पुरोहित बन गये। देवेन्द्र ने जब देखा कि मातृपक्ष के सम्बंध से विश्वरूप चुपके चुपके यज्ञ में असुरों को भी बलि देता है, तो देवेन्द्र ने उनकी हत्या कर दी। ब्रह्महत्या इन्द्र को लग गयी। स्त्री, जल, भूमि तथा वृक्षों ने देवेन्द्र की हत्या बाँट ली। इन्द्र की हत्या तो हट गयी, किन्तु विश्वरूप के पिता त्वष्टा मुनि पुत्रवध से इन्द्र पर कुपित हो गये। उन्होंने यज्ञ कुंड से वृत्रासुर की उत्पत्ति की वृत्र ने देवताओं को युद्ध में पराजित कर दिया। पराजित देवों ने भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने भयभीत देवताओं को सम्मति दी, कि तुम दधीचि मुनि की हड्डी से अस्त्र बनाकर असुरों को पराजित करो। देवताओं ने इसे असंभव समझा तब भगवान् ने दधीचि का माहात्म्य तथा भगवन्नाम का माहात्म्य बताया। भगवान् की आज्ञा से देवता दधीचि मुनि की शरण में गये, उनकी अस्थि माँगी दधीचि मुनि ने परीक्षार्थ इसे असंभव बताया, तब देवताओं ने परोपकार की महिमा गायी। इस पर प्रसन्न होकर मुनि ने अस्थि देना स्वीकार किया और शरीर त्याग दिया। उनकी अस्थियों से इन्द्र का वज्र बना उसे लेकर देवताओं ने असुरों पर चढ़ाई की, वृत्रासुर ने बड़ी वीरता से देवताओं का सामना किया और उन्हें अधर्म युद्ध के लिये लज्जित किया। तदनन्तर वृत्रासुर और इन्द्र की मुठभेड़ हुई, रण में वृत्रासुर को भगवान् के दर्शन हुए। वृत्रासुर ने बड़े करुण स्वर में भगवान् की दिव्य स्तुति की

और अपनी अन्तिम साध बतायी। फिर अस्त्र शस्त्र लेकर इन्द्र से भिड़ गया। इन्द्र पराजित से हो गये, तब वृत्रासुर ने उसे उपदेश किया, इन्द्र ने वृत्र के वचनों का अभिनन्दन किया और फिर लड़ने लगा। वृत्रासुर ऐरावत हाथी सहित इन्द्र को निगल गया। देवेन्द्र वृत्रासुर के पेट में चले गये। यहाँ तक की "भागवती कथा" के सत्रहवें खंड तक है। अब आया अठारहवाँ खंड :—

अठारहवें खंड में उसी वृत्र चरित्र को चालू रखते हुए इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध का वर्णन है। वृत्रासुर के पेट को फाड़ कर इन्द्र बाहर निकल आये और उन्होंने अपने वज्र से वृत्र का वध कर दिया। वृत्रासुर तो मर गया, किन्तु ब्राह्मण होने से इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या लगी। वे ब्रह्महत्या के भय से मानसरोवर में छिप गये। इन्द्र के न रहने पर राजा नहुष को स्थानापन्न इन्द्र बनाया गया। इन्द्राणी पर मन चलाने के कारण उसका स्वर्ग से पतन हुआ। तब ऋषियों ने अश्वमेध यज्ञ करा कर इन्द्र को पाप रहित बना दिया, निष्पाप हुए इन्द्र पुनः स्वर्ग के राजा हुए। महाराज परीक्षित् के पूछने पर श्री शुकदेव जी ने वृत्रासुर के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाया। पुत्र हीन राजा चित्रकेतु के महलों में एक दिन अङ्गिरा मुनि गये। राजा ने मुनि से सन्तान की याचना की। मुनि ने यज्ञावशेष चरु देकर पुत्र होने का वर दिया, मुनि की कृपा से राजा की बड़ी रानी के पुत्र हो गया। बड़ी रानी का आदर बढ़ने से उसकी अन्य सौतों को क्षोभ हुआ उन सब ने मिल कर राजकुमार को विष दे दिया। बच्चा मर गया। मृत पुत्र के लिये माता पिता ने अत्यन्त विलाप किया, मृतक पुत्र को लेकर रानी करुण क्रन्दन करने लगी, राजा भी अत्यधिक अधीर हो गये। उसी दशा में वहाँ अङ्गिरा तथा नारद मुनि आ गये। महामुनि अङ्गिरा ने शोक संतप्त राजा रानी को ज्ञानोपदेश दिया।

जब राजा का शोक दूर हुआ तब नारद जी ने उन्हें शिक्षा दीक्षा दी, मृत पुत्र के जीवात्मा को बुलाकर उससे भी शिक्षा दिलायी, इधर विष देने वाली रानियों को भी अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ, उन्होंने भी यमुना तट पर जाकर अपने पाप का प्रायश्चित्त किया।

राजा चित्रकेतु श्री नारद प्रदत्त मन्त्र के प्रभाव से विद्याधरों के राजा बन गये। संकर्षण भगवान् ने उन्हें सदुपदेश दिया। विद्याधरों के राजा होकर वे इच्छानुसार सर्वत्र विमान में घूमने लगे। एक दिन शिव जी के अंक में विराजमान शिवा को देखकर शिव जी की हँसी उड़ायी, इस पर शिवा ने उसे आसुरी योनि में जाने का शाप दिया। इस पर राजा को न सुख हुआ न दुख। यह देखकर शिवजी ने भक्त राजा की प्रशंसा की। वही राजा चित्र केतु त्वष्टा मुनि के यज्ञ कुंड से वृत्रासुर होकर उत्पन्न हुआ। यहाँ तक वृत्रासुर का चरित्र हुआ।

वृत्र चरित्र को समाप्त करके अदिति के शेष वंश का वर्णन किया गया है, फिर दिति वंश का वर्णन है इसी प्रसंग में महिषासुर की कथा भी कही गयी है। फिर दिति की उदर से जन्म होने पर भी उन्नचास मरुतों की दैत्य संज्ञा न होकर वे देवता कैसे कहाये यह कथा है। मरुत उत्पत्ति के साथ ही "भागवती कथा" का अठारहवाँ खंड समाप्त किया गया है। अब आता है उन्नीसवाँ खंड।

उन्नीसवें खंड में मरुत चरित को चालू रहते हुए इन्द्र ने जिस प्रकार छद्म वेष रख कर अपनी मौसी दिति की सेवा की और अवसर पाकर उसके उदर में घुस कर उसके गर्भ के उनंचास टुकड़े कर दिये यह कथा कह कर मरुत चरित समाप्त किया गया है, अब आरम्भ होता है प्रह्लाद चरित।

प्रह्लाद चरित नारद और युधिष्ठिर के सम्वाद रूप में है।

महाराज परीक्षित् श्री शुकदेव जी से पूछते हैं भगवान् के व्यवहार में विषमता क्यों है। इस पर भगवान शुक कहते हैं भगवान् तो निर्गुण निर्लेप हैं। इसी प्रसंग मे वे धर्मराज युधिष्ठिर और नारद जी का सम्वाद सुनाते हैं। जय विजय को कैसे शाप हुआ, कैसे वे हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष हुए। भगवान् ने सूकर बन कर हिरण्याक्ष को मार दिया इस पर हिरण्यकशिपु किस प्रकार श्री हरि पर कुपित हुआ। उसने सर्व प्रथम अपने समस्त सम्बन्धियों को सान्त्वना दी। इसी प्रसंग में उसने बालक बने यमराज और प्रेत बन्धुओं का सम्वाद सुनाया। अन्त में अपने उपदेश का सार बताते हुए उसने कहा सब के रक्षक जगदीश हैं, दैवरक्षित ही यथार्थ रक्षित है, आत्मा शरीर से भिन्न है स्वपराभिनिवेश अज्ञान जन्य है। कवि ने इन शब्दों मे इसका सार कहा है—

आत्मा है निरलेप रहै नित पृथक देह तें।
जैसे गेही रहै भिन्न ई सदा गेह तें॥
जलमें बुद्बुद होहिँ नहीं ते जल कहलाव।
कनक एकरस रहै हार कंकण मिटि जावें॥
अनल काठतें अलग है, वायु देहतें पृथक ज्यों।
है असंग नभ सर्व गत, आत्मा हू निरलेप त्यों॥

इस प्रकार सब को समझा बुझा कर हिरण्यकशिपु तपस्या के निमित्त वन में चला गया, उसकी कठिन तपस्या को देखकर ब्रह्मा जी ने उसकी इच्छा के अनुरूप कठिन वर दिये। वर पाकर उसका ऐश्वर्य अत्याधिक बढ़ा। वह दुष्ट देवताओं को दुख देने लगा। दुखित देवगण दीन बन्धु के द्वार पर दया की भीख माँगने गये। भक्त वत्सल भगवान् ने कह दिया, प्रह्लाद के जन्म की प्रतीक्षा करो हम सब दुख दूर करेंगे।

प्रह्लाद जी का जन्म हुआ, जन्म से ही उनमें भगवन् भक्तों

के सब लक्षण प्रकट होने लगे। भक्त पुत्र और असुर पिता में आरम्भ से ही मत भेद हो गया। प्रह्लाद जी को पढ़ने पाठशाला पहुँचाया गया, वहाँ भी वे राम नाम पढ़ने लगे यहाँ तक की कथा "भागवती कथा" के उन्नीसवें खंड तक है। अब आया बीसवाँ खंड।

बीसवें खंड में प्रह्लाद चरित को ही चालू रखते हुए जिस प्रकार हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजी से पुनः प्रश्न पूछे हैं उनका वर्णन है। पिता ने जब गुरुपुत्रों पर दोष मढ़ना चाहा तब प्रह्लाद जी ने उन्हें निर्दोष सिद्ध कर दिया। इस पर पिता ने पुत्र पर प्रहार करने के प्रयत्न किये। प्रह्लाद जी के मारने के विविध उपाय रचे, किन्तु उन यातनाओं से प्रह्लाद जी भयभीत नहीं हुए, भला भगवत् भक्त को भय कहाँ? प्रह्लाद जी के कारण जब हिरण्यकशिपु अधिक चिन्तित होने लगा तब गुरु पुत्रों ने सम्मति दी आप चिन्ता न करें बालक है सुधर जायगा।

यह सुन कर दैत्य राज ने पुनः पुत्र को पाठशाला भेजा। वहाँ प्रह्लाद जी विद्यार्थी से स्वयं पाठक बन गये दैत्यपुत्रों को बिठा कर प्रेम का पाठ पढ़ाने लगे। उनको समझाने लगे देखो गृहस्थ में बड़े झंझट हैं, गृहस्थी को वैराग्य होना बड़ा कठिन है। ये संसारी वृत्तियाँ वैराग्य में बड़ी बाधक हैं, जीवन का प्रधान कर्तव्य भगवद् भक्ति ही है, मैंने यह सब ज्ञान नारद जी से प्राप्त किया है। दैत्य पुत्रों के यह पूछने पर कि नारदजी को तुमने

कहाँ भेंट हुई ? इस पर प्रह्लाद जी ने कहा—मेरे पिता जब तप कर रहे थे, तो इन्द्र मेरी माता को पकड़ ले गये। बीच में नारद जी मिल गये। उन्होंने कह सुन कर माता को छुड़ाया और अपने आश्रम पर रखा। वहीं वे मुझे लक्ष्य करके उपदेश करते थे मैं गर्भ में सब सुनता रहता था। माता तो भूल गयी मुझे मुनि की कृपा से सब याद है। गर्भ में ही मुझे नारद जी ने भागवत धर्म आत्मानुभव के उपाय, गुरु शुश्रुषादि साधन, योगादि अन्य उपाय प्रभुपाद पद्मों में रति, भगवद् भक्तों की प्रेम दशायें, भगवत् प्राप्ति की सुलभता तथा भगवत् प्राप्ति में सभी का अधिकार आदि विषय समझाये थे।

इस प्रकार प्रह्लाद जी उपदेश कर ही रहे थे कि गुरुपुत्र वहाँ आ गये, उन्होंने हिरण्यकशिपु से जाकर सब कह दिया कि राज पुत्र तो अन्य दैत्य पुत्रों को भी बिगाड़ता है। इस पर हिरण्यकशिपु भी अत्यन्त कुपित हुआ उसने हाथ में खड्ग लेकर प्रह्लाद जी से पूछा—"बता तेरा विष्णु कहाँ है ?" प्रह्लाद जी ने कहाँ—"मों में तो में खड्ग खंभमें।" हरिण्यकशिपने पूछा—"इस खम्भमें है ?" प्रह्लाद जी ने कहा—"हाँ" उनके हाँ कहते ही खम्भ में से भगवान् नृसिंह निकल पड़े। नृसिंह भगवान् और हिरण्यकशिपु का युद्ध हुआ। भगवान् ने हिरण्यकशिपु को मार गिराया। देवताओं ने भगवान् का जय जय कार किया। नृसिंह भगवान् उछल कर दैत्यराज के खाली सिंहासन पर जा बैठे। यहाँ तक की कथा 'भागवती कथा' के बीसवें खंड तक में है। अब आता है इक्कीसवाँ खंड।

इक्कीसवें खंड में भी प्रह्लाद चरित को चालू रखते हुए जिस प्रकार हिरण्य कशिपु के मर जाने पर देवताओं ने आकर भगवान्

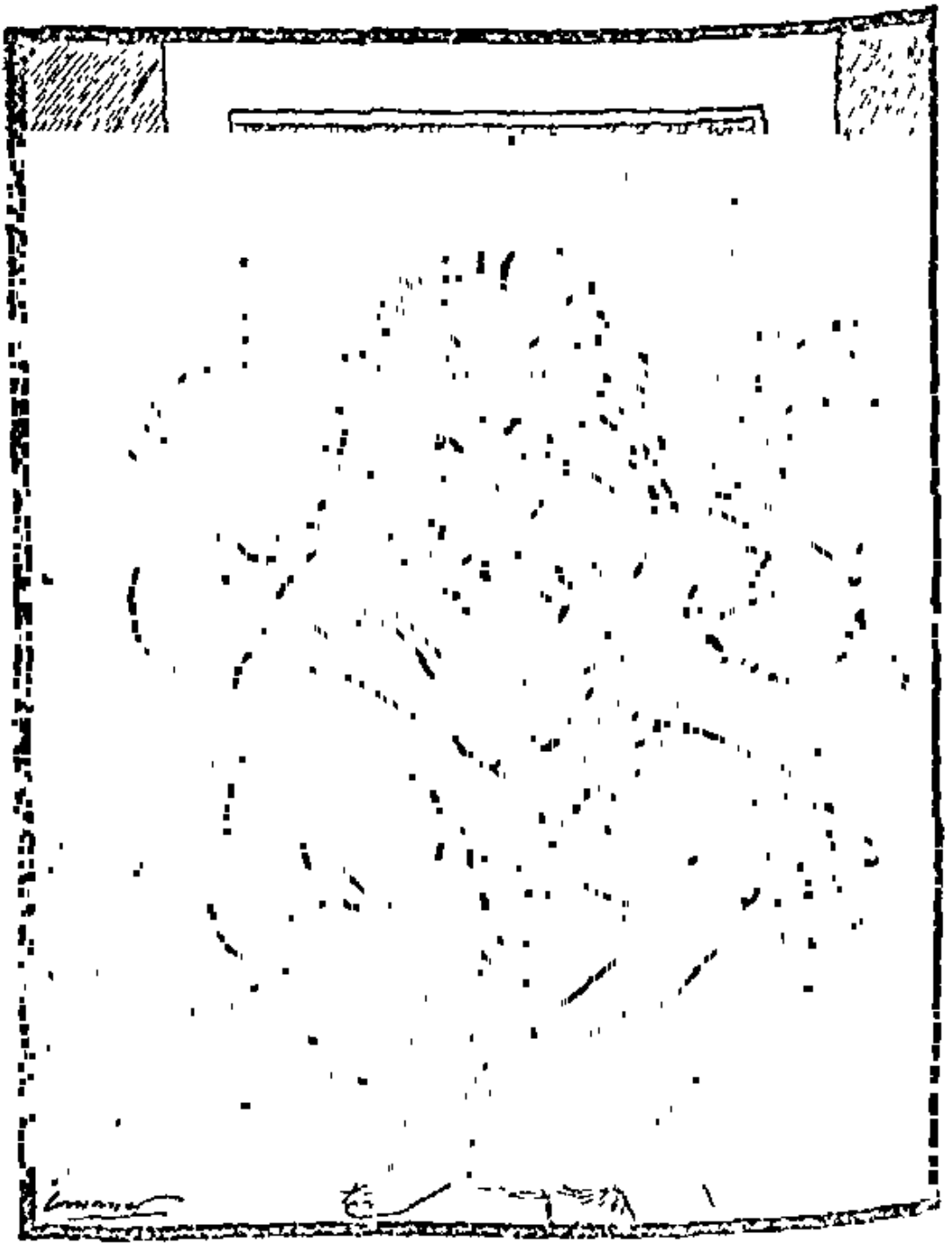

की स्तुति की उसका वर्णन है, फिर जैसे भगवान् ने अपने भक्त प्रह्लाद के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया उसे कहा है, इसके अनन्तर

प्रह्लाद जी ने बड़े मार्मिक शब्दों में भगवान् की दिव्य स्तुति की है, उसका एक एक अक्षर पठनीय है। कवि ने लावनी छंद में उसका अत्यन्त सरसता और सुघरता से यों वर्णन किया है—

जब परी जननि पै भीर तबहिं दुख टारे।
हे कृपानाथ करुणेश जगत रखवारे॥
नित सत्व प्रकृति सुर तुमहिं रिझावैं ध्यावैं,
अज शिव सनकादिक पार न पावैं गावैं
हम नीच असुर अति क्रूर अधम कहलावैं,
क्यों करी कृपा शुभ दरशन दीये प्यारे॥१॥
नहिं कोई तुम कूँ तप प्रभाव तैं पावैं,
यदि भक्त होहि तो पशु पैहू दुरि जावैं।
हों भक्त हीन द्विज नहिं तिनि मख में आवैं,
अगनित खल श्वपचहु भक्त भक्ति तैं तारे॥२॥ हे०
जो जैसे तुमकूँ नर हरि भगवन ध्यावै,
वह तैसो दरशन नाथ तुम्हारो पावै।
ज्यों दरपन मे प्रतिबिम्ब स्वरूप लखावै,
हैं प्रकट खम्भ तें मेंटे दुःख हमारे॥३॥ हेकृपा०
भक्तनि हित नव कच्छ मच्छ वपु धारो,
जो शत्रु भावतैं भजैं तिनहिं संहारो।
असुरनिकूँ दैकें मुक्ति सुरनि दुख टारो,
जग जीवनि हित अति मधुर चरित विस्तारे॥४॥हे०
नित तुमरे चरितनि भक्त जननि में गाऊँ,
नित रूप मनोहर तुमरो नर हरि ध्याऊँ,
भव तरनि चरन गहि नाथ! पार ह्वै जाऊँ,
हैं जगजीवन अति सुखमय चरन तिहारे॥५॥हे ना०
यह जीव जगत में तुम कूँ तजि कें भटक्यो,
माया के फंदे फँस्यो गुननि महँ अटक्यो।

चौरासी चक्कर माहिं अविद्या पटक्यो,
हो तुमही नरहरि एक सहारे ॥६॥ हे कृपा०
नहिं उत्तम मध्य अधम बुद्धि है तुमरी,
है तुमकूं सृष्टि समान चराचर सबरी।
हम काल व्याल ने डसे लेउ सुधि हमरी,
ये काम क्रोध मद लोभ मोह अहि कारे ॥७॥ हे०
यह मन मेरो है नरहरि चंचल भारी,
नहिं सुने तुम्हारी कथा सकल अघहारी।
हौं दीन हीन अति छीन गँवार भिखारी,
हे नाथ! लगावो डूबत नाव किनारे ॥८॥ हे०
है माया अपरम्पार तुम्हारी स्वामी,
कैसे पावैं हम तुम्हें असुर खल कामी।
हो घट घट व्यापी प्रभुवर अन्तरयामी,
निगमागम सबरे नेति नेति कहि हारे ॥९॥ हे०
हे कृपानाथ करुणेश जगत रखवारे।
जब परी जननि पै भीर तबहिं दुख टारे॥

इस प्रकार स्तुति सुनकर भगवान् ने भक्त से वर माँगने को कहा प्रह्लाद जी ने बड़ा विचित्र वर माँगा कि मेरे मन में माँगने की वासना ही न रहे। द्वेषी पिता की सद्गति हो यह प्रार्थना की। भगवान् अपने भक्त को इच्छानुसार वर देकर तिरोहित हो गये। इसके अनन्तर प्रह्लाद जी के तीन जन्मों का वृत्तान्त सुनाया है, इस प्रकार नृसिंह चरित की समाप्ति की गयी है।

इसके अनन्तर त्रिपुर वृत्तान्त तथा शिव जी द्वारा तीनों पुर के दाह की कथा कही गयी है, धर्मराज और नारद मुनि सम्वाद की समाप्ती तक तृतीयाह की कथा है, यहाँ तीसरे दिन पाठ का विश्राम है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप

तृतीयाह की सूची सुनायी, अब आप दत्त चित्त होकर चतुर्थाह की सूची सुनने की कृपा करें।

छप्पय

पूर्व वृत्रको चरित चरित मरुतनिको भाख्यौ।
पुनि प्रह्लाद चरित्र पिता ज्यों गुरुगृह राख्यौ॥
दीये ज्यों बहु कष्ट करयो कीर्तन ज्यों हरिको।
प्रकटे श्रीनरसिंह उदर फारयो ज्यों अरिको॥
नारद मुनितैं धरम सुत, तैं जैसे यह सब कह्यौ।
धरमराज सम्वाद तक, तृतिय आह पूरन भयौ॥

—::०::—

चतुर्थाह की विषय सूची

(१३७२)

मन्वन्तरानु कथनं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम् ।
मन्वन्वतरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः । *

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

अब चतुर्थ में प्रथम ग्रास गज चरित मनोहर ।
सुर विनती पुनि मथन पयोनिधि पान गलहर ॥
धन्वन्तरि अवतार मोहिनी चरित रँगीलो ।
देवासुर संग्राम भयो दैत्यनि बल ढीलो ॥
मिलन मोहिनी शम्भु को, करी विजय बलि ने यथा ।
यों बाले छलिबे की कही, छलिया बटु बामन कथा ॥

गाय भैंस आदि पशु घास आदि चारे को प्रथम वैसे ही गोले बनाकर निगल जाते हैं, जब पेट भर के खालेते हैं, तब एकान्त में बैठकर जुगार करते हैं, उस पेट में गये हुए चारे को पुनः चबाते

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! तदनन्तर मन्वन्तरों की कथा, ग्रा[illegible] के मुख से गजेन्द्र का छुड़ाना, जगत्पति भगवान् विष्णु के भिन्न भिन्न मन्वन्तरों में होने वाले अवतारों की कथा तथा उनके हय शीर्षादि अवतारों की कथा (ये सभी चतुर्थाह में वर्णित हैं) ।"

हैं। वस्तु वही है जिसे पहिले खा चुके हैं, पेट में डाल चुके हैं, किंतु दुबारा चबाने से-जुगार करने से-उससे रस आता है, वह भली भाँति पच जाता है। इसी प्रकार पुस्तक पढ़ लेने के अनन्तर उनके पढ़े हुए विषयों की संक्षिप्त सूची मनन करने से वह कथा नवीन होकर दृष्टिपथ के सम्मुख नृत्य सी करने लगती है, विस्मृत विषय पुनः स्मरण हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने तृतीयाह की विषय सूची आपको सुना ही दी, अब चतुर्थाह की कहता हूँ। "भागवती कथा" के इक्कीसवें खंड में तृतीयाह पूर्ण नहीं हुआ था। धर्मराज और देवर्षि नारद सम्वाद के समाप्ति पर्यन्त तीसरे दिन की कथा है जहाँ से मन्वन्तरों की कथा चलती है वह चतुर्थाह है। सर्व प्रथम मन्वन्तरों के नाम हैं। उन उन मन्वन्तरों में कौन कौन से अवतार हुए उनका वर्णन है। प्रथम द्वितीय मन्वन्तरों के तृतीय चतुर्थ मन्वन्तरों की कथायें हैं। चतुर्थ मन्वन्तर में ही हरि भगवान् का अवतार हुआ जिन्होंने गज का ग्राह के मुख से उद्धार किया। पहिले यह बताया है गज और ग्राह कौन थे, ग्राह ने गज का पैर क्यों पकड़ा, अधीर होकर गज ने कैसे भगवान् की स्तुति की। गज की विनय सुनकर भगवान् ने कैसे दोनों का उद्धार किया, गज ग्राह पूर्व जन्म में कौन थे, इस प्रकार गज ग्राह के चरित्र को छै अध्यायों में कहा गया है।

तदनंतर पञ्चम और छठवें मन्वन्तरावतार की कथा है। छठवें मन्वन्तरावतार में जो अजित भगवान् हुए उन्होंने क्षीर सागर का मन्थन कराया। इसलिये अब समुद्र मन्थन की कथा आरम्भ हुई। इन्द्र के अपराध से दुर्वासा मुनि के शाप से तीनों लोकों की श्री नष्ट हो गयी। त्रैलोक्य श्रीहीन हो गया, सब देवता मिलकर ब्रह्माजी के समीप गये, ब्रह्माजी सब देवताओं को लिये हुए भगवान् के समीप गये। भगवान् अजित ने देवताओं को सम्मति दी

कि तुम असुरों से सन्धि कर लो। दोनों मिलकर समुद्र को मथो। उसमें से श्री भी निकलेगी, अन्य रत्न तथा अमृत भी निकलेगा। भगवान् ने सुरों को समझाते हुए नीति बताई—'देखो, स्वार्थ सिद्धि के लिये शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिये। भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके सुरों ने असुरों के साथ सहर्ष सन्धि कर ली। यहाँ तक की कथा 'भागवती कथा' के इक्कीसवें खंड में है, अब आया बाईसवाँ खंड।

बाईसवें खंड में उसी समुद्र मन्थन की कथा को चालू रखते हुए देवता और दैत्य मिलकर समुद्र मंथन को सहमत हो गये आरम्भ में यही कथा है। अब उठा मथानी का प्रश्न, इसके लिये दोनों मन्दराचल पर्वत को ले आये। पूँछ कौन पकड़े सिर कौन पकड़े इसके लिये भगवान् ने उलटों से उलटा व्यवहार करके पहिले देवताओं के सहित मुख पकड़ा, असुरों द्वारा आपत्ति करने पर मुख छोड़कर देवताओं के सहित पूँछ पकड़ी फिर जैसे भगवान् ने कछुआ बनकर मंदराचल को पीठ पर धारण किया, स्वयं समुद्र को मथा, सब से प्रथम विष निकला, उसे पान करने को पशुपति से प्रार्थना की। परोपकार का महत्व प्रकट करते हुए विश्वनाथ विष को पान कर गये। क्यों न करें परोपकार ही प्रभु की परमाराधना है। विश्वनाथ के विष के पान के अनतर पुनः समुद्र मथा गया, फिर अन्य रत्न उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् लक्ष्मीजी की उत्पत्ति हुई, अपने सदृश वर खोजने लक्ष्मी जी सबके निकट गयीं, सब से अंत में उन्होंने श्रीमन्नारायण को वरण कर लिया। तदनंतर अमृत लेकर धन्वन्तरि जी प्रकट हुए। असुर उनसे अमृत के कलश को लेकर भाग गये, आपस में लड़ने लगे, फिर भगवान् ने मोहिनी रूप धारण किया। घूँघट मारकर असुरों को मोहित करके अमृत का कलश हथिया लिया, सुरों को अमृत पिलाकर भगवान् फिर मोहिनी से मोहन बन गये। भगवान् ने

ऐसा कपट व्यवहार क्यों किया, समान प्रयत्न करने पर भी असुरों को अमृत क्यों नहीं मिला, इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए बताया है कि विषयासक्ति में ही मृत्यु है।

इसके अनंतर देवता और असुरों के युद्ध का वर्णन है। दोनों में कैसे द्वंद्व युद्ध हुआ, बलि ने इन्द्र के साथ किस प्रकार माया युद्ध किया, इन्द्र ने कैसी आसुरी माया का विनाश किया और असुरों को हराया, बलि को हराकर इन्द्र ने नमुचि को मारा इस प्रकार युद्ध होने पर ब्रह्माजी की आज्ञा से नारद मुनि ने आकर युद्ध को समाप्त कर दिया। यहाँ तक देवासुर संगाम की कथा है।

अब आयी रँगीली रसीली कथा, कैलास पर बैठे शिवजी को भगवान् के मोहिनी रूप के दर्शनों की इच्छा उठती है, वे अपने गणों तथा नन्दी के सहित वैकुण्ठ में जाते हैं और मोहिनी को देखकर उनके पीछे दौड़ते हैं। फिर मोहिनी का पीछा करते हैं, हरि हरात्मक सम्मिलन हो जाता है। 'भागवती कथा" का बाईसवाँ खंड भी समाप्त हो जाता है। अब आता है तेईसवाँ खंड।

तेईसवें खंड के आरम्भ में मोहिनी चरित का शेषांश कह कर इस चरित्र को समाप्त कर दिया गया है, इस प्रकार षष्ठम मन्वन्तर के अवतार भगवान् अजित की यह समुद्र मन्थन लीला समाप्त हुई, फिर सप्तम मन्वन्तरकी कथा कहकर आने वाले सात मन्वन्तरों की कथा अत्यन्त संक्षेप में कहकर चौदह मन्वन्तरों का वर्णन करके मन्वन्तरोंके मनु आदि के कार्यों को बताया गया है। अब आती है छलिया बटु वामन की कथा।

महाराज बलि ने स्वर्ग को विजय करने के लिये पुनः प्रयत्न किया। गुरु कृपा से उसने स्वर्ग पर चढ़ाई कर दी। देवताओं के गुरु बृहस्पति जी ने देवताओं से कह दिया—तुम लोग असुरों को अबके नहीं जीत सकते। स्वर्ग छोड़कर चुपके से भाग जाओ।" गुरु आज्ञा से देवगण भाग जाते हैं, बिना युद्ध के बलि तीनों

लोकों का राजा बन जाता है। देवताओं की माता अदिति को इससे बड़ा दुख होता है। वह भगवान् की आराधना करती है, कश्यपजी की सम्मति से पयोव्रत का अनुष्ठान करती हैं, उनके नियम व्रत से सन्तुष्ट होकर भगवान् उनके सम्मुख प्रकट होते हैं, स्वयं पुत्र बनकर सुरों के दुःखों को दूर करने का आश्वासन देते हैं और वामन बनकर उनके गर्भ से उत्पन्न होते हैं। छोटे से वामन बन गये, कश्यपजी ने उनकी जनेऊ करा दिया। अब दंड कमंडल लिये, बगल में मृगछाला दबाये यज्ञ में दीक्षित बलि को छलने जाते हैं, बलि उनसे तेजस्वी बटुका हृदय से स्वागत करता है—

चाहो मनहर महल गुदगुदी सुखकर शैया।
अथवा गज रथ अश्व दूध की सूधी गैया॥
या जस बौने आपु बौनटी दुलहिनि चाहो।
अबई करूँ विवाह न मन महँ बटु सकुचाओ॥
बहु सम्पति युत ग्राम अरु, जो चाहो सोई कहहु।
अथवा मेरे महल महँ, भूपति बनि द्विजवर रहहु॥

विवाह फिवाह तो करना ही नहीं था, वे तो बलि को छलने गये थे। पहिले तो बलि के कुलकी—उसके पिता पितामह की—भर पेट प्रशंसा करी। फिर तीन पग पृथिवी माँगने का प्रस्ताव किया। बलि के गुरु शुक्राचार्य समझ गये यह छलिया विष्णु ही बटु बनकर मेरे शिष्य को छलने आया है। उन्होंने शिष्य को समझाया, व्यावहारिक धर्म बताया। कुछ गोल मोल धर्म भी बताया और किन किन स्थानों में झूठ बोलने से विशेष दोष नहीं होता यह भी समझाया, किंतु उदारमना महाराज बलि के कण्ठ के नीचे यह बात नहीं उतरी, वे अपने सत्य में ही दृढ़ रहे। क्रुद्ध होकर शुक्राचार्य ने उन्हें श्रीहीन होने का शाप दे दिया, इससे भी वे विचलित नहीं हुए। अब छोटे से वामन बटु बड़े हो गये

उन्होंने विराट रूप बना लिया। यहाँ तक की कथा "भागवती-कथा" के तेईसवें खंड में है। अब आता है चौबीसवाँ खण्ड।

चौबीसवें खण्ड में उसी वामनावतार की कथा को चालू

रखते हुए दो डग में जैसे भगवान् ने इस ब्रह्माण्ड को नाप लिया उसका वर्णन है। फिर जैसे प्रभु के पाद पद्मों से विष्णुपदी गङ्गा जी प्रकट हुईं असुरों ने वटु वामन पर कोप किया और बलि ने निवारण करके तीसरे पैर के लिये अपना शरीर अर्पण कर दिया और उसी समय उनके पितामह प्रह्लाद जी आ गये उसका वर्णन है।

तदनंतर ब्रह्माजी के पूछने पर भगवान् ने बताया कि जिसके ऊपर मैं कृपा करता हूँ, उसके धनको अपहरण कर लेता हूँ। ऐसा कहकर भगवान् ने बलि पर कृपा की और उसे सुतल लोक में भेज दिया तथा उनके द्वारपाल बनकर सदा रहने लगे। फिर देवताओं को स्वर्ग का राज्य मिल गया और वामन भगवान् उपेन्द्र बन गये। इस प्रकार वामनावतार की कथा समाप्त होने पर मत्स्यावतार की कथा है।

प्रथम अवतार का प्रयोजन बताकर धर्म के क्षयिष्णु होने की कथा है, फिर महाराज सत्यव्रत पर मत्स्य भगवान् ने कैसे कृपा की, कैसे वे छोटे से बड़े बन गये, राजा ने जब उन्हें पहिचान लिया तो वे सींग मे नौका बाँधकर सप्तर्षियों के सहित प्रलय काल के जल में कैसे विहार करते रहे, इन सब कथाओं को कहकर मत्स्यावतार का चरित समाप्त किया है। वे ही राजा सत्यव्रत इस कल्प में वैवस्वत मनु हुए जिनसे सूर्यवंश और चन्द्रवंश ये दो प्रसिद्ध क्षत्रियों के वंश चले।

प्रथम मनु पुत्र सुद्युम्न की कथा है, वे कैसे इलावृत खंड में जाकर पुरुष से स्त्री बन गये, कैसे उनका बुध से समागम हो गया, बुध कैसे उत्पन्न हुए थे, इला और बुध से पुरूरवा का जन्म कैसे हुआ, इतनी कथा कहकर छोड़ दी है, क्योंकि चन्द्रपुत्र बुध के ही सुत पुरूरवा हुए इनसे ही चन्द्रवंश आरम्भ होता है। जिसकी कथा सूर्यवंश के पश्चात् कही जायगी। अतः इस कथा

को यहीं छोड़कर अब सूर्यवंश की कथा आरम्भ होगी। यहाँ तक "भागवती कथा" का चौबीसवाँ खंड समाप्त हुआ, अब आया पच्चीसवाँ खण्ड।

पच्चीसवें खण्ड में सूर्यवंश का वर्णन करते हुए सर्व प्रथम पृषध्र की कथा है, फिर करूप आदि के वंशों का वर्णन करते हुए नाभाग चरित कहा गया है। फिर वत्स प्रीति, प्रांशु, खनित्र, खनिनेत्र, करन्धम, अवीक्षित्, मरुत्त, दम, राज्यवर्धन तृणविन्दु तथा शर्याति आदि राजाओं के चरित्र हैं। फिर शर्याति राजा की पुत्री सुकन्या की कथा है। राजा अपनी पुत्री और सेना के सहित कैसे च्यवनाश्रम पर गये। कैसे दीमक लगे च्यवन मुनि की आँखें सुकन्या ने फोड़ दीं, कैसे फिर उसका विवाह अंधे और बूढ़े च्यवन मुनि से हुआ। अश्विनी कुमारों की कृपा से कैसे मुनि वृद्ध से तरुण बन गये, च्यवन मुनि ने देवताओं के पंक्ति से निकाले अश्विनी कुमारों को कैसे यज्ञ में देवताओं के साथ भाग दिलाया ये सब कथायें विस्तार के साथ वर्णन की गयी हैं। फिर शर्याति के पुत्रों की कथा है। इसी प्रसंग में बलराम जी के साथ रेवती का विवाह कैसे हुआ इसकी कथा है। तदनंतर नभग वंश का विस्तार से वर्णन है।

नभग के पुत्र नाभाग हुए, उन्हीं नाभाग के पुत्र परम भागवत महाराज अम्बरीष हुए जिनकी एकादशी व्रत में बड़ी निष्ठा थी। राजर्षि अम्बरीष की एकादशी व्रत की निष्ठा बताकर "भागवती कथा का पच्चीसवाँ खण्ड समाप्त कर दिया गया है, अब आता है छब्बीसवाँ खण्ड।

छब्बीसवें खण्ड में अम्बरीषजी के ही चरित्र को चालू रखते हुए प्रथम एकादशी व्रत की उत्पत्ति की कथा है, इसी प्रसंग में एकादशी के प्रेमी महाराज रुक्माङ्गद का भी चरित्र कह दिया है। फिर अम्बरीष जी के यहाँ द्वादशी को दुर्वासा मुनि कैसे

आये, कैसे उन्होंने क्रोध करके कृत्या को निकाला, कैसे मुनि की दुर्दशा हुई, कैसे वे भगवान् विष्णु की शरण गये फिर अम्बरीष की शरण में आने पर कैसे उनके दुःख की निवृत्ति हुई, इत्यादि कथा कहकर अम्बरीष चरित्र समाप्त कर दिया गया है। फिर शशाद, ककुत्स्थ, धुन्धुमार, युवनाश्व, तथा मान्धाता आदि राजाओं की कथायें हैं। इसी प्रसंग में महर्षि सौभरि का चरित्र कहा है। तपस्या में निरत सौभरि ऋषि को मत्स्य मैथुन देखकर कैसे विवाह की इच्छा उत्पन्न हुई, कैसे उन्होंने मान्धाता की पचास पुत्रियों के साथ विवाह किया, योग प्रभाव से कैसे उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन को व्यतीत किया, कैसे सौभरि ऋषि के वंशज विप्र अहिवासी कहाये, फिर कैसे वैराग्य होने पर सब कुछ छोड़कर मुनि तपस्या करने वन में चले गये ये सब प्रसंग कहकर सौभरि ऋषि के चरित्र की समाप्ति की गयी है। तदनन्तर मान्धाताके वंशज त्रिशंकु तथा महाराज हरिश्चन्द्र चरित्र तक "भागवती कथा, का छब्बीसवाँ खण्ड समाप्त हुआ अब आता है सत्ताईसवाँ खण्ड।

सत्ताईसवें खण्ड में उसी हरिश्चन्द्र चरित्र को चालू रखते हुए उनका उत्तर चरित्र कहा गया है फिर बाहुक पुत्र महाराज सगर की कथा है। कैसे महाराज सगर ने अश्वमेध यज्ञ किया, कैसे इन्द्र द्वारा अश्व चुराये जाने पर उनके साठ सहस्र पुत्र पाताल में गये और कपिल मुनि के कोप से भस्म हो गये फिर उनका पौत्र अंशुमान किस प्रकार घोड़े को लौटा लाया। अंशुमान के पुत्र दिलीप कैसे प्रभावशाली हुए दिलीप के पुत्र भगीरथ कैसे गङ्गाजी को लाये, मार्ग में जन्हुमुनि कैसे गंगाजी को पी गये, उनकी अनुनय विनय करके व गंगाजी को कैसे पाताल में ले गये और कैसे उन्होंने अपने पिता पितरों का उद्धार किया ये सब प्रसंग वर्णन किये गये हैं। फिर महाराज ऋतुपर्ण, सौदास, मूलक तथा राजा रघु के चरित्र वर्णन हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज रघु बड़े प्रतापी हुए। इन्हीं के नाम से इक्ष्वाकुवंश रघुवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ, आनन्द कन्द दशरथ नन्दन भगवान् रामचन्द्र इन्हीं के कारण रघुनन्दन, रघुकुल तिलक राघव तथा राघवेन्दु कहलाये। इनके पुत्र महाराज अज हुए और अज के पुत्र ही दशरथ हुए जिनको भगवान् के पिता होने का देव दुर्लभ पद प्राप्त हुए। मुनियो ! भागवती कथा में चतुर्थाह बहुत बड़ा है। इसमें राघवेन्दु चरित्र बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है। यहाँ सम्पूर्ण चतुर्थाह का वर्णन करूँ तो यह प्रसंग बहुत बड़ा हो जायगा। भगवान् राघवेन्दु के परम पावन करुणामय प्रसंग को स्मरण करते ही मेरा शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। जगज्जननी सीताजी का कैसा विशुद्ध निर्मल करुणापूर्ण चरित्र है। उसे स्मरण करते ही मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो गया। अतः चतुर्थाह की बची हुई सूची का वर्णन मैं तनिक रुककर फिर कहूँगा। आप धैर्य धारण किये रहें।"

छप्पय

कह्यो चरित सुद्युम्न पुत्र मनु चरित कहे तब।
च्यवन सुकन्या ब्याह नभग नाभाग चरित सब॥
पुनि इक्ष्वाकु चरित्र सौभरी चरित मनोहर।
भये त्रिशंकु पुत्र नृपति हरिचन्द धरमधर॥
भये भस्म सुत सगर के, श्री गङ्गाजी आगमन।
रघुवंशी भूपनि कथा, ज्यों दशरथ नृप गुरु शरन॥

—:०:—

चतुर्थाह की विषय सूची

(१३७३)

रामस्य कोसलेन्द्रस्य चरितं किल्बिषापहम् ।
निमेरङ्गपरित्यागो जनकानां च सम्भवः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १० अ० २४ श्लो०)

छप्पय

राघवेन्दु की कथा प्रथम ही बाल चरित है ।
ब्याह चरित है द्वितिय तृतिय बनबास चरित है ॥
सीता हरन चतुर्थ कह्यो संयोग पंचमों ।
राजतिलक है छटा, कह्यो सिय त्याग सातमों ॥
अष्टम है उत्तर चरित, नवमे में महिमा रही ।
यों इनि नौ अध्याय में, राघवेन्दु लीला कही ॥

हे राम तुम्हारा रूप मन मोहक है, तुम्हारी पुण्यपुरी परम पावन है, तुम्हारी ललित लीलायें समस्त दुरितों को दूर करने वाली हैं, तथा तुम्हारा श्रुत मधुर नाम समस्त ताप संताप और

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कोसलेन्द्र भगवान् रामचन्द्रजी का सर्व पाप प्रणाशक चरित्र, राजा निमि का देह त्याग तथा जनकों की उत्पत्ति की कथा आदि (इस बचे हुए चतुर्थाह की सूची में) है ।"

पापों का प्रणाशक है। किसी भी व्याज से तुम्हारी चर्चा की जाय भाव में कुभाव में हँसी में विनोद में कैसे भी आपका नाम लिया जाय वही सुख शान्ति को देने वाला है। हे राम विषय सूची में भी बार बार तुम्हारा नाम लिया जाय, तो उससे भी आप प्रसन्न होंगे ऐसी मेरी भावना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने चतुर्थाह की विषय सूची आप से कही अब जो शेष है उसे भी आपसे कहता हूँ। अज पुत्र महाराज दशरथ के कोई सन्तान नहीं थी। यद्यपि उनके तीन प्रधान और बहुत सी साधारण रानियाँ थीं। वंश परम्परा को आगे चलाने के निमित्त दशरथजी अपने कुल गुरु भगवान् की शरण में गये। यहाँ तक का कथा "भागवती कथा" के सत्ताईसवें खण्ड तक वर्णित है। अब उसी कथा को उसी खंड में चालू रखते हुए जैसे ऋष्य शृंगमुनि के द्वारा पुत्रेष्ट यज्ञ करने के अनन्तर श्रीराघवेन्दु का प्रादुर्भाव हुआ इसका वर्णन है, फिर रामजी का नामकरण, उनकी अनुपम कृपा की ललित कथा है। फिर जैसे वे विश्वामित्र के मख की रक्षा के निमित्त लक्ष्मण सहित उनके साथ गये, जाते समय जैसे ताड़का को मारा और मुनि के मख की रक्षा की इन सबका सरसता के साथ वर्णन है। इसी प्रसंग पर आकर "भागवती कथा" का सत्ताईसवाँ खंड समाप्त हुआ है, अब आ गया अट्ठाईसवाँ खंड।

अट्ठाईसवें खण्ड में श्री राम की गद्य में बहुत सी साकार झाँकी है। जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, मिथिला पथ के पथिक श्रीराम, अहल्या तारक श्रीराम, जानकी जी के दुलहा श्रीराम, परशुराम दर्प दलन कर्ता श्रीराम, परम निर्ममराम, विरही भरत के बन्धु श्रीराम, वन में विहार करते हुए श्रीराम, मायामृग बने मारीच के पीछे भागते हुए श्रीराम, मारीच को मारकर कुटीर पर लौटते हुए श्रीराम, वैदेही हरण की व्यथा से व्यथित श्रीराम,

प्रिया के विरह में विरही बने श्रीराम ये अत्यन्त ही अनुरूप झाँकियाँ हैं। सीताजी के हरण के अनन्तर उनकी खोज में अपने भाई लक्ष्मण सहित श्रीराम एक वन से दूसरे वन में भटकते रहे, यहाँ तक की कथा "भागवती कथा" के अट्ठाईसवें खंड तक वर्णित है अब आता है उन्तीसवाँ खण्ड।

उन्तीसवे खण्ड में श्री रामचरित को ही चालू रखते हुए सर्व प्रथम जटायु उद्धार की कथा है। सर्वभूत सुहृद् श्रीराम ने आमिषभोजी जटायु की किस प्रकार पिता के समान क्रिया की। किस शबरी के बेर खाकर वे जिस प्रकार सुग्रीव के समीप गये, हनुमान जी ने अग्नि को साक्षी देकर श्रीराम और सुग्रीव की मैत्री करायी, बालि को मारकर सुग्रीव को राज्य और स्त्री दिलाकर किस प्रकार मैत्री निर्वाह राम ने मित्रधर्म का पालन किया, किस प्रकार सुग्रीव श्रीराम को भूलकर विषयों में आसक्त हो गया, किस प्रकार सीता वियोग में बिलखते हुए श्रीराम ने वर्षा के चार महीने बिताये ये सब प्रसंग संक्षेप और विस्तारके साथ वर्णन किये गये है। लक्ष्मणजी के आ जाने पर सुग्रीव आते हैं, हनुमानजी की सम्मति से रीछ बानर बुलाये जाते हैं, सुग्रीवजी रामजी की आज्ञा से उन्हें दशों दिशाओं में भेजते हैं। अंगदादि के साथ हनुमानजी दक्षिण में जाते हैं समुद्र पार करके लङ्का में पहुँचते हैं. सीताजी को श्रीराम का संदेश लेकर लङ्का को जलाकर वे लौटते हैं। हनुमान जी से अपनी प्राण प्रिया का पता पाकर शरणागत प्रतिपालक श्रीराम समुद्र तीर पर आते हैं, वहीं विभीषण जी उनकी शरण में आते हैं। मार्ग न देने पर प्रभु समुद्र पर कोप करते हैं समुद्र श्रीराम की शरण में आता है और पुल बाँधकर पार होने की युक्ति बताता है, सब वानरों की सहायता से नलनील समुद्र सेतु बाँधते हैं फिर सब लङ्का पुरी पर चढ़ायी करते हैं, लङ्का को क्षत विक्षत कर डालते हैं राक्षस और वानरों

में भीषण युद्ध होता है रावण के मुख्य मुख्य योद्धा मारे जाते हैं, फिर कुम्भ करण आता है, श्रीराम जी उसे मारकर परम पद देते हैं, फिर रावण तनय इन्द्रजित आता है, वह भी प्राण परित्याग करके परलोक पधार जाता है, तदनन्तर रावण युद्ध के लिये आता है। यहाँ तक की कथा "भागवती कथा" के उन्तीसवें खंड में है, अब आता है तीसवाँ खण्ड।

तीसवें खण्ड में श्रीरामचरित को ही चालू रखते हुए सब प्रथम राम रावण के भीषण युद्ध का वर्णन है। राम रावण के युद्ध के विषय में क्या कहना "राम रावणयो र्युद्धः राम रावणयोरिव" अन्त में रावण मारा जाता है, राक्षसियाँ आकर विलाप करती हैं, मन्दोदरी के करुण क्रन्दन से हृदय हिल जाता है फिर विभीषण द्वारा रावण की अन्त्येष्टि क्रिया की जाती है, रामजी अपनी प्राणप्रिया जनक नन्दिनी से मिलते हैं। लङ्का को विजय करके श्रीराम जी अवध के लिये पुष्पक विमान से प्रस्थान करते हैं, सीता जी को समस्त लीला के स्थलों को दिखाते जाते हैं। इधर विरही भरत रामागमन के लिये अत्यन्त ही व्याकुल होते हैं, हनुमान जी से श्री रामागमन का परम सुखद सम्वाद सुनकर अत्यन्त ही प्रमुदित होते हैं, तब श्रीराम और भरतजी का अत्यन्त रोमाञ्चकारी मिलाप होता है। कवि ने करुणा की सजीव सरिता बहा दी है—

लखे भरत कृशगात राम रघुनायक रोये।
आलिङ्गन करि नयन नीरतैं चीर भिगोये॥
भरत राम को मिलन निरखि उपमा सकुचावै।
करुणा हू ह्वै द्रवित नयन तैं नीर बहावै॥
जनक सुता चरननि परे, रोवत अति बिलख्यात हैं।
मातु भरत की दशा लखि, हृदय द्रवित ह्वै जात हैं॥

नन्दिग्राम से पुष्पकारूढ़ श्रीराम अयोध्या पुरी में जाते हैं,

अन्तःपुर में माताओं तथा समस्त परिजनों से मिलते हैं, फिर राज्याभिषेक होता है, वनवासी राम राजाराम बन जाते हैं। यज्ञ, दान तथा सत्कर्मों में निरत रहकर प्रजा का पालन करते हैं।

अब अत्यन्त करुण रस से परिपूर्ण जानकी निर्वासन का करुण प्रसंग आता है। निन्दकों द्वारा सीताजी की निन्दा सुन कर लक्ष्मणजी द्वारा सीताजी को वाल्मीक आश्रम पर छुड़वा दे हैं। पति ने मुझे त्याग दिया है इस सम्वाद को सुनकर रोती हु जानकी जी कहती हैं—

आरज सुत ने त्याग करयो देवर ! किहि कारन।
अति कठोरता करी कान्त ने कैसे धारन॥
प्राननाथ बिनु देह रखूँ कैसे हौं लछिमन।
मेरे तो सरवस्व प्रानपति ही जीवन धन॥
हाय ! वत्स हौं लुटि गई, कितहूँ की अब नहिँ रही।
अवधपुरी तें चले जब, तब तुमने क्यों नहिँ कही॥

लक्ष्मण अत्यन्त दुखी होते हैं, वे सुकुमारी सीता को इस प्रकार बीहड़ वन में छोड़ना नहीं चाहते, किन्तु कर्तव्य के सम्मुख सबको तिलाञ्जलि देनी होती है। संसार में सेवक का धर्म अत्यन्त ही कठोर होता है वह कठोरता तब पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है जब दोनों ही ओर अपने पूज्य हों, लक्ष्मणजी को इस कठोर धर्म का पालन करना पड़ा। जब वे अत्यंत भयंकर निर्जन वन में विदेहनन्दिनी को छोड़कर चलने लगे तब रोते रोते जानकी जी बोलीं—

पतियश जगमहँ अमर होहि तुम सब सुख पाओ।
देवर ! मेरो उदर निरखि नृप के ढिँग जाओ॥
गरभवती हूँ दोष फेरि मोकूँ मत दइयो।
पति परमेश्वर चरन कमल में बन्दन कहियो॥

लखन सुनत मूर्छित भये, गिरे भूमि पै ह्वै बिकल।
लखि प्रसङ्ग अति ई करुन, भये विकल खगमृग सकल॥

लक्ष्मणजी सीताजी को छोड़कर लौट आते हैं, महामुनि बाल्मीकि आकर सीताजी को ले जाते हैं। वहीं वाल्मीक आश्रम पर लव कुश का जन्म होता है, लवण वध के निमित्त जाते हुए शत्रुघ्नजी पुत्रवती सती शिरोमणि सीताजी के दर्शन करते हैं, मथुरा जाकर लवण को मारकर शत्रुघ्नजी वहाँ अपनी राजधानी बनाते हैं, भरतजी भी गन्धर्वों को जीतकर वहाँ अपने दोनों पुत्रों को राजा बना देते हैं। लक्ष्मणजी के पुत्र भी राजा बन जाते हैं।

अब आता है अत्यन्त ही करुण प्रसंग जगज्जननी जानकी जी को सबके सम्मुख शुद्धता की शपथ लेने वाल्मीकाश्रम से पुनः यज्ञ सभा में बुलाया जाता है, माता सबके सम्मुख शपथ लेती हैं धरती माता फट जाती हैं और वे उसमें प्रवेश कर जाती हैं। फिर भगवान् सीताजी के लिये शोक करते हैं, फिर काल साधुका वेष रखकर आता है, वह राजाराम जी से वचन ले लेता है कि जो हमारे आपके बात करते समय आ जाय उसका आप वध कर दें। श्रीरामजी स्वीकार करते हैं, लक्ष्मण पहरे पर रहते हैं, दुर्वासा मुनि आते हैं, लक्ष्मणजी भीतर जाते हैं श्रीरामजी उन्हें मारते तो नहीं सदा के लिये त्याग देते हैं। तदनन्तर समस्त अयोध्यावासी जीवों के सहित प्रभु परमपद को पधार जाते हैं, सुखान्त रामचरित और माहात्म्य कहकर रामचरित समाप्त किया गया है आगे संक्षेप में अन्य इक्ष्वाकु कुल के भूपतियों का वंश कहा गया है।

इक्ष्वाकु वंश समाप्त करके निमिवंश की वंशावली वर्णन की गयी है जिसमें आदि विदेह महाराज जनक सीता पिता महाराज सीरध्वज, महाराज धर्मध्वज, केशिध्वज और खाण्डिक्य तथा और भी जनकवंशीय राजाओं के चरित्र का वर्णन है। अन्त में महाराज दण्डक की कथा कही गयी है यहाँ तक की कथा "भाग-

वती कथा" के इकत्तीसवें खण्ड में वर्णित है अब आता है बत्तीसवाँ खण्ड ।

सूर्यवंश की कथा समाप्त होने पर बत्तीसवें खण्ड से चन्द्रवंश की कथा आरम्भ होती है। प्रथम चन्द्रवंश की उत्पत्ति बताकर चन्द्र के तारा हरण रूपी अनुचित कार्य की विवेचना है। चन्द्र के पुत्र बुध हुए बुध के पुत्र पुरूरवा हुए जिन्होंने स्वर्गीय अप्सरा उर्वशी के साथ विवाह किया उर्वशी कुछ दिन राजा के महलों में रही अन्त में अपनी प्रतिज्ञा भंग होते देखकर वह राजा को छोड़कर स्वर्ग चली गयी। इससे महाराज परम विक्षिप्त हो गये, वे पागलों की भाँति इधर से उधर घूमने लगे, कुरुक्षेत्र में जाकर उर्वशी से पुनर्मिलन हुआ। उसी समय त्रयी विद्या का प्रादुर्भाव हुआ। त्रयी विद्या के प्रभाव से महाराज गन्धर्व लोक में गये। विषयों का उपभोग करते करते उन्हें अन्त में वैराग्य हुआ और उनकी मुक्ति हो गयी। इस प्रकार चन्द्रवंश के संस्थापक प्रतिष्ठानपुरी पति महाराज ऐल का चरित्र कहकर फिर राजर्षि जन्हु का चरित्र कहा है, फिर कुशनाभ का चरित्र कहकर सत्यवती पति महाराज ऋचीक का चरित्र है। किस प्रकार सत्यवती और उसकी माता के चरु के विपर्यय से ब्राह्मण वंश में भी उत्पन्न होने वाले परशुरामजी क्षत्रिय स्वभाव के हुए और क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होने वाले विश्वामित्र भी ब्राह्मण बन गये। इसी प्रसङ्ग में श्री परशुरामावतार की परम पुण्यदायिनी गाथा है श्री परशुरामजी ने पिता की आज्ञा से कैसे भाइयों और माता के सिर को काट लिया, किस प्रकार सहस्रार्जुन बलपूर्वक पिता जमदग्नि जी की कामधेनु को हर ले गया, कैसे परशुरामजी जाकर सहस्रार्जुन को मारकर अपनी कामधेनु को लौटा लाये। फिर पिता के कहने से परशुरामजी प्रायश्चित्त करते हैं, सहस्रार्जुन के लड़के आते हैं, वे छिपकर परशुरामजी के पिता का सिर काट लेते हैं, इससे क्रुद्ध होकर परशुरामजी इक्कीस बार क्षत्रियों का विनाश करते हैं, तद-

नन्तर समस्त पृथिवी को दान करके वे प्रशान्त बन जाते हैं यहाँ तक की कथा "भागवती कथा" के बत्तीसवें खण्ड तक की है, अब आता है तेतीसवाँ खण्ड।

तेतीसवें खंड में सर्व प्रथम विश्वामित्र चरित्र है, कैसे उन्होंने अपने भानजे शुनः शेप का उद्धार किया कैसे वे क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गये। फिर पुरूरवा के ज्येष्ठ पुत्र आयु के वंश का वर्णन है। फिर कुवलाश्व ऋतध्वज, अलर्क, रजिरम्भ, अनेना तथा नहुष आदि राजाओं के चरित्र हैं। इन्द्र को ब्रह्म हत्या करने पर कैसे देवगण राजा नहुष के पास आये कैसे वह स्वर्ग का राजा बना, किस प्रकार इन्द्राणी पर कुदृष्टि रखने के कारण उसका पतन हुआ फिर शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी की कथा है। देवताओं की अनुमति से गुरुपुत्र कच शुक्राचार्यजी के समीप मृत संजीवनी विद्या सीखने जाते है, वहाँ उनसे गुरुपुत्री देवयानी बहुत प्रेम करने लगती है। चलते समय वह उनसे विवाह का प्रस्ताव करती है। कच के स्वीकार न करने पर दोनों ओर से शापाशापी होती है। वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा और देवयानी में लड़ाई होती है, 'शर्मिष्ठा सदा देवयानी की दासी बनकर रहेगी, इस प्रतिज्ञा पर बीच बिचाव होता है, विधि के विधान से देवयानी का विवाह राजा ययाति से होता है शर्मिष्ठा भी साथ जाती है। राजा के वीर्यदान देने पर शर्मिष्ठा के भी पुत्र हो जाते हैं, इस पर कुपित होकर देवयानी पिता के यहाँ चली जाती है, शुक्र के शाप से ययाति पर जरा का आक्रमण होता है, अपने पुत्रों में से सबसे छोटे पुत्र पुरु को जरा देकर राजा पुनः यौवन प्राप्त करते हैं अन्त में उन्हें वैराग्य होता है. गृह को त्यागकर तपस्या करने जाते हैं और परम पद की प्राप्ति करते हैं, यहाँ तक देवयानी और महाराज ययाति का चरित्र है। अब पुरुवंशी महाराज दुष्यन्त का चरित्र आरम्भ होता है साथ ही "भागवती

कथा" के तैंतीसवें खण्ड की समाप्ति होती है। अब आता है चौंतीसवाँ खण्ड।

चौंतीसवें खण्ड में महाराज दुष्यन्त की कथा को ही चालू रखते हुए सर्व प्रथम यह बताया है कि महाराज किस प्रकार वन में आखेट को गये और कैसे कण्वाश्रम में उनकी भेंट शकुन्तला से हो गयी। शकुन्तला की सखियों ने उसकी मेनका और विश्वामित्र से उत्पत्ति की कथा महाराज को सुनायी, अन्त में दुष्यन्त के साथ शकुन्तला का गन्धर्व विवाह हो गया। आश्रम में ही शकुन्तला पुत्रवती बनी कच मुनि ने उसे पति गृह भेज दिया, उसके पति दुष्यन्त ने उसे स्वीकार नहीं किया उसका अपमान कर दिया। पीछे आकाश वाणी होने पर स्वीकार किया। इसी शकुन्तला के पुत्र महाराज भरत हुए। फिर भरतवंशी राजाओं की कथायें हैं। जिसमें महाराज रन्तिदेव की कथा अत्यन्त ही पुण्य प्रद है। फिर महाराज बृहत्क्षत्र के वंश का वर्णन है। कृप और कृपी की कथा है। तदनन्तर पाञ्चालवंशीय राजाओं का वंश, राजा संवरण की कथा, तपती और संवरण का विवाह कैसे हुआ, महाराज वसु उपरिचर क्यों कहलाये, चेदि राजाओं की कथा तथा महाराज शन्तनु की कथा आदि बड़े ही अलौकिक प्रसंग हैं।

महाराज शन्तनु के पुत्र देवव्रत का नाम भीष्म क्यों पड़ा, सत्यवती के सुत विचित्र वीर्य का विवाह काशिराज की कन्याओं से कैसे हुआ, अम्बा के निमित्त भीष्मपितामह को परशुरामजी से युद्ध क्यों करना पड़ा, विचित्र वीर्य के क्षेत्रज पुत्र धृतराष्ट्र पांडु और विदुर कैसे हुए। पांडु के पुत्र पांडवों का पालन धृतराष्ट्र ने कैसे किया, किस प्रकार द्रौपदी के साथ पाण्डवों का विवाह हुआ और पांचों भाइयों के पाँच पुत्र द्रौपदी के कौन कौन हुए इसका वर्णन पाँडवों के पुत्र पौत्रों तथा आगे के वंश वालों का वर्णन

किया गया है। इस प्रकार पुरु वंश की कथा संक्षेप में कही है। यहाँ आकर भागवती कथा का चौंतीसवाँ खण्ड समाप्त होता है। अब आता है पैंतीसवाँ खण्ड।

पैंतीसवें खंड में सर्व प्रथम अनुवंशीय महाराज उशीनर की कथा है। फिर उनके पुत्र परम दानी पुण्य श्लोक शिवि का चरित्र है, फिर अनुवंश के महाराज बलि की सन्तति का वर्णन है। तदनन्तर महाराज रोमपाद की पुत्री शान्ता की कथा है। महाराज दशरथ ने अपनी पुत्री राजा रोमपाद को कैसे दी, कैसे उनके देश में अनावृष्टि हुई। ब्राह्मणों ने ऋष्य शृंग मुनि को लाने की अनुमति दी। एक वेश्या अपनी पुत्री के साथ गयी और ऋषि कुमार ऋष्य शृंग को फँसा लायी। तदनन्तर महाराज रोमपाद के वंशजों का वर्णन है। फिर द्रुह्यु और तुर्वसु इन दो ययाति के पुत्रों के वंशजों को संक्षेप में कहकर तब ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु के वंश का वर्णन है। जिस वंश में आनन्द कंद श्रीकृष्णचन्द्र का प्राकट्य हुआ है।

यदुवंश के वर्णन में महायोगी महाराज शशबिन्दु की कथा है फिर ज्यामघ तथा वृष्णि और उनके वंशजों का वर्णन है। उग्रसेन तक के वंश को कहकर फिर यह बताया है कि उग्रसेन का पुत्र कंस कैसे हुआ यह पूर्व जन्म में कालनेमि असुर था। इसी वंश में शूर हुए। जिनके वसुदेव जी हुए। वसुदेवजी और उनके भाई बहिनों की सन्तति गिनाकर अन्त में देवकीजी के गर्भ से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी का जन्म हुआ। इसका संकेत कर दिया है। राजा परीक्षित को लुभाने के लिये श्रीकृष्ण रूप सुधा की बानगी चखाते हुए श्री शुक का कुछ लुभाने-सा वर्णन कर दिया है। कवि के ही वचनों में सुनिये :—

> आपै चितवन मधुर मंद मुसकान मयी है।
> नयन पुटनि तैं पान कान कंपे सुधामयी है।

कानन कुण्डल सुघर कपोलनि आनन दमकै।
चतुरश्रि के परत सुदामनि सो सम चमकै॥
इकटक निरखहिँ नारि नर, मन अटकै चित चकित है।
परें पलक व्यवधान तो, निमिकूँ कोसें दुखित है॥

सूर्यवंशी की इतनी लम्बी वंशावली इसलिये कही कि उसमें सीतापति श्री रघुवेन्दु अवतरित हुए और चन्द्रवंश की विशद वंशावली इसलिये कही कि इसमें यदुकुल तिलक वृष्णि वंशावतंस भगवान् वासुदेव का प्रादुर्भाव हुआ।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"सो मुनियो! इस प्रकार मैंने आपसे "भागवती कथा" के अन्तर्गत पैंतीस खंडों की विषय सूची कह दी। पैंतीसवें खण्ड में जाकर चतुर्थाह समाप्त हो जाता है। अब छत्तीसवें खण्ड में जैसे पञ्चमाह आरम्भ होता है और उसमें भगवान् की जैसी मधुरातिमधुर बाल लीलायें हैं उनकी विषय सूची मैं आगे बताऊँगा। आप सब सदय होकर सुनने की कृपा करें।"

छप्पय

निमिको कहिकें वंश कथा दण्डक की भाखी।
चन्द्रवंश पुनि कह्यो उरवशी इल-सुत, राखी॥
परशुराम अवतार ऐल को वंश सुनायो।
नृप ययाति को चरित पुराननि में जो गायो॥
पुरु अनु आदि ययाति सुत, वश कह्यो यदुवश पुनि।
चतुर्थाह पूरन भयो, पञ्चमाह अब सुनहु मुनि॥

—::०::—

पञ्चमाह की विषय सूची (प्रथम)

(१३७४)

यत्रावतीर्णो भगवान् कृष्णाख्यो जगदीश्वरः ।
वसुदेव गृहे जन्म ततो वृद्धिश्च गोकुले ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

पञ्चमाह में प्रथम व्याह वसुदेव बखान्यों ।
नभवानी तें कंस देवकी-सुत रिपु जान्यों ॥
चिन्ता व्यापी कंस कृष्ण अवतार कह्यो है ।
गोकुल में प्रभु गये तहाँ आनन्द भयो है ॥
आइ पूतना विष दयो, मरी बकीकूँ गति दई ।
कही कथा शकटादि तृन, मुक्ति खलनिकूँ ज्यों भई ॥

श्रीभागवत में श्रीकृष्ण चरित ही अनेक रूपों में कहा गया है। भागवत का सिद्धान्त है, अन्य जितने अवतार हैं, कोई अंशावतार है, कोई कलावतार हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात्

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यदुवंश में भगवान् जगदीश्वर श्री कृष्ण नाम से अवतरित हुए। प्रथम उनका श्री वसुदेवजी के घर में जन्म हुआ, फिर वे गोकुल में जाकर बढ़े हुए।"

परब्रह्म ही हैं। ये अवतार नहीं अवतारी हैं। समस्त अवतारों के उद्गम स्थान हैं। अंश और अंशी में कोई भेद नहीं। अतः जितने अवतारों के चरित हैं, वे सब भी श्रीकृष्ण के ही चरित हैं, भागवत में उनको भी श्रीकृष्ण चरित के नाम से कहा गया है। इसलिये संहिताकार को जब भी अवसर मिला है तभी श्रीकृष्ण लीलाओं का बखान किया है, विषय सूची वर्णन में भी जितना अधिक विस्तार दशमस्कन्ध का किया है, उतना किसी स्कन्ध का नहीं किया, क्योंकि दशमस्कन्ध की विशुद्धि के ही लिये अन्य स्कन्धों का वर्णन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने आप से चतुर्थाह की विषय सूची तो कह दी अब आप पञ्चमाह की विषय सूची और श्रवण करें। "भागवती कथा" के पैंतीसवें खण्ड तक चतुर्थाह की कथा है, छत्तीसवें खण्ड के आरम्भ में ही श्रीकृष्ण चरित आरम्भ होता है। सब प्रथम महाराज परीक्षित ने श्रीशुकदेवजी से श्रीकृष्ण चरित सम्बन्धी प्रश्न किये हैं, उन्होंने श्रीकृष्ण कथा श्रवण में अत्यन्त उत्सुकता प्रकट की है और मानव शरीर की सार्थकता इसी में बतायी है। भगवान् शुक ने उनके प्रश्नों का अभिनन्दन करके भगवान् के अवतार लेने का प्रयोजन बताया है। फिर अवतार कथा आरम्भ होती है, देवताओं को साथ लिये हुए पृथिवी भगवान् के पास जाती है। भगवान् समस्त देवताओं को आश्वासन देते हैं और वसुदेव जी के यहाँ अवतार लेने का वचन देते हैं। इस प्रकार भूमिका बाँधकर अब वसुदेवजी की चर्चा आरम्भ होती है।

वसुदेवजी देवकी के साथ विवाह करके उसे विदा कराके लाते हैं, कंस को आकाश वाणी सुनायी देती है, कि इसका आठवाँ पुत्र तुझे मारेगा। कंस अपनी बहिन देवकी को मारने के लिये उद्यत होता है, वसुदेवजी सब पुत्रों को देने की प्रतिज्ञा करके

देवकी को छुड़ाकर घर आते हैं। प्रथम पुत्र होते ही उसे कंस की राजसभा में ले जाते हैं, कंस जब उस पुत्र को लौटा देता है तो देवर्षि नारद आते हैं, उसके पाप बढ़ाने को समझा बुझाकर लड़के को उसके द्वारा मरवा देते हैं, कंस अपने पिता को बन्दी बनाकर स्वयं राजा बन जाता है, उधर गोकुल में रोहिणी जी के गर्भ से शेषावतार बलदेवजी का अवतार होता है, इधर वसुदेव जी के अन्तःकरण में परमेश प्रभु प्रवेश करते हैं, पुनः वे देवकी के गर्भ में प्रविष्ट होते हैं, देवकी को गर्भवती देखकर इसे अष्टम गर्भ समझकर कंस चिन्तित होता है, देवगण आकर गर्भगत विष्णु की स्तुति करते हैं, भगवान् का चतुर्भुज रूप से मथुरा में जन्म होता है। माता देवकी और वसुदेवजी भगवान् की स्तुति करते हैं, कंस से अभय प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं, भगवान की आज्ञा से वसुदेवजी उन्हें गोकुल ले जाते हैं।"

उधर नंदिनी यशुमति गर्भिणी थीं। उनके यहाँ योगमाया का जन्म होता है, वसुदेवजी सुत को शैया पर रखकर योगमाया को ले आते हैं, कन्या कारावास में आ जाती है, कारावास में आकर कंस उसे पत्थर पर पटक देता है। "तेरा मारने वाला यहीं कहीं पैदा हो गया" ऐसी भविष्य वाणी करके योगमाया अन्तर्हित हो जाती है। कंस देवकी और वसुदेव जी को कारावास से मुक्त कर देता है। यहाँ तक की कथा, "भागवती कथा" के ३६ वें खंड तक में है, अब आता है ३७ वाँ खण्ड।

सैंतीसवें खंड में सर्व प्रथम क्लेशित कंस को कुटिल मंत्री-गण क्रूर कर्म करने की कुमन्त्रणा देते हैं, वह शत्रु की खोज में पूतना अघासुर बकासुर आदि असुरों को भेजता है। इधर नन्द जी के घर में पुत्र जन्म के उपलक्ष में आनन्द होता है, नँदलाला के जात कर्म आदि संस्कार कराये जाते हैं, विप्रों को विविध भाँति के दान दिये जाते हैं, उदारमना नन्दजी सर्वस्व दान करके अपने

धन को सार्थक करते हैं, वे सभी का दान मान से सम्मान तथा सत्कार करते हैं। समस्त व्रज मण्डल में महा महोत्सव मनाया जाता है। गोपगण गौओं का सुन्दर शृंगार करते हैं, बधाई के लिये नन्द पौरि पर जाते हैं. गोपियाँ भी चाव की तैयारियाँ करती हैं। नाना प्रकार के उपहार लिये हुए वे भी नन्द भवन की ओर गीत गाती हुई जातीं हैं, उन भावमयी भामिनियों के आनन्दोल्लास से समस्त नन्द भवन तथा व्रज मण्डल मुखरित हो जाता है। फिर दधिकाँदौं होती है, इस प्रकार बड़ा भारी महा महोत्सव मनाया जाता है।

जब लाला जी छै दिन के हो जाते हैं, तो उनकी छटी होती है। नन्दोत्सव का उपसंहार करते हुए कवि कहता है—

दोहा—नन्दोत्सव घर घर भयो, नर नारिनि मन मोद।
आवें निरखें लालकूँ, लेवें पुनि पुनि गोद॥
नन्द नँदन निरखत तुरत, सब उर उमड़त प्यार।
छटवें दिन छट्ठी भई, पूरी और कसार॥

छटी का कसार खाकर नंदजी कंस को वार्षिक कर देने मथुरा जाते हैं, कर देने के अनन्तर वसुदेवजी से उनकी भेंट होती है। वसुदेव जी के सुझाने पर नंदजी व्रज को चल देते हैं। इधर बालकोंको मारती चूची में विष लपेटे पूतना मौसी व्रज में आती है, वह विष से सनी अपनी चूची लालजी के मुख में दे देती है। गौने की सी दुलहिनि बनी ठनी उस ठगिनी की विषैली चूची को लाल जी चुसुर चुसुर करके पीने लगते हैं। कवि ने कैसा सजीव वर्णन किया है—

छप्पय

बनि अति सुन्दरि नारि महल महँ बैठी लुच्ची।
गरल लपेटी दई लाल के मुख महँ चुच्ची॥

हरि कूँ आयो रोष पकरि कर बाँवो लीन्हीं।
कच कचाइके चढ़े घुटमुनी मुख महँ दीन्हीं॥
पीवे पय प्रभु प्रान सँग, अति अद्भुत छवि लालकी।
मातु निहारति चकित चित, बनी अकबकी-सी बकी॥

लालजी ने जहाँ मौसी की चूची पी कि वह भयकर बन जाती है, और अपने यथार्थ रूप से प्रकट होकर परम पद की अधिकारिणी हो जाती है। जगत् की रक्षा करने वाले विश्व रक्षक की गोपिकायें रक्षा करती हैं। उधर मथुरा से लौटते हुए नन्द गोपादि पूतना के मृतक देह को देखते हैं, तो उसे काट काटकर जला देते हैं, यहाँ तक पूतना मोक्ष की कथा है।

अब लालजी का करवट बदल और जन्म नक्षत्र महोत्सव होता है, फिर अड़ड़ड़ धम्म करके छकड़ा गिर जाता है बकासुर आदि अन्य असुर आते है वे भी सब मरके सुरलोक सिधारते हैं। तृणावर्त की तिकड़म तिड़ी हो जाती है. फिर भगवान् यशोदा मैया को विश्वरूप दर्शन कराते हैं। यहाँ तक की कथा "भागवती कथा" के सैंतीसवें खंड में है। अब आता है अड़तीसवाँ खंड।

अड़तीसवें खड में श्री कृष्णचन्द्र और बलराम जी का नाम करण संस्कार होता है। मातायें उनका प्यार का नाम कनुआ बलुआ रख लेती हैं। फिर दोनों की बाल लीला है, कैसे कीचड़ में लिथिर जाते हैं, कैसे बछड़ों के साथ खेलते हैं, इसी प्रकार की बाल विनोदिनी लीलायें हैं। फिर मिट्टी खाने की लीला माखनचोरी की लीला आदि हैं। गोपिकायें श्रीकृष्ण के नित नये उत्पातों से खीजकर कैसे यशोदाजी के पास जाकर श्रीकृष्ण सम्बन्धी उलाहना देती हैं, सभी उनके उत्पातों को सिद्ध करने की ताड़ में लगी रहती हैं, मैया के मन में भी माखनचोरी

लीला देखने की इच्छा उठती है, अतः अब दामोदर लीला का श्रीगणेश होता है।

यशोदा मैया दधि मथ रही है, श्याम आकर माँ का दूध पीने लगते हैं, बरोसी का दूध उफनते ही माँ श्रीकृष्ण को छोड़

कर दूध उतारने जाती हैं, क्रोधमें भर कृष्ण उनकी दधि मथने की मथानी को छोड़कर माखन लेकर भाग जाते हैं, फिर माता की पकड़में आ जाते हैं, माता उन्हें उलूखलसे बाँध देतीहैं भगवानभक्त वश्यता दिखाते हैं, वृक्ष बने नल कूबर मणि ग्रीव दोनों कुबेर के

पुत्रों का उद्धार करते हैं, नन्दजी आकर श्रीकृष्ण को बन्धन से खोल देते हैं, इस प्रकार भक्तवश्य भगवान् की सरस प्रेममयी लीलाओं के वर्णन में इस अड़तीसवें खण्ड की समाप्ति होती है। अब आता है उन्तालीसवाँ खण्ड।

उन्तालीसवें खण्ड में सर्व प्रथम फल बेचने वाली पर की हुई कृपा का वर्णन है, फिर कनुआ बलुआ की कलित क्रीड़ाओं की कथायें हैं, फिर गोपगण गोकुल को छोड़कर वृन्दावन में जाकर रहने लगते हैं, वहाँ वृन्दावन विहारी को बाँसुरी मिल जाती है, वनों में बालकों के खेल होते हैं वत्सासुर बकासुर आदि असुर मारे जाते हैं, फिर बालकों के विचित्र खेल और विनोद का वर्णन है इस प्रकार व्रजवासी बालकों के सौभाग्य की सराहना करके अघासुर की कथा आरम्भ होती है। अघासुर आता है, वह ग्वाल बाल बछड़े तथा बनवारी को भी लील जाता है श्रीकृष्ण उसे मारकर सबका उद्धार करते हैं, फिर परीक्षित्जी की शंका और श्री शुकदेवजी द्वारा उसका समाधान है, फिर ब्रह्माजी के मोह की कथा आरम्भ होती है।

ग्वाल बालों के साथ बनवारी को वन में प्राकृत बालकों के सदृश जूठा खाते देखकर ब्रह्माजी को मोह होता है, वे ग्वाल बाल तथा बछड़ों को चुरा ले जाते हैं, श्रीकृष्ण ही ग्वाल बाल तथा बछड़े बनकर सर्वं विष्णुमयं जगत्" इस वाक्य को प्रत्यक्ष करके दिखा देते हैं, बलदेवजी द्वारा इस लीला का रहस्योद्घाटन होता ब्रह्माजी को भगवान् की अपार महिमा के दर्शन होते हैं, तब ब्रह्मा जी स्तुति करते हैं उनका मोह दूर होता है। फिर दो अध्यायों में गोचारण लीला के प्रसंग को कहकर उन्तालीसवें खण्ड की कथा समाप्त कर दी गयी है, अब आता है 'भागवती कथा' का चालीसवाँ खंड।

चालीसवें खंड में सर्व प्रथम श्रीहरि की कुछ पौगण्डावस्था की कमनीय क्रीड़ाओं का वर्णन है फिर धेनुक वध और उसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त है अब आरम्भ होती है कालीय दमन की करुण कथा।

कालियनाग वृन्दावन में कैसे आया। खेल खेल में श्रीकृष्ण-चन्द्र कालियदह में कूद जाते हैं, कालिय उन्हें अपने शरीर से जकड़ लेता है, रोते हुए व्रजवासी भी कालियदह पर आ जाते हैं, वे श्री कृष्ण को इस दशा में देखकर विलाप करने लगते हैं, श्री कृष्ण ताथातेई करके कालिय की फणावली पर नृत्य करने लगते हैं, कालिय नाग की बहू आकर स्तुति करती हैं, श्रीकृष्ण उसे अभय प्रदान करते हैं, अपने चरणचिन्ह को उसकी फणावली पर अंकित करके उसे व्रज से निकाल देते हैं। व्रजवासी प्रसन्न हो जाते हैं, उस रात्रि वहीं निवास करते हैं, रात्रि में वन में दावा-नल लग जाता है, श्रीकृष्ण दावानल का पान कर जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भागवती कथा में श्रीकृष्ण चरित्र को विस्तार के साथ लिखा गया है. अतः मैं भी इसकी सूची विस्तार के साथ ही कहूँगा। भगवान् अपने सखा ग्वाल बालों के साथ घुड़चढ़ी आदि नाना खेल खेलते हैं जैसे उन्होंनेप्रलम्बासुर का उद्धार किया उसकी सूची आगे बताऊँगा। पञ्चमाह की विषय सूची तीन अध्यायों में कहूँगा।

छप्पय

विश्वरूप माँ दरश बाललीला मृद्भक्षन।
माखन चोरी ललित बधे ज्यों नटखट मोहन ॥
गोकुल गोपनि संग त्यागि वृन्दावन आये।
करे खेल, बक, वत्स, असुर अघ मारि गिराये ॥
ब्रह्माजी मोहित भये, धेनुक कालिय की कथा।
नाग निकारयो नाथिकें, दावानल पीयो यथा ॥

—:o:—

पञ्चमाह की विषय सूची (द्वितीय)

(१३७५)

व्रतचर्या तु कन्यानां यत्रतुष्टोऽच्युतो व्रतैः ।
प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणां चानुतापनम् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

पुनि प्रलम्ब की मोक्ष वेनु को गीत मनोहर ।
वस्त्र चुराये दये कुमारिनि कूँ वर सुखकर ॥
द्विज पतिनिनि पै कृपा श्याम गोवरधन धारयौ ।
इन्द्र, सुरभि अरु बरुन सबनि दरशन तैं तारयौ ॥
फेरि रास इच्छा भई, वेनु बजाई रसभरी ।
ब्रज बनिता धुनि सुनि चलीं, कछु न कानि कुलकी करी ।

जीव व्यर्थ बहुत बातें करता है, यदि वह श्री कृष्ण कथा को ही वाणी से कहे, श्रीकृष्ण के मंगलमय मधुमय मनोहर नामों का उच्चारण करे, कानों से कमनीया कृष्ण कथा का ही श्रवण करे,

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! (पञ्चमाह में इसके अनन्तर) गोप कन्याओं की उस व्रतचर्या का वर्णन है जिसमें भगवान् अच्युत उनके व्रतों से सन्तुष्ट हुए थे । फिर यज्ञ पत्नियों पर जैसे भगवान् ने अनुग्रह की, जैसे ब्राह्मणों ने अपने कृत्य पर पश्चात्ताप किया ये सब विषय वर्णित हैं ।"

तो उसे भवसागर में भटकना न पड़े इतिहास तथा पुराणों में यही तो एक विशेषता है, इनमें सर्वत्र सब प्रकार से श्री कृष्ण कथा का ही वर्णन है, जहाँ भी कृष्ण कथा का प्रसंग छिड़ता है, वहीं उसका विस्तार कर देते हैं, अन्य कथाओं को पूरक मानकर संक्षेप में कह देते हैं, और उसका सम्बन्ध श्री कृष्ण कथा से जोड़ देते हैं, श्री कृष्ण कथा अंगी है, अन्य कथायें अंग उपांग हैं। श्री कृष्ण कथा विस्तार करना यही शास्त्रों का प्रधान उद्देश्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने पंचमाह की भूमिका का एक तृतीयांश तो आप से कह दिया अब द्वितीयांश आप से कहता हूँ। "भागवती कथा" के चालीसवें खण्ड में कालिय दमन लीला तथा दावानल पान तक की विषय सूची तो मैंने पीछे बता ही दी अब आप भगवान् की लीला की विषय सूची सुनिये। चालीसवें खण्ड को चालू रखते हुए दावानल पान की लीला से आगे की कथा है। भगवान् ग्वाल बाल तथा माता पिता के सहित कालिय ह्रद से लौटकर गोकुल में आते हैं। आकर अपने सखाओं के साथ भाँति भाँति की क्रीड़ायें करते हैं। घुड़चड़ी का खेल खेलते हैं कभी बालकों को घोड़ा बनाकर उनपर चढ़ते हैं, तो कभी स्वयं ही घोड़ा बनकर बालकों को चढ़ाते हैं। उसी समय प्रलम्बासुर आ जाता है, उसे यम के सदन पठाते हैं। फिर वन में लगी अग्नि से गौ और गोपों की रक्षा करते हैं। इस प्रकार ग्वाल बालों के साथ की क्रीड़ाओं का वर्णन करके गोपियों के अनुपम अनुराग को दरसाते हैं, भगवान् कैसे वेणु वादन करके वृजाङ्गनाओं को विकल बना देते थे, उनकी रूप माधुरी और वेणुमाधुरी के प्रभाव से कैसे सचर प्राणी अचर और अचर सचर बन जाते थे, इसका वर्णन है। तदनन्तर तपस्विनी बाँसुरी की महिमा गायी गयी है, वह मादक मुरलीध्वनि कैसे मन को

मोहित कर लेती है, वृजाङ्गनाओं को कैसे बेसुधि बना देती है, अचर प्राणियों को सचर कर देती है, इस प्रकार छै अध्यायों में बाँसुरी की महिमा गायी गयी है। तदनन्तर आती है चीर हरण लीला। किस प्रकार व्रज की कन्याओं ने मिलकर कात्यायनी देवी का व्रत किया, व्रत की समाप्ति के दिन श्याम सुन्दर चुपके से आकर कैसे उनके वस्त्रों को उठाकर कदंब पर चढ़ गये, कैसे उन्होंने बनवारी से विनय करके वस्त्रों को पुनः पाया और अपने व्रत की सफलता समझी पुनः सब व्रज बालाओं को विहारी ने वरदान दिया। इसप्रकार चार अध्यायोंमें 'भागवती कथा' का चालीसवाँ खण्डभी समाप्त हो जाता है, अब आता है इकतालीसवाँ खण्ड।

इकतालीसवें खंड में सब प्रथम पाच अध्यायों में द्विज पत्नियों के अनुपम अनुराग की अद्भुत कथा है। कैसे ग्वाल बाल भूख के कारण कुनकुनाने लगे। कन्हैया ने कैसे उन्हें द्विज पत्नियों के समीप भेजा और वहाँ जाकर किस प्रकार उन्होंने अन्न की याचना की। अन्न लेकर द्विजाति पत्नियों ने दामोदर के दर्शन किये सभी ने मिलकर माल उड़ाये, ब्राह्मणियों ने अपना प्रेम प्रदर्शित किया। ब्राह्मणों ने अपनी नीरसता पर पश्चात्ताप प्रकट किया। द्विज पत्नियों की कथा समाप्त होने पर गोवर्धन धारण लीला का आरम्भ होता है।

भगवान् देखते हैं, गोपों में बड़ी व्यग्रता है, वे यज्ञ के लिये बड़ी तैयारी कर रहे हैं, सहज स्वभाव से श्यामसुन्दर ने इसका कारण पूछा। इस पर नंद बाबा ने कहा—

तब बोले ब्रजराज-इन्द्र की पूजा भैया।
जो बरसावें नीर होहि तृन खावें गैया॥
जल ही जीवन कह्यो इन्द्र हैं जीवन दाता।
त्रिभुवन पति सरवेश स्वरग पति विष्णु विधाता॥
नन्द वचन सुठि सरल सुनि, हँसि बोले ब्रजचन्द्र तब।
जड़ चेतन चर अचर जग, पिता कर्मवश भ्रमहिं सब॥

इस प्रकार भगवान् ने इन्द्र के मान को मर्दन करने के निमित्त कर्मवाद का उपदेश दिया और इन्द्र की पूजा के स्थान पर गिरि गोवर्धन की पूजा का प्रस्ताव किया। गोपों ने श्रीकृष्ण भगवान् के प्रस्ताव को स्वीकार किया सब ने पूछा गोवर्धन पूजा में क्या होना चाहिये। इस प्रकार भगवान् बोले—

पूरी छुन छुन छनें कचौरी खस्ता सुन्दर।
रबड़ी लच्छेदार खीर केसरिया सुखकर॥
हलुआ मोहन थार जलेबी पेरा मठरी।
टिकिया पूआ बड़े सोंठ पापर अरु पपरी॥
व्यंजन सब सुन्दर बनें, दाल, भात, रोटी, कढ़ी।
साग रायते विविध विधि, उड़द मूँग आलू बड़ी॥

भगवान् की आज्ञा से ये सब व्यंजन बने, गिरिराज गोवर्धन की पूजा हुई, फिर इन्द्र ने व्रजवासियों पर कोप किया, सात दिनों तक मूसलधार जल बरसाया, बनवारी ने गोवर्धन को अपनी उंगली पर उठा लिया, इन्द्र का अभिमान चूर हुआ व्रजवासियों की रक्षा हुई, श्री कृष्ण के अलौकिक पराक्रम को देखकर सभी गोप उनके जन्म के सम्बन्ध में नन्दजी से शंका करने लगे। नंद जी ने गर्ग जी के वचनों को दुहराकर सबकी शंका का समाधान कर दिया! तब इन्द्र ने आकर अपने अपराध के लिये नन्द नंदन से क्षमा याचना की, सुरभि ने आकर भगवान् 'गोविन्द' की उपाधि प्रदान की। इस प्रकार ग्यारह अध्यायों में यह गोवर्धन लीला का प्रकरण समाप्त होता है।

फिर एक अध्याय में वह कथा है, जिसमें वरुण के चर रात्रि स्नान करते हुए नन्दजी को पकड़ कर वरुण लोक में ले गये। इस समाचार को सुनकर भगवान् वरुणलोक में गये, वरुण की पूजा को स्वीकार करके उसके ऊपर अनुग्रह की और अपने पिता को सकुशल वरुणलोक से लौटा लाये। तदनन्तर गोपों की

प्रार्थना पर भगवान् ने उन्हें वैकुण्ठ के दर्शन कराये। यहाँ आकर "भागवती कथा" का इकतालीसवाँ खंड समाप्त होता है, अब आता है बयालीसवाँ खंड।

बयालीसवाँ खण्ड "भागवती कथा" का प्राण है, इसमें भगवान् के सरस रास विलास की कमनीय कथा है। सब प्रथम गोपियों के मन में अनुराग का उफान उठा। उधर श्यामसुन्दर का भी चित्त भी रास करने के लिये ललचाया। सुन्दर सुखमय शोभायुक्त शरद का समय भी आ गया। सभी सामग्री जुट गयी। उस समय छवि का वर्णन कवि के ही शब्दों में सुन लीजिये—

अति निरमल नभ भया नीलिमा गहरी छाई।
शारदीय शशि विहँसि चन्द्रिका शुभ छिटकाई॥
प्राची दिशि की ललित लालिमा लागे ऐसे।
पति विदेश तैं आइ रँग्यो प्यारी मुख जैसे॥
प्रिया रक्त पट तैं निकसि, पूर्णचन्द्र विकसित भये।
सूर्य ताप संताप दुख, निरखत शशि सब भगि गये॥

श्यामसुन्दर ने व्रजाङ्गनाओं को बाँसुरी बजाकर आह्वान किया। शरद की पूर्णिमा को अपना अनन्य प्रेमी वृन्दावन की एकान्त रासस्थली में आह्वान करे तो उनकी अनन्य प्रियतमा भला घर में कैसे रह सकती है, उन्होंने अभिसार का उपक्रम किया, कवि ने बड़ी ललित भाषा में गोपियों के गमनौत्सुक्य का सजीव वर्णन किया है। जो सम्बन्धियों के कारण न जा सकीं, उनके हृदय में तीव्रताप की ज्वाला जलने लगीं, जिसमें उनका बाह्य शरीर निर्जीव हो गया। राजा परीक्षित् की शंका का समाधान करते हुए श्री शुक ने सिद्धान्त स्थिर किया कि कृष्ण में काम भाव भी कल्याणप्रद है। श्री कृष्ण ने गोपिकाओं को देखकर उन्हें लौटाना चाहा, अर्थात् प्रेमाधिक्य का प्रस्ताव किया। विहारी की

विषभरी बातें सुनकर व्रजाङ्गनायें विवश बन गयीं। उन कामाभितप्ता व्रजवल्लभियों ने आत्मरति आत्मरमण करने की अपनी आन्तरिक आकांक्षा व्यक्त की सरस श्यामसुन्दर ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। तदनन्तर आप्तकाम आत्माराम ने रास रसेच्छुका रमणियों के साथ रमण किया, पुनः रसकी अभिवृद्धि के हेतु वे रसिकराज अन्तर्हित हो गये। तब वे विरहोन्मादिनी व्रजाङ्गनायें लतापतादिकों से प्रभु का पता पूछती हुई प्रेम में पगली बनीं भ्रमरी के सदृश इधर से उधर भ्रमण करने लगीं। इस प्रकार समस्त सखियों की दशा का वर्णन करके, पुनः श्रीराधाजी के सम्बन्ध में कहा गया है, उन निरस्त साम्यातिशया श्री राधाजी को गोपिकायें अपने बीच में न देखकर तर्कना करने लगीं कि प्यारी को संग लेकर प्रियतम कहा अन्तर्हित हो गये। अब प्रेम में पगली बनीं व्रज बालायें भावावेष में आकर श्रीकृष्ण लीलानुकरण करने लगीं। हृदय में सात्विक ईर्ष्या का भी उदय हो आया उधर आनन्द कंद श्रीकृष्णचन्द्र ने कामियों का दैत्य तथा दाराओं की दुरात्मता का दिग्दर्शन कराया यहाँ तक "भागवती कथा" का बयालीसवाँ खण्ड हुआ अब आता है, तैंतालीसवाँ खंड।

तैंतालीसवें खण्ड में रामलीला को ही चालू रखते हुए सर्व प्रथम श्री जी के मान का ही वर्णन है, फिर विरह विह्वला व्रजाङ्गनाओं की विरह वेदना की झाँकी करायी गयी है। वे श्रीकृष्ण विरह में तन्मय होकर रो रही हैं पछता रही हैं गीत गा रही हैं। उसी करुण क्रन्दन का नाम है गोपीगीत। कोई कृष्ण कटाक्ष कटुता की कड़ी आलोचना करती है तो कोई दीनता के साथ पुकारती है हे रक्षक ! रक्षा करो। कोई विनया विनत होकर पुकारती है—"हे सर्व साक्षी ! हमारी विनय सुनो। कोई कहती है—' कृष्ण कर्ण कुहरों को कृतार्थ कर दो। वह दीनता से रोकर पुकारती है।

प्रिया पिपासित फिरहिँ मधुर कछु पेय पियाओ।
अधरामृत मुख भरा निठुर! कछु पुण्य कमाओ॥
प्याओ प्यारे परम स्वादयुत मीठो मीठो।
दुखहर अतिशय सुखद सौति वंशी को जूठो॥
कान कान्ह की कथा सुनि, होहिँ कृतारथ रस लहहिं।
बड़ भागी ते जगत नर, कथा तुम्हारी जे कहहिँ॥

इस प्रकार गोपिकाओं ने विविध भाँति से विनती की, बहुत देर तक विलाप किया। वे भगवान् क वियोग में अत्यन्त ही व्याकुल हो गयीं। उनकी दयनीय दशा दामोदर देख न सके और वे व्रजाङ्गनाओं के बीच में प्रकटित हो गये। गोपिकायें श्याम संस्पर्श जन्य सुख से कृतार्थ हो गयीं। उन्होंने प्रेम के कोप से कुपित होकर कृपालु से कुछ प्रश्न पूछे। प्रभु ने उनके यथोचित उत्तर दिये। फिर होने लगा रास। राम ही तो जीव का परम लक्ष्य है। यही तो भागवत का प्राण है। एक एक गोपी के बीच में एक एक श्याम उपस्थित हो गये। वह रास कैसा अनुपम था। कवि की लौह लखनी से लिखे इस ललित प्रसङ्ग को उसी के शब्दों में सुनिये—

व्रज युवतिनि के कण्ठ डारि कर नृत्यत नटवर।
रुनुझुनु नूपुर बजत झनक चुरियनि की मनहर॥
हिलन छीन कटि केश लोल लोचन अति चञ्चल।
पीताम्बर सँग मिलत हिलत युवतिनि के अञ्चल।
पग पटकत कुण्डल हिलत, मुख मटकत लचकत कमर।
हिलत हार मुख मुख मिलत, करत गान इतउत भ्रमर॥

इस प्रकार रास महारास हुआ यह राम क्या था बिम्ब प्रतिबिम्ब की जलस्थल की अलौकिक क्रीड़ा थी जलकेलि करके केशव कामिनियों के सहित कमनीय काननों मे कोकिलाओं के कलरव को सुनते हुए भ्रमण करने लगे। यह रास विलास एक ही दिन

नहीं हुआ ! अनादि काल से निरन्तर होता है और अनन्त काल तक एक रस होता रहेगा।

राम की रसमयी लीला को सुनकर परम भागवत महाराज परीक्षित् ने चार शंकायें की, श्री शुक ने चार शंकाओं के ये चार उत्तर दिये। राजन् ! भगवान् को धर्मा धर्म स्पर्श नहीं करते, भगवान् का कोई पर नहीं, भगवान् की समस्त 'लीलायें श्रेयस्कर ही हैं रास दिव्य देह से ही होता है। इतना प्रसंग कहते कहते "भागवती कथा" का तैंतालीसवाँ खण्ड समाप्त हो जाता है, अब आता है चौवालीसवाँ खण्ड।

चौवालीसवें खण्ड में रासलीला के ही प्रसंग को चालू रखते हुए उसका उपसंहार किया है। अन्त में फलश्रुति कहकर कह दिया है—

निज निज घर पुनि प्रात होत आईं ब्रजनारी।
यों नित क्रीडा करें कृष्ण प्यारी सुखकारी॥
जो नर श्रद्धा सहित रासलीला कूँ गावें।
पढ़ें सुनें सुख लहें अन्त में प्रभु पद पावें॥
वार वार जे प्रेम तैं, गद्य पद्य महँ गायँगे।
तिनिके हियके रोग सब, काम क्रोध नसि जायँगे॥

इस प्रकार रासलीला प्रसंग की समाप्ति की गयी है। फिर अम्बिका वन की यात्रा, सुदर्शन उद्धार की कथा, शङ्ख चूड़ उद्धार की कथा, गोपियों के काल क्षेप का वर्णन तथा अरिष्टासुर के उद्धार आदि की कथायें हैं। ये सब तो वृन्दावन की कथायें हुईं। अब आइये मथुरा की ओर।

कंस को पता चल जाता है, कि श्रीकृष्ण बलराम नन्द के पुत्र न होकर वसुदेव के पुत्र हैं ये मेरे शत्रु हैं उसने मंत्रियों के साथ गुप्त मंत्रणा की मिथ्या धनुर्याग का आडम्बर रचा और श्रीकृष्ण के चाचा अपने दानपति अक्रूर को बुलाया। अक्रूर ने बहुत सम-

भाया कि होनी होकर ही रहती है, किन्तु उस खल ने अक्रूरजी को डाट दिया। राम कृष्ण को मथुरा लाने का आग्रह किया, कंस की आज्ञा से अक्रूरजी व्रज की ओर चल दिये। इधर भगवान ने केशी और व्योमासुर का उद्धार कर दिया। नारदजी सब आगे का कार्य क्रम बता गये। अक्रूरजी रथपर चढ़कर नन्दगाँव की ओर नाना मनोरथ करते हुए जा रहे थे कि उन्हें पृथिवी पर उमड़े हुए भगवान् के चरणचिन्हों के दर्शन हुए। वे विह्वल हो गये, जैसे तैसे व्रज में आये। भगवान् राम और कृष्ण के दर्शन करके उन्होंने अपने जीवन को सफल माना। कंस का सब सन्देश सुनाया। सब सुनकर गोपों सहित भगवान् मथुरा चलने को उद्यत हो गये।

इधर भगवान् के भावी वियोग का स्मरण कर करके गोपिकायें दुखित होने लगीं। वे विरह से विह्वल बनी व्रजाङ्गनायें वनवारी के व्रज त्याग का स्मरण करके व्याकुल होने लगीं। सबको विरह में व्याकुल छोड़कर श्री रामश्याम मथुरा के लिये चल दिये। गोपिकायें रथ के पीछे रोती रोती भागीं अन्त में विह्वल होकर गिर गयीं।

अक्रूर घाट पर सन्ध्या वन्दन के लिये अक्रूरजी ने रथ खड़ा किया, उन्होंने ज्यों ही यमुनाजी में घुसकर गोता मारा कि भगवान् के चतुर्भुज रूप के दर्शन हुए। व्रज के कुछ रसिक भक्तों की भावना है, कि व्रजमंडल की परिधि के भीतर श्री कृष्ण सर्वदा द्विभुज रहते हैं, वे कभी चतुर्भुज नहीं होते। जहाँ चतुर्भुज हुए कि व्रज की रसमयी उपासना नष्ट हो जाती है, फिर वह ऐश्वर्यमयी उपासना हो जाती है। व्रज का कृष्ण कोई देवता नहीं। वह तो हम जैसा ही हमारा लाला है, सखा है, प्यारा दुलारा है, हमारी ही तरह उसे सुख दुख होता है भूख प्यास लगती है, चार हाथ हो जायँ तो वह तो भिन्न प्रकृति हो जाय। उसकी पीठ पर

चढ़कर चट्टो कैसे ले सकते हैं। इसीलिये ब्रज की सीमा परिधि अक्रूर घाट तक ही मानी जाती है। अक्रूर यहाँ तक श्रीकृष्ण बलराम को ले आये, ब्रज की सीमा समाप्त हुई, "भागवती कथा" का चालीसवाँ खण्ड समाप्त हुआ और यह अध्याय भी समाप्त हुआ। अब अगले अध्याय में पञ्चमाह की बची सूची कहेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने दो अध्यायों में पञ्चमाह की सूची तो कह दी। अब तीसरे अध्याय मे बची हुई विषय सूचीको कहता हूँ आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

कीयो रास विलास भये अन्तरहित गिरिधर।
बिलपीं बनिता बहुत भये पुनि परगट नटवर॥
महारास पुनि भयो सरसता अँग अँग छायी।
यों पुनि पूरन भई रास की पञ्चाध्यायी॥
शङ्ख चूड़ अजगर अपुर, केशी व्योमासुर मरन।
फेरि कह्यो अति भावमय, खकलक-सुत ब्रज आगमन॥

—:०:—

पञ्चमाह की विषय-सूची (तृतीय)

(१३७६)

व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः।
गजमुष्टिकचाणूर कंसादीनां च यो वधः ॥*

(श्री भा० १२ स्कं० १२० अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

व्रज तजि पुनि बल सग श्याम मथुराकूँ धाये।
गोपी व्याकुल भईं अश्रु अति सबनि बहाये॥
श्वफलक सुतपै करी कृपा मरि रजक तरयो है।
कुब्जा कूँ करि सुघर धनुष को भंग करयो है॥
आये गज अरु मल्ल जे, मरे कंस मामा मरयो।
नन्द गये व्रजकूँ बिलखि, जननि जनक को दुख हरयो॥

पञ्चमाह की विषय सूची बड़ी हो गई है, कारण कि पंचमाह पेट है और सब अन्य अंग उपांग है। पेट के आश्रय से ही अन्य अंग उपांग जीवित रहते हैं। पेट में कुछ न पड़े तो अन्य

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! पंचमाह के अन्त में जब वा ओ का विलपना, भगवान् का मथु। में आकर उसके हाट बाटों को देखना, कुवलियापीड़ गज, मुष्टिकचाणूर आदि मल्लों को मारना तथा कंस का वध और गुरु सान्दीपनि के मृत पुत्र को पुनः ले आना ये सब कथायें वर्णन की गई हैं।"

अंग निर्जीव हो जायँगे। पेट में पड़ने से सभी अंग प्रफुल्लित हो जायेंगे। भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्री कृष्ण चरित्र ही है। उनका जितना भी विस्तार किया जाय उतना ही अच्छा है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भागवती कथा के चौवालीसवें खण्ड की विषय सूची समाप्त होने पर अब मैं पैंतालीसवें खण्ड की विषय सूची वर्णन करता हूँ। पैंतालीसवें खण्ड में सर्व प्रथम राम श्याम का मथुरा में भ्रमण का वृत्तान्त है। कैसे प्रभु ने पुरी में प्रवेश किया, कैसे धुले धुलाये कपड़े लिये धोबियों का चौधरी आगे आगया। हँसी मे श्याम ने उससे कपड़े मांगे, वह अकड़ गया श्याम ने कसकर जो एक लप्पड़ लगाया, कि बच्चू जी टें कर गये। कपड़े लेकर दरजी से उन्हें सुधर वाया। सुदामा माली पर कृपा की उसके दिये हुए हारों को पहिना। फिर आ गयी कुब्जा काकी। उसके ऊपर कृपा की। उसके चन्दनको स्वीकार करके उसे टेढ़ी से सूधी बना दिया। फिर कंस की मखशाला में गये। यज्ञ के निमित्त जो धनुष रखा था, उसे तोड़ डाला। फिर डेरा पर लौट कर दूसरे दिन कंस की मल्लशाला की ओर चले। द्वार पर कुवलियापीड़ हाथी को मारा, रंग भूमि में पधार कर सभी को भावनानुसार दर्शन दिये। चाणूर ने दोनों भाइयों को युद्ध के लिये ललकारा। राम की मुष्टिक से और श्रीकृष्ण की चाणूर से भिड़न्त हो गयी। छोटे बालकों से मल्लों को लड़ते देख कर कामिनियों के मन में करुणा का स्रोत बहने लगा। चाणूर और मुष्टिक मर गये। अन्य सभी मल्ल भाग गये। कंस मामा भी न बच सके; भानजे के हाथों उनका उद्धार हो गया। अब कारागार में आकर भगवान् ने माता पिता को अपने हाथों मुक्त किया। उग्रसेन को राजा बनाया। नन्दजी को रोते रोते विदा किया। बाबा बिलखते हुए ब्रज बगद आये।

अब दोनों भाइयों का मथुरा में आकर यज्ञोपवीत संस्कार

हुआ। अवन्तिका पढ़ने गये। गुरुकुल में रहकर गुरुसुश्रूषा करने लगे। विद्याध्ययन समाप्त करके गुरुदक्षिणा की बारी आई। गुरु-आनी ने प्रस्ताव किया हमारे मृतपुत्र को लौटाकर ले आओ। राम श्याम यमपुरी जाकर मृत गुरुपुत्र को लौटा लाये गुरु दक्षिणा देकर पुनः मथुरा में आगये। यहाँ तक की कथा "भागवती कथा" के ४५ वें खण्ड तक में है। अब आता है छियालीसवाँ खण्ड।

छियालीसवें खण्ड में श्याम सुन्दर अवन्ती से पढ़कर—पंडित बनकर—मथुरा में आ जाते हैं और राजकाज में लग जाते हैं पैंतालीसवें खण्ड का अन्तिम छप्पय यह है—

आये मथुरा पुरी सुनत सबई उठि धाये।
राम श्याम के दरश पाइ सब अति हरषाये॥
द्वै पूरन शशि सरिस सबनिकूँ सुख सरसावैं॥
मथुरा में नित बसैं प्रेमको सोत बहावैं॥
यहाँ छोडि कछु कालकूँ, श्री मथुरा जी की कथा।
हृदय थामि सोचो तनिक, विरह माँहिं ब्रज की व्यथा॥

मूल श्री मद् भागवत में तो वृन्दावन की दशा का आभास बिना दिये ही मथुरा जी में श्रीश्याम सुन्दर उद्धवजी को बुलाकर ब्रज जाने की आज्ञा देते हैं। किन्तु भागवती कथा में पहिले ब्रजकी विरह दशा का वर्णन किया गया है। पहिले माता की विरह दशा का वर्णन है। ४६ वाँ खण्ड आरम्भ ही यहाँ से होता है—

हलधर गिरिधर बिना लगे ब्रज सूनो सूनो।
लखि मैया की व्यथा बढैं सबको दुख दूनो॥
खोई खोई रहै यशोदा कछु नहिँ सूझै।
देखे आवत पथिक बात बरसनिकी बूझै॥
बार बार मैया कहै, बुढ़िया पै किरपा करो।
अरे, दिखाओ सुतनि मुख, होवे मेरो यिह हरो॥

माता के विरह को कहकर फिर ग्वाल बालों की विरह मूर्तियों का वर्णन है तदनन्तर गोपिकाओं के हृदय विदारक विरह की करुण कहानी है। इस प्रकार व्रज वृंदावन के विरह को कहकर अब मथुरा की ओर आते हैं वहाँ श्याम सुन्दर गोप गोपियों के वियोग में आँसू बहाते रहते हैं। उद्धवजी इसका कारण पूछते हैं तो विलख विलख कर श्याम सुन्दर व्रज वासियों के निष्कपट निश्छल प्रेम का वर्णन करते हैं और उद्धवजी को व्रज जाने की आज्ञा देते हैं।

श्याम सुन्दर के सखा सुहृद् तथा सेवक उद्धवजी स्वामी के सन्देश को शिरोधार्य करके व्रज के लिये जाते हैं। वन उपवनों की शोभा को निहारते हुए वे नन्द गाँव में पहुँचते हैं, नन्द जी तथा यशोदा जी की विरह दशा देखकर वे विह्वल हो जाते हैं उन्हें श्री कृष्णतत्व समझाते हैं, सान्त्वना देते हैं किन्तु वे तो वात्सल्य रस के उपासक हैं। उद्धवजी का वे विधिवत् आतिथ्य करते हैं, बातें करते करते सम्पूर्ण रात्रि बीत जाती है।

प्रातः काल नन्द पौरि पर स्वर्ण मय रथ खड़ा देखकर व्रजाङ्गनायें तर्कना करती हैं, कि यह किसका रथ आगया। इतने में ही उद्धवजी यमुना स्नान करके आजाते हैं। इन नागरियों से उद्धव की भेंट होती है, एकान्त में वे श्याम का सन्देश सुनाते हैं उसी समय संयोग वश वहाँ भ्रमर आ जाता है। भ्रमर गीत बड़ा ही रसमय है। अनेकों कवियों ने भ्रमर गीत को अनेकों ढंग से लिखा है। 'भागवत चरित" के भ्रमर गीत की भी बानगी चखते चलिये। प्रेम कोप में कुपित व्रजांगनायें श्याम सुन्दर को खरी खोटी सुना रहीं थीं। उनके अलौकिक अनन्य प्रेम को देखकर उद्धवजी मन ही मन सिहा रहे थे, उसी समय भ्रमर को देखकर गोपिकायें कहती हैं—

जिनि कुंजनि सुख दयो न ते अब तनिक सुहाती।
अधरामृत कूँ प्याइ बनाईं हम मदमाती॥
गये त्यागि मधुपुरी न अब ब्रजवास सुहावै।
तू हू करि मधुपान त्यागि सुमननि कूं जावै॥
स्वामी सेवक एकसे, चोर चोर भाई सगे।
निज घर जा हम अति व्यथित, हरि कटाक्ष सर हिय लगे॥

जब भ्रमर का अत्यधिक तिरस्कार कर दिया, तो फिर ध्यान आया, अरे, यह तो प्यारे का दूत है। प्यारे का सन्देश लेकर आया है, इसका तो सत्कार करना चाहिये। इस भाव के आते ही वे सब उसे चुचकार कर प्यार के साथ कहने लगती हैं—

अच्छा मधुकर ! फेरि पठायो प्रियतम तुमकूँ।
प्यारे को सदेश सुनाओ अब तुम हम कूँ॥
कैसे हरि तैं मिलैं भ्रमर वर युक्ति बताओ।
उन उर पद्मा बसति सौतितैं पिंड छुडाओ॥
कुशल कहो कपारि की, करत कबहुँ ब्रजकी सुरति।
कब दासिनि पै दया करि, दरशन दगे प्रनत पति॥

उद्धवजी ने जब श्याम सुन्दर में गोपाङ्गनाओं का ऐसा अनुपम अलौकिक अनुराग देखा तो वे बड़े ही प्रसन्न हुए उन्होंने उन महा भाग्यवती वन चरियों की भूरि भूरि प्रशन्सा की। कुछ दिन उद्धव ब्रज में रहकर श्याम विरह का आनन्द लूटते रहे अन्त में सब से विदा होकर उद्धव जी चलने लगे। एक बार फिर से वही दृश्य उपस्थित हो गया जब यहीं से राम श्याम को लेकर अक्रूर जी गये थे। आज उद्धवजी श्याम के लिये सब का सन्देश उपहार लेकर जा रहे हैं। सब ने कुछ न कुछ उपहार राम श्याम के लिये दिया। उन सब ब्रजवासियों की दशा वर्णनातीत थी कवि के ही शब्दों में सुनिये—

राम श्यामकूँ सबनि सँदेशो निज निज दीन्हों।
ऊधो रथपै चढ़े सबनि को आदर कीन्हों॥
ब्रजवासी मिलि कहें—हमें अब जिहही भावै।
कृष्ण चरन मन रमे नाम रसना नित गावै॥
तन हरि सेवा महँ निरत, सत सगति महँ होहि मति।
जहँ जहँ जनमें करम वश, होहि तहाँ हरि चरन रति॥

सब का सन्देश लेकर उद्धवजी श्याम सुन्दर के समीप मथुरा में आये। सब कुछ सुनकर श्याम सुन्दर का भी हृदय भर आया। और इस प्रकार भागवती कथा के छियालीसवें खण्ड के बीस अध्यायों में भ्रमर गीत का प्रसंग है।

फिर श्याम सुन्दर ने कुब्जा को इच्छित वर दिया दोनों भाई अक्रूर चाचा के घर पधारे। उन्हें कुन्ती बूआ की सुध लाने के लिये हस्तिनापुर भेजा। अक्रूरजी अपनी बहिन कुन्ती से मिले, धृतराष्ट्र को उन्हों ने डाँटा डपटा उपदेश दिया। यहाँ आकर छियालीसवाँ खण्ड समाप्त हो जाता है। साथ पंचमाह की कथा भी समाप्त हो जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने तीन अध्यायों में पञ्चमाह की विषय सूची बतायी। अब आप षष्ठाह की विषय सूची श्रवण कीजिये।"

छप्पय

फिरि गुरुकुल को बास मृतक गुरुसुत ज्यों लाये।
ब्रज उद्धव के हाथ आइ सन्देश पठाये॥
उद्धव देखे दुखी गोप गोपी गो बछरा।
भस्त व्यस्त सब वस्तु परे टूटे घर छकरा॥
भ्रमर गीत, कुब्जा कृपा, कुन्ती ढिग श्वफल्क तनय।
पञ्चमाह पूरन भयो, अब षष्ठाह सुनहु सदय॥

—:o:—

राज मुचुकुन्द को वरदान देते हैं और कालयवन के धन को लूटपाट कर गठरी बाँधकर ज्यों ही भागना चाहते हैं त्यों ही जरासन्ध फिर आ जाता है। अब तो लालाजी घिर जाते हैं, लूट पाट के धन का मोह छोड़कर दोनों मुट्ठी बाँधकर भाग खड़े होते हैं. प्रवर्षण पर्वत पर चढ़ जाते हैं और दूसरी ओर से छिपाकर कूदकर—उसकी आँखों में धूलि झोंककर, द्वारकापुरी में आ जाते हैं।

द्वारका में आकर विवाह का डौल डाल लगाते हैं। नारदजी से रुक्मिणी की प्रशंसा सुनते हैं, उस पर लट्टू हो जाते हैं। इधर रुक्मिणीजी भी मन ही मन श्याम सुन्दर को वरण कर लेती हैं, किन्तु उनका भाई रुक्मी शिशुपाल के साथ सगाई कर देता है। विवाह के कुछ दिन पूर्व रुक्मिणीजी अपने बूढ़े पुरोहित के हाथ श्याम सुन्दर को संदेश पठाती हैं। वह हरण के लिये श्याम सुन्दर चुपके से रथ में बैठकर कुंडिनपुर आ जाते हैं। देवी रुक्मिणी की निराशा में आशा होती है। वे अच्युत का आगमन सुनकर अत्यधिक आनन्दित होती है, गौरी पूजन के निमित्त जाती हैं श्रीहरि उसी समय सबके सिरों पर लात जमाकर कन्या को हरण करके भाग जाते हैं। लोग लड़ जाते हैं, पराजित होकर लौट आते हैं। रुक्मी कुछ पीछा करता है, वह विकृत बनकर—पराजित होकर लौट आता है। द्वारका में आकर श्याम सुन्दर रुक्मिणीजी के साथ विवाह कर लेते हैं। इस प्रकार यह प्रथम विवाह का वर्णन हुआ। रुक्मिणीजी के प्रथम पुत्र प्रद्युम्नजी होते हैं, इसे सूतिका गृह से ही असुर उठा ले जाता है।

भगवान् के १६१०८ विवाह हुए। सोलह सहस्र एक सौ कन्यायें तो इकट्ठी ही मिल गयीं। आठ विवाहों में खटपट हुई। पहिले विवाह में तो इतनी खटपट नहीं हुई। चुपके से गये कन्या को भगा लाये, किन्तु दूसरे तीसरे विवाह में बड़ी कलह हुई। अत्यन्त

कटुता आ गयी। यह कामिनी कांचन का प्रसंग होता ही बड़ा कटु है। इसमें दोनों को ही लोभ था। यदुवंशियों में एक सत्राजित नाम का यादव था उसे सूर्य से स्यमन्तक मणि मिल गयी सहज स्वभाव से श्याम सुन्दर उससे मणि माँग बैठे। लोभवश उसने नहीं दी। उसके भाई को सिंह ने मार दिया मणि जाम्ब-

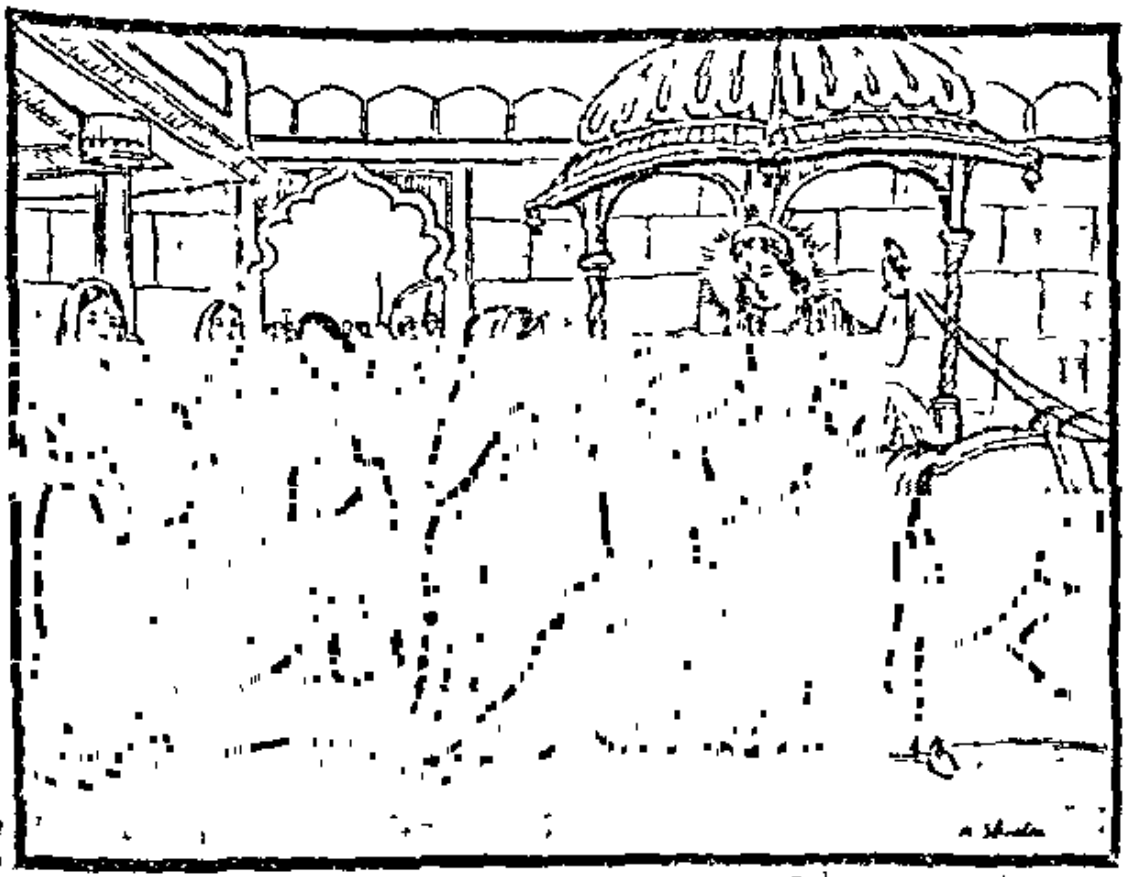

वान् ऋक्षराज पर पहुँच गयी। माधव को मिथ्या कलंक लगा। क्या करते गये मणि को ढूँढ़ने मणि तो मिल ही गयी, एक जाम्बवती नामक बहू लाभ में ही मिली। सत्राजित् ने भी अपनी कन्या सत्यभामा का विवाह भगवान् से कर दिया। मणि सत्राजित् पर ही रही। शतधन्वा ने मणि के पीछे सत्राजित् को मार डाला, ससुर के हत्यारे को श्याम सुन्दर ने मार दिया। लेखा जोखा बराबर हो गया। शतधन्वा के साथ अक्रूर कृतवर्मा भय से द्वारका छोड़कर भाग गये। बलदेवजी रूठ गये। बड़े

बड़े बखेड़े के पश्चात् यह प्रसंग समाप्त हुआ। इसके अनन्तर चौथे, पाँचवें और छठे विवाह की कथायें हैं।

यहाँ आकर 'भागवती कथा' का सैंतालीसवाँ खण्ड समाप्त होता है अब आता है अड़तालीसवाँ खण्ड।

अड़तालीसवें खण्ड में भगवान् के विवाहों की ही कथा चालू रखते हुए उनके सप्तम तथा अष्टम विवाहों का वृत्तान्त है। अब सोलह सहस्र एक सौ विवाहों का वृत्तान्त आरम्भ होता है। भौमासुर ने किस प्रकार अन्याय करके राजाओं की सोलह सहस्र एक सौ कन्याओं को बन्दिनी बना लिया। इन्द्र की प्रार्थना पर कैसे भगवान् ने भौमासुर को मारकर उन कन्याओं का उद्धार किया। फिर आप सत्यभामा को साथ लेकर भौमासुर द्वारा परिहृत दिति के कुंडलों को देने स्वर्ग गये। वहाँ पारिजात के पुष्प के कारण भगवान का इन्द्र के साथ कैसे युद्ध हुआ। द्वारका में उन सोलह सहस्र एक सौ कन्याओं से कैसे विवाह किया ये सब कथायें विस्तार के साथ वर्णन की गयी हैं। इस प्रकार सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाहों का वृत्तान्त तो हो गया अब इन सबकी सन्तानों की कथा आरम्भ होती है। सर्व प्रथम रुक्मिणी नन्दन प्रद्युम्न जी की कथा है, सूतिका गृह से प्रद्युम्न जी को शम्बरासुर हर ले गया था, वहाँ कामदेव की पूर्व पत्नी रति रहती थी, ये भी कामावतार थे। उसी से साठ गाँठ भिड़ाकर शम्बरासुर को मारकर वह सहित द्वारका में आ गये। इनके इतने वर्षों के पश्चात् महसा आने से पुरा में परम आनन्द हुआ। ये रुक्मिणी जी के सबसे बड़े पुत्र थे। इसी प्रकार आठों पटरानियों के दश पुत्र एक एक पुत्री हुई फिर रुक्मी की लड़की से प्रद्युम्नजी के विवाहका वर्णन है, उसकी नतिनी से प्रद्युम्न पुत्र अनिरुद्ध के विवाह का वर्णन है। उसी विवाह में बलदेवजी द्वारा

रुक्मी मामा मारे गये। इस प्रकार भगवान् के विवाह बच्चों की कथा समाप्त हुई। अब चली विनोद की कथा।

भगवान् को एक दिन रुक्मिणी जी से विनोद करने की सूझी। आपने कहा—रुक्मिणी जी राजकुमारी होकर आपने ऐसी भूल क्यों की। शिशुपाल को छोड़कर हमसे विवाह क्यों किया। अस्तु अब भी कुछ हानि नहीं, किसी योग्य राजकुमारके साथ चली जाओ।" पति के इतने कठोर विनोद को सुनकर रुक्मिणी जी व्याकुल हो गयीं। कवि के शब्दों में सुनिये :—

सुनि पति-वचन कठोर रुक्मिनी अति घबरायीं।
मूर्छित ह्वै महि गिरीं तुरत उठि श्याम उठायीं॥
प्रेमालिङ्गन करयो पोंछि मुख केश सम्हारे।
पलँग पास बैठाइ मधुर स्वर वचन उचारे॥
अरे, प्रिये! रूठो वृथा, हँसी हँसी में हौं कही।
नरक रूप घर में सरस, है प्रसङ्ग सुखकर जिहा॥

प्रियतम के भाव को समझकर प्रिया हँस गयीं, परस्पर में उत्तर प्रत्युत्तर होकर खेल समाप्त हुआ। इसी भाँति भगवान् का सत्यभामा से भी विनोद हुआ। तदनन्तर ऊषा अनिरुद्ध की कथा है।

स्वप्न में अनिरुद्ध को देखकर ऊषा ने अपनी योगिनी सखी चित्रलेखा द्वारा उन्हें अपने महलों में सोते सोते उठवा मँगाया। यह बात ऊषा के पिता बाणासुर को मालूम हो गयी, उसने अनिरुद्ध को पकड़कर कारागार में बन्द कर दिया। समाचार सुनकर सैन्य सजाकर यादव गण बाणासुर की राजधानी शोणित-पुर चढ़ आये। बाणासुर की ओर से शिवजी यादवों से लड़ने आये। भगवान् का शिवजी से युद्ध हुआ। पीछे मेल जोल हो गया। ऊषा का अनिरुद्ध से विवाह हो गया। तदनन्तर नृगो-

द्वारका कथा है उसी प्रसंग में भगवान् ने यादवों को ब्राह्मणधन हरण न करने का उपदेश दिया। इसके पश्चात् बलदेवचरित है।

व्रजवासियों से भेंट करने द्वारका से बलरामजी व्रज में गये। वहाँ जाकर फिर वे ही रसमय क्रीड़ायें कीं। बीच में मिथ्या वासुदेव तथा काशिराज की कृत्या के कुपरिणाम की कथा कह कर फिर बलदेवजी ने जैसे द्विविद वानर का वध किया वह कथा है। यहाँ तक 'भागवती कथा' का अड़तालीसवाँ खण्ड समाप्त हुआ अब आता है उनचासवाँ खण्ड।

उनचासवें खण्ड में सर्व प्रथम वह कथा है जिसमें जाम्बवती पुत्र साम्ब ने दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा का अपहरण किया और कौरवों ने उसे पकड़कर बाँध लिया। इस पर संकर्षण बलराम जाते हैं, कौरवों से कुछ कड़ी बातें कह देते हैं। वे कुपित हो जाते हैं इधर ये भी कुपित होकर हस्तिनापुर को उलटने लगते हैं। इतने में ही बात समाप्त हो जाती है साम्ब और लक्ष्मणाका विवाह हो जाता है।

एक दिन नारदजी को शंका होती है अकेले भगवान् सोलह सहस्र एक सौ पटरानियों को कैसे सन्तुष्ट रखते होंगे। वे सब घरों में जाते हैं, भगवान् को सभी घरों में विभिन्न कार्य करते देखकर उनकी उत्सुकता शान्त हो जाती है। इसके पश्चात् भगवान् की पूरी दिनचर्या का वर्णन है। अब राजसूय प्रसंग आरंभ होता है।

जरासन्ध ने सहस्रों राजाओं को बन्दी बना रखा था, उन सबने गुप्तदूत द्वारा अपनी मुक्ति के निमित्त श्याम सुन्दरके समीप संदेश पठाया। उसी समय नारदजी धर्मराज का राजसूय यज्ञ सम्बन्धी निमन्त्रण लेकर आ गये। प्रश्न उठा प्रथम कहाँ जाना

चाहिये। उद्धवजी को पंच माना गया, उन्होंने निर्णय दिया पहिले इन्द्र प्रस्थ चलना चाहिये। उद्धवजी की सम्मति मानकर सेवक सेना तथा समस्त परिवार के साहत भगवान् इन्द्र प्रस्थ पहुँचे। पांडवों ने भगवान् का हार्दिक स्वागत किया। राजसूय यज्ञ का प्रस्ताव हुआ। राजसूय यज्ञ मे जरासन्ध को कंटक समझकर उसे मारने भीम और अर्जुन सहित वेष बदल कर श्याम सुन्दर मगध चल दिये। ब्राह्मण वेष से उससे युद्ध की भिक्षा माँगी। जरासन्ध और भीम का घोर द्वंद युद्ध हुआ। जरासन्ध मारा गया। राजाओं ने भगवान् के दर्शन किये और सभी ने भगवान् की गद्गद् कंठ से इन शब्दों में स्तुति की :—

बन्दी राजाओं की स्तुति

देव देवेश्वर शोभाधाम। करें रक्षा नटवर घनश्याम।
यह संसार अपार अति, करें कृपा निधि पार।
तजि जग के नाते सकल, आय तुमरे द्वार॥
विपति भय भंजन तुमरो नाम ॥१॥ करें रक्षा०
धनजनबलसरबसु समुझि,भजहिं तुमहिंसुख रूप।
धनमद में मदमत्त ह्वै, कहें अकरि हम भूप॥
भयो मद चूर श्याम अभिराम ॥२॥ करें रक्षा०
वासुदेव हरि कृष्ण विभु, प्रणत पाल जगदीश।
कृपा कृपामय करें अब, हे गोविंद गोपीश॥
परमप्रिय पदुमनि माहिँ प्रनाम ॥३॥ करें रक्षा०
समुझि तुमहिँ सरवस्व सत, करें नाम निन गान।
बलो धनी गुनवान हम, अब न होहि अभिमान।
करें सब तुमरे ही हित काम ॥४॥ करें रक्षा०

भगवान् ने स्तुति सुनकर जरासन्ध सहदेव द्वारा उनकी पूजा कराके विदा किया और आप सहदेव को गद्दी पर बिठाकर इन्द्रप्रस्थ आ गये। धर्मराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। बड़े

ठाठबाट से राजसूय यज्ञ हुआ। यज्ञ के अन्त में अग्र पूजा का प्रश्न छिड़ा। महदेव ने अच्युत को ही अग्रपूजा का पात्र बताया। इसका शिशुपाल ने घोर विरोध किया, गोविन्द का गिन गिनकर गालियाँ देने लगा। तब भगवान् ने उसके सिर को धड़ से पृथक् कर दिया। धर्मराज की पूजा स्वीकार की अवभृत स्नान हुआ। यज्ञ समाप्त हुआ पाँडवों का महान् अभ्युदय हुआ, दुर्योधन इससे दुखी हुआ।" साथ ही "भागवती कथा" का उनचासवाँ खण्ड समाप्त हो गया। अब आ ा है पचासवाँ खण्ड।

पचासवें खण्ड में सर्व प्रथम आता है शाल्वप्रकरण। भगवान के परोक्ष मे शाल्व ने द्वारका पर चढ़ाई कर दी। प्रद्युम्न और शाल्व का भयंकर युद्ध हुआ, अन्य यादव भी लड़े। सुनते ही श्याम सुन्दर आ गये शाल्व को मार दिया। उसका पक्ष लेकर दन्तवक्र और विदूरथ आये उनको भी मृत्यु के घाट उतार दिया। फिर बलदेवजी का चरित्र आता है। महाभारत युद्ध से तटस्थ होकर संकर्षणजी तीर्थयात्रा के निमित्त निकल पड़ते हैं। नैमिषारण्य में सूत वध करके बल्वल वध करते हैं, प्रायश्चित स्वरूप यज्ञ करते हैं। तदनन्तर सरस सुखद सुदामा चरित आरंभ होता है।

पत्नी के कहने पर सुदामाजी अपने बाल सखा श्याम सुन्दर से मिलने द्वारका को ओर जाते हैं, वहाँ मित्र मित्र का मनोहर मिलन होता है। दोनों घुल मिलकर बातें करते हैं। श्यामसुन्दर अपने सखा सहपाठी सुदामा जी से हँसकर पूछते हैं :—

भाभी कैसी मिली मिले मन तुमरो वाते।
लड़ति भिड़ति ता नाहिँ कान तो करे न ताते॥
कितने बालक भये सबनि के नाम बताओ।
सब घरका वृत्तान्त सुनाओ मति सकुचाओ॥

गुरुकुल के सुखमय, दिवस, हाय ! स्वप्न सम अब भये।
या दिनकी कछु यादि है, ईंधन लैवे बन गये॥

इस प्रकार दोनों मित्रों में बातें हुईं। श्याम सुन्दर ने सुदामा के तन्दुल छीनकर खाये, अन्त में कष्ट से मित्र को विदा किया। सुदामा ने घर आकर देखा कि सुदामापुरी तो सुवर्ण की बन गयी है। यहाँ तक सुदामा चरित हुआ अब आता है कुरुक्षेत्र में चन्द्रग्रहण पर भगवान् का व्रजवासियों से मिलन प्रसंग। भगवान् यशोदा मैया से मिले। देवकीजी भी रोहिणी जी भी रोती रोती मैया से मिलीं। एकान्त में गोपियों ने गोविंद से भेंट की उस समय करुणा भी द्रवित हो उठी। द्रौपदीजी और भगवान् की पत्नियों में अपने अपने विवाह की सरस बातें हुईं। इतने में बाहर भगवान् के दर्शन को मुनिगण आ गये। वासुदेव जी और मुनियों में शिष्टाचार के अनन्तर प्रश्नोत्तर हुए। मुनियों के कहने से वसुदेवजी ने कुरुक्षेत्र में बड़ा भारी यज्ञ किया। अंत में बड़े कष्ट से गोप गोपी श्याम सुन्दर से विदा होकर व्रज चले गये। श्याम सुन्दर परिवार सहित द्वारका आ गये "भागवती कथा" का पचासवाँ खण्ड समाप्त हो गया। अब आता है इक्यावनवाँ खण्ड।

इक्यावनवाँ खण्ड में वासुदेवजी को आत्मज्ञान हो गया। वे भगवान् में पुत्र भाव न करके भगवत् भाव से उनकी स्तुति करने लगे। देवकी जी ने भी भगवान् समझकर अपने मृत पुत्रों के दर्शन की इच्छा प्रकट की। भगवान् ने पुत्र लाकर माता को दिखा दिये। इसके अनन्तर अर्जुन और सुभद्रा के प्रणय तथा हरण की दो अध्यायों में कथा है। तदनन्तर राजा जनक और श्रुतदेव विप्र इन दोनों भक्तों पर भगवान् ने एक साथ ही कैसे कृपा की इसका रोचक वर्णन है। फिर हरिहर भक्तों के भेद का

रहस्य तथा वृकासुर और उसके चक्रसे भगवान् शंभु के छुटकारे की कथा है।

एक दिन ऋषियों में तीनों देवों में से कौन सर्वश्रेष्ठ है यह प्रश्न छिड़ा। भृगुजी तीनों देवों के समीप परीक्षार्थ गये। अन्त में श्रीविष्णु ही सर्व श्रेष्ठ हैं यही निर्णय हुआ। यहाँ तक तो सुखद कथायें हैं। अब दुखद प्रसंग छिड़ता है। भगवान् का ज्यों ही संकल्प हुआ कि हम स्वधाम पधारें त्यों ही उनकी प्रेयसी महीषियों को स्वतः ही आभास हो गया कि अब प्राणनाथ लीला संवरण करेंगे। उनके मुख से स्वतः ही विरहमय उद्गार निकलने लगे। वे अत्यन्त करुण स्वर में विरह के गीत गाने लगीं। कुररी, चकवी, समुद्र, चन्द्र, मलयानिल, सरिता, कोकिल, पवन तथा घन आदि को उपलक्ष्य करके वे अपने भावों को स्वतः उगलने लगीं। ये दश गीत बड़े ही मर्म स्पर्शी हैं। उनमें से एक की बानगी चखिये—कोकिला को लक्ष्य करके रानियाँ गा रहीं हैं :—

कोकिल ! कुहू कुहू का बोलति।
रसमें सनी सुधासम बानी बोलति तरुपै डोलति ॥१॥
ऐसे ही ये श्याम निगोड़े, प्रेम पिटारो खोलत।
नेह तुला में हिय कूँ धरिकें, राग बाटतैं तोलत ॥२॥
कूजति तू कल कंठ कोकिले, प्रियकी सुरति दिवावति।
काप्रिय करें बहिन तेरो हम तव चरननि सिरनावति ॥३॥
गोविंदके गुन खगगन गावत, उड़ि उड़ि इतई रोवत।
तू तो प्रभु के प्रेम छीर महँ मधुरव मिसिरी घोरति ॥४॥

इसके अनन्तर एक द्विज के मृतक बालक को अर्जुन की प्रतिज्ञा पर परम वैष्णवधाम से लौटा लाने की कथा है। श्रीकृष्ण पत्नियों के लीला विहार तथा प्रलाप की कथा तथा भगवत् चरित का उपसंहार है। यहाँ आकर 'भागवती कथा' का इक्यावनवाँ

खंड समाप्त हो जाता है, साथ ही षष्ठाह की विषय सूची भी समाप्त हो जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आपको षष्ठाह की विषय सूची सुना दी, अब आप ध्यान पूर्वक सप्ताहकी विषयसूची श्रवण करें।"

छप्पय

कृष्ण-बाण संग्राम शम्भु-हरि सग लड़ाई।
राजा नृग की कथा कही अति परम सुहाई॥
बलदाऊ ब्रज गमन पौण्ड्र-वध साम्ब-सगाई।
गृहचर्या अति दिव्य श्याम नारदहिँ सिखाई॥
जरासन्ध वध भीम तें, राजसूय को वृत्त सब।
शाल्व और शिशुपाल वध, कह्यो सुदामा चरित तब॥
कुरुक्षेत्र में भयो मिलन ब्रज वासिनि तें ज्यों।
ललकि मिले घनश्याम पिता माता बल सँग त्यों॥
कृष्णा महिषी बात सरसता छाई सब पै।
जनक, जननि, द्विज तथा कृपा मैथिल भूपति पै।
हर, भृगु, अरजुन पै कृपा, करी सबनि को दुख हरयो।
गायो महिषी गान पुनि, षष्ठ आह पूरन करयो॥

—:०:—

सप्तमाह की विषय सूची (प्रथम)

(१३७८)

विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च ।
उद्धवस्य च सम्वादो वासुदेवस्य चाद्भुतः ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० १२ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

सप्तमाह में शाप दिवायो निजकुल गर्वित ।
नारद अरु वसुदेव कह्यो संवाद सुशोभित ॥
नव योगेश्वर ज्ञान कह्यो अवधूत सुगीता ।
उद्धवगीता कह्यो सुनत छूटै भव-भीता ॥
हंस ज्ञान पुनि भक्ति अरु, ध्यान सिद्धि सबहीं कहीं ।
पुनि हरि कछु बरनन करीं, जो विभूति उनिकी रहीं ॥

स्वयं ही हरि जगत् जाल को बनाते हैं, फिर स्वयं ही उसे निगल जाते हैं। स्वयं ही प्रस्ताव करते हैं स्वयं ही उसका उपसंहार कर लेते हैं। स्वयं ही विविध विषय बन जाते हैं और फिर

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सप्तमाह में ब्राह्मणों के शाप के निमित्त अपने कुल का संहार कराना तथा भगवान् वासुदेव तथा उद्धवजी के अद्भुत सम्वाद आदि विषयों का वर्णन है।"

स्वयं ही उन विषयों की विषय सूची बनाकर उनका नाम निर्देश करते हैं। सब में सर्वत्र सब रूप में उन श्री हरि को ही देखना यही जीव का चरमलक्ष्य यही शास्त्रों का सार है, यही लिखने पढ़ने का फल है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने षष्ठाह की विषय सूची 'भागवती कथा' के इक्यावन खण्ड तक कही। अब सप्तमाह की विषय सूची बावनवें खण्ड से श्रवण कीजिये।

बावनवें खण्ड में सब प्रथम ब्राह्मणों ने यदुकुल के साम्बादि कुमारों की अशिष्टता के कारण विनाश का शाप दे डाला। श्री उग्रसेन द्वारा शाप का व्यर्थ प्रतिकार किया गया। साम्ब के पेट से निकले मुसलचूर्ण को रितवाकर समुद्र में फिकवा दिया गया। इस कथा को यहीं छोड़कर नारदजी और वसुदेवजी का अध्यात्म संवाद आरम्भ होता है। वसुदेवजी ने नारदजी से कुछ प्रश्न किये। नारदजी ने वसुदेवजी के प्रश्नों का अभिनन्दन किया और इसी प्रसंग में नवयोगेश्वरों और महा विदेह के सम्वाद को सुनाया महाराज विदेह के पूछने पर सबसे बड़े योगेश्वर कवि ने भक्ति तथा नाम संकीर्तन महिमा बतायी फिर योगेश्वर हरि ने भगवत् भक्तों के लक्षण बताये। इसी प्रकार अन्तरिक्ष द्वारा भगवान् की महिमा का वर्णन, प्रबुद्ध द्वारा माया से पार होने का उपाय तथा भागवत धर्म, पिप्पलायन द्वारा नारायणके स्वरूपका वर्णन, आविर्होत्र द्वारा कर्मयोग का विवेचन तथा पूजा पद्धति, द्रुमिल द्वारा भगवत् लीलाओं तथा अवतारों का चरित, चमस द्वारा हरि विमुख जनों की गति का वर्णन, तथा वेदों का वास्तविक सिद्धान्त कर भाजन द्वारा युगधर्म का विवेचन तथा कलियुग में केवल नाम संकीर्तन ही एकमात्र सरल सुगम उपाय है, इन सब बातों का प्रतिपादन किया गया है। योगेश्वर कर भाजन कलियुग का धर्म बताते हुए कहते हैं—

या कलिगुन तैं रीझि जनम कलिमहँ चाहैं सुर।
होवैं कलिमहँ भक्त करैं कीर्तन धरि हरि उर॥
तजि सब विषय विलास शरन हरि की जे जावैं।
सब रिनतैं ह्वै उरिन श्याम के धाम सिधावैं॥

अशुभ करम यदि भूल तैं, कबहुँ भक्त तैं बनि परैं।
तिनिकूं शरनागत बछल, अघहारी श्रीहरि हरैं॥

इस प्रकार कवि,हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध,पिप्पलायन, आविर्होत्र द्रुमिल, चमस और कर भाजन इन नौ योगेश्वरों और जनक के सम्वाद को कहकर नारदजी ने वसुदेवजी को उपदेश दिया। यहाँ वसुदेव नारद सम्वाद भी समाप्त हुआ और 'भागवती कथा' का बावनवाँ खण्ड भी समाप्त हुआ अब आता है त्रेपनवाँ खण्ड।

त्रेपनवें खण्ड में सर्व प्रथम श्रीकृष्ण उद्धव सम्वाद की प्रस्तावना है। पहिले उद्धवजी ने भगवान् से विनय की तब भगवान् ने उद्धवजी को सन्यास धर्म का उपदेश दिया। संक्षिप्त उपदेश श्रवण करके उद्धव की विस्तृत व्याख्या श्रवण करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। तब दृष्टान्त के रूप में भगवान् ने अवधूत गीता आरम्भ किया। भगवान् दत्तात्रेय ने पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कपोत, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी, हरिण, मीन, वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारीकन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी, तथा भृङ्गी इन चौबीस गुरुओं को बना कर इनसे कौन कौन सी शिक्षा ली है, इसका विस्तृत वर्णन किया है। एक गुरु से जो शिक्षा ली है उसका एक अध्याय में वर्णन है अन्त में अपने इस शरीर से क्या शिक्षा ली है यह भी एक पच्चीसवाँ गुरु है। इसलिये मनुष्य शरीर की उपयोगिता को ध्यान में रखकर कहा गया है:—

हरि ने नाना यानि रचीं परितोष न पायो।

मुक्ती भये लखि मनुज मोक्ष को द्वार बतायो ॥
पाइ मनुज को जनम जनम को अन्त न कीयो ।
विषयनि फँसि मरि गयो अमृत तजिकें विष पीयो ॥
सब योनिनि महँ विषय सुख, मिलै करै क्यों श्रम अरे ।
छनिक दुखद सुख भजि सरस, नित्य सुखहिं तजि बावरे ॥

इस प्रकार चौबीस गुरु और पच्चीसवें देह से शिक्षा लेकर अवधूत गीता की समाप्ति की गयी और साथ ही "भागवती कथा" का त्रेपनवाँ खण्ड समाप्त किया गया है अब आता है चौअनवाँ खण्ड।

चौअनवें खण्ड में पहिले समस्त शास्त्रों के सार उपदेश को कहा है। फिर परम भगवद्भक्तों के लक्षणों का वर्णन है। तदनन्तर संसार सागर से पार होने के सरल साधन, भगवान् की पूजा के ग्यारह आश्रय, सत्संग की महिमा, गोपिकाओं की प्रभु में आसक्ति, इन तीनों गुणों से ऊपर उठने के उपाय तथा अन्तःकरण में विषय वासना की प्रवृत्ति कैसे होती है इन गूढ़ विषयों का सरलता तथा सरसता के साथ वर्णन किया है। इसी प्रसंग में भगवान् ने हंसरूप रखकर ब्रह्माजी को तथा सनकादि कुमारों को जो उपदेश दिया, जो हंसगीता के नाम से वर्णित है उसका कथन किया। यह जो हमें असत् में सत् का भ्रम हो गया है, इसका निवारण कैसे किया जा सकता है, इसके व्यवहारिक उपाय बताये हैं। इन सब गूढ़ विषयों को कहकर हंसगीता की समाप्ति की गयी है।

इसके अनन्तर श्रेयसिद्धि के अनेकों मार्गों की विवेचना करते हुए बताया है स्वल्प में सुख नहीं। फिर भक्तों का उत्कर्ष है, भक्तों की महिमा, सत्संग और दुस्संग का प्रभाव, ध्यान की पात्रता ध्यान की विधि आदि विषयों को बताकर सिद्धियों के सम्बन्ध में

बताया है। भगवान ने अपनी बहुत सी सिद्धियों को गिनाकर अन्त में कह दिया है, सभी सिद्धियों का स्वामी मैं ही सर्वेश्वर हूँ। इस प्रकार "भागवती कथा" का चौअनवाँ खण्ड समाप्त होता है, अब आता है पचपनवाँ खण्ड।

पचपनवे खण्ड में सर्व प्रथम भगवान् ने अपनी मुख्य मुख्य विभूतियोंका वर्णनकिया है,फिर भगवत् विभूतियोंकी मुख्यपहिचान बता दी है। तदनन्तर वर्णाश्रम धर्म का रहस्य, ब्राह्मण स्वभाव उसकी वृत्ति और धर्म, क्षत्रिय स्वभाव और वृत्ति, वैश्य स्वभाव और वृत्ति, शूद्रों का स्वभाव और वृत्ति तथा अन्त्यजों का स्वभाव वृत्ति बताकर अन्त में संक्षेप में सब वर्णिक धर्मों को बताया गया है। ये तो वर्ण धर्म हुए इसके अनन्तर आश्रम धर्म बताये गये हैं। ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म, गृहस्थाश्रम के धर्म, वानप्रस्थाश्रम के धर्म, सन्यासाश्रम के धर्म बताकर सन्यासियों के भेद बताये गये हैं और फिर परम हंसचर्या का निरूपण किया गया है, फिर उद्धव जी ने ज्ञान तथा भक्ति सम्बन्धी प्रश्न किये हैं, यहाँ आकर "भागवती कथा" का पचपनवाँ खण्ड समाप्त होता है, अब आता है छप्पनवाँ खण्ड।

छप्पनवे खण्ड में सर्व प्रथम भक्ति योग का वर्णन है, फिर भगवान् ने विस्तार से भक्तियोग के साधन बताये हैं। तदनन्तर उद्धवजी ने कुछ पावन प्रश्न किये हैं। भगवान् ने अत्यन्त संक्षेप से उन सबके उत्तर दिये हैं। दान, तप, पंडित, मूर्ख आदि के सम्बन्ध में प्रश्न कियहै भगवान ने उनके उत्तर दे दिये। फिर अन्त में कहा गुण दोष देखना ही दोष है। जो गुण दोष नहीं देखता वही गुणी है। इस पर उद्धवजी ने गुण दोषों के सम्बन्ध में शंका की। तब भगवान् ने योगत्रय का विवेचन किया। मन के निरोध के उपाय बताये, साधन विहीनों की गति का वर्णन किया, शुद्धि

अशुद्धि के विशेष नियम बताये अंत में बताया कि कर्म की प्रशंसा श्रेय प्रवृत्ति के निमित्त है।

फिर शब्द ब्रह्म का निरूपण किया, भिन्न भिन्न आचार्यों ने तत्वों की संख्या भिन्न भिन्न बतायी है, इनमें इतना मतभेद क्यों है इसका कारण बताया है। फिर प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध में विचार किया गया है। उद्धवजी के पूछने पर हरि विमुखों की गति तथा सत् असत् का वर्णन है। मान अपमान को कैसे सहन करना चाहिये इस सम्बन्ध में एक अवन्ती के 'कृपण ब्राह्मण की कहानी है। धन नष्ट होने पर उसे किस प्रकार वैराग्य हुआ और वह कैसे भिक्षुक बन गया यह कथा है। भिक्षु बन जाने पर उसने किस प्रकार मानापमान को समान समझकर तितिक्षा का आदर्श दिखाया इसकामार्मिक विवेचन है। यहाँ आकर "भागवती कथा" काछप्पनवाँ खण्ड समाप्त होता है, अब आता है सत्तावनवाँ खण्ड।

सत्तावनवाँ खण्ड भिक्षुगीता से आरम्भ किया गया है। अवन्ती का जो कृपण ब्राह्मण भिक्षु बन गया था, उसके शरीर को खल लोग कष्ट देने लगे तब उसने गीत गाया, कि एक शरीर दूसरे शरीर को दुख नहीं दे सकता। देवता भी दुख नहीं दे सकते, कोई भी किसी को कभी दुःख सुख नहीं दे सकता। दुख का कारण अपना मन ही है। मन जिसे दुख मान ले वह दुख है, मन जिसे सुख मान ले वह सुख है। "मन के हारे हार है मन के जीते जीत।" इस प्रकार तत्व ज्ञान की बात बताकर भिक्षु ने अन्त में कहा है—

नहीं दुःख सुख देहि कबहुँ काहू कूँ कोई।
दुखको कारन अन्य बतावें तिनि मति सोई॥
मारें बाँधें बाहिँ देहिँ दुख मोकूँ सब जन।
समुझि दैवगति कहुँ होहुँ नहिँ दुखित मलिन मन॥

कहै कृष्ण—'उद्धव' सुनो, भिक्षु कृतारथ ह्वै गयो।
सहीं यातना खलनि की, गाय गीत प्रमुदित भयो॥

इस प्रकार भिक्षु गीत कह फिर सांख्य विधि के सृष्टि, सांख्य विधि के प्रलय, तीनों गुणों की वृत्तियाँ, गुणों का सन्निपात और स्वरूप, त्रिगुणात्मक जगत और इससे तरने का उपाय, आदि विषयों का विवेचन किया गया है। फिर वैराग्य होने पर महाराज ऐल ने जो गीत वैराग्य को बढ़ाने वाले हैं और विषयी लोगों को विषयों से हटाने वाले हैं ये पाँच गीत वैराग्य के पंच प्राण ही हैं। इनमें से एक की बानगी के रूप में हम कह देते हैं

उर्वशी के विरह में व्याकुल होकर राजा पागलों की भाँति घूमे। अन्त में उन्हें वैराग्य हुआ और वे कहने लगे—

त्रिया की देह परम प्रिय जानी।
जो मल, मूत्र, रुधिर, मज्जा अरु, कफ खखार की खानी॥ १॥
रुधिर राधि मल कफ के कीरा, सुधा सरिस इनि जानी।
कुलुबुलात हरषात इनहिं महँ, हौं तैसो ही प्रानी॥ २॥ त्रि०
जोहत रहत नयन मुख पल पल, समुझि आपनी रानी।
तृन सम तोरि नेह की डोरी, छिन महँ भई बिरानी॥ ३॥ त्रि०
भ्रमवश सरपिनि गर लपटानी, मनहर माला मानी।
कब आई कब गई सयानी, अब रहि गई कहानी॥ ४॥ त्रि०
माया नाना नाच नचावै, ठगिनी परम पुरानी।
हे मायेश बचाओ गिरिधर, यदुवर सारँग पानी॥ ५॥ त्रि०

ऐल गीत के अनन्तर संत समागम माहात्म्य, क्रियायोग में प्रतिमा पूजन, अग्नि आदि में पूजन, सारातिसार उपदेश, संसार की असारता, साधनावस्था से सिद्धावस्था तथा योग साधन के विघ्न और उनके उपाय ये विषय वर्णन किये गये हैं उद्धवजी ने भगवान् से पुनः भक्ति सम्बन्धी प्रश्न किये तब भगवान् ने भागवत धर्म का निरूपण किया इस प्रकार अन्त में उद्धवगीता का

उपसंहार किया गया। यहाँ तक "भागवती कथा" का सत्तावनवाँ खण्ड समाप्त हुआ अब आता है अट्ठावनवाँ खण्ड।

अट्ठावनवें खण्ड में उद्धव जी को श्री भगवान् ने बदरीवन में जाने की आज्ञा दी। भगवान् की आज्ञा से उद्धवजी चल तो दिये किन्तु उनका मन नहीं मान रहा था, वे भगवान् के महाप्रयाण के दर्शन करना चाहते थे अतः बदरी वन न जाकर प्रभास की ओर चल दिये। इधर यदुवंश के विनाश के लक्षण दिखायी देने लगे। सभी प्रभास की ओर चल दिये वहाँ आपस में लड़कर मर गये। यदुवंश के विनाश की अंतिम लीला हो गयी। भगवान् भी स्वधाम पधारने के निमित्त तरुतर आकर बैठ गये। व्याध ने हरिण समझकर भगवान् के चरण में बाण मारा। उस व्याध को भी भगवान ने सद्गति दी। फिर भगवान् के दारुक सारथी आ गये, उन्हें भी द्वारका के लिये भगवान् ने विदा किया। तदनन्तर श्याम सुन्दर अपने धाम को पधार गये। यदुवंश की अन्तिम लीला समाप्त हुई।

अब कलियुग के राजाओं का वर्णन है शिशुनाग आदि राजाओं की वंश परम्परा, नन्द वंश का विनाश, चन्द्रगुप्त मौर्य तथा वारिसार अशोक आदि अन्य मौर्य वंशी राजाओं का वर्णन शुङ्ग, कण्व तथा आन्ध्र जातीय राजाओं का इतिहास, आभीर तथा गर्दभी वंश, कंक वंश, यवन तुरुष्क और गुरुण्ड राजाओं को बताकर अंत में कलियुग के कुछ अन्यान्य राजाओं का वर्णन किया गया है। फिर कलिकाल की कुछ काली करतूतों के सम्बन्ध में कहा गया है। कलियुग की प्रबलता के चिन्ह बताये गये हैं और अन्त में वसुधागीत गाया गया है।

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! आपने इन इतने राजाओं की कथायें सुनायीं इनसे लाभ क्या? हँसकर भगवान् शुक ने कहा—"राजन्! मैंने केवल वैराग्य की वृद्धि के लिये ये

सब कथायें कहीं। इनमें से कोई यथार्थ तत्व नहीं केवल वाणी का विलासमात्र है। कितने बड़े बड़े राजा हुए उनका अब केवल नाममात्र रह गया है—

ऐसे भूपति भये नई जे सृष्टि बनावें।
सूरज पथकूँ रोक रैनि के तमहिं भगावें॥
रथतें करें समुद्र भूमि पै बान चलावें।
सप्त द्वीप नवखंड विजय करि भूप कहावें॥
किन्तु कालके गालमें, तेऊ घुसिकें नसि गये।
करि जगतैं वैराग्य हरि-शरन गये ते तरि गये॥

इस प्रकार कलियुग तक वंश परम्परा कहकर "भागवती कथा का अट्ठावनवाँ खण्ड समाप्त किया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने आपसे सप्तमाह की प्रायः सभी सूची कह दी। अब कुछ और शेष है उसे अगले अध्याय में कहकर इस विषय सूची प्रकरण को समाप्त करूँगा।

छप्पय

वर्णाश्रम को धरम विविध प्रश्ननि को उत्तर।
भिक्षु गीत कहि कही सांख्य की महिमा सुखकर॥
नृपति ऐल का गीत उद्धवहिं शिक्षा दीन्हीं।
पुनि यदुवंश विनाश सबरन लीला कीन्हीं॥
करि कलियुग के नृपनि कूँ, भूमि गीत हू-पुनि कह्यौ।
फेरि ब्रह्म उपदेश शुक—ने नरपति कू ज्यों दयौ॥

—:०:—

सप्तमाहकी शेष विषय सूची और माहात्म्य

(१३७९)

देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः ।
शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा ।
महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः ॥ *

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

त्यागि परीक्षित् देह परमपद पायौ जैसें ।
शाखा वेदनि कहीं पढ़ी विप्रनिने कैसें ॥
मार्कंडेय चरित्र कही पूजा विधि उत्तम ।
कहि रवि सप्तक कही विषय-सूची मुनिसत्तम ॥
फेरि भागवत सार सब, कह्यो महातम नाम पुनि ।
पुण्य भागवत चरित को, पूर्ण भयो सप्ताह मुनि ॥

भगवान् के चरित्र अनन्त हैं, उनका आरंभ नहीं समाप्ति नहीं। अनादि अनन्त का आरम्भ और अन्त बनता ही नहीं, किन्तु उपचार रूप में आरम्भ भी कहा जाता है अन्त भी। जब

---

* श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो। सप्तमाह में बुद्धिमान धीमान् राजर्षि परीक्षित् का देहत्याग, वेद की शाखाओं का विस्तार ऋषिवर मार्कण्डेय जी की सत्कथा महापुरुष भगवान् के अङ्गोपाङ्ग की कल्पना तथा जगदात्मा सूर्यनारायण के व्यूह आदि की कथायें कही गई हैं।"

भगवान के चरित्र ही आरम्भ नहीं होते उनका कभी अन्त नहीं होता, तो उन चरित्रों का विषय सूची का अन्त कैसे होगा। तथापि यह विषय सूची आरम्भ की गयी थी, अतः इस अध्याय में समाप्ति होगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने पिछले अध्याय में सप्ताह की विषय सूची कही, उसमें से कुछ शेष रह गयी है, उसे अब आगे कहता हूँ। भागवती कथा के अट्ठावनवें खण्ड में वसुधागीत तथा राजाओं की कथाओं से क्या उपदेश लेना चाहिये यहाँ तककी कथा हो गयी, अब उनसठवें खण्डकी कथा सुनिये।

'भागवती कथा' के उनसठवें अध्याय में सब प्रथम कलियुग के दोष और उनसे बचने के उपाय बताये गये हैं। फिर प्रश्न यह उठता है, कि कलिकाल तो अधर्म का मित्र है, वह दोषों की खानि है उसमें होने वाले दोषों को काटने की क्षमता किसमें है, इस पर कहा गया है, कि कलि कल्मषों को कृष्णकीर्तन ही काट सकता है। इस प्रकार कृष्ण कीर्तन का माहात्म्य बताकर प्रलय के चार प्रकार बताये हैं, पुनः भगवान् शुक ने सम्पूर्ण शास्त्रों का सार बताते हुए अन्त में इन शब्दों में परमार्थ विवेचन किया है :—

आत्मचिन्तना करो अहं सतचित कहलाऊँ।
परमधाम हौं ब्रह्म परम पद ब्रह्म कहाऊँ॥
परमात्मा में जबहिँ आतमाकूँ तुम देखो।
फिरि तक्षक, जग, देह सकल आत्मा में पेखो॥
सात दिवस में यथामति, भव भयहर सुखकर सुकर।
कही विष्णु गाथा कछुक, कहूँ कहा अब भूपवर॥

जब भगवान् शुक ने इस प्रकार राजर्षि परीक्षित् को अंतिम उपदेश दिया, तब राजा ने अत्यन्त ही दीनता के साथ मुनि के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और कह दिया—मैं सिद्ध हो गया आपने बड़ी कृपा की।" ऐसा कह कर राजा ने सविधि मुनि की पूजा

की। उनकी पूजा को स्वीकार करके मुनियों के सहित भगवान् शुक वहाँ से चल दिये।

भगवान् शुकदेव जब गये, तब सात दिन में कुछ ही समय शेष था, उसी समय ब्राह्मण का वेष बनाकर तक्षक नाग आता है, मार्ग में उसे कश्यप गोत्रीय विष को हरने वाला ब्राह्मण परीक्षित् के समीप जाता हुआ मिलता है, उसे विपुल धन देकर तक्षक लौटा देता है। तदनन्तर ब्राह्मणों के फलों में कीड़ा बनकर वह राजा के समीप पहुँच जाता है, राजा उसे विनोद में उठाकर कंठ से लगाते हैं, तुरन्त वह सर्प बनकर राजा को डस लेता है, राजा का शरीर भस्म हो जाता है।

अपने पिता की सर्प द्वारा मृत्यु सुनकर परीक्षित् नन्दन महाराज जनमेजय सर्प सत्र करते हैं, मंत्रोंसे सर्पोंको बुलाकर अग्नि में उनकी आहुति देते हैं, उसी समय एक ब्राह्मण आकर सर्प सत्र की समाप्ति करा देता है। यहाँ तक शुक परीक्षित् सम्वाद हुआ। अब उपसंहार रूप में शौनक जी ने सूतजी से कुछ प्रश्न किये हैं उनका उत्तर है।

शौनकजी के पूछने पर सूतजी ने वेद और उनकी शाखाओं का वर्णन किया है। यजुर्वेद की शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद ये शाखायें कैसे हुईं इसकी कथा है, चारों वेदों की शाखाओं को कहकर फिर पुराणों की शाखायें बतायी हैं। तदनन्तर चिरजीवी महर्षि मार्कण्डेयजी की मनोहारिणी कथा है। बालक मार्कण्डेय कैसे अल्पायु से चिरायु हो गये, किस प्रकार उन्होंने बदरीवन के समीप घोर तप किया, कैसे भगवान् नर नारायण ने आकर उन्हें दर्शन दिये, किस प्रकार उन्होंने भगवान् से माया दर्शन का वर माँगा और भगवत् कृपा से कैसे उन्हें माया के दर्शन हुए। वट के पुट पत्र पर पड़े बालमुकुन्द के उदर में विशाल ब्रह्माण्ड दिखायी दिया, इस प्रकार मायाके दर्शन

करके वे माया से रहित कृतार्थ हो गये, तभी कामारि कपर्दी भगवान आशुतोष ने उन पर कृपा की वरदान दिया। इस प्रकार मार्कंडेय चरित्र की समाप्ति की गयी है।

तदनन्तर भगवान की अङ्ग, उपाङ्ग, आयुधादि रूपाविभूति को बताकर द्वादशादित्यों का वर्णन किया गया है, किस महीने में कौन से सूर्य रहते हैं और उनके गणों में कौन कौन ऋषि, गंधर्व नाग, अप्सरा यक्ष और राक्षस रहते हैं, फिर लेखक के सम्बन्ध की चर्चा है, तदनन्तर विषय सूची कही गयी है। सूचीका सप्ताह के अनुसार क्रम रखा है। प्रथमाह, द्वितीयाह और तृतीयाह की सूची एक एक अध्यायों में कही है। चतुर्थाह की सूची में दो अध्याय हैं, चतुर्थाह की सूची और पंचमाह की सूची तीन अध्यायों में समाप्त की है फिर षष्ठाह की एक और सप्ताह की सूची दो अध्यायों में कही गयी है।

सूची कहने के अनन्तर श्रीमद् भागवत् का सारातिसार रहस्य बताकर भगवन्नाम संकीर्तन की महिमा फिर से बतायी है क्योंकि श्रीमद्भागवत नाम पुराण है, भगवन्नाम को ही सबकी पावनता का कारण बताया है, इसका भी विवेचन किया गया है। फिर भक्ति की महिमा बताते हुए यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि यदि भक्तिहीन होकर वर्णाश्रम धर्म का पालन भी किया जाय तो वह अशोभन है। फिर भागवत श्रवण के लिये द्वारका मथुरा और पुष्कर इन विशेष स्थानों का महत्व बताया है, दो अध्यायों में भागवती कथा को कामधेनु और कलिकल्मष काटिनी बताया है। फिर बार बार नमस्कार करके अष्टादश पुराणों की श्लोक संख्या कहकर श्रीमद्भागवत को सबसे श्रेष्ठ सिद्ध किया है। इसके पश्चात् श्रीमद्भागवत के दान की विधि तथा दान और पाठ का महात्म्य बताया है। फिर सत्यं परं धीमहि अध्याय में परम्परागत सम्प्रदाय पुरम्पर ध्यान वन्दन करके अन्तिम प्रणाम

तथा मानसिक पूजा करके भागवती कथा की समाप्ति की गयी है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मैंने अत्यन्त संक्षेप में भागवती कथा की यह विषय सूची आपको सुना दी। जिसको पूरा ग्रन्थ पढ़ने का अवसर न हो वह इस विषय सूची को भी यदि पढ़ ले तो उसका कल्याण हो जायगा। मुनियो! अब मैं श्रीमद्भागवत का सार तथा भगवन्नाम संकीर्तन का महत्व आपको और सुनाऊँगा। आप दत्तचित्त होकर इसे श्रवण करें।

छप्पय

जो न भागवत चरित पूर्ण पढ़िवे को अवसर।
विषय अनुक्रम पढ़े एक अध्याय पुन्यकर॥
अति समास सप्ताह निकारयौ सार सार सब।
करैं कण्ठ को हार होहि नहिं तिनि बन्धन भव॥
जो अध्याय विशेष कूँ, सुनहिं पढ़हिं गावहिं रटैं।
होहिं मनोहर सफल सब, तिनि के भव बन्धन कटैं॥

—:०:—

श्रीमद्भागवत का सार-नाम संकीर्तन

(१३८०)

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

जो जो कीये प्रश्न यथामति सकल बखाने ।
सब चरितनि में सार श्याम शुभ नामहिँ जाने ॥
रपटत ठोकर खात गिरत छींकत जमुहावत ।
'हरये नम" ये शब्द पाप परबतनि ढहावत ॥
जों रवि तमकूँ, पवन ज्यों छिन्न भिन्न मेघनि करै ।
त्यों कीर्तन हरि नाम को, हिय के सब कलमष हरै ॥

कलियुगी जीवों पर कृपा करके भगवान् ने अपने मंगलमय सुमधुर नामों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति भर दी है । अन्य युगों में बड़े बड़े कठोर साधन किये जाते थे, तब कहीं चिरकाल में भग-

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मनुष्य चाहे कहीं से गिरते हुए, रपटते हुए ठोकर खाते हुए, दुःख से दुखी होकर, छींकते समय अथवा कैसे भी विवश होकर "हरये नमः" इन शब्दों को उच्चस्वर से कहता है तो वह निश्चय ही सर्व पापों से छूट जाता है ।"

वन् प्राप्ति होती थी। तिस पर भी समस्त साधनों में नाना भाँति की विधियाँ लगी हुई थीं। अमुक ही व्यक्ति अमुक साधन करे। अमुक समय में ही करे, अमुक प्रकार से ही करे अमुक अवस्था में ही करे, इन विधियों के कारण कठिनता और भी बढ़ जाती थी, किन्तु इस भगवन्नाम स्मरण में कोई विधि नहीं, देश का काल का पात्र का कोई नियम नहीं। सर्वावस्था में, सभी स्थानों में सभी साधक इस सरल सुगम सर्वोपयोगी सुकर साधन को सब कुछ करते हुए भी कर सकते हैं। कलियुगी लोगों का इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या होगा, जो ऐसे सुन्दर साधन को पाकर भी उसका उपयोग नहीं करते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने आप से भागवती कथा की सप्ताह क्रम से विषय सूची कहा अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हम यह जानना चाहते हैं, कि आपने श्रीमद्भागवत में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का भाँति भाँति से कई बार वर्णन किया है। सूर्य वंश तथा चन्द्रवंश के सहस्रों राजाओं के चरित्र सुनाये, बहुत से ऋषि, मुनि तथा तपस्वियों की कथायें कहीं। बहुत सी रोचक कथायें सुनायीं, भगवान् के मंगलमय बहुत से अवतारों का वर्णन किया, भिन्न भिन्न मुनियों के मतों को लेकर तत्वों की भिन्न भिन्न संख्यायें बतायीं। बहुत से प्रश्नों का उत्तर दिया। अब हम जानना यह चाहते हैं, कि इन सब में सार वस्तु क्या है?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! मैंने सब शास्त्रों का सार लेकर ही तो आप से श्रीमद्भागवत कही है। मेरे गुरुदेव भगवान शुक ने सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, इतिहास तथा पुराणादि समस्त ग्रन्थों की निचोड़ लेकर ही महाराज परीक्षित् को भागवत सुनायी थी, अब सार का भी सार मैं क्या बताऊँ।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! यह सत्य है, कि आपने सार सिद्धान्त बताया, किन्तु शास्त्रों का सार समन्वय आपने कहा। बहुत से साधन बताये, बहुत से योग बताये, कहीं भक्ति की प्रशंसा की, कहीं ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट कह दिया, कहीं कर्म को सब कुछ बता दिया। वैसे तो संसार में जितने मनुष्य हैं, उतने ही साधन हैं। फिर भी कलिकाल के लिये कोई सरल सुगम सर्वोपयोगी साधन बता दीजिये। श्रीमद्भागवत का अधिक लक्ष्य किस ओर है ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! इस प्रश्न का अधिक नहीं तो सहस्रों बार तो मैंने उत्तर अवश्य ही दिया होगा। फिर भी आप स्थूणा खनन न्याय से उसे ही बार बार पूछते हैं। खूंटे को गाड़ते हैं, फिर हिलाते हैं, फिर गाड़ते हैं फिर हिलाते हैं। बार बार हिलाने से तात्पर्य यह है, कि दृढ़ता के साथ गड़ जाय। इसी उद्देश्य से आप एक ही प्रश्न को बार बार करते हैं और मैं भी बार बार एक ही उत्तर देता हूँ। इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थ में श्री भगवान् ने नाना अवतार धारण करके जो जो लीलायें की हैं, उन्हीं का वर्णन किया है। कभी भगवान् ने कच्छ मत्स्य वाराह नृसिंह का रूप रखा है, कभी हंस, हयग्रीव आदि का रूप रखा है कभी पृथु आदि राजा के रूप में अवतरित हुए हैं, सारांश कि भगवान् के अंशावतार, कलावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार आवेशावतार, परिपूर्णावतार जितने अवतार हुए हैं उन्हीं की लीला कथा का मैंने वर्णन किया है पापों के हरण करने वाले हरि की लीला कथा ही संसार से पार होने वाले पथिकों का प्रिय पाथेय है।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् का नाम हरि क्यों है ?"

सूतजी बोले—"इसलिये महाराज ! कि वे प्राणियों के पापों को हरते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! प्राणी पाप क्यों करते है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! संस्कारों के वशीभूत होकर प्राणी पाप करते हैं। शरीर पुण्य और पापों के कारण तो मिलता ही है। सूक्ष्म शरीर में पुण्य और पापों के संस्कार ही तो रहते हैं। पुण्य से भी बन्धन होता है, पुण्य से भी जन्म मरण होता है। इसलिये पुण्य भी एक प्रकार का पाप है। इसलिये यह शरीर क्या है पापों का पुञ्ज है। भगवत सेवा भगवत् स्मरण को छोड़ कर जीव जो भी काय करता है सब पाप ही करता है। संसारी असत् वस्तुओं को जुटाना एक प्रकार का पाप ही है। चारों ओर विष्ठा पड़ी है। उसे एकत्रित करके घर में भरते रहना। मेरी मेरी कहना यह एक प्रकार का पाप ही है पूजा के लिये यज्ञ के लिये प्रभु के लिये जो कर्म किया जाय उससे शेष सभी कम पाप हैं। मनुष्यों की उत्पत्ति भी पापमय है। माता पिता के मन में विकार होता है, संगम करते हैं उन्हीं के रजवीर्य से उत्पत्ति होती है। शरीर मे छिद्र ही छिद्र हैं उन सब छिद्रों से मल निकलता है, शरीर मे नाना रोग होते हैं। रोग कहो, मल कहो, दोष कहो पाप कहो सब पर्यायवाची शब्द हैं। मुझे कोई पृथिवी पर आप ऐसा शरीर बता दें जिसमें मल न हो रोग न हों। मुझे कोई ऐसा काम बता दें जिसमें पाप न हो।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप सत्य कहते हैं श्रीकृष्ण कैंकर्य के अतिरिक्त प्राणी पग पग पर पाप ही करता है, इन पापों से छुटकारा कैसे हो ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! 'न मम' कहने से पाप नहीं स्पर्श करते।"

शौनकजी ने कहा—"न मम" का क्या अर्थ है सूतजी स्पष्ट करें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! यज्ञ में आहुति देने के अनन्तर कह देते हैं-'न मम' जैसे इन्द्राय स्वाहा" इदं न मम" यह आहुति इन्द्र के लिये है मेरे लिये नहीं। सब वस्तुओं में से अपना पन निकाल देने से मनुष्य को पाप पुण्य स्पर्श नहीं करता। इसलिये सब कुछ करते हुए "न मम न मम' करते रहो। न मम कहो नमो नमः कहो नमन कहो एक ही बात है। जो आदमी पापों के हरण करने वाले हरि को नमोनमः करते रहते हैं, वे अवश्य ही पापों से छूट जाते हैं। इसलिये पापों से छूटने का एक ही मन्त्र है—वह मन्त्र है "हरये नमः।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इस मन्त्र को मन ही मन में शनैः शनैः कह लिया करें तो क्या हानि ?"

सूतजी बोले—"नहीं महाराज ! गुपचुप शनैः शनैः कहने से काम न चलेगा। उच्च स्वर से ही कहने से पाप पक्षी भगेंगे। खेत को पक्षी चुग रहे हैं आप मन ही मन कहें—"पक्षी उड़ जाओ।" तो वे कभी न उड़ेंगे। आप उच्च स्वर से हो हो पुकारिये ढोल बजाइये काठ खटखटाइये या ताली बजाइये तब कहीं पक्षी भागेंगे। इसी प्रकार हरये नमः कृष्णाय नमः वासुदेवाय नमः ऐसे उच्च स्वर से कीर्तन करने से ही पाप भगेंगे। चतुर्थी में नमः न भी लगावें केवल सम्बोधन में ही पुकारें। हे राम ! हे हरे हे कृष्ण हे वासुदेव ! तब भी सब पाप भग जायँगे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मन से कहें तभी पाप भगेंगे या वे मन से भी कुछ लाभ होगा ?"

सूतजी बोले—'महाराज ! मन से कहे तब तो पूछना ही क्या है। किन्तु मन से न भी कहा जाय अकस्मात् विवश होकर

मुख से "हरये नमः" हरे राम हा राम, आदि ये शब्द निकल जायँ तो प्राणी सभी पापों से छूट जाता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! विवश होकर स्वतः ही मुख से कैसे निकल जाते हैं, इसे तनिक स्पष्ट करके समझाइये।"

सूतजी बोले—"जैसे महाराज ! वर्षात् के दिन हैं, चिकनी मिट्टी है पैर फिसल गया, धाम से गिर पड़े, गिरते समय मुख से निकल जाय हाय राम, यह क्या हुआ। मार्ग में चल रहे हैं, चलते चलते ठोकर लग गयी, उँगली से रक्त बहने लगा उसी की पीड़ा में 'हा भैया', हा बप्पा" न निकलकर रामकृष्ण हरि आदि भगवान् के नाम निकल जायँ। ज्वर आ रहा है, शरीर में पीड़ा है या और कोई व्याधि है, उसमें कराहते समय हे हरि हे राम रक्षा करो, ऐसे भगवन्नाम सूचक शब्द निकल पड़े। अथवा छींकने पर चुटकी बजाते हुए कृष्ण कृष्ण राम राम ये परम पावन नाम उच्च स्वर से स्वतः ही विवश होकर निकल पड़ें, तो इतने से ही प्राणी सभी पापों से छूट जाता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् के नामों में अक्षर तो वे ही हैं, उनमें विशेषता क्या है जो वे पापों को तुरन्त ही नाश कर देते हैं।

सूतजी ने कहा—"महाराज ! शब्द तो एक ही हैं, किन्तु उनकी योजना में अन्तर होने से उनके फल में अनुकूलता प्रतिकूलता आ जाती है। "माताजी" बहिनजी" कितने प्यारे शब्द हैं, जिस स्त्री से भी कहो उसी के हृदय में वात्सल्य तथा भ्रातृत्व स्नेह उमड़ आवे। उन्हीं से आप कहें आपकी लुगाई, बहनोई की बहू, तो वे अपना अपमान समझेंगी। दश गालियाँ देंगी, आश्चर्य नहीं पूजा भी कर दें। भाव तो दोनों का एक ही है, किन्तु शब्द योजना में अंतर है। दूसरा दृष्टान्त लीजिये आटा, घृत, और चीनी इन तीनों के संयोग से संयाव-हलुआ बनता है। आप

किसी को पहिले चीनी खिला दें ऊपर से घृत पिलादें, फिर आटा फँकवा दें। यद्यपि तीनों वस्तुएँ जिह्वा को रस देती हुई उदर में उतरीं, किन्तु न जिह्वा को यथार्थ रस मिला न भली प्रकार उदर ही भरा। यदि इन तीनों वस्तुओं को यथा क्रम बनाया जाय। बराबर का घी डालकर मंद मंद अग्नि से पहिले आटा भूना जाय। जब वह लाल हो जाय, सुगन्ध देने लगे तब उसमें छनी हुई शक्कर की गरम चासनी छोड़ी जाय। जब पककर कड़ाह को छोड़ने लगे। उसे गरमागरम खाओ तब क्या आनन्द आता है। प्रतिग्रास पर जिह्वा जल बहावे और उदर कहे और लाओ और लाओ। इसमें भी वस्तुएँ सब पेट में ही गयीं किन्तु योजना के अन्तर होने से रस तथा विरस का अनुभव हुआ। तीसरा दृष्टान्त लीजिये। संखिया है, वैसे यदि खाओगे तो तुरन्त मर जाओगे, किन्तु यदि उसे युक्ति से औषधियों द्वारा शोधकर खाओगे, तो नाना रोगों से मुक्त हो जाओगे। बिच्छू घास है, उसे छू भी दोगे तो बिच्छू के काटने की सी तीन दिन तक पीड़ा बनी रहेगी उसी घास को युक्ति से काट लाओ और विधिवत् साग बना लो, तो वह साग सरदी को भगाने वाला बलप्रद होगा। अक्षर वे ही हैं उन्हें ही क्रम से बिठाकर गायत्री मंत्र बन गया। उसके जप से सभी सिद्धियाँ आती हैं, उन्हीं शब्दों को उलट फेर कर गाली बना लो तो वे नरक ले जाने को पर्याप्त हैं। अतः भगवन्नामों में यही विशेषता है कि आप मन से अथवा बिना मनके लें वे पापों के पहाड़ों को डाते ही हैं। जैसे आकाश में मेघ उमड़ घुमड़ रहे हों, जहाँ प्रबल पवन का झोंका आया सभी छिन्न भिन्न हो जाते हैं, हाथियों का झुण्ड खड़ा है, सिंह के आने पर वे इधर उधर भाग ही जाते हैं, सहस्रों मन रुई रखी है, उसमें भूल से एक अग्नि की चिनगारी डाल दो तो वह सबको जलाकर ही छोड़ेगी। कितना भी अन्धकार हो सूर्य के उदय होते

ही वह विलीन हो ही जायगा. उसी प्रकार भगवान् अनन्त के नामों का उच्च स्वर से कीर्तन तथा भगवान् की लीलाओं को उनके अप्रतिम प्रभाव को कर्णों द्वारा हृदय में ले जाओ। कीर्तन करो या सुनो कथा कहो या सुनो। कहने सुनने वालों के हृदय में भगवन्नाम प्रवेश करके उनके सम्पूर्ण क्लेशों को हर लेते हैं। वाणी की सार्थकता व्यर्थ बातें बकने में नहीं है।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! वाणी की सार्थकता किसमें है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! वाणी की सार्थकता तो भगवन्नाम लेने में ही है। हीरा, पन्ना लाल आदि है आप उनसे विष तो लो तो वह उनका दुरुपयोग है उनका यथार्थ उपयोग तो यही है राजाओं के मुकुटों में लगें कामिनियों की कोमल कोमल पतली पतली उंगलियों में सुवर्ण की अँगूठियों में जड़कर शोभा बढ़ावें उनके कंठों का हार बनें। इसी प्रकार वाणी की सार्थकता संसारी बातों में नहीं है, जिस वाणी से भगवान् के मङ्गलमय मधुर नाम नहीं लिये जाते वह वाणी वृथा है और उससे भगवन्नाम के अतिरिक्त जो बातें बोली जाती हैं वे भी वृथा हैं। जिस वाणी से भगवान् के गुणों का उदय होता हो वही वाणी सत्य है वही मङ्गलमयी है वही परम पावन है। इस मांस की जिह्वा से निकलने वाले वे ही वचन उत्तम हैं, वे ही सुन्दर हैं, वे ही परम प्रशंसनीय हैं, वे ही मनोहर हैं वे नित्य नये नये हैं, वे ही मन को नित्य आनन्दित करने वाले हैं, वे ही मनुष्यों के शोक सागर को सुखाने वाले हैं, जिनसे भगवान् उत्तम श्लोक का सुयश गान किया जाता हो। मुनियो ! आपके ही कान धन्य हैं जो निरन्तर कथा श्रवण में लगे रहते हैं, आपकी ही वाणी धन्य है जो भगवन्नाम कीर्तन भगवन् लीला गुण कथन के अतिरिक्त अन्य उच्चारण नहीं

करती। महानुभावो! भगवन्नाम माहात्म्य ऐसा अनंत अपार है कि उसका वर्णन मैं कर ही नहीं सकता।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! आपकी वाणी बड़ी मधुर है, हमें इससे बड़ा सुख मिल रहा है, तनिक भगवन्नाम गुण माहात्म्य हमें और सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! मैं जितना ही सुनाऊँगा, उतनी ही मेरी वाणी पवित्र होगी, अच्छा और सुनिये।"

छप्पय

सो बानी है व्यरथ नाम हरि के नहिँ गावे।
है वह कथा कलंक कृष्ण चरितनि न सुनावे॥
हैं अति पावन वचन सुयश हरि ही के बोलें।
ते पद पावन परम पुण्य तीर्थनि में डोलें॥
कथा कीतरन कृष्ण को, तुलसी हरि सेवा जहाँ।
हस भक्त निरमल परम, नियम सहित निवसहिँ तहाँ॥

—::०::—

सबकी पावनता नाम के ही कारण है

(१३८१)

न तद्वचाश्चित्रपदं हरेर्यशो-
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंस सेवितम्,
यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः ॥*

(श्री० भा० १२ स्क० १२ अ० ५० श्लो०)

छप्पय

जामें नहिँ हरि नाम भागवत चरित न जामें ।
काकतीर्थ सो निन्द्य न्हायँ कौआबक तामें ॥
होवै कविता सुघर रसीली गुन प्रसाद युत ।
कृष्ण कथा तें रहित घृनित नीरस अति निंदित ॥
नित नव नव नटवर चरित, सुखद सरस अतिशय विमल ।
कहत पढ़त गावत सुनत, होवै विकसित हृद् कमल ॥

यह एक प्रसिद्ध कथा है, कि एक बार सीताजी ने प्रसन्न होकर

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वह वचन कैसा भी चित्र विचित्र पदों वाला क्यों न हो, यदि उसमें जगत् को पवित्र करने वाले श्रीहरि का तनिक भी यश नहीं गाया गया तो वह उसी तीर्थ के समान है जिसे केवल काकरूप नीच पुरुष ही सेवन करते हैं। उस तीर्थ का हंसरूप ज्ञानी पुरुष कदापि सेवन नहीं करते क्योंकि अमल विमल साधुगण वहीं निवास करते हैं जहाँ भगवान् अच्युत के नाम तथा गुणों का वर्णन होता है।"

हनुमानजी को एक बहुमूल्य मणियों की माला दी। हनुमानजी उसकी प्रत्येक मणि को दाँतों से तोड़कर देखने लगे। किसी ने पूछा—"हनुमानजी इतनी बहुमूल्य मणियों को आप तोड़ क्यों रहे हैं ?"

हनुमानजी ने कहा—"तुम इन मणियों को बहुमूल्य बता रहे हो, मैं कहता हूँ ये कौड़ी की भी नहीं।"

उस व्यक्ति ने कहा—"सो क्यों ?"

हनुमान जी बोले—"वह इसलिये कि इनमें रामनाम नहीं। जिसमें रामनाम नहीं वह संसारी वस्तु है और व्यर्थ है।

इस कथा का लक्ष्य इतना ही है, कि हमारा जीवन भगवन्नाम मय हो। हम काम करें तो राम के लिये, हम उत्सव करें तो राम के लिये, गाना गावें तो राम का, नाम ले तो राम का, यश वर्णन करें तो राम का, किसी से प्यार भी करें तो नामके नाते, कविता भी करें तो राम के सम्बन्ध की जिस कार्य में जिस चेष्टा में राम नहीं वह सब व्यर्थ है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवन्नाम की महिमा को स्वयं साक्षात् भगवान भी कहने में असमर्थ हैं जीवन की सार्थकता भगवान् के कार्यों में ही है इन्द्रिय, मन और बुद्धि का यही सुन्दर सदुपयोग है, कि उनका प्रयोग भगवान् के लिये किया जाय। अजन्मा होकर भगवान ने जन्म इसीलिये धारण किये कि लोग वाणी से मेरे जन्म कर्मों की कथायें कहें, उन्होंने निरञ्जन निष्क्रिय होकर इसीलिये मधुरातिमधुर लीलायें कीं, कि उन्हें सुनकर मनुष्य अपने कर्णों को पवित्र करें।

कवियों की कविता की सार्थकता यही है, कि वे कन्हैया की कथा का काव्यरूप में कथन करें। बहुत से कवि बड़ी ही प्रसाद गुण युक्त कविता करते हैं, उनमें अत्यन्त ही श्रुत मधुर चित्र विचित्र पद रहते हैं कविता रूप तीर्थ का वे सेवन तो करते हैं.

किन्तु उस तीर्थ में स्वच्छ जल नहीं होता, कमल नहीं होते, विशुद्धता नहीं होती, मल से वह आवृत रहता है वे काक रूप कुकवि मल भक्षण करके उस कीच में लोटते हैं अपने इह लोक और परलोक दोनों को बिगाड़ते हैं, किन्तु जो हंसरूप सुकवि हैं, वे ऐसे अश्लील अपवित्र तीर्थ की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, वे तो अत्यन्त निर्मल मानसरोवर के ही निकट निवास करते हैं, मोती खाते हैं, और अपनी स्वच्छता और पवित्रता के लिये विश्व में विख्यात हो जाते हैं। इसी प्रकार निर्मल स्वभाव साधुजन वहीं रहते हैं जहां नारायण के नामों का निरन्तर गायन होता रहता हो। जहाँ कृष्ण की कथा की मन्दाकिनी बहती हो, सुकवि उसी काव्य की रचना करते हैं, जिसमें भगवान् का गुण गान किया गया हो। कविता कवि की प्यारी दुलारी पुत्री है, कौन सत्पिता चाहेगा कि मैं अपनी पुत्री उस गलित कुष्ठी को दूँ जिसके सर्वाङ्ग से पीव चूता हो। महाराज! इस सम्बन्ध में मुझे एक कथा स्मरण हो आयी।

दक्षिण देश में एक बड़े अच्छे सन्त कवि थे, वे भगवान के ही सम्बन्ध की कविता लिखते, भगवान के ही गुणों का गान करते। भगवत् भक्त प्रायः निर्धन होते हैं। क्योंकि वे निस्पृह रहते हैं। उन भक्त कवि के भी ऊपर लक्ष्मीजी की बड़ी बहिन दरिद्रता की कृपा थी, उनको अन्न वस्त्र का अभाव रहता, बड़ी दयनीय दशा में निर्वाह करते। उनकी सह धर्मिणी भी सन्तोष धारण करने वाली सती साध्वी तथा पति परायणा थी, भगवदिच्छा से जो भी प्राप्त हो जाता उसी पर निर्वाह कर लेती। एक दिन उनकी पत्नी का भाई उनके घर आया। यह कवि था, वह एक राज सभा का राज पंडित था, राजा की प्रशंसा में वह कविता किया करता था, राजा उसे बहुत पारितोषिक दिया करते थे, इसी से उसका बड़ा वैभव था, अत्यन्त ठाठ बाट से रहता था।

अपने बहनोई की ऐसी दयनीय दरिद्र दशा देखकर उसने कहा—"पंडितजी ! आप इतने बड़े सत्कवि होकर भी इतना दारिद्र दुख क्यों भोग रहे हैं। आप राजा के निमित्त एक कविता लिख दो, राजा के गुणों का बढ़ा चढ़ाकर वर्णन कर दो, आप मालामाल हो जायँगे।" इस बात को उनकी पत्नी ने भी अनुमोदन किया। पत्नी तथा साले के बहुत बल देने पर पंडितजी ने भी स्वीकार कर लिया। रात्रि में वे लेखनी लेकर ज्यों ही बैठे त्यों सम्मुख वे क्या देखते हैं, कि कविता देवी उनके सम्मुख पुत्री का वेष बनाये खड़ी है और रो रही है।"

कवि ने पूछा—"पुत्रि ! तुम रोती क्यों हो ?

'कविता कुछ बोली नहीं रोती ही रही रोती ही रही।

'कवि के बहुत आग्रह करने पर रोते रोते 'कविता देवी ने कहा—"आप तो मुझे विष्णु को अर्पण करते थे, अब आपने मुझे एक विषयी को देने का निश्चय क्यों किया है ?"

इतना सुनते ही कवि की आँखे खुल गयी। उसी समय उसने एक बड़ी ही हृदयग्राही करुणापूर्ण कविता लिखी। उसका सार यही है—"कि हे देवि ! मैं दरिद्रता के कारण कर्तव्य च्युत होने जा रहा था, तैंने मुझे सचेत कर दिया। मैं तुझे अयोग्य के हाथों कभी न दूँगा मैं विषयी से तेरा पाणिग्रहण न कराऊँगा। मैं अवांछनीय पुरुष को तुझे न सौंपूँगा। जिसके हाथ में शङ्ख, चक्र, गदा पद्म है उसी के निमित्त तुझे दूँगा, मैं तुझे ऊपर से सजा बजाकर लोभवश बाजारू न बनाऊँगा, मैं तुझे विष्णु प्रिया ही बने रहने दूँगा।"

सारांश यह है कि प्राकृत पुरुषों के गुणगान करने से गिरा सिर धुनधुन के पछताती है, कि मैं किस असभ्य के पाले पड़ी। कविता में भले ही सभी सद्गुण विद्यमान हों वह ललित, श्रुत मधुर, यमक अनुप्रास युक्त भी क्यों न हो यदि उसमें गोविन्द

नहीं गाये गये हैं तो वह व्यर्थ है, परमहंस ज्ञानी पुरुष उनका आदर नहीं करते। इसके विरुद्ध जो कविता भले ही अशुद्ध भी क्यों न हो, उसमें अक्षर मात्रा, पद, दीर्घ, ह्रस्वादि अनियमित तथा असम्बद्ध भी क्यों न हो यदि उसमें श्री अनन्त भगवान् के गुणों का गान किया गया है, श्यामसुन्दर की ललित लीलाओं का वर्णन है, तो भक्तगण उसे बड़े चाव से पढ़ते तथा सुनते हैं, अच्युत प्रिय गायक उसकी पुनः पुनः सराहना करते हुए आनन्द में विभोर होकर गाते हैं और परम सुखका अनुभव करते हैं, क्योंकि वह रचना जनता के पाप पुञ्ज को नष्ट करने में सर्वथा समर्थ है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जो आत्मकाम आत्माराम ज्ञानी पुरुष हैं, जो आत्मा में ही रमण करते हैं, जिनके लिये कोई कर्तव्य ही नहीं रहा जिन्होंने अग्नि का सर्वथा त्याग कर दिया है जो अक्रिय बन गये। उनके लिये तो भगवत् कथा लीला सुनने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ऐसे ज्ञानी तो भगवान् की भक्ति न करते होंगे ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! मेरे गुरु भगवान् शुकदेव से बढ़कर कौन ज्ञानी होगा, उन्हें तो स्त्री पुरुषों में भी कोई भेद दिखायी नहीं देता था। उन्होंने स्वयं कहा है मैं निर्गुण ब्रह्म में परिनिष्ठित भी हूँ तो भी उत्तमश्लोक भगवान् श्यामसुन्दर के गुण ऐसे आकर्षक हैं, कि उन्होंने मुझे बलपूर्वक अपनी ओर खींच लिया निर्ग्रन्थ आत्माराम पुरुष भी भगवान् में भक्ति करते हैं क्योंकि भगवान् के गुण हैं ही ऐसे लुभावने। इसी लिये कहा है कि इस आत्मज्ञान में भले ही कर्मों का सर्वथा अभाव भी है, निर्दोष तथा पूर्ण भी है फिर भी यदि वह ज्ञान भगवद् भक्ति से शून्य है तो वह उसी प्रकार शोभा नहीं देता जैसे विधवा के मस्तक पर सिंदूर का तिलक अथवा हाथ में शङ्ख की चूड़ियाँ।

आत्मज्ञान तो वही प्रशंसनीय है जो भक्तिरस से परिप्लावित हो।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! मीमांसकों के कर्म में तो भगवद्भक्ति की आवश्यकता नहीं। जैसे वे स्वर्ग की कामना से यज्ञ करते हैं, उसी कर्म के द्वारा उन्हें स्वर्ग मिल जाता है उसमें तो भक्ति की अपेक्षा नहीं।"

सूतजी बोले—"महाराज ! भक्तिहीन कर्म तो बन्धन कारक है, स्वर्ग का बन्धन हो या नरक का दोनों ही बन्धन समान हैं। भगवत् भक्त कर्म का निषेध नहीं करते हैं, वे कहते हैं, तुम नित्य नैमित्तिक, काम्य तथा और भी समस्त कर्मों को करो, किन्तु उनके फल को भगवान के लिये अर्पण कर दो। यदि कर्म भगवान् के निमित्त नहीं है, तो करते समय भी उसमें अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा और उसका फल भी क्षुद्र होगा पुण्य क्षीण होने पर फिर यहीं आना होगा। इसलिये वह साधन काल में तथा फल काल में दुःख ही दुःख देगा, इसके विपरीत जो भगवान् के निमित्त कर्म किया जायगा और करके भी भगवान् के ही अर्पण कर दिया जायगा, तो करते समय भी फल की इच्छा न रहने से दुख न देगा और भगवान को अर्पण करने पर तो वह अक्षय और अनन्त हो बन जायगा। भगवान् आप ही सोचिये जब नैष्कर्म्य निर्दोष पूर्ण आत्मज्ञान भी भगवद्भक्ति से शून्य शोभित नहीं होता तो जो कर्म अदृढ़ है वह भक्ति से विहीन शोभा कैसे पा सकता है उससे सुख शान्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वर्णाश्रम धर्म में तो भक्ति की कोई आवश्यकता नहीं, उसमें तो कर्तव्य की ही प्रधानता है मोक्ष तो वर्णाश्रम धर्म के पालन से भी हो ही सकती है, फिर भक्ति में क्या विशेषता है ? कृपा करके हमारे इस प्रश्न का उत्तर दीजिये।

सूतजी बोले—'अच्छी बात है, महाराज! मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर देता हूँ, आप का प्रश्न बहुत ही उत्तम है।

छप्पय

मिलै न छंद प्रबन्ध न उपमा अनुप्रास गुन।
यमक न मात्रा शब्द मिलै नहिँ तुक सब अवगुन॥
रहैं श्याम के नाम सुयश गुन यदि मन भावन।
तो वह अघहर छन्द गाइ होवै जग पावन॥
भगवद्भक्ति विहीन यदि, होहि ज्ञान करमनि रहित।
नहिँ फल हरि अरपित किये, उत्तम नहिँ सो दुख सहित॥

—:·०:—

भक्तिहीन वर्णाश्रम धर्म अशोभन है

(१३८२)

यशः श्रियामेव परिश्रमः परो ।
वर्णाश्रमाचारतपः श्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-
गुणानुवाद श्रवणादिभिर्हरेः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० ५३ श्लो०)

छप्पय

तब बरनाश्रम धरम-आचरन श्रीयश देवै ।
प्रभु-पद सुमिरन सतत होहि तिनि जे हरि सेवै ॥
हरि लीला गुन श्रवन नित्य हरि भक्ति बढ़ावै ।
इस्मृति हरि-पद रहै अमङ्गल सकल नसावै ॥
करै शान्त विस्तार नित, चित्त शुद्धि होवै अवसि ।
भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मिलै होहिं हिय प्रभु परसि ॥

वर्णाश्रम धर्म एक श्रद्धामय कर्त्तव्य परायणता से युक्त सीधा

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वर्णाश्रमाचार, तप और वेदादि में महा परिश्रम इन सबसे यश और लक्ष्मी की ही प्राप्ति होती है, किन्तु श्रीधर भगवान् के पादपद्मों की निरन्तर स्मृति तो श्रीहरि के गुणानुवाद श्रवणादि से ही रह सकती है ।"

सब साधारण को अपने गन्तव्य स्थान पर ले जाने वाला सर्वोपयोगी सुन्दर मार्ग है। यदि आप उसका आश्रय लेकर आँख मूँद कर चलोगे, तो देर सबेर कभी न कभी अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच ही जाओगे।। इसीलिये प्राचीन महर्षियों ने वर्णाश्रम धर्म पर बड़ा बल दिया है। वर्णाश्रम धर्म मे दो बातें हैं एक तो धर्म एक आजीविका के लिये वृत्ति। जिसकी वृत्ति शुद्ध न होगी वह धर्म का पालन कर ही नहीं सकता। इसीलिये वर्णाश्रम धर्म वृत्ति प्रधान धर्म है। धर्म पालन का सम्बन्ध तो विशेष कर मन से है, किन्तु वृत्ति का सम्बन्ध तो कर्म से है। इसीलिये वर्णाश्रम धर्म में वृत्ति से ही वर्ण तथा जाति का निर्णय होता था। जैसे ब्राह्मण का धर्म तो है वेदों का पढना, दान देना, और यज्ञ करना। यदि ब्राह्मण इन तीनों धर्मों का पालन नहीं करता तो वह ब्रह्मत्व से गिर जाता है। अच्छा धर्म ही पालन करता रहे, तो खाय क्या? इसके लिये तीन उसकी वृत्ति हैं। वह यज्ञ कराके जो दक्षिणा मिले उससे निर्वाह करे। दक्षिणा दान से भिन्न वस्तु है दक्षिणा एक प्रकार का पारिश्रमिक है। हमने यज्ञ कराने में परिश्रम किया; आपने उसके बदले हमें कुछ द्रव्य दे दिया। यह ब्राह्मण की उत्तम वृत्ति है। दूसरी वृत्ति है अध्यापन। जो ज्ञान हमने प्राप्त किया है उसको छात्रों को दें और छात्र जो भिक्षा माँगकर लावें उसमें से अपने को निकालकर शेष उन्हें दे दें, इस प्रकार अपनी वृत्ति चलाना यह ब्राह्मण की मध्यम वृत्ति है। यदि इससे भी काम न चले तो जो लोग दान करते हों उस योग पात्र के दान से निर्वाह करना यह ब्राह्मण की अधम या निकृष्ट वृत्ति है। दान लेने की प्रशंसा नहीं है, स्थान स्थान पर उसकी निन्दा ही की गयी है, ब्राह्मण को दान लेना ही चाहिये यह आवश्यक नहीं, जब अन्य वृत्ति से कार्य न चले तो वह दान ले सकता है। इसी प्रकार क्षत्रिय का वेद पढना, यज्ञ करना, दान देना और प्रजा की रक्षा

करना ये चार तो धर्म हैं और प्रजा से कर लेकर उससे निर्वाह करना यह उसकी वृत्ति है। ऐसे ही वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना ये वैश्य के धर्म हैं और धर्म पूर्वक खेती कराके, गौओं का पालन कराके तथा व्यापार करके आजीविका चलाना ये उसकी जीवन निर्वाह की वृत्तियाँ हैं। शूद्र का सेवा करना धर्म भी है और सेवा से ही जीवन निर्वाह करना यही उसकी वृत्ति है। जो अपने वर्णोपयोगी धर्म का पालन करता हुआ धर्मपूर्वक अपनी ही वृत्ति से अपना निर्वाह करता है उसे इस लोक में यश मिलता है और परलोक मे उसे पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है। वर्णाश्रम धर्म से उत्तमोत्तमलोक मिल सकते हैं उससे परम्परया मुक्ति भी मिलती है, किन्तु साक्षात् रूप से उससे मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति या भगवत् प्राप्ति तो ज्ञान तथा भक्ति से ही मिलती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कोई आदमी चाहे कि हम केवल कर्म करके ही उत्तम सुख को प्राप्त कर लें यह असम्भव है। आप कर्म करते हैं, तो उसमें परिश्रम होता है चिन्तायें होती हैं, नाना साधन जुटाने पड़ते हैं, इन सब कारणों से कर्मों के करते समय भी दुःख होता है, और उनसे जो उत्तम लोक प्राप्त होते हैं, उनमें पतन आदि की चिन्ता, असाम्य और निरतिशय दोष होने से फल काल में भी दुख ही होता है। यही बात वर्णाश्रम धर्म के सम्बन्ध मे है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वर्णाश्रम धर्म को आप इतना हेय क्यों बता रहे हैं?"

शीघ्रता के साथ सूतजी ने कहा—"भगवन्! मेरा आशय वर्णाश्रम धर्म की निंदा में नहीं है। मेरा एकमात्र उद्देश्य तो भक्ति की श्रेष्ठता दिखाना है। आप ही विचार करें। वर्णाश्रम धर्म एक क्रमिक मार्ग है। जैसे कोई शूद्र है, वह धर्मपूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करता है। धर्म मानकर द्विजातियों की सेवा में जुटा रहता

है, तो उसकी इस लोक में प्रशंसा होगी, मरकर उसे स्वर्ग मिलेगा। स्वर्ग सुख भोग लेने पर उसे दूसरी योनि वैश्य की प्राप्ति होगी। केवल वर्णाश्रम धर्म के ही पालन से वह शूद्र योनि से कभी मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। इसी प्रकार वैश्य जन्म में विधिवत् ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे और अपने धर्म का पालन करते करते शरीर त्याग करे तो स्वर्गलोक में सुख भोगकर दूसरे जन्म में वह क्षत्रिय होगा। यदि वैश्य स्वधर्म को छोड़कर वानप्रस्थ या सन्यासी धर्म का पालन करे तो वह पतित हो जायगा। शूद्र के लिये एक आश्रम और वैश्य के लिये दो आश्रम तथा क्षत्रिय के लिये तीन आश्रम है। क्षत्रिय ब्रह्मचर्याश्रम के अनंतर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे प्रजा का पालन करे, अंत में सर्वस्व त्यागकर वन में रहकर कंदमूल फल खाकर निर्वाह करे, तपोमय जीवन बितावे। इस प्रकार स्वधर्म का पालन करते करते मरे तो उसे तपलोक तक की प्राप्ति हो सकती है। तप लोक के सुखों को भोगकर अंत में उसे ब्राह्मण योनि मिलेगी। केवल प्रथम वर्ण ब्राह्मण के ही लिये चतुर्थ आश्रम सन्यास का अधिकार है। यदि वह चारों आश्रमों का सत्यता के साथ विधिवत् पालन करे सन्यासी बनकर विधिवत् सन्यास धर्म को निभावे तो उसके प्रभाव से उसे सत्यलोक की प्राप्ति होगी। क्योंकि वर्णाश्रम धर्म का फल उत्तम से उत्तम लोकों की प्राप्ति ही है। सत्यलोक यदि पुण्य कर्मों से प्राप्त हुआ है तब तो उससे भी पुनरावृत्ति हो सकती है। यदि त्याग से-सन्यास से-प्राप्त हुआ है तो वहाँ ब्रह्माजी उसे ज्ञान देते हैं, उस ज्ञान से मुक्ति होती है। वर्णाश्रम धर्म में सन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण को है। इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म का फल है यश और श्री की प्राप्ति कराना। शूद्र, वैश्य अथवा क्षत्रिय चाहे हम वर्णाश्रम धर्म के ही द्वारा अपने वर्ण में रहकर मुक्ति प्राप्त कर सकें यह असम्भव है। यदि वह

अपने धर्म को छोड़कर परधर्म-ब्राह्मण धर्म-का आचरण करता है तो वह उसके लिये भयावह है। हाँ यदि वह अपने वर्णमें रहकर भी भक्तिमार्ग का अनुसरण करे। श्रीहरि के गुणानुवादों को श्रवण करता रहे, भगवान् के नामों का गुणों का कीर्तन करे, उनका स्मरण वन्दन करे। उनमें दास्यभाव सख्यभाव या मधुर भाव रखकर उनकी सेवा करे आत्म समर्पण कर दे, तो वह अपने वर्ण में रहकर भी आवागमन से छूट सकता है। भक्तिमार्ग न तो वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा ही करता है। निष्काम भाव से तुम जिस वर्ण में हो, जिस आश्रम में हो वहीं रहकर उस वर्णाश्रम के धर्म का पालन करो किन्तु श्रीधर भगवान् के चरण-कमलों का निरंतर स्मृति रखना यह आवश्यक है। वह स्मृति रहती है सत्संग करने से भगवान् की कथाओं के श्रवण से तथा अन्यान्य नवधाभक्ति के आचरण करने से। अतः भगवान् की कथा सुनना परमावश्यक है। भक्तिमार्ग का पथिक सत्सङ्ग भगवत् कथा का बिना आश्रय लिये इस पथ में एक पग भी नहीं बढ़ सकता।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! भगवत् स्मृति से क्या होता है ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! क्यों ऐसी भोली भाली बात पूछ रहे हो। यदि भगवत् स्मृति से कुछ होता ही नहीं तो आप सब कुछ छोड़कर निरन्तर कथा ही क्यों सुनते रहते ? भगवन् ! यदि श्रीकृष्ण चन्द्र भगवान् के चरणारविन्दों की निरन्तर स्मृति बनी रहे, तो जीव के समस्त अमङ्गलों को वह उसी प्रकार भस्ममान् कर देती है, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन का नाश कर देती है। यह मनुष्य प्राणी सर्वदा अशान्त क्यों बना रहता है ? इसीलिये न, कि यह सदा अंट की संट सोचता रहता है। इन क्षण भंगुर नश्वर पदार्थों के ही लिये चिन्तित

रहता है, सदा यह आ जाय वह आजाय इसी का विचार करता रहता है। नश्वर पदार्थ आज आये कल नाश हो गये। मृगमरीचिका के जल से कहीं प्यास बुझती है। ये संसारी पदार्थ अशाश्वत हैं इनके चिंतन से शाश्वती शान्ति कैसे मिल सकती है। यदि मनुष्य इन अनित्य अशाश्वत अशान्तिकर पदार्थों का चिंतन छोड़कर नित्य शाश्वत, एक रस श्री भगवान् के चरणारविन्दों का चिंतन करे, उन्हीं की स्मृति में सदा निमग्न रहे, तो उसे शान्ति की प्राप्ति होगी। उसके चारों ओर शान्ति का ही साम्राज्य हो जायगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप बात तो सुन्दर कह रहे हैं, किन्तु महानुभाव जब तक शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तादि करके चित्त शुद्ध नहीं होता, तब तक सभी साधन व्यर्थ से हैं।"

सूतजीने कहा—"महाराज! भक्तिमार्ग में ये उपवासादि काया क्लेश कर प्रायश्चित्त आवश्यक नहीं। यहाँ तो कथा श्रवण नाम संकीर्तन आदि को करते करते स्वतः ही चित्त शुद्ध हो जाता है। आप ही सोचें चित्त में अशुद्धि क्या है। इन असद् अपवित्र विषय भोगों का स्मरण भर गया। इनके स्मरण को विस्मरण करके उसका स्थान श्रीकृष्णचन्द्र के चारु चरणारविन्दों को दे दिया जाय, तो चित्त तो अपने आप ही विशुद्ध बन जायगा। प्रायश्चित्तादि से किया हुआ चित्त तो कभी फिर मलिन हो भी सकता है किन्तु जिस चित्त में चित चोर के चरणारविन्द समा गये उसको तो फिर कोई वहाँ से हटा ही नहीं सकता।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कुछ भक्तिभाव हृदय में हो तब तो ऐसा किया जाय?"

सूतजी बोले—"महाराज! ईश्वर भक्ति भी इसी श्रवण कीर्तनादि से हो जाती है। यही साध्य भी है और यही साधन भी। भगवत् कथा श्रवण, कीर्तन तथा स्मरणादि साधन करते करते ये

अभ्यास में आ जाते हैं। जब तक करने में कठिनता हो, मनको हठपूर्वक लगाना पड़े तब तक यह उपाय साधन है, जब अपने आप ये कार्य होने लगें। श्रवण कीर्तन स्मरण, पादसेवन, दास्यादि में स्वतः आनन्द आने लगे इसके बिना रहा ही न जाय यही साध्य स्थिति है। ईश्वर भक्ति तो करते करते स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।"

शौनकजी ने कहा--'सूतजी! भक्ति भले ही प्राप्त हो जाय, किन्तु ज्ञान वैराग्य तो श्रवण कीर्तन से प्राप्त नहीं हो सकता?"

हँस कर सूतजी बोले--"महाराज! जो कलियुगी नीच पुत्र होते हैं वे माता को भले ही छोड़ दें, किन्तु सत्पुत्र तो सदा माता का साथ देते हैं, माता की सेवा करते हैं, उसके संकेत पर नाचते हैं। ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के पुत्र हैं, जहाँ भगवत् भक्ति आयी तहाँ अनुभव ज्ञान तथा वैराग्य के सहित तत्वज्ञान हाथ बाँधे वहाँ आकर उपस्थित हो जाते हैं। इसलिये महाराज इन सब के लिये प्रयत्न न करके निरंतर भगवत् कथाओं के श्रवण तथा कीर्तन आदि में ही श्रद्धा सहित लगे रहना चाहिये। इन साधनों के अतिरिक्त परमश्रेय का अन्य कोई निष्कंटक सरल सुगम साधन नहीं है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! क्या बतावें हम तो इस यज्ञ याग में लग गये, हमारे मनमें भगवान् की भक्ति उदय नहीं होती?"

आँखों में आँसू भरकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! आप अपनी न कहें। आप सब लोग धन्य हैं। आप सबके समान बड़भागी संसार में कौन होगा। भगवन्! यज्ञ याग तो लोक संग्रह के निमित्त करने ही चाहिये। यज्ञ, दान तपस्या यह तो मनुष्यों को पावन बनाने वाले साधन हैं। किन्तु आपका लक्ष्य याग यागों द्वारा स्वर्ग प्राप्त करना तो है ही नहीं। आप तो अपने

अन्तःकरण में उन अच्युत अखिलेश अजन्मा श्री हरि को बिठाये हुए हैं, जो सभी के शासक हैं, जिनका कोई दूसरा शासन कर्ता नहीं। जो सर्व स्वतन्त्र है जो सर्वान्तर्यामी हैं, जिनका बलवीर्य अकोच है जो सबके नियामक हैं, सर्व शक्ति मान हैं। आपने अपने हृदय में दृढ़ता से उन सर्वेश्वर को स्थापित कर रखा है, आपकी बराबरी भला संसार में कौन कर सकता है। परमार्थ पथ के पथिक आपका ही पदानुसरण करके इस अपार संसार सागर से सरलता के साथ पार जा सकेंगे। भगवन्! आप सब साधारण मनुष्य नहीं। आप तो तरणतारण हैं आपकी मैं कहाँ तक बड़ाई कर सकता हूँ।"

शौनकजी ने कहा—'सूतजी! इस ग्रन्थ के श्रवण का फल तो हमने आपसे बार बार सुना, किन्तु किसी विशेष स्थान में विशेष प्रकार से इसके सुनने का कुछ विशेष फल हो तो बताइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, इसके श्रवण में जो कुछ विशेषता है उसे मैं सुनाता हूँ, आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

बडभागी सब आपु कहाँ तक करूँ बड़ाई।
तजि सब जगत प्रपञ्च कृष्ण पद भक्ति दृढ़ाई॥
निन्दा इस्तुति त्यागि भजन में चित्त लगायौ।
तुमने ही मुनिवृन्द मनुज जीवन फल पायौ॥
मैं हूँ अतिशय धन्य हूँ, तुमरी सगति पाइकें।
करया कृतारथ कुमति हू, हरि यश यादि दिवाइकें॥

—::○::—

विशेष स्थानों में भागवत श्रवण माहात्म्य

(१३८३)

पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान् ।
उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात् ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० ६० श्लो०)

छप्पय

नृपति परीक्षित त्यागि राज गंगातट धाये ।
भावी अति ई प्रबल तहाँ मम गुरु शुक आये ॥
हौं हूँ पहुँच्यो तहाँ कथा गुरुदेव सुनाई ।
सकल मुनिनि नृप संग सुनी मैंने सुखदाई ॥
श्रीगुरु मुखतें जो सुनी, कही जथामति सो सकल ।
कलि कल्मष नाशन निमित, अनेल सरिस यह अति विमल ॥

साधारण देश में साधारण काल में सर्व साधारण पुरुष जैसा कार्य करते हैं, उसका साधारण ही फल होता है। यदि गंगा तट अथवा पुण्य पवित्र प्रदेश में, अमावस्या पौर्णिमा, संक्रान्ति तथा

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यदि जितेन्द्रिय होकर इस भागवती संहिता का पुष्कर में, मथुरा में अथवा द्वारकापुरी में जो उपवास पूर्वक इसका पाठ करता है, वह सभी प्रकारके पापों से छूट जाता है।"

व्यतीपात आदि पुण्यकाल में और शान्त, दान्त, उत्साही शुद्ध अन्तःकरण वाले कर्ताद्वारा किये हुए उन्हीं कार्यों में विशेषता हो जाती है। इसीलिये सभी कार्यों में देश, काल तथा पात्रता की शुद्धि पर बड़ा ध्यान दिया जाता है। श्रीमद्भागवत को जो भी पढ़े, जहाँ भी पढ़े, जिस समय चाहे पढ़े लाभ ही लाभ है, किन्तु शुद्ध अन्तःकरण से, नियम व्रत तथा उपवास पूर्वक पुण्य पवित्र देश में एकादशी द्वादशी तिथियों में तथा श्रावण, भाद्रपद वैशाख तथा कार्तिक आदि पवित्र महीनों में जो अनुष्ठान पूर्वक पढ़ता है उसका फल विलक्षण ही होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो मैंने यह परम पावन भागवती संहिता भाद्रपद मास में गंगाजी के तट पर नियम पूर्वक महात्माओं की सन्निधि में अपने गुरुदेव भगवान् शुक के मुखारविन्द से सुनी थी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! गंगाजी तो हस्तिनापुरके समीप भी थीं, महाराज परीक्षित अपने नगर के समीप की गंगाजी को छोड़कर ८-१० कोश दूर शुकाश्रम पर उपवास करने क्यों गये ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! यह सत्य है, कि गंगाजी हस्तिनापुर के नीचे ही बहती थीं, किन्तु भगवन् ! पुण्य पवित्र तीर्थों में जहाँ ऋषि मुनियों ने व्रत अनुष्ठान जप तप किये हों वहाँ का वातावरण अत्यन्त सात्विक तथा निर्मल होता है, वहाँ पाठ, जप, तप तथा अनुष्ठान करने से विशेष फल होता है। जहाँ महाराज परीक्षित् ने कथा सुनी थी वह हरिद्वार के समीप ही है, हरिद्वार के पर्वत वहाँ से दिखाई देते हैं, उसका पहिले "आनंद तट" नाम था। ऋषि महर्षि वहाँ रहते थे, नारदजी ने इसी स्थान पर सनकादि महर्षियों से श्रीमद्भागवत का सप्ताह सुना था। यहीं बूढ़े ज्ञान वैराग्य युवक हुए थे और यहीं भगवती भक्ति ने

हरि पापदों के साथ महा संकीर्तन में नृत्य किया था इसलिये यह सिद्ध क्षेत्र माना जाता था, श्री भागवत सप्ताह यज्ञ यहीं से आरम्भ हुआ। इस क्षेत्र की पवित्रता के ही कारण महाराज ने अपने नगर के निकट उपवास व्रत न करके यहाँ आकर किया था और यहीं दैवयोगसे सत्यवती नन्दन व्यासके पुत्र पधारे उन्होंने महर्षियों के बीच में राजा को सात दिन में कथा सुनायी, तभी से इस आश्रम का नाम शुकाश्रम पड़ गया। इसी के सम्मुख

उस पार महाभागवत विदुर जी की कुटी है। शुक-आश्रम परम पवित्र है। महाराज परीक्षित यहीं कृतकृत्य हुए थे। मैंने भी परमर्षियों की सभा में राजा के साथ ही साथ परमर्षि शुकाचार्य

से प्रथम बार ही यह दिव्य भागवती कथा सुनी थी। चिरकाल से इसकी आवृत्ति न होने से मैं कुछ कुछ भूल-सा गया था, किन्तु मुनियो! आप धन्य हैं, कि आप तो कथा सुनकर धन्य हुए ही, मुझे भी धन्य बना दिया, मुझे भी गुरुमुख से विश्रुत उस आत्म तत्व का स्मरण करा दिया।"

शौनकजी ने कहा--सूतजी! हमने क्या स्मरण करा दिया आपकी कृपा से हमारा इतना समय बड़े ही सुख से कट गया। "अब न जाने मन किधर भटकेगा।"

सूतजी ने कहा—"भगवन! आप सब तो जन्म सिद्ध महापुरुष हैं, आपका चित्त तो सदा भगवत् चिन्तन और स्मरण में ही लगा रहता है। किन्तु जो भी कोई इस भागवती संहिता को एक प्रहर अथवा एक क्षण भी अनन्य भाव से सुनता है चित्त को इधर उधर न जाने देकर इसी में चित्त लगाये रहता है, श्रद्धा और विश्वास के साथ सुनता है, उसका चित्त अवश्य ही पवित्र हो जाता है। चित्त को पवित्र करने के लिये साधकों के लिये भागवती कथा 'भागवत चरित' तथा मूल संहिता पाठ से पढ़कर उत्तम कोई साधन ही नहीं। जो इस मूल संहिता का अखंड पाठ करते हैं, उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती, वे दीर्घायु हो जाते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"अखंड पाठ कैसे करें सूतजी?"

सूतजी बोले—महाराज! एकादशी को व्रतता कहा है। इसमें दशमी के सायंकाल को पूरी एकादशी को और द्वादशीकी रात्रि में भोजन नहीं किया जाता। जो लोग स्मार्त पद्धति से एकादशी व्रत करते हैं, उनकी द्वादशी में पारणा होती है और जो द्वादशी का व्रत रखते हैं, उनकी त्रयोदशी में पारणा होती है। चाहे एकादशी का व्रत हो अथवा द्वादशी का प्रातःकाल अरुणोदय में संक्षिप्त नित्य नियम करके पाठ में बैठ जाय, किसी शारीरिक क्रिया को उठना हो तब तो उठे नहीं तो

निरन्तर पाठ ही करता रहे। रात्रि में सोवे भी नहीं। दूसरे दिन द्वादशी अथवा त्रयोदशी को जब भी पाठ समाप्त हो जाय, तभी व्रत की पारणा करे। जो ऐसा करता है, वह सभी पापों से छूट जाता है, जिसमें पढ़ने की सामर्थ्य न हो, तो दूसरे से पाठ करा कर उसे सुनता ही है, तो वह भी दीर्घायु की प्राप्ति करता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! दो दिन उपवास तथा जागरण करके पाठ करने की सामर्थ्य न हो तो क्या करे ?"

सूतजी ने कहा—"तब महाराज ! सात दिनों में सुने, सात दिन मे सुनने से सुगमता होती है। एकाहार, फलाहार, दुग्धाहार, पंचामृत पान, पयपान अथवा निराहार आदि नियम लेकर वह भागवत का श्रवण करे। पाठ करना हो तो निराहार रहकर सात दिन में पाठ करे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पाठ करने को कौन-सा स्थल उत्तम है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! सभी स्थल उत्तम हैं। बदरीवन, शुकाश्रम, हरिद्वार, नैमिषारण्य, मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन, काशी, प्रयाग तथा अन्य सभी पुराण कथित तीर्थ पाठ करने को उत्तम स्थल हैं, किन्तु तीन स्थानों में उपवास पूर्वक पाठ करने का विशेष माहात्म्य है।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन स्थल कौन कौन से हैं सूतजी।"

सूतजी बोले—"महाराज ! उन तीनों के नाम पुष्कर, मथुरा अथवा द्वारावती हैं। पुष्कर में ब्रह्माजी ने आदि सृष्टि की। वहीं से सृष्टि चक्र चला इसलिये यह सभी तीर्थों का गुरु है। मथुरा में आनन्द कन्द, श्रीभागवत के प्रधान नायक श्री कृष्ण चन्द्र भगवान् अवतरित हुए इसीलिये भगवान वहाँ नित्य सन्निहित

रहते हैं। द्वारावती में भगवान् ने अपनी उत्तर लीला की। मथुरा से भागकर वहीं निवास किया वहाँ भी भगवान् की नित्य सान्निधि है। इन तीनों परम पावन पुरियों में जो जितेन्द्रिय होकर उपवास पूर्वक श्रीभागवत का पाठ करते हैं, वे सभी प्रकार के संकटों से छूट जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इन तीनों पुराणों में क्या विशेषता है?"

सूतजी बोले—"भगवन्! पुष्कर का माहात्म्य अनन्त है, इसे तो फिर कभी बताऊँगा। किन्तु यहाँ इतना ही समझ लीजिये कि पुष्कर गायत्री की जननी है। यहीं पर गायत्री देवी का ब्रह्माजी के साथ विवाह हुआ यह पौराणिक कथा बहुत बड़ी है। संक्षेप में कथा यों है, कि पुष्कर में ब्रह्माजी ने एक बड़ा भारी यज्ञ करने का विचार किया। यज्ञ का मुहूर्त आ गया था, किन्तु तब तक सरस्वती देवी आयी ही नहीं। बिना पत्नी के यज्ञ कैसे हो यज्ञ का समय निकल रहा था, इसलिये देवता एक कन्या को ले आये ब्रह्माजी का उनके साथ विवाह करके उनके साथ ही ब्रह्माजी ने यज्ञ की दीक्षा ली। ये ही देवी गायत्री के नाम से प्रसिद्ध हुईं।"

यह श्रीमद्भागवत गायत्री का भाष्य ही है। चौबीस अक्षर वाली गायत्री का ही विस्तार श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्धों में किया गया है। फिर सृष्टि का आदि स्थान भी है। इसी विशेषता के कारण पुष्कर में और विशेषकर कार्तिक में इसका बड़ा पुण्य है।

मथुरा में तो भगवान् ने जन्म ही धारण किया था। मथुरा पुरी का तो ग्रहण होता है, सम्पूर्ण माथुर मंडल भी लिया जा सकता है, ब्रज में सर्वत्र इस संहिता के पाठ का बड़ा माहात्म्य है। इसी प्रकार द्वारका में भी निवास करके भगवान् ने गृहस्थो-

चित अनेकों कमनीय क्रीड़ायें कीं। द्वारावती के कण कण में भगवान की अनन्त स्मृतियाँ सन्निहित हैं। वहाँ के वायु मंडल में वे सब अब भी विद्यमान हैं, इसलिये इन तीनों पुरियोंका अनंत माहात्म्य है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो मैं अभी कुछ भागवत माहात्म्य और भी वर्णन करूँगा। उसे आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

प्रतिदिन समय निकारि भागवत चरित सुनिगे।
सुनिकें सब नर नारि अमल चित विमल करिगे॥
हरि बासर व्रत करै प्रेमतें सब पढ़ि जावैं।
आयु बढ़ै अघ घटै अन्त में प्रभु-पद पावैं॥
पुष्कर, मथुरा, द्वारका, काशी पुन्य प्रयाग थल।
पाठ करें तें भय छुटै, होहि बुद्धि अतिशय विमल॥

—:o:—

भागवती कथा-कामधेनु है

(१३८४)

विप्रोऽधीत्याप्नुयात्प्रज्ञांराजन्योदधिमेखलाम् ।
वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात् ॥*

(श्री भा० १२ स्कं० १२ अ० ६४ श्लो०)

छप्पय

शुद्ध चित्त तें मनुज ..गाइकें 'जाइ' सुनावें ।
तिनिके अति अनुकूल पितर, ऋषि, सुर ह्वै जावें ॥
सिद्ध, पितर, सुर, भक्त देहिँ इच्छित फल ताकूँ ।
भुक्ति, मुक्ति, सब सिद्धि सहजमें मिलि हैं ताकूँ ॥
पढ़ भागवत चरित कूँ, ते सबई फल पाइँगे ।
द्विज धी, नृप भू, वैश्य धन, शूद्र शुद्ध ह्वै जाइँगे ॥

ऋषि मुनियों के आश्रमों में कामधेनु रहती थी उसके द्वारा वे अपने समस्त मनोवांछित कार्यों को करते थे। वशिष्ठजी के आश्रम में कामधेनु थी, उससे उन्होंने महाराज विश्वामित्रजी को

---

* सूतजी कह रहे हैं—'मुनियो ! इस भागवत का अध्ययन करने से ब्राह्मण की बुद्धि बढ़ती है। क्षत्रिय को समुद्र पर्यन्त पृथिवी की प्राप्ति होती है। वैश्य बहुत सी सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है और शूद्र सभी प्रकार के पापों से छूट जाता है।'

सेना के लाखों सैनिकों को सन्तुष्ट किया, उन्हें मनमाने भोग प्रदान किये। महर्षि जमदग्नि के आश्रम पर भी कामधेनु थी, उसके द्वारा उन्होंने हैहयवंशी महाराज सहस्रार्जुन के सभी सैनिकों का सभी भाँति सन्तुष्ट किया। महर्षि भरद्वाज के आश्रम पर भी कामधेनु थी, जिससे वे श्रीरामानुज भरतजी का स्वर्ग से भी बढ़कर सत्कार कर सके। भरतजी के सैनिक तो ऐसे अभूत पूर्व दिव्य सत्कार को पाकर यहाँ तक कहने लगे—"अब हम भरतजी की सेना में नहीं रहेंगे यहीं मुनि के आश्रम पर रहकर स्वर्गीय भोगों का उपभोग करेंगे। मुनि के आश्रम पर चार पैर की कामधेनु रहती थी, सद्गृहस्थियों के यहाँ दो पैर की कामधेनु अब भी रहती है। वह है सुलक्षणा गृहिणी। शास्त्रकारों ने गृहिणी को गृह कामधेनु कहा है। संसार में जिसे अपने मनोनुकूल प्रिय भाषिणी सुन्दर लक्षणों वाली जीवन की चिरसंगिनी गृहिणी प्राप्त है, उसके यहाँ सभी सुख विद्यमान हैं। कामधेनु तो नियम से सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले सत्यवादी तपस्वियों के ही यहाँ रहती है और गृह कामधेनु भाग्यशाली पुण्यात्मा सद्गृहस्थों के ही घर में रहती है, किन्तु एक ऐसी कामधेनु है, जो गृहस्थ, विरक्त, राजा, रङ्क, ब्राह्मण, शूद्र सभी के घरों में समान रूप से रह सकती है और सभी को सुख शान्ति और सन्तोष प्रदान कर सकती है। उस कामधेनु का नाम है "भागवती कथा"।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीमद्भागवत की कथा इस लोक में सभी सुखों को देने वाली है, मुनियो! मैं तो अल्पज्ञ हूँ, एक मुख वाला हूँ, मरणशील हूँ, यदि संकर्षणावतार भगवान् शेषजी जो सर्वज्ञ हैं, जिनके सहस्र मुख और दो सहस्र जिह्वायें हैं जो नित्य तथा अजर अमर हैं, वे भी यदि निरन्तर श्रीमद्भागवत के माहात्म्य को निरन्तर कहते ही रहें, तो पूर्णरूप से वे भी वर्णन

नहीं कर सकते। महानुभावो! श्रीमद्भागवत में ऐसा रस है, कि स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध तथा सभी श्रेणी के मनुष्य सन्तुष्ट हो

जाते हैं। आपको अपने इष्टदेव को सन्तुष्ट करने के लिये मंत्र जप या अन्य अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बिना मन्त्रानुष्ठान के देवता कैसे सन्तुष्ट हो सकते हैं?"

सूतजी बोले—"बस, महाराज आप अपने इष्ट देव के सम्मुख श्रीमद्भागवत का केवल पाठ ही करते रहें। भागवत के श्लोक मंत्र ही हैं। पाठ करते करते देवता स्वयं ही आप को आप की इच्छित वस्तु प्रदान कर देंगे।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! किसी को ऐसा हुआ भी है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! बहुतोंको हुआ है। बिना पढ़े, बिना वेदान्त का अभ्यास किये बिना चान्द्रायणादि व्रत किये केवल भागवत के पुण्य चरित्रोंका पाठ करने से ही अनेकों सिद्ध हो चुके हैं। अभी कुछ ही दिनोंकी बात है। ऐसी ही एक घटना घट गयी।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! उस घटना को हमें अवश्य सुनाइये। ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरणों से श्रद्धा बढ़ती है।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो ! यह सतयुग, त्रेता, द्वापर की बात नहीं युधिष्ठिर या परीक्षित् के राज्य की भी बात नहीं बौद्ध हूण शक या म्लेच्छोंके शासनकी भी बात नहीं। अभी गुरुंडों के राज्य जाने के कुछ ही पूर्व की बात है। दक्षिण में पूना के निकट सितारा जनपद में एक वाई क्षेत्र है। वहाँ पर कृष्णा के तीर पर एक वृद्धा विधवा ब्राह्मणी रहती थी। उसके एक अनपढ़ पुत्र था। जिसका नाम नृसिंहा चार्य था। वृद्धा अत्यत निर्धन थी किसी प्रकार माँग जाँच कर अपना निर्वाह करती थी।"

एक बार सोमवती अमावास्या पड़ी। उस दिन मातायें किसी फल के सहित अश्वत्थ की १०८ परिक्रमा करती हैं, पूजन करती हैं। एक परिक्रमा करली एक फल रख दिया। इस प्रकार कोई भी फल हो १०८ फल उसमें आवश्यक होते हैं। कोई केला से करती हैं कोई आमसे कोई जामुनसे। जैसा समय हो, जैसी शक्ति हो, जैसी सुविधा हो।

उस वृद्धा के पास १०८ फल थे ही नहीं। न इतनी शक्ति ही थी, कि वह इतने फल क्रय कर सके। उसने कहा—"मैं बिना फल के ही १०८ प्रदक्षिणा कर लूँगी। अपने पुत्र को लेकर वह मन्दिर के समीप के अश्वत्थ वृक्ष के समीप गयी और आँखों में आँसू भरकर बोली—"तू मेरा ऐसा अयोग्य पुत्र हुआ कि १०८

फल भी नहीं जुटा सका। मुझे अश्वत्थदेव की बिना फल के ही प्रदक्षिणा करनी पड़ रही है।"

पुत्र ने कहा—'माँ! तू चिन्ता न कर। मैं १०८ श्रीमद्-भागवत रूप फल इन अश्वत्थ देव के अर्पण करूँगा।"

माँ यह सुनकर हँस पड़ी और बोली—"तुमसे अक्षर पढ़ना तो भली भाँति आता नहीं। श्रीमद्भागवत के १०८ पाठ क्या करेगा?"

दृढ़ता के स्वर में पुत्र ने कहा—"माँ! तू विश्वास कर मैं अवश्य ही अश्वत्थ देव को १०८ श्रीमद्भागवत रूप फल अर्पण करूँगा।"

माँ को अपने अपठित पुत्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। दूसरे दिन सबने देखा वह अठपित बालक श्रीमद्भागवत की पुस्तक लेकर वहाँ से दो कोश की दूरी पर कृष्णा नदी के किनारे धौम्य महाबलेश्वर में नृसिंह भगवान् के मन्दिर में बैठा है। उसे अक्षरों का ज्ञान था। अतः एक एक अक्षर पढ़ पढ़कर पाठ करने लगा। ऐसे उसने सूर्योदय से सूर्यास्त तक पाठ करके दो मास में समस्त श्रीमद्भागवत का एक पाठ पूरा किया। फिर तो भागवत ने उन पर कृपा की। दूसरा पाठ एक डेढ़ महीने में हुआ। इस प्रकार कई वर्षों में उसने १०८ पाठ पूरे किये। जो प्रत्यक्ष देव भागवत के रूप में हैं, वे ही देव अश्वत्थ तथा नृसिंह मन्दिर में बैठे उनकी कथा सुन रहे थे, वे प्रसन्न हो गये नृसिंह भगवान् ने कृपा की अब तो वे अर्थ भी करने लगे। इनके अर्थ ऐसे चमत्कार पूर्ण होते थे, कि बड़े बड़े महा महोपाध्याय उनकी कथा सुनने आते थे। धन की तो उन्हें कमी ही न रही। द्रव्य की वर्षा होती थी। इच्छानुसार लुटाते थे। समस्त महाराष्ट्र प्रान्त में उनका नाम छा गया। अब वे इस पृथिवी पर सशरीर नहीं हैं, किन्तु उनका अमल विमल धवल यश अब भी विद्यमान है। इस

प्रकार श्रीमद्भागवत के कीर्तन करने वाले पर देवता प्रसन्न होते हैं और उन्हें मनोवांछित फल देते हैं। श्रीमद्भागवत के सुप्रसिद्ध टीका कार श्रीधर स्वामीजी पर भी नृसिंह भगवान् ने कृपा की। इसके पाठ करने वाले पर देवता ही नहीं मुनि, सिद्ध, पितर, मनुष्य तथा नृपति गण सभी प्रसन्न हो जाते हैं। जो श्रीमद्भागवत को पढ़कर भावना से कथा करते हैं, वे संसारी पदार्थ के लिये दुखी नहीं होते।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ब्राह्मण का तो मुख्य धर्म है, वेद पढ़ना। वेदों के अध्ययन से ही उसका ब्राह्मणत्व बना रहता है। वेदों के बिना पढ़े तो उसे किसी भी शास्त्र के पढ़ने का फल नहीं मिलता।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज यह सत्य है, कि ब्राह्मण का मुख्य कर्म निष्काम भाव से वेदों का पठन पाठन ही है। शास्त्रों में बताया है कि ऋग्वेद के अध्ययन से मधु की नदी मिलती है। यजुर्वेद के पढ़ने से घृत की नदी और सामवेद के अध्ययन से दूध की नदी मिलती है। वेदत्रयी के अध्ययन का माहात्म्य है; किन्तु श्रीमद्भागवत में तो सम्पूर्ण वेद और शास्त्रों का सार सिद्धान्त निहित है। अतः जो फल वेदों के अध्ययन से मिलता है, वही फल इस भागवती संहिता के अध्ययन से भी मिलता है। भगवन् मैं अधिक क्या कहूँ, गीता आदि में साक्षात् श्री भगवान् ने अपने श्रीमुख से जिसे परमपद कहा है, परागति कह कर जिसका वर्णन किया है, वह पद इस पुराण संहिता को एकाग्रचित्त से पढ़ने पर सहज में ही प्राप्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इसके अध्ययन से सबको एक-सा ही फल प्राप्त होता है, या पात्र भेद से फल में भी भेद हो जाता है।"

सूतजी बोले—"हाँ, भगवन्! पात्र भेद से भावना भेद से—फल में भिन्नता हो जाती है। जैसे ब्राह्मण है, उसे सर्वथा मेरी बुद्धि शुद्ध रहे यही चिन्ता रहती है। वह निरन्तर गायत्री मन्त्र का जप करता रहता है। गायत्री मन्त्र में यही तो कहा गया है, हे वरेण्य! हमारी बुद्धि को सदा शुभ कर्मों में प्रेरित करते रहो।" इसलिये यदि ब्राह्मण इस संहिता का अध्ययन करता है, तो उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है, वह बड़ा बुद्धिमान् बन जाता है। इसी तरह क्षत्रिय को पृथिवी की चिन्ता रहती है, यदि वह श्रद्धा से पाठ करता है, तो समुद्र पर्यन्त पृथिवी का शासक बनता है। वैश्य को सदा धन की चिन्ता बनी रहती है, वह यदि इसका अध्ययन करता है, तो उसे कोषाधिपत्य की प्राप्ति होती है और यदि शूद्र सुनता तथा पढ़ता है, वह सभी प्रकार के पातकों से छूटकर पवित्र हो जाता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने तो इस श्रीमद्भागवत संहिता की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा कर दी। और भी तो अनेक शास्त्र हैं, महाभारत तो पंचमवेद ही है। आप इसी की इतनी महिमा क्यों गा रहे हैं, इसमें ऐसी कौन सी विशेषता है। आप कहो, कि इसमें भगवान् के चरित्रों का गान किया गया है, तो ऐसा कौन-सा आर्ष ग्रन्थ है, जिसमें भगवान् के नाम रूप तथा चरित्रों का गान न किया गया हो। वेदों में महाभारत रामायण तथा अन्य सभी पुराणों के आदि मध्य तथा अंत में सर्वत्र हरि ही हरि गाये गये हैं, उन्हीं को नाना रूपों से कहा गया है। फिर इस ग्रन्थ में ऐसी कौन सी विशेषता है। कृपा करके हमारे इस संशय का नाश करो।"

यह सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये और कुछ रुककर बोले—बोले 'भगवन्! मैं आपका भाव समझ गया, ऐसा प्रश्न करके आप इसके माहात्म्य को और श्रवण करना चाहते हैं, भगवन्!

यदि इसमें अन्य शास्त्रों से विशेषता न होती तो आप इसे इतनी उत्सुकता के साथ कभी भी श्रवण न करते, इसमें क्या विशेषता है, इसे मैं कई बार कह चुका हूँ, उन्हीं बातों को फिर दुहराता हूँ। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

सब ग्रंथनिते श्रेष्ठ भागवत—चरित मनोहर।
भक्त भागवत वृत्त कहे पद पद पै सुंदर॥
अवतारनि की कथा चरित भक्तनि को अघहर।
भगवन्नाम महात्म्य छोड़ि जामें नहिँ दूसर॥
जो अच्युत अखिलेश हैं, जिन के अगनित नाम हैं।
तिनि के पद पाथोजमें, पुनि पुनि पुन्य प्रनाम हैं॥

—:o:—

कलि कलुष काटिनी भागवती कथा

(१३८५)

कलिमलसंहति कालनोऽखिलेशो-
हरिरितरत्र न गीयते ह्यमीक्ष्णम् ।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्तिः
परिपठितोऽनुपदं कथा प्रसङ्गैः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० ६५ श्लो०)

छप्पय

जीव चराचर रचैं प्रकृति अरु विकृति बनावैं ।
आचारज बान स्वयं साधना सीख सिखावैं ॥
सत्य सनातन धाम भुवनपति अज विश्वम्भर ।
जिनकी सत्ता बिना रहैं नहिं जगम थावर ।
रचना पालन नासिवौ, जिनिको नित नित काम है ।
तिनिके पावन पदनि में, पुनि पुनि पुन्य प्रनाम है ॥

इस संसार में सार कम है, असार अधिक है। गेहूँ जो के

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अन्य ग्रन्थों में कलिकाल के पाप समूहों को नाश करने अखिलेश श्री भगवान् का गान तो किया है, किंतु बारम्बार गान नहीं किया गया है, किन्तु इस भागवत कथा में तो अशेष मूर्ति भगवान् वासुदेव का कथाओं के प्रसङ्ग मे प्रत्येक पद पर वर्णन किया है।"

बीज को बोओ, तो उसमें भूसा अधिक निकलेगा। अन्न न्यून। धान में पुआल भूसी अधिक होती है, चावल थोड़े। मूँगफली में, बादाम में, काजू में, चिलगोजा तथा अखरोट में खाने योग्य मिंगी थोड़ी रहती है, छिलका आदि अधिक। बिना छिलका भूसी के सारपदार्थ टिक नहीं सकता। वही तो आधार है, नीबू मौसमी संतरा. कमला में रस तभी रहेगा जब उसमें छिलका, बीज और तंतु तथा भीतर के फल पतले छिलके रहें,। रस निकाल लेने पर वे अनावश्यक पदार्थ फेंक दिये जाते हैं। इसी प्रकार पुराण शास्त्रों में कुछ अनावश्यक विस्तृत कथायें होती हैं। वे अनावश्यक कथायें इसी लिये कही जाती हैं, कि उनमें से सार भाग निकाल लिया जाय। उसका शेष भाग छोड़ दिया जाय, किन्तु कुछ फल ऐसे होते हैं, जिनमें कुछ भी त्याज्य अंश नहीं रहता जैसे अंगूर अमरूद तथा अंजीर आदि। इसी प्रकार शास्त्रों में एक श्रीमद्-भागवत शास्त्र ही ऐसा शास्त्र है, जिसमें कोई भी त्याज्यांश नहीं है।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझ से श्रीमद् भागवत की अन्य शास्त्रों से विशेषता पूछी उसे मैं आपसे बताता हूँ। देखिये इस कलिकाल में लोगोंकी पाप में स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कलियुगी जीवों को पाप करने में तनिक भी हिचक नहीं होती। कलिकाल में सहस्रों वर्ष के जप तप, नाना भाँति के अनुष्ठान, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि विविध प्रायश्चित्त होने असम्भव हैं, जिनसे पापों का नाश हो सके। कलियुग में तो समस्त पापों के नाश करने का सुगम सरल सर्वोपयोगी एक ही सुखद साधन है। वह है भगवान् के सुमधुर पाप हारी नामों का कीर्तन करना। और शास्त्रों में हरिनाम कीर्तन न्यून है धर्म अधर्म तथा प्रवृत्ति मार्ग का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है, किन्तु श्रीमद् भागवत में तो भगवन्नाम और भगवान् के अवतार चरित्रों को

छोड़कर दूसरी बात ही नहीं कही गयी है। इसमें जहाँ देखो वहीं अवतारों के ही चरित गाये गये हैं। इसीलिये इस को 'नाम पुराण' कहा है। इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म सम्मितम्, यह वेद के ही समान है। यही नहीं कलिकाल में तो यह वेद से भी बढ़कर है।

यह सुनकर चौंककर शौनक जी बोले—"सूत जी! आप यह कैसी बात कर रहे हैं। वेद से बढ़कर पुराण कैसे हो सकता है?"

सूत जी ने कहा—महाराज, बड़ापन छोटापन तो कार्य सिद्धि से माना जाता है। हम मानते हैं अमृत बड़ा है, किन्तु हमारे वह किस काम का। उससे देवताओं की तृप्ति भले ही होती हो, हमारी तृप्ति तो दूध, घृत तथा अन्न से होती है हमारे लिये वही बड़ा है। हम मानते हैं, ऊख बड़ी है क्योंकि उसीसे गुड़, शक्कर, खाँड़ बूरा तथा अन्य मिठाइयाँ बनती हैं, किन्तु ब्रह्म भोज हो रहा हो, उसमें दही तो परस दिया जाय और उसमें चीनी न परसकर बड़ी समझकर ऊख परस दी जाय, तो उससे किसी की तृप्ति होगी? भले ही चीनी बूरा ऊख से ही बने हैं, किन्तु ब्रह्म भोज में दही के साथ मिलाकर खाने के कार्य में तो चीनी बूरे की ही आवश्यकता है, उस काम के लिये तो वही बड़ा है। इस प्रकार सत्ययुग, त्रेतादि युगों में लोग बुद्धिमान, बहुश्रुत तथा मेधावी होते थे, उन्हें सुनते ही स्मरण हो जाता था, उस समय सर्वत्र वेदों का प्रचार प्रसार था, उस समय के लिये वे ही बड़े थे। जब मेरे बाबा गुरु भगवान् वेद व्यास ने देखा कलियुगी अल्पवीर्य अल्पायु तथा अल्प बुद्धिवाले होंगे उनमें वेदों को धारण करने की शक्ति न होगी, तो उनके ऊपर कृपा करके भगवान् वेद व्यास ने पुराणों का संग्रह किया। स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु-नाम मात्र के द्विज कहलाने वालों—को तो वेदाध्ययन का अधिकार ही नहीं। उन्हीं के निमित्त व्यास जी ने महाभारत की रचना की। जब उससे

भी उनके मनको शान्ति न हुई, तो भगवान् नारद जी की आज्ञा से उन्होंने इस भागवती संहिता को बनाया। अन्य ग्रन्थों से इसमें यही विशेषता है, कि इसमें दूध को मथकर उसमें से मक्खन निकाल लिया गया है। जहाँ भी कहीं श्री कृष्ण कथा है, उनके अवतारों के चरित्र हैं अथवा उनके आश्रय से भगवत्भक्तों के चरित्र हैं वे ले लिये गये हैं, शेष सब छोड़ दिये हैं। इसमें इस बातपर विशेष ध्यान दिया गया है, कि कोई पद ऐसा न आजाय जिसमें विश्वमूर्ति भगवान् का वर्णन न किया जाय। ऐसी कथाओं का बयान किया है, कि जिनमें बारम्बार श्री हरिका ही गान हो।"

शौनक जी ने कहा—"सूत जी! आप सत्य ही कह रहे हैं। जितना सुख हमें इस भागवत कथा के श्रवण से मिला, उतना कभी भी नहीं मिला। अब कृपा करके कुछ और सुनाइये।"

सूत जी बोले—"अब क्या सुनाऊँगा महाराज! इसका तो न कभी आदि है न अन्त। मुझे तो सुनाना था सुना चुका अब फिर कभी देखा जायगा। अब मैं अपने इष्ट देव तथा गुरुदेव को प्रणाम करके इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ।"

शौनक जी ने कहा—"सूत जी जैसी आप की इच्छा। किन्तु महानुभाव हमारी तृप्ती तो अभी नहीं हुई।"

शौनक जी की बात का सूत जी ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उन्होंने दोनों हाथों की अंजलि बाँधली। नेत्र बन्दकर लिये। गद्-गद् कंठ से वे कहने लगे—

अखिलात्मा श्री हरि की सत्व, रज और तम प्रधान शक्तियाँ हैं जिनसे इस विश्वब्रह्मांड की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय कार्य होते रहते हैं। जो इतने महान् हैं, कि उनकी महत्ता को मनुष्य देवताओं की बात ही क्या इन्द्र, ब्रह्मा तथा शङ्कर भी पूर्णतया नहीं जान सकते। उन आत्मतत्व स्वरूप अनन्त, अज, अच्युत अखिलेश को मैं श्रद्धा भक्ति सहित नमस्कार करता हूँ।

जिन्होंने पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश अपने में ही पड़े हुए अहंकार, बुद्धि, महत्तत्व तथा प्रकृति इन नौ तत्वों से-इनकी शक्तियों से इस चराचर के आधार भूत सम्पूर्ण संसार को क्रीड़ा में बना दिया, खेल ही खेल में इस स्थावर जंगम रूप जगत् की रचना कर दी उन समस्त देवों में श्रेष्ठ ज्ञान स्वरूप एकमात्र सनातन पुरुष के पाद पद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

जिनकी दृष्टि में स्त्री पुरुष, जड़ चैतन्य में कोई भेद भाव ही नहीं, जिनका चित्त आत्मानन्द रूप महार्णव में निरन्तर निमग्न बना रहता है, यद्यपि उनके हृदय में अज्ञान की एक भी ग्रन्थि नहीं है, जो आत्माराम पूर्णकाम हैं, फिर भी भगवान की ललित ललाम लीलाओं के गायन में जिनका चित्त फँस गया है, जिनकी हरि गुणगान में आत्मानन्द जनित स्थिरता आकर्षित हो गयी है। यद्यपि जो आप्तकाम हैं, जिन्हें कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है, जो विधि निषेध, कर्तव्य अकर्तव्य, त्याज्य ग्राह्य आदि भावों से परे हैं, तो भी जिन्हों ने कलि कल्मषों से क्लेशित जीवों पर कृपा करके इस परम पुण्य प्रद परमार्थ प्रकाशक पावन पुराण का प्रचार प्रसार किया है, उन स्वच्छन्द विहारी, कलि कल्मषहारी सर्व पाप प्रहारी, जगत् हितकारी व्यास नन्दन अपने गुरुदेव भगवान् शुक के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करके इस पुण्य प्रसंग को समाप्त करता हूँ।" इतना कहकर चिरकाल तक सूत जी अश्रु विमोचन करते रहे।

कुछ काल के अनन्तर शौनक जी ने पूछा—तो क्या सूतजी! अब भागवती कथा समाप्त हो गयी?"

आँसू पोंछते हुए सूत जी बोले—"हाँ, महाराज! अब समाप्त ही समझिये। कथा तो समाप्त हो गयी। अब उपसंहार रूप में कुछ भागवत् स्मरण कुछ पुराणों के सम्बन्ध में और कहूँगा उसे भी आप सुन लें। वैसे कथा तो समाप्त हो गयी।"

छप्पय

आत्माराम, निरीह, निरामय मुनि मम गुरुवर।
भेद भाव तैं रहित ज्ञान निष्ठा जिनि दृढ़तर॥
हरि गुन सुनिकें बधे भागवत चरित सुहाये।
निमित परीक्षित करं, जगत हित हरि प्रकटाये॥
परमहंस अवतंस मुनि, श्री शुक जिनिको नाम है।
तिनिके पावन पदनिमें, पुनि पुनि पुन्य प्रनाम है॥

—:०:—

नमो नमः

(१३८६)

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्तिदिव्यैः स्तवैः ।
वेदैःसाङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः ।
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवायतस्मै नमः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १३ अ० १ श्लो०)

छप्पय

जिनिकी इस्तुति करें वरुन, अज,इन्द्र, मरुद्गन ।
सस्वर गावें जिनहिं वेदविद मुनि योगीजन ॥
पाइ न जिनिको अन्त शारदा, अज, चतुरानन ।
शेष, सुरेश, महेश दिनेश हु देव असुरगन ॥
जिनिके अगनित नाम हैं, रूप अनूपम श्याम है ।
तिनिके पद पाथोज में, पुनि पुनि पुन्य प्रनाम है ।
कृष्णाय नमः वासुदेवाय नमः हरये नमः परमात्मने नमः

---

* सूतजी कहते हैं—"जिन भगवान् की दिव्य स्तोत्रों से ब्रह्मा, वरुण इन्द्र, रुद्र तथा मरुद्गण स्तुति करते हैं, अङ्ग, पद, क्रम और उप निषदों के सहित वेदों से – साम गान करने वाले ऋषिगण, जिनका गान करते हैं, ध्यान द्वारा स्थिर किये हुए मन से योगी जन जिनका साक्षात्कार करते हैं, तथा जिनका अन्त सुर तथा असुरगण भी नहीं पा सकते ऐसे परदेव प्रभु के लिये प्रणाम है।"

प्रणतक्लेश नाशाय नमः गोविन्दाय नमो नमः गोविन्दाय नमो नमः गोविन्दाय नमो नमः।

उन अनन्त शक्ति वाले भूमा पुरुष का महत्व कोई क्या जान सकता है उनकी महिमा का कोई क्या बखान कर सकता है, कोई उनके बल, वीर्य, पराक्रम, ओजतेज, प्रभाव, गुण तथा ऐश्वर्य का पार नहीं पा सकता। एक बार गरुड़जी को अभिमान हो गया 'ओ हो! मैं कितना बली हूँ, जो भुवनपति भगवान् विष्णु के भार को बड़ी सरलता से धारण कर लेता हूँ। उन्हें अपनी पीठ पर चढ़ा-कर इधर से उधर ले जाता हूँ। मैं न होऊँ तो विष्णु भगवान् इतनी शीघ्रता से कैसे आते जाते।"

भगवान् समझ गये, मेरे भक्त गरुड़जी को अभिमान हो गया है, मेरे भक्तों के मन में यदि अभिमान की जड़ जम जाय, तब तो सर्व नाश ही हो जायगा, भक्त के मन में उठे अभिमान का मुझे तुरन्त नाश कर देना चाहिये अविलम्ब उसे जड़ से उखाड़ कर फेंक देना चाहिये।" यही सब सोच विचार कर भगवान् ने गरुड़-जी को बुलाया और उनसे कहने लगे—"गरुड़जी! आप मेरे बोझ को उठा सकते हैं।"

गरुड़ जी ने भीतर से अभिमान के साथ किन्तु बाहर से शिष्टता के साथ कहा—"क्यों नहीं, महाराज! मैं तो सदा आप को उठाता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"आप मुझे उठाते हो?"

गरुड़जी ने कहा—"मैं नहीं उठाता तो क्या महाराज कोई दूसरा उठाने आ जाता है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, आप ही उठाते हैं, तो मेरे सम्पूर्ण शरीर की बात तो जाने दो मेरे इस हाथ को ही उठाओ।" यह कहकर भगवान् ने अपने एक हाथ का पंजा गरुड़ जी के ऊपर रख दिया। गरुड़जी उस पंजे के बोझ से दब गये, वे

हुच हुच करने लगे। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानों अभी प्राण निकलते हैं वे बड़े कष्ट से बोले—"महाराज! मारकर ही छोड़ोगे क्या? मेरे तो प्राण निकले जाते हैं।"

हँसकर भगवान् बोले—"बस, इतने ही से घबरा गये अभी तो मैंने अपने पंजे का भी पूरा बल नहीं रखा। आप तो मेरे सम्पूर्ण शरीर को ढोते थे।"

पंजे को उठाते हुए भगवान् बोले—"गरुड़जी! मुझे कौन उठा सकता है। मैं तो आप के ऊपर कृपा करके अपने आप ही उठ जाता हूँ। मेरी शक्ति अनंत है, अपार, अपरिमेय है। उसका पार स्वयं मैं भी नहीं पा सकता। मेरे गुण अनन्त हैं उनका सम्पूर्ण गान मैं भी नहीं कर सकता फिर भी जीव मेरी ही कृपा से मेरे

सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं मेरे गुणों का गान कर सकते हैं मुझे नमस्कार प्रणाम कर सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैं उन महा महिम श्रीहरि को बारम्बार नमस्कार करता हूँ, जिनकी महिमा का पार आज तक कोई पा ही न सका।"

देखिये, ब्रह्माजी इस सम्पूर्ण चराचर विश्वके एकमात्र जनक हैं। स्थावर जंगम सभी की सृष्टि चतुरानन द्वारा ही हुई है। वे ब्रह्मा जी जिनकी दिव्य स्तोत्रों से स्तुति करते हैं। उत्तर दिशा के लोक पाल वरुण, समस्त देवताओं के अधीश्वर स्वर्गपति इन्द्र, इस सम्पूर्ण चराचर सृष्टि को संहार करने वाले रुद्र, तथा उनंचास मरुद्गण जिनका निरन्तर स्तव गान करते हैं, फिर भी उनकी महिमा का पार नहीं पा सकते, तो उन अचिन्त्य महिमा वाले प्रभु के सम्बन्ध में हम क्या कहें। बस उन्हें पुनः पुनः प्रणाम है। बारम्बार नमो नमः नमोनमः कहकर ही हम विश्राम लेते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वेद तो उनके भेद को जानते होंगे।"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! जिनसे वेदों की उत्पत्ति हुई है, जिनके गर्भ में वेद रहने से जो वेद गर्भ कहाते हैं' वे ब्रह्मा बाबा ही जब उनके भेद को नहीं जान सके, तो फिर भला वेद क्या भेद जानेंगे। वे अपनी शक्ति के अनुसार वर्णन करते हैं, फिर नेति नेति कहकर चुप हो जाते हैं। वेदज्ञ ब्राह्मण बड़े नियम संयम से रहकर सूर्य, अग्नि, गुरु तथा देवताओं की आराधना करते हैं; अंग, पद, क्रम तथा उपनिषदों के सहित सस्वर साम का गान करते हैं, किन्तु वे भी भगवान् की पूरी महिमा नहीं गा सकते। केवल अपनी श्रद्धाञ्जलि मात्र समर्पित करते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी गान भले ही न कर सकते हों,

किंतु योगिजन अपने हृदय में उनका ध्यान तो कर ही लेते होंगे ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! ध्यान द्वारा मनको स्थिर करके योगिजन उनका साक्षात्कार अवश्य करते हैं, किन्तु वे भी उनके भेद को पूर्णरीत्या नहीं समज सकते। वे ध्यान करते हैं, साक्षात् होने पर नमो नमः नमो नमः करके उनको बारम्बार प्रणाम करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मनुष्य, देवता, असुर, गन्धर्व यक्ष राक्षस कोई तो भगवान् का अन्त जानते होंगे ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! मैं कह तो चुका ब्रह्मादिक देवता, बलि प्रह्लाद आदि बड़े बड़े प्रतापशाली असुर भी उनका अन्त नहीं पा सके उन्हें नमो नमः नमोनमः कहकर नमस्कार करते रहते हैं,उन्हीं देवाधिदेव भगवान्के लिये मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ भगवन् ! उन अजित भगवान् की महिमा क्या कहें। देखिये समुद्र मंथन रूपी खेल करने के लिये उन्हीं भगवान् ने अपने अनेक रूप बना लिये। एक रूप से तो मन्थराचल में घुस गये, एक रूप से उसकी रई बनाकर मथने लगे, एक रूप से अमृत लेकर समुद्र से निकले, एक मोहिनी रूप बनाकर बाँटने लगे। एक रूप से देवता असुरों के भीतर घुस गये एक कछुआ का रूप बन कर मन्दराचल को उठाये रहे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् की महिमा अचिन्त्य है। देखिये उतने बड़े मन्दराचल को भगवान् अपनी पीठपर कैसे रोके रहे। इतना भारी मन्दराचल और फिर जिसे इतने भारी भारी देवता असुर पूरी शक्ति से खींचते होंगे, स्वयं अमित बल वाले अजित भगवान् अपने युगल कर कमलों से मथते होंगे, क्या उस समय कूर्म भगवान् की पीठ छिलती न होगी ?"

यह सुनकर सूतजी खिल खिलाकर हँस पड़े और बोले—

"महाराज ! आप पीठ छिलने की बात कहते हो उन कूर्म भगवान् को तो मथते समय मीठी मीठी नींद आने लगी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! नींद का वहाँ क्या प्रसङ्ग था। इतना भारी पर्वत पीठ पर फिरता रहा, वहाँ जल में कच्छ भगवान् को नींद कैसे आ गयी ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! जैसे कोई सुन्दर शैया पर पड़ा रहता है। कोमलांगी सुन्दरी प्रमदा उसके पैरों को शनैः शनैः सुहलाती रहती हैं, तो उससे जैसे उसे निद्रा आने लगती है वैसे ही मंदराचल की शिलाओं के नोंक की जब उनकी पीठ पर रगड़ लगती तो उन्हें ऐसा लगता मानों कोई मेरे शरीर को सुखपूर्वक खुजला रहा है, सुहरा रहा है। उस खुजलाहट से वे खुर्राटे लेने लगे। उनका श्वास प्रश्वास कुछ तीव्रता से चलने लगा। भगवान् की वह सुखकारी श्वास आप सबकी रक्षा करे। उन श्वासों का प्रभाव समुद्र में अभी तक दिखायी देता है।"

शौनकजी बोले—"सूतजी ! समुद्र तो जाने कब मथा गया, अभी तक उसका प्रभाव कैसे दिखायी देता है ?"

सूतजी बोले—"देखिये महाराज ! हम जल में एक कंकड़ी छोड़ते हैं, छोड़कर चुप हो जाते हैं तो कंकड़ी के गिरने से जो क्षोभ हुआ, वह क्षोभ तरंगों के रूप में कुछ काल तक तट पर दीखता है। यदि कंकड़ी से बड़ा पत्थर डाल दें तो तरंगें अधिक देर तक टकराती रहेंगी। यदि पहाड़ डाल दें तो और भी अधिक काल तक लहरें उठती रहेंगी। यदि क्षोभ करने वाला अनन्त हो तो अनन्त काल तक लहरें उठती रहेंगी। कूर्म भगवान् जब श्वांस छोड़ते तो समुद्र में ज्वार भाटा आ जाता समुद्र चढ़ जाता जब श्वांस खींचते तो समुद्र शान्त हो जाता उतर जाता। वह अनन्त कूर्म जल में क्षोभ हुआ था, अतः अनन्त काल तक समुद्र का जल चढ़ता उतरता रहेगा। यद्यपि अब समुद्र मंथन नहीं हो रहा है

तो भी कूर्म भगवान् के श्वास प्रश्वास के संस्कार लेश का अनुवर्तन करने से आज तक भी समुद्र शान्त नहीं हो सका। वह भी विश्राम लेता ही नहीं। उसमें हिलोरें उठती ही रहती हैं। ऐसी जिन भगवान् की महिमा है, उनके पाद पद्मों में अनंत प्रणाम हैं। उनको पुनः पुनः नमो नमः नमो नमः है। महाराज! जिनकी कृपा से मैंने सभी पुराणों में श्रेष्ठ इस महापुराण को पढ़ा और आपको सुनाया उस पुराण पुरुष प्रभु को पुनः पुनः नमो नमः है।

शौनकजी ने पूछा—"पुराण कितने हैं? उनका समाहार किसमें है? श्रीमद्भागवत सब पुराणों में श्रेष्ठ क्यों है, इसका प्रतिपाद्य विषय क्या है, इसमें कौन सा विषय प्रधान है इसके कहने का प्रयोजन क्या है, इसका दान कैसे करना चाहिये। इसके दान का और पठनादि का क्या विशेष फल है इन बातों को अन्त में चलते चलते और बताते जाइये। भगवान् आपका कल्याण करें आपने भागवती कथा सुनकर हमें कृतार्थ कर दिया।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! मैं आपके प्रश्नों का यथावत यथामति उत्तर दूँगा, आप इसे दत्त चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

जब कच्छप वपु धरयो पीठ धारयो प्रभु मन्दर।
अगनित योजन कूट फिरै ऊपर तैं घर घर॥
तिनि ऐसो सुख होइ नारि जनु पद सुहरावै।
मन्दर ज्यों ज्यों फिरै नाथ कूँ निदिया आवै॥
जिनिके श्वास प्रश्वास तैं, अब तक उदधि अशान्त अति।
तिनि पद जे वन्दन करैं, तिनिकी होवै शुद्ध मति॥

—❀❀—

अष्टादश पुराणों में श्रेष्ठ भागवत

(१३८७)

पुराणसंख्यासम्भूतिमस्य वाच्य प्रयोजने।
दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० १३ अ० ३ श्लो०

छप्पय

दश अरु आठ पुरान सार सब शास्त्रनि लीये।
कहे भागवत चरित भक्तिके सम्पुट दीये॥
शौनक पूछें—सूत! पुराननि संख्या कितनी।
सब की संख्या कहो, छन्द संख्या है जितनी॥
सूत कहें—"सब अठारह, सुनी पिता अरु मुनिनितें।
चार लाख हैं छन्द सब श्रेष्ठ भागवत सबनितें॥

प्रथम वेद एक ही था और अनन्त था, उसमें से जो अत्यावश्यक युगोपयोगी ऋचायें थीं उनको छाँटकर व्यास भगवान् ने एक वेद का संग्रह किया उसी को चार भागों में विभक्त कर

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप मुझसे इतनी बातें और सुनिये। पुराणों की संख्या 'उनकी सम्भूति' श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य विषय। उसका प्रयोजन, उसके दानकी विधि, दान और उसके पाठादि का माहात्म्य।"

दिया जो ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व चार नामों से प्रसिद्ध हुआ उसकी चार संहितायें हुईं। इसी प्रकार पुराण भी अनन्त हैं। अनन्त भगवान् की सभी वस्तुएँ अनन्त हैं। पूर्ण की सभी वस्तुएँ पूर्ण हैं। पुराणोंका भी भगवान् वेद व्यासने व्यास किया। उनको भी लोकोपयोगी बनाकर अठारह भागों में बाँट दिया। जो अठारह पुराण हुए। वास्तव में पुराण एक ही है। जैसे महाभारत ग्रन्थ एक ही है उसे अठारह भागों में विभक्त कर दिया है। श्रीमद्भगवत् गीता एक ही ग्रन्थ है उसे अठारह अध्यायों में बाँट दिया है उसी प्रकार पुराण एक ही है सबकी परिभाषा एक है, किन्तु उसके पुराण, उपपुराण और पुराण ऐसे भेदकर के अठारह अठारह भागों में बाँट दिये हैं। अठारह पुराण हैं, अठारह उपपुराण हैं, अठारह औप पुराण हैं तथा इनके अतिरिक्त भी बहुत से अल्प पुराण हैं। मुख्यतया अठारह पुराणों का ही विशेष माहात्म्य है। उन अठारह पुराणों में से श्रीमद्भागवत भी एक है। पुराण रूपी महाग्रंथ का श्रीमद्भागवत भी एक अध्याय है। जब श्रीमद्भागवत की विषय सूची बतायी जा रही है, तो संक्षेप में अन्य पुराणों के सम्बन्ध में कुछ जान लेना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आप मुझसे अठारह पुराणों के सम्बन्ध में पूछते हैं। पुराणों का विस्तृत विवेचन तो आपकी कृपा हुई तो आगे करूँगा। इस समय तो मैं केवल श्लोक संख्या बताऊँगा। प्रथम आप ब्रह्म पुराण की संख्या सुनिये ब्रह्म पुराण आदि पुराण है और इसकी श्लोक संख्या केवल दश सहस्र है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने पहिले ब्रह्म पुराण की ही श्लोक संख्या क्यों बतायी, श्रीमद्भागवत या दूसरे पुराण की क्यों नहीं बतायी?"

सूतजी बोले—"महाराज ! मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि पुराण एक बड़ा ग्रन्थ है, उसके ये अठारह अध्याय हैं, यह नहीं कि आप चाहे जिस पुराण को पहिले कह दें। ब्रह्म पुराण प्रथम है। जहाँ कह दिया पहिली पुराण, वहाँ ब्रह्म पुराण का ही बोध होगा। आठवीं पुराण कहनेसे अग्नि पुराणका ही बोध होगा। अठारहवीं पुराण कहने से ब्रह्माण्ड पुराण ही समझी जायगी। मुझे पहिले से अठारहवीं पुराण तक संख्या बतानी हैं इसलिये प्रथम पुराण की संख्या बतायी। इन अठारहों में छै ब्रह्म पुराण छै विष्णु पुराण छै रुद्र पुराण हैं। इसलिये छै सात्विक छै राजस् और छै तामस पुराण मानी जाती हैं। इसका विवेचन प्रसंगानुसार फिर होगा।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, सूतजी ! अब हम समझ गये। अब यह बताइये दूसरी पुराण कौन-सी है इसकी श्लोक संख्या कितनी है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! दूसरी पद्म पुराण है। यह बहुत बड़ी पुराण है। स्कन्द पुराण को छोड़कर इससे बड़ी पुराण और कोई नहीं है। इसकी श्लोक संख्या पचपन सहस्र बतायी है।"

शौनकजी ने पूछा—"तीसरी पुराण कौन-सी है सूतजी ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! तीसरी विष्णु पुराण है यह दो भागों में विभक्त है। विष्णु पुराण और विष्णु धर्मोत्तर पुराण दोनों को मिलाकर इसकी श्लोक संख्या तेईस सहस्र है। यह तो वैष्णव पुराण है ही। चौथी शैव पुराण है।"

शैव पुराण में शिव महिमा का विशेष वर्णन है, उसकी संख्या चौबीस सहस्र है। जैसे वैष्णव गण श्रीमद्भागवत् का विशेष आदर करते हैं, वैसे ही शैवलोक शिव पुराण को अधिक महत्व देते हैं। पंचम पुराण श्रीमद्भागवत है।

श्रीमद्भागवत सभी पुराणों में तिलक है। इसकी श्लोक संख्या अठारह सहस्र है। इसमें शुक और परीक्षित् सम्वाद है। इसमें आनन्द कन्द श्रीकृष्ण चन्द्र के चारु चरितों का विशेष रूप से वर्णन है। अब आता है छठा पुराण।

पुराणाचार्यों ने नारद पुराण को षष्टम पुराण बताया है। यह अत्यन्त दिव्य पुराण है। इसकी श्लोक संख्या पच्चीस सहस्र है। इसके अंत में एकादशी व्रत का माहात्म्य बड़े विस्तार से मोहिनी चरित्र में वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर है सप्तम पुराण।

मार्कण्डेय पुराण सप्तम पुराण माना गया है इसकी श्लोक संख्या नौ सहस्र ही है, यह सबसे छोटा किन्तु बड़े ही महत्व का पुराण है। अब आया अष्टम पुराण।

अग्नि पुराण अष्टम पुराण है इसमें सभी शास्त्रों का सार आ गया है इसकी श्लोक संख्या पन्द्रह सहस्र चार सौ बतायी है, इसके अनन्तर नवमाँ भविष्य पुराण है।

भविष्य पुराण के विषय में बड़ा मतभेद है। फिर भी पुराणों में इसकी श्लोक संख्या चौदह सहस्र पाँच सौ श्लोक की बतायी है। दसवाँ पुराण ब्रह्मवैवर्त है इसकी श्लोक संख्या अठारह सहस्र, एकादशवाँ पुराण लिङ्ग पुराण है इसकी संख्या ग्यारह सहस्र है, द्वादश पुराण बाराह पुराण है इसकी श्लोक संख्या चौबीस सहस्र है, त्रयोदशवाँ पुराण स्कन्द पुराण है, यह सभी पुराणों से बड़ा है, इसमें सभी तीर्थों का बड़े विस्तार से वर्णन है। इसकी श्लोक संख्या इक्यासी सहस्र एक सौ है। महाभारत से कुछ ही कम है। चतुर्दश पुराण है वामन पुराण यह छोटा है, दश सहस्र श्लोक इसमें हैं। पन्द्रहवाँ पुराण कूर्म पुराण को बताया है, सत्रह सहस्र इसकी श्लोक संख्या है। सोलहवाँ पुराण है मत्स्य पुराण इसमें चौदह सहस्र श्लोक हैं। गरुड़

पुराण सत्रहवाँ पुराण है, इसमें उन्नीस सहस्र श्लोक हैं तथा सबसे अन्तिम अठारहवाँ पुराण ब्रह्माण्ड पुराण को बताया है, बारह सहस्र इसमें श्लोक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अठारह पुराणों की सब मिलाकर चार लाख श्लोक संख्या बतायी है। इन चार लाख में श्रीमद्भागवत के अठारह सहस्र श्लोक हैं। अठारह पुराणों में से ये अठारह सहस्र श्लोक सबसे मूल्यवान् मणियोंके सदृश हैं।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हम तो पुराणों के सम्बन्ध में विशेष सुनना चाहते थे, आप तो एक श्वाँस में सबकी श्लोक संख्या गिना गये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आप आशीर्वाद दें, मैं पुराणों के विषय में कहूँगा, विस्तार के साथ कहूँगा। यहाँ तो मैंने प्रसंग वश पुराणों की संख्या बतायी। केवल सब पुराणों में श्रीमद्-भागवत ही श्रेष्ठ है इसे जताने ही के लिये यहाँ पुराणों का उल्लेख किया है। ये पुराण अनादि हैं। जब भगवान् विष्णु की नाभि कमल से लोक पितामह ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई, तो कमल-योनि ब्रह्मा संसारकी माया को देखकर डर गये। वे सोचने लगे—"कहीं मैं भी इस माया के चक्कर में न फँस जाऊँ।" संसार भय से भयभीत हुए अपने नाभि-कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी को अभय करने के निमित्त ही भगवान् ने करुणा के वशीभूत होकर उन्हें इस महापुराण को सुनाया। इसलिये इस पुराण के आदि आचार्य भगवान् विष्णु ही हैं और यह सभी पुराणों में श्रेष्ठतम है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जैसी ही अन्य पुराणों में कथायें हैं वैसी ही इसमें हैं, इसमें श्रेष्ठता की ऐसी कौन सी बात है?"

सूतजी बोले—"महाराज! अन्य पुराणों की कथाओं में और

इसकी कथाओं में अन्तर है। इसके आदि में, मध्य में तथा अंत में जितनी भी कथायें हैं, वे सब वैराग्य से भरी हुई हैं। सभी कथाओं का निष्कर्ष यही निकलता है कि, यह संसार मिथ्या है इसमें श्री कृष्ण चन्द्र ही एकमात्र सार पदार्थ हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सतजी! इसमें तो भगवान् की लीला की बड़ी शृङ्गारपूर्ण कथायें हैं?" उनसे तो मन में और अधिक राग होगा। उन्हें आप वैराग्य पूर्ण कैसे बताते हैं?"

यह सुनकर सूतजी! खिलखिलाकर हँस पड़े और हँसते हँसते बोले—"महाराज! विराग का अर्थ ही यह है कि संसार से तो राग विगत हो जाय तथा श्रीकृष्ण लीला कथामृत के प्रति विशेष राग हो जाय। विराग के दोनों अर्थ हैं। विगतो राग, विराग तथा विशेषण राग विराग।

इसमें जो भगवान् की मधुराति मधुर सरसाति सरस सुन्दराति सुन्दर कथायें हैं, वे साधु पुरुषों को ही नहीं सुर समुदाय को भी आनन्दित करने वाली हैं। इनसे सभी को सुख होता है। यह पूर्ण ग्रन्थ है। ग्रन्थों में चार बातें होती हैं, विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी। इसी से ग्रन्थ की महत्ता जानी जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस ग्रन्थ का मुख्य विषय क्या है?"

सूतजी बोले—"भगवान्! सम्पूर्ण वेदान्तों का जो सारभूत है, जो ब्रह्म और आत्मा का एकत्व लक्षण है, जिसे अद्वितीय वस्तु कहा गया है, वही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् इस ग्रंथ का विषय है।" इसके आदि मध्य तथा अन्त में सर्वत्र उसी का गान किया गया है।"

शौनकजी ने कहा—"इस ग्रंथ का प्रयोजन क्या है सूतजी।"

सूतजी ने कहा—"उन्हीं भगवान् के आश्रय से होने वाला कैवल्य इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।"

शौनकजी ने पूछा—"इसका सम्बन्ध क्या है ?

सूतजी बोले—"जीव का भगवान् के साथ शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य या मधुर किसी प्रकार का सम्बन्ध आदि का प्रतिपादन जुट जाना यही इसमें सम्बन्ध है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इसका अधिकारी कौन है ?"

सूतजी बोले—"महाराज जिसे भी इस असार संसार से पार होने की इच्छा हो, वही इसका अधिकारी है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हमने भागवत के विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी के विषय में तो सुन लिया, अब आप कृपा करके श्रीमद्भागवत का दान कैसे किया जाय, दान का क्या माहात्म्य है और इसके पाठ का क्या माहात्म्य है इसे कृपा करके और सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं आपको दान तथा दान और पाठ के माहात्म्य को ही सुनाता हूँ, आप इसे दत्त चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कथा भागवत लगै भाग्य शालि कूँ प्यारी।
यह पुरान-सिर-तिलक जगत जीवनि हितकारी॥
प्रथम कह्यो श्री विष्णु ब्रह्म तैं करुना करिकें।
पूरन ज्ञान विराग भक्ति कूँ प्रतिपद् भरिकें॥
परब्रह्म जाकौ विषय, कह्यो प्रयोजन पावनौ।
अति ई अनुपम ग्रन्थ है, विषय परम मन भावनौ॥

श्री मद्भागवत दान तथा पाठ माहात्म्य

(१३८८)

भौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंह समन्वितम् ।
ददातियो भागवतं स याति परमांगतिम् ॥

(श्री भा० १२ स्क० १३ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

ब्रह्मसूत्र को अरथ सार वेदनि को अनुपम ।
दुह्यो उपनिषद दूध शरकरा तामें शम दम ॥
एक बार जिनि पियो शास्त्र सब फीके लागें ।
छोड़ि अमृत नर मधुर व्यरथ विष पीवें भागें ॥
ज्यों सरितनि में गङ्ग हैं, शिव उत्तम वैष्णवनि में ।
० छेत्रनि में बारानसी, श्रेष्ठ भागवत सबनि में

संसार में सबसे बड़ा सुवर्ण दान है, क्योंकि सुवर्ण से सभी वस्तुयें मिल सकती हैं, किन्तु सुवर्ण का दुरुपयोग भी हो सकता है। सुवर्ण पाकर उसे बेचदे उससे व्यभिचार आदि करे तो दाता ग्रहीता दोनों ही नरक गामी होते हैं। इसलिये गौदान सुवर्णदान

---

*सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! जो पुरुष इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थको सुवर्ण के सिंहासन पर रखकर भाद्रपद की पूर्णिमा के दिन दान करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।"

से भी बढ़कर है, गौ के अंगों में समस्त देवता वास करते हैं। दूध देनेवाली गौ जिसके भी घर में जायगी सम्पूर्ण घर वालों को दूध देगी। किन्तु गौ का भी लोग दुरुपयोग कर सकते हैं, द्रव्य लोभ से वधिक के हाथों बेच सकते हैं जिससे लेनेवाले देनेवाले दोनों ही घोर पाप के भागी बनेंगे। इसीलिये भूमिदान की अधिक प्रशंसा है। इसमें दाता गृहीता दोनों का ही कल्याण है किन्तु भूमि भी यदि अपात्र को दी जाय तो उसका वह दुरुपयोग ही करेगा, इसलिये भूमिदान से भी बढ़कर कन्यादान का महत्व है। योग्यवर को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके कन्या दी जाय तो दाता को हर्ष होगा, गृहीता का घर बसेगा वंश चलेगा। संतति हुई तो वह मातृकुल पितृकुल और अपने कुल इस प्रकार तीन कुलों को तो तारेगी। किन्तु कन्या को दे दिया और उससे कुछ ऊँची नीची बात बन गयी, तो उभयकुल की कीर्ति को बट्टा लग जायगा। इस लिये अन्नदान तथा जलदान में पात्रा-पात्र का भेद भाव नहीं। जो भी भूखा प्यासा है वही अन्न जल का अधिकारी है। भूखे को अन्न दे दिया, तो मानों उसे जीवन दे दिया। भूखे प्यासे को अन्न जल मिल जाय तो उसकी आत्मा तृप्त हो जाती है, बिना वाणी के ही हृदय से दाता के प्रति आशीर्वाद निकलने लगती है। किन्तु अन्न तो जिसे दिया जाय उसी को तृप्त करता है, एक बार ही तृप्त करता है, किन्तु किसी को विद्या दान दी जाय, तो उसके जीवन भर काम आवेगी। उससे इहलोक परलोक दोनों बनेंगे। इसलिये अन्न जल दान से भी अधिक विद्या दान की प्रशंसा है। किन्तु विद्या में भी एक त्रुटि है यदि किसी को दी जाय और वह ज्ञान खल निकल गया। पढ़कर किसी दूसरे को पढ़ाया नहीं। अपनी विद्या का प्रचार प्रसार नहीं किया, तो वह विद्या उसी के शरीर में जीर्ण हो जायगी। इसलिये विद्या दान से भी अधिक महत्व सद्ग्रन्थ दान का है। योग्य पात्र को श्रद्धा सहित सद्ग्रन्थ का दान दिया जाय,

तो इसमें दाता ग्रहीता दोनों का ही इहलोक तथा परलोक बनता है। रुपया, पैसा, अन्न वस्त्र तो कुछ काल में नष्ट हो जाते हैं, किन्तु ग्रन्थ तो चिरकाल तक बना रहता है, जो भी उसे देखता है वही दाता का स्मरण करता है, अमुक ग्रन्थ उसने लिखाकर या छपा कर दिया। जिसे दिया जाता है। उसके बन्धु बान्धव, इष्ट मित्र तथा परिवार के सभी जन पढ़ते हैं, लाभ उठाते हैं, अपने जीवन को उच्च बनाते हैं। यदि गृहीता के वंश में कोई अयोग्य या अनपढ़ भी निकल जाय जो उसे बेच डाले। तो जो भी उसे क्रय करेगा उसी के वंश के लोग पढ़कर लाभ उठावेंगे। सद्ग्रन्थ जहां भी जायगा वहीं ज्ञान का प्रचार प्रसार करेगा, इसलिये ग्रन्थों का दान सबसे श्रेष्ठ है। अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा भागवती कथाओं का दान और भी श्रेष्ठ है। सभी लोग इन रस मयी श्री कृष्ण कथा को भागवत चरितों को उत्सुकता और उल्लास के साथ श्रवण करेंगे, पठित अपठित, बालक, युवा स्त्री पुरुष सभी का इन कथाओं की ओर स्वाभाविक आकर्षण होता है, सभी इन मधुमयी रसमयी कथाओं को बड़े चावसे सुनते पढ़ते हैं, अतः भगवत् लीला सम्बन्धी भागवती कथा सम्बन्धी पुस्तकों के दान का अनन्त माहात्म्य है। यदि वह दान पर्वों पर तीर्थ क्षेत्रों में किया जाय तो पूछना ही क्या ?

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीमद् भागवत को तो जब भी सुना जाय, जब भी दान दिया जाय तब ही शुभ है, तब ही कल्याण कारी है. फिर भी आषाढ़, कार्तिक तथा भाद्रपद इन मासों का विशेष महत्व है। इनमें भी भाद्रपद का माहात्म्य विशेष है ?"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! भाद्रपद का विशेष माहात्म्य क्यों है ?

सूत जी बोले—"महाराज ! मेरे गुरुदेव भगवान शुक ने

भाद्रपद मास में ही महाराज परीक्षित् को सप्ताह सुनाई थी। भाद्रशुक्ला नवमी को आरम्भ करके भाद्र की पूर्णिमा को समाप्त की थी। इस लिये इस सप्ताह को शुक सप्ताह कहते हैं। इन दिनों में जो श्रीमद् भागवत का सप्ताह सुनकर वक्ता के लिये श्रीमद्-भागवत की पुस्तक को दान करते हैं, वे अक्षय पुण्य के भागी बनते हैं।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! दान कैसे किया जाय?"

सूत जी बोले—"भगवन्! दाता को चाहिये कि अपनी

शक्ति के अनुसार सुवर्ण का छोटा बड़ा सिंहासन बनवावे। उस पर ग्रन्थ को सुन्दर वस्त्र के वेष्टन से वेष्टित करके रखे उसका

विधिवत् पूजन करे, फिर शुद्ध सदाचारी योग्य वक्ता को उसे दे दे। इससे दाता को तो परमगति प्राप्त होगी ही गृहीता का और उसके परिवार का भी कल्याण होगा। क्योंकि यह ग्रन्थ बड़ा ही सरस और लोक प्रिय है।

शौनक जी ने कहा—"सूत जी ! स्कन्द पुराण तो श्रीमद् भागवत से चार पाँच गुना है, पद्म पुराण इससे तिगुने से भी अधिक है, ये इतने बड़े पुराण उतने लोकप्रिय क्यों नहीं हुए ?"

सूत जी ने कहा—"हाँ भगवन् ! मुझे भी बड़ा आश्चर्य होता है। वैसे तो सभी पुराण भगवान् व्यास देव के रचे हुए हैं। सभी में न्यूनाधिक भगवान् के चरित्र गाये गये हैं, किन्तु बहुत ही कम ऐसे पुरुष होंगे जो अठारह पुराणों के नाम भी जानते होंगे, किन्तु इस श्रीमद् भागवत का तो देश देश, गाँव गाँव तथा घर घर में प्रचार है। जहाँ देखो वहीं भागवत सप्ताह होता है। अन्य पुराणों की कथा तभी तक अच्छी लगती हैं, जब तक श्रीमद् भागवत कथा न सुनी हो जहाँ कानों में श्रीमद् भागवती कथा पड़ी नहीं तहाँ अन्य सभी कथायें फीकी फीकी सी लगती हैं। सब लोग यही कहते हैं—"हमें तो भागवती कथा ही सुनाओ। इसीलिये सत्पुरुषों की सभा में नित्य नियम से श्रीमद् भागवत रूप अमृत सागर सदा ही हिलोरें लेता रहता है। यह ग्रन्थ उपनिषद् रूप दुग्ध का सारातिसार नवनीत है। जिसने इस मिश्री मिले टटके नवनीत को एक बार चख लिया, जिसने भागवत रूप अमृत कुंड में एक बार डुबकी लगाली उसका मन कहीं अन्यत्र चलायमान न होगा। भागवत रूप माखन मिश्री खाकर कुछ खाने को शेष नहीं रहता। भागवत रूपी दिव्य सागर में नहाकर फिर कहीं नहाने का मन नहीं चाहता। मुनियो ! आप ने तो इसे इतने विस्तार से सुना ही है आप अपना अनुभव सुनावें।

शौनक जी बोले—"सूत जी ! क्या सुनावें। कुछ कहने योग्य बात हो तो कहें। यह ग्रन्थ तो अनुपमेय है। बहुत खोजने पर भी हमें कोई उपमा नहीं सूझती।"

सूत जी बोले—"मुनियो ! आप लोग ही धन्य हो आप श्रीमद् भागवत् रसामृत से संतृप्त हो। महानुभावो ! नदियाँ तो सभी उत्तम हैं, फिर समुद्रगा नदियाँ तो अत्यन्त ही पूज्य हैं, किन्तु सहित प्रवरा त्रिपथगा गंगा सभी सरिताओं में सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। देवता सभी पूज्य हैं, किन्तु सब देवों में भगवान् विष्णु सबसे श्रेष्ठ माने गये हैं, वैष्णव सभी पूज्य हैं, किन्तु भगवान् रुद्र के समान सभी वैष्णव नहीं हो सकते। इसी प्रकार पुराण सभी श्रेष्ठ हैं। सभी में लोकोत्तर ज्ञान विज्ञान भरा पड़ा है, किन्तु जो बात श्रीमद् भागवत में है वह अन्यत्र कहाँ ? यह ग्रन्थ सभी पुराणों में सर्वोत्तम है, शीर्ष स्थानीय है। जैसे सम्पूर्ण क्षेत्रों में वाराणसी को सर्व श्रेष्ठ क्षेत्र माना गया है उसी प्रकार पुराणों में यह सर्व श्रेष्ठ पुराण है। मुनियो ! कहाँ तक मैं इसकी प्रशंसा करूँ। शेष शारदा भी जिसकी महिमा का पार नहीं पा सके उसका मैं अल्पमति पार कैसे पा सकूँगा। अतः मैं इस ग्रन्थ को, ग्रन्थ के रचयिता को, ग्रन्थ के वक्ता अपने गुरुदेव को और जो इसमें सर्वत्र ओत प्रोत हैं, उन भगवान् को प्रणाम करके इस प्रसंग को पूर्ण करूँगा।"

छप्पय

अति ई निरमल चरित भागवत भक्तनि को धन।
जामें ज्ञान विशुद्ध भक्ति भगवत को बरनन॥
करम, त्याग, वैराग्य यथाथल सबहीं भासे।
अति समास सब कहे शेष कोई नहिं राखे॥
श्रवन मनन अरु पाठ नित, करें प्रेमतें नारि नर।
देहिं भक्ति अरु मुक्ति तिनि, प्रभु परमेश्वर पराबर॥

—:०:—

सत्यं परं धीमहि

(१३८९)

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा ।
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा ॥
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवत्रातायकारुण्यतः ।
तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥

(श्री भा० १२ स्क० १३ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

हरिने अजतें कह्यो प्रथम अज नारद पाहीं ।
नारद तैं मुनि व्यास व्यास शुक दियो पढ़ाहीं ॥
नृपति परीक्षित निकट कह्यो शुक हौं सुनि लीयौ ॥
जैसो कछु बनि परयो ताहि तुम सबकूँ दीयौ ॥
जिनि तैं निकस्यो चरित यह, सो हरि सुख के धाम हैं ।
मोइ दयो गुरुदेव ने, उभय पदनि परनाम हैं ॥

भगवान् अनादि हैं जीव अनादि है, जगत अनादि है, ज्ञान

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! अब हम सब मिलकर उस शुद्ध निर्मल, शोक रहित तथा अमृत रूप परम सत्य का ध्यान करते हैं, जिसने सर्व प्रथम विष्णुरूप से इस अतुल ज्ञान प्रदीप को ब्रह्माजी के प्रति प्रकट किया । फिर ब्रह्मारूप से नारद जी को सुनाया, फिर नारद रूपसे व्यास जी को उपदेश दिया, फिर व्यास रूपसे अपने पुत्र योगिराज शुक को पढ़ाया, फिर शुक रूप से अत्यंत करुणा के वश होकर महाराज परीक्षित को सुनाया । अर्थात् स्वयं श्रीहरि ने ही विविध रूप रखकर इसे सुनाया, इसका प्रचार प्रसार किया ।"

अनादि है, अज्ञान अनादि है। इस संसार में कुछ भी सादि नहीं कुछ भी नया नहीं सब पुराण ही पुराण है, इसीलिये पुराण भी अनादि हैं। आप आश्चर्य करेंगे कि ज्ञान को तो अनादि कहना उचित भी है, किन्तु अज्ञान को आप अनादि क्यों कह रहे हो। इसे आप ध्यानपूर्वक विचार करें। उत्पन्न होते ही भगवान् कमलासन भव से भयभीत हो उठे। यदि इस अज्ञान का प्रवाह अनादि न होता, तो सृष्टि के आदि में ही भव और भय दोनों कहाँ से आ जाते। पहिले कहीं सो रहे होंगे तभी तो ब्रह्माजी के उत्पन्न होते ही उनसे चिपट गये। तब ज्ञान स्वरूप भगवान् ने भागवत प्रदीप लेकर उनके अज्ञानांधकार को भगाया, वे ब्रह्म स्वरूप अभय हो गये। ब्रह्माजी के शरीर से तो वह भाग गया, यदि वह ऐसा वैसा कच्चा वीर होता तो मर जाता, किन्तु वह तो अनादि ठहरा। ब्रह्माजी तो ज्ञान दीप को पाकर ज्ञान स्वरूप बन गये अब भय कहाँ जाय। वह ब्रह्माजी के नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्र नारद जी के शरीर में चिपट गया। उनको भी संदेह ने घेर लिया। वे दौड़े दौड़े पिता की शरण में गये। ब्रह्माजी उनकी दशा देखकर हँसे। समझ गये यह भवभय भूत मेरे पूत के शरीर में चिपट गया। भगवान् ने जो अखंड अनादि, एकरस, परिपूर्ण दीपक दिया था उसी को नारदजी को दे दिया। नारदजी भी ब्रह्म बन गये। पूर्ण में से पूर्ण देने पर ब्रह्माजी की पूर्णता में कोई न्यूनता नहीं आयी, नारदजी भी परिपूर्ण हो गये। वह भव भयभूत चिन्ता रूपी भूतिनी का वेष बनाकर नारदजी के भतीजे के पुत्र व्यासजी के चित्त में चिपट गयी। नारदजी ब्रह्मरूप हो चुके थे, वे घूमते घामते व्यासाश्रम पर पहुँचे। ज्ञान प्रदीप से भूतिनी को भगाया, उन्हें चिन्ता हो गयी कहीं यह मेरे पुत्र के शरीर में न चिपट जाय, अतः उन्होंने उस ज्ञान प्रदीप को अपने परमहंस पुत्र को दे दिया। वे भी उसे पाकर भगवान् के स्वरूप ही बन गये। वह भवभय जाकर कलियुग का

रूप रखकर—राजा परीक्षित् के देह में चिपट गया। संत स्वभाव परोपकारी परमहंस श्री शुकदेव के हृदय में बैठी करुणा ने कहा—"क्यों नहीं आप इस धर्मात्मा राजा के भवभय भूत को भव्य भभूत देकर भगा देते !" करुणा की बात मानकर भगवान शुक ने राजा के भय को भगा दिया। वह कलि कल्मष हारिणी ओषधि दे दी। कभी भी न बुझने वाला ज्ञान प्रदीप उन्हें थमा दिया। जिसे पाकर वे निर्भय हो गये। सूतजी ने भी सोचा—'लगे हाथ मैं भी इसे ग्रहण कर लूँ,उन्होंने भी उसे पा लिया और भवभय से भीत हुए नैमिषारण्य के अठासी सहस्र मुनियों को दिखाया। वहाँ से भगकर वह भवभय भूत कलियुग बनकर सम्पूर्ण पृथिवी पर व्याप्त हो गया। हे कलियुगी जीवो ! यदि तुम इस भूत को भगाना चाहते हो, तो मैं तुमसे दृढ़ता के साथ कहता हूँ, तुम श्रद्धा पूर्वक नित्य नियम से भागवती कथा पढ़ो सुनो और मनन करो, तुम अभय हो जाओगे, भव का भयङ्कर भारी भूत अवधूत बनकर भभूत लगाकर तुम्हारे गाँव से भाग जायगा, चला जायगा, तुम अजर अमर निर्भय और नित्य आनन्द स्वरूप बन जाओगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्री मद्भागवत शास्त्र ऐसा सुवर्ण है, जिसे सहस्रों बार तपाकर मल रहित बना दिया गया है। यह ऐसी मिट्टी है, जिसमें किसी प्रकार मैल शेष नहीं। जो काँच के समान स्वच्छ है। जैसे स्त्रियों का धन शील, ब्राह्मणों का धन तप, क्षत्रियों का धन तेज और ओज वैश्यों का धन सुवर्ण मणि माणिक्य, ब्रह्मचारी का धन वीर्य, गृहस्थी का धन सुन्दर सद्गुणों से युक्त स्त्री पुत्र, वानप्रस्थों का धन तितिक्षा, संन्यासियों का धन त्याग, राजाओं का धन अप्रतिहत आज्ञा, विद्वानों का धन विद्या है, उसी प्रकार वैष्णवों का धन यह श्रीमद्भागवत शास्त्र है। यह परम पवित्र धन है। इसकी अत्यन्त पवित्रता का कारण यह

है, अन्य शास्त्रों के धर्म तो कुछ न कुछ सकाम हैं, कैतव सहित हैं, कामनाओं से युक्त हैं, किन्तु इसके धर्म तो कैतव रहित हैं, विशुद्ध हैं, निर्मल हैं, परमहंसों के प्राप्त करने योग्य हैं, निष्काम हैं। अन्य शास्त्रों में तो कहीं अर्थ का वर्णन है, कहीं धर्म का और कहीं काम का, किंतु इस भागवत शास्त्रों में तो अति विशुद्ध परम ज्ञान का ही वर्णन है। किसी शास्त्र में कर्म पर ही बल दिया गया है, कहीं उपासना को श्रेष्ठ बताया है, कहीं वैराग्य के ही गुण गाये हैं, कहीं भक्ति को छोड़कर सबको तुच्छ बताया है, किंतु यहाँ वैराग्य और भक्ति के सहित निष्काम कर्म का निरूपण किया है। सभी का सरसता के साथ शास्त्रानुकूल सुन्दर समन्वय किया गया है। जो भागवती कथाओं को प्रेम से, श्रद्धा भक्ति और विश्वास के सहित श्रवण करते हैं। पाठ करते हैं, दूसरों को श्रवण कराते हैं, जो पढ़ते हैं उसका एकाग्र चित्त से मनन करते हैं, वे अवश्य ही मोक्ष पद के अतिथचारी बन जाते हैं, वे संसार सागर से सदा के लिये पार हो जाते हैं। मुनियो! जिसने इसे श्रद्धा सहित गुरु मुख से सुना वह भगवत् रूप भी हो गया। अनादि, अनन्त अखिलेश्वर से जो उत्पन्न होगा वह उन्हीं के रूपानुरूप होगा। भगवान् से ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्माजी, नारदजी, वेदव्यास जी, शुकदेवजी, राजा परीक्षित् तथा आप सब ज्ञान स्वरूप हो गये उसी ज्ञान का हम ध्यान करते हैं।

इस शास्त्र के आदि बीज भगवान् वासुदेव हैं, मोक्ष की इच्छा रखने वाले अज चतुरानन को उन्हीं ने करुणा करके इस शास्त्र को सुनाया, उन सबके साक्षी, सर्वत्र बसने वाले भगवान् श्री हरि के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। उन्हीं प्रभु की प्रेरणा से इस अनुपम शास्त्र का संसार में प्रचार और प्रसार हुआ। अन्त में मैं अपने गुरुदेव के चरणों में पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ, जो ज्ञान के भंडार हैं, करुणा के सागर हैं, संसार से सर्वथा उदासीन

हैं। अभिमन्यु तनय उत्तरा नन्दन महाराज परीक्षित् को संसार सर्प ने डस लिया था, भवभय भूत उनके शरीर में लिपट गया था, उनमें इतनी भी सामर्थ्य नहीं थी कि वे स्वयं चिकित्सक के समीप जा भी सकें। मेरे गुरुदेव करुणा के वशीभूत होकर बिना बुलाये—स्वयं ही राजा के समीप पधारे, संसार सर्प से डसे हुए राजा को निर्विष बनाया। उनके भयंकर भूत को भागवत सुनाकर भगाया। उन ब्रह्मर्षियों द्वारा भी वन्दित योगिराज आनन्दावतार अपने गुरुदेव के चरणों में बारम्बार प्रणाम करके मुझसे जैसी कुछ बनी तैसी कथा कहकर मैं इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। अब अंतिम प्रणाम करके मैं इस भागवती कथा को पूर्ण करूँगा।"

छप्पय

हे देवेश्वर ! दयित ! दयानिधि दाता दानी।
हे सेवक प्रमुदत्त अल्पमति अवगुन खानी॥
धन, जन, वैभव, राज, विषयसुख नाथ न चाहूँ।
पद पदुमनि की भक्ति जनम जनमनि में पाऊँ॥
का कहिके विनती करूँ, अज्ञ अकिञ्चन दीन हूँ।
कृपा प्रतीक्षा करि रह्यो, सब विधि साधन हीन हूँ॥

—:o:—

अन्तिम प्रणाम

(१३९०)

नाम संकीर्तनं यस्य सर्वपाप प्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥ *

(श्रीमद्भागवत का अंतिम श्लोक)

छप्पय

संकीर्तन जिनि नाम पाप के पुञ्ज जरावै ।
जिनिकूँ करयो प्रनाम सकल अघ शोक नसावै ॥
जिनिके मधुमय चरित सुधा श्रवननि में घोरें ।
हरे मुरारे नाथ नाम अघ कूटनि तोरें ॥
कलि में कीर्तन तैं मिलैं, सुनि कीर्तन रमि जात हैं ।
चरन शरन तिनिकी गहौ, जो प्रभु के पितु मात हैं ॥

हे प्रभो ! यह जीव अनादि वासनाओं के वशीभूत होकर न जाने कब से इस संसार में असहाय की भाँति भटक रहा है। हे पथ प्रदर्शक ! इसे पुण्य पथ दिखा दो। इसे अपने देव दुर्लभ

---

* "जिन भगवान् के नामों का सङ्कीर्तन सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाला है, जिनके लिये किया हुआ प्रणाम सभी प्रकार के दुःखों का शमन कर देता है, मैं उन्हीं परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि को इस ग्रंथ के अंत में प्रणाम करता हूँ।"

दर्शन करा दो। हे पार लगाने वाले प्रभो! हम कब से इस असार संसार सागर में गोता लगा रहे हैं, हाथ पैर फटफटा रहे हैं, नाथ! हमें बचा लो। हमें अपनी सुदृढ़ नौका पर बिठा लो, हमें अपना लो, उस पर पहुँचा दो। हे मेरे चतुर नाविक! दया करो, कृपा करो, अनुग्रह करो, अनुकम्पा करो, तुम्हारा तो काम ही है पार लगाना फिर हमारी बेर देर क्यों कर रहे हो, क्यों नहीं हाथ बढ़ाते?

हे सर्वज्ञ! हम कब से इस भवाटवी में भ्रमित बने भ्रमण कर रहे हैं। हमें कहीं सुगम, सुन्दर, सरल, सुखकर सीधा मार्ग ही दिखाई नहीं दे रहा है। हे अन्तर्यामिन्। आओ! आओ! हमें पुण्य पथ दिखा जाओ। आ जाओ, आ जाओ, अब विलम्ब का काम नहीं, बहुत भटके नाथ! बहुत भटके। अब तो हमें इससे पार लगा जाओ मुक्ति का मार्ग बता जाओ।

हे गोविन्द! हमारी ये इन्द्रियाँ हमें कुपथ की ओर ले जाती हैं। यथेच्छाचारी बनने को प्रेरित करती हैं। विषय रूपी विष पीने को विवश करती हैं, हे हृषीकेश! इनको समझा जाओ, घुड़ककर तनिक आँख निकालकर इन्हें बरज जाओ और मनकी डोरी को भी तनिक अपनी ओर खींच जाओ।

हे अशरण शरण! संसार में जिसकी भी शरण लेते हैं, उसी को शरणहीन पाते हैं, जिससे भी सुख की आशा रखते हैं, उसी को दुखी पाते हैं। जिसकी भी ओर कातर दृष्टि से सहायता के लिये निहारते हैं उसे ही विवश पाते हैं, अतः सबकी ओर से मुँह मोड़कर अब एकमात्र आपके ही मुख को हम जोहना चाहते हैं, आपके ही चरणारविन्दों का आश्रय लेना चाहते हैं, आपको ही अपना सर्वस्व सौंपकर सुखी होना चाहते हैं। ऐसा कर दो नाथ! अपना लो मेरे स्वामी! चरणों की दासता दे दो। अपना बना लो, अपने आश्रय में रख लो। हे

अखिलेश ! प्रतिष्ठित होने की आशा से सर्वत्र ठोकरें खाईं। प्रतिष्ठा तो हाथ लगी नहीं उलटी अप्रतिष्ठा हाथ लगी। सर्व प्रतिष्ठित आपको छोड़कर जो इन अप्रतिष्ठित पदार्थों के लिये भटकेगा, उसकी प्रतिष्ठा हो भी कैसे सकती है ? हे प्रतिष्ठा के प्रतिष्ठान ! हे आदर के अधिष्ठान ! हमें अब अपनी ही ओर बुला लो। अपनी प्रतिष्ठा में ही हमारी प्रतिष्ठा को मिला लो। तुमही हमें यथेष्ठ आदर दे दो। हे दया निधान ! दया दर्शा दो। कृपा की वर्षा कर दो। अनुग्रह की झड़ी लगा दो। हमारे चिर काल के संतप्त हृदय को सरस कर दो। आनन्द सागर में परिप्लावित कर दो, अमृत सागर में डुबो दो।

सूतजी कहते हैं--'मुनियो ! भागवती कथा पूरी हो गयी। आर्य वैदिक सनातन धर्म में समस्त कार्यों के समस्त ग्रंथों के आदि में, मध्य में और अन्त में श्रीहरि का ही गान होता है। अतः मैं भी अपनी टूटी फूटी भाषा में इस ग्रन्थ के अन्त में प्रभु के पादारविन्दों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर दूँ, श्रद्धा के दो मुरझाये पुष्प चढ़ा दूँ, अर्घ्य के स्थान में दो अश्रु बिन्दु गिरा दूँ। अपने स्वामी के सम्मुख अपनी विवशता बता दूँ।"

शौनकजी बोले--"हाँ सूतजी ! हमारी ओर से भी।"

सूतजी बोले—'हाँ महाराज ! सभी की ओर से। नेत्रों को बन्द कीजिये, ध्यान कीजिये, अनुभव कीजिये। भक्तानुग्रह कातर श्याम सुन्दर सम्मुख खड़े हैं, उनका मानसिक पूजन कीजिये।"

प्रथम ध्यान कीजिये--"हे नाथ ! आप हमारे स्वामी हैं, हम आपके सेवक हैं। हे दया के सागर अपनी विश्व मोहिनी मूर्ति को हमारे हृदय पटल पर सदा के लिये अंकित कर दीजिये। हे सद्गुण निलय ! हे मन मोहन ! हे त्रिभुवन सुन्दर ! हे भुवन मोहन, आपका हम ध्यान करते हैं।"

आसन—"हे गरुड़ासन ! हे शेष शैयाशायी ! आप शेषजी की सुखकर शैया पर सदा सुख से शयन करते रहते हैं। कोई आपको सुवर्ण सिंहासन समर्पित करते हैं, कोई मणि जटित मनोहर आसन प्रस्तुत करते हैं, किन्तु हम तो आपको वही आसन देंगे जिस पर आपकी प्रिया कमला रानी बैठती हैं। हम अपने हृदय कमल को आसन के स्थान में प्रस्तुत करते हैं, प्रभो ! उस पर विराज जाइये।"

पाद्य—"सुवर्ण पात्र में पाद्य देनेको नाथ ! न चदन न गंध, ये दो अश्रुओं के उष्ण विन्दु हैं उन्हीं से हम आपके उभय अति कोमल चरणारविन्दों में चढ़ाते हैं। हमारे इस पाद्य को स्वीकार करें।"

अर्घ्य—"कर कमलों में अर्घ्य अर्पित करने को, अच्युत ! न सुवर्ण पात्र है और न गंध, पुष्प, अक्षत, मधु, दधिसर्पि, सरसों, दुग्ध, दूर्वा तथा कुशा ही हैं। वे ही भरित हृदय से निसृत अश्रु-विन्दु हैं उन्हें चाहें अर्घ्य समझें चाहें आचमनीय और चाहें स्नानीय जल, आँसुओं के अतिरिक्त हम पर कुछ भी नहीं है।"

वस्त्र—"हे पीताम्बरधारी ! हमारे नेत्रों पर जो एकपुराना परदा पड़ा है, उसी पुराने आवरण को अत्यन्त ही दीनता के साथ हम आपके भी अंग के लिये अर्पित करते हैं। हमारी दीनता की ओर देखकर इस हीन मलीन परदे को ग्रहण कर लें।"

यज्ञोपवीत—"हे यज्ञेश ! तीन तारके इस त्रिगुणात्मक शरीर को ही हम यज्ञोपवीत के स्थान में प्रस्तुत करते हैं। प्रभो ! इस मल निलय को स्वयं ही विशुद्ध बनाकर स्वीकार करें।"

चन्दन—"हे यदुनन्दन ! यह जो विषयों के प्रति ममता रूप स्निग्धता है, यही हमारे समीप चन्दन है इसे ग्रहण करके प्रसादी

हमें दे दो, जिससे अपनी ममता न रहकर आपके प्रति ममता हो।"

अक्षत—"हे अक्षय! इस क्षत विक्षत हृदय को ही अक्षत के स्थान पर ग्रहण करें।"

पुष्प—हे सुमन स्वरूप! हृदय में जो नाना विषयों की गंध संचित है, उन्हीं भाँति भाँति के विषय रूप कुमनों को सुमन के स्थान में स्वीकारें।"

धूप—"हे गन्धालय! असन्तोष जनित श्वासों का जो धूम्र निकल रहा है उसे ही धूप के स्थान में आप ग्रहण करें।"

दीप—"हे ज्ञान स्वरूप! विषयों को प्राप्त करने की जो हमारे हृदय में निरन्तर अखंड ज्योति जलती रहती है, उसी में अपना स्नेह घृत डालकर दीप के स्थान में मान लें और उसके आलोक से हमें आलोकित कर दें।"

नैवेद्य—"हे मदहारी! हमारे मद को आप नैवेद्य के स्थान पर भक्षण कर जायँ। हमारे पात्रमें प्रसादी भी न छोड़ें, सबके सबको आप पा जायँ।"

मुख शुद्धि—"हे परिपूर्ण! मुख शुद्धि-ताम्बूल पुंगी फल के स्थान में हमारी हृदय की अशुद्धि को हर लें।"

दक्षिणा—"हे लक्ष्मीपते! दक्षिणा तो अब जो हम पर होगी वही देंगे। अज्ञान की राशि हमारे हृदय में विद्यमान है। आप सर्व समर्थ हैं, उसी को अपने कोष में मिला लें। आप ज्ञान के निधि हैं, हम अज्ञान के निधि हैं। आपको अपने सर्वस्व को समर्पित करके हम निर्धन हो जाना चाहते हैं। हमारे अतुल धन को हे कमलाकान्त! आप स्वीकार करें।"

आरती—"हे प्रकाश रूप! पंचभूतोंके प्रपंचसे रची ममता से

स्निग्ध हुई अज्ञान से जली इस आरती को हम आपके सम्मुख दिखाते हैं।"

प्रदक्षिणा—"हे संसार के स्वामी! हम न जाने कब से संसार चक्र की प्रदक्षिणा कर रहे हैं, कब से इसमें घूम रहे हैं अब आपके चरणों में आकर यह प्रदक्षिणा समाप्त हो जाय। आपकी प्रदक्षिणा करके हमें फिर कहीं न घूमना पड़े। इस प्रदक्षिणा विनय को आप मान लें।"

नमस्कार—"हे नाथ! आप तो पापहारी, परम अमल विमल

हैं ही। आपकी महिमा तो अपरम्पार है। केवल आपके नामों का संकीर्तन ही समस्त संसार के पाप तापों को जड़मूल से नाश करने में सर्वथा समर्थ है, आपके लिये किया हुआ एक बार का

ही प्रणाम समस्त अमंगल अशुभों को शान्त कर देता है। हे मंगलमय ! हे आनन्द मय ! हे सुखमय स्वामिन् ! आपके चरणारविन्दों में पुनः पुनः प्रणाम है। हे नारायण, आपके पादपद्मों में अनन्त नमस्कार है।"

विनय—"नाथ ! आप हमारे सच्चे स्वामी हैं। हे देवेश्वर ! हम आपके अकिंचन दास हैं। हे प्रभो ! हम पाप पंक में फँसे पामर प्राणी हैं। हे मोक्षपते ! हम आपसे मोक्ष नहीं चाहते। कर्म चक्र को मेटने के लिये हम याचना नहीं करते। हमें भले ही चाहे जितने जन्म लेने पड़ें, किन्तु हे सर्वेश्वर हमारी अंतिम भीख यही है कि हम कर्म वश जहाँ भी जन्में, जो भी योनि धारण करें उसी में आपके चरणारविन्दों की भक्ति बनी रहे। आपकी भक्ति हो, भक्ति हो, भक्ति हो, यही हमारी सबसे अंतिम विनय है।"

भगवान् वासुदेव की जय, भगवान् देवकी नन्दन की जय, आनन्द कन्द नन्दनन्दन श्री कृष्णचन्द्र की जय, यशुमति तनय की जय, वृन्दावन विहारी लाल की जय। भगवन्नामात्मक भगवत् स्वरूप श्रीमद्भागवत की जय, बोलो भाई सब सन्तनि की जय।

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।
श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।
श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव॥

दोहा—मात्रा अक्षर हीन पद, यदि अशुद्ध हू कोउ।
करें क्षमा राधारमन, प्रभु प्रसन्न अब होउ॥

ॐ शान्ति ! ॐ शान्ति !! ॐ शान्ति !!!

इति श्रीमद्भागवती कथा समाप्तः

देवर्षि नारद

भागवत दर्शन

(खण्ड ६१)

भागवती कथा महिमा (१)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

द्वितीय संस्करण १००० प्रति] भाद्रपद कृष्ण २०२९ सितम्बर १९७२ [मूल्य २) रु०

मुद्रक-बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

विषय-सूची

अध्याय	पृष्ठांक
भूमिका-भागवत दर्शन	१
१—श्री भागवती कथा महिमा-वन्दना	२१
२—श्रीभागवत-कथा-अमृत	२८
३—श्री नारदजी की भक्ति से भेंट	४२
४—श्री नारदजी द्वारा भक्ति को कलिप्रभाव जताना	५९
५—श्री नारदजी द्वारा भक्ति की महिमा	७३
६—ज्ञान वैराग्य को जागृत करने का नारदजी का प्रयास	८५
७—भागवती कथा ही सर्वोपयोगी सुगम साधन है	९६
८—श्रीमद्भागवत कथा समारोह	१११
९—श्रीमद्भागवत-महिमा	१२०
१०—श्रीनारदजी के ज्ञान यज्ञ में भक्ति का प्रादुर्भाव	१३८
११—श्री नारदादि भक्तों के मध्य भगवान् का प्राकट्य	१४७
१२—धुन्धुली पति आत्मदेव की कथा	१५४
१३—धुन्धुकारी और गोकर्ण का जन्म	१६८
१४—धुन्धुकारी के कुकृत्यों से आत्मदेव का गृह त्याग	१८७
१५—धुन्धुकारी का दुखद अन्त और प्रेत योनि की प्राप्ति	२०१
१६—धुन्धुकारी प्रेत पर गोकर्ण की कृपा	२१३

हमारी नयी पुस्तक—

भागवत चरित-संगीत-सुधा

स्वरकार

बंशीधर शर्मा, 'भागवत चरित व्यास'

भारतवर्ष के अनेकों स्थान से लोग पूज्यपाद श्री ब्रह्मचारीजी महाराज के दर्शनों के लिये आते रहते हैं। दर्शन के साथ इच्छा होती है, कि श्री महाराज जी के मुखारविन्द से अमृतमयी कथा का श्रवण करें। आश्रम पर नित्य नियम से कथा, कीर्तन और पाठ होते रहते हैं। जो भी एक बार भागवत चरित को सुन लेता है, उसकी इच्छा होती है इसे बार-बार सुनें, किन्तु सुनें कैसे जब तक ताल स्वर बाजा तबला पर गाने वाले न हों रस नहीं आता। जिन लोगों ने धुनि नहीं सुनी उनके लिये यह नवीन राग है। अतः बहुत दिनों से लोगों के समाचार आते रहे कि भागवत चरित को शास्त्रीय संगीत में लिपिबद्ध कराके छपवा दीजिये। उसी आधार पर यह 'भागवत चरित-संगीत सुधा' तैयार की गई है। आशा है भागवत चरित पाठक इस पुस्तक से लाभ उठावेंगे।

—व्यवस्थापक

॥श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

आज चिरकाल के पश्चात् हम पाठक पाठिकाओं की सेवा में समुपस्थित हो रहे हैं। हमने पहिले ही निवेदन किया था कि भागवत दर्शन का पहिले कथा भाग लिखा जायगा तदनन्तर दर्शन भाग। परम पिता परमात्मा की कृपा से साठ भागों में कथा भाग अर्थात् भागवती कथा समाप्त हो गयी। अब एकसठवें खंड से दर्शन भाग चलेगा। हिन्दु सनातन वैदिक आर्य धर्म की सभी बातों का इसमें समावेश हो जाय ऐसी चेष्टा हम लोगों की है, होगा तो वही जो भगवान् करावेंगे।

(१) कुछ लोगों के पत्र आये हैं, कि पूरी भागवत तो साठ खण्डों में समाप्त ही हो गयी, अब आगे क्या लिखेंगे ? आगे अब भागवत के सम्बन्धित अन्य विषय लिखे जायँगे। हिन्दु धर्म का श्रीमद्भागवत ही एक सर्वाङ्ग पूर्ण, सर्वश्रेष्ठ सरस सुखद ग्रन्थ है सम्पूर्ण, वेद, इतिहास, पुराण सभी तथा अन्य शास्त्रों का सार-सार लेकर शुकदेवजी ने राजा परीक्षित् को सुनाया था। आगे के खण्डों में इन्हीं बातों पर विचार किया जायगा। जैसे ६१-६२ दो खण्डों में पद्मपुराण और स्कन्ध पुराण में वर्णित भागवत महिमा का वर्णन है, फिर कई खंडों में भागवती स्तुतियाँ हैं। कथा कहते समय स्तुतियों को छोड़ते गये थे और यह आश्वासन सूतजी देते गये थे, कि समस्त स्तुतियों को स्तुति प्रकरण में फिर सुनावेंगे। कथा भाग में तो श्रीकृष्ण की उन्हीं लीलाओं का वर्णन है जो भागवत तथा अन्य पुराणों में वर्णित है। व्रज के रसिकों ने स्वयं उपासना करके अन्य बहुत सी सरस लीलाओं का साक्षात्कार किया है, व्रजभाषा के सरस साहित्य ने एक दूसरी ही रसमयी गंगा की धार बहायी है, उनका भी बीज

तो भागवत में ही है। अतः स्तुतियों के पश्चात् राधा कृष्ण की सरस सुखद लीलाओं का वर्णन होगा; जिन्हें शुष्क हृदय नीरस भौतिक वादी सुधारक अश्लील साहित्य बताकर के उपेक्षित समझते हैं। यद्यपि यह विषय अत्यन्त गूढ़ रहस्य-मय गुप्त रखने योग्य है, फिर भी समय के अनुसार जब सभी गुप्त से गुप्त ग्रन्थ प्रकाश में आ गये हैं, तो इस विषय का भी सुव्यवस्थित ढंग से वर्णन होगा फिर क्रम से आस्तिक नास्तिक दर्शन, पुराण, वेद, ज्योतिष, छन्द, कर्म, उपासना, ज्ञान, सृष्टि, भूगोल, खगोल, इतिहास, अवतार, तथा अन्याय सभी विषयों का सरलता के साथ वर्णन होगा।

(२) कुछ लोग पूछते हैं, भागवती कथा की भाँति इन सभी खंडों को ब्रह्मचारीजी ही लिखेंगे, या मासिक पत्रों की भाँति भिन्न-भिन्न लेखकों से लिखायेंगे? अभी तक तो अक्षर-अक्षर ब्रह्मचारीजी ही लिखते हैं, आगे जो भगवत् प्रेरणा हो।

(३) ये सभी खण्ड अत्यन्त ही उपादेय होंगे, आपके पुस्तकालय की शोभा बढ़ावेंगे, आपके संस्कारों को बनावेंगे, हिन्दु धर्म के ज्ञान को बढ़ावेंगे। और आपकी भावी सन्तानों को आस्तिकता का पाठ पढ़ावेंगे। इन खण्डों को सभी को संग्रह करना चाहिये। पीछे पुनर्मुद्रण में बड़ी देर लगती है।

(४) भागवती कथा का व्यावसायिक ढँग से प्रचार नहीं हो रहा है, इसके जो थोड़े बहुत पाठक हैं उन्हीं के उद्योग से यह कार्य चल रहा है अतः प्रत्येक पाठक पाठिका को कम से कम दस-दस नये ग्राहक पिछले और अगले खण्डों के अवश्य बनाने चाहिये, जिससे जितने भी ग्राहक बन सकें अवश्य बनावें। लोगों को भगवत् चर्चा सुनाना जीवों को भगवद् अभिमुख करना यही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

(५) डाक व्यय लगभग दुगना हो गया है। छोटी पुस्तकें भेजने

में तो मूल्य से अधिक तो डाक व्यय लग जाता है, अतः दो चार मिलकर रेल द्वारा इकट्ठी पुस्तकें मँगावें।

(६) जिन नगरों में हमारी पुस्तकें मिलती हैं, उन नगरों के लोग वहीं से पुस्तकें ले लिया करें। अभी हम कुछ ही नगरों में ऐसी व्यवस्था कर सकेंगे, जो लोग करा सकें वे अपने नगर के पुस्तक विक्रेताओं से बिकवाने की व्यवस्था करावें।

(७) वी. पी. मँगाने की अपेक्षा मनीआर्डर भेजकर पुस्तकें मँगाने में सुविधा रहेगी अतः मनीआर्डर से ही अग्रिम रुपये भेजें।

(८) रेल से मँगवाने वाले चौथाई मूल्य अग्रिम भेजें।

(९) उत्तर प्रदेश पंचायत राज्य द्वारा 'भागवत कथा' तथा ब्रह्मचारीजी की अन्यान्य सभी पुस्तकें स्वीकृत हो चुकी हैं। ये पुस्तकें ग्राम्य पंचायतों के बहुत ही उपयोगी हैं, सभी लोग सरलता से समझ सकेंगे और उनके संस्कार भी शुद्ध होंगे। अतः पाठक पाठिकाओं से प्रार्थना है कि वे अपने-अपने जिले की पंचायतों में इनका प्रचार करें।

(१०) जो लोग पुस्तकालयों को, पाठशालाओं को, ग्राम्यपंचायतों को पुस्तकें दान करना चाहें, वे इन्हीं पुस्तकों को दान करें। ऐसे दाताओं को हम कुछ सुविधा भी देंगे।

आशा है पाठक पाठिकायें हमारे इस पुनीत कार्य में यथाशक्ति सहयोग प्रदान करेंगे। आज इतना ही शेष फिर।

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) { विनीत—
व्यवस्थापक

भागवत-दर्शन

(भूमिका)

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४७ अ० ६६ श्लोक)

छप्पय

हे माधव ! मदमत्त माधुरी महँ मन मेरो ।
रहै बन्यो बलबन्धु ! चित्त चरनन को चेरो ॥
तव तव दामनि चरन कमल महँ शीश नवावैं ।
गिरा गाइ तव नाम नयन नित नीर बहावैं ।
अब कब तक भवभयहरन ! इत उत भटकत हम फिरहिँ ।
सब तजि कब तव कमल पद, महँ मधुकर बनि नित बसहिँ ॥

आज चिरकाल के पश्चात् हम अपने प्रिय पाठकों के सम्मुख

---

* उद्धवजी से व्रजवासी कह रहे हैं, अपनी आन्तरिक अभिभाषा प्रकट कर रहे हैं—"हे श्यामसुन्दर ! हमारे मन की समस्त वृत्तियाँ आपके ही पुनीत पादपद्मों में लगी रहें । हे गोविन्द ! हमारी वाणी सदा आपके सुमधुर नामों के गान में संलग्न रहे । हे प्रपन्न पारिजात ! हे प्रणतवत्सल ! हमारी देह सदा आपको ही प्रणाम करती रहे ।"

कुछ कहने को प्रस्तुत हुए हैं। कहना भी एक व्यसन है और सुनना भी व्यसन है कुछ लोगों को कहे बिना चैन नहीं पड़ता। कई सज्जनों को मैं जानता हूँ वे जब तक बोल न लेंगे, तब तक उन्हें भोजन नहीं पचता। चाहे ज्वर चढ़ा हो, श्रमित हों, थकित हों, उन्हें प्रवचन अवश्य करना। इसी प्रकार कुछ सुनने के व्यसनी होते हैं। सत्संग में सभा सम्मेलनों में जायेंगे वहाँ प्रहरों बैठे रहेंगे, चाहे समझें कुछ भी नहीं। कुछ लोगों को परनिन्दा परचर्चा का व्यसन होता है, जो उनके सम्मुख आ गया, उसकी उन्हें निन्दा कर देनी। उनका किसी से राग-द्वेष ही हो, सो भी बात नहीं। जिनसे परिचय भी न हो, सम्बन्ध भी न हो उनकी भी उनके मुख से निन्दा सुन लो। जिस विषय को समझते भी नहीं उसकी भी आलोचना सुन लो। करें क्या, उन्हें जब तक भर पेट निन्दा करने का अवसर न मिले, तब तक अन्न नहीं पचता खोये-खोये से रहते हैं। एक बहुत बड़े सुप्रसिद्ध नेता हो गये हैं, देश विदेश में सभी उन्हें जानते हैं। उन्हें धार्मिक सामाजिक लोक सेवा सम्बन्धी कार्य करने का व्यसन था। प्रातः जब तक सैकड़ों पत्र पचासों तार लेकर उनके निजी सचिव उनके पास नहीं आते थे, तब तक वे व्यग्र ही बने रहते। जब सब पत्रों का तारों का उत्तर लिखवा देते तब उन्हें एक प्रकार से आनन्द की अनुभूति होती थी। किसी ने उनसे कहा—"महाराज अब तो आप बहुत वृद्ध हो गये हैं, संन्यास ले लीजिये।" तब उन्होंने कहा था—"भाई, मेरा तो एक प्रकार से संन्यास ही है, कपड़े रँगने से ही क्या होता है।"

इस पर जब कहा गया कि आप जैसे पुरुष ही आदर्श न दिखावेंगे, तो दूसरे लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। चाहे कपड़े रँगने में कुछ भी न हो आपको आदर्श तो उपस्थित करना ही चाहिये।"

तब उन्होंने हँसते हुए कहा—"बात तो तुम्हारी यथार्थ है, किन्तु मान लो मैं संन्यास लेकर एकान्त में रहने भी लगूँ, तो मेरा समय कैसे कटेगा, बिना कार्य किये मुझसे क्षण भर भी नहीं रहा जाता।"

वास्तविक बात यह है, कि हम किसी न किसी व्यसन में बँधकर कार्यों में प्रवृत्त हैं। किसी को दुर्व्यसन है, किसी को सद्व्यसन। दुर्व्यसन की अपेक्षा सद्व्यसन अच्छा है। निन्दा स्तुति करने की अपेक्षा कथा सत्संग का व्यसन उत्तम है। सुरा-पान के व्यसन की अपेक्षा विशुद्ध टटके दूध पान का व्यसन उत्तम है। किन्तु जो हमारा अन्तिम लक्ष्य है उसमें तो सभी प्रकार के व्यसनों को छोड़ना ही पड़ेगा। धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, शुभ-अशुभ इन सबसे ऊँचा उठना होगा। जब तक मन में सांसारिक कैसी भी कामना रहेगी तब तक परमार्थ का पथ पूर्णतया परिष्कृत नहीं हो सकता। स्कन्धपुराण में लिखा है—कामना दो वस्तुओं की होती है, श्रीकृष्ण की कामना और धन की कामना। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त जो भी चाहा जाय, वह सब धन के अन्तर्गत है, उसकी 'धन' संज्ञा है पद, प्रतिष्ठा, मान, सम्मान कीर्ति, ख्याति, स्त्री, पुत्र, साहित्य, संगीत कला, रुपया पैसा, वस्त्र, आभूषण, मठ, कुटिया, कोठी, वाहन जितनी भी ये सांसारिक वस्तुयें हैं, सबका शास्त्रकारों ने 'धन' में समावेश कर दिया है।* श्रीकृष्ण-जो परम धन है-उसे हम नहीं चाहते और इन नाशवान् क्षुद्र धनों के लिये निरन्तर लालायित रहते हैं क्षुद्र देव-ताओं की उपासना करके क्षुद्र सिद्धियों के चक्कर में फँस जाते हैं और सकामियों के झुंड के झुंड देखकर अपने को सिद्ध ईश्वर समझ लेते हैं। ये क्षुद्र सिद्धियाँ अल्पकाल में समाप्त हो जाती हैं।

---

* कृष्णार्थीनि धनार्थीति श्रोता वक्ता द्विधा मतः।
श्रीकृष्ण व्यतिरिक्तं यत् सर्वं धन सञ्ज्ञितम्॥

अशाश्वत वस्तुओं से शाश्वती शांति भला कैसे प्राप्त हो सकती है। मेरा रोना तो पाठक जानते ही हैं। सर्वात्मभाव से श्रीकृष्ण की कामना न करके मैं धन की कामना के चक्कर में पड़ा हूँ। यह मैं पहिले ही बता आया हूँ कि धन का अर्थ केवल रुपया पैसा ही न होकर कीर्ति प्रतिष्ठा, प्रशसा मान सम्मान सभी की 'धन' ही संज्ञा है। लिखना भी एक व्यसन है और कीर्ति प्रतिष्ठा, पैसा, नाम, मान, सम्मान, ही प्रायः इसका हेतु है। साहित्यकार लिखते हैं, काव्य यश के लिये या धन के लिये किया जाता है।

"भागवती कथा" के पाठक भूले न होंगे मैंने आरम्भ में ही प्रथम खण्ड की भूमिका में यह लिखा था, ५-७ खंड छपाकर मैं इस प्रकाशन के कार्य से विरत हो जाऊँगा, किन्तु ऐसा हो नहीं सका। भागवती कथा, के ६० भाग छपकर प्रकाशित हो गये, बहुत से खण्ड तीन-तीन, चार-चार बार छप गये, कथा भाग समाप्त भी हो गया। सबका देना लेना भी प्रायः चुकता हो गया। अब तो कोई बात रह नहीं गई। न्यायानुसार मुझे विरत हो जाना चाहिये था, किन्तु हो नहीं सका। पुनः पाठक साठ के पश्चात् इकसठवें खण्ड की भूमिका पढ़ रहे हैं। इसमें मेरा लेखन व्यसन और धन की कामना के अतिरिक्त कोई तीसरी बात हो, तो उसे श्रीकृष्ण ही जानते होंगे। मैं तो पुनः प्रवृत्ति में ये ही दो हेतु अनुभव करता हूँ।

भागवती कथा के ६० खंड छप जाने के अनन्तर हमने सोचा कि इसे यहीं समाप्त कर दिया जाय, लेखन प्रकाशन के कार्य का विराम कर दिया जाय। इसी बीच गोरक्षा का कार्य आ गया और सम्पूर्ण देश में इधर से उधर जाना पड़ा। संघर्षमय जीवन बिताना पड़ा। जैसे प्रत्येक तीव्र कार्य की एक तीव्र प्रतिक्रिया होती है, वैसे ही एक बार पुनः प्रतिक्रिया हुई। सोचा सब छोड़ छाड़कर

कहीं एकान्त में निवास करें। मुझे हिमालय प्रदेश से स्वाभाविक प्रेम है। वहाँ के ऊँचे-ऊँचे पहाड़, कल-कल करती हुई वेग से बहने वाली नदियाँ, मेरे मन को मोह लेती हैं, इच्छा होती है, आकाशगामी पक्षी की भाँति यहीं एकान्त अरण्यों में पड़ा रहूँ, किन्तु मेरे दुर्भाग्य को तो देखिये, जब-जब भी जाता हूँ, तब-तब ही कोई नयी व्याधि उत्पन्न हो जाती है, वहाँ का जलवायु इस शरीर के अनुकूल ही नहीं पड़ता। पहिले प्रायः प्रतिवर्ष श्रीबदरीनाथ जाता था, और महीनों रहता था। इसी लोभ से कि कुछ काल में यहाँ का जलवायु प्रकृति के अनुकूल पड़ जायगा, किन्तु ऐसा हुआ नहीं भागवती कथा लेखन काल में तो कहीं जाना हो ही नहीं सका। कथा भाग समाप्त होने पर फिर गया महीने के लगभग रहा, किन्तु जब भी जाता हूँ, शौच में रक्त आने लगता है। पारसाल नहीं गया, अब के पटना जेल से छूटते ही फिर गया। मार्ग में अनेकों विधान बनाता गया, मन मोदक तैयार करता गया, किन्तु जैसे दरिद्रों के मनोरथ उत्पन्न होते हैं विलीन हो जाते हैं वैसे ही सब 'पालागे चिरंजीव' हो गये। वही कहावत चरितार्थ हो गयी।

छऊ गये ससुराल छऊ दिन छै में आये।
छऊ के आये छै महमान छऊ कहूँ गये न आये॥

पुनः लौटकर आये। यह मैं कोई स्पष्टीकरण नहीं कर रहा हूँ। अपनी निर्दोषता सिद्ध नहीं करता। अहर्निशि निरन्तर जो भजन करने वाला है उसे कोई स्थान का बन्धन तो है ही नहीं कि अमुक स्थान पर ही अहर्निशि भजन हो सकता है करने वाला सर्वत्र कर सकता है और न करने वाले—केवल मान प्रतिष्ठा की कामना करने वाले—बदरीनाथ से आगे शतोपथ की गुफा में—एकान्त में रहने वाले भी विशुद्ध व्यापार करते हुए मैंने अपनी आँखों से देखे हैं। पर मैं एक दूसरी बात कह रहा हूँ,

अपने संस्कारों का उल्लेख करता हूँ, कि इर-फिरकर जिससे भागना चाहता हूँ वही परिस्थिति आ जाती है। मन में तो मान प्रतिष्ठा और ठाठ बाठ पूर्वक सुखमें जीवन बिताने की वासना भरी है। यह तो पूरी होगी ही, प्रकृति बलपूर्वक उसमें नियुक्त करेगी। मोहवश करने की इच्छा भी न करें तो भी अवश होकर विवश बनकर करना ही पड़ेगा।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध शासक हिटलर का एक प्रचार मंत्री हुआ है। गत जर्मनी युद्ध में उसने बहुत-सी असत्य बातों का प्रचार किया है। उसका कहना है कि कोई झूठी भी बात हो उसे आप हजार बार कहिये, बार-बार लोगों में प्रचार कीजिये बार-बार के प्रचार से झूठी बात को भी लोग सत्य मानने लगेंगे उसके संस्कार सबके मन पर जम जायेंगे। हमने लाखों बार विज्ञापनों में छपाया कि भागवती कथा के एक सौ आठ भाग निकलेंगे कुछ असत्य की भावना से नहीं पहिले सोचा भी यही था। इसी क्रम से लिखते गये तो सात-आठ वर्ष में लिख जायँगे। भागवती कथा प्रथम खण्ड सम्वत् २००३ वि० में निकला था। उसे नौ वर्ष हो गये, अब तक लिखने का क्रम निरन्तर चलता रहता तो १०८ खण्ड अब तक पूरे हो जाते, क्योंकि एक वर्ष में बारह खंड सरलता से लिखे जाते हैं किन्तु बीच बीच में और भी बाधाएँ पड़ती गयीं। प्रतिष्ठा के लिए, नाम के लिये परोपकार के नाम पर आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेना पड़ा और साठ तक ही छपकर यह काम बीच में ही पड़ा रह गया। अब सोचा—"जब निरन्तर भगवत् चिन्तन स्मरण नहीं होता तो लाओ इसी संकल्प को पूरा कर लें। इसी उद्देश्य से पुनः प्रकाशन को चालू किया। प्रकाशन के बिना मैं तो लिख ही नहीं सकता। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसमें, मान, प्रतिष्ठा, नाम तथा धन किसी की भी इच्छा क्यों न हो कार्य तो भगवत् सम्बन्धी ही

है। चर्चा तो सत्त्व मूर्ति भगवान् वासुदेव की ही है। मन में कामना तो इन सांसारिक वस्तुओं की रहती ही है। यद्यपि मैं मन को बहुत समझाता हूँ, तू भगवान् वासुदेव की कामना न करके इन सांसारिक वस्तुओं की कामना क्यों करता है। कुछ काल तो यह बात समझ में आती है फिर भूल जाते हैं फिर उसी असत् व्यापार की बात सोचने लगते हैं।

मन में आता है सभी पत्रों में हमारे चित्र छपें। फिर मैं सोचता हूँ—"रे मन ! पत्रों में चित्र छप ही गये, तो क्या हो जायगा। तुझे भगवान् तो मिल नहीं जायँगे या तुझे उससे शाश्वती शान्ति तो मिलेगी ही नहीं। यदि पत्रों में चित्र छपने से ही कोई सुखी होता तो इन छाया चित्र सिनेमा की नायिकाओं के तो चित्र प्रायः सभी पत्रों में नित्य ही छपते हैं, इतने चित्र तो तू सात जन्म प्रयत्न करे तो भी तेरे नहीं छप सकते, जब वे ही सुखी नहीं हैं वे ही अशान्त हैं तो तेरे चित्र कहीं छप भी गये तो तुझे क्या मिल जायगा।"

कभी मन में आता है हमारे स्वागत को बहुत भीड़ आवे बहुत से लोग हमें देखने आवें। फिर मन को समझाता हूँ, छाया चित्र नायिकाओं को देखने को कितने लोग लालायित रहते हैं। यहाँ प्रयाग में ही एक प्रसिद्ध छायाचित्रनर्तकी आयी थी। सहस्रों लक्षों लोग उसे देखने स्टेशन पर पहुँचे, जिन्होंने उसके दर्शन नहीं पाये रेल की खिड़कियों के शीशे तोड़ दिये उसे दर्शन देने छत पर खड़ा होना पड़ा। दो, ईश्वर को न मानने वाले रूस के सज्जन आये उनके दर्शनों को इतने लोग गये कि उतने कदाचित ही किसी के लिये गये हों। क्या ये सब सुखी हैं, शान्त हैं, कृतार्थ हैं। क्या इन्हें इतने सम्मान से सन्तोष है ? यदि नहीं तो फिर तू इसके लिये क्यों लालायित रहता है।

कभी मन में आता है हमारी शोभा यात्रा धूम धाम से निकले

गाजे बाजे के साथ नगर में हमें घुमाया जाय सहस्रों नर नारी हमें देखें। फिर मन से कहता हूँ तेरी शोभा यात्रा तो एक दिन में एक ही नगर में निकल सकती है, किन्तु ये जो छायाचित्रों के नायक नायिकायें हैं इनके चित्रों की शोभा यात्रा तो नित्य ही गाजे बाजे के साथ प्रत्येक नगर में निकलती है कभी-कभी तो दिन में कई बार निकलती है इतनी शोभा यात्रायें तो भगवान की भी न निकलती होंगी। इन शोभा यात्राओं से उनकी सम्मान की तृष्णा शान्त हो गयी है क्या ? वे सब अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं क्या ? यदि नहीं, तो तू क्यों असत् वस्तु के लिये ललचाता है।

कभी मन में आता है अमुक साधु ने चेले चेली बनाकर कितने लाख रुपये पैदा कर लिये। कितने बड़े-बड़े भवन बना लिये। फिर मैं मनको समझाता हूँ यदि बड़े बड़े भवन बनानेसे ही शांति मिलती होती, तो मैंने तो सेठों के बड़े बड़े महल देखे हैं। ऐसे महल कि जिनमें वे दो वर्ष में कभी ही एक दो दिन को जाते हों प्रत्येक नगर में उनकी कोठियाँ खड़ी हैं, उनमें सुख साज के सभी सामान प्रस्तुत हैं। फिर भी वे अशांत बने रहते हैं तू सात जन्म तक सिर पटककर मर जा फिर भी ऐसा एक भी भव्य भवन नहीं बना सकता। जब इतने भवनों के स्वामी दुखी हैं अशान्त हैं, चचल हैं तो तुझे उनसे सुख कैसे मिलेगा। यदि धन से ही सुख होता, तो चेली चेला बनाकर वर्ष में अधिक से अधिक लाख दो लाख कमा सकते हैं। कई व्यक्तियों को हमने देखा है बड़े-बड़े लोग उनके शिष्य हैं वर्ष में अधिक-से-अधिक २-४ लाख कमाते होंगे। यदि धन से ही सुख होता—तो कलकत्ते बंबई आदि बड़े-बड़े नगरों में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो पल भर में ५०-५० लाख रुपये सट्टे में कमा लेते हैं फिर भी वे अशान्त ही बने रहते हैं। तैंने झूठ सच बोलकर—दम्भ करके परमार्थ के नाम से-कुछ जमा भी कर

लिया तो क्या तुझे भगवान् मिल जायँगे, तेरा चित्त शान्त हो जायगा, तू अपने को कृतार्थ मानने लगेगा। एक बड़े भारी करोड़पति व्यक्ति ने बहुत ही अशान्त भाव से मुझसे कहा था—"महाराज, श्रीमद्भागवत में जो धन के १५ दोष बताये हैं वे यथार्थ में सत्य हैं। धन आने पर न्यूनाधिक मात्रा में चोरी, हिंसा असत्य, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और मदिरा ये अवगुण आ ही जाते हैं।" जब धन के आने पर ये अवगुण आते हैं और यह एक करोड़पति के अनुभूत वचन हैं तो हे मूढ़ मन! तू धन से सुखी होने की अभिलाषा क्यों करता है?

कभी मन में आता है अपने कार्य के विज्ञापन के लिये कई भोंपू गाड़ियाँ (मोटरें) हों तो बड़ा काम हो। फिर मैं मन को समझाता हूँ, जिनकी अनेकों भोंपू गाड़ियाँ उनके कार्य का विज्ञापन करती दौड़ रही हैं, वे भी सदा दुखी अशान्त बने हुए हैं तो हे अज्ञानी प्राणी! तू उनसे परोपकार क्या कर लेगा। श्री शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य आदि आचार्यों के पास तो एक भी भोंपू गाड़ियाँ नहीं थी। उन्होंने पैदल ही जो प्रचार किया उसे करोड़ों भोंपू गाड़ी या वायुयान कहाँ कर सकते हैं?

कभी मन में आता है, अमुक के पास बहुत लोग आते हैं अमुक को बहुत से नर नारी मानते हैं, इससे उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है, तेरी उतनी नहीं। तब मैं मन को अनेकों दृष्टान्त देकर समझाता हूँ, देख मन! संसारी लोगों के मान सम्मान में कोई तत्व नहीं। संसारी लोगों को तो धन चाहिये। धन में पद, प्रतिष्ठा, पैसा, पत्नी, पुत्र, अभियोग विजय, रोगनिवृत्ति, जूआ सट्टा सभी का समावेश है। जहाँ उनका कोई भी स्वार्थ सधेगा वहीं इकट्ठे हो जायँगे, फिर वही व्यक्ति क्षुद्र हो या महान् हो, क्षुद्र सिद्धि वाला हो या महान् वाला। जहाँ उनका उससे स्वार्थ सधना बन्द

हुआ कि फिर ये संसारी लोग बात भी नहीं करते। उड़ीसा के सम्भलपुर जिले में एक गाँव के पशु चराने वाले लड़के को किसी महात्मा ने एक जड़ी दे दी और कह दिया कि इसे देने से सब रोग अच्छे हो जायँगे उसने कुछ लोगों को दी। कुछ अच्छे भी हो गये होंगे। बस, फिर उसके यहाँ भीड़ लगने लगी। सम्पूर्ण भारत के कोने-कोने से रोगी वहाँ एकत्रित होने लगे। इतने यात्री आये सरकार रेलों का प्रबन्ध न कर सकी। उस लड़के को अलग करना पड़ा। प्रतिबन्ध लगाना पड़ा लाखों नर नारियों की भीड़ जुट गयी। पीछे सुना वह स्वयं बहुत रोगग्रस्त हो गया, किसी ने फिर उसकी बात नहीं पूछी।

अपने ही इस छोटे से जीवन में मैंने बहुत से लोगों को देखा है, जिन्हें लोग ईश्वर मानकर पूजा करते थे, अपना स्वार्थ सिद्ध न होने पर उन्हीं पूजा करने वालों ने उन पर प्रहार किया उनके प्राण तक ले लिये। कुछ लोगों का उनकी सिद्धि समाप्त होने पर या व्यर्थ सिद्ध होने पर इतना अपमान हुआ, कि लोग उनका सर्व साधारण में अपमान करने लगे। संसारी लोगों को तो अपने स्वार्थ से प्रयोजन। जब तक स्वार्थ सधा पूजा की। कुछ गड़बड़ी देखी कन्नी काट दी।

आज से दो वर्ष पूर्व जब मैं गौ रक्षा के कार्य से कटक गया तो शरदचन्द्रजी ने मुझे बताया कि यहाँ कटक में एक पगलाबाबा नाम के साधु हैं, उन्होंने यहाँ पर अपनी जगन्नाथपुरी पृथक् बना रखी है। उनका कहना है, कि अब जगन्नाथजी पुरी को छोड़कर यहाँ आ गये हैं। उनका अपना पंचाङ्ग भी पृथक् है। हमारा अब मार्गशीर्ष मास है तो उनका यह आषाढ़ मास होगा, उनकी भी रथयात्रा होती है, वे स्वयं जगन्नाथजी के स्थान पर बैठकर रथ खिंचवाते हैं। जगन्नाथजी के सभी स्थान सभी तीर्थ उन्होंने बनवा रखे हैं। एक शेषपीठ है उसके नीचे ११ शालग्राम दबा

रखे हैं, उसी पर बैठकर दीक्षा देते हैं। लाखों नर नारी उनके शिष्य हैं, बहुत से राजा महाराजा भी शिष्य हैं, बड़ा भारी वैभव है। उनके यहाँ खाने में मांस मछली सभी चलता है जगन्नाथजी को ही भाँति भात बनता है सभी प्रसाद लेते हैं। उनके शिष्य उन्हें ईश्वर मानकर पूजते हैं। सर्वत्र उनके चित्रों की मूर्तियों की पूजा होती है। अपार वैभव है। मेरी इच्छा भी हुई चलकर देखें किन्तु शरदचन्द्र ने कहा—"आप क्या करेंगे जाकर, मेरी तो उन पर श्रद्धा होती नहीं।" मैंने भी सोचा जो शालिग्राम को नीचे दबाकर उन पर बैठते हों खाद्य अखाद्य खाते पीते हों ऐसे ईश्वर मानों के यहाँ क्या जायें।"

इसके पश्चात् गत वर्ष समाचार पत्रों में उनके सम्बन्ध में बहुत सी बातें पढ़ीं। अबके जब कटक गया तो मैंने शरदचन्द्रजी से कहा—"भैया! चलो, उस स्थान को देख आवें, मेरे मन में कुतूहल हो रहा है।" हम लोग गये। कटक से एक कोश की दूरी पर महानदी के किनारे जहाँ बहुत बड़ा स्मशान है, उस स्मशान में ही उनका वह बड़ा भारी आश्रम बना था। आश्रम क्या था, वह तो एक पूरा नगर था। पचासों दुकानें थीं आश्रम के आस पास, किन्तु हमने देखा वह सब उजाड़ पड़ा है। दुकानें खाली पड़ी हैं, उनकी किवाड़ें दीमकों ने खा ली हैं, छप्पर सड़े हुए नीचे पड़े हैं, घूमकर हम आश्रम के भीतर गये। फाटक टूटा पड़ा था। भीतर बड़ी भारी यज्ञशाला बनी हुई थी, उसमें मिट्टी की गौएँ बड़ी सुन्दर बनी थीं। वेदी छिन्न-भिन्न हो रही है, भीतर बीसों मन्दिर बने थे, उनमें अधिकांश देवियों की ही मूर्तियाँ थीं। कोई देवी रक्तपान कर रही है, कोई छिन्न मस्तका है, कोई किसी का मस्तक काट रही है, कोई किसी को छाती पर चढ़ी है, कोई बगुलामुखी है। सभी मूर्तियाँ कामोद्दीपक थीं। कोई-कोई तो बड़ी ही बीभत्स थीं। एक मूर्ति ऐसी देखी एकदम रति मुद्रा में राधा-

हो गये, बहुत से बड़े-बड़े न्यायाधीश पदाधिकारी, राजा, रानी, सेठ साहूकार बाबा की शरण आ गये और वे साक्षात् जगन्नाथ के रूप में पुजने लगे। तब किसी बात पर उनके समीप के गाँव वालों से उनकी कुछ खटपट हो गयी। किन्तु बाबा तो समर्थ थे, बड़े-से-बड़े अधिकारी उनके शिष्य थे, इसलिये उन्होंने गाँव वालों की ओर ध्यान नहीं दिया। इसी बीच कोई आदमी करके घोड़े (साइकिल) पर उधर से रुपये लेकर जा रहा था। किसी ने उसे मार डाला रुपये छीन लिये। गाँव वालों ने कह सुनकर रपट लिखा दी कि उसे आश्रम वालों ने ही मारा है, किन्तु कुछ हुआ नहीं।

कुछ दिन के पश्चात् एक गाँव की सुन्दर-सी युवती लड़की खो गयी। वह अपनी माँ के घर थी। वहीं पर इस आश्रम का एक साधु गया उसे किसी प्रकार फुसलाकर यहाँ ले आया, तबसे उसका पता नहीं चला। उसका पति आश्रम में इस विचार से आया कि बाबा सिद्ध हैं कहीं उसका पता बता देंगे। आश्रम आया तो उसे कुछ संदेह हुआ कि उसकी पत्नी यहीं है। जो गाँव वाले बाबा से बिगड़े हुए थे उन्होंने भी उसका साथ दिया और कहा—"लड़की निश्चय ही यहीं है, तू रपट लिखा दे।" उसने रपट लिखा दी। कई सुन्दरी लड़कियाँ आस पास की पहिले भी इसी प्रकार खो चुकी थीं। इससे लोगों का संदेह और भी बढ़ा। बाबा तो अपनी सिद्धि के आगे किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। किसी भले अधिकारी ने लोगों की बात सुनी और उस व्यक्ति ने जिस साधु का नाम बताया उसके नाम वारंट काट दिया। उसे लेकर पुलिस वाले आये। उस समय बाबा के यहाँ एक बड़ा भारी यज्ञ हो रहा था, सहस्रों नर-नारी एकत्रित थे बाबा ने कहा—"जब तक हमारा यज्ञ समाप्त नहीं होता हम कुछ नहीं सुनते। कई दिन पुलिस बैठी रही। यज्ञ की पूर्णाहुति हुई।

पुलिस ने उस साधु को पकड़ना चाहा। प्रारब्ध की बात कहिये या भवितव्यता की प्रबलता समझिये या पाप का घड़ा भर जाने का अवसर कहिये, बाबा अपने संतुलन को खो बैठे, उन्होंने शङ्ख बजाया। उन्होंने तो वहाँ बहुत से लोगों को सैनिक शिक्षा दे रखी थी। शंख बजाते ही बहुत से लोग धनुष-बाण लेकर निकले पुलिस पर टूट पड़े। कुछ पुलिस वाले घायल हुए, स्यात् एक दो मरे भी। तुरन्त सेना आ गयी। दोनों ओर से गोलियाँ चलीं, एक भाँति का डटकर युद्ध हुआ। सेना वालों ने सबको पकड़ लिया। पीछे वे मन्दिर में घुसे जहाँ बाबा की तथा बाबा के गुरु की काठ की जगन्नाथ के रूप में मूर्तियाँ रखी थीं। उसमें कोई जा नहीं सकता था। मूर्ति के नीचे सुरंग निकली बहुत लम्बी चौड़ी गुफा थी जिसमें बहुत से स्थान थे। उसमें बहुत-सी भोजन की सामग्री अस्त्र-शस्त्र मिले। तथा बहुत-सी लड़कियाँ भी उसमें मिलीं उन्होंने जो रोमांचकारी अपने ऊपर बीती बातों का वर्णन किया उससे पत्थर का हृदय भी दहल जाता है, वह लड़की भी मिली जिसे खोजते हुए उसका पति आया था। यह गतवर्ष की ही तो बात है अब उन सब लोगों को ८-८, १०-१० वर्ष का कारावास दंड मिला, बाबा को भी स्यात् ३ वर्ष का दंड मिला।

उस स्थान पर जाकर क्षण भर को ही सही मुझे बड़ा वैराग्य हुआ। निश्चय ही बाबा को कोई तांत्रिक सिद्धि रही होगी, वह तो उसकी मूर्ति और उपासना पद्धति से ही प्रतीत होता है, किन्तु मनुष्य क्या-से-क्या हो जाता है, पहिले जो बाबा को ईश्वर मानते थे, वे अब अपने को उनका शिष्य कहने में भी भय खाते हैं। जब वे पकड़े गये तो जिन-जिन के यहाँ उनके चित्र थे, सभी ने फाड़कर फेंक दिये, सभी इस बात को छिपाने लगे कि हमारा बाबा से कोई सम्बन्ध था। ऐसी तो इस लोक की मान्यता है, इसीलिये मैं अपने मन को बार-बार समझाता हूँ, तू इस अनर्थ-

कारी लोक मान्यता के लिये क्यों लालायित रहता है। इससे न तो भगवान् ही मिलेंगे, न सुख शान्ति की ही उपलब्धि होगी।

किसी क्षुद्र सिद्धि के सहारे तेरे द्वारा किसी को धन मिल गया, पुत्र मिल गया, तो तेरा तो अभिमान ही बढ़ेगा। मैंने ऐसा सुना है, कि प्रेत सिद्धि वाले सदा विष्ठा रखते हैं और मरते समय प्रेत आकर उसके मुख में विष्ठा डाल देता है जिससे मर कर वह भी प्रेत बने। जैसे देवता की उपासना करोगे वैसा ही बनना पड़ेगा। भगवान् ने गीताजी में कहा भी है—

"देवान् देवजयो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि"

अर्थात् जो देवताओं की उपासना करते हैं वे देवताओं को प्राप्त होते हैं मेरी उपासना करने वाले मुझे प्राप्त होते हैं। भूत, प्रेत, पिचाश आदि को भी देवताओं में ही गणना है, ये क्षुद्र देवता हैं अतः भूत प्रेत का उपासक भूत प्रेत ही बनेगा। इसीलिये भागवतकार बारम्बार कहते हैं तुम क्षुद्र सिद्धियों के चक्कर में मत पड़ो। क्षुद्रदेव क्षुद्र कामना पूर्ण तो कर देते हैं, किन्तु उसका परिणाम दुःखद होता है, वे अधोगति की ओर ले जाते हैं। अतः तुम्हें चाहें संसारी कामना हो या पारमार्थिक कामना। अकाम हो, सर्वकाम हो अथवा मोक्ष की कामना हो तीव्र भक्ति योग से परमपुरुष परमात्मा का ही भजन करो। इससे तुम्हारी लौकिक कामना तो पूर्ण होगी ही, साथ ही अधोगति से बचकर सद्गति की ओर ही बढ़ोगे।

क्षुद्र देवताओं की उपासना में तो यह भी बात है कि उसमें विधि विधान सांगोपांग न हुआ तो लाभ के स्थान में उलटी हानि

अकामः सर्व कामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत् पुरुषं परम्॥
(श्री भा० २ स्क० ३ अ० १० श्लो०).

होगी। हम नित्य ही सुनते पढ़ते हैं अमुक ने किसी के उद्देश्य से मूँठ या कृत्या चलायी, विधान में त्रुटि होने से उस कृत्या ने पलटकर चलाने वाले का ही सिर काट दिया। किन्तु भगवत् उपासना में वह बात नहीं है। विधि विधान पूरा भी न हो, कोई त्रुटि या विघ्न भी आ जाय तो अमंगल नहीं होता। यही बात नारदजी ने व्यासजी से कही है। उन्होंने कहा—"देखिये व्यास जी! पुरुष अपने निजधर्म वर्ण आश्रम सम्बन्धी कर्तव्य—को छोड़कर श्रीहरि के चरणकमलों का भजन करता है, उसका यदि भजन सिद्ध होने के पूर्व ही किसी कारण से पतन हो जाय, किसी दैवी विघ्न से भजन करना छूट जाय, या बीच में ही मृत्यु हो जाय तो उसका क्या कहीं अमंगल हो सकता है? अर्थात् उसका सभी दशा में मंगल ही होगा, उसका भजन कभी व्यर्थ जायगा ही नहीं। किन्तु जो भगवान् का भजन तो करता नहीं। स्वधर्म की रट लगाये रहता है ऐसे स्वधर्म से भी क्या लाभ होगा?

श्रीमद्भागवत् का कथन यही है, कि देखो, कोई भी नहीं चाहता कि हमें ज्वर आवे, फोड़ा हो या दूसरे कोई रोग हों, किन्तु न चाहने पर भी प्रारब्धवश दुःख शोक तथा रोग आदि होते ही हैं, जैसे बिना चाहे दुःख आ जाते हैं, ऐसे ही प्रारब्ध के अनुसार सुख बिना भी चाहे आ सकते हैं, फिर दिन रात्रि संसारी सुखों के लिये ही प्रयत्न करते रहना व्यर्थ है, यत्न करना ही है,

---

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेः
भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किम्
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

(श्री भा० १ स्क० ५ अ० १७ श्लो०)

तो भगवत् प्राप्ति के लिये करना चाहिये। दुख-सुख तो कर्मानुसार आते जाते ही रहेंगे। हमारे सब कार्य इहलौकिक तथा पारलौकिक भगवान् को ही निमित्त मानकर होने चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं, आप फिर वे ही पुरानी अन्ध विश्वास की बातें करने लगे। यह विज्ञान का युग है इसमें वही सत्य-नारायण की कथा वही भागवत् सप्ताह नहीं चलेगा। आज तो जो बात विज्ञान से सिद्ध होगी वही मानी जायगी, अब हम बहुत उन्नत बन चुके हैं, हमने प्रकृति पर विजय करली है।"

हम कहते हैं, आपने बहुत उन्नति करली, अब आप भूमिपर न चलकर आकाश में उड़ने लगे, घर बैठे ही विदेशों में बैठे लोगों से बातें कर लेते हैं, वहाँ के चित्र देख लेते हैं, नाटक, नृत्य सुन लेते हैं। अच्छा इसमें आपको मिल क्या गया ? जो देश भौतिक विज्ञान में अत्यधिक उन्नत हो गये हैं' उनमें मानसिक अशान्ति और भी अधिक बढ़ गई है, उसमें दैहिक सुखों की लालसा अत्यधिक बलवती बन गयी है। सुख दुख कुछ साधन सामग्रियों पर तो निर्भर है नहीं। उसका सम्बन्ध तो मन से है, जिसकी जितनी ही बड़ी तृष्णा है लालसा है वह उतना ही बड़ा दुखी है, जिसकी जितनी ही भोग तृष्णा कम है, वह उतना ही सुखी है यह भौतिक विज्ञान तो अन्धा है, जड़ है तुम चाहे उसकी उन्नति में पराकाष्ठा पर पहुँच जाओ कभी तुम्हें सुख शान्ति न मिलेगी। हम सत्य कहते हैं सत्यनारायण की कथा, भागवत् सप्ताह थोड़ी देर को मान लो कुछ भी नहीं है, किन्तु उसमें जो छिपी भावना है उसे तो देखिये। जिस दिन कथा सुनते हैं उस दिन हम पुण्य न भी कर सकें तो भरसक पापों से बुरे कर्मों से बचने की चेष्टा तो करेंगे। एक प्रकार की मानसिक शांति का अनुभव तो करेंगे एक श्रमिक है दिन भर श्रम करके एक रुपया पैदा करता है, उसमें से एक दो आने नित्य बचाता है। जब उस पर पचास

सौ रुपये हो जाते हैं स्त्री बच्चों को साथ लेकर प्रयागराज आता है, एक बुढ़की त्रिवेणी में लगाता है वह अपने सम्पूर्ण श्रम को सफल मान लेता है। सिनेमा नाटकों नाच गानों में और क्या होता है, इतना धन व्यय लोग क्यों करते हैं? क्षण भर के इन्द्रिय सुख के लिये। इन स्त्री पुरुष पात्रों की छाया में ही कुछ क्षण अपने को भूल जाते हैं त्रिवेणी का गोता तो पूरे जीवन भर स्फूर्ति देता है, जब भी प्रसंग चलता है हम आत्मतृप्ति के साथ कहते हैं। तीर्थराज में तो एक बार हमने भी गोता लगाया है।

भागवती कथा हमें जीवन में स्फूर्ति दे तब तो उसका कहना, सुनना, लिखना पढ़ना, सार्थक है। यदि कोरा लिखने पढ़ने का व्यसन ही हो, अन्य व्यसनों से तो भी उत्तम ही है। हम भागवती कथा को कह सुनकर अपने जीवन को बना सकें, प्रभुपाद पद्मों तक पहुँच सकें, हृदय को प्रेम जल से परिप्लावित कर सकें। मन को श्याम रंग में रँग सकें, वृत्तियों की गति को बनवारी की ओर बदल सकें, तब तो हमारा प्रयास सफल है, यह सब होगा तभी जब वे कृपा करें, वे हमें अपनी ओर खींचें। जीवन की धारा संसारी कामना पद प्रतिष्ठा पैसा आदि धनकी इच्छा से बदल कर श्रीकृष्ण की ओर लग जाय यही कथा का फल है। यदि यह न हुआ तो वणिक् वृत्ति है, परमार्थ के नाम स्वार्थ है, परोपकार के मिस से व्यापार है।

जीवन की धारा कुछ ऐसी बह रही है, कि हम जो चाहते हैं, वह कर नहीं सकते। जिसे करना नहीं चाहते उसे विवश होकर करना पड़ता है, जहाँ जाना नहीं चाहते, वहाँ जाना पड़ता है, जहाँ रहने की इच्छा नहीं होती है वहाँ रहना पड़ता है, जिनका संग करना चाहते हैं प्रारब्ध ने उन्हें हमसे बहुत दूर पटक दिया है, जिनका साथ नहीं करना चाहते उनके साथ विवश होकर रहना पड़ता है। ब्रजवासी चाहते थे, श्रीकृष्ण सदा हमारे

साथ ही रहते, सदा हमें वे ही सुख देते, रास विलास रचाते, गौएँ चराते, किन्तु अक्रूर आये व्रजवासियों की इच्छा के विरुद्ध राम श्याम को मथुरा ले गये। रथ पर चढ़कर श्यामसुन्दर मधुपुरी को चले गये और ऐसे गये कि फिर लौटकर आये ही नहीं। इसे विधि की विडम्बना न कहें तो और क्या कहें। आशा थी, श्यामसुन्दर कभी आवेंगे, किन्तु वे स्वयं तो नहीं आये, उद्धव के हाथों ज्ञान का सन्देश भेजा। व्रजवासी समझ गये, प्रारब्ध ने हमें ठग लिया है, भाग्य ने हमारे साथ खिलवाड़ की है उन्होंने कृष्ण को व्रज में आने के लिये संदेश नहीं भेजा। भाग्य को मिटाने की प्रार्थना नहीं की प्रारब्ध को बदल देने की बिनती नहीं की। बड़े मार्मिक शब्दों में उन्होंने एक ही विनती की। मेरा भी जन्म व्रज में ही हुआ है, इसी नाते मैं भी व्रजवासी ही हूँ, श्याम से मेरा भी कुछ सम्बन्ध है, वह निष्ठुर न माने यह दूसरी बात है, व्रजवासियों ने उद्धवजी के द्वारा जो प्रार्थना की थी उसी को व्रजवासी होने के नाते मैं, भी अपने श्यामसुन्दर से करता हूँ—

व्रजवासियों ने कहा था—"हम सब प्रारब्ध के अधीन हैं जैसे कोई नट कठपुतली को घुमाता है। यन्त्री यन्त्र को फिराता है, बाजीगर बानर को नचाता है वैसे ही कर्म चक्र में पड़े हुए हमें ईश्वर अपनी इच्छानुसार घुमा रहा है। हे श्यामसुन्दर! प्रारब्धानुसार हम जहाँ-जहाँ भी रहें, जहाँ भी हमें रहना पड़े भाग्यवश जो भी करना पड़े। जहाँ-जहाँ भी जन्म लेना पड़े। वहाँ-वहाँ इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में दैवयोग से कोई मंगलमय कार्य हो जाय अथवा कोई पुण्यदान बन पड़े तो उन सबका हम यही एक फल चाहते हैं हमारी मति सदा तुम श्रीकृष्ण ईश्वर में ही बनी रहे। तुम्हें कहीं भी—किसी भी दशा में भी हम भूलें नहीं? क्या व्रजवासी के नाते हे व्रजवल्लभ!

इतनी भीख दोगे क्या ? क्या तुम्हारे राज्य में ब्रजवासियों की सुनायी होगी—

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानैं रतिनः कृष्ण ईश्वरे ॥
(श्री भा० १० स्क० ४७ अ० ६७ श्लो०)

छप्पय

करम चक्र महँ भ्रमत जनम जहँ जहँ प्रभु होवै ।
दैव योग तप दान धरम मन जो जो जोवै ॥
तिनि सबको फल एक नाथ ? तुम तें यह चाहूँ ।
तव पद रति मति होय कबहुँ नहिं तुमहिं भुलाऊँ ॥
चाहूँ हौं सुमिरन सतत, नहिं मागूं मम दुख हरौ ।
ब्रजवासी की विनय प्रभु, वरदाता पूरन करौ ॥

—०—

श्री भागवती कथा महिमा

वन्दना

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणत क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥❀

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यम्
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः
तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥❀

(श्री भा० १ स्क० २ अ० २ श्लो०)

छप्पय

सब जगके जो बीज विश्वद्रुम जिननि बनायौ ।
जिननि मोह को जाल सकल भुवननि फैलायौ ॥
ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनें करि पालैं नासैं ।
त्रिविधि ताप सन्ताप सबनि के सपदि विनासैं ॥
सतचित आनन्द रूप जे, कृष्णचन्द्र जिनि नाम है ।
सर्व प्रथम मम इष्ट जे, तिन पदपद्म प्रनाम है ॥

❀ श्री कृष्ण, वासुदेव, हरि, परमात्मा प्रणतों के क्लेश नशाने वाले तथा गोविन्द भगवान् के लिए बारम्बार नमस्कार है ।

❀ सूतजी कहते हैं — "मुनियो ! मैं उन सर्वभूत हृदय मुनिवर भगवान् शुक को नमस्कार करता हूँ जो लौकिक वैदिक सभी प्रकार के कर्मों को त्यागकर अकेले ही वन को चले गये । उस समय उनके पिता भगवान्

उन प्रेम प्रदाता, प्रणत प्रतिपालक, प्रत्येक प्राणी को प्रेम प्रदान करने वाले पीताम्बर धारी प्रभु के पाद पद्मों में प्रणाम है। जिनके निर्मल नखों की ज्योति से भक्तों के हृदय का अंधकार तत्काल भग जाता है, उन भगवान् को नमस्कार है, जिनके चरण तल की रेखाओं की रज से रंजित होने वाला प्राणी राग से रहित बन जाता है उन राधारमण की हम शरण हैं। जिनके अरुण-वरण के चरणारविन्दों की मकरन्द से मत्त हुए मधुकर रूप भक्त उन्हीं में अनुरक्त हो जाते हैं उन अखिलेश अच्युत की ही हम बारम्बार वन्दना करते हैं। गोचारण के समय सखागण अपनी गोदों में रखकर जिन चरणों को सुहलाते हैं दबाते हैं जिनके रोओं को स्पर्श करते ही सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो जाता है उन वृन्दावन विहारी गोपाल कृष्ण का हम अभिनन्दन करते हैं। पीताम्बर से आवृत जिनके जघनों को निहार व्रजाङ्गनायें ललचा जाती हैं। जो मृदुल सरस सुभग साँवले और सलोने हैं उन गोपी जन वल्लभ राधारमन, गोप वधूटी दुकूल चोर श्यामसुन्दर की हम स्तुति करते हैं। त्रिवली से आवृत जिनका उदर पीपर के पत्ते के सदृश उतार चढ़ाव का है, जिसमें न जाने क्या-क्या भर रहा है। जिसमें माता ने रोष के कारण दाम बाँध दी थी, उन दयानिधान दामोदर की दया के हम इच्छुक हैं। जिनका वक्षः स्थल मणि मुक्ताओं की मालाओं से, वन माला, तुलसी माला और घुँघची की मालाओं से आवृत है, जो श्री वत्स के चिह्न से चिह्नित है, जो लक्ष्मीजी के निवास का एकमात्र स्थान है, जो व्रजाङ्गनाओं की कुच कुंकुम कीच से

द्वैपायन पुत्र शोक से शोकाकुल होकर पुत्र-पुत्र कहकर चिल्लाते हुए उनके पीछे दौड़े श्रीशुक तो सभी प्राणियों मे तन्मय हो गये थे उसी तन्मयता के कारण वृक्षों ने व्यासजी को उत्तर दिया, ऐसे गुरुवर को पुनः-पुनः प्रणाम है।"

सन जाने के कारण सुगन्धित है, उन रासविहारी ससेश्वर का हम स्तवनः करते हैं। जिनके उभय पदकमलों में कमल नाल खड के सदृश्य सप्त छिद्र वाली बाँसुरी विराजमान है, जिसे वे कुछ झुककर कुछ झूमकर मुसकराकर, कुछ टेढ़ी करके अपने अरुण, मृदुल,सुघर सलौने रसीले लचीले लजीले अधर और ओष्ठ के बीच दबाकर, कपोल फुलाकर बजा रहे हैं, उस मुरली धारी बिहारी सब दुखहारी, सुखकारी अघारी वनचारी, विपत्ति-विदारी वनवारी का हम बार-बार वन्दन करते हैं। जिनके अरुण अधर और ओष्ठों के भीतर से रस भरे दाड़िम के दानों की पंक्तियों के समान शुभ्र दन्तावली कुछ कुछ दिखाई दे रही है उसकी प्रभा से आभा से निर्मल ज्योति से शरणागतों के मन मुकुर खिल गये हैं उन शोभा के धाम नयनाभिराम घनश्याम की हम शरण में हैं। जिनके कपोल द्वय कमनीय कनक कुण्डलों की आभा से दमक रहें हैं, हिलते हुए कुण्डलों के, माणिक्य नवनीरद की प्रभा वाले मुख की छटा के साथ मिलकर चमक रहे हैं। मन्द मन्द हास्य के कारण जो गोल होकर कुछ उभरे हुए अरुण वरण के बन गये हैं, पूर्णचन्द्र के समान जिनके अनुपम आनन से शीतल सुखद अगणित किरणें छिटक रही हैं उन चन्द्रवदन दुःख दारिद दलन भव भय हरन मंगल करन विश्व भरन, अमृत सुधा माधुरी झरन श्रीराधारमन गिरिवर धरन के सुखकर चरणों की हम सदा शरण में हैं। जिनके बड़े बड़े अनियारे सुख कारे, कजरारे कमल नयन व्रज-बालाओं के नयनों में तिरछे होकर गड़ जाते हैं जो भक्तों की भव-भीति को भगाने के लिये अव्यर्थ सर के सदृश है जो हृदय में व्याप्ततम को अपने अनुपम अद्भुत अलौकिक आलोक से छिन्न भिन्न करने में समर्थ हैं, उन नयनाभिराम नूतन नवनीरद के समान,नयनों की कृपा कोर की हम अहर्निश आकांक्षा करते हैं। जिनके पावन पलकों

की तनिक सी झलक के निमित्त असंख्यों अबलायें अपलक व्रज वीथियों मे बैठी बाट जोहती रहती हैं, उन व्रज वनिता धन, आनन्द घन मदनमोहन, अशरन शरन के गोधन चारन हित व्रज वन-वन फिरन, युगल चरनों के हम शरन हैं।

जिनकी कमान के समान वंक भ्रुकुटि पर सर के समान चढ़े सरस सुखद सैनों की चोट के लिये तरु-लताओं तथा घर की ओट में खड़ी आभीर ललनायें ललचाती रहती हैं और तक कर लग जाने से घायल बनी दुख सुख के बीच में बिलखती सिसकती बकती झकती रहती हैं, उन वंक भ्रुकुटिवारे बनवारी की कृपा के हम इच्छुक हैं। जिनके ललित ललाट पर केशर कस्तूरी का तिलक शोभायमान है। जो भव्य है, विशाल है, रसाल है जिसे क्षुद्र अलकावली झार बुहार रही हैं, हिलहिल कर मिल रही हैं। खेल रही हैं, उन मनोहर मस्तक वाले मन-मोहन की दया के हम भिक्षुक हैं।

कमल बदन पर बिथुरे, कारे, सटकारे, कुटिल केश जो प्रफुल्लिपंकज रस पान मे मत्त भ्रमरावली के सदृश प्रतीत होते हैं, जो अपनी कुटिलता के कारण कामिनियों को प्रेम पाश के सदृश प्रतीत होते हैं। उन घुँघराले काले बालों वाले व्रजवनिता वल्लभ बाँके बिहारी की हम बार-बार वन्दना करते हैं। उनसे हमारी एक ही भीख है वे हमें देखते रहें, निहारते रहें, अपनी कृपा दृष्टि की वृष्टि बराबर करते रहे।

पारम हंस्य पद पर प्रतिष्ठित, प्रणत प्रण पालक, पराविद्या प्रवीण, पराशर पौत्र, व्यासनन्दन भगवान शुक के पाद पद्मों में भी हम पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। प्रभो! हमे आप प्रभुपाद पद्मों तक पहुँचा दो। प्रेम का पुण्य पथ बतादो। सत्य का सुगम सरल-सा मार्ग दिखादो। प्रभो! आपने लौकिक-वैदिक सभी कर्मों को जन्मने ही त्याग दिया। आप निसंग होकर एकाकी ही वन को

ओर चल दिये। माता, पिता, परिवार तथा परिजनों के प्रेम की अपेक्षा नहीं की। सर्वस्व त्यागी, वीतरागी, विरागी बन गये। पागलों की भाँति प्रेम में प्रलाप करते हुए पिता भी पुनः-पुनः पुत्र-पुत्र कहते हुए पीछे-पीछे भागे। किन्तु आप वन की ओर बढ़ते ही गये, बढ़ते ही गये। न खड़े हुए न पीछे मुड़कर देखा ही। अहा! कैसी निरपेक्षता का आपने पाठ पढ़ाया, कैसा अलौकिक भाव दर्शाया, त्याग वैराग्य का कैसा अनुपम आदर्श उपस्थित किया, वेदों का विभाग करने वाले वयोवृद्ध व्यासजी को भी वियोग-वेदना ने व्याकुल बना रखा था, वे भी आपका पीछा करते ही गये, करते ही गये। तब आपने तन्मयता का दिगन्त-व्यापी दृष्य दिखाया। प्रत्येक तरु-पल्लव से पुत्र-पुत्र का आलाप सुनाया। सर्वज्ञता का, सर्वव्यापकता, का चराचर में एकत्व का अनुपम उदाहरण उपस्थित किया। कैसा है आपका त्याग कैसी है आपकी कठिन तपस्या, कैसा है अच्युत चरणारविन्दों में अनुराग। नाथ! उसकी झाँकी हमें भी दिखादो न? हमें भी इस माया मोह से छुड़ा दो, हमारे सिर पर चढ़ी इस प्रतिष्ठा लालसा भूतिनी को भी भगा दो। कब हम तुम्हारे पुण्य पथ का अनुसरण कर सकेंगे। कब संसारी विषय वासनाओं के त्याग में समर्थ हो सकेंगे। प्रभो! संसार के हित के ही लिये आपने अवतार धारण किया है। हे देव! आप श्रीकृष्ण के अभिन्न वपु हैं, आपमें और श्याम में कोई अन्तर नहीं। कोई भेद भाव नहीं। आपने रसिकता, सरसता भक्ति और प्रेम में त्याग, वैराग्य, उपरति तथा जगउदासीनता का संमिश्रण और कर दिया है, नहीं तो आप आनन्द कन्द श्रीकृष्ण चन्द्र के रूप ही हैं।

वैसी ही आपकी किशोरावस्था, वैसे ही अरुण वरण के कोमल कमल सदृश चरण, वैसे ही उत्तम उरुद्वय, वैसे ही भव्य भुजायें, वैसे ही कमनीयलोल गोल मधुर कपोल, वैसे ही नवनी-

रद के सदृश नुकीले नयन, वैसी ही उन्नत उत्तम नवी हुई नुकीली नासिका, वैसे ही सुकुमार सुन्दर समान कान, वैसा ही मन्द-मन्द मुसकान से युक्त मनोहर मुखारविन्द, वैसी ही कमान के समान कटीली कुटिल भ्रूकुटिद्वय, वैसा ही विशाल वक्षःस्थल, वैसी ही शंख के समान सुहावनी ग्रीवा। सभी में तो समानता है। असमानता का आभास भी नहीं। केवल पीताम्बर को फेंक कर कैशोर में भी बाल लीला के दर्शन कराये हैं। मुरली न लेकर दोनों कर कमल उन्मुक्त कर दिये हैं। वंशी, वनमाल, भूषण, पीताम्बर, मोरमुकुट, घुंघची माला आदि सभी वस्त्र-भूषणों के स्थान में रज का व्यवहार करके आपने एकत्व की अद्वितीयता का आदर्श उपस्थित किया है।

हे देव! आपने विष्णुरात राजर्षि परीक्षित् का ही उद्धार नहीं किया। सहस्रों असंख्यों संसार सर्प से डसे हुए लोगों को निर्विष बनाकर उस पार पहुँचा दिया। आपने केवल कलिकाल से प्रताड़ित परीक्षित् को ही कथा नहीं सुनाई, किन्तु कलियुग में आपने ऐसी सुदृढ़ नौका का रूप दे दिया है, जो निरन्तर भूले-भटके पथिकों को उस पार पहुँचा कर कल्याण नगर की ओर भेजती रहती है।

हे गुरुदेव! अज्ञान रूप अन्धकार आप की ही असीम कृपा से छिन्न-भिन्न हो सकता है। संसार सागर में डूबते हुये हम लोगों को आश्रय एक मात्र आपके ही युगल चरण कमल है। ये गहन गम्भीर उर्मिवाले संसार सागर में रह कर भी म्लान नहीं होते प्रत्युत और अधिक प्रफुल्लित होते हैं। उन्हीं जलज युगल चरणों को हम वन्दना करते हैं। उन्हीं के सम्मुख हम अपने मस्तक को रगड़ते हैं। उन्हीं के आगे हम दण्ड के सदृश लेटते हैं। प्रभो! रक्षा करो! स्वामिन्! अपनी शरण में लेलो, ज्ञानाञ्जन शलाका से हमारे अज्ञानावृत नयनों को खोल दो। संसारी तापों

से, काम क्रोधाग्नि की लपटों से, शुष्क हुए हमारे हृदय को भक्ति बारि से सींच दो, प्रेमामृत से सराबोर कर दो। हे देव यही! इस दीन हीन मति मलीन की विनय है। वन्दना स्वीकार करें देव पुनः-पुनः प्रणाम है, वन्दन है, नमन है, प्रणति है। देव! दया करो, कृपालो कृपा करो। शरणागतवत्सल शरण दो।

छप्पय

लौकिक वैदिक करम त्यागि जन्मत वन भागे।
जिनकूँ नहिं धन, धरम, करम कछु अच्छे लागे॥
सुत सुत कहि पितु भगे द्रुमनि महँ सुत दरसायो।
पितु पितु सब तरु कहे व्यास को मोह नसायो॥
तरुन अरुन वर नयन तनु, सुन्दर सुगठित श्याम है।
गुरुवर श्री अवधूत मुनि, शुक पद पदुम प्रनाम है॥

—०—

श्री भागवत-कथा-अमृत

[२]

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्त त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ।।*

(श्री भा० १० स्क० १ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

शौनक बोले—सूत ! भागवत् चरित सुनायौ ।
किन्तु न कह्यो महात्म चित्त ता हित ललचायौ ।।
जिओ बहुत दिन सूत ! महातम हमें सुनावें ।
वस्तु महातम सुनत भक्ति श्रद्धाहिय आवें ।।
सूत कहे—कहँ तक कहूँ, मुनि ! महात्म अति अकथ है ।
जलनिधि अगम अथाह जिह, तामें तैरत थकत है ।।

अमृत की बड़ी प्रशंसा है। इसी लोभ से देवता और असुरों ने मिलकर बड़े कष्ट से समुद्र का मंथन किया। अमृत को लेकर कोई साधारण देवता नहीं-भगवान् के अवतार-श्रीधन्वन्तरि-

---

*कथा सुनते-सुनते महाराज परीक्षित् कह रहे हैं"—हे भगवन् ! भूख को लोगों ने दुस्सह बताया है, किन्तु आपके कमल मुख से निस्सृत हरि कथा मृत का पान करने से अन्न के साथ जल भी छोड़ देने पर यह भूख मुझे कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाती।"

जी निकले। एक तो जो स्वयं भगवान् के अवतार दूसरे अमृत को लिये हुए, उन्हें महाबलशाली होना चाहिये, किन्तु वे ऐसे निर्बल सिद्ध हुए कि असुर उनसे अमृत को छीन ले गये। भगवान् अजित तो देवताओं के पक्षपाती थे ही, वे मोहिनी बनकर असुरों के समीप गये। इधर-उधर की रसीली रँगीली बातें बनाकर असुरों को झाँसा देकर उनसे अमृत छीनकर देवताओं को पिला दिया। उस अमृत के घड़े को देवताओं ने स्वर्ग में रख दिया, बड़े-बड़े यन्त्र-तन्त्र उसकी रक्षा में लगा दिये, फिर भी गरुड़जी सबको व्यर्थ बनाकर अमृत पान करने वाले अमरों के राजा इन्द्र को भी हराकर उस अमृत के कलश को उठा लाये। देवता घबराये, अन्य कोई शरण न देखकर अशरणशरण श्रीविष्णु की शरण गये। श्रीविष्णुजी भी गरुड़ के समीप आये। उन्हें भी उलटी पट्टी पढ़ायी छल करना सिखाया और गरुड़जी ने भी छल का व्यवहार करके नागों के साथ ठगी करके सुरों को ही अमृत पिला दिया जो अमृत सबको ठगी सिखाता है, दुर्बल बनाता है, उस अमृत को पीकर कौन सुखी होगा। वास्तविक अमृत तो वह है, जिससे सभी शोकसंताप सदा के लिये मिट जायँ, भूख,प्यास, जन्म-मरण तथा सभी प्रकार के भय सदा के लिये भग जायँ। ऐसे अमृत का जिन सज्जनों ने पान कर लिया है, उनके पाद पद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम है।

'भागवती कथा' पूर्ण करके, नैमिषारण्य निवासी मुनियों से आज्ञा लेकर सूतजी घूमते-फिरते मर्त्यलोक में आये। जब से सूतजी जन लोक में कथा कहने लगे थे, तब से अब तक मर्त्य लोक में बड़े परिवर्तन हो गये थे। कलियुग तो तब भी था, किन्तु अब तो घोर कलियुग छा रहा था लोगों को धर्म-कर्म की बातें अच्छी ही नहीं लगती थीं। सबकी दृष्टि में संसारी सुख ही सब कुछ थे। परलोक परमार्थ परमात्मा तथा परोपकार इन शब्दों की

लोग खिल्लियाँ उड़ा रहे थे। रोटी कैसे मिले पेट कैसे भरे यही सबके जीवन का चरम लक्ष्य बन गया था। परस्पर में सहानुभूति का अभाव था, एक दूसरे को ठगने के लिये उद्यत हो रहे थे, नाना प्रकार के वाद चल गये थे। वे सब नास्तिक-वाद के ही रूपान्तर थे। सूतजी मर्त्यलोक की ऐसी दशा देखकर चकित रह गये। वे बड़े-बड़े आश्रमों में गये जिन्होंने धर्म प्रचार और परमार्थ का ठेका ले रखा था—वहाँ भी उन्होंने देखा। धर्म के नाम पर दुकानदारी हो रही है आश्रमों में तपोमय जीवन नहीं रहा। वे एक सशुल्क विश्राम गृह से बन गये हैं। आश्रम के दलाल इधर-उधर घूम-घूमकर विषयी लोगों को फँसा कर लाते हैं एक को सिद्ध बना देते हैं, कुछ साधक बन जाते हैं। आश्रम में आकर ठहरने वालों का सब प्रकार से भारी स्वागत सत्कार करते हैं, घर से भी सुन्दर भोग सामग्री उन्हें देते हैं, चलते समय वे आश्रम को कुछ दे जाते हैं, वे सोचते हैं हमने दान दिया आश्रम वाले सोचते हैं, पचास रुपये हमने व्यय किये एक सौ एक मिल गये। इक्यावन रुपये का हमें अपने काम में लाभ हुआ। उन आश्रमों में परमार्थ और सत्संग के नाम पर परनिन्दा तथा परचर्चा ही अधिक की जाती है।

सूतजी सज्जनों के घरों में भी गये जहाँ पहिले नित्य नियम से कथा होती थी, किन्तु वहाँ भी अब कथा कीर्तन नहीं। कलह हो रही है। भाँति-भाँति के न्यायालय में अभियोग चल रहे हैं। शासक दस्यु अधर्मी हो गये, अकुलीन, अयोग्य नीच प्रकृति के देवता, गौ, ब्राह्मण, वेद, साधु धर्म तथा ईश्वर की निन्दा करने वालों के हाथों में शासन की बागडोर हैं। वे भाँति-भाँति से प्रजा को लूट रहे हैं। धर्म से विमुख करने का उपदेश दे रहे हैं। ब्राह्मणों को प्राचीन आर्ष-ग्रन्थों को तथा वर्णाश्रम प्रक्रिया को उन्नति में बाधक बताया जा रहा है। पुरुष ऐसे भीरू, नीरस कठोर हृदय

वाले राक्षस बन गये हैं, कि वे सन्तति निग्रह करके अन्न बचाने की चिन्ता में हैं। स्त्रियाँ ऐसी असती स्वेच्छाचारिणी और वात्सल्य प्रेम से हीन हो गयी हैं कि वे यथेच्छाचार तो करती हैं किन्तु गर्भ धारण से भयभीत होती हैं, गर्भ निरोध के नाना उपायों को काम में लाती हैं। व्यापारी निन्द्य से निन्द्य काम करने में नहीं डरते। कुछ द्रव्य के लालच से खाद्य पदार्थों में विष मिलाकर बेचते हैं, जिससे असंख्यों असामयिक मृत्यु हो रही हैं। कृत्रिमता का सर्वत्र साम्राज्य है।

तीर्थ स्थान भ्रष्ट हो गये हैं, तीर्थवासी अपने धर्म कर्म से हीन होकर दस्युधर्मी बन गये हैं, देवालय श्रीहीन हो गये हैं। देवताओं की सविधि पूजा नहीं होती, भोगराग का प्रबन्ध नहीं। ऐसा प्रतीत होता है, देवता वहाँ से चले गये हैं, दारिद्र्य ने वहाँ अपना डेरा डाल लिया है। कहीं सत्संग नहीं, कथा कीर्तन नहीं, सात्विकता नहीं, सरलता नहीं, स्वच्छता नहीं, शान्ति नहीं, सुख नहीं। सर्वत्र हाहाकार मचा है, कैसे भूख मिटे कैसे पेट भरे इसी की सर्वत्र गूँज है।

सूतजी देश की ऐसी दशा देखकर घबड़ा गये। उन्होंने सोचा—"अब मर्त्यलोक भले मानुषों के रहने योग्य रहा नहीं। कहाँ जायँ किससे बातें करें सभी स्वार्थ में निरत हैं, बिना कथा कीर्तन के मन कैसे लगेगा। चलो जन लोक में ही चलें। वहाँ नित्य नियम से कथा कहने सुनने को मिलेगी। अमल विमल नैष्ठिक ब्रह्मचारी अठासी सहस्र मुनियों का सत्संग होगा यही सब सोच कर कुछ ही समय में मर्त्यलोक से ऊबकर सूतजी फिर जनलोक में पहुँचे। जैसे चकोर चन्द्र की बाट जोहते रहते हैं, वैसे ही वे ऋषिगण सूतजी की बाट जोह रहे थे। सूतजी को आते देखकर वे सबके सब सहसा खड़े हो गये। मारे प्रसन्नता के सभी के रोमांच हो उठे। वे अपनी प्रसन्नता के वेग को सम्हा-

लने में समर्थ न हो सके। सभी के नेत्रों में आनन्दाश्रु छलकने लगे। सबके कण्ठ रुद्ध हो गये। बड़े कष्ट से शौनकजी इतना ही कह सके "स्वागतम् ! सुस्वागतम् !!"

सूतजी ने दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर सभी ऋषियों को प्रणाम किया और सभी की कुशल पूछी। व्यासासन पहिले से ही लगा था, उस पर सूतजी को अत्यन्त आग्रह से बिठाया। हरिकथामृत के रसास्वादन में निपुण मुनिवर शौनकजी की आज्ञा से मुनियों ने सूतजी को पैर धोने के लिये जल दिया। विधिवत् उनको अर्घ्य आदि दिया।"

पथजनित श्रम को मिटाकर जब सूतजी स्वस्थ हो गये, तब पौराणिक कथाओं के श्रवण के लिये अत्यन्त समुत्सुक बैठे हुए मुनियों की ओर से शौनकजी बोले—"सूतजी ! आप चिरजीवी हों, महाभाग ! आप जब हमें छोड़कर चले जाते हैं, तब यहाँ हमें सब सूना ही सूना दिखायी देता है।"

सूतजी ने कहा—"क्या करूँ महाराज ! कथा प्रसङ्ग समाप्त होने पर इच्छा होती है, चलो कुछ दिन को घूम फिर आवें। मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, रामेश्वर बदरीवन तथा अन्यान्य पुण्य तीर्थों के दर्शन कर आवें, किन्तु जब वहाँ जाते हैं तो देखते हैं, न वहाँ कथा है, न कीर्तन है। सबका एकमात्र ध्येय पैसा पैदा करना रह गया है। तब चित्त खिन्न हो जाता है, इसलिये सत्संग के लोभ से फिर आप लोगों की सेवा में आ जाता हूँ।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ सूतजी ! अब मर्त्यलोक रहने योग्य रहा नहीं। सभी स्थानों पर कलियुग ने अपना प्रभाव जमा लिया। इसीलिये तो हम नैमिषारण्य के परम पावन क्षेत्र को छोड़कर यहाँ जनलोक में आ गये। हरि कथा ही हमारा आधार है, आप कथा कहने में अत्यन्त निपुण हैं। अज्ञान रूप अन्धकार को भगाने के लिये आप करोड़ों सूर्यों के समान कान्तिमान् हैं।

आपके मुख से कथा सुनते सुनते हमारी तृप्ति ही नहीं होती। इसीलिये हम चाहते हैं आप सदा सर्वदा हमारे साथ रहें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! मैं तो सदा आपके समीप ही रहता हूँ। कथावाचक को कुछ इधर-उधर घूमना-फिरना भी चाहिये, इससे उसके ज्ञान में वृद्धि होती है। देशाटन से नये-नये अनुभव होते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आपका कथन यथार्थ है, देशाटन से बहुत अनुभव होता है। अच्छा अब आप कोई कथा सुनाइये।"

सूतजी ने पूछा—"कैसी कथा सुनाऊँ ? मुनिवर !"

शौनकजी बोले—"ऐसी कथा सुनाइये सूतजी ! जो कानों को अत्यन्त प्रिय हो। जिसके श्रवण करने से भक्ति, ज्ञान, वैराग्य तीनों की प्राप्ति हो, विवेक की अधिकाधिक वृद्धि हो। भगवत् भक्त माया जनित मोह सागर को कैसे सरलता सुगमता से पार हो सकें इसका उस कथा में उपाय हो। विशेष कर कलिकाल के जीवों का जिससे उद्धार हो सके ऐसे कथा प्रसंग को आप कहें।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! कलियुग तो पाप का बन्धु है। इसके प्रभाव से जीवों की पाप कर्मों में स्वाभाविकी रुचि है, अभी मैं देखकर आया हूँ। वहाँ जैसे पाप, व्यभिचार, छल, कपट आदि क्रूर कार्य हो रहे हैं, उन्हें देखकर हृदय फटने लगता है। हाय ! मानव प्राणी का इतना भी पतन संभव है ?"

शौनकजी यह सुनकर गंभीर हो गये और कुछ रुककर कहने लगे—"महाभाग ! यह तो युग का धर्म ही है, इसमें किसी का दोष नहीं। इस विकराल कलिकाल में प्रायः जीव आसुरी स्वभाव के हो जाते हैं। उनके हृदय से दया दाक्षिण्य, सत्य सदाचार आदि सद्गुण विलुप्त हो जाते हैं, इसीलिये वे सदा भाँति-भाँति के आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक क्लेशों से

क्लान्त बने रहते हैं। मेरे पूछने का यही तो अभिप्राय है, कि उनका उद्धार कैसे हो ? ऐसे कलियुगी जीवों की भी जिस उपाय से शुद्धि हो सके उस उपाय को आप हमें बतावें। इसी सम्बन्ध की कोई कथा सुनावें। शुद्धि का साधन सरल हो सुगम हो, उत्तम से उत्तम हो, कल्याणकारी उपायों में से भी परम कल्याणकारी हो, परम पावन हो और जिससे निरन्तर भगवत स्मृति जागृत होती रहती हो तथा जिसके द्वारा श्रीकृष्ण चरणारविन्दों की प्राप्ति हो सके। कृपा करके ऐसा ही कोई उपाय आप इस समय हमें बतावें।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो ! मैं सर्वथा अयोग्य हूँ, आपको क्या बता सकता हूँ। क्या दे सकता हूँ। आप ही मेरे मुख से जो कहलाना चाहें कहला लें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! संसारी सम्बन्धी क्या देंगे, यथार्थ देने में तो आप ही समर्थ हैं। संसार में कोई अधिक से अधिक देगा, तो चिन्तामणि दे देगा। उससे लौकिक चितायें हट सकती हैं केवल विषय भोग की सामग्रियाँ जुट सकती हैं। मर्त्य-लोक के प्राणियों की बात छोड़ दीजिये देवताओं के राजा इन्द्र भी यदि प्रसन्न हो जायँ तो क्या देंगे, विमान, अप्सरा, नन्दन-कानन तथा अन्यान्य स्वर्गीय सुख। इनके अतिरिक्त वे भी कुछ नहीं दे सकते और यदि आप ज्ञानदाता गुरु प्रसन्न हो जायँ, तो औरों की तो बात ही क्या साक्षात् भगवान् को दे सकते हैं। भगवत् प्राप्ति करा सकते हैं। सो हे महाभाग ! यथार्थ दाता तो आप ही हैं। अब आप हमें कलिकल्मषकाटिनी कलित कथा सुनाइये।"

शौनकजी की ऐसी बात सुनकर सूतजी का हृदय भर आया, उनके नेत्रों में आनन्द के अश्रु छलकने लगे, कंठ रुद्ध हो गया। अश्रु पोंछकर तथा खांस मठार कर वे बड़े कष्ट से शनैः-शनैः

कहने लगे—"शौनकजी ! संसार में जीवन का यथार्थ लाभ तो आपने ही पाया है। आपके हृदय में प्रेम का अपार अगाध समुद्र निरंतर हिलोरें मारता रहता है, उसकी थाह कोई पा नहीं सकता भगवान् वासुदेव के प्रति आपके अन्तःकरण में कितना प्रेम है, उसे मैं कह नहीं सकता। महाभाग ! आपके सत्संग से मैं भी धन्य बन गया। आपने जो प्रश्न किया है, लोक के कल्याण की भावना से किया है, अतः संसार के भय को नाश करने वाले, भक्ति के प्रवाह को विवर्द्धन करने वाले, श्रीकृष्ण प्रेम की प्राप्ति कराने वाले, सर्वशास्त्र सिद्धान्त के सारभूत उस साधन का वर्णन मैं आपके सामने करूँगा, जिससे भक्ति, ज्ञान, तथा वैराग्य ये सब साथ ही बढ़ें और विवेक हृदय में उदय हो। उस साधन को मैं आपसे बता भी चुका हूँ।"

शौनकजी ने कहा—"कब बताया सूतजी ! मैंने तो अभी प्रश्न ही किया न ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! मैंने आपके इस प्रश्न का बहुत ही विस्तार के साथ उत्तर दिया है। मैंने बार-बार अनेक दृष्टान्त दे देकर इस साधन को समझाया है, फिर भी उसे दुहराता हूँ, वह साधन है श्री भागवती कथाओं का श्रवण करना, भगवत् चरित्रों का नित्य नियम से पाठ करना। कालरूपी विकराल महाव्याल के विष से बचने के लिये कलिकाल में व्यासनन्दन मेरे गुरुदेव श्री शुकदेव ने एक श्रीमद्भागवत को ही सर्वोपयोगी साधन बताया है। अंतःकरण की शुद्धि के लिये इससे बढ़कर न कोई साधन है और न उपाय। श्रीमद्भागवत के श्रद्धा सहित श्रवण से, प्रेमपूर्वक किये हुए पाठ से सभी दोष दुःख दूर हो जाते हैं, फिर वह श्रवण पाठ चाहे संस्कृत भाषा में हो या प्राकृत देशी भाषा में। किंतु भागवत की प्राप्ति सभी को नहीं हो सकती। जब

पुरुष के पूर्वजन्म के पुण्य पुञ्जों का उदय हो तब उसे भागवत की प्राप्ति होती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपका कथन अक्षरशः सत्य है। श्रीमद्भागवत सर्वोत्तम साधन है, इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही न्यून है। आपने हमें श्रीमद्भागवत तो सुनायी, किन्तु इसके श्रवण का माहात्म्य तो सुनाया ही नहीं। बिना माहात्म्य ज्ञान के उस विषय में प्रवृत्ति नहीं होती।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! भागवत में जितना माहात्म्य मेरे गुरुदेव ने कहा, उतना मैंने आपको सुना ही दिया। हाँ पद्म-पुराण स्कन्दपुराण आदि अन्य पुराणों में इस भागवतामृत का माहात्म्य विशेष रूप से वर्णन किया गया है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आप श्रीमद्भागवत को अमृत की उपमा क्यों देते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! अमृत की उपमा तो केवल उप लक्षण मात्र है, वैसे तो यह कथामृत स्वर्ग के अमृत से अनन्त गुणी श्रेष्ठ है। इसे तो मेरे गुरुदेव ने देवताओं के कहने पर सबके सम्मुख स्पष्ट सिद्ध करके दिखा दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् शुक ने कैसे स्पष्ट करके दिखाया। इस आख्यान को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! बात यह थी कि महाराज परीक्षित् को सात दिन में तक्षक काट लेगा और वे मर जायेंगे, यह बात तीनों लोकों में फैल गयी। मेरे गुरुदेव भगवान् शुक भी आ गये और उन्होंने राजा को धैर्य बँधाते हुए कहा—"राजन ! तुम चिन्ता मत करो, मैं तुम्हें कथामृत पिलाकर अमर ही न बना दूँगा, किन्तु समस्त चिन्ताओं से रहित भी बना दूँगा।"

यह बात देवताओं ने सुनीं, तो उन्होंने सोचा—"हमारे यहाँ का स्वर्गीय अमृत इतना ही करता है स्वर्ग में शरीर से मृत्यु नहीं

होती। सशरीर वहाँ से ढकेल दिये जाते हैं इस अमृत को पीकर चिन्तायें तो बनी ही रहती हैं। जन्म-मरण का चक्कर भी नहीं छूटता। शुकदेवजी तो कथामृत पिलाकर चिन्ता रहित और संसारी आवागमन से रहित बनाने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। राजा परीक्षित को तो तक्षक का ही भय है क्यों न हम शुकदेवजी को अपना अमृत देकर बदले में कथामृत ले आवें। इस अदला-बदली में हमें लाभ ही होगा।" यही सब सोचकर समस्त स्वार्थी सुरगण सुवर्ण के अमृत कलश को लेकर उस सभा में आये जहाँ ब्राह्मणों के सहित महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेव से कथा श्रवण करने को बैठे थे। दिव्य कनक कुण्डल और किरीट मुकुट पहिने अधर में विराजमान् उन देवताओं को देखकर भगवान् शुक ने पूछा—"भाई! तुम कौन हो? देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम स्वर्ग में रहने वाले देवगण हैं।"

शुकदेवजी ने पूछा—"इस चमचमाते सुवर्ण कलश में यह क्या लिये हुए हो? गंगा जल है या पंचामृत?"

देवताओं ने कहा—"महाराज! न तो इसमें गंगा जल है, न पंचामृत। इसमें तो क्षीर सागर के मथने से जो अमृत निकला था, वही अजर-अमर बना देने वाला अमृत है।"

शुकदेवजी ने पूछा—"तो क्यों तुम इसलिये घूम रहे हो, कोई दूसरा गरुड़ तो इसे चुराने की ताड़ में नहीं है?"

देवताओं ने कहा—"नहीं, महाराज! चुराने का तो अब कोई भय नहीं है। हम तो इसे लेकर आपके पास आये हैं आप से कुछ कहना चाहते हैं।"

शुकदेवजी ने कहा—"कहो, क्या कहना चाहते हो?" यह सुनकर देवताओं ने फिर से श्रीशुकदेवजी को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले—"महाराज! आप इस अमृत को महाराज परीक्षित् को पिला दें।"

शुकदेवजी ने आश्चर्य के साथ कहा—"देवताओ! आज तो बड़े उदार बन गये हो क्या बात है अपना अभिप्राय बताओ। तुम बिना स्वार्थ के तो इतनी उदारता कर नहीं सकते। अपना यथार्थ अभिप्राय प्रकट करो।"

देवताओं ने कहा—"नहीं महाराज! स्वार्थ परार्थ कुछ नहीं सोचा हमने यह था कि राजा को तो अपने शरीर को बचाना है तक्षक के काटने से जो अवश्यम्भावी मृत्यु है उससे अपने को सुरक्षित रखना है। आप इन्हें कथामृत पान कराना चाहते हैं तो हमारा कथन इतना ही है, कि राजा हमारे इस दिव्य अमृत का पान करके अमर हो जायँ और इसके बदले में आप हमें श्रीमद्भागवती कथा का अमृत पान करा दें।"

देवताओं की बात सुनकर भगवान् शुक खिलखिलाकर हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"यही तो मैं सोच रहा था कि देवताओं के हृदय में कैसे ऐसी दानशीलता उमड़ पड़ी। अरे बुद्धि के शत्रुओं! बदला या तो बराबरी की वस्तुओं में होता है या कुछ न्यून अधिक में। तुम सोचो कि एक सरसों देकर सुमेरु को ले लें। बकरी को देकर कामधेनु को ले लें तो यह अदला-बदली नहीं सर्वथा ठगविद्या हुई। आप ही सोचो-कहाँ तो एक काँच का छोटा-सा टुकड़ा और कहाँ मूल्यवान् मणियों की मनोहर माला। कहाँ पत्थर का टुकड़ा और कहाँ पारस पत्थर, कहाँ आक का क्षीर और कहाँ कामधेनु का सर्वस्वाद युक्त मधुर दूध, कहाँ स्वर्ग का तुच्छ अमृत और कहाँ जीवन मरण को मेटकर मधुराति मधुर रस को देने वाली हरिकथा। तुम लोग अच्छा हमें ठगना चाहते हो?"

देवताओं ने कहा—"नहीं, महाराज! ठगने की कौन-सी बात है। सोचते थे हम भी भागवत कथा का पान कर लेते।"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"कर तो लेते किन्तु तुम्हारे भाग्य में

हो तब न ? तुम तो अपने स्वर्ग सुख को सुरक्षित रखने के लिए अपने स्वार्थ साधने के लिये नीच से नीच काम करने को कटिबद्ध रहते हो। भक्ति से तो तुम कोसों दूर रहते हो ऐसे भक्तिहीन कथा से क्या लाभ उठावेंगे। भाग जाओ यहाँ से।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! यह भागवती कथा साधारण नहीं है। यह देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। यह सर्वसाधनों का सारातिसार है। श्रद्धापूर्वक इसके श्रवण मात्र से ही मुक्ति करतल गत हो जाती है। लोग इसके ऐसे माहात्म्य को सुनकर आश्चर्य करेंगे किन्तु अब तो आश्चर्य की कोई बात रह ही नहीं गयी, ब्रह्माजी ने सब नाप तोलकर अपना यथार्थ निर्णय दे दिया है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ब्रह्माजी ने नाप तोलकर निर्णय कैसे दिया, इस कथा को कृपा करके आप हमें और सुना दीजिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! सुनिये। श्रीशुक के मुख से भागवती कथा सुनकर महाराज परीक्षित् की मोक्ष हो गयी। इसे देखकर ब्रह्माजी को बड़ा विस्मय हुआ। कहाँ तो अनेक जन्मों में साधन करते-करते ब्राह्मण शरीर मिलता है। उसमें भी विधिवत् चारों आश्रमों का पालन करे सर्व कर्मों का संन्यास करे। मेरे लोक को प्राप्त करे और कल्पान्त में मुक्ति मिले। कहाँ क्षत्रिय राजा—जो ब्राह्मण शाप से शापित भी था, केवल सात दिन में ही भागवती कथा सुनकर मुक्त हो गया। अवश्य ही इस कथा में कोई विलक्षण चमत्कार है। इस साधना में इतनी गुरुता क्यों है, कोई इसके बराबर का और साधन है या नहीं इसे तोलना चाहिये।" यही सोचकर ब्रह्मलोक में उन्होंने एक बड़ी भारी तखरी बनायी। एक पलड़े में तो उन्होंने श्रीमद्भागवत श्रवण रूपी साधन रखा और दूसरे में तीर्थ भ्रमण

रूपी साधन रखा। कथा श्रवण वाला पलड़ा उठा ही नहीं। फिर उन्होंने तप से तोला फिर भी पलड़ा नहीं उठा। अन्त में उन्होंने समस्त साधन एक पलड़े में रख दिये और दूसरे में अकेला हरि-कथा श्रवण रूपी साधन रखा। फिर भी पलड़ा उठा नहीं। सब मिलकर भी साधन हलके पड़े। यह देखकर वहाँ जितने देवर्षि महर्षि तथा ब्रह्मर्षि एकत्रित थे सभी परम विस्मित हुए और सब-ने मिलकर एक स्वर से निर्णय दे दिया कि श्रीमद्भागवत शास्त्र रूप साधन सर्वश्रेष्ठ है। श्रीमद्भागवत भगवान् का ही रूप है। कलियुग में इसके श्रद्धा सहित पठन तथा श्रवण से तत्काल वैकुण्ठ की प्राप्ति हो जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! किस क्रम से इसका पठन और श्रवण करना चाहिये?"

सूतजी बोले—"महाराज! श्रीमद्भागवत का तो जब भी पाठ करे तभी उत्तम है, श्रीमद्भागवत में तो दिन आदि का कोई नियम बताया नहीं है, किन्तु नीति शास्त्रकारों ने महाभारत, रामायण और श्रीमद्भागवत इन तीनों शास्त्रों को नित्य पढ़ने का नियम बताया है। वे कहते हैं प्रातः द्यूत चरित अर्थात् महा-भारत पढ़े, मध्याह्न में स्त्री चरित्र अर्थात् रामायण पढ़े और रात्रि में चोर चरित्र अर्थात् भागवत पढ़े। श्रीमद्भागवत में तो संक्षेप में भागवत माहात्म्य ही है। पद्म पुराण, स्कन्दपुराण तथा अन्य पुराणों में श्रीमद्भागवत के माहात्म्य विस्तार से वर्णित हैं, पद्म-पुराण में तो भागवत सप्ताह का माहात्म्य विशेष रूप से वर्णन किया गया है, स्कन्दपुराण में मासिक और पाक्षिक की प्रशंसा है। आप जिसे कहें उसी को सुनाऊँ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! श्रीमद्भागवत के सप्ताह की प्रथा कब चली, कैसे चली, किसके द्वारा चली। कृपया पहिले हमें आप सप्ताह का ही माहात्म्य सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इस श्रीमद्भागवत् को सर्वप्रथम श्री नारदजी ने ही अपने सनकादि बड़े भाइयों से सप्ताह विधि से सुना। तभी से संसार में भागवत सप्ताह का प्रचार हुआ।"

यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य के साथ शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप तो एक-से-एक विचित्र बात सुनाते हैं। महा भाग! परमहंसचक्रचूड़ामणि अवधूत दिगम्बर भगवान् शुक ने सात दिन एक स्थान में रहकर करुणा वश महाराज परीक्षित् को कथा सुनायी यह आश्चर्य की बात तो हमने आपके मुख से पहिले सुनी, किन्तु आप इससे भी आश्चर्य की बात यह कह रहे हैं कि नारदजी ने सप्ताह विधि से एक स्थान में रहकर अनुष्ठान पूर्वक भागवत को सुना उन्होंने तो पहिले ही ब्रह्माजी के मुख से श्रीमद्भागवत को सुना था। फिर वे तो सांसारिक झंझटों से विधि विधान से सर्वथा दूर रहते हैं, कभी एक स्थान पर टिकते भी नहीं। उनकी सप्ताह विधि में कैसे प्रवृत्ति हुई? उन्होंने एक स्थान पर रहकर इसे क्यों और कैसे सुना, कृपा कर हमारे इन प्रश्नों का उत्तर दीजिये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यह सत्य है उन्होंने पूर्व में ब्रह्माजी से श्रीमद्भागवत सुनी थी, किन्तु सप्ताह विधि से सनकादि मुनियों से कैसे सुनी इस प्रसंग को मैं कहता हूँ, आप सावधान होकर सुनें।"

छप्पय

प्रभु प्रसाद यह चरित सन्त भक्तनि कूँ भावै।
करि कराल विष-व्याल भागवत सुनि नसि जावै॥
सुधा अमृत रस सकल सरिस जाके कछु नाहीं।
जनम करम जगबन्ध सपदि सुनिके काट जाहीं॥
देवनि शुककूँ सुधा घट, दै बदले चाह्यो चरित।
सुरनि अनाधकारी समुझि, दयो न, है यह जग विदित॥

श्री नारदजी की भक्ति से भेंट

[३]

तप्यन्ते लोकतापेन प्रायशः साधवो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० ७ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

जग में सबई सुलभ खलनिकूँ धन मिलि जावै ।
पुण्य करत नर ब्रह्मलोक तक हू चलि जावै ॥
किन्तु भागवत चरित होहि रति दुरलभ अति है ।
धन्य धन्य ते मनुज कृष्ण चरननि जिनि मति है ॥
धरम तुला अजमे करी, एक ओर साधन सबहिँ ।
एक ओर भगवत-चरित, भयो गरू पलड़ा इतहिँ ॥

संसार में अपने तथा अपने परिवार के दुःख से दुखी तो सभी होते हैं, किन्तु महापुरुष वे ही होते हैं, जो सर्व साधारण को दुखी देखकर दुखी हों। दूसरों के दुःखों को अपने दुःख के समान समझें और उसे मिटाने के लिये व्यग्र बने रहें। जो परोपकार को परोपकार भावना से करते हैं, उनको अभिमान भी हो जाता है, किन्तु जो परोपकार को अपना निजी ही काम

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! प्रायः साधुजन लोगों के तापों को देखकर सतप्त होते हैं। यही तो उन अखिलात्मा परम पुरुष की सबसे बड़ी परम आराधना है।"

समझें। यह न सोचें कि हम दूसरों पर दया करके दूसरों के लिये कर रहे हैं वास्तव में वे ही यथार्थ परोपकारी हैं, उन्हीं के उपकार के कारण यह संसार टिका रहता है, उन्हीं के पुण्य प्रताप से प्राणी अनादि काल से शान्ति लाभ करते आ रहे हैं और अनन्तकाल तक करते रहेंगे। भगवान् नारद ऐसे ही परोपकारी हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पूछा है, कि सांसारिक प्रपञ्चों से परे रहने वाले, नारद मुनि की विधिपूर्वक नियम से एक स्थान में रहकर भागवत सप्ताह—श्रवण करने की प्रीति कैसे हुई।" इसका मैं उत्तर देता हूँ। इस विषय का एक बड़ा ही मनोरंजक भक्तिवर्धक इतिहास है। बड़ी ही रहस्यमयी कहानी है। वह सब किसी को नहीं बतायी जाती। प्रायः तत्ववेत्ता मुनि ऐसी कथाओं को सहसा कहते नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतनी रहस्यमयी कथा आपने कैसे सुनी? किससे सुनी?"

सूतजी बोले—"महाराज! मेरे ऊपर तो मेरे गुरुदेव भगवान् शुक की कृपा हो गयी। उन्होंने मुझे अपना अनन्य ऐकान्तिक भक्त शिष्य समझकर इस कथा को सुनाया था। तिस पर भी ऐसे एकान्त में सुनाया था, जहाँ दूसरा कोई था ही नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"तो सूतजी! आप यदि हमें अधिकारी समझते हों, तो इस कथा को हमको भी अवश्य ही सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! आपके अतिरिक्त और कौन इसका अन्य अधिकारी होगा, मैं आप सबको इस परम पुण्यमयी पौराणिकी गाथा को सुनाता हूँ।"

एक बार की बात है, कि ब्रह्माजी के मानस पुत्र श्री सनक, सनंदन, सनत्कुमार और सनातन ये चारों ही सत्संग के निमित्त घूमते घामते गंधमादन पर्वत पर स्थित श्रीबदरिकाश्रम में गये।

एकान्त के विचार से वे अलकनंदा के तट पर बैठकर कुछ सत्संग कर रहे थे, कि उन्होंने सामने से आते हुए नारद मुनि को देखा। सनकादि मुनीश्वर देखकर अवाक् रह गये। आज नारदजी की विचित्र दशा थी। उनकी चोटी खुली हुई थी, बदरीनाथ की ठंड में भी उनके मुख पर स्वेदबिन्दु झलक रहे थे। आज न वे वीणा बजा रहे थे और न राम कृष्ण हरि की मधुर तान छेड़कर भगवान् के त्रैलोक्य पावन सुमधुर नामों का कीर्तन ही कर रहे थे। उनके ओंठ सूखे हुए थे मुख म्लान था, हृदय की चिन्तामुख मंडल पर स्पष्ट झलक रही थी। वे सपाटे के साथ स्वर्गारोहण की ओर दौड़े जा रहे थे। सनकादि मुनीश्वर यद्यपि सम्मुख ही बैठे थे, किन्तु इन्होंने उन्हें देखा नहीं। चिन्ता में निमग्न वे आगे ही चले जाते थे, तब कुमारों ने पुकारा—"नारदजी! कहो कहाँ चले?"

अब नारदजी को चेत हुआ, पीछे फिरकर देखा तो उन्हें अपने चारों बड़े भाई दिखायी दिये, वे शीघ्रता से लौट पड़े। आकर उन्होंने भूमि में लोटकर चारों मुनियों को साष्टांग प्रणाम किया। मुनियों ने एक सुन्दर-सा चिकना पाषाण उन्हें बैठने को बताया। नारद जी जब अपने आसन पर सुखपूर्वक बैठ गये तब कुमारों ने पूछा—"नारदजी! कहो कहाँ इतनी शीघ्रता से जा रहे हो?"

खिन्न मन से उदासीनता के साथ नारदजी ने कहा—"कहीं नहीं महाराज! ऐसे ही घूमता घामता चला आया।"

कुमारों ने पूछा—"नारदजी! क्या बात है, आज तो आपकी विचित्र दशा है, हमने आपको ऐसी दशा में तो इससे पहिले कभी देखा नहीं था। प्रतीत होता है, आप किसी गहरी मानसिक पीड़ा से पीड़ित हैं। आपका मनोहर मुख मंडल मलिन हो रहा है, न आप आज वीणा ही बजा रहे हैं, न कीर्तन ही कर रहे हैं, पहिले

आप सदा मत्त गयंद की चाल से आनंद में विभोर होकर झूमते हुए चलते थे, आज तो आप दौड़ लगा रहे थे। इस समय आप आ कहाँ से रहे हैं और कहाँ जाने की इच्छा है? आपकी आकृति तो उस व्यापारी की-सी हो रही है, जिसका सर्वस्व तस्करों ने लूट लिया हो और वह सर्वस्व गँवाया वणिक् खिन्न मन से कहीं दौड़ा जा रहा हो। आप तो ब्रह्मज्ञानी हैं, परम विरक्त हैं, माया मोह से रहित हैं। आपके लिये ऐसी चिन्ता शोभा नहीं देती। अच्छा, हमें अपनी चिन्ता का कारण तो बताओ, यदि हमारे योग्य कोई कार्य होगा तो हम आपकी सहायता भी करेंगे।"

नारदजी ने नम्रता के साथ कहा—"भगवन्! आप मेरे बड़े भाई हैं, ब्रह्मज्ञानी हैं, आपसे भी अपनी चिंता न कहूँगा तो और किससे कहूँगा। आपने जो-जो पूछा है, मैं बताता हूँ, इस समय मैं मर्त्यलोक से आ रहा हूँ।"

कुमारों ने कहा—"आप तो सदा चौदहों भुवनों में घूमते ही रहते हैं। मर्त्यलोक भी गये होंगे, किन्तु वहाँ किसी विशेष उद्देश्य से गये थे या वैसे ही घूमते घामते चले गये।"

नारदजी ने कहा—"प्रभो! वैसे तो मैं जाता आता ही रहता हूँ, किन्तु अब के मैं श्वेतद्वीप, वैकुंठ, कैलाश तथा मह, जन और तपादि लोकों में बहुत दिनों तक घूमता रहा। इन दिव्य लोकों में घूमते-घूमते मेरे मन में इच्छा हुई, ये सब लोक तो भोग लोक हैं, इनमें कोई आगे के लिये कर्म तो करते नहीं। भोग भोगते रहते हैं। एकमात्र भूलोक ही ऐसा लोक है, जो कर्मलोक है। यहीं से कर्म करके प्राणी स्वर्ग, नरक तथा अन्यान्य लोकों में जाते हैं। पृथ्वी पर बड़े-बड़े पुण्यप्रद पवित्र तीर्थ हैं। साढ़े तीन करोड़ तीर्थ पृथ्वी पर विद्यमान् हैं। एक-से-एक बढ़कर पुण्य देने वाले हैं। चलो वहाँ चलकर साधु सन्तों से सत्संग करेंगे, तीर्थों में

भ्रमण करेंगे। यही सोचकर मैं ऊपर के लोकों से चल दिया।"

कुमारों ने पूछा—"तो, फिर आप कहाँ-कहाँ गये ? किन-किन पुण्य तीर्थों की यात्रा की ?"

नारदजी ने कहा—"भगवन् ! सबसे पहिले तो मैं सब तीर्थों का जो गुरु है पुष्करराज वहाँ गया। जहाँ से हमारे पिताजी ने सृष्टि आरम्भ की। पुष्कर तीर्थ में स्नान करके फिर मैं समस्त तीर्थों के राजा प्रयागराज में आया, जहाँ गंगा यमुना आकर मिलती हैं, जहाँ पर कभी भी क्षय न होने वाला अक्षयवट है। फिर समस्त क्षेत्रों में जो सर्वोत्तम क्षेत्र माना जाता है, जहाँ मरने मात्र से ही मुक्ति हो जाती है, उस वाराणसी क्षेत्र काशी पुरी में गया। फिर कलियुग में समस्त पापों को हरने वाली गोदावरी गंगा में स्नान करने के निमित्त दौड़ा गया। फिर मायापुरी हरिद्वार मे गया, कहाँ तक गिनाऊँ हरिहर क्षेत्र, कुरुक्षेत्र, श्रीरंगम् तीर्थ, रामेश्वरजी, द्वारकाजी तथा और भी जितने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पापहारी पुण्यपद क्षेत्र हैं सभी मे गया, किन्तु मै आपके सम्मुख सत्य-सत्य निवेदन कर रहा हूँ, इतने पुण्यप्रद तीर्थों में से कहीं भी मुझे शान्ति नहीं मिली।"

कुमारों ने पूछा—"आपको शान्ति क्यों नहीं मिली ? अशान्ति का क्या कारण था।"

नारदजी ने कहा—' महाराज ! मैंने देखा पृथ्वी पर सर्वत्र कलि काल का साम्राज्य है। कलियुग का मित्र है अधर्म। उसी का सर्वत्र बोल बाला है। धर्म की तो कोई चर्चा ही नहीं। कहीं भी चले जाओ सर्वत्र असत्य का व्यवहार मिलेगा। पहिले लोग प्राणों का पण लगाकर सत्य का पालन करते थे, अब सत्य की कोई बात ही नहीं रह गयी। कानी कौडी के लिये सैकड़ों झूठ बुलवा लीजिये। तप तो तपस्या करने तप लोक में चले गये। जो अपने को तपस्वी प्रसिद्ध करते हैं, उनके ऐसे ठाठ हैं, कि क्या

किन्हीं भोगियों के होंगे। तप एक जीविका का साधन बन गया है। पवित्रता तो रही ही नहीं। सभी वर्ण सभी जाति वाले एक हो गये। चाहें जहाँ, चाहे जिसके साथ चाहें, जिसके हाथ का खा लेते हैं। बाहरी भीतरी कोई भी पवित्रता नहीं रही। दया का तो लेश नहीं रहा। लोग सम्मुख भूख से तड़पते लोगों को देखते हैं अपने घर में अन्न है, यह नहीं कि मुट्ठीभर अन्न दे दें, कह देते हैं—'यह काम तो शासकों का है, हम अपना अन्न क्यों दें।' मनुष्य बड़े निर्दयी बन गये हैं, तनिक-सी बात के लिये सगे सम्बन्धियों का वध कर डालते हैं। दान का तो नाम ही नहीं रह गया है। अब तो कहते हैं दा—"न, दा – न अर्थात् दा शब्द का नाम भी मत लो। 'लाला का नाम लो। अब तो हा पेट इसी की चारों ओर पुकार मच रही है। हमारा पेट भर जाय, दूसरा भले ही मर जाय। कलियुगी प्राणियों का पेट है या कुठिला है जो भरता ही नहीं। सबको केवल पेट की ही चिन्ता लगी है। व्यवहार कपटमय बन गया है, बात-बात में छल कपट। एक देंगे चार लिखावेंगे, रुपयों को शासकों से छिपावेंगे, कुछ का कुछ बतावेंगे। स्वयं कपट करेंगे अपने सगे सम्बन्धियों से करावेंगे। धूर्त दुष्ट तथा अधर्मियों को उत्कोच (घूँस) खिलावेंगे। सारांश यह कि कोई भी ऐसा व्यवहार न करेंगे जो कपट से रहित हो।

कलियुग में आलस्य का बड़ा प्राबल्य हो गया है लोग अरुणोदय में उठने की कौन कहें एक प्रहर दिन चढ़े तक शैयापर पड़े रहते हैं। शैया पर पड़े ही पड़े बिना शौच से निवृत्त हुए पेय पदार्थ पी लेते हैं, अखाद्य खा लेते हैं, तब आलस्य में झूमते हुए, मुख से धूम्रपान का धूम्र छोड़ते हुए उठते हैं। उनका सब समय खाने, पीने, सोने और विषय वार्ता तथा पेट की ही चिन्ता में बीतता है। निद्रा आलस्य और प्रमाद ये उन्हें घेरे रहते हैं। कलि के प्रभाव से उनकी बुद्धि पर आवरण छा गया है, उनकी बुद्धि

मन्द हो गई है, स्मरण शक्ति नष्ट हो गयी है, जब तक बात को लिख न लें तब तक उन्हें याद ही नहीं रहती। सब श्रीहीन अभागे हो गये हैं न घरों में धनरत्न हैं न पहिले जैसे वाहन। स्त्री पुरुष आभूषणों से रहित श्रीहीन कांतिहीन मृतक सदृश दिखाई देते है। घर-घर में रोगों ने अड्डा जमा लिया है। कोई ऐसा दिखाई नहीं दिया जो आधि-व्याधियों से व्याप्त न हो। सर्वत्र पाखण्ड की प्रचुरता है, बात-बात मे पाखंड, बात-बात में दम्भ कलियुगी जीवों की दशा देखकर दया भी द्रवित हुए बिना नहीं रह सकती।

महाराज! और को तो बात छोड़ दीजिये, जिन्होंने विरक्तों का वेष बना रखा है, उनको भी रात्रि-दिन धन की ही चिंता बनी रहती है। वे भी कोई जंत्र-मंत्र देते हैं, कोई ओषधि बेचते हैं, कोई ज्ञान की बिक्री करते हैं कोई पुस्तकों का व्यापार करते हैं, लाखों रुपये कमाते हैं, कहने को विरक्त किन्तु धन मे तथा स्त्रियों में सदा अनुरक्त बने रहते हैं। चेलों की अपेक्षा चेलियों की चिंता उन्हें अधिक होती है, क्योंकि धन वे ही लाकर देती हैं, या दिलाती हैं। विरक्तों के जो ठाट-बाट हैं वे गृहस्थों के नहीं। क्योंकि उनकी एकमात्र यही साधना रहती है कैसे बड़े घर की स्त्रियों को शिष्य बनाया जाय।

गृहस्थियों के घर में स्त्रियों का ही साम्राज्य हो गया है। श्रीमतीजी के श्रीमुख से जो निकल गया उसे हमारे पिता ब्रह्माजी भी अन्यथा नहीं कर सकते। पुरुष स्त्रियों के अधीन हो गये हैं। वे अपने पिता, चाचा, ताऊ तथा बड़े भाई आदि से सम्मति नहीं लेते। जो पूछना हो श्रीमती जी के भाई जी से पूछा जाता है वे ही घर के मुख्य सम्मति दाता समझे जाते हैं उनकी छोटी बहिनें अर्थात् श्रीमती जी की भगिनियों की ही घर में उत्सवपर्वों पर प्रधानता होती है। यह तो सम्पन्न परिवारों की दशा है। किन्तु

जो साधारण हैं, उनके यहाँ लड़कियों का व्यापार होता है, घर में एक लड़की हो गयी, उसी के नाम पर ऋण लेने लगते हैं, बूढ़ों के हाथों लोभवश उन्हें बेच देते हैं। वर-वधु प्रायः विपरीत स्वभाव के स्वार्थी होते हैं। पति-पत्नी में विशुद्ध प्रेम रह नहीं गया है, इसीलिये घरों में नित्य कलह होती है। गार्हस्थ जीवन रौरव नरक से भी अधिक वीभत्स बन गया है।

गृहस्थियों की बात तो पृथक् रही। महात्माओं के आश्रमों में नित्य वही अभियोग और लड़ाई की चर्चा होती है। यवनों का आश्रमों पर आधिपत्य हो गया है, पुण्य क्षेत्रों में उन्हीं की प्राधान्यता है, वे आर्य वैदिक सनातन धर्म से द्वेष रखते हैं। मठ, मंदिर तीर्थ स्थानों को उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया है। दुष्टों ने देवालयों को नष्ट भ्रष्ट करके उन्हें अपवित्र और दूषित बना दिया है।"

कुमारों ने कहा—"नारदजी! आप तो बड़ी विचित्र बात कह रहे हैं, पृथ्वी पर कलिकाल ने इतना अधिकार कर लिया। क्या सभी लोग सत्य, सदाचार, शौच, दया, धर्म तथा सद्गुणों से रहित बन गये। अजी, कुछ तो भगवत्भक्त, सिद्ध तथा योगी तपस्वी होंगे ही?"

खिन्नता के साथ नारदजी ने कहा—"अजी, महाराज! क्या पूछते हो? कलिकाल रूपी दावानल से सभी साधन जलकर भस्म हो गये। अब यहाँ न कोई योगी है न सिद्ध ज्ञानी है न वैदिक कर्मकाण्ड को करने वाले। अब तो भगवन्! सब दम्भ है, छल है, कपट है, पाखण्ड है, दिखावा है और है ठगी का व्यवहार। महाराज! पहिले युगों में तीन बातें अत्यन्त ही निन्द्य मानी जाती थीं।"

कुमारों ने पूछा—"कौन-सी तीन बातें अत्यन्त निन्द्य मानी जाती थीं।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! एक तो अन्न बेचना। सूखा अन्न बेचना उतना बुरा नहीं माना जाता था। किन्तु पक्व अन्न बेचना महापाप माना जाता था। जो लोग मिठाई भी बेचते थे उनके हाथ का छुआ कोई नहीं खाता था। वे बेचने के लिये अन्य लोग रखते थे। अब कलियुग में तो स्थान-स्थान पर भोजनालय खुल गये हैं, गिनकर रोटी बेची जाती हैं, यहाँ तक कि अपने घर में अतिथि आता है, उससे भोजन का मूल्य ले लेते हैं। अब पके अन्न को बेचना एक साधारण-सी बात हो गई है। आश्रमों में भी पका अन्न बेचा जाता है। यह इतने आने का भोजन है यह इतने का।

दूसरी अत्यन्त निषेध बात थी वेद विक्रय। वेतन लेकर पढ़ाना बड़ा निषिद्ध समझा जाता था, किन्तु अब तो सभी अध्यापक वेतन लेकर ही पढ़ाते हैं, यहाँ तक कि अपने को त्यागी विरक्त कहने वाले भी पुस्तकें लिखकर बेचते हैं, यह भी वैतनिक अध्यापकों के समान है। तीसरे वेश्यावृत्ति अत्यन्त निन्द्य मानी जाती थी, सो महाराज ! कलियुग में तो प्रायः घर-घर में यह फैल गयी। राज्य की ओर से भी कोई मनाही नहीं। कहने का सारांश इतना ही है, कि कलियुगी लोग तमोगुण से आवृत हो गये, वे अधर्म को ही धर्म मानने लगे। लोग अपनी युवती लड़कियों को समाज में नचाने में अपना गौरव समझने लगे। विवाह विच्छेद, गर्भनिरोध ये सब उन्नति के चिन्ह समझे जाने लगे।"

देश में दरिद्रता के चिन्ह सर्वत्र दिखायी देने लगे हैं कहाँ पहिले हाट बाटों में सर्वत्र अन्न भरा रहता था, कहाँ अब अन्न के दर्शन नहीं होते, पहिले सभी ब्राह्मण वेद पढ़ते थे, अधिक नहीं तो अपनी शाखा का तो अध्ययन करते ही थे, अब वे ही वेदों के शत्रु बन गये हैं। पहिले स्त्रियाँ केश बढ़ाकर उनमें

वेणी बाँधना परम सौभाग्य का चिन्ह मानती थीं। अब वे केश कटाने में ही बड़प्पन समझती हैं। कहाँ तक कहें भगवन्! सभी बातें विपरीत हो गयी हैं। तीर्थों में पाखण्ड बढ़ गया है। कहीं यथार्थ नहीं। जहाँ देखो वहीं बनावट। इस प्रकार मैं पूर्व से पश्चिम तक उत्तर से दक्षिण तक सर्वत्र घूमा, मुझे सर्वत्र धर्म के विपरीत ही लक्षण दिखायी दिये। इस प्रकार घूमता घामता मैं आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की क्रीड़ा भूमि व्रज में आया। यमुना के पावन पुलिनों में जहाँ रासेश्वर राधिकारमण ने व्रजाङ्गनाओं के साथ अत्यन्त सुखमयी रासक्रीड़ा की थी, उस वृन्दावन में गया, वहाँ मैंने एक अत्यन्त आश्चर्य जनक दृश्य देखा।"

कुमारों ने पूछा—"क्या आश्चर्यजनक दृश्य देखा, नारदजी! हमें भी तो उसे सुनाइये।"

नारदजी ने कहा—"क्या सुनाऊँ, महाराज! कुछ सुनाने योग्य हो तो सुनाऊँ। ऐसा दृश्य तो मैंने कभी नहीं देखा। मैंने देखा यमुनाजी के किनारे एक सघन निकुंज की छाया में बड़ी ही सुन्दरी युवती बैठी है। उसका चित्त अत्यन्त खिन्न हो रहा था, उसके सौंदर्य से दशों दिशायें आलोकित हो रही थीं, किन्तु वह बैठी-बैठी अश्रु बहा रही थी, उसके कमल के सदृश बड़े-बड़े कमनीय नयनों से निरन्तर अश्रु ऐसे ही बह रहे थे मानों पूर्णचन्द्र से अमृत के बने मोती झर रहे हों। उसके समीप ही दो वृद्ध पुरुष अचेतन हुए पड़े थे, वे लम्बी-लम्बी साँस ले रहे थे ऐसा लग रहा था, मानों अब ही ये मरने वाले हैं। वह सुन्दरी युवती उन्हें बारम्बार जगा रही थी, उनकी सेवा सुश्रूषा कर रही थी। पंखा झलकर सुगन्धित जल छिड़ककर उन्हें जगाना चाहती थी, जब वे नहीं जागते, ज्यों-के-त्यों मूर्छित ही बने रहते तब वह बड़े वेग से ढाह मारकर रोने लगती और दशों दिशाओं में अपने किसी सहायक की खोज करने लगती। देखने में वह

कोई बड़ी प्रभावशालिनी कुलवती सम्पन्न परिवार की जान पड़ती थी, सहस्रों दासियाँ उसकी सेवा में संलग्न थीं. कोई पंखा

कर रही थी, कोई सुगन्धित द्रव्यों को ला रही थी, बहुत-सी उसे धैर्य बँधा रही थीं, मीठी-मीठी बातें करके समझा रही थीं, किन्तु उसकी वेदना तीव्र थी, वह अत्यन्त व्याकुल हो रही थी, उसकी ऐसी दशा देखकर मुझे बड़ी दया आई। मुझसे अब अधिक न देखा गया और मैं अपने कुतूहल को शांत करने के निमित्त उसके समीप चला गया। महाराज! एकान्त में इस प्रकार स्त्रियों के बीच में जाना हम जैसे लोगों को उचित तो नहीं फिर भी यह सोचकर कि यदि मेरी सेवा से इसका कुछ दुःख दूर हो सके मेरा शरीर इसके कोई काम आ सके तो अति उत्तम है। मैं उसके समीप गया। मुझे देखते ही वह कुलीन नारी खड़ी हो गयी। मैं कुछ निर्णय न कर सका, कि अब क्या करूँ, कैसे बातें

करूँ, मैं वहाँ से चलने का उपक्रम करने लगा। वह मुझे जाता हुआ देखकर अत्यन्त ही करुण स्वर में कहने लगी—"महात्मा-जी ! तनिक ठहर जाइये। मुझे आपसे कुछ निवेदन करना है। मैं बड़ी चिन्तित हूँ, साधु पुरुष तो दीनवत्सल होते हैं सन्तों के दर्शनों से सभी ताप सन्ताप मिट जाते हैं, उनके दर्शन समस्त अर्थों के नाशने में समर्थ होते हैं। आप भी मेरी चिन्ता को मेटिये। मेरी भी कुछ सहायता कीजिये।"

मैंने कहा—"देवि ! मैं क्या सहायता कर सकता हूँ, मैं तो विरक्त साधु हूँ, सहायता करने को मेरे पास तो कुछ है नहीं, केवल मौखिक सहानुभूति ही प्रकट कर सकता हूँ।"

यह सुनकर वह बाला बोली—"हे सन्त शिरोमणि ! आपके सहानुभूति पूर्ण वचनों से ही मेरे दुःख की बहुत कुछ शान्ति हो जायगी। वचनों की बात तो पृथक् रही, आपके दर्शनों से ही सब कुछ हो सकता है, साधुओं के तो दर्शन ही परम श्रेयस्कर हैं। आप जैसे सन्तों का दर्शन अत्यन्त भाग्यशाली पुण्यात्माओं को ही हो सकता है। जिन्होंने पूर्वजन्मों में बहुत पुण्य किये हैं, उन्हें ही साधुओं के दर्शन होते हैं। दर्शन हो जाने पर पाप नष्ट होकर इस जन्म में सुख होता है और अगले जन्मों के लिये सुकृत संचय होता है, इस प्रकार संत दर्शन तीन जन्मों के पुण्यों का कारण है।"

मैंने कहा—"देवि ! आप जैसा समझ रही है, वैसा संत तो मैं हूँ नहीं। फिर भी आप मुझे अपना परिचय दें। मुझसे जो भी कुछ बन सकेगा आपकी सहायता करूँगा, आपके दुःख को दूर करने का प्रयत्न करूँगा। पहिले तो आप अपना परिचय दीजिये, फिर यह बताइये कि ये जो अत्यन्त बूढ़े मरणासन्न व्यक्ति आपके सम्मुख पड़े हैं ये कौन हैं। ये आपके मातृ-वंश के कोई मामा नाना या बड़नाना हैं, या पितृवंश के पिता-

पितामह प्रतिमामह हैं, अथवा पतिवंश के ससुर ददियाससुर आदि हैं।"

नारदजी सनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनिवर! मेरे इस प्रश्न को सुनकर वह बाला अत्यधिक लज्जित हुई और लज्जा के कारण मुख को ढककर शनैः-शनैः कहने लगी—"साधुवर! न ये मेरे मातृवंश के मामा नाना हैं, न पितृवंश के पिता, पितामह और प्रपितामह हैं, ये मेरे ससुर ददियाससुर भी नहीं है। ये दोनों मेरे पुत्र हैं।"

नारदजी कह रहे हैं—"मुनियो! मैं तो यह सुनकर अवाक् रह गया, उस युवती की अवस्था तो अधिक से अधिक १५, १६, वर्ष की प्रतीत होती थी और वे बूढ़े अवश्य ही १००, १५० वर्ष के होंगे। माता युवती और बेटे बूढ़े यह कैसी अद्भुत घटना थी। मैंने कहा—"देवि! मैं आपके वचनों से विमूढ़-सा बनता जा रहा हूँ, आप यह बताइये कि यह जो आपकी सेवा में संलग्न हैं ये कौन हैं।"

युवती ने कहा—"ये मेरी सखी सेविका हैं। ये स्वर्गीय ललना हैं। जग को पवित्र करने वाली हैं। इनमें किसी का नाम गंगा है, किसी का यमुना, किसी का सरस्वती, गोदावरी, तुंगभद्र, कृतमाला, पयस्विनी तथा और भी सबके पवित्र नाम हैं। ये तीर्थ स्वरूपा सरिता हैं। देवताओं द्वारा भी ये पूजित हैं। इतनी देवियों के द्वारा पूजित होने पर भी मुझे सुख नहीं शान्ति नहीं।"

मैंने पूछा—"देवि! आपने अपना नाम तो बताया ही नहीं। आप अपना तो परिचय दीजिये।"

युवती ने कहा—"मुनिवर! मैं अपना परिचय क्या दूँ, मुझे लोग 'भक्ति' के नाम से पुकारते हैं।"

मैंने कहा—"ओ हो! त्रिभुवन को पावन बनाने वाली भक्ति

महारानी आप ही हैं। अहोभाग्य! आज आपके दर्शन हुए। किन्तु आपकी यह दशा कैसे हुई। आप तो आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी की परम प्रेयसी थीं। आप इतनी दुखी क्यों हैं, आपके इन पुत्रों की ऐसी दशा क्यों हो गयी। आपके इन पुत्रों का नाम क्या है।"

भक्ति बोली—"मुनिवर! मेरे इन पुत्रों का नाम 'ज्ञान' और 'वैराग्य' है। समय के प्रभाव से ये वृद्ध हो गये और स्थान के प्रभाव से मैं युवती बन गयी।"

मैंने पूछा—"माताजी! काल के प्रभाव से ज्ञान वैराग्य बूढ़े कैसे हुए और स्थान के प्रभाव से आप युवती कैसे बन गयीं। यदि इसमें कोई छिपाने योग्य बात नहीं और आप मुझे बताना उचित समझती हों तो इसके रहस्य को समझा दीजिये।"

भक्ति महारानी ने कहा—"मुनिवर! साधुओं से कोई बात छिपायी नहीं जाती। उन्हें अपनी विपत्ति सुनाने से तो कल्याण ही होता है। मेरी कथा बहुत बड़ी है यदि आप सुनते-सुनते ऊबें नहीं तो मैं अपनी राम कहानी सुनाऊँ?"

मैंने कहा—"देवि! ऊबने की तो कोई बात नहीं मुझे तो आपकी कथा सुनकर परम प्रसन्नता होगी। कृपा करके आप मुझे अपनी कथा अवश्य सुनावें।"

यह सुनकर भक्ति महारानी कहने लगीं—"मुनिवर! आप मेरी सम्पूर्ण कथा सुनिये और सुनकर मुझे धैर्य बँधाइये। यह तो आप जानते ही हैं मैं आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की नित्य वृन्दावन विहारिणी प्राणप्रिया हूँ। भगवान् जब इहलौकिक लीला को तिरोहित करके दिव्यधाम को पधारने लगे तो एक रूप से तो मुझे साथ ले गये और दूसरे रूप से लोक कल्याणार्थ मुझे यहीं छोड़ गये। प्राणनाथ के वियोग में कृश होते-होते मैंने भी शरीर त्याग दिया। कालान्तर में अब के मेरा जन्म दक्षिण देश

में हुआ। द्रविड़ देश में मैं उत्पन्न हुई। मुझे अपने माता-पिता का स्मरण नहीं है। मैं पृथ्वी पर घूमने लगी। द्रविड़ देश से चलकर मैं कर्णाटक देश में आई। द्रविड़ देशवासियों ने निष्कपट भाव से मुझसे प्रेम तो किया। किन्तु उन्होंने मुझे बढ़ाने के लिये कोई रस नहीं दिया, वहाँ मेरा बाल्यरूप ही रहा। कर्णाटक वासियों ने मुझे बढ़ाया तो अवश्य किन्तु पुत्री भाव से ही पूजा की। कर्णाटक से चलकर मैं महाराष्ट्र देश में आयी। वहाँ मुझे मातृत्व पद प्राप्त हुआ। वहीं मेरे ज्ञान और वैराग्य ये दो पुत्र पैदा हुए। वहाँ के संतों ने मेरा भी आदर किया, और मेरे पुत्रों को भी प्यार किया। वहाँ मेरी अपेक्षा मेरे पुत्रों का ही आदर अधिक रहा। इससे मैं कुछ क्षीण- सी पड़ गयी। मेरे पुत्र तो युवक हो गये मेरे शरीर में कुछ वृद्धावस्था के से लक्षण दिखायी देने लगे। वहाँ से चलकर मैं गुजरात आई। वहाँ मेरी बड़ी दुर्दशा हुई। मेरे पुत्रों का तो वहाँ आदर ही न था। मेरा भी आदर बनावटी ही था। मेरे नाम से दूसरों की पूजा होने लगी। यथार्थ मुझे भुलाकर मेरे बनावटी वेष का आदर करने लगे। भोले-भाले गुजरातियों को पाखंडियों ने फँसा लिया। घोर कलियुग के प्रभाव से पाखंडियों ने मुझे विकृत बना दिया मेरे अंग-भंग कर दिये। मैं भी वहाँ कष्ट और पाखंड के कारण वृद्धा बन गयी और मेरे बच्चे भी बूढ़े हो गये।

मैं चिरकाल तक पाखंडियों द्वारा प्रताड़ित की गयी, घोर कलियुग के प्रभाव से विकृत-सी बन गयी तब मैं अपने बूढ़े पुत्रों को साथ लिये यहाँ वृन्दावन में आ गयी। व्रज की सरस भूमि में पैर रखते ही मेरी वृद्धावस्था भाग गयी। मुझे अपना दिव्य यथार्थ नित्य किशोरी रूप प्राप्त हो गया। वृन्दावन का प्रभाव ही ऐसा है। यहाँ भगवान् की प्रियतमा कभी वृद्धा नहीं होतीं वे सदा नित्य किशोरी ही बनी रहती हैं।

मैं भी यहाँ आकर अत्यधिक मनोहर रूपवाली अतिसुंदरी नवयुवती हो गयी हूँ, किन्तु मेरे पुत्र ज्यों-के-त्यों बूढ़े ही बने रहे। यही नहीं यहाँ आकर ये और भी बूढ़े हो गये। पहिले तो ये चल फिर भी लेते थे, किन्तु अब तो ये सर्वथा भूमि पर ही गिर पड़े। न इनसे उठा जाता है न बैठा ही जाता है। मेरा काम है देश देशों में घूमते रहना, अब मैं यहाँ से कहीं अन्य देश में जाना चाहती हूँ, किन्तु इन पुत्रों को ऐसी दशा में छोड़-कर कैसे जाऊँ। कोई क्या कहेगा कि माता थी या राक्षसी जो पुत्रों को ऐसी दशा में छोड़कर चली गयी। अब मुझे बड़ी लज्जा लग रही है, यदि मैं बूढ़ी बनी रहती और ये युवक बन जाते, तब तो बात भी बन जाती। माता को तो पुत्रों के सम्मुख वृद्धा होना न्याय संगत भी है, किन्तु पुत्र बूढ़े हों माता नवयुवती हो, यह शोभा नहीं देता। अब मैं आपसे पूछती हूँ, कि मेरे ये पुत्र युवक क्यों नहीं हुए और मैं क्यों युवती बन गयी ? हम तो तीनों ही साथ-साथ रहते थे, साथ ही घूमते थे, फिर एक को युवावस्था प्राप्त हो और दो बूढ़े के बूढ़े ही बने रहें। आप सर्वज्ञ हैं मेरी इस शंका के दूर कीजिये। मेरे दुःख का एकमात्र कारण यही है। इसी दुःख से दुखी होकर मैं मन-ही-मन भयभीत और दुखी हो रही हूँ।"

भक्ति की बात सुनकर मैंने उससे कहा—"हे पाप रहित माताजी ! मैं तनिक भगवान् का ध्यान कर लूँ, अपने चित्त को स्थिर कर लूँ। तब ज्ञानदृष्टि से-समाधि में आपके दुःख का कारण खोजूँगा। आप निश्चिन्त हो जायें। समस्त शोक तथा भयों को त्याग दें। भवभयहारी भगवान् आपका मंगल करेंगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! सनकादि मुनियों से इतना कहकर नारदजी मौन हो गये, अब वे आगे जैसे अपना और

भक्ति का सम्वाद कहेंगे, उस कथा प्रसंग को आगे कहूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

है जामें इतिहास पुरातन ताहि सुनाऊँ।
जाई मिस सप्ताह भागवत विधि फल गाऊँ॥
सनकादिक ने लखे दुखित नारद बदरीवन।
मलिन वदन अति खिन्न खेद को पूछ्यो कारन॥
नारद बोले—भक्ति माँ, युवती वृन्दावन लखी।
बूढ़े ज्ञान विराग सुत, निरख भयो मम मन दुखी॥

श्रीहरिः

नारदजी द्वारा भक्ति को कलिप्रभाव जताना

[४]

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया ।
कालेन बलिना राजन् नंक्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः ॥
वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः ।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० २ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

बोली मोतें भक्ति—पुत्र बूढ़े मों युवती ।
विष्णुप्रिया है आज भई क्यों नारद ! असती ॥
हौं बोल्यो—सुनु भक्ति धाम निज श्याम पधारे ।
तब कलियुग ने आइ सकल साधन संहारे ॥
सारहीन साधन सकल, पुरुष पतित पापी भये ।
कलि दावानलतें झुलसि, धरम करम जरि से गये ॥

परोपकारियों को देखकर दुखी नर नारियों को एक स्वाभाविक शांति का अनुभव होता है। उनसे अपनी दुःख की

---

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से कहते हैं—"राजन् ! द्वापर के अनन्तर कलि काल आने पर दिनो दिन धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया, आयु बल तथा स्मृति का ह्रास होने लगेगा। कलि काल में धन के द्वारा ही लोग कुलीन तथा आचारवान् समझे जावेंगे तथा धर्म और न्याय को प्राप्त करने में शारीरिक बल ही प्रधान कारण माना जायगा।"

कहानी कहकर हृदय का भार हलका होता है। परोपकार ही जिनके जीवन का एकमात्र व्रत है वे दूसरों के दुःख को मेटने का सतत प्रयत्न करते हैं इसके लिये उन्हें स्वयं ही कष्ट क्यों न सहन करना पड़े। अपने को कष्ट देकर ही दूसरों का कष्ट दूर किया जा सकता है अपने ऊपर विपत्ति लेकर ही दूसरे की विपत्ति टाली जा सकती है अपने को दुःख देकर ही दूसरों को सुखी किया जाता है। दूसरों के लिये दुःख सहने में ही परोपकारियों को सुख होता है। जैसे माता स्वयं भूखी रहकर पुत्र को खिलाकर ही सुखी होती है। परोपकार व्रत जो भी करते हैं दूसरों के ही लिये करते हैं यद्यपि वे किसी एक को ही उपलक्ष्य बनाकर ही कार्य करते हैं किन्तु उनके उस प्रयास से सम्पूर्ण विश्व का कार्य होता है। विश्व का कल्याण वही कर सकता है जो अपने स्वार्थ के लिये कुछ भी न करे। जिसका अपना निजी सुख-दुख कुछ हो ही नहीं। वह भक्त नहीं भगवान् नर नहीं नारायण है, विष्णुपत्नी लक्ष्मी भी ऐसे परोपकारियों की वन्दना करती हैं, इसीलिये नारदजी की गणना चौबीस अवतारों में है।

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं— "मुनियो! भक्ति की बात सुनकर नारद कुछ देर विचार करके कहने लगे— "भक्ति महारानी! आप तो विष्णु वल्लभा हैं। आपको इस प्रकार दुःख करना शोभा नहीं देता देखो शरीरधारी कोई भी क्यों न हो दुख-सुख तो उसे होता ही है। और की तो बात क्या भगवान भी जब अवतरित होकर शरीर धारण करते हैं तो वे भी दुखी होने का अभिनय करते हैं वे भी रोते हैं चिल्लाते हैं सबको अपना दुःख सुनाते हैं। तुम्हें जो दुःख हो रहा है वह किसी पुरुष द्वारा नहीं हो रहा है वह काल कृत दुःख है।

भक्ति देवी ने पूछा— "नारदजी! कालकृत दुःख कैसा?"

नारदजी बोले—"जैसे जाड़ा आ गया तो सभी को जाड़ा लगेगा सभी काँपेंगे। ग्रीष्म ऋतु आयी सभी गरमी का अनुभव करेंगे। वर्षा में सभी को वर्षाजनित दुख-सुख होगा। हाँ जो तितक्षु हैं सहनशक्ति वाले हैं वे उसका अनुभव कम करेंगे किन्तु ऋतु का प्रभाव पड़ेगा सभी पर। इसी प्रकार सत्ययुग में सबकी प्रवृत्ति स्वाभाविक ही धर्म में रहती है सभी ध्यानमग्न रहते हैं। त्रेता में सत्त्व के साथ रजोगुण भी बढ़ता है। इसीलिये राजा ही नहीं बड़े-बड़े ऋषि महर्षि भी यज्ञ यागों में प्रवृत्त होते हैं। द्वापर में सब तांत्रिक यज्ञ पूजा भगवान् की बहुमूल्य द्रव्यों से पूजा करते हैं। कलियुग घोर तमोगुणी युग है। इसमें परम्परागत सदाचार योगमार्ग तथा विविध भाँति के तप सभी लुप्त हो जाते हैं। इस समय कलियुग आ गया है इसीलिये तुम्हारी कहीं पूछ नहीं।"

भक्ति ने पूछा—"कलियुग में लोगों का मन कैसा हो जाता है, नारदजी!"

नारदजी बोले—"देवि! आप कलियुगी लोगों की बातें न पूछें तो ही अच्छा है। आजकल मनुष्य अपने मानव स्वभाव को त्यागकर दैत्यों के समान असुरों के समान हो गये हैं। शठता ने आकर उनके अन्तःकरण में अड्डा जमा लिया है। प्राचीन सदाचार को लोग छोड़ रहे हैं। नित्य नये कुकर्म करते रहते हैं इन्द्रियों के सुख के लिये वे सदाचार से सर्वदा दूर रहते हैं। इसी कारण जो साधु स्वभाव के सदाचारी हैं, जो कलियुग के प्रभाव से बचना चाहते हैं वे दुखी रहते हैं। जो लोग आचार सत्य सदाचार को खोकर कलियुग की हाँ-में-हाँ मिलाते हैं वे आनन्द उड़ाते हैं। इससे लोग सोचने लगते हैं यदि पाप करने से ही पैसा प्राप्त होता है तो हम पुण्य परोपकार के पचड़े में क्यों पड़ें। वे भी अपने धैर्य को खो बैठते हैं।"

भक्ति ने पूछा—"तो क्या सभी कलियुग के प्रभाव में आ गये हैं ?"

नारदजी ने कहा—"ऐसी बात तो नहीं है। इस कलियुग में भी कुछ साधु पुरुष रह जाते हैं, वे अपने मन में धैर्य धारण करे रहते हैं, संसारी सुखों की वे अपेक्षा नहीं करते, किन्तु होते हैं विरले ही। ऐसे समय में जिनका धैर्य बना रहे वे सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। उनके समान बुद्धिमान धैर्यवान् गुणवान् होना कठिन है।"

भक्ति ने कहा—"नारद ! यह भूदेवी मेरी बहिन है यह धर्म को धारण क्यों नहीं करती ?"

नारदजी ने कहा—"इस पृथ्वी पर जब तक श्रीकृष्ण भगवान् के चरणारविन्द थे तब तक यह भी अपने भाग्य को सराहती थी। उस समय यह पृथ्वी शेषजी को सरसों से भी कम हलकी जान पड़ती थी। उन्हें अनुभव भी नहीं होता था मेरे सिर पर कोई भार है। जिस दिन से भगवान् इस धराधाम को त्यागकर निजलोक को पधार गये तब से यह धरणी मंगल-हीन हो गयी। शेषजी को अब यह भार भूता बन गयी। अब इसे छूना तो पृथक् रहा देखना भी कठिन हो गया।

पृथ्वी की भाँति तू भी प्रभु की प्रिया थी जिसके हृदय में तू बस जाती थी वहाँ भगवान् को विवश होकर आना ही पड़ता था। किन्तु ये कलियुगी लोग तेरी ओर ताकते भी नहीं। तेरे भक्तों को सब ढोंगी समझते हैं। तेरे पुत्रों—ज्ञान और वैराग्य—को कोई पूछता नहीं, उनका कोई सम्मान नहीं करता। प्राणी जिसका तिरस्कार करते हैं उपेक्षा करते हैं वह वृद्ध न होने पर भी चिन्ता के कारण वृद्ध बन जाता है। अपमान से पुरुष स्वतः ही जर्जर हो जाता है। सम्भावित की अकीर्ति मरण से भी

अधिक दुखदायी है। इसी निमित्त तू देश देशान्तरों में घूमने से बूढ़ी हो गयी।"

भक्ति ने पूछा—"तो फिर मैं यहाँ आकर सहसा युवती क्यों बन गयी ?"

नारदजी ने कहा—"भक्ति देवी ! पुरुषों पर देश काल और पात्रता का प्रभाव पड़ता है। कलिकाल के प्रभाव से तो तुम वृद्धा बनी थीं, किन्तु यहाँ श्री वृन्दावन धाम में दिव्य देश के प्रभाव से तुम पुनः वृद्धा से युवती बन गयी।"

भक्ति ने कहा—"देवर्षे ! काल का प्रभाव तो सभी पर समान रूप से होना चाहिये। जब मैं वृद्धा से युवती बन गयी तो मेरे ये पुत्र-ज्ञान वैराग्य-युवा क्यों नहीं हुए ? यह विपरीत बात है, मेरे लिये लज्जा की बात है ?"

नारदजी ने कहा—"देवि ! काल का प्रभाव भी साम्य प्रकृति के ही कारण पड़ता है। जैसे काश्मीर में ही केशर होती है। वहाँ भी सर्वत्र नहीं एक नियमित भूप्रदेश में ही उसकी खेती हो सकती है, नीम वहाँ पनप नहीं सकता। वृन्दावन धाम भक्ति का ही स्थल है। तुम यहाँ नित्य स्वच्छन्द नृत्य करती रहती हो यह धन्यधाम भक्ति की ही क्रीड़ा भूमि है। ज्ञान वैराग्य-तुम्हारे पुत्रों को यहाँ आन्तरिक शान्ति तो अवश्य मिलती है, किन्तु यहाँ इनका कोई ग्राहक नहीं सम्मान करने वाला नहीं। सम्मत भक्ति के आचार्य वृन्दावन के ही आश्रय से भक्ति पाते हैं। भक्ति का यही स्थल है। देवि ! तुम्हारा स्थायी स्थान यही है। द्रविड़ आदि देशों मे तुमने यहीं से जाकर अवतार लिया था, वहाँ आपके बाल्यरूप की पूजा होती है, कर्णाटक महाराष्ट्रादि देशों में तुम्हारा कुछ बड़ा रूप है। गुर्जरादि देशों में तुम शिथिल पड़ जाती हो यहाँ आकर पुनः नवीन रूप रखकर अंग, वंग, सौराष्ट्र, गुर्जर, मगध तथा दूसरे देशों को पुनः प्रदीप्त करती

हो। ज्ञान वैराग्य सहित तुम्हारी उपासना गंगा यमुना के मध्य भागों में होती है। इसीलिये ज्ञान वैराग्य का बुढ़ापा तो गंगा यमुना के मध्य के पावन प्रदेश में जिसे अन्तर्वेद ब्रह्मर्षि प्रदेश तथा ब्रह्मावर्त कहते हैं। कलियुग ने ही तुम तीनों की ऐसी दुर्गति कर दी है नहीं तो अन्य युगों में समस्त भूमंडल में तुम्हारा और तुम्हारे पुत्रों का समुचित आदर था।"

भक्ति ने पूछा—"नारद! तुम ब्रह्माजी के मानस पुत्र हो सर्वज्ञ हो। तुमसे मैं एक बात पूछती हूँ। देखो, धर्मराज युधिष्ठिर के पौत्र धर्मात्मा महाराज परीक्षित् जब दिग्विजय के निमित्त निकले तब सरस्वती नदी के तट पर उनकी कलियुग से भेंट हुई धर्मात्मा महाराज जानते थे, यह कलियुग सभी साधनों का बाधक है, तब उन्होंने इस कलियुग को आश्रय ही क्यों दिया इसे अपने राज्य से निकाल क्यों नहीं दिया?"

नारदजी ने कहा—"देवि! तुम्हारा कहना सत्य है। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिसमे दोष-ही-दोष हो, एक भी गुण न हो। संसार में एक भी पुरुष ऐसा नहीं जिसमें अवगुण-ही-अवगुण हों, एक भी गुण न हो। यह संसार गुण और दोष के मिश्रण से बना है।"

भक्ति ने पूछा—"तो क्या इस पाप के मित्र कलियुग मे भी कोई गुण है क्या?"

नारदजी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं। इसमें एक ऐसा बहुत बड़ा गुण है, उसी पर रीझ कर तो महाराज परीक्षित् ने वश में आने पर भी इसे मारा नहीं—देश से निकाला नहीं इसे आदर पूर्वक अपने राज्य में स्थान दिया?"

भक्ति ने पूछा—"वह ऐसा कौन-सा गुण है नारदजी! किस गुण पर रीझकर राजा ने इसे धराधाम पर रहने दिया?"

नारदजी ने कहा—"भक्तिदेवि! तुमने बड़ा ही सुन्दर प्रश्न

किया। इस प्रश्न के उत्तर से तुम्हारा समस्त शोक संताप तथा दुःख दूर हो जायगा। हे कल्याणि! मैं तुम्हारे लोक हितकारी प्रश्न का यथावत् उत्तर देता हूँ, तुम इसे प्रेमपूर्वक श्रवण करने की कृपा करो।"

"देखो, महाभारत के अन्त में जब आनन्दकंद श्रीकृष्णचन्द्र जिस दिन धराधाम को त्यागकर अपने परमधाम को पधारे, उसी दिन यह धर्मशत्रु अधर्ममित्र पृथ्वी पर आ गया, किन्तु खुलकर खेलने का इसे अवसर नहीं मिला। छिपे-छिपे यह प्राणियों की बुद्धि को बिगाड़ने लगा, किन्तु इसकी दाल गली नहीं। कारण यह कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। धर्म-अधर्म के प्रचार-प्रसार का कारण राजा अथवा शासक ही है। राजा यदि धर्मात्मा होगा, तो उसकी प्रजा को विवश होकर धर्म करना ही पड़ेगा, इसके विपरीत राजा अधार्मिक हुआ तो प्रजा भी अधर्म में प्रवृत्त होगी। महाराज परीक्षित् ने माता के उदर में ही भगवान् के दर्शन किये थे, भगवान् विष्णु ने ही उनकी रक्षा की थी, इसीलिये उनका नाम "विष्णु रात" प्रसिद्ध हुआ। ऐसे धर्मात्मा राजा की प्रजा में कलियुग बिना उनकी सम्मति के आ ही कैसे सकता है।"

जब सरस्वती के तट पर राजा परीक्षित ने कलियुग को शूद्र राजा के वेष में गौ बैल पर प्रहार करते देखा और उसे मारने दौड़ा, तब कलियुग ने तुरन्त राजा के पैर पकड़ लिये और अत्यन्त दीन होकर आर्तभाव से उनकी शरण गया, तो शरणागतवत्सल, दीन प्रतिपालक महाराज परीक्षित् ने उसे मारा नहीं अपने राज्य से निकलने को कहा। फिर उन्होंने कलियुग के गुण दोषों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। राजा ने कलियुग में दोष बहुत देखे किन्तु एक इतना भारी गुण देखा कि राजा को उसे शरण देनी ही पड़ी। राजा तो भ्रमर की भाँति सारग्राही थे,

वे गुणों का आदर करना जानते थे। इसीलिये उन्होंने सो "जब कलियुग में इतना भारी गुण है जो दूसरे युगों में है" तो राजा इसके वध से निवृत्त हो गये।

भक्ति ने पूछा—"उस गुण को बताइये भी तो।"

नारदजी ने कहा—"देवि! कलियुग में यही सबसे श्रेष्ठ गुण है, कि अन्य युगों में जो फल सहस्रों वर्षों की भारी तपस्या, योगाभ्यास, तथा समाधि से भी नहीं मिलता था, वही फल इस कलियुग में केवल श्रीभगवन्नाम के कीर्तन से भली-भाँति प्राप्त हो जाता है। इसी एक गुण से महर्षिगण अन्य युगों की अपेक्षा कलियुग की बड़ी भारी प्रशंसा करते हैं। इसी सुगमता सरलता के कारण देवतागण भी कलियुग में धराधाम पर जन्म लेना चाहते हैं, कि केवल केशव कीर्तन करके ही हम कैवल्य को प्राप्त कर लेंगे। इसी कारण इस सारहीन युग में भी लोग सुगमता से तर जाते हैं, वैसे इस युग को निस्सार बताया है। राजा परीक्षित् ने कलियुगी जीवों के सुख के ही निमित्त इसे रहने दिया।"

भक्ति ने पूछा—"नारदजी! कलियुग को ऋषियों ने निस्सार क्यों बताया है, कलियुग के आते ही सब वस्तुओं का सार कहाँ चला जाता है, सभी साधन खोखले क्यों हो जाते हैं?"

नारदजी ने कहा—"देवि! दूध में से मक्खन को निकाल लो तो वह सारहीन दूध रह जाता है, अन्न में से उसका सार निकाल लो तो वह निस्सत्व अन्न हो जाता है। दूषित भावना से भी वस्तु सारहीन हो जाती है। कलियुग में कुकर्मों में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है इसी कारण से सब वस्तुओं का सार निकल गया है जैसे धान में से बीज तो निकाल लिया जाय केवल भूसी ही भूसी अवशेष रह जाय। और की तो बात क्या कलिकाल में भागवती कथा भी भावना के कारण निस्सार हो गयी है।"

भक्ति ने पूछा—"नारदजी ! भगवान् की कथायें तो प्राणी-मात्र को तारने वाली हैं, वे सारहीन कैसे हो गयीं ?"

नारदजी बोले—"देवि ! इन जीविका के ही लिये कथा कहने वाले लोभी अजितेन्द्रिय ब्राह्मणों ने ही भागवती कथाओं को सारहीन बना दिया। इन कथावाचकों को भगवान् के ऊपर तो विश्वास नहीं। पोथी पन्ना बाँधा, विषयियों के द्वार-द्वार घूमते रहे, हमसे कथा कहला लो। न ये पात्र को देखते हैं न अपात्र को। कैसा भी दम्भी कपटी विषयी व्यभिचारी क्यों न हो, इन्हें रोटी खिला दे, मुट्ठी भर अन्न दे दे, चाहे जितनी देर कथा सुन ले। जो वस्तु सुगम हो जाती है उसका लोग आदर नहीं करते। दाने-दाने के लोभ से कथा कहने से कथा का सार निकल गया, उसका महत्व नष्ट हो गया। अनाधिकारियों को कथा सुनाने से कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इसीलिये लोग इतनी कथायें सुनते तथा पढ़ते हैं, उन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। पड़े कैसे, कथा तो सारहीन है। भगवान् की कथा और तीर्थ सेवन ये ही संसार से तरने के उपाय हैं। ये ही सारहीन हो गये। तीर्थों का तीर्थत्व ही लुप्त प्रायः हो गया। उनका भी यथार्थ-सार समाप्त हो गया। वे भी सारहीन बन गये।"

भक्ति ने पूछा—"तीर्थ कैसे सारहीन हो गये ?"

नारदजी ने कहा—"पहिले तीर्थों में सदाचारी, उदारचेता धर्मात्मा ही निवास करते थे, उनके कारण तीर्थ हरे-भरे सारयुक्त बने रहते थे। जब से तीर्थों में दम्भी पाखंडी लोग घुस गये, जब से तीर्थों में कामी, क्रोधी तथा लोभी पुरुष रहने लगे तब से तीर्थों का सार चला गया। आज तो जितने पाप होते हैं सब तीर्थों में ही होते हैं। लोग गर्भवती विधवा तथा कुमारी स्त्रियों को तीर्थों में ही छोड़ जाते हैं। तीर्थवासी परस्त्रीगामी, व्यभिचारी बन गये हैं, वे सदा यात्रियों के धन और धर्म का

अपहरण करने में ही लगे रहते हैं, बड़े-बड़े जघन्य पाप करते हैं, कुछ ही पैसों के कारण लोगों की हत्या कर डालते हैं। स्वयं जिन्हें तीर्थों पर विश्वास नहीं ऐसे नास्तिक पाखंडी धर्मध्वजी बने तीर्थों में घूमते हैं। जिन कर्मों को वे नारकी तीर्थवासी नित्य करते हैं ऐसे पापाचारियों के निरन्तर रहने से तीर्थों का भी सार चला गया। कलियुग में तपस्या भी सारहीन हो गयी।"

भक्ति ने पूछा—"नारदजी! तप का सार कहाँ चला गया?"

नारदजी बोले—"देवि! पहिले सदाचारी धर्मात्मा, उपासना करने वाले ही तप करते थे। आजकल कलिकाल में तो जिनका चित्त काम की अग्नि से जल रहा है, क्रोध के दावानल से दग्ध हो रहा है, महालोभ के कारण व्याकुल बना है, तृष्णा के ताप से संतप्त हो रहा है, ऐसे लोग भी तपस्या का ढोंग रचते हैं। गुण तो गुणी के ही पास जाकर यथार्थ गुण बनकर प्रकट होता है, यदि गुण भी निर्गुण के पास चला जायगा तो वह दोष ही होगा। इसी प्रकार तप यदि कामी, क्रोधी, लालची करें तो उनकी कामवासना और बढ़ेगी, उनका क्रोध सीमा का अतिक्रमण कर जायगा। लोभ उनके विवेक को खोदेगा। ऐसे लोगों के कारण ही तपस्या का सार निकल गया। और तो और ध्यान योग भी कलिकाल में प्रभावहीन पड़ गया।"

भक्ति ने पूछा—"ध्यान योग सारहीन कैसे हो गया?"

नारदजी ने कहा—"देवि! इस कलियुग की महिमा तो देखिये। ध्यान योग भी एक व्यापार बन गया है। लोग ध्यान सिखाने के नाम पर लोगों को ठगते हैं। उन ध्यान सिखाने वालों का स्वयं तो मन संयम में नहीं। दूसरों को संयम करने की शिक्षा देते हैं। सदा उनके मनमें लोभ भरा रहता है कैसे धनिक नर-नारी फँसे, कैसे उनसे रुपया ऐंठें। धर्मशाला, पाठशाला, गोशाला के नाम से उनसे भवन बनाने को धन लेते हैं, उनको नाम खुदाने

का लालच देते हैं। सौ पाखंड रचकर उनसे द्रव्य लेते हैं। दम्भ ऐसा करेंगे, कि अपने को साक्षात् सिद्ध प्रकट करेंगे। कुछ लोगों को रुपये पैसे या अन्य किसी वस्तु का लोभ देकर अपना दलाल बना लेंगे। वे उनकी असत्य प्रशंसा करते फिरेंगे। शास्त्रों का कभी अभ्यास किया नहीं, गुरुमुख से कोई आर्षग्रन्थ पढ़ा नहीं फिर भी लोगों को पंक्तिबद्ध बिठाकर शिक्षा देंगे, यों सीधे बैठो, सोचो मैं देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं।

जैसे अन्धे को अन्धा मार्ग दिखावे दोनों ही कूए में गिरें। ऐसे ही ये ध्यान योग सिखाने वाले दम्भी स्वयं नरक में जाते हैं, साथ ही अपने ग्राहकों से–जिनसे छल बल कला कौशल से द्रव्य ठगा है उन्हें भी नरक में ले जाते हैं। ऐसे लोगों के कारण ध्यान योग भी सारहीन हो गया पंडित भी नाम के ही रह गये। उनकी सद् असद् विवेक वाली बुद्धि विषयों में ही लग गयी। पहिले पंडित लोग शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार केवल पुत्रोत्पत्ति के ही निमित्त अपनी भार्या में गमन करते थे। किन्तु आज समय असमय गम्यागम्य का कुछ भी विचार नहीं करते। जैसे भैंसे जब चाहें तब समागम कर लेते हैं वही दशा इन कलियुगी पंडितों की है। सन्तान पैदा करने में तो बड़े शूरवीर हैं, किन्तु मुक्तिमार्ग का अनुसरण करने में कोरे हैं। इसी प्रकार वैष्णवता लुप्त हो गयी।"

भक्ति ने पूछा—"वैष्णवों में क्या दोष आ गया ?"

नारदजी ने कहा—"भक्ति महारानी! वैष्णव दो प्रकार के होते हैं एक तो भीतर से वैष्णव एक बाहर से वैष्णव। भीतर से तो वैष्णव वे हैं कि अपनी गुरु परम्परा से जो भी उपदेश प्राप्त हुआ उसका पूर्णरीत्या पालन करना। किसी दूसरे की निन्दा न करना। भीतरी साधनों पर ही बल देते रहना। मन को सदा प्रभु के पादपद्मों में ही लगाये रहना। अन्तः

में सद्गुणों को धारण करना। बाहरी वैष्णव वे हैं। मन्त्र-तन्त्र गुरु उपदेश किसी का ध्यान न रखना। बाहरी चिन्हों को ही सब कुछ समझना। जो अपने जैसे चिह्न न धारण करे उनकी सदा निन्दा करते रहना। सदा दूसरी सम्प्रदाय के लोगों से राग-द्वेष बनाये रखना। इन कारणों से यथार्थ वैष्णवता लुप्त हो जाती है। उनका चिह्नों का आग्रह कलह का प्रबल कारण बन जाता है। ऐसे लोगों के कारण भक्ति सारहीन हो जाती है। इन्हीं सब कारणों से वस्तुओं का सार लुप्त हो गया। सभी साधन, सभी वस्तुएँ निस्सार बन गयीं।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी! यह तो बड़ा पाप हो रहा है। आप जैसे समर्थ पुरुषों को इस अन्याय को रोकना चाहिये।"

हँसकर नारदजी बोले—"देवि! प्रबल प्रवाह कहीं रोकने से रुकता है? यह तो समय का प्रभाव है, युग धर्म है। इसमें किसी का दोष नहीं। जाड़े के समय में तो जाड़ा आवेगा ही। गर्मियों में गर्मी पड़ेगी ही। भगवान् कहीं चले थोड़े ही गये हैं वे तो यत्र-तत्र-सर्वत्र हैं। सबके अन्तःकरण में विराजमान हैं।"

भक्ति ने पूछा—"नारदजी! इतने भारी अन्याय को करुणा के सागर भगवान् सहन क्यों कर रहे हैं। क्या वे इन दंभी, पापी पाखंडियों को दंड नहीं दे सकते? वे इन अन्याय को रोक नहीं सकते?"

नारदजी ने कहा—"देवि! भगवान् सब कुछ कर सकते हैं, किन्तु जो भी कुछ हो रहा है उनकी इच्छा के बिना थोड़े ही हो रहा है। कलियुग भी तो उन्हीं का पुत्र है। अधर्म भी तो उनके पृष्ठ भाग में सदा स्थित रहता है वह भगवान् के अंग से भिन्न नहीं। युगों का गमनागमन उनके ही संकल्प से होता है। इसीलिये वे सब कुछ देखते हुए भी इस अन्याय को सहन कर रहे हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! नारदजी के मुख से ऐसी गंभीर ज्ञानयुक्त बात सुनकर भक्ति महारानी को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अपने तथा पुत्रों के दुःख को कुछ काल के लिये सर्वथा भूल गयीं। उन्होंने नारदजी की स्तुति करते हुए कहा—"हे देवर्षे ! आप धन्य हैं, हे ब्रह्मपुत्र आपकी जय हो। हे करुणा सागर ! आपका मङ्गल हो। ये परोपकार व्रती ! आपकी कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त हो। आज मेरा परम सौभाग्य है, जो आपके मुझे दर्शन हुए। आपने यहाँ पधार कर मुझे कृतार्थ किया। संसार में सभी वस्तुएँ सुलभ हैं, किन्तु सच्चे साधु का दर्शन देवताओं को भी दुर्लभ है। और वस्तुएँ तो उपयोग से सिद्धि देती हैं किन्तु साधु का तो दर्शन ही सबसे श्रेष्ठ सिद्धि देने वाला होता है। आपने बहुत से लोगों को दर्शन देकर कृतार्थ किया है। प्रह्लाद जी तो अपनी माता के गर्भ में ही थे। उस समय ही आपने उन्हें सदुपदेश देकर कृतार्थ कर दिया। वे इस दुस्तर माया को परास्त करके परमधाम को प्राप्त हुए। ६ वर्ष के ध्रुवजी आपके ही उपदेश से ध्रुवपद के अधिकारी हुए। एक नहीं असंख्यों जीवों का आपने उद्धार किया। अगणित पुरुषों को प्रभु के सम्मुख कर दिया। आप मंगलमय हैं, आनन्द की मूर्ति हैं, पुण्य प्रदान करने वाले तथा भक्ति देने वाले हैं। आप ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, आप सर्वगुण सम्पन्न हैं, आप परोपकार में ही निरन्तर संलग्न रहते हैं। हे देव ! आपके पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम है। आपको शत-शत नमस्कार है। आपकी जय हो जय हो। अब मेरे भी उद्धार का कोई उपाय बताइये। मुझे भी इस विपत्ति से छुड़ाइये। मेरे हृदय में भी ज्ञान की ज्योति जगाइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भक्ति इस प्रकार नारदजी की स्तुति करके चुप हो गयी। अब नारदजी जैसे भक्ति को सांत्वना

देंगे उसे समझावेंगे उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कथा, कीरतन, योग आदि व्यवसाय भये अब।
दम्भी, कपटी, कुटिल लोभवश रचैं स्वांग सब॥
नहिँ काहू को दोष समय सबई करवावे।
शिशिर काल में शीत बुलाये बिनु ही आवे॥
सुमुखि! सकल चिन्ता तजहु कृपा कन्हैया करिहै।
शरनागत के शोक हर-हृदय-हार-हरि हरिहै॥

नारदजी द्वारा भक्ति की महिमा

[५]

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २० अ० ३२-३३ श्लोक)

छप्पय

कृष्णा करी पुकार पैठि पट प्रभु पति राखी ।
ब्रज वनितनि की करी कामना पूरी साखी ॥
तुम तो तिनकी प्रिया मुक्ति पद पदुम पलोटैं ।
पुत्र ज्ञान वैराग्य वृद्ध बनि कलि ढिंग लोटैं ॥
तजो शोक संताप सब, तुमकूँ सबल बनाउँगो ।
करूँ प्रचार न तो शपथ, नहिँ हरि-दास कहाउँगो ॥

जिनके हृदय में भगवत् भक्ति है उनको और चाहिये ही क्या, जो भक्ति से शून्य हैं उनके पास है ही क्या ? ये संसारी

---

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! मेरी भक्ति से ही सब कुछ मिल सकता है । कर्मों से, तपस्या से, ज्ञान वैराग्य से, योग से, दान धर्म से तथा और भी जितने श्रेय के साधन हैं उनसे जो भी कुछ स्वर्ग मोक्ष, अथवा मेरा वैकुण्ठादि परम धाम प्राप्त होता है वह सभी यदि मेरा भक्त चाहे तो केवल मेरी भक्ति के ही द्वारा सरलता से सबको प्राप्त कर सकता है ।"

सुख क्षणभंगुर हैं। भक्ति के बिना, ज्ञान, वैराग्य, कर्म, तथा योग शोभा नहीं देते। भक्ति हृदय को सरस बनाती है, वह पाषाण को भी पिघला देती है। ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के पुत्र है। माता के साथ वे बिना बुलाये—बिना आह्वान तथा निमंत्रण के—अपने आप आ जाते हैं। मुक्ति तो भक्ति की दासी है। बिना दाम की चेरी है। जहाँ भक्ति महारानी पधारेंगी, वहाँ मुक्ति दासी को जाना ही पड़ेगा। न जायगी तो सेवा कौन करेगा। अतः चरम साध्य तो भक्ति ही है। उसी के लिये प्रयत्न करना चाहिये और साधन तो भक्ति के पार्श्ववर्ती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भक्ति देवी ने नारदजी की प्रशंसा की और उनकी बार-बार स्तुति की, तब नारदजी ने भक्ति से कहा—"देवि! आप इतनी चिन्तित क्यों हैं, आपको इस प्रकार खेद करना शोभा नहीं देता।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी! आप देख नहीं रहे हैं, युवती माता के सम्मुख पुत्र बूढ़े और अचेतन हो जायँ क्या उसे दुःख न होगा?"

नारदजी ने कहा—"दुःख करने से क्या बनेगा? मैं दुःख मेटने की एक अव्यर्थ अचूक औषधि जानता हूँ।"

भक्ति ने पूछा—"कौन-सी औषधि है वह नारदजी!"

नारदजी बोले—"हरिस्मृति ही सर्वविपदाओं को मिटाने वाली एक मात्र औषधि है। आप श्रीकृष्ण चरणारविन्दों का श्रद्धा से स्मरण करें। उनके स्मरण मात्र से तुम्हारे समस्त दुःख दुरित दूर हो जायँगे।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी! श्रीकृष्ण तो इस धरा धाम का परित्याग करके परलोक—अपने निजलोक—को पधार गये।"

नारदजी बोले—"देवि! वे अपने बाह्य प्रकट रूप से तिरोहित मात्र हो गये हैं। वे सूक्ष्म रूप से सदा, सर्वदा सर्वत्र, सबके

समीप विराजते हैं। वे स्मरण मात्र से ही आकर अपने आश्रितों की रक्षा करते हैं, आर्तों की पुकार सुनते ही वे अविलम्ब आते हैं। कौरव लोग जब पाँचों पांडवों की पत्नी द्रौपदी को नग्न कर रहे थे, तब वे सुदूर देश द्वारका में बैठे थे। द्रौपदी ने पुकारा द्वारकानाथ! तब भगवान् चलने को उद्यत हुए। द्रौपदी ने हाथ से कसकर अपने वस्त्र को पकड़ लिया। दस सहस्र हाथियों के बल वाले दुश्मन ने एक झटके में हाथ छुड़ा लिया। द्रौपदी ने कहा—"भक्तवत्सल! और वस्त्र को दाँत से दबा लिया। भगवान् अपनी भक्ता द्रौपदी की रक्षा के लिये चल पड़े। जब दुश्शासन ने दाँत से भी साड़ी को छुड़ा लिया तब विह्वल होकर द्रौपदी ने पुकारा—"हे सर्वान्तर्यामिन्! हे घटघटवासी! दासी सर्वात्मभाव से आपकी शरण है अब मेरा अन्य कोई भी सहायक नहीं।" तब भगवान् को कहीं से आना न पड़ा उस वस्त्र में ही प्रकट हो गये। उस जड़ चीर को ही अक्षय बना दिया।

इसी प्रकार रास में श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। गोपिकायें वन-वन में भटकती रही उन्हें दूर समझकर बाहर-बाहर खोजती रहीं जब बाहर ढूँढ़कर थक गयीं तो वहीं रासस्थली में लौटकर आर्तस्वर में गाने लगीं कि आप केवल यशोदा-नन्दन ही नहीं हो प्राणिमात्र के रक्षक हो घट-घट व्यापी हो आप हमें दर्शन दें। भगवान् कहीं गये थोड़े ही थे उनकी आँखों में ही छिपे थे हृदय में दुबके बैठे थे। आखें बाहर की वस्तुओं को देखती हैं अपने में लगे काजर को नहीं देखतीं। हम दूसरों के हृदय की बात जानने का मिथ्याभिमान करते हैं अपने हृदय में छिपे श्यामसुन्दर को नहीं देखते। जब गोपियों ने अपने ही स्थान पर बैठकर रोते-रोते श्रीकृष्ण को पुकारा तो हँसते हुए श्यामसुन्दर उनके सम्मुख आविर्भूत हो गये। वे श्रीकृष्ण कहीं चले थोड़े ही गये हैं।

भक्ति ने कहा—"नारदजी ! चले भले ही न गये हों, किन्तु आँखों से तो ओझल हो ही गये हैं।"

नारदजी ने कहा—"देवि ! आप कैसी भूली बातें करती हैं। ओझल हो गये हैं अज्ञानियों के लिये। तुम तो उनकी प्राणों से भी अधिक प्यारी हो। भगवान् वेद मंत्रों से बुलाने पर जहाँ नहीं जाते, बड़े-बड़े बहुमूल्य द्रव्यों से पूजे जाने पर नहीं पधारते। वे ही तुम्हारे कारण नीच से नीच चांडालों के भी घर में प्रेम-पूर्वक चले जाते हैं। तुम तो सदा मुक्ति को दिलाती हो तुम्हारे पूछे बिना तो प्रभु कुछ करते ही नहीं।"

भक्ति ने कहा—"देवर्षि ! मैं अकेली कर ही क्या सकती हूँ।"

नारदजी ने कहा—"भगवति ! तुम ऐसा मत कहो, दूसरे युगों में तो तुम यह बात कह भी सकती थीं। अन्य युगों में तो तुम्हारे साथ जब तक ज्ञान वैराग्य कर्म योग ये नहीं हों तब तक मुक्ति नहीं होती थी किन्तु कलयुग में तो केवल तुम विशुद्ध भक्ति ही ब्रह्म सायुज्य कराने वाली हो। इसी काम के लिये तो श्यामसुन्दर ने तुम्हारी सृष्टि की है। तुम्हें तो वह सब इतिहास विदित ही होगा।"

एक बार भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने आनन्द में तुम्हारी अपने निजलोक में सृष्टि की तुम अनुपम रूप लावण्य युक्त परमसुन्दरी चारुहासिनी मृदुभाषणी थी। तुमने हाथ जोड़कर अत्यन्त ही नम्रता के साथ परमानन्द चिन्मूर्ति ज्ञान स्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर से कहा—"प्रभो ! मेरी सृष्टि किस निमित्त की गयी है ? मेरे लिये क्या आज्ञा होती है मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ ?

भगवान् ने कहा—"देवि ! तुम आज से मेरे भक्तों का पोषण करो। उनकी पुष्टि-तुष्टि का कारण बनो।"

तुमने भगवान् की आज्ञा को सिर झुकाकर स्वीकार किया और नम्रता से कहा—"जो स्वामी की आज्ञा है वह मुझे सर्वथा स्वीकार है किन्तु मेरी सेवा के लिये कोई दासी भी तो चाहिये।"

भगवान् के पास एक मुक्ति नाम की दासी थी। तुरन्त ही प्रसन्न होकर भगवान् ने उसे तुम्हारे साथ कर दिया और आज्ञा दी—"यह मुक्ति तुम्हारी सेवा में रहेगी तुम जहाँ आज्ञा दोगी वहीं जायगी।"

तुमने मुक्तिनाम की दासी को स्वीकार करते हुए कहा—"महाराज दासी तो साथ रहेगी ही किन्तु अकेली स्त्री का कहीं जाना शोभा नहीं देता। हाँ, स्त्री पुत्रवती हो जाय तो वह पुत्रों को साथ लेकर कहीं भी जा सकती है। आप तो मेरे हृदय में रहोगे ही किन्तु साथ में भी एक दो पुरुष चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, इन बच्चों को तुम सदा साथ रखो। इन्हें तुम अपने पुत्र ही बनालो। दोनों को गोद ले लो। पुत्र तो तुम्हारे ही होंगे, किन्तु ये ज्ञान वैराग्य तुम्हारी दासी की भी सेवा किया करेंगे।"

तब से तुम भगवत् भक्तों का पोषण करने लगीं। तुम अपने साक्षात् रूप से तो सदा श्रीकृष्ण के समीप वैकुंठ में ही वास करती हो। एक दूसरा छाया रूप बनाकर भूलोक में भी रहती हो यह तुम्हारा वही छाया रूप है।"

तुम्हें कुछ कमी तो थी नहीं। सर्वसमर्थ दासी, प्रबल पराक्रमी दो पुत्र उनके साथ तुम सत्युग से लेकर द्वापर पर्यन्त आनन्द से विचरण करती रहीं। भक्तों की मनोकामनायें पूर्ण करती रहीं। अधिकारी भेद से किसी को मुक्त कर देतीं किसी को परमधाम वैकुंठ भेज देती। जब कलियुग आ गया तो कलियुग के साथ रोगों का भी एक दल आ गया उनमें एक रोग बड़ा प्रबल

था। उसका नाम था 'पाखंड' न जाने किस वैर से वह तुम्हारी दासी के पीछे लग गया। मुक्ति जहाँ भी जाने की इच्छा करे, पाखंड पहिले से वहाँ पहुँच कर उसके विरुद्ध वातावरण उत्पन्न करदे, लोग मुक्ति का आदर ही न करें।"

एक दिन मुक्ति ने कहा—"देवि ! यह पाखंड नाम का धूर्त मेरे पीछे पड़ गया है। इसके कारण मुझे कोई पूछता ही नहीं। मेरा अब यहाँ कोई प्रयोजन भी नहीं रहा। कलियुग की जल-वायु मेरे अनुकूल भी नहीं पड़ती। मेरा शरीर दिन-दिन कृश होता चला जा रहा है। आपकी आज्ञा हो तो मैं कुछ दिन बैकुंठ में ही रहकर जलवायु परिवर्तन कर आऊँ। जब यह कलियुग बीत जायगा, तो फिर मैं आ जाऊँगी, या बीच में मेरी जब आवश्यकता हो, आप बुला लें। आपके आह्वान करते ही मैं आ जाया करूँगी। अब मेरा यहाँ रहना व्यर्थ ही है। स्त्री और सब सह सकती है, किन्तु वह उपेक्षा सहन नहीं कर सकती।"

तुमने कहा—"अच्छा, बहिन जाओ जब तुम्हारा शरीर ही स्वस्थ नहीं रहता तो भूलोक में रहने से लाभ ही क्या ? वैकुंठ में भी मेरा एक रूप है ही मैं तो चाहे कोई भी युग क्यों न हो, कोई भी देश क्यों न हो वहाँ का जलवायु कैसा भी क्यों न हो इस धराधाम को छोड़ नहीं सकती। मुझे तो भगवान् ने भक्तों के पोषण करने के निमित्त बनाया ही है। फिर भी मैं अकेली नहीं रहना चाहती। मेरे ये दो पुत्र हैं ही। यद्यपि इनका भी बहुत अपमान होता है। अज्ञान दंभ इनके भी पीछे पड़े हैं, किन्तु ये तो पुरुष हैं सब सह लेंगे, तुम प्रसन्नता से वैकुण्ठ चली जाओ। जब मैं बुलाऊँ तब आ जाना।"

ऐसा कहकर तुमने मुक्ति को तो विदा कर दिया इन दो बालकों के साथ तुम कलियुग के कुकर्मों को सहन करती हुई यहाँ रह गयीं। तुम्हारे पुत्रों का सर्वत्र अपमान होता है, चित्त

तो इनका भी यहाँ नहीं लगता, किन्तु भगवत् कृपा से ये दोनों बालक मातृभक्त हैं, तुम्हें छोड़कर जाना नहीं चाहते नित्य का अपमान सहते-सहते ये जर्जर हो गये हैं, असमय में इन्हें बुढ़ापा आ गया है इनके शरीरों में उत्साह नहीं रहा, अपने दिन काट रहे हैं सत्ययुग आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

भक्ति ने कहा—"देव ! मुझसे इन पुत्रों का दुखः देखा नहीं जाता।"

नारदजी बोले—"देवि ! तुम चिन्ता मत करो, मैं इनके स्वस्थ करने का कोई उपाय सोचूँगा। बड़े-बड़े मानसिक रोगों के वैद्यों से मिलकर इनके लिये किसी अचूक औषधि की खोज करूँगा। मुझे भी इनके ऊपर दया आ रही है। मैं अवश्य इनका उद्धार करूँगा।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी ! मेरा भी ध्यान रखियेगा।"

नारदजी ने शीघ्रता से कहा—"साध्वि ! आप ऐसी बात न कहें, इस प्रकार दीनता न दिखावें आप कलियुग से भयभीत न हों। कलियुग और सबके प्रतिकूल भले ही पड़े आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। कलियुग में तो आपका ही प्रचार प्रसार होगा। तुम्हारे लिये यह युग बड़ा ही सुन्दर है। मैं घर घर में जन-जन में तुम्हारा प्रचार करूँगा। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में आपके प्रति आदर उत्पन्न करा दूँगा।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी ! आप बहुधंधी हैं, आप पर तीन लोक चौदह भुवन के बहुत से कार्य रहते हैं, कहीं हमारी बात भूल मत जाना।" यह सुनकर नारदजी को रोष आ गया उन्होंने हाथ में व्रजरज और यमुनाजल लेकर कहा—"देवि भक्ति ! यह वृन्दावन धाम है। यमुनाजी का पावन पुलिन है, मैं हाथ में व्रज-रज और यमुनाजल लेकर शपथपूर्वक कहता हूँ, कलिकाल में सर्वत्र मैं तुम्हारा प्रचार करूँगा। अन्य जितने पाखण्ड धर्म हैं,

बड़े परिश्रम से विपुल वस्तुओं से सिद्ध होने वाले कार्य हैं, उन सभी का तिरस्कार करके बड़े-बड़े महा महोत्सवों के सहित धूमधाम से मैं तुम्हारी महिमा बढ़ाऊँगा। घर-घर में कथा कीर्तन का प्रचार कराऊँगा, देश विदेश में हरिनाम संकीर्तन की धूम मचाऊँगा, सरल भाषा में सबके समझने योग्य रीति से भागवती कथाओं का प्रचार-प्रसार करूँगा, यदि मैं ऐसा न कर सका तो मैं अपने को हरिदास कहलाना छोड़ दूँगा। मैं तुम्हारा प्रचार न कर सका तो अपने नारद नाम को छोड़ दूँगा।"

भक्ति ने कहा—"देवर्षे! मैं आपके वचनों पर अविश्वास नहीं करती। आप ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, आप सब कुछ करने में समर्थ हैं, किन्तु मुझे शङ्का है, कलियुग में वातावरण ही ऐसा है, कि प्रयत्न करने पर भी प्राणी पापों से बच नहीं सकता सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही पापों में है। पापी प्रभु के पादपद्मों के पास पहुँच नहीं सकता, फिर आपके प्रयत्न का फल क्या होगा?"

नारदजी बोले—"देवि! कोई चिन्ता की बात नहीं। भूल चूक से किसी से पाप हो भी जाय, और फिर वह तुम्हारी शरण सच्चे हृदय से ले ले, तो उसके सभी पाप ताप जल जायँगे। कलिकाल में जिसके हृदय में भक्ति होगी, जिसे तुम कैसे भी अपना लोगी, वह चाहे कैसा भी पापी क्यों न रहा हो, निर्भय होकर श्रीकृष्ण धाम को चला जायगा। उन्हें नरक का द्वार कभी न देखना पड़ेगा। जिनके हृदय में प्रेम स्वरूपा तुम्हारा निवास है, जिन्हें कथा कीर्तन की बान पड़ गयी है, जो भक्ति भरित हृदय से रुदन करते हैं। आर्तस्वर से प्रभु को पुकारते हैं, ऐसे पुरुष पापी होने पर भी परम पावन बन जाते हैं, उन पवित्र मूर्ति पुरुषों को जागृत की तो कौन कहे स्वप्न में भी यमराज का द्वार नहीं देखना पड़ता। वे तुम्हारे प्रभाव से सीधे वैकुंठ को

जाते हैं। भक्ति युक्त पुरुष प्रतप्त लोह के समान हो जाता है, मल उसमें रह नहीं सकते। प्रेत, पिशाच, राक्षस, दैत्य तथा और भी यमदूत आदि उसका स्पर्श नहीं कर सकते।"

भक्ति ने कहा—"मुनिवर! आपका कहना यथार्थ है, किन्तु भक्ति के साथ ही साथ तपस्या, व्रत, उपवास, कर्मकाण्ड योगाभ्यास आदि और भी तो चाहिये। भगवान को पाना कोई सरल काम नहीं।"

नारदजी ने कहा—"भगवान् क्या कष्ट सहने से ही प्रसन्न होते हैं। क्या अपने भक्तों को भूखा मारने से उनके शरीर को सुखाने से ही सुख होता है? वे तो भावग्राही हैं। कोई कितनी भी तपस्या करता रहे जब तक उसके हृदय में भक्ति नहीं तब तक तप का मूल्य दो कौड़ी भी नहीं। उससे स्वर्ग भले ही मिल जाय, दूसरे पुण्यलोक भले ही प्राप्त हो जायँ, प्रभु-प्राप्ति असंभव है। कोई कितने ही शास्त्रों का भारी-से-भारी विद्वान क्यों न हो जाय, उसका शास्त्र-अर्थ और यश ही दे सकता है, भक्तिहीन शास्त्रज्ञानी चन्दन भार वाही खर के समान है। कोई कितना ही बड़ा ज्ञानी क्यों न हो भक्तिहीन ज्ञान किसी काम का नहीं। कोई कितना बड़ा कर्मकांडी क्यों न हो, उसके सकाम कर्म सभी बन्धन के कारण बन जाते हैं, जब तक वे भक्तिपूर्वक प्रभु के अर्पण न किये जायँ। भगवान् भक्ति के ही भूखे रहते हैं, उन्हें कोई तप, विद्या आदि साधनों से अपने वश में नहीं कर सकता। एकमात्र भक्ति के कच्चे धागे में ही वे विवश बनकर बँध जाते हैं। जिसने उन्हें पाया है केवल भक्ति से ही पाया है।"

भक्ति ने पूछा—"बिना पढ़े लिखे भक्ति कैसे आ जायगी?"

नारदजी ने हँसकर कहा—"क्या सभी पढ़े लिखे भक्त बन जाते हैं? या बिना पढ़े लिखे भक्ति कर ही नहीं सकते। भक्ति के लिये पढ़ना लिखना आवश्यक नहीं। व्रज की गोपिकायें

क्या पढ़ी लिखी थीं ? उन्होंने किस चटसार में शिक्षा पायी है ? किस महत् पुरुष की सेवा की थी ? केवल भक्ति के कारण ही वे विश्ववन्द्या बन गयीं। अपनी प्रेमाभक्ति अलौकिकी आसक्ति के कारण जगत् पूज्या हो गयीं।',

भक्ति ने पूछा—"गोपियों की स्थिति कैसे हो ?"

नारदजी ने कहा—"यह एक जन्म के कर्मों से स्थिति प्राप्त नहीं होती। प्राणियों के सहस्रों जन्मों के शुभ कर्मों से भक्ति में प्रवृत्ति होती है। भक्ति सबको दुर्लभ है। कलियुग में तो भक्ति ही सार है। और साधन कलिकाल में दुष्कर है भक्ति से भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं। भक्तों के लिये उनको कुछ भी अदेय नहीं। जो ज्ञान मानी हैं भक्ति का खंडन करते हैं, भक्तों का विरोध करते हैं वे बड़े संकट में पड़ जाते हैं। दुर्वासा मुनि को अपने तप का बड़ा अभिमान था। वे दूसरों को कुछ समझते ही नहीं थे। अपने बड़प्पन की ठसक में उन्होंने परमभक्त राजर्षि अम्बरीष का अपमान किया उन्हें शाप दिया, इससे भगवान् के चक्र सुदर्शन ने उन्हें खदेड़ा। वर्षों वे एक लोक से दूसरे लोक में मारे-मारे घूमते रहे। अंत में भक्त की शरण लेने पर ही उनका उद्धार हुआ। अतः देवि ! तुम्हारे समान प्रभु की प्रिया कोई नहीं।"

भक्ति ने कहा—"नारदजी ! तुमने तो मेरी आवश्यकता से अधिक प्रशंसा करदी।"

नारदजी ने कड़ककर कहा—"देवि ! मैं यथार्थ कहता हूँ बनावटी बातें नहीं बताता। मैं तो कहता हूँ काय क्लेश करने वाले बड़े-बड़े व्रत उपवासों की कोई आवश्यकता नहीं। देश विदेशों में तीर्थों की धूलि फाँकने की कोई आवश्यकता नहीं। योग आदि करके नेति धौती से शरीर सुखाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं यज्ञ यागों में धन और समय व्यय करना

व्यर्थ है कोरी ज्ञानचर्चा करके बुद्धि व्यायाम करना आवश्यक नहीं एकमात्र भक्ति से ही सब कुछ सिद्ध हो सकता है तुम्हारी शरण जाने पर ज्ञान वैराग्य मुक्ति स्वतः ही समीप आ जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवती भक्ति ने जब नारदजी द्वारा अपने माहात्म्य को सुना तो सचेत होकर पुलकित हो उठी उसका रोम-रोम खिल उठा उसके प्रत्येक अंग, प्रत्यंग पुष्ट हो गये। गद्गद् वाणी से वह नारदजी की स्तुति करती हुई कहने लगी—"नारदजी! तुम धन्य हो। मैं साधुओं का स्वभाव सुना ही करती थी किन्तु आज तो उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया, मैं सत्संग की बड़ी प्रशंसा सुनती थी आज उसे स्वतः ही देख लिया। मैं तो समझती थी मुझे दुखी देखकर तुम असमंजस में पड़ जाओगे कि जब भक्ति की ही दुर्दशा है तो हम भक्तों को न जाने क्या दशा होगी? जो भक्ति स्वतः अपना उद्धार नहीं कर सकती। स्वयं इस प्रकार रोती चिल्लाती फिरती है। वह अपने आश्रित भक्तों का क्या भला करेगी, किन्तु अब पता चला, कि तुम्हारी तो मुझमें निश्चलाप्रीति है अडिग भक्ति है। तुमने अपने सदुपदेश से मेरे मानसिक दुःख को क्षण में ही दूर कर दिया, मेरी मानसिक व्यथा को बात की बात में शान्त कर दिया। मेरे संशयों को सदा के लिये छिन्न भिन्न कर दिया। मैं तुम्हें हृदय से आशीर्वाद देती हूँ, कि तुम्हारी ऐसी ही मुझमें अचला भक्ति बनी रहे। मैं तुम्हारे हृदय में सदा सर्वदा निवास करूँगी, कभी तुम्हारे हृदय को न छोड़ूँगी। आज तुमने अपनी करुणा कृपालुता का प्रत्यक्ष परिचय दे दिया। साधुता की सीमा दर्शा दी। मैं तो स्वस्थ तथा शोक रहित बन गयी। किन्तु मेरे ये दोनों पुत्र ज्ञान-वैराग्य अभी तक अचेतन ही पड़े हैं। इनके लिये भी कुछ उपाय कीजिये। इनको भी कुछ सदुपदेश दीजिये इनके भी दुःख को दूर करके जगत् में यश लीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भक्ति की ऐसी बात सुनकर परोपकार प्रिय नारदजी के हृदय में बड़ी दया आयी। उनका हृदय करुणा से भर गया। अब जिस प्रकार वे भक्ति के साथ ज्ञान वैराग्य को भी पुष्ट करने के निमित्त जो उपाय करेंगे उसका वर्णन मैं आप लोगों से आगे करूँगा। आप सब महर्षि गण इस पुण्य प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

कृष्णप्रिया तुम भक्ति भक्त भय भीति भगाओ।
पापी पामर पतित प्रेम तैं पार लगाओ॥
सुत तव ज्ञान विराग मुक्ति दासी प्रभु दीन्हीं।
जुग-जुग मँह सुख देउ किन्तु कलिकीरति कीन्हीं॥
सुनि मुनि बच अति प्रेममय, भक्ति मुदित अतिशय भई।
तजहुँ न तव हिय देव-ऋषि, गद्गद ह्वै आसिस दई॥

ज्ञान वैराग्य को जागृत करने का नारदजी का प्रयास

(६)

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २६ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

बोली मुनि तैं भक्ति—सुतनि उद्धार बताओ ।
होहिँ तुरत चैतन्य जुक्ति कछु अपर लगाओ ॥
गीता अरु वेदान्त सुनायो नहिँ ते जागे ।
करूँ कौन शुभ काज, ध्यान मुनि करिबे लागे ॥
गगन गिरा तिहि छिन भई, करो करम चिन्ता तजो ।
साधु बतावें जुक्ति शुभ, तातैं अब संतनि भजो ॥

सभी प्राणी स्वार्थ में निरत हैं। अपने स्वार्थ के अतिरिक्त संसारी लोग दूसरी बात सोच ही नहीं सकते। मैं ही सुखी रहूँ, मुझे ही संसार की सम्पत्ति मिले, मेरा ही घर भरे, मेरे ही आदमी सुख भोगें। उन्होंने मैं मेरी की जो परिधि बना ली है,

---

* श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! इस घोर संसार रूपी सागर में जो प्राणी तड़पते हुए बार-बार डूबते हैं बार-बार उतारते हैं, उनके लिये शान्त चित्त ब्रह्मवेत्ता साधुजन उसी प्रकार परम अवलम्ब हैं, जिस प्रकार जल में डूबते के लिये सुदृढ़ नौका ही सहारा है।"

उनमें बाहर सोचने की उनमें शक्ति नहीं। मछली जल से बाहर जाने की कल्पना ही नहीं कर सकती। पक्षी आकाश में जितनी सीमा बना लेते हैं उससे बाहर जा नहीं सकते। मल का कीड़ा मल की परिधि में ही सोचेगा। इसी प्रकार संसारी लोग इर फिर कर स्वार्थ की ही बात सोचेंगे। कोई परोपकारी साधु पुरुष यदि निस्वार्थ भाव से कोई कार्य करे भी तो संसारी लोगों को कभी भी उसका विश्वास न होगा, वे सोचेंगे—अवश्य इसमें इसका कोई बड़ा स्वार्थ है। यह बात उनके विचार के बाहर है कि कोई अपने निजी स्वार्थों को परित्याग करके केवल सर्व प्राणियों की निःस्वार्थ भाव से सेवा करेगा। इस स्वार्थ भावना के ही कारण यह संसार दुखालय बना है। लोग बिना बात के इन तुच्छ, अनित्य, क्षणभंगुर वस्तुओं में अपनापन स्थापित करके दुखी होते हैं. अपने को चिन्ता सागर में निमग्न बनाये रहते हैं। ऐसे संसार में परोपकारी अहैतुकी कृपा करने वाले निस्वार्थ सन्त न हों, तो यह संसार रौरव नरक से भी बढ़कर दुखदायी बन जाय, किन्तु सन्त ही आकर इस दुःखालय को सुखालय बनाते हैं, वे ही परोपकार की सुगंधि फैलाकर प्राणियों को शान्ति प्रदान करते हैं, वे ही प्राणियों के हित में निरत रहकर सबकी आखें खोलते हैं। सन्त सुख के स्तम्भ हैं, आनन्द के वितरक हैं, सुख के दाता हैं, दुखियों के त्राता हैं। सन्त ही मार्गदर्शक हैं। सन्त ही सब कुछ हैं, वे ही सर्वेश्वर के प्रतिनिधि हैं। इसीलिये तो सन्त भगवन्त में निरन्तर अन्तर नहीं बताया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दूसरों का दुःख दूर करना ही जिनका एकमात्र कार्य है वे सन्त-शिरोमणि नारदजी भक्ति देवी को सान्त्वना देकर उनके पुत्र ज्ञान वैराग्य की मूर्छा दूर करने का प्रयत्न करने लगे। वे अचेतन पड़े उन दोनों के समीप गये, उनके अंग को पकड़कर झकझोरा। अपने मुख को उनके कानों

के समीप ले गये और पूरी शक्ति लगाकर वे चिल्लाये—"अरे ज्ञान ! ओ भैया ! वैराग्य ! अरे, उठो तो सही, बहुत देर सोते-सोते हो गयी, देखो, यह व्रज भूमि है, वृन्दावन है, सम्मुख तुम्हारी माता यह भक्ति खड़ी है तनिक आँखें खोलकर देखो तो सही ।"

इतना चिल्लाने पर भी वे टस से मस नहीं हुए। न हिले न डुले, हाँ ना कुछ भी नहीं किया, दीर्घ निश्वास छोड़ते रहे।

तब तो नारदजी ने सोचा—"वेद में ज्ञान वैराग्य की चर्चा है सम्भव है उसे सुनकर ये उठ पड़े। अतः नारदजी ने सस्वर वेदपाठ आरम्भ किया। वेदपाठ की मधुर ध्वनि कर्ण कुहरों में पड़ते ही उनके शरीर में कुछ क्रिया होने लगी। वे कुछ हिलने डुलने लगे। तब तो नारदजी का उत्साह बढ़ा। उन्होंने सोचा—"वेदान्त में तो ज्ञान ही-ज्ञान भरा है, लाओ वेदान्त ही इन्हें सुनावें।" यह सोचकर वे वेदांत घोष करने लगे। इससे वे दोनों उठने का प्रयत्न करने लगे। अब नारदजी को आशा बँधी।"

उन्होंने फिर सोचा—"गीता में तो सभी वेदान्त उपनिषदों का सार है। उपनिषद् रूपी गैयाओं को भगवान् नन्दनन्दन ने पार्थ रूपी बछड़े की सहायता से दुहकर गीता रूपी अमृत को निकाला है। इससे ज्ञान वैराग्य की निद्रा अवश्य भंग होगी अतः नारदजी ने गीता पाठ प्रारम्भ किया। उसका परिणाम भी सुन्दर हुआ। ज्ञान वैराग्य दोनों बड़े कष्ट से उठकर बैठ गये। दुग्ध के झाग के समान, बगुलों की पंख के समान, कुन्द के कुण्डमल के समान, कास के पुष्प के समान, अपने शुभ्र स्वच्छ सफेद बालों को अस्त-व्यस्त भाव से हिलाते हुए जरा जीर्ण काया से सूखी लकड़ी के समान दुबले पतले वे दोनों आँखें मलते हुए उठकर बैठ तो गये किन्तु नारदजी ने जहाँ पाठ बन्द किया, तहाँ वे फिर से अचेतन होकर गिर पड़े।"

प्रतीत होता है, उन्हें पूरा आहार नहीं मिला था। इससे वे क्षुधा पिपासा से परम पीड़ित थे। उनमें चलने फिरने की शक्ति नहीं रही थी।

नारदजी को बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापर में तो ये लोग इन्हीं वेद वेदान्त के द्वारा पुष्ट बने रहते थे। किन्तु कलियुग आते ही इन्हें हो क्या गया है ये ज्ञान वैराग्य उठते क्यों नहीं। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ। कौन उपाय से इनका उद्धार होगा। कैसे इनकी यह चिरनिद्रा समाधि भंग होगी कैसे इनकी यह वृद्धावस्था दूर होगी। भगवान ही रक्षा करेंगे। वही सबके उर प्रेरक हैं। वे ही मुझे प्रेरणा देंगे उन्हीं की शरण जाने पर उपाय सूझ पड़ेगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"शौनकजी! ऐसा सोचकर नारदजी समस्त क्लेशों को हरण करने वाले भगवान् श्यामसुन्दर का ध्यान करने लगे। वे जिज्ञासु भाव से उनकी शरण में गये।"

उसी समय उन्हें सुस्पष्ट शब्दों में मेघ के समान निर्घोष करती हुई आकाशवाणी सुनायी दी। आकाशवाणी उन्हीं को लक्ष्य करके कह रही थी—"नारदजी! तुम चिन्ता को छोड़ दो। तुम्हारा मनोरथ परोपकार भावना से है अतः वह अवश्य ही सफल होगा। इसमें रंचकमात्र भी सन्देह नहीं है किन्तु इस कार्य की सिद्धि के निमित्त तुम्हें एक अत्यन्त ही शुभ कार्य का अनुष्ठान करना पड़ेगा।"

नारदजी ने हाथ जोड़कर पूछा—"जो कोई भी देव मुझे अव्यक्त रूप से अशरीरी वाणी में उपदेश दे रहे हैं उनसे मैं यह पूछना और चाहता हूँ कि वह शुभ कार्य कौन-सा है, मुझे किस कार्य के अनुष्ठान से मेरे मनोरथ की पूर्ति होगी?"

आकाशवाणी ने पुनः कहना आरम्भ किया—"उस शुभ कार्य का उपदेश तुम्हें साधु पुरुषों के भूषण स्वरूप सन्त जन ही

करेंगे। अब तुम सन्तों की ही शरण में जाओ। वे तुम्हें भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के उद्धारार्थ जो भी उपाय बतावें उसे सावधानी के साथ करना। उसके करते ही ज्ञान वैराग्य की निद्रा, तन्द्रा, वृद्धावस्था तुरन्त ही दूर हो जायगी और भक्ति देवी भी परम सन्तुष्ट हो जायगी तथा दशों दिशाओं में भक्ति का प्रसार हो जायगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी को ही नहीं, वहाँ जो भी थे, सभी को यह आकाशवाणी सुस्पष्ट शब्दों में सुन्दरता के साथ सुनायी दी, किन्तु नारदजी के लिये यह एक पहेली-सी प्रतीत हुई। सोचने लगे—"मुझे अनुष्ठान करना पड़ेगा, कौन-सा अनुष्ठान करना पड़ेगा? उसका उपदेश सन्तजन देंगे, वे सन्त मुझे कहाँ मिलेंगे? कैसे मैं उन सन्तो को खोज निकालूँगा। बड़ा दुष्कर कर्म है। फिर भी मेरा व्रत परोपकार है, परोपकारी पुरुष को सदा कष्ट सहने ही पड़ते हैं, उन्हें पर पीड़ा निवारणार्थ देश विदेशों में मारे-मारे घूमना ही पड़ता है। मैं भी देश विदेश घूमूँगा, जो सन्त मुझे ज्ञान वैराग्य तथा भक्ति के उद्धारार्थ उपदेश देंगे उन्हें मैं खोज निकालूँगा, सभी साधुओं के आश्रमों पर जाऊँगा, सभी को यह सम्वाद सुनाऊँगा, सभी से उस शुभ कर्म के अनुष्ठान का प्रश्न करूँगा, कोई तो बतावेगा, कोई तो समझायेगा, कोई तो मेरे संशय को मिटायेंगे, कोई तो मुझे सत्य मार्ग दिखायेगा, कोई तो मेरा मनोरथ सफल बनायेगा, कोई तो अपने साधु नाम की सार्थकता दिखायेगा।" यह सोचकर नारद ज्ञान वैराग्य को वहीं अचेतन छोड़कर साधन पूछने के निमित्त कमण्डलु कर में दबाये निकल पड़े।"

वे जहाँ भी साधुओं का पता पाते वहीं दौड़े जाते। सबके चरणों में शीश नवाते, सभी को आकाशवाणी का सम्वाद सुनाते, अपना अभिप्राय जनाते और उस शुभ कर्म के अनुष्ठान

के सम्बन्ध में बताने की प्रार्थना करते। वे बड़ी-बड़ी पावन सरिताओं के तटों पर गये, सन्तों के आश्रमों में, कुटियाओं, वन, उपवनों में, ताल तलैया, सरोवर, वापी कूप, तड़ाग, आराम, तीर्थ तथा पुण्य क्षेत्रों में गये, पृथ्वी की तिल-तिल भूमि छान डाली। विक्षिप्त की भाँति वे घूमते ही रहते सभी से उसी एक को पूछते। सब सुनते और सभी अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ कह देते। कोई कहते—"नारदजी! ज्ञान वैराग्य तो स्वयं सबसे बड़े देवता हैं, उनका उद्धार किसी साधन से असंभव है।" कोई कहते—"नारदजी! हमारी बुद्धि में यह बात बैठती नहीं।" कोई कहते—"आकाशवाणी का गूढ़ रहस्य समझना हमारी बुद्धि के बाहर की बात है। कोई कहते—"नारदजी! आज तक तो हम सब आपको ही सन्त शिरोमणि समझते थे, हमें जो स्वयं शंका होती उसका समाधान आप से ही कराते थे, जब आप ही जिस बात को नहीं समझते, तो हम उसके सम्बन्ध में बता ही क्या सकते हैं?" कोई कहते—"अमुक ऋषि की बड़ी प्रशंसा सुनी है आप उनके पास जायँ।"

यह सुनकर नारदजी उनके समीप जाते, वे सुनकर मौन धारण कर लेते, हाथ के संकेत से हूँ हाँ कर देते। नारदजी कहते हैं—"महाराज! हम आपके संकेत को समझते नहीं लिख दीजिये।" तब वे चुप हो जाते हाँ, ना कुछ भी नहीं कहते। फिर दूसरे के पास जाते उन्होंने जहाँ सुना कि नारदजी हमसे अपनी शंका का समाधान कराने आने वाले हैं, तो दण्ड कमंडलु बगल में दबाकर दस पाँच दिन रॉमत करने निकल जाते। सोचते—"हम से उत्तर न बना तो लोगों में अवज्ञा होगी, कि प्रशंसा तो इतनी भारी थी, एक प्रश्न का उत्तर भी न दे सके।" नारदजी उनकी कुटिया को बन्द देखकर लौट आते फिर किसी का पता लगाते-लगाते आगे बढ़ जाते। इस प्रकार वे वृन्दावन,

मथुरा, सूकर क्षेत्र, ब्रह्मावर्त क्षेत्र, नैमिषारण्य, चित्रकूट, प्रयाग अयोध्या, काशी, वैद्यनाथ, गङ्गासागर, पुरी, नृसिंह क्षेत्र, गोदावरी, कावेरी, कांजीवरम्, चिदम्बरम्, श्रीरंगम्, कुम्भकोणम्, रामेश्वरम्, धनुषकोटि, दक्षिण मथुरा, तिरुपतिबालाजी, कृष्णा, तुङ्गभद्रा, नासिक, द्वारका, सोमनाथ, अवन्ती, पुष्कर क्षेत्र, इन्द्रप्रस्थ, आनन्दवन, हरिद्वार, तथा ऋषिकेश आदि तीर्थों में सरिताओं के पावन पुलिनों में घूमते रहे, किन्तु उनके प्रश्न का यथार्थ उत्तर किसी से भी प्राप्त नहीं हुआ। जब वे तीर्थों में घूमते घूमते श्रमित हो गये और अपने मनोरथ की सिद्धि न हुई, तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उत्तराखण्ड के तपोवनों में बहुत से त्यागी विरागी सन्त तपस्या कर रहे थे, नारद जी ने उनसे भी अपना प्रश्न पूछा। ऋषिगण आपस में एक दूसरे से चर्चा करने लगे—"क्योंजी नारदजी ने ज्ञान वैराग्य को वेद, वेदान्त, गीता सुनाया, जब इन से भी उनकी प्रगाढ़ निद्रा नहीं टूटी, तो तुम्हीं सोचो और उपाय हो ही क्या सकता है। हमारे यहाँ तो ये ही प्रमाण हैं।"

कोई कहते—"जो उपाय परम योगी नारद को भी विदित नहीं उसे बताने का व्यर्थ प्रयास दूसरा कोई कर ही क्या सकता है। हम तो सोचते हैं—"नारदजी सबकी परीक्षा कर रहे हैं या भगवान् की कोई दूसरी ही लीला हो, बड़ों की बातें भी बड़ी ही होती हैं। हम लोग उसके रहस्य को समझ ही कैसे सकते हैं। हमारी दृष्टि में तो यह प्रश्न गूढ़ है। और यह अनुष्ठान अत्यन्त दुस्साध्य है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब नारदजी ने सबसे निराशा पूर्ण उत्तर पाया, तो उन्होंने सोचा—मैं सर्वत्र घूम तो आया ही, अपनी ओर से मैंने पूछने में प्रयत्न करने में कोई कोर कसर तो छोड़ी नहीं अब यहाँ उत्तराखंड में तो आ ही गया हूँ। चलूँ

श्रीमन्नारायण की विशालापुरी बदरीवन में चलकर घोर तपस्या करूँ, तपस्या से जब प्रभु प्रसन्न होंगे तो उन्हीं से अनुष्ठान या अनुष्ठान बताने वाले सन्त के सम्बन्ध में पूछूँगा।" ऐसा निश्चय करके वे योग के द्वारा आकाश मार्ग से बदरीवन में पहुँचे। उस समय मनुष्यों की पूजा थी। ६ महीने देवता पूजा करके चले गये थे। मनुष्य हिम के हट जाने से पूजा में संलग्न थे। वर्षा ऋतु थी। कार्तिक का महीना था नारदजी तपस्या के निश्चय से

सम्याप्रास की ओर बढ़ते चले जा रहे थे, तभी उन्हें नारद! नारद! कहकर किसी ने पुकारा फिर नारदजी ने जो देखा तो वे चकित हो गये, उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ करोड़ों सूर्यों का प्रकाश चार पुञ्जों में विभक्त होकर दैदीप्यमान हो रहा है। सामने ही उन्हें अपने भाई ब्रह्माजी के आदि मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार-

दिखायी दिये। नारदजी ने उन्हें देखते ही दण्ड प्रणाम किया, अपना यह सम्पूर्ण वृत्तान्त उन्हें सुनाकर कहने लगे—"हे मुनीश्वर गण! मैं सम्पूर्ण पृथ्वी पर जिस साधन से ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति परिपुष्ट हो उसके लिये घूम आया किन्तु किसी ने भी मुझे आज तक यह साधन नहीं बताया। मैं तो यहाँ तपस्या करने के उद्देश्य से आया था, महान् सौभाग्य से यहाँ आते ही आपके दर्शन हो गये। अब कृपा करके उस पुण्यप्रद साधन को आप मुझे बताइये।"

यह सुनकर हँसते हुए कुमारों ने कहा—"नारदजी! हम आपके साधन को कैसे जान सकते हैं?"

नारदजी ने कहा—"महानुभावो! संसार में ऐसी कोई बात नहीं जिसे आप न जानते हों आप महान् योगी हैं। भूत भविष्य और वर्तमान आपके सम्मुख हस्तामलक वत् हैं। आपने समस्त शास्त्रों का श्रवण मनन निदिध्यासन किया है। आप परमबुद्धिमान तथा तपस्वी हैं।"

कुमारों ने कहा—"नारद जी! हम तो पाँच-पाँच वर्ष के लड़के हैं।"

नारदजी बोले—"महाराज! देखने में तो आप बालकों से ही लगते हैं। किन्तु प्रजापतियों के भी आप पूजनीय हैं। सृष्टि में सबसे प्रथम आप उत्पन्न हुए हैं आप पूर्वजों के भी पूर्वज हैं। इसलिये अवस्था में भी सबसे श्रेष्ठ हैं। आप लौकिक पुरुष भी नहीं अविद्या से भी प्रथम आपकी उत्पत्ति है। अतः अविद्या आपके समीप भी नहीं फटक सकती। आप भगवान् के परमधाम वैकुण्ठ लोक में निवास करते हैं, इसलिये लोक के सुख दुःखों से सदा परे रहते हैं। संसारी विशेष बातें भी नहीं बोलते। सदा हरिनाम संकीर्तन में संलग्न रहते हैं। आपका आहार अन्न जल नहीं है। आप कृष्ण कथा के सहारे

ही जीवित रहते हैं। आपका जीवनाधार ही हरिचर्चा है। आप संसारी मादक द्रव्य का स्पर्श भी नहीं करते। आपको उस की आवश्यता ही प्रतीत नहीं होती। आप नित्य निरन्तर अतृप्त भाव से इतना हरिकथा मृत पान करते हैं कि उसके मद में सदा मदमाते बने रहते हैं कृष्णलीला--सुधा के पान से सदा उन्मत्त से बने रहते हैं। व्यर्थ की बकवाद से आप बचते रहते हैं। आपके मुख से पचाक्षरी (हरिः शरणम्) यह मन्त्र निरन्तर निकलता रहता है। इसीलिये सदा आप पाँच वर्ष के कुमार बने रहते हैं। वृद्धावस्था तो काल के प्रभाव से होती है। आप तो कालातीत हैं। इसीलिये वृद्धावस्था की विवशता आपको बाधा नहीं पहुँचा सकती।

आप कहें कि हम कुछ करने में असमर्थ हैं सो भी बात नहीं आप सब कुछ कर सकते हैं। मनुष्य, यक्ष, राक्षस, देव, गुह्यक, पिशाच तथा अन्यदेव उपदेवों की तो बात ही क्या साक्षात् वैकुण्ठताधिपति भगवान् विष्णु के प्रिय पार्षद जय विजय तक को भी आपने हतप्रभ बना दिया। वे आपके भ्रूभङ्ग मात्र से ही पृथ्वी पर आकर राक्षस हो गये और आप की ही कृपा से उनका पुनः उद्धार हुआ उन्हें उनका पूर्व पद प्राप्त हो गया। भाग्यवश ही मुझे अकस्मात् यहाँ आपके दर्शन मिल गये। इसलिये आप टाल मटोल न करें। मुझ दीन पर दया करें। अनुचर पर अविलम्ब अनुग्रह करें।"

कुमारों ने पूछा—"तुम्हारा अभिप्राय क्या है? जानना क्या चाहते हो?"

नारदजी ने कहा—"प्रथम तो आप मुझे आकाशवाणी का अभिप्राय समझावें, उसके बतायें गूढ़ साधन का अर्थ बतायें? फिर उसकी विधि का उपदेश दें। वह साधन कैसे करना चाहिये, कब करना चाहिये, इन सबका सुस्पष्ट शब्दों में

विस्तार के साथ वर्णन कीजिये। दूसरी बात यह कि उस साधन से भक्ति, ज्ञान और वैराग्य तीनों को ही सुख हो। ऐसा न हो कि भक्ति के अहंकार में ज्ञान वैराग्य से कोरे रह जायँ, केवल करताल ही खटखटाते रहें। अथवा ज्ञान के अभिमान में भक्ति का निरादर करें उसे मूर्खों का अबलाओं का ही साधन बतावें। या वैराग्य की झोंक में ज्ञान भक्ति सभी को तिलांजलि दे दें। दिगम्बर बनकर अभिमान को ही बढ़ाते रहे। उपाय ऐसा हो, जिससे तीनों का ही यथा स्थान समुचित आदर हो।

तीसरी बात यह है, कि वह साधन सभी समय सभी वर्ण के साधकों को सुलभ हो। जैसे वैदिक कर्मकांड है उसका अधिकार केवल द्विजाति मात्र को है। संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण मात्र को ही है। यह साधन ऐसा हो, जिसका प्रचार सभी वर्णों में सभी आश्रमों में हो सकें। ब्राह्मण को भी वह साधन तार दे और शूद्र का भी उद्धार कर दे। सर्वसाधारण के लिये सुलभ साधन का आप उपदेश करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी के इन प्रश्नों का कुमार गण जैसे उत्तर देंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा, आप सब समाहित चित्त से इस प्रसंग को श्रवण करें।"

छप्पय

नभ-बानी सुनि चले देव-ऋषि संतनि खोजन।
तीरथ तीरथ फिरे सरित वन उपवन पावन॥
सबतें पूछे प्रश्न किन्तु उत्तर नहिं पाये।
श्रमित दुखित अति भये करन तप बदरी आये॥
तहाँ मिले सनकादि मुनि, समाचार पग परि कह्यो।
पर-उपकारक प्रश्न सुनि, ब्रह्म सुतनि हिय खिलि गयो॥

—o—

भागवती कथा ही सर्वोपयोगी सुगम साधन है

[७]

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियम्
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतम्
तच्छृण्वन् विपठन्विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥*

(श्री भा० १२ स्क० १३ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

सनकादिक मुनि कहे—व्यरथ नारद! घबराओ।
साधन अति सुख साध्य श्रवन करि सबनि सुनाओ॥
एक भागवत कथा सुगम पथ ऋषि मुनि सेवें।
अन्य सकल श्रम साध्य अन्त में स्वरगहिँ देवें॥
सुनत भागवत भक्ति दुख, सुतनि संग नसि जायँगे।
पावैं प्रानी परम पद, सब जन अति हरषायँगे॥

---

* श्री सूतजी कह रहे हैं"—मुनियो! श्रीमद्भागवत पुराण सभी प्रकार के मलो से रहित है, यह विष्णुभक्तो का सबसे प्यारा धन है, इसमें परमहंसो द्वारा प्राप्त विशुद्ध परज्ञान का गान किया गया है। इसमे एक ऐसे त्याग धर्म का आविष्कार किया गया है जो भक्ति, ज्ञान और वैराग्य से युक्त है। इसका जो भक्तिभाव से श्रवण करते हैं, पाठ करते हैं अथवा मनन करते हैं वे ससार बन्धन से छूट जाते हैं।"

सुगम साधन वही है जिसमें सबका सरलता सुगमता से शास्त्रीय विधान से सरसता के साथ समावेश हो जाय। कुछ वस्तुयें तो ऐसी हैं, जो एक व्यक्ति विशेष को या वर्ग विशेष को प्रिय होती हैं, कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जो प्रायः सभी को समान भाव से प्रिय होती हैं। सर्वसम्मत-सर्वोपयोगी-सर्वजनप्रिय वस्तु में ही सब सम्मिलित हो सकते हैं। हँसना मुसकाना मानव मात्र को प्रिय है इसीलिये हँसमुख सभी का प्रिय हो जाता है। गम्भीरता का भी एक विशिष्ट स्थान है किन्तु वह सर्वत्र सब समय नहीं, विशेष-विशेष अवसरों पर। परन्तु मनःप्रसाद तो सर्वप्रिय वस्तु है। सूखे सत्तू पेट भरने को तो अच्छे ही हैं, सब उन्हें निगल भी नहीं सकते, किन्तु घृत से चूता हुआ मोहनभोग हो, रबड़ी हो, रसगुल्ले हों, पेड़े हों इनकी पंक्ति हो तो देखिये आनन्द, चारों ओर लाओ-लाओ ही मच जायगा। भगवान् की लीला कथायें ऐसी ही मधुर-मधुर मिठाइयाँ हैं, जिनसे पेट भले ही भर जाय, मन नहीं भरता, खाने की इच्छा बनी ही रहती है और सबकी रसना सुख पाती है जिह्वा भी द्रवित होकर पानी बहाने लगती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी के प्रश्न सुनकर चारों कुमार बड़े ही प्रसन्न हुए। परोपकार के निमित्त नारदजी की ऐसी चिन्ता, ऐसी उत्सुकता ऐसी तन्मयता तथा ऐसी लगन देखकर उन्हें अपार आनन्द हुआ। वे हँसते हुए नारदजी से कहने लगे—"अब चिन्ता करने का काम नहीं। आपकी इच्छा पूर्ण होगी। ज्ञान वैराग्य को निद्रा टूट जायगी, उन्हें पुनः युवावस्था प्राप्त होगी, भक्ति को भी अपार सुख मिलेगा, अब आप प्रसन्न हो जाइये, हमसे हँसकर बातें कीजिये।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! किसी नये उपाय का आविष्कार कीजिये।"

कुमारों ने कहा—"आविष्कार क्या करना। आविष्कार तो हुआ हुवाया धरा है। उनके उद्धार का सुख साध्य साधन तो पूर्व से ही विद्यमान है। तुम भी उसे जानते हो, केवल तुम्हें स्मरण भर कराना है। जानते हुए भी आप अनजान की भाँति भूमंडल पर भ्रमण कर रहे हो। अत्यन्त चिन्तित दुखित और श्रमित बन रहे हो तुम्हारी इस व्यग्रता से हमें अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। अपने शरीर सुख के लिये पुत्र परिवार और प्रतिष्ठा के लिये तो सभी संसारी व्यग्र रहते हैं, किन्तु दूसरों के लिये परोपकार के लिये प्राणियों के कल्याण के निमित्त तो कोई विरक्त, संतजन, योगी तथा ज्ञानी ही प्रयास करते हैं। आप से बढ़कर संसार में विरक्त कौन होगा, विरक्त ही नहीं आप विरक्तों के मुकुटमणि हैं, फिर भी परोपकार भावना से आसक्त से बने हुए हैं। आप परम भगवत् भक्त हरिदास ही नहीं समस्त भक्तों के भव्य भूषण तथा अच्युत आराधक अकिंचनों के अग्रगण्य हैं। योगमार्ग के भास्कर हैं। योगिराज तथा योग के प्रवर्तक हैं, आपके मन में ऐसी चिन्ता होना, इतनी व्यग्रता आना स्वाभाविक है। साधु पुरुष प्रायः पराये ताप से तपते रहते हैं। साधुओं का हृदय नवनीत के समान कोमल स्निग्ध तथा स्वच्छ होता है नवनीत तो अपने ही ताप से द्रवित होता है, किन्तु साधुओं का हृदय तो पराये ताप से पिघला करता है। वैष्णव की यही तो पहिचान है। परायी पीर को जानने वाला ही यथार्थ में वैष्णव है। भगवत् भक्त कहाकर जो भक्ति को स्थापना नहीं करता। वैष्णव होकर स्वयं कथा कीर्तन नहीं करता तथा दूसरों को अपने आचरण, व्यवहार, कथन तथा प्रवचन से प्रेरित नहीं करता वह वैष्णव कैसा ? इसीलिये सदा से त्यागी, विरागी, विरक्त वैष्णव तथा संतजन लोक कल्याण के लिये प्रभु-प्राप्ति के विविध उपाय प्रकट करते हैं,

जितने तत्ववेत्ता ऋषि हुए हैं उन सबने देश, काल तथा पात्र भेद से बहुत से मार्ग प्रकट किये हैं। कोई किस युग में अनुकूल पड़ता है, कोई किसी को अनुकूल पड़ता है, उन सब में कामना पूर्ति को प्रधानता दी गयी है। पुत्र की कामना हो अमुक यज्ञ करो, शत्रु को मारना हो अमुक अनुष्ठान करो, किसी को वश में करना हो, अमुक मन्त्र का इतना जप करो। इन सभी सकाम साधनों में पग-पग पर विधि निषेध पर ध्यान रखा जाता है, विधि में तनिक-सी भी त्रुटि हुई तो कार्य सिद्ध होने की बात तो कौन कहे, उसके प्रतिकूल फल होता है। बड़े कष्ट करके चिर-संयम के साथ वह कार्य सिद्ध हुआ भी तो उसका फल क्या हुआ, संसारी कामना। पुत्र मिल गया, शत्रु का नाश हो गया, कुछ काल के लिये स्वर्ग मिल गया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सनकादि इतने ज्ञानी मुनियों ने इन अन्य साधनों को इतना तुच्छ क्यों बताया? मारण, मोहन उच्चाटन तथा वशीकरण आदि साधन भी तो वैदिक हैं। ऋषियों ने ही तो इनका साक्षात्कार किया है। फिर इन्हें इतना हेय क्यों कहा गया है?"

सूतजी बोले—"महाराज! वेद तो त्रैगुण्य विषय है उस में सात्त्विक राजस् तथा तामस सभी प्रकार के साधन हैं। तामसी पुरुषों को ये साधन भले ही उपयोगी हों, किन्तु जो प्रभु को पाना चाहते हैं जिनका लक्ष्य विशुद्ध भगवद् भक्ति है उन्हें तो इन सकाम कर्मों से बचना ही चाहये। क्रोध लोभ से वशीभूत होकर बड़े कष्ट से ये कार्य किये जाते हैं और इनसे फिर विषय ही मिलते हैं। राजा की बहुत दिन कष्ट सहकर सेवा की जब वह प्रसन्न हुआ और कुछ माँगने को कहा तो माँगा यही मुझे कोठार की भूसी मिल जाय या घोड़ों के नीचे छिटके दानों को समेट के ले जाने की आज्ञा हो जाय। साधन तो वही

यथार्थ साधन है जिससे प्रभु के पादपद्मों में प्रेम हो। सकाम घोर साधनों में तो श्रम-ही-श्रम है उनमें कुछ हाथ लगता नहीं। इस विषय में एक छोटा-सा दृष्टान्त है।"

एक आदमी अपनी स्त्री से क्रुद्ध हो गया। उसने कहा—"मैं तो तपस्या करूँगा घोर वन में जाकर कठिन तपस्या करने लगा। उसके एक ही पुत्र था उसने पिता को तपस्या में संलग्न देखा तो वह भी उसकी देखा देखी तप करने लगा। जब देवता प्रकट हुए और वर माँगने को कहा तो उसने वर माँगा मेरी स्त्री मर जाय वह मुझे बहुत क्लेश देती है। देवता ने कहा—"ऐसा ही होगा।" उसकी स्त्री मर गयी।"

फिर देवता ने पुत्र के समीप जाकर उससे भी वर माँगने को कहा, लड़के ने पूछा—"मेरे पिता ने क्या वर माँगा है?" देवता ने बताया अरे, उसने तेरी माँ के मरने का वर माँगा था मैंने उसे मार दिया तू मातृहीन हो गया अब तू भी कुछ माँग ले।"

उसने कहा—"महाराज! मुझे यही वर दीजिये मेरी माता जीवित हो जाय।" देवता तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गये। दोनों बाप बेटे घर आये। घर जैसा का तैसा था वही स्त्री वही कलह। इतने दिन की तपस्या व्यर्थ ही हुई। सो, महाराज सकाम कर्म भोगों से दुखित होकर किये जाते हैं उनसे भोग ही मिलते हैं। कल्याण की कामना करने वाले को ऐसे काम्य कुत्सित कर्मों में काल को न गँवाना चाहिये।

एक वृद्ध पुरुष थे उन्हें एक ऐसा मन्त्र आता था कि जो भी उनके सम्मुख उच्च आसन पर बैठे उसकी पगड़ी गिर जाय! एक दूसरे साधक आये उन्होंने जब ऐसा चमत्कार देखा तो बड़े प्रभावित हुए। उनसे उस मंत्र को सीखने की उसने भी जिज्ञासा की। वृद्ध ने बताया अमुक मंत्र को आधी रात में श्मशान में जाकर इतने दिनों तक सहस्र संख्या में जपो।"

वह मंत्र लेकर रात्रि में स्मशान में जाता मंत्र को जपता रहता। एक दिन उसके मन में यह बात आयी कि इतना परिश्रम करने पर मान लो मंत्र सिद्ध भी हो गया, तो दूसरों की पगड़ी गिराने से मुझे लाभ ही क्या होगा, केवल अभिमान ही और बढ़ेगा।" यह सोचकर उसने मंत्र जपना छोड़ दिया। उस वृद्ध ने एक दिन आकर पूछा—"क्या तुम मंत्र जपते हो अभी तक कोई देवता प्रकट तो नहीं हुआ ?"

उस साधक ने अपने मन की बात वृद्ध से कही यह सुनकर वृद्ध बड़ा प्रभावित हुआ। उसने साधक को हृदय से लगा लिया अन्त में उसने भी इस कार्य को छोड़ दिया। सो, शौनकजी ! ये क्षुद्र सिद्धि के सकाम कर्म भगवत् भक्ति में बाधक ही हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप सत्य कहते हैं यथार्थ कर्म तो वही है जो भगवन् भक्ति को बढ़ावे, हाँ तो फिर कुमारों ने क्या कहा ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज सुनिये, सनकादि जी नारदजी से कह रहे हैं—"नारद ! क्षुद्र साधनों को बताने वाले आकर्षक चमत्कार दिखाकर भोले-भाले लोगों को प्रभावित करने वाले व्यापारी उपदेशक तो बहुत मिल जाते हैं, किन्तु वैकुण्ठ के मार्ग को दिखाने वाला प्रभुपादपद्मों तक पहुँचाने वाला मार्ग तो गुप्त ही है। उसका उपदेश देने वाले पुरुष तो पूर्वजन्म के पुरातन पुण्य से कहीं से विरले ही मिलते हैं। जो विशुद्ध धर्म का उपदेश देने में समर्थ हों।"

नारदजी ने कहा—"हाँ, तो भगवन ! आकाशवाणी ने भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य के उद्धार के निमित्त मुझे जिस सत्कर्म को करने का उपदेश दिया वह कर्म कौन-सा है, कृपा कर उसी का उपदेश मुझे दीदिये।"

सनकादि मुनि बोले—"ऋषिवर ! अब हम उसी कर्म को तो

बना रहे हैं। उसी से तो भगवत् भक्ति का घर-घर प्रचार प्रसार होगा। आप समाहित चित्त होकर प्रसन्नता पूर्वक प्रेम से श्रवण करें।"

देखो, साधन कहो, यज्ञ कहो एक ही बात है। नाना द्रव्यों द्वारा यज्ञ में आहुति देना यह द्रव्य यज्ञ कहाता है, विविध भाँति से काया को क्लेश पहुँचाना, उपवास, व्रत, जल में खड़े रहना, पंचाग्नि तापना, एक पैर से खड़े रहना नंगे रहना केश नख न कटाना आदि विविध प्रकार से शरीर को तपाने का नाम तपो-यज्ञ है विविध भाँति की योग सम्बन्धी क्रियाओं के अभ्यास को योगयज्ञ कहते हैं। मंत्रों के जप पुनः-पुनः पठन को स्वाध्याय बताया है उस स्वाध्याय रूप ज्ञान यज्ञ से भी सकाम करने से स्वर्गादि लोकों की ही प्राप्ति होती है। उपर्युक्त सभी यज्ञ श्रेष्ठ लोकों में ले जाने के साधन मात्र कहे गये हैं। एक श्रीमद्भागवत पारायण रूप ज्ञान यज्ञ को यथार्थ सत्कर्म कहा गया है।"

नारदजी पूछा —"भगवन ! कौन-सा श्रीमद्भागवत पारायण रूप ज्ञान यज्ञ है। उसका कथन किन महर्षियों ने किया है ?"

सनकादि महर्षियों ने कहा—"नारद ! तुम भूल गये क्या ? अरे, तुमने ही ब्रह्माजी से श्रीमद्भागवत का प्रश्न किया था। अत्यंत संक्षेप में श्रीमन्नारायण के मुख से सुना वह ज्ञान ब्रह्माजी ने तुम्हें बताया। तुमने भी इसी बदरीवन में विषाद में बैठे व्यास जी को सुनाया था। व्यास ने उसे विस्तार पूर्वक बनाकर अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया। महर्षि शुक के द्वारा ही भूमण्डल पर इसका प्रचार हुआ। उसे सर्वसाधारण लोग जानते नहीं। यह अत्यन्त गुप्त अत्यन्त प्रभावयुक्त मोक्षमार्ग को दर्शाने वाला शास्त्र है। उस श्रीमद्भागवत का शब्द भक्ति देवी के कर्ण कुहरों में पड़ जाय। ज्ञान वैराग्य उसका श्रवण कर लें, तीनों ही खिल उठें, तीनों का शरीर परिपुष्ट हो जाय, तीनों को ही असीम बल

की प्राप्ति हो जाय। ज्ञान वैराग्य का तो समस्त क्लेश मिट जायगा, उनका पोपला मुख सभी दाँतों से युक्त होकर सूर्य के समान चमने लगेगा। केश कृष्ण वर्ण के हो जायँगे, बली पलित शरीर सुन्दर सुहावना दर्शनीय हो जायगा और भक्ति देवी को इतना आनन्द होगा, कि वह नृत्य करने लगेगी प्रेम में पगली बनकर झूमने लगेगी।"

नारदजी ने कहा—"महाराज, कलियुग तो बड़ा पापी है, उसने सभी आचार-विचार शुभ कर्म साधन नष्ट कर दिये हैं उसके दोष तो विघ्न न कर देंगे।"

गर्ज कर सनकादि मुनि बोले—"नारद ! तुम कैसी बातें कर रहे हो। देखो, पापी के पैर नहीं होते जो डरता है उसी को कलियुग और भी अधिक डराता है। गाँव में हल्ला होता है, भेड़िया आया भेड़िया आया। जो शब्द सुनकर डरकर घर में छिप जाता है, उसी के बच्चों को भेड़ बकरियों को भेड़िया उठा ले जाता है, किन्तु जो साहस करके लट्ठ लेकर द्वार पर खड़ा हो जाता है, वहाँ से भेड़िया खिसक जाता है। कितने भेड़िये एकत्रित क्यों न हो जायँ, जहाँ सिंह ने गर्जना की, कि सब-के-सब भाग जाते हैं, सब नौ दो ग्यारह हो जाते हैं ! इसी प्रकार जहाँ श्रीमद्भागवत की दहाड़ हुई कि ये सबके सब कलियुग के दोष पलायन पारायण बन जाते हैं सब भाग जाते हैं। उस समय ज्ञान वैराग्य से संयुक्त भक्ति परम प्रमुदित होकर उछलने-कूदने लगती है, प्रेम रस के प्रवाह से प्रवाहित होकर सभी को प्लावित करती है। प्राणी मात्र को उससे आप्यायन होता है। तुम यदि श्रीमद्भागवत पारायण रूप यज्ञ के परम कल्याण प्रद अनुष्ठान को करोगे तो भक्ति को अत्यन्त ही आनन्द होगा, वह जन-जन के मन में आह्लाद को भर देगी, सबके अन्तःकरण को प्रफुल्लित कर देगी सबके हृदय में सुख का संचार करेगी,

घर-घर में विचरण करेगी, सर्वत्र उसका प्रचार-प्रसार हो जायगा।"

नारदजी ने कहा—"मुनियो! मुझे इस विषय में एक शंका है, आज्ञा हो तो उसको मैं प्रकट करूँ, मुझे आप श्रद्धाहीन न समझें।"

मुनियों ने कहा—"नहीं नारदजी! श्रद्धाहीन समझने की क्या बात है, शंका का तो समाधान करा ही लेना चाहिये, आप अपनी शंका को निर्भय होकर प्रकट करें।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन्! मैं पूछना यह चाहता हूँ कि इस श्रीमद्भागवत की उत्पत्ति कहाँ से हुई?"

मुनियों ने कहा—"श्रीमद्भागवत वेद वेदान्त का सार समस्त उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र, महाभारतादि इतिहास पुरा शास्त्रों का सार लेकर यह अमूल्य ग्रन्थ बना है। समस्त शा रूप समुद्र को मथकर यह श्रीमद्भागवतामृत निकला है।"

नारदजी ने इस पर कहा—"हाँ, तो भगवन्! मेरी शं यही है, कि मिट्टी का बना घड़ा मिट्टी ही होगा, सुवर्ण का ब आभूषण सुवर्ण ही होगा, हिम की बनी पुतली हिम ही होगी नमक का बना गोला नमक ही होगा, जो गुड़, मिट्टी, सुव हिम अथवा नमक में है वही गुण उनके द्वारा निर्मित घड़ आभूषण, पुतली और गोले में भी होना चाहिये। जो प्रभा वेद वेदान्त तथा अन्य सभी शास्त्रों का हो वही उनसे निक श्रीमद्भागवत में भी होना चाहिये। मैंने ज्ञान वैराग्य त भक्ति को वेद वेदान्त उच्च स्वर से सुनाया, समस्त गीता स्पष्ट स्वर में पाठ सुनाया यह सब सुनकर भी भक्ति सहित ज्ञा वैराग्य नहीं उठे, फिर श्रीमद्भागवत की कथा उन्हें कैसे जाग्र कर सकती है। भागवत के प्रत्येक पद में, प्रत्येक श्लोक में वे वेदान्त का ही तो भाव भरा है। वेद से विरुद्ध एक भी श

नहीं। भागवत तो ब्रह्मसूत्र का अर्थ, वेद माता गायत्री का भाष्य, सम्पूर्ण उपनिषदों का सार है। जो गुण उनमें वही भागवत में। यही मेरी शंका है मैं स्वार्थवश दीन हो गया हूँ आप दीनदयालु हैं शरणागतवत्सल हैं, अमोघदर्शन हैं आपका दर्शन व्यर्थ नहीं जाता आपके समीप से कोई निराश नहीं लौटता कृपा करके मेरी इस शंका को समूल नष्ट कर दें।"

यह सुनकर चारों कुमार खिल खिलाकर हँस पड़े और बोले—"नारद! हम समझ गये, आप लोक कल्याण के लिये यह प्रश्न कर रहे हैं, आप हमारे मुख से श्रीमद्भागवत का महत्व प्रकट कराना चाहते हैं, तभी तो ऐसी विचित्र शंका कर रहे हैं। अच्छा हम आपसे पूछते हैं, आम अथवा कोई फल कहाँ से प्रकट होता है?"

नारदजी ने कहा—"महाराज! सभी फल अपने-अपने वृक्षों से उत्पन्न होते हैं। आम का फल भी आम के पेड़ से पैदा होता है, पकता है, पकने पर रस होता है, सभी खाते हैं।"

सनकादिकों ने पूछा—"रस उसमें कहाँ से लाकर भरा जाता है?"

नारदजी ने कहा—"महाराज! रस कहीं बाहर से लाकर थोड़े ही भरा जाता है, वृक्ष की जड़ से लेकर चोटी पर्यन्त उसमें रस व्याप्त है वही रस फल में भर जाता है।"

सनकादिकों ने कहा—"हाँ, यही बात हम आपके मुख से कहलाना चाहते थे। जब आम का रस पेड़ से ही हुआ है तो जो पेड़ के रस का स्वाद होगा वही उसके फल का भी स्वाद होना चाहिये। आप आम के फल के रस को न चूस कर उसकी पत्ती के उसकी डाल के रस को चखिये देखिये उसमें कैसा स्वाद होगा।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! आम के पेड़ का दूसरा

स्वाद है आम के फल का दूसरा स्वाद है। उन दोनों के गुण में, स्वाद में, रंग रूप में सभी में अन्तर है ?"

कुमारों ने कहा—"जैसे पेड़ से ही उत्पन्न फल के रस का दूसरा स्वाद है और पेड़ में व्याप्त रस का दूसरा स्वाद है, इसी प्रकार भागवती कथा, वेद, वेदान्त, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि के अर्थ से उत्पन्न हुई है, किन्तु इसका फल इनसे विलक्षण ही होता है। यह दृष्टान्त तो हमने आपको समझाने को दिया। इसी प्रकार के और भी दृष्टान्त ले लीजिये। जैसे घृत दूध से ही तो उत्पन्न होता है, किन्तु जब दूध को जमा कर उसे मथ कर उससे पृथक कर लिया जाता है तो उसका स्वाद, गुण, रंग रूप सब दूध से पृथक होता है, दूध कितना भी पी लीजिये उसमें घृत का स्वाद नहीं आवेगा। दूध की आहुति घृत के स्थान में नहीं दी जा सकती। घृत को ही अमृत बताया। देवताओं को घृत ही प्रिय है। मिश्री ईख से ही बनती है, उसमें ईख के रस के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं। किन्तु ईख के रस का दूसरा स्वाद है, मिश्री की बात तो पूछना ही क्या जहाँ मुँह में डाली की अपने आप मीठा-मीठा रस चूने लगता है उस मिठाई का स्वाद तो खाने वाले को ही मिलता है। वैद्य कह दे अमुक रोगी को मिश्री देना आप उसके सामने ईख जाकर रख दो, रोग घटने के स्थान में और बढ़ जायगा। ईख यद्यपि मिश्री की जननी है किन्तु जननी होने से ही क्या हुआ, गुण तो दोनों के पृथक्-पृथक् हैं।"

आपने मिट्टी, सुवर्ण, हिम और नमक का दृष्टान्त दिया उनका भी गुण पृथक् है। यद्यपि गीली मिट्टी से ही घड़ा बनता है, घड़े में मिट्टी के अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु नहीं फिर भी गीली मिट्टी में पानी भर के तो नहीं आ सकता। पानी तो घड़े में ही आवेगा। गीली मिट्टी के ही हाथी, घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा

आदि खिलौने बनते हैं। आप बच्चे को खिलौने न देकर गीली मिट्टी दे दें कि ले इससे खेल इन्हीं से सब खिलौने बनते हैं, क्या वह उनसे सन्तुष्ट हो जायगा ? राजा का मुकुट सुवर्ण का ही बनता है। मुकुट न पहिनकर वह पांच सेर सोना सिर पर लादले तो कोई उसे मुकुट धारी राजा कहेगा। स्त्रियों के आभूषण सुवर्ण के होते हैं, उन्हें आभूषण न देकर खान से निकले सुवर्ण के टुकड़े कर करके उसके अंगों में लटका दो तो क्या उसकी शोभा बढ़ेगी ? बहुत-सी ओषधियाँ सुवर्ण से ही बनती हैं, सुवर्ण की भस्म करके रोगी को दी जाती है भस्म न देकर आप उसे सूखा सुवर्ण ही खिला दें तो क्या रोग जायगा ? हलुआ घृत, चीनी और अन्न के चूर्ण से ही बनता है। आप हलुआ न बनाकर पहिले घृत पिला दें, ऊपर से चीनी पानी में घोलकर पिला दें फिर आटा फँकवा दें तो क्या इनमें हलुआ का स्वाद आ जायगा ? हिम तो जल से ही बनता है। ग्रीष्म ऋतु में हिम से शीतल न करके केवल तालाब का गरम जल पिलादें तो उसमें हिम की शीतलता उतना स्वाद आवेगा ? वैसी तृप्ति होगी ?"

सनकादि मुनि कह रहे हैं—"नारदजी ! चाहे वस्तु उसी से उत्पन्न क्यों न हो, उस वस्तु के अतिरिक्त उसमें चाहे कुछ भी अन्य वस्तु न हो, किन्तु पृथक् हो जाने से गुण में स्वभाव में प्रभाव में अन्तर पड़ ही जाता है। पुत्र तो पिता की आत्मा है, उसके शरीर से ही पैदा हुआ है, फिर भी पिता पुत्र एक गुण, स्वभाव तथा प्रभाव के नहीं होते। इसी प्रकार भागवती कथा भी वेद वेदान्त से निकली है, किन्तु उसके फल में और वेदों के फल में बड़ा अन्तर है। यह सत्य है, वृक्ष न हों तो फल हो ही नहीं सकते, किन्तु वृक्ष के रस से उसके फल का रस अधिक मधुर, अधिक गुणकारक अधिक उपयोगी तथा हृदय को प्रिय

वाला होता है। इसी प्रकार वेद वेदान्त की अपेक्षा यह भागवती कथा अधिक मधुर और विशेष फल देने वाली है।"

नारदजी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! यह वेदों से सर्वथा पृथक् है?"

सनकादिकों ने कहा—"अजी, नारदजी! आप क्या जानते नहीं, ऐसी भोली-भोली बातें क्यों कर रहे हो। भागवत वेदों ही समान है। जो प्रभाव जो आदर जो प्रतिष्ठा वेदों की है वह इसकी है, इसका प्रकाशन, प्रयणन ही भक्ति ज्ञान और वैराग्य की स्थापना के निमित्त हुआ है। कलियुग में इसका प्राकट्य धर्म की स्थापना के निमित्त है। यह भगवान् का वाङ्मय अवतार ही है। श्रीकृष्ण में और श्रीमद् भागवती कथा में कोई अन्तर ही नहीं। तुमने ही तो इसका प्रचार किया। तुमने ही तो इसके द्वारा व्यासजी की खिन्नता का खंडन किया। इसी के उपदेश से तो व्यासजी का मोह दूर हुआ। इसी को रचकर तो व्यास जी ने अपने को कृतार्थ समझा। इसके प्रभाव को आप स्वयं जानते हो।"

अच्छा, हम आपसे ही पूछते हैं। व्यासजी के ज्ञान में क्या कमी थी। चारों वेदों का उन्होंने व्यास किया। पञ्चम वेद महाभारत की उन्होंने रचना की, समस्त पुराणों को उन्होंने बनाया फिर भी उन्होंने अपने को अकृतार्थ ही अनुभव किया उनके हृदय में एक खटक खटकती ही रही। एक कमी को वे अपने अन्तःकरण में अनुभव करते ही रहे। वे इस चिन्ता में दुखी बैठे ही थे, वे परिताप और अज्ञान रूपी समुद्र में गोते खा ही रहे थे, कि सौभाग्यवश आप उनकी कुटिया पर पहुँच गये। आपने ही उन्हें चतुःश्लोकी भागवत का विस्तार के साथ उपदेश दिया और विस्तार पूर्वक भागवत रचना की आज्ञा दी। उसके श्रवण मात्र से ही व्यासजी को परम संतोष हुआ, उनकी चिन्ता

दूर हो गयी। हृदय प्रफुल्लित हो उठा। अन्तःकरण रूपी कमल की सिकुड़ी हुई कलियाँ खिल गयीं, भागवत रचना करके ही उन्होंने अपने को पूर्ण कृतार्थ समझा ये सब करतूतें आपकी ही हैं। स्वयं तो बीज बोते हो जब उससे वृक्ष बन जाता है तो आश्चर्य करते हो यह इतना बड़ा वृक्ष कहाँ से आ गया। स्वयं ही तो ओषधि देकर रोगी को निरोग करते हो, फिर उसी रोग का कोई दूसरा रोगी आता है, तो स्वयं ही अन्य ओषधि की खोज करके खिन्नता प्रकट करते हो, नारदजी आपकी लीला अपार है। यदि आपको भक्ति ज्ञान और वैराग्य का यथार्थ में दुःख दूर करना है तो उन्हें श्रीमद्भागवती कथा सुनानी चाहिये। इसी के श्रवण से उनका समस्त शोक सन्ताप दूर हो जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब नारदजी ने सनकादि मुनीश्वरों के मुख से श्रीमद्भागवत् की ऐसी महिमा सुनी, उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। वे प्रेम में बेसुधि हो गये, उनके नेत्रों में आनन्दाश्रु आ गये। वे बड़ी देर तक रोते रहे, फिर आँसू पोंछ कर स्वस्थ चित्त होकर गद्गद कंठ से कुमारों की स्तुति करते हुए कहने लगे—"हे मुनीश्वरो! आप धन्य हैं आप की भागवती निष्ठा धन्य है, आप की अपूर्व स्मृति और भक्ति की कहाँ तक प्रशंसा की जाय। आपने शेषजी के द्वारा श्रीमद्भागवत की कथा सुनी थी। आप वैकुण्ठ लोक से नित्य ही आकाश गंगा में स्नान करके पाताल लोक में शेषजी से भागवती कथा श्रवण करने जाया करते थे। आपकी जटायें उन दिनों सर्वथा गीली ही रहती थीं। आप इस भय से जटाओं को सुखाते भी नहीं थे कि कहीं कथा आरम्भ न हो जाय, हम उसके प्रथम प्रसंग से वंचित न रह जायँ। आपकी भागवती कथा में कितनी भारी निष्ठा है। सौभाग्य से ही मुझे आपके दर्शन हो गये। आपका दर्शन, दर्शन करने वाले मनुष्यों

से सम्पूर्ण पाप तापों को तत्काल नष्ट कर देता है। संसार ताप रूप दावानल से दग्ध पुरुषों को परम शान्ति की प्राप्ति होती है। महानुभावो! मेरे कोई पूर्वजन्म के पुण्य उदय हुए। जन्मान्तर के असंख्यों सुकृतों के कारण सन्त समागम प्राप्त होता है। अनेकानेक जन्मों के सञ्चित पुञ्जों का प्रारब्ध वश प्रादुर्भाव हो जाय तब ऐसा सुखद पुण्यप्रद प्रसंग प्राप्त होता है। सत्संग दुर्लभ है अमोघ है अव्यर्थ है। जिसे सत्पुरुषों का सत्संग प्राप्त हो जाता है उसका अज्ञान जन्य मोह और मदरूप अन्धकार उसी प्रकार नाश हो जाता है जिस प्रकार सूर्योदय होते ही निविड़ अन्धकार छिन्न-भिन्न होकर सर्वत्र दिव्य प्रकाश फैल जाता है। तब सभी प्राणियों को घर में रखी सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष दिखायी देने लगती हैं। सभी प्रकार का विवेक हो जाता है कि यह सत् है यह असत् है। मैं आपकी शरण में इसीलिये आया हूँ, कि प्रेम लक्षणा भक्ति का सर्वत्र प्रचार-प्रसार कर सकूँ। आप ऐसा आशीर्वाद दें कि मेरे द्वारा यह दुरूह कार्य हो सके। अब मैं आप की आज्ञानुसार भक्ति ज्ञान और वैराग्य की स्थापना के हेतु श्रीमद्भागवत पारायण रूप ज्ञान यज्ञ को करना चाहता हूँ, इस सम्बंध की सभी बातें मुझे बताइये। मुझे इसकी विधि समझाइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी जिस प्रकार श्रीभागवत श्रवण करने की विधि पूछेंगे उस प्रसंग को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

नारद शका करी—"भागवत सार वेद सब।
उठे न ज्ञान विराग वेद वेदान्त कह्यो जब"॥
सनकादिक मुनि कहें—सार वस्तुनि बिलगाई।
सुमन सार मधु ईख सिता पय-घृत मम नाई॥
सार भागवत वेद को, सुनि जब जन हरषाईगे।
जाके सुनि सप्ताह कूँ, भक्ति ज्ञान सुख पाईगे॥

श्रीमद्भागवत कथा-समारोह

[८]

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥
क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा ।
तथा पुराण ब्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० १३ अ० १६, १७ श्लो०)

छप्पय

है नारद मन मुदित कह्यो—सप्ताह सुनावें ।
होइ कहाँ शुभ यज्ञ पुण्य थल प्रभो ! बतावें ॥
मुनि बोले—हाँ, चलो कथा की करो तयारी ।
हरिद्वार के निकट गङ्ग तट "आनंद" भारी ॥
सब आये आनन्द तट, भक्तभीर भारी भई ।
सुर-ऋषि श्रोता भक्ति-सुत, शरन सबनिकूँ मुनि दई ॥

वक्ता को आनन्द श्रोता देता है और श्रोता को आनन्द वक्ता

---

* सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"हे ब्राह्मणो ! जैसे समस्त नदियों में गङ्गाजी श्रेष्ठ हैं, जैसे समस्त देवताओं में भगवान् अच्युत श्रेष्ठ हैं जैसे वैष्णवों में शङ्करजी श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार समस्त पुराणों में यह श्रीमद्भागवत पुराण श्रेष्ठ है । जिस प्रकार समस्त क्षेत्रों में काशीजी अत्युत्तम हैं उसी प्रकार समस्त पुराणों में श्रीमद्भागवत का आसन सर्वोत्तम है ।"

देता है। योग्य श्रोता देखकर वक्ता का आनन्द सहस्रगुणा बढ़ जाता है। यदि योग्य श्रोता न हो तो वक्ता को कहने में उत्साह नहीं होता और योग्य वक्ता न हो तो श्रोता कितना भी योग्य हो वह पूछकर क्या करेगा, जब उसकी शङ्का का ही समाधान न होगा। साथ ही स्थान का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है, जहाँ का वातावरण संसारी होता है, वहाँ संसारी बातों की ही स्फुरणा होगी, शान्त एकान्त, पुण्य सरिताओं के तटों पर परम पावन प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्रों में स्वतः ही वैराग्य होता है ज्ञान की लहरें उठती हैं भक्ति भाव से हृदय भर जाता है। इसलिये कथा प्रसङ्ग के लिये योग्य अधिकारी श्रोता हों श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ भक्ति भाव से परिपूर्ण हृदय वाले योग्य वक्ता हों, परमपावन पुण्यस्थल हो तो उस कथा में जो आनन्द आता है, उसका वर्णन कौन कर सकता है। अहा, वह समय कैसा रहा होगा जब हरिद्वार के समीप परमपावन आनन्द तट पर वक्ता के उच्चासन पर तो ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन बैठे होंगे, श्रोता के आसन पर नारदजी विराजमान होंगे उनके निमित्त ही ज्ञान वैराग्य अपने पुत्रों सहित भक्ति स्थित होगी। सब बड़े-बड़े ऋषि महर्षि मुनियों को घेरे कथा सुनने को बैठे होंगे तब तो वहाँ अमृत ही बरस रहा होगा। अध्यात्म रूप से इसका रूप बाँधा जाय तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतीक चार वेद ही चारों सनकादि कुमार वक्ता हैं। नारद का अर्थ है मन, मन ही सच्चा श्रोता है, किन्तु मन के समीप यदि काम, क्रोध लोभादि बैठे हों तो उसका सब सुनना व्यर्थ है, उसके पास तो ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का आसन लगना चाहिये। सम्पूर्ण शुभ विचार हैं कल्याण मनन करने वाले मुनि हैं, उनके समूह मनरूपी नारद श्रोता को चारों ओर से घेरे बैठा हो, तभी कथा का यथार्थ प्रयोजन सिद्ध होता है। तभी जरा जर्जरित ज्ञान

वैराग्य युवक बनकर नारद के मन के उत्साह को भर देते हैं, भक्ति नाचने लगती है। ऐसी कथा ही वास्तविक कथा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब नारदजी ने श्रीमद्भागवत सप्ताह रूप ज्ञानयज्ञ करने का निश्चय कर लिया, तब वे कुमारों से हाथ जोड़कर पूछने लगे—"मुनियो! मैंने ज्ञानयाज्ञ करने का निश्चय तो कर ही लिया है, अब आप मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर दें।"

कुमारों ने कहा—"हाँ, पूछिये! हम आपके सभी प्रश्नों का यथामति उत्तर देंगे।"

नारदजी ने कहा—"महानुभावो! आप पर-अपर सभी विषय के ज्ञाता हैं, आप वेद के पार गामी हैं, कोई विषय कोई स्थल आप से अविदित नहीं है। कृपा कर पहिले मुझे बताइये कि भागवत कथा रूप यज्ञ मुझे किस स्थान पर करना चाहिये। अनुष्ठान में देश, काल और पात्र तीनों का ही प्रभाव पड़ता है, अतः पहिले स्थल का निर्णय कर दें।"

कुमारों ने कहा—"नारदजी! हम आपको इस भागवत कथा यज्ञ के लिये बहुत सुन्दर परम भव्य, एकान्त शान्त स्थान बताते हैं। हरिद्वार-गंगा द्वार से कुछ दूर पर विदुरजी की कुटी के सामने—उस पार—हस्तिनापुर से इधर ही एक आनन्द नाम का तट है। वहाँ भगवती भागीरथी की प्रशान्त धारा है। वहाँ की बालू बड़ी ही सुकोमल है। हरिद्वार में तो पत्थर बहुत हैं। वहाँ एक भी पत्थर नहीं। सम भूमि है। ऋषि मुनि वहाँ आकर रहते हैं, गंगाजी का सेवन करते हैं। देवता तथा सिद्ध गण भी वहाँ आकर रहते हैं, वहाँ के वृक्षों के पत्ते अत्यन्त ही कोमल हैं। लतापताओं से परिवेष्टित द्रुमों के कारण वह वन अत्यन्त ही हरा-भरा दिखायी देता है। गंगाजी का घाट भी बड़ा सुन्दर है कीच का नाम तक नहीं। जहाँ तक दृष्टि डालो वहाँ तक बालू

हीं बालू दिखायी देगी। वहाँ एक तालाब भी है, चातुर्मास में जब गंगाजी बढ़ती हैं तो उस तालाब को जल से भर देती हैं। वह तालाब विविध भाँति के कमलों से भरा रहता है। इन कनक कमलों की मधुर-मधुर गन्ध से सम्पूर्ण वन्य प्रदेश भरा रहता है। ऋषियों के तप के प्रभाव से वहाँ का वातावरण इतना शान्त निर्वैर बन गया है कि गौओं के साथ सिंह स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं, भेड़ भेड़िया एक घाट पर पानी पीते हैं, कोई किसी को क्लेश पहुँचाने की बात सोचता भी नहीं। ऐसा लगता है, वह स्थान कथा के ही लिये बना है, तुम्हें वहाँ मण्डपादि बनाने के लिये विशेष प्रयत्न भी न करना पड़ेगा। हमारी तो सम्मति यही है, कि आपको उसी स्थल पर यह यज्ञ करना चाहिये। फिर जहाँ भी आपकी इच्छा हो। आपकी नम्रता, शालीनता सज्जनता से प्रभावित होकर ही हमने यह बात बता दी, आप स्वयं विवेकशील हैं। हमें तो वह स्थान इसके सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।"

नारदजी ने कहा—"प्रभो! मैं आपकी आज्ञा का अवश्य पालन करूँगा, उसी स्थान पर आप के द्वारा श्रीमद्भागवत श्रवण करूँगा। अब आप मुझे श्रीमद्भागवत की महिमा और सुना दें, जिससे मेरी श्रवण लालसा बलवती बन जाय, श्रद्धा दृढ़ हो जाय।"

यह सुनकर कुमारों ने कहा—"नारदजी! तुम तो स्वयं श्रद्धावान हो। परोपकार सच्ची श्रद्धा हुए बिना होता ही नहीं। अपने ही जैसे विचार के और भी लोग हों तो साधन भजन अनुष्ठान तथा सभी कार्यों के करने में उत्साह होता है। अतः तुम भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को साथ लेकर ही इस रस रूपी कथा को श्रवण करना।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! भक्ति तो वृन्दावन में बैठी

है, ज्ञान वैराग्य उठने तक में असमर्थ हैं वे अचेत पड़े हैं, उन्हें मैं आनन्द तट तक कैसे लाऊँगा।"

कुमार बोले—"अरे, भाई तुम्हें उन्हें कन्धे पर लादकर लाना नहीं पड़ेगा। जहाँ भागवती कथा होती है, वहाँ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य स्वतः ही अपने आप आ जाते हैं। कैसी भी दशा में क्यों न हों भक्ति ज्ञान वैराग्य को लेकर ही आवेगी, जहाँ भागवती कथा का शब्द कान में पड़ा नहीं कि वे वृद्ध से युवक बन जायँगे तुरन्त तरुण हो जायँगे। कथा शब्द के प्रभाव से सब में अपार बल आ जायगा सबका पराक्रम पौरुष बढ़ जायगा।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! कुमारों की ऐसी बात सुनकर नारद जी ने कहा—"तब प्रभो! आप सब मेरे ऊपर कृपा करें। अब भाद्रपद शुक्ल पक्ष है, मैं चाहता हूँ, इसी मास में कथा हो। आप आनन्द तट शीघ्रता के साथ पधारें।"

नारदजी की प्रार्थना सुनकर चारों कुमार जैसे बैठे थे, वैसे ही योगमार्ग से तुरन्त ही गङ्गाजी के आनन्द नामक तट पर पहुँच गये। उनको कोई सामान तो लेना ही नहीं था। वे तो सदा दिगम्बर रहते हैं। लोकों में स्वेच्छा से विचरण करते हैं। बात की-बात में यह समाचार सम्पूर्ण देश में फैल गया। सभी ऋषि मुनि योगमार्ग से तुरन्त आनन्द वन में आ गये। उनके साथ उनके शिष्य पुत्र तथा पत्नियाँ भी थीं। पृथ्वी से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त कथा की धूम मच गयी। ऋषि, मुनि यक्ष, गंधर्व देवता, नाग, सिद्ध, चार स्वर्ग जनलोक, तपलोक तथा ब्रह्मलोक तक के प्राणी कथा सुनने की लालसा से आये। आने वालों के कोलाहल से, विमानों की भीड़ से दशों दिशायें गूँजने लगीं।

कुछ लोग तो कुतूहल वश दर्शन करने की उत्सुकता से तथा कथा सत्संग का नाम सुनकर आये, किन्तु जो हरि कथा लम्पट भगवद्भक्त वैष्णव थे वे तो कथा का नाम सुनते ही अत्यन्त आह्लाद के साथ सबसे पहिले वहाँ दौड़ते हुए कथामृत पान करने के लोभ से आकर बैठ गये। ऋषियों का तो ताँता ही लग गया। महर्षि भृगु, भगवान् वसिष्ठ, वृद्ध से तरुण बने सुकन्या सहित महर्षि च्यवन, अहल्या सहित महर्षि गौतम, सुप्रसिद्ध महर्षि मेधातिथि, तपनिरत महर्षि देवल, ब्रह्मविद्या विशारद देवरात, जमदग्निनंदन भगवान् परशुराम, कुश वंशोद्भव महर्षि विश्वामित्र, चिरजीवी महर्षि मार्कण्डेय, मुनिवर शाकल, भगवान् दत्तात्रेय, दधीचि नन्दन परम शिवभक्त महर्षि पिप्पलाद, महर्षि पराशर, समस्त वेद पुराणों का व्यास करने वाले भगवान् कृष्ण द्वैपायनव्यास, व्यास नन्दन शुक के पुत्र छाया शुक, गङ्गाजी को भी पुत्री बनाकर निकालने वाले महर्षि जन्हु, ज्ञान के सागर महर्षि जाजलि तथा और भी अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि तथा राजर्षि वहाँ उपस्थित हुए। बहुतों के साथ उनके पुत्र थे, बहुत से शिष्य समूहों से घिरे हुए थे। बहुतों के साथ उनकी पत्नियाँ भी थीं। सभी आकर सनत्कुमारों को प्रणाम करके बैठ गये।

समस्त शास्त्रों ने सोचा—"हम सबसे ही सार-सार लेकर जो अपूर्व भागवत पुराण बना है, चलो हम भी उस अद्भुत अमृत का पान करें, देखें तो सही उसका इतना भारी माहात्म्य क्यों है, इसलिये चारों वेद, सभी उपनिषदें, तन्त्रशास्त्र, मन्त्र ग्रन्थ, सत्रहों पुराण छहों शास्त्र तथा अन्य सभी धर्म ग्रन्थ सुन्दर देवताओं का रूप बनाकर वहाँ आ गये। गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि सभी पावन सरिता हैं, पुष्कर, प्रयागादि समस्त पापहारी तीर्थ, कुरुक्षेत्र, काशी आदि सभी त्रिभुवन विख्यात क्षेत्र, दशों

दिशायें, दण्डकादि समस्त पावन वन ये सब भी मूर्तिमान होकर कथा श्रवण करने के निमित्त आये। बहुत विस्तार करने से लाभ ही क्या, कहने का अभिप्राय इतना ही है कि देवता, यक्ष, गन्धर्व, नाग, गुह्यक, कूष्माण्ड जितने भी देव उपदेव थे वे वहाँ आ गये।"

कुछ ऐसे भी ज्ञानमानी तपस्वी थे, जो अपने को बहुत बड़ा लगाते थे। कोई पूछता—"आनन्द तट पर भागवती कथा हो रही है, आप नहीं चलेंगे?" तो वे तुनक कर कहते—"हम कोई ऐसे वैसे हैं जो सुनते ही दौड़ पड़े। कोई आमन्त्रण नहीं, निमन्त्रण नहीं, बात नहीं, चीत नहीं, अपने आप वहाँ दौड़े जायँ। वहाँ किसी ने पूछा नहीं, उचित आसन न दिया तो हमारा घोर अपमान होगा। हम तो भैया ऐसे जाते नहीं।"

महर्षि भृगु ने जब से भगवान् के वक्षः स्थल पर लात मारी है, और भगवान् ने उसे अनुग्रह समझकर अपने वक्षः स्थल पर सदा के लिये धारण कर लिया है, तब से वे अत्यन्त ही विनम्र बन गये हैं, जहाँ भी कहीं भगवत कथा होती है स्वयं स्वतः ही पहुँच जाते हैं और दूसरों को भी प्रेरित करते हैं, उन्होंने जब देखा, कुछ लोग गुरुत्व के कारण नहीं आ रहे हैं तो वे उन सबके पास गये और बोले—"आप लोग कथा सुनने चलते क्यों नहीं, ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता, हरिकथा कीर्तन में, यज्ञ में, अपने बन्धु-बान्धवों के उत्सवों में तो बिना बुलाये ही चला जाना चाहिये। आप बुलाने की ही प्रतीक्षा में हैं तो नारद मेरे भाई हैं, उनकी ओर से मैं आप सबको बुलाने आया हूँ।"

जाने की उत्सुकता तो उनको भी थी, किन्तु बड़प्पन के कारण जाने में सकुचाते थे, सो भृगुजी के समझाने बुझाने पर वे भी यह कहते हुए चल दिये कि बुलाने की क्या बात है, यह तो हमारा ही काम है, चलिये हम सब चलने ही वाले थे।"

एक विशाल वट के नीचे लतापताओं से मंडित विशाल मण्डप बनाया गया, बहुत ऊँचा एक सिंहासन रख दिया गया, सम्मुख सुकोमल बालू को समान करके पृथक्-पृथक् विभाग बना दिये गये। जो जैसा था उसके बैठने का प्रबन्ध वैसे ही विभाग में कर दिया गया। व्यास गद्दी के सम्मुख विरक्त वैष्णव, संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण बैठे थे। जो सपत्नीक ऋषिगण थे उनके बैठने का पृथक् प्रबन्ध था। स्त्रियों के बैठने की व्यवस्था दूसरी थी, वहाँ कोई पुरुष नहीं बैठ सकता था। देवताओं का विभाग पृथक् था, तीर्थों की पंक्ति पृथक् थी, वेदादि शास्त्र सब सम्मिलित बैठे थे। तीर्थों का समूह देवताओं के पास था। इस प्रकार सभी अपने-अपने समूह में उत्सुकता के साथ कथा श्रवण करने को बैठे थे।

देवर्षि नारदजी ने हाथ जोड़कर सबका सत्कार किया, कथा में पधारने के लिये कृतज्ञता प्रकट की। उन्होंने सनकादि चारों भाइयों को कथा कहने के लिये वरण किया, उनकी विधिवत् पूजा की। समस्त सभासदों ने भी कुमारों की वन्दना की, पूजा करके उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया सबने तुमुल ध्वनि के साथ जय-जयकार किया आरती हुई, सभी नमोनमः-नमोनमः करने लगे। सहस्रों शंख एक साथ बज उठे, घण्टा घड़ियालों की ध्वनि में कुछ सुनायी ही नहीं देता था। कोई प्रसन्नता के साथ खील बतासे बिखेर रहे हैं कोई गुलाल अबीर उड़ा रहे हैं कोई पुष्पों की वृष्टि कर रहे हैं कोई मालाओं को ही उछाल रहे हैं। देवताओं ने भी सुअवसर देखकर विमानों पर चढ़कर कल्पवृक्ष के पुष्पों की वृष्टि की। इतने पुष्प गिरे कि मुनिगण ढक से गये। चारों ओर दिव्य सुगन्धि फैल गयी।

नारदजी पूजन करके सम्मुख ही विरक्त वैष्णव संन्यासियों के आगे श्रोता के आसन पर श्रद्धापूर्वक बैठ गये। उस समय

वहाँ आध्यात्मिक वातावरण दर्शनीय था। सभी अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ सनकादि कुमारों की ओर उत्सुकता से देख रहे थे।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! जब पूजन हो चुका और श्रोता वक्ता तथा सभा के सम्पूर्ण सभासद् यथायोग्य स्थानों पर बैठ गये तो उस गम्भीरता को भङ्ग करते हुए कुमारों ने कथा कहना आरम्भ किया। चारों में से कथा एक ही कहते थे, बीच २ में सभी सहयोग दे रहे थे, सर्वप्रथम उन्होंने श्रीमद्भागवत का माहात्म्य कहना आरम्भ किया। उस दिन कार्तिक शुक्ला गोपाष्टमी थी उस दिन सनकादिकों ने माहात्म्य कहा और दूसरे दिन अक्षय नवमी से मूल कथा आरम्भ की।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! पहिले हमें माहात्म्य तो सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! अब मैं माहात्म्य ही तो कहूँगा। सनकादि मुनीश्वरों ने जिस प्रकार नारदजी को श्रीमद्भागवत का माहात्म्य सुनाया था उसे ही मैं स्पष्ट करके आपके आगे कहूँगा। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

सुर सर सरिता, सकल निगम, वन तीरथ आये।
तन्त्र-मन्त्र सब शास्त्र यथा क्रम तहँ बैठाये॥
सिंहासन सनकादि विराजे सब सुख पायो।
पूजा नारद करी दशहुँ दिशि आनन्द छायो॥
सुर नर मिलि सब संग करहिं, शंख घोष जयकार धुनि।
नभ बरसावें सुमन सुर, कथा कहन तब लगे मुनि॥

—०—

श्रीमद्भागवत-महिमा

(६)

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।
यावत् भागवतं नैव श्रूयतेऽमृत सागरम्॥*
(श्रीभा० १२ स्क० १३ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

मुनि बोले "अब कथा महातम तुम्हें सुनावैं।
जे श्रद्धा तैं सुनें जनम जग ते नहिं पावैं॥
कथा भागवत सकल शोक सन्ताप मिटावै।
सुख सरसावै सदा कृष्ण-पद प्रीति दृढ़ावै॥
प्रानी प्रतिदिन प्रेम तैं, पाठ करैं पातक मिटैं।
पावै पुनि ते परम पद, भव बन्धन सुनिकैं कटैं॥

यदि हम किसी बात को अनिच्छा पूर्वक भी सुनें तो उन शब्दों का हमारे ऊपर कुछ-न-कुछ प्रभाव तो पड़ेगा ही। कोई अनिच्छा पूर्वक किसी को स्वभाव वश गाली दे दे, गाली देने वाले का भाव दूषित भी न हो तो भी श्रवण करने वाले को एक बार तो बुरा लगेगा ही। बार-बार जिसको कहें सुनें उसका हृदय में स्थान बन जाता है, एक कूटनीतिज्ञ का कथन था, किसी झूठ

* सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सत्पुरुषों की सभा में अन्य दूसरे पुराण तभी तक शोभा पाते हैं, जब तक अमृत से लबालब भरे इस सागर रूप श्रीमद्भागवत का अमृत पान-श्रवण नहीं किया जाता।"

बात को तुम एक सहस्र बार कहो, तो वह जनता को सत्य-सी प्रतीत होने लगेगी। यही बात भगवत् कथा के सम्बन्ध में है भगवान् की कथा अमोघ है, उसे सुनने से, पाठ करने से, मनन तथा निदिध्यासन करने से प्रेम उत्पन्न हो ही जाता है, हृदय में जहाँ प्रेम पैदा हुआ नहीं तहाँ भगवान् दूर नहीं। प्रेम ही भगवान् का स्वरूप है। महिमा सुनने से उस विषय में आसक्ति होती है, वस्तु माहात्म्य ही उस ओर प्रवृत्त करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सनकादि महर्षि कथा के उच्चासन पर बैठ गये और नारदजी के सहित समस्त श्रोता सावधान होकर सुनने को समुत्सुक हुए तब सनकादि महर्षियों ने कहना आरम्भ किया।"

सनकादि महर्षि बोले—"नारदजी! अब हम सबसे पहिले आपको श्रीमद्भागवत की महिमा सुनाते हैं। जिसके सुनने मात्र से मनुष्य मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। यह भागवती कथा एक दिन सुनने की वस्तु नहीं है, उपन्यास कहानी एक दिन सुने छोड़ दिये। इसका तो नित्य नियमपूर्वक श्रवण करना चाहिये। श्रवण करते-करते हृदय में एक स्थान बन जाता है, उस स्थान में अपने आप ही एक छोटा-सा मंदिर बन जाता है, उस मंदिर में बिना बुलाये ही वासुदेव भगवान् विराजमान हो जाते हैं।"

अब आप लोग हमसे श्रीमद्भागवत के स्वरूप के सम्बन्ध में पूछेंगे—"इसलिये मैं श्रीमद्भागवत का स्वरूप बताता हूँ, सर्व-प्रथम श्रीमन्नारायण ने ब्रह्माजी को इसका संक्षेप में उपदेश दिया। ब्रह्माजी ने इन नारदजी को व्याख्या सहित चार श्लोकों में इसका तात्पर्य समझाया। वे चारश्लोक व्याख्या सहित नारदजी ने व्यासजी को कहे। व्यासजी ने इसका विस्तार किया, अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया। शुकदेवजी ने भी इसका विस्तार किया। वही सूतजी ने सुनकर शौनकादि महर्षियों को

सुनाया। इस प्रकार यह अठारह सहस्र श्लोकों का सुन्दर सुव्यवस्थित ग्रन्थ बन गया है। इसमें बारह स्कन्ध हैं। परीक्षित शुक सम्वाद के रूप में यह जगत् में प्रसिद्ध हुआ है। उसी भागवत-शास्त्र को हम तुम्हें सुनावेंगे, पहिले इसकी महिमा को सुनो। बोलो—हरये नमः।

महाभाग श्रोतागण! आप लोग बड़े भाग्यशाली हैं। भाग्यशालियों को ही भागवती कथा पढ़ने और सुनने को मिलती है। संसार में सम्पूर्ण पदार्थ विद्यमान हैं किन्तु वे मिलते हैं भाग्यशालियों को ही। भागवत जैसे ग्रन्थ के रहते हुए भी लोग संसार चक्र में घूमते रहते हैं। जैसे अड़ूसा का वन लगा रहने पर भी लोग खाँसी से व्याकुल रहते हैं। इसे जीवों का दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। यह कमनीय कृष्ण कथा जब तक कर्ण कुहरों में प्रवेश नहीं करती तभी तक हृदय में अंधकार रहता है, जहाँ, कर्णों द्वारा कथा के दिव्य शब्द अन्तःकरण में पहुँचे तहाँ अज्ञान तम तुरन्त विलीन हो जाता है।

बहुत शास्त्रों के सुनने से बुद्धि विभ्रम हो जाती है किसी में कुछ लिखा है, किसी में कुछ। समन्वय सभी नहीं कर सकते, अतः सर्वसाधारण में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है, अतः अधिक श्रम करने की आवश्यकता ही क्या है। यह शास्त्र सर्वथा परिपूर्ण इसे किसी अन्य शास्त्र की आवश्यकता नहीं। सब शास्त्रों का सार-सार इसमें भर दिया है। इसीलिये यह एक अद्भुत अलौकिक विचित्र ही बन गया है। भुक्ति, मुक्ति, तथा सभी कुछ देने में यह समर्थ है। इसीलिये यह सबसे आगे दहाड़-दहाड़कर कहता है जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो मेरी शरण में आवे।

जिस स्थल पर श्रीमद्भागवती कथा नित्य नियम से होती है उस स्थल को भागवती-तीर्थ ही मानना चाहिये। वहाँ निवास

करने वाले सब पाप रहित बन जाते हैं, क्योंकि उनके कानों में नित्य कथा शब्द पड़ता रहता है। पहिले अश्वमेध वाजपेय यज्ञ ही सबसे पुण्य माने जाते थे, किन्तु ऐसे सहस्रों यज्ञ इस कथा के सोलहवें अंश भी नहीं हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! केवल कथा ही सहस्रों यज्ञों से बढ़कर कैसे हो सकती है ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! यज्ञों से पाप क्षय होकर पुण्यों की वृद्धि होती है। पुण्य से उत्तम लोक प्राप्त होते हैं। विषयवार्ता ही पाप हैं, जहाँ कृष्ण कथा के शब्द भीतर पहुँचे नहीं कि फिर पाप ठहर ही कैसे सकते हैं ?" तीर्थों में जाने से भी पाप कटते हैं, गङ्गाजी तो पाप-पहाड़ काटने की छैनी ही हैं। गङ्गा, गया, पुष्कर प्रयाग तथा काशी आदि तीर्थों में पापों का नाश होता है, किन्तु ये सब श्रमसाध्य, द्रव्यसाध्य, तथा कष्टसाध्य हैं। किन्तु भागवती कथा के लिये तो कहीं जाना नहीं पड़ता, घर बैठे आप इनसे भी अधिक पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिये सनकादि महर्षियों ने कृष्णकथा को सभी तीर्थों व्रतों तथा यज्ञों से श्रेष्ठ कहा है। मुनियों ने सुनने के साथ अपने मुख से पाठ करने की महिमा बहुत कही है।"

सनकादि मुनि कहते हैं—"नारद ! जो लोग चाहते हों हमें परमगति की प्राप्ति हो उन्हें श्रीमद्भागवत का नित्य नियम से पाठ करना चाहिये। ५० अध्याय नित्य न कर सके, तो २५ ही करे उतना भी न हो तो बारह अध्याय, एक अध्याय अथवा एक श्लोक ही नित्य पाठ करे तो अश्वमेध राजसूय के समान फल है। एक भी न पढ़ सको तो आधा चौथाई जितना पढ़ सको नित्य नियम से पढ़ा करो। श्लोक न पढ़ सको उसका भाषा में भावार्थ ही पढ़ो। जो लोग दिन रात अर्थ पर ध्यान रखकर श्रीमद्भागवत को ही पढ़ते रहते हैं, उनके जन्म जन्मान्तरों के—

करोड़ों जन्मों के-पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवान् के अनेक रूप हैं, वे सब तत्व से तो एक ही हैं। श्रीमद्भागवत भी भगवान् का रूप ही है। जैसे प्रणव, गायत्रीमन्त्र, ऋक्, साम, युजः तथा अथर्व ये चारों वेद, द्वादशाक्षरमन्त्र, द्वादशसूर्य, तीर्थराजप्रयाग, संवत्सरात्मककाल, ब्राह्मण, अग्निहोत्र, कामधेनु, एकादशीव्रत, तुलसी, वसंतऋतु और पुरुषोत्तम तथा श्रीमद्भागवत ये सब समान ही हैं, इनमें कोई भी भेदभाव नहीं। इसीलिये जो श्रीमद्भागवत का पाठ करता है, भगवान् पुरुषोत्तम का चिन्तन करता है, तुलसी जी का पालन-पोषण और पूजन करता है तथा श्रद्धा भक्तिपूर्वक गौमाता की सेवा सुश्रूषा करता है उसे समान ही फल प्राप्त होता है, श्रीमद्भागवत का पाठ करते-करते जिन्हें अभ्यास हो गया है, वे मरते समय भी भागवत का स्मरण करेंगे। स्मरण न भी हुआ यदि वे मरते समय भागवत का पाठ श्रवण भी कर लें तो उन्हें भगवान् वैकुण्ठनाथ अपना लोक वैकुण्ठ अवश्य ही दे देते हैं, इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं क्योंकि अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है।

श्रीमद्भागवत के दान का भी बड़ा माहात्म्य है, जो सुवर्ण के सिंहासन पर श्रद्धापूर्वक स्थापित करके भागवत का दान करते हैं, वे सायुज्य मुक्ति के अधिकारी बन जाते हैं।

नारदजी! सोचो तो सही इस संसार में रखा ही क्या है। न जाने कहाँ से अपरिचित घर से एक लड़की ले आते हैं, उसे कहते हैं यह मेरा आधा अंग है, प्रकृति के नियम के अनुसार उससे बच्चा होता है, उसे कहता है पुत्र है। ये स्त्री पुत्र नित्य-प्रति क्लेश ही पहुँचाते रहते हैं। अपना शरीर भी रोगों का घर है, स्त्री बच्चों की रात-दिन चिन्ता लगी रहती है, निरन्तर उनके लिये द्रव्य जुटाने में ही समय व्यतीत होता है, जैसे कुम्हार तथा धोबी का गधा बोझ ही ढोता रहता है। जैसे श्वपच चांडाल पेट

के लिये लोगों के प्राणों को हरता है, फाँसी पर चढ़ाता है, कुत्तों को मार कर खाता है। इस संसार में चारों ओर अशांति ही अशांति है, सब स्वार्थ में अन्धे होकर एक दूसरे को निगल जाना चाहते हैं, यहाँ एक ही वस्तु सार है, वह है भगवत् सम्बन्धी भागवती कथा। जिस शठ पुरुष का सभी समय खाने पीने और परिवार के भरण-पोषण में ही बीता, जिसने चित्त को एकाग्र करके जीवन पर्यन्त कभी भी भक्तजनों की मंडली में बैठकर भागवती कथाओं को श्रद्धापूर्वक श्रवण नहीं किया तो उसमें और चांडाल में अन्तर ही क्या रहा। उसमें और भारवाही गदहे में भेद ही क्या? उसने अपनी माता के यौवन रूपी वन को कुठार बनकर निर्दयता से काटा ही। वह केवल अपनी जननी को प्रसव पीड़ा पहुँचाने का कारण मात्र ही बना। जो मानव तन पाकर भागवती कथा से वञ्चित है, उसके जीवन से लाभ ही क्या? वह तो जीता हुआ भी मृतक के ही समान है। आहार निद्रा, भय और मैथुन ये सब तो पशुओं में और मनुष्य में समान ही हैं। सब पशु पक्षियों का सिर नीचा ही होता है, केवल मनुष्य का ऊँचा होता है, वह ऊँचा सिर भगवत् कथा के ही निमित्त है, जो भगवत् कथा से वञ्चित है, वह तो मनुष्य रूप में पशु है, वह तो भू का भार भूत ही है। ऐसे कृष्ण कथा से वञ्चित पामर पुरुष को पुनः-पुनः धिक्कार है। उसको मनुष्य ही नहीं देवता भी धिक्कार देते हैं। संसार में सब कुछ प्राप्त हो सकता है, किन्तु कृष्ण कथा का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। कोटि-कोटि जन्मों के पुण्य से ही ऐसा सुअवसर प्राप्त होता है।"

नारदजी ने पूछा—"प्रभो! मैं यह जानना चाहता हूँ, कि श्रीमद्भागवत को कब सुनना चाहिये?" कै दिन में सुनना चाहिये?"

सनकादि मुनि बोले—"नारदजी! अमृत पीने का भी कोई

नियम है क्या ? जब भी अमृत मिले तभी उसे पी जाना चाहिये। जैसे अन्न, जल, वायु का पान नित्य प्रति किया जाता है वैसे ही भागवत का पठन नित्य नियम से करना चाहिये, भागवती कथाओं का श्रवण सदा सावधानी से करना चाहिये, सहस्रों कार्य छोड़कर बुद्धिमान पुरुष को प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन प्रेम से पाठ करना चाहिये सुनना चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"प्रभो ! तब भागवत सप्ताह की इतनी महिमा क्यों है ? हम तो सदा से सप्ताह के सम्बन्ध में ही सुनते आ रहे हैं ?"

कुमार बोले—"देखो नारदजी ! श्रीमद्भागवत के अनुष्ठान में दो प्रधान नियम हैं, सत्य और ब्रह्मचर्य। सदा सर्वदा सत्य भाषण करे, ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे। तभी इसकी यथार्थ महिमा सिद्ध होती है। किन्तु अब आ गया है कलिकाल, कलिकाल में लोगों को अनेक कार्य अनेकों चिन्तायें लगी रहती हैं, कलियुगी लोगों को सबसे बड़ी पेट की चिन्ता है, पेट की भी क्या चिन्ता, पेट तो सबका जैसे-तैसे भरता ही है, यथार्थ चिन्ता तो तृष्णा की है। सभी को तृष्णा लगी रहती है, मेरे ही पास सबसे अधिक भोग सामग्री एकत्रित हो जायँ, जिन पर पर्याप्त हैं वे और जुटाने की चिन्ता में लगे रहते हैं, जिन पर अपर्याप्त हैं, वे प्राप्त करने में असमर्थ होने से दूसरों को देखकर जलते रहते हैं। भगवत् चिन्तन को उन्हें समय ही नहीं मिलता। यही सब सोच समझ कर सर्वज्ञ व्यासनन्दन भगवान् शुक ने सप्ताह की एक विशेष विधि का आविष्कार कर दिया है।"

उन्होंने सोचा—"जो नित्य नियम से कर सकें, वे तो सर्वोत्तम हैं ही, किन्तु जो नित्य न कर सकें, वे कभी सात दिन का समय निकाल कर अनुष्ठान पूर्वक नियम से सप्ताह सुन लें।"

नारदजी ने पूछा—"सप्ताह की विशेष विधि बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ?"

सनकादि मुनि बोले—"महाराज परीक्षित् को सात दिन में सर्प काटने का शाप हुआ था। उन्होंने मृत्यु को समीप आयी देखकर, बड़े नियमपूर्वक, अन्नजल त्यागकर, एकाग्रचित्त से अनुष्ठान पूर्वक सात दिन में श्रीशुकदेवजी से भागवत कथा सुनी। उसी समय शुकदेवजी ने सोचा—"राजा परीक्षित् को तो एक ही दिन एक ही सर्प के काटने का भय था, किन्तु कलियुग में तो संसार रूप सर्प प्राणियों को नित्य ही काटता रहता है, उसके दंश से प्राणी पूरे मरते नहीं बिल बिलाते रहते हैं। सदा सर्वदा तो ये उसकी चपेट से बच नहीं सकते। जीवन भर तो मनोवृत्तियों को वश में कर नहीं सकते, दीर्घकाल तक तो नियमों का पालन कर नहीं सकते। दूसरे युगों में सहस्रों वर्षों की दीक्षा ली जाया करती थी। यज्ञ में दीक्षित बड़े-बड़े लोग दीर्घ काल तक कठोर से कठोर नियमों का दृढ़ता से पालन किया करते थे, किन्तु कलियुग में ऐसा करना साधारण जीवों की शक्ति के बाहर की बात है, अतः कृपा के सागर भगवान् शुक ने भागवत सप्ताह का यह विशेष नियम प्रचलित कर दिया कि भाई, दीर्घ काल तक नियम अनुष्ठान न कर सको तो सात दिन तो संयम से रहकर सप्ताह सुन लो। इस सप्ताह का ही उन्होंने इतना फल बता दिया कि श्रद्धापूर्वक नित्य श्रवण करने से या माघ मास में प्रयाग आदि तीर्थों में नियमपूर्वक नदी तट में वास करके एक महीने तक भागवत श्रवण करने से जो फल मिलता है, वह विधिपूर्वक सप्ताह सुनने से ही मिल जायगा, यह शुकदेव भगवान् की विशेष आज्ञा है।"

नारदजी आप सोचें, कलियुगी जीव अल्पप्राण अल्पायु अल्प शक्ति वाले होते हैं। तनिक सरदी लगी श्लेष्मा हो गया,

ज्वर आ गया। कोई वस्तु स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है, उसी पर मन चल गया, खा ली शरीर रोगी हो गया। इस कारण न तो चिरकाल कठोर संयम ही कर सकते हैं न बहुत दिन निरोग ही रह सकते हैं, सभी को कोई-न-कोई रोग लगा ही रहता है, फिर आयु भी न्यून। जहाँ दूसरे युगों में सहस्रों लाखों वर्षों तक जीते थे, वहाँ कलियुगी लोगों की अधिक-से-अधिक सौ वर्ष की आयु होती है। सौ तक कोई विरला ही पहुँचता है, नहीं तो ४०-५०-६० अधिक-से-अधिक ७०-८० में ही सब समाप्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में कभी तो सप्ताह श्रवण करने का संकल्प उठेगा। सात दिन नियम संयम से रहकर कथा सुनने की कभी तो इच्छा होगी। एक बार भी सप्ताह सुन लिया तो बेड़ा पार हो गया। शुकदेवजी ने इसमें शक्ति ही ऐसी भर दी है। वैद्य किसी औषधि को पुट दे दे कर ऐसी शक्ति शालिनी बना देते हैं, कि एक दिन खा लीजिये वर्षों तक अपना प्रभाव जताती रहेगी। इसी प्रकार यह सप्ताह यज्ञ परमहंस मुनि ने सिंह के समान ऐसा शक्तिशाली बना दिया है कि यह तप से, योग से, समाधि से, श्रुति से, यज्ञ से, व्रत से, तीर्थ से, ध्यान से, ज्ञान से तथा कर्म आदि सभी से टक्कर लेता है, सबके सम्मुख निर्भय होकर दहाड़ लगाता है। उसके सम्मुख सभी साधन शिथिल पड़ जाते हैं। ऋषि मुनियों का आविष्कार ही जो ठहरा। वैज्ञानिक लोग एक ऐसा कोड़ा बना देते हैं, जिसके सम्मुख बड़े-बड़े सिंह व्याघ्र भाग जाते हैं, ऐसे वस्त्र बना देते हैं, जिन्हें पहिन कर सिंह शरभ किसी के पास जाओ वही अचेत होकर गिर पड़ता है। सप्ताह यज्ञ ऐसा ही कलियुगी कवच है।"

यह सुनकर सूतजी से शौनक मुनि ने शंका की—"सूतजी! शुकदेवजी ने इस सप्ताह यज्ञ में ऐसी शक्ति भर कैसे दी? श्रीमद्भागवत में इतना बल आ कहाँ से गया? यह तो आप

अत्यद्भुत बात सुना रहे हैं। इस कथन से तो आप सप्ताह के सम्मुख सभी साधन को प्रभावहीन सिद्ध कर रहे हैं? यह सप्ताह यज्ञ सभी से बढ़कर मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ कैसे हो सका?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! बल साधनों में थोड़ा ही होता है। सब में उन जगत कर्ता भगवान् का ही बल है। वे जिसे चाहें बली बना दें, जिसे चाहें निर्बल बना दें। बल के आदिस्रोत तो वे अच्युत ही हैं। देखिये, जब उन्हें तमोगुण को बली बनाना होता हैं, तो यक्ष राक्षसों के शरीरों में घुसकर उन्हें बली बना देते हैं, फिर उन्हें ऋषि, मुनि, देवता कोई भी नहीं जीत सकते। बहुत से राक्षस सहस्रों ज्ञानी, ध्यानी तपस्वी ऋषियों को खा जाते थे। जब उन्हें रजोगुण को बढ़ाना होता है तो राजाओं के असुरों के शरीर में घुस जाते हैं, उस समय वे ऐसे दुर्धर्ष हो जाते हैं, कि भगवान के अवतार भी उनके सम्मुख कुछ नहीं बोलते। देवता लाख बार जाकर क्षीर-शायी भगवान् के सम्मुख रोते हैं। भगवान् उनसे बात नहीं करते, दृष्टि नहीं मिलाते। मिलावें कैसे वे तो असुर राजाओं के शरीर में छिपे बैठे रहते हैं। जब सत्त्व गुण को बढ़ाना होता है, तो वे देवता और ऋषियों के शरीर में घुस जाते हैं। उस समय राजागण, असुर यक्ष, राक्षस सब बिल्ली बन जाते हैं। कोई चूँ तक नहीं करता। सो, मुनियो! साधनों में कोई बल नहीं भगवान् जहाँ भी बैठ जायँगे, वहीं, तेज, बल, वीर्य, पराक्रम, सम्मान तथा कान्ति आदि सब गुण आ जायँगे, प्रभावशाली आदमी जहाँ भी बैठ जाता है, वही उच्चस्थान बन जाता है, इस विषय में मैं आपको एक छोटा-सा दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक बड़ा प्रतापशाली सम्राट्-राजा था। उसके राज्य में एक ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति उत्पन्न हो गया कि शनैः-शनैः उसने

प्रजा को वश में करके स्वयं वह राजा बन बैठा। सभी उसका लोहा मानने लगे। सम्राट ने भी सुना, उसने उससे लड़ने को सेना भेजी, किन्तु, सेना परास्त होकर लौट आयी। सम्राट को कुतूहल हुआ वह कैसा निर्भीक बुद्धिमान व्यक्ति है जो साधारण आदमी से अपने बल प्रभाव से राजा बन गया। उसे देखना चाहिये। उसकी बुद्धि की परीक्षा करनी चाहिये।

यह सोचकर उसने अपने मंत्री को प्रेमपूर्वक उसके समीप भेजा और उससे कहा—"उस व्यक्ति को सम्मानपूर्वक राज-सभा में बुला लाओ। यदि वह निर्भीक साहसी बुद्धिमान होगा, तो अवश्य ही मेरे निमन्त्रण पर आ जायगा।"

मन्त्री ने जाकर सम्राट की सभी बातें उस व्यक्ति से कह दीं। वह तुरन्त ही अकेला सम्राट से मिलने चल दिया। सम्राट ने भी उसकी परीक्षा के लिये एक खेल रचा। अपने मंत्री को राजसी वस्त्र पहिनाकर छत्र चँवर लगवा कर राजसिंहासन पर बिठा दिया और स्वयं सिंहासन के नीचे मन्त्रियों जैसे वस्त्र पहिन कर हाथ में मन्त्रियों की जैसी सामग्री लेकर बैठ गया।

वह व्यक्ति आया आते ही उसने सिंहासन पर बैठे मन्त्री का सम्मान न करके मन्त्री के स्थान पर बैठे सम्राट का सम्मान किया और उसी की ओर मुख करके उसके सम्मुख खड़ा हो गया।

सम्राट ने पूछा—"आपने तो इसके पूर्व मुझे कभी नहीं देखा था, फिर सिंहासन से नीचे स्थान पर बैठे मुझको आपने कैसे पहिचान लिया।"

उस व्यक्ति ने कहा—"श्रीमान्! बड़े लोग जहाँ बैठ जाते हैं वही बड़ा स्थान बन जाता है। ऊँचे नीचे स्थान से बड़प्पन थोड़े ही है। बड़े लोगों के बैठने से ही स्थान की बड़ाई है। राजा

के सिंहासन के ऊपर मच्छर भी उड़ते रहते हैं वे बड़े थोड़े ही हो जाते हैं।"

सम्राट ने पूछा—"फिर आपको कैसे प्रतीत हुआ कि सम्राट मैं ही हूँ ?"

उस व्यक्ति ने कहा—"श्रीमान् ! जिसे आपने सिंहासन पर बिठा रखा है वह भी बार-बार आपका ही मुख देख रहा है वह भी आपके ही संकेत का उत्सुक बना है। सम्पूर्ण सभासद् भी उसे न देखकर आपके ही मुख को जोह रहे हैं यही सब देखकर मैं समझ गया कि दाल में कुछ काला है, सम्राट आप ही हैं। आप जहाँ भी बैठ जायँगे वही सबसे श्रेष्ठ आसन हो जायगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो ! साधन सभी अपूर्ण हैं जब जिस समय जिस साधन में भगवान् बैठ जायँ, उस समय वही सबसे श्रेष्ठ साधन है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! श्रीमद्भागवत में इस कलि-काल में भगवान् बैठ गये हैं यह आपने कैसे जाना ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! इस सम्बन्ध की एक कथा है। जब महाभारत युद्ध हो गया, धर्मराज युधिष्ठिर सिंहासन पर बैठ गये तब भगवान् ने निज लोक पधारने का संकल्प करके उद्धवजी को अपनी चरणपादुका प्रदान करके बदरीवन में जाने की आज्ञा दी और आप प्रभासक्षेत्र में कुल का संहार कर के पीपल के नीचे बैठकर स्वधाम जाने को उद्यत हुए। उसी समय पता लगाते-लगाते उद्धवजी पुनः वहाँ पहुँचे। भगवान ने उन्हें अन्तिम उपदेश दिया जो श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में वर्णित है। उपदेश सुनने के अनन्तर भी उद्धव नहीं हटे। तब भगवान् ने कहा—"अब तुम और क्या चाहते हो ?"

उद्धवजी ने हाथ जोड़कर गद्गद् कण्ठ से आँखों में आँसू भर कर कहा—"प्रभो ! दास को कुछ निवेदन करना है ?"

भगवान् ने आश्वासन देते हुए कहा—"कहो, कहो—उद्धवजी ! मैं आपकी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करूँगा।"

उद्धवजी ने निवेदन किया—"प्रभो ! जब आप तो भू का भार उतार कर भक्तों का भय दूर करके उनके समस्त कार्यों को सुन्दर रीति से सम्पन्न करके अपने परम धाम को पधार रहे हैं, किन्तु अब आने वाले भक्तों का क्या होगा, यही चिन्ता मेरे चित्त को व्यथित कर रही है।"

भगवान् ने कहा—"उद्धवजी ! स्पष्ट कहो, तुम्हारे कहने का अभिप्राय क्या है ?"

उद्धवजी बोले—"भगवन् ! दास की प्रार्थना यह है, अब तो आपने पृथ्वी से बीन-बीन कर सभी दुष्टों का संहार कर ही दिया। अब यदि सत्य युग आता, तो कोई चिन्ता की बात ही नहीं थी, किन्तु द्वापर के पश्चात् तो कलियुग का आना अवश्यम्भावी है। आ। क्या कलियुग तो आ ही गया है, आपके चरणारविन्द जब तक अवनि पर हैं तब तक कलियुग छिपा है, जहाँ ये चरण अन्तर्धान हुए तहाँ कलियुग अपना प्रभाव जमा लेगा। कलियुग में पुनः दुष्ट पुरुष उत्पन्न होंगे। साधुओं का बीज नाश न होगा, फिर भी प्रभो ! संग का दोष तो कुछ-न-कुछ होता ही है। सहस्र दुष्टों में कोई सज्जन पुरुष हुए भी तो संगदोष से उनमें भी कुछ दोष तो आ ही जायँगे। यह पृथ्वी तो सती और साधुओं के ही तेज से टिक रही है। जब असाधुओं के संसर्ग से साधु पुरुष भी उग्र स्वभाव के हो जायँगे तब फिर यह पृथ्वी किसके आश्रय से रहेगी। इसके पाप के भार को कौन हलका करेगा ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धवजी ! आप चिन्ता मत करो। मैं तो घट, पट, अणु, परमाणु, सभी में व्याप्त हूँ, मेरा सर्वान्तर्यामी रूप ही सबकी रक्षा करेगा।"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! यह तो सत्य ही है, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारागण तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपके ही शासन से तो चल रहा है आप सृष्टि के आदि से हैं और अंत तक रहेंगे, आपका न आदि है न अन्त है इसीलिये तो आपको अनन्त अनादि कहते हैं। आप प्राणी मात्र का भरण पोषण करते हैं, इसीलिये विश्वम्भर कहाते हैं, आप में प्रकृति सत्त्व, रज, तथा तम इन तीनों गुणों का लेशमात्र भी नहीं इसीलिये वेदों ने आपको निर्गुण बताया। आपका जन्म नहीं इसीलिये आप अजन्मा हैं। आपकी भौतिक तत्त्वों से उत्पत्ति नहीं इसीलिये आप चिन्मय, सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। यह सब होते हुए भी आपने अवतार ग्रहण क्यों किया? आपने यह विश्व विमोहन रूप क्यों धारण किया?"

भगवान् ने उद्धवजी से हँसकर कहा—"अरे भाई, उद्धवजी! तुम इतना भी नहीं समझते। मैंने दुष्टों के मारने के लिये यह अवतार थोड़े ही लिया था, यह तो मेरा नैमित्तिक गौण कार्य था। दुष्टों का विनाश और धर्म का संस्थापन तो मेरे संकल्प मात्र से ही हो जाता। मेरा एक अंश भी इस कार्य को करने में समर्थ है। मैंने तो भक्तों के साथ क्रीड़ा करने के लिये यह अवतार ग्रहण किया। अपने सुख के लिये और साथ-ही-साथ भक्तों को सुख पहुँचाने के निमित्त ही मैंने यह भुवन मोहन जगन्मंगल रूप धारण किया। अपने निज जनों पर करुणा करके ही सौन्दर्य, माधुर्य, सौकर्य, वात्सल्य, करुणा तथा औदार्य आदि गुणों से युक्त होकर यह अद्भुत रूप रखा था।"

उद्धवजी ने कहा—"प्रभो! यह तो मैं भी समझता हूँ, जब आपने एक तृण में अपनी शक्ति स्थापित कर दी तो उसे अग्नि जला नहीं सका, जल गला नहीं सका, वायु सुखा नहीं ... किसी भी साधारण से साधारण पुरुष द्वारा दुष्ट दमन

संस्थापन करा सकते थे। आपने तो अपनी भक्तवत्सलता प्रदर्शित करने के निमित्त ही साधु पुरुषों पर दया करके यह दयामय रूप धारण किया। जिससे करुणा तथा प्रेम की अविच्छिन्न धारा बही। सभी शरणागतों ने अपूर्व अलौकिक सुख पाया। किन्तु प्रभो! इन कलियुगी भक्तों ने ऐसा कौन-सा पाप किया है, इनके लिये आप इतने कठोर क्यों बन रहे हैं। अब जो आगे भक्त होंगे, उनके लिये भी तो कुछ सहारा होना चाहिये, वे किसे देखकर जीवेंगे, वे किस जगन्मोहन रूप के दर्शन करेंगे, उनके ऊपर भी तो दया होनी चाहिये, उनका भी तो आपको ध्यान रखना चाहिये, इसलिये हे अशरण शरण! आप उन्हीं होने वाले भक्तों के ऊपर कृपा करके अपने इस रूप को यहीं रहने दें, आप निज लोक को न जायँ। आपके इस रूप के दर्शन सभी भक्तों को होने चाहिये। आप परम धाम पधारने की निज लोक गमन की इच्छा को छोड़ दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"उद्धवजी! मेरा स्वलोक गमन तो निश्चय है। मुझमें जाना-आना तो बनता नहीं मैं तो सदा सर्वदा सब में सर्वत्र विद्यमान हूँ आने वाले भक्त मेरे निर्गुण रूप की उपासना करेंगे।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! यह तो टालने की बात है। भला शरीरधारी पुरुष अशरीरी का कैसे ध्यान कर सकता है। हम कहें हे निर्गुण! तू कृपालु है, तू बड़ा न्यायप्रिय है, तो कृपा करने वाले न्यायकर्ता परम सुन्दर किसी व्यक्ति की मूर्ति की कल्पना तो करनी ही पड़ेगी। शरीरधारी व्यक्ति के लिये निर्गुण की कल्पना अत्यन्त ही दुष्कर है, फिर जो हम कल्पित मूर्ति बनावेंगे उसकी उतनी सुन्दर कल्पना कर भी नहीं सकते। आप की मूर्ति में सभी सद्गुण, सभी विशेषतायें हैं, आपके लिये असम्भव है, आप किसी नियम में बँधे हैं नहीं। भगवन्!

आप रह क्यों नहीं जाते ? रहिये भगवन् ! भक्तगण युग-युग तक आपकी मनोहर मूर्ति के दर्शन पाकर अपने नयनों को कृतार्थ बनाते रहें, सबकी मनोकामना पूर्ण हो, सब आनन्द विभोर होकर आपके दर्शनों का सुख लूटें।"

उद्धवजी के कथन पर भगवान् को बड़ी दया आई। उनकी विनीत प्रार्थना से उनका हृदय पसीज गया। वे कुछ देर तक सोचते रहे और फिर बोले—"उद्धव तुम मुझे हाड़ मांस का व्यक्ति समझते हो क्या ?"

उद्धवजी ने कानों पर हाथ रखकर कहा—"ना, भगवन् ! कदापि नहीं, कभी नहीं, असम्भव सर्वथा असम्भव भगवान् ने मेरे किस शब्द से यह भाव निकाल लिया भक्तवत्सल का श्री विग्रह तो सभी गुणों से रहित परम चिन्मय दिव्य और सभी उपाधियों से रहित है जैसे गङ्गाजल जम गया हो और उसकी एक परम दिव्य परम चिन्मय, परम आनन्दमय, परमसत्य परम मधुर मूर्ति बन गयी हो।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"नहीं, नहीं तुमने तो नहीं कहा मैं तुम्हारे मुख से ही सुनना चाहता था कि मेरी मूर्ति परम दिव्य समस्त दिव्य सद्गुणों का पुञ्जमात्र है और उसके दर्शन भक्त ही कर सकते हैं। तुम जानते हो जैसे गङ्गाजी नित्य हैं, उनके जल को जमाकर कोई हिमखण्ड बना ले उसमें से मूर्ति गढ़ ले, उसी में मेरा आवाहन करे पूजन करे, पूजन के अनन्तर विसर्जन भी तो करना ही होगा, विसर्जन करके उसे गङ्गाजी में पधरा दे, फिर जब इच्छा हो हिम जमाकर पुनः मूर्ति निर्माण कर ले। ऐसे ही मेरी यह अमृतमयी मूर्ति अमृत सागर से हुई है उसी में मैं अन्तर्धान होता हूँ, आगामी भक्त जब चाहेंगे पुनः मेरा निर्माण कर सकेंगे।"

उद्धवजी ने कहा—"अभागे कलियुगी भक्त अमृत समुद्र

कहाँ पावेंगे, उनको उसका भी तो पता बताते जाइये, उस समुद्र को भी तो वैकुण्ठ लोक से लाकर इस अवनि पर स्थापित करते जाइये।"

भगवान् ने कहा—"सो, तो प्रबन्ध मैंने पहिले ही कर दिया है। देखो, यह जो श्रीमद्भागवत है, इसमें मैंने अपना सम्पूर्ण निश्शेष तेज स्थापित कर दिया है। यही अमृतार्णव है। इसी में मैं अपने शुद्धस्वरूप से स्वयं साक्षात् अन्तर्धान होता हूँ, जो लोग इस समुद्र का श्रद्धा भक्ति से मंथन करेंगे, उनके संमुख मेरी यही जगन्मोहन मूर्ति ये ही काले-काले घुँघराले बाल यही मोर मुकुट से मण्डित भाल, ये ही अलकें, ये ही पलकें ये ही कपोलों की छलकें, यही शुभ्र दन्तावली और मन्द मुस्कान वाला मनोहर मुकुट, यही सुवर्ण वर्ण का झलमलाता पीताम्बर, यही विशाल वक्षःस्थल, यही दिव्य आभूषणों से मण्डित मनोहर वपुः यही, वंशीविभूषित युगलकर यही कमल चरण अपने आप प्रकटित हो जायँगे। श्रीमद्भागवत ही मेरी प्रत्यक्ष वाङ्मयी मूर्ति है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! इतना कहकर श्रीभगवान् भागवत रूप सुख के सागर में अन्तर्हित हो गये। इसीलिये कलिकाल में भागवत का इतना माहात्म्य है। भागवती कथा की इसीलिये इतनी महिमा है। इसीलिये यह सरल साधन सभी कठिन साधनों के सम्मुख दहाड़ता है, गर्जता है और ताल ठोक-कर खड़ा हो जाता है। भगवान् के प्रवेश करने से ही यह इतना शक्तिशाली साधन बन गया है। कलियुग में सभी साधनों को छोड़कर एकमात्र इसी साधन को अपनाना चाहिये, श्रद्धा संयम और नियमपूर्वक सप्ताह श्रवण करना चाहिये। कलियुग का यही प्रधान धर्म है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् की माया अत्यन्त ही कठिन है। इस नटी माया के चक्कर में जो फँस गया, इस

डाइन पर जो आसक्त हो गया उसका निकलना बड़ा ही कठिन है, इससे तभी निकल सकता है, जब मायेश की शरण में जाय। यह कलिकाल बड़ा घोर परम दारुण युग है इसमें दुःखों का बाहुल्य है, दारिद्र्य का प्राबल्य है, दुर्भाग्य पग-पग पर ठोकर दे रहा है। काम क्रोधादि शत्रु कलिकाल के संकेत से सर्वत्र क्लेश पहुँचा रहे हैं, इन सबसे छूटने के लिये श्रीमद्भागवत का सप्ताह श्रवण परम सुगम सरल सर्वोपयोगी सुन्दर सरस सम्मिलित साधन है। एक कराता है सभी सुनते हैं सभी का उद्धार होता है। इसलिये कल्याण चाहने वाले नर नारियों को अपने जीवन में कम-से-कम एक बार तो अवश्य ही श्रीमद्भागवत का सप्ताह करा लेना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जब सनकादि मुनियों ने बड़े आवेश में आकर भागवत सप्ताह का माहात्म्य वर्णन किया तो उससे सभा मण्डप में एक अत्यन्त ही आश्चर्य-मय घटना हुई। उसे देखकर सभी उपस्थित भक्तवृन्द परम-चकित हुए।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह कौन-सी ऐसी घटना घटी, कृपा करके उसे हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! अभी मैं सुनाता हूँ, तनिक स्वस्थ होकर आचमन कर लूँ।"

छप्पय—स्वयं पधारे कृष्ण भागवत सागर माहीं।
कलि में बिनु सप्ताह सुखद साधन अरु नाहीं॥
मथे भागवत अमृत उदधि परगट प्रभु होवें।
हाय! अभागे लोग कथा बिनु वय सब खोवें॥
पढ़ो प्रेम तैं सुनो नित, पढ़ि सुनि कें पुनि पुनि गुनों।
जीवन में अति जतन करि, एक बार सप्ता सुनों॥

—०—

श्री नारदजी के ज्ञानयज्ञ में भक्ति का प्रादुर्भाव

[१०]

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १८ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

यों महिमा सप्ताह सुनाई मुनि सनकादिक ।
सबने सुखमय परम लख्यो आचरज सहज इक ॥
तरुन ज्ञान वैराग्य भक्ति संग देखी आवति ॥
हरे मुरारे कृष्ण नाथ नामनिकूँ गावति ॥
लटलटकीं छिटकी छटा, सुघर वेष अति मधुर स्वर ॥
अके जके से सब रहे, उँमग्यो अति आनन्द उर ॥

वस्तुओं में तो अपना एक स्वाद होता ही है किन्तु अपनी

---

* भक्तवर प्रह्लाद जी उपदेश करते हैं—"जिस पुरुष के हृदय में निःस्वार्थ भक्ति होती है, उसके हृदय में समस्त देवता गण धर्म ज्ञान वैराग्यादि समस्त सद्गुणों के सहित सर्वदा समुपस्थित रहते हैं। जिसके हृदय में भक्ति नहीं रहती उसका मन निरन्तर भांति-भांति के सांसारिक विषयों के सकल्प से इधर-उधर भ्रमता रहता है, ऐसे भक्तिहीन पुरुषों में महत् गुण कैसे आ सकते हैं।"

रुचि, अपना स्वाद और अपनी भूख उसमें आनन्द का सुख का संचार कर देती है। दूध अमृत है, किन्तु जिनकी दूध में स्वाभाविक रुचि नहीं उन्हें दूध को पीते ही वमन हो जाती है, बहुत से साग स्वादिष्ट माने जाते हैं किन्तु कुछ लोगों को वे अच्छे नहीं लगते, विवशता से नाक भौं सिकोड़ कर खाते हैं। जिन लोगों को कभी यथार्थ भूख नहीं लगती उनको किसी वस्तु में स्वाद नहीं आता, जब कभी संयोग वश उन्हें भूखा रहना पड़ता है और अत्यधिक भूख लगती है, तो साधारण वस्तु में भी अत्यन्त स्वाद आता है। जिसे भूख ही नहीं उसके सामने कैसी भी सुन्दर स्वादिष्ट वस्तु क्यों न रखी रहे, उसकी इच्छा ही नहीं होती। इसी प्रकार हृदय में तो भगवान् सबके विराजमान् हैं, किन्तु जब तक हृदय में भक्ति नहीं आती भगवान् प्रकट नहीं होते। भक्ति भगवान् की मूर्ति को बनाने वाली है। सभी पत्थरों में मूर्तियाँ विद्यमान है, किन्तु जब तक कोई कुशल कलाकार उन्हें काट छाँटकर आकार नहीं बनाता तब तक मूर्ति नहीं बनती। इसी प्रकार सभी द्रव्यों में मिट्टी, लोहा, पत्थर, ताँबा काष्ठ रग तथा सभी पदार्थों में मूर्तियाँ हैं, किन्तु कलाकार के बिना अप्रकटित ही रहती है। जिस हृदय में भक्ति है उसमें भगवान् निराकार से साकार बन जाते हैं, अप्रकटित से प्रकटित हो जाते हैं। सर्वव्यापी से मूर्तिमान हो जाते हैं, अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष बन जाते हैं, अगोचर से गोचर हो जाते हैं, अदृश्य से दृश्य होकर—इन्हीं चर्म चक्षुओं से दीखने लगते हैं यह सब भगवती भक्ति का ही खेल है, भक्ति बढ़ती है साधन महिमा से। भक्ति बढ़ाने के साधन की महिमा सुनते-सुनते भक्ति स्वतः ही अपने आप प्रकट हो जाती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब सनकादि महर्षि नारदादि ऋषियों के सम्मुख श्रीमद्भागवती कथा का महिमा का बखान

कर रहे थे, तो उन्होंने सामने से एक अत्यन्त सुन्दरी परम तेजस्विनी युवती स्त्री को आते देखा। उसकी लटें एड़ी तक लटकी हुई थीं, वह पीले रंग की रेशमी साड़ी पहिने हुए थी, उसके मुख मंडल पर सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाश था उसके दोनों कमल के समान अर्धोन्मीलित नेत्रों से प्रेमाश्रु झर रहे थे। उसके

साथ अत्यन्त सुकुमार परम, तेजस्वी अपूर्व सौंदर्य माधुर्ययुक्त दो बालक थे। उनकी अवस्था पन्द्रह सोलह वर्ष की होगी, वे दो रेशमी पीले वस्त्र पहिने थे। यौवन की उठान उनके मुखमंडल पर स्पष्ट झलक रही थी। देखने में उस महिला के पुत्र प्रतीत होते थे। वे उसका परम शिष्टाचार और आदर के सहित अनुकरण कर रहे थे। महिला के एक हाथ में करताल थी। उसकी ऊर्ध्व दृष्टि थी। पैर अटपट पड़ रहे थे। कोकिला के कंठ को भी तिरस्कृत करने वाला उसका अत्यन्त मधुर कंठ था। वह अत्यन्त लाल, स्वर तथा लय के साथ—

श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव।

इस मंत्र का तन्मयता के साथ कीर्तन करती आ रही थी। उसके पुत्र उसकी ताल में ताल और स्वर-में-स्वर मिलाकर मंत्र दुहराते जाते थे, उनके सुमधुर गान की पावन ध्वनि दशों दिशाओं में गूँज रही थी, सभी ओर से सभी मंत्र की प्रतिध्वनि आ रही थी, इससे प्रतीत हो रहा था मानों दिशायें ही मिलकर—"श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव इस मंत्र का कीर्तन कर रही हों।"

पुत्रों सहित उस दिव्य देवी को देखकर और उसके श्रुति-मधुर अपूर्व सरस कीर्तन को सुनकर सबके सब मंत्र मुग्ध की भाँति उसी ओर देखने लगे। सबका चित्त कथा से खिचकर उस सुमधुर गान की ही ओर आकर्षित हो गया। सब सोचने लगे, यह सबके मन को हठात् अपनी ओर आकर्षित करने वाली साक्षात् कमल वासिनी पद्मा के समान देवी सहसा कहाँ से यहाँ आ गयी नारदजी ने भी देखा, वे देखते-के-देखते ही रह गये। उस देवी को देखकर सोचने लगे—इसे तो मैंने कहीं देखा है, फिर सहसा स्मरण हो उठा—"ओ हो! यह तो वह भक्ति महारानी है, जो मुझे वृन्दावन में मिली थी, उस समय उदास सी थी, आज तो इसका मुख मंडल खिला हुआ है। इन दोनों युवकों की ओर से तो मुझे प्रतीत होता है, इनको भी मैंने कहीं देखा है। अरे, हाँ समझ गया, ये तो भक्ति के पुत्र ज्ञान वैराग्य हैं, किन्तु वृन्दावन में ये तो अत्यन्त ही जर्जरित थे। इस समय तो ये नव युवक बने हुए हैं, मुख मंडल पर भी ओज है, तेज है, मन्द मधुर हास्य है, इनका तो कायाकल्प ही हो गया। कौन-सी इन्होंने औषधि खा ली। कहीं अश्विनी कुमारों ने आकर च्यवन मुनि की भाँति इन्हें भी तो च्यवनप्राश खिलाकर दिव्य सर में

स्नान कराकर वृद्ध से युवक तो नहीं बना दिया। यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।"

नारदजी ऐसी तर्कना कर ही रहे थे कि भक्ति देवी आकर सनकादि मुनियों के सम्मुख खड़ी हो गयी। सभी समुपस्थित नर-नारी इनका परिचय पाने के लिये अत्यन्त ही उत्सुक हो रहे थे। उनकी उत्सुकता को शमन करते हुए सनकादि महर्षि सबको सम्बोधित करते हुए बोले—"समुपस्थित महानुभावो! आप इन देवी को तो जानते ही होंगे? ये श्रीमद्भागवत के अर्थ को स्पष्ट करने वाली भक्ति महारानी हैं। इनकी सहायता के बिना कोई कितना भी भारी पंडित क्यों न हो श्रीमद्भागवत के अर्थ को लगा ही नहीं सकता। ये ही उसके भावार्थ को विभूषित करने वाली हैं। ये भागवत के प्राणों के समान हैं। इनका दर्शन भाग्यहीनों को कभी भी नहीं मिलता। दम्भी शठ नास्तिक और श्रद्धाहीन पुरुषों को तो इनके दर्शन स्वप्न में भी दुर्लभ हैं।"

सबने पूछा—"तो महाराज! ये यहाँ कैसे पधार गयीं?"

नारदजी ने कहा—"भाई! यह तो श्रीमद्भागवत के माहात्म्य का प्रभाव है। इसी के प्रभाव से अवश होकर इन्हें यहाँ आना पड़ा। नारदजी का श्रम सफल हुआ।"

नारदजी ने भक्ति से पूछा—"देवि! आप वृन्दावन में तो बड़ी उदास थीं आपके ये पुत्र भी अत्यन्त वृद्ध मूर्छित और अचेत थे। आज तो आप बड़ी प्रसन्न हैं ये दोनों भी युवक बन गये हैं इसका क्या कारण है?"

भक्ति देवी ने कहा—"मुनिवर! श्री वृन्दावन ही तो मेरा वास स्थान है। मेरे स्वामी श्री नन्दनन्दन ने जिस स्थली को अपने चरण कमलों की रज से पावन किया वही तो मेरा अपना आलय है। जैसे भगवान् का परमधाम तो वैकुण्ठ है, कभी-कभी अवनि पर अवतार ले लेते हैं ऐसे ही मैं सदा ब्रज में वृन्दावन में

निवास करती हूँ द्रविड़ देश में मैंने अवतार ले लिया था। कर्णाटक में बढ़ी महाराष्ट्र में भी गयी। गुजरात तक आते-आते वृद्ध बन गयी। श्री वृन्दावन अपने निजधाम आकर पुनः अपने यथार्थ रूप को प्राप्त हो गयी किन्तु मेरे ये पुत्र ज्ञान वैराग्य वहाँ बूढ़े हो गये इनका किसी ने वहाँ सम्मान ही नहीं किया।

मुनियो! आप स्वयं सोचें—"माता का तो कोई सम्मान करें, उसके पुत्रों का तिरस्कार करे, तो क्या माता प्रसन्न होगी। माता को प्रसन्न करने का उपाय तो यही है, कि उसके पुत्रों से प्यार करे। उनको खिलावे पिलावे तब माता को सन्तोष होगा। और केवल पुत्रों का ही मान करे, माता की उपेक्षा करे, तो सत्पुत्र उस व्यक्ति से कभी प्रसन्न न होंगे।"

जब तक इस धराधाम पर भगवान् श्यामसुन्दर विराजमान थे, तब तक तो मेरा मेरे पुत्रों का सर्वत्र सम्मान हुआ। भगवान् के स्वधाम पधारते ही अधर्म बन्धु कराल कलिकाल आ गया। मैं तो धाम के प्रभाव से जैसे-तैसे बची रही, किन्तु बचना क्या था मेरे आधार तो श्यामसुन्दर ही थे, जिसका स्वामी ही नहीं होता, उसकी क्या दुर्दशा होती है, इसे भुक्तभोगी ही जानता है, कलि प्रभाव से मैं नष्ट प्रायः हो गयी थी, अब आप महात्माओं के प्रभाव से मुझमें पुनः चेतना आ गयी, फिर से नवजीवन का संचार हुआ। अब आप लोग मुझे आज्ञा दें मैं कहाँ निवास करूँ। क्योंकि पहिले तो भगवान् श्रीवृन्दावनधाम में विराजमान थे, मैं भी वहाँ यमुना पुलिनों में कमनीय कुञ्जों में नृत्य किया करती थी, किन्तु अब वह बात रही नहीं। भगवान् कहीं चले नहीं गये अब भी वृन्दावन में ही हैं, किन्तु गुप्त अप्रकट रूप से हैं, मैं भी एक रूप से वहाँ भी गुप्तवास करूँगी, किन्तु आपने बताया प्रकट रूप से तो भगवान् श्रीमद्भागवत में आकर रहने

लगे हैं, उनका समस्त तेज भागवत् में आ गया है, तो मेरे लिये क्या आज्ञा है, मैं भी भागवत में ही घुसकर रहूँ ?"

नारदजी ने कहा— 'यह बात मेरे बड़े भाई इन सनतकुमारों से पूछो, मेरे आचार्य गुरु, शिक्षक ये ही हैं।"

भक्ति यह सुनकर कुमारों की ओर देखने लगी उसकी जिज्ञासा को समझकर कुमारों ने कहा—"देवि ! हम आपको रहने का स्थान बताते हैं। भागवत में तो भगवान् विराजमान ही हैं। रसास्वादन पृथकत्व को एकत्व करने में होता है। इसलिये अब तुम किसी एक के यहाँ न रहकर समस्त भगवत् भक्तों के हृदयों में निवास करो। अब तुम देशकाल, वर्ण, जाति की परिधि को छोड़ दो। भक्त कहीं का भी क्यों न हो, किसी वर्ण जाति का क्यों न हो, किसी काल में भक्ति क्यों न करता हो, तुम उसके ही मन मन्दिर में जाकर रहो। तुम्हारे आते ही उसे भागवती कथा की जिज्ञासा होगी, वह कथा सुनेगा, कथा रस को तुम गाढ़ा करके उसकी प्रभु की पावन प्रतिमा बनाकर मन मन्दिर में स्थापित करोगी, तो समस्त भक्तों का अन्तःकरण तुम्हारे सान्निध्य से जगमग-जगमग करने लगेगा। तुम्हारे निवास से उनका हृदय आनन्द से जगमगा उठेगा। क्योंकि भागवत का अर्थ तो आपके ही द्वारा प्रकाशित होता है। आप संसार के समस्त रोगों को हरने वाली और प्रभु प्रेम को प्रकाशित करने वाली हो। भक्तों के हृदयों में तुम सदा सुरक्षित रहोगी, वहाँ तुम्हारा कोई कुछ भी बिगाड़ न सकेगा, अतः धैर्य धारण करके तुम उसी निरापद स्थान में निवास करो।"

भक्ति ने कहा—"कलिकाल तो अपना प्रभाव डालेगा ही मुझे वहाँ भी पीड़ा तो पहुँचावेगा ही।"

कुमारों ने दृढ़ता से कहा—"कलिकाल भले ही संसार भर पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ हो उसके दोष चाहे कितने भी

प्रबल क्यों न हों। किन्तु वहाँ तुम्हारी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुमारों की आज्ञा पाकर भक्ति देवी तत्काल संसार के समस्त भक्तों के हृदयों में जाकर रहने लगी। तभी से भक्तों का उत्कर्ष बहुत बढ़ गया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी हम तो देखते हैं जो भक्त होते हैं उनका उत्कर्ष सबसे न्यून होता है भक्त प्रायः निर्धन होते हैं उन्हें समय पर भोजन भी नहीं मिलता। सदा उन्हें शरीरोपयोगी वस्तुओं का अभाव ही बना रहता है अभी से नहीं सदा से यही परम्परा चली आयी है भगवान् के परम भक्त होते हुए भी सुदामा कितने निर्धन थे। दोनों समय को भोजन भी नहीं जुटता था।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! उत्कर्ष धन से ही होता है क्या? मैं आपकी इस बात को मानता हूँ, कि भक्त प्रायः धन रहित ही होते हैं, किन्तु सबसे बड़े धनी वे ही हैं जिनके धन श्यामसुन्दर हैं। लक्ष्मी तो उन श्रीहरि की चेरी है जब पति ही वश में आ गया, तो पत्नी को तो वहाँ आना ही पड़ेगा। भक्तों के हृदय में भक्ति निवास करती है वहाँ विवश होकर भगवान् को भी आना ही पड़ता है। जिसके हृदय में भगवान् आ गये, वही सबसे बड़ा धनी है। वही यथार्थ में धन्य है। भक्ति महारानी के पास एक कच्चे सूत का धागा है उसमें ऐसा कोई मन्त्र है, कि भगवान् अपने धाम को तुरन्त छोड़कर भक्तों के हृदय में आ जाते हैं और उस भक्तिसूत्र से सदा के लिये ऐसे बँध जाते हैं कि फिर जाने का नाम तक नहीं लेते।"

सनकादि कुमार अपने नारदादि श्रोताओं को सुना रहे हैं—"समुपस्थित श्रोताओ! आपने भागवत की महिमा प्रत्यक्ष देख ली। यह भागवत भगवान् का साक्षात् सगुण स्वरूप

ही है। यह वाणी से प्रकट होने वाला और कानों द्वारा हृदय की ओर गमन करने वाला है। इस कल्पवृक्ष का आश्रय लेने से, वाङ्मय स्वरूप के श्रवण करने से इस मधुर सुखद विषय के मनन करने से सुनने वाला, और सुनाने वाला, वक्ता श्रोता दोनों का ही कल्याण है, दोनों ही साधारण पुरुष न रहकर विशिष्ट व्यक्ति बन जाते हैं, दोनों ही अपने इष्ट में तन्मय हो जाते हैं, दोनों को ही श्रीकृष्ण की समता प्राप्त हो जाती है, अतः इस सुखकर सुलभ सर्वोपयोगी साधन को छोड़कर अन्य कायक्लेश पहुँचाने वाले साधनों में श्रम करना समय को व्यर्थ नष्ट करना ही है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वहाँ कथा सुनने को तो सबके सब भक्त ही आये थे, सनकादि कुमारों की आज्ञा पाकर जब अनेक रूप रखकर भक्ति सबके हृदयों में बैठ गयी, तो फिर भगवान् अपने लोक में टिक ही कैसे सकते हैं, भक्ति के आते ही भगवान् भी वैकुण्ठ छोड़कर वहाँ आ गये। अब भगवान् जैसे उस कथा में प्रकट हुए उस पुण्य प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

मुनिनि मध्य महँ आइ भक्ति बोली मधुबानी।
कृपा कृपामय! करी कथा महिमा प्रकटानी॥
कलि दावानल जरी—कथामृत प्याइ जिवाई।
वास करन थल विमल दया करि देउ दिखाई॥
बोले मुनि—मनहर मुखी! प्रेम प्रकाशित करहु नित।
भजन निरत भगवत भगत! वास करो तिनि हिय सतत॥

—:—

नारदादि भक्तों के मध्य भगवान् का प्राकट्य

(११)

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २५ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

मुनिनि वचन सुनि तुरत भक्ति भक्तनि अपनाई ।
तिनि हिय महँ बसि अमल अलौकिक आभा आई ॥
भक्तिसूत्र महँ बँधे तहाँ बरबस प्रभु आये ।
मोर मुकुट पट पीत सजल घन नभ जिमि छाये ॥
कान कलित कुण्डल कनक, कोटि काम कमनीय कर ।
मुरलीधर सुखकर सुघर, छवि अधरनि रस हृदय हर ॥

---

*भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति से कह रहे हैं—"माताजी ! जो मेरे भक्त परस्पर मे मिलकर मुझ भगवान् की ही प्रेमपूर्वक कथा कहते और सुनते हैं, वे मेरे मन्द मुसकानयुक्त मुख तथा अरुण नयन युक्त अति मधुर वरदायक दिव्य रूपों की प्रत्यक्ष झाँकी करते हैं, झाँकी ही नहीं करते उनसे अत्यन्त प्रेममयी मीठी-मीठी बातें भी किया करते हैं।"

कहीं-कहीं ऐसी प्रथा है, कि विवाह के दिन लड़की के मुख में एक सुपारी डाल देते हैं, आठ पहर वह उसके मुख में पड़ी रहती है, विवाह होने पर वह सुपारी निकाल कर कतर कर पान में रखकर दुल्हा को खिलायी जाती है, जिससे सदा वह अपनी दुलहिनि के वश में बना रहे। कहीं-कहीं वर को वश में करने को दूसरे मन्त्र-तन्त्र टोटका किये जाते हैं, वधू पक्ष के लोगों की कामना रहती है दुलहा अपनी बहू की ही बात माने उसका आदर करे उसकी कठपुतली बना रहे, किन्तु वरपक्ष चाहते हैं लड़का अपनी स्त्री के ऊपर शासन करे। उसको डराये धमकाये उसकी बात न माने। जो ऐसा नहीं करते स्त्री की हाँ में-हाँ मिलाये रहते हैं, वह जहाँ जाती है, उसके पीछे-ही-पीछे लगे रहते हैं इन्हें लोग लुगाई का पिछलग्गू कहते हैं, स्त्रीजित कहकर उसकी लोक में और शास्त्रों में भी बड़ी हँसी उड़ायी गयी है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है जो स्त्रीजित हो उसे श्राद्ध में भोजन नहीं कराना चाहिये। सदा स्त्री के वश में रहने वाले की शास्त्रों में निंदा की है।

शास्त्रों ने भले ही निन्दा की हो, किन्तु यह प्रथा है बहुत पुरानी। राजा और ऋषि मुनियों की बात जाने दीजिये हमारे पुरातन पुरुष पुरुषोत्तम क्या कुछ कम स्त्रीजित हैं, वे लक्ष्मीजी की बात भले ही टाल देते हों, लक्ष्मीजी को चंचला होने की छूट उन्होंने भले ही दे दी हो, किन्तु वे भक्तिदेवी के तो सोलहू आने वश में हैं। जहाँ भक्ति जायगी, वहाँ भगवान् को जाना ही पड़ेगा, वे रुक नहीं सकते ठहर नहीं सकते। पता नहीं भक्तिदेवी को भगवान् ने जूठी सुपारी खा ली है या भक्ति ने ही उन पर कोई मंत्र-तंत्र जादू टोना कर दिया। जिस हृदय में भक्ति आ जायगी, वहाँ भगवान् का आना अनिवार्य है, ध्रुव है निश्चित है, अतः सबको चाहिये पहिले वे भक्ति को बुलाने का साधन करें। भक्ति

के आने से तो भगवान् आ ही जायँगे, क्योंकि भक्ति ने भगवान् को कच्चे धागे से बाँध रखा है। वह ऐसा बन्धन है कि किसी भी उपाय से छूट नहीं सकता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सनकादि महर्षियों के कहने से भक्ति देवी जब समुपस्थित कथा श्रोता भक्तों के हृदयों में प्रवेश कर गयी, वहाँ विराजमान हो गयी, तो वहाँ वैकुण्ठ में भगवान् का सिंहासन हिला। भगवान् अब अपने लोक में रह न सके, वे तुरन्त एक ही छलांग में आनन्दवन के कथा स्थल में प्रादुर्भूत हो गये। भगवान सबके सम्मुख अपने मनहर मनोहर वेष से प्रकटित हुए। वे बड़े-बड़े सुन्दर सुमनों की सुगन्धित घुटनों तक लटकने वाली वनमाला को धारण किये हुए थे। उनका श्रीअंग जल भरे मेघ के समान फूली हुई अलसी के खेत के समान, स्वच्छ नीले आकाश के समान, मयूर कंठ के समान श्यामवर्ण का था, वे तपे हुए सुवर्ण की कांति के समान झलमलाता हुआ अत्यन्त सूक्ष्म रेशमी पीताम्बर पहिने थे, कटि प्रदेश सुवर्णमयी कमनीय करधनी की लड़ियों से मंडित था, वे मस्तक पर मनहर मनोज्ञ मोरमुकुट धारण किये हुए थे। कानों में कनक के मकराकृत कुण्डल थे। उदार उदर त्रिवली से सुशोभित था। विशाल वक्षस्थल पर कांतिमयी कौस्तुभमणि अलंकृत थी। करोड़ों कामदेवों की कान्ति को कुत्सित और तिरस्कृत करने वाला उनका चैतन्यघन आनन्द रस से परिपूर्ण श्रीविग्रह था, वह मलयागिरि के अति सुगन्धित अत्यन्त शोभायुक्त चन्दन से चर्चित था। वे मधुर-मधुर मुरली बजा रहे थे, अपने भक्तों को आनन्दमयी ध्वनि से अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। वे भक्ति के आकर्षण से आकर्षित तथा व्याकुल हुए अविलम्ब आये थे और सब हृदय में भक्ति को विराजमान देखकर वहीं घुस गये। वे भी अपनी कथा सुनने को समुत्सुक प्रतीत होते थे, उनके साथ कथा सुनने

के लोभी उनके प्रिय पार्षद, उद्धवादि वैष्णव भक्त भी गुप्त रूप से आये थे। भगवान् के आते ही उनकी जय जयकार से दशों दिशायें गूँजने लगीं। कोई शंख भेरी पणव आदि बाजे बजाते कोई सुन्दर सुगन्धित सुमन बरसाते अबीर गुलाल उड़ाते कोई सुख सरसाते हुए भगवान् के सुमधुर नामों को गाते। कोई पलक पाँवड़े बिछाते कोई अपना अलौकिक भक्तिभाव ही दर्शाते इस प्रकार भगवान् के पधारते ही सर्वत्र आनन्द का सागर उमड़ने लगा। उस समय सबके सब आनन्द में ऐसे विभोर बन गये कि उन्हें अपने पराये देह-गेह तथा संसार की सुधि ही न रही। सबको समान रूप से तन्मय देखकर नारदजी के हर्ष का ठिकाना न रहा। उनका श्रम सफल हुआ। ज्ञान वैराग्य की जरावस्था जाती रही भक्ति की आभा बढ़ गयी। भगवान् आकर सभी के हृदय में आसीन हो गये। वे अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कुमारों को सम्बोधित करके कहने लगे—"हे महा मुनीश्वरगण! श्रीमद्भागवत सप्ताह माहात्म्य का जब इतना फल है तो भागवत सप्ताह का तो न जाने क्या फल होगा। कथा का प्रारम्भ करते ही मुझे इसका प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देने लगा। यहाँ तो कथा के प्रभाव से सभी तन्मय हो गये। ऋषि मुनि ज्ञानी भक्त तथा सदाचारियों की तो कौन कहे यहाँ के महामूर्ख दुष्ट चित्त वाले भी सब आनन्द सागर में परिप्लवित हो गये। यही नहीं यहाँ के पशु पक्षी तथा हिंसक पशु भी कथा के प्रभाव से अत्यंत निष्पाप तथा शान्त दान्त और समाधि सुख के भागी बन गये। अब तो मुझे पूर्ण निश्चय हो गया, कि संसार में विशेष कर इस कलिकाल में भागवत सप्ताह के समान दूसरा कोई भी सरल सुगम सरस सुखद सुन्दर साधन नहीं। यह सुख सरसावन परम पावन सुखप्रद साधन बताकर आपने मुझे अतिशय पावन बना दिया। पाप पहाड़ के ढाने के लिये यह सहस्रों शतघ्नियों के समान है।

आप सब कृपा के सागर हैं शरणागत प्रतिपालक हैं भक्त-वत्सल हैं, अत्यद्भुत अलौकिक आविष्कारक हैं आपने यह विश्व के कल्याण के निमित्त एक अलौकिक ही आविष्कार कर दिया। इससे तो अनेकों आदमियों का उपकार होगा। बहुतों का भव-बन्धन कट जायगा दुखियों का दुःख मिट जायगा।"

सनकादि मुनियों ने कहा—"नारदजी ! यह हमने कोई नया मार्ग प्रकट नहीं किया। सप्ताह की परम्परा तो प्राचीन है इससे बहुतों का उद्धार हो गया। जो भी भागवती कथा का श्रवण करेंगे उन सबके भवबन्धन कट जायँगे।"

नारदजी ने पूछा—"इस सप्ताह श्रवण के अधिकारी कौन हैं ? कौन-कौन से पाप इस सप्ताह यज्ञ से कट सकते हैं ?"

कुमारों ने कहा—"श्रीमद्भागवत सप्ताह श्रवण के सभी नर-नारी अधिकारी हैं सभी प्रकार के पातक उप पातक महा पातक इसके श्रवण से कट जाते हैं। जो निरन्तर पशु-पक्षी मछली आदि जीवों को मारते रहते हैं, दुराचार में निरत रहते हैं कुमार्ग में सदा फँसे रहते हैं, क्रोध रूपी अग्नि में निरन्तर जलते रहते हैं अर्थात जो क्रोध की मूर्ति ही हैं। कुटिलता ही करते रहते हैं, काम वासना से दग्ध रहते हैं, असत्य भाषण करने वाले पिता से द्वेष करने वाले उनसे कटु वचन बोलने वाले तृष्णा में सदा तड़फड़ाते रहने वाले, चारों वर्ण तथा चारों आश्रमों के धर्म से दूर रहने वाले। स्वयं जैसे नहीं हैं वैसा अपने को प्रकट करने वाले, दूसरों का अभ्युत्थान-उन्नति देखकर जलने वाले, अन्यों के अभ्युदय से ईर्ष्या करने वाले तथा दूसरों की हिंसा करने वाले ये सभी पापी सप्ताह यज्ञ के द्वारा पावन बन जाते हैं।

छोटे-मोटे पातक उप पातकों की तो बात ही पृथक है। शास्त्रों में सबसे बड़े पाँच ही महापातक बताये हैं। ब्राह्मण की

हत्या करना, द्विज होकर सुरापान करना, सुवर्ण की चोरी करना और अपने से बड़े गुरुस्थानीय पूज्य पुरुषों की पत्नी का समागम करना तथा इन महापातकियों से संसर्ग बनाये रहना इनके साथ भोजन शयन करना ये ही महापातक हैं। शास्त्रों में इन लोगों की निष्कृति नहीं बतायी है ऐसे महापातकी पुरुष भी यदि श्रद्धापूर्वक सविधि भागवत सप्ताह श्रवण करें तो वे महापातकों से मुक्त हो जाते हैं छल कपट करके कार्य करने वाले सबके साथ क्रूरतापूर्वक व्यवहार करने वाले, भूत, प्रेत पिशाचों के समान दयाहीन कार्य करने वाले, ब्राह्मण के धन को अन्याय से खाकर उसके द्वारा शरीर पुष्ट करने वाले, महाव्यभिचारी, दुष्ट स्वभाव वाले शरीर के द्वारा हिंसा व्यभिचार आदि पातक करने वाले, वाणी से अनृत परुष तथा दूसरों को उद्वेग कारक वचन बोलने वाले, मन से सदा दूसरों का अशुभ चिंतन करने वाले तथा मनसा वाचा कर्मणा हठपूर्वक पाप करने वाले, सदा अधर्मपूर्वक दूसरों के ही द्रव्य से पलकर परिपुष्ट होने वाले, मलिन मन वाले तथा खोटे विचार वाले दुष्ट पुरुष भी इस कलिकाल में श्रद्धापूर्वक सप्ताह सुनकर पापों से मुक्त हो जायँगे।"

शौनकजी ने पूछा—"तो सूतजी! अब रहे कौन? सभी पातकी उपपातकी तथा महापातकी तो आ गये, तब तो सभी सप्ताह श्रवण करके मुक्त हो जायँगे, यह तो बड़ा सरल उपाय है। जीवन भर पाप करते रहें, मरते समय सप्ताह सुन लें, फिर तो सभी मुक्त हो जायँगे?"

सूतजी बोले—"महाराज! सभी की सप्ताह श्रवण में श्रद्धा नहीं होती। जो पाप कर्मों में निरत हैं, उनकी सप्ताह श्रवण में रुचि ही नहीं होती। सप्ताह पूर्वजन्म के बड़े भाग्य से सुनने को मिलता है, किसी महत् पुरुष का सौभाग्य से संग हो जाय, तभी ऐसा पुण्य अवसर आता है इस जीवन में न भी सुन सके और

कोई कृपालु उसके मरने पर भी उसके निमित्त सप्ताह करा दे, तो उसका भी उद्धार हो जाता है, इस विषय में एक अति प्राचीन इतिहास है, मैं उसे आपको सुनाता हूँ आप इस परम पुण्यपद, भागवत सप्ताह माहात्म्य को श्रवण करें।"

छप्पय

भक्त वछल भगवान् विराजे भक्तनि हिय महँ।
बढ़्यो अधिक अनुराग प्रेम राधा प्रियतम महँ॥
नारद बोले—धन्य भागवत महिमा भारी।
सुनि पापी के तरे? कुमारनि कथा उचारी॥
दयाहीन दम्भी दलित, पशु, पक्षी, पापी पतित।
होत सुनत सब अघ रहित, सुनहु कथा आचरज जुत॥

—०—

धुन्धुलीपति आत्मदेव की कथा

[१२]

ततः पाहि महाभाग पुर्वैः सह गतं तमः ।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद्विधेहि नः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

तुङ्ग भद्र के तीर नगर इक सुन्दर भारी ।
आत्मदेव द्विज बसहि धरम रत धनी भिखारी ॥
नारि 'धुन्धुली' तासु सुन्दरी हठी कलह प्रिय ।
दंपति संपति हीन दुखित अति तिनि नित नित हिय ॥
सतति हित धन धरम महँ, व्यय करि जब नहिँ फल लह्यो ।
ग्लानि भई अति खिन्न चित्त, मरन हेतु बन महँ गयो ॥

संतति की इच्छा प्राणिमात्र में स्वाभाविक है। यह इच्छा चलवती न हो तो यह अनादि अनन्त सृष्टि अविच्छिन्न भाव से सदा कैसे चलती रहे, जब पशु-पक्षी भी अपने पुत्रों के लिये प्राण देते हैं प्राण पण से उनका पालन-पोषण करते हैं, तो जो मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी समझा जाता है उसकी तो बात ही

---

* महर्षि अंगिरा से चित्रकेतु कह रहे हैं—'भगवन् ! दुःख सागर में डूबते हुए मेरी रक्षा कीजिये और मेरे पूर्वजों की रक्षा कीजिये। जिसके पुत्र नहीं उसकी गति नहीं कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे मेरे संतान हो जाय जिसके द्वारा परलोक में प्राप्त दुस्तर नरक से मैं पार हो जाऊँ। अर्थात् संतान के न होने से मुझे नरक न जाना पड़े।"

क्या ? जिस स्त्री के हृदय में संतति की चाह नहीं होती, जो अपनी सूनी गोद में एक छोटा-सा मुनमुना-सा शिशु खिलाने को व्याकुल नहीं बनी रहती, जो अपने स्तनों के दूध को अपनी कोख से उत्पन्न पुत्र को पिलाने के लिये समुत्सुक नहीं रहती, वह या तो घोर राक्षसी है या सर्पिणी है। सर्पिणी अपने पुत्रों को खा अवश्य जाती है, किन्तु सन्तान उत्पन्न करने की कामना तो उसके भी मन में रहती है। सन्तान की कामना तो भगवान् ने ऐसी बना दी है, कि नर-नारी चाहें जितना प्रयत्न करें यह सृष्टि रुकेगी नहीं। यदि नर नारियों की इच्छा के ऊपर यह बात रहती तो अब तक यह सृष्टि का प्रभाव कब तक शांत हो गया होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सनकादि मुनियों ने जो सप्ताह यज्ञ की महिमा सम्बन्धी इतिहास नारदादि मुनियों को सुनाया था उसे ही मैं आपसे कहता हूँ—

"दक्षिण देश में एक तुंगभद्रा नाम की नदी है, तुंगा और भद्रा दो पृथक् नदियाँ हैं, दोनों जब मिल जाती हैं तो तुंगभद्रा कहलाती है। उस तुंगभद्रा के तट पर एक अत्यन्त ही सुन्दर रमणीय नगर था। नगर बड़ा था चारों वर्ण के लोग उसमें सुख-पूर्वक निवास करते थे। उसी नगर में एक आत्मदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। वह कर्मकांडी ब्राह्मण श्रौत, स्मार्त सभी कर्मों में कुशल था, तेजस्वी भी था, साथ ही वेदों का ज्ञाता था। ब्राह्मण होकर भी वह धनी था। धन वृद्धि के दो ही उपाय हैं या तो व्यापार या भिक्षा। वह ब्राह्मण भिक्षा वृत्ति से ही निर्वाह करता था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! व्यापार से धनी होना तो युक्ति युक्त भी है। भिक्षावृत्ति से मनुष्य धनी कैसे हो सकता है ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! व्यापार की तो कोई

धुन्धुलीपति आत्मदेव की कथा

[१२]

ततः पाहि महाभाग पुर्वैः सह गतं तमः ।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद्विधेहि नः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

तुङ्ग भद्र के तीर नगर इक सुन्दर भारी ।
आत्मदेव द्विज बसहि धरम रत धनी भिखारी ॥
नारि 'धुन्धुली' तासु सुन्दरी हठी कलह प्रिय ।
दंपति संपति हीन दुखित अति तिनि नित नित हिय ॥
सतति हित धन धरम महँ, व्यय करि जब नहिँ फल लह्यो ।
ग्लानि भई अति खिन्न चित्त, मरन हेतु बन महँ गयो ॥

संतति की इच्छा प्राणिमात्र में स्वाभाविक है। यह इच्छा बलवती न हो तो यह अनादि अनन्त सृष्टि अविच्छिन्न भाव से सदा कैसे चलती रहे, जब पशु-पक्षी भी अपने पुत्रों के लिये प्राण देते हैं प्राण पण से उनका पालन-पोषण करते हैं, तो जो मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी समझा जाता है उसकी तो बात ही

---

* महर्षि अंगिरा से चित्रकेतु कह रहे हैं—'भगवन् ! दुःख सागर में डूबते हुए मेरी रक्षा कीजिये और मेरे पूर्वजों की रक्षा कीजिये। जिसके पुत्र नहीं उसकी गति नहीं कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे मेरे संतान हो जाय जिसके द्वारा परलोक में प्राप्त दुस्तर नरक से मैं पार हो जाऊँ। अर्थात् संतान के न होने से मुझे नरक न जाना पड़े।"

क्या ? जिस स्त्री के हृदय में संतति की चाह नहीं होती, जो अपनी सूनी गोद में एक छोटा-सा मुनमुना-सा शिशु खिलाने को व्याकुल नहीं बनी रहती, जो अपने स्तनों के दूध को अपनी कोख से उत्पन्न पुत्र को पिलाने के लिये समुत्सुक नहीं रहती, वह या तो घोर राक्षसी है या सर्पिणी है। सर्पिणी अपने पुत्रों को खा अवश्य जाती है, किन्तु सन्तान उत्पन्न करने की कामना तो उसके भी मन में रहती है। सन्तान की कामना तो भगवान् ने ऐसी बना दी है, कि नर-नारी चाहें जितना प्रयत्न करें यह सृष्टि रुकेगी नहीं। यदि नर नारियों की इच्छा के ऊपर यह बात रहती तो अब तक यह सृष्टि का प्रभाव कब तक शांत हो गया होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सनकादि मुनियों ने जो सप्ताह यज्ञ की महिमा सम्बन्धी इतिहास नारदादि मुनियों को सुनाया था उसे ही मैं आपसे कहता हूँ—

"दक्षिण देश में एक तुंगभद्रा नाम की नदी है, तुंगा और भद्रा दो पृथक् नदियाँ हैं, दोनों जब मिल जाती हैं तो तुंगभद्रा कहलाती है। उस तुंगभद्रा के तट पर एक अत्यन्त ही सुन्दर रमणीय नगर था। नगर बड़ा था चारों वर्ण के लोग उसमें सुख-पूर्वक निवास करते थे। उसी नगर में एक आत्मदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। वह कर्मकांडी ब्राह्मण श्रौत, स्मार्त सभी कर्मों में कुशल था, तेजस्वी भी था, साथ ही वेदों का ज्ञाता था। ब्राह्मण होकर भी वह धनी था। धन वृद्धि के दो ही उपाय हैं या तो व्यापार या भिक्षा। वह ब्राह्मण भिक्षा वृत्ति से ही निर्वाह करता था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! व्यापार से धनी होना तो युक्ति युक्त भी है। भिक्षावृत्ति से मनुष्य धनी कैसे हो सकता है ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! व्यापार की तो कोई

सीमा भी है, व्यापार में तो कभी हानि भी हो जाती है, भिक्षा में तो लाभ-ही-लाभ है। घर-घर से अन्न के कण माँगने का ही नाम भिक्षा नहीं है। दूसरों के धन को उनकी इच्छा से माँग कर ले आने वाली सभी वृत्ति भिक्षा वृत्ति ही है उसमें भी युक्ति चाहिये। कोई यज्ञ के नाम से माँगकर लाते हैं, कोई पाठशाला, गोशाला, धर्मशाला, अतिथिशाला, औषधिशाला और न जाने किन-किन शालाओं के नाम से धन लाते हैं। ये जितनी बड़ी-बड़ी संस्थाओं के लोग इधर-से-उधर ठाट बाट से घूमते हैं, नित्य ही लाखों रुपयों का चकना चूर करते हैं ये सब भिक्षावृत्ति से ही तो कमाते हैं। तीर्थ पुरोहितों की इतनी बड़ी-बड़ी कोठियाँ भिक्षा से ही तो बनती हैं, ये जितने मठ, मन्दिर, आश्रम चलते हैं भिक्षा के सहारे से ही तो चलते हैं। दूर की बात छोड़ दीजिये, साधारण गृहस्थियों के लिये तो दश आदमियों को खिलाना ही कठिन हो जाता है दिन भर व्यापार में ही लगे रहते हैं। आप कौन-सा व्यापार वाणिज्य करते हैं, नित्य लाखों लोगों का भोजन होता है, आपको निर्धन कौन कहेगा, यह सत्य है आप किसी के घर भिक्षा माँगने नहीं जाते किन्तु आपके तप के प्रभाव से बैठे ही बैठे बिना माँगे, अयाचित भिक्षा आ जाती है, आपकी वृत्ति भिक्षा ही तो कही जायगी। ऐसा ही वह आत्मदेव ब्राह्मण भिक्षावृत्ति वाला विप्र था।"

शौनकजी बोले—"हाँ सूतजी ! समझ गये अब आगे की कथा कहिये।"

सूतजी बोले—"हाँ, तो महाराज जी ! आपका रामजी भला करें, उस ब्राह्मण की स्त्री का नाम था धुन्धुली। वह रंग रूप में देखने भालने में तो सुन्दर थी, उसका कुल भी उत्तम था, किन्तु एक ही उसमें बड़ा दोष था, वह अपनी हठ की बड़ी पक्की थी, जिस बात की हठ पकड़ लेती, फिर चाहे ब्रह्माजी भी क्यों न

आ जायँ, वह उससे हटने वाली नहीं थी। बातें बनाने में बड़ी विदुषी, जब तक चार घर में जाकर लड़ाई झगड़ा न कर आवे तब तक उसे भोजन नहीं पचता था। जिसके घर गयी, बात बनाने लगी तो बनाते ही रही, किसी को एक छदाम देना नहीं, किसी से सीधे बोलना नहीं, जो भी सामने पड़ जाय उसी से उलझ जाय। ब्राह्मण को उसका यह स्वभाव अच्छा नहीं लगता था, किन्तु करे भी तो क्या करे। धर्म का बन्धन था, परलोक का भय था, कोई काठ का जूआ तो था नहीं, जब चाहो कन्धे से उतारकर फेंक दो, अग्नि को साक्षी देकर ब्राह्मणों के सम्मुख धर्मपूर्वक उसने विवाह किया था, धर्म से वह ब्राह्मण की अर्धाङ्गिनी थी। अपने आधे अंग में खुजली हो जाय या अर्धाङ्ग हो जाय, तो आधे अंग को कोई काटकर तो फेंक नहीं देता, भाग्य-वश जैसी भी पत्नी मिल जाय, उसी के संग जीवन भर निभाना होगा। स्त्री-पुरुष का तो जीवन मरण का सम्बन्ध है। इसीलिये ब्राह्मण उसके किसी काम में हस्तक्षेप नहीं करता। उसकी हाँ में हाँ मिलाता रहता। इससे वे गृह कलह से बचे थे लड़ाई तो तभी होती है, जब स्त्री कुछ कहे। पुरुष कुछ कहे। जब एक ने अपनी इच्छा दूसरे पर छोड़ दी तो, एक हाथ से ताली थोड़े ही बज सकती है। स्त्री दिन को रात कह दे, तो ब्राह्मण उसे तारे बताने लगे। वह रात को दिन कह दे, तो आत्मदेव सूर्य दिखाने लगे। ऐसी दशा में कलह का तो कारण ही नहीं। वैसे धुन्धुली घर के कार्यों में बड़ी प्रवीण थी। रोटी बड़ी सुन्दर बनाती, दाल भात, साग सभी सुन्दर स्वादिष्ट, बनाती, बर्तन स्वयं मलती और उन्हें ऐसे चमका कर झाड़ पौंछकर रखती कि मन प्रसन्न हो जाय घर को झाड़ बुहार कर स्वच्छ रखती। सारांश यह कि घर के कार्यों में प्रमाद न करती घर के कामों को करके तब लड़ाकू स्त्रियों से लड़ने जाती। लड़ते समय पानी की झारी पास में रखती,

पानी पी पीकर लड़ती।

ब्राह्मण के पास धन की कोई कमी नहीं थी। स्त्री भी सुन्दरी थी। पति से वह कलह भी नहीं करती ब्राह्मण की सभी सुविधाओं का ध्यान रखती। भरसक उन्हें असन्तुष्ट न करती, इस कारण ब्राह्मण को कोई शारीरिक कष्ट नहीं था, किन्तु उन्हें एक मानसिक कष्ट बड़ा भारी था, इनके कोई सन्तान नहीं थी। वे सोचते थे मेरे इतना धन है मेरे पीछे इसका कोई उपभोग करने वाला नहीं। मेरे पितर स्वर्ग में बैठे आशा लगा रहे होंगे कि हमारे वंश में कोई होगा जो हमें अन्न जल देगा, हमारे निमित्त श्राद्ध तर्पण करेगा। जब तक मैं हूँ पितरों का पिंड करता हूँ, जल देता हूँ मेरे पीछे वे बिना अन्न जल के रह जायेंगे वंश में कोई न रहने से वे नरकों में धकेल दिये जायँगे। इसलिये जैसे-तैसे पुत्री या पुत्र कोई भी हो जाय तो हम अपुत्री तो न कहावें। पितरों को नरक तो न भोगना पड़े। इसके लिये मैं यथासाध्य प्रयत्न करूँगा।"

यह सोचकर वे ज्योतिषी तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों से पूछने लगे। किसी ने कहा--"दीन दुखियों को भोजन कराओ उनके हृदय से निकले आशीर्वाद से आपके सन्तान हो जायगी किसी ने कहा-गौदान करो किसी ने कहा—अन्नदान, सुवर्णदान, वस्त्रदान तथा पृथ्वीदान करो।"

जिसने जो बताया, ब्राह्मण ने वही दान किया किन्तु उसके सन्तति नहीं हुई, नहीं हुई। दान करते-करते आधा धन समाप्त हो गया, किन्तु सन्तान के कोई लक्षण नहीं इससे उसे भारी निराशा हुई।

उन्होंने सोचा—"जब सन्तान ही नहीं तब जैसा ही घर वैसा ही वन। घर की शोभा तो बच्चों से ही है, जिस घर में हँसते हुए किलकारियाँ मारते हुए छोटे-छोटे बच्चे नहीं

रुनझुन करती हुई लजाती मुसकराती बहुएँ नहीं, उस घर में और श्मशान में अन्तर ही क्या ? इसलिये या तो वन में चलकर संतान के निमित्त घोर तप करूँगा, या आत्महत्या करके इस शरीर को ही छोड़ दूँगा। ऐसा निश्चय करके वे ब्राह्मण बिना अपनी घरवाली से कहे वन की ओर चल दिये। ग्रीष्म काल था, प्रातःकाल ही सबेरे घर से निकल पड़े। चलते ही गये आगे बढ़ते ही गये। भगवान् भुवन भास्कर अपनी प्रचंड किरणों से प्राणियों को प्रतप्त करते हुए सिर के ऊपर आ गये। कभी इतना चलने का अभ्यास नहीं था, सुकुमार शरीर था, वे चलते-चलते थक गये, गरमी के कारण पृथ्वी जलने लगी, भूख और प्यास से उनका कंठ सूख गया। तृषा बलवती हो गयी सम्मुख एक सुन्दर स्वच्छ मनस्वियों के मन के समान निर्मल जल वाला सरोवर दिखायी दिया। किनारे पर ही वट का एक सघन वृक्ष था, उसकी छाया जल में पड़ रही थी। सरोवर का सुन्दर घाट बना था। ब्राह्मण देव सीढ़ियों से उतर कर जल के निकट गये। हाथ पैर धोये, प्यास तो लगी ही हुई थी, भर पेट जल पिया। जल पीने से तृषा शान्त हुई भूख भी मिट गयी, चित्त शान्त हुआ थके तो थे ही। जल के निकट ही वट की छाया थी। सन्तान के दुःख से दुखी उदास मन, घुटने पर कुहनी टेक कर हथेली पर ठोढ़ी रखकर बैठ गये। उनका मुख मलिन बना था, चिन्ता से चित चंचल था, आत्मग्लानि के कारण मुख उदास था, किंकर्त्तव्यविमूढ़ बने वे बड़ी वेला तक बैठे ही रहे।"

कुछ क्षण के पश्चात् वहाँ एक संन्यासी महात्मा आये। उनके तेजयुक्त मुख मंडल पर एक अलौकिक आभा थी। वे देखने में बड़े दयालु तथा सुहृदय प्रतीत होते थे उन्होंने सीढ़ियों से उतर कर हाथ पैर धोये जलपान किया और अपने काषाय वस्त्र से हाथ पैर और मुख पोंछने लगे। उसी समय ब्राह्मण ने

उठकर उनके चरणों में प्रणाम किया, पद रज मस्तक पर चढ़ाई और एक विषाद मिश्रित दीर्घ निःश्वास छोड़कर सिर नीचा करके महात्मा के सम्मुख उदास मन खड़े हो गये। उनके नेत्र अश्रुओं से भरे थे और वे बह रहे थे।

महात्मा तो कृपालु होते ही हैं, दूसरों के दुःख को देखकर उनका नवनीत के समान हृदय पिघल ही जाता है। ब्राह्मण को दुखी देखकर अत्यन्त ही मधुर वाणी में महात्मा ने पूछा—"सौम्य! तुम इतने दुखी क्यों हो, तुम्हारी आँखों में आँसू क्यों हैं तुम क्यों रो रहे हो?"

रोते-रोते ब्राह्मण ने कहा—"भगवन्! मैं अपने भाग्य के लिये रो रहा हूँ?"

सान्त्वना देते हुए संन्यासी बोले—"बात तो बताओ, अपने दुःख का कारण तो बताओ, मुझसे अब न लजाओ। जो तुम्हें चिन्ता हो उसे अविलम्ब सुनाओ। यथाशक्ति मैं तुम्हारे दुःख को दूर करने का प्रयत्न करूँगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! क्या कहूँ कुछ कहते नहीं बनता अपना मुझे उतना दुःख नहीं है मुझे अपने पितरों का दुःख है मेरे पितरों को शीतल पानी पीने को नहीं मिलता।"

संन्यासी ने कहा—"तुम तो पहेली-सी ही कह रहे हो, स्पष्ट बात बताओ।"

ब्राह्मण बोले—"स्वामिन्! मेरे कोई सन्तान नहीं। अपने पितरों को जब मैं जल देता हूँ, तो वे सोचते हैं अभी तो यह हमें जल दे रहा है, इसके पश्चात् हमारा पिंड जल समाप्त हो जायगा, इस चिंता से उनकी श्वाँसे गरम हो जाती हैं उन गरम श्वाँसों से अंजलि का सलिल भी गरम हो जाता है गरम आँसू भी उसमें मिल जाते हैं, उसी गरम जल को वे पीते हैं। किसी ब्राह्मण को अपने यहाँ भोजन करने को कहता हूँ, तो मेरे सम्मुख हाँ-हाँ कर

देते हैं, किन्तु पीठ पीछे कहते हैं—"अपुत्री का अन्न कौन खाय किसी को आग्रहपूर्वक बुला भी लेता हूँ, तो वह संकोच वश अनिच्छापूर्वक अप्रसन्नता से भोजन करता है। देवताओं को बलि देता हूँ, तो वे भी सोचते हैं पुत्र बिना तो स्वर्ग मिलता नहीं वे भी प्रसन्नतापूर्वक बलि ग्रहण नहीं करते।"

संन्यासी ने पूछा—"फिर यहाँ किस लिये आये हो ?"

ब्राह्मण ने कहा—"घर तो गृहणी से होता है। सार्थक गृहणी वही है जो सन्तान वाली हो। जिस घर में सन्तान नहीं वह सुनसान घर है, ऐसे बाल-बच्चों से विहीन घर को धिक्कार है, धन की शोभा भोग से है, भोग शोभा देता है संतान के साथ। संतानहीन धन मृतक के हाथ में धरे सुवर्ण के समान है ऐसे धन को बारम्बार धिक्कार है। जिस कुल में पुत्र रूप प्रदीप नहीं उस अंधकारपूर्ण कुल को धिक्कार है। जिस स्त्री के सन्तान नहीं उस स्त्री को धिक्कार है और जिस पुरुष के पुत्र न हो उस पुरुष को धिक्कार है। पुत्रहीन पुरुष संतान के प्रेम सुख से सदा वंचित रहता है।

संन्यासी ने पूछा—"तुम्हारे कोई सवत्सा गौ नहीं है ?"

ब्राह्मण बोला—"महाराज ! गौ तो है किन्तु मेरे यहाँ आकर किसी गौ ने बच्चा नहीं दिया। छोटी गौ की बच्ची को पाला, वह बाँझ निकल गयी, गर्भवती को लाया, उसका गर्भ गिर गया। दूसरों के लिये जिसने चार-चार पाँच-पाँच बच्चे दिये मेरे यहाँ आकर वह कभी ग्याभन ही न हुई मेरे दुर्भाग्य से गौ भी ऐसी हो जाती हैं।"

संन्यासी ने पूछा—"तुमने फल वाले वृक्षों को नहीं लगाया ?"

ब्राह्मण बोला—"लगाये क्यों नहीं महाराज ! मैंने सब कुछ किया, जिसने जो बताया वही किया। दूर-दूर से छाँट-छाँटकर वृक्ष लाया, जो वृक्ष मैंने लाकर लगाया वह बड़ा तो हो गया

किन्तु उस पर फल फूल कभी नहीं लगा। एक भी फलवान् वृक्ष मेरे हाथ से नहीं लगा।" यही नहीं बाहर से जो फल लाकर मैं घर में रखता हूँ, वे सड़ जाते हैं गल जाते हैं तथा उनमें कीड़े पड़ जाते हैं। अब आप ही सोचें, इस प्रकार सन्तान हीन जीवन से मुझे क्या सुख है ? इससे तो मर जाना ही अच्छा।"

संन्यासी ने कहा—"इतने विद्वान् होकर तुम विप्रवर ! कैसी मूर्खों की-सी बातें कर रहे हो। अरे, आदमी रहेगा तो जीवन में अनेक कल्याण प्रद कार्य देखेगा।"

अत्यन्त ही दीनता के स्वर में ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो मेरा कल्याण तो पुत्र प्राप्ति में ही है। बिना सन्तान के मुझे शान्ति न मिलेगी मुझे सुत के बिना सम्पूर्ण संसार सूना-ही-सूना दृष्टिगोचर हो रहा है। मुझ अभागे के जीवन से लाभ ही क्या जब मैं देवता और पितरों को प्रसन्न न कर सका, गोदी में पुत्र को बिठाकर उसका मुख न चूम सका। अपुत्री को तो वैसे भी गति नहीं होती।" इतना कहकर ब्राह्मण उन संन्यासी के चरणों पर गिर पड़ा और फूट-फूट कर रोने लगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उस ब्राह्मण के करुणा क्रन्दन को सुनकर तथा उसे अत्यन्त दुःखातुर शोकमग्न देखकर संन्यासी का हृदय पसीज गया, वे दया के वशीभूत होकर ब्राह्मण को सकरुणदृष्टि से निहारने लगे। वे महात्मा शुभाशुभ चिन्हों को जानने वाले, सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता तथा त्रिकाल दर्शी थे। उन्होंने ध्यानपूर्वक विप्र के ललाट की रेखाओं का अध्ययन किया, उनके शुभाशुभ फलों को जान लिया और फिर अत्यन्त प्रेम भरी वाणी में आत्मदेव से बोले—"विप्रवर ! भाग्य की रेख पर मेख भरने वाला संसार में आज तक कोई उत्पन्न नहीं हुआ। मैंने तुम्हारी भाग्य-की रेखाओं को पढ़ लिया है।"

ब्राह्मण ने पूछा—"क्या पढ़ा भगवन् ! आपने ?"

संन्यासी बोले—"देखो, जो वस्तु न मिलने वाली हो उसके लिये प्रयत्न करना प्रक्षिप्तों के प्रलाप के सदृश है। तुम्हारे भाग्य में पुत्र है ही नहीं। इस जन्म की कौन कहे सात जन्मों तक तुम्हारे सन्तान नहीं हो सकती, चाहे तुम एड़ी का पसीना चोटी तक क्यों न लगा दो। इसलिये मेरी बात मानो, इस दुराग्रह को छोड़ दो, सन्तान की आशा को हृदय से निकालकर फेंक दो। यह राक्षसी आशा ही प्राणी को संसार में इधर से उधर घुमाती फिरती है। बलवती कर्म की गति को कोई भी सती शूरमा व्यर्थ नहीं बना सकता। इसलिये धैर्य धारण करो, विवेक से काम लो त्याग वैराग्य का आश्रय ग्रहण करके इस संसार वासना का जड़ मूल से नाश कर दो।"

ब्राह्मण ने विनीत भाव से रोते-रोते कहा—"स्वामिन् ! चाहे आप इसे मेरी मूर्खता कहें, अथवा अविवेक, मैं इस वासना को हृदय से निकाल नहीं सकता। चिरकाल की जमी वासना बड़ी बलवती होती है, मुझे जब तक पुत्र की प्राप्ति न होगी, तब तक न सुख होगा न शान्ति। मेरे विवेक वैराग्य सब कुण्ठित हो गये हैं।"

सूखी हँसी हँसते हुए संन्यासी ने कहा—"सोते को जगाया जा सकता है, किन्तु जो जागता हुआ भी सोने का अभिनय कर रहा है, उसे कोई कैसे जगावे ? जो कुछ जानता न हो ऐसे अज्ञ को दृष्टान्त देकर शास्त्र वचन कहकर समझाया जा सकता है, किन्तु जो स्वयं शास्त्री है सब कुछ जानता है, उसे कोई क्या समझावे ?"

देखो, राजा सगर के साठ सहस्र सुत थे, वे उनको सदा क्लेश ही पहुँचाते रहते थे, नित्य नये उत्पात मचाते रहते थे। अन्त में वे कपिल भगवान् के कोपानल में अपने पापों के कारण

जल मरे। राजा अङ्ग ने पुत्र के लिये कितने प्रयत्न किये, यज्ञ कराये दान धर्म किये, अन्त में हुआ महा दुष्ट वैन, उससे उन्हें क्या सुख मिला उसके उत्पातों से दुखी होकर रात्रि में गुप्त रूप से राजपाट छोड़कर उन्हें वन को ही भागना पड़ा। इसलिये प्रिय आवश्यकता ही क्या है, पहिले कीच से शरीर को पोता जाय फिर उबटन लगाकर उसे धोया जाय। एक दिन तो इस संसार को विवश होकर छोड़ना ही पड़ेगा। जब छोड़ना निश्चित है अवश्यम्भावी है, तो फिर उसे अपने आप ही पहिले से ही क्यों न छोड़ दे। इसलिये हे विद्वन्! मेरी सम्मति में तो अब आपको सन्तान की आशा को हृदय से निकाल कर सदा के लिये फेंक देना चाहिये। शान्ति तो त्याग मे ही है, विषयों से विरक्त होकर भगवान् वासुदेव का चिन्तन कीजिये। त्याग में सुख ही सुख है। विवेक को न छोड़िये, बुद्धिमत्ता के साथ विचार कीजिये।"

अत्यन्त ही दुःख के साथ ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! मेरी बुद्धि कार्य नहीं करती। विवेक मुझे छोड़कर चला गया है। त्याग की बातें मुझे भाती नहीं हैं, वैराग्य की चर्चा सुहाती नहीं, आपकी बातें मेरी बुद्धि में आती नहीं हैं। सन्तान प्राप्ति की इच्छा ने मुझे अन्धा बना दिया है, इस प्रबल वासना ने मेरी विचार शक्ति को खो दिया है। मुझे तो पुत्र चाहिये पुत्र मेरे भाग्य में न भी हो तो आपको भाग्य को बदलना पड़ेगा। पुत्र प्रारब्ध में न भी हो तो देना पड़ेगा। भगवत् भक्त सब कुछ करने में समर्थ हो सकते हैं, वे विधि के लेख पर मेख मार करते हैं। आप सर्व समर्थ हैं, जैसे बने वैसे मुझे पुत्र दीजिये, नहीं तो आपके सम्मुख ही मैं प्राणों का परित्याग करता हूँ, आप मेरी इच्छा पूर्ण न करेंगे तो आपको ही ब्रह्महत्या लगेगी। संन्यास अब मुझे सूखा-सूखा प्रतीत होता है। ज्ञान, वैराग्य, विवेक तथा विरति की बातें नीरस दिखायी देती हैं, कोरे त्याग में क्या

रखा है, जब तक पुत्र सुख का अनुभव न किया। रोटी के एक टुकड़े के लिये घर-घर भीख माँगते फिरना इसमें कौन-सा सुख है। यथार्थ सुख तो उस गृहस्थाश्रम में ही है। जिसमें दस पाँच पुत्र हों पुत्रों के भी बहुत से पुत्र हों, सब आकर बाबा-बाबा कह कर लिपट जायँ। बहुएँ नित्य नयी स्वादिष्ट वस्तुएँ बनावें। घर भरा पूरा दिखायी दे चारो ओर सरसता छायी रहे। मुझे तो संसार में यही सर्वश्रेष्ठ सुख प्रतीत होता है, आप से जैसे बने तैसे मुझे सन्तान दीजिये।"

संन्यासी ने गम्भीरता के साथ कहा—"विद्वान्। तुम दुराग्रह कर रहे हो, पुत्र की लालसा ने तुम्हारे विवेक को खो दिया है। मैंने तुम्हें बार-बार बताया कि विधाता के विधान को विपरीत बनाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। राजा चित्रकेतु ने महर्षि अंगिरा से ऐसा ही आग्रह किया था, ऋषि ने अपने तपोबल से पुत्र दिया, उस पुत्र से उसे कितना कष्ट उठाना पड़ा। इसी प्रकार तुम्हें भी अपनी हठ के लिये पीछे पछताना पड़ेगा। पुत्र सुख तुम्हारे भाग्य में नहीं है। पुत्र तुम्हें जैसे तैसे मिल भी जाय, तो उससे तुम्हें सुख न होगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"चाहे मुझे उससे कुछ भी सुख न मिले चाहे वह मुझे नित्य उठकर सौ जूते क्यों न मारे, मुझे पुत्र दीजिये मैं अपुत्री होकर मरना नहीं चाहता।"

यह सुनकर महात्मा ने कुछ काल ध्यान किया और फिर अपनी झोली में से एक फल निकाल कर उसे देते हुए कहा—"अच्छी बात है, जब तुम्हारा पुत्र के लिये बहुत ही हठ है, तो मैं तुम्हें पुत्र देता हूँ यह मेरा मन्त्रों से अभिमन्त्रित फल है। इसे अपनी पत्नी को जाकर देना। यदि वह इसे खा लेगी तो निश्चय ही उसके पुत्र होगा। इस फल का प्रभाव अमोघ है, यह कभी व्यर्थ नहीं जा सकता।"

ब्राह्मण ने बड़ी श्रद्धा भक्ति से महात्मा के हाथ से वह फल ले लिया। उसके हर्ष का ठिकाना नहीं था, उसके रोम-रोम खिल उठे। शोकाश्रु आनन्दाश्रुओं में परिणित हो गये। फल को लेकर उसने मस्तक पर चढ़ाया, फिर यत्नपूर्वक उसे अपने उत्तरीय के कोने में बाँध लिया। फिर बार-बार संन्यासी के चरणों की धूलि मस्तक पर चढ़ाकर उन्हें प्रणाम करके प्रसन्न चित्त घर को लौट पड़ा।

इधर धुन्धुली प्रातःकाल से ही प्रतीक्षा कर रही थी, आज वे कहाँ चले गये, अभी तक लौटकर भी नहीं आये। इतनी देर तो बाहर कभी लगाते नहीं थे। यदि कहीं दूसरे गाँव जाना होता तो कहकर जाते। अभी तक भोजन नहीं पाया।

धुन्धुली इसी प्रकार के विचारों में पड़ी चिन्ता मग्न थी, कि ब्राह्मण ने जाकर द्वार खटखटाया। धुन्धुली ने दौड़कर किवाड़ खोली और प्रेम मिश्रित रोष में बोली—"आज प्रातःकाल से ही कहाँ चले गये थे। सब भोजन ठण्डा हो गया। कहीं जाना हो तो कहकर तो जाना चाहिये। कब से मैं चौका में घिरी बैठी हूँ।"

ब्राह्मण ने अपनी मानसिक प्रसन्नता को व्यक्त करते हुए कहा—"आज मैं तेरे लिये ऐसी वस्तु लाया हूँ, कि तू कभी कहेगी, हाँ कोई लाये थे आज तेरा रोम-रोम खिल जायगा।"

मुँह बनाकर धुन्धुली ने कहा—"ऐसी क्या जीवनमूरि ले आये हो, आपको अपने शरीर का तो कुछ ध्यान है नहीं। मुख कितना मुरझा गया है। आज जलपान भी नहीं किया।"

ब्राह्मण कुछ भी न बोले—"वे भीतर चले गये जाकर ब्राह्मणी के हाथ में फल दे दिया। ब्राह्मणी ने पूछा—"यह क्या है?"

ब्राह्मण बोले—"यह हमारी आशाओं का केन्द्र है। यह हमारे सम्पूर्ण जीवन के दान धर्म का फल है। मुझे एक बड़े भारी माहात्मा ने आशीर्वाद पूर्वक इसे दिया है। इसे तुम खा-

लोगी, तो तुम्हारे निश्चय पुत्र होगा। फिर हम अपुत्री न कहावेंगे फिर हमारे पितर उष्ण सांस लेते हुए हमारे तिल मिश्रित जल को ग्रहण न करेंगे। फिर तो हम संतान वाले हो जायँगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर धुन्धुली ने चुपचाप फल को रख लिया। हाथ पैर धुलाकर वह पति को भोजन कराने लगी। भोजन करके ब्राह्मण को तो कहीं बाहर का आवश्यक कार्य स्मरण हो उठा। स्त्री से यह कहकर कि आज ही फल खा लेना, आज ही शुभ मुहूर्त है वह तो बाहर चला गया। इधर धुन्धुली ने जो कौतुक रचा वह कथा बड़ी रोचक है। उसे मैं आगे कहूँगा। इससे आपको विदित हो जायगा, कि भाग्य के बिना कुछ भी नहीं प्राप्त हो सकता।"

छप्पय

चलत चलत अति श्रमित तृषित इक सरढिँग आयो।
लखि संन्यासी सन्त जाइ चरननि सिर नायो॥
पूछयो दुख को हेतु कथा सब विप्र सुनाई।
संत भाल पढ़ि कह्यो सात जनमनि सुत नाई॥
मिलै पुत्र सुख भाग्य वश, तातैं द्विज! सुत हठ तजो।
हिय विवेक वैराग्य धरि, हरि हरि नित सब तजि भजो॥

धुन्धुकारी और गोकर्ण का जन्म

[१३]

मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि ।
युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ३६ अ० ३९ श्लोक)

छप्पय

सुनि बोल्यो द्विज—युक्ति न दूसरि मोकूँ भावै ।
जैसे तैसे पुत्र एक प्रभु मोइ दिवावै ॥
यदि न मिलै सुत प्रान अबहिँ हौं तुम पै त्यागूँ ।
संत सोच में परे यहाँ तैं कैसे भागूँ ॥
बोले—दै फल नारि तव, हरषि जाइ यदि खाइगी ।
तो निश्चय पंडित परम, पुत्र प्रानप्रिय पाइगी ॥

होनहार जैसी होने को होती है वैसी ही बुद्धि बन जाती है। मनुष्य यत्न सुख के लिये करता है दुख आ जाता है । मरने को यत्न करता है जीवन हाथ आ जाता है । प्रारब्ध के सम्मुख किसी की युक्ति चलती नहीं सभी प्रयत्न विफल बन जाते हैं, फिर इस

---

* अक्रूरजी की कंस के प्रति उक्ति है—"मनुष्य भाग्य द्वारा विनष्ट किये हुए ऊँचे से ऊँचे मनोरथों को किया करता है, उनके द्वारा उसे कभी हर्ष होता है कभी शोक। जो होने वाला है वह तो अवश्य ही होकर रहेगा, फिर भी आपकी आज्ञापालन तो मैं करूँगा ही।"

अभागे आदमी पर बिना यत्न किये रहा नहीं जाता ? नित्य असंख्यों उदाहरण देखता है, बाहर की बात जाने दीजिये अपने ही जीवन में ऐसे अनेकों अवसर आते हैं कि करना चाहते हैं कुछ, हो जाता है कुछ। इसीलिये तो कहा है—"करम गति टारी नाहिँ टरी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! संन्यासी से फल प्राप्त करके आत्मदेव ब्राह्मण ने वह फल अपनी पत्नी को दिया संन्यासी ने कुछ शौच सदाचार सम्बन्धी नियम संयम बताये थे, उनको भी भली भाँति समझा दिया, स्वयं तो वह कहीं बाहर चला गया। अब तक तो धुन्धुली निश्चिन्त बैठी थी, सबने कह दिया था, तुम्हारे सन्तान नहीं हो सकती इसलिये पति सन्तान प्राप्ति के लिये जो भी प्रयत्न करता उसकी हाँ में हाँ मिलाती रहती। अब जब उसे विश्वास हो गया, कि किसी सिद्ध महात्मा का दिया हुआ यह फल है, इससे सन्तान हो सकती है, तो उसके मन में खलबली मची। अब उसे संकल्प विकल्प होने लगा, फल को खाऊँ या न खाऊँ। एक बार सोचती पति इसे बड़े प्रयत्न से लाये हैं, सिद्ध महात्मा का दिया हुआ है इसे खा ही लेना चाहिये, किन्तु उसके प्रारब्ध में तो पुत्र था ही नहीं। उसके भाग्य में तो मातृत्व का सर्वश्रेष्ठ पद बदा ही नहीं था, उसकी कोख तो सन्तान को वास देने की सामर्थ्य ही नहीं रखती थी। इसी-लिये वह सोचती क्या मैं सुकुमारी गर्भ के कष्टों को सहन कर सकूँगी ?"

जब सोचते-सोचते कुछ निर्णय न कर सकी तो उसकी एक सहेली थी। उससे उसकी दाँत काटी रोटी थी जैसे यह तो वैसी ही वह थी, "जैसी अहो तैसी महो, इनके चूल्हि न उनके तओ।" मैत्री समान शील में ही होती है। धुन्धुली दौड़ी-दौड़ी अपनी सहेली के पास गई। इसे घबड़ाई हुई देखकर उसकी सहेली

कहा—"बहिन आज तू बड़ी व्यग्र-सी दिखाई देती है, तेरा चित्त चंचल है, मुख मलिन हो रहा है उस पर उदासी चिन्ता की रेखायें स्पष्ट उभर रही हैं। अपनी व्यग्रता का कारण क्या है बात तो बता।"

धुन्धुली ने कहा—"चल बहिन, तनिक एकान्त में चलें, तुझसे कुछ सम्मति करनी है।"

यह सुनकर वह एकान्त में इसे ले गयी। भीतर से किवाड़ बंद करके धुन्धुली ने फल उसे दिखाया और सभी वृत्तान्त सुनाया। फिर उसकी सम्मति पूछी, तू बता मैं इसे खाऊँ या नहीं।"

सहेली ने कहा—"जब तेरे पति इतने प्रयत्न से लाये हैं, तब मेरी सम्मति में तो इसे खा ही लेना चाहिये। अच्छा है घर में एक सन्तान हो जाय।"

यह सुनकर धुन्धुली रो पड़ी और रोते-रोते बोली—"बहिन तू भी ऐसा सम्मति देती है तू जानती नहीं, मैं कितनी सुकुमारी हूँ इस विपत्ति को कैसे सह सकूँगी।"

सखी ने कहा—"हाय, बहिन! सन्तान पैदा करना तो हम नारियों का भूषण है इसे तू विपत्ति कैसे कहती है।"

धुन्धुली ने सुनकर कहा—"भूषण होगा, जिसके लिये होगा, मुझे तो बड़ा भय लगता है, कहीं गर्भ रह गया, तो पेट फूलकर घड़े की भाँति हो जायगा, मुख की कान्ति पीली पड़ जायगी, जी मिचलाने लगेगा गर्भिणियों को कभी-कभी उबकाई आती है, अन्न नहीं पचता, शरीर शिथिल हो जाता है, चलने-फिरने में भी कष्ट होता है, अधिक भोजन किया नहीं जायगा, दुर्बलता आ जायगी। मैं अपने घर की अकेली ठहरी, मैं इस गोरख धन्धे में फँसी तो घर का काम काज कौन करेगा?"

सहेली ने कहा—"ऐसे समय पर अपने सगे सम्बन्धियों को

बुला लेते हैं। तेरी तो कई ननदें हैं उनमें से एक दो को बुला लेना।"

हाथ नचाकर धुन्धुली ने कहा—"ननदें जैसी हैं तैसी मैं ही जानती हूँ, ननदें जहाँ घर में आईं, फिर घर में कोई वस्तु बचने न पावेगी। मैं सब समय उनका पहरा थोड़े ही देती रहूँगी। चुपके-चुपके एक-एक चीज को खिसकाते-खिसकाते वे अपने घरों को भर लेंगी, इस घर को खाली कर देंगी। तब मैं क्या करूँगी।"

सखी ने कहा—"काम काज की कौन-सी बात है ननदों को न बुला लेना हो तो कोई बुढ़िया रख लेना। रोटी पानी चौका बर्तन वह कर लेगी। तू अपना देखती-भालती रहना।"

धुन्धुली ने कहा—"बहिन! तू समझती नहीं। सौ झंझट हैं, उस बोझ को हर समय कहाँ लिये फिरूँगी। मान लो कभी गाँव में लूट पाट मच गयी, या आग ही लग गयी तो और सब तो अपनी-अपनी चीज वस्तु ले-लेकर भाग जायँगे, मुझे तो अपना शरीर बचाना भी कठिन हो जायगा, धन और प्राण दोनों जायँगे।"

सहेली ने कहा—"बहिन! ऐसी अनिष्ट की कल्पना क्यों करती है, क्या तेरे ही अकेली के गर्भ रहेगा औरों के गर्भ नहीं रहता क्या?"

धुन्धुली ने कहा—"औरों की तुलना तू मुझसे क्यों कर रही है, और सब हृष्ट-पुष्ट होती हैं, मैं दुबली पतली हूँ, और सहन कर सकती हैं, मैं सुकुमारी कोमलांगी हूँ, औरों के यहाँ बहुत-सी सास, ननद, द्वौरानी, जिठानियाँ तथा और भी पुरुष हैं स्त्रियाँ हैं, मैं, अपने घर की अकेली हूँ, औरों के इतना बड़ा घर नहीं इतना धन नहीं इतनी चीज वस्तुएँ नहीं। बात पृथक् है मैं यह नहीं कहती हूँ कि गाँव में आग लग ही जाय लूट पाट मच ही जाय

भगवान् ऐसा न करे। यदि कभी दैव वश ऐसा हो जाय, तो मुझसे तो एक पैर भी न भागा जायगा। ऐसा न हो, मान लो गर्भ रह जाय और वह पैदा ही न हो।"

सहेली ने कहा—"कहीं ऐसा भी होता है, गर्भ रहने पर तो बच्चा पैदा हो ही जाता है।"

धुन्धुली ने कहा—"होता क्यों नहीं बहुतों का तो पेट चीर कर बच्चा निकाला जाता है, मुझे तो चीर फाड़ का स्मरण आते ही रोमाञ्च होते हैं। कथा पुराणों में ऐसा सुना है, व्यासदेव जी की पत्नी अरणी के पेट में शुकदेव जी बारह वर्ष तक रहे आये वे निकले ही नहीं। ऐसे ही कोई मेरे पेट में जम कर बैठ गया, तो फिर मेरी तो मृत्यु ही हो जायगी।"

सहेली ने कहा—"ऐसे कोई नहीं जम के बैठता वह तो दूसरी बात थी। बच्चा तो ९-१० महीने में अपने आप हो जाता है।"

धुन्धुली ने रोष में आकर कहा—"हाँ, तुम्हारे कहने से अपने आप हो जाता है, बच्चा पैदा करना कोई सरल काम नहीं है। स्त्री के प्राण ही नहीं निकलते और सब दुर्गति हो जाती है। कभी टेढ़ा हो जाता है, तो काट-काटकर बच्चा निकाला जाता है वह कितना वीभत्स कांड है। कभी-कभी गर्भ का बच्चा पेट में ही मर जाता है, यदि उसे काटकर न निकाला जाय तो उसका विष पेट में फैल जाय गर्भवती की मृत्यु हो जाय। गर्भाशय में अश्मरी या दूसरा कोई रोग हो जाय, तो प्राणों के लाले पड़ जायँ। मान लो जैसे-तैसे गर्भ सुरक्षित भी रह जाय, कोई विघ्न बाधा भी न हो। प्रसवकाल में जो वेदना होती है, उसे स्त्री ही सहन कर सकती है। अत्यन्त संकुचित स्थान से इतना बड़ा शरीर निकलता है, स्त्री जीवित रह जाती है यही बड़ा आश्चर्य है।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! जब संतान पैदा

करने में इतना भारी कष्ट है, तो फिर स्त्री पुरुष सन्तान के लिये इतने लालायित क्यों रहते हैं ?"

यह सुनकर सूतजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"अब महाराज ! आपके भाग्य में तो संतान सुख बदा नहीं, आपने कभी गृहस्थ सुख भोगा नहीं, जन्म से ही बाबाजी बने हो, आपको अब कैसे समझावें इस विषय को। भगवन् ! संतानें न हों तो यह सृष्टि कैसे चले ?" सृष्टि न भी चले, सृष्टि हम स्वेच्छा से अपना कर्तव्य समझकर थोड़े ही बढ़ा रहे हैं। संध्या वन्दन की भाँति संतान उत्पन्न करना भी ऐच्छिक धर्म होता तो कोई विरले ही संन्ध्या पूजन की भाँति सन्तान उत्पन्न करते। किन्तु ब्रह्माजी ने अपनी सृष्टि को बढ़ाते रहने का स्वयं प्रबन्ध कर दिया है, लोगों के मन में सन्तान की एक ऐसी लालसा भर दी है कि प्राणी न भी चाहे तो भी उसे सन्तानोत्पत्ति करनी ही पड़ती है। इस विषय को मैं एक दृष्टान्त से आपको समझाता हूँ।"

एक यवन के यहाँ बहुत से कबूतर थे। कबूतरनियाँ बहुत से अंडे देतीं, घरवाली उन्हें उठा ले जाती और घर के लोग उन्हें खा लेते।

उनमें एक बहुत ही बुद्धिमती कबूतरी थी। उसने एक दिन एक बूढ़ी कबूतरी से पूछा—"दादी ! हम लोग इतने अंडे देती हैं, उतने बच्चे तो होते नहीं, ये अंडे जाते कहाँ हैं।"

बूढ़ी कबूतरी ने कहा—"बेटी, हमारा जो यह पालन-पोषण करने वाला है, इसकी स्त्री अंडों को ले जाती है इसके परिवार वालों का पेट भरता है।"

कबूतरी ने कहा—"दादी ! हम इतने कष्ट से अंडे पैदा करें और ये लोग अपने स्वाद के लिये इन्हें खा जायँ। यह तो बड़ा भारी अन्याय है।"

बूढ़ी कबूतरी ने कहा—"बेटी ! वह हमारा पालन-पोषण भी तो करता है संसार में सदा से ऐसा ही होता आ रहा है, किसान कितने श्रम से अन्न पैदा करता है, उसे खाते हैं दूसरे लोग। श्रमिक कितने श्रम से सुन्दर-से-सुन्दर रेशमी वस्त्र बनाते हैं उसे पहिनते हैं, दूसरे लोग। श्रमिक तो सदा फटे पुराने साधारण ही वस्त्र पहिनता है, फलों के बगीचे वाले कितने सुन्दर सुन्दर फल पैदा करते हैं, बच्चों को नहीं देते उनका उपभोग दूसरे लोग करते हैं। खानों के श्रमिक कितना घोर परिश्रम करके भूमि के नीचे से बहुमूल्य रत्न निकालते हैं उसे पहिनते हैं दूसरे ही लोग। यह तो सदा से सृष्टि का क्रम चला आ रहा है, कोई श्रम करता है, कोई श्रमिकों पर आज्ञा चलाता है, कोई उनके प्रतिफल का उपभोग करता है।"

युवती कबूतरी ने कहा—"दादी ! यह बड़ा अन्याय है, यह पालने वाले का हमारे साथ अन्याय है, हमारी भावी सन्तानों को वह खा जाय। हमें इसके विरुद्ध प्रचंड आन्दोलन करना चाहिये। सबको समान अधिकार दिलाना चाहिये।"

बूढ़ी कबूतरी ने कहा—"बेटी ! सब समान कैसे हो सकते हैं। एक अपने बुद्धिचातुर्य से सहस्रों का पेट भरता है, एक पर अपना भी पेट नहीं भरा जाता। एक काम करता है, एक आज्ञा देता है दूसरा उसका पालन करता है, एक शासक है दूसरा शासित है। जो आन्दोलन करेगा एक दिन वह भी शासक बन कर दूसरों पर आज्ञा चलावेगा। सबसे कठोर कार्य करावेगा, जो आज्ञा न मानेगा उसे दण्ड देगा। विधि का विधान ही ऐसा है। तू आन्दोलन के चक्कर में न पड़।"

युवती कबूतरी ने कहा—"नहीं दादी ! हमें सामूहिक रूप से अंडों का उत्पादन बन्द कर देना चाहिये। जब अंडा पैदा ही न होंगे, तो घर वाले को मिलेंगे कहाँ से ?"

बुढ़िया ने अपने कानों पर हाथ रखकर कहा—"ना बेटी, ऐसा नहीं कहते जो हमारा स्वामी है उसके विरुद्ध द्वेष करना शोभा नहीं देता। अंडे तो हमें पैदा करने ही होंगे, यहाँ न रहे दूसरे स्थान पर रहे भेड़ तो जहाँ भी जायगी, वहीं मूड़ी जायगी।"

युवती कबूतरी ने कहा—"ऐसी बातें बताकर तो भाग्य-वादियों ने हमें आलसी बना दिया है, सब मिलकर जो चाहें सो कर सकते है।"

बूढ़ी ने कहा—"यह मैं मानती हूँ, कि संघ में बड़ी शक्ति होती है, किन्तु कुछ ही दिन को परिवर्तन हो सकता है, फिर वही ढर्रा चल पड़ेगा, एक बार ही सब कबूतर मिलकर जाल को लेकर भाग सकते हैं, किन्तु यह नियम नहीं बन सकता। बहे-लिया जाल में कबूतरों को फँसाते ही रहेंगे।"

युवती कबूतरी ने कहा—"दादी! यह बात मेरी बुद्धि में बैठती नहीं। यदि हम सब मिलकर अंडे देना बन्द कर दें तो फिर यह अन्याय हो ही नहीं सकता, न रहें बाँस न बाजे बाँसुरी।"

बूढ़ी ने कुटिल हँसी को दबाते हुए कहा—"बेटी! पहिले तू ही करके दिखा दे। यदि तुझे सफलता मिल गयी तो फिर सब ही ऐसा करेंगी।"

अभिमान के साथ युवती कबूतरी ने कहा—"दादी! तुम देख लेना, मैं इस अन्याय के सामने कभी सिर न झुकाऊँगी। मैं तो अब अंडे पैदा करूँगा नहीं।"

बुढ़िया ने कहा—"अच्छी बात है, हाँ क्यों दूसरों के लिये इतना क्लेश सहा जाय।" यह कहकर बुढ़िया मुस्करायी। उसी समय घर वाली बहुत से अंडे लेकर जाती हुई दिखायी दी युवती कबूतरी को बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा—"मैं अपनी चोंच,

-से इसकी आँखें फोड़ दूँ। इतने परिश्रम से पैदा किये हमारे अंडों को यह उठा ले जाती है अपना स्वार्थ साधता है।" किन्तु उसने कुछ सोचकर उस पर प्रहार नहीं किया।

वह उड़कर घर के पीछे गयी। देखा वहाँ सफेद-सफेद अंडों के बहुत छिलके पड़े हैं। कबूतरी का रक्त उबलने लगा। हाय! प्राणी कितना क्रूर है, इतने अंडों को उदरस्थ कर जाता है, दूसरा के घोर परिश्रम से अपने पापी पेट को भरता है स्वादेन्द्रिय को तृप्त करता है, वह बड़ी देर तक उन छिलकों के ढेर पर बैठी रोती रही। उसने अपनी प्रतिज्ञा को दुहराया, अब मैं जीवन में कभी अंडे उत्पन्न न करूँगी।"

एक दिन हुआ। दो दिन हुए। तीन दिन हुए। चौथे दिन वह प्रातःकाल सवेरे उठकर गयी। देखा काला कबूतर अपने गले को फुलाकर दाना चुग रहा है।

दूर से ही उसने पूछा—"कबूतर बाबू! क्या कर रहे हो?"

कबूतर ने कहा—"दाना चुग रहा हूँ, आ जा तू भी चुग ले।"

उसने कहा—"मैं तुम्हारे पास चुगने नहीं आती। तुम पेट के लिये पाप करते हो।"

कबूतर कुछ न बोला दाना चुगता ही रहा। फिर उसने कबूतरी को बुलाया। कबूतरी ने फिर भी मना कर दिया। अब कबूतर चुगते-चुगते कबूतरी की ओर जाने लगा। कबूतरी ने बहुत चाहा मैं उड़ जाऊँ किन्तु न जाने क्या सोचकर उड़ी नहीं। कबूतर समीप ही आ गया, एक बार कबूतरी ने पूरी शक्ति लगा कर प्रयत्न किया कि उड़ जायँ, किन्तु उसे ऐसा प्रतीत हुआ उसके पैर पृथ्वी पर चिपक गये हैं। कबूतर और भी सन्निकट आता गया यहाँ तक कि इतने समीप आया कि दोनों के पंख एक दूसरे को छू गये।

कई दिनों के पश्चात् उस कबूतरी ने ३-४ अंडे दिये। बुढ़िया

कबूतरी मुस्कराती हुई आयी और बोली—"बेटी ! बधाई, अब के तुमने बड़े सुन्दर चार अंडे दिये हैं।"

लजाते हुए कबूतरी ने कहा—"दादी ! किया क्या जाय, भगवान् की माया है, प्रारब्ध का खेल है, विवशता है, विधि का ऐसा ही विधान था।"

सूतजी शौनक मुनि से कह रहे हैं—"सो, महाराज ! संतान कोई अपनी इच्छा से थोड़े ही उत्पन्न कर सकता है, भगवान् की माया है, ईश्वर का खेल है, जगत्पति का नाटक है। हम सब उनके खिलौने, स्त्री पुरुष सभी उनकी इच्छा रूपी नाथ में नथे हुए हैं, वे जिधर घुमाना चाहते हैं उधर ही घूमना पड़ता है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! आप सत्य-सत्य कह रहे हैं। इसीलिये तो भगवान् ने गीता में कहा है—"कर्तुमिच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपितत्" यदि हम करना न भी चाहें तो ईश्वर की इच्छा के सम्मुख अवश होकर करना पड़ता है। अच्छा तो उस ब्राह्मणी का क्या हुआ उसने फल खाया या नहीं ?"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज ! वही तो मैं कह रहा था, उस स्त्री के भाग्य में पुत्र पैदा करना नहीं था इसीलिये वह ऐसी लम्बी-चौड़ी व्यर्थ की कल्पना करने लगी। उसने अपनी सहेली से कहा—"देख बहिन ! मान ले मैं गर्भ धारण किसी प्रकार कर भी लूँ, तो उन महात्मा ने सत्य बोलना, पवित्रता से रहना, बहुत न बोलना, सात्त्विक भोजन करना और न जाने कितने नियम बताये हैं, बीर ! मुझसे तो ये नियम निभने के नहीं। मैंने तो कभी ऐसा आचार-विचार किया नहीं। फिर सन्तान होने में तो जो कष्ट होता है सो होता ही है, उसके पालन-पोषण में महान् कष्ट सदा उसे गोदी में लिये फिरो साथ लेकर सोओ जाड़े के दिन हैं बिस्तर में ही मल-मूत्र कर देता है, उसी पर

सोना पड़ता है, भोजन कर रहे हैं साड़ी पर ही मल-मूत्र कर दिया। कितनी घृणा की बात है पुत्रवती स्त्री को ये विपत्तियाँ पग-पग पर उठानी पड़ती हैं, इसी कारण मैं वन्ध्या अथवा विधवा स्त्री को अच्छी मानती हूँ न उधो का लेना न माधो का देना, तान दुपट्टा सोना।" न किसी का मल उठाना पड़े न मूत्र धोना पड़े अपनी नींद सोए अपनी नींद जागे।"

सहेली ने कहा—"अच्छी बात है, तुम्हें झंझट प्रतीत हो, अनुकूल न पड़े तो मत खाना।"

धुन्धुली ने धीरे से कहा—"बहिन! तुझे मेरी शपथ है। भूल में भी इस बात को किसी से कहना नहीं।"

सहेली ने कहा—"मुझे क्या पड़ी है किसी से कहूँ। तू मेरी ओर से निश्चित रहना, कभी तू सुन ले तब कहना।"

यह कहकर वह अपने घर चली गयी। रात्रि में बाहर से लौटकर उसका पति आया, आते ही उसने पूछा—"क्यों वह जो महात्मा का प्रसादी फल था, वह तुमने खाया या नहीं।"

स्त्री ने सरलता से कहा—"हाँ जी, मैंने खा लिया।"

ब्राह्मण ने पूछा—"कैसा था?"

स्त्री ने कहा—"अच्छा ही था, स्वाद बुरा नहीं था।"

पति से तो उसने कह दिया, मैंने फल खा लिया, किन्तु वास्तव में उसने फल को छिपाकर रख दिया था उसे बड़ी चिन्ता हुई। मैंने कह तो दिया, खा लिया, किन्तु मेरे गर्भ न रहा तो ये फिर उस संन्यासी को पकड़ेंगे। कोई तन्त्र-मन्त्र गन्डा लावेंगे। साधु यदि सिद्ध हुआ तो समझ लेगा मैंने नहीं खाया फिर वह स्वयं अपने आप आकर खिलावेगा, जिस झंझट से बचना चाहती हूँ, वह फिर मेरे पल्ले पड़ जायगा। उसे यही चिन्ता लगी रही।"

दूसरे दिन संयोग से उसकी छोटी बहिन उससे मिलने

आयी। उसका भी घर उसी मुहल्ले में उसके समीप ही था। उसके कई संतानें थीं। पहिले तो उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी अब बहुत ही बिगड़ गयी। भरपेट भोजन भी नहीं मिलता था। उसका पति कुछ काम भी नहीं करता था। बड़ी बहिन के पास इसी आशा से बार-बार आती, कुछ मिल जाय। यह भी बहिन के नाते उसे कुछ दे देती थी। आज जब वह आई तो इसे उदास बैठे देखा। उसने पूछा—"जीजी! आज उदास कैसे हो। जीजाजी ने कुछ कह दिया क्या?"

उसने कहा—"अरी, तेरे जीजा तो देवता हैं, वे तो कुछ कहना जानते ही नहीं। एक झंझट कल से मेरे पीछे और लग गया है। किसी से कहे नहीं तो तुझे बताऊँ।"

उसकी बहिन ने कहा—"हाय जीजी! तुम मेरे ऊपर इतना भी विश्वास नहीं करती। यदि कभी किसी के मुख से सुन लो, तो मुझे जीवित ही कुत्तों से नुचवा लेना।"

धुन्धुली ने कहा—"नहीं, अविश्वास की कोई बात नहीं। तू तो मेरी बहिन ही है, तुझसे भी अपने दुख-सुख की बात न कहूँगी तो किससे कहूँगी। देख, तेरे जीजा को सन्तान की बड़ी धुन सवार है। उसके लिये उन्होंने क्या नहीं किया घर का सब धन नष्ट कर दिया, वैद्य चिकित्सकों, ओझा, और ज्योतिषियों का घर भर दिया। नित्य दान दक्षिणा देते ही रहते हैं। अब किसी साधु के चक्कर में पड़ गये हैं, उसने एक फल दिया है। कल कह गये थे, इसे अवश्य खा लेना। आकर पूछा भी-खा लिया न? मैंने झूठे ही कह भी दिया—"हाँ खा लिया।"

कहते तो मैं कह गयी, अब सोचती हूँ, मेरे सन्तान न हुई, तो मैं क्या कहूँगी, फिर कोई प्रयोग करवाया तो मैं कहीं की भी न रहूँगी, मुझे प्रसव पीड़ा से बड़ा भय लगता है। मरना तो स्वीकार है, किन्तु वह दुर्दशा मुझसे न सही जायगी। इसी सोच

मे मैं कल से पड़ी हूँ। मुझे भोजन पान कुछ भी नहीं भाता। कल से मैंने भोजन की कौन कहे जल भी नहीं पिया।"

बहिन ने कहा—"इसी से तुम्हारा मुख मुरझा गया है, ऐसी लगती हो जाने कब से रोगिणी हो। तुम चिन्ता मत करो, इसका उपाय मैं करूँगी, मैं ऐसा उपाय बताऊँगी कि "साँप मरे न लाठी टूटे।"

धुन्धुली ने कहा—"ऐसा कौन-सा वह उपाय है उसे शीघ्रता से मुझे बता।"

बहिन बोली—"मैं स्वयं गर्भवती हूँ। डेढ़ दो महीने का मेरा गर्भ है, बच्चा पैदा होने का समय जब आवेगा मैं तुम्हारे घर आऊँगी। बच्चा होते ही तुरन्त उसे तुम्हें दे दूँगी।"

धुन्धुली ने कहा—"यह तो तैंने अच्छी बात सोची, किन्तु तेरा पति पूछेगा तो क्या कहेगी?"

उसने उपेक्षा के स्वर में कहा—"पुरुष इन बातों की बहुत छान बीन नहीं किया करते। छः महीने पश्चात् मैं कह दूँगी, मेरा गर्भ गिर गया। फिर तुम्हारे घर आ जाऊँगी, कह दूँगी मेरी बहिन के घर में कोई नहीं है उसके बच्चा होने वाला है, घर का काम मुझे देखना है। दो महीने यहाँ रह जाऊँगी।"

धुन्धुली ने कहा—"वे कुछ आपत्ति तो न करेंगे।"

उसने धीरे से उनके कान में कहा—"जीजी! रुपये की मार ऐसी होती है, कि सब आपत्तियाँ टल जाती हैं, जहाँ मुट्ठी गरम हुई नहीं कि सब मार्ग सुलभ हो जाते हैं। तू उन्हें चुपके से कुछ धन दे देना। सब बात अपने आप बन जायँगी।"

धुन्धुली ने कहा—"भगवान् की दया से रुपयों की तो कमी नहीं। तू जितना चाहे धन ले जा, किन्तु बात खुलने न पावे।"

बहिन ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"जीजी! तुम विश्वास रखो

यह काम मेरे ऊपर छोड़ दो, किन्तु एक काम तुम्हें भी करना होगा।"

धुन्धुली ने पूछा—"वह कौन-सा ?"

हँसते हुए उसकी बहिन ने कहा—"जीजा जी को किसी भी प्रकार संदेह न होने पावे कि तुझे गर्भ नहीं है।"

उसने हँसी रोककर कहा—"चल, हट पगली ! उस सब की व्यवस्था मैं कर लूँगी। तुझे यह शिक्षा मुझे न देनी होगी, तो मैं कुछ दिनों पश्चात् उनसे कह दूँ मुझे गर्भ के लक्षण दिखायी देने लगे हैं।"

बहिन ने कहा—"हाँ, तुम निश्चिन्त होकर दृढ़ता के साथ उनसे कह दो। मैं तुम्हारा सब काम करूँगी।"

कुछ द्रव्य उसके हाथ में थमाती हुई धुन्धुली बोली—"यह अभी लेती जा, फिर जब-जब और आवश्यकता होगी तब-तब और भी मैं देती रहूँगी किन्तु हाँ, एक बात तो बता, इस फल का क्या करूँ ?"

यह सुनकर उसकी बहिन कुछ देर सोच में पड़ गयी। फिर सोचकर बोली—"मेरे विचार से तो तुम इस फल को अपनी गौ को खिलादो। तुम्हारी गौ के भी कभी बच्चा नहीं होता, यदि इस फल में यथार्थ में कुछ तत्व होगा, तो गौ बच्चा देगी, घर में दूध हो जायगा फल की भी परीक्षा हो जायगी।"

धुन्धुली ने कहा—"तू तो बुद्धि की पिटारी है कैसी-कैसी सुन्दर युक्ति तू बताती है। तू न होती तो मैं आज सोच के मारे ही मर जाती। अच्छा मैं यही करूँगी।"

सूतजी कहते हैं—"महाराज, इन स्त्रियों की बुद्धि को ब्रह्मा बाबा भी नहीं पा सकते। पुरुषों के भाग्य को तो भले ही कोई बड़ा भारी ज्योतिषी समझले किन्तु त्रिया चरित्र को समझना तो विधाता की भी बुद्धि के बाहर की बात है।"

शौनकजी ने कहा—"महाराज, अच्छे बुरे सभी में होते हैं, पुरुष भी तो बड़े मायावी होते हैं। स्त्रियों में भी बहुत सी सती साध्वी भोली भाली कपट रहित होती हैं। कपट और क्रूरता किसी एक के भाग्य में नहीं आ गयी है। हाँ तो फिर आगे क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"आगे जो होना था वही हुआ शरीर सुख की इच्छा और धन की गरमी जो भी चाहे पाप करा सकती है। धुन्धुली ने अपनी बहिन की बात मान ली। ब्राह्मण से कुछ काल में कह दिया मेरे गर्भ रह गया है।"

इधर उसकी बहिन ने अपने पति से सम्मति की। उसका पति भी धन के लोभ में आ गया, उसने कहा—"उसके घर में तुम पुत्र पैदा करोगी, तो बात खुल जायगी। नौकरानी धाय तथा दूसरी स्त्रियाँ जान जायँगी। बच्चा यहीं पैदा हो, मैं चुपके से जाकर उसे दे आऊँगा।"

यही सम्मति तीनों ने स्वीकार कर ली। ६ महीने पश्चात् उसकी बहिन ने झूठे ही प्रवाद फैला दिया मेरा ६ महीने का गर्भ गिर गया है, इधर धुन्धुली पेट में रुई के बहुत से कपड़े बाँधे रहती और अपने को गर्भवती प्रकट करती रहती।

एक दिन रात्रि में उसकी बहिन ने एक लड़का उत्पन्न किया उसका पति पहिले ही कह गया था, किवाड़ खुली रखें। चुपके से आकर लड़के को धुन्धुली के पास रखकर चला गया। बच्चा रोने लगा। सर्वत्र हल्ला मच गया आत्मदेव के पुत्र हुआ है, पीछे स्वस्थ होने पर उसकी बहिन भी आ गयी। उसने सब बात सम्हाल ली।

आत्मदेव ने जब सुना कि बिना किसी कष्ट के उसकी स्त्री ने एक पुत्र प्रसव किया है, तो उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। द्वार पर नौबत तथा बाजे बजने लगे सोहर के गीत गाये जाने

लगे। समस्त मङ्गल कृत्य हुए। समस्त जाति वालों ने तथा सगे सम्बन्धी और ग्रामवासी नर नारियों ने आकर बधाइयाँ दी। सभी आनन्द में विभोर हो गये। आत्मदेव ने भी हृदय खोलकर सबको यथायोग्य दान दक्षिणा दी। योग्य ब्राह्मणों के साथ उन्होंने बालक के जातकर्म संस्कार किये पितरों के निमित्त श्राद्ध किये।"

धुन्धुली ने अपने पति से कहा—"बच्चा तो हुआ किन्तु अब क्या किया जाय, मेरे स्तनों में तो दूध नहीं।"

चिन्ता के स्वर में ब्राह्मण ने पूछा—"तब फिर कौन-सा उपाय हो, कोई धाय लगा लो।"

धुन्धुली ने कहा—"मेरी बहन का ६ महीने का गर्भ गया है, यदि उससे काम चल जाय तो देखूँगी। नहीं दूसरे किसी के दूध से तो पालन होना कठिन है।"

ब्राह्मण ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"यह और भी अच्छी बात है, घर की बात घर में ही रहेगी, तुम अपनी बहिन से सम्मति कर लेना और उचित समझो तो उसे यहीं रख लेना।"

पति की आज्ञा मिलने पर धुन्धुली ने अपनी बहिन को रख लिया, वह उसे सुखपूर्वक दूध पिलाने लगी। दश दिन के पश्चात् बच्चे का नाम करण संस्कार हुआ। पंडित ने तो कुछ और नाम रखा, किन्तु धुन्धुली ने कहा—"मैं तो अपने ही नाम पर बच्चे का नाम रखूँगी। मेरा नाम धुन्धुली मेरे बच्चे का नाम धुन्धुकारी।"

कहावत है, "नाम घर से ही प्रसिद्ध होता है।" घर के लोग बच्चे को जिस नाम से पुकारते हैं दूसरे भी उसी नाम से पुकारने लगते हैं, अब सभी लोग उसे धुन्धुकारी ही कहने लगे। आत्मदेव ब्राह्मण का पुत्र कहलाया धुन्धुकारी।"

इधर तीन महीने पश्चात् गौ ने भी एक बालक को जन्म

दिया। उसके सभी अंग मनुष्यों के जैसे थे केवल कान ही गौ के-से थे। यह देखकर ब्राह्मण को परम हर्ष हुआ। बालक देखने में देवकुमार के सदृश सुन्दर मनोहर और आकर्षक था। उसका गौर वर्ण था, कमल के समान बड़े-बड़े विकसित नेत्र थे तपे हुए सुवर्ण के समान उसके शरीर की कान्ति थी। इस आश्चर्य को देखने सहस्रों लोग आने लगे। सब कौतूहल के साथ कहने लगे—"हमने तो ऐसा आश्चर्य न कभी सुना न देखा। गौ के पेट से मानव बाल उत्पन्न हो। पहिले सुना था, विभांडक मुनि का पुत्र शृङ्गी, हरिणी के पेट से उत्पन्न हुआ था, किन्तु गौ ने इस देवकुमार को कैसे जन्म दिया।" कोई कहते हैं—"अब पंडित आत्मदेव जी का भाग्योदय हुआ है, स्त्री ने भी पुत्र उत्पन्न किया और गौमाता के उदर से भी देवतुल्य पुत्र रत्न पैदा हुआ। ब्राह्मण ने उसे अपना पुत्र मानकर ही उसके सभी संस्कार कराये। गो के सदृश कर्ण होने से ब्राह्मण ने उसका नाम गोकर्ण रखा।

गोकर्ण अपनी माता गौ का ही दूध पीता और शान्तभाव से बैठा रहता। उसे लोग देखते के देखते ही रह जाते। देखने में वह ऋषि कुमारों की भाँति शांत, दांत, गम्भीर और प्रभावशाली था। शनैः-शनैः दोनों कुमार बढ़ने लगे। ब्राह्मण ने समय पर दोनों का अक्षरारम्भ वेदारम्भ संस्कार कराया। गोकर्ण तो जिस बात को एक बार सुन लेता उसे तुरन्त कण्ठस्थ कर लेता, किन्तु धुन्धुकारी को कभी याद ही नहीं होता था। २४ अक्षरों का गायत्री मन्त्र वह पूरा याद ही न कर सका। गोकर्ण तो कुछ ही दिनों में सर्व शास्त्रों का पूरा पंडित बन गया, किन्तु धुन्धुकारी मूर्ख का मूर्ख ही बना रहा। उसके आचरण भी अच्छे नहीं थे। नीच लड़कों का सदा संग करता, माता-पिता को सदा गाली देता, माता से सदा द्रव्य माँगता रहता, वह न देती तो उससे

झगड़ा करता, उसे मारता पीटता। ब्राह्मण को जो वस्तु न खानी चाहिये उसे खाता, जो वस्तु न पीना चाहिये उसे पीता और जो कुकर्म न करना चाहिये वह करता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अधिक क्या कहें उन दोनों भाइयों में आकाश पाताल का अन्तर था गोकर्ण सदा सदाचारी पंडित, विद्वान् तथा शुभ कर्म करने वाला था, तथा धुन्धुकारी दुराचारी, मूर्ख, व्यसनी और दुष्कर्म करने वाला था। युवावस्था आने पर तो उसका उपद्रव सीमा को उल्लंघन कर गया। वह कभी स्नान नहीं करता, सन्ध्यावन्दन तथा अन्य ब्राह्मणोचित कर्म तो दूर की बात है, सदाचार का पालन वह कभी नहीं करता था। वह नीच पुरुषों का साथ करने लगा, उनके साथ मांस मछली खाने लगा। तब उसके साथियों ने उसे सुरापान का भी व्यसनी बना दिया। सुरापान करके घर में आवे। अंड-बंड की बातें बके माता को मारे। घर से चुराकर धन ले जाय। बात-बात पर क्रोध करे। लोग ब्राह्मण समझकर उसे दान देते। वह सबके यहाँ से सब तरह का दान ले आवे। कोई शनि, राहु केतु का दान करें उसे भी ले आवे। मृतक के हाथ से जो महापात्र दान लेते हैं उसे भी ले आवे मृतक शरीर के सम्मुख कोई खिलावे वहीं खा ले। सुरापान को वैसे धन न मिले तो चोरी कर लावे। द्यूतक्रीड़ा करने लगा, कोई कुछ कह देते अमुक के घर में आग लगा आओ, तो वहाँ आग लगा आवे। कोई कुछ देकर कहते अमुक की हत्या कर दो तो उसकी हत्या कर आवे। बच्चों को उठा ले जाय और कूएं में फेंक आवे। चांडाल हाथ में पाश लेकर पशु-पक्षियों को मारने जाते तो उनके ही साथ चला जाता, पशु-पक्षियों को मार लाता, कच्चा ही मांस खा लेता। चांडालों के साथ रहता उन्हीं के साथ भोजन करता। वेश्याओं के यहाँ भी जाने लगा। वेश्यायें धन माँगतीं, तो घर से चुरा-चुराकर सब

धन ले जाता और उन्हें दे आता। माता का जो भी आभूषण मिलता उसे ही वेश्याओं को दे आता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने पुत्र के ऐसे कुकृत्य देखकर आत्मदेव को बड़ी ग्लानि हुई। उसे संसार से वैराग्य हो गया। संसार में कुपुत्र के कारण पिता को जितना कष्ट होता है, उसे पिता ही समझ सकता है। अब आत्मदेव वैराग्य के कारण जैसे घर का त्याग करेंगे उस पुण्य प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

फल लै द्विज घर आइ नारिकूँ ताहि दिखायो।
कह्यो—सुघर सुत होहि अबहिं यदि जाकूँ खाओ॥
पतिनी सोचे—नियम, शौच, व्रत करि न सकुन्नी।
कैसे हौं सुकुमारि गरभ के दुःख सहुन्नी॥
बहिन कह्यो—फल धेनु कूँ, देउ, कहो—हौं गरभिनी।
होवै शिशु मम गरभ तैं, देउँ करौ मम पति धनी॥

धुन्धुकारी के कुकृत्यों से आत्मदेव का गृहत्याग

(१४)

कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात् ।
निर्विद्येत् गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः ॥❀

(श्री भा० ४ स्क० १३ अ० ४६ श्लोक)

छप्पय

मानि बहिन की बात दिव्य फल धेनु खवायो ।
सुत भगिनी ने जन्यो ताहि निज पुत्र बतायो ॥
धुन्धुकारि धरि नाम महोत्सव सबनि मनायो ।
परम सुघर गोकरन पुत्र गैया ने जायो ॥
जप तप संयम व्रत निरत, गुन सागर गोकरन अति ।
धुन्धुकारि क्रोधी कुटिल, हिंसक द्वेषी पापमति ॥

बन्धन होता है प्रियता के कारण, वैराग्य होता है विरक्ति के कारण-सम्बन्ध को सारहीन दुःख हेतु समझने के कारण। संसार में स्त्री, पुत्र, परिवार तथा धन वैभव ये ही सुख के कारण माने

❀ महाराज अंग अपने दुष्ट पुत्र के कुकृत्यों से दुखी होकर कह रहे हैं"—जो सुपुत्र शोक से सदा आकुल बनाये रखे उसकी अपेक्षा मैं उस कुपुत्र को अच्छा मानता हूँ जिससे यह घर दुःखमय दिखायी दे, जिसके कारण पुरुष के हृदय में वैराग्य हो जाय।"

जाते हैं। स्त्री सुन्दरी हो, सरल स्वभाव की आज्ञाकारिणी, मनोनुकूल कार्य करने वाली हो तो उसमें अधिकाधिक ममता बढ़ेगी, उसका क्षण भर का दुःख असह्य हो उठेगा, यदि उसे कोई रोग हो गया तो निरन्तर चित्त में शोक ही बना रहेगा, किसी कारण से उसका चिर वियोग हो गया तब तो प्राणान्तक ही कष्ट होता है, यही बात पुत्र, कुटुम्बी और धन के सम्बन्ध में भी है, पुत्र योग्य हुआ आज्ञाकारी हुआ, तो सदा उसके सुख की ही चिन्ता लगी रहती है। तनिक से उसके सिर दुखने पर अपने सम्पूर्ण शरीर में हृदय में पीड़ा होने लगती है।

इसके विपरीत जिस स्त्री के लिये कमाते रहते हैं, जिस पुत्र की चिन्ता में दिन-रात्रि एक करके भले बुरे कार्य करके धन लाते हैं, उसे खिलाते हैं स्वयं चाहे भूखे ही रहना पड़े, उसे सुख पहुँचाते हैं, स्वयं चाहे कष्ट ही क्यों न सहना पड़े, वे ही जब अयोग्य निकल जाते हैं, शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा देते रहते हैं तो भाग्यशालियों को ऐसे स्त्री-पुत्रों के कारण संसार से वैराग्य हो जाता है, वे स्त्री-पुत्र ही उनके वैराग्य का हेतु बन जाते हैं।

जितने भी संत महापुरुष तथा प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं, उनमें अधिकांश को शत्रु रूप में आये हुए इन कुटुम्बियों के कारण ही वैराग्य हुआ है। एक संत की स्त्री बड़ी ही कर्कशा थी, जब वह उनको अत्यधिक कष्ट देती और उन्हें भली बुरी कहती, तब वे भगवान् का धन्यवाद करते और कहते—"देवि ! तुम न होती तो मुझे इस प्रकार सर्वथा संसार की निस्सारता का स्मरण कौन दिलाता रहता। एक संत की स्त्री इतनी कर्कशा थी, कि एक दिन वे ईख का गट्ठर लाये। मार्ग में बहुत से बच्चे मिले सबने ईख माँगी। संत बालरूप में क्रीड़ा करते गोपाल को मना कैसे करते। सब गन्ने बाँट दिये। एक बचा उसे ही घर लेकर आये। उनकी स्त्री ने जब सुना तो उस गन्ने को लेकर उनकी पीठ में पूरी शक्ति

से मारा, उसके दो टुकड़े हो गये। सन्त ने कहा—"पत्नी हो तो ऐसी हो, मैं एक गन्ना लाया, उसने धर्मपूर्वक एक के दो कर दिये।"

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि उनकी स्त्री सदा उन्हें क्लेश ही पहुँचाती रहती, इससे उन्हें निरंतर संसार की निस्सारता का बोध होता रहता। दुष्टा स्त्री, कलह करने वाला कुपुत्र तथा मित्र रूप में शत्रु बने सम्बन्धी हमें संसार से वैराग्य कराने आते हैं, फिर भी अभागे लोगों को वैराग्य नहीं होता, उसी कीचड़ में फँसे रहते हैं। सब कुछ सहते हुए भी विष्ठा के कीड़ा के सदृश उसी में कुल-बुलाते रहते हैं, कोई-कोई भाग्यशाली इससे पृथक् भी हो जाते हैं। वेन की दुष्टता के कारण महाराज अङ्ग राज्य छोड़कर विरागी बन गये। विदुर जी अपने भतीजों के अन्याय से दुखी होकर घर त्यागकर तीर्थयात्री हो गये। कैकेयी की कुटिलता के कारण महाराज दशरथ परलोकवासी हुए। आधुनिक युग के बहुत से सन्त घर से तिरस्कृत होकर भगवान् की भक्ति की ओर बढ़े। कुपुत्र का होना भी अच्छा है यदि उसकी कुटिलता और कुकृत्यों के कारण संसार से वैराग्य हो जाय तो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धुन्धुकारी के कुकृत्यों से विप्रवर आत्मदेव को बड़ा ही मानसिक दुःख हुआ। वे सोचने लगे—"महात्मा संन्यासी सत्य ही कहते थे, कि पुत्र से संसार में सुख किसे हुआ है-तू इस पुत्र प्राप्ति की वासना को छोड़ दे।" किन्तु उस समय मेरी बुद्धि इतनी विक्षिप्त हो गयी थी, कि त्रिकालदर्शी महात्मा की ये यथार्थ सत्य बातें मेरी बुद्धि में बैठी नहीं। हाय! इतना दान पुण्य मैंने ऐसे ही क्रूर पुत्र के कारण किया। जो म्लेच्छों के साथ निरंतर पशुवध करता है, भक्षाभक्ष्य खाता है, बड़े से बड़ा कुकर्म महापाप से भी बड़ा महापाप करने में लजाता

नहीं। ऐसे पुत्र को पुत्र कहना उसका मुख देखना भी पाप है। कहाँ मेरे पास अटूट धन था। इस दुष्ट के कारण आज विष खाने को भी फूटी कौड़ी नहीं। जब चाहे तब मुझ पर, अपनी माँ पर हाथ चला देता है। घर के लत्ते कपड़े, बर्तन भाँड़े सभी तो इसने बेच डाले। अब घर में रहा ही क्या? अब इस धनहीन आचारहीन, स्नेहहीन, तथा सम्मान विहीन घर मे रहकर करूँगा क्या। इससे तो यही अच्छा था मेरे पुत्र होता ही नहीं, इस समय ये क्लेश तो न सहने पड़ते। आज मुझे दाने-दाने को द्वार-द्वार तो भटकना न पड़ता। संसार में सम्पूर्ण दुःख एक ओर और कुपुत्र का दुःख एक ओर। मैं समझता हूँ, कुपुत्र का दुःख अन्य सभी दुःखों से भारी ही पड़ेगा। अब मेरे लिये रहने का कोई स्थान नहीं, किसी को मुँह नहीं दिखा सकता। दस आदमियों के समाज में जा नहीं सकता। सब मुझे देखकर थूकते हैं, उँगली उठाते हैं कि यही दुष्ट धुन्धुकारी का अभागा पिता है। कैसा अप्रत्याशित दुःख मेरे ऊपर आ पड़ा। इस दुःख से मुझे कौन दूर करेगा? कौन पुण्य पथ बतावेगा, कौन मुझे सत्य मार्ग बतावेगा, कौन मुझे इस भारी विपत्ति से छुड़ावेगा, कौन मुझे अपना कहकर अपनावेगा, कौन मुझ अभागे के दुःख को देखकर आँसू बहावेगा।" ऐसा सोचकर आत्मदेव फूट-फूटकर रोने लगा। उसके हृदय का सम्पूर्ण दुःख असह्य वेदनाकी आँच से पिघलकर नेत्रों के द्वार से निकलने लगा। उसी समय संयोग से घूमते घामते गोकर्ण वहाँ आ पहुँचा। अपने पिता को एकान्त में इस प्रकार फूट-फूटकर रोते देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ। वह सभी कारण समझ गया और अत्यन्त ही प्रेम भरी वाणी में पिता को समझाते हुए बोला—"पिताजी! आप इस प्रकार क्यों रो रहे हैं?"

आँसू पोंछते हुए आत्मदेव ने कहा—"बेटा! अपने दुर्भाग्य

को रो रहा हूँ, क्या सोचा था, क्या हो गया ?"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! संसार की गति ऐसी ही है। मनुष्य करता है सुख के लिये उससे होता है दुःख। घर बनाता है सुख के लिये किन्तु उसकी स्वच्छता, सजाना देखरेख की नूतन चिन्ता और लग जाती है, यदि वह कहीं से टूटता है, तो ऐसा लगता है मानों हृदय ही टूट रहा हो। वस्तुओं को एकत्रित करता है सुख के निमित्त उनसे सुख मिल ही कैसे सकता है ? इन संसारी वस्तुओं में कुछ भी सार नहीं।"

आत्मदेव ने पूछा—"सार किस वस्तु में है, बेटा ?"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! सार तो भगवान् के नाम में है। भगवान् के अतिरिक्त संसार में कोई सार नहीं। यह संसार तो दुःख का आलय है मोह का जनक है, प्राणियों का जीवन धुनी रुई के सदृश है, तनिक-सी चिनगारी लगी, फुर्र से जल गया। मनुष्य ममता रूपी रगड़ से इसकी बत्ती बना लेता है, स्त्री पुत्र परिवार की आसक्ति रूप तेल में डुबोकर गृहस्थ रूपी दीपक में ममता रूपी अग्नि से जलता रहता है। जब तक स्नेह है-तेल है-तब तक यह जलता रहेगा। स्नेह के बिना चिरकाल तक जलन नहीं हो सकती। स्नेहवान् ही जलता रहता है। इस गृहस्थाश्रम में सुख कहाँ है ?"

आत्मदेव ने कहा—"बेटा ! जिनके पास अटूट धन होगा, विपुल मात्रा में भोग सामग्रियाँ होंगी, सभी जिनकी आज्ञा में चलते होंगे, तो उनको तो सुख होता होगा ?"

गोकर्ण बोले—"पिताजी ! मैंने तो कह दिया केले के पेड़ के जिस परत को उधेड़िये उसके भीतर खोखलापन ही मिलेगा। एक के पश्चात् दूसरा कोमल भले ही मिले, किन्तु अन्त में उसमें कुछ सार नहीं निकलेगा। चक्रवर्ती राजा भी सदा चिन्ता में मग्न रहता है। उसकी बात छोड़िये जो इन्द्र तीनों लोकों का

राजा है, समस्त देवताओं का अधीश्वर है, वह भी सदा अपने पद की रक्षा के लिये कितना चिन्तित रहता है, सदा दीन हीन की भाँति आशा लगाये रहता है, किसी को उग्र तपस्या करते देखकर ही व्यग्र हो उठता है, कहीं यह मेरा इन्द्रासन न छीन ले। उसे भी कभी असुर स्वर्ग से मार भगाते हैं। अपने पतन की चिन्ता उसे आठों पहर लगी रहती है। वह तो साधारण लोगों से भी अधिक दुखी है।"

आत्मदेव ने पूछा—"जब चक्रवर्ती राजा को, देवराज इन्द्र को भी सुख नहीं तो वास्तविक सुख किसे है?"

गोकर्ण ने कहा—"वास्तविक सुख पिताजी! उसे है जिसे संसार की किसी भी वस्तु की चाह नहीं। जिसका मन संसारी सभी भोगों से विरत हो गया है, जिसे भगवत् भजन को छोड़कर दूसरी कोई आकांक्षा ही नहीं।" जिसे आकांक्षा है, इच्छा है, भोगों में आसक्ति है, उसे तो दुःख उठाना ही पड़ेगा। बबूर के बीज बोकर उन्हें पानी से सींचते रहने पर तो काँटे वाले वृक्ष पैदा होंगे ही।"

आत्मदेव ने कहा—"तब अब मैं क्या करूँ?"

गोकर्ण ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"पिताजी! आप इस पुत्र मोह रूप अज्ञान को छोड़िये। कौन किसका पिता कौन किसका पुत्र? सब स्वारथ के सम्बन्ध हैं आपने पुत्र का सुख देख ही लिया। इसी प्रकार स्त्री, भाई तथा सभी सगे सम्बन्धियों का है। बहुत हो गया अब एकान्त में जाकर भगवान् का भजन करें। यदि अब भी आप इस पुत्र-स्त्री के मोह में फँसे रहे तो इसका परिणाम तो नरक ही है। स्त्री पुत्रों से एक दिन तो अवश्य ही वियोग होगा, या तो ये ही हमें छोड़कर चले जाते हैं या हमें ही इन्हें छोड़ना पड़ता है। ये तो दूर के हैं जिस शरीर की इतनी चिन्ता रखते हैं, जिसे पाल पोसकर इतना पुष्ट करते

हैं, वह भी एक दिन नष्ट हो जाता है, हमें छोड़ देता है, जब एक दिन ये सब छोड़ने ही हैं, तो अभी से अपने आप इनकी ममता क्यों न छोड़ दें। विवशता से छोड़ने पर कष्ट होता है, स्वेच्छा से छोड़ने पर सुख होता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने ज्ञानी ध्यानी सदाचारी युवक पुत्र के मुख से ऐसी वैराग्य की बातें सुनकर आत्मदेव के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा उसका अज्ञान दूर हो गया, घर की ममता हट गयी, वे तुरन्त ही—उसी क्षण—वन को जाने को तैयार हो गये। उन्होंने आँखों में आँसू भरकर कहा—"बेटा! मैं तुम्हारे उपदेश से वन में जा रहा हूँ, अब कभी इस घर में लौट कर नहीं आऊँगा, तुम ऐसा आशीर्वाद दो मेरा चित्त भगवान् में लगे।"

रोते-रोते गोकर्ण ने कहा—"पिताजी! आप कैसी उलटी बातें कह रहे हैं। आशीर्वाद तो आपको देना चाहिये। उपदेश देने का मुझे क्या अधिकार है, मैंने तो शास्त्रों के वचनों को दुहरा दिया है। आपने भी ये सब बातें सुनी थीं, केवल आपको स्मरण करा दी हैं।"

आत्मदेव ने कहा—"अच्छा बेटा! तुमने मेरा बड़ा उपकार किया, अब तुम मुझे यह और बता दो कि वन में जाकर मैं कौन-कौन-सा कार्य करूँ? अपनी मूर्खता के कारण ही मैं इस कीचड़ में अब तक फँसा रहा, अपनी शठता के कारण ही इन दुखों को सहता रहा, अपने अज्ञान से ही इस मोह रूपी रस्सी में जकड़ा रहा, ज्ञान नेत्रों के अभाव से ही इस अन्ध-कूप में पड़ा रहा। तुमने इस पंगु को हाथ पकड़ कर अज्ञान कूप से बाहर कर दिया है। दयावश ही तुमने मेरा उद्धार कर दिया। अब मुझे वन में जाकर अपने कर्तव्यों को और बता दो। हे दयानिधे! मुझे सुगम मार्ग दिखा दो।"

गोकर्ण ने गम्भीरता के साथ कहा—"पिताजी ! वन में जाकर पहिले तो आपको किसी पुण्य प्रदेश में पावन सरिता के समीप निवास करना चाहिये। भगवत् पूजन और नियमित पाठ की आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य कुछ संग्रह नहीं करना चाहिये। संसारी लोगों से विशेष संसर्ग और सम्पर्क न रखना चाहिये।"

आत्मदेव ने कहा—"बेटा ! यह तो तुमने "रहनी" बतायी, अब करनी और बता दो।"

गोकर्ण ने कहा—"दस इन्द्रियाँ हैं, इसलिये दस ही काम करना चाहिये। वन में वास करने वाले कल्याण इच्छुक एकान्तवासी मुनि को इस दस सूत्रीय कार्य क्रम को ही अपना लेना चाहिए। उसको मैं संक्षेप से बताता हूँ।"

१—बन्धन का मुख्य कारण है, मैं और मेरापन अहंता तो होती है शरीर में, ममता होती है उसमें जिसे अपना मान लिया जाय। वास्तव में देखा जाय, तो न कुछ मैं ही हूँ न कुछ मेरा ही है। सब कुछ भगवान् की सामग्री है, भगवान् ही खेल कर रहे हैं। जैसे शतरंज खेलने वाले किसी का नाम घोड़ा किसी का नाम राजा किसी का ऊँट किसी का मंत्री रख देते हैं। जब खेलना हुआ फैला कर खेलने लगे। इच्छा हुई तब समेट कर रख दिये। हमने व्यर्थ ही शरीर में अहंकार स्थापित कर रखा है। अब देखना है जिसे हम मैं-मैं करके नित्य चिल्लाते रहते हैं यह मैं है क्या ? मैं अजा करती है। अजा का अर्थ माया है। इस शरीर को ही मैं कहते हैं न ? इस शरीर में क्या है हड्डियों का एक ढांचा है मांस चिपका दिया है नस नाड़ियों से बाँध दिया है रक्त का उस में संचार कर दिया है ऊपर चर्म से ढक दिया है। इसे ही अज्ञान वश मैं कहने लगे हैं। सर्वप्रथम तो इसमें "मैंपन छोड़कर" इसके यथार्थ रूप

का स्मरण करते रहें। सोचिये यह पंचभूतों का पुतला है एक दिन नष्ट हो जायगा मेरा इससे कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं। जैसे मार्ग चलते-चलते कोई किसी धर्मशाला मे विश्राम करने बैठ जाते हैं वैसे ही साधन भजन के लिये हमने इसे कुछ समय को अपना लिया है।"

आत्मदेव ने कहा—"मैं समझ गया सर्वप्रथम तो अहंता का-शरीर मेरा है मेरा ही रहेगा इस मैंपने का-त्याग। अब दूसरा सूत्र कौन-सा है ?"

गोकर्ण ने कहा—"दूसरा सूत्र है मेरे पन का त्याग। हमने घर बनाया, कहने लगे मेरा घर। कहीं से एक स्त्री ले आये कहने लगे मेरी स्त्री, एक बच्चा हो गया कहने लगे—मेरा पुत्र। कहीं से कुछ धन मिल गया कहने लगे—मेरा धन उससे एक रथ दो घोड़े ले आये कहने लगे—मेरा रथ मेरा घोड़ा। "सारांश यह है, जिसमें भी ममत्व हो उसे अपना न समझना आप कहोगे—मैं तो सबको छोड़कर वन जा रहा हूँ। फिर इसकी क्या आवश्यकता। सो केवल शरीर से पृथक होने से ही त्याग नहीं होता। धनवानों का धन उनके पास थोड़े ही रहता है वे तो उसे कभी देखते ही नहीं किन्तु मन से उन्हें ममता रहती है अमुक स्थान पर मेरा इतना धन रखा है अमुक स्थान पर मेरी इतने की हुण्डी है। ममता का स्थान शरीर न होकर मन ही है। वन में गये और मन में रहा मेरी स्त्री का क्या होगा। मेरा पुत्र कैसा होगा, मेरा घर चूना होगा। तो यह त्याग अत्याग के ही बराबर है। मन से भी इसे भुला दो। सोच लो—दृढ़ निश्चय करलो मेरा अपना कुछ नहीं।"

आत्मदेव ने कहा—"यह भी मैं समझ गया मेरेपन का जो अन्तःकरण में भाव जमा है उसे भी निकाल के फेंक देना। अच्छा अब तीसरा सूत्र बताओ।"

गोकर्ण ने कहा—"तीसरा सूत्र है इस जगत् की क्षणभंगुरता का निरन्तर चिंतन करते रहना। इस बात को न भूलना कि यह संसार परिवर्तनशील है। हम संसारी वस्तुओं के मोह में क्यों फँस जाते हैं इसीलिये कि उन वस्तुओं को नित्य समझते हैं। कोई सुन्दर रूप को देखकर लुभा जाता है, सोचता नहीं कि यह दो दिन की चमक-दमक है। कोई पूर्णचन्द्र को देखकर रीझ जाता है, यह नहीं सोचता अमावस्या को यह दृष्टिगोचर भी न होगा। जो संसार की क्षण भंगुरता का स्मरण रखेगा, वह मोह में न फँसेगा। इसलिये संसार की किसी वस्तु को स्थायी न समझना।"

आत्मदेव ने कहा—"मैं समझ गया, अहर्निशि जगत को क्षण भंगुर समझना अब चौथा सूत्र बताइये।"

गोकर्ण ने कहा—"चौथा सूत्र है भक्ति में सदा तल्लीन रहना। भक्ति के बिना हृदय सरस नहीं होता। भक्ति ही भगवान को प्रकट करती है। हृदय सरस भी हो गया उसमें गीलापन आ गया, किन्तु संसार से विराग न हुआ, तो वह गीलापन संसार की ही रचना करेगा, भगवान् की मूर्ति न बनकर संसारी पद प्रतिष्ठा की ही मूर्ति बन जायगी इसलिये वैराग्य राग रस का संपुट लगाकर उस रस के रसिक बनकर तब भक्ति भवानी की आराधना करो।"

आत्मदेव ने कहा—"यह भी बात ध्यान में आ गयी। अर्थात् वैराग्य रस में लपेटकर भक्ति रूपी जलेबी का आहार करना। या भक्ति के रसगुल्ले को वैराग्य के रस में सराबोर करके उसे ही प्रेमपूर्वक पाना। अब पाँचवाँ सूत्र और बताओ।"

गोकर्ण बोला—"पिता जी! प्राणी कुछ न कुछ किये बिना रह नहीं सकता। कुछ करना ही होगा आप भी बन में बिना करे न रहेंगे, इसलिये आप धर्म का आचरण करें। देवता, पितर

और ऋषियों के लिये श्राद्ध तर्पणादि धर्म का आचरण तो आपने गृहस्थ में रहकर बहुत कर लिया वन में तो आप भगवत् भजन रूप धर्म का ही आचरण करें।"

"श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव इस नाम रटन रूप धर्म का ही पालन करें।"

आत्मदेव ने कहा—"पाँचवाँ सूत्र भगवत् भजन, अब छटवाँ सूत्र कौन-सा ?"

गोकर्ण बोला—"छटवाँ इसके प्रतिकूल अर्थात् अधर्मों का त्याग। संसार में तो सन्ध्यालोप, परस्त्रीगमन, असत्य भाषण आदि अधर्म हैं या दूसरे वर्ण के कार्यों का पालन अधर्म है। किन्तु वन में भजन न करना यही अधर्म है, आलस्यवश सो जाना यही अधर्म है उसका त्याग।"

आत्मदेव ने कहा—"हाँ, भजन में प्रमाद न करना। अब सातवाँ सूत्र बताओ।"

गोकर्ण ने कहा—"संसार में जो कुछ भी मिलता है, सेवा से मिलता है। कहावत है सेवा करने से मेवा मिलती है। पत्नी, पति की सेवा करती है, पति भी पत्नी की दूसरी भाँति से सेवा करता है, इसी प्रकार पुत्र, पिता की, पिता, पुत्र की। आप इन सब को तो त्याग ही रहे हैं। वन में आपको साधु संत ही मिलेंगे। साधु भगवान् का रूप हैं, उनकी भगवत् बुद्धि से सेवा करना यह सबसे बड़ा साधन है। साधु सेवा बिना श्रद्धा, भक्ति नहीं बढ़ती, नम्रता नहीं आती। इसलिये यथाशक्ति तन से, वस्तु से तथा मन से सदा साधु सेवा करते रहना चाहिये।"

आत्मदेव ने कहा—"पुत्र ! साधु सेवा तो सदा सर्वदा ही सुखकर है, अब मुझे आठवाँ सूत्र बताओ।"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! संसारी भोग भी सभी को प्राप्त नहीं होते, वे भाग्य से ही मिलते हैं। सभी चाहें कि हम पालकी

पर चढ़ कर चलें। नित्य घृत दुग्ध युक्त पदार्थों को ही खायँ, तो यह असम्भव है। सब न एक-सा खा सकते हैं न एक-सा पहिन सकते हैं और न एक-सा ठाट-बाट रख सकते हैं, किन्तु अच्छा खाने की अच्छा पहिनने की अच्छे भोगों को भोगने की लालसा सभी के मन मे उठती है। वन में एकान्तवास करने वाले परमार्थ के पथिक को भोगों की लालसा को भी मन से निकाल देना चाहिये। प्रारब्ध वश जो भी रूखा-सूखा समय पर प्राप्त हो जाय, उसी को पाकर काल यापन करना चाहिये। मिलेगा तो भाग्य से ही फिर लालसा करके अपने संस्कारों को कुत्सित क्यों बनावें।"

आत्मदेव ने कहा—"मन से भी भोगों की इच्छा न करना। है तो यह कठिन पर अत्यन्त आवश्यक है, मन में जब भोगों के भोगने की लालसा बनी ही रही, तो फिर भगवान् अंतःकरण में कैसे आवेंगे ? अब नवाँ सूत्र और बताओ।"

गोकर्ण ने कहा—"संसार में हमें बहुतों से राग होता है बहुतों से द्वेष हो जाता है। किसी से घनिष्ट सम्बन्ध है, अपना भाई है, पुत्र है सगा सम्बन्धी है, उससे द्वेष हो जाता है। यह मेरा बड़ा भाई धुन्धुकारी ही है, इसके प्रति आपके मन में राग नहीं, इसके विपरीत जिनसे कोई भी सम्बन्ध नहीं अपनी जाति के नहीं, धर्म के नहीं उनसे राग हो जाता है, अपने अनुकूल जिनमें हम गुण देखते हैं उनसे राग और अपने प्रतिकूल जिनमें दोष देखते हैं उनमें द्वेष हो जाता है। किसी के दोषों का चिन्तन करते रहते हैं, उससे द्वेष होना स्वाभाविक है, जिनके गुणों का चिंतन निरन्तर करते रहते हैं उनसे अनुराग हो जाता है। संसारी किसी भी व्यक्ति का गुण-दोष चिन्तन मन से भी न करना चाहिये। जो वीतरागी साधु सन्त हों उनका चिन्तन तो परमार्थ का साधक है, किन्तु संसारी लोगों के सम्बन्ध में सोचना तो तुरन्त ही त्याग देना चाहिये।"

आत्मदेव बोले—"इसके बिना तो भजन होता ही नहीं, अब दशवाँ सूत्र और बता दो और मुझे जाने की अनुमति दो।"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! बिना जल पान और भोजन के तो काम चलेगा ही नहीं, प्रभु का प्रसाद तो भोजन और जल पान करें। भगवान् की सेवा करके सेवा का जो भी प्रसादी भोग हो, जल हो उसी का तो आहार करें और निरन्तर भगवत् कथा रूप रस का अतृप्त भाव से निरन्तर पान करते रहें। इन दश सूत्रों के अनुसार आप एकान्त वास करेंगे, तो निश्चय संसार बन्धन से छूट जायँगे।"

आत्मदेव ने पूछा—"पुत्र मैं ध्यान किसका करूँ।"

गोकर्ण ने कहा—"पिताजी ! जो जिसका इष्ट हो उसी का ध्यान ठीक है, अपने इष्ट तो टेढ़ी टाँग वाले रसीले रंगीले, रस भरे सरस श्यामसुन्दर ही हैं उन्हीं का ध्यान करें।"

आत्मदेव ने पूछा—"जप किसका करें ?"

गोकर्ण बोले—"पिताजी ! सभी अपने इष्ट मन्त्र का जप करते हैं। आप भी इष्ट मन्त्र का ही जप करें।"

आत्मदेव ने पूछा—"पाठ किसका करें ?"

गोकर्ण ने कहा—"भगवान का ध्यान भगवन्नामों का स्मरण और श्रीमद्भागवत का ही पाठ। यही तो वैष्णवों का मुख्य कर्तव्य है। आप नित्य पूरी भागवत का पाठ तो कर नहीं सकेंगे। भागवत का संपूर्ण सार दशम स्कन्ध में है अतः नित्य नियम से आप दशम स्कन्ध का पाठ किया करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उस समय आत्मदेव की अवस्था साठ वर्ष की थी। गोकर्ण पन्द्रह सोलह वर्ष के थे, किंतु उन्होंने यह संकोच नहीं किया कि मैं अपने इस छोटे से पुत्र से परमार्थ का उपदेश कैसे लूँ। परमार्थ पथ में तो जो अधिक भक्तिवान् है, वही बड़ा है वही शिक्षक है, वही उपदेशक है, वही

गुरु है और वही पूजनीय है। इस प्रकार पुत्र से उपदेश लेकर वह बुड्ढा तुरंत घर द्वार को छोड़कर वन को चला गया, उसके चित्त में तनिक-भी उद्विग्नता नहीं थी चित्त स्थिर और शान्त था। वहाँ जाकर गंगा तट पर एक जीर्ण-शीर्ण मंदिर में उसने अपना डेरा जमाया। नित्य निमय से भगवान् नंदनंदन की विधिवत् पूजा करता। जो भी वन्य फल मिल जाते उनका भोग लगाता, गंगाजल पान करता और नित्य ९० अध्याय दशम स्कन्ध का पाठ करता। जो जिसका ध्यान करता है उसे उसी की प्राप्ति होती है। भगवान् कृष्णचन्द्र का ध्यान, स्मरण नाम गान करते-करते अंत में उसने श्रीकृष्णचन्द्र को ही प्राप्त कर लिया, उसका संसार चक्र सदा के लिये छूट गया। मुनियो! पिता के जाने पर धुन्धुकारी ने जो उत्पात किये और उसका जैसे दुःखद अंत हुआ उस कथा को मैं आगे कहूँगा। आप एकाग्रचित्त से सुनें।"

छप्पय

अपचनि सँग नित खाइ जाइ प्रानिनि सहारै।
वेश्यागामी क्रूर मातु पितु धन हित मारै॥
भये दुखित द्विज बिलपि मरन की ठानी मन महँ।
कह्यो आइ गोकरन, पिता! अब जाओ वन महँ॥
मैं मेरो पन तजि सकल, रटहु नाम नित नेमतै।
दशम भागवत पढ़ि करैं, पूजा प्रभु की प्रेम तै॥

...०...

धुन्धुकारी का दुखद अन्त और प्रेत योनि की प्राप्ति

(१५)

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

सुत शिक्षा सुनि तुरत विप्र घर तजि वन आये ।
दशम पाठ, हरि ध्यान करत वैकुण्ठ सिधाये ॥
धुन्धुकारि धन हेतु मातु कूँ मारे नित नित ।
गिरी कूप महँ मातु गये गोकर्न तीर्थ हित ॥
खल घर गनिका पाँच रखि, देहि चोरि धन पट तिनहिं ।
लखि आभूषण अधिक तिहि, वध करिबो सोचो मनहिं ॥

जो जिस उद्देश्य से कार्य करता है, उसका लक्ष्य अपने उद्देश्य की सिद्धि में ही रहता है। जैसे गौ को जो सेवा के— धर्म

---

* राजा परीक्षित् कह रहे हैं—"भगवन् ! प्रत्यक्ष देखता है चोरी करेंगे, तो पकड़े जायेंगे, शास्त्रों में सुनता है अमुक पाप करने से अमुक नरक मिलेगा जानता है कि इससे हमारा अहित होगा, फिर भी जान बूझ कर पुरुष विवश होकर पापो मे प्रवृत्त होता है, ऐसे पापों का प्रायश्चित्त ही क्या है ? उन्हें तो नरकादि प्रेतादि योनियों मे जाना ही पड़ेगा ।"

के उद्देश्य से रखता है, वह उसे प्रेमपूर्वक रखता है, वह अधिक दूध दे या कम, उसकी सेवा में त्रुटि नहीं रखता, क्योंकि उसका उद्देश्य धर्मार्जन है, किन्तु जो दूध के ही उद्देश्य से गौ को रखता है, उसकी दृष्टि दूध पर ही रहेगी। जब तक दूध देगी तब तक दूध बढ़ाने को उसे खिलावेगा, जहाँ दूध देना बन्द किया तो उसे भर पेट चारा भी न देगा, अधिक के हाथ बेच देगा। क्यों कि उसे गौ से प्रेम नहीं दूध से प्रेम है, पहिले जो वह इतना सेवा करता था, दूध के लिये ही करता था। इसी प्रकार पतिव्रता पत्नी का प्रेम पति से होता है। वे पति की प्रसन्नता के निमित्त सब कुछ कर सकती हैं। अपना आभूषण बेच सकती हैं, अपने शरीर के सुखों को छोड़ सकती हैं, यहाँ तक कि पति की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों का भी बलिदान कर सकती हैं। किन्तु जो कुलटा हैं, व्यभिचारणी वेश्या हैं, पण्यस्त्री हैं वे तो पुरुष को पैसा के लिये भजती हैं। जब तक उस पर पैसा रहेगा, बड़ी मीठी मीठी बातें करेंगी, अत्यधिक प्रेम दिखावेंगी, किन्तु जहाँ वह धन-हीन हुआ, तो फिर बात भी न पूछेंगी, दूसरे धनी से सम्बन्ध जोड़ लेंगी। उनमें भी कुछ दुष्टायें तो ऐसी होती हैं, कि अधिक धन के लोभ से वे धनिकों की गुप्त रूप से हत्या भी कर देती हैं। यही बात पुरुषों के सम्बन्ध में हैं जब वे किसी स्त्री को अग्नि को साक्षी देकर धर्मपत्नी के रूप में वरण करते हैं तो जीवन भर उसका निर्वाह करना ही होता है। उसके रोगिणी होने पर घर का सर्वस्व होम देते हैं। उसको ओर कोई बुरी वासना से उँगली भी उठा दे तो अपने प्राणों को उसकी रक्षा के लिये समर्पित कर देते हैं। किन्तु काम भाव से जब किसी को फँसा लेते हैं, तो जब तक उनकी इच्छा पूर्ति होती है तब तक रखते हैं, फिर उसे त्याग देते हैं, बेच देते हैं, कुछ दुष्ट तो ऐसे लोभी होते हैं भले घर की लड़कियों को प्रेम का दम्भ रचकर भगा लाते हैं, फिर उनका

सर्वस्व अपहरण करके हत्या कर देते हैं। इसलिये समाज में जब तक धर्म को प्रधानता न दी जायगी, धर्म को प्रधान मानकर जब तक सम्बन्ध न रखा जायगा, तब तक सुख शान्ति असंभव है। धर्म की उपेक्षा करके कोई व्यक्ति कोई परिवार, कोई देश तथा कोई राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। धर्म एक कवच है जो प्राणियों की सर्वत्र रक्षा करता है। धर्महीन सम्बंध ही दुराचार है, पापाचार है, दुःख और संताप को देने वाला है, अतः बुद्धिमान् पुरुषों को तथा स्त्रियों को कभी भी किसी से धर्महीन सम्बन्ध किसी भी दशा में स्थापित न करना चाहिये। इसका परिणाम इतना दुःखद होता है, कि इसके असंख्यों उदाहरण हैं और नित्य होते हैं फिर भी यह प्राणी काम तथा लोभ में ऐसा मदान्ध हो जाता है, कि इन सभी उदाहरणों के रहते हुए सबकी उपेक्षा करता है और अपना अत्यन्त दुखद अंत करता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धुन्धुकारी के कुकृत्यों से दुखी होकर विप्रवर आत्मदेव वन में चले गये और नित्य भगवत् ध्यान तथा भागवत के दशम स्कन्ध के पाठ से वैकुण्ठ पधार गये। अब रहे गोकर्ण उन्होंने सोचा—"इस दुष्ट के साथ मेरा भी रहना अब उचित नहीं। यह सोचकर वे भी तीर्थाटन की सोचने लगे। इसी बीच में एक अत्यन्त दुखद घटना घट गयी।"

यद्यपि धुन्धुकारी पिता का कुछ भी आदर नहीं करता था, समय-समय पर उन्हें भी पीट देता था, फिर भी वे बड़े थे, उनके घर में रहने से कुछ संकोच तो होता ही है। जब वे भी घर छोड़कर चले गये, तो इसे बड़ी प्रसन्नता हुई। अब तो यह सब प्रकार से स्वतंत्र हो गया। अपनी माता से नित्य धन माँगता उस पर धन था ही कहाँ? जो कुछ था धुन्धुकारी ने पहिले ही चोरी से उड़ा दिया था अब उसे धन की बड़ी आवश्यकता रहती

एक दिन उसने अपनी माता से कहा—"तेरे पास कुछ भी तो गड़ा गुप्त धन होगा ?"

उसने कहा—"बेटा ! मेरे पास अब धन कहाँ है जो कुछ था, वह सब तैंने नष्ट कर दिया। अब मेरे पास विष खाने को फूटी कौड़ी भी नहीं।"

धुन्धुकारी ने कहा—"ऐसा कदापि हो नहीं सकता। धन तेरे पास है, अवश्य है तू देती ही नहीं। तू सीधे थोड़े ही देगी, सीधी उँगली से घी नहीं निकलता। लात का देव बात से नहीं मानता। यह कहकर उसने अपनी माता को बहुत अधिक मारा। मारते-मारते अधमरी कर दी और कह दिया। यदि कल तैंने अपना गुप्त धन मुझे निकालकर नहीं दिया तो तुझे यहीं मार डालूँगा।"

माता भी नित्यप्रति के दुःखों से बड़ी दुखी हो गयी थी, उसने सोचा—"दूसरे की कोख से पैदा हुआ, मारता है मुझे। यह सब मेरा ही दोष है। मैंने अपने धर्मात्मा पति से साथ छल किया, उनके साथ विश्वासघात किया, मैं उसी पाप का फल भोग रही हूँ अति उग्र पापों का फल इस जन्म में मिल जाता है, ऐसी यातनायें तो नरक में भी न मिलती होंगी। इससे तो अच्छा यही है, मैं आत्मघात कर लूँ। वह दुष्ट मुझे मार तो डालेगा ही, मैं अपने ही आप क्यों न मर जाऊँ। विष खा लूँ। फिर सोचा—विष लाकर कौन देगा, मेरे पास पैसा भी नहीं। तो क्या तुङ्गभद्रा में कूद जाऊँ। सोचने लगी, तुङ्गभद्रा में सम्भव किसी ने बचा लिया, तो फिर कहाँ जाऊँगी। उसने सोचा—पास के कूएँ में ही कूद पड़ूँ रात्रि में कौन देखेगा। प्रातःकाल तक मर ही जाऊँगी। यही सब सोचकर जब सब सो गये तो वह चुपके से उठी और कूएँ में कूद पड़ी और मर गयी।"

प्रातःकाल सबको पता चला। इस घटना से गोकर्ण को भी

बड़ी ग्लानि हुई। वे सोचने लगे इस गाँव में रहेंगे, तो इस दुष्ट की दुष्टता से मन में विक्षेप होगा, अतः इस गाँव को छोड़ दो चलो तीर्थों में भ्रमण करें। यह सोचकर वे भी तीर्थयात्रा के निमित्त निकल पड़े। वे तो पहिले ही समझते थे, कि इसका परिणाम यही होगा। अतः उन्हें इस घटना से कोई विशेष सुख-दुख नहीं हुआ। क्योंकि उनकी दृष्टि में दुख-सुख जय-पराजय, जीवन-मृत्यु, शत्रु-मित्र सभी समान थे, वे समदर्शी योगी और शास्त्र के मर्म को जानने वाले थे। कालक्षेप के निमित्त वे पवित्र तीर्थों की आनन्दपूर्वक यात्रा करते रहे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तो यह दुष्ट धुन्धुकारी सर्वथा स्वतन्त्र हो गया। इधर-उधर से पाँच कुलटा वेश्याओं को उसने घर में रख लिया। वनों में जाकर हिरन, शशक पशु-पक्षी मारकर लाता, उनका मांस स्वयं खाता उन्हें खिलाता। सुरापान करता उन्हें भी पिलाता। वे नित्य ही उससे वस्त्र आभूषण तथा शृङ्गार की अनेक वस्तुओं की माँग करती। वह द्यूत क्रीड़ा से कभी कमा लाता कभी गँवा आता, कभी किसी की वस्तु ही उठा लाता। किन्तु इससे उसका काम नहीं चलता। एक ही स्त्री की इच्छित वस्तुओं को जुटाना कठिन है सो उसके घर में तो पाँच-पाँच बैठी थीं। एक दिन सबने कहा—"हमें या तो सोने के आभूषण लाकर दो, नहीं हम सब चली जायँगी।"

वह तो काम वासना के कारण अंधा हो गया था। कामी के लिये कामिनी का वियोग मृत्यु से भी बढ़कर असह्य होता है, वह अपनी प्रेयसी के लिये सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। उन वेश्याओं को प्रसन्न करने के निमित्त वह घर से निकल पड़ा। अँधेरी रात्रि थी, किसी धनी के घर में उसने सेंध लगा दी। संयोग की बात कि उसके घर के सभी लोग सोये हुए थे। उसने एक बड़ी मंजूषा का ताला तोड़ा। उसमें बहुत ही सुन्दर-सुन्दर

आभूषण थे, रेशमी वस्त्र थे। सब को लेकर वह चुपके से निकल आया। मन में अत्यन्त ही प्रसन्न था, कि आज मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। आज मैं अपनी प्रियतमाओं को सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों से लाद दूँगा, जिससे वे मुझसे अत्यधिक प्यार करेंगी। मेरे ऊपर प्राण देंगी।"

उस पापी को यह पता नहीं था, कि प्राण देंगी नहीं प्राण ले लेंगी। उन्हें कोई धुन्धुकारी से तो प्रेम था नहीं उनका इष्ट तो धन था। धन लेकर फिर वे किसी काठ के उल्लू कामी को फँसावेगी। उनकी प्रीति तो पैसा की है।

धुन्धुकारी ने बड़े ही उल्लास से वह सब धन उन वेश्याओं को दिया। इतने सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य आभूषण इतने सुन्दर वस्त्र पाकर वे परम प्रसन्न हुईं। अब तक उन स्त्रियों को ऐसा विश्वास था कि यह कहीं से कमाकर लाता होगा या द्यूत क्रीड़ा या किसी और कार्य से। आज जब सहसा इतने वस्त्राभूषण जाते ही ले आया, तो वे समझ गयीं, यह पक्का चोर है, नित्य इतना धन चोरी करके ही लाता है। वैसे तो वे पाँचों आपस में एक दूसरी से द्वेष मानती थीं, किन्तु जब इतना धन आ गया और उसने पाँचों को ही सौंप दिया, तो समान स्वार्थ होने के नाते वे सब एक हो गयी और आपस में मिलकर सम्मति करने लगीं। उनमें जो सबसे अधिक सुन्दरी थी वह बोली—"बहिनो! तुम जानती हो, यह इतना धन कहाँ से लाया है?"

एक बोली—"इसमें भी कोई पूछने की बात है क्या, यह तो चोरी का धन है, किसी के पहिने हुए वस्त्राभूषण हैं?"

एक बोली—"क्या इतना बहुमूल्य चोरी का धन हम सब पचा सकती हैं?"

दूसरी बोली—"पच भी सकता है नहीं भी पच सकता।

यदि राज कर्मचारियों को पता न लगे तब तो पचा ही समझो। उन्हें पता चल गया तो फिर गाँठ का भी जायगा।"

इस पर एक ने कहा—"एक दिन की बात हो, तब तो पच भी जाय, यह तो नित्य का व्यापार है। सौ दिन चोर की तो एक दिन स्वामी की भी बन आती है, किसी दिन तो चोरी अवश्य पकड़ी जायगी।"

सुन्दरी ने कहा—"इसका परिणाम क्या होगा ?"

दूसरी बोली—"परिणाम यही, कारावास, सूली, अंग भंग। इस पर ही नहीं हम पर जो भी इसका दिया धन है, सब अपहरण कर लिया जायगा, क्योंकि यह सब चोरी का तो है ही। इतनी बड़ी चोरी की वस्तु छिपायी नहीं जा सकती। इन बहुमूल्य वस्त्रों को जहाँ पहिनकर हम निकली नहीं कि कलई खुली नहीं।"

सुन्दरी ने पूछा—"तो अब किया क्या जाय।"

एक अत्यन्त क्रूर स्वभाव वाली बहुत ही धीरे से बोली—"इसका एक ही उपाय है। यह तो राजपुरुषों द्वारा पकड़ा ही जायगा, यह तो निश्चित ही बात है। मृत्यु दंड ही इसे दिया जायगा। इसके साथ हम सब भी फँसेंगी। हम कहीं की भी न रहेंगी। प्राण दंड हमें न भी हुआ तो हमारा सर्वस्व अपहरण करके कारावास तो भोगना ही पड़ेगा। फिर हमारी अवस्था भी ढल जायगी। हमें कौन अपनावेगा। इससे अच्छा तो यही है हम सब मिलकर आज ही इसे मार डालें। इससे हम और हम लोगों का धन तो सुरक्षित रहेगा।"

इस पर एक काँपती हुई बोली—"यह स्वभाव का बड़ा क्रूर है। बली भी बहुत है। हम इसे कैसे मार सकेंगी ?"

इस पर वह उत्तेजित होकर बोली—"हम पाँच-पाँच वह

अकेला। हमसे इतना भी न होगा। तुम सब मेरी बात मानो मैं यह सब करूँगी।"

यह कहकर वह सबको युक्ति बताने लगी। एक छोरी से कहने लगी—"तुझे वह सबसे अधिक चाहता है तू जाकर उसके पास लेट जा मैं धीरे-धीरे उसके पैर दबाऊँगी। जब वह गहरी निद्रा मे सो जाय तो सुदृढ़ रस्सी से उसे कसकर खाट से बाँध देंगी फिर गला घोटकर मार देंगी।"

सबने एक स्वर में इस सम्मति को स्वीकार कर लिया। जब धुन्धुकारी प्रगाढ़ निद्रा में सो गया तो सबने मिलकर उसे कसकर खाट से बाँध दिया खाट के चारों पाये रस्सी से बाँध दिये फिर एक रस्सी उसके गले में बाँधकर तीन एक ओर लग गयीं दो एक ओर लग गयीं और वह पूरी शक्ति से खींचने लगीं खींचने से उसकी आँख निकल आयी और वह हुच्च-हुच्च करने लगा। एक उसने चीख मारी तब एक ने उसके मुँह में कपड़ा ठूँस दिया, किन्तु उन स्त्रियों के खींचने पर भी उसके प्राण निकले नहीं वह तड़फड़ाने लगा। कंठ घुर्र-घुर्र करने लगा।

एक ने कहा—"तेल डालकर इसे जला दो।"

दूसरी ने कहा—"ऐसा मत करो, इससे घर में भी आग लग सकती है धूँआ दुर्गंध से दूसरे लोग भी आ सकते हैं। लोहे की सलाकायें गरम करके इसके मर्म स्थानों में घुसेड़ दो। इससे मर जायगा। तब दो तीन ने जाकर दहकते बहुत से अंगार जलाये लोहे की सलाका गरम कर करके उसके गुप्त स्थानों में मर्म स्थानों में चुभोने लगी। इससे उसे पीड़ा तो महान् हो रही थी। किन्तु प्राण नहीं निकल रहे थे। तब एक ने कहा सब अंगारे इसके मुख में भर दो उसकी लपटों से झुलस कर मर जायगा। तब सबने लोहे के बर्तन में रखकर बहुत से

अंगार उसके मुँह में भर दिये। रस्सी को बलपूर्वक खींचा। बड़े कष्ट से वह मर गया।

तब कई स्त्रियाँ घबड़ा गयीं। उसका भयंकर मृतक शरीर बड़ा ही भयानक लगने लगा। उस क्रूर स्वभाव की स्त्री ने कहा, "ऐसे घबराने से काम न चलेगा। प्रातःकाल हो गया, और किसी को भी पता चल गया, तो हम सब सूली पर चढ़ायी जायगीं या जीवित आधी भूमि में गड़वा कर कुत्तों से नुचवाई जायँगी। अब इसी प्रकार इसे भूमि में गाड़ दो।" सब ने मारे भय के इसे स्वीकार कर लिया। घर में एक बड़ा गड्ढा था। उन्होंने उसमें से थोड़ी मिट्टी और निकाली फिर सब उसे उठाकर उस गड्ढे में ले गयीं। नीचे डालकर ऊपर से मिट्टी भर दी। भूमि को समान करके उसे लीप पोत दिया। फिर आकर सबको जल से धो दिया। दिन भर वे घर से निकली ही नहीं।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! कोमलाङ्गी स्त्रियों में इतना साहस कहाँ से आ गया। यह तो उन्होंने बड़ा ही वीभत्स कांड कर डाला।"

सूतजी ने घृणा के स्वर में कहा—"भगवन्! यह नारी तभी तक कोमलांगी है, जब तक सत्य, सदाचार दयाधर्म और ईश्वर का भय इनके हृदय में रहता है। जहाँ यह इनसे विमुख होकर काम के वश होकर पाप करने में प्रवृत्त हुई, तो फिर इसे किसी की लाज नहीं रहती, दुराचारिणी, कुपथगामिनी, व्यभिचारणी धन के लोभ से सबको अपना शरीर बेचने वाली स्त्री धन के लिये कौन-सा पाप नहीं कर सकती। जिस समय ये वज्रहृदया बनकर पाप में प्रवृत्त होती हैं, तो साक्षात पिशाचिनी डाइन रक्तपान करने वाली बन जाती हैं। ये ऐसी माया रच लेती हैं कि कोई भी इनकी थाह नहीं ले सकता। देखिये जो चोरी करके भी इसका पालन करता था, उसे धन

के लोभ से इन्होंने मार डाला और किसी को पता भी न लगने दिया।

कुछ दुष्ट लोग चोर-जुआड़ी तथा सुरापी जो उसके साथी थे, एक दो दिन जब धुन्धुकारी को उन्होंने नहीं देखा, तो वे उसके घर गये और उन वेश्याओं से उसके सम्बन्ध में पूछने लगे, तो उन्होंने सरलता से कह दिया—"आप सब तो उनकी आर्थिक दशा जानते ही थे, इस नगर में जब उनका काम न चला, तो हमसे यह कहकर कि परदेश से कुछ धन कमा लाऊँ, दो दिन हुए कहीं दूर देश को चले गये हैं। हमने पूछा भी-कब तक लौटकर आओगे। इसका उन्होंने गोल-मोल उत्तर दे दिया—"लौट आऊँगा साल ६ महीने में।" सम्भव है इस सम्वत्सर के अन्त तक लौट आवें।" इनकी सरल बातों का सभी को विश्वास हो गया। सबने सोचा—"हाँ, धन के लिये तो वह दुखी रहता ही था, सम्भव है यहाँ पकड़े जाने के भय से दूर देश में चोरी करने गया हो।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! इतने बड़े पाप को इन वेश्याओं ने छुपा कैसे लिये?"

सूतजी बोले—"महाराज, आप साधु हैं, इन व्यभिचारिणी स्त्रियों के फरफन्दों को नहीं जानते। महाराज, जिनका मन दूषित हो जाता है, जिनके सिर पर काम का भूत सवार हो जाता है, वे तो घर में रहती हुई अपने पति को पुत्र को परिवार वालों को छल लेती हैं, फिर ये तो वेश्यायें ही थीं। इनका तो काम ही लोगों को ठगना है। महाराज! इनकी वाणी ऐसी मीठी होती है, कि कामी पुरुष इनके हाथों बिक जाते हैं, इनके संकेतों पर नाचने लगते हैं, इनके कहने पर सभी कुकर्म कर सकते हैं, ऊपर से तो प्रेम का ऐसा प्रदर्शन करती हैं, मानों प्राण दे देंगी, इन गणिकाओं का हृदय छूरे की धार से

भी अधिक तीक्ष्ण होता है। इनका प्रियपात्र कोई पुरुष नहीं होता इन्हें धन ही प्यारा होता है। इसीलिये तो शास्त्रों में बार-बार चेतावनी दी है, कि इन व्यभिचारिणी स्त्रियों का विद्वान् पुरुष को कभी विश्वास न करना चाहिये, किन्तु भगवन्! यह काम सबको अन्धा बना देता है, जिस पर मन अटक जाता है वह दोषों की खानि होते हुए भी मन मोहक लगती है, यह जानते हुए भी कि इसने अनेकों को ठगा है, बहुतों के साथ विश्वासघात किया है, फिर भी मनुष्य फँस जाता है, इसे पूर्वजन्म के पापों के फल के अतिरिक्त और कह ही क्या सकते हैं।"

शौनकजी पूछा—"तो हाँ सूतजी! फिर उन स्त्रियों का क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! उनका क्या होना था, वे कोई धुन्धुकारी की धर्मपत्नी थोड़े ही थीं जो उसका श्राद्धतर्पण करातीं, उसके घर में रहतीं। वे तो बहुभर्तृका थी, नित्य नूतन पुरुषों से सम्बन्ध जोड़ने वाली थीं। इस भय से कि कोई उन पर संदेह न करे, कुछ दिनों तो धुन्धुकारी के उसी घर में रहीं। जब बात पुरानी पड़ गयी, तो माल मसाला लेकर चलती बनीं। वस्त्राभूषणों की पोटली बाँधकर खिसक गयीं। वहाँ से चंपत हो गयीं फिर किसी दूसरे को जाकर फँसाने लगीं। उनका यही तो व्यापार था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उस धुन्धुकारी का क्या हुआ? उसकी कैसी गति हुई?"

सूतजी बोले—"महाराज! उसने जैसा करा वैसा भरा। उसकी तो गति निश्चित ही थी, जो इस प्रकार पाप से मरता है, जिसके श्राद्धतर्पण नहीं होते, उस पापी पुरुष को तो भयंकर प्रेतयोनि ही मिलती है। धुन्धुकारी भी मरकर अपने कुटिल कर्मों के कारण, बड़ा ही क्रूर भयावना प्रेत बना। प्रेत योनि में

जो-जो उसे यातनायें मिलीं जो-जो उसकी दुर्गति हुई उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तनु कसि मुख महँ अगिनि भरी जीवन बिनु कीन्हों।
गाड़ि भूमि महँ भगी बाँटि धन सबने लीन्हों॥
बैन सुधासम नैन सरस हिय-विष वेश्यनि को।
कबहुँ विज्ञ विश्वास करै नहिं इनि कुलटनि को॥
धुन्धुकारि बहु यातना, सहि अति दुख तनु तजि गयो।
नीच करम कारन कुटिल, प्रेत भयानक मरि भयो॥

धुन्धुकारी प्रेत पर गोकर्ण की कृपा

(१६)

प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥
पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः।
प्रीते हरौ भगवति प्रीतेऽहं सचराचरः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ३९, ४० श्लो०)

छप्पय

वायु रूप तन शीत घाम महँ ठिठुरत सिसकत।
तृषित बुभुक्षित दुखित फिरत रोवत नित इत उत।
तीरथ करि गोकरन लौटि निज घर महँ आयो।
धारि भयंकर रूप राति महँ ताहि डरायो ॥
कबहुँ अनल, अज, पुरुष पुनि बनै कबहुँ करि, सुर, महिष।
समुझि गये गोकरन यह, प्रेत, मरयो अहि अगिनि विष ॥

पाप करने वाला प्राणी पापों का फल भोगने को पहिले नरकों

---

* श्री शंकरजी पार्वती जी से कह रहे हैं—"हे भद्रे! साधु लोग अपने प्राणों का पण लगाकर भी दुखी जीवों की रक्षा किया करते हैं। परस्पर में एक दूसरों से वैर करने वाले भगवान् की माया से मोहित इन जीवों पर जो साधु पुरुष कृपा करते हैं, उनसे सर्वात्मा श्रीहरि बड़े प्रसन्न होते हैं, भगवान् की प्रसन्नता से सम्पूर्ण चराचर जीव प्रसन्न होता है, मैं भी प्रसन्न होता हूँ।"

में जाता है, जब घोर पापों का यातना देह से बहुत दिनों तक फल भोग लेता है और कुछ पाप शेष रह जाते हैं, तो उसे पृथ्वी पर नीच योनियों में भेज दिया जाता है, कूकर, शूकर, काक अथवा दूसरी यानियों में आता है, मनुष्य होता है तो हिंसक चांडाल आदि देह से। जो पुण्यवान् हैं वे सीधे स्वर्ग जाते हैं, वहाँ बहुत दिनों तक अपने पुण्यों के अनुसार स्वर्ग सुखों को भोगते हैं, जब कुछ पुण्य शेष रह जाते हैं, तो पृथ्वी पर उत्तम कुल में अच्छी योनि में उत्पन्न होते हैं। जिनके पुण्य-पाप प्रायः बराबर होते हैं, वे न स्वर्ग जाते हैं न नरक। तुरंत पृथ्वी पर ही कर्मानुसार योनि पा जाते हैं। एक चौथे प्रकार के लोग और होते हैं, जो अकाल मृत्यु से मरते हैं। वास्तव में अकाल में तो किसी की मृत्यु होती नहीं मरते तो सब अपने विधान के समय ही हैं, किन्तु एक तो मृत्यु के समय पर रोग आदि से मरते हैं। मरने के पूर्व उन्हें भान हो जाता है मैं अब बचूँगा नहीं। उनकी अवस्था चाहे जितनी भी क्यों न हो, उनकी मृत्यु तो काल से हुई है। किन्तु एक मृत्यु ऐसी होती है, कि उन्हें मरने का ध्यान तो है नहीं अकस्मात् किसी ने उन्हें मार दिया। किसी ने पीछे से सिर काट दिया, आग में फेंक दिया, स्नान करते समय जल में डूब गये, पेड़ से गिरकर मर गये, सर्प ने काट खाया। किसी प्रेत पिशाच ने गुप्तरूप से आकर उसके हृदय के रक्त को पी लिया जिससे उसके हृदय की गति रुक गयी, तो उन्हें अपनी वासना के अनुसार प्रेतयोनि मिलती है। न वे नरक जाते हैं, न स्वर्ग न पृथ्वी पर उनका जन्म होता है वे अन्तरिक्ष में प्रेत बनकर रहते हैं। क्योंकि उनकी भोगवासनायें इस भूमि में अभी शेष हैं, इनकी इच्छायें अपूर्ण हैं उनका स्थूल शरीर तो होता नहीं, अङ्ग सब वायु के बने रहते हैं, इच्छायें वे ही सब मनुष्य योनि की बनी रहती हैं। जैसे कोई प्यासा है, उसका किसी ने

सिर काट दिया और प्यासा ही मर गया। मर कर प्रेत हुआ तो वह प्यासा ही घूमता रहेगा, उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि अपने हाथ से जल पी ले। उसके परिवार वाले या प्रेमी उसके निमित्त जल दान करें तो उसे मिल जायगा। किसी स्त्री का किसी पुरुष से अनुचित प्रेम है या पुरुष का किसी स्त्री से, और उनकी अकाल मृत्यु हो गयी, यदि पुरुष की हुई है तो वह प्रेत बनकर वासना में भरा उसके पीछे मँडराता रहेगा, यदि स्त्री मरी है तो डॉइनि पिशाचिनी आदि बनकर उससे प्रणय की इच्छा करेगी, किन्तु शरीर न होने के कारण वे कुछ कर नहीं सकते। अकृत-कार्य ही रहेंगे।

बहुत से लोग भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी साकिनी आदि योनियों को नहीं मानते। बहुत-सी सम्प्रदाय के लोग पुनर्जन्म और इन योनियों को नहीं मानते, किन्तु उनके न मानने से कोई उनका अस्तित्व न चला जायगा, कोई आकाश को न माने तो आकाश चला थोड़े ही जायगा। जो जिस भाषा का प्रेत होता है, मरकर वह जिसके ऊपर आता है, वह उस भाषा को न जानते हुए भी प्रेत की भाषा बोलता है। कई लड़कों पर फारसी भाषा भाषी प्रेत आये। वे फारसी का एक अक्षर भी नहीं जानते थे और शुद्ध फारसी बोलने लगे, अंग्रेज प्रेत वैसी अंग्रेजी। वे दूसरे के माध्यम से बोल सकते हैं, उनमें प्रायः बोलने की शक्ति नहीं होती।

प्रेतों के भी अनेक भेद हैं और उनकी शक्ति सामर्थ्य भी भिन्न-भिन्न है। बहुत से प्रेतों में इतनी सामर्थ्य होती है, कि वे कुछ काल के लिये स्थूल रूप भी रख लेते हैं। बहुत से अपने प्रभाव से या किसी सन्त महात्मा के मंत्र के प्रभाव से बिना किसी-माध्यम के भी बातें कर लेते हैं। प्रेत भी एक शासन में रहते हैं, वे अपने शासक की आज्ञा बिना कहीं जा नहीं सकते, किसी

किसी को स्वतन्त्रता भी होती है। प्रेतों में बहुत से सौम्य होते हैं जो दूसरों का उपकार करते हैं कभी किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते। दुष्ट तो बहुत होते ही हैं, वे दूसरों को प्रायः भयभीत ही करते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रेत योनि नीच योनि है वह मनुष्य योनि से अत्यंत नीची पाप योनि है। मनुष्यों का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। मनुष्य भूत प्रेतों से डरता है अपने हृदय के पाप के कारण। जो सदाचारी हैं, कृतोपासक हैं, मन्त्र जापक हैं उनसे प्रेत डरते हैं, उनके पास प्रेत आवेंगे भी तो दीन होकर अपने उपकार के निमित्त अपना उद्धार कराने। परोपकारी लोगों को ऐसे दुखियों का दुःख दूर कर देना चाहिये। उनके उद्धार के निमित्त जप, तप तीर्थ, व्रत अनुष्ठान जो भी उचित हो करा देना चाहिये, क्योंकि संत परोपकारी फलवाले वृक्षों के समान हैं। फलवान वृक्षों से सभी आशा रखते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! धुन्धुकारी की अकाल मृत्यु हुई थी। उसका प्राण भयंकर यातनाओं को सहते-सहते बड़े कष्ट के निकला था। मरते समय वह देख रहा था, जिन वेश्याओं के लिये इतने पाप किये प्राणों को हथेली पर रखकर, वे ही धन के लोभ से गरम सलाकायें मेरे गुह्यस्थानों में चुभो रही हैं इससे मरते समय उसे उनसे हार्दिक घृणा हो गयी। उसे अपने माता-पिता की दुर्गति का भी स्मरण आया। अपने ब्राह्मण वर्ण का और गोकर्ण की साधुता का भी स्मरण आया। किन्तु उसने पाप ऐसे भयङ्कर किये थे, प्राण यातनाओं के कारण ऐसे व्याकुल हो रहे थे, कि वह कुछ स्मरण न कर सका। यही इसके मन में टीस रह गयी, कि ब्राह्मण होकर मैंने कोई सुकृत नहीं किया। इसी समय अग्नि के अंगारे मुख में भरने से गला खिंचने से उसकी मृत्यु हो गयी।

उन दिनों गोकर्ण किसी आस-पास के ही तीर्थ में थे, वहाँ

किसी अपने ग्रामवासी से भेंट हो गयी। उसने धुन्धुकारी की मृत्यु का सब समाचार कहा। धुन्धुकारी को अनाथ समझकर गोकर्ण ने गया में जाकर उसका श्राद्ध किया तथा अन्य तीर्थों में भी उनके निमित्त श्राद्ध तर्पण कर दिया। प्रेत को भी पता चल गया। मेरा भाई मेरे ऊपर दया का भाव रखता है।

पार्थिव शरीर में तो स्थूल भोगों की लालसा लगी रहती है भोगों को जुटाने के लिये चिन्ता तथा परिश्रम भी करना पड़ता है, क्योंकि मानव योनि तो कर्मयोनि है। किन्तु देवता यक्ष, गन्धर्व, भूत प्रेत पिशाच आदि योनियाँ तो भोग योनि हैं। इनमें आगे के लिये कुछ कर्म नहीं कर सकते। पिछले ही पुण्य-पापों का फल भोगना पड़ता है पिछली ही पुण्य-पाप की बातें याद आती रहती हैं। आगे के लिये न बढ़ा सकते हैं न कोई स्वयं उन्हें घटाने का कर्म कर सकते हैं जैसे छोटा-बच्चा सर्वथा माता-पिता के अधीन रहता है वे उसे खिला दें तो खा ले नहीं भूखा रोता रहे स्वयं कुछ करने में असमर्थ है। ऐसे ही प्रेत अन्तरिक्ष में अपनी वासना के अनुसार भूखे प्यासे चिंतित दुखित घूमते रहते हैं। अपनी भोग वस्तुओं पर मँडराते रहते हैं किन्तु उन्हें भोग नहीं सकते।

धुन्धुकारी को मरते समय अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप हुआ कुकर्म तो उसने किये ही थे इससे वह प्रबल प्रेत हुआ। वायु का उसका शरीर था, जहाँ चाहे उड़कर जा सकता था। उसके सूक्ष्म शरीर को पूर्व वासना के अनुसार जाड़ों में शीत लगता था किन्तु वस्त्र पहिनने की उसमें सामर्थ्य नहीं थी। धूप लगती थी, किन्तु छाया नहीं लगा सकता था। मरते समय उसके मुख में उन दुष्टा वेश्याओं ने दहकते हुए अँगारे भर दिये थे इससे उसे बड़ी प्यास लगी थी भूखा भी था। उसी भूख-प्यास में उसने प्राण छोड़े थे। अतः भूख-प्यास से व्याकुल

इधर से उधर भटकता रहता था, किन्तु न स्वयं कुछ खा सकता था न पानी ही पी सकता था। अपने प्रारब्ध को कोसता हुआ दशों दिशाओं में चंचल बना घूमता रहता था। उसके न माता थे न पिता थे न कोई सगा भाई बन्धु ही था, जिनसे पिंडदान की आशा करे। कोई सज्जन मित्र भी नहीं था जो उसके निमित्त कुछ दान पुण्य धर्म कर दे। कोई पीपर आदि का पुण्य वृक्ष भी उसने नहीं लगाया था कि पुत्र रूप में वही अपने पत्रों से उसे जल दे दे। किसी को दान भी नहीं किया था कि समय पर वही सहारा दे दे। एक पर ही उसकी आशा टिकी थी, वह भी अपने किसी उपकार या प्रेम के कारण नहीं उसकी साधुता सज्जनता तथा सब भूतों पर दया करने की प्रवृत्ति के कारण ही उसे आशा थी, वे थे महात्मा गोकर्ण। वह सोचता था—"मैं चाहें कैसा भी नीच पापी क्यों न होऊँ किन्तु गोकर्ण से मेरा भाई पने का नाता है। उन्होंने अपने उपदेश से मेरे पिता का उद्धार किया क्या वे मेरा उद्धार नहीं करेंगे। वे कृपालु हैं दया के सागर हैं अवश्य मुझ दीन हीन पर दया दिखावेंगे, अवश्य ही मेरे उद्धार के लिये कुछ साधन करेंगे।"

उसका शरीर उसी घर में गड़ा था उसके मोह से तथा भाई की आशा से उसी घर में वह रहता था। घूमघाम कर वहीं आ जाता था। मृत्यु का भयंकर दृश्य तथा पापों के वीभत्स चित्र उसके सम्मुख आ जाते उसे स्मरण करके वह रोता रहता दुखित चिंतित तथा व्यग्र बना रहता।

कुछ काल में तीर्थयात्रा करके गोकर्णजी लौटकर अपने घर आये। जिस दिन उन्होंने अपने ग्राम में प्रवेश किया, उस दिन रात हो गयी थी सब लोग सो गये थे, उन्होंने सोचा—"चलो अब अपने ही घर में चलकर सो जायँ, कल प्रातः किसी से

मिलेंगे।" यह सोचकर वे चुपचाप अपने घर में चले गये। घर खुला पड़ा था। भय के कारण वहाँ कोई आता जाता नहीं था। आषाढ़ का महीना था, बड़ी गरमी थी। वे आँगन में ही आसन लगा कर लेट गये। मार्ग के थके थे, पड़ते ही उन्हें प्रगाढ़ निद्रा आ गयी। आधी रात के समय उन्हें ऐसा लगा, कोई उन्हें जगा रहा है। वे उठकर बैठ गये। इधर-उधर देखा, कोई भी दिखायी नहीं दिया किवाड़ बन्द थे, उन्होंने सोचा-मुझे भ्रम हुआ। फिर लेट गये। कुछ देर के पश्चात् फिर खटर-पटर हुई। वे फिर बैठ गये। कोई नहीं दिखायी दिया। वे थोड़ी देर बैठे रहे। सामने उन्हें एक मेढ़ा-सा दिखायी दिया। उन्होंने—हट हट कहा, तो वह वहाँ का वहीं अदृश्य हो गया। फिर उन्हें दीखा कोई हाथी खड़ा है। उन्होंने आँखें मलीं कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ, किन्तु वह स्वप्न नहीं था, सत्य था। कुछ काल में हाथी भी विलीन हो गया, बड़ा भारी भैंसा दिखायी दिया। गोकर्ण निश्चल भाव से देखते रहे। क्षण भर में भैंसा भी अन्तर्धान हो गया। जलती हुई अग्नि दिखायी दी, वे उठे देखा अग्नि भी वहाँ नहीं है। फिर कोई देवता सा दिखायी दिया वह भी विलीन हो गया फिर एक काला सा जिसका मुख जला है जो पहिचाना नहीं जा सकता एक पुरुष सा दिखायी दिया।

अब तो गोकर्णजी समझ गये, यह कोई दुर्गति को प्राप्त पुरुष है, किसी कारण इसकी अकाल मृत्यु हो गयी है, इसे प्रेत-योनि प्राप्त हुई है, मुझसे कुछ सहायता चाहता है।

वे बड़े गम्भीर तथा धैर्यवान् थे, वे यह सब देखकर डरे नहीं, निर्भय होकर धैर्य धारण करके वे उससे बोले—"भैया! तुम कौन हो, तुम्हारी योनि कौन सी है, यह तो मैं समझ गया, तुम वायुरूप धारी कोई अन्तरिक्ष के जीव हो किन्तु हो कौन? कोई ब्रह्मराक्षस हो, प्रेत हो, पिशाच हो अथवा भूत

या कोई अन्य अन्तरिक्ष चारी योनि के जीव हो ? तुम्हारी यह दुर्गति कैसे हुई ? तुमने किसी ब्राह्मण की हत्या कर दी थी, क्या ? या तुम्हें किसी ने किसी पाप या लोभ द्वेषवश मार डाला ? तुम अपना सब सच्चा-सच्चा समाचार सुना दोगे, तो उसे सुनकर जो भी मुझसे बन सकेगा, उसका उपाय करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं —"मुनियो ! गोकर्ण की बात सुनकर वह जले मुख का छाया की भाँति पुरुष ढाहमार कर रोने लगा और कंठ पकड़कर संकेत से कुछ कहने लगा।

गोकर्णजी समझ गये, यह कोई अत्यन्त पापी प्रेत है, बोलने

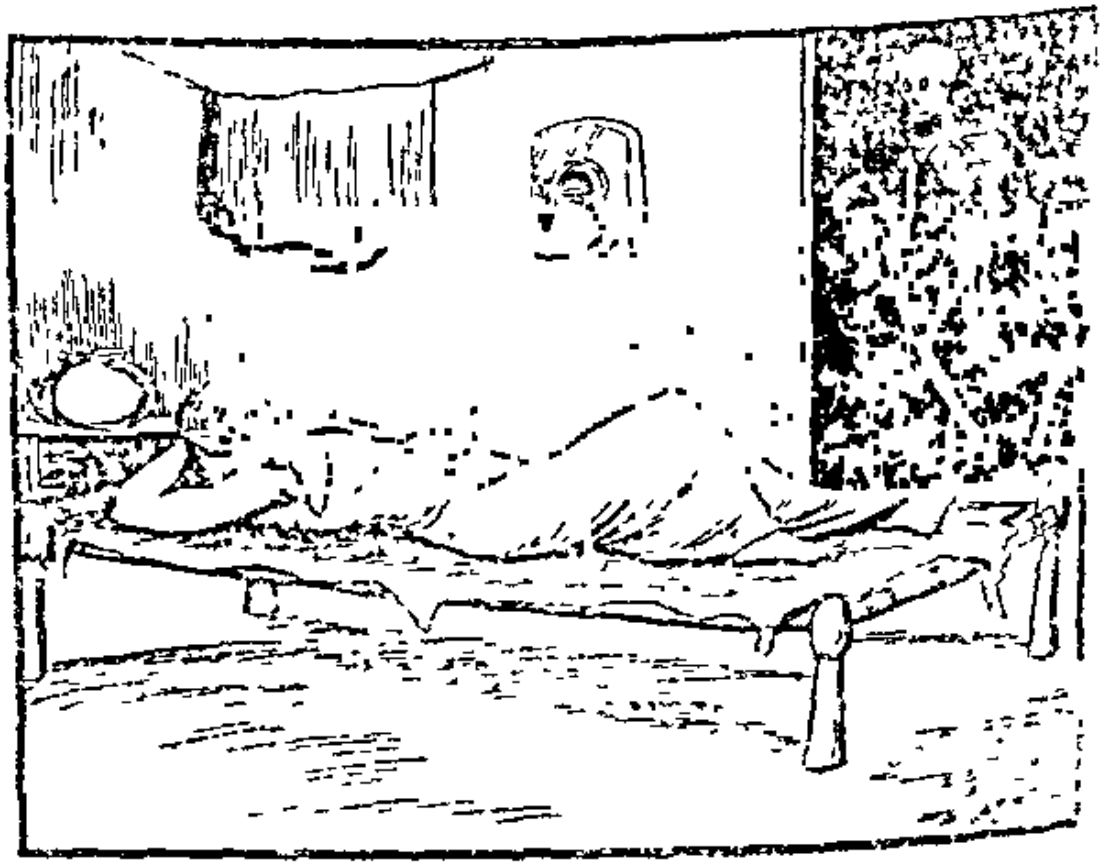

में यह असमर्थ है, अपनी निजी शक्ति से यह बोल नहीं सकता।' उनके पास समस्त तीर्थों का अत्यन्त पवित्र जल था, उसे हाथ में लेकर गायत्री मन्त्र पढ़कर उन्होंने उसके ऊपर फेंका। उस पावन पय के पड़ने से प्रेत के पाप नष्ट हो गये अब उसमें कुछ कहने

की शक्ति आई। वह दीन हीन वाणी में गद्गद कण्ठ से रोते-रोते बोला—"भैया ! मैं तुम्हारा अधम नीच, पापी कृतघ्न धुन्धुकारी नाम वाला भाई हूँ, किस मुख से तुम जैसे धर्मात्मा को अपना भाई कहूँ। मैं तो चांडालों से भी गया बीता बन गया था, ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी मैं श्वपचों का संगी बन गया। मैंने अपने कर्मों के ही दोष से अपना ब्राह्मणपन नष्ट कर दिया। फिर भी कैसा भी सही तुम्हारा भाई तो हूँ ही।"

गोकर्ण ने आश्चर्य से कहा—"अरे धुन्धुकारी ! तुम्हारी यह दुर्गति कैसे हुई ? किसी ने तुम्हें विष दिया था या अनजान में चुपके से वध कर दिया। तुम प्रेत कैसे बने ?" प्रेत रूप धुन्धुकारी ने कहा—"भैया ! मैं अपने पापों से ही प्रेत बना, दुष्कर्मों के कारण ही मेरी ऐसी दुर्गति हुई। काम के कारण मेरी बुद्धि बिगड़ गयी थी, अज्ञान के कारण मुझे कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहा, न जाने मैंने कितने जीवों की हिंसा की, यदि मुझे ही किसी ने मार डाला तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?"

गोकर्ण ने पूछा—"तुम्हें किसने मार डाला ?"

प्रेत रूप धुन्धुकारी ने कहा—"मैं कामी बन गया था, पाँच कुलटा कामिनी मैंने काम पूर्ति के हेतु रख ली थीं, उन्होंने धन के लोभ से मुझे बाँधकर लोहे की सलाकाओं से बेधकर, मुख में अँगारे भरकर मार डाला। इसी से मरकर मुझे प्रेत योनि प्राप्त हुई। मैं भूखा-प्यासा इधर-उधर भटक रहा हूँ।"

गोकर्ण ने कहा—"भूखे-प्यासे क्यों हो, कुछ खाने को दूँ।"

दीनता के स्वर में कहा—"भैया, मैं तो खाने में असमर्थ हूँ, बोल भी नहीं सकता। आपके मन्त्र और तप के प्रभाव से इतनी बातें भी कर रहा हूँ। पार्थिव शरीर हो, तो पृथ्वी से उत्पन्न अन्न, फल दूध आदि खा सकता है, मेरा शरीर तो है, वायु का। वासना बनी है पार्थिव वस्तुओं की इसलिये वायु खाता हूँ, उसी

से जीवित हूँ, किन्तु उससे मेरी तृप्ति नहीं होती। अन्न जल खा-पी नहीं सकता इसी से भूखा भटकता हूँ।"

गोकर्ण ने पूछा—"भूख कैसे मिटेगी ?"

प्रेत ने कहा—"जब यह प्रेत योनि छूटे तभी भूख मिट सकती है। इस योनि में वस्तु खायी नहीं जा सकती, उसकी गंध ही ले सकते हैं।"

गोकर्ण ने पूछा—"तुम्हारी प्रेत योनि कैसे छूट सकती है ?"

प्रेत ने कहा—"इसे भैया ! मैं क्या जानूँ। मैं तो जब जीवित था तब भी अज्ञानी था, वह अज्ञान मरने पर भी इस प्रेत योनि में भी मेरे साथ बँधा है तुम पंडित हो, विद्वान हो। शास्त्रों में इसका उपाय खोजो और मेरे ऊपर दया करके मेरे निमित्त से वह कार्य करो।"

गोकर्ण बोले—"भाई, शास्त्रों के अनुसार तो मैंने तुम्हारे लिये किया है। गया श्राद्ध करने से प्रेत योनि से मुक्ति हो जाती है, सो मैंने तुम्हारे निमित्त गया में जाकर श्राद्ध किया। अन्य तीर्थों में भी तुम्हारे उद्देश्य से श्राद्धतर्पण किये। अब तुम और जो कहो सो करूँ ?"

प्रेत ने कहा—"भैया ! मैं क्या कह सकता हूँ। इतना अवश्य मैं जानता हूँ कि साधारण पापियों की गया श्राद्ध से मुक्ति हो सकती है। मैं तो महापातकी हूँ। मेरे पापों की तो कोई गणना ही नहीं। एक बार नहीं आप सैकड़ों बार गया में जाकर मेरे निमित्त श्राद्ध करें तो भी मेरी मुक्ति सम्भव नहीं। इसीलिये तो आपको कोई अन्य ही उपाय सोचना होगा। आप महान् तपस्वी हैं अपनी तपस्या से निर्णय करें।"

यह सुनकर गोकर्णजी बड़े चक्कर में पड़े। वे सोचने लगे जब सैकड़ों गया श्राद्ध से इसकी मुक्ति नहीं तो फिर दूसरा और उपाय मैं कर ही क्या सकता हूँ। कैसे इसे इस प्रेत योनि

से छुड़ा सकता हूँ। बहुत सोचकर वे बोले—"अच्छा भैया! एक काम करो इस समय तो तुम जाओ। जब गया श्राद्ध से भी तुम्हारी इस योनि से मुक्ति नहीं हुई तब तो असम्भव-सा ही है फिर भी मैं सोचूँगा और अपनी सामर्थ्य के अनुसार तुम्हारे उद्धार का अवश्य कोई न कोई यत्न करूँगा। तुम निर्भय हो जाओ। तुम मेरे बन्धु हो तुम्हारे लिये मैं कुछ उठा न रखूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर वह गोकर्णजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके वहाँ से अन्तर्धान हो गया। अब गोकर्णजी दया के वशीभूत होकर उसके उद्धार के लिये कृत संकल्प हुए। वे रात्रि भर धुन्धुकारी की प्रेत योनि से मुक्ति होने का ही उपाय सोचते रहे। अब जैसे वे उसके उद्धार के लिये प्रयत्न करेंगे, उस पुण्य-प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

तीरथ जलकूँ छिटकि शक्ति बोलन उपजाई।
रोइ रोइ के कथा प्रेत ने सकल सुनाई॥
बोले सुनि गोकरन मुक्ति क्यों भई न भाई।
तब हित किये श्राद्ध गया अरु तीर्थनि जाई॥
प्रेत कहे—शत गया तैं, मुक्ति न मेरी होय अब।
सोचें अपर उपाय कछु, प्रेत योनि अघ मिटहिँ सब॥

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये।

[श्री [illegible]]

भागवत दर्शन

भागवती स्तुतियाँ (२)

खण्ड ६२

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

द्वितीय संस्करण १००० | नवम्बर १९७२ कार्तिक सं०-२०२९ | मूल्य : २. रु०

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१. प्रेतपीड़ा विनाशिनी भागवती कथा	१
२. भागवती कथा महिमा और भावानुसार फल	११
३. गोकर्णजी द्वारा पुनः सप्ताह का निश्चय	२६
४. गोकर्णजी के दूसरे सप्ताह में प्रभु प्राकट्य तथा सभी का उद्धार	४१
५. सप्ताह श्रवण विधि	५०
६. कथारम्भ के पूर्व दिन की विधि	५९
७. श्रोता वक्ता के नियम, कथारम्भ	६६
८. कथा समाप्ति पर कर्तव्य	७५
९. नारदजी के सप्ताह में भक्त और भगवान् का प्राकट्य महा संकीर्तन के साथ सप्ताह समाप्त	८६
१०. परीक्षित् वज्रनाभ मिलन	१०१
११. व्रजभूमि रहस्य	११६
१२. प्रत्यक्ष व्रजलीला में तीन प्रकार के भक्त	१३०
१३. कालिन्दी और कृष्ण-कान्ता	१४३
१४. उद्धवजी के दर्शनों का साधन	१५७
१५. कीर्तन से कुसुमसरोवर पर उद्धवजी का प्राकट्य	१६६
१६. सप्ताह-भागवत पारायण-राजस	१७८
१७. ऋतु अथवा मास पारायण-सात्त्विक	१८७
१८. वर्ष भागवत पारायण-तामस	२०१
१९. राजा परीक्षित् द्वारा कलिदमन, उद्धवजी द्वारा कथारम्भ	२०८
२०. श्रीमद्भागवत और उसके श्रोता वक्ता	२१६
२१. भागवती कथा का चतुर्विध श्रवण माहात्म्य	२२७
२२. श्री मद्भागवत महिमा उपसंहार	२३८

...०...

श्री भागवत-चरित सटीक

टीकाकार

'भागवत चरित व्यास' पं० रामानुज पाण्डेय,
बी० ए० विशारद

'भागवत चरित' विशेषकर ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। जो लोग ब्रजभाषा को कम समझते हैं, उन लोगों को छप्पय समझने में कठिनाई होती है। उनके लिये लोगों की माँग हुई कि छप्पयों की सरल हिन्दी में भाषा-टीका की जाय। संवत् २०२२ विक्रमी में इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ। उसकी दो हजार प्रतियाँ छपायीं। छपते ही वे सब-की-सब निकल गईं। अब उत्तरार्द्ध की माँग होने लगी। जो लोग पूर्वार्द्ध ले गये थे, वे चाहते थे पूरी पुस्तक मिले किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण छपने में विलम्ब हुआ साथ ही लोगों की यह भी माँग थी, कि कुछ मोटे अक्षरों में छापा जाय। प्रभु-कृपा से अब के रामायण की भाँति बड़े आकार में मोटे अक्षरों में (२० पा०) अर्थ सहित प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक खंड में ८५० से अधिक पृष्ठ हैं मजबूत एवं सुन्दर कपड़े की जिल्द, चार-चार तिरंगे चित्र और लगभग ३५० एकरंगे चित्र हैं। मूल्य लागत मात्र से भी कम ४२) रु० रखा गया है। एक खंड का मूल्य २१) रु०। डाक खर्च अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें।

—व्यवस्थापक

हमारी नयी पुस्तक—

भागवत चरित-संगीत सुधा

स्वरकार

वंशीधर शर्मा, 'भागवत चरित व्यास'

भारतवर्ष के अनेकों स्थान से लोग पूज्यपाद श्री ब्रह्मचारीजी महाराज के दर्शनों के लिये आते रहते हैं। दर्शन के साथ इच्छा होती है, कि श्री महाराज जी के मुखारविन्द से अमृतमयी कथा का श्रवण करें। आश्रम पर नित्य नियम से कथा, कीर्तन और पाठ होते रहते हैं। जो भी एक बार भागवत चरित को सुन लेता है, उसकी इच्छा होती है इसे बार-बार सुनें, किन्तु सुनें कैसे जब तक ताल स्वर बाजा तबला पर गाने वाले न हों रस नहीं आता। जिन लोगों ने धुनि नहीं सुनी उनके लिये यह नवीन राग है। अतः बहुत दिनों से लोगों के समाचार आते रहे कि भागवत चरित को शास्त्रीय संगीत में लिपिबद्ध कराके छपवा दीजिये। उसी आधार पर यह 'भागवत चरित-संगीत सुधा' तैयार की गई है। आशा है भागवत चरित पाठक इस पुस्तक से लाभ उठावेंगे। मूल्य १) रुपया।

—व्यवस्थापक

[१७]

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्,
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥ ❀

(श्री भा० १०स्क० ५१ अ० ५४ श्लोक)

छप्पय

सोचि कह्यो गोकरन—जाउ तुम हौं सोचुङ्गो ।
होवै जातें मुक्ति अपर कछु काज करुङ्गो ॥
सूझ्यो नहीं उपाय सूर्य गति रोकी तपतें ।
पूछ्यो साधन मुक्ति सूर्य तब बोले उनतें ॥
सात दिवस सप्ताह यदि, प्रेत भागवत सुनैगो ।
तो निश्चय या योनि तजि, भवसागर तें तरैगो ॥

जीव अपने कर्मों के कारण ऊँची-नीची योनियों में भटकता

❀ राजा मुचुकुन्द भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"अच्युत ! नाना योनियों मे घूमते-घूमते जब पुरुष के जन्म-मरण रूप संसार का अंत निकट आता है तब उसे किसी सत्पुरुष का समागम होता है । सत्पुरुष के प्राप्त होते ही आप भगवान् मे उसका मन लग जाता है, क्योंकि सत्पुरुषों की आप ही एकमात्र गति हैं तथा कार्य कारण के नियन्ता हैं ।"

रहता है। भगवत् कृपा से उसे कभी दयालु परोपकारी संत मिल जाते हैं और वह उनकी शरण में चला जाता है, तो उसके सब बन्धन कट जाते हैं। जीव बिना समझे बूझे भवसागर में बहता जा रहा है, प्रवाह की तरंगों में चपेट खाता व्याकुल बना रहता है। भगवत् कृपापात्र संत कभी उसे बहता देखते हैं और दया-दृष्टि से देख लेते हैं, तो उसे युक्ति से बाहर निकाल लेते हैं डूबने से बचा लेते हैं। ऐसे संतों का साक्षात्कार भी हरि कृपा से ही होता है। भगवत् कृपा की यही सबसे मोटी पहिचान है, कि हमें कोई संत मिल जायँ और उनकी कृपा से हमारी भागवती कथाओं में रुचि होने लगे। जहाँ भागवत में—भगवान् के भक्तों में-तथा भगवान् की कथाओं में रुचि हुई नहीं कि फिर जीव के उद्धार में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोकर्ण के आश्वासन देने पर प्रेत तो चला गया, किन्तु गोकर्ण रात्रि भर उसकी मुक्ति का उपाय सोचते रहे। उनकी बुद्धि में यह बात बैठती ही नहीं थी, वे सोचते थे गया श्राद्ध से तो प्रायः सभी प्रेतत्व छूट जाते हैं, इसके कितने पाप हैं जो गया श्राद्ध से भी न छूटे। अब इसके निमित्त क्या कराऊँ, किस उपाय से इसका उद्धार हो।

इस प्रकार उन्हें सोचते-सोचते प्रातःकाल हो गया। प्रातःकाल वे नित्य कर्मों से निवृत्त हुए। तब तक सम्पूर्ण गाँव में हल्ला मच गया, "महात्मा गोकर्ण तीर्थयात्रा करके लौट आये।" इस समाचार से सम्पूर्ण ग्राम में उत्साह छा गया, सभी छोटे-बड़े नर-नारी उनके दर्शनों को आने लगे। आने वाले लोग तीर्थयात्रा का वृत्तान्त पूछते, कोई धुन्धुकारी के सम्बन्ध की भाँति-भाँति की बातें बताते। कोई कहता—"वह कहीं मर गया। कोई कहता परदेश गया है। कोई कहता—"उसे धन लोभ से किसी ने मार डाला है।"

यह सुनकर गोकर्णजी ने कहा—"न तो वह परदेश गया है, न वह अपनी मौत मरा है। उसे पाँच वेश्याओं ने भयङ्कर यातनायें देकर मार डाला है, उसकी अकाल मृत्यु हुई है। इसी कारण वह मरकर प्रेत हुआ है।"

लोगों ने आश्चर्य से पूछा—"आपको इसका कैसे पता चला ?"

गोकर्ण ने कहा—"रात्रि में वह मेरे पास आया था। वह भूख-प्यास के कारण अत्यन्त दुखी था। उसे अपने कुकर्मों पर हार्दिक पश्चात्ताप था उसने अत्यन्त दीनता के साथ अपने उद्धार की प्रार्थना की है।"

सब लोगों ने कहा—"अभागे की दुर्गति हुई उन स्त्रियों का चाल-चलन अच्छा नहीं था। भैया ! किसी प्रकार उसका उद्धार करो। आपके अतिरिक्त अब उसका और है भी कौन ?"

गोकर्ण ने कहा—"अपने आस पास के जितने विद्वान पंडित हैं, सबको एकत्रित करके सम्मति करें। जो सबकी सम्मति होगी, वही करेंगे।"

यह सुनकर सभी लोग आस-पास के ग्रामों में दौड़ गये। गोकर्ण और धुन्धुकारी की बातें सुनकर गोकर्ण की प्रीतिवश जितने भी विद्वान्, योगनिष्ठ ज्ञानी ध्यानी तथा ब्रह्मवादी पंडित थे, सभी एकत्रित हुए। सभी शास्त्रों का प्रमाण देकर प्रेत की मुक्ति के विविध उपाय बताने लगे। किंतु सब गाड़ी यहीं आकर अटक जाती थी, कि गयाजी तथा प्रयाग, पुष्कर, काशी, नैमिषारण्य तथा अन्य बड़े-बड़े तीर्थों में श्राद्ध करने पर भी जब इसकी मुक्ति नहीं हुई तब और किया भी क्या जाय।"

बहुत सोच समझकर सबने सम्मति दी—"एक कार्य किया जाय। समस्त जगत् के कर्मों के साक्षी सूर्यनारायण ही हैं, ये सम्पूर्ण जगत् के पति तथा तेज की राशि हैं, ज्ञान के भंडार हैं,

ये ही पावनों से भी पावन हैं ये प्रत्यक्ष देव हैं। ये साक्षात् नारायण हैं विष्णु हैं, द्विजातिगण इसीलिये तीनों काल में इनकी उपासना करते हैं, इन्हीं से पूछा जाय।"

गोकर्ण ने पूछा—"सूर्यनारायण से बातें कौन कर सकता है, उनके कौन पूछे ?"

सबने कहा—"आप ही पूछिये। आपके अतिरिक्त और किसमें शक्ति है, आपने इतने दिनों तक वेद-माता गायत्री की आराधना की है, कितने पुरश्चरण किये हैं, आप सब कर सकते हैं। आपके बिना सूर्य से पूछने की सामर्थ्य किसमें है ?"

यह सुनकर गोकर्ण ने भगवान् का ध्यान किया गायत्री मन्त्र का जप किया और अपने तपोबल से सूर्यनारायण की गति को रोककर कहा—"हे सम्पूर्ण जगत् के साक्षी ! हे प्रकाश के पुञ्ज ! हे प्रत्यक्ष देव ! आपके पादपद्मों में प्रणाम है, आप प्रेत बने मेरे भाई धुन्धुकारी की मुक्ति का कोई उपाय बता दें।"

गोकर्ण जी ने जब यह कहा, तो सूर्यनारायण के बिम्ब से स्पष्ट शब्दों में यह वाणी सुनायी दी—"श्रीमद्भागवत कथा श्रवण से ही मुक्ति हो सकती है, अतः तुम उसे श्रीमद्भागवत का सप्ताह सुना दो। तुम्हारे सप्ताह पारायण से श्रवण के निश्चय ही इसका उद्धार हो जायगा।"

सूर्यदेव की यह वाणी सभी को सुनायी दी सबने कहा—"बहुत ही सुन्दर उपाय है, सरल तथा सुगम भी है, सर्वोपयोगी है, सामयिक है। एक के साथ सभी का भला होगा। इस सार्वजनिक उपाय को तो अवश्य ही करना चाहिये।"

सर्वसम्मति से भागवत सप्ताह करने का निश्चय हुआ। पंडितों ने निश्चय किया इस समय आषाढ़ का बड़ा सुन्दर महीना है, शुक्लपक्ष भी है। कल नवमी तिथि है, कल से सप्ताह आरम्भ हो। आज से ही सब लोग कथा के प्रबन्ध में जुट

जाओ। सभी अपना-अपना कार्य बाँट लो। कथा ऐसी अपूर्व हो, कि एक धुन्धुकारी का ही नहीं सभी पापियों का उद्धार हो जाय।"

सबको बड़ा कूतूहल तथा उत्साह था इसलिये सभी सप्ताह की सामग्री जुटाने में जुट गये। पहिले चर्चा इस विषय पर चली कि भागवत सप्ताह कहाँ पर हो किसी ने कहा नदी तट पर हो किसी ने कहा पुण्य तीर्थ पर हो किसी ने कहा ग्राम के बीच में हो। इस पर गोकर्ण जी ने कहा—"तीर्थ पर होना तो सर्वोत्तम ही है किसी भी कामना से या भक्ति-मुक्ति की कामना से हो सप्ताह करने वाले को पुण्य तीर्थों में गंगादि पावन सरिताओं के तट पर ही सप्ताह यज्ञ करना चाहिये, किन्तु अब न तो उतना समय है न इतने कम समय में सभी लोग वहाँ जा सकेंगे, अतः अब तो यहीं करना उत्तम है। फिर हम लोगों का प्रधान लक्ष्य तो धुन्धुकारी का उद्धार करना है, उसकी अकाल मृत्यु यहीं हुई है इसलिये इसी घर में सप्ताह करना उचित है।"

यह बात सभी को अच्छी लगी, सभी ने इसका समर्थन किया। ग्राम की स्त्रियाँ गौ का गोबर और पीली मिट्टी ले आयीं कुछ लोग फावड़ा लेकर जुट गये ऊँची-नीची भूमि को सम किया घर को कलई से पोता बाहर भीतर सभी स्थान को गोबर से लीपा गया। झाड़ बुहारकर लीप-पोतकर घर को स्वच्छ बना दिया। लीपने-पोतने से वहाँ ब्राह्मी श्री दिखायी देने लगी। आत्मदेव जी का घर बहुत लम्बा-चौड़ा था उसमें विस्तृत आँगन था सहस्रों नर-नारी वहाँ सुख से बैठ सकते थे, वह पूरा आँगन लीप दिया। उसी में सुन्दर मण्डप सजाया गया। नीचे चूर्ण से सेल खड़ी और गेरू आदि से भूमि में चौके पूरे गये। सम्पूर्ण स्थान झंडी पताका से सजाया गया बड़ी सुन्दर व्यास पीठ बनायी गयी। चारों कोनों पर केले के फलयुक्त पेड़ लगा

दिये। वेदी के पास एक ऊँचा स्थान बनाकर सात लोकों की कल्पना की गयी, उसमें सात सुन्दर आसन बिछाकर विरक्त ब्राह्मणों के बैठाने का प्रबन्ध किया गया।

गोकर्णजी ने उस दिन उपवास किया। क्षौर कराकर पंच-गव्य से शरीर शुद्धि की। आस-पास के ग्रामों में सर्वत्र विद्युत् की भाँति यह समाचार फैल गया सभी कहने लगे—"गोकर्ण कितने भारी महात्मा हैं, देखो उन्होंने अपने तप के प्रभाव से सूर्य की भी गति रोक ली है सूर्यदेव ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"श्रीमद्भागवत सप्ताह के श्रवण से सभी पाप कट सकते हैं ऐसा अवसर बार-बार नहीं आवेगा। चलो हम लोग भी चलकर गोकर्ण जी के मुख से कथा श्रवण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक ही दिन में एक गाँव से दूसरे गाँव में, दूसरे से तीसरे में हल्ला मल गया, सभी गावों से टोली बनाकर नर-नारी आने लगे। अनेकों लँगड़े, लूले, अन्धे बूढ़े पठित, मूर्ख,पापी तथा रोगी लोग कथा सुनने को तथा अपने पापों को मिटाने की भावना से आने लगे। देखते-देखते एक विशाल जन समूह वहाँ आ गया।"

'दूसरे दिन गोकर्ण जी नित्य कर्म से निबटकर सजे सजाये कथा मंडप में आये। उनके आते ही सब लोगों ने उच्च स्वर से जय जयकार किया सबने गोकर्ण जी को प्रणाम किया, सबका यथोचित सत्कार करके वे व्यास गद्दी पर विराजमान हुए। सबने चन्दन, माला, तुलसी तथा फल-फूल दक्षिणा आदि से उनका पूजन किया। वे ज्यों ही कथा कहने को उद्यत हुए त्यों ही वह प्रेत भी वहाँ आ गया। प्रेत का शरीर तो वायु का था, वह कैसे बैठ सकता था। किसी सुरक्षित स्थान में ही बैठ सकता था। वह इधर-उधर अपने बैठने का स्थान खोजने लगा, सम्मुख

ही उसे सात गाँठ वाला एक बाँस दिखाई दिया, उसी में वह घुस कर बैठ गया। कथा प्रारम्भ हो गयी।"

प्रथम स्कन्ध से उन्होंने कथा आरम्भ की। बड़े धीर गम्भीर स्वर में वे कथा कहते रहे। मध्यान्ह में दो घड़ी विश्राम करके पुनः कथा आरम्भ कर दी। इस प्रकार सायंकाल तक कथा कहते रहे।"

जब प्रथम दिन की कथा समाप्त हुई, तो सबके देखते कथा स्थल में ही एक बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। उस विचित्र घटना से सभी की श्रद्धा और बढ़ गयी। प्रेत जिस बाँस में बैठा था, उसकी एक गाँठ तड़-तड़कर के फट गयी। सबने पूछा—"यह क्या हुआ, यह क्या हुआ।"

तब गोकर्ण जी ने कहा—"कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह प्रेत सात आवरणों से आबद्ध है। आज इसका एक आवरण

कटा। उसी प्रकार सात दिनों में इसके सातों आवरण कट जायँगे।"

यह सुनकर सभी को सन्तोष हुआ। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पाँचवे, छटे तथा सातवें दिन बाँस की सातों गाँठें कट गयीं। सात दिन में बारहों स्कन्ध की पूरी कथा उसने ध्यानपूर्वक सुनी। सातवें दिन जब कथा समाप्त हुई, तो उसकी प्रेतयोनि सदा के लिये छूट गयी। गोकर्णजी अभी व्यासासन पर ही विराज मान थे, जिस ब्राह्मण को मुख्य श्रोता बनाया था,वह भी बैठा था तथा दूसरे सभी श्रोता कथा सुनकर अपने-अपने आसनों पर स्थित थे उसी समय वह प्रेत कथा के प्रभाव से अपनी प्रेतयोनि छोड़कर देवता बनकर हाथ जोड़कर गोकर्णजी के सम्मुख खड़ा हो गया।"

उस समय की उसकी शोभा दर्शनीय थी। उसका मस्तक मनहर मुकुट से सुशोभित था। मस्तक पर केशर कस्तूरी का चन्दन लगा था। प्रत्येक अंग में दिव्य आभूषण विराजमान थे। कण्ठ तुलसी की दिव्य सुगन्ध वाली मालाओं से सुशोभित था। मेघ के समान श्याम वर्ण का उसका शरीर था। सुवर्ण-सा झलमलाता हुआ पीताम्बर वह ओढ़े था। कानों के दिव्य कुण्डल झलमल झलमल करके उसके मुखमण्डल की शोभा बढ़ा रहे थे। उसके दिव्य रूप की आभा दशों दिशाओं को आलोकित कर रही थी। आते ही उसने गोकर्ण को प्रणाम किया और बड़े ही कृतज्ञता पूर्ण स्वर में गद्गद कंठ से उसने कहना आरम्भ किया—"भैया! तुमने इस दीन के ऊपर बड़ी कृपा की इस अनाथ को सनाथ बना दिया। इस पापी का उद्धार कर दिया। इस पापयोनि से मुझे सदा के लिये छुड़ा दिया। वायु रूप वाली इस योनि में मुझे अनेकों असह्य यातनायें सहनी पड़ रही थीं। उन सबका आपने आज अन्त करा दिया। अधम से मुझे

देवताओं के सदृश दिव्य बना दिया। देखो, कितने आश्चर्य की बात है। मेरे इतने भारी पाप सात दिनों में बात की बात में कट गये। यह प्रेत पीड़ा विनासिनी भागवती कथा धन्य है धन्य है। इसकी सदा जय हो जय हो विजय हो। जो सभी पापों से छुड़ाकर श्रीकृष्ण धाम को प्राप्त कराता है वह भागवत सप्ताह धन्य है।

बड़े लोग कहा करते हैं, कि प्राणी जब गंगाजी की ओर बढ़ता है। तो सभी पाप काँपने लगते हैं, कि गंगा हम सब का नाश कर देगी। किन्तु यह भागवती कथा गंगा तो घर बैठे ही समस्त पापों को नष्ट कर देती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रेतत्व से छूटा वह दिव्य पुरुष बड़ी देर तक श्रीमद्भागवती कथा सप्ताह की महिमा गाता, रहा। उसी समय वैकुण्ठ वासी पार्षदों से युक्त एक दिव्य विमान वहाँ उतरा। उसके दिव्य तेज से दशों दिशायें अलोकित हो रही थीं।"

विष्णु पार्षदों ने उस दिव्य पुरुष से कहा—"आकर इस विमान में बैठ जाओ।"

उनकी आज्ञा पाकर देवता बना वह धुन्धुकारी उसमें बैठ गया। जब उसे लेकर विमान चलने लगा, तो गोकर्ण ने उनसे कुछ कथा के सम्बन्ध में प्रश्न किये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने कहा—प्रेतत्व से छूटे धुन्धुकारी ने अपने दिव्य रूप से बहुत देर तक श्रीमद्-भागवत कथा सप्ताह की प्रशंसा की, उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा। हम सुनना चाहते हैं, उसने क्या-क्या कहा? क्योंकि वस्तु की महिमा सुनकर ही किसी के प्रति उत्सुकता होती है, उसका अनुभव होने पर श्रद्धा होती है, महिमा सुनकर ही लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं। नगर में बहुत से लोग आते हैं, आकर

चले जाते हैं, कोई जानता ही नहीं वे कब आये कब चले गये। किन्तु जिनका बहुत दिनों पहिले से विज्ञापन होता है, उनके सम्बन्ध की बातें प्रसारित की जाती हैं, महिमा बतायी जाती है, उनके स्वागत सत्कार का प्रबन्ध किया जाता है, तो लोगों के मन में उसके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, देखें तो वे कैसे पुरुष हैं। जिनका इतना ढोल पीटा जा रहा है, जिनके स्वागत का इतना प्रबन्ध किया जा रहा है। इस उत्सुकता के कारण ही उनके आने पर लाखों नर-नारी एकत्रित होते हैं, उनका स्वागत सत्कार किया जाता है। कहने का सारांश यह है, कि महिमा सुनकर उस विषय की जानकारी होती है, फिर उस विषय में प्रीति पैदा होती है, धुन्धुकारी ने तो कथा की महिमा का प्रत्यक्ष अनुभव किया था। अनुभवी की बात का अत्यधिक प्रभाव होता है।"

यह सुनकर सूतजी बोले— "महाराज ! मैं दिव्य रूप धारी धुन्धुकारी के मुख से कही गयी भागवती कथा सप्ताह महिमा का वर्णन करूँगा और गोकर्ण जी ने जो उन भगवत् पार्षदों से प्रश्न किये हैं, उनका भी वर्णन करूँगा। आप सब इस परम पावन पुण्यप्रद प्रसंग को प्रेम पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

सूरज-साधन सुगम सरल सबके मन भायौ।
तुरत सबनि सप्ताह भागवत साज सजायौ॥
गाँम गाँम तैं अन्ध, वृद्ध पापी बहु आये।
छीन करन अघ सकल नारि नर हरषित धाये॥
व्यासासन गोकरन मुनि, भये विराजित प्रेम तैं।
सात गाँठि के बाँस में, प्रेत सुनै सब नेम तैं॥

—०—

भागवती कथा महिमा और भावानुसार फल

(१८)

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरित दुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तम्
तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० ३९ श्लोक)

छप्पय

फूटी पहिली गाँठ अन्तमहँ सातहु फूटी ।
प्रेत योनि सप्ताह भागवत सुनि के छूटी ॥
धुन्धुकारि धरि दिव्य रूप सम्मुख जब आयौ ।
श्रोता सबरे चकित भये स्वर मधुर सुनायौ ॥
धन्य धन्य सप्ताह धनि, धन्य भागवत अघ हरनि ।
करयो कृतारथ क्रूर अति, धन्य धन्य गोकरन मुनि ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—"हे वैकुंठनाथ ! मेरा जो यह मन है उसकी प्रीति आपकी कमनीय कथाओं में नहीं है । यह राग द्वेषादि दोषों से दूषित अति असाधु, कामातुर, हर्ष शोक भय तथा त्रिविधि तापों और पुत्रेषादि एषणाओं से सदा व्याकुल बना रहता है । इस ऐसे कलुषित चित्त से मैं अति दीन-हीन किस प्रकार आपके स्वरूप का चिन्तन कर सकता हूँ स्वरूप चिन्तन तो भागवती कथाओं के श्रवण से ही हो सकता है ।"

कथा सुनने में सबकी स्वाभाविक रुचि होती है। सर्वसाधारण लोग जहाँ दश पाँच एकत्रित होकर बैठेंगे परस्पर में लोक कथायें कहेंगे। गाँवों में शीतकाल में आग जलाकर उसके चारों ओर जब लोग बाग बैठते हैं, तो उनमें लोक कथा ही छिड़ जाती है। अमुक ऐसा है, अमुक ने ऐसा किया। उनमें जैसी प्रकृति के लोग होते हैं, वैसी ही कथायें कहते हैं। कामी लोग कामिनियों की कथाओं को बड़े विस्तार के साथ अत्यन्त सरस भाषा में वर्णन करते हैं। कुछ लोगों की लड़ाइयों की बात बताते हैं, कुछ लोग अपनी प्रशंसा के पुल बाँधते हैं, कुछ शोक तथा भय वाली कहानियाँ सुनाते हैं। उनसे कुछ समय तक मनोरंजन भले ही होता हो, समय भले ही कट जाता हो, अन्तःकरण पर उनका बुरा प्रभाव पड़ता है। वे ही काम, क्रोध तथा भय जनित विचार मस्तिष्क में घूमते रहते हैं। रात्रि में वैसे ही स्वप्न आते हैं, हृदय की कोमल वृत्तियों पर उनका प्रभाव पड़ता है और वे उन्हीं विचारों में रँग जाती हैं, वैसी ही बन जाती हैं। इसके विपरीत जो ऐसी काम क्रोध जनित संसारी कथायें नहीं सुनते हैं, भगवान की सुमधुर, परम पावन भागवती कथाओं, को सुनते, उनके चारु चरितों का नियम से पाठ करते हैं, उन्हीं के सम्बन्ध के उत्सव समारोह करते हैं, तो उनका मन भगवत् भक्ति के रंग में रँग जाता है, भगवान की लीलायें उनके अन्तःकरण में समा-जाती हैं मरते समय उन लीलाओं का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है, इससे वे उन्हीं लोकों में चले जाते हैं जहाँ ऐसी दिव्य लीलायें निरन्तर होती रहती हैं, जो भगवान का दिव्य धाम है जिसे वैकुण्ठ, विष्णु लोक, गोलोक, साकेत लोक तथा अपनी भावना तथा इष्ट के सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। कथा सुनने में जिसका भाव जितना ही तीव्र लगन का होगा, उनको उसका फल भी उतनी ही तीव्रता के साथ तत्काल या देर में

मिलेगा, किन्तु कर्म कोई भी निष्फल नहीं जाता। भागवती कथाओं का श्रवण तो कभी निष्फल जाता ही नहीं जान में अनजान में कैसे भी सुनो, उसका सुफल होगा, होगा, अवश्य होगा। सुन्दर होगा, सुखकर आनन्दकर तथा आह्लादकर होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दिव्य रूप धारी धुन्धुकारी ने प्रेतयोनि से मुक्त होकर जो भागवत सप्ताह की महिमा कही, उसे मैं वर्णन करता हूँ। उसने कहा—"श्रीभागवती कथा पापों के लिये प्रज्वलित अग्नि के समान है। जैसे जब अग्नि प्रज्वलित होती है तो उसके सामने सूखा, गीला, छोटा, बड़ा तथा हरा-भरा कैसा भी काष्ठ आता है, उसे भस्मसात् कर देती है। वैसे ही श्रीमद्भागवत की नियम से सुनी कथा शुष्क, आर्द्र, छोटे, बड़े, मन से, वचन से तथा कर्म से किये गये पापों को भस्म कर देती है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सूखे, गीले पाप कैसे होते है?"

सूतजी बोले—"महाराज! सूखे पाप तो वे हैं जो अनजान में हो जाते हैं। जैसे मार्ग चल रहे हैं चीटीं मर गयी। झाड़ू दे रहे हैं, उसमें जीवों का संहार हो गया। अग्नि जला रहे हैं, काष्ठ के भीतर बैठा, कोई जीव-जन्तु घुन जल गया। साग भाजी, फल-मूल बना रहे हैं, उनके भीतर का कोई जीव-जन्तु मर गया, या मूल में चला गया। ये सब अनजाने किये पाप पञ्च यज्ञों द्वारा नष्ट हो जाते हैं, जो पञ्च यज्ञ नहीं करते उनके शरीर में ये सूखे पाप बने रहते हैं। आर्द्र अर्थात् गीले पाप वे कहाते हैं जो जान बूझकर किये जाते हैं, जैसे चोरी, जारी, हत्या, विश्वासघात, असत्य भाषण, आदि-आदि। इनका कितना भी प्रायश्चित्त करो, किन्तु बीज बना ही रहता है, प्रायश्चित्तों से पापों का समूल नाश नहीं होता, किन्तु प्रेमपूर्वक किये गये

भगवन्नाम कीर्तन से, श्रद्धापूर्वक श्रवण की गयी भागवती कथाओं से ये सभी पाप समूल नष्ट हो जाते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मनुष्य शरीर, इसलिये थोड़े ही दिया गया है, पेट भर खाते रहो, दिन भर खाने-पीने विषय भोगों की चिन्ता करते रहो और रात्रि में तान दुपट्टा सो जाओ। मुनियो ! मानव शरीर अति दुर्लभ है, वह भी सर्वत्र नहीं इस वर्णाश्रमधर्मी भारतवर्ष में। भारतवर्ष में भी यदि उत्तम कुल में जन्म हो जाय, तो फिर क्या पूछना है। ऐसा सुयोग पाकर भी जो भागवती कथाओं के श्रवण से वञ्चित रह जाते हैं, वे अभागे हैं, जो ऐसा सुयोग पाकर भी भगवन्नाम कीर्तन नहीं करते, उनके दुर्भाग्य के लिये क्या कहा जाय। इस युक्ति को देवतागण की सभा में बारम्बार दुहराते हैं और वे स्वयं भारत में जन्म लेकर कथा सुनने को ललचाते हैं।

मुनिवर ! आप स्वयं सोचें—"क्या यह अमूल्य मानव जन्म केवल पेट भरने के लिये है क्या ? संसारी लोग दिन भर क्या करते हैं। किस प्रकार अधिक रुपया आवे यही सोचते रहते हैं। छल से, कपट से, छोटे लोगों को दुःख देकर, उन्हें कष्ट पहुँचा कर उनका रक्त शोषण करके, प्रपंच रचकर, असत्य बोलकर, शासकों की आँख बचाकर, उन्हें घूँस देकर, अनुचित प्रलोभन देकर, पाप करके जैसे बने तैसे धन पैदा करते हैं। किस लिये ? पेट भरे, हमारा शरीर पुष्ट हो, हमारे परिवार वालों को कष्ट न हो, हमारा संसारी सुख नष्ट न हो, धर्म भले ही भ्रष्ट हो। उनसे कोई कहे—"भाई थोड़ी कथा भी सुना करो। भगवान् का नाम लिया करो, तो वे लाल पीली आँखें करके कहेंगे—"अजी, तुम्हें कथा की ही पड़ी है। आपके आगे नाथ न पीछे पगहा। न्यों नहीं, धन्धे नहीं, काम नहीं, धन्धा नहीं बैठे ठाले रोटी मिल जाती है, तुम्हें कथा की ही सूझती है। हमें मरने का तो अव-

काश नहीं। कथा सुनें कि अपना काम करें कथा के लिये हमें समय कहाँ ?"

ऐसा लगता है, मानों ब्राह्मण का ठेका इन्होंने ही ले लिया है। यदि कथा सुनने लगें तो बाल-बच्चे भूखों ही मर जायँगे, जो कथा सुनते हैं उनके बच्चे उपवास करते हैं। या ये मर जायँगे तो इनके साथ ही इनके बाल-बच्चे या स्त्री आदि परिवार वाले भी मर जायँगे। क्योंकि इनके बिना इनका पेट ही न भरेगा। अब कहते हैं मरने का भी समय नहीं। किन्तु जब मृत्यु आवेगी तो इनसे पूछकर थोड़ी ही आवेगी, ये चाहें लाख मना करते रह जायँ, वह तो समय पर ले ही जायगी। उसके सम्मुख एक भी विकल्प न चलेगा। रही पेट भरने की बात सो, इसके लिये कोई मना थोड़े ही करता है। चौंसठ घड़ी का दिन-रात होता है। बत्तीस घड़ी संसारी काम करो बत्तीस घड़ी कथा सुनने कीर्तन करने में लगाओ। न बत्तीस लगा सको सोलह घड़ी लगाओ। सोलह भी न लगा सको आठ ही घड़ी लगाओ। चार ही लगा दो, न चार सही दो ही घड़ी लगाओ, एक घड़ी आधी घड़ी आधी में से भी आधी कुछ तो समय दो। मान लो तुमने बहुत से पौष्टिक माल खा लिये तोंद बढ़ गयी, शरीर पुष्ट हो गया, तो इससे क्या हुआ। मरते समय वह इतना मोटा शरीर यहीं तो रह जायगा। स्मशान ले जाने वालों को कष्ट और होगा। कंधे दुखने लगेंगे। तुम्हें क्या लाभ होगा। शरीर साथ तो जायगा नहीं, सुन्दरता यहीं धरी रह जायगी, साथ जायगा पाप और पुण्य। कथा सुन लोगे तो यह शरीर सार्थक हो जायगा।"

शौनकजी ! आप ही सोचें, जाने दो पुण्य मिलने की बात। दुःख तो सभी को होता है, दुःख में चित्त चंचल सभी का हो जाता है, चाहे कितना भी धनी, मानी, विद्वान् और बड़ा व्यक्ति

हो। उस दुःख में जब सीताजी के पति द्वारा त्याग की बात सुनते हैं, तो कितनी शांति मिलती है। सोचते हैं जब जगज्जननी को देह धारण करने पर ऐसे-ऐसे कष्ट सहने पड़े। इतनी भारी विपदाओं का सामना करना पड़ा, तो हम लोग तो किस खेत के बथुए हैं। जब चित्त मे प्रेम की एक हिलोर उठती है उस समय राधाकृष्ण की सरस लीलाओं को सुनने से हृदय कितना द्रवीभूत होता है, प्रेम की कैसी छटा मानस पट पर छिटक जाती है, भगवान् की लीलाओं की लकीर अन्तःकरण में खिँच जाती है, वे ही लकीरें मरते समय साकार हो उठती हैं तो सूक्ष्म शरीर उसी लोक में चला जाता है जहाँ ये लीलायें होती रहती हैं। यही इह लोक और परलोक को साधने की चातुरी है। इसी में शरीर की सार्थकता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस शरीर का उपयोग केवल कथा ही सुनना है?"

सूतजी बोले—"महाराज! आप ही सोचें इस शरीर का और बनेगा ही क्या? इस शरीर का आप विचार करें यह है क्या? यह एक चलती-फिरती कोठरी है, हड्डियों का ढाँचा बनाकर नसों से बाँधकर, मांस और रक्त के गारे से थोपकर, ऊपर से त्वचा मढ़ दी है। उसके भीतर विष्ठा और मूत्र भरा हुआ है। इसका परिणाम क्या है जरा, शोक, रोग जनित दुःख। मैं पूछता हूँ, संसारी भोगों को ही सब कुछ समझने वाला कोई भी प्राणी आपने कभी सुखी देखा है? नित्य नई-नई चिन्तायें लगी रहती हैं, यह शरीर रोगों का तो कोषागार है ऊपर से नीचे तक रोग ही रोग भरे रहते हैं। कभी तृप्त नहीं होता। आज भर पेट खा लिया, सायंकाल को फिर खाली। रात्रि में खाकर सोये, प्रातः फिर भूख। सैकड़ों मन अन्न, जल, घी, दूध इसमें ठूँसते हैं, किन्तु मरते समय तक हा भूख! हा भूख! की ही रट लगी रहती है।

परिणाम में ऐसा है जैसे बालू की भीति, न जाने कब खिसक पड़े। एक साँस से दूसरी साँस का भी ठिकाना नहीं।

पशुओं के मरने पर उनकी खालों से जूता, पुरवट और भाँति-भाँति के सामान बनते हैं, उनके सींग, खुर, हड्डियाँ सभी काम में आती हैं, किन्तु सबसे अपने को श्रेष्ठ समझने वाले इस मानव प्राणी का शरीर मरने पर कुछ भी काम में नहीं आता। आठ पहर से अधिक रखा रहे तो दुर्गन्ध आने लगती है। अग्नि में जला दो मुट्ठी भर भस्म हो जाती है, भूमि में गाड़ दो तो कीड़े पड़ जाते हैं, जङ्गल में फेंक दो चील्ह, कौए, कुत्ते तथा गीदड़ आदि खाकर बिष्ठा बना देते हैं। मूत्र स्थान से इसकी उत्पत्ति है, बिष्ठा के समीप रहकर बढ़ता है, बिष्ठा का पात्र बनकर पैदा होता है और अन्त में भस्म, कीड़ा या बिष्ठा ही बन जाता है, ऐसे क्षणभंगुर अस्थिर नाशवान् शरीर से यदि परम पावन, सदा स्थिर रहने वाली, कभी भी न मिटने वाली, भगवत् कथायें सुनी जायँ, तो इससे बढ़कर इसका और उपयोग होगा ही क्या ?"

शौनकजी से पूछा—सूतजी ! आपने तो इस शरीर की बड़ी वीभत्सता वर्णन की। यह इतना अस्थिर क्यों है ?

सूतजी बोले—"महाराज ! जैसा जिसका निमित्त कारण होता है, वैसा ही उसका परिणाम होता है। मिट्टी से बर्तन बनावेंगे, उसमें मिट्टी ही मिट्टी रहेगी। खांड़ के खिलौने बनावेंगे, उसमें खांड़ ही खांड़ होगी, पत्थर की मूर्ति में पत्थर ही पत्थर होगा, सोने के बने आभूषण में सोने के अतिरिक्त और क्या होगा ? इसी प्रकार अस्थिर वस्तु से बने शरीर का परिणाम भी अस्थिर ही होगा।"

शौनकजी ने पूछा—"अस्थिर वस्तु से यह शरीर कैसे बना है ?"

सूतजी बोले—"अस्थिर वस्तु से तो महाराज ! बना ही है, इस

शरीर की रस, रक्त, मांस, अस्थि, मेदा तथा शुक्र आदि सभी धातुएँ जो हम दाल, भात, रोटी आदि खाते हैं उन्हीं से तो बढ़ती हैं बनती हैं। आप भात को प्रातः बनाकर रख दीजिये, सायंकाल तक अखाद्य बन जायगा, दूसरे दिन दुर्गन्ध आने लगेगी, तीसरे दिन कीड़े पड़ जायँगे। उसी अन्न के रस से तो यह परिपुष्ट होता है, फिर इसमें सड़ाँद न आवे कीड़े न पड़ें तो क्या हो? इसीलिये भगवन्! वह प्रेतयोनि से छूटा देवता बना धुन्धुकारी कह रहा है—"इस लोक मे शरीर की सार्थकता भागवत् सप्ताह श्रवण में ही है, इससे सरलता से श्रीहरि सन्निकट आ जाते हैं। जिसे अपने पापों का प्रायश्चित्त करना हो, दोषों को मिटाना हो, उनके लिये सप्ताह सुनना ही सरल साधन है। जो लोग भागवती कथा से वंचित रहते हैं वे जल में बुद्बुदों के समान, पतंगों के समान केवल मरने के ही लिये उत्पन्न होते हैं।"

प्रेत कह रहा है—"तुम अन्य उदाहरण ढूँढ़ने कहाँ जाओगे—मेरा ही उदाहरण ले लो। मैं सूखे बाँस की पोर में बैठा था, कथा सुनने से बाँस की सूखी गाँठें जब फूट गयीं तो क्या हृदय की गाँठें न खुल जायँगी? इस अनित्य शरीर में नित्य का, अनात्म में जो आत्मपने का अध्यास हो गया, वह नष्ट न हो जायगा? भागवती कथा सुनने से हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सर्व संशय मिट जाते हैं, तथा सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। कथा श्रवण से संसारी वासना रूपी कीचड़ जो मन मे जम गयी है, वह छूट जाती है। इसलिये संसार से मुक्ति चाहने वालों को इस कथा रूपी तीर्थ में श्रद्धा भक्ति के साथ स्नान करना चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! प्रेत ने जब भागवती कथा की ऐसी महिमा गायी, तभी विष्णु पार्षद उस दिव्य रूपधारी धुन्धुकारी को विमान पर चढ़ाकर ले जाने लगे। उस समय

गोकर्ण ने उन हरिदासों से कहा—"महानुभावो ! तनिक ठहर जाओ। मेरे एक प्रश्न का उत्तर और देते जाओ।"

यह सुनकर विमान आकाश में ही स्थिर हो गया। विष्णु पार्षदों ने कहा—"कहिये, गोकर्णजी ! आप क्या पूछना चाहते हैं ?"

गोकर्ण ने कहा—"महाराज ! पूछना यह है, कि आप लोग एक ही विमान क्यों लाये ?"

पार्षदों ने कहा—"धुन्धुकारी प्रेत ने कथा सुनी, कथा सुनने से उसे वैकुण्ठ की प्राप्ति हो गयी, उसी के लिये हम एक विमान ले आये।"

गोकर्ण ने कहा—"हाँ, यही तो मेरी शंका है। कथा केवल धुन्धुकारी ने ही सुनी हो, सो बात तो नहीं यहाँ सहस्रों श्रोता थे, और सभी एक से एक बढ़कर कुलीन सत्पात्र तथा शुद्ध चित्त वाले थे। कथा सुनने का फल सभी को समान होना चाहिये सभी के लिये विमान आने चाहिये। सो, ऐसा तो हुआ नहीं। अकेले धुन्धुकारी के साथ पक्षपात क्यों किया गया, दूसरों को इस फल से वञ्चित क्यों रखा गया ? भगवान् के यहाँ भी पक्षपात होता है क्या ? कर्म सब एक-सा करें और फल बँटते समय एक को फल मिल जाय, शेष सब मुख ही ताकते रह जायँ, इस अन्याय का कारण क्या है ?"

यह सुनकर भगवान् के पार्षद हँसे और बोले—"गोकर्ण जी ! आप ने अपने श्रोताओं को सन्तुष्ट करने के निमित्त अत्यन्त ही बुद्धिमानी के साथ प्रश्न किया, हम आपके प्रश्न का उत्तर देते हैं। यह प्रश्न करके आपने हमें सम्मान प्रदान किया।"

देखिये, गोकर्णजी भाव के भेद से क्रिया में भेद हो जाता है। एक लड़की विवाह करके सोलहू शृङ्गार करके घर जाती है,

वह अपने पिता का भी आलिंगन करती है, भाई का भी आलिंगन करती है, घर जाकर उसकी सौति का एक लड़का है उसका भी आलिंगन करती है। पति का भी आलिंगन करती है। काम तो एक-सा ही है, किन्तु उन सब का भाव पृथक्-पृथक् होने से उसके फल में अन्तर हो जाता है। कथा तो सबने समान रूप से सुनी, सुनने में समानता होने पर भी गुनने में मनन करने में अन्तर था। इस प्रेत को तो लगन थी—इसे तो अपने किये कुकर्मों का हृदय से पश्चात्ताप था, इसलिये यह स्थिर चित्त से सुनता रहा और दृढ़ता के साथ मनन भी करता रहा। सात दिनों तक यह स्थिर बैठा रहा, वायु का भी आहार नहीं किया, जो सुनता उसका निरन्तर मनन निदिध्यासन करता रहता। दूसरों ने सुना तो सही, किन्तु उनमें उतनी दृढ़ता नहीं थी, न हृदय में ऐसी लगन, और न अपने कुकर्मों के लिये उतना पश्चात्ताप। भगवान् तो हृदय के किये हुए पश्चात्ताप से अत्यन्त निकट आ जाते हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पश्चात्ताप से भगवान् निकट क्यों हो जाते हैं? पश्चात्ताप में ऐसी कौन-सी विशेषता है?"

सूतजी बोले—"महाराज! अपने किये कुकर्मों पर पीछे से दुःख हो, करने के पश्चात् ताप हो, पछितावा हो, उसे पश्चात्ताप कहते हैं। भगवान् का हृदय अत्यन्त ही कोमल है, कोई अपने बुरे काम पर अश्रु बहाता है, तो उसकी जो उष्ण साँसें निकलती हैं उनसे भगवान् का हृदय द्रवित हो जाता है, वे उस पश्चात्ताप करने वाले के समीप आकर उसे निर्भय कर देते हैं, उसे अभय प्रदान कर देते हैं। विभीषण ने जब आर्त होकर भगवान् की शरण गही और अपने कर्मों के प्रति खेद प्रकट किया, तो भगवान् ने तुरन्त उन्हें अपना लिया। भगवान् की प्रियता जैसी

हृदय से किये हुए पश्चात्ताप से प्राप्त की जा सकती है वैसी दूसरे किसी और कार्य से नहीं। इस विषय में एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त है।

कोई बड़े अच्छे सन्त थे। वे नियम के बड़े पक्के थे। प्रातः ब्रह्ममुहुर्त में उठकर वे अपनी उपासना किया करते। अमुक समय तीर्थ स्नान करके अपनी उपासना में बैठ जाना। तनिक भी देर होती तो उन्हें बड़ा दुःख होता। एक बार वे कहीं यात्रा में गये। श्रमित होने से सोते ही रह गये। ब्रह्ममुहूर्त में उठ न सके। सूर्योदय हो गया। सूर्योदय तक सोते रहना बड़ा भारी दोष है। शास्त्रों में इस पाप के प्रायश्चित भी बताये हैं। सूर्योदय तक सोते रहने का उन्हें अत्यधिक दुःख हुआ। उस दिन वे दिन भर उदास रहे। भोजन भी नहीं किया, यही सोचते रहे, हाय! मैं प्रभु से अधिक निद्रा को प्यार करता हूँ, तभी तो निद्रा के वशीभूत होकर सोता रहा, प्रभु को भूल गया, यदि प्रभु से प्रेम होता तो मैं समय पर क्यों नहीं जागता। किसी का बच्चा बीमार पड़ जाता है, तो वह रात्रि भर जागता रहता है, मेरा प्रेम भगवान् में उतना भी नहीं है। इस प्रकार उन्हें अपने इस कर्म पर हार्दिक पश्चात्ताप रहा।

कुछ दिनों के पश्चात् पुनः एक प्रसङ्ग ऐसा ही आया। वे नियत समय पर जगे नहीं। उनके नित्य कर्म का समय हो रहा था, किन्तु वे प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न थे। उसी समय एक बहुत ही सुन्दर पुरुष ने आकर उन्हें जगाया और कहा—"महात्माजी! उठो तुम्हारी पूजा का समय हो गया।"

"महात्माजी हड़बड़ा कर उठ पड़े। देखा नित्य के उठने के समय से कुछ ही देरी हुई है। यदि ये सज्जन मुझे न जगाते तो मैं अभी सोता ही रहता। इन्होंने मेरा बड़ा उपकार किया। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उससे बोले—"महानुभाव! आपने बड़ी

कृपा की जो मुझे समय से जगा दिया, नहीं तो आज मैं इतना श्रमित था, कि आप न जगाते तो मैं सूर्योदय तक सोता ही रहता। आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकता हूँ ?"

उस व्यक्ति ने कहा—"जी, मेरा नाम कामदेव है। लोग मुझे मन्मथ भी कहते हैं।"

सन्त बड़े आश्चर्य में पड़ गये, वे बोले—"आप काम हैं! आप तो लोगों को भगवान् से विमुख करके विषयों में फँसाते हैं, आप ने मुझे प्रभु प्रार्थना के लिये कैसे उठा दिया, यह काम तो आपने अपने स्वभाव के प्रतिकूल किया ?"

हँसते हुए मन्मथ ने कहा—"सन्तजी! यह काम मैंने अपनी प्रकृति के अनुकूल ही किया। मेरा स्वभाव है, लोगों को भगवान से दूर हटाना। वैसे तो आप भजन करते ही हैं। माला कर में फिरती रहती है, मनुआ इधर-उधर भटकता रहता है, भजन करने का आपका स्वभाव पड़ गया है, मन से बिना मन से उतना नित्य नियम पूरा कर लेते हैं। भगवान भी सोचते हैं जैसा यह करता है, वैसा इसे फल दे देंगे। उस दिन आप सूर्योदय तक सोते रहे, इससे आपको अत्यन्त हार्दिक पश्चात्ताप रहा। दिन भर आप पश्चात्ताप करते रहे। इससे भगवान् आपके बहुत निकट आ गये, भगवान् जितने हृदय के पश्चात्ताप से द्रवित होते हैं उतने किसी कर्म से भी द्रवित नहीं होते। मैंने सोचा—"आज भी आप सोते रहे और उस दिन की ही भाँति आपको हार्दिक पश्चात्ताप हुआ तब तो आप भगवान् के और भी अधिक प्यारे हो जायँगे, उनके अधिकाधिक सन्निकट पहुँच जायँगे। आप भगवान का उतना सान्निध्य न प्राप्त कर सकें, इसीलिये मैंने आपको समय से जगा दिया, कि जैसी नित्य गाड़ी चलती है वैसी ही चलती रहे उसमें प्रबल प्रगति न हो।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो महाराज ! इस कहानी का सार इतना ही है, कि हृदय के किये पश्चात्ताप से भगवान् अधिकाधिक निकट आ जाते हैं धुन्धुकारी प्रेत ने हार्दिक पश्चात्ताप करते हुए श्रद्धाभक्ति और प्रबल लगन के साथ सप्ताह सुना। इससे सबसे अधिक फल उसे ही मिला। इतने श्रोताओं में से उसके ही लिये विमान आया।"

विष्णु पार्षद गोकर्ण से कह रहे हैं—"सो, गोकर्णजी प्रेत अपनी सच्ची लगन से, हार्दिक पश्चात्ताप से, गोकर्ण पर सच्चे विश्वास से, दृढ़ भक्ति से, तर गया और श्रोताओं ने असावधानी से ऊपर के मन से किसी ने संकोच वश किसी ने कुतूहल वश, किसी ने सम्मान के लिये किसी ने लोभ वश कथा सुनी उन्हें उतना फल नहीं मिला। जैसे कोई छात्र सूत्रों को पढ़ तो ले किन्तु उन्हें मनोयोग से घोखे नहीं बारम्बार उनकी आवृत्ति न करे तो उसे याद न होंगे कुछ देर में भूल जायगा। इसी प्रकार शास्त्र का श्रवण किया किन्तु उसे निदिध्यासन द्वारा दृढ़ नहीं किया वह तो कुछ समय में नष्ट हो जाता है। कथा वार्ता में बैठो और सुनो भी, किन्तु मन दूसरी ओर प्रमाद पूर्वक सुनते हो, तो वह सुनना व्यर्थ है। केवल कान नहीं सुन सकते—जब तक उनके साथ मन का संयोग न हो। आँखें रूप को देखती हैं, किन्तु मन के द्वारा। इसी प्रकार केवल कानों में सुनकर धारण करने की शक्ति नहीं। आपका मन कहीं अन्यत्र हो आपका नाम लेकर चिल्लाते रहें आप नहीं सुनेंगे। इसलिये कथा में प्रमाद एक बड़ा दोष है। तुमने किसी से मन्त्र लिया। किन्तु तुम्हें उसके फल में ही सन्देह हो, कि जाने इसका फल मिलेगा या नहीं या यह मन्त्र शुद्ध है या नहीं। तो वह मन्त्र निष्फल हो जाता है। इसी प्रकार व्यग्रचित्त से किया हुआ जप व्यर्थ बन जाता है। जिस देश में भगवान के

भक्त नहीं वह देश नष्ट हो जाता है। किसी कुपात्र ब्राह्मण से श्राद्ध कराओ तो वह व्यर्थ है उसका कुछ भी फल नहीं होता। जो वेद को नहीं जानता अश्रोत्रिय है। अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों से वंचित है ऐसे कुपात्र को दिया दान व्यर्थ हो जाता है। तुमने दान तो इस भावना से दिया इसके द्वारा वेद पढ़े धर्माचरण करे और उस कुपात्र ने उससे सुरापान किया व्यभिचार किया, तो उस दान का फल विपरीत ही होगा। अनाचार-व्यभिचार-पापाचार-के कारण कुल की मर्यादा नष्ट हो जाती है। वर्ण संकर कुल को दूषित कर देते हैं और उनके पितर नरक में जाते हैं। सो, हे गोकर्णजी! केवल आलस्य में पड़े-पड़े झपकियाँ लेते-लेते कथा सुनते रहे, बीच-बीच में काम काज को उठते भी गये। कुछ सुनी कुछ नहीं सुनी कुछ देर निद्रा में निमग्न रहे। तो ऐसे सुनने का कुछ भी फल नहीं होता।"

गोकर्ण ने पूछा—"आप लोग भगवान विष्णु के परमप्रिय पार्षद हैं, आप से यह पूछना चाहता हूँ, कि कथा किस प्रकार सुननी चाहिये। श्रोता को किस प्रकार किन नियमों का पालन करना चाहिये। किस प्रकार कथा सुनने से कथा का पूरा फल प्राप्त हो सकेगा। कृपा करके मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोकर्ण के पूछने पर विष्णु पार्षद जिस प्रकार श्रोताओं के भेद बताकर कथा श्रवण करने की विधि बतायेंगे उसे मैं आप से आगे कहूँगा। आप सब श्रोताओं में श्रेष्ठ हैं, सबके आदर्श हैं, आपको इस प्रसंग को बहुत ही दृढ़ता और एकाग्रता के साथ श्रवण करना चाहिये।"

—०—

छप्पय

अति अद्भुत आचरज अलौकिक सबनि दिखायौ ।
सुन्दर दिव्य विमान विष्णु दासनि सँग आयौ ॥
बोले मुनि गोकरन सुन्यो सप्ताह सबनि सँग ।
सबकूँ नहीं विमान न सबके भये दिव्य अँग ॥
बोले हँसि हरिदास तब, भाव भेद तैं फल लह्यो ।
प्रेत कथा सुनि प्रेम तैं, तनु तजि सुरवर बनि गयौ ॥

गोकर्णजी द्वारा पुनः सप्ताह का निश्चय

[१९]

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० ७ अ० ४१ श्लोक)

छप्पय

गुरु बचननि विश्वास दीन अपने कूँ जानें ।
तन मन वच-अघ जीति श्याम कूँ सरबसु मानें ॥
पावै सो फल सकल ताहि प्रभु दर्शन देवें ।
तुमहिँ श्याम लै जायँ स्वयं अपनो करि लेवें ॥
कहि गमने वैकुण्ठ ते, भये मुदित सब सीख सुनि ।
करयो सविधि गोकरन ने, श्रावन महँ सप्ताह पुनि ॥

यह मृत्यु रूपी सिंहनी सब समय सबका सर्वत्र पीछा कर रही है। प्राणी इसी के भय से भयभीत हुआ इधर-उधर भटकता फिरता है। ऐसा न हो तनिक-सी असावधानी हो जाय और हमें मृत्यु खा जाय। मरने का भय सभी को लगा हुआ है

---

* विदुरजी मैत्रेय मुनि से कह रहे हैं—"हे अनघ! जितने वेद हैं जितने यज्ञ हैं जितने तप तथा दान हैं वे सब मिलकर भी जीवों को मृत्यु के भय से अभय कर देने वाले फल की एक अंश में भी बराबरी नहीं कर सकते। अर्थात् जीवों को मृत्यु के भय से अभयकर देना यही सबसे बड़ा पुण्य कार्य है।"

मारना कोई नहीं चाहता। तनिक-सी बीमारी हुई तुरन्त हम वैद्य के पास भागे जाते हैं, देखिये हमें क्या हो गया। मृत्यु तो न हो जायगी। इसका कोई उपाय बताइये। कोई औषधि दीजिये। जिससे यह रोग छूट जाय, मृत्यु भय दूर हो जाय। किन्तु मृत्यु भय इन संसारी उपायों से नहीं छूटता। वह मृत्यु रूपी सिंहनी तो तभी निवृत्त होगी जब तुम सर्वात्मभाव से भगवान् की शरण में आ जाओगे। सन्तजनों के कहे शास्त्र सम्मत साधन का श्रद्धाभक्ति के सहित पालन करोगे और अपने आपको उन्हीं की कृपा पर छोड़ दोगे, तभी मृत्यु तुम्हारा पीछा छोड़ सकती है। तभी तुम स्वस्थ हो सकते हो। तभी निर्भय होकर पैर पसार कर सो सकते हो। मृत्यु से बचने का भागवत कथा श्रवण और भगवत् स्मरण तथा चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गोकर्ण के पूछने पर विष्णु पार्षदों ने जब भाव-भेद की व्याख्या की तो गोकर्ण ने कहा—"हे हरिदासो! श्रोता की भावना से फल में भेद हो सकता है। तब तो सभी को भिन्न-भिन्न फल मिलेगा।"

विष्णु पार्षदों ने कहा—"बात तो ऐसी ही है। एक पंक्ति में बैठकर सहस्रों भोजन कर रहे हैं। खाने के पदार्थ वे ही सबके लिये हैं। परसने वाले भी एक ही हैं। किन्तु जो बहुत भूखा होगा उसे भोजन में बहुत आनन्द आवेगा। जिसे भूख न होगी, उसे उससे कम आनन्द आवेगा। जिसे कभी-कभी लड्डू मिलते हैं वह पेट भरने पर भी और खा जायगा। जिन्हें नित्य मिलते हैं वह दो चार ही खाकर तृप्त हो जायँगे। जिसे पित्त सम्बन्धी रोग होगा स्वाद बिगड़ गया होगा उन्हें मीठे लड्डू भी विष जैसे लगेंगे। वस्तु एक परोसने वाले एक रुचि के अनुसार स्वाद में भेद हो जाता है। यदि परोसने वाला मुँह

देखकर अपने स्वार्थ वश भेदभाव से परोसता है। तो भी भिन्नता हो जाती है। इसलिये श्रोता के भाव के साथ वक्ता का भी भाव देखा जाता है। जो भागवत के वक्ता केवल कण लोभ से ही जिसे-तिसे कथा सुनाते फिरते हैं। उनकी भी कथा का उतना प्रभाव नहीं होता। उन्हें कथा से पैसा मिल जाता है लोगों का कुछ समय के लिये मनोरञ्जन हो जाता है। अन्य संसारी कार्यों की अपेक्षा तो यह भी श्रेष्ठ है। इतने समय तक दूसरों की निंदा स्तुति से बच जाते हैं। भगवत् गुणानुवाद कानों में पड़ने से कान पवित्र होते हैं। अनिच्छापूर्वक सुनने से भी हृदय पर कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है।"

गोकर्णजी ने पूछा—"श्रोता के मुख्य नियम बताइये। जिनके पालन से उसे पूर्ण फल मिल जाय?"

विष्णु पार्षदों ने कहा—"देखिये, कथा सुनने के नियम बहुत हैं, किन्तु मुख्य चार नियमों का यदि पालन कर ले तो उसे कथा श्रवण का पूर्ण फल मिल सकता है। पहिला तो गुरु के वचनों पर पूर्ण रूप से विश्वास होना। ये जो मार्ग बताते हैं उसी से मेरा उद्धार होगा। दूसरे अपने में दीन भाव करना। भक्ति मार्ग में दीनता ही भूषण है अहंकार ही पतन का कारण है। मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ, यह कर डालूँगा। कौन मेरी बराबरी कर सकता है।" ये मूर्खता के अज्ञान से मोहित अहंकारी जीवों के भाव हैं। भगवत्भक्त सन्त महात्माओं की सेवा करना। सभी का अपने को सेवक समझना। सभी में भगवान् का भाव करके प्राणिमात्र को उनका ही रूप समझकर नमन करना। ऐसे दीन नम्र भगवत्भक्त को कथा का पूर्ण फल मिलता है। तीसरा नियम है मन और क्रियाजनित दोषों से यथाशक्ति बचते रहते रहना और कथा में स्थिर मति रहना। यदि श्रोता इन चार नियमों का पालन करे तब उसे कथा का पूर्ण फल मिलेगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इन चारों की तनिक व्याख्या करके समझाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! आप तो सब जानते ही हैं। पहिला तो है गुरु वचनों पर विश्वास। देखिये, जो कार्य सविधि किया जाता है, उसका तो फल जैसा होना चाहिये वैसा होता है और जो विधि की ओर ध्यान न देकर मनमानी करते हैं उन्हें जैसा चाहिये वैसा फल नहीं मिलता। कभी-कभी तो उसका विपरीत फल हो जाता है। एस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।"

एक आदमी की एक गौ थी, वह नित्य पाँच सेर दूध देती थी। एक दिन उसका पेट फूल गया। वह चिकित्सक के पास गया और बोला—"मेरी गौ नित्य पाँच सेर दूध देती थी, आज न जाने क्यों उसका पेट फूल गया है, कोई ऐसी ओषधि दीजिये जिससे पेट भी अच्छा हो जाय, और दूध देने लगे। वैद्य ने कहा—"एक आधा सेर घी, सेर भर गुड़, अजवायन, सोंठ, तनिक सज्जी डालकर पका लो। गौ को तनिक कुनकुना पिला दो।" उसने कहा—"अच्छी बात है।"

घर जाकर उसने सोचा—"मेरी गौ पाँच सेर दूध देती थी, उसमें से दश छटाँक मक्खन निकलता था। आधा सेर घी तो इसके पेट में ही है इसलिये घृत डालने की तो आवश्यकता नहीं और ओषधियाँ उसने गरम करके पिला दीं पेट अच्छा नहीं हुआ। वह पुनः वैद्य के पास गया। जाकर सब बताया।"

उसकी बात सुनकर वैद्य बहुत हँसा। उसने कहा—"तुमने विधि ही बिगाड़ दी। अपनी बुद्धि लगाकर ओषधि का गुण ही खो दिया। ओषधि तो तभी प्रभाव पहुँचाती है, जब उसका विधि-पूर्वक सेवन किया जाय, वैद्य के वचनों पर विश्वास करके उसकी बतायी विधि के साथ दी जाय। ओषधि चाहे एक ही हो, किन्तु यदि वह नियमानुसार न दी जायगी तो उसका प्रभाव न होगा,

चाहे उसे अश्विनी कुमार ही क्यों न दें। इस विषय में एक प्राचीन दृष्टान्त है।

अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य हैं वे बड़े गुणग्राही हैं, वैद्य विद्या को शास्त्रों में निन्दनीय माना है इसलिये उन्हें देवताओं की पंक्तियों से पृथक् कर दिया था, देवता उन्हें अपने साथ बिठाकर नहीं खिलाते-पिलाते थे, किन्तु इन्होंने अपनी चिकित्सा के प्रभाव से पुनः पंक्ति प्राप्त कर ली वृद्ध च्यवन ऋषि की चिकित्सा इन्होंने इसी प्रतिज्ञा के साथ की थी, कि आप हमें देवताओं की पंक्ति में बिठाकर यज्ञों में सोमरस पिवा दें और हम आपको वृद्ध से युवक बना दें। ऋषि ने इस बात को स्वीकार कर लिया जब वे वृद्ध से युवक बन गये तो अपने श्वसुर महाराज शर्याति के यज्ञ में बहुत लड़ाई झगड़े के पश्चात् इन्हें देवताओं की पंक्ति में बिठाकर सोमरस पिला ही दिया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! शास्त्रों में वैद्य विद्या की तथा वैद्यों की इतनी निन्दा क्यों की है। वैद्य विद्या तो बड़ा उपकार करती है। वैद्य लोग दुखियों को सुखी बनाते हैं, रोते हुओं को हँसाते हैं मृतकों को जिलाते हैं। वृद्धों को युवक बनाते है, निस्सन्तानों को सन्तान देते हैं। इतने उपकारी वैद्यों की उनकी जीवन दान देने वाली विद्या की इतनी निन्दा क्यों की गयी है।"

सूतजी बोले—"महाराज! न वैद्यों की निन्दा है न वैद्यविद्या की निन्दा है। शास्त्रकारों ने तो धर्म, अर्थ, काम यहाँ तक कि मोक्ष का मूल कारण आरोग्य को ही बताया है। जो आरोग्य मोक्ष लाभ तक कराने में समर्थ है, उसकी निन्दा कौन बुद्धिमान करेगा। इस विद्या की उपयोगिता में तो कोई सन्देह ही नहीं। किन्तु जो इसी के द्वारा आजीविका करते हैं उन आयुर्वेद जीवी लोगों की निन्दा है, क्योंकि उनकी आजीविका की भावना विशुद्ध

नहीं है। जैसे मूर्ति पूजा तो भगवान् को प्राप्त कराती है, प्रभु प्राप्ति का परम साधन है, किन्तु जो मूर्तियों को व्यापार बनाकर उसी से आजीविका चलाते हैं, उस देवल की बड़ी भारी निन्दा है। मूर्ति पूजा आवश्यक है, किन्तु उसे व्यापार बनाकर पेट पालन निन्द्य है। जैसे और भी दृष्टान्त लें। मनुष्यों का मरना निश्चित है, उनका मृतक कर्म होना अनिवार्य है, उस कर्म को ब्राह्मण ही करायेगा भी, किन्तु जो ब्राह्मण मृतक के हाथ से दान लेते हैं वे ब्राह्मण अत्यन्त नीच माने जाते हैं, क्योंकि उनकी भावना यही बनी रहती है कोई मरे हमें आय हो। यही बात वैद्यों-चिकित्सा जीवियों-की है। उनकी भावना रहती है अधिक रोगी हों, हमारी ओषधि अधिक बिके। कार्य कोई भी बुरा नहीं, व्यक्ति कोई निन्दनीय नहीं। लोक में सभी कार्य आवश्यक हैं, उपयोगी हैं, उपकारक हैं, किन्तु शास्त्रों में जो कार्य निम्न श्रेणी के बताये हैं उनसे आजीविका चलाने की जो वृत्ति है उसकी निन्दा है। जैसे अस्त्र-शस्त्र बनाने वाला नीच माना गया है, क्योंकि उनसे जन संहार होता है। इसी प्रकार मांस बेचने वाला, मद्य बेचने वाला, लोहा, रस बेचने वाला, वेश्यावृत्ति करने कराने वाला, रोगों के द्वारा आजीविका करने वाला, कलहोपजीवी, मृतकों से आजीविका करने वाले, मछली, पशु-पक्षियों को पकड़ कर उनसे आजीविका करने वालों की निन्दा की गयी है, क्योंकि ऐसे अन्न के खाने से बुद्धि मलिन हो जाती है, ऐसे लोग सांसारिक उन्नति चाहे जितनी कर लें परमार्थ से सदा वंचित ही रहते हैं।

अश्विनी कुमार यद्यपि वैद्यक से ही जीविका चलाते थे, किंतु सन्त सेवा, परोपकार वृत्ति और नम्रता द्वारा उन्होंने ब्रह्म विद्या भी प्राप्त कर ली। दधीचि ऋषि जो हृद्धङ्गाथवर्ण कहाते थे उनकी सेवा करके उन्हें ब्रह्मविद्या देने को सहमत कर लिया।

इन्द्र को जब मालूम हुआ तो इन्द्र ने कहा—"महाराज ! आपने यदि उन वैद्यों को ब्रह्म विद्या प्रदान की तो मैं आपका सिर काट लूँगा।"

ऋषि ने यह बात वैद्यों से कही। इन्होंने कहा—"भगवन्! क्या आप सिर काटने से डरते हैं, आप जैसे परोपकारी के लिये क्या मरना क्या जीना। हम आपके कटे सिर को पुनः लगा देंगे यह कहकर इन लोगों ने मुनि के सिर को काटकर घोड़े के शरीर में लगा दिया और घोड़े के सिर को मुनि के धड़ पर। मुनि ने उस अश्व के सिर से ही इन्हें ब्रह्म विद्या सिखायी। इन्द्र ने जब सुना तो उसने आकर मुनि का घोड़े का सिर काट दिया। अश्विनी कुमारों ने तुरन्त मुनि का सिर उनके धड़ पर जोड़ दिया। अपनी विद्या, परोपकार, नम्रता और निस्पृहता के कारण ये वैद्य होकर भी ब्रह्मज्ञानी बन गये।"

हाँ, तो एक दिन उनकी इच्छा हुई हमने सब विद्या तो सीख लीं, अभी तक पिंगल विद्या नहीं सीखी, इसके लिये किसी को और गुरु बनाना चाहिये।

सभी विद्याओं के आचार्य शेषजी हैं, इनके सहस्र फण हैं। ये उनके समीप गये और बोले—"भगवन्! हम आपका शिष्यत्व स्वीकार करने आये हैं, आप जब तक आज्ञा देंगे आप की सेवा में रहकर आपकी सुश्रूषा करेंगे, हमें पिंगल विद्या आप सिखा दें।"

गुरु के वचनों पर सविधि विश्वास करना चाहिये। इसकी शिक्षा देने के लिये शेषजी ने कहा—"अश्विनी कुमारो ! तुम धर्मात्मा हो, परोपकारी हो, निश्छल भाव से दीन होकर तुम मेरे पास विद्या पढ़ने आये हो, तुम्हें विद्या पढ़ाना तो मेरा परम कर्तव्य ही है, किन्तु करूँ क्या मेरे नेत्र में अत्यन्त ही पीड़ा है, इसे यदि तुम मिटा दो, तो मैं तुम्हें पिंगल पढ़ाऊँ।"

बड़े उत्साह के साथ अश्विनी कुमारों ने कहा—"महाराज ! यह कौन-सी बात है हमने लाखों करोड़ों आदमियों की आँखों की पीड़ा चुटकी बजाते अच्छी कर दी है। आँख की पीड़ा की हमारे पास 'त्रिघात' नामकी एक ऐसी ओषधि है, कि कैसी भी नेत्र पीड़ा हो, तुरन्त अच्छी हो जाय। लाइये हम अभी लगाकर आपकी पीड़ा शान्त करते हैं।"

यह कहकर अश्विनी कुमारों ने उनकी आखों में वह ओषधि लगा दी। ओषधि लगाते ही शेषजी की पीड़ा तो और भी कई गुनी बढ़ गयी। वे हाय-हाय करके चिल्लाने लगे।"

अश्विनी कुमारों ने सोचा—"कभी भी व्यर्थ न होने वाली हमारी ओषधि आज व्यर्थ कैसे बन गयी। इससे उत्तम तो नेत्र पीड़ा की संसार में कोई दूसरी ओषधि ही नहीं। अब हम क्या करें। हमारा तो आज सम्पूर्ण मद चूर्ण हो गया।" ऐसा सोचकर वे बड़े उदास हो गये किंकर्तव्यविमूढ़ बने खड़े रहे। उसी समय कहीं से घूमते-फिरते नारदजी आ गये। नारदजी ने पूछा—"अश्विनी कुमारो ! तुम इतने उदास क्यों हो रहे हो ?"

कुमारों ने कहा—"महाराज ! क्या बतावें शेषजी की चक्षु पीड़ा हम शान्त करने में समर्थ न हो सके। हमारी सर्वोत्तम ओषधि आज व्यर्थ बन गयी।"

नारदजी ने कहा—"भाई ! तुम तो संसार में सबसे बड़े वैद्य हो। तुम्हारी ही ओषधि व्यर्थ बन गयी अब हम क्या बतावें। किन्तु मर्त्य लोक में हमने एक बड़ा परोपकारी वैद्य देखा है। वह कभी किसी से कुछ लेता नहीं। वैसे ही सबकी ओषधि करता है रोगी के द्वारा वह कभी अपनी अजीविका नहीं चलाता। रोगी के घर का पानी भी नहीं पीता। उसकी बड़ी ख्याति है, उसके हाथ में बड़ा यश है। रोगी को देखते ही उसका निदान

करता है, तुरन्त सब बातें बता देता है, ओषधि खाते ही रोगी अच्छा हो जाता है। आप लोग उसके पास जायँ सम्भव है कोई ओषधि बता दे।"

यह सुनकर ब्राह्मण वेष बनाकर दोनों भाई मर्त्य लोक में उस वैद्य के पास गये। उसके यहाँ रोगियों की भीड़ लगी थी। जब इनकी पारी आई तो वैद्य ने पूछा—"कहिये आपको क्या पीड़ा है?"

उन्होंने कहा—"हमारे नेत्र में बड़ी पीड़ा है, और इसमें हमने 'त्रिघात' नाम की ओषधि भी लगायी है, फिर भी पीड़ा गयी नहीं प्रत्युत बढ़ गयी है, कोई दूसरी ओषधि बताइये।"

वैद्य ने इन ब्राह्मणों की ओर देखा और बोला—"ब्राह्मणो! त्रिघात ओषधि को तो अश्विनी कुमारों के अतिरिक्त अन्य कोई वैद्य जानता नहीं। किन्तु शेषजी के नेत्र की पीड़ा उससे भी भी नहीं गयी। आप लोग अश्विनी कुमार तो नहीं हैं?"

अब क्या करते अश्विनी कुमार अपने यथार्थ रूप में आ गये। वैद्य ने उठकर उनकी यथोचित पूजा की। वैद्य की विधिवत् की हुई पूजा को सविधि स्वीकार करके अश्विनी कुमारों ने पूछा—"वैद्यजी! त्रिघात ओषधि आज तक हमने जिस मनुष्य पर प्रयोग की वहीं सफल हुई। वह ओषधि कभी व्यर्थ नहीं हुई। शेषजी के ऊपर वह अव्यर्थ ओषधि व्यर्थ कैसे बन गयी। ओषधि की उत्तमता में तो कोई सन्देह ही नहीं?"

वैद्य ने कहा—"सुर वैद्यो! आपकी ओषधि को व्यर्थ कौन कह सकता है, ओषधि तो आपकी सर्वोत्तम है, अव्यर्थ है, किन्तु उसके प्रयोग की विधि में अन्तर पड़ गया है।"

अश्विनी कुमारों ने कहा—"नहीं, भाई! हमने प्रत्येक रोगी पर इसी विधि से इसका प्रयोग किया है और कभी व्यर्थ नहीं हुई। वैसे ही हमने शेषजी के नेत्र में उसे लगाया।"

वैद्य ने कहा—"भगवन्! आपका कथन सत्य है, किन्तु अनजान में तनिक-सी त्रुटि रह गयी। आप मनुष्यों के नेत्रों पर उसका प्रयोग जब करते थे, जिस नेत्र में पीड़ा होती थी उसे खोलने को स्वभावतः उसके दूसरे नेत्र पर आपकी हथेली रख जाती थी, इससे उसका दूसरा नेत्र बन्द हो जाता था। यों भी किसी रोगी के एक नेत्र में ओषधि डालो तो वह अपने दूसरे नेत्र को स्वभावतः बन्द कर लेगा। इससे ओषधि का प्रभाव पड़ता था। शेषजी के हैं दो सहस्र नेत्र आपने ओषधि एक नेत्र में डाली एक सहस्र नौ सौ निन्यानवे नेत्र उनके खुले के खुले ही रह गये, अब ओषधि का प्रभाव कैसे हो? कृपा करके उनके दो सहस्र नेत्रों को बन्द कराके अपनी इसी ओषधि को उनकी आँख में डालिये। देखिये प्रभाव होता है या नहीं?"

वैद्य की यह बात सुनकर अश्विनी कुमार तुरन्त आये उन्होंने आकर शेषजी के सब नेत्र बंद कराये पीड़ा वाले नेत्र को खोलकर ओषधि डाली। ओषधि के पड़ते ही विकार युक्त जल निकलकर बह गया। शेषजी की पीड़ा तुरन्त शान्त हो गयी।

तब शेषजी ने कहा—"अश्विनी कुमारो! वस्तु एक ही है, कथा एक ही है, वक्ता भी एक हा है, किन्तु श्रोताओं की विधि की विभिन्नता से भावों की भिन्नता से उसका फल भिन्न हो जाता है, अतः गुरु जो शास्त्रीय विधि बतावे उसी के अनुसार विश्वास रखकर साधन करना चाहिये। तभी फल मिलता है।"

सूतजी कहते हैं—"सो, मुनियो! सर्व प्रथम तो श्रोता का गुरु वाक्य में विश्वास हो। दूसरे अपने में दीनत्व की भावना। एक ही गुरु के पास दो शिष्य जायँ, एक तो दीन हो दूसरा अभिमानी हो तो अभिमानी को तो उसकी सेवा के अनुसार कुछ संसारी फल मिल जायगा, किन्तु दीन के तो वश में स्वयं

भगवान् हो जायँगे, क्योंकि भगवान् तो दीनदयाल हैं, वे अपने आश्रित दीन सेवकों को अपना आपा ही अर्पण कर देते हैं।"

देखिये, भगवान् कृष्णचन्द्र के पास दुर्योधन और अर्जुन दोनों गये। यही नहीं दुर्योधन पहिले पहुँचा, किन्तु वह अभिमानी था उनके सिर के पास जाकर बैठ गया। भगवान् समझ गये, यह अभिमान की गठरी को साथ लेकर मेरे पास आया है, इसलिये जानकर भी वे मुख को ढके रहे, उसे दर्शन नहीं दिये। कुछ काल के पश्चात् अर्जुन आया वह दीनता के साथ आया। आकर पलंग के नीचे चरणों के समीप बैठकर शनैः-शनैः तलुओं को सुहलाने लगा। भगवान् ने तुरन्त अपने आवरण को हटा दिया और अपने विनम्र दीन भक्त को दर्शन देने उठकर बैठ गये और बोले—"कब आये प्यारे ?"

तब तक अभिमानी दुर्योधन बीच में ही बोल उठा—"देखो, कृष्ण ! पहिले मैं आया हूँ ? पहिले मेरा अधिकार है।"

तब भगवान् ने अँगड़ाई लेते कहा—"अच्छा कौरव राज ! आप भी पधारे हैं, धन्यभाग। पहिले आप ही आये होंगे, किन्तु मैंने तो पहिले अर्जुन को ही देखा है, इसलिये पहिले मैं इसी को कुछ दूँगा।"

दुर्योधन ने कहा—"नहीं, यह बात नहीं अपनी सम्पूर्ण सेना आपको मुझे ही देनी पड़ेगी ?"

भगवान् ने पूछा—"अर्जुन ! तुम्हें क्या चाहिये ?"

अर्जुन ने कहा—"महाराज ! मुझे कुछ नहीं चाहिये मुझे आप चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"मैं लड़ूँगा नहीं, शस्त्र नहीं उठाऊँगा।"

अर्जुन ने कहा—"आप कब किससे लड़ते हैं। आपके लिये शत्रु मित्र सब समान हैं। लड़ने को तो हम संसारी लोग ही

बहुत हैं, आपका तो मुझे दर्शन चाहिये, आप मेरे हृदय में भीतर और रथ पर बाहर मेरे पास बैठे रहें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् के समीप दोनों ही समान रूप से गये, यही नहीं दुर्योधन पहिले गया, किन्तु वह अभिमान सहित गया, उसे मिले मरणधर्मा हिंसा करने वाले सैनिक। अर्जुन पीछे गया, किन्तु नम्र बनकर गया, उसे मिले लड़ाई-झगड़े से विरत, हँसते हुए, सेवा परायण निरन्तर रथ पर बैठे श्यामसुन्दर। जिधर हँसते हुए श्याम सुन्दर हैं उधर ही श्री है, उधर ही विभूति है, उधर ही विजय है। नम्रता भगवान् को भी विनम्र सेवक बना देती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! श्रोता में दूसरा प्रधान गुण होना चाहिये नम्रता दीनता की भावना। तीसरा गुण होना चाहिये मनोदोष जय। दोष सभी मन से होते हैं, मन में दोष न हों तो वाचा और कर्म से दोष हो ही नहीं सकते। फिर भी ऋषियों ने उनके तीन भेद किये हैं। मन द्वारा जो देह से होते हैं उन्हें शारीरिक दोष कहते हैं। मन द्वारा जो वाणी से होते हैं उन्हें वाचिक दोष और जो केवल मन से ही होते हैं उन्हें मानसिक दोष कहते हैं किसी की वस्तु को अन्याय से छिपा कर या बलपूर्वक उठा लाना, किसी को मारना, कष्ट पहुँचाना, अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर अन्य से संसर्ग करना इस प्रकार के जो शरीर से किये जाने वाले पाप हैं, उन्हें शारीरिक दोष कहते हैं। व्यर्थ की बातें बोलना, अनावश्यक बोलना, बहुत बक-बक करते रहना, दूसरों की निन्दा करना, अश्लील हँसी-विनोद करना, गाली देना, कड़वे वचन बोलना, असत्य बोलना, तथा जो बात नहीं बोलनी चाहिये उसे बोलना ये वाणी के दोष हैं। संसारी वस्तुओं में अत्यधिक तृष्णा करना। दूसरों से द्वेष करना, मन से दूसरों का अनिष्ट सोचना, कामवासना को मन

में स्थान देना इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर जन्य भावों को मन में स्थान देने का नाम मानसिक पाप है। भागवत सप्ताह के श्रोता को इनसे यथाशक्ति सावधानी के साथ बचे रहना चाहिये। इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर जो कथा सुनता है, वह कथा के पूर्ण फल को प्राप्त करता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! चौथा प्रधान नियम है, कथा में बुद्धि को स्थिर रखना। देखिये, श्रोता चार प्रकार के होते हैं, एक तकुआ, एक भखुआ, एक सूप और एक चलनी। अब इनके लक्षण सुनिये। चर्खे में जो लोहे का तकुआ होता है, जिस पर सूत लपेटा जाता है, उस पर कैसा भी अच्छा-बुरा मोटा-पतला सूत हो लपेटा ही जाता है। फिर उस पर जब अधिक पिंडी लिपट जाती है तो उतार दी जाती है। फिर दूसरी काती जाती है। इसी प्रकार एक श्रोता ऐसे होते हैं, जो वक्ता की ओर ताकते रहते हैं। वह जो भी कहे सबको धारण कर लेते हैं, उसमें विवेक नहीं करते कौन विषय कैसा है।

एक होते हैं भखुआ। भखुआ वे कहाते हैं जो चबा-चबाकर खाते ही रहते हैं, कथा में जो भी सुना थोड़ा मनन करके उसे पचा जाते हैं किसी विषय को छोड़ते नहीं। अब तीसरे होते हैं सूप के सदृश। कथा में तीन तरह के वचन होते हैं, रोचक, भयानक और यथार्थ। रोचक तो ऐसे होते हैं, किसी विषय में रुचि बढ़ाने को एक विषय को विस्तार से दृष्टान्त देकर समझाया जाता है, भयानक वे वाक्य हैं, कि किसी विषय से प्रवृत्ति हटाने को उसकी अत्यधिक निन्दा की जाती है। भय दिखाया जाता है। यथार्थ तो यथार्थ है ही। जैसे का तैसा वर्णन करना। सूप में अन्न कूड़ा करकट सभी भरकर फटका जाता है। सूप कूड़ा करकट तथा सड़े-घुने अनाज को बाहर फेंक देता है। अच्छे को उसी में रखे रहता है। ऐसे ही सूप के सदृश श्रोता जो

भगवान् की भक्ति भगवन्नाम महिमा आदि के अत्यन्त मधुर विषय हैं उन्हें तो ग्रहण करता है। और प्रकृति में फँसाने वाले या काम्यकर्मों के प्रसङ्गानुसार प्रशंसा परक वचनों को त्याग देता है, भगवान् की विशुद्ध अहैतुकी पराभक्ति को ही वे ग्रहण करते हैं।

चौथे चलनी के सदृश श्रोता होते हैं। चलनी में भूसी सहित आटा भरा जाता है, चलनी अच्छे-अच्छे आटे को नीचे गिरा देती है, भूसी-भूसी को अपने पास रख लेती है, इसी प्रकार जो क्षुद्र श्रोता होते हैं। वे तत्व की उत्तम बातों को त्याग देते हैं, प्रसंगानुसार जो मनोरंजक दृष्टान्त या काम्यकर्मों के प्रशंसा परक वचनों को अपना लेते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! श्रोताओं के इन भेदों को कथा में स्थिर बुद्धि होकर विवेक पूर्वक सब बातों को सुने फिर उनका मनन करे निदिध्यासन करे तो वही श्रोता कथा के यथार्थ फल को प्राप्त कर सकता है। जैसे धुन्धुकारी प्रेत ने निराहार रहकर स्थिर बुद्धि से मनन निदिध्यासन पूर्वक सप्ताह श्रवण किया था। विष्णु पार्षदों ने यही उपदेश गोकर्णजी को दिया था।"

शौनकजी ने पूछा—"तो हाँ, सूतजी, फिर विष्णु पार्षदों ने गोकर्णजी के क्या कहा?"

सूतजी बोले—"भगवन्! गोकर्ण के पूछने पर प्रभु पार्षदों ने उनसे कहा—"गोकर्ण! अबके तुम अपने सभी श्रोताओं को सावधान कर देना। जो सच्ची लगन के हों, नियमों का सविधि पालन कर सकते हों उन्हीं को रखे, इस प्रकार कथा सुनाने से आपको बड़ा भारी पुण्य होगा।"

गोकर्ण ने पूछा—"क्या पुण्य होगा, महाराज! मेरे लिये भी ऐसा विमान आवेगा क्या? आप लोगों के अन्त समय दर्शन हो सकेंगे न?"

हँसकर भगवान् के पार्षद बोले—"गोकर्णजी ! आप कैसी बातें कर रहे हैं। महानुभाव ! आप तो तरनतारन हैं। स्वयं तो तरेंगे ही बहुत से जीवों को अपने साथ तार देंगे। हमारी तो बात ही क्या स्वयं साक्षात् गोलोकवासी गोविन्द ही आपको लेने आवेंगे। वे अपने गोलोक में आपको सदा के लिये रखेंगे। आप जीवों के कल्याणार्थ पुनः श्रीमद्भागवत का सप्ताह करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहकर वे भगवान् के पार्षद अत्यन्त ही ताल स्वर के सहित 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव।' भगवान के इन सुमधुर नामों का कीर्तन करने लगे। दिव्य रूपधारी धुन्धुकारी भी उनके स्वर में स्वर मिलाकर दोनों हाथों से ताली बजाकर उनके साथ कीर्तन करने लगा। इस प्रकार वे सब कीर्तन करते हुए भगवान् के लोक को चले गये।"

इधर गोकर्ण का सप्ताह आषाढ़ की पूर्णिमा को समाप्त हुआ। उन्होंने श्रावण शुक्ला नवमी से पुनः भागवत सप्ताह करने का निश्चय किया और उसके लिये अभी से तैयारी करने लगे। अब वे जैसे सप्ताह करेंगे और उनके सप्ताह के अन्त में जिस प्रकार श्रीहरि प्रकट होंगे, वह कथा मैं आगे वर्णन करूँगा, आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कदली खंभ लगाय बनायौ मण्डप मन हर।
सुन्दर वस्त्र बिछाय सजायौ आसन सुखकर॥
सप्ता के जो नियम यथाविधि पालहिँ सब जन।
व्यासासन गोकरन बिराजे करि हरि बन्दन॥
श्रोतनि को मन मुदित अति, तन धन, घर सुधि नहिँ रही।
अति अद्भुत घटना घटी, जबहिँ कथा पूरन भई॥

गोकर्णजी के दूसरे सप्ताह में प्रभु प्राकट्य तथा सभी का उद्धार

(२०)

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-
विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-
रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥*

(श्री भा० ३ स्क०२५ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

अगनित दिव्य विमान कथा थल सबनि निहारे ।
संग पारषद लिये स्वयं श्री श्याम पधारे ॥
पीताम्बर बनमाल भाल वर मुकुट विराजे ।
आलिंगन गोकरन करे हरि बाजे बाजे ॥
नगर निवासी नारि नर, नीच ऊँच सब जीव जे ।
कृपा करी करुना अयन, चढ़े विमाननि तुरत ते ॥

---

* कपिल भगवान् अपनी माता से कह रहे हैं—"हे माता ! जो मेरे भक्त मेरी झाँकी कर लेते हैं, मेरे परम सुन्दर दर्शनीय अंग और अवयवों की, मेरे उदार हास विलास की, मेरी मन हर चंचल चपल चितवन की, मेरी मन मोहिनी वाणी की तथा मेरी रूप माधुरी की अनुभूति कर लेते हैं उनकी इन्द्रियाँ तथा मन की वृत्तियाँ मुझमें फँस जाती हैं इससे वे मुझे छोड़कर स्वयं तो मुक्ति की इच्छा करते ही नहीं किन्तु मेरी भक्ति उन्हें परम पद की प्राप्त करा ही देती है ।"

एक सूर्य नारायण उदित होकर असंख्यों घरों के अंधकार दूर कर देते हैं, एक धर्मात्मा प्याऊ लगाते हैं, असंख्यों यात्री उस पर अपनी प्यास बुझाते हैं, एक सामर्थ्यवान पुरुष औषधालय खोलते हैं, कितने रोगी वहाँ से औषधि लेकर रोग निवृत्त होते हैं, जाड़ों में एक मनुष्य इधर-उधर से ईंधन बटोर कर आग जलाता है, उससे कितने लोग अपना शीत भगाते हैं, कितने छोटे-बड़े आकर शरीर सेकते हैं। कहने का अभिप्राय यह है, कि एक धर्मात्मा पुरुष के पीछे असंख्यों लोगों का भला हो जाता है। ऐसे परोपकारी पुरुष स्वयं साक्षात् भगवान् के तुल्य हैं, नर रूप में नारायण हैं, नहीं तो इस क्षुद्र प्राणी को तो अपनी ही पड़ी रहती है, मेरा ही पेट भरे, मेरा ही घर सुन्दर बने मेरे ही यहाँ सब भोग सामग्रियाँ एकत्रित हों, मेरे ही परिवार वाले इन सब वस्तुओं का उपभोग करें। जिनका मेरा पन व्यष्टि से मिटकर समष्टि में फैल गया है, जिनका "स्व-अर्थ" सीमित न रहकर निस्सीम बन गया, ऐसे परोपकारी जीवों में और भगवान् में कोई अन्तर नहीं। भगवान् के अतिरिक्त इतनी उदारता और किसमें हो सकती है। इतनी महत्ता उन महतो-महीयान् में ही सम्भव है। भगवान् ही इस रूप से धराधाम में प्रकट होकर सामूहिक रूप से अगणित जीवों का उद्धार करके अपने निज लोक में ले जाते हैं और अनेक जीव भी उनके साथ उनके लोक को प्राप्त कर लेते हैं। उनमें उन जीवों का पुरुषार्थ प्रधान नहीं होता, भगवत् कृपा ही वहाँ प्रधान मानी गयी है। जहाँ बहुत से कृपा प्रतीक्षक जीव जुट जाते हैं वहाँ ऐसी घटना घटित हो जाती है, जिस नौका में सभी मृत्यु के मुख में जाने वाले एकत्रित हो जाते हैं, वही नौका मझदार में डूब जाती है, जहाँ सभी कृपा के पात्र संगठित हो जाते हैं, वहाँ स्वयं श्याम-सुन्दर आकर उन्हें ले जाते हैं। इसलिये जीवों को निरन्तर

भगवत् कृपा की सत्संग की ही प्रतीक्षा करनी चाहिये। कब तरनतारन संत मिल जायँ, कब हमें अपने साथ ले जायँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब धुन्धकारी दिव्य रूप रखकर विमान में बैठकर वैकुण्ठ चला गया तो सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ। गोकर्णजी ने अपने श्रोताओं से कहा—"भाइयो! आप सबने भगवत् सप्ताह यज्ञ की महिमा प्रत्यक्ष देख ही ली अब मेरी इच्छा है, कि श्रावण मास में किसी व्यक्ति विशेष के निमित्त सप्ताह न करके सर्वसाधारण जीवों की कल्याण कामना से कथा की जावे। सभी का उद्धार हो, सभी को भगवान् के चरणों की शरण प्राप्त हो सभी संसार बन्धन से छूट जायँ, यही भावना हो।"

गोकर्णजी की इस बात का सभी ने एक स्वर से पालन किया। सभी ग्रामवासी एक मत हो गये। सभी ने एक मन एक प्राण होकर सप्ताह को सफल बनाने का प्रबल प्रयत्न किया। जिसके घर जो भी सप्ताहोपयोगी वस्तु थी, वह उसी को ले आया। जिसमें जितनी सामर्थ्य थी, उसने उतनी ही नहीं उससे अधिक सहायता की। सम्पूर्ण ग्राम के नर-नारी एकत्रित हो हो गये सभी को यह पूर्ण विश्वास था, कि अब के स्वयं साक्षात् भगवान् ही कथा में प्रकट होंगे।

अत्यन्त ही धूम धाम से सप्ताह यज्ञ समाप्त हुआ। अब के सप्ताह की समाप्ति पर एक अत्यन्त ही आश्चर्य जनक अत्यद्भुत घटना घटित हुई। ज्यों ही कथा समाप्त हुई त्यों ही आकाश मंडल में सभी ने देखा, सहस्रों विमानों की पँक्तियाँ दिव्य प्रकाश करती हुई कथा मंडप की ओर चली आ रही हैं। उनके दिव्य प्रकाश से दशों दिशायें प्रकाशित हो रही थीं। उनमें बैठे हुए भगवान् के पार्षद सुमधुर कंठ से कीर्तन कर रहे थे। सहसा उन विमानों में से एक अत्यंत ही दिव्य सुन्दर, प्रभापूर्ण विमान

कथा के समीप तक आया। उसमें से पार्षदों से घिरे हुए भगवान् श्याम सुन्दर उतरे।"

अहा! उस समय की उनकी शोभा कैसी अनुपम थी, भगवान् मंद-मंद मुस्करा रहे थे, अपनी कृपा भरी दृष्टि से सभी पर प्रेम की वृष्टि कर रहे थे। जितने जीव वहाँ एकत्रित थे सभी हर्ष में उन्मत्त से हो गये, सभी के रोम-रोम में उत्साह छा गया, सभी प्रेम में विह्वल हो गये, सभी के नेत्रों से आनन्दाश्रु बहने लगे सभी हर्ष में विह्वल होकर ऊपर को हाथ उठा-उठाकर जय हो! जय हो! नमो नमः! नमो नमः! हरये नमः! हरये नमः! कहकर चिल्लाने लगे। विष्णु पार्षद भी जय जयकार करने लगे। देवता गण भाँति-भाँति के बाजे बजाने लगे, नन्दनवन के पारिजात पुष्पों की वृष्टि करने लगे। स्वयं श्रीहरि भी हर्षातिरेक से अपने पाँचजन्य शंख को बजाने लगे। सभी अपने वस्त्रों को

फैलाकर हाथों को नचाने लगे। भगवान् किरीट मुकुट धारे वन माला पहिने हँसते हुए गोकर्ण जी के समीप आये और उन्हें अपनी विशाल भुजाओं को फैलाकर हृदय से लगा लिये आनंद में भरकर आलिंगन कर लिया। भगवान् का आलिंगन पाते ही गोकर्णजी तद्रूप बन गये। भगवान् के समान ही दिखायी देने लगे।

देखते-देखते वहाँ पर जितने जीव उपस्थित थे, सभी का रूप बदल गया। सभी के सभी का वर्ण नूतन जल भरे मेघों के समान श्याम हो गया था, सभी दिव्य पीताम्बर ओढ़े थे, सभी के मस्तक पर मनोहर मुकुट शोभा दे रहा था, सभी के कानों के कमनीय कनक कुण्डल झलमल-झलमल करके कपोलों की कान्ति को बढ़ा रहे थे। सभी के कंठ में घुटनों तक दिव्य वन माला सुशोभित हो रही थी, उन पर भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे।

यही बात नहीं कि कथा सुनने वालों का ही ऐसा रूप हुआ हो। उस ग्राम में जितने भी श्वपच, चांडाल, कूकर, सूकर, पशु-पक्षी, कीट पतंग तथा जितने भी ऊँच-नीच जीव थे। वे सब के सब दिव्य बन गये। परोपकार निरत गोकर्णजी की कृपा से वे सब के सब उन दिव्य विमानों पर बैठाये गये। सभी ने जय जयकार किया। भगवान् ने अपने पार्षदों से कहा—"जहाँ योगी जन जाते हैं। जिस लोक को पाना बड़े-बड़े ज्ञानी ध्यानियों को भी दुर्लभ है, मेरे उस दिव्य लोक में परमधाम में इन सबको ले चलो।" भगवान् की आज्ञा पाकर वे सभी विमान उड़े और उन सबको भगवान् के परम दिव्य धाम को ले गये।

भगवान् ने गोकर्णजी को हाथ पकड़कर अपने ही विमान में बिठाया। भगवान् को अपनी कथा अत्यन्त ही प्रिय है

जो जीवों के उद्धार के निमित्त भगवत् कथाओं का प्रचार-प्रसार करता है, सबको निष्काम भाव से सुनाता है भगवान् उस पर परम प्रसन्न होते हैं। गोकर्णजी ने सबके हित के निमित्त कही थी इससे भक्तवत्सल भगवान् नन्दनन्दन, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र उन पर अत्यन्त ही रीझ गये उन्हें अपने समीप बिठाकर अपने गोप बन्धुओं के परम प्रिय गोलोक धाम में ले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह अत्यन्त ही आश्चर्य जनक घटना घटित हुई। या तो त्रेता युग में कौशल्यानन्दवर्धन, जानकीजीवनधन भगवान् रामचन्द्रजी अपने समस्त पुरवासियों को अपने साथ साकेत लोक ले गये थे या यह गोकर्णजी की ऐसी घटना हुई। जिस गोलोक में बड़े-बड़े योगियों का जाना भी दुर्लभ है उसमें गोकर्णजी की कृपा से उस ग्राम के कीट-पतंग तक चले गये। यह कितने आश्चर्य की बात है।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! आपने तो कहा—भावना के भेद से फल में भी भेद हो जाता है, धुन्धुकारी ने लगन से ध्यान पूर्वक कथा सुनी तो उसकी प्रेत योनि से मुक्ति हो गयी दूसरों ने असावधानी से सुनी इसलिये कुछ नहीं हुआ। अब आप कहते हैं, कि उस ग्राम के कूकर, सूकर कीट-पतंग भी मुक्त हो गये, तो उन कूकर, सूकरों ने कौन-सी भावपूर्वक कथा सुनी थी, वे कैसे मुक्त हुए, कृपा करके हमारी इस शंका का समाधान और कर दें।"

यह सुनकर सूतजी हँसते हुए बोले—"भगवन्! सुहागे की क्या सामर्थ्य जो राजा के सिर पर बैठ जाय, किन्तु सुवर्ण के साथ सुहागा भी चला जाता है, तृण की क्या सामर्थ्य जो शिव जी के सिर पर बैठ जाय, किन्तु फूलों के साथ वह भी शिवजी के मस्तक पर पहुँच जाता है। दूर का दृष्टान्त छोड़ दीजिये मैं

विलोम जाति में उत्पन्न हुआ हूँ। मेरी इतनी योग्यता कहाँ कि आपके चरणों के समीप भी बैठ सकता, किन्तु भगवत् कथा के प्रभाव से आप सब के सम्मुख उच्चासन पर बैठकर आपको उपदेश दे रहा हूँ। भगवन्! यह उन श्रोताओं की सामर्थ्य नहीं थी। यह तो गोकर्णजी की सामर्थ्य थी कि उनके सत्संग के प्रभाव से सब के सब परम धाम के अधिकारी हुए। उनकी भागवत् भक्ति का ही यह परिणाम हुआ। जिन्होंने गोकर्णजी की कथा का एक भी अक्षर सुना वे ही परम धाम के अधिकारी बन गये जिनके कर्ण पुटों ने गोकर्ण की कथामृत का पान कर लिया उन्हें फिर कभी संसार में माता के स्तन पान करने को नहीं आना पड़ा। यह तो सौभाग्य की बात है, उनके पूर्वजन्मों का सुकृत है, कि जिस गति को प्राणायाम, ध्यान धारणा करने वाले योगी प्राप्त नहीं कर सकते, जिस गति को वायु जल और वृक्ष के सूखे पत्ते खाकर तपस्वी नहीं प्राप्त कर सकते उस गति को गोकर्ण सप्ताह का एक अक्षर सुनने वाले जीव सहज में ही पा गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह तो आपने बहुत ही अद्भुत उपाख्यान सुनाया। महानुभाव! अपने यह कथा कहाँ सुनी थी? यह घटना तो महाराज परीक्षित् के परमधाम पधारने के अनन्तर ही हुई होगी?"

सूतजी बोले—"महाराज! यह घटना तो राजर्षि परीक्षित् के परम धाम पधारने के दो सौ वर्ष पश्चात् हुई, किन्तु यह कोई छिपी घटना थोड़े ही है, सभी ऋषि महर्षि इसे जानते हैं, चित्रकूट पर्वत पर बैठे हुए शाण्डिल्य मुनि ब्रह्मानन्द में निमग्न होकर इस कथा को बारम्बर पढ़ते रहते हैं, उन्हीं के मुख से मैंने इसे सुना है। यह कथा अत्यन्त धन्य है, पावन है, पवित्र है, पुण्य प्रद है, पापनाशिनी और क्लेश काटिनी है इसे एक बार भी जो श्रद्धा प्रेम और विश्वासपूर्वक सुनते हैं या पढ़ते हैं, उनके पाप-पुण्य

उसी प्रकार भस्म हो जाते हैं जिस प्रकार तनिक-सी चिनगारी पड़ने पर रुई का बड़ा भारी ढेर बात की बात में भस्मसात् हो जाता है। जो इसका नित्य नियम से प्रेमपूर्वक पाठ करते हैं, उन्हें पुनर्जन्म की हाट पुनः नहीं देखनी पड़ती। श्राद्ध के समय सुनाने से पितृगण परम तृप्त हो जाते हैं। महाराज! मैं इस की महिमा का क्या वर्णन करूँ। जिन शेषजी के सहस्र मुख और दो सहस्र जिह्वायें हैं, वे भी इसका पूरा माहात्म्य नहीं कह सकते तो मेरे तो एक ही मुख और फिर उसमें एक ही जिह्वा है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह कथा, इस घटना के तीस वर्ष के अनन्तर सनकादि मुनियों ने नारद से कही और नारदजी के मुख से मैंने सुनी।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ तो सूतजी! नारदजी ने पुनः सनकादि महर्षियों से कौन-सा प्रश्न किया। इसे सुनने की हमारी बड़ी प्रबल इच्छा है। कृपा करके हमें नारद-सनकादि सम्वाद की अगली कथा और सुनावें।"

सूतजी बोले—"भगवन्! भागवत सप्ताह माहात्म्य की कथा सुनकर नारदजी ने कुमारों से पूछा—"प्रभो! हमने सप्ताह माहात्म्य के आख्यान तो सुने, अब हम भागवत सप्ताह की विधि और सुनना चाहते हैं। भागवत सप्ताह कैसे किया जाय, उसमें कौन-कौन सी सामग्रियाँ जुटाई जायँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! नारदजी के प्रश्न पर सनकादि मुनियों ने जो उन्हें भागवत सप्ताह की विधि बतायी उसे मैं आप सबको आगे सुनाऊँगा। आप सावधान होकर श्रवण करें।"

—o—

छप्पय

अवध निवासी जीव राम सँग धाम पधारे।
त्यों सब सँग गोकरन हरषि गोलोक सिधारे॥
यह प्रसंग अति पुन्य कथा जे सुनें सुनावैं।
बिनु प्रयास सब जीव सहज महँ शुभ गति पावैं॥
धुन्धुकारि गोकरन की, कथा भई पूरन विमल।
अब विधि शुभ सप्ताह को, सुनहु सजन सादर सकल॥

सप्ताह श्रवण विधि

[२१]

निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० ३ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

शुभ मुहूर्त सुघराइ कथास्थल सुघर बनावै ।
कदली बन्दनवार, पताका ध्वजा लगावै ॥
कातिक, क्वार, अषाढ़, भाद्र, अगहन अरु सावन ।
कहे मोक्षप्रद मास पठावै सबहिँ निमन्त्रन ॥
कथा भागवत सात दिन, होगी आवै कृपा करि ।
आइ कथा रस पान करि, करहिँ कृतारथ दास हरि ॥

वह थल धन्य है, जहाँ भगवान् की कथा होती है, वह सामग्री धन्य है जो भगवान् की कथा में काम आती हो, वे जन धन्य हैं, जिन्हें कथा कहलाने का उत्साह हो, वे सेवक धन्य हैं, जो भगवत् कथा में हार्दिक सहयोग देते हों, वे कीर्तनकार धन्य हैं जो भगवत् कथा स्थल में आकर सुमधुर कण्ठ से भगवन्नाम संकीर्तन करते हों वे मास, पक्ष, तिथि, वार धन्य हैं, जिनमें

---

* सूतजी कहते हैं—"यह श्रीमद्भागवत पुराण अत्यन्त ही धन्य है, महान् मङ्गलमय है, इसे संसार के कल्याण के निमित्त व्यासजी ने आत्मज्ञानियों में परम श्रेष्ठ अपने पुत्र श्रीशुकदेवजी को पढ़ाया।"

भगवान् की कथा होती हो। वे वक्ता धन्य हैं, जो अपनी वाणी को कृष्ण कथा कह कर कृत कृत्य करते हों और वे सुकृति श्रोता धन्य-धन्य हैं जो श्याम के सुन्दर सुखद कथा को स्वाद के साथ सुनते हों। लोक कथायें तो सभी सुनते हैं। इन लोक कथाओं को सुनते-सुनते ही तो हम लोक बन्धन में बँध गये हैं। इस बन्धन के तोड़ने का उपाय भी यही है कि लोक कथाओं से मुँह मोड़-कर मोहन की मनमोहिनी कथाओं से सम्बन्ध जोड़ लें। फिर लोक से सम्बन्ध टूट जायगा। माधव से नाता जुड़ जायगा। यह सब होगा सविधि भागवती कथाओं के सुनने से, जिनके पास संसारी सामग्री नहीं है। उनके लिये प्रेम पूर्वक सुनना ही सबसे बड़ी विधि है। जिनके पास संसारी सामग्री है, वे कृप-णता न करें। अरे इन संसारी तुच्छ वस्तुओं को जोड़-जोड़कर क्या करोगे। एक दिन मर जाओगे, हाथ पसारे रिक्त हस्त चले जाओगे, ये सब वस्तुयें यहीं रह जायँगी, जल जायँगी, गल जायँगी, पाप रूप बन जायँगी। इनका सदुपयोग क्यों नहीं कर लेते। धन का सदुपयोग है धर्म में लगे। भगवान् के कथा कीर्तन में व्यय हो। फलों का उपयोग है भगवान् के अर्पण हों सब भक्त मिलकर हर्ष के सहित प्रभु का प्रसाद पावें। इन रसीली लचीली कुरकुरी, भुरभुरी मिठाइयों का सबसे सुन्दर उपयोग यही है भगवान् का ठाठ-बाठ के साथ विशाल भोग लगे। पटरस छप्पन व्यंजन बनें। भगवान् श्यामसुन्दर आकर अपने अधर का मधुर रस उनमें चुवा दें, जिससे वे और भी मधुराति मधुर बन जायँ। फिर उन्हें भक्त वृन्द भगवान् का जय जयकार करते हुए पावें। भर पेट यथेच्छ पावें। सोचिये इससे बढ़कर और इन पदार्थों की सार्थकता क्या है। फिर ये पदार्थ अमृत हो जायँगे। खाने खवाने वालों को वैकुण्ठ ले जायँगे। ऐसा न करके सबसे छिपाकर चुराकर पूत जमाई को खिलाओगे भगवान्

के अर्पण न करोगे, ये ही मिठाई पाप रूप बन जायँगी विष्ठा तो बननी ही है। अन्त में नरक ले जायँगी। जो भगवान् के निमित्त न बनकर अपने लिये पदार्थ बनते हैं, वे पाप रूप हैं। उनका फल दुःख, रोग, शोक, और नरक ही है। इसलिये बुद्धिमानी इसी में है कि नाशवान वस्तुओं को अविनाशी बना ले। कृष्ण कथा कीर्तन के संसर्ग से उन्हें तारक बना ले। यही सबसे बड़ी चातुरी है यही पंडिताई है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी के पूछने पर सनकादि महर्षि भागवत सप्ताह विधि का वर्णन करने लगे। कुमारों ने कहा—"नारद! यह सप्ताह यज्ञ है। यह सार्वजनिक अनुष्ठान है। यह जप प्राणायाम की भाँति नहीं है कि अकेले जाकर एकान्त में बैठ गये, उँगलियों पर मन्त्र जप लिया या नाक दबा कर पूरक, कुम्भक, रेचक कर लिया। इसमें तो सबके सहयोग की आवश्यकता होती है। इस यज्ञ में सहयोग की आवश्यकता होती है। इस यज्ञ के लिये दो साधन मुख्य चाहिये। एक तो जन का सहयोग दूसरे धन का सहयोग। जैसी भी अपनी सामर्थ्य हो भगवान् ने विपुल धन दिया हो, तो बड़े विस्तार से हृदय खोलकर उदारता के साथ व्यय करें। अपने समस्त बन्धु-बान्धव कुटुम्बी सम्बन्धी सभी को बुला लें। सभी को कुछ न कुछ काम सौंप दें। अपनी बहिनों को, लड़कियों को, बूआओं को, अपनी ससुराल, ननसाल तथा दूसरे सम्बन्धियों को बुला लें। स्त्रियाँ भीतर का काम धंधा देखें पुरुष बाहर के काम देखें बच्चे चारों ओर सुन्दर-सुन्दर नये-नये वस्त्र पहिन कर क्रीड़ा करें मंडप को सजावें। फूल फल लावें बन्दनवार बनावें।"

पहिले ज्योतिषी से मुहूर्त पूछकर दिन निश्चय करे। वैसे तो शुभ काम जब भी हो जाय, तब ही अच्छा है जब मन में उत्साह हो जाय तब ही मुहूर्त है किन्तु जब विस्तार से करना हो तो

मुहूर्त पूछ ले। वैसे तो सभी महीना श्रेष्ठ हैं, किन्तु अषाढ़ से लेकर मार्गशीर्ष तक ये महीने बहुत सुन्दर कहे गये हैं। कथा के लिये दोनों पक्ष सुन्दर हैं, किन्तु शुक्ल पक्ष अति सुन्दर है तिथि भी सभी श्रेष्ठ हैं किन्तु प्रायः शुक्ल पक्ष में अष्टमी नवमी से आरम्भ करके पूर्णिमा तक सप्ताह श्रेष्ठ माना गया है। तिथियों भद्रा आदि को त्यागकर सुन्दर तिथि, वार, नक्षत्र देखकर कथा का दिन १०-२० दिन पहिले ही निश्चय कर ले फिर जिन लोगों को कथा में उत्साह हो, शुभकामों में जो भाग लेते हों उनसे जाकर सम्मति करें—"भाई हमारा विचार भागवत सप्ताह करने का है। आपकी क्या सम्मति है ?" वे कहेंगे ही—"आपने बड़ी सुन्दर बात सोची, इससे बढ़कर और क्या कार्य हो सकता है। आप अवश्य करें, कब से कर रहे हैं ?"

तब उनसे कहे—"अमुक तिथि से करने का विचार है, किन्तु यह काम आपके सहयोग के बिना नहीं हो सकता आपको ही सब करना धरना होगा।"

वे कहेंगे—"यह भी कोई कहने की बात है। वह तो सभी का काम है भगवान् के काम से कौन मुँह मोड़ सकता है मुझे आप जो कहेंगे, यथाशक्ति उसे करने की चेष्टा करूँगा।"

इस प्रकार अपने सहायक सहयोगी कथा प्रेमियों से सम्मति करके उनकी स्वीकृति लेकर तब आगे को काम बढ़ाना चाहिये। सबसे पहिले तो अपने सगे सम्बन्धी इष्ट मित्रों को पत्र भेजे। सुयोग्य लेखकों से पत्र लिखवा ले। उसमें इस प्रकार लिखे।

"सिद्धि श्री सर्वोपमा सकल गुण निधान.....
...में विराज मान श्री मान्.....जी को योग्य लिखी...से
...अमुक अमुक की राम राम, जय श्री कृष्ण, जय गोपाल (जो भी अपनी प्रथा हो) वंचना जी। आगे हाल यह है कि हम

सब यहाँ प्रसन्न हैं आप सबकी प्रसन्नता श्री भगवान् से सदा नेक चाहते रहते हैं। आगे भगवान् की कृपा से तथा आप सब लोगों के आशीर्वाद से हमारा मनोरथ श्रीमद्भागवत सप्ताह करने का हुआ है, उसकी पूर्ति भगवत् कृपा और सबके आशीर्वाद और सहयोग पर निर्भर है। अमुक तिथि से लेकर अमुक तक सप्ताह की तिथि निश्चित हुई है। सात दिनों तक यहाँ बड़ा ही अद्भुत अलौकिक आनन्द रहेगा। बड़े-बड़े सत्पुरुषों का दुर्लभ समागम होगा। अपूर्व रसमयी श्रीमद्भागवत की कथा होगी। आप तो पहिले से ही कथा के प्रेमी हैं, आपकी रसिकता के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। अतः इस तिथि के एक दिन पहिले ही आप अवश्य-अवश्य पधारें सपरिवार पधारें और भी जो कथा के प्रेमी हों, उनको भी सूचना दे दें। ऐसा न हो, कि इस पुण्य अवसर पर आपके दर्शन न हो सकें। कदाचित् सात दिन का अवकाश न भी मिले तो जैसे भी बने तैसे सभी काम छोड़कर एक दिन के लिये तो अवश्य ही आवें, क्योंकि यहाँ का तो एक क्षण भी बड़ा दुर्लभ है। अपने आने की स्वीकृति भेजें। हमारे योग्य कोई सेवा हो तो उसे लिखें भूलें नहीं। सब लोगों को यथा योग्य कहें। बाल गोपालों को प्यार।"

ऐसा पत्र अपने सगे सम्बन्धियों को लिखे। विरक्त वैष्णव त्यागी महात्माओं से नम्रता पूर्वक प्रार्थना करे। लोगों के द्वारा सर्वत्र समाचार भेज दे। जो सेवा परायण शूद्र हैं या जो घर में ही रहने वाली स्त्रियाँ हैं उन्हें सत्संग का अवकाश कभी-कभी ही मिलता है, इसलिये सब लोग जान जायँ कि अमुक स्थान पर अमुक दिन से कथा होगी ऐसा प्रबन्ध पहिले से ही कर दे। जो अच्छे कीर्तनकार हों उन्हें भी विनयपूर्वक बुलावें। कथा प्रेमी आस-पास विरक्त वैष्णव हों उनके भी पास समाचार पठा दे। कथा कहने वाले, कथा सुनने वाले तथा कीर्तन करने

चाले जो भी आवें उनके ठहरने आदि का समुचित प्रबन्ध कर दे। ठहरने का स्थान ऐसा हो, जहाँ जल का डोल डाल का सुपास हो।

जहाँ तक हो, कथा को जाकर पुण्य तीर्थों में करे। इतनी सामर्थ्य न हो तो अपने गाँव में कोई देवालय हो, नदी तट हो वहाँ करे। यह भी न हो तो अपने घर में ही करे। घर में जो सबसे चौड़ा विस्तृत स्थान हो, जहाँ श्रोता सुख से बैठ सकें वहीं कथा का मण्डप बनावे। पहिले वहाँ के सब सामान को उठाकर दूसरे स्थान पर रख दे। धूलि, जाला, मकड़ा, सबको बाँस में कपड़ा बाँधकर झाड़ दे बुहारी से झाड़ू दे दे। फिर गोबर मिट्टी से लीप दें। यदि सम्पूर्ण भूमि पर वज्रलेप हो रहा हो तो उसे धो दे। फिर उस पर गेरू के चूर्ण से चौका बेल बूटे चित्र आदि बनावे। भूमि पर बिछाने के लिये बिछौने का तथा साधु सन्तों के लिये आसनों का प्रबन्ध कर ले। अपने यहाँ पर्याप्त न हों तो इधर-उधर से माँग कर चार पाँच दिन पहिले ही एकत्रित कर ले। फिर नियत स्थान में सुन्दर मण्डप बनावे उसे जितना सजा सकता हो उत्साहपूर्वक सजावे। वक्ता के लिये मृदुल गुदगुदा असान बिछावे, पीठ टेकने के लिये बड़ा उपवर्ण (तकिया) रख दे। मंडप के चारों कोनों पर केले के खम्भे लगा दे। केलों को किसी ऐसे पात्र में रखे कि सप्ताह भर हरे भरे बने रहें। ध्वजा, पताका, बन्दनवार, झण्डी आदि लगाकर ऐसा बना दें कि देखने वालों का मन प्रफुल्लित हो उठे। वेदी के ऊर्ध्व भाग में सात वस्त्र लगाकर सात लोकों की कल्पना करे। उनमें आसन बिछाकर सात विरक्त वैष्णवों को बिठा दें। साक्षात् ऐसा न भी कर सके तो ऊपर सात परत का वस्त्र लगाकर मन से ही कल्पना कर ले। फिर श्रोता-वक्ता शुभ दिशा में मुख करके बैठें।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! श्रोता का मुख किधर होना चाहिये और वक्ता का किधर ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज, यदि वक्ता का मुख उत्तर की ओर हो तो श्रोता का मुख पूर्व की ओर और यदि वक्ता का मुख पूर्व की ओर हो तो श्रोता का उत्तर की ओर अथवा श्रोता वक्ता के बीच में कैसी भी पूर्व दिशा अवश्य आ जानी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"इसका क्या अभिप्राय कैसे श्रोता वक्ता के प्रसंग में पूर्व दिशा आवे ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! इसका सीधा अर्थ यह है कि श्रोता-वक्ता किसी का भी मुख दक्षिण की ओर न होना चाहिये। जैसे श्रोता पूर्वाभिमुख है तो वक्ता का मुख उत्तर की ओर, वक्ता उत्तर मुख है, तो श्रोता पूर्व की ओर, वक्ता का मुख पश्चिम की ओर है तो श्रोता का पूर्व की ओर, वक्ता पूर्वाभिमुख है, तो श्रोता पश्चिम मुख भी कर सकता है। कैसे भी पूर्व दिशा आनी चाहिये। यह नियम मुख्य श्रोता के ही सम्बन्ध में है। वक्ता का चुनाव बड़ी बुद्धिमानी से सोच समझ कर करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! कैसा वक्ता होना चाहिये, उसके कुछ लक्षण तो बताइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! सबसे पहिले तो वक्ता में यह गुण होना आवश्यक है, कि वह संसारी विषयों में विशेष बँधा न हो, संसारी भोगों से विरक्त हो। यह भागवत विष्णु परक शास्त्र है, अतः वक्ता ब्राह्मण को विष्णु भक्त होना चाहिये। विद्वान् भी हो, वेद शास्त्रों की व्याख्या करने में हिचके नहीं, अपने विषय को स्पष्ट कर दे। यह भी नहीं कि अक्षरों को बाँचता गया, श्रोता चाहे समझे या न समझे। जिस विषय का वर्णन करे उसे दृष्टान्त देकर समझाने में समर्थ हो। जो घबड़ावे नहीं, विकार की सामग्रियों के रहते हुए भी जिसका मन विचलित न हो, किसी

की ओर कुदृष्टि न डालता हो। जो धन को ही सब कुछ न समझता हो, सब समय चढ़ावे की ही चिन्ता में मग्न न रहता हो। निःस्पृह चित्त वाला हो ऐसे ही विद्वान् को वक्ता बनाना चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"जिसमें ये गुण हों, उसे तो वक्ता बनाना ही चाहिये, अब यह बताइये कैसे को वक्ता न बनावे ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! जो मतमतान्तरों के भ्रम में पड़ा हो, लोभ वश नये-नये कलियुगी पन्थों के चक्कर में पड़ा हो, जो स्त्रियों में अत्यन्त लम्पट हो, जिसकी बोल-चाल में आचार-व्यवहार में चाल ढ़ाल में कपट भरा हो, कपट का व्यवहार करता हो, वह चाहे कैसा भी विद्वान् हो, दिग्गज पंडित हो, षट्शास्त्री भी क्यों न हो उसे कभी भी श्रीमद्भागवत का वक्ता न बनाना चाहिये।"

वक्ता सुन्दर कण्ठ वाला मधुर भाषी हो, उसका एक सहायक वक्ता भी होना चाहिये, वह भी उसी की भाँति विद्वान् संशयों को छेदन करने वाला तथा लोगों की शंकाओं का समाधान करने वाला हो। ऐसे वक्ताओं से कथा की शोभा बढ़ती है, बड़ा आनन्द आता है, कथा में रस बरसने लगता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! यह सब तो सप्ताह के आरम्भ होने के पूर्व का कृत्य हुआ कथा की तैयारियाँ हो गयीं, श्रोता एकत्रित हो गये, कथा के वक्ता आ गये, अब क्या करे ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! कथा आरम्भ होने के एक दिन पूर्व भगवान् का अधिवास करे भगवान् का आवाहन पूजनादि करे, उस कर्तव्यों को मैं आगे कहूँगा और आप इस विधि विधान के प्रसंग को श्रद्धापूर्वक श्रवण करें।"

—o—

छप्पय

भेजे सब थल पत्र निमंत्रित जे जन पावें।
असन वसन परवंध करै दुख तनिक न पावें॥
वक्ता वैष्णव, विज्ञ, विवेकी, विप्र, वेद वित।
कुशल धीर गंभीर अरथ सब करै प्रकाशित॥
संग सहायक सरल शुचि, पंडित वक्ता अपर करि।
श्रोता व्रत धारन करै, निरखै सब महँ स्वयं हरि॥

कथारम्भ के पूर्व दिन की विधि

[२२]

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ।
कलौ नष्ट दृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥*

(श्री भा० १ स्क० ३ अ० ४३-४४ श्लो०)

छप्पय

कथा एक दिन प्रथम बाल वक्ता बनवावै ।
गौरी, कलश, गनेश, मातृ, ग्रह, हरि पुजवावै ॥
पुस्तक पूजन विनय भागवत भगवत चरनन ।
हैं के अतिई दीन करै हिय महँ हरि सुमरन ॥
तजि चिन्ता धन धाम की, सुनहिँ कथा श्रोता सकल ।
मिलहि भक्ति भगवान् की, पावैं तेई परम फल ॥

अन्तः करण से की हुई विनय से भगवान् श्याम सुन्दर का हृदय पिघल जाता है, द्रवित हो जाता है, तरल बन जाता है, उसमें भक्त की आकृति खिँच जाती है, वह हरि के हृदय में बस जाती है, फिर भगवान् स्वयं उस भक्त का भजन करने लगते

---

* सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! धर्म और ज्ञानादि के सहित जब भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी अपने स्वधाम गोलोक को चले गये, तब कलि-काल में जिनकी अज्ञान के कारण दृष्टि नष्ट हो गयी है ऐसे कलियुगी जीवों के लिये यह भागवत रूपी सूर्य उदय हुआ है । यह साक्षात् भगवान् का ही स्वरूप है ।"

हैं, भजन क्या करते हैं सदा के लिये वह उनके हृदय में समा जाता है उनके ही श्री विग्रह का एक अंग बन जाता है। सम्पूर्ण संसार श्रीहरि के वश में हैं, किन्तु वे श्रीहरि स्वयं भक्त के वश में हैं। इसलिये कथा में कीर्तन में भक्ति की प्रीति की आवश्यकता है। लगन के साथ हृदय की पुकार को प्रभु अविलम्ब सुनते हैं और फिर उनसे रहा नहीं जाता, अवश होकर वे भक्त को अपना लेते हैं, कथा स्थल पर प्रकट होकर भक्त को हृदय से सटा लेते हैं, उसे अपना बना लेते हैं। यही भगवान् की भक्तवत्सलता है, इसी का नाम शरणागत प्रतिपालकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी से सनकादि मुनिगण भागवत सप्ताह श्रवण की विधि बताते हुए कह रहे हैं—"नारद! सप्ताह जिस दिन से करना हो उसके एक दिन पूर्व भगवान् का अधिवास उत्सव करे। श्रोता-वक्ता दोनों को उस दिन क्षौर करा लेना चाहिये। भोर में तड़के अरुणोदय के समय उठकर शौचादि से निवृत्त होकर संक्षेप में प्रातः कृत्य कर लेने चाहिये। यदि नित्य अधिक जप करता हो तो उस दिन केवल नाम मात्र के लिये नियम पूर्ति के निमित्त थोड़ा ही जप करे, क्योंकि नैमित्तिक कर्म के सम्मुख नित्यकर्म गौण हो जाता है कथा सुनना-सुनाना यह भी तो भगवान् की उपासना ही है।

नित्य कर्मों से निवृत्त होकर कथा मण्डप में आ जाय, वहाँ आकर ग्रहों की स्थापना करे। सर्वतोभद्र चक्र बनाकर उसके बीच में भगवान् को पधरा दें। आरम्भ में विघ्न विनाशक गणेशजी का पूजन करे, पञ्चगव्य से शरीर की शुद्धि करे, अंगन्यास करन्यास करके शरीर को देवनामय बनावे। भूत शुद्धि करे, अपने पितरों का तर्पण करे। नवग्रह षोडशमातृका आदि सबका पूजन करे, फिर मण्डप में स्थापित भगवान् का विधि विधानपूर्वक षोडशोपचार पूजन करवावे। आचमन प्राणायाम करके

पूजन का संकल्प करे, फिर विधिपूर्वक क्रम से आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र अलंकार यज्ञोपवीत, धूप, दीप, नैवेद्य, मुखशुद्धि, दक्षिणा, आरती, प्रदक्षिणा और नमस्कार करे। फिर हाथ जोड़कर दीनता के साथ गद्गद वाणी से प्रेम-पूर्वक भगवान् की इस प्रकार स्तुति करे—

निहारो अब प्रभु मेरी ओर।
भव जल निधि अति अगम अलघपति, दीखत ओर न छोर ॥१॥
करम मोह द्वै ग्राह ग्रसें जल, नाथ ! उबारो दौरि।
भटकत डूबत उतरत कब तैं, करो कृपा की कोर ॥२॥ नि०
चकित चकित चितवत चहुँदिशि हौं, निविड़ तिमिर घनघोर।
उठत तरंग भयानक भवजल, बहत बहत भयो भोर ॥३॥ नि०
जग जन सब स्वारथ के साथी, अपर आस नहिं मोर।
पतित उधारक पालक प्रभुवर ! लगी चरन महँ डोर ॥४॥ नि०

"हे नाथ ! मैं इस भवसागर में बह रहा हूँ, डूब रहा हूँ, छट-पटा रहा हूँ, बिल-बिला रहा हूँ, घबरा रहा हूँ, मेरी रक्षा करो। तैरते-तैरते थक गया हूँ, कर्म और मोह रूपी दो ग्राहों ने मुझे ग्रस लिया है, पकड़ लिया है, थाम लिया है, अब वे मुझे निग-लना चाहते हैं, लीलना ही चाहते हैं, इनसे उबारो, इनसे बचाओ। आओ, आओ, नाथ अभी आओ, मत विलम्ब लगाओ, प्राण बचाओ, अधिक नाच न नचाओ। मैं शरण तिहारी, बलि-बलि हारी, करो हमारी रक्षा स्वामी। आओ, आ जाओ, दास को अपनाओ। पतित के बन्धन छुड़ाओ। रक्षा करो, उद्धार करो।"

इस प्रकार भगवान् की स्तुति करे।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भगवान् की षोडशोपचार पूजा करने के अनन्तर फिर श्रीमद्भागवत की पुस्तक की अति

उत्साह, परम प्रीति और शास्त्रीय विधि विधान से पूजा करे। माला धूप, दीप, नैवेद्यादि सामग्री से पूजा करके फिर हाथ में एक श्रीफल ले, उसमें काला वा लाल वस्त्र लपेट ले, कुछ दक्षिणा भी रख ले। उसमें से पुस्तक भाव विलीन कर दे। यह सोचे कि ये साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं, मेरे उद्धार के ही निमित्त यहाँ पधारे हैं। उनकी अति मुदित मन से प्रेम भरित हृदय से यों स्तुति करे।"

भागवत् ! भगवत् रूप तिहारो।
जग महँ भटकत दरसन दीन्हें, अब मिलि गयो सहारो ॥१॥ भा०
भयो सनाथ शरन तव आयो और नहीं रखवारो।
पद पदुमनि महँ पर्यो पतित प्रभु पकरो बाँह उबारो ॥२॥ भा०
मातु, पिता, गुरु सरबसु हौ हरि, और न हितू हमारो।
असरन सरन विरुद सुनि पकर्यो, दीन उधारन द्वारो ॥३॥ भा०
अब तक अगनित अधम उधारे, अब जा पतितहिं तारो।
सफल होहि व्रत, नियम, कथा प्रभु, बाधा विघननि टारो ॥४॥ भा०

"हे भागवत के रूप में भगवान् ! हे ग्रन्थ रूप में गोविन्द ! हे ज्ञान स्वरूप ! हे कृष्ण स्वरूप ! चिरकाल से मैं भवसागर में भटक रहा हूँ, उससे पार जाने को छटपटा रहा हूँ, अब सौभाग्य से आपके दर्शन हुए हैं। तुम्हें सर्व समर्थ स्वामी समझकर सदा के लिये तुम्हारी शरण ली है, हे दीन दयाल ! मैं तुम्हारा दास हूँ हे केशव ! मैं तुम्हारा किंकर हूँ मेरी रक्षा करो। मेरे मनोरथ सफल करो, मेरे व्रत को पूर्ण करो, मेरे नियम को निभाओ। मुझे अपनाओ, अपना अकिंचन अनुचर बनाओ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार पुस्तक के पूजन के अनन्तर भागवत वक्ता का सविधि पूजन करे। पाद्य, अर्घ्य आचमनीयादि देकर चन्दन लगावे, माला पहिनावे, यज्ञोपवीत

दे, अपनी शक्ति के अनुसार सुन्दर वस्त्रों को उढ़ावें। इस प्रकार वस्त्राभूषणों से विभूषित करके दीन होकर आरती प्रदक्षिणा आदि करे, फिर अत्यन्त नम्रता के साथ, गद्गद वाणी से उनकी स्तुति करे। हाथ में पुष्प लेकर इस प्रकार कहे।

सवैया

हे शुकदेव सरूप! अनूप कथा कमनीय सुस्वादु सुनाओ।
कवतैं हियमहँ तम व्यापि रह्यो तिहि दीप सुज्ञान जराइ भगाओ।
हे द्विज देव! दया करिकें निज सेवक जानि हमें अपनाओ।
भव सागर डूबि रह्यो प्रभुजी पकरे पद पंकज पार लगाओ।

"हे शुकदेव स्वरूप! मैं तुम्हारी शरण में हूँ, इस भयानक भवसागर से पार जाने के निमित्त तुम्हारे चरणों की शरण ली है, हे कृपालो! कृपा करो, मुझे श्रीकृष्ण की कमनीय कथा सुनाकर कृतार्थ करो। हे केशव! अपना अकिंचन किंकर मान कर मेरे मनोरथ को सफल करो। हे सर्वशास्त्र विशारद! इस दिव्य कथा रूप सूर्य को प्रकाशित करके मेरे हृदय के अज्ञान रूप अन्धकार को भगाओ।"

इस प्रकार भगवान् की, भागवत की और भागवत वक्ता की पूजा करे। पूजा हो जाने पर भगवान् और भागवत के सम्मुख वक्ता के सामने सात दिन का नियम धारण करें, कि "मैं सात दिन उपवास रहकर, दूध पीकर, फलाहार करके या एक समय भोजन करके कथा श्रवण करूँगा।" अपनी सामर्थ्य देखकर ही नियम धारण करे और फिर उसका यथाशक्ति सात दिनों तक पालन करे वक्ता का जो सहायक है उसकी पूजा करे। इस प्रकार यह आरम्भिक कृत्य समाप्त हुआ।

अब एक बात और रह गयी। वक्ता सहायक वक्ता के अतिरिक्त पाँच ब्राह्मणों को जप के लिये और वरण करे। क्योंकि

"भागवत" सप्ताह एक प्रकार का यज्ञ है और यज्ञों में विघ्नों की बड़ी संभावना होती है, अतः यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो जाय, किसी प्रकार की त्रुटि न रहे, इसके निमित्त पाँच ब्राह्मणों को भगवान् के द्वादशाक्षर मंत्र के जप के निमित्त बिठा देना चाहिये। उन्हें वरणी देकर जप के लिये वरण करे। फिर जितने वहाँ, विष्णु भक्त ब्राह्मण, वैष्णव तथा कीर्तनकार हों, उनको भी नमस्कार करे, यथाविधि उनकी भी पूजा करे। फिर सबकी अनुमति लेकर सबको दण्डवत् प्रणाम करके वक्ता के द्वारा बताये हुए अपने आसन पर स्वस्थ चित्त होकर बैठ जाय।

उस दिन वक्ता को चाहिये, कि श्रीमद्भागवत का माहात्म्य सुनावे। श्रोता को एकाग्रचित्त होकर कथा को श्रवण करना चाहिये। कथा सुनते समय लोकवार्ताओं का विचार न करे। संसार में जो उत्तेजक व्यावहारिक घटनायें घट जाती हैं उन्हें संकल्प पूर्वक न सुने। ऐसी बातों के श्रवण करने से यथाशक्ति बचता रहे। अपनी धन सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी विशेष चिन्ता न करे सात दिन तक सब कार्य भार साँवलिया को सौंप दे। वे ही सब देख-रेख रखें, वे ही इच्छानुसार बनावें बिगाड़ें। घर की चिन्ता न करे क्या हो रहा है, कैसा है। अपने पुत्र-पुत्रियों का परिवार स्वजनों का समस्त भार श्यामसुन्दर को दे दे। वे जिसे जैसे चाहें रखें। सब ओर से मन को हटाकर कथा में ही अपने चित्त को लगाये रखे। ध्यान को सदा कथा में ही रखे। दृष्टि को सदा वक्ता की ओर रखे। उसके मुख से सुने हुए शब्दों को सावधानी के साथ धारण करे।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने सनकादि मुनियों के द्वारा नारदजी को कही हुई सप्ताह से प्रथम दिन के कृत्य की कथा सुना दी। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने कहा था, कि श्रोता

को सात दिनों तक नियमों का पालन करना चाहिये, वक्ता को भी सात दिनों तक नियम संयम पूर्वक कथा सुनानी चाहिये; सो हम श्रोता वक्ता के उन नियमों को और सुनना चाहते हैं।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! सनकादि मुनियों ने भी तो आगे यही बात नारदजी को सुनायी थी उसे ही मैं आप को सुनाता हूँ आप इस प्रसंग को प्रसन्नतापूर्वक एकाग्रचित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

भक्त, भागवत, व्यास, विप्र, सुर, पितर सबनि कूँ।
पूजन करि डंडौत करै आगत अतिथिनिकूँ॥
द्वादश अक्षर मंत्र हेतु द्विज पाँच बिठावै।
विधिवत करिकै वरन नियम तैं जप करवावै॥
सबतैं अनुमति माँगि पुनि, सुनै महातम प्रेम तैं।
सात दिवस सप्ताह कूँ, सुनै यथा विधि नेमतैं॥

श्रोता वक्ता के नियम, कथारम्भ

[२३]

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ॥
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तम्
तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

विष्णुमंत्र लै सुनै तैल मधु दाल न खावै।
ब्रह्मचर्यव्रत शयन भूमि षडरिपुनि भगावै॥
वेद विप्र, गुरु, गाय, नारि, नृप निन्दा त्यागै।
धारि सत्य संतोष चित्त प्रभु चरननि लागै॥
रोगी पापी सुत रहित, धन कामी नामी अधम।
भुक्ति-मुक्ति सप्ताह सुनि, पावैं प्रानी पद परम॥

रोग निवृत्ति के लिये औषधि सेवन अत्यावश्यक है, किन्तु केवल औषधि से ही रोग नहीं चला जायगा, उसके लिये पथ्य

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—"हे वैकुण्ठ नाथ! मेरे इस मनकी प्रीति आपकी कथाओं में नहीं है। यह दुष्ट विविध संसारी दोषों से दूषित, कामातुर तथा हर्ष, शोक भय और तीन प्रकार की एषणाओं से व्याकुल बना हुआ है, इस ऐसे कलुषित मन को लिये हुए मैं अति दीन-हीन आपका भजन चिंतन श्रवण कर ही कैसे सकता हूँ?"

भी अत्यावश्यक है। जो कुपथ्य करता है, आहार विहार का विवेक नहीं रखता, उसे ओषधि भी उतना लाभ नहीं करती। इसलिये वैद्यक शास्त्रों में कहा है—"जो पथ्य से रहता है, उसे ओषधि की क्या आवश्यकता है ? और जो पथ्य से नहीं रहता, उसका ओषधि सेवन भी व्यर्थ है। अर्थात् ओषधि के साथ पथ्य अत्यावश्यक है।"

हमारे यहाँ जो व्रत, उपवास, दीक्षा तथा अनुष्ठानादि को इतना महत्त्व इसीलिये दिया है, कि इनके साथ संयम नियमों का पालन करना ही होगा। ये काम क्रोधादि मन के रोग हैं, इनके लिये व्रत, यज्ञ, अनुष्ठान ये ओषधियाँ हैं, सत्य, संतोष, शौच, सदाचार, संयम तथा उदारता आदि पथ्य हैं। अनुपान हैं। उन दिनों इनका पालन दीक्षा लेने वाले को अत्यन्त ही आवश्यक है।"

वैसे इन नियमों का पालन तो सदा ही करते रहना चाहिये, किन्तु जब तक अंकुश नहीं होता पालन करना कठिन पड़ जाता है, इसलिये व्रत के दिन, पर्व के दिन, अनुष्ठान के दिनों में इनका पालन यथाशक्ति अनिवार्य माना गया है। प्राणी जान में, अनजान में, स्वाभावानुसार तथा प्रकृति दोष से सत्य शौचादि का सदा सर्वदा पालन नहीं कर सकता इसीलिये ये व्रतादि हैं, एकादशी के दिन, पूर्णिमा के दिन मौन रहो, सत्य नारायण कथा सुनो। सत्य नारायण कथा का माहात्म्य सुन लो, पँजीरी पंचामृत बाँट दो, इतना ही व्रत नहीं, उस दिन सत्य को नारायण मानकर असत्य भाषण नहीं करना चाहिये, नारायण का नाम कीर्तन करते हुए रात्रि जागरण करना चाहिये। आप चाहें कि हमारी खांसी प्रतिश्याय दूर हो जाय उसके लिये वैद्य की ओषधि तो खाते हैं, किन्तु बड़े-बड़े बालों को भिगोकर नित्य स्नान करते हैं, मिठाई गरिष्ठ पदार्थ खाते हैं, वसंत में

हिम जल, मीठा मिला जल पीते हैं, दही, ठंडे फलों का रस आदि कफ वर्धक पदार्थ खाते हैं हो आपकी औषधि का क्या प्रभाव होगा। इसके लिये तो आपको कफ वर्धक वस्तुओं का त्याग और सोंठ, अदरख, हरड़, काली मिरच, उष्ण जल तथा और भी ऐसी ही कफ नाशक वस्तुओं का सेवन करना चाहिये, जिससे ये औषधि के सहायक बनकर जड़ मूल से रोग को नष्ट कर दें। इसी प्रकार भागवत सप्ताह श्रवण करने वालों को यथाशक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसमें बताये हुए नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कथा कहने वाले वक्ता को यह सोचकर कथा कहनी चाहिये, कि हम भगवान् की सेवा कर रहे हैं। भागवत साक्षात् श्रीकृष्ण का स्वरूप है। प्रातः-काल ही तड़के अरुणोदय में उठे। नित्य कृत्य करके संक्षेप से ही सन्ध्यावन्दन कर ले। सूर्योदय तक अपने आसन पर कथा कहने आ जाय। प्रधान श्रोता के आ जाने पर सबकी अनुमति लेकर पुस्तक को तथा सभी विष्णु भक्तों को प्रणाम करके व्यासासन पर विराजमान हो जाय। सूर्योदय के समय कथा को आरंभ कर दे।

कथा कहने के दो प्रकार हैं, पहिला तो यह कि एक अध्याय का पाठ करले उसका अर्थ कर दे। पाठ और अर्थ के लिये दो वक्ता हों तो और भी उत्तम है एक पाठ कर दे दूसरा उसका अर्थ कह दे। अथवा प्रातःकाल में मूल पाठ कर ले, सायंकाल में जितने का पाठ करे उसका अर्थ सुना दे। सात दिन में पूरी भागवत कथा कह लेना कोई साधारण काम नहीं है अतः कम से कम साढ़े तीन प्रहर चार प्रहर तक कथा करे। मध्याह्न दो घड़ी के लिये विश्राम ले। उस समय कथा बन्द कर दे। तब

तक वैष्णव गण मिलकर भगवन्नाम संकीर्तन करें। इस प्रकार वक्ता बड़े संयम नियम से रहकर कथा करे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह तो मैंने संक्षेप में वक्ता के नियम बताये, अब आप श्रोता के नियमों को और सुन लें। सर्व प्रथम तो आहार के नियम समझ लें। मुख्य वस्तु है आहार। मनुष्य का जैसा आहार होगा, वैसी ही उसकी वृत्ति बनेगी। जब तक कथा हो तब तक श्रोता को बैठे ही रहना चाहिये। वह होगा संयत आहार से। अधिक भोजन कर या पेय पदार्थ परिमाण से अधिक पान कर लिये तो बीच में मल मूत्र त्याग के लिये उठना ही पड़ेगा, इसलिये यथाशक्ति अल्पाहार करे, वह भी दिन में एक बार। खीर, फल या जो भी हविष्यान्न हो एक बार खाकर रहे। सायंकाल में चाहे तो दूध ले लें।"

शौनकजी ने पूछा—"खाना आवश्यक है क्या सूतजी?"

सूतजी बोले—"नहीं महाराज! आवश्यक कुछ नहीं किसी की सामर्थ्य हो तो सात दिन निराहार व्रत लेकर कथा सुने। निराहार न रह सके केवल दूध पीकर रहे, घी खाकर रहे फलाहार भक्षण करके सुने अथवा एकाहारी रहकर कथा सुने। दिन में एक बार हविष्यान्न का भोग लगाकर प्रसाद पावे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! उपवास करके ही सुनना चाहिये। अनशन की भाँति कोई दूसरा तप नहीं। राजा परीक्षित् ने तो अनशन करके ही पूरा सप्ताह सुना था, यहाँ तक कि उन्होंने तो गंगा जल भी पान नहीं किया था। धुन्धुकारी प्रेत ने भी सात दिनों तक निराहार रहकर ही सप्ताह सुना। इससे सबको निराहार रहकर ही सुनना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! निराहार व्रत का तो कहना ही क्या? यदि किसी से निभ जाय, तो इससे उत्तम तो कोई बात ही

नहीं। किन्तु भगवन्! सबके मान की यह बात नहीं। अपनी सामर्थ्य देखकर नियम लेना चाहिये। ऐसा न हो, कि नियम के हठ में मूल भावना ही नष्ट हो जाय। चौबेजी गये छब्बे जी बनने, रह गये दूबे जी ही। मुख्य उद्देश्य तो कथा श्रवण है, हमारी शक्ति तो निराहार की है नहीं, किन्तु हमने उत्तम समझ कर व्रत ले लिये। दो ही दिन में शिथिल हो गये। काँखते रहते हैं, दो आदमी पकड़कर लिटा देते हैं, कथा में बैठे-बैठे तन्द्रा में झपकियाँ लेते रहते हैं, कथा सुनायी भी नहीं पड़ती। आँखों के सम्मुख अँधेरा छा जाता है। पंडितजी ने क्या कहा कहाँ तक कथा हुई, इसका पता तक नहीं। तो भगवन्! ऐसे कथा में विघ्न करने वाले उपवास से तो मैं कथा श्रवण में सहायक भोजन को ही श्रेष्ठ मानता हूँ। समय पर आनन्द से एक बार खीर, हलुआ या दूसरा कोई भी हविष्य पदार्थ भगवान् का भोग लगाया, पा लिया। फिर आनन्द से सुख पूर्वक कथा सुनते रहे। यदि दोपहर में खाने से आलस्य आ जाय तो ऐसा नियम करले, कथा समाप्त होने पर सायंकाल में ही प्रसाद पाया करेंगे। सो भगवन् उपवास के पक्ष को उत्तम तो कहा है। किन्तु मेरी दृष्टि में कथा श्रवण में विघ्नकारक उपवास की अपेक्षा कथा श्रवण में सहायक भोजन को मैं सर्वोत्तम पक्ष मानता हूँ। आपकी क्या सम्मति है?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपका कथन सत्य है। यदि उपवास भार स्वरूप बन जाय तब तो उसका मूल स्वरूप ही नष्ट हो गया। मुख्य उद्देश्य तो श्रोता के लिये कथा श्रवण ही है। अच्छा, अब श्रोता के अन्य नियम बताइये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! पहिले तो श्रोता को दीक्षित होना चाहिये। यदि वह द्विजाति है, यज्ञोपवीत धारी है, तो उसके लिये आवश्यक नहीं कोई अन्य दीक्षा ले। यदि कुल परम्परा ऐसी हो तो कोई निषेध भी नहीं क्योंकि यज्ञो है विष्णु, जिसने

यज्ञ के उपवीत की वेद माता गायत्री की दीक्षा ले ली है, वह वैष्णव ही है। दीक्षा नाम भक्ति का भी है, जो विष्णु भक्त है वह वैष्णव ही है, जिन्हें यज्ञोपवीत का अधिकार नहीं उनके लिये नाम महा मन्त्र की दीक्षा आवश्यक है।"

शौनकजी ने पूछा—"महाराज! तब तो पापी, शठ, स्त्री, शूद्र कोई भी कथा नहीं सुन सकते?"

सूतजी बोले—"नहीं, भगवन्! ऐसी बात नहीं भगवान् की कथा श्रवण के तो सभी अधिकारी हैं चाहें दीक्षित हों, अदीक्षित हों विष्णु की कथा सुनना भी तो एक दीक्षा ही है, यह जो पहिले बात कही गयी है, वह प्रधान श्रोता-सप्ताह कराने वाले के सम्बन्ध में है। गोकर्णजी के सप्ताह में तो आपने सुना ही है, एक शब्द के श्रवण मात्र से ही आस-पास के जितने सूकर, कूकर, कीट पतंग आदि जीव थे, वे सबके सब तर गये, सबके सब गोकर्णजी की कृपा से विमान पर चढ़कर गोलोक चले गये। कथा श्रवण के सभी अधिकारी हैं, कैसा भी क्यों न हो, एक के पीछे सभी तर जाते हैं, परिश्रम एक करता है, उसका लाभ सभी उठाते हैं। ओषधि का अन्वेषण एक करता है, उससे आरोग्य लाभ अनेक करते हैं। अग्नि एक जलाता है, उससे शीत निवारण बहुत से लोग करते हैं। अतः यह विधि प्रधान श्रोता के सम्बन्ध में है इसके अतिरिक्त श्रोता को इन नियमों का पालन करना चाहिये।

१—श्रोता चाहें गृहस्थ हो, या विरक्त, स्त्री हो या पुरुष, सात दिनों तक ब्रह्मचर्य व्रत से रहना चाहिये।

२—यदि आहार करके कथा सुनता हो, तो उसे भोजन में इन वस्तुओं को नहीं लेना चाहिये। जैसे दाल, मधु, तैल, गरिष्ठ, बासी भोजन, भाव दूषित अन्न, लहसुन, प्याज आदि निषिद्ध पदार्थ इनका भूलकर भी उपयोग न करे।

३—काम वासना से किसी की ओर देखना, छूना, सोचना तथा दूसरी संसारी कामनाओं को करते रहना। किसी पर क्रोध करना, तथा मद, मत्सर, मान, लोभ, दम्भ तथा मोह आदि इन शत्रु रूप दोषों से निरन्तर बचते रहना।

४—जो लोग वेदाध्ययन, वेद पाठ तथा, वेद का प्रचार प्रसार करते हों, विप्र वृत्ति से रहते हों, अपने किसी भी विद्या के गुरु हों। गौओं की सदा श्रद्धापूर्वक सेवा करते हों, इनकी, तथा स्त्रियों की, शासक राजा की तथा संत महात्मा सज्जन पुरुषों की कभी निन्दा न करे। निन्दा तो किसी की न करनी चाहिये, किन्तु इन सुकृतियों की तो कभी भूलकर निन्दा न करे।

५—प्रधान श्रोता को चाहिये कि वह रजस्वला स्त्रियों से, अन्त्यजों से, म्लेच्छों से, पतितों से, द्विज होकर भी उचित समय पर जिनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ है, उन व्रात्यों से, द्विज द्वेषियों से, तथा जो वैदिक मार्ग से बहिष्कृत कर दिये गये हों उन वेद बहिष्कृतों से बात भी न करे।

६—बोलना हो तो सत्य ही बोले, बहुत ही आवश्यक बात बोले, थोड़ा बोले, मीठा बोले नहीं तो सात दिनों तक मौन व्रत धारण करले।

७—भीतर बाहर की पवित्रता रखे।

८—सबके साथ दया का व्यवहार करे।

९—सरलता से रहे, किसी भी बात में अहङ्कार प्रदर्शित न होने दे।

१०—जो भी अपने संसर्ग में आवें, चाहें वे अपने छोटे सम्बन्धी, शिष्य तथा सेवक ही क्यों न हों सबके साथ विनय पूर्वक बर्ताव करे।

११—मन में कृपणता न लावे। उदारता पूर्वक सब काम करे।

इन नियमों का पालन करने वाला श्रोता यथार्थ में सप्ताह श्रवण के फल को पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! किन-किन को यह कथा सुननी चाहिये ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! इसमें कोई भी नियम नहीं। सकामी हो, अकामी हो, मोक्षकामी हो, सभी का यह भागवती कथा कल्याण करती है। दरिद्री हो तो वह अपने दारिद्र नाश के निमित्त, धन प्राप्ति की इच्छा से कथा सुने, कोई राजयक्ष्मा का रोगी हो, तो अपने रोग की निवृत्ति की कामना से कथा सुने। भाग्यहीन हो, जो कार्य करता हो, उसी में हानि होती हो तो अपने भाग्य को बनाने के लिये सौभाग्य प्राप्ति के निमित्त सुने। पापी हो तो पाप क्षय के निमित्त, पुत्रहीन हो, तो पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा से इस कथा को विधि विधान पूर्वक सुने। पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी सकाम भाव से कथा सुन सकती हैं, जैसे किसी को रजोधर्म न होता हो, जिसके एक बार तो सन्तान हुई, फिर भी सन्तान ही न होती हो वह भी पुनः सन्तान की कामना से कथा सुने। जो जन्म से वन्ध्या हो, सन्तान हो-होकर मर जाती हों, असमय में जिसका गर्भ ही गिर जाता हो, ऐसी सभी स्त्रियाँ अपनी मनोकामना पूर्ति के निमित्त इस कथा को सुने। जो भगवान् की भक्ति चाहते हों, संसार से मुक्ति चाहते हों। अथवा इहलौकिक पारलौकिक कोई भी कामना क्यों न हो, सभी नरनारी इस कथा को श्रवण करके सुखी हो सकते हैं। भागवत सप्ताह कोई साधारण बात नहीं है, यह एक बड़ा भारी यज्ञ है। सकाम करोड़ों यज्ञों से भी बढ़कर यह यज्ञ है, यदि यह भगवत् प्रीत्यर्थ निष्काम भावना से किया जाय तो अन्य यज्ञों का फल तो सीमित होता है, इस यज्ञ का फल असीमित है, अन्य यज्ञों का फल तो क्षयिष्णु है, समय आने पर क्षय हो जाता है, किन्तु इसका फल

अक्षय है इसलिये ऋषियों ने भागवत सप्ताह यज्ञ की इतनी प्रशंसा की है। सात दिनों तक निरन्तर उत्साह पूर्वक महा महोत्सव मनाता हुआ कथा का श्रवण करे। जो भी कथा सुनने आ जायँ सबका यथाशक्ति सत्कार करे, उन्हें भोजन करावे, प्रसाद दें, फूल, माला, चन्दन, प्रसाद अर्पण करे। मधुर वाणी से सबका स्वागत करे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने कथा की विधि तो बड़ी सुन्दर बता दी। अब कृपा करके कथा की समाप्ति पर जो कृत्य होता है, उसकी विधि और बताइये। कथा का उद्यापन कैसे करना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं कथा की उद्यापन विधि आपको बताता हूँ, आप एकाग्र चित्त से उसे श्रवण करें।"

छप्पय

रोग शोक, अघ मिटैं पुत्र पुत्रार्थी पावैं।
कोटि यज्ञ फल होहि पातकी पाप नसावैं॥
उद्यापन पुनि करैं व्यास पोथी पूजन करि।
झाँज मृदंग बजाय करैं कीर्तन सब जय हरि॥
अन्त पाठ गीता करै, निशकिंचन हरि भक्त सुनि।
गृही खीर को हवन करि, सहसनाम प्रभु पाठ पुनि॥

—o—

कथा समाप्ति पर कर्तव्य

(२४)

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया ।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम् ॥❀

(श्री भा० १२ स्क० ६ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

नाम गान परिपूर्न करै त्रुटि सकल मिटावै ।
मन्त्र तन्त्र, विधि दोष दूरि करि सफल बनावै ॥
बारह विप्र बुलाय खीर भोजन करवावै ।
करै कृपनता नहीं चकाचक माल घुटावै ॥
कनक सिँघासन भागवत, शक्ति होइ सम्मुख धरै ।
चन्दन आभूषन, वसन, गो धन दै पूजन करै ।

प्रत्येक व्रत के अन्त में उसका उद्यापन होता है इसका अर्थ है उस व्रत का अंतिम पूजन पूर्णाहुति विदायी । जैसे हम अपनी पुत्री को प्रियजन को विदा करते समय उसका पूजन करते हैं, विविध वस्तुएँ भेंट में देकर उसका मान सम्मान करते, हैं वैसे ही अनुष्ठान के अन्त में आने वाले देवताओं

❀ सात दिनों तक पूरी भागवत सप्ताह सुनने के अनन्तर महाराज परीक्षित श्रीशुकदेवजी से कह रहे हैं—"भगवन् ! ज्ञान विज्ञान निष्ठा के द्वारा आपने मेरा अज्ञान दूर कर दिया और भागवत के द्वारा भगवान् का परम मंगलमय परमपद भी दिखा दिया । मैं सप्ताह सुनकर कृत-कृत्य हो गया ।"

का, आचार्य का, अन्य सदस्यों का अतिथियों तथा सगे सम्बन्धियों का पूजन किया जाता है। अपनी त्रुटियों के लिये क्षमा याचना की जाती है और अपनी शक्ति के अनुसार दान मान से उनका सत्कार किया जाता है। तभी अनुष्ठान की पूर्ति समझी जाती है। तब हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, कि हमारा अनुष्ठान सविधि सम्पन्न हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शौनकादि महर्षि नारदजी से भागवत सप्ताह विधि बताते हुए अन्तिम दिन-पूर्णाहुति के दिन-के कृत्य का वर्णन करते हुए कह रहे हैं। नारद! प्रत्येक अनुष्ठान की पूर्णाहुति तो की ही जाती है। उसमें दान का महत्व अत्यधिक है। श्रोता दो प्रकार के होते हैं। सकाम और निष्काम, फल की इच्छा वाले सकाम और निष्काम—प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करने वाले। फल तो विधि के अधीन है। विधि में त्रुटि पड़ने से फल में भी त्रुटि पड़ जाती है, सफल कर्म तो उस प्रकार हैं, जैसे फल खाने की इच्छा से फलों के वृक्ष लगाना। उनमें तो विधिपूर्वक समय से जल देना चाहिये खाद देनी चाहिये और भी उपयोगी साधन जुटाकर फल प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। निष्काम कर्म ऐसे हैं, जैसे परोपकार की भावना से-या स्वभाव वश वन में बीज फेंक दिया। वह अनायास जम गया, वृक्ष हो गया, जो चाहो उसके फल खाओ, बोने वाले को ध्यान भी नहीं रहता मैंने अमुक स्थान पर बीज बोया था। इसी प्रकार जो किसी कामना को लेकर—किसी फल की प्राप्ति के लिये कोई अनुष्ठान करते हैं उन्हें तो उद्यापन करना ही चाहिये, किन्तु जो निष्काम, निष्किञ्चन वैष्णव भक्त हैं, उनके लिये उद्यापन का कोई आग्रह नहीं, कोई यजमान अनायास मिल गया और उसने आग्रह किया, तो धूम धाम से उद्यापन कर भी दिया, उस समय यह हठ न करे, कि हम तो बड़े भारी त्यागी

विरागी निष्किंचन भक्त हैं हमें इन प्रपंचों में पड़ने से क्या प्रयोजन ? यदि ऐसा संयोग न जुटे, तो उद्यापन करने के दुराग्रह में विक्षिप्तों की भाँति घूमता न फिरे कि हमें भागवत सप्ताह का उद्यापन करना है। उसके लिये कोई आवश्यक नहीं। उसने कथा सुन ली यही बहुत है सुनने मात्र से ही वह पवित्र हो जायगा। पूरी कथा सुनने के अनन्तर वह गीता का पाठ और सुन ले न्यूनाधिक दोष निवृत्ति के लिये श्रीविष्णु सहस्रनाम का पाठ सुन ले। बस उसकी विधि परिपूर्ण हो गयी भगवन्नाम के श्रवण गायन से मंत्र, तन्त्र, देश, काल, वस्तु तथा विधि सम्बन्धी सभी विधियाँ परिपूर्ण हो जाती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो निष्काम विरक्त वैष्णवों के उद्यापन की विधि हुई। अब जो सकाम हो फलेच्छु होकर जिसने सप्ताह यज्ञ किया हो उसे क्या करना चाहिये ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! उसकी विधि तो अपनी शक्ति सामर्थ्य के ऊपर है। भगवान् ने यथेष्ट, तो धन दिया हो और वैसा ही उदार हृदय दिया हो, तब यज्ञानुष्ठान करने में आनन्द आता है। बहुत बड़े से बड़े धनिक तो होते हैं। किन्तु भगवान् ने उनमें दातृत्व शक्ति दी ही नहीं, या तो भगवान् भूल गये होंगे या उन्होंने भी देने में कृपणता की होगी, वे धनिक तो महाराज ! यक्षवित्त होते हैं, जैसे कोई धन गाड़ कर मर जाता है और मरकर सर्प होकर उस धन पर बैठा रहता है, स्वयं तो उसका सुख भोग नहीं सकता। दूसरों को भी उससे वञ्चित करता है। ऐसे ही ये कृपणानन्द होते हैं न स्वयं खायँगे न किसी को खाने देंगे; दान व्रत की बात तो पृथक रही। कभी संकोच वश व्यहार वश, सामाजिक बन्धन के कारण कुछ करना भी होगा, तो एक पाई व्यय करने में उनके प्राण सूखने लगेंगे। ऐसे लोग

सप्ताह ही क्या करावेंगे, किसी तरह करा भी दिया तो उद्यापन नहीं कर सकते। उद्यापन तो वही सविधि कर सकता है। जिसे धन के साथ भगवान् ने यथेष्ट दातृत्व शक्ति और उत्साह प्रदान किया हो। ऐसे लोगों को भागवत सप्ताह का उद्यापन बड़े अह्लाद के साथ जन्माष्टमी के उद्यापन की भाँति करना चाहिये। जैसे स्नेही पिता बड़ी धूम-धाम से अपने पुत्र तथा पुत्रियों का विवाह धूम-धाम से करता है, उसी उत्साह से उद्यापन के कृत्यों को करें। उस दिन बड़ा भारी महा महोत्सव मनावे।

कथा सप्ताह होने पर श्रोता सविधि श्रीमद्भागवत की पुस्तक का कथा कहने वाले व्यास का सविधि पूजन करे।

प्रधान श्रोता के पूजन करने के अनन्तर जितने भी अन्य श्रोता हैं सभी अपनी सामर्थ्य के अनुसार पूजन करें।

1.. पूजन करने वाले भक्तों को वक्ता तुलसी दल, प्रसाद तथा

प्रसादी माला दे। सब मिलकर भक्ति भाव से पुस्तक की तथा वक्ता व्यास की आरती करें, घंटा, घड़ियाल, शंख, मृदंग आदि बाजों को बजावें। अबीर उड़ावें खील बखेरे, नृत्य करें और, सब मिलकर झाँझ मृदंग आदि, मनोहर वाद्यों के साथ, ताल स्वर लय और मधुर ध्वनि के सहित भगवान् के सुमधुर नामों का आनन्द में विभोर होकर कीर्तन करें। कीर्तन में सभी तन्मय हो जायँ, सभी नाचने लगें। उच्च स्वर से जय-जयकार करें, नमो नमः नमो नमः आदि मंगल शब्दों का उच्चारण करें। अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मणों को, भिक्षुकों को तथा और भी जो याचक आवें सभी को दान-पुण्य करे। इस प्रकार सप्ताह को समाप्त कर दे।

दूसरे दिन श्रोता भगवान का निष्किंचन विरक्त भक्त हो तो, गीता तथा विष्णु सहस्र नाम सुनकर समाप्त करे, यदि गृही हो, सामर्थ्यवान् हो, तो हवन करावे। जैसे और सब हवन होते हैं, वैसे ही करे, उसमें आहुतियाँ दूध की खीर की हों उसमें मधु, घृत तथा तिल, जौ, चावलादि भी मिला दे। आहुति श्रीमद्-भागवत के दशमस्कन्ध के मन्त्रों से करे। पूरे से न करे रास पंचाध्यायी से करे। अथवा गायत्री मन्त्र से ही हवन करे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! गायत्री मन्त्र से और भागवत से क्या सम्बन्ध?"

सूतजी बोले—"महाराज! श्रीमद्भागवत गायत्री मन्त्र का तो भाष्य ही है। इसमें केवल मात्र गायत्री मन्त्र की व्याख्या है, यह गायत्री मन्त्रमय है। अन्तर इतना ही है उस वैदिकी गायत्री को सुनने का अधिकार द्विज मात्र को ही है और इस गायत्री को पतित, चांडाल, तथा और पापी तापी आदि सभी सुन सकते हैं।"

हवन न कर सके तो उतनी सामग्री या उतनी सामग्री का

मूल्य ब्राह्मणों को दान कर दे। ब्राह्मणों को दान देने से भी वही फल मिल जायगा क्योंकि भगवान के दो मुख हैं, अग्नि और ब्राह्मण। दोनों में आहुति पड़ने पर प्रभु प्रसन्न होते हैं। अग्नि में कच्चे अन्न को घृत मिलाकर आहुति दी जाती है और ब्राह्मण के मुख में पकाकर जिसमें से घृत चू रहा हो, ऐसे हलुआ आदि की आहुति दी जाती है। इसीलिये सभी कर्म अंग हैं, ब्राह्मण भोजन अंगी है। सब कर्म ब्राह्मण भोजन से ही सफल होते हैं। इसलिये सुन्दर अधौटा दूध की खीर बनाकर कम से कम श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध हैं तो बारह ब्राह्मणों को तो भोजन करावे ही, भोजन कराकर दक्षिणा दे, गौदान दे, सुवर्ण दान दे।"

हँसकर शौनकजी बोले—"सूतजी! ब्राह्मणों ने सर्वत्र अपने ही स्वार्थ की बात भर दी है। जहाँ देखो वहीं ब्राह्मण भोजन, दान दक्षिणा की ही भर मार है। इनके बिना कोई कामनें ही नहीं होता। यह क्या बात है?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! इसे तो आप जानें और आपके पूर्वज ऋषि जानें, मुनि जानें, मैंने तो जो सुना है वह बताता हूँ। लोग साधु ब्राह्मणों को "दादा" (बाबा) कहा करते हैं इसलिये इन्हें सदा दान की ही स्मृति बनी रहती है। सेठों को लोग "लाला" कहते हैं, वे सदा धन लाओ, अन्न लाओ, पशु लाओ, यही कहते रहते हैं। मिलता उसी को है जो दूसरों को देता है, पेट उसी का भरता है जो दूसरों के मुख में डालता है। बिना दिये आता नहीं, बिना दूसरों को खिलाये, खाना मिलता नहीं। इस विषय में एक वैदिक दृष्टान्त है।"

एक बार ऋषियों में यह चर्चा हुई, कि समाज का कल्याण कैसे हो, सब को सुख कैसे मिले। उनमें जो सबसे बड़े ऋषि थे

उन्होंने कहा—"कल आप सब का हमारे यहाँ निमन्त्रण है, वहीं इस विषय की भी चर्चा होगी।"

सबने स्वीकार किया, दूसरे दिन नियत समय पर ऋषिगण पहुँच गये। महर्षि ने बड़े सुन्दर-सुन्दर पदार्थ बनाये थे। सबको आसन बिछाकर उनसे थोड़ी-थोड़ी दूर पर पत्तलें परोसी।

सब सोचने लगे ये इतनी दूर पत्तल क्यों परोस रहे हैं बहुत लम्बे हाथ करने पर ही उसमें से खाद्य पदार्थ उठा सकते हैं, किन्तु कोई बोला नहीं। फिर बहुत से डंडे ले आये सब मुनियों के दाँयें हाथ में कंधे से कोहनी के नीचे तक डंडा बाँध दिया जिससे मुड़ न सके। जब सबके बँध गया, तो मुनि ने कहा—"अच्छा अब आप सब लोग भोजन करें।"

अब भोजन करें कैसे, हाथ मुड़े मुख तक ग्रास जाय, तो भोजन हो। दूर परसी पत्तल में से लम्बा हाथ करके ग्रास तो उठाया जा सकता है, किन्तु वह अपने मुख तक तो पहुँच नहीं सकता।

मुनियों ने कहा—"महाराज! आपको नहीं खिलाना था, तो वैसे ही मना कर देते, हाथ तो आपने बाँध दिये। पत्तल दूर परोस दी पदार्थ स्वादिष्ट बनाये। मन ललचा रहा है किन्तु हाथ बँधे होने से हम खा नहीं सकते। पेट भर नहीं सकता। क्षुधा की शांति नहीं हो सकती। हम मुख से लाओ-लाओ तो कह सकते हैं किन्तु खाओ-खाओ नहीं कह सकते।"

महर्षि ने कहा—"आप लोग ऐसा कोई उपाय सोचो कि इसी दशा में सबका पेट भर जाय। पदार्थ अपने से दूर भी रहे, हाथ बँधे भी रहें और पेट भर जाय।"

उनमें से एक बुद्धिमान मुनि बोले—"एक काम करो दूर रखी अपनी पत्तल में से ग्रास उठाकर अपने मुख में न डालकर अपने पास वाले के मुख में डाल दो। परस्पर में एक स्वयं न

खाकर दूसरे के मुख में ग्रास देगा तो सभी का पेट भर जायगा।

यह उपाय सभी को सुन्दर लगा। अब सभी अपने सामने को पत्तलों में से उठा-उठाकर दूसरे के मुख में डालने लगे। सभी का पेट भर गया।"

तब महर्षि ने कहा—"आपके कल के प्रश्न का यही उत्तर है, समाज का कल्याण तभी होगा जब प्रत्येक व्यक्ति स्वयं न खाकर अपने पास वाले को खिलायेगा।"

हँसकर शौनकजी बोले—"सूतजी! ये ब्राह्मण दूसरों को कहाँ खिलाते हैं ये तो दूसरों का खा ही लेते हैं?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! स्थूल भोजन न खिलावें, किन्तु ज्ञान तो खिलाते ही हैं, जिस पर जो वस्तु होगी वही तो वह दूसरों को खिलावेगा। समाज के अन्य लोग अन्न एकत्रित करते हैं, ब्राह्मण ज्ञान विज्ञान का अर्जन करते हैं, परस्पर के सहयोग से समाज चलता है। जहाँ एक ने भी अपने कर्तव्य में प्रमाद किया, वहीं समाज का ढाँचा बिगड़ जाता है। वहीं एक दूसरे से घृणा करते हैं। बुरा-भला कहने लगते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! आपका कथन सत्य है आज ब्राह्मण अपने कर्तव्य से च्युत हो गये हैं, तभी सर्वत्र इनका अपमान हो रहा है, इन्हें लोग स्वार्थी बताते हैं, इन पर मनमानी लिख देने का दोषारोपण करते हैं। अब आगे आप उद्यापन की विधि सुनाइये।"

सूतजी हँसकर बोले—"महाराज! अब क्या सुनाना रह गया, अब तो सब बात समाप्त हो गयी। सब विधि ब्राह्मण भोजन तक ही है। ब्राह्मण जहाँ पत्तलों से हरये नमः करके उठ पड़े कि सब समाप्त, हाँ भोजन की दक्षिणा तो रह ही गयी। भोजन कराकर ताम्बूल दक्षिणा दे। शक्ति हो तो सुवर्ण का सिंहा-

सन बनवाकर उस पर भागवत की पुस्तक रखकर उसका पूजन करके उसे वक्ता को समर्पित करे। इस प्रकार सप्ताह यज्ञ करने से श्रोता सभी संसारी बन्धनों से छूट जाता है। धर्मार्थी को धर्म, अर्थार्थी को अर्थ, कामना वाले की पूरी कामना और मोक्षार्थी को मोक्ष मिल जाती है। इस विषय में सन्देह करने का कोई उचित कारण ही नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इसपर सनकादि मुनियों ने सप्ताह श्रवण की विधि श्रीमद्भागवत का माहात्म्य सुनाकर नारद जी से पूछा—"नारद! यह हमने तुम्हें भागवती कथा की महिमा सुनायी, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

नारदजी ने कहा—"महाराज! माहात्म्य तो सुन लिया अब सात दिन आप सप्ताह और सुना दीजिये।"

सनकादि मुनियों ने कहा—"अच्छी बात है, आप दत्त चित्त होकर सप्ताह सुनिये अब हम आपको भागवती कथा का सप्ताह सुनाते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! नारदजी की प्रार्थना पर सनकादि महर्षियों ने नारदजी को सात दिन तक सविधि भागवत की सप्ताह सुनायी, कथा के अन्त में सबने परम उत्साह और धूमधाम पूर्वक पतित पावन जन मन भावन सुख सरसावन भगवान् पुरुषोत्तम की प्रेम पूर्वक पूजा की। इस अनुष्ठान से नारदजी की मनोकामना पूर्ण हो गयी, भक्ति देवी का म्लान मुख प्रफुल्लित हो गया। उनकी सुन्दरता अत्यधिक बढ़ गयी। पूर्ण चन्द्र के समान उनका मुख मण्डल अलौकिक आभा से अद्भुत अलौकिक और अनुपम प्रतीत होने लगा। उनके पुत्र पूर्ण तरुणावस्था को प्राप्त होकर अश्विनी कुमारों के समान दो काम-देवों के समान दिखाई देने लगे। उनकी अद्भुत शोभा को देख-कर नारदजी फूले नहीं समाये उनके रोम-रोम से प्रसन्नता फूट-

फूटकर निकल रही थी अपने मनोरथ को इस प्रकार सहज में सिद्ध होते देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा नेत्र आनन्दाश्रुओं से परिपूर्ण हो गये, स्वर गद्गद हो उठा, प्रेम पूर्ण वाणी से दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर वे अपने अग्रज सनक, सनन्दन, सनत् कुमार और सनातन चारों भाइयों की स्तुति करने लगे।

आजु हौं धन्य भयो मुनिराज।
कही कथा कमनीय कृपा करि कर्यो कृष्ण को काज ॥१॥
सुन्यो सविधि सप्ताह सुरुचि सुठि सजे सकल सुख साज।
सतगुरु संगति सुखद सराहें सब विधि सकल समाज ॥२॥
भव्य भागवत भवहर भयहर सुनत भक्तिभय भाज।
मिल्यो मुक्ति मारग माया हर मम मन मुदित सुआज ॥३॥

हे तप धन! हे आनन्द घन! हे मुनीश्वर गण! आप लोगों ने श्रीमद्भागवत सप्ताह सुनाकर मुझे कृतार्थ कर दिया। भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य की विपत्ति को टाल दिया। मैं तो समझता हूँ इस युग में श्रीमद्भागवत ही सर्वश्रेष्ठ है, इससे शीघ्र ही श्याम सुन्दर वैकुण्ठ विहारी भव भय हारी मुरारी प्राप्त हो सकते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार नारदजी ने सप्ताह सुनने के अनन्तर कुमारों की स्तुति की। उस समय एक बड़ी ही अद्भुत आश्चर्य जनक घटना हुई। उस सप्ताह के प्रभाव से वहाँ स्वयं साक्षात् व्यास पुत्र शुक, प्रह्लाद, उद्धव आदि प्रभु के परम प्रिय भक्त तथा स्वयं भगवान् प्रकट हुए। जिससे सभी को अपार आनन्द प्राप्त हुआ। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा॥"

—०—

छप्पय

सूत कहें सप्ताह सविधि सुनि नारद हरषे।
मुदित ज्ञान वैराग्य भक्ति रस सागर सरसे॥
नारद बिनती करी कुमारनि कृपा बखानी।
तबई तहँ शुकदेव महामुनि आये ज्ञानी॥
वय षोडश वपु अति मधुर, पढ़त भागवत कण्ठ कल।
उठे समासद मुदित मन, हरष जनावत मुनि सकल॥

नारदजी के सप्ताह में भक्त और भगवान् का प्राकट्य, महासंकीर्तन के साथ सप्ताह समाप्त

[२५]

स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो
भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनाम्
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥*
(श्री भा० ४ स्क० २० अ० २५ श्लो०)

छप्पय

सबने शुक मुख सुनी भागवत महिमा भारी ।
बलि उद्धव प्रहलाद सहित प्रकटे गिरिधारी ॥
है हरषित हरि भक्त करैं कीर्तन प्रभु आगे ।
भक्ति ज्ञान वैराग्य प्रेम तैं नाचन लागे ॥
देइँ ताल प्रहलादजी, नारद बीन बजाइँ वर ।
इन्द्र मृदंग बजाइँ शुक, भाव जताइ उठाइ कर ॥

---

* महाराज पृथु भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे उत्तम श्लोक ! साधु सन्तों महत्पुरुषों के मुखारविन्द से निकली हुई वायु रूपी आपकी कथा और उसमें आपके पाद पद्मों के मकरन्द रूप मिले यश का कानों से संसर्ग होते ही तत्त्व मार्ग से पतित योगियों की स्मृति को पुनः जागृत कर देता है । अतः हमें तो यही वरदान दीजिये कि आपके सुयश की कथा को सदा सर्वदा सुनते रहें । इसके अतिरिक्त हमें दूसरा वर नहीं चाहिये ।"

महासंकीर्तन के साथ सप्ताह समाप्त

प्रेम के आधिक्य में जब भावावेश होता है तब देहाभिमान विलीन हो जाता है, उस समय छोटे बड़े का भेद-भाव रहता ही नहीं। उस समय सभी एक ही भाँति आनन्द सागर में गोता लगाने लगते हैं सभी एक प्राण एक मन होकर आनन्द में नाचने लगते हैं, कूदने लगते हैं, उछलने लगते हैं, गाने लगते हैं, बजाने लगते हैं, प्रलाप करने लगते हैं, भाव जताने लगते हैं तथा भाँति-भाँति की अलौकिक चेष्टायें करने लगते हैं इसी का नाम है महासंकीर्तन। ऐसा कीर्तन हो तो भगवान् भी अपने को सम्हाल नहीं सकते उन्हें भी स्वयं आना पड़ता है और भक्तों को वरदान देकर उनके अधीन रहना पड़ता है, ऐसा कीर्तन जो करते हैं अथवा कराते हैं वे बड़भागी हैं, वे सम्पूर्ण लोक को पावन बनाते हैं, जगत् के दुखी जीवों को प्रभुपाद पद्मों तक पहुँचाते हैं। जिनके नाम गान का ऐसा प्रभाव है, उन प्रभु को धन्य है जो उस नाम का गान करते हैं, हर्ष में नाचते गाते हैं वे भक्त धन्य हैं, जो भाग्यशाली ऐसे संकीर्तनों का आयोजन करते हैं वे भी धन्याति-धन्य हैं और जो कथा कीर्तन को देखकर प्रसन्न होते हैं, मुदित होते हैं, उनमें तन से, मन से तथा धन से सहयोग देते हैं। वे सहायक भी धन्य-धन्य हैं। और जिनके कानों में बिना प्रयास अनिच्छा से भी ऐसे संकीर्तन की ध्वनि पड़ जाती है वे भी धन्य-धन्य हैं। अग्नि का तो कैसे भी जान में, अनजान में, संगर्ग हो जाय वह तम को, भय को तथा शीत को, निवारण करेंगे ही। यह अग्नि का स्वभाव है गुण है कभी व्यर्थ न होने वाली प्रकृति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस समय नारदजी सनकादि कुमारों की स्तुति कर रहे थे, उसी समय कथा की पूर्णाहुति के काल में ही सबको अत्यन्त ही सुरीला स्वर सुनाई पड़ा, मानों कोई पुंस्कोकिल "निगम कल्पतरोर्गलितं फलं" आदि श्लोकों

का गान कर रहा हो। उस समय मधुमय आनन्दमय प्रेममय आकर्षण युक्त कर्णों को अत्यन्त ही प्रिय लगने वाले शब्द को सुनकर सभी सभा में समुपस्थित श्रोता चौंक पड़े। सभी उत्सुकता पूर्वक उसी ओर देखने लगे, जिधर से यह शब्द सुनायी पड़ रहा था उन्होंने देखा सम्मुख एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमार कामदेव को भी अपनी आभा प्रतिभा तथा तेज से लज्जित करने वाले दिगम्बर जटा बखेरे धूलि लपेटे एक षोडश वर्ष की अवस्था वाले अवधूत चले आ रहे हैं। देखते ही सब समझ गये ये तो अरणी आनन्द वर्धन कृष्णद्वैपायन नन्दन आत्म लाभ से परिपूर्ण ज्ञान रूप महार्णव के परिपूर्ण चन्द्र भागवान् शुक हैं।" शुकदेवजी प्रकट हो गये वैष्णव चक्र चूड़ामणि परमहंसावतंस महामुनि शुकदेवजी आ गये इस बात का हल्ला मच गया सहसा सभी सम्भ्रम के साथ शुक के स्वागत के निमित्त खड़े हो गये।

आत्मानन्द में निमग्न भागवतामृत रस के पान से प्रमत्त बने शुकदेवजी मदमत्त गजराज कलभ के सदृश स्वेच्छा से घूमते हुए परमान्द में झूमते हुए सीधे सभा में ही चले आये। नारदजी ने अत्यन्त ही स्नेह और आदर के साथ उन्हें आसन दिया, उनकी प्रेम के सहित पूजा की और स्वागत तथा शिष्टाचार के वचन कहे।

नारदजी की पूजा को शास्त्रीय विधि से स्वीकार करते हुए शुकदेवजी ने प्रेम पूर्ण शब्दों में गाना प्रारम्भ किया।

भागवत फल अति सरस सुहावन।
गुठली नहीं बीज नहिं छिलको हलको सुख सरसावन ॥१॥ भा०
केवल रसघन मधुर सुपावन अघ-तम-ताप नसावन।
तिलक पुराननि धन भक्तनि मनि, सकल जगत उद्धारन ॥२॥ भा०

बरनित तत्व ज्ञान अति निरमल, प्रबल प्रताप जतावन।
ज्ञान विराग भक्ति अरु निरवृति, प्रवृति प्रकाश प्रकाशन ॥३॥ भा०
सुमिरन श्रवन पठन नित चिंतन, बन्धन सकल छुड़ावन।
रस अति सहज सुधा सुखसर-सम, भवभय भीति भगावन ॥४॥ भा०
नहीं स्वरग वैकुण्ठ लोक-शिव, यह रस मुनिमन भावन।
भावुक भक्त भाव भर पीओ, प्रभुपद प्रीति बढ़ावन ॥५॥ भा०
माँगू भीख सीख सब धारो, ह्वै कें अति निष्किंचन।
मुख करननि जीवनभर पीओ, रस- संजीवन-जीवन ॥६॥ भा०

हे भावुक भक्तो ! मेरी बात मानो। इस भागवत रूप फल को चखो, इसके सुधासम रस का प्रेम पूर्वक पान करो। यह फल किसी साधारण वृक्ष का नहीं, यह कल्पतरु का सरस फल है, कच्चा भी नहीं परिपूर्ण रूप से पका है, इसके किसी अंश में कचाई नहीं खटाई नहीं बासी भी नहीं पुराना भी नहीं, सूखा भी नहीं, टटका है टटका, इसमें गुठली नहीं, छिलका नहीं, बीज हेय पदार्थ नहीं, सभी ग्राह्य है, सभी खाने योग्य है। यह पृथ्वी के नर-नारियों के लिये दुर्लभ था, क्योंकि इसका वृक्ष तो वैकुण्ठ में है, किन्तु छोटे से शुक ने इस पके फल में चोंच मार दी। पका तो था ही झट से पृथ्वी पर आ गिरा, भूलोक के भावुक भक्तों का भाग्य ही था, नहीं तो कहाँ वैकुण्ठ कहाँ भूलोक। यह अमर फल है, कभी चुकने वाला नहीं, इसका रस सर्वथा पेय है, हेय उसमें कोई अंश नहीं। इसे कितना ही पीयो अपच नहीं होती, चित्त ऊबता नहीं, अरुचि होती नहीं। चाहे जितना पीओ चाहे जब तक पियो। अरे, जब ऐसी दुर्लभ वस्तु प्राप्त हो गयी, तो कृपणता क्यों करते हो, पीते जाओ, पीते जाओ, मरण पर्यन्त पीते जाओ। अरे, मरण कहाँ, यह तो अमर रस है, इसको पीने वाला कभी मरता नहीं, रोग, शोक चिन्ता से कभी गिरता नहीं,

चित्त उसका भरता नहीं। इसलिये इस भागवत फल के रस को पान करो।

श्रीमद्भागवत अमर ग्रन्थ है, यह भगवान व्यास की कमनीय कृति है, इसमें कामनारहित निष्काम कर्मों का वर्णन है। कल्याणमय ज्ञातव्य वस्तु का इसमें वर्णन है। भगवान् को पा लेना, हरि को हृदय में बिठा लेना यही इसके पठन का फल है। इसके श्रवण मनन चिन्तन से ताप भय विलीन हो जायँगे, श्रीहरि उस स्वच्छ सुन्दर सरल हृदय में आकर विराज मान हो जायँगे। इसलिये इसमें सब कुछ है, इसे पढ़ लेने पर अन्य किसी ग्रन्थ के पढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

श्रीमद्भागवत पुराण है ? नहीं, नहीं, समस्त पुराणों में शिरोभूषण है, तिलक है। वैष्णवों का यही परम धन है, सर्वस्व है, परमहंसों द्वारा प्राप्त निर्मल ज्ञान का भी इसमें वर्णन है और ज्ञान वैराग्य पुत्रों के सहित जगन्माता भक्ति की इसमें महिमा गायी है, निवृत्ति मार्ग का इसमें वर्णन है। भक्ति द्वारा पढ़ने सुनने, पाठ करने तथा चिन्तन करने से पुनः संसार का आवागमन नहीं रहता संसृति चक्र से छुटकारा मिल जाता है, जीव मुक्त हो जाता है। न यह रस, स्वर्ग में, न कैलाश में, न वैकुण्ठ में। यह रस यहीं है, पीओ रे, पीओ। चूकना नहीं रे लोगों में ललकार कर कहता हूँ, हठ पूर्वक कहता हूँ, ऊपर हाथ उठाकर कहता हूँ प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मेरे गुरुदेव भगवान् शुक इस प्रकार भागवत की महिमा का वर्णन कर ही रहे थे, कि इसी समय विमानों की सुमधुर ध्वनि वायुमंडल में भर गयी। देखा, विमानों के ऊपर विमान चले आ रहे हैं। देखा इन्द्रादि देवताओं तथा बलि, उद्धव और अर्जुन आदि अपने अनन्य भक्त पार्षदों से घिरे श्रीहरि का विमान सप्ताह मंडप में ही उतर रहा है। भग-

वान् का प्राकट्य देखकर सभी भक्तगण जय-जयकार करने लगे उनके आनन्द की सीमा न रही। देवर्षि नारद ने प्रेम में विह्वल होकर अत्यन्त ही आनन्द के साथ भगवान को एक उच्चासन पर बिठाकर उनकी विधि विधान पूर्वक पूजा की। फिर सभी भक्त भगवान् के सम्मुख प्रेम विभोर होकर कीर्तन करने लगे। उस महासंकीर्तन की दिव्य ध्वनि ब्रह्मलोक तक पहुँच गयी। ब्रह्माजी ने तुरंत अपने वाहन हंस को बुलाया और उड़कर कीर्तनानन्द लेने को कथास्थल में आ पहुँचे। शिवजी समाधि में मग्न थे, पार्वतीजी ने उन्हें झकझोरते हुए कहा—"क्या महाराज! सदा समाधि में ही निमग्न रहोगे, कि कुछ सरसता के सुख का भी अनुभव करोगे। चलो आनन्द वन में भगवन्नाम संकीर्तन का दिव्य महा महोत्सव हो रहा है, चलो उस अभूत पूर्व आनन्द का रसास्वादन करें।"

शंकरजी ने कहा—"अहा! भगवन्नाम संकीर्तन कितना सरल, सुगम, सरस, सहज साधन है, बुलाओ नादिया को चलो चलें।"

इस प्रकार कथा कीर्तन के प्रभाव से वहाँ त्रिदेव, देवता, यक्ष, गन्धर्व, ऋषि, मुनि सब आकर एकत्रित हो गये, बात की बात में वह सम्पूर्ण समाज एक अलौकिक आभा से आभासित हो उठा। उस संकीर्तन में देवराज इन्द्र मृदङ्ग बजाने लगे क्योंकि वे इस विषय के पंडित थे, परम भक्त प्रह्लादजी की गति अति चंचल थी इसलिये वे शास्त्रीय विधि से ताल देने लगे, उद्धवजी ने मंजीरा उठा लिये, नारदजी अपनी वीणा को चटपट उठाकर, शीघ्रता से उनके तारों को मिलाकर उनकी ताल में ताल और स्वर में स्वर मिलाकर झूमते हुए बजाने लगे। कुन्ती नन्दन अर्जुन स्वर में कुशल होने से राग अलापने लगे सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन ये भी व्यासा-

सन का परित्याग करके उठ खड़े हुए थे और संकीर्तन में सम्मिलित हो गये थे, वे भी सबके स्वर में स्वर मिलाकर बीच बीच में बोल उठते थे, जय हो, जय हो, सदा जय हो। महा कवि परम अवधूत, विरक्त चक्रचूड़ामणि व्यासनन्दन शुकदेवजी तत्क्षण सरस रचना करके बीच में गा गाकर भाव जताने लगे। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य ये तीनों माता पुत्र बड़े सुन्दर ढङ्ग से भाव प्रदर्शित करते हुए ठुमुक-ठुमुककर नृत्य करने

लगे। ऐसा लग रहा था, कि कोई संगीत मे परम कुशल नटी और नट नृत्य कर रहे हों। उस समय संकीर्तन का ऐसा अद्भुत अलौकिक समाज एकत्रित हुआ कि न भूतो न भविष्यति सब के सब उस संकीर्तन के आनन्द में तन्मय हो गये, किसी को अपने शरीर की सुधि नहीं रही। सम्मुख भगवान को विराजमान देखकर सभी का उत्साह सहस्रों गुणा बढ़ गया। सभी उस

आनन्द सागर में बह गये। सब के सब स्तब्ध से रह गये। जो उस समाज में आ गये उनके भाग्योदय हो गये।"

भगवान् भी अपने ऐसे संकीर्तन को देखकर प्रेम में विह्वल हो गये उन्होंने सभी भक्तों से कहा—"हे कीर्तनानन्द रस में परिप्लुत भक्त वृन्द! मैं आज के आपके अत्यद्भुत संकीर्तन से परम सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारी ऐसी अद्भुत अलौकिक भक्ति को देखकर मैं तुम सबके आधीन हो गया हूँ, अब तुम मुझसे जो भी चाहो इच्छित वर माँग लो। आज तुम जो भी माँगोगे वही दूँगा, जो भी कहोगे वही करूँगा।"

इच्छित वर देने वाले वांछा-कल्पतरु श्रीहरि के ऐसे परमोदार प्रेम में पगे वचन सुनकर सभी का हृदय भर आया सभी प्रेमार्द्र चित्त से हाथ जोड़कर प्रभु से कहने लगे—"भगवन्! हम आपसे यही वर मांगते हैं, कि इस सप्ताह में जैसा अपूर्व आनन्द हुआ वैसे ही सर्वत्र हो, जहाँ भी श्रीमद्भागवत् का सप्ताह हो अपने भक्त पार्षदों सहित वहाँ अवश्यमेव पधारें।"

भगवान् ने तथास्तु कहकर भक्तों के परोपकारमय जन-हितार्थ वरदान का अनुमोदन करते हुए 'ऐसा ही होगा' यह वचन कहा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार नारदजी की सप्ताह की समाप्ति पर ऐसा कीर्तन हुआ, सबके देखते-देखते पार्षदों सहित भगवान वहीं अन्तर्धान हो गये। अब रह गये, भगवान् शुक, सनकादि अन्य महर्षिगण उन सब की नारदजी ने विधिवत् उत्तर पूजा की। सबने नारदजी के परोपकार की भूरि-भूरि प्रशंसा की, सराहना की। उसी समय भक्ति ने अपने पुत्र ज्ञान वैराग्य के सहित शुकदेवजी से प्रार्थना की--"मुनिवर! आपकी भागवत की महिमा बड़ी ही अलौकिक है इसके कारण

मेरे पुत्रों की वृद्धावस्था दूर हुई मुझे भी परमानन्द की प्राप्ति हुई। अब यह बताइये हम लोग नित्य रहें कहाँ ?"

श्री शुकदेवजी ने कुछ देर विचार किया तदनन्तर बोले—"देखो, भक्ति ! तुम कृष्णप्रिया हो। जहाँ श्रीकृष्ण नित्य निवास करें वहीं तुम रहो। इस श्रीमद्भागवत में भगवान् निरन्तर वास करते हैं, वास क्या करते हैं, यह भगवान् का वाङ्मय रूप ही है, अतः तुम अपने ज्ञान वैराग्य इन दो पुत्रों सहित इस श्रीमद्-भागवत महापुराण में ही वास करो। जो लोग श्रद्धा तथा प्रेम-पूर्वक श्रीमद्भागवत का पाठ करेंगे, भागवती कथाओं का श्रवण मनन करेंगे, उनके हृदय में स्वयं भगवान विराजमान् हो जायँगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार नारद को कृतार्थ करके, भक्ति ज्ञान और वैराग्य को श्रीमद्भागवत में स्थापित करके भगवान् शुक तथा सनकादि महर्षि इच्छानुसार लोकों में चले गये। तभी से श्रीमद्भागवत का महत्त्व बढ़ गया। तभी से संसार में सप्ताह यज्ञ का प्रचलन हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ऐतिहासिक तीन सप्ताह हुए। एक तो भगवान् शुक ने राजा परीक्षित् को सुनाया। दूसरा गोकर्ण ने धुन्धुकारी को सुनाया और तीसरा सनकादि महर्षियों ने नारदजी को सुनाया। हम जानना चाहते हैं, इन तीनों में काल का कितना अन्तर है।"

सूतजी बोले—"भगवान् सनक, सनन्दन, सनातन, सनत् कुमार, नारद, शुक तथा दूसरे ऋषि गण ये सब कल्पजीवी हैं। एक कल्प तक ये वैसे ही बने रहते हैं, दूसरे कल्पों में भी ये पैदा हो जाते हैं, ये लोग एक प्रकार से भगवान् का रूप हैं, उन पर युगों का प्रभाव कुछ नहीं पड़ता। युगों का प्रभाव तो स्वर्गीय देवताओं पर भी नहीं पड़ता। युगों की कल्पना तो भूमण्डल पर ही है।

भूमण्डल में भी जम्बूद्वीप में ही, सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में भी नहीं केवल भरत खण्ड में ही इनकी कल्पना है। काल तो नित्य है, अछेद्य है, अविभाजित है। इसके भाग हो ही नहीं सकते। लोग अपने व्यवहार के लिये केवल कल्पना कर लेते हैं। हमारे यहाँ सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर और कलियुग इन चारों युगों की कल्पना है। यह कलियुग इस कल्प का अट्ठाईसवाँ कलियुग है, इसी कल्प में ऐसे अट्ठाईस कलियुग बीत गये। जब ९९९७२ बार चारों युग और बीत जायँगे तब यह श्वेत वाराह कल्प अर्थात् ब्रह्माजी का एक दिन बीतेगा।"

इस अट्ठाईसवें कलियुग की गणना उसी दिन से की जाती है, जिस दिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र इस धराधाम को त्याग कर अपने परमधाम को पधारे। उसके कुछ मास अधिक तीस वर्ष के पश्चात् राजा परीक्षित् को शृङ्गी ऋषि का शाप हुआ। तब उन्होंने भाद्रपद शुक्ला नवमी से भाद्रपद की पूर्णिमा तक भागवत की सप्ताह कथा सुनी। वही सप्ताह की जन्म-तिथि या जयन्ती मानी जाती है। महाराज परीक्षित् के सप्ताह के दो सौ वर्ष पश्चात् गोकर्ण जी ने आषाढ़ शुक्ला नवमी से आषाढ़ पूर्णिमा तक धुन्धुकारी के निमित्त और श्रावण शुक्ला नवमी से श्रावण की पूर्णिमा तक सब के निमित्त दो सप्ताह किये। इसके भी तीस वर्ष बीत जाने पर कार्तिक शुक्ला नवमी से कार्तिकी पूर्णिमा तक आनन्द क्षेत्र में, जिसे अब शुकताल भी कहते हैं, सनकादि महर्षियों ने नारदजी को कथा सुनाई। इस प्रकार नारदजी की सप्ताह भगवान् के स्वधाम पधारने के २६० वर्ष के अनन्तर हुई। इसीलिये यह कलियुग में सभी दोषों को मिटाने वाली मानी जाती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इसीलिये मैं सभी भक्तों से सन्त-महन्तों से भगवद् भक्त वैष्णवों से बार-बार डंके की चोट

के साथ कह रहा हूँ इस कथा रूपी अमृत को पान करो, निरन्तर भागवती कथाओं को सुनो, फिर सुनो बारम्बार श्रवण करो। इससे सब पाप कट जाते हैं, समस्त विघ्न हट जाते हैं श्रीकृष्ण-चन्द्र हृदय में आकर डट जाते हैं श्यामसुन्दर शरीर से सट जाते हैं। भक्ति भगवती की दासी मुक्ति अनायास मिल जाती है, हृदय कमल की कली स्वयमेव खिल जाती है, और जितने भी साधन हैं, समस्त क्लेशकर हैं, भागवती कथा और भगवत् कीर्तन ये ही दो सुलभ सरल सहज साधन हैं। इस विषय का मैं एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।"

एक बार यमदूतों ने देखा कोई पापी प्रेमपूर्वक सप्ताह सुन रहा है। यमदूत हाथ में गदा लेकर उस पापी को पाश मे बाँध कर पकड़ने पहुँचे, किन्तु देखा भगवान् का सुदर्शन चक्र उसकी रक्षा कर रहा है। यमदूत बड़े चकराये, उन्होंने सोचा—"हम तो इसे पकड़ने आये, किन्तु यह चक्र तो हमें जाने ही नहीं देता इसके पास तक। दूर से उन्हें विमान पर आते हुए विष्णुदूत दिखायी दिये। उन्होंने सुन रखा था, कि हमसे पहिले के दूत जब पापी अजामिल को लेने गये थे, तब इन्हीं दूतों ने उनकी बड़ी कुटाई की थी। कहीं ये लोग हम पर भी न टूट पड़ें, इसी डर से वे भागते-भागते यमराज के समीप आये।"

उन्हें हाँफते देखकर यमराज ने पूछा—"क्यों भाई! क्या बात है तुम इतने भयभीत और व्यग्र क्यों हो?"

यमदूतों ने कहा—"महाराज! हम एक पापी को लेने गये, किन्तु वह तो भागवत सप्ताह सुन रहा था। एक बड़े भारी प्रकाशमय चक्र ने हमें उस तक जाने भी नहीं दिया और चार शंख, चक्र, गदा और पद्म धारी देवता उसे लेने विमान पर आ रहे थे। अजामिल वाली घटना याद करके हम तो वहाँ से भाग आये। अब बताइये उसे लावें या नहीं।"

यह सुनकर यमराज अपने आसन से उठे संकेत से दूतों को अपने पास बुलाया और एकान्त में ले गये। एकान्त में भी जाकर उनके कान में शनैः-शनैः कहने लगे—"देखो, सबके सम्मुख कहने की बात नहीं है, सब सुन लेंगे तो मेरे लोक में कोई आवेगा ही नहीं। इसीलिये मैं तुमसे परम गुप्त रहस्य की बात कहता हूँ। जो लोग प्रेम में विभोर होकर उन्मत्त चित्त से भागवती कथाओं को सुनते हों भगवन्नाम संकीर्तन करते हों उनके पास भूलकर भी मत जाना।"

दूतों ने कहा—"महाराज! आप तो प्राणिमात्र के स्वामी हैं, न्याय के लिये तो सभी को आपके सम्मुख लाना ही पड़ेगा।"

यमराज ने कहा—"अरे, तुम समझते नहीं। मैं सभी जीवों को दंड देने में समर्थ हूँ किन्तु जो भगवान् के भक्त हैं भगवान् की कथाओं को सुनते हैं भगवन्नाम संकीर्तन करते हैं उन वैष्णवों का मैं स्वामी नहीं उनकी तो चरणों की मैं धूलि भी नहीं हो सकता। वह विभाग मेरे विभाग से सर्वथा पृथक् है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह सुनकर यमदूत चले गये। तब से जो भागवती कथाओं के श्रवण में उन्मत्त रहते हैं उनके समीप यम के दूत जाते तक नहीं। दूर से देखकर दंडवत् करके लौट आते हैं। इस असार संसार में विषय विष से व्याकुल व्यक्तियों के लिये भागवती कथा से बढ़कर विषहारी सुखकारी कल्याणकारी तथा चित्तहारी मनोहर दूसरी कोई भी औषधि नहीं है। जहाँ कानों में यह कमनीय कथा घुसी नहीं तहाँ मुक्ति दौड़ी-दौड़ी चली आती है। जो इस भागवती कथा को प्रेमपूर्वक पढ़ता है स्मरण करता है, सुनता-सुनाता है, मनन करता है, दूसरों को समझाता है, इनकी व्याख्या करता है, ये सब वैकुण्ठ के अधिकारी हैं। श्री शुकदेवजी भ्रमर के समान हैं। जैसे पुष्प अच्छे होते हैं सुन्दर लगते हैं किन्तु वे मीठे नहीं होते। भ

उन सब फूलों से सार ला-लाकर मधु एकत्रित करता है। उस शहद को चखो तो परम मधुर होगा। इसी प्रकार सुन्दर सुगन्धित मनहर खिले हुए पुष्पों के समान ये सभी शास्त्र हैं उन सब शास्त्रों से सार-सार निकाल कर भागवत रूप मधुपिंड शुकदेवजी ने तैयार कर दिया है इसे खाओ कितना सुख मिलेगा, यह परम पवित्र शास्त्र है धन, धान्य, यश तथा परलोक में सुख देने वाला है। यह द्वादशस्कन्ध युक्त ग्रन्थ अनुपम तथा अत्यद्भुत है। इसीलिये विधिपूर्वक सुनने वाले और विधि-पूर्वक संयम के साथ सुनाने वाला दोनों को ही परम पुण्य प्राप्त होता है उनके लिये सभी पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं मुक्ति तो उन्हें अनायास मिल जाती है। इस कथा से परम सन्तोष होता है अलौकिक आनन्द होता है। सभी दुःख छूट जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के धाम पधारने के अनन्तर उनकी सोलह सहस्र एक सौ रानियाँ श्री उद्धवजी के मुख से एक महीने में श्रीमद्-भागवत् सुनकर परम सुखी हुई और फिर उन्हें श्रीकृष्ण-चन्द्र जनित विरह नहीं रही वे श्रीकृष्ण के नित्य संयोग सुख का अनुभव करने लगीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप यह कैसी अलौकिक बात कह रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जब स्वधाम पधारने वाले थे तथा उन्होंने उद्धव को अपनी चरणपादुका प्रदान करके बदरीवन जाने की आज्ञा दे दी थी वे प्रभास क्षेत्र में भगवान् के अंतिम दर्शन करके और दिक ज्ञान प्राप्त करके सीधे बदरिकाश्रम चले गये थे। वहीं सदा के लिये भगवान् की आज्ञा से बस गये।"

इधर भगवान् के स्वधामगमन के अनन्तर अर्जुन जी उनकी सोलह सहस्र एक सौ महिषियों को लेकर हस्तिनापुर जा रहे थे। मार्ग में भीलों ने उन्हें लूट लिया। स्त्रियों को लेकर भाग गये। हमने तो सुना उन दुष्टों ने उनकी बड़ी दुर्गति की। अब आप

कहते हैं। उन्होंने उद्धवजी से सप्ताह सुनी। कहाँ बदरीवन में उद्धवजी, कहाँ द्वारका के आस-पास दुर्गति में ग्रस्त वे महिषियाँ कैसे वे सब एकत्रित हुईं कहाँ उन्हें उद्धवजी मिले। कृपा करके इस कथा को हमें अवश्य सुनाइये। इसे सुनने को हमें बड़ा कौतूहल हो रहा है। उद्धवजी श्रीमद्भागवत के आचार्य ही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी के तीन ही तो यह शिष्य हैं। उद्धव, विदुर और मैत्रेय मुनि। उद्धवजी ने कृष्ण पत्नियों को कहाँ पर कथा सुनायी। कृपया इसे हमें बताकर हमारे कुतूहल को शान्त करें।"

सूतजी बोले—"महाराज! जिनका सम्बन्ध साक्षात् श्रीकृष्ण से हुआ है, जिन्होंने स्वयं अपने शरीर से श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् की सेवा की है, उनकी दुर्गति कौन कर सकता है, वे दुर्गति से सदा के लिये दूर चली गयीं। भगवान् वांछा कल्पतरु हैं, अपने भक्तों की सभी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। यह प्रसंग बड़ा ही अद्भुत है। इससे भगवान् की, भगवत् भक्तों की तथा भागवती कथा की महिमा समझी जायगी। मैं इस पुण्यप्रद आख्यान को आपको सुनाता हूँ, आप सब सावधान होकर श्रद्धा के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

(१)

उद्धव कांस्य बजाय प्रेम में इत उत झूमें।
सब तन्मय है गये चहूँदिशि हरिके घूमें॥
कीर्तन सुनि हरि कहें—लेउ वर अब हम जामें।
भक्त कहें—सप्ताह होहि जहँ तहँ प्रभु आमें॥
एवमस्तु कहि हरि गये, मुनि इच्छा पूरन भई।
गये यथा रुचि लोक सब, कथा समापत है गई॥

(२)

सूत कहें—सप्ताह महातम मुनिवर ! गायो ।
मासिक महिमा कहूँ कृष्ण महिषी सुख पायो ॥
रानी सोलह सहस कथा सुनिकें उद्धवतें ।
शोक, मोह, दुख छाँड़ि रहें आनन्दित तबतें ॥
शौनकजी शङ्का करी, कहँ उद्धव कहँ प्रिया हरि ।
ऊधो बदरीवन गये, गोप ले गये त्रियाहरि ॥

दो०—सूत कहें—शौनक सुनहु, कथा कहूँ हरि धन्य ।
करौं दुराव न अति रहस, तुम प्रभु भक्त अनन्य ॥

परीक्षित् वज्रनाभ मिलन

[२६]

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गम्
सन्तान बीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो—
मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

प्रथम बन्दि गुरु चरन शरन नँद नन्दन जाऊँ ।
मासिक कथा महात्म्य भागवत सुखद सुनाऊँ ॥
परम धाम प्रभु गये सहस सोलह सौ रानी ।
रूप जथारथ आइ बसीं बजकी रजधानी ॥
छाया लूटी गोपगन, अन्त बिम्ब महँ मिलि गईं ।
उद्धवजी तैं कथा सुनि, परम कृतारथ ह्वै गईं ॥

---

* महाराज परीक्षित् प्रार्थना कर रहे हैं—"मैं अपनी माता के गर्भ में था कौरव तथा पाण्डवों के वंश का एकमात्र बीज मैं ही शेष रह गया था। द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने मुझे ही लक्ष्य करके हमारे वंश को निर्बीज करने के निमित्त ब्रह्मास्त्र छोड़ा था उससे मेरा गर्भ में ही शरीर दग्ध हो रहा था। मेरी माता भगवान् की शरण गयीं, तब भगवान् ने स्वयं उदर में प्रवेश करके चक्र सुदर्शन से शरीर की रक्षा की। उन्हीं का चरित्र सुनाओ।"

पेट भर लेना दूसरी वस्तु है और स्वाद ले लेकर भोजन करना दूसरी वस्तु है। जो नाना संसारी कार्यों में फँसे रहते हैं वे किसी वस्तु का स्वाद नहीं ले सकते। कितनी भी सुन्दर वस्तु हो वे उसे जैसे-तैसे कण्ठ के नीचे उतार लेंगे। उससे पेट तो भरेगा ही जिह्वा तथा कण्ठ से स्पर्श होने के कारण यत् किंचित स्वाद भी आ जायगा। किन्तु यथार्थ और यथेष्ट स्वाद का वे अनुभव नहीं कर सकते। सुन्दर अधौटा दूध है। उसमें केशर, छोटी इलायची, जायफल, तुलसी, तनिक अदरक ये वस्तुएँ पड़ी हैं मिश्री मिली तनिक सुगन्ध भी पड़ी है। मोटी मलाई के भी टुकड़े हैं ऐसे दूध का भरा पात्र आया आप उठाकर पशु की भाँति पी गये एक स्वाँस में कण्ठ के नीचे उतार कर उदस्थ कर गये, पेट तो भर ही जायगा गुण भी करेगा ही मिठास और सुगन्ध का भी कुछ अनुभव हुआ ही होगा किन्तु यथार्थ स्वाद तो तभी आता है जब ठहर-ठहरकर घूँट-घूँटकर पिये। चुसकी भर कर तनिक-तनिक देर मुख में रख-रखकर धीर गम्भीर भाव से स्वाद लेते हुए उसे कुछ समय में पान करें। एक साँस में न चढ़ा जायँ। जिसमें शीघ्रता करने को विवशता न हो स्वादपूर्वक पान करते ही रहें यह भी नहीं कि पी लिया फिर पात्र रख दिया फिर बातें करने लगे। स्मरण आया तो फिर एक घूँट ले लिया। इसमें भी व्यवधान पड़ने से शीतल तथा गतरस बन जायगा। अतः दूध को निरन्तर पीवे, शान्ति से शनैः-शनैः पीवे स्वाद ले लेकर पीवे, ठहर-ठहर कर पीवे, तब उससे तुष्टि-पुष्टि भूख निवृत्ति के साथ ही साथ स्वादु स्वादु पदे-पदे का भी अनुभव होगा।

यही बात कथा के सम्बन्ध में है। अब सात दिन में पूरी करनी है पंडितजी भी शीघ्रता कर रहे हैं अपना भी शरीर कृत्य पूरा नहीं हुआ समय हो गया बैठना ही है। इससे विधि पूरी तो हो जाती है, फल तो मिल ही जाता है, किन्तु कथा का स्वाद

नहीं आता, शंकाओं का समाधान नहीं होता, रस नहीं मिलता कथाओं में नूतनता नहीं आती, बार-बार, पूछ-पूछकर उसका रहस्य नहीं खुलता। इसके लिये शुकदेवजी को कोई बहुत खोजने पर भी दूसरा दृष्टान्त ही नहीं मिला उन्होंने राजा परीक्षित को एक ही दृष्टान्त दिया "स्त्रियां विटानामिव साधु वार्ता" जैसे कोई अत्यन्त अनुराग युक्त नायक है उसे अपनी नव नेहवती नायिका की बातों में प्रतिक्षण रस आता है उसके सम्बन्ध में जैसे खोद-खोद कर पूछता है। यही दशा उन भगवत् भक्तों की भी है जिन्होंने अपने मनको, वाणी को, तथा कानों को, कृष्णचन्द्र की कमनीय कथाओं में लगा दिया है। इसी-लिये कथा प्रेमी महानुभाव भागवती कथा को सात दिन में समाप्त करने का आग्रह न करके मासिक या पाक्षिक परायण की प्रशंसा करते हैं। इतने दिनों में उसी लगन से उसी उत्साह तथा उत्सवपूर्वक कथा सुनने में बड़ा सुख मिलता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पूछा—"कि उद्धवजी ने श्रीकृष्ण महिषियों को भागवती कथा कहाँ सुनायी और कब सुनायी, सो मैं इसी का उत्तर दे रहा हूँ। उद्धवजी ने ब्रज में-रस वृन्दावन में-भगवान् की सोलह सहस्र एक सौ रानियों को यह कथा सुनायी और तब सुनाई जब श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् अपने निज धाम को पधार गये थे और पृथ्वी पर महा-राज परीक्षित् सुख से धर्मपूर्वक राज्य करते थे, तब तक न तो उनको शाप ही हुआ था और न श्रीशुकदेवजी ने उन्हें सप्ताह भागवत ही सुनायी थी।" शौनकजी ने कहा—'सूतजी! यही तो हमारी शङ्का का प्रश्न है, भगवान् के परमधाम पधारने पर तो उद्धवजी बदरीवन चले गये और हमने महाभारत तथा दूसरे पुराण ग्रन्थों में ऐसा सुना है कि भगवान् के परमधाम पधारने पर जो उनकी आठ पटरानियाँ थीं, वे तो सती हो गयीं, शेष जो

सोलह सहस्र एक सौ वर्षों उन्हें अर्जुन हस्तिनापुर को लिये आ रहे थे, सो बीच में ही गोपों ने उन्हें लूट लिया और वे सब उन स्त्रियों को भी उठा ले गये। वे रोती चिल्लाती रहीं किन्तु किसी ने उनकी करुण पुकार पर ध्यान नहीं दिया, उन दुष्टों ने न जाने क्या उनकी दुर्गति की।"

अब आप कह रहे हो, कि उद्धवजी ने उन सबको व्रज में भागवती कथा सुनायी, सो इसकी सङ्गति कैसे बैठेगी, हमारी इसी शंका का पहिले समाधान करें, तब आगे की कथा कहें।"

यह सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये और कुछ देर सोचकर बोले—"भगवन्! क्या आप विश्वास करते हैं, कि कल्याण के लिये कार्य करने वालों की या कल्याण के निमित्त किये जाने वाले कार्य की कभी दुर्गति हो सकती है? भगवान् के सजीव साकार चिन्मय विग्रह की बात तो कुछ देर के लिये छोड़ दीजिये। जो लोग अपने मन से—अपनी भावना से ही—भगवान् की एक मनोमयी मूर्ति बना लेते हैं, फिर उस मन गढ़ंत मनोमयी मूर्ति की मानसिक पूजा करते हैं, मन से ही कल्पित जल से उन्हें स्नान कराते हैं, कल्पित ही पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुंगीफल, तथा दक्षिणा आदि चढ़ाते हैं। मूर्ति भी कल्पित और पूजा के सब पदार्थ भी कल्पित फिर भी ऐसी पूजा करने वाले की भी कभी दुर्गति नहीं होती, उसे भी भगवान् अपना लोक देते हैं। तब आप स्वयं ही सोचिये जिन्होंने एक दो वर्ष नहीं ७०-८० वर्ष तक स्वयं साक्षात् सजीव आनन्दघनमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् की कल्पित नहीं-प्रत्यक्ष-सेवा की, कल्पित सामग्रियों से नहीं, प्रत्यक्ष उनके गङ्गा जल से पाद प्रक्षालन किये, सुगन्धित जल से हाथ धुलाये, दिव्य जल से आचमन कराया, महौषधियों तथा दिव्योषधियों के जल से स्नान कराया, रेशमी वस्त्रों को, यज्ञोपवीत को, स्वयं अपने हाथों से पहिनाया। कल्पवृक्षों के पुष्पों

की बनी मालाओं को स्वयं उन्हें पहिनाया। अपने करकमलों से घिसा हुआ चन्दन अपने करकमलों से स्वयं उनके श्रीमस्तक पर लगाया। दिव्य धूप स्वयं उनके आगे सुलगायी, केसर कस्तूरी मिश्रित कामधेनु के घृत से दिव्य दीपक जलाकर उनके सम्मुख रखा। नाना व्यञ्जन स्वयं बनाकर उन्हें प्रसाद पवाया। दिव्य मसालों से युक्त ताम्बूल स्वयं लगाकर अपने ही हाथ से उनके मुख में दिया, अधरामृत से सिक्त पान तथा प्रसादी पदार्थ स्वयं पाये, स्वयं अपने मस्तक को उनके चरणकमलों में रगड़ा ऐसी महिषियों की क्या कभी दुर्गति हो सकती है? भगवन्! असंभव, सर्वथा असम्भव, असत्य है, अनर्थ है तथा अनुपयुक्त है।"

भगवान् भक्तों की इच्छा का कभी आघात नहीं करते। भक्त के हृदय में वैसे तो कभी बुरी इच्छा उठती ही नहीं, यदि बुरी भी इच्छा भक्त के हृदय में कदाचित्-किसी कारण वश-किसी जन्म के संस्कार वश उठ जाय, तो भगवान् उसकी भी किसी-न-किसी रूप में पूर्ति कर देते हैं जो भगवान् का भक्त हो गया, जिसने अपना तन, मन, प्राण तथा सर्वस्व श्यामसुन्दर के अरुण वरण चरणारविन्दों में अर्पित कर दिया, उसका देह दिव्य बन जाता है, उसकी समस्त चेष्टायें दिव्य हो जाती हैं, कोई मलिन वासना रहे भी तो उसे स्वप्न शरीर से, छाया शरीर से भगवान् अनुभव कराके उस वासना का भी अन्त करा देते हैं, क्योंकि प्रारब्ध भोग, पूर्व की प्रबल वासनायें भोग के बिना क्षय होती नहीं। यह तो हुई भगवत् भक्तों की बात, किन्तु जो भगवान् की स्वयं साक्षात् शक्ति ही हैं, उन शक्तियों की छाया से भगवान् ऐसी-ऐसी करुण लीलायें दिखाते हैं, जिससे संसारी लोगों को बोध हो कि आपत्ति-विपत्ति सभी शरीरधारियों पर आती है, उसमें साहस को खोना नहीं चाहिये, धैर्य धारण करके उन कर्मानुसार आई हुई विपत्तियों को सह लेना चाहिये।

अब आप ही सोचिये, जगज्जननी, जनकनन्दिनी, भागवती सीता का स्पर्श करने की परदारारत राक्षस रावण की सामर्थ्य थी। वह उन्हें कामुक दृष्टि से देख सकता था, उनके श्रीअङ्ग को गोद में लेकर उड़ सकता था। उस महामाया के सङ्कल्प मात्र से उसके शरीर के सहस्रों खण्ड हो जाते। किन्तु वह उठाकर ले गया, वे जानकी थीं ही नहीं जगज्जननी जानकी की छाया मात्र थी। यथार्थ जानकी को तो मर्यादा पुरुषोत्तम ने अग्नि में स्थापित कर दिया था, ये जो सब लीलायें हुईं सब छाया जानकी के द्वारा हुईं।

हमने पुराणों में पढ़ा है, हमारे गुरुदेव भगवान् शुक को स्त्री पुरुष का भेद नहीं था। वे सदा सोलह वर्ष के युवा ही रहते हैं, नंगी स्त्री नहाती रहे या पुरुष नंगा फिरता रहे, उन्हें कुछ भी भान नहीं, फिर भी लिखा है, उनका विवाह हुआ उनके पुत्र हुए। शुकदेवजी की पुत्री के विवाह का वर्णन है, अब आप सोचें—"क्या परमहंस, चक्रचूड़ामणि, परमवीतराग जिन्हें अपने शरीर तक की सुधि नहीं वे विवाह कैसे करेंगे, उनके सन्तति कैसे सम्भव है, किन्तु भगवान् व्यास की इच्छा थी, मेरा वंश चले, इसीलिये शुकदेव ने अपनी छाया से ही एक ऐसे ही पुरुष को उत्पन्न कर दिया। उसका नाम छायाशुक हुआ। यह जो शुकदेवजी का विवाह और संतानों का जो वर्णन आता है, वह उसी 'छायाशुक' का ही है। इसी प्रकार गोपगण द्वारका के मार्ग में जो श्रीकृष्ण की पत्नियों को लूट ले गये वे वास्तव में वे नहीं थीं, उनकी छायायें थीं। जैसे सूर्य की पत्नी मूर्ति अपनी छाया छोड़ गयी थी, सूर्यदेव उसे ही अपनी पत्नी माने बैठे थे, उससे भी तीन सन्तानें हुईं।

पूर्वजन्म में कोई वासना रह जाती है या भगवान् कोई लीला करना चाहते हैं यह सब छाया से ही होता है, यह सब

छाया की माया है। माया का भी तो यही अर्थ है, जो वास्तव में हो नहीं पर यथार्थ-सी प्रतीत हो। ये जो भगवान की सोलह सहस्र एक सौ पत्नियाँ थीं, ये पूर्वजन्म में अप्सरायें थीं, इन्द्र ने नर-नारायण ऋषि की तपस्या भंग कराने के निमित्त इन सबको भेजा था। ये गणना में सब सोलह सहस्र एक सौ थीं। भगवान् को मोहित न कर सकीं, अपने कामुक हाव-भाव कटाक्षों द्वारा उनके मन में विकार उत्पन्न न कर सकीं। इससे इन्हें लज्जा भी लगी, भय भी। ऐसा न हो भगवान हमें शाप दे दें। किन्तु भगवान् ने तो काम को भी जीत लिया था और क्रोध को भी। वे हँस पड़े। तब इनका साहस बढ़ा। इतने देर तक काम की सङ्कल्प पूर्वक चेष्टायें करते-करते इनके रोम-रोम में काम व्याप्त हो गया था। भगवान ने इन्हें प्रसन्न करने को कहा—"मैं तुम्हारे ऊपर क्रुद्ध नहीं हुआ हूँ, तुम मुझसे भय मत करो। यही नहीं, मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिये तुम्हें वरदान भी देना चाहता हूँ, तुम जो चाहो मुझसे वर माँग लो।"

तब इन्होंने साहस करके कहा—"महाराज! आप हमें वर देना चाहते हैं, तो काम का ही वर दीजिये, आप हमारे पति हो जाइये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, किन्तु अब तो मैंने तपस्वी का वेष बना रखा है, इस वेष से ऐसा करना तो मर्यादा के-धर्म के-विरुद्ध है। मैं धर्म का ही स्वरूप हूँ। अगले जन्म में तुम मुझे पति रूप में वरण करोगी।"

वे ही अप्सरायें पृथ्वी के भिन्न-भिन्न राजाओं के यहाँ पुत्री रूप में पैदा हुईं। उन्हें भौमासुर अपहरण करके ले गया। पीछे भगवान् उसे मारकर इन्हें अपने यहाँ ले आये। अपनी पत्नी रूप में वरण कर लिया, तब ये भगवान की दिव्य शक्तियाँ बन गयीं। कोई अप्सरा शरीर की वासना शेष रही होगी उसके

लिये भगवान् ने छाया रूप से यह लीला की होगी। वैसे यथार्थ रूप से तो उन्होंने इन सबको पहिले ही ब्रज मंडल में भेज दिया था, क्योंकि भगवान् का ब्रज ही तो परम धाम है, वही तो काष्ठा है। वही फल भूमि है। वहीं उद्धवजी ने इनको भागवती कथा सुनायी।

यही बात उद्धवजी की भी है। भगवान् ने जब उद्धवजी को गोपियों के लिये संदेश देकर ब्रज भेजा, तो वहाँ जाकर उन्होंने गोपियों का श्रीकृष्ण भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम देखा, वे उनकी महाभाव रूढ़ महाभाव, मादन, मोहन आदि प्रेम की दशाओं को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने गोपियों को अपना प्रेम का गुरु मान लिया और भगवान् से यही प्रार्थना की—"प्रभो! मेरी यही आपके चरणों में भीख है, कि मैं इस ब्रज भूमि में कहीं लता गुल्म बनकर निरन्तर वास करूँ, जिससे इन महाभावा गोपियों की चरण धूल उड़-उड़कर मेरे ऊपर पड़े।" अपने अनन्य भक्त उद्धव की यह इच्छा तो भगवान् को पूर्ण करनी ही थी। भगवान् तो वांछा कल्पतरु हैं। वे तो जो एक बार केवल प्रणाम ही करता है उसी की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। अतः उद्धवजी को लता गुल्म के रूप में ब्रज में वास दिया। साथ ही उन्हें अपने पाने के साधन का भी प्रचार-प्रसार करना था, इसलिये एक रूप से साधन दिखाने की भावना से अपनी चरण पादुका देकर बदरीवन भेजा।

यही बात भगवान् के सबन्ध में है। भगवान् की छाया हैं उद्धवजी। छाया तो यथार्थ रूप की ही होती है और वह यथार्थ से पृथक् भी नहीं रहती। यथार्थ-सी ही दीखती है उद्धव जी का रूप, रंग, आकृति, प्रकृति, स्वभाव, व्यवहार, चलन, चितवन, उठन, बोलन, पहराव-उढ़ाव तथा अन्य सभी चेष्टायें श्यामसुन्दर की-सी ही थीं। ये श्यामसुन्दर की ही छाया के रूप

में थे। चैतन्य आनन्द घन की छाया भी चैतन्य आनन्द घन ही है। तभी तो भगवान् ने अपने श्रीमुख से स्वयं कहा है—"उद्धव मुझसे ज्ञान में तनिक भी कम नहीं है, मेरे सदृश ही है।" अतः अपनी छाया रूप से वे बदरीवन में निवास करने लगे और अब भी वे चतुर्भुज भगवत् रूप में विराजमान हैं। उन्हें उद्धव मूर्ति या उत्सव मूर्ति कहते हैं। उद्धव और उत्सव एक ही बात है। उत्सव भगवान् का उद्धव रूप ही है। जहाँ उत्सव होता है वहाँ भगवान् प्रकट हो जाते हैं। इसीलिये भगवान् ने अपना उत्सव रूप उद्धवजी को अर्पित कर दिया है। सभी बड़े-बड़े मन्दिरों में भगवान् के दो श्रीविग्रह होते हैं, एक तो अचल भगवान् की बड़ी मूर्ति एक छोटी उद्धव मूर्ति या उत्सव मूर्ति, वह भगवान् के ही समान मूर्ति होती है। जब कोई उत्सव होता है। तो उन्हीं उद्धव मूर्ति को बाहर ले जाते हैं। जहाँ भी कोई उत्सव होता है वह उद्धव का ही रूप है—"भगवान् की ही छाया, प्रेम से समारोह पूर्वक एक मन के भक्तों के द्वारा उत्सव होता है, तो किसी-किसी को भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन भी हो जाता है। इसीलिये व्रज में जहाँ उद्धवजी लता गुल्म रूप में रहते हैं—वहाँ उत्सव करने से उद्धवजी साक्षात् रूप से प्रकट हो गये और उन्होंने श्रीकृष्ण महिषियों को मासिक रूप में श्रीमद्भागवत की कथा सुनायी।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने हमारी शंकाओं का बड़ा सुन्दर समाधान किया। किन्तु महाभाग! हमने तो श्रीमद्भागवत का सप्ताह ही सुना था। क्या इसका मासिक पारायण भी होता है क्या?"

सूतजी ने कहा—"क्यों नहीं महाराज! मासिक भी होता है ऋतु पारायण भी होता है। अयन पारायण भी होता है। वर्ष पारायण भी होता है। पाक्षिक साप्ताहिक सभी पारायण होते हैं।

पहिले तो उद्धवजी ने मासिक ही सुनाया था, साप्ताहिक पारायण की प्रथा तो इसलिये चल गयी कि महाराज परीक्षित् के जीवन की अवधि सात ही दिन की रह गयी थी। इससे शीघ्रता के कारण सात दिन में ही समाप्त करनी पड़ी। वैसे है तो यह विधि अनादि ही।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी! उद्धवजी ने किस प्रकार कहाँ पर श्रीकृष्ण महिषियों को श्रीमद्भागवत का मासिक पारायण सुनाया, कृपया इस कथा को हमें विस्तार से सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, भगवन्! मैं इस पुण्य प्रसंग को आप सबके सम्मुख सुनाता हूँ, आशा है आप इसे प्रेमपूर्वक सुनेंगे। भगवान् नन्दनन्दन के पाद पद्मों में प्रणाम करके इस दिव्य कथानक को आरम्भ करता हूँ।"

भगवान् स्वधाम पधार गये, अर्जुन शेष सब लोगों को साथ लेकर हस्तिनापुर चले आये।। यदुवंश में श्रीकृष्णचन्द्र के वंश में स्त्रियों को छोड़कर पुरुषों में एक वज्र ही शेष रह गये थे। धर्मराज ने जब भगवान् के स्वधाम का समाचार सुना तो वे महाराज परीक्षित् को हस्तिनापुर के राज्य सिंहासन पर बिठाकर तथा वज्र को ब्रज मंडल का राजा बनाकर महायात्रा के लिये हिमालय की ओर चले गये और स्वर्गारोहण में जाकर स्वर्ग-गामी हुए। इधर महाराज परीक्षित् धर्मपूर्वक सम्पूर्ण भूमंडल का राज्य करने लगे।

एक दिन उन्होंने सोचा—"चलो, ब्रज मंडल में चलकर देखें वज्र कैसे राज्य करता है, आनन्द कन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के लीला स्थलों के दर्शन भी करेंगे और वज्र से तथा उनकी दादियों से भी मिल आवेंगे। यह सोचकर वे साधारण सेवकों के सहित ब्रज मंडल की ओर चल दिये।"

वज्रनाभ भगवान् के प्रपौत्र थे। और परीक्षित् पांडवों के

पौत्र, इस नाते से परीक्षित् इनके चाचा लगे। जब वज्रनाभ ने सुना मेरे पिता के तुल्य परम पूजनीय महाराज परीक्षित् मुझसे मिलने आ रहे हैं। तो उन्हें अत्यन्त ही हर्ष हुआ, वे अपने मंत्री तथा सेवकों के सहित नगर से बाहर जाकर उनसे मिले। प्रेम भरित हृदय से उन्होंने अपनी मोटी-मोटी लाल हथेलियों से महाराज परीक्षित् के चरण पकड़े और किरीट मुकुट से युक्त अपना मस्तक उनके चरणों में रख दिया। महाराज परीक्षित् ने भी अत्यन्त ही स्नेह के साथ वज्रनाभ को उठाकर अपनी छाती से चिपटा लिया और आँखों में प्रेमाश्रु भरकर उनका शिर सूँघा।

महाराज परीक्षित् ने भगवान् की गोद में ही बैठकर अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था। भगवान् इन्हें बहुत ही अधिक प्यार करते थे। इनका भी चकोर के सदृश चञ्चल चित्त चन्द्र के सदृश प्रकाशमान सुखद शीतल सुन्दर आनन्दघन श्रीकृष्ण-चन्द्र के चारु आनन में नित्य निरन्तर रमता रहता था। आज उनके प्रपौत्र को देखकर उन्हें भगवान् की छटा स्मरण हो आई। वे प्रेम में विभोर होकर बार-बार वज्र का आलिंगन करने लगे और ऐसा अनुभव करने लगे मानों मैं भगवान् से ही लिपट रहा हूँ।

वज्रनाभ इन्हें अत्यन्त ही सत्कार और सम्मान के सहित अपने घर ले आये। महलों में आते ही महाराज परीक्षित् ने कहा—"वज्र! मुझे तुम मेरी दादियों से समीप ले चलो, मैं उनके चरणों में प्रणाम करूँगा।"

यह सुनकर वज्रनाभ उन्हें अन्तःपुर में ले गये। वहाँ उन्होंने देखा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की वे प्रेयसी भगवान् के वियोग के कारण, अत्यन्त ही उदास मन से समय बिता रही हैं। कष्ट के साथ कालयापन कर रही हैं। महाराज परीक्षित् ने

जाकर उन सबके पैर छुए, प्रणाम किया और उनके समीप बैठ गये।

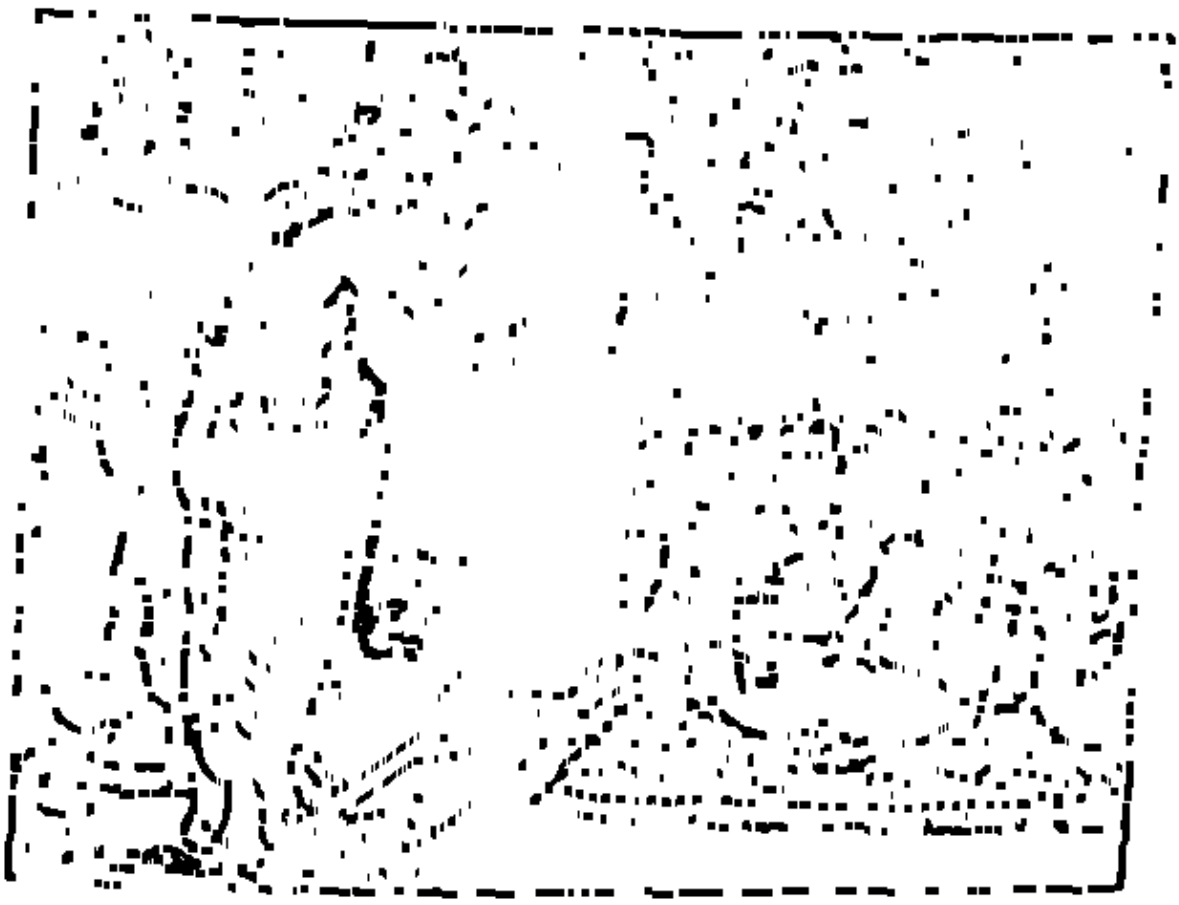

परीक्षित् ने पूछा—"माताओं ! आप सब प्रसन्न तो हैं ?"

सबकी ओर से रोहिणी देवी ने कहा—"बेटा ! प्रसन्नता तो भगवान् के साथ ही साथ चली गयी। अब तो जिस किसी प्रकार समय पूरा कर रही हैं हम सब।"

वज्रनाभ ने कहा—चाचाजी ! ये हमारी सभी दादियाँ सदा उदास ही बनी रहती हैं, मैं बहुत सोचता हूँ, इनकी कुछ सेवा करूँ, किन्तु कर नहीं सकता।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"वज्र ! देखो, भैया ! मैं तो तुम से बहुत दूर हूँ, नहीं तो जैसी ही ये तुम्हारी पूजनीया तथा माननीया हैं, उससे भी अधिक मेरी पूजनीया हैं। भगवान् श्याम सुन्दर हमारे सगे सम्बन्धी थे, सो तो थे ही वे तो हमारे कुल

देवता भी हैं। हमारे कुल का उद्धार तो उन्होंने ही किया है, वे कृपा न करते तो मेरे सब पितामह बच थोड़े ही सकते थे मेरे दूसरे दुर्योधनादि पितामह तो उन्हें सब प्रकार से मरवाने के लिये तुले हुए थे। उन्होंने उन्हें मरवा डालने के बहुत प्रयत्न किये, किन्तु श्यामसुन्दर ने ही उन्हें प्रत्येक स्थान से बचा लिया। वे सब समय उनकी रक्षा में तत्पर रहते थे। इसी प्रकार मेरे पिता का भी पालन-पोषण द्वारका में ही हुआ। भगवान् की गोदी में ही वे बड़े हुए। मेरे तो वे पिता, माता, भाई, गुरु, रक्षक, देवता, इष्ट, प्रभु तथा सर्वस्व वे ही थे। जब मैं माता के उदर में था, तभी गुरु पुत्र अश्वत्थामा ने मुझे मारने के उद्देश्य से कभी भी निष्फल न होने वाले ब्रह्मास्त्र को छोड़ा था जिससे मैं तो मर ही गया था, किन्तु श्यामसुन्दर ने मेरी माता के उदर में घुसकर चक्र सुदर्शन से मेरी रक्षा की। इसलिये मेरे तो वे जीवनदाता ही हैं। उनके उपकारों का बदला मैं सहस्रों जन्मों में भी नहीं चुका सकता। तुम मेरे पुत्र के समान हो। तुम्हारा समस्त उत्तर-दायित्व मेरे ऊपर है। देखो राजा के मुख्य तीन कर्तव्य हैं। प्रजा का पुत्र के समान पालन करना, राजकोष को बढ़ाना और उसकी रक्षा करना तथा सेना को सुसज्जित तथा प्रसन्न रखकर बाहरी शत्रु राजाओं से राज्य की रक्षा करना। तो तुम कोष की तो चिन्ता करो ही नहीं जिस समय जितने भी धन की आवश्यकता होगी सब हस्तिनापुर से आ जायगा। रही शत्रुओं से राज्य की रक्षा की बात सो उसकी भी तुम्हें कोई चिंता नहीं। वैसे तो अपना कोई शत्रु रहा भी नहीं कोई सिर उठावेगा भी तो उसके लिये तो मैं हूँ ही। तुम उस ओर से सर्वथा निश्चिन्त रहो। तुम्हारा तो एक ही कार्य है सर्वात्मभाव से इन माताओं की रक्षा करना इन्हें तुम जैसे भी प्रसन्न रख सको वैसे रखो। इसके अतिरिक्त तुम्हें

जो भी चिन्ता हो जो भी क्लेश हो मुझे बताना। उस सबका प्रबन्ध मैं करूँगा।"

वज्रनाभ ने कहा—"चाचाजी ! इस सबका तो मुझे भरोसा ही है जब तक मेरे सिर पर आप बैठे हैं मुझे चिन्ता करने की आवश्यकता ही क्या है। रही शत्रुओं से भय की बात सो मैं भी तो क्षत्रिय ही हूँ मैंने दादाजी (आपके पिताजी) से विधि-पूर्वक धनुर्वेद की शिक्षा पायी है उनका शिष्य होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनका शिष्य कहाकर क्या मैं रण से पीछे हट सकता हूँ या शत्रु से भयभीत हो सकता हूँ। आपका वरद हस्त मेरे मस्तक पर सदा बना रहे यही मेरी आकांक्षा है। इन माताओं की सेवा की चेष्टा मैं सदा करता रहता हूँ, किन्तु ये मुझसे कोई सेवा लेती ही नहीं। केवल यमुना स्नान के निमित्त जाती हैं। नहीं तो दिन भर यहीं महलों में बैठी आँसू बहाती रहती हैं मेरी समझ में कुछ आता नहीं फिर आप जैसी आज्ञा देंगे वैसा करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वज्रनाभजी की ऐसी विनय-युक्त क्षत्रियोचित वाणी सुनकर महाराज परीक्षित् परम प्रसन्न हुए। तभी श्रीकृष्ण पत्नियों ने कहा—"बेटा ! अब जाकर कुछ विश्राम करो इतनी दूर से आये हो थके होगे।" यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पुनः सबके चरणों में प्रणाम किया और वे वज्रनाभजी के साथ अपने निवास स्थान पर चले गये। अब जैसे वज्रनाभजी व्रज के सम्बन्ध में प्रश्न करेंगे और उसका उत्तर महर्षि शांडिल्य देंगे उस कथा प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आप सब समाहित चित्त से इस रहस्यमय अत्यद्भुत प्रसंग को श्रवण की कृपा करें।"

छप्पय

गये श्याम निज धाम परीक्षित् हस्तिनापुर में।
बने व्रजेश्वर वज्र उठी उतकण्ठा उर में॥
दोऊ व्रज में मिले वज्र अति स्वागत कीन्हों।
पूजित है उपदेश वज्र कूँ भूपति दीन्हों॥
राज, कोप, गृह, अरिदमन, चिन्ता सब मन तैं तजो।
दादी सोलह सहस जो, सेवा करि इनकूँ भजो॥

व्रज भूमि रहस्य

[२७]

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यम्
प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० २१ अ० १० श्लो०)

छप्पय

आयसु सिर धरि वज्र कहे—हौं व्रज को राजा ।
किन्तु यहाँ बन विकट न दीखत प्रजा समाजा ॥
शंका मेटन हेतु नृपति शांडिल्य बुलाये ।
आइ प्रश्न मुनि सुन्यो प्रेम तैं बचन सुनाये ॥
बल और व्रज भेद नहिं, रमन राधिका संग करें ।
आप्तकाम प्रभु आत्मरत, व्रज क्रीड़ा हित तनु धरें ॥

---

* व्रज भूमि में बैठी व्रजांगनायें बात कर रही हैं, एक कहती है—"हे सखि ! यह जो वृन्दावन है, यह समस्त लोक की कीर्ति को ब्रह्मांड में फैला रहा है । इसके भाग्य तो देखिये । इसे देवकीनन्दन के चरण चिन्हों के पड़ने से कैसी शोभा प्राप्त हो गयी है । अधर पर धरके जब गिरधर वेणु बजाते हैं तो मयूर उन्हें श्याम मेघ समझकर नाचने लगते हैं, उन्हें देखने को गोवर्धन पर्वत पर विचरने वाले सभी जीव-जन्तु निश्चेष्ट होकर चुप चाप खड़े के खड़े ही रह जाते हैं ।"

भगवान् का नाम, उनका अपना धाम उनकी लीला और उन अरूप का रूप से ये सब एक ही वस्तु है। क्रीड़ा करने की जब भगवान् की इच्छा होती है, तो अपने चार व्यूह बनाकर चारों में अपने दिव्य तेज प्रकाश करके निज जनों के साथ प्रभु क्रीड़ा करते हैं। प्राणी उनके मनोविनोद के उपकरण मात्र हैं; जिन्हें वरण कर लें-अपना लें-उन्हें अपने लोक में ले जायँ, जिन्हें न करें वे यहीं चौरासी के चक्कर में घूमते रहें। जिससे भी उनका संसर्ग सम्पर्क हुआ चाहे वह मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, गुल्म, वीरुध-पर्वत, नद, नदी, भूमि अथवा जल स्थल और गगन चारी कोई भी क्यों न हो वही कृतार्थ हो जाता है। इसमें कब किसकी पारी आती है। इसे उनके बिना कोई दूसरा जान नहीं सकता। परिश्रम करने पर भी पहिचान नहीं सकता अतः सर्वात्मभाव से उन्हीं की शरण में जाना इसी का नाम पुरुषार्थ है, इसी के लिये जीव नाना योनियों में भटक रहा है। किंतु अपनी क्रीड़ा में तन्मय हुए श्यामसुन्दर अपनी लीला में लगे लीलाधारी श्याम-बिहारी गिरवरधारी देख नहीं रहे हैं, कभी तो देखेंगे, कभी तो निहारेंगे. कभी तो कटाक्ष की कोर करेंगे, उसी की प्रतीक्षा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् सुखपूर्वक वज्रनाभ का आतिथ्य स्वीकार करते हुए व्रज में रह गये।"

एक दिन उन्होंने कहा—"चाचाजी! मुझे एक शंका है, मैं उसी की चिन्ता निरन्तर करता रहता हूँ, आज्ञा हो तो आपके सम्मुख अपनी शंका रखूँ?"

महाराज परीक्षित् ने परम प्रेम युक्त वाणी से वज्रनाभ को पुचकारते हुए और उनके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"हाँ, कहो बेटे! तुम मुझसे भी अपनी शंका न कहोगे तो और किससे कहोगे। बताओ तुम्हें क्या शंका है?"

। ; वज्र ने कहा—"महाराज ! आप लोगों ने मुझे मथुरा मंडल का राजा बना दिया है। इस पुण्य प्रदेश के राज्य सिंहासन पर मेरा विधिवत् अभिषेक हुआ है, किन्तु मैं वास्तव में अपने घर का ही राजा हूँ, जैसे किसी का नाम राजा रख दिया जाय, उसी प्रकार का राजा हूँ।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"मैं तुम्हारा अभिप्राय समझा नहीं। स्पष्ट करके बताओ।"

वज्रनाभ ने कहा—"महाराज ! और क्या स्पष्ट करूँ। किसी स्त्री से कह दो तुम सौभाग्यवती हो, किन्तु उसके पति न हो, किसी नेता से कहो तुम बड़े योग्य नेता हो, किन्तु उसका एक भी अनुयायी न हो, किसी व्यक्ति से कहो तुम एक अक्षौहिणी सेना के अध्यक्ष बनाये गये, किन्तु उसके पास एक भी सैनिक न हो। ऐसा ही मैं भी राजा हूँ। राजा तो प्रजा का ही होता है, किन्तु मैं देखता हूँ चौरासी कोस के व्रज मण्डल में एक भी मनुष्य नहीं, गाँव नहीं नगर नहीं। जिधर देखो उधर ही घोर वन ही वन दिखायी देता है वन भी किसी सुन्दर फल वाले वृक्षों का नहीं। सर्वत्र करील, हिंस, बबूर छौंकरा तथा और भी ऐसे ही काँटेदार वृक्ष हैं। पीलू के वृक्षों की भर मार है। हिंस और करीला ऐसे सघन हो गये हैं, कि उनके बीच से मनुष्य जा नहीं सकता। बीच-बीच में जलाशय है। कहीं-कहीं जल के कुंड भरे हैं। छोटा-सा गोवर्धन पर्वत है। वह भी इन कंटकाकीर्ण झाड़ियों से ढँका है, यमुनाजी हैं इनके ही कारण व्रज प्रतीत होता है, मैं तो चारों ओर घूमा एक भी स्त्री-पुरुष दिखायी नहीं दिया। मथुरा कहाँ है वृन्दावन कहाँ है। ताल वन, खदिरवन, कदंब खण्डी इन स्थानों का कुछ भी पता नहीं। भगवान् की लीला स्थलियों का कोई चिन्ह नहीं। कोई मनुष्य मिले तो उससे पूछा भी जाय। किन्तु आपने जितने लोग मेरे साथ कर दिये थे वे हैं

सब हैं, यहाँ एकान्त अरण्य में अकेले पड़े चैन की वंशी बजा रहे हैं। अपने ही राजा हैं, स्वयं ही प्रजा हैं। मैं जानना यह चाहता हूँ कि यहाँ की प्रजा गई कहाँ। हम तो सुनते थे मथुरा की शोभा अनुपम है इतनी विस्तृत नगरी है। बड़े चौड़े राज पथ हैं। वहाँ की प्रजा हृष्ट-पुष्ट और सभी सुख सामग्री से युक्त है। यह सब प्रजा चली कहाँ गयी। उनके वंशज भी तो रहे होंगे। ये सब के सब क्या हुए।"

वज्रनाभ की ऐसी बात सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"बेटा! तुमने यह बड़ी विचित्र बात बताई मुझे भी बड़ा आश्चर्य हो रहा है। यहाँ कोई प्राचीन ऋषि-मुनि तो होंगे उनसे ही पूछा जाय।"

वज्र ने कहा—"महाराज मुझे तो किसी भी ऋषि-मुनि का पता नहीं। हमारे कुल के पुरोहित गर्गजी बताये जाते हैं उनके भी मुझे दर्शन नहीं हुए। सुना ऐसा जाता है कि कहीं घोर वन के बीच में नन्दादि गोपों के कुल पुरोहित महर्षि शांडिल्य निवास करते हैं उनसे भी मेरी आज तक भेंट नहीं हुई।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"उन्हीं को किसी प्रकार खोज-कर बुलाया जाय।" यह कहकर उन्होंने दूतों के सहित अपने मन्त्री को महर्षि का पता लगाने और उन्हें सादर लिवा लाने को भेजा। मन्त्री ने वन में जाकर खोज की। संयोग से उन्हें शाण्डिल्य महामुनि की कुटिया मिल गयी। उन्होंने निवेदन किया—"प्रभो! सम्राट परीक्षित् पधारे हैं वे आपका राजमहल में दर्शन चाहते हैं।"

महाराज परीक्षित् का आगमन सुनकर महर्षि शांडिल्य परम प्रमुदित हुए उन्होंने कहा—"पाण्डवों के यश को बढ़ाने वाले परम भगवत्-भक्त, धर्मात्मा महाराज परीक्षित् के आगमन से मुझे बड़ी प्रसन्नता है। कोई तो बड़े-बड़े साधन करके तब भग-

वत् कृपा प्राप्त करता है उन महाभाग ने तो माता के गर्भ में ही भगवत् साक्षात्कार किया था। चलो मैं उनसे अवश्य मिलूँगा।" यह कहकर मुनिवर शांडिल्य मन्त्री के साथ राजमहल की ओर चल दिये।

महामुनि का आगमन सुनकर दोनों नरपति उन्हें लेने द्वार तक गये तथा उनकी विधिवत् पूजा करके एक सुन्दर श्रेष्ठ उच्चासन पर उन्हें बिठाया।

महर्षि जब वज्रनाभ और परीक्षित् द्वारा की हुई पूजा को स्वीकार करके सुखपूर्वक बैठ गये तो राजा ने उनसे तप की;

आश्रम के वृक्षों की कुशल पूछी तथा मुनि ने भी दोनों महाराजों के भृत्य, आमात्य, कोष, परिवार तथा प्रजाजनों की कुशल पूछी। दोनों ओर से कुशल प्रश्न पूछने के अनन्तर महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! आपने हम दोनों की प्रजा की

कुशल पूछी। मेरी प्रजा तो आपके आशीर्वाद से कुशलपूर्वक है ही किन्तु ये वज्रनाभ कहते हैं—"मेरी तो कोई प्रजा ही नहीं ब्रजमंडल में कोई मनुष्य ही नहीं। सर्वत्र घोर वन ही वन है। मेरी और इनकी शंका यही है कि ब्रजमंडल की सम्पूर्ण प्रजा कहाँ चली गयी ? भगवान् के स्वधाम पधारने के कारण सम्पूर्ण ब्रजमंडल जन शून्य क्यों बन गया ?"

इस प्रश्न को सुनते ही महामुनि शांडिल्य गम्भीर हो गये और कुछ देर मौन रह कर उन्होंने कहना आरम्भ किया—"राजन्! महाराज वज्रनाभ का प्रश्न बड़ा ही गम्भीर है इसे मैं तनिक विस्तार के साथ समझाऊँगा आप लोगों को सुनने का सावकाश है न ?"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"ब्रह्मन्! यह हमारा बड़ा सौभाग्य है कि यहाँ ब्रजमंडल में आकर आपके दर्शन हुए। आप महाभाग! ब्रजराज श्रीनन्दजी के कुल पुरोहित हैं ब्रज के प्रत्यक्ष देवता हैं। ब्रजमंडल के रहस्य के सम्बन्ध में सुनाने के लिये आपसे प्रामाणिक पुरुष हमें और कहाँ मिलेगा। आप जितने ही विस्तार से इस कथा को सुनावेंगे उतने ही हम लोग प्रसन्न होंगे।"

शांडिल्य मुनि बोले—"पहिले तो तुम लोग ब्रज शब्द का अर्थ समझो। यह शब्द संस्कृत ब्रज् गतौ धातु से बना है वह धातु गति या व्याप्ति अर्थ में प्रयोग की जाती है। ब्रज्यते यत् तद् ब्रज अर्थात् जो व्यापक हो, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हो उसका नाम है ब्रज। सर्वत्र व्यापक तो तीनों गुण से रहित परब्रह्म ही है। इसलिये उसे ब्रज, ब्रह्म अथवा परब्रह्म कहते हैं।"

वज्र ने पूछा—"भगवान्! उस ब्रज या ब्रह्म का स्वरूप क्या है।"

शांडिल्य मुनि बोले—"राजन्! स्वरूप तो उसका कोई है ही

नहीं। उसे तो वाणी और मन का विषय न होने से—अवाङ्मानस गोचर कहा है। फिर वेद विद लोग उसे चैतन्य घन और आनन्द में ही स्थित रहने से सदानन्द स्वरूप कहते हैं उसमें तम अथवा अन्धकार का लेश भी न होने से परम ज्योतिर्मय भी उसकी संज्ञा है उसकी न उत्पत्ति है न विनाश है त्रिकाल मे एक रस रहने से वह अविनाशी भी कहा गया है। जीवन्मुक्त योगीजन उसी में रमण करते हैं, सदा सर्वदा उसी में रहते हैं। वही ब्रह्म जब धाम रूप में परिणित हो जाता है तो उसी की संज्ञा ब्रज हो जाती है। उसी ब्रज में परब्रह्म स्वरूप नन्दनन्दन आनन्द घन यशोदानन्दवर्धन श्रीकृष्णचन्द्र का निवास है अर्थात् धाम रूप में भी वे ही हैं और साक्षात् आनन्द रूप से भी वे ही हैं। श्रीकृष्णचन्द्र के अंग उपांग में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिसमें तनिक-भी जड़ता का अंश हो। वस्त्र आभूषण शृङ्ग वेणु लकुट तथा अन्य भी जो वस्तुएँ भगवान् के कार्य में आती हैं सभी सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। जैसे चीनी के चैतन्य पुतले के जितने भी उपकरण हों वे सब चीनी से ही निर्मित हों। वहाँ सच्चिदानन्द के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। श्रीकृष्ण का दूसरा नाम है आत्माराम।"

वज्र ने पूछा—"आत्माराम का अर्थ क्या है ?"

शांडिल्य मुनि बोले—"राजन्! शब्द का अर्थ तो बुद्धि और वाणी का विषय है वे सच्चिदानन्द स्वरूप आत्माराम श्रीकृष्ण तो मन वाणी तथा बुद्धि आदि इन्द्रियों का विषय हैं नहीं। अतः शब्दों द्वारा उनकी अभिव्यक्ति असम्भव ही है। उसका तो प्रेम रस में सराबोर मधुर रस के उपासक श्रीकृष्ण के कृपापात्र रसिक जन ही अनुभव कर सकते हैं। तथापि आत्मा-राम का अर्थ है जो आत्मा से रमण करे आत्मा के साथ क्रीड़ा करे, अपनी आत्मा के साथ ही घुला मिला रहे।

श्रीकृष्ण की आत्मा हैं श्री राधिकाजी। राधाजी के साथ रमण करने के ही कारण वे राधारमण कहलाते हैं। राधारमण कहो आत्माराम कहो दोनों का एक ही अर्थ है। उस ब्रज की तथा ब्रजेश्वर की अधीश्वरी हैं श्रीराधाजी। राधाजी को प्राप्त कर लेने से ही श्रीकृष्ण आप्तकाम बन जाते हैं।"

वज्रनाभ ने पूछा—"भगवन् आप्तकाम का अभिप्राय क्या है? क्या भगवान् की भी कोई कामना रहती है क्या?"

हँसकर शांडिल्य मुनि ने कहा—"क्यों नहीं रहती। जब श्री विग्रह धारण किया है, तो उसमें कामना भी होनी ही चाहिये, जैसे संसार में सभी को कोई न कोई कामना रहती ही है वैसे ही ब्रज में भी सबको कुछ कामना है। उनके स्वरूप में अन्तर है। संसारी लोगों की कामना विषय भोग सम्बन्धी नश्वर क्षणिक और दुखदायी होती है। ब्रज में सबकी कामना दिव्य अविनाशी शाश्वत तथा सदा सर्वदा आनन्द देने वाली होती हैं। जिसकी कामना पूर्ण है, जो चाहता हो वह सबका सब मिल जाय वही—आप्तकाम कहलाता है। श्रीकृष्ण को अपनी लीला के उपकरणों की कामना रहती है। जैसे चराने को गौएँ मिलें, वात्सल्य प्यार के लिये पिता-माता मिलें। सख्य स्नेह के ग्वाल-बाल मिल जायँ, मधुर रस के लिये ब्रजांगनायें मिल जायँ। आनन्द से लीला विहार हो, किशोरावस्था को बिताने की समस्त सामग्रियाँ मिल जायँ, यही श्रीकृष्ण की कामना होती है। ब्रज में वे सब सामग्रियाँ इच्छानुसार प्राप्त हैं। इसीलिये ब्रह्म ब्रज में ही आप्तकाम राधारमण कहलाता है।"

वज्रनाभ ने कहा—"भगवन्! संसारी लोगों की भी तो यही सब कामनायें होती हैं घर मिलें, पशु मिले, भाई बन्धु मिलें, पत्नी मिले। इन्हीं एषणाओं में तो सभी फँसे हैं। फिर अन्तर क्या है?"

शांडिल्य मुनि ने कहा—"राजन् ! अन्तर बहुत है। झूठ और सत्य में, यथार्थ और बनावट में, नित्य और अनित्य में, जितना अन्तर है उतना ही अन्तर इन संसारी कामनाओं में, और आप्त-काम की कामनाओं में है। संसारी लोगों की कामनायें प्राकृत हैं, श्रीकृष्ण की कामना दिव्य हैं। वे प्रकृति से परे हैं। उसका वे ही अनुभव करते हैं। वे अनन्त काल से अपनी आत्मा-राधिका में रमण कर रहे हैं, परन्तु वह वाणी का तो विषय है नहीं पक्षी ने आकाश में ही अंडा दिया, आकाश में ही फूटा, बच्चा भी आकाश में ही उड़ गया। पृथ्वी वालों ने केवल आप्त पुरुषों से कानों द्वारा सुना ही। उसका अनुभव तो यहाँ के किसी ने किया ही नहीं। भगवान् अपने परिकर के साथ नित्य ही क्रीड़ा करते रहते हैं। कभी-कभी उन्हें खिलवाड़ सूझती है तो प्रकृति के साथ भी खेलने लगते हैं। उसमें कोई हेतु नहीं, जैसे कभी-कभी राजा मिट्टी का घर बनाने लगता है मिट्टी हल, खेत, क्यारी, बना कर खेलता है। उसके मणि मुक्ताओं के महल हैं, सोने-चाँदी के दिव्य बर्तन हैं आभूषण हैं। खेल के नाना उपकरण हैं, किन्तु उनके अन्तःपुर में या तो राजा-रानी या दास-दासी ही रह सकते हैं। किन्तु जब वे मिट्टी के घरौंदों से खेलते हैं तो अपनी इच्छानुसार राजा-रानी दास-दासियों के अतिरिक्त औरों को भी सम्मिलित कर लेते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् प्रकृति के साथ क्रीड़ा करने लगते हैं। तब उनकी लीला का अनुभव उनके सम्मत दूसरे लोग भी कर लेते हैं।"

वज्रनाभ ने पूछा—"भगवन् ! प्रकृति के साथ भगवान् क्यों खेलने लगते हैं, उस समय क्या होता है ?"

शांडिल्य मुनि ने कहा—"राजन् ! खेल में क्यों क्या प्रश्न नहीं उठा करता। खेल तो खेल के ही लिये होता है। प्रकृति तो सत्त्व रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था को ही कहते हैं।

भगवान् खेलने लगते हैं तब इनकी साम्यता नष्ट होती है। सृष्टि का प्रवाह आरम्भ हो जाता है सृष्टि होती है उसकी स्थिति होती है उसका नाश होता है जो बना है वह बनकर बिगड़ेगा भी। जो पैदा हुआ है, कुछ देर रहकर उसका नाश भी होगा। पैदा होता ही नाश के लिये है। बनने का अर्थ ही है बिगड़ने के लिये जो भगवान् की नित्य लीला है वह तो कभी बनती ही नहीं तो बिगड़ेगी भी नहीं। उसका कभी आदि ही नहीं तो अन्त कैसे होगा। इससे सिद्ध हुआ भगवान् की लीला के दो रूप हैं। एक नाश वाली एक अविनाशी, एक सदा रहने वाली, एक क्षणिक एक वास्तवी दूसरी व्यावहारिकी।"

वज्रनाभ ने पूछा "भगवन्! व्यावहारिकी लीला कौन-सी है, तथा वास्तवी कौन-सी, इन दोनों में क्या भेद है?"

शांडिल्य मुनि ने कहा—"देखो वास्तवी लीला वह होती है, जिसे भगवान अपने ही लोक में अपनी आत्मा राधिका के साथ अपने अन्तरङ्ग जनों के साथ नित्य निरन्तर करते रहते हैं। इसे दूसरा कोई देख नहीं सकता। यह वास्तवी लीला भी मथुरा मंडल की ब्रज भूमि में गुप्त रूप से निरन्तर होती रहती है, इस रहस्य मयी लीला की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती, किसी भाग्य शाली को यह कभी कभी ब्रज भूमि में प्रत्यक्ष भी दिखाई देने लगती है।"

व्यावहारिकी लीला वह होती है जो सभी जीवों के सम्मुख होती है। जीवों में भी दो तरह के जीव हैं एक तो पतनशील एक उत्थान शील। जो संसार चक्र में फँसने ही वाले हैं, उन्हें तो लाख प्रयत्न करने पर भी भगवान् सामने अपनी प्रत्यक्ष लीला दिखावें भी तो भी उन्हें अनुभव न होगा। उनका विश्वास न जमेगा। दूसरे उत्थानशील, जिनका शीघ्र ही संसार बन्धन छूटने वाला होता है। वे भगवान् की लीला का अनुभव

श्रीकृष्ण अर्जुन दुर्योधन दोनों के ही सम्मुख प्रत्यक्ष थे, एक उनकी पूजा करता था एक गाली देता था, एक साक्षात् भगवान् मानता था, एक उन्हें प्रपंची हत्या की जड़ तथा छलिया मानता था। दोनों को ही भगवान् ने अपना विश्व रूप दिखाया। एक ने उसकी सराहना की भगवान् से क्षमा माँगी, उनके स्वरूप का बोध हुआ। दूसरे दुर्योधन ने उसे नट का खेल बताया, उस पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा उसका अहंकार और बढ़ गया।

व्यावहारिकी लीला भी वास्तविक लीला के बिना हो नहीं सकती। जब कोई वस्तु होगी तभी तो उसका अनुकरण किया जायगा। कोई वास्तविक लेख हो तभी तो उसकी प्रतिलिपि की जायगी। असली वस्तु से ही तो नकली बनती है, किन्तु नकली कभी असली नहीं हो सकती। इसी प्रकार व्यावहारिकी लीला का कभी वास्तवी लीला में प्रवेश नहीं। जिस भगवान की लीला को तुम लोग देखते हो यह सब व्यावहारिकी लीला है। पाप, स्वर्ग, नरक, धर्म, अधर्म, अच्छा, बुरा, पृथ्वी से ब्रह्म लोक तक चले जाओ सब भगवान की व्यावहारिकी लीला के अन्तर्गत है। व्यापार व्यवहार में बनिया क्या करता है, उनके बदले गुड़ दे देता है, पैसा के बदले दूसरी वस्तु दे देता है। अर्थात् वस्तुओं की बदला बदली का ही नाम व्यवहार है। तुमने पुण्य कर्म किया बदले में स्वर्ग दे दिया, अत्यधिक पुण्य किया ब्रह्मलोक पहुँच गये। पाप किया नरक में चले गये, अत्यधिक पाप किया घोर नरकों में चले गये। पुण्य-पाप समाप्त हुआ फिर लौटकर पृथ्वी पर आ गये। सांसारिक व्यवहार करते हुए आप चाहें, कि हम भगवान् की वास्तविक लीला का अनुभव कर सकें तो असम्भव है। वैसे है यह सब भगवान् की ही लीला। भूमंडल के समस्त लोकों में इसी व्यावहारिकी लीला का साम्राज्य है।

अज्ञानी लोग नित्य प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसकी ओर से अन्धे बने हुए हैं प्रवाह में बहते चले जाते हैं। ब्रजभूमि यद्यपि है तो भूमंडल के ही अन्तर्गत किन्तु वह मथुरा का भाग तीन लोक से न्यारा है। वहाँ गुप्त रूप से सदा भगवान् की रहस्यमयी वास्तवी लीला हुआ करती है।

कभी-कभी भगवान् अवतार लेकर वास्तवी और व्यावहारिक लीला के भेद भाव को मिटाकर उसे किसी अंशों में प्रत्यक्ष करके दिखा देते हैं अपने प्रत्याशी भक्तों को इस लीला का प्रत्यक्ष दर्शन कराके उन्हें अपने में सम्मिलित कर लेते हैं। जब बहुत से दिव्य लीला में प्रवेश करने वाले प्रत्याशी एकत्रित हो जाते हैं तब भगवान् का अवतार होता है, वे अपने परिवार के सहित अवनि पर अवतरित होकर क्रीड़ा करते हैं फिर उसका संवरण कर लेते हैं।

इसी प्रकार का समय इस अट्ठाइसवें द्वापर के अन्त मे आया भगवान् का संकेत पाकर उनके अभिप्राय को जानने वाले भक्तों ने ऋषि मुनि तथा देवताओं ने भी भिन्न-भिन्न स्थानों मे अवतार ग्रहण किये। बहुत से रहस्य लीला के अधिकारी ब्रज मंडल में एकत्रित हो गये। भगवान् ने अपने अन्तरङ्ग भक्तों के साथ अभी कुछ ही काल पूर्व अवतार ग्रहण किया था और यहाँ ब्रज भूमि में भाँति-भाँति की प्रत्यक्ष लीलायें की थीं। राजन्! आप जानते हैं। राजा कहीं किसी पर्व में उत्सव में जाने वाला होता है तो वहाँ उनके आने के पहिले ही तीन प्रकार के लोग जुट जाते हैं। एक तो उस प्रान्त के अधिकारी या अधिकारियों द्वारा नियुक्त उनके प्रतिनिधि, दूसरे राजा का सब प्रबन्ध करने वाले उसको सभी प्रकार का सुख पहुँचाने वाले उसके अंतरङ्ग आदमी तीसरे उसकी दान शीलता उदारता प्रजा प्रियता तथा अन्यान्य गुणों की प्रशंसा सुनकर उससे

प्रेम करने वाले उसके प्रशंसक दर्शनार्थी। इस प्रकार के जब लोग एकत्रित हो जाते हैं तब राजा की सवारी आती है तब सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा जाता है चारों ओर राजा का जय जयकार ही सुनायी देता है। जो राजा से प्रेम नहीं करते या द्वेष रखते हैं उनका या तो वहाँ प्रवेश ही नहीं होने पाता या वे स्वयं ही द्वेष वश इधर आते ही नहीं। इस स्वागत समारोह में तो राजा के अभिमत उनके प्रशंसकों का ही प्राबल्य रहता है।

यही बात भगवान् के अवतार के सम्बन्ध में है भगवान् ने जो इस अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में मथुरा मण्डल में अवतार लिया तो यहाँ ब्रजमंडल में भी तीन ही प्रकार के लोग आये, भगवान् के स्वधाम पधारने पर वे तीनों ही प्रकार के लोग चले गये, अब फिर ब्रज मण्डल में रह ही कौन जायगा। इसीलिये आपको यहाँ कोई मनुष्य दिखायी नहीं देता इसीलिये आपको सर्वत्र घोर वन ही वन दृष्टिगोचर हो रहा है।"

यह सुनकर अत्यन्त ही कुतूहल के साथ महाराज वज्रनाभ ने पूछा—"प्रभो! भगवान् के साथ कौन तीन श्रेणी के भक्त ब्रजमण्डल में आये और वे सब के सब कहाँ-कहाँ चले गये कृपा करके इस सबके रहस्य को समझाइये। आपकी रहस्यमयी बातों को सुनकर मुझे तथा महाराज को बड़ा आनन्द हो रहा है, साथ ही साथ हमारा कुतूहल भी बढ़ रहा है।"

यह सुनकर शांडिल्य मुनि ने कहा—"अच्छी बात है राजन्! मैं आपके प्रश्नों का यथावत् उत्तर देता हूँ, आप एकाग्र-चित्त से श्रवण करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार शांडिल्य मुनि ने महाराज परीक्षित् तथा वज्रनाभ के सम्मुख भगवान् के तीन

प्रकार के ब्रज सम्बन्धी कृपा पात्र भक्तों का वर्णन किया उसे मैं आगे कहूँगा। आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लीला तिनि की त्रिगुन मयी इक सत्य कहावै।
सत्य वास्तवी होइ त्रिगुन व्यवहार बनावै॥
ब्रज महँ लीला गुप्त वास्तवी नितही होवै।
जब होवै अवतार प्रकट अधिकारी जोवै॥
नँद नन्दन ब्रज महँ प्रकटि, नाना सुख भक्तनि दये।
पुनि लीला संवरन करि, अन्तरहित सब संग गये॥

प्रत्यक्ष व्रजलीला में तीन प्रकार के भक्त

[२८]

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो—
राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७१ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

त्रिविध भक्त लै करहिं कृष्ण क्रीड़ा या जगमहँ ।
अन्तरङ्ग, जिज्ञासु और सुरवर अंशनि महँ ॥
अन्तरङ्ग प्रभु सङ्ग रहैं तजि अनत न जामैं ।
इच्छुक करि हरि भक्ति दिव्य लीला सुख पामैं ॥
करि सेवा सेवक सरिस, सुर अंशनि अंशी मिलहिं ।
केवल कृपा कटाक्ष तैं, प्रभु-लीला दरसन लहहिं ॥

---

* उद्धवजी भगवान् से कह रहे हैं—"प्रभो! जरासन्ध के वध से आपके तीनों प्रकार के भक्त प्रसन्न होंगे। जिन राजाओं को उसने बन्दी बनाया है उन्हें आप बन्धन मुक्त कर देंगे तो उनकी स्त्रियाँ अपने घरों में अपने पतियों की बन्धन मुक्ति, शत्रु वध तथा आपकी पवित्र लीलाओं का गान उसी प्रकार करेंगी जैसे शङ्खचूड़ से छुटकारा पाने पर आपकी प्रेमिका गोपिकायें तथा ग्राह के मुख से गज को छुड़ाने पर और रावण के हाथ से सीताजी को छुड़ाने पर मुनि गण तथा माता-पिता को कारावास से छुड़ाने पर हम यादव गण आपकी कीर्ति का बखान करते हैं।"

भगवान् के तीन रूप हैं एक सर्वान्तर्यामी रूप, दूसरा आनन्द घन सच्चिदानन्द स्वरूप और तीसरा लीलाधारी विनोदी स्वरूप। सर्वान्तर्यामी रूप से तो वे चर-अचर सभी में समान रूप से व्याप्त हैं जैसे आकाश। आप ऐसी किसी भी भौतिक वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते जिसका आधार आकाश न हो। आदि में अन्त में मध्य में भीतर बाहर सभी वस्तुएँ आकाश व्याप्त हैं। आकाश के बिना भौतिक वस्तुओं की सत्ता ही नहीं। इसी प्रकार भगवान् भी सबमें सर्वत्र समान भाव से अनुस्यूत हैं। उनकी सत्ता के बिना किसी का अस्तित्व नहीं उनकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। वे ही संसार वृक्ष के बीज हैं, मूल कारण हैं, वे ही उत्पन्न करने वाले हैं, उत्पन्न होने वाले हैं, रक्षक हैं, रक्ष्य हैं। संहारक हैं, संहार्य है। भोजन कराने वाले, भोक्ता, भोज्य, कर्त्ता, कर्म, कारण तथा जो भी कुछ हैं, वे ही हैं। सर्वान्तर्यामी रूप से तो वे हैं ही। सर्वत्र प्राप्त हैं उनकी प्राप्ति के लिये न साधन की आवश्यकता है न प्रयत्न की, न तर्क की, न प्रमाण की, वे तो स्वयं सिद्ध हैं ही।

दूसरा उनका सच्चिदानन्द आप्तकाम रूप है, उस स्थिति में जगत् उनके लिये कुछ नहीं है। जगत् के कार्य में उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रादि देवों को नियुक्त कर दिया है, वे इस प्रपंच को चलाते रहते हैं। स्वयं सच्चिदानन्द आप्तकाम आत्माराम श्रीकृष्ण तो अपनी आत्मा राधा के साथ रमण करते रहते हैं। जैसे कोई सम्राट् है। अपनी साम्राज्ञी के साथ कहीं मनो विनोद के लिये गया। साम्राज्ञी की इच्छा एक क्रीड़ा कानन बनाने की हुई संकल्प मात्र से बन गया। क्षणभर उसमें क्रीड़ा की फिर अपने अन्तःपुर मे आ गये। उस कानन में असंख्यों वृक्ष हैं उनमें फल होते हैं नये पौधे लगते हैं पुराने नष्ट होते हैं रक्षक उनकी देखभाल करते हैं। राजा को या रानी

को उससे कोई प्रयोजन नहीं। उन्हें कभी स्मरण भी नहीं आता हमने कोई क्रीड़ा कानन बनवाया था उन्हें तो अपने आनन्द से प्रयोजन। इसी प्रकार राधा-कृष्ण के नित्य विहार में विनोद ही विनोद में यह जगत् पैदा हो गया। हँसी-हँसी में इच्छा हुई हमारे एक पुत्र हो जाय। श्रीकृष्ण ने कहा—"क्या करोगी पुत्र-फुत्र का, पुत्र कोई सुख थोड़े ही देता है। माता-पिता के बीच में व्यर्थ ही तीसरा विघ्न रूप खड़ा हो जाता है। क्यों आनन्द में विक्षेप डालती हो किन्तु कभी-कभी विक्षेप में भी आनन्द आता है कभी-कभी क्रोध करने और लड़ाई झगड़ा करने में ही आनन्दानुभूति होती है। आनन्द की कोई मर्यादा तो है नहीं वह तो सर्वत्र प्रकट हो जाता है कभी-कभी रोने में ही आनन्द आता है। तत्क्षण पुत्र हो गया। पुत्र विकार तो है ही। विकृति में घिनौनापन होता ही है। लड़के को आलस्य आया जभाई ली। उसके मुँह में वन, पर्वत, नद, नदी, चौरासी लाख योनियाँ सात लोक चौदह भुवन दिखायी दिये। राधाजी ने कहा—"कैसा घिनौना पुत्र पैदा हुआ।' भगवान् ने कहा—"देख लिया न उसका आनन्द अब इसे पटक दो। छोड़ो इस झंझट को।" बस दोनों अपने पुनः नित्य विहार में निमग्न हो गये। संसार प्रवाह चलता रहा उन्हें स्मरण भी नहीं। वैसे तो उनके अंश से ही उत्पन्न हुआ। इनकी स्मृति के एक कोने में एकांश में वह स्थित है ही। किन्तु उन्हें इसका ध्यान नहीं।

तीसरा रूप है भगवान् का विनोदी। कभी-कभी रानी को लेकर उन्हें नाटक करने की भी सूझती है। नाटक भी राजा-रानी का। आप पूछोगे राजा रानी तो वे हैं ही फिर नकली नाटक की क्या आवश्यकता। अजी यथार्थ रानी राजा तो हैं ही, किन्तु नाटक करने में एक अपूर्व ही आनन्द आता है, अपना आनन्द तो है ही। दर्शकों को दिखाने में उनकी प्रसन्नता को

देखकर और भी अधिक आनन्द आता है। नाटक दिखाने में दर्शकों के सुख की प्रधानता रहती है। नाटक में तीन प्रकार के लोग होते हैं। एक तो सूत्रधार के साथी जो नाटक में सहयोग दें। नटी, नट तथा विभिन्न पात्र ये सब तो नाटक करने वाले के अपने निजी होते हैं। उन्हें जब जैसा चाहे बना दे। तुरन्त उनका रूप बदल दे। दूसरे दर्शक। दर्शक भी उसमें वे ही आते हैं जिन्हें नाटक देखने की हार्दिक लालसा हो। बहुत से ऐसे शुष्क हृदय नीरस पुरुष होते हैं, वे कह देते हैं—"अजी क्या नाच गाना देखना, नाटक में होता ही क्या है। किसी छोरी को छोरा बना दिया, कोई छोरा छोरी बन के नाचने लगा। कोई मुकुट लगाकर राजा बन गया, कोई भाँड़ की भाँति हँसाने लगा। हम नहीं जाते नाटक देखने।" वे उस आनन्द से सदा वंचित रहते हैं। या दूसरे शब्दों में यों कह लो राजा रानी स्वयं ही नाटक खेलें, तो किसी की इच्छा देखने की न होगी, किन्तु राजा रानी जिसे चाहेंगे, जिसे निमन्त्रित करेंगे-जिसका वरण करेंगे-वही तो देखने आवेगा। तीसरे सेवक वे तो वेतनभोगी होते हैं, राजा जहाँ उनकी नियुक्ति कर दे उसी काम को वे करते हैं। फिर अपने काम को जाकर करने लगते हैं।

यद्यपि है यह नाटक ही, किन्तु इसे काल्पनिक नाटक ही मत समझो क्योंकि इस नाटक को खेलने वाले तो यथार्थ राजा रानी ही हैं। यथार्थ राजा जब बनावटी राजा बनकर आवे और राजा का ही अभिनय करे, तो उसमें और ही अद्भुत आनंद आवेगा। उसे तो विशेष आनन्द क्या आवेगा वह तो भीतर बाहर राजा है ही। दर्शकों को बहुत आनन्द आवेगा। और उसमें भी यथार्थ रानी जब नाटक की रानी बनकर यवनिका के भीतर जो लीला करेगी, उसके अनुमान से दर्शकों को अलौकिक आनन्द आवेगा। यह राजा रानी का नाटक होता है, राजभवन में ही जो राजा के

आवास से पृथक् स्थान नहीं है, किन्तु यथार्थ अन्तःपुर से रंग-स्थली का अन्तःपुर पृथक् ही है। उसी अन्तःपुर में यदि हो तो वह नाटक क्या हुआ। यही लीलाधारी की लीला है। यही नट नागर का नाटक है। यही श्रीकृष्ण अवतार का रहस्य है। यद्यपि गोलोक में और मथुरा मण्डल के व्रजधाम में कोई अन्तर नहीं। किन्तु यहाँ श्यामसुन्दर अपनी प्रियतमा के सहित नाटक करने आते हैं। प्रेमी भक्तों को सुख देकर—नाटक खेलकर—फिर अन्तः पुर के आनन्द में निमग्न हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शांडिल्य मुनि महाराज परीक्षित् और अनिरुद्धनन्दन महाराज वज्र को समझा रहे हैं—देखो, भाई, यह जो अभी श्रीकृष्ण भगवान् का व्रजमंडल में अवतार हुआ था, उसमें तीन प्रकार के भक्तगण उपस्थित थे। एक तो भगवान् के नित्य अन्तरंग पार्षद जैसे उद्धव, अर्जुन, व्रज के ग्वाल बाल, गोपियाँ तथा अन्य गोपगण आदि। ये भगवान् से कभी पृथक् नहीं होते। भगवान् की प्रत्येक लीला में चाहें व्रजधाम में हों, गोलोक में हों, सभी में समान रूप से सम्मिलित होते हैं। ये भगवान् के एक प्रकार से अंग ही हैं। इन्हें तो ऐसे समझो जैसे राजा की विवाहिता पत्नियाँ।"

दूसरे भक्त वे हैं जो एकमात्र भगवान् को ही प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं। उनकी अन्तरङ्ग लीला में अपना प्रवेश चाहते हैं। जिन्होंने न जाने कितने दिनों से भगवान् को पाने के लिये साधना की है। किन्तु साधना से ही तो भगवान् नहीं मिल जाते। कोई सौन्दर्योपासक पति को पाने के लिये काली कलूटी, कानी, भौंड़ी, घिनौनी लड़की इच्छा करे तो वह उसे थोड़े ही वरण कर लेगा। उसकी पत्नी तो वही होगी जो उसे अच्छी लगे, साथ ही उसकी भी उसे पति बनाने की उत्कट अभिलाषा हो। वैसे उत्कट अभिलाषा तो पत्थर को भी पिघला

देती है। उत्कट अभिलाषा ही सबसे बड़ा सौन्दर्य है, किन्तु केवल अभिलाषा से ही काम नहीं चलता। स्वीकार करने वाले की इच्छा ही प्रधान मानी जाती है। पति जिसे भी वरण कर ले। और पति चाहने वाली की ओर स्वाभाविक रूप से आकर्षित हो ही जाता है। अतः दूसरे वे नये भक्त हैं, जिन्होंने भगवान् को प्राप्त तो किया नहीं किन्तु पाने के इच्छुक हैं और भगवान् भी उन्हें अपनाना चाहते हैं। जैसे सगाई स्वीकार की हुई लड़की। बात दोनों ओर से पक्की है, केवल विवाह होना ही शेष है।

तीसरी श्रेणी के भक्त हैं अधिकारारूढ़ देवगण। उनको राजा के नौकर-चाकर की श्रेणी में रख लो। जैसे सम्राट की ओर से कोई प्रान्ताधीश है, कोई मंडलाधीश है, कोई जनपदों का कार्य देखता है, कोई न्यायाधीश है। राजा को जब आवश्यकता होती है, बुला लेता है, कार्य समाप्त होने पर उन्हें पुनः अपने-अपने पदों पर भेज देता है। इनमें भी जो राजा के अत्यंत प्रिय होते हैं उन्हें ही बुलाता है। इसी प्रकार जब भगवान् को अवतार लेना होता है, कोई लीला रचनी होती है, तो देवताओं को उनकी पत्नियों को भी बुला लेते हैं, भगवान् के पहिले वे अवतीर्ण होकर यहाँ की रंगभूमि को सजा-बजाकर व्यवस्थित कर रखते हैं। भगवान् जहाँ आये वहाँ कार्य आरम्भ हो गया। इस प्रकार ब्रज मंडल में भगवान् के अवतार काल में ये तीन ही श्रेणी के पुरुष यहाँ थे। अन्य संसारी विषयी लोगों का ब्रज मंडल में प्रवेश निषिद्ध था। इसीलिये जितने यादव थे सब देवताओं के अंश से उत्पन्न हुए थे।

इन सबके एकत्रित हो जाने पर भगवान् कृष्णचन्द्र की अवतार लीला आरम्भ हुई। नटनागर का नयनाभिराम नूतन नाटक खेला जाने लगा। जैसे बालक क्रीड़ा के लिये बहुत-सी सामग्री जुटाते हैं, उससे खेलने की वस्तुएँ बनाते हैं। गीली

मिट्टी से घर, खेत, पशु, पक्षी, निर्मित करके कुछ देर खेलते हैं। फिर अपने ही हाथों से सब को 'मनुआ मरि गयो, खेल बिखिर गयो' इस मंत्र को पढ़कर सबको मिटा देते हैं, घर चले जाते हैं। ऐसे ही भगवान् जब कुछ काल तक खेल चुके तो इस खेल को मिटाने की जब इच्छा हुई, तब जितने देवताओं के अंश से यादव उत्पन्न हुए उन्होंने पहिले ही व्रज मंडल से द्वारका भेज दिया था, वहाँ उन्हें ऐसा अभिमान हो गया कि सब कुछ हम ही हैं, भगवान् ने ब्राह्मणों से शाप दिलाकर यदुकुल का संहार करा दिया। जो यादव जिस देवता के अंश से उत्पन्न हुआ था, वह उसी के अंश में मिल गया। यादवों में केवल आप (वज्रनाभ) बच गये। कपट स्त्री बने साम्ब के पेट से जो मूसल निकला, जिसे रिंदवा कर समुद्र में फिँकवा दिया था, उसी से जो सरपत घास उत्पन्न हुई, उसी से परस्पर में लड़कर सब यादव स्वर्ग सिधार गये। इस प्रकार व्रज मंडल से एक वर्ग तो यों चला गया।

अब रह गये दूसरे प्रकार के भक्त जो भगवान् को चाहते थे और भगवान् जिन्हें चाहते थे। दोनों की आँखें चार हुईं। अब आप जानते ही हैं, चार आँखें होने से तो अनुराग हो ही जाता है, प्रेम की पहिचान ही है चार आँखें हो जाना। जो आँखें इतने दिन से आकुल थीं। जो प्रेमार्णव प्रभु का हृदय अपने भक्तों को पाने के लिये उमड़ रहा था, उन्हें पाकर अब वे छोड़ कैसे सकते थे। जिसकी सगाई हो गई हो और चिरकाल की प्रतीक्षा के अनन्तर भांवर फिरी हो, वह वधुया वर के साथ ही पितृगृह को त्यागकर चली जाती है। इसी प्रकार भगवान् ने अपने उन द्वितीय श्रेणी के भक्तों को प्रेमानन्द स्वरूप बनाकर सदा के लिये अपने नित्य अंतरङ्ग भक्तों में सम्मिलित कर लिया। वे भी व्रज धाम से प्रत्यक्ष रूप में विदा हो गये।

अब रह गये प्रथम श्रेणी के भगवान् के अंतरङ्ग नित्य पार्षद सो वे तो जहाँ भगवान् रहते हैं वहीं रहा करते हैं। यद्यपि व्रज मंडल में भगवान् की अंतरङ्ग रासलीला नित्य ही होती है और उनका परिकर भी रहता ही है। किन्तु वह लीला गुप्त रूप से होती है सर्व साधारण उसे देख नहीं सकते। किसी भाग्यशाली को ही जिसे भगवान दिखाना चाहें उसी को उनकी वह लीला दिखायी देती है। क्योंकि नित्य लीला दर्शन के सभी अधिकारी नहीं। जो लोग व्यवहार में फँसे हैं वे व्यवहारिक लीला में स्थित पुरुष नित्य लीला को देख ही नहीं सकते। ये तीन ही श्रेणी के लोग थे वे ही सब भगवान् के स्वधाम पधारने पर अन्तर्हित हो गये तो अब फिर व्रज में रहे कौन दिखायी कौन दे। इसीलिये सम्पूर्ण व्रजमंडल आज घोर वन बना हुआ है। इसमें मनुष्यों की तो बात ही क्या वानर तक दिखायी नहीं देते। तुमने जो मुझसे पूछा उसका उत्तर तुम्हें दे दिया अब तुम और मुझसे क्या पूछना चाहते हो ?"

वज्रनाभ ने कहा—"महाराज ! हम लोग तो भगवान की व्यावहरिकी लीला में स्थित हैं। वास्तवी लीला दर्शन के तो हम अधिकारी ही नहीं व्रज में व्यवहार वाला कोई व्यक्ति रह नहीं सकता। तो फिर मैं ही इस घोर वन में रहकर क्या करूँगा। मैं भी अपना डेरा डण्डा उठाकर चाचाजी के साथ हस्तिनापुर जाता हूँ।"

शांडिल्य मुनि ने कहा—"नहीं यह बात तो तभी तक थी जब तक भगवान् इस धराधाम पर प्रत्यक्ष रूप से विराजमान थे। अब तो भगवान स्वधाम पधार गये। उनकी अन्तरंग लीला भी यहाँ गुप्त रीति से होती है। सर्व साधारण उन्हें देख ही नहीं सकते। अतः अब तो यहाँ व्यावहारिक लोग भी रह सकेंगे। इसलिये अब तुम मेरी आज्ञा से व्रज मण्डल में स्थान

स्थान पर गाँव बसाओ कुण्डों और तालाबों को गहरे कराओ।"

वज्रनाभ ने कहा—"महाराज ! गाँव तो मैं बसाऊँगा किन्तु प्रजाजन कहाँ से लाऊँ बिना नर-नारियों के गाँव कैसे बसेंगे ?"

महामुनि शांडिल्य ने कहा—"अरे भैया ! तुम्हारे ये जो चाचा बैठे हैं ये तो अखिल भूमण्डल के चक्रवर्ती सम्राट हैं ये चाहें जितने हस्तिनापुर से, इन्द्र प्रस्थ से, यहाँ बसाने को नर नारियों को भेज सकते हैं। सहस्रों वैश्यों को यहाँ वाणिज्य व्यापार करने को भेज सकते हैं। तुम इस बात की चिन्ता मत करो सम्पूर्ण व्रज मण्डल में तुम अपना राज्य स्थापित करके श्रीकृष्ण भक्ति का प्रचार-प्रसार करो। मथुरा को तो अपनी प्रधान राजधानी बना लो। और उसकी छः उपराजधानी जनपद बनाओ। वहाँ सैनिकों के पड़ाव डालो। जन सुरक्षा के लिये राज्यकर्मचारी रखो।"

वज्रनाभ ने कहा—"भगवन् ! अपनी उपराजधानियाँ कहाँ बनाऊँ। उनका नाम क्या रखूँ ?"

शांडिल्य मुनि ने कहा—"राजन् ! नाम तो पहिले से ही हैं अब तुम्हें प्रकाशित करना है। ये जो पुराने नगरों के खेड़े टूटे फूटे टीले पड़े हैं उन्हीं पर ग्राम बसाओ। जहाँ तुम्हारा राजमहल है इसके पास ही मधुवन था यहीं मथुरा नाम की बड़ी नगरी बसाओ। यह तो तुम्हारी राजधानी हुई। यमुना पार में एक बृहद् वन (महावन) स्थान है जिस समय श्रीकृष्ण भगवान् का प्राकट्य हुआ उस समय व्रजराज नन्द वहीं निवास करते थे। वहाँ बड़ा वन है। वहाँ भी किला बनवा कर अपनी उपराजधानी बनाओ। गौएँ अधिक रहने से उसका नाम गोकुल भी है। यमुना पल्लीपार का राज्य प्रबन्ध सब महावन से ही होना चाहिये। जहाँ नन्दजी पीछे से ग्राम

बनाकर बस गये थे उस पहाड़ी टीले का नाम नन्दग्राम है वहाँ भी अपना भवन बनवाकर सैनिक रखो। सम्मुख ही पहाड़ी के दूसरे टीले पर गोपराज बृहत्भानु रहते थे उसका नाम बृहद् भानुपुर (बरसाना) है वहाँ भी अपनी राजधानी बनाओ। जिस गोवर्धन को भगवान् ने सात दिनों तक धारण किया था वहाँ भी गोवर्धन नाम से एक ग्राम बसाओ। उससे आगे एक दीर्घपुर (दीर्घ) ग्राम था वहाँ भी अपने महल बनाओ और काम्य वन तथा दूसरे वनों का राज्य शासन वहीं से हो। इस प्रकार तुम ब्रजमण्डल का पुनः उद्धार करो। तुम भगवान् कृष्णचन्द्रजी की चौथी पीढ़ी में हो। तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम सब स्थानों पर श्रीकृष्ण भक्ति का प्रचार करो। यह ब्रजधाम संसार में सबसे पवित्र स्थल है। यह भूमि साक्षात् सच्चिदानन्दमयी है। इसे तुम श्रीकृष्ण स्वयं विग्रह ही मानो। इसके कण-कण में भगवान् वासुदेव व्याप्त हैं। सर्वत्र राधा-रमण रम रहे हैं। इसके पवित्र स्थानों को पुनः प्रकाश में लाओ।"

वज्रनाभ ने कहा—"महाराज ! मुझे क्या पता मैं तो अज्ञानी हूँ। मुझे कैसे विदित हो भगवान् ने कौन-सी लीला किस स्थल पर की है ? बिना स्थल जाने मैं उसका उद्धार कैसे कर सकता हूँ।"

महामुनि शांडिल्य ने कहा—"तुम कैसी बच्चों की-सी बात कर रहे हो। भैया ! तुम उसी पावन यदु वंश में जन्मे हो जिस वंश को भगवान् वासुदेव ने अपने अवतार से धन्य किया। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें स्वतः ही उन स्थानों का ज्ञान हो जायगा। भगवान् ने जहाँ जो भी लीला की होगी वहाँ जाकर तुम्हारे अन्तः करण में वह स्वतः ही स्फुरणा हो जायगी। तुम्हें सभी लीला स्थलों का मेरे आशीर्वाद से ज्ञान हो जायगा।

मुसल संहार से भगवान् ने तुम्हें इसी कार्य के लिये बचाकर यहाँ भेजा है कि तुम व्रजभूमि का उद्धार करो संसार में श्रीकृष्ण की भक्ति का और उनके लीला स्थानों का प्रचार-प्रसार करो।"

वज्रनाभ ने कहा—"महाराज ! मुझे क्या-क्या करना चाहिये ?"

शांडिल्य मुनि ने कहा—"देखो, भगवान् ने जिस कुंड जिस सरोवर पर जो लीला की हो उसको खोदवाकर घाट बनवाओ और उसी नाम से उसे विख्यात करो जैसे दावानल कुंड कृष्ण कुंड राधा कुंड आदि जिन नदियों के जिन पहाड़ियों के नाम लुप्त हो गये हैं उनके नामों को प्रसिद्ध करो। जो गुफा कन्दरा रूद्ध हो गयी हों उन्हें फिर से खुदवा कर उनका जीर्णोद्धार करो जो वन कुंज नष्ट हो गये हों उन्हें स्वच्छ कराओ बारह वन बारह उपवन तथा औपवनों की पुनः प्रतिष्ठा करो भगवान् के श्रीविग्रहों की स्थापना करो मंदिर शिवालय बनाओ। विशेष क्या कहे व्रज मंडल को तुम भक्ति का साकार स्वरूप बनाकर दिखादो। इस भूमि का भक्ति भाव से सेवन करो। मैं आशीर्वाद देता हूँ तुम्हारे राज्य में प्रजा बड़ी प्रसन्न होगी। घर-घर दूध दही की नदियाँ बहेंगी। तुम्हें ही व्रज के पुनः श्रेय का उद्धार प्राप्त होगा तुम्हारे लोक परलोक दोनों ही बन जायँगे।

वज्रनाभ ने कहा—"भगवन् ! व्रज भूमि का कुछ विशेष रहस्य मुझे और बतावें।"

शांडिल्य मुनि ने कहा—"राजन् ! व्रज भूमि का महत्व बताने की मुझमें शक्ति नहीं है। इसका रहस्य तो परम भगवत् भक्त भगवान् के ही अभिन्न अंग उद्धवजी तुमसे बतावेंगे।"

चौंककर वज्रनाभ ने कहा—"भगवन् ! आप यह कैसी बात कर रहे हैं। मेरे प्रपितामह के सदृश उद्धवजी मुझे कहाँ मिलेंगे ?

मैंने तो सुना वे अलक्ष्य भाव से बदरीवन में निवास करते हैं मेरे ऐसे पुण्य कहाँ जो उन भगवत् स्वरूप के दर्शन हों।"

शांडिल्य मुनि ने कहा—"राजन्! ब्रजभूमि के श्रद्धापूर्वक सेवन से भी संभव है। तुम भक्ति भाव से ब्रज मंडल में पड़े रहोगे तो उद्धवजी से तुम्हारा साक्षात्कार अवश्य हो जायगा। यह मेरा आशीर्वाद है। शेष सभी बातें वे ही आपको बतायेंगे उनके सत्संग से तुम अपनी इन प्रपितामहियों के सहित बहुत ही आनन्दित होगे और तुम ब्रज भूमि का तथा ब्रजेश्वर भगवान् वृन्दावन विहारी की लीला का रहस्य जान सकोगे। अब मेरे सन्ध्या वन्दन तथा नित्य कर्म का समय हो गया है तुम दोनों भगवत् भक्तों के स्नेह से बँधकर मैं चला आया हूँ नहीं मैं अपनी कुटी को छोड़कर कहीं जाता आता नहीं।

महाराज परीक्षित् तथा वज्रनाभ ने हाथ जोड़कर अत्यन्त ही विनय के साथ कहा—"भगवन्! आपने बड़ी कृपा की ब्रज-मण्डल का रहस्य सुनाकर हमें कृतार्थ किया। आपकी बातें सुनकर तृप्ति तो होती नहीं, किन्तु आपका नित्य कर्म का समय है रोक भी कैसे सकते हैं। आपकी कृपा सदा हम पर इसी प्रकार बनी रहे। भगवन्! हम लोग अज्ञानी हैं, आपके ही सहारे जीवित हैं, आप हमें भूलें नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर दोनों राजाओं ने महामुनि शाण्डिल्य की पूजा की, द्वार तक उन्हें पहुँचाने आये और सेवक साथ करके उन्हें प्रेमपूर्वक विदा किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महामुनि शांडिल्य के चले जाने के अनन्तर वज्रनाभ ने क्या किया, ब्रजमण्डल का उन्होंने कैसे उद्धार किया? कृपा करके विस्तारपूर्वक हमें इस कथा को सुनाइये, ब्रजमंडल के पुनः उद्धार की कथा सुनने के लिये हमारे अन्तःकरण में अत्यधिक कुतूहल हो रहा है, कृपया अपने वचनों

से इसे शान्त कीजिये और हमें ब्रज रहस्य रस रूपी अमृत का पान कराइये।"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं आपको आगे की कथा सुनाता हूँ समस्त ऋषियों के साथ आप सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

गये धाम जब श्याम मक्त बज भये अदरशन।
दीखत इत नहिं मनुज भयो चहुँदिशि बन ई बन॥
हथिनापुर तें प्रजा लाइ बहु वास बनाओ।
नन्द गाम, बरसान, महावन दीध बसाओ॥
कुण्ड सरोवर गिरि गुहा, बन उपवन उद्धार करि।
गाम, नदी, लीला थली, प्रकट होहिं पुनि वास हरि॥

कालिन्दी और कृष्ण-कान्ता

(२९)

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ॥
तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ४७ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

मुनि सिख दै जब गये बज्र बहु बास बनाये ।
प्रजा परीक्षित लाइ वैश्य बहु विप्र बसाये ॥
रूप हरि बल, गोविन्द देव केशव मन्दिर करि ।
कृष्ण भक्ति इत थापि बसैं मज प्रभुपद हिय धरि ॥
एक दिवस सोलह सहस, प्रभुपतिनी यमुना गई ।
कालिन्दी निज सौतिकूं, लखि प्रमुदित पूछति भई ॥

पतिव्रता पत्नियों के लिये संसार में वैधव्य से बढ़कर कोई भी बड़ा दुःख नहीं। जो स्वैरिणी हैं बहुभर्तृका हैं उनकी

---

* विरह में दुखित गोपिकाओं को संदेश पठाते हुए भगवान् कह रहे हैं—"गोपियो ! मेरा तुम्हारा कभी वियोग हो ही नहीं सकता क्योंकि मैं सबका आत्मा हूँ। जिस प्रकार आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी ये पांचों भूत सभी पदार्थों में व्याप्त हैं उसी प्रकार मैं भी मन, प्राण, इन्द्रिय पंचभूत तथा गुणों के आश्रय से सर्वत्र व्याप्त हूँ।"

बात तो छोड़ दीजिये नहीं तो धर्म प्राणनारी की शुचिता पवित्रता, सौन्दर्य प्रियता, सुन्दरता, प्रसन्नता तथा समस्त चेष्टायें एकमात्र पति के ही ऊपर अवलम्बित हैं, जैसे पानी न मिलने से हुई फुलवारी हो जाती हैं, जैसे गौओं के बिना गोशाला हो जाती है। जैसे नीर के बिना नदी हो जाती है, वैसे ही पति के बिना स्त्री बन जाती है, कल तक जो सुन्दरता की साकार सजीव मूर्ति दिखायी देती थी, जो वस्त्राभूषणों से सुसज्जित सोलह शृङ्गार से युक्त साक्षात् रमा-सी प्रतीत होती थी, आज ही वह पति के अभाव में श्रीहीन नारी कंकाल सूखी नदी के सदृश, मुरझाई लता के समान, झुलसी कलिका के समान तथा पाला पड़ी कुमुदिनी के समान प्रतीत होने लगती है। ललाट का तिलक, माँग का सिंदूर, हाथों की चूड़ियाँ तथा अन्यान्य अंगों के आभूषण उतर जाने से तथा मुख की कान्ति म्लान हो जाने से सहसा उसे कोई पहिचान भी नहीं सकता। स्त्रियों के लिये विधाता का यह सबसे बड़ा अत्यन्त ही कठिन घोर शाप है, किन्तु किया क्या जाय, जो जन्मा है वह मरेगा, चाहें स्त्री हो अथवा पुरुष। जिसने शरीर धारण किया है, उसका अन्त होगा ही चाहें उससे प्रेम करने वाले कितने भी क्यों न हों। इसीलिये रुक्मिणीजी ने कहा है-जो स्त्रियाँ त्वचा, दाढ़ी मूँछ, रोम नख से ढके हुए और भीतर जिसके मांस, हड्डी, रक्त, कीड़े, विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त, कफ तथा नसनाड़ी से परिपूर्ण शरीर वाले व्यक्ति को ही-जो कि जीते जी ही मृतक के समान है-उसे पति रूप से भजती हैं तथा आपके चरण कमल मकरन्द का आघ्राण नहीं करतीं वे अत्यन्त ही मूढ़मति वाली हैं।" अर्थात् मरणशील को पति न मानकर उसमें जो अमर तत्व है उसी की भगवत् भावना से उपासना करनी चाहिये। आत्मा तो शाश्वत, नित्य, अमर तथा कभी भी मिटने वाला नहीं। वे सर्वान्तर्यामी

ही यथार्थ में पति हैं। जिन्होंने नाशवान पुरुष को पति न बनाकर अविनाशी श्रीकृष्ण को अपना पति बना लिया है, उनका पति से कभी वियोग नहीं होता, जिसका पति से कभी वियोग नहीं उसे शोक, मोह, चिन्ता तथा दुःख भी नहीं हो सकता। प्रिय मिलन में तो सदा सुख ही सुख है। अपने प्रियतम का नित्य संयोग हो, अपना प्राण प्यारा सदा अंक में ही बिठाये रखे उस भाग्यशालिनी के सुख की क्या सीमा हो सकती है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामुनि शांडिल्य के चले जाने के अनन्तर महाराज परीक्षित् ने अपने सेवकों तथा मन्त्रियों को आज्ञा दी—"तुम लोग अभी हस्तिनापुर जाओ, कुछ लोग इन्द्रप्रस्थ जाओ। वहाँ से अच्छे-अच्छे वैश्यों से कहें तुम लोगों के घर का एक-एक आदमी अपनी दुकानें लेकर व्रज मण्डल में बसने को चलो। हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ और व्रज मण्डल में कोई विशेष अन्तर नहीं, जब चाहें तब अपने स्वजनों से मिलने भेंटने आ जा सकते हैं। वेदज्ञ ब्राह्मणों से भी कहो—वे भी अपने अग्निहोत्र की सब सामग्री लेकर आवें। नट, नर्तक, गायक, कलाकार, हाथ की कारीगरी का काम करने वाले बढ़ई, रंगरेज, राज, लुहार, सुनार, मनियार, छीपी, धोबी, चमार, मल्लाह, कहार, नाई, तेली, काछी, मुरई, भंगी तथा और भी जो समाज की सेवा करते हों, सबको यहाँ ले आओ। जो प्रेम से आना चाहे उन्हें लाओ। उनके लाने की व्यवस्था राज्य की ओर से हो। बड़ी भारी सेना भी आवे। उसके साथ हाथी, घोड़े, रथ, खच्चर तथा और भी समस्त सामग्रियाँ आवें।"

महाराज परीक्षित् की ऐसी आज्ञा पाते ही सेवक तुरन्त हस्तिनापुर तथा इन्द्रप्रस्थ की ओर चले गये। महाराज परीक्षित् को बड़ी प्रसन्नता थी आज मेरे द्वारा भगवान् के अपौत्र की कुछ सेवा हो सकेगी। भगवान् तो मेरे कुल गुरु हैं

इस शरीर की रक्षा उन्होंने ही की थी। यह शरीर उनका ही है उनके ऋण से मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकता। वज्रनाभ की प्रसन्नता के लिये मैं सब कुछ करूँगा।" ऐसा सोचकर वे कुछ दिन मथुरा में ही रह गये। उन्होंने सोचा मैं व्रजमण्डल को भली प्रकार से सुन्दर बनाकर उसके नगरों को फिर से बसाकर ही हस्तिनापुर जाऊँगा।"

महाराज की आज्ञा पाते ही इन्द्रप्रस्थ के सहस्रों लखपति, करोड़पति व्यापारी आ-आकर मथुरा तथा आस-पास के नगरों में बसने लगे। भगवान के मथुरा मण्डल से चले जाने पर जो ब्राह्मण इन्द्रप्रस्थ आदि चले गये थे जो बन्दर अन्यत्र भाग गये थे वे सब भी आ-आकर व्रजवास करने लगे। अब पेड़ों पर बड़े बन्दर दिखायी देने लगे। टोकरी भरकर लड्डू खाने वाले ब्राह्मणों ने भी डेरा जमाया, जो अपनी वेद ध्वनि से पुनः व्रज-मंडल को उद्घोषित करने लगे। मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, महा-वन, बलदेव, राया, शेषशायी, सी परसों, नन्दगाँव, बरसाना, मांट, छटी करा, चिकसौली इस प्रकार अनेक ग्रामों की रचना हुई। उनमें दुकानें खुल गयीं। झुण्ड-की-झुण्ड गैयाँ आ गयीं। इस प्रकार वनों में पुनः बस्ती हो गयी। जंगल में मंगल होने लगा।

अब महाराज परीक्षित् ने कहा—"शांडिल्य मुनि आज्ञा दे गये हैं। भगवान् की प्राचीन लीलास्थलियों की खोज करो उनका भी उद्धार होना चाहिये वे सभी स्थल लुप्त हो गये हैं। हम व्रज-मण्डल की यात्रा करें और उन सबका फिर से उद्धार करें।"

महाराज वज्रनाभ ने अपने चाचा की सम्मति स्वीकार की और वे दोनों चल दिये। भगवत् कृपा से तथा मुनि के आशी-र्वाद से वज्रनाभ के हृदय में भगवान् की लीलाओं की स्वतः ही स्फुरणा होने लगी, तथा लीला स्थल उन्हें प्रत्यक्ष दिखायी

देने लगे। भगवान् ने अपने सखा गोपों के साथ तथा अपनी प्रियतमा गोपियों के साथ वन उपवनों में घूम-घूमकर जहाँ-जहाँ पर जो-जो भी लीलायें की थीं उन-उन स्थानों में जाकर वज्रनाभ ने उन सबका उद्धार किया। वनों में मधुवन, भद्रवन, लौहवन, श्रीवन, तालवन, बकुलवन, भाण्डीरवन, महावन, खादिर वन, कुमुदवन, काम्यवन, और वृन्दावन इन सब वनों की पुनः प्रतिष्ठा की, इसी प्रकार चमेली वन, कदम्ब वन, केतकी वन आदि उपवनों को भी प्रसिद्ध किया। जितने प्राचीन कुंड थे, जो पट गये थे। उन्हें फिर से खुदवाया। उन पर पक्के घाट बनवाये। सरोवरों का उद्धार किया, बहुत से कूप खुदवाये। भगवान् के नाम से वापी, कूप, तड़ाग, आराम, धर्मशाला, बनवाये, राजपथ बनवाये। उन पर पंक्ति बद्ध वृक्ष लगाये गये। विश्राम स्थल क्रीड़ा स्थल बनवाये। यात्रियों के लिये आराम गृह बनवाये। मुख्य-मुख्य स्थानों में शिवालय बनवाये, चकलेश्वर, भूतेश्वर, गोपेश्वर, नन्दीश्वर, मथुरा, वृन्दावन, नन्दगाँव तथा गोवर्धन में स्थापित किये। भगवान् के बहुत से मन्दिर बनवाये गोवर्धन में हरदेवजी, दाऊजी में बलदेवजी, मथुरा में केशव देवजी और वृन्दावन में गोविन्द देवजी के विशाल-विशाल मन्दिर बनवाकर उनकी स्थापना की। बड़ी धूमधाम से प्रतिष्ठा करके इनके भोग राग के प्रबन्ध के लिये आजीविकायें लगवायीं, बहुत से ग्राम लगा दिये।

सर्वत्र कथा कीर्तन का प्रबन्ध किया। स्थान-स्थान पर कथा वाचक कीर्तनकार रख दिये, वे सर्वत्र जा-जाकर श्रीकृष्ण भक्ति का प्रचार करने लगे। इस प्रकार व्रजमंडल में पुनः आनन्द होने लगा। पुनः इसकी महिमा बढ़ गयी। वज्रनाभ की इच्छा थी, मेरे राज्य में सभी भगवद् भक्त ही रहें। कोई भी ऐसा न हो जो भगवत् विमुख हो।" राजा के इस भाव की सभी सराहना

करने लगे, और उनका यश सौरभ दिग् दिगान्तों में व्याप्त हो गया। महाराज परीक्षित् को भी हर्ष हुआ। राज्य की व्यवस्था समुचित हो गयी। कई स्थानों पर उपराजधानियाँ बन गयीं। वहाँ सैनिकों के शिविर बन गये। दीर्घपुर (डींग) में बहुत बड़ी सेना रहने लगी। इसी प्रकार नन्द गाँव, महाबरसाना, गोवर्धन, महावन और मथुरा में भी छावनियाँ हो गयीं। वज्रनाभ अत्यन्त ही श्रद्धा से अपनी सोलह सहस्र एक सौ परदादियों की सेवा करते थे, किन्तु श्रीकृष्ण विरह के कारण वे उदास ही बनी रहती थीं। इससे कुछ वज्रनाभ भी चिन्तित से रहते थे।

एक दिन की बात है, वे सबकी सब नगर से दूर यमुना स्नान के लिये गयीं। वहाँ जाकर उन्होंने देखा, वहाँ की शोभा अपूर्व है। यमुनाजी से सटा ही, यमुना गर्भ में ही कई बड़े-बड़े तालाब हैं उनमें रंग-बिरंगे कमल खिल रहे थे, यमुनाजी अपनी लहरों के थपेड़े दे-देकर उनसे,किलोल कर रही थीं। हँस रही थीं परम प्रमुदित हो ही रही थीं, मन में सिहा रही थीं इठिला रही थीं, कमल की डंडियों को हिला रही थीं, उन्हें देखकर मुसुकुरा रही थीं, तथा भाँति-भाँति की सुखप्रद क्रीड़ायें कर रही थीं।

यह देखकर श्रीकृष्ण पत्नियों ने अपने मन में सोचा—"देखो ये कालिन्दी भी हमारे कान्त की धर्मपत्नी है। हमारी ही भाँति श्याम सुन्दर इन्हें भी प्यार करते थे। ये भी उन्हें अपना सर्वस्व समझती थीं। किन्तु आज हम देख रही हैं भगवान् के विरह का प्रभाव इन पर कुछ भी नहीं है। ये उतनी ही प्रसन्न हैं, जितनी पहिले भगवान् के सम्मुख रहती थीं। यही नहीं हमें तो आज इनकी प्रसन्नता पहिले से भी कई गुनी अधिक प्रतीत-सी होती है। ये हमारी भाँति विरह वेदना से व्याकुल नहीं हैं। ये भगवान् को भूल गयी हों यह भी कभी हो नहीं सकता। क्योंकि जिसने एक बार भगवान् का दर्शन कर लिया। उनके अंग का

स्पर्श कर लिया वह कभी उन्हें भुला नहीं सकता। सो, ये तो उनकी परम प्रेयसी रह चुकी हैं। अवश्य ही इस प्रसन्नता में कोई रहस्य है। हमें इनसे इसका कारण पूछना चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यमुनाजी की ऐसी दशा देखकर कृष्णकान्ताओं को कष्ट नहीं हुआ सौतियाडाह नहीं हुआ किन्तु उनके मन में एक अलौकिक कौतूहल उत्पन्न हुआ और वे अत्यन्त ही आदर पूर्वक जाकर हाथ जोड़कर कहने लगीं—"बहिन! कालिन्दी! जैसी हम भगवान की वल्लभा हैं वैसी ही तुम भी हो, तुम तो हमसे ज्येष्ठा श्रेष्ठ हो, श्याम सुन्दर तुम्हारा अत्यधिक आदर करते थे, सबसे अधिक सम्मान करते थे तुम भी उन्हें प्राणों से अधिक प्यार करती थीं। तुम उनके संग सुख को भूल गयीं हो यह भी सम्भव नहीं। किन्तु हम देख रही हैं तुम्हारे ऊपर उनके विरह का कोई प्रभाव नहीं। जिस प्रकार हम उनकी विरह व्यथा से व्यथित तथा व्याकुल बनी हुई हैं जिस प्रकार विरहाग्नि हमें जला रही है जिस प्रकार हम उनके बिना छटपटा रही हैं, बिलबिला रही है, उस प्रकार तुम्हारी दशा नहीं, तुम्हारे ऊपर विरह के कोई चिह्न नहीं। इसका क्या कारण है अवश्य ही कोई गुप्त रहस्य है हम तुम्हारी छोटी बहनें हैं हमसे कोई बात मत छिपाओ हमें इसका रहस्य बताओ हमें सब सच समाचार सुनाओ।"

श्रीकृष्ण पत्नियों के ऐसा प्रश्न करने पर उन्हें यमुनाजी के जल से एक अत्यन्त खिलखिलाहट युक्त हँसी का शब्द सुनाई दिया और हँसती हुई कालिन्दी यमुनाजी के जल से दिव्य रूप में प्रकट हो गयीं। उन्हें इस रूप में देखकर सभी को परम सन्तोष हुआ। कालिन्दी ने कहा—"बहिनो! जय श्रीकृष्ण! कहो क्या पूछ रहीं थीं?"

सबने कहा—"हम तुम्हारी प्रसन्नता का कारण पूछ रही

थीं। तुम प्रियतम के विरह में हमारी भाँति विकल क्यों नहीं हो ?"

यमुनाजी को इस प्रश्न से परमानन्द हुआ। अपनी बहिनों की विरह में ऐसी दशा देखकर उन्हें दया आ गयी। प्रेम से उनका हृदय पिघल गया, दया से अन्तःकरण द्रवित हो उठा वे अत्यन्त ही स्नेह के साथ बोलीं—"बहिनो! दुःख होता है विरह में अपना प्यारा आँखों से ओझल हो जाय कहीं चला जाय तब दुःख होता है। मेरे प्रियतम तो सदा मेरे पास विराजते हैं फिर मुझे दुःख क्यों हो?"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने कहा—"कैसे तुम्हारे पास आते हैं हमें वे दिखाई भी नहीं देते। हमें भी इसका उपाय बता दो हमारे भी विरहताप को बुझा दो हमारे भी सदा के संताप को मिटा दो हमें भी प्रसन्नता का पुनीत प्याला पिला दो हमें भी अपनी ही भाँति सुखी बना दो।"

कालिन्दी ने कहा—"बहिनो? एक कहानी सुनो। एक पतिप्राणा पत्नी थी। उसका पति कुछ काल के लिये परदेश चला गया। परदेश में उसी के नाम वाले किसी दूसरे व्यक्ति की मृत्यु हो गयी उसके किसी सम्बन्धी ने आकर कह दिया—भगवान् की माया है परदेश में तुम्हारे पति का देहान्त हो गया। उसे बड़ा दुःख हुआ किन्तु उसका हृदय कह रहा था मैं विधवा नहीं हो सकती। फिर भी सगे सम्बन्धी ग्राम वासी सब कहते थे इसलिये वह विधवा वेश बनाकर पति के विरह में उदास रहने लगी। संयोग की बात जिस दिन के लिये वह आने को कह गया था, उस दिन तक उसका काम हुआ नहीं। अवधि पर नहीं आया तो उसे भी सन्देह होने लगा वह भी अन्तःकरण से दुखी रहने लगी और मरने की बात सोचने लगी। तभी किसी ने एकान्त में आकर उससे कह दिया—"तेरा पति तो सकुशल है अमुक तिथि को आवेगा किन्तु तू किसी से कहना नहीं।" इस समाचार के सुनते ही उसका सम्पूर्ण शोक चला गया।

उसका पति भी आकर उससे मिल गया, किन्तु अब वह सबके सामने पत्नी से नहीं मिलता था। रहस्य में एकान्त में ही उससे उसका संयोग होता था। जिस प्रकार वह पतिप्राणा केवल भ्रम-वश दुखी हुई थी। उसका पति तो जीवित था उसी प्रकार भगवान् श्याम सुन्दर कहीं चले नहीं गये हैं वे ब्रज में ही हैं वृन्दावन को छोड़कर वे कहीं जाते ही नहीं, किन्तु लोगों को भ्रम हो गया है उसी भ्रम के चक्कर में तुम फँसी हो तुम्हारा भ्रम दूर हो जाय कोई तुम्हें समझा दे तो तुम मेरी भाँति प्रसन्न हो जाओगी तुम्हें भी विरह जनित दुःख न होगा।"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने अत्यन्त ही आग्रह पूर्वक कहा—"बहिन! तुम ही हमें इस रहस्य को समझा दो। तुमसे बढ़कर हमारा हितैषी और कौन होगा, तुम हमारी बड़ी हो अतः गुरु स्थानीय हो। तुम ही कृपा करके हमारा दुःख मिटा दो, तुम्हीं हमें प्राणनाथ के नित्य संयोग सुख का स्वाद चखा दो, तुम्हीं हमारे संशयों को मिटा दो।"

कालिन्दी ने कहा—"बहिनो! पहिले तो मैं उसी बात को बताती हूँ कि मुझे दुःख क्यों नहीं होता। मुझे दुःख श्री राधिका जी की नित्य निरन्तर सेवा करते रहने के कारण नहीं होता।"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने पूछा—"बहिन! ये राधिका कौन भाग्य-वती हैं इनकी सेवा करने का सुयोग हमें कैसे प्राप्त हो सकेगा।"

कालिन्दी ने कहा—"बहिनो! ये राधिका और कोई नहीं हैं हमारे श्यामसुन्दर का ही नाम राधा है अथवा यों कहो उनकी आत्मा को ही राधा कहते हैं। हमारे प्यारे का एक नाम "आत्माराम" था न? हम लोग आत्माराम आप्तकाम उन्हें कहती थीं न? वह आत्मा ही राधा है, उसमें सदा रसिकशेखर रमण करते रहते हैं, इसलिये उन्हें राधारमण कहते हैं। यह रहस्य मुझे यहीं आने पर विदित हुआ। श्रीकृष्ण और राधा

दो नहीं हैं, राधा ही कृष्ण हैं, कृष्ण ही राधा हैं, उनमें परस्पर में कुछ भी भेद न होने पर क्रीड़ा के लिये लीला के लिये, रमण के लिये, सुखानुभूति के लिये उन्होंने दो रूप बना लिये हैं सदा एक दूसरे के सम्मुख रहते हैं, क्षण-भर भी उनका वियोग संभव नहीं। वे राधाजी को छोड़कर अन्य किसी से रमण नहीं करते।"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने कहा—"बहिन! तुम बड़ी गूढ़ बातें कह रही हो, हमारी बुद्धि के बाहर की बात है, भगवान् ने जो द्वारका में हम सोलह सहस्र एक सौ आठ के साथ जो क्रीड़ायें की थीं वे क्या थीं?"

कालिन्दी जी ने कहा—"वे सब भी सत्य ही थीं, किन्तु श्रीराधा के बिना वे भी कुछ नहीं थीं उन्हीं का यह लीला विस्तार था, मैं कोई सुनी सुनाई बात नहीं कह रही हूँ, प्रत्यक्ष आँखों देखी बात कहती हूँ। श्रीराधिकाजी के शरीर में मैंने रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती और तुम सबको देखा है। श्रीकृष्ण की जितनी भी पत्नियाँ हैं वे सब श्रीराधिकाजी के अंश का विस्तार मात्र ही है। अंशी में जो गुण होता है, वही अंश में होता है। समुद्र के अथाह सागर के जल मे जो गुण है, वह उसके एक कण में भी है। जो अग्नि के समूह में गुण है वही उसकी चिनगारी में भी है। राधाजी को जो नित्य संयोग सुख प्राप्त हैं, वह उनकी अंश भूता तुम पत्नियों को भी प्राप्त है, किन्तु तुम इस बात को भूल गयी हो। ब्रज में भगवान् वंशी बजाकर सबको मोहित करते हैं अपनी ओर खींचते हैं।"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने कहा—"वंशी किस वस्तु से बनी है।"

कालिन्दी ने कहा—"श्रीकृष्ण और राधा जो परस्पर में एक दूसरे से अत्यधिक प्रेम करते हैं, वही प्रेम बहकर जम जाता है उस जमे हुए प्रेम का नाम ही वंशी है, वह प्रेम का ही

प्रवाह बहाती है वह प्रेम अनन्त है, उसका अन्त नहीं कभी चुकता नहीं। श्री राधाजी तो अंश रूप से अनेक रूप रख लेती है, एक होकर बहुत-सी बन जाती हैं, किन्तु चन्द्रावली सदा एक रस रहती हैं, वे कोई रूप नहीं रखतीं।"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने पूछा—"ये महाभाग्यवती चन्द्रावली कौन हैं?"

कालिन्दी ने कहा—"श्रीराधा-कृष्ण के चरणारविन्दों के जो नख हैं उनमें से जो चन्द्रमा के समान सुन्दर स्वच्छ निर्मल प्रकाश निकलता है, उनकी सेवा में जो अभिलाषा है उसी का नाम चन्द्रावली है, वह अभिलाषा एक रस रहती है। युगल चरण सेवा की आसक्ति रूप अभिलाषा, लगन ही चन्द्रावली है। तुम लोगों का समावेश मैंने श्रीराधिकाजी के शरीर में देखा है, जब वे नित्य निरन्तर राधिकाजी के साथ रमण करते ही रहते हैं, तुम्हारी अंशी श्रीराधा के सम्मुख ही प्रस्तुत रहते हैं, उन्हें अंक में ही बिठाये रहते हैं, तो फिर तुम्हारा उनसे वियोग कैसे संभव है। यह तो तुम्हारा उसी प्रकार का क्षणिक भ्रम है, जिस प्रकार मथुरागमन के समय गोपिकाओं को भ्रम हुआ था।"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने पूछा—"बहिन! गोपिकाओं को कैसे भ्रम हुआ और उसका निवारण कैसे हुआ, कृपया हमें इस बात को सुनाइये।"

कालिन्दी ने कहा—"कंस के कहने से कृष्ण-बलराम को लेने अक्रूरजी आये थे, वे उन्हें रथ पर बिठाकर मथुरा ले गये, किन्तु श्रीकृष्ण तो रस लम्पट हैं वे तो राधाधर सुधापान में इतने आसक्त हैं, कि वृन्दावन को छोड़कर एक पग भी अन्यत्र कहीं नहीं जाते। किन्तु अक्रूर घाट तक लोक दिखावे को गये यमुनाजी में डुबकी मारी स्वयं तो राधाजी के पास आ गये, अपने

अंश भूत चतुर्भुज विष्णु श्रीकृष्ण को मथुरा भेज दिया। इस रहस्य को जब तक गोपियों ने नहीं जाना तब तक वे भी विरह में तड़पती रहीं, तुम्हारी भाँति छटपटाती रहीं। वास्तव में वह विरह न होकर विरहाभास था। जब तक इस गुप्त रहस्य से गोपिकायें अविदित रहीं तब तक रोती रहीं। जब अक्रूरजी ने आकर इस रहस्य को खोल दिया, श्रीकृष्ण की आज्ञा से सब सत्य-सत्य बातें बता दीं तो तब वे इस बात को समझ गयीं। प्रसन्न हो गयीं और सदा श्रीकृष्ण को अपने सम्मुख समझकर उनके अंग संग सुख का अनुभव करने लगीं। यदि तुम्हें भी उद्धवजी के दर्शन हो जायँ, उनके सत्संग का सुअवसर प्राप्त हो जाय, उनके मुख कमल निसृत भगवद्लीलारसामृत का कानों में होकर हृदय में प्रवेश हो जाय, तो तुम्हारी भी समस्त शंकायें समाप्त हो जायँगी। तुम्हारी भी चिन्तायें मिट जायँगी।"

अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ श्रीकृष्ण पत्नियों ने पूछा—"बहिन! हमारा ऐसा भाग्य कहाँ? हमें उद्धवजी के कैसे दर्शन हो सकेंगे? सुना है, वे तो बदरीवन में विराजते हैं, नित्य तप में निरत रहते हैं, अलकनन्दा के तट पर अलक्षित भाव से अवस्थित हैं, हम अबलाओं को उनका साक्षात्कार कैसे होगा? तुम्हें तो श्रीराधिकाजी की सेवा सर्व सुख प्राप्त है, प्रियतम का नित्य संयोग उपलब्ध है। आज से हम भी उनकी दासियाँ हुईं। हमें भी उनके सेवा का सुअवसर मिले, तो हम भी धन्य हो जायँगी, किन्तु हमारे सभी संशय तो तभी दूर होंगे, जब उद्धवजी मिल जायँ। वे हमें भगवत् सम्बन्धी कथा सुना दें, इसका यथार्थ रहस्य समझा दें।"

यह सुनकर कालिन्दी ने कहा—"अच्छी बात है बहिनो! मैं तुम्हें उद्धवजी के दर्शनों का उपाय बताती हूँ उसे तुम दत्त-चित्त होकर बड़ी सावधानी के साथ श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कालिन्दी जिस प्रकार श्रीकृष्ण पत्नियों को उद्धव मिलन का उपाय बतावेंगी उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

हम तुम प्रभु की प्रिया विरह दुख व्यापत हमकूँ।
तुम अति मन महँ मुदित न व्यापै क्यौं दुख तुमकूँ॥
हँसि कालिन्दी कहै कृष्ण की आत्मा राधा।
रमन सतत तिनि संग करत लखि मोइ न बाधा॥
अशी राधा अंश विरह, हम नहीं सम्भव तहाँ।
करो विशद यदि महोत्सव, उद्धव मिलि जावै तहाँ॥

उद्धवजी के दर्शनों का साधन

[३०]

उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम ।
मत्कथाः श्रावयञ्छृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २७ अ० ४४ श्लोक)

छप्पय

पूछे प्रभु की प्रिया—मिलैं उद्धवजी कैसे ।
यमुना बोलीं—सुनो, बताऊँ मिलिहैं जैसे ॥
ऊधो धरि इक रूप बदरिका बन महँ बिहरत ।
भक्त रूप तैं लता गुल्म बनि ब्रज महँ निवसत ॥
उत्सव ही तिनि रूप है, उत्सव प्रिय उद्धव सतत ।
कुसुम सरोवर पै विशद्, उत्सवतें उद्धव मिलत ॥

हृदय के उत्साह का ही नाम उत्सव है, उत्साह से ही उत्सव अत्युत्तम बनता है, उत्सव से आह्लाद होता है और आह्लाद ही भगवान् का रूप है। जहाँ उत्सव नहीं वहाँ आह्लाद नहीं, आनन्द नहीं। वहाँ आनन्दघन, सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु का

---

* श्री भगवान् उद्धवजी से कहते हैं—"उद्धव मेरा भक्त मुझे मेरी प्रसन्नता के निमित्त मेरे कार्यों का ज्ञान, कथन और अंगों की चेष्टाओं द्वारा अभिनय करता हुआ नृत्य करे, मेरी कथाओं को सुने और सुनावे इस प्रकार प्रेम की चेष्टा करने के अनन्तर क्षण भर को विश्राम ले।"

प्राकट्य कैसे होगा ? उत्सव आशा में और प्राप्ति में मनाया जाता है। घर में पुत्र जन्म होगा, इसके लिये गर्भाधान से ही उत्सव आरम्भ होते हैं, सीमन्तोलङ्घन, चौक और कौन-कौन से उत्सव होते हैं। घर में नववधू आने की आशा होते ही, बाजे बजने लगते हैं, घर परिवार के सगे सम्बन्धियों का जमघट होने लगता है। मिठाइयों पर मिठाइयाँ बनने लगती हैं, लिपाई-पुताई तोरण बन्दनवारों से सम्पूर्ण घर को सजाया जाता है, कितना उत्साह रहता है। घर के नर-नारी कितने आनंन्द में विभोर रहते हैं। जिस द्रव्य को पाई-पाई करके बड़े कष्ट से एकत्रित किया था, आज उसका कोई मूल्य नहीं, पानी की भाँति बहाया जा रहा है। बेटे वालों को उत्साह है हमारे घर में नई बहू आवेगी। बेटी वालों को उत्साह है हमारे घर में नया वर आवेगा, हमारी पुत्री को वरण करेगा। मिलन की सम्भावना में कितना उत्सव कितना आनन्द होता है। मिलन बिना उत्सव के बिना उत्साह के होता नहीं। बिना उत्सव का जो मिलन है, वह तो व्यापारी का मिलन है ठगों का मिलन है। ठग का भी तो मिलन है, वे भी तो बड़ी मीठी-मीठी बातें करते हैं, किन्तु उनमें हार्दिक प्रेम नहीं होता, उनकी दृष्टि गठरी की ओर रहती है, कैसे इसे फँसाकर इसकी गठरी को अपनी बना लें। व्यापारी भी बड़ी मीठी-मीठी बातें करता है। ग्राहक आते ही उससे घुलकर बातें करेगा-अजी, इसे आप अपना घर ही समझें। जहाँ उसने माल ले लिया, पैसा दे दिया फिर उसे बैठने भी नहीं देते, बात भी नहीं करते दूसरों की ओर मुड़ जाते हैं। यह मिलन उत्सव विहीन है। मिलन तो वही सुखद उत्तम और आनंददायक होता है, जो बड़े उत्साह के साथ महामहोत्सव के फलस्वरूप प्राप्त हो। उत्सव का फल ही मिलन है। तभी तो भगवान् के नाम उत्सवप्रिय तथा निर्व्योमय हैं। ब्रज में नित्य ही उत्सव होता था। उत्सव ही

भगवान् का सखा है, सुहृद है, मन्त्री है, साथी है, मित्र है, सगा सम्बन्धी है, सर्वस्व है। उसे चाहे उत्सव कहो, उद्धव कहो एक ही बात है। भगवान् के व्रज से आने पर व्रज उत्सव हीन हो गया, तब भगवान् ने तुरन्त उद्धवजी को भेजा और सन्देश दिया—"अरे, गोपिकाओ! यह तुमने क्या किया, उत्सव बन्द क्यों कर दिये, ये ही तो मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं उसत्व स्वरूप उद्धवजी के पहुँचते ही वहाँ पुनः उत्सव प्रारम्भ हो गये, फिर सर्वत्र श्याम सुन्दर दिखायी देने लग गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्रीकृष्ण पत्नियों ने यमुनाजी से, उद्धवजी के मिलने का उपाय पूछा तो यमुनाजी कहने लगीं—"बहिनो! उद्धव तो भगवान की प्रतिच्छाया हैं, उनके निजी मन्त्री थे। भगवान् ने जब स्वधाम पधारने का विचार किया तब उन्होंने इन्हें बुलाकर कहा—"देखो उद्धव! मेरी आज्ञा से तुम बदरीवन में चले जाओ और वहीं अपनी साधना पूर्ण करना।"

भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके उद्धवजी भगवान् की चरणपादुका सिर पर रखकर चले गये और बदरीवन में ही वास कर रहे हैं। जो वहाँ जाते हैं उन्हें भगवत् मार्ग को सिखाते हैं। बदरीवन तो साधन भूमि है व्रजभूमि साधन का फल है जन्म जन्मातरों तक जो अन्यत्र साधन करते हैं भगवत कृपा से व्रजवास मिलता है। उद्धवजी ने पहिले भगवान् से व्रजवास माँगा भी था व्रज का यथार्थ माहात्म्य भगवान् का सान्निध्य ही है। स्थूल दृष्टि से भगवान् अन्तर्हित हो चुके हैं अतः भगवान् के अन्तर्धान होने के साथ ही स्थूल दृष्टि से व्रजभूमि भी परे जा चुकी है। फिर भी वे गुप्त रूप से गुल्म लता के रूप में भी उद्धव जी व्रज में ही वास करते होंगे।"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने कहा—"बहिन! व्रज तो बहुत बड़ा है

८४ कोश का है वह भी संकलपारे के आकार का तिकोना। इसमें वन ही वन है न जाने उद्धवजी कहाँ होंगे। किस गुल्मलता के रूप में रहते होंगे हमें कोई निश्चित स्थल बताओ।"

यमुना ने कहा—"बहिनो! वैसे तो ब्रज के जितने भी वृक्ष हैं सब के सब तपस्वी ही हैं जिन्होंने असंख्यों वर्षों तक घोर तपस्या करके ब्रजवास की कामना की थी वे ही वृक्ष रूप से यहाँ उत्पन्न हुए किन्तु उद्धवजी तो कुसुम सरोवर में रहते हैं।"

श्रीकृष्ण प्रियाओं ने पूछा—"कुसुम सरोवर कहाँ है भला?"

यमुना बोली—"देखो मथुरा से सात कोश पर गोवर्धन है। जहाँ अभी-अभी गोवर्धन नगर बसाया गया है जहाँ मानसी गंगा है। वहाँ से डेढ़ कोश राधा कुण्ड है। राधा कुण्ड और गोवर्धन के बीच में कुसुम सरोवर है वहाँ सुन्दर स्वच्छ जल वाला सरोवर है उसके चारों ओर सघन झाड़ियाँ हैं, उन पर बेलें चढ़ी रहती हैं वे बेलें फूली रहती हैं। बड़ी-बड़ी प्राचीन झाड़ियों की कुंजें बन गयी हैं। वह भी एक वृन्दावन है। तीन स्थानों को वृन्दावन कहते हैं। एक तो धाम वृन्दावन जो मथुरा के निकट है यहाँ से थोड़ी ही दूर पर। दूसरा रस वृन्दावन यह कुसुम सरोवर है भगवान् की विहारस्थली है अभी तक गुप्त रूप से भगवान् नित्य यहाँ आकर गोपियों के साथ विहार करते हैं। तीसरा काम्यवन है यह भी वृन्दावन कहलाता है। वनवास के समय पांडव भी यहाँ आकर कुछ दिन रहे थे।"

उद्धवजी ने यही वर माँगा था कि गोपियों की पद रज उड़कर मेरे ऊपर सदा पड़ती है ऐसे स्थल में मैं छोटा-सा वृक्ष बनकर रहूँ। यहीं गोपिकायें नित्य आती हैं इसी स्थूल वृन्दावन में बाँके बिहारी का विहार होता है वहीं उद्धवजी के दर्शन हो सकते हैं।"

श्रीकृष्ण प्रियाओं ने पूछा—"वहाँ तो बहुत सी लता गुल्में

होंगे हमें कैसे पता चलेगा किस गुल्म के रूप में उद्धवजी रहते होंगे ? लता वृक्ष का मान लो पता भी चल गया तो वृक्ष रूप से वे हमें कैसे कथा सुनावेंगे ?"

यमुना ने कहा—"नहीं, उपाय किया जाय तो वे प्रत्यक्ष भी दर्शन दे सकते हैं।"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने कहा—"उसी उपाय को तो हम जानना चाहती हैं।"

यमुना ने कहा—"देखो उद्धवजी उत्सव प्रिय हैं। या यों कह लो कि उत्सव ही उनका यथार्थ रूप है। भगवान् ने उद्धव को ही अपना उत्सव रूप प्रदान कर दिया है। भगवान् का उत्सव ही उद्धव का अंग है, वे उससे पृथक रहना भी चाहें तो नहीं रह सकते। तुम यदि कुसुम सरोवर जाकर उदार हृदय से धूमधाम के सहित महामहोत्सव मनाओ तो निश्चय ही वहाँ तुम्हें उद्धवजी के दर्शन हो जायँगे।"

श्रीकृष्ण पत्नियों ने पूछा—"कैसा उत्सव मनावें, किस उत्सव से प्रसन्न होंगे ?"

यमुना ने कहा—"उद्धवजी नामोपासक हैं। उन्हें भगवान् का नाम संकीर्तन अत्यन्त ही प्रिय है, जहाँ महानाम संकीर्तन होता है, लोभ लालसा छोड़कर एक मन एक प्राण से जहाँ बहुत से भक्त वृन्द मिलकर प्रेम पूर्वक कीर्तन करें, कीर्तन करते करते प्रेम में विह्वल बन जायँ, तो उसी समय उद्धवजी प्रकट हो जायँगे। तुम वज्रनाभ को लेकर कुसुम सरोवर जाओ। वहाँ निवास करो, शुद्ध चित्त से प्रियतम की आराधना करो, अच्छे अच्छे भगवन्नाम संकीर्तन प्रेमी श्रीकृष्ण लीला रस के लम्पट भक्तों को आदर पूर्वक बुलवाओ। वे सब एक मन एक प्राण से वीणा, वेणु, मृदंग मंजीरा तथा करताल आदि बाजों के साथ सुमधुर स्वर में कीर्तन करें, भगवत् सम्बन्धी कथायें हों, उनके

गुणों का गान किया जाय, लीलाओं का अनुकरण किया जाय। आनन्द में विभोर होकर सभी भक्त नाचें गावें, उच्च स्वर से पुकारें। इस प्रकार जब विराट महामहोत्सव होगा, तब उद्धवजी अवश्य ही प्रकट हो जायँगे, ऐसे उत्सवानन्द को देखकर वे छिपे रह नहीं सकते। वे प्रकट हो गये, तो समझो तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया, वे तुम्हें श्रीकृष्ण लीला रहस्य को भली-भाँति समझावेंगे। तुम्हारी सभी शंकाओं का समाधान कर देंगे। अब तुम्हें जाकर उद्धवजी के प्राकट्य का प्रबल प्रयत्न करना चाहिये। कुसुम सरोवर पर महा महोत्सव का ठाठ रचना चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यमुनाजी की इस बात से श्रीकृष्ण पत्नियों को परम प्रसन्नता प्राप्त हुई, वे यमुनाजी की अनुमति लेकर उन्हें सादर प्रणाम करके घर के लिये चल दीं और कालिन्दी भी यमुनाजी के जल से जैसे निकली थीं वैसे ही उसी जल में वहीं सबके देखते-देखते अन्तर्धान हो गयीं।

कृष्ण प्रिया अपने महलों में आयीं, उन्होंने आते ही यमुना और अपना सम्वाद आदि से अन्त तक वज्रनाभ तथा महाराज परीक्षित् को सुना दिया और कहा—"भैया, देखो! तुम लोग सर्व समर्थ हो, धन का यथार्थ उपयोग यही है कि वह भगवत् सम्बन्धी उत्सवों में ही व्यय हो, तुम दोनों शुद्ध अन्तःकरण से खुले हृदय से उदारता पूर्वक उत्सव कराओ। तनिक भी कृपणता मन में मत लाओ। यदि तुम प्रेम पूर्वक अत्यन्त श्रद्धा से इस महामहोत्सव को करोगे, तो निश्चय ही उद्धवजी का साक्षात्कार हो जायगा।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"माताओ! आप चिन्ता न करें, आप जैसी भी आज्ञा देंगी वैसा ही किया जायगा। हमारे पास जो भी कुछ है, श्रीकृष्ण प्रसाद ही तो है, हमारे भंडार में जो भी

कुछ है श्रीकृष्ण का ही तो है। श्रीकृष्ण भंडार में कमी किस वस्तु की हो सकती है। चलो, आज ही कुसुम सरोवर पर चलें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! महाराज की आज्ञा की देरी थी, कि रथ जुतने लगे, पालकियाँ सजने लगीं। सैनिक घोड़ों पर गद्दी कसने लगे। हाथी चिङ्घाड़ने लगे। बात की बात में सब लोग कुसुम सरोवर की ओर चल दिये। सायंकाल तक सब लोग सरोवर के निकट पहुँच गये। सेवकों ने डेरा डाले। रानियों के लिये वस्त्रों के घर बन गये। परदे लग गये। सरोवर के चारों ओर गोवर्धन, राधाकुण्ड, नारदकुण्ड तक सैनिकों के पड़ाव पड़ गये। बात की बात में वहाँ बड़ा भारी नगर-सा ही बस गया।

बड़े-बड़े कीर्तनकार, कथाकार, लीलानुकरण करने वाले, गायक भगवद्भक्त बुलाये गये। लोगों के हृदय में स्वाभाविक उत्साह था, सभी अपना सर्वस्व अर्पण करके उत्सव को सफल बनाने की चेष्टा कर रहे थे। सभी अन्तःकरण से उसमें सहयोग दे रहे थे, सभी निष्काम भाव से किसी लोभ लालच के बिना, प्रभु प्रीत्यर्थ कार्य कर रहे थे, इन सभी कारणों से उत्सव की शोभा अपूर्व बढ़ गयी। जब सभी के मन में उत्साह होता है, तो कार्य सिद्धि में कोई संदेह नहीं रह जाता। यही उत्सव की सफलता के पूर्व के शुभ चिह्न हैं।

गोवर्धन के निकट के उस वृन्दावन में जिसे लोग सुख स्थल भी कहते हैं, जहाँ वृषभानु नंदिनी, रस प्रभावाह स्यन्दिनी, आनन्दकन्दिनी, श्रीराधिकाजी अपने परम प्रियतम, रसिक चूड़ामणि श्री श्यामसुन्दर के संग में सदा विहार करती हैं, जहाँ की भूमि अत्यन्त ही पावन है, वहाँ पर उत्सव का ऐसा ठाठ जमा कि देवतागण भी विमानों पर चढ़कर उस उत्सव को देखने आये। जो भी वहाँ आता वही उस आनन्द प्रवाह में बह जाता तथा अपने शरीर की सुधि-बुधि भूलकर श्रीकृष्ण कीर्तन में

तन्मय हो जाता। वह विहार स्थली साक्षात् संकीर्तन की शोभा

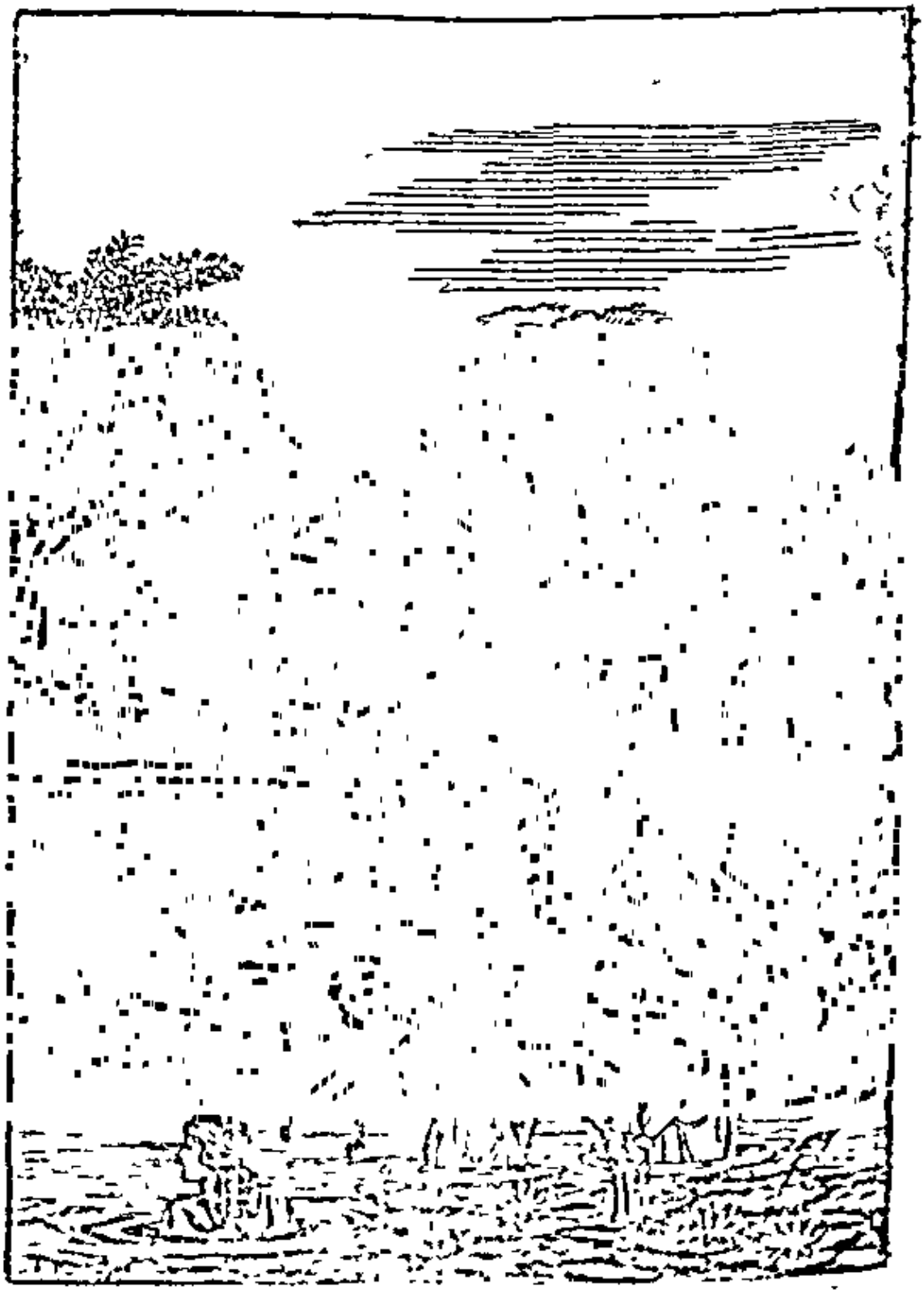

से सर्व प्रकार से सम्पन्न हो गयी, तो सभी को ऐसा लगा मानों हम परमानन्द सागर में गोते लगा रहे हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! उस समय कुसुम सरोवर की शोभा अपूर्व थी। नर-नारी उसमें स्नान करते ही तन्मय हो जाते। उसी रंग में रँग जाते। कुसुम सरोवर आनंदरस सरोवर बन गया था। अब जैसे उस महोत्सव में उद्धवजी का प्राकट्य होगा, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय :

आवें भगवत् भक्त कृष्ण गुन नामनि गावें।
बीना वेनु मृदङ्ग मजीरा मधुर बजावें॥
कथा करें कमनीय कलित कीर्तन करि क्रंदन।
नाम निरन्तर रटें रमन राधा नँद नन्दन॥
प्रेम सुबन्धन डोरि तैं, खिचि परगट ह्वै जायँगे।
कथा कीरतन रज्जु तैं, उद्धवजी बँधि आयँगे॥

कीर्तन से कुसुमसरोवर पर उद्धवजी का प्राकट्य

(३१)

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषम्
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० १२ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

है प्रसन्न प्रभु प्रिया तुरत महलिन महँ आईं ।
वज्र परीक्षित् निकट आइ सब बात बताईं ॥
उभय नृपति मन मुदित महोत्सव महा मनायो ।
कुसुम सरोवर निकट भक्त मेला लगवायो ॥
कथा कृष्ण की कहें मिलि, सब प्रभु-रस रंग मँह रँगे ।
बाजे विविध बजाइ कें, हरि कीर्तन करिवे लगे ॥

---

* सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भगवत् भक्त मिलकर जब भगवान् का अनन्त कीर्तन करते हैं, उनकी महिमा का श्रवण करते हैं, तो भगवान् उनके हृदय में प्रविष्ट होकर उनके हृदय के सम्पूर्ण दुःख अथवा अज्ञान को उसी प्रकार दूर कर देते हैं जिस प्रकार सूर्यनारायण अन्धकार को दूर कर देते हैं और प्रचण्ड पवन मेघ मालाओं को छिन्न-भिन्न कर देते हैं।"

पाँच पंच जहाँ एक मत हो जाते हैं, वहाँ प्रभु प्रकट हो जाते हैं। पाँच पाँडव मिलकर महाभारत के भयंकर युद्ध को जीत लेते हैं। पाँच भूत मिलकर इतने बड़े ब्रह्मांड को बना देते हैं। पंचाग्नि तापकर तपस्वी भवसागर से पार हो जाते हैं, तथा पाँचों इन्द्रियों को वश में करके पंच तन्मात्राओं से उपरत रहकर योगी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार एक मन के पाँच भक्त मिल जायँ तो भगवान् को प्रकट होने में देरी नहीं लगती, किन्तु कठिनता तो यह है, कि एक मन के भक्त मिलते नहीं, विभिन्न लोगों की विभिन्न भावनायें होती हैं, भिन्न-भिन्न संकल्प होते हैं, भिन्न-भिन्न मति होती है। 'मुन्डे-मुन्डे मतिर्भिन्ना' वाली कहावत चरितार्थ होती है,इसीलिये एकता का बल नहीं मिलता। पाँच तार एक में बट दिये जायँ तो उनका बल कितना बढ़ जाता है। तोड़ने पर भी वे नहीं टूटते। अतः कथा कीर्तन तथा समस्त सामूहिक साधनों में साधकों तथा सेवकों का एक मत होना एक संकल्प होना तथा एकात्मभाव होना परम आवश्यक है, तभी संकल्प की सिद्धि संभव है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुसुमसरोवर पर महाराज परीक्षित् तथा वज्रनाभ की सन्निधि में भक्तों का एक बड़ा भारी मेला ही लग गया। दूर-दूर से भगवत् भक्त एकत्रित हुए। सभी को उत्सुकता थी, कि भगवान् के सचिव, सखा, सुहृद्, सहयोगी, सम्बन्धी, सेवक तथा सर्वस्व श्रीउद्धवजी का दर्शन होगा। पहिले के भक्तों ने तो भगवान् को प्रकट करने के लिये साधन किये थे, किन्तु यहाँ कुसुमसरोवर पर तो परम भगवत भक्त को प्रकट करने के लिये साधना हो रही थी। जो वस्तु जिसे प्रिय होती है उसकी प्रसन्नता के लिये वही वस्तु प्रस्तुत की जाती है। उद्धवजी तो कृष्ण कथा तथा कृष्ण कीर्तन के प्रेमी हैं, इसलिये उनकी प्रसन्नता के लिये इन्हीं सब साधनों का आयोजन किया

गया। जिनका कंठ सुरीला था, जिनकी वाणी में करुणा थी, जिनके संगीत में लोच था, वे ही सब भगवान् का गुणानुवाद

गाने लगे, बहुत से भक्त अश्रु बहाने लगे, कोई करुणा बढ़ने से

क्रंदन करने लगे, कोई ढाह मारकर रोने लगे। कोई भाव दिखा-दिखाकर अंग प्रत्यंगों को हिलाने लगे, कोई नाचने लगे, कोई मूर्छित होकर पछाड़ खाकर गिरने लगे, कोई हिलने लगे, कोई लड़खड़ाने लगे, कोई समझाने लगे, कोई ताल देने लगे, इस प्रकार सभी संसार को भूल गये, सभी को देश काल का भान नहीं रहा। सभी कृष्ण रस में सराबोर हो गये, सभी राधारमण के रंग में रंग गये, सभी के हृदय निर्मल बन गये। उन सबकी दृष्टि एक हो गयी, वह सृष्टि ही विचित्र बन गयी, सबके मन की वृत्ति ही बदल गयी।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब इस प्रकार सबकी मनोवृत्ति एकात्मता का अनुभव करने लगी, सभी एक मन एक प्राण हो गये तो उन्होंने देखा एक लता कुञ्ज से शनैः-शनैः उद्धवजी निकल रहे हैं। उस समय उनकी शोभा अपूर्व हो रही थी। वे श्रीकृष्ण का ध्यान करते-करते तादात्म्य भाव को प्राप्त हो गये थे। उनकी आकृति-प्रकृति, रङ्ग-रूप, पहिनावा-उढ़ावा चलन-चितवन, बोलन, उठन-बैठन, पादप्रक्षेप की गति तथा सभी कार्य श्रीकृष्ण के ही समान थे। उनके श्रीअंग का रंग जल भरे मेघों के समान, फूली हुई अलसी के समान, मयूर कंठ के समान तथा नीले कमल के समान श्यामवर्ण का था। वे भगवान की प्रसादी सभी आभूषणों को धारण किये हुए थे। उन्हीं का प्रसादी पीला पीताम्बर अस्त-व्यस्त भाव से उनके अंगों पर पड़ा लहरा रहा था। बाल बिखरे हुए थे, हाथ उठे हुए थे, हृदय भरा हुआ था। नेत्र निरन्तर बह रहे थे उनसे प्रेमाश्रुओं का प्रवाह उमड़-घुमड़ रहा था। उनके ओठ हिल रहे थे, कमल के सदृश उभय नयन खिल रहे थे, वायु से काले-काले घुँघराले लच्छेदार बाल खिल रहे थे। उनके मुखारविन्द पर तेज पुञ्ज चमक रहा था। पीताम्बर दमदम दमक रहा था। उनके चरण अटपट-पड़

रहे थे। वे लताओं से शनैः-शनैः निकल रहे थे। भक्तों की जब उद्धवजी पर दृष्टि पड़ी तो सभी अपने को कृतकृत्य समझने लगे, सभी अपने भाग्य की सराहना करने लगे, सभी एकटक भाव से विस्मित होकर चकित-चकित दृष्टि से बारम्बार उनकी शोभा को निहारने लगे। वे सुमधुर स्वर से गा रहे थे गोपीवल्लभ राधारमण ब्रजवल्लभी वल्लभ ऐसे सुमधुर सरस नामों का स्वर के सहित उच्चारण कर रहे थे।

उद्धवजी के आगमन से वह महामहोत्सव सफल हो गया, उसकी शोभा इसी प्रकार और बढ़ गयी जिस प्रकार सुन्दर स्वच्छ जल वाले घाट बँधे सरोवर की शोभा कमलों के खिल जाने से बढ़ जाती है, सुन्दर शोभायुक्त कामिनी की कमनीयता बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से बढ़ जाती है, निशा की शोभा पूर्णचन्द्र के उदय होने से बढ़ जाती है लता की शोभा पुष्पों के खिल जाने से बढ़ जाती है अथवा स्फटिक मणि की बनी अट्टालिका की शोभा चाँदनी के छिटक जाने से बढ़ जाती है।

उद्धवजी के दर्शनों से सभी आनन्द सागर में निमग्न हो गये, किसी को भी देह गेह की सुधि बुधि नहीं रही। उनके चित्त की वृत्ति अलौकिक आनन्द का अनुभव करती हुई दिव्यलोक में पहुँच गयी। वे सब के सब चेतना शून्य से हो गये। आँखें खुली की खुली रह जाने पर भी वे उद्धवजी को भली-भाँति नहीं देख सके। कुछ देर के पश्चात् उनकी मूर्छा दूर हुई चैतन्यता आई, सबने उठकर उद्धवजी की चरण वन्दना की। इनका विधिवत् पूजन किया। उच्चासन उन्हें बैठने को दिया, उन्हें सभी ने श्रीकृष्ण स्वरूप में ही निहारा, उसी भाव से उनकी पूजा भी की।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! हरि संकीर्तन का ऐसा सुन्दर समारोह देखकर उद्धवजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने महा-

राज परीक्षित् को हृदय से लगा लिया और अत्यन्त ही स्नेह से उनके सिर पर हाथ फेरते हुए कहने लगे—"राजन्! यह बड़े सौभाग्य की बात है, कि तुम्हारा मन श्रीकृष्ण संकीर्तन में लगा हुआ है। क्यों न हो आप तो विष्णुरात हैं भगवान् विष्णु ने ही तुम्हें दिया है, उन्होंने ही तुम्हारी रक्षा की है। पालन किया है। तुमने माता के उदर से ही कृष्ण कृपा प्राप्त की है। तुम्हारा कुल धन्य है। तुम्हारे पूर्वज धन्य हैं और तुम भी धन्य हो, तुम्हारे भाग्य की क्या सराहना की जाय। तुम्हारा तो चित्त सदा चित-चोर श्रीकृष्ण के ही प्रेम में रँगा रहता है।"

अत्यन्त ही विनीत भाव से महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो! मैं तो सबसे अधिक अभागी हूँ, मेरे पिता मुझे गर्भ में ही छोड़कर स्वर्ग सिधार गये, मैंने उनका मुख तक नहीं देखा, मेरे पितामह मुझे बालक ही छोड़कर महाप्रस्थान कर गये। मेरे दुर्बल कन्धों पर इतने बड़े भूमंडल का भार लाद गये। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने मुझे ब्रह्मास्त्र से बचाया, पाला पोसा जब तक मैं उनके पूरे दर्शन भी करने योग्य नहीं हुआ, आँख भर के एक बार उनके भली-भाँति दर्शन भी न कर सका, तभी सुना वे निजधाम पधार गये। आपके भी मैंने पहिले कभी इस रूप में दर्शन नहीं पाये। जब मैं बच्चा था, तब आप मुझे गोदी में उठा कर प्यार अवश्य करते थे, ऐसी कुछ याद पड़ती है। किन्तु ये बातें पुरानी हो गयीं मैं भूल गया। मैं तो यहाँ वज्रनाभ को देखने और दादियों के चरण स्पर्श करने आया था, संयोग वश आपके दर्शन हो गये, आपने आज मेरा आलिंगन किया, इससे मैं भाग्यशाली अवश्य बन गया।"

महाराज परीक्षित् को पुचकारते हुए और उनके आँसुओं को अपने पीताम्बर से पोंछते हुए उद्धवजी ने कहा—"बेटा! ऐसी बात नहीं कहते, संसार में तुम ही तो सबसे अधिक

भाग्यशाली हो, जो भगवान् ने तुम्हारे ऊपर इतनी कृपा की। नौ महिने वे गर्भ में तुम्हारे साथ रहे। इसीलिये तो प्रभु की प्रियतमाओं के चरणों में तुम्हारी इतनी भक्ति है और वज्रनाभ के प्रति इतना प्रेम है। यह स्वाभाविक ही है। तुमने जो वज्रनाभ की प्रसन्नता के लिये व्रज का पुनर्वास तथा महोत्सव आदि का आयोजन किया है, यह तुम्हारे अनुरूप ही है। तुम अपने तन, मन, धन तथा समस्त राज्यपाट वैभव को श्रीकृष्ण का ही समझते हो, यह तुम्हारी विमल बुद्धि का ही प्रमाण है। देखो, भगवान ने हम सभी यादवों को मथुरा से द्वारका भेज दिया था। द्वारका में जाकर सभी ने इहलौकिक लीला समाप्त कर दी। किन्तु ये श्रीकृष्ण पत्नियाँ तथा वज्र सबसे अधिक बड़भागी हैं, कि श्रीकृष्ण ने इन्हें पुनः व्रजवास का सुयोग दिया। तुम व्रज के महत्व को जानते नहीं।"

परीक्षित् ने कहा—"महाराज! जानें कैसे! आप गुरुजन जब जनावेंगे तभी तो जान सकते हैं, कृपा करके हमें कुछ व्रज की महिमा सुनाइये।"

उद्धवजी ने कहा—"देखो, श्रीकृष्ण भगवान् चन्द्र के समान हैं। इसीलिये लोग उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं। चन्द्रमा में से उनकी प्रभा निकाल दी जाय, तो प्रभाहीन चन्द्रमा की क्या शोभा होगी? हमारे इन व्रजचन्द्र की प्रभा हैं श्रीराधिकाजी। चन्द्रमा की शोभा आकाश में ही होती है। आकाश न हो तो चन्द्रमा अपनी आभा कहाँ बखेरे? इसलिये आकाश के स्थान में ही यह व्रज मण्डल है। उनकी लीला भूमि वृन्दावन है। जैसे चन्द्रमा अपनी सोलहों कलाओं से सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण की सोलह कलायें सहस्रों असंख्यों रूप रखकर इस भगवत् लीला धाम को प्रकाशित करती हैं। हे पांडव कुल तिलक राजन्! श्रीकृष्णचन्द्र और प्राकृत चन्द्र की

तुलना ही क्या हो सकती है। प्राकृत चन्द्र तो घटता-बढ़ता रहता है, एकरस नहीं रहता, आकाश में सर्वदा दृष्टिगोचर भी नहीं होता, किन्तु इन श्रीकृष्णचन्द्र में तो ह्रास नहीं, वृद्धि नहीं, क्षय नहीं, घटाव-बढ़ाव नहीं, सदा समरस रहते हैं, सदा सर्वदा एक-सा प्रकाशित रहते हैं। व्रज में वे सदा रहते हैं, व्रज उनका शरीर है, जैसे वे अप्राकृतिक, चिन्मय, नित्य तथा निरंजन हैं, वैसे ही उनका शरीर यह वृन्दावन भी चिन्मय तथा नित्य है। व्रज में और श्रीकृष्ण में तत्वतः कोई भेद नहीं। इस प्रकार विचार करो तो व्रज में रहने वाले सभी व्रजवासी भगवान् के अंग में ही निवास करते हैं। किसी का स्थान कोई अंग है किसी का कोई।"

परीक्षित ने पूछा—"भगवन्! हमारे ये वज्रनाभ भी व्रजवासी ही हैं। भगवान् के किस अंग में इनका वास है?"

उद्धवजी ने कहा—"वज्रनाभ का स्थान भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दाहिने श्रीचरण में है।"

परीक्षित ने पूछा—"जब ये श्रीकृष्ण के दाहिने चरण में स्थित हैं, तब तो इन्हें शोक मोह करना ही न चाहिये, किन्तु ये बड़े दुखी रहते हैं।"

शीघ्रता के साथ उद्धवजी ने कहा—"यही तो उन मायेश की माया है, यही तो उन योगेश्वर की योगमाया का प्रभाव है। इस अवतार में भगवान् ने अपनी योगमाया के प्रभाव से सभी को अभिभूत कर दिया है। वज्रनाभ भी इसी के चक्कर में हैं। जैसे दर्पण पर पर्दा पड़ जाय तो मनुष्य अपने रूप को दर्पण होते हुए भी नहीं देख सकता इसी प्रकार ये वज्र भी व्रज में रहते हुए भी अपने स्वरूप को भूले हुए हैं और अपने को दुखी अनुभव करते हैं। जब तक दर्पण पर से पर्दा नहीं उठता तब तक उसमें स्वरूप दर्शन हो नहीं सकता। पर्दा भी उठ जाय और

उस स्थान में प्रकाश न हो तब भी रूप नहीं दीखेगा। प्रकाश स्वरूप तो श्रीकृष्ण ही हैं, जीवों के हृदयों में श्रीकृष्ण का प्रकाश विद्यमान है किन्तु उस पर योगमाया ने पर्दा डाल दिया है। उस पर्दा को श्रीकृष्ण ही हटा सकते हैं।"

परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! अन्तःकरण के पर्दा को भगवान श्रीकृष्ण कब हटाते हैं?"

उद्धवजी ने कहा—"अभी इसी अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में भगवान् ने अवतार धारण करके समस्त व्रजवासियों के माया के पर्दे को हटा दिया था। जो यादव देवताओं के अंश थे उन्हें उनके अंशियों में भेज दिया। नित्य पार्षदों को लेकर अपने परिकर के साथ क्रीड़ा करते रहे और जो शरणागतप्रपन्न प्रेमीभक्त थे उन्हें अपने मण्डल में मिला लिया। अज्ञान दूर हो गया तभी तो भगवान् के स्वधाम पधारने के अनन्तर प्रकट रूप से व्रज में कोई रह ही नहीं गया। सर्वत्र वन ही वन हो गया।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"तब तो भगवन्! बिना पुनः भगवान् का अवतार हुए, बिना फिर से अट्ठाईसवाँ द्वापर आये किसी का अज्ञान दूर ही न होगा। किसी को स्वरूप की प्राप्ति ही न होगी, किसी को भगवान का दर्शन ही न होगा?"

इस पर उद्धवजी ने कहा—"होंगे क्यों नहीं दर्शन? अवतार के समय के अतिरिक्त भी माया का परदा हटाया जा सकता है किन्तु इसका उपाय दूसरा है वह समय तो चला गया, भगवान तो अन्तर्हित हो गये।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! हमें आप उस दूसरे ही उपाय को बताइये। अवतार काल के अतिरिक्त समय में अज्ञान अन्धकार कैसे दूर हो?"

उद्धवजी बोले—"इसके लिये भी भगवान ने उपाय बना

दिया है। श्रीमद्भागवत में भगवान् ने अपना निजी तेज स्थापित कर दिया है और यह वरदान दिया है कि जो मेरे अवतार काल के अतिरिक्त समय में प्रकाश प्राप्त करना चाहे तो उसे श्रीमद्-भागवत का श्रवण पठन नित्य नियम से करना चाहिये। भाग-वती कथाओं को सुनना तथा पढ़ना चाहिये।"

उद्धवजी कह रहे हैं—"राजन्! श्रीमद्भागवत भगवान् का ही रूप है। जहाँ भगवत् भक्तगण बैठकर प्रेम में विभोर होकर भगवत् सम्बन्धी कथाओं को कहते सुनते हैं वहाँ भगवान् वासु-देव अवश्य ही आ जाते हैं, जहाँ भगवान् के एक श्लोक या आधे श्लोक की भी नित्य नियम से कथा होती है वहाँ गोपीजन वल्लभ राधारमण अवश्य ही अपने परिकर सहित विराजमान हो जाते हैं। राजन्! इस परम पवित्र भारतवर्ष में जन्म लेकर जिन्होंने भागवती कथा का श्रवण पठन मनन नहीं किया उसका जन्म व्यर्थ है।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"श्रीमद्भागवत का श्रवण किन-किन वर्ण के लोगों को करना चाहिये?"

उद्धवजी ने कहा—"इसका श्रवण सभी वर्ण के लोगों को करना चाहिये, ब्राह्मण, क्षत्रिय हों चाहे वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, द्विजबन्धु, अन्यज, म्लेच्छ कोई क्यों न हो इसके श्रवण से सभी का मंगल होगा। इसके श्रवण पठन से ब्राह्मण को विद्या प्राप्त होगी, क्षत्रिय सुनें तो उन्हें विजय मिलेगी, वैश्यों को विपुल धन की प्राप्ति होगी, शूद्रों का स्वास्थ्य सुन्दर होगा और भी जो जिस कामना से इस ग्रन्थ को सुनेगा, उसकी वह कामना निश्चय ही सिद्ध होगी। जो श्रीमद्भागवत का श्रवण करता है वह अपने माता-पिता तथा पत्नी तीनों के कुल का उद्धार करता है। श्रीमद्भागवत श्रवण पठन मनन की तथा नित्य नियम से स्वाध्याय करने की रुचि पूर्वजन्म के अनेकों पुण्यों से प्राप्त होती

है। कलिकाल में इसी भागवत शास्त्र के सहारे से भगवान् का प्रकाश मिलता है। भागवती कथाओं से ही अज्ञानान्धकार दूर होता है। भागवत चरित गान से ही प्रभु प्राप्ति होती है। भगवत् भक्ति को प्राप्त करने का भागवत के अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं। दूर कहाँ जाते हैं, मुझे ही देखिये, भागवत के सेवन से ही मुझे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हुआ। भागवत की ही कृपा से मैं प्रभु का परमप्रिय पात्र बन सका।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! आपको भागवत की प्राप्ति किनके द्वारा हुई।"

उद्धवजी बोले—"मुझे मेरे गुरु भगवान् बृहस्पति ने भागवत ज्ञान प्रदान किया और मेरे गुरु को महर्षि सांख्यायन ने दिया। भागवत के कई प्रकार के अनुष्ठान हैं।"

परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! भागवत के अनुष्ठान कै प्रकार के होते हैं, कितने दिनों में वे सम्पन्न होते हैं?"

उद्धवजी ने कहा—"राजन्! भागवत के साप्ताहिक, मासिक द्विमासिक तथा वार्षिक कई प्रकार के अनुष्ठान हैं। वे सात दिन में, एक मास में, दो मास तथा वर्ष भर में सम्पन्न होते हैं। इस सम्बन्ध की एक प्राचीन कथा है, इससे आपको इस विषय का ज्ञान भी हो जायगा और मेरी भागवत परम्परा को भी समझ जाओगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह कहकर उद्धवजी ने जो कथा सुनायी और अपनी भागवती परम्परा बतायी, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

तबई सबने लखे लतनि तैं ऊधो निकसत।
पीताम्बर वनमाल कमल सम लोचन विकसित॥
कृष्णनाम गुनगान सुनत अतिशय हरषाये।
बज्र परीक्षित् उभय हरषि हिय तैं चिपटाये॥
कहैं—"धन्य तुम धन्य हो, कुरुकुल भूषन भूपवर।
बसैं बज्र बज बननि महँ, प्रभु पतिनिनि सिख सीसधर॥

सप्ताह-भागवत पारायण-राजस

[३२]

तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ।
उपकल्पय तत्सर्वं तावद् यत्साम्परायिकम् ॥*

(श्री भा० २ स्क० १ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

कृष्ण सतत ब्रज बसत अनत छिनकूँ नहिं जावैं ।
राधा सँग नित रास रचै रस सुख सरसावैं ॥
ब्रजई हरि को रूप अंग सबरे ब्रजवासी ।
बाम चरन महँ वज्र योग माया सुधि नासी ॥
कृष्ण कृपा तैं नसै तम, कृष्ण भागवत एक सम ।
सुनी देवगुरु कथा हम, मिट्यो मोह अज्ञान तम ॥

यह सम्पूर्ण संसार त्रिगुणमय है । तीनों गुण ही अखिल जगत् में व्याप्त हैं । गुणातीत तो एकमात्र श्रीहरि ही हैं । श्रीहरि अपने तीन रूप रखकर इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार करते हैं । ब्रह्मा जो उनका रजोगुण का रूप है, उससे सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं, विष्णु जो उनके सत्त्वगुण के रूप हैं,

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"हे कुरुकुल में उत्पन्न राजन् आप घबड़ाते क्यों हैं, अभी तो आपके जीवन के सात दिन शेष हैं । मरना तो आपको सात ही दिनों मे है, इस बीच मे आप अपने परलोक सुधार का पूर्ण उपाय कर लीजिये ।"

उससे उत्पन्न हुई सृष्टि की रक्षा करते हैं और रुद्र जो उनका तमोगुणी रूप है उससे सृष्टि का नाश करते हैं। जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश अवश्यम्भावी है। नाश के बिना उत्पत्ति ही नहीं, उत्पन्न हुए की मृत्यु ध्रुव है। अतः भगवान् की इच्छा के बिना न किसी की उत्पत्ति है, न रक्षा है, और न विनाश ही है, सब श्रीहरि की ही इच्छा से हो रहा है। सभी उन अखिलात्मा के संकेत पर नाच रहे हैं। संसार में ऐसा कोई नहीं है जो इन तीनों गुणों से अछूता हो, आप चाहें अतल, वितल, रसातल, पाताल तक चले जाइये अथवा जनलोक, तपलोक और सत्यलोक तक, सर्वत्र तीनों गुणों का ही विस्तार है। इन तीनों गुणों से भगवत् सम्बन्धी ज्ञान अर्थात् भागवत ही छुड़ा सकती है। भागवत के बिना दूसरा कोई उपाय नहीं। भागवत-ज्ञान-गंगाजी के समान निरन्तर बहता रहता है, जो गंगा की शरण में आता है, उसके समस्त पाप ताप छूट जाते हैं, वह निर्मल परम पावन बनकर प्रभु के पाद पद्मों तक पहुँच जाता है, अतः भागवत-ज्ञान ही इस त्रिगुण संसार से हटाकर त्रिगुणातीत बनाने में समर्थ है। अतः लोक परलोक की समस्त सिद्धियों के लिये भागवत ज्ञान का ही आश्रय लेना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भागवत तत्व भगवत् तत्व के ही सदृश सर्वव्यापक परिपूर्ण तथा असीम है। जैसे हम कहते हैं चरक में आयुर्वेद का गर्भ है। इससे यह तो सिद्ध नहीं हुआ कि चरक में जो है वही आयुर्वेद है। आयुर्वेद एक विस्तृत विद्या का नाम है, उस विषय की पुस्तक एक चरक संहिता भी है, ऐसे सहस्रों संहितायें आयुर्वेद की थीं, काल प्रभाव से वे सब लुप्त हो गयीं। अब चरक मुनि की ही संहिता उपलब्ध है। इसी प्रकार व्याकरणादि सभी शास्त्रों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। महामुनि पाणिनीय कृत अष्टाध्यायी ही व्याकरण नहीं है।

वैयाकरणों में एक पाणिनीय भी हैं, ऐसे अनेकों विद्वानों के बनाये व्याकरण हैं।

इसी प्रकार भागवत तत्व भी एक गम्भीर गहन विषय है। यह भी अपने में परिपूर्ण एक शास्त्र है। इसकी भी बहुत-सी परम्परायें रही होंगी। जैसे पाणिनीय मुनि ने अपने व्याकरण में प्रायः सभी मुख्य-मुख्य वैयाकरणों का पूजा-सत्कार के निमित्त उल्लेख कर दिया है, और प्रचलित सभी व्याकरणों का सार अपनी अष्टाध्यायी में भर दिया है, उसी प्रकार मेरे गुरु के भी गुरु भगवान् व्यासदेव ने भी अपनी संहिता में सभी भागवती संहिताओं का सार भर दिया है।"

शौनकजी ने पूछा—"तो क्या सूतजी! भागवती संहिता भी अनेक हैं क्या? हम तो समझते थे यह श्रीवेदव्यास कृत एक ही श्रीमद्भागवत संहिता है।"

सूतजी कहते हैं—"हाँ, भगवन्! इस समय तो यही एक संहिता उपलब्ध है और इसमें प्रायः सभी सम्प्रदायों का सार आ गया है, वैसे श्रीभागवत की भी सम्प्रदाय भेद से अनेक सम्प्रदायें थीं। जैसे पहिले वेदों की ऋचायें बहुत थीं। वे इतनी बढ़ गयीं कि साधारण लोग उन्हें पढ़ नहीं सकते थे। इसलिये भगवान् व्यासदेव ने एक वेद की चार संहितायें बना दीं। उनमें से मुख्य-मुख्य ऋचायें रख लीं, शेष सब छाँट दीं। वर्तमान समय में जो वेद की चार संहितायें उपलब्ध हैं, उनका व्यास-विभाग हमारे परम गुरु भगवान् कृष्णद्वैपायन ने ही किया है। जितनी संहिता उपलब्ध हैं, वेद उतना ही है। अब भी सभी शाखायें उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु जितना भी उपलब्ध है, मानव ज्ञान के लिये उतना ही पर्याप्त है। इसी प्रकार भागवत की भी दो सम्प्रदायें हैं, इनमें भी अनेकों शाखायें रही होंगी। उन सबका सार लेकर मेरे गुरुदेव ने इस पारमहंस्य संहिता की रचना की।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! श्रीमद्भागवत की मुख्य दो सम्प्रदायें कौन-कौन-सी हैं ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! एक तो शेष सम्प्रदाय है, दूसरी शेषशायी सम्प्रदाय है। एक सम्प्रदाय के प्रवर्तक क्षीरशायी भगवान् लक्ष्मीनारायण हैं और दूसरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक पाताल में जो भगवान् की सहस्रोंफण वाली—संकर्षण मूर्ति है वे हैं। तत्व तो एक ही है, किन्तु सांम्प्रदायिक परम्परा से कुछ भेद हो जाता है। जो वास्तव में भेद नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हमें इन दोनों सम्प्रदायों की पहिले परम्परा बता दीजिये तब आगे बढ़िये।"

सूतजी बोले—"देखिये, भगवन् ! भागवत-तत्व का ज्ञान सभी को नहीं होता, अनेकों जन्मों तक साधना करते-करते जब मनुष्य पूर्ण सिद्ध हो जाता है, तब श्रीमद्भागवत-तत्व की प्राप्ति होती है। भागवत-तत्व का प्रचार, प्रसार तथा प्रकाश भी सभी नहीं कर सकते। इसमें भी भगवान् की प्रत्यक्ष कृपा की आवश्यकता है। पहिले भागवती परम्परा पृथक् थी। किन्तु इस अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में सभी अवतारों के अवतारी परात् पर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रकट हुए। उन्होंने दोनों को एक कर दिया। भगवान् श्रीकृष्ण के तीन प्रधान कृपा पात्र शिष्य हैं। पहिले उद्धवजी, दूसरे विदुरजी और तीसरे मैत्रेयजी। इन्हीं के द्वारा इस समय भागवत का प्रचार-प्रसार हुआ। शेषशायी सम्प्रदाय की परम्परा तो ऐसे है। श्री भगवान् के नाभि कमल से भगवान् ब्रह्माजी हुए। श्रीमन्नारायण ने भागवत तत्व ब्रह्माजी को दिया। ब्रह्माजी ने नारदजी को बताया। नारदजी से व्यासजी ने पाया। व्यासजी ने शुकदेवजी को पढ़ाया। शुकदेवजी से मैंने पाया और मैंने आपको सुनाया। व्यास पुत्र मेरे गुरु परमहंस शुकदेव

के ही नाम से यह संहिता प्रचलित है, इसीलिये इसे पारमहंस्य संहिता कहते हैं।

दूसरी शेष सम्प्रदाय इस प्रकार है। अनन्त संकर्षण भगवान् ने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत् कुमार को इसे पढ़ाया। महामुनि सनत् कुमार के शिष्य हुए परम व्रतशील सांख्यायन मुनि। सांख्यायन मुनि ने इसका विस्तार किया। उनके दो प्रधान शिष्य हुए एक तो बृहस्पतिजी दूसरे व्यासजी के पिता पराशर मुनि। पराशर मुनि के शिष्य तो हुए मैत्रेय मुनि और बृहस्पतिजी के शिष्य हुए उद्धवजी। विदुरजी व्यासजी के पुत्र ही थे। इस प्रकार ये तीनों फिर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के शिष्य हो गये। मैत्रेय मुनि और उद्धवजी ने प्रभास क्षेत्र में भगवान् के स्वधाम पधारने के पूर्व उनके श्रीमुख से भागवत तत्व सुना ही था। और वहीं भगवान् ने मैत्रेय मुनि को आज्ञा भी दे दी थी, कि मेरा परम भक्त उद्धव मेरे इस अन्तिम ज्ञान से वञ्चित न रह जाय, इसे तुम उसको अवश्य सुना देना। सो, ब्रज में विदुरजी की भेंट उद्धवजी से हुई और हरिद्वार में उन्होंने यह ज्ञान मैत्रेय मुनि से सुना। इन दोनों सम्प्रदायों का सम्पूर्ण सार पारमहंस्य संहिता में विद्यमान है। उद्धवजी ने वज्रनाभ को भागवत सुनायी और शुकदेवजी ने महाराज परीक्षित् को सुनायी। उद्धवजी ने एक महीने में कुसुमसरोवर पर सुनायी और राजा परीक्षित् की जीवन अवधि ही सात दिन की थी, इसलिये शुकदेवजी ने उन्हें सात ही दिन में सुनायी। इसीलिये सप्ताह को राजस पारायण कहा है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भागवत सप्ताह की तो आपने बड़ी भारी प्रशंसा की, उसे ही सबसे बढ़कर साधन बताया। अब आप इसे राजस पारायण कह रहे हैं।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज! प्रशंसा तो मैं अब

भी करता हूँ, सर्वश्रेष्ठ साधन तो अब भी बताता हूँ, किन्तु जब पारायणों का तारतम्य करना होगा तब तो उनकी सात्विक, राजस और तामस संज्ञा बतानी होगी। भगवन्! ये गृहस्थी सदा संसारी चिन्ताओं में व्यस्त रहते हैं। इनके पास दीर्घकाल तक अनुष्ठान करने का न समय है, न इतने दिनों तक दीक्षा लेकर कठिन नियमों का पालन ही कर सकते हैं। इसीलिये गृहस्थों के लिये सप्ताह यज्ञ का विधान है, गृहस्थियों की तो बात ही क्या है, ब्रह्मा बाबा को भी सृष्टि की चिन्ता रहती है इसलिये वे भी भागवत का साप्ताहिक ही पारायण करते हैं। वे तो सभी के जनक हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ब्रह्माजी सप्ताह पारायण क्यों करते हैं? इस प्रसंग को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ, सुनिये महाराज! इस सम्बन्ध की एक कथा है। जो कुसुमसरोवर के उत्सव में प्रकट होकर उद्धवजी ने वज्रनाभ तथा राजा परीक्षित् को सुनायी थी। उद्धवजी ने कहा—"राजन्! मेरे गुरु बृहस्पति ने जो एक आज्ञा सुनायी थी, उसे ही मैं आपको सुनाता हूँ, इससे भागवत के सम्प्रदाय का भी ज्ञान होगा और उसके सात्विक, राजस, तामस भेद भी जाने जा सकेंगे। मेरे गुरु ने कहा था उद्धव! इस माया प्रपञ्च के आदि बीज श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण से ही समस्त सृष्टि सम्भव है। किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं कुछ करते-धरते नहीं। जैसे पुत्रों को राज्य-भार सौंपकर पिता वन में जाकर निश्चिन्त होकर तपस्या करते हैं। ऐसे ही श्रीकृष्ण भी सृष्टि का सम्पूर्ण भार अपने पुत्रों ब्रह्मा, विष्णु, महेश पर छोड़कर वृन्दावन में विहारिणी श्री राधाजी के साथ नित्य विहार करते रहते हैं। राग और भोग ही उनके दो कार्य हैं। वृन्दावन में विहार करने से ही वे वृन्दावन विहारी और राधाजी के साथ निरन्तर रमण करने से वे राधारमण

कहाते हैं, फिर भी सृष्टि उन्हीं के संकल्प से तो होती है। उनके संकल्प के बिना तो पत्ता भी नहीं हिल सकता।

एक बार उन मायातीत परम पुरुष परात्पर प्रभु श्रीकृष्ण ने सृष्टि का संकल्प किया। संकल्प करते ही तुरन्त उनके श्री विग्रह से तीन दिव्य पुरुष प्रकट हुए। अर्थात् तीनों गुणों के प्रतिनिधि स्वरूप उनके ही रूप थे। रजोगुण की जिनमें प्रधानता थी उनका नाम ब्रह्मा हुआ। सत्वगुण का जिनमें प्राबल्य था उनका नाम विष्णु हुआ और तमोगुण की प्रधानता से तीसरे पुरुष रुद्र कहाये। ब्रह्माजी ने पूछा—"महाराज! मेरे लिये क्या आज्ञा है?" भगवान् ने कहा—"भैया तुम सृष्टि करो।"

इसी प्रकार विष्णु को पालन करने का कार्य और रुद्रदेव को संहार का कार्य सौंपा गया। भगवान् के नाभिकमल से प्रकट होने के कारण ब्रह्माजी का नाम पद्मसंभव, पद्मयोनि हुआ।

पद्मयोनि ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! आपने मुझे सृष्टि करने का कार्य सौंपा है वह तो शिरोधार्य है, किन्तु मुझे एक बड़ी भारी शंका है?"

भगवान ने कहा—"कौन-सी शंका है, उसे भी बताओ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! सृष्टि करने में तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, आप तो जल में अर्थात् निर्मलता में, मधुरता में सोते रहते हैं। स्वच्छता और मधुरता आपका शयन का अयन है, इसीलिये आप नारायण नाम से विख्यात हैं। किन्तु मुझे सौंप रहे हैं सृष्टि वृद्धि का राजसी काम। काम तो कोई बुरा है ही नहीं। फिर जिसको आप आज्ञा दें, जिससे आप कराना चाहें, उसमें बुरे-भले का भेद ही नहीं हो सकता। निरंतर आपकी स्मृति बनी रहे तो नरक-स्वरग, सुख-दुख, भला-बुरा, ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, सभी समान हैं। आप मुझे कोई ऐसा उपाय बतावें कि इस

रजोगुण के अपने कर्तव्य कार्य को करते हुए भी आपकी स्मृति निरन्तर बनी रहे।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है। हम तुम्हें एक ऐसी ओषधि देते हैं कि अपने कर्तव्य को करते हुए तुम उसमें लिप्त न हो।"

उद्धवजी कह रहे हैं—"सो राजन्! भगवान् ने उन्हें श्रीमद्-भागवत का उपदेश देकर कहा देखिये, ब्रह्माजी! आप इस भागवत को न भूलें, इसका श्रद्धा से सदा सेवन करते रहेंगे तो सृष्टि करते हुए भी आपको कोई बाधा न होगी।"

ब्रह्माजी ने अपने चारों मस्तकों को भगवान् के चरणों पर रखते हुए कहा—"भगवन्! आपने बड़ी कृपा की। मैं इस भागवत का सदा सेवन करूँगा।" यह कहकर भगवान् ब्रह्मा अपने सृष्टि के कार्य में लग गये।"

उद्धवजी कह रहे हैं—"राजन्! ब्रह्माजी ने देखा इस ब्रह्मांड में सात प्रकृतियों के सात आवरण हैं, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंतत्व और महत्तत्व। अतः इन सातों आवरणों को भंग करने की इच्छा से उन्होंने भागवत का सप्ताह पारायण किया। इस सप्ताह के प्रभाव से उन्हें संसारी माया तनिक भी व्याप्त नहीं होती। न कभी उनका मन विचलित होता है, वे निरन्तर भगवत् स्मरण पूर्वक बारम्बार सृष्टि भी करते रहते हैं और उससे पृथक भी बने रहते हैं,जब भी उन्हें अवकाश मिलता है, सप्ताह यज्ञ की विधि से अत्यन्त विस्तार पूर्वक समग्र सामग्री एकत्रित करके भागवत सप्ताह कर लेते हैं। इससे उन्हें नूतन स्फूर्ति मिल जाती है, पुनः! अपने कार्य में जुट जाते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इसीलिये सप्ताह यज्ञ को श्रेष्ठ कहा है। जब भी अवकाश मिले तुरन्त सप्ताह पारायण

कर लेना चाहिये। विशेष कर गृहस्थियों के लिये तो सप्ताह यज्ञ का ही विधान है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने सप्ताह को तो राजसी पारायण बताया। इसका अर्थ यह नहीं है कि इससे रजोगुण बढ़ता है, किन्तु रजोगुणी कार्य करते हुए भी भगवत स्मृति बनी रहती है, भगवान् को भूलते नहीं। अब कृपा करके हमें यह भी बताइये कि सात्विक पारायण कौन-सा है और इसका सर्वप्रथम अनुष्ठान किसने किया?"

सूतजी कहते हैं—"भगवन्! सत्वप्रधान देव तो श्रीविष्णु ही हैं, सात्विक पारायण तो वे ही करते रहते हैं। जिस प्रकार बृहस्पतिजी ने उद्धवजी को बताया और उद्धवजी ने कुसुमसरोवर पर प्रभु पत्नियों के समक्ष परीक्षित् तथा वज्रनाभ को सुनाया, उसी प्रसंग को मैं आपको सुनाता हूँ। आप सावधान होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

संकरसन सन सुनी भागवत सनत कुमर ने।
तिनि सांख्यायन दई पाइ तिनिते सुरगुरु ने॥
सुरगुरु मोकूँ दई कथा इक सुघर बनाई।
करयो कृष्ण संकल्प सृष्टि होवे सुखदाई॥
ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रभु, भये प्रकट तनते तुरत।
रचना आयसु अज दई, पूछे अज—रज कस तरत॥

ऋतु अथवा मास पारायण-सात्त्विक

(३३)

देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः ।
यच्छन्ति कामान् गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्तनात् ॥*
(श्री भा० १२ स्क० १२ अ० ६१ श्लो०)

छप्पय

कृष्ण भागवत दई कह्यो सेवन नित करि है ।
तो करतब करि करम, रजोगुन तैं तुम तरि हैं ॥
प्रभु आयसु सिर धारि, कर्‌यो सप्ताह परायन ।
रचना करि रज सहित, तऊ भूले न नरायन ॥
कह्यो—विष्णु ! पालन करो, प्रश्न करयो सत विजय हित ।
तिनहु भागवत हरि दई, कह्यो लगाओ चित सतत ॥

संसार के सभी प्राणी गुणों की डोर में बँधे हैं। सभी प्रकृति या स्वभाव से विवश होकर कार्य करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति रजोगुण के बिना हो नहीं सकती। चिन्ता और अहंता ये रजोगुण के धाम हैं। मुझे ऐसा करना है। यदि ऐसा हो गया तो

---

* सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस श्रीमद्भागवत के सुनने से, कीर्तन करने से, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता गण, मुनि, सिद्ध, पितर, मनु तथा अन्य राजागण कहने सुनने वाले दोनों के सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण कर देते हैं, उनके सभी इच्छित पदार्थों को दे देते हैं।"

इसका क्या परिणाम होगा, ये ही अहंता और चिंता के भाव रजोगुण का लक्षण हैं, शीघ्र से शीघ्र कार्य हो और बहुत से बहुत हो। इसी चिंता में पड़कर ब्रह्माजी सृष्टि करते हैं, कि शीघ्र से शीघ्र प्रजा की वृद्धि कैसे हो। ब्रह्माजी की बात छोड़ दीजिये, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ही नहीं प्रति दिन, प्रति क्षण सात्विकी, रजोगुणी तथा तमोगुणी भाव आते हैं, प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश बनना पड़ता है। जब कोई संतानों को या किसी भी वस्तु को बनाता है, तब वह ब्रह्मा का कार्य रहता है, बनाकर उसका पालन करता है, विष्णु का कार्य करता है, जब क्रोध करके या अन्य और किसी कारण से उसे नष्ट करना चाहता है, बनी वस्तु को मिटा देता है वह रुद्र बन जाता है। पहिले मनुष्य पेड़ों से छाल ले आते थे, शीत तथा लज्जा निवारण कर लेते थे, अहंता बढ़ी, वस्त्र अच्छा सुन्दर होना चाहिये। कपास पैदा करने लगे। उसका हाथ से वस्त्र बनाया, पहिना, किन्तु चिन्ता का तो अंत नहीं इससे भी अच्छा बने, इससे भी शीघ्र बने। इसके लिये चरखा बना करघा बना। इतने पर भी संतोष न हुआ, कल कारखाने बने, कलों का यन्त्रों का युग आ गया। क्षण भर में अधिक से अधिक, सुन्दर वस्त्र तैयार हो। यही बात सबके विषय में समझ लो, यात्रा के लिये भगवान् ने पैर दिये थे, जहाँ चाहो चले जाओ। किन्तु रजोगुणी लोगों ने सोचा शीघ्र से शीघ्र कम समय में दूर से दूर स्थान पर पहुँच जायँ। अपने पैरों से संभव न हो सका तो बैलों और घोड़ों के पैरों से भगने लगे, वे भी सजीव प्राणी थे, मर्यादा में ही दौड़ सकते थे, उन्हें श्रम क्लम होता था, तब निर्जीव घोड़ा निर्जीव गाड़ी वाष्प तैल की सहायता से बनायी, फिर वायुयान बनाया, इतने पर भी संतोष नहीं। यह रजोगुण कहाँ ले जाकर पटक देगा, प्राणी को पता नहीं! यह भौतिक

वस्तुओं के प्रति यह शीघ्रता तथा चिन्ता हमें अधिकाधिक परमार्थ से दूर ले जाती है।

परमार्थ पथ में भी जो राजसी स्वभाव के लोग हैं, शीघ्रता करते हैं। शीघ्र-शीघ्र उल्टी सीधी पूजा कर लेंगे, जैसे तैसे माला फेर लेंगे। उन्हें सब काम शीघ्रता से चाहिये और अधिक फल देने वाला चाहिये। पूरी भागवत का पारायण सात ही दिनों में हो जाय, इससे जितना चाहिये उतना आनन्द आता नहीं, किन्तु मानसिक सन्तोष हो जाता है—"अच्छा है, इस झंझट में फँसे रहने पर एक शुभ काम तो हमसे बन ही गया।"

सात्विक कार्य में तत्परता और लगन तो रहती है, साथ ही गंभीरता भी होती है। सात्विक प्रकृति के लोग न बहुत चिन्ता करते हैं न अत्यन्त शीघ्रता ही। धीर गंभीर भाव से उस कार्य को प्रेम पूर्वक सम्पन्न करेंगे। उनके पारमार्थिक कार्य भी बहुत तड़क-भड़क दिखावे और प्रदर्शन से रहित होते हैं। उनमें यह भाव नहीं होता कि जैसे तैसे इस कार्य से शीघ्र ही पिंड छूट जाय, वे ठिकाने से ठोस कार्य करते हैं और उन्हें उसमें रस भी विशेष आता है इसीलिये जहाँ तक हो, पारमार्थिक कार्यों को घरबार की चिन्ता छोड़कर, अहंता ममता को कम करके, शीघ्रता की ओर दृष्टि न रखकर आनन्द आवे, इस भावना से सात्विक ही कार्य करना चाहिये। सात्विक कार्यों में अत्यधिक आनन्द आता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! बृहस्पतिजी ने जो अपने शिष्य उद्धवजी को कथा सुनायी थी, उसी को उद्धवजी वज्रनाभ और परीक्षित् को सुना रहे हैं।

जब भगवान् ने ब्रह्माजी को भागवत देकर विदा कर दिया और वे उसका सप्ताह विधि से पारायण करने लगे तब श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने ही अपर स्वरूप विष्णु भगवान् से कहा—

"विष्णो! तुम ब्रह्माजी द्वारा की हुई सृष्टि का पालन करो। सृष्टि में विघात करने वाले जो असुर हों उनका विनाश करो। नाना अवतार लेकर शिष्टों का पालन और दुष्टों का दमन करो।"

भगवान् विष्णु ने कहा—"देव! आप मुझे बड़ा कठिन कार्य सौंप रहे हैं। सृष्टि को हानि पहुँचाने के लिये असुर तो उत्पन्न होंगे ही, मुझे उनसे निरन्तर लड़ना पड़ेगा। मार धाड़ करनी पड़ेगी, नाना ऊँच नीच योनियों में अवतार लेना पड़ेगा। पालन का कार्य है तो सत्त्व गुण का। कार्य फिर भी सत्त्व गुण हो रजोगुण अथवा तमोगुण ये सब हैं तो बन्धन के ही हेतु, इसलिये आप मुझे इतना कठिन कार्य क्यों सौंप रहे हैं?"

श्रीकृष्ण ने कहा—"देखो जी, विष्णु देव! यह सृष्टि तो आनन्द के लिये क्रीड़ा के लिये है। इसे अज्ञ जन दुःख रूप अनुभव करते हैं। तुम इतने कार्य करना—

१—संसार में दो मार्ग हैं, प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग तो वैदिक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा सम्पन्न होता है और निवृत्ति मार्ग ज्ञान के द्वारा। तीसरा उपासना या भक्ति मार्ग है। आप इन सभी मार्गों की मर्यादा बाँधे रखो, सभी इन मार्गों का अधिकारानुसार अनुसरण करें।

२—यह सृष्टि धर्म पर ही स्थित है। जब-जब पृथ्वी पर धर्म घट जाय और अधर्म की वृद्धि हो जाय तो तुम समय-समय पर नाना अवतार धारण कर धर्म की स्थापना किया करो।

३—जो सकाम कर्म करने वाले हों, भोगों की इच्छा से नाना प्रकार के यज्ञ याग करते हों, उनको उनके भावों और विधि के अनुसार यज्ञ अनुष्ठानों का फल दिया करो।

४—जो लोग मुमुक्षु हों, मुक्ति की इच्छा से-संसार बन्धनों से छूटने की भावना से-साधन करते हों उन्हें आप सालोक्य,

सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और कैवल्य ये पाँच प्रकार की मुक्ति दिया करें।

ये सभी कार्य सृष्टि रक्षा के लिये आवश्यक हैं, आप इन सब को करने में समर्थ हैं, अतः प्रजा पालन के प्रतिष्ठित पद को आप सम्हालें और सृष्टि विस्तार कार्य में प्रेम पूर्वक योग दें।"

भगवान् विष्णु ने कहा—"प्रभो! यह सब तो सत्य है, इन सब कार्यों को तो मैं कर लूँगा, भोगेच्छु को भोग तथा मोक्ष की इच्छा रखने वालों को मुक्ति तो मैं प्रदान करता ही रहूँगा। किन्तु एक भक्त आपके और भी अटपेट स्वभाव के होते हैं, जो भोगों की तो बात ही क्या देने पर भी पाँच प्रकार की मुक्ति को भी नहीं चाहते। उनसे मैं कैसे सुलझूँगा? उनको क्या देकर प्रसन्न करूँगा?"

श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा—"उनके लिये भी मैं उपाय करूँगा, उनके सन्तोष के लिये भी तुम्हें अमूल्य वस्तु दूँगा।"

विष्णु भगवान् बोले—"महाराज! एक बात और रह गयी। आप हमें इतने उत्तरदायित्व पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित तो करते हैं, किन्तु काजर की कोठरी में कैसो हू सुजान चला जाय, कहीं न कहीं कालिख तो लग ही जाती है, इस परम-सात्विक कार्य को करते रहते हुए भी अपनी रक्षा कैसे कर सकूँगा और मेरी बगल में बैठी हुई ये मेरी बहू रानी-मेरी आद्या शक्ति-लक्ष्मीजी की भी रक्षा कैसे होगी, इसका भी उपाय बताइये। इस सत्त्व गुण में भी हम निर्लिप्त बने रहें, इसकी भी समुचित व्यवस्था कर दीजिये।"

श्रीकृष्ण भगवान् बोले—"विष्णुजी! आप इसकी तनिक भी चिन्ता न करें। यह लीजिये 'भागवत शास्त्र' इसका आप नियमित पाठ किया करें। इसके पाठ से आपके समस्त मनोरथ

पूर्ण हो जायँगे। आपके मन में कोई भी चिन्ता न रहेगी और दुर्घट से दुर्घट कार्य सहज में हो जायँगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी से आज्ञा लेकर भगवान् विष्णु अपने पद पर प्रतिष्ठित हो गये और भागवती कथा को नित्य नियम से पढ़ने सुनने लगे, इससे उन्हें प्रजा पालन में तनिक भी श्रम नहीं करना पड़ता। सब कार्य आप से आप हो जाते हैं, दूसरे लोग जिसे आपत्ति समझते हैं, वह उनके लिये वरदान सिद्ध होता है। एक बार भगवान् का सिर कट गया था, भागवत ज्ञान के कारण उससे भी लोक का कल्याण ही हुआ, वह भी प्रजा पालन में सहायक ही हुआ।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! विष्णु भगवान् का सिर किसने काट लिया, यह तो आप बड़ी ही अद्भुत बात सुना रहे हैं। कभी भी पराजित न होने वाले अपराजित विष्णु के सिर काटने का साहस किसका हुआ? कृपा करके इस कथा को हमें सुनाकर तब आगे का प्रसंग कहिये।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज! आप इतना आश्चर्य क्यों कर रहे हैं, किसी ने उनका सिर काटा थोड़े ही था, वह तो उन्होंने अपने आप अपना सिर धड़ से पृथक कर दिया। खेल करने को ऐसा नाटक रचा। यह सब मायेश की माया है, लीला धारी की लीला है। खिलाड़ी का खेल है। सुनिये, मैं आपको इस कथा को अत्यन्त ही संक्षेप में सुनाता हूँ।

एक बार एक बड़ा ही बली असुर उत्पन्न हुआ उसका नाम था हयग्रीव। घोड़े की भाँति इसका मुख था। उसने लक्षों वर्ष तक घोर तपस्या की। ऐसा विकट तप किया कि महा माया जगदम्बा का सिंहासन हिल उठा। उसने शक्ति की ही आराधना की थी। उसके तप के कारण भगवती प्रसन्न हुईं और उसके सम्मुख प्रकट होकर वर माँगने को कहा।

मुनिवर ! ये असुर लोग इस शरीर से ही ममता रखते हैं, वे इसे ही सब कुछ समझ कर इसको नित्य बनाना चाहते हैं, जो स्वभाव से अनित्य, नाशवान्, परिणाम शील तथा क्षयिष्णु है वह अजर अमर कैसे हो सकता है ? किन्तु अधर्म को धर्ममान कर कार्य करना यही तो आसुरी भाव है। इस भाव से की हुई तामस तपस्या भी तामसी गति देती है। किन्तु तपस्या का फल तो सदा शुभ ही होता है, जैसे भाव से की जाय, उसी भाव से भगवान् के दर्शन होते हैं। लड़ने की भावना से-विजय की इच्छा से-यह तप होता है, उनसे भगवान् आकर लड़ते हैं और मार कर उन्हें गति देते हैं। उस असुर ने भी भगवती से यही वर माँगा—"देवि ! मैं अजर अमर हो जाऊँ, किसी से भी न मरूँ।"

देवि ने कहा—"भैया ! जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्य है। तुम कोई ऐसा वर माँगलो, जिससे किसी प्रकार तुम्हें मृत्यु की संभावना ही न हो।"

उसने सोचा—"मेरा घोड़ा का सा मुख है, ऐसा संसार में दूसरा कौन होगा। मैंने तो आज तक ऐसा कोई प्राणी देखा नहीं। यही सोचकर उसने कहा—"अच्छा, और किसी से मेरी मृत्यु न हो, यदि हो भी तो मेरी ही आकृति के मेरे ही नाम के व्यक्ति से हो।"

यह सुनकर देवी ने कहा—"अच्छा, ऐसा ही होगा। यह कह कर वे अन्तर्धान हो गयीं। अब तो वह वरदान के मद में भरकर सर्वत्र मन मानी करने लगा। अपने को अजर अमर अपराजित मानकर प्रजा को पीड़ा देने लगा।

भगवान् विष्णु ने जब सुना दक्षिण में असुर बहुत उपद्रव कर रहे हैं, तो वे उनसे लड़ने गये। सहस्रों वर्षों तक युद्ध करते रहे, किन्तु बलवान असुर पराजित नहीं हुए। इतने दिन लड़ते-

लड़ते विष्णु भगवान् भी श्रमित हो गये थे, उन्होंने सोचा—"तनिक कहीं एकान्त में चल कर निद्रा ले लें, अपने श्रम को मिटा लें, तब फिर युद्ध करेंगे।"

यह सोचकर वे रामेश्वर के आगे धनुषकोटि स्थान में आकर अपने धनुष की आड़ लगाकर लेट गये। श्रमित तो थे ही। पड़ते ही गहरी निद्रा आ गयी और सुख पूर्वक सो गये। इधर इन्द्रादि देवों ने कोई यज्ञ करना चाहा, उसमें भाग लेने के लिये भगवान् को निमन्त्रित करने बैकुंठ गये। वहाँ भगवान् को न देखकर उन्होंने लक्ष्मीजी से पूछा—"माताजी! भगवान् कहाँ गये हैं?"

लक्ष्मीजी ने कहा—"भैया! उन पर दूसरा काम ही क्या है। नित्य लड़ाई झगड़ा करना और बहुरूपियों की भाँति नये-नये विचित्र-विचित्र रूप बनाना। अब मुझे तो पता है नहीं कहाँ गये। यहाँ से अपना दिव्य शारंग धनुष लेकर सुसज्जित होकर कहीं गये थे। किसी से लड़ाई झगड़ा कर रहे होंगे। तुम लोग जाकर खोज करो। मुझे भी सूचना दे देना।"

सब देवता यह सुनकर ब्रह्माजी के पास गये, ब्रह्माजी शिवजी के पास गये। अब वह अन्वेषण मंडल भगवान् की खोज में पर्यटन करने लगा। खोजते-खोजते समुद्र के किनारे देखा, भगवान् धनुष का तकिया लगाकर आनन्द से योगनिद्रा में पड़े घुर्राटे भर रहे हैं। देवताओं ने आपस में उच्च स्वर से बातें आरम्भ कर दीं, कि भगवान् हल्ला सुनकर जाग पड़ें। किन्तु भगवान् इतने थके थे, कि टस से मस नहीं हुए। सब देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा—"महाराज! आप ही भगवान् को जगाइये।" ब्रह्माजी ने शिवजी पर बात टाल दी। अब सब शिवजी के पीछे पड़े। शिवजी ने कहा—"थके आदमी को गहरी निद्रा से जगाने

पर ब्रह्महत्या का पाप लगता है। मैं अपने सिर पाप क्यों लूँ, मैं भैया! नहीं जगा सकता।"

अब सब फिर ब्रह्माबाबा के चारों मुखों की ओर देखने लगे। ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा देखो, मैं एक उपाय करता हूँ, संभव है कुछ सफलीभूत हो जाय।" यह कहकर उन्होंने दीमकों को उत्पन्न किया और उनसे कहा—"तुम भगवान् की निद्रा भंग करो।"

दीमकों ने कहा—"महाराज! सब काम स्वार्थ से होता है। हमारा क्या स्वार्थ सधेगा। हम क्यों देव की निद्रा भंग करके पाप और अपयश की भागिनी बनें।"

ब्रह्माजी ने उन्हें लालच देते हुए कहा—"अरे, इसमें कौन-सा पाप है, परोपकार का कार्य है, देवताओं का काम है, तुम्हें भी यज्ञ में भाग मिल जायगा। अग्नि से बचा भूमि पर पड़ा हवि तुम्हें भी खाने को मिल जाया करेगा।"

प्राणी भोजन के लालच में पड़कर न जाने क्या-क्या पाप कर डालता है, दीमक भी जाकर भगवान् के श्रीअंग पर रेंगने लगीं। किन्तु भगवान् वैसे ही निद्रा का मीठा-मीठा सुख लेते रहे। अब दीमक वहाँ भी अपना भोजन खोजने लगीं। धनुष तो अभेद्यवानु का बना था। उसकी ज्या डोरी खाने योग्य थी। दीमक उसे ही खाने लगीं। खाते-खाते जब डोरी टूटी तो धनुष घोर शब्द करता हुआ छूटकर आकाश में उड़ा। उसके साथ ही भगवान् का सिर भी धड़ से पृथक् होकर न जाने कहाँ उड़ गया। भगवान् उठकर खड़े हुए। हाथ से टटोला धड़ पर सिर नहीं। देवता हाय-हाय करने लगे, ब्रह्माजी रोने लगे। ऐसी रोवा-रार मची सर्वत्र कोलाहल मच गया। लक्ष्मीजी को भी समाचार मिला। वे तो सब इनकी लीला जानती ही थीं कि ये कभी सूअर बन जाते हैं, कछुआ, मछली, कभी आधे पुरुष आधे सिंह।

अब भी कोई नाटक रचना चाहते होंगे, किन्तु सबको रोते देखकर वे भी हाय-हाय करने लगीं।

ब्रह्माजी ने हड़बड़ाहट के साथ कहा—"शीघ्रता से कहीं खोजकर भगवान् का सिर लाओ, मैं अभी इसे धड़ पर जमाता हूँ।" यह सुनकर पवन देव दौड़े, सूर्य, चन्द्रमा, अश्विनीकुमार सभी ने खोज की। सिर का पता नहीं। लक्ष्मीजी के पिता समुद्र ने कहीं चुराकर उसे ऐसा छिपा दिया कि किसी को पता ही न चला। उसी समय दैवयोग से एक घोड़ा वहाँ आ गया। ब्रह्माजी ने तुरन्त उस घोड़े का सिर काटकर भगवान् के धड़ पर जमा दिया। अब भगवान् घोड़े की भाँति सिर हिलाने लगे।

अब तक तो लक्ष्मीजी झूठ-मूठ रो रही थीं, भगवान् को सिर हिलाते देखकर वे अपनी हँसी रोक न सकीं और हँसते-हँसते हाथ जोड़कर बोलीं—"भले बने हो नाथ।"

भगवान् ने तुरन्त इधर-उधर देखा, देवता स्तुति कर रहे थे, उनकी ओर दृष्टि भी नहीं डाली। हाथ में धनुष लिया, उसकी डोरी चढ़ाई और चल दिये देवताओं के शत्रु हयग्रीव दैत्य के समीप। वहाँ जाकर उसे युद्ध में मारा। मारकर तुरन्त वैकुण्ठ में आकर अपनी विजय का समाचार लक्ष्मीजी को सुनाया। लक्ष्मी ने अपनी साड़ी मुख में ठूँसते हुए कहा—"जय हो बहुरुपिया भर्तार की। देवता जी! कभी मेरा मुख घोड़ी का मत बना देना।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"देवि! यह तो मेरी लीला है, खेल है, क्रीड़ा है, मनोविनोद है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो! इतना युद्ध, लड़ाई, झगड़ा करने पर भी भगवान को इसका लेशमात्र भी आभास नहीं होता। इतने विचित्र विचित्र रूप रखने पर भी उनके यथार्थ स्वरूप में,

पूर्ण ज्ञान-विज्ञान में लेश मात्र की भी विकृति नहीं होती, यह भागवती कथा—"के पारायण का ही प्रभाव है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् के यहाँ कौन कथा कहता है, कौन सुनता है, कितने दिन का पारायण होता है ?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! सच्ची बात बताऊँ श्रोता वक्ता जब दोनों ही एक मन प्राण के होते हैं, तभी कथा में अत्यधिक आनन्द आता है। कथा में रस तो श्रोता वक्ताओं का अनुराग ही निर्माण करता है। यों कथा कहनी पड़े तब तो जो आ जाय उसी को सुनानी पड़ती है। जिनका कथा कहने का ही काम है, जैसे मेरा है उन्हें तो कोई मन से सुने या बिना मन से कहनी ही पड़ती है, अपना कर्तव्य पालन करना ही पड़ता है। कर्तव्य में कठोरता होती है, प्रेम में, अनुराग में, स्नेह में, प्यार में, दुलार में सरसता होती है, आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ता है। वह कथा क्या है, ब्रह्मानन्द अमृत का अपूर्व अद्भुत सागर है।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"तो क्या सूतजी ! हम आपकी कथा को प्रेम से नहीं सुनते ? हमें तो आपकी कथा में बड़ा आनन्द आता है।"

सूतजी ने कहा—"नहीं महाराज ! मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि आप प्रेम से नहीं सुनते। आप सब भी बड़े अनुराग से सुनते हैं, मैं भी कोई व्यवसायी कथावाचक की भाँति कथा नहीं कहता। किन्तु भगवन् ! सरसता का अनुराग एक अपूर्व ही वस्तु है। आप तो ठहरे बाबाजी, अब आपको क्या बतावें। भगवन् ! यदि पति पत्नी में प्रगाढ़ प्रेम भरित हृदय से पति अपनी पत्नी को कथा सुनावे तो उस रस के सम्मुख सभी रस तुच्छ हैं। यदि कहीं पत्नी वक्ता बन के बैठ जाय और पति को श्रोता बनाकर भागवती कथा सुनावे तब तो अहा ! क्या

पूछना है, उस कोकिल कंठ कान्ता की कमनीय कथा के आनन्द की। यह सौभाग्य तो विष्णु भगवान् को ही प्राप्त है। भगवान् नित्य नियम से मासिक पारायण करते हैं। एक महीने में स्वयं कथा कहते हैं, लक्ष्मीजी श्रद्धा पूर्वक सुनती हैं। किन्तु जब भगवान् लक्ष्मीजी से कथा कहने को कहते हैं, उन्हें वक्ता बनाकर स्वयं श्रोता बनकर सुनते हैं, तब उसमें एक ऋतु अर्थात् दो महीने लगते हैं। लक्ष्मीजी की कथा के सम्मुख भगवान् की कथा फीकी पड़ जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! लक्ष्मीजी को उसी कथा में दो महीने क्यों लग जाते हैं? भगवान् विष्णु से बढ़कर आनन्द-प्रद उनकी कथा क्यों होती है?"

हँसते हुए सूतजी ने कहा—"भगवन्! आपने तो कभी गृहस्थी की नहीं, बालकपन से ही बाबाजी बन गये हो। यदि गृहस्थ में कुछ दिन भी रहे होते तो आप फिर यह प्रश्न ही न करते। गृहस्थी को संसार का जितना ऊँच-नीच अनुभव होता है वह बिना स्वयं गृहस्थी बने किसी दूसरे को होना असंभव है। महाराज! कितना भी समृद्ध, कितना भी साधन सम्पन्न गृहस्थी क्यों न हो उसे प्रतिक्षण कोई न कोई चिन्ता लगी ही रहती है। माला फेरेगा, तो चिन्ता, भोजन करेगा तो चिन्ता। यह प्रतिष्ठा का पद, कर्तव्य का उत्तरदायित्व ऐसा होता है, कि इच्छा न रहने पर भी उसकी चिन्ता करनी पड़ती है। पति को घर के बाहर की चिन्ता रहती है और पत्नी को घर के भीतर की चिन्ता होती है, इसीलिये उसका नाम गृहिणी है। दोनों के क्षेत्र पृथक् रहने पर भी हृदय एक ही रहता है, गृहिणी पति के बिना पूछे बाहर के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती और पति बिना पत्नी की अनुमति के घर के कार्यों को नहीं पूछता। वह घर के कामों से सदा निश्चिन्त बना रहता है, बुद्धिमती पत्नी पति को घर की

चिन्ताओं से सदा मुक्त बनाये रखती है। वह सोचती है ये तो बाहर की अपने पद प्रतिष्ठा, अधिकार की ही चिन्ता में मग्न रहते हैं, घर में आकर इन्हें अधिक से अधिक सुख पहुँचाना चाहिये, जिससे बाहर की चिन्ताओं को भूल जायँ। इसी प्रकार सत्पति सोचता है, इसे घर में ही बहुत कार्य हैं, सबके भोजन का प्रबन्ध करना, बाल-बच्चों की देख-देख, आय-व्यय लेखा-जोखा, अतिथि आगतो स्वागत सत्कार इसी में व्यस्त रहती है, इसे हम बाहरी झंझटों को सुनाकर और चिन्ता मग्न क्यों करें। इसीलिये वह बाहर के झगड़े चिन्ता सम्बन्धी बातों को भर सक सुनाता नहीं। प्रसन्नता की ही बातों को सुनाकर उसे प्रसन्न बनाये रखना चाहता है। पुरुष का कार्य क्षेत्र विस्तृत है, वह अपना दायित्व अधिक समझता है, इसीलिये उसे पत्नी की अपेक्षा चिंता अधिक रहती है। स्त्री का कार्य क्षेत्र सीमित है। उसे तो अपने पति को स्वस्थ प्रसन्न रखना है। पति स्वस्थ प्रसन्न होंगे, तो धन भी आवेगा, सन्तानें भी होंगी, वे भी सुखी रहेंगी, घर भी भरा पूरा आनन्द उत्साह से परिपूर्ण रहेगा।

भगवान् विष्णु तो एक अधिकारारूढ़ हैं। यद्यपि वे सर्व समर्थ हैं। फिर भी उन्हें जगत् के पालन की चिन्ता करनी पड़ती है। इसलिये वे एक महीने में अपनी कथा समाप्त कर देते हैं, किन्तु लक्ष्मीजी को तो ऐसी कोई चिन्ता है नहीं, उन्हें तो अपने परमेश्वर पति को ही प्रसन्न करना है, जब वे अपने सुरीले कोकिल कंठ से कथा कहती हैं, और अपने पति को सर्वदा सम्मुख बैठे देखती हैं, तो उनका उत्साह और भी अधिक बढ़ जाता है, पूरी व्याख्या के साथ कहती हैं, उस समय कथा की सुन्दरता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, राम रस भरकर छलकने लगता है। भगवान् भी चाहते हैं सदा ये ही बाँचा करें, किन्तु वे अपने पति के मुख से भी सुनना चाहती हैं। अतः मासिक पारायण

सात्त्विक और ऋतु पारायण दो मास का पारायण—परम सात्त्विक माना गया है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो। यह मैंने सात्त्विक ऋतु-तथा मासिक पारायण का माहात्म्य आपसे कहा, अब वार्षिक तामस पारायण का माहात्म्य जैसे अपने गुरु के मुख से सुनकर उद्धवजी ने कहा था उसे आपसे कहता हूँ। आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

पाइ भागवत विष्णु करें सब जग को पालन।
वक्ता बनि के स्वयं मासमर करें परायन॥
श्रोता लक्ष्मी बनें कथा हरि बाँचि सुनावें।
वक्ता लक्ष्मी होहिँ कथा ऋतमहँ सब गावें॥
हरि पालन चिन्ता निरत, लक्ष्मी खट पट तें रहित।
तातें तिनकी कथा में, अतिशय रस आनंद बढ़त॥

वर्ष-भागवत पारायण-तामस

[३४]

निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयम्
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥*
(श्री भा० १ स्क० १ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

कहें रुद्रतें कृष्ण—करो 'संहार दयानिधि ।
बोले शिव—संहार करूँ तम तरूँ कवन विधि ॥
दई भागवत कह्यो जाइ श्रद्धातें सेवें ।
विजय तमोगुन करें, प्रलय जग को कर देवें ॥
पारायन हर बरष भर, करयो मुक्ति पदवी लही ।
उद्धव जी ते देव गुरु, कथा अलौकिक यह कही ॥

ऊपर से देखने में तमोगुण और सत्वगुण में कुछ अन्तर नहीं होता। योग निद्रा और तमोगुणी निद्रा साधारणतया एक

---

* व्यासजी कह रहे हैं—"हे भावुक भक्तो ! श्रीमद्भागवत अमृत रस वाला अत्यन्त मीठा पका फल है। यह वेद रूपी कल्पवृक्ष पर लगा था, शुकदेव रूप तोता के मुख से (चोंच मारने से) पृथ्वी पर गिर पड़ा है, कथा रूपी अमृत रस से परिपूर्ण है। ऐसे दिव्य हरि कथा रूप अमृत रस को तुम लोग पीते रहो, पीते रहो, मरण पर्यन्त पीते रहो।"

सी ही दिखाई देती है। सत्वगुणी भी सांसारिक झंझटों से दूर रहकर सत्व प्रधान भगवान् की आराधना में तल्लीन रहता है और तमोगुणी भी आलस्य प्रमाद में पड़ा रहता है। सत्व-गुण युक्त प्राणी भी किसी कार्य को शीघ्रता से अधिक की लालच में पड़कर उतावले पन से नहीं करता और तमोगुणी तो उससे भी अधिक दीर्घसूत्री होता है, किन्तु दोनों की आन्तरिक स्थिति में आकाश पाताल का अन्तर होता है। एक के भीतर प्रकाश है, दूसरे के भीतर अन्धकार। एक ज्ञान के कारण विरत है, दूसरा तमोगुण के प्रभाव से कर्तव्य विमुख है। एक में रजो-गुणी चंचलता नहीं, दूसरे में प्रमाद आलस्य वश कार्य करने की स्फूर्ति नहीं। एक कार्य को सोच समझकर गंभीरता से करता है, दूसरा करना चाहिये इसलिये थोड़ा-सा कर लो, कल फिर देखा जायगा। इस कारण से विलम्ब करता है। इसीलिये कहा है, कि तमोगुणी को सीधे सत्वगुण का अनुकरण न करना चाहिये। पहिले उसे रजोगुण का अनुसरण करना चाहिये, फिर सत्व का सेवन करना चाहिये। जिसमें कार्य करने की क्षमता होगी, स्फूर्ति होगी, वही तो शनैः-शनैः रजोगुणी वृत्ति को छोड़-कर सत्व की साधना में समर्थ हो सकता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! देवगुरु बृहस्पति से सुनी कथा को उद्धवजी जैसे राजा परीक्षित् तथा वज्रनाभ को कुसुम-सरोवर पर सुना रहे हैं उसी प्रसंग को मैं आपसे कह रहा हूँ। जब ब्रह्मा और विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण से भागवत-तत्व लेकर चले गये तो भगवान् ने रुद्रदेव से कहा—"हे सदाशिव ! तुम इस सम्पूर्ण सृष्टि का संहार करो।"

रुद्र ने कहा—"देव ! आप यह क्या आज्ञा दे रहे हैं। विष वृक्ष को लगाकर बुद्धिमान उसको अपने हाथों से नहीं काटते !

आप इस इतने बड़े जगत् की रचना करके उसके नाश की आज्ञा मुझे क्यों दे रहे हैं ?"

भगवान् ने कहा—"यह संसार खेल है। क्रीड़ा के लिये मैं इसे बनवाता हूँ। जैसे बनाना खेल है वैसे ही इसका बिगाड़ना भी खेल है। बच्चे बड़े प्रेम से बड़े आग्रह से खिलौना लेते हैं, कोई माँगता है तो नहीं देते, सावधानी से रक्षा करते हैं। कुछ देर उससे खेलते रहते हैं फिर उसे पत्थर पर पटक देते हैं। फट्ट करके वह फूट जाता है, तो हँस पड़ते हैं। उस समय उसे लेना भी खेल था, कुछ देर उसकी रक्षा करना भी खेल था और पत्थर पर पटक कर फोड़ देना भी खेल ही है। इसलिये संहार करने में कोई अनर्थ भी नहीं। तुम्हें कोई दोष भी न देगा, तुम्हारी अपकीर्ति भी न होगी, तुम्हें कोई अमंगलकारी भी न कहेगा। प्रत्युत तुम्हारे नाम मङ्गलमय, शंकर, शिव, भोलेनाथ, सदाशिव तथा देवाधिदेव महादेव ऐसे प्रसिद्ध होंगे।"

रुद्रदेव ने पूछा—"किस प्रकार सृष्टि का संहार करना पड़ेगा, प्रभो !"

भगवान् ने कहा—"संहार में क्या है, उठाया पटक दिया, संहार हो गया। नित्य ही असंख्यों प्राणी मरते हैं, उसे नित्य संहार कहते हैं। ब्रह्माजी का दिन बीत जाने पर—चारों युग एक-एक सहस्र बार बीतने पर—जब ब्रह्माजी त्रिलोक को लीन करके सो जाते हैं, उसे नैमित्तिक संहार कहते हैं। जब ब्रह्माजी के सौ वर्ष हो जाते हैं, यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान् के उदर में समा जाता है, तीनों गुण समान होकर प्रकृति में विलीन हो जाते हैं उसे प्राकृत संहार कहते हैं। जब जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है यह संसार रहता ही नहीं, उस ब्रह्मज्ञान की पूर्णावस्था का नाम आत्यंतिक संहार है। इन्हीं चार प्रकारों से तुम संहार करो।"

रुद्रदेव ने कहा—"भगवन्! नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत संहार तो मैं कर ही सकता हूँ, किन्तु आत्यंतिक प्रलय तो प्रकृति के परे की बात है। और मुझे आपने प्रकृति के कार्य में लगाया है, सो भी तमोगुण का अधिष्ठातृ देव बनाया है। तब मैं आत्यन्तिक संहार करने में समर्थ कैसे हो सकता हूँ, उसकी मुझमें शक्ति नहीं है। प्रथम तो मुझे मोक्ष प्रदान की शक्ति दीजिये और यह उपाय बताइये कि तमोगुण का कार्य करते हुए भी मैं तमोगुण पर विजय कैसे प्राप्त कर सकूँ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"यह कौन-सी बड़ी बात है। आप यह श्रीमद्भागवत का उपदेश ग्रहण कर लें। इसका नित्य नियम से पारायण किया करें आपके समस्त मनोरथ पूर्ण हो जायँगे। तमोगुण आपका स्पर्श भी न कर सकेगा।" यह कहकर भगवान् ने रुद्रदेव को श्रीमद्भागवत का उपदेश दिया। उसे ग्रहण करके रुद्र संहार कार्य में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने पूरे एक वर्ष तक पारायण किया, इसी से उन्होंने तमोगुण पर विजय प्राप्त कर ली। तभी से वे वार्षिक पारायण करने लगे।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! इस प्रकार उद्धवजी ने राजा परीक्षित और वज्रनाभ को इतिहास सुनाकर कहा—"सो, राजेन्द्र! मेरे गुरुदेव भगवान बृहस्पति ने मुझसे श्रीमद्भागवत शास्त्र की बड़ी प्रशंसा की। उसके सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद भी बताये। तब मैंने उनसे प्रार्थना की—"भगवन! आप मुझे भी भागवत-तत्व का उपदेश दें।"

मेरे गुरु ने कहा—"वत्स! तुम्हारा कल्याण हो, तुम निष्ठावान और श्रद्धालु हो, तुम भागवत शास्त्र को ग्रहण करने में समर्थ हो, तुम्हें मैं अवश्य भागवत का उपदेश दूँगा।" यह कहकर उन कृपालु मुनि ने मुझे भागवत का उपदेश दिया। हमारे बाबा गुरु भगवान सांदीपनि के दो शिष्य थे, एक तो मेरे गुरु

बृहस्पतिजी दूसरे व्यासजी के पिता पराशर मुनि। पराशर मुनि के समीप तो मैत्रेय मुनि ने भागवत पढ़ी और देवगुरु के चरणों में बैठकर मैंने भागवत-तत्व का उपदेश ग्रहण किया। जब मैं उपदेश ले चुका तो मुझे मेरे गुरु ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया—तुम्हें श्रीकृष्ण का सख्य सम्बन्ध प्राप्त हो, तुम भगवान् के प्रियतम सखा हो।" गुरु का आशीर्वाद प्राप्त करके मैं अपने स्थान पर आया और नित्य नियम से भागवत का पारायण करने लगा।"

परीक्षित् ने पूछा—"देव ! आपने कौन-से पारायण को स्वीकार किया, सप्ताह, मासिक ऋतु अथवा वर्ष भर में कौन-सा आपको प्रिय लगा ?"

उद्धवजी ने कहा—"भैया ! मैं वैष्णव हूँ। मुझे तो विष्णु स्वामी का मार्ग ही अत्यन्त प्रिय लगा। इसलिये मैं नित्य नियम से एक मास में भागवत का पारायण करने लगा। भागवत की कृपा से तथा गुरुदेव के आशीर्वाद से भगवान वासुदेव ने मुझे अपना लिया। उन्होंने मेरे ऊपर अपना सम्पूर्ण स्नेह उड़ेल दिया। उन्होंने मुझे इतना सम्मान दिया जितना किसी अन्य मुझ जैसे अयोग्य को दुर्लभ है। उन्होंने मुझे अपना सखा ही नहीं बनाया, मन्त्री, सम्मति दाता, सुहृद् सम्बन्धी और सब कुछ बना लिया। प्रत्येक बात में वे मेरी सम्मति लेते। मेरे पूछे बिना कोई कार्य नहीं करते थे श्रीमद्भागवत रस का आस्वादन करके मैं तृप्त हो गया, कृत कृत्य हो गया। फिर भगवान् ने मुझे भागवत उपदेश का चमत्कार दिखाने व्रज में भेजा।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज ! मथुरा से व्रज में गोपियों के पास भगवान् ने किस निमित्त भेजा था। वहाँ आप ने क्या चमत्कार देखा ?"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान् ने मुझे भेजा तो था गुरु बना-

कर। गोपियों को भागवत की शिक्षा-दीक्षा देने के निमित्त, किन्तु मैं लौटा उनका शिष्य बन के। भगवान् ने कहा था—"उद्धव! ब्रज की गोपाङ्गनायें, मेरे विरह में भ्रमवश व्याकुल हो रही हैं, वास्तव में तो मैं कभी उनसे पृथक् होता नहीं। तुम उन्हें नन्द गाँव में जाकर भागवत तत्त्व समझा आओ। उन्हें भागवत पढ़ा आओ, जिससे उनका विरह दूर हो जाय।"

स्वामी की आज्ञा मानकर मैं ब्रज गया, भगवान् ने जैसा भागवत उपदेश मुझे दिया था, वह मैंने उनके सम्मुख सुना दिया। उसे सुनते ही वे शोक सन्ताप तथा विरह दुःख से रहित हो गयीं। यह चमत्कार मैंने ब्रज में प्रत्यक्ष देखा। फिर भी मैं भागवत के गूढ़ रहस्य को नहीं समझा था। उस रहस्य को तो उन्होंने महा प्रयाण के समय पीपर वृक्ष के नीचे बैठकर समझाया था। तभी मेरी बुद्धि में उस तत्व का दृढ़ निश्चय हुआ। उसी का फल है, कि एक रूप से सदा बदरीवन में निवास करने पर भी मैं यहाँ ब्रज में लता गुल्म रूप में नारद कुण्ड के समीप कुसुमसरोवर पर निवास करता हूँ, और ब्रजवास का आनन्द लूटते हुए, ब्रज बिहारी की लीला माधुरी का चिंतन स्मरण और दर्शन करता रहता हूँ।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! यहाँ सब इतने भक्त एकत्रित हुए हैं, इन सबको कृष्ण प्रेम प्राप्त हो, इनके भी मनोरथ सिद्ध हों, ऐसा कोई सुगम सरस उपाय आप बतावें।"

उद्धवजी ने कहा—"राजेन्द्र! भगवत् भक्तों को श्रीमद् भागवत के ही सेवन से श्रीकृष्ण तत्व प्राप्त हो सकता है। भागवत के अतिरिक्त भक्तों को भगवत प्राप्ति का अन्य उपाय है ही नहीं।"

परीक्षित् ने कहा—"देव! हम सबका अहोभाग्य जो आपने दर्शन दिये, हमें भागवत माहात्म्य सुनाया, अब कृपा करके आप

सभी के कल्याण के निमित्त हमें भागवत सुनाइये। भागवत के गूढ़ तत्व को समझाइये। हमें मुक्ति मार्ग दर्शाइये और श्रीकृष्ण प्रीति दृढ़ाइये।"

यह सुनकर उद्धवजी ने कहा—"राजन्! यह सब तो मैं करूँगा ही, आपके कहने से मैं सभी भक्तों को भागवत सुनाऊँगा, किन्तु इस कार्य में आपको भी मेरी सहायता करनी होगी, आपको भी मेरी एक बात माननी होगी, तब मैं कथा आरम्भ करूँगा।"

परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! आप जो भी आज्ञा देंगे उसका मैं पालन करूँगा, आप भागवत कथा आरम्भ करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! परीक्षित् को आज्ञा देकर जैसे उद्धवजी ने कथा आरम्भ की उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

बोले उद्धव— भूप, भागवत मम गुरु दीन्हीं।
सिर धरि दंड प्रनाम करी परिकम्मा कीन्हीं॥
पारायन करि मास श्याम को सखा कहायो।
सचिव सुहृद सम्बन्धि कृष्ण कहिकें अपनायो॥
कथा कहूँ कलि कतरनी, भक्त लहहिँ सुख कृष्ण रस।
करें परीक्षित् कलि दमन, पावैं जग महँ विपुल यश॥

राजा परीक्षित् द्वारा कलिदमन, उद्धवजी द्वारा कथारम्भ

(३५)

निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित् ।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥*

(श्रीभा० १ स्क० १६ अ ४ श्लोक)

छप्पय

गये धाम जब श्याम आइ कलि विघन मचावे ।
विजय दशहुँ दिशि करहु तुरत कलि वश है जावे ॥
कहैं परीक्षित् देव ! कथा मोतैं न छुड़ावैं ।
उद्धव बोले—"तुमहिं आइ शुकदेव सुनावैं ॥
उद्धव आयसु सिर धरी, गये भूप कलिदमन हित ।
राज वज्र प्रतिबाहु सुत, दयो, कथामहँ भये रत ॥

कथा श्रवण में आनन्द तभी आता है जब चित्त स्थिर हो, बाहरी कोई बाधा न हो, चित्त चंचल न हो, मन में किसी बात की चिन्ता न हो यह सोचकर कथा सुने कि अब तो हमें संसार को छोड़ना ही है। तभी यथार्थ कथा का फल मिलता है, चित्त

---

* सूतजी कह रहे हैं—"मुनिवर ! दिग्विजय करते समय राजा परीक्षित् ने अपने बल से कलियुग का दमन किया। वह कलि शूद्र राजा का वेष बनाये हुए था और गौ तथा बैल दोनों के ऊपर पैर से आघात कर रहा था।"

दुविधा में फँसा है, मन में घर, द्वार, कुटुम्ब, परिवार, वाणिज्य, व्यापार, राज्य-पाट तथा भाँति-भाँति की चिन्तायें लगी हैं तो वह कथा सुनना तो एक विधि का पालन मात्र है, मन को सन्तोष देना है, चित्त को भुलावा देना है कि हमने कथा सुन ली। कथा का प्रभाव तो मन पर पड़ेगा। मन स्वच्छ होगा चिन्ता रहित होगा तभी कथा के रंग में रँगेगा। यदि उसमें बहुत-सा मैल भरा है, रंग को पकड़ता ही नहीं तो कहीं तनिक फीका-सा रंग लग जायगा। यथार्थ रँग आवेगा नहीं। रङ्ग चोखा चढ़े इसके लिये पहिले कपड़े को मल रहित बनाना चाहिये, फिर उसको हर्रा और फिटकिरी डाले हुए पानी में डुबोना चाहिये, तब रंग चढ़ाया जाय तो वह रंग स्थाई होगा, खिल उठेगा, वस्त्र चमकने लगेगा। आप चाहें कि न तो धोना पड़े, न हर्रा फिटकिरी लगानी पड़े रंग चोखा चढ़ जाय, तो कठिन है, असम्भव है। इसलिये श्रोता वक्ता दोनों को निश्चिन्त होकर, सभी घर बार के कार्यों से उपरत होकर श्रद्धा प्रेम और विश्वास के साथ भगवत भक्तों के बीच में बैठकर निर्लोभ सुयोग्य वक्ता से कथा सुननी चाहिये। बाहरी विघ्नबाधाओं की रोक का भी यथाशक्ति पहिले से ही प्रबन्ध कर लेना चाहिये, इससे बीच में विघ्नों की संभावना न रहे, क्योंकि अच्छे कार्यों में बहुत से विघ्न आ जाते हैं, अतः अपनी शक्ति तथा बुद्धि बल के अनुसार चिन्ता और विघ्न बाधाओं को हटाकर तब कथा सुने तो उसे कथा का वास्तविक लाभ मिलता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वज्र तथा महाराज परीक्षित् के सम्मुख उद्धवजी ने अपनी गुरु परम्परा बताकर कथा का माहात्म्य कहा और स्वयं कथा सुनाने की इच्छा प्रकट की। महाराज परीक्षित् से उन्होंने कहा—"राजन्! मैं कथा तो सुनाऊँगा, किन्तु आपको भी मेरा एक कार्य करना पड़ेगा।"

महाराज परीक्षित् बोले—"देव! आप तो मेरे पितामह हैं,

यह शरीर आपका ही है इसमें पूछने की कौन-सी बात है। आप इससे जो चाहें सो कार्य लें।"

उद्धवजी ने कहा—"राजेन्द्र! क्यों नहीं, ये वचन आपकी कुल की परम्परा के ही अनुकूल हैं, आप उस भरतवंश तथा पांडव वंश में उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने अकेले ही इस सम्पूर्ण भूमंडल पर विजय प्राप्त की है, आप उन धर्मराज महाराज युधिष्ठिर के पौत्र हैं जो धर्म के साक्षात् अवतार ही थे। राजन्! जब से भगवान् वासुदेव इस भूमण्डल से निजधाम में पधारे हैं तभी से कलियुग ने यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। कलियुग धर्म कर्म का, शुभ कार्यों का शत्रु है, वह जब सुनेगा, कि कुसुमसरोवर पर भागवती कथा हो रही है, तो वह अवश्य ही यहाँ आकर विघ्न डालेगा।"

महाराज परीक्षित् ने दृढ़ता के साथ कहा—"महाराज! आप चिन्ता न करें। उस दुष्ट की ऐसी की तैसी। मैं तो हूँ ही, उसे यहाँ घुसने नहीं दूँगा।"

उद्धवजी ने कहा—"राजन्! यह बात नहीं। अग्नि जहाँ से लगे, तुरन्त वहीं से उसे बुझाने की चेष्टा करनी चाहिये। आप सोचें, कि हमारे घर के सम्मुख आवेगी, तभी बुझावेंगे, तब तो बड़ी कठिनता हो जायगी। इस समय दिग्विजय करें और कलियुग जहाँ भी मिल जाय, वहीं उसका दमन करें।"

परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! हम कैसे समझें यहाँ कलियुग है?"

उद्धवजी ने कहा—"राजन्! इसकी मोटी पहिचान यह है—"जो राजा के योग्य न हो, आचार विचारहीन हो, और वह राज्य शासन सम्हाले। राजाओं का बाना पहिन ले और जहाँ गौ बैलों का सत्कार न हो, उन पर प्रहार होता हो, उनका वध होता हो

वहाँ कलियुग है। ऐसा अन्याय आप जहाँ देखें समझ लें यहाँ कलियुग छिपा है, उसका दमन करें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज परीक्षित् बोले—"महाराज! यह कार्य तो आपने मेरे अनुरूप ही बताया। बहुत दिनों से मेरे हाथ खुजा रहे थे, मुझे कोई युद्ध करने को मिला भी नहीं था। अब मैं कलियुग का दमन करके अपने हाथों की खुजलाहट मिटाऊँगा, पृथ्वी पर धर्म का डंका बजाऊँगा, अधर्म को मारकर भगाऊँगा। प्रजा को दुख और शोक से रहित बनाऊँगा, किन्तु प्रभो! एक मुझे बड़ी भारी हानि होगी?"

उद्धवजी ने कहा—"वह कौन-सी हानि?"

राजा बोले—"महाराज! यही कि मैं श्रीमद्भागवत कथा से वञ्चित रह जाऊँगा। शास्त्रकारों का कथन है, अनधिकारी को ज्ञान न दे। अयोग्य को कथा न सुनावे। कहीं आप मुझे अनधिकारी समझकर इसी बहाने से यहाँ से भगाने की तो युक्ति नहीं निकाल रहे हैं? प्रभो! यद्यपि मैं अनधिकारी हूँ, किन्तु हूँ तो आपका बच्चा ही। माता-पिता बालक के सभी अपराधों को क्षमा कर देते हैं, उसकी अयोग्यता अशिष्टता की ओर ध्यान नहीं देते। बिना पूछे भी उसे उपदेश देते रहते हैं। नाथ! मुझे कथा से वञ्चित न करें, मैंने भी आपके चरणों की शरण ली है, मेरे ऊपर भी कृपा कीजिये, मुझे इस मधुरातिमधुर कथा रस से वञ्चित न कीजिये।"

उद्धवजी ने कहा—"राजन्! भागवती कथा के आप ही [illegible] एक मात्र अधिकारी हैं, आपके ही द्वारा तो संसार में भगवत् [illegible] का प्रचार-प्रसार होगा। आजकल लोग भगवद् भक्ति से [illegible] होकर नाना क्लेशों को भोग रहे हैं। आपके द्वारा सब [illegible] होकर सर्वत्र फैलेगी, तब संसार [illegible] को शान्ति [illegible] संसार में मंगल होगा। [illegible]

आपको स्वयं परमहंस चक्र चूड़ामणि भगवान् शुकदेवजी आकर पूरी भागवत संहिता सुनायेंगे। उसी की कलिकाल में प्राधान्यता रहेगी। मैं तो कृष्ण किंकर हूँ, किन्तु तुम्हें तो नन्द नन्दन के साक्षात् अभिन्न रूप श्रीशुकदेवजी कथा सुनावेंगे। उसे सुनकर भगवान् वृन्दावनचंद्र व्रजेश्वर के नित्यधाम को प्राप्त होंगे। आपके पश्चात् इस धराधाम पर उसी श्रीमद्भागवत की प्रतिष्ठा होगी। आप ऐसी नौका पर पार जायँगे कि स्वयं तो उस पार हो ही जायँगे, किन्तु पीछे से उस दृढ़ नौका पर सभी पथिक पार होते रहेंगे। अनन्तकाल तक आपका यश संसार में व्याप्त रहेगा, अतः आप कोई सन्देह न करें। प्रसन्नता पूर्वक कलियुग को निग्रह करने को पधारें। कलियुग पर विजय प्राप्त करके धर्म की स्थापना करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब महाराज परीक्षित् क्या करते, उद्धवजी की आज्ञा उन्होंने विवश होकर शिरोधार्य की। उन्होंने उद्धवजी की पूजा की, प्रणाम किया और परिक्रमा करके उनकी आज्ञा से दिग्विजय तथा कलियुग का निग्रह करने के निमित्त कुसुमसरोवर से चले गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज परीक्षित् के चले जाने के अनन्तर महाराज वज्रनाभ ने क्या किया? उद्धवजी ने उन्हें कितने दिनों में कथा सुनायी?"

सूतजी बोले—महाराज! दिग्विजय के निमित्त जब महाराज परीक्षित् चले गये तब वज्रनाभ ने मथुरा में जाकर अपने सभी मंत्री तथा प्रजाजनों की अनुमति लेकर अपने सुयोग्य पुत्र प्रतिबाहु को व्रज मंडल के राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त किया। उन्हें विधिवत् राज्य पाट देकर स्वयं भी सांसारिक चिन्ताओं से निर्मुक्त होकर वे अपनी सभी माताओं के साथ पुनः कुसुम सरोवर आ गये और वहाँ रहकर उद्धवजी से श्रीमद्भागवत की

कथा श्रवण करने लगे। भगवान् के परम भक्त उद्धवजी ने एक महीने तक श्रीमद्भागवत रस की वह धारा बहायी कि सभी उस रस सागर में निमग्न हो गये। उस समय सभी के हृदय में श्रीकृष्ण प्रेम प्रकाशित हो गया और सभी को अपने स्वरूप का यथार्थ बोध हो गया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यथार्थ स्वरूप का बोध कैसा?"

सूतजी बोले—"महाराज! पहिले उद्धवजी ने बताया था कि समस्त व्रजवासी श्रीकृष्ण के अङ्ग में विद्यमान हैं, सो, जब उन्हें आनन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी की सच्चिदानन्दमयी लीलाओं का प्रत्यक्ष सर्वत्र दर्शन होने लगा, तो वज्रनाभ ने प्रत्यक्ष देखा मैं तो श्रीकृष्ण के दाहिने चरण में स्थित हूँ। अब तो उनका श्रीकृष्ण-जन्य वियोग कपूर की भाँति उड़ गया, वे परमानन्द में निमग्न होकर भगवान् के पद पद्म में अत्यन्त सुशोभित होने लगे।

कुसुमसरोवर की लता कुञ्जों में रास की रजनी छिटकने लगी, उस वन की शोभा अलौकिक हो गयी। उस रास रजनी में राधारमण रूपी राकेश हँसने लगे, व्रजाङ्गनाओं के साथ रास विलास करने लगे। श्रीकृष्णचन्द्र की प्रभा रूप में श्रीराधिका और कला अंशारूप में सखियाँ तथा राजमहिषी दिखाई देने लगीं अब तो रोहिणी आदि प्रभु पत्नियाँ अपने को नित्य रास में स्थित पाकर तथा सदा सर्वदा सच्चिदानन्द घनश्याम सुन्दर के सान्निध्य का अनुभव करके विरह वेदना से सर्वथा निर्मुक्त बन गयीं। वे भगवान् के परमधाम में प्रविष्ट हो गयीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वज्रनाभ और प्रभु पत्नियों के अतिरिक्त अन्य भी जो श्रोतागण थे उनकी क्या गति हुई?"

सूतजी बोले—"भगवान् की अंतरङ्ग लीला के दर्शन सभी को नहीं होते, जिनको भगवान् की लीला के दर्शन हो जाते हैं वे व्यावहारिक बाह्य जगत् से सदा सर्वदा के लिये छूट जाते

हैं। तभी तो ब्रज में श्रीकृष्ण भगवान् के समय के जितने भक्त थे वे सब ब्रज से अंतर्हित हो गये। इसी प्रकार समस्त चिन्ताओं से निर्मुक्त होकर एकाग्र चित्त से प्रेम पूर्वक जिन्होंने भागवत का उद्धवजी के मुख से रस वृन्दावन धाम में श्रवण किया वे सबके सब भक्त भगवान् की नित्य अन्तरङ्ग लीला में सम्मिलित हो गये। उनका व्यावहारिक जगत से सम्बंध सदा के लिये छिन्न भिन्न हो गया। जैसे नित्य विहारी सदा गोप गोपी तथा गौओं को साथ लिये दिव्य वृन्दावन, गोवर्धन, कुसुमसरोवर, गोपी-स्थल तथा काम्यवन आदि वनों में विहार करते रहते हैं वैसे ही वे श्रोतागण भी उन्हीं के परिकर में सम्मिलित होकर अनन्त अनुपम आनन्द का अनुभव करने लगे। इसीलिये तो कहा है श्रीकृष्ण में और श्रीमद्भागवत में कोई अन्तर नहीं, जो गति श्रीकृष्ण के सेवन से प्राप्त होती है वही श्रीमद्भागवत के सेवन से मिल जाती है। जो भक्त भगवान् की अन्तरङ्ग लीला में सम्मिलित हुए हैं उनके तथा वृन्दावन में विहार करने वाले वृन्दावन विहारी के श्रीकृष्ण प्रेम में मग्न भावुक भक्तों को कभी कभी अब भी ब्रज में दर्शन हो जाते हैं। भगवान् और भागवत के इस पुण्यप्रद माहात्म्य को, उनकी महिमा की कथा को जो लोग श्रद्धा पूर्वक सुनेंगे, कहेंगे, जन साधारण को सुनावेंगे, उनके सभी शोक संन्ताप सदा के लिये मिट जावेंगे और उन्हें भगवान् के साक्षात् दर्शन भी हो जायँगे।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भगवान् ने आप को हमारे कल्याण के ही निमित्त भेजा है। हम परमात्मा से यही मनाते रहते हैं कि आप युग-युग जीवें, आपकी बड़ी आयु हो, भगवान् आपका मंगल करें। आप इसी प्रकार हमें रसीली रस भरी कथा सदा सुनाते रहें। इसी प्रकार हमारे समय का परम सदुपयोग कराते रहें। अब कृपा करके हमें आप श्रीमद्-

भागवत के स्वरूप का ज्ञान कराइये और भी जो इसके सम्बन्ध की बातें हों वे सब भी हमें सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! आप सबके आशीर्वाद से और भगवान् वेदव्यास की कृपा से ही मैं कुछ कहने में समर्थ हुआ हूँ, नहीं तो मेरी इतनी न तो विशाल बुद्धि ही है, न विद्या, तप, कुल, कर्म तथा आचार आदि का ही बल है। आप लोग जो हृदय में प्रेरणा कर देते हैं वह मैं कह देता हूँ। जैसे माता बच्चे को स्वयं ही तो सिखाती है इसका नाम हाथ है, इसे पैर कहते हैं, इसका नाम मुख है। फिर स्वयं ही पूछती है मुख कहाँ है? हाथ किसका नाम है। यही आप कर रहे हैं। सब जान बूझकर आप लोक कल्याण के निमित्त ऐसे प्रश्न पूछते हैं। स्वरूप के अतिरिक्त और आप क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"पहिले तो आप हमें श्रीमद्भागवत के लक्षण बतावें। भागवत कहते किसे हैं? फिर उसके सुनने की विधि कहें, श्रीमद्भागवत का वक्ता कैसा हो, श्रोताओं के लक्षण बताइये। और भी जो बातें आप जो बता सकें वे बताइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ये सब बातें तो मैं कई बार बता चुका हूँ, किन्तु आपकी सुनते-सुनते तृप्ति ही नहीं होती, एक ही बात को अनेकों ढंग से सुनना चाहते हैं। जिससे लोगों में दृढ़ता आ जाय। अच्छी बात है, अबके मैं आपके प्रश्नों का दूसरे ढंग से उत्तर देता हूँ।" छप्पय

मास दिवस तक कथा सुनी सब संशय नासे।
रास रजनि राकेश राधिका रमन प्रकासे॥
सबनि सरूप प्रबोध भयो नित लीला प्रविसे।
व्योहारिक जग त्यागि अंग हरि के घनि बिकसे॥
गोवरधन, उपवन, सघन, सुमन कुंज बन बन फिरत।
दीखत माधुरु जननि हरि, परिकर संग बिहरत सतत॥

श्रीमद्भागवत और उसके श्रोता वक्ता

[३६]

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे।
य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे॥*

(श्री भा० १२ स्क० १३ अ० २० श्लो०)

छप्पय

शौनक बोले—जियो सूत नित कथा सुनाओ।
श्रोता, वक्ता, रूप भागवत विधिहिं बताओ॥
सूत कहें—विज्ञान ज्ञान हरि भक्ति दृढ़ावै।
भगवत रस माधुर्य भागवत विप्र! कहावै॥
विधि हरि हर ही पार लहि, महत सार समरथ भये।
शुक नृप को सम्वाद सुनि, कहि पढ़ि बहु जन तरि गये॥

प्रत्येक शुभ कार्य की सिद्धि के लिये पाँच बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। (१) कराने वाले का भाव विशुद्ध हो, (२) उस कार्य के करने के साधन शुद्ध हों, (३) करने वाले का भाव शुद्ध हो (४) उसके करने की विधि शुद्ध हो और (५) जहाँ वह कार्य किया जाय वह स्थल भी उस भाव के अनुकूल हो, तभी उसकी सिद्धि में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। इनमें से एक

सूतजी कह रहे हैं—"इस श्रीमद्भागवत का उपदेश कृपा करके जिन्होंने मोक्ष की इच्छा रखने वाले ब्रह्माजी को दिया उन सर्वसाक्षी भगवान् वासुदेव को प्रणाम है।"

भी प्रतिकूल हुआ तो उसकी सिद्धि में उतनी ही देरी लग जायगी। इसीलिये तो प्रत्येक अनुष्ठान में कर्ता और कराने वाले के लक्षण विधि विधान का ब्योरा, सामग्रियों की स्वच्छता की सावधानी तथा स्थल संशोधन की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया जाता है। यदि करने वाले का भाव ही शुद्ध नहीं तो वह ऊपर से दिखाने को कितना भी पवित्र कार्य क्यों न करे, इसका फल वैसा ही होगा, जैसी उसकी भावना होगी। कर्ता का भाव शुद्ध भी रहा किन्तु उसके साधन अशुद्ध हुए, तो साधनों की अशुद्धता का प्रभाव भी कर्ता के ऊपर पड़ेगा ही। यदि कर्ता के भाव भी शुद्ध हैं, साधन सामग्री भी शुद्ध हैं, किन्तु कराने वाले का भाव दूषित है, वह किसी लोभ लालच में फँसकर कुछ से कुछ करा देता है, तो उस कर्म का भी जैसा चाहिए वैसा फल न होगा। विधि की विपरीतता तथा स्थल की अशुद्धता का भी प्रभाव कर्म की सिद्धि पर पड़ता है। इसीलिये तो बारम्बार इन बातों को पूछा बताया जाता है। सभी कर्मों में अन्तःकरण की शुद्धि अत्यन्तावश्यक है। वह हो गयी तो सिद्धि मिल गयी। वह नहीं हुई तो कर्म का फल तो अवश्य ही होगा, व्यर्थ तो कोई कार्य हो नहीं सकता, किन्तु पूर्ण फल तो पाँचों की शुद्धता में ही संभव है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे श्रीमद्भागवत का स्वरूप पूछा, सो मैं उसे सैकड़ों बार बता चुका हूँ। जो भगवान का स्वरूप है वही सच्चिदानन्दमय भागवत का भी स्वरूप है दोनों में अणु मात्र भी अन्तर नहीं। फिर आप पूछते हैं कि भागवत कहते किसे हैं, तो भागवत कोई सीमित वस्तु नहीं उसकी कोई एक परिभाषा नहीं है। वह कोई एक निश्चित ग्रन्थ नहीं। वह तो एक भाव है।

जिसके हृदय में स्वतः ही भगवान् की भक्ति है, जिनके

अन्तःकरण स्वभावतः भावुकता से भरा हुआ है, उन भक्तों के मन में मनमोहन की जो माधुरी पान की लालसा छिपी हुई है, उसे जो भी शब्द व्यक्त कर दे वही भागवत है। अथवा भगवान के दिव्य माधुर्य रस का जो अधिकाधिक आस्वादन करा सके वही वचन भागवत है। अथवा ज्ञान, विज्ञान और भक्ति का जिनसे प्रकाश होता है ऐसे साधन चतुष्टय जिस वाक्य से प्रकाशित हो सकें, उस वाक्य का नाम भागवत है। जो वाक्य अज्ञान का नाश कर सके ज्ञान का प्रकाश कर सके, माया का मर्दन कर सके, अन्तःकरण के तम को छिन्न-भिन्न कर सके, उसी को तुम भागवत जानो। श्रीमद्भागवत का अन्त नहीं, उसकी परिधि नहीं, सीमा नहीं, नाश नहीं, विनाश नहीं, ऐसी भागवत की सीमा निर्धारण कौन कर सकता है। कौन कह सकता है कि इतने का ही नाम भागवत है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप तो चक्कर में डालने वाली बातें कह देते हैं। जब भागवत अनन्त अक्षर तथा अपार है तो उसका सेवन सम्भव कैसे हो सकता है?"

सूतजी बोले—"महाराज! भगवान् भी तो अनन्त हैं, उनका भी तो कोई पार नहीं पा सकता। फिर भी लोग उनकी मनोमयी मूर्ति बनाकर मानसिक द्रव्यों से पूजा करते ही हैं। किन्तु मनोमयी मूर्ति की मानसिक पूजा सभी नहीं कर सकते, इसलिये जन साधारण के लिये उनकी स्थूल मूर्ति बनाते हैं, उन्हें एक सीमित मन्दिर में स्थापित करते हैं, कुछ सीमित सामग्रियों से सेवा सुश्रूषा भी करते हैं उस सेवा द्वारा भी उन्हीं असीम अनंत अच्युत को पा जाते हैं।"

इसी प्रकार जब भगवान् ने स्थूल सृष्टि करने का संकल्प किया, तब भगवान् महाविष्णु ने ब्रह्माजी को चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश दिया। उस अमृत भागवत का चार श्लोकों में

सूक्ष्मरूप बना। उसी का ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने सेवन किया। उसी से उन सबने अपने अभीष्ट को प्राप्त किया। उन चार अमृत महासागरों में डुबकी लगाकर वे अपनी प्राप्य वस्तु को प्राप्त कर सके। किन्तु सभी तो ब्रह्मा, विष्णु नहीं बन सकते। सभी तो चार श्लोकों से प्राप्य वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते। उन्हीं परिमित बुद्धि वालों के निमित्त भगवान् वेदव्यास ने वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाली २४ सहस्र श्लोकों वाली श्रीमद्भागवत की रचना की। संसाररूपी अगम अथाह सागर में कलि रूप प्रबल ग्राह ने जिन प्राणियों को ग्रस लिया है, उनके लिये श्रीमद्भागवत ही एक आश्रय है, छुड़ाने का अमोघ साधन है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपकी बड़ी आयु हो, आप हमारे प्रश्नों का बारंबार बहुत ही सुन्दर उत्तर देते हैं, एक ही प्रश्न को हम लोग अनेक बार पूछते हैं और आप नयी नयी युक्तियाँ देकर उनका बिना व्यग्रता दिखाये नया ही नया उत्तर देते जाते हैं। एक बार तो आपने श्रोताओं के चार भेद बताये थे। अब फिर हम श्रीमद्भागवत के श्रोताओं के सम्बन्ध में जानना चाहते हैं, कि उसके श्रोता कैसे होने चाहिये? कृपया उनके भेदों का वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! शास्त्रकारों ने श्रोताओं के अनेक भेद बताये हैं, किन्तु श्रोताओं के मुख्य दो ही भेद हैं। एक उत्तम श्रोता दूसरे अधम। अब उत्तम और अधम इनके भी चार-चार भेद हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उत्तम श्रोता के चार भेद कौन कौन से हैं?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! उत्तम श्रोता के चार भेद हैं—चातक, हंस, शुक और मीन।"

शौनकजी ने पूछा,—"सूतजी ! कृपया इनकी व्याख्या भी करते जाइये, चातक श्रोता किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! चातक का प्रण होता है, कि वह मेघ से बरसते हुए स्वाति के ही जल को पीवेगा। दूसरे चाहें जितने जल क्यों न भरे रहें उनको चोंच से छूवेगा नहीं। किसी चातक के सम्बन्ध में सुना जाता है, कि वह आकाश की ओर टकटकी लगाये पेड़ पर कई दिनों तक मेघ की आशा से बैठा रहा, किन्तु पानी नहीं बरसा। नीचे अथाह जल भरा था, मरते समय उसने अपने पुत्र को उपदेश दिया—"देख, बेटा ! मेरा शरीर निर्जीव होकर जब जल में गिर पड़े तो तू मेरी चोंच को ऊपर उठा देना, कहीं मेरे मृतक शरीर की चोंच का भी स्पर्श अन्य जल से न होने पावे।"

इस प्रकार जो चातक के सदृश श्रोता होते हैं, वे सभी संसारी कथाओं को छोड़कर केवल श्रीकृष्ण कथा में स्पृहा रखते हैं, अन्य विषय सम्बन्धी कथाओं को कभी भूलकर भी कानों के भीतर नहीं जाने देते।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हंस श्रोता कैसे होते हैं ?"

सूतजी बोले – "भगवन् ! हंस के मुख में कोई ऐसा रस होता है, कि दूध और पानी मिलाकर रख दो, वह दूध-दूध पी लेगा, पानी को छोड़ देगा। इस नीर क्षीर पृथक करने वाली बुद्धि के श्रोताओं की संज्ञा हंस श्रोता बतायी गयी है, ऐसे श्रोता अनेक शास्त्रों को सुन तो लेते हैं, चातक श्रोता की भाँति सर्वथा एक निष्ठ तो नहीं होते किन्तु सब कुछ सुनकर भी ग्रहण उसका सार ही करते हैं। उन सारग्राही श्रोताओं को ही हंस कहा है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! "शुक" श्रोता कौन कहलाते हैं ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! जैसे सुशिक्षित शुक तोता उसका

शिक्षक उसे जो भी "सीताराम राधेश्याम" पढ़ाता है उसे ज्यों-का-त्यों ही सुनाकर शिक्षक को तथा अन्यान्य आस-पास के श्रोताओं को आनन्दित करता है उसी प्रकार उत्तम शुक श्रोता कथा वाचक के मुख से जो भी सुनता है उसे सुललित भाषा में सुनाकर सभी को प्रसन्न रखता है उसी का नाम शुक श्रोता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मीन श्रोता के लक्षण और बताइये।"

सूतजी बोले—"भगवन्! मीन के पलक नहीं होते। वह सदा सर्वदा अपलक भाव से अपने इष्ट जल को ही निहारती रहती है। क्षीरसागर की मीन सदा दुग्ध का ही पान करके उसी में अपनी दृष्टि को गड़ाये रखती है कभी व्यवधान नहीं पड़ने देती। इसी प्रकार मीन सदृश श्रोता सदा टकटकी लगाये अपलक भाव से वक्ता के मुख की ही ओर देखता रहता है। बीच में बोलकर बाधा नहीं पहुँचाता। मौन भाव से निरन्तर कथा रस का आस्वादन करता रहता है। वही मीन श्रोता कहलाता है।"

शौनकजी ने फिर पूछा—"सूतजी! यह तो चातक, हंस, शुक और मीन चार उत्तम श्रोता हो गये। अब आपने चार अधम श्रोता बताये थे, कृपया उनकी भी व्याख्या कीजिये।"

सूतजी बोले—"महाराज! अधम श्रोता भी चार ही प्रकार के होते हैं, उनके नाम हैं वृक, भूरुण्ड, वृष और ऊँट। अब इनकी भी व्याख्या सुनिये। "वृक" को ही ले लीजिये। वृक कहते हैं भेड़िया को। वनों में कोई सुन्दर मधुर वेणु बजाता है तो कानों को प्रिय लगने वाले उस राग को मृग एकाग्र चित्त होकर तन्मयता के साथ सुनते रहते हैं किन्तु बीच-बीच में भेड़िया भयंकर शब्द करके उनके श्रवण में विघ्न डालता है। रस में तल्लीन हुए मृगों को चौंका देता है। इसी प्रकार जो कथा के बीच में-

कर्कश शब्द करके कथा के रस को भंग कर देता है श्रोताओं का एकाग्रता को नष्ट कर देता है, वह अधम वृक श्रोता कहलाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भूरुण्ड श्रोता कौन कहलाते हैं ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! हिमालय पर्वत के ऊपर एक भूरुण्ड नाम का पक्षी होता है। वह किसी के शिक्षा प्रद वाक्य सुनता है, तो उन्हीं को बोलता रहता है, किन्तु उनसे स्वयं लाभ नहीं उठाता। जैसे वह चिल्लावेगा "साहस मत करो।" किन्तु स्वयं इतना साहस करता है कि सिंह की दाढ़ में से मांस निकालने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जो श्रोता के मुख से सुने हुए उपदेशों को तो बार-बार सर्वत्र दुहराता रहता है किन्तु स्वयं उनका आचरण नहीं करता उसके विपरीत ही करता है उसी अधम श्रोता को भूरुण्ड श्रोता कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! "वृषम" श्रोता के क्या लक्षण हैं ?"

सूतजी बोले—"जैसे बैल खाने की वस्तुओं में भेद भाव नहीं करता। उसके सम्मुख अंगूर सेव आदि मीठे फल डाल दो या सरसों आदि की कड़वी खली डाल दो दोनों को ही समान रूप से खायगा। सूखी रोटी दे दो या हलुआ पूड़ी एक ही रुचि से खायगा, इसी प्रकार जो श्रोता कथा के उपदेशों को समझ कर ग्रहण नहीं करता, सार असार का विवेक किये बिना ही केवल सुनता ही रहता है वह वृषम श्रोता कहलाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ऊँट श्रोता कौन होता है ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! जैसे ऊँट के सम्मुख आम आदि की मीठी पत्तियाँ रख दो और साथ ही कांटे युक्त बबूर तथा कड़वी नीम की पत्तियों को भी रख दो तो वह मीठी पत्तियों को

छोड़कर नीम की ही पत्तियों को खायगा। बिना काँटे की पत्तियों को छोड़कर बबूर बेर आदि काँटों वाली पत्तियों को ही प्रेमपूर्वक भक्षण करेगा। इसी प्रकार जो श्रोता अच्छी-अच्छी कथाओं को छोड़कर विषय वासना वाली सांसारिक कथाओं में मन को लगाता है वह उष्ट्र के सदृश अधम श्रोता कहलाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मैंने यह अत्यन्त संक्षेप में श्रोताओं के लक्षण बताये। विस्तार किया जाय तो अभी इनमें बहुत भेद हो सकते हैं। जैसे भ्रमर श्रोता। जैसे भ्रमर पुष्पों से रस लेकर मधु एकत्रित कर लेता है वैसे ही उत्तम श्रोता वक्ताओं के मुख से अनेक प्रकार की कथायें सुनकर उनका सार रस ही संग्रह करता है। जैसे 'मक्षिका' श्रोता। शरीर में जहाँ भी पीव फोड़ा होगा मक्खी वहाँ जाकर बैठेगी ही वह सुन्दर स्वच्छ अंग में न बैठेगी। इसी प्रकार अधम श्रोता कथा के घृणित दृष्टान्तों को याद कर लेगा, भक्ति के प्रसंग को छोड़ देगा। चकोर श्रोता। चकोर के सम्मुख मीठी वस्तु रख दो और अंगारे रख दो, तो वह आग के अंगारों को ही भक्षण करेगी। चन्द्रमा की ओर ही टक-टकी लगाये रहेगी। इसी प्रकार उत्तम श्रोता वक्ता को ही देखते रहेंगे और कथा के त्याग, वैराग्य और धर्म के कठोर नियमों का ही पालन करेंगे। बगुला श्रोता। जैसे बगुला आँख मीचे बड़ा ध्यान लगाये रहेगा। किन्तु जहाँ कोई मछली दीखी तुरन्त उसे मुख में दबाकर भाग जाता है, इसी प्रकार अधम श्रोता ध्यान का ढोंग बनाकर दम्भ पूर्वक कथा सुनते रहते हैं, जहाँ कथा के बीच में उनका कोई स्वार्थ सिद्ध हुआ कि इष्ट वस्तु को लेकर चंपत हो जाते हैं। मयूर श्रोता। जो वस्त्राभूषणों से सुसज्जित देखने में तो बड़े भले लगेंगे, कथा में वाणी भी बड़ी मीठी बोलेंगे, किन्तु उनके आचरणों को देखो तो घर में जैसे मयूर सर्पों को खा जाते हैं वैसे ही वे

अखाद्य वस्तुओं का प्रयोग करेंगे। कपोत श्रोता। जैसे कबूतर दिखाने को तो कंकड़ खाते हैं किन्तु विषयी ऐसे होते हैं, कि कहीं भी कपोता को देखेंगे तो वहाँ बुरी दृष्टि ही करेंगे। इसी प्रकार अधम श्रोता साधारण श्रोता बनकर जायँगे, किन्तु वहाँ वक्ता की ओर ध्यान न देकर महिलाओं की ही ओर ध्यान पूर्वक कुदृष्टि करते रहेंगे। गर्दभ श्रोता। जैसे गदहे पर चंदन लाद दो या विष्ठा लाद दो। उसे तो बोझा ढोने से प्रयोजन। वह दोनों में कुछ भी विवेक न करेगा। इसी प्रकार अधम श्रोता कथा में जाकर बैठ जाता है। जो भी अच्छा बुरा सुना उसी का बिना विचार किये बोझ लाद लाता है। इस प्रकार श्रोताओं के असंख्यों भेद हो सकते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्रोता को किस प्रकार कथा श्रवण करनी चाहिये?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! श्रोता का मुख्य गुण तो नम्रता है। जिस श्रोता में नम्रता नहीं, उद्दंडता तथा अहंकार है वह श्रोता बनने के योग्य ही नहीं। सर्व प्रथम कथा में जाय तो, पुस्तक को, कथा कहने वाले व्यास को, तथा सभी श्रेष्ठ जनों को प्रणाम करके वक्ता से नीचे आसन पर बैठे। कभी पैर के ऊपर पैर रखकर कथा में न बैठे। पैर के ऊपर पैर रखकर बैठना अहंकार का सूचक है। इधर-उधर की संसारी बातों को कथा में न छेड़े, केवल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की लीला कथाओं को ही श्रवण करने की अभिलाषा रखे। वक्ता के मुख से जो सुने उसे धारण करे, पीछे उस पर एकाग्र चित्त होकर मनन करे। अपने हाव भावों में बैठने और बोलने के ढंग में नम्रता रखे। अंजलि बांधकर हाथ जोड़कर श्रवण करे। कथा सुनते समय यह भाव रखे कि मैं उपदेश ग्रहण करने वाला हूँ, कथा के वक्ता उपदेष्टा हैं। मैं शिष्य हूँ, कथावाचक गुरु हैं। ऊपर से बनावटी श्रद्धा

भक्ति ही प्रदर्शित न करे, किन्तु भीतर में यथार्थ श्रद्धा रखे। बिना मनन चिंतन ऊहापोह किये किसी बात को ग्रहण न करे। जो बात बुद्धि में न बैठे उसे नम्रता पूर्वक वक्ता से पूछ ले, अपनी शंका का सरलता के साथ समाधान करा ले। सदा शुद्ध पवित्र और स्वच्छता के साथ रहे। जो कथा प्रेमी भगवत् भक्त तथा सत्संगी हों उनसे स्नेह भाव रखे। समय का पालन करे। सत्य, सदाचार, सहनशीलता, संतोष, सेवा, श्रद्धा, सरलता तथा अन्य सभी सद्-गुणों को अपने में लाने की सतत चेष्टा करता रहे। इस प्रकार का श्रोता कथा के फल को पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने श्रोताओं के लक्षण और उनके कर्तव्य तो बताये अब कृपया वक्ता के लक्षण और बताइये। कथा का वक्ता कैसा होना चाहिये?"

सूतजी बोले—"भगवन्! वक्ता में वैसे तो सभी गुणों का समावेश होना चाहिये। किन्तु उसमें मुख्य चार गुण होने चाहिये। भक्ति, निरपेक्षता, दया और दक्षता।"

सबसे पहिले तो वक्ता को भगवान् का भक्त होना चाहिये। जो स्वयं भक्त न होगा वह भक्ति का उपदेश ही क्या करेगा। भक्ति के बिना यथार्थ रस नहीं आता, अतः वक्ता का स्वयं भक्त होना परमावश्यक है।

बिना निरपेक्ष बने दृढ़ता नहीं आती। जिसका मन कामिनी कांचन में फँसा रहेगा उसकी वाणी में ओज नहीं आवेगा जो प्रत्येक श्रोता की ओर इसी दृष्टि से देखता रहता है, कि कुछ लेकर आया है या नहीं तो उसकी कथा से श्रोता क्या सीख सकेंगे? वह कथा क्या है व्यवसाय है, मनोरञ्जन का-चित्त को बहलाने का-साधन मात्र है। परमार्थ साधन न होकर लौकिक व्यवहार की भीड़ मात्र है। अतः वक्ता का निरपेक्ष होना अत्या-वश्यक है।

जिस वक्ता के हृदय में दया नहीं वह दूसरों का क्या उद्धार करेगा, उसे सभी श्रोताओं का सच्चा सुहृद होना चाहिये। धनी-निर्धन में कोई भेद-भाव नहीं करना चाहिये, दीनों पर दया दर्शानी चाहिये तथा जो भी प्रश्न करे उसका प्रेम और नम्रता के साथ उत्तर देना चाहिये।

वक्ता का बहुश्रुत तथा विद्वान् होना परमावश्यक है। जिसने सभी शास्त्रों का विधिवत श्रवण न किया हो, जो युक्ति हेतु तर्क तथा दूसरे उपायों से श्रोता के संशयों को न मेंट सके वह उत्तम वक्ता नहीं होता। अनेकों दृष्टान्त दे देकर नाना युक्तियों से जो श्रोताओं को सन्तुष्ट कर देता है वह बुद्धिमान विद्वान् बहुश्रुत विवेकी वक्ता है।

इसी प्रकार वक्ता के और भी बहुत से गुण हैं जिन्हें स्वयं ही समझ लेना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने पीछे हमें श्रीमद्भागवत सप्ताह की विधि तो बतायी। अब कृपया सात्त्विक, राजस, तामस भेद से कथा श्रवण करने की विधि और बता दीजिये।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्! अब मैं सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण इन चारों भेदों से श्रवण विधि बताता हूँ, आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

श्रोता उत्तम अधम द्विविध तिनि भेद बतायें।
चातक, मछली हंस और शुक श्रेष्ठ कहायें॥
वृक, वृष ऊँट मुरुण्ड, बुरे ये चार बताये।
निज स्वभाव अनुकूल सबनि के नाम गिनाये॥
वक्ता हरि रस महँ निरत, निरभिमान निरपेक्ष शुचि।
दीन बन्धु, बुध बोध युत, कृष्ण कथा महँ रखहि रुचि॥

—०—

भागवती कथा का चतुर्विध श्रवण माहात्म्य

[३७]

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥*

(श्री भा० २ स्क० ३ अ० १० श्लो०)

छप्पय

श्रोता वक्ता कहे भागवत विधि सुनु मुनिवर।
रज, सत, तम, गुनरहित, चार विधि सेवें सादर॥
रज महँ श्रम अति ठाठ सात दिन सुनें सुनावें।
सत ऋतु अथवा मास सुनें सुख सब अति पावें॥
सुनें बरष भर तमोगुन, मास दिवस को नियम तजि।
निरगुन विधि शौनक कही, तरहिं भक्त भगवन्त भजि॥

घी का लड्डू चाहें जैसे भी खाया जाय, वह चाहे जैसा बना हो, गुण ही करेगा, फिर भी विधि विधान से बनी वस्तु की महिमा अधिक है, इसीलिये विधि विधान का विवरण बारम्बार बताया जाता है। शास्त्रकारों का कथन है कि जो शास्त्र विधि का

---

* सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जो उदार बुद्धि के पुरुष हैं वह चाहें निष्काम हो, समस्त कामनाओं को चाहने वाला हो अथवा मोक्ष की इच्छा वाला हो। उन्हें तो तीव्र भक्तियोग से केवल परम पुरुष भगवान् वासुदेव की ही सब भाँति से उपासना करनी चाहिये।"

परित्याग करके मन माना आचरण करता है उसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती। जो जिस भाव से उपासना करता है; उसे उसी भावना के अनुसार अनुष्ठान करना पड़ता है। इसलिये जो भी कार्य करे, शास्त्रीय विधि से करे, तभी उसका फल पूर्णरीत्या प्राप्त होगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने आपके पूछने पर श्रोता-वक्ताओं के लक्षण बता दिये अब मैं भागवत सेवन की विधि पुनः बताता हूँ। जैसे अन्न तो एक ही है, उसे मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार सात्विक, राजस और तामस बना लेते हैं। उसी में मिरचा, खटाई, लवण अधिक मिला दिया अधिक गरमारम करके पालिया। राजस भोजन हो गया। उसी को दूसरे दिन बासी बनाकर अशुद्ध करके अपवित्र और उच्छिष्ट करके खाया तो वह तामस हो गया। सुन्दर, मधुर, सुखकर, सरस बनाकर खाया वह सात्विक हो गया। वस्तु एक ही है, निर्माण तथा विधि भेद से उसके सात्विक, राजस, तामस भेद हो जाते हैं। यही बात भागवत् के सम्बन्ध में है। भागवत् शास्त्र तो एक ही है, सेवन की विधि के कारण उसके राजस, सात्विक तामस और निर्गुण ये चार भेद हो जाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इन चारों भेदों को हमें स्पष्ट करके समझाइये।"

सूतजी बोले—"भगवन्! राजसी सेवन तो यह है, कि यथेष्ठ धन व्यय करके यज्ञ की भाँति तैयारियाँ की जायँ। अपने सभी सगे सम्बन्धियों को उत्साह के साथ बुलाया जाय। पूजा की सुन्दर व्ययसाध्य सामग्री मँगायी जाय, मंडप सभी सामग्रियों से ऐसा सजाया जाय कि अत्यन्त ही शोभा सम्पन्न दृष्टिगोचर हो। चारों ओर सेवक सम्बन्धी ठाट-बाठ लगाने में सजाने तथा खिलाने पिलाने में व्यस्त दिखायी दें। कथावाचक

को आदेश हो जैसे भी बने तैसे सात ही दिन में पाठ और कथा को समाप्त किया जाय, वक्ता भी-श्रोता समझते हैं या नहीं इसकी चिन्ता छोड़कर केवल पाठ पूरा करने और सात दिन में समाप्त हो जाय, इसी की ओर ध्यान रखते हों, तो इस सप्ताह विधि से भागवत सेवन को राजस सेवन कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सात्विक सेवन कैसे किया जाता है?"

सूतजी बोले—"भगवन्! जो अत्यन्त मिठास के साथ शोनचित्त होकर, बहुत भीड़-भाड़ तथा धूम-धाम की ओर ध्यान न देकर केवल आन्तरिक सुख के निमित्त जो भागवत दो महीने में अथवा एक महीने में शनैः-शनैः सुख शान्ति के साथ श्रम के बिना सुनी जाती है। उसी का नाम सात्विक सेवन है। भगवान् लक्ष्मीनारायण इसी प्रकार भागवत् का सेवन करते हैं। दो महीने का सेवन तो और भी सरस तथा सुख प्रद कहा गया है। यदि कहने वाला वक्ता लक्ष्मीजी के समान कलितकण्ठ वाला हो तब तो आनन्द का ठिकाना ही क्या? वास्तव में सात्विक सेवन ही श्रीमद्भागवत का मुख्य सेवन है। भगवान् विष्णु, जगन्माता लक्ष्मी, अनन्त भगवान्, सनकादिक महर्षि, सांख्यायन-मुनि देवगुरु बृहस्पति तथा परम भागवत् उद्धवजी इसी ढंग से भागवत सेवन करते हैं। सुख की वृद्धि का यही सरल, सरस, सुगम सात्विक तथा शान्तिप्रद साधन है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तामस सेवन किसे कहते हैं?"

सूतजी बोले—"भगवन्! तामस सेवन वह कहाता है, कि समय काटने के निमित्त कथा आरम्भ कर दी जाय। कोई काम आ गया तो छोड़ दी, फिर स्मरण हो उठा तो पुनः आरम्भ कर दी। बीच में किसी ने आकर कह दिया—"अजी, अब बहुत हो

गयी, कथा बन्द करो, कुछ इधर-उधर की बात करो।" तो कथा बन्द कर दी। किसी ने पूछा—"यह क्या कथा वथा कर रखी है, तो कह दिया—"भाई, बैठे बेगार भली, एक वर्ष भर सुनने का हमने नियम ले रखा है, जब समय मिल जाता है, तो उसे कथा में ही काट लेते हैं। इस प्रकार आलस्य और अश्रद्धा से एक वर्ष में जो भागवत का सेवन किया जाय, वह तामस सेवन कहलाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ऐसे सेवन से क्या लाभ? ऐसा तो नहीं करना चाहिये।"

सूतजी बोले—"उत्तम पक्ष तो भगवन्! ऋतु अर्थात् दो मास अथवा एक मास में श्रद्धापूर्वक सेवन का ही है। यदि इतना समय न निकाल सके तो श्रद्धापूर्वक शीघ्रता के साथ सात ही दिन में श्रवण कर ले। यदि यह भी न हो, तो यह न कहें कि तामस विधि से क्या सेवन करें? नहीं, "अकरणात् मन्दकरण श्रेयः" न करने की अपेक्षा तो तामस सेवन भी अच्छा ही है। कभी-कभी तो इसमें आनन्द आ ही जाता है। जिस किसी भी प्रकार हो भागवत का सेवन करना ही चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! निर्गुण सेवन किसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! समय का बन्धन ही गुणों का बन्धन है। सप्ताह, ऋतु, मास तथा वर्ष किसी का भी नियम करके निरन्तर नित्य नियम से परम श्रद्धा के साथ कर्तव्य बुद्धि से जो सेवन किया जाता है, उसी सेवन का नाम निर्गुण सेवन है, सदा सर्वदा भागवत रस के सागर में डूबा ही रहे। इस ओर ध्यान ही न दे कि हमें भागवत सेवन करते हुए कितने दिवस व्यतीत हो गये। भागवती कथाओं के श्रवण में, भागवत चरित्र के चिन्तन, मनन और गायन में, भागवत दर्शन के विचार और

विमर्श में जितना भी अधिक से अधिक समय दे सके वही निर्गुण सेवन है। संसार में जो बड़भागी सुकृति सज्जन हैं, जिनके अनेकों जन्मों के अनन्त पुण्य उदय हुए हैं, वे इसी निर्गुण भाव से भागवत का सेवन करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपकी परिभाषा के अनुसार 'परीक्षित् शुक संवाद सप्ताह' जो गङ्गा तट पर हुआ वह भागवत का राजस सेवन हुआ?"

शीघ्रता के साथ सूतजी बोले—"नहीं, भगवन्! ऐसी बात नहीं है। मेरे गुरुदेव परमहंस चक्र चूड़ामणि महा विरक्त परम अवधूत श्रीशुक तो गुणातीत हैं, वे राजस कथा क्यों कहने लगे। परीक्षित् शुक संवाद यद्यपि सात दिन में ही हुआ, फिर भी वह निर्गुण ही सेवन था।"

शौनकजी ने कहा—"पीछे तो सूतजी! आप सप्ताह को राजस सेवन बता आये हैं। अब इसी निर्गुण बताने लगे।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! सप्ताह विधि को मैंने राजस विधि बताया है। किन्तु न तो महाराज परीक्षित् ने सप्ताह विधि से ही कथा सुनी, न सप्ताह बाँचने के संकल्प से भगवान् शुक ही आये। राजा परीक्षित् को सात दिन में तक्षक द्वारा डसे जाने का शाप था। उनके जीवन के सात ही दिन शेष रह गये थे, इधर शुकदेवजी भी संयोग से उसी समय उपस्थित हो गये। सात दिनों तक निरन्तर कथा चलती ही रही। उसमें न कोई सप्ताह सम्बन्धी ठाठ बाठ रचा गया न सप्ताह की विधि बरती गयी। न उस श्रवण में कोई सांसारिक कामना ही थी। गुणों का आरोप तो कामनाओं के अनुसार होता है, न तो राजा को कोई कामना थी और श्रीशुक तो सभी कामनाओं से हीन ही थे, अतः वह सेवन भले ही सात दिन में ही क्यों न हुआ हो, निर्गुण सेवन ही है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भागवत का सेवन गंगा-यमुना के तट पर पुण्यतीर्थों में ही करना चाहिये या अन्य स्थानों में भी कर सकते हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज! यदि श्रवण मनन करने को गंगादि पावन नदियों का तट मिले, मथुरा, पुष्कर, द्वारावती ऐसे क्षेत्र मिलें, प्रयाग, काशी, नैमिषारण्य ऐसे पुण्य मिलें तब तो पूछना ही क्या? ऐसी सुविधा न भी हो, तो भारत वर्ष में कहीं भी, भारत वर्ष के बाहर भी अपनी प्रकृति के अनुसार राजस, सात्विक, तामस अथवा निर्गुण जैसे भी बने तैसे इसका सेवन करना चाहिये। इसका सेवन कभी निष्फल नहीं जाता, चाहें सकाम भाव से हो, निष्काम भाव से अथवा विषयरत चित्त से भी क्यों न सुनी जाय, इससे सदा हित ही होगा। जैसे हरीतिका हरड़ का सेवन सभी दशाओं में सर्वत्र सुखदायी है। यदि रोगी उसका सेवन करेगा तो उसका रोग छूट जायगा, निरोगी सेवन करेगा, तो उसका स्वास्थ्य और बढ़ेगा। मोक्षकामी सेवन करेगा, तो उसे मुक्ति मिलेगी क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल साधन आरोग्यता ही है। हरीतिका (हरड़) का सेवन किसी भी दशा में अहितकर नहीं होता। इसीलिये तो इसकी इतनी प्रशंसा है। आयुर्वेद शास्त्र में इसके अभया, अमृता, अव्यथा; अमोघा, कायस्था, चेतकी, जीवन्ती, जीवनीया, जीव-प्रिया, जया, दिव्या, देवी, पथ्या, पूतना, पाचनीया, प्रमथा, प्रपथ्या, प्राणदा, बल्या, भिषग्वरा, रसायन फला, रुद्रप्रिया, रोहिणी, विजया, वयस्था, शिवा, सुधा, सुधोद्भवा, श्रेयसी तथा हरीतिकी ये नाम आये हैं। ये सब नाम अपने गुणों के कारण श्रीमद्-भागवत के भी हो सकते हैं। हरड़ का अव्यथा नाम इसलिये है, कि इसके सेवन से शरीर में पीड़ा दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार भागवत के सेवन से मानसिक पीड़ा नहीं

होती। हरड़ का एक नाम अमोघा है, इसका अर्थ हुआ जैसे हरड़ का सेवन अमोघ होता है, वह कभी व्यर्थ जा ही नहीं सकता। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत का सेवन अव्यर्थ नहीं जाता। सभी को हितकर होता है। संसार में मुक्त मुमुक्षु और विषयी तीन प्रकार के लोग होते हैं। और तीनों ही भागवत का सेवन करते हैं, मुक्त आनन्द वृद्धि के लिये, मुमुक्षु भगवत् प्राप्ति संसार बन्धन से मुक्ति पाने के लिये और विषयी सरस कथा होने से मनोरञ्जन के लिये। इसीलिये भागवत सेवन अमोघ है।

हरड़ का एक नाम कायस्था भी है। काया में जो रहे, अर्थात् जिसका गुण टिकाऊ हो। सम्पूर्ण प्राणियों की काया में तो भगवान् ही रहते हैं, जैसे हरड़ शरीर में रहकर उसका स्थायित्व स्थापित करती है वैसे ही भागवत भी शरीर में रहकर उसका कल्याण करती है। चेतकी हरड़ का नाम इसलिये है, कि वह शरीर में चैतन्यता लाती है, इसी प्रकार श्रीमद्भागवत भी चैतन्यता प्रदान करने वाली होती है। भागवत की भाँति हरड़ जीवन प्रदान करती है, शरीर में नवजीवन का संचार करती है इसलिये इसे जीवन्ती कहते हैं। जिलाने वाली होने से जीवनीया, सम्पूर्ण जीवों का प्रिय करने से जीवप्रिया और जय देने वाली होने से जया, जैसे हरड़ के ये नाम हैं, वे ही सब श्रीमद्भागवत भी देने वाली है, इसी प्रकार सभी नामों का अर्थ समझ लीजिये। तेज देने वाली होने से 'दिव्या' कल्याण करने वाली होने से 'देवी' मार्ग शुद्ध स्वच्छ करने वाली होने से 'पथ्या' पवित्र करने वाली होने के कारण 'पूतना' सभी प्रकार के दोषों (पापों) को पाचन करने वाली होने से 'पाचनीया' रोग (संसार रोग) को जड़ मूल से काट देने वाली होने से 'प्रमथा' और बहुत हितकर अत्यन्त पथ्य होने से 'प्रपथ्या' कहलाती है। प्राणों को दान देने वाली होने से 'प्राणदा' बल देने वाली होने के कारण

'वल्या' रोगों (तापत्रय) को मिटाने के लिये श्रेष्ठ वैद्य होने के कारण 'भिषगवरा' और रसों का घर होने से व्याधियों को दूर करने की कला में निपुण होने से 'रसायन कला' कहलाती है। महादेवजी की प्रिया होने के कारण 'रुद्रप्रिया' अपने गुणों से रिझाने वाली होने से 'रोहिणी' सभी प्रकार के रोगों पर विजय प्राप्त करने के कारण 'विजया' जीवन को स्थायी रखने के कारण 'वयस्था' कल्याण करने वाली होने से 'शिवा, अमृत के समान गुणकारी होने से 'सुधा' (भक्ति) अमृत से उत्पन्न होने के कारण 'सुधोद्भवा' कल्याण करने वाली होने से 'श्रेयसी' और सर्व रोग हरने वाली होने से जैसे हरड़ हरीतिकी कहाती है, ये ही सब गुण भागवत में होने से भागवत के भी ये नाम सार्थक हैं। अन्तर इतना ही है, हरीतिकी शरीर के रोगों को हरती है, वात, पित्त, कफ जनित दोषों को शान्त करती है। भागवत भव रोगों को नाश करके तीनों तापों को शमन करती है। जैसे हरड़ मस्तक पीड़ा, नेत्र पीड़ा, स्वरभंग, विषमज्वर, पांडुरोग, हृद्रोग, शोष, शोथ, मूत्रकृच्छ, संग्रहणी, अतिसार, पथरी, कै, प्रमेह, कृमिरोग, कास, स्वास, घर्म, उदररोग, मलस्तम्भ (कब्जी), पेट फूलना, पसीना आना, कान के रोग, अर्श, प्लीहा, गुल्म, तथा त्रिदोष जनित जितने रोग हैं, उन सब में हितकर है, उसी प्रकार भागवत संसार के जितने दैहिक, दैविक तथा आत्मिक ताप हैं सभी को जड़मूल से नाश करने वाली है।

जैसे हरड़ सभी समय में सभी ऋतुओं में हितकर है, उसी प्रकार भागवत भी सभी काल में सर्वत्र हितकर है, किन्तु हरड़ के सेवन में कुछ नियम है। जैसे ग्रीष्म ऋतु ज्येष्ठ आषाढ़ में बराबर मात्रा में गुड़ के साथ खाय, वर्षाऋतु श्रावण भादों में सेंधव नमक के साथ, शरद ऋतु क्वार कार्तिक में शक्कर के साथ, हेमन्त ऋतु अगहन पौष में सोंठ के साथ, शिशिर ऋतु माघ

फाल्गुन में पीपल के साथ और वसन्त ऋतु चैत्र वैशाख में शहद के साथ खाये तभी गुण करती है, किन्तु श्रीमद्भागवत के सेवन में ऐसा कोई नियम नहीं, उसे सदा एक रस से सेवन करते रह सकते हैं, हरड़ सभी के लिये, समान रूप से हितकर नहीं है। गर्भवती स्त्री के लिये अत्यन्त अशक्त के लिये वह निषेध है किन्तु श्रीमद्भागवत का सेवन चाहें स्त्री हो पुरुष सगर्भा अगर्भा हो, सशक्त हो, असक्त हो सभी के लिये हितकर है। हरड़ का सेवन कच्चे बिना पचेज्वर में निषेध है। इस विषय की एक बड़ी रोचक कहानी है।

एक बार लोगों ने यह मिथ्या समाचार उड़ा दिया कि धन्वन्तरिजी अपने शरीर को त्यागकर परलोक वासी बन गये। इस समाचार से लोगों में बड़ा दुःख हुआ। सभी रोने लगे कि अब रोगों को कौन दूर करेगा, कौन हमारी सम्पूर्ण व्याधियों को हरेगा। लोगों को अत्यन्त दुखी देखकर हरड़ ने कहा—"तुम लोग इतने दुखी क्यों होते हो, धन्वन्तरिजी चले गये तो क्या हुआ मैं तो पृथ्वी पर हूँ, जब तक मैं हूँ तब तक मेरे सेवन करने वाले के समीप रोग फटक भी नहीं सकते। कौन-सा ऐसा रोग है जिसमें मेरा उपयोग न हो, ऐसा कौन-सा रोग है जिसे मैं अच्छा न कर दूँ।"

हरड़ की यह गर्वोक्ति किसी ने जाकर धन्वन्तरिजी से कह दी। हरीतिका की गर्वोक्ति को सुनकर धन्वन्तरिजी प्रसन्न हुए और हँसते हुए बोले—"अच्छा हरड़ से जाकर पूछो, जो ज्वर पका न हो कच्चा हो, उसमें तुम्हारा क्या उपयोग है।"

लोगों ने जाकर पूछा—"देवि! तुम कच्चे ज्वर में भी लाभप्रद सिद्ध हो सकोगी?"

यह सुनते ही हरड़ ने गरजकर कहा—"कौन कहता है, धन्वन्तरि धराधाम को त्यागकर परलोक वासी हो गये। अवश्य

ही वे जीवित हैं और यहीं कहीं समीप में हैं। इसको तो वे ही जानते हैं कि कच्चे ज्वर में मेरा कोई उपयोग नहीं।"

इसका अर्थ यही हुआ कि हरड़ भी कुछ रोगों में निषिद्ध है, किन्तु श्रीमद्भागवत तो सभी भव रोगों की एकमात्र अचूक औषधि है।

हरीतिका में एक और त्रुटि है। रस ६ माने गये हैं-कषाय, अम्ल, कटु, तिक्त, मधुर और लवण। हरड़ में पाँच ही रस हैं। लवण उसमें नहीं है इसलिये नमक उसमें ऊपर से मिलाकर तब सेवन की जाती है, किन्तु श्रीमद्भागवत में तो माधुर्य भी है और लावण्य भी है, उसमें छै के छैऊ रस हैं, यही नहीं उसमें तो नव रस हैं। अतः उसमें ऊपर से कुछ भी मिलाना नहीं पड़ता। वह स्वतः रसायन 'रसमालयं' है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! हरीतिका और भागवत की तुलना ही क्या हो सकती है, कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जैसे शारीरिक रोगों के लिये हरड़ उत्तम औषधि है वैसे ही भव रोग के लिये, भागवती कथा सर्वोत्तम से उत्तम महौषधि-परम रसायन-है यह मुक्त मुमुक्षु तथा विषयी सभी लोगों के लिये सुख देने वाली आनन्द को बढ़ाने वाली है। विषयी लोग भी जब भागवत के रासलीला आदि सरस प्रसङ्गों को सुनते हैं, तो लोट-पोट हो जाते हैं, फिर जो केवल श्रीकृष्ण को ही अपना सर्वस्व समझते हैं, उन्हीं की ललित लीलाओं में अनुराग रखते हैं, उन्हीं के श्रवण कीर्तन तथा गान करने को लालायित रहते हैं, उनका तो श्रीमद्भागवत ही धन है। उन्हें तो सदा सर्वदा भागवत का ही सेवन करते रहना चाहिये।

जो लोग अत्यन्त प्रेमी तो नहीं हैं, किन्तु संसार के दुखों से त्रस्त होकर शान्ति चाहते हैं, इस दुखमय जगत् से घबड़ाकर मुक्ति चाहते हैं उनके लिये भी इस दुःख से छुड़ाने वाली

भागवत ही भवरोग की ओषधि है, इसी के सेवन से उन्हें मुक्ति मिल जायगी।

तीसरे वे लोग हैं, जो सकाम यज्ञ याग करके इस लोक में धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, वाहन, भवन, आदि सुख की सामग्री चाहते हैं और अन्त में स्वर्गीय सुख भोगने के इच्छुक हैं। अन्य युगों में वैदिक यज्ञ याग करके ये वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। राजसूय, अश्वमेधादि यज्ञों से लौकिक सुख और स्वर्गीय सुख मिलते थे। अब इस कलियुग में न इतने बड़े-बड़े यज्ञ करने की सबकी सामर्थ्य ही है, न उतना विपुल धन ही है और न उतनी विशुद्ध यज्ञ की सामग्रियाँ ही मिलती हैं इसी कारण यज्ञ आदि कर्म वैदिक कर्म मार्ग के द्वारा वैसी सिद्धियाँ मिलनी अब अत्यन्त दुर्लभ हो गयी हैं। ऐसी दशा में ऐसे लोगों को भी भागवती कथा का ही सेवन करना चाहिये। इस श्रीमद्भागवत यज्ञ से धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, परिवार, भवन, गृह, कोष, वाहन, पशु तथा सभी सांसारिक सुख की सामग्रियाँ मिल सकती हैं, भागवत के सेवन से इस लोक में सुख भोगकर अन्त में वे भगवान् के ही धाम में प्राप्त हो सकेंगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मैंने आपसे यह श्रीमद्भागवत का माहात्म्य कहा। श्रोता वक्ताओं के सम्बन्ध में कुछ कहकर इस विषय का उपसंहार करूँगा।"

छप्पय

कैसे हू नर नारि भागवत सुनें सुनावैं।
प्रभु पद पदुमन प्रेम मनो वांछित फल पावैं॥
मगन मुकुति नहिं चहहिं भागवत सुनि सुख लेवैं।
पढ़े मुक्ति हित दुखित मुक्ति तिन को हरि देवैं॥
संसारी सुख हेतु जो, चित्त कथा में लायँगे।
लहैं पुत्र धन सकल सुख, अन्त परम पद पायँगे॥

श्रीभागवत महिमा—उपसंहार

[३८]

य एवं श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः ।
श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात् पुनात्यात्मानमेव सः ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० १२ अ० ५८ श्लोक)

छप्पय

नित सेवन जहँ करैं भागवत मिलि अनुरागी ।
तिनकी सेवा करैं जगतमहँ ते बड़भागी ॥
श्रोता वक्ता होहिँ उभय निरलोभी भावुक ।
तहाँ प्रेम रस बहै होय हिय महँ अतिशय सुख ॥
दुख नासिनि सब सुख सदन, मुक्ति मुक्ति देनी कथा ।
कैसे हू सेवन करैं, मिटै सकल भवभय व्यथा ॥

एक मनुष्य ने बहुत दिन तक प्रयत्न करने के अनन्तर राजा को प्रसन्न किया। राजा के दर्शन होने पर जब राजा ने कुछ माँगने को कहा तो उसने यही माँगा—"आपके यहाँ आटे की जो भूसी निकलती है वह मुझे दे दी जाय।"

उस व्यक्ति को माँगने पर भूसी मिल तो जायगी ही,

---

* सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जो इस श्रीमद्भागवत पुराण को एक प्रहर अथवा एक क्षण भी एकाग्रचित्त होकर श्रवण करता है या श्रद्धा पूर्वक दूसरों को सुनाता है, वे दोनों ही अपने चित्त को विशुद्ध बना लेते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।"

संभव है राजा उसकी मूर्खता से प्रसन्न होकर कुछ और भी दे दे, किन्तु इतने सामर्थ्यशाली राजा से भूसी माँगना राजा का भी अपमान करना है और याचना की भी विडंबना है, चक्रवर्ती के प्रसन्न होने पर उससे किसी द्वीप का राज्य माँगना चाहिये अथवा उसका पुत्र बनकर उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनना चाहिये। इसी प्रकार जो यज्ञ, याग, जप, अनुष्ठान करके भगवान् को प्रसन्न करते हैं और उनसे स्त्री, पुत्र, धन, रत्न आदि संसारी वस्तुयें माँगते हैं वे उन शुभ कर्मों की भी विडंबना करते हैं। मोक्ष पति प्रेमार्णव प्रभु को प्रसन्न करके तो उनसे मुक्ति अथवा अहैतुकी भक्ति ही माँगनी चाहिये, किन्तु सांसारिक कामनाओं में फँसा हुआ प्राण भगवान् से मुक्ति न माँगकर अपने संसार के बन्धन को और जकड़ना ही चाहता है, भगवान् तो कल्पतरु के सदृश हैं, उनके यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं है। उनको जो जिस भावना से भजेगा, उसकी वही भावना सिद्ध होगी, उनसे जो जिस वस्तु की याचना करेगा उसे ही पावेगा। यही नहीं वे उससे भी अधिक देंगे, किन्तु भगवान् से तुच्छ सांसारिक कामना चाहना अनुचित है, उनसे तो भक्ति मुक्ति तथा अलौकिक प्रेम की ही याचना करनी चाहिये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भागवती कथा का सेवन सदा सर्वदा सुख को ही देने वाला होता है। स्वयं अपने यहाँ कथा का प्रबन्ध न हो तो जहाँ कहीं कथा होती हो, वहाँ जाकर श्रद्धा पूर्वक सुननी चाहिये। जिनके यहाँ नित्य नियम से भागवती कथा होती हो, जो लोग परस्पर में मिलकर प्रेमपूर्वक कथा श्रवण में लगे रहते हों उनकी तन से, धन से सहायता करनी चाहिये। इससे भी भागवत सेवन का फल मिल जाता है। कथा के स्थान को झाड़ बुहार दे, लीप पोत दे, बिछौना बिछा दे। फूल, तुलसी, माला लाकर रख दे। श्रोताओं को पानी पिला दे, अपनी सामर्थ्य

हो तो द्रव्य लगाकर सहायता कर दे। वक्ता श्रोताओं की सेवा करना भी बड़े पुण्य का कार्य है। जिस प्रकार भी भागवती कथा का प्रचार-प्रसार हो जाना चाहिये, लोगों की पारमार्थिक भावनाओं को प्रोत्साहन देना चाहिये। उच्च कामना से भागवत का सेवन करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा--"सूतजी! उच्च कामना का क्या अभिप्राय है?"

सूतजी बोले—"भगवन्! संसार में दो ही प्रकार की कामनायें हैं। भगवत् प्राप्ति की कामना और धन प्राप्ति की कामना। 'धन' शब्द से आप केवल रुपया पैसा, सुवर्ण-चाँदी ही न समझें श्रीकृष्ण के अतिरिक्त जो भी द्रव्य, स्त्री, पुत्र, भूमि, अन्न, वस्त्र, पद, प्रतिष्ठा, कीर्ति, मान, सम्मान तथा संसारी सुख भोग वैभव हैं सभी की 'धन' संज्ञा है। इसीलिये भागवत का सेवन दो ही कामना से किया जाता है। भगवत् प्राप्ति की कामना से और धन प्राप्ति की कामना से। इसी कारण से श्रोता वक्ता भी दो प्रकार के होते हैं। एक श्रोता तो ऐसे होते हैं, जो केवल भगवत् प्राप्ति की कामना से ही भागवत का सेवन करते हैं, दूसरे इस कामना से करते हैं, कि हमारे धन हो, पुत्र हो, वैभव बढ़े सम्मान मिले। इसी प्रकार एक वक्ता तो ऐसे होते हैं, जो केवल भगवत् भक्त श्रोताओं को खोजते रहते हैं, जहाँ कोई श्रीकृष्ण कामी भक्त मिल गया तो उसके साथ प्रेम में मग्न होकर कथा सुनाते रहते हैं, परस्पर में कृष्ण कथा कहते-कहते तन्मय हो जाते हैं। दूसरे वक्ता ऐसे होते हैं. जो बगल में पुस्तक दबाये घूमते रहते हैं, कोई हमसे कथा सुनले हमें पैसा दे दे। कुछ भी दे दे, भोजन भर को अन्न ही दे दे, सीधा ही दे दें, उनका कथा कहना व्यापार है, कथा के नाम से पेट भरते हैं। ऐसे ही उन्हें श्रोता भी सकामी मिल जाते हैं, उस कथा में रस नहीं आता। वह एक प्रकार से

क्योंकि जनार्दन भगवान् तो भावग्राही हैं। इस विषय को मैं एक दृष्टान्त से समझाता हूँ।"

एक बड़ा समृद्ध शाली नगर था। उसमें बड़े बड़े व्यापारी व्यापार करते थे। वहाँ का बाजार स्वच्छ सुन्दर और शोभा युक्त था। उस बाजार के बीच में एक भगवान् का मन्दिर था। उसमें एक पुजारीजी पूजा करते थे। पुजारीजी के परिवार का निर्वाह पूजा की आय से ही होता था। वे प्रातः ही बहुत तड़के स्नान करके रेशमी वस्त्र पहिनकर झोली में हाथ डाल कर माला घुमाते रहते। जहाँ किसी दर्शनार्थी नर नारी को देखा, तुरन्त माला रख दी; चरणामृत दिया और देखते रहे क्या चढ़ाता है। उनकी दृष्टि न तो भगवान् की मनमोहिनी मूर्ति में रहती, न मन मन्त्र जाप में उनकी सम्पूर्ण चित्त वृत्ति चढ़ावे की ही ओर लगी रहती।

उनके सामने ही एक वेश्या भी रहती। वह बड़ी सुन्दरी थी। बड़े-बड़े लोग ही उसके यहाँ आते थे। उसका बड़ा ठाट बाट था। पुजारीजी सदासर्वदा उसकी ओर देखते रहते। वह भी पुजारीजी की दिनचर्या को बड़े ध्यान से देखती। कभी-कभी वह भी दर्शनों को आ जाती। उसके सुन्दर बहुमूल्य वस्त्रों की सुवास से आस पास के लोगों की नाक भर जाती। पुजारी जी बड़ी ललचायी दृष्टि से उसकी ओर देखते रहते। उसके चले जाने पर लोगों से कहते—"कुलटा है, वैश्या है। पाप कमाती है, मंदिर में आती है।" कभी-कभी उनके मन में भी आता कोठे पर चलकर इससे दो बातें करें। किन्तु रुक जाते, कोई देख लेगा, तो क्या कहेगा। किसी को पता चल गया तो आजीविका भी मारी जायगी। इसी प्रकार बहुत दिन व्यतीत हो गये पुजारीजी का अन्तिम समय आ गया। उनकी मृत्यु हो गयी। संयोग की बात कि उसी दिन उस वेश्या की भी मृत्यु हुई। दोनों को लेने को

यमदूत आये। यमदूतों ने आकर कहा—"चलिये पुजारी जी महाराज!"

पुजारी जी ने पूछा—"कहाँ ले जाओगे भैया!"

यमदूतों ने कहा—"यमराज की आज्ञा है आप को नरक में चलना होगा।"

पुजारीजी ने पूछा—"और इस वेश्या को?"

पास में ही खड़े देवदूतों ने कहा—"इसे हम स्वर्ग में ले जायँगे।"

पुजारीजी ने कहा—"क्यों भैया! हम सुनते थे यहाँ के ही न्यायालयों में अन्याय होता है, धर्मराज के यहाँ भी अन्धेर चलता है क्या? आप लोगों ने अवश्य ही समझने में भूल की है, नहीं तो जीवन भर मंदिर में पूजा करने वाले मुझे तो नरक मिले और पर पुरुषों का संगम करने वाली इस वेश्या को स्वर्ग की प्राप्ति हो। अवश्य ही इसमें कुछ गड़बड़ सड़बड़ है। आप लोग एक बार पुनः जाकर यमराज से पूछ आवें।"

यह बात सुनकर दूतों को भी सन्देह हुआ, वे दौड़े-दौड़े यमराज के पास गये और जाकर सभी वृत्तान्त सुनाया। यमराज ने सब सुनकर कहा—"नहीं, गड़बड़ी कुछ नहीं हुई है, पुजारी को नरक में ही आना होगा। वेश्या को स्वर्ग में ही पहुँचाना पड़ेगा।"

दूत पुनःलौटकर आये और कहा—"पुजारीजी! नरक ही चलना पड़ेगा।"

पुजारीजी ने फिर कहा—"यह तो बड़ा अन्धेर है।"

इस पर एक देवदूत ने कहा—"पुजारीजी! अपने हृदय को टटोलो। चरणामृत देते समय आपने कितनी स्त्रियों को भगवान् के सामने खोटी दृष्टि से देखा है, सब के लिये जो भगवान् थे, तुम्हारे लिये केवल मात्र पैसा पाने के लिये पाषाण की एक मूर्ति,

थी। पैसा के लिये आपने क्या-क्या किया। आप शरीर से तो इस वेश्या के घर नहीं गये, किन्तु आपकी भावना तो इसे देखते ही यह कहती थी, कि यह कैसा सुख भोग रही है, कितने आनंद में है, यदि मैं इस पूजा के चक्कर में न होता तो मैं भी इसकी भाँति सुख भोगता। ऊपर से आप इसे स्वैरिणी कुलटा कहते थे, किन्तु मन के भीतर तो आपको इसके सुख के प्रति ईर्ष्या थी। उसे प्राप्त करने की इच्छा थी।

इसके विपरीत यह समाज द्वारा तिरस्कृता थी। समाज इसे अपने में मिलाने को तैयार नहीं था। विवश होकर पेट के लिये इसे यह निन्द्य कार्य करना पड़ा। फिर भी इसने किसी के साथ छल नहीं किया। जिसके साथ जितने समय का वचन दिया उसे निभाया। आपके शुभ कार्यों के प्रति इसे श्रद्धा थी, इसकी सदा यही भावना बनी रहती थी, कब इस निन्द्य कर्म से छुटकारा हो और कब पंडितजी की भाँति सदा सेवा पूजा करते हुए पवित्र जीवन बिताऊँ। इसी पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए इसने समय बिताया, भगवान् के इसी भाव से दर्शन किये, एकान्त में उनके लिये आँसू बहाये। ऊपर से देखने में इसका कार्य निन्द्य था, किन्तु इसकी भीतर की भावना पवित्र थी। इसके विपरीत ऊपर से देखने में तुम्हारा कार्य पवित्र था, किन्तु भीतर की भावना कलुषित थी फल तो भावना के ही अनुसार मिलता है।"

इस दृष्टान्त का अभिप्राय इतना ही है, कि ऊपर की क्रिया ही से फल समान नहीं हो सकता, कथा तो वही एक है, सुनते भी लोग एक ही समान हैं, किन्तु श्रोता वक्ताओं की जैसी भावना होती है, फल उसके अनुरूप होता है। फिर भी एक बात और है, क्या अनिच्छा से भी किसी अन्य भाव से भी गङ्गाजी के जल में गिर गये, तो शरीर शीतल तो दूसरे जल के ही समान होगा, किन्तु गङ्गाजल के स्पर्श से आपके पाप भी कट जायँगे। इसी

प्रकार संसारी कामनाओं से भी भागवत का सेवन करोगे, तो उसका फल मंगलप्रद ही होगा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप यह बतावें कि कोई निष्काम भक्त है उसे संसारी कामना तो कुछ नहीं है, किन्तु विधि विधान कुछ नहीं जानता। वह विधि विधान से रहित होकर भागवत का सेवन करता है, उसे फल मिलेगा या नहीं?"

इस पर सूतजी ने गम्भीर होकर कहा—"विधि विधान का झंझट तो सकामता में ही है। यदि निष्काम भक्त विधि विधान पूर्वक सेवन करता है, तब तो सर्वोत्तम ही है, किन्तु यदि वह प्रभु प्राप्ति की भावना से विधिहीन भी सेवन करता है, तो यह हो सकता है, कि उसे कुछ विलम्ब हो जाय किन्तु उसे सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी। श्रीकृष्ण को चाहने वाला भले ही गुणहीन हो, उसका कार्य विधिहीन भी क्यों न हो, किन्तु उसके हृदय में जो विशुद्ध भावना है, प्रभु के पादपद्मों के प्रति प्रेम जो है, वही उसकी सर्वोत्तम विधि है। भगवान् तो भीतर के भाव को देखते हैं। आंतरिक प्रेम के प्रवाह में गुण, विधि विधान सभी बह जाते हैं। यदि केवल मात्र प्रभु प्राप्ति की, भगवत् भक्ति की-मुक्ति की कामना है तब तो जैसे बने वैसे ही सेवन करो, किन्तु यदि भागवत सेवन से संसारी कामनाओं को पूर्ण करना चाहते हो, तब तो विधि विधान का पालन करना ही होगा। धनार्थी को तभी सिद्धि मिलती है जब उसके अनुष्ठान का विधि विधान पूर्ण हो जाय। इसीलिये निष्काम भक्त के लिये उद्यापन का आग्रह नहीं है। सकाम श्रोता को तो कथा की समाप्ति के दिन विधि पूर्वक उद्यापन करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सकाम भागवत अनुष्ठान की विधि बताइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! विधि तो मैं पीछे बता ही चुका

हैं, जो सप्ताह की विधि है, वही मासिक, द्विमासिक, वार्षिक की विधि समझ ले।"

१—श्रोता वक्ता दोनों को सूर्योदय के पूर्व उठ जाना चाहिये।

२—नित्यकर्मों से निवृत्त होकर संक्षेप में संध्या वन्दनादि करके भगवान् का चरणामृत ले लेना चाहिये।

३—फिर पुष्प, माला, धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजा की सामग्री लेकर कथा मंडप में आना चाहिये। आकर भागवत वक्ता गुरु का तथा पुस्तक का पूजन करे। समागत भक्तों की वन्दना करे। और स्थित चित्त से जब तक कथा हो उसका श्रवण करे।

४—दूध पीकर रहे या चरु चावल की खीर खाकर रहे या जो भी भगवान् को हविष्यान्न का भोग लगे उसे एक बार मौन होकर खाय।

५—नियम पूर्वक दृढ़ता से ब्रह्मचर्य का पालन करे।

६—खाट पर शयन न करे, भूमि पर सोवे।

७—क्रोध न करे, यथाशक्ति लोभ को त्याग दे।

८—प्रतिदिन कथा समाप्त पर भक्तों के साथ भगवान् का कीर्तन करे।

९—दिन में कथा श्रवण करके रात्रि में जागरण करे।

१०—जिस दिन कथा की समाप्ति हो, यथाशक्ति हवन करावे, ब्राह्मण भोजन करावे उन्हें दक्षिणा दे। वक्ता को द्रव्य, वस्त्र, आभूषण तथा और भी सभी उपयोगी वस्तुओं को भेंट करे। गोदान करे।

इस प्रकार इन नियमों का पालन करते हुए जो भागवत सप्ताह, मासिक, द्विमासिक, वार्षिक पारायण करते कराते हैं, उन सकाम पुरुषों की सभी कामनायें पूर्ण होती हैं। वे धन चाहते हैं

तो धन मिलता है, पुत्रार्थी को पुत्र, विद्यार्थी को विद्या, यश चाहने वाले को यश, गृहार्थी को गृह, राज्यार्थी को राज्य और विवाहार्थी को सुशील सुन्दरी स्त्री मिलती है। किन्तु मुनियो! भगवान् को प्रसन्न करके ये संसारी वस्तुएँ माँगना बहुत बड़ी विडम्बना है। यह तो अत्यन्त तुच्छ कामना है। चुहिया निकालने को इतने बड़े पहाड़ को खोदने के समान है। इस परम पवित्र शुकशास्त्र का सेवन तो श्रीकृष्ण प्राप्ति के ही निमित्त करना चाहिये। इसके सेवन से अलौकिक अलभ्य प्रेमानन्द प्राप्त होता है इसका तुच्छ कामनाओं के लिये उपयोग तो मणि मुक्ताओं से भूसा तौलने के समान है। यह मैंने आप से अत्यन्त ही संक्षेप में भागवती कथा की जैसी–मुझसे बन सकी वैसी–महिमा कही अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भागवती कथा सुनाते समय बीच-बीच में जो स्तुतियों के प्रकरण आये थे, उस समय आप सर्वत्र यही कहते गये, कि स्तुतियों के प्रकरण को मैं फिर समय मिलने पर सुनाऊँगा। सो सूतजी! अब तो बहुत समय है कृपया भागवत की जो भिन्न भिन्न स्तुतियाँ हैं उन्हें हमें विस्तार के साथ स्पष्ट अर्थ करते हुए सुनाइये। भागवत का सम्पूर्ण सार तो इन स्तुतियों में ही भरा है। उस समय कथा भाग सुनाने के काल में हमने इसलिये आग्रह नहीं किया कि आपका कथा का प्रवाह रुक जायगा क्योंकि स्तुतियों में गूढ़ रहस्य भरा पड़ा है। अब तो कथा भी समाप्त हो गयी भागवती कथा की महिमा भी सुना दी। अब आप भागवती स्तुतियों को हमें सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं आप को यथा मति भागवती स्तुतियों को ही सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

(१)

होहि कामना कृष्ण मिलन हित विधि कछु नाहीं।
गुनी होहि गुनहीन अवसि फल सेवे पाहीं॥
संसारी सुख हेतु करे पारायन प्रानी।
विधि पूरी जब होहि वस्तु पावै मन मानी॥
भगति न लहि जग सुख चहहिं, लेहिं काँच दै मनि यथा।
कह्यो महातम महामुनि! कहूँ कौन सी अब कथा॥

(२)

शौनक बोले—सूत! कृष्ण चिरजीव बनावैं।
इस्तुति जे बचि रहीं तिनहिं अब सौम्य सुनावैं॥
चतुमुकता अति बढ़ी शमन करि सुख सरसावैं।
सूत कहैं मुनि! गहन पार पंडित नहिं पावैं॥
प्रभु पद पंकज पकर पुनि, अब इस्तुति बरनन करूँ।
है अगाध अमृत उदधि, कृपा करो तुम तो तरूँ॥

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये।

भक्त और भगवान्

भागवत दर्शन

खण्ड ६३

भागवती स्तुतियाँ (१)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सङ्कीर्तन भवन

प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

मुद्रक

भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, झूसी (प्रयाग)

प्रथम संस्करण } आषाढ़, संवत् २०१३ { ~~मूल्य १।)~~ सवा रुपया

विषय-सूची

तिरसठवां खण्ड

अध्याय	विषय			पृष्ठांक
	भगवत् स्तुति भूमिका			१ से ४९ तक
१—	भागवती स्तुतियाँ (१) मङ्गलाचरण			
२—	कुन्ती कृत कृष्ण स्तुति	...	...	९
३—	कुन्ती-स्तुति (२)	...	...	२३
४—	कुन्ती स्तुति (३)	...	...	३०
५—	कुन्ती स्तुति (४)	...	...	३७
६—	कुन्ती स्तुति (५)	...	...	४६
७—	कुन्ती स्तुति (६)	...	...	५४
८—	भीष्मपितामह कृत भगवत् स्तुति	...	...	६२
९—	भीष्म स्तुति (१)	...	...	७०
१०—	भीष्म स्तुति (२)	...	...	७९
११—	भीष्म स्तुति (३)	...	...	८७
१२—	हस्तिनापुर की महिलाओं द्वारा माधव की महिमा			९४
१३—	महिलाओं द्वारा माधव की महिमा (२)		...	१०४
१४—	महिलाओं द्वारा माधव की महिमा (३)		...	१११
१५—	शुक स्तवन (१)	...	...	१२२
१६—	शुक स्तवन (२)	...	...	१३१
१७—	अधिष्ठातृ देवों द्वारा स्तुति (१)		...	१३८
१८—	अधिष्ठातृ देवों द्वारा स्तुति (२)		...	१४७
१९—	सृष्टि रचना के लिये ब्रह्माजी द्वारा भगवत् स्तुति (१)			१५५
२०—	ब्रह्माजी द्वारा भगवत् स्तुति		...	१६४

॥ श्री हरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

१—"भागवत दर्शन" का यह ६३ वाँ खण्ड [illegible] फाल्गुन में निकलता और तभी जिन लोगों ने रुपये भेजे या वी० पी० भेजने की आज्ञा दी उन्हें वह खंड भेजा गया। इसके एक महीने पश्चात् ही हमारे पास प्रेमी पाठकों के पत्र पर पत्र आने लगे। कोई लिखते हमें ६२ वाँ अंक नहीं मिला, क्या हमें भूल गये क्या। कोई लिखते चैत्र,वैशाख, ज्येष्ठ के तीन अङ्क नहीं मिले तीनों एक साथ तुरन्त भेजो। कोई लिखते आपका काम बड़ा सुस्त है और कोई कोई यहाँ तक भी लिख गये कि रुपये तो पहिले ले लेते हो, और एक अङ्क भेजकर चुप्पी साध लेते हैं। इन सभी पत्रोंमें पाठकों को अगले खंड पढ़ने की उत्सुकता ही प्रधान है, कोई हमारी विवशता को ध्यान में रखकर सौम्य भाषा में लिखते हैं, कोई हृदय में सीधी लग जाय इसलिये तीखी भाषा का प्रयोग करते हैं। सारांश इतना ही है, अगले खंड शीघ्र भेजो, समय पर छापो प्रतिमास नियमित भेजो। ऐसा लिखने का पाठकों को अधिकार है, किन्तु उन्हें हमारी स्थिति पर भी तनिक ध्यान रखना चाहिये। नियमित खंड न भेजने के प्रधान कारण इतने हैं १—पाठकों को एक बात स्मरण रखनी चाहिये "भागवत दर्शन" कोई मासिक पत्र नहीं जो नियत तिथि पर भेजा ही जाय। यह पत्रालय की सुविधायों से रहित अपुंजीकृत (अनरजिस्टर्ड) पुस्तक है। छपने पर रजिष्ट्री से तुरन्त भेज दी जाती है। डाक व्यय प्रायः दुगुना हो जाने से सुविधा के लिये दो तीन खंड एक साथ भेजे जाते हैं। इससे खोने का प्रायः बहुत ही कम अवसर आता है। अतः पाठक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा किया करें।

२—पहिले "भागवती कथा" के लगभग हजार डेढ़ हजार ग्राहक थे। अब २५०, ३०० रह गये हैं। बीच में गौरक्षा आन्दोलन के कारण दो तीन वर्ष प्रकाशन बन्द रहा। कहावत है, उठी पैंठ आठवें दिन लगती है।" छिन्न भिन्न हुए कार्य को पुनः जोड़ने में समय अपेक्षित है। फिर अनाड़ी आदमी अनधिकार चेष्टा करे, विप्रवृत्ति वाला वाणिज्य व्यापार में प्रवृत्त हो, तो उसे पग पग पर अपनी भूलें अनुभव होती हैं। एक कहानी सुनिये। एक व्यापारी एक ब्राह्मण के साथ यात्रा में चले। ब्राह्मण पर मार्ग में खाने को सत्तू बँधे थे, व्यापारी के पास चावल के धान थे। ब्राह्मण तो जल में सत्तू को घोलकर पीलें। व्यापारी को धानसे चावल निकालना उन्हें राँधना,ठंडा करना खाना देर लगे व्यापारी ने सोचा—किसी तरह इस वामन को चकमा देना चाहिये। उनके पास जाकर बोला—"पण्डितजी! आप भी क्या सत्तू लेकर चले। मार्ग में भला ऐसी वस्तु लेकर चलना चाहिये। यह कहकर वह धीरे धीरे एक एक शब्द पर बल देते हुए यह कविता पढ़ने लगा—सत्तू, मन भत्तू, जब घोरे, तब खाये, तब चले।" फिर एक साथ शीघ्रता से दूसरा चरण कह गया, "धान विचारे भले कूटे खाये चले।"

वामन की बुद्धि तो पीछे सोचने वाली होती ही है, आ गये चक्कर में, फँस गये लोभ में आहार की अदला बदली कर ली। लालाजी ने एक ही मंजिल में अपनी सम्पूर्ण सुविधा कर लीं। सत्तू घोरकर पीलें तान दुपट्टा सोलें। पडितजी मार्ग भर खल मूसल पतीली कंडे, पत्तल की खोज ही करते रहें इसीलिये कहावत है—"जाको काम ताही कूँ छाजै, नहीं गदहा कूट मोंगरा बाजै" कोई चतुर व्यापारी प्रकाशक होता, तो ६० खण्ड छापकर अपनी सभी सुविधायें अब तक कबकी कर लेता। किन्तु यहाँ तो

वे ही ढाक के तीन पात जैसे बालम घर रहे वैसे रहे विदेश। "वही रफ़्तार बेढंगी जो पहिले थी सो अब भी है।" किन्तु पाठक निराश न हों। जब ओखली में सिर ही दिया तो मूसलों से डर ही क्या ? जब भगवान् ने अनधिकारी होने पर भी इस कार्य में प्रवृत्त कर दिया है, तो उन्हीं की प्रेरणा से कैसे भी जुटा फुटा-कर १२ अङ्कों को तो पूरा करना ही है, देर सबेर की बात दूसरी है, वर्ष में १२ खण्ड न दे सकें यह बात पृथक है। रुपयों को मार में न समझें आपके रुपये दूध पी रहे हैं। १२ अंक मिलेंगे अवश्य मिलेंगे। और यथाशक्ति शीघ्र मिलेंगे। तनिक धैर्य रखें। हमें साँस लेने दें। हाथ पैर सीधे करने दें, पङ्ख फड़फड़ाने दें, तनिक अँगड़ाई ले लें फिर देखिये दनादन खंड के ऊपर खंड आपकी सेवामें पहुँचते हैं या नहीं। एक बात यह भी है। अबतक के प्रकाशित ६० खण्डों में से एक न एक घटता ही रहता है। खण्डों को पूरा करने के पिछले खण्ड भी छापने पड़ते हैं, इन्हीं सब कारणों से अगले खण्डों में देरी हो जाती है समुत्सुक पाठकों से निवेदन है, वे 'भागवती कथा' को इतना प्यार करते हैं, तो उसके प्रचार प्रसार में भी उन्हें कुछ न कुछ समय निकालकर सक्रिय सहयोग देना चाहिये १—नगरों के सज्जन अपने परिचितों को ग्राहक बनावें, आस पास के पुस्तकालयों में रखवावें। धनी महानुभाव कुछ लोगों को, पुस्तकालयों को संस्थाओं को पुस्तकें लेकर दान दें। उत्तर प्रदेश की समस्त ग्राम पञ्चायतों के लिये भागवती कथा तथा हमारी सभी पुस्तकें सरकार से स्वीकृत हैं जिनकी वहाँ पहुँच हो। ग्राम पुस्तकालयों के लिये इन उपयोगी पुस्तकों को आग्रह पूर्वक मँगवावें इस प्रकार वे सहयोग देंगे तो हम यथा-शक्ति शीघ्र से शीघ्र और अधिक सेवा करने में समर्थ हो सकेंगे। बस, आज इतना ही फिर आगे कभी।

व्यवस्थापक की ओर से।

॥ श्रीहरिः ॥

[ब्रजभाषा में भक्ति भाव पूर्ण, नित्य पाठ के योग्य अनुपम महाकाव्य]

श्रीभागवत चरित

(रचयिता—श्री प्रमुदत्त ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिंदुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषा में रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी किन्तु भागवत नहीं थीं; जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागोंमें विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल, सरस तथा प्रांजल छन्दोंमें गाया गया है। आज से लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ की तीन सहस्र प्रतियाँ छपी थीं, जो थोड़े ही दिनों में हाथों हाथ निकल गयीं। सैकड़ों नर नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पंडित इसी के अधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ की पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़े की टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उस पर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजार में ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मगा कर अपने लोक परलोक को सुधार लें। न्योछावर केवल ५।) सवापाँच रुपये, डाकव्यय पृथक्।

पता—संकीर्तन भवन; प्रतिष्ठानपुर; (झूंसी) प्रयाग

भगवत् स्तुति

(भूमिका)

त्वं भावयोगपरिभावित हृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय

(श्री भा० ३ स्क० ९ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

भगवन् ! भगतनि हेतु वेष बहु मनहर धारो ।
शरनागत ह्वै विनय करें तिन कूँ तुम तारो ॥
भगत भाव अनुरूप रूप धरि सम्मुख आओ ।
दै इच्छित वर प्रभो ! प्रनत प्रन पूर्न कराओ ॥
जग जीवनि आशा तजहिं, तुमरी ही इस्तुति करहिं ।
पकरि पदुम पद भव जलधि, नर नारी सहजहिं तरहिं ॥

जीव जब विवश हो जाता है, उसका अहंभाव ढीला हो

भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्मा जी कहरहे हैं—"हे नाथ !, जिनका मार्ग केवल गुण श्रवण से ही जाना जाता है, ऐसे आप निश्चय ही मनुष्यों के भक्तिभाव से परिपूर्ण हृदय कमल में निवास करते हैं हे पुण्य-श्लोक प्रभो ! आपके भक्तजन जिस जिस भावना से आपका चिन्तन करते हैं, आप भी सज्जन पुरुषों पर अनुग्रह करने के निमित्त वही वही रूप धारण करलेते हैं ।

जाता है, तो किसी के आगे झुक जाता है, दीन हो जाता है, उसका स्तवन करने लगता है, उसकी महत्ता के सम्मुख नत हो जाता है, प्राणी के झुकने के दीन होने के बहुत से कारण हैं उनमें ये चार मुख्य हैं (१) काम (२) भय (३) लोभ (४) और प्रेम।

(१) काम के वश में हो जाने पर नर नारी दीन हो जाते हैं। यदि पुरुष के हृदय में प्रथम होता है, तो पुरुष दीन होकर नारी की स्तुति करता है यदि स्त्री के हृदय में उदय होता है, तो वह पुरुष के सम्मुख नत होकर उसकी अनुनय विनय करती है स्तुति प्रार्थना करती है। मन से, संकेतों से, वाणी से तथा आकृति से अपने अनुराग को जताती है। पुरुष जो स्त्री को सुनयनी मृगनयनी, चन्द्रमुखी, बिम्बोष्ठी, सुजघना विपुला आदि आदि सम्बोधन करता है, यह स्तुति ही तो है, इसी प्रकार स्त्री, हे पुरुषसिंह! हे प्राणेश, हे जीवनधन! हे जीवनसर्वस्व! आदि कह कर पुकारती है यह विनय, स्तुति अथवा प्रार्थना ही है।

(२) भय से भी प्राणी दीन हो जाता है, जिससे भय हो उसके सम्मुख मुख में तृण दबाकर दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर नेत्रों से नीर बहाते हुए कहते हैं आप तो हमारे माता पिता हैं, अन्नदाता हैं, जीवनदाता हैं, हम पर कृपा करो हमें अभय दान दो।

(३) लोभ से भी प्राणी अपने आप को भुलाकर जिससे स्वार्थ सिद्ध होता हो, उसके सम्मुख कृपण होकर उसकी स्तुति करने लगता है, उसके सम्मुख पल्ला पसार कर याचना करता है, कुछ पाने की इच्छा से उसके सम्मुख गिड़गिड़ाता है, उसकी प्रशंसा के पुल बाँधता है। अपने को तुच्छ समझता है, उसकी महत्ता का बखान करता है।

(४) प्रेम का तो कहना ही क्या। यह प्राणी, सृष्टि के आदि से प्रेमका भूखा रहा है और अन्त तक इसकी भूख मिटने वाली नहीं। संसार में आचार, व्यवहार, भोजन, खान, पान, रीति व्यवहार सभी बदलते रहते हैं, किन्तु एक प्रेम ही ऐसा है जो सदा से ऐसा ही रहा है। असभ्य से लेकर सभ्य तक,शिक्षित से लेकर अशिक्षित मूर्ख तक, राजा से लेकर रंक तक तथा धनी से लेकर निर्धन तक सभी के हृदय में प्रेम की प्यास समान रूप से है। जिससे भी प्रेम हो जाता है, उसके सम्मुख प्राणी अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है। प्रेमी की स्तुति करने में एक अनिर्वचनीय सुख होता है। प्रेम कई प्रकार का होता है, किस प्रेमी का कैसे स्तुति की जाती है, प्रेम अपने प्रियतम का क्या स्वरूप है, ये गंभीर और विस्तृत विषय हैं, इनकी विस्तार से चर्चा अगले खंडों में श्रीराधाकृष्ण प्रेमलीला के प्रसंग में की जायगी। यहाँ तो इतना ही समझ लेना चाहिये कि प्रेमी की स्तुति की जाती है और उसमें बड़ा आत्मतोष तथा सुख मिलता है। यही नहीं जो अपने प्रेमी की प्रशंसा करता है, उसके प्रति भी अनुराग हो जाता है प्रेमी की कैसे भी चर्चा चल जाय तो हृदय खिल जाता है संसारी मनुष्य स्वयंअपूर्ण हैं,उनकाशरीर नाशवान् है उनसे अपने कार्य की-अपने स्वार्थ की-पूर्णसिद्धि संभव नहीं। जो स्वयं ही सर्प के विष से व्याकुल हुआ तड़प रहा है, वह दूसरे की सर्प से क्या रक्षा करेगा? इसलिये तुम्हें काम की पूर्ति करनी हो तो मन्मथ के भी मनको मथन करने वाले मनमोहन से प्रार्थना करो उसी की विनय करो। वे मोहन भी हैं और मोहनी भी हैं वहाँ जाकर आपकी समस्त वासनायें पूर्णरीत्या पूर्ण हो जायँगी।

यदि आप किसी भय से भयभीत हैं, तो इन विषयों के भय से संत्रस्त प्राणियों के पैर क्यों पूजते हो, ये तुम्हें सर्वथा निर्भय करने में समर्थ नहीं, भवभयत्राता भगवान् की शरण में जाओ,

वे तुम्हें समस्त भयों से छुटाकर निर्भय बना देंगे। उनकी स्तुति करने से सच्चे हृदय से प्रार्थना करने से भय आपके समीप से सदा सर्वदा के लिये भाग जायगा।

तुम्हारे मन में किसी वस्तु का लोभ है, तुम कुछ चाहते हो तो, इन धनदुर्मद, विकराल महातृष्णा से आकुल धनिकों के आगे जाकर क्यों गिड़गिड़ाते हो, उनके सम्मुख दीन हीन बनकर क्यों हाथ फैलाते हो, तुम उन श्रीपति की शरण में क्यों नहीं जाते, आप्तकाम परिपूर्ण प्रभु के पादपद्मों में प्रार्थना क्यों नहीं करते वे तुम्हारी समस्त कमियों को सम्पूर्ण अभावों को पूर्ण कर देंगे, फिर तुम्हें अन्य किसी के सम्मुख गिड़गिड़ाने की, दीन होने की हाथ फैलाने की आवश्यकता न पड़ेगी। तुम्हारे समस्त मनोरथ सफल हो जायेंगे।

यदि तुम प्रेम चाहते हो, और इन संसारी नर नारियों से ही प्रेम की आशा करते हो तो बड़ी भूल करते हो। शहद की इच्छा से तुम बरों के छत्तों को निचोड़ोगे, तो उनमें अंडे ही मिलेंगे। जो स्वयं विषयों के दास हैं, वे भला प्रेम के पंथ को क्या जानें, प्रेम करना हो तो प्रभु से करो वे ही परम प्रेमास्पद हैं। वे ही प्रेम के आदि स्रोत हैं। वे ही प्रेम के पयोनिधि हैं। अतः प्रेम प्राप्ति के लिये प्रार्थना करनी ही तो परमेश्वर के पाद-पद्मों में ही करो। इस प्रकार तुम्हें जो भी इच्छा हो, जो भी आकांक्षा हो, उसे प्रभु के ही सम्मुख कहो इष्ट के सम्मुख की हुई प्रार्थना असफल नहीं होती।

अपने मनमें भगवान् का एक रूप धारण करलो। एक छवि को बसालो, किसी को अपना इष्ट मानलो। भगवान् तो अनेक रूप रूपाय हैं। सभी उन्हीं के रूप हैं। सब रूपों

में वे ही भासित हो रहे हैं। शिव, विष्णु, सूर्य जगदम्बा, गणेश तथा राम, कृष्ण, नृसिंह, सीता, काली, लक्ष्मी सब उन के विविध भाव हैं। जिस भाव से तुम इनको पुकारोगे उसी भाव से उसी रूप से वे तुम्हारे सम्मुख प्रकट होंगे, दर्शन देंगे तथा तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करेंगे। भगवान् अपने भक्त की सभी कामनाओं को पूर्ण करते हैं। उनके लिये सब कुछ कर सकते हैं। उसके कल्याण के लिये विविध साधन जुटा देते हैं।

उड़ीसाके महाराज के इष्ट श्रीजगन्नाथ जी थे, वे तैलंगदेश की राजकुमारी के ऊपर आसक्त हो गये। उन्होंने तैलंगके महाराज से प्रार्थना की कि वे अपनी कन्या का विवाह मेरे साथ करदें। तैलंगाधिप अपने को बड़ा भारी भूपति समझते थे, उन्होंने व्यंग के साथ कहला दिया—"राजकुमारी का विवाह किसी राजा के साथ ही होगा, जगन्नाथ जी के मंदिर में झाड़ू देने वाले के साथ राजकुमारी का विवाह नहीं हो सकता।"

उड़ीसा के महाराज स्वयं श्रीजगन्नाथ जी के मंदिर में झाड़ू देते हैं। इस उत्तर से उन्हें बड़ा क्रोध आया, उन्होंने आन्ध्रदेश पर चढ़ाई करदी। तैलंगदेश की सेना अधिक थी सैनिक भी बड़े शूरवीर थे उन्होंने उड़ीसाके सैनिकों को हरा दिया। उड़ीसा के महाराज बड़े दुखी हुए। उन्होंने अपने इष्टदेव श्रीजगन्नाथजी की बड़े आर्तभाव से स्तुति की। अपने भक्त की इच्छा पूर्ति के निमित्त जगन्नाथ जी बलभद्रजी के सहित स्वयं राजवेष में अस्त्र शस्त्र लेकर घोड़े पर चढ़कर तैलंगदेश में लड़ने गये। राजा की सेना को परास्त करके राजकुमारी को ले आये और पुरी में ही आकर उसका राजा के साथ विवाह कर दिया।

संसार में जिसे इष्ट का बल है, उसकी कोई कामना अपूर्ण नहीं रहती, उसे किसी का भी भय नहीं रह जाता, वह जिस वस्तु की इच्छा करता है वही प्राप्त हो जाती है। प्रेम की तो भगवान् खान ही हैं, प्रेमकी प्राप्ति के हेतु जो प्रभु की प्रार्थना करता है, वह सदा प्रेम में पागल हुआ प्रेम सागर में गोता लगाता रहता है।

किसी भी प्रकार इष्ट-स्थिर हो जाय, चित्त अपने इष्ट में लग जाय, इष्ट के लिये दृढ़ता मन में आ जाय, तो फिर असंभव बात भी संभव हो जाती है। उसके लिये असंभव नाम की कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। संसार में कितना भी बड़े से बड़ा बलवान् से बलवान् शत्रु क्यों न हो उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता, बाल बाँका नहीं कर सकता। इष्ट की और उसके सम्मुख की गयी स्तुति की ऐसी ही बड़ी महिमा इस सम्बन्धकी देवीभागवत में एक बड़ी ही सुन्दर रोचक शिक्षाप्रद कथा है।

अयोध्या नगरी में ध्रुवसन्धिनाम के कोई धर्मात्मा राजा राज्य करते थे, वे अपनी प्रजाका पुत्रवत् पालन करते थे वे बड़े शूरवीर दानी, यशस्वी तेजस्वी तथा धर्मात्मा नृपति थे उनके मनोरमा और लीलावती दो रानियाँ थीं। दोनों ही सुन्दरी सत्कुलोत्पन्ना तथा पतिप्राणा थीं। यथासमय मनोरमा ने एक पुत्ररत्न उत्पन्न किया। जिसका नाम राजाने सुदर्शन रखा। इस के एक मास पश्चात् लीलावती ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। जिसका नाम शत्रुजित् रखा गया। यद्यपि राजा दोनों ही पुत्रों को प्यार करते थे, किन्तु शत्रुजित् बोलने में बड़ा तेज था। राजा उसके प्रति अधिक आकर्षण था। उसकी माता लीलावती को भी राजा का अधिक स्नेह प्राप्त था। जिसे राजा

प्यार करे उसके प्रति सभीका अनुराग होना स्वाभाविक था। सुदर्शन बहुत सरल सीधा सादा तथा कम बोलने वाला था।

एक दिन महाराज ध्रुवसन्धि मृगयाके लिये वनमें गये वहाँ उनको एक क्रुद्धसिंह ने मार डाला। दोनों राजकुमार अभी बालक ही थे। सम्पूर्ण राज्य राजा से विहीन हो गया, वसिष्ठ आदि ब्राह्मणों ने तथा वृद्ध वृद्ध मंत्रियों ने सम्मति की, कि बिना राजा के तो काम चल ही नहीं सकता। महारानी मनोरमा का पुत्र सुदर्शन अवस्था में ज्येष्ठ है, गुणों में श्रेष्ठ है, शान्त दान्त तथा सरल है इसी का राज्याभिषेक होना चाहिये।

मंत्री पुर्णहित यह सोच ही रहे थे, कि इतने में ही उज्जैन राजा युधाजित् महरानी लीलावतिके पिता तथा शत्रु जित् के नाना अपने जामात का मरण सुनकर तथा अपने दौहित्र को राज्य दिलाने अयोध्या में आ गये। सुदर्शन के नाना मनोरमा के पिता कलिंगाधिप महाराज वीरसेन ने भी जब यह समाचार सुना तो वे भी सुदर्शन का पक्ष लेने अयोध्या में आ गये। दोनों अपनी अपनी चतुरंगिणी सेना सजाकर आये थे। शत्रुजित् के नाना युधाजित का कहना था। मेरी पुत्री बड़ी रानी है इसका पुत्र गुणों में प्रभाव में बोलने चालने में ज्येष्ठ है राज्यासन के योग्य है। सुदर्शन छोटी रानी का लड़का है गुणहीन है सीधासादा है, मंत्री गण इसे कठपुतली बनाकर राज्यापहरण करना चाहते हैं मैं अपने जीते जी ऐसा न होने दूंगा। सुदर्शन के नाना वीरसेन का कहना था—अभी तो ये दोनों ही बच्चे हैं अभी से यह निर्णय नहीं हो सकता इनमें कौन गुणों में ज्येष्ठ है कौन कनिष्ठ। धर्म पूर्वक बड़ा होने से सुदर्शन ही राज्य का अधिकारी है। इसी बात पर दोनों में घोर मत भेदहो गया। पड़ौसी राजा तो देखते ही रहते है, कब हमारे निकटवर्ती राजा पर आपत्ति आवे कब हम जाकर

उसके राज्य पर अधिकार करलें। अयोध्या के समीप निषादों का राजा शृंगवरेपुर में रहता था। उसने जब महाराज का मरण और दोनों बालकों के नानाओंमें युद्ध की बात सुनी तो वह भी अयोध्या को लूटने की इच्छा से आगया। कुछ इधर उधर से भी दस्युगण एकत्रित हुए। कलिङ्गराज और अवन्तीपुराधीश दोनों राजाओं में घोर युद्ध हुआ। उसमें उज्जैनी के राजा युधाजित की विजय हुई। कलिङ्गाधिप महाराज वीरसेन को उसने युद्ध में मार डाला।

महारानी मनोरमा ने जब अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुना तो उसे महान् दुःख हुआ। एक तो उसके पति अभी परलोकगामी हुए थे, पुत्र अभी अबोध है उसका पक्ष लेने पिता आये थे उसे भी युधाजित ने मार डाला। युधाजित राज्य का लोभी है वह अपने दौहित्र को अयोध्या का राजा बनाना चाहता है, सुदर्शन ही इसमें कंटक है। इसी लिये उसने मेरे पिता को मार डाला अब वह आकर निश्चय ही सुदर्शन को भी मार देगा। अब मैं क्या करूँ मुझे राज्य नहीं चाहिये। मैं तो भीख माँग कर अपना निर्वाह कर लूंगी, मेरा प्यारा पुत्र किसी तरह से बच जाय। अब मेरा कोई सहायक भी नहीं। दुःख में कौन किसी का कोई सहायक होता है। प्रजा के लोगों पर युधजित का आतंक है। मेरे पिता की मृत्यु से मंत्रीगण भी डर गये हैं। सुदर्शन का अब पक्ष कौन लेगा। कौन मेरे बच्चे को उस दुष्ट के हाथ से बचावेगा। जब तक वह दुष्ट रणक्षेत्र से लौट कर नहीं आता तभी तक मैं अपने बच्चे को लेकर भाग जाऊँ। किन्तु भाग कर कहाँ जाऊँगी, कैसे जाऊंगी, मैंने तो महल से बाहर कुछ देखा ही नहीं। यह सोच कर दुःख और शोक से व्याकुल हुई रानी फूट फूट कर रोने लगी।

रानी बड़ी देरतक रोती रही फिर उसे स्मरण आया विदल्ल मंत्री बड़ा नीतिनिपुण है, वह परम विश्वासपात्र है वह अवश्य ही कोई उचित उपाय सुझावेगा। यह सोचकर उसने विदल्लको बुलाया और एकान्तमें अश्रुबहाते हुए अत्यंत करुणा भरी वाणी में अपना सभी दुःख सुनाया।

महारानी को इस प्रकार अश्रु बहाते और रोते देखकर विदल्ल का हृदय भर आया। उसके नेत्रों में भी आँसू आगये। उसने आँसू पोंछकर अत्यंत ही गम्भीरता से कहा—महारानी! आप चिन्ता न करें मेरे ऊपर विश्वासकरें। मैंने आपका नमक खाया है। मैं अपनी पूरी शक्तिसे कुमार की रक्षा का प्रयत्न करूँगा। हमें अब देर न करनी चाहिये। युधाजित आते ही सर्वप्रथम कुमारकी ही हत्या करेगा। उसको रोकने की किसी में सामर्थ्य नहीं। काशीमें मेरे एक सुबाहु नामके मामा रहते हैं, किसी प्रकार हम काशी पहुँच जायंतो वे निश्चय ही कुमार की रक्षा करेंगे। किसी प्रकार अभी राजमहल से निकलकर घोर बनमें जाकर छिप जायं, वहाँसे फिर रातों रात काशी भाग चलेंगे। काशी पहुँचने पर तो हम सर्वथा भयसे रहित निरापद हो जायेंगे। आप अब देरी न करें रथ मँगाकर तुरंत ही राजकुमारको लेकर मेरे साथ भाग चलें।"

महारानी ने विदल्ल की सम्मतिको तुरन्त स्वीकार किया। अपना निजी रथ मँगवाया शीघ्रता के साथ उसमें जितना द्रव्य वस्त्राभूषण रखसकी उतना रखकर चलने लगीं। फिर उन्होंने सोचा यदि मेरे भागने की बात किसी पर विदित हो गयी तो तुरंत पकड़वाली जाऊँगी यह सोचकर वे लीलावती के पास गयीं और रोती रोती बोलीं—बहिन! सुना मेरे पिता भी परलोकवासी हो गये। अभी तक हम पति के दुःख से ही दुखी थी। अबमेरे पिता

भी मुझे छोड़ गये। तुम आज्ञा दो तो समर भूमि में जाकर मैं अपने मृत पिताके अंतिम दर्शन कर आऊँ।

लीलावती ने भी दुःख प्रकट करते हुए कहा—बहिन! क्या कहें यह संसार दैवाधीन है, किसकी कब मृत्यु आजाय इसका किसीको भी पता नहीं। हाँ हाँ तुम अपने पिताके दर्शन करने अवश्य जाओ। मैं सब प्रबन्ध कराये देती हूँ।"

इस प्रकार रानी लीलावती से ऐसे कहकर रथमें चढ़कर तुरंत वहाँ से घोर जंगलकी ओर विदल्लके साथ चलदी। गोदीमें वे अपने प्यारे पुत्र सुदर्शन को कसकर दबाये थीं, कि जब तक मेरे शरीरमे प्राण रहेंगे कोई मेरे हृदय के टुकड़ेको मुझसे छीन न सकेगा। वह पहिले रथको लेकर सीधी रणभूमि में गयी। वहाँ उसने देखा उसके पिता बाणोंसे विद्ध हुए भूमि में पड़े हैं, उनका सम्पूर्ण शरीर रक्तसे लथपथ है, धूलिमें बहकर रक्त सूख गया है। वीरवेष में मुँह फाड़े महाराज भूमिमें लोट रहे हैं।

अपने पिता की ऐसी दशा देखकर महारानी ढाह मारकर रोने लगीं और धड़ाम से उनके शवके ऊपर गिर पड़ी और रोते रोते कहने लगीं—हा! तात! आपने हमारे पीछे अपने प्राण दे दिये।'

विदल्लने रानी को धैर्य बँधाते हुए कहा—"देवि! यह समय शोक करनेका नहीं है धैर्य धारण करके पिताका अंतिम संस्कार करो।" रानीने अपने पुत्रके मुखको देखकर जैसे तैसे धैर्य धारण किया। इधर उधर से लड़कियाँ चुनकर पिता का दाह संस्कार किया।

दाह संस्कार करते कराते उन्हें सायंकाल हो गया। विदल्लने कहा—"देवि! अब यहाँ अधिक ठहरना उचित नहीं।" चलो अब घोर बन में होकर चलें।"

मंत्री की बात सुनकर बड़े कष्ट से रानी उठी। बच्चे को गोदी में लेकर वह रथ में बैठ गयी। उन दिनों अयोध्या से गंगा तट तक घोर जंगल था, कोई निश्चित राजपथ भी नहीं था। रथ इधर से उधर भटकता हुआ दो दिन में गंगा तट पर पहुँचा।

शृंगवेरपुर के समीप रथ जा रहा था, रात्रि का समय था सामने से उसे बहुत से लोग रथ के पथ को रोके हुए दिखायी दिये। उन्होंने ललकार कर कहा—"रथ को खड़ा करो।" सारथी डर गया, रथ खड़ा हो गया। उस समय महारानी की दशा अत्यन्त ही दयनीय थी, वह अपने पुत्र को कसकर छाती से चिपटाये हुए थी। वह पीपल के पत्ते की भाँति थर थर काँप रही थी। उसे यही सन्देह था, कि युधाजित को उसके भागने का समाचार मिल गया है, उसने ही मेरे पुत्र को मारने को सैनिक भेजे हैं।"

उन लोगों ने आते ही कहा—"जो तुम पर वस्त्र आभूषण हों, उन्हें चुपके से रख दो, यदि तुम अपने प्राण बचाना चाहते हो तो। एक एक वस्त्र लेकर सब रथ से बाहर हो जाओ नहीं हम सबको मार देंगे।

अब रानी को सन्तोष हुआ। उसने सोचा—ये, युधाजित के सैनिक नहीं हैं। धन लोभी दस्यु हैं। मेरा सर्वस्व चाहें ये लूट लें किन्तु मेरे बच्चे के प्राणों को छोड़ दें।" यह सोच कर वह जो वस्त्र पहिने थी उन्हें ही पहिने दासी के कंधे पर हाथ रख कर रथ के नीचे उतर आई। उसके अंग पर एक भी आभूषण नहीं थे। डाकू रथ को तथा भूषणों को लेकर चलते बने।

रानी ने दो दिन से कुछ खाया नहीं था। कुमार भी भूखा था। चलने का उसे अभ्यास नहीं था सर्वप्रथम राजमहल के

बाहर निकली थी। निकलते ही विपत्ति के ऊपर विपत्ति आने लगी। किन्तु जो विपत्ति देता है, वह विपत्ति के सहने की शक्ति भी देता है। रानी बड़े कष्ट से गंगा तट पर आई। जैसे तैसे नौका से गंगा जी को पार किया, कुछ विश्राम करके गङ्गा जल पान करके जिस किसी प्रकार चलते चलते चित्रकूट के समीप भगवान् भरद्वाज जी के आश्रम पर पहुँची। भरद्वाज मुनि का एक आश्रम प्रयागराज में था एक चित्रकूट में। चित्रकूट वाले आश्रम में ही महारानी पहुँची। उन दिनों मुनिवर अपने सहस्रों शिष्यों के सहित आश्रम में ही विद्यमान थे।

मुनि आश्रम में आकर रानी के प्राण में प्राण आये। वहाँ आकर उसका सभी भय दूर हो गया। अपने को वहाँ उसने सुरक्षित समझा। गोद में बच्चे को लिये हुए वह मुनि के समीप पहुँची। उसका मुख कुम्हिलाया हुआ था। बच्चे को मुनि के चरणों पर डालकर उसने भी महामुनि के पैर पकड़े और अश्रु बहाती हुई नीचा सिर करके एक ओर खड़ी हो गयी। फूल से सुकुमार राजकुमार को अपने चरणों में पड़ा देखकर तथा राजरानी को सम्मुख अश्रु बहाते देखकर मुनि का नवनीत के समान कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया। उन्होंने अत्यन्त ही स्नेह से बड़े कोमल स्वर में पूछा—"पुत्री! तुम कौन हो, किसी की पुत्री हो, कौन तुम्हारे पति हैं, तुम देवी हो या मानुषी। किस दुःख के कारण तुम इतनी दुखित हो रही हो। अपने दुख का कारण मुझे बताओ।"

मुनि के ऐसे स्नेह युक्त वचन सुनकर भी महारानी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला वह अश्रु बहाती हुई नीचा सिर किये चुपचाप खड़ी रही।

तब मन्त्री विदल्ल ने कहा—"भगवन्! ये अयोध्याधिप

महाराज ध्रुवसन्धि की महारानी हैं। महाराज आखेट के समय एक सिंह द्वारा मारे गये। इनकी सौति के पिता ने आकर इनके पिता को समर में मार दिया। वे अपने दौहित्र को राज देना चाहते हैं, बड़ा होने से राज्य पर कुमार सुदर्शन का स्वत्व है, अतः वे इस कुमार की भी हत्या करना चाहते हैं। इसीलिये ये कुमार को लेकर आ रही थीं। मार्ग में दस्युओं ने इनका सम्पूर्ण धन तथा रथ लूट लिया। अब ये सर्वथा असमर्थ होकर आपके चरणों में उपस्थित हुई हैं। आप से ये अभय दान तथा शरण पाने की इच्छुक हैं।"

यह सुनकर मुनि के हृदय में अत्यन्त ही दया उमड़ पड़ी। उन्होंने रानी को धैर्य बँधाते हुए कहा—बेटी! रोओ मत धैर्य धारण करो। सदा किसी के एक से दिन नहीं रहते। दुख सुख के दिन आते जाते रहते हैं। यहाँ तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं तुम यह समझो मैं अपने पिता के ही घर में आ गयी। तुम आनन्दपूर्वक यहाँ रहकर अपने विपत्ति के दिनों को बिताओ। इस बच्चे का प्रेमपूर्वक लालन पालन करो। तुम्हारा यह शुभ लक्षणवाला पुत्र एक दिन अवश्य राजा होगा। तुम पुनः राजमाता के पद पर आसीन होगी। "देखो, सामने जो ऋषिमुनि पत्नियों की कुटिया हैं, वहीं तुम अपनी धाय के साथ रहो इस बच्चे की सावधानी से रक्षा करो। कल्याणकारी भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे।"

यह कहकर मुनि ने अपने एक शिष्य को इनके ठहरने आदि का प्रबन्ध करने की आज्ञा दी। मुनि के चरणों में पुनः प्रणाम करके बच्चा और धाय के साथ महारानी मुनिशिष्य के पीछे पीछे चलीं। मुनि के बतायी हुई कुटी में महारानी अपने पुत्र और दासी के साथ सुखपूर्वक रहने लगीं और समीप ही की एक कुटी में मंत्री विदूल भी ठहर गये।

इधर जब युधाजित ने आकर अपनी पुत्री से पूछा—मनोरमा कहाँ है, उसके पुत्र को मार कर मैं अपने दौहित्र शत्रुजित् के राज्य को निष्कण्टक कर देना चाहता हूँ।"

इस पर लीलावती ने सम्पूर्ण वृत्तान्त बता दिया। तब युधाजित् ने सोचा—"अच्छा ही हुआ, जो स्वतः ही राज्य का कंटक निकल गया। अब मैं शत्रुजित् को राज्य सिंहासन दे दूँ।" यह सोचकर उसने पुरोहित तथा मन्त्रियों की सम्मति से शुभ मुहूर्त में अत्यन्त धूमधाम के साथ अपने दौहित्र का राज्याभिषेक कर दिया और सम्पूर्ण राज्य का प्रबन्ध मंत्रियों को सौंपकर सबसे विदा लेकर अपनी राजधानी के लिये चल दिया।

वह शृङ्गवेरपुर होकर जा रहा था वहीं मार्ग में उसने सुना कि मनोरमा तो अपने पुत्र सुदर्शन को लिये हुए चित्रकूट में भरद्वाज मुनि के आश्रम में निवास कर रही है, तब तो उसने शृंगवेरपुर के निषादराज दुर्दर्श को बुलाया और कहा—"मुझे भरद्वाज मुनि के चित्रकूट वाले आश्रम में ले चलो। वहाँ मैं अपने शत्रु सुदर्शन को मारना चाहता हूँ।"

राजा की आज्ञा पाकर निषाद राज दुर्दर्श उसे पर्वतों से घिरे भगवान् भरद्वाज जी के आश्रम चित्रकूट में ले गया। मुनि के उस ब्राह्मी श्री से सम्पन्न बड़े भारी आश्रम को देखकर राजा को परम विस्मय हुआ। वहाँ कहीं हवन हो रहा था, कहीं वेदों का घोष हो रहा था। कहीं तपस्वी तप कर रहे थे। राजा की सेना ने मुनि के आश्रम को चारों ओर से घेर लिया।

महारानी मनोरमा तो सदा चिन्तित ही बनी रहती थीं उसे क्षण क्षण में युधाजित् के आने की आशंका लगी रहती थी। किसी ने जब उससे आकर कहा कि युधाजित् सेना सहित यहाँ आ पहुँचा है तब तो वह अत्यन्त भयभीता मृगी की भाँति भागी,

विपत्ति के स्मरण से अत्यंत कातर होकर बच्चों को लिये हुये मुनि के समीप पहुँची और प्रणाम करके बोली—"प्रभो! वह मेरे पुत्र के प्राणों का प्यासा आततायी युधाजित् यहाँ आ पहुँचा है, वह यहाँ से मुझे पुत्र सहित पकड़ ले जायगा, पुत्र को तो मार देगा और मेरी दुर्दशा करेगा। भगवन्! यह राजमद बड़ा ही भयंकर होता है, इस मद से मत्त हुए महीपति न जाने कितने क्रूर से क्रूर कर्म कर डालते हैं। ये राजा विजय के मद में भरकर विपत्ति में फँसी अबलाओं पर असहनीय अत्याचार करते हैं। हिरण्यकशिपु की गर्भवती पत्नी इन्द्र पकड़ कर ले गया। पंचवटी में मुनियों का जीवन बिताने वाली सीताजी को उनके पति के परोक्ष में रावण हर कर ले गया। धौम्य के आश्रम में अपने विपत्ति के दिनों को बिताती हुई द्रौपदी को मुनियों के देखते देखते जयद्रथ उठाकर ले गया। भगवन्! मैं अनाथ हूँ, दीना हूँ, कृपाणा हूँ, अभागिनी हूँ, विपत्तियों से संत्रस्ता हूँ, पिता परलोकवासी हो गये। पति मुझे सदा के लिये छोड़कर स्वर्ग सिधार गये। राज्य पर शत्रुओं ने अधिकार कर लिया। जिस किसी प्रकार यहाँ आपके चरणों में आयी थी, सो यहाँ भी मेरे पुत्र के प्राणों का घातक आ पहुँचा। अब मैं क्या करूँ कहाँ जाऊँ, मुनि तो अस्त्रशस्त्र से रहित होकर क्रोध को त्याग कर शान्ति के साथ तप करते रहते हैं। क्षमा ही उनका शस्त्र है, वे इन अस्त्र शस्त्रधारी इतने सैनिकों के सम्मुख कर ही क्या सकेंगे?" प्रभो! मुझे राज्य की इच्छा नहीं है। मैं सुख भी नहीं चाहती। मैं तो सम्पूर्ण जीवन भर भगवती जानकी की भाँति आपके उच्छिष्ट नीवार धान्य को खाकर आपके जूठे बर्तनों को मलती हुई, झाड़ू बुहारू देती हुई यहाँ ही रही आऊँगी। सुदर्शन भी आपके चरणों में रहकर मुनि जीवन बितावेगा। आप मेरे पुत्र की जैसे हो तैसे रक्षा करें।"

भरद्वाज मुनि ने कहा—"पुत्रि ! तुम तनिक भी चिन्ता मत करो सदा मेरे प्राण रहते तुम्हारे पुत्र का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। मैं अभी युधाजित् को यहां से जाने को कहता हूँ।"

यह कहकर मुनि स्वयं ही राजा के समीप गये और जाकर बोले—"राजन् ! आपका स्वागत है आप मेरे अतिथि हैं, किन्तु आपने यह सदाचार का उल्लंघन कैसे किया ?"

राजा ने पूछा—"सदाचार का उल्लंघन कैसा ?"

मुनि बोले—"राजा लोग ऋषि आश्रमों में निरस्त्र होकर नंगे पैरों आते हैं सेना को दूर छोड़कर आते हैं आपके सैनिकों ने आश्रम को घेर क्यों लिया है ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! आपके आश्रम में मेरा शत्रु छिपा है उसे आप मुझे दे देना। मनोरमा को पुत्र के सहित लेकर मैं चुपचाप चला जाऊँगा।"

मुनि ने कहा—"राजन् ! मनोरमा मेरी शरण में आयी है। आर्य लोग शरणागत का त्याग शरीर में प्राण रहते नहीं करते। मनोरमा नहीं जायगी।"

अधिकार और रोष के स्वर में युधाजित् ने कहा—मुनिवर ! अपनी हठ छोड़ दीजिये। सीधी तरह मेरे शत्रु को सौंप दीजिये, यदि आप न मानेंगे तो मुझे फिर बल प्रयोग करना ही पड़ेगा।"

मुनि का मुख मंडल कुछ रक्त वर्ण का हो गया। उनके नेत्रों में लाल डोरे से दिखाई देने लगे। वे दृढ़ता के स्वर में बोले—"राजन् ! बहुत बकवाद करने की आवश्यकता नहीं। मैंने एक बार कह दिया मैं मनोरमा को नहीं दूँगा। तुममें शक्ति हो सामर्थ्य हो, बल सेना का घमंड हो तो ले जाइये बलपूर्वक हो। आपका बल भी आज देख लें।"

यह कहकर मुनि तुरंत अपनी कुटी में लौट गये और मनोरमा से जाकर बोले—"बेटी! तुम अपनी कुटी में जाओ। तुम्हारा कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। तुम स्वच्छन्द आश्रम में रहो।"

मुनि के वचनों से राजा को क्रोध तो बहुत आया, किन्तु सहसा उसने कोई कार्य करना उचित नहीं समझा। उसने अपने मंत्रियों को बुलाकर मंत्रणा की। सबको सुनाकर बोला—"मुनि लोग तपस्या करने वाले हैं, सेना के साथ कैसे लड़ाई करेंगे। सुदर्शन को जीवित छोड़ना उचित नहीं।"

इस पर जो सबसे वृद्ध मंत्री थे, वे बोले—"राजन! ऐसा साहस कभी मत करना। इन तपस्वियों से कोई लड़कर जीत नहीं सकता। राजा विश्वामित्र का सहस्रबाहु और उसके पुत्रों का उदाहरण संसार विदित है। भलाई इसी में है कि आप अभी इसी क्षण चुपचाप यहाँ से चल दें, नहीं मुनि के कोपानल में आपका सर्वस्व नाश हो जायगा।"

बात राजा की बुद्धि में बैठ गयी। वह अस्त्र शस्त्र त्याग कर मुनि की कुटी में गया। उनके चरणों में प्रणाम कर उनसे आज्ञा लेकर अपने नगर में लौट गया। बीच बीच में अपने दौहित्र की कल्याण कामना से स्वयं आकर अपने मंत्रियों को भेजकर अयोध्या के राज्य को देखता रहा। इधर मुनि के आश्रम में रह कर सुदर्शन स्वच्छन्दता के साथ माता द्वारा पालित होकर तथा मुनियों द्वारा लालित होकर बढ़ने लगा।

एक दिन मंत्री विदल्ल आ रहे थे, एक मुनिपुत्र ने कहा "यह क्लीब है।"

सुदर्शन ने सुना उसने 'व' नहीं सुना। क्ली पर अनुस्वार लगाकर क्लीं 'इस बीज मंत्र को ही स्वयं जपने लगा। किसी ने उसे

दीक्षा नहीं दी । विधिवत कर्म नहीं कराया । स्वतः ही देवी की कृपा से वह निरन्तर "क्लीं क्लीं क्लीं इस मंत्र का जाप करने लग गया ।

पूर्व जन्म के संस्कार वश दैव योग से स्वयं ही उसका "क्लीं" इस काम बीज में अनुराग बढ़ गया। यद्यपि वह इस मंत्र का ऋषि, छन्द, ध्यान, अंगन्यास, करन्यास तथा विनियोग कुछ भी नहीं जानता था। स्वभाव से ही उसकी इस बीज मंत्र में आसक्ति हो गयी। सोते जागते उठते-बैठते वह मन से इसी का जप करता रहता था। जप में वह इतना तल्लीन हो जाता था, कि बाह्य जगत् की सुधि-बुधि भूल जाता था। जब उसकी ५ ही वर्ष की अवस्था थी तभी से मानसिक जप करने लगा था।

११ वर्ष की अवस्था में महर्षि भरद्वाज ने उसका उपनयन संस्कार कराया। उसे विधिवत् धनुर्वेद तथा राजनीति की शिक्षा दी। निरन्तर मन्त्र जप से प्रभाव से एक बार से भगवती जगद्-म्बिका वैष्णवी देवी का साक्षात्कार हुआ। उसने देखा गरुड़ के ऊपर भगवती विराजमान हैं, वे रक्त वस्त्र धारण किये हुए हैं, रक्त पुष्पों की मालायें पहिनी हैं उनके सभी अंगों में सुन्दर आभूषण शोभा दे रहे हैं। वे अत्यंत स्नेह दृष्टि से दयार्द्र होकर सुदर्शन की ओर निहार रही हैं और कृपा की दृष्टि सी कर रही हैं। देवी के दर्शनों से कुमार का रोम-रोम खिल उठा। उसने जगन्माता को साष्टाङ्ग प्रणाम किया, इतने में ही देवी अन्तर्हित हो गयी। अब तो उसे मन्त्र जाप में और भी अधिक अनुराग हुआ। देवी की वह मनमोहिनी मूर्ति उसके अन्तःकरण में बस गयी। देवी की कृपा से उसे धनुष, बाण, खड्ग, तूणीर तथा अन्यान्य अस्त्र-शस्त्र भी प्राप्त हो गये। अस्त्र-शस्त्रों को बाँधकर वह जब वन को निकलता तो ऐसा प्रतीत होता मानों सशरीर

कामदेव धनुष बाण धारण किये त्रैलोक्य विजय के निमित्त प्रस्थान कर रहा है। उसके रूप, सौंदर्य, सदाचार, शील, सत्य-व्यवहार तथा शूर वीरता की सर्वत्र ख्याति होगयी।

उपासना से इष्ट में विश्वास होता है, इष्ट विश्वास से निश्चिन्तता, निर्भरता, प्रसन्नता निर्भयता तथा निर्भीकता स्वतः आ जाती है। जिसे अपने इष्ट पर विश्वास है, वह कभी किसी के सम्मुख दीन नहीं होता। कभी चिन्ता नहीं करता, घोर से घोर विपत्ति में घबड़ाता नहीं, किसी बात को असम्भव नहीं मानता। किसी से द्वेष नहीं करता, क्योंकि वह समझता है संसार में मेरे इष्ट का ही तो सब पसारा है, जो मेरे भाग्य का है उसे कोई कभी ले ही नहीं सकता। इसलिये कोई वस्तु उसे प्राप्त होती है, तो वह विस्मय नहीं करता नहीं प्राप्त होती है तो सोचता नहीं।

समीप में ही शृंगवेरपुर का निषाद राजा था। एक दिन वह महर्षि भरद्वाज के आश्रम पर आया। सुदर्शन को देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने एक चार घोड़ों से युक्त सुन्दर सुसज्जित रथ उसे उपहार में दिया। सुदर्शन ने उसे भी देवी का प्रसाद समझकर ग्रहणकर लिया और निषाद राज का वन्य फल फूलों से आतिथ्य किया। कुमार का आतिथ्य ग्रहण करके निषादराज अपनी राजधानी को लौट गया।

अब तो सुदर्शन का पूरा ठाठ बाट बन गया। जिस समय वह धनुष बाण धारण करके तथा आश्रम के समस्त मुनियों की चरण वन्दना करके रथ में बैठ कर वन को जाता तो सभी आश्रम वासी ऋषि उसकी शोभा देखते के देखते ही रह जाते। सभी कहते कुमार! तुम शीघ्र ही महाराज बनोगे? तुम समस्त पृथ्वी का पालन करोगे।"

माता ऋषियों के ऐसे आशीर्वादों को सुनकर मन ही मन

प्रसन्न होती और कहती—"ऋषियो ! यह अनाथ बालक है, न इसके पिता हैं न कोई सगा सम्बन्धी तथा भाई बन्धु। आप लोगों का उच्छिष्ट खा-खाकर यह बड़ा हुआ है। आपके चरणों में पड़ा रहे आपकी सेवा करता रहे यही मेरे लिये पर्याप्त है।"

ऋषि अपने वचनों पर बल देते हुए दृढ़ता के साथ कहते—"माता जी ! आप हमारा विश्वास करें। हमारा वचन कभी असत्य नहीं होता। हम हँसी में भी असत्य भाषण नहीं करते। तुम्हारा पुत्र जगदम्बा की कृपा से अवश्य ही सिंहासनारूढ़ होगा"

महारानी यह सुनकर कृतज्ञता प्रकट करतीं और सोचतीं—कब मेरा ऐसा भाग्य होगा जो मैं अपने बच्चे को राजसिंहासन पर देखूंगी। कब बहू के सहित मैं इसे राजछत्र के नीचे छत्र चँवरों से युक्त निहारूँगी। कौन राजा मेरे इस अनाथ बच्चे को अपनी पुत्री देगा। हे भगवती ! कब मैं इसे पत्नी के सहित देख सकूँगी।"

माताओं की यही सबसे बड़ी लालसा होती है कि अपने पुत्र को बहू के सहित सुख पूर्वक देख लें। आश्रितों की इच्छा तो संसारी स्वामी भी पूर्ण करते हैं, जो जगदीश हैं चराचर के स्वामी हैं उनसे तो किसी के मन की बात छिपी नहीं है। सुदर्शन की माँ के हृदय में जहाँ पुत्रवधू की चिन्ता हुई तभी जगदम्बा ने भी उसका प्रबन्ध कर दिया। भगवती तो अपने भक्तों की सभी भावनाओं को पूर्ण कर देती हैं। जगदम्बा ने काशिराज की कन्या के हृदय में प्रेरणा की।

काशी के महाराजा के एक परम सुन्दरी, सम्पूर्ण सद्गुणों से युक्त रूप लावण्यवती शशिकला नाम की पुत्री थी। जब उसने शैशवावस्था को पार करके किशोरावस्था में पदार्पण किया तो राजा रानी को उसके विवाह की चिन्ता हुई। इच्छा न होने पर भी उसका भी मन ऊहा-पोह करने लगा, अपने भावीपति के

काल्पनिक चित्र उसके हृदय पटल पर अपने आप बनने लगे। उसने कई बार बाहर से आये बन्दियों, अतिथियों तथा ब्राह्मणों के मुख से उसने सुदर्शन के रूप, यौवन, सौंदर्य तथा सद्गुणों की बड़ी प्रशंसा सुनी। बारबार सुनने से उसकी सुदर्शन में आन्तरिक आसक्ति हो गयी। वह सोचने लगी। राज्य से भ्रष्ट, ऋषियों के आश्रम में पला हुआ वह कैसा सुन्दर सुकुमार कुमार होगा। एक बार उसकी छवि देखने को मिल जाती ता मेरा जीवन सफल हो जाता।' इस प्रकार वह सब समय सुदर्शन के ही सम्बन्ध में सोचती रहती। एक दिन स्वप्न में उसे भगवती जगदम्बा ने दर्शन दिये और कहा—बेटी! तुम सुदर्शन को अपना पति बनाना। वह मेरा परम भक्त है, उसे पति रूप में वरण करने पर मेरे आशीर्वाद से तेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो जायँगे।"

प्रातः जब राजकुमारी उठी तो स्वप्न की बात स्मरण करके उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसका अङ्ग प्रत्यंग अत्यधिक प्रसन्नता से खिल रहा था। आनन्द उसके मुख मंडल से फूट-फूट कर निकल रहा था। उसकी माता ने उसके हर्ष का कारण बहुत पूछा। किन्तु मारे लज्जा के उसने कुछ भी नहीं बताया।

दूसरे दिन वह समीप के ही अपने राजकीय उपवन में सखियों सहित घूमने गयी। वहाँ चम्पा का वन था सखियों सहित वह पुष्प चयन करती हुई इधर से उधर घूम रही थी। उसी समय उसे ब्राह्मण आता हुआ दिखायी दिया। सरोवर के समीप आकर ब्राह्मण रुक गया उसने कमल पत्रों को हटाकर हाथ मुख धोया जलपान किया और स्वस्थ होकर सघन वृक्ष की छाया में लेट गया। घूमते फिरते राजकुमारी उसके समीप आगयी और अत्यंत ही विनीत भाव से प्रणाम करके बोली—"विप्रवर! आप इस समय कहाँ से आ रहे हैं?"

ब्राह्मण ने कहा—"बेटी! मैं इस समय महर्षि भरद्वाज के आश्रम से आ रहा हूँ।"

राजकुमारी का मुख मंडल भरद्वाज आश्रम का नाम सुनते ही खिल उठा। उसने अपने अन्तःकरण की प्रसन्नता को छिपाने का प्रयत्न करते हुए फिर पूछा—"भगवन्! भरद्वाज आश्रम में क्या बात है, वहाँ की कोई अपूर्व बात हो तो बताइये।"

ब्राह्मण ने कहा—"राजकुमारी! अपूर्व बात क्या पूछती हो वैसे तो वह ऋषि आश्रम है एक से एक भारी तपस्वी मुनि वहाँ निवास करते हैं, किन्तु आजकल वहाँ एक सबसे अद्भुत वस्तु है अयोध्या के महाराज ध्रुवसन्धि का पुत्र सुदर्शन। सुदर्शन यथा नाम तथा गुण है। कुमारी! उसके रूप, यौवन, सौंदर्य सुकुमारता वीरता, उदारता, विनय और नम्रता आदि गुणों का बखान करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। इतना ही कहना पर्याप्त है, कि जिसने उस राजकुमार को नहीं देखा उसके नेत्र व्यर्थ हैं। सौंदर्य में वह मूर्तिमान् कामदेव है, वीरता में सजीव साक्षात् वीररस है और सद्गुणों में साकार सदाचार ही है। पुत्री! तू बुरा न माने तो एक बात कहूँ?"

राजकुमारी का हृदय धड़क रहा था उसने सम्पूर्ण शक्ति बटोर कर धैर्य के साथ कहा—"महाराज! आप जो कहना चाहें निर्भय होकर कहें—"

ब्राह्मण ने कहा—"बेटी! कहना यही है, कि वह तेरे ही अनुरूप वर है, ऐसा लगता है, कि विधाता ने पहिले से ही तुम दोनों की सोच समझकर जोड़ी बनायी है। तुम दोनों का विवाह हो जाय तो ऐसी शोभा हो जैसे सुवर्ण की अँगूठी भी बहुमूल्य नग जड़ा हो।"

ब्राह्मण के वचन सुनकर राजकुमारी अत्यन्त लजा गयी। वह ब्राह्मण को प्राणाम करके दूर चली गयी उसकी दशा विचित्र हो गयी। उसकी सखी सहेलियों ने नाना प्रकार के उपचार किये बारम्बार उससे प्रश्न करने लगीं। तब खीजकर उसने कहा—बहिनो! इस पापी मनका पता नहीं लगता यह न जाने कहाँ लग जाय। देखो, जिस राजकुमार के मैंने दर्शन तक नहीं किये जिसका शील सदाचार जानती नहीं जो राज्यभ्रष्ट, श्री विहीना, कंदमूल फलाशी तथा वनवासी है उसी में मेरा मन फँस गया है। अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ।"

राजकुमारी की सखी सहेली उसे उसी दशा में महलों में ले आयीं और भाँति २ के उपचारकरने लगीं। महारानीने जब अपनी कन्या की ऐसी दशा देखी तो उसने महाराज से कहा—"लड़की अब सयानी हो गयी है किसी योग्य राजकुमार को बुलाकर इसका अति शीघ्र विवाह कर देना चाहिये।"

राजा ने कहा—"हाँ, लड़की विवाह योग्य हो गयी है, मैं तो भूल ही गया था, तुमने अच्छी याद दिलायी। मैं चाहता हूँ अपनी शशिकला का स्वयंवर करूँ।"

रानी ने पूछा—"कैसा स्वयंवर करोगे?"

राजा ने कहा—"स्वयंवर तीन प्रकार का होता है। (१) एक इच्छा स्वयंवर (२) पण स्वयंवर (३) तीसरा शौर्य स्वयंवर। इच्छा स्वयंवर तो उसे कहते हैं विवाह योग्य राजकुमारों का बुलाकर बिठा दिया जाय। कन्या जिस राजकुमार को वरण करले उसके साथ विवाह कर दिया जाय। पण स्वयंवर में कोई एक वस्तु रख दी जाती है उसे जो पूरी कर दे उसी के साथ विवाह हो। शौर्य स्वयंवर में जो राजा बलवान हो वही कन्या को अपहरण करके ले जाय। मैं अपनी कन्या का इच्छा स्वयंवर करूँगा। आज ही मैं समस्त विवाह योग्य मूर्धाभिषिक्त राज-

कुमारों को निमंत्रण भेजता हूँ, मेरी कन्या जिसे वरण कर लेगी उसी के साथ मैं इसका प्रसन्नता के साथ विवाह कर दूँगा।"

यह कह कर राजा ने शुभ मुहूर्त में एक तिथि निश्चित करके देश देशान्तरों के राजकुमारों के पास अपनी पुत्री के स्वयंवर का निमंत्रण भिजवा दिया। शशिकला के सौन्दर्य तथा रूप यौवन की सर्वत्र ख्याति हो चुकी थी, अतः उसे प्राप्त करने के निमित्त देश देशान्तरों से चतुरङ्गिणी सेना सहित राजा तथा राजकुमार आने लगे।

इधर जब शशिकला ने अपने स्वयंवर का समाचार सुना, तो उसने अपनी सहेली द्वारा माता के पास यह सन्देश भिजवा दिया—"माँ! मेरा स्वयंवर करना व्यर्थ है मैंने तो सुदर्शन को अपना पति मन से वरण कर लिया है, उसके अतिरिक्त मैं किसी की ओर देखूँगी भी नहीं।"

सखी ने सब समाचार महारानी से कहा। महारानी ने सब सुनकर महाराज काशिराज से कहा। तब हँसकर काशिराज ने कहा— शशिकला तो अभी नितान्त अबोध बच्ची है। उसे अपने हिताहित का कुछ ज्ञान नहीं। सुदर्शन राज्य भ्रष्ट है, उसके पास न सेना है, न कोष है, न उसके कोई सहायक है। युधाजित ने उसके नाना को मार डाला। उसे भी मारने को फिरता है, वह अभी तक ऋषियों का संकोच करता है, कहीं एकान्त में पावेगा, तो मार ही डालेगा। ऐसे अनाथके साथ मेरी पुत्री विवाह क्यों करेगी। मैंने एक से एक सुन्दर, कुलीन, गुणवान, यशस्वी, तेजस्वी, शूरवीर तथा पराक्रमी राजकुमार बुलाये हैं उनमें से जिसे वह अपने अनुरूप समझे उसे अपना पति वरण कर ले।"

महारानी ने स्वयं जाकर महाराज की सभी बातें शशिकला

से जाकर कहीं और अत्यन्त ही स्नेह से पुचकारते हुए गोदी में बिठाकर उन्होंने कहा—"बेटी ! तू हठ मत करे। अपने पिता को क्लेश मत पहुँचा। वे तेरे हित के ही लिये कह रहे हैं। राज्यभ्रष्ट अनाथ राजकुमार के लिये तू अपना आग्रह छोड़ दे। यदि तुझे अयोध्याधिप को ही वरण करना है, तो उसके भाई शत्रुजित् को वरण करले वे अवध का राजा भी हैं उसका नाना युधाजित् जो अवन्ती का राजा है उसका सहायक संरक्षक है। अथवा और तू जिसे चाहे अपना पति चुन ले।"

शशिकला ने दृढ़ता के स्वर में गंभीरता के साथ कहा—"माँ ! मेरे निश्चय में शरीर रहते परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता। क्षत्राणी एक ही बार पति वरण करती है। उन्होंने एक बार जिन्हें पति बना लिया, वह फिर इस लोक में और मरने पर परलोक में भी उसका जीवनसंगी होता है। स्त्रियों का सतीत्व और पुरुषों का सत्य यही भूषण है। जिस स्त्री में सतीत्व नहीं पशु की स्त्री के समान है और जिस पुरुष में सत्य के लिये दृढ़ता नहीं उसमें और पशु में क्या अन्तर है। सतीत्व और सत्य एक ही बात है। देखो शर्याति की पुत्री सुकन्या ने अत्यन्त बूढ़े परम क्रोधी च्यवन को अपना पति बनाया था पातिव्रतके प्रभाव सेपति को युवावस्था-पन्न बना लिया और मृत्यु हो जाने पर उसे यमराज से ले आयी। फिर यह मनुष्य कृत संयोग नहीं है। दैव कृत विधान है, मुझे भगवती ने स्वप्न में सुदर्शन को पति बनाने का आदेश दिया है, मैं जगदम्बा की बात कैसे टाल सकती हूँ।"

अपनी पुत्री का ऐसा दृढ़ निश्चय सुनकर रानी ने सभी वृत्तान्त राजा से कहा। राजा ने सोचा—अच्छा, जो होना होगा वह होकर ही रहेगा। मैं सुदर्शन को स्वयंवर में बुलाऊँगा ही नहीं फिर वह विवश होकर किसी रूपवान कुलीन राजकुमार के

कंठ में जयमाला डाल ही देगी।" यही सोचकर उन्होंने फिर शशिकला से कुछ भी नहीं कहा।

इधर शशिकला भी समझ गयी सुदर्शन को पिता स्वयंवर में नहीं बुलावेंगे। इसलिये उसने चुपके से एक अत्यन्त विश्वासपात्र योग्य वृद्ध ब्राह्मण को बुलाया और उसे प्रणाम करके बोली—महाराज! आप अभी भरद्वाजाश्रम में जायँ, वहाँ एक सुदर्शन नाम का राजकुमार रहता है, उससे आप स्पष्ट कहें, कि भगवती के आदेश से मैंने आपको अपना मन से पति बना लिया है मेरे पिता मेरा स्वयंवर कर रहे हैं। अतः आप तुरन्त जैसे हो तैसे यहाँ चले आओ। यदि आप न आओगे तो मैं विष खाकर मर जाऊँगी या अग्नि में कूद पड़ूँगी। आपके अतिरिक्त मैं किसी की ओर नेत्र उठाकर भी न देखूँगी। यदि तुम कहो—मेरे पास सेना, बल, धन, कोष कुछ भी नहीं है तो संसार में दैव बल-इष्ट बल सबसे बड़ा बल है, जिस भगवती जगदम्बा देवी ने मुझे स्वप्न में दर्शन देकर आदेश दिया है, वह हम दोनों की सभी प्रकार से रक्षा करेगी। अतः आप देवी पर भरोसा करके किसी भी बात की चिन्ता न करके चले आओ। स्वयंवर के पश्चात् आये तो मुझे जीवित न पाओगे।"

इस प्रकार सन्देश देकर, पत्र लिखकर ब्राह्मण की पूजा की दक्षिणा दी और उसे तुरन्त चित्रकूट भेज दिया। ब्राह्मण दिन रात्रि चलकर स्वल्प काल में ही भरद्वाज आश्रम में पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने राजपुत्री का सम्पूर्ण सन्देश ज्यों का त्यों सुदर्शन को सुना दिया। सब कुछ सुनकर कुमार मुनियों से घिरे भगवान् भरद्वाज के समीप गया और सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाकर काशी जाने की अनुमति माँगी। ऋषियों को इससे बड़ा हर्ष हुआ। सब ने एक स्वर से कहा—"अवश्य जाना चाहिये। क्षत्रिय को ऐसे अवसर से चूकना न चाहिये।"

सुदर्शन तो यह चाहता ही था, सबकी सम्मति से उसे और भी अधिक उत्साह मिला। वह तुरन्त रथ तैयार कराके काशी के लिये चल पड़ा। जब उसकी माता ने सब समाचार सुना तो पुत्र स्नेह के कारण शत्रुओं का स्मरण करके भय से विह्वल हुई, पुत्र के समीप आयी और रोते-रोते बोली—"बेटा! तू ऐसा साहस मत करे। तू अकेला है, तेरे साथ न कोई बन्धु बान्धव है, न सेना मंत्री। तू वहाँ एकाकी जाकर इतने राजाओं में क्या करेगा। वहाँ अपने दौहित्र को लिये हुए युधाजित् भी आवेगा, वह तेरे अनिष्ट करने पर तुला है। यहाँ ऋषि मुनि तेरी रक्षा करते हैं, वहाँ तेरी कौन रक्षा करेगा। बेटा! मैं दुखिया हूँ, अनाथ हूँ, तू ही एकमात्र मेरे पुत्र है, तू जान बूझकर शत्रुओं के बीच मत जा।" यह कह कर रानी फूट फूट कर रोने लगी।

सुदर्शन ने अपनी रोती हुई माँ के समीप जाकर कहा—माँ! तुम क्षत्राणी हो, तुम्हें इस प्रकार रोना शोभा नहीं देता। क्षत्राणी तो अपने पुत्रों को टीका लगाकर हँसते हँसते रण में भेजती थी। तुम कोई चिन्ता मत करो। मेरी सहायिका भगवती जगदम्बा हैं। जगन्माता की कृपा से मेरा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। मैं तो भगवती की प्रेरणा से जा रहा हूँ। क्या सर्वान्तर्यामिनी जगज्जननी वहाँ मेरी रक्षा न करेगी।"

माता ने देखा सुदर्शन रुकेगा नहीं, उसने जाने का हठ, निश्चय कर लिया है। मुनियों की भी सम्पत्ति है तो उसने रोते रोते कहा—बेटा! यदि तैंने काशी जानेका निश्चय ही कर लिया है, तो भगवती जगदीश्वरी तेरी सर्वभाव से रक्षा करें तेरे ऊपर कृपा की वृष्टि करें, मंगलमयी माँ तेरा सर्वथा मंगल करें। तू रुकेगा तो नहीं, किन्तु एक मेरी बात मान ले। मैं तेरे बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। तू यदि जाना ही चाहता है तो मुझे भी साथ लेले।"

सुदर्शन ने देखा, माँ स्नेह के कारण अत्यंत कातरा होगई है, वह मानोगी नहीं, अतः उसने कहा—अच्छी बात है तुम भी मेरे साथ चलो।" यह कहकर उसने सैरन्ध्री के सहित माँ को भी रथ में बिठा लिया और ब्राह्मण के साथ तुरंत काशीपुरी में अकेला ही पहुँच गया।

काशीराज जब सुना बिना निमंत्रण के ही सुदर्शन स्वयंवर में आया है, तो उन्होंने इसका यथोचित आदर सत्कार किया। ठहरने को सुन्दर स्थान किया। दास दासी सेवा के लिये दिये। भोजनादिक समुचित व्यवस्था कर दी। अब तो राजाओं में काना फूंसी आरंभ हुई। कोई कहने लगा लड़के का साहस कितना बड़ा है। एकाकी ही इतने राजाओ के बीच चला आया। कोई कोई कहने लगे भाइयो! अब अपनी चतुरंगिणी सेनाओंको सजा कर चुप चाप लौट चलो। राजकुमारी तो इसी दर्शनीय महाबाहु सुदर्शन को वरण करेगी।

युधाजित भी अपने दौहित्र शत्रुजित को साथलेकर आया था। उसने क्रोध में भर कर कहा, राज भ्रष्ट सुदर्शन को राजकुमारी के स्वयम्वर में आने का क्या अधिकार है, उसे किसने निमंत्रित किया। यहाँ आना ही उसकी सबसे बड़ी धृष्टता है मैं अभी उसका वध करूगा। आज वह यहाँ से जीवित नहीं जा सकता।"

इस पर कुछ दुष्ट स्वभाव के राजाओं मे उसकी हाँ में हाँ मिलायी। वहीं पर धर्मात्मा केरल के राजा बैठे थे। उन्होंने नम्रता के साथ कहा—"राजन्, आप राजाओं की सभा में ऐसी अन्याय पूर्ण बात क्यों कर रहे हैं। यह स्वम्बर न तो पण स्वयंवर है न शौर्य स्वयंवर आप इसमें किसी पर अस्त्र शस्त्र कैसे उठा सकते हैं, यह तो इच्छा स्वयंवर है। राजकुमारी स्वतंत्र है, वह चाहे

जिसके कंठ में माला पहिना सकती है, जिसे भी वह वरण कर लेगी वही उसका पति हो जायगा ; रही अनिमंत्रित आने की बात। सो, स्वयंवरों में यह कोई नियम नहीं है कि निमंत्रित ही आवे। कोई भी क्षत्रिय पुत्र स्वयंवर में आने को स्वतंत्र है। वह राजपुत्र है। राज्य का अधिकारी है। आपने अन्याय पूर्वक उसका राज्य अपहरण करके अपने दौहित्र को राजा बनाया है। वहाँ जो अपने अन्याय किया सो किया। यहाँ राज्यपरिषद् में आप अन्याय नहीं कर सकते। आप का भी तो दौहित्र युवक है सुन्दर है राज्यसिंहासनासीन है। कुमारी चाहे तो उसे वरण कर सकती है। उसमें विवाह की क्या बात है।"

इस बातपर युधाजितने कहा—"राजन्! इतने बड़े बड़े राजाओं को छोड़ कर कन्या एक राज्यभ्रष्ट वनवासी दीन कृपण निर्धन को अपना वर बनावे तो इसमें हम सब राजाओं का घोर अपमान है, सिंह के भाग को गीदड़ नहीं ले जा सकता। मैं अपनी शक्ति भर ऐसा अन्याय न होने दूंगा।"

इस पर राजाओं ने काशीराज महाराज सुबाहु को राजाओं की मंडली में बुलाया। सभी राजाओं की परिषद बैठी। राजाओं ने सुबाहु से पूछा—"राजन्। आप अपनी कन्या किसे देना चाहते हैं?

हाथ जोड़ कर दीनता के साथ काशीराज ने कहा—राजाओं! मेरी पुत्री इस हठ पर अड़ी हुई है कि मैं सुदर्शन को ही अपना पति बनाऊँगी। मैंने उसे बहुत कुछ समझाया किन्तु वह मानती नहीं। अब आप जैसी आज्ञा दें। मैंतो आप सबका दास हूँ।"

यह सुनकर राज परिषद की ओर से सुदर्शन बुलाया गया कलिंगराजने उससे पूछा—कुमार! तुम किस लिये यहाँ आयेहो किसके निमन्त्रणसे आयेहो? तुम्हारे साथ न मंत्री है, न सेना है

न सहायक हैं ? ऐसा दुस्साहस तुमने किस आधार पर किया कन्याके लिये कलह होजाय तो कौन तुम्हारा सहायक होगा ?"

सुदर्शनने निर्भय होकर कहा—मैं देवी भगवती की आज्ञासे यहाँ आया हूँ मुझे सेना, कोष धन का बल नहीं। इष्ट ही मेरा बल है, जगदम्बा ही मेरी सहायिका है माँ के कारण मैं किसी से भय नहीं खाता। जिसकी चार हाथोंवाली रक्षिका है उसका दो हाथवाले बिगाड़ ही क्या सकते हैं ?"

उसके ऐसे उत्तरसे साधु स्वभाव के नृपति गण प्रसन्न हुए। दुष्ट स्वभाव वाले जलभुनकर भस्म से होगये। नियत समय पर सभी राजा राजकुमार स्वयंवर मंडपमें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर कन्याको पाने की इच्छा से अपने अपने सिंहासनों पर जा बैठे। सुदर्शन भी सरलता पूर्वक राज्य के बताये हुए सिंहासन पर जाकर बैठ गया। मनसे वह भगवती जगदम्बाका ध्यान कर रहा था।

तब काशीराज सुबाहु ने अन्तः पुरमें जाकर देखा दासियों ने शशिकलाको वस्त्रालंकारों से भली भाँति सजा रखा है। उसके समीप है दुर्वा में पिरोयी हुई मधु पुष्पों की माला रखी है। यह देखकर बड़े ही स्नेहसे राजाने पुत्रीके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटी ! स्वयंवर मंडप में चलो। वहाँ सभी राजा राजकुमार तुम्हारी ही प्रतीक्षाकर रहे हैं। तुम इनमें से जिसे चाहो उसे वरण करलो। जिसके कंठमें तुम जयमाला डाल दोगी वही तुम्हारा पति होगा।"

यह सुनकर शशिकलाने कहा—"पिताजी ! मैं वहाँ स्वयंवर सभा में कदापि नहीं जाऊँगी। मुझे अब किसी अन्यको वरण नहीं करना है, मुझे तो जिसे वरण करना था उसे पहिले ही वरण कर चुकी।"

राजा ने कहा—"वहाँ सुदर्शन भी तो है तू जा कर उसी के कंठमें माला डाल दे।"

कुमारी ने कहा—नहीं पिताजी! वहाँ सबकाभी राजा बैठे हैं वे मेरे शरीर को बुरी भावना से देखेंगे। पतिव्रता अपनेपति को छोड़कर किसीको देखना नहीं चाहती। कोई उसे दूषित भावना से देखे यह उसके लिये असह्य है। इसीलिये आप मुझे सामान्य स्त्री की भाँति सबके सम्मुख न घुमावें। सुदर्शन को बुलाकर शास्त्रीय विधिसे मेरा कन्यादान करदें। मैं वहाँ वारांगनाओं की भाँति पति खोजने नहीं जाऊँगी।"

राजा यह सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ बन गये। द्वार पर सहस्रों राजा चतुरांगिणी सेना सहित बैठे हैं। मेरे पास न इतनी सेना है न कोई सहायक। सुदर्शन एकाकी है। हे भगवान्! अब क्या होगा, कैसे मेरी लज्जा रहेगी। यही सब सोचते सोचते राजा अत्यंत भयभीत हुए उदास मनसे राजाओं के सम्मुख गये और हाथ जोड़कर बोले—राजाओ! मुझसे बड़ा अपराध हो गया। मैंने आप सबको इतना कष्ट दिया। मेरी पुत्री यहाँ आना स्वीकार नहीं करती। मैंने भाँति भाँति से उसे समझाया। उसकी माँ ने भी उसे फुसलाया ऊँचा नीचा जताया, किन्तु वह हठ पकड़े हुए है, कि मैंने जिसे मनसे पति वरण कर लिया है, उसके अतिरिक्त दूसरे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती। लड़की सयानी है, वह किसी प्रकार मानती ही नहीं। अतः मैं भूमि में सिर रख करके आपके चरणों में लोटकर आपसे क्षमा प्रार्थना करता हूँ। मेरी विवशता को देखकर आप क्रुद्ध न हों अपने अपने घर लौट जायँ। मैं असंख्य धनरत्नों से आप सबकी पूजाकरूँगा।"

राजा के ऐसे दीनता पूर्ण वचन सुनकर सभी रजा मौन रहे, किन्तु युधाजित से न रहा गया वह लाल लाल आँखें निकालकर

क्रोध में भरकर बोला—राजन्! तुम हम सबका अपमान कर रहे हो। एक भिखारी अकुलीन को कन्या देना चाहते हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मेरा दौहित्र काशिराज है इसके साथ कन्या का विवाह कर दो। नहीं अभी इस अन्याय का फल चखाता हूँ, पहिले तो मैं तुम्हें मारूँगा फिर सुदर्शन का वध करूँगा। मैं कहता हूँ मेरे रहते तुम सुदर्शन को किसी भी दशा में कन्या नहीं दे सकते। तुम अभी जाओ, जैसे हो तैसे कन्या को यहाँ लाओ। न ीं मैं तुम्हें अभी मारकर कन्या को बलपूर्वक घसीट कर लाता हूँ।

युधाजित बड़ा वीर था। सेना भी उसके साथ यथेष्ट थी। कुछ राजा भी उसके अनुयायी तथा पक्षपाती थे। इससे काशीराज डर गये। वे पुनः अन्तःपुर में पहुँचे। उन्होंने अपनी रानी को शशिकला के पास भेजा जैसे हो तैसे उसे मनाकर लाओ।" रानी गयी, उसने सब प्रकार से राजकुमारी को समझाया, किन्तु वह किसी भी दशा में स्वयंवर सभा में जाने को उद्यत न हुई। तब राजा स्वयं उसके पास गये और बोले—"बेटी। मेरी लाज तेरे हाथ है।"

इस पर शशिकला ने कहा—"पिताजी! मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण कुछ आपका अनिष्ट हो। सभी राजा क्रुद्ध हैं न जाने क्या अनिष्ट कर डाले। आप एक काम करें। सुदर्शन को बुलाकर आप मुझे उसे सौंप दें। नगर से बाहर हम दोनों को कर दें। फिर हमारे भाग्य में जो होगा सो हो जायगा। भगवती चाहेंगी तो हमारी रक्षा करेंगी। नहीं हम दोनों एक साथ शत्रुओं द्वारा मारे जायँगे।"

अपनी पुत्री की ऐसी बात सुनकर राजा की आँखों में आंसू आ गये। वे बड़े ही स्नेह से बोले—"शशि बेटी! क्या मैंने इसी-

लिये तुझे इतने लाड़ प्यार से पाल पोस कर बड़ा किया है। मैं अपने शरीर में प्राण रहते न तो तेरी इच्छा के विरुद्ध काम करूँगा और न तुझे इस प्रकार अनाथ ही छोड़ूँगा। अब तू बता मैं क्या करूँ। सम्पूर्ण राजा क्रोध से उन्मत्त हुए बाहर तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं, कहीं वे तेरा अपमान न कर दें। इसी की मुझे चिन्ता है। सुदर्शन के साथ विवाह करने में तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।"

यह सुनकर राजकुमारी बोली—"पिताजी! आप एक काम करें। इस समय तो इन राजाओं को किसी भी भांति फुसला कर अपने अपने डेरों पर भेज दें। कल के लिये बात टाल दें। जब ये सब चले जायँ तो रात्रि में चुपके से वेद की विधि के साथ सुदर्शन के संग मेरा विवाह कर दें। विवाह हो जाने के अनन्तर भी कोई विग्रह करेगा तो देखा जायगा। आप इस विषय में विशेष सोच विचार न करें।"

कुमारी की बात राजा के मन में बैठ गयी और वे तुरन्त स्वयंवर मंडप में गये। वहाँ जाकर हाथ जोड़ कर अत्यन्त दीन शब्दों में बोले—"राजाओ! मैं क्या करूँ, लाख समझाने बुझाने पर भी लड़की आज यहाँ आने को तत्पर नहीं। अतः आप सब मुझे अपना दास जानकर आज कृपा करें। कल जैसा भी कुछ होगा। मैं कुछ अवश्य उपाय करूँगा। एक दिन का अवसर मुझे और दिया जाय।"

राजा के दीन वचनों को सुनकर सभी ने यह बात मान ली। सभी अपने अपने डेरों पर चले गये। इधर जब रात्रि हुई तो राजा ने चुपके से सुदर्शन को बुलवाया। विवाह की सब तैयारियाँ तो पहिले से थीं ही। वेद के विधि से शशिकला का विवाह सुदर्शन के संग कर दिया। वर वधू को देखकर राजा को अत्यंत

ही प्रसन्नता हुई उनका हृदय भर आया। अश्रु बहाते हुए राजा ने कहा—"बेटा! सुदर्शन! अब मैं बूढ़ा हो चुका हूँ, मेरा समस्त राज्य अब तुम्हारा ही है! तुम यहाँ सुख से राज करो मैं वन में जाकर तप करूँगा।"

सुदर्शन ने कहा—"पिताजी! न्यायतः राज्य के अधिकारी शशिकला के भाई हैं, मैं इस प्रकार राज्य नहीं लूँगा। मैं तो केवल आपसे आशीर्वाद ही चाहता हूँ, मुझे तो भगवती जगदम्बा की कृपा चाहिये। आप मुझे अब भरद्वाज आश्रम में जाने की अनुमति दें।"

सुदर्शन के इन वचनों से राजा को बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने सहस्रों हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, दास दासी, वस्त्र,आभूषण तथा धन दहेज में दिया। सुदर्शन की माता का भी राजा ने यथोचित सत्कार किया। विवाह के पश्चात् बाजे बजने लगे। राज महल में सर्वत्र आनन्दोत्सव मनाया जाने लगा।

विवाह के वाद्यों को सुनकर ही राजागण समझ गये, कि काशी राज ने हमें ठग लिया कन्या का विवाह उसने अवश्य ही सुदर्शन के संग कर दिया। अब तो राजाओं के क्रोध की सीमा न रही। कोई सुदर्शन के रक्त का प्यासा बन गया कोई काशि-राज को ही मारने की बात सोचने लगा।

प्रातःकाल होते ही महाराज सुबाहु अपने मंत्री सेनापति तथा सभासदों के सहित राजाओं के समीप गये और हाथ जोड़-कर बोले—"राजाओ! आप प्रजापालक हैं, कृपा के सागर हैं मुझ पर भी कृपा करें मुझे अपनी प्राणों से भी प्यारी पुत्री का हठ स्वीकार करना पड़ा। उसका विवाह रात्रि में सुदर्शन के साथ हो गया। अब आप कृपा करके आज सभी भोजन के निमित्त मेरे घर पधारें। अपने चरणों की धूलि से मेरे महल को पावन बनावें।"

इस पर बहुत से चुप हो गये। बहुतों ने कहा—"राजन्! आप जो किया अच्छा ही किया, हम लोग अब अपने अपने नगरों को जायँगे।" युधाजित तो क्रोध के कारण पागल हो उठा। उसने कहा—"राजन्! आप अपने इस व्यवहार का शीघ्र ही फल पा जायंगे। इतने राजाओं का अपमान करके आप जीवित नहीं रह सकते। आपने हम सब राजाओं को घर बुलाकर तिरस्कार किया है।"

काशिराज ने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया वे चुपचाप लौट कर अपने महलों में आगये। इधर युधाजित "हम सब का घोर अपमान हुआ है इसका बदला अवश्य लेना चाहिये" यह कह कर राजाओं को भड़काने लगा। इस पर सज्जन राजाओं ने कहा—"अरे भाई, काहे का अपमान। इच्छा स्वयंवरथा। राजकुमारी किसी एक को ही तो वरण करती। तब भी तो हम लौटते ही। हम लोग तो ऐसे ही कुतूहलवश चले आये थे,विवाह हो गया हमलोग जाते हैं, जिसे लड़ना भिड़ना हो लड़ता भिड़ता रहे।" यह कहकर बहुत से राजातो अपना डेरा तम्बू उखाड़कर चुपचाप वहाँ से चल दिया। कुछ दुष्ट राजा युधाजित् का पक्ष ले कर सुदर्शन से युद्ध करने और बलपूर्वक शशिकला को छीन-नेके लिये मार्गरोक कर नगर के बाहर खड़े हो गये। यह बात काशिरज को भी विदित हो गयी कि युधाजित् युद्ध करने के लिये खड़ा है, वह शशिकलाको छीनने के लिये कृत संकल्प है। तब राजाने भी अपनी चतुरंगिणी सेना सजाने की आज्ञादेदी।

राजा की आज्ञापाते ही चतुरंगिणी सेना सज गयी। राजा स्वयं ही रण का वेष धारण करके सुदर्शन के आगे आगे चला। एक रथ में शशि कला के साथ सुदर्शन और उसकी माता बैठी थी। चतुरंगिणी सेना के साथ सुदर्शन की सवारी नगर से

निकली। रण के बाजे बज रहे थे। वीर क्षत्रियों के हृदय युद्धका अवसर पाकर उछल रहे थे। घोड़े हिन हिना रहे थे हाथी चिग्घाड़ रहे थे। काशिराज की सेना संख्या में बहुत ही अल्प थी। इधर युधाजित् के सहयोगियों की सेना असंख्य थी, फिर भी काशिराज के सैनिक प्राणों का पण लगाकर लड़ने लगे। इतने में ही सबने प्रत्यक्ष देखा सिंह पर सवार भगवती जगदम्बिका वह संग्राम में प्रकट हो गयी। भगवती को देखते ही युधाजित् के सैनिक भागने लगे। इसपर युधाजित् ने उन्हें रोका ललकारा। एक स्त्री को देखकर भागते हो। इसे भी रण में मार दो। इस पर कुछ लोग भगवती के ऊपर भी प्रहार करने दौड़े।

सुदर्शन शशिप्रभा और काशिराज देवी के दर्शन मात्र से ही प्रेम में विभोर हो गये। देवी ने क्षणमात्र में शत्रुसेना को परास्त कर दिया। युधाजित् और उसके दौहित्र को मारकर गिरा दिया। इनके मरते ही सेनामें भगदड़ मच गयी। काशिराज की सेना विजय के मद मेंउन्मत्त सी होकर जय जय चिल्लाने लगी देवी का जयघोष करने लगी।

इसके अनन्तर काशिराज ने देवी के सम्मुख जाकर ११ श्लोकों में उनकी स्तुति की। देवी जी का यह ११ श्लोकों का स्तोत्र परम दिव्य स्तोत्रराज है उसके एक एक शब्द ने देवी की महा-महिमा और प्रभाव का वर्णन है उसी स्तोत्र में राजा कहते हैं—

सत्संगतिः कथमहो न करोति कामम्,
प्रासंगिकापि विहिता खलु चित्त शुद्धिः
जामातुरस्य विहितेन समागमेन
प्राप्तं मयाऽद्भुतमिदं तव दर्शनं वै।
त्वद्दर्शनादहमहो मुक्तो कृतार्थो

जातोऽस्मि देवि भुवनेश्वरि धन्यजन्य।
बीजं न ते न भजनं किलवेद्मि मात—
ज्ञातं स्तवाद्य महिमा प्रकटप्रभावः॥

हे भगवति। देखो, सत्संगति का भी कैसा विचित्र प्रभाव है, वह सत्संगति भी कोई इच्छा से नहीं की गयी। अकस्मात् प्रसंग वश भी हो जाय वह भी चित्त की शुद्धि तो करती ही है। मुझे ही देखिये, इस मेरे जमाई के समागम के कारण देवताओं को भी दुर्लभ आपके दर्शन मुझे विना प्रयत्न के ही प्राप्त हो गये। आपके दर्शन से आज मैं कृतकृत्य हो गया। मेरा जन्म सफल हो गया। हे जगन्माता मैं न तो आपका बीज ही जानता हूँ न मैंने आपका भजन ही किया आपने अपनी अहैतुकी कृपा से ही मुझे दर्शन दिये आज मैंने प्रत्यक्ष आपकी महिमा का प्रकट प्रभाव जान लिया।"

इस प्रकार राजा की स्तुति से प्रसन्न होकर देवी जी ने वर माँगने को कहा। तब राजा ने यही वर माँगा कि आप दुर्गा रूप में सदा मेरी पुरी काशी में निवास करें। देवी श्वसुर जमाई को यथोचित वरदान देकर अन्तर्हित हो गयी। सुदर्शन आकर अयोध्या के राजा हुए उन्होंने कालिका के नाम से देवी जी की स्थापना की और महाराज सुबाहु ने काशी में दुर्गा नाम से देवी जी की प्रतिष्ठा की जो अभी तक दोनों स्थानों में मानी पूजी जाती हैं।

इस कथा से यही अभिप्राय है, कि किसी भी प्रकार अपना एक इष्ट निर्णय हो जाय और उसमें विश्वास हो जाय। अपना ही विश्वास देवता में और मन्त्र में प्रकट होता है। जिसकी जैसी अपनी भावना होती है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है। अपने ही भीतर का दृढ़ विश्वास सिद्धि के रूप में सम्मुख आता

है। गुजरात में कोई एक महात्मा थे वे किसी को मन्त्रोपदेश नहीं देते थे। एक भक्त ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं इन्हीं से मंत्र लूँगा। कई बार प्रयत्न किया। एक बार वह गया महात्मा ने कहा —"चल हट" बस, भक्त जी ने इन्हीं चार अक्षरों को गुरु मंत्र मान लिया। निरन्तर उसी का जप करने लगे इसी से वे बड़े ऊँचे सिद्ध हो गये।

कबीरदास जी और रामानन्द स्वामी की कथा तो बहुत पुरानी है, कि सीढ़ियों पर लेट गये। स्वामी जी का पैर पड़ा तो वे राम राम कहने लगे। उसी को जपकर कबीर जी कबीर बन गये। अभी थोड़े ही दिन की बात है काशी से कुछ दूर पर एक महात्मा रहते थे एक अपढ़ ब्राह्मण उनकी सेवा करता था। महात्मा वैसे किसी को दीक्षा आदि नहीं देते थे। सबसे राम राम जपने को कहते थे। एक दिन वह ब्राह्मण उनकी लँगोटी चुराकर भाग गया। कुछ बुरे भाव से नहीं श्रद्धा पूर्वक। विन्ध्याचल में आकर उसने इसी मंत्र का १२ वर्ष तक जप किया इसके पश्चात् उनकी ऐसी सिद्धि चेती। सैकड़ों कुएँ उनकी प्रेरणा से प्रयाग काशी के बीच में बनाये गये। बहुत से यज्ञयाग ब्राह्मणभोज उनकी प्रेरणा से हुए। उन्हें वाणी की सिद्धि प्राप्त हो गयी।

बीज का विस्तार मन्त्र है और मन्त्र का विस्तार स्तोत्र है, वेदों में जिसे सूक्त कहते हैं। जैसे ओंकार बीज है। गायत्री उसका विस्तार मंत्र है और गायत्री का भाष्य ही श्रीमद्भागवत् है। चारों वेद भी गायत्री माता के ही विस्तार हैं। स्तोत्रों में भी उतनी ही शक्ति है जितनी बीज तथा मंत्रों में है। बहुत से तो स्तोत्र ही मंत्र हैं। श्रीमद्भागवत के सभी श्लोक मंत्र हैं। फिर उनकी स्तुतियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ?

स्तोत्र दो प्रकार के होते हैं एक तो सकाम स्तोत्र एक निष्काम

संसार में चार ही प्रकार की मुख्यतया कामनाएँ होती हैं (१) रूप की कामना (२) धन तथा बल की कामना। (३) यश की कामना और (४) शत्रुनाश की कामना। इन्हीं कामनाओं की पूर्ति के लिये प्राणी सदा सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं। तभी तो दुर्गा सप्तशती में देवी जी की बारम्बार प्रार्थना की गयी है "रूपं देहि जयं देहि यशोदेहि द्विषो जहि" सुदर्शन की भी भक्ति सकाम ही थी देवी जी की कृपा से उसे रूपवती स्त्री मिली, धन मिला बल मीला राज्य मिला, यश मिला विजय मिली और उसके शत्रुओं का नाश भी हुआ।

अपनी कामना पूर्ति के लिये संसार में सब क्षुद्र प्राणियों का आश्रय न लेकर भगवान् का आश्रय ले तो यह भी उत्तम है। भगवान् ने गीता में आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चारों ही भक्तों को सुकृति बताया। निष्काम अथवा केवल प्रेम की कामना करने वाला तो सर्वोत्तम है ही। कैसे भी हो किसी भाव से हो भगवान् की स्तोत्रों द्वारा स्तुति करनी चाहिये।

श्रीमद्भागवत के स्तोत्र एक से एक बढ़ कर हैं, इन स्तोत्रों में सम्पूर्ण सिद्धान्त भर दिये हैं। बहुत से स्तोत्र ऐसे हैं, जो भिन्न भिन्न अवसरों पर पाठ करने से प्रत्यक्ष फल देते हैं। इन स्तोत्रों की विशद व्याख्या की जाय अथवा विस्तार से भाष्य किया जाय, तो एक ही श्लोक के ऊपर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। जिस समय 'भागवती कथा' लिखी जा रही थी, उस समय ये स्तोत्र छोड़ दिये थे और स्थान स्थान पर यह आश्वासन दिलाया था कि "भागवती कथा" के अनन्तर इन सभी स्तोत्रों की एक साथ ही व्याख्या की जायगी। ये स्तोत्र भावुक भक्तों के बहुत ही काम के हैं। वैसे तो श्रीमद् भागवत का एक एक श्लोक मंत्र होने से सभी के लिये उपयोगी है, फिर भी जो स्तोत्र जिनके हृदय को अधिक

पकड़ सके, जो उन्हें अधिक हृदय स्पर्शी प्रतीत हो उसे वे कंठस्थ कर लें और एकान्त में बैठकर प्रेमपूर्ण हृदय से गद्गद वाणी से उसका नित्य नियम से पाठ करें। प्रयत्न ऐसा करें कि पाठ करते करते देह पुलकित हो जाय शरीर में रोमाञ्च हो जायँ, हृदय द्रवीभूत हो जाय पिघल जाय और नेत्रों से अश्रुओं की धारा बहने लगे। यही द्रवीभूत हृदय के बाह्य लक्षण हैं, भीतर से ऐसा प्रतीत हो मानो कोई हृदय को ऐंठ रहा है।

भगवान् तो भक्त की भावना के वशीभूत हैं, यह सम्पूर्ण विश्व भावना के ही ऊपर अवलम्बित है, सम्पूर्ण सम्बन्ध भाव के ही सहारे टिके हुए हैं, मंदिर में भावना हो तो देवता, न भावना हो तो पाषाण की मूर्ति। ये स्तोत्र भाव जगत की वस्तु हैं, इनमें शुष्क तर्क काम नहीं करती। इन स्तोत्रों की जैसे कुछ व्याख्या बन पड़ी, जैसी सुनी समझी वैसी अत्यंत संक्षेप में लिख दी। नित्य के पाठ से पाठकों के हृदयों में स्वयं ही स्फूर्ति होगी, अतः मेरी समस्त पाठक पाठिकाओं से प्रार्थना है, कि इस विषय को नीरस समझ कर छोड़ने इसके पढ़ने में अधिकाधिक समय लगावें। बार बार पढ़े, एकान्त में पढ़ें सब के सम्मुख पढ़ें, जब अवसर हो तब पढ़ें नित्य पाठ करें। इससे भगवान् के चरण कमलों में भावना के अनुसार भक्ति होगी अनुराग बढ़ेगा, जो जीव का चरम लक्ष्य है अन्तिम पुरुषार्थ है, मानव तनु धारण करने का सर्वोत्कृष्ट फल है।

भूमिका कुछ अधिक बड़ी हो गयी अतः आज इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं, इस विषय के सिद्धान्त की बातें आगे खंडों में कही जायँगी। उन सर्वान्तर्यामी प्रभु के पाद पद्मों में प्रार्थना है, कि वे हमें अपने स्तोत्रों के समझने की, गाने की, पाठ

करने तथा सुनने की शक्ति प्रदान करें जिस से हम उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर सकें। वेद पुराणों के प्रसंगों से तो यही प्रतीत होता है कि स्तोत्र बहुत ही प्रिय है, जहाँ किसी के हृदय से स्तुति की नहीं तहाँ ही भगवान् भक्त की भावनानुसार प्रकट होकर कहने लगते हैं, 'वरंब्रूहि वर' माँगलो। इसी लिये संस्कृत की एक कहावत है "स्तोत्रंकस्यनरोचते भुविनृणाम्" ऐसा कौन संसार में पुरुष होगा। जिसे अपनी स्तुति प्यारी न लगती हो जब मनुष्य स्तुति से प्रसन्न हो जाता है, तब भगवान् का प्रसन्न होना कौन कठिन है। हे प्रभो। इन "भगवती स्तुतियों से आप प्रसन्न हों। आपकी प्रसन्नता के निमित्त ही ये सब प्रपंच रचे जा रहे हैं। अपरिग्रह से परिग्रही बनते जा रहे हैं। कागद एकत्रित करो, प्रेस लगाओ ग्राहक बढ़ाओ, यहलाओ वहलाओ यह सब तुम्हें रिझाने को ही कठिन कार्य किया जा रहा है। जानबूझ कर विष का घूँट पिया जा रहा है। इसमें अपनी स्तुति सुनने की मान बड़ाई होने की भावना भी है, किन्तु जब स्तुति की चाहना सदा तुम्हें भी बनी रहती है तो इस क्षुद्र जीव के हृदय में भी आजाय तो यह कौन सी आश्चर्य की की बात है, पिता का कुछ स्वभाव तो पुत्र में आता ही है। यदि आप को सिंहासन से ढकेल कर वहाँ स्वतः बैठने की भावना हो, वेन की भाँति तुम्हारी स्तुति से द्वेष करके अपनी ही स्तुति सुनने की आकांक्षा हो तो हे मेरे सर्व समर्थ स्वामिन्! इस भावना को तुम मेंट दो। तुम्हें ही हमारा इष्ट हो, तुम्हारा गुण गान ही हमारा नित्यनैमित्तिक काम हो यही आप के पदारविन्दों में पुनः पुनः प्रार्थना है—

'प्रसीद देवेशजगन्निवास'

छप्पय

तारे अगनित भक्त विरुदव्याप्यो भुवनन में।
सुनि के आयो दौरि हरनमय चरन शरन में॥
विषय लगत अति सुखद मान यश चहूँ बड़ाई।
कथनी करनी भिन्न लखूँ सब माहिं धुराई॥
तारो प्रभु अस अधम कूँ, तव पद पदुम प्रनाम है।
पतित उधारन पतितपति, भुवन विदित तव नाम है॥

नौका में त्रिवेणी पर
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग।
आषाढ़ कृ० १३। २०१२ वि०
} प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

॥ श्रीहरिः ॥

भागवती-स्तुतियाँ (१)

मंगलाचरण

(१)

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्,
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्रत्रिसर्गोऽमृषा,
धाम्ना स्वेन सदानिरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥*

(श्रीभा० १ स्क० १ अ० १ श्लो०)

छप्पय

ध्यान प्रेमतैं करहिँ सत्य परमेश्वर प्रभु जो।
उतपति तिथि लय हेतु सृष्टि पालक हर विभु जो॥
अन्वय अरु व्यतिरेक भावतैं जगमहँ व्यापक।
स्वयं प्रकाशस्वरूप, सर्वविद वेदप्रकाशक॥
माया छल अरु कपटतैं, बाधित भासित यों रहैं।
जल, थल तेजस भ्रान्ति वश, असत् वस्तु ज्यों सत कहैं॥

ग्रन्थारम्भ में अपने इष्ट की स्तुति की जाती है। उसे मंगलाचरण कहते हैं। मंगलाचरण नमस्कारात्मक, वस्तु निर्देशात्मक

* जो कार्याकार्य में अन्वय और व्यतिरेक से व्यापक जगत् के जन्मादि (जन्म-पालन और संहार) जिससे होते हैं जो स्वयं प्रकाशक है। जिसवेद के विषय में बड़े-बड़े ज्ञानी भी

और आशीर्वादात्मक इस तरह तीन प्रकार का होता है। नमस्कारात्मक जैसे कृष्णके लिये, वासुदेवके लिये, हरि के लिये परमात्मा के लिये, प्रणतों के क्लेशनाशने वाले के लिये तथा गोविन्द के लिये नमस्कार है। वस्तु निर्देशात्मक वह होता है कि,जो कहना हो उसका वर्णन करके अन्त में कह दे कि ऐसे भगवान हमारी रक्षा करें। आशीर्वादात्मक वह कहलाता है जिसमें अपना उद्देश्य कहकर अन्त में कह दिया जाय ऐसे भगवान् की जय हो या ऐसे भगवान् हमारा मंगल करें। नमस्कारात्मक में प्रणाम नमस्कार बन्दना तथा ध्यान सभी का समावेश है।

श्रीमद् भागवत के आरंभ में भगवान् वेदव्यास भगवान् का ध्यान करते हैं। जिनका जीवन परोपकारमय है जो सदा सर्वदा सभी प्राणियों का कल्याण चाहते हैं। वे जो भी कार्य करते हैं सबका प्रतिनिधित्व सूचक कार्य करते हैं। वे जो करते हैं सबके लिये करते हैं। उनका अशन वसन, रहन सहन, पर्यटन, भ्रमण भाषण लेखन, यहाँ तक श्वास प्रश्वास का गमनागमन तथा जीवन सब दूसरों के निमित्त ही होता है अतः वे ग्रन्थारम्भ में ध्यान भी अकेले नहीं करते। बहु वचन पूर्वक कहते हैं हम उस प्रभु का ध्यान करते हैं। एकाकी ध्यान तो अपनी निजी भावना के अनुसार किया जाता है व्यष्टि के भगवान् तो ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध अपने ही से होता है, किन्तु हमें ध्यान करना है समष्टि के साथ, ऐसे प्रभु का ध्यान करना है जिनके लिये किसी भी

हो जाते हैं। उसी वेद को जिसने ब्रह्मा जी के हृदय में इच्छा मात्र से ही प्रकाशित कर दिया। और जैसे तेज जल और मिट्टी में एक दूसरे से भिन्न भ्रान्ति होती है वैसे ही उस विशुद्ध भगवत् स्वरूप में यह त्रिगुणमय संसार सत्य सा प्रतीत हो रहा है जिससे कपट सदा बाधित ही रहता है उस परम सत्य का हम ध्यान करते हैं।

वाद वाले को आपत्ति न हो जिसकी व्याख्या परिभाषा सर्व सम्मत सर्व मान्य हो। सभी सम्प्रदाय सभी वाद सभी मत सर्व धर्म तथा सभी बुद्धिमान पुरुष सत्य को तो मानते ही हैं, आज तक किसी भी धर्म का अनुयायी यह नहीं कहेगा कि हम सत्य को नहीं मानते अतः भगवान् वेदव्यास कहते हैं—"हम उन सत्य प्रभु का ग्रन्थारम्भ में सर्व प्रथम ध्यान करते हैं। सत्य भी कभी कभी बदल जाता है। हम देखते हैं आकाश में इन्द्र धनुष प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है, हमें सत्य सा प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में वह सत्य नहीं है। एक व्यक्ति बालक प्रतीत होता है हम उसे सत्य ही बालक मानते हैं। कुछ दिन पश्चात् वही व्यक्ति काल के प्रभाव से बालक नहीं रहता, युवा हो जाता है। तब हमें प्रतीत होता है कि उसका बालकपन सत्य नहीं था परिवर्तन शील था। कोई वस्तु हमें नूतन दिखायी देती है कालक्रम से वही पुरातन हो जाती है। उसकी नूतनता सत्य नहीं थी। आज जिसे हम सत्य समझते हैं कालान्तर में वही असत् प्रतीत होता है। बालकपन में बच्चा खिलौनों को सत्य समझता है उनमें उसकी अत्यधिक ममता रहती है। कोई ले लेता है और फोड़ देता है तो रोता है किन्तु बाल्यावस्था बीत जाने पर वही दूसरे बालकों को खिलौनों से खेलते देखकर हँसता है। इससे प्रतीत होता है जिनका सम्बन्ध देश से है काल से तथा पात्रता से है वह सत्य नहीं। हम ऐसे कालाधीन सत्य का ध्यान नहीं करते जो कालातीत देशातीत है त्रिकालाबाधित है प्रपंच से परे जो कोई परम सत्य है उसीका ध्यान करते हैं।

तो क्या वह इस कार्य कारणात्मक जगत् से सर्वथा पृथक् है यदि वह सर्वथा पृथक् है, तो उसकी प्रतीति कैसे हो ? फिर तो वह ध्यानगम्य हो ही नहीं सकता। वह इस दृश्य प्रपंच के कार्यात्मक संसार के अणु अणु में समान रूप से व्याप्त है

बिना किसी की सत्ता नहीं। उसी के अस्तित्व से वस्तुओं का पदार्थों का अस्तित्व है उसी की सत्ता से समस्त पदार्थों का अस्तित्व है या कहो वही एक होकर बहुत रूपों में बन गया है, एक ही चीनी ने नाम और आकृति भेद से विविध रूप रख लिये हैं वही वही है। अथवा जो दिखाई देता है वह वास्तव में उसका रूप नहीं है। जहाँ जाकर रूपों का अन्त हो जाता है, नामों का विराम हो जाता है, आकृतियों का अवसान हो जाता है, सब के अन्त में जो शेष रह जाता है, अवशेष बच जाता है, वही परम सत्य है। जो सब में सदा सर्वदा व्यापक है, सर्व रूप है, सर्व गत है, सर्वावशिष्ट है उस परम सत्य का हम ध्यान करते हैं।

अच्छा तो उसे उत्पन्न किसने किया ? किसी ने भी तो उसे बनाया होगा ! इस पर कहते हैं, वह बना बनाया रहता है उसे कोई बनाता नहीं। उसकी उत्पत्ति किसी अन्य से नहीं होती। अपितु तो उसके ही द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है, यावत् प्रपञ्च के प्रजनन कार्य हैं उसी के द्वारा होते हैं उसके अतिरिक्त अन्य कोई किसी को उत्पन्न ही नहीं कर सकता। वही जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण है।

पुनः पूछते हैं उत्पन्न न भी हुआ हो, किंतु उसकी सत्ता तो है। जिसकी सत्ता है, उसका किसी के द्वारा लालन पालन तो होता ही होगा। उसका पालन कौन करता होगा। कहते हैं नहीं, उस स्वराट् का स्वयं प्रकाश का पालन अन्य कोई कर ही नहीं सकता। अन्य किसी की शक्ति ही नहीं जो उसका पालन कर सके। लाल्य पाल्य लालक पालक से सदा छोटा रहता है, वह तो बड़े से भी बड़ा है उसके अतिरिक्त कोई पालक है ही नहीं, वही सर्व जगत् का पालक है वही सृष्टि का स्वयं पालन करता है या कराता है। एक मात्र

वही पालक होने से वह अन्य किसी द्वारा पालन नहीं किया जाता है।

फिर पूछते हैं जो है, जिसकी सत्ता है उसका एक दिन विनाश भी होता है तो क्या उस सत्य का भी कभी नाश होगा। इस पर कहते हैं—नाशकाल वाली वस्तुओं का होता है, वह कालातीत है काल को वहाँ गम नहीं अतः वह अविनाशी है। नाश उसका होता है जो कभी उत्पन्न हुआ हो, वह न कभी उत्पन्न हुआ है। अनादि अजन्मा होने से अनन्त और अविनाशी है। उसी के द्वारा संसार का असंख्यों ब्रह्मांडों का नाश होता है फिर असंख्यों की उत्पत्ति होती है।

अनादि अनन्त तथा अविनाशी कहने से क्या उसका पूर्ण बोध होता है? पूर्ण बोध तो शब्दों द्वारा हो ही नहीं सकता। क्योंकि भाषा अपूर्ण है। भाव उसको अभिव्यक्ति करने में असमर्थ है हम यही कह सकते हैं, वह सत् स्वरूप है, चित् स्वरूप है, आनन्द स्वरूप है, वह स्वयं प्रकाश है, सर्वविद् है सर्वज्ञ है सनातन है, सर्वमय है, सर्वाधार है, सर्वस्वरूप है, सर्वनाम है, सर्वान्तर्यामी भी तथा सर्वघो है।

उसने कहीं से कभी ज्ञानार्जन किया होगा? नहीं, वह किससे ज्ञानार्जन करता, वह तो स्वतः ज्ञान स्वरूप है। वह किससे सीखेगा, वही तो सबका एकमात्र सच्चाशिक्षक है, वह किससे अध्ययन करेगा, वही तो जगद्गुरु है। जितने ज्ञानी हैं, उसी की कृपा की एक तनिक सी कोर से ज्ञानवान् बने हैं। वेदों के वक्ता चतुर्मुख ब्रह्मादिक उन्हीं के शिष्य हैं। पोथी लेकर वर्ष दो वर्ष उन्हें पढ़ाया नहीं, उनको रटाया नहीं, घुटवाया नहीं। बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान जिन वेदों के विषय में मोहित हो जाते हैं, उन्हीं

वेदों को सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्माजी के उत्पन्न होते ही केवल संकल्पमात्र से ही उनके हृदय में सञ्चार कर दिया। उनके निमेष के सोचने मात्र से ही कमलासन ब्रह्मा वेदविद् बन गये। समस्त वेदों के प्रकट करने वाले हो गये। तेज, जल, पृथिवी के विनिमय से कुछ का कुछ दिखायी देता है। माता का रज देखो तो रक्त वर्ण का प्रतीत होता है, वह गर्भ धारण से, स्नेह से, ममता के कारण स्तनों में आने से दुग्ध हो जाता है। स्वच्छ दिखाई देने लगता है। पृथक्-पृथक् भूत कुछ और ही रङ्ग रूपों में दीखते हैं वे ही शरीर के रूप में परिणित होने से कुछ के कुछ दिखायी देते हैं। बालू वैसे कुछ और दीखती है, उसी का काँच बन जाता है सूर्य की किरणों से संयोग हो जाता है, तो मिट्टी न दिखायी देकर जलसा प्रतीत होने लगता है। सूर्य की किरण पड़ने से कभी कभी दूरी तक बिछी बालू समुद्र के समान भरी हुई जलराशि प्रतीत होने लगती है। कभी स्थल में जल दिखायी देता है, कभी किसी के संयोग से या कला से जल में स्थल की भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार कभी उसमें यह जगत् सत् दिखायी देता है, कभी असत् भी प्रतीत होता है।

वह प्रभु का सत्य स्वरूप सदा स्वच्छ है, निर्मल है, परमपावनतम है, उसके ज्ञान स्वरूप तेज के सम्मुख असत् ठहर नहीं सकता, कपट चल नहीं सकता, छलकी दाल गल नहीं सकती, माया बाधा पहुँचा नहीं सकती, अविद्या फटक नहीं सकती, प्रकृति अपना जाल फैला नहीं सकती, उसी शुद्ध, सत्य सनातन स्वरूप का ध्यान करके हृदय को विशुद्ध बनाकर हम भागवत रचना कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

इस शास्त्र का विषय है भगवत् भक्ति। प्रयोजन है सत्पुरुषों को प्रभुपादपद्मों तक पहुँचाना। सम्बन्ध है प्रभु से सुदृढ़ सम्बन्ध

स्थापित कर लेना । इसके अधिकारी हैं मत्सर हीन सत्पुरुष । इसलिए परोपकार व्रत निरत सर्वभूत हितेरत सर्व सुहृद सर्वमंगलेच्छु भगवान वेद व्यास ने इस अलौकिक शास्त्र की रचना की । इसमें उन्होंने निष्काम, निर्मम, निष्कपट, सत्पुरुषों के निमित्त शुद्ध विशुद्ध धर्म का वर्णन किया । इस भागवत धर्म में लेन देन का भावना नहीं, वणिक वृत्ति के ऊपर आधारित नहीं है। इसमें लेने की भावना नहीं सर्वथा देने की ही भावना है जो कुछ हो अपना सर्वस्व प्रभु को देकर तुम निष्किंचन बन जाओ आगे कुछ याचना भी मत करो । इसम परम कल्याण कारी सभी पाप ताप संताप को मेटने वाली वास्तविक वस्तु है । कलि मल हारिणी मुनिमन हारिणी त्रिभुवन तारिणी तथा कल्याण कारिणी कमनीय कथायें हैं । भगवान् बादरायणने जोभीजानने योग्य विषय है सभी का सार इसमें भर दिया है । इसे सब सुन भी नहीं सकते । जिन्हों ने सहस्त्रों जन्म जन्मान्तरों में जप, तप, यज्ञयोग आदि उत्तम अनुष्ठान किए हैं वे परम भाग्यशाली सुकृति हैं इसे श्रद्धा सहित बारम्बार श्रवण कर सकते हैं किन्तु जिनके कर्ण कुहरों में यह कथा प्रविष्ट हो गयी, अन्तः करण तक किसी प्रकार पहुंचकर चली गयी तब तो उस लकीर के सहारे सहारे उसमें प्रभु निश्चय ही प्रवेश कर जाते हैं । प्रवेश करके वहाँ से तुरन्त ही लौट आते हों सो बात भी नहीं । वहाँ जाकर आसन जमाकर बैठ जाते हैं स्थिर हो जाते हैं । ऐसी भव्य भागवत जब समुपस्थित है, ऐसी अत्यद्भुत अमोघ अचूक औषधि जब मिल गई तब अन्य उपायों की आवश्यकता क्या ? जब पीयूषपाणि घर बैठे स्वतः ही आगये तो अन्य क्षुद्र वैद्यों का अन्वेषण क्यों किया जाय । अभी परम सुस्वादु रस का पान करो । बारम्बार भगवान् की करो उनकी प्रार्थना करो । भागवत का एकमात्र साधन " वपूभि विर्दिधन् नमस्ते ही है । हृदय से बार

नमो नमः, नमो नमः, वाणी से बारम्बार कहो हे विभो ! नमस्कार नमस्कार। शरीर से लंबेलेट जाओ। साष्टांग प्रणाम करके कहो ते नमः, ते नमः तुम्हें नमस्कार है, तुम्हें नमस्कार है।

छप्पय

व्यास महामुनि सकल शास्त्र रचि पुनि जिह गाई।
सत् पुरुषनि पथ विमल करन अवनी पै आई॥
जो सब जानन वस्तु मधुर रस घोर पिआई।
पीवत प्रभु हिय घुसें बसें संताप नसाई॥
बार-बार बन्दन करो, हिय तनु बानी तै सतत।
सब तजि हरि हिय महँ धरो, पढ़ो सुनो नित भागवत॥

कुन्ती कृत कृष्ण-स्तुति

(२)

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० ८ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

जनम परीक्षित् भयो अस्तुति कृष्णवचायो ।
पांडु सुतनि करि सुखी श्याम निजरथ सजवायो ॥
चलन द्वारका नाथ विराजे रथ पै आई ।
रथ ढिंग कुन्ती नयन नीर भरि विनय सुनाई ॥
हे अविनाशी, अज, अमित, आदि अनामय अगतिगति ।
करूँ नमन तव चरन महँ, हौं अबला अति अधमति ॥

हम दुखी इसी लिये होते हैं, कि भगवान् को सर्वरूप सर्वज्ञ सर्वव्यापी सर्वत्र नहीं मानते । यदि हमें चराचर में वे ही सर्वान्तर्यामी श्याम सुन्दर दिखायी देने लगें, तो फिर चिन्ता का दुःख

---

*भगवान् वासुदेव की स्तुति करती हुई कुन्ती जी कह रही हैं—"हे प्रभो ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ । आप प्रकृति से परे आदि पुरुष हैं । आप समस्त प्राणियों के भीतर तथा बाहर भी अलक्षित भाव से सदा अवस्थित रहते हैं ।

का, शोक का तथा खेद का,कोई कारण रह नहीं जाता। हम अनुकूल परिस्थितियों में तो प्रभु को भूल जाते हैं, और प्रतिकूल परिस्थितियों में रोने लगते हैं। जो लोग सुखरूप में भी श्याम सुंदर को देखते हैं और दुःख रूप में भी उसी का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। वे ही महापुरुष हैं, वे ही सच्चे भगवत् भक्त हैं। वास्तव में भगवत् साक्षात्कार तो दुःख में ही होता है, दुःख में उनकी अधिक अनुभूति होती है। तभी तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् घर की सभी सुविधाओं को संसारी सुखों को त्याग कर स्वतः असुविधाओं को सिर के ऊपर लाद कर निष्किंचन होकर वन वन भटकते रहते हैं। ऐसे ही असुविधाओं को दुःखों को अपनाने वाले व्यक्ति प्रातस्मरणीय बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिस समय भगवान् वासुदेव महाभारत युद्ध में पांडवों को विजयी बनाकर अपने निवास स्थान द्वारिका के लिये चलने को उद्यत हुए, तब अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्रों को आते देखा। द्रोणपुत्र इस पृथ्वी को पांडुवंश से विहीन बनाना चाहता था। इसीलिये ५ बाण तो पांडवों को मारने के लिये, और एक बाण उत्तरा के गर्भ को नष्ट करने के निमित्त छोड़ा। भक्त वत्सल भगवान् ने अपने सुदर्शनचक्र के प्रभाव से उन पाँचों को व्यर्थ बना दिया और उत्तरा के उदर में घुसकर उसके गर्भ की रक्षा की।

नियत समय पर उत्तरा ने एक पुत्ररत्न को प्रसव किया जिसका नाम विष्णुरात या परीक्षित् प्रसिद्ध हुआ। परीक्षित् का सकुशल जन्म हो जाने पर घर के लिये साधारण मनुष्यों की भाँति व्यग्रता दिखाते हुए भगवान् ने अपने सारथी दारुक को रथ तैयार करने की आज्ञा दी। सब सामान बाँधकर रथ को तैयार करके दारुक द्वार पर उपस्थित हुआ। सबसे मिलजुल

कर भगवान् वासुदेव द्वारका के लिये चलने को प्रस्तुत हुए। उसी समय द्रौपदी को साथ लिये हुए कुन्ती जी उस समय आकर भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत हुईं और उन्होंने अत्यंत ही मार्मिक शब्दों में भगवान् की स्तुति की। भारतीय सदाचार ऐसा है, कि स्त्रियाँ कभी भी अकेली बाहर नहीं निकलतीं। अपने भाई को पति को भृत्य सेवक को, पुत्र पुत्री को बहू को साथ लेकर कहीं जाती हैं। किसी से प्रत्यक्ष बातें भी नहीं करतीं, किसी को बीच में माध्यम बनाकर बातें करती हैं। कोई माध्यम बनाने को पुरुष न होगा तो बीच में एक तृण को ही रख लेंगी और उसी के माध्यम से बातें करेंगी। स्त्रियों का सबसे बड़ा भूषण लज्जा है। लज्जा रहती है आँखों में। अतः स्त्री जिसका अत्यधिक आदर करेगी, उसे देखकर लजा जायगी। अँचल से आँखों को-मुख को ढक लेंगी। जैसे हम पुरुष लोग किसी बड़े को आदरणीय व्यक्ति को देखते ही सहसा उठकर खड़े हो जाते हैं, उसके प्रति खड़े होकर उत्थान देकर आदर प्रकट करते हैं। भारतीय स्त्रियाँ अभ्युत्थान के द्वारा आदर नहीं जताती। वे लजाकर आँचल से मुख ढँककर या तनिक आँचल को नीचा करके आदर प्रकट करती हैं। वे पर पुरुष की तो बात ही क्या अपने सयाने पुत्र से भी खुलकर प्रत्यक्ष बातें नहीं करतीं। किसी को बीच में रखकर तब बातें करती हैं। ऐसी प्राचीन परम्परा है। वे अपने शील की लज्जा की पग-पग पर रक्षा करती हैं। कितनी भी बूढ़ी क्यों न हो जाँय वे अपने संकोची स्वभाव को तिलाञ्जलि नहीं देती।

इसीलिये अपने निजी महल के द्वार तक भी माँ कुन्ती अकेली नहीं आईं। श्रीकृष्ण उनके सगे भाई के पुत्र थे। भतीजे थे धर्मराज से भी छोटे थे उनके गोद के खिलाये थे, फिर भी वे

समर्थ थे उनके सम्मुख भी माँ अकेली नहीं गयीं, अपनी बहू को साथ लेकर ही गयीं।

अब प्रश्न यह उठता है, कि उनकी बहुएँ तो और भी बहुत सी थीं, द्रौपदी को ही साथ क्यों लिया सुभद्रा को लातीं या दूसरी और किसी को लातीं। सुभद्रा को लाना तो उपयुक्त था किन्तु सुभद्रा भी श्रीकृष्ण से बहुत लजाती थी। छोटी बहिन ही ठहरी। द्रौपदी कुछ ढाठ हो गया थी। भगवान् ने उसे बहिन मान लिया था। सगी बहिन में और मानी हुई बहिन में अन्तर होता है जैसे सगे भाई में और मित्र में अन्तर होता है। भाई यद्यपि सहोदर भाई ही है, किन्तु उससे उतनी खुल कर बातें नहीं की जा सकती, जितनी मित्र से खुल कर बातें होती हैं। भाई की अपेक्षा मित्र प्यारा भी लगता है। एक माता है, उसका सगा पुत्र है माता संकोच वश उससे खुल कर प्यार नहीं कर सकती। उसके सम्मुख अपने मातृत्व के उमड़ते हुए स्नेह को रख नहीं सकती। किन्तु किसी को पुत्र कह कर अपने सगे पुत्र के रूप में स्वीकार करलिया है, उसे जी भर के प्यार कर सकती है मातृत्व के प्रेम को उड़ेल सकती है, उसे वात्सल्य रस में डुबो सकती है, उसे प्रेम के रस में सराबोर कर सकती है। श्रीकृष्ण ने भी अपनी भगिनीप्रेम द्रौपदी के ऊपर उड़ेल दिया था। वह श्रीकृष्ण के सम्मुख कहनी अनकहनी सभी बातें कह सकती थी। भीतर से अत्यन्त स्नेह भरा रहने पर भी वह रोष में भरकर श्रीकृष्ण को खरी खोटी सब सुना सकती थी। इसी कारण जिसे जो काम श्रीकृष्ण से कराना होता, वह द्रौपदी के ही द्वारा कराता। भगवान् उनको क्रोध भरी बातों को कभी खिल-खिला कर हँस कर कभी मुसकुरा कर टाल देते, कभी मीठी झिड़की दे देते। इसके उत्तर में द्रौपदी भी उन्हें झिड़की देती, तब फिर श्यामसुन्दर हँस जाते। आज मानों माता कुन्ती अपनी शिफारिस के लिये ही द्रौपदी का साथ लेकर श्रीकृष्ण के सम्मुख उपस्थित हुई

जब हमें यह ज्ञात हो, कि अमुक व्यक्ति अमुक को बहुत मानता है, तो हम उसे साथ लेकर उसके पास जाते हैं, वह जाकर चाहे एक शब्द भी न कहे, किन्तु उसकी उपस्थिति का ही बहुत प्रभाव पड़ता है। मानों द्रौपदी को इसीलिये माता साथ ले गयी। श्रीकृष्ण के समीप जाकर महारानी कुन्ती ने जो स्तुति की है, उसका एक-एक शब्द अनमोल है। कुन्ती की भाँति मातायें उस स्तुति का नित्य पाठ करें तो श्रीकृष्ण उनके मनोरथों को अवश्य पूर्ण करेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है।

संसार में स्त्री के हृदय की व्यथा को कौन जान सकता है। एक स्त्री भी दूसरी स्त्री की व्यथा को नहीं जान सकती। यदि दूसरी स्त्री उसके पति से प्रेम करने वाली हुई तो उसके प्रति सौतिया डाह होगा। यदि स्त्री बाँझ हुई तो वह पुत्रवती की पीड़ा को समझ ही क्या सकती है, यदि वह समृद्ध कुल की हुई, तो उसे दारिद्र दुख का अनुभव ही न होगा। यदि वह निर्धन हुई तो समझ भी नहीं सकती। धनी परिवार की उत्तम कुल की प्रतिष्ठितवंश की स्त्री को कितनी मानसिक पीड़ायें होती हैं। इसलिये स्त्री की विपत्ति को स्वयं वही समझ सकती है या उसका सहृदय पति भी उसका साझेदार हो सकता है। स्त्री उतना कुल पर गर्व नहीं करती, धन का, रूप का, वस्त्र आभूषणों का, संसारी भोगों की प्रचुरता का भी उसे उतना गर्व नहीं होता जितना अपने मनोनुकूल पति का उसे गर्व होता है। यदि स्त्री को उसके मनोनुरूप पति मिल जाय, तो वह सभी अवस्थाओं में अपने को सुखी समझती है। स्त्री और लता किसी का सहारा चाहती हैं, वे निराधार शोभा नहीं देती। अपने पति का सहारा पाकर वे प्रफुल्लित हो जाती हैं। अपने को सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य शालिनी समझने लगती हैं। स्त्रियों का एक आधार पति ही है। जिस स्त्री का पति मर जाय, उसकी संसार में कितनी

दुर्दशा होती है, उसे विधवा बने बिना कोई अनुभव कर नहीं सकती। पति के बिना उसका रूप, रंग, आकृति, प्रकृति, वेषभूषा, कान्ति, तेज उत्साह, शोभा आदि सभी नष्ट हो जाते हैं। कलतक जो लोग अत्यन्त ही प्रेम से भाभी जी, चाची जी, बहू जी, बहिन जी करके पुकारते थे। वे देखते ही आँखें फेर लेते हैं। कोई बात तक नहीं करता। जो पहिले उपहार देने का सदा लालायित रहते थे आज माँगने पर उनसे फूटी कौड़ी भी नहीं मिलता। विधवा स्त्री का पतिविहीना नारी का जीवन कोई जीवन नहीं, वह तो किसी प्रकार अपने मृत्यु के दिनों को पूरा करती है।

यदि उस विधवा के छोटे-छोटे बच्चे भी हों तब तो आपत्ति विपत्तियों का पहाड़ ही टूट पड़ता है। अपने बच्चे के प्रति माता की कितनी ममता होती है। इसकी न कोई उपमा है न समझाने के लिये कोई दृष्टान्त है। कुछ-कुछ उस दुख का सादृश्य ऐसा है जैसे कोई किसी के वक्षःस्थल को चीर कर उसके हृदय को निकाल ले और फिर उसमें छोटी छोटी-सुइयों को उसकी आँखों के सम्मुख निरंतर चुभोता रहे; वैसी ही कुछ पीड़ा माँ को अपने बच्चों को भूख प्यास से बिलबिलाते देख कर होती है। बहुत सी मातायें तो अपनी संतानों के इन दुखों को न सह सकने के कारण मर जाती हैं। बहुत सी निन्द्य से निन्द्य कार्य करने को उद्यत हो जाती है। यहाँ तक अपने सतीत्व को भी बेच देती हैं। भीख जैसे अत्यंत निन्दित घृणित काय का भी करने लगती हैं। भगवान् ने स्त्री के हृदय में ममता का सागर ही भर दिया है।

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् की आप पर बड़ी दया है जो आप घर गृहस्थी के झंझटों से दूर रह कर निरंतर भगवान् की कथा तथा कीर्तन में लगे रहते हैं। नहीं तो भगवन्! यह गार्हस्थ जीवन तो आपत्ति विपत्तियों का घर ही है। मुनियो। आप उस स्त्री के दुःख की कल्पना करें जो एक राजा के घर

में उत्पन्न हुई हो, राजमहल में पली हो। जिसने खुली भूमि का स्पर्शन किया हो। सहस्रों दासदासियों राजारानी के अनन्त प्यार को जिसने पाया हो। जो रूप की खानि हो सुंदरता की साकार प्रतिमा हो। दूसरे चक्रवर्ती शूर वीर राजा से जिसका विवाह हुआ हो। राजरानी बनकर जिसने लाखों करोड़ों पर आज्ञा चलायी हो, सब पर जिसने शासन किया हो। स्वर्गीय देवताओं के साथ जिसका समागम हुआ हो। जिसके शूर वीर, सुंदर तेजस्वी, देवताओं के समान पुत्र हों, फिर वह घर के लोगों द्वारा निकाल दी जाय, भोजन का ठिकाना नहीं, रहने को कोई झोपड़ी नहीं, पहिनने को वस्त्र नहीं। भीख के अन्न पर जिसे पुत्रों सहित निर्वाह करना पड़े। सूर्य की किरणों ने भी कभी स्वेच्छा से जिसे देखा न हो आज वह वैशाख ज्येष्ठ की धूप में संतप्त बालुका में पैदल ही चल रही हो, भूख की ज्वाला जिसके अंदर जल रही हो, प्यास के कारण जो विकल बनी हो, पीने को पानी न हो, पैर छालों से छलनी बने हों, वह पुत्रों सहित विधवा राजरानी अपने समय को कैसे बिताती होगी जब उसे कहीं से किसी का भी कोई अधार न हो। साथ ही जिसे पगपग पर पुत्रों के प्राणों का भय व्याप्त हो रहा हो। ऐसे समय में उसे एकमात्र भगवान् का ही सहारा था। भगवान् के ही सहारे उसने अपनी सम्पूर्ण विपत्ति के दुर्गम पहाड़ को धैर्य के साथ पार कर लिये। पार पहुँच कर उसे अपने भगवान् के सहारे खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त हो गया। बच्चों का विवाह हो गया, उनके भी पुत्र हो गये पौत्र का भी पुत्र हो गया। भगवान् ने उसके दुःख को दूरकर दिया और वही उसका दुखहारी भगवान उसके सम्मुख हँसता हुआ बैठा है। आज उसके हृदय का सुदृढ़ बाँध कृतज्ञता के आधिक्य से फूट पड़ा। आज वह भगवान् के सम्मुख रो रही है। पुनः हाथ जोड़कर आँसू बहाते हुए विपत्ति की भीख माँग

रही है। इस लिये कि कहीं सम्पत्ति के मोह में मैं उन भय हारी, विपत्ति विदारी वासुदेव को भूल न जाऊँ। जो सम्पत्ति हमें भगवान् की ओर से पराङ्मुख करके संसारी भोगों में फँसा दे तो उस सम्पत्ति से तो विपत्ति लाख गुनी अच्छी है। सम्पत्ति और विपत्ति में समान रूप से हमारा मन भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में लगा रहे। इसीलिये कुन्ती कह रही है—हे वासुदेव मैं आपको नमस्कार करती हूँ।

बुआ होकर नमस्कार क्यों करती हो जी ?

अजी, श्यामसुन्दर ! तुम बुआ भतीजे के सम्बन्ध से परे हो, तुम न किसी के पुत्र हो न पिता। तुम तो 'पुरुष' हो।

पुरुष का अर्थ तो होता है, मनुष्य। भिन्न-भिन्न दार्शनिक 'पुरुष'का अर्थ भिन्न भिन्न करते हैं, किन्हीं के अर्थ में पुरुष अकर्ता होता है, कोई जीवन को ही पुरुष मानते हैं, तुम्हारा अभिप्राय किस पुरुष से है ?

अजी, पुरुष तो सभी को दिखाई देते हो तुम तो आदि पुरुष हो।

आदि पुरुष तो ब्रह्मा है, क्या मुझे चार मुँह वाला ब्रह्मा कहती हो, मेरे तो एक ही मुख है ?

नहीं, भगवन् ! ब्रह्मा तो उत्पन्न होते हैं, सर्ग के आदि में उनका अन्त भी है, किन्तु आप तो आदि अन्त से रहित सर्व समर्थ ईश्वर हैं। सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाले हो।

सम्पूर्ण जगत् को तो प्रकृति बनाती है, जीवभूता प्रकृति ही सम्पूर्ण जगत का कारण है। नहीं, वासुदेव ! आप जीवभूता प्रकृति नहीं हैं, किन्तु प्रकृति से भी परे हैं।

प्रकृति का तो कार्य दिखायी देता है, किन्तु जो प्रकृति से परे

है, उसका तो कोई कार्य दिखाई ही नहीं देता।

इसलिये तो हे मदन मोहन! आप को वेद शास्त्र अलख, अगोचर कहते हैं। आप! इन्द्रियों द्वारा लक्ष्य नहीं बनाये जा सकते।

जो गोचर नहीं, दिखाई नहीं देता वह है ही इसमें क्या प्रमाण? फिर तो वह होगा ही नहीं?

सो बात नहीं, सर्वेश्वर! आप समस्त चर और अचर प्राणियों के भीतर भी अवस्थित हैं और बाहर भी अवस्थित हैं, सबका अस्तित्व आप की सत्ता से ही है। आप की जहाँ सत्ता नहीं,उसका अस्तित्व नहीं। आप ही सर्वालम्ब हैं।

जो सब में भीतर बाहर व्याप्त है, उसका रूप दिखाई क्यों नहीं देता।

दिखायी देत क्यों नहीं माधव! आपने अपने और जीवों के बीच में एकसूक्ष्म सी प्रकृति की यवनिका डाल रखी है। लज्जावती बहू की भाँति प्रकृति परदे के भीतर बैठे हो। पर्दे के भीतर रहने वाले का अस्तित्व तो प्रतीत होता है, किन्तु दिखायी नहीं देता।

जिसका अस्तित्व है, वह दीखता क्यों नहीं?

जिसका अस्तित्व हो वह दिखायी ही दे ऐसी बात तो नहीं हड्डियाँ हमारे शरीर में हैं, उनके ऊपर चर्म मढ़ा हुआ है। वे दिखायी नहीं देतीं। किन्तु एक यन्त्र होता है, जो सम्पूर्ण हड्डियों के चित्र खींच लेता है। साधारण यन्त्र ऊपर के ही शरीर का चित्र उतारने में समर्थ हैं, किन्तु सूक्ष्माति सूक्ष्म यन्त्र भीतर की हड्डियों को भी देखकर उनका चित्र प्रस्तुत कर देता है। इसी प्रकार मेरे समान जो अज्ञ हैं वे तो इन्द्रियों से तुम्हें देख नहीं सकते, क्योंकि अज्ञ नाम इन्द्रियों का है इन्द्रिय जन्य-अज्ञज्ञान को अपने अधः-

नीचे कर दिया है। इसीलिये आपको अधोक्षज कहते हैं। तब आपको ये साधारण इन्द्रियों वाले अज्ञानी पुरुष कैसे देख सकते हैं। सब वस्तुओं का अस्तित्व आपके ही अस्तित्व के कारण है। इसीलिये अनुमान कर सकते हैं, कि आप हैं। जैसे किसी भवन में कपूर रखा है। वह हमें दीखता नहीं, किन्तु उसकी सुगन्धि से अनुमान कर लेते हैं, यहाँ अवश्य कपूर होगा।"

कपूर का अनुमान तभी तक कर सकते हैं, जब तक उसका कहीं छिपा अस्तित्व रहे। कभी न कभी तो वह समाप्त हो जायगा, उसका व्यय हो जायगा, फिर उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता ?

कपूर आदि के सम्बन्ध में ऐसा कहा भी जा सकता है, क्योंकि वह व्यय शील है। व्यय होते-होते एक दिन उसकी समाप्ति संभव है, किन्तु आपतो अव्यय हो, हे मेरे अच्युत ! अतः आपकी कभी समाप्ति नहीं। आप कृष्ण के उस धन के समान हो, जो कभी व्यय नहीं किया जाता। या उस अक्षय भंडार के समान हैं, जिसमें से कितना भी व्यय किया जाय, वह सदा सर्वदा ज्यों का त्यों ही बना रहता है।

जिसका अस्तित्व है, जो सबका कारण है, जो सबके बाहर भीतर सदा सर्वदा अवस्थित रहता है, जिसका कभी व्यय नहीं होता वह दिखायी तो देना ही चाहिये। आँखों के सामने रहने पर दीखता क्यों नहीं ?

किसी वस्तु का अस्तित्व तो है, किन्तु वह बहुत दूर है, रहते हुए भी हमें दिखायी नहीं देता। जैसे गंगा पार भरद्वाज मुनि का आश्रम है, उसके अस्तित्व में कोई संदेह नहीं, किन्तु दूर के कारण हमें नहीं दीखता। कोई दूरवीक्षण यन्त्र से देख सकता है। अति समीप की वस्तु भी नहीं दिखायी देती। आँख सभी वस्तुओं

को देखती है. किन्तु आँख में तिनका पड़ जाय तो वह स्वतः दिखायी न देगा, आँख मे लगाकर काजर अपनी आँखों को दिखायी नहीं देता। व्यवधान के कारण भी दिखायी नहीं देता। भीत के पीछे दूसरे घर में कौन है, हमे नहीं दीखता, पार दर्शक यन्त्र से उसे देख सकते हैं। मन की अनवस्था के कारण भी वस्तु रहते हुए दिखाई नहीं देती। हमारा मन दूसरे विषय में व्यग्र है, तो वस्तु दिखाई नहीं देती। किसी वृक्ष से गिरने से, विक्षित हो जाने से या अन्य किसी मानसिक रोग से मन को आघात पहुँचा है, तो नेत्र देख नहीं सकते, क्योंकि इन्द्रियाँ मन के ही द्वारा देख सुन सकती हैं।

हे सर्वतोमुख! इसी प्रकार अविवेकमयी दृष्टि वाले तुम्हें देखकर भी पहिचान नहीं सकते, जो विवेक दृष्टि वाले हैं वे तो पहिचान ही लेते हैं। जैसे कोई नाटक करने वाला नट है, सर्व साधारण लोगों ने उसे कई बार देखा है, फिर भी जब वह वेष बदल कर छत्र चँवर, किरीट मुकुटलगा कर आ जाता है, तो साधारण बुद्धि वाले उसे राजा ही मान बैठते हैं। जो विवेकी हैं, वे तो समझ लेते हैं, यह बहुरूपिया नट है। इसने अपना यथार्थ रूप छिपा रखा है। सो श्याम. सुन्दर तुम! बहुरूपिया हो, अपने को छुपाकर वासुदेव के पुत्र बन गये हो। जब मायावी नट के छिपाये रूप को ही कोई नहीं पहिचान सकता, तो तुम तो महा मायावी हो, नटनागर तथा नटवर हो, जब तुम स्वयं छिपना चाहते हो, तो कोई अबला चित्त वाले भले ही पहिचान लें। मैं अबला अज्ञानारी कम बुद्धि वाली स्त्री आपको कैसे जान सकती हूँ। आप मन से ही,संकल्प से ही, संपूर्ण सृष्टि को कर सकते हैं।

जब संकल्प से ही सब कुछ कर सकते हैं, तो मैं तो वसुदेव

जी के यहाँ धरा धाम पर अवतीर्ण हुआ हूँ, मेरे अवतीर्ण होने का क्या प्रयोजन ?

नाथ ! आप संसार की सृष्टि, स्थिति तथा लय के निमित्त थोड़े ही उत्पन्न होते हैं। ये काम तो आपके संकल्प मात्र से स्वतः ही हो जाते हैं, इन्हें तो आपके अंशभूत ब्रह्मा, विष्णु महेश करते ही रहते हैं। आप तो अवनि पर केवल अमल विमल बुद्धि वाले परम हंस मुनियों के हृदय में भक्ति योग की स्थापना करने के निमित्त अवतीर्ण होते हैं, रस की धारा बहाने आते हैं, प्रेम का पन्थ दिखाने आते हैं, अनुराग मार्ग का दिग्दर्शन कराने आते हैं। प्रेम, अनुराग, भक्ति की शिक्षा आपके बिना जगत् के अधिकारी पद पर आरूढ़ दूसरा व्यक्ति नहीं दे सकता। अतः आपके अवतार का एक मात्र उद्देश्य भक्तों को सुख देना है, भक्ति का प्रचार प्रसार मात्र करना है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! कुन्ती जी का एक एक बोल अनमोल है, एक-एक शब्द कल्पद्रुम के सदृश है। भगवान् के नामों के जो विशेषण उन्होंने दिये हैं, उनमें सभी दार्शनिक सिद्धान्त निहित हैं। उनकी विस्तृत व्याख्या करूँ, तो एक ही शब्द में पोथे के पोथे बन जायँ, अतः मैं विस्तार में न जाकर इसका वर्णन संक्षेप में ही करूँगा। अब तक मैंने पुरुष, अनादि, ईश्वर, प्रकृति से परे, अलक्ष्य, सब के भीतर बाहर रहने वाले, माया जवनिका से आच्छन्न, अधोक्षज, अव्यय, और नटवर इन नामों की व्याख्या की। अब आप कृष्ण, वासुदेव, देवकी नंदन,

नन्दगोपकुमार, गोविन्द, पंकजमाली, पंकजनयन, तथा पंकजचरण इन नामों के सम्बन्ध में सुनें।

छप्पय

भीतर बाहर बसहु चराचर भूतनि माहीं।
अन्तरपट नट डारि छिपै हो दीसत नाहीं॥
अलख अगोचर अज अलगत नहीं निहारें।
भक्त भक्ति सुख हेतु अवनि पै आपु पधारें॥
अमल विमल मति महा मुनि, प्रभु पदु पदुमनि प्रेम करि।
तरैं, किन्तु भव जलधि कूँ, हम अबला कस जायँ तरि॥

कुन्ती-स्तुति (२)

(३)

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमोनमः ॥*

(श्री भा० १ स्क० ८ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

कृष्णचन्द्र वसुदेव-तनय हे देवकिनन्दन।
हे गोविन्द गोपाल-नन्दनन्दन जगवन्दन ॥
पद्मनाभ पद्माभ पदममाला उरधारी।
पद्मापति पदपदुम पदुम-मुख-पदम बिहारी ॥
वदन, नयन, कर, उर, चरन, आभा लखि सकुचत पदम।
बार बार वन्दन करहुँ, अमल सरस वर पद-परम ॥

हे कृष्ण ! तुम जान में अनजान में प्राणियों को अपनी ओर आकर्षित करते रहते हो। वस्तुओं में जो आकर्षण शक्ति है। वह तुम्हारा ही अंश है। तुम इतने ढीठ हो, कि हठ पूर्वक सब को अपनी ओर खींच लेते हो. तुम्हें जिसने एक बार देख लिया, पेख लिया, अवलोक लिया, निहार लिया, लख लिया, तुम्हारी झलक जिसकी दृष्टि पथ पर स्वभाव से भी पड़ गयी, तुम्हारी बाँकी झाँकी जिसने प्रसंगवश भी पा ली, वह तुम्हारी ओर आकर्षित हो गया, खिच गया, तुम्हारा हो गया, वह

---

* श्री कृष्ण के लिये वासुदेव के लिये, देवकीनन्दन के लिये, गोपराज नन्द कुमार के लिये और गोविन्द के लिये बारम्बार नमस्कार है,नमस्कार है।

अपना सर्वस्व तुम्हारे ऊपर न्योछावर कर देता है, मुझे भी तुमने अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। इसीलिये मैं लोक-लाज, कुल परम्परा की मर्यादा को छोड़कर तुम्हारे सम्मुख-सब के सामने उपस्थित हुई हूँ। तुम्हारे अनुरूप देने को मेरे पास कुछ भी नहीं है, अतः मैं तुम्हें दोनों हाथ जोड़कर मस्तक को भूमि में टेक कर नमस्कार ही करती हूँ।

हम स्त्रियाँ वेदाध्ययनादि से वञ्चित रहती हैं। हम तो एक मात्र आपका नाम जप कर आपको नमस्कार करके ही तर सकती हैं, क्योंकि आप मोह पटल को विदारण कर सकते हैं, मोह ममता को अन्धकार तम को मिटाने में नष्ट करने में आप समर्थ हैं। इसीलिये तुम्हें मैं नमस्कार करती हूँ। आप रंग के काले हो, साथ ही अत्यन्त सुन्दर हो, शरद कालीन विकसित नीलोत्पल की आभा वाले अति रमणीय हो, इससे भी कृष्ण कहलाते हो। आप अपनी चलन से चितवन से, उठन से, बैठन से, लटकन से, मटकन से, रास से, विलास से, हास से दर्शन से, स्पर्श से, आलिंगन से, चुम्बन परिरंभण से, वाणी से, व्यवहार से मुकुट से, कुन्डलों से, वनमाल मुक्तामाल, हार, कंठा आदि कंठ आभूषणों से, बाजूबन्द, करधनी, नूपुर आदि से, मुरली से, लकुट से, पीताम्बर से यहाँ तक कि अपनी समस्त वस्तुओं से, समस्त व्यवहारों से सभी प्रकार से सबको अपनी ओर आकर्षित करते हो। अतः हे कृष्णचन्द्र ! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ।

हे कृष्ण ! लोग तुम्हें वासुदेव कहते हैं अर्थात् मेरे भाई वसुदेव के सुत। जब कोई तुमसे तुम्हारा नाम पूछता है तो तुम भी कह देते हो, मेरा नाम वासुदेव है। आप तो स्वयं ही सब को अपनी ओर खींच लेते हो, फिर तुम कैसे खिंच गये।

तुम वसुदेव के पुत्र कैसे बन गये ? इससे प्रतीत होता है, कि प्रेमाधिक्य से तुम भी खिंच जाते हो, प्रेम पास में तुम भी बँध जाते हो, जगत् पिता होकर तुम भी प्रेम वश पुत्र बन जाते हो। तभी तो तुम यदुवंश में आकर अवतीर्ण हो गये। और वासुदेव नाम से प्रसिद्ध हुए हो। आप सब के बाह्य और अभ्यान्तर में वास करते हो, इससे वासुदेव कहते होगे। अथवा आपकी सुवास से यह विश्व व्याप्त है, आप की वासना त्रिभुवन में फैली हुई है, इससे वासुदेव कहाते होगे। या इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को आच्छादन करके प्रकाशित होते होंगे इससे वासुदेव के नाम से प्रसिद्ध होंगे, अथवा बलपूर्वक आप सदा दैत्यों का असुरों का निरसन करते रहते हैं, उन्हें पछाड़ते रहते हैं, इससे वासुदेव कहलाते होंगे। अथवा भक्तों को सुप्रकाशित करने वाले एक मात्र आप ही धन होने से वासुदेव कहलाते होंगे। जो भी हो मैं तो अपने भाई वसुदेव को ही बड़भागी समझती हूँ, जिनके प्रेम के कारण आप वासुदेव कहाये। उनके मन में समाये। ऐसे श्यामसुन्दर आपको बारम्बार नमस्कार है।

हे वासुदेव ! भाई से भी भाग्यशालिनी मेरी भाभी देवकी है, भाई ने तो आपको मन में ही धारण किया था। किन्तु भाभी ने तो आपको गर्भ में ही धारण कर लिया। सम्पूर्ण विश्व जिसके उदर में है, उसे भाभी ने अपने उदर में धारण किया, उसे आनन्दित किया, इसलिये आप देवकीनन्दन कहलाये। अथवा देवकी लक्ष्मी का भी नाम है, उसे आनन्दित करने के कारण आप देवकीनन्दन कहलाते होंगे। अथवा दिव्य गुण वाली वृत्तियों से आप आनन्दित होते होंगे, किन्तु मैं तो तुम सम्बन्ध रहित से सम्बन्ध ही जोड़ना चाहती हूँ। अतः देवकी

भाभी के ही भाग्य की सराहना करती हुई तुम्हारी वन्दना करती हूँ।

हे देवकीनन्दन ! भाई-भाई से भी बढ़ कर व्रजवासी नन्द जी, सम्पूर्ण गोप तथा गोपी प्रेम में अधिक हैं। वसुदेव जी के तो आप मन में ही आये, देवकी जी के केवल नौ महीने गर्भ में रहे, किन्तु उन गोप गोपियों के बीच तो आप ग्यारह वर्ष तक रहे। उनके तो आप कुमार ही बन गये। जैसे शरीर में कुष्ठ रोग सबसे भयंकर ऐसे ही मन में यह काम रोग बड़ा प्रबल और भयंकर है। इन्द्रियों के स्वामी इस मन का स्वभाव है आनन्दित रहना प्रसन्न रहना, निर्द्वंद रहना, किन्तु जब से इसे यह कुत्सित काम रोग लग गया है, तब से यह निरानन्द बन गया है, चिन्तित हो गया है। उस कुष्ठ काम को आप मार देते हैं, इसी से आप नन्द गोप कुमार कहलाते हैं। इसलिये हे नन्दनन्दन। आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

गोप गोपियों से से बढ़कर भाग्यशालिनी तो गौएँ हैं, जिन्हें आप चराते चराते वन वन घूमते रहे। कंटकाविद्ध अवनी पर नंगे चरणों से ही उनके पीछे पीछे फिरते रहे। गोष्ठ में ही सोते थे, गौओं में ही रहते थे। चराचर जीव आपकी सदा सेवा के लिये लालायित रहते हैं, किन्तु आप स्वयं गौओं की सेवा करते थे। गौओं की रक्षा के लिये ही आपने सात दिनों तक गोवर्धन पर्वत को धारण किया। तभी आपको 'गोविन्द' की उपाधि मिली। गोविन्द पद पर अभिषेक हुआ। अभिषेक तो युगल का होता है। महाराणी के साथ अभिषिक्त मंत्रों का जल छिड़का जाता है। उस व्रज मंडल की एक मात्र अधीश्वरी, नित्य सीमन्तिनी तो वृषभानु नन्दिनी हैं। उनके साथ आपका गोविन्दाभिषेक हुआ। और वहीं मानों आपने समस्त ब्रह्मादि

देवताओं के साथ प्रतिज्ञा की कि पल भर भी मैं अपनी सीमन्तिनी से पृथक् न रहूँगा। सदा वृन्दावन बिहारी बन कर विहार करता रहूँगा। जिनके प्रेम के वशीभूत होकर व्रज तज कर एक क्षण का भी कहीं नहीं जाते उन वृन्दावन बिहारी, गोपवेषधारी वनमाली गोविन्द के चरणों को मैं बार बार वन्दना करती हूँ।

हे गोपीजन वल्लभ! आप अपने भक्तों के लिये वांछाकल्प तरु हैं, तुम्हारे भावुक भक्त नेत्रों के रोगी होते हैं, उन्हें सुन्दरता निरखने का पीलिया होता है। वे सुन्दर ही देखना चाहते हैं जैसे पीलिया कमला रोग का रोगी सर्वत्र एक ही रंग देखता है इसी प्रकार भक्त गण आपके अंग-प्रत्यंग में अणु-अणु में रोम-रोम में सुन्दरता निहारना चाहते हैं। संसार में सबसे सुन्दर पंकज होता है। यद्यपि इसका जन्म कीच से-सड़ीवस्तु से-है, फिर भी इसमें कुछ गत दोष नहीं आये। कीच में दुर्गंध होती है, इस में सुगंध है, कीच असुन्दर होती है, यह सुन्दर है, कीच शरीर में चिपकने पर दुख देती है, इसके स्पर्श से सुख होता है। कीच को देखने से मन में अरुचि होती है, इसके दर्शन से प्रसन्नता होती है। लक्ष्मीवान् पुरुष को प्रायः अभिमान होता है, तनिक सी भी श्री की झलक आने पर मनुष्य मद में मतवाला हो जाता है। किन्तु पंकज में तो चंचलालक्ष्मी सदा सर्वदा निवास ही करती हैं। फिर भी उसे अभिमान नहीं मद नहीं। चाहें जो उसके पास चला जाय चाहे जो जाकर तोड़ लावे। मछलियाँ उसे हिलाती रहती हैं, कभी क्रोध नहीं करता। दानी ऐसा कि सब के लिये इसका द्वार खुला रहता है। जो चाहे सुगन्ध ले, परागले मधुले, फूलले फलले, इसकी ओर से किसी को रोक टोक नहीं विषय भोग की सामग्री सम्मुख आते ही बड़े-बड़े ज्ञानियों का

मन भी विचलित हो उठता है, किन्तु यह सदा सर्वदा जल में रहते हुए भी उससे निर्लेप बना रहता है। प्रकाश को देखते ही खिल जाता है, तम को देखते ही सिकुड़ जाता है। इन्हीं सब गुणों से रीझ कर इसे सर्व रंग, सर्वसौन्दर्य, सम्पूर्ण शोभा प्रदान की गयी है। भक्त चाहते हैं हमारे भगवान् कमल नयन हों,कमल नाम हो, कमल की माला धारण करने वाले हों, कमल के सदृश, कर चरण हों कमला के पति हों। इसीलिये आप कमलाकान्त बन गये हैं, भक्तों के नयनों को तृप्त करने के निमित्त आपने कमल की सी कमनीयता स्वीकार कर ली है।

आप इस जगत् के एक मात्र कारण हैं। आपने सोचा—"जगत् की सृष्टि भी करें तो कमल से ही करें। जिससे कमल के समान कोमल सृष्टि सभी को सुखकारी हो। सभी इसे देखकर प्रसन्न हों। अतः आपने अपने नाभि कमल से ही कमलासन ब्रह्मा की उत्पत्ति की। जिन्होंने सृष्टि का विस्तार किया, इसीलिये आपका नाम कमल हुआ। हे समस्त सृष्टि के एक मात्र कारण कमलाकन्त! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप पद्मासन ब्रह्मा के भी जनक हैं सर्व श्रेष्ठ हैं।

हे पद्मनाभ! कमल वासिनी कमला अपने पिता सागर की गोद से उठकर हाथ में कमल की जय माला लेकर जब वर खोजने चली, तो सम्पूर्ण संसार में अपने अनुरूप सुन्दर कोई मिला ही नहीं। कमल वन में वास करने वाली बाला का दुलहा भी कोई सर्वश्रेष्ठ सुन्दर चाहिये, जिसके कंठ में कमल माला पहिनाकर सदा के लिये उसकी दासी बन जाय। अपने अनुरूप वर न पाकर कमला क्लान्त हो गयी, सहसा आपने अपने कमल नयन की कोर से कमला की ओर किंचित कटाक्ष किया, तुरन्त उसने कमल माला आपके कण्ठ में पहिना दी। वह अम्लान

कमल माला प्रिया का प्रेम चिन्ह समझकर आपने कभी उतारी ही नहीं, उसी दिन से आपको सब पंकज माली कहने लगे। हे रमारमण ! आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे पंकज माली ! आपके नयन भी कमल के समान सुन्दर तथा सदा प्रफुल्लित रहते हैं, जैसे कमल से मधु निकलता है और उसका पान भ्रमर करते हैं, उसी प्रकार आपके नेत्रों में कृपा रूपी रस सदा छलकता रहता है, इससे भक्त सदा परितृप्त रहते हैं। आप जिसकी ओर जिस भाव से देख दें दृष्टि डाल दें तत् क्षण वही हो जाय, आप सर्वज्ञ सर्व समर्थ दृष्टि से सृष्टि करने वाले हैं। हे नीरज नयनों वाले, हे अमृत रस वर्षिणी दृष्टि वाले ! श्याम सुन्दर मेरा प्रणाम स्वीकार करें।

हे कमल नयन ! आप के चरण कमल इस भव सागर के पार करने को पोत के समान हैं। नौका या पोता का आश्रय लेने वाले तो कभी कभी झंझावात में पड़कर डूब जाते हैं, किन्तु जिन्होंने आपके चरणारविन्दों का आश्रय ले लिया है, वे कभी डूब ही नहीं सकते क्योंकि कितना भी ज्वार भाटा आवे कमल पानी में डूबता ही नहीं। अतः आपने दो कमल चरण प्रकटित करके जगत् को दिखा दिया है कि तुम चाहे दायीं ओर से आओ या बायीं ओर से। आ जाओ मेरे चरण कमलों के आश्रय में फिर संसार सागर पार होने में संदेह नहीं रह जाता। समस्त संशया, भय, शोक, मोह आदि का नाश हो जाता है अतः हे कमल नयन ! हे वनमाली ! आप के चरण कमलों में पुनः प्रणाम करती हूँ।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो। माँ कुन्ती ने इस प्रकार भगवान् के नामों को स्मरण करके नमस्कार की अब भगवान् की

लीलाओं को स्मरण करके-उनकी कृपाओं को याद कर करके जैसे प्रणाम करेंगी, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

देव ! देवकिहि दयो दुःख निज कंस बन्धु ज्यों।
दुरजोधन सुत सहित दयो मोकूं हरि दुख त्यों ॥
माता तैहूं अधिक दया मोपै दरसाई।
विपति वारि ते बार-बार बनवारि बचाई ॥
मेरी तो हे कृपानिधि, सुतनि सहित विपदा हरी।
बचि न सके सुत देवकी, रक्षा प्राननि की करी ॥

कुन्ती स्तुति (३)

(४)

यथा हृषीकेश खलेन देवकी,
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।
विमोचिताहं च सहात्मजाविभो,
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥*

(श्री भा० १स्क० ८ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

मोदक गरल मिलाय भीमकूँ खवनि खवाये ।
कृपा कृपानिधि करी सुधा दै प्रान बचाये ॥
हमहिँ जरावन हेतु लाख को घर बनवायो ।
खुल्यो खलनि षडयन्त्र, कपट कछु काम न आयो ॥
मग महँ मिल्यो हिडम्ब खल, बचे तासु निरभय भये ।
कृष्णा करी विवस्त्र जब, कृष्ण वसन तुम बनि गये ॥

जीव के साथ भगवान् के कितने अनन्त उपकार हैं, उन्हें जीव

---

* स्तुति करती हुई कुन्ती जी कह रही हैं—"हे हृषीकेश ! दुष्ट कंस ने आपकी माता देवकी को बन्दी गृह में रोक रखा था, आपने जिस प्रकार चिरकाल तक शोक मग्न हुई अपनी माता की रक्षा की थी, उसी प्रकार हे विभो ! पुत्रों के सहित आप अनाथों के नाथ ने मेरी भी विपत्तियों से बारम्बार रक्षा की है ।"

भूल जाता है। माता कुन्ती कह रही हैं—'हे ऋषीकेश ! आपके उपकारों को कहाँ तक कहूँ । एक दो उपकार हों तो उनकी गणना भी की जा सकती है, किन्तु आप तो पग-पग पर क्षण-क्षण में निरन्तर उपकार करते ही रहते हैं जीवों पर कृपा की वृष्टि अनवरत भाव से बरसाते ही रहते हैं। मेरे ऊपर आप ने इतनी अधिक कृपा की है, जितनी अपनी जननी देवकी के ऊपर भी नहीं की। मेरे ऊपर माता से भी अधिक ममता दरसायी है।

देखिये, देवकी जी के पिता तथा दूसरेभाई तो तथा परिवार वाले तो सब उसके पक्ष में थे, केवल उसका भाई दुष्ट कंस ही उसके विरुद्ध था। इधर हमारे तो सभी कौरव विरुद्ध थे। जैसे कंस देवकी को मारना चाहता था, वैसे ही कौरव हमें भी मारना चाहते थे। देवकी की रक्षा तो एक बार भैया वसुदेव ने की। उन्होंने कंस के हाथ से बचा लिया। किन्तु हे कृपा सागर ! मेरी तो केवल आप ने ही रक्षा की। आप के अतिरिक्त किसी ने मुझे नहीं बचाया, किसी ने सहानुभूति के दो अक्षर नहीं कहे। अतः मेरे तो आपही सर्वस्व हो। मुझे दुख देने वाले अधिक थे, मेरी विपत्तियाँ भी बहुत थीं, किन्तु आपने सभी से मुझे सरलता पूर्वक उबार लिया।

देखिये, कंस ने भाई भाभी को कारावास में बन्दी बनाकर डाल दिया था, वह चाहता था देवकी मर जाय उसने कारागार में बहुत दुःख सहे। हमें भी दुष्ट दुर्योधन वारणावत के लाक्षागृह में रोक रखा था। भीतर से तो हमें वह मारना ही चाहता था, किन्तु उसने प्रत्यक्ष हमें बन्दी घोषित नहीं किया। उस लाख के घर का नाम भी कारावास नहीं था, सभी उसे राजमहल ही कहते थे। वहाँ हमें कोई असुविधा भी नहीं थी। सभी राजसी भोग प्रस्तुत थे। देवकी जी तो कारागार में ११,१२ वर्ष तक रहीं,

किन्तु हमें तो उस वारणावत के राजमहल में कुछ ही दिन रहना पड़ा। कारावास में देवकी के ६ पुत्र हुए कंस ने उन सबको मार डाला। आपने उसके पुत्रों की रक्षा नहीं की, किन्तु हे अशरण-शरण ! आपने तो मेरी भी रक्षा की और मेरे पुत्रों की भी रक्षा की।

हे दयासागर ! देवकी की तो आप ने एक ही बार रक्षा की। उसकी हथकड़ी बेड़ी एक ही बार कटाई, किन्तु मेरे ऊपर तो विपत्तियों की बाढ़ सी आगयी थी। विपत्तियों की यह प्रतिज्ञा थी हम इसे डुबा कर ही छोड़ेगी और आपकी कृपा का यह निश्चय था कि हम इसे उबार कर ही छोड़ेगी, सो कृपासिन्धो ! आपकी कृपा की ही विजय हुई मैं सभी विपत्तियों से बाल-बाल बच गयी, नहीं तो मेर ऊपर जो विपत्तियाँ आयीं थी वे साधारण थोड़े ही थीं सरलता से मिटने वाली नहीं थीं। आप नाथ कृपा की कोट न करते आप दया न दरसाते, आप हाथ न बढ़ाते, आप यदि न अपनाते तो उनसे बचना असम्भव था।

मेरा प्राणप्रिय पुत्र वृकोदर अधिकाहारी है, उसे सवामन का तो कलेवा ही चाहिये। लड्डू उसे अत्यन्त प्रिय है इसीलिये मैं उसके लिये सदा लड्डू तैयार रखती हूँ। मेरे शत्रु जानते थे। भीम से कोई जीत नहीं सकता। यदि भीम को हम मार देंगे, तो निष्कंटक राज्य का भोग करेंगे। उनसे यह बात भी अविदित नहीं थी, कि भीम मोदक प्रिय है। उन दुष्टों ने बहुत ही सुन्दर मोदक बनाये मोती चूर के। कई मन लड्डू बनवाये। उनमें अत्यन्त तीक्ष्ण हलाहल विष भी मिला दिया था, एक लड्डू में नहीं सभी में। जिस विष की गंध से प्राणों का अन्त हो जाय, उसे न जाने कितनी अधिक मात्रा में उन आततायियों ने लड्डूओं में मिला दिया था। ऊपरी प्रेम प्रदर्शित करके उन्होंने आग्रह पूर्वक

सभी लड्डू मेरे उस नयनों के तारे प्यारे दुलारे पुत्र को खिला दिये। कोई भी व्यक्ति—सदाशिवशंकरको छोड़कर—इतने भारी विष से बच सकता है। किन्तु हे जगदाधार! आपने मेरे बच्चे को मरने नहीं दिया, यही नहीं वह विष उसके लिये अमृत बन गया। उसी विष के कारण उसका शरीर वज्र का बन गया और वह अपराजित हो गया। आप की इस अहैतुकी कृपा के सम्बन्ध में क्या कहा जाय?

हे कृष्ण चन्द्र! तुम्हारी शीतल छाया में महान् अग्नि की लपटें भी चन्दन के समान शीतल बन जाती हैं। दुष्टों ने अपनी करनी में कुछ कोर कसर नहीं छोड़ी थी। वह घृत, चरबी, तेल, सन, गंधक, कपूर, बाँस, घास, लकड़ी तथा और भी तुरन्त भभक उठने वाली वस्तुओं को मिट्टी में मिलाकर बनाया गया था। यदि श्याम सुन्दर! हमें बचाने में आप एक क्षण का भी विलम्ब करते तो हम माँ, पूत सभी उसमें जलकर भस्म हो जाते, किन्तु अनुग्रह की अपार दृष्टि करके हमें उस दावानल से भी प्रबल वैश्वानर के कोर से बचा लिया और शत्रुओं को पता भी नहीं चलने पाया।

हे विपति भंजन! विपत्तियों ने तो गढ़ बना कर हमें घेर लिया था, किन्तु आप का वरहस्त सदा हमारे ऊपर था। खाई से निकल कर हम कुएँ में गिरने वाले थे, कि आप ने हाथ पकड़ कर खींच लिया। मृत्यु के मुख से बचा लिया। मनुष्यों के मांस को ही खाने वाला पुरुषाद हिडंब हमें घोर वन में मिला। वह अत्यन्त भूखा था। अपने आहार हमें देखकर उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह बड़े-बड़े मनसूबे बाँधने लगा। इनका मांस कोमल है। ये सुकुमार हैं, मोटे भी हैं। आज सब को खाकर मैं पूर्ण तृप्ति का अनुभव करूंगा। इस प्रकार वह हमें खाना चाहता

था, तुम हमें बचाना चाहते थे, अतः तुमने भीम के हाथ से उस दुष्ट को मरवा दिया, और उसकी बहिन को भीम की बहू बना दिया। वन मे मुझे बहू का सुख पहुंचा दिया। सास बनने में कितना सुख है, यह उस विपत्ति के समय में भी अनुभव करा दिया। कहाँ तक आपके उपकारों का कथन करूँ!

हे प्रणत प्रतिपालक! धूत सभा में दुष्टों के षड्यन्त्र से मेरे पुत्र अपना सर्वस्व हार गये थे। यहाँ तक कि युधिष्ठिर ने मेरी परम सुकुमारी प्यारी बहू को भी दाव पर लगा दिया था। और उसे भी हार गये थे। तब कुलांगार नीच उसे भरी सभा में नग्न करना चाहते थे। मासिक धर्म में प्राप्त अस्पश्या मेरी पतोहू को वे अधम भरी सभा में पकड़ लाये थे, तब हे केशव! आपने ही उसकी लाज बचायी। तब हे वासुदेव! आपने ही वसन वेष बना लिया। आपके सजीव अवतार तो सुनने में आये थे, कच्छ, मच्छ, वाराह, सूकर, नरसिंह, हयग्रीव तथा हंस आदि जल चर, नभ चर, भूचर अवतार तो सुने थे, किन्तु वस्त्रावतार के दर्शन उसी दिन सबको हुए। आपने साड़ी में ही अपना अक्षय अपार अनन्त तथा अनादि रूप दिखाकर विपक्षियों को विस्मित बना दिया। सम्पूर्ण सभा स्तम्भित रह गयी। द्रुपद सुता तुम्हारी करुणा को स्मरण करके बारम्बार विलाप करने लगी। आपने स्पर्शास्पर्श का भी विचार नहीं किया। हे पतित पावन! आपकी प्रणत पालकता की परिधि का पार प्राणी क्या पा सकते हैं?

हे वनवारी! हे वन माला धारी! हे वृन्दावन विहारी! विपक्षियों ने मेरे पुत्रों को वन में भेज दिया था। बहुत से ब्राह्मण भी स्नेह वश उनके पीछे लग लिये। वहाँ उनके भोजन की व्यवस्था हे विश्वम्भर! आपने ही की। दुर्योधन ने शाप दिवाने

के निमित्त क्रोधी मुनि दुर्वासा को उनके समीप सिखा पढ़ाकर भेजा था, किन्तु शाकान्न से तृप्त होकर आपने कृष्णा को क्लेश से बचाया। पुत्रों को चिन्ता मुक्त किया। अजगर से बचाया तथा पग पग-पर उनके क्लेशों को मिटाया।

हे महामहिम! महाभारत के युद्ध में तो जैसे माता अपने अबोधा शिशु की रक्षा करती है चिड़िया अपने अंडों को हृदय से लगाकर सेती है। वैसे ही तुमने मेरे पुत्रों की अपनी छत्र छाया में रक्षा की। कोई उनका कुछ बिगाड़ नहीं सका। कोई प्रबल प्रहार नहीं कर सका। कोई उन्हें पूर्णतया पराजित नहीं कर सका। कोई उन्हें मार नहीं सका। कोई उनके बल पराक्रम की थाह नहीं पा सका। मैं तो भयभीत हो रही थी। समस्त भूमण्डल को इक्कीस बार नरपति हीन करने वाले अजेय भगवान् के अवतार परशुराम को भी जिन्होंने युद्ध में सन्तुष्ट किया था। उन भीष्म पितामह से कौन लड़ सकेगा। उनके साथ युद्ध करने का साहस किसका है। वे अवश्य ही मेरे पुत्रों को मार डालेंगे। किन्तु वे भी आपकी दया से शरशैया पर सदा के लिये शयन कर गये।

जिन महापराक्रमी द्रुपद को पशु सदृश बँधवाकर अपने शिष्य से जिन्होंने मँगवा लिया था। ब्राह्मण होकर भी जिन्होंने युद्धों करना स्वीकार किया था। देवता भी जिनका नाम सुनकर थर थर काँपते थे, उन मेरे पुत्रों के भी गुरु द्रोणाचार्य के सम्मुख खड़े रहने का साहस कौन शूरवीर कर सकता था। जो क्षण भर में सम्पूर्ण सृष्टि को अपने अमोघ अस्त्र शस्त्रों सेयप्रलय करने में समर्थ थे, उन आचार्य द्रोण से मेरे पुत्रों की रक्षा ही नहीं उनसे विजय करा दी। ऐसे तुम कर्तुमकर्तु अन्यथा कर्तु की करुणा का कथन कैसे कर सकते हैं।

हे करुणाकर! कर्ण मेरा ही पुत्र था, किन्तु वह दुष्टों के फंदे

में फँस गया था। मेरे सुतों का शत्रु बन गया था। इसमें दोष मेरा ही है, उसने आप की शिक्षा धारण नहीं की। आपकी आज्ञा नहीं मानी। जो आपके विमुख है उसकी रक्षा की भीख मैं किस मुख से माँगती। वह मर गया, इसका मुझे दुख है किन्तु वह जीता तो मुझे अर्जुन से हाथ धोना पड़ता। अर्जुन आपका सखा है, शिष्य है, भक्त है, आप के भक्त का तो कभी नाश होता नहीं। उसकी रक्षा तो आप करते ही हैं। कर्ण सूत पुत्र के नाम से मरा, कुन्ती के तो आप ने सभी पुत्रों की रक्षा की।

युद्ध के पश्चात् भी अश्वत्थामा ने मेरे वंश को निर्बीज करने के निमित्त ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था, उसे भी आपने व्यर्थ बना दिया। मेरे वंश को बचा लिया, अभिमन्यु की थाती को रक्षा उत्तरा की प्रार्थना पर आप ने की। हे माधव! कहाँ तक गिनाऊँ। जब भी विपत्ति पड़ी आप दौड़े आये, दर्शन देकर दुख दूर किया। अब सम्पति का भुलावा देकर हमसे दूर जा रहे हैं। हम ठुकराये जा रहे हैं न भगवन हमें ऐसी सम्पत्ति नहीं चाहिये। इसे आप अपने साथ लेते जाइये। हमें तो आप चाहिये आप।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! अब कुन्ती माता एक विचित्रवर मांगेगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

वन महँ विपति अपार पार प्रभु तुमनि लगाये।
समर सारथी बने शस्त्र सब व्यरथ बनाये॥
गुरुसुत अवई अस्त्र ब्रह्म कुल नाशक छोरे।
कुल की कानि बचाय बीच महँ सब सर तोरे॥
कब-कब की केशव कहूँ, कलेश कबहुँ काहू करी।
तबहिँ प्रान, प्रन, धन, धरम, हरन हार हार्यो हरी॥

कुन्ती स्तुति(४)

(५)

विपदः सन्तुनः शश्वत् तत्र तत्र जगद् गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० ८ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

सतत विपति महँ संग रहो शिशु सम अपनाओ ।
दै धन संपति देव ! दूरि अब हम तैं जाओ ॥
ऐसी संपति नाथ ! त्यागि तुमकूँ नहिं लेवैं ।
दरसन पुनि-पुनि मिलहिं विपति वर यदु वरादेवैं ॥
इन्द्रिय सुख सम्पति मिलै, जनम मरन पुनि-पुनि जगत ।
विपति विदारन दरस तब, जग आवन जावन हरत ॥

हे जगत् गुरो ! हे वरदानियों में श्रेष्ठ ! आप द्वारिका जा रहे हैं, तो जायँ। मैं तुम्हारी बुआ हूँ जाते समय मुझे कुछ देते तो जाओ । मैं पल्ली पसार कर तुम से यही वर माँगती

---

* कुन्ती जी स्तुति करती हुई कह रही हैं—'हे जगत् गुरो ! हम पर सदा सर्वदा विपत्तियाँ ही पड़ती रहीं, जिससे आप उन्हें बचाने के लिये आते रहे और संसार की प्राप्ति न कराने वाले आप के दुर्लभ दर्शन हमें बार-बार मिलते रहें।

हूँ, कि हम पर जितनी भी अधिक विपत्तियाँ आवें उतनी ही उत्तम हैं। पग-पग पर सदा सर्वदा हम पर विपत्तियाँ आवें। क्योंकि जो आपके अनन्य उपासक हैं, उनकी विपत्तियों को आप देख नहीं सकते। आप भक्तों की पुकार सुनकर अपने स्थान पर स्थिर रह नहीं सकते। उस समय आप अपने आश्रितों को दर्शन अवश्य देते हैं। तभी तो आपके शरणागत प्रपन्न विपत्तियों में आपके दर्शन होते हैं। प्रह्लाद जी को उसके पिता ने विष दिलाया सर्पों से कटाया, पर्वतों से गिराया, समुद्र में गिराया, हाथियों से रुँदवाया, अग्नि में जलवाया किन्तु वे सभी समय प्रसन्न ही रहे। हँसते ही गये। क्योंकि उन्हें जल में,थल में अनल में,गरल में, नग में तथा गगन आदि में सर्वत्र तुम दिखायी देते थे, किन्तु जब वे राजा हो गये तो नैमिषारण्य में साक्षात् नर नारायण रूप से तपस्या में निरत आप से ही युद्ध करने को तैयार हो गये। आपको पितृहा मानकर सेना सजाकर आपसे युद्ध करने चल दिये। धन सम्पत्ति का अभिमान होता ही ऐसा है। इसलिये हे निर्धनों के धन! जिस विपत्ति में आपके दर्शन हों वह विपत्ति सहस्रों सम्पत्तियों से श्रेष्ठ है और जो सम्पत्ति हमें आप से पृथक् कर दे आप हमें भुला दें। वह सम्पत्ति लाख विपत्तियों से बढ़कर है। अबतक आप छाया की भाँति प्राणों की भाँति हमारे साथ रहे। मेरे पुत्र महाभारत के युद्ध में युद्ध करने के अनन्तर अपने-अपने शिविरों में सुख से सो जाते थे। किन्तु हे हृषीकेश! आपके नयनों में नींद कहाँ। अर्जुन के घोड़ों को मलकर उन्हें दाना पानी खिलाकर, उनके व्रणों को धोकर उनमें का औषधि उपचार करके धनुष बाण लिये रात्रिभर वीरासन से शिविर के सम्मुख बैठे रहते थे। कहीं कोई विपत्ति न आ जाय, कहीं मेरे भक्तों का कोई अनिष्ट न कर दे। भक्त सोते थे भगवान् जाग कर पहरा देते थे। यह तो विपत्ति की संभावना में ऐसा था। साक्षात् विपत्ति के

समय तो आप स्वयं दृष्टि गोचर होते थे। विपत्ति में तो हम थे, किन्तु उसकी चिन्ता आपको थी। किन्तु आज आप निश्चिन्त होकर हमें छोड़कर जा रहे हैं। इसीलिये न कि अब तो धर्मराज को सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ मिल गयीं। अब तो वे भूमंडल के राजा हो गये। अब तो उनकी समस्त विपत्तियों का अन्त हो गया। जिस सम्पत्ति के पाने पर आप पीठ फेर लें, आप दूर चले जायँ और आप के द्वारा विपत्ति भंजन होने पर भक्त आपको भूल जायँ तो वह सम्पत्ति तो विपत्ति से भी बढ़कर क्लेश कारिणी है। ये संसारी विपत्तियाँ यथार्थ विपत्तियाँ नहीं हैं और न इन्द्रिय सुख जन्म सम्पत्तियाँ यथार्थ सम्पत्तियाँ ही हैं। जिसके द्वारा आपका स्मरण हो, वह सम्पत्ति और जिसके द्वारा आप विस्मरण हो जायँ वही विपत्ति, सम्पत्ति तो संसृति का हेतु है. किन्तु आप का दर्शन अपुनर्भव कारक है, आवागमन का छुड़ाने वाला है। जन्म मरण को मिटाने वाला है, चौरासी के चक्कर को चुकाने वाला है। भवसागर से पार लगाने वाला है। इसलिये हमें बार बार संसार में गिराने वाली सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं। हमें तो भव को भंजन करने वाले आपके देव दुर्लभ दर्शन चाहिये और अभिमानियों को आप दर्शन देते नहीं। अतः अभिमान की जड़ इस सम्पत्ति को किसी और को दे दीजिये मुझे। तो वे ही बन-वास की विपत्तियाँ चाहिये।

हे अकिंचन गोचर! संसार में चार अभिमान सबसे बड़े माने गये हैं। जन्मका अभिमान, ऐश्वर्यका अभिमान, विद्या का अभिमान, और श्री-शोभा का अभिमान। इन अभिमानों में मद वाला पुरुष आपको आर्त होकर पुकार नहीं सकता। आपके नाम संकीर्तन को नहीं कर सकता। सबके सम्मुख ताली बजाकर नाच नहीं सकता। जाति का अभिमान इस अर्थ में हो, कि हमारा जन्म उत्तम कुल में हुआ है, हमें जिन कार्यों से प्रभु की प्राप्ति हो उन

उन उत्तम कार्यों को ही करना चाहिये। किसी भी परिस्थिति में चोरी जारी परनिंदा आदि अधम कार्य न करना चाहिये। तब तो उचित भी है किन्तु हमारा कुल श्रेष्ठ है, किसी को क्यों नवें, किसी से क्यों बोलें, सब हमारा पूजा करें हम जो चाहें सो करें, हमें रोकने टोकने वाला कौन है। जिन्हें ऐसा कुलागत अभिमान हो जाता है, उनसे आप दूर चले जाते हैं। उनके हृदय में आप सबसे प्रबल दस्यु अभिमान को बिठा देते हैं, जिससे आपका नाम लेने में भी संकोच करता है।

संसारी ऐश्वर्य का भी बड़ा अभिमान होता है। जब हम पर कुछ नहीं था, तो प्रत्येक आवश्यकता के समय आपका ही स्मरण करते थे। पूर्ति होने पर आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते थे। कि ऐसे समय भी भगवान् हमारी सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं, किन्तु ऐश्वर्य हो जाने पर आप को लोग भूल जाते हैं। यही सोचते हैं। यह काम मैंने अपने पुरुषार्थ से किया। अमुक शत्रु को मैं अपने अपार ऐश्वर्य से परास्त कर दूँगा। मेरे पास प्रचुर ऐश्वर्य है, मेरे समान दूसरा कौन हो सकता है। इस प्रकार ऐश्वर्य के मद में मत्त हुआ मानव अन्धा हो जाता है। उसे आप तो दीखते नहीं। आपके भक्तों का भी वह अपमान करता है। अतः हे अखिल ऐश्वर्य के एकमात्र नियामक! हमें अन्धा बना देने वाला ऐश्वर्य नहीं चाहिये।

हे वेदान्तवेद्य वासुदेव! विद्या का भी बड़ा भारी अभिमान होता है। वैसे विद्या का मुख्य कार्य तो मुक्ति का मार्ग दिखाना ही है, किन्तु मनुष्य विद्या पढ़कर बौरा जाते हैं, वाद विवाद में ही इसका उपयोग करते हैं। अभिमान बढ़ाने का ही साधन बना लेते हैं। हम बड़े पण्डित हैं, विद्वान् हैं, ज्ञाता हैं, शास्त्रज्ञ हैं, सुधी हैं, मेधावी प्राज्ञ तथा सुधी हैं। इसी अभिमान में—समस्त

विद्याओं के एकमात्र आश्रय आपको वे भूल जाते हैं। संसार में कुलागत अभिमान अत्यन्त ही कठिन है। उससे भी बढ़कर ऐश्वर्य का अभिमान है। ऐश्वर्यशाली व्यक्ति कुलीनों का भी अपमान करता है। ऐश्वर्य से भी बढ़कर अभिमान विद्या का है। विद्वान् कहता है, कुलीनोंके कोई सींग होते हैं, ऐश्वर्यशाली होंगे तो अपने घर के होंगे। उन्हें उनके आस पास के परिचित लोग मानते होंगे। मेरे पास वह विद्या है, कि जहाँ भी जाऊँ वहीं पुज सकता हूँ। "स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते"। कितना भी ऐश्वर्यशाली नरपति-शासक-हो, उसकी पूजा उसी के प्रदेश में होगी। बाहर उसे कोई पूछता भी नहीं,किन्तु विद्यावान् तो अपनी विद्या के प्रभाव से सर्वत्र आदर पावेगा। इस कारण विद्या का अभिमान सबसे बड़ा है।

हे कमलाकान्त! भगवती श्री तो सदा आपके ही चरण पलोटती रहती हैं। सच्चे श्रीमान् तो आप ही हैं, श्री आपकी दासी है। समस्त ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री और ज्ञान, वैराग्य इन ६ का नाम 'भग' है जिस पर ये हों वही 'भगवान्' है। इसलिये भगवान् तो आप ही हैं। यथार्थ श्री की कुछ छाया संसारी वस्तुओं पर पड़ी है। उसी छाया को पाकर लोग बौरा जाते हैं। कोई स्त्री या पुरुष तनिक सुन्दर हों, चेहरे मोहरे का कटाव-छटाव कुछ आकर्षक हो, चतुरचितेरे ने चमड़ी पर कुछ रङ्ग गोरा आकर्षक चढ़ा दिया हो। नेत्रों में पानी कुछ चटकीला फेर दिया हो। फिर देखो उसके अभिमान को। बारम्बार दर्पण में मुख देखेगा। सदा सुन्दरता के अभिमान में डूबा रहेगा। कोई कार्य किया, उसमें शोभा आ गयी। सभी से पूछेगा, मेरे कार्य की कैसी अनुपम शोभा है। ऐसी शोभा कहीं अन्यत्र आपने देखी है। श्री के अनेकों रूप हैं। सम्पत्ति श्री,राज्य श्री, ग्राह्मी श्री, स्वच्छता की श्री, कान्ति, ह्री, लक्ष्मी, शोभा आदि सभी चित्त को अपनी ओर

आकर्षित करने वाली सामग्री श्री के ही अन्तर्गत हैं। इसलिये संसारी श्रीमानों को अभिमान भी अधिक होता है। उसमें मादकता की मात्रा विशेष रहती है। हे निष्किञ्चन ! जन प्रिय यदुनन्दन ! इन मदों से मत्त पुरुष सकल सुखसार आपके सुमधुर नामों का संकीर्तन भला किस प्रकार कर सकता है।

हे दीन दयाल ! आप माया प्रपञ्च से सदा सर्वदा रहित हैं। निर्धनों के धन हैं, अशरणों के शरण हैं, अकिंचनों के कञ्चन हैं, स्वयं ही आत्मा में रमण करने वाले हैं, शान्ति के तो स्वयं स्वरूप ही हैं। शान्ति देवी ने आपको सर्वथा अपने अनुरूप बना लिया है। या आपने ही उन्हें अपने में मिलाकर अर्धनारी नरेश्वर शान्तस्वरूप बन गये हैं। मोक्ष के आप एकमात्र अधिपति हैं। आपकी अनुमति के बिना मोक्ष किसी की ओर दृष्टिपात भी नहीं कर सकती। इसलिये हे अपवर्ग पति ! आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। आपको बारम्बार नमस्कार है।

हे सर्वनियन्ता ! बर्बरीक ने ही आपका यथार्थ रूप देखा था। बर्बरीक ने जब अणुचूर्ण की पिटारी खोलकर समस्त सेना को क्षण भर में ही भस्म करने का अभिनय करना चाहा। तो आपने तुरन्त उसका सिर काट लिया। युद्ध देखने की इच्छा करने पर आपने उसके सिर को शमी के वृक्ष पर लटकादिय और केवल सिर से ही सम्पूर्ण युद्ध देखने की शक्ति भी प्रदान की। तब उसने युद्ध के अन्त में यही बताया, कि कालरूप होकर आप ही समस्त प्राणियों का संहार कर रहे हैं। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई किसी को मार नहीं सकता। अतः हे काल स्वरूप ! आपके चरणों में बारम्बार नमस्कार है।

हे नायक ! आप ही चराचर के नियन्ता हैं। हे अनादि ! आप के आदि का पार पाना सभी की बुद्धि के बाहर की बात है।

शशक शृंग का कहीं धनुष बन सकता है ? वन्ध्या के पुत्र का कहीं विवाह हो सकता है ? वट पीपल के पुष्पों की कहीं माला बन सकती है ? आकाश कुसुम से कहीं देवार्चन सम्भव है ? आकाश में फूल खिलते ही नहीं तो अर्चन कैसे हो। इसी प्रकार जब आपका आदि ही नहीं तो कोई कैसे कह सकता है। कि आप अमुक समय से हैं। इसी प्रकार आप का कभी अन्त भी नहीं। सदा सर्वदा समान रूप से रहते हैं। इसीलिये अनन्त कहलाते हैं।

हे समदर्शी ! हे सर्वव्यापक ! विश्वमें कहीं भी कोई ऐसा स्थान नहीं,जहाँ आप न हों। आप भेदभाव से रहित हैं। आप के लिए न कोई ऊँचा है न नीचा। न कोई छोटा है न बड़ा न कोई हेय है न उपहेय, न कोई त्याज्या है न ग्राह्य। जो आप में भेद देखते हैं, वे स्वयं ही भेद-भाव को प्राप्त होते हैं। विषम दृष्टि वालों को ही आप में विषमता के दर्शन होते हैं। आप ने इस अपनी दासी माया को ऐसा सिखा पढ़ा रखा है। कि यह जीवों के संमुख ऐसा परदा डाल देती है कि जो होता नहीं वह दीखने लगता है। आप में विषमता का लेश नहीं किन्तु उन माया के कारण जिनकी बुद्धि विषम बन जाती है उन्हें सर्वत्र आप में विषमता दृष्टिगोचर होती है। आप का न कोई प्रिय न अप्रिय, न कोई शत्रु न मित्र आप प्राणी मात्र के समानभाव से सुहृद हैं। फिर भी कुछ लोग आप को शत्रु ही मानकर आप से व्यवहार करते हैं। हे नटवर ! आप भी तो पूरे लीला धारी ही हो बहुरूपिया हो। जब आपकी इच्छा होती है, तभी विचित्रलीला रच देते हो। उसी से प्राणी विमोहित बन जाते हैं। मानव शरीर धारण करके मानवाकृति बना कर ऐसा स्वाँग रचते हो, कि सब मंत्र मुग्ध होकर उस लीला में सब कुछ भूलजाते हैं। क्या न करोगे क्याकर डालोगे इसका किसी को पता ही नहीं चल सकता। ऐसी ऐसी मनमोहिनी लीला करते हो कि वहाँ मानवीय विशाल बुद्धि भी विमोहित बन जाती है।

हे विश्वम्भर ! मनुष्य ही बन कर लोगों को मोह में डालते हो, सो भी बात नहीं। कभी आप मछली बनकर जल में रेंगने लगते हो। कभी कछुआ बनकर पीठपर मन्दराचल को धारण करके निद्रा का सुखलेते हो। कभी सूअर बनकर खों खों करते फिरते हो। कभी मूंछ बढ़ा कर मुँह फाड़ कर नखों से अँतड़ियों को कुरेदते हुए वीभत्स रूप दिखा देते हो। कभी बामन बनकर भीख माँगन लगते हो। कभी फरसा लेकर निर्दयता का नाटक दिखाकर मार धाड़ मचा देते हो। कभी पर्वतों में जाकर ऋषियों की भाँति आसन बाँधकर तपस्या करने लगते हो। कभी स्त्री के वियोग में वन वन में रोते हुए घूमते हो, कभी पक्षी बनकर उड़ने लगते हो। कभी दाता बनकर देने लगते हो, कभी भोक्ता बन कर खाने लगते हो। ये सब आपकी लीलायें तो मैंने सुनी हैं, देखी नहीं। किन्तु इस अवतार में जो आपने विश्वविमोहन नाटक किया, उससे तो बड़े-बड़े ज्ञानियों की बुद्धि चक्कर में पड़ गयी। वेदगर्भ सर्वज्ञ चतु मुख ब्रह्मा भी मोह में फँस गये, कि यह गंवार गोपों का जूठा खाने वाला बालक अवतार कैसे हो सकता है। हे नट नागर ! एक दृश्य मुझे कभी भी नहीं भूलता उस नाटक को रचकर तो आपने संसार में सरसता की धारा ही बहा दी। अपनी भक्तवत्सला का अनावरण दर्शन ही करा दिया। हे नाथ ! जब मुझे वह लीला स्मरण हो आती है, तो हृदय गद् गद् हो जाता है। आँखों में आँसू आ जाते हैं। चित्त चंचल हो उठता है। मुझे आपकी भोली-भाला बाल्यकाल की वह मन भावनी सुंदर सलौनी सूरत जब याद आती है। तो अन्तःकरण सरस हो उठता है। उस समय कौन कहेगा, कि आप अवतार हो। साक्षात् जगन्नियन्ता, अपवर्गपति तथा जगबन्धन से छुड़ाने वाले हो। प्रभो! आप की वह भोली भाली मनोहर मूरति मेरे मन मंदिर में आगे आगे याम क्रीड़ा करती रहे। उसे मैं कभी भुला न सकूँ।

सूत जी कहते हैं—मुनियो आगे कुन्ती जी स्तुति करती हुई बाल्यकाल की यशोदानंदन की एक लीला झलक प्रस्तुत करेगी। उस प्रसंग को मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

जनम, विभव, श्रुति सिरी अहंता मद उपजावैं।
बनि मतवारे मनुज मधुर तव नाम न गावैं॥
निरधन के धन श्याम काल के काल कहाओ।
निराकार निरलेप सृष्टि साकार कराओ॥
शत्रु, मित्र निज भाव तैं, समुझैं सबके ईश हो।
पुनि-पुनि पद पदुमनि परूँ, जगन्नाथ जगदीश हो॥

कुन्ती-स्तुति (५)

(६)

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दामतावत्,
याते दशाश्रुकलिलाञ्जन सम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भय भावनया स्थितस्य,
सा मां विमोहयति भीरपि यद् बिभेति ॥*

(श्री भा० १ स्क० ८ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

जल, थल, नभ चर बनो भाव भगवान् भुलाओ ।
नर पशु पक्षी रूप धारि लीला दरसाओ ॥
कौतुक क्रीड़ा कलित करी कर कज्जल भरिकें ।
बाँधे यशुमति छरी देखि राये तुम डरिकें ॥
कजरारे लोचन कमल, चंचल कातर भय भरे ।
मीड़ि मीड़िकें युगल कर, माँ भयतैं करे करे ॥

हे दामोदर ! सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी होकर भी आपने कैसी-कैसी कमनीय कलित क्रीड़ायें की। जिनके स्मरण मात्र से बुद्धि को मोह हो जाता है प्रज्ञा कुंठित बन जाती है। ब्रज में तो आपने वात्सल्य रस की सरिता ही बहा दी।

---

* कुन्ती जी स्तुति करती हुई कह रही हैं—"हे यशोदा नन्दन! आपने गोपी यशोदा का अपराध किया था। अतः आपको बाँधने के लिये उसने हाथ में दाम रस्सी ली थी। उस समय आप अधिक भयभीत

भक्तवत्सलता की पराकाष्ठा ही प्रकट कर दी। अपनी भगवत्ता सर्वथा भुला दी, बालकपन के अद्भुत छटा दिखादी, जग के कर्ता ब्रह्माजी भी चक्कर में फँस गये।

हे यशोदा नन्दन ! आप बालक बन गये थे, बालक भी इतने भोरे भारे कि माँ के बिना किसी को अपना रक्षक समझते ही नहीं थे। माँ के खिलाने से खाते, माँ के पिलाने से पीते, माँ के बिठाने से बैठे जाते और माँ के डराने से डर जाते। सर्वस्वतन्त्र आज ब्रज में आकर सर्वथा परतन्त्र बन गया। अनिल अनल, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश को डराने वाला आज माता के आधीन हो गया। उसकी भृकुटि विलास के संकेत पर नाचने लगा। अपनी प्रभुता सर्वथा स्वतंत्रता को खो बैठा। यदि कभी भूलसे भी कोई स्वतंत्र आचरण करता तो पिटता, परतन्त्र ही जो ठहरा।

एकदिन आपने धृष्टता कर डाली। परतन्त्रता के प्रति आपने सनातन स्वभावानुसार विद्रोह कर दिया। माता की बिना आज्ञा के अपने को स्वतन्त्र कर्ता मानकर दही के भांड को क्रोध में भर कर फोड़ डाला। यह आपने परतन्त्रता के सर्वथा विरुद्ध आचरण किया। जो परतन्त्र है, उसे क्रोध भी न करना चाहिए और जिसके अधीन है, उसके बिना पूछे विरुद्धाचरण भी न करना चाहिये। आपने ये दो अपराध आवेश में आकर कर तो डाले, किन्तु तुरन्त अनुमान करने लगे, कि मुझसे अपराध बन गया है, किन्तु डरने मात्र से ही तो काम चलने का नहीं, अपराध के लिये दंड भोगना पड़ेगा माता आप को प्रताड़ना करेगी, समुचित शिक्षा देगी।

से होकर अपनी काजल से भरी आँखों से आंसू बहाते हुए नीचा मुख करके खड़े थे। भय भी जिनसे भय मानता है। ऐसे आपकी इस प्रकार की दशा देखकर आज भी मैं मोह में पड़ जाती हूँ।

हे गोपी जन वल्लभ ! आज आप की सिटिल्ली भूल गयी नित्य ही ब्रज बालाओं को खिझाने वाले आप पकड़े गये। अपराधी के कठहरे में खड़े कर दिये गये। अब अपने अपराध का स्पष्टीकरण करो। किन्तु करते क्या ? अपराध तो प्रत्यक्ष है, चोर तो घटनास्थल पर ही पकड़ा गया है। दंड देने के लिये साक्षी की आवश्यकता नहीं। माँ तो दंड देना स्थिर कर लिया, छड़ी आकाश में उठायी। आप सहर उठे, इतने भयंकर दंड को सहन करने में अपनी असमर्थ व्यक्त की। माँ भी समझ गयी, न्यायाधीश के हृदय में भी दया दिखायी देने लगी, छड़ी फेंकदी, फिर कर्तव्य ने प्रेरणा की। माता ने रस्सी उठायी, अच्छा तुझे आज बाँधूगी। छड़ी की मार से रस्सी का बन्धन कुछ सरल दंड है ही, भय तो बना ही हुआ है। माता ने पुनः एक बार स्पष्टीकरण का अवसर दिया—"क्यों रे ! तू बोलता क्यों नहीं ? बता तैने दधि भांड क्यों फोड़ा ?"

कुछ सूझे तो उत्तर दे भी—"मन में आया कह दूँ मैंने ही बनाया, मैंने ही फोड़ दिया। मैं स्वेच्छा से बनाता हूँ, इच्छा होती है तब तक स्थिति रखता हूँ, पालन करता हूँ, इच्छा होती है, तब फोड़ देता हूँ। नष्ट कर देता हूँ मैं सर्व स्वतंत्र हूँ। मुझे किसी से पूछना नहीं, किसी के अधीन नहीं, काल का भी काल हूँ।"

फिर सोचा—"माँ इस बात को मानेगी नहीं, वह मेरी स्वतंत्रता स्वीकार ही न करेगी। पाँच वर्ष से छोटा बालक जो बना हुआ हूँ। मेरी ही वचन है—"ताड़येत् पंच वर्षाणि" पाँच वर्ष तक के बालक को ताड़ना देने का अधिकार है। माँ मारेगी अवश्य। मारेगी न भी तो बाँधने में तो कोई सन्देह नहीं। अब तो माँ के मन में किसी प्रकार यह गांठ दया आजाय। दया आती है, भोले पन को देखकर, कातरता को निहार कर, भय विह्वलता को अवलोकन करके लाओ इन तीनों का प्रदर्शन करूँ। इसलिए

आप अति चपल होने पर भी परम भोरे बन गए। सदा प्रसन्न होने पर भी परम कातर हो गए। निर्भय निराले होकर भी भयभीतों की सी आकृति बना ली। माता को द्रवित करने के लिये आपने मन मोहक विस्मय कारक अभिनय रचा। उस समय जो आप तनिक कम्हर को झुकाकर, दोनों पैरों को जमाकर, मुख नीचा किये कारे कारे कजरारे नयनों से मोतियों की भाँति अश्रु बिन्दु ढरकाते हुए, दोनों बड़े-बड़े नयनों को मींड़ते हुये भोली सूरत बना कर खड़े हुए बड़े ही भले लगते थे। नेत्रों ने आपका क्या बिगाड़ा था, उन्हें आप अकारण क्यों दंड दे रहे थे। दोनों हाथों की लाल हथेलियों से मींड़ मींड़ कर उन्हें अपनी ही भाँति कृष्ण वर्ण की क्यों बना रहे थे ?

बात यह थी, कि भीतर से तो आप को भय था नहीं। भय का अभिनय कर रहे थे। अश्रु आते हैं आन्तरिक दुख के कारण—हृदय द्रवीभूत होने पर—इसलिये नेत्र खिल रहे थे। आप चाहते थे आंसू आवें तो माँ का हृदय पसीजे। नेत्र कह रहे थे, भीतर से भय लाओ। अन्यथा अश्रुविमोचन हम नहीं करते। आप उनको इसी अपराध पर बराबर दबा रहे थे, ताड़ना दे रहे थे, निकालो आंसू। दबाव से कुछ तो काम होता ही है तनिक से आंसू निकले उन्हें आँखों में लगे काजर ने पी लिया। न जाने काजर कब का प्यासा था, इसलिये वह चिरकाल से नयनों में बैठा था, हथेलियों ने सोचा कृष्ण का सभी अंग तो काला है, हम लाल लाल हैं, क्यों नहीं हम भी कृष्ण के रंग में रंग जाय। कृष्ण रंगत तभी चढ़ता है जब नयन अश्रु दान दें। नयनों के अश्रु दान को पाकर वे भी अपने को कृष्ण रँग में रँगने लगे। सभी अपनी अपनी ताड़ में बैठे थे।

मुख को आप क्योंनीचा किये हुए थे ? आपने सोचा हत्या की

जड़ यहमुँह ही है। इसी ने माखन दूध के न मिलने पर मुझे दही का पात्र फोड़ने को प्रेरित किया था। अब इसे ऊपर कैसे उठा सकताहूँ, जिसने रसको—दहीको—नीचे लुढ़कवा दिया उसे ऊँचा ऊठाया नहीं जा सकता। दंड देना चाहिए। इसीलिये हथेलियां से मीड़ मीड़ कर मुख को काला कर रहे हैं उस पर कालिख पोत रहे हैं।

हे सूत्रधार! आज आप माता के वेणी सूत्र को धारण करके यथार्थ सूत्रधार बन गये। उस सूत्र को ही देख कर आप भय भीत हो गये कि जगत् के सूत्रों के झंझटों को छोड़कर तो यहाँ व्रज में बालक बने माँ फिर भी—यहाँ भी हमारे उदर में सूत बाँधना चाहती है। यहाँ जगजंजाल से बाल बाल बचे थे। माता बालों से ही अब बाँधना चाहती है। मैं कुछ समझ न सकी आप उस तनिक सी रस्सी से इतने भयभीत क्यों हो गये? क्यों सिर नीचा कर लिया? क्यों रोने लगे? आपने यह बाल वेष बनाया ही क्यों? आपने अवनि पर अवतार लिया ही किस लिये निर्गुण से सगुण क्यों बने? निराकारसे साकार रूप क्यों धारण किया? अजन्मा ने जन्म क्यों लिया? आप की वह भयवाली लीला और ये प्रश्न मुझे अब तक विमोहित बनाये हुये हैं।

हे यदुकुल चन्द्र! मैं पंडितों से पूछती फिरी मुझे कोई बता दो, अजन्मा ने किस कारण से जन्म लिया है? अखिलेश का अवतरण अवनि पर किस प्रयोजन के लिये हुआ है, गोलोकवासी मर्त्यलोक में क्यों पधारे हैं? हे लीलाधारी! सबसे मैंने पूछा किसी ने सर्वसम्मत उत्तर नहीं दिया किसी ने कुछ कहा, किसी ने और ही कुछ कहा।

किसी ने तो कहा—"मलयाचल पर चंदन क्यों होता है? इसीलिये कि अपनी सुगंधि से आस पास के सभी वृक्षों को

सुगंधित बना दे। यही उस चन्दन का उद्देश्य है। अपने लिये तो उसे कुछ सुख चाहिये नहीं। स्वयं उसके ऊपर तो विषधर सर्प लिपटे रहते हैं। दूसरों को सुगंधित करता है, अन्यों का यश वह बढ़ाता है। अपनी जाति को छोड़कर दूसरी जाति वालों के यश सौरभ को विख्यात करता है। इसी प्रकार आप अजन्मा का जन्म तो हुआ यदुवंश में और कीर्ति बढ़ायी पांडवों की। पवित्र कीर्ति धर्मराज युधिष्ठिर का यश ही दिग दिगन्तों में फैलाने के निमित्त आपका अवतरण हुआ है।

किसी ने कहा—नहीं जो कृष्णका अर्थ है जो सब को अपनी ओर खींच ले। आपने सुतपा और पृश्नि को भी अपनी ओर खींच लिया। फिर आप के मनमेंआयी कि सब मेरी ओर खिंचे आते हैं लाओ,मैं भी किसी की ओर खिंचूँ। खिंचने का भी सुख देखलूँ। वे ही सुतपा पृश्नि देवकी और वसुदेव बने उनके आप वासुदेव पुत्र बन गये।

किसी ने कहा—नहीं जी, यह तो केवल निमित्त मात्र है, अवतार की भूमिका मात्र है। दैत्य जब अत्यधिक उपद्रव करने लगते हैं। देवता जब बहुत दुखी हो जाते हैं। तो क्षीर सागर में सुख से सोये हुए आपका वे द्वार खट खटाते हैं, जगत के कल्याण करने की प्रार्थना करते हैं, तो आप उनकी प्रार्थना को स्वीकार करके विश्व कल्याणार्थ तथा दैत्यों के दमनार्थ अवतार धारण करते हैं।

कोई कहते हैं—"नहीं जी, दैत्यों का वध तो भगवान् के संकल्प मात्र से हो सकता है। भगवान् का अवतार तो जगत की स्थिति के निमित्त होता है। यदि संसार में अधर्म ही होता रहे तो संसार स्वतः ही नष्ट हो जाय। विश्व की स्थिति धर्म पर ही अवलम्बित है। धर्म स्वरूप श्री हरि ही हैं। श्री हरि इस अवनि

पर अवतरित हुआ करें तब तो यह पृथ्वी बच सकती है, नहीं तो जैसे समुद्र में तैरती हुई नौका किसी दिन वेग की हिलोर आते ही डूब जाती है वैसे ही जल के ऊपर अवस्थित यह छोटी सी पृथ्वी किसी भी दिन समुद्र में चली जाय। यह जगत् ऐसे ही निरंतर चलता रहे इसके लिये भगवान् आते हैं।

कोई कहते हैं—"नहीं जी, भगवान तो इस भवसागर से प्राणियों को पार कराने आते हैं, इस संसार का अत्यन्ताभाव हो जाय आत्यंतिक प्रलय का रहस्य प्राणी समझ जायँ। मुक्ति के मार्ग का प्राणी अनुशरण करें इसके निमित्त अखिलेश का अवतार होता है। जो जैसी बातें करता है वह वैसा ही बन जाता है। नित्य निरंतर संसार की ही बातें करेंगे, संसारी बातें सुनेंगे, संसारी प्रपञ्चों का ही कथन मनन श्रवण करने से इन अविद्या नाना कामना और भाँति-भाँति के कर्मों के बन्धनों में पड़े हुए प्राणियों को संसार की ही प्राप्ती होगी। वे संसारी विषयों को भुलाकर आपकी ही कथा कहें, आपके ही चरित्रों का श्रवण करें आपकी ही लीलाओं का मनन करें इसी के निमित्त आप का अवतार होता है। अवतार धारण करके आप जो जो भी लीलायें करते हैं। जो जो भी कौतुक रचते हैं उनको नरनारी श्रद्धा भक्ति के साथ श्रवण करते हैं, संसारी प्रपञ्चों की ओर से मन को हटा कर आपकी कथाओं में ही मन लगाते हैं अन्त में वे आप को ही प्राप्त हो जाते हैं। अतः आपके अवतार का हेतु प्राणियों को अपनी ओर बुलाना है, अपनी लीलाओं से आकर्षित करना है। उनके कर्म बन्धनों को छुड़ाना है।

हे पुण्यश्लोक! यह बात सर्वथा सत्य है कि जो लोग बारम्बार आपकी ललित लीलाओं का श्रद्धा के साथ श्रवण करते हैं भागवती कथाओं को भक्ति के साथ सुनते हैं। भक्तों के साथ मिलकर कर गाजे बाजे के सहित या वैसे ही गान करते हैं, एकान्त

में स्मरण मनन करते हैं, स्तोत्रों द्वारा स्तुति करते हैं, वे अवश्य ही संसार सागर से पार हो जाते हैं, आप के कमल के सदृश चरणारविन्दों को पकड़ कर तर जाते हैं। जन्म मरण के बन्धन से छूट जाते हैं। अतः प्रभो ! आप के अवतार के अन्य अनेकों कारण गौण हैं, निमित्त मात्र हैं, आप के अवतार का मुख्य कारण तो भक्तानुकम्पा ही है। आप अपनी त्रैलोक्य पावन कथाओं को प्रकटित करने के निमित्त ही धराधाम पर पदार्पण करते हैं भक्तों के भय हरण के निमित्त ही निराकार से साकार होते हैं। अपने यश का सेतु बनाकर संसार सागर में बहते हुए, बिलखते हुए, डूबते हुए प्राणियों को पार जाने के लिए पथ प्रशस्त करते हैं, उन्हें अपनी ओर आने को आह्वान करते हैं। हे विश्वेश्वर ! आप के पावन चरितों में हमारा भी अनुराग हो। हमें भी वे प्रिय प्रतीत हों। आप हमारे हृदय में सदा बस रहें, आप हमें छोड़ कर कहीं अन्यत्र जायें ही नहीं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार कुन्ती माता ने और भी जो आगे स्तुति की उस भी मैं आप से कहता हूँ।

छप्पय

वह मनहर मुख मधुर मोह मोकूँ उपजावै।
बाल माधुरी माँहि मत्त मन मम फँसि जावै॥
कारन तव अवतार विज्ञजन बिविध बतावैं।
धरमराज यश करन हरन दुख भू पै आवैं॥

धरम हेतु थिति जगत हित, कठिन अवनि प्रभु अवतरहिं।
करत चरित भव सेतु हित, सुनि गुनि नरनारी तरहिं॥

कुन्ती स्तुति(६)

(७)

त्वयि मेऽनन्याविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥

(श्री भा. १ स्क. ८अ. ४२ श्लो.)

छप्पय

यदुनंदन ! यदि जायँ, जीयँगे कैसे सब हम ।
भरतवंश यदुवंश देह द्वै प्रान एक तुम ॥
भवभय रिपुभय सकल भयनितें नाथ ! छुड़ाओ ।
सम्बन्धी सर्वेश सुहृद् सरवस्व कहाओ ॥
तव पद अंकित अवनि अब, तुम बिनु विधवा विभु ! बने ।
वन, परबत, सर, नदी, नद, प्रभु शोभा बिनु अनमने ॥

हे भक्तभयभंजन ! हे भक्तानुग्रहकातर ! क्या आप सचमुच द्वारिका जारहे हैं ? क्या आप हमें यथार्थ में छोड़ रहे हैं ? क्या आप हमारी आखों से वास्तव में ओझल हो रहे हैं ? प्रभो ! ऐसा न कीजिए, आप हमें छोड़िये नहीं। हमें अनाथ न बनाइये, आप मत जाइये। आप पूछेंगे कि क्यों न जाऊँ ? तो देखिए

---

* स्तुति करती हुई कुन्ती जी कह रही हैं—"हे मधुपते ! मेरी आपके चरणों में उसी प्रकार प्रीति बढ़ती जाय, जैसे भगवती भागीरथी का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ही ओर बढ़ता जाता है।"

आप अपने भक्तों के हित में सदा संलग्न रहते हैं। हम आपके भक्त हैं, हमारी इच्छा है. हम सदा सर्वदा आपका दर्शन करते रहें। इसलिए आप हमारी इच्छा को पूर्ण करें। आप हमारे स्वामी हैं, स्वामी के बिना सेवक का महत्व ही क्या ? सेवक का अपना निजी तो कोई महत्व रहता नहीं। सब उसे स्वामी के ही कारण जानते मानते हैं। अतः हमें भी सब लोग श्री कृष्ण सेवक कहके ही आदर करते हैं। आप ही चले जायँगे तो हमें कौन पूछेगा।

हम आपके सुहृद् हैं हमारा हृदय आप में लगा है। आप के बिना तो हम हृदय हीन हो जायंगे। हम आपके अनुजीवी हैं। हमारा जीवन आपके पीछे पीछे घूमता है जैसे स्वामी के पीछे उसका श्वान घूमता है। जब आपही चले जायँगे, तो हमारा जीवन किसके पीछे घूमेगा, हम निर्जीव हो जायँगे। अतः आप हमें सदा साथ रखिए हमसे वियुक्त न होजिये।

हे हमारी अनन्यगति प्रभो! आप कह सकते हैं, मैं तो विपत्तियों से बचाने को आता हूँ। दुःख दमन करने दौड़ा आता हूँ। भय भगाने को भक्तों के समीप रहता हूँ। तुम्हारी सभी विपत्तियों का अन्त हो गया। दुष्टों द्वारा दिये दुःख दूर हो गये। बलवीर्य से बने मदोन्मत्त राजाओं का भय भाग गया। अब मैं रहकर भी क्या करूँगा ? सो, ऐसी बात नहीं है प्रभो! अभी हमारा भय भागा कहाँ ? अभी हम सर्वथा निर्भय नहीं हुए, राजाओं का भय तो अभी बना ही हुआ है। इस अवनि पर लाखों राजा हैं, उन सबकी राजधानियाँ हैं। सबके वंशज राज्य कर रहे हैं। महाभारत युद्ध में सभी राजागण आये थे. हमने सभी का संहार करा दिया है। किसी राजा के पिता को परलोक पठाया है, किसी के भाई को मारा है, किसी के पुत्र को, पौत्र को, नाना को मामा को, फूफा को बहनोई को, जामाता को तथा अन्य सगे सम्बन्धियों को मारा है।

सभी तो हम से द्वेष करते हैं, जिसका सम्बन्धी जिसके द्वारा मारा जायगा, स्वभावतः वह उससे द्वेष करेगा। अब हमारी स्थित तो ऐसी है जैसे बत्तीस दाँतों के बीच में अकेली जिह्वा की। जिस दाँत को भी अवसर मिला, जो भी तनिक तीक्ष्ण हुआ उसी ने काट लिया। मुख्य स्थान में आप ही हैं। आपके ही भीतर सब निवास करते हैं। अतः प्रभो! हमारा भय तो अभी ज्यों का त्यों बना है, पहिले एक दुर्योधन ही शत्रु था, अब तो सभी शत्रु बन गये हैं। अतः इन समस्त भीतर बाहर के शत्रुओं से हमारी रक्षा कीजिए। हमारे समीप रहकर हमें निर्भय बनाइये। आप सोचते होंगे अब तक हमने किया, अब किसी अन्य का आश्रय ले लो, सो हमारी तो आप ही एक मात्र गति हैं। इन अरुण मृदुल सुखद चरण कमलों को छोड़कर हमारा अन्य आश्रय ही नहीं।

आप कहोगे, कि पांडव तो बड़े बली हैं, बड़े शूर वीर हैं। वे तुम्हारे पुत्र हैं। यादव बड़े रणदुर्मद हैं, अजेय हैं। संख्या में भी अधिक हैं। वे तुम्हारे पितृकुल के हैं। ऐसे दो समर्थ कुलों से तुम्हारा सम्बन्ध है। फिर डरती क्यों हो? सो, हे हृषीकेश! कौरव पांडव तो केवल देखने दिखाने और कहने कहाने मात्र के ही हैं। शरीर में जब तक जीव है, तभी तक कहते हैं, इनकी आँखें बड़ी सुन्दर हैं, कमल के समान उत्फुल्ल हैं। मुख चन्द्रमा के सदृश है, नासिका कितनी मनोहर है। दन्तावली कितनी चमकीली सुघर और सघन है। नाम भी सुन्दर और रूप भी सुन्दर किन्तु जहाँ जीव देह से पृथक हुआ नहीं कि वे सभी इन्द्रियाँ भयानक बन जाती हैं। श्रीहीन हो जाती हैं। देखने से भय प्रतीत होता है। नाम वही है। वे ही हाथ हैं, वे ही पैर हैं, किन्तु एक जीव के बिना वे शोभा रहित अदर्शनीय बन जाते हैं। इसी प्रकार हे केशव! हमसे आपका वियोग हो जायगा तो इन कौरव

पांडवों की सत्ता केवल नाम रूप के लिए ही रह जायगी। ये सभी सारहीन श्रीहीन शोभारहित बन जायगे। इन्हीं की नहीं यहाँ की सम्पूर्ण भूमि श्रीहीन सूनी-सूनी दिखाई देगी।

हे श्रीकान्त ! आप जब वज्रांकुश ध्वजादि से चिन्हित अपने चरणारविन्द को अवनि पर रखते है, तो भूदेवी के रोमांच हो जाते हैं, इसी से इसकी शोभा बढ़ जाती है। हे गदाधर ! जब आप अपनी गदा के आधार से चलते हैं तो आप की गदा को देखते ही पृथ्वी गीली हो जाती है, उसके नयनों में नीर छा जाता है, प्रेमाश्रु ढुलक पड़ते हैं, शरीर पुलकित हो उठता है। आपकी दृष्टि से ही सम्पूर्ण सृष्टि हरी हो जाती हैं। औषधियाँ फलने फूलने लगती हैं। लतायें झूमने लगतीं हैं, वृक्षों के स्कन्ध पुष्पित लताओं को चूमने लगती हैं, वन हरे हो जाते हैं। उपवन शोभा युक्त बन जाते हैं, पर्वत प्रसन्न हो जाते हैं। सरितायें कल-कल करके गान करने लगती हैं। वे वेग से हँसती हुई बहने लगती हैं। समुद्र उमड़ने लगते हैं। उनमें बारम्बार हिलोरें आती हैं। गर्ज-गर्ज के वह अपनी प्रसन्नता प्रकट करती हैं। सब कुछ स्वामिन् ! तुम्हारे ही कारण हो रहा है। हे सदा प्रसन्न प्रभो ! प्रसन्नता के एक मात्र कारण आप ही हैं। आप के बिना ये झंडी पताका और बन्दन वारों से सजे बजे भवन निरानंद सूने-सूने से प्रतीत होंगे। अतः आप द्वारिका न जायें।

हे यदुकुल शिरोमणि ! आप कहेंगे कि द्वारिका वाले भी तो मेरा दर्शन चाहते हैं। वे भी तो तुम्हारे भाई भतीजे हैं। उनकी भी तो चिन्ता करो। सो, हे विश्वेश। आप तो विश्व की विभूति हो, आप सभी को प्रिय हो सभी आप को चाहते हैं। मेरे सम्मुख यही कठिनाई है। हे विश्वात्मन् ! मेरा मन कभी पांडवों की ओर जाता है, कभी यदुवंशियों की ओर जाता है। कभी

उनके सम्बन्ध सोचती हूँ। कभी इनके सम्बन्ध की। कभी सोचती हूँ, आप के बिना पांडवों का कौन अन्य आश्रय है। आप ही उनके प्राणदाता, जीवनरक्षक तथा सर्वस्व हो। फिर सोचती हूँ। आप यहाँ हैं तो यादवों की क्या दुर्दशा हो रही होगी। इस प्रकार मेरा मन हिंडोले की भाँति इधर से उधर झोटा खाता है। इसका कारण है, सम्बन्ध स्नेह अपनापन, मोह ममता सम्बन्धी स्नेह। हे विश्वमूर्ते ! ये पांडव ही मेरे अपने आत्मीय हैं। ये यदुवंशी ही मेरे पितृकुल के कारण परम प्रिय हैं। मेरे इस ममता पूर्ण स्नेह बन्धन को काट दीजिये। इस मोहमयी स्नेह रज्जु को छिन्न-भिन्न कर दीजिये।

हे मधुपते ! आप ही तो संसार में सब से अधिक मीठे हो। आप से बढ़ कर मधुर कौन होगा ? आप कहोगे, कि यदुवंशी तो मैं भी हूँ, यदुकुल में तो मेरा भी जन्म हुआ है। तो क्या मुझसे भी स्नेह नहीं रखना चाहती, इस स्नेह बन्धन को भी काटना चाहती हो ? सो बात नहीं मदनमोहन ! मैं चाहती हूँ, सबकी मोह ममता को बटोर कर उस स्नेह रज्जु को आप के चरणों में बाँध दूँ। केवल आप के ही चरणारविन्दों में मेरी भक्ति बनी रहे। आपके चरणों में मेरा प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहे। वह किसी प्रकार के विघ्नों की चिन्ता न करे। जैसे गंगा जी निरन्तर समुद्र की ओर बढ़ती ही जाती हैं, बढ़ती ही जाती हैं। बहुत सी नदियाँ दौड़-दौड़कर उनसे मिलने आती हैं किन्तु वे रुकती नहीं। कोई बीच में अन्तराय डालता है, रोक थाम करता है, तो चुपके से दूसरी ओर से निकल भागती हैं जब तक समुद्र में जाकर घुलमिल नहीं हो जातीं तदाकार नहीं बन जाती तब तक शान्त नहीं होतीं। इसी प्रकार किसी दूसरी ओर नहीं, केवल आप की ओर आपके पदारविन्दों की ओर विश्वमूर्ति में मेरी सदा सर्वदा सार्वकालीय स्थायी अनन्य प्रीति

हो जाय। हे वरद! यही मेरी विनय है। हे परमप्रेमास्पद! यही इस अबला की प्रार्थना है।

हे श्याम सुन्दर! तुम सब को अपनी ओर खींचते हो। तुम सर्वशोभा सम्पन्न हो, इसीलिये श्रीकृष्ण कहलाते हो। सम्पूर्ण विश्व से आपका समान सम्बन्ध है, सर्व भूतों के आप सुहृद हैं। जीव के सच्चे सनातन सखा है, फिर भी आप अर्जुन के अनन्य सखा करके विख्यात हैं। इसलिये आप को सभी कृष्ण सखा! पार्थ सारथी कहते हैं। मुझ पृथा का गौरव बढ़ाते हैं। किसी भी सम्बन्ध से आप के नाम के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ते हैं। हे कृष्णवंशावतंश! उस विख्यात् कृष्ण वंश में मेरा भी जन्म हुआ है। आपने भी उसी कुल को गौरव प्रदान किया है। उसी को परम पावन बनाया है। इसीलिये आप वार्ष्णेय कहलाते है। वृष्णिऋषभ इस नाम से बोले जाते हैं। कुल के सम्बन्ध को भी ध्यान में रखकर आपको मुझ मुर्खा का ध्यान रखना चाहिये। हे धर्मावतार! धर्म संस्थापक! आप दावाग्नि के समान प्रचंड पराक्रम युक्त दुर्धर्ष वीर्य वाले हो। वन में जब दावाग्नि लगती है, तो भले बुरे का विचार नहीं करती। जो भी उसके सम्मुख हरा, सूखा, बिन फूलफल वाला या पुष्पित फलित कैसा भी वृक्ष आ जाता है सभी को भस्मसात् कर डालती है। किन्तु आप सब वंशों को नहीं जलाते। दावाग्नि बाँसों से ही उत्पन्न होकर अपने वंश को और आस पास जितने वंश हों सभी को स्वाहा कर देती है किन्तु आपतो भू के भारभूत राजपूतों के वंश को दग्ध करते हैं अधर्मियों के लिये अग्नि के समान हैं। अग्नि का वीर्य तो कभी न कभी क्षय भी हो जाता है, किन्तु हे अमोघ शक्ति वाले स्वामिन्! आपका वीर्य तो अक्षय है त्रिकालबाधित है। किसी भी दशा में किसी भी काल में कभी भी क्षय होने वाला नहीं।

हे गोपाल ! आप इन्द्रियों के अधीन नहीं। किन्तु इन्द्रियाँ ही आपके अधीन हैं। आप गोविन्द हैं। इन्द्र ने कामधेनु ने गोलोक से आकर आपका क्षीराभिषेक किया है। आपने गौओं की रक्षा की उन्हें वात, वर्षा तथा शीत से बचाया। इन्द्र के प्रबल कोप से उनका उद्धार किया। उनके महान् दुःख को मिटाया। जिस प्रकार आप गौओं के रक्षक हैं वैसे ही ज्ञान दाता विप्रों के भी आप ही एक मात्र बल हैं। अनन्य रक्षक हैं। क्षत्रिय बल से वैश्य धन से और शूद्र सेवा के बल पर अपनी-अपनी रक्षा कर सकते हैं। किन्तु ब्राह्मण तो मुट्ठी भर चावल का भी संग्रह अपने लिये नहीं रखता। कोई कार्य भी नहीं करता। निरंतर आप की ही आराधना में लगा रहता है, तब उस अनन्य चिन्तन करने वाले विप्र के योगक्षेम के वहन का भार आप स्वयं अपने कंधों पर ले लेते हैं। इसीलिये आप ब्रह्मण्यदेव कहलाते हैं। विप्रों की ही भाँति सुरों के भी सर्वस्व आप ही हैं। आप के बल पर देवता फूले-फूले फिरते रहते हैं। संसार द्वारा पूजे और माने जाते हैं। सभी उन्हें बलि देते हैं। यज्ञों में भाग पाते हैं। हे सुरेश्वर ! आप सर्वदा उनके दुःख दूर करने के लिये व्यग्र बने रहते हैं। आपके अवतार का कारण ही विप्र धेनु सुर संत परित्राण हैं। हे माधव ! योगी जन ही अपने संकल्प से नूतन सृष्टि रच लेते हैं। जो चाहें सो कर लेते हैं आप तो योगियों के भी ईश्वर हैं। इसीलिये योगेश्वर कहलाते हैं। यही नहीं योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं। योगेश्वरेश्वर हैं।

हे जगतगुरो ! गुरु तो कुछ ही व्यक्तियों के हृदय के अज्ञान को दूर करते हैं। किन्तु आपतो गुरुओं के भी अज्ञान को दूर करने वाले हैं, इसीलिये गुरूणांगुरु कहलाते हैं। सम्पूर्ण जगत् के एक मात्र गुरु आप ही हैं। आप समस्त ऐश्वर्य समस्त वीर्य, समस्त श्री और समस्त ज्ञान के एक मात्र आलय

है। सब के स्वामी हैं इसीलिये आप ही एक मात्र भगवान् हैं। हे भगवन्! मेरी विनय को स्वीकार करो। हमें त्यागो नहीं। हमारे ऊपर सदा कृपा बनाये रखो। अपने स्नेह पाश में जकड़े रहा करो।"

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार माता कुन्ती जी की स्तुति सुनकर मायापति मदनमोहन बुआ की ओर देखकर हँस पड़े और बोले—"अच्छी बात है मैं नहीं जाता।" इतना कह कर रथ से उतर पड़े महलों में लौट गये। शरशैया पर पड़े अपने भक्त भीष्म पितामह का उन्होंने स्मरण किया। अब भीष्म पितामह ने जो भगवान् की अद्भुत स्तुति की है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

पितु पति कुल को मोह मेंटि माधव! मम माया।
तव पद पदुम प्रनाम करैं नित-नित यह काया॥
गो द्विज-सुर दुख दूरि करो गोविन्द कहाओ।
दरपित नृप कुल होहिं अगिनि सम तिनिहि जराओ॥
हे विश्वम्भर! वेदवित! विभुँ! विश्वेश्वर! विश्वपति!
गंग प्रवाह पयोधि सम, बढ़हि सतत तव चरन रति॥

—:❀:—

भीष्मपितामहकृत—भगवत् स्तुति

(८)

विशुद्धया धारणया हताशुभ—
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधश्रमः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम—
स्तुष्टाव जन्यं विसृजञ्जनार्दनम् ॥*

(श्री भा० १ स्क० ९ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

करिकें कुन्ती विनय अश्रुजल अरघ चढ़ायो।
मोहन मृदु मुसकाय मातु मद मोह मिटायो॥
उतरे रथ तैं तुरत महल महँ माधव आये।
पांडु सुतनि हठ करी दिवस कछु अरु ठहराये॥
शंतनु-सुत शर सेज पै सोवत तिनि पीरा हरी।
दये दरस दुख दलन तिनि, गद्गद् स्वर इस्तुति करी॥

जीवन की समस्त साधनायें इसीलिये हैं कि अन्त काल में भगवान् का नाम लेते हुए शरीर शान्त हो। अन्त समय में

---

* सूतजी बोले—"मुनियो! शरशैया पर पड़े जिन भीष्म पिता के सम्पूर्ण अशुभ विशुद्ध धारणा से क्षीण हो गये हैं श्रीकृष्ण भगवान् के दर्शनमात्र से जिनकी असह्य शस्त्र व्यथा सर्वथा शान्त हो गयी है वे गांगेयभीष्म अपनी समस्त इन्द्रियों के वृत्ति विलास को रोककर तनु त्यागते समय सावधानता पूर्वक जनार्दन भगवान् वासुदेव की स्तुति करने लगे।

भगवान् का नाम तभी आवेगा, जब उसका पहिले से ही अभ्यास हो। मरते समय प्राणी को अपने समस्त पूर्वकृत कृत्य याद आते हैं, जिन कर्मों का संस्कार प्रबल होता है, उन्हीं में मन अटक जाता है और अन्त में जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है। परीक्षार्थी वर्ष भर परिश्रम इसीलिए करता है, कि परीक्षा के दिन हमें प्रश्नपत्रों के उत्तर याद आजायँ। परीक्षा तो एक दिन ही होती है, वह साचले परीक्षाके दिन ही लिखदेंगे अभी से प्रयत्न क्यों करें, तो वह कभी परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हो सकता। लड़कियाँ बाल्यकाल से ही साज शृंगार करती हैं, घर गृहस्थी के काम सीखती हैं, गुड्डा गुड़ियों से प्यार करती हैं, पति के सम्बन्ध में सोचती हैं। उनकी इच्छा यही होती है हमें पति का प्रेम प्राप्त हो। जो बाल्यकाल से ही शिक्षा प्राप्त न करेगी, घर में सब के साथ सद्व्यवहार करना न सीखेगी, घर के कार्यों में मन न लगावेगी, उसे सहसा ससुराल में जाते ही पति प्रेम कैसे प्राप्त हो जायगा। जैसे परीक्षा में उत्तीर्ण होने को पति प्रेम प्राप्त करने को पहिले से ही प्रयत्न करना होता है, चिरकाल तक अभ्यास करना होता है, वैसे ही मृत्यु काल में भगवत् स्मरण हो, इसके लिये सम्पूर्ण जीवन को विशुद्ध बनाना पड़ता है। पग पग पर ध्यान रखना पड़ता है। हमसे किसी का उपकार न हो, हम किसी के साथ कभी कठोर व्यवहार न करें, कभी असत्याचरण न करें असत्य भाषण न करें, अपने अन्तः करण को सदा अपने अधीन रखें, सदा सर्वदा धर्म पूर्वक सभी कार्य करें, बड़ों की वेदज्ञों की पूज्यों की सदा सेवा करें, उनके प्रति श्रद्धा भक्ति का भाव रखें, कभी कार्य करने में आलस्य न करें, कर्तव्य कर्मों में सदा सर्वदा लगे रहें। इस प्रकार जो सदा संयम पूर्वक जीवन व्यतीत करता है, सदाचरण करता है, अन्त में उसीको सद्गति प्राप्त होती है, उसी को भगवत् स्मरण होता है और वही पुण्यलोक

जाता है। सत्य व्रत भीष्म उन्हीं पुण्यश्लोक महापुरुषों में से हैं। उनको अन्त में भगवत् स्मरण ही नहीं हुआ स्वयं साक्षात् भगवन् ही अन्त समय में उनके सम्मुख समुपस्थित हो गये, वाणी से भगवन्नामों का उच्चारण करते हुए, मन बुद्धि को उनमें ही लगाये हुए, नेत्रों से उनके ही लोकाभिराम दर्शनों को करते हुए उन्होंने अपनी इच्छा से इस शरीर का त्याग किया और परमपद को प्राप्त किया। उन शन्तनुसुत गंगानन्दन, परम धर्मात्मा सत्य व्रत भीष्म की हम वन्दना करते हैं।

सूतजी बोले—मुनियों ! महाभारत युद्ध के अनन्तर जब भगवान् द्वारका जी को चलने लगे तो कुन्ती माता ने उन्हें रोक लिया। धर्मराज को शिक्षा दिलाने के लिये भगवान् वासुदेव सर्व धर्मज्ञ भीष्म पिता जी के समीप ले गये। धर्मराजने जो जो भी जिस जिस विषय के प्रश्न किये पितामह ने सभी का संक्षेप और विस्तार के साथ वर्णन किया। वह सभी प्रश्नोत्तर महाभारत के शान्ति तथा अनुशासन पर्वों में विस्तार से वर्णित है वह उपदेश संस्कृत वाङ्मय का कोष है। उसीका विस्तार सभी नीति धर्म शास्त्रों में वर्णित है। वह उपदेश सभी शास्त्रों का निचोड़ है।

धर्मोपदेश देने के अनन्तर पितामह ने धर्मराज से कहा—बेटा ! तुम अब राजधानी में जाओ। मृत्यु मुझे मेरी इच्छा के बिना मारने में असमर्थ है, मैं जब सूर्य उत्तरायण होंगे, तब शरीर का त्याग करूँगा। जब सूर्य उत्तरायण हो जायें, तब तुम पुनः आजाना।"

यह सुनकर धर्मराज राजधानी में चले गये, वहाँ कुछ राजकाजों में फँस गये। उन्होंने पंडितों से पूछा—"सूर्य उत्तरायण कब होंगे ?"

पंडितों ने कहा—"महाराज ! सूर्य तो उत्तरायण हो भी गये मकर की संक्रान्ति बीत चुकी।"

यह सुनकर भगवान् वासुदेव ने कहा—"धर्मराज ! चलो चलो, गंगानन्दन भीष्म का अन्तकाल अब सन्निकट ही है, हम सब चलकर उनके अन्तिम दर्शन करें।"

इतना सुनते ही धर्मराज ने कहा—"पितामह ही हमारे सर्वस्व हैं। हमारे इस सम्पूर्ण राज्य के वे ही यथार्थ स्वामी हैं, मेरे पिता पितामह तो केवल न्यायरक्षक थे। हमारे कुल के वे ही श्रेष्ठ हैं, मैं उनका अन्तिम संस्कार सम्राटों के उचित करना चाहता हूँ, अन्तिम संस्कार की सम्पूर्ण सामग्री विपुल मात्रा में पहुँचायी जाय। वेदज्ञ ब्राह्मण अग्नि लेकर चलें। सूत मागध बन्दी मेरे पूज्य पितामह की विरुदावली गावें, हम सब परिवार के लोग अत्यन्त धूमधाम से उनका अन्तिम संस्कार करेंगे, उनका अन्तिम उपदेश सुनेंगे, उनसे पुनः धर्म का मर्म ग्रहण करेंगे।"

धर्मराज की आज्ञा सुनते ही अन्तिम संस्कार का सामान विपुल मात्रा में गाड़ियों पर लदकर भेजा जाने लगा। बड़े बड़े पात्रों में शुद्ध गौ का घृत भेजा गया। बहुत सा चन्दन, खस, अगर, तगर, छारछबीला तथा अन्य सुगन्धित द्रव्य भेजे गये। दान देने को बहुत से रेशमी वस्त्र, सुवर्ण मुद्रायें, विविध भाँति के सुन्दर सुन्दर पात्र, हाथी, घोड़ा, रथ तथा वाहन भेजे गये। सुन्दर पुष्प मालायें फलतथा पूजनकी समग्र सामग्री भेजी गयी। पितृमेध कार्यों में कुशल बहुत से पंडित पहिले ही वहाँ सुन्दर सवारियों पर बिठाकर भेज दिये गये।

धर्मराज अपने समस्त परिवार वालों को साथ लिये हुए पितामह के समीप चले। उनके साथ भगवान् वासुदेव भी थे। सबके साथ धर्मराज युधिष्ठिर उस स्थान पर पहुँचे जहाँ शरशैया पर शन्तनुनन्दन पड़े हुए थे। उनके दोनों नेत्र बन्द थे, ओष्ठ कुछ

कुछ हिल रहे थे. और वे शान्त मुद्रा में पड़े हुए थे। उनके चारों ओर पंक्तिबद्ध सैनिक उनकी सभा में तथा सम्मान में खड़े हुए थे। उस नरशार्दूल को शान्तभाव से शरशैया पर पड़े देखकर सभी के नयनों से जलधारा बहने लगी। रोते रोते धर्मराज ने हाथ जोड़कर उच्च स्वर से कहा—"पितामह! मैं आपके पाद-पद्मों में प्रणाम कर रहा हूँ, मेरा नाम युधिष्ठिर है, यदि आप मेरी बात सुनते हों,तो तनिक नेत्र खोलकर मुझे दर्शन दें और मुझे आज्ञा दें मैं आपके लिये क्या करूँ। मैं आपके परिवार के छोटे बड़े सभी लोगों को आपके दर्शनों के लिये लेता आया हूँ, अन्तिम संस्कार की सभी सामग्री भी समुपस्थित है अब आप हमें कुछ आज्ञा दें।"

यह सुनकर उस मानवसिंह ने अपने बड़े बड़े विशाल नेत्र खोले। चरणों में सिर रखकर सुबकते हुए धर्मराज का विशाल हाथ पकड़कर वे बोले—"धर्मराज! तुम समय से मेरे पास आ गये, यह मङ्गल की बात है। देखो, मुझे आज शरशैया पर पड़े पड़े अट्ठावन दिवस हो गये। अब सूर्य उत्तरायण हो गये हैं माघ का महीना आ गया है। आज माघ कृष्णा अष्टमी है अर्थात् माघ मास के तीन भाग और शेष हैं। अब मैं इस शरीर को त्यागना चाहता हूँ। भगवान् वासुदेव भी आये हैं न?"

तभी भगवान् ने कहा—'पितामह मेरा भी प्रणाम स्वीकार करें, मैं उपस्थित हूँ।"

धर्मराज ने कहा—"महाराज! ये तो सदा उपस्थित रहते ही हैं। हमें कुछ अन्तिम उपदेश दीजिए।"

पितामह अपनी उसी मेघ गंभीर वाणी से बोले—"बेटा! तू धर्म के मर्म को भली-भाँति जानता है, तैंने अपने समस्त संशयों को जिज्ञासा द्वारा दूर कर दिया है। तू चारों वेदों का ज्ञाता है, तैंने वृद्धों की विद्वानों की गुरुओं की श्रद्धा पूर्वक सेवा की है

तुझसे अब कहना ही क्या ? तू सब के साथ भेद भाव से रहित होकर व्यवहार करना, किसी को शत्रु मत समझना, अपने सभी आश्रितों का निरंहकार होकर पालन पोषण करना, भगवान् को कभी भी न भुलाना, धर्म का आचरण करना, प्राणी मात्र से प्रेम रखना भगवान् वासुदेव तेरा मंगल करेंगे। अब तू मुझसे कुछ मत पूछे। मैं अब भगवान् वासुदेव की स्तुति करना चाहता हूँ और उनका ही ध्यान करते-करते इस पांच भौतिक शरीर का परित्याग करना चाहता हूँ। भगवान् को तनिक मेरे सम्मुख बिठा दे।"

यह सुनकर नन्दनंदन भगवान् वासुदेव स्वयं ही उठ कर पितामह के सम्मुख आ गये और उनके

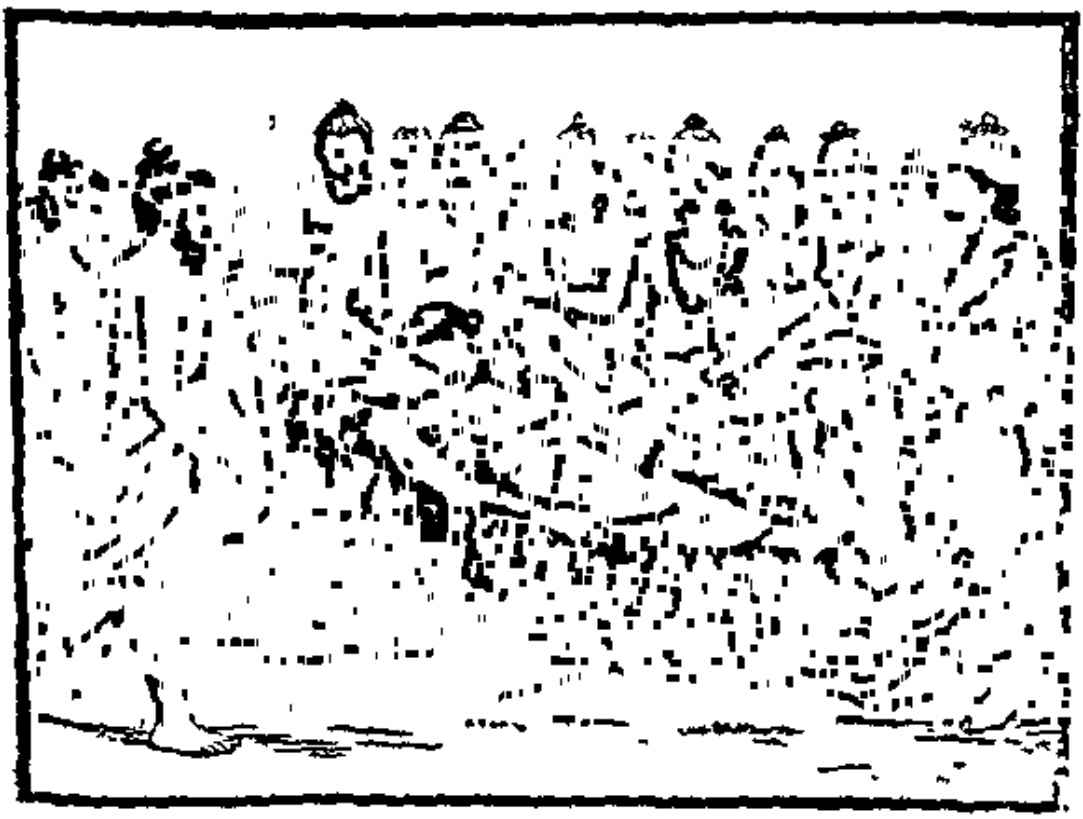

विशाल हाथ को अपने हाथ में लेते हुए तथा उन्हें शनैः-शनैः सहलाते हुए बोले—"हे धर्मज्ञ ! हे महाबाहो ! मैं वासुदेव कृष्ण समुपस्थित हूँ।"

भगवान् श्रीकृष्ण को सम्मुख उपस्थित देखकर बूढ़े के दोनों नयन भर आये और नेत्रों की कोरों से टप-टप आंसू गिरने लगे। भगवान् वासुदेव ने उन्हें अपने पीताम्बर से पोंछ दिया। तब गद् गद् वाणी से भीष्म बोले—"हे पुरुषोत्तम! आप क्षर अक्षर दोनों से परे हो। हे वैकुण्ठ! आप सर्वोत्तम स्थिति में सदा स्थित रहते हो। हे कृष्ण! आप सभी प्राणियों को तथा विशेष कर अपने अनुगत भक्तों को अपनी ओर आकर्षित करते रहते हो। हे पुण्डरीकाक्ष! आप की चितवन अमृत मयी है उस से मुझे अन्तिम समय देख लो। हे सनातन-पुरुष! आप सबके कारण हैं। आप का कारण कोई नहीं। हे परमात्मन्! आप प्राणी मात्र के प्रेरक नियामक हो। हे सर्वरूप! आप इस चराचर जगत् में विराट् रूप से, पुरुषरूप से, जीवरूप से तथा अणुरूप से व्याप्त हैं। हे वासुदेव! आप सर्वत्र निवास करते हैं! हे हिरण्यात्मा! सम्पूर्ण भूत आपके ही भीतर विद्यमान हैं। हे देवदेवेश! आप सभी सुरासुर द्वारा वन्दित हैं। हे शंखचक्र-गदा-धारिन्! आपको मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ। स्वामिन्! आप भक्तवत्सल हैं। ये पांडव आप के आज्ञाकारी भक्त हैं इसीलिये आप इन पर इतनी कृपा करते हो। मैंने दुष्ट बुद्धि दुर्योधन से बारम्बार कहा—"तू भगवान् वासुदेव की शरण में जा, वे तीर्थ स्वरूप हैं। उनकी शरण में जाने से कल्याण ही है। किन्तु वह मूर्ख माना ही नहीं। अपनी मूर्खता से स्वयं तो मरा ही धराधाम के अनेकों लोगों का भी विनाश कर गया। होनी तो होकर ही होती है जो आप कराना चाहते हैं, वह होकर ही रहता है। उसे कोई टाल नहीं सकता। आप साक्षात् नारायण हैं भक्तों को सुख देने के लिये मानव शरीर से धराधाम पर अवतरित हुए हैं। अब आप मुझे शरीर त्यागने की आज्ञा प्रदान करें।

जब आप आज्ञा देंगे तभी मैं इस शरीर का परित्याग करूँगा जब तक आप आज्ञा न देंगे ऐसे ही पड़ा रहूँगा।"

भगवान् ने कहा—"हे नरशार्दूल! अब आप प्रसन्नता पूर्वक अपने शरीर का परित्याग करदें अब स्वच्छन्द मृत्यु योगियों को जो उत्तरायण काल अभीष्ट है, वह समुपस्थित है।"

भीष्मजी ने कहा—"अच्छी बात है, यदि आपकी आज्ञा है, तो एकबार मैं आपकी अन्तिम स्तुति और कर लूँ फिर आपके नामों का स्मरण करते-करते मनसे आपका ही ध्यान धरते-धरते इस शरीर की इहलौकिकलीला समाप्त करूँगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर पितामह ने अपनी समस्त चित्त की वृत्तियों को रोक लिया। वे अन्य प्रकार की सभी बातों से मौन हो गये। अपने बड़े-बड़े उत्फुल्ल कमल के समान विशाल नयनों से अपने कर में करको थामे सम्मुख बैठे चतुर्भुज मूर्ति पीताम्बरधारी बनमाली को एक टक भाव से निहारते रहे। अन्तःकरण में उन्हीं की मनोहर मूर्ति को धारण करके अपनी समस्त इन्द्रियों के वृत्ति विलास को रोककर सावधानी के साथ स्तुति करने लगे। मुनियो! भीष्म पितामह की अन्तिम स्तुति का एक-एक शब्द अनमोल है। उन का वर्णन मैं यथामति आगे करूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

हे विराट! वैकुण्ठ! विश्वव्यापक! विख्याता!
त्रिभुवनपति! त्रयजनक! त्रिविक्रम! त्रिभुवन त्राता॥
करी कामना रहित बुद्धि बनवारी! विधिवत।
सो अब विषय भुलाय होहि तव चरन सतत रत॥
परमानन्द स्वरूप प्रभु, तऊ विविध क्रीड़ा करो।
प्रकृति-पुरुष आश्रय बनो, लीलाहित भुवननि भरो॥

———

भीष्म स्तुति(१)

(६)

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा
भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुम्
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥

(श्री भा० १ स्क० ९ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

श्याम तमाल समान सुखद तनु सरस सजीलौ।
मोरमुकुट छहराय छपक छवि छैल छबीलौ ॥
त्रिभुवन-वर कमनीय कलित कर कमल रँगीले।
नयन सरस सुख सदन सुधा-रस सने कँटीले ॥
रथ हाँकत मुख भरि हँसत, लसत पीत पट लट ललित।
पारथ हित चित चलित अति, ममचित उत धावै सतत ॥

भगवान् की अद्भुत लीलाओं को स्मरण कर करके उनकी पूर्व दृष्ट या श्रुत छवि को नयनों में भरि भरि के जो स्तुति की जाती है उसका पूर्व मानसिक चित्र हृदय पर ज्यों का

स्तुति करते हुए भीष्म पितामह कह रहे हैं— अब इस अन्तिम समय में नाना उपायों द्वारा कामनारहित मेरी यह बुद्धि उन महाविभूति वाले सात्वत श्रेष्ठ श्रीकृष्ण में ही लग जाय जो यद्यपि सदा स्वसुख में ही निमग्न रहते हैं, किन्तु कभी-कभी मनोरंजन के लिए लीला के निमित्त जिस प्रकृति से संसार प्रवाह बहता है उसका आश्रय लेकर क्रीड़ा भी करने लगते हैं।

त्यों अङ्कित हो जाता है। उस चित्र को मन से ही निहारते हुए जो स्तुति की जाती है उसका एकाग्र चित्त से चिन्तन स्मरण मनन और पाठ किया जाय तो पाठकों की दृष्टि के सम्मुख भी वैसा ही चित्र खिंच जायगा। जिससे जीवन भरके सभी अशुभ मिट जायँगे। मुमूर्षु पुरुषों के लिए भीष्म स्तुति से बढ़कर दूसरी साकार सजीव प्रत्यक्ष स्तुति दूसरी नहीं है। भीष्म जी ने भगवान् की जो अद्भुत अलौकिक त्रिभुवन सुंदर लीलायें प्रत्यक्ष देखी हैं उन्हीं को मरते समय वर्णन किया है, और उन्हीं लीलाओं का चिन्तन करते करते इस पांचभौतिक देह का परित्याग किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मृत्युसमय सम्मुख विराजमान भगवान् वासुदेव के दर्शन करते हुये पितामह भीष्म कह रहे हैं—हे श्यामसुंदर! मुझे जो करना था, वह मैं कर चुका। मुझे सदा यही चिन्ता बनी रहती थी, मेरा मन विषय वासनाओं में न फँसे, मैं संसारी भोगों से सदा बचता रहूँ, तथा अपने स्वधर्म का भी पालन करता रहूँ। वनों में कन्द मूल, फल खाकर मुनिव्रत साधकर हिंसा विग्रह युद्धादि से विरत होकर वास करना यह क्षमाशील ब्राह्मणों का धर्म है, किन्तु मेरा जन्म उन क्षत्रियों में हुआ जिनका शासन करना ही धर्म है। कुपथगामियों तथा वीरमानियों के दर्प को दलन करना ही जिनकी कुल परम्परा है, सनातन मर्यादा है। अतः कुल परम्परा का पालन करते हुए राज्य का शासन चलाते हुए भी—मैं जल में रहने वाले पद्मपत्र की भाँति उसके भोगों से सदा पृथक् ही रहा। ऋषि महर्षियों ने भगवान् वेद व्यास ने मुझे जो उपाय बताये उनका मैं यथासाध्य पालन करता रहा। नाना प्रकार के धर्माचरण करता रहा। उनका फल यह हुआ कि मेरी बुद्धि सर्वथा कामनाहीन बन गयी, मेरी भोगेच्छा विलीन हो गयी। बुद्धि विषयविरत बन गयी।

उनमें जो विषय सुख जन्य कामनायें भरी हुई थीं वे निकल गयीं किन्तु रिक्त पात्र में से अशुद्ध वस्तु निकाल कर उसमें गंगाजल या अमृत कोई रस तो भरना ही चाहिये। विषय विरत-बुद्धि को कहीं भी तो लगना चाहिये। मन को कहीं भी तो अटकाना चाहिए। चित्त के लिये चिन्तन का कोई भी तो विषय होना चाहिये। इसलिये इन पार्थ सारथी प्रभु के पादपद्मों में यही प्रार्थना है, कि मेरी यह कामनारहित बनी बुद्धि उन यदुकुल चन्दन देवकीनन्दन, मोर मुकुटधारी, बाँके बिहारी भगवान् वासुदेव में लग जाय जो परमानन्द स्वरूप हैं, अज हैं, अव्यक्त हैं माया प्रपंच से पृथक हैं। जिन्हें आनन्द के लिये अन्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं, इच्छा नहीं, जो स्वसुख में ही सदा सन्तुष्ट रहते हैं। जिन्हें दूसरे की आवश्यकता ही नहीं। जो आत्मरति हैं आप्तकाम आत्माराम हैं। फिर भी कभी लीला के लिये प्रकृति को आश्रय दे देते हैं क्यों कि वे लीलाधारी ही ठहरे। विहार के लिये प्रकृति के साथ खेल करने लगते हैं। क्योंकि विहार करना उनका स्वभाव है। आश्रय पाकर प्रकृति अपना तानावाना पूरने लगती है। यह सृष्टि परम्परा आरम्भ हो जाती है। सृष्टि रचना के खेल का भी गणेश हो जाता है। यह जगत् प्रवाह बहने लगता है। लीला धारी विहारी उसमें घुल मिल कर खेलते हुए भी तटस्थ बने रहते हैं। उसमें लिप्त नहीं होते। निर्लिप्तभाव से साक्षी बने रसास्वादन करते रहते हैं। नाटक में सम्मिलित होते हुए भी निर्विकार निरंजन निर्लेप बने विद्यमान रहते हैं। ऐसे उन लीलाधारी इन श्यामसुंदर में मेरी बुद्धि चिपक जाय। इनके अतिरिक्त किसी के सम्बन्ध में विचार ही न करें।

जो श्याम तमाल के समान कृष्ण वर्ण के हैं, जिनकी कान्ति जल भरे मेघ के समान वर्षा कालीन दूर्वा के समान, पुष्पित अलसी के समान, तथा मयूर के कमनीय कंठ हैं।

जो सुवर्ण वर्ण के रेशमी पीताम्बर को धारण किये हुए हैं। सूर्य की रश्मियों के समान जो चम-चम करके चमक रहा है। वायु के कारण हिलने से जो दम-दम दमक रहा है, उस पीताम्बर को जो बारम्बार सम्हालते जाते हैं। जिनका मंद मुसकानमय मधुर मुख शरद् कालीन कमल के समान प्रफुल्लित है, जो शोभा का धाम है, आभाका अयन है, चातुरी का चयन है, नयनों का शयन-अयन है। जिस पर काली-काली सटकारी घुँघराली अलकावली लटक रही है। हिल-हिल कर भ्रमरावली की भाँति अरविन्दानन के रस का पान करती सी दिखायी दे रही हैं। कुंडलों की आभा से गोल-लोल कपोल द्वय आरसी के समान चमक रहे हैं। ऐसे भुवनमोहन, सकलजगत्सोहन रूप को धारण करने वाले पार्थ सारथी श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र में मेरी अहैतुकी भक्ति हो, निष्काम प्रीति हो।

युद्ध के समय की जो अद्भुत अलौकिक झाँकियाँ मैंने समय-समय पर की हैं, जिनकी छाया मेरे हृदय पटल पर उतर गई है और अब जो कुछ धुँधली सी पड़ गयी हैं, वे स्मृतियाँ इन्हीं की कृपा से पुनः चमक उठें। अब वे पुनः अन्तःकरण की भित्ति पर सदा सर्वदा के लिये वज्रलेप से अंकित हो जायँ। जो न कभी मिटि सकें न कभी फीकी ही पड़ सकें। अहा! युद्ध में एक दिन कैसी अद्भुत झाँकी इन लीला धारी की मुझे हुई थी। शरद् कालीन उत्फुल्ल कमल के समान मुख पर घोड़ों की टाप से उड़ी हुई धूल के छोटे-छोटे कण अलकों पर, पलकों पर, कपोलों पर आवृत थे। मानों कमल पर किसी ने मट मैला पराग बिखरे दिया हो। घुँघराली अलकावली कपोलों का स्पर्श करती हुई निरन्तर हिल रही थी,

मानों धूलि को झाड़ रही हो, कि और चाहे कहीं भले ही जम जाओ कपोलों के समीप मत आओ इन पर हमारा अधिकार है अथवा हिल हिल कर श्यामसुन्दर को निषेध कर रही हों कि इतना श्रम मत करो कपोल रो रहे हैं, उनके छिद्रों से पानी बह रहा है, अथवा कपोलों के निकले स्वेद बिन्दुओं से मना करती हैं कि इस समय तुम मत निकलो नहीं तो धूल तुमसे मैत्री करके आर्द्र बनकर कपोलों पर अधिकार जमालेगी। कैसे भी हो वे घुँघराली काली सुगंधित तैल से सनी लटें हिल रही थीं। मैं रथी को छोड़ कर सारथी के ही शरीर को अपने तीक्ष्ण बाणों से बेध रहा था। मैं सोच रहा था आज लाल जी को लाल ही बनाकर छोड़ूँगा। आज इन्हें रक्त रंजित बनाकर दर्शन करूँगा। आज इनको इन्हीं के रक्त से पूजा करूँगी। आज मैं रक्त का ही पाद्य अर्घ्य आचमनीय और स्नानीय जल चढ़ाऊँगा। मेरे तीक्ष्ण बाणों से उनका दृढ़ कवच छिन्न-भिन्न हो रहा था। रक्त की धारायें शरीर से निकल रही थीं। उन रक्त रंजित, मन कवचधारी, वृन्दावन विहारी, वैजयन्तीमालाधारी जनमनसुखकारी श्यामसुन्दर में मेरा चित्त स्थिर हो जाय। मन उन्हीं की मनोहर मूर्ति का ममता के साथ मनन करता रहे।

अहा! वह कैसी छटा थी, युद्ध के पूर्व मैंने कभी वैसी छटा देखी ही नहीं थी मैं तो अवाक् रह गया, सारथी के स्थान में उन्हें बैठा देखकर चकित रह गया।

मैं अपनी समस्त सेना को सजाकर, वृहद् व्यूह बनाकर सैनिकों को समर सम्बन्धी शिक्षा देकर, सेनापति के पद पर अभिषिक्त होकर, धनुष बाण से सुसज्जित होकर रथ में बैठ-

,कर वीरता के साथ पांडव सेना के सम्मुख खड़ा होगया। मेरे पीछे लाखों सैनिक खड़े थे, वे मेरी आज्ञा की ही प्रतीक्षा में खड़े थे, उन सब को युद्ध करने का अत्यन्त उत्साह था। दुर्योधन के सभी भाई पूर्व वैर को स्मरण करके मतवाले बने हुए थे। पांडव भी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे, उनका सेनापति धृष्टद्युम्न भी सैनिकों को आज्ञा देने को प्रस्तुत ही था, रण के बाजे बज रहे थे, बाजों पर बजते हुए वीरगान को सुनकर योद्धाओं के हृदयों में हिलोरें उठ रहीं थीं। उस समय हमने देखा वानर की विशाल ध्वजा वाला, चार श्वेत घोड़ों से युक्त एक रथ आकर उभय सेनाओं के बीच में खड़ा हो गया। सभी सैनिक चकित हो गये। सब समझने लगे यह सन्धि सन्देश लेकर युद्ध को बन्द करने का तो अभियान नहीं है, उस रथ का रथी तो बैठा रहा केवल सारथी ने उठकर एकबार कौरव पक्षीय सेना को अपनी तिरछी चितवन से देख भर लिया। जिस पार्थ सारथी की तनिक सी दृष्टि से विपक्षी वीरों के उत्साह भंग हो गये, जो गतायुसु बन गये, उन पार्थ सारथी युगल अरुण चरणों में मेरा अनन्य अनुराग हो।

क्या कहूँ, उस समय की शोभा का, वह तो दर्शनीय ही घटना थी। सारथी ने उठकर विपक्षी वीरों के बल, उत्साह तथा आयुको दृष्टि पात से ही समाप्त कर दिया और वह पुनः अपने आसन पर बैठ गया, किन्तु अबके रथी उठा, उसने सेना के अग्रभाग में यह देखना चाहा कि मैं युद्ध करूँगा किस से। सब से पहिले उसने मुझे देखा; बोल उठा—ये तो मेरे पिता के भी पिता बाबा हैं, जिनकी शरीर को मैं सदा अपने धूलि भरे वस्त्रों से मैला कर देता था, जो मुझे कसकर छाती से लगा लेते थे और मेरे गालों को चूमते हुए अघाते नहीं थे। क्या देवस्वरूप मैं अपने बाबा के ऊपर बाण छोड़ूँगा। अरे, ये तो मेरे आचार्य भगवान् द्रोण भी अस्त्र शस्त्रों

से सुसज्जित मुझसे ही लड़ने के लिये खड़े हैं। जिनके कमल चरणों को हम सुगंधित सुमनों से ढक देते थे, जिनका कंठ हम सब भाइयों की श्वेत पुष्पों की सुगंधित मालाओं से भर जाता था, जो अपने अमृतस्रावी कर कमलों से हमारे सिर को छू देते थे, जिनके कृपा भार से हम सदा दबे ही रहते थे, कभी जिनको ऊँचा सिरकर के देखा नहीं जिनके सम्मुख आते ही हमारे कंधे आप से आप झुक जाते थे, दोनों हाथ अपने आप एक साथ बाँध जाते थे, उन दयाके सागर कृपा के समुद्र विद्या के वारिधि दूसरे प्रजा पति के समान भगवान् द्रोण से हमें लड़ना पड़ेगा। उनके सुन्दर वृद्धावस्थापन्न शरीरको बाणों द्वारा मुझे बेधना पड़ेगा। अरे, यह क्या ये तो मेरे मामा शल्य हैं, क्या आज ये भी भानजे का प्राण लेंगे। क्या आज ये मुझे अपनी गोद में बिठाकर प्यार न करेंगे। जिनके दिये हुए खिलौनों को देखकर अब भी मुझे बाल्य काल की वे मीठी मीठी स्मृतियाँ हृदय को द्रवीभूत करती हैं, उन्हीं अपने माननीय मामा से हमें युद्ध करना पड़ेगा। अरे यह क्या सेना के अग्रभाग में चाचा, ताऊ भैया, भतीजे, मामा नाना, बहनोई, साले, श्वसुर, दौहित्र, भानजे तथा सभी सगे सम्बन्धी ही तो अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित खड़े हैं। छिः बड़ा अनर्थ है, अत्यंत ही अन्याय है, जघन्य पाप है। तनिक सी पृथिवी के लिये, सेर भर अन्न के लिये ऐसा अनर्थ। राम! राम! कैसा बीभत्स कृत्य करने को मैं समुपस्थित हुआ हूँ।" उसने धनुष उतार कर रथ में फेंक दिया। और गर्ज कर कहा—"गोविन्द! रथ को लौटा ले चलो, मैं युद्ध नहीं करूँगा। सम्बन्धी संहार करने की मेरी इच्छा नहीं है।'

"हा! उस समय उनकी मुद्रा कितनी मनोहर थी। उस समय उन्होंने सारथी-धर्म का उल्लंघन किया। रथी की आज्ञा का पालन

नहीं किया। क्रोध भी नहीं किया। हँसते रहे और खड़े रहे। हँसते हुए बोले—"अर्जुन! यह तेरी कुमति है, अज्ञान है।

अर्जुन ने कहा—"कुमति है तो उसे दूर करो।" हँस पड़े भगवान् और बोले—चेला बने बिना कुमति दूर कैसे होगी? चेला बन जा। अर्जुन ने कहा—शिष्यस्तेऽहं" हाँ बन गया चेला अब इस कुमति रोग का वैद्य बनकर अमोघ औषधि दीजिये। अब अज्ञान अन्धकार को मेंट कर ज्ञानालोक प्रदान करके गुरु के गौरव को सार्थक कीजिये। अहा! उस समय अर्जुन की आँख में छाये तिमिर को जिन्होंने ज्ञानाञ्जन शलाका से छिन्न भिन्न कर दिया, जिन्होंने भूले भटके पार्थ को परिष्कृत पथ पर पहुँचाया, जिन्होने अंधकारमयी अर्जुन की अविद्या को आत्म विद्या से अपहरण किया जिन्होंने युद्ध से विरथ पार्थ को पुनः युद्ध में प्रवृत्त कराया। उन भवभयहारी, शत्रुसंहारी, लीलाधारी गीता ज्ञान के प्रवर्तक प्रभु के पादपद्मों में मेरी अनन्य भक्ति हो, सब से अधिका अनुरक्ति हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भीष्म पितामह भगवान् की पूर्व काल में देखी हुई मनोहर झाँकियों का वर्णन कर करके भगवान् से भक्ति की भिक्षा माँगने लगे। आगे कुछ थोड़ी सी झाँकियों को वे और कहेंगे उनका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब इस अनुपम अनुराग प्रसंग को दत्तचित्त होकर सावधानी के साथ श्रवण करेंगे।

छप्पय

हय-खुर रज अति उड़त करत तम दशहु दिसनि महँ।
आश्रय गगन न पाइ आइ पुनि लौटि लटनि महँ॥
अलकनि पलकनि परसि कपोलनि अति सुख पावै।
गुल गुल गद्दी पाइ सिहावै तहँ जमि जावै॥

शोभा सुन्दर श्याम के, धूरि धूसरित वदन की।
मिटहि न हिय लिखि जाय हठि, झाँकी मोहन मदन की॥

पद

झाँकी ऐसी मम मन भावै।
नील तमाल सरिस रँग कारी, कारी कमल लजावै॥ १ ॥ झाँ०
रवि किरननि सम पट अति पीरो, पवन लगे फहरावै।
फर फर करि इत उत उड़ि उड़िके, अपनी ओर बुलावै॥ २ ॥झाँ०
मुख मनहर मदमातो मधुमय, मधुर मधुर मुसिकावै।
कमल सरिस मधुकरअवली लट, लटकि लटकि लहरावै॥ ३॥झाँ०
अरजुन सखा! समय सब बीत्यो, प्रान पखेरू जावै।
होहि प्रीति प्रभु चरन कमल में, बूढ़ो कर फैलावै॥ ४ ॥ झाँ०

भीष्म स्तुति (२)

(१०)

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा—
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु—
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥

(श्री० भा० १ स्क० ९ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

गोल लोल कमनीय कपोलनि रज सटि जात्रै।
तिनि पै लटकी कुटिल ललित लट ताहि भगावै॥
स्वेद बिन्दु तहँ आइ धूरि कूँ देहिं सहारो।
रज-कन शोभित सुघर लगे मुख अति ई प्यारो॥
मेरे तीखे शरनि तै, कवच सारथी को कटहि।
रक्त सुरंजित अंग मम, आततायि के हिय बसहि॥

भीष्म पितामह शरशैया पर पड़े ही पड़े प्रभु की स्तुति कर रहे हैं, हे श्यामसुन्दर! युद्ध की उस दिन की वह शोभा मैं कभी भूल नहीं सकता। भूलना चाहता

भीष्म पितामह भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं—"मैंने प्रतिज्ञा की थी कि भगवान् का भगवान् से अस्त्र ग्रहण कराके छोड़ूँगा। भगवान् की प्रतिज्ञा अस्त्र ग्रहण न करने की थी जिन्होंने मेरी प्रतिज्ञा को सत्य करने के निमित्त हाथ में रथ का पहिया लेकर रथ से कूद कर सिंह जैसे गज को मारने चलता है वैसे मुझे मारने को वेग से चले, उस समय पृथ्वी कांपने लगी। कंधे से पीताम्बर गिर पड़ा। उन पार्थ सारथी में मेरी भक्ति हो।

भी नहीं। हे अच्युत! आप से यही विनती है कि वह छवि मेरे हृदय पटल पर निरन्तर लिखी रहे। उसी छवि का चिन्तन करते-करते मैं इस जरा जरजरित, बाणों से विद्ध शरीर का परित्याग करूँ। उसमें तो आपने भक्तवत्सलता की पराकाष्ठा ही करदी थी, करुणा के बाँध को ही छिन्न-भिन्न कर दिया, कृपा की सीमा ही तोड़ दी। आपने यह सिद्ध कर दिया कि मैं अपने आश्रितों के लिए सब कुछ कर सकता हूँ। अपने गन्तव्य पथ से मन मोड़ सकता हूँ, अपनी की हुई प्रतिज्ञा को तोड़ सकता हूँ अपने निज के प्रण को भक्त के प्राण के सम्मुख छोड़ सकता हूँ।

सबके सम्मुख आपने प्रतिज्ञा की थी, "कि मैं किसी भी दशा में युद्ध नहीं करूँगा, शस्त्र लेकर किसी पर आक्रमण न करूँगा, केवल अर्जुन के रथ को ही हाकूँगा।" मैंने प्रतिज्ञा की थी, यदि मैं श्रीकृष्ण का भक्त हूँगा, तो उनकी प्रतिज्ञा को तुड़वा दूँगा, उन से शस्त्र ग्रहण कराके छोड़ूँगा।"

स्वामी सेवक की दो परस्पर में प्रतिज्ञायें थी। एक ओर थे ब्रह्माण्ड नायक सृष्टि स्थिति तथा संहार के कर्ता भर्ता और हर्ता दूसरी ओर था एक अधम पामर प्राणी। सुमेरु और राई की लड़ाई थी। समर्थ और असमर्थ का सामना था।

मैंने धर्म के विरुद्ध नीति के विरुद्ध युद्ध मर्यादा के विरुद्ध उसदिन सबके ऊपर दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया था। मेरे प्रहार को न सह सकने के कारण पांडव पक्षीय वीर रणक्षेत्र त्याग कर दशों दिशाओं में भागने लगे। मेरे प्रबल पराक्रम से पांडवों को परम विषाद और कौरवों को महान हर्ष हुआ। उस समय मेरे शरीर में रुद्र का आवेश आगया था, ऐसा लगता था, कि पांडवों की सेना तो है ही क्या आज मैं विश्व का संहार कर सकता हूँ। अपने सैनिकों के मेरे भय से भागते देखकर श्याम

सुंदर अर्जुन के रथ को मेरी ही ओर बढ़ा लाये। मैंने कुछ भी आगा पीछा नहीं सोचा। युद्ध में रथी पर ही प्रहार किया जाता है, सारथी पर भूल से प्रहार हो जाय दूसरी बात है। मैंने आज सारथी पर ही प्रहार किया। श्यामसुंदर के शरीर को तीखे बाणों से वेध दिया, उनके सुदृढ़ कवच को तोड़ दिया और अर्जुन को भी बाणों से ढक दिया। उस दिन मैंने इतने बाणों की वर्षा की कि कृष्ण अर्जुन और उनका रथ किसी को दिखाई ही नहीं देता था, किन्तु श्रीकृष्ण तनिक भी विचलित नहीं हुए उन के विचलितहोने का तो प्रश्न ही नहीं था, किन्तु वे लीलाधारी आज अत्यंत व्यग्र थे। पांडवों के ऊपर और मुझ आततायी के ऊपर कृपा करने को कातर हो रहे थे। जब मैंने पांडवों की समस्त सेना को भगा दिया और कौरवों ने मेरे जय जयकार से दशों दिशाओं को भर दिया तो श्यामसुंदर ने अपनी कृपा की गठरी को खोल दिया। भक्तवत्सलता ने उन्हें प्रतिज्ञा छोड़ने को विवश कर दिया। आप सात्वकी से ललकार कर बोले—"वीर! हत्या की जड़ यह बुड्ढा ही है। तुम भागते हुये सैनिकों को रोको मत। सबसे कहदो जिसे भागना हो भाग जाय आज मैं अकेला ही इस बूढ़े सिंह को मारकर गिरा दूँगा। आज भीष्म बच नहीं सकते। मैं अपनी प्रतिज्ञा तोड़ता हूँ अपने अस्त्र ग्रहण न करने के प्रण को छोड़ता हूँ, आज मैं अपने सुदर्शन चक्र से इस बूढ़े का सिर काटकर पांडवों को सुखी बनाऊँगा। आज मैं पृथ्वी को भीष्म हीन अभी बनाता हूँ, अभी मैं इस बूढ़े को रथ के नीचे गिराता हूँ।"

इतना कह कर उन्होंने घोड़ों की रासों को छोड़ दिया। वे सिंहशावक के समान रथ से तुरन्त कूद पड़े। उन्होंने रथ के पहिये को ही आज सुदर्शन चक्र बना लिया। अहा! उस समय सुदर्शन चक्र धारी, वनवारी की कैसी

शोभा थी। उनका नीलवर्ण शरीर नीले रंग से भरा पत्थर मारने से क्षुभित नील सरोवर के समान प्रतीत होता था। ऊपर उठा हुआ हाथ नील कमल नाल सा दिखाई देरहा था। उसपर हिलता हुआ चक्र उफुल्ल कमल सा प्रतीत हो रहा था। सिंह जैसे अपनी माँद से मदमाते मतंग पर उछल कर झपटता है वैसे ही वे वेग से मेरी ओर दौड़े आरहे थे। मैं तो उस छवि को देखकर मुग्ध हो गया, अपने को धन्य धन्य माना। कृतार्थ हो गया। मैंने तो मानव जीवन का फल पालिया। उनके चरणों की धमक से धरा धसी सी जाती थी उनके तेज पूर्ण प्रभाव से सूर्य की प्रभा फीकी पड़ गयी थी। सुदर्शन चक्र की चमक सहस्रों बिजलियों के प्रकाश को तिरस्कृत कर रहीं थी। घनश्याम के कर कमल में तेजपूर्ण चक्र जल भरे मेघों में चमकती विद्युत के समान प्रतीत हो रहा था। क्रोध से उनके युगल नेत्र अरुण कमल के समान प्रतीत होते थे। वे मुझे मारने को ही मेरी ओर दौड़े आरहे थे। उस समय उनका पीताम्बर कंधों से खिसक गया था। उस पुनीत पट का छोर भूमि पर किड़िर रहा था। चक्र धारी श्री कृष्ण उस समय युगान्त कारी सवर्त के मेघों के समान प्रलयकारी अग्नि के समान साक्षात् युगक्षयकारी कालके समान प्रतीत हो रहे थे।

अपनी ही ओर माधव को आते देख मेरा हृदय बाँसो उछलने लगा। मैंने धनुष तान कर उनका स्वागत किया। मैं भयभीत नहीं हुआ। भक्तवत्सल भगवान् की वह रुद्र मूर्ति मुझे साक्षात् करुणा की सजीव प्रतिकृति ही प्रतीत हुई। मेरे दोनों नयन प्रेमाश्रुओं से भरे हुए थे, इस कारण उस करुणामयी मूर्ति का मैं अपलक भली भाँति दर्शन नहीं कर सकता था। स्वर गद् गद् होजाने से मैं भली भाँति

स्तुति भी नहीं कर सकता था। मैंने इतना ही कहा—हे चक्रपाणि! आइये। हे माधव! मुझे सनाथ बनाइये। हे जगनिवास! मुझे रथ से नीचे गिराइये। हे वासुदेव! मेरे हृदय में वास कीजिये। हे सर्वशरण्य! मुझे अपने चरणों की शरण में रख लीजिये। हे घनश्याम! मुझे मार कर मेरा उभय लोकों में कल्याण कीजिये। अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर मुझे गौरवान्वित कीजिये। हे भक्तवत्सल! अपनी भक्तवत्सलता का अद्भुत अपूर्व अनुपम आदर्श उपस्थित कीजिये।

अहा! उस समय की छवि को यह मुमूर्षवाणी कह ही कैसे सकती है। तीक्ष्ण बाणों से जिनका सम्पूर्ण श्री अंग विद्ध था, जो टेसू के पुष्पित वृक्ष के समान रक्त रंजित दीख पड़ते थे, जिनके तन का कवच छिन्न-भिन्न हो रहा था। पीताम्बर अस्त व्यस्त हुआ कहीं का कहीं लटक रहा था। जो भीतर करुणा भरे होने पर भी ऊपर से कृत्रिम क्रोध का प्रदर्शन कर रहे थे, जो मेरी प्रतिज्ञा को सत्य बनाने के निमित्त अपनी पूर्वकृत प्रतिज्ञा को भूल गये थे। वे भक्त वत्सल भगवान् मरते समय में भी मुझे बिसारे नहीं। वे ही मुकुन्दमाधव मुझ मुमुर्षु की ममता को मेंट कर मेरे मन में बस जायँ। वे ही मतिहीनों के मति, गतिहीनों के गति मेरी भी गति हों।

मैंने तो रणभूमि में जिस छवि के दर्शन किये हैं वही मेरे हृदय में समायी हुई है। वही मेरे हृदय पटल पर लिखी हुई है। वही मरते समय ज्यों की त्यों ही बनी रहे। अन्त समय में वह अद्भुत छटा विस्मृत न हो। कैसी अनुपम छटा थी उस सारथी स्वरूप की। भक्तवत्सलता का वह साकार स्वरूप था। भगवत्ता वहाँ से भागी हुई सी प्रतीत होती थी। अर्जुन के रथ पर वे वीरासन से अत्यन्त ही सावधानी के

साथ डटे थे। एक हाथ में चाँदी के वर्णके-दूध के झागों के समान बगुलों के पंखों के सदृश, कर्पूर के समान स्वच्छ सफेद वर्ण के चार घोड़ों की आठ रेशमी रास पकड़े हुए थे। दूसरे हाथ में बेत में रेशम लगा लम्बा तोत्र (चाबुक) शोभा दे रहा था। मुख से घोड़ों को हाँकने का अव्यक्त किह-किह शब्द कर रहे थे। जो अपने रथी के हित में सचेष्ट-सावधान थे, जिन के नेत्र चंचल हो रहे थे, चारों ओर शंकित दृष्टि से निहार रहे थे, उन्हीं वीर रस की शोभा के धाम, घनश्याम के चरणारविन्दों में मुझ मरने वाले बूढ़े का अधिकाधिक अनुराग हो। उस छवि को निहार कर मरने वाले शत्रु भी सारूप्य मोक्ष के अधिकारी हो गये हैं। फिर मैं तो उनका भक्त हूँ, किंकर हूँ, अनुचर, दास हूँ, शरणापन्न हूँ, प्रपन्न हूँ। वात पित्त कफ के प्रकोप से अन्तिम वेलामें, मरणकालमें वह छवि हृदय से निकल न जाय। वह अनुपम रूप विसर न जाय। यही पार्थ सारथी के पाद पद्मों में पुनीत प्रार्थना है।

यद्यपि मैं वीर रस का उपासक रहा हूँ, किन्तु श्रीकृष्ण तो सर्व रस हैं। वे मूर्तिमान शृंगार हैं। मधुर रस की पराकाष्ठा उन्हीं में हुई है। मधुर रस ने अपना आश्रय अच्युत को ही बनाया है। मन्मथ के मन को भी मथन करनेवाले मदनमोहन मदनगुपाल, मदनविहारी, माधवमुरारी अपनी ललित लीलाओं के लिये व्रज में परम प्रसिद्ध हैं। उनका मधुर रूप तो व्रज में ही देखने को मिलता है। वे व्रज सीमन्तिनी महाभागा व्रजबाला धन्य हैं, जिनके साथ इन श्यामसुन्दर ने अलौकिक रास विलास किया। सदा उनके साथ रहकर हास परिहास करते रहे। अपनी सुलज्जित गति से उनके मन को आलोड़ित करते रहे। उनकी गति में गति मिलाकर अंग से अंग सटाकर परस्पर

मुँह मटकाकर, अंगों को फड़काकर, नेत्रों से नेत्र मिलाकर, नूपुर बजाकर नृत्य दिखाते रहे। सखियों के संग सुखद हास परिहास मनहर दिव्य विलास, और लताकुंजों में उनके साथ निवास करके उन्हें सुखी बनाते रहे। मंद-मंद मनोहर मुसकान द्वारा, आलिंगन, चुम्बन, परिरंभन तथा प्रेममयी चारुचितवन द्वारा उनको सदा सम्मानित करते रहे, उनके चंचल चित को हरते रहे। उनके साथ रसमय रासविलास करते रहे। उनके हृदय प्रेमपात्र को नेह नीर से भरते रहे। सहसा बीच में ही अन्तर्धान हो गये। दृष्टिपथ से परे से प्रतीत होने लगे। अदृश्य हो गये।

उस समय विरह वेदनासे विकल बनकर बावरी ब्रजाङ्गनाओं ने जो गीत गाये हैं, प्रेमोन्माद की दशाओं में उन्होंने जो जो चेष्टायें की हैं विरह सन्ताप को मिटाने के लिये उन्होंने जो पूर्व दृष्ट लीलाओं का अनुकरण किया है, जिस ममता तथा तन्मयता के साथ तुम्हें पुकारा है, जैसे तुम्हारा आह्वान किया है, वैसे ही मैं भी तुम्हें मरते समय विकल होकर बुलाऊँ, उन्हीं की भाँति मेरी भी तन्मयता हो जाय। जैसे वे सब ब्रजाङ्गनायें घर, द्वार, कुटुम्ब परिवार की सुरति बिसार कर आपके ही गुणगान में लगी रहीं, आप की ही स्मृति में संसार से विस्मृत [illegible], सम्पूर्ण [illegible] को कृष्णमय ही निहारने लगीं, उसी प्रकार [illegible] में आप को ही सर्वत्र देखें, आप [illegible] सर्वत्र [illegible]।

हे विश्वेश्वर! आप प्राणिमात्र [illegible] साक्षात् मूर्ति ही हो। जगत में [illegible] है, वह आप प्रेम सागर में [illegible] उन्हीं के कारण व्याकुल बने [illegible] सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। [illegible] ही मेरी सर्वदा गति हो। मेरी [illegible]

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भीष्मपितामह भगवान की पूर्व की की हुई झाँकियों का स्मरण कर करके प्रेम की भीख माँगने लगे। आगे एक दो झाँकियों का उल्लेख करके यह भीष्म स्तुति के प्रकरण को मैं समाप्त करूँगा।

छप्पय

सखा वचन सुनि सपदि शत्रु सेना के मधिमहँ।
रथकूँ ठाढ़ो करयो लखे सब सगे समर महँ॥
भयो पार्थ मन मोह धनुष सर कर तैं डार्‌यो।
दै गीता को ज्ञान मोह तम शत्रु विदार्‌यो॥
निज प्रन तजि प्रनरखन मम, चले चक्र लै बध करन।
धरा धँसत गिरि पीत पट, लटकि भगत सो मम सरन॥

पद

मेरो प्रन प्रनतपाल प्रभु राख्यो।
अस्त्र शस्त्र रन महँ नहिँ लैहौं बार बार हरि भाख्यो॥ १ ॥मेरो०
निज प्रभुता तजि पारथ के हित हरषि हरषि रथ हांक्यो।
शर बरसा करि अश्व सारथी हौं रथ अरजुन ढाँक्यो॥ २ ॥मेरो०
श्याम सारथी कुपित भयो अति कुटिल भ्रुकुटि करि ताक्यो।
रथ तैं कूदि चक्र लै प्रन तजि मोकूँ मारन भाज्यो॥ ३ ॥ मेरो०
धँसत धरा पग पग पै पीरो पट फहरावन लाग्यो।
भगतवछल भागत पग पकरे पारथ किड़िरन लाग्यो॥ ४ ॥ मेरो०
फट्यो कवच तनु रक्त सुरंजित अंग सरनि बिँधि डार्‌यो।
शोभा अकथ झपटि पंचानन अबहिँ मत्तगज मार्‌यो॥५ ॥ मेरो०
लखि छवि अनुपम भयो कृतारथ-कह्यो-नाथ ! हौं तार्‌य।
धन्य धन्य प्रभु करुना सागर तन मन तुम पै वार्‌यो॥६ ॥ मेरो०

भीष्म-स्तुति (३)

(११)

मुनिगण नृपवर्य संकुलेऽन्तः
सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो-
मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥१

(श्री भा० १ स्क० ९अ० १४ श्लो०

छप्पय

सुललित गति अति मधुर मनोहर मंद हँसनिवर ।
चंचल चितवन चारु चपल चतुराई चितहर ॥
मनबनिता बस भईं मधुर रस माहिँ डुबाईं ।
अन्त रहित पुनि भये करीं लीला मिल गाईं
पांडव मख पूजा प्रथम, लखि मम मन आनंद अति ।
मरन समय सो दीठि पथ, रहें अगति की एक गति ॥

भीष्म पितामह सम्मुख अवस्थित भगवान् श्यामसुन्दर के प्रति कह रहे हैं—"हे भक्तवांछाकल्पतरो ! आप सबकी भावना को समझ कर उसी के अनुरूप दर्शन देते हैं आप एक होने पर भी

१भीष्म जी स्तुति करते हुये कहते हैं—"मुनिगण और श्रेष्ठ राजाओं से सुशोभित महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के सभाभवन में जिनकी सर्वप्रथम पूजा हुई थी, वे ही प्राणिमात्र के परम दर्शनीय भगवान् श्याम सुन्दर मेरे नयनों के सम्मुख समुपस्थित हैं । अतः मुझसे बढ़कर भाग्य शाली और कौन होगा ?

नाना भावों में नानारूपों में नाना नामों से प्रसिद्ध हैं। आप विश्व-वन्द्य हैं, जगत्गुरु हैं सभी के सम्माननीय हैं। इसका निर्णय तो मेरी आँखों के सम्मुख धर्मराजके राजसूय यज्ञमें ही हो गया था।

उस महान् यज्ञ में उस समय के सभी विद्वान् पधारे थे। कर्मकांड में पारङ्गतमुनि, उपासना के मर्म को जानकर उसके अनुसार आचरण करने वाले उपासक, तथा ज्ञान की पराकाष्ठा में पहुँचे हुए ज्ञानी, वेदों के ज्ञाता ऋषि, मननशील मुनि, स्मृतियों के रचयिता स्मृतिकार, दर्शनों को बनाने वाले दार्शनिक, व्याकरण में परिगत वैयाकरण तथा सभी संशयों को छेदन करने वाले सर्वशास्त्रविद् विद्वान् महर्षि, महर्षि राजर्षि तथा देवर्षि उस यज्ञ में समुपस्थित थे।

ज्ञानियों के अतिरिक्त पराक्रमी भी कोई नहीं बचा था, भूमंडल के किसी देश का, कोई भी छोटा बड़ा राजा ऐसा नहीं था, जो उस यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित नहीं हुआ हो। अपने को सर्व-श्रेष्ठ कहनेवाले, दशों दिशाओं को जीतने का साहस करने वाले, अपने को सर्वस्वतन्त्र माननेवाले ऐसे सभी राजा उस यज्ञ में आये थे, जिनकी चतुरंगिणी सेना के भार से यह पृथिवी काँप उठती थी। मुनिगण तथा नृपतिगण के अतिरिक्त प्रजा के सभी वर्ण के गणनायक उपस्थित थे।

उस समय यही प्रश्न उठा था, कि इस इतने भारी समाज में, सर्वगुणों के पारदर्शियों के समूह में सर्वप्रथम पूजा उसी की होनी चाहिये जो सर्वश्रेष्ठ हो, सर्वमान्य सर्ववन्द्य हो, सर्वेश्वर हो, सर्वगुण सम्पन्न हो, सर्वविजयी हो, सर्वसमर्थ हो, सर्वविद्या विशारद हो, सर्व सत्तावान हो। विचार विमर्श के अनन्तर सर्व सम्मति से ये ही सर्वेश्वर प्रथम पूजार्ह माने गए जो सकुचाए हुए मेरे सम्मुख बैठे हैं। अहा! मैं कितना भाग्यशाली हूँ मेरे

पूर्वकृत सुकृतों के सम्बन्ध में क्या कहना है, जिनके नाम का स्मरण मरते समय बड़े-बड़े योगी करना चाहते हैं, किन्तु वात पित्त कफ से कण्ठावरोधन होने के कारण जिनका नाम तक नहीं आता-वे स्वयं साक्षात् श्यामसुंदर रूप से मरने के समय मेरी दृष्टि के सम्मुख आगये हैं। अब मेरे उद्धार में क्या सन्देह है।

जिस समय सुवर्ण की झारी से द्रौपदी जल डालने लगी और धर्मराज प्रेमभरित हृदय से साश्रु नयनों से इनकी छवि को निहारते हुए सुवर्ण के पात्र में पादप्रक्षालन कर रहे थे तो ऐसा लगता था, एक अपर गंगा नन्दनंदन के पादपद्मों से निसृत हो रही है, वह गंगा सुवर्ण पात्र में ही नहीं छलकती थी, सभा में समुपस्थित सभी जनों के नयनों में भी वह आविर्भूत होकर छलक रही थी; प्रवाहित हो रही थी। अहा! उस समय श्यामसुन्दर की उस विश्ववन्दनीय छवि को देखकर मैं कृतार्थ हो गया, धन्य बन गया, उस समय मुझे भगवान् वासुदेव कितने महान् दिखाई दे रहे थे, वे ही महतोमहीयान अपनी महत्ता को छोड़ कर पैदल ही मेरे समीप आगये और मरण समय में इस वृद्ध की दृष्टि के सम्मुख उपस्थित होकर मुझे दर्शन दे रहे हैं, कृतार्थ कर रहे हैं।

यद्यपि ये एक हैं, अद्वितीय हैं, इनके समान दूसरा कोई नहीं है। कैवल्य हैं, निष्कल हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, निराकार हैं, निरुपम हैं, असङ्ग हैं, अच्युत हैं, अद्वय हैं तथापि अपने ही आप रचे हुए अनेकों प्राणियों के हृदयों में उसी प्रकार अनेक से प्रतीत होते हैं जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न से प्रतीत होते हैं।

रंग बिरंगे काँचों में रंग बिरंगे भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुत से सूर्य दिखाई देते हैं। काले रंग के कांच में सूर्य भी काले ही

दीखते हैं। लाल रंग में लाल, पीले रंग के में पीले, हरे में हरे नीले में नीले और सफेद में सफेद। यद्यपि सूर्य एक ही हैं किन्तु रंग भेद से दृष्टि भेद से वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं।

पानी के भरे बहुत से पात्र रखे हैं। हिलते हुए पानी के पात्र में सूर्य भी हिलते हुए दीखेंगे। चलते हुए पात्र में सूर्य भी चलते से दिखायी देंगे, स्थिर पात्र में वे भी स्थिर दिखेंगे। कुछ मनुष्य मध्याह्न के समय समुद्र के किनारे बैठे हैं तो उन्हें भी सूर्य अपने अपने सिरों पर ही दीखेंगे, दूसरे हिमालय के शिखर पर बैठे हैं तो उन सबको भी वे अपने अपने सिरों पर ही दिखाई देंगे। इसी प्रकार उस समय जहाँ भी जो बैठे होंगे सभी को एक ही सूर्य अपने अपने सिरों के ऊपर दीखेंगे।

एक ही सूर्य को अपनी अपनी भावना के अनुसार बुरा भला या लाभकारक अलाभकाकर भी समझते हैं। कोई पथिक है, सूर्य ताप से तप रहा है तो उसे सूर्य दुखद प्रतीत होते हैं। दूसरा कुंभकार है, उसके गीले पात्र सूर्य के कारण सूख रहे हैं, उसे सूर्य सुखद प्रतीत होते हैं, कोई जाड़े से काँप रहा है, उसे सूर्य आनन्द देने वाले लगते हैं। एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न से लगते हैं। इसी प्रकार इन श्यामसुन्दर को जरासन्ध शिशुपाल आदि शत्रु प्रतीत होते हैं। नन्द यशोदा, वसुदेव देवकी को बच्चे दिखायी देते हैं। व्रज-वनिताओं को परमप्रेष्ठ, कान्त और रमणीय लगते हैं, वे मधुर भाव से कान्त भाव से इनकी उपासना करती हैं, व्रज के श्रीदामा, मधुमंगल तोककृष्ण तथा अन्य सखा गण इन्हें अपना सखा समझते हैं, उद्धव, अर्जुन तथा दूसरे लोग इन्हें अपना स्वामी, सखा तथा सर्वस्व मानते हैं। सब अपनी-अपनी भावना से माना करें। जिनकी वात्सल्य भाव की उपासना है उनके

लिये ये भले ही बच्चा बन जायँ, जिनकी सख्य की उपासना है, उनके गले में गलबैयाँ डाल कर ये उनसे भले ही लड़ें भिड़ें जो मधुर भाव से कान्त भाव से इनकी उपासना करती हो उनके साथ ये भले ही हास विलास तथा रास करें, जो इन्हें स्वामी मानते हों उन्हें ये दास मानकर भले ही आज्ञा दें, किन्तु मैं तो पार्थ सारथी के ही रूप का उपासक हूँ, मेरी दृष्टि में तो इनकी वही बाँकी झाँकी गड़ गयी है। मेरे अन्तः करण में तो इनकी वही छवि लिख गयी हैं, मेरी रति तो पार्थसारथी के पुनीत पाद पद्मों में बनी रहे। अब मेरे मन में किसी प्रकार का भेद भ्रम नहीं रहा। अब मेरा मोह क्षय हो गया। मोह क्षय का ही नाम मोक्ष है। पवर्ग के नाश का ही नाम अपवर्ग है। पाप पुण्य, फलेच्छा, बन्धमोक्ष, भद्र मद, ममता मोह इन्हीं भावों का नाम पवर्ग है। जहाँ इनका नाश हुआ अपवर्ग सुख मिल गया। इन श्यामसुन्दर की अहैतकी कृपा से मेरा मोह क्षय हो गया है, मैं इन अजन्मा भगवान् वासुदेव में भेद भ्रम से रहित होकर प्राप्त हो गया हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मन से, वाणी से, तथा समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों के द्वारा अपने मन को उन सच्चिदानन्दघन परमप्रेमास्पद, परमकारुणिक, करुणावरुणालय भगवान् श्यामसुन्दर में लगाकर अन्त में पितामह भीष्म शान्त हो गये, वे उन निष्कल निरंजन परब्रह्म में लीन हो गये। भीष्म के चले जाने से सभी को बड़ा दुःख हुआ। पांडव सभी उनके विरह में रोने लगे, स्त्रियाँ विलाप करने लगीं। श्यामसुन्दर

की आज्ञानुसार धर्मराजने उनके सभी और्ध्वदैहिक कृत्य कराये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भीष्मपितामह के शान्त हो जाने पर धर्मराज के राज्य को निष्कंटक करके भगवान् पुनः द्वारका के लिये चलने को प्रस्तुत होकर रथ में बैठ गये। सभी ने समझा लिया भगवान् अब जायँगे ही। सभी रोते रोते उनके पीछे चले नगर। की नारियाँ अटा अटारियों से श्यामसुन्दर की शोभा निहार कर परस्पर में जो उनकी महिमा गा रही हैं, अब मैं उसी का वर्णन करूँगा।

छप्पय

मकरी मुखतैं सूत निकारै जालो तानै।
क्रीड़ा तामें करै मोद मन माही मानै॥
त्यों जग रचि अज करें खेल माया भरमावत।
रवि तो एक अनेक दीठि भ्रम—वश ज्यों दीखत॥
श्याम रूप महँ भेद-भ्रम-रहित भयो हौं लीन अब।
स्तुति करि यों भीष्म ने, प्रान तजे लखि दुखित सब॥

पद

सो छवि नयननि माहिं समावै।
सारथि-थल रथ माहिं विराजत आनन रज लपटावै॥१॥ सो०
रथके चलत हिलत वानर धुज फहर-फहर फहरावै।
करधृत रास रेशमी खींचत, कोड़ा कलित फिरावै॥२॥ सो०
धरे कनपटी रथी चरन युग, इत उत तिनहिं घुमावै।
चलन कहै रथ हाँके ततछिन, ठहरो सुनि ठहरावै॥३॥ सो०
निज दल अरिदल मग्न समर महँ, निनि हठि दरस दिखावै।
प्रभु दरसन करि भरे शूर सो, अनसि परम पद पावै॥४॥ सो०

पद

कीन्हीं स्तुति भीषम भारी।
इन्द्री मन बानी वश करिकें करी चलन की त्यारी ॥१॥ की०
भेद भाव भव भय भ्रम त्यागे धारे हिये मुरारी।
श्याम सारथी, सर्वेश्वर कहि, अन्तिम सांस निकारी ॥२॥ की०
सुरगन बरसा सुमन करहिं नभ, ऋषि मुनि जयजयकारी।
भीषम गये सुनत नर नारी सबई भये दुखारी ॥३॥ की०
बिलपत पांडव धीर बँधावत, वृन्दाविपिनविहारी।
अन्त समय करुना सागर प्रभु, बिसरै सुधि न हमारी ॥४॥ की०

हस्तिनापुर की महिलाओं द्वारा माधव की महिमा (१)

(१२)

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो–
य एक आसीदविशेष आत्मनि ।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु ॥१

(श्री भा० १ स्क० १० अ० २१ श्लो०)

छप्पय

हथिनापुर तैं चले द्वारका रथ चढ़ि हरि जब ।
अटा अटारिनि चढ़ीं नारि बतरावति मिलि सब ॥
सखि ! ये जो रथ जात प्रेम बरसात सजलघन ।
प्रेम पयोधि परेश प्रकृति-पर पुरुष पुरातन ॥
नाम रूप तैं रहित परि, स्वय जगत बनि जात हैं ।
जीव मोहिनी प्रकृति तैं, जग जीवनि भरमात हैं ॥

भीष्म पितामह के महा प्रस्थान के अनन्तर, धर्मराज के राज्य की समुचित व्यवस्था करके, सब को प्रसन्न करके, सभीको

---

१ हस्तिनापुर की महिलायें—परस्पर में एक दूसरी से कहरही हैं—सखि ! ये जो रथ में बैठे हुए जा रहे हैं ये वे ही पुरातन पुरुष हैं जो निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप से प्रलय काल से पूर्व जब तक गुणों में क्षोभ नहीं था प्रकृतिकी साम्यावस्था में भी स्थित थे । उस समय समस्त सत्त्वादि शक्तियाँ प्रसुप्त थीं अतः जीव इन जगदात्मा ईश्वर में ही लीन थे ।

सब प्रकार से सान्त्वना देकर श्यामसुन्दर द्वारका चलने को प्रस्तुत हुए। उस समय भावी वियोग का स्मरण करके सभी के हृदय भरे हुए थे, धर्मराज प्रेम के कारण अधीर हो रहे थे, अर्जुन की दशा तो वर्णनातीत थी, आज उसे अभी से सम्पूर्ण संसार सूना सूना प्रतीत हो रहा था। श्यामसुन्दर सम्मुख थे, फिर भी अर्जुन उन्हें देख नहीं सकते थे। अन्तःपुर की स्त्रियाँ रुदन कर रही थीं, हृदय तो श्यामसुन्दर का भी भरा हुआ था, किन्तु वे ऊपर से हँस रहे थे। जिनके प्रति अपना प्रेम होता है, उन्हें अधिक से अधिक सुख पहुँचाने की, ऊँचे से ऊँचा सम्मान देने की सभी की हार्दिक इच्छा होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। श्यामसुन्दर जब द्वारका के लिये प्रस्थान करने लगे तो धर्मराज की इच्छा हुई, उन्हें पूर्ण सम्मान के साथ विदा करना चाहिये। हमें जो राज्य, पाट, धन, ऐश्वर्य शासन वैभव जो भी कुछ प्राप्त हुआ है, सब श्याम सुन्दर की ही कृपा से तो प्राप्त है, उन्हीं का तो कृपा प्रसाद है। यथार्थ राजा तो भगवान् वासुदेव ही हैं, हम तो उनके बनाये रक्षक हैं, राज्य किंकर हैं। आज सम्राटों के समान ही श्यामसुन्दर की विदाई हो।" ऐसा विचार प्रकट करते ही राज्यके जो मृदङ्ग, शंख, भेरी वीणा पड़व,गोमुख, धुन्दुभि, आनक, घण्टा और दुन्दुभि आदि जितने भी बाजे थे नन्दनन्दन के रथ के आगे बजने लगे। प्रशस्त राज पथों पर छिड़काव हो गया। स्थान स्थान पर धूप, तथा कपूर घृत मिलाकर अगरु आदि सुगन्धित पदार्थ जलाये गये, बन्दनवार बाँधे गये, दुकानें सजायी गयीं बड़े बड़े फाटक लगाये गये केले के सकुन खंभे लगाये, गये। पथ के दोनों ओर पंक्ति बद्ध भवनों की छतों पर रंग बिरंगी साड़ियाँ ओढ़ कर आकों

में काजल लगा कर माँगों में सिन्दूर भर कर सोलहू शृंगार करके वस्त्राभूषणों से सज वजकर नगर की सभी स्त्रियाँ हाथों में सुगन्धित सुमनों की मालायें लेकर श्याम सुन्दर के दर्शनों के लिये बैठगयीं।

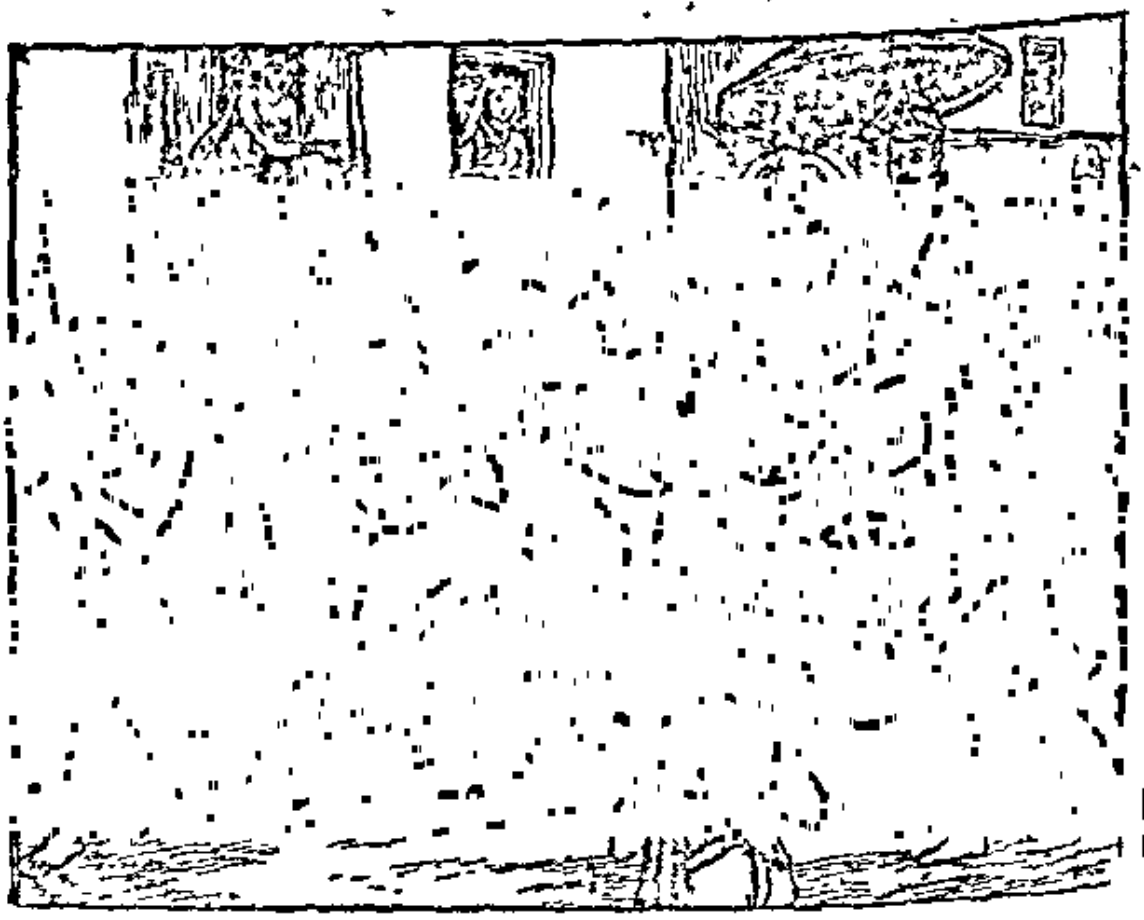

भगवान् को खुले रथ पर सुवर्ण के सिंहासन पर बैठाया गया। सौ तानों वाला दुग्ध फेन के समान श्वेत छत्र जिसका दंड रत्नों से विभूषित था, तथा जिसमें बड़े बड़े मोतियों की लड़ियाँ लटक रही हैं उसे अर्जुन ने उन पर तान दिया। दोनों ओर गंगा यमुनी चँवर लेकर सात्यकी और उद्धव चँवर डुलाने में अपनी विचित्र अद्भुत चातुरी दिखाने लगे। स्थान स्थान पर मंगल पाठ करने वाले स्वस्त्ययन करने वाले तथा शुभाशीर्वाद देने वाले ब्राह्मण उनके

सम्मान के लिये खड़े थे। वे उन्हें तिलक लगाते आशीर्वाद देते मंगल पाठ करते। भगवान् सिर झुकाकर उनके लिये प्रणाम करते। रथ के घोड़े इतने शनैःशनैः चल रहे थे कि किसी को प्रतीत ही नहीं होता था, कि वे चल रहे हैं या खड़े हैं। उस समय की श्यामसुन्दर की शोभा परम दर्शनीय थी।

अटा अटारियों पर चढ़ी सौभाग्यवती कुरुवंशकी कुल वधुएँ तथा अन्य नगर की नारियाँ स्नेह लज्जामयी मद मुसकान के सहित भगवान् को अपलक नयनों से निहारती हुई उनपर फूलों की वर्षा कर रही थीं। पुष्पों के स्पर्श से भगवान् की शुभ्र मुसकान बिखर जाती जिससे सभी दिशायें आनन्दमयी बन जाती। उस मन्द मन्द मधुर मधुमयी मुसकान से उन मानवती महिलाओं का मन मनमोहन की ओर भी अधिक आकर्षित हो जाता।

सकलगुणगणनिलय, सौन्दर्यसागर आनन्दकन्द नन्दनन्दन भगवान् वासुदेव के शांति कान्ति तेज, रूप ऐश्वर्य और श्री सम्पन्न स्वरूप को देख कर नगर निवासिनी की नारियाँ परमविस्मित हो गयीं और एक दूसरी से पूछने लगीं—"बहिनों! नर शरीर में ऐसा सौंदर्य, ऐसा ओज इस प्रकार का तेज, ऐसी मधुरता, इस भाँति की लावण्यता तो हमने आज तक देखी नहीं। यह आभा तो मानवता के परे की प्रतीत होती है?

इस पर अपर कहती—"अरे, तुम्हें पता नहीं है, ये साधारण पुरुष थोड़े ही हैं, पुरातन पुरुष हैं!

कोई पूछती—"एक भी तो इनका बाल सफेद नहीं

हुआ। दाढ़ी तक निकली नहीं। सर्वथा किशोरावस्थापन्न प्रतीत होते हैं, फिर तुम इन्हें पुरातन पुरुष कैसे बता रही हो?

इस पर वह हँसती हुई कहती—"दुत पगली कहीं की, पुरातन पुरुष का अर्थ बूढ़ा मनुष्य थोड़े ही है। देखो, भूत भविष्य और वर्तमान तीन काल हैं। ये इन तीनों कालों की कल्पना से भी पूर्व थे और जब इन तीनों की कल्पना न रहेगी, तब भी रहेंगे।

दुसरी पूछती- हमने तो सुना है, प्रलयकाल में कोई जीव रहता ही नहीं, उस समय सृष्टि करने वाली सम्पूर्ण शक्तियाँ सिमिट जाती हैं, गुणों की साम्यावस्था हो जाती है, तब कोई रहता ही नहीं उस समय सत्व, रज तथा तम जिनसे सृष्टि होती है, अथवा भूदेवी श्रीदेवी और दुर्गादेवी जो शक्तियाँ हैं ये भी सो जाती हैं। उस समय ये कैसे रहते होंगे, रहते भी होंगे तो कहाँ रहते होंगे?

इसका उत्तर देती हुई अपर कहती है—"उस समय ये अपनी ही महिमा में रहते हैं। निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप से अवस्थित रहते हैं। अपनी आत्मा में ही रमण करते हैं, इन्हें अन्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। जब प्रपंच का नाम भी नहीं रहता तब ये केवल निष्प्रपंच श्रीकृष्ण ही कृष्ण अपने आप में क्रीड़ा करते रहते हैं। सम्पूर्ण जगत् इहीं में अन्तर्हित था। प्रकृति चुपचाप पड़ी थी उसके गुण सभी साम्यावस्था में पड़े शयन कर रहे थे। जैसे वृक्ष के बीज में उसके पत्ते स्कन्ध शाख, फल फूल आदि छिपे रहते हैं और उपयुक्तकाल तथा परिस्थिति आने पर उसमें से अंकुर हो जाता है और विशाल वृक्ष बन जाता है। ये श्रीकृष्ण सभी कारणों के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं है। ये ही सबके प्रेरक हैं, इन्हें प्रेरणा करने वाला कोई

नहीं हैं। ये ही सब के सृजन करने वाले हैं, इनका सृजन कर्त्ता कोई नहीं है। सभी के रक्षक ये ही हैं, इनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। सभी का संहार इन्हीं की प्रेरणा से होता है,किन्तु इनका कभी संहार होता नहीं। ये सदा एक रस अखंड निर्विकार निर्लेप निरञ्जन निर्गुण, निरीह निर्विकल्प बने रहते हैं। फिर भी क्रीड़ा के लिये सृष्टि रचते हैं, या रचाते हैं। निष्प्रपंच होने पर भी सृष्टि के समय सप्रपंच से प्रतीत होते हैं।

दूसरी पूछती है—"निष्प्रपंच से सप्रपंच कैसे हो जाते होंगे सखि ?

अपर कह रही है—"देखो, सखि ! सृष्टि के पूर्व सम्पूर्ण समस्त जीव,इन जगदात्मा जगदीश्वर में लीन थे। उस समय जगत् अनाम रूप था। न किसी का कोई नाम ही था न रूप ही। जैसे नमक नाम रूप छोड़ कर क्षार समुद्र में विलीन हो जाय।

समय आने पर शिल्पी की प्रेरणा से जल को पुनः क्यारियों में भरा जाता है, फिर जल से नमक बन जाता है, उसके भिन्न-भिन्न नाम और भिन्न-भिन्न आकृतियाँ हो जाती हैं। नमक बनने से समुद्र का जल घटता नहीं, न बनने से बढ़ता नहीं। उसे बनने से कोई हानि नहीं, न बनने से कोई लाभ नहीं। फिर भी बनाने वाले बनाते हैं, समुद्र इसमें आनन्दानुभव करता है, उमड़ कर प्रसन्नता प्रकट करता है।

इसी प्रकार माया काल पाकर सृजनोन्मुखी होती है। जब सृष्टि का काल उपस्थित होता है और काल रूपाशक्ति से प्रेरित होकर जीवों को मोहित करने वाली माया प्रकृति में क्षोभ होता है, उसकी साम्यावस्था भंग होती है, गुणों में वैसम्य होने का

समय आता है तो ये अपनी उस माया रूपा प्रकृति को सहारा देते हैं।"

क्यों सहारा देते है साखि ?

क्यों का क्या उत्तर है साखि ! क्रीड़ा में क्यों का प्रश्न ही नहीं उठता। उस की इच्छा होती है, मैं एक से बहुत हो जाऊँ। अनाम रूप से नामरूप वाला हो जाऊँ। फिर प्रसुप्त पड़े जीवों के कर्म भी तो भुगवाने हैं। उन कर्मों के विधान के निमित्त स्वयं ही शास्त्रों की रचना करते हैं, कर्मों के भोगों का कर्मों से छूटने का विधान भी वे बनाते हैं बताते हैं। इस लिये जीवों के कर्मों को भोगार्थ अथवा क्रीड़ार्थ इस सृष्टि की वे रचना करते हैं। निष्प्रपंच से सप्रपंच से दिखायी देने लगते हैं। ये ही काल रूपा शक्ति बनकर अवसर उपस्थित करते हैं, माया शक्ति बनकर इच्छा करते हैं, प्रकृति में क्षोभ कराते हैं,गुणों में विषमता करते हैं, नाना नाम रूपों में हो जाते हैं। स्वयं ही व्यवहार के लिये वेदादि शास्त्रों के रचयिता बन जाते हैं और सृष्टि प्रवाह को पुनः प्रवाहित करने लगते हैं।

एक पूछती है—"सखि ! जब यह गुण प्रवाह अनादि है, कर्म, फल और भोगों का तारतम्य लगा ही हुआ है, तो फिर इससे छुटकारा कैसे हो ?

दूसरी कहती है—"इनका दर्शन अति दुर्लभ है, ये ही कृपा करें, तभी इस जगत् के आवागमन से छुटकारा मिल सकता है। जितने तपस्वी तप करते हैं, योगीगण यम, नियम आसन आदि करके प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान धारणा और समाधि का अभ्यास करते हैं, याज्ञिक यज्ञों द्वारा उपाना करते हैं, कर्मकांडी विविध वैदिक कर्मों द्वारा जिसे पाना चाहते हैं वे ये ही हैं। ये मलिन अन्तःकरण वालों को नहीं मिलते, जिनका

मन शुद्ध नहीं है, उन्हें इनके दर्शन दुर्लभ हैं। सूक्ष्मदर्शी लोग अत्यंत पैनी दृष्टि से बहुत सी सूक्ष्म दृष्टि से इन्हें देखने का प्रयत्न करते हैं, उसके द्वारा ये देखे भी जा सकते हैं। क्योंकि ब्रह्मा ने इन इन्द्रियों के द्वार तो बाहर की ओर बनाये हैं। अतः ये इन्द्रियाँ बाहरी वस्तुओं को ही देख सकती हैं, कोई ऐसा विरला ही शूर वीर होता है, जो बाहिरी दृष्टि को फेरकर अन्तर्दृष्टि करके-भीतर छिपे इन परात्पर प्रभु को देखते हैं, जो इन्द्रियों और प्राण को जीतकर अपने मन को निर्मल बना लेते हैं। कोई अपने पुरुषार्थ से केवल कर्मों के ही बल पर इन्हें पाना चाहे तो नहीं पा सकता। मन के निर्मल होनेपर भी इनकी कृपा अपेक्षित है, चित्त निर्मल भी और साथ भक्तिभाव से भरा ही हो, प्रभुप्राप्ति की अत्युत्कट उत्कंठा भी हो। अतः चित्तकी पूर्णतया विशुद्धि भी प्रधान कारण इनके चरणारविन्दों की अनुरक्ति ही है। हमारा बड़ा भाग्य है कोई पूर्व जन्म के परमसुकृत हैं जो इनके परमदुर्लभ दर्शन हमें घर बैठे ही प्राप्त हो गये, किन्तु ये तो अब द्वारका जा रहे हैं फिर हमें इनके दर्शन कैसे होंगे, इनके दर्शन के बिना पूर्णतया तृप्ति नहीं हो सकती। यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये न हो तो हम इनके साथ ही साथ द्वारका को चलें। जहाँ भी ये जायँ इनके पीछे ही लगी रहें। क्षण भर को भी इनका पीछा न छोड़ें। इनका साक्षात्कार तो निर्मल चित्तवाले योगी गण इसी जन्म में इसी शरीर से करलेते हैं। और वे फिर सब कुछ छोड़कर इन्हीं के हो जाते हैं, जब हमें इनके दर्शन हो ही गये तो फिर हमें घर द्वार कुटुम्ब परिवार से प्रयोजन ही क्या है ?

एक ने कहा—सखि ! हमने तो सुना है, सृष्टि तो चतुर्मुख ब्रह्मा करते हैं, रक्षा चतुर्भुज विष्णु करते हैं और संहार त्रिनेत्र शिव करते हैं। इनके न चार मुख न चार हाथ और न तीन नेत्र

हैं। ये तो किशोरावस्थापन्न परम सुकुमार अत्यंत रूपलावण्य युक्त महापुरुष हैं, घनश्याम हैं ?

इस पर दूसरी बोली—"तुमने शास्त्रों को सुना नहीं क्या ? व्यास जी के बनाये पुराणों को पढ़ा नहीं क्या ? ब्रह्म वादियों के बताये ज्ञान का मनन नहीं किया क्या ? यदि मनन किया होता तो ऐसी बात कभी भी न कहती। देखो ब्रह्मादि तो, इन्हीं की प्रेरणा से सृष्टि स्थिति और प्रलय कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, सबके मूल कारण तो ये ही हैं, जितने वेदव्यास आदि रहस्य वादी ऋषि महर्षि हुए हैं और अब हैं उन सब ने वेदों में तथा अन्य सभी गुह्य शास्त्रों में इन्हीं के यशका गान किया है। यों तारतम्य से तो बहुत से ईश्वर हैं जो सामर्थ्यवान हो वही ईश्वर है, किन्तु सबसे श्रेष्ठ सबके एक मात्र स्वामी तो अकेले ये श्रीकृष्ण चन्द्र ही हैं। इनमें यही विशेषता है कि ये खेल खेल में सहज भाव से बिना प्रयास के जगत की सृष्टि स्थिति और प्रलय करते हैं किन्तु स्वयं सदा निर्लेप बने रहते हैं उसमें आसक्त नहीं होते।"

किसी ने कहा—सखि ! अबोधबालकभी खेलता है तो मनोरंजन की इच्छा से खेलता है। कैसा भी मंद से मंद मति वाला मानव हो प्रयोजन के बिना तो वह भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इन्हें क्या पड़ी है जो इतने बड़े संसार को बनाते हैं। रक्षा करते हैं फिर बिगाड़ते हैं ?

इस पर हँस कर दूसरी सखी बोली—खेल में कोई प्रयोजन देखा जाता है क्या ? विवाह के समय तुम जो अपने दुलहा को छड़ी से मारती गयी उसमें क्या प्रयोजन था ? उन्हें चोट पहुँचाना तो प्रयोजन नहीं था। एक क्रीड़ा थी घर की स्त्रियों का विनोद था। केसर से तुम्हारे पति ने तुम्हारा मुँह पोत दिया इसमें क्या प्रयोजन था। तुम्हारे ऊपर अनुराग प्रदर्शित करना यही तो उसका हेतु था।

कर्मबन्धन में पड़े जीव हमारी लीलाओं को सुनें पढ़ें। कवि गण उनका गान करें, वर्णन करें उनको सुनकर गाकर मनन करके इस संसार सागर से पार हों, यही भगवान् की इस क्रीड़ा का प्रयोजन है। उनकी सभी क्रीड़ाओं में जीवों के ऊपर उनकी असीम कृपा निहित है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हस्तिनापुर की महिलायें माधव की और महिमा का जैसे वर्णन करेंगी उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

वेद बनावैं विश्व रचैं पालैं संहारैं।
जनम अजन्मा लेहिं सुखद लीला विस्तारैं॥
भक्ति भाव जो धारि चित्त निर्मल करि लेवैं।
तिनकूं ये अखिलेश भक्तिवश दरसन देवैं॥
जिनके यशकूं जगत महँ, वेद शास्त्र नित गात हैं।
तेई अज अच्युत अगम, रथ चढ़ि निजपुर जात हैं॥

पद—

सखि! ये रथ चढ़ि इतको आवें।
पुरुष पुरान पुरातन पावन पूरब पुन्यनि पावें॥१॥
प्रलयकाल महँ शक्ति सिमिटि सब, इनमें ही सो जावें।
लीला हित जगकरन चहहिं जब माया प्रकृति जगावें॥२॥
जोगी जुग-जुग जोन जतन करि इनि जगपति कूं ध्यावें।
इन्द्रिय मन निर्मल करि इहि तन भक्ति भावतैं पावें॥३॥
महामहिम व्यासादि महामुनि, वेद विदित यश गावें।
यह दरसन नित-नित पावैं प्रभु, पद पदुमनि सिर नावें॥४॥

महिलाओं द्वारा माधव की महिमा-(२)

(१३)

यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा
जीवन्ति तत्रैष हि सत्वतः किल।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो—
भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ॥*

(श्री भा० १ स्क० १० अ० २५श्लो०)

छप्पय

लेहिं अवनि अवतार बढ़ै पापी नृप जब जब।
धारैं भग, ऋत, सत्य, दया, यश जगहित तब तब॥
यदुकुल महँ अवतरित भये कवि कीरति गावै।
भयो धन्य कुल सकल स्वरगमहँ अमर सरावै।
मथुरन अतिशय धन्य तम विहरे जहँ राधा रमन।
गहँ धन्य द्वारावती निवसत जहँ प्रभु प्रति सदन॥

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! माधवकी महिमा का मनो हारिणी महिमायें महलों की छत पर बैठी परस्पर में कथन कर रही हैं। उनमें से कोई बोली—"सखियो! यह क्या आश्चर्य

---

* [illegible] की [illegible] माधव की महिमा का [illegible] कर रहे हैं—"[illegible]! जब पृथ्वी पर [illegible] के राजा [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible]

विषय छेड़ दिया। गुणोंसे पहिले क्या था, प्रकृति की साम्यावस्था में गुण कैसे रहते हैं प्रकृति में क्षोभ होने पर गुणों में वैसम्य कैसे होता है। सृष्टि, स्थिति प्रलय क्या है। इन बातों में बुद्धि को क्यों फँसा रही हो। सम्मुख जो मन मोहक मूर्ति दृष्टि गोचर हो रही है, उसकी चर्चा करो। प्रत्यक्षप्रभु के सम्बन्ध में वार्तालाप करो। निर्गुण से हमें क्या लेना। हमें तो सगुण चाहिये।"

दूसरी बोली—"वे निर्गुण ही तो सगुण बन गये हैं। पानी ने ही तो हिम का रूप रख लिया है। विशुद्ध चैतन्य चीनी के ही तो अङ्ग प्रत्यंग बन गये हैं। अनाकृति सुवर्ण ने ही तो मनोहर हार की आकृति बनाली है। सौंदर्य माधुर्य ही तो साकार बन गया है। अनादि अच्युत ही तो अवनि पर अवतरित हो गये हैं।

किसी दूसरी ने पूछा—"सखि! निराकार को साकार रूप रखने की क्या आवश्यकता पड़ी। निर्गुण ने गुणों का आश्रय क्यों ग्रहण किया। अवाङ मन सगोचर, मन वाणी और बुद्धि का विषय क्यों बन गया ?"

इस पर दूसरी बोली—"सखि! क्रीड़ा करने को ये निर्गुण से साकार बन जाते हैं, भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त ये रूप रख लेते हैं, अपनी कथाओं का विस्तार करने के निमित्त—जिन कथाओं को सुन सुन कर प्राणी इस असार अगाध संसार सागर को सहज में ही तर जायँ इसी निमित्त—ये अवनि पर अवतीर्थ हो जाते हैं। मानव देह केवल खाने पीने और भोग भोगने के ही निमित्त नहीं है। इससे धर्मार्जन करना चाहिये, प्रभु पद प्राप्ति करना चाहिये। मनुष्यों को जो शासन में रखते हैं, प्रजा का जो पालन करते हैं, जो अपने ऐश्वर्य तथा प्रभाव से राजते हैं प्रकाशित होते हैं ऐसे महीपाल, प्रजा पालक, नृपति राजागण जब धर्म छोड़ कर केवल छल से, बलसे, कला कौशल

से, करबढ़ाकर, लोगों को दुख देकर केवल पेट पालन में ही लग जाते हैं, भौतिक उन्नति का ही अपने जीवन का चरमलक्ष्य समझने लगते हैं, धर्म से निरपेक्ष उदासीन या विरुद्ध हो जाते हैं, तब समय समय पर ये परात्पर प्रभु प्रकट होकर धर्म की संस्थापना करते हैं, उन राजारूप में व्याप्त असुरों को दंड देकर पृथिवी का उद्धार करते हैं। उस समय प्रभु स्वयं समस्त ऐश्वर्य समस्त धर्म, समस्त यश, समस्त शोभाश्री, समस्त वैराग्य समस्त ज्ञान, सत्य, दया और प्रसिद्धि को धारण करते हैं। इसी लिये वे भगवान् कहाते हैं। वैसे तो सभी अवतारों में ये सब गुण रहते हैं, किन्तु किसी अवतार में किसी गुण का प्राधान्य होता है, अन्य गुण उस प्रधान गुण के सम्मुख दब जाते हैं हलके पड़ जाते हैं। जैसे जब पृथिवी पाताल में चली गयी तब उसके उद्धार के लिये भगवान् ने सूकरावतार धारण किया। जब शंखासुर वेदों को लेकर समुद्रमें छिप गया था तब मत्स्य रूप रखकर वेदों का उद्धार किया। मनु को प्रलय जलमें बीजों सहित बचाया ये विशेष कर धर्म के ही लिये अवतार हैं। इनमें सौंदर्य माधुर्य अणिमादि सिद्धियों का उतना प्रकाश नहीं हुआ था। पृथु रूप से पृथिवी का निग्रह करके उस को गौ बना कर समस्त ऐश्वर्य को दुहकर उसका पृथिवी पर प्रसार किया विषम भूमि को समकिया। यह ऐश्वर्य प्रधान अवतार है। रामावतार धारण करके समस्त संसार में रावणादि राक्षसों को मार कर अपने यश का विस्तार किया अपनीश्री से शोभा से संपूर्ण भुवनों को मोह लिया, कपिल, ऋषभ, दत्तात्रे यादि अवतारों में वैराग्यको छटा दिखादी, सनत कुमार व्यासादि अवतारों में ज्ञान की पराकाष्ठा दिखादी। नर नारायण, राम आदि अवतारों में ऋत, सत्य का प्राधान्य प्रदर्शित किया। बुद्धावतार लेकर प्राणिमात्र पर दया करने का पाठ पढ़ाया अनेक मनु, प्रजापति तथा राजाओं के रूप में अवतार लेकर

अपने यश का विस्तार किया। इस प्रकार समयसमय पर ये ही श्री कृष्ण भिन्न भिन्न अवतार लेकर धर्म की स्थापना करते हैं।

इसपर एक दूसरी सखी बोली—"बहिन ! रहने भी दो इन कच्छ मच्छ सूकर अवतारों की बातें। तुम तो गोद के को छोड़ कर पेट वाले के सम्बन्ध की बातें करने लगीं। वे अवतार हुए होंगे। कच्छ, मच्छ, सूकर और नृसिंह इन अवतारों को हम तो दूर से ही डंडौत करती हैं। इन्हें न छू सकें न हृदय से चिपटा सकें। सखि ! रति तो समान धर्मी में होती है, एक जाति के ही लोगों में अनुराग होता है। कछुआ भगवान् की हम पूजा तो कर सकती हैं, किन्तु उनके ओठों पर निः शंक होकर ओठ तो कछुवानी ही रख सकती है। कछुआकुल में ही आनन्द मनाया जा सकता है ! हमें तो इन यदुनन्दन घनश्याम के ही सम्बन्ध में बातें करनी चाहिये। यदुप्रवीर इन देवकी नन्दन वासु देवकी ही विरुदावली का बखान करना चाहिये।

अहा ! देखो तो सही यदुवंशियों को कोई कभी पूछता था। ययाति के शाप से यदुकुल क्षत्रियों से पृथक करदिया गयाथा, इस वंश में कोई छत्र चँवर धारी सिंहासनासीन राजा नहीं हो सकता था। क्षत्रियों की सभा में यदुवंशी समान आसन पर बैठ नहीं सकते थे। किन्तु जब से श्याम सुन्दर इस कुल में अवतीर्ण हुए तब से यह कुल धन्य हो गया, प्रशंसनीय बन गया, श्लाघनीय समझा जाने लगा। इस कुल के लोग गर्व से सिर ऊँचा उठाकर चलने लगे और अभिमान के साथ कहने लगे हम उस प्रशंसनीय यदुकुल के हैं, जिसमें परात्पर प्रभु श्रीकृष्ण चन्द्र उत्पन्न हुए हैं। परम पुरुष पुरुषोत्तम लक्ष्मी पति इन वासुदेव के जन्म से यह कुल सब से अधिक सम्मानित बनगया। परम पावन और अतिशय पवित्र तम बन गया।

भगवान् ने ब्रज में विहार किया। जिस ब्रज की रज के एक कण को ब्रह्मादि देवता दुर्लभ मानकर उसकी प्राप्ति के लिये ईश्वराधना करते हैं मधुवन पहिले मधुराक्षस के रहने का स्थान था। लवणासुर जैसा हिंसक राक्षस राजा यहाँ का अधिपति था। सर्वत्र भयंकर वन ही वन था। वह पुरुषों का मांस खाने वाला क्रूर राक्षस दिनभर धनुषबाण लेकर भयंकर कँटीले इन सघन वनों में घूमता और सैकड़ों मृग तथा अन्य जीवों का संहार करके अपने खाने के लिये लाता था। उस समय साधु पुरुष यहाँ आने से भयभीत होते थे, किन्तु जब से इन चंचल चपल चितचोर ने अपने चरणों से इस भूमि को पवित्र किया, जब से ये वन वनों में नंगे पैरों फिरे तभी से यह ब्रजभूमि धन्यतम बन गयी, मधुवन परमपावन क्षेत्र बन गया। इसकी पावन रज और भी अधिक पावन बन गयी। ब्रजकी रज की महिमा अत्यधिक बढ़ गयी। इन वृन्दाविपिनविहारी के विहार से ब्रजमंडल की राजधानी मथुरापुरी श्लाघनीय हो गयी।

देखो द्वारकापुरी आज स्वर्ग के यश को भी तिरस्कृत करने वाली क्यों बन गयी। पहिले यह विषधर नागों का द्वीप था। समुद्र के गर्भ के टापू में वर्णाश्रमी रहना अच्छा नहीं समझते। सौराष्ट्र देश को भी शास्त्रधारों ने कीकट देशों में गणना की है. जहाँ तीर्थयात्रा के अतिरिक्त समय में जाने पर पुनः संस्कार कराना पड़ता है। वह समुद्र के बीच में बसी द्वारावती को आज परमपावन सप्तपुरियों में गणना क्यों हो गयी। क्यों धन्यतमा बन गयी। आज यह पृथिवी के पावन यश को बढ़ाने वाली,

सभी के मन को लुभाने वाली, देवताओं के दुःखोंको दूर करनेवाली ऋषि मुनि तथा विद्वानों को आश्रय देने वाली क्यों बन गयी ? इसीलिये कि यहाँ यदुकुल चन्दन देवकीनन्दन अपने चरणारविन्दों से नित्य विहार करते हैं, इसमें बने महलों में सतत निवास करते हैं। निवासी नर नारियों को नयनानन्दकारी भवभयहारी द्वारकाधीश अपने कृपाकटाक्षों द्वारा नित्य ही निहारते हैं और यहाँ के भी समस्त जन इन आनन्दघन, मनभावन, परमपावन यदुनन्दन का नित्य दर्शन पाते हैं, उन्हें प्रेमभरी चितवन से नित्यप्रति अवलोकन करते हैं। भगवान् का जिस देश में अवतार होता है, जिस काल में प्राकट्य होता है और जिन पात्रों के लिये प्रभु प्रकट होते हैं, वे सभी देश, काल और पात्रधन्य हैं, श्लाघनीय हैं, वन्दनीय और अर्चनीय हैं। सखि ! यदुवंशी पुरुष, वृन्दावन के ग्वालबाल तथा समस्त गोप धन्य हैं, जिन्हें श्यामसुन्दर के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। नर देह की सार्थकता इसी में है, कि इस जीवन में भगवान् का दर्शन हो जाय, भगवान् को इस शरीर से छू सकें, "ब्रह्म संस्पर्श प्राप्त हो सके।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! अभी आगे महिलाओं की वार्तालाप और है उसे आगे कहूँगा।

छप्पय

शापित यदुकुल भयो धन्यतम सब जग बन्दित।
सुरमुनि परम सिहायँ नाम सुनि सकल अनंदित ॥
ब्रजरज कन कन भई परमपावन प्रभु पद तैं।
करि ब्रज बनिता संग भईं मदमाती मद तैं ॥
धन्य काल जब जनम अज, विहरैं बिभु सो देश धनि।
धन्य पात्र हरि पद परसि, धनि कवि प्रभु गावै गुननि ॥

पद

सखि ! ये धरमहेतु तन धारें ।
जब जब जगमहँ जनमें जड़नृप, तब तब तिनिकूँ मारें ॥१॥
विश्वविदित विश्वेश विसम्भर, धरम धुरीननि तारें ।
प्रकटे यदुकुल बढ़े गोपकुल, दाउनि यश विस्तारें ॥ सखि ॥
करया सुकृत द्वारावति ब्रज का, ऋषि मुनि बैठि विचारें ।
प्रभुपद परसि भई पावन रज, धनि धनि सकल पुकारें ॥ ३ ॥
धनि ब्रजबाल श्याम सँग खेलें जेते वे हरि हारें ।
को ब्रज वनितनि भाग्य सराहै, हँसि प्रभु जिनहिं निहारें ॥ ४ ॥

महिलाओं द्वारा माधव की महिमा (३)

(१४)

नूनं व्रतस्नान हुतादिनेश्वरः
समर्चितो ह्यस्य गृहीत पाणिभिः ।
पिबन्ति याः सख्य धरामृतंमुहु-
र्व्रजस्त्रियः सं मुमुहुर्यदाशयाः ॥
(श्रीभा० १ स्क० १० अ० २८ श्लो०).

छप्पय

सखि ! ते नारी धन्य फिरी जिनि भाँवरि हरिसंग ।
पकर्‌यो जिनि कर कमल श्याम कूँ सोंप्यो निज अंग ॥
जिनि अधरनि कूँ सुमिरि बनी बौरी ब्रज बाला ।
तिनि अधरनि रस सतत चुआवत तिनि मुखलाला ॥
प्रभुपद पावन केनिमित, नित-नित तप तपसी करत ।
सो सुकुमारिनि हरन हित, लड़त भिड़त पुर पुर फिरत ॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! हस्तिनापुर की युवतियाँ माधव की महिमा का बखान करती हुई देश काल और पात्रता की धन्य-

---

* हस्तिनापुर की महिलायें परस्परमें कह रही हैं-"सखि ! जिन भाग्यवती नारियों का पाणिग्रहण इन श्यामसुन्दर ने किया है, उन्होंने निश्चित ही व्रत, स्नान और हवन आदि के द्वारा ईश्वर की आराधना की होगी तभी तो वे सब उनके उस अधरामृत का प्रेम से पान करती हैं, जिसकी स्मृति से ही व्रजबनितायें बारम्बार विमोहित बन जाती हैं ।

ता श्रीकृष्ण संसग से ही सिद्ध करती हुई परस्पर में बतरा रही हैं।

उनमें से एक ने कहा—सखि ! तुम पुरुषों की चर्चा क्यों कर रही हो, यदुकुल वाले धन्य हैं या द्वारावती मधुपुरी संसार में श्लाघनीय गुणों वाली है, होगी। हम तो स्त्रियाँ हैं हमें तो स्त्रियों की ही चर्चा करनी चाहिये। स्त्री को सबसे अधिक इच्छा होती है स्नेहकी प्रेम की अपनेपन की। स्त्री प्रेम के पीछे घर द्वार कुटुम्ब परिवार धन धान्य राजपाट सगे सम्बन्धी यहाँ तक कि अपने आत्मा से उत्पन्न संतनों को और शरीर को भी त्याग देती है। स्त्री के हृदय में प्रेम की एक ज्वाला जलती रहती है वह एक ऐसा संगी साथी चाहती है, जिसे सर्वस्व समर्पण करके, सभी उत्तरदायित्व उसे सौंपकर सुख पूर्वक उसकी क्रोड़ में सोती रहे। स्त्री अपना ऐसा जीवन संगी चाहती है जो स्वयं शूरवीर हो जो पत्नी की सभी आपत्ति विपत्तियों से रक्षाकर सके। "पातीति पतिः" पतिका अर्थ ही यह है जो सब प्रकार से पत्नी की रक्षा कर सके। पति का दूसरा नाम है, भर्ता भर्ताका अर्थ है जो भरण पोषण करने में समर्थ हो। पति को स्वामी भी कहते हैं जो किसी के अधीन न हो। स्त्री प्रेम की भूखी होती है, उसे धन नहीं चाहिये। अपने प्रेमाकर्षण से ही तो वह परघर में आकर स्वामिनी और गृहिणी—घर की स्वामिनी-बन जाती है। जिस पत्नी को पतिका प्रेम प्राप्त हो गया उसे सब कुछ मिल गया जिसे पतिका प्रेम नहीं मिला और अतुल सम्पत्ति ही मिल गयी तो किस काम की। तभी तो राजपुत्री सम्राट चक्रवर्ती की पुत्रवधू सीता ने महलों में सुख पूर्वक रहने की अपेक्षा कंटकाकीर्ण भयंकर सघन वनों में पति के संग रहना श्रेयस्कर और सुखप्रद समझा।

इस पर दूसरी बोली-सखि ! तुम सत्य कहती हो, शूरवीर,

प्रतापी, प्रेमी पति मिल जाने पर इस लोक के सभी सुख स्त्री को प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु भाग्यवश कोई असुर प्रकृति का पति मिल गया, तो सभी गुड़ गोबर हो जाता है, न इस लोक में सुख होता है, न परलोक में। पारलौकिक सुख तो प्रभुकी आराधना से ही भगवत् सेवासे ही सुलभ हो सकता है। पत्नी अपने पति से चार वस्तुओं की आकांक्षा रखती है, एक तो पति उसमें भरपूर प्यार करे उसे अंग संग प्रदान करे, दूसरे उसके द्वारा उसे योग्य सन्तानों की उपलब्धि हो, तीसरे पति अपनी पत्नी को इच्छित वस्तुओं का अनुराग और आग्रह के साथ लाकर प्रदान करे और चौथी यह कि पति कभी पत्नी का संग छोड़े नहीं। ये तो धर्मपूर्वक संसारी सुख हुए। ऐसे पति पत्नी को धर्म का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ फल मिलता है, किन्तु भगवद्भक्ति इस संसार से मुक्ति तो भगवत् उपासना द्वारा ही संभव है।

इन श्यामसुन्दर की पत्नियों को इस लोक के तथा पर लोक के, धर्म के तथा भक्ति के सभी सुख सहज ही प्राप्त हैं, क्योंकि इन्हें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही पति रूप में प्राप्त हैं। अन्य स्त्रियों को तो पति में परमेश्वर भावना का आरोप करना पड़ता है नरपति को नारायण मानना पड़ता है, विनाशी में अविनाशी की कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु इन्हें तो दोनों भाव अकल्पित स्वतः ही उपलब्ध हैं। इन्हें जो पति प्राप्त हुए हैं, वे स्वयं साक्षात् अविनाशी परब्रह्मपरमेश्वर श्रीमन्नारायण ही हैं, कल्पना आरोप तथा भावना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती और इन्हें पति से प्राप्त होने वाले सभी सुख परिपूर्ण मात्रा में प्राप्त हैं। इससे हम तो यही अनुमान करती हैं, कि जिन देवियों को भगवान् की पत्नी होने का अति दुर्लभ पद प्राप्त हुआ है। जिनका स्वयं ही परब्रह्मपरमात्मा परिपूर्ण प्रभुने स्वेच्छा से

पाणिग्रहण किया है, उन्होंने पूर्वजन्म में अवश्य ही बड़े-बड़े यज्ञों में अवभृत स्नान, कार्तिकादि महीनों में तीर्थस्नान, काया को कृश करने वाले कठिन-कठिन चान्द्रायणादि व्रत' विपुल सामग्रीयों वाले वेद की विधि से हवन, यज्ञ तथा श्रद्धा भक्ति पूर्वक ईश्वरोपासनादि शुभ कर्म किये होंगे तभी तो इन्हें ऐसा सुदुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हो सका है।

इस पर एक ने पूछा—"सखि ! तुम्हें कैसे प्रतीत हुआ कि इन कृष्ण पत्नियों ने व्रत, स्नान और हवन आदि से ईश्वर की आराधना की है? क्या तुम ने इन्हें ऐसा करते देखा है?"

यह सुनकर वह बोला—"सखि ! सभी बातें क्या प्रत्यक्ष देखकर ही कही जाती हैं। प्रत्यक्ष तो अपनी आँखें भी नहीं दीखतीं अपनी पीठ भी दिखायी नहीं देती। दूसरों की आँखें और पीठ देखते हैं, इससे अनुमान लगा लेते हैं कि हमारे भी ये होंगी। कोई देवदत्त नाम का व्यक्ति है। वह शरीर से हृष्ट पुष्ट और मोटा है। एक आदमी उसे हमारे पास लाया और उसने कहा—"देखो, यह इतना मोटा देवदत्त है, किन्तु सूर्योदयसे सूर्यास्त तक कुछ भी नहीं खाता।"

यदि कुछ भी न खाता तो दुर्बल होना चाहिये किन्तु है यह मोटा इससे अनुमान लगाया जाता है, कि दिनमें न खाता होगा, रात्रि में अच्छे अच्छे पौष्टिक पदार्थ डटकर यथेष्ट खा लेता होगा। बिना पौष्टिक पदार्थों के खाये हृष्ट पुष्ट मोटा कैसे हो सकता है। इसी प्रकार इन श्रीकृष्ण पत्नियों के सौभाग्य को देखकर हम अनुमान करती हैं, कि इतना भारी सौभाग्य बिना व्रत,स्नान और हवन द्वारा ईश्वर आराधना किये प्राप्त हो ही नहीं सकता। इन परम भाग्यवती राजकुमारियों के सौभाग्य के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, जो श्यामसुन्दर के अधरों के अमृत का प्रेम पूर्वक प्रतिदिन प्रेमपूर्वक पान करती रहती हैं।

इस पर दूसरी बोली—"देखो,सखि ! यह सौभाग्य केवल व्रत, हवन तथा स्नानादि से ही प्राप्त नहीं हो सकता इसमें भगवत् कृपा ही प्रधान हेतु है। यदि व्रत स्नान से ही यह सौभाग्य प्राप्त होता, तो व्रज की कुमारियों ने कार्तिक स्नान और कात्यायिनी देवी की पूजा करके यह सौभाग्य चाहा था, उन्हें कहाँ श्याम सुन्दर का नित्य अधरामृत पान करने को मिलता है इस लिये यही अनुमान करना चाहिये कि इस सौभाग्य में प्रधान हेतु है भगवत् कृपा। जिसे ये वरण करना चाहें वह ही इन्हें प्राप्त कर सकेगा। जिस अधरामृत की स्मृति मात्र से व्रजाङ्गनायें मोहित हो जाती हैं उस अधरामृत का ये प्रभु पत्नियाँ यथेष्ट पान करती हैं, वास्तवमें ये अवश्य ही अत्यंत भाग्यवती हैं, इनके सौभाग्य के सम्बन्ध में अधिक और कहा ही क्या जा सकता है ?"

इस पर एक दूसरी बोली—"सखि ! यथार्थ में श्रीकृष्ण की सौलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ परम भाग्यवती हैं, जो भगवान् की पत्नियाँ बन सकीं। मीठा भी और भर कठौता भी। प्राणवल्लभ प्रियतम पति भी और परमेश्वर भी दोनों साथ ही मिले गये। परमेश्वर भी ऐसा नहीं जो गुम्म-सुम्म देवता बना मंदिर में पूजा ग्रहण करता हुआ बैठा रहा। ईश्वर भी मिला तो रसिक, प्रेमी, चंचल, चपल चटोरा चुलबुला, फड़कता हुआ, हँसता हुआ, सौंदर्यका साकार स्वरुप अत्यंत मधुर स्वभाव वाला, पत्नियों की आज्ञा में रहने वाला, प्रियतमाओं की इच्छाओं का अनुवर्तन करने वाला। स्त्रीत्व का सम्पूर्ण सुख उन्होंने स्वयं ही नहीं लूटा, किन्तु स्त्री जाति को भी धन्य बना दिया, उसे भी गौरवान्वित कर दिया। नहीं तो लोग कह देते हैं अजी स्त्री तो स्त्री है इन स्त्रीयों में पवित्रता नहीं

रहती इसलिये इन्हें पर तन्त्र बनाये रखो। स्वतंत्रता प्रदान मत करो। अब तो हम सब से छाती ठोक कर कह देती हैं—"बक-बक मत करो, जिन स्त्रियों के वश में स्वयं साक्षात् परमात्मा रहते हैं, जिनकी प्रत्येक आज्ञा का श्री कृष्ण दास की भाँति पालन करते हैं उन स्त्रियों को निरस्त शौच (अपवित्र)। अपास्त पैशल (अस्वतंत्र) कहने का साहस जो करता है, वह अज्ञ है मूर्ख है बुद्धि हीन है। इन कृष्ण पत्नियों ने सम्पूर्ण स्त्री जाति का मुख समुज्वल बना दिया। स्त्री जाति महत्व अत्यधिक बढ़ा दिया। जैसे, बड़ी बड़ी आँखों को देखकर सभी आँखों को आनन्द प्राप्त होता है वैसे ही ऐसी भाग्यवती स्त्रियाँ स्त्री जाति भर के लिये आनंदका सुख का हेतु हैं। यह बात कृष्ण पत्नियों के सौभाग्य से सिद्ध होती है।

इस पर एक ने पूछा—"सखि ! इन कृष्ण पत्नियों को ऐसा कौन सा सुख मिला ? इनके सौभाग्य के सम्बन्ध में कुछ सुने भी तो ?"

यह सुनकर दूसरी बोली—"उन्हें कौन सा सुख नहीं मिला। सभी सुख श्याम सुन्दर के सान्निध्यमात्र से ही मिल गये। स्त्री चाहती है कि शूरवीर योग्य पति या तो स्वयं हमें वरण करें या हम उसे अपनी इच्छा से चुनले। इसी लिये क्षत्रियों में गान्धर्व विवाह और राक्षस विवाह दो सर्व श्रेष्ठ विवाह माने गये हैं। इन दोनों विवाहों में माता, पिता, भाई तथा परिवार की अपेक्षा नहीं रखी जाती। कन्या किसी वर से विवाह करना चाहती है, माता पिता उसके हाथ में दूर्वादल में मधूक-महुए-के पुष्पों की माला देकर कहते हैं तेरी इच्छा जिसे पतिरूप में वरण करने

की हो उसके कण्ठमें यह माला डाल दें।" बची स्वयंवर मंडप में जाकर उसकी प्राप्ति की इच्छा से बैठे वरों में से स्वयं इच्छानुसार वर को वरण करती है। जो कुमार उसे न चाहता होगा वह स्वयंवर में आवेगा ही क्यों। इस विवाह में कन्या और वर दोनों की ही इच्छा का प्रधान्य होता है। माता पिता इसमें आपत्ति नहीं करते, कन्याकी इच्छा पर छोड़ देते हैं। इसका नाम गांधर्व विवाह है। क्षत्रियों में यह विवाह अत्यंत श्रेष्ठ समझा जाता है। इसमें एक पण स्वयंवर होता है जिसमें पिता कोई पराक्रमसूचक पण रख देता है, उसे जो पूरा करदे वही कन्या को लेजाय। नाग्नजिती सत्या का विवाह भगवान् ने सात बैल नाथ कर ऐसे ही किया। भद्राने स्वयं ही भगवान् को अपनी इच्छा से पति बनाया था। इसी प्रकार कालिन्दी ने भी। मित्र विन्दा ने भी जय माला भगवान् के गले में डालनी चाही किन्तु उसके भाइयों ने उसे रोक दिया, तब भगवान् बल पूर्वक उसे स्वयंवर से उठालाये यह विवाह गांधर्व और राक्षस दोनों ही प्रकार का था।

राक्षस विवाह में यह होता है, कि कन्या तो किसी वर को चाहती है, किन्तु उसके माता पिता उसका विवाह किसी दूसरे से ही करना चाहते हैं। तब कन्या गुप्त रूप से अपने इच्छित वरके पास सन्देश भिजवा देती है, या वर ही स्वयं उसके मनोगत भाव को समझकर वहाँ आता है और बल पूर्वक कन्या का अपहरण करके अपने घर ले जाकर विवाह करता है। इन दोनों प्रकार के विवाहों में वर और कन्या दोनों की ही अनुमति इच्छा आवश्यक होती है। यदि कोई कन्या किसी वर को नहीं चाहती और वह राक्षस विधि से अपहरण कर ले जाता है तो अपहरण कर्ता पापी माना जाता है। भीष्मपितामह जब काशि राज की

कन्या अम्बा को अपने भाइयों के लिये राक्षसी विधि से हर ले गये और अम्बाने अपनी अनुरक्ति किसी दूसरे राजकुमार में दिखायी तो तुरन्त उन्होंने उसे उस राज कुमार के निकट भिजवा दिया। इसी लिये गान्धर्व और राक्षस विवाह क्षात्र धर्म में प्रसस्त हैं, भगवान् के सभी विवाह ऐसे ही हुए। सखि! यह कितने आश्चर्य की बात है, जिन परात्पर प्रभु को बड़े बड़े योगी जन सहस्रों लक्षों वर्ष समाधि लगाकर खोजते रहते हैं, वे स्वयं अस्त्र शस्त्र लेकर राजकुमारियों को खोजने निकलें। जिन्हें बड़े बड़े योगेश्वर चाह से अपनाना चाहते हैं, वे ही स्वयं जिनको अपनी पत्नी बनाने के लिये व्यग्र रहें, युद्ध करते फिरें, लड़ते भिड़ते फिरें उनके सौभाग्य की क्या सीमा है।

देखो, रुक्मिणी जी का विवाह शिशुपालसे होने वाला था। बरात भी आ गयी, वर वेष में माथे पर मौर बाँधकर शिशुपाल भी बरात लेकर कुंडिनपुर में आ गया था, किन्तु भगवान् अपनी अनुरक्ता शरणा पन्न प्रेयसी पर कृपा करके विवाह के ही समय विदर्भ देश की राजधानी में पहुँचे और अपने बाहुबल के प्रभाव से शिशु पाल आदि वीरों का मान मर्दन करके स्वयंवर से रुक्मिणी जी को हरण कर लाये। गये थे भौमा सुरको मारने उसके यहाँ सौलह सहस्र एक सौ कन्याओं को अवरुद्ध देखा। वे सब श्याम सुन्दर पर अनुरक्त हो गयीं। उन्हें अपने ऊपर आसक्त देखकर ले आये और उतने ही रूप बनाकर उनके साथ विवाह भी करलिये। जिसने हृदय से श्यामसुन्दर को वरण करना चाहा, स्वयं उसके घर पर जाकर उसे बल पूर्वक ले आये, कितनी कृपा इन्होंने उन अबलाओं पर प्रदर्शित की इस लिये ये सभी प्रभु पत्नियाँ धन्यतमा हैं।

इच्छित वर मिलना प्रथम सौभाग्य का चिन्ह है। द्वितीय

भौभाग्य योग्य सन्तानों की प्राप्ति। सो सभी रानियोंने इन परात्पर प्रभु से १० १० पुत्र और एक एक कन्या प्राप्त की। न किसी को अधिक न न्यून। उनमें प्रद्युम्न, साम्ब और अम्ब जैसे महारथी थे। सुयोग्य गुणवान् यशस्वी पुत्रों का पाना स्त्रियों का सबसे बड़ा सौभाग्य है।

तीसरा सौभाग्य है पति का सतत सान्निध्य भगवान सभी रानियों के महलों में पृथक् पृथक् रूप रखकर सदा निवास करते हैं, पल भर को भी उन्हें विरह वेदना का अनुभव नहीं होने देते। जिसका पति सदा जिसके सन्निकट रहता है, उस पत्नी से बढ़कर सौभाग्यशालिनी नारी और कौन होगी ?"

चौथा सौभाग्य है, इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति। एक बार इनकी प्यारी पत्नी सत्यभामा रूठ गयीं। रूठी भी किस बात पर कि सबको एक एक पारिजात का पुष्प मिला मुझे क्यों नहीं मिला। नारदजी का यह षड्यन्त्र था। कुछ लोगों को घर में फूट डालने में—स्त्री पुरुष—को लड़ते देखने में आनन्द आता है। इसीलिये नारदजी सोलह सहस्र एक सौ सात फूल ही लाये। सबको स्वर्ग का सुमन मिला सत्यभामाजी रह गयीं। नारदजी फिर स्वयं ही पूछने गये—तुम्हें स्वर्गीय पारिजात पुष्प मिला क्या ? जब दूसरा लड़ाने पर उतारू हो तो लड़ाई क्यों न हो ? हम स्त्रियों में एक दोष स्वाभाविक होता है. हमारी इच्छा होती है, हमारा प्रेष्ठ सबसे अधिक प्यार हमी को करे। हमसे अधिक उसका प्यारा और कोई अन्य न हो। इसीलिये परस्पर में सपत्नियों से आपस में प्रेम नहीं होता। सत्यभामा जी रूठ गयीं, कि अपनी प्यारियों को ही फूल भेजते हो, हमें भूल ही जाते हो।" भगवान् को नारद के षड्यन्त्र का पता ही नहीं था। जब मुँह फुलाकर सत्यभामा जी आईं और श्यामसुन्दर ने उनकी ठोढ़ी उठाई तो उन्होंने

परात्पर प्रभु को झिड़क दिया जिनकी स्तुति ब्रह्मादि देवता भी दूर से ही करते हैं।

इन्होंने पूछा—"प्रिये ! क्यों अप्रसन्न हो, क्यों नहीं बोलतीं ? मेरा अपराध तो बताओ, कौन मुझसे भूल हो गयी है ?"

पुष्प का समाचार सुनकर श्याम सुन्दर हँसे और सम्पूर्ण ममता बटोर कर बोले—"प्रिये ! इतनी छोटी सी बात के लिये इतनी अप्रसन्नता ? तुम एक पुष्प की बात कहती हो, लाओ मैं स्वर्ग से पारिजात वृक्ष को ही लाकर तुम्हारे आंगन में लगाये देता हूँ।' यह कहकर इन्होंने सत्यभामा के ही आंगन में नहीं सभी रानियों के यहाँ एक एक पारिजात का पेड़ लगा दिया। जो भगवान् वासुदेव अपनी प्रियतमाओं की प्रसन्नता का इतना ध्यान रखते हैं, उनके भाग्य की सराहना किन शब्दों में की जाय। सो, सखियों ! स्त्री होने का सुख तो इन परात्पर प्रभु की पत्नियों को ही पूर्ण रीत्या प्राप्त हुआ है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अटा अटारियों पर बैठी हुई हस्तिनापुर की नारियाँ परस्पर ऐसी बातें कर रहीं थी शनैः शनैः चलते हुए रथ में से श्याम सुन्दर सब सुनते जाते थे और मन्द मन्द मुसकान से उनकी ओर निहारते हुए उनके इस कथन का पारितोषिक देते जाते थे, मानों उनकी सभी बातों का अभिनन्दन कर रहे हों, इस प्रकार सभी को सुख देते हुए भगवान् द्वारका जी में पहुँच गये। मुनिवर यह मैंने हस्तिनापुर की महिलाओं द्वारा माधवकी जो महिमा गायी उसका वर्णन अपनी क्षुद्रबुद्धि के अनुसार किया। अब कथा आरंभ करते समय जो भगवान् शुकने भगवान् का स्तवन किया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप उस दिव्य स्तवन को समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

नारी सुखजग चारि सुता सुत सुंदर जावें ।
पति परमेश्वर परस प्रेम तें प्रति दिन पावें ॥
दे सब इच्छित वस्तु सदन सँग सुख सर सावें ।
संकल्पित सुख सकल श्याम संग महिषी पावें ॥
सुत सब के सम सब सदन श्याम सुन्दर निवसहिं सतत ।
स्वरग सुमन निज प्रेम दे, नारिनिवह भागी करत ॥

पद

धनि धनि प्रभुकी प्यारी नारी ।
पायो पति परमेश्वर जिनने तिनिको तप अति भारी ॥१॥ धनि०
मिलै न जप, तप, यज्ञ हवन करि, पावैं नहि व्रत धारी ।
धनि जे पान करे अधरा मृत, विहरे संग विहारी ॥२॥धनि०
सब साधन जिनके पावन हित, करे कठिन अधिकारी ।
प्रभुई लड़त जिनहि पावन हित, बड़भागी सुकुमारी ॥३॥ धनि०॥
नारी योनि सफल होवे जब, पति पावै बनवारी ।
प्रभु को परस कबहुँ मिल जावे जीवन साध हमारी ॥४॥धनि

शुक स्तवन (१)

(१५)

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भवस्थाननिरोध लीलया ।
गृहीतशक्ति त्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥

(श्री भा० २स्क० ४अ० १२श्लो०)*

छप्पय

जो जग सब उपजाय पालि पुनि नाश करावें ।
सत, रज तमतें विष्णु, ब्रह्मशिवरूप बनावें ॥
अन्तरयामी सकल चराचर घट घट व्यापत ।
तिन परमेश्वर परम पुरुष पद पुनि पुनि प्रनमत ॥
जो जन, पुरुषनि पार करि, सोखें भवसागर सकल ।
रोकत असतनिको उदय पद पावें जन भजि विमल ॥

महाराज परीक्षित् ऋषिकुमार शृंगी के शाप से शापित होकर जब गंगा तट पर आ बैठे और अकस्मात् भगवान शुक वहाँ आगये, तब राजाने उनसे अनेक प्रश्न पूछे तथा

---

* शुकदेवजी कहते हैं—उन महा महिम परम पुरुष को नमस्कार है, जो समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से विराजते हैं तथा जगत की उत्पत्ति और संहार रूप लीला करनेके लिये सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का आश्रय लेकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश इनतीनों रूपों को धारण करते हैं ॥

भगवान् के गुण वर्णन करने की प्रर्थना की, तब महामुनि शुक उनकी प्रार्थना को स्वीकार करके भगवत् गुणानुवाद कहने को प्रस्तुत हुए। कथा कहने के पूर्व वे मङ्गलाचरण के रूप में भगवान् का अनुस्मरण करने लगे। उनको नमस्कार करने लगे।

नमः शब्द का अर्थ है नमन करना, नम्रता प्रदर्शित करना, अपने को छोटा समझकर नमस्कार जिसके लिये कर रहे हैं, उसे महत्व देना, उसके सम्मुख नतमस्तक हो जाना झुक जाना। मृदु, गीली, सरस तथा। स्निग्ध वस्तु ही भार से झुकती है। गीली मिट्टी को ऊँचे उठाओ तो वह झुक जायगी, फलों से लदने पर वृक्ष की शाखायें झुक जायेंगी, जहाँ भी गीलापन है, वहीं झुकाव है, सूखी वस्तु झुकती नहीं टूट जाती है, बाँस जब तक गीला रहेगा, तब तक उसे चाहे जितना झुकालो। जहाँ वह सूखा—नीरस हुआ तो वह झुकाने पर तड़ाक से टूट जाता है। उसे झुकाने के लिये फिर से भिगोकर गीला करना पड़ता है।

रावण से जब कहा गया, कि सीता जी जगज्जननी हैं, श्री रामजी साक्षात् भगवान् हैं, तुम सीता जी को देदो हठ मत करो। तब उसने कहा—"देखो जी चाहे मेरे बीच में से दो टुकड़े भले ही हो जायें मैं दूँगा नहीं, रामके आगे नतमस्तक नहीं हूँगा। यह मेरा स्वभाव जन्य दोष है। सूखी लकड़ी नवती नहीं बीच से टूट जाती है। स्वभाव दुरतिक्रम है।" कहनेका अभिप्राय इतना ही है, कि अहंकारी का शुष्क प्रकृतिके हृदयहीन पुरुषों का सिर नत नहीं होता। इसीलिये वे चाहें कितने भी ज्ञानी,

ध्यानी तपस्वी तेजस्वी क्यों न हों उनको भगवत् प्राप्ति नहीं होती ।

भक्ति मार्ग में तो नमन का ही माहात्म्य है। उसमें तीन बातों पर ही सबसे अधिक बल दिया गया है। एक तो यह कि तुम सदा सर्वदा सभी समय भगवत् कृपा की प्रतीक्षा करते रहो, दूसरे संसार में जो भी दुख अथवा सुख आवें उन्हें अव्यग्र भाव से प्रारब्ध के भोग समझ कर भोगते रहो और तीसरे हृदय से वाणी से तथा शरीर से सदा सर्वथा नमस्कार करते रहो। तत्वज्ञान होजाने के अनन्तर एक मात्र नमस्कार ही शेष रहजाती है। नमः का एक अर्थ है न मम । अर्थात मेरा कुछ नहीं है। नमस्कार में चतुर्थी होती है। और स्वाहा में भी चतुर्थी होती है। जैसे इन्द्राय स्वाहा । इन्द्राय नमः यज्ञ में हम यही करते हैं, इन्द्राय स्वाहा इदं इन्द्रायनमम । अर्थात् यह जो भी वस्तु है, इन्द्र के लिये है, मेरे लिये नहीं है मेरा इसमें कुछ नहीं है। हम जिसे नमस्कार करते हैं मानों उसे समर्पण करते हैं । जो भी कुछ है आपका है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है—"श्वान, श्वपच, गौ गधा जो भी प्राणी हैं सब को भूमि में लोटकर दंडवत् नमस्कार करो, सब में भगवत बुद्धि करो, इस शरीर को और शरीर से ममता रखने वाली सम्पूर्ण वस्तुओं को सर्वान्तर्यामी रूप में जो भगवान् व्याप्त हैं उन्हें अर्पण करदो अपने लिये कुछ भी शेष मत रखो । सदा सर्वदा नमो नमः नमोनमः कहते रहो ।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज परीक्षित् ने शुकदेव जी से बहुत से प्रश्न पूछे उनका उत्तर देने के पूर्व कथारम्भ के

आदि में १३ श्लोकों में भगवान् की वन्दना की है। भागवती कथा, के प्रसंग में मैंने उनका भाव कहना छोड़ दिया था अब इस स्तुति प्रकरण में उनका वर्णन करता हूँ। नमस्कार अपने से बड़े को की जाती है और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाकर हार्दिक स्नेहके साथ की जाती है, क्योंकि अञ्जलि को सर्वश्रेष्ठ मुद्रा बताया है, इससे देवता शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं परमहंस चक्रचूड़ामणि भगवान् शुकदेव दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर प्रेम भरित हृदय स, गद् गद् कंठ से प्रेमाश्रु बहाते हुए स्तुति करने लगे।

मैं उन महामहिम परम पुरुष के पादपद्मों में प्रणाम करता हूँ, जो सर्वरूप हैं, सबके कारण हैं, सबके करण हैं, और सबके आश्रय हैं। जो लीलाधारी हैं, विहारी हैं जो सबके प्राण संचारी हैं। लीला के लिये, खेल के लिये, कुतूहल के लिये मनोविनोद के लिये, जो इस दृश्य जगत को बनाते हैं, पालते हैं और संहार भी करदेते हैं जो इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का आश्रय लेकर इस अनादि प्रवाह को चला रहे हैं। जो सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का सहारा लेकर स्वयं ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीनरूप धारण कर लेते हैं। जो सबके बाहर सत्ता रूपसे और सबके भीतर अन्तर्यामी रूपसे निवास करते हैं। जिनकी गति को कोई जान नहीं सकता, जिनकी महिमा का कोई पार नहीं पासकता। जो सबके स्वामी हैं, सब के संचालक हैं, सब के पालक हैं, उन परात्पर प्रभु को पुनःपुनः प्रणाम है। बारम्बार नमस्कार है।

जो सत् पुरुषों के सहारे हैं, जो प्रणतों के प्यारे हैं, शरणागत वत्सल हैं प्रपन्नों के पारिजात सदृश सभी संकल्पों को सफल

करने वाले हैं, जो भवभय भीत भक्तों के भयको भगाने वाले हैं, जो भूले भटके भक्तों को पुण्य पथ दिखाने वाले हैं, जो अनन्याश्रितों को आश्रय प्रदान करने वाले हैं, जो जनम मरण के कठिन मार्ग को मेटने वाले हैं तथा आसुरी प्रकृति असत् पुरुषों के अभ्युदय को अवरुद्ध करने वाले हैं, जो वीतरागी, सर्वस्वत्यागी, यथार्थ विरागी परमहंसाश्रम में स्थित ब्रह्म संन्यासियों को ब्रह्मज्ञान का दान देने वाले हैं, उन मुनिमनहारी, सकलकल्याणकारी, परमपावन कीर्तिनिखिल सत्वमूर्ति सर्वान्तर्यामी प्रभुको हमारा बारम्बार प्रणाम है। जो भक्तवत्सल हैं सात्वत भक्तों के पालक हैं, यदुवंशियों के साथ नाना प्रकार के विहार करने वाले हैं जो वसुदेव देवकी नंदन हैं, जो यदुकुल वन के सुगन्धित चन्दन हैं, जो उपासकों के लक्ष्य हैं। जो कुयोगियों करणों के विषय नहीं, जो असत् पंथगामियों की दृष्टिपथ से सदा दूर रहते हैं। जो अनुपमेय और असाम्य हैं जिनकी बराबरी का ही कोई नहीं तो उनसे बड़ा तो कोई हो ही कैसे सकता है। जो सब से श्रेष्ठ हैं महतोमहीयान् हैं। जिनकी काष्ठाका कोई पार नहीं पा सकता जिनकी सीमा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता जिनका महत्व निस्सीम है, जो महान् ऐश्वर्य शाली हैं, जिनके ऐश्वर्य की उपमा नहीं बराबरी नहीं समता नहीं सादृश्य नहीं। जो अपने ही धाम में अपने ही लोक में अपने ही स्वरूप में अपनी ही सीमामें रमण करते रहते हैं, क्रीड़ा करते रहते हैं, मनोविनोद करते रहते हैं उन रमणविहारी क्रीड़ाप्रिय परब्रह्म को हमारा बारम्बार नमस्कार है, उन वन्दनीय के पादपद्मों में हम प्रणाम करते हैं।

जिनका कीर्तन कलि कलमषों को काटने के लिये कुल्हाड़ी से भीअधिक तीक्ष्ण है, जो कीर्तन करने वालों के कष्टों को काट देते हैं, जो स्मरण करने वालों की आर्तिका विनाश कर देते हैं, जो स्मरण करने वालों के हृदयों में आकर आसन जमा लेते हैं, जो

दर्शन करने वालों के दुरितों को दूर कर देते हैं, जो दर्शन देकर दुःख दारिद्रका दाह कर देते हैं, जो वन्दन करने वालों के बन्धनों को खोल देते हैं, जो वन्दन करने वाले भक्तों की विपत्तियों का विदारण कर देते हैं। श्रवण करने वाले के श्रोत्रों को सर्वत्र श्रुत-मधुर बना देते हैं, जो श्रवण करने वालों के हृदय में प्रवेश करके बैठ जाते हैं। जो पूजन करने वालों के पातकों को पछाड़ देते हैं। जो पूजन करने वाले पुरुषों के पुण्यों को पहाड़ बनाकर उन्हें सर्वश्रेष्ठ बना लेते हैं उन परमपावन, पुण्यकीर्ति प्रभु के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। उन वरदाता विहारी को बारम्बार नमस्कार है।

जिनके चरणकमल अमल विमल हैं, जिनके पाद पद्मों के पराग परमपुण्यों के पुंज हैं, जिनके चरणारविन्दों की मकरन्द मनीषियों के मनको मत्त कर देने वाली है, जिन कमल दल के समान कोमल अरुण चरणों को दबाकर कमला कृतार्थ हो जाती है, उन चरण कमलों को वैराग्यवान् भक्तियुक्त विवेकी पुरुष अपने अन्तःकरण में ध्यान करते हैं, उन्हें श्रद्धा भक्ति और अनुराग के सहित धारण करते हैं, उनकी श्रद्धा सयम के सहित सेवा करते हैं, जिसके कारण उनका हृदय निर्मल बन जाता है; अन्तः करण का मल, विक्षेप आवरण हट जाता है, जिससे वे चरणकमल सेवी भक्त इस लोक की शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श सुख सम्बन्धी आसक्ति तथा परलोक की पारिजात, सुधा, सुरांगना तथा विमान आदि सुनी हुई सुखद वस्तुओं की आसक्ति को हृदय से निकाल देते हैं, जिससे उन्हें ब्रह्मपदकी, परमपद की तथा परमात्मद की प्राप्ति हो जाती है। उन पवित्र कीर्ति वाले भवभय नाशक भगवान् के पाद पद्मों में हम श्रद्धा भक्ति के सहित बार-बार नमस्कार करते हैं।

कोई चाहे कि हम उग्र तपस्या करके उस उग्र कर्म के ही द्वारा उन्हें प्राप्त करलें तो यह असंभव है। कोई चाहें कि हम अन्न दान, जलदान, भूदान, सुवर्णदान, वस्त्रदान, कन्यादान तथा विविध भाँति के दान देकर उनतक पहुँच जाय तो उनका मनोरथ व्यर्थ है। कोई चाहें कि हम बड़े बड़े इष्टापूर्त कर्म करके उनके द्वारा कीर्तिलाभ करके कीर्तिमान् बनकर उन पुण्यकीर्ति प्रभु की प्राप्ति कर सकें तो उनका प्रयास पागलों का प्रलाप मात्र है कोई चाहें हम इन्द्रियों सहित मन को वश करके केवल चित्त वृत्तियों के निरोध द्वारा ही उन्हें वश में करलें तो उनका प्रयास विडम्बना मात्र है। कोई चाहें हम केवल सदाचरण के सहारे उन सर्वेश्वर सच्चिदानन्द के पद को प्राप्त करलें तो मनमोदकों से भूख बुझाने के समान उनका कार्य व्यर्थ है। कोई चाहें हम मन्त्रानुष्ठान, मंत्र-जप, मंत्रगान तथा मन्त्राक्षरध्यान से ही उनको पकड़ सकें यह असंभव है। जब तक समस्त शुभाशुभकर्म उन्हीं को समर्पण न किये जायँ, जबतक सर्वधर्मों का त्याग करके एक मात्र उन्हीं की शरण न लीजाय तब तक कोई भी कल्याणकारी कार्य सफल नहीं होता उन ऐसे कल्याण के एक मात्र आलय समस्त गुणगणनिलय सुभद्रश्रवस् श्यामसुंदर को हमारा बारम्बार नमस्कार है।

जो अपनी शरण में आये पापियों को भी पवित्र करदेते हैं जो अपने आश्रित भक्तों को भी अपने ही समान पतित पावन बना देते हैं, अपनी शरण में आने वाले का तो वे उद्धार करते

विचार से हीन किरात, हूण, पुलन्द पुल्कस, आभीर, कङ्क,यवन और खस आदि नीच जातिवाले हैं, तथा इनके अतिरिक्त और भी जितने पापजीवी, आचारविचारहीन पुरुष हैं, यदि ये भगवान् की शरण में न भी जायँ केवल जिनके भक्तों की शरण ग्रहण करने मात्र से ही पवित्र हो जाते हैं उन प्रभु विष्णु विष्णु भगवान् के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है, उन पतितपावन प्रभु को बारम्बार नमस्कार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इन सातश्लोकों में तो केवल नमस्कार है। अब अगले पांच छैः श्लोकों में प्रभु से प्रसन्न होने की प्रार्थना है। उनका भाव मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

पुनि पुनि प्रनवौं निखिल सत्वमय प्रभु चरननि महँ।
परमहंस-पद पाइ लगावें निज मन जिनि महं॥
जो जन होहिं प्रपन्न करें तिनि प्रतिपल पालन।
रमन करें निज लोक परम ऐश्वर्य परमधन॥
जिनि कीर्तन, सुमिरन दरस, बन्दन, पूजन श्रवन वर।
सकल अमंगल अघ हरत, तिनि पद बन्दौं विपतिहर॥
जिनि पद पदुमनि बन्दि विवेकी मोह नसावें।
उभयलोक सुखत्यागि ब्रह्मपद प्रानी पावें॥
जिनि अरपन बिनु जोग, जज्ञ,जप तप भलनाईं।
तिनि चरननि महँ बार बार हम शीश नवाईं॥
हून, किरात, पुलिन्द, खस, पाप योनि जे जगत महँ।
शुद्ध करहिं हरिभक्त ही, बन्दौं तिनि प्रभु पदनि महँ॥

पद

बन्दौ बार बार प्रभु पद में।
परमेश्वर प्रतिपालक पूरन समरस थिति अरुलय में ॥१॥
सत, रज, तम, अज, हरिहर बनिकें प्रकट होहु पुनि जगमें।
अन्तरयामी बनि बिभु बैठे सब जीवनिकें हियमें ॥२॥
साधुनि पालो खलनि सँहारो भक्तनि तारो छिनमें।
दरसन दै दुख दुरित दूर करि, सरन देहु चरननि में ॥३॥
जिनि चरननि चिन्तन करि चिरदिन सुख उपजत अति चितमें।
केवल करि करमनि चाहैं पद, मिलैं न बिना शरन में ॥४॥
नीच जाति पापी अघकारी संग करैं भक्तनि में।
तो अति विमल बनें बन्दन करि प्रभुपद पावें पलमें ॥५॥

शुक स्तवन (२)

(१६)

स एष आत्मात्मवतामधीश्र-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिंगो भगवान् प्रसीदताम् ॥१

(श्री० भा०२ स्क० ४ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

वेद, धरम, तप रूप आतमा आत्मविदनि के।
अज शिवभक्त स्वरूप लखें अचरजतैं जिनि के॥
श्रीपति मखपति प्रजापतिनिके पति परमेश्वर।
कुल-पति भू-पति सकल लोकपति धीपति यदुवर॥
जिनि चरननिके ध्यान तैं, बने बिमल धी हरि दिखें।
प्रभु प्रसन्न मोपे सतत, होहिँ चरित जिनि कवि लिखें॥

भगवान् शुक देवजी मंगला चरण करते हुए भगवत् प्रसन्नता के निमित्त स्तुति कर रहे हैं। वे कहते हैं—"जो भगवान् आत्म ज्ञानियों की आत्मा है, अर्थात् आत्म ज्ञानी जिस आत्मा के ज्ञान-

---

१ शुकदेवजी की स्तुति करते हैं—"भगवान् आत्मज्ञानियों की आत्मा हैं, सबके अधीश्वर हैं, वेदत्रयी रूप हैं, धर्ममय तथा तपोमय हैं, जिनके यथार्थ स्वरूप को अज, शङ्करादि निष्कपट भक्त भी आश्चर्यवत् देखते हैं, वे ही भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

ने के निमित्त संयम, सदाचार, तितिक्षा उपरति आदि साधनों द्वारा प्रयास करते रहते हैं, वह आत्मा भगवान् वासु देव ही तो हैं। वे एक ही विविध नामों से प्रसिद्ध हैं। आत्म ज्ञानी आत्मा मान कर उनका अन्वेषण करते हैं। वैदिक पद्धति से उपासना करने वाले जिसे वेद प्रतिपाद्य तत्व बताते हैं वह तत्व भगवान् वासुदेव ही हैं। गृहस्थ धर्मावलम्बी पंचयज्ञ-पशुयज्ञ, सोमयज्ञ, चातुर्मास्ययज्ञ दर्शपौर्णमास्ययज्ञ तथा बलिवैश्वदेव यज्ञों-द्वारा जिनका पूजन करते हैं, वे भगवान् यादवेन्द्र ही तो हैं। स्मार्त धर्मावलम्बी जिन्हें धर्ममय मानकर-धर्माचरण करके प्राप्त करना चाहते हैं, वे धर्मावतार साक्षात् धर्म की मूर्ति श्रीकृष्ण ही हैं। ब्रह्मचारी गण गुरुकुल में निवास करके सूर्य, अग्नि, अतिथि और गुरु की सेवा करते हुए जिस धर्मका अर्जन करना चाहते हैं वह धर्मश्याम सुन्दर ही हैं। जिनको पुराणों के द्वारा गाया गया है, पौराणिक जिन्हें तपोमय मानकर हरिवासर अमावस्या, पूर्णिमा तथा कृच्छ्र चान्द्रायणादि विविध प्रकार के व्रत करते हैं, वानप्रस्थ तथा सन्यासी कन्द मूल फल खाकर पंचाग्नि तापते हुए, शीत का सहन करते हुए, वर्षा को खुले में सिर पर लेते हुए, तथा परिव्राजक वेष में घर घर से भिक्षा माँगकर गाँव गाँव नगर नगरों में घूमते हुए जिन तपोमय प्रभु को पाना चाहते वे तपस्या की जाज्वल्य मान मूर्ति ये श्री मन्नारायण ही तो हैं। ऐसे सर्वमय भगवान मुझ पर प्रसन्न हों, मुझे भागवती कथा कहने की शक्ति प्रदान करें। अपना चरित्र कहलाने का साहस बल तथा ओज प्रदान करें।

जो भगवान् अतर्क्य हैं, जिनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान निष्छल निष्कपट भक्त उन ब्रह्मा जी को भी नहीं है जो उनके ही पुत्र हैं, उन्हीं की नाभि कमल से उत्पन्न हुए हैं। जो महादेव सभी देवों से महान् हैं जो संसार का संहार करने में सर्व था समर्थ हैं, जो निरन्तर उन्हीं का स्मरण करते रहते हैं, वे भी उनके कृत्यों को

आश्चर्यान्वित होकर देखते रहते हैं, वे भी जिनके महिमा को देखकर चकित हो जाते हैं, विस्मयाविष्ट हो कर उनके स्वरूप के सम्बन्ध में सोचते के सोचते ही रह जाते हैं, वे ही वितर्क्य लिङ्ग भगवान् मुझपर प्रसन्न हों। मेरे ऊपर अनुग्रह की, कृपा की दया की दृष्टि करें।

जो भगवान् लक्ष्मी के पति हैं, सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, जिन्हें कोई महती पूजा के लोभ से प्रसन्न करना चाहे तो कैसे कर सकता हैं, वे तो लक्ष्मी जी के अपराधों पर भी हँस जाते हैं। वे सर्व सामर्थ्य शाली श्याम सुन्दर मुझपर सदय हो जायँ। जो समस्त यज्ञों के एकमात्र पति हैं। यज्ञ पुरुष भी जिनकी स्तुति करते हैं। यज्ञमें मंत्र से, तन्त्रसे, देश से काल से या अन्य किन्हीं कारणों से हुए दोषों को जिनका नाम ही निराकरण कर देता है। निष्छिद्र बना देता है वे यज्ञ पति भगवान् वासुदेव मेरी वाणी को बलवती बना दें। जो समस्त प्रजाओं के पति हैं। सूर्य चन्द्रमा जिनके नेत्र हैं, उन्हें अज्ञजन छोटा सादीपक दिखाकर प्रसन्न करना चाहते हैं। जिनका आसनवेदमय पंख वाले गरुण हैं, जो संसार को धारण करने वाले शेषजी की सुखद शैया पर सदा शयन करते हैं उन्हें कृपण लोग आसन के स्थान में तनिक सा कलावा देकर शैया के स्थान में चार चावल देकर रिझाना चाहते हैं। साक्षात् मूर्तिमती महालक्ष्मी जिनके पाद पंकजों को प्रेम पूर्वक पलोटती रहती हैं उन्हें स्वार्थी लोग एक ताम्रखंड चढ़ाकर पलदो पलके छोटे से आभूषण देकर अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहते हैं। जिन की सेवा में षट रस, छप्पन भोग हाथ बाँधे खड़े रहते हैं, उन्हें स्वयं तुमुक्षित मूर्ख जन चार किसमिस देकर आधी फली केला की चढ़ाकर या चुकुटी भर मीठा देकर तृप्त करना चाहते हैं और जो इन अज्ञ लोगों के इतने भारी अपमान का बुरा तक नहीं मानते प्रत्युत उनकी स्वल्प पूजा को बहुमान

के साथ स्वीकार करके उनके मनोवांछित फलों को प्रदान करते हैं वे समस्त जीवों के पति प्रजापतियों के भी एकमात्र प्रजापति परात्पर प्रभु मुझ पामर पर प्रसन्न हों।

जो सब की धी बुद्धि को प्रचोदित करते हैं प्रेरित करते हैं, सभी के एकमात्र साक्षी हैं। अल्प बुद्धि को पाकर जो भगवान् को साकार निराकार सिद्ध करने में ही सदालगे रहते हैं, भगवान् उनकी इस बात पर हँसते नहीं। जैसे बालक की तोतली बोली सुन कर पिता प्रसन्न ही होता है उसी प्रकार बुद्धि मानों के वाद विवाद को सुनकर जो उनकी बुद्धि को बढ़ाते हैं वे सब के प्रेरक सब के साक्षी, सबको अपने संकेत पर नचाने वाले श्याम सुन्दर मुझपर प्रसन्न हों।

जो समस्त लोकों के पति हैं, अधीश्वर हैं, जिनकी श्वास प्रश्वास से अगणित ब्रह्माण्ड प्रतिपल बनते बिगड़ते रहते हैं और स्वयं उनमें आसक्तन होकर संकल्प से ही उनका संचलन करते रहते हैं, जो पृथक पृथक ब्रह्माण्डों के ब्रह्मा, विष्णु तथा महेशों को आदेश देते रहते हैं, वे समस्त ब्रह्माण्डों में बसे सभी जीवों के स्वामी सनातनप्रभु मुझ पर प्रसन्न हों।

जो पृथिवी पति हैं। धर्म प्रधान कर्म प्रधान भूमि होने से जो कच्छ, मच्छ, वाराह, नृसिंह वामन परशुराम आदि अवतार धारण करके धर्म संस्थापन का कार्य करते रहते हैं, जो धर्म ग्लानि को मेंट कर धर्म का अभ्युदय करते हैं। शिष्टों का पालन करके दुष्टों का संहार करते हैं, वे सबके पालक पिता परमेश्वर मुझ पर प्रसन्न हों,

जो भक्तों को सुख देने के निमित्त यदुकुल में अवतीर्ण हुए हैं जो यादवों में भी वृष्णि वंशी बोले जाते हैं, जो अपने कुल परिवार के लोगों पर ही नहीं अपने समस्त आश्रित भक्तों पर

कृपा करते रहते हैं, उनकी मूर्खता और अल्पज्ञता की ओर न देखकर उनकी भक्ति से ही प्रसन्न हो जाते हैं, जो सत्पुरुषों के पति ही नहीं उनकी एकमात्र गति हैं, यादव लोग जिन्हें पाकर निश्चिन्त बने थे। उन सब के एकमात्र गति मति वे ही हैं। वे ही एक मात्र रति करने योग सर्व गति सर्व मति मदन मोहन मेरे ऊपर प्रसन्न हों।

उन भौमा पुरुष की महिमा का बखान करने की सामर्थ्य किस में है ? कौन उनके प्रतिभा का पार पा सकता है कौन उनके अगणित गुणों को गा सकता है, फिर भी अपने चरण कमलों की श्रद्धा भक्ति लगन और तन्मयता के साथ ध्यान करने वाले, समाधि के द्वार अपने पादपद्मों में मन लगाने वाले विवेकी जनों की बुद्धि को जो निर्मल बना देते हैं, उस निर्मल बुद्धि के द्वारा अपना साक्षात्कार करा देते हैं, परमात्मतत्व का ज्ञान कराकर उसे कवि मनीषी विमल धी बना देते हैं और पुनः उन्हें अपने गुणों की गान की शक्ति प्रदान करते हैं, जिससे वे यथा मति उनके गुणों का वर्णन करते हैं, वे आनन्दकन्द माधव मुकुन्द मुझपर प्रसन्न हों।

प्रभो ! मैं भी कुछ आपके गुणों का गान करना चाहता हूँ ! पार पाने की इच्छा से नहीं केवल वाणी की सार्थकता के लिये मैं भी कुछ आपके चरित्रों को सुनाना चाहता हूँ, इसलिये नहीं कि आपने इतने ही चरित्र किये हैं उन अगणित असंख्य अपार चरित्रों में से यत् किंचित् चरित्रों का गान करूँगा। अपनी वाग देवी को सफल बनाऊँगा। आप मेरी वाणी को भी इसके अनुरूप बना दी दीजिये। क्यों कि आप की प्रेरणा के बिना पत्ताभी नहीं हिल सकता। अन्न की फली के दो टूँक कभी नहीं हो सकते। कल्प के आदि में जब सब जीव प्रसुप्त पड़े थे तब

आरंभ काल में अपनी नाभि कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी के हृदय में आपने ही तो सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न की थी। आपने हीतो उनके अन्तः करण में सृष्टि सम्बन्धी शुभ संस्मरण को जाग्रत किया था। फिर उनकी वाणी में सरस्वती देवी को भी आपने ही लाकर बिठा दिया जो वेदरूपा सरस्वती शिक्षा, व्याकरणादि अङ्गों सहित उन ब्रह्मा जी के मुख से प्रकट हुई थीं। जिन से चार वेद छ शास्त्र अठारह पुराण आदि सभी प्रकट हुए। अतः आप समस्त ज्ञान के दाता हो, सब के उरप्रेरक हो, सबकी वाणी को सजीव करने वाले हो, सभी को ज्ञान प्रदान करने वाले हो ऐसे हे ज्ञान दाता हरि! हे सबके प्रेरक प्रभो। मुझपर भी प्रसन्न हो' मुझे भी अपने गुणगण के कथन में प्रेरित करो। मुझे भी अपनी महिती महिमा के गान की शक्ति प्रदान करो।

जो इन समस्त भूतों के शरीरों को रचते हैं, उनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण और मन को बैठाते हैं और स्वयं पुरुष बनके उस सोलह वस्तुओं से बनी बस्ती में—पुरी में—दुपट्टे को तानकर सुखसे सोते रहते हैं और इन सोलह कलाओं से शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि इन सोलहों विषयों को इन्द्रियप्राण और मनरूपी सोलह कलाओं से भोगते रहते हैं, वे ही सर्वभूतभावन, भक्तभयनाशन, भगवान् वासुदेव मेरी भी वाणी को हरिगुणगान कराकर सार्थक बनावें। विष्णु की विरुदावली बखनवाकर कृतार्थ करें। अच्युत महिमा वर्णन कराकर अलंकृत करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने परमेश्वर की प्रार्थना करने के अनन्तर अपने ज्ञानदाता गुरु तथा पिता भगवान् व्यास की यह कहकर कि "जिनके कमल रूपी मुख से निसृत ज्ञानामृत का सौम्यजनों ने पर्याप्त पान

किया है उन अमित तेजस्वी भगवान् को नमस्कार है" वन्दना की। व्यासजी की वन्दना करने के अनन्तर उन्होंने भागवती कथा कही, जिसको मैं आप सबको सुना ही चुका हूँ अब सृष्टि के आदि में जैसे देवताओं ने भगवान् की स्तुति की उस स्तुति को मैं आपको सुनाऊँगा।

छप्पय

कलप आदि अज हिये सरसुती जिनि उपजाई।
वेदमयी सब ज्ञान राशि जो गिरा कहाई॥
रचि भूतनि तैं देह पुरुष बनि जिन महँ सोपत।
इन्द्रिय, मन अरु प्रान सबनि तैं विषयनि भोगत॥
सर्वभूतमय प्रभु पदनि, पुनि पुनि पुन्य प्रनाम है।
प्रनवौं पुनि गुरुपद कमल व्यासदेव जिनि नाम है॥

प्रभुजी ! दीननि दया दिखाओ।
अगनित अधकारी अपनाये अधम हूँ कुँ अपनाओ ॥१॥
वेदरूप, तपरूप रूपसब, धरम रूप कहलाओ।
पार न पावैं शिव सनकादिक दासनि दरस दिखाओ ॥२॥प्र०
श्रीपति धीपति सकल भुवनपति पतितनि पत पति पतिआओ।
चरन शरन गहि होहि विमल मति अच्युत अलख लखाओ ॥३॥प्र
आदि कलप सोवत सबई गुन तुमहीं सबहिं जगाओ।
पुर पुर सोवत भोगनि भोगत, भोगनि मारि भगाओ ॥४॥
भटकिरह्यो कबतैं भवसागर, पद पंकज पकराओ।
दीन हीन प्रभुकब तैं रोवत, परली पार लगाओ ॥५॥प्र

अधिष्ठातृ-देवों द्वारा स्तुति (१)

(१७)

नमाम ते देव पदारविन्दम्
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु-
संसार दुःखं वहिरुत्क्षिपन्ति ॥

(श्रीभा० ३ स्क० ५ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

शरना गत संताप छत्र सम शमन करत जो।
आश्रय जिनि यति लैंहि विपति भव शकल हरत जो॥
जीव ताप त्रय तपित तनिकहू सुखनहिँ पावैं।
पावैं परमानन्द पदुम पद तल जब आवैं॥
मुनिजन निरमल हृदय महँ, वैदिक विधितैं जिनि धरैं।
सुरसरि उद्गम अमल तिन पद पदुमनि बन्दन करैं॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! विदुर जी के सृष्टि सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में महामुनि मैत्रेयजी ने उन्हें सृष्टि का क्रम बताया। कैसे भगवान की इच्छा से प्रकृति में क्षोभ हुआ जिससे गुणों में विषमता आई फिर कैसे काल की

---

*इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव कह रहे हैं—हे देव ! आपके चरणारविन्द प्रपन्न पुरुषों के संतापको दूर करने के निमित्त छाते के समान हैं, यतिजन जिनका आश्रय लेकर संसार दुःख को सुगमता से पार कर जाते हैं, ऐसे आपके पादपद्मों में हम सब प्रणाम करते हैं।

प्रेरणा से अव्यक्तमाया से, महत्तत्व की उत्पत्ति हुई। महत्तत्व से अहंकार। उससे पंचभूत दशइन्द्रियों तथा मन की तथा पंचभूत और इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव तन्मात्रायें उत्पन्न हुईं। ये सभी भगवान् की कलायें हैं। उत्पन्न तो ये सब होगये, किन्तु भिन्न-भिन्न होने से ये ब्रह्माण्ड की रचनारकरने में समर्थ नहीं होते। जैसे, मिट्टी, चक्र, पानी, सूत, डंडा सभी उपकरण उपस्थित हों किन्तु उन सब का योजक सब को मिलाकर घड़ा बनाने वाला कुंभकार उन्हें मिलाकर काम में न लावे तब तक घड़ा बन नहीं सकता। जब इन्द्रिय मन तथा प्राणों के अधिष्ठातृ देव ब्रह्माण्ड रचना में असमर्थ हुए तो सब के कारण उन भगवान् को हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगे। देवता गण कहरहे हैं—हे देव हम आप के कमल सदृश अमल विमल सरस सुगंधित चरणों की वन्दना करते हैं। कारण यह है कि आपको पाने के तीन ही उपाय हैं, उपासना अथवा भक्ति, ज्ञान और वैदिक यज्ञ यागादि कर्म। इन सब में आपके चरणारविन्दों की भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। भक्ति के छै अंग बताये हैं। आपको प्रणाम करना, आपकी स्तुति करना, अपने सभी कर्मों को आपके अर्पण कर देना, आपकी उपासना करना, आपके चरणारविन्दों का ध्यान करना तथा आपके सम्बन्ध की कथाओं को सुनना। इन उपायों से आपकेचरणार विन्दों में भक्ति बढ़ती है। इसलिये सर्व प्रथम हम आपके चरणार विन्दों का ध्यान करते हुए उनमें प्रणाम ही करते हैं। वे चरणारविन्द शरणागत प्राणियों के ऊपर छत्र के समान छाया करते रहते हैं। और किसी की छाया में जायँ तो कभी छाया पूर्व की ओर हो जाती है हम पच्छिमकी की ओर हैं, तो ताप में संतप्त हो जाते हैं, कभी छाया पच्छिमकी

ओर हो जाती है और हम पूर्व की ओर हैं तो तपने लगते हैं, किन्तु आपके चरणारविन्द तो रसमें भीगे हुए सरस मृदुल छाते के समान हैं, जो संताप को भी हरते हैं और सदा अनुकूल छाया भी करते रहते हैं। वे चरणारविन्द कमल के सदृश जल में कभी डूबते नहीं सदा जल के ऊपर ही रहते हैं और वे सुख पूर्वक शरणागतों को अपने आश्रय में लेलेते हैं। यह संसार एक अगाध अपार दुस्तर सागर है, जल के स्थान में इसमें दुःखहीदुःख भरा है। इस अगाध दुःखसागर को यत्न करने वाले यतिगण आपकी कृपा से आपके चरणार विन्दों के आश्रय से ही सुगमता के साथ पार हो जाते हैं। ऐसे संसार सागार से पार होने वाले पादपद्मों में कौन सा पामर प्राणी प्रणाम न करेगा ?

हे विधातः ! आप सभी को बनाने वाले, रचने वाले सृजन करने वाले हो। यह संसार उस भड़भूजा के भाड़ के सदृश है, जिसके किसी कोने में भी शान्ति नहीं है। सर्वत्र समान रूप से ज्वाला जल रही है। संसारी सभी प्राणी दैहिक दैविक तथा भौतिक त्रिविध तापों से सन्तप्त हैं। इन तापों के कारण व्याकुल बने हुए हैं। उष्णता से भी संतप्त प्राणी पानी खोजता है, किन्तु जहाँ सर्वत्र ताप ही ताप है वहाँ शीतलता कहाँ ?

हे सर्व समर्थ प्रभो ! हे सबके स्वामी ! आप सब कुछ कर सकते हो। आपके चरणारविन्दों में वह सामर्थ्य है, कि वे भभकती हुई महा ज्वाला को भी क्षण में शान्त कर सकते हैं। दावाग्नि को पलभर में बुझा सकते हैं। संतप्त भाड़ को सुशीतल बना सकते हैं। प्राणियों को दुःख का

अनुभव तभी तक होता है, जब तक वे आपके दुःख हर सुखकर शीतल सुखद चरणारविन्दों की ज्ञानमयी छाया का आश्रय नहीं लेते।

अतः हे परमात्मन ! इस व्याकुलता को भगाने के निमित्त त्रिविधतापों को मिटाने के निमित्त अज्ञान कृत संसार की निवृत्ति के निमित्त आपके पादपद्मों की सुशीतल छाया का आश्रय ग्रहण करते हैं। हमारे संसार तापों को समूल नष्ट कर दो आपके चरणारविन्दों में पुनः पुनः प्रणाम है ।

हे भगवन् ! शीत से व्यथित व्यक्ति अग्नि की खोज करता है, कहीं अग्नि दिखाई नहीं देती। दूर से आकाशमें उसे उठता हुआ धुआँ दिखाई देता है, वह अनुमान करता है, धूआँ तो अग्नि के ही आश्रय से रहता है। धूँए का सहारा लेकर चलते चलें आगे बढ़ते चलें कहीं तो धुँए का आश्रय स्थान मिलेगा, जहाँ जाकर हमारे शीतका निवारण हो सकता है, अंधकार मिट सकता है भय भाग सकता है। शीतकी निवृत्ति अंधकार का नाश और भयका अभाव तीनों एक साथ ही अग्नि के आश्रय मात्र से हो सकते हैं। इसी प्रकार बड़े बड़े मननशील मुनिगण सोचते हैं—कि शान्ति के एक मात्र आलय तो आपके चरणारविन्द ही हैं। वे आसक्ति रूप अंधकार के कारण हृदय दहर में छिपे हुए हैं, तो पहले तो वे लोग आपके चरणों के ध्यान से उस आसक्ति को हटाकर अन्तःकरण को विशुद्ध बना लेते हैं, उसी में उन्हें उड़ते हुए वेदरूप चार पक्षी दिखायी देते हैं। मुनिजन पुनः सोचते हैं—"इन पक्षियों के रहने का भी तो कहीं स्थान होगा, किसी वृक्ष में तो इनकी नीड़—खोहर—होगी, रात्रि के समय जहाँ जाकर ये सोते होंगे और प्रातः निकलकर इतस्ततः परिभ्रमण करते होंगे, ऐसा आलय कहीं तो होगा, चलो, इन्हीं का अनुसरण करें, इन्हीं का पल्ला पकड़ें, इन्हीं के पीछे पीछे चलें,

[illegible] मार्ग [illegible] गते हैं, वे भी उनके पीछेपीछे चल देते हैं। उन सुंदर पर्ण-पंख-वालेपक्षियों की नीड़ तो आपका मुखकमल ही है। वेद उसी में वास करते हैं, उन्हीं सेनिसृत होकर जगत में उड़ते हैं फैलते हैं। दिवस का अवसान निरखकर पुनः आपके मुख में ही आकर छिप जाते हैं सो जाते हैं। पक्षी उड़कर पहिले वृक्ष के मूलमें चरणमें आते हैं मानों यात्रा से लौटकर अपने जनक के-आश्रय दाताके-पालन पोषण करने वाले के पादपद्मों में प्रणाम करके तब अपनी कोठरी में प्रवेश करते हैं। *तब मुनिगण मुदित हो जाते हैं हमें ज्ञानमय, अनन्दमय, सुख* शान्तिमय स्थान मिल गया। वे आकर आपके चरणारविन्दों में लिपट जाते हैं। अतः हम उन वेदमार्ग से प्राप्त होने वाले पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

हे पापताप नाशक! आपके चरणारविन्द अज्ञान अंधकार के कारण दूर से लगते हैं वे दिखायी नहीं देते। हाँ कलि कल्मष काटिनी, त्रिविधतापविनासिनी, मुनिमनहारिणी सुख शान्ति प्रकाशिनी संसार की समस्त सरिताओं में सर्व श्रेष्ठ सरित् प्रवरा गंगा जी दिखायी देती हैं। तब मुनिगण बताते हैं। यह अघोंको मर्षण करने वाली पापों को विदारण करने वाली अघमर्ष गंगा आपके चरणारविन्दों का धोवन है, इसीलिये पापोंको क्षय करने की इसमें इतनी विपुल-अत्यधिक-शक्ति है। गंगा का उद्गम स्थान आपके पाद पद्म ही हैं। अतः वे गंगा किनारे किनारे भ्रमण करते हैं। उसके यथार्थ उद्गमका पता लगाने गोमुखतककी यात्रा करते हैं, गोमुख में जाकर भी जब देखते हैं कि यह गंगा का यथार्थ उद्गम स्थान नहीं है, यहाँ से तो केवल गंगा निसृति हो *रही है, इस हिमगुफा से तो केवल वेग के साथ बह रही है।* उद्गम तो कहीं दूर होगा। तब वे गंगा किनारे बैठकर नेत्रबंद

करके ध्यान करते हैं और उन्हें अपने हृदय में ही उस गंगोद्गम के दर्शन हो जाते हैं, अतः ऐसे उन अघमर्ष उदक बहाने वाली सरित्प्रवरा के उद्गम स्थान तीर्थस्वरूप तीर्थ प्रवर पादपद्मों में हम पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। उन्हीं सर्व संतापहारी पदों का आश्रय लेते हैं।

हे प्रभो ! पाद पद्मों की भक्ति तो बहुत दूर की बात है, उसके अधिकारी तो अधिक नहीं हैं। आपके चरणारबिन्दों का जिन्हें संस्पर्शप्राप्त होजाय, जिन्हें उन विमल चरणोंका संसग मिल जाय उनका आश्रय लेने पर भी बेड़ा पार हो जाता है, संसार सागर से सरलता के साथ तर जाता है। आपके चरणारविन्दों का संसर्ग तो आपकी पुनीत पादुकाओं को प्राप्त है, उन्हीं पर चढ़कर तो आप चलते हैं, उन्हें ही पहिनकर तो आप विचरण करते हैं। वे पादुकायें स्वतः ही हृदय पटल पर अपने आप आजाती हैं। आकर आसन जमालेती हैं, किन्तु सरलता से नहीं आतीं। जो अन्तःकरण श्रद्धा संयम पूर्वक आपकी कथा श्रवण रूपी भक्ति से तथा आपके सुंदर सुमधुर संसार सागर से पार करने वाले आप के परम पावन नामों के तथा आपके गुण गण के गान रूपा भक्ति से विशुद्ध बन गया हो और ज्ञान वैराग्य द्वारा लीप पोत कर चौकपूर कर सजाया गया हो बोधवान् बनाया गया हो, उसमें स्वतः वे अमल विमल दिव्य मणिमय चरण पादुका दिखायी देने लगतीं हैं, जो आपके पद कोप्राप्त कराने में सर्वथा समर्थ हैं। पावन पदोंका वे आश्रय ही हैं। हम उन्हीं आपके चरणाश्रय पादुकाओं का आश्रय लेते हैं, उन्हीं को अपने जीवनका आधार बनाते हैं।

स्वामिन् ! आपके सुखद चरण अभय के आलय हैं। जैसे चीनी के खिलोने चीनी से ही बनते हैं, जो भी उन्हें चाटेगा उसी का मुख मीठा हो जायगा, उसी प्रकार आपके चरण भी अभय

रूपी दिव्य सजीव धातु से निर्मित हैं। जो भी उनकी शरण में होजायगा वही अभय हो जायगा। जो उनका स्मरण करेगा उसके पास भय फटकने भी न पावेगा। वे चरणारविन्द मन वाणी के विषय नहीं हैं। विषय, इन्द्रियाँ मन, बुद्धि सभी से वे परे हैं, फिर भी वे इस विश्वकी उत्पत्ति करने के निमित्त, पालन तथा संहार के लिये अवनिपर अवतरित होते हैं, अवतार धारण करते हैं। विन्यास और विलास करते हैं चंक्रमण करते हैं, ऐसे उन विशुद्ध निर्मल ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश और सभी देवताओं द्वारा पूजित उन चरण कमलों की हम शरण लेते हैं, उन्हीं का आश्रय ग्रहण करते हैं।

हे निकट से निकट रहने वाले अन्तर्यामिन्! हे भगवन्! आप सभी के अत्यंत ही समीप हैं, कहना चाहिये आपसे समीप प्राणियों के पास अन्य कोई वस्तु नहीं। आप इतने समीप रहकर भी हमें दूर दिखायी देते हैं। हमने अपने अज्ञान के कारण यथार्थ आपको दूर हटाकर अन्य मिथ्या वस्तुओं को अपने में सटा लिया है। यह शरीर, मेरा है, इस पर लदे वस्त्र आभूषण मेरे हैं, यह घर मेरा है, ये वाहन मेरे हैं, ये अन्न के बोरे मेरे हैं, ये सेवक भृत्य मेरे हैं, यह शैया मेरी है, यह पत्नी मेरी है, ये पुत्र मेरे हैं, ये गद्दे मेरे हैं, ये सजाने की सम्पूर्ण सामग्री मेरी है यह भूमि मेरी है। जो वस्तुएँ मिथ्या हैं, नाशवान् हैं, परिवर्तनशील हैं, क्षणिक हैं, अयथार्थ हैं उनमें मेरापन कर लेने के कारण आप उनके अन्तःकरण में ही अत्यंत निकट रहते हैं, फिर भी उन्हें आपके चरणार विन्द दूर ही दिखायी देने लगते हैं। आँखों से ओझल हो जाते हैं। जो चरणारविन्द अत्यंत ही समीप हैं, उनका हम आश्रय ले सकें, अहंता ममता का परित्याग करके उनका साक्षात् दर्शन कर सकें यही हमारी आपके पादपद्मों में प्रार्थना है।

हे परमेश्वर! आपका दर्शन होना दूर की बात है, आपके चरणारविन्दों का संस्पर्श मिल जाय, यह तो बड़े भाग्य की बात है, किन्तु हम तो चाहते हैं हमें आपके भक्तों का ही दर्शन हो जाय। किन्तु आपके समाश्रित भक्तों का दर्शन भी तो बड़ा दुर्लभ है। वह बहिर्दृष्टि वाले पुरुषों के लिये संभव नहीं। ये अक्ष गोलक ये इन्द्रियाँ तो मक्खियों के समान हैं, विष्टा और चंदन दो वस्तुएँ रख दो तो वे विष्टा पर ही बैठेंगी चंदन पर न बैठेंगी। शरीर में कहीं व्रण हो उसमें से पीव बह रहा हो और दूसरे अंग में केसर कस्तूरी, अगुर आदि सुगंधित वस्तुओं का लेप हो रहा हो तो वे व्रण के पूय का ही आश्वासन लेंगी। इसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी बाहरी विषयों को ही ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों के विषयाभिमुख होने से अन्तः करण बहिर्मुख हो जाता है मलिनबन जाता है। ऐसे मलिन अन्तःकरण वालों को भला आपके उन विशुद्ध पवित्र भक्तों का दर्शन कैसे हो सकता है जो आप की चलनचितवन का अवलोकन करते हैं, आपके पाद विन्यास के विलास की शोभा से जिनका चित्त बाह्य विषयों से सर्वथा उपरत हो गया है। ऐसे आपके चरण सेवक भक्तों का आपके चरणोपासक अनन्य अनुचरों का दर्शन होता रहे यही आपके पुनीत पाद पद्मों में प्रार्थना है।"

सूत जी कहते हैं मुनियो! इस प्रकार देवताओं ने भगवान् के चरणारविन्दों की महिमा गायी अब आगे जैसे वे भगवत धाम की भगवान की भक्ति के सम्बन्ध में प्रार्थना करेंगे उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

जिनि शुभ चरननि धारि भक्त हिय विमल बनावें।
उनि पद पदुमनि पुन्य पादुकनि हम नित ध्यावें॥

जो धारें अवतार जगत उतपति थिति लय हित।
देहिँ अभय उन नरनि लगावें जिनि चरननि चित॥
जग भोगनि तैं सकल विधि, मैं मेरी त्यागन करें।
पावैं दरसन दास ते, चरन कमल चित जे धरें॥

पद

बन्दौं प्रभु पद अति सुखदाता।
जो शरनागत भगतनि के हित ताप निवारक छाता॥ १॥ बन्दौं०
जग दुख मेंटत पार करत भव, सब विपतिनि के त्राता।
भटकत व्याकुल जीव जगत महँ ते पदगोदो माता॥ २॥ बन्दौं०
वेद बतावत वेदविदनि कूँ विभु-पद विश्वविधाता।
निकसी जिनि तैं सब अघनासिनि सुरसरि सब जगमाता॥३॥बं०
जिनि पद हिय धरि सब सुख पावैं, तोरैं जगतें नाता।
जो मम हिये विराजें नित प्रभु,विमल चरन जल जाता॥४॥बन्दौं०

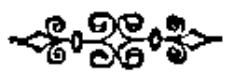

अधिष्ठातृदेवों द्वारा स्तुति (२)

(१८)

पानेन ते देव कथा सुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्यबोधम्,
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥

(श्रीभा० ३ स्क० ५ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

भीतर बाहिरि करन विषय अभिमुख जिनिजन के ।
तिनि अति दुरलभ दरस चरनसेवी भक्तनि के ॥
कथा सुधा करि पान विमलचित तव पद ध्यावें ।
ते लहि ज्ञान विराग अन्तमहँ तव पद पावें ॥
कोई तव माया तरें, प्रबल योग की शक्ति तैं ।
परै परिश्रम तिनि अधिक, नहिँ श्रम सेवा भक्ति तैं ॥

सूतजी कहते हैं—मुनियों ! स्तुति करते हुए देवगण कह रहे हैं। पहिले उन्होंने प्रभु पादपद्मों में प्रणाम किया, चरणकमलों की महिमा गाकर उनकी वन्दना की। अब भक्ति ज्ञान आदि*

---

* देवगण स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे देव ! आपके वैकुण्ठ धाम को वे ही लोग अनायास चले जाते हैं जो आपकी कथा सुधा का पान करने से प्रवृद्ध भक्तिद्वारा अपने चित्त को विशुद्ध बना लेतेहैं और उस आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, जिसका सार वैराग्य ही है।

के द्वारा आप का पद प्राप्त होता है, इस बात को बताते हुए कह रहे हैं—प्रभो ! एक तो आप के ऐसे भक्त होते हैं, जो संसार कैसे उत्पन्न हुआ, कहाँ से आया, किस तत्व से कौन तत्व उत्पन्न हुआ, इन बातों की ओर ध्यान ही नहीं देते। वे तो निरन्तर आप की कथा रूपी सुधा का प्रेम पूर्वक पान ही करते रहे हैं। आपकी लीलाओं का, आप के अप्राकृत गुणों का श्रवण ही करते रहते हैं, निरन्तर आप के ही गुणों को सुनते सुनते उनके हृदय में जो संसारी विषयवासनायें भरी रहती हैं, वे शनैःशनैःन्यून होती जाती हैं, उनके स्थान में भगवत् गुणानुवाद बैठते जाते हैं, रिक्तस्थान की पूर्ति आपकी लीलाओं की स्मृति करती रहती हैं।

निरन्तर कथा श्रवण करते करते, तथा आप के श्रुतमनोहर जगत्पावन नामों का तथा गुणों का कीर्तन करते करते उन्हें आप का ही स्मरण बना रहता है।

जब उनके हृदय में संसारी भोगों की इच्छायें भरी पड़ी थीं तब सदा भोगों की ही स्मृति रहती थी, जो भी संसारी भोग्य पदार्थ, इन्द्रियजन्य विषय सम्मुख आजाता था, तो उसी के आगे नत मस्तक हो जाते थे। कोई सुन्दरी कामिनी आ गयी उसके चरणों में मस्तक नवा दिया, कोई सुन्दर स्वादिष्ट मीठा खट्टा चरपरा पदार्थ आ गया, उसी के सम्मुख सिर झुका दिया, कोई सुन्दर सूँघने का पदार्थ आया, कोई अत्यंत मृदुल गुल-गुल स्पर्श की वस्तु आई, उसी के सम्मुख नतमस्तक हो गये। स्मृति के अनुरूप ही नमन होता है।

जब आपकी गुणावली सुनने से विषयेच्छायें एक एक करके खिसकने लगीं, तभी अशुद्ध पदार्थों के निकलने के कारण उस

विशुद्ध अन्तःकरण में आपके दिव्य गुणों कासमावेश होने लगा आपकी ही स्मृति रहने लगी। अतः आपके होसम्मुख मस्तक झुकने लगा आप को ही नमस्कार की जाने लगी। सदा नमो नमः नमो नमः कृष्णाय नमः वासुदेवाय नमः प्रणत क्लेश नाशाय नमः गोविन्दाय नमो नमः होने लगी। वन्दना करते करते फिर पाद पद्मों की सेवा करने को स्वाभाविकी प्रवृत्ति अन्तःकरण में जागृत होने लगी। तब आप के पादपद्म दिखायी देने लगे उन का सुख से सेवन किया जाने लगा। लाभ से लोभ बढ़ा ही है। एक सुख मिलने पर उससे बड़ा सुख पाने की इच्छा स्वाभाविकी है। तब इच्छा होती है, आप सर्वाङ्ग का अर्चन करने का अवसर मिले। आप तो भक्तवांछा कल्पतरु के नामसे प्रसिद्ध ही हो, भक्त की इच्छा में ही जो कुछ देरी भले ही हो; पूर्ति करने में आपकी ओर से देरी कोई नहीं। आप उन्हें अर्चन का दिव्य सुख देते हैं। अर्चन करते करते आपके प्रति दास्यभाव बढ़ जाता है। आप हमारे स्वामी हो, हम आपके सर्वथा आज्ञाकारी दास हैं, सेवक हैं, अनुचरहैं, भृत्य हैं,किंकर हैं। पुराना भक्त ढीठ हो जाता है। दास्यभाव के साथ ही साथ वह कुछ बराबरी का सा स्वत्व रखने लगता है। एकान्त में बात करता है, अपने दुख सुख की बात कहता है और सुनना चाहता है। स्वामी उससे उसके अन्तर की बात सुनते हैं और अपनी भी आपत्ति विपत्ति तथा कठिनाई बताते हैं, तो सखा का सुख तथा साहस सहस्रों गुणा बढ़ जाता है, स्वामी के प्रति वर्णनातीत भक्ति हो जाती है, इससे वह सभी सम्बन्धों,सभी धर्मों और सभी आशाओं को छोड़कर सर्वात्मभाव से स्वामी को आत्मसमर्पण कर देता है। जो सत्सेवक अपना सर्वस्व सत् स्वामी के समर्पणकरदेगा, उसे स्वमी अपने परिवार में सम्मिलित

कर लेते हैं, उसे अपने शरीर का एक अङ्ग ही बना लेते हैं, अपने समस्त ऐश्वर्य के भोगने का उसे अधिकार प्रदान कर देते हैं, यहाँ तक कि अपना आप उसे अर्पण कर देते हैं, आप तो सबसे बड़े प्रत्युपकारी कृतज्ञ हैं। जो आप का दास बन जाता है, उसके आप भी दास बन जाते हैं, जो आपको अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं उन्हें आप भी सब कुछ यहाँ तक कि अपना वैकुण्ठ लोक भी उसे देदेते हैं। वह भक्त आप का सान्निध्य पाकर आपको अपना सर्वस्व समझ कर कृतकृत्य हो जाता है, धन्य बन जाता है, फिर उसे कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।

दूसरे आपके ऐसे ज्ञानी भक्त होते हैं जो भोगों के संकल्प से उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं को वासना और उनमें उत्पन्न आसक्ति अपने पुरुषार्थ से त्यागकर मन और इन्द्रियों को बलपूर्वक उनकी ओर से हटाते हैं। फिर बड़े प्रबल प्रयत्न से क्रम क्रमसे शनैः शनैः विषयों से मनको विरक्त करते हैं। इस अभ्यास के द्वारा वैराग्य ही जिसका सबसे बड़ा बल है ऐसे आत्मज्ञान को वे प्राप्त करते हैं। उन्हें ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है।

तीसरे योगी भक्त हैं, जो यम नियमों का पालन करते हुए आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा के द्वारा समाधि का अभ्यास करते हैं, अपने चित्त को परमात्मा में प्रयत्न पूर्वक स्थापित करके आपकी अत्यंत प्रबल बलवती दुर्विज्ञेय माया को जीतकर आप में ही लीन हो जाते हैं, आपको ही प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार हे देव! किसी मार्ग से क्यों न जायँ, पहुँचते आपके ही पास हैं, किन्तु अन्तर इतना है, किसी मार्ग से शीघ्र पहुँच जाते हैं, किसीसे देरी में घूम फिरकर चक्कर काट

कर पहुँचते हैं, किसी मार्ग से सुख पूर्वक रसीले फल खाते स्वादु पय पीते हुए प्रसन्नता के साथ बिना परिश्रम सहज भाव से पहुँच जाते हैं, किसी मार्ग से बड़े परिश्रम से उपवास करते हुए भूखे प्यासे मरते हुए कंटकाकीर्ण पथ से चलते हुए, श्वास प्रश्वास को शीघ्र छोड़ते लेते हुए प्राणों और शरीर का व्यायाम करते हुए कठिनता से पहुँचते हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रवण कीर्तन वाले भक्ति मार्ग के साधकों को श्रम नहीं करना पड़ता वे सरलता के साथ सहज ही में आप के पादपद्मों में पहुँच जाते हैं और ज्ञानी योगियों को श्रम करना पड़ता है अत्यंत कठिनता के साथ आप तक पहुँच पाते हैं।

हे देव! आप सभी संकल्प विकल्पों से रहित हैं, आप को कोई इच्छा नहीं, अभिलाषा नहीं, जिज्ञासा नहीं, कर्तव्य नहीं तथा कोई कर्म बन्धन नहीं, फिर भी आप लीला के लिये क्रीड़ा के लिये सृष्टि करते हैं, लोकों की रचना करते हैं, ब्रह्माण्ड बनाते हैं, आपकी इच्छा से ही काल की प्रेरणा द्वारा प्रकृति में क्षोभ होता है, गुणों की साम्यावस्था समाप्त होती है, गुण वैषम्य होने पर सत्वादि स्वभावों से युक्त हमारी रचना आप करते हैं, हम सबके स्वभाव भिन्न भिन्न हैं। भिन्न स्वभाव के लोग एक साथ नहीं रह सकते। एक साथ रहने वालों में कोई एक साम्य होना आवश्यक है। हममें समता का अभाव है, इसीलिये पृथक पृथक रहते हैं। इसीलिये ब्रह्माण्ड रचना में समर्थ नहीं हो सकते। आप अपनी क्रीड़ा के निमित्त एक ब्रह्माण्ड की रचना चाहते हैं, जिसमें आप मनोविनोद करें लीला रचें। हमें आपने इसी निमित्त उत्पन्न करके यह काम सौंपा है, किन्तु पृथक पृथक स्वभाव के होने के कारण हम आपकी इच्छा पूर्ति करने में अपने को समर्थ नहीं पाते। अतः आप ऐसी कृपा करें कि किसी प्रकार ब्रह्माण्ड बनाकर उसे आपको समर्पित कर सकें। यदि हम बनाने

में समर्थ हो सकें तो आपको सभी प्रकार के भोग भुगा सकेंगे और स्वयं भी अपनी योग्यता के अनुसार अपने अन्न को अपने भोग्य पदार्थ को ग्रहण कर सकेंगे। तथा ये सभी संसारी जीव बिना विघ्नबाधा के आपको तथा हम को भोग समर्पण करते हुए स्वयं भी बचे हुए अवशिष्ट अन्न को भक्षण करके जीवन निर्वाह कर सकेंगे तथा आपकी प्राप्ति रूप साधन में जुटे रहेंगे। हे सर्वसमर्थ! हे अशरणशरण! आप ऐसी कृपा करें, ऐसी सामर्थ्य हमें प्रदान करें हे सबके सृजनकर्ता! हे संसार तरु के बीज! आप सभी प्रकार के विकारों से सर्वथा रहित हैं। भूत, भविष्य तथा वर्तमान में कभी भी आपको कोई विकार अपने पद से विकृत नहीं बना सकता! आप अनादि हैं, आपका आदि न कोई पा सका है न कोई पा ही रहा है न आगे पा ही सकेगा। आप सबसे प्राचीन पुराण पुरुषोत्तम हैं। आपसे आगे कोई है न होगा। आपने ही संसार के सभी उपकरणों को सभी कार्यवर्ग को तथा हम सब को भी उत्पन्न किया है, आप सबके कारण हैं। सबके जनक तथा उत्पादन कर्ता हैं आपने ही सबसे पूर्व, सर्ग के आदिकाल में सत्व, रज तथा तम और अन्य भी अपर गुणों का उत्पन्न किया है अतः आप पुराण पुरुष के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। आप ही जन्म मरणादि कर्मों की कारणरूपा माया में चेतन रूप वीर्य की स्थापना करते हैं, आप ही सबमें चेतना उत्पन्न करते हैं, आपकी शक्ति के बिना जड़ प्रकृति कर ही क्या सकती है। अतः हे देव! इस जड़ रूपा माया शक्ति में आपने तो गर्भाधान संस्कार किया था चेतन रूप वीर्य की स्थापना होने से ही यह सृष्टि कार्य में समर्थ हो सकी। यह माया देवी ही सत्व, रज तम आदि गुणों की कारण रूपा है, जन्मादि कर्मों की उत्पत्ति भी इसी से होती है। आपके बिना माया शक्ति कुछ भी नहीं कर सकती।

हे देव ! हे आत्मन् ! अब हमारी प्रार्थना यह है कि महत्तत्त्वादि के अभिमानी देवतागण हम सब की उत्पत्ति आपने ब्रह्माण्ड रचना के ही निमित्त की थी, किन्तु हम सब संगठन में नहीं रह सकते। पृथक् पृथक् रहने के कारण ब्रह्माण्ड रचना में सर्वथा असमर्थ हैं, अब हम करें भी तो क्या करें ? कैसे अपने अभीष्ट को सिद्ध करने में समर्थ हो सकें ?

हे देव ! हम कार्य तो कर सकते हैं, किन्तु बिना विचार के बिना विधान के बिना योजना के कार्य ही करते गये तो उससे लक्ष्य की प्राप्ति तो होगी नहीं। कोई शब्द बोलने में तो समर्थ है, किन्तु उन शब्दों का परस्पर में सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता नियजन नहीं करसकता,तो उस असम्बद्ध प्रलापसे अपनेभावोंको व्यक्त नहीं कर सकता सकता। इसी प्रकार आपने हमें उत्पन्न तो कर दिया किन्तु परस्पर में सम्बद्ध होने की शक्ति प्रदान नहीं की तब हम आपके कार्य को कैसे कर सकेंगे ? अतः हमें अपनी क्रिया शक्ति के सहित ज्ञानशक्ति प्रदान कीजिये जिससे ब्रह्माण्ड बन सके, यह सृष्टि क्रम आगे बढ़ सके।

हे भक्तानुग्रह कारक घनश्याम! आप हम पर कृपा कीजिये। आपके अतिरिक्त अनुग्रह करने वाला अन्य कौन है, आप ही अनुग्रह आकर हैं भंडार हैं, हम पर कृपा कीजिये और अपने मनो विनोद की सामग्री सृजन की शक्ति दीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अधिष्ठातृ देवों की ऐसी प्रार्थना सुनकर भगवान् ने अपनी कालशक्ति को आश्रित करके जो तेईसतत्व अब तक पृथक् पृथक् बन चुके थे उन सब में एक साथ ही प्रवेश किया। फिर तो गाड़ी चलने लगी, इस विषय का विशेष विस्तार सृष्टि प्रकरण में किया जायगा, इस प्रकार मैंने अधिष्ठातृ देवों की स्तुति का वर्णन किया अब सृष्टि रचना के निमित्त ब्रह्मा

जी ने जैसे भगवान् की स्तुति की है, उस स्तुति को मैं आपको सुनाता हूँ, आप ध्यान पूर्वक उस रहस्यमयी स्तुति को श्रवण करें।

छप्पय

सब सुर पृथक स्वभाव सृजनकी शिक्षा दीजे।
हम तुम अरु सब जीव करें क्रीड़ा सो कीजे॥
रचिकें तुमने हमें शक्ति बढ़िबे की दीन्ही।
तुमने माया माहिं चेतना थापित कीन्ही॥
ज्ञान दीठितैं क्रिया की, शक्ति देहिं अशरनशरन।
सुर विनती सुनि सबनि प्रभु, इक सँग प्रविसे दुखहरन॥

पद

भगतहित रूप अनूप बनाओ।
ज्ञान विराग धारि घर त्यागें तिनिकूँ ब्रह्म लखाओ॥१॥
यम अरु नियम साधि प्राननिकूँ प्रत्याहार कराओ।
पावैं तुम कुँ पाइ कष्ट बहु जोगी जुगति जलाओ॥२॥
सुनें कथा कीर्तन करि क्रंदैं, तिनि हियतैं चिपटाओ।
से पद पावैं पावन पुनिपुनि सहज भाव दरसाओ॥३॥
भक्ति भावभावित भक्तनि भव भयहर भभरि भगाओ।
प्रभुपद पावैं प्रेमपिआवैं, दरशन देव! दिवाओ॥४॥

सृष्टिरचना के लिये ब्रह्माजी द्वारा भगवत् स्तुति (१)

(१६)

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजाम्
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धम्
मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥

(श्री भा० ३ स्क० ९ अ० १५लो०)

छप्पय

कमलासन हरि-नाभिकमल तैं प्रकट भये जब ।
अनल, कमल, जल, स्वयं लखें नभ पनवस्तु तब ॥
प्रभु चरननि चित लाइ करन इस्तुति अज लागे ।
करि हरि दरशन धन्य भयो अब सब दुख भागे ॥
ज्यों आभूषन कनक के, नाम रूप अगनित भये ।
किन्तु कनक ई कनक सब, त्यों तुमई सब बनि गये ॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् पूर्व सृष्टि का संहार करके सब चराचर जगत को अपने शरीर में समेट कर

---

१ सृष्टि रचना के निमित्त भगवान की स्तुति करते हुए लोक विधाता ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे भगवन् ! आज बहुत दिनों के पश्चात् मैं आपको जान सका हूँ। देहधारी प्राणी आपकी गति को नहीं जान सकते यह कितने खेद की बात है। हे प्रभो ! आपके अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं। आपके अतिरिक्त जो दिखायी भी दे वह शुद्ध नहीं है। आपही माया गुणों के अन्योन्य सम्बन्ध से अनेक रूपों में भासते हैं।

सुख से सोगये तब यह चराचर जगत् भगवान् के शरीर में प्रसुप्त पड़ा रहा। उस समय कुछ भी प्रपञ्च दिखायी नहीं देता था। जब पुनः सृष्टि का काल समुपस्थित हुआ और काल स्वरूपिणी शक्ति ने सृष्टि रचनाकी पुनः प्रेरणाकी तब श्रीमन्नारायण ने अपने अंतः स्थित सूक्ष्मभूतों की ओरदृष्टि पात किया। तब सूक्ष्मभूतों के समुदाय में क्षोभ पैदा हुआ। रजोगुण जिसमें कर्म करनेका-सृष्टि रचना का-संकल्प सन्निहित है, उसमें से एक अंकुर उत्पन्न हुआ वह अंकुर कमल नालके सदृश प्रभुकी नाभिसे निकल कर कमल के रूप में परिणित हो गया। वह कमल वायुकी प्रेरणा द्वारा बढ़ा जल में स्थित नारायण को प्रेरणा से हरा हुआ। नाभिसे निकला अतः अपने रहने को उसने अवकाश आकाशका निर्माणकर लिया। अतः कमलके साथ वायु, आकाश और जल इन तीनों का होना स्वाभाविक था। इन तीनों के बिना स्वयं न कमल का निर्माण हो सकता था न भगवत् नाभिसे नाल द्वारा निकलकर अवकाश में स्थित हो सकता था। कमलके निकलने पर उसमें से अपने आप ही एक पुरुष प्रकट होगये। उन पुरुष ने देखा वायु चल रही है कमल हिल रहा है, जलमें हिलोरें उठ रही हैं, वे भौचक्के से होकर विचारने लगे-यह कमल कहाँ से आगया, इस पर बैठा हुआ मैं कौन हूँ मैं इस पर क्यों बैठा हूँ यह कमल जल में कैसे उत्पन्न हो गया, इसका कहीं आधार भी तो होगा। पहिले तो इसीका पता लगावें। इसी के आदि कारणका अन्वेषण करें" ऐसा सोचकर वे उस कमल नालके सहारे सहारे जलमें उतरे, वे उसके छिद्र द्वारा उसके उत्पत्ति स्थान को खोजते फिरे किन्तु दीर्घ-काल तक खोजते रहने पर भी उन्हें उसका मूलकारण-उत्पत्तिस्थान नहीं मिला, अन्त में वे श्रमित होकर पुनः उसी कमल पर आबैठे और समाधि द्वारा ध्यान करने लगे। समाधि द्वारा उन्हें अपने

अन्तःकरण में ही भगवान् के दर्शन हुए। तब उन्होंने सृष्टि रचना के निमित्त बहुत ही भक्तिभावसे भक्तिभावन भगवान् की स्तुति की। उसी स्तुति को हे मुनियो ! मैं आप सबको सुनाता हूँ, वह स्तुति क्या है, सभी शास्त्रों का सार है, उसमें बताये साधन अमोघ हैं। उसे आप सब श्रद्धापूर्वकश्रवण करें—

ब्रह्माजी स्तुति करते हुए कहने लगे—हे भगवन् ! मुझे आपने ही उत्पन्न किया है, इस बात को मैं भूल गया था। उत्पन्न होते ही मैं 'कोऽहं कोऽहं' पुकारने लगा। मुझे कुछ दिखायी ही न दिया। अपनी योनि आप को तो देख नहीं रहा था, जिस कमल पर बैठा था, उत्पन्न होकर आसन जमाया था, उसे देखता था। जलको देखता था, आकाश वायु और अपने आप को। जब मेरे मनमें जिज्ञासा हुई कि मेरे आश्रय कमल का कारण उसका और मेरा जनक कौन है, तो मैंने प्रथम अपने पुरुषार्थ का प्रयोग किया, करना ही पड़ता है, आपने जो इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि दिये हैं, पुरुषार्थ के लिये ही दिये हैं, इसीलिये प्राणी बिना कुछ किये रह ही नहीं सकता। अपनी जिज्ञासा निवृत्ति के लिये प्रयत्न करता ही है। मैंने भी प्रयत्न किया। अपने से पृथक् कुछ दूर जल को ही देखा अतः जल के भीतर घुसकर खोजता रहा, कमलका कारण कौन है, किन्तु आप बाहर खोजनेवाले को मिलते ही नहीं, किन्तु उसका खोजना व्यर्थ नहीं होता। उसे एक मार्ग तो मिलता है, मनमें दृढ़ता तो आ जाती है एक निश्चित कर्तव्यता ज्ञात हो जाता है, कि बाहरको खोज छोड़कर भीतर ही खोजो। अपने अभिमान को परित्याग कर उन्हीं की शरण में जाओ, वे कृपा करेंगे तो तुम्हें कहीं अन्यत्र जाना न पड़ेगा, दूसरे दूर स्थानों में भटकना न पड़ेगा, घर बैठे ही अपने भीतर ही मिल जायँगे।

मैंने भी प्रथम बाहर ही आपको खोजने का यत्न किया किन्तु

हताश हो गया आप मिले नहीं। तब मैंने कमल के आसन पर बैठे ही बैठे आपकी अनुग्रह का ध्यान किया, आपकी कृपा की स्मृति में समाधि लगायी। तब कहीं बहुत दिनों के पश्चात् आपकी यह दिव्य झाँकी दृष्टिगोचर हुई। चिरकाल पश्चात् आपके यथार्थ रूप का जान सका। अब मैं समझा कि यह जल, वायु, आकाश, कमल और मैं सब आप ही बन गये हैं, आपके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु है ही नहीं। जो अन्य दिखायी देती है, वह यथार्थ नहीं, सत्य नहीं, शाश्वत नहीं आपसे पृथक् नहीं, वह कल्पित है, मिथ्या है, नाशवान है आपकी त्रिगुणमयी माया के जो गुण हैं, वे ही परस्पर में अन्योन्य सम्बन्ध से विकृत होने के कारण भिन्न भिन्न स्वरूपों में प्रतीत हो रहे हैं। वास्तव में आपके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं आपके अतिरिक्त जो दीखता है वह विशुद्ध नहीं है। दृष्टि विकार ही इसमें प्रधान कारण है। किसी किसी को दृष्टि दोष से एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा दिखायी देने लगते हैं। उसे प्रत्यक्ष स्पष्ट दो दिखायी देते हैं। जो दूसरा दिखायी देता है, वह यथार्थ नहीं है। चन्द्र तो एक ही था एक ही है एक ही रहेगा। विशुद्ध दृष्टि वाले, पवित्र नेत्रों वाले उसे एक ही देखते हैं, वस्तुतः वह अद्वय है ही। इसलिए हे प्रभो! तुम्हें जान लेना ही जीव का परम पुरुषार्थ है। जो जीव मानव शरीर धारण करके भी आप के ज्ञान से वञ्चित रहते हैं, आपकी गति को नहीं जान सकते, वे अभागे हैं, वे शोचनीय हैं। दुःख की बात है, कि उनका देह धारण करना व्यर्थ है।

हे चैतन्यस्वरूप! अज्ञान तो जड़ता का कारण है, आपके समीप तो अज्ञान फटक भी नहीं सकता क्योंकि आप तो चित् शक्ति से सदा प्रकाशित रहते हैं। आप तो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं त्रिकाल सत्य हैं, सर्वथा मंगलमय हैं, अतिशय दर्शनीय, रमणीय, मनोहर तथा सुन्दर हैं, मेरी उत्पत्ति आपसे ही हुई है। इसका

बोध मुझे अब हुआ है, आपकी नाभि में से जो कमल नाल हुआ है, उसके कमल में से मैं प्रकट हुआ हूँ, वास्तव में तो मैं आपका ही पुत्र हूँ। संसार में जितने भी असंख्य अवतार हुए हैं अथवा होंगे उन सभी अवतारों के मूल कारण तो आप ही हैं। आपको कोई कर्तव्य नहीं, कोई इच्छा नहीं, कोई अभिलाषा नहीं, आप तो आप्तकाम हैं। स्वयं ही परिपूर्ण तथा आत्मतुष्ट हैं, फिर साधु जनों के सुख के निमित्त अपने आश्रितों पर अनुग्रह करने के लिये सर्व प्रथम आपने यह अत्यद्भुत आदि अवतार धारण किया है।

हे परिपूर्ण! हे आनन्दनिलय! आप नित्यानन्द में निरन्तर निमग्न रहते हैं। आप में कोई तर्कना नहीं, ऊहा पोह नहीं, संकल्प नहीं विकल्प नहीं आप आनन्द मात्र निर्विकल्प नित्यनिरञ्जन हैं। आपका सर्वतोमुखी तेज कभी खण्डित नहीं होता सदा परिपूर्ण अखण्ड बना रहता है। आप प्रकाशमय तेजमय तथा तेज स्वरूप हैं, गुणों का आप में लेश नहीं। आप निर्गुण निराकार निर्लेप तथा निरवयव हैं। आपका जो आकार दिखायी देता है, वह भी आप से भिन्न नहीं सगुण साकार रूप भी आप के निर्गुण निराकार रूप से पृथक् नहीं। यह शंका भी नहीं की जा सकती कि साकार निराकार निर्गुण सगुण परस्पर में एक दूसरे से भिन्न होते हुए एक साथ कैसे रह सकते हैं। जहाँ अग्नि रहती है, वहाँ जल कैसे रह सकता है। अग्नि और जल एक साथ ही एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं? रह क्या सकते हैं रहते ही हैं। बडवानल समुद्र में ही तो रहता है। जठराग्नि पेट में रहती है वहाँ जल भी रहता है। गीले बाँस में जल भी है अग्नि भी है। इसी प्रकार आप के निर्विकल्प, अखण्ड तेजोमय निर्गुण स्वरूप को अनन्त अवतारों के बीज रूप इस आदि अवतार कमल नाभ रूप से पृथक् नहीं मानता। दोनों एक ही हैं। इसीलिये मैंने

तो इस सगुण साकार स्वरूप की ही शरण ली है। यह रूप दशों बाह्य इन्द्रियों, चार भीतर की इन्द्रियों तथा पंचभूतों का आत्मा होने पर भी विश्वातीत ही है। फिर भी सम्पूर्ण सृष्टि का बीज है चराचर विश्व की सृष्टि इसी रूप से होती है।

हे मंगलमय! हे भुवनमंगल! आप को निगुण से सगुण होने की कोई आवश्यकता नहीं थी, केवल हम जैसे उपासकों के लिये शरणागत भक्तों पर कृपा करने के लिये ही आप ने यह अलौकिक अद्भुत रूप रख लिया है। हम लोगों पर अनुग्रह करने के लिये ही आपने ध्यान में यह झाँकी दिखायी है। प्रभो! जो अज्ञ हैं, विषयासक्त हैं, दुराग्राही और दम्भी हैं, जो आप के सगुण साकार रूप का अनादर करते हैं, उसकी निन्दा करते हैं, वे अभागे हैं, जड़मति हैं, नरकगामी हैं उन्हें आपके इस रूप के दर्शन दुर्लभ हैं। हे कृपा के सागर! हमारा प्रणाम स्वीकार कीजिये। हम आप के इस रूप को अभिवादन करते हैं।

हे परमप्रेमास्पद! हे भुवनमोहन! आप के कमल कोश के सदृश जो आपके अमलविमलअरुण चरणारविन्द हैं, उनमें मनमोहक दिव्य गन्ध भरी हुई है। भक्तजन उस दिव्यगन्धका आस्वादन करना चाहते हैं किन्तु जब तक वायु न चले, तब तक गन्ध का इन्द्रियों से संयोग कैसे हो? अतः वेद रूपी वायु आप के चरणों का और आप के आश्रित भक्तों की इन्द्रियों का संयोग करा देती है, जिससे आपके चरण रूप कमलकोश की गन्ध उनके नासिका पुटों में प्रवेश करती है, उसका वे आघ्राण करते हैं। जहाँ उन्हें उसका आस्वाद मिला कि फिर वे आप के उन दिव्य गन्ध युक्त चरणों को किसी भी दशा में क्षण भर को भी छोड़ने को उद्यत नहीं होते। उनके पास एक अत्यंत ही पतली-कच्चे सूत के धागे से भी निर्बल भक्ति रूपा रज्जु रहती है। उस रज्जु से ही वे आपके चरणों को बाँध लेते हैं, फिर कभी छोड़ते नहीं और उसकी दिव्य

गन्ध को इन्द्रियों द्वारा अनन्त काल तक सूँघते रहते हैं और परम मुदित बने रहते हैं।

हे परमात्मन्! हे सर्वप्रिय! हे प्रेमधाम! संसार में तो प्रेम की रज्जु में और भी बहुत सी वस्तुएँ बँधी हैं। शरीर से बड़ा प्रेम होता है, इसी को सर्वस्व समझ कर रात दिन इसी के पालन पोषण में व्यग्र बने रहते हैं। आज श्लेष्मा हो गया, ज्वर आ गया, अर्श, कास, श्वास नाना रोग होने पर भय होने लगता है, कहीं यह दुर्बल न हो जाय, प्राणों से पृथक् न हो जाय, इसके लिये बड़े-बड़े चिकित्सक बुलाते हैं, रात्रि दिन परिश्रम करके बड़े कष्ट से अत्यन्त अपमान सहकर जो धन एकत्रित किया था, उसे पानी की भाँति बहाते हैं किसलिये? शरीर के प्रेम के कारण। यह सदा बना रहे। इसी प्रकार घर में भी बड़ा प्रेम है, घर पर कोई प्रहार करता है, तो ऐसा लगता है, मानों अपने ऊपर ही कोई प्रहार कर रहा है। स्त्री तो अपनी अर्धाङ्गिनी ही ठहरी, प्राणों से भी अधिक प्रिय होने से प्राण प्रिया कही जाती है, वह भी पति को सबसे अधिक प्रेमास्पद-प्रियतम-कहती है। उसका अपमान आत्मापमान से भी बढ़कर शोकदायी है। बच्चे तो आत्मजः ही ठहरे। आत्मा वै जायते पुत्रः श्रुति ही कहती है अपनी आत्मा ने ही पुत्र का रूप रख लिया है। उसके लिये हृदय में सदा कितनी स्पृहा बनी रहती है। अपने परिजन सुहृद्जनों में भी अनुराग होता है। इन सब में संसारी लोगों का प्रेम बँटा हुआ रहता है। इन सब में प्रेम होने से थोड़ा बहुत सुखाभास भले ही होता हो। किन्तु इन सबसे दुःख अत्यधिक होता है। भय बना रहता है, कोई हमारे शरीर पर आघात न पहुँचा दे, रोग न घर दबावे, कोई अपमान न कर दे। धन तो भय का घर ही है। राजा से, चोर से, स्वजनों से, सम्बन्धियों से, याचकों से सदा भय बना रहता है,

कोई माँग न ले। शरीर रोगी हो जाता है, घर टूट-फूट जाता है, या कोई दूसरा उस पर अधिकार कर लेता है, धन नष्ट हो जाता है, चोरी हो जाता है, या इच्छा के प्रतिकूल व्यय हो जाता है, तो हृदय में शोक होता है। दूसरों को सुखोपभोग करते देखते हैं तो स्पृहा होती है। शत्रुओं से पराभव हो जाता है, तो अत्यन्त शोक होता है। सदा मन में भोगों के भोगने की, विषय पदार्थ पाने की तृष्णा बनी रहती है। इस प्रकार देह से गेह से धन से, स्त्री, बच्चे तथा सुहृद्जनों से निरन्तर भय बना रहता है, शोक उत्पन्न होता है, स्पृहा बढ़ती है, पराभव का क्लेश तथा तृष्णा आदि सताते रहते हैं। यह सब तभी तक होता है, जब तक हमने इन सब को अपनी मोहपाश में बाँध रखा है। जब तक हमारी इनमें अहंता ममता रहती है। यह मैं हूँ, ये वस्तुएँ मेरी हैं ऐसा भाव बना रहता है जब तक मैं और मेरे पन का असत् आग्रह बना रहता है। जिस दिन इनकी ओर से मन हटाकर आपके चरणारविन्दों में लग जाता है, जिस समय प्रेम की रस्सी से आपके चरणों को बाँध लेता है, तब इन सबकी ममता अपने आप समाप्त हो जाती है। फिर न भय रहता है न शोक और न तृष्णा, फिर तो पराभव की सम्भावना नहीं, स्पृहा की कल्पना ही नहीं। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा जाता है। जीव कृतार्थ हो जाता है, उसका भवबन्धन समाप्त हो जाता है। आवागमन रुक जाता है। आपके चरण कमल की दिव्य गन्ध जिसे एक बार भी सूँघने को मिल गयी, फिर उसे संसारी किसी भी विषय की गन्ध अच्छी ही न लगेगी। उसे समस्त विषय विषवत् प्रतीत होंगे। समस्त संसारी कामनायें अपने आप छूट जायँगी। पाप, ताप संताप तथा समस्त शोक स्वतः ही समाप्त हो जायँगे। अतः हे प्रभो! हमें आप अपने चरणों की शरण दीजिये। आप के चरण कमलों में भक्ति हो,

अनुरक्ति हो आसक्ति हो यही हमारी याचना है। आपके पुनीत पावन पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! जिस समय ब्रह्माजी भगवान के नाभि कमल से प्रकट हुए थे उस समय उनके एक ही मुख था। किन्तु जब उनको चारों ओर देखने की इच्छा हुई, तो चारों दिशाओं में चार मुख हो गये। उनके चारों मुखों ने क्रमशः स्तुति की। एक मुख इतनी स्तुति करके जब चुप हो गया, तो अब दूसरे मुख ने जो स्तुति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। उसे भी आप श्रद्धा के साथ श्रवण करें।

छप्पय

सब अवतारनि आदि रूप जिह अद्भुत धार्‌यो।
सगुन अगुन नहिं भेद रूप लीला विस्तार्‌यो॥
चरन कमल मकरन्द गन्ध ने सब भय टारे।
दीये दरसन देव! दुरित दुख दैत्य विदारे॥
तन धन घर प्रियजन विपति,, देवैं दुख तब तक विभो।
जब तक तव पद पदुम महँ, पाइं न नर आश्रय प्रभो॥

पद

प्रभु तुम रूप विविध विधि धारो।
जीव जगत महँ भ्रमत सतत परि, मरम न लखे तिहारो॥१॥ प्र०
हार, हमेल, करधनी-कुण्डल, कनकहि को विस्तारो।
नाम रूप धरि विविध कहाओ, माया लयो सहारो॥२॥ प्रभु०
सदा प्रकाशित नित्य निरंजन जग रचि पालि सँहारो।
अगनित अवतारनि के कारन संत जननि नित तारो॥३॥ प्रभु०
सगुन अगुन कछु भेद न तुममें जल ही हिम तनु धारो।
होहु सगुन साकार भक्त हित निरगुन नहिं कछु न्यारो॥४॥ प्रभु०

ब्रह्माजी द्वारा भगवत् स्तुति

(२०)

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्
सर्वाशुभोपशमनाद् विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना-
लोभाभिभूतमदसोऽकुशलानि शश्वत् १॥

(श्री भा० ३ स्क० ९ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

तजि हरिकीर्तन कथा विषयसुख मन ललचावें ।
ते अति पामर पतित अभागे अधम कहावें ॥
काम अगिनि महँ जरत कोधकरि क्लेश उठावत ।
व्याधिग्रसित लखि नरनि दया हिमयहँ अतिलागत ॥
माया मोहित जीव जिह, तब तक विषयनि सुख चहे ।
जब तक प्रभुपद पदुमको, सुखद मधुर रस नहिँ लहे ॥

सूत जी कह रहे हैं—मुनियो ! अब ब्रह्मा जी अपने द्वितीय मुखारविन्द से स्तुति करते हुए कहने लगे—"प्रभो ! मुझे जीवों पर दया आती है, एक ओर शुद्ध पवित्र कपिला का टटका

---

१ स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे प्रभो ! उन लोगों की बुद्धि को दैव ने हर लिया है जो लोग सम्पूर्ण अशुभों को नाश करने वाले आपके कीर्तन से विमुख बन गये हैं और तनिक से कामसुख के लिये दीन हुए लोभाभिभूत मन से अकुशल कार्यों को करते रहते हैं। निश्चय ही ऐसे लोग दया के पात्र हैं।"

स्वादिष्ट दूध रखा है, दूसरी ओर अर्क का, मदार का गाढ़ा गाढ़ा दूध रखा है। ये अभागे लोग कामधेनु के दूध को छोड़कर आर्क के दूध को पी लेते हैं, जिससे अन्धे होकर इधर उधर भटकते रहते हैं। आपने जीवों पर दया करके, भक्तों पर अनुग्रह करके अपनी कितनी सुन्दर सुन्दर कथायें प्रकट कर दी हैं, अद्भुत अद्भुत लीलायें करके व्यासादि ऋषियों का अवतार लेकर उन लीलाओं को ललित भाषा में लिखा भी दिया है, जगत को पावन करने वाले परम मधुर नाम प्रकट कर दिये हैं—"वासुदेव, मदनमोहन, आनन्दकन्द, रासविहारी, राधारमण, भवभयहरण, गोविन्द, हरि, मुरारि, नाथ! नारायण! कितने श्रुतमधुर कर्णप्रिय हृदय ग्राही नाम हैं, इन नामों का कीर्तन किया जाय, तो अन्तःकरण भी प्रफुल्लित हो और अन्त में आपका सुदुर्लभ पद भी प्राप्त हो। किन्तु ये विपदा के मारे जीव इन सम्पूर्ण अशुभों को नष्ट कर देने वाले परमपावन नामों का कीर्तन नहीं करते। समस्त कल्मषों को जड़मूल से काट देने वाली आप के सम्बन्ध की भागवती कथाओं को श्रवण नहीं करते। व्यर्थ की लोकवार्ताओं में अपने अमूल्य समय को अपव्यय करते हैं। आपके प्रसंग श्रवण में आप के नाम संकीर्तन में जो अनन्त सुख है, उसकी ओर उनका झुकाव ही नहीं होता। इसके विपरीत यदि उन्हें नरक में ले जाने वाले, संसृति में फँसाने वाले, पुनः पुनः जन्म मरण के चक्कर में डालने वाले लेशमात्र तनिक से विषय भोग मिल जायँ तो उसकी ओर टूट पड़ते हैं, सोचते हैं इन्हें भोगने से हमारी तृप्ति होगी हमें शान्ति मिलेगी। क्या प्रभो! विषयों से किसी को शान्ति मिली है, प्रलय प्रचंड प्रज्वलित अग्नि तनिक सा घृत डालने से कभी शान्त हुई है?

संसार में जितने भोग्य पदार्थ हैं समस्त खाने के पदार्थ, पहिनने के वस्त्र, देखने के रूप, सूँघने के गन्ध, सभी प्रकार के

वाहन, संसार की सभी सुन्दरी रूपवती स्त्रियाँ, सभी श्रुतमनोहर श्रवण करने योग्य शब्द, दर्शनीय पदार्थ तथा और भी जो इन्द्रिया को तृप्त करनेवाली विषय सामग्रियाँ हैं। ये सभी किसी एक ही को दे दी जायँ, तो वे सब मिलकर भी एक की तृष्णा को शान्त नहीं कर सकतीं। फिर मनुष्यों के पास तो परिमित भोग सामग्रियाँ हैं। वे भी पाँचों इन्द्रियों की पृथक् पृथक हैं। किसी को एक इन्द्रिय की भोग सामग्री मिल जाय, जैसे स्वादेन्द्रिय को अच्छा लगने वाला पदार्थ मिल जाय, जो भी एक दिन की पूर्ति के ही लिये, तो ये जीव उस इतने ही प्रलोभन से फिसल जाते हैं। अरे, आज क्षण भर को स्वाद ले लोगे, कुछ काल के पश्चात् पुनः भूख लग जायगी, पुनः जीभ लपलपावेगी, पुनः उसे पाने को मन चलेगा। इस इतने से लेशमात्र विषयसुख के लिये मन ही मन लालायित बने रहते हैं और कथा कीर्तन में मन नहीं लगाते यह कितनी भारी मूर्खता है, कैसा बड़ा अज्ञान है। प्रभो! इन विषय भोगों में क्या रखा है। क्षण भर को राजा को जो सुख रानी के साथ मिलता है, वही सुख उतने देर सूकर को सूकरी के साथ मिल जाता है। इसके पश्चात् दोनों ही दुखी हो जाते हैं। वह सुख स्थायी भी नहीं उसके आदि में भी दुःख और उसका परिणाम भी दुखद ही होता है। हे स्वामिन्! जीव क्यों इन संसारी भोगों में सुख की खोज करता है? क्यों स्वाभाविक रूप से उसका रुझान इन विषयों की ओर होता है, वे आपकी सुखकारी कथाओं को क्यों नहीं सुनते? ये जीव सदा यज्ञ भी करेंगे, दान, पुण्य तथा कोई शुभ कर्म भी करेंगे, तो उसका फल यही माँगेगे "रूपं देहि धनं देहि यशो देहि द्विषो जहि" हे देव! हमें सुन्दर रूप दो, मनोरमा रूपवती पत्नी दो, धन दो, यश दो और हमारे शत्रुओं को मारदो। कर्म भी करेंगे सकाम भाव से-विषय भोगों की प्राप्ति की इच्छा से क्या करें बेचारों की बुद्धि

दैव ने हरली है, पूर्व कृत कर्मों के कारण भवना विपरीत बन गयी है, विषधर सर्प को सुखकर माला मान कर मुदित मन से उसे अपनाते हैं कण्ठ का हार बनाते हैं और उसके कारण बार बार जीते हैं बार बार मारते हैं। प्रभो! इन सबको देखकर मुझे दया आती है, आप कृपा करें, इन सबको सद् बुद्धि दें जो ये आप का भजन् ध्यान, कथाश्रवण तथा कीर्तन कर सकें आपकी ओर ये जा सकें।

हे अच्युत! जीव संसार में भटक रहे हैं, दुखी हो रहे हैं, नाना प्रकार के क्लेश उठा रहे हैं, इनका उद्धार कैसे होगा। कैसे ये इन दुःखों से छूट सकेंगे। एक दुःख हो तो वह किसी प्रकार मिटाया भी जाय। जीव तो दुःखों का आलय बन गया है।

सबसे बड़ा दुःख तो भूख प्यास का है। एक दिन खाने पीने से क्षुधा पिपासा शान्त हो जाय सो भी बात नहीं। नित्य भोजन पानी चाहिये। दिन में कई बार चाहिये न मिले तो मन विकल हो जाय, हृदय तड़फड़ाने लगे। यह शरीर में इतना गहरा गड्ढा बना दिया है कि कभी भरता ही नहीं। जब देखो तब खाली। न जाने कितना घृत इसमें भर दिया, कितना अन्न ठूँस दिया। कितने साग, भाजी, मिर्च, मसाले दूध-दही, नमक, विष इसमें विलीन हो गये। कुछ पता ही नहीं चलता। प्रातः भरा दोपहर में फिर रीता, फिर ठूँस-ठूँस कर भरा सायंकाल को फिर खाली। रात दिन तो इसी की चिन्ता लगी रहती है। एक दिन भी तनिक कम खाया तो घर भर में हल्ला मच गया। आज कम क्यों खाया? क्या हो गया? चित्त कैसा है, वैद्य आवे, चिकित्सक आवे, निदान हो, उपचार हो, क्वाथ पिलाओ, चूर्ण फँकाओ गोली खिलाओ। आसव पिलाओ। फिर खिलाओ पिलाओ ही। खाना-पीना पिंड नहीं छोड़ता। प्राणियों को खाने-पीने की चिन्ता आठों पहर बनी रहती है।

प्रभो ! इतना ही हो तो सह भी लिया जाय। आज बात कुपित हो गयी, पेट में पीड़ा है, उदर फूल गया, वायु का गोला बन गया, गाँठों में वेदना हो गयी, वात ज्वर आ गया। पित्त कुपित हो गया, तृषा अधिक है, प्यास बहुत लगती है, पेट में जलन होती है, उलटी आती है। चित्त मिचलाता है, दाह बढ़ गयी है, उद्विग्नता हो गयी है, उपचार करो, काई मँगाओ शिवार पीस कर सिर पर रखो, मिश्री लाओ औषधि पिलाओ। चटनी अवलेह चटाओ। पित्त की प्रबलता में भी खिलाते जाओ, पेय पदार्थों को पिलाते जाओ। आज श्लेष्मा कुपित होगया है, खासी बढ़ गयी है, कफ बहुत निकलता है, कंठ की ग्रन्थियाँ बढ़ गयी हैं, भूख कम हो गयी है। आँव पड़ने लगा है। पेट में असह्य पीड़ा है छटपटा रहे हैं बिलबिला रहे हैं तड़प रहें हैं, रो रहे हैं घर वालों को कोस रहे हैं। चिकित्सकों के आगे दीन हो रहे हैं। कैसी विवशता है। ये वात, पित्त, कफ, तीनों धातु कुछ काल को भी देह से कहीं चले जायँ तो कुछ तो शान्ति हो, ये क्षण भर भी देह से बाहर नहीं जाते। नित्य ही कोई न कोई कुपित हो ही जाती है। घर में दो चार साथ रहते हैं तो लड़ाई हो ही जाती है कोप स्वाभाविक है, एक साथ बर्तन रहेंगे तो कभी न कभी खटक ही जायँगे। कुपित होती हैं धातुएँ, दुखित होता है पुरुष। कोई रोता है आँसू किसी के आते हैं। कैसी आपत्ति है, कैसा जंजाल है।

वात, पित्त और कफ की ही विषमता या वृद्धि का केवल दुःख होता तो प्राणी रो-गाकर उन्हें सह लेता। पौष माघ फागुन आये नहीं कि इतना शीत पड़ता है सम्पूर्ण शरीर ठिठुर जाता है ऊनी वस्त्र रुई के गद्दे रजाई अग्नि का प्रबन्ध सभी करते हैं, तब भी जाड़ा लगता ही है। जिन पर यह सब कुछ नहीं है, रात्रि भर पेट में घोंटू दिये बैठे रहते हैं। चैत्र वैशाख ज्येष्ठ में उष्णता दुःख देता है। प्यास लगती है लू चलती है माखी मच्छर आकर काटते

हैं, बालू तप जाती है, शरीर पर वस्त्र रखा नहीं जाता अग्नि बरसाती है। शरीर से स्वेद निकलता रहता है। कभी आँधी चलती है, तो धूलि सम्पूर्ण घर में भर जाती है, आँखों में भर जाती है, कंठ में घुस जाती है वस्त्र मैले हो जाते हैं। आषाढ़ श्रावण भादों में वर्षा होती है। भूमि गीली हो जाती है, सर्वत्र कीच भर जाती है, वस्त्र भीग जाते हैं, लकड़ी गीली हो जाती है।

इनके अतिरिक्त भी भीतरी कष्ट बहुत है। कोई स्त्री किसी पुरुष पर या कोई पुरुष किसी स्त्री पर आसक्त होगये तो वे दिन रात्रि बिना अग्नि के ही जलते रहते हैं। घर, द्वार कुटुम्ब परिवार कुछ अच्छा ही नहीं लगता, निरन्तर उसी का चिंतन बना रहता है। परस्पर किसी पर संयोग भी हो जाय, तो कामाग्नि और भड़क जाती है। क्षण भरको सुखाभास सा भले ही प्रतीत हो, किन्तु दुःख और बढ़ जाता है। हृदय तड़पता रहता है, मन व्याकुल बना रहता है, अकारण शरीर झुलसता रहता है, हृदय जलता रहता है, फुँकता रहता है, यह कामाग्नि सबसे अधिक कष्टकर है। काम का भाई क्रोध भी साथ ही रहता है, अपने प्रतिकूल जो भी बात हुई, कि बिना अग्नि के अन्तःकरण से लपटें उठने लगती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं, मुख तमतमाने लगता है, नसें तन जाती हैं, आकृति विकृत बन जाती है। वाणी पर से संयम चला जाता है। जो मुख में शब्द आजाता है उसे ही बकने लगते हैं। अनकहनी बात कहने लगते हैं, प्रहार कर बैठते हैं। एक पक्ष को कुपित देखकर दूसरे पक्ष के भी कुपित हो जाते हैं, मार धाड़ आरंभ हो जाती है। क्षण भर के क्रोध के कारण न जाने कितने दिनों तक कष्ट उठाना पड़ता है।

हे रिपुञ्जय ! हे शत्रुसंहारी प्रभो ! एक शत्रु ही जीवन को कड़वा बना देता है। वह शत्रु अपने से दूर रहता है, फिर भी

प्रतिक्षण दुखी बनाये रहता है, किन्तु इस शरीर के भीतर एक नहीं बारह बारह शत्रु बैठे हैं, वे क्षण भर को भी टलते नहीं। क्षुधा, पिपासा, वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, वायु, वर्षा, काम, क्रोध और लोभ ये बारह शत्रु कभी शान्त होकर बैठते नहीं कभी शरीर से बाहर नहीं जाते। नाथ! ये जीव निरन्तर इन शत्रुओं द्वारा पीड़ित किये जा रहे हैं। जीव इनके कारण बारम्बार दुःसह कष्ट उठा रहे हैं, इन सब को अत्यन्त दुखी देखकर दयावश मेरा हृदय द्रवित हो रहा है। प्रभो! इन जीवों पर दया करो, इन्हें दर्शन देकर इनके समस्त दुःखों को दूर कर दो।

स्वामिन्! यह जीव आपकी माया में भटक रहा है। इन्द्रियाँ अपने अपने विषय के रस का आस्वादन चाहती हैं, विषय इन्द्रियों में रम गये हैं। आँखें सदा सुन्दर सुन्दर रूपों को देखने को लालायित रहती हैं। रसना स्वादेन्द्रिय, खट्टे मीठे चरपरे रसों को चखने को चंचल बनी रहती है। त्वग् इन्द्रिय, सुखद गुलगुले स्पर्श के लिये व्याकुल बनी रहती है। घ्राणेन्द्रिय नासिका, अच्छी सुन्दर सुगन्ध के लिये उत्सुक बनी रहती है। कर्णेन्द्रिय सरस सुखद श्रुतप्रिय शब्दों के श्रवण के लिये लालायित बनी रहती है। विषय इन्द्रियों में समा गये हैं और इन्द्रियाँ विषयाभिमुखी बन गयी हैं। वास्तव में उनमें है कुछ नहीं। वास्तविक सुख न होने पर भी जीव इनमें सुख माने बैठा है यही आपकी माया है। इस माया ने ही एक में अनेकता का भ्रम बना दिया है, इस संसार चक्र को खड़ा कर दिया है, मिथ्या प्रपंच को प्रश्रय प्रदान कर रखा है। इस इन्द्रिय और विषय रूपिणी माया से दृढ़ रूप में प्रतीत होनेवाले देहादि रूप अनेकता का संपर्क देखता है। संसार में एक आपही आप हैं। समस्त ऐश्वर्य समस्त विभूति आपकी ही तो है। आपके अतिरिक्त यथार्थ सत् पदार्थ

और है ही क्या ? किन्तु यह माया मोहित जीव आप में ही नानात्व का आरोप करता है। जब वह एकत्व अनेकत्व देखता है, तो भय को प्राप्त होता है, दूसरे से तो भय होता ही है। जब तक मिथ्या प्रतीति है, द्वैधी भाव है तब तक संसारचक्र की निवृत्ति नहीं हो सकती। मिथ्या होने पर भी कर्मों का भोग भोगना ही पड़ेगाकर्म चक्र में फँसना ही पड़ेगा। वास्तव में यह सब प्रपंच मिथ्या है फिर भी कर्म फल भोग का आश्रय होने के कारण जीव को ऊँची नीची नाना योनियों में जाना पड़ता है और भाँति भाँति के कष्टों को भोगना पड़ता है।

हे देव ! यह आपकी कैसी बलवती माया है, इस जीवने कैसी मोहमयी मदिरा पीली है, अकारण कैसा मिथ्याभिमान होगया है। कुछ भी न होने पर यह कैसा प्रमाद छा गया है। कौन नहीं जानता ये भोग क्षणभंगुर हैं। यह बात किससे छिपी है, कि एक दिन हमें मरना पड़ेगा, ये संसारी सम्पूर्ण पदार्थ यहीं पड़े के पड़े रह जायँगे, किन्तु इनमें कैसी ममता समा गयी है, कैसा अपनापन होगया है, कि जीव अपने स्वरूप को भूल गया है। आठ पहर चौंसठ घड़ी इसे यही चिन्ता बनी रहती है, कैसे अधिक से अधिक विषय भोगों को बटोर सकूँ। कैसे सम्पूर्ण धनको अपना बना सकूँ, कैसे अपने ही व्यापार को बड़ा बना सकूँ। इन्हीं चिन्ताओं में दिनभर विकलेन्द्रिय बना रहता है। अब के वहाँ से संवाद की प्रतीक्षा है। आज यह लेना है, उसे प्राप्त करना है, वहाँ से इतना मिलना है, इन बातों में इतना तन्मय हो जाता है, कि यह भान भी नहीं रहता कब सूर्य उदय हुआ, कब अस्त हुआ। दिनभर श्रम करते करते क्लान्त हो जाता है। आँखोंमें निद्रा छा जाती है। विवश होकर शैया का सहारा लेता है, दिनमें सचेत होकर व्यस्त बना रहता है रात्रिमें निद्रा के वशीभूत होकर अचेत हो जाता है, किन्तु मनमें तो दिनभर के कामों के संकल्प विकल्प

भरे रहते हैं। स्वप्नमें भी वे ही बातें देखता है। स्वप्नमें भी वस्तुओं के पाने और जाने का हर्ष शोक होता है जिससे क्षण क्षण में निद्रा भंग हो जाती है। इससे सुखकी नींदभी नहीं सो सकता। कभी कभी व्यापार में घाटा हो जाता है, पकड़ता है सोना हो जाती है मिट्टी। सोचता है कुछ होजाता है कुछ। जो कार्य करता है उसीमें घाटा होजाता है। भाग्य साथ नहीं देता, दैवका कोप समझकर मन ही मन दुखी बना रहता है, उसे भगवत् चर्चा सुहाती ही नहीं। ऐसे लोग आपके कथाकीर्तन से विमुख हो जाते हैं।

प्रभो! जो लोग आपके कथा कीर्तनसे विमुख हैं उनके जन्म चाहे उच्चसे ऊच्च राजवंश विप्रवंश अथवा ऋषिवंश में ही क्यों न हुआ हो उनका संसार चक्र छूटता नहीं। आपके कथा कीर्तन से प्रेम न करने वाले मुनिजन भी-ऋषिपुत्र भी-पुनः पुनः जन्म लेते हैं और पुनः पुनः मरते हैं संसार चक्रमें चक्कर लगाते रहते हैं।

स्वामिन्! आप अचिन्त्य महिमा वाले हैं। वैसे कोई आप को कैसे जान पहिचान सकता है। आपका मार्ग केवल गुण-श्रवण से ही जाना जा सकता है। आपका बोध केवल कथा श्रवण से ही हो सकता है। सत्संग से ही आपकी उपलब्धि संभव है। आपको खोजने बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। मैं कितने दिनों तक बाहर भटकता रहा। जलमें घुसकर आप का पता लगाना चाहा, आप नहीं मिले। जब आपने स्वयं कृपा की मुझे अपनी अहैतुकी भक्तिप्रदान की तो आपने मेरे अन्तःकरणमें ही घर बैठे ही दर्शन देदिये। इससे मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि आप अपने भक्तोंके भक्तिभावपूर्ण हृदयकमलमें निवास करते हैं। आपके ठहरनेका घर भक्त का अन्तःकरण ही है। हे

अनन्त ! आपका न कोई एकनाम है न एकरूप । आप अरूपी होते हुए भी अनेक रूप हैं। अनामी होने पर भी सर्वनाम हैं। आपके भक्त आपकी जिस भावना से चिन्तना करते हैं आप उनकी उसी भावनाकी पूर्ति कर देते हैं। रामकृष्णादि अवतारों की जो गुरूपदिष्ट मार्ग से उपासना करते हैं उन्हें आप उन्हीं रूपों में दर्शन देते हैं। जो स्वतः ही बिना किसी के उपदेशसे आत्म प्रेरणासे जिस किसी रूप का ध्यान करते हैं आप उसकी सच्ची भावना को समझकर उसी रूपसे उसके सम्मुख आजाते हैं। जो देवी रूपसे आपका चिन्तन करते हैं आप देवी बन जाते हैं। गुरु रूपसे उपासना करते हैं गुरु बन जाते हैं। स्त्री रूप में तुम्हें भजते हैं स्त्री होकर आजाते हैं सारांश यह है कि आप भक्तोंकी भावना से आबद्ध हैं। आप अनुग्रहावतार हैं, साधु जनोंपर अनुग्रह करने के कारण उनकी भावनाके अनुरूप रूप रखकर उनको दर्शन देते हैं। आप बहुरूपिया हैं, अनेक रूपधारी हैं, विविध वेष बनाने वाले हैं।

हे अद्वय ! हे अन्तर्यामिन् वास्तवमें तो आप एक हैं,अद्वय हैं, नामरूपोंके भेद से रहित हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरणों में स्थित रहते हैं, कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जहाँ आप न हों। आपके बिना किसीका अस्तित्व ही नहीं। आप सभी के हितकारी हैं सभी के कल्याणकर्ता हैं, सभी के सुहृद् हैं, जगत् के बन्धु हैं, विश्वकी आत्मा हैं, इसीलिये विश्वनाथ विश्वम्भर कहाते हैं आपही अन्तरात्मा हैं जो सबमें आपको देखता है, सबको आपका ही रूप समझकर प्राणि मात्र पर दया करता है, उस दयावान् व्यक्तिपर

आप अत्यंत ही प्रसन्न होते हैं। आप को पाने का एकमात्र उपाय है प्राणी मात्रके प्रति दया भाव प्रदर्शित करना। हृदयसे सभीका कल्याण चाहना। जिसके हृदयमें अनन्त संसारी कामनायें भरी हैं, जो विषय भोगोंके लिये ही व्याकुल बने रहते हैं, वे चाहें देवता ही क्यों न हों और आपकी अनेक बहुमूल्य सामग्रियों से ही पूजा क्यों न करते हों, उनपर उतने प्रसन्न नहीं होते जितने सर्व भूतों पर दया करने वालों पर प्रसन्न होते हैं। सामग्रियों से भला कौन आपको सन्तुष्ट कर सकता है। जो लक्ष्मीपति हैं कमला-कान्त हैं श्रीनाथ हैं उसे कोई कौनसी वस्तु देकर प्रसन्न कर सकता है। जो सभी में आपका ही रूपदेखते हैं सभीको भगवत्मय समझकर मनसे ही प्रणाम करते हैं, उन्हीं पर आप परम प्रसन्न होते हैं। सो हे परमेश्वर! सत्पुरुष ही सब पर दयाके भाव दर्शा सकते हैं। असत पुरुषतो द्वैधीभाव करके प्राणियों में द्वेष भाव रखने लगते हैं। अतः हे सर्वेश्वर! हमें अनेकत्वमें एकत्व देखने की दृष्टि दीजिये। सभी में तुम्हारा ही रूप देखकर सबको प्रणाम करें सबके प्रति प्रेम प्रदर्शित करें।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो। इस प्रकार ब्रह्माजी का दूसरा मुख स्तुति करके जब चुप हो गया, तो उनके तीसरे मुखने स्तुति आरंभ की। उस कथा प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

दिन महँ बहु व्यापार विकल मन प्रतिछिन होवै।
श्रमित निशामहँ नींद नहीं सुख की हू सोवै॥
कथा कीरतन बिना तरें नहिं ऋषिमुनि देवा।
प्रकट भक्तहिय होहु करै जो सबकी सेवा॥
भक्ति भाव अनुरूप प्रभु, देउ दरस दासनि नितहिं।
जीव दया तें तुष्ट तुम, होहु भेंट बहु पाइ नहिं॥

पद

दयानिधि ! सबई जीव दुखारे ।
त्रिविध ताप संताप सतावैं भटकत फिरैं विचारे ॥१॥
सुनी कथा न बैठि भगवतनि महँ नहिं तव नाम उचारे ।
तन धन दारा मैं मेरी में पचि पचि पामर हारे ॥२॥
दोष त्रिविधि सरदी गरमी भय, काम क्रोध उर जारे ।
तनिक विषय हित भरमत डोलत भूख प्यास के मारे ॥३॥
इन्द्रिय विषय भोग महँ भूले, माया के मतवारे ।
मिथ्या भ्रम प्रभु छुटै न तब तक गहें न चरन तिहारे ॥४॥

॥ श्री हरिः ॥

श्रीब्रह्मचारीजी की कुछ अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँ से मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में; ६३ खंड छप चुके हैं) प्रति खंडका मूल्य १।), दस आना डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मूल्य ५।)

३—बदरीनाथदर्शन—बदरीनाथजी पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ, मूल्य ४)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३५० मूल्य २॥।)

५—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मूल्य २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्ध में उठने वाली तर्कों का युक्तिपूर्ण विवेचन। मूल्य ॥)

७—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मूल्य ॥)

८—भागवती कथा की बानगी—(आरंभके तथा अन्य खंडों के कुछ पृष्ठों की बानगी) पृष्ठ संख्या १००, मूल्य ।)

९—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मूल्य ।-)

१०—मेरे महामना मालवीय जी और उनका अन्तिम संदेश—मालवीयजीके जीवनके सुखद संस्मरण। पृष्ठ ११० ; मूल्य ।)

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दू हिन्दू बन सकते हैं ? इसका शास्त्रीय विवेचन। पृष्ठ सं० ७६ मूल्य ।-) पाँच आना

१२—प्रयाग माहात्म्य—मूल्य -) एक आना।

१३—वृन्दावन माहात्म्य—मूल्य -)

१४—राघवेन्दु चरित—(भागवतचरितसेही पृथक छापागया है मूल्य ।-)

१५—प्रभुपूजा पद्धति—मूल्य =)

१६—श्रीवैष्णव चरितावली—प्रथम खंड १)

१७—भागवत चरित की बानगी—भागवत चरित के कुछ अध्यायों का नमूना—मू०-।)

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूंसी) प्रयाग।

भागवत दर्शन

खण्ड ६४

भागवती स्तुतियाँ (२)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन श्रीभागवतार्थं सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन-भवन,
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

द्वितीय संस्करण] फाल्गुन कृ० ।५० २०२० [मूल्य १.२५ न०प०

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, झूसी प्रयाग

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठांक
	निवेदन	३
	मेरी राम कुठरिया (भूमिका)	५
२१—	ब्रह्माजी द्वारा भगवत् स्तुति (३)	२७
२२—	ब्रह्माजी द्वारा भगवत् स्तुति (४)	३७
२३—	ऋषियों द्वारा वाराह-भगवान् की स्तुति	४८
२४—	माँ देवहूति द्वारा कपिल भगवान् की स्तुति	६०
२५—	देवों द्वारा देवाधिदेव महादेवजी की स्तुति	७१
२६—	ध्रुवजी द्वारा भगवान् की स्तुति (१)	८४
२७—	ध्रुवजी द्वारा भगवान् की स्तुति (२)	९२
२८—	धरा द्वारा पृथु-प्रभुकी स्तुति	१०३
२९—	महाराज पृथु द्वारा विष्णु भगवान् की स्तुति	१११
३०—	प्रचेताओं द्वारा विष्णु भगवान् की स्तुति (१)	१२५
३१—	प्रचेताओं द्वारा विष्णु भगवान् की स्तुति (२)	१३३
३२—	भगवान् शंकरकृत-संकर्षण स्तुति	१४३
३३—	भद्रश्रवाकृत हयग्रीव स्तुति	१५५
३४—	प्रह्लादजी कृत नृसिंह स्तुति	१६३
३५—	श्री लक्ष्मीजी कृतभगवान् कामदेव की स्तुति	१७५
३६—	श्री मनुकृतमत्स्य भगवान की स्तुति	१८६
३७—	अर्यमाकृत कूर्म भगवान् की स्तुति	१९३
३८—	पृथिवीकृत वाराह भगवान् की स्तुति	१९८
३९—	श्री हनुमान जी द्वारा श्री राम भगवान् की स्तुति	२०५
४०—	नारदजीकृत नरनारायण स्तुति	२१५
४१—	दक्षप्रजापति कृत भगवान का हंस गुह्य स्तोत्र (१)	२२४
४२—	,, ,, ,, ,, ,, हंस गुह्य स्तोत्र (२)	२३०

निवेदन

श्रीभागवत दर्शन में जो भागवती स्तुतियों के खण्ड हैं, उन का आरम्भ ६३ वें खण्ड से होता है, हमने अन्य खण्डों की ही भाँति इनके भी अध्याय रखे थे। हमारे कुछ प्रेमी पाठकों ने सुझाव दिया कि स्तुतियों के साथ यदि श्रीमद्भागवत की मूल स्तुतियाँ भी देदी जायँ तो जो संस्कृत जानते हैं, उन्हें विशेष आनन्द होगा। जो संस्कृत नहीं समझ सकते, वे भी नित्य पाठ करने से उनका भाव समझ सकेंगे और उन्हें भी समझने में सुविधा रहेगी।

यह सुझाव हमको भी रुचिकर प्रतीत हुआ। श्रीमद्भागवत के श्लोक वेद मन्त्रों के तुल्य हैं, उनकी स्तुतियाँ तो अत्यन्त ही दिव्य हैं, उनमें समस्त वेदार्थ भरा पड़ा है। सभी उपनिषदों का सार है किसी किसी में तो कई-कई मन्त्रों का सार सिद्धान्त निहित है। हमने केवल अपनी भाषा में उनका भावार्थ ही दिया है, उन का विशेष विस्तार नहीं किया गया है।

यद्यपि सभी स्तुतियों में प्रायः एक सी ही बातें हैं। फिर भी कुछ न कुछ विशेषता सब में है। कुछ लोग कहते हैं एक ही बात को आप बार-बार क्यों लिखते हैं? बात तो एक ही है, सम्पूर्ण वेदों में पुराण तथा उपनिषदों में वही एक बात ही उसी को अनेक रूपों में कहा गया है। एक ही मंत्र का बार-बार जाप करते हैं, एक ही पुस्तक का बार-बार पाठ करते है किसी के शरीर में पीड़ा है वह बार-बार आह आह करता है आप कहें एक बार आह कह दो बार-बार कहने से क्या लाभ? जब तक उसकी पीड़ा शान्त न होगी तब तक वह एक ही शब्द को कहता रहेगा।

इसी प्रकार जब तक भगवत् चरणों में अनन्य प्रेम न हो इन एक ही भाव की स्तुतियों को बारम्बार पढ़ते रहना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं, एक ही बात को बार-बार कहना पिसे को पीसना है, कोई नई बात कहो। यह तो उसी प्रकार है जैसे आप कहें कि आप अपनी सभी पुस्तकों में इर फिरकर वे ही अआ इई इन ५२ स्वर व्यञ्जनोंका प्रयोग करते हैं, प्रत्येक पुस्तकमें नये शब्द लाओ। नये शब्द लावें कहाँ से वे ही १६ स्वर ३६ व्यंजन हैं जो भी लिखो इन्हीं में लिखा जायगा। इसी प्रकार भगवान् की कोई भी स्तुति करे यही कहेगा आप सर्वज्ञ हैं, सर्वात्मा हैं, जगदाधार हैं, जगत् नियन्ता हैं, आप जगत् की स्थितिलय तथा जन्म के कारण भी हैं और इससे पृथक् भी हैं। यह भगवान् में प्रेम उत्पन्न करने का उपाय है। पाठक पाठिकायें इन स्तुतियों को श्रद्धाभक्ति सहित पढ़ें और जो कर सकें इन्हें कण्ठस्थ भी करें। यही मेरी सबसे प्रार्थना है। यह सम्पूर्ण स्तुतियों के समाप्त होने पर फिर कोई सरस प्रसङ्ग होगा। उसकी प्रतीक्षा पाठक पाठिकायें अभी से करें।

प्रभुदत्त

मेरी रामकुठरियाँ

(भूमिका)

तस्मात्त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद्वरदर्पभात् ।
एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत् प्रयोजनम् ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० १९ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

है जीवन द्वै दिवस करै मूरख ज्यौं ममता ।
फूल्यौ फूल्यौ फिरै सोचि कै दिन की प्रभुता ॥
सङ्ग देह नहिँ जाय कुटी घर कैसे जावै ।
जश अपजश रह जाय काम वे ही हरि आवैं ॥
कुटी लँगोटी, भसमतनु, काम एक नहिँ आयँगे ।
भाग्यभोग सुख दुख समुझि, भजि प्रभु पार लगायँगे ॥

पुराणों की एक कथा है, एक बार इन्द्र के मन में आयी कि

---

* अपनी कुटिया के लिये ३ पग पृथिवी माँगते हुए वामन भगवान् राजा बलि से कह रहे हैं—"राजन्! मुझे अधिक नहीं केवल तीन ही डग भूमि चाहिये इसीलिये तीन ही पैर माँगना चाहता हूँ। इतने से ही मेरा निर्वाह हो जायगा, जितना प्रयोजन हो उतना ही वित्त संग्रह करना चाहिये अधिक नहीं।"

इन्द्र के लिये इतना ज्ञान पर्याप्त था, अब वहाँ न ऋषि थे न वटु। इन्द्र को ज्ञान हो गया, विश्वकर्मा को भवन निर्माण से अवकाश मिल गया।

मनुष्य को एक भ्रम हो गया है, और वह भ्रम ऐसा सुदृढ़ हो गया है, कि अनेक यत्न करने पर भी छूटता नहीं। ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, पंडित हो, मूर्ख हो. त्यागी हो, रागी हो, विरागी हो। सबको यह भ्रम है कि मेरा यह काम हो जाय, अमुक वस्तु मिल जाय, मेरी ऐसी परिस्थित हो जाय तो मैं सुखी हो जाऊँ। देखिये यह विषय ऐसे समझ में न आवेगा। अपने निज के जीवन से ही अनुभव कीजिये। पहिले एक छोटी सी इच्छा उठती है, उसकी पूर्ति का मनुष्य प्रयत्न करता है, उसके लिये श्रम करता है, रात दिन सोचता है. उसमें राग होता है सोचता है मेरी यह इच्छा पूर्ण हो जाय तो मैं सुखी हो जाऊँगा। वह इच्छा पूरी हुई, फिर उससे बड़ी एक और इच्छा होती है. फिर उससे भी बड़ी. फिर उससे भी बड़ी। यह इच्छा डाइन इतनी लम्बी चौड़ी है. कि इसका कहीं अन्त नहीं।

छोटा सा बच्चा है. खिलौना देखते ही उसकी इच्छा उसे लेने की हुई। उसके लिये रोता है, चिल्लाता है, माता पिता से रूठता है मचलता है। वह खिलौना मिल जाता है, क्षण भर सुख होता है, फिर दूसरा चाहता है। खिलौने के पश्चात् उसे पैसे का महत्व प्रतीत होता है। एक पैसा पा जाता है, तो उसे इतनी प्रसन्नता होती है मानों भूमन्डल का राज्य प्राप्त हुआ। फिर रुपये को बड़ा समझता है. रुपया की इच्छा करता है. फिर मुहर की इच्छा करता है। बड़ा होने पर वस्त्र. पुस्तक,. चित्र चाहता है। फिर वहू की इच्छा करता है. फिर पुत्र की फिर पौत्र की। इस डाइन इच्छा का उसे कहीं अन्त नहीं मिलता।

अपने इस छोटे से जीवन में ही मैंने कितने उलट फेर देखा है, फिर भी इच्छा पूर्ति नहीं होती यह भ्रम जानता नहीं कि संसारी वस्तुओं के रहने न रहने से सुख दुःख का सम्बन्ध नहीं। यह तो ऐसी रबड़ की थैली है, कि इसमें जितनी ही फूँक मारते रहो उतनी ही बढ़ती जायगी। एक आदमी है छोटी-छोटी पुस्तकें घूम-घूम कर बेचता है, सोचता है, एक छोटी सी दुकान हो जाय तो मैं सुखी हो जाऊँ, छोटी दुकान हो जाती है, तो उतने से निर्वाह नहीं होता, कुछ बड़ी हो, स्वयं पुस्तकें छपवावें, अपना प्रेस हो जाय। वह भी हो गया। पुस्तकें लाखों बिकें तो वे भी बिकने लगीं किन्तु इच्छा पूर्ति नहीं हुई दुःख बढ़ता ही गया, अशान्ति अधिकाधिक उग्र रूप रखती सी दिखाई देने लगी अब उनसे कहो तो कहते हैं क्या करें महाराज! इतने झँझट बढ़ गये हैं, कि मरने का भी अवकाश नहीं।

एक आदमी पर ४ बीघा खेत है, वह सोचता है १० बीघा हो जाय तो भली भाँति निर्वाह हो जाय। १० बीघा हो गया उस में भी कमी आ गयी, एक बहुत बड़े भूमिपति ने उसे गोद ले लिया। एक बड़े विस्तृत भूखंड का स्वामी हो गया, किन्तु इच्छा उससे भी अधिक बढ़ गई कितनी भूमि पड़ी है, किन्तु भूमि तृष्णा इतनी अधिक हो गयी कि उसका पेट नहीं भरा वह ज्यों की त्यों भूखी की भूखी ही बनी है।

एक वैद्य है, चूरनचटनी बेचता है, सोचता है कहीं कोई वैतनिक कार्य मिल जाय तो नित्य की चिंता छूट जाय, निश्चित द्रव्य प्रति मास मिल जाय, ऐसा भी हो गया, उसमें भी असंतोष। क्या पचास रुपये से होता है, अपना निजी चिकित्सालय हो, वह भी हो गया अब रोना हुआ रोगी नहीं आते। लाओ औषधि बिक्री बढ़ाते जाओ बढ़ाते जाओ। इस बढ़ोत्तरी का अन्त नहीं, अब—

काश नहीं जिस सुख शान्ति के लिये इतना झंझट बढ़ाया वह कोसों दूर भग गयी-किन्तु फिर भी तृष्णा छूटती नहीं।

एक लड़का है। अनाथ, दरिद्र, धन हीन, सोचता है कहीं दसबीस रुपये मिल जाय तो कोई छोटा मोटा व्यापार कर लूँ सुखी हो जाऊँ। अधिक धन की तृष्णा नहीं। अच्छी प्रकार निर्वाह हो जाय। निर्वाह तो सभी का होता है। किन्तु अच्छी प्रकार निर्वाह तो इन्द्र का भी नहीं होता। उसे भी चिन्ता लगी रहती है दूसरों को तप करते देखते ही उसका समस्त सुख तुरन्त दुःख के रूप में ही परिणित हो जाता है। आमोद प्रमोद का स्थान चिन्ता और ईर्ष्या ले लेती है। अच्छी तरह निर्वाह संसार में किसीका भी नहीं होता कुछ न कुछ कमी सभी को तो बनी रहती है। हाँ, तो उस लड़के का भाग्य जगा, एक बहुत बड़े व्यापारी से सम्बन्ध हो गया। बहू मिली साथ ही अपार धन भी। यथेष्ट धन, अपार ऐश्वर्य अधिकाधिक सम्मान पाकर भी उस दिन कह रहा था आप लोग समझते होंगे हम स्वच्छ शुभ्र वस्त्र पहिने मोटरों में घूमते रहते हैं। बड़े सुखी होंगे। किन्तु हमारे मन की दशा हमीं जानते हैं। ये मोटरें अग्नि के पुञ्ज हैं इनकी लपटें हमें जलाती रहती हैं। हम भीतर बाहर जलते रहते हैं।

किस किस की गिनाऊँ सभी एक ही तराजू के बट्टे बट्टे हैं सभी की एक सी दशा है। सभी दुखी हैं। सभी अशान्त हैं। सभी को कमी है सभी तड़प रहे हैं सभी आशा पर जी रहे हैं कि अब के लाभ हो जाय अबके यह काम बन जाय तो हम सुखी हो जायँ. किन्तु ऐसा होता नहीं कोई सोचता है मैं संसद का या विधान सभा का सदस्य बन जाऊँगा तो सुखी होऊँगा। बड़ा ठाठ बाट रहेगा प्रभाव बढ़ेगा। किन्तु समस्त संसद या विधान सभाओं के सदस्यों से पृथक् जाकर पूछिये सभी एक

सा बेसुरा राग अलापेंगे, सभी अपने अभावों के गीत गावेंगे, सभी अपनी विपत्ति की गाथा सुनावेंगे, सभी अपने को परम दुखी बतावेंगे।

मानव एक सी स्थिति में भी सुखी नहीं रहता। कभी सोचता है। ऐसा करें तब सुखी होंगे, किन्तु वैसा होने पर भी वह दुखी बना रहता है। सुख दुख बाहरी वस्तुओं या परिस्थितियों में थोड़े ही है वह तो अपने भीतर है। तिल का पहाड़ दीखता है। छोटी सी बात है। सब जानते हुए भी अज्ञानी बना है यही भगवान् की वैष्णवी माया है। आज कल के पश्चिमी चिकित्सक कहते हैं घोड़े की लीद में एक कीटाणु होता है। धूलि में भी होता है वह घुस जाता है तो श्लेष्मा होता है। ज्वर आ जाता है सभी रोगों के कीटाणु वे पकड़ते हैं। विपरीत भावना से मैं समझता हूँ उनके मस्तिष्क में ही कीड़े पड़ गये हैं। अरे बाबा! रोग के कीटाणु बाहर से नहीं आते वे तो भीतर ही वात पित्त कफ के द्वारा होते हैं। ज्वर बाहर से नहीं आता। लोग झूठे ही कहते हैं ज्वर आ गया। कहना चाहिये ज्वर हो गया। इसी प्रकार सुख दुख बाह्य वस्तुओं पर अवलम्बित नहीं हैं। मन के हारे हार है, मनके जीते जीत। एक आदमी है। जाड़े के दिनों में घोर जङ्गल में उसके वस्त्र उतार कर नङ्गा कर दो। वह अपने को सबसे अधिक दुखी समझेगा दूसरा एक दिगंबर साधु है। वस्त्र तो उसके भी उतरे हैं, नंगा तो वह भी है किन्तु वह वैराग्य के झोंक में नग्नता के ही कारण अपने को सुखी अनुभव करता है। एक आदमी है उसे एक समय भोजन दो बिना भोजन के उसे सम्पूर्ण संसार सूना-सूना सा प्रतीत होगा। अपने को सबसे अधिक दुखी अनुभव करेगा। दूसरा है उसने १० दिन का निराहार व्रत किया है वह अन्न न खाने से अपने

में एक सुख का संतोष का अनुभव करेगा। यदि दुख सुख का कारण अन्न वस्त्र ही होते तो या तो दोनों ही सुखी होते या दोनों ही दुखी किन्तु एक सुखी एक दुखी इससे सिद्ध होता है मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः। मन ही सुख दुख का कारण है। फिर भी मनुष्य बाहरी परिस्थितियों में सुख दुख खोजता है यह तो भगवान् की बलवती माया का चक्कर है।

यह रागी विरागी गृहस्थ विरक्त सभी को होता है। काशी में जिन दिनों मुझे यही धुन सवार थी गंगा किनारे दिगंबर बनकर पक्षियों की भाँति स्वेच्छा से विचरण करेंगे, किसी की ओर देखेंगे नहीं किसी से बोलेंगे नहीं किसी वस्तु का संग्रह न करेंगे, परम सुखी तभी होंगे। बात तो सत्य थी किन्तु जब मन भी निर्वासना हो उसमें संग्रह की इच्छा न हो तब बाहरी त्याग भी शोभा देता है। भीतर तो भँगार भरी है ऊपर से त्याग कर दिया तो बात बनती नहीं त्याग अकेला वैराग्य के बिना निकलता नहीं।

जो लोग बीसों वर्ष से घूम रहे हैं बिना कुछ संग्रह किये। वे कहते हैं—"अजी घूमने फिरने में कुछ नहीं है न साधन होता है न भजन न नियमित जीवन। हम तो घूम फिर कर देख चुके। अब तो हमारी इच्छा कहीं एक स्थान पर बैठकर भजन करने की है। जिन दिनों मैं गंगा किनारे घूमता था। एक बहुत ही विरक्त सन्त मिले तितिक्षा और त्याग की लम्बी कहानी है वे मुझे गंगा तट पर एक झाड़ी में बैठे मिले। बड़ी कठिनता से मैं उन्हें कुटिया में लाया। २५। ३० वर्ष पश्चात् अभी थोड़े दिन हुए फिर मिले। त्रिवेणी पर ही दर्शन हो गये। तीर्थराज में सभी कभी न कभी आ ही जाते हैं। अब वे बड़े शिथिल हो गये थे। वृद्धावस्था ने इतनी त्यागी तितिक्षु सन्त को भी नहीं छोड़ा।

शरीर भी रोगी हो गया था। कुछ दिन निवास किया। कहने लगे—"अब तो मैं चाहता हूँ, कहीं एक स्थान पर ही रहूँ। अब घूमने फिरने में बड़ी असुविधायें होती हैं। पहिले जैसे लोगों के भाव भी नहीं रहे भिक्षा देने की जैसे पहिले प्रथा थी वह अब लुप्तप्राय हो गयी है। अब सभी बातें विपरीत सी हो गयी हैं। मैंने कहा—आप यहीं निवास करें। वे बोले—"अब तो भाई तुम महन्त बन गये हो वे पुरानी बातें कहाँ रहीं। एक दूसरे सन्त हैं पहिले वे भी विरक्त रहे होंगे पीछे एक बड़ी गद्दी के अधिकारी हुए सहस्रों शिष्य बनाये लखपती करोड़पति शिष्य हुए यज्ञ उत्सव अनुष्ठान आदि कराये अब वे अपने सब शिष्यों से मिलकर अपना अधिकार बनाकर टाट पहिन कर एकान्त में उत्तरा खण्ड में वास करने की सोच रहे थे। गये या नहीं। पता चला नहीं।"

इससे निष्कर्ष यही निकला, कि जैसे बाहरी वस्तुओं का संग्रह दुखदायी है, वैसे बाह्य त्याग वैराग्य भी दुख और अशान्ति का हेतु है। बिना भीतर के विवेक वैराग्य के बाहरी सभी बातें व्यर्थ हैं। जैसे हम भोजन में नित्य परिवर्तन चाहते हैं, आज दाल मूँगकी बनी है, तो कल अरहर की बने, आज साग परवर आलूका बना है, तो कल किसी अन्य वस्तु का बने। बड़े-बड़े लोगों को चना चबाते और चना, मटर मकई बाजरे की रोटी खाते देखा है। स्वाद बदलने के लिये रुचि परिवतन के लिये वे सभी खाते हैं, उनका भी मन चलता है, आज इसका भी स्वाद लेलें।

मैं जिस मकान में रहता हूँ, उसे छोटी सी कुटी भी नहीं कह सकते न कोई बड़ी भारी कोठी ही। कुटिया और कोठी के बीच की कोठरिया कह सकते हैं। यहाँ

इस स्थान में रहते लगभग एक युग हो गया होगा १० वर्ष तो भागवती कथा को ही प्रकाशित हुए हो गये, एक दो वर्ष पूर्व यहाँ डेरा जमाया था तबसे अब तक बड़े परिवर्तन हो गये। संसार परिवर्तनशील है। क्षण क्षणमें परिवर्तन होता रहता है सब धातुयें क्षण भर में बदल जाती हैं. जैसे गंगाजी का जल क्षण क्षण भर में नवीन होता रहता है। प्रवाह मे बहता रहता है उसके स्थान पर नया आता रहता है। बाल्यावस्था में वाणी कितनी मधुर कोमल सुहावनी होती है। अंग कितने कोमल होते हैं, प्रौढ़ावस्थामें वे नहीं रहते. किशोरावस्था में दूसरा ही रंग आजाता है, युवावस्थामें तो बाल्यकालका सर्वथा पट परिवर्तित हो जाता है, युवावस्था के पश्चात् शिथिलता आने लगती है, अधेड़ से हो जाते हैं, फिर वृद्धावस्था पदार्पण करती है, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लगती हैं, धातुएँ कुपित हो जाती हैं। अति वृद्धावस्था में तो पूरा डोकरा हो जाता है, कमर लचक जाती है. पैर डगमगाने लगते हैं, बिना लाठी के सहारेके उठ बैठ नहीं सकते। उस डोकरेका यदि कोई बाल्यकाल या युवावस्थाका चिन्ह हो उससे इस पोपले मुँहवाले बूढ़े की सूरत मिलाइये, आकाश पाताल का अन्तर हो जायगा। कोई भी अंग एक समान न मिलेगा। दूर कहाँ जाते हो मेरे ही इन ३५ वर्ष के चित्रोंसे अबके चित्रों को मिलाइये कोई कह सकेगा कि ये वेही प्रभुदत्तजी है। पहिले ही पहिले जब मैंने श्री अरविन्द घोषका वह स्थूल शरीर और सफेद लम्बी दाढ़ी वाला वृद्धावस्था का चित्र देखा तो मैं पहिचान ही न सका। हम तो सदा से दुबले पतले काली छोटी दाढ़ी वाले चित्र से ही उन्हें पहिचानते थे। वैसे परिवर्तन तो नित्य ही क्षण क्षणमें होता है किन्तु पता कुछ दिन के पश्चात् लगता है, जो नित्य समीप रहते हैं उन्हें पता

भी नहीं चलता और अपने को तो ऐसा लगता है मानों हममें कुछ परिवर्तन हुआ ही नहीं। दुबला आदमी शनैः शनैः मोटा होता है, उसे लगता ही नहीं मैं मोटा हो गया हूँ। दूसरों को बहुत दिन में देखते हैं, तब कहते हैं अरे, तुममें तो बड़ा परिवर्तन हो गया, किन्तु अपने परिवर्तन को अनुभव नहीं करते कि हम क्या थे और क्या हो गये। इसी का नाम अहन्ता है। अहं बदलता नहीं। अहं ही ब्रह्म है, ब्रह्म अपरिवर्तनशील एक रस है।

जब यहाँ रहना आरम्भ किया था, तो मन बहलाने को कुछ पौधे, कुछ फूलकी बेलें लगालो थीं। वृक्षोंसे मुझे स्वाभाविक प्रेम है। लिखते-लिखते जब चित्त ऊबने लगता है तो तनिक बगीचेमें जाकर टहलने लगता हूँ, खिले हुए पुष्पों को देखता हूँ, लटकते हुए फलों को देखता हूँ, चित्त प्रसन्न हो जाता है, खुली वायु लगने से स्फूर्ति आती है, फिर आकर लिखने लगता हूँ। कभी वृक्षोंके पौधों को इधरसे उधर उठाकर रख देता हूँ, किसी को सम्हाल देता हूँ, कैसी भगवान की अनोखी सृष्टि है कैसा खेल है, छोटे से बीजसे कैसे ऐसा वृक्ष बन जाता है, वृक्षोंमें फल कहाँसे लग जाते हैं तुरन्त फूल कैसे निकल आते हैं, उनमें इतनी मीठी सुगन्ध कौन भर देता है, इतने मनमोहक रंगों को कौन चतुर चितेरा निश्चिंतता से बैठकर चित्रित करता रहता है। कुछ समझमें आता नहीं इसी रहस्य को समझने की चेष्टा करता हूँ, किन्तु समझ नहीं पाता।

जब आया था, तब ये फल फूलके पेड़ नहीं थे। पेड़ नहीं थे तो पत्तेतो होते ही कहाँ, फल फूलोंकी तो फिर चर्चा ही व्यर्थ है, पुराण मण्डप के समीप दोचार अस्त व्यस्त वृक्ष थे। सुना था पहिले यहाँ पपीतेके कुछ वृक्ष लगे थे। रात में सेह

(जिसके शरीर पर लम्बे-लम्बे काँटे होते हैं) आकर उनकी जड़ को खोदकर खाजाती थी कोई इसके आस पास पर कोटा नहीं था। वृक्षोंके लिये पर कोटा, सीमा, मर्यादा अवश्य चाहिये जिनके जीवनमें कोई मर्यादा नहीं शील सदाचार की सीमा नहीं, उनके जीवन के रसको, सदाचारको, बड़े बड़े तीक्ष्ण काँटेवाले जन्तु नष्टकर डालते हैं। एक पर कोटा बनाया गया, सुदृढ़ नहीं ऐसे ही काम चलाऊ। किन्तु क्षणिक मर्यादा से काम चलने का नहीं वह एक धक्के में गिर जता है, जीवन बिखर जाता है शील संकोच सदाचार बच नहीं सकता। मर्यादा प्राचीर सुदृढ़ चाहिये। वही हुआ बाढ़ आई, गंगाजीने कुटिया के तीनों ओर कृपाकी परकोटा गिर गया पूरीकी पूरी दीवाल गिर गयी। फिर वज्रलेप (सीमेन्ट) मँगाया गया सुदृढ़ प्राचीर बनी. वृक्ष लगे, बेलें बढ़ीं। पहिले सब लोग कहते थे—"अजी यह बड़ी कँकरीली पथरीली ऊबड़ खाबड़ भूमि है इसमें कहाँ फल फूलके वृक्ष होंगे। किन्तु आप अब आकर देख जाइये, छोटासा सघनसा कैसा सुन्दर बगीचा लग गया है, भूमि सुगन्धित पुष्पोंसे भरी रहती है, पथमें पुष्प बिछे रहते हैं। मैं अत्युक्ति नहीं कर रहा हूँ, लेखकों की भाँति गप्प नहीं मार रहा हूँ सचसच कहता हूँ, कुटी के द्वारसे कथा मण्डप से कुँए तक पूरे मार्ग के दोनों ओर यूथिका (जूही) मल्लिका (चमेली) माधवी के लताओंकी सघन कुंजे बनगयी हैं, लोहे के मुड़े हुए खम्भों के ऊपर चढ़कर उन्होंने मार्गको आच्छादित कर रखा है। आजकल जब उनमें से टप-टप करते पुष्प गिरते हैं तो मार्ग पुष्पों से भर जाता है। पारिजात भी फूलने लगे हैं और वृक्षके नीचे पुष्पका गद्दा सा बिछ जाता है। इतने पुष्पोंके वृक्ष हैं, कि मनों नहीं तो पंसेरियों पुष्प कोई चाहे तो निकाल सकता है, किन्तु इतने ऊँचे चढ़े कौन अपने

आप गिरा गिराकर पथमें प्रसरित हो जाते हैं। सब पुष्पों के तो मुझे नाम भी न याद होंगे पाटल (कमल) यूथिका (जूही) मल्लिका (चमेली) जाति (बेला) अगर, तगर माधवी रजनीगंधा (रातरानी) पारिजात (हारसिंगार) जया ये तो स्थाई हैं, शेष कितने ही सामयिक पुष्पोंके पौधे लगते हैं। फलोंके वृक्ष फलके बाहुल्य से लदे रहते हैं। बड़े-बड़े फलोंसे युक्त पंक्तिबद्ध पपीतोंके वृक्षोंको देखता हूँ, तो चित्त प्रसन्न हो जाता है, अमरूद फलोंके भारसे झुके हुए वायुमें झूमते हुए पृथिवी को चूमते हुए जब प्रयाग के प्रसिद्ध अमरूदोंके वृक्षों को अपने आस पास में देखता हूँ, तो मन मुकुर खिल जाता है, किन्तु फल मिलते नहीं। शुकों के झुंड के झुंड आजाते हैं, कुछ खाजाते हैं कुछ कुतर कुतरकर फेंक जाते हैं, गिलहरियाँ भी कहाँ खोजने जायँ। बन्दर तो यहाँ हैं नहीं कभी कभी एक दो आ जाते हैं, उन्हें भगा दिया जाता है, किन्तु दो पैर के ये बालक बन्दर तो बन्दरों के भी दादागुरु हैं, मैं त्रिवेणी स्नान करने जाता हूँ, तनिक भी कोई गदरा हुआ फल देखा, इधर-उधर दृष्टि बचाई तोड़ लिया भाग गये, किसी दूसरे लड़के ने देख लिया तो उसे भी कुछ देदिये। आश्रमके लड़कों के अतिरिक्त प्रयाग के लोग भी आ जाते हैं, टटके पेड़ पर लगे फलों से किसका मन नहीं मचल जाता।

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा च नव यौवनाम्।
विजने कांचनं दृष्ट्वा कस्य न चलते मनः॥

सुन्दर पुष्प लगे हों, मन मोहक फल लगे हों, एकान्त में सुवर्ण पड़ा हो, तो किसका मन न ललचा जायगा। सो फल न भी मिले सन्तोष तो है ही फलवान् वृक्ष कुटिया में लगे हैं। गत वर्ष

कोई मूल्य नहीं था, जो चाहता जङ्गलों से काट लाता। अब सबका मूल्य इतना बढ़ गया है, कि तीन चार वर्ष में फूस कुटिया में जितना व्यय लगे उतने में पक्की कुटिया बन जा है आग लगी कुटिया जल गयी, कुछ दीमकों का भोजन हो गय फूस के स्थान पर खपरैल आई अब शनैः-शनैः सब पक्की बन र हैं। हम सब गर्व से कहते हैं हमारी कुटियाँ हमारा कीर्तन भवन अब आप सोचें उसमें हमारा क्या है। यमुनाजी न जाने कहाँ मोटी बालू बहाकर लाती हैं। सगंम के पास उसे छोड़ जाती है मल्लाह नौकाओं में भर भर कर उसे आश्रम में ले आ हैं। फाफामऊ में नीची भूमि है, वहाँ ईंट बनाकर पका लेते है बड़ी मोटरों में भरकर यहाँ आ जाती हैं, बुध के पुत्र महाराज पुरूरवा की यह प्रतिष्ठानपुर राजधानी रही है। न जाने तब से कितने लाख राजा यहाँ हो गये होंगे। अंतिम किसी राजा का यहाँ बड़ा भारी खँड़हर किला पड़ा है, उसमें कोई राजा नहीं रहता। न जाने कबसे उसपर साधुओं का अधिकार है। कहते तो यह हैं कि कोई अबूझ राजा था उसके राज में सब वस्तु टका सेर बिकती थीं अंधेर नगरी अबूझ राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा। उसी से साधुओं पर यह किला आया। उसके आस पास न जाने कितनी पुरानी ईंटों के रोड़े पड़े हैं। उन रोड़ों से न जाने कितने मकान बन गये, किन्तु वे रोड़े चुकते नहीं वर्षात में नये नये निकल आते हैं। कुछ लोग उन्हें बीन-बीन कर नौकाओं में भरकर आश्रम में ले आते हैं। पहाड़ के पत्थरों को पीसकर पास ही कहीं वज्रलेप (सीमेन्ट) बनता है, रेल के डिब्बों में भरकर यहाँ आ जाता है। कुछ लोग श्रमिकों के लिए पैसे भेज देते हैं। सब ईंट पत्थर जोड़ जाड़कर एक भवन बन जाता है, उसमें बहुत खोजा मेरा नाम का कोई मसाला नहीं

जाता। न मिलाने पर भी उसमें ममता हो ही जाती है यही मायेश की माया है। यही सीतापति का खेल है।

मैंने कहा—"भाई पक्के मकानों में उतनी सात्विकता नहीं रहती। प्राचीन ऋषि मुनियों की सी एक कच्ची कुटी अपने श्रमदान से बनाओ। पीत वसनधारी वटु हँसते-हँसते इस काम में जुट गये मैंने कहा—इसमें ईंट एक भी न लगाओ केवल गङ्गाजी की रज से ही बनाई जाय। गङ्गाजी की चिकनी मिट्टी के सूखे ढेले लड़के भर भरकर लाये कुटिया को उत्तर ओर प्राचीर के अन्तर्गत दो नीम के सघन वृक्ष हैं उनके नीचे ही बनाने का निश्चय हुआ। पूर्व से पश्चिम तक बराबर तीन यूथिका के वितान हैं। चार चार खम्भे बनाकर उनपर यूथिका की सघन लतायें चढ़ाई गयी हैं जो नीम के नीचे वितान हैं उसे ही मुख्य द्वार मानकर उसी के बीच में बनी। पहिले बाँसों की टट्टर की एक कुटी बना ली उसके ऊपर से गङ्गाजी की मिट्टी ल्हेस दी। पहिले उस पर फूँस का छप्पर डाला था उसे महीने भर में ही दीमकों ने आहार बना लिया विवश होकर खपरैल डालनी पड़ी। छोटी सी सुन्दर सी मुनमुनी सी कुटिया बन गयी। गो सेवक मौनी बाबा गौओं का गोवर लाये गङ्गारज मिलायी उससे ल्हेस दी ८-९ हाथ लम्बी और ५-६ हाथ चौड़ी कुटी बन गयी बीच में एक छोटी भीत देकर डेढ़ दो हाथ चौड़ी एक छोटी सी प्रसाद पाने को पृथक् कोठरी हो गयी। उत्तर दक्षिण छोटी छोटी किवाड़ लगा दी। कुटिया के चारों ओर सुदर्शन के पौधे लगे हुए पूर्व की ओर छोटी सी खिड़की दक्षिण की ओर यूथिका वितान के किनारे मोर श्री बकुल का लम्बा पतला वृक्ष। उधर प्रधान द्वार की पश्चिम ओर दूसरा यूथिका सघन वितान

मिट्ठा नीबू और अमरूद के सघन वृक्ष उत्तर की ओर पारिजात के वृक्ष छोटा सा आँगन और पक्की पुरानी प्राचीन देने से वह कुटिया बड़ी ही मनोहर सात्विक लगती है, चारों ओर हरे भरे वृक्ष यह एक सजा सजाया पुष्प गुच्छ सा प्रतीत होता है। वह गोबर से लीपी जाती है। मध्याह्नोत्तर लिपी पुती स्वच्छ कच्ची कुटी में बैठकर प्रसाद पाता हूँ तो मन में कितने सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं। जो बड़े बड़े प्रसादों में रहते हैं वे भी कहते हैं—वाह ! कैसी प्यारी प्यारी कुटी है। पाठक यह न कहें यह क्या भूमिका लिख रहे हैं अपनी कुटी की प्रशंसा कर रहे हैं ? नहीं वह रामकुटी है रामजी की प्रशंसा कर रहा हूँ रामजी की सभी वस्तुएँ प्रशंसा के ही योग्य हैं। आपको मेरा विश्वास न हो तो कभी आकर उसे देख लें। चित्रों में जैसी प्राचीन ऋषि आश्रमों में कुटिया की कल्पना करके चित्रित की जाती हैं वैसी ही बनाई है किन्तु रामकुटी तो है मैं शरीर से उसमें जाता हूँ, किन्तु वास्तव में मेरा उसमें प्रवेश नहीं। क्यों प्रवेश नहीं जी ? ऐसी सुन्दर कुटिया ऐसी सुगन्धित उसकी किवाड़ें फिर उसमें तुम घुस क्यों नहीं सकते ? घुसूँ कैसे उसमें ताला जो लगा है। "ताले को खोल क्यों नहीं लेते ? ताला खुले तब न, ताला तो ताली से ही खुलता है ताली तो मेरे पास नहीं है ताली तो किसी नटखट ने अपना रखी है। ताली तो किसी काले रङ्ग के कृष्ण के पास है। सीतापति राम की कोठरी की ताली कृष्ण के पास कैसे पहुँच गयी जी ?" भैया ! अपना अपना दाव है जिसका दाव लग गया। जिसने हथियाली सीतापति मर्यादा के पालक की कोठरी की ताली कृष्ण के अधिकार में आ गयी वह कृष्ण एक तो स्वयं ही चोर जार शिखामणि है फिर उसे लोगोंको खिजाने में चिढ़ाने में छटपटाने में रुलाने में तड़पाने में आनन्द आता है। इसीलिये

कोई कितनी भी अनुनय विनय करो, कोठरी खोलता ही नहीं मुसकरा देता है।

इस अन्तःकरण की सुन्दर कोठरी में मायापति सर्वत्र समान भाव से रमन करनेवाले राम बैठे हैं, किन्तु भीतर से किवाड़ बन्द कर रखी है, अहंता ममता ये ही दो किवाड़ें हैं ये दो ऐसी सुगंधित चन्दन की किवाड़ें हैं कि सभी प्राणी केवल इनकी सुगन्ध में ही फँस जाते हैं। अहंता और ममता ये ही किवाड़ें हैं। मैं इतना प्रतिष्ठित हूँ, तपस्वी हूँ, योगी हूँ, सिद्ध हूँ यह इतनी भारी सुगन्ध है कि मनसे निकलती ही नहीं। यह ममता डाइन कहीं परोपकार का रूप रखकर, कहीं परमार्थ का बाना पहनकर, कहीं लोक संग्रह का रूप रखकर ऐसी मोहक बनकर आती है, कि कुछ पूछिये ही नहीं। ये 'ईंट पत्थर क्यों इकट्ठे कर रहे हो जी?" इनसे सत्सङ्ग भवन बनेगा' परोपकार का काम है।" मानों परोपकार का ठेका इन्होंने ही ले रखा है। बिना सत्सङ्ग भवन बने सत्सङ्ग हो ही नहीं सकता। इसमें छिपी हुई ममता है, जो दूसरे नाम से प्रकट की जाती है नहीं तो सच्चे सन्त का तो यह शरीर ही सत्संग भवन है, वह जहाँ भी बैठेगा, वहीं परोपकार करेगा, वहीं अपनी सन्निधि से जीवों को कृतार्थ करेगा उसे ईंट पत्थर एकत्रित करनेकी आवश्यकता न रहेगी। मैंने अभी कहीं एक स्त्री सन्त की कहानी पढ़ी थी। उनका जन्म किसी दास वंश में तब हुआ था जब दासों को बेचने की प्रथा थी वे शरीर से अत्यन्त ही सुन्दरी थीं, किन्तु पूर्वजन्म की कोई उच्चकोटि सिद्धा थीं। किसी ने उन्हें एक वेश्या के हाथों बेंच दिया। वे वेश्या के घर रहने लगीं। वेश्या के यहाँ जो आते उनसे वह मोलभाव तै करके द्रव्य लेकर इनके समीप भेजतीं। ये उस आदमी से कहतीं— "पहिले तुम स्नान करके स्वच्छ वस्त्र पहिन लो।" वस्त्र भी ये अपने पास से दे देतीं। स्नान करके ये कहतीं—"अब मेरे साथ

कुछ देर प्रार्थना कर लो।" तब ये उसे साथ बिठाकर गद्गद कंठ से प्रार्थना करतीं। इनकी हार्दिक प्रार्थना के प्रभाव से उसका कामभाव कपूर की भाँति उड़ जाता। फिर ये उसे उपदेश करतीं उपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ता कि वह इनके चरणों में प्रणाम करके चला जाता और फिर कभी भी वेश्या के यहाँ न जाता इस प्रकार एक वर्ष हो गया।

इनकी बूढ़ी वेश्या ने सोचा—"यह क्या बात है, जो यहाँ एक बार आ जाता है, फिर कभी लौटकर नहीं आता। ऐसा पहिले तो कभी होता नहीं था। यह कोई जादू टौना तो नहीं जानती।" यही सोचकर वह एक दिन छिपकर बैठ गयी और इनकी गति विधि का निरीक्षण करती रही। एक व्यक्ति आया। इन्होंने उसे स्नान कराया फिर उसके साथ प्रार्थना की। प्रार्थना तो भीतर हो रही थी, वेश्या बाहर बैठी रो रही थी। जब उन्होंने उपदेश दिया और कहा—"तुम हीरा जैसे अपने सदाचार रूप रत्न को मोरी में फेंकने यहाँ क्यों आये हो, अरे, उन घटघटवासी प्रभु से प्यार करो इस मलमूत्र की थैली में हाड़ मांस की देह में तो कौए गीदड़, गिद्ध, कुत्ते तथा मल के कीड़े रमण करते हैं, यह हीरा जैसा जन्म इन तुच्छ कार्यों के लिये थोड़े ही है। मनुष्य शरीर बार बार नहीं मिलता।"

अब तो वेश्या की आँख खुलीं उसका भी हृदय पसीज गया। जाकर तुरन्त उनके पैरों पड़ गयी और बोली—"देवि! मैंने आप को पहिचाना नहीं। आप तो परम साध्वी हैं, भगवत् स्वरूप हैं, मुझे क्षमा करो और आप अब जहाँ चाहो तहाँ जाओ। मुझसे बड़ा अपराध हुआ।"

हँसकर उन साध्वी ने कहा—"जो हुआ अच्छा ही हुआ, किन्तु तुमने मेरे उपदेश क्रम तो समाप्त ही कर दिया।"

सच्चे सन्त की वाणी ही अमोघ है, उसे अन्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। जो हमारे जैसे ऊपरी वेषधारी-बनावटी-नाममात्र के सत्सङ्गी हैं, वे तो सत्संग को वृत्ति का एक उपकरण बनाकर उसके द्वारा अपनी इच्छाओं-वासनाओं की-पूर्ति करते हैं अहंता ममता को बढ़ाते हैं, इसी से सीतापति की कोठरी की किवाड़ें बन्द हो जाती हैं। आप कहेंगे—"एक धक्का दे दो खुल जायेंगी ?" धक्का तो तब दें जब ताला खुले बन्द ताले में लाख बार धक्का दो खुलने की नहीं। उसे तो मुरारी ही चाहें तो खोल सकते हैं। "यह मुरारी कौन ?" अजी, उस कृष्ण का ही नाम मुरारी है। मुरा नाम की एक राक्षसी है डाइन। उसका नाम माया भी है, तृष्णा भी है। उस तृष्णा के शत्रु है यह मुरारी। वही इसे मार सकता है पछाड़ सकता है। ताला भी एक ऐसी विचित्र धातु का बना है कि इसमें दूसरी ताली लग ही नहीं सकती। उस धातु का नाम है "प्रेम" प्रेम को पिघलाकर घनीभूत करके इन किवाड़ों में जड़ दिया है। हम संसारी लोग अहंता ममता को प्रेम के नाम से पचा जाते हैं। मुझे शरीर से प्रेम है, मुझे पुष्पों से, पौधों से अमुक स्वजन बन्धुबान्धवों से प्रेम है। मोह ममता को अज्ञानी प्रेम संज्ञा दे देते हैं। ये कपाट कृष्णकृपा के बिना खुल नहीं सकते। ये मुरारी ही कृपा करें तब कोठरी खुल सकती है, तभी योगिजन जिनमें रमते हैं उन राम के दर्शन हो सकते हैं, तभी इस कुटिया की सार्थकता है, तभी इस कुटिया की महत्ता है।

सीतापति की कोठरी, चन्दन जड़ी किवार।
तारो लाग्यो प्रेम को, खोलो कृष्ण मुरार॥

हे मुरारी क्या इस ताले को खोल दोगे, क्या इन किवाड़ों को पृथक कर दोगे ? क्या सीतापति का दर्शन करा दोगे ? तुम्हारी

जैसे इच्छा तुमसे बलप्रयोग तो हो नहीं सकता। तुम्हारी की प्रतीक्षा है, प्रारब्धकर्मों को भोग रहे हैं? तुमको हृदय वाणी से, शरीर से नमस्कार कर रहे हैं, तुम्हारी बार-बार उन्हीं शब्दों से स्तुति प्रार्थना कर रहे हैं, एक ही सम्बोधन बारम्बार दुहरा रहे हैं। संसारी लोग इनमें पुनरुक्ति दोष बता वेंगे, किन्तु जिसके हृदय में भयङ्कर फोड़ा हो गया है, वह बार म्बार एक ही शब्द कहेगा "हाय हाय!" चिल्लायेगा। तुम ही लाख बार उससे कहो—"अरे, एक बार हाय हो गयी, बार हो गयी। उसी एक शब्द की रट क्यों लगाये हुए हो, वह आपकी बात सुनेगा ही नहीं, उसी को बार-बार रहेगा। सो हे मुरारी! जब तक तुम इस सीतापति की कोठरी किवाड़ न खोलोगे तब तक तुम्हें हम बारबार उन्हीं उन्हीं नामों से पुकारते रहेंगे भीतर बैठा हुआ सीतापति भी तो कुछ सुनता होगा, कभी तो उसके कान में भनक पड़ेगी ही—

राम राम रटते रहो, जब लग घट में प्रान।
कबहूँ दीनदयाल के, भनक पड़ेगी कान॥

छप्पय

हे चञ्चल! हे चोर! ओर मेरी हू हेरो।
नाहिं माने मदमत्त मलिन माधव मन मेरो॥
कबतैं रह्यो पुकारि द्वार तुमरे प्रभु आयौ।
खुलैं न कृष्ण किवार हियो अतिशय घबरायौ॥
हृदय ध्यान नहिं हरि करै, बानी विनती तैं डरे।
कैसे तब दरसन मिलै, दण्ड सरिस तन नाहिं परे॥

वामन द्वादशी—
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)

विनीत—
प्रभुदत्त

ब्रह्माजी द्वारा-भगवत्स्तुति (३)

(२१)

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै—
दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च ।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्ध्रियते न यत्र ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० ९ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

सब साधन को सार सकल प्रति दया दिखावैं ।
विविध दान, तप, यज्ञ दया करि सफल कहावैं ॥
जगके कारन, करन, काज सब आपु कहावैं ।
क्रीड़ा केशव करैं करमवश सबनि भ्रमावैं ॥
अन्त समय महँ, अवश ह्वै, नाम उचारन जे करैं ।
बन्दौं तिनिके पद पदुम, जिनि नामनि लै जन तरैं ॥

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भगवान् ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय के एकमात्र कारण हैं, इसी बात को निरूपण करते हुये ब्रह्माजी अपने तृतीय मुखारविन्द से भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं ।

हे अनन्त ! आपके गुण अनन्त हैं, कर्म अनन्त हैं, नाम अनन्त

---

* स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"प्रभो ! इसलिये मनुष्यों के सत्कर्मों का यही एकमात्र फल है कि वह विविध प्रकार के कर्मों द्वारा यज्ञ, दान, उग्र तपस्या तथा व्रतादिकों के द्वारा आपकी आराधना करे, क्योंकि आपको अर्पित किया हुआ धर्म कभी क्षीण नहीं होता ।

है तथा लीलायें अनन्त हैं। कोई उनकी गणना करना चाहे तो असंभव है, आपके समीप जो भी वस्तु जायगी वही अनन्त अक्षय बन जायगी। हे मायेश ! माया के चक्करमें पड़ा जीव भूख,प्यास,वात, पित्त, कफ, शीत,उष्ण, वायु वर्षा, काम, क्रोध तथा लोभ आदि के कारण दुखी रहता है। वह सुख की खोज में है, सुख पाने के लिये भाँति भाँति के कर्म करता है, उनसे सुख के स्थान में दुःख ही मिलते हैं। वह संसार बन्धन से जितना ही छूटना चाहता है, कर्म बन्धन उसे उतना ही जकड़कर बाँध लेते हैं। कर्मों का फल या तो स्वर्ग है या नरक। दोनों ही बन्धन हैं, पाप कर्म करने से नरक की प्राप्ति होती है, जब नरक की यातनाओं से पापों का दंड यमयातनाओं के द्वारा क्षीण हो जाता है, तो जीव सूकर कूकर अधम योनि में फिर मर्त्यलोकमें जन्म लेता है, इसी प्रकार पुण्य कर्म से स्वर्ग में स्वर्गीय सुख भोगकर पुण्यक्षीण होने पर उसे पुनः यहाँ आकर जन्ममरण का दुःख उठाना पड़ता है। अतः बन्धन पुण्य पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों से नहीं कटता।

सुखकी प्राप्ति के हेतु पुरुष विविध प्रकारके यज्ञयाग करता है, देवताओं की आराधना करता है, उन्हें हवि देता है, किन्तु उससे भी इस लोक के मनोरथ अथवा स्वर्गीय सुख ही मिलते हैं। यदि यज्ञ में भी कहीं विधि विधान का वैपरीत्य हो गया तो विधिहीन यज्ञ करने वाले का तत्काल विनाश हो जाता है, पुण्य के स्थान में पाप हो जाता है, इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है "नास्ति यज्ञ समोरिपुः" क्योंकि विधि विपरीत होने पर यज्ञ शत्रु से भी अधिक कष्टकर सिद्ध होता है। हे यज्ञेश ! सुखप्राप्ति के लिये बड़े दान किये जाते हैं। दान से इस लोक में यश मिलता है, परलोकमें स्वर्गीय सुख मिलते हैं, किन्तु दान का फल भी क्षयिष्णु है, कितना भी दान करो दान के द्वारा भले ही ब्रह्म-

लोक तक पहुँच जाओ, किन्तु उसका भ एक दिन अन्त होगा ही दान देते देते तनिक असावधानी हो गयी तो देवता न बनकर गिर गिट—कृकलाश-बनना पड़ेगा। अन्नदान न किया तो ब्रह्मलोक में भी भूख सतावेगी और अपना मृतक शरीर ही खाना पड़ेगा। अतः दान से भी नित्यसुख की सम्भावना नहीं है।

हे दाता! कठिन तपस्याओं का फल भी उत्तम लोकों की प्राप्ति है। तपस्या करने में कितना कष्ट, फिर उसमें कितने विघ्न, देवता तथा देवताओं के राजा इन्द्र किसी को तपस्या करते देखते हैं, तो कितने चिन्तित हो जाते हैं। उसके तप में विविध भाँति के अन्तराय उपस्थित करते हैं।

हे तपोमूर्ति! विविध प्रकार के व्रतों द्वारा सुख चाहें तो शरीर को सुखाना पड़ता है, भूख प्यास को सहन कर उपवास करना पड़ता है, इन सब का भी फल स्वर्ग ही है व्रतच्युति हुई तो पुण्य के स्थान में पाप लग जाता है। इन सकाम कर्मों में पग पग पर भय बना रहता है, विधि विधान पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

हे नाथ! यदि ये ही शुभ कर्म, यज्ञ, दान, तप तथा व्रतादि आपके निमित्त-निष्काम भावना से-किये जायँ आप की प्रसन्नता ही एकमात्र उद्देश्य हो, इन कर्मों का समस्त फल कापको ही अर्पण कर दिया जाय, तो वह अक्षय हो जाता है, उसका कभी क्षय नहीं होता, नाश नहीं होता, अन्त नहीं होता। वह अक्षय, अविनाशी तथा अनन्त बन जाता है। शुभ कर्मों द्वारा आपकी आराधना करना और उसे आप को ही अर्पण कर देना, कर्मों का यही एकमात्र उत्तम से उत्तम फल है। अतः हे प्रभो! समस्त कर्म आपकी प्रसन्नता के ही निमित्त हों।

हे ज्ञान स्वरूप ! आप निरन्तर ही अपने स्वरूप के प्रकाश से अज्ञान अंधकार को नाश करने वाले हैं आपको नमस्कार है। आप अपने प्रताप से भेदभ्रम रूपी पेय को पान कर जाते हैं, ऐसे आपके स्वरूप को नमस्कार है। हे परम पुरुष ! आप समस्त ज्ञान के एकमात्र आश्रय हैं, आप सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही जाने जा सकते है, आपकी हम वारम्वार वन्दना करते हैं। हे परमेश्वर ! इस सृष्टि की उत्पत्ति आपके ही अधीन है, आपके बिना ये पृथक् पृथक् स्वभाव के अधिष्ठातृ देव सृष्टि करने में समर्थ ही नहीं हो सकते, अतः आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। हे पालक प्रभो ! सृष्टि का पालन भी आपके अधीन है। आप नानावतार लेकर असंख्यों अवतार धारण करके इस बनी हुई सृष्टि का पालन पोषण, प्रीणन, लालन तथा संरक्षण करते रहते हैं। ऐसे आपके पालक स्वरूप को प्रणाम है। हे विश्वनाथ ! हे संसार संहारी ! काल पाकर आप ही अपनी बनाई सृष्टि का संहार भी करते हैं। लोक की कहावत तो यह है, कि अपने लगाये हुए अपने बढ़ाये हुए विष के वृक्ष को भी न काटना चाहिये। किन्तु आप इस इतने बड़े अपने लगाये, अपने पाले पोसे विश्व वृक्ष को क्षणभर में काटकर शेष की शैया पर सुख से सो जाते हो. आपकी लीला आप ही जानों। हम तो केवल आपके पादपद्मों मे प्रणाम ही कर सकते हैं। आप माया के द्वारा एक कमनीय क्रीड़ा कानन बना लेते हो, उसमें क्रीड़ा करते हो, विहार करते हो. मनोविनोद करते हो, खेलते हो। मनमें आ जाती है तब उसे बिगाड़कर सो जाते हो। बालककी भाँति खेलना और सोजाना ये ही आप के दो काम हैं। सो जाना तो एक उपलक्षण मात्र है, आपतो नित्य शुद्ध बुद्ध सदा प्रबुद्ध हैं। आपमें सोना जागना बनता ही नहीं। ऐसे आप परमेश्वर के पादपद्मों मे पुनः पुनः प्रणाम है।

हे हरे ! आप समस्त पापों को हर लेते हो। हे

अजन्मा ! निर्गुण निराकार अशरीरी होने पर भी आप साकार शरीर रख लेते हो। अनामी होने पर भी अपने अनन्त नामों को विख्यात कर देते हो। निर्गुण होने पर भी अनन्त गुणों को प्रकटित करते हो। कर्म रहित होने पर भी कर्म करके दिखा देते हो। अवतार धारण करके तो आप अनन्त जीवों का उद्धार करते ही हैं। अवतार काल मे आपकी कितनी सामर्थ्य है उसे समझने में हम सर्वथा असमर्थ हैं। किन्तु हम तो केवल आप अनामी के एक नाम मे ऐसी सामर्थ्य देखते हैं कि मरते समय कैसे भी भाव मे, अभाव से, विवश होकर, हठ पूर्वक, प्रसंग वश एक बार भी आपके नाम का उच्चारण करले, तो उसके समस्त पाप जल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, और वह सर्वथा विशुद्ध बनकर विमुक्त बन जाता है। माया के चक्कर से छूट जाता है। आपके अति दुर्लभ परम पदको प्राप्त कर लेता है।

हे महामहिम ! आपके नाम लेने में भी कोई नियम नहीं बन्धन नहीं, विधि नहीं, निषेध नहीं। कैसे भी, कोई भी, कैसा भी, आपका नाम भर लेले। आप अवतार धारण करते हैं यह विडम्बनामात्र है, अनुकरण ही कहा जायगा। आप अनवतारी का कोई अवतार सम्बन्धी नाम ही लेले। जैसे हे नृसिंह ! हे प्रह्लादार्तिहर ! हे कौशिल्यानन्दवर्धन ! हे दशरथनन्दन ! हे जानकीजीवन ! हे क्षत्रियान्तक ! हे उपेन्द्र ! हे देवकीनन्दन ! हे वासुदेव ! हे राधारमण ! हे गोपीजनवल्लभ ! हे कंशारि ! हे पूतनाप्राणहारी ! हे वृन्दाविपिनविहारी ! इसी प्रकार अवतार सम्बन्धी कोई भी नाम लेले।

अवतार सम्बन्धी नाम न ले तो उन निर्गुण का गुण सम्बन्धी ही कोई नाम लेले। जैसे हे भक्तवत्सल ! हे दीनबन्धो !

हे दयासिंधो ! हे अशरणशरण ! हे शरणागतप्रतिपाल आदि जो भी आपका गुण उसे प्रभावित कर सके उसी द्वारा आपको पुकारे।

गुण सम्बन्ध से न ले तो अवतारों में जो जो कार्य कि हैं, उन कार्यों के सम्बन्ध से ही नाम बनाकर या प्रसि नामों को लेले। जैसे हे गो ब्राह्मण प्रतिपालक ! हे सुररक्षक हे असुरारी ! हे रावणारी ! हे मुरारी ! हे गोवर्धनधारी ! रासविहारी ! हे माखन चोर ! हे गोपी वस्त्रापहारी ! हे राधाचि चोर ! हे अर्जुन सारथी ! हे पांडव प्रिय !

इच्छा से भी नहीं, विवश होकर किसी के नाम के व्या से ही जो रूप कभी ध्यान न रखकर केवल आपके नाम व ही पुकारता है, वह भी तत्काल जन्म जन्मान्तरों के किये हु पापों से विमुक्तबनकर अन्त समय में उच्चारण मात्र से ही आ के पद को प्राप्त कर लेता है, ऐसे परमपद प्राप्त कराने वाले पर मेश्वर के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे सबके आदि कारण प्रभो ! आप ही इस वृक्ष के बीज है और अपनी ही इच्छा से वृक्ष रूप में परिणित हो जाते हैं। आप अकेले ही बीज से अंकुर बन जाते हैं। उस अंकुर में से ब्रह्मा विष्णु और महेश नामकी तीन शाखायें निकल आती हैं, फिर उन शाखाओं में से भी मनु प्रजापति, देव असुर, ऋषि, मुनि रूपी उपशाखायें फूट जाती हैं। उनमें से भी ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, म्लेच्छ, आर्य, अनार्य रूपी छोटी-छोटी शाखायें हो जाती हैं, उनमें भी असंख्यों योनियों के जीव रूपी पत्ते निकल आते हैं, किन्तु ये सब हुए हैं एक ही अंकुर से। एक ही अंकुर विश्व वृक्ष रूप में हो गया है, ऐसे विश्ववृक्ष रूप आपके चरणारविन्दों में बारम्बार नमस्कार है।

हे विश्व को कलय कर्ता देव ! विश्व को घुमानेवाला काल आप
ही रूप है। काल रूप से आप ही विश्व ब्रह्माण्डमें व्याप्त है।
पने अपनी वेदरूपी वाणी से जीवों को शिक्षा दी है, कि मेरा
न ही सार है यही जीवों का प्रधान कर्तव्य है। जो पुरुष आप
बताये हुये मार्ग से नहीं चलते, आप के पूजन रूप पुण्य कार्य
नहीं करते, उसके करने में प्रमाद करते हैं असावधानी वर्तते हैं,
ासीनता दिखाते हैं, तो आप उनकी जीवनाशा को निरन्तर
टते रहते हैं। वे भले ही अपने कार्य में असावधान रहें, किन्तु
ाप सदा सर्वदा सावधान बने रहते हैं ऐसे अत्यन्त बलवान् काल
रूप आप परमेश्वर के पादपद्मों में प्रणाम है। समय रूपसर्वेश्वर
नमस्कार है।

हे विश्व नियामक ! सम्पूर्ण विश्व में आपका ही आतंक है।
ापके ही भय से सम्पूर्ण भूत अपने-अपने कार्यों में तत्पर रहते
। देवगण आपके ही भय के कारण अप्रमत्त सावधान होकर
ापने-अपने पदों पर प्रतिष्ठित होकर अपने उत्तर दायित्व को
भाते रहते हैं। वायु आपके ही भय से चलता रहता है, सूर्य
ापके ही भयसे निरन्तर चलते रहते हैं। पृथिवी आपके ही भय से
मती रहती है। इन्द्र आपके ही भयसे वर्षा करते हैं, यम आपके
ी भय से दंड देते हैं। समुद्र आपके ही भय से स्थिर रहते हैं।
संसार में छोटी बड़ी आयु वाले अगणित जीव हैं। किन्तु वे सभी
ापसे भयभीत रहते हैं। बहुत से जीव एक त्रुटिमें ही जन्म लेते
, दूसरी त्रुटि में मर जाते हैं, आपका भय उन्हें भी लगा ही रहता
। सौ त्रुटिका एक वेध होता है, और तीन वेध का एकलव, होता
। तीन लव का एक निमेष होता है। जितने काल में पलक गिरता
ौर उठता है उतने काल का नाम निमेष है। हे नाथ ! बहुत से
ोवों की आयु एक वेध बहुतों की लव और अनेकों को निमेष को
। होती है तीन निमेष का एक 'क्षण' होता है। बहुत से जीव क्षण

भर में ही जन्मते और मरते हैं। पाँच क्षण की एक काष्ठा और पन्द्रह काष्ठा का 'लघु' कहलाता है। पन्द्रह लघु की एक नाड़िका और दो नाड़िका का एक मुहूर्त और ६ या ७ नाड़िका का एक प्रहर होता है और आठ प्रहर का मनुष्यों का एक दिन होता है। बहुत से जीवों की इतनी ही आयु होती है। बहुत से जीव एक दिन में अनेक बार जन्म ले लेते हैं अनेक बार मर जाते हैं। पन्द्रह दिन का एक पक्ष और दो पक्ष का महीना होता है। २ महीने की एक ऋतु और ६ ऋतु का एक वर्ष होता है। बहुतों की परमायु दिन, पक्ष, ऋतु, मास अथवा वर्ष दिन की होती है, बहुत से इतने समय में अनेक योनियों में घूम आते हैं, किन्तु इन सब को काल स्वरूप आपका सदा भय बना ही रहता है। काल बली के आगे किसी की नहीं लगती। आपके भय से सभी थर-थर काँपते रहते हैं। मनुष्यों की अधिक से अधिक आयु सौ वर्ष की मानी गई है, मनुष्य अपने को बड़ा बुद्धिमान बताता है अपने को अत्यन्त निर्भीक समझता है। यूथपति हाथियों को वश में करके उनपर चढ़ जाता है, सिंहों को पछाड़ देता है, वह मनुष्य भी कालबली के भय से भ[illegible] होकर काँपने लगता है। आपका काल स्वरूप ही प्रभो! स[illegible] का भक्षण कर जाता है। मनुष्यों का एक वर्ष देवता के एक दिन के बराबर होता है। ऐसे ३६० दिनों का देव का एक दिव्य वर्ष होता है, ऐसे दिव्य वर्ष जब [illegible] सहस्र बार बीत जाते हैं तो एक चतुर्युगी होती है। ऐसी [illegible]र्युगी जब सहस्र बार बीतती हैं तो नाथ! मुझ ब्रह्मा [illegible]

एक दिन होता है। मेरे तीन सौ साठ दिनों का ब्रह्मवर्ष होता है। ऐसे ५० वर्ष बीतने पर मेरा पूर्वार्ध और दूसरे पचास होने पर उत्तरार्ध कहलाता है। इस प्रकार मेरी भी परमायु दो परार्ध की ही है। मैं ही संसार में सबसे बड़ी आयु वाला माना जाता हूँ, किन्तु हे भयभंजन! दो परार्ध पर्यन्त रहने वाला तथा सबसे श्रेष्ठ, सबसे उत्तम, सबसे उच्च, सबसे वन्दनीय सत्य लोक में निवास करने वाला, सबको उत्पन्न करनेवाला मैं भी आपसे सदा भयभीत बना रहता हूँ। मुझे भी अपनी आयु समाप्त होने की शङ्का बनी रहती है। मैं भी आपकी प्राप्ति के लिए निरन्तर घोर तपस्या करता रहता हूँ, ऐसे अधियज्ञ स्वरूप आप परमात्मा को बारम्बार नमस्कार है। शतशः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्माजी का तीसरा मुख जब इस प्रकार स्तुति करके चुप हो गया, तो चतुर्थ मुख ने भी अपने को कृतार्थ करने के लिये अपने अस्तित्व को सार्थक बनाने के निमित्त जैसे भगवान् की स्तुति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

बन्दौ तरुवर रूप स्वयं जो जगवनि जावैं।
उतपति थिति लय हेतु तीन शाखा फैलावैं॥
बन्दौं काल सरूप जीव जे करम करे कटु।
तिनि जीवन की आश मूलकाटन में जो पटु॥
जिनि के भय तैं और का, जगवन्दित हौ हू डरूँ।
तिनि प्रभु के पद पदुम महँ, बार-बार बन्दन करूँ॥

पद

वन्दौं बार बार बनवारी ।
बीज रूपतैं वृक्ष बने हरि, हर, अज, शाखाधारी ॥१॥ वन्दौं०
जाके भयतैं थर थर काँपैं, रवि, शशि, सुर, नर, नारी ।
औरनिको का भली चलाई, डरिहौं उतपति कारी ॥२॥ वन्दौं०
जो न भजैं भवभंजन भगवन्, तुमकूँ खल कुविचारी ।
तिनिको जीवन आशा सबरी, काल रूप संहारी ॥३॥ वन्दौं०
भवभयहारी चरननि वन्दौं, भगतनि विपति विदारी ।
प्रभु दरवाजे अड़िकें बैठयो, माँगै भीख भिखारी ॥४॥ वन्दौं०

ब्रह्माजी द्वारा भगवत् स्तुति (४)

(२२)

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयात्मकृत सेतुपराप्सया यः ।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥❀

(श्रीभा० ३ स्क० ९ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

अंडज पिंडज जीव चतुरविधि नाथ ! बनावैं ।
तिनिमहँ लै अवतार अलौकिक सुख सरसावैं ॥
सब जग रचि पचि फेरि उदर धरि सोवैं सुखतें ।
करि कमलासन मोह वेद बोले मम मुखतें ॥
क्रीड़ा हित कौतुक कलित, करे कृपामय काम हैं ।
तिनि प्रभुपद पाथोज महँ, पुनि पुनि पुन्य प्रनाम हैं ॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ब्रह्माजी अपने चौथे मुख से स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे प्रभो ! आप विरुद्ध धर्माश्रय हैं। निद्रा अविद्या का कार्य है, तमोगुण के आधिक्य से निद्रा आती है, आप निद्रित से भी प्रतीत होते हैं, किन्तु तामिस्र, अन्धतामिस्र

❀ स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे प्रभो ! जिन आपने अपनी रचित पशु, पक्षी, मनुष्य तथा देव आदि योनियों में स्वेच्छा से ही अवतार धारण करके धर्म संस्थापनार्थ अनासक्त भाव से विविध क्रीड़ायें की हैं, उन आप पुरुषोत्तम प्रभु के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है ।

तम, मोह, और महामोह इन पाँच प्रकार की अविद्याओं के वशीभूत भी नहीं होते। सृष्टि के अन्त में सम्पूर्ण चराचर जगत को उदरस्थ करके अपने में लीन करके, सुखपूर्वक सो जाते हैं, स्वयं क्या सोते हैं, समस्त जीवों को निद्रा सुख का अनुभव कराते हैं, आपके जितने भी कार्य हैं, सभी लोक कल्याण के निमित्त, परोपकार के लिये, दूसरों को आनन्दित करने के लिये होते हैं। आप सोते भी कहाँ हैं, प्रलयकालीन प्रबल पयोनिधि के मध्य में। जहाँ भयंकर जल की तरङ्ग मालायें हहर हहर करके हहराती रहती हैं, सोते भी किस पर हैं, सप के सुन्दर चिकने शरीर पर। मनुष्यों के घर के भीतर भी कहीं कोई छोटा सा सर्प निकल आवे तो उन्हें निद्रा नहीं आती, चिन्ता ही बनी रहती है कहीं काट न ले "ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेवं न संशयः" सर्प वाले घरमें रहना भी मृत्युके सदृश है,किन्तु आप उसी महाविषधर वृहद्काय सर्प की छाती पर ही बिस्तर बिछाते हो, उसी की अत्यन्त चिकनी देह को शैया बनाते हो, और उन तरङ्ग मालाओं के भीतर शेष की शैया पर सुख से सोते हो, उदरस्थ समस्त प्राणियों के निद्रासुख में अभिवृद्धि करते हो। प्रतिकूल शैया भी आपके अत्यन्त अनुकूल पड़ती है। ऐसे हे शेषशायी सर्वेश्वर! आपको मैं प्रणाम करता हूँ।

हे कमलनाभ! मेरी उत्पत्ति आपके नाभिकमल से हुई। हैं जगत् के जीवों के सभी सूक्ष्म बीज उस नाल द्वारा होकर मेरे मनमें प्रविष्ट हो गये हैं, इसीलिये मैं अज-जन्म रहित-अनादि जिसका आदि न हो-आदि पुरुष-समस्त चराचर सृष्टि का प्रथम पुरुष—वन्दनीय तथा पूजनीय कहलाता हूँ। आपकी कृपा से ही मेरी इतनी प्रतिष्ठा हुई है। पिता के कारण ही तो पुत्र की प्रतिष्ठा होती है। पिता की जाति का ही तो पुत्र कहलाता है। मैं आपका पुत्र हूँ, अतः प्राणी मुझे भी आपकी भाँति आदि पुरुष-अज तथा

प्रजापति पति कहते हैं। वास्तव में तो जगत् के कारण हे जगदाधार! आप ही हैं। यह सम्पूर्ण जगत् आपके ही उदर में स्थित है। आप ही सबको समेटकर योगनिद्रा का आस्वादन सबको करा रहे हैं, जब काल आने पर योगनिद्रा की परिसमाप्ति हो जाती है, उसका अन्त हो जाता है तब आपके कमलनयन! खिल उठते हैं, नयनारविन्द विकसित हो उठते हैं, मुख पर मन्द मधुर मुस्कान छिटकने लगती है, ऐसे आपके विश्व विमोहन सुखकर स्वरूप को पुनः पुनः प्रणाम है, बारम्बार नमस्कार है।

हे सर्वसुहृद! हे परमात्मन्! हे शरणागतवत्सल! आप जीवों के अवगुणों की ओर ध्यान नहीं देते, उनके कुकर्मों को देखकर भी आप उनसे शत्रुता नहीं करते, सभी को समान भाव से सहृदयतापूर्वक निहारते हैं, सभी आपके खिलौने हैं, सभी आपके अपने हैं, सभी के आप आत्मा हैं, माता पिता हैं। जैसे गौ अपने वत्स के मैले शरीर से भी अत्यन्त प्यार करती है, उसके शरीर के मैल को भी अत्यन्त स्नेह से चाट लेती है, पास में पड़े बच्चों को चाट-चाटकर निर्मल स्वच्छ विशुद्ध बना देती है। इसी प्रकार आप भी अपनी शरण में आये जीवों के सभी दोषों को चाट जाते हैं, उनके अपराधों की ओर ध्यान ही नहीं देते। अपना रूप उन्हें प्रदान कर देते हैं। उन्हें शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निष्कल्मष तथा निर्मल बना देते हैं। हे ज्ञान स्वरूप! आप अपने अनन्त ज्ञान से, अपरिमित ऐश्वर्य से, विश्व विमोहिनी शोभा से, सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य से सम्पूर्ण संसार को सुख पहुँचाते हैं, विश्वब्रह्माण्ड को विमोहित बनाते हैं। अखिल विश्व को आनन्दित करते हैं। हे आनन्दघन! अपने ज्ञान और ऐश्वर्य से मेरी बुद्धि को भी विशुद्ध बना दीजिये, जिससे मैं आपकी आज्ञा के पालन करने में सर्वथा समर्थ हो सकूँ। आपकी कुछ सेवा सुश्रूषा कर सकूँ, इस चराचर जगत् की पूर्व सर्गों के समान

रचना करने में समर्थ हो सकूँ। आपकी ही कृपा से सब कु
सम्भव हो सकता है। आप ही सबके प्रेरक है। आपके पादप
में प्रणाम है।

प्रभो! आप प्रति सर्ग में अनन्त लीलायें करते हैं, अन
अवतार धारण करते हैं, अगणित आश्रितों को कृतार्थ करते
असंख्यों अभिनय रचते हैं। लक्ष्मीरूपा अपनी शक्ति के सहि
खेलते रहते हैं सरस सुखद सम्वाद सुनाते हैं, सुनते हैं, सभी
सुख पहुँचाते हैं। हे प्रणतप्रिय! आप अपने अवतारों में जो
अद्भुत कर्म करेंगे उनमें से सृष्टि रचना रूप भी एक सामा
कार्य है। प्रभो! मैं तो सृष्टि रचना के ही निमित्त आपसे उत्प
किया गयाहूँ, इसीलिये मेरे मनमें सृष्टि रचनाकी इच्छा ही बलव
हो रही है, सृष्टि कैसे बढ़े यही अभिलाषा चित्त में प्रेरित हो र
है। आप उसे ही पूरा करें। जगत् रचना रूप अपने विक्रम
मेरा उपयोग करें, मुझे सृष्टि करने की सीख सिखावें। उत्पा
का क्रम बतावें। मेरे मनमें यह अभिमान न हो जाय कि इ
सम्पूर्ण सृष्टि का एकमात्र कर्ता मैं ही हूँ। सृष्टि रचना विषय
जो अभिमान है, यदि वह मेरे मन में आ जाय तो वह तो मल
समान है, उसे मैं अविलम्ब अग्राह्य समझकर छोड़ सकूँ, ऐस
बुद्धि मुझे दीजिये। हे देव! आपके चरणों में बारम्बार
नमस्कार है।

हे वेदस्वरूप! हे विज्ञानघन! मैं आपके नाभिकुंड में खिले
हुए कमल से उत्पन्न हुआ हूँ मेरा उत्पत्ति स्थान आपकी नाभि
है, आपका मध्यभाग है। आप अनन्त शक्तियुक्त अखिलेश इस
प्रलयकालीन जलमे सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं, उसी समय
काल की प्रेरणा से सबसे बड़े आदितत्व—महत्तत्व—का अभि-
मानी देव मैं उत्पन्न हो गया। उस विज्ञान शक्ति का अधिष्ठातृदेव
मैं स्वतः कुछ करने मे सर्वथा असमर्थ हूँ। आपकी ही कृपा से

आपकी ही अद्भुत शक्ति से मैं इस चराचर जगत् की सृष्टि कर सकूँगा। इस चित्र विचित्र विश्व ब्रह्माण्ड का विस्तार कर सकूँगा, किन्तु उस समय मेरा ज्ञान नष्ट न हो जाय, अपने को ही मैं सब कुछ न समझने लगूँ, मेरी वेदरूपावाणी विलुप्त न हो जाय, मेरा वेद का ज्ञान मुझे छोड़कर चला न जाय। आपकी कृपा अनुग्रह का अनुभव मैं प्रतिक्षण करता रहूँ, यही मेरी आपके पादपद्मों में प्रार्थना है, आप वेदस्वरूप ब्रह्म को मैं बार बार प्रणाम करता हूँ।

हे अपार करुणामय स्वामिन्! मेरी ओर सदय होकर देखिये! हे कृपा के सागर! मेरे ऊपर कृपा दृष्टि की वृष्टि कर दीजिये। हे करुणानिधान भगवन्! अपनी प्रेमभरी अवलोकन से मुझे कृतार्थ कर दीजिये, हे पुराणपुरुष! अपने मन्द मन्द मृदुल मुसकान युक्त युगल कमलनयनों से मेरी ओर निहारिये। हे जगदाधार! सम्पूर्ण जगत् के जीवों का कल्याण कीजिये। हे भक्तानुग्रहकातर! मुझ आत्मज पर अनुग्रह प्रदर्शित करने के निमित्त शेष शैया से तनिक उठकर मुझसे दो चार मीठी-मीठी वात्सल्य रस में सनी बातें कीजिये। मुझे कुछ सदुपदेश तथा सुहावनी शिक्षा दें। मैं कबसे प्रार्थना कर रहा हूँ, मैं आपका बालक हूँ, तोतली वाणी से जो भी मैंने कहा हो, उसे सदय होकर सुनिये और श्रमित हुए मुझ बालक की विनय को सुनकर कुछ कहकर मेरे खेद को मिटा दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब ब्रह्माजी ने भगवान् की इस प्रकार स्तुति की तब भगवान्ने उन्हें सृष्टि रचना सम्बन्धी उपदेश दिया। फिर उन्होंने कैसे सृष्टि की, कैसे प्रकार की की, यह सृष्टि रचना विषयक दूसरा वृत्त है, इसे सम्भव हुआ तो मैं सृष्टि रचना प्रसङ्ग में कहूँगा। यह मैंने ब्रह्माजी की स्तुति आपको सुनायी। अब वाराह अवतार लेने पर ऋषियों ने जैसे उन

पृथ्वी उद्धारक प्रभु की स्तुति की उस प्रसङ्ग को मैं आगे सुनाऊँगा, आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

रमा सहित अवतार धारि क्रीडा जो करिहैं।
गाइ-गाइ नर-नारि तिनहिं भव जलनिधितरिहैं॥
होवै नहिं अभिमान करूँ कारज जो जगमें।
होहि ज्ञान नहिं लोप जगत रचना के मगमें॥
यों बहु विधि इस्तुति करी, अज थोरे से थकि गये।
सुनि विनती विधिकी विमल, प्रभु परमेश्वर हँसि गये॥

पद

करूँ सब सेवा समुझि तिहारी।
शेष शरीर सुखद अति शैया, लेउ नींद सुखकारी॥१॥ करूँ०
पाइ काल क्रीड़ाहित, जगकरि, विहरो विश्व विहारी।
समय पाइ पुनि सब संहारो, खेलो खेल खिलारी॥२॥ करूँ०
होइ मोह अभिमान न नेकहुँ, हौं जगकर्ता भारी।
कृपा करो करुनाकर कारक, कमलचरन बलिहारी॥३॥ करूँ०
सोये बहुत नयन प्रभु खोलो, अब उठिबे की बारी।
मन्द मन्द मुसकाइ निहारो, मोहन मदन मुरारी॥४॥ करूँ०
विनती सुनि हरि हँसे कृपामय, अज सब चिन्ता टारी।
प्रभुपद पदुम पराग प्रेमतैं, बार-बार सिर धारी॥५॥ करूँ०

—:※:—

सृष्टि रचनार्थ ब्रह्मस्तुति (६)

अथ नवमोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिराननु देहभाजां,
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
नान्यत्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं,
मायागुणव्यतिकराद्यदुरुविभासि ॥१॥

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन,
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय ।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं,
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥२॥

नातः परं परं यद्भवतः स्वरूप,
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकविश्वमात्मन्,
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥३॥

तद्वा इदं भुवनमङ्गलमङ्गलाय,
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेयतुभ्यं,
योऽनादृतोनरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥४॥

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं,

जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां,
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥५॥
तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं,
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं,
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥६॥
दैवेन ते हृतधियो भवतः प्रसङ्गात्,
सर्वाशुभोपशमनाद् विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना,
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥७॥
क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः,
शीतोष्णवातवर्षैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युत रुषा च सुदुर्भरेण,
सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे ॥८॥
यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ,
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत,
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥९॥
अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना,
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।

दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव,
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥१०॥
त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज,
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति,
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥११॥
नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारैः
आराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको,
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥१२॥
पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यैः,
दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च ।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो,
धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्ध्रियते न यत्र ॥१३॥
शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद,
मोहाय बोधधिष्णाय नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला,
रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ॥१४॥
यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि,
नानानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा,

संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥१५॥
यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च,
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्वा त्रिपाद्वृद्ध एक उरुप्ररोहः,
तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥१६॥
लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः,
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां,
सद्यश्छिनत्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥१७॥
यस्माद् बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्यम्,
अध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत् ।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समानः,
तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम् ॥१८॥
तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि,
ष्वात्मेच्छयाऽऽत्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेहः,
तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥१९॥
योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या,
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः ।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां,
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥२०॥

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य,
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग,
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥२१॥

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा,
सत्वेन यन्मृडयते भगवान् भगेन।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद् यथाहं,
स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ ॥२२॥

एष प्रपन्नवरदो रमयाऽऽत्मशक्त्या,
यद् यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो,
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम् ॥२३॥

नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो,
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः।
रूपंविचित्रमिदमस्य विदृण्वता मे,
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ॥२४॥

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्ध,
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं,
माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः ॥३५॥

ऋषियों द्वारा वाराह भगवान् की स्तुति

(२३)

जितं जितं तेऽजित यज्ञ भावन
त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
यद्रोमगर्तेषु निलिन्युरध्वरा-
स्तस्मै नमः कारणसूकरायते ॥❀
(श्रीभा० ३ स्क० १३ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

अवनि प्रविसि पाताल प्रजापति भये दुखारी ।
विभु वराह वपुधारि वारितैं तुरत निकारी ॥
नील कमल सम देह श्वेत द्विज पै भू धारी ॥
कमल दन्त जिमि धारि फिरै सर गज बनचारी ।
ऋषि मुनि मिलि इस्तुति करें, जय वराह तनु यज्ञसम ।
छन्द त्वचा, कुशरोम, घृत, नयन चरन ऋत्विज करम ॥

जीवों को सुख पहुँचाने के निमित्त अपनी लीलाओं को संसार के सम्मुख प्रकट करने के निमित्त भगवान् विविध अवतार धारण

❀ वाराह भगवान् की स्तुति करते हुए ऋषिगण कह रहे हैं—"हे अजित ! आपकी जय हो । हे यज्ञभावन ! आप अपने तीनों वेद स्वरूप शरीर से कुलबुला ले रहे हैं, ऐसे शरीर के रोमों को हिलाते हुए आपको नमस्कार है । आपके रोमकूपों में समस्त यज्ञ विलीन हो रहे हैं, ऐसे आप शूकर रूपधारी प्रभुको पुनः पुनः प्रणाम है ।

करते हैं, उन अवतारों में भांति-भांति की क्रीड़ायें करते हैं, ऋषि मुनि तथा सन्त जन उनको अनेक प्रकार से स्तुति विनय करते हैं, इन सबको जो सुनते सुनाते हैं, पढ़ते पढ़ाते हैं, वे अवश्य ही परमपद के अधिकारी बन जाते हैं। अतः अवतार चरित्रों को सुनना सुनाना स्तुतियों का गान करना, श्रवण करना, अपने साथी संगियों को सुनाना यही जीव का परम पुरुषार्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब ब्रह्माजी ने सृष्टि रचना के संकल्प सनकादि मरीचि, अंगिरा आदि मानसिक पुत्रों को उत्पन्न किया और उन मानसिक पुत्रों द्वारा जब सृष्टि का विस्तार नहीं हुआ तब ब्रह्माजी बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा—"इस प्रकार सृष्टि कैसे बढ़ सकती है, हे भगवन् सृष्टि वृद्धि का कोई सरल उपाय बताओ। इन ऋषियों को मैं कब तक अनुनय विनय करता रहूँगा ये कोई मेरी बात सुनते ही नहीं। कोई ऐसा आकर्षण हो कि सृष्टि रचना में पुरुष आपसे आप बिना प्रेरणा के प्रवृत्त हों।" ब्रह्माजी यह सोच ही रहे थे कि उनके शरीर के दो भाग हो गये, एक भाग से स्त्री दूसरे से पुरुष ऐसे एक जोड़ा उत्पन्न हुआ। वे परस्पर में एक दूसरे से प्यार करने लगे। वे आदि पुरुष स्वायम्भुव मनु हुए। स्त्री शतरूपा नारी हुई। उन्होंने ब्रह्माजी से विनय की—भगवन्! हम क्या करें?" ब्रह्माजी ने कहा—"तुम दोनों मिलकर सृष्टि वृद्धि करो।"

इसपर मनुजी बोले—भगवन्! एक जोड़े को साथ में रहने को घोंसला तो चाहिये। जिसमें सुख से दांपत्य भाव से रह सके। पृथिवी तो पाताल में चली गई है जल में डूब गई है हम रहें कहाँ?"

यह ब्रह्माजी को दूसरी चिन्ता हुई—कैसे पृथ्वी का उद्धार हो, पृथ्वी को कौन जल से ऊपर लावे।" ब्रह्माजी यह सोच ही

रहे थे कि उनकी नासिका से एक सूकर शिशु निकला और क्षण भर में पर्वताकार बनकर जल में घुसा और पृथ्वी को अपनी दाढ़ पर रखकर ऊपर ले आया। ब्रह्मलोक में बैठे-बैठे ब्रह्माजी और उनके मानसिक पुत्र सनकादि मरीचादि ऋषि भी देख रहे थे। पृथ्वी सहित प्रभु को जल के ऊपर आते देखकर उन्हें बोध हुआ ये तो साक्षात् यज्ञ पुरुष हैं। भगवान् हैं, अतः वे सुमधुर वैदिक स्तोत्रों से उनकी स्तुति करने लगे।

ऋषि मुनियों ने कहा—"हे भगवन्! आप भूदेवी जगन्माता को पाताल से ले आये, अतः आपकी जय हो जगन्माता की जय हो, जगत् पिता की जय हो। जल से निकलते ही जो आपकी फुरुहरी लीली वह हिलता हुआ शरीर वेदत्रयी रूप है, अतः ऐसे आपके श्री विग्रह की विजय हो जय हो सदा मंगल हो।

नाथ! आपके रोम रोम में-प्रत्येक रोम कूप में-सम्पूर्ण यज्ञ याग समाये हुए हैं आप साक्षात् यज्ञ के ही स्वरूप हैं आपको हमारी बारम्बार नमस्कार है। हे यज्ञ स्वरूप! हे सूकर वपुधारी! हे पृथ्वी उद्धारी विहारी! हमारी नमस्कार को स्वीकार कीजिये आपका यह सूकर स्वरूप नहीं है आपने तो लीला के लिये किसी विशेष प्रयोजन के लिये किसी कारण वश यह रूप रख लिया है। आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! आपके इस वेदमय यज्ञमय स्वरूप के दर्शन सभी नहीं कर सकते। सभी को इसकी बाँकी झाँकी नहीं मिल सकती। सभी के दृष्टिगोचर आप नहीं हो सकते। इसका साक्षात्कार सदाचारी सज्जनों को ही सम्भव है। जो दुष्ट है दयाहीन है, दुराचारी तथा दुर्विनीत है उनको यह दयामय दर्शन दुर्लभ है दुर्दश है। आप साक्षात् यज्ञ स्वरूप हो। यज्ञ की सभी सामग्री आपके शरीर में सन्निहित है। प्रत्येक अंग में यज्ञ के कर्म, पात्र, संस्कार तथा विधिविधान वर्त्तमान है।

हे यज्ञाधिप ! आपकी जो यह त्वचा है, ये ही यज्ञ में प्रयुक्त हो वाली गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती छन्द हैं। यह जो आपकी खड़ी हुई रोमावली है, वे ही मानों यज्ञ कर्म में काम आने वाली कुशायें हैं। यह जो आपके चमकते हुए नेत्रों में विलक्षण ओज दृष्टिगोचर हो रहा है, वही मानों, यज्ञ करने के निमित्त घृत विद्यमान है। आपके जो ये चारों चारुचरण हैं, जिनके विलक्षण विन्यास से आप वारि को फाड़ते हुए ऊपर आये हैं, ये चारों चरण ही मानों यज्ञ में कार्य करने वाले, होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ऋत्विजों के चारों कर्म हैं।

प्रभो ! चक्र के समान जो आप का यह विलक्षण तुण्ड है, वही मानों यज्ञ का स्रुक्पात्र है। जिस पात्र से अग्नि में घृत डाला जाता है, वह स्रुवा ही मानों आपकी नासिका है। यज्ञीय भक्षण पात्र इडा ही मानों आपका बृहद् उदर है। यज्ञीय चमस पात्र मानों आपके कानों के छिद्र हैं। ब्रह्म भाग पात्र प्राशित्र स्थानीय आपका मनोहर मुख है। सोमपात्र ग्रह ही आपके कंठ का छिद्र है। आप जो चर्वण करते हैं, चबाते हैं, वह मानों अग्निहोत्र हो रहा है।

हे स्वामिन ! हे प्रभो ! आप जो बारम्बार अभिव्यक्त होते हैं वही मानों यज्ञीय दीक्षा है। यज्ञ की तीन इष्टियाँ जिन्हें उपसद कहते हैं वही आपकी ग्रीवा की त्रिवली है। दीक्षा के अनन्तर की इष्टि प्रायणीय और यज्ञ के समाप्ति की इष्टि उदयनीय ये दो इष्टियें ही मानों आपकी दो लम्बी-लम्बी तीक्ष्ण दाढ़ें हैं। यज्ञ की जो तीन इष्टियाँ जिन्हें उपसद कहते हैं उनमें प्रत्येक उपसद के पूर्व जो कर्म किया जाता है उसकी महावीर संज्ञा है वह प्रवर्ग्य कर्म ही मानों आपकी जिह्वा

होम रहित अग्नि की संज्ञा सभ्य है। उपासना की जो अग्नि उसका नाम आवसथ्य है, ये दोनों सभ्य और आवसथ्य मानों सिर है। यज्ञ में जो इष्टाचयन चिति कर्म है मानों प्राण हैं।

हे पराक्रम शाली प्रभो! सोमयागों में जो सोम रस है आपके वीर्य स्थानी है। मानों आपका वीर्य ही सोम रस है यज्ञ में प्रातः सवन माध्यन्दिन सवन और सायं सवन ये तीन सवन होते हैं ये ही आपके आसन हैं। यज्ञ की अग्निष्टोम उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम नामक की ये सात संस्थायें हैं, ये ही मानों आपकी रस, मांस, मज्जा, त्वक, अस्थि और वीर्य और ओज ये सात हैं। जितने सत्र हैं वे सब मानों आपके शरीर की सन्धियाँ हैं। प्रभो! जिस याग में सोमरस का प्रयोग होता है उसे यज्ञ कहते हैं और सोम सहित याग का नाम है, आपका यह श्री विग्रह यज्ञ और क्रतु दोनों का रूप है।

हे सर्वेश्वर! आपके सम्पूर्ण अंगों की गठन ही यज्ञानुष्ठान है। वेदों के जितने मन्त्र हैं, यज्ञ भाग पाने जितने देवता हैं, तथा जितने भी यज्ञीय द्रव्य हैं इन इन रूप आप ही है। ऐसे सर्व स्वरूप सवमय आप प्रभु के पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। हे सर्वसाक्षी सर्ववेत्ता कर्म रूप सर्वयज्ञ स्वरूप तथा सर्वक्रिया मूर्ति आपके कमलों में वारम्वार नमस्कार है।

हे योगेश्वर! संसारी मिथ्या विषयों से वैराग्य करके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, दास्य, सख्य आत्म निवेदन रूपा नवधा भक्ति के द्वारा अथवा चित्त विखरी हुई वृत्तियों का निरोध करके एकाग्र मन से जो

ंभव होता है वह आपका ही स्वरूप है। समस्त विद्याओं के
दाता ज्ञानदाता सद्गुरु भी आप ही हो। अज्ञानान्धकार को
टकर ज्ञानलोक प्रदान करनेवाले ऐसे गुरुओं के भी गुरु आप
गत् गुरु के पादपद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।

हे भगवन्! आप ने जगन्माता भूदेवी को अपनी दाढ़ों
नोंक पर बिठा रखा है, इस समय आपकी शोभा अपूर्व है,
शोभा का जिन्होंने दर्शन किया वह धन्य हो गया, कृतार्थ
गया। हे भूधर! आप जिस समय अगाध नील जल से
वी माता को दाढ़ पर रखकर निकले हैं, उस समय आपकी
भा ऐसी हो रही है जैसे नील वर्ण का मत्त गजराज पत्र
क्त कमलिनी को अपने निकले हुए दाँतों पर रखकर सघन
त के बाहर निकल रहा हो। हे वेदत्रयी रूप भगवन्! जैसे
लाचलपर्वत के शिखरों पर छाये हुए सजल घनों की
भा होती है, उसी प्रकार आपकी दाढ़ों पर विराजमान
ली साड़ी ओढ़े जननी अवनी की आभा आभासित हो
ही है।

हे भक्तवत्सल! हे अशरणशरण! हे स्वामिन्! माता
ो पिता इसीलिये लाते हैं, कि उसके उदर में उसकी छत्र-छाया
, उसके आश्रय में सन्तानें रह सकें। आप जगत् पिता इस
गज्जननी अवनी को भी भली भाँति स्थापित कर दें जिससे
ापके सन्तान रूप चराचर जीव इनके आश्रय में सुखपूर्वक
नेवास कर सकें।

हे सबके उत्पादक! हे सम्पूर्ण जगत् के जनक! जैसे
रणि में अग्नि स्थापित की जाती है वैसे ही आप पृथ्वी माता
अपना तेज-वीर्य-स्थापित कीजिये। हे जगत् पिता। आपके

पादपद्मों में प्रणाम है। हे जगन्माता ! आपके चरणकमलों की मैं हम वन्दना करते हैं। माता च पिता च पितरौ हे पितरौ ! आप दोनों को बारम्बार नमस्कार है।

प्रभो ! बड़े ही बड़े कामों को कर सकते हैं। सामर्थ्यवान ही सर्वश्रेष्ठ साहस कर सकते हैं। ये जगज्जननी तो पाताल में चली गयी थीं, अगाध जल के भीतर जाकर छिप गयी थीं इन्हें वहाँ से निकालने का साहस आपके अतिरिक्त कौन कर सकता था ? कौन इन्हें इतने गहर गम्भीर स्थान से खोजकर ला सकता था ? कौन इनका उद्धार करने में समर्थ हो सकता था ? कौन इन्हें जलके ऊपर उठाकर स्थापित कर सकता था ? हे सर्वसमर्थ प्रभो ! आपकी महिमा अपार है, आपका सामर्थ्य अप्रमेय है आपकी शक्ति अपरिमित है। पृथ्वी का उद्धार करना बड़े आश्चर्य की बात है। बहुत ही विस्मयकारी वार्ता है, किन्तु समस्त विस्मयों के एकमात्र आश्रय तो आप अच्युत ही हैं सम्पूर्ण विस्मय तो आपका ही आश्रय लेती है। जिस संसार में एक से एक विस्मय भरी पड़ी है, उस सम्पूर्ण चराचर जगत् को तो आप ही उत्पन्न करते हैं, फिर पृथ्वी का उद्धार करना आपके लिये कौन-सी विस्मय की बात है। आपके लिये तो यह अत्यन्त साधारण सहज स्वभाव जन्य कार्य है। अतः हे विस्मय कारक विभो ! आपके अमल विमल चरणकमलों में हमारा प्रणाम स्वीकार हो।

हे पावनों के भी पावन ! हे पतितपावन ! हे स्वामिन् जल से निकलकर जब आप फुरहरी लेते हो। अपने वेद श्रीविग्रह को हिलाते हो, तब आपकी जटाओं से शरीर के रोमों से झड़ती हुई शीतल जल की बूँदें हमारे शरीरों के ऊपर गिरती हैं, उनके संसर्ग से हम जनलोकवासी, तपलोकवासी तथा ब्रह्मलोकवासी जीव कृतार्थ हो जाते है। हम समस्त

ऋषि मुनिगण अपने को धन्य मानते हैं। कृतकृत्य समझते हैं, अपने जीवन को सार्थक मानते है, हम उस पावन जलके संसर्ग से परम पावन बन जाते हैं, पवित्र हो जाते हैं, ऐसे परम पावन प्रभुके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे प्रभो! आप अपार कर्मा है। आपके कर्मों की संख्या नहीं, गणना नहीं, पार नहीं, इयत्ता नहीं, सीमा नहीं, जो आप सर्वसमर्थ प्रभुके कर्मों की संख्या करना चाहते है, सीमा बाँधना चाहते हैं। वे अज्ञ हैं, अबोध हैं, भोले भाले तथा ज्ञानहीन हैं, अवश्य ही उनकी मति मारी गयी है, बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। भला आप अपारकर्मा के कर्मों का पार कोई व्यक्ति पा ही कैसे सकता है। आप निस्सीम की सीमा कोई निर्धारण कैसे कर सकता है? आपने कुछ ऐसा सम्मोहन मन्त्र फूँक दिया है कि यह सम्पूर्ण जगत् विमोहित बन गया है, आपकी योगमाया के सत्व, रज, और तम इन तीनों गुणों के प्रभाव से यह निखिल विश्व ब्रह्माण्ड बौरा गया है, अपने यथार्थ स्वरूप को भूलकर कुछ से कुछ करने लगा है। कुशल कर्मों से विमुख होकर विकर्मों में फँस गया है। हे कल्याणगुणगणार्णव! आप इन जीवों का उद्धार कीजिये। हे भगवन्! सबका मङ्गल कीजिये, शिव कीजिये, कल्याण कीजिये आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जन, तप और सत्य लोक निवासी ऋषि मुनियों की विनती सुनकर वाराह भगवान् ने भूमिको को जल के ऊपर स्थापित कर दिया और फिर सृष्टिका क्रम चालू हो गया। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में ऋषियों द्वारा की हुई वाराह भगवान् की स्तुति कही अब जिस प्रकार मातादेवहूति ने अपने पुत्र और गुरु भगवान् के अवतार कपिल

की स्तुति की. उसे मैं आगे कहूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

स्रुक् अरु स्रुव मुख नाभि इडा ई नाथ उदर है।
चमस करन प्राशित्र मुखहु ग्रह कंठ छिद्र है॥
चरवन ही है होम दीखनों दीक्षा प्यारी।
उपसद ग्रीवा कही इष्टि द्वै दाढ़ तिहारी॥
जिह्वा कही प्रवर्ग्य हरि, द्वै अग्निनी सिर प्रानचिति।
सोमवीर्य आसन सवन, सात धातु संस्था विदिति॥
सन्धि सत्र सब कहे यज्ञक्रतुमय कहलाओ।
अङ्ग गठन अनुठान मन्त्र सुर द्रव्य कहाओ॥
सर्वयज्ञ अरु क्रिया रूप तुमरे सब गावैं।
सबके गुरु तव चरन कमल महँ शीश नवावैं॥
धरे कमलनी दाँत गज, त्यों द्विज भू धरि उदित जल।
तन जल बूँदनि करै शुचि, बन्दौं प्रभु तव पद कमल॥

पद

नाथ! तुम सूकर को वपु धारयो।
वेद विदित हरि मख वपु धारे, अद्भुत रूप निहारो॥१॥नाथ०
जीव चराचर सुखते सोवें, जलतें भूमि निकारो।
शोभित अवनी धरी दाढ़पै, गिरिपै घन जिमि कारो॥२॥नाथ०
अथवा मत्त गयन्द दाँत धरि, कुमुदिनि पंक उखारयो।
शोभा निरखि सकल मुनि हरषे, जयजय शब्द उचारयो॥३॥ना०
जलतें निकसि हिलायो निज तनु, बूँदनि को जल डारयो।
पावन भये पाइ प्रभु दरशन, जीवन सफल हमारो॥४॥नाथ०

ऋषिगणकृत वाराह स्तुति

ऋषयऊचुः

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन,
त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरा,
स्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ॥१॥

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मना,
दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोम,
आज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥२॥

स्रुक्तुण्ड आसीत्स्रुवईश नासयो,
रिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रलास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते,
यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ॥३॥

दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं,
त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः,
सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवोहि ते ॥४॥

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः,

संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धिः,
त्वंसर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ॥५॥
नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता,
द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावितः,
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥६॥
दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता,
विराजते भूधर भूः सभूधरा ।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता,
मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥७॥
त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं,
भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा,
कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥८॥
संधाद्यैनां जगतां सतुस्थुषां,
लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया,
यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः ॥९॥
कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो,
रसां गताया नुव उद्विहर्तुम् ।

न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये,
यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम् ॥१०॥
विधुन्वता वेदमयं निजं वपुः,
जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभिः,
विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः ॥११
स वै वत भ्रष्टमतिस्तवैष ते,
सः कर्मणां पारमपारकर्मणः ।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं,
विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम् ॥१२॥

माँ देवहूति द्वारा कपिल भगवान् की स्तुति

(२४)

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसम्,
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्त गुणप्रवाहम्,
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥*॥
(श्रीभा० ३ स्क० ३३ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

कपिल रूप धरि ज्ञान जगत महँ परगट कीयो ।
जग रचिवे को ज्ञान दया करि अज कूँ दीयो ॥
उदर माँहि सब जीव जगत के जिनके निवसें ।
तेई लै अवतार उदर मेरे प्रभु प्रविसें ॥
पद पंकज कर कमल तें, धरि आनन अरविन्द में ।
चूसें वट के पत्र पै, बन्दौं पद गोविन्द में ॥

यह जीव भूखा प्यासा संसार मार्ग में भटक रहा है। प्यास में जिस पानी को देखता है, उसी की ओर दौड़ता है, उसे प्राप्त

* माता देवहूति अपने पुत्र कपिल भगवान्‌की स्तुति करती हुई कहती है—"प्रभो! आप इन्द्रियों की अन्तर्मुखी वृत्ति द्वारा अनुभव गम्य हैं, आप स्वयं साक्षात् परब्रह्म स्वरूप हैं, आपने अपने तेज द्वारा गुण प्रवाह को नष्ट कर दिया है, वेदों की उत्पत्ति आपसे ही हुई है, ऐसे आप साक्षात् विष्णु रूप कपिल की मैं वन्दना करती हूँ।"

करता है, छूता है, संमर्ग करता है, मुख से लगाता है, शीतलता तो पानी का स्वाभाविक गुण है, उसका स्पर्श कुछ काल को अच्छा लगता है, शरीर से उसका सङ्ग करता है, जिह्वा से उसे चाटता है, किन्तु कोई जल खारा निकलता है, कोई दुर्गन्ध युक्त होता है, पानी तो उसे स्थान स्थान में मिलता है किन्तु वह पेय नहीं, उससे प्यास नहीं बुझती। पिपासा शान्त नहीं होती। यदि भाग्य वश उसे प्रेम पीयूष मिल जाय, मीठा जल प्राप्त हो जाय, तब उसकी पिपासा मिट सकती है। इसी प्रकार भूख से व्याकुल होकर इधर-उधर भटकता है, जिसे देखता है उसे ही चखता है, उसी का स्वाद लेता है, परन्तु उन पदार्थों से बुभुक्षा जाती नहीं, तृप्ति होती नहीं, कोई उसे जीवनमूरि मिल जाय, तो उसे खाकर उसकी भूख मिट सकती है, परितृप्ति हो सकती है। जिस जीव को प्रेमपीयूष अथवा जीवनमूरि भाग्य वश मिल गई वही जीव धन्य हो जाता है, वही अपने प्रेमास्पद की स्तुति कर सकता है और प्रेम होता है स्तुति करते रहने से ही, अतः सबको श्रद्धा पूर्वक भगवान् की स्तुति ही करनी चाहिये। चाहें सिद्ध हो अथवा साधक, चाहे बद्ध जीव हो, मुमुक्षु नित्य तथा मुक्त भक्त सभी का एकमात्र कर्तव्य भगवान् की स्तुति करना ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जीव भगवान् से प्यार करना चाहता है, किन्तु उसे भगवान् तो मिलते नहीं छटपटाता हुआ इधर से उधर दौड़ता है कभी स्त्री को छाती से चिपटाता है, कभी मित्र का आलिंगन करता है, कभी माता, पिता, भाई बन्धु, बहिन उनके समीप प्यार के लिए जाता है, किन्तु जैसा वह चाहता है, वैसा प्यार उसे इन सबके साथ कहीं मिलता नहीं, इससे तड़प तड़पकर रह जाता है। क्या करे जीव अवश है भगवान् स्ववश हैं, स्वतंत्र हैं किसी के बन्धन में नहीं। वे इसी साधन से रीझ जायँगे, इसी कार्य से प्रसन्न हो जायँगे, ऐसी बात कोई निश्चित रूप से

कह नहीं सकता। वे ही जब कृपा करें, वे ही जब अपनावें तभी उनकी प्राप्ति सम्भव है।

अहा! संसार में वे लोग धन्य हैं जिन्हें भगवान् किसी सम्बन्धी के रूप में मिल गये हैं। सम्बन्धियों में स्नेह वैसे ही स्वाभाविक होता है, यदि वही स्नेह उन अखिलेश्वर में दृढ़तर हो जाय तब तो बेड़ा पार ही है। जिन माताओंके परमेश्वर पति रूप से प्राप्त हुए हैं उनके भाग्य की तो सराहना की ही जैसे जाय? किन्तु उन से भी बड़भागी वे मातायें हैं, जिन्हे श्रीहरि पुत्र रूप से प्राप्त हुए हैं, पुत्र बनकर जिन्होंने केवल वात्सल्य सुख ही न देकर गुरुत्व के भार को वहन करके ज्ञानामृत को पिलाया है और ब्रह्म रूप से उन्हें साक्षात्कार करा के मोक्ष की अन्तिम पदवी तक पहुँचा दिया है। जो एक साथ ही पुत्र, गुरु और परब्रह्म तीनों ही स्वयं बन गये हैं। पुत्र रूप से जिन्होंने उनके उदर में निवास किया है बालक रूप में गोदी को अलंकृत किया है, गुरु बनकर अपनी जननी को ही ज्ञान सिखाया है और उन्हें अन्तिम पद तक पहुँचाकर अपने स्वरूप का अनुभव कराया है, उन माताओं ने स्त्री जाति को संसार में परम प्रतिष्ठा के पद पर पहुँचाया है। भगवती देवहूति उन्हीं माताओं में से हैं।

महामुनि कर्दम का विवाह जब भगवती देवहूति के साथ हो गया और उनके गर्भ से ९ कन्यायें हो गयीं तब उनके उदर से भगवान कपिल अवतीर्ण हुए। वे भगवान के ज्ञानावतार थे, संसारमें ज्ञानका प्रचार प्रसार करने ही के लिये वे अवतरित हुए थे। कर्दम मुनि भगवान से आज्ञा लेकर तपस्या करने वन में चले गये। अब माँ देवहूति ने सोचा—"परमेश्वर को पुत्र पाकर मैं ही इन विषय भोगों में क्यों लिप्त बनी रहूँ, यही सोचकर उन्होंने पुत्र रूप में अवस्थित परमेश्वर से ज्ञान दान की याचना की। भगवान कपिल ने उन्हें ज्ञान, भक्ति तथा योग का उपदेश दिया। उसे सुन

कर माँ कृतार्थ हो गयी। सिद्धा बन गई, उसे अब जानने को कुछ भी शेष नहीं रहा। जिन पुत्र रूप में प्राप्त ज्ञानदाता गुरु की कृपा से उनका मोह रूप आवरण हटा था उन सांख्य द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले भगवान् कपिल के पाद-पद्मों में प्रणाम करके कृतज्ञता प्रकाशनार्थ प्रार्थना करती हुई कह रही हैं।

माँ देवहूति ने कहा—"प्रभो! आप मेरे नहीं हो, सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र पिता आप ही हो, सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तो प्रजापतियों द्वारा हुई है। प्रजापति ब्रह्माजी के पुत्र हैं और ब्रह्माजी आपकी नाभि से उत्पन्न होने वाले कमल से प्रकटे है वे आपके पुत्र हैं. इसलिये आप इस जगत् के प्रपितामह है। आपने लीलार्थ मनोविनोद के लिये जब सृष्टि रचना की इच्छा की, तब आपकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ और उसमें से चतुरानन ब्रह्माबाबा उत्पन्न हो गये। उस समय उन्हें चारों ओर जल ही जल दिखायी देता था। ब्रह्माजी ने अपने जनक आपको जानने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उन्हे आपके दर्शन नहीं हुए। जब वे बाहर खोजते-खोजते थक गये तब उन्होंने सम्पूर्ण कार्य-कारण वर्ग के बीज रूप आपका अपनी अन्तरात्मा में ही ध्यान किया। आपके दर्शन सबको नहीं हो सकते। जो आपके सगे पुत्र हैं, चराचर विश्व को रचने वाले हैं, उन ब्रह्माजी को भी जब आपके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सके तो अन्य प्राणी अपने पुरुषार्थ से आपको कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

प्रभो! आप प्रलयकालीन जल में शेष की सुन्दर सुखकर मृदुल चिकनी शय्या पर सुखसे सोते रहते हैं। आप ही निखिल-विश्व के आदि कारण हैं। पाँचों भूत, दशों बाह्य इन्द्रियाँ, चारों भीतर की इन्द्रियाँ अर्थात् अन्तःकरणमय हैं। आपसे ही ये सब उत्पन्न होते हैं। सत्वादिगुणों का प्रवाह आपसे प्रवाहित होता है। वास्तव में तो आप निष्क्रिय हैं, सभी प्रकार की क्रियाओं से

सर्वथा रहित हैं, सत्य संकल्प हैं, आपका संकल्प कभी नहीं होता। जो संकल्प करते हैं, तत्क्षण मूर्तिमान् हो जाता समस्त देहधारी प्राणियों के अन्तरात्मा हो, साक्षी हो, हो। आपकी शक्तियाँ अचिन्त्य हैं, अतर्क्य हैं तथा अनन्त आप महान् से भी महान् शक्तिशाली हो। आपकी अनन्त ही गुण प्रवाह में प्रवाहित होकर नानाप्रकार की सृजनशक्तियाँ रूप में विभक्त हो जाती हैं, जिससे इस चराचर जगत् उत्पत्ति होती है।

हे नाथ! हे जगदाधार! हे जगन्नियन्ता! हे विश्वम्भर मुझे कहने में लज्जाआती है, कि आपने मेरे उदर से जन्म लिया प्रभो! प्रलयकाल के समय यह सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च आप के उदर में विलीन हो जाता है। निखिल विश्वब्रह्माण्ड को करके आपशेषशय्यापर सो जाते हैं। फिर आनंदके लिये, लिये, विनोदके लिये लीला करने के निमित्तअक्षयवट के पर बालक बन कर-नन्हें से शिशुका रूप रखकर-करार विन्द पदारविन्द के अँगूठे को मुखारविन्द में देखकर नयनारविन्दों निहारते हुए, उस अँगूठे को चूसते हुए हँसते रहते हैं। अग ब्रह्माण्ड जिनके उदर में भरे रहते हैं वे ही विश्वोदर मेरे उदर उत्पन्न हों, यह विडम्बना नहीं तो क्या है? यह हँसी की बात नहीं है, हास्यास्पदप्रसङ्ग नहीं है, विश्व विधाता ब्रह्मा जिनका हो वे मेरे पुत्र बनें इसे कोन विश्वास करेगा?

स्वामिन्! आप अशरीरी को शरीर धारण करने आवश्यकता ही क्या है? फिर भी आप शरीर धारण करते हैं। हे अच्युत! आपका पद तो विच्युत है अविकृत है, उसमें विकृति की सम्भावना ही नहीं। फिर भी आप अवनि पर अवतरित होते हैं। प्रभो! आपको कोई कर्तव्य नहीं, आप

कर्त्तव्याकर्त्तव्य से रहित हैं, फिर भी सज्जन संरक्षण तथा दुष्ट-दमन रूप कार्य अवतार धारण करते ही हैं। आप कभी वाराह बन जाते हैं, कभी कच्छ मच्छ का रूप रखलेते हैं, कभी आधे सिंह और आधे पुरुष बन जाते हैं, कभी कोई अवतार ले लेते हैं, अबकी आपने कपिल रूप में अवतार लिया है, मेरे कोखको कृतार्थ किया है। हे प्रभो! आपके पाद-पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। यह आपका ज्ञानावतार भूले भटके मुमुक्षु जनों को ज्ञानमार्ग दिखाने के निमित्त हुआ है। अज्ञान के कारण जिनकी आँखों के आगे अन्धकार छाया है, उस ज्ञानाञ्जन शलाका से मिटाकर ज्ञानालोक दिखाने के निमित्त हुआ है। स्वामिन्! आप ज्ञान रूप हैं, सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। मुमुक्षुओं की एकमात्र शरण हैं। हे शरणागतवत्सल! आप को बारम्बार नमस्कार है।

हे पतित पावन! जिनको आपके स्वयं साक्षात् दर्शन हो जाते हैं, उनकी कौन गति प्राप्त होती है, इसे बताना तो मेरी बुद्धि के बाहर की बात है, किन्तु कोई कैसा भी पुरुष क्यों न हो, सबसे गर्हित अस्पृश्य पशु श्वान है, वह सबसे अपवित्र वस्तु विष्ठा खाता है, सज्जन पुरुष उसे छूते नहीं, उस कुत्ते को भी जो मारकर खा जाते हैं उसके मांस को भी जो खाने के लिये पचाते हैं वे श्वपच कहलाते हैं। मनुष्यों में श्वपचों से अधम और कोई नहीं। वे श्वपच भी केवल आपके श्रुत मधुर नामों का श्रद्धा सहित कीर्तन करें, आपकी वन्दना करें, आपके अवतार रूप का चिन्तन करें, तो वे भी यज्ञ के अधिकारी बन सकते हैं। यह सामर्थ्य तो आप के नाम संकीर्तन में हैं, फिर जिन्होंने आपके साक्षात् दर्शन कर लिये हैं उनकी कृतकृत्यता में तो सन्देह ही क्या है, मुझे आपके दर्शन हो गये, मैंने भूमि में सिर टेककर

आपको प्रणाम किया, फिर मेरा कल्याण तो हो ही जायगा। हे कल्याण स्वरूप ! आपको बारम्बार नमस्कार है।

प्रभो ! आपकी महिमा तो बुद्धि के परे की बात है, आपके नाम की महिमा ही इतनी अद्भुत है, कि प्राणी उसका भी अनुमान नहीं कर सकता। उसका भी पार नहीं पा सकता। जिसकी जिह्वा पर आपका श्रुत मधुर त्रैलोक्य पावन नाम विद्यमान् है, वह जातिका भले ही चाण्डाल भी क्यों न हो वह भी सर्वश्रेष्ठ है किन्तु जो आपके नाम से विमुख हैं, नाम संकीर्तन के द्वेषी हैं, उनका जन्म चाहे कितने भी उच्चकुल में हुआ हो, वे भी अधमाति अधम हैं। स्वामिन् ! आपके नाम का जो उच्चारण करते हैं, जिनकी जिह्वा पर आपके पावन नाम क्रीड़ा करते रहते हैं, जिनकी जिह्वा निरन्तर आपके श्रुत मधुर नामों का उच्चारण करती रहती हैं, उन्हीं को लेती रहती हैं. मानव जीवन का समस्त फल तो उन्हीं भाग्यशालियों ने प्राप्त किया है। वास्तव में उन्होंने ही तप किया है, पूर्वजन्मों की घोर तपस्या के फल स्वरूप ही जिह्वा से भगवन्नाम का उच्चारण हो सकता है। जिनके पूर्वजन्म के सुकृत नहीं हैं उनकी रुचि आपके नाम संकीर्तन में हो ही नहीं सकती। भाग्यशालियों की ही जिह्वा से आपका नाम निकल सकता है यज्ञ याग हवन करना उन्हीं का सार्थक है जो आपके नामों को निरन्तर गाते रहते हैं। तीर्थस्नान तथा दान की सार्थकता इसी में है कि आपके नामों में अनुराग हो। तीर्थस्नान उसी का सार्थक है जो नामानुरागी हो। वेद पाठ का भी एकमात्र फल यही है, कि आपके कीर्तन में प्रेम हो जाय। हे जगदुद्धारक ! आपके नाम गान में कितनी महान् शक्ति है इसे कोई कह नहीं सकता। इसलिये मेरी जिह्वा से निरन्तर आपके नामों का उच्चारण होता रहे यही मेरी प्रार्थना है। आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे आनन्दघन ! हे निर्धनों के धन ! हे कमललोचन ! हे जन मनरंजन ! हे कृपायतन ! हे त्रिभुवनशरण ! हे मदनमोहन ! आप बाह्येन्द्रिय के विषय नहीं हैं। योगीजन ध्यान समाधि द्वारा अन्तःकरण की अन्तर्मुखी वृत्ति द्वारा आपका अपने अन्दर अनुभव करते हैं, आप अपने तेज से गुण-प्रवाह को शान्त करने में सर्वथा समर्थ हैं, समस्त वेदों के उत्पत्ति स्थान प्रकट होने के मूलस्रोत आप ही हैं आप स्वयं साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप परिपूर्ण परब्रह्म है। आप अनादि अनन्त पुराणपुरुष हैं। इस समय हे विष्णो ! आपने कपिलावतार धारण किया है। मुमुक्षुओं को ज्ञान दान देने के निमित्त वेष बना लिया है। ऐसे कपिलावतार भगवान् विष्णु के पादपद्मों में बारम्बार नमस्कार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! माता देवहूति ऐसी स्तुति करके ध्यान मग्न हो गयीं और वह पदवी प्राप्त की जिसकी समता वेद पुराणों में मिलनी दुर्लभ है। उनका पांचभौतिक शरीर एक परम सिद्धिदायिनी सिद्धसेविता सर्वश्रेष्ठा सरिता के रूप में परिणत हो गया। यह मैंने आपसे देवहूति कृत कपिल भगवान की स्तुति कही, अब आप दक्ष यज्ञ विध्वंस के अनन्तर शिवजी को मनाने को जैसे ब्रह्मादि देवगण मिलकर कैलाश पर्वत पर गये और वहाँ जिस प्रकार उन सबने शिव स्तुति की उस पुण्य प्रसङ्ग को सुनिये।

छप्पय

सत पुरुषनि सुख दैन दमन दुष्टनिको करिवे।
लेउ अलख अवतार भार भू को हरि हरिवे॥
जिनको लै शुभ नाम श्वपच हू पावन होवैं।
लीयो नहिं जिनि नाम व्यरथ नर जीवन खोवैं॥

वेदगरम सुख शान्ति कर, शंकर शोभा धाम हैं।
कपिल देव पदपदुम महँ, पुनि पुनि पुन्य प्रनाम हैं॥

पद

कपिल मुनि प्रभु तुम वेष बनायो।
जगत नियन्ता सत्संकल्पा, सतचित वेदनि गायो ॥१॥ कपिल०
ब्रह्मा नाभि कमल तैं प्रकटे, गुननि प्रवाह बहायो।
रूप अरूप धारि जग जनमे, नाम कपिल कहलायो ॥२॥ कपिल०
बनि बालक बिहरो बट पुट पै, निगलि जगतकूँ जाओ।
काल पाइ के प्रकटो प्रभुजी, दासनि दरस दिखाओ ॥३॥ कपिल०
माया कठिन जीव जग भरमै, सत-चित रूप भुलायो।
शरन गही प्रभुपद पदुमनिमें, बार बार सिर नायो ॥४॥कपिल०

देवहूति कृत कपिल स्तुति

देवहूतिरुवाच

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं,
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते ।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं,
दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः ॥१॥

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते,
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धिः;
आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥२॥

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ,
कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः,
शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः ॥३॥

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां,
निदेशभाजां च विभो विभूतये ।
यथावतारास्तव सूकरादयः,

तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥४॥

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्,
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते,
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥५॥

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्,
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या,
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥६॥

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं,
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं,
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥७॥

देवों द्वारा देवाधिदेव महादेवजीकी स्तुति

[२५]

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनि बीजयोः ।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ६ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

दक्ष यज्ञ विध्वंस भयो अज-संग लिये सुर ।
गये शरन कैलाश करें इस्तुति अज सुखकर ॥
योनि बीज शिव शक्ति परे प्रभु जगत बनाओ ।
मकरी सम जग पूरि निगलि पुनि सबकूँ जाओ ॥
फल दाता सबतें सबल, नित्यनिरञ्जन गुन रहित ।
शङ्कर हर पङ्कज पदनि, बार बार बन्दन करत ॥

सत् पदार्थ एक ही है, उसे विद्वान् बहुत नामों से पुकारते हैं। उसका न कोई एक नाम है न एक रूप। जैसे एक चक्रवर्ती राजा है, वह कुछ काम नहीं करता। उसकी शक्ति उसका दण्डभय, उसका अस्तित्व ही सब काम कराता रहता

---

* ब्रह्मादि देव शिवजी की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे देव! हम आपको जानते हैं, आप जगत्के ईश हैं, जगत्की योनि शक्ति (प्रकृति) और उसका बीजशिव (पुरुष) इन दोनों से परे अन्तर-रहित सनातन परब्रह्मपुरुषोत्तम हैं।"

है। वह स्वयं किसी अधिकार पर आरूढ़ नहीं होता। निर्माण विभाग का अधिकारी पृथक् है। प्रतिरक्षा विभाग, यातायात, रक्षा, स्वास्थ्य, जन कल्याण आदि प्रजाके हित के अनेकों विभाग हैं, उन सब विभागाध्यक्षों में शक्ति उसीकी काम करती है। न्याय-याध्यक्ष निर्णय करेगा तो उसीके नामसे उसीके शक्तिसे कोई अभियोग चलेगा। वादी प्रतिवादीमें सम्राट्का नाम रहेगा। हानि लाभ सब उसीको होगी। सम्राट् चाहे तो किसीएक विभागका या सभी विभागों का स्वयं अधिकारी भी बन सकता है, किन्तु उसका सम्राट्पना सुरक्षित रहेगा, अधिकारी बन जाने से उसके रूप में, अधिकार में, शक्ति में नाम में तथा प्रभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। उस सम्राट् को भावानुसार अनुकूल प्रतिकूल सम्बन्धों से लोग अनेक नामों से पुकारेंगे। उसकी माँ उसे बेटा कहेगी। अपने पुत्रों से वह बेटा कहेगा। उसकी महारानी का भाई उसे बहनोई करके पुकारेगा। उसकी बहिन का पति उसे साला कहेगा। इस प्रकार अनेक सम्बन्धों से एक को ही बहुत नामों से पुकारते हैं।

इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा, सर्वनियन्ता, सर्वसाक्षी, सर्वगत, निरञ्जन, निराकार, निर्विकल्प, निरावयम, नित्य, निरन्तर एक ही हैं। वे संसार से सर्वथा पृथक् हैं। वे सृष्टि स्थिति तथा प्रलय आदि कार्यों से सर्वथा निर्लिप्त हैं। ये सब काम उसीकी प्रेरणा, उसी के संकल्प तथा उसी की शक्ति से हो रहे हैं। उसी के दिये हुए अधिकार से उनकी दी हुई शक्तिके उसीके रूपमें अधिकारी कार्य कर रहे हैं। कोई किसी अधिकारी के पास प्रार्थना पत्र भेजेगा, तो घूम फिरकर अन्त में पहुँचेगा उसी के पास। कोई सीधा प्रार्थनापत्र भेजते हैं, तो सीधा उसे ही मिल

जाता है और कोई छोटे से छोटे या बड़े से बड़े अधिकारी के पास भेजता है, तो वह भी विभागोंमें होता हुआ उसीके पास पहुँचेगा। एक तो यह है, कि आप पानी का घड़ा लेकर गये समुद्र में डाल आये, सीधा समुद्र में पहुँच गया। दूसरा क्रम यह है कि आप जहाँ भी कहीं मरुभूमि में, पहाड़ पर, उर्वरा भूमि में समुद्र से कितनी भी दूर कहीं भी जलको फेंक दो तो वह पहुँचेगा समुद्र में ही। मान लो आपने एक घड़ा पानी गङ्गोत्री से गङ्गाजी में फेंक दिया तो वह बहता हुआ समुद्र में ही पहुँचेगा उससे पहिले कहीं रुक ही नहीं सकता। आपने गङ्गाजी में न फेंककर, कूएँ में फेंक दिया, तो भी वह किसी न किसी प्रकार समुद्र में पहुँचेगा। आपने बालूमें फेंक दिया, तो बालूसे सूर्य उसे शोष लेगा, उसे समुद्र में बरसा देगा। या किसी तालाब, क्षुद्र नदी में वर्षा देगा। तालाब से क्षुद्र नदी में आवेगा, उससे बड़ी नदी में बड़ी नदी से, महानदी में, और महानदीसे समुद्रमें मिलेगा। जब तक वह समुद्र में मिल न जायगा। शान्त न होगा। इसी प्रकार आप छोटे बड़े किसी को भी नमस्कार करो अन्त में पहुँचेगा उन्हीं प्रभुके पास।*

कोई भगवान् को शक्ति रूप में पुकारते हैं, उनका कहना है कि भगवती, काली, शिवा, रुद्राणी, ब्रह्माणी, कमला, विमला, शची आदि जितनी शक्तियाँ हैं सब उन्हीं के अंश हैं। जो इन सबमें शक्ति प्रदान करती हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा अन्य सभी भूतों में शक्ति देनेवाली महाशक्ति इनसे पृथक् है। कोई कहते हैं सृष्टि का कार्य ब्रह्मा करते हैं। पालन का कार्य विष्णु करते हैं, संहार का काम शिव करते हैं।

---

* आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

इन सबके जनक "महाविष्णु" इनसे पृथक् हैं। दूसरे कहते हैं, त्रिदेवों द्वारा कार्य हो रहा है, संहार करनेवाले शिव तो एकाधिकारवाले हैं। इन त्रिदेवों के भी जनक महाशिव देवाधिदेव महादेव पृथक् हैं। इसी प्रकार सूर्य से पृथक् प्रकाशदाता महासूर्य, विघ्नविनायक गणपति से पृथक् महागणपति पृथक् हैं। चाहे महाशक्ति कहो, महाशिव कहो, महाविष्णु कहो, महागणपति कहो अथवा महासूर्य कहो। ये सब एक के ही नाम हैं, भावानुसार, अपनी अपनी मति के अनुसार एक ही शक्ति को विविध रूपों से पूजते हैं, विविध नामों से पुकारते हैं। तभी तो कहीं शिवजी विष्णु की स्तुति करते हैं, कभी विष्णु शिवकी। कभी शिवजी जाकर ब्रह्माजी की विरुदावली गाते हैं, उन्हें पिता कहकर प्रणाम करते हैं, कहीं स्वयं ब्रह्माजी जाकर अपने से ही उत्पन्न शंकरजीको सबसे श्रेष्ठ सबके जनक, सबके पिता कहकर उनकी स्तुति करते हैं। अतः किसी को यह शंका न करना चाहिये अमुक देव श्रेष्ठ हैं अमुक निकृष्ट। श्रेष्ठ तो एक ही देव है। उसके नाम रूप या तो अनेक हैं या वह नाम रूप से सर्वदा रहित है। कहीं भी स्तुति करो, पहुँचेगी उन्हीं के पास किसी भी नाम रूप से विनय करो, मिलेगी उसी के लिये। जैसे हमने पिता को प्रणाम किया, तो हमारे पिता ने यह प्रणाम लेकर अपने पिता को दे दी। उन्होंने अपने पिता को, उन्होंने अपने पिता को इस प्रकार परम्परा से चलती चलती ब्रह्माजी के पास पहुँच गयी। ब्रह्माजी ने उसे अपने पिता परम पिता परमात्मा को प्रदान कर दी। वहाँ से आगे कोई धाम नहीं, कोई स्थान नहीं, परम पिता ने उसे स्वीकार करके अपने पास रख ली। इसीलिये कहा है कुत्ता, चाण्डाल, गौ, गदहा अथवा कोई भी छोटा बड़ा जीव क्यों न हो, उसके लिये भूमि में लेटकर दण्डवत्

प्रणाम करनी चाहिये। सबमें भगवत् बुद्धि हो जाय यही प्रणाम करने का प्रयोजन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्माजीने दक्ष प्रजापति को समस्त प्रजापतियोंका पति बना दिया। तब उन्हें अहंकार होगया, कि सभी मुझे प्रणाम करें। भोले बाबा शिवजी ने कहा हम अहंकार को सिर नवाकर पूजा नहीं करेंगे, उसको पूजा तो सिर में डंडा मार कर ही की जाती है। आप ब्राह्मण की पूजा करें तो उसे मिष्ठान्न खिलाइये गौमाता की पूजा करनी हो घास खिलाइये। ब्राह्मण की पूजा घास खिलाने से नहीं होगी। इसीलिये शिवजी ने अभिमानी दक्ष को सिर नहीं झुकाया। बात बहुत बढ़ गयी, शिवजी का देव समाज से बहिष्कार किया गया। अपनी पुत्री शिवपत्नी शिवा को भी दक्ष ने अपने यज्ञ में नहीं बुलाया। पितृ स्नेह से बिना बुलाये शिवजी के मना करने पर भी सती दक्षयज्ञ में गयीं। वहाँ शिवजी का भाग न देखकर भस्म हो गयीं। सब समाचार सुनकर शिवजी ने अपनी जटा से वीरभद्र को उत्पन्न किया। उसने अन्य रुद्रानुचरों के साथ जाकर यज्ञको विध्वंस किया। दक्ष का सिर काट लिया। अन्य सभी शिव द्रोही देवता ऋषि मुनियों की भली भाँति कुटाई की। उनके अङ्ग भंग कर दिये। सब ने मार खाकर दुखी हो ब्रह्माजी को आगे करके कैलाश में शिवजी की शरण में पहुँचे और सबकी ओर से जगत् जनक ब्रह्माजी शिवजी की स्तुति करते हुए कह रहे हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हे देवाधिदेव! हे कल्याणकर्ता! कोई भले ही जानें न जानें, किन्तु मैं तो जानता ही हूँ। चराचर विश्व के दृश्य जगत् के सम्पूर्ण प्रपञ्च के एकमात्र हो। आपके बिना न सृष्टि हो सकती है न हुई सृष्टि की जा सकती है और न संहार संभव है। यह सम्पूर्ण संसार रे

शिवकी क्रीड़ास्थली है, प्रकृति पुरुष का खेल है। स्त्री पुरुष रमण स्थली है। आप न प्रकृति हैं, न पुरुष हैं, इन दोनों से महापुरुष हैं। आप न शिव हैं, न शक्ति हैं, इन दोनों से ही महाशिव अथवा महाशक्ति हैं। आप न स्त्री हैं, न पुरुष हैं सबसे उत्तम पुरुषोत्तम हैं। आपमें भेदभाव नहीं, द्वैत नहीं, तो भेदभाव से रहित अद्वय सनातन परब्रह्म हैं। अतः बारम्बार नमस्कार है।

हे प्रभो! जिस प्रकार मकड़ी जब चाहती है अपने पेट से निकालकर जाला बुन लेती है जबतक चाहती है उसमें क्रीड़ा है और जब इच्छा होती है उस सबको स्वयं ही निगल भी है। इसी प्रकार आप जब चाहते हैं जगत् को बना लेते हैं, जब इच्छा होती है इसकी रक्षा करते हैं, जब मनमें आता है इस पसारे को समेटकर अपने में लीन करके सुख से सो जाते हैं आपके ऊपर कोई नहीं है जो आपके कार्य में, संकल्प में, क्षेप करे। प्रकृति पुरुष, शिवशक्ति, जनकजननी, रजविन्दु, तथा बीज ये सब आपके अपने ही स्वरूप हैं। इन्हीं के आप उत्पत्ति स्थिति और संहार करते रहते हैं।

हे यज्ञ स्वरूप! यज्ञके उत्पन्नकर्ता भी तो आप ही हैं। द्वारा पुरुष अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकें, धर्म अर्थ तथा की प्राप्ति हो सके, वेदों की रक्षा हो सके इसके निमित्त आपने तो यज्ञयागों का प्रचार प्रसार किया है। यथार्थ यज्ञकर्ता यज्ञफल भोक्ता तो आप ही हैं। यह दक्ष तो केवल था। धर्म की मर्यादा का उत्पत्ति स्थान भी आप ही हैं, ही समस्त मर्यादायें बाँधी हैं, ब्राह्मणगण तो केवल उनका की आज्ञा से श्रद्धापूर्वक पालनमात्र करते हैं।

हे मङ्गलों के मङ्गल! हे आनन्दमय! हे क

मंगल मय ! पुण्य और पाप की रचना भी आपके ही द्वारा
ई है, स्वर्ग और नरक को भी आप ने ही बनाया है, पुण्य और
प करने की प्रेरणा भी आपसे ही प्राप्त होती है। पुण्य
रनेवालों को स्वर्ग सुख भी आप ही भुगाते हैं, पाप करने
लों को नरक पठाकर उन्हें यम यातना भी आप ही दिलाते
। मोक्ष के दाता भी आप ही हैं। कहीं कहीं इसके विपरीत
ी देखा गया है, निरन्तर दान देने वाले को दान जैसे पुण्य
र्म को करने वाले को गिरगिट बनना पड़ता है। इस यज्ञ
भी हम ऐसी विपरीतता पाते हैं। यज्ञ जैसे पवित्र कार्य को
रते समय दक्ष का सिर कट गया, यज्ञ विध्वंस हो गया,
वता गये थे तो यज्ञ में अपना भाग लेने किन्तु मिली उन्हें
ापके गणों द्वारा बिनाभाव की पिटाई। ऋत्विजों को दक्षिणा
स्थान में कुटाई ठुकाई मिली। इस विपरीतता के रहस्य को
ी आप ही समझ सकते हैं।

हे मन्यु रहित महेश्वर ! यह कहें कि यह सब क्रोध के
ारण हुआ तो क्रोध भी तो आपका ही रूप है। आप कह
कते हैं, क्रोध मेरे अधीन है, मैं कुछ क्रोध के अधीन नहीं हूँ,
रे गणों ने क्रोध के अधीन होकर यह सब उपद्रव कर डाला।
ी, यह भी सम्भव नहीं। क्रोध होता है कामना के व्याघात
, क्रोध आता है अहंकार से, क्रोध आता है अपने को ही
र्ता मानने से, क्रोध आता है पृथक् भाव देखने से, प्राणियों
भेद भाव रखने से। जिन पुरुषों ने अपना सर्वस्व शिव
रूप आपको समर्पित कर दिया है। जिन्होंने अपनी अन्तरात्मा
आप अनादि अज को अर्पण कर दिया है, जो चराचर
श्व में सम्पूर्ण प्राणियों में सर्वत्र आपको ही विराजमान
खते हैं तथा जो निखिल विश्व को, समस्त जीवों को अपृथक
व से अपने में ही अध्यस्त देखते हैं, उन्हें भला क्रोध कैसे

आ सकता है। प्रायः वे क्रोध के अधीन होते नहीं आपके अनुगत अनुचर रुद्रगण क्रोध के वशीभूत होकर यज्ञ विध्वंस रूपी कुकृत्य कभी कर नहीं सकते। यह तो पशु बुद्धि है आप पशुपति हैं। डंडा लिये हुए पशुओं के पीछे रहते हैं, अत इस यज्ञ विध्वंस में भी कोई कारण है।

हे दंड धर! संसार में सभी प्रकार के प्राणियों को आप पशुपति ने पैदा कर दिये हैं। कुछ साधु प्रकृति के पुरुष सदा आप परम पुरुष के ही चिन्तन में लगे रहते हैं, सर्वत्र आप का ही साक्षात्कार करते हैं, किन्तु कुछ कुत्सित मति वाले भिन्न बुद्धि के भी होते हैं। वे भाव की शुद्धता पर ध्यान नहीं देते, केवल कर्म में ही आस्था रखते हैं, किसी भी कर्म से शत्रु को हानि पहुँचायी जाय, मेरे विपक्षी का पराभव हो, मेरा उत्कर्ष बढ़े, मुझे ही सब सर्वश्रेष्ठ समझें। ऐसे भावों से उनका चित्त दुष्ट हो जाता है। उनके अन्तःकरण में ईर्ष्या समा जाती है, वे दूसरों के उत्कर्ष देख नहीं सकते। दूसरों की बढ़ती को सहन करने में समर्थ नहीं होते दूसरों की उन्नति देखकर मन ही मन जलते हैं, कुढ़ते रहते हैं, अशान्त बने रहते हैं। वे ईर्ष्यालु पुरुष दूसरों के हृदयों को मर्मस्पर्शी वाणी द्वारा बेधते रहते हैं। उनके मुख से अहंकार भरी ईर्ष्या के विष में बुझी वाणी ही निकला करती है। अपने दुर्वचनों से दूसरों के अन्तःकरण को दुखी ही बनाते रहते हैं। पूर्वकृत कुकर्मों से उनका अन्तःकरण कलुषित हो गया है, प्रारब्ध ने उनकी बुद्धि विपरीत बनादी है। भाग्य ने उनकी दुर्दशा कर दी है, अभागे तो दैव द्वारा ही दंडित हैं। आपको तो ऐसे दैवहत जीवों पर दया ही दर्शानी चाहिये। आप ही उनकी उपेक्षा करेंगे या कठोर दन्ड देंगे तो उनका निस्तार कैसे होगा? हे पालक

प्रभो ! ऐसे नराधमों को नष्ट करने का प्रयत्न आपको नहीं करना चाहिये।

स्वामिन् ! यह जीव माया के चक्कर में फँस गया है, आप से विमुख बन गया है। विपरीत मार्ग की ओर चल पड़ा है। आपकी दुरत्यया दैवी माया से इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। वे जीव जीव में भेद मानते हैं। वे सज्जन पुरुषों की सदा निन्दा करते हैं। अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के निमित्त साधु पुरुषों को बुरा भला कहते हैं, उन्हें कोसते हैं, उनका अपराध करते हैं। वे चाहें अपने धर्म से च्युत भले ही हो जायँ, किन्तु साधु पुरुष अपने स्वभाव के विपरीत बर्ताव नहीं करते। वे उन निन्दकों पर भी कृपा ही करते हैं, अपराध करने वालों को भी क्षमा ही कर देते हैं। अपने दयालु स्वभाव के कारण उनके प्रति दया ही दर्शाते हैं। कृपादृष्टि से उन पर प्रेम की वृष्टि ही करते हैं। वे समझ लेते हैं, यह जो हमें बुरा भला कह रहा है दुःख दे रहा है, यह भी हमारे कर्मों का भोग है। सुख दुख को दैवाधीन समझकर उनपर कोप नहीं करते उनका किसी प्रकार का अनिष्ट, अहित नहीं करते।

हे प्रभो ! हे दयासागर ! आपसे कोई बात छिपी तो है नहीं। आप घट-घट की बात जानते हैं, आप सर्वज्ञ तथा सर्वदृक् हैं। आप परम पुरुष अपनी माया के चक्कर में नहीं आते। दूसरों के लिये आपकी माया दुरन्त दुस्तर भले ही हो, किन्तु आपकी बुद्धि का तो वह स्पर्श भी नहीं कर सकती। आप तो शुद्ध बुद्ध तथा माया गुणों से सर्वथा रहित हैं। जिनका चित्त माया के चक्कर में फँस गया है और निरन्तर कर्मों के ही अधीन रहते हैं कर्म मार्ग में ही जिनकी आसक्ति बढ़ गयी है उनपर तो आपको कृपा करनी चाहिये, दया दिखानी चाहिये।

हे मननशील ! हे मनुओं के भी मनु ! हे प्रजापतियों के भी बनानेवाले ! जो बात हो गयी सो हो गयी, उसे अब आप भुला दें। आपके गणों द्वारा जो दक्षका यज्ञ विध्वंस हो गया है, उसे पुनः सम्हलवा दें, उसकी सानन्द समाप्ति करा दें। इसका पुनः उद्धार करा दें।

स्वामिन् ! अपराध सब दक्ष का ही है। दक्ष का भी क्या अपराध है। इन स्वार्थी याजकों ने उसकी बुद्धि को विपरीत बना दिया था। खेत में से ही तो अन्न लेने जायँ और क्षेत्राधिप की ही उपेक्षा करें। मन्दिर में ही तो पूजा करने जायँ और मन्दिर की मूर्ति से ही द्वेष करें। गङ्गाजी में ही स्नान करने जायँ और गङ्गाजल का स्पर्श न करें तो ऐसे कुबुद्धियों को कभी फल मिल सकता है। समस्त यज्ञों के अधीश्वर तो आप और यज्ञ में आपकी ही उपेक्षा की जाय, आपकी पूजा न हो तो वह यज्ञ कैसे सफल होगा ? यज्ञ भाग के एकमात्र अधिकारी तो आप ही हैं और आपको ही यज्ञ भाग से वञ्चित रखा गया उसकी तो ऐसी दुर्गति होनी ही थी।

हे देव ! अब आप दया कीजिये, बिगड़ी को बना दीजिये। अपराधों की ओर ध्यान न दें। यज्ञ के यजमान का जो वीरभद्र ने सिर काटकर जला दिया है, प्राणहीन हो गया है वह फिर से जीवित हो उठे। भगदेव के जो नेत्र फूट गये हैं वे पुनः देखने लगें। भृगु की दाढ़ी मोंछ सफाचट हो गयी है वह पुनः उपज आवे पोपले दाँत वाले पूषा जिनकी बत्तीसी गणों ने झाड़ दी है। उनके भोजन का कोई डौलडाल बैठा दीजिये। अधिक क्या कहें देवता ऋत्विज् तथा अन्य जो भी घायल हुए हैं जिनके जो अङ्ग भंग हुए हैं, उन सबके अङ्ग ज्यों के त्यों हो जायँ, सब स्वस्थ नीरुज तथा निरोग बन जायँ। यज्ञ पूर्ण होने पर जो भी कुछ शेष रहे वह सब भाग आपका ही है। शेष भाग

तो गृहपति का होता ही है ? कंगालों को बाँट देने के अनन्तर जो बच जाता है उस सब पर स्वत्व तो स्वामी का ही होता है। अब यह यज्ञ सम्पूर्ण आपके ही भाग से पूर्ण हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ब्रह्मादि देवों की स्तुति सुनकर शिवजी ने 'तथास्तु' कह दिया। इस प्रकार मैंने आपसे यह शिवजी की स्तुति कही। अब मधुवन में तपस्या करते समय ध्रुवजी के आगे जैसे भगवान् प्रकट हुए और ५ वर्ष वाले ध्रुव जीने उनकी जैसी दिव्य स्तुति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। इस स्तुति में सभी शास्त्रों का सार है।

छप्पय

क्रोध भेद तें होहि भेद तुमसे नहिं स्वामी।
आपु अखिल अद्वैत आदि अज अन्तरयामी॥
जो अबोध अति अज्ञ कृपा तिनि पै प्रभु कीजे।
पूरन होवै यज्ञ दक्ष जीवैं वर दीजे॥
हे हर ! होवैं स्वस्थ सब, यों कहि सब बन्दन करयो।
शिव तथास्तु कहि हँसि परे, दक्ष यज्ञ पूरन करयो॥

पद

शिव ! तुम भोले नाथ कहाओ।
सबतें परे सबनि के स्वामी सब जग जीव जिवाओ॥१॥ शिव०
पालन करो विविध वेपनितें, पुनि संहार कराओ।
मकरी समजग मुखतें उगिलो, फेरि निगलि सबजाओ॥२॥ शि०
स्वरग नरक अपबरग देहु तुम, सुख दुख भोग भुगाओ।
सब बिधि सुख सत पुरुषनि देओ, दुष्टनि दंड दिवाओ॥३॥ शि०
कृपा करो करुनाकर शङ्कर, शरनागत अपनाओ।
चूक करो प्रभु छिमा हमारी, भव भय भूत भगाओ॥४॥ शिव०

ब्रह्मकृत शिवस्तुति

ब्रह्मोवाच

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः ।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ॥१॥
त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः ।
विश्वं सृजसि पास्यत्सिक्रीडन्नूर्णपटो यथा ॥२॥
त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तये,
दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम् ।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो,
यान् ब्राह्मणाःश्रद्दधते धृतव्रताः ॥३॥
त्वं कर्मणां मंगल मंगलानां,
कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमंगलानां च तमिस्रमुल्बणं,
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥४॥
न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां,
भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव ।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां,
प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम् ॥५॥
पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः,
परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् ।
परान् दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदाः—
स्तान् मा वधीर्दैववधान् भवद्विधः ॥६॥

यस्मिन् यदा पुष्कर नाभमायया,
दुरन्तया स्पृष्टधियः पृथग्दृशः ।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां,
न साधवो दैववलात्कृते क्रमम् ॥७॥
भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया,
दुरन्तयास्पृष्टमतिः समस्तदृक् ।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतः,
स्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो ॥८॥
कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भोः,
त्वयासमाप्तस्य मनो प्रजापतेः ।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः,
कुयज्विनो येन मखो निनीयते ॥९॥
जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्ये ताक्षिणी भगः ।
भृगोःश्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णोदन्ताश्च पूर्ववत् ॥१०॥
देवानांभग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः ।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम् ॥११॥
एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्रभागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥१॥

ध्रुवजी द्वारा भगवान् की स्तुति (१)

(२६)

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्ताम्,
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्,
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥१

(श्रीभा० ४ स्क० ९ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

सौतेली माँ वाकबान लखि ध्रुव बन आये ।
लै नारद तै मन्त्र श्याम पट मास रिझाये ॥
भये प्रकट प्रभु विनय करन शिशु मन ललचायो ।
बानी बोध कराय गाल तैं शङ्ख छुवायो ॥
विनय करै—हरि ! हरन दुख, प्रभु प्राननि के प्रान हो ।
सकल करन जीवित करन, सुख सम्पति की खान हो ॥

महाराज उत्तानपाद के सुनीति और सुरुचि दो रानियाँ थीं। सुनीति के ही पुत्र ध्रुवजी थे और सुरुचि के उत्तम नाम का पुत्र था। सौतेली माँ ने ध्रुव का अपमान किया, इसलिये माता की

---

१ भगवान् की स्तुति करते हुए ध्रुवजी कह रहे हैं—"जो भगवान् सर्वशक्ति सम्पन्न हैं, जो आप मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर मेरी सोयी हुई वाणी को जगाते हैं तथा आप ही मेरे कर, चरण, कर्ण, तथा त्वचा आदि अन्य समस्त इन्द्रियों को प्राणों को भी सजीव करते हैं, उन आप परम पुरुष प्रभु पादपद्मों में प्रणाम है।"

आज्ञा लेकर ध्रुवजी मधुवन में तपस्या करने चले गये, नारद जी ने मार्ग में उन्हें मन्त्र दिया, उपासना की विधि बतायी। ६ महीने की घोर तपस्या से भगवान् का सिंहासन हिल उठा। वे अपने धाम से दौड़कर ध्रुवजी को दर्शन देने मधुवन में आ पहुँचे। बालक ध्रुव ने जब अपने सम्मुख शङ्ख, चक्रधारी, कल्याणकारी, शरणागतविपति विहारी बनवारी को देखा, तो वे हक्के-बक्के से रह गये। बालक ही जो ठहरे, बुद्धि उतनी विकसित नहीं थी, शास्त्रों का अध्ययन भी नहीं किया था, पाँच वर्ष के बालक को ज्ञान ही कितना होता है, उनकी इच्छा भगवान् की स्तुति करने की हुई, किन्तु कभी स्तुति की हो तो जानें, वे विवश होकर छट-पटाने लगे। सर्वान्तर्यामी प्रभु अपने बाल भक्त के भाव को समझ गये, उन्होंने अनन्त ज्ञान भंडार अपने पांचजन्य शङ्ख के अग्रभाग से उनके कपोल का स्पर्श करा दिया। फिर क्या था स्वयं साक्षात् ज्ञानदातृ सरस्वती उनके कण्ठ के ऊपर आकर बैठ गयीं और वे भगवान् के मुखारविन्द को निहारते हुए उनकी स्तुति करने लगे।

ध्रुवजी ने कहा—"प्रभो मैं आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ। हे मेरे नारायण! आप इस अज्ञ बालक की बन्दना को स्वीकार करें। स्वामिन्! अज्ञान के कारण तमो-गुण की अधिकता से मेरी वाणी प्रगाढ़ निद्रा में प्रसुप्त पड़ी थी, उसमें इतनीशक्ति नहीं थी, किवह आपकी उठकर स्तुतिकर सके। आपकी विशद विरुदावली का बखान कर सके, किन्तु आप तो परम प्रकाशमय हो, अन्तर्यामी हो, ज्ञानमय तथा सम्पूर्ण सामर्थ्य सम्पन्न हो। आपने मेरे अन्तःकरण में प्रवेश करके अपने प्रभाव से अपने तेज से निर्जीव के सदृश प्रसुप्त पड़ी वाक्देवी को जाग्रत कर दिया, सजीवता प्रदान कर दी। अनशन करने के कारण कर, चरण, कर्ण, चक्षु, नासिका, रसना, त्वचा, पायु, और उपस्थ ये

सभी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयी थीं, उन सबमें आपने अपने संकल्प से ही चैतन्य प्रदान कर दी। बाह्यकरण तथा अन्तःकरण में स्फूर्ति भर दी। ऐसे आप तेजोमय प्रकाशमय प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम है, बारम्बार नमस्कार है। प्रभो! आप मेरे ही नहीं सभी के स्वामी हैं, इन्द्रियों को इद्रियत्व प्रदान वाले आप ही हो। प्राणों में प्रीणनशक्ति चैतन्य आप ही भरते हो। इन्द्रियों तथा प्राणों के ईश आप ही हैं। असुप्त जीव जगत को जाग्रत करने की शक्ति आप में ही है। आप ही जीवों में जीवत्व स्थापित करते हो। ऐसे आपको बारम्बार नमस्कार है।

हे पुरुषोत्तम! इस सृष्टि रचना में आपको कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता। कोई संगी साथी सहयोगी खोजना नहीं पड़ता। आप एक अकेले अद्वैत होकर भी अनेक हो जाते हो नाना रूप रखकर क्रीड़ा करते हो। अपनी अनन्त गुणमयी माया शक्ति से अपने संकल्प द्वारा ही महत्तत्व, अहंतत्व तथा इन्द्रियादि की रचना कर लेते हो। वास्तव में देखा जाय तो माया कृत यह दृश्य प्रपञ्च गुणों के इन्द्रियादि विकार जड़ हैं, असत् हैं, किन्तु आप उन सबमें जीव रूप से प्रविष्ट होकर उन्हीं के आकार जैसे भासने लगते हो, उन्हीं की आकृति जैसे प्रतीत होने लगते हो। जैसे छोटे मोटे, लम्बे चौड़े नाना आकृतियों के काष्ठ के टुकड़े पड़े हैं, उनमें अग्नि प्रवेश करती है, तो गोल काष्ठ में अग्नि गोल प्रतीत होती है, लम्बे काष्ठ में लम्बी और मोटे काष्ठ में मोटी। मोटापन, लम्बापन, चौड़ापन अग्नि मे नहीं है, काष्ठ के संसर्ग से उसमे ऐसी प्रतीत होने लगती है। निराकार अग्नि अपनी उपाधियों के अनुसार भिन्न-भिन्न आकृतियों में भासता है।

स्वामिन्! यही बात नहीं कि आप बद्ध जीवों के ही स्वामी हैं। आप नित्य, मुक्त, बद्ध तथा मुमुक्षु चारों प्रकार के जीवों के उपास्य हैं, सभी की शरण आप ही हैं। सर्ग के आदि में चतु-

र्मुख ब्रह्मा भी किंकर्तव्यविमूढ़ से बने हुए थे। उन्हें अपने कर्तव्य का प्रबोध भी नहीं था। वे सृष्टि रचना करनेमें सर्वथा अपनेको असमर्थ अनुभव करते थे। वे निर्णय ही न कर सके थे, कि अब मुझे क्या करना चाहिये, उस समय उन्हें आपकी ही कृपा से स्फुरणा हुई कि "जो मेरे जनक हैं, जिन्होंने मुझे उत्पन्न किया है, उन्हीं की शरण में मुझे जाना चाहिये।" यह सोचकर उन्होंने आपके चरणों की शरण गही। आपने कृपा करके उन्हें सृष्टि विषयक ज्ञान प्रदान किया, जिसके प्रभाव से प्रसुप्त पुरुष जैसे जागकर अपनी प्राचीन वस्तुओं को जाग्रत अवस्था में अवलोकन करता है, वैसे ही उन्होंने इस जगत् को देखा। उन्हें जगत् रचना की स्मृति हो उठी, सृष्टि की सामग्री का साक्षात्कार हुआ। ऐसे आप इस जगत् रूप वृक्ष के आदि बीज एक अद्वय के पाद-पद्मों में प्रणाम है।

प्रभो! संसारी जीव आपकी उपासना संसारी भोगों की कामना से करते हैं, हमें अन्न मिले, वस्त्र मिले, पति को पत्नी और पत्नी को सुघड़ पति मिले, रूप मिले, भोगों में सफलता मिले, हमारे शत्रुओं का नाश हो, तथा और भी सभी भोग की वस्तुएँ प्राप्त हो। हे करुणासिन्धो! ये भोग वस्तुएँ तो नरक में भी मिलती हैं। नारकीय जीव भी इन्द्रियजन्य विषयों को पाते हैं। सूकर कूकर काक आदि विष्ठा खाने वाली योनियों में भी मानव शरीर से भोगे जाने वाले विषय प्राप्त हो जाते हैं, बाल बच्चे तो उनके भी होते हैं। मृतक शरीर को भी वस्त्राभूषणों से अलंकृत करते हैं, उस पर भी पुष्प मालायें चढ़ाते हैं, अन्न का पिंड भी उसकी छाती पर रख देते हैं फिर मानव शरीर की विशेषता क्या रही? क्या विषय भोग भोगने को ही यह शरीर मिला है। हे दीनबन्धो! जिन मुक्त पुरुषों का कोई नहीं रह जाता, जिनके अन्तःकरण में इच्छा नाम की

अवशेष नहीं रह जाती, वे भी आपके चरणों का चिन्तन करते हैं, वे भी आपकी कृपा के इच्छुक हैं, उनके भी आप ही एकमात्र आश्रय हैं फिर साधक शरीर पाकर मानवयोनि में आकर भी जो आपका चिन्तन नहीं करते, आपका भजन नहीं करते संसार के आवागमन से छुड़ाने वाले वांछा कल्पतरु रूप आपको नहीं भजते। जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा न चाहकर विषय भोगप्राप्ति की कामना से आपकी उपासना करते हैं, वे अवश्य ही अभागे हैं। उनकी बुद्धि विपरीत बन गई है। दैव ने उन्हें दण्ड दिया है आपकी माया ने उनके साथ वंचना की है। वे माया द्वारा अवश्य ही ठगे गये हैं।

स्वामिन्! संसारी लोगों की बुद्धि कैसी विपरीत बन गयी है, लोग कुशल कर्मों में कितने प्रमत्त बन गये हैं कुत्सित कर्मों में कितने अनुरक्त हो गये हैं। सभी सुख की खोज में भटक रहे हैं, सुख प्राप्ति हेतु कठिन से कठिन कार्यों को कर रहे हैं, इन संसारी विषय भोगों में सुख की खोज कर रहे हैं। हे देव! शास्त्रकारों ने सबसे बड़ा सुख ब्रह्मानन्द को बताया है। अपने स्वरूप भूतब्रह्म में तल्लीन हो जाना ब्रह्मानन्द सुख में सदा सर्वदा तल्लीन हो जाना यही आनन्द की अवधि सीमा बतायी गयी है। किन्तु प्रभो! मैं तो कहता हूँ उस ब्रह्मानन्द सुख से बढ़कर सुख आप के चरण कमलों के ध्यान करने में है अथवा सत्सङ्ग में बैठकर आपकी तथा आपके भक्तों की कथा आपके अनन्य उपासकों के मुख से सुनी जाय, तो उस सुख के सम्मुख ब्रह्मानन्द सुख भी अति तुच्छ है। अहा! जिस समय बहुत बड़ा भक्त एकाग्र चित्त से एकान्त में अश्रुविमोचन करते हुए आपकी ही चर्चा में संलग्न हो, आपके ही गुणानुवाद गायन की उनमें होड़ लगी हो, आपके तथा आपके भक्तों का ही प्रसङ्ग छिड़ा हो, अमुक भक्त ने आपका ऐसे साक्षात्कार किया, अमुक भक्त पर आपने ऐसे अनुग्रह की

अमुक भक्त के दुःख को आप दयामय ने इस प्रकार दूर किया। अमुक भक्त के लिये आपको अमुक का वेष बनाना पड़ा। अमुक भक्त के लिये आप खम्भ से प्रकट हो गये। इस प्रकार के भक्तों के सत्सङ्ग में रस की जो धारा बहती है, उसमें स्नान अवगाहन करने से जो सुख मिलता है, वह ब्रह्मानन्द के सूनसान आश्वासन में कहाँ? वह भक्त सत्सङ्ग सुख तो अनुपम है, जब उसकी बराबरी स्वमहिमा वाला ब्रह्म सुख भी नहीं तो स्वर्गीय सुख तो अत्यन्त ही तुच्छातितुच्छ है। स्वर्गीय सुख तो संसारी सुख का ही राज संस्करण मात्र है। स्वर्ग मे भी क्या होता है जब तक पुण्य सञ्चय है तब तक विमानों पर उड़ो अप्सराओं के साथ विहार करो। अपने सबसे बड़े सुखवालों से सदा ईर्ष्या करते रहो, उन्हें देखकर जलते रहो, पतन के दिन की चिन्ता करके मानसिक क्लेश उठाते रहो, जिस दिन पुण्य समाप्त हो जायगा कान पकड़कर वहाँ से निकाल दिये जाओगे, विमान छीन लिया जायगा, ऊपर से ढकेल दिये जाओगे जो अप्सरायें कंठ में बाहु डाले सङ्ग-सङ्ग घूमती रहती थीं वे बात भी न पूछेंगी, तुम्हें औंधे मुख गिरते देखकर ठठाका मार हँस जायँगी, तुम्हारे देखते-देखते ही दूसरे पुरुष के कंठ में हाथ डाल देंगी। ऐसे काल की करवाल से खण्डित किये जाने वाले स्वर्गीय भोगों में क्या सुख हो सकता है, उनमें कैसे आनन्द आ सकता है। हे प्रभो! हमें वही अपने भक्तों के सत्सङ्ग का सुख प्रदान कीजिये। हमें अपने चरणकमल के ध्यान का ही वरदान दीजिये आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे अनन्त! हे दयामय! हे करुणासागर! मुझे धन नहीं चाहिये, भोग नहीं चाहिये, स्वर्ग तथा अपवर्ग भी नहीं चाहिये। मुझे तो आप अपने भक्तों का सत्सङ्ग प्रदान कीजिये। अहा! वे भक्त धन्य हैं, जो सदा भक्ति भाव में भरे रहते हैं,

जिनका अन्तःकरण सर्वथा निर्मल बन गया है, जिनके नयनों से निरन्तर नेह का नीर निकलता रहता है, ऐसे महत् भक्तों से मेरा समागम निरन्तर होता रहे, उनके सत्सङ्ग का सौभाग्य मुझे सदा ही मिलता रहे। मुझे भागवती कथामृत के पान करने का सुअवसर निरन्तर मिलता रहे। आपके गुणगणों के गान को मेरी जिह्वा सदा सर्वदा लालायित बनी रहे। मैं आपके लीलामृत को पीकर पागल बन जाऊँ, उन्मत्त हो जाऊँ, शरीर की सुधि बुधि खो जायँ आपका नाम श्रवण करते ही रोने लग जाऊँ। तब निश्चय ही मैं इस दुस्तार संसार सागर को पार कर जाऊँगा। नाना उग्र दुःख देने वाले नक्र मकर रूप कामनाओं से परिपूर्ण संसार सागर के परली पार पहुँच जाऊँगा। सुगमता के साथ सभी विपदाओं से रहित बन जाऊँगा। हे वरदानियों में श्रेष्ठ! ऐसा वरदान मुझे दे दीजिये। आपके चरण कमलों में बारम्बार नमस्कार है।

हे कमलनाभ! संसारी सम्बन्ध तो तभी तक प्रिय लगते हैं, जब तक आपके संसर्गी भक्तों का समागम नहीं होता, आपके चरणारविन्दों में जब तक अनुराग नहीं होता। आपके भक्त तो आपके कमल सरिस अरुण अमल विमल दिव्य गन्ध चरणों के चिन्तन में तन्मय बने रहते हैं, उनकी मधुरातिमधुर परम दिव्य सुगन्ध से उन भक्तों का चित्त सदा लुब्ध बना रहता है। ऐसे भक्त कभी भाग्यवश मिल जायँ, ऐसे भक्तों में किसी प्रकार मन फँस जाय, तो फिर सभी संसारी सुरति बिसर जाय। फिर उन्हें न घर याद आता है न द्वार न स्त्री की स्मृति दुख देती है, न पुत्र पुत्रियों को याद आती है, न सम्बन्धियों की सुधि रहती है, न कोई उनका शत्रु ही शेष रह जाता है। औरों की तो बात ही क्या उन्हें अपने-अपने इस अत्यन्त प्रिय शरीर का भी मोह नहीं रह जाता। शरीर की भी सम्पूर्ण सुधि-बुधि भूल जाते हैं। ऐसे भक्तों का हे अशरण शरण! मुझे समागम हो जाय।

उन्हीं का सत्सङ्ग मिल जाय। उन्हीं भक्तों में मेरा मन रम जाय, उन्हीं के सहवास में अनुराग बढ़ जाय। जिन भक्तों के आप ही एकमात्र सुहृद् हैं, प्रिय हैं, भजनीय हैं उन भक्तों के और उनके उपास्य आपके पादपद्मों मे पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बालक होने के कारण ध्रुवजी आधी स्तुति करके कुछ रुक से गये। अब आधी स्तुति जैसे उन्होंने आगे की, उस कथा प्रसङ्ग को मैं इसके पश्चात् कह रहा हूँ। आप उसे एकाग्र चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

अज कूँ दीयो ज्ञान शक्ति सोई तिनि जागी।
ऐसे प्रभु ढिँग विषय चहें ते मनुज अभागी॥
जो सुख तव पदप्रेम सन्त सतसङ्गति माहीँ।
सो सुख जगके भोग स्वरग अपवरगहु नाहीँ॥
भ्रमत जगत महँ भाग्यवश, मिलै सन्त सङ्गति सतत।
तव सेवा गुनगान चित, चरननि महँ नित-नित निरत॥

पद

प्रभुजी! कथा सुधा नित प्याओ।
सोई शक्ति जगतरचना अज, ताकूँ फेरि जगाओ॥१॥ प्रभु०
नित्यमुक्त अरु बद्ध मुमुक्षू, स्वामी सकल कहाओ।
जे जग भोग चहें तजि तुमकूँ, तिनि जग माहिँ फँसाओ॥२॥ प्र०
विषय, स्वरग, अपवरग न चाहूँ, पद पंकज लिपटाओ।
सन्त समागम कथा कीरतन, में मन मोर लगाओ॥३॥ प्रभु०
बनि उन्मत्त सकल जग भूलूँ, पार प्रभो पहुँचाओ।
स्वामी सरबसु समुझूँ तुमकूँ, जग व्योहार भुलाओ॥४॥ प्र०
तन, धन, स्वजन तुमहिँ सब मानूँ, संतनि में बैठाओ।
भोगे भोग बहुत भव भटक्यो, भगवन्! अब न भ्रमाओ॥५॥ प्र०

ध्रुवजी द्वारा भगवान् की स्तुति (२)

(२७)

तिर्यङ् नग द्विजसरीसृप देवदैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम् ।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकम्
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥१

(श्रीभा० ४ स्क० ९ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

बारम्बार प्रनाम करूँ प्रभु. प्रेरक पालक ।
जननि जनक जगदीशजगत भयहर खल घातक ॥
सतचित आनँद रूप आदि अज अलख अगोचर ।
परमेश्वर परतत्व परावर ईश चराचर ॥
धेनु वत्सकूँ प्याइ पय, ममता अरु रक्षा करे ।
कृपा करें करूनेश त्यों, प्रभु पद पदुमनि महँ परे ॥

सूतजी कहते हैं-"मुनियो! भगवान की स्तुति करते हुए ध्रुवजी कह रहे हैं—"हे सर्वमय ! हे चराचर में व्याप्त स्वामिन् ! आप के साकार निराकार, स्थूल सूक्ष्म तथा पर अपर दो रूप बताये जाते हैं। यह स्थावर जंगमात्मक स्थूल जगत् भी आपका ही

---

१ भगवान् की स्तुति करते हुए ध्रुवजी कह रहे हैं—हे कभी जन्म न लेने वाले भगवन् ! आपके पर और अपर दो रूप हैं। तिर्यक् योनि वाले पशु आदि जीव, पर्वत, पक्षी, सरपादिसरीसृप, देवता, दैत्य तथा

रूप है। चार पैर वाले पशु आदि पंखों से उड़ने वाले पक्षी आदि रेंगकर चलने वाले सर्पादिसरीसृप, पृथ्वी फोड़कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष आदि दो पैरों से ऊपर सिर करके चलने वाले तथा हँसने वाले मनुष्यादि तथा पर्वतादि से परिपूर्ण और महत्तत्वादि कार्य कारणों से युक्त आपके मैं इस जगत् रूप स्थूल शरीर को ही जानता हूँ। जैसे दूध जमकर दही के रूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही आप जगत् रूपमें बन गये हो। सम्मुख आपका यही रूप दृष्टिगोचर होता है, इसके अतिरिक्त आपका जो पर रूप है, उसके सम्बन्ध में मैं कुछ भी नहीं जानता वह तो अवाङ् मनसगोचर है। वह तो वाणी का विषय ही नहीं, तब स्थूल बुद्धिवाला मैं उस रूप को जान ही कैसे सकता हूँ। हे स्वामिन्! आपके चरणकमलों का सदा सर्वदा चिंतन बना रहे यही आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रार्थना है। हे देवाधिदेव! हम आपको सिर से वन्दना करते हैं।

प्रभो! शास्त्रकारों से ऐसा सुना है कि आपकी नाभि ही एक ह्रद है, सरोवर है, सुन्दर दिव्यसिन्धु सदृश सर है। उसमें एक दिव्य कमल खिल जाता है, क्यों खिल जाता है, इसे तो आप ही जानों उस कमल से चतुर्मुख ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं, जो इस चराचर जगत् की रचना करते हैं। जिस कमल से उनकी उत्पत्ति होती है, वह परम तेजोमय, सुवर्ण वर्णवाला, दिव्य तथा अखिल भुवनों का एकमात्र

मनुष्यादि योनियों से परिपूर्ण तथा महत्वादि कार्य कारणों से युक्त यह जगत् ही आपका स्थूल ऊपर शरीर है, इसे तो मैं जानता हूँ किन्तु इसके अतिरिक्त जो आपका पर रूप है जिसमें वाद विवाद के लिये कोई स्थान ही नहीं उसे मैं नहीं जानता।

उत्पत्ति स्थान है उसी से तेजोमय अज अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हीं के द्वारा आपके संकल्प से यह सृष्टि उत्पन्न होती है। फिर विष्णु बनकर इस विश्व का पालन करते हैं, नाना अवतार धारण कर के अति मधुर श्रुतमधुर लीलायें करते हैं। जब कल्प का अन्त होता है, तो अपने पसारे को अपने आपही समेटकर उदरस्थकर लेते हैं। शेषजी को सखा समझकर उनकी सुखद शय्या बनाकर सुखपूर्वक शयन करते हैं। प्रलय से पयोनिधि में लेट लगाते हैं, तान दुपट्टा सो जाते हैं। हे स्वयं प्रकाश! हे परम पुरुष! आप परमेश्वर के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

हे आदि पुरुष! आप भूत, भविष्य, वर्तमान तथा कालातीत अवस्था में भी सदा अवस्थित रहने वाले नित्य हो। आप को कभी किसी काल में कैसा भी बन्धन नहीं, मोह ममता नहीं माया अविद्याका लेश नहीं अतः आप सदा सर्वदा मुक्त हैं। नित्य मुक्त ही आपका स्वरूप है। आप में किसी प्रकार का अमय नहीं इसी लिये आप निरामय हैं, आप में कभी किसी प्रकार की अपावनता नहीं अतः आप परम पावन कहाते हैं। अशुचिका अंशभी नहीं अतः आप नित्य शुद्ध हैं। स्थूलता जड़ता से आप परे हैं अतः विशुद्ध चैतन्य आनन्द घन हैं। आप सबके साक्षी, सबके प्रेरक और सबके आत्मा हो, आप में कैसा भी किसी काल में भी विकार नहीं निर्विकार स्वरूप हैं। आप से प्रथम कोई है ही नहीं। आप से पहिले शब्द की तो कल्पना ही नहीं हो सकती, क्योंकि काल तो आपके द्वारा निर्मित हुआ आप तो परम पुरातन सत्य सनातन आदि पुरुष हैं। आपको किसी प्रकार का अभाव नहीं। जिसे किसी वस्तु का अभाव होता है, वही चिन्ता करता है, उसे पाने का प्रयत्न करता है, आप तो सदा सर्वदा सब प्रकार से सन्तुष्ट हैं, षडैश्वर्य सम्पन्न हैं, त्रिलोकेश हैं। सप्तद्वीप नव खण्ड

चतुर्दशभुवनों में आपका ही आधिपत्य है। आप बुद्धि की समस्त अवस्थाओं को अखण्ड रूप से विना किसी प्रकार के व्यवधानके देखने वाले हो। सृष्टि के लिये आप ब्रह्मरूप, संहार के लिये रुद्र रूप और संसार की स्थिति के लिये यज्ञपुरुष श्री विष्णुरूप से स्थित हो जाते हैं। हे स्वामिन्! यह जगत् आपकी क्रीड़ा स्थली है। हे कौतुकी क्रीड़ा प्रिय! हे नटनागर! आपको वारम्वार नमस्कार है।

हे अद्वय! आप द्वैत रहित अद्वय हो। एक हो, एक होते हुए भी अनन्त बन जाते हो। अनन्त रूप भी आपका ही है। आप आद्य हैं। आनन्द स्वरूप केवलानन्दमय हैं, निर्विकार हैं, निराकार हैं, निरजंन हैं, निर्लेप हैं, ब्रह्म स्वरूप हैं। आप प्रयत्न से पुरुपार्थ से, श्रमसे किसी को उत्पन्न नहीं करते, जैसे श्वास प्रश्वास स्वाभविक आती जाती है, वैसे ही विद्या अविद्या आदि विरुद्ध गतियों वाली अनेक शक्तियाँ स्वाभाविक रूप से सहज भाव से क्रमशः अहर्निश आपसे प्रगट होती रहती हैं। आप ही सब की उत्पत्ति के एकमात्र आलय हैं, स्थान हैं, कारण हैं। ऐसे ब्रह्म स्वरूप आप आदि पुरुप के चरणों की शरण मैंने ली है। आप मुझे अपनाइये, अपने चरणों का किंकर वनाइये। आपके चरणों में वारम्वार प्रणाम है।

प्रभो! संसारी वासना को लेकर आपका भजन किया जाय, तो वह भजन क्या हुआ। जान बूझकर अपने पैरों में सुदृढ़ वेड़ी पहिनने के समान प्रयत्न हुआ। मोक्ष स्वरूप आपको प्रसन्न करके इन्द्रियजन्य विपयभोगों की वांछा अत्यंत ही गर्हर्य है। संसारी भोगोंको प्राप्त करना यह तो पुरुपार्थ का फल नहीं हुआ पुरुपार्थ पुरुप तो आप ही हो, आपका जो अर्थ अर्थात् आपकी भक्ति आपका स्वरूप यही पुरुपार्थ का यथार्थरूप है।

पुरुषार्थ आपही हैं जो आपको ही पुरुषार्थ मानकर कोई भी संसारी कामना हृदय मे न रखकर निष्काम भावसे निरंतर आपका भजन करते हैं, आपका ही चिन्तन करते हैं वे ही यथार्थ में पुरुषार्थी हैं, पुरुषार्थ का पूर्णफल वे ही पाते हैं।

आपके भजन ध्यान कीर्तन स्मरण का फल यह नहीं है कि देवता बनकर स्वर्गीय सुखोंको भोग सकें, सम्राट् बनकर सम्पूर्ण भूमंडल का शासन कर सकें, राजा बनकर सभी के द्वारा पूजित हो सकें। यह तो पुरुषार्थ का अतितुच्छ फल है। पुरुषार्थका यथार्थ फल तो यही है कि आपके चरणकमलों में भक्ति हो, आपके पादपद्मों की प्राप्ति हो। आपको प्रसन्न करके आपसे भक्त को राज्यादि तुच्छ वस्तुओं की कामना न करनी चाहिये।

हे भक्तवांछाकल्पतरो! आपका कोई भक्त निष्कामभाव से आपकी उपासना करता है और उसके मनमें कोई पुरानी छिपी हुई कामना शेष रह जाती तो आप उस सकाम भक्त की कामना को पूर्ण कर देते हैं। जैसे अल्पज्ञ वैद्य रोग के उपद्रवों की चिकित्सा करके रोगी को छोड़ देता है, ये उपद्रव किस रोग के कारण हुए थे, उस रोग की चिकित्सा नहीं करता। इसी प्रकार क्षुद्र देवता सकाम पुरुषों की कामनाओं को यदि उनका अनुष्ठान सविधि पूर्ण हुआ तो पूरी कर देते हैं। वह कामना उठी ही क्यों उस स्रोतको बन्द नहीं कर सकते। किन्तु आप तो देवाधिदेव हैं! सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटवासी हैं। आप जानते हैं, जीव जो इधर उधर प्रिय पदार्थों की प्राप्ति के लिये मन दौड़ाता है तो उसकी इच्छा मुझे पानेकी है भूलसे, अज्ञान-

वश यह राज्य-पाट, धन-सम्पत्ति आदिमें सुख समझता है तो आप पहिले तो उनकी संसारी कामनाको पूर्ण करते हैं, जब उसे उन विषय सुखोंसे वैराग्य हो जाता है, तो आप उसे संसार सागरमें डूबने नहीं देते, अपने चरण कमलोंका आश्रय देकर पार पहुँचा देते हैं। यद्यपि वह मोक्ष माँगता नहीं, उतनी उसे बुद्धि ही नहीं। आपकी ओर दौड़ता तो है वह संसारी कामनाकी ही इच्छासे, आपसे चाहता तो है मेरी भाँति राज्यपाट तथा उच्चासन, किन्तु जैसे माता बच्चेके माँगने पर उसे मिठाई भी देती है और अपनी ओर से उसका मुख भी चूम लेती है। बच्चेके माँगने पर केवल मिठाई ही नहीं देती प्यार और मिठाई दोनों ही वस्तु देती है। जंगली गौका बच्चा अबोध होनेके कारण अपनी माँ से दूध ही चाहता है, दूधकी इच्छासे ही वह उसकी छातीमें अपना मुँह लगाता है, माता उसे भी दूध देती है, प्यार भी देती है और सिंह व्याघ्रादिकों से रक्षा भी करती है। हे प्रभो! आप हमारे जनक भी हो और स्नेहदात्री जननी भी हो। आप अपने आश्रितों पर अनुग्रह करने के लिये व्यग्र बने रहते हैं, आप अपने अनन्य भक्तों पर कृपा करनेको लालायित रहते हैं। प्रभो! हम भूलवश, अज्ञानके कारण आप से केवल संसारी भोगों की ही याचना करें तो आप हमें उतना ही देकर भुलावे में न डालें। हमारी काम, क्रोध, लोभ मोहादि शत्रुओंसे रक्षा भी करें और अपने चरणारविन्दों का प्यार भी प्रदान करें, हमें संसार रूप गहनगर्त में गिरने से बचावें।

स्वामिन्! हम सद्यः जातशिशु के सदृश अज्ञ हैं अबोध हैं। हमें अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं। मातृरूप आपके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है इसे हम नहीं जानते। आप की गोदी को हम अपवित्र कर देते हैं नाना भाँति के अपराध अपचार करते हैं, हे

क्षमासागर ! हमारे अपराधों को क्षमा करके हमें अपना लें, आप अपने चरणकमलों में आश्रय दें, पादपद्मों में भक्ति दें, चिन्तन करने की शक्ति दें, अनन्य अनुरक्ति दें, संसारी विषय भोगों से विरक्ति दें। हे कृपासिन्धो ! कृपा कीजिये, हे आर्तबन्धो ! मुझ आर्त की पुकार सुनिये। आपको बारम्बार नमस्कार है, आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ध्रुवजी की विनती सुनकर भक्तवत्सल भगवान् ने उनकी इच्छा पूर्ति की। इस लोक में छत्तीस सहस्र वर्ष राज्य भोगने का तथा अन्त में सर्व लोक नमस्कृत ध्रुव लोक प्राप्ति का वरदान देकर अन्तर्हित हो गये भगवान् के अन्तर्हित हो जाने पर उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने सोचा—ओ हो ! मुझसे तो बड़ी भारी भूल हो गई। भगवान् को प्रसन्न करके भी उनसे राज्य पाटादि की ही याचना की। जिन भगवान् को बड़े बड़े तपस्वी सहस्रों जन्मों में भी साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। उन्हें मैंने केवल ६ ही महीने में प्रत्यक्ष पा लिया, किन्तु उन मोक्षपति से मैंने माँगी धान की भूसी। मुझ मन्दभागी की मूर्खता तो देखिये अविनाशी की शरण में पहुँचकर भी नाशवान भोगों की ही याचना की। गंगा जीके निकट पहुँचकर भी उनसे चुल्लू भर खारे जलको ही माँगा। सुमेरु के समीप पहुँचकर भी उससे एक मुट्ठी धूलि ही चाही। हाय ! मेरी कैसी मति मारी गई। प्रतीत होता है, देवताओं ने मेरी बुद्धि को विपरीत बना दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ध्रुवजी पश्चात्ताप करके घर गये, पृथ्वीपर राज्य भोगकर अन्तमें, उन्हें ध्रुवलोक की प्राप्ति हुई। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में ध्रुवजीकी स्तुति सुनायी। अब आप पृथ्वी देवी ने जैसे भगवान् के अंशावतार पृथुकी स्तुति की है, उस प्रकरण को श्रवण करने की कृपा कीजिये।

छप्पय

रोगी सुतहिँ अपथ्य मातु माँगे नहिँ देवै।
त्यों तुम देउ न भोग सकामहु सेवक सेवै॥
सब पुरुषारथ रूप प्रभो! पद पंकज तुमरे।
होवें जीवन मूरि परमधन सरबसु हमरे॥
अति कोमल अति गंधयुत, जे शरनागत दुख हरें।
तिनि प्रभु पद पंकजनि महँ, बार बार वन्दन करें॥

(पद)

प्रभो! पद पंकज प्रेम न होवै।
अति मलीन माधव मन मेरो, नित विषयनि हित रोवै॥१॥ प्र०
पाइ मनुज तनु परम सुअवसर, भोगनि महँ खल खोवै।
मृगनयनी मुख लखि सुख पावै, तव चरननि नहिँ जोवै॥२॥ प्र०
कीच वासना चितमहँ लिपटी, नेह नीर नहिँ धोवै।
भयो प्रभात ज्ञान रवि विकस्यो, शठ शैया परि सोवै॥३॥ प्र०
भटक्यो बहुत विपति अति पाई, तम महँ पंथ टटोवै।
कृपा करो प्रभु मम मन मूरख, सुख संजोग संजोवै॥४॥ प्र०

ध्रुवजीकृत-भगवत् स्तुति

ध्रुव उवाच

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां,
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्,
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥१॥

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या,
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु,
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥२॥

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं,
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः ।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं,
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥३॥

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते,
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्यम्,

इच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥४॥
या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म,
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्,
किंत्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥५॥
भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसंगो,
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
यनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं,
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥६॥
ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं,
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द,
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसंगाः ॥७॥
तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्य,
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम् ।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं,
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥८॥
कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्,
शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदंके ।
यन्नाभिसिन्धुरुहकांचनलोकपद्म,
गर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोस्मि तस्मै ॥९॥

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा,
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या,
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥१०॥
यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति,
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्यम्,
आनन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥११॥
सत्याऽऽशिषो हि भगवंस्तव पादपद्मम्,
आशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमार्य भगवन् परिपाति दीनान्,
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान्॥१२॥

धरा द्वारा पृथु-प्रभु की स्तुति

(२८)

नमः परस्मै पुरुषाय मायया,
विन्यस्तनानातनवेऽगुणात्मने ।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुत-
द्रव्यक्रियाकारक विभ्रमोर्यमे ॥❀

(श्रीभा० ४ स्क० १७ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

अघ कारन सब बीज धरा निज उदर छिपाये ।
करन प्रजा दुख दूरि अवनि पै पृथु प्रभु आये ॥
धरि धनु शर कर धराधरन धरमाकर धाये ।
बढ़ बिनीति बनि विवश विनययुत बचन सुनाये ॥
परम पुरुष निरगुन सगुन, सरग प्रलय पालन करन ।
पालक यदि घातक बनें, जाइ प्रजा पुनि किनि शरन ॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वैन के प्रजा के प्रति असह्य अत्याचार देखकर धर्म प्राण ऋषियों ने मिलकर उस दुष्ट नास्तिक

❀पृथिवी देवी पृथु महाराज की स्तुति करती हुई कह रही हैं—मैं उन निर्गुण स्वरूप परम पुरुष को बारम्बार नमस्कार करती हूँ। जो अपनी माया द्वारा नाना देहों को धारण करते हैं, तथा अपने स्वरूपानुभवों से द्रव्य, क्रिया और कारक रूप तरङ्गों और भँवरों को शान्त करते हैं।

धर्म विरोधी नरपति को अपनी हुंकार से मार डाला विना प्रजामें अराजकता फैल जाता है, और राजा भी कुलीन वंश-परम्परा से क्षोभ संस्कार वाला होना चाहिये इसीलि ऋषियों ने उसके मृतक शरीर का मन्थन किया। मन्थन प्रथम सम्पूर्ण शरीर का पाप एकत्रित होकर निषाद रूपमें निक तदनन्तर पृथुरूप में भगवान् का अवतार हुआ। अत्यन्त पाप कारण पृथ्वी ने सम्पूर्ण बीज अपने उदर में छिपा लिये थे धर्मात्मा भगवान पृथु ने ऐसी चोरी करने वाली पृथ्वी को भ करने का सङ्कल्प किया। पृथ्वी गौका रूप रखकर भागी धनुषबाण लेकर महाराज पृथु भी उसके पीछे-पीछे चले। पृथ्वी ने जब देखा कि काल के समान अत्यन्त क्रोधमयी मूर्ति बनाक महाराज पृथु मुझे मारने के निमित्त मेरा पीछा कर रहे हैं, तो वह खड़ी हो गयी, उसने धर्मावतार पृथु को प्रणाम किया औ हाथ जोड़कर स्तुति करने लगी।

स्तुति करती हुई भूदेवी कह रही है—"प्रभो! आप सबके जनक हो, पालक हो। इस चराचर विश्व क बात की बात में आप बना देते हो। पुनः इसका पालन भ आप नाना रूप रखकर विविध भाँति के वेष बनाकर अगणित अवतार लेकर सब प्रकार से करते हो। संसार एक सागर है इसमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये जो पञ्चभूत द्रव्य हैं ये ही इस अगाध भवनिधि की ऊँची-ऊँची तरंगे हैं। दशों बाह्य इन्द्रियाँ चार भीतर की इन्द्रियाँ तथा इन सबके अधिष्ठातृदेव ये सब भँवर हैं। इस प्रकार यह बहता हुआ जल प्रवाह है। जन्ममरण रूप से निरन्तर यह संसार प्रवाह प्रवाहित हो रहा है। इस द्रव्य क्रिया कारक रूप प्रवाह को एकमात्र आप ही शान्त करने में सर्वथा समर्थ हो। हे सर्वाधार! हे सर्व

नियन्ता सर्वेश्वर ! हे सर्व साक्षी, परम पुरुष नित्य निर्गुणस्वरूप प्रभो ! मैं आपके चरणों में बारम्बार नमस्कार करती हूँ ।

हे नाथ ! प्रजा पर जब कोई विपदा पड़ती है, तो राजा की शरण जाती है। सन्तानों पर कोई आपत्ति आती है तो वे माता पिता की शरण जाते हैं, सेवकों पर कोई कष्ट पड़ता है, तो वे स्वामी का आश्रय लेते हैं। जब पिता ही पुत्री पर प्रहार करे प्रजापालक ही प्रजाओं के प्रति घातक का काम करने लगे, स्वामी ही सेवक को मारने को उद्यत हो जाय, रक्षक ही भक्षक बन जाय,तो ये सब फिर अन्य किसकी शरण जायँ ? हे अशरण शरण !हे एक मात्र रक्षक ! मुझे बनाया किसने ? आपने ही तो मुझे सम्पूर्ण स्थावर जंगम जीवों के रहने के लिए रचा है, आप ने ही तो मेरी सृष्टि की है और अब इस सम्पूर्ण सर्ग की सृष्टि की है और अब आप ही मुझे मारने को धनुष पर बाण चढ़ाये मेरा पीछा कर रहे हो ऐसी दशा में मैं किसकी शरण में जाऊँ, दूसरा कोई रक्षक दिखाई भी तो नहीं देता। आप सर्वत्र स्वतंत्र हैं, स्वाधीन हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं, किन्तु मैं एक बात पूछती हूँ धर्म की मर्यादा किसने स्थापित की है ? यह कर्तव्य है यह अकर्तव्य है, इसका विधान भी तो आपने ही बनाया है। आपने पुत्री को और गौ को दोनों को अवध्या बताया है, मैं आप की पुत्री भी हूँ, फिर आप मुझे कैसे मारेंगे ? मेरे ऊपर तीखे तीखे बाण कैसे छोड़ेंगे ?

स्वामिन् ! आदि कल्प में इस चराचर जगत की रचना आप ने ही तो की थी, आपने ही तो अपनी अचिन्त्य माया के प्रभाव से समस्त दृश्य प्रपंच का निर्माण किया था, आज भी तो आपने अपनी माया द्वारा ही यह रूप रखकर अवतार लिया है। मेरे ऊपर रहने वाले सभी प्राणियों की रक्षा के ही निमित्त तो आप

अवतरित हुए हैं। मुझे मारकर प्रजा की कैसे रक्षा करेंगे। सबको कहाँ पर बसावेंगे ? कहाँ सबको आश्रय देंगे ? पुत्रों पर कैसे शस्त्र चलावेंगे, गौ का घात कैसे करेंगे ?

भगवन् ! मैं जानती हूँ, आपका यह बनावटी क्रोध संहार के लिये नहीं है, पालन के ही निमित्त है, आप प्रजाको बुभुक्षित देख कर दुखी हो गये हैं, आप विशुद्ध सत्वमूर्ति को क्रोध कहाँ! आप तो नाटक रच रहे हैं। क्रीड़ा कर रहे हैं। आप तो एक हैं, केवल हैं अद्वय हैं। एक होकर भी आप अनेक रूप रख लेते हैं। संसार में जो ब्रह्मादिदेव ईश्वर कहे जाते हैं, उन सब ईश्वरों के भी आप ही एकमात्र ईश्वर हैं। आपकी चेष्टाओं को कौन समझ सकता है ? आपकी लीलाओं का कौन पार पा सकता है। जिनके जीवन में साधन नहीं संयम नहीं, इन्द्रियों के वेग को शान्त करने की सामर्थ्य नहीं, ऐसे असंयमी तथा अशान्त, पुरुष आपकी भूत भविष्य वर्तमान की, की हुई, तथा करायी हुई, चेष्टाओं को कैसे समझ सकते हैं ? कैसे जान सकते हैं ?

हे विरुद्धधर्माश्रय प्रभो ! प्रजनन शक्ति भी आप ही में है तथा संहार शक्ति ने भी आप का ही आश्रय लिया है। आप ही महत्तत्व, अहंतत्व, इन्द्रियों, इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेवों, तथा पंच भूतों की शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण जगत को उत्पन्न करते हो और फिर रुद्र रूप रखकर इन सबका संहार भी कर डालते हो। हे परस्पर में विरुद्ध शक्तिवाले प्रभो ! आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो ! आप कहते तो हो कि तुझे मार डालूँगा। किन्तु मुझे विश्वास नहीं होता कि आप ऐसा कर सकेंगे। यदि आपको ऐसा करना ही होता आप वाराह रूप रख कर मुझे रसातल से निकाल कर क्यों लाते ? शूकर रूप रखकर मेरा उद्धार क्यों करते ? आप तो पंचभूत, उभयेन्द्रिय रूप

स्वनिर्मित जगत् की रक्षा के लिये जल के भीतर से बाहर लाये थे। मुझे तो आपने सबको धारण करने का कार्य सौंपा है। जैसे जल के ऊपर नौका इसीलिये रखी जाती है, कि जिसपर चढ़कर लोग पार हो सकें। मैं जल के ऊपर नौका रूप में ही अवस्थित हूँ, मेरे ही ऊपर समस्त प्राणी बैठे हुए हैं। शूकर रूप से आप लाये और पृथु रूप रखकर मुझपर क्रोधकर रहे हैं कोप का अभिनय रच रहे हैं। मेरा अपराध तो बताइये, अपने क्रोध का कारण तो समझाइये। मेरा अपराध यही है, कि मैं आपको अन्न नहीं देती। गौ रूप में चारा तो चुगती हूँ, किन्तु दूध देते समय लात मार देती हूँ, दुहने नहीं देती। सो, प्रभो! दुहने वाला कोई निपुण होना चाहिये। मृदुलमुट्ठी वाला ही सरलता से दुह सकता है। पापाचरण के कारण, नास्तिकता बढ़ जाने के कारण, अकर्म वृद्धि होने से ही मैंने आपने भीतर बीजों को छुपा लिया है। ये पापी मेरा दूध पी पीकर और बली होंगे, और अधिक अन्याय अत्याचार करेंगे। आप जगत् पिता के पिता कहलाने वाले वैन ने ही यह गोलमाल की है, उन्हीं के कारण नास्तिकता का प्रसार हुआ है, अधर्म का प्रचार और धर्म का संहार हुआ है। आप धर्म के साक्षात् स्वरूप तो अब अवतरित हुए हैं। अब आप धर्म की स्थापना करें प्रजा को अभय करें और उत्तम बछड़ा बनकर इच्छानुसार जैसा चाहें वैसा दूध दुह लें।

हे सबसे श्रेष्ठ! हे पुरुषोत्तम! आप मायापति हैं। आपकी मोहिनीमाया के प्रभाव से प्राणी मूढ़ बन गये हैं, वे आपकी महिमा जान नहीं सकते। आपकी अचिन्त्य लीला का रहस्य समझ नहीं सकते। आप ईश्वर हैं हम जैसे माया मोहित जीव आपकी चेष्टाओं को समझ नहीं सकते। यह रूप आपने वीरता के प्रदर्शन हेतु बनाया है। आपने शौर्य वीर्य से जगत् में

यश का विस्तार करने के निमित्त ही आप अवनिपर अब अवतरित हुए हैं। हे तेजस्वी यशस्वी देव ! आपके पादपद्मों में बारम्बार नमस्कार है, आपके चरणकमलों में प्रेम पूर्वक प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—मुनियों ! इस प्रकार पृथ्वी की प्रार्थना पर परमात्मारूप पृथु प्रसन्न हुए उन्होंने भिन्न-भिन्न बछड़े बनाकर पृथ्वी का दोहन किया। फिर सौ अश्वमेधयज्ञों की दीक्षा ली। अन्तिम यज्ञ में इन्द्र ने विघ्न किया। महाराज पृथु उसे भस्म करना चाहते थे, उसी समय चतुर्भुज विष्णु प्रकट हुए। विष्णु भगवान की राजारूप में पृथुजी ने जैसे स्तुति की उस स्तुति को मैं आगे कहता हूँ।

छप्पय

सूकर बनि के मोइ रसातल तैं प्रभु लाये।
मेरे ऊपर जीव चराचर सकल बसाये॥
दुहिता नारी धेनु इनहिँ बुधि नहिँ संहारैं।
देव ! दयो नहिँ दूध मोइ ताहीतें मारैं॥
धरा बिनय सुनि धीर प्रभु, भये मुदित आदर कियो।
बछरा विविध बनाइकैं, अन्नरूप पय दुहि लियो॥

(पद)

प्रभो ! पृथु ! जीवनि विपदा टारी।
जब जब भूको भार बढ़्यो तब प्रकट भयो अवतारी ॥१॥ प्र०
असुर रसातल मोइ छिपायो, सूकर बने मुरारी।
रिपुकूँ मारि धरि दाँतनि पै, बाहर देव निकारी ॥२॥ प्रभो०
अब धरि धनु मारनहित धाये, हौं तो सुता तिहारी।
धरा धेनु पुनि सुता शरन प्रद, रक्षा करो हमारी ॥३॥ प्रभो०
पद पङ्कज में पुनि-पुनि प्रनमों, प्रनतपाल प्रनकारी।
बेटी बनी विनय वच बोलूँ, बार-बार बलिहारी ॥४॥ प्रभो०

धरा कृत पृथु स्तुति

धरोवाच

नमः परस्मै पुरुषाय मायया,
विन्यस्तनानातनवे गुणात्मने ।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुत,
द्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥२॥
येनाहयात्मायतनं विनिर्मिता,
धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसङ्ग्रहः ।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वराड्,
उपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये ॥२॥
य एतदादावसृजच्चराचरं,
स्वमायया ऽत्माश्रययावितर्क्यया ।
तयैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः,
कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति ॥३॥
नूनं बतेशस्य समीहितं जनैः,
तन्मायया दुर्जयया कृतात्मभिः ।
न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारयद्,
अनेक एकः परतश्च ईश्वरः ॥४॥
सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभिः,

द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये,
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥५॥
सवै भवानात्मविनिर्मितं जगत्,
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो ।
संस्थापयिष्यन्नज मां रसातलाद्,
अभ्युज्जहाराम्भस आदिसूकरः ॥६॥
अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः,
प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल ।
स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो,
यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि ॥७॥
नूनं जनैरीहितमीश्वराणाम्,
अस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया ।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभिः,
तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः ॥८॥

महाराज पृथु द्वारा विष्णु भगवान् की स्तुति

(२९)

वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद् बुधः,
कथं वृणीते गुण विक्रयात्मनाम् ।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनाम् ,
तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥❀

(श्रीभा० ४ स्क० २० अ० २३ श्लो०)

छप्पय

पृथिवी पति पृथु सत्र माहिँ प्रकटे परमेश्वर ।
वर हरि माँगन कह्यो विनययुत बोले नृपवर ॥
नाथ ! न चाहूँ विषय-भोग तव गुन नित गाऊँ ।
पीवे तव रस-कथा सहसदश काननि चाहूँ ॥
सुयश सुधारस पान करि, मत्त बने तव भक्तगन ।
तिनि मुख निसृत कथा मृत, पान करत नाहिँ भरहि मन ॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज पृथु ने सौ अश्वमेध यज्ञ करने की दीक्षा ली । ९९ यज्ञ तो सकुशल पूरे हो गये ।

❀ भगवान् विष्णु से वर माँगते हुए महाराज पृथु कह रहे हैं—"हे प्रभो ! आप जितने भी वर देनेवाले हैं, उन सबमें श्रेष्ठ वरदाता हैं, हे मोक्षपति ! आपको प्रसन्न करके गुण विक्रय रूप देह में अभिमान करने

अब तो इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई कि कहीं ये सौ यज्ञ करके शतक्रतु न बन जायँ, मेरे इन्द्रासन को न ले लें, इसलिये वह यज्ञ में बारम्बार विघ्न करने लगा। तब महाराज पृथु को बड़ा रोष आया उन्होंने ब्राह्मणों को आज्ञा दी, इस इन्द्र को मंत्रों द्वारा बुलाकर यज्ञ में भस्म कर दो। ब्राह्मण ऐसा करने लगे तभी ब्रह्माजी ने तुरन्त प्रकट होकर महाराज पृथु को तथा ऋत्विज ब्राह्मणों को ऐसा करने से रोक दिया। पितामह की आज्ञा मानकर महाराज ने ऐसा विचार छोड़ दिया। तब भगवान् विष्णु ने स्वयं प्रकट होकर महाराज पृथु को दर्शन दिये और अद्वितीय उपदेश दिया। भगवान् विष्णु के दर्शन, उपदेश श्रवण से महाराजा गद्गद् हो गये तब भगवान् ने कोई उत्तम वर माँगने के लिये उनसे कहा। इस पर अत्यन्त ही अधीर होकर भगवान् के अंशावतार महाराज पृथु अत्यन्त ही विनम्रभाव से स्तुति करते हुए कहने लगे।"

महाराज पृथु कह रहे हैं—"हे प्रभो! समस्त देवता अपने आराधकों को पूजित होने पर वर देते हैं। यज्ञों में देवताओं की पूजा होती है, भक्त की कामना के अनुसार देवता 'वरंब्रूहि' कहते हैं। सभी देवता अपनी सामर्थ्य की परिधि में ही वर दे सकते हैं। देवताओं के राजा इन्द्र की परिधि अन्य देवगणों से बड़ी है। इन्द्र से भी श्रेष्ठ वरदाता चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा बताये जाते हैं। उन लोक पितामह ब्रह्मा को प्रसन्न करके बड़े बड़े सुर और असुरों ने दुर्लभ वर प्राप्त किये हैं, किन्तु हे

वालों के भोगने योग्य भोगों को जो नरक में रहने वालों को भी प्राप्त हो जाते हैं कौन बुद्धिमान पुरुष माँगेगा? अतः हे परमेश्वर! मैं आपसे संसारी भोगों की याचना नहीं करता।"

रिष्ठ ! आप तो ब्रह्मादि सभी देवताओं के प्रभु हैं, स्वामी हैं, अधिपति हैं। अतः सभी से श्रेष्ठ, उत्तम से भी उत्तम देव दुर्लभ वर देने में सर्वथा समर्थ हो। इतने महान् होकर भी आप मुझसे वर माँगने को कह रहे हैं, तो मुझसे बड़ा भाग्यशाली और कौन हो सकता है। स्वामिन् ! मैं अपने भाग्य की सराहना करता हूँ, किन्तु मैं इस चिन्ता में पड़ा हूँ, कि आप इतने बड़े वरदानी से कौन-सा वर माँगूँ ?

आप कहेंगे—"कि धन माँगो, यश माँगो, सुन्दर स्वरूप माँगो, अनेकों रूपवती गुणवती मनोनुकूल, आज्ञानुसार बर्ताव करने वाली पत्नियों को माँगो, सहस्रशः सुतों की याचना करो, शत्रुओं पर विजय माँग लो, असन, वसन, वाहन, नगर पुर, पत्तन, त्रैलोक्य का राज्य, स्वर्गीय सुख तथा और भी संसार में जिससे श्रेष्ठ सुख जो हो उसे माँग लो।" तो प्रभो ! मैं कहता हूँ, इन सभी सुखों का सम्बन्ध शरीर से ही तो है। यह शरीर क्या है सत्व, रज और तम इन गुणों का विकार ही मात्र है। मिट्टी का घर मिट्टी से ही लीपा जाता है, चूने का भवन चूने से ही पोता जाता है, इसी प्रकार त्रिगुणात्मक शरीर के विषय भोग भी त्रिगुणात्मक ही होंगे। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी सभी योनियों में सभी को न्यूनाधिक विषय प्राप्त हैं। आहार निद्रा भय मैथुन आदि सूकर कूकर, पशु पक्षी सभी को प्राप्त हैं। ये सुख तो नारकीय जीवों को भी मिल जाते हैं। जो भी शरीरधारियों को कर्मानुसार स्वतः ही प्राप्त हो सकते हैं, उनको आप इतने महान् वरदाता से माँगने में मुझे लज्जा लगती है, सङ्कोच होता है, उन तुच्छ विषय सुखों की याचना आप से करना मानों आपका अपमान करना है। अतः मैं विषय भोगों को तो आप से माँगूगा नहीं। आप तो उस मोक्ष तक को देने में समर्थ हैं, जिसे दूसरा कोई देव दे ही नहीं सकता। अतः हे मोक्षाधिपते !

हे प्रभो ! हे परमेश्वर ! मैं चक्कर में पड़ गया हूँ, कि आप से माँगू भी तो क्या माँगू, किस वर की आप से याचना करूँ ?

आप कहेंगे-कि जब तू जानता है, मैं अपवर्ग पति हूँ मोक्ष दाता हूँ, सब से श्रेष्ठ गति कैवल्यपद को देने में समर्थ हूँ, तो उसी को क्यों नहीं माँग लेता। मैं तो आज सभी कुछ देने को कटिबद्ध हूँ।

सो, प्रभो ! आपकी उदारता में तो कुछ सन्देह ही नहीं, मोक्ष देने में आपको तो कोई सङ्कोच ही नहीं, किन्तु मुझे गुम्म-सुम्म मुक्ति चाहिये ही नहीं। चीटीं को शक्कर का चखने को न मिले उसे शक्कर ही बना दिया जाय, तो क्या आनन्द मिलेगा। मुझे तो सबसे श्रेष्ठ स्थिति वह लगती है कि आपकी भक्ति में विभोर बने, आपके रूपासव में छके अपने प्रेम मे पगे हृदय वाले, शुद्ध निष्कपट संसारी भोगों विरक्त बहुत से भक्त एक साथ बैठे हों। उनके हृदय रूपी में आपके युगलचरण रूप दो अम्लान कमल सदा विक बने रहते हो और उन युगल अरविन्दोंसे आपकी कीर्ति रूप मक रन्द सदा निर्झरित होता रहता हो और वह मकरन्द भक्त रूप द्वार से निकलता रहता और उसका रसास्वाद भक्त मण्डल करके तन्मय होता रहता हो। भक्तों के समाज बैठकर आपका गुणानुवाद मिले तो आप हमें जिस स्थिति भी जहाँ भी रखना चाहें वहीं रहना स्वीकार है किन्तु गुणानुवाद श्रवण करने को न मिले, जहाँ आपके सुमधुर नाम और गुणों का कलित कीर्तन न होता हो, वह मोक्ष भी हमें न चाहिये, उस अपवर्ग को भी बारम्बार प्रणाम है, उस कैवल्य पद की भी मैं इच्छा नहीं करता।

आप आग्रह करेंगे, कि अच्छा भाई ! जो तुम्हारी इच्छा हो वही माँग लो, जो तुम चाहते हो उसी की याचना कर लो, तो प्रभो ! यदि आपका अत्यन्त आग्रह ही है, आप वर देने को व्यग्र ही बने हुए हैं, तो आप अपनी कीर्ति सुधा का पान कराने के निमित्त मुझे दश सहस्र कान दे दें। दश सहस्र कानों से जितना आपका सुयश सुन सकते हों, उतनी शक्ति आप मुझे दे दें।

आप कहेंगे, यह क्या वरदान माँगा, सहस्रों कर्णों से सुयश सुनने से क्या होगा, कोई दूसरा सुन्दर सा वर माँग लो।" सो, प्रभो ! मुझे तो यही वर अच्छा लगता है, इसके अतिरिक्त अन्य वर भाता ही नहीं। अन्य विषय सुहाता ही नहीं। इस वर में क्या बताने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। हे पुण्य कीर्ति प्रभो ! जो तत्वमार्ग के बटोही हैं, कैवल्यपथ के पथिक हैं, किन्तु किसी कारण से उस पथ से पतित हो गये हैं, विषय वासना रूपी बीहड़ वनमें फँस गये हैं। उनके शरीर से कहीं महन्मुखच्युत आपके चरण कमल मकरन्द के कणों से युक्त वायु लग जाय, तो वे पुनः सचेत हो उठते हैं। उठकर बैठ जाते हैं, पुनः अपने गन्तव्य मार्ग पर पहुँच जाते हैं जिस पद अरविन्द मकरन्द के संसिक्त पवन में इतनी सामर्थ्य है यदि वही मकरन्द साक्षात् सेवन करने को मिल जाय, तो फिर माँगने के लिये अन्य अवशेष ही क्या रहा ? फिर किसी दूसरे वर की आवश्यकता ही क्या है ?

आप पूछेंगे कि तुम मेरे सुयश श्रवण के लिये इतने उत्सुक क्यों हो ? क्यों सदा सर्वदा धारा प्रवाह रूप से मेरे गुणों को,

मेरी कमनीय कथा को मेरे सुयशों को सुनने समुत्सुक हो ?"

सो, प्रभो ! मैं पूछता हूँ, लक्ष्मी जी को किस बात की कमी थी, उनकी तनिक से कटाक्ष के लिये ब्रह्मादि देव सदा लालायित रहते थे। बड़े-बड़े पृथ्वीपाल, दिग्पाल, लोकपाल तथा ब्रह्माण्ड-पाल लक्ष्मी जी की तनिक से कृपा प्रसाद को पाकर कृतार्थ हो जाते हैं, उन्हें किसी वस्तु की आकांक्षा हो सकती थी। एक बार अत्यन्त प्रसन्न होकर आपने उनसे भी वर माँगने को कहा था। तो उन्होंने यही तो कहा था आपके मङ्गलमय सुयश के श्रवण से सभी सद्गुण स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। वृक्ष की जड़ को पकड़ने से पूरा वृक्ष पकड़ाई में आ जाता है। आपकी कथा सुधा का चसका जिसे एक बार लग गया, जिसने बिना इच्छा के, बिना श्रवण के दैववश भाग्यवश संयोग से साधु समाज में पहुँचकर एक बार भी आपके सुयश का श्रवण कर लिया, फिर वह अन्य विषय वार्ताओं को विषवत् समझ कर त्याग देगा। यदि वह साक्षात् पशु प्रकृति का ही हो तब तो बात ही दूसरी है, किन्तु गुणग्राही पुरुष आपकी उत्तम कीर्ति के श्रवण से कभी उपरत नहीं हो सकता। क्योंकि समस्त सद्गुणों के स्रोत तो आपके चरण कमल ही हैं।

हे लक्ष्मीपते ! जिस समय जगज्जननी भगवती लक्ष्मीजी अपने पिता समुद्र की गोदी से उठकर हाथ में जयमाला लेकर अपने अनुरूप समस्त सद्गुणों की खान सबसे महान् पति की खोज में निकलीं तो ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व, यक्ष राक्षस असुर तथा सभी जाति के श्रेष्ठ पुरुषों के समीप गयीं, किन्तु उन्हें अपनी इच्छा के अनुरूप कोई वर नहीं मिला। तब उन्होंने

सर्वगुणों की खान सर्वगुण निधान महान् आप भगवान् का आश्रय ग्रहण किया। आपने भी कृपा करके उनके ऊपर अनुग्रह किया, आपने हृदय का हार बनाया। उन्होंने आप गुणालय को नम्रता और भक्ति द्वारा प्रसन्न करके चरण कमलों की सेवा का वरदान प्राप्त किया। इसीलिये वे अपने कमल से भी कोमल करों से आपके चरणारविन्दों को सुहलाती रहती हैं, आपकी सेवा में सदा संलग्न बनी रहती हैं। आपका सर्व भाव से भजन करती हैं। मेरे मन में माँ कमला के सदृश सेवा करने की लालसा उठती है। मैं भी चाहता हूँ अत्यन्त उत्सुकता के साथ, महान् उत्साह के सहित सम्पूर्ण सद्गुणों के एकमात्र आश्रय, सर्व गुण निधान समस्त श्रेष्ठ पुरुषों से भी परम श्रेष्ठ आप भगवान् का भजन करूँ।"

आप कहेंगे सेवा करने के लिये तो सभी स्वतंत्र हैं, तुम सेवा कर ही सकते हो, इसमें पूछने की कौन-सी बात है? सो प्रभो! पूछने का एक कारण है। जब एक वस्तु पर अधिकार जताने वाले दो व्यक्ति हो जाते हैं, तो उनमें परस्पर में कलह हो जाती है, एक दूसरे से स्पर्धा करने लगते हैं, मन ही मन अपने प्रतिस्पर्धी से डाह करने लगते हैं, माँ लक्ष्मी सदा आपकी सेवा में संलग्न रहती हैं, आपकी मुँह लगी हैं, सेवा की एक मात्र उत्तराधिकारिणी अपने को ही समझती हैं, जब वे देखेंगी, मेरे स्थान को हथियाने वाला, मेरे अधिकार में स्वत्व प्रकट करने वाला यह कोई दूसरा भी व्यक्ति आ गया है, तो वे बिना बात ही उलाहना देने लगेंगी, कलह करने लगेंगी। आपके कान भरने लगेंगी। आपकी लक्ष्मीजी ऐसा नहीं कर सकतीं? सो, प्रभो! यह बात नहीं। प्रतिस्पर्धी के प्रति ईर्ष्या स्वाभाविक है, हम दोनों

में कलह होगी होगी अवश्य होगी। जगज्जननी के साथ मेरा वैमनस्य स्वाभाविक है अवश्यम्भावी है अनिवार्य है। यह संभव नहीं एक ही उद्योग में लगे रहने वाले, एक ही स्वार्थ में समान भाव से संलग्न दो पक्षों में मनोमालिन्य न हो, कहा सुनी न हो। यह तो होगा ही और हम दोनों का अभियोग भी आपके पास आवेगा। उस अभियोग में जो निर्णय होगा, वह भी मैं जानता हूँ, मैं चाहें वादी होकर आऊँ या प्रतिवादी बन कर आपकी सभा में न्याय मेरे ही पक्ष में होगा।

आप पूछेंगे—तुमे ऐसा विश्वास कैसे हुआ ? सो, भगवान्! यह तो जग विदित है, आपका नाम ही इसकी साक्षी दे रहा है। आपका नाम दीनवत्सल है, दीनबन्धु तथा दीनानाथ है। लक्ष्मीजी तो स्वयं साक्षात् महालक्ष्मी ही ठहरीं। संसार में उनसे अधिक सम्पन्न कोई है ही नहीं। जिनके ऊपर इनका तनिक भी कृपा कटाक्ष हो जाता है, वही बड़ा व्यक्ति बन जाता है, वही श्रीमान्, लक्ष्मीवान्, सम्पन्न तथा भाग्यवान् कहलाता फिर जो स्वयं ही समस्त ऐश्वर्य, श्री तथा कान्ति आदि की अधिष्ठात्र देवी हों, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? उनकी मेरी कलह होगी, उनकी अपेक्षा मैं सर्व प्रकार से दीन हीन हूँ, आप ठहरे दीनवत्सल। आपको किसी प्रकार का लोभ लालच तो है नहीं किसी भी वस्तु की अपेक्षा तो है नहीं। अपेक्षा तो उसे होती है, जिसके पास उस वस्तु का अभाव हो, आप तो सब प्रकार से परिपूर्ण हैं आप्तकाम तथा आत्माराम हैं, सदा सर्वदा अपने ही स्वरूप में रमण करने वाले हैं। अतः मुझे पूर्णरीत्या विश्वास है, कि आप सब प्रकार से मेरा पक्ष लेंगे। आपका निर्णय सन्ध्यात्मक न होगा।

आप कह सकते हैं, "झगड़े की कौन सी बात है। मेरे दो

चरण हैं, एक की सेवा लक्ष्मीजी करती रहें एक की तुम करो।" सो, प्रभो! झगड़ा तो अनिवार्य है। वे दक्षिण चरण की सेवा कर रही होंगी मैं वाम चरण की, तब मेरी इच्छा दक्षिण चरण की होगी, लक्ष्मीजी इसमें कुछ आनाकानी करेंगी तो आप कह देंगे अच्छा इसी की इच्छा पूरी होने दो। फिर मैं चाहूँगा वाम चरण की ही सेवा करूँ, इस पर दायें बायें बार बार करने से सुकुमारी भगवती जगज्जननी कमला माँ खीज जायँगी, तब मैं ही दोनों चरणकमलों को गोदी में रखकर एक साथ ही दोनों की सेवा करूँ तो इसपर अपना अधिकार छिन जाने के भय से लक्ष्मीजी लड़ जायँगी, उस समय आप उन्हें हटाकर चरणों से पृथक् करके मुझे ही उभय चरणारविन्दों की सेवा समर्पित कर देंगे।

हे कृपासिन्धो! हे भक्तवत्सल! ये कौपीनधारी! जटाधारी घर बार त्यागी बाबाजी इसीलिये तो घर द्वार, कुटुम्ब, परिवार, पुरजन परिजन तथा समस्त समृद्धि और स्वजनों को छोड़कर आपकी शरण में आ जाते हैं। उन्हें पूरा विश्वास है कि आप माया प्रपञ्च से परे हैं। मायिक गुणों के कार्यों का आप में लवलेश मात्र भी नहीं है। आप माया रहित, मुकुन्द हैं। लक्ष्मी जी आपकी गृहिणी हैं इस नाते से आप उनसे प्यार नहीं करते, वे आपकी भक्ता हैं, आप में अनुरक्ता हैं, आपकी अनन्योपासिका हैं, इसीलिये आप उनके प्रति स्नेह प्रदर्शित करते हैं, जब कोई अत्यन्त दीन हीन साधनविहीन शरण में आ जाता है, तो लक्ष्मीजी की अपेक्षा उससे ही अधिक स्नेह करने लगते हैं। इसी आशा पर तो सर्वत्यागी विरागी साधु जन सब कुछ त्याग कर आपके भजन भाव में ही डूबे रहते हैं, आपको ही अपना अन्य आश्रय मानते हैं।

साधु पुरुषों का एकमात्र धन आपका सेवन मात्र ही है। आपके चरणों का सदा सर्वदा अव्याहत गति से [illegible] सतत स्मरण बना रहे यही उनकी भावना है, यही [illegible] है, यही इच्छा है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रयोजन प्रतीत [illegible] ही नहीं।

हे वरदाता! आपने मुझसे बारम्बार कहा—"वरदान माँ[illegible] ले, अपनी इच्छानुसार वर प्राप्त कर ले। मैं तो ऐसा अनुभव करता हूँ कि आप ऐसा कहकर मेरी परीक्षा ले रहे हैं, कि इच्छित वर का प्रलोभन होता है या नहीं। मैं आपकी इस वाणीको जग[illegible] को मोह में डालने वाली माया के चक्कर में घुमाने वाली मानत[illegible] हूँ। आप परोक्ष प्रिय हैं। आपकी वेद रूपी वाणी भी पुष्पित वाणी है, प्राणियों को मोह में डालनेवाली है। जैसे उसमें "स्वर्ग कामोयजेत" स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिये बस, इस वाक्य का गूढ़ार्थ न समझकर लोग क्षयिष्णु स्वर्ग [illegible] चक्कर में फँस जाते हैं। आप सर्वसमर्थ सर्वान्तर्यामी को भू[illegible] जाते हैं। बिना प्रयोजन से तो मन्द बुद्धिवाला भी कार्यों में प्रवृ[illegible] नहीं होता। यदि मनुष्य वेद वाणी रूपी डोरी में बँधे न हो[illegible] उन्हें फल की इच्छा न होती तो कर्म ही क्यों करते। क्यों भाँ[illegible] भाँति के कष्ट कर और श्रम साध्य कर्मों को कठिनता के सा[illegible] अनुष्ठान करते? क्यों जन्म मरण के चक्कर में फँसकर बारम्बा[illegible] जनम लेते और बारम्बार मरते। क्यों आवागमन के हिंडोले प[illegible] घूमते रहते।

हे मायापति! आप मुझे वरदान का लोभ क्यों देते हैं मैं तो जन्मजात लोभी हूँ। मनुष्य स्वभाव से ही माया द्वार विमोहित बना हुआ है। मोह ममता के कारण ही तो यह ध[illegible]

जन, भूमि, दारा, सुत, माता पिता तथा अन्य सबको अपना मानकर इनके मोह में फँसता है, मुझे दूसरी स्त्री मिले, मेरे सुन्दर सुयोग्य पुत्र हों, इन बातों की बार बार इच्छा करता है। स्वामिन्! मरे को क्या मारना, गिरे हुए को क्या गिराना। अनुत्तीर्ण हुए की क्या परीक्षा लेना। आप मेरी इच्छा पर निर्भर न रहिये। मेरे वर माँगने की अपेक्षा न करें। आप तो मेरे पिता हैं, जनक हैं। जैसे पिता बिना पूछे ही पुत्र का हित करता है, जिस बात में उसका कल्याण हो, उसे वह बिना उसे जताये ही करता रहता है। अतः मैंने अपनी उन्नति अवनति सम्पूर्ण भार आपके श्री चरणों में सौंप दिया है। जिसमें मेरी भलाई जिसे पाकर मेरा परम कल्याण हो,उसी वस्तु को दीजिये मेरे तो सर्वस्व आप ही हो। मुझसे वर माँगने वाली बात न कहिये। मैं सदा सबदा आपके कीर्तन में आपकी कथा श्रवण में संलग्न रहूँ, यही मेरी भावना है यही मेरी एकमात्र इच्छा है,इसके अतिरिक्त भुक्ति तथा मुक्ति की मुझे लालसा नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज पृथु की ऐसी अनन्य निष्ठा देखकर भक्त भावन भगवान् ने उन्हें अनन्य भक्ति का वर दिया। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में भगवान् के अंशावतार पृथ्वीपाल पृथु की स्तुति कही अब जिस प्रकार प्रचेताओं ने भगवान् विष्णु को रुद्रगीत से प्रसन्न करके उनकी स्तुति की उसे सुनिये। रुद्रगीत का वर्णन भागवती के पञ्च गीतों में करूँगा।

छप्पय

चापैं ज्यों श्री चरन, चहूँ चाँपन हौं हू नित।
कलह करें श्री मातु जितावे मोकूँ निशचित॥
हो प्रभु अशरन शरन दीन वत्सल वर दाता।
सतत भक्त हित निरत रहो सुतहित ज्यों माता॥

मोह पाशमें जीव बँधि, चौरासी चक्कर फिरै।
मेंटो माया मोह प्रभु, बार बार बन्दन करै॥

पद

भक्तनि सत सङ्गति प्रभु ! पाऊँ।
साधु सभा महँ सुनूँ सतत यश, अनत कहूँ नहिँ जाऊँ ॥१॥भ०
प्रेम सहित पद पदुम पलोटूँ, पुनि पुनि हिय चिपटाऊँ।
मृदुल चरन वर कर कपोल धरि, तनकी ताप मिटाऊँ ॥२॥भ०
कमला कलह करें करुनाकर, तनिक नहीं घबराऊँ।
दीनदयाल पतित प्रभु हौं, अति दीन कहाऊँ ॥३॥ भ०
धन, जन, विषय, भोग, इन्द्रिय, सुख, स्वरग मोक्ष नहिं चाऊँ।
कथा कीरतन करत भव, सागर सहज तराऊँ ॥४॥ भ०

पृथुकृत भगवत् स्तुति

पृथुरुवाच

वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद् बुधः,
कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां,
तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥१॥

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचित्,
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो,
विधत्स्वकर्णायुतमेष मे वरः ॥२॥

स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो,
भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्वर्मनां,
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥३॥

यशः शिव सुश्रव आर्यसङ्गमे,
यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं,
श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया ॥४॥

अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं,

गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलिः,
न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥५॥
जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं,
स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।
करोपि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः,
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया ॥६॥
भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो,
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां,
निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ॥७॥
मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं,
वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत् ।
वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसितः,
कथं पुनः कर्म करोति मोहितः ॥८॥
त्वन्माययाद्धा जन ईश खण्डितो,
यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः ।
यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं,
तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम् ॥९॥

प्रचेताओं द्वारा विष्णुभगवान् की स्तुति

(३०)

नमो नमः क्लेशविनाशनाय,
निरूपितोदारगुणाह्वायाय ।
मनोवचोवेगपरोजवाय,
सर्वात्ममार्गैरगताध्वने नमः ॥

(श्रीभा० ४ स्क०३० अ० २२ श्लो०)

छप्पय

पितुने आयसु दई प्रचेता ! सृष्टि बढ़ाओ ।
शिवकूँ करि सन्तुष्ट उदधि ढिंग तपकूँ जाओ ॥
आयसु सिर धरि रुद्र-गीततैं आराधे हरि ।
भये प्रकट परमेश करें इस्तुति पद सिर धरि ॥
भक्तवछल भवभय हरन, रमारमन ! सब सुख सदन ।
जीवनधन ! अशरन शरन, बन्दों पुनि-पुनि प्रभु चरन ॥

महाराज पृथु के वंश में एक प्राचीन बर्हिनामक राजर्षि हुए हैं, उनका विवाह समुद्र की कन्या शतद्रुति

❀ भगवान् की स्तुति करते हुए प्रचेतागण कह रहे हैं, जो हरि शरणागतों के क्लेशों को विनाश करने वाले हैं, उन्हें बारम्बार नमस्कार है । जिन प्रभु के नामों को और उदार गुणों को शास्त्रों ने सर्वश्रेष्ठ

के साथ हुआ। शतद्रुति के गर्भ से महाराज प्राचीनबर्हि के दश पुत्र हुए। उनका रूप, रंग शील, स्वभाव, आकृति, प्रकृति एक सी ही थी। अतः वे दशों प्रचेता के नाम से ... हुए। महाराज प्राचीनबर्हि ने उन्हें प्रजा की वृद्धि के लिये दी। उन्होंने सोचा बिना तपस्या के कोई कार्य सु... सिद्ध नहीं होता, अतः वे तपस्या करने और तप के ... वरदाताओं में श्रेष्ठ भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने समुद्र किनारे चले गये और वहाँ दश सहस्र वर्षों तक करते रहे।

जब वे तपस्या करने जा रहे थे, तब भगवान् रुद्र उन्हें रुद्रगीतका उपदेश दिया था। उसी रुद्रगीतका अनुष्ठान करते हुए वे भगवान् की आराधना में लगे रहे। दश सहस्रवर्ष के अनन्तर भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हुए। तब उन्होंने बड़ी नम्रता के साथ विनीत भाव से भगवान् की स्तुति की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रचेताओं के सम्मुख भगवान् विष्णु अष्टभुजाओं को धारण करके गरुड़पर चढ़े हुए प्रकट हुए। तब दशों भाइयों ने गद्-गद् कंठ से प्रार्थना करते हुए इस प्रकार कहा—"हे स्वामिन्! इस संसार में सभी प्राणी क्लेशरूपी पंक में फँसे हुए हैं, जो इस पंकसे निकलना चाहते हैं और जिन्हें आपभी वरणकरना चाहते हैं, वे आपके शरण में जाने की इच्छा करते हैं उन शरणागत भक्तों के समस्त

साधन बताया है, उनको बारम्बार नमस्कार है, जिनका वेग मन वाणी से भी बढ़कर है, तथा जिनका मार्ग सभी इन्द्रियों से परे है उन परमात्मा के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

क्लेशों का आप विनाश कर देते हैं, उन्हें क्लेश रहित बना देते हैं। ऐसे क्लेशहारी केशव को हम श्रद्धाभक्ति सहित प्रणाम करते हैं।

प्रभो! वेद आपकी निश्वास है। वे साधकों को मुक्ति का साधन बताते हैं, भवसागर में भटके हुए प्राणियों को पुण्य पथ दिखाते हैं। उन वेदों में आपको पाने के, आवागमन से छूटने के दो ही उपाय बताये हैं। आपके उदार गुणों का बखान तथा आपके मधुमय आनन्दमय नामों का श्रवण और गान इन दो के ही द्वारा आपकी उपलब्धि हो सकती है। वैसे कोई दौड़कर अपने पुरुषार्थ से आपको पकड़ना चाहे तो यह सम्भव नहीं। प्राणी उसी को पकड़ सकता है, जिसका वेग अपने से न्यून हो। इन्द्रियों का वेग सबसे अधिक है। इन्द्रियों से भी बढ़कर वेग मन का है, किन्तु आपका वेग तो वाणी तथा मन से भी असंख्यों गुना बढ़कर है, फिर उसे अन्तःकरण कैसे पा सकता है, आप स्वयं ही कृपा करें, तभी सम्भव हो सकता है। इन्द्रियाँ जिस मार्ग से जाती हैं, आपका मार्ग तो इन सबसे निराला है आप तो परोक्ष प्रिय प्रभु हैं ऐसे आप विलक्षण गति वाले विभुके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे सर्व स्वरूप! आपके लिये कोई कर्तव्य नहीं, आपकी उत्पत्ति नहीं, आपमें किसी प्रकार का विकार नहीं, ह्रास नहीं, इच्छा नहीं, कामना नहीं, चञ्चलता नहीं। आप नित्य शुद्ध, बुद्ध, शान्त तथा सदा सर्वदा स्व स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। फिर भी हम मायाबद्ध जीवों को मनरूपी निमित्त कारण होने से यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च यह दृश्यमान द्वन्द्व,

यह समस्त द्वैत आपमें विलसित प्रतीत हो रहा है। वास्तविक बात यह है कि आप लीला के लिये, क्रीड़ा के लिये, विनोद के निमित्त अपने ही माया के गुणों को स्वीकार करके जब जगत् को बनाना चाहते हैं, तब ब्रह्मा बन जाते हैं, पालन करना चाहते हैं, विष्णु वेष बना लेते हैं, संहार करना चाहते हैं, रुद्र रूप रख लेते हैं। ये आपसे भिन्न नहीं, पृथक् नहीं। कार्य भी आप हैं और उसका कारण भी आप हैं। जो अनवस्थित बुद्धि वाले व्यक्ति हैं, वे आपमें द्वैत देखते हैं, सुव्यवस्थित सुस्थित बुद्धिवाले तो सबमें सर्वत्र आपका ही दर्शन करते हैं। आप सर्वात्मा है, सर्वरूप हैं, ऐसे अद्वय स्वरूप आपको बारम्बार नमस्कार करते हैं।

हे शुद्ध स्वरूप! कोई आपको सत्व गुण का अधिष्ठाट देव कहते हैं, किन्तु प्रभो! सत्वरज और तम यह तो आपकी माया के गुण हैं, आप तो इन तीनों गुणों से परे हैं। इन तीनों गुणों से परे जहाँ माया प्रपञ्च की गंध नहीं ऐसे विशुद्ध सत्व स्वरूप हैं संसार का बंधन जीवों को तभी तक है जब तक उन्हें आपके शुद्ध स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। जहाँ आपका यथार्थ ज्ञान हुआ नहीं तहाँ संसार बंधन अपने आप दूर हो जाता है। आप समस्त सात्वतों के प्रभु हैं अधिपति हैं स्वामी हैं। आप समस्त आनन्द देने वाले घन हैं, आनन्दघन हैं वसुदेवनन्दन हैं, समस्त जीवों को अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं, ऐसे कृष्ण स्वरूप आप भगवान् वासुदेव के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे कमलाकान्त! आपको कमल सबसे अधिक प्रिय है सम्भव है इसलिये कि आप नारायण हैं, जलधि में सदा शयन करते रहते हैं। कमल भी जलज है। इसलिये तो आपकी नाभि

से समस्त जगत् का उद्भव स्थान कमल उत्पन्न हुआ। उसी से आप के पुत्र कमलासन का प्रादुर्भाव हुआ। आपकी कान्ता कमला भी कमलवन विहारिणी हैं। हे कमलप्रिय! कमल को जैसे आपने अपनाया है, वैसे ही हमें अपनाइये। यद्यपि कमल में कोमलता, कमनीयता, कान्ति तथा सुरभि सुगन्ध है, किन्तु आप को कोई गुणों से कैसे रिझा सकता है। समस्त सद्गुणोंके तो आप ही एकमात्र उत्पत्ति स्थान हैं। कमल को गुणों के कारण नहीं अपनी कृपा के द्वारा ही अपना लिया है। तभी तो आप सदा सर्वदा कमल कुसुमों की अम्लान माला अपने कमनीय कंठ में धारण किये रहते हैं। नयनों में कमल की आभा तथा करों में कमलों की कोमलता और चरणों में कमलों जैसी ललाई लुनाई मृदुता और मनोहरता स्थापित करते रहते हैं। इसीलिये आपके कर और चरण करारविन्द तथा चरणारविन्द कहलाते हैं। आपके पीताम्बर की अद्भुत अनुभव आभा कमल कुसुम की केसर के सदृश निर्मल तथा पीली है। ऐसे सम्पूर्ण भूतों के आश्रय स्थान, कमल आश्रयस्थान, कमल को गौरव प्रदान करने वाले, सर्व साक्षी कमलाकान्त के कोमल चरणकमलों में हमारा बारम्बार नमस्कार है, पुनः पुनः प्रणाम हैं, शत-शत वन्दन है।

प्रभो! हम लोग दैहिक दैविक तथा भौतिक त्रितापों से तापित हो रहे हैं। इन दुखों से दुखी होकर सुख की इच्छा से भौतिक भोगों में सुख की खोज कर रहे हैं, किन्तु सुख स्वरूप तो आप ही हैं आप के अतिरिक्त संसार में सुख कहाँ, जब जीव को आप के दर्शन हो जायँ, तभी उसके सम्पूर्ण दुःख दूर हो सकते हैं। आपने हम त्रिताप पीड़ितों पर अत्यन्त ही अनुग्रह की, अहैतुकी कृपा की, आपने हम पर ही कृपा करके यह सर्वक्लेशनाशकस्वरूप प्रकट किया है, हमारे ही दुःख दूर करने को आपने यह अनुपम

छवि दिखाई है। रूप रहित आपने यह दिव्य रूप प्रकट किया है इससे बढ़कर हम पर आपकी और कौन सी अनुग्रह हो सकती है। आपकी कृपा का यह अनुपम प्रसाद पाकर हम सब अत्यन्त ही कृतार्थ हो गये। ऐसे आप कृपासागर के पादपद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! हम अपने स्वरूप को भूल गये हैं, आप की वत्सलता तथा दास्यभाव का विस्मरण कर चुके हैं आप दीनबन्धु हैं, दीनानाथ तथा दीनवत्सल हैं, सर्वसमर्थ हैं। भूले भटकों को पथपर लाने वाले हैं, कोई अज्ञबालक अग्नि में हाथ डाल रहा या तीक्ष्ण धार वाले छुरा को पकड़ने दौड़ रहा हो, तो समर्थ उसे सावधान कर देते हैं, उसे स्मरण दिला देते हैं, कि क्लेशकारक है। इसी प्रकार आप सर्व समर्थ स्वामी समय पर यह स्मरण कर लिया करें कि ये हमारे हैं, हमारे आश्रित हमारे सेवक अनुचर किंकर तथा शरणागत हैं, स्वामिन्! इसी से ही हमारा उद्धार हो जायगा। हम जैसे क्षुद्र जीवों को जो सर्वदा सकामकर्मों में ही संलग्न रहते है बिना स्वार्थ के बिना संसारी कामना के कोई काम करते ही नहीं, उनका स्मरण यदि महापुरुष भी करले, वे भी यदि उन्हें अपना कहकर स्वीकार लें इतने से ही साधारण जीव के समस्त क्लेश शान्त हो जाते हैं अतः प्रभो! हमें अपना बनालें। हे प्रपन्न पारिजात! हमें अपनी शरण में लेलें, अपनी प्रपत्ति प्रदान करें। हे भद्रनाशन! हमारे समस्त अमङ्गलों का नाश कर दो। हमारे सम्पूर्ण दुरितों को दूर कर दो, हमें अपना दास बना लो। हे दयासिन्धो! कब से हम इस भव सागर में भटक रहे हैं। कब से क्लेश सहन कर रहे हैं, आप क्लेशहारी हो हमारे समस्त क्लेशों को हर लो आप के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो ! आप हमसे वरदान माँगने को कहते हैं आपके र्शन हो जाने पर भी फिर किसी वरदान की आवश्यकता रह ाती है क्या ? विवाह हो जाने पर बारात की आवश्यकता ह जाती है क्या ? सुमेरु के समीप जाकर भी सुवर्ण याचना की ावश्यकता अनुभव होती है क्या ? हे सर्वज्ञ ! जो न जानता । उसे जनाया जा सकता है। आप तो घट-घट की जानने वाले । आप अन्तर्यामी हैं। सम्पूर्ण चराचर जीवों के अन्तःकरण नित्य निरन्तर निवास करते हैं, किसी के मन की कोई भी गुप्त गुप्त बात आपसे छिपी नहीं रहती। जब सभी की इच्छा- ों के आप साक्षी हैं ज्ञाता हैं, तब जो आपके उपासक हैं, आप ी ही अपना सर्वस्व समझते हैं, उनकी कोई भी इच्छा आपसे ुपी होगी, इसे कौन मान सकता है, इसपर कौन विश्वास कर कता है।

हे शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप स्वामिन् ! आप मुक्ति मार्ग के र्वर्तक हैं। विविध वेष बनाकर मुमुक्षुओं को मुक्ति का मार्ग ेखाते हैं। दिखाते क्या हैं आप स्वयं मोक्षस्वरूप हैं। जब ापही हम पर प्रसन्न हो गये। आपने ही हम दीनों पर या करके अपने देवदुर्लभ दर्शन दिये, तब अन्यवर माँगने ो रह ही क्या गया, हमने तो सब कुछ पा लिया, अपनी उपासना का फल आपके दर्शनों से ही प्राप्त कर लिया। तथापि आपका आग्रह ही है, तो हम एक ही वर माँगते हैं, उसे कृपा करके आप हमें दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्रचेताओं ने भगवान् से जिस प्रकार सत्सङ्गति का वर माँगा, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा, आप सब अत्यन्त समाहित मनसे इस परम पुण्यप्रद प्रसङ्ग को प्रेम पूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

शुद्ध सत्व सरवग सनातन सब घटवासी।
अधिपति अखिल अनन्त अनामय आनँद रासी॥
कमल कुसुम गरमाल कमल लोचन कमलाधर।
कमल सरिस कर चरन कमलके सर सम अम्बर॥
दै दरसन दासनि दया, दरसाई दुख दूरि करि।
अभिमत वर पाये सकल, माँगे वर यह तऊ हरि॥

पद

दयामय! दरसन दै दुख टारे।
अति उदार गुन नाम तिहारे, अगनित प्रानी तारे॥१॥ द०
नित्य निरंजन निराकार हरि, माया गुन स्वीकारे।
उत्पति थिति लय करन जगततुम, हरिहर अज तनु धारे॥२॥
कमल सरिस कोमल मनहर वर, कर पद नयन तिहारे।
दरशन दीये भये कृतारथ, शीतल नयन हमारे॥३॥ द०
हो सरवज्ञ सकल घटवासी, सबकी जानन हारे।
सन्त समागम सतत मिलै प्रभु, नैया लगे किनारे॥४॥ द०

प्रचेताओं द्वारा-भगवान् की स्तुति (२)

(३१)

तुलयामि लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत् संगिसंङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(श्रीभा० ४ स्क० ३० अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

करमनि भोगत भोग भ्रमैं जबतक जा जग महँ ।
तब तक संतनि सङ्ग भक्ति होवे तिनि पग महँ ॥
सत संगति के सरिस जगत महँ सुख कछु नाहीं ।
तहँ सुख सरिता बहै सन्त जहँ हरि गुन गाहीं ॥
सब तजि तव पद प्रेम करि, पग-पग पृथ्वी पै फिरत ।
तिनि संतनि सतसङ्ग सब, भवभय दुख दारिद हरत ॥

इस संसार में जिसने भी जो कुछ प्राप्त किया है, सन्तों की सङ्गति से ही प्राप्त किया है। इस संसार में कोई सच्चे मित्र हैं, तो संत ही हैं इस लोक मे तथा परलोक में ही संत ही कालक्षेप को सरल सुखद सरस बना सकते हैं, सब कुछ प्राप्त हो सकता है, किन्तु संत सङ्ग अत्यंत दुर्लभ है, तभी तो भगवान् के दर्शन होने

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए प्रचेतागण कह रहे हैं—प्रभो ! भगवान् के भक्तों की एक लवमात्र की सङ्गति के सम्मुख हम लोग स्वर्ग तथा अपवर्ग को भी कुछ नहीं समझते, तो फिर इन मरणशील मानवों के भोगों की तो बात ही क्या है ?

पर भी प्रचेतागण स्तुति करते हुए उनमें सत्सङ्गति का ही वरदान माँग रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दसों भाई प्रचेतागण समुद्र गरुड़ पर बैठे भगवान् की स्तुति करते हुए आगे कह रहे हैं—"प्रभो! आपका दर्शन समस्त साधनों का फल है। जिसे फल प्राप्त हो गया फिर वे अन्य वस्तुओं की लिप्सा क्यों करेगा? आप मोक्षपति हैं, जिसे चाहें जन्म मरण के चक्कर से छुड़ा सकते हैं, विमुक्त बना सकते हैं, किन्तु प्रभो! हम मोक्ष की इच्छा नहीं करते मोक्ष इच्छा करने से-माँगने से-मिलती भी नहीं। मोक्ष के लिए आप जिसे वरण करें, उसे ही मिलती है। वह आपकी इच्छा पर निर्भर है, उसकी याचना ही क्या। फिर भी आप वर माँगने को कहते हैं, तो इसका अर्थ यही है, हमारे कर्म-बन्धन कटे नहीं। न कटें, हमें इसकी चिन्ता भी नहीं। आपकी माया हमें आपकी आज्ञा से नचाना चाहता हो, तो नचाती रहे जब तक उसकी इच्छा हो भवाटवी में भ्रमाती रहे कर्मानुसार वह किसी से वैर कर ही नहीं सकता। उसके लिये ऊपर कोई है ही नहीं। वह चराचर में अपना स्वामी आपको जानेगा और अपने को सबका सेवक समझेगा अपने स्वामी से कोई वैर कैसे करेगा। भय भी दूसरे से ही होता है, जो सबमें आपको देखेगा वह भय किससे करेगा आपकी कथा श्रवण का यही फल है कि प्राणी मात्र से मैत्री भाव रखना तथा सबसे निर्भय हो जाना साधुओं की सङ्गति में यही दो बात देखी जाती है। ऐसी त्रैलोक्य पावनी कथाओं के जो प्रेमी हैं, उन सन्तों का हमें सदा सहवास प्राप्त हो।

हे साधुओं के सर्वस्व स्वामिन्! आपतो सम्पूर्ण चराचर के आश्रय हैं, किन्तु व्यवहार में बालकों के माता-पिता हो

आश्रय हैं स्त्री के पति आश्रय हैं, शिष्य के गुरु आश्रय हैं अज्ञों के विज्ञ आश्रय हैं, प्रजा के राजा आश्रय हैं, किन्तु जिन्होंने संसार के सभी सम्बन्धों को सदाके लिये त्याग दिया है, जिनका अपना कोई एक घर नहीं, जिनकी मति स्थिर हो चुकी है, जो तीर्थों को भी पावन बनाने की इच्छा से पृथ्वी पर पैदल ही परिभ्रमण करते रहते हैं, जो संसारी कथा वार्ताओं से मौनी बने रहते हैं, उन परिव्राजक असंग सन्यासी महात्माओं के तो एकमात्र आप ही आश्रय हैं। वे अन्य लौकिक विषय बोलते ही नहीं बारम्बार आपका ही स्तवन करते रहते हैं, विविध भाँति से आपके ही गुणानुवादों का गायन करते रहते हैं, भाँति भाँति से आप को ही रिझाते रहते हैं। ऐसे वीतराग संतजनों का सतसंग हमें जन्म जन्मान्तरों में प्राप्त होता रहे, यही आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रार्थना है।

स्वामिन्! हम पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके केवल सृष्टि वृद्धि के संकल्प से घर से निकले थे। उस समय हमें अपने कर्तव्य का कुछ भी बोध नहीं था, हमें कहाँ जाना चाहिये, क्या करना चाहिये, किसकी आराधना में निमग्न रहना चाहिये, इन सब बातों का ज्ञान नहीं था, किंकर्तव्य-विमूढ़ बने आगे बढ़ते चले जाते थे। भाग्यवश आपकी अहैतुकी कृपा के कारण आपके प्रियतम सखा, भक्त तथा सर्वस्व स्वयं साक्षात् शंकरजी से अकस्मात् समागम हो गया। उन्होंने हमारे संकल्प को समझकर हमें रुद्रगीत का उपदेश दिया। साधना की विधि बतायी, आपके चरणों में प्रीति दृढ़ाई, पुण्य पथ की पन्था दिखायी। उपासना की प्रक्रिया समझाई। उसीका यह फल हुआ कि आज हम जन्म मरण रूपी कठिन रोग के एकमात्र श्रेष्ठतम चिकित्सक

आप भवभयहारी भगवान् का साक्षात् दर्शन कर रहे हैं, आप अशरण शरण शरणागत वत्सल सर्वशोकहारी सर्वेश्वर की शरणमें पहुँच गये हैं। प्रभो! जब क्षणभर के समागम का ऐसा अद्भुत परिणाम है, जो सदा सर्वदा साधु सेवामें ही संलग्न रहते हैं। अपने व्यवहार, कार्य तथा विविध उपायोंसे उन्हें प्रसन्न बनाये रहते हैं, उनकी सेवा सुश्रूषा करते रहते हैं, उन बड़भागियों के भाग्य की तो बात ही क्या है? इस लिये पहिला वर तो हमें यह दीजिये कि सदा हमें साधुओं का सत्संग प्राप्त होता रहे।

हे पापहारी प्रभो! आपको कोई पुण्य कर्मों से ही प्राप्त करना चाहे तो असंभव है। हाँ पुण्य कर्म आप को प्रिय हैं। ये पुण्य कर्म आपके ही निमित्त किये जायँ, तब तो उनका करना सार्थक है, किन्तु पुण्य कर्म भी किये जायँ, और फिर उनके द्वारा स्वर्गादि लोक माँगे जायँ, तो यह तो कीच से कीच को धोने के समान हुआ। बड़े परिश्रम से अत्यंत सावधान होकर वेदों का अध्ययन किया गया और उनके द्वारा संसारी सुखों की ही इच्छा की तो उस अध्ययन में और पेट के लिये घास खोदने में अन्तर ही क्या रहा? अपने शरीर को कष्ट देकर, ब्राह्म मुहूर्त में उठकर सम्पूर्ण समय लगाकर गुरुओं की, विप्रों की तथा वृद्ध जनों की समाहित चित्त से सेवा भी की और उसके बदले में उनसे इन्द्रियों द्वारा भोगे जानेवाले तनिक सुखाभास रूप विषय भोग माँगे, तो उनमें और वैतनिक सेवकों में अन्तर ही क्या रहा? हे अभद्रनाशन प्रभो! भक्ति सहित भद्रजनों की वन्दना की, माता पिता भाई बन्धु तथा सुहृद्गणों की सम्पूर्ण प्राणियों की निर्दोष भाव से भक्ति की, उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित किया, उन्हें नमस्कार प्रणाम किया और आशीर्वाद में ये ही सांसारिक सुख माँगे, तो इतनी बड़ी साधना धूलि में मिल गयी। व्रत उपवास करके, पञ्चाग्नि तापक

दीर्घकाल तक जल में खड़े रहकर तपस्या की और उससे स्वर्गादि लोकों की आकांक्षा की तो मानों बिना ही गोबर के लीपदिया। अतः हे देव ! हमारी तो आपके पादपद्मों में यही प्रार्थना है कि हमें ऐसा वर दीजिये कि हमने जो भी कुछ एकाग्र मन से वेदादि का अध्ययन किया हो, जो भी गुरु विप्र तथा वृद्धों की सेवा सुश्रूषा की हो, दोष बुद्धि त्याग कर वन्दनीय जनों की तथा सर्व भूतों की जो भी वन्दना की हो, समुद्र के जल में खड़े रहकर सहस्रों वर्षों तक जो भी कुछ जैसी भी तपस्या की हो वह सब आप सर्वेश्वर के सन्तोष का कारण हो, ये सब कर्म केवल आप की प्रसन्नता के ही निमित्त हों, इन सब के एक मात्र आप ही प्रसन्न हो। यह हमारा दूसरा वर है। हे विश्वम्भर ! इस वर को आप हमें दें।

प्रभो ! मशक क्या सुमेरु को फूँक से उड़ा सकता है। क्षुद्र मेढ़की क्या अनन्त सागर का पार पा सकती है, एक अल्पज्ञ प्राणी क्या पृथ्वीके रज कणों की, आकाश के तारागणों, की सभी प्राणियों के शरीर के रोमों की गणना करने मे समर्थ हो सकता है ? इसी प्रकार आपकी महिमा अनादि अनन्त हैं उसका पारपाना प्राणियों के लिये सम्भव नहीं। स्वायंभुव मनु इतने शक्तिशाली है, इतने सामर्थ्यवान् हैं, फिर भी वे आपकी महिमा का पार नहीं पा सके। ब्रह्माजी तो मानों आपके पुत्र ही हैं, वेदगर्भ हैं चतुरानन हैं, सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाले हैं वे भी आप की महिमा का थाह नहीं लगा सके, वे भी गाते-गाते थक गये। भगवान् महादेव जो शङ्कर सदाशिव कहलाते हैं जो प्रलयकाल में अपने तीसरे नेत्र से ही चराचर जगत् का संहार करने में समर्थ हैं, उन्हें भी आपकी महिमा का अन्त नहीं मिल सका वेद भी जिनकी महिमा का गान करते समय नेति

नेति कह कर चुप हो जाते हैं, तथा असंख्यों तपःपूत ज्ञानपूत विशुद्ध चित्त वाले ऋषि मुनि गण निरन्तर ध्यान मग्न रहने पर भी जिनकी महिमा को पूर्ण रीत्या जान नहीं सकते। फिर भी ब्रह्मा, मनु, इन्द्र रुद्र तथा समस्त ऋषि मुनि तथा देवगण जिनकी निरन्तर स्तुति करते ही रहते हैं, उससे विरत नहीं होते, उन्हीं आप की अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार हमने भी स्तुति की। प्रभो! जैसे समुद्र का पूजन करते समय उन्हीं से एक चुल्लू जल लेकर उन्हें पाद्य अर्घ्य और आचमनीय जल देना उनका अपमान है, सूर्य का पूजन करते समय, एक क्षुद्र दीपक दिखाना उस तेजो राशि देव का उपहास करने के समान है, उसी प्रकार समस्त ज्ञान का भंडार, ज्ञानराशि ज्ञानस्वरूप आपसर्वज्ञ की आपकी ही दी हुई अल्पातिअल्प क्षुद्रातिक्षुद्र बुद्धि से स्तुति करना आपका अपमान करना है, किन्तु पुत्र जैसे समुद्र की चौड़ाई बताते समय अपने दोनों नन्हें-नन्हें हाथों को फैलाकर कहता है, समुद्र इतना बड़ा है, तो पिता उसकी मूर्खता पर क्रुद्ध न होकर हँस जाता है, प्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार हे परम पिता! हमने जो आप महामहिम की महिमा गाने की धृष्टता की है आप अवाङ्मनस गोचर की स्तुति करने की मूर्खता की है इसे आप अपनी उदारता से क्षमा करें, हम आपके पादपद्मों में बारम्बार नमस्कार करते हैं।

हे विशुद्ध ज्ञानमय प्रभो! आप सर्व व्यापक हैं। सर्व स्थलोंमें सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं, आप विशुद्ध ज्ञान धन तथा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, आप से श्रेष्ठ कोई पुरुष नहीं। आप पुरुषोत्तम परम पुरुष तथा महा पुरुष हैं। आप श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतम हैं। उत्तम से भी उत्तम हैं। पुरातनों से भी पुरातन हैं। आप त्रिगुणों से परे जो गुणातीत निर्मल सत्व है उसकी साक्षात् मूर्ति ही हैं। आप निरवयव के अवयव घनीभूत आनन्द हैं, उन्हें निर्मित

भी कैसे कहा जाय, क्योंकि सबके निर्माता तो आप ही हैं। अतः हे सत्य स्वरूप स्वामिन्! आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रचेताओं की ऐसी स्तुति सुनकर तथा उन्हें उनके अभिमत वर देकर भगवान् वासुदेव तुरन्त ही अपने परम धाम को पधार गये और प्रचेताओं ने भी ब्रह्माजी की आज्ञा से वृक्षों की पुत्र मारिषा से विवाह करके सृष्टि वृद्धि की उसी मारिषा के गर्भ से रुद्रशाप से शापित, दक्ष प्रजापति से शापित, दक्ष प्रजापति ने पुनः जन्म लिया।

यह मैंने अत्यंत संक्षेप में प्रचेताओं की स्तुति कही अब जैसे शङ्करजी ने संकर्षण भगवान् की स्तुति की है, उसका वर्णन मैं करूँगा, आप सब श्रद्धा सहित उसे श्रवण करें।

छप्पय

छिनभर शिव सत्सङ्ग पाइ हम अति बड़भागी।
रुद्रगीत हर दयो जलज पद हरि लौ लागी॥
जप तप सेवा सुकृत भये जो हम तैं स्वामी।
होहिं तुष्ट सरवेश आपु अज अन्तरयामी॥
शिव अज, सुर अरु असुर मनु, महिमा बरनत सब थकें।
तिनि प्रभु अशरन शरन की, इस्तुति हम का करि सकें॥

पद

प्रभो! तव महिमा पार न पायो।
शिव शारद चतुरानन थाके, सबने अकथ बतायो॥ १॥ प्र०
चारिहु वेद भेद नहिं पायो, नेति नेति कहि गायो।
शेष सहस मुख गाइँ निरन्तर, रस तिनकूँ यह भायो॥२॥ प्र०
सब कुछ करैं प्रीति तुमरी हित, अब तक काल गँवायो।
अब तो कृपा करो करुनाकर, तुमरो दास कहायो॥३॥ प्र०
अतिथि अगिनि गुरु सेवा करि-करि, जो कुछ सुकृत कमायो।
होवै तव सन्तोष हेतु प्रभु, पद पंकज सिर नायो॥४॥ प्र०

प्रचेतसकृत भगवत् स्तुति

प्रचेतस ऊचुः

नमो नमः क्लेशविनाशनाय,
निरूपितोदारगुणाह्वयाय।
मनोवचोवेगपुरोजवाय,
सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः ॥१॥
शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया,
मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु,
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥२॥
नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे।
वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम् ॥३॥
नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने।
नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण ॥४॥
नमः कमलकिञ्जल्कपिशङ्गामलवाससे।
सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे ॥५॥
रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसंक्षयम्।
आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम् ॥६॥
एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः।

यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन ॥७॥
येनोपशान्तिर्भूतानां सुल्लकानामपीहताम् ।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः ॥८॥
असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते ।
प्रसन्नो भगवान् यैषामपवर्गगुरुर्गतिः ॥९॥
वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत्परतः परात् ।
न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे ॥१०॥
पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते ।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात्किं किं वृणीमहि ॥११॥
यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः ।
तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥१२॥
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्संगिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥१३॥
यत्र ह्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः ।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥१४॥
यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान्न्यासिनां गतिः ।
संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥१५॥
तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥१६॥
वयं तु साक्षाद्भगवन् भवस्य,
विप्रस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन ।

सुदुश्चिकित्स्यस्यभवस्य मृत्यो–
भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्मः ॥१७॥
यन्नः स्वधीतं कुरवः प्रसादिता,
विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च,
सर्वाणि भूतान्यनसूतयैव ॥१८॥
यन्नः सुतप्तं तप एतदीश,
निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।
सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूम्नो,
वृणीमहे ते परितोषणाय ॥१९॥
मनुः स्वयम्भूर्भगवान् भवश्च,
येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः ।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः,
स्तुवन्त्यथो त्वाऽऽत्मसमं गृणीमः ॥२०॥
नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च ।
वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः ॥२१॥

भगवान् शङ्कर कृत-संकर्षण स्तुति

३२

भजे भजन्यारणपादपङ्कजम्,
भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम् ।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनम्,
भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम् ॥ ❀

(श्रीभा० ५ स्क० १७ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

खण्ड इलावृत एक पुरुष शिव सबइ नारी ।
जाइँ तहाँ यदि पुरुष बधें नारी सुकुमारी ॥
नारिनि तें घिरि रुद्र करें सङ्करषन इस्तुति ।
जय जय शुद्ध स्वरूप सहसफन तामस मूरति ॥
देहिँ अभक्तनि दण्ड नित, भक्तनि को भवभय हरें ।
विषय वासना रहित प्रभु, पदपदुमनि बन्दन करें ॥

इस भूमण्डल पर सात द्वीप हैं उनके नाम जम्बूद्वीप, लक्ष-द्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप

❀ सङ्कर्षण भगवान् की स्तुति करते हुए शङ्करजी कह रहे हैं—"हे भक्तभावन् भगवन्! आपकी मैं वन्दना करता हूँ, आपके पादपंकज प्रपन्नों के पालक हैं, आप अखिल ऐश्वर्य के परमाश्रय हैं, आप भक्तों को भव-बन्धन से विमुक्त करने वाले हैं, अभक्तों को भवबन्धन में भ्रमाने वाले हैं तथा ईश्वर हैं।"

हैं। ये सातों द्वीप क्रमशः क्षारसमुद्र, इक्षुसमुद्र, सुरासमुद्र, घृत-समुद्र, क्षीरसमुद्र, दधिसमुद्र, और शुद्धोदक समुद्रों से घिरे हुए हैं। क्षार समुद्र से घिरे जिस जम्बूद्वीप में हम लोग रहते हैं उसके नौ खण्ड हैं। जैसे कमल के बीच में एक तो कर्णिका रहती है और उसके आस पास पंखुड़ियाँ अथवा दल रहते हैं। इसी प्रकार इन वर्षों अथवा खण्डों में से इलावृत खण्ड तो बीच में है उसके आस पास नाभि (भारत) वर्ष, किंपुरुषवर्ष, हरिवर्ष, रम्यक, हिरण्यमय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल नाम के ये ८ खण्ड हैं। केवल भारतवर्ष या भरतखण्ड में ही कर्म करने वाले मनुष्य रहते हैं अन्य आठ खण्डों में स्वर्गसुख भोगकर आये हुए पुण्य भोगने वाले मनुष्य होते हैं, वे स्वतः कर्म करके आगे को सुकृत या दुष्कृत नहीं बना सकते फिर भी सब द्वीपों और सब खण्डों में अपनी-अपनी भावना के अनुसार भगवान् की पूजा अर्चा तो सभी लोग करते ही हैं। इन सब द्वीप और वर्षों में रहने वाले भगवान् की भिन्न-भिन्न मूर्तियों की पूजा स्तुति करते हैं। कोई किसी भी रूप की किसी भी नाम की पूजा करें, स्तुति करे वह पहुँचेगी सर्वान्तर्यामी भगवान् के ही पास। वे ही एकदेव नाना नामों से नाना रूपों से पूजे जाते हैं। सब द्वीप और वर्षों में भिन्न-भिन्न स्वभाववाले व्यक्ति निवास करते हैं। उनकी भावना के अनुसार उनके इष्ट भी भिन्न होते हैं। उस द्वीप या खण्ड के लोग अपने इष्टदेव की उसी मूर्ति की स्तुति करते रहते हैं।

इलावृतवर्ष के अधिष्ठातृदेव शङ्करजी हैं। वे पार्वती सहित उस वर्ष में निवास करते हैं। पहिले इस वर्ष में स्त्री पुरुष सब द्वीपों की भाँति रहते थे। एक दिवस पार्वतीजी शिवजी के साथ एकान्त विहार कर रही थीं। उसी समय कुछ ऋषिगण आगये। पार्वतीजी को बड़ी लज्जा लगी। उन्होंने शिवजी से यही वर माँगा

कि इस वर्ष में आपको छोड़कर दूसरा कोई पुरुष न रहे। सब स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ रहें। तब से उस वर्ष में कोई पुरुष नहीं रहता। जो भूल से चला भी जाता है तो वह भी स्त्री बन जाता है। पूर्ण सामर्थ्यवान् शिवजी अकेले ही समस्त इलावृत खण्ड में स्त्रियों के साथ विहार करते रहते हैं। उस खण्ड में भगवान् की शुद्ध-तामसी मूर्ति जिसका नाम शेष या संकर्षण है उसकी आराधना होती है। शिवजी समस्त स्त्रियों से घिरे हुए भगवान् संकर्षण की स्तुति करते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं जैसे इलावृत खण्ड में शङ्करजी भगवान् संकर्षण की जिस मन्त्र से स्तुति करते हैं उसका वर्णन आपसे करता हूँ।

भगवान् शङ्करजी पहिले तो अष्टाविंशति अक्षरात्मक मन्त्र का जप करते हैं तदनन्तर स्तुति करते हैं। मन्त्र का भावार्थ यह है—हे अनन्त! आप ओंकार रूप हैं। इस एकाक्षर मन्त्र का उच्चारण करके ही आपका स्मरण चिन्तन किया जाता है। ओंकार ब्रह्म का निर्देश है यही सम्पूर्ण वेदों का बीज है, यही आपका वाचक है। वाच्य वाचक की एकता के ही कारण आप प्रणवस्वरूप कहे जाते हैं। आपको नमस्कार है। आप षडैश्वर्य सम्पन्न हैं, समस्त ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण हैं, इन सबके निधि आप ही हैं, आपसे ही समस्त ऐश्वर्य समस्त पराक्रम समस्त प्रसिद्धि और कीर्ति, समस्त शोभा, समस्त बोध और समस्त विरक्ति की उत्पत्ति हुई है। यह सृष्टि प्रकृति पुरुष के संयोग से हुई है। प्रकृति तो जड़ है, पुरुष का ही यह पसारा है, पुरुष ने ही इस प्रपञ्च का विस्तार किया है आप पुरुष से भी परे हैं अतः परम पुरुष कहलाते हैं। पुरुष से भी अत्युत्तम हैं अतः मनीषियों ने पुरुषोत्तम कहकर आपको सम्बो-

समझने लगता है, यह द्वैधी भाव ही भय का कारण है। उसी भय से भयभीत होकर हम भवाटवी में भटक रहे हैं। इस संसार का सम्बन्ध ही कुछ ऐसा है, जहाँ संसार की ओर दृष्टि का नहीं, तहाँ द्वैधीभाव आया नहीं, किन्तु हे अखिल जगत् नियन्ता ! हे मन्युजित ! आपकी दृष्टि यद्यपि संसार की ओर लगी है आप सबको देखते हैं, फिर भी मायिक विषयवासना रूप चित्त की वृत्तियों से आपकी दृष्टि अणुमात्र भी विचलित नहीं होती। आप इनसे सदा सर्वदा निर्लिप्त बने रहते हैं। ऐसे आप नित्य निरञ्जन शुद्ध बुद्ध स्वरूप का ध्यान कौन नहीं करेगा ? अपने अन्तःकरण को वश में करने वाला ऐसा कौन सा व्यक्ति होगा जो आपका आदर न करेगा ? आपकी स्तुति न करेगा, और आपके पावन पादारविन्दों में पुनः पुनः प्रणाम न करेगा ?

हे संकर्षण स्वरूप सर्वेश्वर ! आपने सहस्रफण धारण करके तमोगुण का प्रश्रय लेकर यह विचित्र वेष बना रखा है। जो अज्ञानी पुरुष हैं, बोध रहित हैं वे तो आपको तामसीमूर्ति मानते हैं वे आपकी माया से मोहित होकर आपके यथार्थ स्वरूप को समझ नहीं सकते। वे जब मदिरापान के कारण अरुण वरुण के आपके विशाल नयनों को निहारते हैं, तब वे आपको गुणातीत नहीं अनुभव करते। नागपत्नियाँ जब पूजा की सामग्री लेकर आपके पादपद्मों में पुष्पमालायें चढ़ाती हैं आपके श्रीअंग में सुगन्धित चन्दन लेप करती हैं, तब आपके गुलगुले सुकोमल अत्यन्त सुगन्धित सुचिक्कण चरणों के स्पर्श से उनके मन में स्थित मनसिज प्रकट होकर उनके चित्तों को चंचल बना देता है जिससे वे शेष पूजा करने में अपने को सर्वदा असमर्थ पाती हैं, वे आधीपूजा करके ही अकी सी, जकी सी, भूली सी, भटकी

सी देखती की देखती ही रह जाती हैं, ऐसे आपके पादपद्मों की पूजा करने की कामना कौन नहीं करेगा ?"

वेदों में जिसे स्रष्टा, पालक और संहर्ता कहा गया है, जिसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण कहा गया है, किन्तु वास्तव में जो इन तीनों से सर्वदा रहित हैं, जिन्हें सर्वज्ञ ऋषि मुनि अनन्त कहकर सम्बोधन करते हैं, कोई उन्हें शेष तथा सङ्कर्षण कहते हैं, कोई धरणीधर, अहिराज, और भूधर कहकर पुकारते हैं, जिनके सहस्रफणों पर यह सदनदी पर्वत चतुर्विधजीव, संकुलापृथ्वी सरसों के दाने के समान स्थित है, जिन्हें अपने मस्तक पर रखी पृथ्वी का उसी प्रकार पता भी नहीं रहता जिस प्रकार किसी की लम्बी जटाओं में एक दो लीक या जूँआ चिपटा हो, ऐसे अनन्त शक्तिधारी धरणीधर के पादपद्मों में हमारा बारम्बार नमस्कार है।

हे सर्वसमर्थ ! मुझे सब लोग संहार का स्वामी रुद्र कहते हैं। मैं त्रिविध अहंकार से देवता, इन्द्रिय और भूतों की रचना करता हूँ सृष्टि के आदि में एक महान् वस्तु उत्पन्न होती है जिसे ऋषि मुनि महत्तत्व के नाम से सम्बोधन करते हैं, उस महत्तत्व नामक प्रथमगुण के जगत् स्रष्टा ब्रह्माजी अधिष्ठातृदेव हैं उसका साक्षात् स्वरूप हैं, ऐसे आप सर्वेश्वर को बारम्बार प्रणाम करते हैं।

हे प्रभो ! कर्ताकरण सब आप ही हो। आप ही सबको बनाते हैं। परदे के भीतर बैठा बैठा नट जैसे कठपुतलियों को नचाता रहता है, उसी प्रकार आप ही ब्रह्माको, विष्णुको, तथा मुझे नचा रहे हो। सर्वप्रथम महत्तत्व की उत्पत्ति होती है, उससे

अहंकार, फिर इन्द्रियाभिमानी देवगण, तब समस्त इन्द्रियाँ, फिर पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार है। देवतागण अपना अपना कार्य करने लगते हैं, किन्तु हम सब भी कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं। जैसे डाली पर बैठा पक्षी अपने स्वामी के संकेत से ही सब कार्यों को करता है। अज्ञ दर्शक जो उसका रहस्य नहीं समझते वे सोचते हैं, यह पक्षी स्वतन्त्र रूप से ये सब क्रियायें कर रहा है, इससे दूर पर जो पुरुष बैठा है वह तटस्थ है साक्षीमात्र है, किन्तु उस पक्षी के पैर जो अत्यन्त पतली एक डोरी से बँधी है, उसका छोर तो उसी के हाथ में है। पक्षी तो उसी के संकेत से सब कुछ कर रहा है। इसी प्रकार हे जगदाधार! हम समस्त देवतागण आपकी ही कृपा कटाक्ष से इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार के कार्य को करते हैं। ऐसे सर्वसमर्थ सर्वेश्वर को हमारा बारम्बार प्रणाम है।

हे भक्तवत्सल! आपकी रची हुई यह मोहिनीमाया ऐसी दुस्तर है, इसमें आपने ऐसी विलक्षण कर्ममयी ग्रन्थियाँ लगा दी है, कि सत्वादिगुणों की सृष्टि से मोहित हुआ यह अज्ञ जीव न तो इस माया के यथार्थ रूप को ही जान सकता है और न इस कर्मरूप ग्रंथियों से युक्त मोहिनीमाया से सुगमतापूर्वक मुक्त होने के उपाय को ही जानता है। माया के चक्कर में फँसा हुआ इधर से उधर भटक रहा है, कुछ से कुछ कर रहा है, इसे अपने श्रेय का प्रशस्त पथ दिखायी नहीं देता। जब तक जीव माया की ओर देखता रहेगा, तब तक इसका निस्तार नहीं

कल्याण नहीं, मङ्गल नहीं, सुख नहीं, शान्ति नहीं, परमानन्द नहीं। जब माया की ओर पीठ करके जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण रूप आपकी ओर देखेगा तभी इसका निस्तार सम्भव है। हे देवाधिदेव ! हे सङ्कर्षण ! हे धरणीधर ! हे सहस्रफण सर्वेश्वर ! आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार इलावृत्त खण्ड में स्थित वहाँ की समस्त स्त्रियों से घिरे हुए शङ्करजी सङ्कर्षण भगवान् की जिस प्रकार निरन्तर स्तुति करते रहते हैं उसका अत्यन्त संक्षेप में मैंने आपके सम्मुख वर्णन किया अब जिस प्रकार भद्राश्वखण्ड में धर्मपुत्र भद्रश्रवा हयग्रीव भगवान् की स्तुति करते हैं, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा, आप सब इस प्रसङ्ग को श्रद्धा भक्ति सहित श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

माया मोहित मनुज मत्त मदिरा में मानें।
अरुननयन मृदुचरन निरखि गुनवश जिनिजानें॥
नागनारि पद परसि कामवश जड़ बनि जावें।
जो सङ्करपन शेष धरनिधर अहि कहलावें॥
सरसों समसिर भू धरे, जग करता निष्काम हैं।
उन सङ्करपन चरन महँ, बारम्बार प्रनाम हैं॥

पद

बन्दौं सङ्करपन पदपदुमनि।
सकल गुननि के स्वामी साक्षी, करें कृतारथ नयननि ॥१॥ब०
भक्त भरन तव चरन परमधन, भवभय मेंटो भक्तनि।
सरव समर्थ ईश अखिलेश्वर, करो सुखी सब जीवनि ॥२॥ब०
अरुन बरन मदमाते चञ्चल, निरखें नारी नयननि।
सुधि बुधि भूलि बावरी बनिकें, पूजें पुनि पुनि चरननि ॥३॥ब०
सहस सिरनि पै सरसों सममू, धारें सबई भूतनि।
सन्त अनन्त निरन्तर भाखें, करें प्रकट गुनरूपनि ॥४॥ ब०
पग में बँधी डोरि तें खगज्यों, नाचै प्रभु संकेतनि।
त्यों ये जीव त्रिदेव करें सब, जगके सबई काजनि ॥५॥ब०
जग उत्पादक पालक रक्षक, शेष सकल सुख सदमनि।
करें वन्दना बार बार प्रभु, छिमा करें अपराधनि ॥६॥ब०

भवकृत संकर्षण स्तुति

श्रीभगवानुवाच

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसंख्यानाय,
अनन्तायाव्यक्ताय नम इति ॥१॥

भजे भजन्यारणपादपङ्कजं,
भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम् ।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं,
भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम् ॥२॥

न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभिः,
निरीक्षतोह्यण्वपि दृष्टिरज्यते ।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां,
कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः ॥३॥

असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया,
स्त्रीवेव मध्वासवताम्रलोचनः ।
न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे हिया,
यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः ॥४॥

यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं,
त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः ।

न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित्स्थितं,
भूमण्डलं मूर्धसहस्रधामसु ॥५॥
यस्याद्य आसीद् गुणविग्रहो महान्,
विज्ञानधिष्ण्यो भगवानजः किल ।
यत्सम्भवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा,
वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे ॥६॥
एते वयं यस्य वशे महात्मनः,
स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः ।
महानहं वैकृततामसेन्द्रियाः,
सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ॥७॥
यन्निर्मितां कर्हि पि कर्मपर्वणीं,
मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः ।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा,
तस्मै नमस्ते विलयोदयात्मने ॥८॥

भद्रश्रवाकृत हयग्रीव स्तुति

(३३)

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम्,
भ्रान्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति ।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुम्,
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति ॥
(श्रीभा० ५ स्क० १८ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

सुखद खण्ड भद्राश्व धरमसुत भद्र श्रवाज हूँ ।
हयग्रीव हरि इष्ट करें ईस्तुति मिलि सब तहँ ॥
धरम रूप हरि नमः करें मन पावन पावन ।
लीला रचें विचित्र मोहिनी अति मन भावन ॥
कहें असत् जग वेद विद्, ज्ञानी अनुभव हू करें ।
मोहमयी माया मधुर, पुनि पुनि नरभव जल परें ॥

जम्बूद्वीप के नौ खण्डों में से एक भद्राश्व खण्ड है,

---

* हयग्रीव भगवान् की स्तुति करते हुए भद्रश्रवा कह रहे हैं—"अहो, देखो तो सही भगवान् की माया कैसी विचित्र है जिससे यह मानव कालको नित्य ही सबका संहार करते हुए देखकर भी अन्धा बना हुआ है, असत् विषयों को भोगने के लिये इन अतितुच्छ वस्तुओं का निरन्तर चिन्तन करता है। पिता पुत्र का दाहकर्म करके भी स्वयं सदा जीवित ही रहना चाहता है। कैसी अद्भुत लीला है।"

उसमें धर्म के पुत्र भद्रश्रवा राज्य करते हैं। उस खण्ड के इष्ट भगवान् हयग्रीव हैं। भद्रश्रवागण अपने सेवकों के सहित हयग्रीव भगवान् के मन्त्र को जपते हुए उनकी स्तुति किया करते हैं।

नैमिषारण्य निवासी ऋषियों से सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भद्रश्रवागण जिस मन्त्र का जप करते हैं, उसका भावार्थ यह है—"हे प्रभो! यह मन जन्मान्तरों के संस्कारों से मलिन बन गया है, इसका स्वाभाविक झुकाव विषय भोगों की ही ओर हो गया है। अधर्म करने का इसका स्वभाव बन गया है, इस मनको विशुद्ध बनाने का सरल सुगम सहज एक ही उपाय है, कि धर्म रूप जो आप हैं, आपकी शरण में यह प्राणी जाय। चित्तको विशुद्ध बनाने का धर्म के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं। धर्म कोई अन्य नहीं है, धर्मरूप भी आपने ही धारण किया है, आप सम्पूर्ण जगत् को धारण किये हुए हैं, इसीलिये धर्म कहलाते हैं, ऐसे धर्मरूप साक्षात् भगवान् को बारम्बार नमस्कार है।

सूतजी कह रहे हैं—"इस प्रकार मन्त्र जपकर परम समाधि द्वारा हयग्रीव भगवान् की मङ्गलमयी मूर्ति को हृदय में धारण करके स्तुति करते हुए वे कहते हैं—"हे प्रभो! आपकी लीला बड़ी ही विचित्र है अपरम्पार है कोई प्राणी इसका पार पाना चाहे तो पारही पा नहीं सकता। आपकी माया ऐसी मोहिनी है ऐसी ठगिनी है, कि आँख के सम्मुख से घोर वस्तु उठा ले जाता है, फिर भी प्राणी शिक्षा नहीं लेता कि अब तो सावधान हो जाते। फिर वही सामने वस्तु रखता है, फिर चोर आता है, देखते देखते उठा ले जाता है। कैसा सम्मोहन मन्त्र है, कैसा विचित्र खेल है कैसा अद्भुत नाटक है।

प्रभो ! हाड़ मांस के बने इस शरीर में प्राणियों का कितना मोह हो गया है। इसी को ये अजर अमर माने बैठे हैं। मानकर बैठे ही नहीं है, इसे सुखी बनाने का इसे सदा स्वस्थ और सुन्दर बनानेका सतत प्रयत्न करते ही रहते हैं। यह जानते भी हैं, इसमें कितना भी तेल फुलेल लगाओ, कितने ही चन्दन और अन्य सुगन्धित द्रव्यों से इसे स्नान कराओ, यह रहेगा मल मूत्रका थैला ही इसे कितना ही दूध दही पिलाओ, कितने ही मूल्यवान् से मूल्यवान् रसायनिक द्रव्य खिलाओ यह अविनाशी कभी बन नहीं सकता। एक दिन इसका नाश अवश्य होगा और चाहे कोई भूलकर भी जाय किन्तु काल कभी भूल करता नहीं, वह किसी पर दया दिखाता नहीं, किसी को छोड़ता नहीं। सभी का संहार कर डालता है सभी को अपनी दाढ़ों के नीचे पीस देता है, सभी को निगल जाता है। हे काल के भी काल प्रभो ! यह भी बात नहीं कि काल लुक छिपकर आता है, एकान्त अरण्य में चुपके से उठा ले जाता है, सबके देखते देखते, पिता, पुत्र, भाई, बन्धु, माता, स्त्री, बहिन बेटी सबके सामने से सबके बीच से आकर उठा ले जाता है एक दिनकी बात नहीं नित्य ही होता है, फिर भी प्राणी चेतता नहीं। आँखों के रहते अन्धा बना हुआ है। कानों के रहते सुनता नहीं। यह जानता है, मेरे पितामह प्रपितामह, वृद्धप्रपितामह उनके भी पिता पितामह इन्हीं घरों में रहे, इन्हीं वाहनों पर चढ़े, इसी भूमि में ममत्व किया इन्हीं भोगों के भोगने में लालायित बने रहे, किन्तु न जाने वे अब कहाँ चले गये। जब ये विषय भोग उनको तृप्त नहीं कर सके तो हमें तृप्त क्या करेंगे। किन्तु यह मोटी बुद्धि से भी समझी जाने वाली बात अन्तःकरण में बैठती

नहीं। औरों की बात छोड़ो। अपने पिताका तो दाह संस्कार हमारे ही आगे हुआ। जिस धन से वे अतृप्त रहे उन्हींके उत्तराधिकारी बनकर उस धनसे हम तृप्त कैसे बन सकते हैं। जब वे मर गये तो हम सदा जीवित कैसे बने रह सकते हैं, जिन तत्वोंका पिताका शरीर था, उन्हीं तत्वों से हमारा भी शरीर बना है। पिताजी भी काल बलीके चक्कर से नहीं बच सके, उनके भी पिता काल कवलित हुए, न जाने यह काल कबसे हमारी पीढ़ियों का संहार करता हुआ चला आ रहा है। हम पर यह दया दिखादेगा ऐसी आशा नहीं फिर भी हम दिन रात्रि विषयसामग्रियों के जुटाने में ही व्यग्र बने रहते हैं। यह भी बात नहीं कि काल हमारे पिता पितामहों को ही मार कर अपना कार्य समाप्त कर देगा आगे की पीढ़ियों पर संभव है वह दया दिखादे। सो भी बात नहीं। पिता के सम्मुख ही युवा पुत्र मर जाता है, बूढ़ा पिता स्मशान में जाकर पुत्र को जला आता है, फिर भी आकर भोगोंको भोगने की इच्छा करता है, उससे शिक्षा ग्रहण नहीं करता कि जब मेरे सामने ही मर गया, एक दिन मुझे भी मरना है, फिर इन नाशवान् विषय भोगों के भोगने के लिये असत् पदार्थों का चिंतन क्यों करूँ, उस अविनाशी का सतत स्मरण करूँ किन्तु ऐसा सूझता ही नहीं। स्मशान में कुछ क्षण को वैराग्य होता है, जहाँ दाहसंस्कार सम्पन्न हुआ, जहाँ घर आये कि फिर आहार निद्रा मैथुन की सूझती है, फिर विषयों की लालसा बलवती बन जाती है, कैसी है आपकी यह जगन्मोहिनी माया, कैसी है आपकी यह लावण्यविहीना लीला। पिता पुत्रको फूँककर भी स्वयं सदा जीवित रहने की इच्छा रखता है।

हे देवाधिदेव ! हे ज्ञान स्वरूप ! हे जन्म मरण से रहित प्रभो ! बड़े बड़े वेदज्ञ विद्वान भरी सभाओं में व्याख्यान देते हैं, नाना युक्तियों से नाना प्रमाण और दृष्टान्तों से यह समझाते हैं कि यह जगत् नाशवान् है, अनित्य है, अशाश्वत है, क्षण-भंगुर है। यह बात नहीं कि यह केवल कल्पना मात्र ही हो, पोथियों में ही लिखा पढ़ा सिद्धान्त हो। विलक्षण बुद्धि वाले तत्वदर्शी ऋषि मुनियों आत्मज्ञानियों ने इस विषय को प्रत्यक्ष किया है, उन्होंने ब्रह्म साक्षात्कार करके इस सिद्धान्त को स्वानुभूति में स्थिर किया है। इतना सब कुछ होने पर भी लोग आपकी माया में मोहित हो ही जाते हैं, आखों के सम्मुख प्रत्यक्ष कूप देखते हुए भी उसमें गिर ही जाते हैं, यही आपकी मोहिनी माया की विशेषता है। यह कितना अत्यन्त विस्मय कारक कार्य है। ऐसे विस्मय कारक अद्भुत कृत्यको करने वाले आप नटनागर के पादपद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।

हे कार्य कारण से रहित ! हे परम पुरुष परमात्मन् ! आप के आगे पीछे अगल बगल कहीं भी कोई भी कैसा भी आवरण नहीं, आप निरावरण हैं, आवरण शून्य हैं, फिर भी वेदशास्त्रों में आपको ही जगत् का कर्ता पालक तथा संहर्ता कहा गया है। यह तो विचित्र बात है। जो गुणों के कार्यों से सर्वथा रहित है, वह गुणमयी सृष्टि कैसे कर सकता है कैसे उसकी रक्षा में प्रयास कर सकता है और फिर उस अपने ही रचे हुए के संहाररूपी क्रूरकार्य को कैसे कर सकता है ? किन्तु आप मायेश के लिये यह कुछ असंभव नहीं। आपकी माया ऐसी विचित्र है कि उसमें असंभव नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। आपकी अद्भुत अलौकिक माया में सभी कुछ संभव हैं यों देखा जाय तो जो भी दृश्य अदृश्य कार्यवर्ग है

उसके एकमात्र कारण तो आप ही हैं। आप सर्वात्मा हैं, सर्व-समर्थ हैं, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु हैं, अपनी ही रचित माया से आप विविध रूप बनाकर उत्पत्ति, स्थिति और लय सम्बन्धी क्रीड़ायें किया करते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि आप अपने माया रहित विशुद्ध स्वरूप से इन जगत् कार्यों से सर्वथा पृथक् हैं। आपसे इन कार्यों का कोई सम्बन्ध नहीं, लगाव नहीं, लपेट नहीं।

हे सर्वसमर्थ ! प्रलयकाल में जब तमोगुण प्रधान मधु और कैटभ नाम दो अनादि असुर वेदों को चुराकर रसातल चले गये थे, उस समय उनके वरदानों को सत्य करने के लिये आपने आधा मनुष्य और आधा अश्व का रूप धारण किया था। आप हयग्रीव बनकर रसातल में गये और उन पराक्रमी दैत्यों से वेदों का उद्धार कर लाये। ब्रह्माजी की प्रार्थना पर आपने रसातल से वेदों को लाकर उन्हें दे दिया। ऐसे अमोघ वीर्य वाले आप हयग्रीव भगवान् के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मैंने भद्रश्ववर्षों द्वारा की हुई हयग्रीव भगवान् की स्तुति कही, अब हरिवर्ष में भक्तवर प्रह्लादजी अपने अनुयायियों सहित वहाँ के इष्टदेव नृसिंह भगवान् की जैसे स्तुति करते हैं उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा। उसे आप श्रद्धा से सुनें।

छप्पय

जगको कारन देव ! कहैं तुमकूँ विज्ञानी ।
कारज कारन भूत आपु सब गुनके खानी ॥
मायाको यह खेल आपु तो नित्य निरञ्जन ।
क्रीड़ाहित धरि देह करैं भक्तनि भवभञ्जन ॥
मधुकैटभ तैं वेद जिनि, लाइ रसातल तैं अजहिं ।
दीये, तिनि हयग्रीव हम, बार बार बन्दन करहिं ॥

पद

नर हय ! रूप विचित्र बनायौ ।
हीं मनुज नहिं, अश्व अखिलपति, ग्रीवा हय धड़ लायौ ॥१॥
लयकाल महँ मधुकैटभ खल, चतुरानन डरपायौ ।
द चुराय रसातल भागे, तब बाबा घबरायौ ॥२॥
द उधारन ऋषि मुनि पालन, हरि औतार धरायौ ।
लय पयोधि प्रविसि प्रभु पालक, पामर पकरि गिरायौ ॥३॥
ाइ वेद ब्रह्माकूँ दीन्हें, सुर मुनि ऋषि गुन गायौ ।
भु परमेश परावर पुनि पुनि, पद पदुमनि सिरनायौ ॥४॥

भद्रश्रवसकृत-हयग्रीव स्तुति

भद्रश्रवसऊचुः

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति ॥१॥

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं,
भ्रन्तं जनोऽयं हि मिपन्न पश्यति ।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं,
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति ॥२॥

वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं,
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः ।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया,
सुवस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम् ॥३॥

विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते,
ह्यकर्तुरंगीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे,
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः ॥४॥

वेदान् युगान्ते तमसा तिरस्कृतान्,
रसातलाद्यो नृतुरंगविग्रहः ।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते,
तस्मै नमस्तेऽवितथेहिताय इति ॥५॥

प्रहलादजी कृत नृसिंह स्तुति

(३४)

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदताम्,
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथोधिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज,
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥❀
(श्रीभा० ५ स्क० १८ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

असुर अधिप प्रहलाद खण्ड हरि वरष विराजें ।
हरि धरि नरहरि रूप इष्ट असुरनि बनि भ्राजें ॥
इस्तुति श्रीप्रहलाद करें जय जग में होवैं ।
होवैं सब अति मुदित सकल खलता खल खोवैं ॥
नहिं होवै आसक्ति प्रभु, धन, जन, घर, परिवार में ।
सत्संगति हरि चरन रति, मिलै सतत संसार में ॥

नव खण्डों में से एक हरिवर्ष खण्ड है । उस खण्ड के इष्टदेव भगवान् नृसिंहजी हैं, जो प्रह्लाद पर कृपा करनेके निमित्त खम्भ से

❀ नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—"हे प्रभो ! विश्व का मंगल हो, दुष्ट लोग प्रसन्न हों, सभी प्राणी परस्पर में हिल मिलकर एक दूसरेकी कल्याण कामना करें, हमारा मन सदा कल्याण कारी विचारों का ही चिन्तन करे और हमारी अहैतुकी बुद्धि अधोक्षज भगवान् की ओर लगे ।"

अवतीर्ण हुए थे, जिन्होंने हिरण्यकशिपु मारकर प्रह्लादजी को दैत्य दानव तथा असुरों का राजा बनाया था। प्रह्लादजी एक रूप से इस वर्ष में भी निवास करते हैं और इस खंड के निवासियों के सहित भगवान् नृसिंह की स्तुति करते रहते हैं। पहिले वे मन्त्र जाप करते हैं तदनन्तर स्तुति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हरिवर्ष में प्रह्लादजी अपने साथियों के सहित जिस मन्त्र का जप करते हैं पहिले उसी का भावार्थ कहते हैं प्रह्लाद कहते हैं—"ओंकार स्वरूप भगवान् नृसिंहदेव को नमस्कार है। प्रभो! संसार में, अग्निमें, सूर्यमें, तथा जल में जो भी तेज है, वे सभी आपके तेज के ही कारण तेजस्वी बने हुए हैं, समस्त तेजों के पुञ्जीभूत तेज समस्त तेजों के आदि स्थान तथा सभी तेजों की खानि आप ही हैं। आपके बिना सूर्य चन्द्र तथा अग्नि के तेज का अस्तित्व ही नहीं। अतः हे तेजरूप! अपने तेज से हमारी भोगवासनाओं को—कर्मवासनाओं को भस्म करो। आपके नख वज्र के समान सुदृढ़ और तेजस्वी हैं, उनमें से तेज की किरणें निकलती रहती हैं। अतः हे वज्रनख! उन तीक्ष्ण तेजस्वी सुदृढ़ नखों से हमारी कर्मवासनाओं को जला दो। नखों के ही समान आपकी दाढ़ें भी सुदृढ़ और कठिन से कठिन वस्तुओं को चबा जाने में समर्थ हैं। हमारे हृदय में अज्ञान ने दृढ़तापूर्वक परत लगा रखे हैं। यह अज्ञान इतना कठिनतम बन गया है, कि हटाये हटता ही नहीं। आप अपनी तीक्ष्ण दाढ़ों से हमारे अज्ञान रूप तम को निगल जाओ, चबा जाओ। हे ओंकार स्वरूप! आप स्वाहा रूप भी हैं। हमें निर्भय बना दो। निर्भयता मिल जाय अभय प्राप्त हो। ॐ द्रोम्।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस मन्त्र के अनन्तर प्रह्लाद जी स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे प्रभो ! आज सम्पूर्ण जगत् अकल्याण की ही ओर बढ़ रहा है, विकर्मों में प्राणी निरत होरहे हैं ये सब शुभ कर्म करने लगे। स्वामिन् ! मुझे सबसे अधिक दया के पात्र दुष्ट पुरुष ही लगते हैं। हे प्राणेश ! पतिव्रता पत्नी तो अपने प्राणेश के शव के साथ एक ही दिन चिता पर जलती है, किन्तु ये दुष्ट पुरुष जिनसे अपना कोई भी सम्बन्ध नहीं उनके लिये जीवन ही बिना चिता के–बिना अग्नि के–निरन्तर जलते रहते हैं। दूसरों का अभ्युदय देखते ही इनका हृदय जलने लगता है फुँकने लगता है, दहकने लगता है, इनको कभी सुख नहीं, शान्ति नहीं, प्रसन्नता नहीं। हे शान्ति स्वरूप ईश ! दुष्ट अपनी दुष्टता का परित्याग करके क्रूर अपनी कुटिलता क्रूरता को छोड़कर प्रसन्न हों, मुदित शान्त हों। मानवप्राणी में यही एक बड़ा भारी दोष है, यह दूसरों से ईर्ष्या करता है, अन्यों की उन्नति से उत्साहित नहीं होता, एक ही कार्य करने वाले परस्पर में हिल मिलकर नहीं रहते। एक दूसरे के प्रति सभी सहानुभूति नहीं रखते। स्वामिन् ! आप सबकी बुद्धि में ऐसी प्रेरणा करें कि सभी प्राणियों में सद्भावना हो, समस्त जीव अपने अन्तःकरण से परस्पर में एक दूसरे का हित चिन्तन करें। सबके सुख दुख को अपने ही सुख दुख के समान समझें। विश्व कल्याण की भावना हमारे हृदय में [illegible] हो। हमारा मन कभी असत् चिन्तन न करे, [illegible] बातों को न विचारे। अशिव संकल्प उठें ही नहीं, [illegible] सर्वदा शुभ मार्ग में प्रवृत्त हों। [illegible] हों। हमारी बुद्धि काम्यकर्मों में [illegible] फल की कामना के बिना हम [illegible] नहीं [illegible]

लिये हम सुखी दुखी रहते हैं, हे सर्वसमर्थ ! आप ऐसी कृपा करें कि हमारी बुद्धि अहैतुकी हो जावे। हम निष्काममाव से आप अधोक्षज भगवान् से प्रेम करने लगें। हमारी अहैतुकी मति आप में आवेशित हो जाय।

हे प्रभो ! हम सभी संसारी प्राणी आसक्ति के कारण ही दीन दुखी बने रहते हैं। यह घर हमने बनाया है इस पर कोई दूसरा अधिकार न जमा ले। यह टूट फूट न जाय सुन्दर बन जाय, और अधिक बढ़ जाय। यह स्त्री हमारी है इस पर सबसे अधिक वस्त्राभूषण हों, और चाहे जिसे कष्ट हो इसे कष्ट न होने पावे। पुत्र पुत्रियों के पालन पोषण के लिये पाप भी करना पड़े तो कोई हानि नहीं, नाना प्रकार दम्भ करके छल कपट के कार्यों से परिवार का पालन करते हैं। धन के लिये पापाचार, अनाचार, पाखण्ड तथा नीच कर्म करते हैं। ये सब कार्य अत्यधिक आसक्ति के वशीभूत होकर ही किये जाते हैं, हे सर्व प्रिय! घर, द्वार, स्त्री, परिवार, पुत्र बन्धु बान्धव तथा धन सम्पति में हमारी आसक्ति न हो। आसक्ति के बिना कोई रह नहीं सकता, यह संसार, यह शरीर सभी आसक्ति के ही कारण चल रहे हैं यदि यही बात है आसक्ति होना आवश्यक ही हो, तो हमारी आसक्ति आपके अनन्य अनुचरों में हो, भगवत् भक्तों में हो। आपके सच्चे सेवकों में ही अनुराग हो। जो खल हैं, इन्द्रिय लोलुप हैं, संसारी भोगों के पीछे पड़े रहते हैं, उनमें प्रेम करने से संसार बन्धन दृढ़ होता है, किन्तु जो भोगों से विरक्त हैं, यथालाभ सन्तुष्ट हैं, शरीर निर्वाह के योग्य अशन वसन को ही पर्याप्त मानकर प्रसन्न होते हैं, उन्हें अल्पकाल में ही सिद्धि लाभ हो जाती है। वे अपने सन्तोष के द्वारा, अपरिग्रह के प्रभाव से प्रभु के परमप्रिय पात्र बन जाते हैं, किन्तु जो संग्रही हैं, असन्तोषी

हैं, तृष्णा से आकुल चित्त वाले हैं, जो भोग सामग्रियों का अधिकाधिक संग्रह करने में ही निमग्न रहते हैं तथा इन्द्रिय लोलुप हैं, उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं होती वे तो इन्द्रियों के अधीन होकर भवाटवी में भटकते रहते हैं।

स्वामिन्! हमें सर्वदा भगवत् भक्तों का प्रभु के प्यारे अनुचरों का—ही सङ्ग मिले। भगवत् भक्तों के यहाँ नित्य नियम से भागवती कथाओं का पठन पाठन श्रवण मनन होता रहता है, भगवन् भक्तों की प्रभो! यही सबसे बड़ी पहिचान है। जिनके यहाँ लोक वार्ताएँ हों वे सामान्य जन हैं, जिनके यहाँ दूसरों की आलोचना प्रत्यालोचना हों, सज्जन पुरुषों की निन्दा हो वे असन्त हैं जिनके यहाँ निरन्तर भगवत चर्चा का ही प्रवाह बहता रहे वे ही सन्त हैं। उनके यहाँ भगवत कथा कीर्तन रूप भागीरथी हिलोरें मारती रहती हैं उसमें जाकर सन्तों के साथ जो नहाते हैं, अवगाहन करते हैं, दरस परस मज्जन और पान करते हैं, उनके समस्त कल्मष कट जाते हैं, सभी पाप ताप धुल जाते हैं हे प्रभो! आपका उदार चरित रूप अमृत कर्णों के छिद्रों द्वारा जब हृदय कमल की कर्णिका को प्लावित कर देता है, तब आप अज उस हृदय में जमी काई को, सम्पूर्ण अशुभों को, तन मनके समस्त मल का मार्जन कर देते हैं इसीलिये हमें और कुछ नहीं चाहिये। हमें तो केवल कथा रस रसिक भगवत भक्तों की सन्निधि की आकांक्षा के भक्तिभाव में भावित अनन्य उपासकों की सङ्गति की अभिलाषा है। हमारा प्रारब्ध, हमारा भाग्य हमारी कर्मवासनायें हमें नाना योनियों में प्रारब्धानुसार भोग भुगाती रहे, स्वरग में, नरक में तथा भूलोक में नाना शरीर धारण करके सुख दुख का अनुभव कराती रहें, किन्तु हमें वरदान दीजिये कि हम जहाँ जहाँ जनमें तहाँ तहाँ हमें सत्सङ्ग

की प्राप्ति हो, सदा साधुओं का सङ्ग मिले। सन्त समागम से हम कभी भी वञ्चित न रहें। आपके भावुक भक्तों का सङ्ग हमें सर्व सर्व योनियों में सर्वकाल प्राप्त होता रहे।

हे सन्तों के सर्वस्व स्वामिन्! यदि हमें सत्सङ्ग का सुख सर्वत्र प्राप्त हो जाय, तो फिर हम न कभी स्वर्ग सुखों की इच्छा करेंगे, न मुक्ति की ही अभिलाषा करेंगे। नित्य निरन्तर सन्त समागम प्राप्त हो सके तब तो कहना ही क्या? हम तो कहते हैं जितनी देर में पलक गिरता है, उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म लवमात्र समय भी सत्सङ्ग प्राप्त हो जाय, तो वह सभी सुखों से सर्वश्रेष्ठ है अतः स्वामिन्! हम आपसे सन्त समागम का ही एकमात्र वरदान माँगते हैं प्रभो! हमारे चाहें सहस्रों जन्म हों, किन्तु हम सत्सङ्ग से विमुख न रहें, हमें आपके अनन्य भक्तों का सान्निध्य प्राप्त होता ही रहे।

हे भक्तवांछाकल्पतरु! आप तो बहुभर्तृ हैं। आप कभी किसी का ध्यान करते हैं कभी किसी की सार सम्हाल करते हैं कभी कहीं जाते हैं कभी कहीं लेट लगाते हैं। आप सर्वत्र सर्वत्र सुलभ नहीं, किन्तु जगत् को पवित्र करने वाली आपकी परम पावन कथायें तो चाहने वालों को सर्वत्र सुलभ हैं, उनका क्षणमात्र भी यदि कोई श्रद्धा सहित श्रवण करे, तो उसकी समस्त भोगवासनायें सम्पूर्ण विषय तृष्णायें शान्त हो जाती हैं। ऐसी भागवती कथायें भगवत् भक्त साधुओं के यहाँ नित्य ही नियम से होती हैं, क्योंकि उन अनन्य उपासक सन्तों के एकमात्र आधार और उपास्य आप ही हैं। आपकी विश्वविमोहिनी सुख शान्ति प्रदायिनी कथाएँ जहाँ होती हैं, वह स्थल परमपावन तीर्थ बन जाता है। तीर्थ में निवास करने वाले श्रद्धालु रसिक

सहृदय और भावुक बन जाते हैं, वे सम्पूर्ण भूतों में आपको ही देखते हैं। जो सबमें आपका ही दर्शन करते हैं वे ही अनन्य अहैतुक भक्त हैं, जिनकी प्रभुपादारविन्दों में निःस्वार्थ भक्ति होती है, उनके समीप समस्त सद्गुण उसी प्रकार आकर एकत्रित हो जाते हैं, जैसे नीची भूमि के गड्ढे में चारों ओर का जल आकर एकत्रित हो जाता है, अथवा मीठे को देखकर उसमें मक्खियाँ चींटियाँ अपने आप आ जाती हैं, अथवा कमल के खिलने पर भौंरे अपने आप उसके चारों ओर मँडराने लगते हैं, अथवा रानी के आते ही उसकी सेविकायें तथा सेवक स्वयं समुपस्थित हो जाते हैं, इसी प्रकार निष्काम भक्त के हृदय में जहाँ भक्ति भवानी का प्रादुर्भाव हुआ नहीं वहाँ धर्म, ज्ञान, वैराग्य, सम, दम, तितक्षा, उपरति तथा अन्यान्य समस्त सद्गुण बिना बुलाये अपने आपही भक्ति के प्रभाव से स्वतः आ जाते हैं जितने देवता हैं वे भी अनिमन्त्रित आकर एकत्रित हो जाते हैं। इसके विपरीत जो भक्त नहीं, भगवान् के प्रेमी नहीं, जिनके मनमें नाना विषय भोगों की वासना बनी रहती है, अन्तःकरण में भाँति-भाँति के सङ्कल्प विकल्प उठते रहते हैं, जिह्वा स्वादिष्ट पदार्थों के लिये ललचायी रहती है, स्पर्शेन्द्रिय कोमल से कोमल स्पर्श के लिये आकुल बनी रहती है, औपस्थ और जिह्वा समस्त कृपणता के कारण जिनकी स्थान पूर्ति बन गयी है, जिनका चित्त तुच्छ बाह्य विषयों की ओर दौड़ता रहता है, ऐसे अभक्तों में विषय लोलुपों में भौतिक वादियों में भला सद्गुण कैसे आसकते हैं। अतः हे नृसिंहदेव ! हमें सद्गुणों की भी इच्छा नहीं हमें तो तुम्हारी अहैतुकी भक्ति ही चाहिये। तुम्हारी भक्ति के आने पर अन्य सब तो बिना बुलाये ही आ जायँगे।

हे भगवन्! जो पक्षी आकाश में ही रहता है जिसका आकाश से अण्डा गिरकर भूमि में नहीं आता बीच में ही अण्डा फट जाता है, उसमें का बच्चा उड़कर पुनः आकाश में ही विचरण करने वाले माता पिता के समीप चला जाता है। ऐसे पक्षियों का एकमात्र आधार आकाश ही है। जैसे अन्न खाने वालों का आधार अन्न ही है, जैसे तुरन्त पैदा होने वाले शिशु का आधार दुग्ध ही है जैसे निरन्तर जल में ही रहने वाली मछलियों का आधार जल ही है जल के बिना वे एक क्षण भी नहीं रह सकती उसी प्रकार समस्त देहधारी प्राणियों के एकमात्र आधार भगवान् वासुदेव ही हैं, रोम-रोम में रमने वाले राम हैं, नृहरि तनुधारी आप नरहरि ही हैं। ऐसे आप सच्चिदानन्द स्वरूप सर्व समर्थ प्रभु को त्यागकर जो नर नारी जो स्त्री पुरुष जो वरवधू गृह में आसक्त रहते हैं। निरन्तर नौन तेल लकड़ी की ही चिन्ता में व्यस्त बने रहते हैं, वे चाहें आयु में कितने भी बड़े क्यों न हो कितने भी भारी विद्वान क्यों न हो उन्हें बड़ा नहीं कहा जा सकता बड़ा तो वही है जिस देह के हृदय में समस्त सद्गुणों की जननी भक्ति हो, आयु का बड़प्पन कोई बड़प्पन नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार स्तुति करने के अनन्तर भक्तवर प्रह्लादजी अपने सङ्गी साथी सगे सम्बन्धी दैत्यों से कहते हैं—"हे दैत्यो! तुम भोगों की तृष्णा को सर्वथा त्याग दो, विषयों में राग मत करो, इच्छित वस्तु के प्राप्त होने पर या नष्ट होने पर विषाद मत करो। अपने मन के प्रतिकूल आचरण होने पर किसी पर क्रोध न करो मैं इतना बड़ा हूँ, इतना धनी मानी सम्पत्तिशाली हूँ, ऐसा अभिमान भी मत करो। संसारी भोगों को भोगने की इच्छा भी न करो किसी को शत्रु समझकर

अपना अनिष्टकारी मानकर भय भी मत करो। दूसरों के सम्मुख विषय भोगों की प्राप्ति के लिये दीनता भी मत दिखाओ, तथा नाना सांसारिक चिन्ताओं को छोड़ दो। यह दम्पति से युक्त घर नाना मानसिक सन्तापों का मूल है, इसी घर गृहस्थी की चिन्ता में फँसकर प्राणी निरन्तर चिन्तित बना रहता है मरते समय भी मन घर-बार, स्त्री परिवार में ही अटका रहता है, इससे फिर दूसरे जन्म में वही घर गृहस्थी स्त्री बच्चे प्राप्त होते हैं फिर उन्हीं की चिन्ता करते करते मृत्यु होती है फिर जन्म होता है, इस प्रकार अनन्त काल तक यही संसार चक्र, जन्म मरण का उलट फेर लगा रहता है। इसलिये घर गृहस्थी को त्यागकर इन सबसे मुँह मोड़कर भगवान् नृसिंह प्रभु के निर्मल पादपद्मों का आश्रय ग्रहण करो। यही मेरी आप सबसे प्रार्थना है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने हरिवर्ष में प्रह्लादजी कृत नृसिंह भगवान् की स्तुति कही। अब केतुमाल खण्ड में जिस प्रकार सम्वत्सर की पुत्रियों सहित लक्ष्मीजी भगवान् की स्तुति करती हैं, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जाकी स्वारथ रहित भगति भगवत में होवै।
आवैं सद्गुन समिटि प्रेम मल मनको धोवै॥
प्रभु प्रानिनि प्रिय परम प्रान के प्रान कहावैं।
तजि तिनिकूँ जे विषय फँसैं वय विरथ गँवावैं॥
राग, द्वेष, भय, दीनता, मोह क्रोध, तिस्ना तजौं।
जनम मरन के मूल घर, तजि नरहरि चरननि भजौं॥

पद

नरहरि सबकूँ सुखी बनाओ।
निरभय बनि जन मन हरषावैं, खलता खलनि नसाओ ॥१॥
हित चिन्तन सब करैं परस्पर, मन शुभ पथहिँ लगाओ।
भगवत् भजन करैं नित तुमरो, जग आसक्ति छुड़ाओ ॥२॥
राग होहि भगतनि चरननि में, हरिरस सुधा पिआओ।
भक्ति सङ्ग सद्गुन सब आवत, ताकूँ हिये बुलाओ ॥३॥
मछरी पल पल जल ज्यों चाहत, त्यों प्रियता प्रकराओ।
जनम मरन मूलक तन घरमें, मति मनकूँ ललचाओ ॥४॥
तृष्ना, राग, द्वेष, भय, इच्छा, ममता मदहिँ मिटाओ।
तुरवाओ प्रभु सब जग बन्धन, चरननि चित्त फँसाओ ॥५॥

प्रह्लादकृत नृसिंहस्तुति

ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे,
आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्मशयान्।
रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ नमो स्वाहा,
अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठा ॐ क्ष्रौम् ॥१॥

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां,
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथोधिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे,
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥२॥

मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु,
सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान्,
सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः ॥३॥

सत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं,
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम्।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥४॥

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना,
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा,
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥५॥
हरिर्हि साक्षाद्भगवान् शरीरिणाम्,
आत्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम् ।
हित्वा महास्तं यदि सज्जते गृहे,
तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम् ॥६॥
तस्माद्रजोरागविषादमन्यु,
मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं,
नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति ॥७॥

श्रीलक्ष्मीजी कृत भगवान् कामदेवकी स्तुति

(३५)

स्त्रियो व्रतैस्त्वा हृषिकेश्वर स्वतो
ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम् ।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यम्,
प्रियं धनायूंषि यतोऽस्वतन्त्राः ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १८ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

सम्बतसर सुत सुता संग श्री केतुमाल महँ ।
करें काम हरि विनय फँसी सब रूप जालमहँ ॥
कहें—"नाथ ! सब नारि करें व्रतपतिहितजगमें ।
ते परवश पति फँसे स्वयं वय सुत प्रिय धनमें ॥
वे का रक्षा करि सकें, प्रभु ! रक्षक पति आप हैं ।
जो तुमरो पूजन करें, तिनि नहिँ भय दुख ताप हैं ॥

नव खण्डों में एक केतुमाल नामका खण्ड है उस खण्ड के निवासियों के इष्ट देव भगवान् कामदेव हैं। उस खण्ड

---

* लक्ष्मीजी भगवान् कामदेव की स्तुति करती हुई कहती हैं—"हे प्रभो ! नारियाँ विविध प्रकार के व्रतों द्वारा आपकी उपासना करके अन्य पतियों की आशा करती हैं। किन्तु वे बनावटी पति उनके प्रियजनों की धन की तथा आयु की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि वे स्वयं ही स्वतन्त्र होते हैं और आप समस्त इन्द्रियों और अन्तःकरण के अधीश्वर हैं।"

में एक रूप से लक्ष्मीजी निवास करती हैं। लक्ष्मीजी सम्वत्सर नाम के प्रजापति की पुत्रियों और पुत्रों के सहित उस खंड में रहकर अपने आराध्यदेव भगवान् कुसुमायुध की उपासना करती हैं। उस खंड में प्रजा की वृद्धि नहीं होती। प्रजा की वृद्धि तो तब हो जब वहाँ की स्त्रियों के गर्भ रहे। सम्वत्सर प्रजापति के पुत्र छत्तीस सहस्र हैं और उतनी ही कन्यायें हैं। सम्वत्सर काल के अधिष्ठातृ देव हैं उनके पुत्र दिन के अधिष्ठातृ देव हैं और पुत्रियाँ रात्रि की अभिमानी देवियाँ हैं। मनुष्य की परमायु सौ वर्ष की बतायी है एक वर्ष में ३६० दिन तथा ३६० रात्रियाँ होती हैं। सौ वर्ष में वे छत्तीस सहस्र हो जाती हैं। उन कन्याओं को भगवत् कृपा से गर्भ रह जाता है किन्तु वर्ष के अन्त में श्रीमन्नारायण के परमदिव्य अस्त्र सुदर्शनचक्र के तेज से वह गर्भ निष्प्राण होकर स्खलित हो जाता है अर्थात् बीती हुई यामिनी फिर लौटकर नहीं आती। इस प्रकार उस काल चक्र के साथ वे रात्रि दिन के अधिष्ठातृ प्रजापति के पुत्र वे ही इर फिरकर घूमते रहते हैं। उनके नूतन पुत्र पौत्र नहीं होते। लक्ष्मीजी शोभा कान्ति तथा श्री की अधिष्ठातृ देवी हैं। समस्त दैवी ब्राह्मी आसुरी तथा मानवी श्री काल के पुत्र पुत्रियों अर्थात् दिन रात्रि के ही ऊपर निर्भर हैं। भगवान् वहाँ लक्ष्मीजी का प्रिय करने के निमित्त उन्हें रिझाने को दिन रात्रि को मनोहर मोहक बनाने को मन्मथ के रूप से विराजते हैं। अतः उस खंड में किसी प्रकार की शोभा नहीं, निरानन्द नहीं, अशोभन नहीं। संसार में जितनी शुचिता है पवित्रता है पावनता है मनोहरता है सरसता है रमणीयता है लावण्यता है मधुरता है उज्वलता है उन सबके अधिष्ठातृ देव भगवान् कुसुमायुध हैं वहाँ वे अपने परमरम्य अत्यन्त मनोहर रूप से साकार रखकर विराजमान रहते हैं। वहाँ वे

अपनी मनोरमता की चरम सीमा दिखा देते हैं। उनकी श्री आनन कोटि पूर्ण चन्द्र की आभाओं को फीकी बना देते हैं वहाँ उनका तेज परम सौम्य तथा सहनीय होता है। वह आकर्षक मुखारविन्द परमरम्य गति विलास से सुमधुर मन्द-मन्द मुसकान से लक्ष्मीजी को हठात् अपनी ओर खींच लेता है। कटाक्ष की कमनीय क्रीड़ा क्रीड़ा तथा मधुरिमा से वह छवि अनुभव गम्य ही है। भाव मय भव्य भृकुटियाँ भव्यता की भंगियों द्वारा, कटाक्ष के कारण किंचित् ऊपर उठी हुई वे तीक्ष्ण बाण से भी अधिक वेधक किन्तु सुखद प्रतीत होती हैं। हास्य, कटाक्ष, मुसकान आकर्षण तथा लावण्य आदि के कारण वह अनुपम आनन अत्यन्त ही सुखद सरस तथा शोभा युक्त बन जाता है। उसे देखकर लक्ष्मीजी लट्टू हो जाती हैं देखती की देखती ही रह जाती हैं। परम भागवती रमणी उन परम श्रेष्ठ रमण को पाकर प्रफुल्लित हो जाती हैं। भगवान् भी उनका प्रिय करने के निमित्त उनके साथ रमण करते हैं। लक्ष्मीजी परम समाधि द्वारा अहर्निशि अपने आराध्य देव की आराधना में ही संलग्न रहती हैं। पलपल क्षणक्षण अनन्यभाव से उनका ही स्मरण भजन पूजन करती रहती हैं। दिन में तो सम्वत् सर के पुत्रों दिन के अभिमानी देवों के साथ और रात्रि में पुत्रियों रात्रि की अभिमानी देवों के साथ उपासना में निरत रहती हैं। पहिले तो वे मन्त्र जप करती हैं फिर मन्त्रार्थ रूप से भगवान् कुसुममायुध की स्तुति करती हैं। मन्त्र का भावार्थ यह है। उस समय मन्त्र का बीज मन्त्र है ऊँ ह्रां ह्रीं ह्रूँ हे भगवन्! आप सम्पूर्ण इन्द्रियों के नियन्ता हो बाह्य करण अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ लिंग त्वक्, कर्ण, चक्षु, रसना और घ्राण ये बाहर की इन्द्रियाँ और मन बुद्धि चित्त तथा अहंकार ये अन्तःकरण अर्थात् भीतर की इन्द्रियाँ आपकी प्रेरणा के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं।

आप इन सभी भीतरी बाहरी इन्द्रियों के ईश हो ऐसे हृषीकेश रूप आपको नमस्कार है। संसार में जितनी श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं जो भी विभूतिवान् ऐश्वर्यवान् श्रीमान् तथा गुणवान् व्यक्ति हैं वस्तुएँ हैं उन सभी वस्तुओं द्वारा आप ही उपलक्षित होते हैं। ऐसे आप सर्व गुण विशेषों द्वारा विशेष रूप से लक्षित होने वाले आपको नमस्कार है।

चित्त के जितने धर्म हैं जैसे समस्त कर्मों को कराना कर्मेन्द्रियाँ बिना मन की प्रेरणा के कुछ भी करने में समर्थ नहीं। बिना चित्त की प्रेरणा के पैरगमन नहीं कर सकते हस्त आदान प्रदान नहीं कर सकते नेत्र देख नहीं सकते कर्ण सुन नहीं सकते मन सङ्कल्प विकल्प आदि अध्यवसाय नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति और सङ्कल्प अध्यवसाय आदि चित्त के धर्म हैं अब ज्ञान कर्म तथा सङ्कल्पादि अध्यवसाय के जो विषय हैं उन सबके आप अधीश्वर हैं ऐसे आकृतियों चितियों और विषयों के अधिपति रूप आप परमेश्वर को नमस्कार है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय, एक मन तथा शब्द, स्पर्श रूप, रस और गंध ये पाँच विषय इन सोलह कलाओं से आप युक्त हैं ऐसे षोडश कला रूप आपको नमस्कार है। आप वेदमय हैं अर्थात् वेदोक्त कर्मों द्वारा ही प्राप्त होने वाले हैं ऐसे छन्दो मय आपको पुनः पुनः प्रणाम है। आप अन्नमय हैं अर्थात् अन्न को ब्रह्म मानकर उपासना करने वालों को प्राप्त होने वाले हैं ऐसे अन्नमय आपको नमस्कार है। आप अमृतमय हैं अर्थात् जो अयाचित वृत्ति धारण करके आपकी उपासना करते हैं या आपको अमृत रूप मानकर आपका भजन करते हैं उन्हें प्राप्त होते हैं ऐसे अमृतमय आपको नमस्कार है। आप सर्वमय है। संसार में यावत पदार्थ हैं जो भी कुछ देखा सुना या मनन किया

जा सकता है जिसकी भी कल्पना की जा सकती है सभी आप के ही स्वरूप हैं ऐसे सर्वमय आपको बारम्बार प्रणाम है। मन में जो बल है जिसे साहस के नाम से पुकारते हैं वह भी आप ही हैं अथवा अदम्य साहस द्वारा ही आपकी ओर बढ़ा जा सकता है ऐसे साहस रूप आपको नमस्कार है। ज्ञानेन्द्रियों में जो बल होता है विशुद्ध श्रवण शक्ति विशुद्ध दर्शन शक्ति आदि जो ज्ञानेन्द्रियाँ जन्य शक्तियाँ हैं वे सब आपके ही रूप हैं अथवा अप्रतिहत इन्द्रिय शक्तियों द्वारा आप प्राप्त किये जाने वाले हैं ऐसे ओज स्वरूप आपको प्रणाम है। देह की अर्थात् कर्मेन्द्रिय की शक्ति का नाम बल है। वह भी आपका ही स्वरूप है बल हीन आपको प्राप्त नहीं कर सकते ऐसे बल स्वरूप आप को प्रणाम है। आप सबसे सुन्दर हैं आप ही परम कान्त है, ऐसे कामदेव भगवान् को भीतर बाहर सभी ओर से बारम्बार नमस्कार है।

सूतजी कहते हैं—"हे मुनियो! इस मंत्र को जपने के अनंतर लक्ष्मी जी सम्वत् सर प्रजापति की कुमार कुमारियों के सहित इस प्रकार स्तुति करती हैं—प्रभो! स्त्रियों की स्वाभाविका इच्छा होती है पति प्राप्त करने की। स्त्रियाँ किसी का आश्रय चाहती हैं वे किसी को आत्मसमर्पण करने के लिए व्यग्र रहती हैं। वे चाहती हैं किसी को अपना शरीर सौंप दें वह हमारे तन मन का अधिप बन जाय। इसीलिये पतिका नाम स्वामी है। वे चाहती हैं हम किसी की बन जायँ वह हमारा भरण पोषण करे। इसी लिये पति का नाम भर्ता है। पालन करने से रक्षा करने से ही वह पति कहलाता है। बाल्यावस्था व्यतीत हो जाने पर पति पाने की अभिलाषा स्त्रियों में प्राकृत होती है हमें सुन्दर पति

इसके निमित्त कुमारियाँ बड़े-बड़े व्रत रखती हैं देवी आदि का पूजन करती हैं उपवास रखती हैं और देवी देवताओं की स्तुति करती हैं। आप समस्त इन्द्रियों के अधीश्वर हृषीकेश को जप तप, व्रत, आराधन तथा पूजन द्वारा प्रसन्न करती हैं। वे चाहती हैं—हमें सुन्दर स्वस्थ समर्थ सरस सच्चरित्र, सरल, सुकुमार सौम्य, साहसी युवक तथा रतिप्रिय प्राप्त हो। आपकी कृपा से उन्हें पति मिल भी जाता है उसके द्वारा सन्तानें भी होती हैं किन्तु जब पुत्र रोगी होता है तो वह पति उसे स्वस्थ नहीं कर सकता। प्राणों से भी प्रिय पुत्र मर जाता है तो उसे वह काल से बचा नहीं सकता। घरमें का धन चोरों द्वारा अग्नि द्वारा भोगों द्वारा अथवा दान द्वारा चुक जाता है नष्ट हो जाता है तो वह उसकी रक्षा नहीं कर सकता। स्वयं को लेने मृत्यु आ जाय तो उससे लड़कर प्राण नहीं बचा सकता। जो स्वयं काल का कवल है वह अन्यों की रक्षा करेगा ही कैसे? जो स्वयं समर्थ नहीं, स्वतन्त्र नहीं उससे क्या आशा की जा सकती है। जो निज में ही परतन्त्र है वह दूसरे को स्वतन्त्र कैसे बना सकता। जो स्वयं भयभीत है वह अन्यों को निर्भय कैसे कर सकता है?

हे स्वामिन्! वास्तविक यथार्थ पति तो वही है जो स्वयं स्वतन्त्र हो निर्भय और सर्व समर्थ हो। जिसे स्वयं न किसी का भय हो और न किसी के अधीन ही हो। वह चाहे जिसकी रक्षा करने में समर्थ हो जिसका जब चाहे भय भगा सकता हो सच्चा पति कहलाने का अधिकारी वही है। भगवन्! आपके अतिरिक्त दूसरा ऐसा कोई पति हो ही नहीं सकता। आपके अतिरिक्त सभी प्राणी मरण शील हैं। सभी काल व्याल के भय से भयभीत हुए इधर से उधर भाग रहे हैं सभी नाम दाम की डोरी में बँधे कामिनी कांचन को ही सर्वश्रेष्ठ सुख मानकर

उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न शील दृष्टिगोचर होते हैं। आप ही एक ऐसे हैं जो आत्म लाभ से श्रेष्ठ अन्य किसी को कुछ मानते ही नहीं। ईश्वर तो एक ही हो सकता है बहुत से पति हों तो उनमें सदा संघर्ष ही बना रहेगा। अतः बहुत से पति न होकर आप ही इस जगत् के कर्ता हर्ता भर्ता संहर्ता, पति स्वामी तथा ईश्वर हैं।

हे देव ! जो व्यक्ति वृक्ष को सींचना चाहता है वह पत्तों पर पानी डालता रहे, तो उससे क्या होने का है। केवल जड़ में जल देने से स्कन्ध, शाखा, फूल फल तथा पत्ते सभी हरे हो जाते हैं सभी में चैतन्यता आ जाती है। इसी प्रकार जो नारी एक मात्र आपका ही निष्काम भाव से भजन, पूजन, अर्चन वन्दन तथा सेवन करती हैं उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। आप उनकी समस्त मनोगत भावनाओं का समादर करके उन्हें वासना हीन बना देते हैं किन्तु जो निष्काम भाव से आपकी उपासना नहीं करतीं वे घाटे में रहती हैं। ठगी चाहती है क्योंकि फल की इच्छा रखकर कर्म करने वाले को कृपण कहते हैं। कृपण वही कहाता है जो बिना आत्म ज्ञान लाभ किये बिना आपकी भक्ति किये इस लोक से चला जाता है जो किसी संसारी स्वार्थ के बिना किसी कर्म में प्रवृत्त होता ही नहीं। जो फल की इच्छा रखकर सकाम भाव से आपकी उपासना करते हैं उनकी भी उपासना निष्फल नहीं जाती उन्हें भी आप देते हैं किन्तु उनके भावानुसार सीमित देते हैं जो वे चाहते हैं जिस कामना को लेकर सविधि आराधना करते हैं उनकी केवल वही कामना पूरी होती है जो फल चाहते हैं वही मिलता है। पृथ्वी से लेकर ब्रह्मलोक तक जितने भोग हैं। सभी अस्थायी सभी सीमित हैं सभी अन्त वन्त हैं। पुण्य क्षीण हो जाने पर भोग समाप्त होने पर वे पुनः

गिरा दिये जाते हैं मर्त्य लोक में ढकेल दिये जाते हैं तब उन्हें अत्यधिक पश्चात्ताप हो जाता है। फल की समाप्ति पर पुण्य क्षीण हो जाने से याचित वस्तु के भग्न हो जाने से वे बारम्बार अपनी सकामता के लिये सन्ताप करते रहते हैं।

स्तुति करती हुई लक्ष्मीजी कह रही हैं—"प्रभो! आप मेरा रूप भी कैसा मोहक बना दिया है। मुझे पाने के लिये सब लालायित रहते हैं सभी चाहते हैं मैं उन्हीं के यहाँ निवास करूँ। मनुष्यों की तो बात ही क्या इन्द्रिय सुख के आकांक्षी ब्रह्मा जी महादेव आदि महान् देव इन्द्रादि देव बलि विरोचन आदि असुर सभी मुझे चाहते हैं सभी मेरी प्राप्ति के निमित्त घोर से घोर तपस्या करते हैं किन्तु मैं तो आपके हाथों बिकी हुई हूँ आपको अपना सर्वस्व बना चुकी हूँ अतः आपके पाद पद्म मकरन्द के लोलुप मधुकर भक्त के अतिरिक्त अन्य किसी के समीप जाने में मुझे सङ्कोच होता है क्योंकि मैं या तो आपके समीप रह सकती हूँ या आपके आश्रितों के आश्रय में ठहर सकती हूँ कारण कि मेरा मन तो आप में लगा हुआ है। मैंने तो आपको ही जीवन धन प्राण वल्लभ मान रखा है।

हे अच्युत! हे भक्त भय हारी! आपके भक्तगण आपके श्री अंगों की वन्दना करते हैं आप भी अपने भक्त वन्दित कर कमल को भक्तों के नत मस्तक पर रखकर उन्हें अभय प्रदान करते हैं। हे भक्तानुग्रह कातर प्रभो! उसी अभय देने वाले कर कमल को मेरे मस्तक पर भी रख दें। मुझे भी कृतार्थ कर दें। आप मेरे ऊपर अनुग्रह रखते है कृपा करके लांछन रूप से अपने विशाल वक्षःस्थल में मुझे सदा सर्वदा धारण किये रहते हैं। यह आप की मेरे ही ऊपर महती अनुकम्पा है। आप सर्व समर्थ हैं सर्व तन्त्र स्वतन्त्र हैं आप लीलाधारी हैं मायापति हैं आपकी माया-

मयी लीला का भेद जानने में कौन समर्थ हो सकता है। अतः हम तो आपके पादपद्मों में केवल प्रणाम ही कर सकती हैं। हे जगन्निवास! आप हम पर प्रसन्न हो जाओ। अपनी कृपा दृष्टि की वृष्टि से हमारे शुष्क हृदय को परिप्लावित कर दो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने केतुमाल खण्ड में श्री लक्ष्मीजी द्वारा की हुई कामदेव भगवान् की स्तुति कही। अब जैसे रम्यक खण्ड में प्रजापति मनु मत्स्य भगवान् की जैसे स्तुति करते हैं उस कथा प्रसङ्ग को आगे कहूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

नारि कामना त्यागि प्रेम तैं तुमकूँ ध्यावैं।
उभयलोक सुख लहहिँ सहज सब कछु पावैं॥
फल इच्छा तैं करैं मिलै फल उतनो उनकूँ।
तप करि सुर नर असुर लगावैं मोमें मनकूँ॥
हौं तव तव भक्तनि निकट, रहूँ अनत मम चित चपल।
अभय करन कर सिर धरहु, तव माया प्रभु अति प्रबल॥

पद

प्रभो! पति तुमही साँचे स्वामी।
का रक्षा करि सकैं मनुज करि, पति कायर क्रोधी कामी॥१॥
करैं जासु हित विविध नियम व्रत पावैं पति परिनामी।
सुत, धन, वय की रक्षा नित नित, करूँ भरैं नहिं हामी॥२॥
तातें प्रभु अपनाओ अच्युत, होवैं हम निपकामी।
धरो कमल कर सिर कुसुमायुध, हे अज अन्तरयामी॥३॥

लक्ष्मी कृत कामदेव स्तुति

ॐ ह्रां ह्री ह्रू ॐ नमो भगवते हृषीकेशाय,
सर्वगुणविशेषैर्विलक्षितात्मने ।
आकूतीनां, चित्तीनां, चेतसां विशेषाणां चाधिपतये,
षोढशकलायच्छन्दोमयायान्नमयायामृतमयाय ।
सर्वमयाय सहसे ओजसे बलाय कान्ताय,
कामाय नमस्ते उभयत्र भूयात् ॥१॥
स्त्रियो व्रतैस्त्वा हृषिकेश्वरं स्वतो,
ह्याराध्य लोके पतिमासतेऽन्यम् ।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं,
प्रियं धनायूंषि यतोऽस्वतन्त्राः ॥२॥
स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं,
समन्ततः पाति भयातुरं जनम् ।
स एक एवेतरथा मिथो भयं,
नैवात्मलाभादधि मन्यते परम् ॥३॥
या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं,
निकामयेत्साखिलकामलम्पटा ।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो,
यद्भ्रमयाच्ञा भगवन् प्रतप्यते ॥४॥

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादयः,
तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः ।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां,
विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित ॥५॥
स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं,
कराम्बुजं यत्वदधायि सात्वताम् ।
बिभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य मायया,
क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुरिति ॥६॥

श्रीमनुकृत मत्स्य भगवान् की स्तुति

(३६)

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकैं-
रदृष्टरूपो विचरस्युरुवनः ।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनयन्,
नाम्ना यथा दारुमयीं नरःस्त्रियम् ॥❀
(श्रीभा० ५ स्क० ८ अ० २६ श्लो०

छप्पय

रहिके रम्यक खण्ड करें मनु प्रभु आराधन ।
मच्छ रूप भगवान् इष्ट करि अरपें तन मन ॥
कहें—"प्रभो ! तुम जीवनिकूँ नित नाच नचाओ ।
नट कठपुतलिनि भाँति नचाके खेल खिलाओ ॥
अलख निरञ्जन गुन रहित, भीतर बाहर नित भ्रमत ।
प्रान रूप भीतर रहत, वायु रूप बाहर सतत ॥

नव खंडों में से एक रम्यक नामक खंड है उस खंड

❀ प्रजापति मनु रम्य खंड में रहकर भगवान् की मत्स्यरूप से स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे भगवन् ! आप ब्रह्मा आदि सकल लोकपालों से अलक्षित रहकर प्राणियों के भीतर बाहर विचरते रहते हैं । तथा महान् शब्द करनेवाले हैं । जिस प्रकार नट कठपुतलियों को अपनी इच्छानुसार नचाता रहता है । उसी प्रकार विविध नामों से सम्पूर्ण जगत् को कर्म में लगाकर नचाते रहते हैं, भ्रमाते रहते हैं ।

के अधिपति प्रजापति मनु हैं। पूर्वकाल में जब मनु कृतमाला नदी के तटपर सन्ध्या कर रहे थे, तब भगवान् ने उन्हें अपने मत्स्यावतार के दर्शन कराये थे, और अपने सींगमें एक दृढ़ नौका बँधवाकर सकल ओषधियों और सप्तर्षियों सहित मनु की रक्षा की थी तथा प्रलय रात्रि पर्यन्त उन्हें लेकर महासमुद्र में घूमते रहते थे। मनु महाराज एक रूप से रम्यक वर्ष में रहकर उन्हीं अपने इष्टदेव मत्स्य भगवान् की उपासना करते हैं, तथा उस खंड के निवासी सकल जन मत्स्य भगवान् की ही पूजा अर्चा तथा स्तुति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! रम्यक द्वीपमें जिस मंत्र से मनु महाराज भगवान् मत्स्य को रिझाते हैं, जिस मन्त्रका जप करते हैं उसका भावार्थ यह है इस मन्त्र का बीज मन्त्र ओंकार है। ये कूर्म भगवान् प्राणों के अधिष्ठातृ देव हैं। सभी वर्षों में उपासित अवतार किसी एक तत्व के अधीश्वर हैं। जैसे अहंकार के सङ्कर्षण, धर्मके पुत्र हयग्रीव, तेजके नृसिंह, कामके कुसुमायुध, समस्त तत्वों के कूर्म, कर्मके यज्ञ, सगुन निर्गुण उपासना के राम और तपके नरनारायण। उन उन द्वीपोंमें उन्हीं क्रियाओं द्वारा इनकी उपासना होती है। कूर्म भगवान् मुख्य प्राणके अधिष्ठातृदेव हैं, अतः प्राणायाम द्वारा इनकी उपासना होती है और प्राणों का ही प्राधान्य मानकर स्तुति भी की जाती है। प्राणों से ही बल होता हैं। वह बल तीन प्रकार का होता है। दैहिकबल, इन्द्रियबल, और मनोबल, इसीलिये उसके सह ओज और बल ये तीन नाम हैं। मन्त्रों में पहिले बीज रहता है। फिर इष्ट का नाम होता है उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है, फिर अन्त में नमः या स्वाहा लगाया जाता है। इस मत्स्य मन्त्र का बीज ओंकार है। शरीर में मुख्य प्राण ही माने

जाते हैं। प्राण भी दश हैं, उनमें जो सबसे मुख्य हैं वे प्राण हैं। अतः कहते हैं—"भगवान् मुख्यतम प्राणके लिये नमस्कार है। सूत्रात्मा भगवान् को नमस्कार है। मनके बलरूप भगवान् को नमस्कार है, इन्द्रियों के बलरूप भगवान् को नमस्कार है, शरीर रूप भगवान् को नमस्कार है महामत्स्यरूप भगवान् को नमस्कार है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मन्त्रजप के अनन्तर मनुजी स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे प्रभो! आप बड़े मायावी हैं। सम्पूर्ण जगत् को आप अपने तनिक से संकेत पर इच्छानुसार नचा रहे हैं। फिर भी आप सबको दृष्टिगोचर नहीं होते। आप वेदस्वरूप हैं, ज्ञान ही आपका यथार्थ स्वरूप है। मन्त्र ही आपकी मूर्ति है। आप महान् शब्द करनेवाले हैं। आपसे बढ़कर कोई शब्द उच्चारण नहीं कर सकता। अपने अपने शब्दों द्वारा सभीको वशमें कर रखा है। यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, यह विधि है, यह निषेध है इत्यादि इत्यादि निषेध के आश्रय से विभिन्न नामों द्वारा अखिल विश्व को कर्म में लगा रखा है। सब विवश होकर कर्मों में लगे हुए हैं। कोई कुछ बोलता नहीं, दैवगति प्रारब्ध के भोग तथा भाग्य का खेल कहकर सभी तत्परता के साथ कर्मों में जुटे हुए हैं। आसक्तिपूर्वक कुछ अनासक्त रहकर भी कर्मों का कह रहे हैं। कराने वाले आप ही हैं। सबका सञ्चालन आपके ही द्वारा हो रहा है। अपनी इच्छा से स्वतन्त्रता पूर्वक कोई पलक भी नहीं मार सकता किन्तु आपने योगमाया की एक झीनी सी ऐसी यवनिका डाल रखी है, ऐसा घूँघट मार रखा है, आप स्वयं दिखाई नहीं देते। जैसे दारुमयी योषित काठ की बनी पुतलियाँ भाँति भाँति

के नृत्य दिखाती हैं। परस्पर में लड़ती भिड़ती हैं, विविध भाँति के हाव भाव कटाक्ष करके दर्शकों को रिझाती हैं, हँसाती हैं, आश्चर्य में डालती हैं। सभी समझते, ये कठपुतलियाँ स्वतन्त्र नाच रही हैं, किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वे स्वतन्त्र रूपसे कुछ भी नहीं कर सकतीं। भीतर बैठा बैठा नट सूत्र द्वारा उन सबको नचा रहा है। सूत्रधार की इच्छा से ही उसके संकेत पर ही वे समस्त क्रियाओं को करती हैं। इसी प्रकार आप अंडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज तथा और सभी प्रकार दिव्यादिव्य योनियों के जीवों को अलक्ष भाव से चौरासीके चक्कर में घुमा रहे हैं अन्य साधारण जीवोंकी बात तो पृथक् रही ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा अन्य भी सुर असुर आपका यथार्थ पता नहीं पा सकते। आप समस्त देह धारियों के भीतर प्राणरूप से निवास करते हैं और बाहर वायुरूप से विचरते हैं। आपके बिना किसीकी सत्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आप अन्तर्यामी भी हैं, चराचर के नियन्ता हैं, भीतर बाहर सर्वत्र समान रूपसे व्याप्त हैं, ऐसे आप समस्त प्राणियों के समान ईशके पादपद्मों में हमारा बारम्बार प्रणाम है।

हे स्वामिन्! आपके द्वारा नियुक्त बड़े बड़े लोकपाल हैं। प्रजापति हैं, मनु हैं, ऋषि मुनि तथा और भी अधिकारारूढ़ देव हैं, कि वे अकेले अथवा सब मिलकर भी किसी छोटे से छोटे प्राणी की रक्षा करने में भी समर्थ नहीं हो सकते। वह वस्तु है डाह, मत्सर, ईर्ष्या। सबको यह अभिमान है कि हम बड़े हैं। इस बड़प्पन के अभिमान के कारण एक दूसरे से ईर्ष्या करते हैं, अपने प्रतिद्वन्दी को नीचा दिखाना चाहते हैं। अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु आपके बिना शिव भी शवके समान है। जहाँ प्राण रूप से आप नहीं वहाँ

जीवन नहीं, गति नहीं, क्रिया नहीं, चेष्टा नहीं। वहाँ तो सभी ठंठनगोपाल हैं। आप मुख्य प्राण बनकर सबको जिला रहे हैं, हिला रहे हैं, चला रहे हैं, गतिमान् हो रहे हैं। प्रभो! एकबार समस्त इन्द्रियों ने प्राणसे झगड़ा किया। हम श्रेष्ठ हैं। क्रम क्रम से सभी इन्द्रियाँ शरीरको छोड़कर चली गयीं किन्तु प्राणोंके रहने के कारण किसी प्रकार काम चलता रहा जिस समय प्राण शरीर को छोड़कर जाने लगे तो समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं। सभीने प्राणों का श्रेष्ठत्व स्वीकार किया। किन्तु यह स्वीकृति क्षणिक थी। वास्तविक बात यह कि छोटे बड़े सभी जीव मत्सर ज्वर, ईर्ष्याके कारण कुछ भी नहीं कर सकते। पृथक्-पृथक् अथवा सब मिलकर भी मनुष्य पशु, पक्षी, सरीसृप तथा स्थावर जंगम जितने भी जीव हैं, जितने भी प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, उनमें से एक भी वे रक्षा नहीं कर सकते। सबके एकमात्र रक्षक तो आप ही अखिलेश्वर हैं।

प्रभो! प्रलयकाल के पूर्व समुद्रतट पर मैं भी चिन्तामें मग्न बैठा था। सातों समुद्र एक हो जाने वाले थे। स्थावर जंगम सभी जलमें विलीन हो जाने वाले थे। ऐसे समय भी आपने कृपाकी। दिव्य नौकापर बिठाकर बीज ओषधियों तथा सप्तर्षियों सहित मुझे प्रलय पयोनिधि में घुमाया। जिसमें उत्ताल तरंगे उठ रहीं थीं। आपने अजन्मा होकर भी यह दिव्य मत्स्य रूप धारण किया। महान् से महान् ऐश्वर्य शाली होने पर भी आपने सींगमें नौकाकी बरतको बाँध सेवक की भाँति घुमाते रहे। आपको न श्रम हुआ न खेद ही। आप प्रसन्नता पूर्वक उस एकार्णव प्रलयकालीन समुद्रमें विहार करते रहे, इधर से उधर उल्लास पूर्वक विचरण करते रहे। इस प्रकार ओषधि और लताओं की आश्रय रूपी इस अवनि की

भूमाता की रक्षा हुई। यथार्थ आप ही सबके रक्षक हो, आप ही सबके ईश हो, आप ही जगदीश हो। सम्पूर्ण संसार के प्राण रूप आप ही हो, आपकी सत्ता से ही सभी सत्तावान् हैं। ऐसे सर्वसमर्थ प्राणों के भी प्राण जीवन के भी जीवन आप अच्युत अखिलेश को हमारा बारम्बार प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में रम्यकद्वीप में स्थित प्रजापति मनु द्वारा की गयी मत्स्य भगवान् की स्तुति कही। अब आप हिरण्य खण्ड में पितृराज अर्यमा द्वारा की हुई कूर्म भगवान् की स्तुति को और सुनें।

छप्पय

लोकपाल सुर असुर परस्पर डाह करें नित।
रक्षा फिर कस करें करें कैसे प्रानिनि हित॥
एक एक या सकल मिलें समरथ नहिं कोई।
जगत् माँहिं बनि प्रान आपु जीवन होई॥
प्रलय पयोनिधि औषधिनि, सँगा मम प्रभु रक्षा करी।
पुनि पुनि पद पदुमनि परे, प्रान रूप पालक हरी॥

पद

प्रभो ! तुम प्रान रूप बनि विहरो।
नट नागर नित नव क्रीड़ा करि, भीतर बाहर विचरो॥१॥
करत धरत सब कछु तुम स्वामी, ह्वै नहिं निकरो।
भीतर प्रान वायु बाहर बनि, भेद न दीरघ लहुरो॥२॥
प्रलय पयोधि नाव लै घूमे, ज्ञान सुनायो सगरो।
करो पार भव पयनिधि प्रभुजी, पल्लो तुमरो पकरो॥३॥

मनुकृत मत्स्य स्तुति

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय,
प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नम इति ॥१॥

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकैः,
अदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः ।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनयन्,
नाम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम् ॥२॥

यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा,
- हित्वा यतन्तोऽपि पृथक् समेत्य च ।
पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः,
सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते ॥३॥

भवान् युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि,
क्षोणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम् ।
मया सहोरु क्रमतेऽज ओजसा,
तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नम इति ॥४॥

अर्यमाकृत कूर्मभगवान्‌की स्तुति

(३७)

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पितम्,
अर्थस्वरूपं बहुरूप रूपितम् ।
संख्यान यस्यास्त्ययथोपलम्भनात्,
तस्मै नमस्तेऽव्यपदेश रूपिणे ॥❀

(श्रीभा० ५ स्क० १८ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

चरण हिरनमय माँहिं कूर्म तनु धरि हरि भ्राजें ।
तहाँ अर्यमा पितर-राज तिनि पूजन साजें ॥
इस्तुति करिकें कहें-अलौकिक रूप तिहारो ।
जीव चतुर विधि स्वरग नरक सुर नरतनु धारो ॥
जल, थल, परवत नदी नद, ऋषि मुनि किन्नर भूप हैं ।
सकल चराचर भुवन प्रभु, सबई तुमरे रूप हैं ॥

नव खंडों में से एक हिरण्मय खंड है। उस खंड के अधिपति पितृराज अर्यमा हैं। उस खंड के अधिष्ठातृ देव भगवान् कूर्म हैं। पितरों के राजा अर्यमा जी उस खंड की प्रजा को

❀ हिरण्मय खंडमें भगवान्‌की कूर्म स्तुति करते हुए पितृराज अर्यमा कहते हैं—"हे कूर्म भगवन्! माया से प्रकाशित होने वाला जो यह प्रपञ्च है, जो नाना रूपों में प्रतीत हो रहा है, जिसकी गणना असम्भव है तथा जिसके रूप की वास्तविक प्रतीति भी नहीं होती वही दृश्य प्रपञ्च आपका रूप है, अर्थात् आप सर्व रूपमय हैं। ऐसे अनिर्वचनीय आप प्रभु को बारम्बार प्रणाम है।

साथ लेकर बड़ी श्रद्धा भक्ति से कूर्म भगवान् की उपासना करते हैं प्रथम तो वे अपने इष्ट मन्त्र का जप करते हैं, फिर स्तुति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हिरण्मय खंड वासी जिस मन्त्र का जप करते हैं—पहिले मैं उसी का भाव बताता हूँ, वह इस प्रकार है—"मन्त्र का बीज ओंकार है। हम कच्छप भगवान् को नमस्कार करते हैं, जितने संसार में सात्विक गुण सुने जाते हैं अनुभव किये जाते हैं, उन सब सद्गुणों से जो युक्त हैं उन कूर्म भगवान को नमस्कार है। जो किसी निश्चित स्थान पर निवास नहीं करते। कभी कहीं कभी कहीं इस प्रकार जलथल पर विचरते ही रहते हैं ऐसे अनिश्चित वाले कूर्म देव को प्रणाम है। जिनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक कार्य इन्होंने इस कालमें किया, क्योंकि वे कालकी परिधि से सर्वथा बाहर हैं। ऐसे कालातीत कूर्म भगवान को बारम्बार नमस्कार है। जो सभी स्थानों में समान भाव से व्याप्त हैं—ऐसे सर्वव्यापक कूर्म भगवान् को प्रणाम है। जिनके सहारे यह सम्पूर्ण संसार खड़ा है जो जगत् के एकमात्र आधार स्तम्भ हैं उन कूर्म भगवान् को बारम्बार प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मन्त्र जप के अनन्तर पितृराज अर्यमा इस प्रकार स्तुति करते हैं—"प्रभो! आप दृष्टिगोचर नहीं होते परोक्ष रहकर जगत् के कार्यों द्वारा अपनी अनुभूति कराते है, या यों कहिये कि स्वयं दूध ही जमकर जैसे दही बन गया है, उसी प्रपंच को आपने अपना रूप बना लिया है आपके वास्तविक रूप की प्रतीति तो होती नहीं असंख्य रूपों में आप ही फैल गये हो। जगत् में जो भी कुछ दिखाई देता है, सब आपका ही रूप है।

दो पैर वाले नर नारी, चार पैरवाले पशु आदि जो भी माता के गर्भ से जरायु नाम की झिल्ली से ढके हुए उत्पन्न होते हैं वे सब आपके ही रूप हैं पक्षी जलचर, चींटी, सर्प तथा और भी जितने अंडों द्वारा उत्पन्न होने वाले अंड जीव हैं उन सबका रूप आपने ही रख लिया है, जो स्वेद से पसीने से उत्पन्न होने वाले जूआँ आदि हैं वे भी सब आपके ही रूप हैं। भूमि को फोड़कर उत्पन्न होनेवाले वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध आदि जितने उद्भिज प्राणी हैं, सब आपही के स्वरूप हैं। जितने चलने फिरने वाले जीव हैं तथा जितने न चलने वाले वृक्ष, पर्वत आदि हैं कहाँ तक गिनावें। जितने स्वर्ग में रहने वाले देवता हैं, पितरलोक में रहने वाले पितृगण हैं, जितने भूत हैं, जितनी इन्द्रियाँ हैं, जितने ब्रह्मर्षि देवर्षि तथा राजर्षि आदि ऋषिगण हैं, जितने स्वर्गलोक हैं पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पंचभूत हैं, वन, पर्वत, नदी, नद, झरने, वापी, कूप, तड़ाग, आराम, खेट, खर्वट, ग्राम, नगर, पत्तन, द्वीप, समुद्र, ग्रह, तारा, सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य भी जितने नाम रूप हैं, सबमें आपही प्रतीत हो रहे हैं, संसारमें कितनी वस्तुएँ हैं, कितने नाम हैं, इनकी गणना न तो आज तक किसी ने की है, न कोई कर ही सकता है, फिर भी दार्शनिकों ने—विद्वानों सबका एक दूसरे में समावेश करके संसार में कुल चौबीस तत्व बताए हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पंचभूत, पंच तन्मात्रायें और मन बुद्धि अहंतत्व और महत्तत्व ये ही चौबीस तत्व हैं। इन सबकी निवृत्ति भी तत्व ज्ञान द्वारा हो जाती है, अंत में एक ही परमात्मा तत्व रह जाता है, जिस ज्ञान द्वारा इस द्वैतभाव की निवृत्ति होती है वह सांख्य सिद्धान्त भी आपका रूप है। अर्थात् आप ज्ञान स्वरूप हैं, सच्चिदानन्द स्वरूप हैं ऐसे आप अखंड, अद्वैत, अद्वय,

अप्रमेय, अज, अच्युत, अनादि अनन्त प्रभु के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने पितृराज अर्यमा द्वारा की हुई कूर्म भगवान् की स्तुति आपसे कही। अब उत्तर कुरु खण्ड में पृथ्वी देवी वहाँ के निवासियों के सहित वाराह भगवान् की स्तुति जैसे करती हैं उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

इन्द्रिय मन जहँ जायँ विश्वको सकल पसारो।
नाम रूप मय दृश्य जगत ही देह तिहारो॥
अगनित आकृति मुनिनि तत्व चौबीस बताये।
पाँच पाँच हैं चार चार पुनि पृथक गिनाये॥
तत्व ज्ञान तैं एकता, होहि रूप नहिं नाम है।
सांख्य रूप सिद्धान्त जिनि, तिनि पद पदुम प्रनाम है॥

पद

कच्छप! करुनाकार निहारो।
अगनित नाम रूप जग माहीं, सब ही रूप निहारो॥१॥
जल थल नभ में जो कछु दीखत, सबरो जगत पसारो।
सबमें तुम तुमही हो सबमें, तुमतें नहिं कछु न्यारो॥२॥
तत्व ज्ञानतैं सब नसि जावै, ब्रह्महि ब्रह्म विचारो।
ज्ञान रूप प्रभु कमठ चरन में, बार बार सिर धारो॥३॥

अर्यमा कृत मंकू स्तुति

ॐ नमो भगवते अकूपाराय सर्वसत्वगुणविशेषणायानुपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमो नमोऽवस्थानाय नमस्ते ॥१॥

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पितम्,
अर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम् ।
संख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भनात्,
तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे ॥२॥

जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं,
चराचरं देवपितृभूतमैन्द्रियम् ।
द्यौः खं क्षितिः शैलसरित्समुद्र,
द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एकः ॥३॥

यस्मिन्नसंख्येयविशेषनाम्,
रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम् ।
संख्या यया तत्वदृशापनीयते,
तस्मै नमः सांख्यनिदर्शनाय ते इति ॥४॥

पृथ्वी कृत वराह भगवान् की स्तुति

(३८)

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो,
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम् ।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो,
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने ॥❀
(श्रीभा० ५ स्क० १८ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

उत्तर कुरु वाराह विराजे इष्ट वहाँ के ।
इस्तुति मिलिकें करें भूमि सँग सफल तहाँ के ॥
ऋत्विक मथिकें अरनि अगिनिकूँ प्रकट करें ज्यों ।
पंडित चिन्तन मथन करें मन प्रकटे प्रभु त्यों ॥
यम नियमनिकूँ साधिके, समुझैं जगतैं भिन्न जिनि ।
मायामय जगतैं रहित, बन्दौ पंकज चरन तिनि ॥

नौ वर्षों में से एक उत्तर कुरु नामक खण्ड है वहाँ एक

❀ उत्तर कुरु खण्ड में पृथ्वी देवी वराह भगवान् की स्तुति करती हुई कहती हैं—जिनके स्वरूप को देखने की इच्छा से परम प्रवीण पंडित गण अपने मन रूपी मन्थनकाष्ठ से उसी प्रकार मन्थन करते हैं जिस प्रकार यज्ञ में ऋत्विक् गण अरणि मन्थन करके अग्नि प्रकट करते हैं उन्हीं कर्मों की फल कामना से छिपे हुए आपके व्यक्त स्वरूप को हम नमस्कार करते हैं ।

रूप से पृथ्वी देवी निवास करती है। उस खण्ड के इष्टदेव भगवान् वराह हैं। पृथ्वी देवी वहाँ के निवासियों के सहित सूकर भगवान् की आराधना करती हैं। पहिले उनके जप करने वाले इष्ट मन्त्र का अर्थ बताकर तब उनकी स्तुति का अर्थ कहेंगे। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है इस वराह मन्त्र का बीज ओंकार है। बीज को कहकर वे कहते हैं—"हे प्रभो! आपको तत्वमन्त्रों द्वारा ही जाना जा सकता है। वैसे तो आपकी कोई मूर्ति नहीं आप अमूर्ति हैं। तथापि मन्त्र ही आपकी मूर्ति है। अतः आपको विद्वान् लोग मन्त्र मूर्ति कहते हैं। हे भगवन्! आप यज्ञ रूप हैं क्रतु रूप हैं तथा यज्ञादि रूप आपके मन्त्र हैं। आप त्रियुग मूर्ति हैं। सत्ययुग त्रेता और कलियुग में आप प्रत्यक्ष रुप से विराजते हैं। कलियुग में गुप्त हो जाते है इसी निमित्त त्रियुग कहलाते हैं। हे स्वामिन् आप यज्ञ स्वरूप हैं। महापुरुष हैं आपको बारम्बार नमस्कार है। हे प्रभो! आप कर्म शुक्ल हैं अर्थात् विशुद्ध कर्म मय हैं आपके लिये बारम्बार प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मन्त्र जाप के अनन्तर पृथ्वी देवी स्तुति करती हुई कहती हैं—प्रभो! जिस प्रकार दुग्ध के कण कण में घृत व्याप्त है किन्तु दिखाई नहीं देता। जब युक्तिपूर्वक उसे मथते हैं तो घृत व्यक्त हो जाता है। काष्ठ में सर्वत्र अग्नि व्याप्त है किन्तु न तो वह काष्ठ को जलाते हैं न व्यक्त रूप से दृष्टि गोचर ही होते हैं जब ऋत्विक् गण उत्तर अरणि और अधरारणि को मथते हैं तब अग्नि देव व्यक्त रूप से प्रकट होते है। इसी प्रकार कर्मों की फल कामना से छिपे हुए उनके गर्व व्यापक स्वरूप को परम प्रवीण पंडित गण व्यक्त रूप में देखने की इच्छा से भली प्रकार मन्थन करते हैं मन से, समाहित चित्त द्वारा

चिन्तन करते हैं तब आप प्रकट होकर दर्शन देते हैं। ऐसे व्यक्त स्वरूप आप वराह भगवान् को बारम्बार नमस्कार है।

हे नाथ आप इन संसारी पदार्थों में ऐसे घुलमिल गये हैं। कि आपको पाना कोई सहज काम नहीं है जैसे बहुत से पुरुषों में नई दुलहिन का पति मिल गया हो। युक्ति से सयानी सखी सब का नाम पूछती है क्या वे यह हैं। बारम्बार सिर हिलाती है। जब केवल पति शेष रह जाता है तो पूछने पर लजा जाती है। इसी प्रकार आप इन मायिक पदार्थों में छिप गये हैं और मिल गये हैं सबकी बुद्धि तो आपके विषय में विचार भी नहीं कर सकतीं। जिन्होंने चिरकाल तक अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरि ग्रह आदि यमोंका तथा शौच सन्तोष, तप, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान आदि नियमों का चिरकाल तक पालन किया है इनके निरन्तर पालन करते रहने से जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका तथा निर्मल बन गयी है। वे ही आपको अन्वय व्यतिरेकके द्वारा खोज निकाले हैं। पहिले वे इन्द्रियों के जो शब्द रूप रस गंध और स्पर्श ये विषय हैं उनमे खोजे हैं फिर सोचते हैं आप विषय नहीं हो सकते क्योंकि विषयों का अनुभव करने वाला विषयों से पृथक है। फिर विचार करते हैं विषयों से श्रेष्ठ इन्द्रियाँ ही विषयों का उपभोग करती हैं तो आप इन्द्रिय होंगे किन्तु इन्द्रियों में स्वयं भोगने की शक्ति नहीं। इन्द्रियों के द्वारा विषयों को उनके अधिष्ठातृ देव भोगते हैं तो क्या इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव हैं। अधिष्ठातृदेव भी शरीर में रहकर भोगों द्वारा शरीर को पुष्ट करते हैं तो क्या आप शरीर हैं। फिर विचार करते हैं शरीर भी काल के अधीन है। काल आने पर शरीर भी नष्ट हो जाता है शरीर से काल बलवान् है तो क्या आप काल हैं? काल भी अहं तत्व के अधीन है अहं के बिना काल की

प्रतीति नहीं हो सकती। तो क्या आप अहंतत्व हैं? इस प्रकार विचारक लोग विचार करके तथा माया के समस्त कार्यों को देख कर विवेक द्वार बुद्धि से परे आपके वास्तविक रूप का साक्षात् करते हैं। ऐसे माया रहित मायिक नाम रूपों से रहित आप परमेश्वर के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे प्रभो! आप कर्तापने के अभिमान से सर्वथा रहित हैं। कर्तृत्व भोक्तत्व आपमें है ही नहीं। आप तो निष्प्रपंच निर्विकल्प तथा निरञ्जन हैं। जैसे दीपक कुछ नहीं करता। भवनमें केवल साक्षी बना रहता है। उसीके प्रकाश में करने वाला सब कर्मों को करता रहता है। दीपक के न रहने पर कुछ कर नहीं सकता। दीपक की सन्निधि मात्र से ही सब कार्य होते हैं। इसी प्रकार आपकी इच्छा मात्र से आपके साक्षी बने रहने से जगत् के सब कार्य होते हैं। चुंबक स्वयं कुछ कार्य करता नहीं लोहे को बुलाता नहीं किन्तु चुम्बक का आश्रय मिलते ही घूमने लगता है। इसी प्रकार आप सर्वसाक्षी की सन्निधि पाकर आपके सङ्कल्प से आपकी इच्छा मात्र से प्रकृति अपने गुणों के द्वारा जगत् को उत्पन्न करते हैं उसी के द्वारा पालन होता है अन्त में संहार भी हो जाता है। प्रश्न यह हो सकता है कि इच्छा तो अपूर्णता में होती है। आप तो आप्त काम हैं परिपूर्ण हैं निरीह तथा निर्विकल्प फर आप इच्छा करते ही क्यों हैं सो प्रभो! आपकी इच्छा अपने लिये नहीं होती जब सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्म फल भोगोन्मुख होते हैं तब आप समस्त चराचर जीवों को भोग भुगाने के निमित्त इच्छा करते हैं। आपका अपना तो कोई प्रयोजन ही नहीं। ऐसे गुणों के साक्षी रूप आप सर्वेश्वर को बारम्बार नम स्कार है।

प्रभो! बलवान गज निर्बल गज को पछाड़ कर जैसे

हथनियों को अपना लेता है। स्वयं यूथपति बन जाता है। उसी प्रकार आपने महापराक्रमी देव दानवों से अजेय अपने प्रतिद्वन्दी आदि असुर हिरण्याक्ष को सूकर रूप धारण करके रण में परास्त करके उसका वध किया और मुझे रसातल से अपनी दाढ़ पर रखकर जल के ऊपर रखा था। यह आपके ही अनुरूप कार्य था। जिस समय आप मुझे रसातल से ला रहे थे उस समय आपकी अद्भुत शोभा थी। जिस प्रकार कोई मदमत्त हाथी फूली हुई कमलिनी को उखाड़कर उसे अपने मुख में दाबकर जल में क्रीड़ा करता हुआ जल के बाहर निकले उसी प्रकार आप गज-राज के समान मुझे अपनी दाढ़ों पर बिठाकर प्रलय पयोनिधि के ऊपर आये थे ऐसे सर्वसमर्थ सबसे बली प्रबल पराक्रमी प्रणत प्रतिपालक प्रभु के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने उत्तर कुरु में पृथ्वी द्वारा वराह भगवान् की की हुई स्तुति का वर्णन किया। अब किंपुरुषवर्ष में जैसे हनुमानजी भगवान रामचन्द्रजी की स्तुति करते हैं उस कथा प्रसङ्ग को आगे कहूँगा, आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

चुम्बक कछु नहिं करत लोह की सन्निधि पावै।
ज्यों आश्रय तैं भ्रमै प्रकृतिकूँ ब्रह्म नचावै॥
उतपति थिति लय प्रकृति करै साक्षी गुन स्वामी।
इन्द्रिय सुर तनु, काल अहं तै पर निष्कामी॥
करि सम मम उद्धार करि, हिरण्याक्ष गज मारि जिनि।
सब समर्थ सरवज्ञ प्रभु, वन्दौं पुनि पुनि चरन तिनि॥

पद

सूकर ! व्यापि रहें जग माहीं ।
घृत पय बिन्दु बिन्दु में व्यापौ, पय बिन्दु घृत कछु नाहीं ॥१॥
ज्यों ऋत्विज अरनी कूँ मथिकें, यज्ञ अनल प्रकटाईं ।
त्यों पंडित मथि मन अरनीकूँ, व्यापक प्रभुकूँ पाईं ॥२॥
ज्यों लोहो चुम्बक आश्रय तैं, अपने आप भ्रमाईं ।
त्यों माया साक्षी लहि तुमकूँ, उतपति लय करवाईं ॥३॥
हिरन्याक्ष हनि मोकूँ लाये, कुमुदिनि गज ज्यों लाईं ।
उन वराह के चरनकमल में, बार बार सिर नाईं ॥४॥

भूदेवी कृत वराह स्तुति

ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते ॥१॥

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो,
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम् ।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो,
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने ॥२॥

द्रव्याक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभिः,
मायागुणैर्वस्तुनिरीक्षितात्मने ।
अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभिः,
निरस्तमायाकृतये नमो नमः ॥३॥

करोति विश्वस्थितसंयमोदयं,
यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः ।
माया यथायो भ्रमते तदाश्रयं,
ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे ॥४॥

प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणंमृधे,
यो मां रसाया जगदादिसूकरः ।
कृत्वाग्रदंष्ट्रे निरगादुदन्वतः,
क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभुमिति ॥५॥

श्रीहनुमान्‌जी द्वारा श्रीरामभगवान्‌की स्तुति

(३९)

यत् तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकम्,
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनम्,
ह्यनाम रूपं निरहं प्रपद्ये ॥❀

(श्रीभा० ५ स्क० १९ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

सुखद वरष किंपुरुष सङ्ग किन्नर लै हनुमत ।
करैं रामकी भक्ति कहैं विनती करि नित नित ॥
रमन ! रम्य ! रघुनाथ ! रहितगुन ! रमिबेवारे ।
शुद्ध सच्चिदानन्द सर्वगत शर धनुधारे ॥
रक्षासुर शिक्षा निमित, मनुज सरिस क्रीड़ा करत ।
हरत विपति अद्भुत चरित, हम तिनि पुनि-पुनि पग परत ॥

नव वर्षों में से एक किंपुरुष वर्ष भी है। उसमें किंपुरुष

❀ किंपुरुष वर्ष में वराह भगवान् की स्तुति करती हुई पृथ्वीदेवी कह रही हैं—"जो भगवान् विशुद्ध हैं, अनुभवगम्य हैं, एक अद्वितीय हैं, अपने निज के प्रकाश से सभी अवस्थाओं की व्यवस्था को ध्वस्त करने वाले हैं, अन्तर्यामी हैं, प्रशान्त हैं विशुद्ध बुद्धि ग्रहण करने योग्य हैं, नामरूप से रहित तथा अहंकार हीन हैं मैं उन प्रभु के प्रपन्न हूँ।"

रहते हैं। वहाँ स्त्री पुरुष प्रायः एक से होते हैं। पुरुषों के भी दाढ़ी मूँछ नहीं होती। दूर से देखने पर कोई व्यक्ति स्त्री पुरुष में भेद भाव नहीं कर सकता। स्त्री या पुरुष को आते देखकर मनुष्य निर्णय नहीं कर सकता कि "किंपुरुषः आहोश्वित स्त्री" यह पुरुष है अथवा स्त्री इसीलिये उन्हें किंपुरुष कहते हैं और उस वर्ष का नाम किंपुरुषवर्ष है। उस वर्ष के इष्टदेव लक्ष्मणाग्रज, जानकी जीवन, आदि पुरुष भगवान् रामचन्द्रजी हैं। वहाँ के समस्त किन्नर किन्नरियों के भक्ताग्रगण्य श्री हनुमानजी उनकी उपासना करते हैं। वहाँ गंधर्व भी निवास करते हैं अतः गन्धर्व प्रवर आर्ष्टिषेण दूसरे गन्धर्वों के सहित साकेतविहारी भगवान् राघवेन्दु के सुललित चरित्रों का गान करते हैं उन्हें सुनकर हनुमान्जी तथा दूसरे किंपुरुष हर्ष में विह्वल होकर गद्गद् हो उठते हैं और स्वयं भी विविध स्तोत्रों से उनकी स्तुति करने लगते हैं वे जिस मंत्र का जप करते हैं, उसका सारांश यह है इस राम मन्त्र का बीज ओंकार है, आगे कहते हैं—"हे ओंकार स्वरूप पुण्य श्लोक-परमपावन कीर्तिवाले राघव आपको प्रणाम है, हे सत्पुरुषों के समस्त लक्षणों से युक्त आर्य लक्षणशील व्रत भरताग्रज आपको नमस्कार है। हे प्रभो! आपका चित्त सदा संयत रहता है, आपका जीवन संयम का ज्वलन्त उदाहरण है, उसमें कहीं भी असंयम की गन्ध नहीं ऐसे संयत चित्त वाले सीता सर्वस्व को नमस्कार है। हे सर्वप्रिय! सम्पूर्ण लोक आपकी श्रद्धा भक्ति के सहित उपासना करते हैं। ऐसे उपासकों की एकमात्र गति भगवान् राम को नमस्कार है। हे भगवन्! साधुता एक ऐसी सरल सुगम सहज वस्तु है, कि उसमें अधिकारी अनाधिकारी दम्भी पाखंडी सभी आकर मिल जाते हैं, जैसे सुवर्ण में अन्य कुधातुएँ मिल जाती हैं, जैसे कसौटी सुवर्ण के घिसते ही

बता देती है यह खरा सुवर्ण है यह खोटा है, इसी प्रकार आप साधुवाद की कसौटी हैं। जिसमें आपकी भक्ति है वह साधु है, जो उससे वञ्चित है वह असाधु है, साधुता के द्योतक आप सच्चिदानन्द के चरणों में हमारा वारम्वार नमस्कार है। हे ब्रह्मण्य देव! ब्राह्मण आपको अत्यन्त प्रिय हैं आप केवल गौ और ब्राह्मण की रक्षा के ही निमित्त अवतार धारण करते हैं, ब्राह्मण आपको अपना सर्वस्व मानते हैं और आप ब्राह्मणों को अपना सर्वस्व समझते हैं। ऐसे हे विप्रप्रिय मयो! आप को पुनः पुनः प्रणाम है। हे स्वामिन्! आप राजाओं के भी राजा महाराजाधिराज हैं, आप महापुरुष हैं आपके चरण कमलों में वारम्वार नमस्कार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मन्त्र जाप के अनन्तर वे इस प्रकार स्तुति करते हैं। हनुमान् जी कहते हैं—"प्रभो! आप परम पवित्र हैं पावनों से भी अधिक पावन हैं, अमल विमल तथा निर्मल हैं, परम विशुद्ध स्वरूप हैं। कोई माया मोहित प्राणी इन चर्मचक्षुओं से आपको देखना चाहे, तो यह असंभव बात है आप एकमात्र सूक्ष्म से भी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा केवल अनुभव से ही जाने जा सकते हैं। आप में स्वजातीय परजातीय नामत्व भेदभाव नहीं आप केवल अद्वय एक अद्वितीय हैं। जीव की जाग्रति, स्वप्न सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें बतायी हैं आप अपने स्वरूप के प्रकाश से अपनी महती महिमा के तेज से जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति इन सभी अवस्थाओं का तिरस्कार करने वाले हैं आप के स्वभाव के सम्मुख ये सभी गुण सभी अवस्थायें हतप्रभ हो जाती हैं। आप घट-घट व्यापी हैं, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं, सभी जीवों के अन्तर्यामी हैं। आप में चंचलता नहीं, उद्विग्नता नहीं, अस्थिरता नहीं, आप परम शान्त

दान्त तथा महान्त हैं। आप निर्मल विशुद्ध बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य हैं। संसार में असंख्यों नाम हैं, असंख्यों रूप हैं किन्तु कोई भी नाम रूप वाला व्यक्ति आपकी समता को प्राप्त नहीं कर सकता कारण कि आप नाम रूप से रहित हैं। देवता, असुर, लोकपाल तथा मनुष्य आदि सभी को अपने-अपने पद का अहंकार होता है, किन्तु प्रभो ! आप श्रेष्ठसे श्रेष्ठ पदपर प्रतिष्ठित होने पर भी निरहंकार हैं। अहंकार से सर्वथा रहित हैं। ऐसे सर्व समर्थ सर्वेश्वर श्रीराम के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। उन सच्चिदानन्द लक्ष्मणाग्रज के चरणों की हम शरण में हैं।

हे लोकशिक्षक ! कुछ बल बुद्धि वाले व्यक्ति समझते हैं आपने अजेय रावण के वध के निमित्त ही अवतार लिया था। मानव तनु धारण किया था यह उनका भ्रम है, रावण आदि ऐसे असंख्यों असुर आपकी भ्रुकुटि विलासमात्र से पल भर में नष्ट हो सकते हैं असुर विनाश तो आपके अवतार का अत्यन्त गौण प्रासंगिक प्रयोजन है आप तो प्राणियों को सच्ची सीख सिखाने के लिये सत्शिक्षा प्रदान करने के निमित्त स्वधाम से अवतरित होते हैं। सर्वेश्वर तथा सर्व समर्थ होने पर भी जो आपने श्रीसीता वियोग में इतना प्रलाप किया इतना सहन किया यह सब आप की लीला है, आप तो आप्त काम हैं आपको रमण करने के निमित्त लीला करने के लिये, वाह्य उपकरणों की सर्वथा अपेक्षा नहीं क्योंकि आपतो अपनी ही आत्मामें रमण करने से आत्माराम हैं, फिर भी श्रीसीता के हरण पर आपने इतना भारी प्रलाप किया था, इतने रोये थे इतना दुःख अनुभव किया था, यह आप की मर्त्य विडम्बना ही थी। कामियों को शिक्षा देनी थी। नहीं तो भला आपको क्या शोक मोह तथा दुःख होना था। आप तो

प्रभो ! आप धीरपुरुषोंकी आत्मा हैं। आत्मा तो आप सभीके हैं, किन्तु उसका अनुभव तो आत्म ज्ञानी धीर वीर गम्भीर पुरुष ही करते हैं, वे ही अपनी आत्मा का अनुभव करके सन्तुष्ट होते हैं, इसी से आप आत्मवतों की आत्मा कहलाते हैं, आप आत्मारामों के सुहृद् हैं, सुहृद तो आप सम्पूर्ण संसार के हैं, सभी प्राणियों के हैं, किन्तु आत्माज्ञानी इसका साक्षात्कार करते हैं। आप वासुदेव हैं, आपकी वासना तीनों भुवनों में व्याप्त है, आप सम्पूर्ण चराचर में बसते हैं, आप अनासक्त हैं, किसी भी वस्तु में आपकी असक्ति नहीं। दुःख होता है असक्ति के कारण। जब आप में असक्ति ही नहीं तो आपको दुःख कैसे हो सकता है कुछ कहते हैं सीता जी आपकी प्रिया थीं उनके वियोग के कारण आप अत्यन्त दुखी हो गये, लक्ष्मण जी आपके बाह्य प्राण ही थे उनका जब आपको त्यागकरना पड़ा तोआपको महान् क्लेश हुआ आपने भी दुखी होकर उनके पथ का अनुसरण किया। यह अज्ञानियों का मत है, त्याग और वियोग तो बाहरी वस्तुओं में होता है आप तो सब की आत्मा हैं, आप में त्याग, ग्रहण, शोक मोह बनता ही नहीं।

प्रभो ! आप सबके सुहृद् हैं, आप को अकिंचन भी प्राप्त कर सकते हैं। कुछ लोगों का कथन है आपको उत्तम कुल में उत्पन्न कुलीन ही प्राप्त कर सकते हैं, उन्हीं की उपासना से आप सन्तुष्ट हो सकते हैं। यदि ऐसी ही बात होती, तो आप अजामिल, गीध व्याध तथा केवट आदि पर कृपा क्यों करते, इससे सिद्ध हुआ आपकी प्रसन्नता में कुलीनता कारण नहीं है यदि आप सुन्दरता से ही प्रसन्न होने वाले होते तो जितने सुन्दर नर नारी हैं, वे सभी आप को प्राप्त कर लेते, किन्तु देखते हैं सुन्दरी से

सुन्दरी स्त्री मनोहर से मनोहर पुरुष आपको बिना प्राप्त किये रह जाते हैं, और कुब्जा आदि कुरूपा भी आपको प्राप्त कर लेती हैं, अतः सुन्दरता भी आपकी प्रसन्नता में हेतु नहीं। कुछ लोग कहते हैं आप वाक् चातुरी से प्रसन्न होते हैं, सो यह भी बात नहीं। ध्रुवजी तो पाँच वर्ष के बालक ही थे, भली भाँति बोलना भी नहीं जानते थे, उन पर आप प्रसन्न हो गये और बड़े बड़े तार्किकों के आस पास भी नहीं भटकते इससे सिद्ध हुआ वाक् चातुरी आपको प्राप्त करने में कारण नहीं। कुछ लोग कहते हैं आप बुद्धिमानों को ही प्राप्त होते हैं। गज में कौन सी बुद्धि थी, उसने सूँड़ में कमल लेकर केवल आप को आर्त होकर सरलता से पुकारा ही था उसी पर प्रसन्न हो गये, इसके विपरीत बड़े बड़े विद्वान् आपके प्रेम से वंचित रह जाते हैं, अतः बुद्धि भी आपकी प्राप्ति में कारण नहीं। कोई कहे आप अच्छी आकृति पर प्रसन्न होते हैं। गरुड़, गीध गज आदि पशुपक्षियों पर आप प्रसन्न क्यों होते। औरों की बात छोड़ दें हम वानर भालुओं में इनमें से एक भी बात नहीं थी न हमारा जन्म ही उत्तम कुल में हुआ है। न हम देखने में ही सुन्दर हैं, न बोलने की ही हममें शक्ति है न बुद्धिमान् ही हैं न हमारी आकृति ही अच्छी है स्वभाव भी चञ्चल है। इतना सब होते हुये भी मानो यही दिखाने के निमित्त कि हम प्रेम करने में इनगुणों की अपेक्षा नहीं रखते। आप लक्ष्मणजी के अग्रज रघुकुल तिलक ने हमारे ऊपर केवल कृपा नहीं की हमें अपना मित्र सुहृद् मानकर अपनाया अपने सगे भाई भरत से भी अधिक प्रेम हम पर दरसाया।

अतः प्रभो ! हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि चाहे कोई देवता हो, असुर राक्षस हो, मनुष्य हो उसे आप उत्तम गुण वाले पुण्य श्लोक परब्रह्म श्रीराम को ही भजना चाहिये। आप उत्तम श्लोक राघव की ही उपासना करना चाहिये। आप तो कृपा के सागर हैं,सच्चे सुहृद् हैं, शरणागतवत्सल हैं,तभी तो निजधाम पधारते समय आप सम्पूर्ण कोशलवासी नर-नारी, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, यावन्मात्र जीव थे, सभी को अपने साथ विमान पर बिठाकर अपने लोक को ले गये। ऐसे परम कृपालु दयासागर शरणागतवत्सल श्रीराम को छोड़कर जो अन्य देवों की उपासना करते हैं, वे माया द्वारा ठगे गये हैं। अतः सभी को सर्वात्मना भाव से सीता सर्वस्व भगवान् कोशलेन्द्र की उपासना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने किंपुरुष वर्ष में श्री हनुमान् जी द्वारा की हुई श्रीरामजी की स्तुति कही अब मैं आप से भारतवर्ष में श्रीनारद जी द्वारा की गयी श्रीनरनारायण भगवान् की स्तुति को कहूँगा आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

नहिँ रावन वध हेतु न सिय उद्धार करन हित।
भये अवतरित प्रभो ! नहीं आसक्त जगत हित॥
आवश्यक नहिँ जनम,रूप कुल तुमहिं रिझावन।
कपिसन मैत्री करी नाथ ! यह बात दिखावन॥
सुरवर नर बानर असुर, भजहु राम रघुनाथ नित।
पुरवासिनि लै धाम निज, गये अन्त तिनि देउ चित॥

पद

सब मिलि भजहु राम रघुनायक।
पावन परम अलख अद्वय अज, अन्तरयामी पालक ॥१॥
रावन वध हित ही नहिं प्रकटे, राम धरम संस्थापक।
माया मोह रहित रघुनन्दन, गुन गुन गावें गायक ॥२॥
जनम, रूप धो तिनि पावन हित, अधिक न होहिं सहायक।
करी कपिन सँग मैत्री सियपति, करे समर सब नायक ॥३॥
अति कृतज्ञ अति मनहर रघुवर, धरे धनुष कर सायक।
भजहु सतत तिनि सिय सरबसुकूँ, विनय करे प्रभु पायक ॥४॥

हनुमत्कृत श्रीराम स्तुति

ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति ॥१॥

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं,
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं,
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥२॥

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं,
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः,
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥३॥

न वै स आत्माऽऽत्मवतां सुहृत्तमः,
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः ।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत,
न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति ॥४॥

न जन्म नूनं महतो न सौभगं,
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोपहेतुः ।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसः,
चकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः ॥५॥
सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः,
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं,
उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति ॥६॥

नारदजी कृत नरनारायण स्तुति

[४०]

कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते,
न हन्यते देहगतोऽहि दैहिकैः ।
द्रष्टुर्न दृश्यस्य गुणैर्विदूष्यते,
तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे ॥❀

(श्रीभा० ५ स्क० १९ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

नर नारायन करें विनय नारद भारत महँ ।
कहें-जगत् रचि पालि बँधे नहिं प्रभु बन्धनमहँ ॥
दृश्य दोषतें रहित रहैं तन धरम न व्यापै ।
हैं निरमल निःसङ्ग निरञ्जन धरमहिं थापैं ॥
चतुरनि चतुराई जिही, सब तजि चितवन चरन महँ ।
देहिं त्यागि सरवसु सतत, रहैं तुम्हारी शरन महँ ॥

नव द्वीपों में हमारा यह भारतवर्ष है। इसके इष्टदेव भगवान् नरनारायण हैं। जो कल्प पर्यन्त बदरीवन में रहकर

❀ नारदजी नरनारायण भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—हे प्रभो ! यद्यपि आप इस संसार की उत्पत्ति आदिके कर्ता हैं, फिर भी कर्तापने के अभिमान से बँधते नहीं। यद्यपि आप देह में रहते हैं

घोर तपस्या करते रहते हैं। लोक संग्रह के लिये धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य तथा उपशम की वृद्धि हो सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो और इन साधनों द्वारा अन्तमें भगवत् प्राप्ति हो इसी भावना से भगवान् ऋषि कुमारों का रूप रखकर तपस्या करते हैं। इस वर्ष के इष्टदेव के प्रधान अर्चक भगवान् नारदजी हैं। तीनों युगों में तो देवता मनुष्य सब मिलकर भगवान्की उपासना किया करते हैं किन्तु कलियुग में देवताओं और मनुष्यों के समय का बँटवारा हो जाता है। मार्गशीर्ष से वैशाख पर्यन्त तो देवता पूजा करते हैं उनके अर्चक नारदजी होते हैं और वैशाख से कार्तिक तक भारत वर्ष की वर्णाश्रम धर्म मानने वाली प्रजा पूजा करती है, उस समय नारदजी के प्रतिनिधि एक रावल पूजा करते हैं। इसीलिये भारतवर्ष में जन्म लेकर सभी नर नारियों को एक बार श्री बदरी वन में जाकर भगवान् नर नारायण के दर्शन अवश्य करना चहिये। अव्यक्तगति से गुप्त रहते हैं वहाँ केवल उनके अर्चाविग्रहका ही दर्शन होता है किसी किसी भाग्यशाली को उनके प्रत्यक्ष दर्शन भी हो जाते हैं। आत्मनिष्ठ पुरुषों पर गुप्त रूप से नर नारायण भगवान् ही कृपा करते हैं। उन्हीं के तप के प्रभाव से लोगों को भगवत् साक्षात्कार होता है। भगवान् नारद पांच रात्रविधि का सावर्णि मनुको उपदेश करते हैं और उसी पांच रात्र विधि से भगवान् की पूजा भी करते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! वर्णाश्रमव्रती प्रजाके सहित नारद जी पहिले जिस मंत्रका जप करते हैं उसका भावार्थ इस प्रकार है। इस मंत्र का बीज ओंकार है। ओंकार स्वरूप भगवान्को नमस्कार

फिर भी देह धर्मों के वशीभूत नहीं होते, यद्यपि आप द्रष्टा हैं, फिर भी इस दृश्य के दोषों से दूषित नहीं होते, ऐसे आप निर्मल, निस्संग और सर्वसाक्षी सर्वेश्वर को बारम्बार नमस्कार है।

हैं। जो भगवान् उपशम शील हैं शान्त स्वभाववाले हैं। हे प्रभो! आप अनात्म्य भाव से रहित हैं अर्थात् आत्मस्वरूप हैं आपके लिये बारम्बार नमस्कार है। हे भगवन्! आप निर्धनों के धन हैं अकिंचनों के वित्त हैं आपको नमस्कार है। आप समस्त ऋषियों में ऋषभ हैं समस्त तपस्वी मुनियों में श्रेष्ठ हैं आपके पादपद्मों में प्रणाम है। स्वामिन्! आपने जगत् के कल्याण के निमित्त नर नारायण दो रूप बना रखे हैं। ऐसे बदरी वनवासी नरनारायण मुनियों को बारम्बार प्रणाम है। हे देव! आप परिव्राजक परम हंसोंके परम गुरु हैं तथा आत्माराम आप्तकाम मुनियों के अधीश्वर हैं आपको बारम्बार नमस्कार है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मन्त्र जापके अनन्तर नारदजी स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे प्रभो! संसार में प्राणी कर्तृत्व अभिमान के कारण ही बन्धन को प्राप्त होता है। यह मैंने किया मैं इसका कर्ता भोक्ता हूँ इसी अभिनिवेश के कारण उसकी शक्ति केन्द्रित हो जाती है किन्तु आप इस इतने बड़े ब्रह्माण्ड को पल भर में बनाते हैं बनाकर सबका पालन करते हैं और अन्त में संहार भी स्वयं कर देते हैं। यही नहीं ऐसे अगनित ब्रह्माण्ड आप निरन्तर रचते रहते हैं आप कर्ता पालक संहर्ता सभी कुछ हैं यह भी नहीं कि आप अनेकों की सहायता लेकर बनाते हों आप अकेले ही सब कुछ बनाते हैं। इतना सब होने पर भी आप कर्तृत्व दोष से सर्वथा रहित हैं आपको कर्तापने का अभिमान है ही नहीं।

शरीर में जो रहता है उसे क्षुधा पिपासा सुख दुख जरा मरण तथा शरीर सम्बन्धी अन्य धर्मों के अधीन रहना ही पड़ता है किन्तु आप में इतनी विलक्षणता है कि शरीर में रहते हुए

भी आप उसके धर्मों से सर्वथा पृथक् हैं। शरीर धर्म आपको कभी नहीं व्यापते उनके वशीभूत आप कभी होते ही नहीं।

द्रष्टा जब कभी किसी दृश्य को देखता है तो दृश्य की प्रियता अप्रियता मनोहरता वीभत्सता के कारण उसके मन में हर्ष शोक सुख दुख अनुकूल प्रतिकूल भाव आ ही जाते हैं किन्तु आप इस सम्पूर्ण जगत् के द्रष्टा हैं। आप सभी विश्व को सम्पूर्ण चराचर को उसी प्रकार देखते हैं जैसे हाथ में रखे आँवले को देखते हैं इतना सब होने पर भी आपकी दृष्टि दृश्य के दोषों से दूषित नहीं रहती। हे प्रभो! आपका इस जगत से न जाने कब से सम्बन्ध है फिर भी आप सदा निःसंग बने रहते हैं मानों जगत से आपका कभी कोई सम्बन्ध ही नहीं। हे भगवन्! संसार से सम्बन्ध होने पर कुछ न कुछ तो मल तो लग ही जाता है। काजर की कोठरी पर जाने एक दो रेखा काजर की लग ही जाती हैं। किन्तु आप इस प्रपंचके भीतर रहते हुए भी सर्वथा शुद्ध बुद्ध निर्मल बने रहते हैं। हे देव! आपही चर अचर सबके एकमात्र साक्षी हैं। ऐसे सर्वसाक्षी सच्चिदानन्द स्वरूप आप प्रभु के पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम है।

हे स्वामिन्! हे योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवन्! संसार में भाँति भाँति की चतुराई बताई है। कोई धन उपार्जन करने में चतुर होते हैं कोई विद्या प्राप्त करने में दक्ष होते हैं कोई विविध भाँति की कलाओं में संगीत साहित्य में प्रवीण होते हैं किन्तु हिरण्य गर्भ भगवान् ब्रह्माजी इन चतुरताओं को यथार्थ चतुरता नहीं मानते। बहुत से लोग योग सिद्धि करके उसके द्वारा अणिमा, गरिमा, लघिमा तथा अन्यान्य सिद्धियों से बहुत से

अद्भुत अद्भुत चमत्कार दिखा देते हैं। ब्रह्माजी उसे भी महत्व नहीं देते। वे योग मार्ग की सबसे बड़ी चतुरता उत्तम से उत्तम प्रवीण या सर्वोत्कृष्ट दक्षता इसी को मानते हैं कि अन्त काल में मरण समय में इस मिथ्या देहाभिमान को परित्याग करके श्रद्धा भक्ति पूर्वक आप निर्गुण निष्क्रिय निरंजन सच्चिदानन्द परमात्मा में चित्त लग जाय। जिसका चित्त मृत्यु काल में आपके चरणों में लग जाय वही सबसे श्रेष्ठ है वही परम प्रवीण है वही चतुरों से भी अधिक चतुर है और वही यथार्थ दक्ष है।

इसके विपरीत जिनकी इस नश्वर शरीर में आसक्ति है। इसी को आत्मा मानकर इसी के पालन पोषण में रत रहते हैं। इसी को सुन्दर स्वस्थ स्वच्छ और निरोग बनाने के निमित्त निरन्तर प्रयत्न शील बने रहते हैं। शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पुत्र कलत्र, धन, जन, सगे सम्बन्धी भवन वाहन तथा अन्यान्य वस्तुओं में ममता करके उनकी चिन्ता में निमग्न रहते हैं जैसे मूढ़ पुरुष निरन्तर मृत्यु से भयभीत बने रहते हैं उसी प्रकार मृत्यु के नाम से डर जाते हैं। जो सदा इन्द्रिय भोग सम्बन्धी लौकिक सुखों के लिये तथा अप्सरा नन्दनकानन अमृत पान आदि पारलौकिक सुखों के लिये लालायित बने रहते हैं, यह शरीर छूट न जाय कहीं मृत्यु न आ जाय इसके लिये सदा शंकित बनेरहते हैं वे चाहें कितनेभी बड़े विद्वान् क्यों न हों कैसे भी बड़े शास्त्रज्ञ क्यों न हो उन्होंने चाहें जितनी विद्या प्राप्त की हो शास्त्रों में कितना भारी श्रम क्यों

न किया हो उनका सब किया कराया प्रयत्न व्यर्थ है। क्योंकि समस्त शास्त्रों का सार सिद्धान्त तो यही है कि मृत्यु समय मन आपके चरणारविन्दों में लगा रहे, जिसने ऐसा किया है उसका शास्त्रश्रम तो सार्थक है नहीं तो सभी नर व्यर्थ हैं।

हे नाथ ! हमें तो आप अपनी भक्ति प्रदान करें ! हे अशरण-शरण ! हमें आप अपनी शरण में ले लें। हे प्रेमार्णव ! हमें आप सहजा स्वाभाविकी अनुरक्ति दें। हे प्रेमास्पद ! हमें प्रेम प्रदान करें। प्रभो ! हमारी अपनी शक्ति नहीं कि इस माया के दुर्भेद्य किले को अपनी सामर्थ्य से अपने बल पराक्रम से जीत सकें। यह सब तो आपकी कृपा पर ही अवलम्बित है। माया ने हमें अपने वश में कर लिया है। आपकी ही गुणमयी इस दैवी दुरत्यय माया ने हमें ठग लिया है। इसीके वशीभूत होकर नित्य नौ द्वारों से मल बहने वाले विष्ठा मूत्र के आलय इस निंद्य शरीर में हमने अहंता स्थापित कर रखी है। इसी के सम्बन्ध से धन भवन पुत्र कलत्र आदि अनित्य पदार्थों में प्रगाढ़ ममता बना रखी है आप ही कृपा करें तब यह अहंता ममता मिट सकती है। आप की ही कृपा से इस दुर्भेद्य किले का भेदन हो सकता है मेरे जीवन सर्वस्व ! हे हमारे दुख त्राता ! हे भाग्य विधाता ! हे सर्व सुख दाता ! हमारी अहंता ममता को मेट दो यह जो माया की जंजीर हमारे पैरों में पड़ी है इसे काट दो।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यह मैंने नारदजी द्वारा की हुई नारायण भगवान् की स्तुति कही। अब आप दक्षप्रजापति द्वारा किये हुए भगवान् के हंसगुह्य स्तोत्र को श्रवण करें।

छप्पय

जे कलत्र धन पुत्र मित्रमहँ ममता करिहैं।
ईह परम सुख भोग लोभ करि करि ते मरिहैं॥
तिनि को जीवन ज्ञान शास्त्र सब व्यरथ बतावैं।
पुनि पुनि जीवैं मरैं अन्त में अति पछितावैं॥
स्वाभाविक निज प्रेम प्रभु, भक्ति सहित देवैं हमें।
तजि ममता अरु अहंता, मायापति पावैं तुम्हें॥

पद

जगमें तेई चतुर कहावैं।
अन्तकाल में तजि तनु ममता, पुण्य परमपद पावैं॥१॥
मैं मेरी माया बिसरावैं, चित तव चरन लगावैं।
गह्यो जथारथ फल जीवन को, सुर मुनि तिनहिं सरावैं॥२॥
जे भोगनिके बने लालची, धन कलत्र मन लावैं।
तिनिको व्यरथ शास्त्र श्रम साधन, कर मलि मलि पछितावैं॥३॥
करैं प्रदान प्रेम प्रभु पावन, तव माया तरि जावैं।
तजि तन मोह चरन लपटावैं, बार बार सिर नावैं॥४॥

नारदकृत नारायण स्तुति

ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चन वित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति ॥१॥ गायति चेदम्—

कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते,
न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः ।
द्रष्टुर्न दृश्यस्य गुणैर्विदूष्यते,
तस्मै नमोसक्तविविक्तसाक्षिणे ॥२॥

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं,
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत् ।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो,
भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवरः ॥३॥

यथैहिकामुष्मिककामलम्पटः,
सतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन् ।

शंकेत विद्वान् कुकलेवरात्ययाद्,
यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम् ॥४॥
तन्नः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां,
त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां,
विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावमिति ॥५॥

दक्ष प्रजापति कृत भगवान्‌का हंसगुह्य स्तोत्र (१)

(४१)

नमः परायावियथानुभूतये,
गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्वबुद्धिभि—
निवृत्तमानाय दधे स्वयं भुवे ॥❀

(श्रीभा० ६ स्क० ४ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

प्रजा वृद्धि के हेतु दक्ष तप करन तीर्थवर ।
अघमरषन महँ गये विन्ध्य गिरिवर जहँ मनहर ॥
हंसगुह्य इस्तोत्र पाठ करि प्रभुहिँ रिझावैं ।
है अति गद्‌गद गिरा प्रेमतें प्रतिदिन गावैं ॥
कहैं—सच्चिदानन्द विभु, पाँइ न जिनहिँ प्रमान हैं ।
जिनि विषयी नर नहिँ लखहिँ, पुनिपुनि तिनहिँ प्रनाम हैं ॥

महाराज प्राचीनबर्हि के दश प्रचेता नाम से पुत्र हुए । वे रूप, शील, वय, स्वभाव व्यवहार आदिमें समान ही थे, अतः

❀ दक्ष प्रजापति भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—"प्रभो ! आपका ज्ञान यथार्थ है, आप पर से भी परे हैं, आप तीनों गुणों के आभास निमित्त जीव तथा माया के बन्धु हैं, गुण विषयों में यथार्थ बुद्धि

दशों का नाम प्रचेता पड़ा। उन्होंने समुद्र में खड़े होकर घोर तप किया। भगवत् आज्ञा से उन सबने वार्क्षी नाम की कन्या से विवाह किया। उसीके गर्भ से महादेवजी के शाप से जिन दक्ष प्रजापति का देहान्त हो गया था। वे ही यहाँ उत्पन्न हुए। यहाँ भी उनका नाम दक्ष ही पड़ा इस कल्प में भी इन्होंने प्रजा की बहुत वृद्धि की। पहिले उन्होंने मानसिक ही सृष्टि की किन्तु इससे प्रजा सर्ग बढ़ा नहीं सृष्टि की वृद्धि हुई नहीं। तब इन्होंने विन्ध्याचल की तलहटी में अघमर्षण नामक तीर्थ में जाकर प्रजा की वृद्धि के निमित्त घोर तपस्या की। वहाँ पर ये नित्य तीनों समय अघमर्षण तीर्थ में स्नान करके हंस गुह्य नाम के स्तोत्र का पाठ करते थे। इसके पाठ से भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हुए और इनकी मनोकामना पूर्ण हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस हंस गुह्य स्तोत्र के पाठ से दक्ष प्रजापति ने सिद्धि लाभ की उस स्तोत्र को मैं आपको सुनाता हूँ। आप सब दत्त चित्त से श्रवण करें।

दक्ष कहते हैं—"हे प्रभो! आप परात्पर हैं। आपसे परे कोई नहीं है। जैसे शब्दादि विषयों से परे इन्द्रियाँ है, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे अहं तत्व है, अहं तत्व से परे महत्तत्व है, महत्तत्वसे परे प्रकृति है, प्रकृति से परे पुरुष है पुरुषसे भी परे आप पुरुषोत्तम हैं। अब कोई पूछे आप पुरुषोत्तम से परे कौन है तो कोई कुछ कह नहीं सकता। आप तो परा की काष्ठा हो अन्तिम सीढ़ी हो आपके समीप पहुँच कर परे की शृंखला समाप्त

रखने वाले पुरुष आपके स्वरूप को नहीं जानते, आप सब परिणामों से रहित हैं, ऐसे आप स्वयं प्रकाश परमात्मा के प्रति मैं नमस्कार करता हूँ।"

हो जाती है सबसे परे आप ही हैं। ऐसे परतत्व स्वरूप आपको नमस्कार है।

संसार में देखा जाता है कि किसी की अनुभूति सत्य होती है किसी की असत्य किन्तु आप तो अवितथ अनुभूति वाले हैं आपकी अनुभूति त्रिकाल में भी असत्य तथा भ्रमयुक्त नहीं हो सकती। संसार में यथार्थ ज्ञान तो एकमात्र आपमें ही है। इसीलिये तो आप ज्ञान स्वरूप हैं, परिपूर्ण हैं ब्रह्म हैं। सत्व रज और तम इन तीनों गुणों के आभास निमित्त जो जीव और माया है उनके आप बन्धु हैं अर्थात् स्वामी हैं नियन्ता हैं। जैसे छोटे २ बालकों के बन्धु नियन्ता पालन कर्ता माता पिता हैं, जैसे नेत्रों के रक्षकबन्धु पलक हैं, जैसे स्त्री का रक्षक पति है, जैसे भिक्षुकों का रक्षक गृहस्थ है, जैसे अज्ञानियों के बन्धु ज्ञान वान् हैं, जैसे प्रजाओं के बन्धु राजा है उसी प्रकार आप जीव माया के बन्धु हैं। ईश हैं नियामक हैं जो लोग गुणों में तत्व बुद्धि रखते हैं गुणों को ही सब कुछ समझते हैं जो कहते हैं कि ये गुण ही परस्पर में गुणों में बरत रहे हैं ऐसे लोग आपकी महिमा को आपके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते हैं। आपको प्रमाणों द्वारा सिद्ध करना चाहें तो नहीं कर सकता क्योंकि प्रमाण की तो वहाँ पहुँच ही नहीं। आप सभी प्रकार के परिमाण से रहित हैं। आपकी कोई नाप जोख नहीं कर सकता। आप इतने हैं आपकी महिमा इतनी ही है इसे कोई बता ही नहीं सकता। आप सबके जनक हैं आपका कोई जनक नहीं। आप स्वयम्भू हैं। स्वयंभू कहना भी उचित नहीं आप शुद्ध सनातन एक रस रहने वाले नित्य शुद्ध बुद्ध तथा शाश्वत हैं। ऐसे आप सर्वोत्तम सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे प्रभो! रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द को व्यक्त करने वाली चक्षु, रसना, घ्राण त्वक् तथा चक्षु इन्द्रियों में प्रकाशकपन न हो ये प्रकाश प्रदान न करें तो विषयों की प्रतीति न होगी इतनी आवश्यक इन्द्रियों को जैसे उनके विषय नहीं जानते। दोनों का सम्बन्ध है इन्द्रियों से विषय प्रकाशित होते हैं तथा विषयों की प्रतीति इन्द्रियों द्वारा होती हैं तिस पर भी विषय इन्द्रियों के प्रकाशक पने के ज्ञान से अनभिज्ञ ही रहते हैं। इसी प्रकार इस शरीर में जीव के साथ सखा रूप से आप सदा निवास करते हैं। आपके विना न इस शरीर रूप पुर की न इसमें सोने वाले पुरुष की कोई सत्ता ही नहीं। आप इसके साथ-साथ सखा भाव से सोते रहते हैं निवास करते हैं किन्तु यह मूढ़मति जीव आपको जानता नहीं पहचानता नहीं। इतने समीप रहने पर भी आप से परिचय प्राप्त नहीं कर सका। यह इसका अहंकार ही तो है। जैसे एक घर में साथ ही साथ रहने वाले किरायेदार से अहंकारी बोलता भी नहीं। उससे कभी आँख नहीं मिलाता। परिचय प्राप्त नहीं करता। उसी प्रकार अति निकट होने पर यह पुरुष आप प्रभु से पराङ्मुख हो रहा है। आप विश्व के साक्षी हैं ईश्वरों के भी महेश्वर हैं। आप इस दृश्य प्रपंच के एकमात्र साक्षी हैं ऐसे आप सर्व प्रकाशक प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम है।

स्वामिन्! आपका आदि नहीं अन्त नहीं। देखिये कैसी आश्चर्य की बात है। प्राण देह में ही रहते हैं। देह के विना प्राणों का अस्तित्व ही नहीं फिर भी देह प्राणों से अपरिचित है। इन्द्रियाँ प्राणों की प्रेरणा से कुछ करती कराती हैं फिर भी प्राणों को नहीं जानती। अन्तःकरण अर्थात् भीतरी इन्द्रियों के द्वारा ही इस देह संहात का कार्य चल रहा है किन्तु इन्द्रियाँ अन्तः-

करण ये सब भूतों के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। पंचभूतों के द्वारा ही इस देह संहात का कार्य चल रहा है। पंच-भूतों का शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन पञ्च तन्मात्राओं के साथ कैसा घनिष्ट सम्बन्ध है। फिर भी तन्मात्रायें भूतों के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानतीं। इन्द्रियाँ अपने अधिष्ठात्र देवों के सम्बन्ध में भी कुछ परिचय नहीं रखतीं। और की तो बात ही क्या ये सब जड़ होने के कारण अपने आपको भी नहीं जानते। न अपने से परिचित हैं न अपने कारण से परिचित हैं। किन्तु चैतन्य होने से जीव इन सबको भी जानता है और इनके कारणों को भी जानता है, किन्तु इन सब को जानने वाला यह जीव भी आप सर्वज्ञ के विषय में अनाभिज्ञ ही बना बैठा है आपके विषय में कुछ नहीं जानता ऐसे अत्यन्त रहस्यमय अनादि अनन्त सर्वज्ञ सर्वविद् की मैं स्तुति करता हूँ आपके लिये बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

हे प्रभो! चित्त में जब विषय लालसायें भरी रहती हैं। तब विषय भोगों के निन्तर चिन्तन से मन मलिन हो जाता है अन्तःकरण अपवित्र हो उठता है। तब मन इस नाम रूपात्मक जगत् को ही देखता है जगत् के घट पटादिका ही अव बोधन करता है। चक्षु द्वारा मन ही नाम रूपात्मक वस्तुओं को देखता है तथा त्वचा द्वारा वही स्पर्श का अनुभव भी करता है जिस काल में मन इस दृश्य प्रपंच का दर्शन तथा देखे सुने हुए पदार्थों का स्मरण करना बन्द कर देता है। उस समय मनकी समाधि हो जाती है मन क्रिया शून्य हो जाता है केवल स्वरूप स्थिति से विशुद्ध मन आप को प्राप्त करता है। शुद्ध चित्त ही आपका उपलब्धि स्थान है। ऐसे आप समाधि द्वारा अनुभव किये जाने वाले शुद्ध स्वरूप सर्वात्मा प्रभु को बारम्बार नमस्कार

है। हे प्रभो ! हम वाणी द्वारा आपको व्यक्त नहीं कर सकते। आप तो पवित्र अन्तःकरण में केवल अनुभव ही किये जा सकते हैं। ऐसे परमात्मा के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने हंसगुह्य स्तोत्र के कुछ अंश का भावार्थ बताया अब तनिक विश्राम करके आगे का भी अर्थ कहूँगा।

छप्पय

विषय प्रकाशक करन विषय तिनिकूँ नहिं जानें।
प्रभु तन महँ सँग जीव तिनि नहिं पहिचानें॥
जाने नहिं निज रूप करन गुन कारन जो हैं।
जाने सबकूँ जीव शीवतैं भिन्न न सो हैं॥
मन समाधि में नाम अरु, रूप त्यागि जिनि अनुभवें।
तिनि विशुद्ध चित प्राप्य प्रभु, चरनकमलमहँ हम नवें॥

पद

बन्दौं बार बार विभु व्यापक।
सतचित आनँद रूप परावर, बल अमोघ प्रतिपालक॥१॥
माया जीव नियन्ता नायक, करता करमहु कारक।
तरक तहाँ तक पहुँचि न पावें, तत्व परम प्रभु तारक॥२॥
जड़ हैं अन्तःकरन करन, तन, प्रान भूत सुरनायक।
अनभिज्ञ जीव सब जाने, किन्तु न जानें पालक॥३॥
दरसन सुमिरन नाम रूप मन, तजि समाज में बाधक।
शुद्ध चित्त ही जिनकूँ पावें, विनवौं विश्व विधायक॥४॥

हंसगुह्य—स्तोत्र (२)

(४२)

मनीषिणोऽन्तर्हृदि सन्निवेशितम्,
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः ।
वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यम्,
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ४ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

छिपी काठ में अनल प्रकट याजक करि लेवैं ।
विज्ञ बुद्धि तें हिये छिपे हरिकूँ ज्यों सेवैं ॥
सुख-सरूप सरवज्ञ सर्व-विद सरस कहावैं ।
नाम रूपतैं रहित भेद भ्रम तजि जिनि पावैं ॥
मन-बानी तैं परे हरि, जिनिको अमित प्रभाव है ।
हौं प्रसन्न प्रभु परमप्रिय, तीन काल जिनि भाव है ॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! दक्ष प्रजापति आगे स्तुति करते

---

* दक्ष प्रजापति स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे प्रभो ! अग्नि को प्रकट करने में पन्द्रह मन्त्रों से जिस प्रकार काष्ठ में छिपे हुए अग्नि को याजकगण प्रकट करते हैं उसी प्रकार सत्ताईस तत्व रूप जो आपकी अपनी उपाधियाँ हैं उनसे छिपकर अन्तःकरण में गूढ़ भाव से छिपे हुए आपका मनीषी पुरुष सूक्ष्म बुद्धि द्वारा साक्षात्कार करते हैं ।

हुए कहते हैं—हे प्रभो! आप सबके अन्तःकरण में निवास करते हैं। अन्तःकरण में भी आप स्पष्टतया रहते हो सो बात नहीं। आप पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों से शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श इन पंच तन्मात्राओं से, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों से, मन, अहंकार, महत्तत्व, त्रिगुण तथा पुरुष इन सत्ताइस तत्व रूपी अपनी उपाधियों से छिपकर रहते हैं बहुत गूढ़रूप से गुप्त भाव से निवास करते हैं। अथवा आपकी जो श्री, पुष्टि, इला ऊर्जा, विद्या, अविद्या आदि जो माया की शक्ति हैं उनके द्वारा, पंच तन्मात्रायें, अहंतत्व, महत्तत्व, प्रकृति और पुरुष इन नौके द्वारा तथा तीनों गुणों के द्वारा गूढ़ भाव से रहते हैं। अर्थात् अन्तःकरण में आप शुद्ध बुद्ध रूप से उपाधि रहित होकर नहीं रहते। वहाँ ऐसे आवरणों में परदे की ओट में रहते हैं, किन्तु वहाँ से मनीषी लोग आपका पता लगा लेते हैं, प्रकृति पुरुष का विवेचन करते-करते बुद्धि द्वारा मन्थन करके, विचार विमर्श द्वारा आपका निर्णय कर लेते हैं। जैसे काष्ठ में अग्निदेव छिपे रहते हैं, गूढ़ रूप से निवास करते हैं। याजकों को अग्निहोत्र के लिये अग्नि की आवश्यकता होती है, तो सामधेनी नामके पंद्रह मन्त्रों द्वारा दोनों अरणियों को मन्थन काष्ठों को घिसते हैं, घिसते-घिसते उनमें से छिपी हुई अग्नि प्रकट हो जाती है, अव्यक्तरूप से निवास करने वाले हुतभुक् व्यक्त हो जाते हैं। दर्श और पौर्णमास यज्ञ १५, १५ दिन होते हैं, अथवा पंद्रह मंत्रों द्वारा प्रकट होती हैं, इसीलिये अग्निदेव का नाम पाञ्चदश्य है जैसे अग्नि का मन्थन द्वारा काष्ठ में साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष आपका अन्तःकरण में साक्षात्कार करते हैं। ऐसे आप सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु को बारम्बार प्रणाम है।

प्रभो! जैसे आम में से छिलका, सूत्र, गुठली तथा चेंप इन

वस्तुओं को त्याग देने पर रस ही रस अवशेष रह जाता है, उसी प्रकार आपके आस पास जो सम्पूर्ण मायिक उपाधियाँ हैं उन्हें त्यागने पर आप ही शुद्ध बुद्ध स्वरूप से रह जाते है। मुक्त पुरुष मोक्ष सुख स्वरूप से आपका अनुभव करते हैं। तत्व दर्शी आपको सर्वनाम भी कहते हैं अर्थात् संसार में जितने भी नाम हैं, वे सब आप के ही आश्रय से तो हैं, सब आप के ही नाम हैं। इसीलिये आप सर्वनाम कहलाते हैं। संसार में जितने रूप हैं वे सब आपके ही है। आपके रूप के अतिरिक्त कोई रूप ही नहीं। इसीलिये आपका नाम विश्वरूप है। आपकी शक्ति अकथनीय है, अनिर्वचनीय है, आपका प्रभाव अप्रमेय है, आप की शक्ति के सम्बन्ध में कुछ भी कहना हास्यास्पद है, ऐसे अमित प्रभाव सम्पन्न हे सर्वेश्वर ! मेरे ऊपर आप प्रसन्न हो, मुझे अपनी शक्ति प्रदान करें।

यह कहा जाय कि जिस रूप में वस्तुएँ देखी जाती हैं, जिन नामों से उनका निर्देश किया जाता है, वही आप हैं तो यह कथन भी उचित न होगा। जैसे एक घट है, उसे सब लोग घड़ा-घड़ा कहते हैं, कोई कहें आप घड़ा हैं तो यह कथन असत्य है। इन्द्रियों से उसे देखते हैं हाथों से उठाते हैं बुद्धि से उसके सम्बन्ध में विचार करते हैं मन से उसके सम्बन्ध में मनन करते हैं किन्तु इन सबसे निर्णय होता है, कि किसी कुम्भकार के द्वारा मिट्टी से चाकपर रखकर अग्नि में पकाकर इसे बनाया है, तो यह सब कार्य तो गुणों का हुआ। आप तो गुणातीत हैं इसलिये आप घट पट आदि नहीं हो सकते। जैसे कंकण कुण्डल आदि कनकके द्वारा बनाये जाते हैं कुण्डल आदि बनते हैं उनका नाम रूप प्रकट होता अन्त में उनका नाम रूप मिटाकर अन्त में फिर कनक ही कनक शेष रह जाता है। सत्य तो कनक ही था। बीच में उसका नाम कंकण कुण्डल हो गया अधिष्ठान रूप से कनक तीनों काल में

सत्य ही रहा। कुण्डल बनने से पूर्व भी कनक ही था, कुण्डल बन गया तब भी कनक ही रहा कुण्डल नष्ट हो गया तब भी कनक ही कनक शेष रह गया। इसी प्रकार आप नाम रूपात्मक जगत् से पूर्व भी थे, नाम रूपात्मक होने पर भी रहे और जब ये गुणों के कार्य नाम रूप न रहेंगे तब भी आप विद्यमान् रहेंगे। आप स्वतः नाम रूपात्मक नहीं हैं, किन्तु नाम रूप से आप लक्षित होते हैं। ऐसे तीनों काल में एक रस रहने वाले सर्वान्तर्यामी प्रभु को पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! संसार में आप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आप निष्क्रिय और निष्कल होते हुए भी इस जगत् को बनाते हैं और फिर इसी में प्रवेश कर जाते हैं। आप ईश्वर रूप से प्राणि मात्र के हृदय में रहकर जैसे यन्त्री यन्त्र को इच्छानुसार घुमाता फिराता और नचाता है उसी प्रकार आप भी सबका स्वेच्छा से संचालन करते हैं सबसे आगे आप ही थे। आप आत्मा में रहते हैं, पृथ्वी आदि भूतों में रहते हैं आप कभी क्षर न होने वाले तत्व में संचार करते हैं इसीलिये आपको अक्षर कहते हैं आप अव्यक्त में संचार करते हैं इसलिये अव्यक्त ही आपका शरीर है। आप अणु से भी अणु हैं और महान् से भी महान् हैं आप सत्य स्वरूप हैं आनन्द स्वरूप हैं, चैतन्य स्वरूप हैं, ब्रह्म स्वरूप हैं। जगत् में जो भी कुछ परिलक्षित हो रहा है वह आप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

समस्त संसारी व्यवहार ८ रूपों में विभक्त हो रहा है। इसी लिये वैयाकरणों ने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन ये आठ विभक्तियाँ मानी हैं। जैसे शर्करा से अनेक खिलौने बनाये जायँ उनमें से कुछ चैतन्य होकर क्रिया भी करने लगें और कोई कहे-हाथीको लाओ। घोड़े को बाँध आओ, वृक्ष के फल तोड़ लाओ, अमुक के लिये

यह वस्तु दे दो तो कहने वाला, लाने वाला, जो लाया गया है, जिसके द्वारा किया गया है, जिसके लिये किया गया है, वे सभी तो शर्करा से निर्मित हैं। इसी प्रकार इस जगत् में आप ही आप हो।

वैयाकरण लोग कर्ता को स्वतन्त्र बताते हैं वह कार्य करने में स्वतन्त्र हैं। वह कर्ता रूप में आप ही हैं संसार के एक मात्र कर्ता आप ही हैं। जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। कर्म भी आप ही बन गये हो। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई कर्म है ही नहीं। जिसके द्वारा कर्म किया जाता है उसे करण कहते हैं। इसीलिये इन्द्रियों का नाम भी करण है। करण रूप में आप ही संसार में फैले हुए हो। जिस लिये किया जाता है दिया जाता है उसे सम्प्रदान कहते हैं। सो प्रभो! आप सम्प्रदान भी हैं। देने योग्य भी आप हैं और नमस्कार करने योग्य भी आप ही हैं। अपादान उसे कहते हैं जो पृथक् करे जैसे घर से परे आप से परे आपसे श्रेष्ठ आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है। वस्तुओं को जो जोड़ता है उसे सम्बन्ध कहते हैं। जैसे कृष्णदास संसार के सभी सम्बन्ध आपके ही द्वारा जुड़ाते हैं। सम्पूर्ण जगत् के सगे सम्बन्धी आप ही हैं। समस्त सम्बन्ध आपकी सन्निधि में सम्पन्न होते हैं। अधिकरण उसे कहते हैं जिसमें रहे जिसमें एकभूत हो जाये। जैसे मनमें श्याम समा गये मथुरा में श्रीकृष्ण बसते हैं। सो प्रभो! घट-घट में आप ही रह रहे हैं। सबमें आप ही समाये हुए हैं अतः अधिकरण भी आप ही हैं। जिसे नाम लेकर पुकारते हैं, हे हो अरे आदि कहकर उसे अभिमुख करने की चेष्टा करते हैं उसी का नाम सम्बोधन। सो हे प्रभो! हे हरे! हे सर्वान्तर्यामी! समस्त सम्बोधनों

का समावेश आप में ही होता है। सभी सम्बोधन आपके ही लिये प्रयुक्त किये जाते हैं।

स्वामिन्! जिसमें जहाँसे जिसके द्वारा जिसका जिससे जिसके लिये जिस कार्य को जो जिस प्रकार करता है अथवा जिसको प्रेरणा से करने वाला कार्य किया जाता है वह सभी आप ही हैं। क्योंकि घड़ाके पूर्व ही मिट्टी थी मिट्टीके अनन्तर ही अनेक नाम रूपों वाले घड़ा, सकोरा परई आदि वर्तन बने। सम्पूर्ण इस दृश्य मान कार्य कारण से आप पूर्व सिद्ध हैं। आपमें भेद भाव भी नहीं। यह हो कि आप के कोई बराबर वाला हो सो भी बात नहीं न कोई आपसे बड़ा है न आपसे कोई भिन्न स्वभाव वाला है। न समान स्वभाव वाला। इस प्रकार आप सजातीय विजातीय सभी भेद भावों से रहित हैं। आप किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं हुए। इसीलिये आपका कोई भी कारण नहीं। क्योंकि आप तो अनादि हैं अज हैं, परिपूर्ण हैं, शाश्वत हैं फिर आपका कारण कोई हो ही कैसे सकता है। किन्तु आप ही आपसे ही हुई है। इस संसार रूपी महान् वृक्ष के एकमात्र आप ही बीज हैं। जैसे बीज ही वृक्ष बन जाता है। वृक्ष का नाश भले ही हो जाय, किन्तु बीज का कभी नाश नहीं होता वह निरन्तर बना ही रहता है। वृक्ष में जैसे बीज ने ही जड़ स्कन्ध, फूल पत्ते तथा फल के भिन्न भिन्न रूप रख लिये हैं। आदि में भी बीज ही था अन्त में भी बीज ही शेष रहेगा, मध्य में उनसे वृक्ष का रूप रख लिया है। सो जो आदि अन्त में रहता है वही मध्य में भी माना जाता है। इस प्रकार यह जो सम्पूर्ण भेद भाव पूर्ण नाना नाम रूप वाला प्रपञ्च दृष्टिगोचर हो रहा है। उसके एकमात्र कारण आप सर्वेश्वर सर्वाधार ही हैं। अतः आपके चरणारविन्दों में बारम्बार प्रणाम है। आप अनन्त को अनन्त नमस्कार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार दक्ष प्रजापति ने सृष्टि वृद्धि के हेतु हंस गुह्य स्तोत्र से भक्तिभाव पूर्ण भगवान् की स्तुति की। हंसगुह्य स्तोत्र बहुत बड़ा है। इसके शेषांश को मैं आपको सुनाऊँगा। आशा है आप कृपापूर्वक दत्तचित्त होकर गुह्यातिगुह्य स्तोत्र को सुनेंगे।"

छप्पय

जाकूँ बानी बकै दीठि देखे जिनि वस्तुनि।
वही नहीं ब्रह्म काज सबहैं गुन इन्द्रिनि॥
सब विभक्ति आधार आपु ई नाथ कहावैं।
करता कारन बनैं बनि खेल खिलावैं॥
कारज कारनतैं प्रथम, सदा रहैं अज सर्वगत।
भेद सजाति विजाति नहिं, बीज विश्व के नित्यसत॥

पद

प्रभु तुम बीज विश्व कहलाओ।
तुम ही आओ तुम ही जाओ, तुम ही विश्व बनाओ॥१॥
तुम भरमाओ तुमहि छुड़ाओ, तुम ही नाच नचाओ।
तुम ही करो तुमहिं करवाओ, करता करम कहाओ॥२॥
सम्बोधन, सम्बन्ध करन, अधिकरन बनो बनवाओ।
सम्प्रदान अरु अपादान सब, तुम ही स्वाँग रचाओ॥३॥
निज पर भेद भावतैं वंचित, केवल एक लखाओ।
सबके कारन सबके तारन, सबकूँ प्रभु अपनाओ॥४॥

दक्ष प्रजापतिकृत हंसगुह्य-स्तोत्र

प्रजापतिरुवाच

नमः परायावितथानु भूतये,
गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभिः,
निवृत्तमानाय दधे स्वम्भुवे ॥१॥

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः,
सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन् ।
गुणो यथा गुणिनी व्यक्तदृष्टेः,
तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥२॥

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा,
नात्मानमन्यं च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो,
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ॥३॥

यदोपरामो मनसो नामरूप,
रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात् ।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया,
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥४॥

मनीषिणोऽन्तर्हृदि सन्निवेशितं,
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः ।
वह्निं यथादारुणिपाञ्चदश्यं,
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥५॥

स वै ममाशेषविशेषमायया,
निषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा सच विश्वरूपः,
प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ॥६॥

यद् यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं,
धियाक्षभिर्वा मनसा वोत यस्य ।
मा भूत् स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्,
स वै गुणापायविसर्गलक्षणः ॥७॥

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै,
यद् यो यथा कुरुते कार्यते च ।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं,
तद् ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥८॥

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै,
विवादसंवादभुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं,
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥९॥

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोः,
एकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः ।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः,
समं परं ह्यनुकूलं बृहत् तत् ॥१०॥

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूलम्,
अनामरूपो भगवाननन्तः ।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभिः,
भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ॥११॥

यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां,
यथाशयं देहगतो विभाति ।
यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं,
स ईश्वरो मे कुरुतान्मनोरथम् ॥१२॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्री बद्रीनाथ-दर्शन

(*श्रीब्रह्मचारीजीका एक अपूर्व महत्वपूर्ण ग्रन्थ*)

श्रीब्रह्मचारीजीने अनेकों बार श्रीबद्रीनाथजी की यात्रा की है। यात्रा ही नहीं की है, वे वहाँ महीनों रहे हैं। उत्तराखण्डके छोटे बड़े सभी स्थानों में वे गये हैं उत्तराखण्ड कैलाश, मानसरोवर, शतोपन्थ, लोकपाल और गोमुख ये पाँच स्थान इतने कठिन हैं कि जहाँ पहाड़ी भी जानेसे भयभीत होते हैं। उन स्थानोंमें ब्रह्मचारीजी गये हैं वहाँका ऐसा सुन्दर सजीव वर्णन किया गया है, कि पढ़ते-पढ़ते वह दृश्य आँखों के सम्मुख नृत्य करने लगता है। उत्तराखण्ड के सभी तीर्थों का इसमें सरस वर्णन है, सबकी पौराणिक कथायें हैं किंवदन्तियाँ हैं, इतिहास हैं और यात्रावृत्त हैं। यात्रा सम्बन्ध जितनी उपयोगी बातें हैं सभीका इस ग्रन्थमें समावेश। बद्रीनाथजीकी यात्रा पर इतना विशाल महत्वपूर्ण अभी तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ। आप इस एक ग्रंथसे ही घर बैठे उत्तराखण्ड के समस्त पुण्यस्थलोंके रोमाञ्चकारी वर्णन पढ़ सकते हैं। अनुभव कर सकते हैं। यात्रामें आपके साथ यह पुस्तक रहे तो फिर आपको किसीसे कुछ पूछना शेष नहीं रह जाता। लगभग सवा चार सौ पृष्ठकी सचित्र सजिल्द पुस्तकका मूल्य ४. रुपया मात्र है थोड़ी ही प्रतियाँ हैं, शीघ्र मँगावें दूसरा संशोधित संस्करण छप गया है।

श्री ध्रुव नारायण

भागवत दर्शन

खण्ड ६५

भागवती स्तुतियाँ (३)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थं सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

मुद्रक
भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, झूसी (प्रयाग)
प्रथम संस्करण } मार्गशीर्ष, संवत् २०१३ { मूल्य १।)

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	स्तुति प्रार्थना भूमिका	
४३	हंसगुह्य-स्तोत्र (३)	१
४४	वृत्रभय से भयभीत देवी की विष्णु स्तुति	६
४५	देवताओं द्वारा दयानिधि का स्तुति (१)	१६
४६	देवताओं द्वारा दयानिधि का स्तुति (२)	२४
४७	वृत्रासुर कृत भगवत् स्तुति	३९
४८	राजा चित्रकेतु को नारदजी द्वारा उपदिशत स्तोत्र	४६
४९	राजा चन्द्रकेतु कृत संकर्षण स्तुति (१)	५४
५०	राजा चन्द्रकेतु कृत संकर्षण स्तुति (२)	६१
५१	हिरण्यकशिपु कृत ब्रह्म स्तुति	७०
५२	श्री प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति (१)	८०
५३	प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति (२)	८९
५४	प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति (३)	९७
५५	प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति (४)	१०४
५६	प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति (५)	१११
५७	प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति (६)	१२२
५८	प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति (७)	१३१
५९	प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति (८)	१३९
६०	गजेन्द्र कृत हरि स्तुति (१)	१५४
६१	गजेन्द्र कृत हरि स्तुति (२)	१६१
६२	गजेन्द्र कृत हरि स्तुति (३)	१६८
६३	ब्रह्मादि देवों द्वारा अजित स्तुति (१)	१७९
६४	ब्रह्मादि देवों द्वारा अजित स्तुति (२)	१८७

स्तुति प्रार्थना
(भूमिका)

तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुति कर्म पूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किम्
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥
(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० ५० श्लो०)

छप्पय

नहिं बानी तैं व्यरथ बात बोलूँ बनवारी ।
सतत उचारूँ नाम विनय नित करूँ तिहारी ।।
नाम रूप शुभ धाम ललित लीला गुन गाऊँ ।
विषयिनि को तजि संग सरस पद पंकज ध्याऊँ ॥
कृष्ण कन्हैया कृपानिधि, करुनाकर केशव वहूँ ।
करत करत इस्तुति मरुँ, तुमरो ई आश्रय गहूँ ।

जीवन स्तुति मय हो, हमारे सर्व कर्मारम्भ प्रार्थना पूर्वक हों यही मानवता है। पशु पक्षी को खाने का पदार्थ मिले तो

---

* हे प्रभो ! पूजनीय ! कोई चाहे कि हमें परम हंसों को प्राप्त होने वाली भक्ति प्राप्त हो, किन्तु वह न तो आपको प्रणाम करता है न आपकी स्तुति करता है न सर्व कर्म समर्पण उपासना कथा श्रवण तथा ध्यान ही करता है। तो इन छै अंगों वाली आपकी सेवा के बिना उसे वह गति कैसे प्राप्त हो सकती है ।

वह तुरन्त खाने लगता है, किन्तु मनुष्य सम्मुख भोजन आवे तो वह सबसे पहिले सबको भोजन देने वाले उस परम पिता परमात्मा को धन्यवाद देगा। उसने जो भी कुछ प्राप्त कराया मन ही मन उसे अर्पण करेगा। अन्न का कुछ भाग अन्य प्राणियों के लिये निकालेगा। तब उसे प्रभु का प्रसाद मानकर पावेगा। जो ऐसा नहीं करता खाद्य पदार्थ के आते ही सूकर कूकर की भाँति लपर लपर करके शीघ्रता से खाने लगता है। उस मनुष्य में और पशु में अन्तर ही क्या है।

पशु जो सामने आ जाता है। उसे पहिले तो वे शीघ्रता के साथ निगल जाते हैं। फिर शनैः शनैः बैठे बैठे जुगाली करते रहते हैं। निगले हुए को पुनः पचाने के लिये चर्वण करते रहते हैं। बैठे बैठे नींद आ जाने पर सो जाते हैं, उठने पर फिर जुगाली करते रहते हैं। उन्हें दिन रात आहार और निद्रा ये ही दो काम रहते हैं किन्तु मनुष्य खाने के पश्चात् पुनः आचमन करता है। उसे धर्म पालन के निमित्त कर्तव्य समझकर प्रभु प्रीत्यर्थ करता है। सायंकाल में पुनः स्मरण,सन्ध्या वन्दन करता है। भगवन्नाम कीर्तन करता है। सोने के पूर्व हाथ पैर धोकर पुनः भगवत् स्मरण करता है। फिर सोता है प्रातः उठते ही सर्व प्रथम प्रातः स्मरण सम्बन्धी स्तोत्र पाठ करता है। उसके रामकृष्ण, विष्णु, शक्ति, शिव, सूर्य तथा और भी जो इष्ट हो उनका स्मरण करता है तब संसार यात्रा में प्रवृत्त होता है शौच स्नान से निवृत्त होकर पुनः पूजा पाठ करता है। उसी ने मानव जीवन का यथार्थ मर्म समझा है इसके विपरीत जो उठते ही ला चाय, लाओ प्रातराश, फिर दूध लाओ जल पान लाओ यह बनाओ वह बनाओ चटनी अवश्य बने अमुक साग फल अच्छा नहीं था नमक कम था आज अच्छी तरह बने चट पटा ही मिरच अच्छी प्रकार पड़े। दिन भर इसी

का चिन्तन इसीका मनन इसीके लिये उद्योग इसी के लिये प्रयत्न कर रहे हो उनमें और पशुओं में अन्तर ही क्या रहा ।

पशु पक्षियों का भी रति का समय होता है। पशु असमय में संभोग नहीं करते। ऋतु काल में ही उनके मनमे रिरिंसा उठती है। उस समय वे आगा पीछा नहीं देखते पशु ही ठहरे इच्छा पूर्ति कर लेते हैं किन्तु मानव संयम से काम लेता है। वह संस्कार करता है भगवत् स्मरण करता है ब्रह्मा जी का ध्यान करता है। जो ऐसा न करके पशु चर्या बरतते हैं समय असमय का कुछ भी ध्यान नहीं रखते काम के अधीन होकर गम्या अगम्या का विवेक खो देते हैं वे तो पशुओं से ही गये बीते हैं। उनमें और पशुओं में न्यायतः कोई अन्तर नहीं ।

मानव जीवन केवल खाने सोने और सन्तानोत्पत्ति रति सुख के लिये नहीं है। इससे तो परलोक का साधन किया जा सकता है। हमारे यहाँ इसलोक की श्रेष्ठता को कभी महत्व नहीं दिया गया था। इस लोक के भोग तो प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हो ही जायँगे हमें तो अपने पर लोक की चिन्ता करनी चाहिये। इसीलिये जिसके जीवन में दया धर्म परोपकार, सत्य, ब्रह्मचर्य त्याग वैराग्य तितिक्षा ईश्वर विश्वास आदि सद्गुण हों वही श्रेष्ठ माना जाता था। हमारे यहाँ बड़प्पन, धन, वैभव अथवा भाग सामग्रियों की प्रचुरता से नहीं आँका जाता था। जो जितना ही अधिक सद्गुणी होता था। जो जितना ही अधिक परलोक सिधारने के लिये सचेष्ट रहता था वह उतना ही अधिक आदरणीय माना जाता था। तभी तो सर्वस्व त्यागी पास में कुछ भी न रखने वाले केवल कौपीन मात्र से निर्वाह करने वाले दिगम्बर साधु सन्तों के सम्मुख बड़े बड़े चक्रवर्ती काँप जाते थे अपने मुकुट को उनके चरणों पर रखते थे।

संसारी भोगों की आसक्ति तो हमारे परलोक को बिगाड़ देती है। भोगों को भोग भावना से मत भोगों भगवत अर्पण करके प्रभु प्रसाद समझकर परलोक का ध्यान रखते हुए त्याग भाव से भोगो "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा"। तुम्हें मिलेगा तो उतना ही जो तुम्हारे भाग्य में बदा होगा। फिर तुम मिथ्या अभिमान करके इन नाशवान् असत् भोगों के अहंकार से अपने परलोक को क्यों बिगाड़ते हो। ये संसारी भोग तो चार दिन के हैं। यहाँ अन्याय अत्याचार पापाचार के धन से कितना ही शरीर को पुष्ट कर लो यहाँ मन अशान्त रहेगा, परलोक में पापों का फल भोगना पड़ेगा। जो यहाँ परोपकार धर्म कार्य करेगा उसे परलोक में भी सद्गति प्राप्त होगी। जो यहाँ भोग में रत रहेगा उसे परलोक में उनका परिणाम भोगना होगा।

एक बार एक दूसरे ऋषि के साथ नारद जी भगवान् के नामों का अपनी स्वर ब्रह्ममयी वीणा पर कीर्तन करते हुए मर्त्य लोक में विचरण कर रहे थे। उत्तरा खण्ड के परम एकान्त रमणीय वन्य प्रदेश में वे स्वेच्छा से भ्रमण कर रहे थे। उसी समय वहाँ मृगया के लिये एक राजकुमार आया। राजकुमार अत्यन्त सुन्दर था। बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण किये हुए था। उसके साथ अत्यन्त ही सुन्दरी सुकुमारी कोमलाङ्गी रमणियाँ थीं। सुवर्ण की पालकी में सुकुमोल गद्दे पर वह बैठा था अत्यन्त ही गुलगुले तकिये लगे हुए थे। बहुत से भृत्य आगे पीछे चलते रहते थे। मंत्री भी साथ थे। मन्त्री ने जब से वीणा बजाते हरि गुणगाते सामने आते नारद जी को देखा, तो उसने राजकुमार से कहा—"कुमार! ये ब्रह्माजी के मानस पुत्र भगवान् नारद हैं इन्हें आप प्रणाम करें।" राजकुमार को अपने धन वैभव ऐश्वर्य तथा कुलीनता का अभिमान था। उसके मनमें आया हम राजपुत्र होकर वन वन में भटकने वाले एक साधु को सिर

क्यों झुकावें, किन्तु मंत्री वृद्ध थे। इनके पिता महाराज भी उनका आदर करते थे। इनकी बात तो माननी ही चाहिये। इसी लिये पालकी में बैठे ही बैठे अवहेलनाके साथ उसने कहा—"बाबाजी! डंडौत। नारदजीने उत्तर दिया—"राजपुत्र! चिरंजीव। हे राजपुत्र! तुम बहुत दिनों तक जीते रहो।"

राजपुत्र ने पता नहीं सुना या नहीं वह तो चला गया नारदजी आगे बढ़े। आगे उन्होंने सामने से एक मुनि बालक को देखा। शीत सहते सहते उसका सम्पूर्ण शरीर काला पड़ गया था। हाथ पैरों में बिवाई फट रही थी। शरीर रूखा रूखा था। मृग का एक चर्म ओढ़े था, मूँज की करधनी कमर में बँधी थी। शरीर पर भस्म लिपटी हुई थी हाथ में पलास का दंड था। सिर पर समिधाओं का गट्ठर रखा था। नारदजी को देखकर उसने समिधाओं का गट्ठर एक ओर रख दिया और बड़ी श्रद्धाभक्ति से अपने गोत्र का तथा अपना नाम लेकर उसने नारदजी को साष्टांग प्रणाम किया—"नारदजी ने हाथ उठाकर कहा—"मा जीव ऋषि पुत्रक! हे ऋषिकुमार! तू मर जा।" पता नहीं ऋषिकुमार ने नारदजी के आशीर्वाद का अर्थ समझा या नहीं वह एक ओर हाथ जोड़े खड़ा हो गया, नारदजी आगे बढ़े।

इतने में ही आगे से एक जटाधारी महात्मा हाथ में करताल लिये बड़े ही सुमधुर कण्ठ से भगवन्नाम कीर्तन करते हुए दिखायी दिये। उनके साथ और भी बहुत से नरनारी थे। वे सबके सब तन्मयता के साथ महात्मा जी के स्वर में स्वर मिलाकर बड़े भाव से कीर्तन करते जाते थे। साधु महाराज ने जब सम्मुख नारदजी को देखा तो उन्होंने भूमि में लोटकर उन्हें प्रणाम किया। नारद ने कहा—"जीव वा मर वा साधो! हे साधो! तू चाहे जीवित रह या भले ही मर जा।" इतना कहकर भ्रमणप्रिय नारदजी आगे बढ़ गये। जब तक नारदजी दीखते रहे, सन्त उनकी

ओर टकटकी लगाये देखते रहे, जब वे आँखों से ओझल हो गये, तो फिर अश्रु विमोचन करते हुए वे बद्रीनाथ की ओर बढ़ गये।

आगे नारदजी ने देखा एक व्याधा चला आ रहा है, शरीर पर मैले कुचैले फटे पुराने गन्दे कपड़े हैं, एक टोकरी में बहुत से पक्षी बन्द हैं, हाथ रक्त से सना है, वस्त्रों पर भी रक्त के छींटे हैं। मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। पशु पक्षी भी उसे देखकर भय से भाग जाते हैं। उसने नारदजी को देखते ही कहा—"बाबा! डंडौत।"

नारदजी ने कहा—"व्याध! मा जीव मा मर" हे बहेलिया! तू न तो जीवित रह न मर ही" व्याध इसे क्या समझे वह चला गया।

नारदजी के साथ जो दूसरे ऋषि थे अब उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने पूछा—"भगवन्! मुझे एक शंका है आज्ञा हो तो कहूँ।"

नारदजी उनके अभिप्राय को समझ गये, फिर भी बोले—"हाँ, हाँ, अपनी शंका को अवश्य कहें।"

ऋषि ने पूछा—"भगवन्! उस राजकुमार ने कितनी अवहेलना के साथ आपको प्रणाम किया, किन्तु आपने तनिक भी अपना अपमान अनुभव नहीं किया। प्रत्युत् उसे चिरंजीव होने का आशीर्वाद दिया। इसके विरुद्ध उस ऋषिकुमार ने कितनी श्रद्धा के साथ, कितनी भक्ति से आपको साष्टांग दंडवत की उसे आपने शाप दे दिया—"तू मर जा।" फिर उन सन्त ने कितनी भक्ति दिखायी आपके प्रति। आपने उपेक्षा से कह दिया—"साधु! तू चाहे मर या जीवित रह।" उस नीचकर्मा व्याध को

आपने कह दिया तू न मर न जीवित ही रह। इसका रहस्य क्या है ?"

यह सुनकर नारदजी हँसे और बोले—"ब्रह्मन् ! ये संसारी भोग तो पूर्वजन्म कृतकर्मों से प्रारब्ध द्वारा प्राप्त हैं जो इन्हीं को सर्वस्व समझकर इनमें आसक्त रहते हैं, वे परलोक के सुख से वञ्चित रह जाते हैं। मनुष्य देह बड़ी दुर्लभ है। इस मनुष्य शरीर को पाकर जिसने अपने परलोक को नहीं सम्हाला। वह तो जीवित भी मृतक के समान है, जिन कर्मों से परलोक बने उन्हीं का आचरण करना चाहिये। ये संसारी भोग तो क्षणिक हैं, इनमें सुख नहीं क्षणिक सुखाभास है। मूर्ख लोग इस सुखाभास में ही फँसकर अहंकार के कारण अपने को सब कुछ समझने लगते हैं।

यह जो राजकुमार है इसे पूर्व जन्मकृत किन्हीं कर्मों से राजकुमार का शरीर मिला है। यदि वह सदाचार पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए प्रभु प्रार्थना करता, तो इसका यह लोक बना ही परलोक भी बन जाता। ऐसा न करके यह संसारी भोग में फँसा है कामिनी कांचन और यश कीर्ति पाकर अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझकर प्राणियों की हिंसा कर रहा है। साधु पुरुषों की अवज्ञा करता है। जब तक जीवित है संसारी सुख भोग लें अन्त में तो इसे नरक की अग्नि में पचना ही है। ऐसे ही एक राजकुमार के अत्यन्त गोरे सुकोमल गुद गुदे हाथों को देखकर ढाह मार कर रोने लगे। किसी ने कारण पूछा तो संत ने कहा—हाय ! ये कैसे सुन्दर कोमल कमल का पंखड़ियों की भाँति हाथ हैं किन्तु इनसे सत्कर्म नहीं हो रहे हैं। ये निर्दयता पूर्वक नरक की धधकती हुई अग्नि में जलाये जायँगे बार बार तपाये जायँगे यही सोचकर मैं रो रहा हूँ। सो मुनिवर ! यह

राजकुमार जितने अधिक दिन जीवे उतना ही सुखों को भोगे इसी लिये मैंने इसे चिरजीवी होने का आशीर्वाद दिया।"

रही ऋषि पुत्र की बात सो किन्हीं सुकृत कर्मों से इसका जन्म पवित्र तपस्वी कुल मे हुआ है। यह जब तक जीवेगा तपस्या करते हुए शरीर को सुखाते हुए जीवेगा। अन्त में तो इसे तप लोक या और भी उच्च लोक या और भी उच्च लोकों में जाना ही है तो शीघ्र से शीघ्र यह इस काय क्लेश से छूट कर परलोक का सुख भोग करे इसीलिये मैंने अविलम्ब परलोक प्रयाण का वर दिया।

ये जो सन्त हैं इन्हें अपने लिये तो कुछ करना ही नहीं। न इन्होंने विवाह किया न बच्चे पैदा किये आठों पहर परोपकार के कार्यों में लगे रहते हैं। स्वयं भगवान के नामों को निरन्तर लेते हैं असंख्यों नर नारियों से लिवाते रहते हैं। इनका अपने लिये तो कोई कार्य है ही नहीं। ऐसेसंत जब तकपृथिवी पर रहेंगे। परोपकार करेंगे लोगों को भजन स्मरण में लगावेंगे भक्त गण इनकी पूजा अर्चना करते रहेंगे। मरने पर तो इनको उत्तम गति निश्चित ही है। इसीलिये मैंने कह दिया—"संत भगवान् आप तो कल्याण तथा सुख स्वरूप हो जहाँ रहोगे वहीं आनन्दामृत की धारा बहाओगे भगवत स्तुति में ही तन्मय रहोगे आप के लिये जैसा ही यह लोक वैसा ही परलोक इस लिये आप चाहें यहाँ रहें चाहें वहाँ रहें जीवें चाहें मरें दोनों ही आपके लिये समान है।

रही व्याध की बात सो पूर्व जन्म कृत पापों से इसे यह अधम योनि मिली है। इस योनि में भी पुण्य तथा परोपकार न करके रात्रिदिन प्राणियों को हिंसा में ही निरत रहता है पशु-पक्षियों को निर्दयता पूर्वक फँसा कर उन्हें मार डालता है। इसे किसी के प्राण लेने में तनिक भी संकोच नहीं। इतनी हिंसा

करने पर भी न उदर भरने को पूरा टुकड़ा न तन ढकने को पूरा कपड़ा यहाँ रहेगा तब तक दुख पावेगा मरकर तो नरकों में जाना ही है इसीलिये मैंने कहा--तू न जीवित रह न मर ही।"

इस कथा का सार इतना ही है कि परलोक जिससे बने वे ही कर्म तो श्रेष्ठ हैं शेष कर्म तो वासना के विकार मात्र हैं। जो लोग मूर्ख हैं पशु बुद्धि हैं विषयी हैं वे तो न संत महात्मा के समीप जायँगे न इन भागवती कथाओं को पढ़ेंगे ही जो ज्ञानी हैं वे कर्तव्य अकर्तव्य से ऊँचे से ही उठ गये हैं उनके लिये भी उपदेश नहीं है शास्त्रों का उपदेश तो केवल मुक्ति की इच्छा वाले मुमुक्षुओं के ही लिये हैं जो न सर्वथा मूर्ख तथा विषय वासना लिप्त ही हैं और न पूरे ज्ञानी तथा भक्त ही हो गये हैं। जो परमार्थ की ओर बढ़ना चाहते हैं। जो उस दिव्य धाम का मार्ग खोज रहे हैं। उनसे मैं एकान्त में गंभीरता पूर्वक सोचने की प्रार्थना करता हूँ। लोग कहते हैं महाराज! भगवती कथा में तो बड़ी सरस चित्त लगने वाली कथायें होती थीं यह आप क्या नीरस प्रसंग लेकर बैठ गये। एक ही बात को बारबार दुहरा कर पुस्तकका कलेवर व्यर्थ बढ़ा रहे हो। एक बार हो गयी दो बार हो गयी तीन बार हो गयी अब बारम्बार वही वही बात आगे बढ़ो।

उनसे मेरा निवेदन है—"कथाओं का सार क्या? सम्पूर्ण कथाओं का सारांश तो यही है जिसने भगवान् की स्तुति प्रार्थना की वह जो सुखी हुआ जो भगवान् से विमुख हुआ वह सुखी हुआ जो भगवान् से विमुख हुआ वह दुखी हुआ। इतने बड़े महाभारत का सार इतना ही है कि अर्जुन ने निःशस्त्र श्री कृष्ण को अपनाया दुर्योधन ने संसारी अस्त्र शस्त्रों सुसज्जित सेना को लिया। दुर्योधन की पराजय हुई की विजय

के यतो कृष्ण स्ततो जयः" जहांश्रीकृष्ण हैं वहीं विजय
ार सम्पूर्ण कथाओं का यही तात्पर्य है। इसी लिये
शुकदेव ने महाराज परीक्षित को सम्पूर्ण भगवत को
को सुनाकर अन्त में कहा देखो राजन ! मैंने जो
ने बड़े बड़े प्रताप शाली राजाओं की उत्तम उत्तम
सुनायी है वे केवल ज्ञान वैराग्य को बढ़ाने के ही लिये
ी। यह कथा ही परमार्थ नहीं है यह कथा तो वाणी का
मात्र है परमार्थ इनमें इतना ही है कि इन लोगों
ा आचरण किया वैसा हमें करना चाहिये। हमें दुर्योधन
करण न करके अर्जुन का मार्ग ग्रहण करना चाहिये।
लिये श्रीमद् भागवत में स्तुतियों की भरमार है। स्यात
ऐसी कथा होगी जिसके अन्त में स्तुति न हो अमुक
कार्य किया तुरन्त भगवान् की स्तुति की इस जीवन
या ठिकाना एक साँस बाहर निकली फिर लौटकर न
सब कुछ समाप्त इसी लिये भक्त बारम्बार यही प्रार्थना
हैं—"हे प्रभो ! मेरा मानस हंस आपके पाद पद्म रूप
में अभी ही इसी समय प्रवेश कर जाय। आप कहेंगे
शीघ्रता क्या है मरते समय प्रार्थना कर लेना। सो बात
भगवन् ! प्राण प्रयाण के समय तो कंठ वात पित्त तथा
इन त्रिदोषों के कुपित हो जाने से अवरुद्ध हो जाता है।
समय तुम्हारी स्तुति प्रार्थना करने का अवसर कहाँ है ?

---

* कथा इमास्ते कथिता महीयसाम्,
वितायं लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञान वैराग्य विवक्षया विभो
वचो विभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ।
(श्री भा० १२ स्क० ३अ० १४ श्लो०)

आप सोचें संसार में पुरुष के लिये सोचने की चिन्ता करने की वस्तु भगवान को छोड़कर और है ही क्या ? हमें यह शरीर मिलता है, वह हमारे अनेक जन्मों के लिये कुछ कर्म लेकर बनता है। जैसे किसी महाजन के यहाँ हमारे कई लाख रुपये रखे हैं' उसमें से उसने दश सहस्र रुपये देकर किसी व्यापर में लगा दिया। तो वे दश सहस्र तो हमारे निश्चित ही हैं,उनको हम बढ़ावेंगे तो वे फिर हमारी संचित धनराशि में सम्मिलित हो जायगे। घटावेंगे तो वे घाटा सम्मलित हो जायगा। वे दश सहस्र तो व्यय करने ही होंगे। इसी प्रकार हमारे संचित कर्मों से एक जन्म के जो प्रारब्ध कर्म मिले हैं उनमें तो कुछ घटाव बढ़ाव हो नहीं सकता। उनके लिये चिन्ता तो व्यर्थ है, चिन्ता यही करनी है, कि हम भगवान की शरण में जायँ, भगवान की प्रार्थना करें।

आप सोचें, हम अधिक दिन जीवित रहें यह आपका सोचना व्यर्थ है आप जब गर्भ में थे तभी आपकी मृत्यु का दिवस, मृत्यु का कारण, मृत्यु का समय, मृत्यु का स्थान सब पहिले से ही निश्चित है, इस लिये मृत्यु की चिन्ता करना तो व्यर्थ है। मृत्यु समय पर आवेगी, अवश्य आवेगी आप लाख प्रयत्न करें, कि मृत्यु टल जाय तो नहीं टल सकती। उसका टलना असम्भव है। जो बात अवश्यम्भावी है, उसकी चिन्ता करना मूर्खता है।

हम जीवन में कौन से कर्म द्वारा निर्वाह करेंगे कौन कौन से कर्म हमारे द्वारा होंगे यह भी प्रथम से ही निर्णीत है, किन किन कर्मों द्वारा आप को यश मिलेगा, किन किन कर्मों से अपयश मिलेगा, यह निर्णीत बात है। आप चाहे कितना भी अच्छा कार्य करो यदि उसका यश आप के प्रारब्ध में नहीं है,

तो यश उसका किसी अन्य को ही मिलेगा। भाग्य की रेखपर मेख मारने की सामर्थ्य किसी की नहीं है।

सबसे अधिक चिन्ता हमें धनकी रहती है यदि चिन्ता करने से ही मिल जाता तो संसार में कोई निर्धन रहता ही नहीं है। धन तो मिलता है भाग्य से प्रारब्ध से। कुछ लोग कहते हैं, भाग्य वाद का सिद्धान्त स्वर्थियों ने बनाया है। हम तो धनका सबमें समान वितरण कर देंगे, हमारे शासन में न कोई धनी रहेगा न निर्धन सब समान हो जायेंगे। साम्यवाद का प्रचार करेंगे। उन बुद्धि की शत्रुओं से पूछा जाय, तुम करने वाले दूसरे, कराने वाले यह विषमता तो रह ही गयी। एक शाशक एक शाशित। तुम कहोगे कोई परम्परा गत शाशक न रहेगा, जनता जिसे योग्य व्यक्ति को भी चुन दे। वही शाशक होगा। अच्छा चुना हुआ ही सही। किन्तु चुनने वालों में भी तो बुद्धि समान होनी चाहिये, सो बात है नहीं। कोई अधिक बुद्धिमान होते हैं कोई अत्यन्त ही न्यून बुद्धि वाले। अधिक बुद्धिमान कम बुद्धिवालों को छलसे बलसे, कलाकौशल से अथवा सत्य, दया, आदि सद्गुणों से प्रभावित करके शाशक बन जायगा। कुछ लोग स्वभाव से उत्साही शाशन के कर्मचारी बन जायँगे। आलसी बिना श्रमकिये हुए सुखपूर्वक भोजनादि की सुविधा चाहेंगे वे काम करने से चित्तको चुरायेंगे। शाशन के कर्मचारी उन्हें मारेंगे, धमकावेंगे उन पर अपना धाक जमावेंगे। फिर समानता कहाँ रही। तुम कहोगे कामों में तो विषमता रहेगी है। सभी एक सा कार्य नहीं कर सकते। कोई बुद्धि जीवी रहेंगे कोई श्रम जीवी, किन्तु भोजन वस्त्र में सबको समानता रहेगी। यह नहीं कि एक तो नित्य माल उड़ावे, दूसरे को भर पेट चना भी न मिले। सो यह भी बात नहीं हो सकती। सब समान भोजन भी नहीं कर सकते। किसी का आहार अधिक किसी का कम। किसी को रोटी प्रिय है

किसी को दाल, कोई माँस का प्रेमी, तो किसी को स्वभाव से ही उससे अत्यन्त घृणा है। कोई फल से ही पेट भरना चाहता है कोई दूध पीकर ही रहना चाहता है, वस्त्रों की भी यही बात है सैनिकों के वस्त्र और होंगे, शासकों के और होंगे। कृषकों के दूसरे प्रकार के होंगे कल कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के और तरह के, स्त्रियों के भिन्न होंगे, फिर आप भोजन वस्त्र में समानता कैसे कर सकेंगे? हमने कारावास में देखा है। सब बन्दियों को एकसा भोजन वस्त्र देनेका नियम है। तोल तोलकर सबको समान भोजन दिया जाता है, एकसे वस्त्र दिये जाते हैं, किन्तु वहाँ भी तिकड़म चलती है। बहुत से चोरी चोरी से बगिया से मूली साग भाजी ले आते हैं, बहुत से चोरी से हलुआ पूड़ी बनाते हैं, बहुत से प्रहरियों को पैसे देकर चुपके से मिठाई मंगा लेते हैं। भोजन में, वस्त्र में, काम में समानताका सिद्धान्त स्वीकार करनेपर भी प्रत्यक्षसे असमानता है। अच्छा एक बात और भी है। जेलमें ७०। ८० प्रतिशत ऐसे बन्दी होते हैं जिन्हें घरपर दोनों समय तो क्या एक समय भी पेट भरकर रोटी नहीं मिलती। किसी प्रकार रूखी सूखी रोटी सत्तू या मोटा भात खाकर निर्वाह करते हैं। यहाँ जेलमें दोनों समय उन्हें दाल भात रोटी, साग भरपेट मिलता है, फिर भी वे इस जेलमें स्वेच्छा से एक क्षण भी नहीं रहना चाहते, वे तो अपने घरपर स्वाधीन होकर एक समय आधे पेट ही रहना चाहते हैं। ये साम्यवाद वाले गाँवों के कारवास ही तो बनाना चाहते हैं। गाँवमें सब मिलकर खेती करें, सब खेतों पर श्रम करें, किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति न हो। किन्तु क्या ऐसा संभव है? संभव हो भी तो क्या इससे मानव सुखी हो सकता है? कदापि नहीं, प्राणी स्वतंत्र रहना चाहता है। कृषकों को स्वतंत्रता सबसे अधिक प्रिय है। चाहे उसके पास एक ही बीघा खेत हो,

किन्तु वह हो अपना हो। उसमें वह इच्छानुसार जो चाहें बोसक जब चाहे उसमें से पका कच्चा अन्न काट सके। उसकी अपनी निजी स्त्री हो उससे जब चाहे मीठी मीठी बातकर सके, जब चाहे लड़ झगड़ सके, उसका अपना निजी घर हो, अपने निजी बच्चे हों उन्हें जब चाहें प्यार दुलार कर सके जैसी चाहें शिक्षा दे सके, आप धन सम्पत्ति, भूमि, स्त्री, बच्चों को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाकर व्यक्तिओं को एक स्वत्व हीन बलपूर्वक काम कराने को विवश करोगे तो उसका दुःख और बढ़ जायगा। यह समानता क्या हुई घोर परतंत्रता हुई। प्राणी पेट ही भरना नहीं चाहता। वह और भी कुछ चाहता है। उसे प्यार चाहिये, स्वतंत्रता चाहिये, प्रत्येक बात पर उसे अंकुर अखरता है। इसका कारण यह है कि सबकी प्रकृति भिन्न भिन्न है। जब एकसा सबका रूप नहीं रंग नहीं, स्वभाव नहीं, प्रकृति नहीं, बुद्धि नहीं विद्या नहीं तो तुम समानता कर कैसे सकते हो। रूप, रंग, आकृति प्रकृति रहन सहन, विद्या, बुद्धि, स्वभाव, कार्य, क्षमता जब सभी में असमानता है, तो तुम साम्यवाद के स्वप्न देखते हो यह तुम्हारी अल्पज्ञता है, यह सृष्टि ही असमानता है साम्यावस्था में तो प्रलय होती है, गुणों में जब विषमता आरंभ होती है तभी सृष्टि का प्रवाह आरंभ होता है। जब सम्पूर्ण सृजन ही असमानता से आरंभ होता है, तो तुम सबका भाग्य एकसा कैसे कर सकते हो। सब के प्रारब्ध कर्मोंको सबके भोगों को समान कैसे बना सकते हो। यह तो मूर्खों को बहकाने को, अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने को ईश्वर और परलोक में विश्वास न करने वाले कुछ नास्तिकों ने लोगों को भ्रममें डाल रखा है। नहीं वास्तविक बात तो यह है, प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति पृथक है। प्रत्येक के कर्म पृथक हैं, प्रत्येक का प्रारब्ध पृथक है। इसी प्रकार सब को धन भी समान नहीं मिल सकता। तुम्हारे भाग्य में जितना धन

होगा उतना तुम्हें जहाँ भी चले जाओगे वही मिलेगा वहीं मिलेगा। हम पहिले सुना करते थे बम्बई कलकत्ते में सोना बरसता है अमुक सेठ लुटिया डोर लेकर गये वहाँ जाकर करोड़पति हो गये। किन्तु हमतो कई बार बम्बई कलकत्ता गये हमने तो वहाँ कहीं सुवर्ण की वर्षा होती देखी नहीं। वहाँ जो जाता है, वही लखपती हो जाता हो ऐसी भी बात नहीं। हमने सहस्रों आदमियों को वहाँ बिना व्यपार के घूमते देखा बहुतों को धनहीन भी देखा। प्रारब्ध सभी के साथ रहता है। तुम्हारे पास एक घड़ा है, उसे चाहे तालाब में डुबोओ, कुआँ में डुबोओ, गंगाजी में डुबोओ या महासागर में डुबोओ, जितना बड़ा तुम्हारा घड़ा है। जल उसमें उतना ही आवेगा न अधिक न न्यून। मिठाइयों का पर्वत लगा है, किन्तु तुम उतना ही खा सकोगे जितना तुम्हारे पेटमें समावेगा। इसी प्रकार धन सम्पत्ति भी जितने तुम्हारे प्रारब्ध में लिखी है उतनी ही मिलेगी। जब यही बात है, तो धनके ही लिये सदा सर्वदा चिन्तित बने रहना कोई बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं।

यही बात विद्या के सम्बन्ध में है। प्ररब्ध में विद्या है तो तनिक से परिश्रम से आ जाती है, भाग्य में नहीं है तो कितना भी द्रव्य व्यय करो विद्या नहीं आती, नहीं आती। पूर्वजन्म में जो उपार्जित की है वही प्रारब्ध बनकर अग्रे धावति धावति आगे आगे चलती है।

मृत्युकी भी यही बात है, मृत्युका समय, पहिले से ही निश्चित है, समय पर मृत्यु आवेगी ही जो जनमा है वह मरेगा भी अवश्य ही। इसलिये मृत्युके विषय में भी चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं। इसीलिये शास्त्रकारों ने लिखा है।

आयुः कर्म च वित्तंच विद्या निधनमेव च।
पंचैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

अनुरूप करता है। किन्तु भगवत् स्मृति का सभी को समान रूप से भगवान् ने अधिकार दे रखा है। अर्जुन ने जब कुरुक्षेत्र के रणांगण में युद्ध करने से मना कर दिया। तब भगवान् ने अत्यंत ही दृढ़ता के साथ बिना ननुनच के कह दिया—"अरे, अर्जुन! तू व्यर्थ बकवाद कर रहा है, तू अहंकार के वशीभूत होकर भले ही लाख बार कह कि मैं युद्ध नहीं करूँगा नहीं करूँगा। युद्ध तो बच्चा जी तुम्हें करना ही पड़ेगा। यह तो तुम्हारी प्रकृति तुमसे करा वेंगी। तुम्हारे प्रारब्ध में युद्ध करना लिखा है।" किन्तु यह बात एक भी बार नहीं कही कि तू भजन न भी करना चाहेगा तो तुमसे बलपूर्वक करा लिया जायगा। उसके लिये तो विधि वचन दिया है। भगवान कहते हैं—"मामनुस्मर युद्ध्य च"। अर्थात् युद्ध तो तू अपनी प्रकृति के अनुसार करेगा ही, किन्तु मेरा स्मरण भी कर। "सर्व धर्मान् परित्यज्यमामेकं शरणं व्रज" तू सब सांसारिक कर्तव्यों की ओर से पराङ्मुख होकर मेरी शरण में जा "तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत" हे अर्जुन! तू सर्वभाव से ईश्वर की ही शरण में जा। ऐसे एक नहीं अनेक वाक्य हैं, इनसे यही प्रतीत होता है। संसारी भोग तो प्रारब्धानुसार बिना प्रयत्न के भी मिल ही जायँगे। जैसे रोगों के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं करता, किन्तु बिना प्रयत्न किये ही शरीर में अनेक रोग प्रारब्धानुसार आ ही जाते हैं, जब संसारी दुख बिना बुलाये आ जाते हैं, तो संसारी सुख भी बिना प्रयत्न के बिना बुलाये आ जायँगे, उनके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है, जीव का एकमात्र पुरुषार्थ प्रभु प्राप्ति ही है। इसीलिये मुकुन्दमाला में भगवान् की स्तुति करते हुए एक भगवतभक्त कहते हैं।

प्रभो! मेरी धर्म में आस्था नहीं है। अर्थात् मेरे पास धर्म नहीं है, मुझसे कोई धर्म कार्य बना ही नहीं, मेरे पास धन भी नहीं है, निर्धन हूँ, मेरे समीप संसारी काम भोगों की सामग्री भी

नहीं है। ये वस्तुएँ नहीं हैं, तो मैं इनकी चिन्ता भी नहीं करता। आपसे इनकी याचना भी नहीं करता। मेरे पूर्वकर्मों के अनुसार ये वस्तुएँ भाग्य में होंगी तो मुझे स्वतः प्राप्त हो जायगी। भाग्य में न होंगी तो न प्राप्त होंगी। इस विषय में तो मेरा कोई निवेदन है ही नहीं। मैं यह भी नहीं माँगता कि मेरी मोक्ष जाँय जन्म-मरण का बन्धन मिट जाय जन्म होने ही तो मेरे हो जन्म भी होते रहे। किन्तु हे मेरे सच्चे स्वामी! हे मेरे प्यारे भगवन्! मेरी एक ही प्रार्थना है, एक ही विनय है मैंजब जब जिस जिस योनि में कर्मानुसार जन्मग्रहण करूँ तब तब उस उस योनि में आपके पादपद्मों में मेरी अविचल निश्चला भक्ति बनी रहे, आपके चरणारविन्दों को मैं भूलने न पाऊँ।

हे प्रभो! मेरी भी यही प्रार्थना है आज मैं तुम्हारी प्रार्थनाम को भूल कर प्रारब्धानुसार लोक रंजन के कार्यों में लगा हूँ। आपको प्रसन्न करने की चिन्ता छोड़कर लोक को प्रसन्न करने की चिन्ता छोड़कर लोक को प्रसन्न करने का पुनः पुनः प्रयत्न करता हूँ इसका परिणाम क्या होगा। पुनः लोकों की प्राप्ति। अब करूँ भी तो क्या करूँ, मेरे प्रारब्ध मुझे एकान्त भाव से आपका भजन चिन्तन करने ही नहीं देते। किन्तु प्रभो! यदि इस लोक रंजन में आपको भूल जाऊँ तब तो मेरा सब चौपट हो जायगा मेरी जीवन नौका के एक मात्र पतवार प्रभो! तुम ही तो हो। यद्यपि मैं भटक जाता हूँ लक्ष्य च्युत बन जाता हूँ किन्तु यदि आप मेरे जीवन में न रहो तो ऐसे जीवन को शतशः धिक्कार है ऐसे लोकरंजन पर थू थू। जीवन में तुम्हारी स्मृति बनी रहे तुम्हें न भूलने पाऊँ बेमन से सही तुम्हारे भुवन पावन नामों को निरन्तर रटता रहूँ तुम्हें ही अपने जीवन का सर्वस्व समझूँ। यह संसारी प्रतिष्ठा तो चार दिन की है। आज है कल नहीं आज जो साधु साधु

कहते हैं कल वे हो धिक् धिक् करने लगते हैं। स्थायी तो आप हो आपके सुमधुर नाम हैं आपके परम पावन गुणानुवाद हैं। उनमें भक्ति हूँ मरते समय प्राण त्यागते समय आपके चरणों से निसृत गंगा हों या आपकी पटरानी यमुना हों दोनों हो। उनकी वीचियों को देखते हुए आप के सुमधुर नामों 'का उच्चारण करते हुए आपके विश्वविमोहन रूप का चिन्तन करते हुए इस नश्वर शरीर का त्याग करूँ यही इस दीन हीन मति मलीन निष्किञ्चन जन की आपके पावन पादरविन्दों में प्रार्थना है।

नास्था धर्मे न वस्तुनिचये नैवकामोपभोगे।
यद् भाव्यं तद् भवतु भगवन् ! पूर्व कर्मानुरूपम्॥
एतत् प्रार्थ्यं ममबहु मतं जन्म जन्मान्तरेपि।
त्वत् पादाम्भोरुहं गता निश्चला भक्तिरस्तु॥

छप्पय

मरन समय में नाथ ? गात तव पद जल माही।
वानी विनती करे निरन्तर नामनि गाही॥
हे चित चोर ? किशोर ! चित्त चिन्ते तव चरननि।
सम्मुख ललित त्रिभंग दिखावें मनहर चितवनि।
दृश्य जगत दीखे नहीं, मुख तें तव नामनि भजूँ।
गङ्गा यमुना के निकट, जा नश्वर तनकूँ तजूँ॥

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
मार्ग शीर्ष कृ० ३। २०१३,

प्रभुदत्त

॥ श्रीहरिः ॥

(व्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य अनुपम पाठ के योग्य महाकाव्य)

श्रीभागवतचरित

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिंदुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रंथ हैं। हिन्दी भाषा में रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ व्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रमसे सात भागोंमें विभक्त है पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल तथा सरस छन्दों मे गाया गया है। सैकड़ों नर नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पण्डित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते और बहुत से पण्डित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ की पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ों सादे एकरङ्गे चित्र तथा ५-६ बहुरङ्गे चित्र हैं। कपड़े की टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उसपर रङ्गीन कवरपृष्ठ है। बाजार में ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधार लें। न्योछावर केवल ५।) सवा पाँच रुपये, डाकव्यय पृथक्।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

हंसगुह्य-स्तोत्र (३)

(४३)

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै,
विवाद सम्वादभुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहम्,
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥*

(श्री भाग० ६ स्क० ४ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

तुमरी शक्तिनि मानि विषय जग के विज्ञानी ।
मिलिकें वाद विवाद करें सब पण्डित मानी ॥
कोई कहें अरूप रूप कछु विज्ञ बतावें ।
लड़ें परस्पर भेद जथारथ ते नहिं पावें ॥
अस्ति नास्ति के विषय प्रभु, नहीं रूप नहिं काम है ।
अगनित गुन अज एकरस, तिनि पदपदुम प्रनाम है ॥

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो ! भगवान् की स्तुति करते

---

* दक्ष प्रजापति स्तुति करते हुए कहते हैं—"प्रभो ! आपकी शक्तियाँ वाद विवाद करने वालों के लिये विवाद करने की भूमि बन जाती हैं और उन विवाद करने वालों के चित्त को बारम्बार मोह में डाल देती हैं, ऐसे आप अनन्त गुणगणार्णव सर्वात्मा प्रभु को नमस्कार है ।"

हुए दक्ष प्रजापति कह रहे हैं—"प्रभो! जो लोग कहते हैं, आप हैं वे भी आप को मानते हैं, जो कहते हैं आप नहीं हैं, वे भी आप को मानते हैं। निषेध भी तो अस्तित्व में ही किया जाता है। कोई पूछता है वहाँ देवदत्त है? इसका कोई उत्तर देता है—हाँ है, कोई कहता है—हाँ नहीं है। अस्तित्व तो दोनों ही देवदत्त का मानते हैं। कोई हाँ कह कर कोई निषेध करके। विवाद का विषय आप न होकर आप की शक्तियाँ हैं। आप की शक्तियों के ही सम्बन्ध में लोग परस्पर में लड़ते झगड़ते रहते हैं। भिन्न भिन्न मुनियों के भिन्न भिन्न मत आप की शक्तियों को विवाद की पृष्ठ भूमि-विवाद का विषय-बना कर ही स्थापित होते हैं। दर्शन शास्त्र के सभी आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। कोई आपको जगत का उपादान कारण मानते हैं, कोई निमित्त कारण कोई अभिन्न निमित्तोपादान कहते हैं, कोई प्रकृति को ही कारण मानते हैं। आप की माया तथा अविद्या आदि शक्तियों को लेकर कोई विचित्र कल्पना करते हैं। इस प्रकार हे भगवन्! वे लोग आप के यथार्थ रूप को न जान कर वाद विवाद में ही पड़े रह जाते हैं, उनका चित्त वारम्वार मोह को प्राप्त हो जाता है। आप तो अनन्त गुण मय हैं, समस्त गुणों के आप ही एक मात्र आश्रय हैं, आप सर्वव्यापी हैं, आप आत्मा के भी आत्मा परमात्मा हैं। ऐसे सर्वगत सर्वात्मा आप श्री हरि के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! दो विरुद्ध धर्म वाले सांख्य और योग तथा अन्य भी शास्त्र आप एक के ही विषय में अपने अपने तर्क देते हैं। कोई कहते हैं, यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही रूप है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, कोई कहते हैं, उसका तो कोई रूप ही नहीं वह तो नाम रूप से सर्वथा रहित है। कोई कहता है,

उसकी आकृति है, कोई कहते हैं उसकी आकृति है ही नहीं। कोई कहते हैं उसके हाथ पैर मुख नासिका आदि अंग सुन्दर हैं सरस हैं दर्शनीय हैं, कोई कहते हैं, वह चलता तो है, किन्तु उसे पैर नहीं, वह कर्म करता है, किन्तु हाथों से रहित है, वह सुनता है, किन्तु उसके कान नहीं वह देखता है किन्तु उसके आँखें नहीं। इस प्रकार आप एक को ही लेकर सब अपने अपने तर्क उपस्थित करते हैं। उन भिन्न भिन्न मतवालों की भिन्न तर्कों द्वारा भी जो एक ही उत्तम तत्व-श्रेष्ठ वस्तु-अभिमत है वही आप है। विरुद्ध धर्माश्रय रहने पर भी अन्त में आप एक ही सिद्ध होते हैं, ऐसे आप बृहत् रूप ब्रह्म स्वरूप की हम वन्दना करते हैं।

प्रभो! शास्त्र कारों ने बारम्बार आप को प्राकृत नाम रूप से रहित, अज, अव्यय, निर्गुण, निराकार और अनामी बताया है। इतना सब होने पर भी आप अपने चरणाश्रित भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त अरूप से सरूप हो जाते हैं, अनामी से नाम वाले बन जाते हैं, निराकार से साकार होकर कर्म करने लगते हैं। अज होने पर भी जन्म लेते से देखे जाते हैं। निष्क्रिय होने पर भी भक्तों के दुख दूर करने वाले कर्म करने लगते हैं। जो जो भक्त जिस जिस शरीर में श्रद्धा भक्ति से आप का अर्चन करते हैं, जो भक्त आप के जिस रूप की उपासना करते हैं आप उसी रूप से प्रकट होकर उनकी मनोकामनाओं को पूर्ण करते हैं। अपनी आत्म माया से प्रकृतिका आश्रय लेकर आप भाँति भाँतिकी अद्भुत अलौकिक कीड़ायें करने लगते हैं तभी आपके श्री कृष्ण, गोविन्द, हरि, मुरारी, नारायण, वासुदेव, दामोदर, मधुसूदन, कंसारि, नन्दनन्दन, राधिकारमण तथा अन्यान्य भी असंख्य नाम हो जाते हैं। उसी प्रकार से आप के

वाले मुरली धारी, वृन्दावन विहारी, धनुर्धारी
कल धारी आदि अनेक रूप भी दृष्टि गोचर
ने चरणारविन्दों के आश्रित भक्तों के ऊपर
मित्त ही आप ही आप ऐसी क्रीड़ायें किया
कार रूप रख लेते हैं, भाँति भाँति के सुखद,
नामों को प्रचलित कर देते हैं, ऐसे दिव्य
रने वाले वे नाम रूप से रहित परमात्मा मेरे

भक्तों को सुख देने
वनवासी, जटा व
होने लगते हैं। अप
अनुग्रह करने के नि
करते हैं, विविध प्र
पुण्यप्रद परमपावन
नाम रूप धारण क
ऊपर प्रसन्न हों।

का कोई अपना रूप नहीं, कोई अपना
भी बन सर्वव्यापक हुताशन को दो वस्तुओं से
ट करते हैं, वहीं वे प्रकट हो जाते हैं ईंधन टेढ़ा
आकार भी टेढ़ा प्रतीत होगा, काष्ठ गोल
रूप भी गोलाकार प्रतीत होने लगेगा। इसी

स्वामिन्! अ
स्थान नहीं। जहाँ
घिसकर उन्हें प्रक
होगा तो अग्नि क
होगा तो अग्नि क
प्रकार वायु भी स
होगी वहाँ वैसे ह
अपनी निज की
ही भिन्न भिन्न
अन्तर्यामी होने
भावानुसार भिन्न
हैं, उसमें आप
भी आप में का
अपने में आवर
कर आते हैं।
आप हमारे मन
करें। हे सर्व श

व्यापक तथा निर्लेप है, जहाँ जैसी गन्ध
गन्ध की वायु प्रतीत होने लगेगी। वायु में
ई गन्ध नहीं। गन्धवती पृथिवी के आश्रय से
न्ध युक्त वायु हो जाती है। उसी प्रकार आप
र भी प्राकृत ज्ञानमार्ग द्वारा भावुक भक्तों के
भिन्न आकृतियों के रूप में प्रतीत होने लगते
ा अपनापन कुछ भी नहीं है। इतना होने पर
विकार नहीं आता। प्राकृत नाम रूप आपको
नहीं कर सकते। आपतो उसी प्रकार एकरस रह
से सर्वान्तर्यामी घटघट व्यापी, भक्त वांछाकल्पतरु
रथ को पूर्ण करें। हमारी मनोकामना को सिद्ध
र! आपके चरण कमलोंमें बारम्बार नमस्कार है
रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार दक्ष प्रजापति ने
सगुण स्तोत्र से स्तुति की। उनके स्तोत्र पाठ

सूतजी क
भगवान की

प्रभाव से भक्तवत्सल भगवान् ने उन्हें दर्शन दिया और उनकी मनोकामना पूर्ण की। इस विषय का वर्णन तो मैं 'भागवती कथा' में कर ही चुका हूँ। इस प्रकार मैंने दक्ष प्रजापति कृत यह हंसगुह्य स्तोत्र आपसे कहा। अब जिस वृत्रासुर के भय से भयभीत हुए देवताओं ने भगवान् की स्तुति की उस प्रसङ्ग को मैं आपसे कहूँगा। सब सावधानी से श्रवण करें।

छप्पय

निराकार गुन रहित नाम अरु रूप रहित हैं।
भक्तभावना हेतु विविध विधि रूप रखत हैं॥
हे हरि! तुमरे दास रूप जो जैसो ध्यावैं।
करन कामना पूर्न आपु वैसे बनि जावैं॥
गहै गन्ध गुन भूमि के, वायु बनै ज्यों गन्धयुत।
निरविकार त्यों तनु धरैं, करैं मनोरथ सफल सत॥

पद

धरैं तनु भक्तनि हेतु बिहारी।
राम रूप ते रहित सकल जग गावै कृष्णमुरारी॥१॥
अन्तरयामी घट घटवासी जग माया विस्तारी।
प्रकटैं भगैं हँसैं डरि रोवैं, लड़ैं भिड़ैं असुरारी॥२॥
सुख दासनिकूँ देन दयानिधि, देह विविध विधि धारी।
अनिल गन्ध धरि रूप अनल ज्यों भासत परगुनकारी॥३॥
धरि अवतार करुन क्रीड़ा करि तारे बहु नर नारी।
करी पुकार भगत आरत ह्वै, सपदि विपदि प्रभु टारी॥४॥
अलख अगोचर अज अविनाशी, अच्युत अखिल अधारी।
बार बार चरननि सिर नाऊँ, लीजो सुधि बनवारी॥५॥

वृत्र-भय से भयभीत देवों की विष्णु स्तुति

(४४)

वाय्वम्बराग्न्यप्सितयस्त्रिलोका,
ब्रह्मादयो ये वय मुद्विजन्तः ।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ,
विभेति यस्मादरणं ततो नः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ९ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

विजय वृत्र की निरखि देवगन अति घबराये ।
अनत शरन नहिं निरखि मनहि मन विष्णु मनाये ॥
इस्तुति सबई करें कालके काल कहाओ ।
सबके आश्रय परम मच्छ बनि मनुहिं बचाओ ॥
कल्प आदि में अज दुखित, भये विपदि तिनकी हरी ।
वृत्र असुर दुख तें दुखी, अभय करो नर केशरी ॥
भगवान् को लोग दुख में ही स्मरण करते हैं भयहारी भग-

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए देवगण कह रहे हैं—"जिन कालदेव के लिये भयभीत होकर हम ब्रह्मादि देवगण तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँचों भूत तथा तीनों लोक बलिप्रदान करते हैं, पूजोपहार देते हैं वह काल भी जिनसे भयभीत बना रहता है, वे ही परमात्मा हमारे रक्षक हों।"

वान् भजन करनेवाले भक्त के भय को भगा देते हैं, किन्तु जो सदा ही भगवान् के भजन में तल्लीन रहते हैं उनको कभी विपत्ति आती ही नहीं। कदाचित् आ भी जाय, तो उसकी सार सम्हाल सर्वेश्वर श्रीहरि ही कर लेते हैं, भक्त को उसकी चिन्ता नहीं रहती। किन्तु जो किसी प्रयोजन से पूजा करते हैं, स्वार्थ से स्मरण करते हैं कामना सहित स्तुति करते हैं, तो भगवान् उनकी कामना को भी पूर्ण करते हैं, भगवान् तो कल्पद्रुम के सदृश हैं, जो जिस भावना से उनकी शरण में जाता है, उसकी वही भावना पूर्ण हो जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! देवराज इन्द्र के अहङ्कार तथा अपमान से खिन्न होकर जब देवगुरु बृहस्पति अन्तर्हित हो गये, तब ब्रह्माजी की सम्मति से त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को देवताओं ने गुरु बनाया। उसे असुरों का पक्षपाती देखकर इन्द्र ने उसको मार डाला। त्वष्टा मुनि ने जब सुना कि इन्द्र ने मेरे पुत्र को मार डाला, तब इन्द्र को मारने की इच्छा से उन्होंने यज्ञकुण्ड से मन्त्रों द्वारा वृत्रासुर को उत्पन्न किया। वृत्रासुर देवताओं से लड़ने गया तो उनके समस्त अस्त्र शस्त्र को ही निगल गया। अब तो देवतागण अत्यन्त ही घबराये मन ही मन अशरणशरण शरणागत दुखहर्ता श्रीविश्वभरण भगवान् की स्तुति करने लगे।

देवगण भगवान् से विनय करते हुए कह रहे हैं—"हे प्रभो ! आज हम भयभीत हैं, आप अन्य भयों की तो बात ही क्या भव के भय को हरण करने वाले हैं। संसार में सब से बली काल है। काल से सभी डरते हैं, सभी उनकी पूजा करते हैं, सभी उन्हें बलि प्रदान करते हैं, सभी उन्हें पूजोपहार देते हैं वे

कालदेव कहीं अन्तक के नाम से, कहीं मृत्यु के नाम से, कहीं प्रधान के नाम से, कहीं प्रकृति के नाम से, कहीं अव्यक्त के नाम से, कहीं सूक्ष्मा के नाम से, कहीं श्री देवी, भूदेवी तथा दुर्गा देवी के नाम से पूजते हैं। मनुष्य ही नहीं वायु, आकाश, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँचों भूत, भूः, भुवः और स्वः ये तीनों लोक हम ब्रह्मादि देवता भयभीत होकर जिन की पूजा करते हैं। जिन्हें पर्व पर्व पर उपहार प्रदान करते हैं, वह काल देव भी आपके भय से थर थर काँपते रहते हैं। आप इतने महान् हैं, इतने शक्तिशाली हैं जो विश्व को भयभीत करने वाले हैं, वे आप से भय खाते हैं, आप को किसी से भय नहीं, आप सर्व समर्थ निर्भय तथा निर्द्वन्द्व हैं। हे भगवन्! आप ही हमारी रक्षा करें। इस समय हम अत्यंत ही भयभीत हैं।

प्रभो! भय होता है प्रति पक्षी से, अपने से बली से। किन्तु आप का तो कोई प्रतिपक्षी ही नहीं, आप तो स्वपक्ष परपक्ष के अहंकार से सर्वदा रहित ही हैं। आप को कोई इच्छा नहीं। इच्छा होती है आवश्यकता से आवश्यकता होती है अपूर्णता में। जो सर्वदा परिपूर्ण है उसे अन्य की आवश्यकता ही क्या है। आप तो आत्मलाभ से ही पूर्ण काम हैं। अतः आप के मन में कुछ भी प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं। आप में न्यूनाधिक भेद भाव भी संभव नहीं। भेद भाव तो उपाधि द्वारा होता है। आप में उपाधिकृत किसी भी प्रकार का भेद भाव है ही नहीं। आप सर्वत्र–सभी स्थानों पर समान रूप से व्याप्त हैं, ऊर्मियों के कारण, लहरों के कारण। आप तो सदा सर्वदा प्रशान्त हैं, राग द्वेष से शून्य हैं, द्वन्द्वों की तो वहाँ पहुँच भी नहीं और देवगण आपकी ही शक्ति से कुछ कर सकते हैं, वह भी पूर्ण रूप से नहीं; क्योंकि उनके ऊपर भी तो कोई स्वामी

बैठा हुआ है, किन्तु आप ही एक ऐसे हो जो सम्पूर्ण संसार के स्वामी हो, आप जो चाहें सो कर सकते हो, सर्व समर्थ हो। जो पुरुष आप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् की शरण में न जाकर इधर उधर सहायता के निमित्त भटकते रहते हैं। संसार सागर पार जाने के लिये अन्य उपकरण—साधन खोजते रहते हैं, वे ऐसे ही हैं मानों सुन्दर सुदृढ़ स्वयंचालित नौका को छोड़कर कुत्ते की पूँछ को पकड़कर परलोपार जाना चाहते हों। अतः विपत्ति सागर से पार जाने के लिये सबको त्यागकर एकमात्र आपकी ही हमने शरण ली है, हे सर्वसमर्थ! हमें विपत्ति उदधि के पार पहुँचा दीजिये, हमारे ऊपर आये हुए संकट को हर लीजिये।

हे तारक! आपने अगणितों को तारा है। हे रक्षक! आपने अनेकों की रक्षा की है। जब प्रलय पयोनिधि चारों ओर से बढ़ रहा था, जब सातों समुद्र एक होने वाले थे, तब आपने विशाल काय मत्स्य का रूप धारण कर लिया। कहीं से सुदृढ़ नौका मँगा ली। कहीं से क्या सभी तो आप के ही भीतर विद्यमान हैं। उसपर शरण में आये हुए वैवस्वत मनुको चढ़ा लिया और उस नौका की रस्सी को अपने सुदृढ़ सींग में बाँध लिया और प्रलयकाल पर्यन्त उसे सींग में बाँध कर समुद्र में घुमाते रहे, मनुजों का मनोरंजन करते रहे, उन्हें टहलाते रहे। जिस प्रकार प्रलय पयोधि से मनुकी रक्षा की उसी प्रकार वृत्रासुर द्वारा उत्पन्न इस रणसागर से भी हमारी रक्षा कीजिये। वृत्रासुर के दुरन्त भय से हमें बचाइये। हे प्रपन्न पारिजात! जिस प्रकार-प्रपन्न हुए मनु अनायास ही प्रयास के ही दुरन्त दुस्तर विपत्ति सागर के पार पहुँच गये

प्रकार हमारी भी चिन्ता का अन्त कर दीजिये। हमें भी निर्भय बना दीजिये।

हे देवाधिदेव! आपने मनु की ही रक्षा की हो सो बात नहीं। जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के एकमात्र सृजन करने वाले हैं, जो प्रजापतियों के भी प्रजापति हैं, जो अज तथा वेदगर्भ कहलाते उन चतुर्मुख ब्रह्मा की भी आपने रक्षा की। उन्हें भयंकर भय से बचाया, उन्हें भी आपने ही निर्भयता का पाठ पढ़ाया। जिस समय प्रलयकालीन जल में उत्ताल तरंगें उठ रही थीं जल की तरंगों के प्रबल थपेड़ों से आपके नाभि का कमल हिल रहा था, प्रचण्ड पवन के वेग से हर हर घोष करती हुई लहरें निर्घोष कर रहीं थीं, उस अत्यंत भयानक जल में आपकी नाभिकमल पर बैठे ब्रह्माजी जब दशों दिशाओं को आँखें फाड़ फाड़ कर देख रहे थे, उस समय उन्हें जब अपने अतिरिक्त अन्य कोई भी दिखाई ही न दिया। नाभिकमल से गिरने के कारण ब्रह्मा जी उन अगणित ऊर्मियों के कारण घबरा गये, भयभीत हो गये, तो आपने ही उन्हें अभय प्रदान किया, आपने ही उन्हें वृहद् विपत्ति से बचाया, आपने ही उन्हें संकट सागर से पार पहुँचाया। बस प्रभो! हमें भी विपत्ति उदधि से पार पहुँचाइये, हमारे भी वृत्र रूपी सङ्कट को मिटाइये।

प्रभो! हम अज्ञानी हैं। हम आपको भुलाकर अपने को ही सब कुछ समझने लगते हैं, इसी कारण बार बार विपत्तियों को झेलते हैं, हम इस बातको भूल जाते हैं कि आपने ही हमें उत्पन्न किया है, आप हमारे जनक रक्षक, पालक तथा सर्वस्व हैं। आपने अपनी माया के द्वारा ही हमारी सृष्टि की हम जो भी कुछ सृष्टि आदि करते हैं आपकी कृपा से, अनुग्रह

से तथा आपकी आज्ञा से ही करते हैं। फिर हम अज्ञान में फँस कर आप सर्वान्तर्यामी घट घट वासी प्रभु को भूल कर अपने को ही कर्ता मान बैठते हैं। हम स्वतंत्र ईश्वर हैं। ऐसा अभिमान आते ही हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है,आप हमारे जनक हैं, सब से प्रथम हैं,सर्वेश्वर हैं सर्वव्यापक हैं इसे भुला देते हैंतभी विपत्ति पंक में फँस जाते हैं। फिर आपकी शरण में आते हैं, आप ऐसे कृपा सागर हो कि हमारे समस्त अपराधों को भूल कर आप फिर से हमें अपना लेते हैं, । फिर हमारे दुःख दुरितों को मेंट देते हैं। आज वृत्रासुर के कारण हम पुनः विपत्ति पंक में फँस गये हैं, हे हरे ! हमारी विपत्ति को हरो। हे राधिका रमण ! हमारी रक्षा करो।

प्रभो ! आज ही आप प्रमारी रक्षा करेंगे सो भी नहीं। यह कोई नयी बात नहीं है। सदा से आपने हमारी रक्षा की है और सदा इसी प्रकार रक्षा करते रहेंगे। हम पर जब जब भी विपत्ति पड़ी तब तब ही आपने विविध रूप रख कर हमारी रक्षा की। जब जब भी हमारे विपक्षी शत्रुओं ने हमें पीड़ा पहुँचायी तब तब ही आपने हमारी लाज बचायी। आप निर्गुण हैं, निराकार हैं, अजन्मा हैं, फिर भी हमारे दुःख हरने के हेतु निर्विकार होकर भी अपनी माया का आश्रय लेकर आपने अनेकों अवतार धारण किये। कभी देवताओं में उपेन्द्रादि अवतार लिया। कभी ऋषियों में नरनारायण, परशुराम आदि बने कभी कच्छ मच्छ आदि जल चर बने, कभी सूकरनृसिंह हुये राम, कृष्ण, बलराम आदि अवतार लेकर हमारा उद्धार किया। आज नहीं एक बार नहीं, अनेकों बार प्रत्येक युग में अनेकों बार आपने जब हमारी रक्षा की है, तब क्या इस बार आप हमें

भूल जायँगे ? क्या हमारी रक्षा न करेंगे ? अवश्य करेंगे। प्रभो ! रक्षा करो, देव ! दया करो।

हे सर्वान्तर्यामी प्रभो ! आप सब की आत्मा हैं। चराचर विश्व में निरन्तर गमन कर रहे हैं व्याप्त हो रहे हैं। आपसे बढ़ कर कोई देवता नहीं। आप परमदेव हैं, देवाधिदेव हैं महादेव हैं। इस विश्व की रचना विद्वान लोग प्रकृति पुरुष के संयोग से बताते हैं। वे प्रकृति पुरुष भी आप ही हैं। आप से भिन्न कोई प्रकृति पुरुष नाम की वस्तु नहीं। विश्व के एकमात्र कारण तो आप ही हैं। आप सम्पूर्ण विश्व का भरण पोषण करने से विश्वम्भर कहाते हैं यद्यपि आप विश्व से सदा सर्वदा पृथक हैं निर्लेप हैं, फिर भी विश्व आप ही का रूप है इसलिये तो आप विश्वरूप नाम से व्यवहृत किये जाते हैं। आप सब के अधिष्ठान हैं आपका अधिष्ठान कोई नहीं। आप सर्वगत सर्वपालक परमेश्वर हैं शरणागतवत्सल हैं इसीलिये हम आपकी शरण में आये हैं, हम शरणागतों को आश्रय प्रदान कीजिये, हे रणरञ्जक ! हमारी रक्षा कीजिये।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! जब देवताओं ने भगवान् की आर्त होकर इस प्रकार विनती की तो उनके देखते ही देखते पश्चिम दिशा में शंख चक्र गदा पद्मधारी भगवान् विष्णु प्रकट हुए। उनको देखकर अब जिस प्रकार देवता गण भगवान् की स्तुति की मैं आगे वर्णन करता हूँ।

छप्पय

हरि हम सबके जनक भूलि निज करता मानें।
प्रेरक प्रभु तें प्रीति करें नहिं महिमा जानें॥
लै जुग जुग अवतार हमारी रक्षा कीन्हीं।
तातें सब तजि आस शरन हरि तुमरी लीन्हीं॥
शरनागत पालक प्रभो! पद पदुमनि महँ परिहैं।
जिनि अब तक रक्षा करी, सो आगे हू करिहैं॥

पद

असुर दुख देइ दयालो सब कूँ।
देखें द्वार जाइ सबई के, अभय करो नहिं हमकूँ॥१॥
आपु काल के काल जगत्पति, हारि चुके निज बलकूँ।
भव सागर में डूबन चाहत, निरखें चहुँ दिशि जलकूँ॥२॥
प्रलय पयोधि निरखि मनु डरपे, धरि हरि सफरी तनकूँ।
पार करें अजहू अपनाये, दीयो सुख भगतनिकूँ॥३॥
देव, असुर, नर, किन्नर, गुह्यक, समुझें नहीं मरमकूँ।
जुग जुग महँ प्रभु रक्षा कीन्हीं, थापत सतत धरमकूँ॥४॥
खल बल पाइ बली बनि सुर, रिपु मारत देवनि दलकूँ।
काटो क्लेश वृत्र बध करिके, बन्दें चरन कमलकूँ॥५॥

देवगणकृत भगवत् स्तुति

देवा ऊचुः

वाय्वम्बराग्न्यप्तितयस्त्रिलोका,
ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः ।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ,
बिभेति यस्मादरणं ततो नः ॥१॥

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं,
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः,
श्वलांगुलेनातितितर्ति सिन्धुम् ॥२॥

यस्योरुशृंगे जगतीं स्वनावं,
मनुर्यथाऽऽवध्य ततार दुर्गम् ।
स एव नस्त्वाष्ट्रभयाद् दुरन्ताद्,
त्राताऽऽश्रितान् वारिचरोऽपि नूनम् ॥३॥

पुरा स्वयंभूरपि संयमाम्भसी,
उदीर्णवातोर्मिरवैः कराले ।
एकोऽरविन्दात् पतितस्ततार,
तस्माद् भयाद् येन स नोऽस्तु पारः ॥४॥

य एक ईशो निजमायया नः,
ससर्ज येनानुसृजाम विश्वम् ।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः,
पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः ॥५॥
यो नः सपत्नैर्भृशमर्द्यमानान्,
देवर्षितिर्यङ्नृषु नित्य एव ।
कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया,
कृत्वाऽऽत्मसात्पाति युगे युगे च ॥६॥
तमेव देवं वयमात्मदैवतं,
परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम् ।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं,
स्वानां स नो धास्यति शं महात्मना ॥७॥

देवताओं द्वारा दयानिधि का स्तुति (१)

(४५)

नमस्ते यज्ञ वीर्याय वयसे उत ते नमः।
नमस्ते ह्यस्त चक्राय नमः सुपुरुहूतये ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ९ अ०, ३१ श्लो०)

छप्पय—

सुरनि विनय सुनि प्रकट भये भयहर सुखहारी।
शंख चक्र उर माल गदा धारी बनवारी॥
देव दंडवत परे कहैं-हरि सुखकर दुखहर।
परम तत्व परमात्म पुरुष पर पालक प्रभुवर॥
सिरजहिं पालहिं हरहिं हरि, विश्वम्भर वर विमल विभु।
निरगुन निरवधि निरञ्जन, अगनित गुन गन युक्त प्रभु॥

भगवान् तो शरणागत वत्सल हैं, आर्तों की आर्त पुकार

---

*भगवान को स्तुतिकरते हुए देवता कह रहे हैं—"हे यज्ञवीर्य ! आप को नमस्कार है। हे सब की अवस्था निर्धारित करने वाले काल प्रभो ! आप को नमस्कार है। हे हाथ में चक्र धारण करने वाले चक्रधारी भगवन्! आप को नमस्कार है। हे हरे ! आप के बहुत ही सुमधुर नाम हैं ऐसे बहुनाम धारी आप को बारम्बार प्रणाम है।"

को सुनने वाले हैं, जो उन्हें सच्चे हृदय से आर्त होकर पुकारता है, अपने अहंकार को सर्वात्मभाव से मेंटकर उन्हीं के चरणों की शरण ले लेता है, तो भक्त वत्सल भगवान् उसकी पुकार को अवश्य सुनते हैं और तुरन्त आकर उसके दुखको दूर करते हैं। गज, गृद्ध, द्रौपदी तथा ऐसे असंख्य भक्तों के उदाहरण उपस्थित हैं, कि जिनके पुकारते ही प्रभु प्रकट हो गये और उनके दुख को दूर कर दिया। देवताओं पर जब जब विपत्ति पड़ी,तब तब ही भगवान् उनके पहले के अपराधों को भूलकर उनके सम्मुख प्रकट हो गये। समर्थ होकर भी जो दीनोंके अपराधोंको स्मरण रखे तो उनका उद्धार कैसे हो सकता है ? अतः शरणागतवत्सल भगवान् पिछले अपराधों को विसार देते हैं और आगे की सुधार देते हैं। ऐसे दयालु कृपालु देव को त्यागकर अन्य किसकी शरण ली जाय ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब वृत्रासुर के भय से भयभीत हुए देव गण आर्त स्वर से भगवान् की विनय करने लगे, तो उसी समय उन्होंने पश्चिम दिशा में देखा भक्त भयहारी भगवान् पृथिवी का विना स्पर्श किये गरुड़ पर बैठे आकाश में अधरास्थित हैं। उनके सुंदर सुघर चारों बाहुओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभायमान हैं। वक्षःस्थल में कौस्तुभमणि दम दम करके दमक रही है। किरीट कुंडल धारण किये तथा समस्त भगवल्लक्षणों से युक्त प्रभु आपके सुनंद नन्दादि सोलह पार्षदों सहित मन्द मन्द मुसकरा रहे हैं। भगवान् के दर्शन करके देवताओं के आनन्द की सीमा नहीं रही, वे अत्यंत आह्लाद के साथ प्रेम में विह्वल होकर दंड के समान धूलि में लोट गये। बड़ी देर तक साष्टाङ्ग दण्डवत् करते रहे, फिर कुछ शरीर की सुधि आने

पर शनैः शनैः उठकर गद्गद वाणी से इस प्रकार स्तुति करने लगे।

देवगण कहने लगे—"प्रभो ! आप यज्ञ स्वरूप हैं। स्वरूप तो आप का अद्भुत अलौकिक अनिर्वचनीय तथा अनुपम है। यज्ञ आप का बल वीर्य तथा फल दाता है। ऐसे यज्ञ वीर्य आप को नमस्कार है। आप सम्पूर्ण जगत का कलपन करते हैं संहार अतः काल भी आप का रूप है। हे काल स्वरूप केशव ! आप के चरण कमलों में प्रणाम है। आप ने अपने श्री हस्त में सदा चक्र धारण किये रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण संसार चक्र आप के अधीन है। अथवा कालचक्र आप के करतल हैं, अथवा आप अपने आश्रितों को अभय प्रदान कर रहें हैं कि तुम यज्ञ यागादि शुभ कर्मों के विनाशक असुरों से भय-भीत मत होओ देखो असुरों के विनाशक हेतु मेरे हाथ में चक्र है। अथवा चक्र द्वारा सब को उपदेश दे रहें हैं, कि इस संसार में सभी अस्थायी क्षणभंगुर और परिवर्तन शील है जैसे यह घूमता है वैसे ही सम्पूर्ण संसार के भोग पदार्थ भी घूमते रहते हैं। आप अपने चक्र के चक्का चौंध से अभिमानियों के अभिमान को चकना चूर कर देते हो, असुरों के अहंकार को मेट देते हो, प्रभो ! इस समय वृत्रासुर को अपने बल का अभिमान है। वह अपने समान किसी को कुछ समझता ही नहीं, अतः प्रभो ! चक्र द्वारा उसके दर्प को दलन कर दो, आप के चरणारविन्दों में बारम्बार नमस्कार है।

स्वामिन् ! किन नामों से हम आप को सम्बोधित करें। आप के तो सहस्र नाम हैं। सहस्र शब्द केवल उपलक्षण मात्र है, आप के तो अनन्त नाम हैं, जिसको जो प्रिय हो वही ले। आपके

सभी नामों में समान रूप से अनन्त शक्ति भरी है। अतः हे सुपुरुहूति ! आप के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो ! आप सात्विक राजस और तामस तीनों गुणों के नियामक हैं अथवा उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इनके कर्ता हैं अथवा त्रैगुण्य विषय जो ऋक्, यजु, और साम ये तीन वेद हैं उनके भी नियमन कर्ता हैं, अथवा ब्रह्मा, विष्णु महेश इनकी भी गति विधि के संचालक हैं। अथवा देव, मनुष्य और तिर्यक् इन तीनों गतियों के दाता हैं, अथवा स्वर्ग अपवर्ग और नरक इन तीनों प्रकार की गतियों के नियामक हैं। आप स्वयं तो तीनों से परे हैं। आपका परम धामतो इन तीनों से विलक्षण है, वह तो निगुण पद है। इस पद को कार्य रूप जगत का कोई भी अर्वाचीन जीव नहीं जान सकता उसे तो आपके कृपा पात्र प्राप्त कर सकते हैं। अतः हे प्रभो ! आप को बारम्बार प्रणाम है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! अब तक तो देवता गण पद्य में श्लोक बद्ध स्तुति करते रहे, किन्तु जब भावोद्रेक अधिक बढ़ा और संयत परमित पद्यों में अपने भावों को पूर्ण व्यक्त न कर सके, तो वे गद्य में ही स्तुति करने लगे। पीछे वे भगवान् को बहुत नाम वाले कह चुके हैं, अतः वे भगवान् के कुछ नामों का सरल भाषा में सम्बोधन कर के कहने लगे—"प्रभो ! आप का वाचक प्रणव बताया गया है, आप ओंकार स्वरूप हैं। आप षडैश्वर्य सम्पन्न हैं, आप में ही समस्त धर्म विद्यमान है। निखिल यश के एककात्र आधार आप ही हैं। परिपूर्ण शोभा श्री आप के ही आश्रय से टिकी है, ज्ञान की पराकाष्ठा आप में ही है। सम्पूर्ण स्वरूप से वैराग्य के आलय आप ही हैं। इसीलिये आप भगवान् शब्द से व्यवहृत होते हैं। जीवों की उत्पत्ति विनाश

गति अगति आदि आप भली भाँति जानते हैं। हे भगवन्! आप का नाम नारायण भी है नार जल में आप का अयन है क्षीर सागर में आप का शयन करने से नारायण कहाते हैं। नार शब्द का अर्थ जीव समूह भी है, उन जीवों के अयन प्राप्य प्रापक आधार एकमात्र आप ही हैं इससे भी आप का नाम नारायण है। हे नारायण! आप सर्वत्र बसते हैं, अथवा सब जीवों के निवास आधार आप हैं, इससे वासुदेव कहलाते हैं। हे वासुदेव! इस सम्पूर्ण जगत् के कारण हैं। आप सर्व प्रथम हैं इसी लिये आप का समस्त शास्त्र आदि पुरुष कहते हैं। हे आदि पुरुष! आप प्रकृति और पुरुष दोनों से परे हैं, इन तीनों लोकों का आप पालन पोषण भी करते हैं और अपनी शक्ति से इन्हें धारण करते हैं इसी से परम पुरुष बोले जाते हैं। हे परम पुरुष! आप का अनुभाव-प्रभाव महान् है, इसीलिये कोई उसकी कल्पना नहीं कर सकता। आप अमित तथा अचिन्त्य प्रभाव वाले हैं। हे महानुभाव! आप से ही समस्त मंगलों का प्रभाव हुआ है। आप मंगलों के आलय मंगल स्वरूप ही हैं। हे परम मंगलमय! आप कल्याणकर हैं आप मंगलायतन हैं! हे परम कल्याण स्वरूप! आप कल्याण के निधान हैं। करुणा के सागर हैं परम करुणामय हैं। परम कारुणिक प्रभो! आप अपना स्वार्थ नहीं,जो स्वार्थ निरपेक्ष पर दुख सहिष्णु होते हैं वे ही कारुणिक हैं आप जीवों पर करुणा करके ही नानावतार धारण करते हो। जगत् के और भी अनेकों आधार हैं, प्रकृति, विकृति, ब्रह्माजी इन सब जगत का आधार बताते हैं, किन्तु यथार्थ में एकमात्र आधार तो आप ही हैं। हे जगदाधार! न तो कोई आप से बढ़कर ही है न आप के समान है आप ही एक मात्र इस लोक के स्वामी हैं। हे लोकैकनाथ! आप ब्रह्मादि देवों के भी ईश्वर हैं। आप लक्ष्मी पति हैं श्री पति हैं, कमलाकान्त हैं। हे लक्ष्मी पते! हे प्रभो!

जो परमहंस परिव्राजक हैं ज्ञानी तथा सन्यास धर्मनिष्ठ परम त्यागी विरागी महानुभाव हैं, जो ज्ञान कर्म योग में निष्ठा रखने वाले हैं वे परमोत्कृष्ट आत्म समाधि द्वारा अथवा परमात्म विषयक दृढ़ ध्यान द्वारा आप का निरन्तर अनुशीलन करते रहते हैं। उस अनुशीलन से पारमहंस्य धर्म प्रकाशित होता है। पारमहंस्य धर्म का जहाँ प्रकाश हुआ नहीं तहाँ हृदय में जो अज्ञान रूप कपाट लगे हैं वे खुल जाते हैं अपावृत हो जाते हैं। उस समय आत्म लोक में निरावरण रूप से जो निजानन्द स्वरूप अनुभव किये जाते हैं, वे ही आप हैं। अर्थात् परम त्यागी विरागी ध्यान योग समाधि द्वारा अज्ञानान्धाकारको मेंटकर विशुद्ध हृदय में आप का ही अनुभव करते हैं, ऐसे ध्यानैकगम्य आप आनन्द स्वरूप सच्चिदानंद प्रभु के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे भगवन्! आपका यह जगत् व्यापाररूप लीलायोग हमें तो बड़ाही दुर्बोध दुर्विज्ञेय जान पडता है। आप संकल्प मात्रसे ही इतने बड़े जगत् को बनालेते हैं, उसका पालन भी करते हो और अन्तमें संहार भी करलेते हो। लोकमें देखा गया है, कि जो कर्ता होता है, बनानेवाला होता है उसे बनानेको बहुत से उपकरण अपेक्षित होते हैं, अन्य लोगोंकी सहायता की अपेक्षा होती है। जैसे कुम्भकार ही है, वह जब घड़ा बनाता है, तो उसे मिट्टी चाहिये, जिसपर घट आदि बनावे वह चाक चाहिये, उसमें डन्डा चाहिये, सूत, पानी तथा सहायक चाहिये, जहाँ बैठकर बनावे भूमिका आधार चाहिये शरीर निरोग चाहिये, वस्तुयें लाने उठाने, धरनेको सहायक स्त्री, बालक, सेवक आदि चाहियें तब वह बर्तनोंको बनाता है। किन्तु आप को न किसी उपकरण की आवश्यकता

होती है न सहायककी और न अधारकी ही। आप स्वयं निर्गुण निराकार निर्विकार बने रहने पर भी इस गुणमयी सृष्टिको करते हैं। कुछ भी आधार न रहने पर निराधार रचना कर लेते हैं। अशरीरी रहने पर भी अनन्त शरीरोंको बनालेते हैं, हमारी सहायता की आपको कुछभी अपेक्षा नहीं। आप को जब तक इच्छा होती है अपनी बनायी सृष्टि का पालन करते हैं, जब इच्छा होती है, संहार कर देते हैं। यह आप की कैसी लीला है, कैसा विहार है, कैसा विनोद है। हमें आपके इस निराधार विलक्षण व्यापार को देखकर बारम्बार शंका हो उठती है। हम सोचते हैं आपसब इतने प्रपंच का विस्तार कैसे करते हैं, क्यों करते हैं, किस लिये करते हैं, इस विषयमें हम कुछ निर्णय ही नहीं कर सकते। आपकी लीला अपरम्पार है, हमलोग केवल तर्कना ही कर सकते हैं, आप अनादि अनन्त दुर्विज्ञेय तत्वके सम्बन्धमें अपना निर्णय दे ही क्या सकते हैं।

सूतजी कहते—मुनियो! इस प्रकार देवतागण भगवान् की स्तुति करते हुए भी अपनी शंकाओंको रखते हैं और स्वयंही उनका दार्शनिक विवेचन भी करते हैं। उस प्रसंगको मैं आगे कहूँगा। आप इस प्रसंग को परम एकाग्रता के साथ, अत्यन्त ही ध्यान पूर्वक श्रवण करें, क्योंकि तनिक भी चित्त इधर उधर गया, तो प्रसंग हाथसे जाता रहेगा।

छप्पय

परम कौतुकी कृष्ण कलित क्रीड़ा कर बावें।
तुमरी माया पार सकल सुरगन नहिं पावें॥
कविगन करें कुतर्क हेतु दै दै थकि जावें।
जो तरकनि तैं परें तरक तिनकूँ कस पावें॥

आपु सकल संसारमें, सब सारनिके सार हो।
सरवेश्वर सरवज्ञ सुख, सागर सरवाधार हो॥

पद

प्रभुजी! नाम अनन्त तिहारे।
वासुदेव बलदेव विहारी, वनप्रिय वंशीवारे ॥१॥ प्रभु०
नारायण नरसखा नरोत्तम, नाम रूप तैं न्यारे।
परम पुरुष परतत्व परावर, परमेश्वर प्रभु प्यारे ॥२॥ प्रभु०
परमहंस परिव्राजक पर प्रिय, पुनि पुनि पतित उधारे।
क्रीड़ा कलित कौतुकी करि करि, करे कुतरकी कारे ॥३॥ प्रभु०
सारभूत सरवेश सकल शुभ, शरनागत स्वीकारे।
तजि सब आश पुन्यप्रद पकरे, प्रभुपद पदुम तिहारे ॥४॥ प्रभु०

देवताओं द्वारा दयानिधि की स्तुति (२)

(४६)

हंसाय दहनिलयाय निरीक्षकाय
कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।
सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता—
वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ।*
(श्री भा० ६ स्क० ९ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

हो स्वतन्त्र परतन्त्र होहि निरनय नहिँ स्वामी ।
उभय पक्ष ईं सत्य आपु सब समरथ नामी ॥
विज्ञ सच्चिदानन्द अज्ञ जग जीव बतावें ।
जैसो जी को भाव ताहि तस नाथ लखावें ॥
अधिष्ठान अवशेष अज, प्रियतम प्रेम प्रकाश हैं ।
परिचरिया पद पदुम कस, तजै तुम्हारे दास हैं ॥
उन सर्वज्ञ सर्व व्यापक सर्व समर्थ सर्वेश्वर सर्वाधार

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए देवता गण कह रहे हैं—उन हंस स्वरूप भगवान् को नमस्कार है। हृदयाकाश विहारी को सर्व साक्षी श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु को नमस्कार है। विमल कीर्ति वाले श्री हरि को अनादि तथा सत्संग्रही सज्जन पुरुषों द्वारा सेवित एवं संसार पथ को शरण में आने पर शरणागतों को अन्त में उत्तम गति देने वाले उन श्री हरि को बारम्बार नमस्कार है।

सर्व साक्षी सच्चिदानन्दघन कूटस्थ भगवान् के सम्बन्ध में जो भी कहा जाय वही सत्य है अथवा जो भी कुछ कहा जाय सोचा जाय सब मिथ्या है। उनके सम्बन्ध में ऐसा ही है यह बात नहीं कही जा सकती!

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवता गण भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो! संसार में दो ही प्रकार के प्राणी देखे जाते हैं। एक तो ऐसे जो कर्मों मे अधीन होकर नाना कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।दूसरे ऐसे जो स्वयं कर्म बन्धनों ने में नहीं फँसते वे दीपक की भाँति केवल साक्षी मात्र बने रहते हैं। जैसे देवदत्त यज्ञ दत्त विष्णु मित्र तथा और भी अनेक नामों वाले पुरुष हैं। वे जन्म लेकर एक अपना घर बनाकर उस घर में रहकर अपने पूर्व जन्म के कृत दुःख सुखों का भोग भोगते हैं। आप भी उसी प्रकार अपने ब्रह्म स्वरूप से जीव रूप रख कर गुण प्रवाह में पतित होकर नानाकर्मों को करते है अथवा अपनी जो चैतन्य शक्ति है उससे च्युत न होकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में ही अवस्थित रहकर आत्माराम तथा उपशमशील बने हुए संसारी कार्यों से उदासीन रहते हो। इन दोनों में से कौन सत्य है कौन असत्य है। इसका निर्णय हम लोग अभी नहीं कर सके। इनमें से कौन यथार्थ है यह बात हमारी बुद्धि में बैठती नहीं।

फिर हम सोचते। आप तो भिन्न गुणाश्रय हैं। जैसे गीले बाँसों में जल भी रहता है अग्नि भी रहती है। जल और अग्नि भी रहती है। जल और अग्नि परस्पर में विपरीत गुण हैं। एक साथ दोनों रह नहीं सकते। किन्तु गीले बाँसों में भी रगड़ से अग्नि उत्पन्न हो ही जाती है। यदि आप में भी ये दोनों ही बातें रहें तो क्या हानि है आपके लिये तो कोई विरोध की बात ही

नहीं । यदि आप पुण्य पाप से उत्पन्न कर्मों के अधीन साधारण जीव होते तब तो विरोध हो भी सकता था। विरोध के लिये अवसर भी था । किन्तु आप तो जीव नहीं शीव हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् हैं आप में अनन्त अगणित गुणगण विद्यमान हैं आपके महात्म्य के सम्बन्ध में कोई ऐसा ही है इतना ही है" नहीं कह सकता । वह तो सदा सर्वदा दुर्बोध है। दुर्विज्ञेय है। आपकी सामर्थ्य की भी कोई सीमा नहीं इयत्ता नहीं और कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् सर्वसमर्थ हैं। आपके स्वरूप के सम्बन्ध में लोग नाना तर्क वितर्क किया करते हैं। आपकी स्वरूप सिद्धि के निमित्त आधुनिक शास्त्रों के रचयिता बड़ी बड़ी बातें बनाते हैं पहिले वे आपके स्वरूप के सम्बन्ध में विकल्प करते हैं संशय करते हैं संशय के अनन्तर फिर वितक उठते हैं कि ऐसा हो सकता है या नहीं ऐसा है वैसा है। वितर्क के अनन्तर विचार करते हैं इस तर्क वितर्क युक्ति युक्त कौन सा है इसी का नाम विचार है फिर अन्यतर पक्ष साधक जो प्रमाण हैं। प्रमाण नहीं प्रमाण की भाँति आभासित होने वाले प्रमाणाभास आदि दे देकर जो कुतर्क करते हैं, कुतर्कों द्वारा जिनका अन्तः करण दूषित हो गया है, वे और बातों को सुनते ही नहीं । सभी को इन्हीं कुतर्कों की कसौटी पर कसना चाहते हैं। वे आपके स्वरूप के निर्णय के अवसर पर इन्हीं बातों पर बल देते हैं। इन्हीं का दुराग्रह करते हैं। किन्तु आपके स्वरुप के सम्बन्ध में तो इन कुतर्कों के लिये कोई स्थान ही नहीं। यहाँ तो इनके लिये रंचक मात्र अवकाश ही नहीं क्योंकि आप का जो यथार्थ स्वरूप है वह तो सम्पूर्ण माया मय प्रपञ्च से रहित है। ये तर्क तो माया के सम्बन्ध से किये जाते हैं । आप तो निष्प्रपंच हैं केवल हैं । हाँ, यदि आप अपनी माया का आश्रय ले लें, अपने अद्वितीय स्वरुप में अपनी माया को छिपा

लें, तो आत्म माया के आश्रय से तो कर्तृत्व भोक्तृत्व सभी आप में संभव हो सकता है योग माया संवृत होने पर तो आप सबके सम्मुख प्रकाशित होते नहीं माया के आश्रय से सभी व्यापार कराते हैं। वास्तव में देखा जाय तो न तो आप में कर्तृत्व है न भोक्तृत्व है न उदासीनता ही है। आप में दोनों ही स्वरुपों का अभाव है। आप को जो जिस भावना से देखते हैं उन्हें वैसे ही प्रतीत होते हैं। विवेकी पुरुषों को आपके माया से रहित प्रपञ्च से परे विशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरुप का अनुभव होता है और जो विवेकी नहीं केवल कुतर्क करना ही जानते हैं, वे अन्य साधारण जीवोंके समान ही आपको कर्ता भोक्ता मानते हैं। जैसे कहीं अन्धकार में टेढ़ी मेढ़ी रस्सी पड़ी है तो अविवेकी पुरुष तो उसे सर्प समझेंगे। नाना युक्ति देकर उसे सर्प सिद्धि करेंगे, किन्तु विवेकी पुरुष उसे सर्व काल में रस्सी ही मानेंगे। जो रस्सी में सर्प को सिद्ध करते हैं। वे अपनी बुद्धि से उचित ही कर रहे हैं। वे भ्रम को अधीन कर ऐसी बात कहते हैं। ज्ञानी उसका रहस्य समझता है अतः वह चुप रहता। वाद विवाद से उपरत हो जाता है। जैसे रस्सी विरोध नहीं करती कि मैं सर्प नहीं हूँ उदासीन भाव से पड़ी रहती है अविवेकी के लिये वह सर्वथा सर्प ही है। विवेकी के लिये रस्सी ही है। उसी प्रकार आप भी ज्ञानी अज्ञानी पुरुषों की बुद्धि का अनुसरण करते हैं।

हे भगवन्! शुद्ध अन्तः करण से विवेक पूर्वक विचार किया जाय तो इस असार संसार में एकमात्र आप ही सार दिखाई देते हैं। आप की इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। कोई पंचभूतों को जगत का कारण मानते हैं। कोई महत्तत्व प्रकृतितत्व को किन्तु आप इन सभी कारणों के कारण हैं। आप का कोई कारण नहीं हैं आप ही सबके कारण हैं। जो भी कुछ

दिखायी देता है सब आप का ही रूप हैं सर्वं खलु इदं ब्रह्म शब्द से आप ही परिलक्षित होते हैं। क्यों कि आप अन्तर्यामी हैं घट घट वासी हैं श्रुतियों में जो अनात्म्य वस्तुओं क लिये नेति नेति शब्द आता है। वह आपके समीप पहुंच कर समाप्त हो जाता है। नेति नेति कहते कहते केवल मात्र आप ही अवशेष रह जाते हैं। अन्य समस्त अनात्म्य पदार्थों का वाद होकर अधिष्ठान रूप से आप ही अवशिष्ट रह जाते हैं।

प्रभो! संसार में दो ही प्रकार के सुख हैं दृष्ट सुख और श्रुत सुख। सुन्दर रूपोपभोग सुख मधुर कर्ण प्रिय शब्द सुख, हृद्य मधुर प्रिय रसा स्वादन सुख, मनोज्ञ घ्राण प्रिय सुगन्ध सुख और सुखद मनोज्ञ कोमल, प्रिय, मृदुल स्पर्श सुख इन सुखों की प्राप्ति के लिए प्राणी व्यग्र रहता है एक बार मिल जाते हैं तो उन्हें पुनः पुनः पाने का प्रयत्न करता है। बार बार भोगने की इच्छा रखता है। जो देखे नहीं हैं केवल सुने ही हैं जैसे स्वर्ग में नन्दन कानन के भ्रमण का सुख, दिव्य तन वाली कोमलाङ्गी अप्सराओं के साथ वासका सुख अमृत पान का सुख, विमानों में परिभ्रमण का सुख। शास्त्रों द्वारा इनकी प्रसंसा सुनकर प्राणी इन्हें पाने के लिये पुण्य प्रद कार्य करता है। मन में उनकी लालसा रखता है। इन सुखों को जीवन का सार सर्वस्व समझता है। किन्तु हे मधुसूदन! हे सर्व सुखों के सारातिसार! किसी प्रसंग से, किसी संत महात्मा अथवा भगवत भक्त की कृपा से किसी प्रकार आपके महिमामृतरस समुद्र में से एक बिन्दु रस भी कभी किसी को चखने के लिये मिल गया तो उस एक बिन्दु रस से ही उसे जितने अब तक के दृष्ट श्रुत रस हैं सभी फीके फीके से प्रतीत होने लगते हैं। उस चखने ही रस के कारण उसके अन्तः करण सुख की एक निर्झ-

रिणी प्रकट हो जाती है। उससे निरन्तर सुख का प्रवाह बहता रहता है। उसमें वह प्राणी किलोलें करता रहता है आनन्द में निमग्न रहता संसारी भोग उसे तुच्छ घृणित प्रतीत होते हैं विषय जन्य जो लेश मात्र-सुखाभास हैं वे उसे स्मरण ही नहीं आते, उनकी सदा के लिये विस्मृति हो जाती है। उनका चित्त सर्व भूत सुहृद् सर्वात्मा आप में ही निरन्तर समाहित बना रहता है।

प्रभो! वास्तव में तो आपके चरण कमल मकरन्द के लोलुप भ्रमर भक्त ही स्वार्थ कुशल हैं। जो सन्सारी अर्थ अर्जन प्रवीण है। वास्तव में वे कुशल नहीं हैं। इतना श्रम करके भी अनित्य क्षण भंगुर अन्त में दुःख देने वाले विषयों में रत हैं वे तो अपने स्वार्थ का विघात करते हैं। आप की महिमा ही अत्यन्त स्वादिष्ट अन्तः करण को परम सुख देने वाला रस है। वह रस भी परिमित नहीं। उस रस का तो अनन्त अपरिमित निस्सीम समुद्र है अगाध अपार सागर है। उसमें जिसने अवगाहन कर लिया, जिसने उसमें एकबार भी गोता लगा लिया वह कृतार्थ हो गया उसने मानव जीवन का यथार्थ फल प्राप्त कर लिया।

अवगाहन या पान की बात जाने दीजिये उस अपार महिमा रस सागर में से एक बिन्दु मात्र ही जिसके मुख में चला गया उसके हृदय में सुख की एक निर्झरिणी फूट निकलती है। उस निर्झरिणी का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। उस सुख प्रवाह के अनवरत बहते रहने के कारण उनका चित्त पूर्ण रीत्या आप में समाहित हो जाता है। ऐसे जो आपके ऐकान्तिक अनन्य भक्त हैं वे ही वास्तव में स्वार्थ कुशल हैं। वे ही आत्मप्रिय सुहृद् हैं। जिन्हें एक बार भी आप के चरण कमलों की सेवा

अधिकार हम अपना समझते हैं। यदि आप उचित समझें तो इसे दण्ड दें।

स्वामिन्! हमारा कोई अन्य आश्रय नहीं। हमारे तो एक मात्र आराध्य देव सगे सम्बन्धी आपही हैं। आप ही हमारे पिता हैं। हमारे पिता कश्यपके भी पिता हैं। उनके पिता ब्रह्माजी के भी पिता हैं। अतः पिता, पिता मह प्रपिता मह सभी हमारे आपही हैं। आपकी भी हमारे ऊपर सदा पुत्रों की भाँति अनुग्रह रहती है। तभी तो जहाँ भी हम आपका स्मरण करते हैं वहीं आप हम पर अनुग्रह करते हैं जहाँ भी हम हृदय से स्तुति करते हैं, वहीं आप सगुण स्वरूप से प्रकट होकर दर्शन देते हैं। अब भी आप ने सगुण रूप से प्रकट होकर हम अकिंचनोंको अपनाया है अपने परम दुर्लभ दर्शनों से कृतार्थ किया है। हम आपके अपने हैं आपकी संतान हैं। हम सदा से नित्य निरन्तर आप के सम्मुख नत मस्तक हैं, आपके परम पावन पाद पद्मों के ध्यान से हमारा अन्तः करण निर्मल हो गया है। आपके प्रेम सूत्र ने हमारे हृदय को आबद्ध कर लिया है। हे कृपा के सागर! अब कृपा कीजिये। हे दयालो देव! अब दयाको दर्शाइये। हे अच्युत! अपने अधम अनुचरों का अपनाइये चारु चितवन से जो दया से परिपूर्ण है प्रेम से परिप्लावित है विशद है सुखद सुन्दर है शीतल है मंद मुसकान से युक्त है उसके द्वारा हमें अभय प्रदान कीजिये। हमारा अन्तः करण इस तेजस्वी असुर के प्रबल पराक्रमों के कारण संतप्त हो रहा है। ताप युक्त बना हुआ है। उस ताप को अपने मुखार विन्द से विस्तृत वाणी रूप सुवास से अपने पूर्ण चन्द्र सदृश अनुपम आनन की सुधा कला से शीतल बनाइये शान्त कीजिये।

हे अच्युत ! यदि कोई बात आपको अविदित हो तो उसे विदित करावें । सूर्य का क्या दीपक दिखावें। कहीं खद्योत के प्रकाश से क्या जगत का तम विनाश हो सकता है ? कहीं विस्फुलिंग अग्नि को प्रकाशित करने में समर्थ हो सकते हैं ? अग्नि तो स्वयं ही प्रकाश स्वरूप है इसी प्रकार आप सर्वज्ञ को हम क्या अर्थ विशेष का ज्ञान करावें ? बाहर भीतर कोई ऐसी बात नहीं जिसे आप जानते न हों। आप अपनी दिव्य योग माया के साथ क्रीड़ा करने वाले हैं। वह वैष्णवी माया इस जगत् को बनाती है। बिगाड़ती है और पालन पोषण करती है। आप समस्त जीवों के अन्तः करण में अन्तर्यामी तथा ब्रह्म रूप से तथा प्रधान या प्रकृति रूप से आप स्थित रहते हैं। कहीं भी कोई भी अणुमात्र भी ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ आप न हों। निखिल जीव समुदाय के उपादान तथा प्रकाशक रूप से देश काल, देह और अवस्था से विशेष के अनुसार उनका अनुभव करने वाले हैं। संसार में जितनी भी प्रतीति होती हैं उन सबके आप साक्षी हैं। हम सब जो भी कुछ कहते हैं सुनते हैं अनुभव करते हैं वह सब आपकी प्रेरणा से करते हैं आकाश ही आपका शरीर है। अर्थात् आप आकाश की भाँति सर्व व्यापक हैं कोई भी ऐसा विचार नहीं जो जो आकाश से अविदित हो मन होने के कारण आप भी सब कुछ जानते हैं।

प्रभो ! आपके ऐश्वर्य की कोई थाह नहीं सीमा नहीं। आप का ऐश्वर्य अचिन्त्य है अवाङ्मनसगोचर है। आप गुरुओं के भी गुरु हैं जगत गुरु हैं परमगुरु हैं परमेष्ठी गुरु हैं। स्वामिन् ! आप हमारे मनोगत भाव को जानते ही हैं। हम आपके निष्काम भक्त नहीं हैं सकामी हैं आर्त हैं। हम जिस दुख से दुखी होकर जिस कामना के वशीभूत होकर आपकी शरण में आये हैं

कामना को आप पूरा कर दें। हम आपके द्वार से निराश न लौटने पावें। हम विविध कामना रूपी घाम के कारण तथा इतने बड़े संसार में पैदल ही चलने के कारण श्रान्त तथा क्लमित होकर आपके चरण कमलों की सुशीतल छाया में आये हैं उन्हीं अरुण वरण के सुखद सरस शीतल पाद पद्मों का आश्रय लिया है। यहाँ से हम निराश नहीं लौट सकते। हे अशरण शरण! हम शरणागतों के मनोरथ को आपपूर्ण करें।

हे देव! आप सबको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। सब को आश्रय देते हैं इसी से कृष्ण कहलाते हैं। आप सब के स्वामी भी होने से ईश कहलाते हैं हे कृष्ण! हे ईश! यह वृत्रासुर तो बड़ा ही बलवान् है। यह तो तीनों लोकों को अपने मुख में रखकर निगल जायगा। इसने हमारे सम्पूर्ण अस्त्र शस्त्रों के साथ ही सम्पूर्ण तेजको ग्रस लिया है इसको अविलम्ब मारिये इस शक्ति शाली शत्रु का शीघ्रता से संहार कीजिये।

हे स्वामिन्! आप शुद्ध रूप वाले हैं हृदय रूपी आकाश में उड़ने वाले पुनीत पक्षी हैं सब जीवों के सभी कार्यों के सदा सर्वदा सर्वत्र साक्षी हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप हैं आपकी अमल विमल धवल कीर्ति दशों दिशाओं में व्याप्त है आप अनादि अनन्त अजर अमर अच्युत हैं आप साधु जनों द्वारा सेवित हैं भक्तानुग्रह कातर हैं आप भव सागर में डूबते हुए शरणागतों के लिये पुनीत पोत रूप हैं। आप अगतियों को गति दाता हैं दुखियों के तारक माता हैं। संसार पथ के पथिकों को शरणदाता हैं उनके उद्धारक हैं आपके पुनीत पाद पद्मों में हम पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवताओं ने भगवान की बहुत कुछ स्तुति की उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् ने जैसे दधीचि मुनिकी अस्थियों से अस्त्र बनवाकर वृत्र का वध कराया

वह प्रसंग विस्तार पूर्वक मैंने भागवती कथा प्रसंग में वर्णन किया ही है। इस प्रकार मैंने यह देवताओं द्वारा कृत भागवत स्तुति आप से कही अब जिस प्रकार रण में वृत्रासुर ने भगवान् की दिव्य स्तुति की उस स्तुति को मैं आप से कहूँगा। यद्यपि उसका वर्णन मैंने भगवती कथा के प्रसंग में भी किया है। किन्तु वह दिव्य स्तुति तो नित्य बारम्बार पढ़ने सुनने और मनन करने की वस्तु है। उसका जितना भी अधिक वर्णन किया जाय उतना ही उत्तम है।

छप्पय

हे त्रिभुवन पतिदेव ! दया देवनि पै कीजे।
असुर मारि अखिलेश अभय अबअमरनि दीजे ॥
विभु सरवज्ञ उदार सकल घट घट की जानें।
हम तो सब कछु पिता पितामह प्रभु कूँ मानें।
भव पथ श्रम तैं श्रमित हम, तव पद छाया अति सुखद।
भगत बछल भ्रम भय हरहु, धरहु शिरनि पै कर वरद ॥

पद

शरन प्रभु चरननि की हम आये।
दैत्य देह दुख दुसह दयानिधि, हम सब मारि भगाये ॥१॥
सरव समर्थ सार सारनि के, शरनागत अपनाये।
गोद्विज सुर साधुनि सेवा हित, अगनित वेष बनाये ॥२॥
कच्छ वराह, विप्रवटु, अरु नरसिंह कहाये।
विश्व विधायक विपति विभंजक, वेद विमल यश गाये ॥३॥
वृत्र विपतितैं विभो ! बचाओ विश्वम्भर कहलाये।
पुनि पुनि पद पदुमनि में प्रनवें प्रनत परम पद पाये ॥४॥

देवगणकृत प्रत्यक्ष स्तुति

देवाऊचुः

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः ।
नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये ॥ १ ॥
यत् ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम् ।
नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति ॥२ ॥

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथपरमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृतआत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान् ॥३॥ दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि ॥४॥ अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं फलमुपाददात्याहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः ॥५॥ न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगणे ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्प-

वितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रयदुर वग्रहवादिनांविवादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूप-द्वयाभावात् ॥६॥ समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम् ॥६॥ स एव हि पुनः सर्ववस्तूनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्व-प्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यव-शेषितः ॥८॥ अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृत्तदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासाः परमभागवता एका-न्तिनो भगवति सर्वभूतप्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निर-न्तरं निर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधुमथन पुनः स्वार्थ-कुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्त्वच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरय संसारपर्यावर्तः ॥९॥ त्रिभुवना-त्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिजदनुजादयश्चापि तेषामनुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रितजलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवञ्जहि त्वाप्द्रमुत यदि मन्यसे ॥१०॥ अस्माकं तावकानां तव नतानां तत ततामह तव चरणनलिनयुगलध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां स्वलिङ्ग-विवरणेनात्मसात्कृतानामनुकम्पानुरञ्जितविशदरुचिरशिशि-

रस्मितावलोकेन विगलितमधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापमनघार्हसि शमयितुम् ॥११॥ अथ भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमायाविनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानोपलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण आकाशशरीरस्य साक्षात् परब्रह्मणः परमात्मनः कियानिह वा अर्थविशेषो विज्ञापनीयः स्याद् विस्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः ॥१२॥ अत एव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां विविधवृजिनसंसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां वयं यत्कामेनोपसादिताः ॥ १३ ॥

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम् ।
ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥१४॥

हंसाय दहनिलयाय निरीक्षकाय,
कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।
सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्तौ,
अन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ॥१५

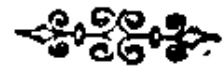

वृत्रासुर कृत भगवत् स्तुति

(४७)

अहं हरे तव पादैक मूल–
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १२ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

वृत्रासुर रनमाहिँ इन्द्रकूँ बहु सिख दीन्हीं ।
प्रकटे प्रभु प्रत्यक्ष असुरपति विनती कीन्हीं ॥
हौं तव दासनि दास स्वरग अरु मोक्ष न चाहूँ ।
धेनु वत्स शिशु पत्नि विरहिनी सम बनि जाऊँ ॥
मनमोहन ! मनमहँ बसहु, बानी गुन नामनि कहै ।
तव सेवा में तन निरत, करत दण्डवत नित रहै ।

दुःख में भी जिनकी बुद्धि विचलित न हो, किसी योनि में आकर भी जिनकी भगवत् स्मृति कुंठित न हो, उत्सव में शोक में

---

* भगवान् की रणक्षेत्र में स्तुति करते हुए भक्त वृत्र कह रहा है— "हे हरे ! मैं रण में मर कर फिर भी आपके उन दासों का भी अनुदास होऊँ, जिनको एकमात्र आपके ही चरणकमलों का आश्रय है । हे प्राणनाथ ! मेरा मन आपके ही नामगुणों का गान करे तथा देह भी आपके ही निमित्त कार्य करे ।"

वन में, समर में सर्वत्र जो सदा अपने श्यामसुन्दर को ही स्मरण करते रहें वास्तव में भक्त वे ही हैं बड़ा पद पाने से, आधिकाधिक प्रतिष्ठित होने से, सुरों का आधिपत्य पाने से तथा विश्वविख्यात हो जाने से ही कोई कृतार्थ थोड़े हो सकता है। नीच योनि पाने परभी जिसकी वृत्ति घनवारी के पादपद्मों में लग गयी है, वही वास्तव में धन्य है, उसी का जन्म सार्थक है, जीवन का लाभ तो उसी को प्राप्त हुआ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! समर में वृत्रासुर ने इन्द्र को भी विविध भाँति से समझाया, उसे तत्व का उपदेश दिया तथा अपनी भगवान् में दृढ़ निष्ठा जतायी। इतनी देर तक पूर्णनिष्ठा के साथ भगवत् चर्चा करने का परिणाम यह हुआ कि उसे प्रत्यक्ष भगवान् के दर्शन होने लगे। अब उसने इन्द्र से बातें करना बन्द कर दिया। सर्वात्मभाव से सर्वेश्वर की शरण में जाकर दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर,नयनों से अश्रु बहाते हुए गद्गद् वाणी से भगवान् की स्तुति करने लगा। स्तुति करते करते अत्यन्त आर्त स्वर में वृत्रासुर कह रहा है—"प्रभो! मैं आपकी शरण में हूँ। आप मुझे अपना लें, अपना बनालें, मेरा सर्वस्व आपके ही लिये हो। मैं प्रार्थना इस कामना से नहीं करता कि मेरी आसुरी योनि समाप्त हो जाय। योनि कोई भी हो, इससे आत्मा में तो कोई अन्तर पड़ता नहीं। राजा है वह चाहे सुन्दर वस्त्र पहिन ले या मलिन फटे पुराने। वस्त्रों से उसके व्यक्तित्व मे तो कोई अन्तर आता नहीं। मैं यह भी नहीं चाहता कि मुझे स्वर्गीय भोग प्राप्त हो जायँ। भोग तो तुच्छ हैं नाशवान् हैं, इन सबका परिणाम दुःख ही है,वे चाहें भौम सुख हों अथवा स्वर्गीय सुख। सभी क्षणभंगुर हैं, सभी अनित्य हैं सभी अन्तवन्त हैं। देवता भी पुण्यक्षीण होने पर ढकेल दिये जाते हैं। स्वामिन!

मुझे इन्द्र पद भी नहीं चाहिये। इन्द्र की दुर्दशा तो मैं प्रत्यक्ष ही देख रहा हूँ, उसे अपन पद की सुरक्षा के निमित्त कैसे कैसे घृणित कार्य करने पड़ते हैं। जब तीनों लोकों का स्वामी अमरपति इतना दुखी है, तो पृथिवी के सार्वभौम सम्राट् की तो बात ही क्या है। स्वर्गभी तीन प्रकारका है भूस्वर्ग विलस्वर्ग और द्युस्वर्ग। मुझे न तो सम्पूर्ण पृथिवी का साम्राज्य चाहिये न नीचे के अतल वितल रसातल आदि का आधिपत्य चाहिये, न इन्द्रपद चाहिये और यहाँ तक कि ब्रह्मपद की भी मुझे आकांक्षा नहीं।

हे सर्वसौभाग्य समुद्र! हे मोक्षदाता! आप यह न सोचें कि मैं मोक्ष के लिये, अपवर्ग के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ, प्रभो! मुक्ति लेकर मैं क्या करूँगा, जिसमें सेवा नहीं, पूजा नहीं, सरसता नहीं, भक्ति नहीं, रसास्वादन नहीं। मुझे तो भक्ति चाहिये एकमात्र भक्ति। आपके चरणकमलों की भक्ति तो अत्यन्त दुर्लभ है, उसकी भी मैं चेष्टा मानता हूँ। मैं तो चाहता हूँ, जो आपके दास हैं, सन्त हैं, भगवत् भक्त हैं, उनके जो दास हैं उनका भी मैं दास बन जाऊँ। आपके दासों का अनुदास बन जाऊँ, तो मैं अपने को धन्य समझूँ, अपने म को सफल मानूँ, अपने जीवन को कृतकृत्य अनुभव करूँ।

हे मनमोहन! मेरा मन आपकी ही बाँकी झाँकी का सदा सर्वदा चिन्तन करता रहे। मेरे प्राण सदा आप परमप्रिय प्राणनाथ की ही पुकार करते रहें। श्वास श्वास पर आपका ही स्मरण हो। प्रभो! मेरी वाणी सदा आपके सुमधुर परमपावन नामों का तथा गायकों के गायनों के परमधन गुणगणों का ही गान करती रहे। मेरा शरीर सदा आप स्वामी की सेवा में ही संलग्न रहे। जो कार्य करे आपके और आपके अनुचरों के ही निमित्त करे। हे स्वामिन्! मुझे तो एकमात्र आपके चरणकमलों का ही आश्रय

है, मैं आप अखिलपति को छोड़कर अन्य किसी को जानता ही नहीं।

हे कमलनयन ! मुझे सदा आपका ही एकमात्र आधार रहे, आपकी आशा रहे। मैं आपका ही सदा निहारता रहूँ। जैसे अण्डे से निकले तत्काल के बच्चे अपनी माँ की बाट जोहते रहते हैं, उन्हें माता के अतिरिक्त कोई अन्य आधार नहीं। अथवा जैसे तत्काल की ब्याई गौ का बछड़ा माँ के लिये सदा हम्मा हम्मा करके चिल्लाता रहता है, तड़पता रहता है, बिलबिलाता रहता है, उसी प्रकार मैं भी आपकी स्मृति में तड़पता रहूँ चिल्लाता रहूँ छटपटाता रहूँ। गोवत्स का तो दुग्ध पान करने का कुछ स्वार्थ भी रहता है, किन्तु प्रभो ! मेरी छटपटाहट निःस्वार्थ हो कामना रहित हो, केवल आपके प्रति विशुद्ध प्रेम ही हो। जैसे विदेश को गये पति के लिये पतिव्रता विरहिणी बिलबिलाती रहती है छटपटाती रहती है। व्याकुल बनी रहती है। वह केवल अपने पति के दर्शनों की ही भूखी रहती है, इसी प्रकार प्रभो ! मैं भी आपके प्रेम में ही निमग्न रहूँ, समस्त कामनाओं से रहित होकर आपके ही दर्शन करने के निमित्त व्याकुल बना रहूँ।

स्वामिन् ! मेरी एक और भी विनती है। किये हुए कर्मों के कारण यदि मुझे नाना योनियों में भ्रमण करना पड़े जाना पड़े, जन्म लेना ही पड़े तो लेता रहूँ। मेरे जन्मकर्म के चक्र को मेट दो, मेरे आवागमन को समाप्त कर दो, इसके लिये प्रार्थना नहीं करता। कर्मवश सहस्रों जन्म लेने पड़ें यह मुझे स्वीकार है, किन्तु उसमें एक ही संशोधन चाहता हूँ मुझे पवित्र कीर्तिपावन यश वाले आप प्रभु के भक्तों का ही संग मिले। जिस योनि में भी भाग्यवश जन्म लेना पड़े तो मुझे जो साथी मिलें सभी भग-

वत् भक्त ही मिलें। मुझे जो भी कुछ करना पड़े भक्तों के साथ ही करना पड़े। भगवत् भक्तों से ही मेरा संसर्ग हो उन्हीं के साथ उठूँ, बैठूँ खेलूँ कूदूँ खाऊँ पीऊँ अर्थात् जो भी करना हो भक्तों के द्वारा ही करना पड़े। जो आपके भक्त नहीं हैं सदा आपकी विश्वमोहिनी माया के कारण संसारी झंझटों में ही फँसे रहते हैं। मृगनयनी, मनहरमुखी पत्नी के विषय सोचते रहते हैं, जो संसारी सुखों को ही सर्वस्व समझते हैं, जिन्हें उठते बैठते अपने परिजनों की चिन्ता बनी रहती है। मेरी स्त्री का निर्वाह कैसे होगा, वह किस प्रकार सुख पावेगी कैसे मुझसे अधिकाधिक प्यार करेगी, कैसे मेरे पुत्र पुत्री पावेंगे कैसे उनके दुख दूर होंगे। कैसे उनकी वृत्ति चलेगी, कैसे मेरा सुन्दर सुसज्जित घर बनेगा, कैसे सब लोग उसकी प्रशंसा करेंगे, कैसे अधिकाधिक धन मेरे पास आवेगा कैसे मैं सबसे अधिक धनी बनूँगा, छलसे, बलसे कला कौशल से कैसे मैं सम्पत्तिवान् बनकर सबसे श्रेष्ठ कहलाऊँगा। इस प्रकार जो सदा संसारी कार्यों में ही निमग्न रहते हैं, जिनके लिये सब कुछ विषय भोग ही हैं। ऐसे संसारी भोगों में आसक्त रहने वाले कामी पुरुषों का संग मुझे भूलकर भी किसी भी योनि में न हो। जब भी मैं जन्म लूँ जिस योनि में भी उत्पन्न होऊँ उसी में मुझे आपके चरणानुरागी भगवत् भक्तों का ही संग हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वृत्रासुर स्तुति करके युद्ध में गया और वहाँ इन्द्र के हाथों मरकर परमपद का अधिकारी बना। यह मैंने आपसे वृत्रासुर की स्तुति कही। अब जैसे नारदजी ने चित्रकेतु राजा को जैसे स्तोत्र विद्या का उपदेश दिया उस स्तोत्र को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

करमनि के अनुसार विविध योनिनि महँ जाऊँ।
चिन्ता नहिँ परि प्राननाथ, प्रिय यह वर पाऊँ॥
तव दासनि को दास बनूँ हौं जनम जनम में।
मिलै न तिनि को संग लिप्त जे दारा धन में॥
द्रवहु दीन पै दयामय, देहु दरस प्रभु अस सतत।
तन मन वानी तैं रहैं, तव सेवामहँ नित निरत॥

पद

स्वरग अपवरग नाथ! नहिँ माँगू।
तव भगतनि को भगत कहाऊँ, नितनित तिनि पग लागूँ॥१॥
कथा कीरतन संतनि सेवामहँ, अतिशय अनुरागूँ।
विषय भोग महँ फँसे नरनितैं, दूरि दूरि हौं भागूँ॥२॥
माँ हित शिशु रोवत त्यों निज मन, प्रेम पाग में पागूँ।
मोह निशा में सोवत सब जन, विरह माहिँ हौं जागूँ॥३॥

वृत्रासुर कृत भागवत् स्तुति

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपहतेगुणांस्ते गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥१
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योग सिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे ॥२
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष विदक्षते त्वाम् ॥ ३ ॥ ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रेभ्रमतः स्वकर्मभिः । त्वन्मायया ऽऽत्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥ ४ ॥

राजा चित्रकेतुको नारदजी द्वारा ७ स्तोत्र

(४८)

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः संकर्षणाय च ॥

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

चित्रकेतु सुत मरयो आइ नारद समुझायो ।
दुःख हरन के हेतु शेष को मंत्र बतायो ॥
चतुर व्यूह भगवान् चरन तव शीश नवाऊँ ।
नाम निखिल नरसिंह सुयस तव कैसे गाऊँ
जो सब जग में रमि रहे, नित्य निरंजन प्रेम घन ।
अज अच्युत तिनि चरन महँ, बार बार मेरो नमन ॥

जो जैसी भावना का होता है, उसे भगवान की उसी भावना की उपासना बतायी जाती है। जो शुद्ध सात्विक भाव के सरल साधक होते हैं उन्हें सत्वमूर्ति भगवान् विष्णु की

---

*महाराज चित्रकेतु को विद्या का उपदेश करते हुए नारद जी कहते हैं- मैं आप ओंकार स्वरूप को नमस्कार करता हूँ, आप भगवान् वासुदेव का मैं ध्यान करता हूँ। चतुर्व्यूह में प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण स्वरूप आप परमात्मा को प्रणाम है।

उपासना प्रिय होती है, जिनका स्वभाव राजस है, वे पितर, प्रजापति तथा ब्रह्माजी के रूपमें उपासना करते हैं, जो तामसी प्रकृति के हैं, वे भूत, प्रेत तामसी अन्य शक्तियाँ, रुद्र तथा संकर्षण की उपासना करते हैं। सत्वमूर्ति भगवान् तो एकही हैं, कार्य भेद, भाव भेद से प्रतीत होते हैं। वास्तव में तो वे नाम रूप से सर्वथा रहित एक अद्वितीय अज तथा अच्युत हैं, कैसे भी हो, किसी भावसे भी हो, जो भगवान् की शरण में जाताहै, वह सभी दुःख द्वन्दों से निर्मुक्त होकर प्रभु के परम प्रेमका अधिकारी बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! शुरसेन देश के एक राजा थे, बहुत सी रानियाँ होने पर भी उनके कोई सन्तान नहीं थी। अङ्गिरा मुनिके आशीर्वाद से उनके एक पुत्र हुआ। ईर्ष्यावश अन्य रानियों ने उसे विष देदिया। पुत्र मर गया। उस समय शोकाभिभूत राजाके समीप नारदजी के सहित अङ्गिरामुनि पुनः आये। राजाको बहुत प्रकार से समझाबुझा कर भगवान् नारद ने उन्हें यह संकर्षण स्तोत्र विद्या प्रदानकी। उस स्तोत्रका जो भाव है उसे मैं आपको बताता हूँ।

राजा को उपदेश करते हुए नारद जी कह रहे हैं—राजन्! तुम नित्य इस स्तोत्रका निरन्त पाठ करना। कहना—हे ओंकार स्वरूप भगवन्! मैं आप को नमस्कार करता हूँ। अन्तः करण चतुष्टय के अधिष्ठातृ देव आप वासुदेव, संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप से अवस्थित हैं। अतः भगवान् वासुदेव जो बुद्धि तत्व के अधिप हैं उनको नमस्कार है, संकर्षण भगवान् जो अष्ठितृ देव हैं उनको नमस्कार है, अनिरुद्ध जो चित्त के अधिष्ठातृ देव हैं उनको वारम्वार प्रणाम है। हे प्रभो! आप विज्ञान

मात्र हैं, अर्थात् आप के किसी भी अंश में अणुमात्र भी जड़ता नहीं, शुद्ध विज्ञान स्वरूप हैं ऐसे आप को नमस्कार है। आप परमानंद मूर्ति हैं अर्थात् आप से अधिक आनंद कहीं भी नहीं है निरतिशय सुख स्वरूप हैं ऐसे आपको बारम्बार प्रणाम है। आप अपनी अन्तरात्मा में ही रमण करते हैं, इसीलिये विज्ञजन आप को आत्माराम कहते हैं, आप राग से रहित अतः शांत स्वरूप हैं आप में स्थूल तथा अणु का भेद भाव नहीं हैं, आप की द्वैत दृष्टि निवृत्त हो चुकी है ऐसे आप अद्वय एक रस प्रभु के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! आप ने अपने आत्मानुभव से भूख, प्यास, शोक मोह जरा मरण रूपी तरंगों को स्वयं ही शांत कर रखा है, अथवा आप में उर्मियों का लेश मात्र भी नहीं, आप इन्द्रियों के एक मात्र अधीश्वर हैं, इसीलिये हृषीकेश कहलाते हैं आप इन्द्रियों के नियन्त्रक तथा कारणों के ईश हैं। आप अपने स्वरूप से तथा गुणों से अतिशय महान हैं और यह समस्त विश्व ही आप की मूर्ति है ऐसे आप सर्वेश्वर को बारम्बार नमस्कार है।

स्वामिन्! आप मन तथा वाणी के विषय हैं वाणी तथा मन आप को बिना प्राप्त किये ही लौट आते हैं, आप नाम और रूप से रहित हैं आप केवल चैतन्य स्वरूप हैं, एक अद्वय हैं, चिन्मात्र तथा सभी कार्य कारण से सदा सर्वदा रहित हैं, आप को प्रणाम है आप हमारी रक्षा करें।

हे जगदाधार! यह सम्पूर्ण जगत् आपमें स्थित है,आपके द्वारा ही उत्पन्न हुआ है, आप के द्वारा ही पालन हो रहा है और आप के ही द्वारा अन्त में इसका विनाश हो जायगा, आप में ही लोप

हो जायगा। आप के अतिरिक्त जगत में और है ही क्या। जैसे मिट्टी से घड़े, सकोरे, परई, नाद, करवा तथा अन्य अनेक नाम तथा भिन्न भिन्न आकृति वाले बर्तन बन गये, बर्तन बनने के पूर्व भी मिट्टी थी, बर्तन बन गये तब भी मिट्टी ही मिट्टी थी, फूट जाने पर घड़ा भले ही न रहे मिट्टी तो ज्यों की त्यों बनी ही रहेगी। केवल आकृति और नाम के कारण बीच में वह भिन्न भिन्न नामों से बोली जाने लगी थी। नहीं तो तीनों काल में मिट्टी ही थी। मिट्टी ही रहे और मिट्टी ही रहेगी। इसी प्रकार जगत्के नाम पड़ने के पूर्व भी आप थे, जगत् जब बना तो वस्त्र में ताने बाने की भाँति भी आप रहें और जगत के अन्त होने पर भी ज्यों के त्यों बने रहेंगे। आप तो त्रिकाल सत्य तथा एक रस हैं, ऐसे सदा सम भाव से विद्यमान् रहने वाले परब्रह्म स्वरूप प्रभु के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे प्रभो! जैसे वायु सदा सर्वदा सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु हम उसे नेत्रों द्वारा देख नहीं सकते। जैसे आकाश बाहर भीतर व्याप्त है, फिर भी वह विषय नहीं है। इसी प्रकार आप भी समस्त प्राणियों भीतर बाहर सर्वत्र समभाव से अवस्थित हो, किन्तु मन, बुद्धि, इन्द्रियां तथा प्राण भी आप को स्पर्श नहीं कर सकते। आप इनका विषय नहीं। आप अन्तर और बाहर में बैठे हुए नारायण को हम नमस्कार करते हैं।

प्रभो! आपकी शक्ति के बिना देह जड़ है शव है, व्यर्थ है, आप की शक्ति से इन्द्रियाँ कुछ व्यापार नहीं कर सकतीं प्राणों में गति नहीं, मन में मनन करने की योग्यता नहीं, बुद्धि में विवेक की क्षमता नहीं। ये सब तो तभी कार्य करते हैं, जब आप की इन में व्याप्ति हो जाय। जैसे लोहे का एक गोला है जब वह अपने रूप में उसे उठा लो सिर पर रख लो कुछ भी न होगा,

किन्तु वही जब दहती अग्नि में पड़ जाय और अग्नि की दाहकत शक्ति उसमें व्याप्त हो जाय, तो वह सबको जलाने में समर्थ हो सकता है, जैसे अग्नि का शक्ति बिना लोहा दहन कार्य में असमर्थ है वैसे ही बिना आप के चैतन्यांश के देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, और बुद्धि जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के कार्यों को करने में असमर्थ हैं। ऐसे आप सर्व नियामक स्वामी के पाद पद्मों में प्रणाम है।

हे ओंकार स्वरूप सर्वेश! आप महा विभूति शाली हैं संसार की सभी विभूतियों का स्रोत आप में ही है। आप महापुरुष तथा महानुभाव हैं, ऐसे महाविभूति पति आप महापुरुष को बारम्बार नमस्कार है। हे भक्त वृन्द वन्दित भक्त वत्सल! आप के चरण कमल के समान मोहक तथा आकर्षक हैं, जितने भी श्रेष्ठ श्रेष्ठ भक्त हैं, उन सब का समूह जब आप के चमकीले सरस, सुगन्धित, मृदुल, सुखद चरणों की वन्दना करता है, तो उनके अर्ध विकसित कर कमल कलिकाओं के समान कमनीय दिखायी देते हैं, उन अरुण वरण के अर्धस्फुटित कलिकाओं द्वारा जब चरण वन्दित होते हैं, तब उनकी शोभा अनिर्वचनीय बन जाती है। उसके निर्वाचन करने का कथन करने की सामर्थ्य किसी में है ही नहीं। वह शोभा तो अनुभव गम्य है। उन युगल चरणारविन्दों में हे परमेष्ठन् प्रभो! हम पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने देवर्षि नारद द्वारा राजा चित्रकेतु को दी हुई संकर्षणीय विद्या का वर्णन किया, अब जिस प्रकार बिना कुछ खाये केवल जल पीकर सात दिनों तक राजा ने इसका अनुष्ठान किया और सात दिनों के अनन्तर [illegible] के प्रभाव से भगवान् संकर्षण ने उन्हें दर्शन दिया और उन्होंने शेष

जी की जो स्तुति की, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सावधानी से श्रवण करें।

छप्पय

मन वानी के विषय न जिनको नाम रूप है।
कारज कारन रहित सच्चिदानंद स्वरूप है॥
प्रान, करन, मन, बुद्धि परसि जिनकूँ नहिं पावें।
भीतर बाहर व्योम सरिस तन में न दिखावें॥
चेतनता जिनकी मिलै, तब तन प्रान सकाम हैं।
संतनि सेवित चरन तिनि, पुनि पुनि पुन्य प्रणाम हैं॥

पद

पदुम पद पतित प्रनत परमेश्वर।
चतुर व्यूह विज्ञान मात्र अज, विश्वरूप विश्वम्भर ॥१॥
आत्माराम द्वैत तें वरजित, शान्त रूप सरवेश्वर।
जिनमें जगत भयो जिनि द्वारा, धरें रूप अज हरिहर ॥२॥
व्योम वायु सम दीखत नाहीं, बिहरें बाहर भीतर।
तन, मन, प्रान, करन, धी जड़ सब चेतन करो कृपाकर ॥३॥
भक्तनि सेवित मृदुल सरस अति तव पद पदुम सुधाकर।
तिनि कर कमल कलित कलिका सम शोभित रहत निरंतर ॥४॥

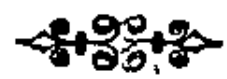

नारदोपदिष्ट स्तोत्र

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥ १ ॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय निवृतद्वैतदृष्टये ॥२॥
आत्मानन्दानुभूत्यैवन्यस्तशक्त्यूर्मये नमः ।
हृषीकेशाय महते नमस्ते विश्वमूर्तये ॥३॥
वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह ।
अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः ॥४॥
यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते ।
मृण्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥५॥
यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः ।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ॥६॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु ।
नैवान्यदा लोहमिवाप्रतप्तं स्थानेषु तद् द्रष्टृपदेशमेति ॥७॥
ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय ।
महाविभूतिपतये सकलसात्वतपरिवृढ-
निकरकरकमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल-
परमपरमेष्ठिन् नमस्ते ॥८॥

राजा चन्द्रकेतु कृतसंकर्षण स्तुति (१)

(४६)

अजित जितः सममतिभिः
साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता ।
विजिता स्तेऽपि च भजता—
मकात्मनां य आत्मदोऽति करुणः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

चित्रकेतु सुत शोक अङ्गिरा तुरत मिटायो ।
नारद तैं लै मंत्र शेष पद ध्यान लगायो ॥
सात दिवस में शेष दये दरशन दुख भागे ।
देखि इष्ट प्रत्यक्ष करन इस्तुति नृप लागे ॥
भगतनि के आधीन प्रभु, सरबसु तिनि के आप हों ।
करो हरो पालो जगत, सबके तुम पितु मातु हो ॥

भगवान् एक हैं जो जैसी भावना से जिस रूप की उपासना करता है उसे उसी रूप के उसकी भावनानुसार दर्शन होते हैं

---

* भगवान् संकर्षण की स्तुति करते हुए राजा चित्रकेतु कह रहे हैं—"हे अजित ! आप कभी हारते नहीं, किन्तु समदर्शी साधु पुरुषों द्वारा आप जीते गये हैं । उनके सम्मुख आपने पराजय मानली है । आपने

और सभी उनकी समानरूप से स्तुति करते हैं। इष्ट के नाम में तथा रूप में बाहरी भेद भले ही प्रतीत हो किन्तु तत्व एक ही है। अतः प्रार्थनायें चाहें जिस रूप की हों भिन्न भिन्न नाम वाले देवताओं की हों सब एक सी ही होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा चित्रकेतु जो पुत्र शोक से अत्यन्त ही दुखी हो रहा था तब महर्षि अङ्गिरा तथा नारद जी ने उसे समझाया नारदजी ने उसे संकर्षण विद्या दी जिसका वर्णन मैं पीछे कर चुका हूँ। राजा ने नारदजी की बतायी हुई विद्या का सात दिनों तक अनशन करके केवल जल पीकर अनुष्ठान किया। सात दिनों में ही उस विद्या के प्रभाव से राजा उसी शरीर से विद्याधरों के राजा बन गये। फिर भी वे उसका अनुष्ठान करते रहे। श्रद्धासहित अनुष्ठान के प्रभाव से उनकी गति अत्यधिक बढ़ गयी और उन्हें स्वयं साक्षात् भगवान् संकर्षण के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। अपने इष्ट देव के दर्शन पाकर उन्हें प्रत्यक्ष अवलोकन करके राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा वे गद्गद वाणी से भगवान् संकर्षण की स्तुति करते हुए कहने लगे—हे भगवन्! संसार में आप अजित कहलाते हैं अर्थात् आप को कोई जीत नहीं सकता। किन्तु भक्तों के सम्मुख आप अपने नामकी सार्थकता को भुला देते हैं वहाँ आप पराजित बन जाते हैं भक्त आप को जीत लेते हैं अपने वश में कर लेते हैं हृदय में बिठा लेते हैं। जो साधु पुरुष समदर्शी हैं भेदभाव से रहित हैं सरल स्वभाव के हैं वे आपके वश में हो

भी उन्हें जीत लिया है। जो निष्काम भाव से आपका भजन करते हैं उन्हें आप अपनी आत्मा को दे डालते हैं क्योंकि आप तो अत्यन्त कृपालु हैं।"

जातें और आप उनके वश में हो जाते हो। आप कुछ उनके बल पुरुषार्थ से थोड़े ही वश में होते हैं। आपको कोई जप तप, यज्ञानुष्ठानादि साधनों द्वारावश में करना चाहे तो नहीं कर सकता। क्यों कि आप साधन साध्य नहीं। बेचारे साधन आप तक कैसे पहुँच सकते हैं आप तो कृपा साध्य हैं। स्वयं ही आप दया क सागर हैं कृपा के समुद्र हैं अनुग्रह के अर्णव हैं। कृपालुता के कारण ही आप अपने भक्तों को अनन्य उपासकों को निष्काम सेवकों को अपना सर्वस्व दे डालते हैं। यहाँ तक कि अपने आपको भी उनको अर्पण कर देते हो।

प्रभो! कहें कि आप इस संसार के कर्ता हो तो बात बनती नहीं क्यों कि आप सभी क्रियाओं से रहित हो फिर भी आपके अतिरिक्त कोई संसार का कर्ता दृष्टि गोचर होता नहीं। यह कहें कि आप इसके पालक हो तो भी उचित जँचता नहीं। कारण कि आप माया मोह से सर्वथा रहित हो फिर दूसरा कोई सम्पूर्ण चराचर का पालन करने वाला दीखता नहीं। इतनी सामर्थ्य किसमें है कि इतने भारी विश्व का इतने अगणित जीवों का सविधि लालन पालन कर सके। आपको लोग संहर्ता प्रलय करता तथा सबको अपने में लीन कर्ता कहते हैं। आप निष्प्रयोजन निष्काम निरंजन हैं आपको क्या पड़ी कि सबका संहार करते किन्तु आपके अतिरिक्त कोई इतने बड़े पसारे को समेट भी तो नहीं सकता। संहार की सामर्थ्य भी तो सबके समीप नहीं होती। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और विनाश आपकी लीला है। क्रीड़ा है, विनोद है, मनोरंजन है।

हम पुराणों में सुनते हैं ब्रह्मा जी में और विष्णु में परस्पर इसी बात पर झगड़ा हो गया कि हम बड़े तुम छोटे हम बड़े

कोई कहता हम कर्ता हैं कोई कहता हम कर्ता हैं। दोनों के विवाद के समय एक अनादि अनन्त तेज पुँज प्रकट हुआ दोनों में यही निर्णय हुआ कि जो इसका पहिले आदि या अन्त का पता लगा आवे वही बड़ा। दोनों ऊपर नीचे गये न किसी को आदि का पता चला न अन्त का पता चले भी तो कैसे चले आपका आदि अन्त हो तब तो यहाँ तो न आदि ही है न अन्त ही है आपअनादि अनन्त एकरस अखण्डअद्वय अविनाशी अजर अमर, अलौकिक अवर्णनीय तत्व हैं। ब्रह्मादिदेव जो आपके अंश के भी अंश हैं वे व्यर्थ में अपने को कर्ता मानकर भेद बुद्धि द्वारा परस्पर में अकारण स्पर्दा करते हैं लड़ते भिड़ते हैं। यह भी आपकी ही लीला है।

हे सत्य स्वरूप ! हम देखते हैं सम्पूर्ण सृष्टि में छोटी से छोटी वस्तु में भी आपकी सत्ता है और बड़ी से बड़ी वस्तु में भी आप ही विद्यमान् है। तीनों गुणों की साम्यावस्था में जोसर्व प्रथम विकृति होती है, उसे सबसे महान तत्व कहते हैं, उस महत्तत्व से बड़ा कोई तत्व नहीं। जिसके टुकड़े न हो सकें जो अति सूक्ष्म से सूक्ष्म दृष्टि से देखा जा सके उसे अणु कहते हैं, उस अणु से भी किसी छोटी वस्तु की कल्पाना की जा सकती हो उसे परमाणु कहते हैं संसार में वही सबसे छोटी वस्तु है। इन बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी वस्तुओं में आप ही हो जब इनकी उत्पत्ति हुई तब भी आप ही थे। जब ये हो गयीं तब भी आप थे और जब इनका विनाश हो गया तब भी आप

ज्यों के त्यों ही बने रहे। इनके आदि में मध्य में और अन्त में —तीनों ही अवस्थाओं में विद्यमान रहे। इन पदार्थों का आदि मध्य और अन्त हुआ। किन्तु आपका न आदि है न मध्य है न अन्त हुआ। आप स्वयं अनादि अनन्त एकरस हो। निश्चल एक तत्व तो सब में आप ही हैं। सब उत्पन्न होते हैं, आप कभी उत्पन्न नहीं होते। सब में विकार होता है आप निर्विकार हैं, सब का अन्त होता है आप अन्त से रहित हैं। इन वस्तुओं के आदि में भी आप ही थे, अन्त में भी आप ही रहेंगे, जो आदि अन्त में होता है वही मध्य में भी रहता है, इससे सिद्ध हुआ कि जो यह नाना नाम रूपों में प्रतीत होरहा है उसमें आपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

प्रभो! ये नाना नगर, पुर पत्तन, गिरि, वन नदी, जनपद, राष्ट्र महाराष्ट्रवाली पृथिवी के हैं जितनी बड़ी यह पृथिवी है,दस गुना जलतत्व है, जलतत्व से दसगुना तेजतत्व है, तेजतत्व से दसगुना वायुतत्व है, वायुतत्व से दसगुना आकाश तत्व है आकाश तत्व से दसगुना अहंतत्व और अहंतत्व से दसगुणा प्रकृति तत्व है। इस सप्तावरण संयुक्त अंड का नाम ब्रह्माण्ड है, इस एक ब्रह्मांड के स्वामी ब्रह्मा हैं। ऐसे ऐसे अगणित ब्रह्मांडों का समूह आप में इस प्रकार घूमता रहता है जैसे झरोखा के छिद्र से प्रकाश के साथ अगणित छोटे छोटे परमाणु घूमते हुए दिखायी देते हैं। इन अगणित ब्रह्माण्डों की आपके यहाँ कोई गणना ही नहीं आपके प्रत्येक रोम कूप में ऐसे करोड़ों असंख्यों ब्रह्माण्ड फैल फूटकर घूमते रहते हैं।

हे सर्वस्वदाता! यह मानव रूप क्षुद्र प्राणी चाहता क्या है सुन्दर रूप, विपुल धन, संसार में यश और शत्रु का नाश।

सदा देवी देवताओंके समक्षयही रट लगातारहता है-"रूपंदेहि धन-देहि यशोदेहि द्विषोजहि" ये क्षुद्र देवी देवता भी इसके श्रम के अनुसार कुछ दे देते हैं। परन्तु जब वे देने वाले ही स्थायी नहीं तो उनके दिये हुए भोग स्थायी कैसे हो सकते हैं। एक कोई संसारी राजा है, वह किसी नट की कला पर नर्तकी के नृत्य पर, तार्किक की तर्क पर पंडित के पांडित्य पर प्रसन्न हो गया। उसने उन्हें दो दो चार चार गाँव पारितोषिक रूप में दे दिये। दूसरे दिन किसी अन्य राजा ने उस राज्यपर चढ़ाई की राजा को बन्दी बनाकर स्वयं वहाँ का राजा बन बैठा, अब कल वाले राजा ने जो गाँव दिये हैं उन्हें वह छुड़ा सकता है। जब राजा ही न रहा तो उसका दिया उपहार कै दिन रहेगा। उसी प्रकार तुमने इन्द्र की उपासना की प्रसन्न होकर स्वर्ग में एक विमान दे दिया। दस बीस अप्सरायें दे दी। कुछ काल पश्चात् इन्द्र बदल गये दूसरे इन्द्र आगये तो चाहे दे या न दें। स्वयं इन्द्र लोक भी तो क्षयिष्णु है, विमान भी तो नाशवान है। अप्सरायें भी तो अन्तवन्त हैं। फिर इन क्षुद्र वस्तुओं के लिये मरना मारना दूसरों से ईर्ष्याद्वेष करना पशुता नहीं तो और क्या है? जैसे एक पशु दूसरे पशु की घास के लिये लड़ता है, झगड़ता है वही दशा इन नर पशुओं की भी है।

हे परमात्मन्! मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है आप की उपासना करे। आप को चाहे, आप से प्रेम करे, आपकी कृपा की कामना करे। निष्काम भावसे आप का ही भजन करे। कुछ लोग कहते हैं कामना तो कामना ही है। कोई स्वर्ग की कामना से भजन करता, कोई धन की कामना से भगवान को भजता है कोई मोक्ष कामना से, कृपा कामना से अथवा प्रेम की कामना से। किन्तु आप के प्रति की हुई कामना कामना नहीं कहलाती। जैसे ससुराल की

गाली गाली नहीं होती। मोक्ष की कामना से न सही। आपको तो कोई विषय वासना की ही कामना से भजे तो भी उसका परिणाम बन्धन नहीं होता बन्धन तो वहाँ होता है जहाँ लेने देने वालों में सौदा हो। जहाँ लेने देने वाले स्वार्थी हों लालची हों। हम भले ही विषयी हों, किन्तु आप तो विषय वासनाओं से सदा सर्वथा रहित हैं। हम भले ही अज्ञानी हों, किन्तु आपतो ज्ञान स्वरूप हैं, हम भले ही तीनों गुणों मे रमण करने वाले हों, किन्तु आप तो निर्गुण हैं। फिर आप के प्रति की हुई विषयवासनाओं की इच्छायें कर्म फल दायनी-बन्धनकारिणी-कैसे हो सकती हैं। अंकुर वही उत्पन्न होगा जहाँ बीज भी वासनायुक्त हो भूमि भी उर्वरा हो और अनुकूल खाद्यजलका भाव हो। बीज यदि वासना युक्त है और भूमि ऊसर है तो बीज न जमेगा यदि भूमि उर्वरा है और बीज भुना हुआ है तो कितना भी खाद पानी दो उसमें से अंकुर न निकलेगा। कोई समदर्शी, शान्त स्वभाव वाला साधु है, उसे कोई गाली दे और उस गाली को वह स्वीकार न करें तो चाहे कितनी भी भारी गाली क्यों न हो उसके मन को क्षुभित नहीं कर सकती। इसी प्रकार हे प्रभो! आप ज्ञान स्वरूप हैं, निर्गुण हैं। आप के प्रति की हुई विषय वासनायें भी फलदायिनी नहीं होतीं। सत्वरज और तम इन तीनों गुणों के द्वारा ही जीव को दुःख सुख प्राप्त होते हैं। कोई रजोगुणी है उसके प्रति कुछ कह दिया उसने दंड दे दिया। कोई सत्वगुण वाला है, उससे कुछ कह दिया उसने पुरस्कार दे दिया। किन्तु आप ठहरे, निर्गुणी। अतः आप से कैसे भी प्रेम किया जाय, आप के प्रति कैसे भी अनुराग हो कैसे भी सम्बन्ध हो जाय, फिर वे संसार बीज को उत्पन्न नहीं करता। जन्म मरण के बीज का अरोपण नहीं

करता। वह भव बन्धन को काटता ही है ऐसे निर्गुण निराकार आप संकर्षण के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने चित्रकेतु कृत सङ्कर्षण स्तुति कही, इसके शेषांश को आगे कहूँगा।"

छप्पय

लघु बड़ जितनी वस्तु सबनि के आदि अन्त हो।
सर्वकाल में सत्य अनामय अज अनन्त हो॥
तजि तुमकूँ जो अन्यदेवतैं भिक्षा माँगें।
जानि बूझि विष पिये सुधा सञ्जीवनि त्यागें॥
दयो भागवत धरमशुचि, आश्रय मुनिगन करि तरहिँ।
जिहि लहि मैं मेरी असत्, भेद बुद्धि नर नहिँ तरहिँ॥

पद

अजित! तुम दासनि हाथ बिकाये।
तुमकूँ प्रान समान भगत प्रिय, तुम उनिके मन भाये॥१॥
हो कृपालु करुना के सागर, पतितहु पार लगाये।
रचौ जगत पालौ संहारौ, परि सबतैं बिलगाये॥२॥
कोटि कोटि ब्रह्मांड रोमप्रति, भेद वेद नहिँ पाये।
ते पशु पामर पुरुष पातकी, भोगनि में भरमाये॥३॥
ज्ञान सरूप निरञ्जन निरगुन, तुममें मन फँसि जाये।
वो फिरि सब भ्रममय भगि जावें, आवागमन नसाये॥४॥

राजाचित्रकेतु कृत-संकर्षण स्तुति(२)

(५०)

जितमजित तदा भवता
यदाहभागवतं धर्ममनवद्यम् ।
निष्किञ्चना ये मुनय-
आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

शुद्ध भागवत ज्ञान चित्त में सुख सरसावैं ।
भेद बुद्धि को धरम लोक परलोक नसावै ॥
तव नामनि कूँ गाय श्वपच अगनित तरि जावैं ।
तो तव दर्शन पाइ परम पद क्यों नहिं पावैं ॥
तव दरसन तैं दुरित दुख, दीन बन्धु सब हटि गये ।
नारद गुरु के मंत्र तैं, भव भय बन्धन कटि गये ॥

संसार में भागवत धर्म का जो उपदेश करते हैं, प्रचार प्रसार करते हैं, उसकी प्रशंसा प्रानी कर ही क्या सकता है।

---

*महाराज चित्रकेतु कह रहे हैं—"प्रभो ! जब आप ने सकल दोष अमंगलों से रहित परम पवित्र भागवत धर्म का उपदेश दिया तभी सब को जीत लिया । हे अजित ! भागवत कोई साधारण धर्म नहीं है । मोक्ष प्राप्ति के निमित्त सनकादिकों के समान निष्किञ्चन तथा आत्माराम मुनिगण भी इसी भागवत धर्म का आश्रय लेते हैं ।"

जैसे भगवान् अनन्त हैं वैसे ही उनकी लीला कथा भी अनन्त हैं उन अनन्त का उपदेश अनन्त ही कर सकते हैं। अन्तवन्त इन प्राणियों की क्या शक्ति जो अनन्त भागवत धर्मों के सम्बन्ध में कुछ कह भी सकें।

शौनकादि महर्षियों से सूतजी कह रहे हैं मुनियो! शेषावतार भगवान् अनन्त की स्तुति करते हुये महाराज चित्रकेतु कह रहे हैं—"भगवन्! आप की महिमा हम कहाँ तक कहें, आप भगवत् धर्म के मुख्य आचार्य हैं जिनको माया स्पर्श नहीं करती। जो सभी ऋषि महर्षियों के अग्रज हैं, जिन्होंने आजीवन विवाह नहीं किया, जो निष्किञ्चन तथा निष्परिग्रह हैं, जिनकी सदा ५-६ वर्ष की ही आयु बनी रहती है, जो पूर्वजों के भी पूर्वज हैं, भगवान् के अवतार ही हैं, उन सनकादि महर्षियों ने भागवत धर्म के लिये आप का शिष्यत्व स्वीकार किया। बिना सुखाये गीली जटाओं से ही जो आप के चरणों में प्रणाम करके भागवत सुनने बैठ जाते थे और आप के मुख से निसृत भागवत सुधा का पान करते करते अघाते नहीं थे। ऐसे आप भागवत धर्म के उपदेष्टा के सम्बन्ध में हम कह ही क्या सकते हैं। आपने इस अद्भुत अलौकिक अद्वितीय अनुपम धर्म का उपदेश देकर सभी को जीत लिया वास्तव में आप अजित हो गये। तब से समस्त ऋषि मुनि सिद्ध तथा अन्य भक्त गण उसी भागवत धर्म का आश्रय लेकर इस असार, अगाध दुष्पार संसार सागर को बात की बात में तर जाते हैं।

भागवत धर्म के सम्मुख अन्य सभी सकाम धम तुच्छ हैं, हेय हैं अग्राह्य हैं। नाना कामनाओं से किये हुए अन्य तुच्छ धर्मों में तो यही वितंडा चलता रहता है। मैं कहता हूँ वही सत्य है, मेरा

ही मार्ग खरा है, तेरा मार्ग खोटा है, मैं बड़ा हूँ, तू छोटा है। मैं अच्छा हूँ, तू बुरा है। इस में मैं तू तू, मेरा तेरा में ही भेद भाव की बातें रहती हैं। इस भेद बुद्धि से जिस धर्म का आचरण किया जाता है, वह निन्द्य है, नाशवान् है, अग्राह्य है, रागद्वेष युक्त है, अधर्म बहुल है। उस धर्म से न उपदेष्टा का ही भला होता है न उपदेश ग्रहण कर्ता का ही कल्याण होता है, न अपना ही हित होता है न जिसकी निन्दा की जाती है जिसे हेय या त्याज्य बताया जाता है उस पर का ही भला होता है। किसी का भी ऐसे धर्म से हित नहीं होता। एक दूसरे के छिद्रान्वेषण में ही लगे रहते हैं, एक दूसरे से ईर्ष्या करने से उनका चित्त सदा संतप्त बना रहता है। वे तो उद्विग्न दुखी होते ही हैं। सर्वान्तर्यामी रूप से घट घट में विराजने वाले आप भी कुछ प्रसन्न होते। विरोध को बढ़ाने वाला, दूसरों के अन्तःकरण पर चोट पहुँचाने वाला दूसरों को दुख देने वाला धर्म धर्म नहीं, वह तो अधर्म है। किन्तु यह भागवत धर्म अविरोधी धर्म है, इसमें अन्य के दोष देखना ही नहीं चित्त को सर्वात्म भाव से आप अनन्त में लगाना ही इसका मुख्य हेतु है।

प्रभो! आप तो समदर्शी हैं, तभी आप ने ऐसे समत्व शुद्ध धर्म का उपदेश दिया है। जो इस धर्म में दीक्षित होता है उसकी दृष्टि कभी परमार्थ से विचलित नहीं होती। अनार्य पुरुष आप के इस भागवत धर्म का अनुसरण नहीं करते क्योंकि वे तो कामवासनाओं में बँधे मर्कटों के समान मैथुनादि विषयों को ही सब कुछ समझते हैं, किन्तु जो उत्तम शरीर वाले पुरुष हैं आर्य जन हैं जिनकी चराचर जीवों में समान दृष्टि रहती है, जो सर्वत्र आप को ही अन्तर्यामी सर्वव्यापक रूप से देखते हैं, अनुभव करते हैं, उन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा इस अनवद्य परम पावन धर्म का सेवन किया जाता है वे ही इस भागवत

धर्म का आचरण करते हैं, वे ही इसके विशुद्ध नियमों का पालन करते हैं।

भगवन्! जिसने एक बार भी आप का दर्शन पा लिया वही कृतार्थ हो गया, वही संसार सागर से सदा के लिये तर गया वह कृतार्थ हो गया। कुछ लोग शंका करते हैं, एक बार दर्शन करने मात्र से संसार बंधन कैसे टूट सकता है? सो, प्रभो! आप के प्रत्यक्ष दर्शन की बात तो पृथक रही। जो सुकृति हैं, सदाचारी हैं, कुलीन हैं जिन्होंने विधिवत् उपासना की है उनकी तो छोड़ दीजिये, पुल्कस है चांडाल है, सबसे घृणित कुत्ते के मांस को खाने वाला श्वपच है, वह भी यदि एक बार मरते समय श्रद्धा भक्ति पूर्वक आप का नाम ही स्मरण कर लेता है स्मरण न भी कर सके किसी के द्वारा सुन ही ले, तो केवल नाम स्मरण मात्र से ही वह संसार बन्धन से विमुक्त बन जाता है। जब नाम स्मरण मात्र से श्वपच भी मुक्ति का अधिकारी हो जाता है, तो दर्शन करने वाले सुकृति के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है?

प्रभो! मैं अन्यत्र कहाँ जाऊँ। मेरा ही उदाहरण प्रत्यक्ष है। मैं पुत्र शोक से संतप्त हूँ। संसार दावानल में जल रहा था। भयंकर भयाटवी में भटक रहा था विषय वन में भ्रमण करता हुआ अगणित कष्ट पा रहा था। आप की अहैतुकी कृपा के कारण निष्प्रयोजन कृपा करने वाले परोपकार व्रती भगवान् नारद के मुझे दर्शन हुए। उन्होंने यह संकर्षणीय विद्या मुझे प्रदान की और आज्ञा की यदि तुम इसका सात दिन तक निरन्तर जप करोगे, तो संकर्षण प्रभु के दर्शन पाओगे। सो, स्वामिन्! उनके वचन सत्य हुए। जो आप के भक्त हैं आप में परम अनुरक्त हैं ऐसे देवर्षि के वचन भला असत्य हो ही कैसे सकते हैं। उनकी कृपा से मुझे आप के देव दुर्लभ दर्शन सुलभ

हो सके। आप के दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया, मेरे समस्त दोष दुरित दूर हो गये। मेरे अन्तःकरण का समग्र मल धुल गया।

हे अनन्त देव! आपको संसार में कोई बात अविदित नहीं। आप सब के अन्तःकरण की बातें भी जानते हो और बाहरी भी जानते हो। प्राणी जो कुछ मन से सोचता है, वाणी से बोलता है, तथा इन्द्रियों से करता है, आप उसके पहिले उसे जान लेते हो, जान क्या लेते हो सब क्रियायें आप की ही प्रेरणा से तो होती हैं, सब के घट घट में आप ही तो बैठे हुए हो, सम्पूर्ण संसार की आत्मा तो आप ही हैं। प्रभो! मैं आप की महिमा भला क्या कह सकता हूँ। पिपीलिका भला सुमेरु का पार पा सकती है? मेढ़की महासागर को कभी पार कर सकती है, खद्योत कभी सूर्य को प्रकाशित कर सकता है? जिस प्रकार ये सब बातें असंभव हैं, उसी प्रकार आप गुरुओं के गुरु हैं आप की प्रशंसा हम कैसे करें, आप से कुछ कहना हमारा बाल चापल्य मात्र ही है। आप जब चाहें जगत को उत्पन्न कर सकते हैं जब तक चाहें पालन करते हैं, जब इच्छा होता है संहार कर सकते हैं, आप परम गुरु हैं, सर्वथा स्वतंत्र हैं, आप में सब प्रकार का सामर्थ्य है। योगी पुरुष आप की महिमा जानते हैं किन्तु जो कुयोगी हैं, शरीर को ही सब कुछ समझ कर उसी का पालन पोषण में सदा निरत रहते हैं वे भेद बुद्धि वाले भला आपके तत्व को कैसे जान सकते हैं। प्रभो! आप नित्य शुद्ध बुद्ध तथा आनन्द स्वरूप हैं। आप के पाद पद्मों में बारम्बार प्रणाम है।

प्रभो! ये ब्रह्म रुद्रादि देव स्वतः कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। आप के श्वास लेने पर जगत सृष्टि का संकल्प होता

है। जब प्रथम आप चेष्टा करते हैं तभी ब्रह्मा आदि जगत के कर्ता चेष्टा करते हैं, अर्थात वे भी आप के ही संकल्प का अनुसरण करते हैं चक्षु स्वयं देख नहीं सकती। कर्ण स्वयं सुन नहीं सकते। घ्राणेन्द्रिय स्वयं सुगन्ध दुर्गन्ध का अनुभव नहीं कर सकती। रसना स्वयं रसास्वादन नहीं कर सकती। स्पर्शेन्द्रिय स्वयं मृदु कठिन आदि का निर्णय नहीं कर सकती जब तक आपकी उनकी प्रेरणा प्राप्त न हो, जब तक आपकी दृष्टि उनपर न पड़े। आपकी दृष्टि पड़ने पर ही वे अपने अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हो सकती हैं।

प्रभो! आप अनन्त शक्ति वाले हैं अनन्त प्रभाव वाले हैं अनन्त बल वाले हैं। आप के पराक्रम की कोई थाह कैसे पा सकता है। आप के सहस्र फण हैं, उनमें दिव्य ज्योति है। उन सहस्र फणों में से किसी एक फण के कोने में यह समस्त भू-मंडल ऐसे रखा रहता है, जैसे कहीं एक सरसों पड़ी हो। जैसे किसी के घूंघराले घने बालों में छोटी यूथिका का कोई फूल उलझ गया हो और उसे उसका तनिक भी भार प्रतीत न होता हो उसी प्रकार यह इतना भारी भू मंडल आप का सिर पर रखा है, किन्तु आपको इसकी प्रतीति ही नहीं होती। ऐसे अनन्त बल पराक्रम वाले सहस्रशीर्षा भगवान् को बारम्बार नमस्कार है, पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा चित्रकेतु की स्तुति से भगवान संकर्षण उन पर अत्यंत ही प्रसन्न हुए, तथा उन्हें तत्व ज्ञान का उपदेश करके उनके सम्मुख वहीं देखते देखते अन्तर्धान हो गये। यह मैंने आप से राजा चित्रकेतु कृत संकर्षण भगवान् की स्तुति कही। अब जैसे हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा जी की स्तुति की है, उस प्रसंग को मैं आप से कहूँगा। आशा है आप सब इसे प्रेम पूर्वक श्रवण करेंगे।

छप्पय

हे अनन्त ! अखिलेश आतमा अखिल जगत की ।
कबहूँ कोई कहाँ करे कछु जानत सबकी ॥
रवि कूँ ज्यों खद्योत प्रकाशित करि न सकेगो ।
त्यों मो मन मति मन्द महातम कहा कहेगो ॥
जिनके चेतन अंश तैं, चेतनता जगकूँ मिलै ।
तिनि पद महँ बन्दन करूँ, पत्ता जिनि बिनु नहिं हिलै ॥

पद

शेष ! जग रचि पालौ संहारो ।
ब्रह्मा बाबा बनिकूँ बहु विधि वेद वाद विस्तारो ॥१॥
भाँति भाँति के जीवनि रचिकें भव बन्धन में डारो ।
नर नारी अरु काम कल्पना कहि करि बुद्धि बिगारो ॥२॥
पुनि रक्षा हित हरि बनि बहु विधि अवतारनि कूँ धारो ।
साधुनि संरक्षन करिकें खल दैत्य दानवनि मारो ॥६॥
अन्त रुद्र बनि बनी बनाई सृष्टी सकल बिगारो ।
बनि अनन्त सङ्कर्षण भू कूँ, सरसों सम सिर धारो ॥४॥
जब जो चाहो सो करवाओ, श्वेत करो वा कारो ।
पद पंकज में पतित परयो, प्रभु पतित उधारन तारो ॥५॥

चित्र केतुकृत संकर्षण स्तोत्र

चित्रकेतुरुवाच

अजित जितः समतिभिः साधु भिर्भवान् जितात्मभिर्भवता ।
विजितास्तेऽपि च भजतामकामात्मनांयआत्मदोऽतिकरुणः॥१
तव विभवः खलु भगवन् जगदुदयस्थितिलयादीनि ।
विश्वसृजस्तेऽशांशास्तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या ॥२
परमाणुपरमहतोस्त्माद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः ।
आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ॥३
क्षित्यादिभिरेष किलावृतः सप्तनिर्दशगुणोत्तरैराण्डकोशः ।
यत्र पतत्यणुकल्पः सहाण्डकोटिभिस्तदनन्तः ॥ ४ ॥
विषयतृषो नरपशवो य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम् ।
तेषामाशिष ईश तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम् ॥५ ॥
कामधियस्त्वयि रचिता न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि
ज्ञानात्मन्यगुणमये गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि ॥ ६॥
जितमजित तदा भवता यदाऽऽह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।
निष्किञ्चना ये मुनय आत्मारामा य मुपासतेऽपवर्गाय ॥७
विषममतिर्न यत्र नृणां त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र ।
विषमधिया रचितो यः स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः
॥८॥ कः क्षेमो निजपरयोः कियानर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ।

स्वद्रोहात् तव कोपः परसम्पीडया च तथाधर्मः ॥ ९
न व्यभिचरित तवेक्षा यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः ।
स्थिरचरसत्वकदम्बेष्वपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥१०
न हि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः ।
यन्नामसकृच्छ्रवणात्पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥११
अथ भगवन् वयमधुना त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः ।
सुरऋषिणा यदुदितं तावकेन कथमन्यथा भवति ॥१२
विदितमनन्त समस्तं तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम् ।
विज्ञाप्यं परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ॥१३
नमस्तुभ्यं भगवते सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय ।
दुरवसितात्मगतये कुयोगिनां भिदा परमहंसाय ॥१४

यंवै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति ।
यंचेकितानमनु चित्तय उच्चकन्ति ॥
भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि ।
तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्ध्ने ॥

—:०:—

हिरण्यकशिपुकृत ब्रह्म स्तुति

(५१)

कल्पान्ते काल सृष्टेन योऽन्धेन तमसा वृतम् ।
अभिव्यनग् जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा ॥*
आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति ।
रजः सत्व तमो धाम्ने पराय महते नमः ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ३ अ० २६,२७ श्लो०)

छप्पय

हिरनकशिपु वध बन्धु सुनत अति अधिक रिस्यायो ।
सम्बधिनि समुझाइ चित्त तप माँहि लगायो ॥
ब्रह्मा तपतें तुष्ट भये सुररिपु ढिग आय ।
अज दरसन करि दैत्य विनय युत वचन सुनाये ।
तुम जगपति अज रुद्र हरि, तुम रचि पालो संहारो ।
त्रिगुन रूप द्रुम बीज जग, शक्ति प्रान मनमें भरो ॥

अपने इष्ट में ही सम्पूर्ण शक्ति सम्पूर्ण देव तथा सर्वोत्तम स्थान प्रतीत होता है। जिससे ऊँचा कोई और दिखायी दे

---

* ब्रह्माजी की स्तुति करते हुए हिरण्यकशिपु कह रहा है—"हे स्वयं प्रकाश प्रभो ! जब यह सम्पूर्ण जगत् तमोगुण से आवृत रहता है जब कुछ भी दिखायी नहीं देता है उस समय इसको काल की

वह इष्ट हो ही नहीं सकता। अपना इष्ट ही सर्व शक्तिमान् है। इसीलिये शिव शक्ति, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु तथा सूर्य जो भी जिसका इष्ट होता है वह उसकी परात्परतर भाव की स्तुति वन्दना करता है। उसे सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करता है। समस्त प्रजाओं के एक मात्र पति ब्रह्मा जी हैं अतः जो जहाँ भी बैठ कर तप करता है। ब्रह्मा जी वहाँ पहुँचकर उसे इष्ट वरदान देते हैं और उसकी मनो कामनाओं को पूर्ण करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने वराह रूप रखकर हिरण्यकशिपु के भाई हिरण्याक्ष को मार डाला तब हिरण्यकशिपु को बड़ा क्रोध आया उसने भगवान् विष्णु को ही अपना शत्रु समझ लिया। हिरण्याक्ष की स्त्री को समझा बुझाकर तथा अपना सब प्रबन्ध मंत्रियों को सौंपकर वह घोर वन में जाकर दुष्कर तप करने लगा। उसके तप से तीनों लोक जलने लगे। देवताओं ने इसकी सूचना ब्रह्मा जी को दी। ब्रह्मा जी हंसपर चढ़कर असुरके तपके स्थान में आये। ब्रह्मा जी ने देखा उसके शरीर पर दीमक लग गयी है। उसपर बाँस आदिके वृक्ष जम गये हैं। सम्पूर्ण शरीर को दीमकों ने चाट लिया था। ब्रह्मा जी ने अपने दिव्य कमंडलु का जल उसके ऊपर छिड़का। उन दिव्य जलके पड़ते ही वह सुवर्ण की कान्ति के समान पहिले से भी अधिक तरुण तेजस्वी हृष्ट पुष्ट तथा सुन्दर होकर उन बाँस वृक्षों के बीच से उठ खड़ा हुआ। ऊपर आकाश में

प्रेषणा से कल्प के अन्त में आप स्वयं प्रकाश परमेश्वर ही अपने तेज से प्रकाशित करते हैं और स्वयं ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश त्रिगुण रूप बनाकर इसकी रचना पालन और संहार करते हैं उन त्रिगुण मय परमात्मा को प्रणाम है।"

उसने चतुरानन भगवान् ब्रह्मा जी को हंस पर चढ़े देखा। वह तो ब्रह्माजी को ही सबसे श्रेष्ठ देव मानता था। विष्णु भगवान् से तो उसका द्वेष ही था। उन्हें रण में हराने के लिये ही तो उसने घोर तपस्या की थी। अतः वह ब्रह्मा जी को ही कुछ मानकर उन्हीं की स्तुति करने लगा। सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी अनादि अनन्त भगवान में विशेषकर ६ बातें होती हैं। एक तो वे किसी अन्य द्वारा प्रकाशित नहीं होते। उनका अपना ही निजका स्वयं प्रकाश होता है अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। दूसरे उनके ही प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् को प्रकाश प्राप्त होता है वे जगत के प्रकाशक हैं। जगत के एक मात्र कारण भगवान् ही होते हैं। जगत की सृष्टि स्थिति तथा प्रलय भगवान् ही करते हैं। उन्हीं का जगत् में सबसे श्रेष्ठ परम ऐश्वर्य होता है इसीसे वे परमेश्वर कहलाते हैं और संसार में वे ही सबसे महान् होते हैं सबसे अधिक महत्वशाली होने से महतो महीयान कहे जाते हैं। इन सब गुणों को हिरण्यकशिपु ब्रह्माजी में ही बताता है।

ब्रह्माजी की स्तुति करते हुए हिरण्यकशिपु कह रहा है—"प्रभो ! पहिले यह सम्पूर्ण जगत तमो गुण से आवृत था सर्वत्र घोर अन्धकार था। जब कल्प का अन्त हुआ सृष्टि की कल्पना का संयोग जुटने का अवसर आया तो आपकी काल रूपा शक्ति ने सृष्टि के निमित्त आपकी ही इच्छा से प्रेरणा की। आप को कहीं अन्यत्र से उपकरण जुटाने तो थे नहीं। उस तम को विदीर्ण करने के लिये कहीं अन्यत्र से प्रकाश लाना तो था नहीं। आप तो स्वयं ही प्रकाश स्वरूप हैं। अब तक अपने प्रकाश को भीतर छिपाये थे। अब काल की प्रेरणा से आपने उसे बाहर प्रकाशित कर दिया। यह तमोमय जगत् पुनः प्रकाशित हो उठा। ढका हुआ संसार प्रकट हो गया अव्यक्त जगत व्यक्त हो

गया। आपने प्रथम तमोगुण से इसका संहार किया था। रजोगुण से पुनः सृष्टि कर दी और सत्वगुण से इस सबका पालन करते हैं। आप ही इस जगत की रचना करते हैं। आपही इसका प्रतिपालन करते हैं और आपही इसका रुद्ररूप रखकर संहार भी कर डालते हैं। सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण जो सृष्टि स्थिति तथा लय के हेतु हैं वे तीनों आपके ही रूप हैं अतः हे त्रिगुण मय देव! मैं आपके पादपद्मों में बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

भगवन्! एक मात्र आप ही सम्पूर्ण जगत के आदि पुरुष हो आपसे पूर्व कोई नहीं है। इस सम्पूर्ण जगत् के बीज आप ही हों। जैसे ही बीज ही स्वयं वृक्ष बन जाता है और अन्तर्यामी रूप से वृक्ष के अणु परमाणु में व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार आप अव्यक्त ही व्यक्त रूप जगत बनकर अन्तर्यामी रूप से घट घट में समा गये हो। इतने पर भी आपका बीज रूप ज्यों का त्यों सुरक्षित है। आपकी मूर्ति शास्त्र तथा विवेक द्वारा ही जानी जा सकती है। अर्थात् ज्ञान विज्ञान ही आपकी मूर्ति है। जैसे बीज शाखा, डाली पत्ते तथा फूल फल के रूप में वृक्ष बनकर व्यक्त होता है वैसे ही आप भी प्राण रूप से कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय रूपसे तथा मन बुद्धि चित्त अहंकारादि विकारों द्वारा व्यक्त होते हैं। ये ही वृक्ष रूप आपकी शाखा प्रशाखायें हैं। ऐसे संसार महीरुह रूप आप सर्वेश्वर को बारम्बार नमस्कार है।

स्वामिन्! आप ही चराचर विश्व को धारण किये हुए हैं। जैसे पृथिवी घट घटादि वस्तुओं को धारण किये हुए है इस प्रकार नहीं आप उन सब पदार्थों के नियामक भी हैं। आप स्थावर जंगम सभी के अन्तरात्मामें रहकर उन सबका नियमन भी करते

हैं । नियमन ही नहीं करते आप प्रजाओं के अधीश्वर भी हैं प्राणियों में जो चेतना है मुख्य प्राण हैं वह आप ही हैं। सभी चर अचर जीवों का चित्त भी आप ही हैं चेतना भी आप हैं। मन भी आप हैं इन्द्रिय भी आप हैं और इनके अधीश्वर भी आप ही हैं। महत्तत्व से जो अहंतत्व, मन, इन्द्रियाँ उनके अधिष्ठातृदेव, पंचभूत पंचतन्मात्रायें तथा समस्त वासनाएँ उत्पन्न होती हैं उन सबको भी आप ही उत्पन्न करते हो। महत्तत्व की क्या सामर्थ्य है कि वह कुछ कर सके। जब तक आप उसमें उत्पन्न करने की शक्ति प्रदान न करें ।

प्रभो ! समस्त यज्ञ भी आप ही हैं और उन यज्ञों के रचयिता भी आप ही हैं। जिन यज्ञों में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता ये चार ऋत्विज होते हैं जिनमें द्रव्य मंत्र क्रिया और देवता प्रधान होते हैं जिनमें शास्त्र इज्या स्तुति और प्रायश्चित्त मुख्यतया बतायी है ऐसे यज्ञों का प्रतिपादन करते आप ही है। ऋक यजु और सामवेदमयी रूप जो आपका शरीर है। उसी में से अग्निष्टोमादि सात यज्ञ उत्पन्न होते हैं अतः इन यज्ञों के रचयिता भी आप ही हैं। आपके अतिरिक्त अन्य रचयिता कोई हो भी कैसे सकता है। क्योंकि आप ही अनादि हैं अनन्त हैं, अपार हैं, सर्वज्ञ हैं सर्वान्तर्यामी हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा हैं प्रेष्ठ हैं स्वरूप हैं, जीव हैं ज्ञाता हैं केशव हैं प्राण हैं शरीर हैं स्वयम् हैं और अन्तरात्मा हैं। अर्थात सब कुछ आप ही हैं।

भगवन् ! काल आपका ही स्वरूप है। सबके कलपन कर्ता आप ही हैं। आप क्षण, लव, निमेष काष्ठा, पल, घड़ी दिन, रात्रि पक्ष मास तथा वर्ष आदि अपने अवयवों द्वारा समस्त प्राणियों की आयु का बिना व्यवधान के सावधानी के साथ नित्य निरन्तर क्षय करते रहते हैं । आप कभी असावधान नहीं होते आप से

कोई कैसे भी बच नहीं सकता। सम्पूर्ण सृष्टि आप के द्वारा न हुई हो। जो आपकी स्मृति से बाहर हो इतना सब होने पर भी आप निस्संग हैं निर्विकार हैं। निरुद्वेग हैं आप में किसी प्रकार का उद्वेग नहीं किसी प्रकार की आसक्ति नहीं। क्योंकि अज्ञान तो आप में है ही नहीं मोह तो अविद्या से होता है। आप में अज्ञान का लेश नहीं जिनका जन्म होता है उनका प्रारब्ध होता है आप अजन्मा हैं कर्म रहित हैं। जो क्षुद्र होते हैं उन्हें ही इच्छा होती है। आप तो महतो महीयान हैं अतः आप सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित हैं। एक देशीय की जिज्ञासा होती है आप तो सर्व देशाय है सम्पूर्ण जीवों के अन्तरात्मा हैं इसेस आप परिपूर्ण शान्त और सदा तृप्त हैं।

हे विभो! कार्य, कारण, चर, अचर, स्थावर, जंगम, संसार के यावत पदार्थ हैं सब आपके ही रूप हैं आप से भिन्न जगत् में कोई वस्तु नहीं जितनी विद्यायें हैं जितनी कलायें हैं वे सभी आपके ही अङ्ग हैं। यह जो जगत को मोहने वाली त्रिगुण मयी माया है उससे आप सवथा पृथक हैं वह माया आप का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती उससे आप सर्वथा अतीत हैं। आप स्वयं साक्षात पर ब्रह्म हैं, परावरेश हैं यह स्वर्ण मय ब्रह्माण्ड आपके ही द्वारा उत्पन्न हुआ है इसीसे आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं। आप स्वयं सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं। यह विश्व ब्रह्माण्ड ही आप का स्थूल शरीर है यही आपका व्यक्त देह है। इसस्थूल शरीर से आप इन्द्रिय प्राण और मन के विषयों का भोग करते हैं। उस पर यह शंका हो सकती है कि तब तो आप भी कर्मबद्ध जीव ही हुए हैं। जैसे प्रारब्ध कर्मों के अधीन होकर अज्ञान से आवृत जी स्वभाव वश विषयों में प्रवृत्त होता है और नाना योनियों में जन्म लेकर इन्द्रिय जन्य विषयों का उपभोग करता है

फिर आपमें और साधारण जीवों में अन्तर ही क्या रहा ! नहीं प्रभो ! आप तो सबके नियामक हैं। आप यह सब अपने परमात्म तत्व में अवस्थित ही होकर करते हैं करते हुए भी आप बद्ध नहीं होते। कर्म सम्बन्धी बन्धन आप से दूर रहते हैं। आप कर्ता होते हुए भी निर्लेप हैं आप व्यक्त होते हुए भी वास्तव में अव्यक्त ही हैं। आप कल्प के आदि में सृष्टि आरंभ करते हुए से प्रतीत होते हैं किन्तु स्वयं आपका कोई आदि नहीं आप पुराण पुरुषोत्तम नित्य सनातन हैं। सृष्टि के साधन स्वरूप अनेक तत्व ऐसे लगते हैं कि ये आपकी उपाधि हैं किन्तु यथार्थ में तो आप सभी उपाधियों से रहित निरुपाधिक हैं। आप अपने शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप में सर्वदा अवस्थित रहते हैं। ऐसे आप विरुद्ध धर्माश्रय प्रभु के पाद पद्मों में प्रणाम है।

हे देव ! आपने अपने अव्यक्त अनन्त रूप से ही सम्पूर्ण जगत को आच्छादित कर रखा है। संपूर्ण संसार को ढक रखा है। कोई स्थान क्षुद्र से क्षुद्र छिद्र भी ऐसा नहीं है जहाँ पर आप व्याप्त न हों आपका अस्तित्व न हो। आप चेतन शक्ति से भी युक्त हैं और अचेतन से भी चेतन, अचेतन का भेद भाव तो हमने कर रखा है आप तो सम भाव से सब में एक रस व्याप्त हैं। जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है। ऐसे सर्वाश्रय सर्वव्यापक सर्वात्मा सर्वेश्वर को हम बारम्बार नमस्कार करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! हिरण्यकशिपु ने इस प्रकार ब्रह्मा जी की ब्रह्म भाव से लम्बी चौड़ी स्तुति करके अंत में शरीर को अजर अमर बनाने के वर माँगे। असुर का अर्थ ही यह है कि जो प्राणों में रमण करे अर्थात देह को ही सब कुछ समझ उसके ही पालन पोषण और स्थायी बनाने में प्रयत्नशील बना रहे। इस प्रकार मैंने आपसे यह हिरण्यकशिपु कृत ब्रह्म स्तुति कही। अब जैसे प्रह्लादजी ने हिरण्यकशिपु के वध के

अनन्तर नृसिंह भगवान् के परम उपदेश प्रद दिव्य स्तुति की है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा । आप उस दिव्यातिदिव्य स्तुति को समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

तुमसब चरअरु अचर जगतके हो प्रति पालक।
तुमही मख हवि बेदभेद होता घृत याजक॥
तुमसबके हो काल कालके कलपन करता।
तुमही विद्या कला जगतके भरता हरता॥
तुम करता कारन करम, निरूपाधिक अव्यक्त विभु।
बार बार वन्दन करूँ, जो परमारथ परम प्रभु॥

पद

प्रजापति जगपति विश्व विहारी।
लीला अलख अगोचर अचरज कहत शारदाहारी ॥१॥
आदि पुरुष जगबीज विनोदी, अजर अमर वपुधारी।
सबकूँ करो हरो पालो प्रभु, सब जीवनि हितकारी ॥२॥
हो चित अचित शक्ति तैं संयुत, अज अव्यक्त अधारी।
चरन कमल प्रभु पुनि पुनि बन्दौं, लीन्हीं शरन तिहारी ॥३॥

हिरण्यकशिपु कृत नृसिंहस्तुति

हिरण्यकशिपुरुवाच

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेनतमसाऽऽवृतम् ।
अभिव्यनग् जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा ॥१॥
आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति ।
रजःसत्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ॥२॥
नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये ।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥३॥
त्वमीशिषे जगतस्थुषश्च,
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।
चित्तस्य चित्तैर्मनइन्द्रियाणां,
पतिर्महान् भूतगुणाशयेशः ॥४॥
त्वं सप्ततन्तून् वितनोषि तन्वा,
त्रय्या चातुर्होत्रकविद्यया च ।
त्वमेक आत्माऽऽत्मवतामनादिः,
अनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥५॥
त्वमेव कालोऽनिमिषो जनानाम्,
आयुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महान्,

त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ॥६॥

त्वत्तः परं नापरमप्यनेजत्,
एजच्च किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति ।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा,
हिरण्यगर्भोऽसि बृहत् त्रिपृष्ठः ॥७॥

व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं,
येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्ये,
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥८॥

अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम् ।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ॥९॥

श्रीप्रह्लादकृत नृसिंह स्तुति (१)

(५२)

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथसिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः ।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

हिरनकशिपु वध कीन्हो बिराजे सिंहासन हरि ।
ब्रह्मादिक हटि गये नमन सब दूरहिँ तें करि ॥
पकरे पग प्रहलाद दीठि प्रभु चरनन दीन्ही ।
स्वर गद्गद् तनु पुलक प्रेम युत इस्तुति कीन्ही ॥
निज गुनगन तें सुर सकल, करि न सकें गुन गान जिन ।
अधम असुर अति अज्ञ अघ, बरनन यश कस करहुँ तिनि ॥

सद्गुण अच्छे भाग्यशालियों को ही प्राप्त होते हैं संसार में

---

* नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—"हे हरे ! ब्रह्मादिक जितने देवता हैं, जितने ऋषि मुनि तथा सिद्धगण हैं, जिनकी बुद्धि सदा सत्व में ही स्थित रहती है, वे सभी अपने वचनों के प्रवाह द्वारा तथा विविध गुणों से भी आज तक आपको आराधना करके संतुष्ट नहीं कर सके, तो फिर जिसका जन्म एक उग्रजाति असुर कुल में हुआ है, ऐसा मैं भला आपको सन्तुष्ट कैसे कर सकता हूँ ।"

मनुष्य सद्गुणों के ही द्वारा कीर्ति लाभ करके अन्त में स्वर्ग के अधिकारी बन जाते हैं। सद्गुणों से बढ़कर जगत् में कोई वस्तु नहीं। किन्तु केवल सद्गुणों से ही आप चाहें कि भगवान् को प्राप्त करलें तो असम्भव है, भगवान् तो भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं माधव तो भक्ति प्रिय ही हैं, भीतर की भावना शुद्ध हो सच्ची लगन हो तो भगवान् बाहरी उपकरणों की ओर ध्यान नहीं देते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने नृसिंहावतार लेकर असुरराज हिरण्यकशिपु को मार दिया। भगवान् ने अत्यन्त भयंकर रोषयुक्त श्रीमुख को देखकर ब्रह्मादि सभी देवगण भयभीत हो गये वे दूर ही से दंडवत् प्रणाम करने लगे, किन्तु जिन भक्तराज प्रह्लाद के लिये भगवान् ने जो यह अत्यद्भुत अवतार धारण किया, वे दूर से भला दंडवत् कैसे कर सकते हैं, जो स्वयं भयहारी हैं जिन्होंने मेरा इह लोक का ही भय हरण नहीं किया किन्तु जिन्होंने उभयलोक के भयों से मुझे मुक्त कर दिया, उन भवभयहारी भगवान् से भला भय का क्या काम? वे भगवान् के समीप चले गये, सर्वप्रथम उन्होंने दंड के सदृश भूमि में लोटकर भगवान् को साष्टांग प्रणाम किया। छोटे से नन्हें से अत्यंत सुकुमार राजकुमार को अपने सम्मुख भूमि पर पड़ा देखकर भगवान् नृसिंह का हृदय वात्सल्य प्रेम से भर आया। उन्हें स्मरण हो उठा इस अबोध शिशु को मेरे कारण इसके असुर-पिता ने कितने भारी भारी क्लेश पहुँचाये। दया से द्रवित होकर कृपा से परिपूर्ण प्रभु ने बालक को स्वयं बड़े स्नेह से उठाया। उसके शरीर की धूलि पोंछी और अपना अभयप्रद वरदहस्त उसके मस्तक पर रख दिया। भगवान् के चिन्मय परमपावन कर कमल के स्पर्श से प्रह्लादजी के समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो

उनके जन्म जन्मान्तरों के समस्त पाप ताप संताप नष्ट हो गये। उन्हें भगवान के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया। भगवत् साक्षात्कार होने से उनके हृदय में दिव्य ज्ञान का स्रोत परिस्फुटित हो गया अत्यन्त प्रेम के कारण सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो उठा दोनों बड़े बड़े नेत्रों से अविरल अश्रु प्रवाहित होने से अत्यन्त धीर गम्भीर प्राणी से वे प्रभु की स्तुति करते हुए कहने लगे।

प्रह्लाद ने नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए कहा—"प्रभो! मैं आपको सन्तुष्ट करने के लिये आपकी स्तुति करना चाहता हूँ. आपकी आराधना करना चाहता हूँ, किन्तु क्या मैं आपकी स्तुति करने का अधिकारी हूँ, क्या मैं आपकी स्तुति कर सकूँगा, क्या आप मुझपर सन्तुष्ट हो सकेंगे?

आप महान् से भी महान हैं, संसार में आपसे महान् कोई है ही नहीं। जैसे देवता हो उसकी पूजा भी वैसी ही होनी चाहिये। महान की स्तुति भी महान् हो और करने वाला भी महान् ही हो, आप महतोमहीयान् सन्तुष्ट कर सकते हैं।

इस संसार में सबसे बड़े तो ब्रह्माजी हैं. ब्रह्माजी से बड़ा कोई नहीं हैं। इन्द्रादि देवगण भी बड़े हैं, क्योंकि वे सदा सत्वगुण प्रधान रहते हैं उनकी बुद्धि सत्वगुण में स्थित रहती है। जिन्होंने ज्ञान विज्ञान द्वारा आपका साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ऋषि मुनि सिद्धगण भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे नित्य निरन्तर तपादि में निरत रहते हैं. किन्तु ब्रह्मादि देवगण, ऋषि मुनि तथा सिद्धगण अनेक सुन्दर सुन्दर उक्तियों द्वारा सुललित वाक्यों के अजस्र प्रवाह द्वारा, बड़ी बड़ी युक्तियों और तर्कों द्वारा, बड़े बड़े प्रशंसनीय गुणों द्वारा आपकी स्तुति करते रहते हैं, किन्तु वे सब भी आपको अपनी अद्वितीय आराधना के द्वारा सर्वात्मभाव से

सन्तुष्ट नहीं कर सके, तो मैं तो तमोगुण प्रधान, असुरजाति में उत्पन्न, वेदशास्त्रों के रहस्य से अपरिचित अज्ञ, अधम बालक भला अपने टूटे फूटे शब्दों द्वारा आपको कैसे सन्तुष्ट कर सकता हूँ, कहाँ ब्रह्मादिदेव और कहाँ मेरा जैसा अधम। कहाँ उनकी वेदशास्त्र सम्मत धारा प्रवाह वाणी कहाँ अज्ञानता से युक्त मेरी अशुद्ध तोतली बातें। आप इतने महान् देव क्या मेरी स्तुति सुनेंगे ? क्या मेरी ओर कृपाभरी दृष्टि से देखेंगे।

प्रभो ! आपकी महत्ता और अपनी क्षुद्रता को देखकर मुझे साहस नहीं होता, कि आप मेरी स्तुति से प्रसन्न हो जायगे, किन्तु इस निराशा में भी मुझे आशा की एक ज्योति स्पष्ट दिखायी देती है, वह यह कि जब ग्राह ने गजराज का पैर पकड़ लिया था तब उसने सूँड़ में एक कमल लेकर केवल आपको भक्तिभाव से एक बार ही पुकारा था आपने उसकी पुकार सुनी और तुरन्त दौड़े आये उसपर आप प्रसन्न हो गये ? गजराज तो कोई बड़ा व्यक्ति नहीं था। बड़प्पन की उसमें कोई बात नहीं। बारह बातों से व्यक्ति बड़े माने जाते हैं। संसार में धन से आदमी बड़ा गिना जाता है, गजराज के पास धन नहीं था वह तो वनों में से तृण चुगकर निर्वाह करता है। कुलीनता से भी बड़प्पन माना जाता है, वह पशु था किसी ब्राह्मण कुल में भी उसका जन्म नहीं हुआ था। रूप से भी आदमी को अहंकार होता है, कि मैं कितना रूपवान् हूँ, सो, हाथी का कोई रूप भी सुन्दर नहीं। काला काला मोटा चर्म इतने भारी शरीर में छोटी सी आँखें दाँत निकले हुए भूमि तक लटकती हुई नाक या सूंड़। तपसे भी व्यक्ति बड़े माने जाते हैं, हाथी ने कोई तप भी नहीं किया। न उसने पंचतापी न कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत ही किये पशु योनि में ऐसा संभव ही नहीं था। विद्या से भी मनुष्यों की महत्ता है गजराज ने वेदशास्त्रों का अध्ययन भी नहीं किया था। ओज,

तेज, प्रभाव ये भी बड़प्पन के चिन्ह हैं, किन्तु गज में ये भी नहीं थे। बल से भी व्यक्ति बड़ा माना जाता है, यद्यपि गजराज में बल तो अपार था, किन्तु ग्राह के आगे वह जलमें अपना बल भी खो चुका था निर्बल बन गया था। पौरुष, बुद्धि और योग से भी बड़े माने जाते हैं, गजराज में इन बारहों में से एक भी नहीं था। उसके पास एक ही वस्तु थी भक्ति। भक्तिभाव से जहाँ आर्त होकर आप भक्तवत्सल को पुकारा वहीं आप तुरन्त उपस्थित हो गये। इससे मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, कि आपको ये उत्तम बारह गुण ही वश में करने में समर्थ नहीं हो सकते आपकी प्रसन्नता के लिये तो भक्ति का होना परमावश्यक है, ये बारह गुण भी हो और साथ ही भक्ति हो, तब तो अहा, कहना ही क्या है, सोने में सुगन्ध हो जाय, किन्तु ये गुण हों और भक्ति न हो तो सब व्यर्थ हैं इसके विपरीत इन गुणों में से एक भी न हो और केवल भक्ति ही भक्ति तो भी आप प्रसन्न हो जाते हैं।

प्रभो! भक्ति के सम्बन्ध में आपके यहाँ ब्राह्मण और चांडाल सभी समान हैं, इस विषय में आपके यहाँ भेदभाव नहीं। कोई ब्राह्मण है, वह धनी भी है, कुलीन भी है, प्रभावशाली, बलशाली, रूपवान्, विद्वान्, तपस्वी भी है, साथ ही पुरुषार्थ, ओजस्वी, तेजस्वी, युद्धमान तथा योगनिष्ठ भी है इन बारह गुणों से युक्त है अथवा ब्राह्मण के जो धर्म, सत्य, दम, तप, अमात्सर्य, ह्री, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान, धृति, और वेदाध्ययन ये बारह व्रत हैं, इन बारहों से सम्पन्न भी है अथवा श्रम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, विरक्तता, ज्ञान, विज्ञान, सन्तोष, सत्य और आस्तिक्य ये जो बारह श्रेष्ठ गुण बताये हैं इनसे भी युक्त क्यों न हो, किन्तु इतने गुणों से युक्त होने पर भी यदि वह आपका भक्त नहीं है, ब्रह्माजी को भी उत्पन्न करने वाले आप कमलनाभ

के चरणकमलों से विमुख है, उससे तो मैं उस श्वपच को श्रेष्ठ समझता हूँ, जिसमें उपर्युक्त बारह गुणों में से तो एक भी गुण है नहीं, किन्तु निर्गुण होने पर भी उसने अपने मनको, अपनी समस्त इन्द्रियों को, अपनी वाणी को अपने समस्त कर्मों को तथा उसपर जो भी कुछ धन है उसे और अपने प्राणों को आपको अर्पण कर दिया अपना सर्वस्व आपमें ही लगा दिया है। उस चांडाल की बराबरी भक्तिहीन वेदविद् विप्र कैसे कर सकता है। इससे भी सिद्ध हुआ कि आपको केवल वर्ण सम्बन्धी श्रेष्ठता ही स्वीकार नहीं आपको तो भक्तिप्रिय वह चाहे चांडाल में हो विप्र में हो। आप अहंकारी से दूर रहते हैं। जिसे अहंकार नहीं गुणहीन है, जाति का भी अधम है, किन्तु उसने अपना सर्वस्व आप सर्वेश्वर को सर्वात्मभाव से समर्पित कर दिया है तो वह स्वयं भी पवित्र हो जायगा और अपने सम्पूर्णकुल को भी पावन बना देगा। उसके विपरीत जो उच्चजाति का है सर्वगुण सम्पन्न है, किन्तु उसे अपने बड़प्पन का भारी गर्व है, अपनी उत्तमता का अत्यधिक अभिमान है, तो ऐसा व्यक्ति अपने आपको भी पावन नहीं बना सकता, आपके पादपद्मों के पास तक नहीं पहुँच सकता। क्योंकि उसने अहंकार की भारी गठरी अपने सिर पर जो लाद रखी है। आपको अहंकार से चिढ़ है भक्ति से प्यार अनुराग है इसीलिये सर्वस्व समर्पण करने वाले अपने भक्तों के गुणों को तथा उनके वर्णों को आप नहीं देखते।

अच्छा, भगवन्! यह कहा जाय, कि आप प्रशंसा प्रिय हैं, जो आपकी पूजा प्रतिष्ठा करता है, अपना सर्वस्व आपको अर्पण कर देता है, आपकी भूरि भूरि प्रशंसा करता है, सब कुछ आपको दे देता है, तो आप उस दान से प्रसन्न हो जाते हैं, सो भी बात नहीं। आपको भला कोई दे ही क्या सकता है। गंगाजी

को कोई पानी पिलाना चाहे तो कहाँ से पिलायेगा। गंगाजी तो स्वयं ही सबको अमृतोपम पय पिलाती रहती है, आप जगत् को देने वाले हैं, सबसे बड़े दाता हैं, आपको कोई दे ही क्या सकता है। आपको पूजा प्रतिष्ठा की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता तो उसे हो, जिसको किसी वस्तु का अभाव हो, आपतो स्वयं ही परिपूर्ण हैं, आप्तकाम हैं निज लाभ परिपूर्ण हैं। आप इन धूप, दीप नैवेद्य, पान सुपारी आदि क्षुद्र वस्तुओं से क्षुद्र पुरुषों द्वारा दी हुई सामग्रियों से भला क्या प्रसन्न होंगे वे आपको सन्तुष्ट करने में समर्थ कैसे हो सकेंगे फिर भी आप करुणावश केवल दया के वशीभूत अपने अनन्याश्रितों द्वारा की हुई पूजा को उनकी प्रसन्नता के निमित्त ग्रहण कर लेते हैं। फिर जो प्रभो! आपकी पूजा करता है, वह मानों अपनी ही पूजा करता है। कोई मनुष्य किसी उत्सव में किसी बड़े व्यक्ति को बुलाकर उसका सम्मान करता है, उसकी शोभायात्रा निकालता है, तो इससे तो सम्मान करने वाले की ही प्रतिष्टा मिलती है, उसे मान सम्मान स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, कोई अपने पिता को सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत करता है, तो उसे गौरव स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, कोई अपने गुरु की आज्ञा पालन करता है, तो उसको लोग सुशील गुरु भक्त परायण कहकर प्रशंसा करते हैं। कोई अपने मुख का शृंगार करके दर्पण में मुख देखता है, तो दर्पण के प्रतिबिम्ब का उसे पृथक् शृंगार नहीं करना पड़ता। जैसा जैसा शृंगार वह मुखपर करेगा वैसा ही वैसा दर्पण प्रतिबिम्ब को अपने आप ही प्राप्त होता जायगा। इसी प्रकार भक्त आपके प्रति जो जो भी मान सम्मान प्रदर्शित करता है, वह उसे स्वतः प्राप्त हो जाता है।

स्वामिन्! यद्यपि मैं तमोगुण प्रधान असुरों में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं अधम हूँ, मुझमें विद्या बुद्धि नहीं, फिर भी, मैं आपके गुणों

के गान का दुस्साहस करता हूँ, अपनी बुद्धि के अनुसार आपकी महिमा वर्णन को उद्यत हुआ हूँ। बिना किसी शंका के आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त होता हूँ, वह वर्णन कुछ आपके लिये नहीं, आप अपार महिमा वाले की महिमा का कोई बखान कर भी क्या सकता है, जैसे कोई अरब खरबपति है, उसे कोई लाकर कुछ ताम्र खण्ड दे दे, तो उसे उन्हें पाने में क्या प्रसन्नता होगी, हाँ देने वाले का सन्तोष भले ही हो जाय, कि मैंने उन्हें कुछ न कुछ अर्पण किया। इसी प्रकार आप गुणों के आकर हैं, यह अल्पमति वाला मानव आपको गुणगान करके ही सन्तुष्ट कैसे कर सकता है, फिर भी सदा से सभी लोग आपका गुणगान करते ही हैं, कारण कि आपके गुणगान करने से अविद्या का नाश होता है। इसीलिये अपने को पावन बनाने के निमित्त अपनी अविद्या की ग्रन्थि को खोलने के लिये समस्त संशयों के नाश के निमित्त अपने कर्म बन्धनों को काटने के हेतु तथा संसार चक्र से पृथक् होने के लिये आपकी स्तुति करने को प्रवृत्त हुआ हूँ। आशा है मुझे आप स्तुति करने की शक्ति प्रदान करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रह्लादजी ने आरम्भ में अपनी विनय दिखाकर स्तुति की भूमिका बाँधकर फिर दिव्य स्तुति की। अब आगे जैसे दिव्य स्तुति करेंगे उसे मैं अगले अध्याय में कहूँगा।"

छप्पय

भगवन्! धन, बल, ओज, तेज, तप विद्या पौरुष।
धी, कुल, योग, प्रभाव, रूप, गुन ये वर द्वादश॥
भक्ति बिना ये नहीं आपुकूँ नाथ! रिझावें।
भक्तिहीन वर विप्र पाइ गुन अति इतरावें॥

पशु गज भक्ति प्रभावतैं, नाम लिये भव तरि गयो।
इस्तुति करि वे असुर है, साहस प्रभु तातैं भयो॥

पद

नरहरि ! भक्ति तुमहिँ अति प्यारी।
भक्ति बिना गुन यों सब सूने, ज्यों पट बिनु वर नारी ॥१॥
विप्र कुलीन, धनी, तप बलयुत, रूप, तेज व्रतधारी।
विद्या, विनय, योग, धी गुन सब, रिझवैं नहिँ असुरारी ॥२॥
गजकी विनती सुनत ई दौरे, गनिका कुलटा तारो।
अभिमानी मँझधार डुबाये, प्रभु भक्तनि भयहारी ॥३॥
हूँ अति नीच विनय विद्या नहिँ, इस्तुति करूँ तिहारी।
भगतवछल प्रभु पार लगाओ, चरनकमल बलिहारी ॥४॥

प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति (२)

(५३)

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्व धाम्नो-
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥*॥

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

असुर अति कर्यो द्रोह कोह अब नरहरि त्यागे ।
सुमिर जे तव रूप सकल भय तिनके भागे ॥
भये सुखी सुर सकल असुरवर मारि गिरायो ।
देखि विकट विकराल रूप भय सुर हिय छायो
वदन भयंकर भ्रुकुटि रिस , दाढ़ उग्र सग आँत गल ।
लिथिरयो तनु रिपु रक्त तैं , भय न मोइ तव कृपा बल ॥

प्रियता प्रेम में होती है, वस्तुओं में नहीं । अपना प्यारा कैसा भी हो, कैसे भी उस की भयंकर मूर्ति हो, सब से सुन्दर लगेगा

---

*प्रह्लाद जी भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—हे स्वामिन् ! ये जो ब्रह्मादि देव हैं ये सब के सब आप के आज्ञानुवर्ती हैं । हम असुरों की भाँति आप से द्वेष भाव नहीं रखते । और हे प्रभो ! आप विविध प्रकार के जो ये रुचिर-मनोज्ञ-अवतार धारण करते हैं भाति भाँति की लीलायें करते हैं ये भी, विश्व के कल्याण के निमित्त तथा उद्भव और आत्मसुख के लिये ही करते हैं ।

जिसमें अपनापन नहीं, प्रेम नहीं. निजत्व नहीं, वह कितना भी सुन्दर क्यों नहीं, वह अपनी ओर अधिक आकर्षित न कर सके गा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो !नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुये प्रह्लाद जी कह रहे हैं—"प्रभो! ये ब्रह्मादि देव आप के इस अति विकराल महा भयंकर भयावह रूप के कारण भयभीत हो रहे हैं ये आप के सम्मुख आने से भी हिचकिचाते हैं, दूर से ही दंडवत प्रणाम करके हट जाते हैं। इन सब ने आप के समीप मुझे भेजा है। स्वामिन्! देवताओं को भयभीत करना तो आप को अभीष्ट नहीं है। आपने तो असुर को मारने के लिये ब्रह्मा जी के वरों को सत्य करने के लिये ऐसा विचित्र वेष बनाया था। जिस कार्य के लिये रूप बनाया था, वह कार्य समाप्त हो गया। असुर राज मारा गया, फिर आप अपनी भ्रुकुटियों को क्यों चढ़ाये हुये हैं, क्रोध की मुद्रा क्यों धारण किये हुये हैं। देवता तो आप के अनुयायी हैं, आज्ञानुवर्ती हैं, आप क अनुशासन में चलने वाले हैं, ये हम असुरों की भाँति आप से ईर्ष्या तो नहीं करते हैं हम लोगों की भाँति ये आप को अपना अरि तो नहीं मानते, फिर इनकी ओर आप कृपा की कोर क्यों नहीं करते। इन्हें अभयदान क्यों नहीं देते ? यह सत्य है, आप का कोई भी रूप भयानक नहीं, सभी रूप सुन्दर हैं कोई भी लीला वीभत्स नहीं सभी मनोहर हैं, हृदय को हरन वाली हैं, भक्तों को सुख देने वाली हैं, फिर भी प्रभो! आपने जो यह उग्र रूप रखा है उसका उप संहार कीजिये। क्रोधी को परास्त करने के निमित्त कुछ क्रोध की सी मुद्रा प्रदर्शित करनी ही होती है कार्य समाप्त होने पर उसकी समाप्ति हो जाती है। साधु स्वभाव के लोग स्वयं किसी क्रूर का भी अपने हाथों वध नहीं करते, किन्तु कोई दूसरों को दुःख भय तथा उद्वेग पहुँचाने वाला सर्प यिच्छ के

समान कोई हिंसक जन्तु है, और उसे कोई अन्य मार देता है, तो साधु पुरुष उस का अनुमोदन ही करते हैं, दूसरों को दुख देने वाले के निधन पर आन्तरिक प्रसन्नता ही प्रकट करते हैं। सभी लोग असुराधिप मेरे पिता के कारण दुखी थे, भयभीत थे, अब वे आप के द्वारा उनके मारे जाने पर प्रफुल्लित हो रहे हैं, अब वे आनन्द मना रहे हैं अब वे सब भी, आप की आनन्दमयी मुद्रा का अवलोकन करने के आकुल हो रहे हैं, प्रभो! आप इन्हें अपने सौम्य रूपका दर्शन कराइये। इनके भाग्य [illegible]।

स्वामिन्! आप यह न समझें कि इन दैत्यदानव और देवताओं के सदृश मैं भी आप के इस उग्र रूप से भयभीत हो रहा हूँ। मुझे तो इस रूप से तनिक भी भय नहीं है। हे अजित! पर्वत की कंदरा के सदृश जो यह आपका अंध कूप के सदृश भयंकर मुख मुझे खिले हुये सहस्र दल कमल के सदृश प्रतीत होता है। लप लप करती हुई आप की बड़ी भारी बाहर निकली हुई जिह्वा मुझे परम सुन्दर दिखाई दे रही है। ये सूर्य सदृश बड़ी बड़ी प्रकाशवान भयंकर आँखें मुझे शीतल अमृत की वर्षा करती हुई चन्द्रमा की चाँदनी के सदृश प्रतीत हो रही हैं। वक्र हुई भ्रुकुटियों का आरोप अर्थात् वेग मुझे माता के प्रेम कोप के सदृश प्रतीत होता है। बड़ी बड़ी खूँटी सी भयंकर दाढ़ें जिनमें रक्त लगा हुआ है मुझे दाड़िम के रक्ताभ दानों के सदृश दिखाई दे रही हैं। असुरराज के पेट से निकली आँतों की बीभत्स माला उसे रक्त कमल की माला सी प्रतीत हो रही है। शरीर पर मोंढा पर तथा बड़े बड़े बालों पर रक्ताक्त सटा कलाप है अर्थात् रुधिर की केसर सी प्रतीत हो रही है, वह मुझे ऐसा लग रहा है कि आप के मोती के सदृश स्वच्छ श्वेत धवल यश चादर के बीच बीच में लाल जड़ दिये हों। आप के जो सीधे खड़े हुए

शंकु सदृश गोल दोनों कान ऐसे लग रहे हैं मानों आप बड़े बड़े दो कमल पुष्पों को सिकोड़ कर लगाये हुए हैं। आप का यह जो दिग्गजों को भी भयभीत करने वाला भयंकर सिंह नाद है, वह ऐसा लगता है कोई निषाद स्वरमें मधुर गान कर रहा है। आपके ये शत्रु-उदर भेदन कारी शूल के सदृश बड़े बड़े नख मुझे ऐसे प्रतीत होते हैं मानों अपनी उँगलियों में क्रीड़ा के निमित्त कमल नाल खोंस रखीं हों। देखने में तो ये सब वस्तुएँ आप का ऐसा भयकारी स्वरूप परम भयंकर प्रतीत होता है, किन्तु मुझे तो बड़ा ही प्यारा प्यारा लगता है, मुझे तो इससे तनिक भी भय नहीं। हाँ प्रभो ! आप के इस रूप से भले ही भय न हो, फिर भी मैं एक बात से भयभीत बना ही हुआ हूँ। हे कृपणवत्सल ! हे दीनबन्धो ! हे अशरण शरण ! मैं इस अति उग्र दुःसह संसार चक्र से भयभीत हूँ। जन्म मरण के क्लेश से क्लेशित हूँ। बार बार जन्मना और बार बार मरना इस से मैं आकुल हो उठा हुँ। ये कर्म रूप पिशाच ये भयंकर व्याधिक मुझे जकड़े हुए हैं। सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण इन तीनों बहेलियों ने मुझे बाँध कर भवाटवी रूप भयङ्कर वन में भोग रूपी हिंस्रक पशुओं के बीच में पटक दिया है। ये केवल संसृति का अन्त नहीं करते और सभी दुर्गति करते रहते हैं। नाना रूपों में परिवर्तित करते हैं, नाना नाच नचाते हैं, भाँति भाँति के भय दिखाते हैं, बारबार डराते धमकाते हैं। इस भवाटवी में पड़ा हुआ मैं भय के कारण थर थर काँप रहा हूँ। प्रभो ! इस भवाटवी से निकालकर मुझे अपने सुखदायी, अभयप्रद, आनन्दाश्रय, मंगलदायी, चरणकमलों की शीतल छाया में बुला लीजिये। उन मोक्षप्रद पादपद्मों के निकट मुझे आश्रय दीजिये। हे दीनबन्धो ! हे करुणावरुणालय ! इन हिंस्रक जन्तुओं से तथा वीभत्सव्याधिकों से बचाइये। प्रभो !

इस भवाटवी में मैं अत्यन्त ही दुखी हूँ, अत्यधिक क्लेश उठा रहा हूँ।

दयालो! न जाने मैं कहाँ कहाँ भटकता फिरा। किस किस योनि में गया। क्या क्या वेष बनाये, कितने कितने वस्तुओं को अपनी कहकर उनका संग्रह किया। सुख पाने की इच्छा से वस्तुओं को जोड़ता ही गया इकट्ठा ही करता गया, किन्तु सुख नहीं मिला। उस संग्रह ने भी दुःख ही दिया परिग्रह का परिणाम भी क्लेशकारक ही सिद्ध हुआ। अप्रिय के संयोग से तथा प्रिय के वियोग से जिस शरीर में भी गया वहीं तड़पता ही रहा, व्याकुल ही बना रहा, असन्तुष्ट ही रहा, शोकानल से सन्तप्त होकर दुखी ही बना रहा। उस दुःख को मेंटने के लिये ये जो उपाय किये वे भी दुखदायी ही सिद्ध हुए। कीचड़ को धोने के लिये कीचड़ लगायी उससे और अधिक कीचड़ लग गयी। मेरा तो श्रीगणेश ही विपरीत हुआ। मैंने ये जो देह गेह, स्वजन बन्धु-बान्धव अनात्म पदार्थ हैं, उनमें आत्मबुद्धि कर ली। असत्य को सत्य मानकर चलने से सीधा मार्ग कहाँ मिलेगा। फिर तो भटकना ही पड़ेगा। सो, हे मेरे जीवन सर्वस्व! बहुत समय से मैं इस भवाटवी में भटक रहा हूँ, चिरकाल से व्यर्थ चक्कर काट रहा हूँ। नाथ! अब तो मेरा भटकना बन्द कर दीजिये, मुझे अपना अनुचर किंकर, सेवक तथा दास बना लीजिये, मुझे दास्यभाव का पाठ पढ़ा लीजिये।

आप पूछेंगे, दास बनने में क्या रक्खा है, दास्यभाव से क्या होगा? तुम स्वामी क्यों नहीं बनते। सो, हे मेरे स्वामिन्! स्वामी तो सबके एकमात्र तुम ही हो। सबके सच्चे सुहृद्, स्वामी, सखा तथा सर्वस्व आप ही हो, सबके परम देवता आप ही परमेश्वर हो। जब मैं आपकादास हो जाऊँगा,तो मुझेआपके चरण

निकट निवास करने का सुयोग प्राप्त हो जायगा। वहाँ और भी तो आपके दास निवास करते हैं। उन श्रेष्ठतम प्राचीन दासों का उन आपके अनन्य आश्रितों का, आपके युगल कमल चरणों में निवास करनेवाले परमज्ञानी भगवत्भक्तों का मुझे सत्संग प्राप्त होगा, उनके सहवास का सुअवसर पाकर मैं धन्य हो जाऊँगा, मेरे रागादिगुणों के बन्धन ढीले हो जायँगे। मैं राग मोहादि से विमुक्त बन जाऊँगा, फिर मुझे एक ही कार्य रह जायगा, सभी चिन्तायें तो राग द्वेष, लोभ मोहादि के कारण ही होती हैं उनसे मैं सर्वथा विमुक्त हो जाऊँगा, तब तो जो मेरे पूर्व के दास करते आये हैं उसी कार्य को करूँगा। आपकी लीला कथाओं का श्रवण तथा गान करूँगा। जिन कथाओं का ब्रह्मादि देवों ने अत्यन्त श्रद्धा भक्ति से गान किया है, उन्हीं को गाकर मैं बात की बात में सुगमता सरलता के साथ इस संसार सागर को पार कर जाऊँगा।

हे सर्वाधार! जिसकी आप रक्षा करते हैं, उसकी तो रक्षा होती है, फिर चाहें आप किसी को भी निमित्त बनाकर रक्षा करें किन्तु आप यदि उपेक्षा कर दें, तो लोक में सन्तप्त पुरुषों की जो दुःख निवृत्ति के उपाय बताये हैं, वे सब व्यर्थ हो जाते हैं। जैसे बालकों के रक्षक पालक माता पिता बताये हैं, वे ही शिशु के पालन पोषण कर्ता हैं, किन्तु यदि आप उसकी रक्षा करना नहीं चाहते, तो लाख माता पिता पूरे प्रयत्नों से रक्षा करें तो भी आपके द्वारा उपेक्षित बालक की रक्षा नहीं हो सकती। रोगों का उपाय औषधि है, किन्तु आप जिस रोग को अच्छा नहीं करना चाहते, उसके लिये सुन्दर से सुन्दर औषधियाँ, समुद्र से निकला साक्षात् अमृत भी व्यर्थ हो जाता है, कैसी भी औषधि उसे अच्छा नहीं कर सकती। समुद्र में डूबते हुए नौका बचाने में समर्थ समझी जाती है, जिसे आप ही उबारना न चाहें उसके

लिये चाहें जितनी नौकायें क्यों न आ जायँ, वह नौकाओं के रहते हुए भी डूब जायगा। देखा गया है समस्त अनुकूल साधनों के रहते हुए भी फल विपरीत हुआ है, इससे यही सिद्ध हुआ कि सबके एकमात्र रक्षक आप ही हैं आप जिसे तारना चाहेंगे वह तरेगा, जिसे डुबाना चाहेंगे वह डूबेगा। सो, हे प्रभो! मैं एकमात्र आपकी ही शरण में आया हूँ।

हे जगत् पिता! संसार में जितने कर्ता हुए हैं, वे चाहे प्राचीन हों, या नवीन, पर हों या अपर उनके द्वारा जो भी कुछ हुआ है या होगा, वह आपका ही स्वरूप है। जैसे ब्रह्माजी ने काल की प्रेरणा से, या पिता माता ने पुत्रेष्णा या कामेष्णा से प्रेरित होकर जो उत्पन्न किया वह आपका ही स्वरूप है, ब्रह्माजी ने प्रकृति में गर्भका आधान किया पिता ने पत्नी में। वह सब भी आपकी ही प्रेरणा से हुआ ब्रह्माजी ने अपने कल्प के आदि में पिता ने ऋतुकाल में जब भी किया आपकी ही प्रेरणा से। इसी प्रकार जिस उपकरण द्वारा किया गया, जिसका भी किया गया जिससे किया गया जिसके लिये किये गया, जिस प्रकार भी किया गया, जो कुछ उत्पन्न किया गया, अथवा नवीन उत्पन्न न करके रूपान्तर ही किया गया, बदला ही गया वह सभी आपका ही रूप है, आपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। कर्ता, कर्म, करण, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन रूप में आप ही आप हैं, ऐसे सर्वस्वरूप प्रभु के पादपद्मों में मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ। प्रभो! मुझे इस भवसागर से पार लगाइये। मुझ डूबते हुए को करावलम्ब दीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार प्रह्लादजी ने अपने उद्धार की प्रार्थना की अब आगे जैसे ऐश्वर्य की तुच्छता बताते हुए प्रार्थना करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

भगवन् ! अति भयभीत भयो भव जनम मरन तैं।
भटकत इतउत फिरूँ सदाओ कमल चरन तैं॥
सत् पुरुषनि सहवास करूँ बनि दास तिहारो।
सुनि सुनि लीला कथा तरूँ तव नाथ ! सहारो॥
जननी शिशु भेषज रुजहिँ, डूबतकूँ नौका नहीं।
रक्षक तुम बिनु है सकें, सबके रक्षक आपुही॥

पद

नरहरि ! सरल रूप अब धारो।
मार्‌यो असुर विकट तनु धरि हरि, अब जग यश विस्तारो॥१॥
थर थर कांपत सुरगन सबरे, लखि यह रूप तिहारो।
भगवन् ! भय मोकूँ नहिं नेकहु, भवसागर तैं तारो॥२॥
मेरे माता पिता सगे सब, जनम मरन भय टारो।
परवश समुझि सबनिकूँ स्वामी, तुमको लयो सहारो॥३॥
हे शिव ! तुम बिनु शव सम सबही, तुम जीवन संचारो।
जब तैं चरन शरन प्रभु लीन्हीं, भय भगि गयो हमारो॥४॥

———

प्रह्लाद-कृत नृसिंह स्तुति(३)

(५४)

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः,
कालेन चोदित गुणानुमतेन पुंसः ।
छन्दोमयं यदजयार्पित षोडशारम् ,
संसारचक्रमज कोऽतितरेत्त्वदन्यः ॥*॥

(श्री भा० ७ स्क० ९अ० ८१ श्लो०)

छप्पय

माया मनकूँ रचै यही भव पन्थ घुमावै ।
पेरै कोल्हू माहिँ जनम पुनि पुनि करवावै ॥
मायाके प्रभु ईश बरजि नटिनीकूँ दीजे ।
भव बन्धनकूँ काटि खींचि चरननि में लीजे ॥
धन, वैभव, यश, स्वरग सुख, अभिलाषा नहिं नाथ हो ।
कथा कीरतन महँ सुरुचि, तव दासन का साथ हो ॥

---

* नरहरि भगवान् की स्तुति करते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—भगवन् ! जब कालके द्वारा तीनों गुणोंमें क्षोभ होता है और आपके अंश भूत पुरुष की दृष्टि पड़ती है तब माया मन प्रधान लिंग देहकी रचना करती है । यही कर्मप्रधान, अत्यन्त ही बलवान, त्रैगुण्य विषय तथा वेदमय अविद्यार्पित सोलह विकार रूप आरासे युक्त संसार चक्र है । सो हे अज ! आपके अतिरिक्त इस संसार चक्रको कौन तर सकता है । अन्य कौन पार पहुँच सकता है ।

मानव अपने क्षुद्र अनित्य तथा क्षण भंगुर ऐश्वर्य के पीछे उन अजन्मा के महान् शाश्वत तथा सदा सर्वदा समान भाव से रहने वाले ऐश्वर्य को भूल जाता है। वास्तव में तो भगवान् के अपार ऐश्वर्य की कोई तुलना ही नहीं हो सकती। इन संसारी भोग वासनाओं से मन हटे तभी वह भगवद्दास्य का अहैतुकी भक्ति का अधिकारी बन सकता है।

सूतजी कहते हैं मुनियो! नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—"प्रभो! मेरा मन इन संसारी भोगों की ओर दौड़ता है इस अगाध अपार भवसागर में डूबना चाहता है मैंने सब ओर दृष्टि पात किया सबसे सहायता की याचना की किन्तु कोई ऐसा दिखायी नहीं दिया जो इस भवसागर से पारलगादें, जो इस बन्धन से छुड़ा दे, जोडूबते हुए को बचा ले।आप ही एक पार लगाने वाले दृष्टिगोचर होते हैं। आप के अतिरिक्त न कोई पार जा सकता है न आप से पृथक रह कर कोई पार पा ही सकता है।

यह आपकी क त्रिगुण मयी माया है। यह कल्पान्त में सो जाती कल्पपर्यन्त अचेतन बनी रहती है। जब इसके चैतन्य होने का समय आता है तो काल देव जाकर इसे गुदगुदाते हैं। उस गुदगुदी से इसके चित्त में कुछ क्षोभ होता है। इसके गुणों में विषमता आती है। किन्तु जब तक आपका पुत्र इसकी ओर दृष्टि पात नहीं करता जब तक आपका अंश भूत पुरुष आँख नहीं मिलाता तब तक यह कुछ कर नहीं सकती। पुरुष की दृष्टि मात्र पड़ते ही यह गर्भिणी हो जाती है और मनः प्रधान लिङ्गदेह की रचना करती है। जो अत्यन्त ही बली है। सबसे अधिक भागने दौड़ने वाला है जो कर्म करने में समर्थ है। जो माया मोहित जीव अभिलाषा युक्त है। जैसे पद्म मात्रा अक्षरों से बँधे रहते हैं ऐसे ही यह जीव पुण्य पाप आदि कर्मों

से आवद्ध है। जो सात्विक राजस तामस त्रिगुण्य विषय वाले वैदिक कर्म क्लाप में आसक्त है। यह एक बड़े ही तीक्ष्ण धार वाले और के सदृश है जो घूमता रहता है। जिसमें अविद्या द्वारा अर्पित सोलह विकार रूप अरा हैं फार हैं। शब्द रूप रस गंध स्पर्श पाँच कर्मेन्द्रिय तथ पांच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन इसप्रकार १६ धार वाला यह चक्र है। इस संसार चक्र को पार करने में अन्यकोई समथ नहीं। जो आपका अनन्य सेवक होगा। अनन्य दासतथा अनन्योपासक होगा वही इसे पारकर सकता है।

स्वामिन् ! यह सोलह बेलनों वाला एक यन्त्र है। जैसे यन्त्र में ईख के दंडे डालकर वे पेरे जाते हैं। ऐसे ही संसार चक्र मुझे भोगों में घुमाकर पेर रहा है। आप ही इससे मेरी रक्षा कर सकते हैं। क्यों कि आप ईश्वर हैं सर्व समर्थ हैं। बुद्धि के जितने गुण हैं उन सब पर अपनी चैतन्य शक्ति द्वारा सदा सर्वदा विजय पाने वाले हैं। इस माया का नियन्त्रण काल ही तो करते हैं और काल आपके अतिरिक्त कोई अन्य है नहीं अतः काल रुप से आप साध्य साधन को अपने अधीन रखते हैं। अतः इस संसार चक्र में डालकर पेरे जाने वाले जीवों को उनसे बचाने में आप ही समर्थ हैं। इस चक्र में सभी जीव पेरे जा रहे हैं किन्तु जो आपके अनन्य है। शरणागत हैं, प्रपन्न हैं। वे बच गये हैं वे पृथक पंक्ति में आनन्द से बैठे हुए हैं प्रभो ! मुझे भी उसी पंक्ति में बिठा दीजिये। मुझे अपने पाद पद्मों के समीप खींच लें। अपने चरण कमलों की छत्र छाया में आश्रय प्रदान करें।

आप कहेंगे, अरे यह क्या माँग रहा है, संसार के बड़े से बड़े सुखों को क्यों नहीं माँग लेता। लोक पालों के सदृश कल्पान्त आयु माँग ले स्वर्गीय सुखों को माँग ले अचंचला स्थायी

सम्पदा माँग ले, सबसे बड़ी विभूति माँग ले और इन सबको लेकर सुखों का उपभोग कर सो भगवन् ! इन सबकी निस्सारता तो मैं प्रत्यक्ष ही देख चुका हूँ। जो लोग इनका रहस्य जानते हों इनसे अपरिचित हों, वे भले ही इन वस्तुओं के लिये लालायित रहें किन्तु प्रभो ! आपसे इन तुच्छ वस्तुओं की याचना की जाय तो यह बड़ा भारी दुर्भाग्य ही होगा। ये वस्तुएँ अवश्य ही तप से प्राप्त होती होंगी किन्तु इनका मूल्य ही क्या ? जो उनसे भी बली आया उसी ने क्षण भर में इन्हें नष्ट कर दिया। मेरे असुर राज पिता ने ही कितने ही लोक पालों के गर्व को खर्व कर दिया कितने सम्पत्ति शालियों को धूलि में मिला दिया कितने विभूति वालों को दरिद्र कर दिया। मेरे पिता को इन्हें नाश करने में कोई प्रबल परिश्रम या प्रयत्न नहीं करना पड़ा था उनके तनिक से क्रोध युक्त हास्य से उनकी तनिक सी भृकुटि विलास से इनका अन्त हो गया, बालू की भाँति के समान उँगली लगाते ही ये सब ढह गयीं तो फिर इतनी तुच्छ वस्तुओं के लिये आपसे याचना करूँ तो मुझसे अधिक अभागा और कौन होगा ? मुझसे बढ़कर दूसरा स्वार्थ अकुशल और कहाँ मिलेगा ? जिन सबसे श्रेष्ठ समझा जाने वाला श्री आयु और विभूतियों को मेरे पिता ने व्यर्थ बना दिया उस उतने बड़े बली मेरे पिता को भी आपने बात की बात में मार डाला, उसके बड़े पेट को चीर कर उसकी आँतों को निकाल लिया तो फिर आप से क्यों न किसी बड़ी वस्तु की आशा करूँ। जिन्हें असुर प्रकृति का पुरुष भी नष्ट करने में समर्थ हो सकता है। उनकी याचना आप असुरारि से क्यों करूँ ?

यदि मैंने इन सबका परिणाम प्रत्यक्ष न देखा होता तो संभव है मैं इनके भुलाव में आ जाता। इनकी इच्छा कर भी बैठता, किन्तु इनका परिणाम तो मेरे नेत्रों के सम्मुख है। अतः

में लोक पालों की तो बात ही क्या द्विपरार्ध तक रहने वाले ब्रह्मा जी की आयु भी नहीं चाहता। मैं ब्रह्मलोक तक के बड़े से बड़े वैभव की भी वांछा नहीं करता उत्तम से उत्तम इन्द्रिय सम्बन्धी भोगों के लिये भी लालायित नहीं न मुझे बड़ी से बड़ी विभूति ही चाहिये। मुझे यदि आप कुछ देना ही चाहें तो साधुओं की संगति ही दीजिये। अपने भक्तों की सूची में मेरा भी नाम लिख लीजिये, अपने अनन्य सेवकों की गणना में मेरा भी नाम सम्मिलित कर लीजिये। अपने दासों की पंक्तिमें मुझे ले चलकर बिठा दीजिये। यह मेरी आप से एक मात्र याचना है।

हे सुख स्वरुप भगवन्! कोई अग्नि की भट्टी के समीप रहकर क्या ताप से बच सकता है? क्या कोई मृग मरीचिका के जल से अपनी तृषा शान्त कर सकता है? प्रभो! ये विषय-भोग मृग तृष्णा के जल के समान देखने में आशावर्धक सुखदायी से प्रतीत होते हैं, वास्तव में ये असत् हैं मिथ्या हैं परिणाम में दुःखों को देने वाले हैं जिस शरीर से सुख भोगने की इच्छा की जाती है वह एक रस रक्त और हड्डियों से बना नस नाड़ियो से सिला थैला है, जिसके ऊपर केश रोम युक्त मांस ऊपर चढ़ा दिया गया है, इस थैले में विष्ठा, मूत्र, कफ, खखार और भाँति भाँति मल ठूँस ठूँस कर भरे हुए हैं, रोगों को उत्पन्न करने का यह थैला मुख्य स्थान है, रोगों का खेत है, व्याधियों का घर है। सड़ने वाली दुर्गन्ध परिणामी वस्तुओं से यह बना है। इस ऐसे शरीर से मिथ्याओं को भोगते हुए यह जीव शान्त नहीं होता विरत नहीं बनता, प्रत्युत उसकी अभिलाषा और अधिक बढ़ती ही जाती है। ये भोगभी सबको सरलता से सुलभ हो जायँ, सो भी बात नहीं। बड़े परिश्रम से अत्यंत कठिनता से ये सब प्राप्त होते हैं, इसमें भी चारों ओर भय ही भय दृष्टि गोचर होता है।

जैसे कोई मधु के लोभ से वट वृक्ष पर चढ़ जाय और वहाँ उसे रीछ मिल जाय, नीचे उसकी लट पकड़कर उतरने की इच्छा से जड़ के समीप में सिंह बैठा हुआ दिखायी दे, पैरों के नीचे अंधकूप हो और उसमें लपलप जीभ करता हुआ काला भुजंग नाग बैठा हो, जिस वट के सूत्रों को लटकती हुई लटों को पकड़े वह लटका है उसे काले गोरे दो चूहे काट रहे हों इतने पर भी जो कभी कभी मधुका छत्तासे टपकता हुआ मधु उसके मुख में पड़ जाता है, उसीके स्वाद के वशीभूत होकर नाना कष्टों को झेलता हुआ जैसे वह अधर में लटका रहता है, उसी प्रकार यह जीव भी विषय भोग रूपी मधुकणों से अपना भोगेच्छा रूप अग्नि को शान्त करना चाहता है, इतने कष्ट झेल कर भी विरक्त होना नहीं चाहता, उसी से फँसा रहना चाहता है। यह कैसे आप की दुरत्ययी माया है। प्रभो! मुझे इससे पार पहुँचाइये। मेरी संसारी वासनाओं को समाप्त करके अपने पाद पद्मों का आश्रय प्रदान कीजिये। यही मेरी एकमात्र अभिलाषा है।

सूतजी कहते हैं, मुनियों! इस प्रकार प्रह्लादजी ने इन अनित्यधन वैभव तथा सम्मान आदि की अनित्यता तथा दुःख रूपता दिखायी, अब वे जैसे आगे भगवान् नर हरि की कृपा का आभार प्रदर्शित करते हुए अपनी कृत कृत्यता का वर्णन करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

धन वैभव परिनाम निहारे निज नेत्रनि तैं।
लोकपाल, सुर इन्द्र कँपे पितु सम दैत्यनि तैं॥
इतनो प्रबल प्रचंड दैत्य चुटकी में मारयो।
इच्छा नहिं ऐश्वर्य नाथ! हौं भव पथ हार्यो॥

थैला तन मल मूत्र को, मृगतृष्णा सम भोग सब।
भोगत भटक्यो जनम बहु, लेउ चरन की शरन अब॥

पद

भव बन्धन तैं नाथ छुड़ायो।
रैनि दिवस द्वै पाट कालक पिसत पास बैठायो॥१॥
चक्की चले निरन्तर निसिदिन सबरो लोक पिसायो।
काल समीप शोकभय नाहीं यह आदरस दिखायो॥२॥
लोक पाल अज सुरगन सबरे, मम पितु गरब घटायो।
सो अति बली छली असुराधिप छिनमें मारि गिरायो॥३॥
विषय भोग हैं, विष सम सगरे, तनु धर रोग कहायो।
होय न शान्त अगिनि बिन्दुनि तैं, प्रभु सेवक अपनायो॥४॥

—::—

प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति(४)

(५५)

क्वाहं रजःप्रभव ईशतमोऽधिकेऽस्मिन्,
जातः सुरेतर कुले क्व तवानुकम्पा।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया,
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः॥*

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

करुनाकर करि कृपा कमल कर सिर धरि दीयो।
यह सौभाग्य न रमा, शंभु, अज देवनि लीयो॥
असुर अधम अति अज्ञ आइ अच्युत अपनायो।
भाववश्य भगवान् कल्प तरु भाव दिखायो॥
सबके सच्चे सुहृद् हरि, अन्तरात्मा जगत के।
ऊँच नीच को भेद नहिं, वश होओ प्रभु भगत के॥

भक्त जब अपने क्षुद्रता और भगवान् की महत्ता का अन्तःकरण से अनुभव करने लगता है, तब वह कृतार्थ हो

---

*नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए प्रह्लाद जी कह रहे हैं—हे जगदीश! कहाँ तो रजोगुण से उत्पन्न हुआ तमो गुण प्रधान दैत्य दानव कुलोत्पन्न मैं और कहाँ आप की अनुकम्पा? आपने कृपा करके अपना वह परम प्रसाद स्वरूप वरद कर कमल मेरे सिर पर रखा है जिसे आपने न कभी ब्रह्मा जी के सिर पर रखा न महादेव जी तथा लक्ष्मी जी के ही सिर पर रखा है।

जाता है, वैसे तो सभी उन परात्पर प्रभु के अंश हैं, सब पर भगवान् का समान भाव है, भगवान् की कृपा वृष्टि बिना भेद भाव के सब पर सदा सर्वदा सब काल मे हो रही है। अन्तर इतना ही है, जो अपनी स्थिति का और भगवान् की महत्ता को जानकर उसका अनुभव नहीं करते विषय भोगों को ही सब कुछ समझ कर उनकी प्राप्ति के निमित्त निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं, वे जहाँ के तहाँ ही रह जाते हैं, चौरासी के चक्कर में घूमते रहते हैं, कभी भाग्यवश पुण्य प्रभाव से इन्द्र बन जाते हैं, फिर प्रवाह में बहते बहते कीट पतंग चींटा चींटी बन जाते हैं। उनका गमनागमन लगा ही रहता है। आवागमन से कभी छुटकारा नहीं पाते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुए कह रहे हैं। प्रभो ! कहाँ मैं और कहाँ आप ? कहाँ आप की महत्ता कहाँ हमारी क्षुद्रता। कहाँ आप की अनुपम कृपा और कहाँ हमारी असीम कृतघ्नता। कोई तुलना ही नहीं, आकाश पाताल का अन्तर है बताना भी अपर्याप्त है। आप की मुझ अज्ञ बालक पर इतनी भारी कृपा, इतनी अधिक अनुग्रह ऐसी अनुपम अनुकम्पा सोचकर महान् आश्चर्य हो रहा है। एक तो मेरा जन्म भी रजो गुण से हुआ है, जिन दिनों पिता जी देवताओं पर अत्यधिक क्रोध कर रहे थे, सबको अपने अभिमान में भर कर अपमानित करते थे उस समय मैं माताके उदर में आया। कुल परम्परागत संस्कार या सदाचार भी शुभ होता तो भी मेरी बुद्धि शुद्ध हो सकती थी। उत्पन्न भी मैं असुर कुल में हुआ, जो सदा काम क्रोध लोभ मोह जो रजो गुण तमो गुण के कार्य हैं उनमें सदा भरे रहे थे। असुर गण तम प्रधान आसुरी प्रकृति के दूसरों से ईर्ष्या करने वाले शरीर को ही सब कुछ समझने वाले, निद्रा आलस्य और प्रमाद में सदा निमग्न रहने वाले तथा

प्रह्लाद कृत नृसिंह स्तुति(४)

(५५)

काहं रजःप्रभव ईशतमोऽधिकेऽस्मिन्,
जातः सुरेतर कुले क तवानुकम्पा।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया,
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः॥*

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

करुनाकर करि कृपा कमल कर सिर धरि दीयो।
यह सौभाग्य न रमा, शंभु, अज देवनि लीयो॥
असुर अधम अति अज्ञ आइ अच्युत अपनायो।
भाववश्य भगवान् कल्प तरु भाव दिखायो॥
सबके सच्चे सुहृद् हरि, अन्तरात्मा जगत के।
ऊँच नीच को भेद नहिं, वश होओ प्रभु भगत के॥

भक्त जब अपने क्षुद्रता और भगवान् की महत्ता का अन्तःकरण से अनुभव करने लगता है, तब वह कृतार्थ हो

---

*नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए प्रह्लाद जी कह रहे हैं—हे जगदीश! कहाँ तो रजोगुण से उत्पन्न हुआ तमो गुण प्रधान दैत्य दानव कुलोत्पन्न मैं और कहाँ आप की अनुकम्पा? आपने कृपा करके अपना वह परम प्रसाद स्वरूप वरद कर कमल मेरे सिर पर रखा है जिसे आपने न कभी ब्रह्मा जी के सिर पर रखा न महादेव जी तथा लक्ष्मी जी के ही सिर पर रखा है।

जाता है, वैसे तो सभी उन परात्पर प्रभु के अंश हैं, सब पर भगवान् का समान भाव है, भगवान् की कृपा वृष्टि बिना भेद भाव के सब पर सदा सर्वदा सब काल मे हो रही है। अन्तर इतना ही है, जो अपनी स्थिति का और भगवान् की महत्ता को जानकर उसका अनुभव नहीं करते विषय भोगों को ही सब कुछ समझ कर उनकी प्राप्ति के निमित्त निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं, वे जहाँ के तहाँ ही रह जाते हैं, चौरासी के चक्कर में घूमते रहते हैं, कभी भाग्यवश पुण्य प्रभाव से इन्द्र बन जाते हैं, फिर प्रवाह में बहते बहते कीट पतंग चींटा चींटी बन जाते हैं। उनका गमनागमन लगा ही रहता है। आवागमन से कभी छुटकारा नहीं पाते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुए कह रहे हैं। प्रभो ! कहाँ मैं और कहाँ आप ? कहाँ आप की महत्ता कहाँ हमारी क्षुद्रता। कहाँ आप की अनुपम कृपा और कहाँ हमारी असीम कृतघ्नता। कोई तुलना ही नहीं, आकाश पाताल का अन्तर है बताना भी अपर्याप्त है। आप की मुझ अज्ञ बालक पर इतनी भारी कृपा, इतनी अधिक अनुग्रह ऐसी अनुपम अनुकम्पा सोचकर महान् आश्चर्य हो रहा है। एक तो मेरा जन्म भी रजो गुण से हुआ है, जिन दिनों पिता जी देवताओं पर अत्यधिक क्रोध कर रहे थे, सबको अपने अभिमान में भर कर अपमानित करते थे उस समय मैं माताके उदर में आया। कुल परम्परागत संस्कार या सदाचार भी शुभ होता तो भी मेरी बुद्धि शुद्ध हो सकती थी। उत्पन्न भी मैं असुर कुल में हुआ, जो सदा काम क्रोध लोभ मोह जो रजो गुण तमो गुण के कार्य हैं उनमें सदा भरे रहे थे। असुर गण तम प्रधान आसुरी प्रकृति के दूसरों से ईर्ष्या करने वाले शरीर को ही सब कुछ समझने वाले, निद्रा आलस्य और प्रमाद में सदा निमग्न रहने वाले तथा

हिंसा परापवाद में निरत रहने वाले हैं। ऐसे रज तम प्रधान कुल में मेरी उत्पत्ति हुई। इतने पर भी आप ने मुझ अधम पर अनुग्रह की, अनुग्रह भी साधारण नहीं अपनी गोदी में बिठाकर वात्सल्य रस से संसिक्त, अनुग्रह से आर्द्र कृपाभाव से परिपूर्ण, परम पुरुषार्थ स्वरूप सकल सन्ताप हारी अपना कर कमल मेरे सिर पर स्वतः ही रख दिया। तब अब बताइये ऐसा सौभाग्य आज तक किसे प्राप्त हुआ होगा? इतना प्रेम प्रसाद संसार में किसे मिला होगा।

मैं अनुमान करता हूँ, कि ब्रह्मा जी आप के सबसे प्रिय सबसे जेष्ठ श्रेष्ठ आदि पुत्र हैं। पिता का जेष्ठ श्रेष्ठ सर्व गुण सम्सन्न योग्य पुत्र पर अत्यधिक प्रेम होता है ब्रह्माजी जो आप के नाभि कमल से उत्पन्न हुए थे, उत्पन्न होते ही भयभीत की भाँति आप की स्तुति करने लगे, आपने भी उन्हें तप करने का आदेश दिया। तपस्या से समर्थ हुए सृष्टि करने लग गये सबके पितामह बन गये, गम्भीरता आ गई। वे कभी आप की गोदी में बैठे हों इसका मैं अनुमान भी नहीं कर सकता, आप ने अनुग्रह से परिपूर्ण अपना अभय प्रद वरद हस्त उनके मस्तक पर कभी रखा होगा इसमें सन्देह है।

दूसरे सबसे बड़े देव भव हैं-रुद्र देव हैं, वे ब्रह्मा जी की भ्रुकुटि फोड़कर उत्पन्न हुए। होते ही रोने लगे। स्थान, नाम, बहु आदि माँगने लगे। ब्रह्माजी ने यह सब दे दिया, तो वे लगे भूत प्रेत पिशाच और रुद्रों की सृष्टि करने। कभी आप ने उन त्रिनेत्र को गोद में बिठाकर मुँह चूमकर प्यार किया होगा, उनके सिर पर वात्सल्य पूर्ण श्री हस्त रखा होगा, इसमें भी सन्देह है। अब रही जगदम्बा लक्ष्मी देवी। अब उनके सम्बन्ध में तो मैं क्या कहूँ, वे आपकी अर्धाङ्गिनी ही ठहरी। माता के

सम्बन्ध में पुत्र को कुछ कहने का भी अधिकार नहीं, किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ आप ने वात्सल्य पूर्ण कर कमल तो उनके सिर पर कभी रखा ही न होगा। वात्सल्य रस का अधिकारी तो पुत्र ही होता है और मैं आप का पहिला पुत्र हूँ जिसे ऐसा देव दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ है, फिर मैं अपने भाग्य की किन शब्दों में सराहना करूँ ?

प्रभो ! मेरे लिये तो यह बड़े ही सौभाग्य की बात है, किन्तु आप के लिये यह कोई आश्चय की बात नहीं है। आप कहेंगे, कि आश्चर्य की क्यों नहीं है, इतने बड़े सब से श्रेष्ठ देवाधिदेव महादेव के सिर पर हाथ नहीं रखा, वेद गर्भ सर्वज्ञ प्रजापतियों के पति ब्रह्मा जी को भी जो सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ वह तुझ जैसे अधम असुर कुल में उत्पन्न छोटे से शिशु को प्राप्त हो गया ?

सो, भगवन् ! यह बात नहीं। उत्तम अधम श्रेष्ठ कनिष्ठ ऊँचा नीचा तथा छोटे बड़े का भेद भाव तो हम संसारी जीवों में ही होता है। आप की दृष्टि में कौन छोटा कौन बड़ा, कौन ऊँचा कौन नीचा ? आप के लिये तो सभी समान हैं, सभी एक से हैं, आप असुर ही समझकर किसी की उपेक्षा नहीं कर देते। केवल उत्तम कुल में उत्पन्न होने के ही कारण उसे छाती से नहीं चिपटा लेते। आप तो सर्वान्तर्यामी हैं, जगदात्मा हैं, सबके भीतर समान भाव से रहने वाले हैं सबके सुहृद् हैं, बन्धु हैं, प्रेष्ठ हैं। आप के लिये सभी एक से हैं बराबर हैं।

इतना सब होने पर भी भगवन् ! भावानुसार भक्तों में भी भेद तो हो ही जाता है। प्रत्यक्ष जगत में देख ही रहे हैं, कोई सुखी है कोई दुखी है कोई अधिक कृपा पात्र है, किसी को उतनी कृपा प्राप्त नहीं है। यह भेद भाव तो भगवन् ! सेवा के कारण

कृपा गठरी बाँधे ही रहते हैं, आप का द्वार तो सदा सर्वदा सबके लिये समान रूप से खुला ही रहता है, किन्तु कोई अभागा लेने ही न आवे तो आप क्या करें। आप किसी को मना नहीं करते कि तुम मत आओ। किन्तु जो कृपा लेना ही न चाहे तो आप कैसे दें। कल्प वृक्ष है, वह किसी प्रकार का भेद भाव नहीं बरतता। जो उसके नीचे जाय, वहाँ जाकर जो भी इच्छा करे उसे वही वस्तु प्राप्त होगी। कल्प वृक्ष के समीप रहकर भी जो उसके नीचे जाकर भी सिंह का चिन्तन करे उससे भय करे तो उसे सिंह का भय ही प्राप्त होगा। इसी प्रकार जो आप की सेवा करते हैं, तो सेवा के फल स्वरूप उनमें सद् धर्म उत्पन्न होते हैं, उनके आचरण से आपकी प्राप्ति होती है। इसमें मुख्यता सेवा भाव की है, कुलागत उच्चता नीचता इसमें कोई भी कारण नहीं है। जो आप की सेवा सुश्रूषा में संलग्न रहे उसे आप सत्य स्वरुप की प्राप्ति होगी, जो विषय भोगों में संलग्न रहेगा इन्द्रियों की स्वादों की ओर दौड़ेगा वह संसार कूप में गिरेगा। आज अज्ञ लोग अमृत स्वरूप आप की भक्ति को छोड़कर संसार रूप अंध कूप में स्वेच्छा से गिरते जाते हैं जिसमें काल रूप चितकबना हो जिह्वाओं वाला सर्प बैठा हुआ जीभों को लपलपा रहा है। संसारी लोग अंधे होकर दूसरों की देखा देखी उसी कूप में कूदते जाते हैं। कूदते जाते हैं।

हे प्राणाधार! हे परम श्रेष्ठ! हे पतित पावन! विषयाभिलाषी पुरुषों का साथ करने के कारण उनके संग दोष से उन सब की देखा देखी मैं भी उस अंध कूप की ओर उनके पीछे पीछे जा रहा था, किन्तु उस समय एक वीणाधारी परोपकार निरत स्वार्थ रहित दृढ़ व्रती आप के अनन्य सेवक देवर्षि नारद ने मुझे अहैतुकी कृपा वश बचा लिया, उन्होंने अनाथ

समझकर मुझे अपना लिया, उस अंध कूप में गिरने से रोक लिया, मुझे बल पूर्वक अपना बनाकर स्वीकार कर लिया, अपना उपदेशामृत पानकराकर ज्ञानाञ्जन को मेरी आँखों में आँजकर उस गहन कूप का रहस्य प्रत्यक्ष दिखा दिया। उन्हीं का यह असीम अनुग्रह है कि आज मैं अच्युत का देव दुर्लभ दर्शन प्राप्त कर रहा हूँ। जिन हरि भक्तों ने जिन आप के अनन्त उपासकों ने जिन आप के दयालु दासों ने मुझे मुक्ति का मार्ग दिखाया, आप का साक्षात्कार कराया उन आप के भृत्यों की सेवा भला मैं कैसे त्याग सकता हूँ। मेरे तो सर्वस्व वे भगवद् भक्त हैं, उन्हीं की अनुकम्पा से तो यह अनुपम अवसर उपलब्ध हो सका है।

हे दयालो! मेरे पिता का अभिमान बहुत अधिक बढ़ चढ़ गया था, पराकाष्ठा का पर पहुँच गया था, वे अपने को ईश्वर सर्वश्रेष्ठ महापुरुष मानने लगे थे। वे मुझे मारने को कटिबद्ध हो गये थे, मेरा अन्त करने को कृत संकल्प थे, उन्होंने पुत्र स्नेह को तिलाञ्जलि दे दी थी। हाथ में खड्ग लेकर और मुझे कसकर पकड़कर वे गरज कर बोले—"अब बता मेरे अतिरिक्त अब कौन तेरा ईश्वर है, यदि कोई है, तो उसे पुकार, अब आकर वह तेरी रक्षा करे, तुझे मेरे खड्ग के प्रहार से बचावे। मैं अभी तेरे सिर को धड़ से पृथक करता हूँ।" उस समय हे अनन्त! आप ने ही नृसिंह रूप रखकर मेरे प्राणों की रक्षा की और मेरे आततायी पिता का वध किया। आप ने इतना कष्ट क्यों किया? क्यों आप कठोर खंभे से आधे नर और आधे सिंह होकर उत्पन्न हुए?

मैं तो समझता हूँ आप अपने अनुगत अनन्योपासक नारद जी के वचनों को ही सत्य सिद्ध करने के लिये उत्पन्न हुए थे।

मेरे गुरु नारद जी ने मुझे उदर में ही यह सिखाया था, कि श्री हरि सर्वत्र हैं सब में हैं और सब कुछ करने में समर्थ हैं। उसी ज्ञान के आधार पर मैंने पिता जी के पूछने पर कह दिया था, कि मुझमें, तुममें, खड्ग में और खम्भ में सर्वत्र मेरे श्रीहरि विराजमान हैं, कोई ऐसा स्थान नहीं, कोई ऐसा काल नहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं जहाँ वे न हों।" जब पिता खड्ग का प्रहार करना ही चाहते थे और आप फिर भी प्रकट न हुए तो मुझे नारद जी के वचनों पर कुछ शंका सी होने लगी। बस, यही बात आप को असह्य प्रतीत हुई। मेरे भक्त का भाषण असत्य ही प्रतीत हो सकता है। मेरे अनन्य उपासक की बात असत्य हो सकती है, इसी लिये आप तुरन्त ही पत्थर के खम्भ से धम्म से प्रादुर्भूत हो गये और अपनी भक्त वत्सलता भक्तवश्यता सिद्ध करके दिखा दी। इसलिये मेरी दृष्टि में तो आप मेरी रक्षा के लिये नहीं मेरे गुरु के वाक्यों को सत्य बनाने के लिये अपने भक्त के वचनों को अटल अलीक बनाने के लिये उत्पन्न हुए थे। जिन भक्तों पर आप का इतना अधिक अनुराग है उनकी सेवा को मैं भूलकर भी नहीं त्याग सकता उनका मैं आप के ही समान आदर करता रहूँगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रह्लाद जी ने अपनी कृत कृत्यता तथा भगवान् की भृत्यवश्यता का वर्णन किया, अब आगे वे जैसे जगत् और जगदीश्वर की बीज वृक्ष रूप से एकता का वर्णन करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आप उसे समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

जग भोगनि में फँसे नरनि के संग दोष तैं।
अन्ध कूप में गिरत रुक्यो गुरु ज्ञान दोष तैं॥
गुरु नारद उपकार नाथ नहिं कबहुं भुलाऊँ।
तव दासनि नित पूजि चरन महँ शीश नवाऊँ॥
असि लै पितु मारन चले, सत्य करन सेवक वचन।
प्रकट भये प्रभु खम्भ तैं, भगत बछल अशरन शरन॥

पद

दासनि देवें देव बड़ाई!
कहँ अघ असुर अधम कुत्सित कुल, कहँ प्रभु की प्रभुताई॥१॥
जो सौभाग्य दयो सेवक कूँ, नहिं ताकी समताई।
नहिं पायो अज शंभु सुरेश्वर अरधाङ्गिनि श्री माई॥२॥
भक्ति भाव तैं नरहरि रीझौ, केवल गुन न सुहाई।
तव दासनि पद पकरि पार हौं, मारग दयो दिखाई॥३॥
भक्तनि प्रन पूरन करिवे हरि अद्भुत देह दिखाई।
प्रनत पाल प्रन पालक प्रभु जी, पद पदुमनि सिर नाई॥४॥

प्रहलाद कृत नृसिंह स्तुति

(५६)

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत्त्व—
माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदम्,
नावेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

जगत रूप तुम बने गुननितैं जाइ बनाओ ।
आदि मध्य अरु अन्त आपुई आपु लखाओ ॥
ह्वैकें एक अनेक दिखो मायावश स्वामी ।
तुम बिनु और न कछू बीज द्रुप नामहु नामी ॥
ज्याको जातें जनम थिति, लय प्रकाश तद्रूप हो ।
तैसे तुम जग बनि गये, बीज वृक्ष फल फूल सो ॥

नट जैसे अपनी माया से नाना रूप बना लेता है, किन्तु वे सब रूप उसी के होते हैं, उससे भिन्न कुछ नहीं होता । वर्णों के कारण, तथा चित्र विचित्र रूप तथा वेष बदलने के कारण तथा

* स्तुति करते हुए प्रहादजी कह रहे हैं—"हे प्रभो ! एकमात्र आप ही इस सम्पूर्ण जगत् के रूप में हो गये हैं । इसके आदि में, अन्त में, और मध्य में भी आप ही अवस्थित हैं । आप यद्यपि एक हैं फिर भी अपनी माया से गुणों के परिणाम स्वरूप इस सम्पूर्ण जगत् की रचना करके और इसके बाहर भीतर ओत प्रोत होकर उन गुणों के कार्यकलापों के कारण बहुत से प्रतीत होते हैं ।"

बनावटी नाम रख लेने के कारण स्वतः उसके रूप में कोई विकार नहीं आता। वह तो वही रहता है। नाम कृत, तथा उपाधिकृत भेद है, सो ये सब वस्तुयें क्षणिक हैं, परिवर्तनशील हैं, अनित्य हैं असत् हैं, सब काल में रहने वाली नहीं हैं। इन वस्तुओं के माध्यम से जो नाना खेल दिखा रहा है वह नट ही सत्य है, और सब प्रपञ्च है, विडम्बना है, खेल है, मनोरंजन है, हस्तकौशल है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए भक्तराज प्रह्लादजी कह रहे हैं—"प्रभो! एकमात्र तुम ही सत्य हो, तुम ही शाश्वत हो, तुम ही चिरंतन हो, और सब तो आपका ही बनाया खेलमात्र है, सब आपका ही रूप है, आपका ही माया विनोद है। इस जगत् को आप ही बनाते हैं और आप ही संहार करते हैं। बनाते समय आपको राग नहीं बिगाड़ते समय इससे कोई द्वेष नहीं, बनाना खेल बिगाड़ना भी खेल। बनाते समय हर्ष नहीं, बिगाड़ते समय विषाद नहीं। बनाना भी मनोरंजन के लिये और बिगाड़ना भी मनोरंजन के लिये। एक सिद्धान्त है जो आदि अन्त में होता है वही उसके मध्य में भी रहता है। जैसे घड़े बनने के आदि में भी मिट्टी थी, घड़ा बिगड़नेपर भी मिट्टी ही रह जायगी, तो मध्य में जो घड़ा दीखता है उसके नाम रूप की ओर ध्यान न दो तो मध्य में भी वह शुद्ध मिट्टी ही मिट्टी है। खिलौना बनने के पहिले भी चीनी थी, खिलौना बिगाड़ दो तो भी चीनी ही रह जाती है, बीच में जो चीनी के हाथी घोड़ा भिन्न भिन्न नाम रूप वाले दिखायी देने लगते हैं, उनमें भी चीनी के अतिरिक्त कुछ नहीं। कटक कुण्डल बनने के पूर्व भी सुवर्ण ही था उन्हें तोड़ दो गला दो तो भी सुवर्ण ही शेष रहेगा मध्य में जो सुन्दरी कटक कुण्डलादि आभूषण हो गये हैं उनमें भी सोना ही सोना है। भीत पर चित्र बनाने के पूर्व भी

गेरू था, बिगाड़ दो तो भी वही रहेगा, बीच में जो विभिन्न नाम रूप वाले चित्र दीखते हैं उनमें भी रंगों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार हे भगवन्! इस सृष्टि के पूर्व भी आप ही थे, सृष्टि का संहार होने पर ही आप ही रह जायँगे, बीच में जो यह नाना नाम रूपों वाला प्रपञ्च दृष्टिगोचर हो रहा है उसमें भी सर्वत्र आपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

हे अद्वय! आप एक हैं, न आपके कोई समान है न कोई दूसरा ही है, फिर भी आप माया के गुणों के परिणाम इस दृश्य प्रपञ्च इस विश्व ब्रह्मांड को रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। जैसे मकड़ी स्वयं ही अपने मुख से सूत्र निकाल कर जाले की रचना करती है और स्वयं ही उसमें किलोल करके आनन्द का अनुभव करती है, जब इच्छा होती है उस जाले को पुनः निगल जाती है, फिर से पेट में रख लेती है। इसी प्रकार माया के गुणों के जो—उत्पन्न होना स्थित रहना विलय को प्राप्त होना ये जो व्यापार हैं उनके द्वारा तथा सृष्टि के निमित्त ब्रह्मा बन जाना, रक्षा के निमित्त विष्णु बन जाना तथा संहार के निमित्त रुद्र रूप रख लेना ये जो अनेक रूप हैं इनके द्वारा अनेक से भासित होते हैं, बहुत रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं।

हे जगदीश्वर! यह जो कार्य कारणात्मक जगत् है सद् असद् रूप सम्पूर्ण संसार है, इसमें नाना रूप आपने ही धारण किये हैं। आप ही जगत् हैं और जगत से भिन्न जगदीश्वर परम पुरुष भी आप ही हैं। जब कार्य भी आप कारण भी आप और कर्ता भी आप ही हैं, तो यह मेरा है यह पराया है, यह जो द्वैत बुद्धि है यह व्यर्थ है, अविद्या है माया है। संसार में यह सिद्धांत है जिसका जिस वस्तु से जन्म होता है, जिसमें स्थिति रहती है, अन्त में जिसमें लीन होता है और जिससे प्रकाश होता है वह उसी का रूप होता है। जैसे वृक्ष कार्य है, बीज उसका कारण है।

बीज से ही वृक्ष बना, बीज ही वृक्ष बनके स्थित रहा, अन्त में वृक्ष का उपसंहार भी बीज में ही हुआ। वृक्ष का प्रकाश भी बीज के कारण ही है अतः वृक्ष बीज ही है। उसी का रूप ही है। जैसे मिट्टी से घड़ा बना। जब तक घड़ा रहा मिट्टी में स्थित रहा अन्त में मिट्टी में ही मिल गया। इसमें मिट्टी ही सत्य है। घड़ा मिट्टी का ही रूप है।

प्रभो ! जैसे मकड़ी जाले में जब तक रहती है उसमें खेलती है, जब निगल लेती है, तो एकाकीपन का आनन्द लेती है। इसी प्रकार आप इस निखिल प्रपञ्च को अपने उदर में समेट कर प्रलयकालीन जल में निरीह होकर एकाकी बनकर आत्म सुख का अनुभव करतेहुए सुखपूर्वक लेट लगाते रहते हैं, तान दुपट्टा सोते रहते हैं। वह सोना आपका साधारण जीवों जैसा सोना नहीं है। संसारी जीवों की निद्रा तो तमोगुण से अज्ञानमयी अन्धकार से ढकी रहती है, किन्तु आपकी निद्रा तो आत्म रूप के प्रकाश से प्रकाशित योगनिद्रा है। उस योगनिद्रा में अवस्थित होकर आप बाह्यदृष्टि को मूँद लेते हैं आप उस समय न जाग्रत अवस्था में ही होते हैं, न स्वप्नावस्था में और न सुषुप्ति अवस्था में ही, उस समय आप तुरीयपद में अवस्थित रहते हैं। उस समय सत्व, रज और तम का खेल समाप्त होकर गुणातीत अवस्था का सुख लेते हैं, उस समय ऊर्ध्वलोक, अधोलोक तथा मध्यलोक इन तीनों का ही विस्तार विलीन हो जाता है आप अपने तुरीयपद वैकुंठलोक में स्थित रहते हैं। न तमोयुक्त होते हैं न विषयों के भोगने वाले अर्थात् तम और और गुणों का योग नहीं करते। उस समय आप अपने विशुद्ध सत्व स्वरूप में निमग्न रहते हैं।

हे विश्वविधायक ! यह जगत् वास्तव में है क्या ? प्रकृति के जो तीनों गुण हैं, वे ही कालशक्ति की प्रेरणा से क्षभित होकर

ब्रह्मांड के आकार में परिणित हो गये हैं, ब्रह्मांड कुछ आपसे भिन्न तो है ही नहीं आपका ही देह है, शरीर है। जब आप निरीह होकर प्रलयकालीन जल में सोते हैं, यह सम्पूर्ण जगत भी आपके ही भीतर चुपचाप पड़ा रहता है। सूखे बीज के समान रहता है। निरन्तर जल की चपेट लगते लगते इसमें कुछ गीलापन हो जाता होगा। सोते समय काल शक्ति प्रहरी का काम करती है। जब आपके जागने का समय होता है, तो काल-शक्ति शनैः शनैः आपके तलुओं को सुहलाती है, शेष की सुखद शैया पर पड़े ही पड़े आप तनिक नयनों को खोलते हैं। काल शक्ति के संकेत को समझकर आप योगनिद्रा रूप समाधि को त्यागते हैं। आप देखते हैं, आपके शरीर में जो नन्हा सा जगत का बीज पड़ा था, वह तो जल लगने से कुछ फूल सा गया है, उसमें से एक नन्हा सा अंकुर उत्पन्न होकर आपकी नाभि द्वारा बाहर हुआ। बाहर होते ही जैसे नन्हा सा वट का बीज विशाल वट वृक्ष बना है उसी प्रकार उसने भी ब्रह्मांड कमल का रूप धारण कर लिया। उस विशाल नाभिकमल में ब्रह्मा बाबा बैठे थे। इधर उधर दृष्टि दौड़ाते ही चारों दिशाओं में उनके चार मुख हो गये। अब वे आठ नेत्रवाले देव अपनी अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से इस कमल को निहारने लगे उन्हें जिज्ञासा हुई इसका बीज कहाँ है? यह उत्पन्न किससे हुआ है? किन्तु इसको उत्पन्न करनेवाले आप बाह्य दृष्टि से तो दिखायी देते नहीं। ब्रह्माजी ने सब ओर दृष्टि दौड़ायी किन्तु कमल के अतिरिक्त उन्हें कुछ दिखायी ही न दिया। उन्होंने सोचा—"इस कमल से पृथक इसका कोई कर्ता अवश्य होगा। इसका बीज कहीं जल में दूर छिपा होगा, चलूँ पहिले इसके कारण को खोजूँ। वे जल के भीतर उतरे। सौ वर्ष तक खोजते रहे। वृक्ष से पृथक कहीं बीज हो तो उसका पता मिले भी। कोई भी बीज जब वृक्षरूप में परिणित हो जाता है

तब बीज तो उसी वृक्ष में विलीन हो जाता है। आप उसकी जड़ को कैसे भी देखें कहीं बीज मिलेगा ही नहीं। ब्रह्माजी सौ वर्ष तक डुबकी मारकर खोजते ही रहे, कमल का बीज मिला ही नहीं। कहीं हो, तो मिले। जगत् बीज ही तो ब्रह्मांड कमल हो गया था। अंकुर जब उत्पन्न होता है, तो उसमें बीज भी व्याप्त हो जाता है, कोई चाहे कि अंकुर उत्पन्न हो जाने पर भी हम बीज को देख लें, तो उसका प्रयास निष्फल है। इसीलिये ब्रह्माजी को सौ वर्ष तक ढूँढने पर भी उस ब्रह्मांड कमल के आदि कारण बीज के दर्शन नहीं हुए।

ढूँढ़ते ढूँढ़ते ब्रह्माजी थक गये, शरीर श्रमित हो गया बीज न मिलने पर उन्हें अत्यन्त विस्मय हुआ। अन्य कोई उपाय न देखकर पुनः आकर उसी कमल पर बैठ गये। समाधि लगायी और घोर तपस्या करने लगे। हे प्रभो! चिरकाल तक तपस्या के कारण उनका अन्तःकरण अति निर्मल विशुद्ध बन गया। अब उनके मन में यह बात आई कि बाहर खोजने से कार्य चलेगा नहीं, जो भी कुछ है अपने भीतर ही है। अधिक दौड़ धूप करने की आवश्यकता नहीं, बहुत भटकने से कार्य सिद्धि सम्भव नहीं। यही सोचकर वे और तीव्रतम तप में प्रवृत्त हुए। अब उन्हें अपने ही भीतर अन्तरात्मा में भगवान् के दर्शन हुए। जैसे पृथिवी तो स्पष्ट है, किन्तु उसमें से अति सूक्ष्म गन्ध को पृथिवी से पृथक् करके देखना चाहो तो असम्भव है। इसी प्रकार ब्रह्मा जी का भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरण मय जो शरीर है, उसमें अति सूक्ष्म रूप से भगवान् के दर्शन हुए।

हे स्वामिन्! ब्रह्माजी उस रूप के दर्शनों से कृतार्थ हो गये, फिर भी वे विराट् रूप के दर्शनों के इच्छुक थे। आप तो भक्त वाञ्छाकल्पतरु हैं न? आपने बाबा ब्रह्माजी की वह इच्छा भी

पूर्ण की उनको अपने मायामय विराट् रूप के दर्शन कराये। उसमें भाँति भाँति आकृति वाले असंख्यों आनन थे, अनगिनती चरण थे। इतने हाथ थे, कि किसी भी भाँति उनकी गणना असम्भव थी इसी प्रकार उरु, नासिका, वदन, कर्ण तथा नयन थे। भाँति भाँति के चित्र विचित्र आभूषण पहिने हुए नाना प्रकार के आयुधों को धारण किये हुए वे शरीर थे। उस विराट् रूप में चौदहों भुवन प्राप्त थे। माया के कारण अपरिमित अगणित रूपों वाला वह विचित्र रूप था। उस रूप को देखकर ब्रह्माजी के रोम रोम खिल गये, उन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ। जिसके लिये वे प्रबल प्रयत्न कर रहे थे उस रूप के उन्हें सहज में ही कमल पर बैठे ही बैठे दर्शन हो गये। ब्रह्माजी ने आपकी अनेक स्तोत्रों से स्तुति की। आपने उनसे वर माँगने को कहा। उन्होंने सृष्टि रचना ज्ञान का वर माँगा आपने उन्हें वेद प्रदान किये।

ब्रह्माजी वेद पढ़ ही रहे थे, कि न जाने कहाँ से दो दैत्य वहाँ आ धमके। प्रथम ग्रास में ही मक्खी पात हुआ। जैसे क्षीरसागर के मन्थन से पहिले पहिल हालाहल विष उत्पन्न हुआ इसी प्रकार सृष्टि के आदि में भी सर्व प्रथम तमोगुण और रजोगुण के रूप ये दो असुर ही उत्पन्न हुए। वे भी ब्रह्माजी के कान से ही निकल पड़े। भीतर जो रजोगुण तमोगुण भरा था वह कानों द्वारा बाहर आगया। सृष्टि तो बिना रज तम के होती नहीं। सत्वगुण तो शान्त है, वह तो ज्ञान को बढ़ाने वाला है, बुद्धि को बिगाड़ने वाले, ज्ञान को हरने वाले, सृष्टि को बढ़ाने वाले तो रजोगुण और तमोगुण ही हैं। दोनों दुष्ट निकल कर अपने बाप को ही धमकाने लगे। कैसा सृष्टि का विचित्र खेल है। बापको मारकर बेटा उसका आसन लेना चाहता है, वह अपने जनक का ही अन्त करके बढ़ने को उत्सुक होता है। उन

दोनों दुष्टों ने सत्व स्वरूप जो वेद था, पहिले उसी का अपहरण किया, ब्रह्मा बाबा की कठिन परिश्रम से से प्राप्त की हुई सम्पत्ति पर ही सर्वप्रथम अधिकार जमाया। ब्रह्माबाबा कहते ही रहे—अरे, तुम यह क्या करते हो, वेद को मुझसे क्यों छीनते हो, ठहरो सही, बात तो सुनते जाओ, किन्तु वे किसकी सुनने वाले थे। वेदों को लेकर चम्पत हो गये और जाकर समुद्र के जल में छिप गये। अब कमलासन चतुरानन बाबा क्या करते। पुजारी की दौड़ मन्दिर तक। उनको तो एकमात्र आपका ही सहारा था, फिर अव्यग्रभाव में आपकी ही स्तुति करने लगे। आपने ब्रह्माजी को दुखी देखकर दर्शन देते हुए पूछा—"कमलयोनि ! क्यों घबड़ा गये, क्यों व्यग्र बने हुए हो।"

ब्रह्मा बाबा बोले—"अजी, महाराज ! सभी काम गड़बड़ा गया। रजोगुणी तमोगुणी दो दैत्य वेदों को हर ले गये।" आपने कहा—"कोई बात नहीं मेरा नाम दैत्यारि है, रजतम रूपी असुरों का मैं अन्त कर सकता हूँ, तुम देखो, मेरे ठाठ। हयग्रीव का रूप रखकर अभी पाताल में जाता हूँ, असुरों को मारकर अभी उनसे वेद लाता हूँ।" यह कहकर आप जल के भीतर गये। मधुकैटभ दैत्यों से लड़े। मधुकैटभ को छल से मारकर उनकी मेदा से स्थूल भेदिनी का निर्माण करके सृष्टि का श्रीगणेश कर दिया। वेदों को लाकर ब्रह्मा बाबा को पुनः समर्पित कर दिया। इससे सिद्ध हुआ आपको सत्व अत्यन्त प्रिय है, इसीलिये सत्वगुण को ही आपका परम प्रियतम रूप माना जाता है।

हे प्रभो ! आपने हयग्रीव ही अवतार लिया हो, सो बात नहीं। भिन्न भिन्न युगों में विविध कल्पों में आप अनेक अवतारों को धारण करते हैं, ऊँची नीची सभी योनियों में प्रकट होकर दुष्टों का संहार तथा शिष्टों का पालन करते हैं। कभी मनुष्य

बन जाते हैं, राम, कृष्णादि रूप रखकर क्रीड़ा करते हैं। कभी तिर्यक् चार पैर वाले पशु भी बन जाते हैं। पशुओं में भी सूकर बनने में भी संकोच नहीं करते। कभी जटाधारी, लटाधारी, तपस्याव्रतधारी, कपिल, नरनारायण। उपेन्द्रादि रूपों में ऋषि बन जाते हैं, कभी उपेन्द्र बनकर देवताओं उत्पन्न हो जाते हैं कभी जलचर जीवों में कच्छ मच्छ बनकर जल में किलोलें करते फिरते। इस प्रकार नाना अवतार लेकर, विविध वेष बनाकर सम्पूर्ण लोकों का पालन करते हैं, तथा सृष्टि के कार्य में जो कंटक होते हैं, उन जगद्विद्रोही असाधु असुरों का संहार करके सभी को सुख पहुँचाते हैं।

हे बहुरूपधारी सर्वसमर्थ सर्वेश्वर! आप युग युग में प्रत्यक्ष अवतार लेते हैं अपने अनुगत अनुचरों को दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। सत्ययुग, त्रेता, और द्वापर इन तीनों युगों में तो प्रत्यक्ष अवतार लेकर सबके देखते देखते धर्म की रक्षा करते हैं। किन्तु कलियुग में तो गुप्तरूप से ही रहते हैं। आपको सर्व साधारण पहिचान नहीं सकते देख नहीं सकते। इस युग में आप छिपे ही छिपे प्रच्छन्न भाव से सृष्टि के रक्षण कार्य को करते रहते हैं। सृष्टि की रक्षा आपके ही द्वारा होती है। तीनों युगों में प्रत्यक्ष होने के कारण आपके अनेक नामों से एक नाम 'त्रियुगी' भी है। त्रियुगीनारायण बनकर आप सृष्टि रक्षण कार्य में संलग्न रहते हैं। ऐसे सत्य स्वरूप त्रियुगनारायण के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रह्लादजी ने जगत् और जगदीश्वर के सृष्टि कार्य को बताते हुए उनकी स्तुति की। अब आगे जैसे वे अपने दुष्ट मन की प्रबलता बताते हुए उसे

भगवान् के चरणों में लगाने की विनती करेंगे, वह कथा प्रसङ्ग आगे कहा जायगा।"

छप्पय

सब संसार समेंट पेट में सुख तें सोओ।
कालशक्ति पद पदुम पलोटे तब तुम जोओ॥
कमलनालतैं भये प्रकट अज पार लगायो।
भये निरत तप माहिं पार जब बीज न पायो॥
हिय में प्रकटे प्रेमवश, पुनि विराट दरशन करत।
धरम हेतु जग पालि प्रभु, नाना अवतारनि धरत॥

पद

करता करम करन तुम नरहरि।
वृक्ष बीज बनि जावै जैसे, बने जगत करुना करि॥१॥
प्रलय पयोधि प्रमतें पौढ़े, उदर माहिं सब जग धरि।
काल पाइ तव नाभिकमलतैं, प्रकटे अज भूतनि भरि॥२॥
खोजत थके मिले हिय भीतर, बनि विराट तुम मधु-अरि।
जो जो शरन चरन की आये, ते प्रभु अवसि गये तरि॥३॥

प्रह्लादकृत नृसिंह स्तुति [६]

(५७)

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ !
सम्प्रीयते दुरित दुष्टमसाधुतीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तम्,
तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० ९ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

यह मेरो मन मलिन मोहमय कामातुर नित ।
कथा माहिँ नहिँ लगे भगे भोगनि में उतइत ॥
तव चिंतन कस करूँ अधिक इन्द्रिय दुख देवें ।
जैसे पत्नि अनेक कष्ट दे दे पति सेवें ॥
भव वैतरनी महँ पड़े, भगवन् ! भटकें भूतगन ।
मोह मगन जनमें मरें, पार करो करुना अयन ॥

मन की स्वाभाविकी प्रवृत्ति विषयों की ओर आकृष्ट होने की है और विषयों में इतनी मोहकता है कि वे हठात् मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। जब चोर और कुनिया दोनों

---

* स्तुति करते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—"हे वैकुण्ठनाथ ! मेरे मन की प्रीति आपकी कथाओं में नहीं होती। यह मन बड़ा ही दुष्ट है, अत्यन्त ही असाधु है, बहुत ही तीव्र है। काम के लिये सदा आतुर बना रहता है तथा हर्ष, शोक, भय, पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा आदि कामनाओं से व्याकुल बना रहता है। अब आप ही बतावें ऐसे अधम मन से मैं दीन हीन आपकी गति का कैसे विचार कर कर सकता हूँ।"

ही मिल गये तब तो गृहपति की वस्तुएँ अवश्य ही चोरी चली जायँगी। जिसे प्रहरी बनाकर घरके द्वार पर नियुक्त किया था और जिससे आशा की थी, कि चोर के आते ही वह उसके विरोध स्वरूप उग्रता प्रकट करेगी, किन्तु उग्रता करनेकी बात तो पृथक् रही स्वयं चोरों के सम्मुख पूँछ हिलाने लगी, उनके डाले हुए टुकड़ों को खाकर उन्हीं की हाँ में हाँमिलाने लगी तब तो बात बिगड़ेगी ही। इसी प्रकार जब मन विषयोंमें फँस जाता है, इन्द्रियों को विषयोंमें प्रवृत्त करता है और विषय इन्द्रियों में समा जाते हैं तो उस समय मन असमर्थ हो जाता है तब तो भगवान् ही एकमात्र रक्षा कर सकते हैं, स्तुति प्रार्थना का ही एकमात्र बल अवशेष रह जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की भक्तवत्सलता का वर्णन करने के अनन्तर अब प्रह्लादजी अपने मनको सत्पथ में लगाने के लिये प्रभुसे प्रार्थना करते हुए निवेदन कर रहे हैं। वे कहते हैं—"हे प्रभो! मेरे इस मनका एकमात्र कार्य है आपकी कथा का सदा चिंतन करता रहे। कानों से आपके सुमधुर नामों का गुणों का श्रवण करे। नेत्रों से आपकी छविका-आपके दासोंका-दर्शन करे, जिह्वासे आपके प्रसादका आपके चरणामृत का आस्वादन करे, नासिका से आपके चरणों में चढ़ाई तुलसी को सूंघे, त्वचासे आपकी प्रसादी मालाका आपके निर्माल्य का स्पर्श करे, हाथों से आपकी सेवा करे, चरणों से आपके पुण्य क्षेत्रोंमें जाय। यह मन और उसके अधीन इन्द्रियों का काम है, किन्तु यह मेरा मन ऐसा दुष्ट है, कि आपकी कथामें लगता ही नहीं। कथा कीर्तनका नाम सुनते ही घबड़ा जाता है, नाच गान आदि सरसता की बातें होंगी, ग्राम्यगीत तथा विषय वार्ता होंगी तो उनमें तो ऐसा तन्मय हो जायगा, किन्तु जहाँ कथा की बात आई इसे पल पल भारी पड़जायगा वहाँ से उठ

कर भागने ही लगेगा। इधर उधर भटकता ही रहेगा। यह ऐसा दुष्ट हो गया है, कि इसे अपने भले बुरे का विवेक नहीं। ऐसा दोष दूषित हो गया है, कि दुर्गन्ध की ही ओर दौड़ता है। ऐसा कामातुर बन गया है कि सदा सर्वदा विषयोंका ही चिन्तन करता रहता है। ऐसा विक्षिप्त हो गया है, कि अनुकूल भोग मिलने पर हर्षित हो जाता है,प्रतिकूल वेदना प्राप्त होनेपर शोकातुर हो जाता है, विषय प्राप्तिमें आघात न पड़े इसके लिये सदा भयभीत बना रहता है। मुझे धन मिले, स्त्री मिले, मेरे बाहरी शत्रुओंका नाश हो, धन वैभव विषय सुख मिले। परलोकमें भी यही विषय भोग दिव्य बनकर प्राप्त हो इन्हीं एषणाओं के लिये व्याकुल बना रहता है। भगवन्! इस विषयासक्त मनने मुझे अत्यन्त कृपण दीन बना रखा है, अब आप ही बतावें ऐसे चारों ओर विषयवन में भटकने वाले मनसे मैं आपके विशुद्ध सत्वमय स्वरूप का चिन्तन भला कैसे कर सकता हूँ?

इस मन ने इन्द्रियों को ऐसा पढ़ा लिखा रखा है कि इन्द्रियाँ मेरी बात मानती नहीं। वे मुझे अपनी ओर बलपूर्वक खींचती हैं। रसना ने कहा-रसगुल्ला खाओ। अच्छा एक बार उसकी बात मानली। अब वह ज्यों ज्यों खाती है त्यों ही त्यों अतृप्त बनती जाती है, उसकी कभी तृप्ति ही नहीं होती, नित्य नये स्वाद चखने को व्यग्र बनी रहती है और मुझे रसीले, सरस पदार्थों को खानेके लिये उकसाती रहती है। उपस्थेन्द्रिय नित्य नया स्पर्शानुभव करने को लालायित रहती है, आँखे रूपकी ओर ललचायी दृष्टिसे देखने को आकुल रहती हैं। त्वचा कहती है मुझे मृदुल गुद गुदे, सुखद कोमल स्पर्श चाहिये। तब तक-पेट कहता है, मेरा गड्ढा भरता ही नहीं। दिनमें आठबार खालो तो भी यह खालीका खाली ही बना रहता है, ऐसा दुष्पूर यह गड्ढा है। कर्ण कहते हैं कुछ तान ठप्पा सुनवाओ कोई सरस

गाना सुनवाओ कोकिल वैनी के कल कूजित कंठ से मेरे कुहर को भरदो। देखने में कान के छिद्र छोटे होते हैं, किन्तु सरसता की बातें सुनते सुनते अघाते नहीं। घ्राण कहती है मुझे तो दुर्गन्ध भाती ही नहीं सदा सुगन्धि ही चाहिये टटके पुष्पोंकी कामिनी के केशपाश में पड़े सुगन्धित पदार्थों की अंगरागकी, सुखद सुरभि तथा गन्ध सदा चाहिये। कर्मेन्द्रियाँ कहती हैं, विषय भोगोंकी ही ओर भागो; उधर ही प्रयाण करो, उन्हें ही प्राप्त करो। अब आप ही बताइये मैं अकेला ये डाँइनें इतनी, मैं सब की इच्छा कैसे पूरी कर सकता हूँ। कोई किसी ओर खीचती है कोई दूसरी ओर जैसे की बहुत सी स्त्रियाँ हो वे अपने निर्बल पतिको मिलकर पकड़ लें;कोई कान पकड़ कर कहे पूर्वकी ओर चलो, कोई हाथका झटका देकर कहे नहीं पश्चिम की कोठरी में चलना होगा, कोई चोटी पकड़ कर ऊपर की ओर घसीटे। जैसे उस निर्बल पतिकी उन सौतोंके फँदेमें फँसकर दुर्गति होती है वैसे ही मेरी भी इस विषयासक्त मन के वशमें रहने वाली इन्द्रियों के कारण हो रही है, हे सब समर्थ प्रभो! मेरी इस दुःख से रक्षा करो। हे उत्तमश्लोक! मेरा उद्धार करो। हे दयानिधे! दया करो, हे कृपा के सागर कृपा करो।

हे नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप प्रभो। ये जीव भवसागर में पड़े गोते खारहे हैं, विषयवन में इधर उधर भटक रहे हैं, संसार रूप वैतरणी में फँसे हुए क्लेश पारहे हैं। नानायोनियों में कर्मानुसार पड़े हुए विपत्तियों को भोग रहे हैं, रागद्वेष के पंकमें फँसे एक दूसरे से ईर्ष्याकर रहे हैं, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हुए खानपानादि के कारण कातर बने हुए हैं। कुछ अपने पक्षके अपने स्वार्थ साधक मिल जाते हैं उनसे अनुराग करते हैं, मित्रता दिखाते हैं, प्रतिकूल स्वभावके विपक्षियों से सदा द्वेष करते रहते हैं, उनके अनिष्ट की सदा

चिन्ता में निमग्न रहते हैं। राग, द्वेष, इर्ष्या तथा विद्वेष के कारण सदा जलते ही रहते हैं। हे दया सिन्धो! आप इन दीनों पर दया दरसाइये। हे करुणासिन्धो! इन कुत्सित कामियों के ऊपर कृपा कीजिये। दुःख पाते हुए वैतरणी के पंक में फँसे प्राणि वर्ग को पार पहुँचा दीजिये, इन अनाथ और अज्ञ जीवों की रक्षा कीजिये। इन भूले भटके लोगों को पुण्य पथ दिखाइये।

हे जगत गुरो! आप चाहें तो आप के लिये कोई असंभव नहीं। जो कारावास में डाल सकता है वही चाहे तो मुक्त भी कर सकता है, जो खिलौना बना सकता है, वह उसे बिगाड़ भी सकता है, वह उसे नष्ट भी कर सकता है, जो दण्ड दे सकता है वह क्षमा भी कर सकता है। आप ने ही तो इस जगत को बनाया है, आप ही विष्णु बनकर नाना अवतार रखकर इसका पालन करते हैं और आप ही अन्त में रुद्र रूप रखकर संहार भी कर डालते हैं। आप सर्व समर्थ हैं, फिर आप को इन सब को पार लगाने में क्या प्रयास होगा? आप कहेंगे आप को ऐसा कौन सा परिश्रम पड़ेगा? ये लोग इस योग्य नहीं, कृपा के पात्र नहीं अनुग्रह के अधिकारी नहीं, दया योग्य दिखायी नहीं देते। सो यदि भगवन्! आप पात्रों को ही तारते हों तो फिर आप की दयालुता कहाँ रही? दया के विशेष पात्र तो ये अज्ञ मूढ़ जन ही हैं, कृपा तो अकिन्चन अज्ञों पर ही करनी चाहिये। महापुरुषों की अनुकम्पा तो अधम पुरुषों पर ही होनी चाहिये।

स्वामिन्! आप सोचते होंगे, मैं अपने लिये ही इतनी प्रार्थना कर रहा हूँ। सो, नाथ! मुझे अपनी तो उतनी चिन्ता नहीं। मेरे सिर पर तो आप ने अपना वरद हस्त कमल रख ही दिया है, मैंने तो आप का दासत्व स्वीकार कर ही लिया है और आप ने भी मुझे अपना करके अपना ही लिया है। अपनी प्राप्ति का पथ

दर्शा ही दिया है, हम दासों के लिये आप की तनिक सी कृपा ही यथेष्ट है, विशेष कृपा के पात्र तो ये मूढ़ जन ही हैं। और मेरी बात तो भगवन्! यह है, कि मैं इस संसार की भयंकरता से तनिक भी नहीं डरता। यह वैतरणी की कीच अन्य लोगों के लिये चाहे कितनी भी क्लेश कारिणी भले ही हो, दूसरे लोग इसे पार करना दुष्कर तथा कठिन भले ही मानते हों मुझे खिलवाड़ सी लगती है। मेरा चित्त तो आप के गुणगान रूप कथामृत में निमग्न रहता है। अमृत के सम्मुख भीति रह नहीं सकती। मैं तो आप की कमनीय कथा सुनते सुनते मुख से आप के सुमधुर मंगलमय नामों को लेते लेते अनायास ही बिना श्रम के ही सहज में तर जाऊँगा। मुझे चिन्ता इन संसारी लोगों की है,जो पैसा को ही सब कुछ समझते हैं प्रेयसी के पीछे ही व्याकुल बने रहते हैं, विष्ठा मूत्र कफ खखार के दुर्गन्ध युक्त घिनौने देह को दूसरी ऐसी ही घृणित देह में सटाकर सुख का अनुभव करते हैं जो सदा सर्वदा विषयों में ही व्यग्र बने देशविदेशों में घूमते रहते हैं नीच से नीच कार्य करके भी स्त्री पुत्र आदि परिवार वालों का पालन पोषण करते हैं। फिर भी उन्हें सन्तोष नहीं होता, छल, कपट, दम्भ पाखंड तथा असत्य के द्वारा धनोपार्जन करके भी निरन्तर क्लेशों का ही सामना करते रहते हैं, जो कथा कीर्तन से विमुख रहकर शिश्नोदर परायण बने रहते हैं ऐसे मूढ़ों की ही मुझे अत्यधिक चिन्ता व्याप्त है, उन्हीं के दुःखों के कारण मैं दुखी बना रहता हूँ। जो अज्ञ पुरुष शब्द, रूप, रस, गंध तथा स्पर्शादि सांसारिक विषयों से व्याप्त रहते हैं तथा इन्द्रियों के इन भोगों को उपलब्ध करने में सतत प्रयत्नशील बने रहते हैं। इन अनित्य क्षण भंगुर नाशवान् मायिक सुखों के लिये परिवार के भरण पोषण के निमित्त पागल बने रहते हैं, उन्हीं का किसी प्रकार

उद्धार हो उन्हींकी बुद्धि कथा कीर्तन में कैसे भी लगे इसी की मुझे सबसे अधिक चिन्ता है।

आप कहेंगे कि इसे तो ऋषि मुनि साधु सन्त करेंगे ही तुमको व्यर्थ में बैठे बिठाये शिरः पीड़ा मोल लेना है? भगवन्! बात तो सत्य ही है, काम तो परोपकारी साधु सन्तों का ही है, किन्तु प्रायः करके देखा गया है, साधु सन्त इन कार्यों से दूर ही रहते हैं। साधना भी करेंगे तो ऐसे घोर वनमें जहाँ कोई पहुँच न सके। बैठेंगे भी तो ऐसी छोटी सी गुफामें जहाँ किसी दूसरे को बैठने योग्य स्थान ही न हो। जप भी करेंगे तो मन ही मनमें कोई सुन न ले। चिन्तन भी करेंगे, तो आँख मींचकर। पेट भी भरेंगे तो माँगकर एकान्तमें वाणीको भी रोक रखेंगे, कि कोई भूला भटका वहाँ पहुँच भी जाय तो दो उपदेश भी सुनले। उन्हें अपने शरीर निर्वाहके लिये कुछ कहना भी होगा तो संकेत से ऊँ ऊँ करके। लिखना भी होगा तो मुझे अन्न देजाना, वस्त्र देजाना, दूध फल देजाना यही लिख देंगे। इस समस्त साधना का फल क्या? मैं अकेला मुक्त हो जाऊँ, भवबन्धन से छुट जाऊँ, मेरा पुनः जन्म न हो। मुझे मातृ उदर में आना न पड़े। बस,जो भी कुछ हो मेरे लिये ही हो। वे ऐसे गंगातट आदिके परम पावन स्थानों में नहीं रहते जहाँ सर्व साधारण जिज्ञासु सुगमता से पहुँचकर उनकी साधना से कुछ प्रेरणा प्राप्तकर सकें। उनके पास कोई सुरक्षित स्थान या सघन वृक्षावली नहीं होती जहाँ संसारी तापसे संतप्त प्राणी घड़ी दो घड़ी बैठकर शान्ति प्राप्तकर सकें। वे सबके साथ मिलकर भगवान के परमपावन सुखमय, आनन्दमय,जगत हितकारी भवभयहारी सकल संतापहारी मधुमय भगवन्नामों का तन्मयता से संकीर्तन नहीं करते, जिसमें स्वयं भी तरजाय और साथ ही साथमें कीर्तन करने वालों को भी तार ले जायँ।

वे स्वयं भले ही तर सकते हों, किन्तु वे तरन तारन नहीं। वे सबके साथ बैठकर घुल मिलकर रस ले लेकर आपकी कथा नहीं सुन सकते। किसी रसिक भक्तके मुखसे बहुत से भक्तोंके साथ आनन्दाश्रु बहाते अनुराग भरित हृदय से जन्म मंगलकारी संसार सागरको समूल शोषण करनेवाली आपकी कथाओं द्वारा सबको सत्संग लाभ नहीं करा सकते। सबके साथ मिलकर भगवान् का भोग लगा हुआ दिव्य प्रसाद नहीं पा सकते। पूरी शक्तिसे मुक्त कंठ होकर आपके नामों गुणों का गान नहींकर सकते। वे आपके जगतपावन चरित्रों का लिखकर सर्व साधारण के लिये प्रकाशित नहीं करा सकते जिससे जो जहाँ बैठा हो वहीं उन उत्तम परम पावन चरित्रों को प्रेम पूर्वक पढ़ सके और कथा रसमें निमग्न हो सके। सारांश यह है, कि वे ऐकांतिक साधना वाले मुनि गण परार्थ निष्ठामें अनुष्ठित नहीं होते, परोपकार रत नहीं होते अन्य मूढ़ जनोंके हितमें तत्पर नहीं रहते, किन्तु प्रभो! मैं ऐसा ऐकान्तिक साधक नहीं बनना चाहता। इन सब भूले भटके अज्ञ पुरुषों को छोड़कर अकेला मुक्त बनना नहीं चाहता। इन सब दीन हीन कृपणों का परित्याग करके मुझे अकेले मुक्तहोने की लालसा नहीं। इस पर आप कह सकते हैं, कि तुम इन सबको मुक्त करना चाहते हो, तो कोई साधन खोजो, किसी अन्य समर्थ पुरुष का द्वार खटखटाओ। सो, प्रभो! आपके समान कोई अन्य समर्थ दृष्टिगोचर होता भी नहीं। आपके अतिरिक्त इस भवसागर में भटकनेवाले भ्रमित व्यक्तियों को कोई पार पहुँचा भी नहीं सकता। आपसे पृथक इनका कोई अन्य उद्धारक दृष्टिगोचर भी नहीं होता। अतः जैसे बने तैसे सभीका उद्धार करें, सभी को पार लगादें, सभीको पुण्यपथ दर्शादें, सभीको कुशल और निर्भय बनादें। सभीको भक्ति रसका

आस्वादन करादें। सभीको अपने पाद पद्मोंकी अहैतुकी भक्ति प्रदान करदें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस परोपकार रत साधना की मुख्यता बताते हुए प्रह्लादजी ने सबके हितकी कामना नृसिंह भगवान् से की। अब आगे जैसे साधनामें इन्द्रियजित होना अत्यावश्यक है इस प्रसंग को बताते हुए स्तुति करेंगे उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

सब समर्थ सरवेश दुखिनिकूं सुखी बनावें।
हम तो तुमरे दास कथा सुनि सुनि तरिजावें॥
मुनि जन अति ऐकान्त बैठिबनध्यान लगावें।
स्वयं मुक्तिके हेतु दीन दुखियनि बिसरावें॥
तजि इन दुखियनि दुखित नहि, चहूँ अकेले मुक्तिपद।
प्रभु जो चाहें करि सकें, सबविधि केवल तुम सुखद॥

पद

स्वामिन्! सबकूँ सुखी बनाओ।
दुखी जीव भव भटकि रहे हैं, प्रभुजी पार लगाओ॥१॥
मन नहिं सुने कथा विष चाखै, करननि विषय बचाओ।
राग द्वेष वश विवश नरनिकूँ, निज गुन अमृत चखाओ॥२॥
हैं अधिकारी अधिक अज्ञ जन, पद छायामें लाओ।
जो विषयनि में अति सुख मानत, नहिं तिनकूँ बिसराओ॥३॥
मुनिजन वनमें मनकूँ रोके, जगजीवो मरि जाओ।
मुक्ति न चाहूँ नाथ अकेलो, सबनि संग पहुँचाओ॥४॥

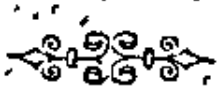

प्रह्लाद-कृत नृसिंह स्तुति(७)

(५८)

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छम् ,
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहु दुःख भाजः ,
कण्डूतिवन्मसिजं विषहेत धीरः ॥*॥

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

का सुख मैथुन माहिं खाजकी खुजली ऐसे ।
सुख-सो पहिले लगे दूःख ही दुख पुनि जेसे ॥
मौन, धरम, अध्येन, वेद, बत, श्रवन, समाधी ।
जप, तप, व्याख्या शास्त्र मोक्ष दें संयम साधी ॥
इन्द्रिय लोलुप जीविका, साधन इन ही कूँ करें ।
पाखण्डी करि दम्भ तैं, करें जीविका कहुँ गिरें ।

जीव जिन विषय भोगों को सुख समझे बैठा है, वे परिणाम में दुखद हैं, इसे नित्य अनुभव करता हुआ भी जीव इन्हें छोड़ नहीं सकता। इनसे उपराम नहीं हो सकता, इनकी ओर से

---

* स्तुति करते हुए प्रह्लाद जी कह रहे हैं—प्रभो ! जैसे दाद आदि खुजली पहिले खुजलाने में तो कुछ सुख होता है किन्तु अन्तमें उनसे

पराङ्मुख नहीं बन सकता। मायेश की माया है, यही लीलाधारी की लीला है, जब वे ही कृपा करें तभी छुटकारा संभव है, वे ही जब अपनी ओर हठ पूर्वक खींचें तभी विषयों से हट कर उन हरि की ओर बढ़ सकता है वे कब कृपा करेंगे इसे भी उनके अतिरिक्त अन्य कोई जान भी तो नहीं सकता।

सूत जी कहते है—"मुनियो! भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुये प्रह्लाद जी कहरहे हैं—"प्रभो! यह प्राणी अधिक की आशा से तनिक सुखाभास के पीछे कितना कष्ट सह रहा है। सूखे पेड़ के नीचे कोई बहेलिया खड़ा है। बैशाख जेष्ठ की दोपहरी है नीचे से बालू जल रही है ऊपर से सूर्य देव तप रहे हैं। उस सूखे पेड़ पर मधु मक्खियों का एक छत्ता है, उसमें उसने मधु के लोभ से नीचे से ही लकड़ी चुभोदी। छत्ते से मक्खियाँ उड़ कर उसके शरीर को काटने लगीं, किन्तु साथ ही एक एक बूँद करके मधु भी टपकने लगा। उन मधु विन्दुओं के स्वाद के पीछे वह ऊपर नीचे की उष्णता भी सहता है, मक्खियों के काटने को भी सहता है। सम्पूर्ण शरीर से स्वेद चू रहा है, अंग प्रत्यंग संतप्त हो रहा है, किन्तु तनिक से जिह्वा सुख के पीछे वह सभी क्लेशों को सहता है, वह जिह्वा का सुख भी स्थायी नहीं क्षणिक है। मधु के विन्दु जहाँ जिह्वा से नीचे गये दुर्गन्ध युक्त

अधिकाधिक दुःख ही बढ़ता है, उसी प्रकार गृहस्थियों के जो मैथुनादि सुख हैं क्षणभर को तो उनसे सुख मिलता है, किन्तु परिणाम दुख ही होता है, इसी प्रकार ये सभी भोग अत्यन्त ही तुच्छ हैं। किन्तु ये संसारी कृपण जन विविध भाँतिके दुःख उठाते रहने पर भी तृप्ति का अनुभव नहीं करते। हाँ कोई धीर पुरुष इन नेत्रोंको सहन करके सुखी होता है।

कुछ असुविधा प्रतीत होती है किन्तु अन्त में सुख ही सुख है। फिर न छर छराहट उठती है, असह्य पीड़ा ही होती है। किन्तु उस खुजलाहट के वेग को सहन करना वहाँ हाथ को न जाने देना यह भी तो अत्यंत साहस का काम है उस साहस को हे मेरे श्यामसुन्दर ! तुम ही दे सकते हो। नहीं तो ये विषय गर्त मे फँसे दीन जन तो इस खुजलाहट से सदा अतृप्त ही बने रहते हैं। इसे रोकने के जो शास्त्रीय उपाय भी करते हैं वे भी इन्द्रियों पर अधिकार न होन से विपरीत ही फल देनेवाले होते हैं। फल तो भावना अनुसार होता है, एक सा ही काम करने वाले, एक समान ही चेष्टा करने वाले दो व्यक्तियोंके भाव भेदके कारण फलमें भी विपरीतता देखी जाती है। वस्तु एक होने पर पात्र भेद से परिणाम भेद देखा गया है। वर्षाका जल एकही है, वह यदि गंगादि नदियों में पुष्करादि सरोवरों में गिरता है तो पीने योग्य मीठा हो जाता है वही समुद्रमें पड़ता है, तो अपेय खारी बन जाता है यही बात साधनों के सम्बन्ध में है। साधन एकही हैं उसे इन्द्रियजित संयमी करता है, तो उससे मुक्ति मिलती है असंयमी अजितेन्द्रिय करता है, तो उसकी जीविका का साधन बन जता है, और दंभी करता है तो कहीं तो उसका दंभ पाखण्ड चल जाता है तो कुछ संसारी काम चल जाता है, कहीं दम्भ खुल गया तो कुटाई भी होती है। इससे साधन में इस मन पर निग्रह करना सबसे अधिक आवश्यक माना गया है। जब तक इन्द्रियाँ वशमें नहीं तब तक केवल साधनों से काम नहीं चलता।

अब जैसे मौन व्रत ही है यदि इस व्रत को इन्द्रिय जित संयमी शुद्ध भाव से करे तो उस का मन संसारी विषयों से हट कर भगवान् में लगेगा और वह मुक्ति का अधिकारी होगा। किन्तु उसे अजितेन्द्रिय विषय लोलुप करे, तो लोग कहेंगे, चलो, जैसा

भी कुछ है कुछ न कुछ कर ही रहा है इसे भोजन तो देही दो। उस मौन से उसकी आजीविका चल जायगी। अब एक तीसरा दम्भी है, उसने देखा मौनी रहने से तो लोग बड़े प्रभावित होते हैं, अच्छे अच्छे माल खाने को मिलते हैं, लाओ हम भी अपने को मौनी घोषित करदे। दो चार सिद्ध साधक मिलकर चल दिये, एक को झूठे ही मौनी घोषित कर दिया। ५० वर्ष से ये मौन रहते हैं, बड़े सिद्ध महात्मा हैं किसी की ओर देखते तक नहीं। इनका मन से ही आशीर्वाद फलता है इन्हें धर्मशाला बनवानी है। कुछ द्रव्य चाहिये। कुछ लोग प्रभाव में आकर धन दे देते हैं। लेकर चले जाते हैं वहाँ दंभ मौन से इनका काम चल गया। कहीं दूसरे स्थान पर गये। किसी चतुर ने ताड़ लिया। छिपकर सुनता रहा। जो दिन में ५० वर्ष का मौनी सुनता था वह तो रात्रिमें अपने साथियों से चुपके चुपके बातें कर रहा है। दस बीस युवक आये मौनी बाबाको तथा उनके साथियों के आगे डंडाओंसे पूजा करके निकाल दिया। यहाँ दम्भ से कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ उल्टे मार पड़ी। इसी प्रकार मोक्षके अन्य साधनों के सम्बन्ध में भी है।

अब जैसे कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत ही हैं इन्हें यदि जितेन्द्रिय करेंगे तो उनका अन्तःकरण शुद्ध होगा इससे वे मोक्ष के अधिकारी बनेंगे। अजितेन्द्रिय पुरुष प्रसिद्धि के लिये करेंगे, तो ऊपर से तो व्रत करते रहेंगे भीतर ही भीतर सोचते रहेंगे, कब व्रतके दिन पूरे हों और कब हम सुंदर से सुंदर स्वादिष्ट पदार्थ खायँ। वे सब पर अपने व्यवहार से अपने व्रतकी धाकभी जमाते रहते हैं ऐसे अजितेन्द्रिय पुरुषों को इसी लोक में पैसा प्रतिष्ठा का लाभ भले ही हो जाय मोक्ष का साधन वह व्रत नहीं बन सकता दम्भियों का यदि दावलग गया, तो मिथ्या व्रतके नाम पर कुछ

जोड़ लेंगे पोल खुल गयी तो केवल कायक्लेश और अपमान ही हाथ लगेगा।

इसी प्रकार वेद का अध्ययन जितेन्द्रिय करेंगे तो उससे उन्हें ज्ञान होगा, ज्ञान से मुक्ति होगी। अजितेन्द्रिय करेंगे तो वेद विक्रय करके यज्ञयागादि कराकर दक्षिणा प्राप्त करेंगे दंभी वेद के नाम पर करें यदि भाग्यवश निशाना लग गया तो तीर का कामदे जायगा, नहीं तो तुक्का बना बनाया ही है। यही बात शास्त्रों के श्रवणके सम्बन्ध में भी है। जितेन्द्रिय शास्त्रश्रवण करके मनके निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मसाक्षात् कार करेंगे। अजितेन्द्रिय श्रवण के नाम पर व्यापार चलावेंगे। दम्भियों की सिद्धि संशय ग्रस्त है कभी कुछ मिल भी सकता है कभी कोरे भी रह सकते हैं। तपस्या की भी यही दशा है जितेन्द्रिय करेगा, तो तपसा चीयते ब्रह्म" तपस्या से ब्रह्म साक्षात् कार होगा, अजितेन्द्रिय तपके द्वारा संसारी या स्वर्ग के सुख भोग सकतेहैं, दम्भियोंके दाल गल गयी तो तप के नाम से लोगों को ठग लेंगे कलई खुल गयी, तो मार के दक्षिणा प्राप्त करेंगे। स्वधर्म पालन जितेन्द्रिय पुरुषों के लिये मुक्ति मार्ग में सहायक है, अजितेन्द्रिय करें तो उन्हें इसी लोक में उसका फल मिल जायगा और किन्तु दम्भियों को परलोक में तो कुछ मिलेगा ही नहीं। इस लोक में घनाभर के घी मिल सकता है कभी मुट्ठी भर चना कभी वह भी मना।

शास्त्रों की विशद व्याख्या करके लोगों पर वाणी द्वारा लेखनी द्वारा निष्काम भाव से प्रकट करने पर मोक्ष निश्चित हैं यदि करने वाले काम लोलुप न होतो अजितेन्द्रिय व्याख्या द्वारा पैसा पैदा कर लेंगे और दम्भी सदा संदिग्ध बने रहेंगे। एकान्त वास जितेन्द्रिय पुरुषों को मुक्तिपद प्राप्त कराता है, अजितेन्द्रिय प्रतिष्ठा पा सकते हैं। दम्भी लोग दूसरों को लूट भी सकते हैं और कारा

वास भी जा सकते हैं। जप संयम द्वारा मुक्ति दिला सकता है। असंयमीका व्यापार बढ़ा सकता है, दम्भी का जप कहीं कार्य कर जायगा कहीं व्यर्थ सिद्ध होगा। यही बात समाधिके सम्बन्ध में है यम नियम पूर्वक लगायी गयी समाधिसे ब्रह्म साक्षात् कार होता है असंयमी समाधिका अभ्यास करले तो नट विद्या दिखा कर पारितोषिक पा सकता है और ढोंगी समाधिका दम्भरचे तो कभी सीधे सादे लोग फँस भी सकते हैं और कभी हनुमानजी जैसा कोई मिल गया तो कालनेमिकी भाँति पूजा भी कर सकता है।

इस प्रकार हे प्रभो! इन सभी उदाहरणों से यही सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंको वशमें करना सभी साधनों के लिये अत्यावश्यक है। वेद ने आपको सत् असत् कार्य कारण तथा बीज और अंकुर के समान बताया है। जैसे आप सत्य स्वरूप से यह असत् संसार हो गया है, जैसे बीज से वृक्ष बन जाता है येही दृष्टान्त पूर्ण नहीं आपतो अरूप है, आपका तो कोई रूप हो ही नहीं सकता किन्तु यदि ऐसे न बतावें तब तो आपके सम्बन्धमें कुछभी कहा ही नहीं जासकता। इन दृष्टान्तों को छोड़कर आपके ज्ञानका अन्य साधन दृष्टिगोचर ही नहीं होता। योगीजन भक्तियोग के द्वारा सद् असत् स्थूल सूक्ष्म तथा कार्य कारण इन दोनोंमें ही आपको अन्वेषण करलेते हैं, आपका साक्षात्कार करते हैं जैसे काष्ठ में छिपी अग्नि को मंथन द्वारा प्रकट करलेते हैं। काष्ठमें अग्नि को कहीं से लाते नहीं हैं। दोनों अरणियों में प्रथम से ही अग्नि व्याप्त थी, केवल मन्थन क्रिया से वह प्रत्यक्ष की गयी। इसी प्रकार आपभी सर्वत्र व्यापक हैं आपके बिना इस स्थूल जगत की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। आपसे पृथक कार्य कारण इन दोनों की सत्ता ही नहीं। केवल भक्तिरूप

ही न पहुँचे किन्तु पथ तो प्रशस्त कर ही सकता है, उपासना द्वारा भगवत् भक्ति द्वारा उनके द्वार तक तो पहुँचा ही जा सकता है। वहाँ पहूँचने पर तो फिर जीव को अपने आप कुछ भी करना न पड़ेगा, आगे तो स्वयं साक्षात् प्रभु ही आकर अपने धाम में अन्तःपुर में ले जायँगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति का उपसंहार करते हुए प्रह्लादजी कह रहे हैं—"हे प्रभो! हे भूमन्! आप अरूप का कोई एक रूप स्थिर तो किया नहीं जा सकता। जब आप ही इस संसार महीरुह के आदि बीज हैं, आपने ही जब वृक्ष का रूप रख लिया है, तो संसार में जो भी कुछ दिखायी देता है, सब आपका ही रूप है। यह जो वृक्ष पर्वतों वाली समस्त पृथिवी है आपका ही रूप है। समुद्र, नद, नदी, तालाब, कूप, तथा सभी प्राणियों के शरीर में जो जल है, सब आपका ही स्वरूप है। सूर्य में चन्द्रमा तथा अग्नि और जलमें जो तेज है वह आपका रूप है। सर्वव्यापक वायु तथा अवकाश में व्याप्त आकाश आपका ही स्वरूप है। प्रभो! श्रवण से सुना जाने वाला शब्द आपका ही रूप है। नेत्रों से देखे जाने वाले रूप आपके ही स्वरूप हैं। रसना से अनुभव किये जाने वाले रस आप ही हैं। घ्राण से सूँघे जाने वाले गन्ध आप ही हैं। त्वचा से अनुभव किये जाने वाली स्पर्श तन्मात्रा आप ही हैं। प्राण अपानादि दश भेदों से शरीर में व्याप्त होने वाले प्राण आप ही हैं। कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय भी आपका ही रूप है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार चतुर्विध अन्तःकरण आप ही हैं। अधिक कहाँ तक गिनावें जो सगुण है, निर्गुण है, जो मन से इन्द्रियों से जाना सुना तथा अनुभव किया जाता है, सब आप ही आप हैं, आपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसे सर्वस्वरूप सर्वेश्वर को बारम्बार प्रणाम है।

प्रभो ! इतना सब होने पर भी आपके यथार्थ स्वरूप को कोई जान नहीं सकता। सत्वगुण को ज्ञान तथा प्रकाश युक्त कहा है, कि सत्वगुण स्वयं आप तक नहीं पहुँच सकता, कारण कि आप गुणातीत हैं। त्रिगुण जिससे उत्पन्न हुए हैं, वह महत्तत्व भी आपका यथार्थ स्वरूप प्रकट करने में असमर्थ है। इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव तथा सबसे बुद्धिमान् कर्म करने में निष्णात मनुष्यों का मन तथा उनकी बुद्धि भी आपको नहीं जान सकती। आप वाणी, मन तथा बुद्धि के विषय नहीं। क्योंकि ये सब तो आपके पश्चात उत्पन्न हुए हैं। जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश भी अवश्य होगा। जो स्वयं आद्यन्तवन्त है, जो स्वयं आदि अन्त युक्त है। वह आप अनादि अनन्त को यथार्थ रूप से जान ही कैसे सकता है। इसीलिये तो विद्वान् शास्त्रों को पढ़ते हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ में आपका रूप स्थिर करते हैं, वेद उसके लिये कह देता है नेति नेति "नेदंयदिदमुपासते" यह वह नहीं है नहीं है, जिसकी तुम उपासना करते हो, वह ब्रह्म नहीं है। इससे वे अन्त में जाकर शास्त्राध्ययन से उपरत हो जाते हैं, शब्द शास्त्र से विराम को प्राप्त हो जाते हैं। जब आप ऐसे अवाङ् मनसगोचर हैं, तो फिर कैसे तुम्हें पावें ? परमहंस मुनिजन किस प्रकार तुम्हारा साक्षातकार करते हैं ? वे एकमात्र भक्तिभाव से तुम्हें उपलब्ध करते हैं। प्रभो ! आपकी भक्ति विविध भांति की है, किन्तु षडंग भक्ति के बिना तो आप किसी प्रकार प्राप्त होते ही नहीं।

हे अकिंचन गोचर ! जो सर्वस्व त्याग कर संसार के विषय निस्सार हैं इनमें केवल मात्र आप ही सार हैं ऐसा नीर क्षीर विवेक करने वाले परम हंस मुनियों द्वारा ही आप प्राप्य हैं। आप अन्य उपायों द्वारा प्राप्त होते ही नहीं। उपायों द्वारा आपको प्राप्त करने की इच्छा ही हास्यास्पद है। आप तो कृपा

साध्य हैं और कृपा होती है भक्त पर। वह भक्ति ६ प्रकार की है। भक्ति का पहिला अंग तो यह है कि हृदय से वाणी से और शरीर से आपको नमस्कार करता रहे। हृदय से सदा नमो नमः नमो गमः नारायणाय नमः कहता रहे। वाणी से भी नमस्कार करे और आपके अर्चा विग्रह को तथा आपके भक्त साधु संत तथा अन्य पूजनीय देव द्विज और प्राज्ञों को साष्टाङ्ग प्रणाम करे। प्रणति से आपकी भक्ति की उपलब्धि होती है।

दूसरा भक्ति का अङ्ग है स्तुति प्रार्थना। सुन्दर सुन्दर हृदय ग्राही स्तोत्रों से आर्त होकर आपकी प्रार्थना करे। स्तुति तो सभी को प्यारी लगती है फिर भक्तों द्वारा स्तुति सुनकर तो आप उनके हाथों बिक ही जाते हैं। देव को शीघ्र से शीघ्र प्रसन्न करने के निमित्त अंजलि मुद्रा ही बताई है।

तीसरा भक्ति का अंग है सर्व कर्मार्पण। जो भी कुछ करो जो भी भोजन आदि करे, यज्ञ याग हवन करे दान दक्षिणा दो जो भी कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत उपवास करे तीर्थ स्नान व्रत पारायण तथा और भी जो कार्य करें सभी को आप सर्वान्तर्यामी के अर्पण करने दे। अपने लिये कुछ शेष रखे ही नहीं। जब फल की इच्छा ही न रहेगी तब करने वाला निर्गुण हो जायगा और आप निर्गुण को प्राप्त कर लेगा।

भक्ति का चौथा अंग है उपासना। विविध उपायों से मनको आपके समीप लगाये रहना। ध्यान धारण द्वारा आपका ही चिन्तन करते रहना। वह उपासना अग्नि की हो आपकी प्रतिमा की हो या पंच भूत अतिथि ब्राह्मण, गुरु गौ किसी में भी की गयी हो, उसमें निमित्त आपका ही हो।

पाँचवाँ भक्ति का अंग है चरणों की स्मृति बनी रहे। उठते बैठते सोते लेटते सभी काम करते आपके अरुण चरण कमलों

की स्मरण होता रहे। आपके चरणों के जो नख हैं उनसे एक प्रकार की ज्योति निकलती रहती है वही उपासकोंके हृदयान्धकार को दूर करती है। अतः चरण स्मृति आत्यावश्यक अंग है।

और भक्ति का छटा मुख्य अंग है कथाश्रवण जब तक नित्य नियम से साधक कथा श्रवण करेगा तबतब उसे आपकी भागवती कथाओं के श्रवण करने का व्यसन न लगेगा। कथा न सुनने पर जब तक उसके मन में व्यग्रता न होगी तब तक आपकी भक्ति कोसों दूर है। अतः नित्य नियम से कथा श्रवण करना यह भक्तों का परम मुख्य कार्य है।

इस प्रकार हे हरे ! जब तक साधक इन ६ अङ्गों वाली भक्ति का आचरण न करेगा तब तक भक्ति हो ही कैसे सकती है और भक्ति के बिना आप प्राप्त कैसे हो सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतनी स्तुति करके प्रह्लाद जी चुप हो गये। नृसिंह भगवान् ने भी क्रोध छोड़ उन्होंने शान्त होकर जैसे वर माँगने को कहा और प्रह्लाद जी ने जो जो उत्तर दिये इन सबका वर्णन तो मैं विस्तार से भागवती कथा प्रसंग में कर ही चुका हूँ। यह मैंने प्रह्लाद स्तुति आपसे कही अब जिस प्रकार ग्राह के पकड़ लेने पर गजेन्द्र ने हरि भगवान् की स्तुति की उस दिव्य स्तुति का वर्णन मैं आपसे करूँगा। आप सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

प्रभुवर ! बिना प्रनाम और तव इस्तुति गाये।
सख समरपन करम ध्यान तव चरन लगाये॥
करम उपासन कथाश्रवन नित नियमित कीये।
छै अंगनि की भक्ति बिना प्रविसो क्यों हीये॥

यों इस्तुति प्रहलाद जी, करिके पुनि चुप ह्वै गये।
ह्वै प्रसन्न नरसिंह ने, भक्ति सुलभ वर बहु दिये ॥

पद

भक्ति तें भक्त हिये में आओ।
नमों नमों नरायन बिनु तुम प्रनतनिकूँ अपनाओ ॥१
इस्तुति करें करम सब अरपें पूजा पाठ कराओ।
करें ध्यान चरननि को नित प्रति तिनिकूँ दरस दिखाओ ॥२॥
कथा श्रवन करि गुन तब चिन्तें तिनि चित में जुमि जाओ।
प्रभु पद पुनि पुनि परे प्रनत पति प्रेम पियूष पिआओ ॥३॥

प्रह्लादकृत नृसिंह स्तुति [८]

प्रह्लाद उवाच

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथसिद्धाः,
सत्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः ।
नाराधितुं पुरगुणैरधुनापि पिप्रुः,
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥१॥
मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजः,
तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो,
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥२॥
विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ,
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ,
प्राणंपुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥३॥
नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो,
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं,
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥४॥
तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य,

सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः,
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥५॥
सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो,
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य,
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥६॥
तद् यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य,
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ।
लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे,
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ॥७॥
नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य,
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशंकुकर्णान्,
निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥८॥
त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र,
संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं,
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥९॥
यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म,
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।

दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं,
भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥१०॥
सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया,
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो,
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥११॥
बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह,
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्टः,
तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥१२॥
यस्मिम् यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्,
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा ।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः,
संचोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥१३॥
माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः,
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः ।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं,
संसारचक्रमज कोऽतितरेत् त्वदन्यः ॥१४॥
स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना,
कालोवशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः ।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे,

निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥१५॥
दृष्टा मया दिविविभोऽखिलधिष्ण्यपानाम्,
आयुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम् ।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासजृम्भितविभ्रू,
विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः ॥१६॥
तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ,
आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात् ।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण,
कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥१७
कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः,
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः ।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्;
कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः ॥१८॥
क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्,
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया,
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥१९॥
नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्यात्,
जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि ।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः,
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥२०॥

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे,
कामाभिकाममनु यः प्रपतन् प्रसङ्गात् ।
कृत्वाऽऽत्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः,
सोऽहंकथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥२१॥
मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च,
मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम् ।
खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सुः,
त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥२२॥
एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत्त्वम्,
अद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं,
नावेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥२३॥
त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो,
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।
यद् यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च,
तद् वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥२४॥
न्यस्येदमात्मनि जगद् विलयाम्बुमध्ये,
शेषेऽऽत्मना निजसुखानुभवो निरीहः ।
योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्रः,
तुर्येस्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे ॥२५॥
तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या,

सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।
अम्भस्यनन्तशयनाद् विरमत्समाधेः,
नाभेरभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥२६॥
तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमानः,
त्वां बीजमात्मनि ततं स्वबहिर्विचिन्त्य ।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो,
जातेऽङ्कुरे कथमु होपलभेत बीजम् ॥२७॥
स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं,
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः ।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं,
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥२८॥
एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरुः,
नासास्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं,
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥२९॥
तस्मै भवान् हयशिरस्तनुवं च विभ्रद्,
वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ ।
हत्वाऽऽनयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च,
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥३०॥
इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारैः,
लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्,

धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं,
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम् ॥३१॥
नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ,
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमथासु तीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं,
तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥३२॥
जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता,
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिः,
बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥३३॥
एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्याम्,
अन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं,
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥३४॥
को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन् प्रयासः,
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो,
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥३५॥
नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्याः,
त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ,

मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥३६॥
प्रायेणदेव मुनयः स्वविमुक्तिकामा,
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्त एको,
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥३७॥
यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं,
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा वहुदुःखभाजः,
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥३८
मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म,
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां,
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥३९॥
रूपे इमे सदसती तव वेद सृष्टे,
वीजांकुरारिव न चान्यदरूपकस्य ।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्विते त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥४०॥
त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बु मात्राः,
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुण श्च भूमन्,
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥४१॥

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो,
सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमत्याः ।
आद्यन्तवंत उरुगाय विदन्ति हि त्वाम्,
एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥४२॥
तत् तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः,
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं,
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥४३॥

———

गजेन्द्र कृत-हरि स्तुति (१)

(६०)

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादि बीजाय परेशायाभि धीमहि ॥*

(श्रीभा० २ स्क ३ अ० २ श्लो०)

छप्पय

ग्राह पकरि पग लियो घुस्यो सर महँ जग गजपति ।
तब बल जब घटि गये पुकारे प्रभु कातर अति ॥
हे जग कारन आदि चिदात्मक परम पुरुष हरि ।
परमेश्वर परदेव नमूँ तव पद पदुमनि परि ॥
जगन्नाथ जगपति जनक, जगदीश्वर जगरूप हरि ।
करूँ कमल पद बन्दना, करुनाकर करि कमल धरि ॥

क्रौञ्च द्वीपमें एक त्रिकूट नामक पर्वत है, वह पर्वत दश सहस्र योजन ऊँचा है। सुवर्ण, चाँदी और लोहे के उसके तीन शिखर हैं। उसपर वरुणजी का एक बड़ा ही सुन्दर उद्यान

---

* गजराज भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"मैं उन ओंकार स्वरूप जगत् के आदि कारण परम पुरुष परमेश्वर को ध्यान करता हूँ, जिनके द्वारा इस देह आदिको चैतन्यता प्राप्त होती है।"

है, वह पर्वत चारों ओर से क्षीर सागरसे परिवेष्ठित है उसी पर एक देवताओं का बड़ाभारी सरोवर था। वरुणजी का वह क्रीड़ास्थल था। उस वनमें एक मत्त गजराज रहता था। एक दिन वह अपने यूथकी हथिनियों तथा बच्चों को लिये हुए उस सरोवर में गया। बड़ी देर तक वह बच्चों और हथिनियोंके साथ जलक्रीड़ा करता रहा। उसी सरोवर में एक बड़े भारी द्वीप के समान ग्राह रहता था। उस ग्राहने आकर पट्टसे हाथी का पैर पकड़ लिया। हाथीने अपनी पूरी शक्ति लगायी, सभी उपाय किये, किन्तु वह पैरको ग्राहसे छुड़ा नहीं सका। कभी ग्राह गजको खींच ले जाता कभी गज थाड़ा ग्राहको खींचलाता ऐसे दोनों को संघर्ष करते हुए एक सहस्र वर्ष बीत गये। बच्चे तथा हथिनियाँ उसे वहीं छोड़ कर चले गये, अपनी शक्ति भी काम न आयी तब असहाय होकर उसने भगवान् को पुकारा। गजेन्द्रकी वह स्तुति अत्यन्त ही दिव्य अलौलिक है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! गजराज को अपने शारीरिक बलका बड़ा गर्व था। उसे इस बातका बड़ा अभिमान था, कि मुझे कोई भी परास्त नहीं कर सकता। एक सहस्र वर्षतक जब सम्पूर्ण बल लगाकर क्लान्त हो गया और ग्राहसे पैर न छुड़ा सका, तब उसका बल सम्बधी गर्व गल गया। चकना चूर हो गया। उसे अपनी इतनी हथिनियों पर बहुत से बलवान् बालकों पर भी बड़ा भरोसा था। वह सोचता था, ये मेरे ऊपर सब प्राणदे दें। मैं इन सबका पालन पोषण करता हूँ, ये भी मुझसे कितना स्नेह करते हैं, इनके रहते मुझे कोई परास्त नहीं कर सकता। गजका यह अभिमान भी जाता रहा। स्त्री बच्चे उसे विपत्ति में फँसा देखकर भाग गये, फिर कोई देखने भी नहीं आये। उनकी ओर से भी चित्त निराश हो गया। जब उसे चारों ओर से कोई सहारा दिखायी नहीं दिया, तो उस

समय उसके पूर्व जन्मके सुकृत काम आये। पूर्व जन्ममें उसने भगवान् की आराधना की था। पूर्व जन्ममें यह गजराज इन्द्रद्युम्न नामका विष्णुव्रत परायण राजा था। जब यह तपस्या कर रहा था, तो अगस्त्य मुनि वहाँ आये। राजासे भूलमें उनका अपचार बन गया। मुनिको देखकर राजा खड़ा नहीं हुआ, उन्हें अभ्युत्थान नहीं दिया, इसीसे मुनिने राजा को गज होने का शाप दे दिया। राजा हाथी तो हो गया, किन्तु पूर्वजन्ममें की हुई विष्णु भक्ति व्यर्थ तो जाती नहीं। इस संकट कालमें उसे भगवान् की स्मृति हो आई। उसने सोचा—"क्यों न मैं सर्व संकट हारी समस्त विपत्ति विदारी भगवान् का ध्यान करूं। उनके स्मरण मात्रसे सभी क्लेश कट जाते हैं, सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं, सभी संकट कट जाते हैं। यह सोचकर उसने सूँड़ में एक खिला कमल उठाया और नेत्र बन्द करके भगवान् की स्तुति करने लगा।

स्तुति करते हुए गजराज कह रहा है—अब मैं उन ईशों के भी ईश परमेश्वर का ध्यान करता हूँ, जो ओंकार स्वरूप हैं। ध्यान तो कारण का ही करना चाहिये। सम्पूर्ण जगत के आदि कारण वे सर्वान्तर्यामी श्री हरि ही हैं। शरीरों में जहाँ भी चेतना है, सबका स्रोत श्री हरि ही हैं। प्रकृति और पुरुषको जगत का कारण माना है, किन्तु वे प्रभु तो पुरुषसे भी उत्तम पुरुषोत्तम हैं, पुरुषसे भी परमपुरुष हैं। ऐसे उन आदि बीज परेश के पाद पद्मोंमें पुनः पुनः प्रणाम है। उन्हीं अव्यक्त रूपका मैं मनसे चिंतन करता हूँ।

इस समय मेरा कोई सहायक दृष्टि गोचर नहीं होता। अब तो वे भक्त वत्सल भगवान् ही मेरे एकमात्र सहायक हैं। उन्हीं की शरण में जाता हूँ। जो सम्पूर्ण चराचर जगत् के

अधिष्ठान हैं, जगत् जिनमें अधिष्ठित है, स्थित है। जो जगत के उपादान कारण हैं जिनसे यह स्थावर जंगम समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है। जिनसे यह जगत व्याप्त है जो सर्वान्तर्यामी है, यही नहीं जैसे सुवर्ण ही आभूषण बन गया है, दूध ही जमकर दही हो गया है, ऐसे वे स्वयं ही जगत् है, उनसे भिन्न जगत की सत्ता नहीं। साथ ही जो इस कार्य कारण रूप जगत से परे भी हैं। मैं उन्हें अपने आप प्रकट होने वाले जिनका स्वयं कोई कारण नहीं किन्तु वे ही सबके कारण हैं, उन स्वयंभू भगवान् की मैं शरण में हूँ, उन्हींसे मैं प्रसन्न हूँ।

मैं उन सर्व साक्षी सर्वेश्वर की सर्वात्म भाव से शरण ग्रहण करता हूँ। जो अविलुप्त दृष्टि वाले हैं, यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च तो कभी दीखने लगता है, कभी लुप्त हो जाता है। सृष्टि के समय यह चराचर संसार दीखने लगता है, प्रलय कालमें इसका पता भी नहीं चलता। वे भगवान् अपनी माया द्वारा कभी तो इसे अपने भीतर छिपा लेते हैं, कभी प्रकट कर देते हैं। कार्य कारण रूप यह प्रपंच भगवान् की दृष्टि में कभी ओझल नहीं होता। क्योंकि इसके कर्ता भर्ता तथा संहर्ता एक मात्र वे ही तो हैं। प्रलयकाल में कालकी प्रेरणा से जब ये सम्पूर्ण लोक, समस्त लोकपाल तथा और भी जगत के जितने कारण हैं, उन सबके विनष्ट हो जाने पर यह विश्वब्रह्माण्ड तमसे आवृत हो जाता है, चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दृष्टि गोचर होता है, उस समय भी उस तमके परे जो बैठे बैठे हँसते रहते हैं। उस समय भी अन्धकार जिन्हें स्पर्श तक नहीं कर सकता। ऐसे ज्ञान स्वरूप चैतन्य स्वरूप सत्यरूप, सर्वव्यापक, आत्मयोनि परात्पर प्रभु मेरी रक्षा करें, मुझे इस संकट से छुड़ाये मेरे अज्ञान अन्धकार को नाश करें।

जो प्रभु दुर्विज्ञेय है, जिनके यथार्थ स्वरूप को सत्वगुण प्रधान देवता नहीं जानते, बड़े बड़े ज्ञानी ध्यानी ऋषि महर्षिगण जिनके वास्तविक तत्वसे अनभिज्ञ बने रहते हैं, जब इतने इतने श्रेष्ठ पुरुष जिनके स्वरूप को भली भाँति नहीं जानते तब साधारण लोगों की तो बात ही क्या है, फिर तिसमें मैं तो अत्यंत अधम योनि तमो गुणसे आवृत पशु हूँ, मैं उनके यथार्थ रूपका कथन कर ही कैसे सकता हूँ। वे परात्पर प्रभु क्रीड़ा के लिये, लीला के निमित्त, मनोविनोद की इच्छा से विविध योनियों में नाना रूप रखकर विचित्र क्रीड़ायें किया करते हैं, नटके समान अत्यद्भुत चेष्टायें किया करते हैं। अपनी कलित कलाओंका प्रदर्शन करते रहते हैं, दुष्कर दुर्गम अभिनय दिखाते रहते हैं, वे परम प्रकाशक परात्पर प्रभु मेरी सहायता करें, रक्षा करे मुझे अपनी शरणमें ले लें।

ऋषि मुनि गण सिद्ध साधक गण सदा ही जिनके साक्षात्कार के लिये व्याकुल बने रहते हैं। भाँति भाँति के शास्त्रीय साधन करते हैं, विविध भाँतिके उपाय करते हैं। सम्पूर्ण चराचरमें अपनी ही आत्मा का अवलोकन करने की चेष्टा करते हैं। प्राणिमात्र में मैत्री भाव स्थापित करते हैं, सर्वभूत सुहृद बन कर किसी भी प्राणीको पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। घर द्वार कुटुम्ब परिवार तथा सगे सम्बधी समस्त सम्बधों को तिलाञ्जलि देकर जन संग शून्यबन कर बनमें ध्यान धारण करते हुए काल यापन करते हैं, वे साधुस्वभाव के सज्जन संतगण परम मङ्गल-मय आपके दर्शनों के निमित्त ही सब कुछ करते हैं,मनन-शील बनकर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत पालन करते हुए आपका आश्रय लेते हैं, वे ही सम्पूर्ण प्राणियों के आश्रय मेरे भी आश्रय हो। अगतियों के एकमात्र गतिगोविन्द मेरी गति हों। उन्हीं अशरण शरण की शरणमें मैं प्राप्त हुआ हूँ।

विज्ञ जन जिनके जन्म की कल्पना करते हैं, शास्त्रकार जिनके सहस्रों अनन्त नाम बताते हैं। जिनके अगणित कर्मों का वर्णन वेद शास्त्र सदा करते रहते हैं। जिनके रूपों की कल्पना करके साधक उनमें अपने मनको फँसाते हैं। जिनके गुणों की गणना गणेशादि देव तथा शारदा शेष आदि भी पूर्ण रीत्या करने में समर्थ नहीं है। कुछ लोग उनमें दोष देखने की भी चेष्टा करते हैं, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो उन निर्गुण निराकार, निजानन्द स्वरूप मे न गुण है न दोष है। न उनका कोई निश्चित नाम ही है और न रूप ही। जिनका न कभी जन्म होता है और न जो कभी कर्म ही करते हैं, तो भी लीला के निमित्त वे जगत् की रचना करते हैं,पालन भी करते हैं और संहार भी करते हैं। सृष्टि रचना के लिये अनेक रूप रखलेते हैं, पालन के विविध वेष बना लेते हैं, और संहार के लिये भी रुद्र रूप रख लेते हैं। समय समय पर आवश्यकतानुसार अपनी माया का आश्रय लेकर वे क्रीड़ा करने के निमित्त रूप बना लेते हैं, वे ही अपरमित शक्ति सम्पन्न, अत्यद्भुत अत्यन्ताश्चर्ययुक्त कर्म करने वाले अरूप, अच्युत, परब्रह्म परमेश्वर परात्पर प्रभुके पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

जगत के सभी पदार्थों को सूर्य प्रकाशित करते हैं चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित करते हैं, किन्तु वे भगवान् तो स्वयं प्रकाश हैं, उन्हें अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं। वे अपने तेज प्रकाश से प्रकाशित हैं, जगत के पदार्थ हैं, इसमें साक्षी मन है, बुद्धि है, किन्तु मन और बुद्धिके भी साक्षी प्रकृति और पुरुष के भी साक्षी अर्थात सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड के एकमात्र साक्षी वे परब्रह्म परमात्मा ही हैं। इद्रियाँ विषयों का ज्ञान करती हैं, इन्द्रियों का भी नियामक मन है, मन, वाणी और

चित्त तथा अन्तः करण से भी अत्यन्त दूर वे प्रभु हैं वेही सब की काष्ठा हैं, उनसे परे कुछ भी नहीं वे सबसे परे हैं, ऐसे परात्पर प्रभु को बारम्बार नमस्कार है।

सूतजी कहते हैं, मुनियो! इसप्रकार सूँड़में कमल लिये गजराज स्तुति कर रहे हैं, अब जैसे वे सर्व नाम भगवान् की सर्वात्म भावसे सर्व रूपसे स्तुति करेंगे उसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

जो जाग्रत सब काल कालके काल कहावें।
प्रलय माहिं जो बचें वही प्रभु मोइ बचावें॥
ऋषि, मुनि, मनु, सुर, इन्द्र रूप नहिं जानें जिनको।
औरनि की का कथा पार को पावें तिनको॥
नाम, रूप गुन, दोष जग, करम धरम तें रहित जो।
लीला हित जगकूँ रचैं, रक्षा मेरी करहिं सो॥

पद

शरन अब उन हरि की हौं जाऊँ।
पुरुषोत्तम परम पुरुष परावर तिन पद शीश नवाऊँ॥१॥
जो साक्षी सब जग प्रपंच के का कहि तिनि गुन गाऊँ।
तमतें परें सजग सब कालहु कैसे तिन्हें मनाऊँ॥२॥
सबकी गति पालक सबहिं के अपनी विपति सुनाऊँ।
जनम करम नहिं नाम रूप जिनि कैसे टेरि बुलाऊँ॥३॥
है अरूप अवतार धरे बहु, हियमें ध्यान लगाऊँ।
तजि सब आश परयो प्रभु पदुमनि, विपति पार प्रभु पाऊँ॥४॥

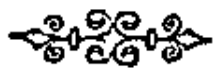

गजेन्द्र कृतहरि स्तुति

(६१)

सत्त्वेन प्रति लभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता।
नमः कैवल्य नाथाय निर्वाण सुखसंविदे ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ३ अ० ११ श्लो०)

छप्पय—

करिकें करमनि शुद्ध त्याग चित जिनकूँ पावें।
तिनि निरवान सरूप मोक्षपति प्रभुपद ध्यावें॥
सब धरमनि अनुकरन करें सब माहिं लखावें।
जो साक्षी क्षेत्रज्ञ प्रकृति पर पुरुष कहावें॥
द्रष्टा सब के सब समय, सब प्रतीति के मूल हैं।
करूँ बन्दना सकल विधि, जो सबके अनुकूल हैं॥

जग के सभी सगे सम्बन्धियों से सहायता की आशा छोड़कर, सबके सदा सर्वदा एकमात्र आश्रय उन श्री हरि की आर्तभाव से जो विनती करता है, उसकी रक्षा शरणागत वत्सल

---

* स्तुति करते हुए गजेन्द्र कह रहे हैं—"जो भगवान् नैष्कर्म्य द्वारा विशुद्ध बने मन में मनीषियों को उपलब्ध होते हैं, उन कैवल्य नाथ मोक्ष सुख के स्वामी श्री हरि को पुनः पुनः प्रणाम है।"

अवश्यमेव करते हैं, किन्तु वह स्तुति प्रार्थना सच्चे हृदय से एकाग्रमन से होनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ग्राह ने जिसके पैर को कसकर पकड़ रखा है, वह जल में खड़ा हुआ गजराज सूँड़ में कमल लिये हुए स्तुति करते हुए कह रहा है—मैं उन अखिलेश्वर की स्तुति करता हूँ जो मोक्षपति हैं, मुक्ति जिनकी आज्ञाकारिणी दासी है। जिनकी प्राप्ति अहंता ममता के कारण नहीं होती, जो अपने चित्त को शास्त्रीय सत् साधनों द्वारा शुद्ध कर लेते हैं और फिर समस्त कर्मों का त्याग करके नैष्कर्म्य बन जाते हैं, उन सर्व त्यागी विरागी निर्मल मन वाले व्यक्तियों को वे प्राप्त होते हैं जो निर्गुणानन्दानुभव स्वरूप हैं, उन सर्व नियन्ता नटवर की मैं शरण मे हूँ, उन्ही के पाद पद्मों में प्रणाम करता हूँ।

जितने प्रकृति के स्वरूप हैं, सभी में वे ही दिखावी देते हैं, वे ही सब कार्यों का अनुकरण सा करते दृष्टि गोचर होते हैं। शान्त स्वरूप भी उन्हीं का है, वे ही घोर रूप रखकर घोर कार्यों को करते हैं, वे ही मूढ़ रूप रखकर मूढ़ता करते दिखायी देते हैं। वे ही सत्व गुण को धारण करके सत्व गुण वाले बन जाते हैं, रजो गुण का अनुसरण करके रजो गुणी से दिखाई देते हैं और तमो गुण का अनुकरण करके ठेठ तमों गुणी दिखाई देने लगते हैं। वास्तव में देखा जाय तो वे निर्गुण हैं, निर्विशेष हैं, सर्वत्र समान भाव से सर्वदा रहने वाले हैं। जो ज्ञान घनहैं, विज्ञान स्वरूप हैं, उन्हीं सर्वात्मा सर्वगत सर्वेश्वर की मैं शरण में हूँ, उन्हीं के पाद पद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

इस शरीर को ही क्षेत्र कहा है इस क्षेत्र को जानने वाले इसके जो स्वामी हैं, वे ही क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं, वे सब क्षेत्रों में निवास करने वाले श्रीहरि ही क्षेत्रज्ञ हैं। इन शरीरों के ही स्वामी नहीं

हैं, चर अचर स्थावर जंगम, सूक्ष्म स्थूल जो भी कुछ देखा, सुना तथा अनुभव किया जाता है उन सब के स्वामी हैं अध्यक्ष हैं, अधिपति हैं। कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसके वे साक्षी न हों, इसीलिये शास्त्र उन्हें सर्व साक्षी कहकर सम्बोधित करते हैं। उनसे पहिले का कोई भी पदार्थ नहीं। सबके आदि वे ही हैं, उनके पश्चात् ही सबको उत्पत्ति हुई है। उनकी तो कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं। समस्त जीवों के आदि कारण वे ही हैं। प्रकृति की विकृति से ही विश्व ब्रह्माण्ड बना है। जो मूल प्रकृति हैं, जिस समय तीनों गुण सम्यावस्था में अवस्थित थे, उस मूल प्रकृति के भी उत्पत्ति स्थान, कारण वे श्री हरि ही हैं उन्हीं सबके नियामक सबके कर्ता सबके स्वामी प्रभु के पाद पद्मों में प्रणाम है।

जो समस्त इन्द्रियों के नियामक हैं, जो समस्त विषयों के द्रष्टा हैं, जितनी भी प्रतीतियाँ होती हैं उन्हीं के आधार से होती हैं, उन्हें पृथक करदो तो किसी की भी प्रतीति संभव नहीं। यह सम्पूर्ण जगत उनकी छाया मात्र है। छाया सदा सत्ता वाली वस्तु की होती है, जिसकी सत्ता ही नहीं उसकी छाया कैसी ? ये महत्तत्व बुद्धितत्व अहंकारि जितने तत्व हैं सब असत् हैं उनकी छाया मात्र है, इनके ही द्वारा उनकी सत्ता सूचित होती है। जैसे आकाश में कोई पक्षी उड़ता जा रहा है वह दिखाई नहीं देता किन्तु उसकी छाया भूमि पर दिखाई देती है, उस छाया के अनुमान से ही उस पक्षी की सत्ता सिद्ध होती है इसी प्रकार यह जगत किसी का प्रतिबिम्ब है, तो इसका बिम्ब भी कोई अवश्य होगा, इसका बनाने वाला भी कहीं छिपा हुआ होगा। वस्तुओं की सत्ता से चैतन्यता से तथा उनके आनन्द रूप से और प्रकाश से जो प्रत्यक्ष सब प्रकाशित प्रतीत होते हैं, सबके भीतर बाहर व्यक्त तथा अव्यक्त भाव से निवास करने वाले उन सर्व प्रकाशक प्रभु को बारम्बार नमस्कार है।

जो हरि सब के कारण हैं, किन्तु जिनका स्वयं कोई कारण नहीं, जो सदा सर्वदा कारण रहित हैं, कृपालु हैं। यद्यपि उन्हें मनीषी जगत् का कारण बताते हैं, जैसे दही का कारण दूध है, किन्तु दही दूध का विकार है. ऐसे वे किसी का विकार नहीं, इसीलिये वे अद्भुत कारण कहलाते हैं। उन्हें चाहे अखिल कारण कहो, निष्कारण कहो अथवा अद्भुत कारण एक ही बात हैं, किन्तु वे संसारी कारणों की भाँति विकारी कारण नहीं है। जैसे समस्त जल का आश्रम समुद्र है, शरीरों में वापी कूप तड़ाग तथा नदियों का समस्त जल एक दिन समुद्र में पहुँचेगा। क्योंकि जो जिसका आश्रय स्थान है अन्त में उसी में आश्रित लीन हो जाता है। इसी पर उत्तम पुरुषों के भगवद् भक्तों के ज्ञानी विज्ञानियों के एक मात्र आश्रय आप ही हैं, आप महार्णव स्वरूप हैं मोक्ष स्वरूप तथा आनन्द रूप हैं, ऐसे आप अनन्योपासकों के आश्रय अच्युत के अरुणारविन्द चरणों में बारम्बार नमस्कार है।

जैसे अरिणी में अग्नि छिपी रहती हैं, उसी प्रकार सत्वरज और तम इन तीनों गुणों में ही आप छिपे रहते हैं, कोई साधारण बुद्धि का व्यक्ति आप को देख नहीं सकता, वाणी द्वरा व्यक्त नहीं कर सकता। जैसे अग्नि ईंधन को भस्मसात् कर देती हैं, वैसे ही ज्ञानाग्नि स्वरूप आप समस्त कर्मबन्धनों को स्वाहा कर देते हैं। हे स्वामिन्! आप का मानस अर्थात् संकल्प गुणों का क्षोभ करने में समर्थ है। अथवा गुण क्षोभ के कारण ही आप में मनकी स्फूर्ति होती है आप स्वतः नैष्कर्म्य भाव से विधि निषेध रूप शास्त्र से वर्जित है, तथा स्वयं प्रकाश होते हैं, ऐसे आप को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

जो प्रपन्न पारिजात हैं। प्रपन्न भी क्यों न हों, नर नारियों की बात तो पृथक् रही. मुझ जैसा पशु भी प्रपन्न क्यों न हो

गया हो, सर्वात्मभाव से शरण में आ गया हो, तो उसके बन्धनों को जो काटने वाले हैं। जो स्वयं मुक्त स्वरूप हैं, जिनमें करुणा कूट कूट कर भरी है, जो करुणा के वरुणालय ही हैं, जिनको अपने आश्रितों के कार्य में तनिक भी आलस्य नहीं है, जो भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त सदा कातर बने रहते हैं, जो करुणा करने के निमित्त बद्ध परिकर व्यग्र बने बैठे रहते हैं। अपने अंश से समस्त देह धारी प्राणियों के अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से प्रतीत होते हैं, जो अपरिच्छिन्न हैं, बड़े गुण सम्पन्न हैं, बड़े से भी बड़े हैं बृहत से भी बृहत हैं, उन अन्तर्यामी अच्युत केपोज पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

जो ज्ञानियों को प्रपन्न भक्तों के लिये सुलभ हैं। किन्तु जो इस क्षण भंगुर अनित्य नाशवान् शरीर में अहंभाव किये हुए हैं, जो मिट्टी ईंट पत्थर के बने घर में सुवर्ण चाँदी तथा अन्य प्रकार के नाशवान धनों में, स्त्री, पुत्र, स्वजन तथा सेवकों में ममता किये बैठे हैं, इन्हें अपना समझते हैं, इन सबमें जिनका चित्त आसक्त बना हुआ है ऐसे अहंता ममता युक्त अज्ञ पुरुषों के लिये अत्यंत ही दुष्प्राप्य हैं। जो गुण संगों से सर्वदा विवर्जित हैं जो गुणों में आसक्त चित्त वालों के चिन्तन के विषय हैं ही नहीं, किन्तु जिन्हें जीवन मुक्त पुरुष अहंकार शून्य निर्लिप्त बुद्धि वाले गुणातीत भक्त अपने हृदय में चिन्तन करते हैं, अत्यंत सूक्ष्म बुद्धि वाले जिनका अन्तःकरण में अनुभव करते हैं उन ज्ञान स्वरूप अखिल जगत के नियामक समग्र ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा के पादपद्मों में प्रणाम है।

जो सब की भावना को पूरी करते हैं, सबको इच्छानुसार फल देते हैं, धर्म चाहने वालों की मति धर्म में लगाते हैं, उन्हें धर्मनिष्ठ बनाते हैं अर्थ के इच्छुकों को अर्थ प्रदान करते हैं

कामेच्छुकों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं, उन्हें काम भोग देकर तृप्त करते हैं, जो मोक्षार्थी हैं, उन्हें मोक्ष प्राप्त कराते हैं, जो जिस भाव से भजता है, उसकी उस भावना को पूर्ण करते हैं, उसकी अभीष्ट गति को प्राप्त कराते हैं। जितना माँगता है उतना तो देते हैं उससे और भी अधिक देते हैं। क्योंकि वे बहुत बड़े दानी हैं, अल्प देना तो वे जानते ही नहीं। वे अव्यय-अप्राकृत देहादि भी देते हैं नाना भोग ऐश्वर्य और उत्तम से उत्तम गति भी देते हैं। दिव्य भोगों को यथेच्छ भोग सकें ऐसे सुदृढ़ देवादि शरीर भी देते हैं। सारांश जिनके यहाँ कुछ भी अदेय नहीं, जो सदा देते ही रहते हैं, भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करतेही रहते हैं, जिनके द्वार से कभी कोई विमुख आज तक लौटा ही नहीं उन्हीं की मैंने शरण ग्रहण की है। जो सबके उद्धारक परम कारुणिक महान् दयालु प्रभु मेरा भी उद्धार करें मुझे भी दुःख से छुड़ावें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो!! इस प्रकार गजराज ने स्तुति की अब वे जैसे अपनी स्तुति का उपसंहार करेंगे उसे आगे कहूँगा।

छप्पय

जिनको वसिकें विज्ञ विजन बन ध्यान लगावें।
सत, रज, तम अनुकरन करें निरगुन कहलावें॥
प्रतिबिंबित लखि असत् प्रकाशित सत हरि होवें।
करुना जल में न्हाय भक्तवर मन मल धोवें॥
प्रभु प्रपन्न पशु पाश कूँ, काटें करुनाकर सदय।
बार बार बन्दन करूँ, करें अकिंचन कूँ अभय॥

पद

मोहमय ग्राह ग्रस्यो हौं गिरधर।
पकरि पैर लै गयो अगम जल, खींचत सरवर भीतर ॥१॥
तुम सरवज्ञ सकल संहारी, सत सरूप सरवेश्वर।
कमल माल कर कमल कृपाकर, कमल नयन करुनाकर ॥२॥
निरविकार निरदोष निरन्तर, नित्य नियामक नटवर।
स्वयं प्रकाश प्रेमघन पूरन, पशुपति पालक प्रभुवर ॥३॥
तन, धन, दारा, सुत, पशु, परिजन, फँसे मोह जे पामर।
तिनतें दूर रहो सर्वाधिप, सब साधन सुख सागर ॥४॥
धरम अरथ अरु काम मोक्ष हित, भजन करत नित जे नर।
करौ कामना पूरन सबकी, बन्दौं पद तिनि सुखकर ॥५॥

गजेन्द्रकृत-हरि स्तुति [३]

(६२)

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थम्,
वांछन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलम्,
गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥

(श्री भा० ८ स्क० ३ अ० २० श्लो०)

छप्पय

मंगलमय गुन चरित गाइ सुहृदी सुख पावैं ।
ते परमेश्वर प्रनतपाल पशु पाश कटावैं ॥
अणिमि शिमा रवि किरन निकरि उनि तिनिमय होवैं ।
त्यों तन, मन, गुन, करन हेंहिं तिनितें तिनिकोवैं ॥
नेति नेति रहि जो पपत, असत् और सतते सतत ।
गहो हरन प्रभु चरन तिनि, दुख कटत आरत सतत ॥

जो भगवान् निर्गुन होकर भी सगुन बन जाते हैं। जाव जो लीला रहित होकर भी लीलाधारी बनकर लीलायें करते हैं

उन्हें पाने का—उन्हें प्रसन्न करने का एक ही उपाय है उन गुणों को सुनो और गाओ। गुण गायन करने से ही निर्गुण से सगुण हो जाते हैं, निराकार से साकार बन जाते हैं अगोचर से गोचर हो जाते हैं और अशरीरी से शरीरी बनकर सम्मुख आ जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान की स्तुति करते हुए गजराज कह रहे हैं—"मैं उन पुण्यश्लोक प्रभु की प्रार्थना करता हूँ, जिनके पवित्र चरित्र पशु, पक्षी तथा पामर प्राणियों को भी पावन बनाने वाले हैं, जिनके अत्यन्त अद्भुत, मंगलमय, मधुमय मनोहर चरित्रों का प्रभुपरायण अनन्य उपासक भगवत्भक्त निरन्तर गान करते रहते हैं, उन गुनगन गान से ही वे परमानन्द पयोधि में निमग्न होकर समस्त सांसारिक इच्छाओं से रहित बन जाते हैं, किसी भी वस्तु की वांछा नहीं करते। उन अव्यक्त, अविनाशी, अतीन्द्रिय, अतिदूर, अनन्त, आद्य, आत्मज्ञानज्ञ परब्रह्म परिपूर्ण परमेश्वर के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करता हुआ उनकी आर्तभाव से स्तुति करता हूँ।

जो सदा अपने लोक में विशुद्ध भाव से सदा सर्वदा सुख-सागर में शयन करते रहते हैं, जिनके अत्यन्त सूक्ष्म अंश से यह दृश्य प्रपञ्च नाम रूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है, उसी अंश मात्र से चतुर्मुख ब्रह्मा, समस्त देवगण, सभी वेद तथा स्थावर जंगम जीव बन गये हैं, और उस समय पर ये सब उन्हीं में उसी प्रकार लीन भी हो जाते हैं, जैसे अग्नि के विस्फुलिंग निकल कर पुनः उसी में मिल जाते हैं, सूर्य की किरणें सूर्य से ही निकल कर अन्त में उन्हीं में लीन हो जाती हैं। सारांश यही है कि वे यह विश्वविभूति उनके अंश से उत्पन्न होकर उन्हीं में फिर मिल जाती है, वे त्रिपादविभूति रूप से अक्षोभ्य निर्विकार समुद्र के

समान विशुद्ध बने रहते हैं अंश से सृष्टि रचना होते समय उनमें कुछ क्षोभ होता हो कुछ विकार आता हो सो भी बात नहीं। वे सदा एकरस बने रहते हैं। समय पाकर उन्हीं से महत्तत्व, बुद्धितत्व, अहंतत्व, मन इन्द्रियाँ तथा सम्पूर्ण भूत सभी देहों का गुण प्रवाह होता रहता है जैसे पर्वत से सदा सर्वदा सहस्रों नदियाँ निकलती रहती हैं। वे भगवान दुर्विज्ञेय हैं। उनके यथार्थ रहस्य को कोई नहीं जानता। उनकी न कोई जाति है, न वर्ण है न संज्ञा है और न नाम है। वे देवता भी नहीं, असुर भी नहीं, मनुष्य भी नहीं, तिर्यक् पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष, नपुंसक तथा अन्य कोई भी चर, अचर जीव नहीं। वे निराले हैं, विलक्षण हैं, अकथनीय हैं, जो हैं सोई हैं। न वे गुण हैं, न कर्म हैं न सत् हैं न असत् हैं। सारांश यह है कि संसार में जितनी वस्तु देखी, सुनी या कल्पना की जा सकती हैं उनमें से कोई नहीं जो सबके अन्त में यह नहीं यह नहीं कहते कहते शेष रह जाते हैं, वे ही वे हैं। जो वाणी के विषय नहीं, मन जिनके सम्बन्ध में मनन नहीं कर सकता, उन प्रभु की मैं शरण हूँ, वे मेरी इस विपत्ति से रक्षा करें, मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करें।

प्रभो ! आप सोचते होंगे, यह अपने प्राण बचाने के लिये प्रार्थना कर रहा है, मृत्यु से भयभीत हो गया है, अपने जीवन की भिक्षा माँग रहा है। स्वामिन ! मैं जीकर अब क्या करूँगा। इस घोर तमोगुणी गज योनि से मुझे कौन-सा सुख है ? यह योनि तो भीतर बाहर दोनों ही ओर अज्ञान से भरी हुई है। इसमें न मैं साधन कर सकता हूँ, न आपका भजन ही कर सकता हूँ, यही स्त्री पुत्रों का मोह था, सो उनका मोह तो देख लिया, मुझे विपत्ति में फँसा देखकर सब भाग गये। अब तो संसारी सम्बन्धों को समझ गया। प्रभो ! मैं यह भी नहीं चाहता गज योनि से मुक्त होकर मुझे कोई श्रेष्ठ योनि मिल जाय, मैं तो

अज्ञान से मुक्ति चाहता हूँ जिस अज्ञान ने आत्मप्रकाश को ढक लिया है, जो नाना उच्च नीच योनियों में भ्रमाता रहता है, उसी अज्ञान से मेरा छुटकारा करा दें। जहाँ काल की भी गति नहीं उस परमपद को पहुँचा दें, जन्ममरण के चक्कर से छुड़ा दें। इसीलिये मैंने आपके चरणों की शरण ली है। ग्राह से पैर छुड़ाइये या न छुड़ाइये, अज्ञान से मुझे छुड़ा दीजिये, ग्राह से मुक्त कीजिये या न कीजिये मोह की शृंखला जो मेरे पैरों में पड़ी है, उसे काट दीजिये। इसीलिये मैंने आपका पल्ला पकड़ा है।

हे अन्तर्यामी प्रभो! आप इस अखिल विश्व ब्रह्माण्ड के एकमात्र रचयिता हैं, यह चराचर विश्व ही आपका स्वरूप है, आप विश्व से परे विश्वातीत हैं, विरुद्ध धर्माश्रयी हैं, आत्माराम आत्मक्रीड आत्मरति होने पर भी विश्वरूप सामग्री से क्रीड़ा करने वाले विहारी हो। आपका कभी जन्म नहीं, नाश नहीं ह्रास नहीं, अभ्युदय नहीं, पतन नहीं उत्थान नहीं। आप जगदात्मा जगन्नियन्ता अजन्मा तथा अच्युत और एकरस हो। ऐसे आप विश्वविहारी को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

स्वामिन्! योगीगण विजन वन में जाकर योगाभ्यास द्वारा अन्तःकरण के मल को धो डालते हैं, विशुद्ध बन जाते हैं, उनका अन्तःकरण निर्मल बन जाता है, ऐसे योग द्वारा परिशुद्ध अन्तःकरण में आप प्रकट होते हैं, उनके विमल मनमें प्रतिबिम्बित होते हैं उन बड़भागी शुद्धाशय योगियों को आप दर्शन देते हैं, मेरा अन्तःकरण तो शुद्ध नहीं हुआ है, मैं तो केवल आपके चरणों में नमस्कार ही करता हूँ।

प्रभो! आप अजितेन्द्रियों से सदा दूर रहते हैं मलिन अन्तःकरण वालों के लिये आपके दर्शन दुर्लभ हैं आप असह्यवेग वाली त्रिगुणात्मिका शक्तियों से युक्त हैं। इन्द्रियों के जो शब्दादि

विषय हैं उनके सदृश प्रतीत होते हैं, आप अपनी शरण में आये हुए अनन्योपासक, शरणागत भक्तों के दुःखों को दूर करने वाले हैं, उनके समस्त विपत्तियों से रक्षा करने वाले हैं, ऐसे अपरिमेय शक्तिवाले सर्वशक्तिमान सर्वेश्वर को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

देव ! यह जीव अज्ञान अन्धकार में भटक रहा है, मोहरूप ग्राह ने कसकर इसके पैर को पकड़ लिया है। आपकी ही त्रिगुण मयी माया ने एक अहङ्कार रूप ऐसी अन्धकारमयी यवनिका बना रखी है कि बुद्धि के समस्त प्रकाश को उसने ढक लिया है। इससे यह अपने यथार्थ स्वरूप से वंचित रह जाता है, अपने आत्म-रूप से अपरिचित सा बन जाता है, प्रभो ! आप ही जब चाहें इस परदे को हटा सकते हैं, आपही जब इच्छा करे प्रकाश प्रदान कर सकते हैं, आप ही मोहरूपी अभेद्य शृंखला को काट सकते हैं, आपके पादपद्मों में पुनः पुन प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार से जब गजेन्द्र ने स्तुति की तब भगवान् श्रीहरि ने तुरन्त वहाँ आकर ग्राह को मार कर गजेन्द्र को दुःख से छुडाया। यह मैंने आपसे गजेन्द्र कृत श्रीहरि की स्तुति कही, अब जैसे समुद्र मन्थन के पूर्व, असुरों द्वारा श्रीहीन किये हुए देवतागण ब्रह्माजी के सहित क्षीरसागर शायी भगवान के समीप गये, और वहाँ जैसे जाकर भगवान की स्तुति की उस स्तुति का वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

नहिँ पशु तन मम मोह न जीवन इच्छा भगवन।
चाहूँ आत्मप्रकाश लगे प्रभु चरननि महँ मन ॥
योगी करिकैं जोग विमल हियमहँ जिनि ध्यावत।
तिनि योगेश्वर विश्वविहारी पद सिर नावत ॥

विषय रूप बनि विश्वमहँ, मायामय क्रीड़ाकरें।
मेंटे मम पद मोह भय, दै दरशन दुख हरि हरें॥

पद

विपतितैं मोकूँ नाथ उबारें।
ग्राह नहीं यह काल कृपानिधि, डूबत पार उतारें॥१॥
जो न मनुज, सुर, असुर, अचर, चर, नाम न रूप निहारें।
गुन नहिँ करम असत् सत वेदहु, नेति नेति उच्चारें॥२॥
अच्युत! आश करी जिन जिनकी, ते नहिँ विदित विदारें।
तजि सब आश शरन हरि लीन्हीं, सेवक करि स्वीकारें॥३॥
महिमा अपरम्पार तिहारी, नहिं मन बुद्धि विचारें।
अधम उधारन नाम तिहारो, प्रभु पशु पतित उधारें॥४॥

गजेन्द्रकृत हरि स्तुति (३)

गजेन्द्र उवाच

ॐनमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥१॥
यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥२॥
यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं,
क्वचिद् विभातं क्व च तत् तिरोहितम् ।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते,
स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥३॥
कालेन पंचत्वमितेषु कृत्स्नशो,
लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु ।
तमस्तदाऽऽसीद् गहनं गभीरं,
यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ॥४॥
न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुः,
जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो,
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥५॥
दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं,

विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः ।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने,
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥६॥
न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा,
न नामरूपे गुणदोष एव वा ।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय यः,
स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥७॥
तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ॥८॥
नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ॥९॥
सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता ।
नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥१०॥
नमः शांताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे ।
निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥११॥
क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे ।
पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः ॥१२॥
सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे ।
असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ॥१३॥
नमो नमस्तेऽखिलकारणाय,
निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।

सर्वागमाम्नायमहार्णवाय,
नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥१४॥
गुणारणिच्छन्नचितूष्मपाय,
तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ।
नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागमः,
स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि ॥१५॥
मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय,
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत,
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥१६॥
आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तैः,
दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय ।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय,
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥१७॥
यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा,
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।
किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं,
करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥१८॥
एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं,
वांछन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं,

गायन्ते आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥१९॥

तमक्षरं ब्रह्म परं परेशम्,
अव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूरम्,
अनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥२०॥

यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः ।
नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृताः ॥२१॥

यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो,
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः ।
तथा यतोयं गुणसम्प्रवाहो,
बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ॥२२॥

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्,
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्,
निषेधशेषो जयतादशेषः ॥२३॥

जिजीविषे नाहमिहामुया किम्,
अन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लवः,
तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥२४॥

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥२५॥

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥२६

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग,
शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये,
कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥२७॥

नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम् ।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥२८॥

ब्रह्मादि देवों द्वारा अजित स्तुति (१)

(६३)

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यम्,
गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तम्,
नमाम हे देववरं वरेण्यम् ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ५ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

असुरन तैं अति दुखित अजर अजके ढिग आये ।
लै कमलासन संग सबनि पयनिधि तट धाये ॥
रूप रहित श्रुत रूप करी इस्तुति चतुरानन ।
जय अनन्त अव्यक्त, सत्य सुख परवानी मन ॥
जो निद्रा तन्द्रा रहित, जो सब कारन करन हैं ।
तिन अक्षर आकाश अज, अमर अजित की शरन हैं ॥

सुख में तो कोई बड़भागी भगवत कृपा पात्र अनुग्रह सृष्टि के ही जीव भगवत् स्मरण करते हैं नहीं तो प्रायः देखा गया है,

---

❀ देवताओं की ओर से अजित भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्मा जी कह रहे हैं—"जो भगवान् अविक्रिय हैं सत्य हैं अनन्त हैं आदि पुरुष हैं, तथा बुद्धि रूपी गुहा में स्थित हैं । जो निष्कल, अप्रतर्क्य, मन से भी अधिक दौड़ने वाले वाणी के अविषय तथा भजन करने योग्य हैं उन देवाधिदेव भगवान् को हम सब नमस्कार करते हैं ।"

जब आपत्ति विपत्ति आ जाती हैं तभी भगवान् याद आजाते हैं। यह भी सबको नहीं होता। ऐसा भी सत्वगुण सम्पन्न भगवत भक्तों को ही होता है। सर्व साधारण पुरुष तो आपत्ति में भी संसारी लोगों के ही संमुख गिड़गिड़ाते हैं अनुनय विनय करते हैं। कैसे भी समय किसी भी दशा में भगवान् का स्मरण होना बड़े भाग्य की बात है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! देवता और असुरों का वैर भाव सनातन है। एक बार इन्द्र अपने हाथी पर चढ़कर जा रहे थे उधर से दुर्वासा मुनि आ रहे थे। देवराज को देखकर मुनि ने आशीर्वाद रूप अपने कंठ की माला उतार कर इन्द्रके ऊपर फेंक दी। इन्द्र के लिये यह साधारण बात थी। जिधर वे निकलते थे उधर ही देवता ऋषि मुनि उनपर पुष्प तथा मालायें फेंका करते थे। उन्होंने उस माला को भी साधारण समझकर हाथी के मस्तक पर रख दी हाथी ने उसे सूँड़ से उठाकर पैरों के नीचे कुचल दी। ऐश्वर्य के मद में मत्त हुए देवराज ने इधर ध्यान ही नहीं दी। माला तथा उसे हाथी द्वारा कुचला जाना उनके लिये साधारण बात थी। बात भले ही साधारण हो किन्तु दुर्वासा तो साधारण मुनि नहीं थे। वे तो साक्षात् रुद्र का क्रोधका अवतार ही थे। उन्होंने इन्द्र को तुरंत शाप दे डाला—"जा जिस श्री के पीछे तू इतना मन्दोन्मत्त बना हुआ है तेरी वह श्री नष्ट हो जाय तू श्री हीन हो कर मारा मारा फिरे मुनिका शाप सुनकर सुरेन्द्र की तो सिटिल्ली भूल गयी तुरन्त हाथी पर से उतर कर वह मुनि के पैरों में पड़कर क्षमा याचना करने लगा। मुनि ने कहा—"देवेन्द्र ! तू मुझे अन्य ऋषि मुनिओं की भाँति मत समझो जो चाहें रो या पीट क्षमा करना तो मैंने सीखा ही नहीं तू श्री हीन अवश्य हो जायगा। तुम सब देवता ऐश्वर्य

हीन होकर भूमि पर साधारण मनुष्यों की भाँति घूमोगे, लो मैं तो चला। इतना कहकर मुनि चल गये। देवेन्द्र तुरन्त हतः प्रभ हो गये। असुरों ने स्वर्ग पर चढ़ाई कर दी। देवता तो श्री हीन हो ही चुके थे इसी अवसर उन्होंने युद्ध छेड़ दिया। बहुत देवता मारे गये बहुत से युद्ध से भाग गये। असुरों की विजय हो गयी। तब देवता सब मिलकर ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्मा जी जानते थे भगवान् स्तुति प्रिय हैं स्तुति सुन कर वे अवश्य प्रसन्न हो जाते हैं निराकार साकार से हो जाते हैं। इसीलिये वे उन सर्व व्यापी निराकार भगवान् की स्तुति करने लगे।

स्तुति करते हुए ब्रह्मा जी कह रहे हैं--"प्रभो! आपनिर्वकार हैं। कभी भी आप में विकृति नहीं आती। आप सत्य स्वरूप हैं सत्य सकल्प है जो भी कह देते हैं उसे करते हैं आप का जो भी संकल्प हुआ नहीं कि यह तुरन्त पूर्ण हो जाता है। आपका कहीं भी अन्त नहीं आपकी शैया ही अनन्त है। आप का स्वरूप भी अनन्त है आपके धाम भी अनन्त हैं आपकी लीलायें भी अनन्त हैं और आप स्वरूप के रूप भी अनन्त हैं। आप आदि पुरुष हैं आप कब से उत्पन्न हुए कोई कह नहीं सकता। कह तो तब सके जब आप कभी उत्पन्न हुए हों आप तो अजन्मा हैं। अनादि हैं आदि पुरुष हैं। आप बिना खिड़की की गहरी बुद्धि नाम की गुफा में घुसे हुए बैठे रहते हैं। आप निरंजन हैं निष्कल हैं अप्रतर्क्य हैं। तर्कों द्वारा कोई आप को सिद्ध नहीं कर सकता। परम प्रगति शील हैं। सबसे शीघ्र दौड़ने वाला मन है। आप दौड़ में उसे भी परास्त कर देते हैं। वह आपके साथ एक पग भी नहीं दौड़ सकता। आपकी गति की कोई कल्पना नहीं कर सकता। वाणी आपके सम्बन्ध में कुछ भी कहने में असमर्थ है जैसे नानी के सामने धवती ननसाल की क्या

बात बतावेगी ? आप समस्त प्राणियों के एक मात्र भजनीय हैं । आप का ही सभी समान भाव से भजन कर सकते हैं। आप समस्त देवों के देव हैं महादेव है । देवाधिदेव हैं अतः समस्त देवताओं के सहित मैं आप को बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

प्रभो ! आप प्राणों के प्राण हैं बुद्धि के स्वामी हैं। अहंकार के अधिष्ठातृ देव हैं । सबके विज्ञाता हैं । वैसे तो आप मन वाणी के विषय नहीं तथापि शब्दादि विषय तथा इन्द्रियों से भासित होते हैं । आप देह नहीं देह है भी तो ऐसी जिसमें फोड़ा फुन्सी नहीं। विद्या नहीं अविद्या नहीं अज्ञान नहीं, निद्रा नहीं तन्द्रा नहीं आलस्य नहीं। आप निर्विकार निर्लेप अक्षर आकाश शरीरी तथा तीनों युगों में प्रकट भाव से रहने वाले हैं ऐसे आप त्रियुगी नारायण को हम पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

स्वामिन् ! आप इस संसार के आधार भूत चक्र हैं । आप के द्वारा ही यह संसार घूम रहा है संसरण कर रहा है। पिंड ब्रह्माण्ड को आप अपने आश्रय से घुमा रहे हैं इस चक्र में पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय और पंच प्राण ये पन्द्रह अरे है मन प्रधान अरा है। चक्र का जो बीच का भाग है। जिसे नाभि कहते है वही त्रिगुण हैं। चक्र की जो नेमि होती हैं आठ प्रतियाँ ही मानो नेमि स्थानीय हैं। वे ही उसके आवरण हैं यह चक्र अत्यन्त ही चंचल तथा विद्युत के समान प्रकाशवान् और शीघ्र गामी है। अजन्मा जीव के माया द्वारा प्रेरित शरीर के आधार हैं। आप सत्यरूप हैं ऐसे सर्वाधार प्रभु को बारम्बार वन्दन है।

प्रभो ! ज्ञान ही आप का स्वरूप है। आप प्रकृति से परे हैं । यह स्थूल दृष्टि आप को देखने में सर्वथा असमर्थ है आप अदृश्य तथा अव्यक्त हैं देश कालादि बन्धनों से अपरिच्छेद हैं।

जीव के नियन्ता हैं। एक वृक्ष पर बैठकर पिप्पली खाने वाले हैं। योग्यसाधक वैराग्य विवेक वान् पुरुष योग मार्ग से आप की उपासना करते हैं। देव आप की माया अपरम्पार है। इसी आपकी दुरत्यया दैवी माया के वशीभूत होकर जीव अपने आत्म स्वरूप से विस्मृत हो जाता है यह ठगिनी माया सब को ठग लेती है सबको जीत लेती है किन्तु आप के सम्मुख इस की कुछ नहीं चलती आपको यह नहीं जीत सकी। आपने ही इसे जीत लिया है आपने ही इस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। आप सभी चराचर प्राणियों में समान भाव से निवास करते हैं। आप परम ऐश्वर्यवान् हैं परमेश्वर हैं परात्पर हैं ऐसे आप मायेश को हम नमस्कार करते हैं।

हे दुर्विज्ञेय ! आप को पाना कोई सरल काम नहीं है तमोगुण तो अंधकार मय है रजोगुण कर्म प्रधान गुण है सत्व गुण प्रकाश मय ज्ञान प्रधान गुण है। ज्ञान के प्रकाश में आप का आभास कोई भक्त ही प्राप्त कर ले। हम लोग जो ऋषि मुनि देवतादि हैं सत्व प्रधान कहे जाते हैं किन्तु सत्ता रूप से समस्त प्राणियों के भीतर तथा प्रकाश रूप से चराचर के बाहर विराजमान आपके सूक्ष्म स्वरूप यथार्थ भाव से तो हम लोग भी नहीं जान सकते। फिर तमो गुणी तथा रजो गुणी असुर राक्षसों की तो बात ही पृथक रही। वे तो जान ही क्या सकते हैं। ऐसे अचिन्त्य अज्ञेय अच्युत को बारम्बार प्रणाम है।

स्वामिन् ! आप पृथिवी रूप हैं जलरूप हैं चन्द्रमा रूप है अग्नि रूप हैं सूर्य तथा प्राणरूप से अवस्थित हैं, आप महान् शक्तिशाली परम विभूति वान् हैं जिस पृथिवी पर अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी आदि जरा नामक झिल्ली में बँधे हुए उत्पन्न होने वाले मनुष्य पशु आदि पृथिवी को फोड़कर उत्पन्न

होने वाले वृक्षादि तथा स्वेद से उत्पन्न होने वाले जूंआदि चार प्रकार के जीव निवास करते हैं। जिस पृथिवी को आपने ही उत्पन्न किया है वह सबकी आधार भूता भू देवी आपके चरण स्थानी है। अतः वसुधा चरण रूप आप विश्वम्भर को प्रणाम। हे महाविभूति स्वरूप प्रभो ! हम सब पर आप प्रसन्न हो जायँ।

हे वीर्यवान् ! द्रवरूप में विस्तृत यह जल ही आपका वीर्य है। आपने सर्व प्रथम इस वीर्य रूप जल का ही सृजन किया। इसीसे सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति हुई। समस्त लोक सम्पूर्ण लोक पालादिकों का उत्पत्ति स्थान जल ही है इसीको जीवन भी कहते हैं उत्पत्ति ही नहीं वृद्धि भी जल के बिना संभव नहीं। सब की वृद्धि का कारण भी जल ही है। समस्त शक्तियों का स्रोत जल ही है ऐसे नार वीर्य परम ऐश्वर्य शाली महान् ऐश्वर्य सम्पन्न परम ब्रह्म परमात्मा मुझपर प्रसन्न हों।

हे महामनस्वी ! चन्द्रमा ही आपका मन है वह सोम ही देवताओं का बल है उनका अन्न है और आयु का मायक देव भी वही है। जो वृक्षों का ओषधियों का अधीश्वर है प्रजाओं की अभिवृद्धि भी उसीके अधीन है। पुत्र को ही आत्मा बताया है आपके मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है। इसी लिये चन्द्रमा को ही आप का मन बताया है। हे सोममन भगवन् ! आप परम ऐश्वर्यशाली प्रभु के पाद पद्मों मे पुनः पुनः पुण्य प्रणाम है।

भगवन् ! अग्निदेव आपके मुख हैं। मुख से उत्पन्न हुई अग्नि में हवन होता है यज्ञयागादि कर्म काण्ड सम्बन्धी कार्य होते हैं। ब्राह्मण भी आपके मुख से उत्पन्न हुए हैं। अतः विप्र मुख में भी हवन किया जाता है। अन्तर इतना ही है कि अग्नि मे कच्चे जव तिल चावल तथा घृत आदि से हवन

होता है और विप्र मुख में घृत से बने संयाव हलुआ आदि से हवन किया जाता है। ब्राह्मण के मुख में ही अग्नि नहीं है। सभी प्राणियों के उदर में जठराग्नि रूप से अग्नि का वास है। वह खाये हुए अन्न जल का तथा सभी धातुओं को पचाती है समुद्र में वह वडवा नल रूप से रहती है जो समुद्र के जल को पचाकर उसे बढ़ने से रोकती है। सम्पूर्ण द्रव्यों की उत्पत्ति का कारण भी अग्नि ही है। ऐसे परम ऐश्वर्य सम्पन्न आप जात वेदानन परब्रह्म परमात्मा के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे सर्वदृक ! सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करने वाले भगवान् भुवन भास्कर आपके नेत्र हैं। आप के नेत्रों से ही सूर्य की उत्पत्ति है जो सूर्य अर्चिरादि मार्ग के अधिष्ठातृदेव हैं तीनों वेद ही जिनका स्वरूप हैं पर ब्रह्म की उपासना के आश्रय हैं। मुक्ति के द्वार हैं समस्त पुण्यों के एक मात्र आश्रय होने से पुण्य स्वरूप तथा सभी जीवों की आयु निर्धारक होने से कालात्मक होने से मृत्यु स्वरूप है। ऐसे सूर्य चक्षु परम ऐश्वर्यवान् भगवान श्री हरि हम पर प्रसन्न हों।

हे प्राणात्मक प्राभो ! आप प्राणों के भी प्राण हैं। आप के प्राण से ही प्राण वायु की उत्पत्ति हुई है जो प्राण सम्पूर्ण विश्व में जीवन का द्योतक है। स्थूल सूक्ष्म स्थावर जंगम चर अचर समस्त जीवों में सह ओज और बल रूप से रहता है। जितने हम अधिष्ठातृ देव हैं उस प्राण का उसी प्रकार अनुगमन करते हैं जिस प्रकार सम्राट का उसके सेवक करते हैं। जहाँ प्राण हैं वहीं इन्द्रिय तथा उनके अधिष्ठातृ देव क्रियाशील होते हैं। प्राणों के चले जाने पर सब चले जाते हैं। उस जीवन प्रधान प्राणों के भी जनक हैं उन्हीं आप परम ऐश्वर्य शाली महा विभूति भगवान् हम पर प्रसन्न हो हम पर कृपा करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति की अब वे आगे भी जिस प्रकार स्तुति करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

पृथिवी प्रभु पद कहे सकल आधार जगत तें।
जग जीवन जल वीर्य जीव प्रकटें जिन सतते।
जिनको मन है सोम प्रजातरु द्विजके स्वामी।
आनन अगिनि अखंड अखिल अग अन्तरयामी॥
मृत्यु अमृतमय रवि नयन, प्राननि के जो प्रान हैं।
हौं प्रसन्न पर पुरुष प्रभु, देहिं दया को दान हैं॥

पद

जयति जय जगदीश्वर अविनाशी।
निराकार निरलेप निरंजन, निष्कल नित्य निवासी॥१॥
ज्ञापक ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता सब, तारक तन्वाकाशी।
देह चक्र आधार अखिल पति, उतपति थिति जगनाशी॥२॥
अविगत, अलख, अगोचर, अद्वय, अगुन अखिल गुन राशी।
करि करि तरक थके सब तरकी, पावें पद विश्वासी॥३॥
पृथिवी पद वीर्य जल जिनिको, मन शशि परम प्रकाशी।
आनन अगिनि नयन रवि हरिके, प्राननि प्रान जिवासी॥४॥
परम प्रकाशक परपद पालक, प्रभु परमात्म सदासी।
व्यापक विश्व विदित विश्वम्भर, विश्वभरण प्रभु वासी॥५॥

—:o:—

ब्रह्मादि देवों द्वारा अजित स्तुति(२)

(६४)

श्रोत्रादिशो यस्य हृदश्च खानि,
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः ।
प्राणेन्द्रियात्मा सुशरीर केतम्,
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ५ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

दिशा कान त भईं हिये तैं इन्द्रिय गोलक ।
मन असु इन्द्रिय प्रान नाभि तैं तनके चालक ॥
सुर प्रसाद बल इन्द्र कोष हर ब्रह्मा धी तैं ।
करननितैं ऋषि वेद प्रजापति शिश्नोदर तैं ॥
हिय श्री छाया पितर थन, धरम पीठ अधरम भयो ।
प्रभु होवैं हम पर सदय, क्रीड़ाथल जिनि जग कह्यो ॥

सबको भगवत रूप समझकर सर्व भाव से उसके सम्मुख नत हो जाना यही स्तुति का उद्देश्य है। सब कुछ भगवान् से ही

---

* स्तुति करते हुए ब्रह्मा जी कह रहे हैं—"जिनके कानों से दिशायें हुईं हृदयसे इंद्रियाँ नाभि से प्राण इंद्रिय मन असु और शरीराश्रय आकाश हुआ वे परम ऐश्वर्य सम्पन्न महाविभूति भगवान् हम सब पर प्रसन्न होवें।"

उत्पन्न हुआ है, सब भगवान् का है स्वरूप है इसी भाव से भगवत् प्रार्थना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अजित भगवान् की स्तुति करते हुए आगे श्री ब्रह्मा जी कह रहे हैं—प्रभो! आप सर्वमय हैं, सभी की उत्पत्ति आप से हुई है, सब के जनक आप ही हैं। आप के कानों से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय कोण, वायव्य कोण, ईशान कोण, नैऋत्य कोण तथा ऊपर नीचे ये दशों दिशायें उत्पन्न हुई हैं। हृदय से समस्त इन्द्रियोंके गोलक उत्पन्न हुए हैं। आपकी नाभि से प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान ये पंच प्राण दश इन्द्रियाँ, मन, नाग, कूर्म, कृकल देवदत्त और धनंजय ये असु तथा वह आकाश उत्पन्न हुआ है जो समस्त शरीरों का आश्रय है, ऐसे आप सर्व स्वरूप परम ऐश्वर्यवान् प्रभु हम सबके ऊपर प्रसन्न हों हमें सत् शिक्षा दें, शुभ सन्मति दें।

स्वामिन्! आप का जो बल है उसी से इन्द्र की उत्पत्ति हुई है। आप की जो प्रसन्नता है, आह्लाद है उसी के द्वारा समस्त देवतागण प्रकटित हुए हैं, आप के क्रोध से रुद्रदेव की उत्पत्ति है, बुद्धि से विश्व विधाता ब्रह्मा बाबा बने हैं। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान स्वरूप चारों वेदों की तथा कर्मेंद्रियों से कर्म परायण ऋषियों की उत्पत्ति हुई है। शिश्नेन्द्रिय से प्रजा की वृद्धि करने वाले प्रजापति प्रकट हुए हैं। ऐसे सबके जनक सबके प्रतिपालक सबके संहर्ता परम ऐश्वर्य सम्पन्न प्रभु हम पर प्रसन्न होवें।

हे देव! आप के विशाल वक्षःस्थल मे सदा सर्वदा संग रहने वाली आप की चिर संगिनी भगवती लक्ष्मी जी उत्पन्न हुई हैं। आप के शरीर की छाया से पितर गण पैदा हुए हैं। स्तन प्रदेश से सब को धारण करने वाला धर्म उत्पन्न हुआ है और पृष्ठ प्रदेश से उसका विपक्षी अधर्म पैदा हुआ है। हे खंब्रह्म।

आप के सिर पर आकाश की उत्पत्ति हुई है, आप का जो लीला विहार है उससे अप्सरायें उत्पन्न हुई हैं, जो स्वर्गीय पुरुषों के साथ विहार करती हैं। भगवन्! आप परम ऐश्वर्य-शाली हैं, महाविभूति हैं हम पर आप प्रसन्न हो जावें।

हे ब्रह्मण्यदेव! आपके मुख से सब से श्रेष्ठ वर्ण वाले ब्राह्मण हुए हैं, या कहना चाहिये आप का मुख ही ब्राह्मण है, ब्राह्मणों का और वेदों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वेद के आश्रय से ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण के आश्रय से वेद हैं, अतः गुह्यार्थ को प्रकटित करने वाला वेद भी आप के मुख से ही उत्पन्न हुआ। आपत्तियों से बचाने वाले प्रजा की रक्षा करने वाले क्षत्रियों का जन्म आपके बाहुओं से भुजाओं से हुआ है। क्षत्रियों का जो मुख्य आश्रय बल है, वह भी क्षत्रियों के पास बाहुओं से ही उत्पन्न हुआ। कृषि गो रक्षा और वाणिज्य यह वृत्ति और इससे आजीविका चलाने वाले वैश्यों का जन्म आपके उरुओं जंघाओं से हुआ। आप के चरणों से उन शूद्रों की उत्पत्ति हुई जो सेवा परायण हैं त्रिवर्ण की शुश्रूषा ही जिनकी वृत्ति है और जो वेदाध्ययन आदि शौचाचार युक्त क्लिष्ट कर्म से निर्मुक्त हैं। जिनकी सुगति केवल शुश्रूषा से ही हो सकती है। आप उनकी सेवा से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, ऐसे आप परम ऐश्वर्य शाली प्रभु हम सब पर प्रसन्न हो जायँ।

प्रभो! संसार में जो भी गुण अवगुण हैं, सबके आश्रय आप ही हैं, आप से ही सबकी उत्पत्ति है। मुख में ऊपर नीचे के दो ओष्ठ होते हैं नीचे ओष्ठ का नाम अधर है ऊपर को ओष्ठ ही कहते हैं। सो, अधर से तो लोभ का उत्पत्ति हुई है और ओष्ठ से प्रीति प्रकटित हुई है। नासिका से कान्ति और स्पर्शेन्द्रिय से उस काम की उत्पत्ति हुई है जो पशुओं को-जीवों को-

अत्यंत ही प्रिय है। आप की टेढ़ी भ्रुकुटियों से सबसे नियमन कर्ता यमराज उत्पन्न हुए हैं तथा संपूर्ण प्राणियों का संहार करने वाले कालदेव का आविर्भाव आप के पुनीत पलकों से हुआ है। ऐसे आप सर्व शक्ति सम्पन्न महाविभूति शाली सर्वेश्वर हम सब पर सदय हों, प्रसन्न हों।

स्वामिन्! कहाँ तक गिनावें संसार में जो भी कुछ देखा सुना जाता है, इनसे इस जगत की स्थिति है' जैसे पंचभूत, काल कूर्म सत्व रज तथा तम ये तीनों गुण और यह जो दृश्यमान भौतिक प्रपंच है, जिसे बुध जन नेति नेति कहकर अनात्म रूप से त्यागने योग्य बताते ये सभी आप की योग माया द्वारा ही उत्पन्न हुए कहे जाते हैं, इन सब की उत्पत्ति आप से ही बतायी जाती है, ऐसे आप सर्व शक्ति सम्पन्न महाविभूति शाली विश्वेश्वर हम सब पर प्रसन्न हों।

प्रभो! आप में चंचलता नहीं चंचला होती है रजो गुण से। आप तो गुणातीत हैं उपशान्त शक्ति हैं, आप की सम्पूर्ण शक्तियाँ शान्त हो गयी हैं, आप को आनन्द का उपकरण अन्यत्र खोजना नहीं पड़ता आप नित्य निरंतर निजानन्द में निमग्न रहते हैं। आपका अन्तःकरण आत्मानन्द लाभ से निरंतर परिपूर्ण रहता है। आप मन की वृत्तियों द्वारा मायिक गुणों से बँधते नहीं उनमें संसक्त नहीं होते। जैसे वायु सर्वत्र समानभाव से विचरते हैं सुगन्ध दुर्गन्ध युक्त सभी स्थानों में जाते हैं, किन्तु उनमें आसक्त नहीं होते, इसी प्रकार आप भी इस संसार में असंगभाव से भाँति भाँति की क्रीड़ायें करते रहते हैं, किन्तु उनमें आसक्त नहीं होते। अनासक्त होकर मनोविनोद सा करते रहते हैं, ऐसे आप प्रभु के पाद पद्मों में हम सब का पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! यद्यपि आप सर्वव्यापक है, सर्वत्र विराजमान हैं,

आप को न कहीं से आना पड़ता है, न कहीं जाना पड़ता है, भक्ति भाव से भक्तगण जहाँ भी पुकारते हैं, वहीं प्रकट हो जाते हैं। सर्वान्तर्यामी रूप को तो हम देख नहीं सकते उसके दर्शन नहीं कर सकते। हमें तो आप अपना सुंदर सरस साकार शरीर दिखाइये। उस मुखारविन्द की झाँकी कराइये जिसके ऊपर मंद मंद मुस्कान छिटक रही हो। हम आप के दास हैं, भक्त हैं, किंकर हैं आप की शरण में आये हैं, आप के द्वार पर दर्शनों की अभिलाषा से खड़े हैं। हमें अपना ऐसा दर्शन दीजिये जो हमारी इन्द्रियों का विषय हो सके। जिससे हम दो दो बातें कर सकें अपने नयनों को दर्शनानन्द से परितृप्त कर सकें।

प्रभो! आप यह तो कह ही नहीं सकते; हम निर्गुण निराकार, निरवयव तथा निरेन्द्रिय हैं, हम सगुण साकार सशरीरी कैसे बन सकते हैं? सो प्रभो यह सबतो सत्य ही है, इसके साथ आप करुणा के सागर भी तो हैं, दया के सिन्धु भी तो हैं, भक्तवत्सल हैं, आप भक्तों पर कृपा करने के निमित्त अपनी भक्तवत्सलता प्रकट करने के लिये समयसमय पर स्वेच्छा से भिन्न भिन्न रूप रखलेते हैं। विभिन्न देहों में प्रादुर्भूति होकर ऐसी ऐसी क्रीड़ायें करते हैं, जो हमारी बुद्धिके बाहर की बात कही जाती है, ऐसे ऐसे दुष्कर, विचित्र कर्म करते हैं, जिनका करना हम देवताओं के लिये भी अत्यन्त कठिन है।

भगवन्! कर्म तो सभी दोष युक्त हैं, कर्म पंडित, मूर्ख, ज्ञानी अज्ञानी सभी करते हैं, अन्तर इतना ही है, कि विषयासक्त अज्ञानी पुरुष जो कर्म करते हैं वे क्लेशकारक सार हीन तथा निष्फल होते हैं, वे जगत् बन्धन को दृढ़ करनेका कारण बन जाते हैं, किन्तु जो विज्ञजन कर्म करके उन सबको आप को अर्पण करदेते हैं, उनका कुछ भी फल नहीं चाहते। ऐसे

निष्काम कर्म करने वाले सर्व समर्थक पुरुषों के कर्म निष्फल सारहीन तथा बन्धन का कारण नहीं होते।

प्रभो! आप जीवोंके सच्चे सखा हैं, अत्यंत प्रिय सुहृद हैं, उनकी आत्मा हैं हितैषी हैं, आपको जो तनिक सा कर्म भी समर्पित किया जायगा वह फिर भला विफल कैसे हो सकता है। आप अनन्त को समर्पित करने से तो वह अनन्त बन जायगा। आपके लिये किया हुआ स्वल्प कर्म भी विफल नहीं होता।

यद्यपि हम देवगण, मनुष्य पितृ यक्ष गन्धर्व तथा समस्त चराचर आपके ही रूप हैं, जैसे वृक्षके स्कन्ध, शाखा, उपशाखा तथा पत्तियाँ फल फूल आदि वे वृक्षसे पृथक् नहीं हैं, सभीको आहार जड़से ही मिलता है। वृक्षका उपसेचन करना है, पूजन करना हो उसे पानी पिलाना हो तो डाली डाली का पूजन करने की कोई आवश्यकता नहीं। पत्ते पत्ते पर पानी फेंकने से कोई प्रयोजन नहीं। उसकी जड़में पानी देदो, सबको पानी मिल जायगा सब तृप्त हो जायँगे, पूरा वृक्ष हरा भरा हो जायगा। इसी प्रकार सब की जड़तो आपही हैं, सबके मूल कारण तो आप सर्वेश्वर ही हैं आपकी पूजा करनेसे सभी देवताओं की, सभी प्राणियोंकी यहाँ तक कि अपनी भी पूजा हो जाती है। सभी तृप्त होजाते हैं। वर्षाका जल कहीं भी गिरे वह पहुँचेगा समुद्रमें ही। किसी को नमस्कार करो आपके ही पास पहुँचेगा। क्योंकि आप ही तो सबके मूल भूत हैं।

हे देवाधिदेव ! आपकी महिमा अनन्त है, आपका प्रभाव अचिन्त्य है, आपके कर्म अद्भुत हैं। आप निर्गुण होनेपर भी समस्त गुणों के एकमात्र आधार हैं। गुणोंके स्वामी हैं अधीश्वर हैं। इस समय सत्त्व गुणका अवलम्ब लेकर तान दुपट्टा सो रहे हैं, प्रभो ! हम विपत्तिके मारे आपके द्वारे आये हैं, आप उठकर बैठिये हमारी ओर देखिये और हमें अपने दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये। आपके चरणारविन्दों में बारम्बार नमस्कार है।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! देवताओं की ऐसी स्तुति सुनकर भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने देवताओं के दुख दूर किये, यह मैंने देवताओं की स्तुति आपसे कही। अब जैसे भगवान् के प्रकट होने पर ब्रह्माजी ने प्रेम में भरकर स्तुति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

विप्र, क्षत्र, विश, शूद्र भये मुख, भुज, उरु पदतैं।
लोभ, प्रीति अधरोष्ठ नाक यत काम परसतैं॥
भौंह पलक यम काल जगत माया वश जिनकी।
जो समरथ सरबज्ञ करैं हम इस्तुति तिनकी॥

जो निरगुन निरलेप है, करैं सृष्टि थिति अरु प्रलय।
देवैं दरसन सगुन बनि, अजित करैं हमकूँ अभय॥

पद

प्रभु तुम निरगुन सगुन कहाओ।
है साकार फेर अँग अँग तें जग प्रपंच फैलाओ ॥१॥
सिर आकाश नयन रवि शशि मन मुखतें द्विज प्रकटाओ।
क्षत्रिय बाहु हियेतें कमला नाभि प्रान उपजाओ ॥२॥
शिरन प्रजापति वैश्य जाँघतें पदतें शूद्र बनाओ।
काल भ्रुकुटितें काम परसतें मायातें रचवाओ ॥३॥
सबतें अलग सबनि में बसिकें माया जाल पुराओ।
क्रीड़ा करो असंग भावतें जीवनिकूँ भरमाओ ॥४॥
नाम, रूप, गुन, देह, धरम, मन सबतें पृथक खिलाओ।
द्वारे खड़े दयानिधि दरसन, देउ दया दिखलाओ ॥५॥
मुख अति मधुर मनोहर मधुमय मंद मंद मुसकाओ।
हे घनश्याम ! सरस सुख सागर अमृत वारि बरसाओ ॥६॥

ब्रह्मकृत अजित स्तुति (२)

ब्रह्मोवाच

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं,
गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम्।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं,
नमामहे देववरं वरेण्यम् ॥१॥

विपश्चितं प्राणमनोधियात्मनाम्,
अर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमव्रणम्।
छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ,
तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे ॥२॥

अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं,
मनोमयं पञ्चदशारमाशु।
त्रिणाभि विद्युच्चलमष्टनेमि,
यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये ॥३॥

य एकवर्णं तमसः परं तद्,
अलोक्यमव्यक्तमनन्तपारम्।
आसाञ्चकारोपसुपर्णमेनम्,
उपासते योगरथेन धीराः ॥४॥

न यस्य कश्चातितितर्ति मायां,

यया जनो मुह्यति वेद नार्थम्
तं निर्जिताशेषगुणं परेशं,
नमाम भूतेषु समं चरन्तम् ॥५॥
इमे वयं यत्प्रियया तन्वा,
सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्तराविः ।
गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे,
कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः ॥६॥
पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य,
चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः ।
स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः,
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥७॥
अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यम्,
सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः ।
लोकास्त्रयोऽथाखिललोकपालाः,
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥८॥
सोमं मनो यस्य समामनन्ति,
दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः ।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानाम्,
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥९॥
अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा,
जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा ।

अन्तःसमुद्रेऽनुपचन् स्वधातून्,
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥१०॥
यच्चक्षुरासीत् तरणिर्देवयानम्,
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः,
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥११॥
प्राणादभूद् यस्य चराचराणां,
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः ।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं,
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥१२॥
श्रोत्राद् दिशो यस्य हृदयश्च खानि,
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः ।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं,
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥१३॥
बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादात्,
मन्योर्गिरीशोऽधिषणाद् विरिञ्चः ।
खेभ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः,
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥१४॥
श्रीर्वक्षसः पितरश्छायया ऽऽसन्,
धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत् ।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात्,

प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥१५॥
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं,
राजन्य आसीद् भुजशौर्यवर्यं च ।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ,
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥१६॥
लोभोऽधरात् प्रीतिरुपर्यभूद् द्युतिः,
नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः ।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः,
प्रसीदतां न स महाविभूतिः ॥१७॥
द्रव्यं वयः कर्म गुणान् विशेषम्,
यद्योगमायाविहितान् वदन्तिः ।
यद् दुर्विभाव्यं प्रबुधापवार्यं,
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥१८॥
नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये,
स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने ।
गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभिः,
न सज्जमानाय नभस्वदूतये ॥१९॥
स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम् ।
प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम् ॥२०॥
तैस्तैः स्वेच्छाधृतैः रूपैः काले काले स्वयं विभो ।
कर्म दुर्विषहं यन्नो भगवांस्तत् करोति हि ॥२१॥

क्लेशभूयस्त्वसाराणि कर्माणि विफलानि वा ।
देहिनां विषयार्तानां न तथैवार्पितं त्वयि ॥२२॥
नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्वरार्पितः ।
कल्पते पुरुषस्यैष स ह्यात्मा दयितो हितः ॥२३॥
यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम् ।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ॥२४॥
नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे ।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम् ॥२५॥

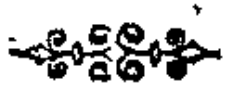

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

(चतुर्थ संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्णको कौरवोंके पक्षका एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तकको पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे। भारतके सर्वश्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, आजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्णके प्रति महती श्रद्धाका वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषामें किया है। ३०० पृष्ठकी सचित्र पुस्तकका मूल्य केवल २॥।) दो रुपये बारह आने मात्र है, शीघ्र मंगाइये।

मतवाली मीरा

भक्तिमति मीराबाईका नाम किसने न सुना होगा। उनके पद पदमें हृदयकी वेदना है अन्तःकरणकी कसक है। ब्रह्मचारीजीने मीराके भावोंको बड़ी ही रोचक भाषामें स्पष्ट किया है। मीराके पदोंकी, उसके दिव्य भावोंकी नवीन ढंगसे आलोचनाकी है, भक्ति शास्त्रकी विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्वको मानवी भाषामें वर्णन किया है। मीराबाईके इस हृदय दर्पणको आप देखें और बहिन, बेटियों, माता तथा पत्नी सभीको दिखावें। आप मतवाली मीराको पढ़ते पढ़ते प्रेममें गद्गद हो उठेंगे। मीराके ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढंगकी पुस्तक अभी तक नहीं देखी गयी। २२४ पृष्ठकी सचित्र पुस्तकका मूल्य २) दो रुपये मात्र है। मीराबाईका जहरका प्याला लिये चित्र बड़ा ही कलापूर्ण है।

हिन्दु धर्म और हिन्दी-साहित्यमें युगान्तकारी
धार्मिक प्रकाशन

"भागवती कथा"

देश के विभिन्न विद्वानों नेताओं और पत्रकारों द्वारा
भूरि-भूरि प्रशंसित। इसके लेखक हैं
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी।

इसे पढ़कर आप

१—श्रीमद्भागवत तथा अन्यान्य पुराणों की कथाओंका रहस्य सरलता और घरेलू ढङ्गसे समझेंगे। दैनिक जीवनको सात्विक, धार्मिक और राष्ट्रीय जीवन की [illegible] रिणित करेंगे।

[illegible] लिये नहीं, जीवन-

४—श्रेय और प्रेय, योग और भोग एक साथ सम्पादन करने प्राप्त करने की-शिक्षा घर बैठे प्राप्त करेंगे।

५—जननी जन्मभूमि की महत्ता को समझकर स्वधर्म, स्ववर्ण, तथा स्वदेश के प्रति निष्ठावान् बनेंगे।

इस अभूत-पूर्व ग्रन्थमें १०८ भाग होंगे।

प्रति मास एक भाग प्रकाशित करने की योजना चल रही है। अब तक ६५ भाग छप चुके हैं। २५० पृष्ठोंके प्रत्येक सचित्र भागकी दक्षिणा १।) है।

१५॥≡) वार्षिक प्रदान करनेपर १२ भाग बिना डाक-व्यय के आपके घर रजिस्ट्रीसे पहुँच जयेंगे।

प्राप्तिस्थान
संकीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी लिखित पुस्तकें

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में, ६५ खण्ड छप चुके हैं।) प्रति खण्ड का मूल्य १।), दस आना डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठकी, सजिल्द मूल्य ५।)

३—बदरीनाथ दर्शन—बदरीयात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मूल्य ४)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३५०, मू० २॥।)

५—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मूल्य २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्ध में उठने वाले तर्कों का युक्ति युक्तपूर्ण विवेचन। मूल्य ॥)

७—श्री शुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मूल्य ॥)

८—भागवती कथा की बानगी—(आरंभके तथा अन्य खंडों के कुछ पृष्ठों की बानगी) पृष्ठ संख्या १००, मूल्य ।)

९—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मूल्य ।-)

१०—मेरे महामना मालवीयजी और उनका अन्तिम सन्देश—मालवीयजी के जीवनके सुखद संस्मरण। पृष्ठ ११०, मूल्य ।)

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु हिन्दु बन सकते हैं? इसका शास्त्रीय विवेचन। पृष्ठ सं० ५६ मूल्य ।-)

१२—प्रयाग महात्म्य—मूल्य -) एक आना।

१३—वृन्दावन माहात्म्य—मूल्य -)

१४—राघवेन्दु चरित—(भागवतचरितसे ही पृथक् छापा गयाहै।) मू० ।-)

१५—प्रभु पूजा पद्धति—मूल्य =)

१६—श्री चैतन्य चरितावली—प्रथम खण्ड १)

१७—भागवत चरित की बानगी—भागवत चरित के कुछ अध्यायों का नमूना—मू० ।)

—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।

भागवत दर्शन

भागवती स्तुतियाँ (४)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन-भवन,
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

प्रथम संस्करण, आषाढ़ शु० वि० २०१५]

मुद्रक—भागवतप्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
(अ) क्षमा याचना एवं सत्यनिष्ठा भूमिका	१ से ३२ तक
६५—प्रत्यक्ष अजित स्तुति	१
६६—विषपान करने को भूतभावन भवानी पति की स्तुति	९
६७—श्री शिवकृत विष्णु स्तुति	२०
६८—मोहिनी स्तुति	३०
६९—श्री कश्यप कथित भगवत् स्तोत्र	३७
७०—अदिति द्वारा भगवान् की स्तुति	४५
७१—राजा सत्यव्रत द्वारा मत्स्य भगवान् की स्तुति	५३
७२—अम्बरीष कृत सुदर्शन-स्तुति	६४
७३—अंशुमान् कृत कपिल स्तुति	७४
७४—गर्भस्थ श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति (१)	८२
७५—गर्भस्थ श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति (२)	८९
७६—गर्भस्थ श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति (३)	९६
७७—गर्भस्थ श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति (४)	१०३
७८—गर्भस्थ श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति (५)	१०९
७९—वसुदेवजी द्वारा चतुर्भुज श्रीहरि की स्तुति	१२२
८०—देवकी देवी द्वारा भगवत् स्तुति	१३२
८१—नलकूबर मणिग्रीव कृत दामोदर स्तुति (१)	१४२
८२—नलकूबर मणिग्रीव कृत दामोदर स्तुति (२)	१५०
८३—ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (१)	१५९
८४—ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (२)	१६६
८५—ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (३)	१७४
८६—ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (४)	१८१
८७—ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (५)	१८८
८८—ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (६)	१९५
८९—ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (७)	२०२
९०—ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (८)	२०९
९१—ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (९)	२१६

॥ श्रीहरिः ॥

क्षमा याचना

आज हम चिरकाल के पश्चात् भी पाठक पाठिकाओं के सम्मुख अत्यंत संकोच तथा लज्जा के साथ उपस्थित हो रहे हैं। ६५ खण्ड निकाल कर आगे के खंड हम न निकाल सके। तभी से प्रेमी पाठकों के पत्र के ऊपर पत्र आने लगे। उनमें भाँति भाँति के उपालम्भ थे, प्रार्थनायें थीं, पढ़ने की प्रबल उत्कण्ठा प्रकाशित की गई थी। कहाँ दूसरे महीने दो खंड भेजने की बात थी, कहाँ वर्ष से अधिक हो गया, एक भी खंड पाठकों के पास पहुँच न सका। उत्सुकता उत्कंठा होनी स्वाभाविक थी। यदि हम अत्यन्त विवश न होते तो पाठकों के साथ इतना अन्याय कभी न करते।

पाठक पाठिकाएँ हमारी परिस्थिति से पूर्ण परिचित ही हैं, उन बातों को बार बार दुहराना उचित प्रतीत नहीं होता। भागवती कथा के प्रेमी पाठक इस बात को भली भाँति जानते हैं, हम कोई व्यवसायी नहीं हैं, वैसे जिस प्रकार आज सभी कार्य व्यवसाय हो गये हैं, वैसे ही पुस्तकों का प्रकाशन भी एक व्यवसाय हो गया है, जैसे सब व्यवसायों में प्रतियोगिता प्रतिस्पर्धा (कंपटीशन) चलता है उसी प्रकार पुस्तकों में भी है। जो व्यवसाय पटु हैं, बिक्री की विद्या में विज्ञ हैं, विज्ञापन कला के पंडित हैं, वे साधारण पुस्तक को लेकर ही बाजी मार ले जाते हैं, जो इससे अनभिज्ञ हैं, वे सफलता प्राप्त नहीं कर सकते।

हम लोग पुस्तक प्रकाशन तो किसी प्रकार कर भी लेते हैं, किन्तु बिक्री की विद्या में पटु नहीं यही कारण है, कि इतने दिनों

में भी हमारा प्रकाशन अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सका, इसी से ठीक समय से पुस्तकें प्रकाशित नहीं हो सकीं।

यह तो गौण कारण है, यदि आगामी खण्डों के लिये प्रयत्न किया जाता तो संभव है कुछ खंड अवश्य प्रकाशित हो जाते। मुख्य कारण है मेरा स्वास्थ्य।

आज से १५-२० वर्ष पूर्व मैंने एक विशेष क्रिया द्वारा अपने शरीर को शुद्ध किया था। तब से भागवती कथा के लेखन कार्य में तथा गोरक्षादि के सक्रिय आंदोलनों में इतना व्यस्त रहा कि शरीर की ओर ध्यान ही नहीं दिया। यन्त्र की भाँति कार्यों में ही मग्न रहा आया। इसका परिणाम यह हुआ कि शरीर में मेद, श्लेष्म तथा मल संचित हो गया पेट बढ़ गया, शरीर स्थूल हो गया।

जब पुनः लिखने बैठा तो ऐसे शरीर से लिखने में बड़ा विघ्न हुआ। मैंने सोचा पहिले शरीर की शुद्धि कर लें-मोटेपन को कम करलें तब स्वस्थ्य होकर ही लगेंगे। यही सोचकर मैं शरीर के शोधन में लग गया। उसमें आयुर्वेद तथा योग दोनों ही क्रियाओं का मिश्रण था। इसमें इतना समय लग जाता कि लिखने का अवसर ही नहीं मिलता था। निरन्तर संशोधन के ही कार्यों में व्यस्त रहता। इसीसे आगे के खंड नहीं लिखे जा सके। अभी तक पूर्ण शुद्धि तो नहीं हुई। तन मन पूर्ण निर्मल तो नहीं हुआ, फिर भी बहुत कुछ मल छट गया है। अब ऐसी स्थिति में आ गया हूँ, कि कुछ समय इसके लिये दे सकूँगा। पाठक पाठिकाएँ हृदय से मुझे क्षमा करें। न तो मैंने प्रमाद ही किया, न मैं आलस्य में बैठा ही रहा। उसी की तैयारी करता रहा। यदि स्वस्थ्य हो गया तो और भी अधिक सेवा करने योग्य संभवतया हो सकूँगा। अतः पाठकों से मैं करबद्ध प्रार्थना

करता हूँ, कि वे अपने सहज सरल स्वभाव से, अपने भक्तोचित स्नेह से मुझे क्षमा कर दें, अब लिखने में उतना चित्त लगता नहीं, अब मन कुछ और चाहता है, किन्तु होगा तो वही जो वह चितचोर नन्द किशोर चाहेगा। उसने लिखाने की ही ठान ली है, तो विवश होकर लिखना ही पड़ेगा। वह इससे विरक्त बनाकर अपने स्मरण चिन्तन में ही लगा ले, तो उसे भी मैं परम सौभाग्य समझूँगा। पाठक एक मंत्र याद करलें—

सीताराम सीताराम सीताराम कहना।
जाई विधि राखै राम ताही विधि रहना॥

सो "यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।" वह जैसा नाच नचावेगा वैसा ही नाच नाचना पड़ेगा। अतः अब लिखना तो आरम्भ हो ही गया है, जो है सो तुम्हारा रामजी भला करें आगे की कथा सुनिये। हाँ, मोटापन कैसे दूर हुआ इस विषय में बहुत उत्सुक न हूजिये मैंने "मोटापन कम करने के उपाय" नामक एक आयुर्वेद की पुस्तक ही लिखी है,वह छप रही है, उसे पढ़कर सभी बातों का पता चल जायगा। अच्छा तो जय श्री कृष्ण-श्रीराधे श्रीराधे,बोल दे मोर मुकुट बंशीवाले की जय।

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर(प्रयाग)
फाल्गुन कृष्णा ३०।२०१४ } प्रभुदत्त.

सत्यनिष्ठा

(भूमिका)

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम्,
सत्यस्ययोनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृत सत्यनेत्रम्,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
(श्रीभा० १० स्क० २ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

सत्य रूप हैं श्याम सत्य तैं परगट होवें ।
सत्य शरन जे जायँ सकल कलमष ते धोवें ॥
सत्य सदाई रहे सत्य की बिजय सदाई ।
सत्य साधना श्रेष्ठ सत्य व्यापक सब ठाई ॥
सत्य साधना जे करहिं, सत्य सत्य तरि जायँगे ।
सत्य निष्ठ संसार में, प्रभु के दरशन पायँगे ॥

एक शब्द में भगवान के सम्बन्ध में कहा जाय तो यही कह सकते हैं—"भगवान् सत्य स्वरूप हैं ।" सत्य निष्ठ साधक

गर्भस्थ भगवान् की स्तुति करते हुए देवगण कह रहे हैं—"हे देव ! आप सत्यव्रत हैं, सत्यपर हैं, त्रिसत्य हैं, सत्य योनि हैं, सत्य में ही स्थित रहते हैं, आप सत्य के भी सत्य हैं, ऋत और सत्य ये ही आप के नेत्र हैं, ऐसे सत्यात्मक आपकी हम शरण में प्राप्त हैं ।

ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। सत्य की साधना ही उन तक पहुँचने का सुगम साधन है। कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि साधक, साधन, साध्य सब सत्य ही है। जब सब सत्य ही सत्य है, तो सत्य के सम्मुख कोई संभव असंभव का प्रश्न ही नहीं। जिसने सत्य की उपासना की है, उसके लिये असंभव कुछ भी नहीं, सभी संभव है।

पुराणों में ऐसे सहस्रों लक्षों उदाहरण हैं, उन ऋषि का किसी ने अपराध किया उन्होंने तुरन्त शाप दे दिया—"जा तू सर्प होजा, हाथी हो जा, तेरा शरीर अभी नष्ट हो जाय, या तू सात दिन में मर जाय।"

जब शापित व्यक्ति ने प्रार्थना की तो सभी का एक ही उत्तर होता था —"मैंने तो आज तक कभी हँसीमें भी असत्य भाषण नहीं किया, फिर मेरा वचन असत्य तो हो नहीं सकता। किन्तु ऐसा नहीं ऐसा हो जायगा, इतने दिन में तू शाप से मुक्त हो जायगा, ऐसा कहकर वे उसमें कुछ संशोधन कर देते थे, किन्तु अपने वचन को कभी असत्य नहीं होने देते थे।

बात यह है, कि जो सदा सत्य बोलता है, उसे वाक्सिद्धि प्राप्त हो जाती है, उसके मुख से संभव असंभव जो भी निकलेगा सब सत्य हो जायगा,ऐसे ही पुरुष शाप वरदान देने में समर्थ होते थे। आज हम लोग अकारण असत्य बोलते रहते हैं। आज की शासन प्रणाली ही ऐसी बनावटी दंभपूर्ण असत्य पर आधारित है, कि कोई कितना भी सत्यवादी हो यदि वह शासनके अन्तर्गत रहता है, तो उसका असत्य से बचना अत्यंत कठिन होजाता है, शासन के प्रत्येक विभागमें असत्यका बोलबाला है। न्यायालयों में जाओ तो जब तक घटना को तोड़ मरोड़कर न रखो,तबतक न्याय की आशा ही नहीं। लाखों वकील असत्य सिखाने का कार्य ही

करते हैं, सीमेंट आदि लेने जाओ तो असत्य लिखना होगा। आवश्यकता है २० बोरे की तो ५० के लिये प्रार्थनापत्र देना होगा। जितने विद्यालय चलते हैं विशेषकर जिन्हें शासन से सहायता मिलती है, उनके सब कागज पत्तर झूठे बनाने पड़ते हैं। पूछने पर लोग कह देते हैं, अजी क्या करें कागद का पेट तो भरना ही पड़ता है। जब से यह पश्चिमी शासन पद्धति यहाँ प्रचलित हुई है तब से कागद का पेट बहुत बढ़ गया है, पहिले दो आदमियों में झगड़ा होता, न्यायाधीश दोनों की बात सुनकर उसे जो सत्य प्रतीत होता, वह तुरन्त निर्णय दे देता, न कोई लिखा पढ़ी, न कोई कागद पत्तर श्रेणियों का संग्रह। अब तो आप किसी पर दस रुपये का अभियोग चलाओ, तो सैकड़ों रुपये तो फीस, नकल, वकील कागज पत्रों में लग जायँगे। एक न्यायाधीश कुछ निर्णय करेगा, उसके विरुद्ध ऊपर का करेगा, उच्च न्यायालय उसे बदल देगा। सर्वोच्च न्यायालय उसका दूसरा ही निर्णय देगा। कहने का अभिप्राय इतना ही है, चाहे वकील के पास जाइये, चाहे डाक्टर के पास, चाहे अध्यापक, न्यायाधीश, मंत्री, शासक कहीं चले जाओ जब तक नमक मिर्च न मिलाओगे, सत्य बात को भी तोड़ मरोड़ कर-असत्य का पुट लगाकर-उपस्थित न करोगे तबतक निर्वाह नहीं। वहाँ झूठी बात सत्य हो जाती है, सच्ची को वकील लोग झूठ सिद्ध कर देते हैं, आजकल तो गोस्वामीजी के शब्दों में—"झूठे लेना, झूठे देना, झूठे भोजन झूठ चबैना" ऐसा हो गया है, इसी से हमें आज कोई वर शाप समर्थ वाणी सिद्ध व्यक्ति दिखायी नहीं देता। नहीं तो सत्य बोलनेवालों के लिये कुछ भी असंभव नहीं।

किसी भी बात में मनुष्य सत्य का आग्रह कर ले, उसके सामने भगवान् को प्रकट होना ही होगा। महाराज शिवि ने

निश्चय किया था, कि चाहें जो हो, मैं अतिथि का, शरणागत का शक्ति भर मनोरथ पूर्ण करूँगा, उनके सामने कितने कितने कष्ट आये कैसे कैसे प्रलोभन आये किन्तु उन्होंने सत्य को नहीं छोड़ा। भगवान् अघोरी बनकर आये, इकलौते पुत्र का मांस माँगा, राजा से स्वयं पकाने को कहा। राजा ने पुत्र को मार कर पकाया, अघोरी ने कोपागार में महलों में आग लगा दी, क्रुद्ध हुआ, राजा से पुत्र का मांस खाने को कहा—किन्तु राजा विचलित नहीं हुए, अंत में भगवान् ने दर्शन दिये। मोरध्वज, हरिश्चन्द्र, बलि, दधीचि, रुक्माङ्गद, अम्बरीष तथा सहस्रों ऐसे धर्मात्मा सत्यपरायण व्यक्ति हो गये हैं। जिन्होंने अपने सत्य की दुहाई देकर असंभव बात को भी संभव करके दिखा दिया है। जो पुरुष अपने दया, धर्म, परोपकार, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य, अतिथि सेवा, तप तथा अन्य सत्कर्मों पर दृढ़ रहे हैं तथा स्त्रियाँ अपने पातिव्रत पर दृढ़ रहीं हैं, उन्होंने संसार में सब कुछ करके दिखा दिया है। आज हम सीता, सावित्री, दमयन्ती, अरुन्धती, अनसूया तथा लक्षों सतियों का नित्य स्मरण क्यों करते हैं? क्योंकि उन्होंने पतिको ही परमेश्वर मानकर अपनी सम्पूर्ण इच्छायें पतिकी इच्छामें मिला दी थीं। एक सती ने तो अपने पातिव्रत के प्रभाव से सूर्य का उदय होना ही रोक दिया था। इस बात पर हम बुद्धि जीवियों को सहसा विश्वास नहीं होता, किन्तु अविश्वास की इसमें कुछ भी बात नहीं। मैं बारबार कह चुका हूँ कि जो अपनी निष्ठा पर सत्यता पूर्वक आरूढ़ है, उसके लिये कुछ भी असंभव नहीं।

लव और कुश ने अपनी निष्ठा के पीछे लक्ष्मणजी की समस्त सेना को मार डाला, हनुमान् और सुग्रीव को घोड़े की पूँछ से बाँधकर माता जानकी के पास वाल्मीकि आश्रम में ले गये।

माता को जब पता चला कि मेरे बच्चों ने मेरे देवर को तथा उनकी समस्त सेना को मार डाला। तो उन्होंने सूर्य की ओर देखकर कहा—"आज तक मैंने कभी भी मन से भी श्रीराम को छोड़कर अन्य किसी भी पुरुष का चिन्तन न किया हो, स्वप्न में भी परपुरुष को न देखा हो तो इसी सत्य के प्रभाव से लक्ष्मण अपनी समस्त सेना के सहित जीवित हो जायँ" देखते देखते लक्ष्मणजी अपनी समस्त सेना के सहित निद्रा से जागे पुरुष की भाँति उठकर खड़े हो गये। देखने में यह बात असंभव लगती है, कि इतने कहने मात्र से मरे हुए असंख्यों पुरुष कैसे जीवित हुए होंगे, किन्तु जिन्हें सत्य पर दृढ़ आस्था है, उनके लिये यह कोई असंभव बात नहीं। आज लाखों शिक्षित स्त्रियों में से कोई कह सकती हैं, कि हमने कभी मन से भी परपुरुष का चिन्तन नहीं किया। जो पातिव्रत के महत्त्व को नहीं जानते वे ही ऐसी बातें कहते हैं। जो सत्यकी महिमा को जानते नहीं, नित्य स्वार्थ में परायण रहते हैं और सदा स्वार्थियों का ही संग करते हैं वे त्याग और तप का महत्त्व क्या जानें ?

एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा मुझसे कहते थे कि एक ईसाई पादरी मेरे पास आया और मुझसे बोला—"मैंने १८ या २० बार पूरी वाल्मीकि रामायण पढ़ी है।"

मैंने पूछा—"तुमने क्या समझा ?"

उसने कहा—"मैं यही समझा कि भरत सबसे मूर्ख था, भला इतना बड़ा राज्य उसे स्वयं प्राप्त हो जाय और वह उसे इस प्रकार ठुकराता फिरे। सीता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या वह भरत से भी चढ़-बढ़ निकली। भला, उसे न तो वनवास दिया गया; उसके ससुर ने न उसे निकाला, वह १४ वर्ष व्यर्थ वनों में क्यों भटकती रही ?"

अब आप बताइये २० बार रामायण पढ़ने का यह फल है। जो त्याग, भातृस्नेह; पति प्रेम तथा बड़ों के प्रति आदर के महत्त्व को जानते नहीं वे भरतजी के त्याग स्नेह को तथा महाराणी जानकीजी के पातिव्रत के सम्बन्ध में समझ ही क्या सकते हैं।

लंका में जब श्रीरामजी ने जनकनन्दिनी के प्रति कठोर वचन कहे और उनके पातिव्रत के सम्बन्ध में सबके सम्मुख शंका की, तो जानकीजी ने लक्ष्मण से अग्नि मँगाकर चिता बनवायी और हाथ जोड़कर अग्नि देव से कहा—"हे सम्पूर्ण भूतों के शरीर में विचरण करने वाले पावक देव! यदि मैंने मन से भी श्रीराघव को छोड़कर किसी परपुरुष का चिन्तन किया हो, तो तुम मुझे भस्म कर दो।" सबने आश्चर्य के साथ देखा जगन्माता जानकी प्रज्वलित अग्नि की शिखाओं में बैठी रहीं किन्तु अग्नि ने उनके शरीर को स्पर्श तक नहीं किया, एक रोआँ भी उनका नहीं जलाया।

यह तो त्रेतायुग की बहुत पुरानी बात है, अभी की १०। १२ वर्ष पुरानी मुंगेर की एक घटना है "कल्याण" में छपी थी और सैकड़ों आदमियों ने उसे प्रत्यक्ष देखा था। गोरखपुर की ओर के कुछ लोग पत्थर की चक्की लेकर बिहार में बेचने जाते हैं, वे लोग अपने परिवार को भी साथ रखते हैं, समूह बनाकर जाते हैं चक्की बेचते भी हैं बनाते भी हैं,एक जाति ही उनकी पृथक् है। वे एकबार मुंगेर की ओर गये। उनमें एक स्त्री गर्भवती थी। कुछ लोगों ने अपवाद उठाया कि इस स्त्री का गर्भ दूसरे किसी से है। उसने कहा—नहीं यह गर्भ मेरे पति का ही है। पंचायत बैठी पंचायत में निर्णय हुआ कि यदि यह स्त्री कहती है कि मेरे पति का ही यह गर्भ है, तो हमारी जाति में जैसे गर्म लोहे का गोला लेकर शपथ ली जाती है। वैसे यह सब के सामने शपथ ले।"

उसने इसे स्वीकार किया। अग्नि जलाकर लोहे के गोले को अंगार की भाँति लाल किया गया, फिर उस स्त्री को बुलाया गया, वह स्नान करके पवित्र वस्त्र पहिन कर आई उसके हाथ पर पीपल का पत्ता रखा गया, कच्चे सूतके धागे से उसे बाँधा गया और उसके ऊपर गरम लाल लोहे का गोला रख दिया गया और कहा—सात पग तू चल।"

गिनकर वह सात पग चली, फिर उसने मुड़कर पंचों से पूछा अब डाल दूं? सब ने जब डालने को कहा तो उसने गोला डाल दिया। प्रत्यक्षदर्शी कहता है—"वहाँ सैकड़ों नर नारियों की भीड़ लग गयी थी, सबने आश्चर्य के साथ देखा कि उसके हाथ जलने की बात तो पृथक् रही, उसके हाथमें जो पीपल का पत्ता था, वह भी नहीं जला था, यही नहीं जिस कच्चे धागे से वह बँधा था, वह भी ज्यों का त्यों था और जहाँ वह गोला गिरा था, उसके आस पास की जितनी हरी घास थी, तुरन्त जल गयी।

बुद्धिवादी इस बात पर कभी विश्वास कर सकेंगे? या वे स्त्रियाँ जो निज पति और परपति में मनसे कोई भेद नहीं मानतीं वे क्या इसे सत्य कह सकेंगीं? किन्तु यह बात सत्य है और सत्य निष्ठा के सामने कुछ आश्चर्य भी नहीं। जिनको अपनी सत्यनिष्ठा पर विश्वास है वे जानते हैं, कि उनके लिये कोई भी कार्य कठिन नहीं। जब अम्बरीष का अपराध करने पर दुर्वासा मुनि के पीछे भगवान् का सुदर्शन चक्र लगा और तीनों देवोंमें से किसी ने उन्हें शरण नहीं दी, तब हारकर महामुनि परमक्रोधी दुर्वासा ऋषि उसी भगवत् भक्त सत्यनिष्ठ राजा अंबरीष की शरण में आये। उस समय अम्बरीष ने अपनी कुल परम्परा की विशुद्धि के सम्बंध में जो शपथ ली है, वह अत्यन्त महत्वकी है। राजा ने कहा—यदि हम लोगों ने दान, यज्ञ और स्वधर्म का अमत्सर होकर सत्यनिष्ठा

के साथ पालन किया हो तथा हमारा कुल ब्राह्मणों का सदा भक्त रहा हो, तो इन ब्राह्मण मुनि का दुःख दूर हो जाय। यदि हमने समस्त प्राणियों में आत्मरूप से सर्वत्र भगवान् को ही देखा हो और उस समत्व के कारण, सर्व गुणों के आश्रय भगवान् हम पर प्रसन्न हों तो ये ब्राह्मण दुःखहीन हो जायँ। * राजा का इतना कहना था, कि सुदर्शन चक्र शान्त हो गया।

जीवन में जिन्होंने कोई एक सिद्धान्त स्थिर करके जो उस पर दृढ़ रहे हैं, उनको उस दृढ़ता से-सत्य निष्ठा के प्रभाव से-सब कुछ हो सकता है।

इस विषय में एक बड़ी ही सुन्दर शिक्षाप्रद रोचक पौराणिक गाथा है। यह उस समय की बात है, जब पांडव गण वनवास के समय द्रौपदी को साथ लिये एक वन से दूसरे वन में विचर रहे थे। द्रौपदी ने कभी कष्ट सहे नहीं थे। वे सदा सुख में पली थीं सुकुमारी तथा राजकुमारी थीं, पांडवों की प्राणों से भी अधिक प्यारी थीं। अपने पतियों में अत्यंत अनुराग होने से ही वे राज्य सुख छोड़कर वन में आयी थीं। इसलिये पांडवगण उन्हें सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करते। द्रौपदी का वैसे तो सभी पतियों में समान अनुराग था, किन्तु भीम बली थे, वे द्रौपदी को प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करते, द्रौपदी कैसा भी कठिन से कठिन काम बता दे। भीम अपने प्राणों का पण

---

* यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनिष्ठतः।
कुलं नो विप्र दैवं चेद्द्विजो भवतु विज्वरः॥
यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥

लगाकर उसे पूरा करते। इससे द्रौपदी को जो कुछ कराना होता भीम से ही कहती।

एक दिन वन में द्रौपदी देवी ने एक बड़ा ही सुन्दर वृक्ष देखा, उस सुन्दर वृक्ष पर एक ही फल लगा था, फल देखने में बड़ा ही सुन्दर था सूर्य की किरण पड़ने से फल चमक रहा था। द्रौपदी बड़ी देर तक देखती रहीं। वे समझ ही नहीं सकीं यह कौन सा फल है, पहिले समझा बेल है। किन्तु बेल तो कठोर होता है, आम भी नहीं हो सकता पत्तों को देखकर भीम ने बताया यह वृक्ष तो आँवले का है, किन्तु इतना बड़ा आँवला मैंने आज तक देखा नहीं। फिर आँवले के वृक्ष में तो बहुत से फल होते हैं। इस पूरे पेड़ में एक ही फल है। द्रौपदी को बड़ा कुतूहल हुआ। भीम से उन्होंने कहा—"वृकोदर! इस इतने सुन्दर पके फल को देखकर मेरा मन मुग्ध हो गया है। तुम इस फल को तोड़ दो। भीमसेन के लिये क्या बात थी तुरन्त उन्होंने फल तोड़कर द्रौपदी देवीको दे दिया। द्रौपदी उस अद्भुत फल को पाकर परम प्रमुदित हुईं। उन्होंने ज्यों ही भगवान् का स्मरण करके उसे पतियों और अपने लिये खाने को काटना चाहा, कि उसी समय तुरन्त भगवान् वासुदेव वहाँ उपस्थित हो गये। और आते ही कहा—"द्रौपदी ठहर जाओ, ठहर जाओ, ऐसा साहस मत करो। फल को काटना मत।"

भगवान् को देखकर द्रौपदी देवी तथा पांडव सभी परम प्रसन्न हुए। द्रौपदी देवी ने कहा—"वासुदेव! तुम बड़े सुन्दर समय पर आ गये, अभी मैं तुम्हारा स्मरण ही कर रही थी कि द्वारका में बैठे बैठे इस फल को ग्रहण करो। कैसा अद्भुत फल है, सो तुम प्रत्यक्ष ही यहाँ आ गये।"

भगवान् ने कहा—"मैं दूसरों का भाग नहीं खाता और तुम

सब को भी मना करता हूँ। हाँ, कोई शान्त हो, सात्विक हो क्रोध रहित हो, श्रद्धा से मुझे भेंट करे उसे तो मैं ग्रहण कर लेता हूँ।"

द्रौपदीजी ने कहा—"हम आपके भक्त हैं या नहीं, हम श्रद्धा से भेंट करते हैं या नहीं, इसे आपके अतिरिक्त और कौन जान सकता है?"

भगवान् ने कहा—"तुम तो भक्त हो, और तुम जो भेंट करते हो श्रद्धा से करते हो, किन्तु यह फल तो दूसरे का भाग है।"

द्रौपदी ने कहा—"भगवन्! दूसरे का किसका है, वन के फलों पर समान रूप से सबका अधिकार है, जो उसे तोड़ ले उसी का हो गया।"

भगवान् ने कहा—"यह तो सत्य है किन्तु तुम्हें पता नहीं। इसी वनमें परम क्रोधी महर्षि दुर्वासा तपस्या करते हैं। वे वर्ष में एक बार ही फलाहार करते हैं, सो भी इसी पेड़ का फल खाते हैं। उनकी तपस्या के प्रभाव से ही यह आँवला इतना बढ़ गया है। तपस्वी की इच्छा पूर्ति नहीं होती है, तो उसे क्रोध आना स्वाभाविक ही है। ये ही दुर्वासा तपस्याके अनन्तर केवल भोजन करने ही श्रीरामचन्द्रजी के समीप गये थे। लक्ष्मणजी ने इतना ही कहा—इस समय राघवेन्दु कोई गुप्त मंत्रणा कर रहे हैं, आप क्षण भर विश्राम करें।" बस, इतने पर ही कुपित हो गये सम्पूर्ण रघुवंश को नष्ट करने पर उद्यत हो गये। लक्ष्मण जी अपने प्राणों का पण लगाकर श्रीराम की आज्ञाके विरुद्ध भीतर गये और यह तनिक-सी घटना ही सपरिवार श्रीराम के अवनि त्याग का कारण बन गयी। सो ये दुर्वासा बड़े क्रोधी हैं। तपस्या के पश्चात् पेड़ पर आँवले को न देखेंगे, तो छूटते ही आँवला तोड़ने वाले

के सम्पूर्ण परिवार को भस्म हो जाने का शाप दे देंगे।"

इस बात को सुनकर सभी बड़े चिन्तित हुए। दुर्वासा मुनि तो कोप तथा क्रोध और शाप देने के लिये संसार में प्रसिद्ध ही हैं। धर्मराज ने चिन्तित होकर कहा—वासुदेव! अब क्या होगा ? कैसे हम दुर्वासा के कोप से बच सकेंगे ?"

भगवान् ने कहा—"धर्मराज! किसी प्रकार यह फल अपने स्थान पर ज्यों का त्यों लग जाना चाहिये।"

भीम ने कहा—"यह कौन-सी बड़ी बात है,मैं इसमें एक डोरा बाँधकर जहाँ से तोड़ा था, वहीं लटका दूंगा।"

भगवान् ने कहा—"डाल से टूटने पर डोरे से लटकाया हुआ फल सूख जायगा, बासी हो जायगा, दुर्वासा जान जायँगे, वे सूखे तथा बासी फल को कभी न खायँगे,प्रत्युत और अधिक क्रुद्ध होंगे। और तोड़ने वाले को तुरन्त भीषण शाप दे डालेंगे।

चिन्तित हुए धर्मराज ने कहा—प्रभो! आप ही हमारी सब विपत्तियों से सदा रक्षा करते आये हैं, आपही हमें सब दुखों से छुड़ाते आये हैं, आप ही हमें इस भावी विपत्ति से भी बचाइये आप ही हमें वह उपाय बताइये जिससे यह फल अपने स्थान पर ज्यों का त्यों पहुँच जाय और हम महामुनि दुर्वासा के शाप से बच सकें।"

भगवान् ने कहा—"धर्मराज! सत्य निष्ठा के सम्मुख सभी कुछ संभव है। हम लोग सब मिलकर अपनी-अपनी सत्य निष्ठा का बखान करें। यदि हम लोगों की निष्ठा सत्य होगी, तो उसी के पुण्य प्रभाव से यह टूटा हुआ फल पुनः अपने स्थान पर यथा पूर्व लग जायगा।

यह सुनकर सर्व-प्रथम धर्मराज युधिष्ठिर ने ही अपनी सत्य निष्ठा की साक्षी दी। वे बोले—मैंने संसारी सम्बन्धों में कभी आसक्ति नहीं की। मैंने छैः को ही अपना सगा सम्बन्धी सुहृद् समझा है। सत्यता को तो सदा मैं माता मानता रहा हूँ। ज्ञान मेरे पिता हैं, धर्म को बन्धु और दया को सच्चा सखा, शान्ति ही मेरी प्यारी पत्नी है, क्षमा ही मेरी सन्तान है, पुत्र स्थानीय है। यदि यह बात सत्य है, यदि मेरी यह मान्यता यथार्थ है, यदि मैंने अपनी मान्यता के सम्बन्ध में दम्भ या प्रमाद नहीं किया है,तो यह आँवला अपने पूर्व स्थान की ओर प्रस्थान करे *।"

सबने बड़े आश्चर्य के साथ देखा, भूमि मे रखा हुआ आँवला अधर में उठकर पेड़ की ओर बढ़ा किन्तु बीच में ही रुक गया। तब भगवान् ने कहा—"भाई! एक का ही निष्ठा से काम न चलेगा, सभी सत्य हृदय से अपना अपना आत्मविश्वास प्रकट करो। हाँ, तो भीमसेनजी अब तुम्हारी बारी है।" यह सुनकर भीम सेन कहने लगे—संसार में सब से बुरा वस्तु अकीर्ति है। जिसकी संसार में सर्वत्र अकीर्ति है, सभी जिसे बुरा कहते हैं वह जीते हुए भी मृतक के सदृश हैं। संसार में सर्वश्रेष्ठ वस्तु है प्रतिष्ठा। इसलिये सबका कर्तव्य यही है, कि प्राणों का भी पण लगाकर प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिये। जैसे बने तैसे आत्म सम्मान की, अपनी सत् प्रतिष्ठा की रक्षा करते रहना चाहिये। क्यों कि सदा तो कोई जीता नहीं। सभी को एक दिन अवश्य ही मरना है, जीवन का तो कोई निश्चय नहीं, आज है कल नहीं है, किन्तु प्रतिष्ठा तो अजर अमर है। वह संसार में

---

* सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः॥

तब तक बनी रहती है, जब तक आकाश में नक्षत्र तथा चन्द्रमा विद्यमान रहते हैं। यदि यह बात सत्य है और मैंने अपनी सत्प्रतिष्ठा बनाये रखने को यथा साध्य निरन्तर प्रयत्न किया हो, तो उसी के प्रभाव से यह फल अपने प्राचीन स्थान की ओर प्रस्थान करे *।"

सबने देखा फल एक हाथ ऊपर उठ गया, किन्तु अभी वह अपने स्थान से बहुत दूर था। अब भगवान् ने सव्यसाची अर्जुन से कहा—"पांडुनन्दन ! तुम भी अपनी सत्यनिष्ठा का कथन करो, तुम भी विशुद्ध हृदय से अपने आत्म विश्वास का ज्ञापन करो तब अर्जुन ने कहा—"क्षत्रियों का परम धर्म युद्ध है, यदि कोई क्षत्रिय के सम्मुख लड़ने को आवे,तो उसे आन्तरिक प्रसन्नता होती है। वह प्रसन्नता साधारण नहीं होती, जिस प्रकार ब्राह्मण को कहीं पकान्न महान्न का निमंत्रण मिल जाय, उस निमंत्रण को पाकर जैसा वह आनन्दोत्सव मानाता है, अथवा गौओं को सुन्दर कोमल नूतन हरी हरी दूब चरने को मिल जाय और उसके मिलने से उन्हें जितना आह्लाद होता है। अथवा पति परायणा पतिव्रता मुग्धा धर्मपत्नी को परदेश से पति के लौटने पर जो प्रसन्नता होती है, उतनी ही क्षत्रिय को युद्ध का अवसर आने पर होती है। क्षत्रिय होनेके कारण युद्ध का आमंत्रण पानेपर मुझे भी उतनी ही प्रसन्नता का यदि अनुभव होता हो तो यह फल अपने पूर्व स्थान की ओर प्रस्थान करे *।"

---

* प्राणं वापिपरित्यज्य मानमेवाभिरक्षतु।
अनित्यो भवति प्राणो मानस्त्वाचन्द्रतारकम्।

* आमन्त्रणोत्सवा विप्रा गावो नवतृणोत्सवाः।
भर्त्रागमोत्सवा नार्यः सोऽहं कृष्णरणोत्सवः॥

अबके फल और एक हाथ ऊपर बढ़ गया। तब भगवान् ने नकुल से कहा—"नकुल! तुम बड़े धर्मात्मा हो तुम भी अपनी सत्यनिष्ठा की प्रतिज्ञा करो, तुम भी अपने आत्मविश्वास का ज्ञापन करो।"

यह सुनकर नकुल कहने लगे—"संसार में काम बड़ा प्रबल है, यह प्राणियों के मन को निरंतर मथता रहता है, जो पशु हैं, अज्ञ हैं, वे परिस्थिति के दास होते हैं। वे अवसर आने पर जिस नारी को देखते हैं, उसी की ओर काम वासना से देखने लगते हैं, किन्तु पंडित वही है, जो केवल अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर समस्त दूसरों की स्त्रियों को माता के समान देखता है। उनके प्रति कभी काम भाव करता ही नहीं, तथा दूसरों के धन को चाहे वह सबके सामने हो या एकान्त में हो मिट्टी के ढेले की भाँति समझता है और सभी प्राणियों में एक आत्मा को ही देखता है, वास्तव में वही देखने वाला है, यदि मैंने परदारा को माता के समान, पर द्रव्य को लोष्ठ के समान और सब प्राणियों में आत्मा को देखा हो, तो यह फल अपने पूर्व स्थान को ओर प्रस्थान करे।*

सब के देखते देखते फल एक हाथ ऊपर उठ गया, किन्तु अभी वह उस डाल से दूर था जहाँ से तोड़ा गया था। तब भगवान् ने सहदेव से कहा—सहदेव! तुम धर्मात्माओं में श्रेष्ठ हो, तुम भी अपना संकल्प लगाओ। तुम भी अपनी सत्य निष्ठा जताओ।

यह सुनकर सहदेवजी कहने लगे—"मनुष्य निरंतर हाय-हाय करता रहता है, मुझे यह करना है, वह करना है, बहुत से

---

* मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

काम हैं, तनिक भी मुझे अवकाश नहीं। यह संग्रह करता है, शरीर के लिये। किन्तु यह शरीर तो अनित्य है, क्षण-भंगुर है, नाशवान है, जीव निकल जायगा तो शरीर यहीं पड़ा रह जायगा। मिट्टी में मिल जायगा। बड़े कष्ट से जो वैभव एकत्रित किया है, वह जीवन भर साथ रहेगा भी, यह भी निश्चय नहीं। जीवन भर रह भी जाय तो मरने पर तो उसे अवश्य ही यहीं छोड़ जाना पड़ेगा। शरीर सुख और धन के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य मैं मरूँ नहीं इसके लिये भी प्रयत्न करता रहता है, सो मृत्यु तो सदा सिर पर मँडराती ही रहती है। मृत्यु से कोई कहीं बच नहीं सकता। इसलिये शरीर सुख, धन और मृत्यु निवारण के लिये व्यग्र रहना व्यर्थ है, बहुत से संकल्पों के पीछे दौड़ना पागलपन है, मनुष्य का एक ही कर्तव्य है कि वह निरन्तर धर्म का ही संचय करता रहे। जितना भी जिससे बन सके इस अनित्य शरीर से नित्य धर्म को बढ़ाता रहे। यदि मैंने सच्चे हृदय से धर्म का संचय किया हो, तो यह फल अपने पूर्व स्थान की ओर प्रस्थान करे।*

सबने देखा फल तुरन्त ऊपर उठ गया, किन्तु डाली से वह अब भी दूर था, तब भगवान ने पांचाली द्रौपदी से कहा—"देवि ! तुम भी अपनी सत्यनिष्ठा प्रकट करो तुम भी बल लगाओ, जिससे फल डाली में ज्यों का त्यों लग जाय।"

तब द्रौपदी ने कहा—"स्त्रियाँ यदि किसी रूपवान सुंदर स्वस्थ, मनोनुकूल पुरुष को देखती हैं, तो उनका मन प्रायः विचलित हो जाता है। किन्तु मैं सत्य की शपथ करके करती हूँ, कि कोई कितना ही रूपवान पुरुष क्यों न हो, वह स्वस्थ, सुंदर,

* अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

युवावस्थापन्न, भला भाँति वस्त्राभूषणों से अलंकृत, श्रीमान् और सर्वगुण सम्पन्न ही पुरुष क्यों न हो, पुरुषों की तो बात क्या वह गन्धर्व या देवता ही क्यों न हो, मेरा मन अपने पाँचों पतियों को छोड़कर कभी किसी की ओर नहीं जाता। यदि यह बात सत्य हो, मैंने कभी भूल से स्वप्न में भी पर पुरुष का काम भाव से चिन्तन न किया हो, तो यह फल अपने पूर्व स्थान की ओर प्रस्थान करे।"*

यह सुनकर फल डाल से थोड़ी ही दूर रहा, अभी डाल तक पहुँचा नहीं। तब भगवान् ने कहा—भाई फल डाली के पास तक तो पहुँच गया है, किन्तु कुछ कसर है, अब मैं भी आप सब के सम्मुख अपना सत्य निष्ठा प्रकट करना चाहता हूँ।"

यह कहकर भगवान् स्वयं अपनी सत्यनिष्ठा प्रकट करते हुए कहने लगे—"देखो, भाई! संसार में यह धन ही सब अनर्थों का मूल है, धन आने पर लोभ आ ही जाता है और धन में दंभ, हिंसा, चोरी, असत्य, स्त्रीप्रसंग आदि १५ दोष हैं। धन पाकर भी जो उसमें निर्लोभ है और दोषों को आने नहीं देता, संसार में वही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति है। ऐसा व्यक्ति धर्म कार्यों के लिये धन तथा प्राणों को न्योछावर करने को सदा उद्यत रहता है। इसीलिये मैं चार पुरुषों को सदा नमस्कार किया करता हूँ। एक तो मैं उसे नमस्कार करता हूँ, जो दुर्भिक्ष के समय बिना अपने परिवार की चिन्ता किये हुए अपने पास के अन्न को भूखों को देता रहता है। साधारण समय में भी अन्न देना श्रेष्ठ है, किन्तु अकाल के

---

* देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवाचापि स्वलङ्कृतः।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषोमतः॥

समय जब लोग दाने दाने के लिये व्याकुल रहते हैं, ऐसे समय जो उदारता से अन्न दे, वह वन्दनीय है। दूसरे मैं उस दाता को नमस्कार करता हूँ जो सुभिक्ष के समय-सुकाल के अवसर पर सुवर्णदान करता है, सत्पात्रों को धन देता है। धन को लोग बड़े कष्ट से पैदा करते हैं, प्राणों को हथेली पर रखकर ही लोग धन पैदा करते हैं। देखो, सैनिक लोग धन के लिये अपने प्राणों को बेच देते हैं। राजा जहाँ मरने को भेज देता है, तुरन्त चले जाते हैं। चोर जब धन के लिये चोरी करने जाता है, तो शीश को हथेली पर रख कर जाता है। व्यापारी देश विदेशों में समुद्रों को लाँघकर धन के लिये ही जाते हैं। उनको पग पग पर मृत्यु का भय है धन के लिये लोग अगाध समुद्र में डुबकी लगाते हैं, आकाश में उड़ते हैं, पर्वतों पर चढ़ते हैं, अग्नि में कूदते हैं तथा न करने योग्य कार्यों को भी करते हैं, ऐसे धन को जो सत्पात्रों को सहर्ष दे देता है, वह मेरे लिये परम आदरणीय है। तीसरे मैं उनको नमस्कार करता हूँ, जो धर्म युद्ध में घर द्वार कुटुम्ब परिवार तथा धन सम्पत्ति की कुछ भी चिन्ता न करके प्राणों का पण लगाकर वीरता के साथ लड़ता है। लड़ते समय कभी पीठ नहीं दिखाता या तो युद्ध में लड़ते लड़ते प्राण त्याग कर स्वर्ग जाता है, या विजयश्री का वरण करता है, ऐसे वीर सूर्य मण्डल को भेद कर सीधे परमपद के अधिकारी बनते हैं। चौथे मैं उस व्यक्ति को नमस्कार करता हूँ, जो लेन देन के सम्बन्ध में स्वच्छ रहता है, किसी के भी ऋण को मारने की

इच्छा नहीं करता। जिसका आचरण व्यापार में पवित्र रहता है।"

भगवान् कह रहे हैं, यदि मैंने इन चारों आदरणीय व्यक्तियों के प्रति सम्मान किया हो, इनको नमस्कार किया हो, तो यह फल अपने पूर्व स्थान को प्रस्थान करे।

सबने देखा, फल एक दम उछलकर डाली के समीप पहुँच गया, किन्तु वह अपने पुराने स्थान पर लटका नहीं। कुछ कसर फिर भी रह गयी।

भगवान् ने कहा—भाई, फल यथा पूर्व ज्यों का त्यों पेड़ में लटका नहीं। अब एक की ही कसर है, एक व्यक्ति कोई और अपनी सत्यनिष्ठा, आत्मविश्वास प्रकट करे तो फल तुरन्त लग जाय।

धर्मराज ने कहा—"भगवन् यहाँ तो हम सात ही हैं, अब एक ऐसा निष्ठावान् कहाँ से लावें। आप ही जान सकते हैं, किसकी निष्ठा से यह पूर्ववत् होगा।

भगवान् ने कहा—कर्ण ही एक ऐसा व्यक्ति है जो अपनी सत्यनिष्ठा व्यक्त करे, तो इसकी रही सही कमी पूरी हो जाय। मैं अभी कर्ण के पास जाता हूँ। यह कहकर भगवान् तुरन्त हस्तिनापुर में कर्ण के समीप पहुँचे और बोले—"भाई, कर्ण! पांडवों पर एक बड़ी विपत्ति आई है। ऐसे ऐसे द्रौपदी के कहने पर भीम ने दुर्वासा का आँवला तोड़ लिया था। हम सातों ने तो अपनी अपनी सत्यनिष्ठा की शपथ से उसे डाल तक पहुँचा दिया। यदि तुम अपनी सत्यनिष्ठा व्यक्त करो तो निश्चय

---

*तुर्भिक्षे चान्नशतारं सुभक्षे च हिरण्यदम्।
चतुरोऽहं नमस्यामि रणेधीरमृणेशुचिम्॥

ही वह फल पूर्ववत् वृक्ष पर ज्यों का त्यों लटक सकता है।

यह सुनकर कर्ण हँसे और बोले—"माधव! आप विश्व ब्रह्मांड को अपने संकल्प से बनाते हैं पालते हैं; और संहार भी करते हैं, आपके लिये फल को लटकाना कौनसी बात है। फिर भी आप संसार में सत्यनिष्ठा का आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं। लोगों को उपदेश देना चाहते हैं, तो आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं अपनी निष्ठा बताता हूँ।"

कर्ण कहने लगे—"माधव! संसार में तीन वस्तुएँ ही बहु मूल्य हैं, धन,वीर्य और प्राण। इन तीनों के ही दान से सुख होता है, किन्तु इनका दान कुपात्रों में करने से नरक मिलता है, क्लेश उठाने पड़ते हैं। अतः मेरा सिद्धान्त है, कि धन दान तो देवार्चन करने वाले तपोनिष्ठ ज्ञानवान ब्राह्मण को करना चाहिये और वीर्यदान अपनी धर्मपत्नी को ही करना चाहिये। दूसरी सभी स्त्रियों को मातृवत् मानना चाहिये तथा प्राणों का दान अपने स्वामी के कार्य में करना चाहिये। भगवन्! यदि मैंने ये तीनों वस्तुएँ सुयोग्य पात्रों को ही दान दी हों,तो वह फल तुरन्त अपने स्थान पर लग जाय।"

कर्ण यहाँ यह कह ही रहे थे, कि वहाँ तुरन्त फल अपने स्थान पर ज्यों का त्यों लटक गया। कोई भी यह नहीं कह सकता था कि इस फल को किसी ने तोड़ा है? इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी ने सत्यनिष्ठा का महत्व प्रदर्शित किया।

देखने में यह बात असंभव-सी लगती है। किन्तु सत्यनिष्ठा के सम्मुख कुछ भी असंभव है नहीं। सत्यनिष्ठा के पंचभूत किंकर

---

*विप्रहस्ते धनं दद्यात् स्वभार्यासु च यौवनम्।
स्वामिकार्येषु च प्राणं विद्यान्मम माधव!

हो जाते हैं। वह पहाड़ को चला सकता है, जल को स्तम्भित कर सकता है, पृथ्वी से जहाँ चाहे रत्न प्राप्त कर सकता है। मथुरा के सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उनसे जहाँ पर जो जितना चाहता था धन ले सकता था। वे कहाँ से देते थे, इसे कोई जानता नहीं था। एक बार कुछ विदेशी उन्हें नौका भ्रमण के बहाने यमुना जी में ले गये और बीच धारा में जाकर उनसे कहा—"सेठजी ! एक लाख रुपया चाहिये।" उन्होंने तुरन्त नौका के नीचे हाथ किये और कहा—"माँ यमुने ! देना तो सही एक लाख की थैली।" तुरन्त उनके हाथ में एक लाख रुपये की अशर्फियों से भरी थैली आगयी।

महात्माओं के सम्बन्ध में तो ऐसी लाखों कथायें प्रचलित हैं, अमुक महात्मा खड़ाऊँ पहिनकर नदी पार कर जाते थे, अमुक हजार कोशपर रहते हुए नित्य प्रयागराज स्नान कर जाते थे, अमुक कई रूप रखकर कई स्थानों में प्रकट होते थे। गंगा यमुना, सरयू, नर्मदा तथा अन्य पवित्र नदियों के किनारे रहने वाले सहस्रों महात्माओं के सम्बन्ध की ये कथायें प्रचलित हैं, कि भंडारा हो रहा था, घृत चुक गया। महात्मा ने कहा—"मैया के यहाँ से उधार माँग लाओ। जितने टीनों की इच्छा हुई जल भर लाये और वह सब घी हो गया। पीछे उतना घी उन्होंने नदी में डलवा दिया।"

पहिले मेरा इन बातों पर विश्वास नहीं था। किन्तु अनेक बातें पढ़कर बहुत-सी घटनायें प्रत्यक्ष देखकर मेरा पूरा विश्वास हो गया, कि ये बातें असंभव नहीं। कुछ धूर्त लोग पुजाने के लिये, सिद्ध साधक बनकर स्वार्थ सिद्धि के लिये ऐसी झूठी बातें भी उड़ा देते हैं, उनकी बात छोड़ दीजिये। धूर्त लोग तो सभी क्षेत्र में सभी कार्यों में धूर्ततायी करते हैं। किन्तु मैं धूर्तों की बात

नहीं कह रहा हूँ, जो निर्मल चित्र के सीधे, सरल, निष्कपट, दृढ़ विश्वासी, सत्यनिष्ठपुरुष है, वे जो चाहें सोकर सकते हैं। उनका संकल्प सिद्ध हो जाता है, किन्तु जिनके मनमें संशय है, द्विविधा है,विश्वासदृढ़ नहीं है आत्म भरोसा नहीं है। जिनके मनमें संभव असंभव का भेदभाव है, उनके तो काम उतने ही सिद्ध होते हैं। श्रीकुमारिलभट्ट की यह कथा प्रचलित है, उन्होंने बौद्धों से छिपकर छलपूर्वक विद्या पढ़ी थी, पीछे उनसे ही शास्त्रार्थ किया और कहा जिन्हें अपने सिद्धान्त पर पूरा विश्वास हो, वह इस पहाड़ से कूद पड़े। बौद्धों को तो विश्वास नहीं था इनकी वेदों पर दृढ़ निष्ठा थी, ये यह कह कर पहाड़ से कूदे कि यदि वेद सत्य हों तो मेरे चोट न लगे।' नीचे आने पर तनिक चोट लगी। लोगों ने कहा—"तनिक चोट इसलिये लग गयी, कि मैंने यदि लगा दी। यदि थोड़ा अविश्वास प्रकट होता है। वेद तो सत्य हैं ही।

वास्तव में जिनकी जितनी ही दृढ़ निष्ठा हो गयी उनकी संकल्प सिद्धि भी उतनी ही दृढ़ता से होगी। जिनको स्वयं आत्म विश्वास नहीं, अपने वचनों पर भरोसा नहीं। निष्ठा की सत्यता में पूर्ण श्रद्धा नहीं उनका संकल्प सिद्ध नहीं होता। हम लोगों में यही बात तो है, कोई दृढ़ता से नियम पालन नहीं किया श्रद्धा से मंत्रानुष्ठान नहीं किया संकल्प सिद्धि हो तो कैसे हो। केवल अपने दक्षस्वार्थी धूर्त प्रशंसकों से समाचार पत्रों में नाम छपा लिया। झूठी सच्ची वक्तृतादेकर दश लोगों से वाह वाह कर ली। इतने से संकल्प सिद्ध नहीं होता। एकबार ऐसा हुआ कि हमारे यहाँ यमुना किनारे गौ घाट पर एक उत्सव हुआ। भंडारे के दिन बहुत से भिखमंगे जुट गये। सब जानते थे, कि भंडारे के दिन जो जाता है उसे भोजन मिलता है। संयोग की बात कि शाम

को घृत चुक गया। कंगलाओं ने हल्ला मचाना आरंभ किया हमें दो, हमें दो। उनको विश्वास दिलाया गया बैठो पूड़ी बन रही हैं, किन्तु घृत तनिक भी न रहा। मैं भीतर गया, कार्यकर्ताओं ने बड़ी चिन्ता व्यक्त की।

मैंने हँसी हँसी में कहा। पहिले समय में साधु लोग घृत चुकने पर गंगा यमुना के जल में पूड़ी उतारते थे, तुमको कितना घी चाहिये ?" लोगों ने कहा—"दो कनस्टर होने से काम चल जायगा।" मैंने विनोद में ही कहा—"तब फिर लाओ दो कनस्टर यमुना जल देखें हममें कुछ साधुता है या नहीं।'

मैंने यह बात केवल विनोद में कही थी। मुझ में न ऐसा कोई तप ही है न ऐसी कोई सत्यनिष्ठा या आत्मविश्वास-बात को टालने को सर्वथा हँसी में यह बात कही थी किन्तु हमारे यहाँ एक अंधविश्वासी भक्त परमहंस जी हैं। उन्होंने कहा—"बस अब क्या है, अब तो यमुना जल में पूड़ियाँ उतरेंगी। महाराज ने कह दिया।" और वे दो कनस्टर लेकर यमुना जी की ओर दौड़े। हँसी में ऐसी गंभीर बात हो गयी, मेरा तो हृदय धुकुरु पुकुरु करने लगा। मैंने कहा—अब तक जो कुछ दबी ढकी बात थी वह भी गयी। आज पोल खुल जायगी। दश लोग ताली पीटेंगे लो, बड़े सिद्ध बनते थे।" मैंने धीरे से उससे कहा—'यार हल्ला गुल्ला क्यों करते हो चुपके से एकान्त में लाकर परीक्षा कर लो। किसी से कहना मत।"

प्रह्लाद की भाँति मेरा विश्वास होता तो पाषाण जल में तैरने लगते, मीरा का विष अमृत बन गया, फिर यमुना जल का घृत बनना तो कोई बड़ी बात नहीं थी, किन्तु अपनी निष्ठा हो तब न। मैं ऊपर से तो हँस-हँस कर बातें कर रहा था किन्तु हृदय में खलबली मच रही थी, दंभ खुलने का भय दश आदमियों के

हँसने का संकोच, इतने लोगोंमें अपकीर्ति की आशंका और न जाने कितने भाव अन्तः करण में उमड़ घुमड़कर एक भयंकर तूफान की सृष्टि कर रहे थे। वह हल्ला करता दो कनस्टरों को दोनों कंधों पर रखे यमुना जी की ओर दौड़ा जा रहा था। संयोग की बात उसी समय नैनी वाले स्वर्गीय बाबू देवी प्रसादजी एक कनस्टर घी लेकर वहाँ आ गये। मैंने उसे बुलवाया—"सुनो, भाई परमहंस देखो अब मत जाओ यह समझो यमुनाजी ने ही इसे भेजा है और उसी समय पं० कृष्णानंद मिश्र भी एक कनस्टर घी लेकर आ गये। इस प्रकार भगवान् ने उस दिन पोल खुलने से बचा दी।'

मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि जिसे स्वयं अपने पर विश्वास नहीं, जिसे स्वयं अपने वचनों और कार्यों में निष्ठा नहीं उसका शाप वरदान अथवा संकल्प पूरा होगा कैसे। इसके लिये कोई अपूर्व अनुष्ठान जप तप या घोर तप की आवश्यकता नहीं। इन साधनों से भी संकल्प सिद्ध होता है, किन्तु जिनका अन्तः करण शुद्ध नहीं है, जो निर्मल मन जन नहीं हैं, जिनमें श्रद्धा सरलता, सत्यता, संयम, शील, सदाचार तथा सहज विश्वास नहीं, वे कैसा भी जप तप अनुष्ठान करें उनकी संकल्प सिद्धि नहीं होती। इसके विपरीत जिनमें ये सब गुण हैं, वे कहीं रहें, किसी भी कार्य से निर्वाह करें। किसी भी जाति में क्यों न हों इच्छा न रहने पर भी स्वाभाविक रूप से उनके संभव असंभव सभी कार्य सहजमें सिद्ध हो जाते हैं। इस विषय में मैं अपना ही देखा एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।

यह ३०-३५ वर्ष पूर्व की बात है तब मैं झूसी में नया ही नया आया था। कोई विशेष जानता भी नहीं था। अपनी कुटी से सायंकाल को धर्म शाला पर पुराणों की कथा सुनने जाता, वहाँ

से तिवारीजी के तालाब तक टहलने जाता सायंकाल में कुटी पर लौट आता। कभी कभी नयी भूसी के कोने से निकल आता, यहाँ एक बुड्ढा भड़भूजा रहता था। अवस्था यही ६०–७० वर्ष की होगी। लची हुई कमर, काला इकहरा नंगा शरीर, घुटनों तक की धोती पहिने बैठा रहता। मैं आता कमर झुकाकर हाथ जोड़कर मोर गुसाईं मोर-स्वामी-श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ स्वामी प्रभु वासुदेव।" कुछ ठीक स्मरण नहीं। इस मंत्र में प्रभु या स्वामी कुछ मिलाकर गाता रहता हुआ नित्य प्रणाम करता। वह स्यात् जानता नहीं था, मैं फलाहारी हूँ, अतः कभी वह मुझे थोड़े चने भी दे देता। वह मेरी प्रतीक्षा में ही बैठा रहता कभी मैं दूसरे मार्ग से निलक जाता तो वह उस दिन निराश हो जाता। उसका ऐसा निःछल निष्कपट निस्वार्थ प्रेम देखकर अब मैं प्रायः नित्य ही इधर से निकलता। न मैं उससे कुछ कहता न वही मुझसे कोई बात कहता। प्रणाम करके लड़खड़ता हुआ खड़ा रहता। मैं हे नाथ नारायण वासुदेव" कहकर चला जाता।

उन दिनों मैं बिल्व फल और दूध लेता था। कुटी से डेढ़ दो मील दूरी पर शंख माधवजी का बगीचा था। उसमें बेलके कई पेड़ थे। एक पेड़ ऐसा था जिसमें बारहों महीने बेल लगे रहते थे। उसीमें से मैं जाकर बेल तोड़ लाता। उन्हें फोड़कर अग्नि में पका कर रख लेता। एक दो नित्य दूध के साथ लेता। बेल को यदि बिना फोड़े वैसे ही अग्नि में भूनने को दे दो तो उसमें एक प्रकार की गैस उत्पन्न होती है और वह गोले की तरह शब्द करता हुआ उछल कर दूर गिरता है, उसमें कभी कभी इतना वेग हो जाता है, कि घर में तो घर की छत को भी फोड़ देता, किसी आदमी के लगे तो उसकी मृत्यु भले ही न हो अधमरा तो अवश्य हो जायगा। इसीलिये कच्चा बेल सदा फोड़-

कर अग्नि में भूनने को दिया जाता है। पाठकों को विश्वास न हो तो कहीं दूर दो तीन बेल लेकर अग्नि में पकाने डाल दें, फिर तमाशा देखें कैसे बम के से गोले फूटते हैं। इसीलिये मैं सदा बेल को फोड़कर ही भूनने को अग्नि में देता था।

उस भड़भूजा भक्त की भक्ति देखकर मैं उसी से बेल भुजवाने लगा। वह नित्य तो भाड़ करता नहीं था। दूसरे चौथे दिन कभी करता और वह खाने भर को ही अन्न रखता उसकी झोंपड़ी में संग्रह कुछ भी नहीं था। मैं फोड़कर बेल दे आता दूसरे दिन वह भाड़ अवश्य करके तीसरे दिन मुझे दे देता। यदि संयोग से उस दिन भाड़ हुआ हो तो दूसरे ही दिन दे देता था।

एक दिन मैं और हजारी लाल मल्लाह दोनों बेल तोड़ने गये। उस दिन लगभग ४०-५० बेल तोड़कर एक बोरी में हम लाये। जाड़े के दिन थे, रात्रि हो गयी थी ९-१० बज गये थे। मैंने हजारी लाल से कहा—"भैया! तू इन बेलों को बुड्ढे बाबा को फोड़कर दे आ वह भून देगा।"

वह गया, तब तक बुड्ढा सो गया था। उसने आवाज दी—"बाबा! बाबा! महाराज ने बेल भूनने को भेजे हैं। अपनी फटी चिथड़ों की गुदड़ी में गुड़मुड़ी मारे वह पड़ा था। बेल और महाराज दो शब्द सुनते ही वह हड़बड़ाकर उठा। मोर गुसाईं! मोर स्वामी! अच्छा, बचऊ बड़ा अच्छा किया। आज ही मैंने भाड़ किया है लाओ-लाओ अभी दिये देता हूँ, रात भर में सब भुन जायँगे। इतना कहा और उसने बोरे के सब बेल भाड़ में डाल दिये और फिर जाकर अपनी गुदड़ी लपेट कर सो गया। हजारी कुछ दूर गया, उसे स्मरण आया—"अरे, मैंने बेलों को फोड़ा तो नहीं।"

वह तुरन्त लौटा और जाकर कहा—"बाबा ! बाबा ! बड़ी गलती हो गयी मैंने बेलों को फोड़ा नहीं तुम उन्हें तुरन्त निकाल कर फोड़ दो।"

अपनी गुदड़ी में ही से उसने कहा—"अब तो पड़ गये, महाराज के बेल हैं कुछ नहीं होगा, तुम चिन्ता मत करो। जाओ सोओ।" वह क्या करता चला गया। रात्रि के १२ के लगभग बज चुके थे। मैं भी सो रहा था या सोने का उपक्रम कर रहा था। हजारी ने मुझे सूचना दी। न फोड़ने की भूल पर खेद प्रकट किया और बाबा की बात भी दुहरा दी।

यह सुनकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ बेलों के लिये नहीं सोचा उसका भाड़ तो फूट ही जायगा संभव है कोई गोला उछल कर उसकी झोपड़ी को जला न दे। किन्तु अब कोई उपाय नहीं था। दूसरे दिन मैं यही सोचकर गया कि उसका भाड़ फूटा पड़ा होगा, किन्तु मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, वह उसी प्रकार बैठा था, मुझे देखते ही खिल उठा और बोला महाराज ! सब बेल भुन गये यह कहकर उसने बोरे में भरकर मुझे सब बेल दिये। सब को मैंने भली भाँति देखा बेल सब भुन गये थे। किन्तु एक भी बेल फूटा नहीं था। न गोला बारूदका ही काम किया।

ऐसे कोई मुझसे कहता तो मैं कभी विश्वास न करता। उसमें पचासों तर्क वितर्क करता, किन्तु जो घटना स्वयं मेरे ऊपर बीती है, उसका अविश्वास कैसे करूँ? यही कहना होगा, कि उस भक्त का दृढ़ विश्वास था। शुद्ध अन्तःकरण से सरलता के साथ भक्त के मुख से जो भी निकल जाय भगवान् उसे अवश्य पूरा करते हैं। इसीलिये महाकवि कालिदास ने लिखा है साधारण नियम तो यह है कि क्रिया के पीछे उसका अर्थ चलता है किन्तु

महात्माओं के अर्थ के अनुरूप ही क्रिया होती है।'

जैसे अन्य अवतारों में भगवान् ने जिस-जिस भाग्य शाली के यहाँ अवतार लिया है, उस उसको पूर्व जन्मों में वर दिया है, कि हम तुम्हारा तपस्या से प्रसन्न हैं, तुम वर माँगो। उन्होंने यही वर माँगा है, आप ही साक्षात् हमारे पुत्र बने। कभी-कभी तो उन्हीं के यहाँ तीन जन्मों में तीनों बार भगवान् उन्हीं के यहाँ अवतरित हुए हैं। किन्तु खंभ ने कभी तपस्या की हो उसने वर माँगा हो ऐसा उल्लेख कहीं मिलता नहीं। इससे यही सिद्ध हुआ कि भगवान् को पहिले से खंभ में से प्रकट होने की इच्छा नहीं थी। न प्रह्लादजी ने ही पहिले से सोचा था, कि मैं भगवान् को पत्थर के खंभ में से प्रकट करूँगा। किन्तु जब हिरण्यकशिपु ने पूछा—"तेरा भगवान् कहाँ है?

तब प्रह्लादजी ने कहा—वह सर्वत्र है, मुझमें तुम में खड्ग में खंभ में, कोई ऐसी वस्तु नहीं जहाँ मेरे भगवान् न हों।"

इस पर हिरण्यकशिपु ने शीघ्रता में कहा—क्या इस खंभ में भी है।

सरलता से प्रह्लादजी बोले—प्रभो! मेरे भगवान् खंभ में हैं।

असुरराज ने कहा—तब वह दिखायी क्यों नहीं देता?" अब भगवान् के सम्मुख दो प्रश्न थे, मेरे भक्त ने कहा है मैं चर में अचर में सब में समान रूप से व्यापक हूँ और इस खंभ में भी प्रत्यक्ष हूँ, तो अपने भक्त की वाणी को कृतार्थ करने तथा यह दिखाने के लिये कि मैं चर अचर में स्थावर जंगम में समान रूप से व्याप्त हूँ, मेरे भक्त सत्यनिष्ठा से-प्रेम से-जहाँ चाहें वहाँ प्रकट कर सकते हैं, भगवान नृसिंह रूप से उस खंभ से ही प्रकट हो गये।

सत्यं विधातुं निजभृत्य भाषितम्
व्याप्तिंचभूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥

इस प्रकार भगवान सर्वत्र हैं, सब में हैं जहाँ भी निष्ठा करो भगवान वहीं प्रकट हो जायँगे। 'भगवान् कर्तुम कर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ हैं उनके यहाँ संभव असंभव का भेद भाव नहीं। सत्य निष्ठा में-विशुद्ध संकल्प में सब कुछ संभव है। संसार में वे लोग धन्य हैं जिनका निस्वार्थ भाव से किसी एक में निष्ठा हो गया है। यों आप दूध में कहीं देखो मक्खन दिखायी न देगा, किन्तु आप उसे रई से, रस्सी से, वैसे हिलाकर या कल से कैसे भी मंथन करें तो उसमें से नवनीत प्रत्यक्ष पृथक् होकर प्रकट हो जायगा। इसी प्रकार संपूर्ण विश्व में भगवान् समान रूप से व्याप्त हैं, किन्तु वैसे वे दिखायी न देंगे। सत्य संकल्प के द्वारा सच्ची निष्ठा से जहाँ चाहो मंथन करो भगवान् इस जगत् से पृथक् होकर अवश्य दर्शन देंगे। इस लिये जहाँ भी फल मिलेगा। सत्य निष्ठा से ही मिलेगा। भावना के अनुसार उसमें सात्विक राजस् तथा तामस भेद हो जाय। एक ही काम है, करने के प्रक्रिया भी एक-सी है, किन्तु भावना पृथक्-पृथक् है, तो भाव के ही अनुसार फल मिलेगा। सच्चे हृदय से, शुद्ध भावना से निष्ठा पूर्वक किया हुआ काम अवश्य सफल होता है।

इसी प्रकार जो लोग भगवान् की स्तुति प्रार्थना नित्य नियम पूर्वक प्रभु प्रीत्यर्थ करते हैं। भगवान् की स्तुति प्रार्थनाओं को प्रेमपूर्वक पढ़ते हैं। लोगों को सुनाते हैं। उनमें पुनरुक्ति न समझ कर बारम्बार प्रेमपूर्वक पढ़ते हुए सिहाते हैं। दूसरों को सुनाते

हैं। उन पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। संसार में वाणी की सार्थकता इसी में है कि उसके द्वारा भगवान् के गुणानुवाद गाये जायँ, प्रभु की स्तुति की जाय। जगदाधार श्यामसुन्दर के पादपद्मों में यही प्रार्थना है कि हम सत्यनिष्ठा के साथ उन्हीं की स्तुति प्रार्थना करें। सब रूपों में सर्वत्र उन्हें ही देखें।

छप्पय

सत्य रूप ही पिता सत्य माता सुत भ्राता।
सत्य सकल सम्बन्ध सत्य सबरे सुखदाता॥
सत्य सत्य गुरुदेव सत्यपथ जो दरसावें।
सत्य अतिथि आचार सत्य प्रतिमा बनि जावें॥
सत्यरूप सब जगत है, रमे सत्य सरवेश है।
सचर अचर सब सत्य प्रभु, सत्य स्वरूप महेश है॥

प्रत्यक्ष-अजित-स्तुति

(६५)

अजातजन्मस्थितिसंयमाया-
गुणाय निर्वाणसुखार्णवाय ।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने,
महानुभावाय नमो नमस्ते ॥*
(श्री भा० ८ स्क० ६ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

अज इस्तुति सुनि प्रकट भये प्रभु सब हरषाये ।
परे दण्डवत अमर विनययुत वचन सुनाये ॥
देव ! सकल आधार चराचर पूजित प्रभुवर ।
रचि पचि जग अज खेल खिलाओ हर विश्वम्भर ॥
काठ-अगिनि पय धेनु भूतैं जलकन पैदा करैं ।
त्यों सब-विषयनि तैं तुमहिं, प्रकटित करि दिग्दर्श करैं ॥

सर्व शक्तिमान् सर्वान्तर्यामी भगवान् अज स्तुति प्रार्थना से

---

* देवताओं की स्तुति से प्रत्यक्ष प्रकट होने पर अजित भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"न जिसका जन्म है न स्थिति और न प्रलय ही, जो अगुण है, निर्वाण सुखसागर है, जो अणु से भी अणु है। अपरिच्छिन्न स्वरूप है उस महानुभाव ईश्वर को नमस्कार है।"

प्रसन्न होकर अपना सगुण साकाररूप दिखाते हैं, उपासक के सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं, तो उपासक के हर्ष की सीमा नहीं रहती। वह प्रेम में विह्वल होकर गद्गद वाणी से उसकी स्तुति करने लगता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब ब्रह्मादि देवों ने निराकार सर्वव्यापक प्रभु की भक्तिभाव से स्तुति की, तो उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर तुरन्त वहीं उसी स्थान पर भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट हुए। उस समय उनकी शोभा अनुपम थी। उनका प्रत्येक अङ्ग प्रत्यंग मनमोहक था, वस्त्राभूषणों से वे सुसज्जित थे, वे अपने विशुद्ध प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे। भगवान् की ऐसी दिव्य झाँकी करके ब्रह्माजी, शिवजी तथा अन्यान्य सभी देवगण परमप्रमुदित हुए सबने भगवान् को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। फिर सबकी ओर से लोकपितामह ब्रह्माजी भगवान् की स्तुति करते हुए कहने लगे।

ब्रह्माजी कहते हैं—"हे प्रभो! संसार में सबका जन्म होता है, नियतकाल तक स्थिति रहती है, पुनः प्रलय हो जाता है। आपका न जन्म ही होता है, न प्रलय ही स्थिति का भी काल नियत नहीं। आप कालातीत हैं सदा सर्वदा एक से ही रहने वाले हैं, मोक्ष का जो आनन्द है, अपवर्ग का जो सुख है, निर्वाण का जो प्रमोद है उसके आप समुद्र हैं बड़े से भी बड़े और छोटे से भी छोटे हैं, अर्थात् आप में बड़े छोटेपन का भेदभाव किया ही नहीं जा सकता। आप अपरिगणधाम हैं, अपरिछिन्न स्वरूप हैं, अपारतेज युक्त हैं, आपका प्रभाव अपरिमित है, आपकी महिमा महान् है, ऐसे सर्व समर्थ प्रभु को हम बारम्बार प्रणाम करते हैं।

हे पुरुषोत्तम! आपका यह दिव्य स्वरूप परम पूजनीय है, वैदिक विधि से उपासना करने वाले हों, तान्त्रिक विधि से करने

वाले हों अथवा जिस किसी मार्ग द्वारा श्रेय की कामना करने वाले हों सबके लिये यह रूप अर्चा करने योग्य है, सभी साधकों को इस अनुपम रूप की पूजा करनी चाहिये। स्वामिन्! यथार्थ धारण पोषण करने वाले विधाता तो आप ही हैं। समस्त विश्व आपके ही अन्तर्गत निहित हैं, इस आपके अनुपम अनूप रूप में मुझे त्रिभुवन के समस्त चराचर जीव सम्पूर्ण देवगण और मैं स्वयं ब्रह्मा भी दिखायी देता हूँ। इस विश्वमय स्वरूप में मुझे त्रैलोक्य दृष्टिगोचर हो रहा है।

आप ही इस जग के उपादान कारण हैं, जिससे जो वस्तु बनती है, बनने पर भी वह बनी रहती है, और वस्तु का आकृति नष्ट हो जाने पर भी जो बना रहता है उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे घट का उपादान कारण है मिट्टी। निमित्त कारण दंड चक्रकुलालादि। आप इस जगत् के निमित्त कारण भी हो और उपादान कारण भी हो, अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से आपने ही सब बना लिया है प्रकृति तो पीछे हुई आप तो प्रकृति से भी परे हैं। यह जगत् उत्पन्न होने से पूर्व आपमें लीन था। उत्पन्न होकर आप में ही स्थित हो जायगा। अन्त में आप में ही विलीन हो जाता है। जगत् उत्पन्न होता है नष्ट हो जाता है। किन्तु आप न उत्पन्न होते हैं, न नष्ट होते हैं। तीनों काल में समरस रहते हैं, तीनों कालों की कल्पना भी पीछे ही हुई है। आप जगत् के आदि में थे, मध्य में भी हैं और अन्त में भी रहेंगे।

स्वामिन्! यद्यपि यह संसार गुणों का कार्य है, त्रिगुणात्मक है, किन्तु विवेकी सदा सावधान रहने वाले सदा साधन में संलग्न रहने वाले अपने विशुद्ध मनसे इस सगुण जगत् में भी आप निर्गुण को ही निहारते हैं आपके उसी विशुद्ध गुणरहित रूप का साक्षात्कार करते हैं, क्योंकि संसार आपके बिना कुछ नहीं है। जैसे जल अपनी शीतलता के ही प्रभाव से जमकर हिम हो

गया है। अज्ञ पुरुष तो रजत के सदृश उस चमकीले पदार्थ को कुछ और ही समझते हैं किन्तु रहस्य को जानने वाले जानते हैं, कि इसमें जल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार आपने अपनी माया का आश्रय लेकर इस नाना नाम रूप वाले जगत् की रचना कर ली है और फिर उसमें ऐसे ओतप्रोत हो गये हो, कि इसमें से आपको विलग कर लेना कठिन है, जैसे बीज ही वृक्ष बन जाता है, वृक्ष बन जाने पर बीज सम्पूर्ण वृक्ष में अनुप्रविष्ट हो जाता है, फिर खोजने पर बीज नहीं मिलता। फिर भी मर्मज्ञ पुरुष जान ही लेते हैं, कि यह बीज से बना है युक्तिपूर्वक कालान्तर में बीज को खोज लेते हैं।

हे दयालो! काष्ठ में अग्नि कहाँ छिपी है, इसे कोई न देख सकता है, न बता सकता है, किन्तु निरन्तर घर्षण करने से आपसे आप ही अग्नि प्रकट हो जाता है। गौ की किस नस में दूध भरा है, इसे कोई प्रत्यक्ष देख नहीं सकता, किन्तु ब्याई गौ को भली भाँति खिला और पहुना कर दुहा जाय तो उसमें से मीठा मीठा दूध अवश्य निकल आवेगा। भूमि में कहाँ अन्न छिपा है, इसे आँखें देख नहीं सकतीं, किन्तु उर्वरा भूमि को जोतकर उसमें बीज बोया जाय तो उससे अन्न उत्पन्न किया जा सकता है, भूमि को खोदते रहो, तो उसके नीचे से जल निकल ही आवेगा। व्यापार में कहाँ रुपये पैसे छिपे हैं, इसे कौन देख सकता है, किन्तु उद्योग करने से व्यापार से आजीविका प्राप्त हो ही जाती है। इसी प्रकार जगत् में आप दिखायी नहीं देते, किन्तु साधकगण, सच्ची भावना से विशुद्ध बुद्धि द्वारा इसी जगत् में आपका साक्षात्कार करके सुखी होते हैं और आपका विविध भाँति से वर्णन करके सभी को सुखी करते हैं।

हे पद्मनाभ! जैसे वनगज चारों ओर अग्नि लग जाने से

अशान्त हो जाता है, झुंझलाने लगता है, किन्तु यदि वह दौड़कर पतितपावनी मुनिमनहारिणी गंगाजी के बीच में चला जाता है, तो उसका सभी ताप संताप शान्त हो जाता है। हम भी अधिकार पाकर अधिकारों के रक्षा की चिन्ता मे सदा जलते रहते हैं, किन्तु आज आपका दर्शन पाकर हम सब सुखी हुए हैं, गंगाजी जिनके चरणों का धोवन मात्र हैं, ऐसे आपके दर्शनों से हमें परमानन्द की प्राप्ति हुई है।

नाथ! हम सब तो स्वार्थी हैं। हे बाहर भीतर समानभाव से रहने वाले भगवन्! हम सब देवता, लोकपाल जिस कार्य के निमित्त आपके चरणों में उपस्थित हुए हैं, वह कार्य पूर्ण होना चाहिये। आप पूछेंगे- वह कार्य बताओ तो सही, अपना अभिप्राय व्यक्त तो करो। किन्तु स्वामिन्! कहें तो उसे जो जानता न हो, आप तो घट-घट के वासी हैं, सबके भीतर बाहर की सभी बातें जानते हैं,सबकेमनोगत भावों को पहिचानते हैं। हम सबको भी जानते हैं, जानते क्या हैं हम तो आपके अंश ही हैं अंशी तो आप ही हैं ये सभी लोकपाल, समस्त देवता सभी प्रजापति मैं ब्रह्मा, ये महादेव जी तथा अन्य मनु आदि सभी इसी प्रकार हैं जैसे अग्नि से उत्पन्न विस्फुलिंग। विस्फुलिंग अग्नि से पृथक् नहीं है। यदि वे अपना पृथक् अस्तित्व समझें तो उनका कल्याण नहीं हो सकता।

स्वामिन्! अब अधिक आपसे क्या निवेदन करें, आप सबके हिताहित की बात जानते हैं, जिस कार्य से आप सब देवता प्रजापति मनु, ऋषि मुनियों का भला हो, ब्राह्मणों का भला हो और सम्पूर्ण संसार का भला हो, वही कार्य कीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्मादि देवों की इस प्रकार स्तुति करने पर भगवान् ने उन्हें समुद्र मन्थन की सम्मति दी।

देवता तथा असुर मिलकर समुद्र मन्थन करने लगे। समुद्र मंथन करने पर सर्वप्रथम उसमें से हालाहल विष उत्पन्न हुआ। अब उस विष को कौन पान करे? भगवान् विष्णु की सम्मति से समस्त देवतागण, भगवान् भोलेनाथ नीलकण्ठ शङ्कर के समीप गये। वहाँ जाकर उन्होंने शिवजी की जैसे स्तुति, की उस स्तुति का वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब समाहित चित्त से उसे श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

पद्मनाभ! लखि मुदित भये तव पद पङ्कज-रज।
ज्यों दावानल जरत गंगतट सुखी होहि गज॥
इच्छा पूरन करें आपु घटघट की जानें।
हैं हम सब प्रभु अंश पृथक् अपने कूँ मानें॥
अजित कहैं—"मन्थन उदधि, करो अमृत हित सकल तुम।
मथन करें सुर असुर जब, भयो भयंकर विष प्रथम॥

पद

दरस करि मुदित भये हम सबहीं।
बार बार बन्दै पद पङ्कज, सङ्कट हमरे हरहीं॥१॥
जग पालक रक्षक संहारक, तुम अज हरि शङ्करहीं।
सगुनरूप अतिशय मनमोहक, तुम ही हो निरगुनहीं॥२॥
घरसन, दोहन, करपन करिकें, मिलत अगिनि पय कनहीं।
काठ, धेनु, पृथ्वी तैं पावें, तम विषयनि तैं तुमहीं॥३॥
हम सब अंश आपु हो अंशी, जानत सबके मनहीं।
जाते होहि विप्र सुर कारज, करें नाथ सो अबहीं॥४॥

प्रत्यक्षकृत अजित स्तुति

ब्रह्मोवाच

अजातजन्मस्थितिसंयमाया,
गुणाय निर्वाणसुखार्णवाय ।
[illegible] नमो नमस्ते ॥१॥

रूपं तवैतत् पुरुषर्षभेज्यं,
श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ।
योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्,
पश्याम्यमुष्मिन्नु ह विश्वमूर्तौ ॥२॥

त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत्,
त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे ।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं,
घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥३॥

त्वं माययाऽऽत्माश्रयया स्वयेदं,
निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः ।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो,
गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः ॥४॥

यथाग्निमेधस्यमृतं च गोषु,

भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम् ।
योगैर्मनुष्या, अधियन्ति हि त्वां,
गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति ॥५॥

तं त्वां वयं नाथ समुज्जिहानं,
सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थम् ।
दृष्ट्वा गता निर्वृतिमद्य सर्वे,
गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः ॥६॥

स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला,
वयं यदर्थास्तव पादमूलम् ।
समागतास्ते बहिरन्तरात्मन्,
किं वान्यविज्ञाप्यमशेषसाक्षिणः ॥७॥

अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये,
दक्षादयोऽग्नेरिव केतवस्ते ।
किं वा विदामेश पृथग्विभाता,
विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम् ॥८॥

विषपान करनेको भूतभावन भवानीपति की स्तुति

(६६)

देवदेव महादेव भूतात्मन्भूतभावन ।
त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद् विषात् ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० ७ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

कौन करै विष पान कहें हरि जाओ हरषै ।
मिलि सब सुरगन गये तुरत कैलाश शिखर पै ॥
इस्तुति करिबे लगे जयति जय सुखकर शङ्कर ।
हम सुरगन अति दुखित भयो विष प्रकट भयंकर ॥
आपु जनक,पालक,प्रभो ! हरि,हर,अज, मनु सकलसुर ।
प्रकृति, प्रान, मन, करन धी, सत्य,धरम,ऋत चर अचर ॥

प्रकृति में जहाँ संघर्ष है, मंथन है, वादी प्रतिवादी दोनों मिल कर अपने स्वार्थ साधन के निमित्त एक स्वार्थ में रत होते हैं, उस संघर्ष में सबसे पहिले विष उत्पन्न होता है, महर्षियों

---

* विषपान के निमित्त देवतागण शिवजी की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—हे देवदेवेश ! हे महादेव ! हेभूतात्मन् ! हे भूतभावन ! आप हम सब शरण में आये हुए शरणागतों की त्रैलोक्य को अपने विषसे जलाने वाले इस हालाहल से हमारी रक्षा करो ।

ने भी जब राजा वेन के शरीर का मन्थन किया तो सर्वप्रथम पाप पुरुष पैदा हुआ तदनन्तर महाराज पृथु उत्पन्न हुए। अमृत के पूर्व विष होता है, अमृत के इच्छुक तो सभी हैं, जो प्रसन्नता से विषको पीजाय और किसी पर अपनी बलपूर्वक महत्ता को न लादना चाहे, वही महान् है, वही समस्त देवों का ईश्वर महेश्वर है, वही सर्वश्रेष्ठ और सर्वपूज्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अजित भगवान् की आज्ञा से जब असुरों और सुरों ने मिलकर मन्दराचल से समुद्र का मंथन किया और सर्व प्रथम विष उत्पन्न हुआ, तो अजित भगवान् की सम्मति से सभी सुरगण मिलकर देवाधिदेव सतीपति कैलाशवासी भगवान् शंकर के समीप गये। सबने भगवान्को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और सभी भगवान् भोलेनाथ की स्तुति करने लगे।

शिवजी की स्तुति करते हुए समस्त प्रजाओं के पति देवता गण कहने लगे—"हे समस्त देवताओं से अधिक दीप्तिवाले ! हे सम्पूर्ण सुरोंमें सर्वश्रेष्ठ ! हे सभी प्राणियों के आत्मस्वरूप ! हे भूतभावन् ! हे चराचर जगत को प्रलय करने वाले ! समुद्र मथते समय सर्व प्रथम विष उत्पन्न हुआ है, प्रभो ! हम उद्योग तो कर रहे थे अमृत के निमित्त और उत्पन्न हो गया विष। विष भी साधारण नहीं है, अत्यन्त तीव्र हालाहल विष है, इसकी विषैली लपटों से हम सब जले जा रहे हैं। इसीलिये आपकी शरण में आये हैं। आप शरणागतवत्सल हैं, शरण में आये हुए पापी प्राणियों का भी हे पशुपति ! आप पालन करते हैं, अतः हम भयभीत शरणागतों की भी आप रक्षा करें।

प्रभो ! आप चाहे जिसे बन्धन में पड़ा रख सकते हैं, आप चाहे जिसे विमुक्त बना सकते हैं, क्योंकि बन्धन तथा मोक्ष

के आप ही एकमात्र स्वामी हैं, ईश्वर हैं, प्रभु हैं, अधीश्वर हैं। आपसे बढ़कर कोई दूसरा देव नहीं। इसीलिये कुशल पुरुष आप ही प्रपन्नार्तिहर शरणागत प्रतिपालक जगत्गुरु प्रभु की प्रेमपूर्वक पूजा किया करते हैं, आपकी अर्चना करते हैं, आपके ही गुण गाते हैं, आपकी ही अनन्य भाव से स्तुति करते हैं।

हे विभो! यह त्रिगुणात्मिका माया आप की चेरी है। आप जब इसके आश्रय से जगत् की रचना करना चाहते हैं, तो स्वतः ही ब्रह्मा बनके इस जगत् को बातकी बातमें रच देते हैं, जब आप की इच्छा इसके पालन पोषण की होती है, तो तुरन्त विष्णु बनके अपने ही रचे जगत् का आप ही पालन करते हैं। जब अन्त में संहार की इच्छा होती है, तो रुद्र रूप रखकर अपने ही द्वारा उत्पन्न किये,अपने ही द्वारा पालेपोसे जगत् का संहार भी करदेते हैं। न आपको उत्पत्ति पालन में सुख और न संहार कार्यमें दुःख। यह गति धाराप्रवाह से चलती ही रहती है। दूसरों का ज्ञान किसी के आश्रय से होता है, किन्तु आपको ज्ञानके लिये किसी अन्य का आश्रय लेना नहीं पड़ता। आपसे अन्य कोई है भी तो नहीं। अतः आप स्वतः सिद्ध हैं। आप स्वदृक् हैं। समस्त रूप आपके हैं, सभी नाम आपके हैं। देवता भी आप के ही रूप हैं, आपने ही देवताओं का वेश बना लिया है। मनुष्य, पशु, पक्षी, तिर्यक्, लता, गुल्म तथा जितने चराचर जीव हैं, सबके उत्पत्ति स्थान आप ही हैं। आप गुह्यातिगुह्य हैं, परात्परतर परब्रह्म परात्मा आप ही हो। सम्पूर्ण जगत के एक अधीश्वर आप ही हैं, आप अपनी असंख्य शक्तियों द्वारा असंख्य रूप रखकर चराचर जगत् के रूप में प्रतीत हो रहे हो। समस्त ज्ञान वेदों द्वारा उपलब्ध होता है, वे सम्पूर्ण वेद आपसे उत्पन्न हुए हैं, वेदों के आदि स्रोत आप ही हैं। प्रकृति में आपकी प्रेरणासे क्षोभ होने पर तीनों गुणोंकी

साम्यावस्था समाप्त होने पर जो सर्व प्रथम तत्व हुआ वही महत्तत्व कहलाया, वह महत्तत्व आपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। महत्तत्व से ही सात्विक अहंकार राजस अहंकार और तामस अहंकार इस प्रकार त्रिविध अहंकार की उत्पत्ति हुई, वह भी आप ने ही तीनों रूप रख लिये। फिर त्रिविध अहंकार से ही मन, समस्त इन्द्रियाँ, पंच भूत, पंचतन्मात्रायें तथा पंच प्राण इन सबकी उत्पत्ति हुई। इन सबके भी कारण आप ही हैं। जैसे बीज से अंकुर, स्कन्ध, शाखा, पत्ती फूल फल उत्पन्न होते हैं। शाखायें उपशाखायें, पत्ते तथा फूल जिस प्रकार वृक्ष से भिन्न नहीं उस प्रकार ये सब प्रकृति की विकृति आपसे भिन्न नहीं। सबको कल न करने वाला काल आपका ही स्वरूप है। संकल्प आप के ही द्वारा उठता है। वह भी आपसे भिन्न नहीं। समस्त विश्व को धारण करने वाला धर्म आपका ही स्वरूप है, क्योंकि सबको धारण आप ही कर सकते हैं। सत्य तथा सूनृता वाणी ऋत आपही हैं। इस प्रकृति से यह सम्पूर्ण प्रपञ्च हुआ है, उस प्रकृति को भी परावर विद्या में पारङ्गत पंडित गण आप के ही आश्रित कहते हैं। उनका कथन है, कि जैसे बीज के बिना भूमि का उर्वरापन, प्रकाश, जल ये वृक्ष बनाने में समर्थ नहीं उसी प्रकार आपके बिना प्रकृति कुछ कर ही नहीं सकती। वह तो स्वयं जड़ है, आप ही उसको प्रजनन शक्ति प्रदान करते हैं, वह तो सर्वथा आप के आश्रित है।

हे विराट् स्वरूप! संसार में जो भी कुछ सुना जाता है। देखा जाता है तथा अनुभव किया जाता है सब आप ही हैं। आप विश्वरूप हैं। यह जगत् ही आपका मूर्त रूप है। स्वर्ग ही आपका सिर है। सबको भक्षण करने वाले, सब देवताओं को हव्य पहुँचाने वाले सर्व देवमय अग्निदेव ही आप

का मुख है, उसीसे आप खाते हैं। लोग आपको पंचमुख कहते हैं। सुनते हैं, पहिले ब्रह्माजी के भी पंच ही मुख थे, आप ने उन्हें चतुर्मुख बना दिया। तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान ये जो पाँच उपनिषदें हैं जिनसे अड़तीस मंत्रों का समूह उत्पन्न हुआ है, वे पाँच उपनिषदें ही मानो आपके पाँच मुख हैं। ये दिशायें ही आपके सुनने वाले कान हैं, सूर्य नेत्र हैं। आपको त्रिनेत्र कहते हैं, आपके प्रत्येक मुख में तीन नेत्र हैं, सो सत्व, रज और तम ये तीनों गुण ही आपके तीन नेत्र हैं। वायु आपकी श्वास है। वरुण आपकी रसना है। आकाश नाभि है। समुद्र आपकी कुक्षि है। पृथिवी आपका चरण है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये वेद की सात छंद ही आपकी सप्त धातुयें हैं। जल ही आपका वीर्य है, समस्त उच्च नीच जीवों का जो आश्रय है वही अहंकार है। समस्त पर्वत ही आपका अस्थि समूह है। जितनी ओषधियाँ जिन्हें खाकर चराचर जीव जीते हैं, वे समस्त ओषधियाँ तथा लतायें आपके रोम हैं। धर्म आपका हृदय है, शिव नामक जो स्वयं प्रकाश परमार्थ तत्व है वही मानो आपकी उपरत अवस्था है। अधर्म आप की छाया है, जिनकी दम्भ लोभ, पाखण्ड आदि तरंगों के द्वारा नाना प्रकार की सृष्टि होती है गायत्री आदि छन्दों वाला जो सनातन वेद है वही आपका ईक्षण है, देखना है, आप स्वयं सांख्यमूर्ति हैं, शास्त्रकर्ता हैं, आपका विचार ही वेद है।

हे कैलासपते! आपकी महिमा अचिन्त्य है, क्योंकि जीव तो त्रिगुण के विषय में ही सोच सकता है, और आप हैं गुणातीत। सत्व रज तथा तम का लेशमात्र भी आपमें नहीं है। आपमें छोटे, बड़े, ऊँच नीच तथा सम विषम किसी भी प्रकार का भेदभाव है ही नहीं। इसीलिये तो समस्त देवतागण, लोकपाल

मनु, प्रजापति, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु तथा कोई भी देव आपकी महिमा का पार नहीं पा सकते । प्रभो ! जो काम सबको पीड़ा देता था, सबको व्यथित बना देता था, उस कामदेव को आपने क्षण में नष्ट कर दिया । त्रिपुरासुर ने आकाश में तीन पुर बना कर देवताओं को अत्यन्त क्लेशित कर रखा था कोई उन तीनों पुरों को नष्ट करने में समर्थ ही नहीं होता था, किन्तु आपने उन तीनों पुरों को नाश करके सभी के दुखों को दूर कर दिया, तभी से आप त्रिपुरारि के नाम से प्रसिद्ध हुए। अब हे शङ्कर ! इस कालकूट विष से भी हम सबकी रक्षा कीजिये। इसके भय से भयभीत बने हम सबको अभय प्रदान कीजिये।

हे त्रिपुरान्तकारी ! हे कामारि ! इन छोटे छोटे कार्यों को कहकर हम आपकी स्तुति नहीं कर रहे हैं। आपकी स्तुति यह हो भी क्या सकती है, जो पहाड़ों को उड़ा ले जाय, उससे कहो, कि आपने एक तृण को हटा दिया, तो यह स्तुति न होकर निन्दा ही है, जब प्रलय काल में आप इतने बड़े विश्व ब्रह्माण्ड को तीसरा नेत्र खोलकर भस्म कर देते हैं, तो आपके लिये तीन पुर तथा काम आदि का भस्म करना कौन सी बड़ी बात है ?

स्वामिन् ! कुछ लोग कहते हैं, आप तो नरमुण्ड धारण करके श्मशान में वास करते हैं, चिताभस्म लगाकर तांडव नृत्य करते हैं, भगवती उमादेवी के साथ आसक्त होकर रमण करते हैं, नग्न रहते हैं, अशिव रूप रखकर भूतप्रेत, पिशाचों के संग क्रीड़ा करते हैं, ऐसे अज्ञ जो आपको कामासक्त तथा क्रूर कहते हैं वे अज्ञ हैं, निर्लज्ज हैं, उन्होंने आपके रहस्य को समझा नहीं । आपके यथार्थ तत्व से वे अल्पज्ञ, अनभिज्ञ हैं। आप तो स्वयं साक्षात् शिव स्वरूप हैं । बड़े बड़े आत्मा में रमण करने वाले आप्तकाम गुरुजन ऋषि मुनिगण अत्यन्त

श्रद्धा भक्ति के सहित आपके युगल अरुण चरणों का निरन्तर ध्यान करते रहते हैं।

स्वामिन्! आपके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह जो कार्य कारण रूप दृश्य जगत् है, इसका कारण माया है, माया के ही द्वारा इस जगत् की रचना है, जगत् से परे माया है और माया से भी परे आप हैं,आप मायातीत हैं,महेश्वर हैं ब्रह्मादिक देव भी जब आपकी स्तुति करने लगते हैं, तो सहसा सहम जाते हैं क्योंकि आप तो भूमा हैं, क्या कहकर किन शब्दों में वे आपकी स्तुति करें। जब हम सबके पितामह ब्रह्माजी की यह दशा है, तो हम सब तो उनके पुत्रों के पुत्र पौत्र हैं, हम किस प्रकार स्तुति करने में समर्थ हो सकते हैं। इतना सब होने पर भी आपकी स्तुति से कोई उपरत नहीं हुए। सभी ने यथाशक्ति, यथामति आपकी स्तुति की ही है। इसी प्रकार हमने भी अपनी अल्प शक्ति के अनुसार आपका गुणगान किया ही है। वह चाहे जैसा हो। आप गुणातीत हैं, निर्गुण हैं, निराकार हैं। आपका न यथार्थ कोई रूप है न कोई निश्चित आकार ही। फिर भी प्रभो! हम सब तो सगुणोपासक हैं आपका जो भस्मायगुंठित पंचवक्त्र त्रिनेत्र आदि दिव्य साकार स्वरूप है यही हमको अत्यन्त प्रिय है, उस निर्गुण निराकार रूप को देखने में तो हम समर्थ नहीं। आप विश्व के कल्याणार्थ अव्यक्त से व्यक्त बनकर निर्गुण से सगुण होकर तथा निराकार से साकार रूप रखकर सदा सर्वदा सभी के संकटों को शमन करते रहते हैं, इस समय हमारे ऊपर भी संकट आ गया है। समुद्र में से यह हालाहल विष निकल कर हमसबको महान् कष्ट दे रहा है,आप इसका पान करके हम शरणागतोंके दुःख को दूर कीजिये हम भयभीतों के भय का भंजन कीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवता तथा

स्तुति सुनकर सतीजी की सम्मति लेकर शिवजी समुद्र तटपर गये और उस विष को पान कर गये। यह मैंने आपसे शिवजी की स्तुति कही। अब अमृत वितरण करने के लिये जैसे भगवान् ने मोहिनी रूप रखा और उसकी प्रशंसा सुनकर उस रूप के दर्शनों के लिये शिवजी ने जैसे भगवान् विष्णुकी स्तुतिकी उस कथा प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

पद भू गिरि सब अस्थि वरुन रसना है भगवन।
करन दिशा गतिकाल अगिनि मुख शशि है तव मन॥
जल वीरज तव नेत्र नाभि आकाश पुरारी।
स्वास वायु सिर स्वरग छंद सब धातु तिहारी॥
सब सुरगुन प्रभु सर्व मय, नहिं मन वाना विषय तुम।
होहिं अवतरित जगतहित, आये सब सुर शरन हम॥

पद

भोला! विष को गोला खाओ।
सबके स्वामी अन्तरयामी सबकूँ अभय बनाओ॥१॥
तुम हरिहर अज सुर परजापति, तुम ही शिव कहलाओ।
तुम ही प्रकृति पुरुष परमेश्वर, जगकूँ तुमहि बनाओ॥२॥
तुम विराट विश्वेश विधाता, विधिकूँ वेद बताओ।
जल वीरज तुमरो शंकर हर, तातें सृष्टि रचाओ॥३॥
जब जब विपति परति है हम पै, तब तब दरश दिखाओ।
दुखित सकल सुर परे विपति में, विपतें त्रिभो! बचाओ॥४॥

शिव स्तुति

प्रजापतयऊचुः

देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन ।
त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद् विषात् ॥१॥
त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥२॥
गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान्विभो ।
धत्से यदा स्वदृग् भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ॥३॥
त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनः ।
नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जगदीश्वरः ॥४॥
त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा,
प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः ।
कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्मः,
त्वय्यक्षरं यत् त्रिवृदामनन्ति ॥५॥
अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा,
क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपंकजम् ।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो,
दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ॥६॥
नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान्,

सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः ।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा,
सोमो मनो द्यौर्भगवंशिरस्ते ॥७॥
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा,
रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते ।
छन्दांसि साक्षात् तव सप्त धातवः,
त्रयीमयात्मन् हृदयं सर्वधर्मः ॥८॥
मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश,
यस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ।
यत् तच्छिवाख्यं परमार्थतत्त्वं,
देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते ॥९॥
छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो,
नेत्रत्रयं सत्वरजस्तमांसि ।
सांख्यात्मनः शास्त्रकृतस्तवेक्षा,
छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः ॥१०॥
न ते गिरित्राखिललोकपाल,
विरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् ।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च,
सत्वं न यद् ब्रह्म निरस्तभेदम् ॥११॥
कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेक,
भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न तत् ते ।

यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्र,
वह्निस्फुलिंगशिखया भसितं न वेद ॥१२॥
ये त्वात्मरामगुरुभिर्हृदि चिन्तिताङ्घ्रि,
द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम् ।
कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने,
ते नूनमूतिमविदंस्तव हातलज्जाः ॥१३॥
तत् तस्य ते सदसतोः परतः परस्य,
नाञ्जः स्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः ।
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयं तु,
तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम् ॥१४॥
एतत् परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर ।
मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः ॥१५॥

श्रीशिव कृत विष्णु स्तुति

(६७)

देवदेव जगद् व्यापिञ्जगदीश जगन्मय ।
सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० १२ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

रूप मोहिनी दरश हेतु हर हरिढिंग आये ।
करिकें दण्ड प्रनाम विनययुत वचन सुनाये ॥
हे जगमय ! जगदीश जीव जगजाल फँसाओ ।
करम चक्रमहँ डारि सबनि भव विवश घुमाओ ॥
ब्रह्म कहैं कोई धरम, परमेश्वर पर पुरुष नर ।
मनबानी के विषय नहिं, प्रभु अचिन्त्य अज अजित वर ॥

भगवान् कभी कभी विनोद के लिये पुरुष से प्रकृति का रूप रख लेते हैं, जो प्राणों के साथ रमण करते हैं, अर्थात् शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, वे भगवान् की इस क्रीड़ा को

---

* मोहिनी रूप देखने की इच्छा से श्री शिवजी भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे देवाधिदेव ! हे जगद्व्यापिन् ! हे जगदीश ! हे जगन्मय ! आप सम्पूर्ण भावों के आत्मा हैं, हेतु हैं तथा ईश्वर हैं ।"

देखकर मोहित हो जाते हैं। उस काममयी क्रीड़ा का विवेकी चिन्तन करते हैं, तो उनकी उसमें आसक्ति हो जाती है, केवल कौतूहल के निमित्त उसे देखना चाहते हैं, देखने पर उसमें आसक्त हो जाते हैं। भगवान् का सहारा होने से कुछ देर में उसका रहस्य समझ जाते हैं,चेत हो जाता है, यदि भगवान्का सहारा न हो तब तो बुद्धि भ्रंस होकर पतन ही हो जाता है, इसीलिये ऋषियों ने इस बात पर बारम्बार बल दिया है, कि जो भी कार्य करो सभी के पूर्व प्रभु की प्रार्थना करो और भगवान् को सम्मुख रखकर ही सब कार्यों को करो फिर तुम्हें दोष नहीं लगेगा। भगवान स्वयं ही उबार लेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! असुरों को मोहित करने के लिये तथा सुरों को अमृत पिलाने के लिये भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप रखा था। असुरों को लटका दिखाकर उनसे अमृत हथिया कर देवताओं को भर पेट अमृत पिलाकर और असुरों को सींग दिखाकर भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये यह समाचार शिवजी ने सुना तो उनकी भी इच्छा हुई कि चलकर देखें भगवान् नर से नारी कैसे बने। इच्छा होते ही पार्वती जी को साथ लेकर नादिया पर चढ़कर वैकुण्ठ में गये। शिवजी तो वैष्णव शिरोमणि हैं, अतः सबसे पहिले जाकर भगवान् विष्णु की स्तुति करने लगे।

भगवान् की स्तुति करते हुए शिवजी कह रहे हैं—"हे जगदीश ! आप सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हैं। आपको कहीं न आना है न जाना है, आप जब जहाँ चाहें तब तहाँ ही प्रकट हो सकते हैं। जैसे सर्वव्यापक अग्नि जहाँ चाहे संघर्ष से प्रकट हो जाती है। प्रकट होना क्या आप तो जगन्मय हैं। यह चराचर जगत् ही आपका स्वरूप है। संसार में जो भी भाव हैं, सब आपके

ही आश्रय से उठते हैं, ठहरते हैं सबके आधार आश्रय आत्मा आप ही हैं। सबके हेतु कारण भी आप ही हैं, सबके ईश्वर सर्वेश्वर जगदीश्वर विश्वेश्वर आप ही हैं।

प्रभो ! यद्यपि आप जगन्मय हैं, किन्तु जगत् में और आप में भी कुछ अन्तर है। यह जगत् आप नारायण से जल में बुद् बुद की भाँति उत्पन्न होता है, स्थित रहता है और अन्त में विलीन भी हो जाता है। इसका आदि भी है मध्य भी है, और अन्त भी है, किन्तु आपका न आदि है न मध्य है और न अन्त ही है। आप आदि अन्त से रहित अनादि अविनाशी हैं। आप में यह दृश्यभाव नहीं है। अहं जो द्रष्टाभाव है उससे भी आप रहित हैं द्रष्टादृश्य से भिन्न जो भोक्तापना है वह भी आपमें नहीं है। भोग भी आपको नहीं कह सकते। सारांश यह कि आप द्रष्टादृश्य भोक्ताभोग सबसे परे सत् चित् तथा आनन्द स्वरूप परब्रह्म हैं। संसार में जिनको कोई कामना नहीं, कोई आशा नहीं जो सदा कल्याण कामना करते रहते हैं, जो निरन्तर श्रेय के मार्ग की ओर अग्रसर होते रहते हैं ऐसे मुनि-गण इहलोक तथा परलोक उभयलोकों के सुखों की आसक्ति त्यागकर आपके ही पादपद्मों की पूजा में संलग्न रहते हैं आपकी ही उपासना में निरत रहते हैं, ऐसे आपको वारम्वार प्रणाम है।

प्रभो ! आपका इस मायामय संसार से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं, संसार मर्त्यधर्मी है; आप अमृतमय हैं। संसार तीनों गुणों का पसारा है आप गुणातीत गुण रहित निर्गुण हैं। संसार में शोक, मोह, तथा विकार विद्यमान हैं आप निःशोक, आनन्द स्वरूप तथा निर्विकार हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं जहाँ आप व्याप्त न हों आप सर्वमय हैं आप इन समस्त मायिक गुणों के विकारों

से पृथक् तथा पूर्णब्रह्म हैं। इतना सब होते हुए भी इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय आपके ही आश्रय से होती है, आप ही इसके जन्म पालन तथा विनाश के एकमात्र कारण हैं। आप ही जगदात्मा तथा जगदीश्वर हैं। स्वयं आपको कोई अपेक्षा नहीं निरपेक्ष होते हुए भी जग के जीवों की अपेक्षा से उनके कर्मों के अनुसार शुभाशुभ फल देते हैं।

प्रभो! आपही द्वैत हैं तथा आपही अद्वैत हैं, आपही जगत् हैं, आपही ईश्वर हैं आपही कार्य हैं, आपही कारण हैं, आपही सत् हैं, आपही असत् हैं खान से निकला हुआ सुवर्ण सुवर्ण ही है जब वही सुवर्ण कुण्डल कंकण, कंठाभरण आदि अनेक रूपों में परिणित होकर नाना नाम रखकर नाना नाम रूपों में पृथक् पृथक् प्रतीत होने लगता है, तब भी उसके सुवर्ण पने में कोई अन्तर नहीं आता। आभूषण के कारण रूप सुवर्ण में और आभूषण बने कार्य रूप सुवर्ण में वस्तुतः कोई भेदभाव नहीं। अज्ञानी लोग ही उसमें भेदभाव मानकर विकल्प करते हैं। आप तो उपाधि से सर्वथा रहित हैं। यह जो भेदभाव की प्रतीति होती है, वह तो गुणों के ही कारण है आप निर्गुण निराकार नित्य निरंजन में भेदभाव सम्भव नहीं।

हे नाथ! भिन्न भिन्न वादों वाले आपको भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं। कोई तो आपको ब्रह्म कहते हैं। कोई कहते हैं आप धर्म स्वरूप हैं। धर्म कोई आपका रूप मानते हैं कोई प्रकृति और पुरुष से परे परमेश्वर कहकर आपको सम्बोधित करते हैं। कोई विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योग, प्रह्वी, सत्या, ईशाना, और अनुग्रहा इन नौ शक्तियों से युक्त परम पुरुष आपको बताते हैं, कोई आत्मतन्त्र अविनाशी महापुरुष आपको कहते हैं। इन सब नामों से आपकी ही उपासना पूजा की जाती है। जैसे जलको कोई पानी कहते हैं, कोई वारि कहते हैं, कोई पय कहते हैं कोई

नीर कहते हैं, कोई नार कहते हैं तथा कोई अन्य नाम से पुकारते हैं। किसी भी नाम से पुकारे । जो जिस नाम से पुकार कर जल का सेवन करते हैं जलतृप्ति तो सबकी समान भाव से करता है, वास्तव में देखा जाय तो आपका यथार्थ स्वरूप कोई जान ही नहीं सकते । और की बात पृथक् देवतागण जो सत्वगुण से उत्पन्न हुए हैं ब्रह्माजी उनके मरीचादि पुत्र तथा मुझे जो देवाधिदेव महादेव कहते हैं, हम सब भी आपकी तो बात ही क्या आपके रचे इस संसार को भी यथार्थ रूप से नहीं समझ सकते । फिर जो रजोगुणी तथा तमोगुणी प्रकृति वाले आपकी माया से मोहित हुए सदाचार से रहित दैत्य दानव तथा मनुष्य यह अहङ्कार करें कि हम भगवान् के यथार्थ रूप को जानते हैं तो वे अज्ञ हैं माया ने उनकी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है भला जो गुणों के अधीन हैं सदाचार से दूर हैं वे आपको जान ही कैसे सकते हैं।

हे सर्वज्ञ ! आपसे कोई बात छिपी नहीं है। आप घटघट की जानने वाले हैं। जैसे आकाश में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ वायु व्याप्त न हो, इसी प्रकार आप जगत् के अणु परमाणु में अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। आप सर्वात्मक हैं, सर्वव्यापक हैं, ज्ञान स्वरूप हैं आप चराचर प्राणियों की सभी प्रकार की चेष्टाओं को समझते हैं। संसार की स्थिति, जन्म और नाश का आपको पूर्ण ज्ञान है आप सभी प्राणियों के कर्म, बन्धन तथा मोक्ष से परिचित हैं ।"

शिवजी की स्तुति सुनकर भगवान् विष्णु मुसकराये और बोले—"शिवजी आज तो बड़ी लम्बी चौड़ी स्तुति हो रही है, बात बताइये। वर तो माँगिये।"

शिवजी ने कहा—"नहीं, महाराज ! कोई बात नहीं। आप तो क्रीड़ाप्रिय हैं, विनोद के निमित्त कभी कभी गुणों का आश्रय

लेकर आप अनेक अवतार धारण करते रहते हैं। मैं भी जब सुनता हूँ, कि अबके आप कछुआ बनकर समुद्र में तैरने लगे, कभी मछली बनकर विहार करने लगे, कभी ब्राह्मण बनकर भीख माँगने लगे, कभी वीर बनकर संहार करने लगे, कभी आधे नर और आधे सिंह बनकर दहाड़ने लगे, सुनते ही मैं आपके दर्शनों को दौड़ा जाता हूँ। मैंने आपके सभी अवतारों के दर्शन किये हैं। किन्तु अबके ही मैं पिछड़ गया। मैंने सुना आप अबके नर से नारी बन गये। आँखों में काजल और नाक में नथ पहिनकर अद्भुत अनुपम लटका दिखाया। मैंने सुना आपके उस अद्भुत अनुपम अनिर्वचनीय रूप को देखकर दैत्य दानव लोट पोट हो गये अपने आपे; को ही भूल गये। आपने उन अज्ञों को मोहित करके उनसे अमृत का कलश छीनकर देवताओं को अमृत पिला दिया। अमृत पिलाकर जब आप अन्तर्हित हो गये तब मुझे समाचार मिला। तभी से मेरे मनमें चटपटी लगी हुई है, कि आप स्त्री कैसे बने होंगे। कैसा आपका भुवन मोहनरूप रहा होगा। वैसे ही आप चराचर जीवोंको अपने सौन्दर्य माधुर्य से विमोहित कर लेते हैं, फिर जब वेणी हिलाते हुए मन्द मन्द मुसकराते हुए हावभाव कटाक्ष दिखाते हुए साड़ी ओढ़कर कड़े, छड़े, नूपुर, बिछिया पहिनकर मोहिनी बने होंगे, उस शोभा का तो कहना ही क्या ? तनिक उस रूप की झाँकी मुझे भी करा दीजिये। यह कहने को न रह जाय कि हमने और तो सब अवतारों के दर्शन किये मोहिनी अवतार के दर्शन नहीं कर पाये। मेरे मनमें बड़ा कुतूहल हो रहा है। मैंने मनको बहुत सम-

भाया कि भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं, मोहन से मोहिनी बन गये होंगे, किन्तु फिर भी मन माना नहीं। मैं अपने दर्शन के लोभ को संवरण कर नहीं सका। इसी निमित्त मैं यहाँ आया हूँ, उस अनुपम रूप की एक बार झाँकी मुझे करा दें। मेरे प्यासे नयनों को दर्शन रूपी अमृत पान करा दें। मेरे कुतूहल को शान्त कर दें मेरी अभिलाषा को पूर्ण कर दें। यही मेरी आपके चरणारविन्दों में प्रार्थना है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शिवजी ने जब ऐसी स्तुति की तब भगवान् ने अपना मोहिनी रूप दिखा दिया। मोहिनी रूप को देखकर जो कुछ हुआ उसकी कथा तो मैं भागवती कथा में वर्णन कर ही चुका हूँ, इस प्रकार मैंने यह शिवकृत विष्णुस्तुति आपसे कही। अब भगवान् व्यासजी ने जैसे मोहिनी जी की स्तुति की है, उसे मैं आपसे कहूँगा आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

हे मायेश महेश महामहिमा मनमानी।
पावैं पार न शेष शारदा शिव अज ज्ञानी॥
तुम सरवज्ञ सुविज्ञ सकल घटघट की जानों।
धरि अगनित अवतार अलौकिक तानो तानों॥

सुन्यो मोहिनी रूप धरि, असुरनिकूँ मोहित करयो।
करन चहूँ झाँकी मधुर, रूप मोहिनी प्रभु धरयो॥

पद

मोहन ! बने मोहिनी नारी ।
कजरारे कस नैंन नचाये, ओढ़ि पँचरँगी सारी ॥१॥
कड़े छड़े नूपुर धुनि करि कस, असुरनि बुद्धि बिगारी ।
ललना ललित लखायो लटका लट लटकाईं कारी ॥२॥
कैसे कमरि करधनी पहिनी कुचनि कंचुकी धारी ।
हार हमेल गुलीवँद धारयो माला मनिमय वारी ॥३॥
कमर लचाय कलश कस पकरयो, बानी बोली प्यारी ।
झाँकी मोइ कराओ केशव, चरनकमल बलिहारी ॥४॥

श्री शिव कृत विष्णु स्तुति

श्रीमहादेव उवाच

देवदेव जगद्व्यापिञ्जगदीश जगन्मय ।
सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥१॥
आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः ।
यतोऽव्ययस्य नैतानि तत् सत्यं ब्रह्म चिद् भवान् ॥२॥
तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः ।
विसृज्योभयतः सङ्गं मुनयः समुपासते ॥३॥
त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोकम् ,
आनन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत् ।
विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमानाम् ,
आत्मेश्वरश्च तदपेक्षतयानपेक्षः ॥४॥
एकस्त्वमेव सदसद् द्वयमद्वयं च,
स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः ।
अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो,
यस्माद् गुणैर्व्यतिकरो निरुपाधिकस्य ॥५॥
त्वां ब्रह्मकेचिदवयन्त्युत धर्ममेके,
एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम् ।
अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां,

केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥६॥
नाहं परायुरृषयो न मरीचिमुख्या,
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः ।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्यम्,
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः ॥७॥
स त्वं समीहितमदःस्थितिजन्मनाशं,
भूतेहितं च जगतो भवबन्धमोक्षौ ।
वायुर्यथा विशति खं च चराचराख्यं,
सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से ॥८॥
अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः ।
सोऽहं तद् द्रष्टुमिच्छामि यत् ते योपिद्वपुर्धृतम् ।९।
येन सम्मोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः ।
तद् दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः ॥१०॥

मोहिनी स्तुति

(६८)

असद् विषयमङ्घ्रि भावगम्यं प्रपन्ना-
नमृतममर वर्यानाशयत्सिन्धुमथ्यम् ।
कपटयुवति वेषो मोहयन् यः सुरारीं,
स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि ॥*
(श्रीभा० ८ स्क० १२ अ० ४७ श्लो०)

छप्पय

माया तैं जो बने मोहिनी मोहन माधव ।
बन्दन तिनिको करूँ अखिलपति अच्युत यादव ॥
कन्दुक क्रीड़ा करत हिलत कुच कंचुकि बन्धित ।
कोमल कटि अति हिलत वदन विधुचमचम चमकत ॥
कुण्डल काननि कनक के, छवि कपोल जगमग करत ।
मेटे मनको मैल प्रभु, जो विवेक असुरनि हरत ॥

भगवान् सर्वरस हैं। समस्त रसों की समस्तभाव अनुभावों की उत्पत्ति उन्हीं से हुई है। इसलिये सभी भावों में उन्हीं को देखना यही ज्ञान की भक्ति तथा योग की पराकाष्ठा है। भगवान् असुर

* मोहिनी भगवान् की स्तुति करते हुए श्रीशुक कहते हैं—"भगवान् श्रीहरि के चरणकमल केवल एकमात्र भक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं, असत् पुरुष उन्हें कभी प्राप्त नहीं कर सकते, उन चरणकमलों की शरण में जो

प्रकृति वाले पुरुषों को मोहित करने के निमित्त कभी वेदों का खण्डन करने लगते हैं, कभी यज्ञों से प्राणियों को हटाते हैं, कभी नास्तिकता का पाठ पढ़ाते हैं। उनके सभी रूपों में यही भाव है, कि अगुण पात्र के समीप गुण भी दोष बन जाता है, अनधिकारी यज्ञ करके भी अनर्थ ही करते हैं, दम्भी पुरुष आस्तिकता की आड़ में भी स्वार्थ सिद्धि करते हैं। अमृत जैसी पवित्र वस्तु को यदि असुर प्राप्त कर लेते तो उसके द्वारा वे संसार में अनर्थ की ही वृद्धि करते, अतः भगवान् ने उनके कामिनी का काम वर्धक आकर्षक रूप दिखाकर अमृत से वञ्चित कर दिया। अमृत के जो यथार्थ अधिकारी थे, उन्होंने भगवत् कृपा से अमृत प्राप्त कर लिया। उस रूप को देखकर कामासक्त पुरुष ही विमोहित होते हैं, जो सत्त्व प्रकृति के भगवत् भक्त हैं, वे तो उस शृङ्गार वर्धक रस में भी अपने प्रियतम को ही निहारते हैं और बारम्बार श्रद्धा भक्ति सहित उस रूप को प्रणाम करते हैं—

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने जो मोहिनी रूप रखा था, वह असुरों को अमृत से वंचित करने और सुरों को पिलाने के निमित्त रखा था। जो सात्विक पुरुष इस रूप को श्रद्धा सहित प्रणाम करते हैं और अपनी धर्म की पत्नी को छोड़कर अन्य महिलाओं में भगवत् बुद्धि करके मन ही मन प्रणाम करते हैं वे धर्म रूपी अमृत का स्वाद चखते हैं। अतः भगवान् के मोहिनी रूप को बारम्बार नमस्कार करना चाहिये। मन में कभी मोहिनी रूप का स्मरण हो आवे तो मन ही मन उनकी प्रत्येक चेष्टा को स्मरण करके पुनः पुनः ऐसे प्रणाम करे।

सुर समुदाय आया उसे जिन्होंने समुद्र मथन से प्राप्त अमृत ,पिलाया तथा जो शरणागतों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं, जिन्होंने माया से मोहिनी युवती का रूप रखकर देवद्रोही दानवों को विमोहित बनाया। उन श्रीहरि को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।"

हे मोहिनी भगवान् ! प्रभो ! आपके जो ये कमलदल के सदृश मंगलमय शुभ चिन्हों से चिन्हित अरुण वरण के अति आकर्षक मम पड़ने वाले मांसल चरण हैं, और इनमें जो छनछन करके वारम्वार बजते हुए नूपुर हैं, तथा इनमें रक्त वर्ण के परम शोभायमान जो कान्तिमय दशचन्द्रों के सदृश नख हैं, वे आपके भक्तों के तो हृदय के अज्ञान को दूर करते हैं,किन्तु जो अभक्त हैं, कामी हैं, वे उन शब्दायमान और कन्दुक के वेग के साथ धावमान इन पादपद्मों को देखकर विमोहित बन जाते हैं, वे इन्हें हृदय से लगाने को लालायित हो उठते हैं।

हे जनार्दन ! आपकी लोमरहित जानुओं की कमनीय के सम्बन्ध में कोई कथन ही क्या कर सकता है, लक्ष्मीजी अपने नूतन अशोक पल्लव के सदृश सुकोमल गुदगुदे करकमलों से शनैः शनैः दबाते दबाते भावावेश में आकर उन्हें चूमने लगती हैं, मानों उनकी अद्भुतता का ही अनुभव करने के निमित्त आपने यह श्री सखी सा रूप धारण करके इन जानुओं को प्रकटित किया है, जो कामियों के काम को उद्दीपित करने वाली तथा भक्तों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाली हैं।

हे उरुक्रम ! आपके उत्तमोत्तम उरुओं, कदली वृक्ष के समान चिकनी तथा चढ़ाव उतार की जंघाओं की शोभा अवर्णनीय है, वे कौशेयपीत से ढकी होने के कारण एक विचित्र ही वर्ण की दृष्टिगोचर हो रही हैं, तत्वतः वे कनककमल के वर्ण की हैं, उनपर अत्यन्त ही छोटे छोटे सुवर्ण वर्ण के अस्फुटित रोम हैं, रेशमी पीली साड़ी की उनपर आभा पड़ रही है, मानो तपाये सुवर्ण में सुचिक्कण सुवर्ण की आभा सम्मिलित कर दी हो। भक्तों के मनमें इनकी कोमलता और मनोहरता से सुख होता है, किन्तु कामियों के हृदय में तो ये उद्विग्नता उत्पन्न करती हैं।

प्रभो ! आपका जो उन्नत नितम्ब बिम्ब है, जो अतिक्षीण साड़ी से ढका है, जो कन्दुक क्रीड़ा के अवसर पर हिलते हुए एक दूसरे से संघर्ष करते हुए दायें बायें कुछ उभरे से गतिमान दिखायी देते हैं, वे भक्तों के हृदय में भव्यभाव भरते हैं और कामिनियों के अन्तःकरण में एक कामयुक्त टीस पैदा करते हैं, ऐसे आप जगन्मोहन के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे विश्वम्भर ! पीपल के पत्ते के सदृश चढ़ाव उतार का जो आपका पतला अत्यन्त क्षीण अत्यन्त मृदुल उदर है, वह त्रिवली से युक्त है, मानों भक्तों के तीनों तापों को मिटाने का प्रतीक है, वह उदर विश्व ब्रह्माण्ड का आश्रय रूप एक अत्यद्भुत अनुपम उपवन है, उसमें नाभिरूप सुन्दर स्वच्छ जीवनयुक्त सरोवर है, जिसमें से उत्पन्न हुए कमल से अजन्मा ब्रह्मा का जन्म हुआ है, वह नाभि सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड की जननी है, कामी उसकी कमनीयता पर लट्टू हो जाते हैं और आपके भक्त उसे वारम्बार नमस्कार करते हैं।

हे जगन्माता ! आपके जो ये सुवर्ण वर्ण के कंचुकी से ढके हुए परम कान्तियुक्त स्तनद्वय है, इन्हें कामी लोग रसआलय कहते हैं किन्तु हम तो इन्हें पुण्य पयोधर जगज्जीवन तथा अमृत परिपूर्ण श्रीफल ही समझते हैं, जिसका पान करके समस्त चराचर प्राणी जीवन धारण करते हैं, जीवनी शक्ति तो इन्हीं में सन्निहित है, जिन्हें पुत्रभाव से आपने अपने हृदय से सटाकर इस पय का पान करा दिया उन्हें पुनः संसारी माता के स्तन-पय का पान नहीं करना पड़ता। कन्दुक क्रीड़ा के समय हिलते हुए इन पयोधरों को देखकर कामियों का चित्त मदमत्त बन जाता है, वे इन्हें हृदय से सटाने को आकुल बन जाते हैं, जिससे उन्हें पुनः पुनः गर्भवास के क्लेश सहन करने पड़ते हैं। बिना इच्छा के

वात्सल्यभाव से आप स्वयं ही कृपा करके हृदय से सटाकर जिसे मुख में इसे दे दें उसी का जीवन धन्य है। वही इस भवसागर से पार हो सकता है।

हे कमनीयकण्ठ! आपका अत्यद्भुत कंठ जिसमें मणिमुक्ता युक्त अनेक आभूषण शोभा पा रहे हैं जो कण्ठ की शोभा न बढ़ा कर कंठ के कारण स्वयं ही शोभित हो रहे हैं, जिसमें चित्र विचित्र पुष्पों से युक्त वनमाला पड़ी हुई है, जो शंख के समान चढ़ाव उतार का है, जिसमें से अमृतमयी वाणी निसृत होती है, जो करोड़ों कोकिलों के कण्ठ को भी तिरस्कृत करने वाली है उस वेदमयी वाणी वाले कण्ठ का हम ध्यान करते हैं।

हे विशाल बाहो! आपकी जो चढ़ाव उतार की सुवर्णमयी मृणाल के समान विशाल बाहुएँ हैं, जिनमें पतली पतली उँगलियाँ शोभा दे रही हैं, उँगलियों के नखों की छटा से दशों दिशायें आलोकित हो रही हैं। कन्दुक को लेने के निमित्त जो दशों उँगलियाँ गोल कमल के समान दिखायी दे रही हैं, उनमें की अँगूठी के नग अपनी पृथक कान्ति प्रकटित कर रहे हैं। जो हिलते हुए जुड़ते और खुलते हुए अत्यन्त ही आकर्षित प्रतीत हो रहे हैं, कामी चाहते हैं वे दोनों मृणाल के सदृश विशाल बाहु हमारे कण्ठ का हार बन जायँ और भक्त चाहते हैं, वे अभय प्रदान करने वाले कर कमल हमारे माथे का स्पर्श करें।

हे कमलवदन! आपके जो ये उत्फुल्ल कमल के समान अपांगयुक्त कजरारे बड़ियारे विशाल नयन हैं, इनमें जो कमनीय कटाक्ष निहित हैं, वे कामियों के हृदय को तो तीक्ष्ण बाणों के सदृश वेधते हैं, किन्तु भक्तों के ऊपर तो ये अनवरत कृपा की वृष्टि करते रहते हैं। नयनों के ऊपर जो ये काली काली टेढ़ीटेढ़ी

भ्रुकुटी हैं, वे विषयासक्त नर पशुओं को दो प्रत्यञ्चा सी प्रतीत होती हैं, जिसकी चोट से वे लोट पोट हो जाते हैं, वे ही भ्रुकुटियाँ भक्तों के भवभय को भगाने में सदा सतर्क रहती हैं।

हे मदनमोहन ! आपके मुखारविन्द की जो यह मन्द मन्द मुसकान है, वह अपने आश्रितों के क्लेशों को दूर भगाने वाली है और कामियों को जगजाल में फँसाने वाली है। आपके मुख में जो यह ताम्बूल की लाली है, वह भक्तों के लिये आपका अनुराग है और कामियों के लिये राग है, आपकी जो शुभ्र स्वच्छ दन्तावली है, वह भक्तों के सदाचार का प्रतीक है और कामियों के लिये हास परिहास का साधन है। आपके मुख में से जो दिव्य आकर्षक सुगन्ध आ रही है, उसे भक्तजन अग्निहोत्र की पावन सुगन्धि मानते हैं, किन्तु कामी उसमें सुरा की मादकता का अनुभव करते हैं।

हे क्रीड़ाप्रिय ! आपकी जो कन्दुक क्रीड़ा है, उसे कामी लोग सत्य मानते हैं और सत्य मानकर उसमें फँस जाते हैं, किन्तु जो आपके आश्रित हैं, प्रपन्न हैं, भक्त हैं वे उसे क्रीड़ा ही समझते हैं, इससे वे आपकी कृपा के अधिकारी बन जाते हैं उन्हें संसार बाधक नहीं होता। वे तो आपकी समस्त चेष्टाओं को क्रीड़ा ही मानते हैं।

हे सर्वरूप ! आप चाहे कच्छ बन जाओ चाहे मत्स्य, चाहे वामन बनो या परशुराम चाहे राम बनो या कृष्ण, चाहे मोहन बनो या मोहिनी वे तो सदा एक ही रूप से जानते और मानते हैं, अतः हे मोहिनी भगवान् ! आपको बारम्बार प्रणाम हो, हम आपके यथार्थ रूप को ही देखें ऊपर के कपट वेष में हमारा चित्त लुभायमान न हो जाय यही आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रार्थना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने मोहिनी स्तुति कही अब वामन भगवान् के प्रकट होने के लिये कश्यपजी ने उनकी माता अदिति को जैसे भगवान के पूजन का स्तोत्र बताया उसको मैं आपसे कहूँगा । आप सावधानी से श्रवण करें ।"

छप्पय

जग प्रवाह कूँ करन अखण्डित काम बढ़ावन ।
बनें मोहिनी कोटि मदनमोहन मनभावन ॥
प्रानी प्राननि पोसि परम सुख मैथुन मानें ।
ते बन्धन में बँधे देह कूँ सरबसु जानें ॥
माता दुहिता कामिनी, विविध वेष नटवर धरें ।
हम प्रभु जननी जानि तब, पदपदुमनि पुनि पुनि परें ॥

पद

मोहिनि ! तव चरननि सिर नाऊँ ।
जग जननी मन काम न आवे,नहिँ तव रूप लुभाऊँ ॥१॥
नहीं कामिनी मानूँ माता, नहिँ अघ मनमहँ लाऊँ ।
पद पदुमनि महँ परूँ पुलकि पय,प्रेम प्रसादो पाऊँ ॥२॥
कृपा कटाच्छ करो करुनाकरि, शिरकर कमल धराऊँ ।
पाऊँ प्यार अंक सुख पाऊँ, भवजलनिधि तरि जाऊँ ॥३॥
हूँ अबोध भटकत इतउत प्रभु, समरथ नहीं कहाऊँ ।
साधन भजन भक्ति नहिँ जानूँ, रोइ रोइ चिल्लाऊँ ॥४॥

श्री कश्यप कथित भगवत् स्तोत्र

(६९)

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे ।
सर्वभूत निवासाय वासुदेवाय साक्षिणे ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० १६ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

सुरनि विजय करि असुर भये राजा त्रिभुवन के ।
सुर जननी अति दुखित गई दिगपति चरनन के ॥
विनय करी जय सुतनि होहि व्रत सुगम बताओ ।
कश्यप बोले—करो पयोव्रत हरिहिय लाओ ॥
करि पूजा विनती करो, पुरुष पुरातन परावर ।
वृषभ धरम सब शक्तिधर, नारायन ऋषि रूपनर ॥

भगवान् की उपासना कभी व्यर्थ नहीं जाती । जो जिस भाव से भगवान् की उपासना करते हैं उन्हें उनके भाव की भगवान् उसी भाव से पूर्ति करते हैं । जो इस लोक की कामना

---

* कश्यपजी कहते हैं—"इस प्रकार भगवान् की स्तुति करे—"सर्वसाक्षी सर्वभूत निवास परम पूजनीय भगवान् वासुदेव के लिये नमस्कार है ।"

पूर्ति के निमित्त भी अन्य किसी असमर्थ पुरुष की शरण में न जाकर सर्व समर्थ श्रीहरि की ही शरण में जाते हैं; भगवान् उनकी इह लौकिक कामना तो पूर्ण करते ही हैं उन्हें संसार बन्धन से भी छुड़ा देते हैं। अतः इह लोक तथा परलोक की समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिये भगवान् का ही आश्रय लेना चाहिये उन्हीं की शरण में जाना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब युद्ध में असुरों ने देवताओं को हरा दिया और देवता श्रीहीन होकर स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर इधर उधर प्रच्छन्नवेष में विचरण करने लगे तब उनकी माता अदिति को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सेवा सुश्रूषा से अपने पति को प्रसन्न किया। भगवान् कश्यप ने जब उससे वर माँगने को कहा तो माता अदिति ने यही वर माँगा मेरे पुत्रों को पुनः स्वर्गीय श्री प्राप्त हो।"

इस पर पहिले तो मुनि ने भगवान् की मोह मयी माया को धिक्कारा फिर कहा—"प्रिये ! यदि तुम श्रीहरि भगवान् की श्रद्धा भक्ति से उपासना करोगी, तो वे तुम्हारे सभी मनोरथों को पूर्ण कर देंगे। तुम पयोव्रत करो।"

जब अदिति देवी ने पयोव्रत द्वारा भगवान की उपासना की विधि पूछी तो कश्यपजी ने बताया भगवान् की पूजा मूर्ति,वेदी, सूर्य, जल, अग्नि और गुरु जिस मूर्ति में अपनी श्रद्धा हो, वहीं करें। नित्य नैमित्तिक कर्मों से निवृत्त होकर स्वच्छचित्त से श्रद्धा पूर्वक पूजन करने बैठे। पूजन तो द्वादशाक्षर मन्त्र से करे। पूजन से पूर्व भगवान की स्तुति करें। स्तुति इस प्रकार करें।

हे प्रभो ! आप समस्त भूतों में वास करने से वासुदेव कहलाते हैं। अथवा समस्त भूत आप में ही निवास करते हैं। सबके

आलय आश्रय स्थान आपही हैं। आप सभी प्राणियों के साक्षी हैं। यह जगत पुरुष प्रकृति के संयोग से होता है, आप पुरुष से भी परे हैं और प्रकृति से भी परे हैं इसीलिये महापुरुष या पुरुषोत्तम कहलाते हैं। आप सर्वसमर्थ षडैश्वर्य सम्पन्न हैं। अतः हे भगवन्! आपको वारम्वार नमस्कार है।

स्वामिन्! कपिल रूप आपका ही है। कपिलावतार लेकर आप ने ही तत्वों की संख्या करने वाले सांख्यशास्त्र का प्रचार किया। जिसे अव्यक्त कहते हैं वह अनिर्वचनीय रूप आपका ही है। सूक्ष्मदर्शी लोग सद् असद् विवेकिनी बुद्धि द्वारा जिसका साक्षात् कार करते हैं वह सूक्ष्माति सूक्ष्म रूप आपका ही है। प्रकृति तथा पुरुष रूप भी आपका ही है। आपने ही चौवीस तत्वों की परि-संख्या की है उन तत्वों के आपही सम्यक ज्ञाता हैं। आपही इस संख्या गिनानेवाले तत्वों को वतानेवाले सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक हो अतः गुण संख्यान के हेतु भूत जो आप हैं। ऐसे आपको वारम्वार प्रणाम है।

स्वामिन्! धर्म रूप भी आपका ही है। सर्वश्रेष्ठ होने से ऋषभ या वृषभ भी आपको कहते हैं। वृषभ के सिर होता है सिर पर सींग होते हैं, सो आपके एक नहीं दो सिर हैं। धर्म के प्रधान कर्म रूप यज्ञ में जो प्रायणीय और उदयनीय दो कर्म होते हैं वे ही मानों आपके दो सिर हैं। प्रत्येक सिर में दो दो सींग होने से चार सींग हुए ये चारों वेद ही मानों आपके चार सींग हैं। साधारण वृषभ के चार पैर होते हैं। सत्ययुग में धर्म भी चार पैर वाला होता है। यज्ञयाग प्रधान त्रेता युग में धर्म के तीन ही पैर रह जाते हैं। प्रातःसवन माध्यन्दिन सवन और सायं सवन ये तीनों काल के तीन सवन ही मानों आपके तीन पैर हैं। साधारण वृषभ के हाथ नहीं होते, किन्तु आप तो यज्ञरूप वृषभ हैं। आपकी सप्तर्चि रूप जो सात

वाहुएँ हैं गायत्री, उष्णिक, वृहती, पंक्ति, अनुष्टुप, त्रिष्टुप और जगती ये सात छन्द ही मानों सप्त हस्त हैं। आप इनके द्वारा ही यज्ञ फल को ग्रहण करते हैं। वृषभ तो त्रिवृत की हुई रस्सी में बँधा रहता है सो वेद का मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प रूप तीन विद्यायें ही मानों आपके बाँधने की रज्जु है। वृषभ तो रँम्हाता है चिल्लाता है सो यज्ञ में ऋत्विज जो शास्त्रों का उच्चारण करता है, स्तुति पाठ करता है, वही आपका मानों रँम्हाना है ऐसे आप वृषभ रूप होने से श्रेष्ठ हैं, उत्तम हैं, महान् हैं, यज्ञ का फल दिया करते हैं इसलिये आप देव हैं यज्ञ स्वरूप हैं, आपको वारम्वार प्रणाम है।

हे भगवन्! आप शिव स्वरूप हैं कल्याणमय हैं। रुद्र रूप भी आपका ही है। संसार की समस्त शक्तियों को आप ही धारण करने वाले हैं। तथा संसार की जितनी विद्यायें हैं उनके भी एकमात्र अधिपति आप ही हैं। चर, अचर, स्थावर, जङ्गम जितने भी जड़ चैतन्य कहलाने वाले भूत वर्ग हैं उन सबके भी आप ही सर्व समर्थ स्वामी हैं ऐसे आप सर्वमय प्रभु के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे अनादि! हिरण्यगर्भ जो सृष्टि के आदि का रूप है। वह भी आपका ही रूप है। समस्त प्राणियों में जो जीवन शक्ति प्रदान करने वाले प्राण हैं। वह भी आप हैं आप प्राणों के भी प्राण हैं। स्वामिन्! सम्पूर्ण जगत् की आत्मा भी आप ही हैं, इस जगत् के एकमात्र आधार आप ही कहे जाते हैं। आपका शरीर क्या है मानो योग और ऐश्वर्य ने ही साकार स्वरूप रख लिया है योग के ईश्वर होने से आप योगेश्वर और षड्ऐश्वर्य से युक्त होने से आप ईश्वर और भगवान् कहलाते हैं। संसार में जितने प्रकार के योग हैं, उन सबके हेतु-कारण आप ही हैं। ऐसे सर्व शक्तिशाली सर्वेश्वर को हमारा वारम्वार नमस्कार है।

हे देवाधि देव ! इन्द्र, रुद्रादि देव तो पीछे उत्पन्न हुए इनकी उत्पत्ति तो सकारण है, किन्तु आपका कोई कारण नहीं आदि देव तो एकमात्र आप ही हैं। आप सबके सक्षी भूत हैं आपको नमस्कार है। आपका निवास क्षीर सागर में है नार ही आपका अयन स्थान है, इसीलिये आप नारायण कहलाते हैं। आप बदरिकाश्रम में तपस्या करने वाले ऋषि रूप रख कर साधना का रहस्य प्रकट करने वाले नर और नारायण मुनि भी आप ही हैं पापों को हरण करने वाले हरि भी आप ही कहलाते हैं, ऐसे आप अचिन्त्य रूप के पाद पद्मों मे पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो ! आप प्रणतों के क्लेश काटने के कारण केशव कहलाते हैं। आपका सुन्दर शरीर मरकत मणि के सदृश श्याम वर्ण का है। श्याम शरीर के ऊपर सुवर्ण वर्ण का सुहावना पीताम्बर आप धारण किये हुए हैं। संसार की सम्पूर्ण शोभा के आप एक मात्र स्थान हैं। ऐसे आप पीताम्बरधारी वनवारी वृन्दावन विहारी के युगल चरणों में बारम्बार नमस्कार है।

हे वरेण्य ! गायत्री मन्त्र द्वारा आपकी ही उपासना की जाती है, संसार में जितने भी शापानुग्रह में समर्थ वरदान देने वाले देव हैं आप उन सबमें सर्वश्रेष्ठ वरदाता हैं, जिस पुरुष को आप जो चाहे सो वर दे सकते हैं, इसीलिये विकार के हेतु उपस्थित होने पर भी जिनके मनमें विकार नहीं उत्पन्न होता ऐसे धीर वीर गम्भीर पुरुष सभी की आशा परित्याग करके आपके पादपद्म की पावन पराग का ही अश्रय लेते हैं, उसी की उत्तम रीति से उपासना करते हैं, उसी को अपनी जीवन मूरि समझते हैं, ऐसे आप विश्वविदित वरदाता के चरण कमलों की धूरिकी हम बारम्बार वन्दना करते हैं।

हे उपासना के एक मात्र आलय ! देवताओं की घ्राणेन्द्रिय में आपके दिव्य सुगन्धियुक्त पादपद्मों की सुवास समा गयी

है, तभी तो वे स्वर्ग के समस्त ऐश्वर्य को तुच्छ समझकर आपके चरण कमलों की उपासना की स्पृहा रखते हैं। यही दशा जगन्माता भगवती लक्ष्मी जी की है, उन्हें जब देखो तभी आपके नील कमल के सदृश कोमल अरुण चरणों को अपनी जंघा पर रखकर गुदगुदे हाथों की हथेलियों से सुहराती ही रहती हैं, सदा सर्वदा आप सर्वात्मा की सेवा में ही संलग्न बनी रहती हैं। जब उन चरण कमलों में इतना भारी आकर्षण है, कि चञ्चल चित्त वाली चंचला कहलाने वाली लक्ष्मी जी भी एक पल को उनका परित्याग करना नहीं चाहतीं, तो हम जैसे अकिंचनों की तो बात ही क्या है। हे भगवन्! हमारे ऊपर भी दया हो, हम पर भी कृपा दृष्टि की वृष्टि की जाय, हमें भी अपनी देव दुर्लभ पूजा का अवसर प्रदान किया जाय।

कश्यप मुनि अदिति देवी को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"हे देवि! ऐसे प्रार्थना करके फिर द्वादशाक्षर मंत्र से भगवान् की पाद्य अर्घ्य आचमनीयादि से सविधि पूजा करोगी तो भगवान् तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूर्ण करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार अपने पति की बतायी विधि से माता अदिति ने भगवान की पूजा की। उनकी पूजा से प्रसन्न होकर प्रभु प्रकट हुए। स्वयं ही उनके यहाँ अवतरित होने का आश्वासन देकर अन्तर्हित हो गये। वर देने के लिये भगवान के प्रकट होने पर भगवती अदिति ने जैसे भगवान की स्तुति की उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहता हूँ।"

छप्पय

नमो नमः शिव शक्ति सर्व कारन सब समरथ ।
यज्ञेश्वर अज रुद्र तत्व समझें न जथारथ ॥
मरकत मनि सम श्याम सुघर सुन्दर सुखकारी ।
हे वरेण्य वर वृषभ श्रेष्ठ पीताम्बर धारी ॥
धीर पुरुष कल्यान हित, पद पराग नित सिर धरें ।
सेवें सुर श्री सतत जिनि, करुनाकर किरपा करें ॥

पद

नमो नमः सन्तनि हितकारी ।
महामहिम सब भूतबास विभु, सांख्य शास्त्र परचारी ॥१॥
यज्ञमूर्ति हरि वृषभ शक्तिधर, विद्या बहु विस्तारी ।
देह योग ऐश्वर्यमयी जिनि, जगमय जग संहारी ॥२॥
नर नारायन ऋषी तपस्वी, बदरी विपिनविहारी ।
मरकत मनि सम श्याम सुघर अँग, वर पीताम्बरधारी ॥३॥
प्रभु पद पदुम पराग परसि प्रिय, भये मुक्ति अधिकारी ।
सो वरेन्य वरदाता सुरवर, विसरें सुधि न हमारी ॥४॥
जिनि चरननि विधि हर सुर सेवें, कमलाउर सुखभारी ।
बार बार बन्दौं तिनि प्रभुपद, जो अघहर सुखकारी ॥५॥

श्री कश्यप कथित भगवत् स्तोत्र

कश्यप उवाच

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे ।
सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे ॥१॥
नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च ।
चतुर्विंशद्गुणज्ञाय गुणसंख्यानहेतवे ॥२॥
नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे ।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ॥३॥
नमः शिवाय रुद्राय नमः शक्तिधराय च ।
सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः ॥४॥
नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय जगदात्मने ।
योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे ॥५॥
नमस्त आदिदेवाय साक्षिभूताय ते नमः ।
नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः ॥६॥
नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये ।
केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे ॥७॥
त्वंसर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ ।
अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते ॥८॥
अन्ववर्तन्त यं देवाः श्रीश्च तत्पादपद्मयोः ।
स्पृहयन्त इवामोदं भगवान् मे प्रसीदताम् ॥९॥

अदिति द्वारा भगवान् की स्तुति

(७०)

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य,
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥*

(श्रीभा० ८ स्क० १७ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

अदिति पयोव्रत करयो भये सन्तुष्ट मुरारी ।
प्रकट परावर भये चतुरभुज भवभयहारी ॥
सहसा सम्मुख श्याम निरखि सहमी सुरमाता ।
उठिकें इस्तुति करै जयति जय अग जग त्राता ॥
यज्ञ पुरुष अच्युत अलख, अविनाशी अज अखिल पति ।
उत्पति थिति लय हेतु हरि, विश्वम्भर प्रभु अगति गति ॥

शुद्ध चित्त और सच्ची लगन से यदि तीर्थ व्रत यज्ञ तथा अनुष्ठान द्वारा श्रीहरि की आराधना की जाय तो फिर

---

* भगवान् के वर देने के लिये प्रकट होने पर माता अदितिदेवी भगवान् की स्तुति करती हुई कह रही हैं—"हे यज्ञेश ! हे यज्ञपुरुष ! हे अच्युत ! हे तीर्थपाद ! हे तीर्थकीर्ति ! हे श्रवणमङ्गलनामधेय ! हे शरणागत आर्त हरोदय ! आदिपुरुष ! हे दीनानाथ ! हे भगवन् ! कल्याण करो ।"

भगवान् का सिंहासन डोलने लगता है वे अपने स्थान पर रह ही नहीं सकते, तुरन्त ही भक्त के सम्मुख प्रकट हो जाते हैं, क्योंकि वे तो अपने अनुगतों पर कृपा करने के लिये सदा सर्वदा कातर बने रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कश्यप जी से उपदेश ग्रहण करके देवमाता अदिति पयोव्रत का अनुष्ठान अत्यन्त ही भक्ति भाव से करने लगीं। उनके व्रत से सर्वान्तर्यामी श्री हरि अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। वे तुरन्त ही अपने शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी चतुर्भुज रूप से भगवती अदिति के सम्मुख प्रकट हो गये। उस समय की भगवान् की शोभा अत्यन्त ही कमनीय थी उसका वर्णन वाणी द्वारा हो ही नहीं सकता, वे तपाये हुए सुवर्ण के समान पीत वर्ण का रेशमी दुपट्टा अपने श्री अंगपर धारण किये हुए थे। पद्म के समान विशाल उत्फुल्ल नयन, पद्म के समान खिला हुआ अद्भुत आनन वक्षःस्थल में पद्म की माला धारण किये हुए पद्म के समान चारों हाथों में शंख, चक्र, और गदा के साथ पद्म को भी धारण किये हुए पद्मनाभ अपने पद्म के समान सुकोमल चरणों का दर्शन कराते हुए अदिति देवी के सम्मुख खड़े हो गये।

सहसा अपने सम्मुख सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को खड़ा देखकर माता तो भौचक्की सी रह गयी। वह निर्णय ही न कर सकी अब क्या करूँ, संभ्रम के साथ सहसा वह खड़ी हो गई और फिर दंडवत प्रणाम की। प्रणाम के अनन्तर स्तुति भी करनी चाहिये। किन्तु स्तुति करे कैसे उसका कंठ तो गद्गद हो गया था प्रसन्नता की प्रबलता के कारण उसका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। प्रयत्न करने पर भी वाणी बाहर नहीं निकलती थी, बड़े कष्ट से रुक रुक कर वह स्तुति करने लगी।

स्तुति करते हुए अदिति माता कहती हैं—"हे प्रभो! आप

तो यज्ञेश हैं, अत्यंत श्रम के साथ बहुमूल्य शुद्ध सामग्रियों से दीर्घकाल तक सविधि यज्ञ करने पर अत्यन्त ही कष्ट से आप यज्ञों में कभी कभी प्रकट होते हैं। सो मैं तो स्त्री हूँ यज्ञयाग तो मैं अकेले कर नहीं सकती। आप मेरे इस अल्प से व्रत के कारण अल्प आराधना से अल्प काल में ही इतने सन्तुष्ट हो गये, कि मुझे प्रत्यक्ष आकर दर्शन दिये,यह आपकी अपने अनुगतों के ऊपर अकारण अनुकम्पा ही है। अतः हे यज्ञ पुरुष! आप मेरा कल्याण करें।

हे भगवन्! आप अच्युत हैं आप अपने स्थान से कभी च्युत नहीं होते आप सदा सर्वदा स्वमहिमा में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। आप जो अवतरित होते हैं वह आपकी च्युति नहीं हैं आप तो सुर साधु गौ और ब्राह्मण तथा अपने आश्रितों के निमित्त अवतार धारण करते हैं। आपके चरणकमल तीर्थ स्वरूप हैं। इस चरण कमल का जिससे भी संसर्ग हो गया वही तीर्थ बन जाता है वही समस्त प्राणियों को पावन बनाने में समर्थ हो जाता है आपके पादपद्मों से प्रवाहित होने वाली भगवती गंगा समस्त प्राणियों के पापों को प्रशमन करने की सामर्थ्य रखती हैं, जो उनके समीप आता है। जो उनका दर्शन स्पर्श तथा पान करता है जो उनमें मज्जन करता है वही निष्पाप बन जाता है। आपके पादपद्मों का ही यह पुण्य प्रभाव है कि उनके संसर्ग से भगवती सुरसरि सर्व तीर्थमयी बन गयी हैं। ऐसे आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे पुण्यश्लोक! आपकी कीर्ति भी तीर्थरूपा है। आपके पादपद्मों के दर्शन पापियों को कहाँ हो सकते हैं, पादपद्मों से निसृता गंगा भी सर्वत्र सुलभ नहीं है, किन्तु आपकी कीर्ति तो सर्वत्र गायी जा सकती है। जो आपकी कीर्ति का गान तथा श्रवण करते हैं, वे भी तीर्थस्वरूप हो जाते हैं किन्तु प्रभो!

भगवान् का सिंहासन डोलने लगता है वे अपने स्थान पर रह ही नहीं सकते, तुरन्त ही भक्त के सम्मुख प्रकट हो जाते हैं, क्योंकि वे तो अपने अनुगतों पर कृपा करने के लिये सदा सर्वदा कातर बने रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कश्यप जी से उपदेश ग्रहण करके देवमाता अदिति पयोव्रत का अनुष्ठान अत्यन्त ही भक्ति भाव से करने लगीं। उनके व्रत से सर्वान्तर्यामी श्री हरि अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। वे तुरन्त ही अपने शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी चतुर्भुज रूप से भगवती अदिति के सम्मुख प्रकट हो गये। उस समय की भगवान् की शोभा अत्यन्त ही कमनीय थी उसका वर्णन वाणी द्वारा हो हो नहीं सकता, वे तपाये हुए सुवर्ण के समान पीत वर्ण का रेशमी दुपट्टा अपने श्री अंगपर धारण किये हुए थे। पद्म के समान विशाल उत्फुल्ल नयन, पद्म के समान खिला हुआ अद्भुत आनन वक्षःस्थल में पद्म की माला धारण किये हुए पद्म के समान चारों हाथों में शंख, चक्र, और गदा के साथ पद्म को भी धारण किये हुए पद्मनाभ अपने पद्म के समान सुकोमल चरणों का दर्शन कराते हुए अदिति देवी के सम्मुख खड़े हो गये।

सहसा अपने सम्मुख सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को खड़ा देखकर माता तो भौचक्की सी रह गयी। वह निर्णय ही न कर सकी अब क्या करूँ, संभ्रम के साथ सहसा वह खड़ी हो गई और फिर दंडवत प्रणाम की। प्रणाम के अनन्तर स्तुति भी करनी चाहिये। किन्तु स्तुति करे कैसे उसका कंठ तो गद्गद हो गया था प्रसन्नता की प्रबलता के कारण उसका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। प्रयत्न करने पर भी वाणी बाहर नहीं निकलती थी बड़े कष्ट से रुक रुक कर वह स्तुति करने लगी।

स्तुति करते हुए अदिति माता कहती हैं—"हे प्रभो! आप

तो यज्ञेश हैं, अत्यंत श्रम के साथ बहुमूल्य शुद्ध सामग्रियों से दीर्घकाल तक सविधि यज्ञ करने पर अत्यन्त ही कष्ट से आप यज्ञों में कभी कभी प्रकट होते हैं। सो मैं तो स्त्री हूँ यज्ञयाग तो मैं अकेले कर नहीं सकती। आप मेरे इस अल्प से व्रत के कारण अल्प आराधना से अल्प काल में ही इतने सन्तुष्ट हो गये, कि मुझे प्रत्यक्ष आकर दर्शन दिये, यह आपकी अपने अनुगतों के ऊपर अकारण अनुकम्पा ही है। अतः हे यज्ञ पुरुष! आप मेरा कल्याण करें।

हे भगवन्! आप अच्युत हैं आप अपने स्थान से कभी च्युत नहीं होते आप सदा सर्वदा स्वमहिमा में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। आप जो अवतरित होते हैं वह आपकी च्युति नहीं हैं आप तो सुर साधु गौ और ब्राह्मण तथा अपने आश्रितों के निमित्त अवतार धारण करते हैं। आपके चरणकमल तीर्थ स्वरूप हैं। इस चरण कमल का जिससे भी संसर्ग हो गया वही तीर्थ बन जाता है वही समस्त प्राणियों को पावन बनाने में समर्थ हो जाता है आपके पादपद्मों से प्रवाहित होने वाली भगवती गंगा समस्त प्राणियों के पापों को प्रशमन करने की सामर्थ्य रखती हैं, जो उनके समीप आता है। जो उनका दर्शन स्पर्श तथा पान करता है जो उनमें मज्जन करता है वही निष्पाप बन जाता है। आपके पादपद्मों का ही यह पुण्य प्रभाव है कि उनके संसर्ग से भगवती सुरसरि सर्व तीर्थमयी बन गयी हैं। ऐसे आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे पुण्यश्लोक! आपकी कीर्ति भी तीर्थरूपा है। आपके पादपद्मों के दर्शन पापियों को कहाँ हो सकते हैं, पादपद्मों से निसृता गंगा भी सर्वत्र सुलभ नहीं है, किन्तु आपकी कीर्ति तो सर्वत्र गायी जा सकती है। जो आपकी कीर्ति का गान तथा श्रवण करते हैं, वे भी तीर्थस्वरूप हो जाते हैं किन्तु प्रभो!

आपकी कीर्ति भी शास्त्रों में गायी गयी है, शास्त्रों का ज्ञान सभी को नहीं होता शास्त्रज्ञ भी सर्वत्र नहीं मिलते, सब आपकी कीर्ति गा भी नहीं सकते तब सर्व साधारण का उद्धार कैसे हो सो, भगवन् ! आपने उनके लिये भी सुलभता कर दी है आपके असंख्यों नाम हैं, और सभी नाम तीर्थस्वरूप हैं, सभी में अपार शक्ति है, सभी पापों को नाश करने की सामर्थ्य रखते हैं । आपके नामों को जो कोई उच्चारण करेगा वही तीर्थ बन जायगा । उच्चारण न करे केवल अपने कानों से आपके सुमधुर पाप नाशक नामों को सुन ही भर ले तो वे नाम श्रवण मात्र से ही मंगल कारी हैं । उनके श्रवण से ही सभी मंगल स्वयं उपस्थित हो जाते हैं । ऐसे श्रवण मंगल नामधेय आप दीन बन्धु हमारा कल्याण करें ।

हे शरणागत वत्सल ! आपके अवतार के दुष्ट दमन और धर्म संस्थापन आदि जो अनेक कारण बताये जाते हैं, तो गौण हैं । आप तो आदि पुरुष हैं और शरणागतों के दुःख दूर करने के निमित्त ही अवनि पर अवतरित होते हैं, क्योंकि आप दीनों के नाथ हैं, अशरणों के शरण हैं । अनाश्रितों के आश्रय हैं, निष्किंचनों के परम धन हैं । सब के ईश हैं, षडैश्वर्य सम्पन्न हैं । हे भगवन् ! हे भक्तवत्सल ! हे दीन बन्धो ! आप हमारा कल्याण करें । आपको बारम्बार प्रणाम है ।

हे सर्वज्ञ ! आप ही इस जगत् के एक मात्र कारण हैं आप ही इस जगत् को बनाते हैं, बनाकर पालते हैं और अन्त में बिगाड़ते भी आप ही हैं । आप सर्वशक्तिवान् हैं, अपनी इच्छा से केवल क्रीड़ा के निमित्त मन विनोद के लिये नाना शक्तियों को धारण करते हैं । निर्गुण हो कर भी क्रीड़ा के निमित्त विविध गुणों को स्वीकार करते हैं आप भूमा हैं आप से कोई बड़ा नहीं आप सब से बड़े हैं, आप

सदा सर्वदा स्वरूप में स्थित रहते हैं। आपका पूर्ण बोध हो जाने पर आप स्वयं ही आत्मान्धकार को दूर कर देते हैं। आप विश्वरूप हैं, विश्वम्भर हैं, ऐसे विश्वात्मा विभु के पादपद्मों में बारम्बार नमस्कार है।

हे सर्व समर्थ! प्राणी तभी तक इधर उधर भटकता रहता है, जब तक उसे आपकी प्रसन्नता प्राप्त न हो। कुछ लोग चाहते हैं, हम चिरायु हों, इसके लिये भाँति-भाँति की औषधियाँ खाते हैं, नाना देवी देवताओं की पूजा करते हैं, मन्त्रानुष्ठान करते हैं, किन्तु आपकी शरण में नहीं जाते, आपकी शरण जाने पर तो साधारण आयु नहीं ब्रह्माजी की बराबर,द्विपरार्ध की आयु प्राप्त हो सकती है। कुछलोग चाहते हैं,हमारा दिव्य शरीर हो,जब जैसा चाहें शरीर धारण कर सकें, हम अतुल ऐश्वर्यशाली हों, हमारे ऐश्वर्य के सम्मुख सभी के ऐश्वर्य फीके पड़ जायँ, किन्तु यह अन्य उपासनाओं से नहीं हो सकता है। आपकी प्रसन्नता होने पर स्वेच्छा शरीर तथा अनुपम ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है। कोई स्वर्ग का ऐश्वर्य चाहते हैं, कोई पृथ्वी पर ही रहकर सभी भोगों को भोगने की इच्छा रखते हैं' कोई बिल स्वर्ग-पाताल के भोगों की इच्छा रखते हैं, आपकी उपासना करने पर सभी संभव है, जैसा चाहें वैसा सुख प्राप्त कर सकते हैं, कोई अणिमा, गरिमा, लघिमा तथा अन्य समस्त योग सिद्धियों को प्राप्त करना चाहते हैं। आपकी प्रसन्नता से योगकी सकल सिद्धियाँ, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष तक प्राप्त हो सकती है। आप सर्वदाता हैं, सब कुछ दे सकते हैं, आपके लिये कुछ भी अदेय नहीं कुछ भी दुर्लभ नहीं। संसार बन्धन को सदा के लिये काट सकते हैं जन्म मरण के चक्र को सदा के लिये मेंट सकते हैं। ऋषि मुनि ज्ञानी विज्ञानी आपकी उपासना मोक्ष के निमित्त करते हैं। मैंने तो आप महान् की उपासना एक अत्यन्त ही क्षुद्र कामना से की है। मेरे पुत्रों को

उनके शत्रुओं ने पराजित कर दिया है, उन्हें स्वर्ग से निकाल दिया है। मैं चाहती हूँ, मेरे पुत्र अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लें। यह है तो ऐसा ही कि चक्रवर्ती के समीप जाकर उसे प्रसन्न करके उससे पाव भर आटे की याचना की जाय, किन्तु मैंने तो इसी कामना से आपकी उपासना की है। आपने कृपा करके दर्शन भी दिये हैं, फिर आपके लिये यह कार्य कौन सा कठिन है आप की इच्छा की देरी है, आप जब चाहें तब मेरे पुत्रों को पुनः स्वर्ग के सिंहासन पर बिठा सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार माता आदितिजी ने भगवान् की स्तुति की, भगवान् ने उन्हें उनके उदर से वामन हो कर अवतार लेकर देवताओं को स्वर्ग दिलाने का वर दिया। और अवतार लेकर वामन बनकर बलि को ठगकर देवताओं को पुनः स्वर्ग का साम्राज्य प्रदान किया। यह मैंने अदिति माता की स्तुति आप से कही, अब आगे भगवान् ने जैसे मत्स्यावतार धारण किया और उसमें महाराज सत्यव्रत ने जैसे मत्स्य भगवान की स्तुति की, उस स्तुति को आप से कहूँगा।

छप्पय

निज इच्छा तें करौ शक्ति गुन स्वीकृत स्वामी।
तम हिय को हरि लेउ ज्ञानमय निष्कल धामी॥
प्रभु प्रसन्न ह्वै जायँ देहिँ दुरलभ वर अबई।
परम आयु ऐश्वर्य अमित इच्छित तनु सबई॥
भूमि स्वरग अपवरग सुख, देहिँ हरहिँ तम मन व्यथा।
जनम मरन मेटैं तुरत, शत्रु विजय फिरि का कथा॥

पद

देहिँ वर विश्वेश्वर वरदानी ।
मंगलदाता मनहर मोहन, मानद स्वयं अमानी ॥१॥
निरगुन नित्य निरंजन निष्कल, निरविकार निरबानी ।
गो द्विज पालक खल दल घालक, बालक बनें बितानी ॥२॥
लै अवतार करें कलकीड़ा, वेदनि नेति बखानी ।
सतरजतम तें रहित निरन्तर, तऊ बनें गुनखानी ॥३॥
मुक्ति मुक्ति सुख स्वरगहु देवें, त्रिभुवन की रजधानी ।
स्वरग सुरनि दै असुर भगाओ, हौं प्रभु अति अज्ञानी ॥४॥

अदिति कृत भगवत् स्तुति

अदितिरुवाच

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद,
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य,
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥१॥

विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय,
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने ।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध,
व्यापादितात्मतमये हरये नमस्ते ॥२॥

आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मीः,
द्योभूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः ।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात्,
त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥३॥

राजा सत्यव्रत द्वारा मत्स्य भगवान् की स्तुति

(७१)

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविद—
स्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयु
र्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥

(श्री भा० ८ स्क० २४ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

नृपति सत्यव्रत निकट विष्णु मछरी बनि आये ।
शरन माँगि बहु बढ़े भूप मन माहिँ सिहाये ॥
समुझि गये हरि मत्स्य ऋषिनि सँग मोइ बचावें ।
नौका में बैठाइ प्रलय जल माहिं घुमावें ॥
नृप इस्तुति करिबे लगे—प्रभु ही गुरुवर परम हैं ।
नासो माया मोह कूँ , आपु करम अरु धरम है ॥

---

* राजा सत्यव्रत मत्स्य भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे भगवन् ! अनादि अविद्या से उपहत हो गया है आत्मज्ञान जिनका तथा अविद्यामूलक संसार के परिश्रम से जो आतुर हो गये हैं। ऐसे पुरुष भी अकस्मात् यदृच्छा से-आपकी कृपा से किसी प्रकार आपकी शरण में पहुँच जाते हैं, वे आपको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे आप हमारे मुक्तिदाता परम गुरु हैं, आपको प्रणाम है।"

जीव अपने पुरुषार्थ से प्रभु को कैसे पा सकता है और महान् से भी महान् भगवान् क्षुद्राति क्षुद्र जीव के सम्मुख कैसे आ सकते हैं। यह जीव तो अनादि अविद्या के बन्धन में ऐसा जकड़ा हुआ है कि पूरा बल लगावे; तो इस अविद्या जंजीर की एक कड़ी को भी नहीं तोड़ सकता। किन्तु इस बन्धन में एक ही आशा है, भगवान् भक्तवत्सल हैं, दीनबन्धु हैं शरणागत प्रतिपालक हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक बार महाराज सत्यव्रत कृत माला नदी के किनारे सन्ध्या कर रहे थे। उसी समय एक छोटी सी मछली ने मनुष्य भाषा में राजा से कहा—"राजन्! ये बड़े जलचर जीव मुझे खा जायँगे, मेरी रक्षा करो। राजा ने उसे अपने कमंडलु में रख लिया। वह मछली तो बढ़ती ही गयी बढ़ती ही गयी द्वीप से भी बड़ी हो गयी। अब तो राजा समझ गये यह साधारण मत्स्य नहीं, भगवान् ने ही मत्स्य रूप में अवतार लिया है, राजा को सप्तर्षियों के सहित नौका पर बिठाकर उस नौका को अपने सींग में बाँध कर मत्स्य भगवान् प्रलय के जल में घूमने लगे उस समय मत्स्य भगवान् की स्तुति करते हुए राजा कहने लगे।

राजा सत्यव्रत स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे देव! यह जीव अवश है। न यह जन्म लेने में स्वतन्त्र है और न मृत्यु ही इसके वश में है। आप इसे जैसे घुमाते हैं, वैसे घूमता है आप जैसे नचाते हैं, वैसे नाचता है। एक आप की शक्ति है उसे माया कहो, अविद्या कहो उसी की प्रेरणा से यह सब व्यापार चल रहा है। उस अनादि अविद्या ने जीव के यथार्थ बोध को-आत्मज्ञान को-आच्छादित कर लिया है। इसी से जीव इस अविद्या मूलक संसार में ऊँच नीच अनेक योनियों में भटकता फिर रहा है।

विविध योनियों में भ्रमण करने से इसे नानाक्लेश सहने पड़ते हैं, यह माया का ऐसा जाल है, कि जीव ज्यों ज्यों इससे निकलने की चेष्टा करता है, त्यों त्यों इसमें और अधिकाधिक फँसता जाता है। अपने पुरुषार्थ से नहीं—आपके अनुग्रह से—दैव योग से जब आप कृपा करके इसे वरण कर लेते हैं, अपनी शरण में ले लेते हैं, तब यह जीव कृतार्थ हो जाता है। आप ही जब जिसे मुक्त करना चाहते हैं, तब वह मुक्त हो जाता है, आप गुरुओं के भी गुरु हैं, परम गुरु हैं, मैंने तो आपके दर्शनों को कोई प्रयत्न भी नहीं किया था आप ने स्वतः ही अनुग्रह करके मुझे अपनाया है, ऐसे मुक्ति दाता महेश्वर की मैं शरण में हूँ।

भगवन्! जीवों की कैसी बुद्धि विपरीत हो गयी है, जिससे बन्धन बढ़ता है उसी काम को हठपूर्वक करता रहता है, जिन से जन्म मरण का पथ प्रशस्त होता है, उन्हीं कामों को प्रसन्नता पूर्वक करता है। सोचता तो यह है कि मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो जायगी तो मैं सुखी हो जाऊँगा, अमुक कर्म करने से मेरा दुख दूर हो जायगा, किन्तु वस्तुओं के संग्रह से संसारी कर्मों के करने से उसे और अधिकाधिक दुःख होता है, तमोगुण के प्रभाव से अधर्म को धर्म समझने लगता है। असत् बुद्धि के कारण उलटा बन्धन में दृढ़ता के साथ बँध जाता है। यह असत् बुद्धि और किसी उपाय से दूर हो नहीं सकती। केवल आपकी सेवा के प्रभाव से ही दूर हो सकती है। वास्तविक गुरु तो आप ही हैं आप हमारे हृदय की अज्ञान ग्रन्थिको छेदन कर दें। हे गुरुओं के भी गुरु! हे परम गुरो। हम आपकी शरण में हैं।

प्रभो! इस जीव में चैतन्यांश तो आपका ही है, और अज्ञान तथा भ्रम का अंश अविद्या का है, इस जड़ चैतन्य के संमिश्रण से एक ग्रन्थि पड़ गयी है, एक विचित्रस्थिति हो गयी है, जैसे

सुवर्ण में मल मिल गया हो। चाँदी में अन्य धातु एकीभूत हो गयी हो। सोने चाँदी के साथ मल मिल कर एक हो जाता है, तो वह तोड़ने फोड़ने से पृथक् नहीं हो सकता। हाँ, अग्नि के तपाने से वह शुद्ध हो सकता है। अग्नि ही धातु को पृथक् और मल को पृथक् करने में समर्थ हैं। आप की सेवा ही ऐसी अग्नि है जो हृदय के मल रूप अज्ञान को जलाकर शुद्ध करने में समर्थ हो सकती है। प्रभो! हमें अपनी सेवा प्रदान कीजिये। हे गुरुओं के भी गुरु! हे सच्चिदानन्द प्रभो! हे अखिल अविनाशी देव! आप हमें शिष्य रूप में स्वीकार कीजिये। आपही हमारे गुरु हैं, आपही अज्ञान अंधकार को दूर कर सकते हैं। आपके अतिरिक्त हम और गुरु कहाँ खोजने जायँ? अतः हमने तो आपको ही अपना गुरु स्वीकार कर लिया है। कृपा तो आप ही कर सकते हैं, आपके अतिरिक्त पूर्ण कृपा करने की सामर्थ्य अन्य किसी में भी नहीं।

प्रभो! आप कहेंगे, तुम देवताओं की शरण में जाओ वे कृपा करेंगे, विद्या पढ़ाने वाले, मंत्र दीक्षा देने वाले, धार्मिक कृत्य कराने वाले गुरुओं की शरण में जाओ वे आशीर्वाद देंगे अनुग्रह करेंगे। अन्य माननीय पूजनीय प्राज्ञ पुरुषों के पैर पकड़ो वे सब दया करेंगे। भगवन्! यह सत्य है, पूजा करने वालों पर देवता दया करते हैं, सेवा से सन्तुष्ट होकर गुरु जन भी अनुग्रह करते ही हैं। अन्य प्राज्ञ पुरुष भी प्रणतों पर दया दिखाते हैं, किन्तु हे सर्वेश्वर! देवता, गुरु तथा अन्य प्राज्ञ पुरुष मिल कर जितनी कृपा करते हैं वह आपकी कृपा का दश सहस्रवाँ अंश भी नहीं हो सकती। आप की कृपा रूप सिन्धु के सामने उन सब की कृपा बिन्दु के भी बराबर नहीं हो सकती। कृपा के अपार अगाध सागर तो एकमात्र आप ही हैं, ऐसे अनुग्रहार्णव आप परम गुरु परमेश्वर की हमने शरण ली है। आप हमारे ऊपर कृपा

करें, हमें अपनावें अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करें।

प्रभो! बहुत से गुरु बनने के व्यापारी अज्ञानी पुरुष आकर लोगों से कहते हैं—'बिना गुरु के उद्धार नहीं। तुम हमें अपना गुरु बना लो। हमारे शिष्य हो जाओ, हमारी गुरु-भाव से सेवा सुश्रूषा किया करो।' जो स्वयं अज्ञान अंधकार में पड़े हुए इधर-उधर भटक रहे हैं, वे दूसरों का क्या उद्धार करेंगे। वे तो लोभ लालच-वश लोगों को फँसाना चाहते हैं, गुरु बनकर अपनी भोग वासनाओं की पूर्ति करना चाहते हैं, ऐसे अज्ञानी गुरुओं के पीछे चलना तो उसी प्रकार है जैसे अन्धे को अगुआ बनाकर उसके पीछे-पीछे चलना। वह तो आगे चलकर निश्चय ही कहीं कूआ खाड़ी में गिरेगा। इसलिये अन्धे को अगुआ बनाना ही क्यों? क्यों नेत्रहीन के पीछे जायँ? आप तो सूर्य के समान स्वयं प्रकाश हैं, आपको अन्य किसी भी प्रकाश की अपेक्षा नहीं। आप समस्त इन्द्रियों के साक्षी हैं,मन के भी मन हैं,अन्तःकरण के भी नियामक हैं, अतः आत्मतत्व के जानने के इच्छुक हमने आपको ही अपना एकमात्र पथ-प्रदर्शक नेता तथा गुरु बनाया है। आप हमें इस भवसागर के परली पार पहुँचा दें। हमारा उचित पथ प्रदर्शन करें। आपके अतिरिक्त हम और किसका आश्रय लें? विवेक-हीन अज्ञानी मानव को गुरु बनाना तो जान बूझकर गड्ढे में गिरना है, अतः आप ही हमारे सर्वस्व हैं, आप ही हमें सुपथ की ओर ले जा सकते हैं, आप ही हमें परिष्कृत पुण्य-पथ दिखा सकते हैं।

स्वामिन्! बहुत से लोग झोली डंडा लिये इधर से उधर घूमते रहते हैं, हमें गुरु बना लो, हमसे मन्त्र ले लो, बिना गुरु केये कल्याण नहीं, क्षेम नहीं, सुख नहीं, शान्ति नहीं। यह तो सत्य ही है, कि गुरु ही हृदय के अन्धकार को दूर कर सकता है, वही अन्तःकरण में पड़ी ग्रन्थि को खोल सकता है, वही यथार्थ वचन बोल सकता है, किन्तु वैसा गुरु मिले तब तो। ये अज्ञानी

गुरुमानी व्यवहारकुशल पुरुष तो संसारी व्यवहारों में चतुर रहते हैं, ऊपर से उपदेश तो परमार्थ का करते हैं, उनके भीतर वासना धन की भरी रहती है। वे आठ घड़ी यही सोचते रहते हैं, कैसे कोई आँख का अन्धा गाँठ का पूरा मिले। कैसे धनी नर-नारी हमारे चंगुल में फँसें वे परमार्थ के नाम पर बड़े बड़े ढोंग रचते हैं, कुछ लोग फँस भी जाते हैं, उनको वे असद् बुद्धियुक्त कामादि विषयक उपदेश करते हैं। अपने प्रतिद्वंदी ऐसे ही व्यापारिक गुरुओं से उनका स्वाभाविक द्वेष होता है, उस द्वेष को वे अनुयायी, अन्धश्रद्धालु, अज्ञानी शिष्य के भीतर भी भरते हैं। राग द्वेष युक्त एक दल बना लेते हैं। अपना अधिक मान कराने के लिये दूसरों को नीचा दिखाने की चेष्टा करते हैं; उनका अपमान करते हैं, सर्व साधारण जनता में उनका विरोध करते हैं, अभियोग चलते हैं। शिष्यों को बटोरा था परमार्थ के नाम से किन्तु उनसे करने लगे, स्वार्थ की सिद्धि। उन्हें आश्वासन तो दिया था, तुम्हें हम संसार सागर से पार पहुँचा देंगे, किन्तु उन्हें और भी अधिक दुस्तर अन्धकार पूर्ण संसार सागर में गिरा देते हैं। उन्हें उभयभ्रष्ट कर देते हैं। जब तक भेंट पूजा देने को द्रव्य रहता है, तब तक उनका आदर सत्कार करते हैं। जब वे धनहीन हो जाते हैं, तो धक्का देकर बाहर कर देते हैं। ऐसे वे संसारी व्यापारी गुरु होते हैं, किन्तु प्रभो! आप तो सर्वसमर्थ हैं, आप्तकाम हैं, आपका ज्ञान भंडार तो अक्षय है, आपका बोध तो अमोघ है; आप सर्वज्ञ सर्वविद् तथा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। आप सदा सर्वदा सत्य ज्ञान का ही उपदेश करते हैं। उसी आपके यथार्थ ज्ञान द्वारा मानव सरलता से आत्मसाक्षात्कार कर सकता है अपने सत् स्वरूप को उपलब्ध कर लेता है।

हे परमात्मन्! संसार में कोई एक का कोई दो चार दस बीस सहस्र तथा लक्षों का सुहृद् होता है, किन्तु आप तो सम्पूर्ण

भूतों के प्राणिमात्र के सुहृद् हैं। लोक में मनुष्य कुछ सीमित लोगों के प्रिय होते हैं, किन्तु आप तो सर्वप्रिय हैं, सभी को आप प्यार करते हैं, सभी को अपनी सन्तान मानकर स्नेह बरसाते रहते हैं। आप चराचर जगत् के ईश्वर हैं, सबकी आत्मा हैं, सबमें रमण करानेवाले हैं,सबके गुरु होने से ही आपको जगत्गुरु कहते हैं। गुरु भी आप ही हैं और ज्ञान भी आप ही हैं तथा जिसे अभीष्ट सिद्धि इच्छित फल कहते हैं वह भी आप ही हैं। आप घट-घट में व्याप्त हैं,सबके अन्तःकरण में निरन्तर विराजमान रहते हैं, किन्तु यह अत्यन्त ही दुःख की बात है, बहुत ही खेद का विषय है, कि यह मोह-रूपी मदिरा को पान करके मदान्ध बना प्राणी, यह अहङ्कार से अन्धा हुआ जीव तथा विषयों में आसक्त हुआ लोक, आप परमेश्वर को पहिचान नहीं पाता। अत्यन्त निकट हृदय में विराजमान आपको देख नहीं सकता। भीतर न खोज कर बाहरी पदार्थों में आपका अन्वेषण करता है, यह कैसी विवशता है, कैसी मूर्खता है।

हे सर्वाधार! आप सम्पूर्ण देवताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप इस जगत् के एकमात्र आधार हैं, आप पूजनीयों के भी परम पूजनीय हैं, आप परमेश्वर हैं, मैं तत्वज्ञान का उपदेश पाने के निमित्त आपकी शरण में आया हूँ, मुझे किसी संसारी वस्तु की इच्छा नहीं, अभिलाषा नहीं, आकांक्षा नहीं आपको सर्वश्रेष्ठ समझकर ही आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ, आपके पूजनीय पादपद्मों का आश्रय लिया है। प्रभो! अब आप अपने वचनामृतों से मुझे कृतार्थ कीजिये, मेरे शुष्क हृदय को परमार्थ प्रकाश करने वाले अपने सदुपदेशों द्वारा कृतार्थ कीजिये। अपने सुलझे हुए उपदेशों से मेरे उलझे हुए मन को सुलझाइये। अपने अमोघ उपदेशों से मेरे हृदय की सुदृढ़ग्रंथि को खोल दीजिये। मैं आपके यथार्थ रूप से अपरिचित हूँ, उसे मुझे परिचय कराइये। मुझे

अपने देव दुर्लभ दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये। मैं आपकी शरण में हूँ, आप ही मेरे पिता-माता, बन्धु बान्धव, गुरु, परमगुरु तथा सर्वस्व हो। मुझे आशा है, कि आपकी शरण में आने पर मैं रिक्तहस्त रिक्तहृदय नहीं लौट सकता, आप मुझे निजजन जानकर अपना किंकर, सेवक, दास तथा प्रपन्न समझकर अपनावें, यही मेरी आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रार्थना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब इस प्रकार महाराज सत्यव्रत ने मत्स्य रूपधारी भगवान् से प्रार्थना की, तो उन्होंने प्रलयार्णव में परिभ्रमण करते हुए उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया जिससे वे कृतार्थ हो गये। यह मैंने संक्षेप में महाराज सत्यव्रत कृत मत्स्य भगवान् की स्तुति कही। अब जैसे महाराज अम्बरीषने भगवान के दिव्यायुध चक्र-सुदर्शन की स्तुति की है, उसे मैं कहूँगा। भगवान् के अस्त्र आयुध, अंग, परिवार, तथा पार्षद सभी भगवत् स्वरूप हैं उनमें और भगवान् में कोई अन्तर नहीं। अतः सुदर्शन-चक्र की स्तुति भी भगवत् स्तुति ही है।"

छप्पय

गुरु खोजन कहँ जायँ, गुरुनिके गुरु तुम स्वामी।
हियतम नासो सपदि जगतपति अन्तरयामी॥
सदा बसो हियमाँहिं अज्ञजन जानि न पावें।
अवसि अवश ते तरहिं शरन तव चरननि जावें॥
नहिं दीसत अपनो कुछ, प्रभु सरबसु ही आपु हैं।
सुहृद, सनेही, सखा, गुरु, भ्राता माता बापु हैं॥

पद

हे हरि ! साँचे गुरुवर तुमही ।
तुमरी कृपा पाँइ तव पदरज तो तरिजावैं तबही ॥१॥
जिनकी कृपा पाइ तम नासै,होहि ज्ञान तत्छिनही ।
रजत कनक मल अनल मिटावत, त्यों नासत तुम तमही ॥२॥
जितनी कृपा करो तुम माधव, करि न सकें सब सुरही ।
अंधे पीछे अंधे धावत, त्यों जड़नर जड़ गुरुही ॥३॥
स्वयं प्रकाशक सबके नायक रविसम भ्राजत नितही ।
तातें गुरु करि शरन लई तव, चरनकमल नित चितही ॥४॥
आत्मा, गुरु, प्रिय, सुहृद सबनिके, पकरे प्रभु तव पदही ।
हिय की गाँठि खोलि तम नासो,देश्रो दरशन अबही ॥५॥

मत्स्य-स्तुति

राजोवाच

अनाद्यविद्योहतात्मसंविद-,
स्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयुः,
विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥१॥

जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः,
सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम् ।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिः,
ग्रन्थिं स भिन्द्याद्धृदयं स नो गुरुः ॥२॥

यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनम्,
पुमान् विजह्यान्मलमात्मनस्तमः ।
भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो,
भूयात् स ईशः परमो गुरोर्गुरुः ॥३॥

न यत्प्रसादायुतभागलेशम्ः,
अन्ये च देवागुरवो जनाः स्वयम् ।
कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसः,
तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥४॥

अम्बरीष कृत सुदर्शन स्तुति

(७२)

सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय ।
सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूयाद् इडस्पते ॥

(श्री० भा० ९ स्क० ५ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

अम्बरीष घर अतिथि भये न्योते क्रोधी मुनि ।
प्रथम पियो पय दिवस द्वादशी दुरवासा सुनि ॥
नृप वध करिबे तुरत प्रकट कृत्या मुनि कीन्हीं ।
मुनि के पीछे लग्यो सुदरसन दुरगति कीन्हीं ॥
त्रिभुवन घूमे शरन नहिं, आइ नृपति पकरे चरन ।
भूप विनय करि चक्र की, कहें—देव ! अशरन शरन ॥

जैसे शक्कर का कोई सुंदर खिलौना बनावें, उसमें नाक कान मुख, हाथ, उँगली नख सभी शक्कर के ही होंगे, दुपट्टा, धोती, मुकुट, कुंडल, कंकण आदि वस्त्र आभूषण भी शक्कर के ही

---

* सुदर्शनचक्र की स्तुति करते हुए राजा अम्बरीष कह रहे हैं—'हे सुदर्शनचक्र ! हे अच्युत प्रिय ! हे सहस्र धाराओं वाले ! हे सम्पूर्ण अस्त्र शस्त्रों के संहारक ! हे इडस्पते ! तुम्हारे लिये नमस्कार है, ब्राह्मण का कल्याण हो, इन्हें शान्ति प्राप्त हो ।

बनेंगे अर्थात् आकृति, रूप, रंग चाहे जैसा बन जाय, उस खिलौने में जो भी कुछ है शक्कर ही शक्कर है, शक्कर के अतिरिक्त कुछ नहीं। नाम रूप के दर्शन होने पर और अदर्शन होने पर भी सभी अवस्था में शक्कर ही शक्कर रहेगी। इसी प्रकार सच्चिदानंदघन भगवान् विष्णु के वस्त्र, आभूषण, अस्त्र, आयुध सभी चिन्मय हैं। सभी भगवत् स्वरूप हैं, भगवान् की भाँति ही उनके अंग उपाङ्ग, अस्त्र, आयुध, पार्षद तथा परिवार सभी पूज्य हैं सभी की भगवत् बुद्धि से पूजा तथा स्तुति होती है। भगवान् के शंख चक्रादि चिह्न भगवान् के ही रूप हैं, तभी तो वैष्णव गण अत्यंत श्रद्धा भक्ति के सहित शंख चक्रादि इन परम पावन चिह्नों को बड़े गौरव के साथ धारण करते हैं,। जिस वैष्णव के मस्तक पर भगवान् के चरण चिह्न तिलक रूप में न हों, जिसके अंगों पर भगवान् के आयुधों आदि के छापे न लगे हों, वह तिलक छापों से रहित व्यक्ति वैष्णव कैसा ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! महाराज अंबरीष एकादशी का व्रत समाप्त करके द्वादशी के दिन ज्यों ही पारायण करने को उद्यत हुए त्यों ही महाक्रोधी दुर्वासा मुनि राजा के अतिथि हुए। राजा ने उन्हें भोजन को निमंत्रित किया। मुनि मध्यान्ह सन्ध्या करने यमुना किनारे चले गये और दीर्घ ध्यान में तल्लीन हो गये। उधर द्वादशी निकलती देखकर राजा ने ब्राह्मणों की अनुमति से जल लेकर व्रत का पारायण किया। मुनि ने जब सुना तो आग बबूला हो गये, राजा को मारने कृत्या उत्पन्न की। राजा की रक्षा सदा भगवान का सुदर्शन चक्र करता था, उसने मुनि का पीछा किया। मुनि तीनों लोकों में गये किन्तु किसी ने उन्हें शरण न दी। अंत में भगवान् के कहने से वे राजा की ही शरण में आये। तब राजा ने भगवत् बुद्धि से सुदर्शन चक्र की स्तुति की।

सुदर्शन चक्र की स्तुति करते हुए राजा कह रहे हैं—"हे भगवान् के अभिन्नस्वरूप सुदर्शनचक्र ! देखो, संसार में जितना तेज है, सभी आपका लीला विलास है,आपके बिना सभी निस्तेज हैं, आपका ही तेज विश्व ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है। संसार में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा ये ही सबसे अधिक तेजस्वी माने जाते हैं। सर्वभक्षी—सबको स्वाहा करने वाले अग्निदेव आप ही हैं। अग्नि में जो तेज है वह उन्हें आप से ही प्राप्त हुआ है। सूर्यदेव में भी आप ही हैं। सूर्य में से आपका तेज पृथक् कर दिया जाय, तो फिर उनमें कुछ शेष रहेगा ही नहीं। दिनमें सूर्य प्रकाश प्रदान करते हैं रात्रिमें जब अस्ताचल को प्रस्थान करते हैं,तब अपने तेज को अग्नि, चन्द्र तथा जल में रख जाते हैं इसीलिये ये तीनों रात्रि में अधिक प्रकाश देते हैं, निशानाथ चन्द्र भी आप ही हैं। सम्पूर्ण नक्षत्रों के स्वामी सोम आप से ही तेज प्राप्त करके तेजस्वी हुए हैं। जल भी आप का ही स्वरूप है। आप ही पृथ्वी बनकर चराचर जीवों को अपने ऊपर धारण करते हैं, आप ही वायु बनकर व्योम में विचरणकरते हैं, आप ही आकाश का रूप रखकर सबको अवकाश देते हैं। आप ही शब्द बन जाते हैं, आप ही विविध रूपों में दीखने लगते हैं। आप ही रस बनकर सबको आस्वादन कराते है आप ही गन्ध बनकर सुगन्ध दुर्गन्ध के रूप में घ्राणेन्द्रिय द्वारा भान होते हैं, आप ही स्पर्श बनकर त्वचा द्वारा व्यक्त होते हैं। आप ही कर्ण, चक्षु, रसना, घ्राण तथा त्वचा बनकर ज्ञानेन्द्रियों के नाम से बोले और जाने जाते हैं, आप ही वाणी, हाथ, पैर, गुदा तथा शिश्न रूप रखकर कर्मेन्द्रियाँ कहलाने लगते हैं।

हे समस्त आयुधों में श्रेष्ठ ! हे सहस्रों धाराओं वाले ! हे सभी शस्त्रों को संहार करने में समर्थ शक्तिशाली देव ! मैं आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ, हे पृथिवी पालक ! आपको

बारम्बार नमस्कार है। आप अब कृपा कीजिये। इन विप्रदेव पर सदय हो जाइये, इनका पिंड छोड़ दीजिये, इन्हें अभय प्रदान कीजिये। हे करुणासागर ! इन ऋषि का कल्याण हो, इन्हें शाश्वती शान्ति प्राप्त हो। इनका भय सर्वथा छूट जाय। आपके प्रेम पात्र बनें।

हे भगवान् के परमप्रिय आयुध ! संसार में आप ही आप तो हैं, आपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। आप विश्व ब्रह्माण्डों को धारण करने वाले साक्षात् धर्म हैं। जिसे वेदों में ऋत तथा सत्य कहा है वह आपका ही स्वरूप तो है। आप के बिना ऋत और सत्य का अस्तित्व ही नहीं। देवताओं को जिनसे आहार मिलता है वह यज्ञ भी तो आप ही हैं। सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता, यज्ञों के फल दाता यज्ञ पुरुष भी आप ही हैं। आप ही सम्पूर्ण लोकों की रक्षा करते हैं, आपके द्वारा ही यह चराचर विश्व सुरक्षित हैं। भगवान् विष्णु के, क्षीरशायी श्रीमन्नारायण के, सबसे श्रेष्ठ, सबसे अधिक तपस्वी, यशस्वी, वर्चस्वी तथा मनस्वी और तेजस्वी अस्त्र आप ही हो, अधिक क्या कहें आप ही सर्वमय हैं सर्व स्वरूप हैं तथा सर्वरक्षक हैं। हे सुनाम ! आप न हो तो संसार में सभी अमर्यादित हो जायँ, किसी प्रकार की मर्यादा ही न रहे। सूर्य स्वेच्छा से जब चाहें तब उदित हों, जब चाहें तब अस्त हो जायँ, चन्द्र इच्छानुसार पूर्ण उदित हों या न उदित हों, समुद्र जब चाहे तब प्रलय करदे, किन्तु आप ही सबको मर्यादा में बाँधे हुए हैं, सम्पूर्ण धर्म की मर्यादा आपके ही द्वारा पालित हो रही है। आप न हों तो ये असुरगण अल्पकाल में ही सभी को भक्षण कर जायँ, किन्तु आप ही इन असुरों का शासन करते हैं, आप इन असुरों के लिये अग्नि स्वरूप है। इन दैत्य दानवों को दहन करने में आप दावानल के समान हैं। आप ही त्रिभुवन के रक्षक हो, आप ही विश्व भक्षक हो, आप ही अलौकिक अद्भुत

कर्म कर सकते हैं, आप मन से भी अत्यधिक वेग से दौड़ सकते हैं, आप सब कुछ कर सकते हैं। हे सर्वसमर्थ! मैं अत्यन्त ही विनय के साथ आपकी वन्दना करता हूँ, दीनभाव से स्तुति करता हूँ, ब्राह्मण के ऊपर सदय होजायँ, इन्हें क्षमा कर दें, इनकी चिन्ता को हटा दें, इन्हें निर्भय बना दें।

हे वेदवाणी के अधिपते! आप संहारक ही नहीं परम प्रकाशक हैं। मुमुक्षु पुरुष ज्ञान प्राप्ति के निमित्त आपकी शरण में जाते हैं, आप उन महाभाग्यशाली संतों के अज्ञान को अपने धर्ममय तेज से दूर कर देते हैं। असंख्यों महात्माओं को आपने अपने दिव्य तेज से ज्ञान दान दिया हैं, देते हैं और आगे भी देते रहेंगे। आपकी अलौकिक महिमा का कोई भी प्राणी पार नहीं पा सकता और सूर्य चन्द्रमा अग्नि आदि के समस्त तेज को अपने में धारण करते हैं। आप परम वर्चस्वी हैं। यह जो कार्य कारणात्मक सद् असद् रूप दृश्य प्रपंच है, चराचर जगत् है, यह आप का ही साकार स्वरूप है, आप जगन्मय हैं।

हे अपराजित! आप की कभी भी पराजय नहीं होती। आप विजय स्वरूप हैं, तभी तो आपको सुविज्ञ पुरुष अजित इस नाम से पुकारते हैं। आप की शोभा अद्भुत है, आप भगवान् विष्णु के कर कमल में जब विराजते हैं; उस समय आपकी शोभा अवर्णनीय होती है। संग्राम के समय जब श्रीहरि असुरों की सेना में आपको घुमाकर फेंकते हैं, तब दैत्य दानवों के छक्के छूट जाते हैं, वे हतप्रभ होकर आँखें बन्द कर लेते हैं। आप भी जिधर से सर करते हुए निकलते हैं उधर ही दैत्य-दानवोंका संहार करते हुए चलते हैं। जिस समय आप असंख्यों दैत्य दानवों के अंग प्रत्यंगों को काटते हुए आगे बढ़ते हैं, तो असंख्यों हाथ, पैर, सिर, उदर, ऊरु, चरण, ग्रीवा, मस्तक कट कट कर इधर उधर बिखरने लगते हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानों आपके उदर मे कटे हुए असंख्यों अंग

प्रत्यंग भरे हुए हैं; आप उन्हें अत्यंत वेग से उगलते हुए आगे बढ़े चले आरहे हैं। जिस भाग्यशाली ने आपका यह विकराल भयंकर रूप देखा है, वही आप की समर कालीन शोभा का अनुभव कर सकता है।

हे विश्वरक्षक! समराङ्गण में समस्त शत्रु मिल कर आप पर प्रहार करते हैं आप सबके अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार को सुगमता के साथ सहन कर लेते हैं, किसी का भी अस्त्र शस्त्र आपका बाल भी बाँका नहीं कर सकता, आप सबके ऊपर हो रहते हैं, जगन्नियन्ता भगवान् गदाधर ने आप को असुरों के संहार के ही लिये नियुक्त किया है। आप सदा सर्वदा दुष्टों का ही दमन करते रहते हैं, जिसपर आप प्रहार करते हैं, वह बच नहीं सकता। प्रभो! ये दुर्वासा तो दुष्ट नहीं हैं, ये तो ब्राह्मण हैं, ऋषि हैं, तपस्वी हैं। यदि मेरे निमित्त आप इनका संहार करेंगे तो हमारे कुल में कलंक लग जायेगा, अतः हमारे कुल के कल्याण के निमित्त हमारे परिवार के भाग्योदय के लिये आप इन्हें छोड़ दें। यदि इनका मंगल हो जायगा, कल्याण हो जायगा ये निर्भय बन जायँगे तो आपकी हम पर अत्यंत ही अनुग्रह होगी, महती अनुकम्पा होगी।

हे अस्त्रों में सर्वश्रेष्ठ! यदि हमने कोई पुण्य कार्य किया हो, हमसे यदि कोई सुकृत बन पड़ा हो तो उसके प्रभाव से ये ऋषि भयरहित हो जायँ। यदि हमारे द्वारा उचित समय में योग्य पात्र को कभी दान दिया गया हो, तो ये ऋषि अभय हो जायँ। यदि हमसे यज्ञयाग सुकृत बन पड़े हों, तो उसी के पुण्य प्रभाव से ये विप्र दुःख से छूट जायँ। यदि हमने सविधि स्वधर्म का पालन किया हो, तो वह धर्म आड़े आकर आपके द्वारा इन्हें निर्भय बनादे। यदि हमारे कुल में कभी ब्राह्मण का अपमान न हुआ हो, सदा ब्राह्मणों की सेवा सुश्रूषा तथा भक्ति की जाती हो, तो उस

हमारी कुलपरम्परा की मर्यादा से मुनिवर मोह मुक्त हो जायँ।

हे भगवत् स्वरूप सुदर्शन ! सम्पूर्ण गुणों के एक मात्र आश्रय भगवान् वासुदेव जितने प्रसन्न सर्व भूतात्मभाव से होते हैं, उतने प्रसन्न किसी भी कार्य से नहीं होते, अतः हमने यदि सम्पूर्ण चराचर में आत्मरूप से श्रीमन्नारायण को ही समझा हो और समदर्शी भगवान् हम पर प्रसन्न हों,तो हे अस्त्र देव ! ये विप्रवर तत्काल दुःख से निवृत्त हो जायँ, अभी इसी समय संकट से छूट जायँ,

सूतजी कहते हैं—"मुनिवर ! जब भक्त प्रवर राजा अम्बरीष ने इस प्रकार भगवत्स्वरूप चक्र सुदर्शन की प्रार्थना की, तो सुदर्शन चक्र ने मुनि का पीछा करना छोड़ दिया। राजा की इस स्तुति से दुर्वासा मुनि निर्भय हो गये। यह मैंने आप को अम्बरीष कृत चक्र सुदर्शन की स्तुति सुनाई, अब आप महाराज सगर के पौत्र महाराज अंशुमान् ने जिस प्रकार कपिल भगवान् की स्तुति की है, उसे सावधानी के साथ श्रवण कीजिये।

छप्पय

तुम रवि,शशि, छिति, गगन, वायु, जल अगिनि विषय हैं।
करन, धरम, ऋत, सत्य, यज्ञपति, मख, रक्षक हैं॥
धरमपाल, अतितेज, जगन्मय जगहितकारी।
अजित, असुर संहार, विश्वपति खलदलहारी॥
दुर्वासा दुख दूर हो, कृपा करो कल्याणकर।
बार बार विनती करूँ, बचें विपतितैं विप्रवर॥

पद

सुदरसन ! सबकूँ सुख सरसाओ ।
तुमही तेज सकल तेजनि में तुम ही विश्व बनाओ ॥१॥
तुमही भूत, विषय, मन, इन्द्रिय, तुमहीं मन भरमाओ ।
तुमही पालो तुमही मारो तुम सब स्वाँग रचाओ ॥२॥
तुम अज, अच्युत, अजित अखिलपति, अद्भुत खेल खिलाओ ।
हरि हाथनि तैं छूटो रन में तब तुम प्रलय मचाओ ॥३॥
असुर चरन, उरु, उदर, हृदय, कर, सिर, धड़काटि गिराओ ।
अगनित अंग भंग करि करि कें रनथल विकट बनाओ ॥४
विनवौं बार बार प्रभु पग परि, अधमनिकूँ अपनाओ ।
विप्र वेगि विपदातैं छूटे, ममकुल लाज बचाओ ।

अम्बरीष कृत सुदर्शन स्तुति

अम्बरीष उवाच

त्वमग्निर्भगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः ।
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च ॥१॥
सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय ।
सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते ॥२॥
त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक् ।
त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम् ॥३॥
नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे,
ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे ।
त्रैलोक्य गोप्ताय विशुद्धवर्चसे,
मनोजवायाद्भुतकर्मणे गृणे ॥४॥
त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं,
तमः प्रकाशश्च धृतो महात्मनाम् ।
दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते,
त्वद्रूपमेतत् सदसत् परावरम् ॥५॥
यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै,
बलं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम् ।
बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि,

वृक्णन्नजस्रं प्रधने विराजसे ॥६॥॥
स त्वं जगत्त्राण खलप्रहाणये,
निरूपितः सर्वसहो गदाभृता ।
विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे,
विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः ॥७॥
यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः ।
कुलं नो विप्रदैवं चेद् द्विजो भवतु विज्वरः ॥८॥
यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः ।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः ॥९॥

अंशुमान् कृत कपिल स्तुति

(७३)

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो
न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः।
कुतोऽपरे तस्य मनः शरीरधी
विसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः ॥*

(श्री० भा० ९ स्क० ८ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

सहस साठ सुत सगर यज्ञ हय खोजन के हित।
कपिलाश्रम में गये लखे मुनि ध्यान समाहित॥
हय लखि समुझे चोर करयो अपराध अधिक जब।
भये भसम पुनि अंशुमान मुनि विनय करी तब॥
रूप जथारथ नहिं लख्यो, हे भगवन्! अब तलक अज।
तो फिर हम अति जीव लघु, कैसे तुमकूँ सकहिं भज॥

---

* कपिल भगवान् की स्तुति करते हुए अंशुमान कह रहे हैं—"हे प्रभो! जिन परम आत्मा ब्रह्माजी को लोग अजन्मा कहते हैं। वे वेदगर्भ ब्रह्मा आप को आजतक न तो प्रत्यक्ष ही देख सके और न समाधि तथा युक्तियों द्वारा पूर्ण रूप से परोक्ष अनुभव कर सके, जब इतने समर्थ अज आप के स्वरूप ज्ञानमें असमर्थ हैं, तो फिर उन ब्रह्माजी के मन, बुद्धि तथा शरीर से उत्पन्न होने वाले हम साधारण अज्ञानी जीव भला आप को कैसे पहिचान सकते हैं।"

अपने पूर्वजों के अपराधों को जो स्तुति प्रार्थना करके क्षमा करा लेते हैं, संसार में वे ही सत्-पुत्र कहलाते हैं। पुत्र की कामना इसी कारण की जाती है, कि वे अपने पितरों को नरक से तार सकते हैं, अधम योनियों से उद्धार कर सकते हैं, जो पुत्र ऐसा न करके केवल पेट ही पालते रहते हैं, विषयों में ही लिप्त रहते हैं, लोक परलोक का कुछ भी ध्यान नहीं रखते, उनमें और शूकर कूकर के पुत्रों में कोई अन्तर नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज सगर के दो रानियाँ थीं। एक के साठ सहस्र सुत थे और एक के केवल असमंजस नाम का एक ही पुत्र था। असमंजस के एक पुत्र था अंशुमान्। असमंजस तो पूर्वजन्म का योगी था, वह तो वन को चला गया। राजा ने अश्वमेध यज्ञ किया। स्पर्धा के कारण इन्द्र उनके यज्ञीय घोड़े को चुराकर कपिल मुनि के आश्रम पर बाँध आये। राजा ने साठ सहस्र पुत्रों को घोड़ा खोजने भेजा। कपिल मुनि समाधि में थे, घोड़े को देखकर इन सब ने मुनि को ही चोर समझा, वे इन्हें ताड़ने लगे कुवाच्य कहने लगे अतः अपने अपराध से ये सबके सब भस्म हो गये। फिर राजा ने अपने पौत्र अंशुमान् को भेजा। अंशुमान् ने अपने पितृव्यों की भस्म देखी तो वे सब रहस्य समझ गये और भगवान् कपिल की हाथ जोड़कर गद्गद कंठ से स्तुति करने लगे।

कपिल भगवान् की स्तुति करते हुए अंशुमान् कह रहे हैं—"प्रभो! हमारे पितरों ने आपके यथार्थ स्वरूप को पहिचाना नहीं। इसी कारण उनसे आपका अपराध बन गया। आपको पहिचानना कोई साधारण बात नहीं है। सर्व साधारण पुरुष के लिये आपके सत्स्वरूप को समझना असंभव ही है। साधारण पुरुषों की बात छोड़ दीजिये। जो इस सम्पूर्ण सृष्टि के कर्ता धर्ता विधाता श्रीब्रह्मा जी हैं, जो कि अज कहलाते हैं, वे सर्वलोक

नमस्कृत, सबके जनक कमलयोनि ब्रह्माजी भी अपने से अतीत आप अव्यक्त को प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। यह कहें कि प्रत्यक्ष न भी देख सकें नाना प्रकार शास्त्रीय युक्तियों द्वारा अथवा ध्यान धारणा समाधि के द्वारा आपका पूर्णरूप से परोक्ष ही ज्ञान हो जाता होगा, सो भी बात नहीं। उन्हें भी सर्वात्मभाव से न प्रत्यक्ष ज्ञान होता है न पूर्णरीत्या परोक्ष ही। जब सब के पितामह ब्रह्माजी की यह दशा है, तब हम तो उन मानसिक पुत्रों के पुत्रों द्वारा मैथुनी सृष्टि से उत्पन्न हुए हैं। हमारे ज्ञान को तो माया अविद्या ने ढक लिया है। हम सब तो ब्रह्माजी की मन बुद्धि तथा शरीर से उत्पन्न होने वालों के भी कितनी पिछली पीढ़ी वाले जीव हैं। आपको तो देवता प्रजापति मनुष्य तथा अन्य योनियों के रूप में रचे हुए जीव भी नहीं जान सकते, फिर हम अज्ञानियों की बात तो पृथक् रही। हमारे पितरों से अज्ञान में जो अपराध हो गया है, हे भगवन! उसे आप क्षमा कर दें।

प्रभो! हम संसारी जीव आपको देखना भी चाहें तो कैसे देख सकते हैं। देखिये, एक तो आप की यह बहुरूपिणी माया ही ऐसी ठगिनी है कि यही समस्त जीवोंको भ्रमा रही है। असत् में सत् बुद्धि कर रही है। सत्व रज और तम इन तीनों गुणों का ऐसा चक्कर है, कि पृथिवी लोक ही नहीं स्वर्गादि उत्तम लोकों के जीव भी इन्हीं गुणों के चक्कर में फँस कर ऊँची नीची योनियों में चक्कर काटते रहते हैं। ये तीनों गुण तीनों ही अवस्थामें पिंड नहीं छोड़ते। जब तक जागते रहते हैं, इन्हीं संसारी पदार्थों को देखते रहते हैं, इन्हीं में अन्तःकरण तथा इन्द्रियों को फँसाये रखते हैं, जिन पदार्थों को जागृत में देखते सुनते हैं, उन्हीं को स्वप्न में भी देखते हैं स्वप्न में भी ये त्रिगुणात्मक पदार्थ पीछा नहीं छोड़ते। जब गाढ़ निद्रा में सुषुप्ति अवस्था में चले जाते हैं, तो वहाँ भी अज्ञान में ही लय हो जाता है, उस अवस्था में भी अज्ञान का

ही अनुभव करते हैं। जब तक अन्तःकरण में गुणों का लेश है तब तक आप निर्गुण दिखाई नहीं देते। गुणातीत हो जाने पर ही आप का संस्पर्श संभव हो सकता है। आप कहीं बाहर नहीं हैं सभी के अन्तःकरण में विराजमान हैं, अत्यंत ही निकटतम हैं, किन्तु हम अज्ञानी तो बहिर्मुख हैं इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर हैं, अतः हम बाहरी ही पदार्थों का अनुभव करते हैं। भीतर अन्तःकरण में छिपे आपको देखने में असमर्थ होते हैं। ऐसे तो आप महान् है, दुर्विज्ञेय हैं। सच्चिदानंद तथा ज्ञानघन स्वरूप हैं, फिर आप ही बतावें हम मूढ़मति मंद बुद्धि वाले किन शब्दों द्वारा आपकी स्तुति कर सकते हैं, किस क्रिया से आप को रिझा सकते हैं, क्या कहकर विनती कर सकते हैं।

आप तो मायातीत हैं, विशुद्ध हैं प्रपंच से परे हैं, हम लोग भेद भ्रम युक्त हैं, फिर आप महतोमहीयान् की उपासना चिन्तना कैसे कर सकते हैं। आप का चिन्तन तो विशुद्ध बुद्धि वाले अमायिक परम ज्ञानी ही कर सकते हैं, तभी तो जिनका आत्म स्वरूप के अनुभव से यह गुणमय भेद भ्रम निवृत्त हो गया है,जो कभी माया के चक्कर में पड़े नहीं हैं, उन सनक सनंदन सनत्कुमार तथा सनातन आदि निष्कपट अज्ञान रहित मुनियों द्वारा आप अहर्निशि निरन्तर चिन्तन किये जाते हैं, वे लोग सदा आपका भजन करते रहते हैं।

हे स्वामिन्! आप गुणतीत हैं माया के तीनों गुणों से आप सर्वदा परे हैं। आपके लिये कोई कर्म नहीं अकर्मनहीं कर्तव्य अकर्तव्य नहीं। विधि नहीं, निषेध नहीं, आप सभी प्रकार के कर्मों से सदासर्वदा रहित हैं। आपमें स्त्री पुरुष तथा नपुंसक आदि लिङ्गों का भी कोई भेद नहीं, आप सर्वलिङ्ग अथवा अलिंग हैं। आपका कोई नाम नहीं, रूप नहीं, आकृति नहीं, प्रकृति नहीं, ये सभी भाव

आप में से तिरोभाव हो गये हैं। तिरोभाव क्या हो गये हैं आप में ये सब कभी थे ही नहीं। आप तो कार्य कारण से सदा रहित हैं। फिर भी आपकी एक आकृति दिखायी देती है। आप शरीर से प्रतीत होते हैं। हमने सुना है आपने महामुनि कर्दम के यहाँ माता देवहूति के गर्भ से जन्म लिया है, दिव्य चिन्मय शरीर धारण किया है, सो प्रभो! आप का जन्म कुछ कर्मों के अधीन थोड़े ही है। आप पूर्वके संचित कर्मों में से प्रारब्ध भोगने थोड़े ही आये हैं। आपने तो स्वेच्छा से ज्ञानोपदेश के निमित्त यह मुनि रूप रख लिया है। आप लोकसंग्रह के निमित्त तप में निरत रहते हैं। ऐसे गुणातीत ज्ञान स्वरूप आप सच्चिदानन्दघन प्रभु के पाद पद्मों में बारम्बार नमस्कार है।

स्वामिन्! इन अज्ञानी जीवों पर कृपा करो। ये अज्ञ पुरुष आपकी दया के पात्र हैं। पुरुष स्त्री को देखकर स्त्री पुरुष को देखकर काम के अधीन हो जाते हैं, अपने विवेक को खो बैठते हैं, परलोक को भूल जाते हैं। इन अनित्य क्षणभंगुर नाशवान वस्तुओं को व्यर्थ में संग्रह करने में व्यग्र बने रहते हैं। इन्हें एकत्रित करके लोभाभिभूत हुए अपने आप लोभ का जाल बनाकर उसमें फँस जाते हैं और तड़पते रहते हैं।

अपने आस पास के लोगों के पास अधिक विषय सामग्री देखते हैं, उनका अधिक मान सम्मान सुनते देखते हैं, तो अकारण ही ईर्ष्या में जलते भुनते रहते हैं। विषयों के मोहमें अन्धे बन कर भ्रांत चित्त होकर दीन बने आशा लगाये चिन्ता का भार सिर पर लादे, इधर उधर व्यर्थ में भटकते फिरते हैं। इन अनित्य तुच्छ सांसारी पदार्थों को ही परम पुरुषार्थ मानकर इनकी प्राप्ति के लिये व्यग्र बने रहते हैं। गृह,कुटुम्ब, दारा, सुत, धन इन्हीं की चिन्ता में व्यग्र रहते हैं।

हे स्वामिन्! बड़े भाग्य से आज आपके दर्शन हुए। अब हमें विषयों की अभिलाषा तुच्छ-सी प्रतीत होने लगी है। नाना कर्म तथा इन्द्रियजन्य विषयों का आश्रय रूप जो हमारा सुदृढ़ मोह पाश था आपके दर्शनों से अब ढीला पड़ने लगा है। आज हम अपना सुदिन समझते हैं, अत्यन्त सौभाग्य का दिवस मानते हैं जो आप ज्ञान स्वरूप मुक्ति के दाता सच्चिदानन्द श्रीहरि का देव दुर्लभ दर्शन प्राप्त हुआ। प्रभो! कृपा करें, स्वामिन्! हम अधमों पर अनुग्रह करें, जिस से आप के स्वरूप का साक्षात्कार हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अंशुमान् की इस स्तुति से भगवान् कपिल प्रसन्न हुए, उन्होंने कुमार को अश्व लेजाने की अनुमति दी और पितरों के उद्धार के लिये गंगाजी को लाने की आज्ञा दी, जिसे उनके पौत्र महाराज भगीरथ लाये। जिनसे सगर के साठ सहस्र पुत्रों का उद्धार हुआ। यह मैंने अंशुमान् कृत कपिल स्तुति आप से कही, अब जैसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी माता देवकी के गर्भ में आये और देवताओं ने जैसे गर्भस्थ श्रीहरि की स्तुति की उसे मैं आप से कहूँगा।"

छप्पय

माया मोहित मनुज मोक्षपति ममता में मति।
नहीं भावना करें, आपु तो अगतिनिकी गति॥
नाम, रूप, गुन, करम सबनितें तुम हरि न्यारे।
काम, लोभ, मोहादि फँसे सब जीव विचारे॥
दारा धन घर कुटुम में, उरझे भटकें सकल जन।
धन्य भये प्रभु दरस करि, तव चरननि महँ बसहि मन॥

पद

कपिल हरि ! करुना सिन्धु कहाओ !
अबतक अज परतच्छ न निरखें, कैसे हमें लखाओ ॥१॥
तुमरी माया जीव भुलानों, नहिं तुम सम्मुख आओ ।
लखो जवनिका मेंतें सब कूँ, पुनि तामें छिपि जाओ ॥२॥
घट घट व्यापक रमो सबनिमें, परि नहिं दीठि दिखाओ ।
भटकि रहे कबतैं भव बनमें, अब तो गैल बताओ ॥३॥
दरसन करिकें नस्यो मोह मद, अब अच्युत अपनाओ ।
पुनि पुनि प्रभु पदु पदुमनि पकरें, पार पयोधि पठाओ ॥४॥

अंशुमान् कृत कपिल स्तुतिः

अंशुमानुवाच

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो,
न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः ।
कुतोऽपरे तस्य मनः शरीरधी,
विसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः ॥१॥

ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना,
गुणान् विपश्यन्त्युत वा तमश्च ।
यन्मायया मोहितचेतसस्ते,
विदुः स्वसंस्थं न बहिः प्रकाशाः ॥२॥

तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव,
प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं,
कथं हि मूढः परिभावयामि ॥३॥

प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्गम्,
अनामरूपं सदसद्विमुक्तम् ।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं,
नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥४॥

त्वन्मायारचिते लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु ।
भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः ॥५॥

अद्य नः सर्वभूतात्मन् कामकर्मेन्द्रियाशयः ।
मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात् ॥६॥

गर्भस्थ श्रीहरिकी देवों द्वारा स्तुति

(७४)

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम्,
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृत सत्यनेत्रम्,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥*

(श्री भा० १० स्क० २ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

उदर देवकी हरन भार भू श्रीहरि आये।
अज शिव सुरगन सकल, आइ शुभ वचन सुनाये॥
इस्तुति करिवे लगे कहें—सतव्रत सतधामी।
भूत भविष्यत बरतमान सत साधन स्वामी॥
सत के सत सतमहँ रहत, सदचित आनँद क्षेत्र है॥
हम सुर शरनागत सतत, सत ऋत तुमरे नेत्र है॥

---

* गर्भस्थ श्रीहरि की स्तुति करते हुए देवगण कह रहे "आप हे हरे! आपका व्रत सत्य है, आपकी प्राप्ति का साधन भी सत्य है, तीनों कालमें सत्य हैं, आप सत्य की योनि हैं तथा सत्य में ही सदा आप निहित हैं। आप सत्य के भी सत्य हैं। ऋत और सत्य ये ही दो आपके नेत्र हैं। ऐसे आप सत्यात्मक श्रीहरि की हम सब शरण में हैं।"

भगवान् सत्य स्वरूप हैं, सत्-चित् और आनन्द यही उनकी अभिव्यक्ति करने का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है, भाषा अपूर्ण है, फिर वह परिपूर्ण सत्यस्वरूप श्रीहरि के सम्बन्ध में कुछ कह ही क्या सकता है,वहाँ तक न तो वाणी की पहुँच है न मन की। वाणी इन दोनों के द्वारा ही व्यक्त होता है, वे प्रभु तो परात्पर हैं। संसार में जो सबसे पर वस्तु है, श्रीहरि उससे भी परे हैं, फिर भी हम यही कह सकते हैं,कि वे सत्यात्मक हैं, सत्य स्वरूप हैं। उन प्रभु के अतिरिक्त इस जगत् में कुछ है ही नहीं, वे प्रभु ही जगत् रूपमें परिणित हो गये हैं, जैसे दूध ही दही बन जाता है, जल ही हिम के रूपमें परिणित हो जाता है, सूत ही वस्त्र बन जाता है, वस्त्र में आप जहाँ भी देखेंगे सूत ही सूत मिलेगा। सूतको वस्त्र से पृथक् कर दो, तो कुछ भी शेष नहीं रहेगा। मिट्टी ही घट का आकार धारण कर लेती है, घटमें से मिट्टी को निकाल लो तो कुछ भी शेष न रहेगा, ऐसे ही इस जगत् में से भगवान् को पृथक् कर दो, सत्य स्वरूप सर्वेश्वर को निकाल दो, तो जगत् का अस्तित्व ही न रहेगा। इससे प्रतीत होता है जगत् कुछ है नहीं। जो भी कुछ है सत् ही सत् है। । उस निष्क्रिय निश्चेष्ट प्रभु की जो भी क्रियायें हैं, जो भी चेष्टायें हैं, वे सब सत्य ही सत्य हैं, असत् की उनमें गंध नहीं, मात्रा नहीं, लेश नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब पाप बाहुल्य के कारण असुरों के अत्याचारों से पीड़ित होकर, दुखित हुई भूदेवी समस्त ब्रह्मादि देवों के साथ भगवान् की शरण में गयी, और वहाँ जाकर अपनी विपत्ति ब्रह्माजीके द्वारा श्रीहरिको सुनायी,तो भगवान्ने,पृथिवी देवी तथा समस्त देवताओं को आश्वासन देते हुए कहा—"तुम्हारी विपत्ति की बात मुझसे अविदित नहीं है, मैं अविलम्ब ही भूका भार उतारने के निमित्त अवनिपर देवकीदेवी के गर्भ से उत्पन्न होऊँगा। तभी धर्म संस्थापन, असाधु दमन तथा साधु संतों का

पालन पोषण रूप पुण्य कर्म करूँगा। तुम निश्चिन्त होकर मेरे प्राकट्य की प्रतीक्षा करो।

भगवान् के ऐसा आश्वासन देने पर देवगण बड़ी उत्सुकता से भगवान् के शुभागमन की प्रतीक्षा करने लगे। जब सुना भगवती देवकी गर्भवती हैं, यह उनका अष्टम गर्भ है, इसी में सकलभुवनपति चराचर विश्व के प्रभु आ गये हैं, तो ब्रह्मादि समस्त देव मिल कर भगवती देवकी के अद्भुत आलय में गये, तथा सब के सब दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर गर्भस्थ गोविन्द की स्तुति विनय करने लगे।

देवता गण भगवान् की स्तुतिःकरते हुए कहने लगे—"प्रभो! आप सत्य व्रत हैं, अर्थात् एकमात्र सत्य को ही आप ने वरण किया है, उसे वरण ऐसा किया है कि आप तदनुरूप ही होगये हैं, आप जो बात एक बार कह देते हैं, या मनसे सोच भी लेते हैं, तो वह सत्य होकर ही रहती है, आप अमोघ संकल्प हैं, आप का संकल्प कभी मोघ-व्यर्थ- जाता ही नहीं,:आपने क्षीर सागर के तट पर हम सब से कहा था-मैं महा भाग्यवती देवकी देवी के उदर से अविलम्ब उत्पन्न होऊँगा, सो आपने अपनी वाणी को सत्य बना दिया। अपने अमोघ संकल्प को अचिरःकाल में ही मूर्त रूप दे दिया। आप का अपने भक्तों का परि पालन करना यही एक सब से बड़ा व्रत है, आपने स्वयं ही अपने श्रीमुख से भक्त विभीषण को प्रपत्ति के समय स्पष्ट शब्दों में कहा है—"एक बार जो मेरी शरण में आकर कह देता है कि मैं तुम्हारा हूँ, तो उसे मैं सर्वदा सभी प्राणियों से सभी अवस्थाओं में अभय कर देता हूँ, यही है मेरा व्रत". सो, प्रभो!:आपका यह सत्य है। आपके प्रपन्न शरणागत भक्त आप के इस अमोघ सत्यव्रत के ही कारण सर्वदा निर्भय बने सर्वत्र स्वच्छन्द घूमते हैं। आज तक आप का यह अपूर्व अमोघ व्रत कभी मोघ या व्यर्थ हुआ नहीं। आपने कभी

दूसरा बाण चढ़ाया नहीं। आपके भक्त का कभी नाश हुआ नहीं। अनृत की कभी विजय हुई नहीं। आप का व्रत सदा सत्य रहा है, और आगे भी रहेगा।

भगवन्! संसार में देखा गया है, कि सत्य अपेक्षा रखता है। इस वस्तु से यह सत्य है, इससे भी यह सत्य है। जैसे विषयों से इन्द्रियाँ पर हैं, इन्द्रियों से मन पर है, मन से भी बुद्धि पर है, बुद्धि से भी महत्तत्व पर है, महत्तत्व से भी प्रकृति और प्रकृति से भी पुरुष पर है, पुरुष से भी जो पर है वही परात्पर परमेश्वर है, पुरुषोत्तम है, आप परमेश्वर पुरुषोत्तम ही पर सत्य हैं, आप से परे किसी सत्य की कल्पना कभी हो ही नहीं सकती। ऐसे परात्पर सत्य स्वरूप प्रभु के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। हे देव! आप एक हैं, फिर भी कार्य के समय तीन हो जाते हैं। ब्रह्मा विष्णु महेश त्रिदेव आप ही हैं। ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, बलशक्ति तीन शक्तियों का आप ही रूप रख लेते हैं, प्रकृति, पुरुष, काल बन कर आपही सृष्टि, स्थिति लय करने में समर्थ होते हैं, आपही काल के भूत, भविष्य और वर्तमान तीन रूप बना देते हैं, आप ही ऋक्, यजुः और साम वेद त्रयी के रूप में हो जाते हैं, आपही, प्राजापत्य आवहनीय तथा-गार्हपत्य अग्नि त्रय का रूप रख लेते हैं। आप ही सत्व रज और तम त्रिगुणके रूप में व्याप्त हो जाते हैं, आपही वात, पित्त और कफ तीन रूपों से शरीरों में संचार करते हैं आप ही प्रातः सवन, माध्यान्दिन सवन तथा सायं सवन बनकर उपासकों को फल देते हैं, आप ही उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप से अभेद में भेद उत्पन्न करते हैं। आपही आदि मध्य अन्त बनकर आपही बाल, युवा वृद्धावस्था में विभक्त होकर आपही पृथिवी पाताल और स्वर्ग लोकों की कल्पना करके तथा आपही ग्रीष्म वर्षा और हिम त्रिऋतुओं के रूप में दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

संसार में जितने भी त्रित्व हैं, वे सब आप के ही स्वरूप हैं, इसी लिये आप त्रिसत्य कहलाते हैं, आप तीनों कालों में तीनों अवस्थाओं में तीनों लिंगों में तीनों गुणों में और तीनों रूपों में एक सत्य रूप से ही अवस्थित रहते हैं, ऐसे त्रिसत्य की हम सदा सर्वदा शरण हैं।

हे सत्योत्पादक ! समस्त सत्य की उत्पत्ति स्थान आपही हैं सत् करके पृथिवी, अप तेज और त्य करके वायु आकाश इन पंच भूतों को योनि—उत्पत्ति के अयन आप ही हैं। कच्छ, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, वामन, मोहिनी, हयग्रीव, परशुराम आदि जो सत्य अवतार हैं उन सबके उत्पत्ति स्थान आपही हैं अथवा मुख्य प्राण ही देहधारियों में सत्य है, उस मुख्य प्राण के उत्पादक भी आपही हो, संसार में जो भी कुछ सत्य दिखायी देता है, उस सब के कारण हे सत्योत्पादक ! आपही हैं। सृष्टि के पूर्व एक मात्र आपही सत्य रूप में विराजमान थे।

हे वैकुण्ठनाथ ! आप सदा सत्य में ही अवस्थित रहते हैं। मथुरा वैकुण्ठ आदि जो सत्यलोक हैं उन में सदा सर्वदा आपकी स्थिति बनी रहती है। हे प्रभो ! प्रवाह रूप से जो यह सत्य सर्वदा संसार चलता रहता है, उसके बाहर-भीतर सर्वान्तर्यामी रूप से आप ही व्याप्त रहते हैं। संसार में कोई स्थान, कोई काल तथा कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जिसमें आप अखंड एक रस बन कर व्याप्त न हों, आप जहाँ निहित न हों ऐसी किसी भी वस्तु की कल्पना कभी की ही नहीं जा सकती।

हे सर्वसार स्वरूप ! आप शब्द के भी शब्द हैं, रूप के भी रूप हैं, रस के भी रस हैं, गंध के भी गंध हैं, स्पर्श के भी स्पर्श हैं, चक्षुरादि इन्द्रियों के भी इन्द्रिय हैं, मन के भी मन हैं, प्राणों के भी प्राण हैं, उसी प्रकार सत्य के भी आप सत्य हैं। संसार में हमें जो भी कुछ नाशवान्, क्षणिक, अनित्य, परिवर्तनशील

पदार्थ सत्य की भाँति दिखाई देते हैं, उनमें वास्तविक सत्य के रूप में आप ही बैठे हुए हैं, सबके सार सब के तत्व सब के मूल भूत सत्य आप ही हैं।

हे आलोकस्वरूप ! संसार में जो सुन्दर लगने वाली सुस्निग्ध मधुर अन्तःकरण को आह्लादित करने वाली सूनृत वाणी है, वही मानों आप का दक्षिण नेत्र है, तथा चराचर विश्व को समभाव से देखनेवाली जो भावना है, वह आपका दक्षिण नेत्र है। इस प्रकार ऋत और सत्य ये ही आप के देखने के साधन स्वरूप युगल नेत्र हैं, इन नेत्रों द्वारा ही आप देखते हैं और जीव भी इन्हीं नेत्रों द्वारा आप को देखने में समर्थ हो सकते हैं। संसार में भी सभी प्राणी अंधे ही हैं, यदि दिन में सूर्य से तथा रात्रि में चन्द्र अथवा अग्नि से प्रकाश प्राप्त न हो तो कोई भी प्राणी कुछ भी देख नहीं सकता। सभी इन दो के ही माध्यम से अपनी इष्ट वस्तुओं के देखने में समर्थ हो सकते हैं सब को दिखाने वाले-दर्शन कराने वाले-सूर्य और चन्द्र ये ही मानों आप के दोनों नेत्र हैं। आप की सत्य दृष्टि का ही प्रकाश सूर्य चन्द्र हैं। अतः हे सत्य प्रकाश स्वरूप प्रभो ! हमआपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणत होते हैं।

प्रभो ! इस समय आप भगवती देवकीदेवी के उदर में प्रविष्ट हैं, किन्तु आप के लिये भीतर बाहर सब समान हैं, आप के यहाँ भीतर बाहर का भेद भाव ही नहीं है, आप तो त्रिकाल-बाधित, सर्वत्र, सदा सभी स्थानों में एक रूप से रहने वाले हैं। आप का आत्मा या स्वरूप सत्य है, आप सच्चिदानन्द रूप से त्रिभुवन में व्याप्त हैं, आनन्दघन बन कर सब स्थानों में अवस्थित हैं। समस्त जीवों का सभी प्राणियों का एकमात्र कर्तव्य यही है, कि वे सर्वात्मभाव से सब कुछ छोड़कर सभी प्रकार की एषणाओं का परित्याग करके सर्वाभाव से आपकी ही शरण

में जायँ, आप को ही भजें, आप के ही लिये आत्मसमर्पण करें आप ही प्रपन्न पारिजात हैं। आप भक्तवांछा कल्पतरु हैं, कभी भी नष्ट न होने वाले सदा सर्वदा एक सी गति से रहने वाले सत्यात्मक हैं, ऐसे आप सत्य रूप की हम शरण में आये हैं। प्रभो! रक्षा करो, रक्षा करो, हमें अपने चरणों की शरण में ले लीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्रह्मादिक समस्त देव गर्भस्थ श्रीहरि की बड़ी भावना से स्तुति करने लगे। आगे वे और भी जो स्तुति करेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

हैं अमोघ संकल्प विचारें सो है जावै।
जो सत हिय महँ धारि करै साधन सो पावै॥
जो जिह दीखत जगत सत्य तें स्वामि बनायौ।
आदि मध्य अरु अंत सत्यई सत्य कहायौ॥
कहा कहैं कहँ तक कहैं, का कछु है सत बिनु कहीं?
बिना बीजके वृक्ष प्रभु, जगत माँहिं दीसत नहीं॥

पद

प्रभु तुम सत्य स्वरूप कहाओ।
जग में जहँ तक दीठि पसारें, तुमई सत्य दिखाओ॥१॥
विश्वम्भर जिह विश्व बनायौ, कैसो सुघर लखाओ।
व्यापि रहे अणु अणु में हरिजू, वेदनि पाठ पढ़ाओ॥२॥
ऋत सत रवि शशि नयन तिहारे, तिनितें तेज लखाओ।
शरन गही प्रभु तव चरननि की, दीन जानि अपनाओ॥३॥

गर्भस्थ श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति (२)

(७५)

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल
श्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्ट विटपो नवाक्षो
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥ ❀

(श्रीभा० १० स्क० २ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

विश्व विटप है आदि प्रकृति आश्रय है ताकी ।
दुख सुख फल कटु मधुर मूल सत रज तम वाकी ॥
अरथ धरम अरु काम मोक्ष रस चारि बताये ।
रसन नयन श्रुति घ्रान परस साधन कहलाये ॥
शोक मोह क्षुत् पिपासा, जरा मृत्यु स्वाभाव हैं ।
सात धातु या विटप की, त्वचा बतावें नाम हैं ॥

नन्हें से वट वृक्ष के बीज के भीतर विशाल वट वृक्ष की योजनों लम्बी शाखायें, सैकड़ों उपशाखायें, लाखों पत्ते, अगणित फल और पक्षियों के रहने योग्य अनन्त कोटर पहिले से ही सूक्ष्म रूप से अन्तर्हित रहते हैं। उर्वरा भूमि और जल खाद आदि उपयुक्त साधन मिलने पर उस नन्हें से बीज से विशाल वट वृक्ष बन

❀ देव गण भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे भगवन् ! इस संसार रूप आदि वृक्ष का एक ही आश्रय है, दो इसमें फल हैं, तीन मूल हैं चार रस हैं, पाँच साधन हैं, छे स्वभाव हैं, सात त्वचा हैं, आठ शाखायें हैं, नौ कोटर अर्थात् छेद हैं और तथा इस पर दो ही पक्षी बैठे हैं ।"

जाता है, जिसकी छत्र छाया में अगणित जीव आकर सुख पाते हैं, शान्ति का अनुभव करते हैं। देखा गया है, संसार के पदार्थों में निमित्त और उपादान कारण पृथक् पृथक् होते हैं, किन्तु इस संसार रूप वृक्ष के निमित्त कारण भी श्रीहरि ही हैं और उपादन कारण भी वे ही हैं। वेही स्वयं अपने ही उपकरणों द्वारा अपने आप ही बीज रूपसे वृक्ष बन गये हैं। संसार महीरुह के वे ही सनातन बीज हैं। वे ही वृक्ष के, नानाधातुओं के रूपमें दिखायी दे रहे हैं। वे स्वयं ही सब कुछ बन गये हैं। इस बात को जिन्होंने समझ लिया है और समझ कर दृढ़ता के साथ हृदयंगम कर लिया है, वे इस चित्र विचित्र नाना भाँति के जगत् को देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते। वे सब में सर्वत्र उन्हीं सर्वान्तर्यामी श्यामसुंदर का साक्षात् कार करते हैं, उन्हीं का नाना रूपों में अवलोकन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गर्भस्थ श्रीहरि की स्तुति करते हुए ब्रह्मादि देवगण कह रहे हैं। "प्रभो ! यह संसार रूप अनादि अनन्त सनातन वृक्ष है। यह वृक्ष कहीं अन्त से नहीं आया है, आप ही स्वयं वृक्ष बन गये हैं। बीज से ही इतने विशाल हो गये हैं।

संसार में समस्त गणनायें नौ और शून्य में ही निर्मित हैं। अर्थात् मुख्य संख्या दश तक ही है, कितनी भी बड़ी से बड़ी संख्या क्यों न हो उसमें एक से नौ तक के अंक और शून्य के अतिरिक्त कुछ भी न होगा। दशमें सबकी समाप्ति है। शून्य अकेला कुछ कर नहीं सकता। बिना अंक के शून्य निरर्थक है, उसका कोई मूल्य ही नहीं, किन्तु अंक के आगे जितने भी शून्य बढ़ते जायेंगे उतना ही उसका गौरव बढ़ता ही जायगा। अतः शून्य की सार्थकता अङ्कों के आगे में ही है। आप के भी इस संसाररूपी महीरुह में पूरी दश वस्तुयें हैं, अर्थात् उसमें सभी

कुछ है, इसमें जो नहीं है, वह कहीं नहीं है।

वृक्ष आश्रय के बिना टिक नहीं सकता। उसे किसी न किसी के आश्रय की आवश्यकता होती है। आपके संसार रूप वृक्ष का एक मात्र आश्रय आपकी प्रकृति ही है। अथवा एक अक्षर ब्रह्म ही आश्रय है।

वृक्ष पर बहुत से फल लगते हैं और सब फल एक ही स्वाद के होते हैं, किन्तु आप के इस अद्भुत पादप में दो ही फल लगे हैं, सुख और दुख, दोनों का स्वाद भी एक दूसरे के विपरीत हैं, एक फल मधुर है दूसरा कड़वा है। दो फल वाला यह वृक्ष एकरस बढ़ता जाता है, इसके फल पककर गिरते भी नहीं। स्वामिन्! उसीमें लटके रहते हैं अथवा पाप और पुण्य ये दो फल हैं।

हे देवाधिदेव ! वृक्ष बिना मूल के स्थिर नहीं रहता। जड़ ही उसे टिकाये रहती हैं, और वृक्षों में बहुत सी जड़ें होती हैं, किन्तु इस संसार रूप वृक्ष में सत्व, रज और तम रूप तीन ही जड़ें हैं। इन्हीं के आश्रय से यह टिका है। जब ये गुणरूपी जड़ें छोटी बड़ी होती हैं; विषमता को प्राप्त हो जाती हैं, तभी यह वृक्ष बढ़ता है। जड़ों की समानता में इसका बढ़ना बन्द हो जाता है और यह बीज में अन्तर्भुक् हो जाता है। अथवा उत्तम, मध्यम और अधम कर्म ही इस विशाल वृक्ष की सुदृढ़ तीन जड़ें हैं।

प्रभो! वृक्ष में जब तक रस न हो तब तक बढ़ता नहीं। यह हरा भरा सरस अपने भीतर के रस से ही होता है। इस आपके संसार वृक्ष में एक प्रकार का नहीं चार प्रकार का रस है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप जो पुरुषार्थ चतुष्टय है, वही इसे सरस बनाये हुए है। अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण ही इस वृक्ष को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों में के द्वारा सरस बनाये हुए हैं। इन्हें

के द्वारा यह विस्तृत बना हुआ है।

स्वामिन्! वृक्ष की बड़ी बड़ी शाखायें फैलकर उसमें से और छोटी छोटी शाखायें निकलकर तब वृक्ष को सुविस्तृत बनाती हैं। इस संसार वृक्ष को शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का ज्ञान कराने वाली श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण और त्वचा ये पांच जानने के साधन रूप पंचेन्द्रियाँ ही इसकी बड़ी बड़ी शाखायें हैं। अथवा वट वृक्ष की शाखाओं से निकलने वाली लटें जो भूमि में आकर जड़ का रूप रख लेती हैं, वे जटारूप शाखायें है, जिनसे वृक्ष सुदृढ़ बना रहता है। अथवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, आनन्दमय और विज्ञानमय जो ये पंच कोष ये ही इसकी सुदृढ़ शाखायें हैं।

हे दयालो! सब अपने स्वभाव से विवश हो जाते हैं, जैसी जिसकी प्रकृति होती है, वह वैसा ही फल पाता है। इस संसार वृक्ष का छै विधि का स्वभाव है। शोक, मोह, जरा, मृत्यु, भूख और प्यास ये जो छै प्रकार की ऊर्मियाँ बतायी गयी हैं, यही इसकी आत्मा है स्वभाव है। इन्हीं स्वभाव के कारण दार्शनिक इसे दुःख मय बताते हैं।

हे दीन बन्धो! मनुष्य शरीर के ऊपर चर्म के ६ परत चढ़े रहते हैं। वृक्षों में ये छाल के कई परत होते हैं, इस संसार रूप वृक्ष की भी रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और शुक्र ये सप्त धातुयें ही सात छिलके हैं। इनके कारण ही यह बढ़ता रहता है, इस अनादि वृक्ष की बढ़ती सदा धातुओं ही द्वारा होती है। हे अनादिनिधन प्रभो! वृक्ष की बड़ी बड़ी शाखाओं में से बहुत सी छोटी छोटी शाखायें फूटती हैं, आपके इस संसार वृक्ष को पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन बुद्धि और अहंकार ये अष्ट प्रकृति रूप आठ ही छोटी छोटी शाखायें हैं अथवा देवता, गन्धर्व दानव, राक्षस, पिशाच, तिर्यङ्, मानुष और

समस्त स्थावर ये आठ प्रकार के जीव ही इस वृक्ष की पतरी पतरी शाखायें हैं।

हे अछिद्र अवृण प्रभो! वृक्षों के तने में पक्षियों के रहने के छोटे छोटे कोटर होते हैं, जिनमें पक्षी सुख पूर्वक निवास करते हैं। आपके इस संसार वृक्ष में एक दो नहीं नौ कोटर हैं। शरीर में जो मुख, दो नेत्र, दो कान, दो नाक और गुदा तथा शिश्न के नौ छिद्र हैं वे नौ छिद्र ही मानो इसके नौ कोटर हैं।

हे प्राणेश्वर! अन्य वृक्षों में असंख्य पत्ते होते हैं, किन्तु आप के इस संसार वृक्ष में दश ही पत्ते हैं। देह में विचरण करने वाले प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय ये दश प्राण ही मानों दश पत्ते हैं। अथवा दशों इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श ग्रहण, गमन, उच्चारण, त्याग तथा आनन्द ये जो दश विषय हैं वे ही मानों इस वृक्ष के पत्ते हैं। इन दशपत्रों द्वारा ही यह हरा भरा दिखाई देता है।

इस प्रकार दश तक की संख्या समाप्त हो गयी, मानों इस वृक्ष में सब कुछ आ गया। जो भी इन्द्रियों द्वारा देखा जाय, मन द्वारा मनन किया जाय, बुद्धि द्वारा विचारा जाय वह सभी इसमें है। परिपूर्ण बीज से यह बना है अतः यह स्वयं भी परिपूर्ण है, इसमें किसी वस्तु का अभाव नहीं। हे प्रभो! यह आपकी परम विचित्र रचना है।

भगवन्! संसार में जो भी लोग रचना करते हैं, उसमें बहुतों का सहयोग होता है, परस्पर में मिलकर सहकारिता के आधार पर रचना तथा विकास आदि होते हैं, किन्तु इस संसार वृक्ष के एकमात्र आप ही उत्पन्न करनेवाले हैं, जैसे मिट्टी से घड़ा, सूत से वस्त्र, जल से हिम तथा दूध से दही और सुवर्णादि धातुओं से आभूषण बन जाते हैं, वैसे ही आपसे ही यह जगत बन गया है। इस

जगत् को बनाने वाले भी आप ही हैं, जब इच्छा होती है, तो अपने आप में ही इसे लीन भी कर लेते हैं, और जब तक इसे रखते हैं तब तक इसका पालन भी आप ही करते हैं, अर्थात् कर्ता भर्ता और हर्ता सभी आप हैं। आप ही उत्पत्ति स्थान हैं, आप ही अधिष्ठान हैं तथा आप ही का अनुग्रह से यह अवस्थित है।

प्रभो! आपकी कोहिरा की भाँति एक परम विमोहिनी माया है, जिनके हृदय पर उस माया का आवरण छा गया है, वे माया मोहित प्राणी आपको नाना रूपों में देखते हैं। जैसे आँखों में दोष हो जाने से एक चन्द्रमा के कई चन्द्र दिखायी देने लगते हैं, जैसे शीशा के सम्मुख शीशा रख देने से उसमें एक ही व्यक्ति के अनेकों प्रतिबिम्ब दिखायी देते हैं, जो अज्ञ हैं, अबोध हैं, मलिन-मति हैं, वे उन्हें अनेक बताते हैं, किन्तु जो विज्ञ हैं, निर्मल बुद्धि वाले हैं, तत्वदर्शी हैं, विद्वान् हैं, ब्रह्मज्ञानी हैं वे इस जगत् को नाना रूपों में नहीं निहारते। वे तो उसे ब्रह्मात्मक ही देखते हैं, वे सर्वभूतों में चराचर प्राणियों में एकमात्र आपको ही सर्वत्र अनुभव करते हैं। उनके लिये यह नाना नाम रूपात्मक जगत् कुतूहल की वस्तु नहीं। वे तो सर्वत्र श्यामसुंदर को ही सबमें निहारते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार समस्त देवतागण देवकी के गर्भ में अवस्थित-से श्रीहरि की स्तुति करने लगे। देवताओं को कुछ काम धन्धा तो है ही नहीं। विपत्ति में भगवान ही याद आते हैं, अतः उन्होंने बहुत लम्बी-चौड़ी स्तुति की है, उसका वर्णन मैं क्रमशः आगे करता ही रहूँगा।"

छप्पय

ओज रक्त रस मांस अस्थि मज्जा बीरज सब।
धातु सात ये कहीं आठ शाखा कूँ सुनु अब॥
पाँच भूत, मन, बुद्धि आठवाँ अहङ्कार सो।
तरु कोटर नौ कहे छेद नर तनु में हैं जो॥
दश विधि के जो प्रान हैं, पादप पत्ता दश कहें।
जगत सनातन वृक्ष में, जीव ब्रह्म द्वै खग रहें॥

पद

प्रभु जग वृक्ष बीज बनि जाओ।
स्वयं खेत अरु बीज खाद पय, स्वयं बोइ उपजाओ॥१॥
प्रथम प्रकृतिकूँ आश्रय करिकैं, सुख दुख फल लटकाओ।
त्रिगुन मूल रस चार वरग हैं, साधन करन कहाओ॥२॥
शोक मोह अरु जरा मृत्यु पुनि, भूख प्यास उपजाओ।
ये स्वभाव हैं सात धातु ई, त्वचा वृक्ष लिपटाओ॥३॥
मन, धी, भूत, अहं आठहु ये, शाखा तरु फैलाओ।
तनु के द्वार छेद कोटर नौ, पत्र प्रान फहराओ॥४॥
बीज स्वयं तरुवर बनि जावै, ब्रह्महि ब्रह्म लखाओ।
उतपति थिति लय में तुम हो तुम, पालन करो मिटाओ॥५॥
माया मोहित लखें विविधि विधि, ज्ञानिहिँ एक दिखाओ।
बार बार बन्दैं पद प्रभुजी, सत्य रूप दरसाओ॥६॥

गर्भस्थ श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति (३)

(७६)

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा,
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य ।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि,
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० २ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

शुद्ध सत्वमय विविध बोधमय वेश बनावें ।
सकल चराचर जगत मॉहिं आनँद फैलावें ॥
साधुनि कूँ सुख देहिं खलनि परलोक पठावें ।
करि अधरम कूँ नाश धरम की सीख सिखावें ॥
योग समाधि लगाइकें, तव चरननि नौका करें ।
ते नहिं डूबे भव उदधि, गोपद सम ताकूँ तरें ॥

---

*भगवान् की स्तुति करते हुए देवगण कह रहे हैं—"प्रभो ! आप अवबोध आत्मा हैं, बोध स्वरूप हैं। चराचर लोक के कुशल क्षेम के निमित्त आप नाना रूपों को धारण करते हैं, आप के वे रूप विशुद्ध सत्वमय होते हैं तथा सज्जनों को सुख देनेवाले और दुर्जनों का दमन करने वाले होते हैं।"

भूल भुलैया का एक खेल होता है। टेढ़ी मेढ़ी ऐसी रेखायें, बनायी जाती हैं, कि दूरसे देखने वाला इस भ्रम में पड़ जाता है, कि इन इतनी असंख्य टेढ़ी मेढ़ी एक दूसरी से मिली हुई रेखाओं से पार कैसे जाया जायगा, किन्तु जो भूल भुलैयों का निर्माण करता है, वह निर्माण करते समय ही उसमें से निकलने का मार्ग बना देता है, यदि निकलने का मार्ग न बनावे तो खेल ही क्या रहा ? इसी प्रकार भगवान् नाना रूपों में चमकते हुए इस अत्यन्त आकर्षक संसार सागर को बनाकर उसके पार जाने के विविध साधन भी बनाकर रख देते हैं, जो विज्ञ जन हैं, वे प्रभु का आश्रय लेकर उन साधनों द्वारा पार हो जाते हैं, जो अज्ञ जन हैं, वे इसी भवसागर में इधर से उधर असहाय की भाँति भटकते रहते हैं। निर्माता का आश्रय लेने पर इस भूल भुलैया का भेद सहज में ही खुल जाता है। सरलता से बाहर जाने का मार्ग मिल जाता है। मछली जब तक जल के आस पास रहेगी तब तक फँसती ही रहेगी जो जाल वाले के पैर के पास पहुँच जायगी वह कभी भी जाल में न फँसेगी। अतः भगवत् चरणारविन्द ही भवसागर से पार उतारने के सुखद साधन हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गर्भस्थ भगवान् की स्तुति करते हुए देवगण कह रहे हैं—"प्रभो ! अज्ञ लोग कहते हैं, जो जन्म मरण के चक्कर में फँसा है, जो माता के गर्भ में नौ महीने तक मल मूत्र में फँसा क्लेश भोगता है, जिसे बारम्बार जन्म लेना पड़ता है, वह भगवान् कैसा, जो कर्म भोगों के अधीन है वह स्वतंत्र सर्व समर्थ कैसा ? स्वामिन् ! ये अज्ञ लोग यह नहीं जानते आप विरुद्धधर्माश्रय हैं। आप सब कुछ करने में-सब स्थितियों में रहने में स्वतंत्र हैं। आप अज्ञान से सर्वदा निर्लेप ज्ञान स्वरूप हैं, आप कर्मों के अधीन होकर जन्म नहीं लेते। आप ने इस चित्र विचित्र रूप से दीखने वाले स-

म्पूर्ण स्थावरजंगमात्मक चराचर जगत् को अपनी लीला से ही बनाया है। फिर अपने आनन्द के लिये जीवों के भोग भुगाने के लिये इसका पालन भी करते हैं। विश्व के कल्याण के निमित्त विशुद्ध सत्वमय अनेक रूप भी धारण करते हैं। रूप रखने पर भी आप नाम रूप से सर्वथा पृथक् ही बने रहते हैं।

हे धर्मस्वरूप ! आप धर्मसंस्थापनार्थ युग युग में अनेक रूप रखकर साधु पुरुषों का परित्राण करते हैं; सज्जनों को सुख देते हैं तथा दुष्कृतियों का विनाश करते हैं, उन पापाचारी असाधु पुरुषों को यथोचित दंड देकर भू का भार उतारते हैं। आप का अवतरण कर्मों के अधीन नहीं होता, आप स्वेच्छा से विविध अवतार लेते हैं।

हे शरणागतवत्सल विभो ! अन्य अनेक जीव इस भव-सागर में भटक रहे हैं, वे पार जाना चाहते हैं, किन्तु यह संसार समुद्र अगाध है अपार है, बिना आपका आश्रय लिये इसे पार जाने का कोई अन्य मार्ग है ही नहीं। आपकी कृपा से ही इसे पार किया जा सकता है। दूसरा कोई उपाय बहुत सोचने पर भी ध्यान में नहीं आता। बहुत से योगी जन समाधि योग द्वारा आप निखिल सत्वधाम परमेश्वर के पुनीत पाद पद्मों को नौका बनाकर, उसी के सहारे इस अगाध भव जल निधि को सुगमता के साथ पार कर लेते हैं। उनको पार जाने में तनिक भी श्रम नहीं करना पड़ता।

कुछ लोग सदैव आप के चरणारविन्दों का ध्यान करते हैं तथा आप के नामों को निरन्तर रटते रहते हैं, उन नामनिष्ठों के सम्मुख यह इतना भारी अगाध अपार अनंत भवार्णव छोटा सा गड्ढा हो जाता है, गौ के खुर से जितना छोटा-सा

गड्ढा बन जाय और उसमें जल भर जाय, इतना सा ही यह भवसागर उनके लिये बन जाता है, इतने छोटे गड्ढे के लिये नौका या अन्य किसी साधन का आवश्यकता ही क्या है, वे आप के नामनिष्ठ अनन्य भक्त उसे लाँघ कर ही पार हो जाते हैं।

प्रभो! कुछ पुरुषार्थी ज्ञानी पुरुष अपने साधनों द्वारा आपसे शक्ति पाकर इस असार सागर को भी तैर कर एकाकी पार हो जाते हैं। आप की अनुग्रह से उनके बाहुओं में इतना बल हो जाता है, कि तैरते-तैरते थकते नहीं, उस पार अकेले पहुँच ही जाते हैं।

किन्तु हे कान्तिमय! सब में तो इतनी सामर्थ्य नहीं होती, सभी तो पुरुषार्थ से तैरकर पार नहीं जा सकते कुछ आपके शरणागत ऐसे भी हैं, जो निर्बल हैं, इतनी दूर तैर नहीं सकते। आप उनपर भी कृपा करते हैं। अपने कुछ ऐसे तद्रूप सर्वसमर्थ भक्तों को प्रकटित करते हैं, जो भक्ति-मार्ग भागवत-पथ रूप एक सुदृढ़ नौका बना लेते हैं। उसमें आपकी अनुग्रह का ही सब साज सजाते हैं, आपके पादपद्म ही उस नौका का आधार होता है उसमें आपके प्रपन्न शरणागत भक्तों के साथ बैठकर उस नौका को आपकी आज्ञा से चला देते हैं, वे अपने अनुयायियों सहित उस पार तो पहुँच ही जाते हैं, किन्तु उस दृढ़ नौका को यहीं छोड़ जाते हैं, जिससे और भी भक्तगण उसपर चढ़कर सदा पार होते रहें। सबको पार पहुँचाने की एक सुन्दरतर तरी स्थायी हो जाती है। आपके चरणकमलों की होने से जैसे कमल कभी जल में डूबता नहीं उसी प्रकार वह नौका भी कभी जल में डूबती नहीं।

हे अरविन्दाक्ष! आपके भक्त ही इस भवाब्धि के पार पहुँच सकते हैं। वे भक्त चाहें योगनिष्ठ हों, ज्ञाननिष्ठ हों अथवा भक्ति

निष्ठ हों उनका ही निस्तार है, अभक्तों के लिये वह मार्ग अवरुद्ध है। बहुत से ऐसे लोग हैं, कि वास्तव में जो मुक्त तो हैं नहीं; किन्तु भ्रम-वश जैसे अपंडित अपने को पंडित मानने लगता है, अधनी अपने को धनी अनुभव करने लगता है, उसी प्रकार वैसे ही अपने को मुक्त मान बैठते हैं। और बड़े गर्व से अत्यंत अभिमान से कहते हैं, मैं वही आत्मा हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ। जब वे अल्पज्ञ अपने को ही ब्रह्म मानने लगते हैं, तो दूसरों की की हुई पूजा को तो वे प्रेम से ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु आपकी पूजा नहीं करते। प्राणी जब तक आपकी पूजा न करेगा आपका भजन न करेगा, तब तक उसका चित्त शुद्ध कैसे होगा? ऐसे वे अविशुद्ध बुद्धि व्यक्ति दूसरों से तो अपने चरण छुवाने की लालसा रखते हैं, किन्तु स्वयं वे आपके अमल विमल अरुण चरणारविन्दों की आराधना से विमुख बने रहते हैं और आपको छोड़कर तप आदि दूसरे साधनों में संलग्न रहते हैं, तो साधन का तो फल मिलना ही ठहरा। कोई भी कार्य निष्फल तो जाता नहीं। वे तपादि साधनों से भले स्वर्ग को प्राप्त कर लें, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक तक भी पहुँच जायँ, किन्तु वहाँ जाकर भी उनका पतन अवश्य हो जायगा। वे नीचे अवश्य गिर जायँगे। हम किसी वस्तु को ऊपर फेंके, तो जब तक नीचे का वेग रहेगा, तब तक वह वस्तु ऊपर जायगी, किन्तु जहाँ वेग कम हुआ कि वह तुरन्त नीचे गिर जायगी, क्योंकि आधार के बिना कोई वस्तु अधर में ठहर नहीं सकती। ऊपर कोई आधार हो तो उसके सहारे सदा टिकी रह सकती है। इस जगत् के एकमात्र आधार तो हे कमलनयन! आप ही हैं। उन अल्पज्ञ ज्ञानमानी अविशुद्ध बुद्धिवाले व्यक्तियों ने आपके पादारविन्दों का आश्रय तो छोड़ ही दिया है, वे तो अहं का प्रचलित अर्थ देह को ही ब्रह्म मानते हैं। फिर वे ऊपर ठहर कैसे सकते हैं। अधःपात ही उनके लिये निश्चित मार्ग

हैं। क्योंकि वे भक्ति-भाव से शून्य तथा अशुद्ध चित्तवाले होते हैं। अतः कोई भी मार्ग क्यों न हो, सबमें आपकी भक्ति की ही परमावश्यकता रहती है भक्ति ही सार है। शेष सभी निस्सार है। अभक्त का पतन सुनिश्चित है।

किन्तु हे श्यामसुन्दर! जो अभक्त नहीं हैं, आप के भक्त हैं, जो आप के चरणारविन्दों में सुदृढ़ प्रेम रखते हैं, वे उन अल्पज्ञों की भाँति अपने मार्ग से कभी परिभ्रष्ट नहीं होते। वे कहीं डगमगाते भी हैं, तो आप उन्हें सम्भाल लेते हैं, कारण कि उन्होंने अपना सर्वस्व आप को अर्पण जो कर दिया है, जो सर्वात्मभाव से आपकी शरण में आ जाते हैं, आपको आत्मसमर्पण कर देते हैं, उनके लिये तो आप ही आधार हैं, आप ही उनके रक्षक पालक और परित्राता हैं वे निर्भय हो जाते हैं, उन्हें भ्रष्ट होने का भय नहीं होता। पतन होने की आशंका नहीं रहती। वे सदा सर्वदा सर्वत्र अपने आप को आप के द्वारा सुरक्षित समझते हैं। कितने भी बड़े अन्तराय उपस्थित क्यों न हो जायँ, कैसे भी भारी से भारी भय क्यों न आ जायँ। कितनी भी बड़ी विघ्नों की सेना उनके ऊपर चढ़ाई क्यों न कर दे। वे उस विघ्नों की सेना के अधिपति के ऊपर से-उस अन्तराय की अनी के सेनापति के सिर के ऊपर-पैर रखकर आप की कृपा से निर्भय चले जाते हैं। वे स्वच्छन्द विचरण करते हैं, क्योंकि वे मानते हैं और उपासना के बल से अनुभव करते हैं, कि आप ही इस जगत के एक मात्र आधार हैं और आप की भक्ति करना यही इस संसार सागर से पार होने का सुगम सरल साधन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवताओं ने गर्भस्थ श्री हरि की स्तुति की अभी वे और भी स्तुति करेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय—

जो जन अतिशय भक्त सतत पद पदुमनि ध्यावें।
स्वयं तरें जग तरन हेतु तरनी तजि जावें॥
निरमल चित जिनि नहीं ज्ञानमानी अभिमानी।
पतित होहिं तिनि चरन कमल महिमा नहिं जानी॥
माधव जे पद दास हैं, ते न कबहुँ नीचे गिरें।
विघननि के सिर पैर दै, निरभय ते चहुँ दिशि फिरें॥

पद

भक्तभय मेटे चरन तिहारे।
चरन नाव चढ़ि पार करें भव, जामें छोड़ि किनारे॥१॥
अनुयायी निरभय चढ़ि उतरें, संयम श्रद्धावारे।
जे अभिमानी ज्ञानी ध्यानी, ते डूबें मझधारे॥२॥
जिनि पद पकरे पूजा कीन्हीं, भक्ति करी अघजारे।
तिनहिं विघन बाधा कछु नाहीं, प्रभुपद रहें सहारे॥३॥

गर्भस्थ श्रीहरि की देवों द्वारा स्तुति (४)

(७७)

सत्वं विशुद्धं श्रयते भवान्स्थितौ,
शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपः समाधिभि-
स्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥*॥
(श्री भा० १० स्क० २ अ०, ३४ श्लो०)

छप्पय

धारें जग थिति हेतु सत्वमय शुभ वपु भगवन् ।
तप समाधि अरु ज्ञान योगतें पूजें सब जन ॥
यदि विशुद्ध वपु आपु न धारें ज्ञान अमल कहँ ।
गुन प्रकाश तें गुनी, सबहिँ अनुमान करें तहँ ॥
मन बानी के विषय नहिँ, वेद नेति कहिके तजें ।
भक्ति भाव तें भक्त जन, करि दरसन तुमकूँ भजें ॥

---

* गर्भस्थ भगवान् की स्तुति करते हुए देवगण कह रहे हैं—"प्रभो! आप शरीरधारियों की स्थिति के निमित्त विशुद्ध सत्त्व का आश्रय ग्रहण करके विश्व कल्याणार्थ श्रेयष्कर शरीर धारण करते हैं, जिसके द्वारा प्राणी, वेद, क्रिया, योग तप और समाधि आदि साधनों से आपका पूजन करते हैं ।

भगवान् निर्गुण हैं, निर्विकार हैं, निरञ्जन है, नाम रूपसे रहित हैं, इसमें हमें कोई विवाद नहीं, किन्तु हम तो सगुण साकार रूप के उपासक हैं, उन्हीं की मनोहर मूर्तिका ध्यान करते हैं, उन्हीं के मंगलमय नामों का गान करते हैं और उन्हीं की त्रिभुवन तारिणी भुवनमन मोहिनी लीलाओं का श्रवण तथा कथन करते हैं।

भगवान् वैकुण्ठ, साकेत गोलोक तथा क्षीरसागर आदि स्थानों में होंगे, किन्तु हमें तो वे अवधविहारी वृन्दावन विहारी आदि रूपों में ही रुचिकर हैं, हम तो उन्हें वृन्दावन की वीथियों में, यमुना के पुलिनों में गोवर्धन की तलहटी में गौओं के साथ ही देखना अधिक रुचिकर मानते हैं। वे नन्द प्रांगण में चाहे माखन के लिये मचल रहे हों, मां से तकरार कर रहे हों अथवा अन्य कोई क्रीड़ा कर रहे हों, किन्तु घर में तो हम उन्हें माताओं के साथ खेलते देखना चाहते हैं। गोष्ठ में ग्वाल बालों के साथ, सखी सहेलियों के साथ अथवा गौ बछड़ों के साथ खेलते देख कर सुखी होते हैं, गोपाङ्गनाओं के घरों में माखन चोरी करते हुए, नाना उत्पात करते हुए वे हमें भले लगते हैं। व्रज और गोष्ठ के बाहर वन में सखाओं के साथ विविध क्रीड़ा करते हुए, गोपियों के साथ छेड़ छाड़ करते हुए हमें भाते हैं। जो गुम्म सुम्म सिंहासन पर बैठा हो;ऐसा हमें सगुण ब्रह्म-गंभीर भगवान् भी—नहीं भाता। फिर गुण रहित बिना हाथ पैर के निर्गुण निराकार ब्रह्म की तो बात ही क्या है।

आप सोचें-हमारी इन्द्रियाँ ऐसी बनी हैं कि वह बिना किसी रूप की कल्पना किये किसी का अनुमान ही नहीं कर सकतीं। बिना कुछ नाम का संकेत किये किसी के सम्बन्ध में कुछ कह नहीं सकतीं। अतः शरीर धारियों के लिये ध्यान के योग्य; लक्ष्य के लिये कोई रूप आवश्यक है। भगवान् तो कल्प तरु हैं, सब की इच्छाओं को पूर्ण करते हैं, इसीलिये वे भक्तों की इच्छा पूर्ति के निमित्त विविध रूप धारण करते हैं। नाना अवतार लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गर्भस्थ भगवान् की स्तुति करते हुए देवगण कह रहे हैं—"प्रभो ! आप त्रिगुणातीत हैं। संसारमें जितने भी जीव हैं, सब सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के अन्तर्गत हैं किन्तु आप इन तीनों गुणों से परे हैं। इसी लिये आप निर्गुण निराकार निर्लेप कहलाते हैं। फिर भी तीनों गुणों में से जो सर्वश्रेष्ठ सत्त्वगुण है, उस सत्त्वगुण से भी परे एक विशुद्ध सत्त्व है, आप उसी सत्त्व का आश्रय ग्रहण करके एक चिन्मय दिव्य मङ्गल श्री विग्रह धारण करते हैं। आपको स्वयं उसकी कोई आवश्यकता नहीं। आप तो आवश्यकता से परे हैं। फिर भी शरीर धारियों का परम कल्याण हो, वे आप तक पहुँच सकें उनके साधन की सुगमता के निमित्त आप देह धारण करते हैं। जिस मूर्तिका आश्रय करके वेदपाठी वेदाध्ययन करते हैं, नाना क्रिया कलापों द्वारा वैदिक तांत्रिक पद्धतियों से उपासक लोग उसी दिव्य विग्रह की पूजा करते हैं। योगी लोग उसी मूर्ति का आश्रय लेकर नाना योगों के द्वारा स्वरूप दर्शन करते हैं। स्व स्वरूप में अवस्थित होते हैं। तपस्वीगण भाँति-भाँति की तपस्याओं द्वारा तपस्वरूप आप को प्राप्त करते हैं, समाधिनिष्ठ साधक समाधि में आपके उस साकार रूप का साक्षात्कार करते हैं।

प्रभो ! जब आप सगुण साकार होते हैं, तो वर्णाश्रमी प्रजा उसी के द्वारा सभी वर्ण और आश्रमों में सिद्धि लाभ करती है। ब्रह्मचारी गण वेदाध्यन के द्वारा आपको प्राप्त करते हैं। गृहस्थाश्रमी एकादशी, प्रदोष, अमावस्या, पूर्णिमा तथा संक्रान्ति आदि पुण्य तिथियों का उपवास करके, वेदाध्ययन तथा पञ्चयज्ञों द्वारा तथा आस्तिक बुद्धि से और शुभ कर्म करके आपकी उपासना करते हैं। वानप्रस्थाश्रमी ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि ताप कर वर्षा के दिनों में खुले आकाश में रहकर तथा सरदी में जलमें खड़े होकर और कन्दमूल फल आदि वन्य पदार्थों पर निर्वाह करते हुए

तपस्या के द्वारा आपकी आराधना करते हैं। इसी प्रकार चतुर्थाश्रमी संन्यासी गण ज्ञानाग्नि द्वारा सर्व कर्मों को भस्मसात् करके समाधि में आपका दर्शन करते हैं। इस प्रकार हे भगवन्! आप के अवतार से सभी साधकों का समानरूप से कल्याण होता है।

हे आनन्द घन! वृक्ष से बीज का अनुमान होता है। गर्भ को देखकर पति का अनुमान होता है। कार्य को देखकर कारण के विषय में सोचा जाता है। इस त्रिगुणात्मक जगत् को देख कर यह अनुमान लगाते हैं, कि इसका कोई कर्ता अवश्य होगा जो इस सर्वाधिष्ठान का सर्वसाक्षी है। हे विधाता! यदि आप अवतार धारण न करते तो साधकों को आपका अपरोक्ष ज्ञान कैसे होता? जो साधक आपके कर, चरण, नयन, नासिका तथा कमल नयन के दर्शन करना चाहते हैं, जो आपसे मधुर मधुर बातें करने के लिये समुत्सुक रहते हैं। उनके लिये तो आप को नराकृति रखना ही होगा, उनके सम्मुख तो आपको अपना त्रिभुवन कमनीय रूप प्रदर्शित करना ही होगा। इसीलिये हे भगवन्! भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त आप भगवती महाभागा देवकी के उदर में प्रविष्ट से हुए हैं। प्रविष्ठ से इसलिये कहा कि आकाश के समान बाहर भीतर सर्वत्र व्याप्त के लिये प्रविष्ट होना कहना बनता नहीं।

हे देवाधिदेव! हम लोग जानते हैं, कि इन्द्रियों का नियामक मन है। मनकी स्थिरता बुद्धि के अधीन है। उस बुद्धिका भी जो कोई नियामक है, वही परमात्मा है। इसी प्रकार वेद अन्नमय कोश का वर्णन करके कहता है, नेति यह वह परमात्मा नहीं है, फिर प्राणमय का वर्णन करके कहता है नेति। यह ब्रह्म नहीं। इस प्रकार नेति नेति कह कर जो इस दृश्य प्रपंच से परे है, वही ब्रह्म है, इस प्रकार मनके द्वारा तथा वेदवाणी के द्वारा केवल आपका अनुमान ही कियाजा सकता है। आपके स्वभाव को कोई प्रत्यक्ष तो

देख नहीं सकता, केवल कार्य को देखकर जैसे कारण का अनुमान करते हैं, वैसे ही आपके स्वभाव का अनुमान किया जाता है। जब आप के स्वभाव के ही विषय में पूर्ण जानकारी नहीं है, तो फिर आप सर्वसाक्षी के नामों का, आप के अचिन्त्य, अवर्णनीय रूप का, आप निर्गुण के गुणों का, आप कर्मरहित के अनुपम कार्यों का तथा आप अजन्मा के जन्मों का वर्णन कोई कैसे कर सकता है, आप के अवतारों का निरूपण नहीं किया जा सकता। इतना सब होने पर भी जो आपके अनन्य भक्त हैं, आपके सगुण साकार स्वरूप के उपासक हैं, वे उपासना के द्वारा आस्तिकता तपस्या तथा मंत्रजापादि के द्वारा आपके त्रिभुवन कमनीय अचिन्त्य अनवद्य स्वरूप का साक्षात्कार कर लेते हैं, आप के प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर लेते हैं।

हे प्रभो! क्रियायें चाहें लौकिक हों, वैदिक अथवा तान्त्रिक, जब तक उनमें आपके सुमधुर नामों का कीर्तन न होगा, आपके भुवन मोहन रूपका स्मरण न होगा, आप की अलौकिक लीलाओं का कथन, श्रवण तथा ध्यान न होगा, तब तक वे कर्म परिपूर्ण कैसे कहे जा सकते हैं। इसीलिये जो आपके अनन्य उपासक हैं, भावुक भक्त हैं, आपके पादपद्मों का ही जिन्हें एकमात्र सहारा है, वे भक्त जन वर्णाश्रमधर्म का पालन करते हुए लौकिक तथा वैदिक क्रिया कलापों के करते समय आपके मङ्गलमय नाम रूपोंका दूसरों भक्तों द्वारा स्वयं श्रवण करते हैं, अपनी वाणी द्वारा उनका कीर्तन करते हैं, प्रवचनकारों के मुख से स्वयं सुनते हैं, अपने संगी, साथियों, कुटुम्ब, परिवार वालों के साथ मिलजुल कर नाम संकीर्तन करते हैं। आपके रूप का स्मरण करते हैं, ध्यान द्वारा आपका साक्षात्कार करते हैं। वे फिर माता के स्तन पानको नहीं करते, अर्थात् वे संसार सागर से सदा के लिये विमुक्त बन जाते हैं, उन्हें फिर इस भवसागर में भ्रमित नहीं होना पड़ता। आपके

जिनको स्वतः कोई इच्छा नहीं, जो स्वयं कर्मबन्धनों से परे हैं, जिनका कोई कर्तव्य नहीं। जो नित्य, निरञ्जन, निराकार, निरामय और निर्विकार हैं, वे ही सब भक्तों को सुख देने के निमित्त अपने आश्रितों को आनन्द पहुँचाने के लिये सगुणसाकार सुन्दर स्वरूप रखकर अवनि पर अवतरित होते होंगे, तो उस समय इस पृथिवी की शोभा कैसी हो जाती होगी। हम देखते हैं, कुछ क्षणों के लिये कोई साधु-संत, आचार्य या विशिष्ट व्यक्ति किसी स्थान पर आ जाते हैं, तो उनके आने से ही वहाँ कैसी श्री दमकने लगती है, जहाँ वे निवास करते हैं, वह स्थान हठात् सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, जब उनके स्वल्पविभूति वालों के कारण इतनी शोभा हो जाती है, तो वे षडैश्वर्यपूर्ण प्रभु जब बन ठनकर, सुंदर-वपु धारण करके इस अवनि को पावन करते होंगे, तब तो यह पृथिवी पद-पद पर नत हो जाती होगी, अपनी स्वाभाविक कठिनता त्याग कर मृदु से भी मृदुतम बन जाती होगी, कृपण के धन की भाँति उन चरणचिन्हों को अपने वृक्षस्थल में छिपा लेती होगी। दिशायें खिल उठती होंगी, वृक्ष हरे भरे हो जाते होंगे। पहाड़ पिघल जाते होंगे और नदियाँ सुस्थिर हो जाती होंगी। तभी तो भगवती कुन्ती ने रोते रोते श्यामसुंदर से हस्तिनापुर में द्वारकागमन के समय कहा था—"हे नाथ! हे श्यामसुंदर! हे गदाधर! आप द्वारका जा रहे हैं, कैसे कहूँ कि न जाओ। और यह भी नहीं कह सकती कि आप जाओ, किन्तु हे देव! आपके विलक्षण लक्षणों से लांछित अरुण वरण के चरणारविन्दों से चिन्हित यह कुरुजांगल देश की अवनि इस समय जैसी सुशोभित हो रही है, वैसी आपके यहाँ से पधारने पर शोभित न होगी। यह सूनी-सूनी सी हो जायगी, इसमें वह सरसता न रहेगी, उसमें वह मादकता दिखायी न देगी, विधवा के मस्तक पर सिन्दूर का यह लाल चिन्ह जैसे उसका उपहास करता

है, उसी प्रकार आपके बिना यह भू-भाग उपहासास्पद बन जायगा। हे अशरण शरण! आप जब इस देश में विराजते हैं, तो ओषधियों में होड़ लग जाती है, देखें कौन अधिक बढ़कर श्यामसुन्दर को रिझा सकती है। वृक्षों के पुष्पों में प्रतिस्पर्धा हो जाती है, देखें कौन अधिक सुन्दर सुगन्धित होकर श्यामसुंदर की सेवा कर सके। फलों में लाग-डाट होने लगती, कौन सुन्दर सुस्वादु सरस सलौना बनकर श्यामसुन्दर के अधरों के स्पर्श का सौभाग्य प्राप्त कर सके। आकाश अपने विविध प्रकार के रङ्ग प्रकट करता है, दिशायें सुख शान्ति का शृङ्गार कर करके हँस जाती हैं, प्रकृति आह्लादित हो जाती है। सुपक्व ओषधियाँ हिलने लगती हैं, लतायें वृक्षों से लिपट कर सटकर अठखेलियाँ करती रहती हैं, वन विकसित हो जाते हैं, पर्वत पिघल जाते हैं, वे रंग बिरंगे मणि-मुक्ताओं को बखेर देते हैं, अपना सर्वस्व लुटाने के लिये बाहर फैला देते हैं। नदियाँ रोमांचित हो जाती हैं, समुद्र हिलोरें लेने लगते हैं, गरज गरजकर हर्ष प्रकट करते हैं श्याम-सुन्दर तुम्हारे चले जाने पर ये सब म्लान हो जायँगे।" यह तो विदाई का दृश्य है, जब भगवान् आ रहे हों उनके प्राकट्य का काल हो उस समय की शोभा समृद्धि और सौभाग्य के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं बनता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रकट होनेवाले प्रभु की स्तुति करते हुए देवतागण कह रहे हैं—"प्रभो! यह पृथिवी आपके चरण स्थानीय है, अर्थात् जब आप विराट् रूप धारण करते हैं, तब पृथिवी आपके चरण होते हैं। पृथिवी को आपने पत्नी रूप से भी ग्रहण किया है, इस नाते से भी वह आपकी चरणसेविका दासी है। सर्वप्रथम पृथिवी का उद्धार करके आप इसे रसातल से लाये थे और जल के ऊपर स्थापित करके आपने इसपर चरण रखे थे। सर्व प्रथम आपके चरणों का स्पर्श पाकर पृथिवी का

शरीर रोमांचित हो गया, उसी से ये वृक्षादि उत्पन्न हुए। उसी स्पर्श को पाकर यह पृथिवी देवी अब तक प्रफुल्ल बनी रहती है, और उन्हीं चरणों के स्पर्श के लिये लालायित रहती है। अब पृथिवी देवी का सौभाग्य उदय होगा, वह पुनः आपके पादपद्मों का स्पर्श प्राप्त कर सकेगी। अपने उभरे वक्षस्थल पर ध्वज वज्रांकुशादि चिन्हों से चिन्हित उन अरुण मृदुल सुखद चरणों को धारण करेगी। उनकी पीली पराग से भू देवी के वक्षस्थल पर वे चरणाङ्कित चिन्ह उभर आवेंगे स्पष्ट दिखायी देंगे। भू देवी की संतान हम सब सुरगण उन चिन्हों को देखेंगे, उन्हीं में मुख लगाकर माता के पय का पान करेंगे, तो हम भी धन्य हो जायँगे। कभी लोकपालों पर कृपा करने के निमित्त आप स्वर्ग भी पधारेंगे तो पृथिवी की कृपा से स्वर्ग भी सौभाग्यशाली बन जायगा। चिरकाल से पापियों के पापों से भारभूता भू का भार अब दूर ही हुआ समझिये; जहाँ आपके चरण अवनि पर पड़े नहीं कि पापों के पहाड़ तुरन्त विलीन हो जायँगे, सभी स्वर्ग तथा पृथिवी निवासी प्रमुदित बन जायँगे।

प्रभो! आप जन्म, मरण, जरा तथा भय इन सभी से परे हैं। आपका जन्म कर्म बन्धनों के कारण, प्रारब्ध भोग के निमित्त नहीं होता। यह सत्य है, कि अन्य संसारी जीवों का जन्म शुभाशुभ कर्मों के भोग के ही निमित्त होता है, किन्तु आपका जन्म लेना तो विनोद है, लीला है, भक्तों को सुख देने वाली क्रीड़ा है। आप इस जगत् के अधिष्ठान रूप हैं, सर्वात्मा हैं, आप इस जगत् की उत्पत्ति करते हैं, उसका पालन करते हैं तथा अन्त में संहार करते हैं। यह भी कुछ आपका कर्तव्य कर्म थोड़ा ही है, इसे भी कोई आप स्वयं कर्तव्य समझकर करते थोड़े ही हैं, यह भी एक अविद्या कृत अधिष्ठान है। आपके बिना यह जगत निस्सार है, आपकी सत्ता से ही यह सत्तावान् है, जैसे जीवात्मा

बिना शरीर व्यर्थ है, उसी प्रकार आपके बिना यह जगत भी व्यर्थ है, सबके सार, सबके तत्त्व, सबके अधिष्ठान एकमात्र आप ही हैं। हे प्रभो ! अब आप अविलम्ब अवनि पर अवतरित होवें।

हे यदुनन्दन ! आपने सब योनियों में सभी प्रकार के अवतार धारण किये, जैसे मत्स्य कच्छप जलचर जीव बने, हयग्रीव, नृसिंह, शूकर, वनचर जीव बने, हंस रूप से नभचर बने, श्रीरामचन्द्र रूप में पृथिवीपाल क्षत्रिय बने, परशुराम रूप में ब्राह्मण बने और उपेन्द्र रूप में देवता बने। स्वामिन् ! आप इन अवतारों में सदा भक्तों की रक्षा गो ब्राह्मणों का प्रतिपालन तथा दुष्टों का दमन और देवताओं को अभय करते रहे, उसी प्रकार इस अवतार में भी आप करें।

मत्स्य अवतार लेकर आपने महाराज सत्यव्रत पर बिना याचना के अपने आप ही अहैतुकी कृपा की, उसी प्रकार इस अवतार में भी आप भक्तों की प्रार्थना की अपेक्षा न करके उनपर स्वयं ही कृपा करें। जैसे मत्स्यावतार में सप्तर्षियों को आपने प्रलय सागर से बचाया, उसी प्रकार इस अवतार में भी आप अपने अनुगतों को भय से बचावें। जैसे वहाँ आपने समस्त बीजों की रक्षा की उसी प्रकार यहाँ भी आप सद्गुण रूपी बीजों की रक्षा करें।

जैसे ब्रह्माजी के यज्ञ में हयग्रीवावतार लेकर आपने वेदों की रक्षा की वैसे ही इस अवतार में भी ज्ञान की रक्षा करें और अपने आश्रित पांडवों के यज्ञ में प्रकट होकर उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा करें। उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनावें। जैसे जलचर मीन होकर भी स्थल चरों की रक्षा की अपने ऐश्वर्य को छिपाकर आप अपने आप नौका को घुमाते रहे, उसी प्रकार इस अवतार में भी

पांडवों को युद्ध रूपी प्रलयानल से बचाने के लिये सारथीपने के हीन जैसे कार्य को करते हुए उनको विजय करावें।

जैसे कच्छपावतार में मंदराचल को धारण करके भी सुख-पूर्वक सोते से रहे वैसे ही इस अवतार में भी इतने भारी गोवर्धन पर्वत को सुखपूर्वक धारण करें, जैसे उस अवतार में आपने अमृत की उपलब्धि करायी उसी प्रकार इस अवतार में भी हम देवताओं को दर्शनामृत पान कराते रहें।

हे हरे! जैसे नृसिंहावतार में आपने भक्तवर प्रह्लादजी की रक्षा की असुरों को दंड दिया, उसी प्रकार आप इस अवतार में भी अपने भक्तों पर कृपा करें और असुर रूप में प्रकट हुए राजाओं को दंड दें। जैसे नृसिंहावतार में आपने अपनी गर्जना से शत्रुओं के हृदयों को दहलाया था। उसी प्रकार इस अवतार में भी पांचजन्य की ध्वनि से भक्तद्रोही कौरवों की सेना के छक्के छुटा दें, जैसे वहाँ आपने प्रह्लाद को सिंहासन पर बिठाया था, इस अवतार में भी धर्मराज युधिष्ठिर को सार्वभौम सम्राट के पद पर प्रतिष्ठित कर दें।

हे वेदोद्धारक! जैसे वराहावतार धारण करके आपने भूदेवी का उद्धार किया उसी प्रकार इस अवतार में भी आप असंख्य अबलाओं का उद्धार करें, जैसे भू उद्धार के समय उसमें विघ्न करने वाले हिरण्याक्ष का वध किया उसी प्रकार नरकासुर आदि विघ्नकारक असुरों का इस अवतार में भी नाश करें।

हे ज्ञान स्वरूप! जैसे हंसावतार लेकर आपने सनकादिक ज्ञानियों को तथा लोकपितामह ब्रह्माजी को भी ज्ञान दान दिया, उसी प्रकार इस अवतार में भी आप किंकर्तव्यविमूढ़ बने अर्जुन को भी गीता ज्ञान का उपदेश देकर कृतार्थ करें। उसके सभी संशयों को मेट दें। वहाँ आपने हंसगीता का उपदेश दिया, यहाँ भगवत

गीता का सर्वोत्कृष्ट उपदेश दें।

हे मर्यादा पुरुषोत्तम ! जैसे रामरूप रखकर आपने पिता के वचन का प्रतिपालन किया उसी प्रकार यहाँ भी आप अपने माता तथा पिता का पालन करें। उन्हें धर्म बन्धन से मुक्त करें। जैसे वहाँ आप वन-वन में घूमे उसी प्रकार यहाँ भी गोचारण के मिस से वनचारी बनिये। जैसे वहाँ आपने असुर के बन्धन में पड़ी अपनी प्रिया सीताजी का उद्धार किया उसी प्रकार शङ्ख चूड़ के फंदे में फँसी अपनी प्रियाओं का उद्धार कीजिये। जैसे वहाँ आपने भरतादि भाइयों की पूजा को ग्रहण किया उसी प्रकार यहाँ भी आप पांडवों की अग्रपूजा को स्वीकृत कीजिये।

जैसे परशुराम अवतार लेकर आपने क्षत्रिय रूप में अवतरित दुष्ट राजाओं का विनाश किया उसी प्रकार इस अवतार में भी भू के भार बने दुष्ट राजाओं का स्वयं भी वध कीजिये और अपने अनुयायी भक्तों से भी वध कराइये। जैसे आपने उस अवतार में गौ की रक्षा के लिये सहस्रबाहु की भुजाओं को काट दिया था, उसी प्रकार इस अवतार में गौओं की रक्षा करते हैं उनका चारण प्रतिपालन करते हुए गो-ब्राह्मण द्रोही सहस्रों असुरों को परलोक पठाकर उनका उद्धार कीजिये।

जैसे वामनावतार में आपने बलि को छलकर हम आश्रित देवों के गये हुए राज्य को पुनः प्राप्त कराया, उसी प्रकार इस अवतार में भी दुर्योधन के अनुयायी भू के भार रूप भूपतियों को मारकर द्रोण भीष्म तथा कर्ण आदि महारथियों को नीति विरुद्ध भी छल से वध कराइये और अपने आश्रित पांडवों के गये हुए राज्य को पुनः दिलाइये।

हे अशरणशरण ! आप सदा से शरणागतों की रक्षा करते आये, हैं सदा करते रहेंगे उसी प्रकार इस समय भी करें, इस

समय भी पृथिवी के बढ़े हुए भार को हलका कीजिये। हम सब सुरगण आपके पुनीत पुण्यमय पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार गर्भस्थ श्रीहरि की स्तुति करके देवतागण माता देवकी को आश्वासन देते हुए कहने लगे—"माताजी! आप तनिक भी चिन्ता न करें, किसी प्रकार भी भयभीत न हों, आप तो परम भाग्यशालिनी हैं। त्रैलोक्य-वन्दिता हैं, सबके वन्दन करने योग्य हैं, क्योंकि आपके उदर से अखिल ब्रह्मांडनायक समस्त प्राणियों का अभ्युदय करने के अव-तीर्ण होने वाले हैं। स्वयं साक्षात् परम पुरुष अवतार लेने वाले हैं, कोई अवतार भगवान् के अंश से होता है, कोई उनकी कुछ कलाओं से होता है। किसी में कुछ काल के लिये आवेश आता है, किन्तु आपके गर्भ से होने वाला यह अवतार तो अपनी संपूर्ण कलाओं के सहित होगा। स्वयं साक्षात षडैश्वर्य समन्न सौन्दर्य माधुर्य तथा समस्त अलौकिक दिव्य गुणगणनिधान, परब्रह्म परमात्मा ही ज्यों के त्यों अवतरित होंगे। उनमें कुछ भी अपूर्णता न होगी, वे सर्व प्रकार से निरपेक्ष निरालंब, निर्विशेष, नित्यनिरं-जन, निर्द्वन्द्व, निर्विकल्प, निरीह, निरामय तथा निर्लिप्त होंगे। इस कारण अब आप अपने भाई कंस से किसी भी प्रकार का भय न करें। उसकी तो मृत्यु सन्निकट आ गयी है, वह मरणा-सन्न है, मृत्यु उसकी प्रतीक्षा में बैठी हुई ही क्षण, लव, निमेष की गणना कर रही है। यह जो तुम्हारा तनय है तुम्हारी ही नहीं, सम्पूर्ण यदुवंश की तथा अखिल विश्व की यह रक्षा करेगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवतागण गर्भस्थ श्रीहरि की प्रेमपूर्वक स्तुति करके तथा माता को सब प्रकार से आश्वासन देकर ब्रह्माजी, शिवजी, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम तथा

समस्त देवतागण अपने अपने लोकों को चले गये। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में सारभाव से गर्भस्थ श्रीहरि की देवताओं द्वारा की हुई स्तुति का वर्णन किया, अब आगे भगवान् के अवतरित होने पर उनके प्राकट्य के अनन्तर महाभाग वसुदेवजी ने जैसे उन चतुर्भुज,अरविन्दाक्ष अद्भुत बालक की स्तुति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जैसे बनिकें मच्छ नृपति, ऋषि बीज बचाये।
अज मख रक्षा करी अश्वशिर नाथ कहाये॥
कच्छ रूपजल धारि पीठि पै मन्दर धार्‌यो।
बनिकें प्रभु नरसिंह भक्त प्रह्लाद उबार्‌यो॥
राम,हंस, बाराह बनि, ऋषि, मुनि भू कीन्हीं सुगति।
परशुराम, बामन बनें, हरहु नाथ ! तस अब बिपति॥

पद

बिभुवर ! बिबुधनि बिपति बिदारी।
भीर परी भू भगतनिपै जब, तब तिनि बिपदा टारी॥१॥
मछली बनिके बीज बचाये, नृप ऋषि तरनी तारी।
बनि हयग्रीव हन्यो हयग्रीवहु, प्रह्लादहु दुखहारी॥२॥
परशुराम बामन बराह बनि, खलदल हने मुरारी।
बनिकें हंस ज्ञान उपदेस्यो, रावन हन्यो खरारी॥३॥
गो द्विज देव धरम मरजादा; रखो सदा सुखकारी।
शरन चरन प्रभु हमने लीन्हीं, राखो लाज हमारी॥४॥

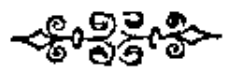

गर्भस्थ हरि स्तुति

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं,
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्नेत्रं,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपनाः ॥१॥

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलः,
चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो,
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥२॥

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिः,
त्वं सन्निधानम् त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसत्वां,
पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥३॥

विभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा,
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि,
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥४॥

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि,

समाधिनाऽऽवेशित चेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन ,
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥५॥
स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् ,
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते,
निधाय याताः सदनग्रहो भवान् ॥६॥
येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः,
त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः,
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥७॥
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्,
भ्रस्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया,
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥८॥
सत्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ,
शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभिः,

तवार्हणं येन जनः समीहते ॥९॥

सत्वं न चेद् धातरिदं निजं भवेद्,

विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।

गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्,

प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥१०॥

न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिः,

निरूपितव्वे तव तस्य साक्षिणः ।

मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो,

देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥११॥

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्,

नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।

क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोः,

आविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥१२॥

दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो,

भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः ।

दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकैः सुशोभिनैः,

द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् , ॥१३॥

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं,

विना विनोदं बत तर्कयामहे ।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया,
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥१४॥
मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसैः,
आजन्यविप्रत्रिबुधेषु कृतावतारः ।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश,
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥१५॥
दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमान्,
अंशेन साक्षाद् भगवान् भवाय नः ।
मा भूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षोः
गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥१६॥

वसुदेवजी द्वारा चतुर्भुज श्रीहरि की स्तुति

(७६)

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेःपरः ।
केवलानुभवानन्द स्वरूपः सर्व बुद्धिदृक् ॥१

(श्री भा० १० स्क० ३ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

कारागृह में प्रकट भये प्रभु घट घट वासी ।
विनय करें वसुदेव नाथ ! तुम अज अविनासी ॥
जानि गयो हौं देव ! प्रकृति तें परें पुरातन ।
करो भरो जग हरो आपु हरि हर चतुरानन ॥
दीखो सबमें एकरस, किन्तु पृथक सबतें रहो ।
सदाकाल प्रभु जो रहें, प्रकट होयँ कैसे कहो ॥

भक्त वत्सल भगवान् अपने अनुगतों पर अनुग्रह करके अवनिपर अपनी अद्भुत अनुकम्पा की वृष्टि करने के निमित्त अवतरित होते हैं। हम सर्व साधारण लोग तो प्रकृति के ही रहस्य को भली भाँति नहीं जान सकते। जान भी कैसे सकते हैं। हमारे पास जानने के साधन बाह्य करण बाहरी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण-भीतर की इन्द्रियाँ ये ही सब हैं। ये सब प्रकृति

---

१ भगवान् की स्तुति करते हुए वसुदेवजी कह रहे हैं—"प्रभो! मुझे विदित हो गया कि आप प्रकृति से परे साक्षात् परम पुरुष हैं, आप केवलानुभावानन्द स्वरूप हैं और सबकी बुद्धियों के द्रष्टा हैं।

के नाती पोता हैं। प्रकृति से बहुत पीछे पैदा हुए हैं, इनके द्वारा जब प्रकृति का ही पूर्ण बोध नहीं होता, तो जो पुरुषोत्तम प्रकृति से भी परे हैं उन्हें हम अल्प स्वल्प मति वाले जीव अपनी बुद्धि के द्वारा पहिचान ही कैसे सकते हैं। वे ही जब कृपा करें, वे ही अनुग्रहवश अपने आपको जनाना चाहें तभी जीव जान सकता है। भगवान् सर्व स्वतन्त्र हैं, लहरी हैं, मन मौजी हैं, जब उन्हें जैसी लहर आ जाय तब तैसे ही बन जाते है। बन क्या जाते हैं, वैसे ही दीखने लगते हैं दीखना भी कहना उचित नहीं प्रतीत से होने लगते हैं, प्रतीति प्रीति भी जानने से ही होती है अतः कुछ भी कहने में हम असमर्थ हैं। बस, सब कुछ उन्हीं की इच्छा पर निर्भर है। जब जैसी लीला करते हैं। उसके लिये वैसे ही उपकरण बना लेते हैं। उपकरणों को छाँटना उनका उपयोग करना सब विषय में वे ही प्रमाण है। उनकी लीलामें हस्तक्षेप करने का किसी को साहस नहीं। जब कोई दूसरा स्वतन्त्र करता हो, तब तो साहस भी हो सकता है। कर्ता तो एक मात्र वे ही हैं, शेष सब तो उपकरण हैं, मिट्टी के धोंधे हैं। जब जिसे चाहें उठाकर घटा, सकोरा, परई, करई, नाद, हंडी तथा और भी अपनी इच्छानुसार बर्तन बना दें। कोई उन्हे रोकनेवाला नहीं। मतभेद व्यक्त करने वाला नहीं। लाला ही लाला है, जिसे चाहते हैं उसे भी लाल बनाकर लीला लालित्य में लग्न कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी ने जब भगवान् को चतुर्भुज रूप में प्रकट होते देखा, तो वे हक्के बक्के से रह गये। अब तक तो उन्हें यह चिन्ता थी कि मेरे पुत्र होगा, कंस उसे मार देगा, किन्तु जब उन्होंने शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी साक्षात् बाँके बिहारी को देखा, तो वे स्तुति करने को प्रस्तुत हुए। भगवद् दर्शनों से वे ऐसे संभ्रम में पड़ गये, कि भगवान् को संबोधित करना

भी भूल गये नमस्कार, दंडवत् प्रणाम करने की भी सुधि नहीं। वे सहसा चिल्ला उठे—"ओ हो ! मैंने जान लिया जान लिया, मैंने देख लिया देख लिया । मैंने सत्य स्वरूप ज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप स्वयं साक्षात् पर ब्रह्म को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख लिया। वेद जिसके सम्बन्ध में नेति नेति कहते हैं जो मन तथा वाणी का विषय नहीं बताया जाता। जो विज्ञान तथा आनन्दमय ब्रह्म कहते हैं, जिससे यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। जो अवाङ्मनस गोचर बताया जाता है, जिसे प्राप्त न करके मन के सहित वाणी लौट आती है। जो जो वाह्य दृष्टि के विषय नहीं। उन्हें मैंने चर्म चक्षुओं से देख लिया।

यद्यपि चर्म चक्षु प्राकृत वस्तुओं को ही देख सकते हैं किन्तु यह महान् आश्चर्य की बात है, कि मैंने प्रकृति से परे जो पुरुष हैं, जो भूमि, जल, वायु, तेज, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस अष्टधा प्रकृति से तथा जीव से भी परे पुरुषोत्तम हैं, वे ही तो आज चतुर्भुज रूप में अवतीर्ण हुए हैं, मैं जान गया, मुझे अब कोई शंका नहीं रही।

हे स्वामिन् ! आप साधारण बालकों की भाँति नहीं हैं। आप देह से, इन्द्रियों से, प्राणों से, तथा मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार इन सभी से परे हैं। आप केवल चैतन्य स्वरूप ही हैं, जैसे हिमकी पुतली बना दी जाय, तो उसमें हाथ, पैर, आँख, कान, मुख आदि सभी दिखायी देंगे किन्तु हिमके अतिरिक्त उसमें दूसरी कोई वस्तु नहीं । इसी प्रकार आपका जो यह श्रीविग्रह दिखायी दे रहा है इसमें केवल आनन्द ही आनन्द भरा है सच्चिदानन्द के अतिरिक्त इसमें प्राकृत किसी भी वस्तु का अंश मात्र भी नहीं है। आप एक मात्र अनुभव गम्य हैं, वह अनुभव भी आपकी एक मात्र कृपा द्वारा ही साध्य है। हे बुद्धि से परेपुरुषोत्तम

आप ही एक मात्र सबकी बुद्धियों के साक्षी हैं। आपकी ही उपस्थित में बुद्धि व्यवहार कर सकती है, जैसे रात्रि में दीपक की ही उपस्थिति में सब वस्तुओं का ज्ञान होता है। यद्यपि दीपक कोई कर्म नहीं करता वह तटस्थ आपसे साक्षी बना केवल स्थित ही रहता है, उसके रहने से ही घर की समस्त वस्तुएँ प्रकाशित होती रहती हैं। उसके हटजाने पर कुछ भी दिखायी न देगा। इसी प्रकार बुद्धि जो सद् असत् का विचार करती है भले बुरे को बताती है, उसमें यह सामर्थ्य आपकी सन्निधि से ही है। अतः सबके नियामक आप ही हो।

स्वामिन् ! आप माया से रहित होते हुए भी मुक्त जीवों की भाँति नहीं हैं। आप अपनी योग माया द्वारा सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों से युक्त इस जगत् की रचना करते हैं। जैसे मकड़ी बिना किसी उपकरण के अपने मुख से ही सूत निकालकर जाल की रचना करती है। किन्तु वह जाल बनाकर कभी कभी स्वयं उसमें फँस जाती है, क्यों कि बनाकर उसे उस जाल मे प्रवेश करना पड़ता है, किन्तु आप इस त्रिगुण मय जालको बनाते तो अवश्य हैं। किन्तु कभी फँसते नहीं लोगों की दृष्टि मे तो आप जगत की रचना करके उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। वास्तव में आप उसमें प्रविष्ट होते नहीं प्रविष्टवत दिखायी देते हैं। उससे सर्वदा भिन्न ही बने रहते हैं।

प्रभो ! जैसे महत्तत्व, अहंतत्त्व, शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श रूप जो कारण तत्त्व हैं, प्रकृति विकारात्मक भाव हैं, ये सब भिन्न भिन्न सामर्थ्य वाले होने के कारण जब पृथक् पृथक रहते हैं, तब सृष्टि की वृद्धि का कोई कार्य नहीं कर सकते। ये विराट पुरुष को उत्थित करके रचना कार्य में समर्थ नहीं हो सकते। कोई भी विशिष्ट कार्य सम्पादन नहीं कर सकते। जब

ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा पंचभूत और मन इन सोलह विकारों के साथ मिल जाते हैं। पृथिवी में जल, तेज वायु और आकाश इनके भी परमाणु पंचीकृत हो जाते हैं, इसी प्रकार सब भूतों में आधेमें शेष चार भूत मिलकर इन कारण तत्वों के साथ सहयोग करने लगते हैं। तब विराट् पुरुष उठ पड़ता है, तभी ये सब ब्रह्माण्ड का रचना करने में समर्थ हो जाते हैं। ये ही सब ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं और फिर इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड में प्रविष्ट हो जाते हैं। इससे यह नहीं माना जाता है, कि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होने पर इसमें भूत आदि ने प्रवेशकिया प्रवेशकरना तो एक उपलक्षणमात्र है। महत्तत्त्वसे पृथिवी पर्यन्त ये जितने तत्व हैं। ब्रह्माण्ड के पूर्व भी कारण रूपसे विद्यमान थे। ब्रह्माण्ड उत्पन्न होने पर भी जैसे वस्त्र में सूत ओत प्रोत है, वैसे ही ये पंचभूतादि भी ब्रह्माण्ड में ओत प्रोत है। ब्रह्माण्ड न रहेगा। इसका प्रलय हो जायगा तब भी ये कारण रूप से ज्यों के त्यों बने रहेंगे। जैसे अक्षर हैं, उनका कभी क्षर नहीं होता, वे सदा बने रहते हैं। कई अक्षर मिलकर एक वाक्य का रचना करते हैं। वह वाक्य एक विशेष अर्थ का बोधक बन जाता है। जिस समय अक्षर मिलकर वाक्य बना उस समय भी वे सब शब्द विद्यमान थे। जब अक्षर पृथक पृथक हो जायँगे, तो अक्षर तो ज्यों के त्यों ही बने रहेंगे। अर्थ बोधक वाक्य का लोप हो जायगा। अक्षर तो वाक्य बनने के पहिले भी थे, वाक्य बनने पर भी ज्यों के त्यों बने रहे और वाक्य न रहेगा तब भी बने रहेंगे। इसी प्रकार स्वामिन्! आप भी सर्वस्वरूप हैं सदा विद्यमान रहने वाले हैं, सर्वान्तर्यामी हैं। आप इस त्रिगुणात्मक जगत् में ओत प्रोत हैं फिर भी गुणों के विकारों से आप सदा सर्वदा पृथक रहते हैं। आप

जगत् से निर्लिप्त रहने पर भी उसमें अनुप्रविष्ट से उपलक्षित होते हैं।

स्वामिन् ! सत्व, रज, तथा तम जो त्रिगुण है,ये इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। तथा बुद्धि द्वारा उनके लक्षणों का अनुमान किया जाता है। आप इन गुणों में व्याप्त हैं, क्योंकि आप सर्वान्तर्यामी हैं, किन्तु आप उनसे सर्वदा निर्लिप्त हैं। आप तो सबमें हैं। सर्वदा हैं परमार्थ स्वरूप तथा सर्वात्म स्वरूप है, आप में बाहर भीतर का भेद नहीं। आप सबके भीतर भी है, बाहर भी हैं और सबसे सर्वदा पृथक् भी हैं।

प्रभो ! इस निखिल ब्रह्माण्ड में एक मात्र आप ही नित्य हैं। आप ही आत्मा हैं, विभु हैं, अन्तर्यामी हैं, सत्य है। परन्तु कुछ लोग आत्मा के जो दृश्य गुण शरीर आदि भाव हैं उन्हें ही सत्य समझते हैं। वे लोग मूढ़ हैं। उनका ऐसा समझना अज्ञान है, मिथ्या है। यह जो कुछ दिखायी देता है वह वाग्विलास मात्र है। वेद नेति नेति कहकर इस दृश्य का, प्रपंच का, ही बाध करते हैं। वे परमात्मा स्वरूप एक मात्र आपको ही सत्य बताते हैं।

स्वामिन् ! सबके जनक, सब के प्रतिपालक तथा संहारक एक मात्र आप ही हैं। आपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। आप निर्विकार हैं, निर्गुण तथा निष्क्रिय हैं। इस पर यह शंका होती है कि जो स्वयं निर्विकार है इससे प्रकृति-विकृति रूप यह जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है। जो गुण रहित है, उससे गुणों का कार्य रूप यह जगत् रचित कैसे हो सकता है, जो निष्क्रिय है उससे सृजन पालन तथा संहार रूप क्रिया कैसे संभव है। ये सब कार्य तो एक दूसरे के विरुद्ध हैं। जिस अग्नि में स्वयं दाहक शक्ति नहीं, वह दूसरे को कैसे जला सकती है, निर्गुण से गुणमयी सृष्टि कैसे संभव हो सकती है ? सो,हे सर्वज्ञ ! आप के विषय में

कुछ भी असंभव नहीं। कारण कि आप विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। आप तृण को पर्वत और पर्वत को तृण कर सकते हैं। आप ईश्वर हैं, सर्व समर्थ हैं आपके लिये कुछ भी असंभव नहीं। आप सर्वाधिष्ठान हैं आपकी सत्ताके बिना किसी की सत्ता संभव नहीं। आप की इच्छा के बिना कोई क्रिया हो नहीं सकती। निर्गुण होकर भी आपके द्वारा यह गुण मया सृष्टि होती है। कारण कि गुण तो आपके अधीन ही हैं, आपके आश्रय में ही रहकर वे सब कार्यों को करते हैं। कार्य तो सब गुणों के ही हैं, किन्तु सर्वाश्रय होने के कारण उन समस्त कार्यों का आरोप किया जाता है आप में ही। आपके साक्षी मात्र रहने पर यह प्रवाह रूप से अनादि काल से चला आया हुआ व्यापार नियमित रूप से चलता रहता है।

जब आप को सृष्टि करनी होती है, तो रजोगुण आप की इच्छानुसार कार्य में प्रवृत्त होता है। आप स्वयं रज प्रधान रक्तवर्ण धारण करके ब्रह्मा बन जाते हैं। पालन के लिये सत्व गुण प्रधान शुक्लवर्ण के विष्णु बनकर चराचर विश्व का पालन करते हैं। जब इस खेल को समाप्त करने की इच्छा होती है तब तमोगुण प्रधान कृष्ण वर्ण का रुद्र रूप रखकर सबका संहार कर लेते हैं। इतना सब होने पर आप इस सब से पृथक् बने रहते हैं। प्रभो! आप धर्म की रक्षा के निमित्त ही नाना रूप रख लेते हैं।

हे विभो! इस समय भूमिपर बहुत से क्षत्रिय भूपतियों के रूप में असुर उत्पन्न हो गये हैं जो प्रजाओंको सतत पीड़ा पहुँचाते रहते हैं, लोक में विप्लव मचाते रहते हैं। उन लोगों के पास असंख्य सेना है। वे राजा नामधारी राक्षस स्वयं ही सेना पति का पद स्वीकार करके उस विपुल सेना का संचालन करते हैं।

उस बलवती सेना को इधर से उधर ले जाते समय प्रजाजनों को प्रपीड़ित करते हैं। उन लोगों में अपार बल है तपस्या के प्रभाव से वे अजर अमर से बन गये हैं, आपके अतिरिक्त अन्य कोई उन दुर्मद तेजस्वी असुरों को मार नहीं सकता। हे अखिलेश्वर! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है साधु संत प्रपीड़ित किये जाते हैं, तब तब आप धर्म रक्षार्थ तथा साधु जनों के परित्राण के हेतु अवनि पर अवतरित हुआ करते हैं, अब के आपने मुझ पर कृपा की है, अबके आपने लोक कल्याण के निमित्त मेरे यहाँ अवतार धारण किया है। आप इस अवतार में असंख्य दस्युधर्मी असुर सेनानायकों को तथा उनके द्वारा सञ्चालित असंख्य सेना को मार कर भूका भार उतारेंगे। कुछ को स्वयं मारेंगे, कुछ को दूसरों द्वारा मरवावेंगे। होगा सब आप की ही प्रेरणा से। आपके संकेत पर ही आपके सेवक सेना और सेनापतियों का संहार करेंगे।

हे विभो! हे देवाधिदेव! यह कंस भी कालनेमि नामक पूर्व जन्म का मायावी असुर ही है, यह है तो मेरा सगा सम्बन्धी, किन्तु है महा दुष्ट। इसे आकाश वाणी द्वारा यह ज्ञात हो गया था, कि देवकी के उदर से आप अवतीर्ण होकर इस दुष्ट का संहार करेंगे। तभी से यह खल सतर्क हो गया है, इसने हम लोगों को कारावास में अवरुद्ध कर रखा है। आपसे पूर्व जो आपके ज्येष्ठ भ्राता उत्पन्न हुए, उन सबको इसने जन्मते ही मार डाला है। आपके जन्म की यह अत्यंत ही उत्सुकताके साथ प्रतीक्षा कर रहा है।

प्रतीत होता है, अभी प्रहरियों को आप का प्राकट्य विदित नहीं हुआ जहाँ उसके नियुक्त अनुचरों को आपके अवतार का समाचार मिला, वहाँ ही वे सुनते ही उस दुष्ट के समीप दौड़े

जायँगे और हाँपते हुए कहेंगे—"प्रभो ! यशोदा के बालक हुआ है।" इतना सुनते ही वह हाथ में अस्त्र शस्त्र लिये शीघ्रता से दौड़ता हुआ यहाँ आ पहुँचेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार वसुदेवजी विह्वल होकर भगवान् वासुदेव की स्तुति विनय करने लगे। देवकी माता अब तक उस शंख चक्र गदा पद्मधारी साँवरी सलौनी मूर्ति को देखकर अचेत हुई पड़ी थीं। आनंद के आवेग में उन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं थी। वसुदेवजी ने जब कंस के आगमन की बात कही तो सहसा उन्हें चेत हुआ। वे पहिले से ही कंस से अत्यंतभयभीत थीं। अब फिर उन्होंने कंस के शस्त्र लेकर आने की बात सुनीं तो अत्यधिक डर गयीं। डरते-डरते वे भगवान् की आर्त वाणी में स्तुति करने लगीं। अब माता देवकी जिस प्रकार भगवान् की स्तुति करेंगी उस कथा प्रसंग को मैं आगे कहूँगा, आप सब इस पुण्य प्रसंग को प्रेम पूर्वक दत्तचित होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

निरगुन निष्क्रिय निरविकार निर हेतुक स्वामी।
ताऊ पालो हरो करो जग अन्तरयामी॥
गुन सब कारज करैं करै आरोप तुमहिं में।
तुम सत्ता बिनु नहीं हिलै पत्ता जा जग में॥
मम घर में अवतार लै, हित सबई को करिहौ।
मारि असुर भूपति खलनि, भूमि भार प्रभु हरिहौ॥

पद

प्रभो ! तुम निरगुण सगुन लखाओ ॥
जानि गयौ हौं परम पुरुष प्रभु सबकी बुद्धि भ्रमाओ ॥१॥
त्रिगुन जगत रचि ओत प्रोत ह्वै, मिलिकेंहू विलगाओ ।
रहो गुननि में गुन नहिँ तुममें, माया तैं रचवाओ ॥२॥
सरब समर्थ ब्रह्मव्यापक अज, श्वेत श्याम ह्वै जाओ ।
जग रक्षा हित प्रकटे मम घर, द्विज, सुर धेनु बचाओ ॥३॥
असुर नृपति बनि बिचरै भूपै, तिनिकूँ मारि गिराओ ।
कालनेमि अब कंस बन्यौप्रभु, तातैं हमें बचाओ ॥४॥

देवकी देवी द्वारा भगवत् स्तुति

(८०)

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यम्,
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहम्,
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥ॐ

(श्रीभा० १० स्क० ३ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

मौन भये वसुदेव देवकी इस्तुति कीन्हीं।
प्रभो! आपु अव्यक्त बात यह मैंने चीन्हीं॥
व्यापक सब थल ब्रह्म ज्योतिमय निरगुन भगवन्।
हो हरि! सत्तामात्र दीप अध्यात्म सनातन॥
निरविशेष नूतन नवल, निरविकार साकार हो।
अच्युत अखिल अनंत अज, अद्भुत अपरंपार हो॥

भगवत् दर्शन हो जाने पर समस्त वेद शास्त्र स्वतः ही आ जाते हैं। जिसे भगवान् ने अपना कह कर वरण कर लिया, जिसे उन्होंने अपना लिया उसके लिये कौन सा ज्ञान शेष रह

ॐ भगवान् की स्तुति करती हुई भगवती देवकी कह रही हैं—भगवन्! आप वही साक्षात् अध्यात्मदीप विष्णु हैं जिसे वेदों में जगत् का आदि कारण अव्यक्त कहा है, जो ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार, सत्तामात्र, निर्विशेष तथा निरीह इन विशेषताओं से बताया जाता है।

जाता है, उसकी वाणी ही वेद है उसके स्वतः किये हुए कर्म ही शास्त्रोक्त प्रामाणिक कर्म हैं। जब तक भगवत् साक्षात्कार नहीं होता, श्रीहरि दृष्टिगोचर नहीं होते तभी तक समस्त साधन हैं। भगवत् साक्षात्कार होने पर तो कुछ कर्तव्य शेष रहता ही नहीं। उसकी वाणी से स्वयं ही शास्त्रीय ज्ञान प्रकट होने लगता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्रीवसुदेवजी ने कंस के भय की बात कही, तब सावधान होकर देवकीजी ने देखा, उनके सम्मुख शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये चतुर्भुज भगवान् मंद-मंद मुस्करा रहे हैं। तब उन्हें सहसा आकाशवाणी की बात स्मरण हो आयी। वे समझ गयीं, ये ही साक्षात् महाविष्णु हैं, इन्होंने ही मेरे उदरसे अवतार धारण किया है, तब उन्हें पुत्र भाव तो रहा नहीं ब्रह्म भाव हो गया। उस ब्रह्मभावावेश में वे बिना प्रयत्न के स्वतः ही भगवान् की स्तुति करती हुई कहने लगीं।

देवकीजी ने कहा—"प्रभो! मैं समझ गयी। आप मेरे पुत्र नहीं, सामान्य बालक नहीं। आप तो औपनिषदपुरुष हैं। वेदों में जिसका वर्णन है, जो वेदान्तवेद्य है, श्रुतियों ने जिसे आद्य कारण कहा है, सम्पूर्ण चराचर जगत् जिनसे उत्पन्न हुआ है, ऐसे सबके आदि कारण परात्पर प्रभु महाविष्णु आप हैं।

भगवन्! आप का जो यह स्वरूप दिखाई दे रहा है वह पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश इन पंचभूतों से निर्मित व्यक्त रूप नहीं है, आप तो अव्यक्त हैं, इन भौतिक रूपों से विलक्षण हैं। कुछ लोग अव्यक्त परमाणु को भी कहते हैं, जो व्यक्त न हो-जिसका भाग न हो सके-वह सूक्ष्म से सूक्ष्म अव्यक्त परमाणु है, किन्तु आप परमाणु नहीं हैं, आप तो ब्रह्म हैं, सर्वत्र व्यापक हैं, सबसे बड़े हैं।

कुछ लोग प्रकृति को भी ब्रह्म कहते हैं, क्यों कि संसार के जितने पदार्थ हैं, वे सब महतत्त्व से उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति से महत् हुआ है, अतः सब से बृहत् प्रकृति की ही ब्रह्म संज्ञा है, सो हे कृपासागर! आप प्रकृति भी नहीं। प्रकृति तो आप की चेरी है, प्रकृति तो जड़ है, कितनी भी बड़ी और शक्तिशालिनी क्यों न हो किन्तु स्वतः वह कुछ कर नहीं सकती। उसे तो संचालित करने वाला चाहिये और आप स्वयं ज्योति स्वरूप हैं चैतन्यघन हैं, आपको प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं, आप तो स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं। कुछ लोग चेतन पुरुष को ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्नादि गुणों वाला बताते हैं, उनके मत में इच्छा आदि आत्मा का धर्म है, किन्तु आप ऐसे नहीं हैं, आप तो सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से रहित हैं, अतः निर्गुण हैं आप में इच्छा प्रयत्नादि संभव नहीं, आपको कोई ज्ञानपरिणामी कहे, तो यह भी संभव नहीं हो सकता क्योंकि आप अपरिणामी हैं, अक्षर हैं, विशुद्ध हैं, निर्विकार हैं। आप अन्य किसी शक्ति द्वारा परिणाम को प्राप्त नहीं होते क्योंकि आप के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि आप सत्तामात्र हैं। आप चैतन्यघन आनन्द स्वरूप हैं इसके अतिरिक्त आप के सम्बन्ध में कुछ कहना बनता नहीं।

किसी किसी के मत में सामान्य सत्तामात्र होने पर भी प्रतिपक्षी विशेष के कारण वह स विशेष है। अर्थात् वही अद्वितीय नहीं। किन्तु आप सत्तामात्र होने पर अखिलोत्तम हैं, अद्वितीय हैं, निर्विशेष हैं।

स्वामिन्! कुछ लोगों का कथन है, निर्विशेष होने पर भी आप इस संसार वृक्ष के बीज हैं, इस जगत् के कारण हैं। कारण से ही कार्य होता है। कार्य बिना इच्छा के होता नहीं।

अतः आप क्रिया सहित होंगे, सो भी बात नहीं आप निरीह हैं। इच्छा रहित हैं, स्पृहा से शून्य हैं, आप को किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं।

हे जगदाधार! आप विष्णु हैं सबके पूजनीय तथा वन्दनीय हैं। आप अध्यात्म प्रदीप हैं। दीपक अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित कर देता है, किसी को कहने की आवश्यकता नहीं होती है, कि यह दीपक है। मेरा अंतःकरण वास्तव में जड़ है, आप के आविर्भावसे-आप के आलोक मात्र से-उसमें चैतन्यता आ गयी, मैं कुछ पढ़ी लिखी भी नहीं, किन्तु आपके दर्शन मात्र से ही मुझे समस्त ज्ञान प्रस्फुटित हो उठा। इसलिये मैं अपने निजी अनुभव से ही कहती हूँ, आप साक्षात् परात्पर परब्रह्मईश्वर महा विष्णु हैं।

प्रभो! मनुष्यों का एक रात्रि दिन ८ प्रहर का होता है। ऐसे १५ दिन का एक पक्ष और दो पक्ष का एक मास। दो मास की एक ऋतु और ६ ऋतुओं का एक वर्ष होता है। मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं के एक दिन के बराबर है। ऐसे ३६० दिनों का देवताओं का एक वर्ष होता है, जिसे दिव्य वर्ष कहते हैं। ऐसे १२०० दिव्य वर्षोंका कलि २४०० का, द्वापर ३६०० वर्षों का त्रेता-युग तथा ४८०० वर्षों का सत्ययुग होता है। अर्थात् १२००० दिव्य वर्षों की एक चौकड़ी होती है। ऐसी ५० चौकड़ी बीतने पर ब्रह्माजी की आधी आयु परार्ध होती है, ऐसे दो परार्ध बीतने पर ब्रह्माजी की आयु पूर्ण हो जाती है। उसी समय महाप्रलय होती है। उस महाप्रलय के समय पृथिवी का गंध गुण रस में लीन हो जाता है, गंधहीन पृथिवी जल में लीन हो जाती है, जल रस तेज में लीन हो जाता है। रसहीन जल अग्नि में लीन हो जाता है। तेज स्पर्श में लीन होता है, तेजहीन अग्नि वायु में

मिल जाती है, वायुका स्पर्श गुण शब्द में समा जाता है स्पर्श हीन वायु आकाश में लीन हो जाती है। जब सभी अपने कारणों मे लीन होते हैं, तो आकाश अपने कारण आदि भूत अंहकार में लीन हो जाता है। अहंकार भी महत्तत्व में जाकर लीन होता है, और महत्तत्व भी प्रकृति में विलीन हो जाता है। उस समय हे भगवन्! केवल एक मात्र आप ही अवशेष रह जाते हैं। सबके शेष बचे हुए आप ही हैं, आप किसी में भी लीन नहीं होते हैं सब आप में ही लीन होते हैं, फिर भी आप निर्लेप बने रहते हैं। ऐसे आप सर्व समर्थ की मैं शरण में प्राप्त हूँ।

प्रभो! आप ही प्रकृति के लय स्थान हैं। प्रकृति आपकी ही प्रेरणा से कार्य करती है। स्वामिन्! यह विश्वकाल के अधीन है। काल पाकर ही प्राणी जन्म लेता है, काल पाकर ही मर जाता है। यह सम्पूर्ण विश्व काल की ही चेष्टासे कार्य कर रहा है। काल के परमाणु पर्यन्त अति सूक्ष्म विभाग हैं, किन्तु इनको साधारण मनुष्य समझ नहीं सकते। जितनी देरमें पलक गिरता है,उतने काल की निमेष संज्ञा है, व्यवहार आरंभ तो निमेष में से ही होता है यही काल का सूक्ष्म व्यवहारिक रूप है। निमेष से लेकर संवत्सर पर्यन्त जितने काल के विभाग हैं। संवत्सर से लेकर युग, चतुर्युग, मन्वन्तर, कल्प, महाकल्प, द्विपरार्ध पर्यन्त जितना भी काल का स्वरूप है, वह आपके बिना कुछ भी नहीं है। काल की जो चेष्टा है, उसकी जो महत्ता है वह सब आपके ही ऊपर निर्भर है आपकी ही लीला है। आप सबके स्वामी हैं,ईश्वर हैं, प्रभु हैं। यह प्राणी सदा भय से शंकित रहता है। आपके श्रीचरणों में आकर प्राणी अभय हो जाता है क्यों कि आपके पाद पद्म अभय के स्थान हैं, निर्भयता उन्हीं में निवास करती। अतः हे शरणागत

वत्सल ! हे काल को नियमन करने वाले दयालो ! मैं आपकी शरण लेती हूँ,आपको बारम्बार प्रणाम करती हूँ।"

हे देव ! यह प्राणी मरण धर्मा है। जन्मता है मरता है, फिर जन्म लेता है फिर मरता है। जब यह जन्म ग्रहण करता है, तभी इसके पीछे एक काला सर्प लग जाता है उस सर्प का नाम मृत्यु है। प्राणी उसके नाम से ही काँप उठता है, उससे साक्षात्कार करना नहीं चाहता। उससे बचने के निमित्त भूलोक भुवर्लोक, इन्द्रलोक, रुद्रलोक, वरुणलोक नैऋतिलोक, कुबेरलोक यमलोक वायुलोक, महर्षिलोक जनलोक, तपलोक और ब्रह्मलोक तथा अन्यान्य असंख्यों लोकों में प्राणी घूमता रहता है, किन्तु कहीं भी त्राण नहीं पाता, कहीं भी अपने को सुरक्षित नहीं समझता। कोई भी अपुनरावर्त लोक नहीं है। ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावर्त लोकों से लौटकर फिर पृथिवी पर मर्त्यलोक में आना पड़ता है। फिर जन्म मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है।

स्वामिन् ! कभी भाग्यवश, आपकी दयावश, आपकी अहैतु की कृपा जब जीव पर हो जाती है, तो आपके भक्त से-विशुद्ध भागवत से-कभी भेंट हो जाती है, वे आपके शरणापन्न होने की विधि तथा कालक्षेप करने का नियम बताते हैं। आपके चरणतक पहुँचा देते हैं। आपकी चरण शरण पाकर जीव कृतार्थ हो जाता है। उसका समस्त श्रम मिट जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है, उसकी समस्त चिंतायें मिट जाती हैं, तब वह पैर पसार कर दुपट्टा तानकर सुख की नींद सोता है, अर्थात् जन्म मरण के चक्र से सदा के लिये विमुक्त हो जाता है। उसका मृत्यु का भय ही नहीं छूट जाता, किन्तु स्वयं वह विकराल काल सर्प उसे अपने अधिकार से पृथक समझकर निराश होकर निवृत्त हो जाता है। ऐसे आप समस्त संसार को अभय प्रदान करने वाले हैं। महाबली

काल से भी बचाने वाले हैं। फिर आप मुझे भय रहित क्यों न बनावेंगे। मैं भी प्रभो! अपने चचेरे भाई के भय से भयभीत बनी हुई हूँ! नाथ! आप मुझे भी निर्भय बना दो। मेरे भी अपार भय को दूर भगा दो। मुझे भी अपनी कृपा का प्रसाद चखा दो।

हे भक्तों के भय को भगा देने वाले भगवन्! यद्यपि हम आपके भक्त नहीं हैं, फिर भी आपकी शरण में तो प्राप्त हैं। आप के अतिरिक्त हमारा कोई अन्य सहारा नहीं अवलम्ब नहीं, संबल नहीं। आप तो सर्वसमर्थ हैं। आप कंस को मार सकते हैं, अभी अन्तर्हित हो सकते हैं। अन्यत्र प्रकट हो सकते हैं। किन्तु मेरी प्रार्थना यही है कि आप हम लोगों की रक्षा करें। रक्षा भी किसी अन्य शत्रु से नहीं चचेरे भाई के रूप में जो यह दुष्ट है, जिसके लिये कुछ भी अकर्तव्य नहीं, जो सब पाप कर सकता है, अपनी बहिन को बहनोई को तथा भानजों को मार सकता है। इससे हमें बचाइये।

हे कृपासिन्धो! दूसरी मेरी प्रार्थना यह है कि आप बाह्य इन्द्रियों के विषय नहीं हैं, आपको बहिर्दृष्टि वाले व्यक्ति देख नहीं सकते। आपके दर्शन तो अन्तर्दृष्टि वाले त्यागी तपस्वी सद् गुणों से युक्त व्यक्ति ध्यान में ही करते हैं। आप हम जैसे तुच्छ जीवों के सम्मुख हमारे समान गृहमेधी घरके वधिक जिनकी दृष्टि सदा मांस में ही लगी रहती है। कितना भी सुन्दर सरल सौ बकरी का बच्चा होगा, वधिक की दृष्टि में वह एक मांस का ही लोथड़ा है। वह यही देखेगा, इसमें कितना मांस निकलेगा। उसकी दृष्टि शिशुकी सरलता, सुन्दरता, मनोहरता, मृदुलता आदि पर न जायगी। इसी प्रकार हम गृहस्थी लोग साधु संत तथा भगवन्त भी आ जायँ तो उनसे भी विषय वासनाओं की ही

इच्छा रखते हैं। हम लोग विषयों के कीड़े हैं, अतः हमारे सामने प्रत्यक्ष अपना यह अलौकिक रूप प्रकट न करें।

हे मधु कैटभ के मारने वाले मधुसूदन! आपके लिये कंस को मार देना कोई कठिन कार्य नहीं है, जब सृष्टि के आदि के परम बली मधुराक्षस को आप ने मार डाला तो फिर यह कंस तो वस्तु ही क्या है, यह किस खेत की मूली है, आप इसे मार सकते हैं। किन्तु अभी इस समय न मारें। अभी आप मार देंगे तो सभी लोग मुझसे डरने लगेंगे कि यह स्त्री है या कोई अलौकिक वस्तु जिसने ऐसा पुत्र उत्पन्न किया जिसने पैदा होते ही मार धार मचादी। फिर मुझसे कोई बात भी न करेगा, सभी मुझसे शंकित रहेंगे। अतः अभी युद्ध न छेड़ें। अभी चक्र या गदा का प्रयोग न करें। हाँ यह आशीर्वाद मुझे अवश्य दें, कि पापी कंस को यह बात विदित न हो, कि आपने मेरे उदर से जन्म ग्रहण किया है।

आप यह कह सकते हैं कि "जब तू मुझे मधुसूदन मानती है, तो भय का काम ही क्या है, कंस मुझसे कोई बलवान थोड़ा ही है। यह तो सब सत्य है प्रभो! किन्तु आप माता के हृदय की पीड़ा का विचार करें। मेरे ६ पुत्र इस दुष्ट ने मार डाले। इस कारण मेरी बुद्धि अत्यन्त अधीर हो गयी है, मैं अपने धैर्य को खो बैठी हूँ। मुझे अपनी उतनी चिन्ता नहीं मुझे तो आपके ही लिये भय है। यह खल है, आपका जन्म सुनते ही वह दौड़ा चला आवेगा। आते ही बिना सोचे समझे प्रहार कर देगा। जब आपको इस अलौकिक रूप में देखेगा तब तो वह और भी अधिक कुपित हो जायगा। मैं इस रूप से आपको कहीं छिपा भी नहीं सकती। आपका तेज अंधकार में प्रकाश करता है यह कहीं भी छिप नहीं सकता। अभी सहसा कंस आगया। तो कहाँ तो मैं इस शंख को

वृक्ष बने नलकूवर मणिग्रीव धनद पुत्रों का उद्धार किया और उन्होंने जिस प्रकार भगवान् की स्तुति की उस कथा प्रसंग को आप से कहूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

दृश्य प्रलय में लीन एक तुमई बचि जाओ।
आपु काल के काल मृत्यु तैं मोइ बचाओ॥
शरनागत लखि मृत्यु भगे यह रूप छिपाओ।
आयुध लेउ दुराइ द्विभुज शिशु रूप बनाओ॥
प्रलय काल महँ जीव सब, उदर माहिं जाके बसैं।
सोई आये उदर मम, सुनि, सब नर नारी हँसैं॥

पद

प्रभु तुम सगुन रूप धरि आये।
हो अव्यक्त ब्रह्म ज्योतिर्मय वेदनि विष्णु बताये ॥१॥
जब अज आयु होइ पूरन तब, कारन सबहिं विलाये।
केवल शेष आपु बचि जावें तातैं शेष कहाये ॥२॥
जीवनि काल नचावत नटवर, जगत् चराचर खाये।
सो तुमरे भय डरि कें भागत निरभय दास बनाये ॥३॥
अगनित विश्वपेट धरि सोवें, पेट माहिं मम आये।
प्रभु अब दया दीन पै कीजे, खल दुख बहुत दिबाये ॥४॥

नलकूवर मणिग्रीवकृत दामोदर स्तुति(१)

(८१)

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूतं ते ब्राह्मणा विदुः ॥*

(श्री भा० १० स्क० १० अ० २९ श्लो०)

छप्पय

मातु जशोदा दाम उलूखल बाँध्यो हरिउर ।
यमलार्जुन के मध्य गये दामोदर नटवर ॥
नलकूवर मनिग्रीव शाप तजि पायो सुर तन ।
इस्तुति करिबे लगे लगायो प्रभु चरननि मन ॥
कृष्ण कृष्ण ! योगी परम ! विश्वरूप भगवान् हैं ।
करन, प्रान, तन, मन, अधिप, काल, सत्य चितज्ञान हैं ॥

जीव न जाने कब से इस भवाटवी में भ्रमण कर रहा है। कब से इस संसार चक्र में चक्कर लगा रहा है। भाग्यवश ही इससे सुकृत कुकृत्य बन जाता है, जिससे यह कभी उच्च योनि में जाता है, कभी नीच योनि में। किसी ने वरदान दे दिया तो देव-

---

* दामोदर भगवान् की स्तुति करते हुए नलकूवर मणिग्रीव कह रहे हैं—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! आप आदि पुरुष हैं, प्रकृति से पर हैं। वेदवादी ब्राह्मणगण इस व्यक्त और अव्यक्त रूप से स्थित समस्त विश्व ब्रह्माण्ड को आपका ही स्वरूप मानते हैं।"

योनि में चला गया, किसी ने शाप दे दिया तो शूकर कूकर अंडज या उद्भिज योनि में चला गया। पुण्य बन गया तो अधः नरकादि लोकों में जाकर यातनायें झेलनी पड़ीं। कभी भाग्यवश-अपनी अहैतुकी कृपा करके साक्षात् भगवान् श्रीनन्दनन्दन का स्पर्श प्राप्त हो गया, ब्रह्म संस्पर्श मिल गया, तो जीव कृतार्थ हो जाता है। ब्रह्म संस्पर्श ही के निमित्त तो सब लालायित हैं। वह होता है कृष्ण की कृपा से कृष्ण कब कृपा करते हैं इसे श्रीकृष्ण ही जानें। जब तक कृपा न हो टकटकी लगाये रहो। प्रतीक्षा करते रहो, कभी तो ढुरेंगे ही।

गोकुल में गोपाल कृष्ण ने माता की मथानी फोड़ दी इससे यशोदा मैया ने श्रीकृष्ण की कमर में रस्सी बाँधकर उसे उलूखल से बाँध दिया। अन्य ग्वाल-बालों के साथ उस उलूखल को खींचते हुए दो अर्जुन वृक्षों के बीच से दामोदर निकले उलूखल उरझ गया, खींचने पर दोनों वृक्ष गिर गये। नारदजी के शाप से वरुण के पुत्र नलकूवर मणिग्रीव वृक्ष बने हुए थे। भगवान् के स्पर्श से दोनों शाप मुक्त होकर देवता बन गये। कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए वे भगवान् की स्तुति करने लगे।

नलकूवर मणिग्रीव भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो! आपका कृष्ण वर्ण है, सबको अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं। आप कोरे ग्वाल-बाल ही नहीं हैं। महान् योगी हैं। योगी तो अपने अनेक रूप ही बना सकता है, किन्तु आप तो इस चराचर विश्व को बनाते हैं, बिगाड़ते हैं, पालन करते हैं, फिर भी निर्लेप बने रहते हैं। आप आनन्द रससार सनानन्द स्वरूप हैं। इस निखिल ब्रह्माण्ड की रचना, पालन तथा संहार करते हुए भी आप शुद्ध, बुद्ध निरञ्जन, निर्विकार तथा परिपूर्ण बने रहते हैं।

हे देव ! एकमात्र आप ही अनादि हैं, अनादि होते हुए भी पुरुष हैं, चैतन्य हैं, जीव नहीं आप शिव हैं, पुरुष ही नहीं परम पुरुष हैं, आत्मा ही नहीं परमात्मा हैं। ये जो काल आदि जगत् के कारण हैं उन सबके भी आप नियन्ता हैं। यह जो कार्य कारण है, व्यक्त अव्यक्त है, चेतन अचेतन है, दृश्य अदृश्य है, सब आपका ही रूप है। काल से लेकर तृण पर्यन्त संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं, और ये वस्तुएँ जिसके द्वारा प्रकाशित हैं, अभासित हैं, सब आपके स्वरूप हैं, आपका ही निरूपण करती हैं, इस बात को वेद कहते है, वेदों के उत्पन्न करने वाले ब्रह्माजी कहते हैं, तथा वेदविद् विप्रगण कहते हैं। सारांश यह है, कि आपकी सत्ता के बिना किसी का अस्तित्व नहीं और आपको छोड़कर कोई सत्य वस्तु नहीं।

प्रभो ! जिसमें जीव रहता है, जिसे क्षेत्र पुर या शरीर कहते हैं, वह भी आपके बिना कुछ नहीं। जिस प्राण से शरीर सजीव या चैतन्य रहता है, जो क्षुधा पिपासा लगाता है, वह प्राण भी आपका ही स्वरूप है। ज्ञानेन्द्रियाँ जिनसे ज्ञान होता है, कर्मेन्द्रियाँ जिनसे कर्म करता है, ये बाह्यकरण तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्तःकरण सब आपके ही रूप हैं, आप ही भिन्न-भिन्न नाम रखकर प्रकट हो गये हैं। जीव भी आप ही हैं और सबके स्वामी अन्तर्यामी तथा सबके नियामक आप ही हैं। सबको चलाने वाले काल भी आप ही हैं। ऐश्वर्य, वीर्य यश, श्री ज्ञान तथा वैराग्य इन षड भगों से पूर्णरीत्या युक्त भगवान् भी आप ही हैं। आप ही सम्पूर्ण विश्व में प्राप्त होने वाले विष्णु हैं, सब कुछ निरन्तर व्यय करते रहने पर भी आपका कुछ भी व्यय होता नहीं। आपकी सामग्री कभी चुकती नहीं सदा सर्वदा ज्यों-की-त्यों ही बनी रहती है। इसीलिये आपको अव्यय कहा है, आप परि-

पूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लिया जाय तो भी पूर्ण शेष रहेगा, कभी अपूर्ण न होगा। आप सबके स्वामी हैं, पति हैं, ईश्वर हैं।

हे प्रभो! आप ही इस जगत् के आदि तत्व महत्तत्व हैं। जैसे बीज से सर्वप्रथम अंकुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इस संसार की उत्पत्ति में आदि अंकुर महत्तत्व ही है, वह आपसे भिन्न नहीं।

हे जगदाधार! सत्व,रज और तम ये तीनों गुण जब साम्यावस्था में रहते हैं, तब चुपचाप निष्क्रिय बने पड़े रहते हैं उस अवस्था में वे सृष्टि कार्य में असमर्थ होते हैं, जब काल रूप आपकी प्रेरणा से गुणों में क्षोभ होता है, तब तीनों गुण साम्यावस्था की स्थिति का परित्याग करके विषम हो जाते हैं, उनमें न्यूनाधिक्य हो जाता है, वही प्रकृति का स्थूल रूप है, तभी महत्तत्व की उत्पत्ति होती है, जब तक गुण साम्यावस्था में निश्चेष्ट अक्षोभ्य रहते हैं वही सूक्ष्म प्रकृति का अविकृत स्वरूप है। सो, प्रभो! आप स्थूल प्रकृति भी हैं, और सूक्ष्म प्रकृति भी हैं। अर्थात् इस जगत् की योनि आप हैं, इस बीज के क्षेत्र भी आप हैं, और इस क्षेत्र में बोने वाला बीज भी आप ही हैं।

इस जड़ प्रकृति में बीज बोने वाले पुरुष भी आप ही हैं और आपही पुरुषाध्यक्ष तथा पुरुषोत्तम हैं। आपसे बड़ा कोई नहीं आपकी बराबरी करने वाला दूसरा अन्य कोई है ही नहीं। आपही सब क्षेत्रों के विकारों को जानने वाले हैं, किस अन्तःकरण में किस समय में कैसा विकार उत्पन्न होता है, इसके एकमात्र ज्ञाता आपही हैं।

हे देव! यह जो दृश्य प्रपञ्च है, यह सब गुणों का प्रसार है। गुणों में क्षोभ होने से ही पंचभूत, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, तथा पंचविषय उत्पन्न होते हैं, अन्तःकरण और इन्द्रियाँ जो भी

प्रत्यक्ष अनुभव करेंगी, जिस वस्तु को ग्रहण करेंगी, वे सब प्राकृत ही होंगे। अर्थात् गुणों का विकार मात्र होंगे। इन प्रत्यक्ष करने वाले इन्द्रियादि साधनों से चाहें कि आपका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकें, तो ऐसा होना असंभव है, क्योंकि गुणों से उत्पन्न वस्तु अपनी उत्पत्ति के पश्चात् की वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष करने में समर्थ है। पुत्र पिता के विवाह का प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है। आप तो जीवों की उत्पत्ति के पहिले से ही विद्यमान हैं। ये प्राणी तो स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देहों से आवृत हैं। बिना देह के जीव का अस्तित्व नहीं और देह सब आपसे पीछे उत्पन्न हुए हैं। अतः देहाभिमानी कोई भी इन बाह्य इन्द्रियों द्वारा आपका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकता।

प्रभो! आप वास करते हैं, त्रिभुवन में कोई भी अणु परमाणु ऐसा नहीं है जहाँ आपका निवास न हो। सर्वत्र वास करने से तथा दिव्य गुणों के आलय होने से आप वासुदेव कहे जाते हैं। आप षडैश्वर्य सम्पन्न हैं अतः भगवान् हैं। आप चराचर जगत् के बनाने वाले विधाता हैं,आपही सबको प्रकट करते हैं और स्वयं ही सबको शिक्षा देते हैं, आप अपने विशुद्ध सत्व से प्रादुर्भूत होकर प्राणियों को प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं, नहीं आप अव्यक्त अचिन्त्य को अपने साधनों से स्वतः के पुरुषार्थ से कौन जान सकता है?

यद्यपि आप प्रत्यक्ष हैं, फिर भी बहुत से लोग आपको जान नहीं पाते। आपने गुणों का जो घूँघट मार रखा है, उससे आपके मुखचन्द्र को सभी निहार नहीं सकते। ये गुण भी कहीं अन्यत्र से नहीं आ गये हैं, इन गुणों के जनक भी आप ही हैं, आपने ही इन सबको उत्पन्न किया है और ये गुण ही आपके स्वरूपको आच्छादित कर लेते हैं। जैसे मेघ सूर्य से ही उत्पन्न होते हैं

और वे ही सूर्य को ढाँप लेते हैं, इस समय आपने रस्सीरूप गुणों से अपने को बाँध रखा है, कैसे भोले भाले, उलूखल में बँधे हुए बद्ध से प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु प्रभो ! जानने वाले इस प्रच्छन्नावस्था में भी आपके यथार्थ स्वरूप को समझ लेते हैं।

स्वामिन् ! आप इस व्रज मंडल में नंदयशोदा के प्रांगण में, कमर में रस्सी बाँधकर ऊखल में बँधे हुये इतने ही प्रान्त में आबद्ध नहीं हैं आप तो बृहद् हैं, सर्वव्यापक हैं, परब्रह्म है, सच्चिदानंदघन वेदान्तवेद्य औपपिद् तत्व हैं।

हे विरुद्ध धर्माश्रयी भगवन् ! आप अनादि अव्यक्त अच्युत अन्तर्यामी तथा अज भी हैं फिर भी आप अपने आश्रितोंपर कृपा करके देव, तिर्यक, पशु, पक्षी तथा मानवों में उत्पन्न होते हैं। आप अपने स्वरूप से उतर आते हैं–अवतार धारण करते हैं–गूढ़रूप से तत् तत् योनियों में अपने को छिपानेसे लगते हैं,फिर भी आप छिप नहीं सकते। अग्नि को कितने भी वस्त्रोंमें लपेट कर रख दो अंत में वह प्रकट हो ही जाती है, इसी प्रकार आप जिस योनिमें उत्पन्न होते हैं, वहीं भक्तों द्वारा पहिचान लिये जाते हैं, कि उन योनियों में आप ऐसे अलौकिक कार्य करते हैं, उन योनियों के साधारण जीवों द्वारा ऐसे कार्य असंभव हैं। जैसे हंसावतार में आप साधारण हंस बन गये। जगत् के विधाता भगवान् ब्रह्माजी भी पहिले आप को न जान सके, किन्तु जब आपने दिव्य ज्ञान उस हंस शरीर से ही दिया, तो वे फट आप को पहिचान गये। इसी प्रकर जब मछली बनकर महाराज प्रियव्रत के सम्मुख आप प्रकट हुए, तो पहिले तो उन्होंने आप को साधारण मछली ही समझा, किन्तु जब आप बढ़ते ही गये बढ़ते ही गये सैकड़ों योजन लम्बे चौड़े हो गये, तो वे समझ गये आप भगवान् हैं। इसी प्रकार जब बराह बन कर आप पर्वत के समान हो गये और

पाताल में गयी पृथिवी को दाढ़ पर रखकर उठालाये, तब सबने समझा आप तो साक्षात् विष्णु हैं। इस प्रकार आप जिस योनि में भी अवतार लेते हैं, अपने अद्भुत, अलौकिक, अनुपम तथा असाधारण कार्यों के द्वारा प्रसिद्ध हो जाते हैं, जब अवतार अवस्था में ही आप नहीं छिपते, तो अब तो आप अवतारी हैं, स्वयं साक्षात् भगवान् हैं, फिर इस उदर में बँधी दाम के द्वारा बालक होने पर भी आप कैसे छिप सकते हैं। आप कभी अपनी कलाओं से प्रकट होते हैं, कभी अंशों से। आप ही प्राणियों की सभी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। आप अब इन व्रजवासियों पर तथा समस्त चराचर जीवों पर कृपा करके, समस्त लोकों के रक्षणार्थ तथा सबकी उन्नति करने के निमित्त अबके अपने समस्त ऐश्वर्य से सम्पूर्ण शोभा से, समस्त पराक्रम से, सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य से सम्पूर्ण कलाओं के सहित-असंख्य अवतारों के जनक- अवतारी रूप में-अवतीर्ण हुए हैं। ऐसे आप परिपूर्णतम प्रभु के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! नलकूबर मणिग्रीव दोनों धनद पुत्रों ने इस प्रकार भगवान् की बड़ी ही मार्मिक वाणी में स्तुति की। वे और भी स्तुति करेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कौकरम जिनि जीव न उनतैं जाने जाओ।
हो तुम सबके जनक करन मनतैं न लखाओ॥
बासुदेव भगवान् ब्रह्म विधि सब कछु स्वामी।
गुन माया तैं छिपे लखैं चरननि अनुगामी॥
कच्छ मच्छ अवतार धरि, करो अलौकिक करम तुम।
अवतारी बनि प्रकट प्रभु, भये चरन की शरन हम॥

पद

जगत हित हेतु धरी तन नटवर ।
अधरम बढ़ै धरम थापन हित, करी प्रकट तनु सुंदर ॥१॥
कबहूँ पशु पन्छी बनि विहरो, कबहूँ नभचर जलचर ।
माँगी भीख कबहुँ रन जूझो, कबहूँ प्रकटो हरिनर ॥२॥
लौकिक रूप बनाइ तिनहिं में मिलो एक सो वपुधर ।
किन्तु अलौकिक काज करो जब, तब समुझें नर प्रभुवर ॥३॥
सकल कामना पूरन करिये, शिशु अवतारी मनहर ।
रूप चतुरभुज धरि के प्रकटे करुनासागर मम घर ॥४॥
बार बार बन्दौं बनवारी, तव पद पदुम निरंतर ।
करो कृपा करुनेश कृपालो ! कलित कमलवरकरधर ॥५॥

नलकूवर मणि ग्रीवकृत दामोदर स्तुति(२)

(८२)

नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १० अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

प्रभो ! परम कल्यान ! परम मङ्गल ! यदुकुलपति !
वासुदेव ! अति शान्त ! सुखद ! हम दीननि की गति !
करौ कृपालो कृपा शीश पद पदुमनि नावैं ।
जानि दास के दास देउ अनुमति अब जावैं ॥
कथा करन बानी गुननि, कर सेवा मन चरन महँ ।
सिर सब जग जीवनि नमै, नयन लगै प्रभु दरस महँ ॥

मानव शरीर की सार्थकता भगवान् की भक्ति में ही है, जीव अपने समस्त अंग प्रत्यङ्गों का उपयोग एक मात्र भगवान् वासुदेव की सेवा पूजा श्राद्ध भक्ति तथा उपासन में ही लगा दे तो उसका ही मानव जीवन सार्थक है हम लोग ऐसे कुछ माया के जाल में

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए नलकूवर मणिग्रीव कह रहे हैं—हे परम कल्याण स्वरूप प्रभो ! आप को नमस्कार है, हे परम मङ्गल स्वरूप आप को नमस्कार है, हे शान्त स्वरूप वासुदेव ! आपको नमस्कार है । हे यदुओं के पति ! आपको बारम्बार नमस्कार है ।

फँस गये हैं, जो बलि देवताओं के लिये तैयार की गयी है उसे सूकर कूकर कागों के लिये खिला देते हैं, यह मस्तक इसलिये है, कि चराचर जगत् को भगवान् का ही स्वरूप समझकर इसे उसके सम्मुख नवाता रहे। इसी प्रकार समस्त अङ्गों का विनियोग वृन्दावन विहारी के ही निमित्त करता रहे तभी मानव जन्मका साफल्य है। वाणी से एक मात्र भगवान् की ही स्तुति प्रार्थना करता रहे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करते हुए कुबेर पुत्र नलकूबर मणिग्रीव आगे कह रहे हैं—"प्रभो! आप परम कल्याण स्वरूप हैं। इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकों में कल्याण करते हैं इसलिये आप परम कल्याणमय हैं। कल्याण का आदि कारण शरीर है, अतः हम सम्पूर्ण शरीर से आपको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। आप कल्याण प्रदान तो करते ही हैं मङ्गलदाता भी आप ही हैं। मङ्गल तो लोक में भी विवाह, पुत्र जन्म, धन प्राप्ति आदि कार्य कहे जाते हैं, किन्तु आप तो परम मङ्गल स्वरूप हैं। शरीरोपभोग के लिये परम कल्याण प्रादुर्भूत होता है, इसीलिये आदि में कायिक नमस्कार है। मध्य में वाचिक नमस्कार इसी से मङ्गल होता है। मङ्गल ही नहीं परम मङ्गल स्वरूप आपही हैं। प्रभो! आप सर्वत्र वास करते हैं,अन्तर्यामी रूप से सभी स्थानों मेंरहते हैं,परम कल्याण और परम मङ्गल के पश्चात् परम शान्ति प्राप्त होती है, शान्ति मन का विषय है अतः अन्त में हम मनसे आप को नमस्कार करते हैं। अतः आदि मध्य और अन्त में काया से वाचा से तथा मन से आप को नमन करते हैं। स्वामिन आप समस्त यादवों के, व्रज के समस्त गोपों के क्या चराचर विश्व के पति हैं अतः आपको बारम्बार नमस्कार है।

हे भूमन्! हे महान् से भी महान्! हे परम ऐश्वर्य सम्पन्न

स्वामिन् ! हे निरपेक्ष ! हे परिपूर्ण प्रभो ! अब हम जाना चाहते हैं, आप हमारे लिये कोई आज्ञा प्रदान कीजिये कोई शिक्षा दीजिये। हम हैं तो अत्यंत दीन किन्तु आप दीनों के बन्धु हैं, हमने अपराध तो अक्षम्य किया हैं, किन्तु आप तो शरणागत वत्सल हैं, हमारी प्रार्थना यही है, कि आप हमें अपने दासों का दास बनालें। हमारे पिता जी भगवान् रुद्र के मित्र हैं, आपके अनुचर हैं आप हमें उनके किंकर के ही नाते से अपनालें। महर्षि नारद भी आप के अनन्य एक निष्ठ अनुचर हैं, उनका ही सेवक हमें समझें यद्यपि हमने सेवक के सदृश कोई कार्य तो किया नहीं, किन्तु फिर भी उन्होंने किंकर अबोध अज्ञ समझकर हमपर दया ही की, आप उसी नाते से हम पर दया की दृष्टि करें। ये बाल गोपाल जो आप की क्रीड़ा में सहयोग दे रहे हैं, जो उलूखल को शकट बनाकर और आप को वृषभ बनाकर तिकतिक करके हाँक रहे हैं, जिनकी कृपा से ही आप यमलार्जुन के मध्य से निकले और हमारा उद्धार किया उन्हीं गोपों का हमें किंकर समझें। आपके जो भक्त हैं अनुचर हैं, वे अपराधियों पर भी अनुग्रह ही करते हैं, उनका क्रोध भी वरदान ही होता है, उनका शाप भी प्रसाद है, कैसे भी उनका दर्शन हो जाय वह कल्याणप्रद ही है, अमोघ है। देखिये, भगवान नारद जी का हमने अपमान किया उनकी अवहेलना की तिस पर भी उन्होंने अनुग्रह ही की वे शाप न देते तो आपके देव दुर्लभ दर्शन होते ही कैसे ?

हे भगवन् ! अब आज से हम आपके शरणागत हो जायँ, प्रपन्न बन जायँ, अपने लिये हम कुछ भी न करें। जैसे सती साध्वी स्त्री अपने पति को आत्मसमर्पण करने के पश्चात् न तो अपने ही करम की रह जाती है न किसी दूसरे के ही उपयोग की रह जाती है। उसके समस्त कार्य, सम्पूर्ण चेष्टायें, निखिल

कर्म, सब पति परमेश्वर के ही निमित्त होते हैं। वाणी,कर्ण, चित्त मस्तक और चक्षु ये ६ अंग सदा सर्वदा आप के ही कार्यों में विनियोग हुआ करें।

हमारी वाणी आप के ही सम्बन्ध मे बोले आप के गुण तथा नामों को छोड़कर अन्य कुछ भी उच्चारण न करे। जैसे किसी कन्या का वागदान हो जाने पर वह फिर न किसी दूसरे की ओर जाती है न किसी दूसरे का चिन्तन ही करती है, सर्वात्मभाव से उसीको भजती है, जिसके साथ उसकी सगायी हो गयी है, जिसके लिये वागदान दे दिया गया है। इसी प्रकार हमारी वाणी आप के अतिरिक्त किसी अन्य अनित्य वस्तुओं के काम में न आवे। आप के गुणों का ही गान करती रहे।

हे कर्णधार! कानों का कुछ ऐसा स्वभाव है कि वे जहाँ कहीं संसारी निंदा स्तुति की बात होती है, वहाँ ये स्वतः ही उधर को झुक जाते हैं। इन्हें परचर्चा सुनने में बड़ा रस आता है, किन्तु जैसे बालकों की क्रीड़ा के लिये एक खिलौना बिकता है, उसमें सीता जी के सम्मुख जब श्री राघवेन्द्र की मूर्ति आ जाती है, तब तो वे प्रसन्नता के साथ हाथ जोड़े उत्सुकता के सहित खड़ी रहती हैं, किन्तु जहाँ रावण की मूर्ति उनके सम्मुख आयी, तुरंत वे मुँह फेरकर खड़ी हो जाती हैं,इसी प्रकार प्रभो! हमारे कान बन जायँ जब आप की कथा श्रवण का सुयोग हो, तब तो हमारे ये श्रवण उत्सुकता पूर्वक अतृप्त भाव से उसे श्रवण करते रहें, जहाँ विषय वार्ता छिड़े वहीं मुख मोड़लें, बहरे बन जावें। कर्ण की सार्थकता भागवती कथा के श्रवण में ही है, हमारे श्रवण सार्थक बन जायँ।

हे योगिन! ये हाथ व्यर्थ के कामों में लगे रहते हैं, हाथों की उपयोगिता तो इसी में है कि वे आपकी अष्टयाम की सेवा की समस्त सामग्रियों को संचित करें। अरुणोदय से शयन समय तक

आप की पुनीत परिचर्या में ही इनका विनियोग हो। शारिरिक शुद्धि के लिये भी काम करें, तो इसी उद्देश्य से कि यह शरीर आप की सेवा के निमित्त शुचि-पवित्र बन जाय। आप की सेवा के अतिरिक्त जो भी कर्म हैं वे सब लोकबन्धन कर्म हैं, हमारे हाथों द्वारा वे बन्धन को बढ़ाने वाले कर्म कदापि नहीं हों। मंदिर मार्जन, पार्षदों की स्वच्छता, पुष्प, तुलसी चयन, पुष्प हार बनाना, नैवेद्य तैयार करना। आप की सेवा के निमित्त अन्न, जल, फल, फूल, मूल, ओषधि, ईंधन तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ जुटाना। आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गंध, पुष्प, तुलसी, बिल्वपत्र धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल पुंगीफल, दक्षिणा, नीराजन, प्रदक्षिणा, स्तुति, नमस्कार तथा क्षमा याचना आदि कर्मों द्वारा तथा सर्वात्मभाव से समर्पण के जितने कृत्य हैं उन्हें ही हमारे हाथ निरन्तर करते रहें।

हे मन वाणी से परे प्रभो! हमारा यह अति चंचल मन, इधर उधर की दौड़ लगाना छोड़ दे। आप के अरुण वरण के पादार विन्दों को खूँटा बनाकर उन्हीं में सदा के लिये बँधा रहे। जैसे मीन सदा पानी में ही रहना चाहती है वैसे ही हमारा मन सदा आप के पाद पद्मों में रमा रहे। उन्हीं का निरन्तर मनन करता रहे। चैतन्यता के साथ उन्हीं का चिन्तन करता रहे।

हे स्वामिन्! हमारा यह सिर बड़ा उद्धत तथा अनवनत है, यह नवल ही नहीं चाहता, सदा ऊँचा ही उठा रहना चाहता है। प्रभो! यह सम्यक् प्रकार से नमित हो जाय। नित्य निरन्तर प्रणाम ही करता रहे। चराचर विश्वको आपका ही रूप समझकर नत होता रहे। हे जगन्निवास! यह जगत् आपका देह है, घर है। देह देही का ही रूप सा होता है, देही देह में सर्वत्र रमा रहता है। इसलिये इस जगत् को आप का निवास स्थान समझकर हम जड़

चेतन, चर, अचर, स्थावर, जंगम, स्थूल, सूक्ष्म,चित् अचित सभी को श्रद्धा सहित सिर झुकाते रहें जिसे भी देखें उसी के सम्मुख हमारा यह सिर नत हो जाय। व्रज मंडल ही आपका निवास स्थान है, व्रजमंडल को आपका ही स्वरूप समझकर व्रज के लता तृण गिरि गह्वर सभी के आगे हम नत मस्तक हो जायँ।

प्रभो ! यह चक्षु इन्द्रिय सदा चमकीली भड़कीली वस्तुओं को ही देखना चाहती है, नेत्रों का फल तो साक्षात् आपकी भुवन मोहिनी मनोहर मूर्ति को देखते रहने में ही है, किन्तु हमारा इतना सौभाग्य कहाँ, इतना पुण्य तो इन व्रजवासियों के ही भाग्य में बदा है, हम गृहमेधियों-का हिंसकों-का इतना पुण्य कहाँ, किन्तु न सही आपका यह मुरलीधारी साक्षात् दामोदर स्वरूप। आप के जो दो स्वरूप हैं चल रूप में साधु संत, भक्त, वैष्णव, त्यागी, विरागी महात्मा हैं, तथा अचल रूप में आप की प्रतिमादि अर्चा विग्रह हैं उनके दर्शनों में ही हमारी दृष्टि का प्रयोग हो। हमारी दृष्टि आप के स्वरूपों के ही दर्शनों को सदा लालायित बनी रहे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार धनदकुबेर के पुत्र नलकूबर मणिग्रीव दोनों ने भगवान् की स्तुति की। उनकी प्रदक्षिणा की तथा भगवान् से अनुज्ञा तथा आशीर्वाद प्राप्त करके वे शाप मुक्त होकर अपने लोक को चले गये। यह मैंने नलकूबर मणि ग्रीव द्वारा की हुई दामोदर भगवान् की स्तुति आपसे कही। अब जैसे ब्रह्माजी ने पशुपाल व्रजेन्द्र नन्दन भगवान् की स्तुति की उस कथा प्रसंग को मैं आपसे कहूँगा। आशा है आप इस परम दिव्यातिदिव्य स्तुति को सावधान होकर श्रवण करेंगे।

छप्पय

जड़ चेतन चर अचर जगत सब थावर जंगम।
व्यापि रहे सब माहिं थूल तैं थूल सूक्ष्मतम ॥
माथौ हमरौ नवै सबनि में तुमकूँ जानैं।
साधु संत तव मूर्ति देह तुमरी हम मानैं ॥
नलकूबर मणिग्रीव यों, इस्तुति करि प्रनमत भये।
लै आशिष अनुमति तुरत, धन्द लोक दोऊ गये ॥

पद

देहिँ वर वरदाता विज्ञानी।
बासुदेव मंगलमय यदुपति सब सद्गुन की खानी ॥१॥
तव गुन नाम प्रेम तैं निशिदिन गावै हमारी बानी।
कान सुनैं गुन संतनि मुख तैं प्रभु तव कलित कहानी ॥२॥
मंदिर मार्जन माल सुमन फल करि परिचरिया पानी।
चरन कमल चितन में चंचल रमै मोर मन मानी ॥३॥
जग हरि समुझि नवै सिर सब कूँ. संतनि भगवत् जानी।
निरखैं नयन साधु प्रतिमा प्रभु, प्रनमों मारँग पानी ॥४॥

नलकूवर मणिग्रीवकृत-स्तुति

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥१॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥२॥
त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी ।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥३॥
गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ।
कोन्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः ॥४॥
तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥५॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतैः ॥६॥
स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।
अवतीर्णोंऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥७॥
नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल ।

वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥८॥
अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ ।
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥९॥
वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां,
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे,
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥१०॥

श्रीब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नंदनन्दन की स्तुति (१)

(८३)

नौमीड्यतेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय,
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्र विषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥

(श्री भा० १० स्क० १४ अ० १ श्लो०).

छप्पय

ग्वाल बाल सँग खात छीनि जूठो पशुपालक ।
ब्रह्मा मोहित भये चुराये बछरा बालक ॥
ज्यों के त्यों सब रूप धरे हरि अज घबराये ।
महिमा अमित निहारि विनय युत बचन सुनाये ॥
श्याम बरन जलधर सजल, पीताम्बर चपला सरिस ।
मुख मंडल कुण्डल मुकुट, द्युति तैं भासित दशहु दिस ॥

उन महामहिम भूमा पुरुष सर्वान्तर्यामी सर्व नियन्ता सच्चिदानंद प्रभु की महिमा को भुलाकर यह जीव ऊँच नीच

---

*सूतजी कहते हैं—मुनियो ! गोपाल कृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—हे ईश ! आपका वपु सजल मेघ के सदृश श्याम वर्णका है । जिस पर चपला के सदृश चमकीला पीताम्बर शोभित हो रहा है, आपका

योनियों में निरन्तर भटकता रहता है, कभी तो अत्यंत छोटा कीट पतंग बन जाता है, कभी महान् से भी महान् इन्द्र, वरुण, कुबेर, प्रजापति बन जाता है। उन पुण्यश्लोक प्रभु की पूर्ण महिमा को ब्रह्माजी भी नहीं जान सकते, फिर अन्य साधारण जीवों की तो बात ही क्या है, भगवान् तो जिसे जनाना चाहते हैं, जिसको वे अपना करके वरण कर लेते हैं, वही उनकी कृपा से उनकी अचिन्त्य महिमा को जान सकता है। अन्य सभी अँधेरे में ही भटकते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अघासुर को मारकर भगवान् ग्वाल बालों के सहित भोजन कर रहे थे। ग्वाल बालों के हाथों से छीन-छीन कर खा रहे थे। आकाश में विराजमान ब्रह्माजी को मोह हो गया यह कैसा परब्रह्म? यह तो प्राकृत साधारण गोप ग्वालों की भाँति आचरण कर रहा है। लाओ इसकी परीक्षा लें। यह सोच कर वे ग्वाल बालों और बछड़ों को चुरा ले गये। भगवान् सब समझ गये और स्वयं ही अनेक रूप रखकर ज्यों के त्यों ग्वाल बाल बछड़े बन गये। जब वर्ष दिन हो गया, तो ब्रह्माजी ने आकर देखा, श्रीकृष्ण तो वैसे ही क्रीड़ा कर रहे हैं, वैसे ही बछड़े बालक विद्यमान हैं। सोचा—श्रीकृष्ण अपनी योगमाया से ले आये होंगे। जहाँ उन्होंने सबको बंद कर दिया

मनोहर मुख मंडल घुँघची के आभूषणों से, कानों के कनकमय कमनीय कुंडलों से मोरपंख के मनहर मुकुट से उद्भासित हो रहा है। कंठ में वन-माला शोभित हो रही है अत्यन्त सुकुमार चरणारविन्दों से जो अवनि पर घूम रहे हैं, हाथ में दही भात का कौर लकुट, सींग और मुरली सुशोभित है, ऐसे आप पशुपाल नंदनंदन श्यामसुन्दर के पाद पद्मों में मेरा पुनः पुनः प्रणाम है।

था, वहाँ भी वे ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। अब तो ब्रह्माजी का मोह दूर हुआ और उन्होंने वन में आकर वृन्दावन विहारी के पाद पद्मों में साष्टाङ्ग दण्डवत की और बड़े ही मार्मिक शब्दों में स्तुति करने लगे।

ब्रजेन्द्रनन्दन गोपाल श्री कृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—"हे प्रभो! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। पूरे ब्रह्माण्ड के स्वामी होकर तुम नमस्कार क्यों करते हो जी! क्योंकि स्वामिन्! एक मात्र आप ही स्तुति करने के योग्य हैं। ज्ञानी विज्ञानी पुरुष आपको निर्विशेष, निर्गुण तथा निराकार बताते हैं, किन्तु मेरे सम्मुख तो आप सगुण साकार रूप में अवस्थित हैं, आप की अचिन्त्य महिमा को भी मैंने जान लिया है, अतः जिस मन मोहन रूप से आप ने मुझे दर्शन देकर कृतार्थ किया है, मैं उसी रूप को नमस्कार करता हूँ, उसी छवि के सम्मुख प्रणत होता हूँ।

लोग कहते हैं आप अवर्ण हैं। आप का कोई वर्ण नहीं, किन्तु मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि आप के श्री अङ्ग का वर्ण नवीन जल भरे मेघ के समान है।

कुछ लोग कहते हैं आप को वसन की आवश्यकता नहीं। दशों दिशायें ही आप का अम्बर है, किन्तु मैं प्रत्यक्ष आपको पीताम्बर पहिन निहार रहा हूँ, जिसका आभा बिजली के समान है, जो वायु में फहरा रहा है और जिसकी कान्ति से दशों दिशाय आलोकित हो रहीं हैं। जो लोग आप को निर्गुण निराकार मानते हैं, वे कहते हैं आप के कंठ हृदय कर्ण आदि अंग हैं ही नहीं फिर उनमें आभूषण धारण करने का तो प्रश्न उठता ही नहीं। जो आपको सगुण साकार लक्ष्मीपति वैकुण्ठ विहारी करके मानते हैं, उनका कहना है, कि आप इतने दिव्य अलौकिक

कण्ठहार तथा बहुमूल्य मणिमालाओं से सुसज्जित रहते हैं, कि ब्रह्माण्ड में उसकी उपमा नहीं, किन्तु मैं देख रहा हूँ, आपके कमनीय कंठ में ब्रज के वनों की जंगली घुँघचियों की रंग बिरङ्गी मालायें पड़ी हुई हैं। उन्हीं से आपकी अद्भुत अवर्णनीय शोभा हो रही है। आपके युगल कर्ण कर्णिका की कमनीय कलियों से मंडित हैं उनमें के कुण्डल दम दम करके दमक रहे हैं चपला के समान चमक रहे हैं। माथे पर मनोहर मयूर मुकुट मटक रहा है, इन सभी के संयोग से आप के मुख कमल की श्री परम दर्शनीय बन रही है। गुञ्जों की मालाओं के बगल में आपादलम्बिनी, मन्दार, पारिजात कुन्द आम्र किसलय तथा कर्णिकार के कुसुमों से बनी वनमाला घन में विद्युत के समान चमक रही है, हिल रही है और भक्तों के मन को अपनी ओर आकर्षित कर रही है।

प्रभो! आपकी इस वनचारी बालगोपाल रूपी झाँकी करके मैं कृतार्थ हो गया। आप रङ्ग बिरङ्गा अँगरखा पहिने हुए हैं, जिसके सभी रंग चमक रहे हैं, उसके ऊपर उदर और कटि के समीप पीताम्बर का पटुका कसकर बँधा है, मानों आप ने उसे दृढ़ता से अपना लिया है, आत्मसात कर लिया है। उस पटुका में दाहिनी ओर मुरली खुँसी हुई है। बगल में बछड़ों को घेरने की लकुटी लगी है। एक हाथ में नरसिंहा है, बीच बीच में आवश्यकता पड़ने पर बाईं ओर उसे आप पटुका में भी खुरस लेते हैं। दाँया हस्त कमल दही भात के कौर से भरा है। उँगलियों में टेंटी, करौंदा, हरी मिरच, नीबू के अचार खुरसे हुए हैं। आप अपने बछड़ों की खोज में अत्यंत मृदुल कमल की पँखुड़ियों से भी सुकुमार नंगे ही चरणों से कुश कंटक कंकड़ियों से भरी कठिन अवनि पर-विचरण कर रहे हैं।

कुछ लोग कहते है आप वसुदेवजी के अंग से उत्पन्न होने से वासुदेव हैं, आप का जन्म मथुरा के कारावास में देवकी मैया के उदर से हुआ है, किन्तु यह बात भ्रम मूलक है जो लोग इस रहस्य को जानते नहीं वे ही ऐसी भ्रम मूलक बात कहते हैं, आपका जन्म मथुरा में नहीं गोकुल में ही हुआ। यमुना के उस पार न होकर इस पार गंगा यमुना के मध्य में हुआ। आप वसुदेवात्मज न होकर पशुपांगज हैं। आप वसुदेवनंदन न होकर नन्दनंदन हैं। आप का जन्म परम भाग्यवती जगन्माता यशोदा मैया के ही गर्भ से हुआ है। आप परम सुकुमार व्रजेन्द्रकुमार हैं ऐसे आप वृन्दावन विहारी के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! आप का रूप दुर्ज्ञेय है, फिर आप की अचिन्त्य महिमा तो अत्यंत ही दुर्ज्ञेय है। सब लोग समझते हैं आप कर्मों के अधीन होकर शरीर धारण करते हैं। किन्तु यह उनकी भूल है। कर्म बन्धन तो ज्ञानी पुरुष को भी स्पर्श नहीं कर सकते सो आप तो साक्षात् ज्ञानस्वरूप ही हैं। फिर आप ने यह शरीर धारण किया ही क्यों? केवल मेरे ऊपर कृपा करके मेरे ही उद्धार के निमित्त आप का यह अवतार हुआ है। आप केवल अपने अनुगत भक्तों के ही निमित्त साकार स्वरूप धारण करते है। यद्यपि मैं भक्त नहीं अभक्त हूँ, निर्मोही नहीं निर्मोही हूँ, किन्तु हूँ आपका कृपा पात्र इसीलिये एकमात्र मुझपर कृपा करने के निमित्त आपने यह त्रिभुवन सुन्दर स्वरूप रखा है। यह अवतार मेरे ही कल्याण के निमित्त आपने धारण किया है। मुझे जिस शरीर के दर्शन हो रहे हैं, वह पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाशादि भूतों से विनिर्मित नहीं। न यह शरीर सत्व, रज तथा तमोगुणी ही है, यह तो सत्व से भी परे एक विशुद्ध

सत्व है, उसी विशुद्ध सत्व से अपनी इच्छानुसार आपने यह विश्वविमोहन वपुबना लिया है। यह रूप आपने व्रज में बनाया है इस लिये ग्वाल बाल रूप है। वह आचार विचार से परे है। मार्ग में चलते चलते दही भात खाते जाते हैं, बछड़ों और बालों का नाम ले ले कर चिल्लाते जाते हैं। खाते खाते सींग को छूते जाते हैं। बाल सुलभ सभी प्राकृत भाव दरसाते जाते हैं। ऐसे रूप की महिमा को कोई मन से भी चाहे कि मैं इसका पार पा जाऊँ तो असम्भव है। औरों की बात तो पृथक् रही, मुझ चतुर्मुख ब्रह्मा को भी जिसे सभी ज्ञानमय कहते हैं आप के इस बाल ग्वाल रूप की महिमा का सम्यक् बोध नहीं। मैं भी इसे यथार्थ रूप से जानने में समर्थ नहीं। फिर जो मेरे बनाये हुए मरीचि, अत्रि, अंगिरा तथा कश्यपादि से उत्पन्न प्राणी तो जान ही कैसे सकते हैं। जब इन्द्रियों के गोचर प्रत्यक्ष सम्मुख खड़े स्वरूप की ही महिमा जानने में मेरे जैसे ज्ञानी चकरा जाते हैं, जब जो रूप सर्वात्ममय है, साक्षात् ज्ञानमय है, सुख स्वरूप है, ऐसे आत्मानन्दानुभव रूप आपकी अचिन्त्य महिमा को तो कोई जान ही कैसे सकता है। फिर चाहे कोई धारणा ध्यान तथा समाधि द्वारा एकाग्रचित्त होकर—समस्त चित्त की वृत्तियों को वश में करके उस अचिन्त्य महिमा का ध्यान करे, तो उसके लिये भी कठिन ही है। बड़े बड़े ज्ञानी आपकी दुर्ज्ञेय महिमा के विषय मे सन्देह में पड़ जाते हैं, तब मुझ जैसा लोककर्मरत रजोगुणी सन्देह में पड़ गया और आपके बाल बछड़ों को चुरा ले गया तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। फिर भी प्रभो! अपराध तो हुआ ही उसे क्षमा करें। आज मेरा समस्त ज्ञान का अभिमान चूर हो गया। आप यद्यपि अचिन्त्य अप्रमेय तथा दुर्ज्ञेय हैं,फिर भी जो भक्ति मार्ग का आश्रय ग्रहण

करते हैं, उन्हें आप की महिमा का बोध हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार कैमुतक न्याय से भगवान् की महिमा को दुर्बोध बताते हुए ब्रह्मा जी ने भक्ति को ही भगवत् साक्षात्कार के निमित्त सुलभ बताया, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

बन माला गर धारि बननि बिहरें बनवारी।
कठिन अवनि सुकुमार चरन भटकें पदचारी॥
दधि ओदन कर कौर सींग बंसी छर धरिकें।
दीये दरसन देव दया सेवक पै करिकें।
निज इच्छा निरमित विमल, बपु महिमा समुझें न अज।
तब फिर अवतारी अलख, रूप जानि को सकै भज॥

पद

सजल घन चरन शरन हौं पाऊँ॥१॥
पीताम्बर वर बदन विराजै, बार बार बलि जाऊँ॥१॥ सजल०
मुख मंडल पै अलकैं बिथुरीं, गुञ्ज माल गल ध्याऊँ।
मोर मुकुट कुंडल कानन मन, बनमाला पहराऊँ॥२॥ सजल०
चरन कमल कर कोमल वंशी, शृङ्ग छरी मन लाऊँ।
खोजत फिरत बाल ब्रजनि कूँ, छवि लखि परम सिहाऊँ॥३॥
को कहि सकै महा महिमा प्रभु, निज अघ लखि सकुचाऊँ।
पापी क्रूर कुमति हौं जैसो, तुमरो नाथ कहाऊँ॥४॥ सजल०

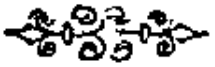

ब्रह्माजी द्वारा पशुपालनन्दनन्दन की स्तुति (२)

(८४)

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः
ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० १४ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

ज्ञान प्रयास भुलाय नहीं भटके वन जंगल ।
रहि निज घर हरि कथा सुनहिं संतनिमुख मंगल ॥
मन, बानी, तन नमन समय सब सफल बनावें ।
करि सब को सतकार वृत्ति तव चरन लगावें ॥
जद्यपि हो तुम अजित प्रभु, तोऊ जीतें भक्त गन ।
कथा कीरतन में निरत, सतत रहत तुमरी शरन ॥

---

*भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"प्रभो ! जो मनुष्य ज्ञान प्राप्ति के प्रयास को परित्याग करके संत महात्माओं के मुखारविन्द से निकली आपकी कथा श्रवण करते हैं, तथा मन वाणी और शरीर द्वारा अन

जीव शांति के लिये भटक रहा है, संसारी पदार्थों में शान्ति खोजता है, उन्हें सुख के हेतु संग्रह करता है, किन्तु उनके संग्रह से अशान्ति बढ़ती है और दुख होता है, तब वह तत्व की खोज करता है। एक एक भौतिक पदार्थ को लेता है कहता है यह भी अनित्य है,यह भी परिवतनशील है,यह भी नश्वर है। यह कहते कहते उस अचिन्त्य दुर्बोध परमतत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। जो श्रद्धा भक्तिपूर्वक किसी एक में ही मन लगाकर उसी में सर्वान्तर्यामी को देखने की चेष्टा करता है,समस्त चर अचर में अपने ही इष्ट का रूप लखकर सबके सम्मुख नतमस्तक होता है। वही अविलम्ब उन सर्वान्तर्यामी को पालेता है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् नन्दनंदन की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"भगवन्! आप कहेंगे तुम तो मुझे मोह में डालना चाहते थे, मेरी परीक्षा लेना चाहते थे, किन्तु तुम्हारी एक भी युक्ति चली नहीं। तुम्हे मुँह की खानी पड़ी। मेरे सम्मुख पराजित होना पड़ा। अब तुम आये हो मेरी स्तुति करने के लिये। तुम्हें पता नहीं मेरा नाम अजित है, मुझे कोई साधनों द्वारा जीत नहीं सकता। मन वाणी मुझतक पहुँच नहीं सकते। मैं अचिन्त्य हूँ मुझे कोई तर्क से पा नहीं सकता फिर तुम शरणागति भक्ति क्यों कर रहे हो, मेरी स्तुति प्रार्थना किस निमित्त से कर रहे हो?

सो, हे भक्तवत्सल! यह बात सत्य है, कि आपको कोई जीत

को और आप के भक्तों को नमस्कार करते हैं, वे चाहें अपने घर पर ही रहते हुए ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं, तो हे अजित! वे त्रिलोकी में आप को जीत लेते हैं। अर्थात् ऐसे लोगों के सम्मुख आप अपने को हारा हुआ मान लेते हैं।"

नहीं सकता, किन्तु यह बात ज्ञान मानियों के सम्बन्ध में सत्य भले ही हो शरणागत भक्तों के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं। जो सर्वात्मभाव से आपके प्रपन्न हो गये हैं, उनके लिये आप दुर्लभ होने पर भी सुलभ हैं।

स्वामिन्! जो प्रकृति विकृति के विवेचन में ही अपने सम्पूर्ण समय को नहीं लगाते, जो आठों पहर विविक्त सेवी लब्धासी बन कर भक्तों के सत्संगसे वंचित नहीं रहते, जो निरन्तर जीव, जगत, निर्गुण निराकार, अवाङ् मनसगोचर की रट नहीं लगाते रहते। जो इन ज्ञान के प्रयत्नों में ही निरत न रहकर कथा कीर्तन में अपना समय बिताते हैं, उन भक्तों के सम्मुख आप प्रकट हो जाते हैं, निर्गुण से सगुण बन जाते हैं, निराकार रूप से साकार रूप रख लेते हैं। आपके ऐसे भक्त सदा आपके ही कृत्यों में लगे रहते हैं।

वे ज्ञान प्राप्ति के प्रयासों में बहुत प्रयत्नशील नहीं होते, उन साधनों से उदासीन होकर सत्संग में ही समय को बिताते हैं। वे आप के भक्त शरणागत संतों का ही निरंतर सत्संग करते हैं, वे संत यद्यपि एकान्तवासी तथा मौनी होते हैं, किन्तु जब सत्संग स्थान में भगवत् भक्त एकत्रित हो जाते हैं, उस समय उनकी वाणी प्रस्फुटित होती हैं उस समय वे केवल आपकी और आप के भक्तों की कथा कहने को मुखर बन जाते हैं। वाचदूक हो जाते हैं. उनके मुख से धारा प्रवाह आप के गुण निकलते रहते हैं, आप के त्रिभुवन पावन नामों का कीर्तन करते हैं, आप की ललित लीलाओं की वे व्याख्या करते हैं ऐसे पुरुषों की कही हुई कथाओं को जो सुनते हैं। श्रद्धा और भक्ति के साथ सुनते हैं, हाथ जोड़कर दीन भाव से मस्तक झुकाकर श्रवण करते हैं। वाणी से बारम्बार उनका अनुमोदन करते जाते हैं। मन से उनका मनन

करते जाते हैं । वे त्याग का, विधि पालन का विशेष आग्रह भी नहीं करते । कुछ लोगों का सिद्धान्त है, जिस क्षण इन संसारी वस्तुओं से विराग हो जाय उसी समय सन्यास ले लेना चाहिये। अपने निवास स्थान का परित्याग कर देना चाहिये,चाहे गृहस्थ में परिवार के साथ रहता हो, या वन में वानप्रस्थ धर्मों का पालन करता हुआ कुटिया में निवास करता हो, तत्वों का ज्ञान होने पर उसे स्वस्थान को छोड़ ही देना चाहिये,संन्यास ले ही लेना चाहिए। किन्तु शरणागत भक्त ऐसे आग्रह की उपेक्षा कर दे, वह जहाँ भी रहता हो अपने स्थान पर ही रहते हुए कथा कीर्तन में मग्न रहे। कुछ लोग कहते हैं तीर्थयात्रा अवश्य करनी चाहिए तीर्थ यात्रा के बिना गति नहीं। शरणागत भक्त इन वचनों का विशेष आग्रह न करे, क्यों कि गंगा यमुना, त्रिवेणी, गोदावरी, सिन्धु, सरस्वती तथा अन्य सभी तीर्थ अपने आप वहाँ आजाते हैं जहाँ अच्युत भगवान् की कथा होती है, अतः संतों के निवास भगवद् भक्तों के कथास्थल को ही सबसे बड़ा तीर्थ मानकर शरणागत भक्त वहीं निवास करता है, संतों की भक्तिमयी भगवत्लीलामयी भागवती कथाओं को ही सुनकर प्रमुदित होता है। अथवा भक्तों का जो स्थान है अयोध्या, मथुरा द्वारका, वृन्दावन आदि उसी धाम में रह कर मन, वाणी तथा शरीर द्वारा सब को नमस्कार करते हुए अपना कालक्षेप करता है, जीवन के क्षणों को सत्संग में बिताता है, हे नाथ ! ऐसा शरणागत भक्त आप को प्रायः जीत लेता है। प्रायः इसलिये कहा कि ऐसा जीवन व्यतीत करते हुये भी जिसे भीतर से अभिमान हो जाता है, वह आप के दर्शन नहीं पाता। कथा कीर्तन ही जिनका एक मात्र आहार है, ऐसे विनयी नम्र सुशील सरल, सेवा सम्पन्न भक्त ही आपको शरणागति द्वारा पा सकते हैं । त्रिलोकी में ऐसा ही भक्त अजित जित दिग्विजयी-

कहला सकता है।

प्रभो ! बड़े बड़े ज्ञानी ध्यानी तपस्वी एकमात्र अभिमान के ही कारण बीच मँझधार में जाकर डूब जाते हैं। ज्ञान का मार्ग तो कृपाण की धार के सदृश दुरूह है, कोई विरला ही उसके द्वारा पार हो सकता है। सर्व साधारण लोगों के लिये तो भक्ति मार्ग ही सरल सुगम सरस सर्वोपयोगी सुलभ सहज साधन है। कहाँ सर्व सद्गुण सम्पन्न, सर्व ऐश्वर्य युक्त सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी सर्वसामर्थ्य युक्त सर्वेश्वर, कहाँ यह अल्पगुण, अल्प ऐश्वर्य एक देशीय सीमित साधन वाला जीव, यह अपने ज्ञानसे-स्वस्वरूप के बोध से-आपको कैसे प्राप्त कर सकता है ? कोई विरले करते होंगे, किन्तु सबके लिये यह मार्ग सुखकर सुगम नहीं, कल्याण प्राप्ति का सुगम मार्ग तो आपकी भक्ति-शरणागति-ही है। भक्ति का मार्ग कितना सुगम है, कहीं खोजना नहीं पड़ता। परोपकारी संत स्वतः ही पृथिवी पर घूमते रहते हैं। गृहस्थियों को कृतार्थ करने उन्हें दर्शन देने वे तीर्थ यात्रा के मिससे पर्यटन करते ही रहते हैं, किसी संत में भगवत् भक्ति कर लें आप का साक्षात्कार हो जायगा। गुरु को ही आप का चल विग्रह मान कर भक्ति भाव से पूजन करे उनमें से ही आप प्रकट हो जायँगे। स्त्री अपने पति की ही आप की भावना से पूजा करे-भक्ति करे-आप मिले ही मिलाये हैं आप की अर्चा विग्रह में ही भक्ति भाव प्रदर्शित करे, वहीं से आप प्रकट होकर बोलने लगेंगे,वार्ता करने लगेंगे। माता पिता का ही आप की बुद्धि से आदर करे, वेदज्ञ ब्राह्मण में, अतिथि में,

पृथिवी, जल, वायु, आकाश में कहीं भी आपकी भावना से भक्ति करें। तुलसी आदि पत्रों में,कमल आदि पुष्पों में,श्री फलादि फलों में,पीपल आदि वृक्षों में,कंकड पत्थर किसी में ही आप की भावना से पूजन पाठ, नमस्कार करे तो आप तुरन्त प्रसन्न हो जायँगे। ऐसे सुलभ भक्ति मार्ग को छोड़कर जो अत्यन्त दुरूह ज्ञान मार्ग में भटकते हुए नाना क्लेश उठाते हैं,उनको पूर्ण ज्ञान की स्थिति तो प्राप्त होती नहीं कि केवल दुःख ही दुःख अवशेष रह जाता है। उनको कुछ मिलता मिलाता नहीं। मिले भी कहाँ से, निर्गुण से मिलेगा हो क्या ? शून्य के आगे जितने भी शून्य बढ़ाते चलो बढ़ाने का प्रयास ही शेष है, एक बढ़ाओ चाहें लाख उनका मूल्य शून्य ही है। धान की भूसी के पहाड़ को कितने भी प्रयत्न से-कितने भी वर्षों तक कूटते रहो। उसमें से चावल निकलेंगे ही नहीं। अन्न मिलेगा ही नहीं। केवल श्रम ही श्रम शेष रह जायगा इसी प्रकार ज्ञान मार्ग से तो आप को पाना बड़ा कठिन है। सर्व कर्म समर्पण द्वारा आप को पाना सुगम है। आपके एकनिष्ठ अनन्य शरणागत भक्त तो इसी मार्ग द्वारा आपको प्राप्त कर सके हैं। प्रभो ! इस मार्ग में यह छोड़ो तब इसे ग्रहण करो ऐसा आग्रह नहीं। जिनकी योग मार्ग में रुचि है, वे योग की क्रियाओं के द्वारा अपने मलविक्षेपों को दूर करते हैं, फिर आपकी कथा श्रवण करके अपने सभी कर्मों को आप के अर्पण कर देते हैं उन्हें परमपद की प्राप्ति हो जाती है। उसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए वे आपकी कथाओं में स्थिर मति करते हैं। उन

लौकिक वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से अन्तः करण की शुद्धि होती है फिर आप की कथा सुनकर उनके मनमें भक्ति उत्पन्न होती है, अपने समस्त यज्ञ यागादि कर्मों को आपके अर्पण कर देते हैं। इस समर्पण विधि द्वारा ही उन्हें आप के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है तब वे सुगमता के साथ परम पद के अधिकारी हो जाते हैं।

देव ! कैसे भी, किसी भी कर्म के द्वारा आपके चरणों में अनुराग होना चाहिये। अनुराग तभी होगा जब आपकी महिमा का ज्ञान होगा और महिमा का ज्ञान बिना महात्माओं के मुख से आपकी कथाओं के श्रद्धापूर्वक सुने होने का नहीं। अतः सभी दशाओं में आपके गुणों का श्रवण अत्यावश्यक है। श्रवण भक्ति के बिना कीर्तन, स्मरण पाद सेवन, अर्चन, दास्य, सख्य,तथा आत्मनिवेदन कोई भी भक्ति होने की नहीं, अतः भागवती कथा श्रवण प्रिय भक्तों द्वारा ही आप हे अजित ! जीते जा सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ब्रह्माजी की इस स्तुति में सभी गूढ़ तत्वों का समावेश है, मैं इसे क्रमशः आपके सम्मुख वर्णन करूँगा आप सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

भक्ति मार्ग कूँ त्यागि ज्ञान हित करहिं प्रयासा।
पावैं ते बहु दुःख अंत में होहिं निरासा॥
जैसे थोथी भुसी कूटिकें अन्न न पावैं।
तैसे तजिकें भक्ति ज्ञान मग क्लेश उठावैं॥
सरब करम अरपन करहिं, कथा सुनें योगी तरहिं।
लौकिक वैदिक करम प्रभु, भक्ति हेतु हरिजन करहिं॥

पद

भगति तजि इत उत भटकैं प्रानी ।
सीधो सरल सुगम मारगजिह, पग पग पै तरुपानी ॥ १॥ भगति०
यह सत असत अचिन्त्य अलौकिक, भ्रम भटकैं अभिमानी ।
भटकैं भगत न रहैं निलयनिज,सुनें भागवत बानी ॥ २ ॥ भगति०
नमैं बचन तन बानी मनतैं नितनित, जगमय जगपति जानी ।
कथा गंग भक्तनि मुख निकसति, पीवैं ते धनि प्रानी ॥३॥ भगति०
ज्ञान हेतु बहु करैं सतत श्रम,भक्ति हेय अति मानी ।
तिनिको व्यरथ सकल श्रम जिनि नहिँ, श्रीपति महिमा जानी ॥४॥
अरपि करम सब पायो प्रभु पद, बहुतक योगी ज्ञानी ।
दासी मुक्ति पलौटे पद नित, धन्य भक्ति महरानी ॥५॥ भगति०

ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति(३)

[८५]

तथापि भूमन् महिमा गुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १४ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

निरमल अन्तःकरन अगुन तो महिमा मानें।
इन्द्रिय के नहि विषय स्वयं अनुभव तें जानें॥
नभ हिमकन परमानु भूमि गणना संभव वर।
किन्तु सगुन गुन गनैं करें कारज ते दुष्कर॥
प्रभुवर गुन गन के निलय, गुन गणना को करि सकै।
पावै पद पदुमनि वही, कृपा प्रतीक्षा नित तकै॥

---

*भगवान्‌की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"प्रभो! जिन पुरुषों का अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है वे चाहें तो आपके निर्गुण रूप की महिमा स्वयं प्रकाश आत्मरूप से जान भी सकते हैं, किसी अन्य प्रकार से नहीं जान सकते। कारण कि आप मन बुद्धीन्द्रिय के विषय नहीं, आप तो निर्विकार हैं तथा स्वानुभव स्वरूप हैं।

वेद शास्त्रों में भगवान के सगुण तथा निर्गुण दोनों ही रूपों का वर्णन है। जो निर्गुण निराकार निर्लेप निराह निरंजन निर्विकार रूप है, वह इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि से परे हैं। जब तक शरीर में तनिक भी अहंभाव रहेगा; संसारी पदार्थों में यत् किंचित् भी अपनत्व की भावना रहेगी तब तक निर्गुण निराकार का साक्षात्कार संभव नहीं, क्योंकि उनका कोई रूप आकार प्रकार तो है नहीं। जिन्होंने कभी बैठकर ध्यान करने का प्रयत्न किया होगा, उन्हें इस बात का कटु अनुभव होगा कि देह धारियों के लिये अदेही की कल्पना कितनी कठिन है। देहाभिमान के बिना शरीर अधिक टिक नहीं सकता और देहाभिमान के रहते निर्गुण निराकार का साक्षात्कार-ब्रह्म संस्पर्श-प्राप्त नहीं हो सकता। जो सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, भगवान् की दिव्य अवतारमयी सगुण मूर्ति का ध्यान करते हैं, उनके अंग प्रत्यंगों में,वस्त्र आभूषणों में मन को लगाते हैं। जो कर्म करते हैं भगवान् की सेवा पूजा के ही निमित्त करते हैं, भगवान् को ही अपनी गति मति मान कर उनमें ही सतत चित्त को लगाये रखते हैं, समस्त संसारी पदार्थों को उन्हीं की पूजा का उपकरण मानकर उन्हीं के द्वारा उनकी अर्चना करते हैं, तथा प्रभु प्रसाद पट आभूषण तथा नैवेद्य को ग्रहण करते हैं, वे सुगमता से, सरलता से बिना प्रयास के संसार सागर से सुख के साथ पार हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् नन्दनन्दन की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"प्रभो! निर्गुण और सगुण आप के दो रूप हैं। दोनों ही दुर्बोध हैं दुर्धर हैं तथापि केवल बुद्धि द्वारा समझने की दृष्टि से निर्गुण रूप की महिमा समझना सुगम है। सबके लिये सुगम नहीं है, जो प्राकृत गुणों में लिप्त

नहीं हैं, जिनका अन्तःकरण मल विक्षेपादि आवरणों से रहित है, ऐसे निर्मल चित्तवाले योगीजन स्वानुभव से समझ लेते हैं कि आपकी महिमा स्वरूप और स्वभाव से विकार रहित है। अप्राकृत है क्योंकि प्रकृति तो स्वरूप से ही विकारों वाली है। काल पाकर उसमें विकार स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं। पुरुष भी प्रकृति का संयोग पाकर विकारवान् सा प्रतीत होने लगता है किन्तु आप प्रकृति से परे हैं अतः अप्राकृत हैं और पुरुष से परे होने से उत्तम होने पर पुरुष तथा पुरुषोत्तम कहलाते हैं। विकार होता है रूप से, सो आप रूप रहित अरूप हैं अतः अरूप में विकार सम्भव नहीं यह जीव कर्माधीन है। कुटिल कर्म इसे जहाँ जहाँ संस्कार वश ले जाते हैं, वहाँ वहाँ इसे भटकना पड़ता है उसे नाना शरीरों से संयोग वियोग करना पड़ता है। जहाँ त्याग ग्रहण है संयोग वियोग है वहाँ ज्ञान टिक ही कैसे सकता है। आप रूप से रहित हैं, कर्म बन्धन से रहित हैं, संयोग वियोग से रहित हैं देह से रहित हैं। देह से होने वाले दुखों का जीव को अनुभव है अतः वह अन्तःकरण विशुद्ध होने पर जान सकता है कि देह रहित अदेही दुःख रहित सदा स्वयं प्रकाश ज्ञान स्वरूप होने से आप की महिमा जानी जा सकती है, परिछिन्नादि रूप से वह नहीं जानी जा सकती। सब कोई भी आप की निर्गुण महिमा को नहीं जान सकते। जो अनन्य हैं वे ही कोई आप को देख सकते हैं, आपकी महिमा को समझ सकते हैं। किन्तु आप की सगुण स्वरूप के गुणों की गणना तो बहुत ही कठिन है। कठिन क्या असंभव है। यद्यपि सम्पूर्ण पृथिवी परमाणुओं की संख्या करना भी असंभव कार्य है, तथापि संभव है कि कोई विलक्षण बुद्धिवाले चिरजीवी समस्त परमाणुओं की संख्या कर भी लें। इसी प्रकार आकाश में कितने हिम कण हैं

उन सब की संख्या भी असंभव है, किन्तु उसे भी कोई योगयुक्त सम्भव है कर लें। ज्योतिर्मण्डल में कितने तारागण हैं, इनकी भी यथार्थ संख्या संभव नहीं, फिर भी संभव है उनकी कोई मेधावी चिरजीवी संख्या करले, किन्तु आप में कितने गुण हैं, इनकी संख्या करना सर्वथा असंभव है क्योंकि आप समस्त गुणों की खान हैं, आप के गुण असंख्येय हैं। स्वयं आप भी चाहें तो उनकी संख्या नहीं कर सकते क्योंकि वे गुण संख्या के परिधि से बाहर हैं। आज तक कोई ऐसी संख्या नहीं जो उन्हें प्रकट कर सके। जैसे आप अनन्त हैं वैसे आप के गुण भी अनन्त असंख्य हैं।

हे देव! आप इस प्रकार दुर्ज्ञेय हैं, तब तो आप की महिमा का बोध हो ही नहीं सकता। सब प्रकार से असंभव ही है। सो, भगवन्! यह भी बात नहीं बहुत से आपके अनन्य भक्त आपको प्राप्त कर चुके हैं, आप के परम पद के अधिकारी बन चुके हैं, वे महाभाग सभी प्रकार के साधनों का परित्याग करके केवल तीन ही कार्य करते हैं। प्रथम तो वे प्रतिपल आप की कृपा की प्रतीक्षा करते हैं। वैसे तो प्राणी मात्र पर आप की कृपा दृष्टि की वृष्टि अनवरत होती ही रहती है, किन्तु उस वृष्टि में हमारे भाग्य की बूँद किस घड़ी गिरेगी भक्त चातक इसी प्रतीक्षा में टकटकी लगाये निरन्तर निहारता रहता है। जैसे वर्षा तो होती रहती है, किन्तु चातक की तृप्ति उससे नहीं होती, वह तो सदा सर्वदा स्वातकी बूँद के लिये लालायित रहता है, यह कोई निश्चय नहीं स्वाँतकी बूँदें कब गिर जायँ, इसलिये वह निरन्तर मुँह फैलाये रहता है, सदा सर्वदा उसी का ध्यान चिन्तन करता रहता है। इसी प्रकार आप के अनुगत अनन्य एकनिष्ठ भक्त इसी प्रतीक्षा में कालक्षेप करते हैं, कि न जाने कब कृपा हो जाय, कब हमारी

पारी आ जाय, कब किस क्षण नन्दनन्दन आकर अपना लें, कब राधारमण आकर हृदयसे सटालें। कब गोपीजन वल्लभ अपना करके स्वीकार लें। कब यशोदानन्दन आकर अपना अभय वरद कर कमल हमारे सिर पर रख दें। कब वे हमारे तन की तपन आकर बुझा दें। इस प्रकार वे उठते बैठते, खाते पीते, चलते फिरते, सोते जागते सदा सर्वदा आप की ही अनुकम्पा की उत्सुकता पूर्वक समीक्षा नहीं सुसमीक्षा करते रहते हैं।

दूसरी बात यह है कि प्रारब्ध के अनुसार उस अनन्य भक्त को जो भी सुख अथवा दुःख प्राप्त हो जाता है, उसका निर्लेप भाव से भोग करता है। प्रारब्ध वश सुख आ जाता है, तो उसे देखकर फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता, उसमें आसक्त नहीं होता, उसे अपने आपके साधनों से प्राप्त नहीं मानता, और कदाचित् दुःख आजाय तो उसमें विकल नहीं होता। उसे देखकर घबराता नहीं रोता नहीं। वह समझता है ऋतुओं के धर्मानुसार स्वतः ही वृक्षों में फल फूल आजाते हैं, सरदी गरमी हो जाती है, इसी प्रकार प्रारब्ध वश जैसा भी भोगने को होना है वैसा ही सुख दुख आ जाता है, उसे निर्लिप्त भाव से भोगता रहता है।

तीसरा कार्य वह यह करता है; कि सदा सर्वदा हृदय से अर्थात् मन से, वाणी से और शरीर से सदा आप को नमो नमः न मम-नमस्कार करता रहता है। वह मन से सदा कृष्णाय नमः वासुदेवाय नमः हरये नमः परमात्मने नमः यही सोचता रहता है। जो भी पदार्थ आता है उसे कहता है यह श्रीकृष्ण भगवान् के लिये है-न मम- मेरे लिये नहीं है। इसी प्रकार वाणी से सदा भगवान् के नामों में चतुर्थी विभक्ति लगाकर उनमें नमः शब्द को जोड़कर उच्चारण करता है। रामाय नमः नारायणाय नमः गोपीजन वल्लभाय नमः भगवते वासुदेवाय नमः तथा शरीर से भगवन्

विग्रहों को, सन्त महात्माओं को, गौ ब्राह्मणों को, देवता, द्विज, गुरुजन; प्राज्ञपुरुष तथा सम्पूर्ण चराचर विश्व को ही भगवान् का स्वरूप समझकर साष्टांग प्रणाम करता रहता है। नमो नमः नमो नमः यही व्यापार मन, वाणी तथा शरीर से करता रहता है ऐसा कृपा प्रतीक्षक, स्वकर्म विपाक भोक्ता, त्रिविध नमन करने वाला भक्त ही-फिर चाहें वह योग्य हो अयोग्य हो साधनयुक्त हो साधन विहीन हो-जैसे पुत्र अपने पिता के धन का उत्तराधिकारी होता है, उसी प्रकार वह आपके मुक्ति पद का, आप के चरणार विन्दों का, आपकी भक्तिका, आपके परमपद का स्वतः ही अधिकारी बन जाता है, उसे अन्य कोई भी प्रयास नहीं करना पड़ता। यही सब सोचकर मैंने आप के पाद पद्मों का सहारा लिया है। मुझे आप से पराजित होने में कोई लज्जा नहीं, कोई संकोच नहीं कोई झिझक नहीं। आप तो मेरे जनक हैं। मैं आप की शरण मे हूँ, आप मेरे अक्षम्य अपराध को अपना अनुचर समझ कर क्षमा करें।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्रह्माजी ने भक्ति मार्ग का उत्कर्ष बताते हुए अपने अज्ञान कृत अपराध के लिये भगवान् के पाद पद्मों में बारम्बार क्षमा याचना की। अब आगे वे जिस प्रकार और भी अत्यंत सरलता से क्षमा याचना करेंगे तथा भगवान् की महत्ता और अपनी क्षुद्रता का कथन करेंगे वह कथा प्रसंग मैं आप को आगे सुनाऊँगा। आप इस भक्ति शरणागति के प्रसङ्ग को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

कृष्ण कृपा कब करें लगन जिनकी चातकवत।
भोगें सुख दुख सहज भाग्यवश जो कछु आवत॥
मन तैं बच तैं और देह तैं तुमकूँ विनवै।
हरिमय जगकूँ जानि विनय तैं सब कूँ प्रनवै।
यों जो जीवन धारि प्रभु, शरनागत बनि कें रहें।
पावैं पितु धन पुत्र ज्यों, मुक्ति चरन तब त्यों लहें॥

पद

सगुन है निरगुन हू तैं प्यारौ।
जदपि दुरूह रूप दोऊ परि, सगुन सुरूप तिहारौ॥१॥ सगु०
बरसा बूँद भले गनि लेवै, नच्छत्तर ग्रह तारौ।
भू कण गिनहिं किन्तु महिमा तव, को गिनि सकै बिचारौ॥२॥स०
उत्सुक ह्वै तव कृपा प्रतीक्षा, करैं तुम्हार सहारौ।
सुख दुख भोगें समुझि करम फल, सरबसु तुम पै वारौ॥३॥सगु०
ज्यों पावै सुत सहज पिता धन, त्यों पद मुक्ति सम्हारौ।
करें छिमा शरनागत बत्सल, प्रभु अपराध हमारौ॥४॥ सगु०

ब्रह्माजी द्वारा पशुपालनन्दनन्दन की स्तुति (४)

[८६]

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये
परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनी ।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवम्,
ह्यहंकियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥

(श्री भा० १० स्क० १४ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

नाथ ! कुटिलता लखें कुमति मेरे मन आई ।
जो मायापति अलख तिनहिं माया दिखलाई ॥
कहाँ अर्चि कहँ अनल बिन्दु कहँ सिन्धु मुरारी ।
समुझयो निजकूँ ईश गई मेरी मति मारी ॥
मोह जाल नैंननि जम्यो, बनि मदान्ध अति अघ करे ।
भोजन के सुख समय में, ग्वाल बाल बछरा हरे ॥

भगवान् की माया ऐसी प्रबल है, कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी इस के चक्कर में फँस जाते हैं। माया का जाल ही ऐसा है कि इसके आश्रय में आने पर प्रायः सभी-कुछ ही काल के लिये सही फँस

भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"प्रभो ! मेरी मूर्खता तो देखें, जो बड़े बड़े मायावियों को भी अपनी माया से मोहित

जाते हैं। भगवान् जिनकी रक्षा करें, जो उनके चरणों की शरण ले लें,वे ही बच सकते हैं। नहीं तो इस माया की महिमा ही ऐसी है कि इसमें से निर्दोष निकल जाना बहुत ही कठिन कार्य है।

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! भगवान् से अपने अपराध की क्षमा याचना करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—"प्रभो! आर्य लोग किसी पर संदेह नहीं करते, किसी पर अविश्वास नहीं करते, किन्तु मैंने जगत्पिता के ऊपर सन्देह किया। मायेश के प्रति माया का जाल बिछाया, अनन्त का अन्त देखना चाहा। अनादि का पता लगाया, समस्त मायावियों को भी अपनी माया से विमोहित बनानेवाले विभु को भी मोहित करने के उपाय किये। आर्य तो सुजन तथा विज्ञ कहलाते हैं,मैंने दुर्जनता तथा मूढ़ता की। यह अनार्यपन है। कहाँ आप अनादि अनंत और कहाँ मैं आपके ही नाभि कमल से उत्पन्न होने वाला द्विपरार्ध आयु वाला देव। कहाँ आप प्रकृति पुरुष से परे पुरुषोत्तम और कहाँ मैं प्रकृति संश्लिष्ट व्यक्ति। कहाँ आप मायापति और कहाँ मैं माया के अन्तर्गत कार्य करने वाला। कहाँ तो आपने अपनी योगमाया से चराचर को विमोहित बना रखा है, कहाँ मैं आप मायावियों के परम गुरु को अपनी क्षुद्र माया से मोहित करने का प्रयत्न करने वाला। मैं चाहता था आप पर अपनी माया का प्रभाव दिखाकर आप को चकित कर दूँ और अपनी माया के प्रभाव को स्वयं देखकर हर्षित

करते हैं ऐसे आप अनादि अनंत परम पुरुष परमात्मा को भी मैंने माया के द्वारा अपना वैभव दिखाना चाहा। मैं आपके सामने क्या माया दिखा सकता। अनन्त व्योम के सम्मुख एक क्षुद्र चिनगारी का अस्तित्व ही क्या है?

होऊँ। किन्तु पीछे ज्ञान हुआ, यह मेरी मूर्खता थी, अज्ञानीपन तथा महान् धृष्टता थी। भला अग्निका विस्फुलिङ्ग महान् अग्निके समीप है ही क्या ? जैसे एक बिन्दु जल सिन्धु की समता करना चाहे,एक कण-महान् अन्नराशि को अपनी महिमा से चकित बनाना चाहे, जैसे एक बालक अपनी फूँक से सुमेरु को उड़ाकर उस क्रीड़ा को देखकर प्रसन्न होना चाहें। इसी प्रकार मैं ग्वालबाल तथा बछड़ों को चुराकर आप की सामर्थ्य की परीक्षा करना चाहता था। आप को विस्मित तथा चिन्तित हुआ देखना चाहता था। आप पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था।

प्रभो ! आप अच्युत हैं। स्वयं भी आप कभी च्युत नहीं होते और अपने अनुगत भक्तों को भी च्युत होने से बचाते हैं। आप अपनी शरण में आये हुए अपने अनुगतों के सभी अपराधों को क्षमा कर देते हैं।

हे परमपिता ! आपने ही ऊँच नीच छोटे बड़े सभी जीवों को उत्पन्न किया है। गरुड़ आपके अनुगत भक्त हैं, यदि वे सर्पों को भक्षण करते हैं, तो इस में उनका क्या दोष ? आपने उनका आहार ही यह बना दिया है, उनके स्वभाव का निर्माण ही ऐसा किया है। इसी प्रकार मेरी उत्पत्ति ही रजोगुण से है। रजोगुण में अहंकार की प्रबलता तो होती ही है। रजोगुणी अपने को ही सर्व श्रेष्ठ समझता रहता है। मैंने जो भी किया अपने गुण के अनुरूप ही किया, किन्तु नाथ ! आप तो शरणागतवत्सल हैं। जैसे गौ अपने बच्चे के मैले को भी जिह्वा से चाट लेती है, उसी प्रकार आप अपने जनों के अपराधों की ओर ध्यान नहीं देते। छोटों का तो स्वभाव ही है भूल करना किन्तु बड़े उसे सुधार लेते हैं और छोटों के अपराधों की ओर ध्यान नहीं देते।

मैंने भूल से अज्ञान वश अपने को ही सबका जनक चराचर

का स्वामी मान लिया था। मैं समझता था मेरा नाम अज है मैं किसी से उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, मैं ही ब्रह्माण्ड का स्वामी हूँ, वेद-गर्भ—होने से मुझे ही सबका ज्ञान है, मैं ही सबका पितामह हूँ। जगत् का एकमात्र कर्ता मैं ही हूँ। मैं इसी तिमिरान्धकार में बहक गया। मेरे नेत्रों में तम रूपी सघन गहरा जाला छागया जिससे मैं विवेकको खो बैठा, मुझे सत् असत् का कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक नहीं रहा। इसीलिए ऐसा अक्षम्य अपराध मुझ से बन पड़ा। मैं अपने को ही स्वामी समझ बैठा अब आप मेरे अपराध को भूल जाइये। और यह सोच लीजिये कि मैं इसे इसके अपराध पर परित्याग कर दूँ तो यह अनाथ हो जायगा। यह मेरे ही कारण सनाथ है। यह मेरी कृपा का पात्र है। मुझे अपना अनुगत पुत्र समझकर मेरे ऊपर अनुकम्पा करें। मुझे अपने पाद पद्मों का किंकर समझ अनुग्रह भरी दृष्टि से मेरी ओर निहारें, मुझे अवलोकन करें। मैं अपने अपराध के लिये आप के चरणारविन्दों में बारम्बार क्षमायाचना करता हूँ। मुझे अपनी मूर्खता पर हार्दिक पश्चात्ताप है। मैंने आपको अपनी ही श्रेणी में समझ कर जो भी कुछ अपराध किया है उसके लिये मैं लज्जित हूँ। सोचिये तो कहाँ आप और कहाँ मैं ?

प्रभो ! घरों में वायु आने के लिये झरोखा-गवाक्ष होते हैं, उनमें से जब सूर्य की किरण आती है, तो असंख्यों छोटे-छोटे अत्यंत ही क्षुद्र परमाणु दिखाई देते हैं,उन परमाणुओंके सदृश भी मेरा अस्तित्व नहीं। जैसे अपने हाथों से सात विलस्तका—साढ़े तीन हाथ का—सब का शरीर होता है, वैसा ही अपने हाथों से सात विलस्तिका मेरा भी एक शरीर है। यह भू मंडल पंचशत कोटि योजन विस्तार का बताया गया है। इस भू मण्डल के चारों ओर इससे दशगुणा जल का आवरण है। जल से दश

गुणा अग्नि का, अग्नि से दशगुणा वायु का आवरण है, वायु से दशगुणा प्रकृति तत्व का आवरण है। यही सप्तावरण संयुक्त सात वितस्तिका एक ब्रह्माण्ड कहलाता है। जैसे मनुष्यों के शरीरों पर सात त्वचाओं के आवरण हैं, वैसे ही मेरे इस ब्रह्मांड रूप शरीर पर पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश महतत्त्व तथा प्रकृति रूप आवरण है। यह ब्रह्माण्ड ही मेरा शरीर है। जगत में एक ब्रह्माण्ड हो सो भी बात नहीं। आपके शरीर के रोमकूप के जो छिद्र हैं, उन प्रत्येक छिद्रों में इतने अगणित ब्रह्माण्ड फैल फूट कर स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं, जैसे घट के गवाक्ष से सूर्य की पड़ती हुई किरणों में असंख्य परमाणु दृष्टि गोचर होते हैं। आपकी एक साँस में एक ब्रह्माण्ड बनता है, दूसरी स्वास में बिगड़ता है, न जाने नित्य मेरे जैसे कितने ब्रह्मा आप के श्री अंग से बनते और बिगड़ते रहते हैं। कितने निकलते हैं, फिर उसी में विलीन हो जाते हैं। पानी के बुद् बुद् की तो कुछ स्थिति भी है, किन्तु आप के सम्मुख मेरे जैसे अगणित ब्रह्माण्डों की कोई स्थिति नहीं। ऐसी आप की महती महिमा के आगे मेरा यह वत्सहरण का प्रयास क्रीड़ा मात्र है।

हे देव! बालक जब गर्भ में रहता है, तो क्या गर्भ के भीतर वह माँ को कोई सुविधा देता है? सुविधा नहीं अनेकों असुविधा ही देता है। माता को भाँति भाँति से क्लेश पहुँचाता है। मान लो गर्भ में रहकर वह पैर उछालने लगे। इस बात का उसे विवेक ही नहीं मेरे इस कार्य से माता को कष्ट होगा, क्योंकि बालक होने से ऐसा करने को विवश है। यद्यपि बालक बार बार अपराध करता रहता है, किन्तु माता उधर ध्यान ही नहीं देती, गर्भगत बालक कभी अपराध भी कर सकेगा, ऐसी माँ को कल्पना तक नहीं होती। इसी प्रकार मैं भी आपके उदर के रोम कूपों में

विचरण करनेवाला एक बालक हूँ। सभी आप के ही तो बालक हैं। विश्व में ऐसा कोई वस्तु नहीं है जो अस्ति नास्ति का विषय हो। जिसे लोग यह है यह नहीं है इन शब्दों से व्यवहृत करते हों और वह आप के उदर में न हो। अर्थात् सभी कुछ आप के उदर में है। मैं भी आप का एक उदरस्थ शिशु हूँ। आप मेरे अपराध की ओर ध्यान कैसे देंगे। प्रभो! बच्चा उत्पन्न होता है, तो उसकी नाभि में एक डोरा सा लटका रहता है, उसको नार करते हैं सभी जीवों के छोटा बड़ा नार रहता है अतः उस लक्षण से नार जीवका भी नाम है। अयन-स्थान-आश्रय को कहते हैं, जीव का एक मात्र आश्रय-प्राप्य स्थान-रहने का अयन आप ही हैं। जीवों को क्रियाओं में प्रवृत्त करने वाले आप ही हैं। जीवों के अस्तित्व के एक मात्र साक्षी आप ही हैं, जीवों का आप के बिना कोई आश्रय नहीं, उनका कोई गति नहीं। नारके अर्थात् जीव के अयन अर्थात् आश्रय एक मात्र आप ही हैं-इसी लिये ऋषियों ने आप को ही नारायण नाम से सम्बोधन किया है। आप नारायण है, मैं जीव हूँ अतः आप मेरे ऊपर कृपा की दृष्टि कीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्रह्माजी ने भगवान् को अपना माता पिता जनक मान कर स्तुति की। आगे आपको नारायण बताकर जो क्षमा याचना की है उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

प्रभु सेवक सुत समुझि अज्ञता नाथ भुलावें।
भूत प्रकृति महतत्व आवरन आपु बनावें॥
ब्रह्मा अरु ब्रह्माण्ड रचैं पालैं संहारैं।
रोम रोम अज रुद्र बनावैं फेरि बिगारैं॥

पद प्रहार शिशु उदर में, जननी के पुनि पुनि करैं।
तऊ गिनत नहिँ मातु प्रभु, त्यों मम अघ हिय नहिँ धरैं॥

पद

कुटिलता कैसी मैंने कीन्हीं।
जो विश्वंभर विश्वनाथ विभु, तिनि महिमा नहिं चीन्हीं॥१॥कु०
पालैं रचैं हरैं जग छिनमें, तिनहिं परीच्छा लीन्हीं।
सुखतैं खात बाल बछरा सब, तिनकी प्रियता छीन्हीं॥२॥कु०
हौं अभिमानी अज अति ज्ञानी हरि हँसि शिक्षा दीन्हीं।
हो जग जननी परमपिता प्रभु, चरन शरन तव लीन्हीं॥३॥कु०

ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति (५)

[८७]

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-
मात्मास्य धीशाखिल लोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना-
त्तच्चापि सत्यं न तवैवमाया ॥ ❀

(श्रीभा० १० स्क० १४ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

जीवनि के तुम अयन नरायन नाम कहावें ।
आश्रय ईश्वर तुमहिँ नरायन वेद बतावें ॥
जल में श्री सँग बसो नरायन कहि उचारें ।
नारायन अघ हरन वेद सब शास्त्र पुकारें ॥
मायापति सब करि सकौ, नहीं असंभव कछु करम ।
कमलासन हौं अज्ञ जब, मोइ सिखाये सब धरम ॥

❀ भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे लोकसाक्षी भगवन् ! क्या आप नारायण नाम से प्रसिद्ध नहीं हैं ? क्या आप समस्त जीवों के आत्मा तथा अखिल जगत् के साक्षी होने से ही इस नाम से प्रसिद्ध नहीं हैं ? नर से उत्पन्न जल में निवास करने से जो नारायण हैं वह भी आपके अङ्ग हैं, किन्तु आप किसी एक देश में बँधे नहीं यह सब आप की माया है ।"

यह जगत् नारायण मय है, नारायण से ही इसकी उत्पत्ति है और नारायण में ही इसका पर्यवसान है, नारायण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। जो नारायण को भुलाकर कार्य करते हैं, वे चाहें साक्षात् चतुरानन ब्रह्मा ही क्यों न हों; उन्हे पीछे पछताना पड़ता है। अतः सर्वत्र नारायण दृष्टि रखने में ही श्रेय है, सर्वत्र नारायण को ही निहारने में कल्याण है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! लोक पितामह ब्रह्मा भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—"प्रभो! अन्य जीव तो आप के उदर में निवास हा करते हैं, मैं तो आप का साक्षात् आत्मज हूँ, आप से ही उत्पन्न हुआ हूँ आपका पुत्र हूँ। आप कहेंगे कि तुम तो अज हो तुम्हारा तो जन्म ही नहीं। सो, भगवन्! यह नाम मेरा औपचारिक है, इसका भाव इतना ही है, कि मेरी उत्पत्ति किसी साधारण पुरुष द्वारा नहीं हुई है। मैं जीवात्मज नहीं परमात्मज हूँ। आप तो मेरे माता पिता सब कुछ हो। मेरा नाम कमलासन प्रसिद्ध है। जब तीनों लोकों का नाश हो जाता है, सम्पूर्ण लोक जलमय बन जाते हैं और आप उस सम्पूर्ण प्रलयार्णव में शेष की शैया बना कर सो जाते हैं, उस समय चराचर विश्व आप के उदर में शयन करता रहता है। काल की प्रेरणा से आपकी नाभि से कमल उत्पन्न होता है, उसी कमल से मुझ ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। इस बात को सभी जानते और मानते हैं। यदि यह बात सत्य है, यदि प्रसिद्धि में कुछ तथ्य है तो मैं आपका पुत्र हुआ न? मेरे माता पिता जनक जननी [illegible] न? मैं नारायणाङ्गज हुआ न?

प्रभो! संसार में नारायण नाम से [illegible] प्रसिद्ध है। नारायण शब्द के अर्थ अनेक हैं। जितने ये जीव हैं अनन्त चराचर जीवों के समूह का नाम नार बताया गया है। ये जीव जहाँ रहते

हैं, सब जीवों का जो आश्रय निवास स्थान-अयन-हो वही तो नारायण है। इस दृष्टि से आप ही एकमात्र नारायण हैं। अथवा चराचर जीव ही जिसका अयन-निवास स्थान-हो वही नारायण है। इस दृष्टि से भी आप अन्तर्यामी रूप से सब जीवों में वास करते हैं, अतः नारायण नाम आप का ही सत्य है। अथवा समस्त जीवों की-अयन-अर्थात् प्रवृत्ति जो हैं, जीव सभी क्रियाओं में आप के ही कारण प्रवृत्त होते हैं।

अथवा अयन कहते हैं साक्षी को। जीवों केधर्माधर्म जितने भी कर्म हैं, सबके साक्षी-कर्मफल दिलाने देने वाले-आप ही हैं। आप ही सबको सूर्य बनकर देखते रहते हैं, कर्मों को फल दिलाते हैं। भाँति भाँति के भोग भुगाते हैं इसीलिए आप नारायण कहलाते हैं। अथवा नर कहते हैं परमात्मा को उससे उत्पन्न होने वाला नार कहलाता है। आप सर्व प्रथम आदि में जल को ही उत्पन्न करते हैं और उसमें फिर शेष शैया पर सोते हैं। वही जल आप का अयन निवास स्थान है इसलिये भी लोगबाग आपको नारायण नाम से पुकारते हैं। शेषशायी अथवा जल में निवास करने वाला जो आप का रूप है वह त्रिकालाबाधित सनातन तथा सत्य है, वह माया से परे हैं, वह कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता। इस प्रकार नारायण ही आज लकुट और वंशी लेकर इस,त्रिभुवन मोहन रूप से, श्री वृन्दावन धाम में विचरण कर रहे हो, ऐसे आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

स्वामिन्! जब मेरी उत्पत्ति आपके उदर से हुई और आपकी नाभि से उत्पन्न जो कमल है उस पर बैठकर जब मैं इधर उधर देखने लगा किन्तु मुझे कुछ भी दिखायी नहीं दिया, तब मैंने तर्क किया कि यह कमल कहाँ से निकला है इसकी उत्पत्ति का स्थान कहाँ है, चलकर इसे खोजना चाहिये। यही सोचकर मैं

उस कमल की नाल में घुस गया और सैकड़ों वर्ष तक खोजता ही रहा किन्तु आपके दर्शन मुझे नहीं हुए, जब मैं खोजते खोजते श्रमित हो गया और फिर आकर कमल पर बैठकर ध्यान करने लगा तो आपने तुरन्त मुझे अन्तःकरण में ही दर्शन नहीं दिये क्यों ? आप मेरे हृदय में प्रकटित हो ही गये। कुछ काल के पश्चात् आपका वह दिव्य अलौकिक रूप पुनः तिरोहित हो गया। उसके अन्तर्हित होने से हृदय में भी फिर मुझे दर्शन नहीं होने लगे। इससे प्रतीत होता है कि आप सब के भीतर बाहर में व्याप्त भी हैं और सबसे पृथक् भी हैं। हे नारायण ! आपकी ही ऐसी अलौकिक सामर्थ्य है।

प्रभो ! यह जगत् जैसा बाहर दिखाई दे रहा है,वैसा ही आप के भीतर भी है। बाहर जो अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज जीव समूह दिखायी दे रहे हैं। वे ही सब ज्यों के त्यों जैसे के तैसे आपके उदर में भी विद्यमान हैं। यह कोई कल्पान्तर की बात नहीं बहुत पुरानी कहानी भी नहीं। इसी श्रीकृष्णावतार में आपने अपनी माता यशोदा मैया को अपने मुख में विश्वरूप का दर्शन कराया था। यदि सम्पूर्ण विश्व आपके उदर में न होता तो आप दिखाते कैसे ? इससे प्रतीत होता है। कि यह सब आपकी माया का पसारा है, आपकी अनिर्वचनीय शक्ति के द्वारा ही यह सब भीतर बाहर भासित हो रहा है। आपके लिये कुछ भी संभव असंभव नहीं। आपके लिये कुछ भी बाहर भीतर नहीं क्योंकि आप नारायण हैं, मायापति हैं, माया के नाशक हैं। माया का दमन करने वाले हैं। अतः आपके पादपद्मों में प्रणाम है।

प्रभो ! पिछली बात जाने दें, आपने तो अभी मुझे अपनी अलौकिक शक्तिमयी माया दिखाकर आश्चर्य चकित बना दिया। आप जब ग्वाल बालों के सहित भोजन कर रहे थे तब मुझे मोह

हुआ, मैं आपका यथार्थ स्वरूप न समझ सका। मैं समस्त ग्वाल बालों को तथा चरते हुए बछड़ों को चुरा ले गया और अपनी माया से उन्हें अचेत करके ज्यों का त्यों सुला दिया उस समय आप अकेले ही थे। एकाकी वन में विचर रहे थे, किन्तु एकाकी रमण तो होता नहीं आप ठहरे राधारमण। अतः आप ही समस्त ग्वाल बाल बछड़े भी बन गये। एक होकर भी बहुत हो गये। मैंने आकर देखा तो आप फिर वैसी ही क्रीड़ा कर रहे हैं मेरे दुर्व्यवहारसे आपकी क्रीड़ा में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा है, आपके खेल में कुछ भी व्यवधान नहीं आया है, वैसे ही छोटे बड़े, हँसौड़ रिसौर, मोटे पतले, ग्वाल बाल वैसा ही उनका रूप रंग वैसा ही चलन, उठन, बोलन, हँसन, वैसा ही वेश, वैसे ही वस्त्र, वैसा ही स्वभाव, वैसे ही बछड़े। वैसी क्रीड़ा, वैसा ही हास परिहास, मैं तो देखकर चकित हो गया। मुझे संदेह हुआ कि कहीं वे ही तो नहीं आ गये। वहाँ जाकर देखता हूँ तो वे सबके सब ज्यों के त्यों ही अचेत पड़े हैं। तब तो मैं निर्णय ही न कर सका (इनमें कौन यथार्थ हैं कौन बनावटी हैं ।' मैं फिर आया तो क्या देखता हूँ सबके सब चतुर्भुज हैं। बालक बछड़े सभी शंख, चक्र, गदा पद्मधारी वनमाली हैं। मेरे समस्त तत्व उनकी उपासना कर रहे हैं। फिर मैंने देखा अनेकों ब्रह्माण्ड हैं उनमें अनेक ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं अनेक इन्द्रादि देव हैं। सभी लोकों में आपकी एक सी लीला हो रही है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड आपके एक एक रोम कूप से निकल रहे हैं। आप ही उन सब ब्रह्माण्डों में ओत प्रोत हैं। जैसे महा पर्वत से अनन्त धारायें एक साथ निकल रही हैं, तथा अनन्त सागर में वे सभी नदियाँ एक साथ ही बड़े वेग से गिर रही हैं किन्तु इतनी नदियों के गिरने से भी समुद्र में कोई क्षोभ नहीं, कोई चंचलता

नहीं, कोई घटाव बढ़ाव नहीं। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डों के निकलने और पुनः प्रवेश करने से आपके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं। आप ज्यों के त्यों क्रीडारत बने हुए हैं, मानों कुछ हो ही नहीं रहा है।

जब मैं यह दृश्य देखकर संभ्रम में पड़कर आश्चर्य चकित हो गया भयभीत होकर इधर उधर निहारने लगा, तो आपकी इच्छा शक्ति से वह सब दृश्य क्षण भर में अदृश्य होगया। मैंने क्या देखा आप वही दधि भात का कौर लिये, लठिया बगल में दाबे, वंशी कटि में खुरसे एकाकी अपने बछड़ों को खोज रहे हैं। न ग्वाल हैं, न बाल हैं न बछड़े हैं केवल आप ही आप हैं। इन सब बातों से मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, कि आप ही स्वयं साक्षात् कोटि ब्रह्माण्डों के नायक, अनेक त्रिदेवों के उद्गम स्थान, स्वयं ही साक्षात् श्रीमन्नारायण नन्दनन्दन यशोदानन्द वर्धन राधारमण हैं, अतः आपके पादपद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ब्रह्माजी स्तुति करने लगे वे और भी आगे स्तुति करेंगे उसका वर्णन मैं अब करूँगा, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भीतर बाहर आपु एकरस सब थल व्यापक ॥
जननि दिखायो विश्वरूप मुख महँ जब बालक ।
अरुई अचरज करयो मोह मम नाथ मिटायो ॥
एक प्रथम बहु बने विष्णुमय सकल दिखायो ॥
पृथक पृथक् ब्रह्माण्ड में, लखे चराचर जीव सब ।
यों सब कछु दिखायकें, शेष रहे प्रभु एक अब ॥

पद

नाथ ! नारायन नाम तिहारो ।
उदर समेंट सकल जग सोओ सबकूँ फेरि निकारो ॥१॥
तुमरे नाभि कमल तें का हरि भयो न जनम हमारो ।
माता पिता सबहिं विभु मेरे सब अपराध बिसारो ॥२॥
आदि अन्त जब मोइ न दीख्यो ढूँढ़त ढूँढ़त हारो ।
हिय में दरसन दये दयानिधि माया मोह बिदारो ॥३॥
विश्वरूप माता कू मुख में दीख्यो जब मुँह फारो ।
बछरा बालक सब में दीखत प्रभु अब मोइ उबारो ॥४॥

ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नंदनंदन की स्तुति (६)

(८८)

अजानतां त्वत्पदवीमनात्म—
न्यात्मात्मना भासि वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥*

(श्री भा० १० स्क० १४ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

हरि हर अज थिति प्रलय प्रकट हित तीन बतावें ।
किन्तु आपु ई एक बनावें पालि मिटावें ॥
आपु अजनमा अलख तदपि अवतार धरें हरि ।
सुर, ऋषि, नर, जल जीव, माहिँ प्रकटैं करुनाकरि ॥
योगेश्वर व्यापक परम, तनु धरि जो लीला करें ।
जीव जगत में कौन जो, मरम जथारथ हिय धरें ॥

---

* ब्रह्मा जी भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे नाथ! जो लोग यथार्थ में आपकी महिमा को अज्ञतावश नहीं जानते, ऐसे पुरुषों को

जितना भी हमें जो नानात्व दिखायी दे रहा है, सब अज्ञान के ही कारण दीखता है। वे सर्वसमर्थ सच्चिदानन्द विभु एक हैं, अद्वय हैं। अनामय हैं, प्रपंच से रहित हैं। अपनी क्रीड़ा के लिये, लीला के लिये, विनोद के लिये, बहुरूप से दिखायी देने लगते हैं फिर अपनी इच्छानुसार ज्यों के त्यों एक ही हो जाते हैं,हो क्या जाते हैं एक तो वे हैं ही। भ्रमवश मोहमें पड़कर प्राणी अनेक समझ लेता है। जब वे ही माया के परदे को हटा देते हैं, तो उनका यथार्थ दर्शन होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आगे स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"प्रभो! आप अपनी योगमाया का परदा डाल कर आँख मिचौनी का खेल खेलते हैं। अपनी योगमाया से समावृत होकर सबके सम्मुख प्रकाशित नहीं होते। जो लोग माया मोहित हैं। अज्ञान में फँसे हैं वे कहते हैं। सृष्टि रचने का कार्य तो चतुर्भुज विष्णु के ऊपर है। संहार त्रिनयन रुद्र करते हैं। वे सृष्टि स्थिति और प्रलय के लिये पृथक् पृथक् तीन देवों को बताते हैं। वे अज्ञानी इस नाशवान देह को ही आत्मा बताते हैं, वे अनात्म में आत्म भाव रखने वाले भला आपकी पदवी को कैसे प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु जो तत्त्वज्ञ हैं आपके अनन्य भक्त हैं। आपके पादपद्मों में अनुरक्त हैं। वे जानते हैं कि सृष्टि भी आप ही करते हैं, उसका पालन भी आप ही करते हैं और अन्त में प्रलय भी आपके ही द्वारा होती है। आप समस्त

यही मान होता है, कि ब्रह्मा सृष्टि करते, विष्णु पालन और रुद्र संहार करते हैं, क्यों कि आत्मस्वरूप आप अनात्म में स्थित हो कर उनकी बुद्धिपर माया का पर्दा डाल देते हैं। वास्तव में सब कुछ आप ही करते हैं।

देव, प्रजापति, मनु तथा चराचर प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से नित्य रहते हैं।

प्रभो ! यद्यपि आप का जन्म नहीं आप अजन्मा हैं, आप उत्पत्ति विनाश से रहित हैं, तथापि अपने अनन्य एकनिष्ठ साधु भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त तथा गो ब्राह्मण और देवों को दुख देने वाले दुष्टों के दमन के निमित्त आप त्रिविध योनियों में नाना अवतार भी धारण करते हैं और उन्हें अपने देव दुर्लभ दर्शनों से कृतार्थ करते हैं। आपने मानव योनि में ही अवतार धारण किये हों सो भी बात नहीं। आप देवताओं में उपेन्द्र बनकर प्रकटे। असुरराज बलिको छल कर उसका सर्वस्व दान में माँगकर अपने बड़े भाई इन्द्र को सौंप दिया, आप उनके सहायक इन्द्र-उपेन्द्र-बनकर जगत् का कल्याण करते रहे। ऋषियों में भी आपने नर नारायण तथा परशुरामादि अवतार धारण किये, जिसमें तपस्या का आदर्श उपस्थित किया तथा राज्यमद और धनमद में दुर्मद बने साधु ब्राह्मण तथा देवताओं का अपमान करने वाले क्रूरकर्मा क्षत्रियों का संहार किया। मानव योनि में राम, कृष्ण, बलराम तथा बुद्धादि रूप से प्रकट हुए जिनमें आपने धर्म की स्थापना की तथा संसार के सम्मुख सुखद आदर्श उपस्थित किया। करुणा की सरिता बहाई, माता को मुझे तथा समस्त ग्वाल बाल तथा ब्रजवासियों को अपनी महिमा जताई। अपने बल पराक्रम को प्रकट किया पाखंडियों के मद को मर्दित किया।

भगवन् ! आपने मनुष्य तथा ऋषि योनियों में ही अवतार धारण किया हो सो बात नहीं, आप तो पशुयोनि में भी उत्पन्न हो जाते हैं पशुओं में गौ आदि श्रेष्ठ पूजनीय पशु में ही नहीं, शूकर भी बन जाते हैं. आधे नर आधे पशु ऐसा नृसिंहा-

वतार भी ले लेते हैं । जलचर जीवों में कच्छ मच्छ बन के साधुत्राण तथा दुष्ट दमन का कार्य करते हैं। आपके ये कार्य साधुपरित्राण तथा दुष्टों को दण्ड देने के निमित्त हुआ करते हैं ।

हे भूमन् ! हे सर्वाधिप ! आपसे अधिक बड़ा छोटा कोई है केही नहीं । आप सबकी पराकाष्ठा हैं । हे भगवन् ! आप ही ज्ञान निधि हैं. आप ही सर्वाधिक बलशाली हैं. आप ही अपार ऐश्वर्यशाली हैं, आप से बढ़कर वीर्यवान् कोई नहीं । समस्त शक्ति के समूह, उद्गमस्थान आप ही हैं,समस्त तेज के पुंज, सम्पूर्ण तेजों की खानि आप ही हैं । हे परमात्मन् ! तीनों लोकों में दृष्ट श्रुत ऐसी कोई वस्तु नहीं जहाँ आप विद्यमान न हों, आप अन्तर्यामी हैं । आप की महिमा आप ही जान सकते हैं । त्रिलोकी में ऐसा कोई नहीं है, कि आप की महिमा को पूर्णरीत्या समझ सके। जिस काल में आप अपनी योगमाया का विस्तार करते हैं, और क्रीड़ा करने लगते हैं, उस समय यह कोई जान नहीं सकता कि किस स्थान पर आप कब क्या करेंगे, आप अमुक कार्य को किसे उपलक्ष्य बनाकर किस प्रकार करेंगे ।

आप उसे कितनी मात्रा में कब तक करेंगे । आपकी क्रीड़ा की अवधि कब तक होगी । क्योंकि आप अद्वय हैं, सत्य संकल्प हैं आपको क्रीड़ा के लिये पहिले से उपकरण जुटाने की आवश्यकता नहीं होती । अपनी इच्छा से स्वतः ही जब इच्छा होती है क्रीड़ा करने लगते हैं, जब इच्छा होती है उसका पर्यवसान कर लेते हैं।

प्रभो ! यह जो हमें दृश्य जगत् दिखायी दे रहा है, इसके जो ये पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे सब वास्तव में कुछ हैं थोड़े ही । जैसे घरके भीतर मनुष्य सोते सोते स्वप्न में बड़े बड़े पहाड़ देखता है, लम्बी चौड़ी जल से परिपूर्ण नदियों को देखता है, हाथी

घोड़ा और न जाने क्या क्या देखता है। जिस समय स्वप्न में उसे ये पदार्थ दिखाई देते हैं, उस समय उसे ये सभी पदार्थ पूर्ण सत्य से लगते हैं, सिंह को देख कर भयभीत भी होता है, प्रिय पदार्थ के प्राप्त होने पर प्रसन्न भी होता है, किन्तु निद्रा भङ्ग हो जाने पर न वहाँ नदी रहती है न पहाड़। न सिंह न हाथी। जैसे वे स्वप्न के पदार्थ निद्रा काल में सत्य प्रतीत होते थे, वैसे ही अज्ञानावस्था में ये संसार के सभी पदार्थ सत् से प्रतीत होते हैं,वास्तव में ये सत्य नहीं। स्वप्नोपम पदार्थों के तुल्य हैं। यह जगत नित्य भी नहीं अपरिवर्तनशील भी नहीं। अनित्य है, क्षणभंगुर है, परिवर्तन शील है। यह अज्ञान को बढ़ाने वाला है, बुद्धि के विवेक को ढकने वाला है और इसमें जितने ही फँसते जाओ, इसे सत्य मानकर जितने ही इसकी ओर आकर्षित हो,उतने ही दुखी बनोगे यह जगत् दुःख को उत्तरोत्तर बढ़ाने वाला ही है। यद्यपि यह मायाकृत है, अचेतन जड़ तथा दुःखालय है, फिर भी आप की इच्छा से उत्पन्न हुआ है। आप ही इसके उत्पन्न करने वाले हैं और आप हैं ज्ञानानंद स्वरूप। अतः आपके संसर्ग-से आपके सम्बन्ध-से आप के आभास से अज्ञानी जनों को नित्य, सत्य और अविनाशी-सा प्रतीत होता है, तभी तो वे संसार में नाना क्लेशों को सहते हुए, भाँति भाँति के कष्टों को उठाते हुए, इसे छोड़ना नहीं चाहते। उनको यह सत्य के ही समान प्रतीत होता है और इसी में सुख की खोज करते रहते हैं। आपके यथार्थ स्व रूप को वे नहीं जानते।

आप तो भगवन ! एक हो, अद्वितीय हो। आपके समान ही जब कोई नहीं, तो आप से बड़े की तो कल्पना ही नहीं। आप अपने समान आप ही आप हो। आप आत्म स्वरूप हो। चराचर विश्व में निरन्तर निवास करते हो। आप

प्राणियों के आत्मा आप परमात्मा को-जो पुरुष गुरु रूप सूर्य के प्रकाश में,ज्ञान रूपी नेत्रोंसे निहारते हैं वे इस असत् संसार सागर को बात की बात में सुगमता से पार कर जाते हैं,ऐसे ज्ञान विज्ञान स्वरूप नित्यनिरंजन,निराकार,जगदाधार,विश्वम्भर, विश्वनाथ आप विभु के पाद पद्मों में मेरा बारंबार नमस्कार है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ब्रह्माजी ने भगवान् नंदनंदन की स्तुति की, अब वे जो स्तुति करेंगे, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

स्वपन सरिस संसार सत्य सम सबहि लखावे।
है असत्य पर सत्य आपके संग दिखावे॥
आपु एक, सत, स्वयं प्रकाशित, नित्य, निरंजन।
सुख स्वरूप, परिपूर्न, निरन्तर, भवभय भंजन॥
करें प्रकाशित सूर्य जिमि, देहिं ज्ञान गुरुवर जथा।
भ्रम भगि जावै ज्ञानतें, रहै न अहि रज्जु यथा॥

पद

नाथ ! तव मायागति को जाने।
भ्रमवश भ्रमै भयंकर भयमें, आत्मा नित्य न माने॥ १॥
पुरुष पुरान प्रकाशक प्रभुजी, व्यापक वेद बखाने।
मिले जुले सत और असत से, पुरुष नहीं पहिचाने॥ २॥
सुख दुख पुन्य पापतें न्यारे, हो तुम पुरुष पुराने।
जे सब तजि प्रभुपद आराधें, ते हैं परम सयाने॥ ३॥

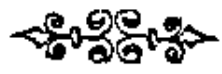

ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नंदनंदन की स्तुति (७)

[८६]

आत्मानमेवात्मतयाविजानताम् ,
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते,
रज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १४ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

जहँ तक है संसार मोक्ष बन्धन सब सम हैं ।
रविमें नहिँ दिन रैन ब्रह्ममें नहिँ तमभ्रम हैं ॥
कहाँ बन्ध कहँ मोक्ष आतमा सबतें न्यारो ।
सतचितआनँदरूप कहाँ अज्ञान विचारो ॥
जानि आतमा और कछु, औरनि आत्मा मानिकें ।
इतउत नित खोजत फिरत, सत्य असत्यहिँ जानिकें ॥

जब असत् में सत् बुद्धि हो जाती है, तभी कुछ का कुछ दिखायी देने लगता है, ऐसी असत् प्रतीति तम अन्धकार के

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"प्रभो ! यह सम्पूर्ण प्रपञ्च अज्ञान से ही प्रतीत हो रहा है, क्योंकि आत्मरूप से आत्मा को

कारण होते हैं। सूखे वृक्ष का ठूँठ खड़ा है, यदि पूर्ण प्रकाश है तब तो उसका यथार्थ बोध होगा; ठूँठ ही दिखाई देगा, किन्तु यदि तम है अन्धकार है, तो कुछ का कुछ दिखाई देने लगता है, उसमें भूत की कल्पना होती है, भय प्रतीत होता है, भय से काँपने लगता है, किसी किसी को तो मिथ्या भ्रम के कारण मृत्यु ही हो जाती है। इसी प्रकार जीव इन अनित्य क्षणभंगुर नाशवान भोग पदार्थों को सत् मानकर उन्हें सुख का सर्वोत्तम साधन मानकर संग्रह के निमित्त दौड़ता है, किन्तु उनसे मिलता है क्लेश ही।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"प्रभो! आप सर्वान्तर्यामी हैं, जो लोग आप परमात्मा को सर्वव्यापक रूपसे नहीं मानते, उन्हें इसी अज्ञान के कारण पुनः पुनः इस प्रपञ्च की प्राप्ति होतीहै, अर्थात् वे जन्म और मरण के चक्कर में सदा फँसे रहते हैं। जब ज्ञान हो जाता है तब इस संसार का पता भी नहीं चलता। जैसे प्रकाश के आने पर अंधकार अपने आप विलीन हो जाता है। तीव्र प्रकाश को लेकर कोने कोने में खोजने पर भी कहीं छिपा हुआ अंधार नहीं मिलता। उसका सर्वथा अदर्शन हो जाता है। अंधकार में टेढ़ी मेढ़ी रस्सी पड़ी हुई है। दूर से वह सर्प-सी प्रतीत होती है, उसके कारण भय भी होता है, रोमाञ्च भी होते हैं, शरीर काँपने लगता है, किन्तु प्रकाश होने पर उसमें से सर्प भग जाता है, भग क्या जाता है, सर्प का भ्रम निवृत्त हो जाता है। प्रकृति का स्व-

---

लोग जानते ही नहीं। जहाँ अनात्म पदार्थों में आत्मा ही दीखने लगे वहाँ सब विलीन हो जाता है, जैसे अँधेरे में टेढ़ी रज्जु में सर्प की भ्रांति हो जाय, तो सर्प को भगाने को यत्न नहीं करना पड़ेगा। भ्रम के दूर होते ही वहाँ सर्प का अस्तित्व ही न रहेगा।'

रूप बिना जाने ही हम बंधन में बँध जाते हैं। संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर फिर संसार बाधक न होकर साधक बन जाता है, आकर्षक न होकर हेय हो जाता है। अब तक जिन पदार्थों को सुख स्वरूप-भोगने योग्य-माने बैठे थे, वे ही स्वरूप ज्ञान होने पर दुःखरूप प्रतीत होते हैं उनमें भोग्यबुद्धि नष्ट हो जाती है। जितना भी बन्धन है सब अज्ञान के ही कारण है, ज्ञानस्वरूप आपको जान लेने पर बंधन रहता ही नहीं।

भगवन्! आप द्वन्द्व रहित हैं, यह सम्पूर्ण संसार द्वन्द्व पर ही अवलम्बित है। जैसे सुख दुख, पुण्य पाप, ग्राह्य त्याज्य, हेय उपादेय, यावन्मात्र जगत् में जोड़ा हैं, मिथुन हैं, पक्ष विपक्ष हैं, ये सब अज्ञान में ही कल्पित हैं, आप निर्द्वन्द्व हैं, परम सत्यस्वरूप हैं, ज्ञान घन है, आप में न बंधन है न मोक्ष। जहाँ बंधन होगा, वहीं तो मोक्ष की कल्पना की जायगी, किन्तु आप दोनों से अतीत हैं। क्यों कि आप अद्वितीय हैं, अखण्ड चैतन्य स्वरूप हैं। आप अद्वय, एकरस ब्रह्म में बन्ध और मोक्ष की कल्पना उसी प्रकार है, जिस प्रकार सूर्य में दिन और रात्रि की कल्पना। लोग कहते हैं, सूर्य अस्त हो गये, रात्रि हो गई। सूर्य उदय हो गये, दिन हो गया। वास्तव में न तो सूर्य कभी अस्त होते हैं, न उदय ही होते हैं, तम के कारण वे दिखाई नहीं देते, तब लोग उसे रात्रि कहने लगते हैं तम हटने पर उसे दिन कहने लगते हैं। तम के ही कारण दिन और रात्रि की कल्पना है। इसी प्रकार अज्ञान मूलक ही बन्धन मोक्ष हैं, आप अखंड परिपूर्ण में बन्धन कहाँ?

स्वामिन्! आपकी माया अपरम्पार है। आपने यह माया का कैसा मोहक जाल फैला रखा है। ये बिचारे भोले भाले अज्ञानी जीव कैसे भ्रम में पड़े हुए हैं, कितना अज्ञान का पर्दा इनकी दृष्टि पर पड़ गया कि आप सबके घट घट में व्याप्त हैं, सब के समीप

हैं, सब से निकट हैं, किन्तु आपको वे कुछ अन्य ही जानते हैं। और शरीर, घर पति, पत्नी, पुत्र धनादि जो अनात्म वस्तु हैं, उन्हें आत्मा मानते हैं। देह को ही आत्मा मानकर फिर आप परमात्मा को बाहर खोजने के लिये इधर उधर भटकते रहते हैं। किन्तु प्रभो! जो संत जन हैं, आपके अनन्योपासक भक्त हैं, वे बाहर खोजने नहीं जाते। वे पहिले इन संसारी पदार्थों का ही विवेचन करते हैं। हम जो घर में, परिजनों में, धन में मेरा मेरा कहते हैं, इनमें मेरापन क्या है, विचार से प्रतीत होता है, मेरा उसमें कुछ नहीं है, फिर हम इस अनित्य नाशवान शरीर में अहं भाव किये हैं, इसमें अहं करके कौन पदार्थ लिया जायगा। इस प्रकार वे सभी अनात्म पदार्थों का परित्याग करते करते अंत में अन्तःकरण में विराजमान आपको जानते हैं। जैसे टेढ़ी मेढ़ी रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हुई, तो बिना विचार के बिना प्रकाश के बिना सद् असद् के विवेक के,वह भ्रांति थोड़े ही जा सकती है। प्रकाश भी आगया और हमने आँखें मीचलीं, तो भी भ्रम दूर न होगा। आँखें भी खोललीं और विचार नहीं किया, तो भी भ्रम दूर नहीं हो सकता। प्रकाश में हमें विचार करना होगा, सर्प के तो फण होता है, इसमें तो फण नहीं। सर्प सांस लेता है यह सांस नहीं लेता। शब्द सुनकर सर्प रेंगने लगता है, यह तो रेंगता नहीं। सर्प में तो चैतन्यता है यह जड़ है। इस प्रकार सत् रस्सी में असत् सर्प का बोध करते करते सर्प को भगाना नहीं होगा, रस्सी कहीं अन्यत्र से लानी न होगी। वही वस्तु जिसे अब तक भ्रमवश सर्प समझकर भयभीत हो रहे थे, उसे ही उसी स्थान पर "रस्सी है", ऐसा निश्चय करना होगा। ऐसा निश्चय करते ही सर्प का वहाँ अस्तित्व समाप्त हो जायगा। इसके लिये केवल ज्ञान वैराग्य और विवेक की आवश्यकता है।

इतना सब हो
हो सकता। मान
जब तक आपकी
दृष्टि नहीं होती त
आपके पुनीत पा
आपके युगल च
प्राप्त हो चुका है,
है। आपकी कृपा
बिना निर्वाह नहीं
आपकी अनुकम्प
कहकर वरण कर
रिक्त अन्य कोई
कितने भी काल
करता रहे आपक
दुष्कर है दुस्सा

अतः नाथ !
अन्त तो मैंने दे
शाली समझता
अनेकों स्वामी
लते और विलो
चाहिये। अब त
आपके चरणकम
चाहना तो यही
हो जाय। इसी
ऐसा संभव न ह
में, किसी अन्य

ने पर भी प्रभो ! यह ज्ञान सभी को प्राप्त नहीं
अपने प्रयत्नों से कितने भी साधन क्यों न करे,
अनुकम्पा नहीं होती, जब तक आपकी दया
तक ऐसा ज्ञान होना संभव नहीं। जिसने
पों का आश्रय ग्रहण कर लिया है, जिन्हें
णकमलों का यत्किञ्चित्—लेशमात्र—भी अनुग्रह
वही आपकी महती महिमा का तत्व जान सकता
के बिना दूसरा सहारा नहीं, आपकी अनुग्रह
। आपकी दया दृष्टि की वृष्टि हुए सरसता नहीं।
बिना अन्य अध्वा नहीं। आप जिसे अपना
लें, वही आपका पता पा सकता है। इसके अति-
कितने भी प्रयत्न करे, कितनी भी दौड़ धूप करे,
तक भटकता फिरे, कितने भी समय तक खोज
पता पाना असंभव है, आपको जान जाना
य है।

अब मुझे और कुछ नहीं चाहिये। ऐश्वर्य का
लिया। मैं अब तक अपने को ही परम ऐश्वर्य
था, किन्तु अब मैंने देखा मेरे जैसे ब्रह्माण्डों के
आपके एक एक रोम कूप से निरन्तर निक-
होते रहते हैं। अतः मुझे अब ऐश्वर्य नहीं
मैं दास्य का भिक्षुक हूँ। मैं परम सौभाग्यशाली
लों का अकिंचन भक्त बनना चाहता हूँ। मेरी
है, कि इसी ब्रह्मा के शरीर से मुझे भक्ति प्राप्त
व्रज मण्डल में मुझे कहीं स्थान मिल जाय। यदि
, तो इस जन्म में न सही किसी दूसरे ही जन्म
स्थान में ही मुझे भक्ति हो जाय। मेरी भी गणना

आपके दासों में हो जाय। मुझे यह भी चाह नहीं कि ब्रह्मा, देव उपदेव या मनुष्य योनि में ही होऊँ। पशु, पक्षी, वृक्ष किसी भी योनि में उत्पन्न होऊँ, किन्तु आपका अनन्य शरणागत भक्त होकर आपके चरणारविन्दों की सेवा में ही सदा संलग्न बना रहूँ। मेरी गणना आपके आश्रित दासों में हो सके। आपके दासत्व को छोड़कर फिर चाहें ब्रह्मा से भी बड़ा कोई पद क्यों न हो, मैं उसकी भी लालसा नहीं करता। जिस पद में आपका सहवास न हो, आपकी सेवा का अवसर न प्राप्त हो सके, उस पद को मैं श्रेष्ठ से श्रेष्ठ होने पर भी परम हेय समझता हूँ। मैं तो इन व्रज की अनपढ़ भोली भाली व्रजाङ्गनाओं के भाग्य की सराहना करता हूँ, जो आपको सदा प्यार करती हैं, दुलार करती हैं,पुचकारती हैं, चुचकारती हैं, कपोलों पर चपत लगाती हैं, चुम्बन लेती हैं, कस कर छाती से चिपटाती हैं और आप भी जिनकी गोद में बैठकर सिहाते हैं, सुख पाते हैं, तृप्ति का अनुभव करते हैं।

वैसे तो प्रभो! आपको कौन पा सकता है, कौन आपको तृप्त कर सकता है। अब तक इतने विधि विधानपूर्वक यज्ञयाग हुए हैं, किन्तु वे यज्ञयाग आपको पूर्ण तृप्त कर ही सके हैं ऐसा कोई कह नहीं सकता। आप आप्तकाम परिपूर्ण की किसी यज्ञादि साधन द्वारा तृप्ति हो ही जाय यह संभव नहीं। आप यज्ञों में भरपेट खाकर अघा ही जाते हों, सो भी बात नहीं। जो यज्ञ अविधिपूर्वक किये गये हों, दम्भ से, अभिमान से, द्वेषपूर्वक ईर्ष्यादि से जो यज्ञ किये जाते हैं; उनमें आप जाते भी नहीं। बहुत से यज्ञों में जाते हैं, तो वहाँ खाते भी नहीं, बहुतों में खाते भी हैं, तो केवल सूँघकर चले आते हैं, किन्तु इस व्रज में तो मैंने प्रत्यक्ष देखा आप असंख्यों ग्वाल बाल बछड़े बन गये और गोपियों तथा गौओं के स्तनों को अपने मुख में दबाकर चुसर चुसर करके दूध पीते थे।

गौएँ या गोपियाँ और पिलाती तो आप मुँह फेर लेते और कहते बस, अब तृप्त हो गया, पेट भर गया। यहाँ तो एक दिन नहीं नित्य ही आप तृप्त होते थे। जो व्रज की गोपाङ्गनायें तथा गोएँ आप अतृप्त तो तृप्त कर सकीं, उन व्रज की गोपियों और गौएँ के भाग्य की महिमा कैसे वर्णन की जा सके ? जिनके दूध को आप उमंग के साथ पीकर किलकारियाँ मारने लगते थे, उन गो गोपियों की सराहना किन शब्दों में की जाय ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ब्रह्माजी ने व्रज की गोपियों और गौओं की प्रशंसा की आगे वे जैसे व्रजवासियों के भाग्य की प्रशंसा करते हुए स्तुति करेंगे, उस कथा प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

हिये माहिं हरि बसैं सन्त बाहर नहिं भटकैं।
असतनि में नहिं फँसैं नहीं भव अटवी अटकैं॥
कृपा करें करुनेश भक्त प्रभु-पद-रज पावैं।
खोजत सतत अभक्त ध्यान तिनके नहिं आवैं॥
दया दयालो करहिं जिह, हौं दासनि को दास तव।
जिनि पय पी भेप्रभु मुदित, धन्य धेनु व्रज बधू सब॥

पद

भक्त ही जाने महिमा तुमरी।
प्रभु प्रसाद पायो जिनि जीवनि, तिनिकी सबई सुधरी॥१॥
तजि तव भक्ति भ्रमैं इत उत नित, कहत बुद्धि बड़ हमरी।
खोजत भ्रमत थकित तजि प्रभु पद, तिनि की सब विधि बिगरी॥२॥
स्वयं फँसे जग जाल बनायो, जैसे जालो मकरी।
तोरो जाल कृपा करि केशव प्रभु पद डोरी पकरी॥३॥

ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नन्दनन्दन की स्तुति(८)

(९०)

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्मसनातनम् ॥

(श्री भा० १० स्क० १४ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

व्रजमंडल के धन्य चराचर नर पशु प्रानी ।
जिनि के बनि हरि मित्र करें क्रीड़ा मन मानी ॥
हौं व्रज में बनि जाउँ वृक्ष बल्ली बनचारी ।
प्रभु पद-रज तनु परै कृतारथ करिवेवारी ॥
व्रजबासिनि के भाग्य की, महिमा अपरंपार है ।
ब्रह्म जहाँ बालक बन्यो, विहरै करत सम्हार है ॥

सर्व व्यापक भगवान्-अनामी भगवान्-का न कोई एक नाम है,न कोई एक रूप । सभी नामों से वे ही बोले जाते हैं,सभी रूपों से वे ही देखे जाते है । इसका अर्थ यह भी है कि वे नाम रूप

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते है—"अहा ! इस नन्द जी के व्रज में रहने वाले इन व्रजवासियों के धन्य भाग्य हैं, अत्यंत ही अहो भाग्य हैं, जिनके मित्र परमानंद रूप सनातन पुरुष पूर्ण ब्रह्म स्वयं साक्षात् श्री कृष्ण हैं ।

से रहित हैं। फिर भी भगवान् के कुछ उपासना के निमित्त निश्चित स्वरूप हैं। भगवान् का नाम भी भगवान् के ही समान चैतन्यघन है। नाम में और भगवान में कोई अन्तर नहीं। इसी प्रकार भगवान में और भगवान् के रूप में अभेद है, भगवान् की लीलायें भी भगवान् के सरिस ही चैतन्य और आनंददायिनी हैं। इसी प्रकार भगवान के ही समान भगवान् का धाम है। भगवान् में और भगवत् धाम में कोई अंतर नहीं। नाम, रूप और लीला तो ऐसी हैं कि कभी विस्मृत भी हो सकती हैं, किन्तु भगवान् के धाम में अनन्य आश्रय होकर पड़ ही जाय, तो इसी भावना से उद्धार हो जायगा। इसीलिए धाम की महिमा सबसे अधिक बतायी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् नंदनंदन की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"प्रभो ! अब तक मैं यही समझता था, कि मनुष्यों से बढ़कर भाग्यशाली देवता हैं, जो स्वर्ग सुखों का स्वच्छन्द होकर उपभोग करते हैं,उनसे भी बढ़कर भाग्यशाली महर्लोक के महर्षि गण हैं, जो सदा आदर्श महिमा में निरत रहते हैं, उनसे भी बढ़कर जनलोक निवासी ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं, जिन्होंने कभी विषय भोगों का अनुभव ही नहीं किया। उनसे भी बढ़कर तपलोक निवासी ऋषि गण भाग्यशाली हैं, जो अहर्निशि तप में ही संलग्न रहते है। उनसे भाग्यशाली सत्यलोक निवासी हैं,जो सभी द्वन्द्वों ऐषणाओं इच्छाओं से रहित होकर नित्यतृप्त बने रहते हैं। उन सबसे भी श्रेष्ठ मैं ब्रह्मा हूँ जो अज, स्वयंभू, लोक पितामह कहलाता हूँ, किन्तु आज मुझे पता चला हम लोग तो क्या हैं, प्रकृति के घेरे में एक बन्दी से हैं। इन लोकों में रहते हुए भी हम निरंतर आप के दर्शनों से वंचित रहते हैं, केवल कृत कर्मों के फल भोगते रहते हैं। भक्ति से तो हम शून्य ही रहते हैं।

मैं तो सब से अधिक धन्यातिधन्य इन नंदराय के व्रज

वासियों को-मानता हूँ,जिनको आप अपना मित्र,सुहृद्,संखा बना कर इनके साथ सरस मधुर रसीली लीलायें निरन्तर करते रहते हैं । इनके भाग्य की सराहना किन शब्दों में की जाय । जो परब्रह्म का नित्य स्पर्श करते हैं, जो परमानन्द की रूप माधुरी का अन्तः नेत्रों से ही नहीं वाह्यचक्षुओं से भी निरन्तर पान करते हैं, जो सनातन, पूर्ण परब्रह्म के साथ शयन, भोजन, गमन, हास परिहास करते हैं,इनके बराबर भाग्यशाली चतुर्दश भुवनों मे कौन हो सकता है ?

हे देव ! इन व्रजवासियों के भाग्य की बात तो जाने दीजिये इन मन सहित एकादश इन्द्रियों के जो शर्व, ब्रह्मा, चन्द्रमा, दिशायें, वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनी कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, और मित्रादि जो इन सब के अधिष्ठातृ देव हैं, वे हम सब देवता भी इन व्रजवासियों के संसर्ग से धन्य होगये हैं, जैसे किसी सखाने श्याम सुंदर के कंठ में अपनी बाहु डाल दी, तो हाथ के अधिष्ठातृ देव इन्द्र ने भी आप के स्पर्श का सुख अनुभव कर लिया । आप की प्रसादी वनमाला किसी सखा ने पहिनली और सूँघली, तो उसकी नासिका में बैठे हुए अश्विनी कुमार कृतार्थ हो गये । इस प्रकार शिव, इन्द्रियों और अन्तःकरण के अधिष्ठातृ देव हैं वे इन्द्रिय रूपी चसकों-पान पात्रों-में आपके चरणारविन्दों की अमृतमयी मधुमयी मादक मदिरा का सतत पान करके मस्त बने रहते हैं। इन व्रजवासियो की इन्द्रियों मे रहने से हम देवताओं का जीवन भी सार्थक हो गया ।

प्रभो ! यह चौरासी कोश की व्रजभूमि धन्य है,यह तो आपका स्वयं साक्षात् श्री विग्रह है । व्रजह्रद से सोनह्रद तक शूरसेन की राजधानी बटेश्वर तक, इतना जो व्रजमंडल है, वह आपका अभिन्न रूप है, इतने भूभाग में कहीं भी किसी ग्राम में भी जन्म

हो जाय यही बड़े भाग्य की बात है। ग्राम में भी मनुष्य न हो कर पशु पक्षी ही बन जाय, तब भी सुंदर है। यदि यह भी न हो तो किसी वन में वृक्ष लता ही बन जाय, क्योंकि आप व्रज के १२ वन १२ उपवन तथा अन्य वनों में कभी न कभी गौएँ चराते हुए पहुँच ही जाते हैं। पारी पारी से व्रजमंडल के सभी स्थानों में चक्कर लगाते ही रहते हैं, अतः सम्पूर्ण व्रजमंडल ही धन्य है, तिसमें भी यदि नन्द के गोकुल में मेरा कहीं जन्म हो जाय, गौ, बछड़ा ही बन जाऊँ, यह भी सौभाग्य न हो तो वृक्ष, लता तृण, वीरुध तथा कोई भी वृक्ष बन जाऊँ तो भी मैं अपना परमसौभाग्य समझूँगा। गोकुल में चाहें जिस स्थान पर जन्म हो, वही भाग्य की चरम सीमा है, आप चाहें वहाँ कभी न भी पहुँचे किन्तु कोई भी गोकुलवासी उधर से निकल जाय और उसकी पद धूलि जिस वृक्ष पर पड़ जाय, वही कृतार्थ हो जाय। अहा, इन व्रजवासियों की महिमा के सम्बन्ध कहा ही क्या जा सकता है। प्रभो! आप की पावन पद-रज की खोज में ये सम्पूर्ण वेद भटक रहे हैं, श्रुतियाँ अपने जीवन की सार्थकता आपकी चरणधूलि के कणों की प्राप्ति में ही मान रही हैं, किन्तु उन्हें अभी तक चरणरज प्राप्त नहीं हुई है, वे अब तक नेति नेति यह चरणरज नहीं है, यह चरण रज नहीं है यही चिल्ला रही हैं। ऐसी उस जीवनमूरि पाद पद्मों की पराग को इन व्रजवासियों ने प्राप्त कर लिया है, प्राप्त ही नहीं कर लिया है' उसमें नित्य अभिषेक करते हैं, अभिषेक ही नहीं करते आप भगवान् मुकुन्द उनके एकमात्र जीवनाधार हैं, सर्वस्व हैं प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं। उन गोकुलवासियों की पदधूलि ही मिल जाय, तो इस सौभाग्य के सम्मुख ब्रह्मपद तुच्छ है। ये व्रजवासी बड़े भाग्यशाली हैं, ये आपके अरुण चरणों के गुदगुदे तलुओं को सुहलाते हैं, आपको हृदय से चिपटाते

हैं, चरण सेवा करते हैं और प्रतिपल आपकी आज्ञा की बाट जोहते रहते हैं, जैसे पलकें आखों की रक्षा के लिये सदा सचेष्ट रहती हैं, वैसे ही ये व्रजवासी नर नारी सदा आपकी सेवा में संलग्न रहते हैं।

प्रभो! सेवा का बदला सभी देते हैं। सर्वसाधरण लोग भी सेवा के ऋण से उऋण होने के लिये उपकार का प्रत्युपकार करने के लिये यत्नवान् देखे गये हैं। मुझे चिन्ता तो इसी बात की है कि आप इन व्रजवासियों को प्रत्युपकार में क्या देंगे। क्या देकर आप इनके ऋण से उऋण होंगे? आप कह सकते हैं। मेरे पास एक सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, मोक्ष। मैं उसे ही इनको दे डालूँगा। मैं इन्हें अपना स्वरूप देकर–सालोक्य सार्ष्टि, सामीप्य यादि मुक्ति देकर–अपना सा ही बना लूँगा। सो, भगवन्! पहिले मुक्ति का मूल्य चाहें जितना अधिक रहा हो, किन्तु पूतना को मुक्ति देकर आपने मुक्ति का मूल्य बहुत घटा दिया। यदि पूतना को भी मुक्ति और व्रजवासी नरनारियों को भी मुक्ति, तब तो सभी धान बाईस पँसेरी ही हुए। आप इन व्रजवासियों की और पूतना की तुलना तो कीजिये। पूतना सदा आप से दूर रही। य व्रजवासी सदा आपके समीप ही रहते हैं। पूतना सदा आप स द्वेष करती रही, ये सदा तैल धारावत आप से स्नेह करते हैं। पूतना एक दिन गोकुल आयी ये सदा गोकुल में ही निवास करते हैं। पूतना ने एक दिन आप को देखा। य सदा सर्वदा आप को देखते रहते हैं। पूतना ने एक दिन आपको गोद में उठाया, ये तो आप को गोद में ही रखते हैं। पूतना ने अपने वक्षस्थल का स्पर्श एक दिन कराया, ये तो आप को सदा अपने हृदय पर धारण करते रहते हैं। पूतना ने एक दिन अपने स्तनों का पय पान कराया। ये व्रजवासी नर नारी तो तुम्हें हठपूर्वक पय पिलाते ही रहते हैं। माखन, मिश्री, दही, रबड़ी तथा

अन्यान्य वस्तुयें खिलाते ही रहते हैं। पूतना ने सद् भाव से
को दूध थोड़े ही पिलाया था। ये तो सदा शुद्धभाव से प्रेम पू
आप को पय पिलाते हैं, पूतना ने शुद्ध दूध नहीं पिलाया था,
में काल कूट विष मिला कर पिलाया था ये लोग तो मेवा, मि
केशर,कस्तूरी मिलाकर दूध पिलाते हैं, पूतना राक्षसी दूध पिल
जाती थी और आप की मृत्यु की कामना करती जाती थी, किन्
लोग तो सदा आपका मंगलाशासन करते हैं, सदा आपका कल्य
चाहते हैं। आपको अपने प्राणों सेभी बढ़कर प्रेमसे रखते हैं।
बालकों को मारने वाली आप से द्वेष करने वाली, रुधिर पान क
वाली पूतना को मुक्ति तो आपने इसीलिये दी कि वह आ
नेत्र गोचर हो गयी, उसने अपने स्तन का स्पर्श आपके कपोल
साथ किया,यदि इतनी-सी बातपर ही आप मुक्ति दे डालते हैं,तो
निरन्तर आपका प्रेमपूर्वक अनुराग के साथ स्पर्श करते हैं,
की सेवा में सदा संलग्न रहते हैं, उनको भी मुक्ति मिले तो यह
अन्याय है। पूतना साध्वी स्त्री का वेष बना कर आयी थी अ
उसने प्रत्यक्ष कपट वेष बनाया था,इसपर आपने उसे ही मुक्ति
दी उसके सम्बन्धी अघासुर बकासुर भी मुक्त हो गये। फिर जि
ने अपना घर द्वार, कुटुम्ब परिवार, धन धान्य, स्वजन सम्ब
अपने सभी प्यारे से प्यारे पदार्थ, शरीर, पुत्र, प्राण तथा अ
करण सभी आपको अर्पण कर रखे हैं, उन्हें मुक्ति देकर टरक
नहीं जा सकता इतने भारी ऋण से आप मुक्ति देकर उऋण
हो सकते। प्रतीत होता है आपको सदा सर्वदा उनका ऋणी
बना रहना पड़ेगा।"

सूतजी कहते हैं— "मुनियो! इस ज्ञाजी ने
की तथा व्रजवासियों के स्नेह की महिमा गाकर भगवान् की स्
की, अभी वे और भी स्तुति करेंगे उसका [illegible] मैं आगे करूँ

आशा है आप सब इस गूढ़ ज्ञान पूर्ण, सभी शास्त्रों के सार रूप प्रसंग को दत्त चित्त होकर सुनने की कृपा करेंगे।

छप्पय

सेवा बदले नाथ ! कहा ब्रजबासिन दिन्हें ।
है तुम पै इक मोल वाहि वे कबहुँ न लिन्हें ॥
मोल पूतना दई पियायो जिनि विष पय सँग ।
प्रेमामृत नित पान करावें अरपें निज अँग ।
तन, मन, धन, पति प्रानप्रिय, जिनि सरबसु अरप्यो विभो ।
का फल दै होवैं उरिन, का सोची तुमने प्रभो ॥

पद

नाथ ! मन सोच बड़ो है भारी ।
ये ब्रजबासी सरबसु त्यागी, सेवा करें तिहारी ॥१॥
बदले में इनकूँ का देओ, विचलित बुद्धि हमारी ।
कैसे होहु उरिन तुम जगपति, सोची कहा खरारी ॥२॥
आई बकी कपट युवती बनि, पापिनि शिशु संहारी ।
दुष्ट भाव विष प्याइ दूध सँग, तुमरे लोक सिधारी ॥३॥
ये घर द्वार, स्वजन, तन, मन, धन, सब तजि पद रज प्यारी ।
इनकूँ वस्तु बकी सम देओ, होवै हँसी तुम्हारी ॥४॥
जनम जनम तुम रिनी रहोगे, मोहन कुंजविहारी ।
धनि धनि ब्रज तरु पशु नर नारी, जिनि प्रभु प्रिय गिरिधारी ॥५॥

ब्रह्माजी द्वारा पशुपाल नंद नंदन की स्तुति[९]

[९१]

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥

(श्री भा० १० स्क० १४ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

बन्दीघर घर लगै चोर रागादिक जब तक ।
पग बेड़ी है मोह होहि नहि तव-जन तब तक ॥
हौ प्रपंच तैं पृथक् तऊ शरनागत हित हरि ।
अगनित लीला करो जगत में नाना तनु धरि ॥
जे वैभव ज्ञाता बने, बने रहें ते धन्य अति ।
पहुँचे मन बानी नहीं, तनु की तो पुनि कौन गति ॥

भगवान् जो भी कुछ अवतार धारण करके कार्य करते हैं केवल भक्तों को सुख देने के निमित्त ही करते हैं। उससे साधु परित्राण हो जाय, धर्म संस्थापन हो जाय, दुष्टों का दमन हो

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे कृष्णचन्द्र ! ये राग द्वेष मोहादि भाव चोर के समान तभी तक हैं, यह निवास करने का घर कारावास के समान तभी तक है और यह मोह तभी तक पैरों की बेड़ियों के समान है, जब तक यह जीव आप का नहीं बन जाता, आप का भक्त नहीं हो जाता ।

जाय, यह गौड़ बात है। भगवान् भक्तों को उपलक्ष्य बना कर मधुरातिमधुर क्रीड़ायें करते हैं, पीछे वे ही कथा बन जाती हैं, जिनके सुनने से जगत् का कल्याण होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान्की स्तुति करते हुए ब्रह्मा जी कह रहे हैं—"हे देव! यह संसार बन्धन का कारण है, किन्तु तभी तक बन्धन करता है, जब तक प्राणी आपका भक्त न हो जाय, आपकी शरण न चला जाय। जैसे संखिया विष है, उसी का संशोधन कर दिया जाय औषधि बना ली जाय, तो अमृत बन जाता है। उसी प्रकार ये राग, लोभ, मोहादि भाव यद्यपि बन्धन के कारण हैं, इनसे संसार चक्र और सुदृढ़ होता है, किन्तु यदि मनुष्य सर्वतोभाव से आप का भक्त हो जाय, जिस राग को अब तक संसारी लोगों में लगाये था, उसे ही आप में लगा दे, आपसे राग करने लगे, भगवत् भक्तों में अनुराग हो जाय, तो वह संसारी बन्धनों को काट देगा। वैसे घर बन्धन का कारण है, एक प्रकार से वह कारावास ही है, किन्तु उसे आप की पूजा का स्थान मान लिया जाय, तो फिर वह घर घर न होकर मंदिर बन जायगा। इसी प्रकार संसारी पदार्थों का मोह एक प्रकार से पैरों को बाँधने की बेड़ियाँ हैं, किन्तु यदि प्राणी आप की शरण हो जाय, आप का प्रपन्न बन जाय तो फिर वह आप में किया हुआ मोह सभी प्रकार के मोहों का नाश करने वाला हो जाता है। आप के भक्त हो जाने पर सभी बदल जाते हैं, प्रतिकूल अनुकूल

हो जाते हैं। बन्धन कारक-मुक्तिदाता के रूप में परिणित हो जाते हैं।

स्वामिन्! आप का संसार में आने का-नीचे उतरने का-अन्य कोई प्रयोजन नहीं। आप तो निष्प्रपञ्च हैं, आप को इस प्रपञ्च के झमेले में पड़ने का कोई प्रयोजन हो नहीं। किन्तु आप को अपने भक्तों के संग खेलने में, उन्हें आनंद प्रदान करने में रस आता है। अतः आप अपने अनुचरों की रस वृद्धि के निमित्त, उन्हें अनादि अनंत परमस्वाद युक्त रस वितरण करने-अवतार धारण करके अवनी पर आना ही पड़ता है। भक्तों की आनंद राशि को बढ़ाने के निमित्त प्रपञ्च का अनुशरण करना ही पड़ता है।

कुछ लोग कहते हैं, हमने भगवान् के पूर्ण वैभव को जान लिया। अब मैं उन लोगों से वाद-विवाद क्यों करूँ? जान लिया तो भाई अच्छी बात है। किन्तु मैं अपने अनुभव से कहता हूँ, कि मेरा मन आपके वैभव को जानना तो दूर रहा उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता। वाणी आपके गुणानुवाद के गान में कुंठित हो जाती है जब वहाँ तक मेरी मन वाणी ही की पहुँच नहीं, तब शरीर की तो बात ही क्या, उसका तो विषय ही नहीं।

प्रभो! मैंने जो यह विनती करने की धृष्टता की यह भी मेरी अनधिकार चेष्टा ही है. भला मैं आप सर्वेश्वर सर्व व्यापक अचिन्त्य शक्तिवाले विभु की स्तुति कर ही क्या सकता हूँ। मैंने जो कुछ असंगत कहा हो। उसे क्षमा करें, क्योंकि आप मन विषय नहीं। अब हे देव! मुझे जाने की अनुमति मिले। मैं

अपने मनोभावों को आपके सम्मुख व्यक्त नहीं कर सकता। व्यक्त करने की आवश्यकता भी नहीं। व्यक्त उसके सामने किया जाता है जो जानता न हो, आप तो सर्वसाक्षी हैं, घट घट व्यापी हैं सब के अन्तःकरण की जानने वाले हैं। जितना यह चराचर विश्व है, जितना यह दृश्यमान प्रपञ्च है आप इस सबके एक मात्र अधीश्वर हैं, स्वामी हैं, प्रभु हैं, यह निखिल विश्व आप में ही अवस्थित है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कह कर ब्रह्माजी ने विनय पूर्वक अंतिम प्रणाम की। ब्रह्माजी ने कहा—प्रभो! आप ही सूर्य स्वरूप हैं। जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल खिल जाते हैं। वैसे ही वृष्णिवंश, सात्वतवंश अथवा वैष्णव समूह यही कुल कमलों का समूह है, आप के उदय होने पर ये सब खिल जाते हैं, प्रमुदित हो जाते हैं, आह्लादित हो जाते हैं, ऐसे आप वृष्णिकुल दिवाकर प्रभु के पाद पद्मों में बारम्बार प्रणाम है।

स्वामिन! आप चन्द्रस्वरूप भी हैं, जैसे पूर्ण चन्द्र के उदय होते ही समुद्र बढ़ने लगता है, हर्ष के कारण उसमें हिलोरें आने लगती हैं, उसी प्रकार पृथिवी जब आप के उदित होने का समाचार सुनती है, तो प्रसन्न होकर धन धान्य पूर्ण समृद्धशालिनी बन जाती है। देवता आप के शुभागमन को सुनकर परम हर्षित होकर नृत्य करने लगते हैं, पारिजात के पुष्पों की वर्षा करने लगते हैं। ब्राह्मणों की तो बात ही क्या है, आप ब्राह्मणों को अपना देव समझते हैं, इसलिये आप ब्रह्मण्यदेव कहलाते हैं, ब्राह्मण तो आप

के अवतार की बात सुनते ही हरे भरे हो जाते हैं। गौ और ब्राह्मण ये ही आप के इष्ट हैं, शरीर हैं, सर्वस्व हैं। गौएँ तो आप के अवतार पर रंभाने लगती हैं, रस्सा तुड़ा तुड़ाकर किलोलें करने लगती हैं। आप पाखंड रूप जो तम है,उसे नाश करने वाले हैं। ऐसे चन्द्र स्वरूप श्रीकृष्ण के चरण कमलों में बारम्बार नमस्कार है, आप असुर राक्षसों को दंड देने वाले हैं। आदित्य पर्यन्त जितने देवता हैं उन सबके आप पूजनीय हैं, अर्चनीय तथा वन्दनीय है। ऐसे आप सर्वान्तयामी प्रभु को नमस्कार है, प्रतिक्षण का नमस्कार है, कल्प पर्यन्त नमस्कार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्रह्मा जी ने अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् की स्तुति की, उनकी तीन परिक्रमा को और भक्ति भाव से पुनः पुनः प्रणाम करके अपने लोक को चले गये। यह मैंने अत्यंत संक्षेप में श्री ब्रह्माजी कृत नंदनंदन पशुपाल श्रीकृष्ण की स्तुति कही, अब आगे जैसे नाग पत्नियों ने भगवान् की स्तुति की है,उसे वर्णन करूँगा।

छप्पय

सब यादव कुल कमल करो तुम विकसित दिनपति।
धेनु धरन सुर विप्र भूमिहित प्रकटित निशिपति॥
खंडन करि पाखंड करें खल दल संहारन।
सुर पूजित तव चरन कमल महँ पुनि पुनि वंदन॥
यों इस्तुति ब्रह्मा करी, प्रेम माँहिं विह्वल भये।
करि परिकम्मा तीनि पुनि, हरषि लोक अपने गये॥

पद

विनवौं बार बार बनवारी ।
जग के स्वामी अन्तरजामी, देह भक्त हित धारी ॥१॥
कृष्ण वृष्णि कुल कमल दिवाकर, खिलहिं निरखि हितकारी ।
लै अवतार धेनु, द्विज, सुरहित, जगलीला विस्तारी ॥२॥
असुरवंश विध्वंस करौ प्रभु, जो अति अत्याचारी ।
वन्दनीय देवाधि देव अज, अच्युत अखिल अधारी ॥३॥
यों बहु विधि अज इस्तुति कीन्हीं, विहँसे श्याम मुरारी ।
करि परिकम्मा आयसु लै निज, लोक गये जगकारी ॥४॥

६६ वाँ खंड समाप्त

आगे की स्तुतियों को ६७ वें खण्ड मे पढ़िये

ब्रह्म स्तुति

ब्रह्मोवाच

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय,
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु:,
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥१॥
अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य,
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण,
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥२॥
ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव,
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥३॥
श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो,
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥४॥

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनः,
त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया,
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥५॥
तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते,
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो,
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥६॥
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं,
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैः,
भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥७॥
तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते,
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥८॥
पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये,
परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं,
ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥९॥

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो,
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष,
एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥१०॥

काहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू,
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या,
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥११॥

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः,
किं कल्पते मातुरथोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं,
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥१२॥

जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे,
नारायणस्योदरनाभिनालात्।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ् न वै मृषा,
किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोस्मि ॥१३॥

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनाम्,
आत्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात्,
तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥१४॥

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः,
किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव,
किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥१५॥
अत्रैव मायाधमनावतारे,
ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य ।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या,
मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥१६॥
यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा ।
तत्त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना ॥१७॥
अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितं,
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिताः,
तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥१८॥
अजानतां त्वत्पदवीमनात्म,
न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान,
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥१९॥
सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि,
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य ।

जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय,
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥२०॥
को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्,
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति,
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥२१॥
तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं,
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते,
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥२२॥
एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः,
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः,
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥२३॥
एवं विधं त्वां सकलात्मनामपि,
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा,
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥२४॥
आत्मानमेवात्मतया विजानतां,
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।

अहोतिधन्या व्रजगोरमण्यः,
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना,
यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ॥३१॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥३२॥
एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ताम् ,
एकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः,
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥३३॥
तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दः,
स्वयापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥३४॥

एषां घोषनिवासिनामुतभवान् किं देव रातेतिन
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता,
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥३५॥
तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥३६॥

अपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले ।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥३७॥

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो ।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥३८॥

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक् ।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम् ॥३९॥

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोपदायिन्,
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसघ्नु,
गाकल्पमार्कमहन् भगवन् नमस्ते ॥४०॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँ मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८) खण्डों में, ६७ खण्ड छपचुके हैं) प्रति खण्ड का मूल्य १।), बारह आना डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठकी, सजिल्द मू०५।)

३—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०३५६, मू० २॥।)

५—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्ध में उठने वाली तर्कों का युक्तियुक्तपूर्ण विवेचन। मू० ॥)

७—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ॥)

८—भागवती कथा की बानगी—(आरंभ के तथा अन्य खंडों के कुछ पृष्ठों की बानगी) पृष्ठ संख्या १००, मू० ।)

९—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ।-)

१०—मेरे महामना मालवीयजी और उनका अन्तिम संदेश—मालवीयजी के जीवन के सुखद संस्मरण पृष्ठ सं० १३० मू० ।)।

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु हिन्दु बन सकते हैं? इसका शास्त्रीय विवेचन पृष्ठ सं० ७६ मू० ।-)

१२—प्रयाग माहात्म्य—मू० -) एक आना।

१३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० -)

१४—राघवेन्द्र चरित—भागवतचरित से ही पृथक् छापागया है मू०।-)

१५—प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि मू० =)

१६—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खंडों में प्रथम खंड का मू०१)।

१७—भागवत-चरित की बानगी—भागवत चरित के कुछ अध्यायों की बानगी मू०।)

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।

भागवत-दर्शन

भागवती स्तुतियाँ (५)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृतं वै प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम्॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन-भवन,
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

प्रथम संस्करण, शुद्ध श्रावण शु० वि० २०१५] [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
(अ) सेवक संस्मरण भूमिका		१
९२—नागपत्नियों द्वारा कृष्ण स्तुति (१)	...	३३
९३—नागपत्नियों द्वारा कृष्ण स्तुति (२)		४०
९४—देवेन्द्र द्वारा गोवर्धनधारी की स्तुति	...	५३
९५—वरुण द्वारा श्रीकृष्ण स्तुति	...	६४
९६—नारदकृत भगवत्स्तुति	...	७०
९७—अक्रूरकृत भगवत्स्तुति (१)	...	७९
९८—अक्रूरकृत भगवत्स्तुति (२)	...	८७
९९—अक्रूरकृत भगवत्स्तुति (३)	...	९५
१००—अक्रूरकृत श्रीकृष्णस्तुति	...	१०८
१०१—मुचुकुन्दकृत कृष्णस्तुति (१)	...	११९
१०२—मुचुकुन्दकृत कृष्णस्तुति (२)	...	१२६
१०३—मुचुकुन्दकृत कृष्णस्तुति (३)	...	१३५
१०४—भूमिकृत श्रीकृष्णस्तुति	...	१४४
१०५—माहेश्वरज्वरकृत श्रीकृष्णस्तुति	...	१५२
१०६—श्रीरुद्रकृत श्रीकृष्णस्तुति	...	१६०
१०७—नृगकृत श्रीकृष्णस्तुति	...	१७१
१०८—कौरवों द्वारा बलभद्रजी की स्तुति	...	१७८
१०९—जरासन्ध के बन्दी भूपतियों की सन्देश स्तुति		१८५
११०—जरासन्ध के बन्दी गृह से छूटे राजाओं की श्रीकृष्ण स्तुति	...	१९५
१११—श्री सुदामाकृत श्रीकृष्णस्तुति	...	२०४
११२—कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण द्वारा ऋषि मुनियों की स्तुति		२१०

॥ श्रीहरिः ॥

बहुत से पत्रों से एक पत्र

चिरकाल से भागवती कथा (भागवत दर्शन) प्रकाशित करने में कई कारणों से हम असमर्थ रहे। इस सम्बन्ध में हमारे पास प्रायः नित्य ही पत्र आते हैं, बहुत भाई तो नम्रता से लिखते हैं, बहुत से हमारी विवशता को समझकर केवल पूछते हैं, बहुत से कुछ रोष प्रकट करते हैं और बहुत से इतना रोष प्रकट करते हैं, कि आपे से बाहर हो जाते हैं। यहाँ उन सब पत्रों का उल्लेख करना संभव भी नहीं और आवश्यक भी नहीं, फिर भी पाठकों की जानकारी के लिये हम उनमें से एक पत्र यहाँ देते हैं। इससे पाठक पाठिकायें। भागवती कथा के प्रेमी पाठकों की व्यग्रता का अनुमान लगा सकते हैं। एक सज्जन लिखते हैं—

बड़ी खेद की विषय है कि भागवत दर्शन के वार्षिक मूल्य दिये तीन वर्ष से अधिक होता है और इस अवधि में केवल ५ ही अंक प्राप्त हुए हैं साल भर से ऊपर होता है कोई अंक नहीं मिला है। भगवान् के नाम पर यह अंधेर क्यों हो रही है क्या यही महात्माओं की खेला है। जिससे विश्वास दिन प्रतिदिन घटता ही जाता है। अब क्या आशा की जा सकती है कि कलिकाल के महात्माओं के नाम पर यह ठग है बाकी सात अङ्क मिलेगा या नहीं कृपया सूचित करें कि विश्वास हो जावे और आगे की वृथा चिन्ता दूर होवे।

इस पत्र को पढ़ कर न तो हमें रोष ही आया और न बुरा ही लगा। किन्तु हमें तो उलटी प्रसन्नता ही हुई कि हमारे पाठक आगे के खण्डों को पढ़ने को कितने व्यग्र हैं। हमारे भाई ने जो

दोषारोपण किया है वह ठीक है। समय के प्रभाव से बहुत से लोगों की यह वृत्ति ही बन गयी है, कि पत्र पत्रिका निकालने का विज्ञापन दे देते हैं, वर्ष भर का चन्दा लोगों से इकट्ठा कर लेते हैं, फिर चुप हो जाते हैं। अधिकांश लोग ऐसे होने से लोग सच्चे लोगों पर भी सन्देश करने लगते हैं, किन्तु हम अपने पाठकों को विश्वास दिलाते हैं हमारी नीयत ऐसी नहीं है। जो सज्जन चाहें वे शेष खण्डों के दामों की अन्य पुस्तकें मँगा सकते हैं। ६६,६७ तो भेज ही रहे हैं। प्रयत्न कर रहे हैं ७२ तक शीघ्र ही छप जावें।

एक बात हमारे भाई ने बड़ी महत्त्वपूर्ण कही है कि कलियुग का प्रभाव है। यथार्थ में वृत्तिसंकर हो गया है। साधुओं का काम लिखना तथा उपदेश देना तो हो भी सकता है किन्तु प्रकाशन करके व्यापार करना कभी नहीं है। यद्यपि हमने इस नीयत से प्रकाशन नहीं किया था, किन्तु किसी भी नीयत से करो व्यापार तो व्यापार ही है और हम इसमें बुरी तरह असफल रहे, तथा इस असफलता से भी हमें प्रसन्नता ही है, भगवान् हमें चेतावनी दे रहे हैं अब भी चेतो।

आगे से हम १२ खण्डों की अग्रिम न्योछावर न मँगाया करेंगे। अब आगे लिखने को मन में उत्साह भी नहीं, किन्तु भगवान् को लिखाना ही होगा तो कोई अपना वश भी नहीं, जितने खण्ड छप जाया करेंगे पाठकों को सूचना दे दिया करेंगे, वे मँगालें। अन्त में प्रेमी पाठक पाठिकाओं से मेरी यही प्रार्थना है वे ऐसा आशीर्वाद दें या मनोकामना करें, कि मेरा भगवन् चरणारविन्दों में अनुराग बढ़े।

प्रभुदत्त

सेवक-संस्मरण

(भूमिका)

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ॥

(श्रीभा० ७ स्क० १०अ० ५ श्लो०)

छप्पय

संगी साथिन सहज समय संजोग जुटावै ।
जब लौं जाको जोग भोग भव माहिँ भुगावै ॥
पूर्व जनम के शत्रु मित्र पुनि पुनि मिलि जावैं ॥
सिमृति त्यागि कटु मधुर त्यागिकैं तनु चलिजावैं ॥
जड़ चेतन चर अचर जग, हरिमय जबहिँ लखायगो ।
मैं मेरो अज्ञानजिह, तुरतहिँ तबहिँ मिटाइगो ॥

पाठक पाठिकाओं से मैं प्रथम ही कई बार प्रार्थना कर चुका हूँ, कि भागवतीकथाओं में तो मैं नियम और प्रस्तुत विषय में बँधा रहता हूँ, किन्तु भूमिका में मैं स्वतंत्र हूँ। वहाँ मैं जो चाहूँ लिख सकता हूँ, अपनी व्यक्तिगत बातें, जीवन की कटु मधुर स्मृ-

---

प्रह्लादजी नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो ! यदि कोई सेवक स्वामी से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति की इच्छा रख कर उसकी सेवा करता है, तो वह सच्चा सेवक नहीं है और जो स्वामी स्वामित्व की इच्छा रख कर धन तथा अन्य भोग्य पदार्थ स्वार्थ सिद्धि के निमित्त देता है, तो वह स्वामी भी सच्चा स्वामी नहीं है।

तियों को लिखने में स्वतंत्र हूँ। और पाठक पठिकाओं ने मुझे यह छूट सहर्ष दे रखी है, अपने जीवन की घटनायें लिखने में आत्मप्रशंसा भी हो ही जाती है, कुछ अपना बड़प्पन भी बहुत रोकने पर प्रकट हो ही जाता है, किन्तु "भागवती कथा" के पाठक मेरे अपने हैं न ? उनका मुझ में अपनापन है, जहाँ अपनापन होता है, वहाँ दोष भी गुण ही दिखायी देने लगते हैं। प्रेम की सब से मोटी पहिचान यही है जहाँ दोष दृष्टि रहे ही नहीं। जहाँ अपनापन नहीं होता, मनमें ईर्ष्या द्वेष, डाह, तथा जलन होती है, वहाँ गुण भी दोष ही दिखायी देने लगते हैं। जिसमें अपनापन होता है, उसके जीवन की निजी बातें सुनने में एक अद्भुत् रस आता है, अपनापन न रहने पर लोग कहने लगते हैं—"जहाँ देखो, वहीं अपनी हाँकने लगते हो। एक सज्जन ने मुझे लिखा कि "प्रतीत होता है, ब्रह्मचारी जी की अब लिखने की सब पूंजी समाप्त हो गयी हैं, तभी तो ऐसी बातें लिखते हैं, कि आश्रम के लड़के अमरूद चुरा लेते हैं, ये बातें कभी भागवती कथा के अंतर्गत नहीं आ सकतीं।"

उन भोले भाई को यह पता नहीं कि भागवती कथा इतना अगाध, अपार सागर है, कि उसका भंडार कभी समाप्त होने ही वाला नहीं। मैं तो एक दो हाथों वाला, एक लेखनी वाला, अल्पज्ञ प्राणी हूँ, यदि सहस्र हाथों से सहस्र लेखनियों से शारदा भी सब समय लिखती रहें तब भी भागवती कथायें पूरी नहीं लिखी जा सकतीं। रही अमरूद चोरी की बात, सो अपनी भागवती कथा तो यही है। आत्माराम पूर्ण काम प्रभु को क्या पड़ी थी जो समस्त ऐश्वर्य-सम्पूर्ण-भग को छोड़कर वे इस अवनि पर अवतरित होते, वे बाल गोपाल बनकर अवनि पर बाल सुलभ क्रीड़ा करते हैं और अपने जनों को सुख देते हैं, चोरी से माखन खाते

हुए कृष्ण को देखकर नंदरानी को कितना सुख होता होगा, उसे मातृहृदय पाये बिना कौन अनुभव कर सकता है। एक बहुत बड़े व्यापारी जिनकी सम्पूर्ण देश में बड़ी भारी ख्याति है, मुझसे बड़ा स्नेह रखते हैं। बाल्यकाल में उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी, वे अपने जीवन की घटना सुनाते थे, कि जब हम बहुत छोटे थे, तब हमारी दादी दही विलोकर मक्खन एक हंडी में रखती जाती थीं, हम चुपके से जाते दादी को कुछ दिखाता भी कम था, हम हंडी में से माखन निकाल कर खालेते, फिर झूठे हाथों से लेने का प्रयास करते तो दूर बैठी हमारी माँ संकेत से हमें मना कर देती। फिर दादी हंडी में हाथ डालकर कहती—"बहू! इसमें का माखन कौन ले गया?" माँ कहती-क्या-पता कौन ले गया? वे बताते थे हम माँ के सामने ही दादी की हंडी से माखन चुराते थे, किन्तु माँ माखन चोरी के लिये हमें निषेध नहीं करती, जूठे हाथों से हंडी को छूने के लिये संकेत से मना करती। ग्वाल बालों की चोरी को देखकर जिसका हृदय भर नहीं आता वह या तो पाषाण हृदय है, या कोई त्रिगुणातीत। आप से मैं अपनी ही बात सत्य सत्य कहता हूँ जब किसी अबोध छोटे बच्चे को चोरी करते पकड़ता हूँ, तो कभी भूल से क्रोध आ गया हो तो उसकी बात तो कहता नहीं, किन्तु वैसे जब मैं ऊपर से क्रोध की सी मुद्रा बनाकर उसके कान पकड़ता हूँ,तब उसकी लज्जा संकोच भय और ग्लानि से मिश्रित भोली भाली सूरत को देख कर विमुग्ध हो जाता हूँ, उसमें मुझे बाल गोपाल माखनचोर के दर्शन होने लगते हैं, जब वह टप टप आंसू बहाने लगता है तब हृदय गीला गीला हो जाता है, वे पुरुष धन्य हैं जिन्हें ऐसे बाल गोपालों के आँसू देखने को मिलते हैं। भला अबोध बच्चों की अपने ही घर में यह सरस लीला क्या चोरी है? यह तो वात्सल्य रस की लीला है, किन्तु जो

नीरस हैं, उन्हें राधाकृष्ण की सरस दिव्य शृङ्गारमयी आलिंगन परिरम्भण, विरह आदि लीलाओं में अश्लीलता दिखाई देती है। अरे, देवताओ ! तुम प्रत्येक क्षेत्र में अपने आदर्श को ही घुसेड़ते रहोगे तो वात्सल्य,सख्य, दास्य और मधुर रस ये कहाँ जायँगे। साहित्य के नव रसों की प्रतीति होगी कहाँ ? तुम गाने बजाने नाचने से द्वेष करोगे, शृंगार रस को अश्लील कहोगे तो साहित्य-कारों की परिभाषा में तुम "पुच्छ विषाण हीन" साक्षात् पशु ही कहलाओगे न ?

हाँ,तो मैं तो बहक गया। आज की प्रस्तावना में मैं कुछ अपने दिवंगत सेवकों का स्मरण करूँगा। यह संसार परस्पर के सहयोग से ही चल रहा है। घर की ईंटें, चूना, कड़ी, लकड़ियाँ, लोहा तथा अन्य सामग्रियाँ आपस में सहयोग न करें तो घर एक दिन भी ठहर नहीं सकता,कोई भी संसार में यह नहीं कह सकता कि अमुक कार्य मुझ अकेले की ही कृति है, सभी कार्यों में सहायकों की आवश्यकता होती है, कुछ सहायक ऐसे होते हैं, कि वे घर की नींव में लगे पत्थरों के समान दबे ढके ही रहते हैं, सर्व साधारण की दृष्टि में वे आते ही नहीं। हम मकान के ऊपरी पत्थरों को ही देखते हैं और उनकी तथा घर की प्रशंसा करते हैं, हमें यह पता नहीं कि यह सम्पूर्ण घर नींव के नीचे दबे हुए पत्थरों पर ही ठहरा हुआ है। इतने बड़े बड़े लेखक कवि, साहित्यिक शूर वीर तथा संत हुए हैं, उनके बहुत से सच्चे सहायक सेवक रहे होंगे, उन्हीं की सहायता तथा सेवा के कारण वे बड़े बड़े कार्यों को करने में समर्थ हो सके हैं, किन्हीं किन्हीं सेवक का नाम प्रसंगवश भले ही प्रकाश में आ गया हो, नहीं तो वे नींव के पत्थरों की भाँति चुपचाप उनके यशरूपी घर के बोझ को लादें मुख छिपाये संसार से ओझल हुए पड़े रहते हैं।

सच्चे सेवक सभी को सुलभ नहीं होते। सीधा सच्चा कर्तव्य परायण सेवक, स्वामि भक्त, सीधा उपयोगी पशु, पति परायणा सती साध्वी सर्व सद्गुण सम्पन्न पत्नी ये भाग्य शालियों को ही प्राप्त होते हैं। यह एक जन्म का फल नहीं होता जन्मान्तरीय संस्कार होते हैं, जिससे पिछले जन्म से सद्भाव पूर्ण सम्बन्ध रहा होगा, वही इस जन्म में हार्दिक प्रेम प्रकट करेगा और सच्चे हृदय से सेवा, सत्कार कर सकेगा। जन्मान्तरीय सम्बन्ध के बिना कोई अपनापन रख ही नहीं सकता कोई प्रेम प्रकट कर ही नहीं सकता। सहस्रों गैयों में से बछड़ा अपनी माँ को पहिचान लेगा। घूँघट मारे सैकड़ों स्त्रियों में बैठी अपनी माता से बालक जाकर लिपट जायगा, इसी प्रकार जन्मान्तरीय संस्कार वाले कहीं भी उत्पन्न क्यों न हों,वे सात समुद्र पार से आकर मिल जाते हैं और अपना प्रेमभाव दर्शाते हैं।

मेरा जन्म बहुत ही साधारण निर्धन परिवार में हुआ, भाग्य वश शरीर भी ऐसा मिला जो जन्म से ही रोगों का आलय है। वैसे तो सभी शरीरों को व्याधिमंदिर बताया है, किन्तु कुछ शरीर अपथ्य से, कुपथ्य से तथा किन्हीं अन्य कारणों से पीछे से रुग्ण होते हैं, कुछ जन्म से ही रोगी होते हैं, मेरा शरीर जन्मजात रोगी है। रोगी को पग पग पर परमुखापेक्षी रहना पड़ता है। उसे यदि सहृदय सहायक, सच्चे सेवक, स्नेहीयुक्त सम्बन्धी न मिलें तो कोई विशिष्ट कार्य करना तो पृथक् रहा, उसे अपना जीवन ही भार हो जाता है।

सौभाग्य से मुझे सच्चे सहायक सहृदय सेवकों की अब तक कमी नहीं हुई। बहुत से लोग आश्चर्य करते हैं ब्रह्मचारीजी इतने सक्रिय आंदोलनों में सम्मिलित होते हुए भी-इतना धूम धड़ाका करते हुए भी-इतना लिख कैसे लेते हैं। इसका मुख्य कारण है,

मेरे शरीर की रेख देख रखनेवाले सेवकों की सक्रिय सहायता मेरे बहुत से साथी रहे हैं और हैं, उनकी संख्या सैकड़ों नहीं सहस्रों हैं । यहाँ मुझे उनकी सूची नहीं देनी है। सूची दे भी नहीं सकता मेरी भुलक्कड़ प्रकृति है, आज याद करने भी बैठूँ तो सब याद नहीं आवेंगे। जिसका संपूर्ण जीवन ही परमुखापेक्षी रहा हो, जो जन्म से ही समाज पर भार रहा हो, जिसे एक एक दाने अन्न के लिये एक-एक टुकड़े के लिये दूसरों का मुख जोहना पड़ता हो, उसके सहायकों कृपालुओं और सहयोगियोंकी संख्या करना असंभव है। वह तो अणु परमाणु के ऋण से-कृतज्ञताके भारसे-दबा हुआ है। वह कितनों को-किन शब्दों में क्या कह कर कृतज्ञता प्रकट करे। किन्तु एक दिन एक मेरे बड़े स्नेही सेवक परलोक वासी हो गये; उनकी माँ रोती रोती मेरे पास आई और रोते रोते करने लगी उसकी बड़ाई । कैसे उसने अपने पांच भौतिक शरीर को त्यागा कैसे वह मेरा स्मरण करता रहा।" कुछ दिन पूर्व वह घर चला गया था अपनी माँ का एक मात्र ही पुत्र था,उसी के निकट जाकर योगियों की भाँति उसने शरीर को छोड़ दिया और पहिले से बता भी दिया । हम अपने इस चोले को अब छोड़ेंगे।" उसकी माँ ने आश्रममें आकर भंडारा किया,उसी समय मेरे मनमें उसके संस्मरण लिखने की इच्छा हुई। फिर इसी प्रसंग में १०,५ ऐसे ही नाम और याद आगये। सोचा लाओ उन सभी दिवंगत सहयोगियों का स्मरण करलूँ। किन्तु ये संस्मरण पूर्ण नहीं अपूर्ण हैं, और भी बहुत से रहे होंगे और हैं भी, किन्तु अब वे याद नहीं आ रहे हैं, अच्छा है जितनों को भूल जायँ उतना ही अच्छा है, स्मरण रखना कोई अच्छी बात थोड़े ही है किन्तु जो मरते मरते एक कसक छोड़ जाते हैं, तीक्ष्ण छाप लगा जाते हैं वे भुलाने से भी नहीं भूलते । बहुत से ऐसे हैं, कि जिनका तो अब नाम ही

भूल गया हूँ, जो याद आते हैं उन्हीं का उल्लेख मात्र किये देता हूँ।

१—गोबिन्दजी

ऐसा लगता है, कि वह मध्य प्रान्त में बिलासपुर जिले का था, धमतरी का नाम बहुत लेता था, उसी के आस पास उसका कोई गाँव रहा होगा। जिन दिनों मैं काशी में रहता था, नगर के बाहर एक सुविस्तृत बगीचे में मेरा निवास था, उसमें एक कोठी थी, कोठी के स्वामी पहिले औरङ्गाबाद मुहल्ले के बहुत बड़े धनी थे, पीछे उनकी आर्थिक स्थिति कुछ बिगड़ गयी। वे हमसे कोठी का नाम मात्र को किराया ले लेते थे, साहित्य सेवा के द्वारा मुझे जो कुछ प्राप्त होता, उसे सभी साथी संगी बाँट कर खालेते। वहाँ पर एक छोटा मोटा आश्रम ही खोल रखा था। निर्धन और निस्सहायावस्था में विद्याध्ययन करना कितना क्लेशकर है, असहाय विद्यार्थियों को पग पग पर कितनी असुविधायें होती हैं, इसका मुझे अपने जीवन में कटुअनुभव हो चुका था। अतः ऐसे जो भी छात्र आते उन्हें मैं अपने पास रख लेता, पीछे उनका कहीं सहारा हो जाता, कहीं छात्रवृत्ति मिल जाती किसी विद्यालय में प्रवेश हो जाते तो वे चले जाते। ऐसे बहुत लड़के थे, निरञ्जनजी, चन्द्रजी, इन्द्रजी,गोबिन्दजी,रामजी औरोंका नाम याद नहीं रहा। उनमें से कोई सन्त महन्त हो गये, कोई भारत सरकार के उच्च तथा साधारण पदों पर सेवा कर रहे हैं, कोई दल के नेता बन गये।

जब आश्रम छोड़कर वाराणसीसे गंगा किनारे किनारे वैराग्य के वेगमें हिमालय की यात्रा की,तो इन्द्रजी और गोबिन्दजी दो लड़के मेरे साथ साथ चले। ये ही लोग दोपहर होने पर गाँवों से भिक्षा माँग लाते और मेरे शरीर की यथा साध्य रेख देख रखते। इन्द्र जी तो आज कल भारत सरकार के मंत्रालय में हैं" डाक तार" के

स्यात् संपादक हैं, गोविन्दजी पता नहीं किस लोक में विचरण करते होंगे । मनुष्य कितना बड़ा अज्ञानी जीव है, उसे यह भी पता नहीं एक क्षण आगे क्या होगा ? मरकर कौन जीव कहाँ जायगा । पिछले जन्म में हम कौन थे इस समय हम जो कार्य कर रहे हैं, किस देव की प्रेरणा से कर रहे हैं, इसका परिणाम क्या होगा ? जो मानव भूत, भविष्य तथा वर्तमान के सम्बन्ध में भी अज्ञानी है, वह अपने को ज्ञानी और बुद्धिमान होने का दावा करता है, उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा ?

हाँ तो वाराणसी से गंगा किनारे किनारे माँगते खाते चलते चलते, हम बुलंदशहर की गंगा तटवर्ती तहसील अनूपशहर में पहुँचे । यह मेरा पूर्वकाल में राजनैतिक कार्यक्षेत्र रहा है, पहिले भी मैं यहाँ आकर रहता था । इसके आस पास बड़े बड़े उच्च कोटि के साधु सन्त रहते थे, एक प्रकार से उस प्रान्त के महात्मओं का यह एक गढ़ ही था । रामघाट से लेकर गढ़मुक्तेश्वर तक सैकड़ों अच्छे अच्छे त्यागी तपस्वी महात्मा रहते थे । स्वामी उग्रानंदजी,बंगाली स्वामी, स्वामी हीरानंदजी तथा और भी अनेक प्रसिद्ध महात्मा इसी बीच हो चुके हैं । उन दिनों भी पूज्य श्री हरि बाबा, श्री उड़िया बाबा,श्री भोले बाबा, श्री अच्युतमुनिजी, स्वामी शास्त्रानंदजी और स्वामी निर्मलानंदजी बंगाली स्वामी तथा और भी प्रसिद्ध प्रसिद्ध महात्मा वहाँ थे । जिनमें से कुछ अभी वर्तमान हैं, कुछ अपने पांचभौतिक शरीर को त्याग कर न जाने कहाँ चले गये । उनकी मीठी मीठी स्मृतिमात्र अवशेष रह गयी है ।

गोविन्दजी ने इच्छा प्रकट की कि मैं तो यहीं रह जाऊँ । मैंने उसे अनुमति दे दी । वह वहीं पर गंगा तट पर रहने लगा । छोटी सी उसने एक पाठशाला बना रखी थी, उसमें वह हरिजन तथा अन्य बालकों को पढ़ाता था और भगवान् का भजन करता था ।

इधर बहुत दिनों के पश्चात् जब घोर संग्रहणी होने पर मैं लौटकर अनूपशहर अगया, तो उसने मेरी बड़ी सेवा की। उसने कुछ पैसे जोड़ रखे थे, सभी मेरी सेवा में व्यय कर दिये और मुझे कुछ भी नहीं बताया, अंत में एक दिन उसने कहा—"मेरे पास जो भी कुछ था सब समाप्त हो गया। वह रात्रि दिन सेवा में जुटा रहता था। सेवा करने का उसे व्यसन था, वह कभी थकता नहीं था और न छोटी सी छोटी सेवा से ऊबता ही था, मैं उसे जहाँ पर जिस काम में लगा देता,बिना ननु नच के वह उसमें जुट जाता।

सेठ दामोदरदासजी उन दिनों कांग्रेस के प्रसिद्ध नेता थे, अब स्यात् वे प्रजासमाजवादी हैं। जब वे देहरादून के पास राजपुर में डा० सत्यदेवजी शास्त्री के चिकित्सालय में चिकित्सा करा रहे थे। उनकी दशा अत्यंत ही सोचनीय थी, कोई नहीं कहता था, कि उनका शरीर अब रहेगा। उन दिनों शास्त्री जी की अमेरिकन स्त्री उसकी एक बहिन तथा एक और अमेरिकन चित्रकार महिला उनकी रेख देख करती थी। उनकी सम्मति से और उस चित्रकार महिला के अनुरोध से हम उन्हें मसूरी ले गये। उन्हें शौच बहुत होते थे पैर जकड़ गये थे उठ बैठ नहीं सकते थे, उन्हें किसी अच्छे सेवक की बड़ी आवश्यकता थी। वे वहाँ अकेले थे। मैंने कहा—"मैं जाकर किसी आदमी को भेजूँगा। अनूपशहर लौटने पर मुझे गोविन्दजी का ध्यान आया, वह काशी विद्यापीठ में जब पढ़ता था, तब कुछ दिन उनसे पढ़ा भी था। मैंने उससे कहा—"तुम सेठजी की सेवा के लिये मसूरी जा सकते हो?"

उसने कहा—"आप जहाँ भी भेजेंगे वहीं जा सकता हूँ।" मैंने उसे भेज दिया और वह तुरंत ही चला गया। लगभग ६ महीने वह उनकी सेवा में रहा; और भगवत् कृपा से जब वे पूर्ण

स्वस्थ हो गये तभी वह लौटा। सेठजी ने मुझसे उसकी सेवा की बड़ी प्रशंसा की। जिसने सेवा के मर्म को जान लिया उसके लिये सभी दिशायें सुखमय है। नीति शास्त्रकारों का कथन है, कि यह सम्पूर्ण पृथिवी सुवर्ण पुष्पों से लदी है, इसमें सर्वत्र सुवर्ण के पुष्प खिले हैं, इसीलिये इसका नाम वसुन्धरा है, परन्तु उन फूलों को सब चुन नहीं सकते। तीन प्रकार के ही लोग चुन सकते हैं। एक तो वे चुन सकते हैं जो शूरवीर हों, दूसरे वे जिन्होंने किसी भी विद्या का विधिवत् लगन से अभ्यास किया हो और तीसरे वे जो सेवा करना जानते हों * गोविन्दजी ऐसे ही सेवकों में थे तभी तो वे अपनी जन्मभूमि से इतनी दूर यहाँ अनूपशहर में इतने लोक प्रिय बन गये।

कुछ दिनों पश्चात् सुना वे परलोकवासी बन गये। पता चला वे सेठजी के ऊपर के कमरे में रहते थे, सरदी के दिन थे, कमरा छोटा था, उसमें खिड़की बंद करने पर कहीं भी वायु जाने का स्थान नहीं था। रात्रि में वह सब दरवाजे और खिड़कियों को बंद करके सोया। सोते समय कोयलों से भरी अँगीठी जलाकर उसने कमरे में रखली। कोयलों से जो गैस निकली उससे वह सदा के लिये चिरनिद्रा में सोगया, प्रातःकाल जब वह नहीं उठा तो लोगों ने किसी प्रकार किवाड़ खोलकर देखा। गोविन्द तो मिला नहीं, वहाँ उसमें मिला गोविन्द का मृतक शरीर। जिसे उसके मित्रों ने अग्नि में जला दिया।

२—देवना

उसका नाम दीवानसिंह था, प्यार से सभी उसे देवना कहा

---

* सुवर्णपुष्पितां पृथिवीं विचिन्वन्ति नरा स्त्रयः।
शूराश्च कृत विद्याश्च ये तु जानन्ति सेवितुम्॥

करते थे। पूज्य श्री हरिबाबा ने जिस चामत्कारिक ढँग से जहाँ गंगाजीके बाँध का निर्माण किया था,जो हरिबाबा के बाँध के नाम से प्रसिद्ध है, मोलनपुर गाँव उस बाँध के किनारे ही था। मौलनपुर के पास ही श्री हरिबाबा की पक्की कुटिया, कीर्तन भवन, तथा और भी १०,२० पक्की कच्ची कुटियाँ थीं। कितने वहाँ उत्सव हुए, कितने दिनों तक वहाँ अखंड कीर्तन हुए, कितने बड़े बड़े विद्वानों के वहाँ प्रवचन हुए, कितनी रास मंडलियों और राम लीला मंडलियों की वहाँ लीलायें हुईं, इसकी कोई गणना नहीं। वे सब बातें स्वप्न हो गयीं। कसकने वाली, हृदय में गहरी टीस उत्पन्न करने वाली वे अतीतकी अनन्त स्मृतियाँ अवशेष मात्र हैं। उन दिनों ऐसा लगता था, भूपर वैकुंठ उतर आया है, आज न वह हरिबाबा जी की पीली कुटिया है, न वह विशाल संकीर्तन भवन है और न वह मोलनपुर ग्राम ही है, सभी गंगाजी की प्रबल धारा में बह कर विलीन हो गये। प्राणी गाँव के लिये, नामःके लिये, दाम के लिये सम्मान के लिये, कितना प्रबल प्रयत्न करता है, कहाँ गाँव है, कहाँ नाम है, कहाँ दाम है "संमीलिते नयनयो नहि किंचिदस्ति" एक प्रवाह में सब सफा।

हाँ, तो मैंने श्रीहरिबाबाजी की कुटी में रहकर "श्री श्री चैतन्य चरितावली" के लिखने का निश्चय किया। ६ महीने वहाँ रह कर चैतन्य चरितावली के पाँचों भाग वहीं समाप्त किये। नियमित कथा कीर्तन, सत्संग, महात्माओं का आगमन अबाधरूप से वहाँ चालू रहता था। सेवा के लिये लाला बाबूलालजी, रामेश्वरजी ने कई सेवक नियुक्त कर रखे थे। देवना उनमें से एक था। वह विशेषकर मेरी निजी सेवा में रहता था। वैसे तो इन्द्रजी आनन्द जी तथा और भी कई बन्धु साथ ही रहते थे। उस समय देवना की अवस्था रही होगी १०,११ वर्ष की, वह सीधा सादा अहर

जाति का अबोध बालक था, बाल्यकाल में उसकी माँ मर गयी थी, उसका पिता दूसरी स्त्री ले आया। वह घर से उपेक्षित था, उसे माता पिता का प्यार प्राप्त नहीं हुआ था। यह मानव प्राणी अनंत काल से प्रेम का प्यासा बना हुआ है। मानव क्या प्राणी मात्र प्रेम के लिये छटपटाते हैं। सिंह जो दूसरे जीवों को खालेता है,वह भी अपने बच्चों से,स्त्री से प्यार किये बिना रह नहीं सकता। चाहे भले ही भरपेट रोटी न मिले यदि किसी का प्रेम मिल जाय, तो प्राणी परम सुखी हो जाता है, इसके विपरीत चाहे खाने पीने का असंख्य वस्तुएँ क्यों न भरी हों भोजन, वस्त्र, महल, शैया, वाहन तथा अन्यान्य सुखोपभोग की कितनी ही वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में समुपस्थित क्यों न हों, यदि किसी का प्रेम प्राप्त नहीं है, कोई अपने से मीठा बोलने वाला नहीं है, कोई अपने को अपना कह कर पुकारने वाला नहीं है, तो वहाँ सबसे बड़ा दुख है, कारागार है नरक है। प्राणी प्रेम की खोज में ही देश विदेश भटकता फिरता है, इतने इतने पहाड़ों को नाँघता है, समुद्रों के अन्तराल से मोती निकाल लाता है, ये सब प्रेम प्राप्ति के ही प्रबल प्रयत्न हैं, प्राणी स्नेह का भूखा है, प्रेम का पिपासित है, अनुराग के लिये उतावला है, जहाँ इसे प्रेम मिलता है वहीं लुढ़क जाता है,उसी का बनकर रहना चाहता है,किन्तु इस स्वार्थ पूर्ण संसार में सच्चा प्रेम दुर्लभ है।

एक दिन गाँव के कुछ उपद्रवी लड़कों के साथ कहीं से वह कुछ अन्न चुरा लाया और उसके वे साथी लड़के गुड़ लाये या क्या हुआ अब घटना मुझे पूरी याद नहीं। मैंने उसे बहुत डाँटा। जब वह भोजनोपरान्त डरते डरते मेरे शरीर की मालिस करने आया तो मैंने उसे प्रेम से बहुत समझाया। वह रोने लगा और उस दिन से उसने प्रतिज्ञा की अब ऐसा कभी न करूँगा। और यथार्थ

में फिर कभी भी उसकी ऐसी कोई बात सुनने में नहीं आई।

मैं जब किसी विषय पर लिखता हूँ, तो तन्मय हो जाता हूँ सदा उसी भाव में भावित बना रहता हूँ, फिर मुझे शरीर की सुधि रहती नहीं। दूसरे लोग ही उसकी रेख देख रहते हैं, देवना-यन्त्र की तरह मेरे सब कामों को करता था, सेवा करते करते उसे इतना अनुभव हो गया था या मेरा भ्रम रहा होगा, कि उसे इस बात का पता चल जाता मेरे किस अङ्ग में विशेष पीड़ा है, उसे ही बार-बार दबाता वहीं मालिश करता। उसने कभी अपने काम में प्रमाद किया हो ऐसा स्मरण मुझे नहीं आता।

छै महीने में चैतन्यचरितावली के पाँचों भाग समाप्त हो गये ज्यों-ज्यों लिखता जाता था गीताप्रेस वाले उसे तुरन्त छापते जाते थे। पाँचवाँ खण्ड प्रेस को भेज दिया गया, अब अमुक तिथि को यहाँ से प्रस्थान करना है। उन दिनों पांडुरना के मास्टर नाहतकर अपने परिवार के सहित मेरे पास ठहरे थे, उन सबके साथ हमें हरिद्वार होकर सहस्रधारा जाना था और वहीं कुछ दिन गंधक के स्रोत के समीप विश्राम करने की बात थी। अब देवना को यह चटपटी लगी कि मैं किसी प्रकार महाराजजीके साथ ही चलूँ और सदा इनकी सन्निधि में ही रहूँ, किन्तु मेरे सम्मुख कुछ कहने का उसका साहस नहीं होता था। जब सब तैयारियाँ हो गयीं बिस्तर बँध गये, तो वह आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। मैंने प्यार से कहा—"देवना क्या बात है ?"

इतना सुनना था कि उसके धैर्य का बाँध टूट गया। वह फूट-फूट कर रोने लगा। मैंने उसके सिर पर हाथ रखा, पीठ थप थपाई और कहा—"अरे तू बड़ा पागललड़काहै रे। रोता क्यों है, बोल क्या बात है।" वह बोलना चाहता था, किन्तु उसकी वाणी अवरुद्ध थी। जब मैंने बार-बार पूछा, तनिक डाँटा भी, तब बड़े

कष्ट से उसने इतना ही कहा—"महाराज ! मैं भी आपके साथ ही चलूंगा।"

न जाने मैंने इस जीवन में कितने लोगों के हृदय को पीड़ा पहुँचायी है, साधु को और ऐसे साधु को जिसे दश लोग मानते हैं, बहुत ही फूंक-फूंक कर पैर रखने पड़ते हैं, उसे साथ ले जाने में मुझे कोई असुविधा नहीं थी। १०,२० आदमी साथ रहते ही थे, मुझे तो उसे साथ रखने में सब प्रकार की सुविधा ही मिलती। किन्तु एक तो यह भय कि लोग कहेंगे ये साधु गृहस्थियों के लड़कों को बहकाले जाते हैं, फिर दूसरे के बच्चे को मैं साथ कैसे रखूँ। मैंने उससे मना कर दिया। वह बहुत रोया, किन्तु मैं नहीं पिघला, नहीं ही पिघला। वह कुछ मन में निश्चय करके वहाँ से चला गया।

श्रीहरिबाबा जी के बाँध से बबराला स्टेशन ७,८ कोस है, कच्चा रास्ता है, बैलगाड़ी और हाथी के अतिरिक्त कोई अन्य सवारी नहीं। कुछ लोग हाथी पर चले कुछ बैल गाड़ियों से। ५,७ बैलगाड़ियों की टोली रात भर चलती रही। गाड़ी प्रातःकाल हरिद्वार की ओर जाने वाली थी। एक बहली में मैं सो गया, प्रातः सब गाड़ियाँ बबराला पहुँच गयीं। गाड़ियों से सामान उतरा था, तभी हमने देखा एक गाड़ी के पीछे देवना छिपा हुआ है। मैंने जाकर उसे पकड़ा। वह रो रहा था, निरन्तर उसके आँसू बह रहे थे। पूछने से पता चला वह गाड़ियों की ओट में छिपते-छिपते रात्रिभर पैदल आया है। सच्ची बात यह है कि मैं भी कुछ पत्थर का तो बना नहीं था हृदय तो मेरा भी भरा था, किन्तु यह कर्तव्य पालन एक ऐसा पहाड़ है, कि मनुष्य को बहुत-सी बातें अपने हृदय के प्रतिकूल भी करनी पड़ती हैं।

मैंने उसे डाँटा और कहा—"तू पागलपन मत कर, ये

गाड़ियाँ गँवे को लौटेंगी, तू उनके साथ लौट जाना।" किन्तु मुझे ऐसा लगा उसके हृदय में इतना आघात हुआ था, कि वह विक्षिप्त जैसा बन गया। दूर जाकर खड़ा हो गया। मैं समझ गया, यह चलती गाड़ी में बलपूर्वक चढ़ना चाहता है। नाहतकर जी की बहिनें उसकी ऐसी दशा देखकर रो रही थीं मुझसे कह रही थीं—महाराज! लेते चलो बच्चे को बड़ा दुःख है।" किन्तु मुझे न जाने उसदिन कैसा भूत सवार हो गया, मैंने कहा—नहीं, इस प्रकार दूसरे के बच्चे को ले चलना उचित नहीं।

मैंने स्टेशनमास्टर से कह दिया—"एक लड़का बलपूर्वक रेल मे चढ़ना चाहता है इसे चढ़ने न दीजियेगा।" इससे उसने भी कई आदमी नियुक्त कर दिये' मैंने भी गाड़ी हांकने वालों को नियुक्त कर दिया। वह प्लेटफार्म से आगे दूर जाकर खड़ा हो गया। गाड़ी आई, इंजन उससे कुछ पीछे ही रुका हम सब चढ़ गये। इंजन के पास तक लोग खड़े थे, अतः वह आया नहीं। सीटी देकर गाड़ी जब चल दी, तो वह मुट्ठी बाँध कर गाड़ी के साथ-साथ भागा। भगवान् जाने उसमें इतना बल कहाँ से आ गया मीलों गाड़ी के साथ मुट्ठी बाँध कर भागता ही रहा। उस समय मेरे मन की स्थिति कैसी होगी पाठक इसका अनुमान नहीं कर सकते। मैं उसे गाड़ी पर चढ़ाऊँ तो कैसे चढ़ाऊँ, मना करता हूँ तो उसे सुनाई नहीं पड़ता, सुने भी तो उस समय वह अपने आपे में नहीं था। यह बात मुझे उस समय सूझी ही नहीं। कि गाड़ी की जंजीर खींचकर उसे खड़ी करके देवना को चढ़ा लेता। जहाँ तक वह भाग सका भागता रहा, अंत में अचेत होकर या कहीं ठोकर खाकर गिर पड़ा। इसके पश्चात् मुझे देवना देखने को नहीं मिला। इसके कुछ ही दिनों पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के सम्बन्ध की एक विचित्र घटना

मुझे श्री स्वामी कृष्णानंदजी बंबई वाले ने,सुनाई थी।

स्वामी कृष्णानंदजी भी कभी-कभी बाँध पर ठहरते हैं, मोलनपुर के अहर उनकी सेवा सुश्रूषा करते हैं। देवना तो जो भी साधु वहाँ आता उसकी ही सेवा करता था। वह भी स्वामी जी के पास नित्य आया करता था। दो तीन दिन नहीं आया तो इन्होंने पुछवाया पता चला उसे ज्वर आता है, ये देख भी आये कोई विशेष ज्वर नहीं था। स्वामी जी कहते थे—रात्रि में मैंने स्वप्न देखा कि देवना के तो चार हाथ हो गये हैं, वह किरीट-मुकुट लगाये देवता बना आकाश में जा रहा है। स्वामी ने पूछा—"अरे देवना! तू कैसा बन गया, तेरे ये चार हाथ कैसे हुए?"

उसने कहा—"अब हम स्वामी जी! जा रहे हैं। श्री महाराज (श्री हरि बाबा जी) ने हमें वैकुंठ भेज दिया है।" इतने में ही स्वामीजी की आँखें खुल गयीं। वे तुरंत उठकर दौड़कर मोलनपुर आये। वहाँ देखा देवना का मृतक शरीर पड़ा है, उसके घर वाले उसे चारों ओर से घेर कर रुदन कर रहे हैं।"

३—माता दीन

उन दिनों मैं हंसतीर्थ की वटतर की कुटिया में रहता था। अकेला ही मातादीन मेरी सेवा में रहता था १३,१४ वर्ष का वह रहा होगा। जाति का अहीर था, बड़ा ही सौम्य सरल सदाचारी तथा सेवापरायण था। निरन्तर सेवा में लगे रहना यही उसका व्यापार था, वह बहुत ही कम बोलता था और बहुत ही कम आराम भी करता था। मुझे कभी-कभी सनक सवार होती थी। जैसे किसी को मृगी का रोग होता है, वैसे ही अब तो प्रायः वह समाप्त-सा ही हो गया है, पहिले मुझे वैराग्य का रोग था। जो कुछ पास हो उसे सबको बाँट बूट कर या छोड़कर चल देना। साथियों को छोड़कर भाग जाना। ऐसा प्रायः हो जाता था।

उन दिनों और अब भी अहीरों के बच्चों का बहुत ही छोटी अवस्था में विवाह कर दिया जाता है। उसका भी विवाह हो गया था, किन्तु वह कभी घर जाता ही नहीं था। जैसे तैसे उसे घर भेजते तुरंत लौट आता। उसके घर वालों ने मुझसे कई बार शिकायत की यह घर जाता नहीं। कुछ तो इस कारण से कुछ वैराग्य की झोंक में मैंने उससे कह दिया—"अब मैं सभी काम अपने स्वतः ही किया करूँगा,तुम अपने घर जाओ।"

वह जाना नहीं चाहता था, किन्तु मैंने उसे ठेल ठाल कर घर भेज दिया। घर में उसका मन कब लगने वाला था। एक दिन जन्माष्टमी के दिन वह मेरे पास आया और बड़ी ही दीनता से बोला—"महाराज, आज जन्माष्टमी है, आज के दिन कैदी भी छोड़े जाते हैं, लोगों को इनाम भी मिलता है, मेरी यही भीख है, कि मुझे सेवा में रख लीजिये।"

तब तक मेरा वैराग्य का ज्वर उतरा नहीं था, मैंने कहा—"मुझे अब किसी को रखना ही नहीं है।"

यह सुनकर वह अत्यंत ही उदास मन से चला गया। कुछ ही दिन पश्चात् उसका भाई रोता हुआ मेरे पास आया और उसने कहा—"माता दीन तो मर गया। जब से यहाँ से लौटा था, एकान्त में उदास रहता था।" मुझे बड़ा दुःख हुआ, मुझे स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी, इसका ऐसा परिणाम होगा। वैसे तो उसका समय ही आगया था, किन्तु मेरे मन में एक टीस रह गयी' यदि वह यहाँ रहता तो स्यात् न मरता।

४—मातादीन का भतीजा।

अब उसका नाम तो याद रहा नहीं। वह भी लगभग मातादीन के ही बराबर था। मातादीन के मरने पर उसका भाई उसे मेरे पास रख गया था, वह भी बड़ी लगन से सेवा करता था, हंस

तीर्थ के सन्ध्यावट के नीचे जहाँ मैं रहता था, उस स्थान के महन्त जी को यह सन्देह हो गया, कि संभव है,ये इस स्थान पर अपना अधिकार न जमालें। इनका इतना भारी प्रभाव हो गया है। अतः वे भीतर ही भीतर लोगो से मिलकर मुझे वहाँ से भगाने का प्रयत्न करने लगे। मेरे विरुद्ध एक न्यायालय में अभियोग भी आरम्भ कर दिया। कहानी बहुत बड़ी है,और बहुत रोचक भी है, किन्तु उसे छोड़ ही देता हूँ,अभियोग का निर्णय हमारे पक्ष में ही हुआ, किन्तु मुझे इससे बड़ी आत्मग्लानि हुई। मैंने मन ही मन निश्चय कर लिया—"कुंभ का मेला जिस दिन समाप्त होगा, उसी दिन इस स्थान को छोड़कर चल दूँगा।" कुंभ के अवसर पर वहीं सन्ध्यावट के आस पास डेढ़ या दो महीने के अखंड कीर्तन का आयोजन था, उसकी बहुत बड़ी तैयारियाँ की गयीं। नैपाल, काशी तथा और दूर दूर से कीर्तनकार बुलाये गये। मीलों के बीच में विस्तार था, सैकड़ों फूंस की कुटिया बन गयीं। एक बड़ा भारी इस पार झूसी में अभिनव नगर ही बस गया। प्रान्त प्रान्त के लोगों को ठहरने का पृथक् पृथक् प्रबन्ध था, कुंभ का मेला स्यात् फाल्गुन की अमावास्या को समाप्त होना था, उस दिन बड़ा भारी प्रीतिभोज हुआ। आज ही मेरा यहाँ से भागने का निश्चय था किन्तु मैंने किसी से भी भूल में भी इसकी चर्चा नहीं की। मैं जानता था जहाँ चार कानों में बात गयी ,कि फिर फैलते देर नहीं लगती। अपनी चेष्टा से भी मैंने ऐसी कोई बात प्रकट न होने दी। रात्रि के बारह बजे तक सब को भोजन कराता रहा। १२ बजे मैंने स्वयं प्रसाद पाया। चुपके से भगवान् को एक वस्त्र में लपेटा, सिंहासन पर फूल रख कर पर्दा डाल दिया। १०,५ आदमियों को साथ लेकर मैंने कहा—आज त्रिवेणीजी का विशेष पर्व है, चलें स्नान करनेके लिये। परमानंद,श्यामसुंदरजी उपाध्याय,कुंवर कायम

सिंह, आनंदजी, भगवन्, रामजी और कौन था मुझे याद नहीं नौका पर बैठ कर चले। एक नौका खाली साथ भी लेली। लोगों ने पूछा—"खाली नौका किस लिये ? मैंने कुछ इधर उधर की बात कह कर टाल दी। रात्रि में त्रिवेणी स्नान हुआ फिर अन्य सब लोगों को तो दूसरी नौका पर बैठा दिया और सबसे कह दिया कोई किसी को बतावे नहीं। मैं और भगवन् एक नौका पर बैठ कर गंगासागर के संकल्प से नौका में बैठ कर चल दिये।

इधर हमने ज्योंही कुटी को छोड़ा सुनते हैं उसके घड़ी भर पश्चात् ही एक राक्षस निकला। मानों वह राक्षस घात में ही बैठा हुआ हो और मेरे जाने की प्रतिक्षा ही कर रहा हो। वह राक्षस सियार के रूप में आया और उसने लोगों को काटना आरम्भ कर दिया, सबसे पहिले मातादीन का भतीजा था उसी को उसने काटा, फिर उसके सामने जो भी आया उसीको उसने काटा, सम्पूर्ण संकीर्तनधाम में भगदड़ मच गयी। मैंने तो यह दृश्य देखा नहीं किन्तु सबसे सुना अवश्य कि लोग लट्ठ ले लेकर उसे मारते किन्तु वह उछल उछल कर लोगों की नाकों को ही नोंच लेता। इस पर ५,७ आदमियों को उसने घायल किया। तभी तो मैं कहता हूँ वह कोई राक्षस ही था, सियार चाहे जितना भी पागल हो गया हो उसमें इतना साहस नहीं होता। अकेले दुकेले आदमी को पाकर काट सकता है। पूरे धाम के लोग जाग पड़े सब इकट्ठे हुए उसपर डंडों की मार पड़ी, अंत में बहुत से लोगों ने उसे मिलकर मार डाला। वहाँ कई सौ नर नारी थे, परन्तु यह किसी को भी नहीं सूझी कि चलकर ब्रह्मचारीजी को जगावें। यदि उस समय कोई मेरी खोज करता तो पलायन का भंडा फोड़ तुरंत हो जाता। सियार कांड समाप्त होनेपर सब सोगये। प्रातःकाल जब बहुत दिन चढ़ गया और 'हेनाथ नारायण वासुदेव,की ध्वनि सुनायी न पड़ी

तो लोगोंने पूछ ताछ की। हीरालाल ने बताया रातमें लौटे ही नहीं सिंहासन देखा गया, वहाँ भगवान् ही नहीं मैंने तो देखा नहीं सुना कि फिर जो रुदनकांड आरम्भ हुआ वह अभूतपूर्व था। कोई नर नारी ऐसा नहीं था जो ढाह मारकर रुदन न कर रहा हो। सब लोग अपने अपने बिस्तरे बांधकर चल दिये। प्रबन्ध करने वालों सबको सूचित कर दिया—"आज ही सब चले जायँ, रात्रि को सुरक्षाका भार अब हम पर नहीं।" एक ही दिनमें सहस्रों मनुष्यों की चहलपहल वाला संकीर्तन धाम जन शून्य बन गया। कई सौ फूंसकी कुटियाँ सूनी हो गयीं। फिर हुआ अग्नि कांड। किसी ने उन कुटियों में आग लगा दी। आकाश व्यापी होली जली।

सियार असुर ने जिन लोगों को काटा था उनमें से कई तो अस्पातल में जाकर मर गये। मातादीन का भतीजा घर पर जाकर मर गया। सेवक की सेवा का यह प्रतिफल सुनकर मुझे अपने दुर्भाग्य पर दुःख हुआ।

५—रामकृष्ण मूर्ति।

वह आन्ध्र प्रदेश के गुन्टूर जिले का था। आन्ध्र के प्रसिद्ध महात्मा दासशेषजी का एक मात्र पुत्र था। दो महीने के लगभग यात्रा में मेरे पास था। फिर सदा के लिये मेरी सेवा में रहने को वह प्रयाग आ गया था। कुछ दिन पश्चात् मेरे देखते देखते त्रिवेणी में डूबकर विलीन हो गया, बहुत खोजने पर उसका शव भी नहीं मिला, एक बार जो डूबा फिर उछला ही नहीं। उसके ऊपर मैंने "शोक शान्ति" नामक एक छोटी सी पुस्तिका लिखी है, जो झूसी संकीर्तनभवन से प्रकाशित हुई है, पाँच आने में मिलती है।

६—ठाकुर

उसका नाम क्या था, किसी को पता नहीं। प्रयाग के पास

ही किसी गाँव का वह रहने वाला था। एक लंगोटी लगा कर वह पागलों की भाँति संकीर्तन भवन में आया था। कुछ ही दिन में उसने मेरे यहाँ की सभी सेवा का भार सम्हाल लिया। वह निरन्तर मौन रहता था, केवल मुझसे ही बातें करता था। उस समय प्रेस में, भंडारे में और भी कई ठाकुर थे अतः सब उसे मौनी ठाकुर कहते थे। दो उसे काम थे एक तो मेरे यहाँ की सेवा करना, दूसरे भागवती कथा भागवत चरित का स्वाध्याय करना। प्रायः सम्पूर्ण भागवत चरित उसे कंठस्थ था, झाड़ू देते हुए, भगवान् के पार्षद मलते हुए, मंदिर धोते हुए, पानी खींचते हुए तथा अन्यान्य सभी काम करते हुए वह निरन्तर भागवत चरित का पाठ करता रहता। जब मैं किसी से कहता-"इसने पूरा भागवत चरित कंठस्थ कर लिया है, तुम इससे कहीं से पूछो।" तो जो भी जहाँ से पूछता उसका पाठ करने लगता। उसकी लय इतनी सुन्दर और आकर्षक थी, कि सुनने वाला मंत्रमुग्ध की भांति सुनता ही रहता। वह गाते गाते तन्मय हो जाता, उसी विषय में खो जाता, इसे शरीर की सुधि नहीं रहती। जो भी उसे देखता वही कहता-यह कोई योगभ्रष्ट योगी है। वास्तव में उसकी समस्त चेष्टायें 'एक वीतराग : स्थितप्रज्ञ की सी थीं। आश्रम में कुछ भी होता रहे, कोई किसी से कुछ भी कहता रहे, उसे किसी से कुछ प्रयोजन ही नहीं था। एक अबोध बालक की भाँति मुझसे आकर पूछता—"महाराज ! मैं अमुक कार्य करलूँ ?"

एक लँगोटी लगाये प्रातःकाल से रात्रि के १०। ११ बजे तक जब तक मैं सो न जाऊँ, वह निरन्तर काम में जुटा ही रहता। तब तक भागवती कथा के स्यात् ५६ या और अधिक भाग छप चुके थे। उसने कितनी बार सब का पारायण किया होगा, इसकी गणना नहीं। सैकड़ों ही बार किया होगा। मुझे तो याद भी नहीं

कौन-सी कथा किस खंड में है, उसे अक्षर अक्षर स्मरण था। कहीं की कथा पूछ लो, कहीं का प्रकरण पूछ लो, तुरन्त बता देगा। मेरे लिये तो वह सजीव बोलता चालता सचल भागवतीकथा का कोष था, कोई प्रसंग मुझे खोजना होता उसी से पूछ लेता, वह तुरन्त बता देता। उसका जीवन संयमित था। कार्यक्रम बँधा हुआ था। उसकी आँखें सदा चढ़ी ही रहतीं। ऐसी आँखें बहुत कम-सदस्रों लाखों मनुष्यों में से किसी की स्यात् ही-मिलें। वह सदा सर्वदा निजानंद में डूबा रहता।

न जाने किस बात पर उसका किसी से मत भेद हो गया। मुझे बात ठीक-ठीक याद नहीं। वह अकेला मेरे रहनेकी कुटियामें रहता था, मैं उन दिनों गोव्रत में दीक्षित होने के कारण गोशाला की एक कच्ची कुटिया में रहता था। मैंने सुना वह कहीं चला गया है। तीन चार दिन वह त्रिवैणी पार अरैल में किसी शून्य स्थान में रहा। किसी ने चने दे दिये उन्हें ही खाकर तीन चार दिन रहा। फिर लौट कर मेरे पास आ गया। मतभेद स्यात् कुछ भोजन के सम्बन्ध का था, वह अपना भोजन पहिले तो भंडार से ही लाता, फिर स्वतंत्र कुटिया में बनवाने लगा, फिर मेरे परोक्ष में कुछ हुआ होगा। मेरे पास आकर वह बहुत रोने लगा। मैंने कहा—तुम जैसे पहिले भंडार से भोजन लाते थे वैसे लाया करो या किसी से मँगा लिया करो। मेरी तो वह प्रत्येक बात स्वीकार करता था। कुछ दिन रहा फिर मुझसे बोला—"अब मुझे यहाँ रहने में संकोच-सा प्रतीत होने लगा है, मुझे वृन्दावन जाने की आज्ञा दें।"

मैंने कहा—"अच्छी बात है चले जाओ।" तब वह स्यात् पैदल ही पैदल यमुना जी के किनारे किनारे श्री वृन्दावन पहुँचा। पूरे मार्ग पैदल गया या कहीं से गाड़ी में बैठ गया

इसका मुझे पता नहीं। वहाँ जाकर वह श्री स्वामी चक्रपाणिजी महाराज के समीप रहने लगा। स्वामीजी यहाँ सदा विचरते ही रहते हैं, उनसे उसका परिचय ही था। वहाँ एक बार जो भी रूखी सूखी मिल जाय, उसे पाकर शेष समय में भागवती कथा पढ़ता रहता भागवतचरित का पाठ करता रहता। एक पल भी न वह व्यर्थ बैठता न कहीं दर्शन करने ही जाता। स्वाध्याय समाधि में ही मग्न रहता।

जब मैं श्री वृन्दावन गया तो मेरे साथ ही रहा, फिर साथ ही साथ आश्रम में आ गया। कुछ दिन आश्रम रहा। फिर मुझसे बोला—"अब मुझे यहाँ रहने में संकोच होता है, आज्ञा हो तो मैं बाहर घूमूँ।"

मैंने कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

वह अपनी पुस्तकों का गट्ठर बना कर चला गया। प्रतीत होता है, यहाँ से वह अपने घर को गया। घर पर उसकी माँ और एक छोटी बहिन थी। बहिन का विवाह हो चुका था। माँ के पास ही रहने लगा। वहाँ भी वह मौन ही रहता और निरन्तर स्वाध्याय में डूबा रहता। किसी से बोलना नहीं, चालना नहीं। समय पर माँ जो बना कर दे देती, एक बार उसे ही खाकर फिर पढ़ने में लग जाता। डेढ़ या दो वर्ष वह अपनी माँ के समीप रहा।

एक दिन उसकी माँ रोते-रोते आई और बोली, कि आपका बच्चा तो चला गया।"

मैंने पूछा—"कहाँ चला गया?"

उसने ऊपर उँगली उठाकर कहा—रामजी के पास। उसकी माँ ने बताया कि उसने पहले ही कह दिया था अब चोला छोड़ेंगे। और स्नान किया लेट गया, लेटा का लेटा ही रह

गया।" उसकी माँ ने उसके सम्बन्ध की बहुत-सी बातें बताईं जब तक वह रही उसी के सम्बन्ध की चर्चा करती रही। उन सब बातों को लिखकर बात का विस्तार क्यों बढ़ाना। तभी मुझे 'सेवक संस्मरण' लिखने की प्रेरणा मिली, औरों के संस्मरणों को पाठक पाठिकायें भूमिका समझे ठाकुर का संस्मरण ही लेख का उद्देश्य था; वह लिख कर लेख समाप्त हो गया।

उप संहार

"सेवक संस्मरण" तो समाप्त हुआ, किन्तु उपसंहार में दो महानुभावों का स्मरण कर लेना अत्यावश्यक है, यद्यपि उन की गणना मैं सेवकों में नहीं करता। वे लोग विद्या में, बुद्धि में, वय में, पद प्रतिष्ठा में तथा अन्य सभी बातों में मुझ से बड़े थे, मैं पितृवत उन का आदर करता था, उन से कोई शारीरिक सेवा तो ले ही नहीं सकता था, फिर भी सेवा तो वे करते ही थे और सच्चे हृदय से करते थे, स्वयं वे अपने को सेवक ही मानते थे, अतः इस प्रकरण में उन के स्मरण के लोभ को मैं संवरण नहीं कर सका। वे दो हैं श्री रामदयालु बाबू और हिम्मत सिंह जी महेश्वरी

श्री रामदयालु बाबू

बिहार प्रान्तीय धारा सभा के वे अध्यक्ष (स्पीकर) थे,जन्म स्थान उनका मुजफ्फरपुर जिले में था। वहाँ के प्रसिद्ध वकील थे जिलाबोर्ड के सभापति रहे, राजनीति में सक्रिय कार्य करने से बिहार के सर्ववरिष्ट नेता बन गये। उनसे प्रधान मंत्री बनने को भी कहा गया, किन्तु बहुत आग्रह पर उन्होंने धारा सभा का अध्यक्ष होना ही स्वीकार किया। वे वैष्णवी दीक्षा में दीक्षित थे अयोध्या जी से उनका सम्बन्ध था, अपने यहाँ सदा श्री सीताराम का कीर्तन कराते रहते। उन्हें जो अर्दली तथा अन्य सरकारी नौकर मिले थे उनका काम यही था, वे झाँझ ढोलक पर सदा

कीर्तन करते रहें। वे कहते थे—"जब तक कानोंमें रामहल्ला न पड़े तब तक मुझे कुछ अच्छा ही नहीं लगता, कुछ काम ही नहीं कर सकता।" बाहर भी जाते तो भी उनका यह क्रम ज्योंकात्यों रहता। एक दिन भारतके सभी प्रान्त के स्वीकरों की शिमला या मंसूरी में एक सभा हुई, उसमें से लौटते हुए वे मेरे पास आये, उन्हें कुछ शारीरिक कष्ट था। बातों ही बातों में मैंने कहा-"आप यहाँ रहें तो अच्छा है। उन्होंने कहा—"जैसी सरकारकी आज्ञा।" यहाँ का उन दिनों का अंगरेज राज्यपाल उनका परिचित था, बिहार में वह रह चुका था, प्रधान मंत्री, मंत्री सभी उनके सहयोगी मित्र थे, उसी दिन उन्होंने भूमि के लिये प्रार्थना पत्र भेजा। स्वीकार होने में तो देरी ही क्या थी। जिस कुटीमें आज कल मैं रहता हूँ पहिले उसी को उन्होंने अपने निवास के लिये बनाया था। जहाँ आज कल कथा मंडप डाकखाना तथा औषधालय हैं,वहाँ उनके अर्दली आदि रहते थे। कुटी की प्रत्येक ईंट सीताराम सीताराम बोलते हुए रखी गयी। एक आदमी की नियुक्ति थी वह राज नौकरों से सीताराम कहलाता रहे, स्वयं सीताराम कहे। फिर वे सपरिवार-आकर भूसी में बस गये। इतने बड़े आदमी होने पर एक अबोध सेवक की भाँति वे मेरे छोटे से छोटे काम को करने को सदा उद्यत रहते और करते भी थे, उन दिनों कांग्रेसी मंत्रि मंडलों ने त्याग पत्र दे दिया था, किन्तु धारासभा का अध्यक्ष तो दलबन्दी से ऊँचा समझा जाता था, अतः वैधानिक रीति से उसके त्याग पत्र का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। अध्यक्ष का जो भी कार्य होता वे यहीं से बैठे बैठे करते। वे एक परम आस्तिक सात्विक स्वभाव के

भगवत् भक्त थे। उनके सम्बन्ध की बहुत बातें हैं वर्षों साथ रहे हमारे सभी उत्सवों में उनका सब प्रकार से सहयोग रहा। चिकित्सा सम्बन्धी सम्मति देने के कारण मेरा अत्यंत घनिष्ट उनसे सम्बन्ध रहा। जब मेरा सन्ध्याबट से पलायन कांड हुआ और मैं रात्रि में चुपके से चला गया। तब उन्हें तथा सभी को यह विश्वास हो गया कि अब मैं लौट कर झूसी नहीं आऊँगा, और तीन वर्ष तक मैं इधर उधर घूमता ही रहा। तब वे भी अपना झोली डंडा उठा कर झूसी से सदा के लिये चले गये। मदरास में मुझे समाचारपत्रों द्वारा पता चला वे तो इह लौकिक लीला समाप्त करके पर लोकवासी बन गये, उनकी स्मृति तो यहाँ के कण कण में निहित है, दैव की लीला तो देखिये जो कुटी उन्होंने बड़े उत्साह से अपने लिये बनवाई थी, आज उसमें यह भागवती कथा लिखी जा रही है,

श्री हिम्मतसिंहजी माहेश्वरी।

महेश्वरी जी कुल से विद्या से समाज में बड़े सम्मानित व्यक्ति माने जाते थे। उनके पाँच पुत्र हैं और पाँच ही पुत्री। एक पुत्री तो सेठ गोविन्द दास जी के पुत्र से विवाही हैं जो मध्य प्रदेश में उपमंत्री हैं। बड़ा लड़का सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला की लड़की से विवाहा है, इसी प्रकार उनका सम्बन्ध भारतवर्ष के प्रायः समस्त सम्मानित महेश्वरी वैश्यों में था। उन्होंने डिप्टी कलेक्टरी से बढ़ते बढ़ते उपराज्यपाल (चीफ कमिश्नर) तक का पद प्राप्त किया था। वे बड़े से बड़े उत्तरदायित्व पूर्ण पद पर

रहे, किन्तु अपने कार्य में कभी प्रमाद नहीं किया। वे उत्तर प्रदेशीय 'अयोग्य अप्राप्तवयस्क भूप संरक्षक संघ'(कोर्ट आफ वार्ड्स) के बहुत दिन तक अध्यक्ष रहे। वह ऐसा पद था कि चाहते तो बड़ी सरलता से लाखों रुपये एकत्रित कर सकते थे, किन्तु उन्होंने कभी किसी प्रकार की उत्कोच (घूँस) नहीं ली। वे बड़े आवेग में कहा करते थे—"महाराज ! मैंने कभी बेईमानी नहीं की, रिश्वत नहीं ली, मैं किसी से क्यों डरूँ ? वास्तव में वे बड़े ही निर्भीक थे जोधपुर, जयपुर, कश्मीर और भी कई राज्यों में वे मंत्री रहे बंगाल के एक राज्य के प्रधान मंत्री भी रहे और अंत में मणिपुर राज्य के प्रधानशासक उपराज्यपाल (चीफ कमिश्नर) बनाये गये। वहाँ जब तक रहे तब तक उन्होंने बड़ी योग्यता और वीरता से शासन किया। ब्रह्मा रंगून की मणिपुर की सीमा मिली रहने से गड़ बड़ी की संभवना रहती है, नागाओं का भी उपद्रव होता रहता है अब भी चल रहा है। अपने शासनकाल में ये सब को शांत करते रहे। अंत में ये उसे भी छोड़ कर चले आये और प्रयाग में जहाँ उन्होंने पहिले ही अपना केसर भवन स्थान बना लिया था उसी में रहने लगे। पुराना घर उनका काशी में था। वे बड़े स्पष्ट वक्ता थे, बहुत ही खरी बात कह देते थे, उनमें सभी गुण ही गुण थे। एक ही बात खटकने वाली थी, कि वे बिना गाली के बात नहीं करते थे। गाली मानों उनकी टेक थी जीवन भर शासन करने से यह उनका स्वभाव पड़ गया था, वैसे बड़ी शिष्टता सभ्यता से बातें करते थे। साधु महात्माओं ब्राह्मणों

का बड़ा आदर करते। भगवान् की कथा सुनते सुनते उनकी आखों में टप टप आँसू गिरने लगते। नित्य नियम से कथा सुनते, जो काम करते मर्यादा के साथ करते, जिसे जो वचन दे देते उसका यथा शक्ति पालन करते। जीवन में उन्होंने धन कभी इकट्ठा किया ही नहीं, उसकी वे आवश्यकता भी नहीं समझते थे। उन्हें पर्याप्त सेवान्त पारिश्रमिक (पेंसिन) मिलती थी। बड़े बच्चे अपना कारबार करते हैं,वर्तमान शासन की धर्म हीनतासे वे बहुत अधिक चिढ़ते थे। धर्म निरपेक्ष (सेक्यूलर) शब्द से तो वे भड़क उठते। हिन्दुकोडबिल के तो वे परम शत्रु थे, कांग्रेसियों को तो ऐसी खरी खोटी सुनाते कि हँसते हँसते पेट फूलने लगता था, स्वयं इतने गंभीर बने रहते कि किसी का उनके सामने कुछ कहने का साहस नहीं पड़ता। सत्य बात को वे बिना किसी हिचक के कह देते। मुझ से तो बड़ा ही स्नेह रखते, मैं भी उनका बड़ा आदर करता। सभी जानते हैं, मैं अपने जीवन में कभी न चुनाव के चक्कर में पड़ा, न कभी सभा समिति का सदस्य ही बना। आरंभ से ही मुझे इन वर्तमान सभा समिति और न्यास आदि की बनावटी बातों से तथा दिखावटी नियम उपनियमों से बड़ी घृणा रही है। यह बात सर्व सम्मत है,कि साधुओंको इन संसारी चुनाव, राजनैतिक झंझटों में न पड़ना चाहिये, विवशता की बात दूसरी है। कौन पुरुष चाहता है हम शौचालय में बैठे रहें। किन्तु जो अर्श से विवश हो जाते हैं, उन्हें इच्छा न रहने पर भी घंटों शौचालय में बैठना पड़ता है।

गण तन्त्र के सर्वप्रथम चुनाव में यदि महेश्वरी जी अत्यधिक आग्रह न करते, तो मैं स्यात् कभी खड़ा न होता। उन्होंने इतना आग्रह किया कि मैं उनकी बात को टाल न सका, मेरे भी मन में छिपी वासना थी ही। यद्यपि उनके पास विशेष द्रव्य नहीं था, किन्तु जो था उन्होंने अपना सर्वस्व लगा दिया, चुनाव का अधिक व्यय भार उन्होंने अपने पास से ही वहन किया। उनके पास एक मोटर थी। अपनी धर्मपत्नी को साथ लेकर वे रात दिनों गांवों में घूमते रहे। कोई अपने लड़का लड़की के विवाह में भी इतनी तन्मयता नहीं दिखावेगा जैसी तन्मयता से उन्होंने उन दिनों काम किया था। मुझे तो कोई चिन्ता ही नहीं थी। हारने जीतने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। खेल था, मेरा तो विनोद था, किन्तु बाबू जी बड़ी लगन से काम करते थे। चुनाव के परिणाम से उन्हें सन्तोष ही रहा।

उस दिन इसी फागुन में मणिपुर की महारानी आई थीं। मैंने उन्हें बुलाया था, सपत्नीक वे यहाँ आये। बड़े प्रेम से बातें करते रहे। मेरी उनसे यह अंतिम भेंट थी। कह तो वे पहले से ही रहे थे, कि अब बहुत दिन जीना नहीं है, चला चली का डेरा है, किन्तु हमें विश्वास नहीं था। बूढ़े आदमी ऐसे कहते ही रहते हैं। श्री बद्रीनाथ आदि की तो वे सब यात्रा कर आये थे। पिछले साल कहा—दक्षिण की यात्रा रह गयी है उसे कर आऊँ। वे पं० हनुमत् दयाल जी को लेकर सपत्नीक दक्षिण की यात्रा में गये और वहाँ के सभी प्रसिद्ध तीर्थों के दर्शन किये। उस

दिन आये थे कह रहे थे—"अयोध्या और काशी मुझे और जाना है।" अब के चुनाव में रज्जू भैया ने उनसे कहा—"भाई साहब ! आप खड़े हो जाइय।" वे बोले—"अरे, भाई ! अब कितना जीना है, तुम्हें शीघ्र ही उपचुनाव कराना पड़ेगा। मैं अब पाँच वर्ष किसी प्रकार नहीं जी सकता।" ऐसा लगता था मानों उन्हें सब पता था, अभी उस दिन वैशाख में ही वे काशी गये। वहाँ उनका पुराना घर बगीचा था, उसी के सम्बन्ध में सपत्नीक गये थे। न वहाँ कोई लड़का था न लड़की, न सगा न सम्बन्धी। अपने बगीचे वाले घर में गीता पढ़ रहे थे। फिर बोले—आज मेरे कुछ थोड़ा दर्द होता है, भूख भी लग रही है।"

उनकी पत्नी ने कहा—"लाओ, कुछ बना दूँ।"

आप बोले—"नहीं, तुम मत बनाओ, महाराज बना लेंगे तुम तो मुझे गीता सुनाओ।"

वे बैठकर गीता सुनाने लगीं, गीता सुनते सुनते ही 'हरये नमः' उनकी पत्नी ने जब देखा कुछ बोलते नहीं, तो शरीर को टटोला। तब तक तो पंछी पींजड़ा छोड़कर उड़ गया था, केवल निर्जीव पींजड़ा ही अवशेष था।

मैंने कहा—"बाबूजी ! आप एक गौ अवश्य लेलें। उन्होंने कहा—"चहता तो मैं भी हूँ किन्तु कोई अच्छी मिलती नहीं तलाश कर रहा हूँ।" खोजते खोजते उन्हें एक हरियाने की सुन्दर गौ मिली। उसे लाकर रखा स्वयं उसकी रेख देख सेवा करते थे। नाम उसका रखा कामधेनु, अपनी धर्मपत्नी से कहा—देखो, यदि पहिले तुम मर गयीं तो इस गौ को मैं आश्रम में भेज दूँगा और मैं मर जाऊँ तो तुम इसे आश्रम मे भेज देना।" उनके

परलोक गमन के अनंतर उनकी धर्मपत्नी ने कामधेनु को आश्रम में भेज दिया है, मैं उसे गौशाला से पृथक् अपनी कुटी में ही रखता हूँ, वह गौ उनकी स्मृति को नूतन बनाये रखती है।

ये मेरे कोई सम्पूर्ण संस्मरण नहीं हैं, लिखते समय जो याद आगये उनका स्मरण कर लिया। इस छोटे से जीवन में बहुतों से परिचय हुआ। बहुत लोग संसर्ग मे आये। बहुत चल बसे, जो बचे हैं उनको भी एक दिन उसी मार्ग में जाना है, और ये लोह की काली लेखनी लिये, दाढ़ी बाल बढ़ाये, सफेद कागदों को काले करने वाले श्री ब्रह्मचारी जी महाराज भी उसी मार्ग को जायँगे। जब सब का जाना निश्चित ही है, जब सभी उसी पथ के पथिक हैं, तब किन किन की याद करें ? किन किन के संस्मरण लिखें ? किन किनके लिये रोवें ? किन किनके लिये आँसू बहावें ? किसी कवि ने कैसी हृदय को लगने वाली सत्य बात कही है।

नदी नाव का पैठनों, पलक एक की प्रीति।
पल में पिछड़े जात हैं, यही जगत की रीति॥
हम देखे जग जात है, जग देखे हम जायँ।
हम तो बैठे राह पै, किस किस कूँ पछितायँ॥

बस, तो अब तो बड़ी भूमिका हो गई, अब भगवान् की स्तुतियों को पढ़िये, सुनिये और श्रद्धा भक्ति के साथ उन्हें मनन कीजिये। मरना जीना तो लगा ही रहता है, जो जन्मा है वह मरेगा। जो मरा है वह जनमेगा, उसका सोच भी करें तो लाभ क्या ? चिन्ता ही करें तो हाथ क्या लगेगा ? दुःख ही करें तो इससे मिलने मिलाने का तो कुछ है नहीं, इन संस्मरणों को पढ़कर अपने भी चलने की तैयारी में जुट जाओ। बोरिया

बिस्तरा बाँधकर तैयार हो जाओ, उस काल सर्प के कवल बनने को उद्यत हो जाओ। यह काल रूपी सर्प किसी न किसी दिन सब को डस लेगा, इसकी पकड़ से कोई छूट नहीं सकता, इसके लिये कोई मंत्र नहीं, तन्त्र नहीं, झाड़ नड़ीं, फूँक नहीं, जादू नहीं टुटका नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं। डसेगा तो सभी को, हाँ इसका विष व्याप्त न हो इसकी एक ओषधि अवश्य है। ओषधि भी दस बीस नहीं। एकमात्र ओषधि है और परीक्षा की हुई, कभी असफल न होने वाली रामबाण ओषधि है। वह क्या ओषधि है? यही कि सर्वावस्था में सभी समय हरि भगवान् का चिन्तन करते रहो। उनकी प्रार्थना स्तुति में लगे रहो।

संसार सर्पदष्टानामेकमेव सुभेषजम्।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा हरिचिन्तनम्॥

छप्पय

काल सरप अति बली डसै सबई जीवनिकूँ।
पशु पच्छी तरु लता तजै नहिं नर नारिनि कूँ॥
मूरख पंडित बली दीन राजा अरु रानी।
बिवश होय मुख घुसैं चलैगी नहिं मनमानी॥
डसै किन्तु व्यापै न विष, औषधि ताकी है सहज।
सब थल, सब थिति, सरवदा, राम कृष्ण गोविन्द भज॥

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर प्रयाग
श्रीकृष्णजन्माष्टमी २०१४ वि०

प्रभुदत्त

नाग पत्नियों द्वारा कृष्ण स्तुति [१]

(९२)

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिन्-
स्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे
र्धत्से दमं फलमेवानु शंसन् ॥*॥
(श्रीभा० १० स्क० १६ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

कालि दमन हित कृष्ण कदम चढ़ि कूदें ह्रद में ।
नाग फननि पै नृत्य करें सुर हरषें मन में ॥
अहि अति व्याकुल भयो नाग पतिनी तहँ आईं ।
शिशु चरननि में डारि जोरि कर विनय सुनाईं ॥
प्रभु समदरसी देह धरि, करत दमन खल जननि को ।
धन्य भयो प्रभु पद परसि, दें सुहाग हम सबनि को ॥

जो भाव लोक में गर्हित समझे जाते हैं, उन्हें ही यदि भगवान् भक्तों के आनन्द हित करते हैं, तो यह उनको

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई नाग पत्नियाँ कह रही हैं—"प्रभो ! आप का अवतार दुष्टों के निग्रह के निमित्त ही हुआ है, इस दृष्टि से आपने जो इस नाग को दंड दिया है वह न्याय संगत ही दिया है । आप के लिये जैसा ही शत्रु वैसा ही पुत्र । आप जो शत्रु को दंड देते हैं वह द्वेष वश नहीं किन्तु उनके पाप के प्रायश्चित्त के ही निमत्त देते हैं ।

प्राणिमात्र परअनुग्रह ही है। जैसे क्रोध करना बुरा कार्य है, किन्तु भक्तों का विपत्ति भंजन करने के निमित्त किसी खल-रजभाव के व्यक्ति पर क्रोध करते हैं, तो यह भक्तों के ऊपर तो ममता है ही उन खलों के ऊपर भी अनुग्रह है, क्योंकि इसी कारण उन्हें भगवान के दर्शन हो जाते हैं देव का कोप भी वरदानके तुल्य होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यमुनाजी के एक ह्रद में सौभरि ऋषि की दया के कारण गरुड़ से भयभीत हुआ कालिय नाग बस गया,उसने यमुनाजलको दूषित बना दिया था। जो उस ह्रद का जल पीलेता वहीं मर जाता। भगवान् ने उस कुण्ड को विशुद्ध बनाने का विचार किया वह कुण्ड के किनारे के एक बड़े भारी कदंबके वृक्षके ऊपर चढ़ गये और वहाँ से उस में कूद पड़े। बड़ी देर तक भगवान का कालिय नाग से युद्ध हुआ अन्त में नाग परास्त हो गया, भगवान् उस के फणों पर नृत्य करने लगे। कालिय रक्त वमन करने लगा। नागपत्नियों ने जब देखा हमारा पति अत्यंत ही श्रमित हो गया है, तो वे अपने छोटे छोटे नन्हें बच्चों को लेकर रोती हुई भगवान् के समीप आईं और हाथ जोड़ कर बड़ी दीनता से आर्त स्वर में स्तुति करने लगीं।

सूतजी कहते हैं—"नागपत्नियाँ भगवान्‌की स्तुति करती हुई कहती हैं—"प्रभो ! आप सर्वज्ञ हैं सर्वविद् हैं, मङ्गलमय हैं न्यायकारी हैं। आपके सभी कार्य मङ्गलमय तथा जीवों के हित के ही निमित्त होते हैं। इस नाग ने प्राणियों का अनिष्ट किया था। यह अपराधी था। अपराधी को दंड देना स्वामी का कर्तव्य ही है, क्योंकि दुष्कृतियों के विनाश के निमित्त ही तो आप का अवतार होता है। दुष्टों का दमन आप के ही द्वारा न हो तो किसके द्वारा हो। आप किसी को द्वेषवश दंड नहीं देते, क्योंकि आप समदर्शी हैं। न तो जगत् में आपका कोई अपना है, न

पराया, न कोई शत्रु है न मित्र, आपके लिये शत्रु मित्र, पुत्र तथा रिपु दोनों समान हैं। पापी को जो आप दंड देते हैं, तो क्रोध में भरकर उसके अनिष्ट के निमित्त नहीं देते। आपके दंड देने से उसके पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है, यह आपका उनके ऊपर परम अनुग्रह है। आपका दंड पा लेने से वे पापी निष्पाप बन जाते हैं, उनके कल्मष दूर हो जाते हैं।

सर्प योनि कोई पुण्य का फल तो है नहीं। कोई धर्मात्मा है निरन्तर धर्म कर रहा है इससे उसके तीन जन्मों का बोध हो जाता है। पूर्व जन्म में उसने धर्म किया होगा, तभी तो उसे धर्मात्मा पुरुष की योनि प्राप्त हुई है। अब यदि वह धर्म कर रहा है तो आगे उसे इससे भी बड़ी धर्मात्मा योनि प्राप्त होगी। इसी प्रकार कोई पापी है और निरन्तर परपीड़ा रूपी पाप करता रहता है, तो इससे अनुमान होता है कि पूर्व जन्म में इसने पाप किये होंगे, तभी तो यह पापयोनि में प्रकट हुआ। अब भी पाप कर रहा है इससे आगे भी पापी होगा। इसी न्याय से परपीड़ा पहुँचाने वाली यह सर्प योनि इसे मिली है, इससे इसका पूर्व जन्म में पापी होना तो प्रत्यक्ष ही है। अब भी यह प्राणियों को पीड़ित ही करता रहा है, किन्तु इसके कोई पूर्वजन्म के पुण्य उदय हुए हैं। कि आपने घर बैठे कृपा करके इसे दर्शन दे दिये। इसे अपने अंगस्पर्श का देव दुर्लभ सुयोग प्रदान कर दिया। हम तो इसे आपका परम अनुग्रह-अत्यन्त कृपा-ही मानती हैं।

यद्यपि बाह्य दृष्टि से देखने पर आपने इस पर क्रोध किया है, किन्तु हे देव! आपका क्रोध भी वरदान के तुल्य है। युद्ध में बहुत से असुर दैत्य क्रोध में भरकर आप पर प्रहार करते हैं-आप को मारने की चेष्टा करते हैं—उन्हें गरुड़ पर चढ़ कर आप अपने सुदर्शनचक्र से मार डालते हैं, आपके हाथों मरकर वे लोग

संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, तो वह आपका क्रोध हुआ या वरदान हुआ ?

हे सर्वज्ञ ! सहस्र जन्मों में तपस्या, यज्ञ तथा दानादि द्वारा जो पुण्य किये जाते हैं, उन पुण्यों के फल से ही कभी आप के दर्शन हो सकते हैं। संसार में तपस्या और धर्म ये दो बहुत ही दुर्लभ हैं। प्रायः ! देखा गया है, कि जो तपस्या करते हैं उन्हें क्रोध आ जाता है, तपस्या के साथ ही साथ उनका अभिमान भी बढ़ जाता है। अभिमानी पुरुष में दीनता नहीं होती, वह दूसरों का सम्मान नहीं कर सकता जो निरन्तर तपस्या करता हुआ भी उसके अभिमान से रहित है, उसमें दीनता है-और दूसरों का भी जो मान करता है, वही सच्चा तपस्वी है। ऐसे अमानी मानद तपस्वी की तपस्या से ही तुष्ट होकर आप उसे दर्शन देते हैं, प्रतीत होता है इस नाग ने भी पूर्वजन्म में कभी ऐसा तप किया होगा, तभी यह आपके अनुग्रह का भाजन बन सका।

हे धर्मावतार ! धर्म का पालन भी सब कोई नहीं कर सकते। धर्मपालन असिधाराव्रत है। समस्त जीवों पर दया करते हुए स्वधर्म का पालन जो करते हैं, उन धर्मात्माओं पर आप संतुष्ट हो जाते हैं। क्या कभी इस नाग ने किसी जन्म में सर्वजनानुकम्पा ऐसे किसी धर्म का आचरण किया था, जिसके फल स्वरूप आपके पादस्पर्श का इसे देवदुर्लभ सुयोग प्राप्त हो सका ?

प्रभो ! आपके चरणोंका स्पर्श प्राप्त होना यह साधारण पुण्यों का फल नहीं है। लक्ष्मीजी तो अत्यन्त सुन्दरी हैं, अत्यधिक सुकुमार हैं, फिर भी उन्होंने इन चरणों की रज प्राप्ति के निमित्त चिरकाल तक कठोर तप किया था, बड़े-बड़े व्रतोपवास किये, तब कहीं जाकर उन्हें आपके चरणों की रज प्राप्त हुई। इस जन्म में तो हमारे पति ने ऐसा कोई पुण्य कर्म किया नहीं, ऐसा कोई

कठोर तप किया नहीं, जिसके फल स्वरूप इसे ऐसा सुयोग प्राप्त हो सके। प्रतीत होता है, किसी जन्मान्तर का यह पुण्य उदय हुआ है। किसी अपर जन्म के सुकर्म का यह प्रभाव है कि इसे आपके पादपद्मों को पुण्य पराग के स्पर्श का अधिकार प्राप्त हो सका है।

हे पुण्यश्लोक! आपकी पदरज का प्रभाव साधारण नहीं है वह सब किसी को प्राप्त भी नहीं हो सकती। आपके भक्तों से कोई कहे कि आप भगवान् की चरणरज की इतनी इच्छा क्यों करते हो। क्यों नहीं स्वर्ग को ग्रहण कर लेते, जहाँ कामग विमान हैं, पीने को अमृत मिलता है, घूमने को नन्दनकानन जैसे दिव्य वन और क्रीड़ा के लिये एक से एक सुंदरी अप्सरा। ऐसे स्वर्ग में जाकर सुखोपभोग करो, तो वे भक्त आपकी पदरज के आगे उन स्वर्गसुखों को ठोकर मार देते हैं।

हे भक्तवत्सल! जब आपके भक्त स्वर्ग सुख नहीं लेते तो उनसे कहा जाता है, अच्छा समस्त पृथिवी के एकछत्र शासक बन जाओ। जो चाहे सो करो, जितना चाहो दान पुण्य करो किन्तु आपकी चरणरज के सम्मुख समस्त पृथिवी के आधिपत्य को वे तुच्छातितुच्छ समझते हैं। कोई उन्हें सार्वभौम पद भी देना चाहे, तो उसकी ओर भी वे आंख उठाकर नहीं देखते। फिर उनसे कहा जाता है, अच्छा अणिमा, गरिमा, महिमा, ईशत्व वशित्व आदि योग की सभी सिद्धियों को ले लो, प्रभु पदरज प्राप्ति के आग्रह को छोड़ दो, तो वे इस बात को किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते।

हे दयालो! फिर उनसे कहा जाता है, अच्छा जाने दो तुम चतुर्दश भुवनों के स्वामी लोकपितामह वेदगर्भ ब्रह्मा ही बन जाओ, तो आप की चरणरज के सम्मुख ब्रह्मपद की भी वे अव-

हेलना कर जाते हैं, उसे भी हेय बताते हैं। तब उनसे कैवल्य मोक्ष के लिये कहा जाता है, किन्तु वे आप की चरणरज के सम्मुख मुक्ति का भी आदर नहीं करते। मुक्ति को भी वे ग्रहण करने में हिचकिचाते हैं। ऐसी है आप की चरणरज की महिमा। उस चरणरज को इस सर्प ने अनायास ही प्राप्त कर लिया। यह तपस्या करने वन में भी नहीं गया। घर बैठे ही इच्छा न करने पर ही इसे अपने आप प्राप्त हो गई।

प्रभो! आप की चरणरज सरल सीधे सौम्य सतोगुणी पुरुषों को ही चिरंतन की तपस्या के अनंतर प्राप्त होती है। यह नागराज स्वभाव से ही क्रोधी है, आकरण क्रोध करता है, बिना अपराध के भी प्राणियों को पीड़ा पहुँचाता है। योनि भी इसकी अत्यंत अधम है। सदा तमोगुण में व्याप्त रहता है। तमोगुणी स्वभाव का तो है ही। आश्चर्य की बात यही है कि ऐसे क्रोधी, तमोगुणी, क्रूरस्वभाववाले सर्प को भी आप की चरणरज प्राप्त हो सकी। वह भी एक बार नहीं अनेक बार,वह भी थोड़ी देर तक नहीं बहुत देर तक, किसी को तो केवल कर से ही स्पर्श करने को मिलती है, कर से स्पर्श करना तो बहुत दूर की बात है, जो आप की पावन पादपद्म पराग का मन से भी स्मरण करलेता है, केवल उसकी प्राप्ति की इच्छा मात्र भी करता है, उसी का संसारचक्र ढीला पड़ जाता है, उसी का भवबन्धन कट जाता है। उसी को सब कुछ मिल जाता है, उसी को भवसागर में भटकते हुए शांति मिल जाती है। उसी को सम्पूर्ण विभव प्राप्त हो जाता है। फिर इसने तो आप के चरणों की रज को प्रत्यक्ष प्राप्त किया है। अपने चरणों को आपने इसके प्रत्येक फण पर स्थापित किया है, जो फण अभिमान से नवा नहीं, उसे अपने पाद प्रहार से नत बनाया है। जो अभिमान से ऊँचा उठा हुआ था, उसे नीचे किया

है, जो उन्नत था उसे नत बनाया है। इसके भाग्य की सराहना कैसे की जाय ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार नागपत्नियों ने भगवान् की भाँति २ से स्तुति की। वे और भी जो स्तुति करेंगीं, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

है अमान दै मान तपस्वी बनि व्रतधारी।
पूर्व जनम में करी तपस्या का अहि भारी॥
सब प्रानिनि पै दया धरम जिह पालन कीन्हो।
स्वयं आइ सरवेश पदुम पद सिर धरि दीन्हों॥
पदरज इच्छुक भक्त तब, समुझें पद बिसमरन दुख।
स्वरग ब्रह्मपद, सिद्धि सब, नहिं चाहें अपवरग सुख॥

पद

कबहुँ तप कीयो जाने भारी।
जनम जनम में रह्यो अमानी, मानद परहितकारी॥१॥
सब भूतनि पै दया दिखाई, धीर धारना धारी।
पदरज पाई अज सुर दुरलभ, आय घर बनवारी॥२॥
जा रज हित कमला तप कीन्हों, ह्वै सुकुमारी नारी।
जा रजकूँ सुर नर मुनि तरसैं, सनकादिक ब्रमचारी॥३॥
जा रज पाइ स्वरग ठुकरावैं, मोक्ष न मानैं प्यारो।
सोई रज सिर धरी हरषि हरि, धन्य भयो विषधारी॥४॥
तम प्रधान तनु निन्दित क्रोधी, प्रभु सब दोष बिसारी।
नृत्य कर्यो फन फन पै प्रमुदित, हरि नटवर गिरिधारी॥५॥

नागपत्नियों द्वारा कृष्ण स्तुति (२)

(९३)

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥

(श्री भा० १० स्क० १६ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

बन्दन पुनि-पुनि करैं सनातन पुरुष पुरातन ।
परमात्मा परमेश पतित पावन मनभावन ॥
प्रकृति प्रवर्तक ब्रह्म ज्ञान विज्ञान निधाना ।
भूत भव्य भुवनेश भक्तभयहर भगवाना ॥
सबके आश्रय विश्वपति, विश्वम्भर विश्वेश विभु ।
प्रान, बुद्धि, मन चित्त सब, तुमहिँ त्रिगुन अभिमान प्रभु ॥

यद्यपि भगवान् कुछ कर्म नहीं करते, फिर भी संसार के समस्त कर्म उन्हीं की इच्छाशक्ति द्वारा होते हैं। वे जब इच्छा करते हैं तब रचना हो जाती है, उनकी इच्छा मात्र से ही चराचर की प्रलय हो जाती है। इसमें और किसी का वश नहीं, अधिकार नहीं समस्त जीव उनकी इच्छा रूपी नकेल में बँधे हैं, जिधर उनका

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई नागपत्नियाँ कह रही हैं—प्रभो ! आप भगवान् को प्रणाम है, सबके अन्तःकरणों में विराजने वाले को, महान् आत्मा को, सम्पूर्ण भूतों के एकमात्र आश्रय को, प्रकृति से परे परमात्मा को तथा सर्वभूतस्वरूप परमात्मा को बारम्बार नमस्कार है ।

संकेत हो जाता है, उधर ही वे दौड़ने लगते हैं। अतः जीव का एकमात्र पुरुषार्थ यही है कि वह सर्वावस्था में, सर्वकाल में, सर्वत्र उन श्यामसुंदर को नमस्कार करता रहे। नमस्कार का अर्थ है नमम। अर्थात् मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह प्रभो! सब तुम्हारा ही है। अतः तुम्हें बार बार प्रणाम है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई नागपत्नियाँ कह रही हैं-हे प्रभो! आप षडैश्वर्यपूर्ण हैं,यह कहना भी नहीं बनता क्योंकि यदि ऐश्वर्य, वीर्य, यश, ज्ञान, वैराग्यादि ऐश्वर्य पहिले से होते और आप उन्हें धारण करते तब तो आप को उनसे पूर्ण कहते। आप की इच्छा ही से ये सब ऐश्वर्य प्रकट हो जाते हैं, आप ही समस्त वस्तुओं का, समस्त भावों का नाम करण करते हैं, अतः आप भगवान को हमारा प्रणाम है।

हम जो अपनी पृथक् सत्ता मानते हैं सो भी मिथ्या ही है। आप के ही अस्तित्व से हमारा आस्तित्व है, आपकी सत्ता से ही सबकी सत्ता है,आपके बिना कुछ भी नहीं। अतः आप समस्त चराचर जगत् में व्याप्त हैं, सबके अन्तःकरण में विराजमान हैं। आत्मा शब्द से जीव, शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण सभी का बोध होता है, किन्तु आप इन सबसे भी महान् हैं, अतः महात्मा आप ही हैं। जैसे सब प्राणियों का आश्रय पृथिवी है। उसी प्रकार समस्त भूतों के-समस्त जीवों के-एकमात्र आश्रय आप ही हैं। आश्रय क्या है, जितने भी भूत हैं-जितने भी प्राणी हैं-सब आपका ही स्वरूप हैं। आप प्रकृति से परे हैं, समस्त प्राकृत पदार्थों से अतीत हैं, ऐसे आप परमात्मा के पादपद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! समस्त ज्ञान, समस्त विज्ञान आपसे ही उत्पन्न होता है, आप ही ज्ञान विज्ञान के आलय हैं, निधान हैं, सबकी खान

हैं। प्रकृति स्वयं जड़ा है, यन्त्र है, उसे चलाने वाले उसके प्रवर्तक आप ही हैं। ये जो सत्व, रज और तम तीन गुण हैं ये प्रकृति के ही विलास हैं, स्वयं तो आप निर्गुण हैं। गुणों में जब क्षोभ होता है-प्रकृति की साम्यावस्था समाप्त होकर जब उसमें असाम्य होता है-विकृति होती है तभी सृष्टि होती है, ये जो विकार हैं प्राकृत गुणों में ही संभव हैं। आप स्वयं तो निर्विकार हैं। सब की शक्ति की इयत्ता है सीमा है, किन्तु आपकी शक्ति निस्सीम है, अनंत है इसीलिये आपको ब्रह्म कहते हैं। हे सर्वात्मन्! हमारा प्रणाम स्वीकार करें।

प्रभो! काल आपका ही स्वरूप है। काल शक्ति भी आप में ही निवास करती है अर्थात् काल शक्ति के भी आश्रयस्थान आप ही हैं, काल के जो अवयव क्षण, लव, काष्ठा, पल, घड़ी, प्रहर, दिन, रात्रि, वर्ष, दिव्यवर्ष मन्वन्तर, कल्प, महाकल्प, आदि सब आपके ही स्वरूप हैं। कब सृष्टि का काल है, कब तक स्थिति का काल है और कब संहार का काल है, इसके भी नियन्ता निर्माता आप ही हैं, इन सब समयों के सदा सर्वदा साक्षी आप ही हैं। यह चराचर विश्व आप का ही रूप है। आप ही जगत् रूप में हो गये हो। इस विश्व के एक मात्र साक्षी आप ही हैं, विश्व के बनाने वाले विधाता भी आप ही हैं। विश्व के कारण विश्व के बीज भी आप ही हैं, आप ही पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच भूतों में बँट गये हो। बँट क्या गये हो इन सब में परिपूर्ण रूप से आप ही आप विराजमान हो, आप ही इन भूतों की कारणावस्था पंच तन्मात्रा हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ आप ही हैं। आप ही पंच प्राण हैं, आप ही मनन करने वाले मन हैं। आप ही सद् असद् का विवेचन वाली बुद्धि हैं और आप ही चिन्तन करने वाले चित्त भी हैं। आपको सबका

ज्ञान हैं, आप सर्वज्ञ हैं, फिर भी आपने अपने आत्मनुभाव को त्रिगुणात्मक अभिमान के द्वारा प्रच्छन्न कर रखा है, छिपा रखा है। स्वात्मानुभाव निगूढ़ होने से सब कोई आपको प्राप्त नहीं कर सकते।

स्वामिन्! आपका अन्त नहीं इसीलिये अनन्त करके हम अज्ञानियों द्वारा आप पुकारे जाते हैं। आप सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हैं। आप कूटस्थ हैं, उपाधिकृत विकार से रहित हैं। आप से कोई बात छिपी नहीं इसीलिये आप विपश्चित् हैं, सर्वज्ञ हैं। कोई कहते हैं-आप हैं, कोई कहते हैं नहीं हैं। कोई कहते हैं—आप सर्वज्ञ हैं, कोई कहते हैं, अल्पज्ञ हैं,कोई कहते हैं निराकार हैं कोई कहते हैं साकार हैं, इस प्रकार नाना मतभेदों के आश्रय, नाना मत-मतान्तरों को प्रश्रय देने वाले, उनका अनुवर्तन करने वाले आप ही हैं। आपको ही आधार मानकर सब वाद-विवाद हैं। सबके केन्द्रविन्दु आप ही हैं, आप ही राम आदि शब्द हैं और जिसमें योगीगण रमण करते हैं ऐसा राम का अर्थ भी आप ही हैं, हे सर्वनाम! हे सर्वेश्वर! हम आपके चरणकमलों में बारम्बार नमस्कार करते हैं।

प्रभो! प्रत्यक्ष, अनुमानादि जो प्रमाण हैं, उनके मूल भी आप ही हैं, प्रमाण सब आप के ही उद्देश्य से तो दिये जाते हैं। औरों का ज्ञान अपेक्षा कृत है, किन्तु आप तो स्वतः ज्ञानवान् हैं, ज्ञान स्वरूप हैं। आप ही समस्त शास्त्रोंके एकमात्र उत्पत्ति स्थान हैं। वेदों में जो यह वर्णन है—'यह करना चाहिये, यह न कराना चाहिये' ऐसा विधि निषेध रूप भी आपका ही है, स्वयं वेद स्वरूप आप ही हैं, आपको प्रणाम है।

हे वासुदेव! पाँचरात्र आदि तन्त्र शास्त्रों में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इस प्रकार आप चतुर्व्यूह रूप से

वर्णित हैं। उनमें से आप केवल वसुदेवात्मज वासुदेव ही नहीं हैं, आप ही शुद्ध सत्वमय वासुदेव हैं, आप ही संकर्षण हैं, आप ही अनिरुद्ध हैं, और आप ही प्रद्युम्न हैं। आप समस्त सात्वतों के समस्त यादवों के, तथा समस्त भक्तों के अधिपति हैं, स्वामी हैं, ईश हैं। आप ही मन-बुद्धि, चित्त और अहंकार यह अन्तःकरण चतुष्टय हैं, उसके प्रकाशक हैं। आप बहुरूपिया हैं। जो आपका यथार्थ रूप है वह तो प्राणियों के दृष्टिगोचर होता नहीं। आप गुणों का आवरण पहिन कर नाना रूप रख लेते हैं। विभिन्न रूपों में परिणित हो जाते हैं। अन्तःकरण की वृत्तियों से उपलक्षित हैं, तथा अन्तःकरण में जो ये भाँति-भाँति की असंख्यों वृत्तियाँ उठती हैं, उन सब वृत्तियों के साक्षी एकमात्र आप ही हैं। आप सबको प्रकाश देने वाले हैं, किन्तु आप को किसी के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। ऐसे स्वयं प्रकाश स्वरूप आप प्रभु के पादपद्मों में हमारा प्रणाम है।

हे हृषीकेश! आप जो नाना अवतार धारण करके विविध भाँति की असंख्यों लीलायें करते हैं, उनका रहस्य भली भाँति कोई समझ नहीं सकता। जितने भी ये दृश्य पदार्थ हैं, जो भी यह सब कुछ देखा सुना जाता है, सबकी सिद्धि आपके ही अधीन है, इनमें से आपको पृथक् कर दिया जाय; तो फिर किसी पदार्थ का आस्तित्व ही नहीं। आप पूर्ण काम हैं, आत्माराम हैं, आपको रमण करने के लिये अन्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं। आप सदा सर्वदा अपनी आत्मा में ही रमण करते रहते हैं, आप ही मुनि हैं और आप ही मौन स्वभाव वाले मौनी हैं।

" हे सर्वज्ञ ! आप पर, अवर, स्थूल तथा सूक्ष्म गतियोंके ज्ञाता हैं। समस्त विश्व के साक्षी हैं। विश्व से सर्वदा रहित भी हैं और विश्व स्वरूप भी हैं। आप में अपवाद आरोप दोनों ही संभव हैं। सबके कारण तथा विश्वब्रह्माण्डों के साक्षी हैं, ऐसे आप विश्व-रूप को बारम्बार प्रणाम है।

विभो ! आप को सब कोई निष्क्रिय कहते हैं, फिर भी आप अपनी ही काल शक्तिकी प्रेरणा से जब सृष्टि का समय आजाता है सृष्टि करते हैं, पालन के समय पालन करते हैं और संहार के समय समस्त विश्व को बटोर कर अपने उदर में भी रख लेते हैं जब जिन जीवों के जैसे कर्म उदय होने का काल होता है, तो उन्हें उदय करके उनसे भाँति-भाँति की क्रीड़ायें भी आप ही करते हैं। आपके लिये अच्छा बुरा, उत्तम अधम, ऊँचा नीचा ऐसा कोई भेद-भाव नहीं। सात्विक स्वभाव वाले शान्त भी आप ही हैं, राजस् स्वभाव वाले अशान्त भी आप ही हैं और मूढ़ स्वभाव वाले तामस भी आप ही हैं, जितनी भी योनियाँ हैं वे सब ही आप के खिलौने हैं, सभी से आप क्रीड़ा करते रहते हैं, आपके लिये सभी विनोद के उपकारण मात्र हैं।

जब आपकी जैसी इच्छा होती है, वैसा ही आप रूप रख लेते हैं। संकर्षण रूप में सहस्रफणों वाले सर्प भी आप ही बन जाते हैं, राजाओं के रक्त से कुंड भरने वाले परशुराम भी आप ही हो जाते हैं, इस समय ग्वाल वालों के साथ हँसने खेलने वाले, गोपियों के साथ कमनीया क्रीड़ा करने वाले श्रीकृष्ण भी आप ही

बन गये हैं। इस समय आप सत्वगुण का नाटक रच रहे हैं। साधु स्वभाव वालों से प्रेम कर रहे हैं। राजस् तामसों को दंड दे रहे हैं, इससे आप इस नाग को दंड दे रहे हैं। नाग कोई दूसरा थोड़े ही है। आपकी ही संतान है। अपराध हो जाने पर पिता सन्तान को दण्ड देता ही है, इसमें कोई नई बात नहीं।

प्रभो! बच्चों को प्रत्येक अपराध पर दंड नहीं दिया जाता। तीन अपराध तो केवल चेतावनी देकर ही क्षमाकर दिये जाते हैं। तीन क्षमा न भी हो, तो पहिला अपराध तो सब कोई क्षमा कर देते हैं प्रजा के प्रथम अपराध को राजा सहन कर लेता है। इसका यह प्रथम अपराध है, इसे तो भगवान्! क्षमा ही कर दीजिये। तामस योनिका जन्तु है, मूढ़ है तमोगुणी है, आप की महिमा को जानता नहीं था आपके प्रभाव से अपरिचित था, इसी से ऐसी धृष्टता कर दी। आप इसे क्षमा कर दें।

प्रभो! इसे अपनी करनी का पर्याप्त दण्ड मिल गया। यह आप के पाद प्रहारों से मृतक सदृश बन गया है, यदि अब भी आप इसे न छोड़ेंगे तो यह मर जायगा। यह मरना ही चाहता है, इसके ऊपर दया की दृष्टि कीजिये। हमारे सिन्दूर की ओर निहारिये, हमारे इन छोटे छोटे बालकों की ओर देखिये। हम स्त्रियों के प्राण तो पति ही हैं, हम आपसे प्राणों की भिक्षा माँग रही हैं। स्त्रियाँ तो सदा से अवध्या होती हैं। साधु पुरुष स्त्रियों पर स्वाभाविक कृपा करते हैं। हम आपकी दासियाँ हैं, किंकरी हैं भक्ता हैं, हमारे योग्य सेवा बताइये। संसार में आप की सेवा ही

सार है, सेवा से सब कुछ मिल सकता है। कहीं भी किसी भी स्थान में आप के निमित्त से जो सेवा करता है उसके समस्त मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। जो पुरुष भक्ति भावसे श्रद्धा पूर्वक आपकी सेवा करते हैं, वे समस्त बन्धनों से सभी प्रकार के दुःखों से, समस्त भयों से निर्मुक्त बन जाते हैं। अतः हम दासियों पर कृपा कीजिये, हमें अपने चरणकमलों की सेवा का सुअवसर दीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जब नागपत्नियों ने भगवान् की स्तुति की, तब भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने कालिय नाग को अभय प्रदान की। यह मैंने आपसे नागपत्नियों की स्तुति कही अब देवराज इन्द्र ने जिस प्रकार गोवर्धन धारण करने के अनन्तर भगवान गोवर्धनधारी की स्तुति की। उसे मैं आपसे कहूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

हे अनन्त कूटस्थ सूक्ष्म सरवज्ञ विपश्चित।
अस्ति नास्ति के बिन्दु शब्द अरु अरथ सुनिश्चित॥
चतुर व्यूह, विभु, बेद, रमन निष्क्रिय अविनासी।
धरमहेतु अवतरित दयामय घट घट वासी॥
छिमा करें अपराध प्रभु, कीयो अहि अभिमान भरि।
प्रभु प्रसन्न सुनिकें भये, छोड़यो अहिकूँ अभय करि॥

पद

धरम हित प्रकटे प्रभु परमेश्वर ।
सब के बीज बिष्णु अविनासी, विश्वम्भर विश्वेश्वर ॥१॥
करौ न कछु सब कछुकरि डारौ, प्रकटौ जगत चराचर ।
जब जैसे गुन बढ़हिं तबहिं तस, धरौ रूप बिधि हरि हर ॥२॥
नृप अपराध प्रथम बिसरावैं, देव दया के सागर ।
चाहै तजन प्रान अहि अबई, कृपा करौ करुनाकर ॥६॥
माँगैं भीख देहिँ अबलनिकूँ, पति प्राननि परमेश्वर ।
सौंपें सेवा सुखसागर प्रभु, दासी हम सरवेश्वर ॥४॥

नागपत्निकृत कृष्ण स्तुति

नागपत्न्य ऊचुः

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिं,
स्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे,
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥१॥

अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो,
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः,
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥२॥

तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं,
निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया,
यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥३॥

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे,

तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो,
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥४॥
न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं,
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा,
वांछन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः ॥५॥
तदेष नाथाप दुरापमन्यै,
स्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो,
यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः ॥६॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥७॥
ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च ॥८॥
कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥९॥
भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ।

त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥१०॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥११॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥१२॥
नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥१३॥
नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥१४॥
अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने ॥१५॥
परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे ॥१६॥
त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो,
गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक् ।
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः,
समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥१७॥
तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां,

शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां,
स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥१८॥
अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः ॥१९॥
अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥
विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतोभयात् ॥२०॥

देवेन्द्र द्वारा गोवर्धनधारी की स्तुति

(९४)

विशुद्ध सत्वं तव धाम शान्तम् ।
तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो
न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० २७ अ० १ श्लो०)

छप्पय

गिरि गोवरधन धारि इन्द्र को मान मिटायौ ।
गरब खरब जब भयो स्वरगपति प्रभु ढिँग आयौ ॥
बिनती करिबे लग्यो आपु हैं शुद्ध सत्वमय ।
सदा गुननि तैं रहित होहिं अवतरित हरहिं भय ॥
लीलामय तनु धारि प्रभु, सन्तनि की बिपदा हरें ।
अभिमानिनि के मान कूँ, मेटें मद मर्दन करें ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए इन्द्र कह रहे हैं—"हे नाथ ! आप का विशुद्ध सत्व धाम शान्त है, तपोमय है तथा रजोगुण तमोगुण से रहित है। और यह जो गुणप्रवाह रूप प्रपंच है यह तो मायामय है। आप इससे सर्वथा रहित हैं। शरीर धारण करने का जो अनुबन्ध कर्म है, वह आप में है ही नहीं। उससे आपका सम्बन्ध नहीं।

जीव जानता है, एक दिन हमें अवश्य मरना है, किन्तु नित्य व्यवहार में इस बात को भूल जाता है, यदि सदा मृत्यु की स्मृति बनी रहे तो पुरुष पाप क्यों करे ? सभी जानते हैं ये संसारी भोग नश्वर हैं, सदा एक स्थान में रहने वाले नहीं हैं परिवर्तन शील हैं, मरने पर ये सब के सब साथ न जायँगे, यहीं पड़े रह जायँगे। फिर भी अधिक से अधिक वस्तुओं के संग्रह की चेष्टा करता है, कोई अपनीकहानेवाला वस्तु नष्ट हो जाती है, तो ऐसा लगता है मानों प्राण ही निकल गये। यदि विषय सम्बन्धी पदार्थों की अनित्यता सदा स्मरण रहे, तो पदार्थों के आने जाने में प्राप्ति तथा नाश में पुरुष को न हर्ष हो न विषाद, वह उनमें निःसंग होकर बर्ताव करेगा। इसी प्रकार जीव को यह मान हो जाय कि यह अधिकार,प्रभाव, तेज, पद, प्रतिष्ठा चार दिन की है, आज जो इन्द्र है, वही कल चींटा बन सकता है, तो वह चाहे कितने भी बड़े पद पर प्रतिष्ठित हो जाय, उसे अभिमान न होगा। वह धन के मद में मदमत्त होकर अनर्थ न करेगा, दूसरों का अपमान न करेगा और किसी को अपने से हेय समझ कर उसकी हँसी न उड़ावेगा, क्योंकि वह जानता है, अनेक रूपों में मेरे श्यामसुन्दर क्रीड़ा कर रहे हैं, वे ही विविध वेष बना कर विचर रहे हैं। वे ही नाना रूपों में सब कार्य कर रहे हैं, भगवान् ही जिन्हें सन्मति देते हैं, वे ही जिन पर कृपा करते हैं, वे ही इस रहस्य को समझते हैं और समझ कर वे भगवान् की स्तुति प्रार्थना ही करते रहते हैं। भगवान् की सर्वव्यापकता और विषयों की क्षणभंगुरता का बोध होने पर केवल स्तुति करने के अतिरिक्त और करने को रह ही क्या जाता है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गोकुलवासी गोप प्रति वर्ष कार्तिक मास में इन्द्र की पूजा करते थे। उसमें इन्द्र को बड़ा

अभिमान हो गया, वह समझने लगा मैं ही सबका एकमात्र अधीश्वर हूँ। इन्द्र भगवान् के भक्त हैं, भक्तों के अभिमान को मेंटना भगवान् का प्रथम कर्तव्य है। अतः इन्द्र के मद को मर्दन करने के निमित्त भगवान् ने इन्द्र के स्थान पर गिरिराज गोवर्धन की पूजा करायी। इससे इन्द्र ने अपना अपमान समझा, अत्यंत कुपित होकर उसने प्रलय करने वाले मेघों को भेजा और कहा—नन्द के व्रज को डुबा दो। भगवान ने गोवर्धन को छत्ते की तरह धारण करके व्रजवासियों को बचाया। जब सात दिन तक प्रलय-कारी मेघ कुछ न कर सके, तब इन्द्र का मद चूर हुआ और वह ब्रह्माजी की आज्ञा से सुरभि के साथ भगवान् के समीप आकर उनकी स्तुति करने लगा।

भगवान् की स्तुति करते हुए इन्द्र कह रहे हैं—"प्रभो! मैंने समझा था, कि आपने लोभ और अहंकार के वशीभूत होकर मेरी पूजा बन्द करा दी है इस पर मैंने अपनी शक्ति का प्रयोग किया, किन्तु भगवन्! यह मेरी भूल थी; अज्ञान था, मोह था, आप निष्प्रपञ्च हैं। आप इस मायिक जगत् की भाँति नहीं हैं आप उस दिव्य धाम के भी निवासी नहीं हैं जहाँ सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों का प्रवाह ही बहता हो, आप तो गुणातीत लोक के हैं। सत्वगुण से भी परे, एक विशुद्ध सत्व है आप के दिव्यातिदिव्य लोक में वही सत्व सदा सर्वदा व्याप्त रहता है। ये प्रकृति के त्रिगुण तो वहाँ पहुँच भी नहीं सकते। वह सभी खटखटों से परे प्रशान्त धाम है। उस लोक में जिन्होंने उग्र तपस्या नहीं की, वे वहाँ पहुँच ही नहीं सकते। वहाँ जब ये त्रिगुण वाला सत्व भी नहीं, तो रजोगुण तमोगुण की कथा ही क्या है। अथवा आपका तेज ही विशुद्ध सत्वमय है। शान्त है तथा ज्ञानमय है। उसमें राजस तामस के अंश भी नहीं, आप

का लोक या तेज अमायामय है और यह दृश्य प्रपञ्च मायामय है। अज्ञान के द्वारा ही यह जगत आप में भासित हो रहा है। देहादि की प्राप्ति कर्म के अनुबन्ध से है, आप में कर्म का लेश भी नहीं. आप में जो कर्म दिखाई दे रहा है, वह आभास मात्र है।

भगवन! यह देह कर्मों के द्वारा प्राप्त होती है और कर्म अज्ञान मूलक हैं। आप को न प्राकृत देह है न आप में अज्ञान का अंश है। लोभ, मोह, मद, मत्सर तथा अहंकार आदि तो अज्ञान के चिन्ह हैं, ये तो आप में सम्भव हो ही नहीं सकते। जब आप में लोभ मोहादि नहीं हैं, तो आपने मेरी पूजा बंद क्यों की? क्यों गोवर्धन को धारण किया? सो, प्रभो! यह तो आप के भक्तों को सुख देने वाली क्रीडायें हैं। आप धर्म की रक्षा और दुष्टों के दमन के निमित्त लोकवत लीला करते हैं। जैसे लोक में राजा अपराधियों को उनके अपराध के लिये दण्ड देता है, वैसे ही आप भी खलों के निग्रह के निमित्त दण्ड धारण करते हैं। जब हम जैसे क्षुद्र अधिकार को प्राप्त करके अपने को ईश्वर मानने लगते हैं, आप की सत्ता को भूल जाते हैं. तब आप हम अभिमानियों के मद को मर्दन करने के निमित्त, हम मदान्धों की अज्ञान से मिची आँखों को खोलने के निमित्त, विविध भाँति की सुखद सरस क्रीड़ायें करते हैं। उनसे हम अभिमानियों के गर्व का भी नाश होता है और साथ ही लोक का भी कल्याण होता है। आप अनन्त हैं, दिव्य अप्राकृत हैं, इसी प्रकार आप की लीलायें भी अनन्त दिव्यातिदिव्य तथा प्राकृत विकारों से रहित हैं, उनके श्रवण करने से संसार बन्धन कट जाते हैं।

हम सम्पूर्ण चराचर जगत् को उत्पन्न करने वाले एकमात्र

आप ही हैं, अतः आप ही इसके पिता हैं, जगतपिता होने के नाते मेरे भी पिता हैं, मेरे ही पिता नहीं मेरे पिता पितामह के भी पिता हैं। मैंने अनजान में जगत्पिता आपकी अवज्ञा की। भगवन्! आप ही सबके एकमात्र गुरु हैं, इसीलिये सब आप को "कृष्णं वन्दे जगत् गुरुम्" कहकर नमस्कार करते हैं, मुझ अभिमानी ने यह अक्षम्य अपराध किया, गुरुद्रोह किया। मैं समझता था, मैं ही एकमात्र अधीश्वर हूँ, किन्तु न जाने मुझ जैसे कितने इन्द्र आप के प्रत्येक रोम में पड़े कुलबुला रहे हैं, सबके अधीश्वर तो आप ही हैं। जो दुर्निवार काल भी स्वतंत्र नहीं उसका नियंत्रण भी आप ही करते हैं, आप के भय से ही काल कलयन करता है। अतः कालस्वरूप भी आप ही हैं। आप स्वच्छन्दचारी, लीलाविहारी जगत्हितकारी हैं। आपकी समस्त चेष्टायें विश्वकल्याणार्थ ही होती हैं।

आप अपने लोक से अवतरित होते हैं, उतर कर प्राकृत पुरुषों में घुल मिल जाते हैं। सर्वथा प्राकृत पुरुषों जैसा आचरण करने लगते हैं। मुझ जैसे क्षुद्र अधिकारवालों को अपने अधिकार का, ऐश्वर्य का, विभव का अभिमान हो जाता है, अभिमान के कारण बुद्धि पर परदा पड़ जाता है, उस समय प्राकृत पुरुषों में छिपे हुए आप को भूल जाते हैं। और आप को भी अपना प्रभाव जताने लगते हैं, अपनी शक्ति का प्रदर्शन करके आप को भी भयभीत बनाना चाहते हैं, किन्तु जब आप के भय से ही पंचभूत, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा अन्य सभी कार्य कर रहे हैं, उन्हें भला भय किसका हो सकता है। जब भय का अवसर आने पर भी आप भयभीत नहीं होते, तो हम अभिमानियों का अभिमान चकनाचूर हो जाता है। फिर हम लोगों का जमा हुआ मद विगलित होकर बह जाता है, हमारी अभद्रता नष्ट हो

जाती है और फिर हम अभिमान छोड़कर आप की शरण में आ जाते हैं, भक्तिमार्ग का अनुशरण करने लगते हैं। प्रभो! प्राणी अभिमान वश ही नहीं नमता, बड़प्पन के अभिमान में ही सिर नहीं झुकाता। जहाँ अभिमान नष्ट हुआ, मद चूर हुआ तहाँ वह झुक जाता है, नत हो जाता है, नमस्कार करने लगता है, स्तुति प्रार्थना करता है, भक्त बन जाता है। आप जो भी चेष्टायें करते हैं, उनसे शिष्टों का प्रतिपालन तथा दुष्टों का शासन होता है।

प्रभो! मैंने कुछ जान बूझकर तो अपराध किया नहीं, आपने जो मुझे अल्प अधिकार, क्षुद्र ऐश्वर्य दे दिया था, उसी के मद में मदमत्त होकर मैं मदान्ध बन गया। फिर मैं इस बात को भूल ही गया, कि आप की महान शक्ति के सम्मुख मेरी क्षुद्र शक्ति किस काम आवेगी? आप के अपार ऐश्वर्य के सम्मुख मेरा संकुचित सीमित ऐश्वर्य कर ही क्या सकेगा। इन बातों को भुला कर ही मैंने अपनी शक्ति का प्रयोग कर दिया, जैसे कोई अबोध बालक नाम की सींक लेकर अपने पिता को डराना चाहे। जैसे माता के दिये खिलौने से ही उनपर प्रहार करना चाहे, यह अज्ञता है, मूढ़ता है, अपराध है। सो, हे ईश! आप मेरी इस मूढ़ता को क्षमा करें, मेरे इस अक्षम्य अपराध को क्षमा करें, मेरी अशिष्टता को भूल जायँ, और ऐसा आशीर्वाद दें, कि आगे से ऐसा अपराध मुझसे कभी न हो, इस प्रकार मेरी बुद्धि भ्रष्ट फिर कभी न होने पावे।

प्रभो! अब मेरी बुद्धि में बात बैठ गयी। अब मुझे आप के अवतार का रहस्य प्रतीत हुआ। आज कल पृथिवी पर क्षत्रिय रूप से असंख्यों असुर उत्पन्न हो गये हैं, उनके पास असंख्यों सैनिक हैं, अगणित सेनाओं के वे नायक हैं, वे किसी अन्यके मारे

रने के नहीं। वे अपने ही प्राणों का भरण पोषण करते हैं, उन्हें अपना ही ऐश्वर्य बढ़ाना इष्ट है। वे भू के भार भूत हो रहे हैं, उनके भार से वसुन्धरा दबा जा रही है। उनका संहार करने के निमित्त ही आप अवनि पर अवतरित हुए हैं। दुष्ट विनाश तो आप के अवतार का गौण विषय है, मुख्य विषय तो भक्तों का भरण पोषण ही है। जो भक्त आपके चरणारविन्दों के अनुगामी हैं, जिन्होंने आपके चरणों की शरण ले ली है, उन्हीं के लालन पालन और सुख शान्ति के निमित्त आप की समस्त चेष्टायें हैं। आप घट घट वासी हैं, अचिन्त्य अविनाशी हैं, प्रेम प्रकाशी हैं, आप वासुदेव हैं, सात्वतों के पति हैं, यादवाधीश हैं, आप के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

आप के अवतार में कोई कारण नहीं, आप स्वच्छन्द हैं, अपनी इच्छा से ही-मनोविनोद के निमित्त-शरीर धारण करते हैं, विशुद्ध विज्ञान घन, सर्वमय, सबके कारण तथा सर्वभूतमय हैं। आपके चरणारविन्दों में नमस्कार है।

नाथ! मेरे अभिमान ने ही यह अक्षम्य अनर्थ करा डाला। जब समय पर गोपों द्वारा मुझे यज्ञभाग नहीं मिला। आप के कहने से उन्होंने मेरे निमित्त यज्ञ नहीं किया, तो मैं तो प्राकृत ही ठहरा, मुझे क्रोध आ गया और क्रोध के वशीभूत होकर ही मैंने वर्षा और वायु से व्रज को नष्ट करने की अव्यर्थ असफल चेष्टा की। यदि प्रभो! आप मुझ पर कृपा न करते, मेरे ऊधम को सफल हो जाने देते, तो मेरा अभिमान और भी अधिक बढ़

जाता, मैं और भी अभिमान में भर जाता और फिर न जाने क्या क्या अनर्थ कर डालता। किन्तु आपने मेरे ऊपर अनुग्रह कर मेरे अभिमान को बढ़ने नहीं दिया, मेरे उद्योग को सफल नहीं होने दिया। मेरा समस्त उद्यम व्यर्थ हो गया। मेरे संकल्प को मोघ बना दिया, इससे मेरा जगदीश्वरपने का कच्चा अभिमान ऊपर से गिर कर फट से फूट गया, चकनाचूर हो गया और मेरी तुरन्त आँखे खुल गयीं। आप ही मेरे स्वामी हैं,आप ही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं, आप ही मेरे आत्मा हैं तथा आप ही मेरे सर्वस्व हैं, आप के पुनीत पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है बारम्बार नमस्कार है। अनेक प्रकार सेअभिवादन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार इन्द्र की क्षमा प्रार्थना पर भगवान् ने उन्हे सदुपदेश देकर क्षमा कर दिया। यह मैंने अत्यंत संक्षेप मे इन्द्रकृत श्रीकृष्ण की स्तुति आप से कही। अब जैसे वरुणजी ने भगवान की स्तुति की, उस कथा प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

प्रभुता मद में मत्त मदनमोहन विसराये।
सेनानीकप असुर बिनासन हित हरि आये॥
भयो अधिक अपराध अधोक्षज किरपा कीजे।
होइ न फिरि अपराध यही वर यदुवर दीजे॥
प्रभु परमेश्वर पुन्यप्रद, पालक पूरनकाम हैं।
पुरुष पुरातन परावर, पुनि पद पदुम प्रनाम है॥

पद

मान मद मेटो मदनमुरारी ।
शुद्ध सत्व मय धाम तिहारो, तव भक्तनि हितकारी ॥१॥
है अदेह धरि देह धरम हित, लीला जग विस्तारी ।
अति अभिमानी जो जग प्रानी, तिनि बल मद संहारी ॥२॥
भूल्यो चरन पाइ सुरपति पद, मम मद बुद्धि बिगारी ।
अब न होहुँ मदमातो माधव, देओ वर बनवारी ॥३॥
मम उद्योग विफल करि ब्रजपति, ब्रज की विपदा टारी ।
खोलीं आँखि कर्यो मद मरदन, बार बार बलिहारी ॥४॥

इन्द्रकृत श्रीकृष्ण स्तुति

इन्द्र उवाच

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं,
तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो,
न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥१॥

कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता,
लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः ।
तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति,
धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥२॥

पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो,
दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः ।
हिताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे,
मानं विधुन्वञ्जगदीशमानिनाम् ॥३॥

ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिन,
स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।
हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया,
ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥४॥

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य,

कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।
क्षन्तुं प्रभोऽर्हसि मूढचेतसो,
मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ॥५॥

तवावतारोऽयमधोक्षजेह,
स्वयम्भराणामुरुभारजन्मनाम् ।
चमूपतीनामभवाय देव,
भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥६॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥७॥
स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥८॥
मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः ।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥९॥
त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः ।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥१०॥

वरुण द्वारा श्रीकृष्ण स्तुति

(६५)

नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टि विकल्पना ॥*

(श्री भा० १० स्क० २८ अ० ६ श्लो

छप्पय

हरिवासर व्रत करयो नन्द जमुना में न्हाये ।
असमय लखि पर पकरि, वरुन आलय में लाये ॥
जानि कृष्ण तहँ गये वरुन ने आदर कीन्हों ।
छिमा प्रार्थना करी मान करि धन बहु दीन्हों ॥
इस्तुति करि जलपति कहें, भयो धन्य मम धाम है ।
ब्रह्म सच्चिदानन्द प्रभु, चरननि माहिं प्रनाम है ॥

भगवान का प्रत्येक मन्वन्तर में एक मन्वन्तरावतार होता है, उसे सभी देवता, असुर, ऋषि मुनि जानते हैं। मन्वन्तर बीत जाने पर देवता, इन्द्र, मनु, सप्तर्षि तथा मनुपुत्र सब बदल जाते हैं, एवं यह अवतार भी बदल जाता है मनुके साथ नियमानुसार दूसरे अवतार होते हैं, सब उन्हें जानते पहिचानते हैं, वे अपनी शक्ति का अधिकार या उपयोग करते हैं, गरुड़ उनके

---

* वरुण जी भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे भगवन्! आप ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं आप में संकल्प सृष्टि की कल्पना करने वाली माया नहीं सुनी जाती, ऐसे आपको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

निश्चित वाहन हैं, उनके आवाहन पर वे उपस्थित रहते हैं, किन्तु कभी कभी स्वयं साक्षात् परब्रह्म गूढ़ रूप से अवतरित हो जाते हैं, उनका कोई नियम नहीं कि अमुक युग अमुक कल्प या अमुक मन्वन्तर में होंगे। जब उनकी इच्छा होती है, चुपके से आजाते हैं, उन्हें केवल उनके अनन्य परिकर वाले तो जानते हैं, शेष सब मोहित हो जाते हैं। श्रीकृष्णावतार ऐसा ही स्वयं साक्षात् परब्रह्म का आकस्मिक अवतार था। इसे देखकर पशु पक्षी, मनुष्य, असुर, देवता तथा कहाँ तक कहें लोकपाल भी विमोहित हो गये। इन्द्र ने उनके आश्रितों को डुबा देने का प्रयत्न किया, पारिजात हरण के प्रसंग में उनसे सम्मुख युद्ध किया। इन्द्र की तो बात ही क्या,स्वयं साक्षात वेदगर्भ लोकपितामह ब्रह्माजी भी इस बालग्वाल रूप को देखकर मोह में पड़ गये। भगवान् कोई निमित्त बना कर सभी लोकपालों के लोकों को कृतार्थ करने स्वयं ही वहाँ पहुँच जाते और अपनी पाद धूलि से उस लोक को धन्य बना देते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नन्द बाबा सदा एकादशी व्रत रहते थे। एक बार एकादशी के दिन उन्होंने निराहार व्रत किया। भोजन न करने से निद्रा भी पूरी नहीं आती, उनकी आँखें आधीरात के पश्चात् ही खुल गयीं। उन्होंने समझा अरुणोदय हो गया है। और सब गोप तो सो रहे थे आप चुपके से धोती लोटा उठा कर यमुना किनारे पहुँच गये। शौचादि से निवृत्त होकर, ज्यों ही वे यमुनाजी में घुसे, संयोग की बात कि समस्त जल के अधीश्वर वरुण जी का वहाँ एक दूत आया हुआ था। उनकी एक आसुरी वेला होती है, उस समय वरुणदूत जल में कहीं कहीं जाया करते हैं, उस वेला में जो जल में घुसता है और वहाँ वरुणदूत होते हैं, तो उसे पकड़ कर वरुणलोक ले जाते हैं। वरुण के दूत ने यह तो समझा नहीं ये परब्रह्म परमात्मा शुद्ध सनातन श्रीकृष्ण

भगवान् के पिता नन्दजी हैं, वह उन्हें पकड़ कर वरुण लोक ले गया। इधर प्रातःकाल जब नन्दजी नहीं आये तो सर्वत्र हाहाकार मच गया। सर्वज्ञ श्री कृष्ण तो सब जानते ही थे, वे तुरन्त अपने योगबल से वरुणलोक में पहुँच गये। वरुणजी ने, ब्रह्माजी तथा इन्द्र की भाँति भूल नहीं की। उन्होंने तुरन्त आसन से उठ कर भगवान् को दंडवत् प्रणाम की तथा विधिवत उनकी पूजा की और हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगे।

भगवान् की स्तुति करते हुए वरुणजी कहते हैं—"प्रभो! मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता तथा लोकपाल किसी का भी शरीर क्यों न हो, उसकी सार्थकता इसी में है, कि उसे भगवान् का दर्शन हो जाय। जिस शरीर से भगवत् दर्शन न हो वह शरीर व्यर्थ है। कब से मैं इस वरुणलोक का शासन करता था। नदी, नद, समुद्र तथा, अन्यान्य जलाशयों की रेख देख करता था, किन्तु मेरा वरुण होना तो आज सार्थक हुआ। आज मैं कृतार्थ हुआ। मेरे शरीर की सफलता तो आज सिद्ध हुई कि आप के देव दुर्लभ दर्शन मुझे प्राप्त हो गये।

भगवन्! मेरे समस्त मनोरथ आज पूर्ण हो गये। आपके चरण कमलों का ध्यान करने वाले, उनकी सेवा करने वाले प्राणी इस दुस्तर भवसागर से पार हो जाते हैं, मेरा आज कितना भारी सौभाग्य है, कि जिन चरणारविन्दों का योगिजन एकान्त में बैठकर मन से ध्यान करते हैं, उन्हें कल्पना से हृदय कमल में बिठाकर चिन्तन करते हैं, वे ही चरणकमल प्रत्यक्ष—साक्षात् स्वयं मेरे लोक में पधारे हैं और मैं उनकी अपने हाथों से पूजा कर रहा हूँ

प्रभो! लोक सृष्टि की कल्पना माया के ही द्वारा होती है, उस माया का आप में लेश भी नहीं। आप षडैश्वर्य सम्पन्न हैं, भगवान

हैं, स्वयं साक्षात् परब्रह्म हैं, सर्वत्र व्यापक हैं, और प्राणी मात्र के सुहृद्, सबके आत्मा तथा आधार हैं। मैं आप के पाद पद्मों मे बारम्बार प्रणाम करता हूँ

स्वामिन् ! आप की महिमा को लोकपाल क्या प्रजापति भी नहीं जान सकते। प्रजापतियों के भी प्रजापति, हम,सबके पितामह भगवान ब्रह्मदेवजी भी जब आप की लीला से विमोहित हो जाते हैं, तब हम जैसे अधिकारारूढ़ व्यक्ति जिनका ज्ञान तथा अधिकार अत्यन्त ही अल्प है, आपको भूल जायँ आप की महिमा न जान सकें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? तिस पर मेरे भृत्य तो और भी अधिक अल्पज्ञ हैं। उसी अल्पज्ञता के कारण एक मेरे सेवक ने यह अत्यंत मूढ़ता का कार्य कर डाला, वह आप के प्रभाव को बिना जाने आप के पूजनीय पिताजी को पकड़ लाया। सो, प्रभो ! उसकी ओर से मैं बराम्बार क्षमा याचना करता हूँ, सेवक के अपराध का उत्तरदायित्व स्वामी के ही ऊपर होता है, उसके यश अपयश-जय पराजय का श्रेय तथा अपयश का भागी स्वामी ही होता है, अतः आप इस सेवक की मूढ़ता को क्षमा कर दें।

हे गोविन्द ! आप गौओं के स्वामी हैं, गौओं से अत्यंत प्यार करते हैं, साथ ही आप अत्यंत ही पितृवत्सल हैं, पिता के ऊपर भी आपका अगाध स्नेह हैं। तभी तो आप तुरंत यहाँ पधार गये ये आप के पिताजी समुपस्थित हैं, इन्हें यहाँ हमने बड़े सम्मान पूर्वक रखा है। आप इन्हें अपने साथ ले जायँ। इसी बहाने आप के दर्शन हो गये। मेरा यह लोक कृतार्थ हो गया। मेरे भृत्य की मूढ़ता भी मंगल का कारण बन गयी। आप उस सेवक को तो क्षमाकर ही देंगे। साथ ही मुझ दीन पर भी दया दरसावें। मुझ पर भी अनुग्रह वारि बरसावें। हे चराचर के स्वामी ! आप प्राणी मात्र के साक्षी हैं। हे सब को अपनी ओर आकर्षित करने वाले

श्रीकृष्ण! आपके पाद पद्मों में बराम्बार प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वरुणजी ने भगवान की स्तुति की तथा भगवान् ने उनकी पूजा ग्रहण की और अपने पिताजी को साथ लेकर व्रज में लौट आये। यह मैंने अत्यंत संक्षेप में आपसे वरुणजी की स्तुति कही। अब जैसे नारदजी ने व्रज में आकर भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति की उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

तुमरी महिमा प्रभो ! देव, अज शंभु न जानें।
फिरि मेरो जिह अज्ञ भृत्य कैसे पहिचानें ॥
बिनु जाने तब पिता पकरि जमुना तें लाऱ्यौ।
अघ मंगलमय भयो दरस हम सबने पाऱ्यौ ॥
चरन कमल की भक्ति प्रभु, मोह दया करि देहिं अब।
सेवा जो कछु बनि परै, ताहि कृपा करि लेहिं अब ॥

पद

आजु मम जीवन सफल भयो है।
जो जगदीश जगतपति पालक, वेदनि अलख कह्यो है ॥१॥
भये प्रकट भूभार हरनकूँ, दुख भय भागि गयो है।
नंद यशोदा धनि धनि जिनने, जिह सौभाग्य लह्यो है ॥२॥
छिमा करें सेवक की अविनय, अवहूँ नाथ ! नयो है।
प्रभु तजि जग जंजाल आसरो, पद पंकजनि लयो है ॥३॥

वरुणकृत श्रीकृष्ण स्तुति

वरुण उवाच

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो ।
त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥१॥
नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥२॥
अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना ।
आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति ॥३॥
ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुमर्हस्यशेषदृक् ।
गोविन्द नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल ॥४॥

नारद कृत-भगवत् स्तुति।

(९६)

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३७ अ० १० श्लो०)

छप्पय

गमन मधुपुरी श्याम जबहिँ ठानी मन माहीं।
तबहीं कीर्तन करत गये नारद प्रभु पाहीं ॥
करि डंडौत प्रनाम विनय इस्तुति अति कीन्हीं।
भावी लीला प्रकट करीं चरननि रज लीन्हीं ॥
बोले—"कृष्ण ! कृपा अयन, तजि ब्रज मथुरा जायँगे।
कंसादिक खल मारिकें, सबकूँ सुख पहुँचायँगे।

जो भगवान् के अनन्य भक्त हैं, वे भगवान की लीलाओं के दर्शनों के लिये सदा उत्सुक बने रहते हैं, वे चाहते हैं, भगवान् की हम नित नई लीला देखा करें। भगवान् कैसे खलों का निग्रह करते हैं, कैसे सज्जनों का रक्षा करते हैं, कैसे वे अपने अनन्य

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए नारदजी कहते हैं—"हे कृष्ण। हे अप्रेयात्मन् ! हे योगेश्वर ! हे जगदीश्वर ! हे वासुदेव ! हे अखिलावास ! हे सात्वतों में प्रवर ! हे प्रभो ! (आपको बारंबार प्रणाम है)

आश्रित भक्तों को सुख पहुँचाते हैं। जो भक्त भगवान् के पार्षद होते हैं वे सर्वज्ञ होते हैं, उन्हें भूत भविष्य वर्तमान की सभी घटनायें हस्तामलकवत होती हैं। जैसे नाटक के सूत्रधार को तथा उसके साथ रहने वालों को नाटक में आगे क्या होगा सभी संवाद स्मरण रहते हैं। उसे प्रकट करने में भी बड़ा सुख होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब केशी घोड़े का रूप बनाकर व्रज में आया, तब भगवान व्रज की प्रकट लीला का संवरण करके मथुरा जाने की सोच रहे थे। केशी तथा व्योमासुर ये ही अंतिम असुर उद्धार होने वाले असुर थे। महामुनि नारदजी के मन में बड़ी चटपटी लगी कि अब मथुरा की मधुर मधुर लीलायें देखने को मिलेंगी। हर्ष के आवेग में उनसे रहा नहीं गया, वे तुरन्त नंद जी के व्रज में पहुँचे और जाकर भगवान् को दंड प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे।

भगवान् की स्तुति करते हुए नारदजी कहते हैं—हे प्रभो! आप कृष्ण हैं, कृष्ण हैं। सबको अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं, सबके भवबन्धनों को निवृत्त करने वाले हैं। आप का किसी से भी प्रमाण नहीं दिया जा सकता है। जब आप से कोई बड़ा हो या आपके समान हो तो उससे तो आपकी समता की भी जा सकती है। जब आप के कोई समान ही नहीं तो बड़े होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आप अप्रेय हैं, योगियों के भी ईश्वर हैं और योग के भी ईश्वर हैं। आप निखिल जगत् के स्वामी हैं, वासुदेव हैं, सर्वाधिष्ठान स्वरूप हैं। समस्त यदुवंशियों में श्रेष्ठ हैं, सभी भक्तों के आप स्वामी हैं, जिस प्रकार गीली, सूखी सड़ी गली जितनी भी लकड़ियाँ हैं सब में अग्नि व्याप्त है, उसी प्रकार आप भी चरा

चर जगत में व्याप्त हैं, आप सबके आत्मा हैं, सब की बुद्धियों के साक्षी हैं तथा सबके आश्रय हैं।

आप ही अपनी इच्छा से काल आने पर तीनों गुणों के आश्रय से इस सृष्टि की रचना करते हैं, गुणों के जनक भी आप ही हैं। आप का संकल्प सदा सर्वदा सत्य ही होता है आप अमोघ संकल्प हैं, जो चाहते हैं, वही हो जाता है। आप परमेश्वर हैं। अपने ही गुणों से अपनी ही इच्छा से, अपने ही काल आने पर, अपनी ही प्रकृति में क्षोभ कराके जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं

अपनी ही इच्छा से अपनी ही सामर्थ्य देकर बड़े बड़े दैत्य, असुर राक्षसों को उत्पन्न करते हैं, जब उनके द्वारा धर्म का विनाश होता देखते हैं, तो अपने आप ही अवतार धारण करके उन असुरों का संहार भी कर डालते हैं। इस समय पृथिवी पर बहुत से बलवान् असुर राक्षस, दैत्य तथा प्रमथादि राजाओं के रूप में उत्पन्न होकर धर्म को पीड़ा पहुँचा रहे हैं,अधर्म को बढ़ावा दे रहे हैं, उन्हीं के विनाश के निमित्त तथा धर्म मर्यादा की रक्षा के निमित्त आपने यदुकुल में अवतार लिया है।

अभी अभी जो अश्व का रूप रखकर केशी नामक असुर आया था। इसके त्रास से देवता भी संत्रस्त थे. यह अपनी हिन हिनाहट से दशों दिशाओं को गुञ्जायमान कर रहा था। इससे सभी भय भीत थे। इसे मारकर आपने संसार का बड़ा ही उपकार किया। इसके भय से सुरगण स्वर्ग के सुखों को तिलाञ्जलि देकर

इधर उधर भाग गये थे। आपने इसे खेल खेल में हँसी हँसी में ही मार डाला। अब आप कल तक यहाँ व्रज में क्रीड़ा और करेंगे। कल व्योमासुर का उद्धार आपको और करना है, फिर परसों से तो मथुरा की लीला आरम्भ हो जायगी। जैसे यहाँ आपने बहुत से देवद्वेषी दैत्य दानवों को मारा है, वैसे ही मथुरा में भी आप खल संहार करेंगे।

रजक संहार करके आप चाणूर मुष्टिकादि मल्लों को मारेंगे, कुवलयापीड़ हाथी को पछाड़ेंगे। फिर कंस मामा का अन्त करेंगे। फिर गुरुगृह से जाकर समुद्र में रहने वाले शंखासुर का उद्धार करेंगे। कालयवन, मुर, नरकादि असुरों का संहार करेंगे, स्वर्ग में जाकर इन्द्र के गर्व को हरेंगे, वहाँ से पारिजात लावेंगे, इन्द्र को उसके अभिमान का फल चखावेंगे बहुत-सी क्षत्रिय कन्याओं के साथ अपना पराक्रम दिखा कर, वीर्य शुल्क देकर विवाह करेंगे, राजा नृग जो अनेक वर्षों से ब्राह्मणों के शाप से गिरगिट हो गया था, उसका अपने पाद-स्पर्श से उद्धार करेंगे। स्यमन्तक की चोरी लगने पर आप जाम्बमान रीछके बिल में जायँगे और वहाँ से स्यमन्तक मणि के साथ उसकी पुत्री को भी बहू बनाकर ले आवेंगे, अर्जुन के अभि-मान को मेंटेंगे, मृतक विप्रपुत्र को निजधाम से लाकर देगें मिथ्यावासुदेव को मारकर काशी दहन करेंगे, पौण्ड्रक, दन्तवक्त्र तथा युधिष्ठिर के राजसूय में शिशुपाल का भी वध करेंगे। इन सब लीलाओं को मैं उल्लास के साथ देखूँगा। फिर आप व्रज

मंडल छोड़ कर भागेंगे, द्वारका में जाकर लीला रचेंगे, वहाँ की भी आप की कमनीय क्रीड़ाओं को मैं निहारूँगा। फिर आप अर्जुन के सारथी बनकर काल रूप होकर-कई अक्षोहिणी सेनाओं का संहार करेंगे, उस समय भी तीव्र वेत्र लिये आप के सर्वसंहारी सारथी रूप को देखूँगा।

हे नाथ! आप में माया का लेश मात्र भी अंश नहीं। आप विशुद्ध विज्ञान घन हैं। ऐसे ठोस आनंद से आपने अपने को सजाया है, कि उसमें निरानन्द का प्रवेश ही नहीं। आप परमानन्द स्वरूप हैं, आपके लिये कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं। अलभ्य क्या सभी तो आप द्वारा ही निर्मित हैं, सभी के कर्ता तो आप हैं। आप जो भी इच्छा करते हैं वही हो जाता है, या यों कहिये कि सब हुआ हुआया ही रखा है, केवल आपकी दृष्टि की देर है, जिधर भी जिस भाव से भी आपने दृष्टि दौड़ायी, वहीं वह वस्तु ज्यों की त्यों समुपस्थित दिखायी देती है, आप अमोघ संकल्प हैं। यह गुणप्रवाह रूपी संसार आप के सामने कुछ भी नहीं है, वह नित्य निवृत्त ही है, आप तो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। सदा सर्वदा षडैश्वर्य सम्पन्न रहते हैं, आप ह्रास वृद्धि सबसे रहित हैं। हे प्रभो! मैं आप की शरण हूँ, आपका अनुगत भक्त हूँ।

आप सबके स्वामी हैं, सर्वेश्वर हैं, सर्वतन्त्र स्वतंत्र हैं, अपनी माया द्वारा ही विविध भेदों को निर्माण करते हैं। यह जो आपका श्री कृष्ण रूप है, इसे आपने लीला के ही निमित्त—क्रीड़ा के

लिये ही रख लिया है, आप अरूप होते हुए भी रूपवान् हैं अदेह होते हुए भी देहधारी हैं। आप यदुवंसियों में श्रेष्ठ हैं, आप वृष्णिवंशावतंश हैं तथा सात्वतवंशियों में अग्रगण्य हैं आप वैष्णवों की धुरी हैं, आप अचिन्त्य शक्तिवाले हैं, ऐसे आप नरलीलाधारी गिरधारी बनवारी के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऐसी स्तुति करके नारद जी स्वेच्छा से विचरते हुए अन्य स्थान को चले गये। इधर भगवान् से जिन जिन लीलाओं का संकेत नारद जी ने किया था उन्हें करते हुए अपने आश्रित भक्तों को सुख दिया। यह मैंने आपसे श्रीनारदकृत श्रीकृष्ण स्तुति कही। अब मथुरा जाते समय मार्ग,में यमुना किनारे मध्यान्ह स्नान करते हुए जैसे अक्रूरजी को भगवान् के दर्शन हुए और उन्होंने जैसे भगवान् की स्तुति की, उस स्तुति प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आप सब सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

फेरि द्वारका जाइ करें लीला सुखकारी।
पार्थसारथी बनें उभय सेना संहारी॥
मायातें रचि जगत, करो पालन संहारन।
क्रीड़ा के ही हेतु, करो मानुष तन धारन॥
परमानन्द स्वरूप प्रभु, हैं विशुद्ध विज्ञान घन।
बारबार बिनती करूँ, चरन कमल में रमहि मन॥

पद

कृष्ण करुनेश कृपा के सागर।
यदु मधु वृष्णि वंशवर भूषन, कृपासिन्धु करुनाकर ॥१॥
वृन्दावन में असुर सँहारे, केशी, बक व्योमासुर।
अघ प्रलम्ब धेनुक वृषभासुर, पठये सबई यमपुर ॥२॥
अब मथुरा में जाइ करो कुल, काज जगत हित सुखकर।
मारि कंस चाणूर आदि खल, करम करो अति दुष्कर ॥३॥
रनकूँ छोड़ि द्वारका भागो, विश्वनाथ विश्वम्भर।
करि विवाह बहु वंश बढ़ाओ, फिरि हरि नासो निजकर ॥४॥
सबके ईश स्वयं जगदीश्वर, सरवेश्वर अति मनहर।
चरन कमल में मन रमि जावे, देहिँ मुदित ह्वै यह वर ॥५॥

नारदकृत कृष्ण स्तुति

देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरो नृप ।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत ॥१॥
कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर ।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥२॥
त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् ।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥३॥
आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान् ।
तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः ॥४॥
स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम् ।
अवतीर्णो विनाशाय सेतूनां रक्षणाय च ॥५॥
दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयायं हयाकृतिः ।
यस्य हेषितसंत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥६॥
चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् ।
कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥७॥
तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च ।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥८॥
उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम् ।
नृगस्य मोक्षणं पापाद् द्वारकायां जगत्पते ॥९॥

स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया ।
मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥१०॥
पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात् काशिपुर्याश्च दीपनम् ।
दन्तवक्त्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥११॥
यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन् भवान् ।
कर्ताद्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि ॥१२॥
अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ।
अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥१३॥
विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया,
समाप्तसर्वार्थममोघवांछितम् ।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया,
गुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥१४॥
त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया,
विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् ।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं,
नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम् ॥१५॥

श्री अक्रूर कृत भगवत्स्तुति (१)

(६७)

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुम्,
नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
यन्नाभिजातादर विन्द कोशात्,
ब्रह्माविरासीद् यत एव लोकः ॥

(श्री भा० १० स्क० ४० अ० १ श्लो०)

छप्पय

राम श्याम रथ चढ़े चलायो रथ सुफलकसुत ।
जमुना में अक्रूर नहाये निरख्यो अद्भुत ॥
नारायन भुज चारि शेष सैया पै सोवें ।
पार्षद पूजा करें पदुम पद पद्मा धोवें ॥
हक्के बक्के से भये, इस्तुति पुनि करिवे लगे ।
पुरुष पुरातन प्रकृति पति, अज प्रकटे जब प्रभु जगे ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए देवर्षि नारद कह रहे हैं—प्रभो मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ । आप सभी कारणों के कारण हैं, आप नारायण हैं, आदि पुरुष तथा अव्यय हैं । आपकी नाभि से ही कमल उत्पन्न होता है, उस कमल कोश से ही ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं जिनके द्वारा यह चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है ।"

भगवान् एक हैं और वे ही अनेक रूपों में भासित हो रहे हैं। उन अनामी का कोई नाम न होने पर भी सभी नामों की सार्थकता वे ही कर रहे हैं। वे एक होकर भी अनेक बन गये हैं, अद्वैत होने पर भी द्वैत हो गये हैं। निर्गुण होने पर भी सगुण हो गये हैं, निराकार होने पर भी साकार से प्रतीत होते हैं। उन्हीं एक की ऋषिगण भगवत् भक्त भाँति भाँति से स्तुति करते हैं, क्योंकि एक मात्र स्तुति करने योग्य श्यामसुंदर श्रीहरि ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कंस की आज्ञा से रामश्याम को रथपर चढ़ाकर अक्रूरजी नंदजीके व्रजसे मथुराजी को चल दिये। बीच में उन्हें समस्त अघनाशिनी श्रीकृष्ण प्रिया कालिन्दी हिलोरें मारती हुई दिखायी दीं। रथ को एक सघन वृक्ष के नीचे खड़ा करके वे मध्याह्न कृत्य करने—आन्हिक कर्म से निवृत्त होने—यमुनाजी के किनारे पहुँचे। संकल्प करके ज्योंही उन्होंने यमुनाजी में डुबकी लगायी और जप करने लगे कि उन्हें राम श्याम अपने समीप बैठे हुए दिखायी दिये। रथ पर देखा तो वे वहाँ भी ज्यों के त्यों बैठे हैं, फिर डुबकी मारी कि अब के उन्हें शेषशायी चतुर्भुज भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। अब तो वे समझ गये, यह सब मेरे सर्व समर्थ श्री प्रभु की ही लीला है, अतः वे हाथ जोड़कर गद्गद कंठ से भगवान् की स्तुति करने लगे।

भगवान् की स्तुति करते हुए अक्रूरजी कह रहे हैं—"भगवन्! इस दृश्य जगत् के आप प्रपितामह हैं, कारण कि सबके पितामह तो श्री ब्रह्माजी कहे जाते हैं, क्योंकि हम सब अत्रि, कश्यप, जमदग्नि, भरद्वाजादि ऋषियों की सन्तानें हैं। ये ऋषिगण ब्रह्माजी के पुत्र हैं और श्री ब्रह्माजी आपके तनय हैं। आप साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। जल ही आपका अयन—रहने का स्थान है। जल में से ही कमल उत्पन्न होता है, आपकी नाभि से

एक कमल उत्पन्न हुआ, जब तक वह विकसित नहीं हुआ खिला नहीं तब तक तो वह बढ़ता ही गया, जब खिल गया, तो जैसे कमल से भ्रमर निकल कर गुंजार करता है उसी प्रकार आप की नाभि वाला कमल जब विकसित हुआ तो उससे चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हो गये। ये ब्रह्मा ही सब सृष्टि के कारण हैं आप उन ब्रह्मा के भी कारण हैं, किन्तु आप का कोई भी कारण नहीं है। आप तो सभी कारणों के कारण हैं। आप अविनाशी हैं, आदि पुरुष हैं, जीवों के निवास स्थान हैं, ऐसे नारायण रूप प्रभु के पाद पद्मों में प्रणाम है।

प्रभो ! जगत् के जितने कारण हैं, सब अंग हैं आप अंगी हैं। जगत् का कारण पृथिवी है, जल है, अग्नि है, वायु है, आकाश है, इन पंच महा भूतों के अतिरिक्त महत्तत्व है, माया प्रकृति है, पुरुष है। इन्द्रियों को प्रवृत्त करने वाला मन है, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इन पंच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, रूप, सर गंध और स्पर्श ये पाँच विषय हैं, इन बाह्य करण तथा अन्तः करणों के अधिष्ठातृ देव हैं ये सभी जगत् के कारण हैं, इन सभी के समुच्चय से संघात से सृष्टि होती है, इन सब के भी कारण आप हैं, ये सब आप विराट पुरुष के अंग प्रत्यंग हैं। ऐसे सर्व कारण आप प्रभु के पाद पद्मों में प्रणाम है।

स्वामिन् ! जितने ये पंच भूत, इन्द्रियाँ, अन्तः करण, विषय तथा अधिष्ठातृ देव हैं, ये स्वतः चाहे कि आप के स्वरूप को जान लें तो संभव नहीं। कारण कि ये सब के सब अनात्म हैं, जड़ हैं एक मात्र आप ही सब के आत्मा हैं, चैतन्यघन सत्य स्वरूप तथा आनंद रूप हैं। औरों की तो बात पृथक् है, सम्पूर्ण जगत् के पितामह सबको उत्पन्न करने वाले वेदगर्भ चतुरानन ब्रह्मा भी आप के गुणातीत रूप को सम्यक् प्रकार नहीं जान सकते, क्यों

कि ब्रह्माजी भी तो माया के गुणों से युक्त हैं, वे भी रजोगुण से सृष्टि की रचना करते हैं, कर्म करने में लगे रहते हैं, सृष्टि कार्य में व्यस्त हैं । आप माया के स्वामी होने पर भी मायिक गुणों से सदा सर्वदा रहित हैं। आपको वही जान सकता है जिसे आप जनाना चाहें, आप की अनुग्रह से ही आपके स्वरूप का बोध हो सकता है, नहीं तो मायिक गुणों में फंसा प्राणी आप मायातीत को कैसे जान सकता है।

प्रभो ! आप एक हैं, भिन्न भिन्न संप्रदाय के मुमुक्षु भिन्न भिन्न उपायों से आप को ही प्राप्त होते हैं। जैसे भिन्न भिन्न मार्गों से चल कर नदियाँ समुद्र में ही जाकर मिलती हैं, कहीं से भी चलें कैसी भी चाल से चलें सब का पर्यवसान समुद्र में ही है । इसी प्रकार योगीगण चित्त वृत्तियों के निरोध द्वारा आप को ही प्राप्त करते हैं योगी गण सूर्याधिष्ठित स्वरूप सहित अध्यात्म्य भाव से, चक्षुअधिष्ठित स्वरूप सहित अधिभूत भाव से तथा आदित्य में दिखाई देने वाला हिरण्यमय पुरुष स्वरूप से अधिदैत भाव से आप परम पुरुष परमात्मा का ही यजन करते हैं। अध्यात्म,अधिभूत और अधिदैव सभी रूपों में एक आप ही उपास्य देव हैं। इस प्रकार योगी जन विविधि योग क्रियाओं द्वारा विविधि भाँति से धारणा ध्यान समाधि द्वारा आपका ही यजन करते हैं।

जो कर्म काण्डी हैं, वेद में बताये कर्मों द्वारा ही सिद्धि लाभ करना चाहते हैं, वे ऋक, यजुर्वेद और साम में बतायी हुई विधियों के द्वारा आपकी उपासना करते हैं, सायं प्रातः अग्निहोत्र क द्वारा दर्श पौर्णिमा चातुर्मास्य पशु तथा सोमयज्ञों द्वारा आपकी अर्चना करते हैं। वैसे देखने के लिये वे इन्द्र वरुण कुबेरादि देवताओं को आहुति देते हैं, वे तत् तत् नामों वाले देवताओं के भिन्न भिन्न रूपों की भी कल्पना करते हैं "वज्रहस्तो पुरंदरः"

जिसके हाथ में वज्र हो वह इन्द्र। इस प्रकार भिन्न भिन्न नाम रूपों वाले विभिन्न देवताओं का पूजन करते हुए भी वास्तव में वे उपासना आप की ही करते हैं। उन नाम और रूपों से आप को ही बलि प्रदान करते हैं कुछ ज्ञानी लोग सभी नित्य नैमित्तिक-यज्ञों का परित्याग करके निराग्नि बनकर-कर्मसन्यास करके, सभी प्रपञ्चों से पृथक रह कर, अत्यंत शान्त भाव से विवेक वैराग्य के द्वारा सदा आप का ही ध्यान करते रहते हैं। सदा सर्वदा आत्म स्वरूप में ही अवस्थित रहते हैं। वे ज्ञान स्वरूप आपका ही ज्ञानयज्ञ द्वारा यजन करते हैं। उन्हें बाह्य कर्म काण्ड की आवश्यकता नहीं होती, वे सद् असत् के विचार द्वारा ही असत् जगत प्रपंच का परित्याग करके सच्चिदानन्द स्वरूप आप के ही भाव में सदा भावित रहते हैं। इस प्रकार कर्म काण्डी कर्म मार्ग द्वारा ज्ञान मार्गी ज्ञान मार्ग द्वारा आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो! जो उपासक हैं, भगवत् भक्ति करते करते जिनका अन्तः करण विशुद्ध बन गया है, जो वैष्णव संस्कारों द्वारा संस्कृत हो चुके हैं, वे आप की बतायी हुई विधियों से आपकी उपासना करते हैं जो वैदिक विधि से उपासना करते हैं, वे यज्ञों में इन्द्रादि देवों को आपके अंगभूत मान कर अंगी आपकी ही पूजा करते हैं, स्रुक्, स्रुव और चमस आदि यज्ञ पात्रों में तथा यज्ञ की समस्त विधियों में आपके ही अंग उपाङ्गों की कल्पना करते हैं, अनेक रूपों को मानते हुए भी उन्हें एक आप के अंग समझते हैं, जो

पाञ्चरात्र आदि तन्त्रोक्त विधि से उपासना करते हैं, वे सब भी धन्यवाद के पात्र हैं वे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध रूप चतुर्व्यूहों के रूप में भी आपकी ही पूजा करते हैं और एक केवल नारायण रूप से भी आप की ही उपासना में तन्मय होकर आप की भक्ति करते हैं।

कुछ लोग पाशुपत तन्त्र में बतायी विधि से आपकी ही पूजा करते हैं। आपने स्वयं ही आचार्य रूप से शिव बनकर शैव-पाशुपत आगम का उपदेश दिया है। शैवागम के अनेक आचार्य हुए हैं। जिन्होंने एकमात्र शिव को ही आराधनीय बताया है। शैवमतावलम्बी उन्हीं उपदेशों द्वारा शिवरूप से आप की ही उपासना करते हैं। जो शाक्त हैं, वे शक्ति रूप से आप को ही भजते हैं, गाणपत्य गणपति रूप में आपको ही भजते हैं। शौरगण सूर्य रूप से आपकी ही उपासना करते हैं। इनके अतिरिक्त जो लोग भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस आदि अनेक रूपों से आपकी ही उपासना करते हैं, देखने में वे भेद बुद्धि वाले प्रतीत होते हैं। उनके उपास्य देव के नाम रूप भिन्न-भिन्न हैं, तथापि आपतो सर्व देव मय हैं न ? जैसे कहीं भी पानी छोड़ दो वह इर-फिरकर समुद्र में ही पहुँच जायगा, इसी प्रकार किसी भी देवता को लक्ष्य करके पूजा की जाय, वह मिलेगी आपको ही, क्योंकि पूजा के एकमात्र अधिकारी तो आप ही हैं, जैसे नदियाँ पर्वतों से, तालाबों में से तथा अन्य जल स्रोतों से निकल कर बहती हैं, मेघ के जल से वे विस्तार को प्राप्त होती हैं, छोटी नदियाँ बड़ी नदियों में

जाकर मिल जाती हैं, किन्तु सभी नदियों का जल जायगा समुद्रमें ही। चाहें वह नदी प्रत्यक्ष जाकर समुद्र में मिले अथवा परम्परा से मिले सबकी अंतिम गति समुद्र ही है, इसी प्रकार चाहें कोई प्रत्यक्ष आपकी पूजा करे या परम्परा से करे वह पूजा पहुँचेगी आपको ही। समस्त उपासना मार्ग सब अन्त में आपको ही प्राप्त कराते हैं।

प्रभो! छोटे बड़े, ऊँच नीच जितने भी जीव हैं, सब त्रिगुण के अन्तर्गत हैं। कोई सात्विक जीव है, कोई राजस, कोई तामस और कोई मिश्रित। जड़ चैतन्य, स्थावर जंगम सब तीनों ही गुणों के अन्तर्गत हैं, समस्त मायिक जीव तीनों गुणों में ही ओत-प्रोत हैं और ये सत्व, रज तथा तम आपकी ही त्रिगुणमयी माया के गुण हैं, ब्रह्मा से लेकर परमाणु पर्यन्त सभी इन गुणों में आबद्ध हैं, किन्तु एक आप ही ऐसे हैं जो इन गुणों से सर्वथा पृथक् हैं। इसलिये हे सर्वात्मा! हे सबके साक्षी! हे त्रिगुणातीत प्रभो! आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार अक्रूरजी ने भगवान् की सर्वात्म रूप से स्तुति की, अब वे जैसे विश्व रूप भगवान् की स्तुति करेंगे उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

भूत, करन, सुर, प्रकृति, पुरुष सब तुमही स्वामी।
जानें अज नहिं भेद सर्वमय अन्तरयामी॥
जोगी करिकें जोग करम करि करमी ध्यावें।
ज्ञानी करकें ज्ञान उपासक तुमकूँ पावें॥
शाक्त शक्ति शिव शैव कहि, पूजें तुमही कूँ प्रभो।
जीव त्रिगुन में सब फँसे, गुनातीत तुम हो विभो॥

पद

ध्येय तुमही हो सबके श्याम ।
जगकारन, जगमय जगदीश्वर, जगन्नाथ जगधाम ॥१॥
जग के जीव भेद नहिँ जानें, तुम निरगुन निष्काम ।
जोगी जोग जुगति करि ध्यावें, पावें पूरन काम ॥२॥
करमकांड करि जज्ञ रूप में, तुम ही हो घनश्याम ।
ज्ञानी ज्ञान यज्ञ तैं ध्यावें, तुमरो रूप न नाम ॥३॥
वैष्णव विधि विधान तैं पूजें, तुमरे रूप ललाम ।
सर्व देवमय सर्व रूपमय,तुमहि श्याम सियराम ॥४॥
जैसे नदियाँ निकरि गिरिनितैं, जावें जलनिधिठाम ।
तैसे तुमकूँ पावैं प्रभु जी, विविध रूप तैं राम ॥५॥

अक्रूर कृत भगवत् स्तुति (२)

[९८]

तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविपक्त दृष्टये

सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।

गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः

प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मने ॥*

(श्री भा० १० स्क० ४० अ० १२ श्लो०)

छप्पय

अगिनि कह्यो मुख चरन भूमि नभनाभि नेत्र रवि ।
कान दिशा शिरस्वरग इन्द्र भुज कोख सलिल कवि ॥
वायु प्रान तरुरोम मेघकच नख गिरि हड्डी ।
हैं निमेष निशि दिवस शिश्न अज बीरज वृष्टी ॥
अगनित जग सुखतैं बसैं, गूलर फल में जीव ज्यों ।
परमपुरुष प्रभु पेट में, बसैं निखिल ब्रह्मांड त्यों ॥

---

* अक्रूर जी भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं—" प्रभो ! मैं आपको नमस्कार करता हूं, आप सर्वरूप हैं, सब की बुद्धियों के साक्षी हैं, आपकी दृष्टि निर्लिप्त है, देवता, मनुष्य तथा तिर्यगादि योनियों में प्रवृत्त होने वाला यह गुणप्रवाह अविद्याकृत है ।

हम संसारी लोगों की बाह्यदृष्टि है। हम बाहर से दिखायी देने वाले घट, पट, अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज प्राणियों को ही देखते हैं। इन सब में समान रूप से ओत प्रोत उन प्रभु को नहीं निहारते इसीलिये हमें बारबार जन्मना मरना पड़ता है। यदि अणु परमाणु में व्याप्त हम उन्हीं परमात्मा को देखें तो फिर यह संसार चक्र सदा के लिये समाप्त हो जाय। प्रार्थना का अर्थ यही है, हमारी दृष्टि जो व्यष्टि में उलझी हुई है, वह समष्टि में फँस जाय तदाकार हो जाय। सर्वत्र एक ही तत्व दिखायी देने लगे।

अक्रूरजी भगवान् की स्तुति करते हुए आगे कहते हैं—"भगवन्! जिन तीन गुणों से यह चराचर जगत् बना है, उन्हीं गुणों में समस्त छोटे बड़े जीव बँधे हुए हैं। और की तो बात ही क्या इस चराचर विश्व को बनाने वाले ब्रह्माजी भी इस गुण प्रवाह से बचे नहीं हैं। केवल एक आप ही ऐसे हैं, जो इन गुणों से पृथक् हैं, गुणातीत हैं, निर्गुण, निर्लेप हैं। फिर भी यह जगत् आपका ही रूप है। सबके अन्तःकरण के एकमात्र आप ही साक्षी हैं आप ही इस गुण प्रवाह से अलिप्त हैं, शेष चाहें पशु पक्षी हों रेंगने वाले चलने वाले हों या देवता ही क्यों न हों सभी इस प्रवाह में आबद्ध हैं।

आप सर्वरूप तथा सर्वसाक्षी हैं। जितना भी पसारा है, सभी आपके अंग उपाङ्ग हैं। यह जो वैश्वानर सबको भक्षण कर जाता है, यही आपका मुखारविन्द है। सबकी सब बातों को सहन करने वाली सब को धारण करने वाली पृथिवी ही आप के चरणारविन्द हैं। सबको प्रकाशित करने वाले सदा सर्वदा सब को देखते रहने वाले सूर्य ही आपके नेत्र हैं। सब को अवकाश देने वाला आकाश ही मानों आपके शरीर का मध्य भाग

नाभि है। ये दशों दिशायें ही आपके कान है। सबसे शीर्ष्ण-लोक स्वर्ग ही आपका शीर्ष स्थानीय अंग शिर है। प्रभो! जितने देवताओं के स्वामी हैं वे ही मानो आपकी भुजायें है। जिसमें अन्न पानी भर जाता है, वे उदर की कोखें ही मानो समुद्र है सब को जिवाय रखने वाला वायु ही मानों आपकी प्राण शक्ति है। ये जितने बड़े बड़े वृक्ष है वनस्पति हैं, तथा फल लग कर पक जाने पर गिर जाने वाली जब धान्य आदि ओषधियाँ हैं वे ही मानो आप विराट के अंग मे होने वाले रोम है। ये काले काले जल बरसाने वाले मेघ ही मानों आपके सिर के काले घुंघराले केश कलाप हैं। ये बड़े बड़े शिखरो वाले पर्वत ही आपके श्री अंग की हड्डियाँ हैं। छोटे छोटे पर्वत ही मानों आपकी उँगलियों के नख हैं। रात्रि हो जाना, दिन हो जाना फिर रात्रि हो जाना फिर दिन हो जाना, यह जो दिन रात्रि का उत्थान पतन है वही मानो आपका निमेष और उन्मेष है। पलकों का खोलना और मीचना है। प्रजापति आपके शिश्नस्थानीय है। जीवन रूप जल जो बरसता है वही मानो आपका वीर्य है। इस प्रकार आप जगन्मय हैं। ये समस्त चराचर जीव आपके उदर मे सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं जैसे अनन्त अगाध अपार समुद्र में असंख्यों छोटे बड़े जीव सुखपूर्वक निवास करते हैं, उनके कारण समुद्र को तनिक भी क्षोभ नहीं होता अथवा जैसे गूलर के फल मे असंख्यों भिनगे भर रहते है, गूलर का कुछ भी नहीं बिगड़ता, इसी प्रकार अगणित ब्रह्माण्ड आपके उदर मे सुखपूर्वक रह रहे हैं। आप पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनके कारण लेशमात्र भी आपको क्षोभ नहीं होता। आप ज्ञान स्वरूप परम-पुरुष परमात्मा में ये सब व्यवहार हो रहे हैं। आप सर्वथा इनके व्यापारों से निर्लिप्त हैं। सुख दुख से परे है आनन्द स्वरूप हैं।

प्रभो ! यदि संसार में कर्म बन्धन में बँधे मायिक जीव ही सब रहें तो यह जगत् रौरवनरक से भी बढ़कर दुःखद हो जाय। क्योंकि तीनों गुणों के कार्य संसार बन्धन को सुदृढ़ करने वाले होते हैं। आप गुणातीत होकर भी कभी कभी अवनि पर अवतरित होते हैं। भक्तों को सुख देने वाली सरस सुंदर मधुर क्रीड़ायें करते हैं, उन्हें जो भाग्यशाली स्वयं देखते हैं, उनमें सम्मिलित होते हैं, वे कृतार्थ हो जाते हैं, जो देखने नहीं पाते वे पीछे उन लीलाओं को गाते हैं गा गाकर दूसरों को सुनाते हैं जो उन्हें सुनते सुनाते हैं वे शोक रहित होकर आनन्द मग्न बन जाते हैं वे ही गुणातीत आपकी गुणमयी लीलाओं केवल भाव से निःसंग और निर्मुक्त बन जाते हैं, आप मानवशरीर में ही प्रकट होते हों भी बात नहीं। कभी जलचर जीव बनजाते हैं,कभी नभचर कभी स्थलचर और कभी वनचर भी बन जाते हैं, कभी क्षत्रिय बन के दुष्ट दमन करते हैं तो कभी विप्र बनकर भी संहार करने लगते हैं। ब्राह्मण बनकर भीख भी माँगते हैं आपकी महिमा अपरम्पार है।

प्रभो ! आप एक बार राजा सत्यव्रत पर कृपा करने के लिये तथा पृथिवी के बीजों की और सप्तर्षियों की रक्षा करने के लिये उन्हें प्रलय पयोधि से बचाने के लिये अगणित योजन लम्बे चौड़े मत्स्य बन गये थे। जिससे आपने सप्तर्षियों का तथा राजा सत्यव्रत की रक्षा की ऐसे प्रलय पयोधि में नौका लेकर तैरने वाले कमनीय क्रीड़ा करने वाले कृष्ण आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

भगवन् ! सृष्टि के आदि में ही मधु और कैटभ उत्पन्न होकर आपको डराने धमकाने लगे। ब्रह्माजी को त्रास देने लगे तब आपने हयग्रीव अवतार धारण किया। ग्रीवा से ऊपर के

भाग तो हय-घोड़े-का सा था और नीचे का भाग मनुष्य जैसा था, आपने मधु कैटभ को मारकर ब्रह्माजी को अभय बना दिया। ऐसे आप मधुकैटभ संहारी को बारम्बार नमस्कार है।

स्वामिन्! जब आपने देवताओं को समुद्र मंथन की आज्ञा दी और वे दैत्यों के सहित मंदराचल से क्षीर सागर को मथने लगे तब निराधार मंदराचल समुद्र में कैसे स्थित रह सकता था, वह समुद्र में डूबने लगा, तब आपने बड़े भारी आकार वाले कछुए का रूप रख कर डूबते हुए मंदराचल को ऊपर उठा लिया और समुद्र मंथन पर्यन्त उसका अवलम्ब बन कर—उसके आधार होकर समुद्र में बैठे रहे, ऐसे कूर्मरूप आप प्रभु के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

जब असुरराज हिरण्याक्ष पृथिवी को पाताल लोक ले गया, तब आप वराहरूप रख कर पृथिवी को वहाँ से साथ लेकर ऊपर आये और पृथिवी को जल के ऊपर रख दिया साथ ही उस असुरराज को परलोक भी पठा दिया ऐसे वाराहरूप रखने वाले आप परमात्मा के पाद पाद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे भक्तवत्सल! जब आपके अनन्य भक्त प्रह्लाद को उसका पिता असुरराज हिरण्यकशिपु अत्यंत त्रास देने लगा, बारम्बार आपका अपमान करने लगा, तो आपने अपने अपमान की तो उपेक्षा कर दी, किन्तु भक्त के दुःख के कारण आपका नवनीत के समान कोमल हृदय पसीज उठा, आप अपने भक्त के दुःख दूर करने के निमित्त नृसिंह बन गये। ऐसा अद्भुत भयंकर

रूप बना लिया जो आजतक न कभी सुना था और न कभी देखा था। हे साधुओं को अभय प्रदान करने वाले प्रभो! आप उस नरसिंह रूप से हिरण्यकशिपु को मार कर भक्त के भय को दूर कर दिया ऐसे आप भयहारी के पाद पद्मों में प्रणाम है।

हे देव! जब राजा बलि ने तीनों लोकों को जीत लिया और देवताओं को स्वर्ग से भगा दिया। तब आपने कपट वामन वेष बना कर बलि के द्वार पर भीख माँगी और उसके हाँ कहने पर अपने पगों से तीनों लोकों को नाप लिया। ऐसे वामनरूप प्रभु को बारम्बार नमस्कार है।

जब क्षत्रिय रूप से अवनि पर अनेकों असुर उत्पन्न हो गये। तब उन सबका संहार करने के लिए आप परशु लेकर, उनका जड़ मूल से नाश करने के निमित्त, परशुराम रूप से उत्पन्न हुए और अपने तीक्ष्ण धार वाले परशु से क्षत्रियों के समूह रूप वन को काट कर पृथिवी के भार को हलका कर दिया। ऐसे परशुराम रूप प्रभु के पाद पद्मों में प्रणाम है।

हे सीता सर्वस्व! जब रावणादि—राक्षस अपने अत्याचारों से साधुओं को कष्ट देने लगे तब आपने राघवेन्दु बन कर तम रूप उन असुरों को मार भगाया। ऐसे रावणारि राघव को हमारा बारम्बार नमस्कार है।

प्रभो! भक्तों को सुख देने के निमित्त सात्वतों के आनन्द को बढ़ाने के निमित्त आप वासुदेव रूप से अवतरित हुए। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप से चतुर्व्यूह बन कर भक्ति को बढ़ाने वाले आप परमेश्वर के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे असुरारी ! जब असुर नाना रूपों में प्रकट होकर कपट यज्ञ करके अधर्म को बढ़ाने लगे, तब आपने उन कपट यज्ञों को बन्द करने के निमित्त बुद्ध रूप से अवतार लिया और दानवों को मोहित करके उन्हें उन कार्यों से विरत किया। ऐसे बुद्ध भगवान को बारम्बार नमस्कार है।

हे युग प्रवर्तक ! प्रत्येक द्वापर के अन्त में जब कलियुग आता है; तब कलिके अन्त में जितने शासक हैं सब म्लेच्छों के समान आचरण करने वाले बन जाते हैं, सर्वत्र अधर्म का साम्राज्य हो जाता है. समस्त प्रजा पापाचरण में प्रवृत्त हो जाती है। उस समय आप कल्कि रूप से अवनि पर अवतीर्ण होते हैं और उन दस्युधर्मी म्लेच्छों को मारकर पुनः सत्ययुग की स्थापना करते हैं, फिर से धर्मचक्र को सुचारु रूप से प्रवर्तित करते हैं। ऐसे कल्कि रूप आप परम पुरुष के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! इस प्रकार अक्रूर जी ने भगवान् की स्तुति की। अब आगे जिस प्रकार वे अपनी दीनता प्रकट करते अपनी स्तुति का उपसंहार करेंगे वह कथा प्रसंग में आगे कहूँगा। अक्रूर जी की स्तुति अत्यंत ही भक्ति भाव पूर्ण तथा विनय से परिपूर्ण है आप सब इसे सावधानी से श्रवण करें।

छप्पय

कीन्हा तनु धरि करो ताहि नर सुनि सुख पावैं।
कच्छ, मच्छ, हयग्रीव, विप्र, नरहरि बनि जावैं॥
परशुराम, श्रीराम, रामबल, वासुदेव वर।
चतुरव्यूह बनि कल्कि बुद्ध पाखंडयज्ञहर॥
माया मोहित जीव ज्यों, मैं मेरी में फँसि मरैं।
स्वपन सरिस परिवार धन, फँस्यो मोहमें प्रभुहरैं॥

पद

आपु जगर्वानि जगपनि कहलाओ।
सरव भूत सब प्रज्ञा साक्षी, हरि निरलिप्त कहाओ ॥ १॥
सरव देव सब अंगभूत गन, जल बीरज बनि जाओ।
रोम रोम ब्रह्माण्ड तिहारे, सबकूँ नाच नचाओ ॥ २ ॥
क्रीड़ा हित पृथिवी पै प्रकटो, लीला मधुर रचाओ ।
तिनहिँ सुमिरि सुख पावें तवजन, तिनिभव पार लगाओ ॥ ३ ॥
मछली बनिकें प्रलय सलिल में, जगके बीज बचाओ।
मधु कैटभ दैत्यनि के वध हित, हयग्रीवा बनि जाओ ॥ ४ ॥
कछुआ बनि मंदरगिरि धारो. सागरकूँ मथवाओ।
बनिवराह पृथिवी उद्धारो, तापै जीव बसाओ ॥ ५ ॥
हिरनकशिपु को फारि उदर नर-हरि बनि भक्त जिताओ।
वामन बनि बल छलिकें सुरपति, त्रिभुवन राज दिवाओ ॥ ६ ॥
रामरूपतैं फरसा लैकें, यमपुर नृपनि पठाओ।
वासुदेव प्रद्युम्न रामबल, अनिरुध रूपधराओ ॥ ७ ॥
बुद्ध रूप धरि दानव मोहे, छलमख बन्द कराओ।
कल्कि बनो कलि अन्त होहि जब, फिरितैं सतजुग लाओ ॥ ८ ॥
जीव चराचर मायामोहित, तिनि भवभीति भगाओ।
मैं मेरी मे फँस्यो अधम प्रभु भ्रम अज्ञान मिटाओ । ९ ॥

अक्रूरकृत भगवत् स्तुति (३)

(९९)

भगवन् जीव लोकोऽयं मोहितस्तव मायया ।
अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्म वर्त्मसु ॥

(श्री भा० १० स्क० ४० अ० २३ श्लो०)

छप्पय

तृन सिवार तैं ढके सलिल तजि मृगतृष्ना हित ।
भटकै ज्यों जग जीव दीन बनि नित नित इत तित ॥
चरन शरन हरि लई कृपा करि दरसन दीन्हें ।
भक्ति हिये में दई तबहि प्रभु जल में चीन्हें ॥
काल करम प्रेरक परम, पुरुष प्रकृति पर परावर ।
बार बार बन्दौं विभो, विश्वम्भर भव दुःखहर ॥

भगवान् जब कृपा करें, जब जीव को वे अपना करके वरण करें, तभी वे योग माया की यवनिका को हटा कर निज जनके सम्मुख प्रकट होते हैं। जीव का पुरुषार्थ तो निमित्त मात्र है, नगण्य है, केवल उसी के सहारे कुछ होने जाने का नहीं। जीवन में जब हार्दिक दीनता आजाय, हृदय सर्वात्म भाव से समर्पित हो

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए अक्रूरजी कह रहे हैं—"हे भगवन्! यह जीवलोक तुम्हारी माया से मोहित है और कर्म मार्ग में यह मैं हूँ! यह मेरा है ऐसे अज्ञान के आग्रह से भटक रहा है।

जाय, तो तुरन्त भगवान् अपना लेते हैं, अपने दुर्लभ दर्शन दे देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अक्रूर जी स्तुति करते हुए आगे कह रहे हैं—"यह अज्ञानी जीव कर्म मार्ग में भटक रहा है, रात दिन कर्म करने में ही व्यस्त रहता है, कर्म रजोगुण से ही होता है। रजोगुण बिना अहं भाव के होता नहीं। जहाँ अहंता है वहाँ ममता है। मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ लोग मुझे समझते नहीं। मेरा कितना प्रभाव है मेरे पास कितनी प्रचुर मात्रा में सुखोपभोग की सामग्रियाँ हैं, इसी असत् आग्रह के कारण वह परमार्थ से च्युत हो जाता है। अच्छे बुरे कर्म करता है, उनके फल भोगने को जीव नीच योनियों में जन्म लेता है फिर कर्म करता है, फिर जन्म लेता है, यों इस संसार में फँस कर आपके पाद पद्मों से विमुख बन जाता है।

प्रभो! जिस प्रकार अन्य बद्ध जीव कर्म मार्ग में भटक रहे हैं, उसी प्रकार मैं भी भटक रहा हूँ, उन भटकने वालों में से मैं भी एक अज्ञ जीव हूँ। मुझे भी यह अभिमान है, मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, कुलीन हूँ, सरूपवान् हूँ, स्वस्थ हूँ। मेरे इतने पुत्र हैं, अमुक आज्ञाकारी हैं, इनके लिये मुझे यह करना है वह करना है। यह मेरा घर ही है स्वच्छ है, सुंदर है, आकर्षक है वैभव से पूर्ण है, दानपति की प्रतिष्ठा के अनुरूप है। इतनी मेरी स्त्रियाँ हैं, अमुक पतिव्रता है, अमुक सुंदरी है, सुशीला है। मुझे किसी बात की कमी नहीं। मेरे पास इतना धन है, इतना और हो जाय, तो मैं और भी अधिक सुखी हो जाऊँ। इतने मेरे कुटुम्ब परिवार के

सगे सम्बन्धी हैं, कुटुम्बी हैं, स्वजन बन्धु बान्धव हैं। इस प्रकार स्वामिन्! इस मैं मेरी में, भ्रमवश पड़ा हुआ इन असत् वस्तुओं को मैं सत समझे बैठा हूँ।

ये जितने भी अहंता ममता वाले पदार्थ हैं, इनसे मेरा वास्तव में सम्बन्ध ही क्या है। रात्रि में शैयापर सोते समय स्वप्न में बड़े-बड़े महल, हाथी, घोड़ा धन वैभव देखते हैं, सुखोपभोग की सामग्री देखते हैं स्वप्न में उनका उपभोग भी करते हैं। मनोनुकूल पदार्थ के उपभोग से स्वप्न में ही सुख भी प्रतीत होता है। प्रतिकूल पदार्थ से दुःख का भी अनुभव होता है,रोमाञ्च हो जाते हैं, शरीर काँपने लगता है, कभी कभी आँखों मे आँसू तक आजाते हैं, किन्तु जहाँ निद्रा भंग हुई तहाँ न महल रहते हैं, न हाथी, घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा रहते हैं। इसी प्रकार संसारी पदार्थ, संसारी सम्बन्ध भी स्वप्न में देखे पदार्थों के सदृश ही हैं। अंतर इतना ही है, कि स्वप्न में पदार्थ कुछ थोड़े समय तक रहते हैं, ये पदार्थ कुछ अधिक समय तक रहते हैं, किन्तु उनमें और इनमें अंतर कुछ भी नहीं। यह जीवन में एक स्वप्न ही है। ये संसारी पदार्थ वास्तव में अनित्य हैं, आज हैं कल नहीं हैं, किन्तु मैं अज्ञानवश इन्हें नित्य समझ कर इनके लिये लड़ रहा हूँ, इनके अधिकाधिक संग्रह के लिये असफल प्रयास कर रहा हूँ। ये जितने पदार्थ हैं अनात्म हैं। आत्मा से इनका कोई लगाव लपेट नहीं। किन्तु मैं मन्दमति इन्हें आत्मा ही माने बैठा हूँ। पुत्र के लिये कहता हूँ "आत्मावै जायते पुत्रः" जो आत्मा से उत्पन्न हो वही पुत्र। भला आत्मा किसी को उत्पन्न करता है। आत्मा तो जन्म मरण, सुख, दुख, क्षुधा पिपासा सभी से पृथक् है। ये संसारी पदार्थ दुःख रूप हैं। परिणाम में सभी दुख देने वाले हैं किन्तु मैं इन्हें सुख रूप समझकर इन्हीं में चिपटा हुआ हूँ। इन्हीं में आनंद का अनुभव करता हूँ। इन

दुःख रूप पदार्थों में विपरीत बुद्धि करके नाना क्लेश उठा रहा संसार बन्धन को सुदृढ़ कर रहा हूँ, जन्म मरण के चक्र को नि कालीन बना रहा हूँ, सुख दुःखादि द्वन्द्वों में रमण कर रहा हूँ अप्रिय में प्रिय भाव कर रहा हूँ। वास्तव में जो समस्त जीवों सुहृद् हैं, जो परम प्रेमास्पद हैं, जिनसे बढ़ कर कोई प्रियतम नहीं उन आप परमेश्वर को भुला बैठा हूँ।

प्रभो! मैं जीवन दाता, प्रेमास्पद आप प्रभु का परित्या करके विषय वासनाओं की ओर दौड़ रहा हूँ। जैसे कोई स्व सुन्दर स्वादिष्ट मधुर जल वाला तालाब है, उसमें कमल सिवा तथा जल की घास उत्पन्न हो गई है। उसने ऊपर से जल को ढक लिया है। यद्यपि ये सब जल से ही उत्पन्न तृण हैं और जल के आधार से जीते हैं। जल न मिले तो मुरझा जायँ, मर जायँ, किन्तु जल के ही सहारे बढ़ कर उन्होंने जल को आच्छादित कर रखा है। अब प्यासे आदमी आते हैं जल न देखकर लौट जाते हैं। सामने ही बालू का मैदान है। उसमें बालू सूर्य की किरणों से चमक रही है। दूर से वह स्वच्छ जलसे भरा हुआ विशाल जलाशय दिखायी देता है। अज्ञ पुरुष उस कमल तृण से ढके जल को छोड़कर उस चमकीली बालू की ओर—मृग तृष्णा की ओर—दौड़ते हैं, ज्यों ज्यों आगे बढ़ते हैं, वह मिथ्या जल भी बढ़ता जाता है, और आगे दिखायी देने लगता है। मिथ्या जल के पीछे दौड़ने वाले उन प्राणियों को कभी जल प्राप्त नहीं होता वे चाहें कितने भी दौड़ें। किन्तु जो उस मृगतृष्णा से मुख मोड़कर—तृण

से ढके समीप के ही जलाशय के पास जाकर-तनिक शिवार को हटाकर अमृत के सदृश स्वच्छ, स्वादिष्ट, मधुर सलिल का पान करता है, उसे जीवन मिल जाता है, वह अजर अमर हो जाता है।

स्वामिन्! ऐसा ही अज्ञ मैं भी हूँ। यह माया आपसे ही उत्पन्न हुई है, उसने आप जीवन धन को ढक लिया है, या आप को वह बराकी क्या ढकेगी आप ही ने जान बूझकर उसकी साड़ी में मुँह छिपा लिया है। उस योग माया से समावृत होकर सबके सामने आप प्रकाशित होते नहीं। मूढ़ लोग आप अज अव्यय को जानते नहीं। माया से ढके हुए जल रूप आप जीवन धन को छोड़कर विषय वासना रूपी मृग तृष्णा की ओर मैं दौड़ रहा हूँ। प्रभो! मुझे बचाइये, मुझे शत पथ दिखाइये।

इन विषय वासनाओं के कारण मेरी बुद्धि हीन और मलिन बन गई है। इसीलिए विविधि कामनाओं से विविधि काम्य कर्मों को मैं करता रहता हूँ। इसी कारण चित्त चंचल हो रहा है। उसकी चंचलता को सहस्रों बलवान घोड़ों से भी बली ये इन्द्रियायें और भी चंचल बना रही हैं। विषय के सघन वन में इधर उधर भटका रही हैं। सब ओर से प्रताड़ित इस अपने चंचल चित्त को मैं वश में नहीं कर सकता। इसे रोकने में सर्वथा असमर्थ हूँ।

हे सर्वेश्वर! समस्त साधन करते करते अंत में थक कर मैंने आपके चरणारविन्दों की शरण ली है। इन्हीं पादपद्मों का

सहारा लिया है। आपके चरण कमलों का सभी सहारा नहीं ले सकते। असत् पुरुषों को तो वे सर्वथा दुष्प्राप्य हैं।

स्वामिन ! मैं अपने सौभाग्य की सराहना कहाँ तक करूँ! मुझ साधन विहीन मंद मति को आपके पुनीत पाद पद्मों में दर्शन हो सके इससे बढ़कर भाग्य की बात होगी क्या ? यह मेरे पुरुषार्थ का कोई फल नहीं। आप महान् को पुरुषार्थ करके कौन प्राप्त ही कैसे कर सकता है। आप ही जब कृपा करें तभी बेड़ा पार लग सकता है। आपकी ही असीम कृपा का मैं इसे फल समझता हूँ।

देव ! अब मुझे विश्वास हो गया। मेरा संसार बन्धन टूटने वाला है। क्योंकि जिसकी सद्गति होने को होती है, उसकी चित्त वृत्ति स्वतः ही आपकी ओर लग जाती है। उसके हृदय में उत्तम भक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

प्रभो ! आप विज्ञान स्वरूप हैं, ज्ञान की साक्षात् मूर्ति हैं, संसार में जितनी भी प्रतीतियाँ होती हैं, आपके ही माध्यम से होती हैं। आप न हों तो किसी भी वस्तु की प्रतीति न हो। जो काल समय पर प्राणियों को जन्म मरण, सुख दुख, जरा मृत्यु आदि प्राप्त कराता है, वह काल भी आपका ही स्वरूप है। आप स्वयं लोकक्षय के निमित्त काल बन जाते हैं, काल को भी कलयन करने वाले आप ही हैं, तथा कर्म के भी नियन्ता आप ही हैं और स्वभाव के भी प्रापक आपही हैं। आपही सब कुछ करते हैं, आप ही सर्वसमर्थ हैं, आप ही अनन्त शक्ति वाले हैं, आप

ही पर ब्रह्म परमात्मा हैं, ऐसे आप परमेश्वर के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे सर्वात्मन्! चित्त के अधिष्ठाता वासुदेव आप ही हैं, अहंकार के अधिष्ठाता सब प्राणियों के आश्रय संकर्षण भी आपका ही रूप है। बुद्धिके अधिष्ठाता प्रद्युम्न भी आप ही हैं और मन के अधिष्ठाता अनिरुद्ध भी आपका ही स्वरूप है। आप सर्व रूप हैं, ऐसे चतुर्व्यूह रूप आप प्रभु को बारम्बार नमस्कार है। प्रभो! मैं आपकी शरण मे आया हूँ। पाहिमाम्। रक्षमाम् मेरी रक्षा करो। रक्षा करो, रक्षा करो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार अक्रूरजी ने भगवान् की स्तुति की फिर सन्ध्यादि से निवृत्त होकर रामकृष्ण के समीप गये और उन्हें लेकर मथुरा चले गये। यह मैंने श्री अक्रूर कृत भगवत् स्तुति आपसे कही, अब जैसे मथुरा जी में अक्रूर ने रामकृष्ण की स्तुति की है उसे आगे कहूँगा।

छप्पय

वासुदेव तुम चित्त अधिष्ठाता बनि जाओ।
संकरषन बनि सबहिं जगत आश्रय कहलाओ॥
प्रभु प्रद्युम्न कहाय बुद्धि के तुम ही स्वामी।
तुम ही बनि अनिरुद्ध होहु मन अन्तरयामी॥
सरबसु तुम ही कूँ समुझि, चरन शरन तुमरी गही।
प्रभु पद पुनि पुनि बन्दिके, इबफलक सुत विनती कही।

पद

तुम्हारो रूप जगत में छायो।
तुमने ही प्रपंच रचि माधव, मोहक विश्व बनायो ॥१॥
करम जाल में जीव फँस्यो है, माया माहिँ भुलायो।
जल शिवार तैं ढक्यो निरखि कैं, मृग तृष्ना हित धायो ॥२॥
भटक्यो इत उत अधिक दयानिधि, अब पावन पद पायो।
भयो भरोसो भय हर भारी, भव को भूत भगायो ॥३॥
बन्धन खुले भक्ति हिय आई, अद्भुत रूप दिखायो।
बार बार प्रभु पद परि रोवै, दीन जानि अपनायो ॥४॥

अक्रूरकृत भगवत् स्तुतिः

अक्रूर उवाच

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं,
नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद्,
ब्रह्माऽऽविरासीद् यत एष लोकः ॥१॥
भूस्तोयमग्निः पवनः खमादि,
र्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे,
ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥२॥
नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते,
ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीताः ।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया,
गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम् ॥३॥
त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम् ।
साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः ॥४॥

त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिका द्विजाः ।
यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया ॥५॥
एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः ।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥६॥
अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥७॥
त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥८॥
सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥९॥
यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥१०॥
सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ।
तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः ॥११
तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये,
सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।
गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः,
प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥१२॥

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षण,
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः ।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः,
कुक्षिर्मरुत् प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥१३॥
रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा,
मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापति,
मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥
त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता,
लोकाः सपाला बहुजीवसंकुलाः ।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसो,
ऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥१५॥
यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि ।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१६॥
नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च ।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥१७॥
अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे ।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः सूकरमूर्तये ॥१८॥

नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥१९॥
नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ।
नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥२०॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥२१॥
नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥२२॥
भगवञ्जीवलोकोयं मोहितस्तव मायया ।
अहंममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥२३॥
अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु ।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो ॥२४॥
अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम् ॥२५॥
यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं पराङ्मुखः ॥२६॥
नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतंमनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥२७॥

सोऽहंतवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं,
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग,
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥२८॥
नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे ।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥२९॥
नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च ।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽक्रूरस्तुतिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

अक्रूरकृत श्रीकृष्ण स्तुति

(१००)

यथाहि भूतेषु चराचरेषु,
महादयो योनिषु भान्ति नाना ।
एवं भवान् केवल आत्मयोनि,
ष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥
(श्रीभा० १० स्क० ४८ अ० २० श्लो०)

छप्पय

गुरुगृहतैं पढ़ि राम श्याम मथुरा में आये ।
अक्रूर सुत घर गये चरनपरि अति हरषाये ॥
विधिवत् पूजा करी करेंइस्तुति तुम जगपति ।
उभय प्रकृति अरु पुरुष शुद्ध विज्ञान विमल मति ॥
व्यापि रहे जग भूत ज्यों, बन्ध मोक्षतैं रहित हरि ॥
त्यों जीवनि में व्याप्त प्रभु, देहिँ भक्ति पद कृपा करि ॥

भगवान् की स्तुति करते हुए अक्रूर जी कह रहे हैं—"हे भगवन् ! आप किसी प्रकार के बन्धन में नहीं हैं, सब प्रकार स्वतंत्र हैं, आत्म स्वरूप और अद्वितीय हैं, आप इस जगत् के कार्य भूतों में इसी प्रकार अनेकवत प्रतीत होते हैं, जैसे पृथिवी आदि पंच भूत कारण तत्व अपने कार्य रूप चराचर भूतों में नाना रूपों में प्रतीत होते हैं ।

भगवान् भक्तवत्सल कहलाते हैं, वे भक्तों पर अनुग्रह करके स्वयं ही उनके सब कार्य करते हैं, छोटी से छोटी सेवा उनकी करते हैं, अपने मान सम्मान का ध्यान नहीं रखते। भक्तों का मान बढ़ाने में ही उन्हें आनंद आता है। वे दर्शन देने स्वयं भक्त के समीप पहुँच जाते हैं और उनकी सेवा स्वीकार करके उन्हें कृतार्थ करते हैं। यही तो उनकी भक्त वत्सलता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गुरु गृह से लौट कर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने गोपियों तथा अन्यान्य व्रजवासियों की सान्त्वना के हेतु उद्धवजी को व्रज में भेजकर उन्हें धीर बँधाया, कुब्जा पर कृपा की उसके घर गये। तदनंतर वे अपने परम भक्त पितृव्य श्री अक्रूरजी के घर पधारे। अपने घर राम श्याम को उद्धव सहित आते देख, अक्रूरजी संभ्रम के साथ उठकर खड़े हो गये। उनकी विधिवत् पूजा की, फिर उनके चरण कमलों को अपनी गोदी में रखकर उनकी स्तुति करने लगे।

अक्रूर जी राम श्याम की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे श्याम सुंदर ! हे संकर्षण ! आप दोनों ने मेरा अत्यधिक मान बढ़ाया। स्वयं मेरे घर पर पधार कर मुझे बहुत बड़ाई प्रदान की। आप हमारे कुल के भूषण हैं। हमारे कुल रूप नंदनवन में आप कल्प वृक्ष हैं। इस कुल में कंस ही एक कंटकाकीर्ण बबूल का वृक्ष था। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि उस कंटकों से पूर्ण सुदृढ़ विष वृक्ष को आपने उखाड़ फेंका। उस पापी के मर जाने से हमारा कुल रूप कानन निष्कंटक बन गया, सुखी बन गया तथा समृद्ध हो गया। आप दोनों हमारे कुल के ही नहीं सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं। आप इस दृश्य प्रपंच के एक मात्र कारण हैं। यह सम्पूर्ण जगत् आपका ही रूप है। जैसे बीज से वृक्ष बन जाता है उसी प्रकार आपसे यह संसार बन गया है। आप

ही प्रकृति हैं, आप ही पुरुष हैं। जितना कार्य जगत् है जितना कारण जगत् है आपसे कोई पृथक् नहीं।

ब्रह्मन्! आप एक हैं, किन्तु एक से अनेक हो गये हैं। स्वयं अपनी शक्ति से इस स्थावर जंगम रूप चराचर जगत् को रचकर उसमें काल मायादि शक्तियों से घुस गये हैं प्रविष्ट हो गये हैं, इसीलिये आप नानारूपों से दिखायी दे लगते हैं। विविध नामों से सुने समझे जाते हैं।

प्रभो! जैसे घट का कारण मिट्टी है। कार्य घड़ा, सकोरा नाद, हंडी आदि वर्तन हैं। वर्तन बन जाने पर भी उनमें सर्व मिट्टी ओत प्रोत रहती है। पात्र का कोई भाग ऐसा नहीं जो मिट्टी न हो। यद्यपि उन वर्तनों के नाम, रूप, आकृति, लम्बा चौड़ाई, रंग आदि सब भिन्न भिन्न हैं, किन्तु वे सब हैं मृण्मय ही। सबमें सर्वत्र मिट्टी ही मिट्टी है, मिट्टी के बिना जैसे पात्र की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार आपके बिना इस जगत् की किसी भी वस्तु की, किसी भी रूप की, किसी भी नाम की तथा किसी भी गुण की कल्पना नहीं की जा सकती। आप एकमात्र स्वतंत्र आत्मा होकर भी अपने कार्य रूप भूतों भिन्न भिन्न रूपों में भासते हैं।

हे जगदाधार! आप गुणातीत होने पर भी जगत् के गुणों को धारण करते हैं। रजोगुण से सृष्टि की रचना करते हैं सत्वगुण से उसकी रक्षा करते हैं और तमोगुण से स्वयं ही उसका विनाश भी कर देते हैं। इतना सब करते हुए भी आप गुणों आबद्ध नहीं होते। सर्पों को खिलाते पिलाते उनके साथ खेलते भी उनके विष से सदा सर्वदा पृथक् ही रहते हैं। आप गुणों द्वारा कृत कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ते। बन्धन में तो अज्ञानी फँसते आप तो ज्ञान स्वरूप हैं। बन्धन में तो द्वन्द्व युक्त पड़ते हैं आप

तो निर्द्वन्द्व हैं। आपको जब कर्म फल स्पर्श ही नहीं करते तो आप बन्धन में बँध भी कैसे सकते हैं ?

प्रभो ! आपकी बात तो पृथक् रही। यों साक्षात् जीवात्मा भी जन्म मरण से रहित है, जीव का न जन्म होता है और न जीव मरता ही है। जीव चाहे जिस योनि में जाय, जीव सब में एक है। हाथी से लेकर चींटी तक, ब्रह्मा से लेकर परमाणु तक सब में जीव एक ही है। योनि भेद से जीव में साक्षात् भेद सिद्ध नहीं होता, न जीव का जन्म ही होता है, जैसे पुराने वस्त्र छोड़कर प्राणी नया वस्त्र धारण कर लेता है, ऐसे ही जीव पुरानी देह को छोड़ कर नई देह में प्रविष्ट हो जाता है। जब जीवात्मा में ही जन्म और भेद भाव नहीं तो आप परमात्मा में तो बन्ध या मोक्ष की कल्पना करना अज्ञता ही है। अज्ञानी लोग अविवेक से आपमें बन्ध मोक्ष की कल्पना करते हैं। आप तो अजन्मा हैं, सदा निजानन्द में मग्न रहते हैं। कभी क्रीड़ा के लिये, लीला के लिये, विनोद के लिये, अपने आश्रित भक्तों को सुख पहुँचाने के लिये आप शरीर भी धारण कर लेते हैं। यह भी आप की रसमयी एक लीला ही है।

हे धर्म स्वरूप प्रभो ! आप सर्वत्र व्याप्त हैं इस से लोग आपको विष्णु कहते हैं। विष्णु बनकर आप चराचर विश्वकी रक्षा करते हैं। संसार में कल्याण हो, संसारी लोग सुखी हों, इसके लिये आपने सनातन वैदिक आर्य धर्म प्रकटित किया है। वेद का मार्ग सुविस्तृत सुखद राज पथ है। जिस पर कोई भी व्यक्ति आँख मीचकर दौड़ता हुआ चला जाय, वह न तो ठोकर लगकर गिरेगा ही, न पैर फिसलने पर रपटेगा ही। यह इतना विस्तृत सुखकर मार्ग है कि सभी इसका आश्रय ले सकते हैं। कालान्तर में कुछ दम्भी लोग मिथ्या पाखण्ड पूर्ण पन्थ बना लेते हैं। राज-

पथ को छोड़ कर कंटकाकीर्ण पगडंडी बना लेते हैं और शीघ्र पहुँचने का लोभ देकर नर नारियों को पथ भ्रष्ट करते हैं। इससे सनातन वैदिक मार्ग को क्षति पहुँचती है, धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म की वृद्धि होने लगती है। तब आप विशुद्ध सत्वमय शरीर धारण करके पृथिवी पर प्रकटित होते हैं। आप जन साधारण में नीचे उतरते हैं। उतरने का ही नाम अवतार है। यही आपके प्राकट्य का रहस्य है। आप नाना रूपों में अवतरित होते हैं।

हे यदुनन्दन! अब के आपने हमारे कुल के ऊपर अनुग्रह की है। अबके यादवों को गौरवान्वित बनाया है। इस समय अवनि पर असुरों के अंश से असंख्यों अक्षौहिणी पति नरपति उत्पन्न हो गये हैं। उनमें अमित बल है, प्रबल पराक्रम है। अगणित उनके पास सेना है, वे साधारण राजाओं के मारने से नहीं मर सकते। वे दर्प में भर कर वैदिक मार्ग की अवहेलना कर रहे हैं। उन असुरों के संहार के हेतु ही आप अवतरित हुए हैं। अपने अंश श्रीसंकर्षणजी को भी अबके आपने साथ ले लिये हैं। आप दोनों राम श्याम इस जगत् के ईश्वर हैं। धर्म संस्थापनार्थ आप का अवतार हुआ है। आप परम-पुरुष पुरुषोत्तम हैं। वसुदेव जी के घर भाभी देवकी के उदर से आपका प्राकट्य हुआ है। आपके जन्म से यह यदुकुल धन्य हो गया, परम पावन तथा लोक वन्द्य बन गया।

हे सर्वेश्वर! हम गृह मेधी हैं। घर में रहकर नित्य हत्या

करते हैं, घर झाड़ते समय, लीपते समय, चक्की पीसते समय, ओखली कूटते समय, भोजन बनाते समय, कृषि आदि आजीविका के व्यापार करते समय न जाने कितने जन्तुओं की हम हत्या करते रहते हैं, इन सब पापों के प्रायश्चित स्वरूप गृहस्थियों को पञ्च-यज्ञों का नित्य विधान है। देवता, पितर, मनुष्य सम्पूर्ण प्राणी तथा अतिथि इन सबकी पूजा का विधान है। हे अधोक्षज ! इन सब यज्ञों के अधिष्ठातृदेव तो आप ही हैं। देवता आप के ही अंश हैं, पितृ गण आप ही हैं, प्राणिमात्र में आप ही हैं। नर देवों में आप ही व्याप्त हैं। आप ही स्मशान तुल्य हमारे घरों को परम पावन बनाते हैं। यज्ञों द्वारा तो वेदमार्गावलम्बी गृहस्थ ही पावन हो सकते हैं, जगत् को पावन बनानेके निमित्त आपने अपने चरणारविन्दों से भगवती सुरसरि गंगा को प्रकट किया है, जिनमें स्नान करने से पापी से पापी प्राणी भी स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। जिन चरण कमलों से ऐसी त्रिलोकी को पवित्र करने वाली धारा निकलती है, वे ही चरण कमल आज हम अधम गृहधर्मी यादवों के घरों में विचरण कर रहे हैं, उन घरों की महिमा क्या वर्णन की जाय। आज हम सब यादवों के घर परम पावन तीर्थ बन गये हैं।

भक्त वत्सल प्रभो ! आप भक्तों के भर्ता हैं, उनके एकमात्र आश्रय तथा हितकारी हैं। आपकी वाणी वेद है, उसमें से जो भी निकलेगा वह सत्यं शिवं सुन्दरं ही होगा। सत्य तो आपका स्वरूप ही है। आप सब के सुहृद हैं और आप से बढ़कर संसार

में कृतज्ञ भी कौन होगा। आपके समीप कोई अच्छे बुरे कैसे भी भाव से चला भर जाय, आप इतने से ही आभारी बन जाते हैं और कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसे परम पद देते हैं। इन्हीं सब गुणों से रीझकर तो भक्तगण एकमात्र आपको ही अपना इष्ट बनाते हैं, भला जो विष देने वाली राक्षसी पूतना को भी मुक्ति प्रदान करदे, इससे बढ़कर कृतज्ञ कौन होगा। ऐसे दयालु कृपालु करुणासागर शरणागत वत्सल प्रभु का परित्याग करके किसी अन्य की शरण में जाय, तो उसे शाश्वती शान्ति कैसे मिल सकती है।

आप तो अपने भक्तों के लिये सब कुछ कर सकते हैं। जो आप का भजन करते हैं, आप उनके अत्यन्त ही ऋणी बन जाते हैं। आप उस अपने प्यारे भक्त को समस्त कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं, उसे इस लोक में तथा परलोक में भी कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रह जाती। आप उनकी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी इच्छा की भी पूर्ति कर देते हैं। यहाँ तक कि आप अपने आप को भी दे डालते हैं। आप में न उपचय है न अपचय, न क्षय है न वृद्धि, न ह्रास है न उल्लास। आप इन सब से रहित होकर भी भक्तों के निमित्त बिक जाते हैं, उनके सेवक बन जाते हैं।

प्रभो! आपका दर्शन देवताओं को भी दुर्लभ है, बड़े बड़े इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपाल गण महान् से महान् योगिराज भी आपकी चेष्टा को समझ नहीं सकते। स्वप्न में भी किसी को आपके

र्शन हो जाते हैं, तो वह कृतार्थ हो जाता है। मनोमयी मूर्ति ो ध्यान में आ जाती है, तो उसके सम्पूर्ण अशुभ नष्ट हो जाते , फिर हमें तो आप के साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं, हम बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन होगा ?

स्वामिन् ! हम माया मोह में फँसे हैं, ये मेरे पुत्र हैं ये कलत्र , यह मेरा धन है, ये स्वजन हैं बन्धु बान्धव हैं, ये भवन हैं, यह री देह है। यही अज्ञान है यही मोह है यही हमें संसारमें बाँधता , यही चौरासी के चक्कर में घुमाता है। प्रभो ! यह सब आप की ाया द्वारा ही होता है। कृपा करके आप अपनी इस माया को विलम्ब काट दीजिये, नष्ट कर दीजिये । यही आपके पुनीत ादपद्मों में पुनः पुनः प्रार्थना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार अक्रूरजी ने भग- ान् की स्तुति की भगवान् ने उन्हें अभय प्रदान की। यह मैंने क्रूर कृत श्रीकृष्ण स्तुति कही। अब आगे जिस प्रकार महा- ाज मुचुकुन्द ने भगवान् की स्तुति की है उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

पृथिवी पै पाखण्ड पन्थ पापी फैलावैं।
तब नाना तनु धारि आपु अवनी पै आवैं॥
यादव कुल कूँ करन कृतारथ प्रकटे प्रभुवर।
धन्य भयो कुल सकल देह परिवार नगर घर॥
दये दरश प्रत्यक्ष प्रभु, सुर दुरलभ सब सुकृतकर।
सुत कलत्र तन धन स्वजन, महँ मेरो यह मोह हर॥

पद

जय जय माधव जय मधुहारी ।
जय जय मनमोहन गिरिधारी ॥

तुम अगुनी ह्वै गुन रचि डारौ, देओ जीवन पालौ मारौ।
तुम ही बाँधौ तुम ही तारौ, तुम ही हो सबके हितकारी ॥१॥जय०
मिट्टी जो बरतन बनि जावै, ज्यों सूत्र वस्त्र बुनि कहलावै।
बहुरूप रंग में दिखलावै, त्यों भासौ सब में बनवारी ॥२॥जय०
जब जब अधरम अति बढ़ि जावै, अरुधरम अवनिपै घटि जावै।
पाखण्ड अधिकजनकूँ भावै,तब तब प्रकटो प्रभु प्रनधारी ॥३॥जय०
अवतार कृष्ण बल अब लीन्हों, यादव कुल पावन करि दीन्हों।
परि तुमकूँ सबने नहिँ चीन्हों,भगवान् भक्त भव भयहारी ॥४॥जय०
भैया वसुदेव कृतारथ हैं, श्री देवकि मातु जथारथ हैं।
तब दरश जीव बड़ स्वारथ हैं,तुम भक्तनिकी विपदाटारी ॥५॥जय०
पद पदुमनितैं गंगा निकसी, तुलसी पदरज मिलिकैं विकसी।
जग धन्य करत आगे खिसकीं,तुम पाप ताप दुख संहारी ॥६॥जय०
तुम घर बैठे दरसन दीन्हों, निज दास कृतारथ करि दीन्हों ।
सब शोक मोह मेरो छीन्हों, प्रभु चरनकमल पै बलिहारी ॥७॥जय०

जय जय माधव जय मधुहारी ।
जय जय मन मोहन गिरिधारी ॥

अक्रूरकृत श्रीकृष्ण स्तुति

दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्रात् दुरन्ताच्च समेधितम् ॥१॥
युवां भवानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चित् परमस्ति न चापरम् ॥२॥
आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः ।
ईयते बहुधा ब्रह्मन्श्रुतप्रत्यक्षगोचरम् ॥३॥
यथा हि भूतेषु चराचरेषु,
महादयो योनिषु भान्ति नाना ।
एवं भवान् केवल आत्मयोनि,
ष्वात्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥४॥
सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं,
रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः ।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा,
ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥५॥
देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्,
भवो न साक्षान्न भिदाऽऽत्मनः स्यात् ।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः,
स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥६॥

त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय,
यदा यदा वेदपथः पुराणः ।
बाध्येत पाखण्डपथैरसद्भि,
स्तदा भवान् सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥७॥
स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः,
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांश,
राज्ञामसुप्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥८॥
अद्येस नो वसतयः खलु भूरिभागा,
यः सर्वदेवपितृभूतवृदेवमूर्तिः ।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत् पुनाति,
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥९॥
कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्,
भक्तप्रियादृतगिरःसुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा,
नात्मातमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥१०॥
दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो,
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह,
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ॥११॥

मुचुकुन्दकृत श्रीकृष्ण स्तुति(१)

(१०१)

विमोहितोऽयं जन ईश मायया
त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।
सुखाय दुःख प्रभवेषु सज्जते
गृहेषु योषित्सु रुपश्चवञ्चितः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ५१ अ० ४६ श्लोक)

छप्पय

काल यवन भय भगे कृष्ण मुचुकुन्द गुफा तक।
लखि सोवत निज वस्त्र उढ़ायो दुवके नायक॥
पद प्रहार करि मर्‌यो यवन श्रीकृष्ण निहारे।
परब्रह्म प्रभु जानि वचन मुचुकुन्द उचारे॥
माया मोहित नारि नर, भजहि न तुमकूं अगति गति।
सुखहित दुख संचय करें, संपति तजि लेवैं विपति॥

---

*भगवान् की स्तुति करते हुए मुचुकुन्दजी कह रहे हैं—"हे ईश! यह जन तुम्हारी माया से विमोहित होकर तुम को भजते नहीं हैं। क्योंकि ये अनर्थ ही देखते हैं। सुखकी आशा करते करते दुःखों में फँस जाते हैं। गृहों में रहकर स्त्री पुरुष द्वारा ठगी जाती है, पुरुष स्त्री द्वारा ठगा जाता है।

यह मानव प्राणी सुख पाने के लिये कितने कितने उपाय सोचता है, कैसे कैसे कार्य करता है। अर्थ अनर्थ किसी का विचार नहीं करता। उसे तो सुखोपभोग की सामग्रियाँ मिलनी चाहिये। यदि नहीं मिलती हैं तो बड़ा दुखी रहता है, मिलती हैं उनके भोग से पूर्ण तृप्ति नहीं, अतः अतृप्ति के लिये रोता है। सभी का अनुभूत मत है, कि ये विषय परिणाम में दुखद हैं, किन्तु दूसरों के अनुभव से लाभ नहीं उठाता। जानबूझकर फँस जाता है, फिर निकलने के लिये तड़पता रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् मथुरा में आकर सुख पूर्वक रहने लगे। कंस के श्वसुर जरासंध ने सत्रह बार यादवों पर चढ़ाई की किन्तु उन्हें जीत न सका। तब काल यवन ने मथुरा पर चढ़ाई करदी। भगवान् उसके सामने से निरस्त्र होकर भागे। उसने भी निरस्त्र होकर उनका पीछा किया। भगाते भगाते भगवान् उसे मुचुकुन्द की गुफा में लेगये। जहाँ मुचुकुन्द देवताओं से यह वर प्राप्त करके कि "जो मेरी निद्रा में विघ्न डाले, वह मेरी दृष्टि पड़ते ही भस्म हो जाय" वहाँ सुख पूर्वक सो रहा था। भगवान् तो सब जानते ही थे, अपना दुपट्टा उसे उढ़ाकर छिप गये। काल यवन भी गुफा में आया। उसने समझा श्री कृष्ण ही सो रहे हैं। उसने एक लात मारी। मुचुकुन्द की दृष्टि पड़ते ही वह भस्म हो गया। तब मुचुकुन्द जी ने भगवान् को पहिचान कर उनकी स्तुति की।

भगवान् की स्तुति करते हुए मुचुकुन्द जी कह रहे हैं—"स्वामिन्! आपने मुझसे वर माँगने को कहा और यह भी कहा—"मैं तुम्हारी सभी कामनाओं को पूर्ण कर दूँगा।" सो, स्वामिन्! इन विषय भोगों में क्या रखा है। ये नर नारी आपकी माया में ऐसे मोहित हैं, कि अपने यथार्थ हित को

भूलकर अहित का कार्य करते रहते हैं। चाहते तो ये सब सुख हैं, किन्तु उपाय करते हैं, दुःख प्राप्ति का। सुख स्वरूप तो हे सर्वेश्वर आपही हैं और दुःख रूप हैं ये मृगतृष्णा के सदृश संसारी सुख। ये नर नारी सुख स्वरूप आपका तो भजन करते नहीं। दुःख रूप संसार को ही भजते हैं। इनकी दृष्टि सदा अनर्थ रूप इस दृश्य जगत् के भोगों की ही ओर रहती है। उन्हें ही प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। स्त्री पुरुष को देखती है और सोचती है—"यदि यह पुरुष मुझे प्राप्त हो जाय, तो मेरा सम्पूर्ण जीवन सुखमय हो जाय, मैं अपने समस्त दुःखों को, सभी अभाओं को भूल जाऊँ।" इधर पुरुष सोचता है, "समस्त सुखों को देने वाली यह कामिनी ही है। यदि इसकी मुझे प्राप्ति हो जाय, तो मैं कृत कृत्य हो जाऊँ, मेरी समस्त अभिलाषायें पूर्ण हो जायँ, मुझे जीवन का सच्चा सुख प्राप्त हो जाय, मेरी समस्त आशाओं का केन्द्र यह कामधुरा कामिनी ही है। इसके संग से मैं सर्वथा सुखी बन जाऊँगा।" प्रभो! इस प्रकार बड़ी बड़ी आशाओं को लेकर, बड़े बड़े सुखों के स्वप्न संजोकर ये एक दूसरे के चिर संगी बनते हैं। मिथुन धर्म में प्रवृत्त होते हैं। कुछ दिनों के पश्चात दोनों ही अनुभव करने लगते हैं—"अरे, हम तो ठगे गये। जिस गृहस्थ को सुख की खान समझते थे, वह तो दुःख पुंज निकला। जिसे हम प्रसन्नता का केन्द्र समझते थे, वह तो चिन्ता उद्वेग का मूर्तिमान रूप निकला। अब वे सुख स्वप्न तो विलीन हो जाते हैं। रात दिन यहला, वहला, यह नहीं वह नहीं। यह करना है, वह करना है, यह नहीं हुआ वह नहीं हुआ। क्या करूँ, किधर जाऊँ, कहाँ मर जाऊँ, कैसे त्राण पाऊँ, इसी की चिन्ता में निमग्न हो जाता है। दोनों पछताते हैं, 'हाय! हम ठगे गये,

किन्तु यह गृही धर्म ऐसी गरमागरम खीर है, कि निगलने में कंठ जलता है, उगलने में हृदय जलता है। न निगली जाती है न उगली ही जाती है। अब उन्हें कभी कभी क्षीण आशा लगी रहती है, संभव है आगे सुख मिले, यह काम हो जाय तब सुख मिले, यह वस्तु प्राप्त हो जाय तब सुखी हो जायँ। इस कभी न पूरी होने वाली व्यर्थ की आशा में फँसे फँसे ही जीवन व्यतीत हो जता है।

प्रभो! चौरासी लाख योनियाँ हैं, सभी भोग योनि हैं उनमें कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं। प्रकृति के अनुसार वर्ताव करते हैं। एक मानव योनि ही ऐसी है, कि शुभ कर्मों के द्वारा आपको पा सकते हैं और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में अतिशय आबद्ध हो सकते हैं। मानव शरीर ही सम्पूर्ण अंगों से युक्त है और भारत भूमि ही कर्म भूमि है। इस परम पावन भारत भूमि में अति दुर्लभ मानव शरीर पाकर भी यह अभागा प्राणी आप प्रभु के पादारविन्दों का भजन नहीं करता, पुनः पुनः जन्म लेने और पुनः पुनः मरने के पथ को प्रशस्त करता है। इन संसारी तुच्छ विषयों में अन्तः करण को आसक्त बनाये रखता है। जैसे पशु भोजन के लोभ से इधर उधर भटकता फिरता है। उसे अंधकूप में हरी हरी घास दिखाई देती है। उसके लोभ से वह उधर जाता है और उसमें गिर पड़ता है, बारंबार निकलने का प्रयत्न करता है, फिर न घास अच्छी लगती है न और कुछ, निकलने के लिये व्यग्र रहता है, किन्तु निकल नहीं सकता। इसी प्रकार यह प्राणी सुख के लोभ से विषयों की ओर बढ़ता है और गूढ़ रूप अन्धकूप में गिरकर निरन्तर क्लेश पाता रहता है। इसी प्रकार मैं भी गृहान्धकूप में पड़ा क्लेश पारहा हूँ।

हे अजित ! मेरा जन्म इक्ष्वाकुकुल में हुआ है । राजर्षि युवनाश्व के पुत्र परम धरमात्मा अनेकों यज्ञ करने वाले महाराजा मान्धाता का मैं पुत्र हूँ। प्रभो ! चिरकाल तक मैंने इस सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य किया है । राजा होने के कारण राज्यलक्ष्मी के मद ने मुझे मदमत्त बना दिया। मैं उन्मत्त होकर संसारी व्यवहारों में प्रवृत्त हो गया । स्वामिन् ! उस समय मुझे आत्मा परमात्मा का विवेक नहीं था मैं शरीर को ही आत्मा समझकर इसी को सुख देने, इसी को परिपुष्ट करने के प्रयत्न करता रहता था। इस शरीर से जिनका सम्बन्ध था उन्हीं की चिन्ता में सदा निमग्न रहता था । ये मेरे पुत्र हैं, इनका कुछ अनिष्ट न हो ये स्वस्थ रहें सुखी रहें। यह मेरी स्त्री है, इसे किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे, इसे सभी साज शृङ्गार की सुंदर सामग्रियाँ सदा प्राप्त होती रहें। इतना मेरा राज्य कोष है और भी बढ़ता जाय इस पर कोई अन्य अधिकार न जमाले। इन्हीं सबकी चिन्ता में मेरा समस्त समय व्यतीत होता था। मैं मेरी में ही आयु का अधिकांश समय व्यर्थ व्यतीत कर दिया। इन पदार्थों में मेरी अत्यधिक असक्ति थी। इन सबकी रक्षा की दुरन्त चिन्ता में मेरा अमूल्य काल निष्प्रयोजन निकल गया। हाथ कुछ भी नहीं लगा।

प्रभो ! यदि देखा जाय, तो जिस शरीर की हम इतनी चिन्ता करते हैं, जिसको स्वस्थ रखने को हम सदा विग्रह करते हैं, देखा जाय तो यह शरीर है क्या ? पंच भूतों का पुतला है। इसमें पृथिवी का अंश अन्य चार भूतों से आधा है। जैसे मिट्टी से घड़ा, सकोरा, नाद तथा घर की भीत बनायी जाती है वैसे ही हाड़ मांसादि पार्थिव पदार्थों से यह देह बनी है। इसमें और मिट्टी के घड़ा में अंतर ही क्या है। केवल देहाभि-

मान के कारण ही प्राणी इस मिट्टी के पिंड में इतना ममत्व करता है। देहाभिमान के ही कारण मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं अमुक हूँ ऐसा मिथ्या प्रलाप करता है।

देव ! मैं यह हूँ, मेरा यह नाम है, मेरा यह पद है। नित्य प्रति निरन्तर मैं मैं करने से उस भाव में अभिनिवेश हो जाता है। मुझे सभी लोग पृथिवी पाल, राजाधिराज, भूपति, नरपति कहते थे अतः सुनते सुनते और कहते कहते मुझे यह दृढ़ अभिमान हो गया कि मैं राजा हूँ। मैं सबका पालक हूँ, रक्षक हूँ, सबका स्वामी हूँ। इस बात को मैं सर्वथा भूल ही गया कि पालना करने वाले तो एक मात्र आप ही हैं। रक्षक संसार में आपके अतिरिक्त दूसरा हो ही कौन सकता है। जगत् के एक मात्र ईश चराचर के स्वामी तो आप हैं। यह बात तो अब आपके दर्शन होने पर स्मरण हुई। उस समय तो मैं ही दिग्विजय के लोभ से अपना सर्वत्र प्रभाव जमाने के निमित्त रथों की सेना हाथियों की सेना, घोड़ों की सेना, तथा पैदल योद्धाओं की सेना—इस प्रकार चतुरंगिणी सेना को लेकर मदान्ध होकर, राजाओं को जीतता हुआ, पृथिवी पर पर्यटन करता रहता था। और जिसने तनिक भी अभिमान की बात कही उसी से युद्ध करने को उद्यत हो जाता था, जिसने मेरी अधीनता स्वीकार करने में तनिक भी आनाकानी की, उसे ही समर के लिये द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारता था। प्रभो ! इसी मिथ्याभिनिवेश में मैंने अपने जीवन का अमूल्य समय बिता दिया। आपका भजन चिन्तन नहीं किया। स्वामिन् ! अब पछताने से होता भी क्या है अब तो काल बली मुझे ले जाने की तैयारी कर रहा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मुचुकुन्द जी ने और भी अत्यद्भुत भगवान् की स्तुति की है, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

पुन्य भूमि नर देह जनम दुर्लभ अति पायो।
प्रभु सुमिरननहिँ करयो विषय भोगनि लिपटायो॥
हौं राजा हौं धनी नारि सुत मेरो धन अति।
सबकी रक्षा करूँ फिरूँ विपरीत भई मति॥
भरिकें अति अभिमान महँ, सजि सैना भू पै फिरूँ।
भूल्यो तुमकूँ जगत्पति, सब कछु मनमानी करूँ॥

पद

मोह में मोहन मदन भुलाये।
करयो न भजन फँस्यो चित विषयनि, नहिँ गोविँद गुन गाये॥१॥
नारि चहै नरतैं सुख मिलि हैं, नर तन नारि लुभाये।
दोऊ ठगे फँसे माया में, परि पीछे पछिताये॥२॥
अति दुरलभ मानुस तनु पायौ, जिहि हित सुर तरसाये।
खान पान अभिमान धान धन, महँ सब दिवस गँमाये॥३॥
मैं राजा मेरी सब परजा, ममता मोह बढ़ाये।
सजि चतुरंगिनि ह्वै मद मातो, सैनिक संग घुमाये॥४॥
करुना सागर किरपा कीन्हीं, सेवक आइ जगाये।
प्रभु बिनु साधन सेवा पूजा, द्वार दयानिधि आये॥५॥

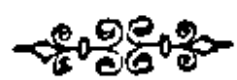

मुचुकुन्द कृत–श्रीकृष्ण स्तुति (२)

(१०२)

प्रमत्तमुच्चैरिति कृत्य चिन्तया,
प्रवृद्धलोभं विषयेषुलालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ५१ अ० ५० श्लो०)

छप्पय

यह कीयो यह करूँ यही चिन्ता नित व्यापी ।
पीयो अति विष विषय भयो सुख तजि संतापी ॥
जान्यो जात न काल आखु सम जीवन खोयो ।
काल सरप ने झपटि दबोच्यो तब अति रोयो ॥
जब मरिकें मिट्टी भयो, सब समान निरधन धनी ।
सड़ि कृमि जरिकें राख तनु,जन्तु भख्यो विष्ठा बनी ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए मुचुकुन्द जी कह रहे हैं—"प्रभो ! यह मानव प्राणी अत्यंत उन्मत्त होकर निरन्तर इसी में निमग्न रहता है कि मुझे अब ये ये कार्य करने हैं । इसे निरन्तर अधिकाधिक विषयों को

यह पुरुष निरन्तर कुछ न कुछ सोचता ही रहता है। या तो बीती बातों पर विचार करता है या आगे के विधान बनाता रहता है। अधिकांश समय तो उसका आगे की बातों में ही बीतता है, वर्तमान को भूल जाता है। जो होगया सो तो हो ही गया, जो होने वाला है, अभी भविष्य के गर्भ में है, होनहार होकर ही रहेगी। तुम अपने वर्तमान को बनाओ। इसे भगवत् चिन्तन के अतिरिक्त अन्य किसी काम में मत जाने दो। यही मनुष्य का एक मात्र मुख्य कर्तव्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करते हुए महाराज मुचुकुन्द कह रहे हैं—"प्रभो! वैसे तो थोड़ा बहुत संयम सभी करते हैं, किन्तु यमराज सबसे अधिक संयमी हैं। वे अपने कार्य में कभी प्रमाद नहीं करते। प्रमाद से ही मृत्यु होती है और यह मानव प्राणी पग पग पर प्रमाद करता है, इसीलिए जन्म मृत्यु के चक्कर में फँसता है। प्रमाद के कारण मृत्यु होने से ही इसलोक का नाम मर्त्यलोक है। सभी असावधानी करते हैं, आपकी शक्ति या आपका एक रूप काल ही ऐसा है जो सदा सर्वदा सावधान बना रहता है। और कोई चाहे भले ही भूल जाय, काल अपने समय को नहीं भूलता। कोई प्राणी कहीं भी जाकर छिप जाय, समय पर काल वहीं से पकड़ लावेगा। काल बड़ा ही बली है। इसीलिये प्राणी काल के नाम से ही थर थर काँपने लगते हैं, काल दुर्निवार है। इतना

प्राप्त करने की लालसा बनी रहती है, विषयों के लाभ से लोभ बढ़ता है। उस असावधान व्यक्ति को अकस्मात् आप उसी प्रकार दबोच देते हैं जैसे असावधान चूहे को जीभ लप लपाता सर्प मार डालता है, क्योंकि आप सदा सावधान रहते हैं।

होने पर भी यह पामर प्राणी काल को भूल कर ही कार्य करता है। विषयों के संग्रह में ही समस्त समय को बिताता है। निरन्तर इसी चिन्ता में मग्न रहता है—"अब यह काम तो मैंने कर लिया। आगे इसे और करूँगा, इससे मेरी बड़ी प्रतिष्ठा होगी। बहुत धन एकत्रित कर सकूँगा। बहुत सुखपूर्वक रहूँगा, भाँति भाँति के भोगों को भोगूँगा। फिर मैं सर्वसमर्थ बन जाऊँगा। अपने विरोधियों का अन्त कर दूँगा। अपने पथ को निष्कंटक बना लूँगा। फिर मैं ही मैं रह जाऊँगा।" इन्हीं सब बातों को सोचते सोचते आपको भूल जाता है। अंहकार के मद में मत्त हो जाता है, मोहमयी मदिरा पीकर प्रमत्त बन जाता है। निरन्तर विषयों का ही चिन्तन करता रहता है, विषय नहीं मिलते तो अत्यंत दुखी होकर पुनः पुनः उनके लिये प्रयत्नशील बना रहता है। यदि विषय मिल जाते हैं संसारी विषयोपभोग की वस्तुओं का लाभ हो जाता है, तो लाभ से लोभ बढ़ता जाता है। मेरे पास अधिकाधिक भोग सामग्रियों का संग्रह हो, ऐसी तृष्णा प्रबल होती जाती है। फिर पूरी शक्ति लगाकर उनकी प्राप्ति में जुट जाता है। अब उसे भोग में सुख नहीं मिलता अर्थ वृद्धि ही उसके जीवन का ध्येय हो जाता है। वह असावधान होने से काल को भूल जाता है, किन्तु सदा सावधान रहने वाले काल स्वरूप आप तो उसे निमिष मात्र को भी नहीं भुलाते। जैसे चूहा मिष्ठान्न विक्रेता के घर में रहकर सदा चुपके चुपके मिष्ठान्न उड़ाता रहता है, वह यह नहीं देखता कि पास के बिल में जीभ लपलपाता हुआ काला सर्प उसकी घात में बैठा है, वह उन्मत्त होकर शरीर को मोटा बनाता रहता है, अवसर आते ही एक झपट्टे में ही सर्प उस मूषक को दबोच देता है। उसके समस्त मनोरथ मन के मन में ही रह जाते हैं। सर्प सन्

चाही निगल जाता है। इसी प्रकार सावधान आप इस नाना मनोरथ-युक्त प्राणी को सहसा पकड़ ले जाते हैं। फिर इसकी एक भी बात आप नहीं सुनते, बड़े से बड़े बहाने पर भी ध्यान नहीं देते। अपने संकल्पों के सहित प्राणी काल कवलित हो जाता है। काल रूप काले सर्प से डसा जाने पर कुछ भी तो करने में वह समर्थ नहीं।

हे परमात्मन्! हम लोग इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं। इसी को हम अपना कहते हैं। इसी के मान अपमान को हम अपना मान अपमान समझते हैं। जब शरीर में तैल इत्र लगा कर इसे वस्त्राभूषणों से सजा कर, सुवर्ण मंडित रथों पर गुद गुदे गद्दों पर, सुकोमल तकियों के सहारे इसे बैठाते हैं। अथवा साठ वर्ष के पर्वत के समान मदमत्त युवा साथी की पीठ पर, सुवर्णमय सिंहासन बिछाकर, उसमें शुभ्र सुन्दर मोतियों की झालर वाला छत्र लगाकर बिठाते हैं, तो इस शरीर को ही सब कुछ समझते हैं। यदि कोई भूल से भी छू दे तो बिगड़ पड़ते हैं, तुम देखते नहीं मैं राजा हूँ। मेरा शरीर सर्वश्रेष्ठ है। उस राजा कहलाने वाले शरीर को भी आप दुर्निवार काल अपना कवल बना लेते हैं, उसे मृतक कर देते हैं। अब तक जो शरीर चंदन उशीनर, तैल तथा अन्य पवित्र पदार्थों से न्हिलाया जाता था, वही मृतक बन कर काक, कंकर, कुत्ता गीदड़ों का भोज्य बन जाता है, उसे खाकर वे विष्ठा बना देते हैं। अथवा भूमि में गाड़ दिया या यों ही पड़ा रह गया तो उसमें कीड़े पड़ जाते हैं,

यदि किसी ने अग्नि में संस्कार कर दिया तो मुट्ठी भर राख क जाती है। कीड़ा, विष्ठा और भस्म के अतिरिक्त इस शरीर क अन्य कोई गति ही नहीं।

स्वामिन्! इस शरीर में अभिमान के अतिरिक्त और क्य है। यह सोचते ही सोचते मर जाते हैं कि मैं इस प्रदेश क जीतूँगा, इसे अपने आधीन बनाऊँगा। जब तक सम्पूर्ण प्रदेश को जीत भी नहीं सकता तभी तक काल का कवल बन जाता है। मान लो मृत्यु के पूर्व उसने समस्त शत्रुओं को जीत भी लिया, इस सम्पूर्ण वसुन्धरा का एक छत्र सम्राट बन भी गया। एक भी शत्रु न रहने से युद्ध भी समाप्त हो गया, समस्त राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार भी कर ली, सभी राजाओं द्वारा उसे सर्व श्रेष्ठ सम्मान प्राप्त भी हो गया, किन्तु क्या इतने से ही वह सर्व विजयी हो गया। सबको अपने बाहुबल से जीतने वाला शूर वीर भी काम के वश होकर, अबलाओं के कटाक्ष मात्र से घायल होकर; उनका क्रीड़ा मृग बन जाता है, उनका पालतू पशु बन जाता है, वे उसे जैसे चाहें नाच नचाती हैं, जैसे चाहें खेल खिलाती हैं। तब वह सर्व विजयी कहाँ हुआ? वह जो अपने को सब से श्रेष्ठ सबल समझता था वह अबलाओं द्वारा जीता गया।

प्रभो! यह काम वासना सबल से सबल व्यक्ति को निर्बल बना देती है। विजय करने के अनन्तर इस लोक की कामाग्नि में तप्त न भी हुआ, तो वह सोचता है, मैं इस जन्म में तो राजा

हूँ, अगले जन्म में भी महाराजा बनूँ ऐसा कोई कार्य करना चाहिये। यह तपस्या से संभव है। दान पुण्य से ऐसा हो सकता है। अतः दान पुण्य करता है। संसारी भोगों का परित्याग करके घोर तपस्या में प्रवृत्त होता है। जिस अनर्थ से इस जन्म में दुखी है, उसी अनर्थ को और बड़े रूप में चाहने की लालसा से उपवास करता है। वर्षा, धूप और शीत को सहन करता है। तृष्णा इतनी बढ़ जाती है, कि इस लोक के विषय भोगों से सन्तोष नहीं, दूसरे जन्मों में भी मुझे ये ही सब प्राप्त हों इसके लिये काया को क्लेश पहुँचाता है। उग्र तपस्या करता है। उसे कभी सुख नहीं मिलता, कभी शान्ति प्राप्त नहीं होती।

स्वामिन् यह जीव अपने पुरुषार्थ से आपको नहीं पा सकता। अपने स्वयं के साधनों से जन्म मरण के चक्कर से नहीं छूट सकता। आप ही जब कृपा करके इसे छुटावें तभी छूट सकता है। आप में चित्त लग जाय तो सभी बेड़ा पार हो जाय, आप में चित्त लगना, एक जन्म के पुण्यों का फल नहीं है।

प्रभो! न जाने यह जीव कब से संसार सागर में भटक रहा है, न जाने कितनी योनियों में इसने नाना क्लेश सहे हैं। अनेक योनियों में घूमते घूमते जब इसे मनुष्य योनि प्राप्त होती है और मनुष्य योनि में भी इसे किसी सत्पुरुष के दर्शन हो जायँ, किसी सन्त का आश्रय इसे मिल जाय, कोई भगवत् भक्त इसे अपना ले, कोई महात्मा इसके सिर पर हाथ रख दे, तो समझलो अब चौरासी के चक्कर से छूटने का समय अत्यंत ही

निकट आ गया। अब जन्म मरण के फन्दे में फँसने वाली रस्सी ढीली पड़ गयी। क्योंकि संत पुरुष सदा आपका स्मरण करते रहते हैं, आप सन्तों के हृदय में रहते हैं और वह करता है, सन्तों से प्रेम; तो आपसे प्रेम तो स्वतः ही हो गया। कोई रत्न मंजूसा में रखा है, किसी को मंजूसा मिल गयी तो मंजूसा में रखा रत्न अपने आप ही मिल गया। सन्त तो आपके निवास स्थान हैं, आप उनके निर्मल हृदयों में विराजते हैं, ऐसे सन्तों के प्रति जिनका अनुराग है, प्यार है, श्रद्धा भक्ति है, तो आप में भक्ति तो अपने आप ही हो जायगी, जहाँ आपमें भक्ति हुई वहाँ सद्गति प्राप्त हो ही गयी। क्योंकि आप सत्पुरुषों के आश्रय हैं एवं इस समस्त चर अचर, कार्य कारण रूप जगत् के नियन्ता हैं।

हे देव! कोई तो राज्य को छोड़ना चाहते हैं मेरा राज्य तो अपने आप छूट गया। मेरा बन्धन तो स्वतः ही टूट गया, मेरे अंहकार तथा मद का घड़ा स्वतः ही फूट गया। इसमें मेरा कोई अपना पुरुषार्थ नहीं। अपने पुरुषार्थ से मैं यह सब कर भी नहीं सकता था। अन्य साधु स्वभाव के चक्रवर्ती राजा, स्वयं राज्य पाट छोड़ कर वनों में तपस्या करने जाते हैं और आप के पाद पद्मों में यही प्रार्थना वे निरन्तर करते रहते हैं, कि राज्य में हमारा अनुराग न हो, सो आपने मुझसे तो सब कुछ अपने आप ही छुड़ा दिया।

हे विभो! आपने जो मुझसे वरदान माँगने को कहा सो,

प्रभो ! मैं आपके चरणारविन्दों की सेवा रूप वरदान ही माँगता हूँ। क्योंकि विषय भोगों की वांछा तो देहाभिमानी पुरुष ही करते हैं, किन्तु जो निरभिमानी पुरुष हैं, जो शरीर को ही सब कुछ नहीं समझते, जिन्होंने विषय भोगों का खोखलापन समझ लिया है, वे आपकी चरण सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की याचना ही नहीं करते। वे सदा सर्वदा इसी की प्राप्ति की प्रार्थना करते रहते हैं। स्वामिन् ! आपकी आराधना करके भी जो आपसे बन्धन में बाँधने वाले विषयों की ही याचना करें तो उससे बढ़कर मूढ़ कौन होगा। आप मोक्ष-प्रद प्रभु की आराधना का फल संसारी मोहों की निवृत्ति ही होना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रकार मुचुकुन्द जी ने भगवान् की स्तुति की, वे और भी स्तुति करेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

दशहुँ दिशनि कूँ जीति बने सम्राट महामति।
किन्तु काम वश भये बने क्रीड़ा मृग भूपति ॥
फिरिहू राजा होहुं करैं तप देह जरावैं।
पुनि पुनि जनमें मरें तुम्हें प्रभु जी नहिँ पावैं ॥
सत् संगति मिलि जाय जब, तब बन्धन कटि जायँगे।
चरन कमल सेवा मिलै, प्रभु यह ही वर चाहँगे ॥

पद

समागम संतनि को जब होवै ।
तब सब मिटै मलिनता मन की, देह अपन पौ खोवै ॥१॥
जिन के हिय हरि सदा विराजैं, तिनकूँ जो नर जोवै ।
तो सब पाप ताप जग कलमष, संत दरसतैं धोवै ॥२॥
जो जग विषयनि फँस्यौ हँस्यौ सो आगे चलिकें रोवै ।
प्रभु पद पावै भव भय छूटै, तानि दुपट्टा सोवै ॥३॥

मुचुकुन्द कृत श्रीकृष्ण स्तुति (३)

(१०३)

तस्माद् विसृज्याशिष ईश सर्वतो

रजस्तमः सत्त्व गुणा नुबन्धनाः ।

निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परम्

त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५१ अ० ५७ श्लो०)

छप्पय

कौन बिवेकी त्यागि पदुमपद चाहै विषयनि ।
त्रिगुनमयी तजि सकल कामना लिपटयो चरननि ॥
का विषयनि सुख नाथ ! अन्त में अति दुखदाई ।
शरनागत अपनाइ प्रेम पद दैं यदुराई ॥
सकल कामना त्यागिकें, शरन लई अशरन शरन ।
चिदानन्द पर पुरुष हरि, प्रभु निर्मल अद्वय अगुन ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए मुचुकुन्द जी कह रहे हैं—"हे ईश मैं रजोगुण, तमोगुण तथा सत्व गुण से अनुबन्धित सभी कामनाओं का परित्याग करके आप निरंजन, निर्गुण, अद्वय, चिन्मात्र परम पुरुष की शरण में जाता हूँ ।

मानव जीवन का सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ, सबसे उत्तम कर्म यही है, कि वह सर्वात्म भाव से श्रीहरि की शरण में जाय; उन्हीं का भजन, चिन्तन, मनन, पूजन, स्मरण, कथन और वन्दनादि करे। भगवत् कैंकर्य को छोड़कर और जितने भी संसार के कार्य हैं वे सब बन्धन के हेतु हैं। एकमात्र प्रभु पादपद्मों की स्मृति ही समस्त क्लेशों को, समस्त बन्धनों को मूलोच्छेदन करने वाली है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् की स्तुति करते हुए मुचुकुन्द जी कह रहे हैं—प्रभो ! भाँति भाँति के कठोर तप करके, बड़े बड़े यज्ञ यागादि करके उनके फल स्वरूप मानों सार्वभौम पद प्राप्त कर भी लिया तो क्या हुआ ? उससे शान्ति तो मिलने की नहीं। जितनी ही विषय सामग्री बढ़ती जायगी, उतनी ही चिन्ता भी अधिक बढ़ती जायगी। विषयों की प्राप्ति की तथा प्राप्त विषयों की रक्षा की चिन्ता से समस्त शान्ति भङ्ग हो जाती है। पुरुष आप का चिन्तन छोड़ कर रात्रि दिन विषयों के ही चिन्तन में लगा रहता है, इससे संसार बन्धन ढीला होने के स्थान में और अधिक दृढ़तर होता जाता है। इसीलिये प्रभो ! मैं आपसे संसारी वस्तुओं की प्राप्ति का वर नहीं चाहता। हे भगवन् ! संसार में जितनी भी कामनायें हैं सब त्रिगुण मयी हैं। जब सत्वगुण का उदय होता है, तो बुद्धि निर्मल हो जाती है, हृदय में प्रकाश सा होता है। सात्विकी श्रद्धा बढ़ जाती है,तप करने की इच्छा होती है, एकान्त स्थान में, तीर्थों में, पुण्य सरिताओं के तट पर निवास करने की इच्छा होती है। संसार से विराग होने लगता है। जब रजोगुण बढ़ता है, तब शरीर में अहंभाव होने लग जाता है। सर्वत्र यश, प्रतिष्ठा और मान प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने की इच्छा बलवती बन जाती है। अपनी पूजा प्रतिष्ठा अच्छी लगने लगती है। जीवन में दंभ भी आ जाता है, सब पर प्रभुत्व

स्थापित करने की लालसा होती है। जब तमोगुण बढ़ता है तो बुद्धि विमूढ़ हो जाती है। अधर्म को ही धर्म समझने लगता है। दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में, दूसरों का अनिष्ट करने में आनन्द आने लगता है। निद्रा बहुत अच्छी लगती है, आलस्य में पड़े ही रहने की इच्छा होती है। प्रमाद बढ़ जाता है तामस आहार विहार की इच्छा होती है। इस प्रकार सत्व, रज और तमोगुण से सम्बन्ध रखने वाली जितनी भी कामनायें हैं, वे सब संसार बन्धन को जकड़ने वाली बेड़ियाँ हैं। भव के बन्धन हैं, अन्तर इतना ही है, कि एक लोहे की बेड़ी है, दूसरी रस्सी की और तीसरी रेशम की। बेड़ी चाहें लोहे की हो या रेशम की, है तो वह बेड़ी ही। अतः प्रभो मैं इन तीनों गुण सम्बन्धी कामनाओं का परित्याग कर चुका हूँ। क्योंकि ये कामनायें मन को मलिन बना देती हैं। पुत्रों पौत्रों का मोह मनुष्य को जड़ बना देता है। आप मल से सर्वदा रहित हैं, निर्मल हैं अतः मैं समस्त मलों को धोने के निमित्त आप निर्मल की शरण में आया हूँ।

स्वामिन्! मल तो गुणों में होता है, किन्तु आप तो गुणातीत हैं, निर्गुण हैं इन तीनों गुणों से सर्वथा रहित हैं। गुण अपना प्रभाव आप पर डाल नहीं सकते ऐसे निर्मल निर्गुण आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

निर्मल और निर्गुण बहुत से व्यक्ति हो सकते होंगे? सो, प्रभो! यह भी बात नहीं हो सकती, क्योंकि आप अद्वय हैं। आपके बराबर ही जब कोई दूसरा नहीं तो आपसे बड़े होने की तो कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। आप चिन्मात्र हैं, चैतन्य ही आपका स्वरूप है। आप स्वामिन्! पुरुषोत्तम हैं, पुरुष से परे परमपुरुष हैं। इसीलिये हे शरणागत वत्सल! मैंने आपके चरण कमलों की शरण ली है।

प्रभो ! मैं अब तक संसारी संतापों से संतप्त प्राणी था। मैं आपको भूल कर विषय वनों में भटक रहा था। मेरे कर्म फल मुझे पग पग पर प्रपीड़ित कर रहे थे। कर्मों के फल अपना संताप पहुंचा कर मुझे तपा रहे थे। आँखें सदा सुंदर सुंदर रूप देखने को लालायित बनी रहतीं, जिह्वा सुंदर से सुंदर स्वादिष्ट षडरस भोजनों को लप लपाती रहती। घ्राणेन्द्रिय सुगंधित गंधों को सूँघने के लिये उत्सुक बनी रहती। श्रोत्रेन्द्रिय सुन्दर मधुर शब्दों को सुनने के लिये उतावली बनी रहती। स्पर्शेन्द्रिय सुकोमल, गुल गुले, लुचुलुचे प्रिय सुखद पदार्थों के स्पर्श के लिये व्यग्र बनी रहती। मन अपनी भाँति भाँति उड़ान पृथक ही भरता रहता। इस पर इन्द्रिय मन, तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये छे शत्रु मुझे सदा दुखी बनाये रहते। इन प्रबल शत्रुओं की तृष्णा कभी शान्त ही नहीं होती थी, इसी कारण ये मुझे कभी सुख से बैठने ही न देते। सदा अशान्ति बनी रहती। इन्हीं सब कारणों से मैं संसार की सभी आशाओं को छोड़ कर आपकी शरण में आया हूँ, आप अच्युत का आश्रय लिया हूँ।

हे शरणागतों को शरण देने वाले प्रभो ! आपके पाद पद्म सभी प्रकार के भयों को दूर करके निर्भय बनाने वाले हैं। यह प्राणी मृत्यु रूपी भयंकर राक्षसी के भय से इधर उधर व्यग्र बना घूमता रहता है, यह मृत्यु काली नागिन के समान पीछे पड़ जाती है, इसी से बचने के लिये प्राणी सभी भुवनों में घूमता है, किन्तु यह डाइन कहीं भी पीछा नहीं छोड़ती। केवल आपके चरण कमल ही ऐसे हैं, जहाँ मृत्यु की दाल नहीं गलती। कैसे भी प्राणी आपके पादपद्मों के निकट पहुँच जाय, तो वह वहाँ निर्भय हो जाता है, सुखपूर्वक तान दुपट्टा सोता है, मृत्यु का वहाँ

कुछ भी बश नहीं चलता, वह अपना सा मुँह लेकर वहाँ से लौट जाती है। स्वामिन् ! संसार में सबसे क्लेशकर शोक है। असंख्यों शोक के स्थान हैं, पग पग पर प्राणी को शोक हो जाता है। आपके चरणारविन्दों के समीप शोक तो पहुँच ही नहीं सकता जो आपके चरणारविन्दों के आश्रय हो चुके हैं, उनके पास शोक तो फटक भी नहीं सकता। अतः आपके पाद पद्म शोक को भगाने वाले हैं, अशोक बनाने वाले हैं, यही सब सोच कर मैंने आपके चरणारविन्दों को ग्रहण किया है, आपकी शरण में आया हूँ। प्रभो ! आपका तो यह सदा का व्रत है, कि जो एक बार भी हृदय से यह कह दे कि "नाथ ! मैं तुम्हारा हूँ।" तो तुम उसे सभी प्राणियों से अभय बना देते हो। इसी विरुद को सुन कर मैंने आपकी शरण ग्रहण की है। आप मुझ संसार से संतप्त शरणागत की रक्षा कीजिये। मुझे अपने पाद पद्मों का अवलम्बन दीजिये। यही आपके अरुण वरण के चरणारविन्दों में पुनः पुनः प्रार्थना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब इस प्रकार महाराज मुचुकुन्द ने भगवान् वासुदेव की आर्त वाणी में स्तुति की, तो भगवान् उन पर अत्यंत प्रसन्न हुए, उनकी बड़ाई की और अपनी प्राप्ति का उपाय बताते हुए उन्हें अगले जन्म में ब्राह्मण बनने का वरदान दिया और उसी शरीर से अपनी प्राप्ति होने का आश्वासन दिया। यह मैंने श्री महाराज मुचुकुन्द कृत भगवत् स्तुति आपको सुनायी। अब जिस प्रकार भू-देवी ने भगवान् की स्तुति की उस कथा प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

करम फलनितैं दुखित निरन्तर ताप तपाया।
पढरिपु दोयो दुःख भागि पद पदुमनि आयो॥
शरनागत प्रति पाल जगत में तुम विख्याता।
शोक मोह दुख हरो, मृत्यु भ्रम भय के त्राता॥
पाये दुख जग जाल फँसि, बहु जोनिनि भटकत फिरयो।
कहूँ शान्ति जब नहिं लही, प्रभु पद पदुमनि महँ परयो॥

पद

नाथ! तव चरन शरन में आयो।
अब तक भटक्यों भव सागर में, माया मोह भुलायो॥१॥
करम फलनि कूँ भोगत भोगत, बहु योनिनि भटकायो।
पेट भरयो कूकर सूकर सम, प्रभु पद मन न लगायो॥२॥
ज्यों ज्यों विषय भोग बहु भोगे, त्यों त्यों मोह बढ़ायो।
भई न शान्ति न हिय सुख पायो, जीवन व्यरथ गँवायो॥३॥
भव भय नाशक सब सुख दायक, चरन कमल लिपिटायो।
प्रभु परमेश्वर पतित उधारन, शरनागत अपनायो॥४॥

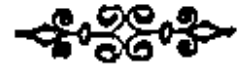

मुचुकुन्द कृत श्रीकृष्ण स्तुति

मुचुकुन्द उवाच

विमोहितोऽयं जन ईश मायया,
त्वदीययां त्वां न भजत्यनर्थदृक् ।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते,
गृहेषु योषित् पुरुषश्च वञ्चितः ॥१॥

लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं,
कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मति,
र्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥२॥

ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो,
राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वा,
सज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥३॥

कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसन्निभे,
निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै,
र्गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः ॥४॥

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया,

प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे,
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥५॥
पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन् ,
मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते,
कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥६॥
निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो,
वरासनस्थः समराजवन्दितः ।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां,
क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥७॥
करोति कर्माणि तपस्सुनिष्ठितो,
निवृत्तभोगस्तदपेक्षया ददत् ।
पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति,
प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥८॥
भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे,
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ,
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥९॥
मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो,

राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया ।
यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया,
वनं विविक्तद्भिरखण्डभूमिपैः ॥१०॥
न कामयेऽन्यं तव पादसेवना,
दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो ।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे,
वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥११॥
तस्माद् विसृज्याशिष ईश सर्वतो,
रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं,
त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥१२॥
चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै,
रवितृपपडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन्न,
भयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश ॥१३॥

———

भूमिकृत श्री कृष्ण स्तुति

(१०४)

नमस्ते देव देवेश शङ्ख चक्र गदाधर ।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन्नमोऽस्तुते ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ५९ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

करयो उपद्रव भौम-असुर सुर नर घबराये ।
सुरपति विनती करी कृष्ण तिहि वधहित धाये ॥
लड़यो अन्त में मर्‌यो शरन भूदेवी आई ।
प्रभु चरननि में परी जोरि कर विनय सुनाई ॥
शङ्ख चक्र गद पदुमधर; अवतारी अति अमित बल ।
नाभि कमल माला कमल, कमल नयन पद कर कमल ॥

भगवान् ही मारने वाले हैं भगवान् ही पालने वाले हैं और भगवान ही जीवन दान देने वाले हैं। भगवान् ही सुख देते हैं, भगवान् ही दुख देते हैं। सबके कर्ता धर्ता, हर्ता, भर्ता

भूदेवी भगवान् की स्तुति करते हुए कह रही हैं—"हे देव देवेश! हे शङ्ख चक्र गदाधारिन् ! हे परमात्मन् ! आप भक्तों की इच्छा के अनुरूप रूप रखने वाले हैं आप के लिये बारम्बार नमस्कार है ।

संहर्ता श्री हरि ही हैं। अतः कैसा भी स्थान हो, कैसी भी अवस्था हो, कैसा भी काल हो, सभी स्थानों में, सभी अवस्थाओं में, सभी समय में श्रीहरि की ही स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये। विवाह में भी "मंगलं भगवान् विष्णुः मंगलं गरुड़ध्वजः" कहना चाहिये और मरने पर भी "राम नाम सत्य है" इसका उच्चारण करना चाहिये। शिव के सभी कार्य शिवप्रद मंगलमय ही होते हैं। शिव अशिव कैसे कर सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भौमासुर बहुत अधिक उपद्रव करने लगा, वरुण का छत्र छीन लाया, मां अदिति के कुंडल उतरवा लाया, तथा देवताओं के स्थानों पर अधिकार अस्थापित कर लिया। तब देवेन्द्र ने उसके वध के लिये भगवान श्री कृष्ण से प्रार्थना की। उसकी माता भूमि का अवतार थी। वह भगवान् के ही अंश से उत्पन्न हुआ था, इसी से उसे कोई मार नहीं सकता था। देवेन्द्र की प्रार्थना पर भगवान् उसके यहाँ गये। उसे युद्ध में मार डाला। तब उसकी माता भूमि देवी भगवान् के सम्मुख आई साथ में भौमासुर के पुत्र भगदत्त को भी लायी। भूमि देवी ने आर्त होकर गद् गद् वाणी में भगवान् की स्तुति की।

भूदेवी स्तुति करती हुई कहती हैं—"हे भगवन् ! आप तो अरूप हैं। आपका अपना कोई रूप ही नहीं है, आप भक्तों की इच्छा के अधीन हैं। भक्त जैसा रूप चाहते हैं, आप वैसा ही रूप रखते हैं। हे प्रभो ! आप अपने चार हाथों में से एक में स्वच्छ शुभ्र गंभीर घोष वाला शंख धारण करते हैं, एक में विपक्षियों के सिरों को धड़ से पृथक् कर देने वाला सहस्र आराओं वाला चक्र धारण करते हैं। एक में कौमोदकी गदा धारण करते हैं, एक से क्रीड़ा कमल घुमाते रहते

हैं। स्वामिन्! आप देवताओं के भी देवता हैं, सभी देव दानव, पशु पक्षी, नर किन्नर आप को अपना ईश मानते हैं। आप परम आत्मा रूप हैं। हे भगवन्! आपके पाद पद्मों में प्रणाम है।

प्रभो! आप कमल प्रिय हैं, तभी तो आप अपने चतुर्थ हाथ में निरन्तर कमल धारण किये रहते हैं। आपका सम्पूर्ण शरीर ही कमल के सदृश है। आपकी नाभि से एक कमल निकला, जिससे ब्रह्मा जी का जन्म हुआ। इसी कारण ब्रह्मा जी 'कमल सम्भव' कहलाये।

प्रभो! आपके अरुण तरुण चरण, कमल के सदृश सुकोमल तथा सुगंधियुत सुकुमार हैं। आपके कर कमल के समान लाल तथा गदगुदे और सुंदर हैं। आप कमलों की मनोहर माला पहिने रहते हैं। आपके नयन भी प्रफुल्लित कमल के सदृश, बड़े बड़े लुभावने अरुण डोरे वाले तथा डह डहे हैं। जो सदा सुप्रसन्न रहने के कारण भक्तों को शांति दायक हैं और जिनके तनिक से कटाक्ष से आश्रित गण कृतार्थ हो जाते हैं। आश्रित गण आपके चरण कमलों का सदा सुरुचि के साथ सेवन करते हैं। आप के ऐसे पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे पुरुषोत्तम! आप षडैश्वर्य सम्पन्न हैं। जितने भी चराचर प्राणी हैं, आप उन सब के आश्रय हैं। अवलम्ब हैं। आप इस चराचर जगत में सदा व्यापक बने रहते हैं। आपके चरणों में पुनः पुनः वन्दन है, बारम्बार नमस्कार है।

प्रभो! जगत् में जितने भी कार्य वर्ग हैं, आप इन सब से पूर्व हैं। आपकी कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई। आप अजन्मा हैं, अनादि हैं। आप प्रकृति तथा पुरुष के भी जनक हैं।

पुरुषोत्तम हैं। आपका ज्ञान अखंडित है आप पूर्ण बोधस्वरूप हैं। आपको बारम्बार प्रणाम है।

हे देव! यह सम्पूर्ण जगत्, चराचर ब्रह्माण्ड आप से ही उत्पन्न हुआ है, इसकी उत्पत्ति आपने ही की है, किन्तु स्वयं आप किसी से उत्पन्न नहीं हुए हैं। आप तो अजन्मा अजर अमर अगोचर तथा अलख हो। आपकी शक्ति अनन्त है। आप परिपूर्णतम हैं, बड़े से भी बड़े हैं, इसीलिये वेदवित् आप को ही ब्रह्म कहते हैं। आप सर्वभूतमय हैं, अतः आपके श्री चरणों में श्रद्धा भक्ति सहित नमस्कार है।

निर्गुण होते हुए भी जब आपको सृष्टि करनी होती है, तब रजोगुण को स्वीकार करके ब्रह्मा बन जाते हैं जब जगत् के संहार की इच्छा होता है, तब रुद्र रूप रख लेते हैं, और जगत् के पालन करने के लिये सौम्य विष्णु बन जाते हैं। इतना सब होने पर भी गुण आप पर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते। आप इनसे अछूते बच जाते हैं। इनसे संसर्ग रखने पर भी आप इन मायिक गुणों से सदा निर्लिप्त बने रहते हैं।

प्रभो! आप ही सबको निगल जाने वाले काल हैं, आप ही जगत् की रचना करने वाली प्रकृति हैं, आप ही पुरुष हैं, फिर भी आप इन सबसे सर्वथा पृथक् हैं।

स्वामिन्! सबको धारण करने वाली मैं पृथिवी, प्राणियों को जीवन प्रदान करने वाला जल, सबके आहार को पकाने वाली अग्नि, सबके प्राणों को जीवित रखने वाली वायु, सब को अवकाश देने वाला आकाश, पंच तन्मात्रायें, समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवता, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार और महत्तत्व तथा यह जो भी दृश्य चराचर जगत् है वह आप

अद्वितीय में है, ऐसा लोगों को भ्रम है। अथवा क्या यह भ्रम है कि आप में ये सब नहीं हैं, अर्थात् आपमें ही यह सब हैं।

हे शरणागत वत्सल प्रभो! आप ने भौम को मारा, सो, वह तो मर ही गया। अब उसका यह पुत्र भगदत्त है, यह आपसे बहुत ही भयभीत हो रहा है, हे भवभय हारी भगवन्! इस भयभीत भक्त को अपने चरणारविन्दों की शरण में ले लीजिये। इसके समस्त भयों को दूर करके इसे अभय प्रदान कीजिये, सब ओर से इसकी रक्षा कीजिये। इसके मस्तक पर सभी ताप संतापों के दूर करने वाले अपने वरद हस्त को रख दीजिये। इसे अपनी शरण में लेलीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भूमि देवी ने भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने भगदत्त को अभय प्रदान की और भौमासुर के कारावास में एकत्रित सोलह सहस्र एक सौ कुमारियों से विधिवत विवाह किया। यह मैंने संक्षेप में भू देवी श्रीकृष्ण स्तुति कही, अब जैसे माहेश्वरज्वर ने भगवान् की स्तुति की, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

वासुदेव भगवान् विष्णु पर पुरुष बीज जग।
ब्रह्म अनन्त अनादि अनामय आत्मा अज अग॥
त्रिगुन त्रिदेव बनाय स्वयं निरगुन निष्करता।
भूत, विषय, सुर, करन सबनि में भासौ भरता॥
प्रनत पाल प्रभु परावर, करुनाकर किरपा करौ।
भौम तनय भगदत्त जिह, जाके सिर निज कर धरौ॥

पद

करौं बन्दन पद पदुम तिहारे।
शंख चक्रधर गदापदुमधर, कमल नयन अनियारे ॥१॥
कमल सरिस कर कमल बदन वर, कमल माल गर धारे।
कमल नाभि कमलासन, कारक, कमला प्रान पियारे ॥२॥
पुरुष, प्रधान, काल, हरि, हर, अज, ये सब रूप तिहारे।
आपु अलिप्त अगुन अविनाशी, अच्युत अखिल अधारे ॥३॥
भ्रमवश भासै भगवन् भव सब, तुम सबतैं हौ न्यारे।
प्रभु सुन भौम परयो पद पदुमनि, कर सिर धरो मुरारे ॥४॥

भूमिकृत श्रीकृष्ण स्तुति

भूमिरुवाच

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर ।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तुते ॥१॥
नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२॥
नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे ।
पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥३॥
अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते ॥४॥
त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो,
तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः ।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते,
कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः ॥५॥
अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो,

मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि ।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं,
त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ॥६॥
तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं,
भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः ।
तत् पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं,
शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥७॥

माहेश्वर ज्वर कृत श्रीकृष्ण स्तुति

(१०५)

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशम्,
सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्ति मात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थान संरोध हेतुम्
यत्तद् ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ६३ अ० २५ श्लोक०)

छप्पय

ऊषा अरु अनिरुद्ध व्याह में युद्ध भयो अति ।
कृष्ण करें इत युद्ध लड़ैं उत तैं श्री पशुपति ॥
माहेश्वर ज्वर शंभु कृष्ण ने वैष्णव छोरयो ।
वैष्णव ज्वर अति सबल शंभु ज्वर साहस तोरयो ॥
विनय सहित इस्तुति करैं, शरनार्थी बनि शम्भु ज्वर ।
जग कारन तारन परम—आत्मा अद्वय परावर ॥

---

*भगवान की स्तुति करता हुआ त्रिशिर ज्वर कह रहा है—"हे देव ! मैं आप को नमस्कार करता हूँ। आप अनंत शक्ति वाले परमेश्वर हैं। आप सर्वात्मा केवल, ज्ञान स्वरूप, विश्व की उत्पत्ति, प्रलय और स्थिति के कारण, वेद वाक्यों से लक्षित, सर्वात्माधिकार से परे तथा प्रशान्त हैं, आपको बारम्बार नमस्कार है।

दो बड़ों की लड़ाई में तीसरे निर्बल पिस जाते हैं। बड़े लोग तो बड़े ही ठहरे, उनसे कोई कुछ कह नहीं सकता, फिर चाहे वे उचित करें या अनुचित। बीच वालों का कर्तव्य है कि जब वे अपनी पराजय देखें तो उसे अपनी पराजय न समझकर ईश्वर की अनुग्रह समझें और सर्वात्म भाव से श्रीहरि की शरण में जायँ, क्यों कि हरिस्मृति सम्पूर्ण विपत्तियों को, सम्पूर्ण विघ्न बाधाओं को टाल देती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बाणासुर की पुत्री ऊषा श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध पर आसक्त हो गई। उसकी सखी योगिनी चित्तरेखा अपने योग बल से शैया सहित अनिरुद्ध को द्वारका से शोणितपुर उठा लायी। बाणासुर को जब इस प्रणय-लीला का पता चला तो उसने युद्ध में अनिरुद्ध को पकड़कर कारा-वास में बंद कर दिया। नारद जी से समाचार सुनकर समस्त यादव श्रीकृष्ण के नेतृत्व में शोणितपुर युद्ध करने आये। दोनों ओर से भयंकर युद्ध हुआ। अपने भक्त बाणासुर के प्रेम से शंकर जी भी श्रीकृष्ण भगवान् से लड़ने आये। दोनों ओर से दिव्यास्त्र छोड़े गये। अन्त में शिव जी ने अपना माहेश्वर ज्वर छोड़ा। इधर भगवान् ने भी वैष्णव ज्वर छोड़ दिया। वैष्णव ज्वर से परास्त होकर माहेश्वर ज्वर शरणागत वत्सल श्रीकृष्ण की शरण में आया और अत्यंत दीन होकर भगवान् की स्तुति करने लगा।

भगवान् की स्तुति करते हुए माहेश्वरज्वर कह रहा है—"प्रभो! मेरी शक्ति का तो अंत है, मैं तो पापी पुरुषों पर ही अपना प्रभाव दिखा सकता हूँ। किन्तु आपकी शक्ति का कोई अंत नहीं, आप अपरिमित शक्ति वाले हैं। मैं तो स्वयं ही एक अल्पात्मा हूँ, आप परमात्मा हैं, सबके अन्त-

रात्मा हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं। ज्वर तो असंख्य हैं, किन्तु आप एक, अद्वय, केवल तथा एकमात्र हैं। मैं तो अल्प ज्ञान वाला हूँ, आप ज्ञान स्वरूप हैं, ज्ञान धन हैं। मेरा तो कोई कारण है, किन्तु आप सबके कारण हैं। इस जगत् की उत्पत्ति भी आपसे है, स्थिति भी और प्रलय भी। देवता, देवेन्द्र, लोकपाल मनु, मन्वन्तरावतार ऋषि मुनि सभी अधिकारारूढ़ हैं, किन्तु आप तो सब को अधिकार प्रदान करने वाले हैं, स्वयं सर्व भाँति से सर्वाधिकार शून्य हैं। आप स्वयं शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। पर ब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम हैं। अतः आपके पाद पद्मों मे मेरा प्रणाम है।

स्वामिन्! कोई काल को इस जगत् का कारण बताते हैं। वे कहते हैं काल आने पर ही सब कुछ अपने आप होने लगता है। काल आने पर बच्चा माँ के उदर से उत्पन्न हो जाता है। काल आने पर फल पुष्प वृक्षों पर लग जाते हैं।

कोई कहते हैं—"दैव ही प्रधान है, जो होना होगा अवश्य होगा, उसे कोई मेट नहीं सकता। दैव का विधान अटल है, दैव के विधान में कोई हस्तक्षेप कर ही नहीं सकता। सम्पूर्ण संसार दैवाधीन है। दैवाधीन मिदं जगत्। कोई कहते हैं—कर्म प्रधान यह विश्व है, जो कोई जैसा करता है वैसा फल पाता है। पूर्व जन्मों में जिसने शुभाशुभ कार्य किये होंगे, उन्हें इस जन्म में भोगोगे। अब जो करोगे आगे के जन्मों में भोगोगे। कर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सब कर्म की ही लीला है।

कोई कहते हैं—जीव ही सब कुछ करता धरता है, जीव ही आत्मा है, इस विश्व में जीव के अतिरिक्त न कोई कर्ता है न भोक्ता। कर्ता भोक्ता सब जीव ही है। यह जगत् जीवमय है। बाल के अग्र भाग के बराबर भी कोई ऐसा स्थान नहीं

है जहाँ जीव न हो। निर्जीव कोई पदार्थ ही नहीं। कहीं जीव व्यक्त रूप में है, कहीं अव्यक्तरूप में है, हम ऐसी किसी वस्तु की भी कल्पना नहीं कर सकते जहाँ जीव न हो। "सर्वं जीव मयं जगत्।"

कुछ लोग कहते हैं—सब कुछ स्वभाव से हो रहा है। सब अपने अपने स्वभाव से विवश हैं। तृण से ब्रह्मा पर्यन्त सभी अपने स्वभाव का ही अनुसरण करते हैं। देवता हों, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, गुह्यक, भूत, प्रेत, पिशाच, मनुष्य, स्त्री, बालक, वृद्ध संसार के सभी प्राणी स्वभाव के अधीन हैं। किसी किसी का कहना है यह जगत् प्रपञ्च है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इनके दो भेद हैं, एक तो स्थूल भेद जो हमें दिखाई देते हैं, जिनका अनुभव हम व्यवहार में नित्य करते हैं। एक सूक्ष्म भूत जो इन स्थूल भूतों के कारण हैं। वे दिखाई नहीं देते। यथार्थ में वे सूक्ष्म भूत ही सम्पूर्ण जगत् के कारण हैं।

कुछ लोगों का कहना है, केवल भूतों से ही कुछ नहीं होने का। अकेला कोई कुछ कर नहीं सकता। शरीर,सूत्रात्मा,अहंकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पंचभूत, इन सबके संघात से, इन सब के मिलने जुलने से जो लिङ्गदेह निर्माण होता है। उस देह में जो बीज की भाँति पैदा होना, बढ़ना आदि है यही जगत् का कारण है। किन्तु प्रभो! मेरा कहना है कि यह सब आप की माया है, इन सब रूपों में आप ही भासते हैं, यह सब ही मायिक हैं, आप माया से परे हैं, आप इन सब से सर्वथा रहित हैं। आप में विकार नहीं, क्षय नहीं, उत्पन्न होना तथा मरना नहीं, आप निर्विकल्प, निराकार तथा निर्द्वन्द्व हैं। आप के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो ! आप इस जगत् के रक्षक हैं, पालक हैं, त्राता हैं। आप धर्म की रक्षा के निमित्त, साधु जनों के हितार्थ, तथा भक्तों को आनन्द देने के निमित्त अनेक अवतार धारण करते हैं, उन अवतारों में आप देवताओं के दुःसह दुःखों को दूर करते हैं, साधुओं का परित्राण करते हैं तथा अयोग्यों द्वारा उच्छृङ्खल हुई लोक मर्यादा को पुनः स्थापित करते हैं उसकी भली प्रकार से रक्षा करते हैं। जो दुष्कृति हैं, पापी हैं, भूके भार को बढ़ानेवाले हैं, जो सदा कुपथ का अनुसरण करते हैं, भ्रष्टमार्गगामी हैं, दम्भ और हिंसा द्वारा जो अपनी आजीविका चलाते हैं उन क्रूरकर्मा कुमार्ग गामी खलों का संहार करते हैं, उन दुष्कृतियों का विनाश करते हैं। आप का यह श्रीकृष्णावतार भी इसी हेतु से हुआ है। पृथिवी पर जब बहुत से दुर्मद प्रबल पराक्रमी असुर राजा रूप में अवतीर्ण हो गये और उनका भार बहुत बढ़ गया, पृथिवी उसे सम्हालने में समर्थ न हुई तब आप भू का भार उतारने के लिये इस अवनीपर अवतरित हुए हैं।

प्रभो ! मैं तो शिवजी का एक अकिंचन अनुचर हूँ। उनके ही द्वारा मैं छोड़ा गया था, किन्तु आपने प्रत्युत्तर में वैष्णव ज्वर को छोड़ दिया, वैष्णव ज्वर शान्त तो है, किन्तु है अत्यंत ही उग्र, साथ ही वह अत्यंत भयानक भी है। उसका तेज अत्यन्त ही दुःसह है। उसके प्रबल तेज को सहन करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, इसके प्रबल संताप से अत्यंत संतप्त होकर आपकी शरण में आया हूँ। जब कोई ताप से संतप्त होता है तो शीतलता की शरण में जाता है। संसार में सभी प्राणियों को शीतलता शांति और सुख आप के ही द्वारा प्राप्त हो सकता है। प्राणी तभी तक संतप्त रहता है, जब तक वह आप की शरण में नहीं जाता। आपकी शरण में विषयाभिलाषी कभी जा ही नहीं सकता।

क्योंकि उसे नित्य नित्य नये नये विषयों के उपभोग की लालसा लगी रहती है, विषयों से तृप्ति तो होती नहीं प्रत्युत दिनों दिन अधिकाधिक लालसा बढ़ती ही जाती है। इसी आशा रूपी रस्सी में जकड़े रहने के कारण देहधारी जीव आपके चरणों की शरण में नहीं जाते। इसी कारण नाना क्लेश उठाते रहते हैं। मैं संसार में नाना क्लेश उठाते उठाते क्लांत हो गया हूँ। अब सर्वत्र से निराश होकर मैंने आपके पावन पादपद्मों का सहारा लिया है, आपके चरणारविन्दों का आश्रय ग्रहण किया है। अब मुझे विश्वास हो गया कि मैं सभी ताप सन्तापों से सदा के लिये मुक्त हो जाऊँगा। आपका द्वार अमोघद्वार है। यहाँ आकर आज तक कोई भी निराश नहीं हुआ। जब सभी की आशायें पूर्ण हुई हैं, तो मेरी आशा अपूर्ण कैसे रहेगी। वह पूरी होगी और अवश्य होगी। इसी आशा से मैं आप के पावन पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

सूतजी कहते है—"मुनियो! यह मैंने माहेश्वर ज्वर कृत श्रीकृष्ण स्तुति कही। अब जैसे शिवजी ने श्रीकृष्ण भगवान की स्तुति की है, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आशा है आप सब उसे शान्त चित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।

छप्पय

काल, देव, तनु, करम, जीव, सबभूत, सूत्र तुम।
भूतेन्द्रिय संघात रहित सब तैं पुरुषोत्तम॥
देव, साधु सुख दैन करन मरजादा थापन।
लै नाना अवतार करो कल्यान ज्ञान घन॥

तव ज्वर तैं संतप्त ह्वै, शरन गही मैंने विभो।
तव शीतल पद पदुम गहि, शान्ति लही सबने प्रभो॥

पद

नाथ ! तव ज्वर तैं हौं अति पीड़ित ।
तुम केवल कारन, करुनाकर, जग तुमतैं सब पालित ॥१॥
काल, करम, तनु सूत्र, जीव विभु, कोई कहैं स्वचालित ।
अपर कहैं संघात सबनिको, सब तव माया लालित ॥२॥
लै अवतार विविध विधि स्वामी, असुरनि करौ प्रताड़ित ।
जुग जुग में प्रभु दरसन करिकैं, होवैं जीव कृतारथ ॥३॥
तव तक ताप होइ प्रानी कूँ, होहि न ज्ञान जथारथ ।
तव चरननि में जबई पहुँचैं, होहि सुखी प्रभु पालित ॥४॥

माहेश्वरज्वरकृत श्रीकृष्ण स्तुति

ज्वर उवाच

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं,
सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं,
यत्तद् ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ॥१॥

कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो,
द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।
तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाहस्,
त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥२॥

नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नै,
र्देवान् साधूँल्लोकसेतून् बिभर्षि ।
हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्तमानान् ,
जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥३॥

तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन,
शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं,
नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः ॥४॥

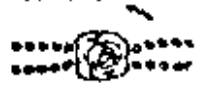

श्रीरुद्रकृत श्रीकृष्ण स्तुति

(१०६)

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये।
यं पश्यन्त्य मलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥
(श्र.भा० १० स्क० ६३ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

पुनि बोले श्रीरुद्र—आपु व्यापक अज अच्युत।
कही नाभि आकाश अगिनि मुख वीरज तत्सुत ॥
दिशा श्रवन सिर स्वरग चरन भू चन्द्र कह्यो मन।
अहंकार शिव सूर्य नेत्र तव उदर जलायन ॥
भुज सुरपति कच मेघ हैं, अजधी ओषधि रोम तन।
लिंग प्रजापति धरम हिय, हो जगमय रुक्मिनि रमन ॥

ब्रह्मा विष्णु तथा रुद्र ये तीनों ही एक उन्हीं सच्चिदानन्द भगवान् के रूप हैं, उनमें कोई भेद नहीं, किन्तु जैसे नाटक मंडली में तीनों सगे भाई रहते हैं, वे आपस मे प्रेम भी करते

---

* भगवान की स्तुति करते हुए श्री महादेव जी कहते हैं—भगवन्! आप वेद वाङ्मय में निगूढ़ है छिपे हुए हैं-आप ही परब्रह्म तथा परम ज्योति स्वरूप हैं। निर्मल चित्त वाले आपको आकाश के सदृश व्यापक तथा एकमात्र निर्मल देखते हैं।

हैं किन्तु जब वे रंग मंच पर परस्पर में शत्रु का अभिनय करते हैं, तो क्रोध में भर कर कैसा युद्ध करते हैं। नाटक समाप्त हो जाने पर फिर हिल मिलकर प्रेम पूर्वक बातें करते हैं। एक दूसरे का आदर सत्कार करते हैं। इसी प्रकार भगवान् लीला के लिये शिव जी से युद्ध करते हैं, पीछे एक हो जाते हैं यही भगवान् की क्रीड़ा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्री कृष्ण भगवान् और महादेव जी में युद्ध हुआ और दोनों ओर से ज्वर छोड़े गये। माहेश्वर ज्वर भगवान् की शरण में गया। तब भगवान् ने उसे अभय प्रदान किया, उसी समय बाणासुर युद्ध भूमि में आया, उसने सहस्र बाहुओं से भगवान् के ऊपर बाणों की घन घोर वर्षा की। तब भगवान् ने उसकी भुजाओं को अपने सुदर्शन चक्र से काटना आरम्भ किया। काटते काटते जब चार भुजायें ही उसकी शेष रह गयीं, तब भक्तवत्सल भगवान् भोले नाथ चक्र सुदर्शन धारी भगवान् श्री कृष्णचन्द्र की स्तुति करने लगे।

भगवान् की स्तुति करते हुए श्री रुद्र भगवान् कह रहे हैं—प्रभो आप परम ज्योति स्वरूप हैं, आपके ही प्रकाश से जगत् प्रकाशित हो रहा है। आप परब्रह्म हैं। आप इतने छिपे हुए हैं, कि वेद भी आपका भेद नहीं जानते। वेद भी नेति नेति कह कर आपका वर्णन करते हैं। आप किसी एक स्थान में सीमित नहीं। अणु परमाणु में सर्वत्र व्याप्त हैं, विश्व ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ आप न हों। आपमें किसी भी प्रकार का द्रव्य कृत, गुण कृत तथा कर्मादि कृत मल नहीं है। आप गुणातीत विशुद्ध तथा निर्मल हैं। आकाश की भाँति सब में रहते हुए भी सबसे निर्लेप हैं, आप केवल मात्र अद्वय तथा एक ही हैं। सब कोई आपको देख नहीं सकते, जो विशुद्ध अन्तःकरण वाले

महात्मा हैं, वे ही आपका साक्षात्कार कर सकते है। क्योंकि आप अपनी ही योग माया से सदा आवृत रहते हैं।

यह विश्व ब्रह्माण्ड ही आप का शरीर है, आप विश्वम्भर होते हुए भी विश्वरूप हैं। यह जो आकाश है, वह आपके नाभि स्थानीय है। हुतभुक् अग्निदेव ही आप के बोलने और खाने पीने के मुख हैं। जल ही आपका वीर्य पराक्रम है। स्वर्ग शीर्ष स्थानीय है। दशों दिशायें ये ही आपके श्रवण हैं। पृथिवी आप के चरणारविन्द हैं। चन्द्रमा मन स्थानीय हैं। सर्व प्रकाशक सूर्य ही आप के नेत्र हैं। मैं जो रुद्र हूँ, जिसे आपने प्रलय करने का कार्य सौंपा है, आपके अहंकार के स्थान मे हूँ। यह जल से परिपूर्ण समुद्र ही आप का उदर है। देवताओं के इन्द्र नाक पति शचीपति ही आपके बाहु हैं। ये जो फल लगने पर पक कर गिरने वाली अन्नादि छोटी छोटी ओषधियाँ है, वे ही आपके रोमकूप हैं। जल को बरसाने वाले मेघ ही आपके काले काले केश हैं। वेद गर्भ चतुर्मुख ब्रह्मा जी ही आप के बुद्धि स्थानीय हैं। प्रजापति ही आपकी उपस्थेन्द्रिय हैं। जगत को धारण करने वाले धर्म ही आपके हृदय हैं। कहाँ तक गिनावें यह जो चराचर विश्व है वही आपका शरीर है। आप से जगत भिन्न नहीं है किन्तु आप सबसे निर्लिप्त हैं। पंडित जन भिन्न-भिन्न वस्तुओं से आपके अङ्गों की कल्पना करते हैं। वास्तव में तो आप परम पुरुष परमात्मा सबसे पृथक् हैं।

प्रभो! आपने जो अवतार धारण किया है, वह धर्म की वृद्धि और अधर्म के दबाने के निमित्त ही किया है। आपके अवनि पर अवतरित होने से अखिल विश्व का अभ्युदय होगा। हे अनुपम तेजोमय स्वामिन्! सर्वत्र आपके तेज से ही कार्य हो रहा है,

आप का प्रभाव ही सर्वत्र व्याप्त है। हम लोग जो इन्द्र, वरुण कुबेर, प्रजापति, मनु, सप्तर्षि तथा अन्यान्य अधिकार वर्ग के लोग हैं, वे सब आप के प्रभाव से प्रभावित होकर ही समस्त लोकों का सातों भुवनों का प्रतिपालन कर रहे हैं।

हे देव! आप अद्वय हैं, केवल हैं, आप ही सनातन आदि पुरुष हैं। आप के अतिरिक्त और कोई नहीं आप अद्वितीय हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से परे जो तुरीय अवस्था है, वह तुरीय आप ही हैं; संसार में सभी अन्य के प्रकाश द्वारा प्रकाशित होते हैं, किन्तु आप स्वयं प्रकाश हैं, आप को अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। यह जो कार्य है किसी न किसी कारण से होता है। सभी का कोई न कोई कारण है, किन्तु आप का कारण कोई नहीं, आप ही सबके कारण हैं। आप का कोई ईश्वर नहीं, आप ही सबके ईश्वर हैं, इसीलिये आप सर्वेश्वर कहलाते हैं।

प्रभो! आपके बिना किसी का अस्तित्व नहीं किसी का प्रकाश नहीं। आप ही नाना योनियों में त्रिगुणों के विकार रूप से देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, पतंग आदि योनियों में विभिन्न रूपों से प्रतीत होते हैं।

स्वामिन्! ये गुण आप से ही उत्पन्न हुए हैं, आप इन गुणों को तथा गुणाभिमानी जीवों को गुणों से आच्छादित होकर भी प्रकाशित कर रहे हैं। जैसे सूर्य के ही प्रकाश से सब प्रकाशित हो रहे हैं। सूर्य को भी मेघ ढक लेते हैं, सूर्य को आच्छादित कर लेते हैं, तो क्या उन मेघों का सूर्य से पृथक कोई अस्तित्व है। नहीं, मेघ सूर्य से ही उत्पन्न होते हैं, वे सूर्य को ढक लेते हैं। फिर आज आकाश में मेघ छाये हुए हैं, इस बात को प्रकाशित तो सूर्य ही करते हैं। अपनी छाया रूप मेघों से आच्छादित

होने पर भी उस छाया का तथा भिन्न-भिन्न रूपों का ज्ञान सूर्य के ही द्वारा होता है। अतः आप ही सबके साक्षी हैं आप ही सबके जनक हैं, किन्तु सबसे निःसंग तथा निर्लिप्त हैं।

स्वामिन्! संसार में जन्मलेना, मरना, आना जाना भोगों की इच्छा से वासनाओं की आसक्ति से होता है। आसक्ति होती है मोह से। आपकी मोहिनी माया जिनकी बुद्धि को विमोहित कर लेती है, वे ही संसार में फँसते हैं। वे सोचते हैं—"यह मेरी पत्नी है, मैं इसका पालन कर्ता पति हूँ, इसके भरण पोषण का, रक्षा का भार मेरे ही ऊपर है। ये मेरे पुत्र पुत्री हैं, यदि मैं न रहूँगा तो कौन इनकी रक्षा करेगा, कौन इन्हें पढ़ावेगा लिखावेगा, कौन योग्य बनावेगा। यह मेरा घर है, यह मेरी भूमि है, दूसरा इसे ले ही कैसे सकता है, जो इसे लेने को हाथ बढ़ावेगा उसके हाथ को तोड़ दूँगा, जो इसकी ओर लालच भरी आँख लगावेगा उसकी आँखों को फोड़दूँगा।" इस प्रकार का जिन्हें मोह है. ऐसे जो सुत, कलत्र तथा गृह में आसक्त हैं वे ही इस संसार सागर में पुनः पुनः डूबते हैं उतरते हैं।

प्रभो! आपने यह कैसा सुन्दर मानुष शरीर दिया है। इसमें सभी इन्द्रियाँ हैं, अन्तः करण है, सत् असत् का निर्णय करने वाली बुद्धि है। ऐसे सर्वगुण सम्पन्न शरीर को पाकर भी जो तुच्छ विषयों में फँसे रहते हैं, अनित्य विषय भोगों को जुटाने के लिये ही सतत प्रयत्न करते रहते हैं, संसार सागर से पार करने वाले आपके पाद पद्मों का प्रेम पूर्वक पूजन नहीं करते, उन अनुपम चरणारविन्दों में अनुराग नहीं रखते। वे मानों आपकी माया द्वारा अपने आप ही ठगे गये। वे दया के पात्र हैं, उनकी दशा पर सोचने के अतिरिक्त और क्या

किया जा सकता है। वे परमार्थ पथ से हट गये। उत्तम फल से वञ्चित हो गये।

प्रभो! ये संसारी भोग तो ऊपर से देखने में लुभावने लगते हैं, किन्तु वास्तव में वे हैं विष के समान। इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों से क्षण भर तो सुख सा प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में ये दुःख ही देने वाले होते हैं। आप सुख के सागर, आनन्द के आलय, शान्ति के निधान, मंगल की मूर्ति तथा कल्याण कारक को छोड़कर जो दुःख स्वरूप इन्द्रिय सुखों के लिये प्रयत्न करते हैं, वे मानों रत्न को छोड़ कर कांच के टुकड़े को अपना रहे हैं, अमृत को त्याग कर विष भक्षण कर रहे हैं। ऐसे पुरुष अत्यंत शोचनीय हैं।

हे देव! सबके स्वामी तो आप ही हैं। मुझे रुद्र पद पर आपने ही बिठाया है, प्रजा की उत्पत्ति का कार्य ब्रह्मा जी को आपने ही सौंपा है, वर्षा आदि मंगल कृत्य करने का काम देवताओं को आपने ही दिया है, लोक पालों को उनके पद पर आपने ही प्रतिष्ठित किया है। अतः हम सब ब्रह्मादि देव ऋषि मुनिगण आपके शरणागत हैं। आप ही हम सबकी आत्मा हैं, आप सम्पूर्ण विश्व की आत्मा होने से विश्वात्मा कहलाते हैं। आप ही सबके सुहृद् तथा प्रियतम हैं, आप ही सबके स्वामी प्रभु तथा परमेश्वर हैं। आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे स्वामिन्! आपही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के प्रधान कारण हैं। आप सर्वत्र समान भाव से व्याप्त हैं, आप अत्यन्त ही सुखदायी तथा परम शान्त स्वरूप हैं, आपही सबके सुहृद्, तथा सच्चे सखा और शुभचिन्तक हैं। आपही सबकी अन्तरात्मा हैं, आपही सबके ईश्वर तथा स्वामी हैं। आपके

समान अन्य कोई है ही नहीं अतः आप अद्वितीय हैं । आपही इस दृश्य जगत् के अधिष्ठान हैं। संसार सागर से पार होने के निमित्त सभी आपके पादपद्मों का आश्रय लेते हैं, सभी बुद्धिमान सज्जन पुरुष प्रेम की प्राप्ति के लिये आपके चरणारविन्दों का भजन करते हैं। मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

प्रभो ! यह बाणासुर मेरा अनुचर है, शिष्य सेवक तथा परम भक्त है। यह मेरा अनुगत है मेरी शरण में आया है। प्रपन्न हुआ है। मैंने भी इसे अभय, प्रदान कर दी है। इसीलिये यह इतना निर्भय हो गया है। स्वामिन् ! आप इसका वध न करें संग्राम में इसे मारें नहीं। आप अपने चक्रसुदर्शन से इसकी सहस्रबाहुओं को काट रहे हैं। अब तो केवल चार ही शेष रह गयी हैं। इसके प्रपितामह प्रह्लाद पर जैसे आपने कृपा की, ऐसे ही इस पर भी आप कृपा करें, इसे भी अपनावें। इस पर भी अपनी अनुग्रह की दृष्टि करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार श्रीमहादेवजी ने भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने बाणासुर को अभय प्रदान किया। उसके चार हाथ छोड़ दिये, उसे अजर अमर होने का वर दिया और महादेवजी के मुख्य गणों में उसकी गणना कर दी। उसे शिवजी का मुख्य पार्षद बना दिया। यह मैंने श्रीमहादेव कृत श्रीकृष्ण स्तुति कही। अब जैसे राजा नृग ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति की है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

धरम हेतु अवतरित आपु अद्वय सरवेश्वर ।
सुरनर तिरियक योनि माहिँ प्रकटैं परमेश्वर ॥
माया मोहित जीव जनम पुनि पुनि जगलेवैं ।
पान करैं बिष बिषय न तव पद अम्मृत सेवैं ॥
शान्त सरल सब के सुहृद, अधिष्ठान अद्वय विभो ।
बाणासुर मम भक्त है, कृपा करैं तापै प्रभो ॥

पद

छिपे तुम वेदनि में विश्वेश्वर ।
दृश्य जगत ही देह तिहारा, तुम सब जगके ईश्वर ॥१॥
धरम अभ्युदय करन हेतु हरि, प्रकटौ प्रभु परमेश्वर ।
धरम थापि अधरमहिँ दबाओ, माया मेंटि महेश्वर ॥२॥
ज्यों प्रकटावै रवि मेघनिकूँ, ते ढाकैं दिवसेश्वर ।
तोऊ करै प्रकाशित सबकूँ, त्यों जग रचि मायेश्वर ॥३॥
माया मोहित माने निजकूँ, सुत, कलत्र भवनेश्वर ।
अम्मृत सरिस त्यागि तव चरननि, बिष पीवैं विषयेश्वर ॥४॥
हौं हर, सुर, अज, ऋषि, मुनि सब जग, शरन गहैं सरवेश्वर ।
सबके सुहृद, शान्त, सर्वात्मा, भवतारक भुवनेश्वर ॥५॥
अज अनादि अच्युत अवतारी, अगुन अलख अखिलेश्वर ।
बाणासुर पै किरपा कीजै, जगन्नाथ जगदीश्वर ॥६॥

—❀—

रुद्रकृत श्रीकृष्ण स्तुति

श्रीरुद्र उवाच

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥१॥

नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बु रेतो,
द्यौः शीर्षमाशा श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी ।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा,
अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥२॥

रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः,
केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः ।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः,
स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः ॥३॥

तवावतारोऽयमकुण्ठधामन्,
धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय ।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता,
विभावयामो भुवनानि सप्त ॥४॥

त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीय,
स्तुर्यः स्वदृग्हेतुरहेतुरीशः ।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं,
स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्धये ॥५॥

यथैव सूर्यः पिहितश्छायया स्वया,
छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्व,
मात्यप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥६॥

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे ॥७॥

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः ।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ॥८॥

यस्त्वां विसृजतं मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् ।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन् ॥९॥

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः ।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ॥१०॥

तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं,

समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् ।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं,
भवापवर्गाय भजाम देवम् ॥११॥

अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती,
मयाभयं दत्तममुष्य देव ।
सम्पाद्यतां तद् भवतः प्रसादो,
यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥१२॥

नृगकृत श्रीकृष्ण स्तुति

(१०७)

सत्त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६४ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

गिरिगिट नृप नृग भये शाप द्वै विप्रनि दीन्हों ।
तिनिको पुनि उद्धार कृष्ण द्वारावति कीन्हों ॥
श्याम परसतैं पाप देह तुरतहिँ तजि दीन्हीं ।
दिव्य देह धरि तबहिँ कृष्ण की इस्तुति कीन्हीं ॥
जिनि लखि भव बन्धन कटै, करि किरपा दीये दरस ।
जगन्नाथ जगदीश प्रभु, जग जीवन जग रसिक रस ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए महाराज नृग कह रहे हैं—"हे भगवन हे विभो ! हे अधोक्षज ! आपका दर्शन तो उन्हीं लोगों को हुआ करता है, जिनका संसार चक्र छूटने वाला होता है, क्योंकि आप परमात्मा हैं,

भक्त वत्सल भगवान कृपा के सागर हैं, सत्य प्रतिज्ञ और सर्वेश्वर प्रणत प्रण पालक हैं। जब जिस जीव के उद्धार का जहाँ समय आता है, तब तहाँ पहुँचकर प्रभु उसका उद्धार करते हैं। उसके भव बन्धन को काटते हैं। जब तक जिसके उद्धार का समय न आवे, तब तक उसे जैसी भी परिस्थिति प्राप्त हो, उसी में रहकर स्तुति प्रार्थना करते हुए काल क्षेप करना चाहिये। समय आने पर सर्वेश्वर स्वयं दर्शन देंगे और भव सागर में भटकते हुए प्राणी को अपना लेंगे। तब कृतज्ञता के भार से दबा हुआ व्यक्ति अवाङ मनस् गोचर उन प्रभु को उन्हीं की कृपा से स्तुति ही कर सकता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! परमदानी महाराज नृग को एक गौ के झगड़े में दो क्रुद्ध हुए ब्राह्मणों ने कृकलास-गिरगिट होने का शाप दे दिया था। इससे वे बहुत दिनों तक गिरगिट बने द्वारिका के समीप एक कूप में पड़े रहे। यादव कुमारों ने कुतूहलवश उन्हें निकालना चाहा, किन्तु जब वे किसी प्रकार न निकले तो बालक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी को बुलालाये। भगवान् ने अपने बायें हाथ से अनायास ही उन्हें बाहर निकाल लिया। भगवान् के स्पर्शमात्र से ही वे गिरगिट शरीर को त्याग कर दिव्य पुरुष बन गये। उन्होंने भगवान् को अपना सम्पूर्ण पूर्व वृत्तान्त सुनाया और फिर श्रद्धा के सहित भगवान की स्तुति की।

आपका ध्यान विमल बुद्धि वाले योगेश्वर गण अपनी उपनिषद् रूप दृष्टि से अपने हृदय में किया करते हैं। ऐसे आप अनेक व्यसनों के कारण अन्धबुद्धि बने मुझ मलिन मति के सम्मुख स्वयं साक्षात् रूप से प्रकट कैसे हो गये?

भगवान की स्तुति करते हुये महाराज नृग कह रहे हैं—"प्रभो! आप साधारण पुरुष नहीं हैं, परम पुरुष हैं। आप जीवात्मा नहीं परमात्मा हैं। आपका दर्शन सुलभ नहीं दुर्लभ है। सब कोई आपका दर्शन प्राप्त भी नहीं कर सकते। जिनकी बुद्धि विमल बन गयी है, जिनका चित्त विशुद्ध बन गया है, ऐसे साधारण योगी भी नहीं बड़े बड़े योगेश्वर गण अपनी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म दृष्टि से आपके हृदय कमल में ध्यान करते हैं। इस प्रकार बड़े कष्ट से अत्यन्त प्रयत्न से शुद्ध अन्तः करण वालों के हृदय में केवल मनोमयी मूर्ति का साक्षात्कार होता है। ऐसे आप मुझ व्यसनान्ध बुद्धि के सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। मैं तो ऐसी पाप योनी में पड़ा था, कि स्वयं आपके सम्मुख जा भी नहीं सकता था, किसी प्रकार आपका पाद स्पर्श कर ही नहीं सकता था। यदि प्रयत्न करता भी तो रक्षक गण वहीं मेरी लीला समाप्त कर देते। मैं सभी प्रकार से दीन हीन मति मलीन साधन विहीन जीव था, किन्तु आपतो प्रभो! कृपा के सागर हैं, दीन बन्धु हैं, शरणागत वत्सल हैं। आपने स्वयं ही पधार कर, मेरे स्थान पर ही आकर, मुझे दर्शन दिये, मेरा स्पर्श किया और मेरे पाप योनि से छुड़ाकर, देवताओं के समान--दिव्य शरीर दिया। इससे मुझे विश्वास हो गया, कि अब मुझे संसार बन्धन में फिर नहीं बँधना पड़ेगा। फिर मुझे आवागमन के चक्कर में न फँसना पड़ेगा। अब मेरा जन्म-मरण का क्रम समाप्त हो जायगा। आपके दर्शनों के पश्चात् तो भवबन्धन रहता ही नहीं। कारण कि जिनका संसार चक्र निवृत्त होने का समय होता है, उन्हीं को आपके दर्शन होते हैं। सर्व साधारण को आप सर्वत्र समान रूप से रहने वाले व्यापक ब्रह्म के दर्शन होते ही नहीं। आप

मेरे नेत्रों के सम्मुख आगये, मुझे आपके देव दुर्लभ दर्शन हो गये, इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ।

हे प्रभो! आप ब्रह्मादि समस्त देवताओं के भी देवता हैं। आप इस सम्पूर्ण जगत् के एक मात्र स्वामी हैं, ईश हैं, नाथ हैं। आप गौओं के, इन्द्रियों के, पृथिवी के स्वामी हैं, अधिपति हैं। आप प्रकृति पुरुष से परे पुरुषोत्तम हैं। आप क्षीर सागर में शेष का शैया पर शेषशायी नारायण होकर शयन करते हैं। आप समस्त इन्द्रियों और उनके विषयों के देवताओं के स्वामी हैं। हे अधोक्षज! आपकी कीर्ति अजर अमर तथा अक्षय है। हे अच्युत! आप कभी च्युत नहीं होते, अपने प्रण पर सदा सर्वदा उठे ही रहते हैं। संसार की सभी वस्तुयें नाशवान् हैं, किन्तु एक मात्र आप ही अविनाशी हैं। आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे कृष्णचन्द्र! अब मेरे समस्त पाप ताप आपके स्पर्श मात्र से भस्म हो गये। अब मैं दिव्य लोक में जा रहा हूँ। आप मुझे वहाँ जाने की आज्ञा प्रदान करें और ऐसी कृपा करें कि मैं किसी भी लोक मे रहूँ, किसी भी योनि में रहूँ, किसी भी दशा में रहूँ, मेरा चित्त सदा आपके चरणारविन्द का चंचरीक बना रहे। मेरा मन मधुप आप के पाद पद्मों मे मँड़राता रहे।

भगवन! आप इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति के एक मात्र स्थान हैं, आप साक्षात् स्वयं भगवान हैं। आप परब्रह्म है। जो माया इस सम्पूर्ण चराचर को रचती है, जो बड़े बड़े ज्ञानी ध्यानी तथा योगियों को भी चक्कर में डाल देती है। जिसके प्रकृति, माया शक्ति आदि अनेक रूप हैं। उन अनन्त शक्तियों से आप संयुक्त हैं। आप सबको अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं। सजल मेघ के सदृश आपका सुंदर श्याम वर्ण है।

आप महाराज वसुदेव जी के घरमें उनके पुत्र रूप मे प्रकट हुये हैं। आप सर्वत्र बसते हैं, घट घट निवास करते हैं। आप समस्त योगों के, योगेश्वरों के, स्वामी हैं। ऐसे आप अनन्त शक्ति वाले, अप्रमेय बलवाले वासुदेव भगवान् के पाद पद्मों में मेरा बारम्बार नमस्कार है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार नृग ने भगवान् की स्तुति की और हाथ जोड़कर सिर झुकाकर भगवान् से जाने की आज्ञा माँगी। भगवान् ने जब उन्हें अनुमति देदी, तो उन्होंने श्रद्धा भक्ति सहित अश्रु पूर्ण नेत्रों से भगवान् को बारम्बार प्रणाम किया, उनकी तीन परिक्रमा की और सब के देखते देखते दिव्य विमान पर चढ़कर दिव्य लोकों में चले गये। यह मैंने महाराज नृगकृत श्रीकृष्ण स्तुति कही। अब जैसे कौरवों ने श्री बलभद्र जी की स्तुति की उसे मैं आपसे कहूँगा।

छप्पय

हे गोविंद गोपाल देव अच्युत पुरुषोत्तम।
हृषीकेश हे कृष्ण नरायन नाथ नरोत्तम॥
भगवन्! जहँ जहँ रहूँ लगै चित चरननि माहीं।
तव पद पदुमनि त्यागि वृत्तिमन अनत न जाहीं॥
वासुदेव प्रभु योग पति, सर्व भाव यादव अधिप।
इस्तुति करि नृग प्रेमतैं, दिव्य लोक कूँ गये नृप॥

पद

दयानिधि दासहिँ दरसन दीये ।
जनम जनम मुनि जतन योगकरि, साधन अगनित कीये ॥१॥
मिलै न दरस बिना अनुकम्पा, चरन कमल रज लीये ।
ते खल पापी पामर प्रानी, दरस बिना जे जीये ॥२॥
नारायन गोविन्द जगत् पति, कृष्ण नाम जिनि लीये ।
धन्य भये ते जन अनुरागी, अमृत नाम तब पीये॥३॥

नृगकृत श्रीकृष्ण स्तुति

ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः ॥१॥

स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा,
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः,
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२॥

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम ।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥३॥

अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं प्रभो ।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥४॥

नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥५॥

इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना ।
अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुहत् पश्यतां नृणाम् ॥६॥

कौरवों द्वारा श्रीबलभद्रजी की स्तुति

(१०८)

राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदाम ते ।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ६८ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

दुरजोधन की सुता स्वयंवर माहीं आई ।
कृष्ण तनय श्री साम्ब पकरि कें रथ बैठाई ॥
कुमर कैदि करि लयो आइ बल आयसु दीन्हीं ।
कौरव माने नहीं पुरी तिनि उलटी कीन्हीं ॥
तब सब बल इस्तुति करें, कहें—राम तुम अमित बल ।
छिमा करें अपराध प्रभु, संहारक खल प्रबल दल ॥

भगवान् अपने अंशों के सहित अवतार लेते हैं। श्रीरामावतार में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुहन इन चार रूपों से प्रकट हुए। श्री कृष्णावतार में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और

* कौरव गण भगवान बलभद्र जी की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे राम ! हे बलराम ! हे अखिल जगत के आधार ! हम सब आप के प्रभाव से अनभिज्ञ थे। हम मूढ़मति कुबुद्धिवालों के अपराध को आप क्षमा कर दीजिये।"

अनिरुद्ध इस चतुर्व्यूह से अवतरित हुए। संकर्षण भगवान् शेषावतार हैं। भगवान् के अभिन्न रूप हैं। उनकी भी गणना प्रधान दशावतारों में है। संकर्षण भगवान् अहंकार के अधिष्ठातृ देव हैं, अतः उनका कोप भी विलक्षण होता है। ये भगवान् की तामसी शक्ति के देव हैं। भगवत् स्वरूप ही हैं, अतः अन्य अवतारों के सदृश ये भी परम वन्दनीय, पूजनीय तथा आदरणीय हैं। जो इनकी स्तुति प्रार्थना करते हैं, वे सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दुर्योधन की एक लक्ष्मणा नाम की पुत्री थी, उसका स्वयंवर किया गया। उसमें जाम्बवती तनय वासुदेव नन्दन श्री साम्ब भी गये। साम्ब के मन पर वह लड़की चढ़ गयी। उसने सोचा—"स्वयंवर में संभव है लड़की ने हमें वरण किया अथवा न भी किया, यह तो संदेह की बात है, अतः क्यों न हम अपने पिता की परिपाटी का अनुसरण करें। क्यों न कुमारी को बल पूर्वक पकड़ ले जायँ। यही सोचकर उसने बल पूर्वक कन्या का अपहरण किया। इस पर कौरवों ने कुपित होकर एक साथ कई महारथियों ने प्रहार करके साम्ब को पकड़ लिया और उसे कारावास में बन्द कर दिया। श्री नारदजी से समाचार सुनकर बलरामजी कौरवों को समझाने आये। कौरवों ने उनकी बात न मानी कुछ न कहने योग्य बातें कहीं। इस पर क्रुद्ध होकर बलदेव जी अपने हल से हस्तिनापुर को उलटने को तैयार हो गये। तब सब ने साम्ब और लक्ष्मणा को लेकर विपुल दहेज के साथ आकर बलदेवजी के चरण पकड़े और उनकी स्तुति की।

कौरवगण बलदेवजी की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो! हमने तो आप को अपने ही समान एक क्षत्रिय समझा था।

इसीलिये बराबरी का समझकर ऐसी धृष्टता की। हम आपके प्रभाव को नहीं जानते थे। हे राम! हे बलराम! हे संकर्षण! आप तो अवतार हैं। यह बात हमें अब मालूम हुई। आप हमारे ही नहीं सम्पूर्ण लोक के स्वामी हैं। आप इस चराचर विश्व के एकमात्र आधार हैं। हमने मूर्खता वश आपको ऐसे कुवाच्य कहे। हम मूढ़मति हैं। हम संसारी व्यक्ति हैं। अल्प बुद्धि होने से ही हमसे यह अक्षम्य अपराध बन गया। हम कुबुद्धियों के इस अपराध को आप क्षमा कर दें।

हे देव! इस जगत् की उत्पत्ति आप के ही द्वारा होती है, आप ही सृष्टि रचना के समय ब्रह्मा बन जाते हैं। आप ही इस सब रची हुई सृष्टि का पालन पोषण करते हैं। पालन के समय आप ही विष्णु कहलाते हैं और आप ही इस सब का अंतमें संहार भी करते हैं। प्रलय की वेला में आप ही श्री रुद्र बन जाते हैं। सब के एक मात्र कारण आप ही हैं। यह जगत् आप के आधार पर ही टिका है, किन्तु आप का कोई अन्य आधार नहीं। आप निराधार निराश्रय हैं।"

प्रभो! आप आत्माराम पूर्ण काम नित्य तृप्त तथा निरीह हैं। फिर भी मन विनोद के लिये, लीला के निमित्त आप जगत् की रचना करते हैं। जब आप क्रीडा करने लगते हैं तब यह चराचर विश्व आपके खेलने का खिलौना बन जाता है। आप ही खिलौने को रचने वाले हैं और आप ही उससे खेलने वाले भी हैं।

हे देवाधिदेव! आप के सहस्र फण हैं। उन पर यह सम्पूर्ण भू मंडल सरसों की भांति रखा हुआ है, आप इस इतने बड़े भूमंडल को लीला से अनायास ही धारण करते हैं। इसमें

आपको तनिक भी श्रम नहीं होता। आप को पता भी नहीं चलता कि हमारे सिर पर कोई वस्तु रखी है। सब की स्थिति के कारण भी आप ही हैं।

प्रलय काल में जब सब वस्तुओं का संहार होने लगता है, तब संहार होते होते केवल आप ही शेष रह जाते हैं, आप का कभी संहार नहीं होता, इसीलिये आप को शेषनारायण कहते हैं। आप एकमात्र, केवल, ब्रह्म तथा अद्वय हैं। आपके पादपद्मों में प्रणाम है।

भगवन्! संसार को आप ही सम्हाले रहते हैं, आप ही इसकी स्थिति बनाये रहते हैं, आप ही चराचर विश्व का पालन करते हैं। आप त्रिगुणातीत हैं, शुद्ध सत्व में सर्वदा निवास करते हैं। इस समय सब लोग आप को क्रोध में देखते हैं। समझते हैं, कि आप क्रोध में भर के हस्तिनापुर को उलटना चाहते हैं, किन्तु आप में क्रोध का लेश भी नहीं। आपका क्रोध कुबुद्धियों को शिक्षा देने के ही निमित्त होता है, उनके ऊपर अपार अनुग्रह करने के लिये ही आप क्रोध का अभिनय करते हैं। संसारी लोग या तो किसी से द्वेष होने के कारण क्रोध करते हैं या मद मत्सर में भर कर क्रोध करते हैं। आपमें न मद मत्सर है और द्वेष तो होने का ही नहीं। क्योंकि द्वेष दूसरों से होता है। आपके लिये कोई भी दूसरा नहीं है। सभी अपने ही हैं। सभी आपके आश्रय में हैं।

प्रभो! जितने भी ये प्राण हैं, चर अचर जीव हैं, सब की अन्तरात्मा आप ही हैं। विश्व में जितनी भी सूक्ष्म स्थूल तथा कारण शक्तियाँ हैं, उन सब शक्तियों को एकमात्र आप ही धारण करते हैं। समस्त शक्तियों के आश्रय आप सर्वशक्तिमान ही हैं। संसार की जितनी भी वस्तुयें हैं सभी व्यय शील हैं।

सभी का अन्त होता है, एकमात्र आप ही अविनाशी तथा अव्यय हैं। आप ही इस सम्पूर्ण विश्व के कर्ता हैं आपके द्वारा ही यह विश्व प्रपंच संचालित हो रहा है। आपके चरणों की हमशरण हैं। प्रभो! हमारे अपराधों की ओर ध्यान न दें, हे शरणागत वत्सल! हम आप के शरणागत हैं। हमारी रक्षा करो, रक्षा करो। हमें इस अपार संकट सागर से बचाओ। हमारा उद्धार करो। आप के पुनीत पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। आपके चरणारविन्दों में बारम्बार नमस्कार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कौरवों की इस प्रकार की विनीत प्रार्थना सुनकर बलदेवजी प्रसन्न हुए। अपने पैरों पर पड़े साम्ब और लक्ष्मणा को उन्होंने उठाया, आशीर्वाद दिया, प्यार किया। फिर सब से मिल भेंटकर दहेज और वर वधू को लेकर द्वारका पुरी लौट गये। यह मैंने आप से कौरवों की श्री बलदेव स्तुति कही। अब जैसे जरासन्ध के बन्दी राजाओं ने भगवान् के समीप सन्देश-स्तुति भेजी है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

भूमंडल धरि फननि लगै सरसों सम तुमकूँ।
करता भरता विश्व अभय बल देओ हमकूँ॥
शिक्षा हित तव कोप द्वेष मत्सर नहिं स्वामी।
तुम ही शेष महेश अखिल पति अन्तरजामी॥
भूतात्मन्! अव्यय! अखिल! सर्वशक्तिधर! जगत्पति!
शरनागत पालक प्रभो! हम सब की तुम एक गति॥

पद

राम ! बलराम ! चरन सिर नावैं ।
हौ आधार जगत के तुमही, मूरख जन भरमावैं ॥१॥
जब इच्छा क्रीड़ा की होवै, तब ही विश्व बनावैं ।
ज्ञानी सकल खिलौना जगकूँ, तुमरो नाथ बतावैं ॥२॥
सरसों सम भूमंडल धारौ, सब जग नाच नचावैं ।
प्रलय काल में लीन होहिं सब, आप शेष रहि जावैं ॥३॥
तुमरो क्रोध सीख हित स्वामी, जाते जन तरि जावैं ।
बार बार पद पदुमनि बन्दैं, प्रभु अब पार लगावैं ॥४॥

कौरवगणकृत श्रीबलदेव स्तुति

राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदाम ते ।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् ॥१॥
स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः ।
लोकान् क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि ॥२॥
त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त लीलया,
भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्धन् ।
अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः,
शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥३॥
कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।
बिभ्रतो भगवन् सत्त्वं स्थितिपालनतत्परः ॥४॥
नमस्ते सर्वभूतात्मन् सर्वशक्तिधराव्यय ।
विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥५॥

जरासन्ध के वन्दी भूपतियों की सन्देश-स्तुति

(१०६)

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्न भयभञ्जन ।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥

(श्रीभा० १० स्क० ७० अ० २५ श्लो०)

छप्पय

दूत हाथ सन्देश कृष्ण ढिँग नृपनि पठायौ ।
जरासन्ध दुख दयो देव ढिँग ताहि सुनायौ ॥
करि बिनती नृप कहें—कृष्ण भय भंजन जगपति ।
भूलि तुमहिँ यह जीव सहै दुख पग पग पै अति ।
दुष्ट दमन भगवन् सदा; सत पुरुषनि रक्षा करहु ।
मायाँ मोहित महिप हम, नाथ ! बिपति हमरी हरहु ॥

* जरासन्ध के बन्दी गृह में पड़े राजा अपने उद्धार के लिये सन्देश भेजते हुए स्तुति पूर्वक विनय करते हैं—"हे श्री कृष्ण ! हे अप्रमेयात्मन् ! हे प्रपन्न भय भंजन ! हम भेद बुद्धि वाले संसार के भय से भयभीत हुए आपकी शरण में आये हैं । आप हमारी रक्षा करें ।

भगवान् के सम्मुख स्वयं मन से प्रार्थना करो, वचन द्वारा करो, किसी के द्वारा करवाओ कैसे भी क्यों न करो, वह कभी निष्फल नहीं जाती। इसलिये कि भगवान् सर्वसमर्थ हैं। घट घट व्यापी हैं, सब के मन की जानने वाले हैं, उन से कोई बात छिपी तो है नहीं, वे शरणागत की रक्षा अवश्य करते हैं। जीव अपने दुःखों को मिटाने के लिये इन संसारी लोगों के सामने दीनता दिखाता है, गिड़ गिड़ाता है, जो स्वयं ही दुखी है, भला जिसे स्वयं ही सर्प ने काट लिया है, वह दूसरों की सर्प से कैसे रक्षा कर सकता है। यदि संसारी अल्पज्ञ प्राणियों की आशा छोड़ कर भगवान् के सामने रोवे, उनके समीप किसी सत् पुरुष द्वारा संदेश पठावे, तो वह संसार रूपी कारावास से सदा के लिये विमुक्त बन सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिन मंडलीक राजा ने जरासन्ध का अधीनता स्वीकार नहीं की थी, उन सब को उसने पकड़ पकड़ कर गिरिव्रज के कारावास में बन्द कर दिया था। वे नृपतिगण कारावास में बड़े कष्ट से समय बिता कर भगवान् का ध्यान करते हुये काल यापन कर रहे थे। जब उन्होंने भगवान् की दयालुता कृपालुता भक्त वत्सलता की बात सुनी तो उन्होंने एक स्तुतिमय आवेदन पत्र भेजा। उस प्रार्थना पत्र को ले कर एक चतुर दूत गया। पत्र में उन राजा लोगों ने स्तुति करते हुये निवेदन किया था।

भगवान् की स्तुति करते हुये नृपति गण सन्देश द्वारा भगवान् से प्रार्थना करते हैं—"हे कृष्ण ! हे सर्वाकर्षक कृष्ण ! आपकी महिमा की कोई सीमा नहीं। वह निस्सीम है। आप अप्रमेयात्मा हैं। जो आपकी शरण में जाते हैं आप उनके भय को नाश कर देते हैं, आप शरणागत भयभंजन हैं। प्रभो !

आपकी अभेद बुद्धि है। हम लोग भेद बुद्धिवाले हैं। इस संसार के भय से भयभीत होकर आर्तभाव से आपकी शरण में आये हैं।

प्रभो ! जब यह जीव गर्भ में रहता है, तो आपकी भाँति भाँति से स्तुति करता है, तब आप उसे अपनी पूजा का उपदेश देते हैं। जीव के लिये यही परम कल्याणकारी कर्म है, किन्तु प्रभो ! जब यह प्राणी संसार में आता है, इसे बाहर की वायु लगती है, तो अपनी सब प्रतिज्ञाओं को भूल जाता है। निरन्तर काम्य कर्मों में ही निरत बना रहता है। देह को ही आत्मा मानने लगता है, जो कुछ भी करता है देह के उद्देश्य से। सोचता है मेरी देह ऐसी ही सदा बनी रहे। इसमें रोग न हो, वृद्धावस्था न आवे, किसी प्रकार का दुख न हो, मृत्यु न होने पावे। मृत्यु से बचने के भाँति भाँति के उपाय करता है। वह आने वाली ध्रुव मृत्यु को भूल कर ही भाँति भाँति के पाप करता है असावधान रहने से हमें कभी मरना भी है, इस बात का उसे विस्मरण हो जाता है, किन्तु आपतो सदा सर्वदा सावधान ही बने रहते हैं। आप समस्त बलवानों से भी अत्यधिक बलवान् हैं। आप काल रूप से आते हैं और उसकी जीने की आशा को निराशा के रूप में परिणित कर देते हैं। उस विमूढ़ बने व्यक्ति की समस्त आशाओं पर पानी फेर देते हैं। ऐसे काल रूप आप परम पुरुष के पाद पद्मों में हमारा प्रणाम है।

प्रभो ! हम आपको भूल जाते हैं, किन्तु आप तो हमें नहीं

भूलते। आप जगदीश्वर हैं, जगन्नाथ हैं। आपका अवतार असत् पुरुषों के दमन करने के निमित्त तथा सत् पुरुषों के संरक्षण के निमित्त ही हुआ है। आप इस लोक में अपनी कलाओं के सहित अवतीर्ण हुए हैं। इस समय आपके शरणागतों को, आपके अनुगत भक्तों को किसी प्रकार का कष्ट न होना चाहिये और जो दुष्ट हैं, बलवान् हैं, अपने ऐश्वर्य के अभिमान में भरकर आपके आश्रितों पर अत्याचार करते हैं, उनका भी अब ऐसा साहस न होना चाहिये। किन्तु स्वामिन! हम अब देख रहे हैं, सर्वथा इसके विपरीत ही। हम आपके भक्त कारावास में पड़े क्लेश उठा रहे हैं और अन्यायी अत्याचारी जरासन्ध अपनी मनमानी कर रहा है। इसे आप रोकते नहीं। या तो हमारा भाग्य ही ऐसा है, कि आपके सम्मुख ही जरासन्ध हम पर अत्याचार करता रहे, क्या कि शुभ या अशुभ कर्म जो हमने पूर्व जन्मों में किये है उनका फल तो हमें अवश्य भोगना ही पड़ेगा। किन्तु आप के देखते-देखते हम क्लेश उठावें यह आपके अनुरूप नहीं। हम किन कर्मों का यह फल भोग रहे हैं यह हमें ज्ञात नहीं। इससे हम अनभिज्ञ हैं।

हे दीनबन्धो! हम सुख के अभिलाषी हैं, किन्तु हैं फल की इच्छा से कर्म करने वाले। जो वासना युक्त है वह अशान्त है और अशान्त को कभी सुख की प्राप्ति हो नहीं सकती। सुख तो निष्काम पुरुषों को आप ही से अपने ही अन्तःकरण में प्राप्त है। उसकी सिद्धि के लिये अन्य की अपेक्षा नहीं, क्योंकि

यह तो स्वतः ही सिद्ध है। हम लोग आपकी माया से दीन हीन बन गये हैं, काम्य कर्मों के जंजाल में फँस गये हैं, इसीसे शाश्वत सुख को प्राप्त न करके हम कारावास के महान कष्टों को उठा रहे हैं। हमारी आशा अभी लगी है, कि हमें राज्य सुख अभी फिर मिल जायगा। फिर हम अपने बाल बच्चों से अपनी पत्नियों से मिलेंगे, उनके साथ सुखोपभोग करेंगे। यदि वास्तव में देखा जाय, तो यह राज्य सुख क्या है, अपने को परतन्त्र बनाना है प्रजा की, मंत्रिमंडल की, अधिकारियों की इच्छा के अधीन होकर चलना है। यह भी नहीं कि यह राज्य सुख शाश्वत हो, यह तो स्वप्न के समान अनित्य और क्षण भंगुर है। सभी को राज्य सुख मिलता भी नहीं। यह भी प्रारब्ध के अधीन है।

स्वामिन्! जिस शरीर की सावधानी के लिये हम इतने प्रयत्न शील रहते हैं वह शरीर भी निरन्तर भय का स्थान है। पग पग पर शरीर में भय ही बना रहता है। यह तो शव के समान है। तिस पर भी हमने अपनी स्त्रियों का, सगे सम्बन्धियों का भार अपने सिर पर लाद रखा है। उनके लिये हम स्वयं चिंतित बने रहते हैं।

प्रभो! यह जरासन्ध ही हमारा कर्म बन्धन है। इसी ने हमको कष्ट में डाल रखा है। स्वामिन्! यह साधारण नहीं है, इस अकेले में ही दश सहस्र हाथियों का बल है। हम भी अपने को शूरवीर नरसिंह लगाते थे, किन्तु इस प्रबल

पराक्रमी के सम्मुख हमारा बल-पौरुष कुछ भी नहीं चला। इस अकेले ने ही हम सबको इस प्रकार अपने वश में कर रखा है जिस प्रकार बहुत सी भेड़ बकरियों को अकेला सिंह अपने वश में कर रखता है। हे शरणागत वत्सल विभो! आप सदा अपनी शरण में आने वालों के दुःख को दूर करते हैं। हमें इस कारावास से मुक्त कीजिये

हे उदात्त चक्र! हे किसी से भी न जीते जाने वाले प्रभो! आपने ही इस दुष्ट के साहस को इतना बढ़ा दिया है। आपने ही इसके अभिमान को बढ़ाने में प्रोत्साहन दिया है। इसने आठारह बार आप की मथुरा पुरी पर चढ़ाई की और आपसे घन घोर युद्ध किया। आपने यद्यपि सत्रह बार इसका मान मर्दन किया, युद्ध में इसे परास्त किया, किन्तु इसे मारा नहीं। इसने भी साहस नहीं छोड़ा। जब अठारहवीं बार इसने पुनः चढ़ाई की और आपने मनुष्यलीला करने के लिये इसे विजयी बना दिया, आप रण को छोड़ कर अपनी पुरी को परित्याग करके द्वारका को भाग गये, तबसे इसके अभिमान की सीमा ही नहीं रही। यह अपने को सबसे श्रेष्ठ शूरवीर दिग्विजयी और चक्रवर्ती समझने लगा। हमको अपनी प्रजा समझ कर, अत्यंत गर्वित होकर, हमारे ऊपर बड़े बड़े अत्याचार करने, लगा हमें मनमाना दंड देने लगा।

भगवन्! हम तो अब सभी प्रकार साधन हीन हैं। सभी प्रकार के भोगों से वंचित हैं, स्वयं किसी प्रकार का पुरुषार्थ

करने में भी समर्थ नहीं है। हमने अपनी विनती आपके चरणों तक पहुँचा दी है, अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें। हम शरणागतों को उद्धार के योग्य समझते हों तो अविलम्ब आकर हमारा उद्धार करें, यदि हमारा कल्याण इसी में समझते हों कि हम यहीं इस दुष्ट के कारावास में घुल घुल कर मरें, तब तो हम यहाँ आपका स्मरण करते हुए पड़े ही हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वन्दी राजाओं के इस सन्देश को सुन कर भगवान् उद्धवादि अपने मंत्रियों की सम्मति से पृथक धर्मराज के राज सूय यज्ञ में गये और वहाँ से अर्जुन भीम को साथ लेकर जरासन्ध की पुरी में पहुँचे। वहाँ भीम द्वारा जरासन्ध को मरवा कर सभी वन्दी राजाओं का उद्धार किया। यह तो मैंने वन्दी राजाओं की सन्देश स्तुति-कही, अब जरासन्ध के कारावास से छूटने पर राजाओं ने जैसे भगवान की स्तुति की, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

पावैं सुख निष्काम हिये में सो हम त्याग्यो।
सुत दारा धन राज विषय सुख ई भल लाग्यो॥
शवसम मलिन शरीर समुझि सब कछु दुख पावैं।
पराधीन हरि परै आपु ई आइ छुड़ावैं॥
जाको सत्रह बार प्रभु, तुम ने मद मरदन करयो।
समुझै जीते कृष्ण हौं, अब जाको अघ घट भरयो॥

पद

नाथ ! हम बन्दी अति दुख पावैं।
शरनागत भय भजन स्वामी, अपनी बिथा सुनावैं ॥१॥
तव पूजन तैं बिमुख भये हम, बार बार पछितावैं।
भजन बिना सब दुख अति पावैं, पुनि पुनि आवैं जावैं ॥२॥
तव चरननि में प्रानी आवैं, सब संकट बिसरावैं।
भक्ति हीन ह्वै भावीवश वा हम यदुपति बिललावैं ॥३॥
प्रभु चरननि में आरत ह्वै कैं, अपनी दशा सुनावैं।
अब इच्छा है नाथ तिहारी, आवैं या बिसरावैं ॥४॥

वन्दी नृप स्तुति

कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जन ।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥१॥
लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः,
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां,
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥२॥
लोके भवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः,
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।
कश्चित् त्वदीयमतियाति निदेशमीश,
किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥३॥
स्वप्नायितं नृप सुखं परतन्त्रमीश,
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं,
क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥४॥
तन्नो भवान् प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो,

वद्धान् वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको,
विभ्रद् रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥५॥
यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र,
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो,
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद् विधेहि ॥६॥

जरासन्ध के बन्दी गृह से छूटे राजाओं की श्रीकृष्ण स्तुति

(११०)

नमस्ते देव देवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।
प्रपन्नान्पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः ॥

(श्रीभा० १० स्क० ७३ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

जरासन्ध की कैद मुक्त जब भये नृपतिगन ।
इस्तुति सब मिलि करें कृष्ण अव्यय आनँदघन ॥
शरनागत प्रतिपाल शरन तुमरी हम लीन्हीं ।
राज, कोप, धन रहित करे शिक्षा शुभ दीन्हीं ॥
नाथ ! भये जब श्रीरहित, विनय भक्ति तबई जगी ।
गर्व हीन ह्वै गये प्रभु, शरनागति अच्छी लगी ॥

---

* जरासन्ध के बन्दी गृह से छूटे भूपतिगण भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे देव देवेश्वर ! हे प्रपन्न पारिजात ! हे अव्यय ! आपको नमस्कार है। हम लोग घोर संसृति से निर्विण्ण हो चुके हैं। हे कृष्ण ! हम प्रपन्नों की आप रक्षा करें।

मानव स्वतः तो सरल प्रानी है। बालक को देखिये न अभिमान न अहंकार, छोटे बड़े का भेद भाव नहीं। मान अपमान का ध्यान नहीं। किसी से वैर, द्वेष नहीं। जिसने प्रेम से बुलाया उसी के पास चले गये। जब उसका वर्ण से, आश्रमसे, पद प्रतिष्ठा से, सगे सम्बन्धी परिवार से, विद्या, धन, राज, ऐश्वर्य तथा संसार में प्रतिष्ठित समझी जाने वाली अन्य वस्तु से सम्बन्ध हो जाता है, तब उनके संसर्ग से उसका अभिमान बढ़ जाता है। वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपने को अधिक सम्मानित प्रतिष्ठित तथा पूजा योग्य समझता है। वह अभिमान में भरकर दूसरे लोगों का अपमान करता है। वह धन विद्या या ऐश्वर्य के मद में ऐसा मदान्ध बन जाता है, कि उसे कुछ सूझता ही नहीं। इस प्रकार धन के मद में अन्धे हुए लोगों के लिये दरिद्रता ही सबसे बड़ा सुखकर हितकर अंजन है। जब वह श्रीहीन हो जाता है,दरिद्र हो जाता है, तब उसकी बुद्धि ठिकाने आती है। पहिले धन के मद में भरकर जिन निर्धनों का उसने अपमान किया था, जब उन्हीं की श्रेणी में वह जाता है, दूसरे धनी उसका भी अपमान करते हैं, तब उसे भगवान् याद आते हैं। अतः ऐश्वर्य हीन हो जाना भी यह भगवान् की परम अनुकम्पा है। भगवान् जिसे अपनाना चाहते हैं, उसके धन को चुपके से हरण कर लेते हैं। यह सब वे उसके भले के लिये ही करते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् ने भीम द्वारा जरासंध को जब मरवा दिया, तब उसके यहाँ जितने राजा बन्दी थे, वे सब भगवान् की आज्ञा से बन्धन मुक्त किये गये। उन्होंने भगवान् के प्रति अत्यंत प्रेम प्रकट किया। अत्यधिक कृतज्ञता जताते हुए वे भगवान् की स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् की स्तुति करते हुए नृपति गण कह रहे हैं—"हे देवेश्वरों के भी ईश्वर ! हे शरणागत वत्सल श्री कृष्ण ! आप अपनी शरण में आने वालों के समस्त भयों को भगा देने वाले हैं। आप अनादि तथा अविनाशी हैं। आपके पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। स्वामिन् यह संसार असार है, अत्यन्त ही घोर है, इसमें कष्ट ही कष्ट है, जिसे हम सुख समझे बैठे थे, वह दुःख निकला। इन्हीं सब कारणों से हम इस जगत से, इस प्रपंच से उदासीन हो गये हैं, इसीलिये निर्विण्ण होकर आपकी शरण मे आये हैं। आप हमें अपनावें, हमारा पालन करें।

प्रभो ! बहुत से लोग कहते हैं—"अमुक ने हमें दुःख दिया। अमुक के कारण हमें ये यातनायें सहन करनी पड़ीं। वे लोग भूल जाते हैं कि कोई भी किसी को सुख दुःख नहीं दे सकता। शिव स्वरूप आप के सभी कार्य शिव ही होते हैं। भला कल्याणकारी के कार्य अकल्याणप्रद कैसे हो सकते हैं ? अतः हे मधुसूदन ! हम इस जरासन्ध को भी किसी प्रकार का दोष नहीं देते, कि इसने हमें कारावास में डालकर चिरकाल तक यातनायें दीं। इसने हमारा राज्य छुड़ा दिया। हम लोग अब अनुभव करने लगे हैं, कि इसके द्वारा जो हमारा राज्य अपहरण किया गया, हम राज्यच्युत किये गये, इसमें भी आपकी असीम कृपा भरी हुई थी। यह भी आप की अनुपम अनुग्रह ही थी।

स्वामिन् ! संसार में मद होने के अनेक कारण हैं, उनमें राज्य तथा ऐश्वर्य ये दो अत्यंत ही प्रबल कारण हैं। इनके मदसे मदमत्त हुआ मानव अपने कल्याण के कार्य नहीं कर सकता। वह तो आपकी मोहिनी माया के मद में मदमत्त होकर नित्य को अनित्य और चंचल को निश्चल मान बैठता है, उसकी बुद्धि विपरीत बन

जाती है, वह संसारी विषयों को ही सर्वसुखों का साधन समझने लगता है। जैसे बालू में दूर से मृग मरीचिका जल दिखाई देता है और प्यासा मृग उसी को जल समझकर दौड़ता रहता है, उसी प्रकार आपकी विकारमयी माया को ही-विषयों को ही सुख समझकर वह उनकी ओर दौड़ता है और अपने जीवन से हाथ धो बैठता है।

हे देवाधिदेव ! पहिले हमें अत्यधिक अभिमान था. कि हम राजा हैं, नरपति हैं, पृथ्वीश हैं। इस मद में भर कर हम मदान्ध हो गये थे, परस्पर में एक दूसरे से ईर्ष्या रखते थे। अपने प्रतिद्वन्दी को जीतने के निमित्त चतुरंगिनी सेना सजाकर सदा युद्ध ही किया करते थे। हम काल रूप आप को भुलाकर अपने को अजर अमर मान बैठे थ। आप सदा सावधानी से हमारे सम्मुख रहते हैं, इसका हमें भान ही नहीं होता था, निर्दयता पूर्वक सैनिकों का संहार करते और कराते। इस प्रकार अपनी ही प्रजा का विनाश सदा करते रहते। निर्दयता पूर्वक प्राणियों के प्राणों का अपहरण करते रहते।

प्रभो ! आप अनन्तवीर्य हैं, बलियों से भी बली हैं, आपकी गति अप्रतिहत है, आप दुर्निवार हैं। काल आपका ही स्वरूप है। आप किसी का शील संकोच नहीं करते। अपने नियम से सदा वर्तते रहते हैं। इस समय काल रूप आप श्री कृष्ण की गंभीर गति से हम राज्य हीन, धन हीन तथा श्री हीन हो गये हैं। अब हमारा समस्त गर्व खर्व हो गया। हमारा जो राजापने का अभिमान था, वह चकनाचूर हो गया, अब हमें आपके पाद पद्मों के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय ही दिखायी नहीं देता। अतः अब हम निरभिमान वगर्व रहित होकर आपके पादारविन्दों का स्मरण करते हैं।

प्रभो ! यह मानव इसलोक में हमें शरीर सुख मिले और मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति हो इसी के लिये सतत प्रयत्न करता रहता है। विचार पूर्वक देखा जाय, तो यह शरीर है क्या ? यह स्थायी रहने वाला नहीं। क्षण क्षण में क्षीण होने वाला है। मलों का आलय है। रोगों का घर है। रोगों की क्रीड़ा भूमि है, मनोरञ्जन का स्थान है। कितने रोग शोक इसमें भरे हैं इसकी गणना नहीं। इसी अनित्य तथा विकारी शरीर द्वारा राज्य-सुखों का उपभोग किया जाता है, वे सुख भी सत्य नहीं, यथार्थ सुख भी नहीं। मृग तृष्णा के समान देखने में लुभावने तथा भ्रम पैदा करने वाले हैं। इसका हमें अब ज्ञान हो गया। इससे अब हमें इन विषयभोगों की इच्छा नहीं। रही स्वर्ग सुख की बात सो वह भी श्रुत मधुर बातें हैं। मरने पर यह मिलेगा वह मिलेगा, ऐसे स्वर्गीय सुख प्राप्त होंगे ये बातें सुनने में ही अच्छी लगती हैं, वास्तव में इनमें भी कोई तत्व नहीं। ये भी नश्वर तथा क्षण भंगुर हैं, अतः इनकी भी हमें अब इच्छा नहीं रही।

स्वामिन् ! अब तो हमें अपने चरणों की शरण में लेलीजिये। हम यह नहीं कहते कि हमारा अब आवागमन छूट जाय, हम जन्ममरण के चक्र से विमुक्त बन जायें। यदि कर्मवश हमें विविध योनि में भटकना पड़े तो भले ही भटकें, हमें अनेक बार जन्म लेना पड़े तो भले ही जन्म लें, किन्तु जिस जिस योनि में जन्म लें, कर्मवश जिस शरीर से उत्पन्न हों, वहाँ आपके चरणारविंदों की स्मृति बनी रहे, यही हमारी आपके सम्मुख भीख है। यही हमारी आपके पादपद्मों में विनीत प्रार्थना है।

प्रभो ! आप सर्वाकर्षक हैं, प्राणीमात्र आपकी ओर आकर्षित होते हैं। अतः आपको नमस्कार है। आप महाभाग वसुदेवजी के

पुत्र हैं । सर्वत्र रमते हैं, आपकी वासना सर्वत्र व्याप्त है ऐसे वासुदेव स्वरूप आपके पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। आप समस्त पापों को हरण करने वाले हैं, ऐसे हरी भगवान् को हम वारम्वार अभिवादन करते हैं । आप परमात्मा हैं, परमपुरुष परमेश्वर हैं, आपको वारम्वार नमस्कार है। आप अपनी शरण में आने वालों के समस्त दुःखों को दूर करने वाले हैं ऐसे प्रणत क्लेश नाशक प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम है। आप इन्द्रियों के गौओं के, पृथिवी के तथा समस्त विश्व ब्रह्मांड के पालनकर्ता हैं ऐसे गोविन्द को वारम्वार नमस्कार है । गोविन्दाय नमो नमः, गोविन्दाय नमो नमः, गोविन्दाय नमो नमः ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार कारागृह से विमुक्त हुए राजाओं ने अत्यंत आर्त भाव से भगवान् की स्तुति की भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया और सहदेव से उनकी पूजा करके उन्हें धन रत्न रथादि वाहन देकर अपने अपने राज्यों को विदा कर दिया। यह मैंने जरासन्ध के वन्दीगृह से छूटे राजाओं की स्तुति कही, अब जैसे सुदामा जी ने भगवान् की स्तुति की उसे मैं आगे कहूँगा ।

छप्पय

नहीं भोग अभिलाश न अब जग के सुख चायें ।
नहीं पुन्य फल मिले स्वरग में सुर बनि जायें ॥
जा जा जनमें जोनि भूलि पद पदुम न जावें ।
सेवक किंकर जानि नाथ हम कूँ न भुलावें ॥
वासुदेव श्रीकृष्ण हरि, दुख भंजन तव काम है ।
प्रभु पद पदुमनि में सतत, वारम्वार प्रनाम है ॥

पद

कृपा करि हम धनहीन बनाये ।
धन मद में मदमाते ह्वै कें, प्रभु पद पदुम भुलाये ॥१॥
राजा हैं हम शूर वीर वर, अतिशय अज इतराये ।
लड़ैं परसपर काटैं मारैं, अगनित जन मरवाये ॥२॥
अपने सरिस न समझैं औरनि, बहुबन्दी बनवाये ।
आजु स्वयंबन्दी बनि रोवैं, सुरु सबरे बिसराये ॥३॥
अब न राज, धन इच्छा यदुवर, विषय भोग नहिं भाये ।
प्रभु चरननि की शरन गही अब, बार बार सिर नाये ॥४॥

विमुक्त नृप स्तुति

राजान ऊचुः

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।

प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृते ॥१॥

नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन ।

अनुग्रहो यद् भवतोराज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥२॥

राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।

त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः ॥३॥

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।

एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥४॥

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो,

जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।

घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिघृणाः प्रभो,

मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः ॥५॥

त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा,

दुरन्तवीर्येण विचालिताःश्रियः ।

कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया,
विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ॥६॥
अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं,
देहेन शश्वत् पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो,
क्रियाफलं प्रेत्य च कर्मरोचनम् ॥७॥
तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥८॥
कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥९॥

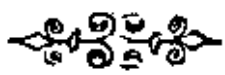

श्री सुदामा कृत श्री कृष्ण स्तुति

(१११)

नूनं वतैतन्मम दुर्भगस्य
शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो—
नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥ ❀

(श्री भा० १० स्क० ८१ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

मिटी सुदामा विपति अतुल सम्पत्ती आई।
जामें हरि की कृपा विप्रकूँ दई दिखाई ॥
सोचें—"हो अति भाग्यहीन धनहीन दरिद्री।
दया दृष्टि प्रभु करी, सहज सब मिलीं समृद्धी ॥
नीच कंगला माँगिवे, हौं यदुनन्दन घर गयो।
नहीं दयो प्रत्यक्ष प्रभु, चुपके धन घर भरि दयो ॥

❀ भगवान की कृपा का स्मरण करते हुए सुदामा जी कह रहे हैं—"यह निश्चित बात है कि यदूत्तम भगवान् श्री कृष्ण के कृपा कटाक्ष के अतिरिक्त मेरी महाविभूति के उत्कर्ष का अन्य कोई कारण नहीं है। क्योंकि मैं तो सदा का दरिद्री तथा भाग्यहीन ही था।

याचक को जता कर, सबको दिखाकर, उसके ऊपर कृतज्ञता का भार लाद कर यदि कोई दाता माँगने पर याचक को कुछ प्रत्यक्ष में दे देता है, तो वह उत्तम दाता कभी नहीं कहा सकता। वह तो कीर्ति का व्यापारी तथा दाता कहलाने का लोभी है। उत्तमदाता तो वह है जो याचक के मन की बात जान कर—उसके वाणी से बिना कहे चुपके से बिना दिखावे के उसके यहाँ अप्रत्यक्ष में पहुँचा देता है। वह याचक को अपने किसी व्यहार से लज्जित नहीं करता।

एक दाता थे, उनके घर में नौ द्वार थे। वे सभी द्वारों पर जाकर भिक्षा दिया करते थे। एक दिन साक्षात् भगवान् भिखारी का वेष रख कर आये। पहिले द्वार पर दाता की बड़ी प्रशंसा की भिक्षा ली, फिर दूसरे पर पहुँच गये। नौ द्वारों पर इसी प्रकार गये। उसने उनकी ओर दृष्टि उठा कर देखा भी नहीं। नेत्र नीचे करके दे देते थे। नवें द्वार पर भिक्षुक बने भगवान् ने कहा—

नऊ दुआरे फिरि गये, कहे न कड़वे बैंन।
मैं ताइ पूछूँ हे सखे, कैसे नीचे नैंन॥

मैं तुम्हारे नौ द्वार पर माँगने गया। तुमने बिना कुछ कहे सब द्वारों पर दिया। कभी यह भी नहीं कहा कि आप तो पहिले ले गये हैं। अस्तु, यह तो आपकी उदारता है, किन्तु एक बात मेरी बुद्धि में नहीं आ रही है, कि आप इतने लज्जित होकर क्यों देते हैं। किसी से आखें क्यों नहीं मिलाते, सिर नीचा क्यों किये रहते हैं? इस पर उसने कहा—

देने वाला और है, देता है दिन रैंन।
लोग भरम मेरो करैं, जातें नीचे नैंन॥

भगवान् जिसे देते हैं गुप्त रूप से देते हैं। जो गुप्त रूप से

प्राप्त धन को भगवान् का दिया हुआ समझ कर उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता है, वही सच्चा भगवत् भक्त है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सुदामा जी जब भगवान् के यहाँ द्वारकापुरी में अपनी स्त्री के आग्रह से गये, तो भगवान् ने प्रत्यक्ष में कुछ भी नहीं दिया, किन्तु चुपके से उन्हें राजाओं का सा ऐश्वर्य प्रदान कर दिया। इसपर भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए सुदामा जी कह रहे हैं—"अहा ! भगवान् कितने दयालु हैं, कितने भक्त वत्सल हैं। उन्होंने बिना माँगे ही मुझे इतना अपार ऐश्वर्य दे दिया। यह मैंने अपने पुरुषार्थ से थोड़े ही प्राप्त किया है। भगवान् ने केवल मुझे देख भर दिया था। उनकी कृपा मय दृष्टि का ही यह परिणाम है कि आज मुझे अतुल सम्पत्ति प्राप्त हो गई। यदि वे मुझे प्रत्यक्ष देते तो मैं लज्जा से सिर नीचा कर लेता, मेरी दृष्टि ऊँची उठती ही नहीं। मैं अपने को उनके सम्मुख भिक्षुक अनुभव करता। इसी लज्जा को बचाने को, अपना दातापन न दिखाने को उन्होंने चुपके से यह ऐश्वर्य मेरे यहाँ उपस्थित करा दिया। जैसे किसान घर में सोता रहता है, इन्द्रदेव उसके परोक्ष में जाकर उसके खेत को भर आते हैं। भगवान् तो भक्त को सब कुछ दे डालते हैं।

वे इतने उदार हैं, कृतज्ञ हैं, कि उनका कोई तनिक भी उपकार करदे उसे ही वे बहुत मानते हैं और स्वयं वे चाहे जितना देदें उसे भी अत्यंत ही अल्प समझते हैं, यही नहीं उन्हें देने में भी लज्जा लगती है, स्वयं देते भी नहीं किसी के द्वारा दिलवाते हैं। मैं उन त्रिलोकीनाथ को क्या देने योग्य हूँ, मेरे पास देने को रखा ही क्या था। इधर उधर से जुटाकर—उन्हीं के कृपा प्रसाद से प्राप्त करके—उन्हीं के द्वारा दिये हुए मुट्ठी भर चिउरा मैंने डरते डरते उन्हें भेट किये थे, उनको ही उन्होंने बहुत

माना वे कृतज्ञता के भार से दब से गये। कितने उल्लास से, कितने प्रेम से, कितनी उत्सुकता प्रकट करते हुए उन्होंने उन चावल की तुच्छ किनकी को ग्रहण किया।

मेरी उन सर्वान्तर्यामी प्रभु के पाद पद्मों में यही बारम्बार प्रार्थना है, कि मैं जब जब जन्म लूँ, तब तब इसी प्रकार दीन हीन निर्धन तथा दरिद्री बनूँ, जिससे वे दया के सागर सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी मेरे प्रभु मुझे अपनावें। मेरे प्रति सौहार्द प्रकट करें। मुझे अपना तुच्छ सखा कह कर पुकारें। मुझे वे अपना मित्र कहें और मैं हृदय से सदा अपने को उनका दास मानता रहूँ। मुझे जन्म जन्मान्तरों में उनकी दासता प्राप्त होती रहे। उन समस्त गुणों के एकमात्र आश्रय सर्वोच्च भावना वाले श्री कृष्ण के पाद पद्मों मे मेरा अनुदिन अनुराग बढ़ता रहे। मुझे सदा उनके अनुगत शरणागत प्रपन्न भक्तों का सत्सङ्ग मिलता रहे।

मेरे स्वामी तो सर्वज्ञ हैं, परम विचारवान हैं। वे पात्र देख कर ऐश्वर्य सम्पत्ति देते हैं। या तो वे पतनोन्मुखों के मदको बढ़ाने को सम्पत्ति देते हैं, या परिपक्व विचार वाले अपने भक्तों को देते हैं। जो अपरिपक्व विचार वाले भक्त हैं उन्हें धनियों के सदृश ऐश्वर्य कदापि नहीं देते, क्योंकि उन्हें धन दे दें तो वे धन मद में उन्मत्त होकर अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जायँगे। वे अनर्थ करने लगेंगे। परमार्थ पथ से च्युत हो जायँगे। इसीलिये वे दरिद्रता देकर उनकी रक्षा करते हैं। मेरे स्वामी कल्याण स्वरूप हैं, मंगलमय हैं, शिव स्वरूप हैं, उनके सभी कार्यों में भक्तों का कल्याण छिपा रहता है, वे सदा उनका मंगल ही चाहते हैं। ऐसे अपने परमाराध्य, अत्यन्त कृतज्ञ, दीनवत्सल प्रभु के प्रति मैं किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूँ,

कैसे उनकी स्तुति करूँ ? क्या कह कर उनकी प्रशंसा करूँ ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार सुदामा जी ने भगवान् के प्रति अत्यंत ही आभार प्रदर्शित किया और वे संसारी भोगों का अनासक्त भाव से सेवन करते रहे। यह मैंने सुदामा जी की विनय आप से कही, अब जैसे कुरुक्षेत्र में मुनियों ने भगवान् की स्तुति की, उसको मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

जनम जनम में मिलै मोइ मैत्री हरि दुखहर।
सखा सुहृद निज दास मानि अपनावैं यदुवर॥
सब सद् गुन के धाम श्याम पद नेह बढ़ै नित।
माधव मंजुल मूर्ति मधुर नित गढ़ी रहै चित॥
भक्तभाव भगवान् लखि, कच्चेकूँ धन देहिँ नहिँ।
धनमद में मदमत्त बनि, दास बिगरि जावै न कहिँ॥

पद

कृष्ण सम दाता दूसर नाइँ।
ऐसे परम उदार श्याम तजि, दास अँनत कहँ जाइँ॥१॥
चामर की कछु किनकी दीन्हीं, प्रेम सहित प्रभु पाइँ।
अब तक च्यौं नहिँ प्रियवर आये, बार बार पछिताइँ॥२॥
मागूँ भीख दीन ह्वै यदुवर, पद पदुमन के पाइँ।
जनम जनम में मिलै दासता, प्रभु चरननि लिपटाइँ॥३॥

सुदामाकृत श्रीकृष्ण स्तुति

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य,
शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो,
नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥१॥

नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं,
याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।
पर्जन्यवत्तत् स्वयमीक्षमाणो,
दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥२॥

किंचित्करोत्युर्वपि यत् स्वदत्तं,
सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी ।
मयोपनीतां पृथुकैकमुष्टिं,
प्रत्यग्रहीत् प्रीतियुतो महात्मा ॥३॥

तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री,
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन,
विपज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥४॥

भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो,
राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन् निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥५॥

कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण द्वारा ऋषि मुनियों की स्तुति

(११२)

अहो नृयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम् ।
देवानामपि दुष्प्रापं यदयोगेश्वर दर्शनम् ॥
(श्री भा० १० स्क० ८४ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

ग्रहन समय कुरुक्षेत्र बहुत ऋषि मुनिगन आये ।
करि स्वागत सतकार यादवनि सब बैठाये ॥
कृष्ण विनय बहुकरी मुनिनि की इस्तुति कीन्ही ।
बोले—भये कृतार्थ बड़ाई मुनि अति दीन्ही ॥
योगेश्वर दरसन भये, बड़भागी हम सब भये ।
जल तीरथ सुर-शिला नहिं, साधु दरस समता लहे ॥

❀ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कुरुक्षेत्र में ऋषि मुनियों की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"अहो ! हम देह धारियों को देह धारण करने का पूर्ण फल प्राप्त हो गया । इसलिये कि जिनका दर्शन देवताओं के लिये भी दुर्लभ है, उन योगेश्वरों का हमें दर्शन हो गया ।"

भक्त भगवान की जैसे स्तुति करते हैं, वैसे ही भगवान भी भक्तों की स्तुति करते हैं। भगवान से भी चाहें तो उनसे रहा नहीं जाता; क्यों कि उनकी प्रतिज्ञा है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" जो मेरा जैसे भजन करता है मैं भी उसका उसी प्रकार भजन करता हूँ। आप भगवान पर एक टोकरी फूल चढ़ाओ तो वे तुमपर सैकड़ों टोकरी फूल चढ़वा देंगे। वे अपने भक्तों के इतने कृतज्ञ बन जाते हैं, कि सोचते रहते हैं मैं इसका कौनसा उपकार करूँ। वे भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये कातर बने रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सूर्य ग्रहण पर कुरुक्षेत्र स्नान का बड़ा महात्म्य होता है, इस लिये भगवान श्रीकृष्ण के साथ बहुत से यादवगण कुरुक्षेत्र में आये और वह डेरा तम्बू लगाकर कुछ दिन रह भी गये। वहीं सब की भेंट व्रज के नन्दादि गोपों से भी हुई। उसी समय बहुत से ऋषि मुनि भी वसुदेव जी के डेरे पर आ पहुँचे। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने समस्त यादवों के सहित उन सबका आदर सत्कार किया। विधिवत् पूजा की और फिर हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ऋषि मुनियों की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"महानुभावो! इस संसार में जन्म लेने का फल इतना ही नहीं कि पेट भर अच्छे अच्छे पदार्थों को खाया और शैया पर पड़े सोते रहे। मानव जन्म की सार्थकता तो साधु समागम में है। जिनको संत दरश प्राप्त हो गये, वे धन्य हो गये, कृतार्थ बन गये, वे वास्तव में कृतकृत्य हो गए।

प्रभो! आज हमने देह धारण करने का पूरा पूरा फल प्राप्त कर लिया, जो इतने ऋषि मुनि, संत महात्माओं का एक साथ हमें दर्शन मिल गया। आप सबके दर्शन देवताओं को भी दुर्लभ

हैं। साधारण लोगों की तो बात ही क्या ?- जिनका संसार बन्धन छूटने को ही होता है, उन्हीं को आपके दर्शन आपकी कृपा से ही प्राप्त होते हैं। आपके दर्शन अल्प तपस्या वाले स्वल्प सुकृति को संभव नहीं।

प्रभो ! जो स्वल्प-तपस्या वाले हैं, जो भगवान् को केवल प्रतिमा में ही मानते हैं, आप लोगों को भगवान् का सचल विग्रह नहीं समझते। भगवान् को सीमित स्थान में मानकर सर्व-व्यापक नहीं मानते, जिनको आप के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है, जिन्होंने आपके पाद स्पर्श नहीं किये हैं, जिन्होंने विनम्र बन कर आप से कुशल प्रश्न नहीं किया है, जिन्होंने आप के पाद पद्मों में सर्वाङ्ग से साष्टाङ्ग प्रणाम नहीं किया है, जिन्होंने पाद्य, अर्घ्य आचमनादि से आपकी प्रेमपूर्वक पूजा नहीं की है उनका जीवन व्यर्थ है, ऐसे लोग भाग्यहीन हैं, भाग्यशालियों को ही ऐसे सुयोग प्राप्त हो सकते हैं।

बहुत से लोग नाना तीर्थों में भटकते हैं, यहाँ स्नान कर, यहाँ आचमन कर, यहाँ प्रणाम कर, बहुत से लोग मृत्तिका, पाषाण तथा अन्य धातुओं की बनी मूर्तियों को ही देव बुद्धि से पूजते हैं। केवल उन्हें ही देवता समझते हैं। जलाशयों में तीर्थ नहीं है सो बात भी नहीं वहाँ तीर्थ हैं। पाषाणादि विग्रहों में देव नहीं हैं सो भी बात नहीं। वहाँ भी देवता रहते हैं किन्तु जो तीर्थ और देवता को जलाशय और मूर्ति तक ही सीमित मान कर साधु संतों का सत्कार नहीं करते वे यथार्थ भक्त नहीं। भगवान् के दो विग्रह हैं अचल और सचल। अचल तो तीर्थ मंदिर देवालय प्रतिमा आदि और सचल साधु संत ! महात्मा गण। जो केवल अचल में ही पूज्य बुद्धि रखता है सचल का तिरस्कार करता है वह तो पशु के समान है। अचल से सचल

का महत्व अधिक है। तीर्थादि तो चिरकाल तक सेवन के अनंतर फल देते हैं, किन्तु साधु संत तो केवल दर्शन मात्र से ही कृतार्थ कर देते हैं, इनके दर्शन का तो तत्काल ही फल प्राप्त हो जाता है। यहाँ उधार का सौदा ही नहीं।

बहुत से सूर्यनारायण की उपासना करते हैं, कुछ लोग वैश्वानर अग्निदेव का पूजन करते हैं। कुछ लोग चन्द्रमा, तारागण, पृथिवी, जल, आकाश, वायु या वाणी की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती की उपासना करते हैं, बहुत से लोग मन के अधिष्ठातृ देवी की अराधना करते हैं। ये सब देवतागण भी भेद बुद्धि वाले व्यक्ति को उपासना का पूरा फल नहीं देते। भेद भाव वाले को तो भय की ही प्राप्ति होती है, इसलिये उपासक के पापों का पूर्ण नाश नहीं होता, उस के अज्ञान का अन्त नहीं होता, किन्तु साधु संत ज्ञानी महात्मा की एक मुहूर्त भी सेवा कर लो तो वे समस्त अज्ञान को हर लेते हैं, पूरे पापों का विनाश कर देते हैं।

महात्मागण! हम मानवों में अधिकांश लोग ऐसे ही हैं, जो इस शरीर को, स्त्री पुत्रों को, सीमित तीर्थ और प्रतिमा को ही पूजते हैं, इन्हीं को सब कुछ समझते हैं। यह उनका अज्ञान ही है। सोचा जाय तो यह शरीर जिसमें प्राणी इतनी अधिक ममता रखता है, यह है क्या? यह वात, पित्त और कफ इन त्रिधातुओं का ढाँचा है, प्राणों की गति रुक जाय मिट्टी का पुतला है। वैसे भी शव के समान ही अमंगल है। इसमें जो आत्मबुद्धि रख कर इसी के पालन पोषण में व्यग्र बने रहते हैं वे अज्ञानी हैं। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, परिवार आदि में जिनकी अत्यधिक ममता है, जो इन्हीं की चिन्ता में निमग्न रहते हैं, वे भी मूर्ख ही हैं, क्योंकि ये सब भी अनित्य और क्षण भंगुर

हैं। इसी प्रकार केवल प्रतिमा में ही देवता समझकर पूजन करना भगवान् को सर्व व्यापक न मानकर अन्य सब का तिरस्कार करना, साधु सन्तों की भगवत् बुद्धि से पूजा न करके केवल पार्थिव पूजन में आग्रह करना यह भी अज्ञान का ही चिन्ह है। इसी तरह जलाशयों में ही तीर्थ बुद्धि रखना। साधु सन्तों के शरीर, में उनकी चरण धूलि में, उनके उच्छिष्ट प्रसाद में, उनके चरणोदक में जिनकी तीर्थ बुद्धि नहीं है वे तो गधे के समान हैं। केवल भार वाही हैं, सार ग्राही नहीं। गधे के ऊपर चाहें मिट्टी लाद दो, खाद लाद दो अथवा सुगंधित चंदन लाद दो, सब को वह बोझा ही समझेगा। उसमें विवेक नहीं, विचार नहीं, सारासार ग्रहण करने की क्षमता नहीं। साधु संत उस अलख ईश्वर की प्र [illegible] जो आदर [illegible] देव बुद्धि [illegible] व्यर्थ है।

और जिन्हें भाग्यवश ऐसे साधु सन्तों के दर्शन का कभी सौभाग्य प्राप्त हो गया है, उनका मानव जीवन सफल बन गया है। वे कृतार्थ हो गये हैं। आज इस पुण्य तीर्थ में आप सब के दर्शन हो गये, यथार्थ तीर्थ का फल तो हम लोगों को अब मिला है। [illegible]

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् के मुख से अपनी ऐसी स्तुति सुन कर सभी ऋषि मुनि चकित हो गये, वे हक्के बक्के से होकर भगवान् का मुख देखने लगे, फिर उनमें से जो विशेषज्ञ थे, वे बोले—अरे भाई! भगवान् ऐसी बातें लोक संग्रह के निमित्त कहते हैं, ऐसा आचरण संसारी लोगों को शिक्षा देने के निमित्त करते हैं जिससे दूसरे भी साधुसन्तों का आदर सत्कार करें। यह कहकर सब ऋषि मुनियों ने भी भगवान

की स्तुति की। यह मैंने भगवान् की की हुई ऋषि मुनियों की स्तुति कही, अब बदले में जैसे ऋषि मुनियों ने भगवान् की स्तुति की, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

सोमित जिनि की बुद्धि तपस्या जिनि कम कीन्हीं।
साधु संत में जिननि नहीं भगवत्ता चीन्हीं॥
तिनिकूँ पूजन संत नहीं शुभ अवसर आवै।
संत दरश तत् फल फलैं, तीरथ न दिखावैं॥
समता मेटैं मोहकूँ, भेद बुद्धि बन्धन करै।
जनम जनम के पाप सब, संत दरस छिनमें हरै॥

पद

संतगन भगवत रूप कहावैं।
साधु दरश जिनिने नहिँ पायौ, ते नर पशु कहलावैं॥१॥
संतनि दरशन सुर दुरलभ अति, भाग्यहीन नहिँ पावैं।
मिलै भाग्यवश संत चरन रज, तब सब अघ कटि जावैं॥२॥
दरस, परस, पद पूजन, इस्तुति, जो नहि करत अघावैं।
ते नर धनि धनि अति बड़ भागी, जग में पुनि नहिँ आवैं॥३॥
तीरथ जल, प्रतिमा में पत्थर, भावहि तें फल पावैं।
संत सचल साकार स्वयं हरि, छिन में पाप नसावैं॥४॥
जैं मेरा मे फँसि कें प्रानी, जग में दुःख उठावैं।
खर सूकर कूकर सम ते जन, जनमें फिरि मरि जावैं॥५॥

भगवत्कृत ऋषि मुनि स्तुति

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम् ।
देवानामपि दुष्प्रापं यद् योगेश्वरदर्शनम् ॥१॥

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥२॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥३॥

नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका,
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
तपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं,
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥४॥

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके,
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि,
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥५॥

श्री पं० नरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ, कुलपति गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर हरिद्वार

जब हम काशी में विद्याध्ययनार्थ पहुँचे थे (१९०३) तब हम उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय श्रीहरिहर नाथ शास्त्री (पीछे स्वामी मनीष्यानन्दजी हुए) की सेवा में पहुँचे। उन्होंने हमसे पूछा कि क्या पढ़े हो ? हमने बतलाया कि हम पञ्जाब के 'शास्त्री' हैं। उन्होंने पूछा भागवत भी पढ़े हो, हमने कहा नहीं। तब वे बोले तो क्या पढ़े हो—"विद्यावतां भागवते परीक्षा" 'भागवत पढ़ो।' उन दिनों उनके यहाँ भागवत चलता था। वेद स्तुति का प्रकरण था, लगभग डेढ़ मास उसी प्रकरण की व्याख्या में लग गया। हम आर्य समाजी विचार के थे, इसलिए हमको सब विचित्र ही लगा। पीछे राजनीति में हमको कई बार जेल जाने का मौका मिला और हमारे एक जेल साथी सनातनी साथ भागवत लाये थे। हमने उसके तीन पारायण किये। और हमको भागवत में रुचि हो गई, तब हम इस विचार के बने कि भागवत पुराणादि सर्वथा त्याज्य नहीं हैं—ये भी धार्मिक, नैतिक ऐतिहासिक प्रबोध ग्रन्थ हैं। यही जेल में पढ़ी हुई भागवत प्रभुदत्त जी के भावानुवाद के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है—जेल से बाहर आकर फिर हमने मूल भागवत के दो पारायण किये। हमारे एक बङ्गाली मित्र भागवत के बड़े भक्त थे, उन्हीं के कारण। इसलिये अब हमको भागवती कथा समझने के लिए 'भागवती कथा' के एक एक अक्षर पढ़ने की आवश्यकता नहीं रही। केवल यही देखना शेष था कि ब्रह्मचारीजी की भावानुवाद शैली कैसी है—सो हमको जिसका आनन्द हुआ है ब्रह्मचारी जी ने भागवत को ऐसा सरल बनाया है कि साधारण पाठक भी बड़े मजे में भागवती कथा के रसास्वाद को ले सकेंगे—

ब्रह्मचारी जी स्वयं एक उच्चकोटि के साधुक भक्त हैं। उनकी लेखनी में भक्तिरस ओतप्रोत भरा है, वही भक्तिरस इस 'भागवती कथा' में अनेक रूप से देखने का मिलता है—पुराण मिलनी आदि के लिए यह "भागवती कथा" अवश्यमेव ही उपादेय है।

भागवत दर्शन

भागवती स्तुतियाँ (६)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन-भवन,
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)
सजिल्द मूल्य २ ० रुपया

प्रथम संस्करण, आषाढ़ शु० वि० २०१७] [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवतप्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग

विषय-सूची

अध्याय			पृष्ठ
(अ) नम्र निवेदन और क्षमा याचना			-
(ब) ऐश्वर्य और माधुर्य की स्तुति १ से २२ तक			
११३—कुरुक्षेत्र में मुनियों द्वारा भगवान् की स्तुति	...		२३
११४—श्रीवसुदेव कृत राम श्याम की स्तुति (१)	...		३३
११५—श्रीवसुदेव कृत राम श्याम की स्तुति (२)	...		४१
११६—देवकी कृत राम कृष्ण स्तुति	...		५१
११७—बलि कृत राम कृष्ण स्तुति	...		५८
११८—महाराज बहुलाश्व कृत श्रीकृष्ण स्तुति	...		६६
११९—श्रुतदेव द्विज कृत कृष्ण स्तुति	...		७४
१२०—वेद स्तुति (१)	...	...	८२
१२१—वेद स्तुति (२)	...	...	८९
१२२—वेद स्तुति (३)	...	...	९६
१२३—वेद स्तुति (४)	...	...	१०२
१२४—वेद स्तुति (५)	...	...	१०८
१२५—वेद स्तुति (६)	...	...	११५
१२६—वेद स्तुति (७)	...	...	१२२
१२७—वेद स्तुति (८)	...	...	१२८
१२८—वेद स्तुति (९)	...	...	१३६
१२९—वेद स्तुति (१०)	...	...	१४४

१३०—वेद स्तुति (११) ... १५२
१३१—वेद स्तुति (१२) १५८
१३२—वेद स्तुति (१३) १६६
१३३—वेद स्तुति (१४) १७२
१३४—वेद स्तुति (१५) १७९
१३५—ब्रह्मादि देवों द्वारा द्वारकानाथ की स्तुति (१) ... १९५
१३६—ब्रह्मादिक देवों द्वारा द्वारकानाथ की स्तुति (२) २०३
१३७—मार्कण्डेय मुनि द्वारा नर नारायण की स्तुति (१) २१४
१३८—मार्कण्डेय मुनि द्वारा नर नारायण की स्तुति (२) २२१
१३९—मार्कण्डेय मुनि द्वारा शिवजी की स्तुति ... २२७
१४०—अन्तिम स्तुति २३२
१४१—कालाय तस्मै नमः २४०

—:०:—

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन और क्षमा याचना

यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः
सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय,
प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥१

(श्री भा० ५ स्क० १ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

प्रभु जो चाहें करन ताहि को मेंटि सकतु है ।
मैंने यह सब कर्‌यो पुरुष बकवाद करतु है ॥
पशु के नाक नकेल परी जस पुरुष घुमावै ।
तैसे ही गुन कर्म रज्जु हमकूँ भटकावै ॥
नहिँ करनो चाहै मनुज, विवश ताहि करनो परै ।
जैसें राखैं राम जहँ, तहँ तैसे रहनो परै ॥

महाभारत, रामायण और भागवत इन तीनों नित्य पठनीय अमर ग्रन्थों के पठन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि मनुष्य किसी अव्यक्त शक्ति द्वारा घुमाया जा रहा है, वह शक्ति इतनी प्रबल

---

१ श्री ब्रह्माजी राजा प्रियव्रत से कह रहे हैं—"हे बेटा ! भगवान की जो वेद वाणी रूप रस्सी है, वह तीन गुणों से तिलरी करके बटी है, उसी

है, कि उसकी इच्छा के सम्मुख कोई ननु नच करे भी तो कर नहीं सकता। किसी काम को करने की इच्छा न हो, तो भी उसे विवश होकर करना ही पड़ता है। यह मनुष्य का मिथ्याभिमान है, कि हमने ऐसा किया, यदि हम ऐसा करते तो ऐसा न होता। ऐसे होता कैसे नहीं जी! ऐसा तो होना ही था। सभी प्राणी किसी की प्रेरणा से विवश होकर कार्य कर रहे हैं। और कर कहे हैं वे विवश होकर। अर्थ करने वाले उसके विचित्र अर्थ लगाते हैं, वे भी ऐसा करने को विवश हैं। लोग कहते हैं—आपकी इस बात से तो लोग अकर्मण्य बन जायँगे। जब सब स्वयं ही होता है, तो लोग पुरुषार्थ क्यों करेंगे? सब हाथ पर रखे बैठे रहेंगे?"

यह कैसी विचित्र तर्क है। यदि लोग कुछ भी न करें, कर्म रहित बन जायँ, तो यही तो अन्तिम स्थिति है। किन्तु कोई बिना कुछ किये तो क्षण भर भी बैठा ही नहीं रह सकता। जिसे विजयी होने का संयोग है। वह उत्साह पूर्वक काम करेगा ही, बिना किये वह रह नहीं सकता। हम जानते हुए भी उस काम को करते हैं, क्लेश उठाते हैं, दुःख पाते हैं, किन्तु उसे छोड़ नहीं सकते। जिसे आलस्य में पड़े रहने का संयोग है, उसे लाख उत्साह दिलाओ वह पुरुषार्थ कर ही नहीं सकता।

देखिये, यदि पुरुषार्थ से ही पैसा पैदा हो सकता, तो कौन नहीं चाहता हम धनिक न बनें। हमारे पास विपुल धन न हो, किन्तु चाहने से ही तो धन नहीं आ जाता। केवल अविरल

कर्मरूप दुस्तर बन्धनों वाली रस्सी में, हम सब चराचर जीव उसी प्रकार बँधे हुए हैं, जिस प्रकार बैल आदि चौपाये नाक में नकेल पड़ने से बँधे रहते हैं और वे मनुष्यों की इच्छानुसार बोझा आदि ढोते हैं। वैसे ही हम सब भगवान् की सेवा में विवश होकर लगे हैं।

शारीरिक मानसिक परिश्रम करने से ही तो धन नहीं एकत्रित हो जाता। यदि घोर शारीरिक परिश्रम से धन मिल जाता, तो ये बालूमें ककड़ी,खरबूजा,तरबूजा और तोरी कुम्हड़ा पैदा करनेवाले केवट आदि सब धनिक हो जाते। हमारे सामने गंगाजी का सोलों रजतचूर्ण के समान बालू है। माघ फाल्गुन में गाँव के केवट काछी आदि उस बालू में खेती करते हैं। उनके महान् परिश्रम को देख कर मैं तो चकित हो जाता हूँ। सचमुचमें ये बालूमें तेल निकालते हैं। बालू में तो बीज जमता नहीं। वह केवल तरी का काम देता है। ये लोग कमर कमर तक बालू को खोदकर उसको क्यारी बनाते हैं। फिर उनमें कोस दो कोस से गली गलियों में से लौना मिट्टी खुरच कर लाते हैं डालते हैं खाद लाते हैं, पौधा लगाते हैं। फूस की की नाममात्र की झोपड़ी बनाकर सपरिवार उसमें रहते हैं। वह ऐसी होती है, कि वर्षा गर्मी जाड़ा सब उसमें घुस जाता है। ये वैशाख ज्येष्ठ की तपती हुई दोपहरी में जलती हुई बालू में यहीं तपस्या करते हैं। पेड़ों में प्रातः मध्यान्ह और सायं तीनों समय पानी देते हैं। एक समय भी पानी न दें, तो बेल सूख जायँ। उनकी स्त्रियाँ, छोटे से बड़े सब बाल बच्चे उसी में रहते हैं। कभी २ वहीं बच्चे भी पैदा हो जाते हैं। वहीं उसी तपती बालू में भोजन बनाते हैं। जोर से वायु चली, बालू उड़कर आटे-दाल में पड़ जाती है। आधी बालू आधा आटा मिल जाता है उसी किसकिसी दाल को, बालू मिली रोटियों को खाते हैं। छोटे से लेकर बड़े बड़ों तक बहू, लड़की लड़के सभी दिन रात लगे रहते हैं। दिन भर पानी देते हैं। रात्रि में सियारों गीदड़ों को भगाते हैं। तनिक भी सो जायँ, तो सब खा जायँ। इतना परिश्रम करने पर भी न उन्हें तन ढकने को वस्त्र मिलता है, न दोनों जून पेट भरके रोटी। हम लोग कहते हैं—पैसे की चार ककड़ी दो।"

यदि उनके परिश्रम को देखकर मूल्य अङ्कित किया जाय, तो एक मुहर भी एक ककड़ी के लिये कम है। किन्तु स्वयं न खाकर वे उसे पैसे कौड़ियों में बेचते हैं, और महाजनों की ब्याज को चुकाते हैं। इसके विपरीत एक व्यापारी गद्दी तकियों के सहारे बैठा केवल फोन से बातें करता रहता है। घटों में लाखों का वारा न्यारा कर डालता है। आप कहेंगे यह तो समाज की विषमता का अन्याय है, सो यह तो साम्यवाद कहाने वाले देशों में होता है। सदा से होता आया है, हो रहा है, सदा होता रहेगा। भाग्य को कोई अन्यथा नहीं कर सकता, प्रारब्ध को कोई हटा नहीं सकता। विषमता को कोई मेंट नहीं सकता। भाग्य में जो होना होगा वह होकर ही रहेगा। उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किसी में नहीं। इसी से मैं कहता हूँ हम किसी के यन्त्र हैं। वह यन्त्री जैसे घुमाता है, वैसे घूमते हैं। जिधर ले जाता है उधर विवश होकर चले जाते हैं।

मैं अपनी ही बात कहता हूँ—पहिले श्री भागवती कथा के ५०।६० खण्ड लिखने की ही बात थी। पहिले पहिले के विज्ञापनों में यही छापा जाता था, कि 'यह भागवती कथा लगभग ५०।६० खण्डों में समाप्त होगी, किन्तु जब विस्तार होने लगा, तो १०८ खण्डों की चर्चा चली और अगले विज्ञापनों में १०८ खण्ड होने की बात छापी गयी। जब ६० खण्डों में केवल कथा ही भाग समाप्त हुआ, तब तो यह बात दिखायी ही देने लगी कि शेष ४८ खण्डों में अन्य विषय रहेंगे।

६० भाग निकलने के अनन्तर कई वर्ष सक्रिय सार्वजनिक आन्दोलनोंमें बीत गये। प्रेमी पाठक पाठिकाओं के आग्रह निरन्तर आने लगे—कब १०८ समाप्त करोगे? बूढ़े कहने लगे, हम मर जायँगे तब समाप्त किया तो क्या लाभ? कोई कहते हमारा तो

मन ही नहीं लगता। नित्य आशा लगाये रहते हैं, कब नया खंड आये कब हम पढ़ें। कोई कहते हमारे यहाँ नित्य नियम से 'भागवती कथा' पढ़ी जाती है। परिवार तथा आस पास के लोग जुट कर इसकी कथा सुनते हैं। नये खण्ड निकालने में शीघ्रता कीजिये।"

इन बातों को पढ़ सुनकर मुझे आन्तरिक प्रसन्नता होती, मेरे मन में भी आई जैसे बने तैसे इसे पूरा कर दो। सोचा यह था यदि एक महीने में एक भी खण्ड लिखूँगा, तो चार वर्ष में ४८ खण्ड हो जायँगे। यही सोच कर चार वर्ष प्रयागराज में ही रहने का संकल्प किया। मैं जानता था, अपने शरीर पर अपना ही अधिकार नहीं। यह सार्वजनिक वस्तु है। वैसे तो कोई छोड़ेगा नहीं। अतः नियम यह बनाया था कि दिन में एक बार त्रिवेणीजी में आकर अवश्य स्नान करना। इससे दूर जाने से तो बच गया, किन्तु आस पास तक—जहाँ से दूसरे दिन लौटकर त्रिवेणी स्नान कर सके, वहाँ तो कई बार जाना ही पड़ा। फिर भी जैसे तैसे चार वर्ष तो यहाँ पूरे हो ही चुके, किन्तु ४८ खण्ड भागवती कथा के नहीं लिखे गये।

प्रथम वर्ष जब लिखने लगे, तो ६१-६२ की ग्राहकों के पास वी० पी० गयी। ५-६ खण्ड निकल भी गये, तभी एक बीच में विघ्न पड़ा। शरीर में सुस्ती आने लगी, निद्रातन्द्रा अधिक सताने लगी, पेट भारी हो गया। श्लेष्म बढ़कर शरीर में कुछ स्थूलता आ गयी। लिखने में आलस्य प्रतीत होने लगा। मुझे कुछ आयुर्वेद से अनुराग है, मैंने सोचा लाओ कुछ आयुर्वेद शास्त्र द्वारा अपनी ही चिकित्सा करें। यही सोच कर अपनी चिकित्सा आरम्भ की। कहावत है "विनायकं विकुर्वाण रचयामास वानरः" बनाना चाहते थे गणेश जी बन गये हनुमान जी। सो मैं चाहता

था कुछ और, किन्तु वानिक कुछ और ही बन गया। हमारे यहाँ व्याकरण, योग और आयुर्वेद इन तीनों शास्त्रों के प्रणेता एक ही ऋषि माने जाते हैं। इससे प्रतीत हुआ इन तीनों शास्त्रों में बड़ा साम्य है। आयुर्वेद और योग शास्त्र तो परस्पर सम्बद्ध ही है। शरीर शुद्धि के साथ नाड़ी शुद्धिका भी कार्य आरम्भ हुआ। आप देखते हैं, बड़ी बड़ी दुकानों में गद्दी लगती हैं, उस पर मैल खोरा बिछाया जाता है। उस पर स्याही भी गिर जाती है, गोंद गिर जाता है। मैल जमते२स्याही आदि की कालिख दिखाई नहीं देती। बहुत मैला हो जाता है, जब उसे साबुन से धोते हैं, तो ज्यों ज्यों मैल निकलता हैं, त्यों त्यों उसके काले दाग स्पष्ट होते जाते हैं, जितना ही धोओ उतनी ही कालिख निकलती जाती है। भर्तृहरि जी ने कहा है—"जब हम कुछ नहीं जानते थे, तब हाथी की भाँति मद में मत्त होकर समझते थे, हम सब कुछ जानते हैं, हम बड़े चतुर हैं। किन्तु जब तनिक तनिक विद्वानों के समीप जाने लगे, उनका सत्संग सुनने लगे तब हम समझ गये—अरे, हमतो मूर्ख हैं, कुछ भी नहीं जानते। इसका ज्ञान होते ही जो हमारा सर्वज्ञ होने का मद था वह उसी प्रकार उतर गया जैसे ज्वर उतर जाता है।" सो,पहिले हमें भी बड़ा अभिमान था कि हमारा शरीर बड़ा शुद्ध है, किन्तु जब शुद्धि करने लगे और मल को निकालने लगे; तो जैसे लहसुन प्याज के एक छिलके को उतारने पर उसके नीचे दूसरा तीसरा चौथा ऐसे छिलके की तहें निकलती ही जाती हैं, उसी प्रकार मल का कोई अन्त ही दिखाई नहीं देता। शास्त्रों में जो शरीर को मलायतन कहा है उसका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा। जैसे कालयवन श्रीकृष्ण को पकड़ने उनके पीछे दौड़ता था, तो पग पग पर उसे ऐसा अनुभव होता था कि श्रीकृष्ण को बस मैं अभी पकड़ता हूँ। जहाँ दो हाथ बढ़ा नहीं कि

श्रीकृष्ण मेरी पकड़ाई में आ जायँगे। इस प्रकार वह मुचुकुंद गुफा तक उनका पीछा करता हुआ चला गया। इसी प्रकार मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता था, कि अब दश दिन में यह शुद्धिका काम समाप्त हुआ नहीं कि मैं तुरन्त शेष खंडों को लिख डालूँगा परन्तु आज चार वर्ष हो गये, शुद्धिका अन्त ही दिखाई नहीं देता। भगवान् ने कहा है "निरमल मन जन सो मोइ पावा। मोइ कपट छल छिद्र न भावा" सो वह निरमलता कहीं दिखाई ही नहीं देती। अब दशा ऐसी हो गई है जैसे कोई बहुत गरम खीर का बड़ा ग्रास मुख में भर ले, तो न वह निगलते ही बनता है न उगलते ही। अब सोचते हैं इतना किया तो अब बीच में छोड़ना ठीक नहीं। इस प्रकार एक एक दिन करके चार वर्ष हो गय। अभी कितने दिन और लगेंगे। इस जन्म में शुद्धि हो भी सकेगी या नहीं, कुछ निश्चय कहा नहीं जा सकता।

मैं पाठकों से कोई छल कपट नहीं कर रहा हूँ, सत्य सत्य बात बता रहा हूँ। मैं कोई बहाने बाजी नहीं करता। अब मैं ऐसी स्थिति में हूँ, कि निश्चय नहीं कह सकता आगामी खंड कब निकलेंगे, निकलेंगे भी या नहीं। इसकी कोई प्रतिज्ञा नहीं। ऐसी दशा में अब मैं अधिक दिन पाठकों को आशा में नहीं लटकाये रह सकता। बहुत से भाई प्रायः पूछते ही रहते हैं, कब तक आगे के खंड निकालोगे, कब तक आशा रखें। उन भाइयों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अब सन्तोष को धारण करलें।

इस अड़सठ वें में खण्ड के बहुत से फरमे कई वर्षों से छपे हुए, कुछ कंपोज हुए पड़े थे। कुछ वेदस्तुति की स्तुतियाँ लिखी गयी थीं, कुछ लिखने को शेष थीं। जैसे तैसे उन्हें पूरा किया। ६९ वें खण्ड की भूमिका भी बहुत दिनों से लिखी रखी थी।

जब ६८ वें खण्ड में स्तुतियाँ पूरी हो गयीं और कुछ स्थान शेष रह गया, तो वह ६९वें खण्ड की "भूमिका कालाय तस्मै नमः !" यह भी इस ६८ वें ही खण्ड में लगा दी। इस प्रकार इस खण्ड में भागवती कथा की सभी स्तुतियाँ समाप्त हुईं। नियमानुसार पाठकों को एक वर्ष के १२ खण्डों में से हमें ४ और देने चाहिये। ७२ खण्ड दे दें, तो उनकी वार्षिक न्यौछावर पूरी हो, किन्तु वर्तमान परिस्थिति में मैं इस दशा में नहीं हूँ, कि शीघ्र ही अगले खण्ड लिख सकूँ। अतः चार खण्डों के पाँच रुपये मूल्य के बदले इस खंड के साथ हम सवा पाँच रुपये की "भागवत चरित" की एक एक पुस्तक पाठकों की सेवा में भेज रहे हैं। यह इसका पाँच हजार का तीसरा संस्करण छपा है। सहस्रों भाई बहिन इसका नित्य नियम से साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक आदि पाठ करते हैं। यदि छप्पय छन्द की लय मालूम हो जाय, तो पढ़ने में तथा सुनने में यह बहुत ही सरस प्रतीत होती है। कृष्ण चरित और फिर ब्रजभाषा में होने से सोने में सुगंध का काम करता है। हमारे यहाँ से प्रशिक्षण पाकर बहुत से "भागवत चरित व्यास" भी निकलें हैं, जो बाजे तबलेपर भागवत चरित की कथा कहते हैं। वे कभी घूमते फिरते आपके नगर में पहुँच जायँ, तो आप उनसे छप्पय छन्दों की लय जान सकते हैं। इस प्रकार यह "भागवत चरित" आपके लिये बहुत ही हितकर पड़ेगा। आपके बाल बच्चे बच्ची इसे पढ़कर प्रसन्न होंगे। जिन भाइयों के पास पहिले से ही "भागवत चरित" हो वे इसे किसी योग्य सत्पात्र को देकर पुण्य लाभकर सकते हैं। जो चाहें और अधिक भी मँगाकर सुयोग्य अधिकारियों को वितरित कर सकते हैं।

कुछ लोग अपने को बहुत ही अधिक व्यवहार निपुण तथा खरा कहने वाला बताते हैं। वे पैसे पैसे के लिये कार्यालय

में झगड़ा करते हैं और ऐसी कड़ी कड़ी बातें करते हैं, ऐसे ऐसे लांछन लगाते हैं, कि उन्हें पढ़ते ही बनता है। पढ़कर दया भी लगती है और हँसी भी आती है। ऐसे ही लोगों में से कुछ कह सकते हैं—"वाह जी वाह, यह अच्छी रही। हमने आपको भागवती कथा के लिये रुपये दिये थे, कि भागवत चरित, के लिये। आप भागवती कथा न देकर हमारे सिर बलपूर्वक भागवत चरित मढ़ रहे हैं। हमें नहीं चाहिये आपका भागवत चरित। या तो सीधे से हमें आगेके चार खंड दीजिये, नहीं हमारे शेष पैसे वापस कीजिये। "दान सौसौ का,हिसाब जौजौ का" हम अपनी इच्छा से जो चाहें दान पुण्य करें, किन्तु व्यवहार तो व्यवहार ही है। हमसे तीन पाँच न लगाइये। अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये।" ऐसे भाइयों से मैं बहुत ही नम्रता पूर्वक प्रार्थना करता हूँ, कि वे ६८ वें खण्ड को तो लें रख और भागवत चरित को दें लौटा। भागवत चरित आते ही यहाँ कार्यालय से उन्हें ५) नकद लौटा दिये जायँगे। इस प्रकार रखें या लौटावें दोनों ही दशा में हमारा उनका लेखा जोखा अब बराबर हुआ।

मैं पाठकों से यह नहीं कह सकता कि अब भागवती कथा के अगले अंक निकलेंगे ही नहीं। यदि भगवान् ने उन्हें लिखाना चाहा और वे निकले तो अब किसी से १२ महीने की अग्रिम न्यौछावर न ली जायगी। जितने खंड निकला करेंगे,उनकी सूचना पाठकों को दे दी जाया करेगी, जो चाहें वे न्यौछावर भेजकर उन्हें मँगालें। यदि किसी कारण से अगले अंक न निकलें, तो तो इन ६८ खण्ड में ही भागवती कथा की समाप्ति समझनी चाहिये। मैं स्ववश नहीं, परवश हूँ। स्वाधीन नहीं, पराधीन हूँ किसी यन्त्री द्वारा परिचालित यन्त्रमात्र हूँ, मेरी इच्छा से कुछ होने जाने का नहीं। यन्त्री जो करावेगा वही मुझे विवश होकर

करना पड़ेगा। अतः आज तो मैं अत्यंत ही दुःख के साथ द्रवित हृदय से अपने प्रेमी पाठक पाठिकाओं से विदा ले रहा हूँ। अब मेरा चेला मेरा साथ दे नहीं रहा है, वह मुझे कथा लिखने को उत्साहित कर नहीं रहा है। कान की नाड़ियाँ जिनका सीधा सम्बन्ध वाणी, नासिका और गुदाकी नाड़ियों से है, वे वायुके अत्यधिक भरने से फूल गयी हैं। दूर से दूरश्रवणयन्त्र (टेली फोन) की घंटी भी मुझे सुनाई नहीं देती। रास में जो नृत्य के समय घुँघरू बजते हैं वे भी सुनाई नहीं देते। कान स्वयं एक राग अलापते रहते हैं। वे एक विचित्र अव्यक्त घोष करते रहते हैं, जब इतनी दूर के शब्द को सुनने में असमर्थ हूँ, तो इतने दूरकी भागवती कथा को अभी कैसे सुन सकता हूँ, कैसे उसे बिना चेले की सहायता से लिख सकता हूँ। अतः पाठक मेरी विवशता समझकर मुझे हृदय से क्षमा कर दें, अपराधों का तो मैं भाजन ही हूँ, प्रतिक्षण नूतन नूतन अपराध करता ही रहता हूँ पाठक पाठिकायें अपनी उदारता से मेरे अपराधों को क्षमा कर दें। मुझे अपना ही एक पारिवारिक सम्बन्धी समझकर मेरे ऊपर कृपा दृष्टि की वृष्टि करते रहें। जब तक मैं फिर से सम्बन्ध स्थापित न करूँ, मुझे अपने से दूर न समझें। अब कुछ दिन श्री धाम वृन्दावन में अपने श्यामसुन्दर के निकट रहना चाहता हूँ। कुछ दिन बदरीवन में भगवान् बदरीनाथ की चरणसान्निधि में रहने की इच्छा है। चिरकाल से उनके दर्शनों की लालसा लगी है। वे दर्शन देते हैं या नहीं अपनाते हैं, या ठुकराते हैं इसे तो वे ही जानें। अपने तो इच्छा करने तक में स्वतंत्र नहीं। इच्छा कराने वाले भी वे ही हैं। अतः अपनी इच्छा का कोई मूल्य नहीं। इच्छा तो उन्हींकी सत्य है, क्योंकि वे अमोघइच्छा वाले हैं। अतः अन्त में मैं अपने पाठक पाठिकाओं से पुनः पुनः क्षम याचना

करते हुए अपने इस क्षुद्र वक्तव्य को समाप्त करता हूँ। सब मुझे आशीर्वाद दें मेरी कृष्ण चरणों में प्रीति हो, भगवान् नंदन के प्रति रति हो। धर्म में मति हो और सद्गति हो।

श्री कृष्णार्पणमस्तु

छप्पय

नाथ नारायन नाम गान नित रसना गावै।
सुखद साँवरो सरस रूप मन मेरो ध्यावै॥
लीला ललित ललाम लाल की लिखूँ लिखाऊँ।
सरस भूमि ब्रजमाहिँ निवसि परसादी पाऊँ॥
कथा भागवत के रसिक, पाठक दें आशीश अब।
नामगान प्रभु ध्यान में, बीतै मेरो समय सब॥

त्रिवेणी में नौका पर
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग
मिती आषाढ़ शुक्ला २ (रथयात्रा)
सं० २०१७ वि०

सबकी कृपा का पात्र
प्रभुदत्त

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीकृष्ण चरित

(भागवत चरित से पृथक् छप गयी)

श्री ब्रह्मचारीजी द्वारा रचित "भागवत चरित" का आशातीत प्रचार हुआ है। आठ हजार के दो संस्करण थोड़े ही समय में समाप्त हो गये। अब ५ हजार का तीसरा संस्करण छपा है। सहस्रों नर नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं। बहुत से "भागवत चरित व्यास" बाजे तबले से इसकी कथा करते हैं। अनेक स्थानों पर इसके १०८, १०८ के पारायण हुए हैं।

भागवत चरित बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इसमें लगभग एक हजार पृष्ठ हैं। सभी अवतारों तथा सूर्य और चन्द्र वंश के असंख्यों राजाओं के इसमें चरित्र हैं। कुछ राम भक्त श्रीरामचन्द्र जी का चरित पृथक् चाहते थे। इसलिये भागवतचरित से "राघवेन्दु चरित" पृथक् छापा गया है, जिसे राम भक्तों ने बहुत पसन्द किया, अब तक इसके चार संस्करण छप चुके हैं। गत वर्ष ही पाँच हजार का चौथा संस्करण छपा है। मूल्य पाँच आना मात्र है।

इसी प्रकार कृष्ण भक्त चाहते थे "श्रीकृष्ण चरित" पृथक् छप जाय उनकी इच्छा पूर्ति के लिये भागवत चरित से ही यह "श्रीकृष्ण चरित" पृथक् छापा गया है। छप्पय छन्दों में यह अनुपम श्री कृष्ण चरित है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, लावनी, भजन तथा विविध रागों के पद हैं। इस प्रकार यह नित्य पाठ करने को अनुपम ग्रंथ है। इसमें ७ विश्राम हैं ६० अध्याय हैं। ३५० से अधिक पृष्ठ हैं। रंगीन तथा सादे चित्र हैं। मूल्य २) दो रुपया है। अभी एक हजार का यह प्रथम ही संस्करण छपा है। शीघ्र मँगाइये।

पता—व्यवस्थापक, संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

प्रभु स्तुति भजन

(ब्रह्मचारी जी के पदों का सुन्दर संग्रह)

बहुत से भाई श्री ब्रह्मचारी जी के भजन तथा स्तुतियों का पृथक् संग्रह चाहते थे। भागवती कथाके छप्पय आदि तो भागवत चरित में आही गये हैं। ६० खंड के पश्चात् जो ६८ खण्ड तक के पद छप्पय स्तुति हैं, तथा भागवत चरित में जो नये पद हैं, उन सब का संग्रह "प्रभु स्तुति भजन" के नाम से पृथक् छापा जा रहा है। इसमें आपको एक साथ ही भक्ति भावपूर्ण भगवान् की स्तुतियाँ विविध रागिनियों में मिल जायँगी। भगवान् के अवतारों की, ज्ञान, वैराग्य चेतावनी तथा प्रबोध की बहुत सी स्तुतियाँ इसमें एक ही स्थानपर पढ़ने को मिलेंगी। पुस्तक छप रही है। विविध पदों में तथा भजनों में है। अभी से आप अपनी प्रति को सुरक्षित करालें। मूल्य लगभग १) एक रुपया होगा।

पता—व्यवस्थापक संकीर्तन भवन, झूसी, [प्रयाग]

ऐश्वर्य और माधुर्य की स्तुति

(भूमिका)

ब्रह्मानन्दरसादनन्तगुणितो रम्यो रसो वैष्णवः ।
तस्मात् कोटि गुणोज्वलश्च मधुरः श्रीगोकुलेन्द्रो रसः ॥
तस्मात् अप्यधिकं चमत्कृतिभरं वर्षदरसानां परम् ।
श्रीराधापदपद्ममेव मधुरं सर्वस्वभूतं मम ॥

(ब्रह्मयामले)

छप्पय

जग के सब आनन्द विषय रस सरिस न होवैं ।
पावैं ब्रह्मानन्द विषय विष समुझि न जोवैं ॥
वैष्णव रस मिलि जाय ब्रह्म रस फीको लागै ।
यदि मिल जावै मधुर भाग्य साधक को जागै ॥
मम सरबसु अतिशय मधुर, श्रीराधा के चरन हैं ।
जो सुन्दर सुखकर सरस, अरुन कमल वर वरन हैं ॥

संसार में चार ही सम्बन्ध होते हैं स्वामी सेवक सम्बन्ध, मित्र-मित्र का सम्बन्ध, छोटे बड़े का सम्बन्ध और श्रेष्ठ प्रियतमा का सम्बन्ध। ये ही सम्बन्ध जब भगवत् प्रेम मार्ग में किये जाते हैं, तो ये दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों के नाम से पुकारे

---

* विषयानन्द से ब्रह्मानन्द अनन्त कोटि मधुर है । ब्रह्मानन्द से भी अनन्त कोटि मधुर वैष्णव रस है । अर्थात् भगवान् में सख्य वात्सल्य दास्य कोई भाव स्थापित कर लेना । वैष्णव रस से भी कोटि उज्वल श्री ब्रज-

जाते हैं। एक पाँचवाँ सम्बन्ध भी है जीव ईश्वर का सम्बन्ध, यह लोक में न होकर पर लोक में ही काम आता है, इसे शान्त भाव कहते हैं। ज्ञाननिष्ठ पुरुषों का कहना है दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये क्रम-क्रम से भगवान् में प्रेम बढ़ाने के लिये हैं, इन सब, का उद्देश्य यही है कि शांति लाभ करना, शान्त भाव में सदा भावित रहना, उनके मत में शान्त भाव ही चरम भाव है, किन्तु इसके विपरीत भक्ति भाव भावुक रसज्ञ भक्तों का कहना है कि शान्त भाव तो खेत को जोत गोड़ कर बीज बोने की तैयारी के समान है, मुख्य भाव तो माधुर्य भाव ही है शान्त भाव तो रस रूपी बीज को बोने के लिये क्षेत्र तैयारी के समान है। जब संसार से मुख मोड़ कर हम शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश करेंगे, तभी दिव्य रसों की अनुभूति हो सकती है। अतः शान्त भाव स्वयं रस नहीं है, वह तो रस सागर में प्रवेश करने की प्रथम सोपान है। रस सागर में बाढ़ आने पर कभी कभी सीढ़ी भी भीग जाती है, वहाँ तक भी कभी जल छलक आता है, इसीलिये शान्त की रसों में गणना है, नहीं तो दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य ये ही चार रस हैं, इन सब में दास्य ही प्रथम रस है, कोई भी रस क्यों न हो, उसमें छिपा हुआ दास्य अवश्य रहेगा। रस शास्त्र वाले ऐसा मानते हैं, कि सख्य वात्सल्य और मधुर में दास्य नहीं होता किन्तु ध्यान पूर्वक देखा जाय तो ऊपर से-बाह्य व्यवहार से तो वह दिखाई नहीं देता, किन्तु फल्गु की धारा के समान भीतर

चन्द्र नन्द नन्दन में मधुर भाव स्थापित करना है। उस मधुर भाव में भी सबसे श्रेष्ठ सर्वाधिक चमत्कृत सब रसों को प्रकट करने वाला मधुरातिमधुर रस- श्रीमती- वृषभानुदुलारी, कीर्तिकुमारी ब्रजराजियारी श्री राधा-जी के अरुण चरण कमल का रस है, वही मेरा सर्वस्व है।

ही भीतर उसमें दास्य की धारा प्रवाहित होती रहती है। गया जी में गर्मी में जाइये फल्गु नदी में कहीं भी आपको धारा दिखाई न देगी, ऊपर से बालू ही बालू दिखाई देगी, किन्तु आप जब धैर्य के साथ उस बालू को तनिक हटावें, तो अन्तः स्रोत फल्गु का स्वच्छ जल दिखाई दे जायगा। व्रज के बाल गोपाल श्री कृष्ण में सख्य भाव रखते थे, उनके साथ हँसते खेलते थे, उनके ऊपर चढ़ते थे, उन्हें जूठा खिलाते थे, किन्तु जहाँ तहाँ आपत्ति विपत्ति में अथवा करुणा के प्रसंग में उनका छिपा हुआ दास्य भाव प्रकट हो जाता था। नंदजी को जब वरुण के दूत पकड़ ले गये और श्रीकृष्ण उन्हें छुड़ा लाये तो सब का सख्य भाव शिथिल पड़ गया उन्हें ईश्वर मान कर और अपने को उनका दास मान कर उनसे सूक्ष्म गति दर्शन की प्रार्थना करने लगे।❀

इसी प्रकार जब वन में गौ चराते समय दावाग्नि लग गयी, चारों ओर से बड़ी बड़ी लपटों वाली अग्नि ने ग्वाल बाल तथा गौओं को घेर लिया, तब भी उनका सख्य भाव विलुप्त हो गया और वे श्री कृष्ण बलराम को ईश्वर मानकर अपने को उनका दास समझकर उनकी शरण गये और प्रार्थना करने लगे—हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महावीर! हे अमित बलशाली बलराम जी! हम आपके शरणागत हैं, हम आपके दास हैं, हम इस वन की अग्नि से जलना

❀ ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम्।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः
(श्रीमा० १० स्क० २८ अ० ११ श्लो०)

ही चाहते हैं, आप हमारी इससे रक्षा कीजिये। हे कृष्ण! हम आपके बन्धु बान्धव भी हैं। हे सर्वधर्मज्ञ! हमारे आप स्वामी हैं, प्रभु आप ही हमारी एक मात्र गति मति हैं, हम सर्वथा आपके हैं, आपके कहा कर हम कष्ट पावें यह उचित नहीं। हमारी रक्षा करो। ❀

ऐसे समय पर सख्य छिप जाता है और दास्य उभड़ आता है। यही बात वात्सल्य के सम्बन्ध में है। बलराम जी नन्द जी यशोदा मैया, वसुदेव जी तथा देवकी जी और भी व्रज तथा मथुरा द्वारका के बड़े बूढ़े स्त्री पुरुष श्रीकृष्ण में वात्सल्य भाव रखते थे, किन्तु समय समय पर उनका भी दास्य भाव प्रकट हो जाता था। जैसे ब्रह्ममोहन के प्रसंग में जब बलदेव जी को यह ज्ञात हुआ कि बालक बछड़ों के वेष में एकमात्र श्री कृष्ण ही हैं, श्री कृष्ण ने ही बालक बछड़ों का वेष बना रखा है, तब तो उन्होंने कहा—यह कैसी अद्भुत बात है, ये जो अखिलात्मा भगवान वासुदेव हैं इन मे व्रजवासियों का जैसा अपूर्व प्रेम था आजकल वैसा ही स्नेह उनका अपने पुत्रों में भी बढ़ रहा है। यह कैसी माया है? कहाँ की माया है? कहाँ से आ गयी है? यह किसी देवता मनुष्य या राक्षस की माया तो हो नहीं सकती प्रतीत होता है यह मेरे प्रभु की-मेरे स्वामी श्रीकृष्ण की-ही माया है। क्योंकि किसी दूसरे की माया मुझे मोहित करने में

कृष्ण कृष्ण महावीर्य हे रामामित विक्रम।
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः,
नूनंत्वद्बान्धवाःकृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम्।
वयं हिसर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥

(श्रीभा० १० स्क० १९ अ० ९,१०श्लोक)

समर्थ नहीं हो सकती। मैं भी इससे मोहित हो रहा हूँ, इससे प्रतीत होता है, यह सब मेरे स्वामी का ही खेल है ❀

अब आप देखेंगे जो बलराम बात बात पर श्रीकृष्ण को डाँटते डपटते रहते थे, वे ही श्रीकृष्ण के इस अद्भुत खेल को देख कर विस्मय में पड़ गये और उसी विस्मय की झोंक में वात्सल्य दब गया, दास्य प्रस्फुटित हो गया।

इसी प्रकार अम्बिकावन की यात्रा के प्रसंग में जब नंद जी के पैर को अजगर ने ग्रस लिया तब उनका वात्सल्य लुप्त हो गया और छिपा हुआ दास्य जाग्रत हो उठा, वे चिल्लाकर कहने लगे—अरे बेटा! श्रीकृष्ण! मैं शरणागत दास हूँ, मुझे यह अजगर निगले जा रहा है, मेरी रक्षा करो, इस संकट से मेरा उद्धार करो। ❀

इसी प्रकार जब उद्धव जी ब्रज में श्री कृष्ण का संदेश ले कर गये, तो नन्द जी ने आँखों में आँसू भर कर गद्गद कंठ से श्रीकृष्ण के प्रति अत्यंत ही भक्ति भाव प्रदर्शित करते हुए कहा था—"उद्धवजी! श्रीकृष्ण के चरण चिन्हों से चिन्हित यह ब्रजमंडल की भाग्यवती अवनि, ये नदियाँ, पर्वत, वन तथा उनके

❀ किमेतदद्भुत मिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते॥
केयं वा कुत आयाता देवी वा मानुषी वा।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥
(श्री भा० १० स्क० १३ अ० ३६, ३७ श्लो०)

❀ सच कोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम्।
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय॥
(श्रीभा० १० स्क० ३४ अ० ६ श्लो०)

अन्य क्रीड़ा स्थलों को निहार निहार कर, हमारा चित्त कृष्णमय हो जाता है। इसी से मैं समझता हूँ, कि ये राम कृष्ण कोई देव श्रेष्ठ हैं, देवताओं के कार्यों को करने के निमित्त इन्होंने अवनि पर अवतार लिया है, गर्ग जी ने यह बात मुझसे पहिले ही कही थी * ऐसी बातें कोई पिता पुत्र के लिये नहीं कह सकता। यहाँ दास्य भाव प्रकट हो गया है, उसने वात्सल्य को दबा दिया है।

यही बात वसुदेव देवकी के सम्बन्ध में है। जब कंस को मार कर राम और कृष्ण माता पिता के समीप गये और उनके चरणों में प्रणाम किया, तो देवकी वसुदेव का पुत्र भाव लुप्त हो गया। ऐश्वर्य के आधिक्य से उनका वात्सल्य भाव विलीन हो गया, उन्होंने अपने पुत्रों को हृदय से चिपटाकर प्यार नहीं किया, अपितु दोनों उन्हें जगदीश्वर जान कर हाथ जोड़े खड़े रहे।* यह ऐश्वर्य की पराकाष्ठा ही है।

इसी प्रकार कुरुक्षेत्र से लौट कर जब द्वारका आ गये, तब भी वसुदेव ने मुनियों के वचनों को स्मरण करके, श्रीराम और

---

* सरिच्छैल वनोद्देशान्मुकुन्द पदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्।
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा।

(श्रीभा १० स्क० ४६ अ० २२,२३ श्लो०)

* देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ।
कृत संवन्दनौ पुत्रौ सध्वजाते न शङ्किनौ।

(श्री भा० १० स्क० ४४ अ० ५१ श्लो०)

कृष्ण को साक्षात् ईश्वर समझ कर उनकी स्तुति की।* इसी प्रकार माता देवकीजी भी जो सदा वात्सल्य भाव में भावित रहती थीं, उन्होंने भी राम कृष्ण को ईश्वर मानकर और अपने को दास्य भाव की अधिकारिणी मान कर स्तुति की।*

जब उद्धवजी गोकुल से लौटकर पुनः श्रीकृष्ण के पास मथुरा जाने लगे, तो उन्हें विदा करने के लिये, श्रीकृष्ण के सखा ग्वाल बाल, उनके माता पिता नन्द यशोदा, मधुर भाव की उपासिका गोपिकायें सब के सब रथ के चारों ओर घिर आये। उद्धवजी का भी हृदय भरा हुआ था, वे स्नेह भरित नेत्रों से सब की ओर देख लेते फिर नीची दृष्टि कर लेते। इस पर सब की ओर से नन्द जी ने आंखों में अश्रु भर कर अपनी भावना व्यक्त की। नन्दजी ने कहा—"उद्धव ! अब हम तुमसे क्या कहें, श्री कृष्ण हमारे पुत्र बन कर रहे। हमने भी अपने को पिता समझ कर ही उन्हें प्यार किया, किन्तु अब हमें ऐसा लगता है, कि श्रीकृष्ण तो ईश्वर हैं। अब हमारी एकमात्र अभिलाषा यही है, कि हमारे मन की समस्त वृत्तियाँ सर्वदा सर्वत्र श्री

---

* कृष्ण कृष्ण महायोगिन् [illegible]।
जाने त्वामस्य यत् साक्षात् प्रधान पुरुषं परं॥
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यथा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः॥
(श्री भा० १० स्कं० पू० अ० ३९ श्लो०)

राम रामाप्रमेयात्मन् [illegible]।
वेदाहं वां विजानीमः [illegible]॥
कालेविध्वस्तसत्त्वानां [illegible]।
भूमेर्भारायमाणानां [illegible]॥
(श्री भा० १० स्कं० पू० अ० [illegible])

कृष्ण के चरणारविन्दों में लगी रहें, हमारी वाणी सदा उन्हीं के नामों का गान करती रहे, हमारी देह उन्हीं को नमस्कारादि करने में नियुक्त रहे। प्रारब्धवश-कर्मों के कारण-संसार चक्र में भ्रमते हुए ईश्वरेच्छा से हमारा जहाँ जहाँ भी-जिस जिस योनि में भी- जन्म हो, वहाँ पर ही हमारे मंगलमय शुभ कर्मों के द्वारा तथा दानादि के परिणाम स्वरूप हमें ईश्वर कृष्ण में रति हो श्री कृष्ण भक्ति प्राप्त हो, यही हमारी आकांक्षा है। *

दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर ये क्रम से एक दूसरे से बढ़ कर हैं। जैसे आकाश है, आकाश में एक गुण है शब्द। आकाश से स्थूल वायु है, वायु में शब्द तो रहेगा ही साथ ही उसमें स्पर्श और बढ़ जायगा। अतः वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण होंगे। वायु से स्थूल अग्नि है, अग्नि में शब्द, स्पर्श के साथ ही रूप भी रहेगा अतः इसमें तीन गुण हुए। अग्नि से स्थूल जल है, जल में शब्द, स्पर्श, रूप के साथ रस गुण भी रहेगा। सबसे स्थूल पृथिवी है, उसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस के साथ गंध भी रहेगी। इसका ठीक उलटा रसों के सम्बन्ध में है, जैसे दास्य भाव है, उसमें नम्रता सेवा भाव दीनता स्वामी के हित में तत्परता ये गुण रहेंगे। दास्य भाव का मुख्य स्थान

---

* मन सो वृत्तयो नः स्युः कृष्ण पादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गला चरितैर्दाने रतिर्नः कृष्णईश्वरे ॥

चरण हैं, अतः दास चरण सेवा करेगा चरण स्पर्श करेगा। दास्य से बढ़कर वात्सल्य रस है, इसमें दास्य तो छिपा हुआ रहेगा ही भीतर ही भीतर नम्रता अपने वत्स को सुख देने की इच्छा, उसकी सेवा करने की भावना तो रहेगी ही, किन्तु दास्य भाव में शासन नहीं होता वात्सल्य में शासन और बढ़ जायगा। दास ने कहा–'अमुक वस्तु खालो' तुमने कहा–'हम नहीं खाते' बेचारा दास अनुनय विनय करेगा इतने पर भी तुम न मानोगे वह चुप हो जायगा। किन्तु वात्सल्य में यह बात नहीं। पहिले तो अनुनय विनय करेंगे पुचकारेंगे, फुसलावेंगे, फिर भी तुम कहो, हम नहीं खाते, तो वे डांट कर कहेंगे, खाओगे कैसे नहीं खाना ही पड़ेगा। उसमें स्नेह और सेवा भाव के साथ शासन भी है। वात्सल्य का मुख्य स्थान मुख है बच्चे का मुँह चूमना, दोनों गालों को हाथ में लेकर दबाना, गालों को थप थपाना, मुख ही वात्सल्य का मुख्य स्थान है। वात्सल्य से भी अधिक सरस सख्य भाव है। इसमें दास्य वात्सल्य तो छिपा ही रहेगा, साथ ही सेवा, शासन के अतिरिक्त निर्भीकता इसमें और अधिक रहेगी। मित्र को चाहें जो कह दें, चाहें जैसे गाली दे दें, उसमें संकोच का स्थान ही नहीं सख्य का मुख्य स्थान बाहु तथा हृदय है, मित्र के पहिले हाथ को मरोड़ेंगे, तब उसे छाती से लगायेंगे, उसमें भय नहीं, संकोच नहीं, कोई लगाव दुराव नहीं। सख्य से भी बढ़कर मधुर भाव है, इसमें दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा मधुर सभी भावनायें विद्यमान रहती हैं। तनिक भी संकोच नहीं, भय नहीं, कोई बात अश्लील नहीं, कोई बात न कहनी नहीं, कोई भी अंग अस्पर्श नहीं, प्रेष्ठ का सर्वाङ्ग अपना ही है, भेद भाव की कोई बात नहीं। दास्य वात्सल्य और सख्य इसमें छिपा रहता है यही रस की पराकाष्ठा है। मधुर भाव में भी कभी कभी

दुःख और शोक में दास्य भाव प्रकट हो जाता है।

जैसे रास लीला प्रसंग में जब श्रीमती राधिकाजी को लेकर भगवान् श्रीकृष्ण जी अन्तर्धान हो गये और फिर उनको भी छोड़कर छिप गये। उस समय श्रीमतीजी ने अत्यंत ही आर्त स्वर में—अत्यंत ही शोक के आवेश में—विलाप करते हुए कहा था—"हे मेरे स्वामी! हे नाथ! हे रमण! हे प्रियतम! हा महाबाहो! तुम कहाँ हो? कहाँ छिप गये? प्यारे! इस दीना को, इस अपने चरणों की दासी को समीप में आकर अविलम्ब दर्शन दीजिये। *

ये वचन किसी साधारण मधुर रस की उपासिका व्रजाङ्गना के नहीं। महाभाव की पराकाष्ठास्वरूपा मधुर भाव की सर्वोत्कृष्टा नायिका श्रीमती राधा देवी के वचन हैं, इन सबसे यही सिद्ध होता है, कि दास्य भाव सभी भावों में गुप्त रूप से रहता ही है, जैसे शब्द गुण सभी भूतों में समान भाव से छिपा रहता है।

जैसे सब भावों के स्थान, कार्य, बर्ताव, बोलन, चलन, व्यवहार भिन्न भिन्न होते हैं। वैसे ही सब भावों की स्तुतियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। पाठक जितनी स्तुतियाँ पढ़ चुके हैं, या पढ़ेंगे, वे सबकी सब दास्य भाव की ही हैं, स्तुति दास्य भाव में ही संभव भी है। हम दास हैं, आप हमारे स्वामी हैं, ईश्वर हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं, आप हम पर कृपा करो, दया करो, अनुकम्पा करो। यह बात नम्रता के साथ दास ही स्वामी के प्रति कह सकता है।

---

* हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥
(श्री भा० १० स्क० ३० अ० ३९ श्लो०)

वात्सल्य में भी स्तुति होती है, किन्तु उसमें पुचकार कर बड़े प्रेम से कहते हैं—"देख, यह काम कर ले, मेरा बड़ा राजा बेटा है। बड़ा वीर है, इसकी बराबर दूसरा कौन हो सकता है। तू इतना दूध पीले तब जानें। इतना माखन खालेगा तो सबसे राजा बन जायगा।' माता यशोदा श्रीकृष्ण की ऐसे ही स्तुति करती थी। राजाओं को वन्दीगण उठाते हैं, तो उनके तथा उनके पूर्वजों के गुणगान करते हैं, उनके कामों की प्रशंसा करते हैं उन के गुणों का बखान करते हैं। माता यशोदाजी भी जब अपने कन्हैया को जगाती हैं तब कहती हैं—"कृष्ण! अरे तू अभी तक सो रहा है, तेरे साथी तो खा पीकर गौ लेकर गये भी, तू क्या अभी तक सोता ही रहेगा? बेटा! बड़ा राजा है, उठ पड़ मुँह धो, कलेऊ कर ले, गौयें तुरा रही हैं, वे वन में जाने को उत्सुक हैं, उन्हें ले कर जा। इतनी देर तक सोना यह क्या कोई अच्छी बात है।"इसी प्रकार श्रीकृष्ण जब क्रीड़ा में आसक्त हो जाते हैं, तन्मय होकर खेल में मग्न हो जाते हैं, भोजन आदि सब भूल जाते हैं, तो माता बड़े प्रेम से जाती हैं, उन्हें भोजन के लिये आह्वान करती हैं, उनकी यही स्तुति हैं। वे बड़े प्यार से कहती हैं।"कृष्ण! ओ कृष्ण! बोलता क्यों नहीं बेटा अरविन्दाक्ष! अब तू दिनभर खेलता ही रहेगा क्या? अभी खेलनेसे तेरा पेट नहीं भरा? देखता नहीं कितना दिन चढ़ गया है, तैंने न कुछ अभी खाया है, न पीया है,वासे मुँह तब से खेल ही रहा है, खेलते खेलते थक गया होगा। देख कैसा तेरा मुँह निकल आया है, पेट पीठ में सट गया है, भूख के कारण दुबला हो गया है, आजा लल्ला! बड़ा राजा बेटा है। अब खेल बन्द करो भैया, अब चल कर दूध पीयो। मीठा मीठा मिश्री पड़ा मलाईदार दूध मैंने कमलगंधा गौ का रखा है। चल अब बहुत हुआ।

बलदेव ! तू भी चल बेटा। मेरा बलराम तो कुल का दीपक है, पहिले खेलना तू बन्द कर, अपने छोटे भाई को भी समझा। इसका हाथ पकड़ कर दोनों भैया चलो। देखें कौन जल्दी चलता है। अभी तक तुमने कुछ खाया नहीं। प्रातः तड़के ही कुछ जल्दी में तनिक सा कलेऊ किया था, अब तो दोपहर हो गया है। तेरे बाबा भोजन के लिये बैठे हैं, तुम्हारा पैंड़ा देख रहे हैं, तुम्हारी बाट जोह रहे हैं, चलो चलो मेरी बात मानो। (और यशों से कहती हैं) बालको ! तुम सब भी अपने अपने घर जाओ। फिर श्री कृष्ण से कहती हैं—"कनुआ छिः छिः तू कितना गंदा हो गया है, सब शरीर में धूल लगी है तेरे कपड़े भी कितने मैले हैं, देख तेरे सब साथी कैसे सजे बजे स्वच्छ सुंदर कपड़े पहिने हैं। चल आज तेरा जन्मदिवस है, तुझे स्नान कराऊँगी, अच्छे कपड़े पहिनाऊँगी, फिर तू अपने हाथों ब्राह्मणों को गोदान करना उनकी पूजा करना।" इस प्रकार माँ फुसला कर अपने लाल को ले जाती हैं उस दिन भले ही श्रीकृष्ण का जन्म दिवस न भी हो, तो भी जन्म दिवस के समान उत्सव करती हैं, ब्राह्मणों को गौओं का दान करती हैं, बाल गोपालों को मिष्टान्न खिलाती हैं, यही उनकी स्तुति प्रार्थना सेवा है।

भगवान् कुछ शब्दों के भूखे तो हैं नहीं। सरस्वती ही उनकी चेरी हैं, वे तो भाव के भूखे हैं उन्हें चाहे जिस सम्बन्ध को मान कर प्रेम भाव से भजो, वे प्रसन्न हो जाते हैं। अभी कुछ ही दिन पूर्व की बात है बरेली में भी ऐसी ही एक बुढ़िया माँ थी, वह भी श्री कृष्ण को अपना पुत्र मान कर सेवा करती थी। उसके यहाँ जो श्री कृष्ण की प्रतिमा थी, उससे ही वह बातें करती थी और सुनते हैं, वे श्रीकृष्ण भी उनसे बोलते चालते थे, बहुत-सी प्रत्यक्ष बातें वे बताते थे, उन सबका किसी पिछले प्रसंग में उल्लेख किया गया।

है। इस प्रकार वात्सल्य में फुसलाना डाँटना डपटना ही स्तुति मानी गयी है।

सख्य भाव में भी दास्य की भाँति 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' स्तुति नहीं की जा सकती उसमें व्यंग से, हँसी में सरलता के साथ कहा जाता है, जैसे गोचारण के समय वनमें सखागण श्रीश्यामसुंदर को कोमल कोमल पत्तों की शैया बनाकर सुला देते थे, कोई उनके पैर दबाते, कोई हँसी विनोद करते, कोई उनके बल की प्रशंसा करते। कोई कहते भैया तैंने बड़े बड़े असुर राक्षस तथा राक्षसियों को मार डाला, किन्तु इस भूख राक्षसी को नहीं मारा। यह डाँइन हमें बहुत पीड़ा पहुँचा रही है, हमारी इस भूख को तू और शांत कर दे, तू बड़ा बली अपने को लगाता है। कोई कहते—अमुक बन में बड़े सुंदर ताल के फल हैं कनुआ भैया, यदि उन्हें तू हमें चखादे, तब हम तेरा पराक्रम जानें।" ये सभी प्रार्थनायें ही हैं और इन सब में श्रीकृष्ण का महत्व सन्निहित है, तथा प्रेम ओत प्रोत है। प्रेम का ही नाम रस है। जैसे दूध है सामान्य गरम करके अनुपात की मिश्री मिला दी यह दास्य रस हो गया। दूध को तनिक और गाढ़ा करके मिश्री की मात्रा बढ़ा दी वात्सल्य हो गया। दूध को आधा जला दिया अधौटा करके उसमें मीठा और अधिक कर दिया यही सख्य हो गया। उसीको ओटाते ओटाते रबड़ी बना दी जमे हुए लच्छे खुरच खुरच कर उसमें डाल दिये मीठा आधे आधका मिला दिया बस यही मधुर रस है, देखते ही जीभ में से पानी बहने लगे, यदि जीभ पर रख दिया जाय तो क्या कहना है। अब इसके भी संस्कार कर लिये जायँ, तनिक केवड़ा या गुलाब जल का सत् मिला दिया जाय इलायची, जावित्री, केसर, कस्तूरी जायफल मिला दिये जायँ, सोने चाँदी के वरक लगा दिये जायँ, यही निकुंज रस हो गया।

इसमें रूप रंग का भेद भले ही हो जाय किन्तु दूध और चीनी पदार्थ सबमें एक ही है। गाढ़ापन और माधुर्य के आधिक्य से ही इनके नाम और स्वाद में आनंद आता है।

दास लोग जो बार बार दंडवत करते हैं, पैरों में पड़े रहते हैं इसमें भी सुख है, किन्तु माता जो एक प्रेम का चपत लगा देती है, उसके सम्मुख दास्य का समस्त सुख तुच्छ है। माता की अपेक्षा सखागण जो ऊपर चढ़ जाते हैं, कसकर छाती से चिपटा लेते हैं, उसका स्वाद ही विलक्षण है, जो मुख में आया वही कह दिया, गाली भी दी और इच्छा हुई तो पैर भी छू दिये ईश्वर भी कह दिया और मन में आई तो युद्ध के लिये ललकार भी दिया, किचकिचाय के ऊपर भी चढ़ बैठे "खेलन में कोका को गुसैयाँ।" यही सख्य का रस है।

सख्य की बहुत सी कथायें हैं। अभी लगभग १०,१५ वर्ष पहिले की ही बात है, ब्रज में वर्षा नहीं हुई अकाल पड़ गया। गैयाँ आदि पशु भूखों मरने लगे। सर्वत्र त्राहि त्राहि मच गयी। उसी समय नन्द गाँव की ओर से कंधे पर लट्ठ रखे एक गाँव का गँवार ग्वाला आया। वह सीधा बाँकेविहारीजी के मंदिर में घुस गया। वहाँ जाकर न दंडवत न प्रणाम। उसने विहारी जी को गाली देना आरंभ किया। ऐसी ऐसी बुरी गाली दी कि दर्शक चकित रह गये। परन्तु किसी का कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। सब जानते थे वह भावावेशमें है, भीड़ लग गयी, लोग खड़े खड़े उसके मुख की ओर देखें। उसकी दृष्टि विहारीजी की ही ओर थी, अन्य किसी को वह देखता ही नहीं था। दाँतों को किट किटा कर कहता—"सारे, यहाँ बैठा है तेरी गैयाँ मर रही हैं। अपने को ईश्वर बताता है, पानी नहीं बरसाया जाता। सब गैयाँ मर जायँगी, तो तू खायगा क्या? दूध कहाँ से आवेगा?

मक्खन कहाँ से आवेगा ? ऐसा कहे और बड़े जोर से बिलख बिलख कर रोवे। फिर रोते रोते प्रार्थना भी करने लगे। देख, भैया ! तू मान जा मेरी बात, पानी बरसा दे। इन्द्र तेरी इतनी बात भी नहीं मानेगा। पहिले तैंने सुना गोवर्धन धारण किया था। फिर कुछ कहे फिर गाली देने लगे। लाठी को योंयों करके घुमावे, फिर लोट जाय, फिर दंडवत करे, फिर गाली देने लगे। इस प्रकार वह लगभग घन्टा पौन घंटा तक अपने ढँग से विहारीजी की स्तुति करता रहा। जिन दर्शकों ने इस घटना को प्रत्यक्ष देखा है, उनका कहना था कि उस समय आकाश स्वच्छ था, एक भी मेघ का चिन्ह नहीं था। क्षण भर में ही क्या चमत्कार हुआ कि एक छोटी-सी बदली आई शनैः शनैः वह बढ़ने लगी। घटायें छाने लगीं और वह जोरका जल गिरा कि वसुन्धरा समस्त जलमग्न हो गयी। सबके सब दर्शक सख्य रस के अम्बु से सराबोर हो गये। घंटे दो घंटे खूब जल गिरा, वह पट्ठा अपनी लाठी कंधे पर रख कर यह गया वह गया। जहाँ से आया था वहीं सीधा चला गया। इसी का नाम सख्य रस है, यह सिखाने से नहीं आता। जिसे श्यामसुन्दर सखा कहकर वरण कर लेते हैं, वही उनका सखा हो जाता है "यमेष वृणुते तेन लभ्यः"

मधुर रस की स्तुति और भी विलक्षण है। वहाँ कितव ! धूर्त ! ठगिया, छली, चितचोर ये ही सर्वश्रेष्ठ सम्बोधन समझे जाते हैं। भगवान् उतने प्रसन्न सर्वस्व वेद की ऋचाओं से नहीं होते, जितने व्रजसीमन्तिनी भाग्यवती ऋचाओं की ही मूर्ति उन व्रजाङ्गनाओं की मीठी गालियों से होते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण गोपिका गीत है। गोपिकागीत में मधुर भाव का जितना उत्कृष्ट उदाहरण है, उतना विश्व साहित्य में मधुर रस का सर्व श्रेष्ठ उदाहरण खोजने पर भी स्यात कहीं मिले। यहाँ

गोपिका गीत की व्याख्या करने का मेरा उद्देश्य भी नहीं और स्थान भी नहीं। ये सब रस सम्बन्धी बातें तो भगवान् ने लिखायीं तो कभी समयानुसार विस्तार के साथ लिखी जायँगी।

यह प्राणी संसार में आकर सबसे पहिले आहार की चिन्ता करता है चाहे पशु हो, पक्षी हो, अंडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज सबको ही आहार चाहिये। "आहारनिद्रा भयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणां" आहार के पश्चात् जब पेट भर गया तो विषय सुख की इच्छा होती है। विषय की इच्छा भी पशु पक्षी मनुष्य स्त्री पुरुषों में समान रूप से होती है। एक विषय सामग्री को अपनी ही मानकर उसपर अपना ही जो अधिकार जमा लेता है, उससे दूसरे स्वभावतः द्वेष करने लगते हैं, उसका अनिष्ट करना चाहते हैं, द्वैतभाव स्थापित कर लेते हैं। दूसरों से भय होता ही है, भय से रक्षा पाने के लिये प्राणी विविध उपाय करता है, रहने का स्थान बनाता है, भय निवारण की सभी सामग्री जुटाता है। इतना तो सभी प्राणी करते हैं, अब मनुष्य अपने को बुद्धिमान लगाता है, तो वह इस लोक के अतिरिक्त परलोक पर विचार करता है, सामान्य शक्ति से भी परे महानशक्ति (परमात्मा) की खोज करता है, उनका चिंतन करता है। भगवान् को मानना यही मानवता है। यदि भगवान् को न माने केवल आहार निद्रा, भय और मैथुन में ही समय व्यतीत कर ले, तो मानव की मानवता क्या रही, बुद्धि का सदुपयोग क्या हुआ। अपनी बुद्धि से आहार की और मैथुन की खोज तो सभी प्राणधारी कर लेते हैं। ईश्वर को जो माने वही मानव। इससे सब लोग ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करते हैं, वही स्तुति प्रार्थना वेद कही जाती है।

प्रत्येक वस्तु के रचनात्मक और ध्वंसात्मक दो पहलू होते हैं। मानव स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, जितने मनुष्य उतने

स्वभाव। ईश्वर के सम्बन्ध में भी दो धारायें बहीं। कुछ लोगों ने कहा—हम ईश्वर को क्यों माने? ईश्वर को मानने से क्या होता है? यदि हम ईश्वर को न माने तो देखें ईश्वर हमारी जीभ काट दे, हमारा हाथ पैर तोड़दे।" वे ईश्वर का निषेध करने लगे। निषेध करने पर भी न तो उनकी जिह्वा गिरी न हाथ पैर ही ईश्वर ने तोड़े। तब तो वे ललकारकर डंके की चोट कहने लगे—"वेदों को स्वार्थी धूर्तों ने रचा है, कुछ धूर्त हैं, कुछ भांड हैं कुछ निशाचर हैं, इन सबने तीन वेदों को बनाया है, ईश्वर कुछ नहीं परलोक कुछ नहीं, श्राद्धतर्पण स्तुति प्रार्थना कुछ नहीं। खाओ पीओ विषय सुख भोगो। जब तक शरीर है तभी तक सुख है, शरीर के अन्त होने पर भूत भूत में मिल जायँगे, कुछ भी न रहेगा।" इसपर सर्वप्रथम तर्कों द्वारा ईश्वर का नास्तित्व सिद्ध करने की चेष्टा हुई। उसी विचार का नाम दार्शनिक हुआ उसने बुद्धि से अन्वेषण किया, देखा, साक्षात्कार किया कि ईश्वर नाम का कोई जन्तु नहीं है।

बुद्धि कुछ "नास्ति" मानने वालों के ही भाग में थोड़े ही आ गयी थी, बुद्धि तो सबके पास थी, कुछ लोगों ने उनकी तर्कों का खंडन किया और उन्होंने बुद्धि द्वारा यह सिद्ध किया कि ईश्वर है। वास्तव में ईश्वर कोई तर्क से सिद्ध होने वाली वस्तु तो है नहीं। वह तो श्रद्धा की, भावना की, विश्वास की, भक्तिभाव की वस्तु है, किन्तु लोहा लोहे से ही काटा जा सकता है, तर्क की बात तर्क द्वारा ही काटी जानी चाहिये। इसलिये आस्तिक नास्तिक दोनों ही दर्शनों की कसौटी तर्क है, जिसकी तर्क जिससे प्रबल बैठ जाय वही जीता, दूसरा हारा। इस प्रकार आस्तिक नास्तिकों का तर्क युद्ध होने लगा। जब तर्क को लोग बुरा न मानने लगे तब तो सगुण निर्गुण का विवाद चला। तब

भिन्न भिन्न वाद चले। भिन्न-भिन्न वादों के भिन्न भिन्न मुनि हुए। उनके नाम से वादों का नामकरण हुआ।

भगवान् तर्क के विषय नहीं श्रद्धा के विषय हैं, श्रद्धावान् ही उनके ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। भगवान् को मानो। क्यों मानें ? इसीलिये कि मनुष्य को उन्हें मानना चाहिये। नास्तिक भी उन्हें मानता है किन्तु वह नहीं साथ में लगाकर मानता है। आस्तिक कहता है—"ईश्वर है" नास्तिक कहता है "ईश्वर नहीं है।" है, इसे दोनों ही स्वीकार करते हैं, एक आस्तिक भावसे दूसरा नास्तिक भाव से। किन्तु फिर भी नास्तिक से आस्तिक सरस है, आस्तिक से भी निर्गुण निराकार रूप भगवान् का मानने वाला सरस है, उससे भी सरस वह सगुण उपासक है जो भगवान् का रूप मानकर उनके हाथ, पैर, आँख, मुख, नाक मानकर उन्हें वस्त्राभूषण पहिनाता है, भोग लगाता है, आरती करता है, सदा सेवा पूजा में सन्नद्ध रहता है। प्रातः मङ्गला से लेकर सायंकाल शयन आरती तक विविध सेवा में तत्परता के साथ लगा रहता है। उससे भी भाग्यशाली सरस वे हैं जो भगवान् को अपना पुत्र मानकर लाड़ लड़ाते हैं, उनकी सदा साज सम्हाल देख रेख करते हैं। उनसे भी सरस वे हैं जो कृष्ण को अपना सखा समझ कर उन्हें मल्लयुद्ध के लिये चिनौती देते हैं। निधड़क उन्हें अपना जूठा खिलाते हैं। कुछ अपने को श्रीकृष्ण से बड़ा सखा समझते हैं, कुछ बराबर का सखा कुछ अपने से बड़ा सखा। जो भगवान से अपने को बड़ा मानते है, उनमें सख्य के साथ वात्सल्य अधिक रहता है।

अयोध्या में एक ब्राह्मण थे। वे वसिष्ठ गोत्रीय थे, गुरुवंश के होने के नाते वे रामजी को अपने से छोटा मानते थे। बाजार से अच्छी से अच्छी माला खरीद कर लाते स्वयं उसे पहिनकर

कनकभवन में जाते और अपने गले से माला उतारकर कनक-भवन के ठाकुरजी को पहिना देते। जो दास्य भाव के उपासक सन्त थे, उन्हें यह बात बहुत ही बुरी लगती थी। वे पंडितजी को अभिमानी समझने लगे, भीतर के भाव को तो भगवान् ही समझते हैं दूसरे लोग तो बाहरी आचरण को ही महत्त्व देते हैं। जब सन्तों पर यह बर्ताव नहीं देखा गया, तब सबने उनसे बड़ी नम्रता से कहा—"पंडितजी! आपका चाहें जो भाव रहा हो, भगवान् के साथ ऐसा बर्ताव उचित नहीं। हम लोगों को इससे बड़ा कष्ट होता है।"

पंडितजी ने संभ्रम के साथ कहा—"महात्माओं! मेरा कोई अन्यथा भाव नहीं था, हम लोगों की स्तुति करने का ढँग यही रहा है, भगवान् ने सदा हमसे आशीर्वाद ही चाहा है और उनका रुख समझकर हम उन्हें आशीर्वाद ही सदा से देते आये हैं। यदि आपको इससे कष्ट होता है, तो कल से मैं ऐसा नहीं करूँगा। कल से अमनिया ही माला चढ़ाया करूँगा।

दूसरे दिन पंडितजी अमनिया माला लेकर गये, तो भगवान् ने उनकी अमनिया माला स्वीकार नहीं की। सेवाधिकारी को रात्रि में स्वप्न हुआ—पंडितजी की तो हमें प्रसादी ही माला प्रिय है।"

भगवान् की तो सनातन की प्रतिज्ञा है कि भक्त मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसे उसी भाव से भजा करता हूँ अतः सख्य में जो सरसता है, वह अन्य रस में कहाँ हो सकती है।

सख्य से भी सरस सुखद मधुर भाव है, मधुर तो फिर मधुर ही है, उस मीठे के सम्बन्ध में अब क्या कहें। मधुर में भी गोष्ठ की लीला उससे भी मीठी वन की लीला, उससे भी मीठी कुंज की लीला, और उससे भी बढ़कर निकुंज की लीला। निकुञ्ज की अति रहस्यमयी लीला तो मधुर रस की परमकाष्ठा गति है, अन्तिम गति है। उसमें प्रियतम को सुखी बनाने की परम व्याकुलता है, प्यारे को कष्ट न हो, मैं अपना सर्वस्व समर्पित करके अपने प्राणवल्लभ को रिझाऊँगी, सुखी बनाऊँगी। उनको किसी भी कारण से किसी प्रकार का भी कष्ट न हो। गोपीगीत के अन्त में अपनी भावना को व्यक्त करते हुए गोपिकायें गा रही हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रियदधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

स्त्रियों का सबसे गुह्य मर्म सुकोमल और परम लज्जामय स्थान हृदय है, उसे केवल पति ही स्पर्श कर सकता है, या पति स्वयं उसके उदर से आत्मज बनकर उसका स्पर्श कर सकता है। अन्य पुरुष के स्पर्श करने की तो बात ही क्या उसे दृष्टि उठाकर देख भी नहीं सकता।

व्रजाङ्गनायें कह रही हैं—"नाथ! हमें अपने लिये कोई दुख नहीं। जब हम अपना तन, मन, धन; मन, बचन, करम सभी आपको समर्पित कर चुकीं, तो अपने दुख सुख की चिन्ता तो कर

ही कैसे सकती हैं। हम तो अपने प्राणों को भी एकमात्र आपके ही निमित्त धारण करती हैं। हमारा जीवन धारण करना सर्वथा आपके ही लिये हैं। हमारे जीवन के आधार जो अति कोमल, अति सुखद, परम सरस, कमल के भीतर की कोमल कोमल पंखुड़ियों से भी अधिक कोमल अरुणवरण के जो चरणारविंद हैं, हम तो उनकी ही दुर्गति को स्मरण करके अत्यंत व्यथित हो रही हैं। वे इतने कोमल हैं, कि जब उन्हें हम अपने हाथों से उठाकर अपने हृदय पर रखती थीं, तो हमारे रोयें खड़े हो जाते थे, हम सोचती थीं, कहाँ हमारे ये अत्यंत कर्कश कठोर कुच और कहाँ ये परम सुकोमल चरणारविन्द। हम अत्यंत ही भयभीत होकर बहुत हौले होले-धीरे से-उन्हें हृदय पर रखती थीं, इतने से ही वे रक्त वर्ण के चरणारविन्द और भी अधिक रक्त वर्ण के बन जाते थे, हमारे हृदय की कठोरता को वे सहन ही नहीं कर सकते थे। हाय! आज वे ही चरणारविन्द बिना किसी आवरण के नंगे ही कठिन अवनि पर विचरण कर रहे होंगे। वृन्दावन की अवनि तो हमारे हृदयों से भी अधिक ऊबड़ खाबड़ कठिन और कर्कश है। हम अपने हृदयों पर उन पद पंकजों को धारण करती थीं, तो कुंकुम आदि का लेप कर लेती थीं जिससे कठोरता कम कष्टप्रद प्रतीत हो, किन्तु आप तो उन युगल कमल चरणों से वैसे ही सूखी अवनि पर विचर रहे होंगे। इस बात को स्मरण करके रह रहकर हमारा हृदय भर आता है, हमारी बुद्धि विमोहित हो जाती है। हे प्राणवल्लभ! हमारे ऊपर कृपा करके उन सुकुमार चरणों को अब अधिक कष्ट मत दो। अब आ जाओ।

यही मधुर भाव की स्तुति है। इन स्तुतियों के पश्चात् "भागवत दर्शन" के ये ही विषय हैं, इन पर कैसा और कब प्रकाश डाला जायगा, इसे यही रसिक चूड़ामणि रासिकेन्द्र शेखर श्यामसुंदर ही जानें। हम तो उनके यन्त्र हैं। बस आज इतना ही, अब पाठक गण स्तुतियों को ध्यानपूर्वक पढ़ें सुनें यही सबसे मेरी विनय है। भगवान् सभी का भला करें, सभी को अपनी अहैतुकी भक्ति प्रदान करें। सभी के मन शुद्ध हों, सभी मुझे भक्ति का आशीर्वाद दें। मंगलानु शासन करें।

छप्पय

प्यारे हित मन प्रान बचन तन धन सब होवैं।
प्यारे को मुख कमल प्रेम तैं पल पल जोवैं॥
प्यारे कूँ सुख मिलै करैं कारज सोई नित।
प्यारे में ही लग्यो रहै अविरल चंचल चित॥
प्यारे के सुख में सुखी, प्यारे को दुख देइ दुख।
प्यारे में ही भाव सब, प्यारे में सब निहित सुख॥

कुरुक्षेत्र में मुनियों द्वारा भगवान् की स्तुति

(११३)

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमावयम्,
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रं भगवत्विचेष्टितम् ॥

(श्रीभा० १० स्क० ८४ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

प्रभु की इस्तुति मुनिनि लोक शिक्षा हित जानी ।
हरि ने जो कछु कही लोकसंग्रह ही मानी ॥
बोले—तुम सरवज्ञ करो नर लीला प्रभुवर ।
करि सब कछु नहिँ करो पुरातन पुरुष पराबर ॥
बरनाश्रम रक्षक विभो, धरम हेतु अवतार धरि ।
बिप्रनि आदर देहु तुम, अतिशय अनुनय विनय करि ॥

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए मुनिगण कह रहे हैं—"जिन प्रभु की माया से तत्त्व ज्ञानियों में श्रेष्ठ हम भी विमोहित हो रहे हैं, तथा विश्व को सृजन करने वालों के भी अधीश्वर प्रजापतिगण मोहित हो गये हैं जो अपनी गूढ चेष्टाओं से ईश्वर होकर भी जीववत व्यवहार कर रहे हैं, अहो उन भगवान् की चेष्टायें बड़ी ही विचित्र हैं ।

भगवान् की जितनी भी स्तुति की जाय, उतनी ही न्यून है, कारण कि भगवान् तो सर्व गुणालय हैं। स्तुति में हम यही तो कहते हैं, आप ऐसे हैं वैसे हैं, आपमें ये गुण हैं, वे गुण हैं, किन्तु भगवान् तो सर्वगुण निधान हैं, अतः उनकी प्रशंसा की ही नहीं जा सकती और बिना प्रशंसा किये कोई रह भी नहीं सकता। अतः ऋषि मुनि तथा सभी प्रकार के भक्त भगवान् की स्तुति ही किया करते हैं, प्रभु की स्तुति, विनय, प्रार्थना करना यही उनके जीवन का लक्ष्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने कुरुक्षेत्र में अपने डेरे पर पधारे हुए ऋषि मुनियों की स्तुति की, तब ऋषि मुनि भगवान् की स्तुति करते हुए कहने लगे—"प्रभो! आपकी माया अपरम्पार है। उसका पार पाना प्राणियों के लिए बड़ा ही दुष्कर है। साधारण प्राणियों की तो बात क्या जितने प्रजापति उनके अधीश्वर मरीचादि मुनिगण या साक्षात् ब्रह्मा जी भी आपकी माया से विमोहित बन जाते हैं। हम लोग अपने को तत्व ज्ञानियों में श्रेष्ठ समझते हैं। किन्तु हम लोग भी आपकी मोहिनी माया के चक्कर में पड़ जाते हैं। आप सर्वेश्वर हैं, सर्वात्मा हैं सब कुछ करने में समर्थ हैं। यह सब होने पर भी आप साधारणबद्ध जीवों के समान चेष्टा करते हैं। अपने को परतन्त्र बताकर हम लोगों की स्तुति विनय कर रहे हैं। धन्य है आपकी लीला को। बलिहारी है ऐसे अभिनय की। आपकी क्रीड़ा को कोई समझ नहीं सकता।

प्रभो! जैसे पृथिवी कहीं काली हो जाती है, कहीं भूरी हो जाती है, कहीं लाल हो जाती है, कहीं सुगन्ध युक्त बन जाती है, कहीं दुर्गन्ध वाली हो जाती है। पृथिवी तो एक ही है, किन्तु विभिन्न पार्थिव पदार्थों के नाना रूप वाली सी दिखाई देती

है, जिनके कारण उसका रूप कुछ का कुछ हो जाता है। वे पदार्थ भी पृथिवी के ही हैं। इसी प्रकार आप इस चित्र विचित्र जगत् की स्वयं ही रचना करते हैं, स्वयं ही पालन करते हैं और स्वयं ही संहार भी करते हैं, स्वयं चेष्टा भी नहीं करते फिर भी सब कुछ होता है और आप ज्यों के त्यों निर्लिप्त के निर्लिप्त भी बने रहते हैं। कैसी अद्भुत है आपकी लीला। आप सर्व-व्यापक का यह चरित्र विचित्र है, परम पवित्र है, लीला मात्र ही है।

प्रभो! आप किसी भी प्रकार प्राकृत नहीं सदा सर्वदा प्रकृति से परे ही रहते हैं, आप परमात्मा हैं परम पुरुष हैं, सनातन हैं, पुराण पुरुष हैं। निर्गुण निराकार हैं। यह सब होने पर भी आप समय समय पर शुद्ध सत्त्वमय शरीर धारण करके अवतार भी लेते हैं। भाँति भाँति की क्रीड़ा करते हैं। दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन भी करते हैं। अपने अद्भुत अलौकिक आचरणों से सनातन वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं, वेद मार्ग की रक्षा करते हैं और वर्णाश्रम धर्म का अभ्युदय करते हैं, क्योंकि गुणकर्म स्वभाव से चारों वर्णों की रचना आपके ही द्वारा हुई है। आप इसके आत्मा है आधार हैं।

भगवन्! आप ज्ञानमय हैं। वेद आपका हृदय है और उस वेद को ब्राह्मण धारण करते हैं। इसीलिये ब्राह्मण सबसे अधिक पूजनीय माने जाते हैं और आप भी उनका आदर करते हैं। वेदों के ही द्वारा कार्यरूप, कारणरूप, व्यक्तरूप और अव्यक्तरूप—तथा कार्य कारण से विलक्षण विशुद्ध सत्स्वरूप आपकी उपलब्धि होती है। आपके स्वरूप की उपलब्धि वेदों द्वारा ही संभव है। वेदों का अधारभूत आपका सत्स्वरूप है। अन्य उपायों से वह हो नहीं सकती। उन वेदों की जो प्राणों के

समान रक्षा करते हैं, उनका सम्मान सबको करना ही चाहिये। आप स्वयं आचरण न करेंगे तो दूसरे कैसे कर सकते हैं। आप स्वयं अनुकरण करके दिखाते हैं, इसीलिये आप सबसे बड़े ब्रह्मण्यदेव हैं। ब्राह्मणों के भक्तों में आप सर्वोपरि हैं, अग्रगण्य हैं।

स्वामिन्! संसार में जितने भी मंगल हैं, जितने भी कल्याण हैं, उन सब की अवधि आप ही हैं। संतों के सज्जन पुरुषों के एक मात्र आश्रय आप ही हैं, आप ही उनकी परम गति हैं। प्रभो! मानव जन्म धारण करने का परम फल यही है, कि आप के दर्शन हो जायँ, जिस जन्म में जीव को आप के दर्शन नहीं हुए वह जन्म व्यर्थ है। विद्या वही है जो संसार से हटाकर आप के चरणों में पहुँचा दे। विद्या की सार्थकता आपके दर्शनों में ही है। यदि सर्वशास्त्रों का विद्वान भी है, किन्तु आपसे विमुख है, आपके दर्शनों के लिये प्रयत्नशील नहीं है, तो उसकी विद्या व्यर्थ है। जिसकी विद्या केवल पेट भरने का साधन मात्र ही है उसकी विद्या में और अविद्या में अन्तर ही क्या रह गया। विद्या वही सच्ची है जो आप का साक्षात्कार करा दे।

बहुत से लोग संसारी विषयों का परित्याग करके नित्य निरन्तर तप में ही निरत रहते हैं, किन्तु यदि वह तप संसारी भोगों के पाने के लिये या स्वर्गीय सुखोंके निमित्त है, तो वह तप निरर्थक है। वह तो अल्प भोगों से बहु भोग, साधारण भोगों से दिव्य भोग प्राप्त करने का साधन मात्र है। तप का एकमात्र उद्देश्य आप के दर्शन ही होना चाहिये। जो तपस्या करके केवल आपके दर्शन ही चाहते हैं, उन्हीं का तप यथार्थ तप है। स्वामिन्! यही बात ज्ञान के सम्बन्ध में है। ज्ञान का फल मुक्ति है, आपके चरणों में अनन्य भक्ति है। ज्ञान से आप के दर्शन हो जायँ, तो

वह यथार्थ ज्ञान है और यदि उससे घट पट और पंचभूतों के मिश्रण से नाना भाँति की भोग सामग्री निर्माण का ही कार्य लिया जाय, तो वह ज्ञान तो अज्ञान के ही समान है।

प्रभो! हम सब मुनि गण तपोधन कहलाते हैं। उत्तम कुल में हमारा जन्म हुआ है, हम चिरकाल से विद्या, तपस्या तथा ज्ञान के अर्जन में लगे रहते हैं। आज आप के देव दुर्लभ दर्शनों से ही उत्तम कुल का जन्म लेना, विद्याभ्यास, तपस्या, तथा ज्ञानार्जन का प्रयास ये सबके सब सफल हो गये। प्रभो! जैसे सूर्य अपने से ही उत्पन्न मेघों द्वारा ढक जाते हैं, ऐसे ही आपकी महामहिमा भी आप से उत्पन्न योग माया द्वारा आच्छादित है। आप अपने ओज, तेज प्रभाव और भगवत्ता को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भला सूर्य कहीं छिप सकता है आप तो स्वयं प्रकाश हैं, अकुण्ठ बुद्धि वाले हैं, ऐसे आप श्री कृष्ण रूप में अवतीर्ण परब्रह्म परमात्मा के पाद पद्मों में प्रणाम है।

हे महामहिम! आप अपने को जताना नहीं चाहते, आप योग माया की यवनिका में छिपे रहते हैं। आप परमात्मा हैं, सब में समान रूप से व्यापक हैं। इस दृश्य प्रपंच के सर्वादि कारण हैं, इसका संचालन भी आप के द्वारा हो रहा है, किन्तु हो रहा है पर्दे की ओट से। जैसे कटपुतलियाँ सब नाचती तो नचाने वाले के संकेत से ही हैं, किन्तु उनका नचाने वाला सूत्र को पकड़े सूत्रधार यवनिका के भीतर बैठकर सबको संकेत करता है। तभी वे नाच सकती हैं। इसी प्रकार इस जगत का नियन्त्रण आप के द्वारा ही हो रहा है। आप ही इस जगत के कर्ता भर्ता संहर्ता हैं, इतना सब होने पर भी आप ऐसे छिपे हुए हैं, कि ये राजा गण आप को अपने ही समान साधारण क्षत्रिय वीर

ही मानते हैं। और की तो बात ही क्या जिनके कुल में आपने जन्म धारण किया है जो शैया, शयन, स्नान भोजनादि में सदा आप के साथ रहते हैं, वे भी आपको जान नहीं पाये हैं, ये भी आप को अपने कुल का एक श्रेष्ठ व्यक्ति ही समझते हैं।

हे देव! जिनकी विवेक शक्ति अज्ञान से आच्छादित हो गयी है। वे लोग भला आप के तत्व को कैसे जान सकेंगे। उनका चित्त तो इन्द्रियों को-माया के कारण-प्रिय लगने वाले विषयों में ही भटकता रहता है। ये संसारी विषय स्वप्न के समान हैं। जैसे स्वप्नावस्था में पुरुष राज्य, स्त्री, धन, वैभव वाहन आदि नाना पदार्थों को देखता है, उनका उपभोग करता है। सुख दुख का अनुभव करता है। उसका जो एक काल्पनिक इन्द्रियों वाला स्वप्न देह है उस समय उसे ही सत्य समझने लगता है। जो स्थूल शरीर शैया पर पड़ा है, उसका उसे स्मरण ही नहीं। जिन पदार्थों को स्वप्न में देखता है उन्हीं को सत्य समझता है। इसी प्रकार जागृत अवस्था भी एक स्वप्न ही है। अन्तर इतना ही है कि वह स्वल्प कालीन स्वप्न है यह दीर्घ कालीन स्वप्न है। पंचभूतों का बना यह देह भी स्वप्न देह के सदृश ही है। जैसे शैयापर पड़े यथार्थ स्थूल देह को स्वप्नाभिमानी भूल जाता है उसी प्रकार आप जो यथार्थ देही हैं उसे भूलकर जीव विषयों में सुख खोजता फिरता है, यही इस जीव का अज्ञान है। यथार्थ सुख तो आप के चरणारविन्द के मकरन्द पान में है।

हे रमारमण! मुनि जन चिरकाल की समाधि में आपके पादपद्मों का ही प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं। भक्तों के एक मात्र आश्रय ये श्री-चरण ही तो हैं। ये ही पाप पहाड़ों को दहा

देने वाले हैं। इन्हीं पाद पद्मों से कलिमल हारिणी, जगदुद्धारणी, समस्त अघविनाशिनी त्रिभुवन तारिणी श्री गंगा जी प्रकट हुई हैं। उन्हीं चरणारविन्दों का आज दर्शन पाकर हम कृतकृत्य हो गये। प्रभो ! हम आपकी शरण में हैं, हम आपके प्रपन्न हैं, हम शरणागत भक्तों पर कृपा कीजिये। हमें अपने चरण कमलों की भक्ति प्रदान कीजिये। प्रभो ! यह अभिमान ही हमें आपके पाद पद्मों के निकट आने से रोकता है। सबसे बड़ा अभिमान तो इस स्थूल देह का है। इसका किसी प्रकार अभिमान छूटे तो सूक्ष्म शरीर का अभिमान नाच नचाता है, वह भी नाना भोगों को भुगाता है। इससे भी आगे लिंग शरीर का अभिमान है, जब आपकी अत्यन्त उत्कट भक्ति द्वारा लिङ्ग देह रूप जीवकोश गलित है तभी आपके परम पावन पद की प्राप्ति संभव है। सो हे श्यामसुंदर ! आप हमें अपना करके अपनाइये। हमें वरण कीजिये, हमें अपने चरणों की शरण दीजिये। हमें अपनी अहैतुकी भक्ति प्रदान करें। आप के पुनीत पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ऋषि मुनियों ने भगवान की स्तुति की। फिर वसुदेव जी की प्रार्थना से सभी ने मिलकर कुरुक्षेत्र में वसुदेव जी से एक बड़ा भारी यज्ञ कराया। यह मैंने ऋषि मुनियों की की हुई श्री कृष्ण स्तुति कही, अब जैसे राम कृष्ण के पिता श्री वसुदेव जी ने राम श्याम की स्तुति की। उसे मैं आप सबसे कहूँगा। आशा है आप सब दत्त-चित्त से श्रवण करेंगे।

छप्पय

आजु सफल सब भये जनम तप ज्ञान सुबिद्या ।
माया मोहित जीव न जानें घिरे अविद्या ॥
स्वपन सरिस सब बिषय सार तव चरन कमल हैं ।
उद्गम सुरसरि मुनिनि ध्येय अति अमलविमल हैं ॥
जीव कोश होवै गलित, तब पावै नर परम पद ।
देहिं अलौकिक भक्ति प्रभु, शरनागत पालक बिरद ॥

पद

देव ! तुम छिपि लीला विस्तारो ।
माया रहित सनातन शास्वत, निरगुन रूप तिहारो ॥१॥
माया मोहित जीव न जानें, निरखें गोरो कारो ।
मंगल अवधि साधुजन आश्रय, भक्तनि विपति विदारो ॥२॥
भटकत फिरत जीव भव जल में, तिनिकूँ तुमही तारो ।
तुम ही पार लगाओ प्रभुवर, दीसत नहीं किनारो ॥३॥
सुरसरि जिनि चरननि तैं निकसीं, संतनि सुखद सहारो ।
तिनि चरननि की शरन लई है, प्रभु जगके दुख टारो ॥४॥

ऋषिमुनिकृत श्रीकृष्ण स्तुति

मुनयः ऊचुः

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं,
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया,
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१॥

अनीह एतद् बहुधैक आत्मना,
सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी,
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥२॥

अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये,
बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।
स्वलीलया वेदपथं सनातनं,
वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥३॥

ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
यत्रोपलब्धं सद् व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥४॥

तस्माद् ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः ।
सभाजयसि सद्धाम तद् ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥५॥

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया संगम्य सद्गत्या यदन्तःश्रेयसां परः ॥६॥
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥७॥
न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥८॥
यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥९॥
एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया ।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥१०॥
तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष,
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।
उत्सिक्तभक्त्युपहृताशयजीवकोशा,
आपुर्भवद्गतिमथोऽनुगृहाण भक्तान् ॥११॥

—:o:—

श्रीवसुदेवकृत रामश्याम की स्तुति (१)

[११४]

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन ।
जाने वामस्य यत्साक्षात् प्रधान पुरुषौ परौ ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

कुरुक्षेत्र तैं गये द्वारका हरि बल फिरितैं ।
ईश्वर हैं बल कृष्ण सुनी बसुदेव मुनिनितैं ॥
इक दिन लखि एकान्त विनय बसुदेव सुनाई ।
प्रकृतिपुरुषपति परमपिता तुम दोऊ भाई ॥
जगकूँ रचि पालन करो, तुम ही सबकूँ संहरो ।
जग नायक जगदीश प्रभु, तुम जो चाहो सो करो ॥

भगवान् जब अवनि पर अवतीर्ण होते हैं, तब चिरकाल तक अपनी भगवत्ता को छिपाये रहते हैं। जब सर्वज्ञ पुरुष उनकी भगवत् भाव से स्तुति करते हैं, तब उनके चिर परिचित सगे सम्बधी भी कुछ काल को उनके ऐश्वर्य के सम्मुख नत हो जाते

---

* श्री वसुदेवजी अपने पुत्र रामकृष्ण की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे कृष्ण ! हे श्रीकृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे सनातन संकर्षण ! मैं आप दोनों को इस जगत् के कारण रूप प्रकृति और पुरुष का भी कारण समझता हूँ, अर्थात् तुम पुरुषोत्तम हो।"

हैं। ऐश्वर्य से माधुर्य में रस अधिक है और यह प्राणी अत्यंत स्वादिष्ट रस के ही लिये सदा लालायित बना रहता है, इसलिये ऐश्वर्य को माधुर्य दबा लेता है, और फिर भगवान् को साधारण व्यक्ति अपना सगा सम्बन्धी समझने लगते हैं। यही भगवान् की लीला है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कुरुक्षेत्र में विधिवत यज्ञ सम्पन्न करके वासुदेवजी अपने कुटुम्ब परिवार तथा रामकृष्ण के साथ अपनी पुरी द्वारका में लौट आये। कुरुक्षेत्र में जो व्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, अंगिरा, सनकादिमुनि तथा अन्यान्य सभी बड़े बड़े ऋषि महर्षियों ने श्रीकृष्णचन्द्र को पूर्ण परब्रह्म बताया और उनकी भगवत् बुद्धि से स्तुति की, तब इस बात पर एक दिन वसुदेवजी ने विचार किया, कि इतने बड़े बड़े ऋषि महर्षि महापुरुष बलराम और श्रीकृष्ण को परमात्मा बताते हैं और मैं उन्हें अपना पुत्र मानकर उनपर शासन करता हूँ, यह मैं अनुचित करता हूँ। यह सोचकर वे एक दिन एकान्त में रामकृष्ण दोनों के समीप गये और भगवत् बुद्धि से उन्हें प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे।

राम और कृष्ण की स्तुति करते हुये वसुदेवजी कहते हैं—"हे कृष्ण ! हम तो तुम्हें काले रंग का कृष्ण समझे बैठे थे, अपना पुत्र, किन्तु तुम तो जगत को अपनी ओर आकर्षित करने वाले निकले। हम तो तुम्हें यदुवंश में श्रेष्ठ एक उत्तम यादव मानते थे, किन्तु अब ज्ञात हुआ कि आप तो महायोगेश्वर हैं। हे संकर्षण ! तुम्हें भी हम अत्यन्त बलशाली एक यादव ही समझते रहे, किन्तु तुम तो सनातन परमपुरुष परमात्मा हो। जगत् के कारण प्रकृति

पुरुष जीव समूह-माया-ये जो दो बताये गये हैं आप इन दोनों से परे हैं। इन दोनों के कारण हैं। जैसे जीवसे देह भिन्न है उसी प्रकार आप भी इन दोनों से भिन्न हैं, इनके नियन्ता हैं, संचालक हैं। ऐसा मेरा अब विश्वास हो गया है। ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रभो! संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आप से पृथक् हो। यह संसार आप का शरीर है। आप ही इसका संचालन कर रहे हैं। कोई भी कार्य किसी आधार पर होता है। निराधार कोई कार्य होता नहीं। यह जगत् आपके ही आधार से होता है। सभी कार्यों का कोई कर्ता अवश्य होता है। इस जगत के एक मात्र कर्ता आपही हैं। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। जैसे घड़ा बनाने के लिये चाक, डोरा, जल, डंडा आदि साधन आवश्यक होते हैं। इस जगत् के साधन भी आप ही हैं। कोई भी पदार्थ किसी वस्तु से बनता है, जैसे सूत से वस्त्र, मिट्टी से घड़ा आदि। इस जगत् के निमित्त कारणरूप पदार्थ भी आपही हैं। सब पदार्थों पर किसी न किसी का स्वामित्व होता है, इस जगत् के स्वामी भी आपही हैं। कोई भी पदार्थ किसी के उपयोग में आता है, यह जगत् भी आपकी क्रीड़ा के निमित्त, मनोविनोद तथा विहार के निमित्त बना है। सभी पदार्थ किसी की प्रेरणा से बनते हैं, यह जगत भी आपकी ही प्रेरणा से बना है। अर्थात् इस जगत् में जहाँ पर जो भी कुछ होता है, जिस कर्ता के द्वारा होता है। जिस साधन से होता है, जिसका होता है जिस स्वामी के लिये होता है, जो जो भी होता है, जिस जिस प्रकार, जिस जिस समय होता है जिस जिस प्रकार होता है वह सब जीव और माया के ईश्वर—प्रधान पुरुषेश्वर—निरवधिक ज्ञानादि कल्याण गुणगण सम्पन्न आप ही हैं। आपसे ही सब होता

हवाता है। यह जो देखने में चित्र विचित्र बहुरूपवाला संसार है आपका ही देह है।

स्वामिन्! हे अधोक्षज! हे सर्वात्मन्! इस जगत् की रचना आप ने ही की है, आपही इसके एकमात्र आधार हैं। इस अनेक योनियों वाले नाना नाम रूप वाले जगत् में आप अपने चैतन्य रूप से—जीव रूप से—प्रवेश करते हैं। आप ही प्राणों को प्राणत्व शक्ति देने वाले हैं आप ही जीव को अन्तरात्मा हैं। जीव और प्राण रूप से सभी का धारण आपही करते हैं आपही पालन पोषण करते हैं, इतना सब प्रपञ्च रचने पर भी—इतना सब बृहत् व्यापार करने पर भी आप उसमें लिप्त नहीं होते, स्वयं निर्विकार ही बने रहते हैं।

प्रभो! यह विश्व जिनसे बना है ये दश प्राण पंचमहाभूत, एकादश इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्रायें, अहंकार महत्तत्व और प्रधान और इन प्राण आदि में जो जो शक्तियाँ हैं, वे सब की सब परम कारण रूप आप परमात्मा को ही हैं। आपके ही सब अधीन हैं। ये जितने शक्तियुक्त प्राण, भूत, इन्द्रियाँ तन्मात्रादिक हैं वे आप परमात्मा के अधीन होने से इनकी शक्तियाँ भी आपके अधीन ही हुईं। ये सब अचेतन होने से आप चैतन्य स्वरूप परमात्मा के सदृश नहीं हो सकते। अर्थात् आपके अधीन हैं, परतन्त्र हैं। ये जो अचेतन प्राण हैं, वे आप परमात्मा की प्रेरणा से ही चेष्टा कर सकते हैं। प्राणों में आप अनुप्राणित न हों तो ये स्वतः कोई चेष्टा कर ही नहीं सकते। इसलिये इनकी अपनी चेष्टा का कोई महत्त्व नहीं, इनकी चेष्टा केवल चेष्टा मात्र ही है जैसे शरीर की जितनी चेष्टायें हैं वे सब जीव के अधीन हैं जीव जैसा चाहता है शरीर वैसी चेष्टा करता है। इसी प्रकार आप परमेश्वर की शक्ति द्वारा ही जीव की समस्त चेष्टायें

हो रहे हैं। आपकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

हे प्रभो! चन्द्रमा में यदि कान्ति न हो तो वह प्रकाश तथा आह्लाद प्रदान नहीं कर सकता। चन्द्रमा में जो कान्ति शक्ति है वह आप ही हैं। अग्नि में दाहक शक्ति न हो, उसमें जलाने का तेज न हो तो वह पचाने का कार्य कर नहीं सकती। अग्नि का तेज भी आप ही हैं। सूर्य में यदि प्रभा न हो तो वह प्रकाश प्रदान नहीं कर सकते। प्रभा भी आप ही हैं। विद्युत में जो चमक जाने की शक्ति है, स्फुरण मात्र से जिसकी प्रतीति का अस्तित्व प्रकट हो जाता है, वह शक्ति रूप में आप ही तो है। पर्वत जो उड़ते नहीं, उनमें स्थिरता का बने रहना यह भी आप ही हैं। पृथिवी में गंध है, समस्त प्राणियों को अपने ऊपर धारण करनेकी शक्ति है, यह भी आप ही हैं। जलमें जो मधुरता है, प्राणिमात्र को जीवन देने की तथा तृप्ति करने की शक्ति और उसमें जो सबको पवित्र करने की तथा देवत्व भावना है और रस गुण यह सब आप ही हैं। वायु में जो शोषण की शक्ति है, क्रिया करने की शक्ति है, तथा उसमें जो इन्द्रियों का बल, मनोबल तथा शारीरिक बल ये जो ओज, सह और बल रूपजो प्राण हैं वह भी आप ही हैं।

प्रभो! ये जो दशों दिशायें हैं, तथा दिशाओं में जो अवकाश है, वह भी आप ही हैं, आकाश का जो आश्रय शब्द है तथा परा,पश्यन्ती,मध्यमा और वैखरी जो चार की वाणी हैं। जिन्हें नाद अर्थात् अव्यक्त शब्द, वर्ण अर्थात् शब्द अक्षर, ओंकार अर्थात् सार्थक शब्द और वैखरी अर्थात् वर्णों का विभाग करने वाली वाणी में कहते हैं वह सब आप ही हैं। इन्द्रियों में जो जो तद् तद् विषयों को प्रकाशित करने की शक्ति है जैसे नासिका गंध

को ग्रहण करती है, श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। आँखें रूप को पहिचान लेती हैं, रसना खट्टे मीठे चरपरे आदि षड्रसों का ज्ञान करा देती है, स्पर्शेन्द्रिय शीतल, गरम, मुलायम कठोर आदि गुणों को जता देती है, प्रकाशित कर देती है। इन इन्द्रियों में यह शक्ति आई कहाँ से ? कहना होगा आप ही यह सब करते कराते हैं। आपके बिना इन जड़ इन्द्रियों में इतना ज्ञान कहाँ से आ सकता है। इन्द्रियों के जो इन्द्रादि अधिष्ठातृ देव हैं वे सब भी आप ही हैं। बुद्धि में जो सत् असत् को निर्णय करने की शक्ति है वह आप ही हैं, जीवों में जो विशुद्ध स्मृति है, जिससे पिछली बातें स्मरण रखी जाती हैं, वह स्मृति आप ही हैं। सृष्टि क्रम में प्रकृति से महत्तत्व होता है और महत्तत्व से अहंतत्व। अहंतत्व सात्विक राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। तामस अहंकारसे पंचभूतोंकी उत्पत्ति होती है, राजस अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति और सात्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं की उत्पत्ति होती हैं। ये सात्विक, राजस और तामस तीनों प्रकार के अहंकार आप ही हैं। जिस माया के द्वारा जीवों का संसार में आवागमन होता है वह माया भी आप ही हैं।

प्रभो ! ऐसा कोई पदार्थ भी नहीं जिसमें आप न हो। नश्वर पदार्थों का अस्तित्व आपके ही द्वारा है, जैसे घड़ा, नाद, सकोरा, परई जितने भी मिट्टी के बने हुए पात्र हैं, उन सबमें सदा सर्वदा मृत्तिका बिनी ही रहती है। मृत्तिका के बिना इन पात्रों का अस्तित्व ही नहीं। किन्तु घड़ा के फूट जाने पर, नष्ट हो जाने पर, मृत्तिका का नाश तो नहीं होता। कुंडल के नाश होने पर जैसे सुवर्ण ज्यों का त्यों बना रहता है, उसी प्रकार इन संसार के सभी पदार्थों का अस्तित्व उनमें निरन्तर आपके वर्तमान रहने

से ही है। किन्तु इन अनित्य पदार्थों के नष्ट होने पर भी नित्य और अविनाशी आप ज्यों के त्यों बने रहते हैं। आपके अस्तित्व में न तो क्षय होता है न वृद्धि आप अखंड एकरस ज्यों के त्यों ही बने रहते हैं। अणु परमाणु में छोटे बड़े मोटे पतले सभी पदर्थों में आप घट में मृत्तिका के समान, पट में सूत्र के समान, आभूषणों में धातु के समान नित्य निरन्तर बने ही रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वसुदेव ने अत्यन्त ही गूढ़ज्ञान वाली श्रीरामकृष्ण की स्तुति की। अभी वे और भी स्तुति करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप मुझ पर असन्तुष्ट न होंगे, कि एक ही बात को बार बार क्यों कह रहा हूँ। कहने योग्य तो एक ही बात है, सभी प्राणी एक ही बात को बार बार ही तो कह रहे हैं। एक ही अन्न को जीवनभर खाते हैं। छः रसों को नित्य ही-दिन में कई बार चखते हैं। अपने नाम को बार बार उच्चारण करते हैं, बार बार एक ही नाम के हस्ताक्षर करते हैं। बार बार अपने कृत्यों का बखान करते हैं। स्त्री बच्चों से बारबार एक सा ही प्यार करते हैं। एक ही मन्त्र का बारबार जप करते हैं, जब सभी बातें प्राणी बार बार कर रहा है। उन्हीं कामों को जन्म जन्मान्तरों में बार बार करके भी तृप्ति का अनुभव नहीं करता, तो मैं भगवान् के उन्हीं नामों को बार बार लेता हूँ, उन्हीं गुणों को बार बार कहता हूँ, उसी रूप का बार बार वर्णन करता हूँ, उन्हीं लीलाओं का बार बार कथन करता हूँ, उन्हीं भगवत् धामों की बार बार प्रशंसा करता हूँ, तो इसमें मैं अन्याय क्या करता हूँ। सबने उन एक ही प्रभु के सम्बन्ध में कहा है वे प्रभु एक ही हैं। उनकी प्रार्थना भी एक-सी ही होगी। जो सबने प्रार्थना की है, वही वसुदेवजी ने भी की है। शेष प्रार्थनाओं को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

तुमही शशि की कान्ति अनल को तेज प्रभा रवि ।
ज्यों थिरता गिरि माहिं गंध भू विद्युत की छवि ॥
जल जीवन रस तृप्ति वायु गति ओज सहोबल ।
तुम दिक खा अवकाश फोट आश्रय खं केवल ॥
गो-प्रकाशिनी शक्ति सुर, धी इस्मृति हंकार त्रय ।
प्रभु माया घट मृत्तिका, ज्यों हरि सुवरन में बलय ॥

पद

नहीं तुम दोऊ सुत हो मेरे ।
प्रकृति पुरुष पति करहु खेल जग, धरि अवतार घनेरे ॥१॥
तुम ही जीव प्रान बनि प्राननि, तन में करत बसेरे ।
शक्ति तिहारी सब थल व्यापति, निशि दिन सांझ सबेरे ॥२॥
रवि, शशि, अनिल, अनल, विद्युत भू, जल आकाश अनेरे ।
सबकी शक्ति तुमहि परमेश्वर, अहंकार त्रय फेरे ॥३॥
ज्यों घरकूँ चहुँ दिशितैं मिट्टी, परिपूरन करि घेरे ।
त्यों सब जग में ओत प्रोत प्रभु, चरन शरन हम तेरे ॥४॥

—:o:—

श्रीवसुदेवकृत रामश्याम की स्तुति (२)

(११५)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८५ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

है घट में सरबत्र मृत्तिका भीतर बाहर ।
त्यों अविनाशी आपु रहें सब माहिँ निरन्तर ॥
गुन अरु उनकी वृत्ति योगमाया तैं तुममें ।
कल्पित दीखें नहीं आपु नहिँ बँधे जगतमें ॥
लखें सूक्ष्म गति जे नहीं, जनम मरन चक्कर फँसहिँ ।
दुरल भनरतन व्यरथ करि, खोयो मम लखि यम हँसहिँ ॥

शास्त्रकार बार बार एक ही बात को कहते हैं, उसका वर्णन नाना प्रकार से करते हैं। वह बात यही है, कि सब ब्रह्म से ही हुआ है, ब्रह्म में ही अवस्थित है और अन्त में ब्रह्म में

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए वसुदेवजी कह रहे हैं—"प्रभो ! सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण ये जो तीनों गुण हैं और इन तीनों गुणों की महत्तत्वादि वृत्तियाँ हैं ये सब आप परब्रह्म परमात्मा में आपकी योगमाया द्वारा ही कल्पित हैं।"

ही विलीन हो जायगा, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। यह रहस्य हृदयंगम हो जाय, तो फिर चाहे कुछ भी न पढ़ो आपके लिये जानने को कुछ शेष रहता ही नहीं। यदि यह रहस्य हृदयंगम न हुआ तो फिर चाहें आपने लाखों शास्त्र भले ही पढ़े हों, भले ही आपने अनेकों वादों की बात सुनी हों, सब व्यर्थ है आपने कुछ भी नहीं जाना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करते हुए वसुदेवजी कह रहे हैं—"प्रभो! यह बात भी नहीं कि जगन्मय होने से आप में कुछ विकार होता हो आप तो सर्वथा निर्विकार हैं, गुणातीत हैं। ये जो जगत के सत्व, रज और तम तीन गुण हैं अथवा महत्तत्व अहंतत्व आदि इनकी वृत्तियाँ हैं, अथवा सत्व गुण की शम, दम, तितिक्षा, विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति, सन्तोष, त्याग, अस्पृहा, श्रद्धा, ह्री, दया दान आत्मरति ये तथा रजोगुण की इच्छा, प्रयत्न, अभिमान, तृष्णा, गर्व, देवताओं से आशीर्वादयाचना, भेदबुद्धि, विषयसुखेच्छा, मदजनित उत्साह, अपने यश में प्रीति, हास्य, पुरुषार्थ, बलपूर्वक उद्यम तथा तमोगुण की जो क्रोध, लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखंड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, पीड़ा, निद्रा, आशा, भय और अनुद्योग आदि वृत्तियाँ हैं ये वास्तव में आप में नहीं हैं, किन्तु आप की जो अचिन्त्य शक्ति माया है, उसके द्वारा आप में कल्पित हैं। यदि ये गुण तथा भाव पृथक् कर दिये जायँ, तो आप विशुद्ध शेष रह जायँगे, शेष क्या रह जायँगे, आप तो विशुद्ध हैं ही। जैसे कोई राजा है, उसने मैले वस्त्र पहिन कर भिखारी का वेष बना लिया है, वह वास्तव में भिखारी नहीं है, उसमें भिखारीपना कल्पित है, आरोपित है। दिखावा है अज्ञानियों को कुछ काल के लिये

भ्रम भले ही हो जाय, किन्तु जो विज्ञ हैं, उसके यथार्थ स्वरूप को जानते हैं, वे उन चिथड़ों के कारण मोह में न पड़ेंगे, वे तो उसे पूर्ववत सम्मान के साथ अभिवादन करेंगे, वह उन चिथड़ों को पहिने हुए भी राजा है, राज काज कर सकता है, आज्ञा दे सकता है, सन्धि विग्रह कर सकता है और जब इच्छा हो तब उन कपड़ों को फेंक कर राजवेष धारण कर सकता है उन कपड़ों के कारण उसके स्वरूप में कोई च्युति नहीं आवेगी। इसी प्रकार भगवन्! भाव विकार वास्तव में तो आप में हैं नहीं। जब आप में इनकी कल्पना की जाती है, उस समय अज्ञानियों को आप भी इन विकारों में कारण रूप से अनुगत से प्रतीत होने लगते हैं। जब कल्पना नहीं की जाती, उस समय निर्विकल्प रूप से निर्गुण विशुद्ध आप ही अवशेष रह जाते हैं। यह निखिल जगत आप अव्यक्त मूर्ति से व्याप्त है, जगत आप में अवस्थित है, आप कुछ जगत के अधीन थोड़े ही हैं। आप तो आनंदघन विशुद्ध विज्ञान स्वरूप शुद्ध सत्वमय शाश्वत सनातन हैं।

प्रभो! अज्ञानी लोगों को ही इन विकारों में कारण रूप से आप प्रतीत होते हैं, वे लोग गुण प्रवाह रूप संसार सागर में आप सर्वात्मा की सूक्ष्मगति को नहीं जानते। इसीलिये इस संसार सागर में डूबते उतराते लहरों की चपेट खाते इधर से उधर भटकते रहते हैं, जन्म मरण के चक्कर में फँसकर चौरासी लाख योनियों में बारम्बार पैदा होते हैं बारम्बार मरते हैं। अपने कर्मानुसार छोटी बड़ी उच्चावच योनियों में जन्मते और मरते रहते हैं। वे आपके स्वरूप को न जानने के कारण ही पैदा होते हैं और बार बार काल के कवल बनते हैं। मानव शरीर से चाहें तो आवागमन से छूट सकते हैं, किन्तु ऐसा दुर्लभ

शरीर पाकर भी अज्ञानी उसे विषय भोगों में ही बिता देते हैं।

प्रभो ! भाग्यवश मुझे अति दुर्लभ मानव शरीर प्राप्त हुआ है। मानव शरीर में भी मैं द्विज हुआ हूँ, सभी इन्द्रिय आदि की सामर्थ्य ठीक है सभी अविकल हैं, किन्तु आप की मोहिनी माया के वशीभूत होकर मैं अपने यथार्थ स्वार्थ को भूल गया हूँ, जो मेरा प्रधान कर्तव्य था उसके प्रति उदासीन हो गया हूँ, परमार्थ पथ से असावधान होने के कारण मैं मानव जन्म की सार्थकता न कर सका अपनी आयु का अमूल्यकाल मैंने व्यर्थ ही बिता दिया आप की अहैतुकी भक्ति नहीं की।

स्वामिन् ! आप ने इस सम्पूर्ण जगत को दो फँसरियों से कस कर बाँध रखा है। पहिली रस्सी तो यह कि मैं ब्राह्मण हूँ क्षत्रिय हूँ, मैं पंडित हूँ, वीर हूँ मानी हूँ सुंदर हूँ, स्वरूपवान हूँ, इस अहंता रूपी दृढ़ रस्सी से बँधा हुआ प्राणी संसार से कैसे पार हो। दूसरी रस्सी है ममता की। यह मेरा घर है, मेरा धन है, मेरे माता पिता हैं, ये मेरी माता के सम्बन्धी हैं। ये मेरे पिता के सम्बन्धी हैं यह मेरी पत्नी है ये मेरी पत्नी के सम्बन्धी हैं। इस प्रकार अहंता ममता रूपी सुकोमल सुदृढ़ दो स्नेह पाशों से आपने चराचर जगत को बाँध रखा है। उसी बन्धन में बँधा हुआ मैं पड़ा हूँ। मैं वसुदेव हूँ ये मेरे पुत्र हैं, ये मेरे पुत्रों के पुत्र हैं। बस, इसी धुना बुनी में मेरी आयु बीत रही है।

वास्तव में आप दोनों मेरे पुत्र नहीं हैं, आप तो परमात्मा हैं, ईश्वर हैं,प्रधान पुरुष हैं। यही नहीं प्रधान और पुरुष के भी ईश्वर पुरुषोत्तम हैं। ईश्वर होकर भी आपने मेरे घर में जन्म क्यों लिया है, यह तो आपकी इच्छा है। भू का भार बहुत बढ़ गया

था, भू भार भूत भूपति भूतों को भयभीत बनाये हुए थे नरपति रूप में असंख्यों असुर अवनि पर अवतरित हो गये थे। उन्हें मारने के लिये, उनका वध करने के निमित्त ही आपने अवतार धारण किया है। इस बात को आप बार बार बता भी चुके हैं, किन्तु आपके बताने पर भी मैं भूल जाता हूँ, आप में पुत्रबुद्धि कर बैठता हूँ, यही मेरा अज्ञान है, यही मेरी जड़मति है, यही आपकी मोहिनी माया का प्रबल प्रभाव है।

हे दीनबन्धो! मेरी बुद्धि विपरीत बन गयी। हाय! यह जो हाड़ मांस का बना अनित्य क्षणभंगुर मरणशील शरीर है इस अनात्म पदार्थ में मैंने आत्मबुद्धि कर ली। कहाँ तो नित्य, अजन्मा, सनातन शाश्वत आत्मा और कहाँ कृमि विष्ठा और भस्म हो जाने वाला यह तुच्छ शरीर; इसी में मैंने अहंभाव स्थापित कर लिया। और आप विश्व ब्रह्मांड के स्वामी चराचर जगत् के एकमात्रअधीश्वर मायातीत परब्रह्म में मैंने पुत्र भाव की स्थापना कर ली, सर्वात्म सर्वेश्वर में सुत बुद्धि करली। प्रभो! अब तक जो भूल हुई वह हो चुकी। अब आगे से यह भूल न होने पावेगी। हे स्वामिन्! आपके जो ये अरुणवरण के युगल चरणारविन्द हैं ये संसार भय से भयभीत प्राणियों को शरण देने वाले हैं, जगत् के बन्धन से मुक्ति प्रदान करने वाले हैं, शरणागतों की सदा रक्षा करने वाले हैं, मैं अब इन्हीं चरणारविन्दों की शरण में हूँ, मैंने अब इन्हीं पुनीत पादपद्मों का सहारा लिया, है समस्त लौकिक आश्रयों की आशा त्यागकर इन्हीं पद पंकजों को अपनाया है इन्हीं का आश्रय लिया है। मैंने बहुत बड़ी भूल की। आयु का अधिकांश समय इन्द्रिय लोलुपता में ही व्यय कर दिया। अब तो मैंने भर पाया, अब तो मेरी आँखें खुल गयीं। स्वामिन्! अब मुझे अधिक न भ्रमाइये अब तो मुझे अपना लीजिये, अपने

चरणारविन्दों की शरण प्रदान कीजिये। अपना अनुगत अनुचर बना लीजिये।

प्रभो! यद्यपि आप अजन्मा हैं, तो भी अपने बनाये धर्म की रक्षा करने के लिये आप युग युग में अवतीर्ण होते हैं, अवनि पर अवतार लेते हैं। आपने अपने जन्म के समय चतुर्भुज रूप से सूती घर में प्रत्यक्ष हमसे यह बात कही थी कि "हमने कई बार तुम्हारे यहाँ जन्म लिया है, हम भू भार उतारने के लिये समय समय पर अवतार धारण करते हैं।" सो, प्रभो! आपके लिये कुछ भी असंभव नहीं है। आप सब कुछ कर सकते हैं। आप आकाश के समान अनेक रूप धारण करते हैं और इन्हें इच्छानुसार त्याग देते हैं। आप अपनी योगमाया के द्वारा सब कुछ करा सकते हैं, आपकी विभूतिरूपिणी माया को ही कोई नहीं जान सकता फिर आपको जानना तो अत्यंत ही कठिन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी के मुख से ऐसी ज्ञान-विज्ञान पूर्ण स्तुति सुनकर भगवान् हँस पड़े और फिर वसुदेवजी से हँसी-हँसी में ही आत्मा की एकता का निरूपण किया। जिसे सुनकर वसुदेवजी कृतार्थ हो गये। यह मैंने श्री वसुदेवजी कृत रामश्याम की स्तुति कही। अब माता देवकीजी ने आकर जिस प्रकार रामश्याम की स्तुति की। उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा। आशा है आप सब इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

मैं मेरी मृदुपाश बँध्यो जग ताके माहीं।
जगके ईश्वर उभय तनय तुम मेरे नाहीं॥
भू को हरिबे भार लयो अवतार अवनि पै।
शरनागत बनि सकल समरप्यो पदुपदुमनि पै॥
सूती घर में प्रभु कह्यो, युग युग में अवतार धरि।
धरम थापि खल बधकरूँ, जाउँ धाम निजकाज करि॥

पद

प्रभो! नर तनु जिह वृथा गँवायौ।
मैं ऐसौ सम्बन्धी ऐसे, जामें नाथ भुलायौ॥१॥
मायावश समुझै सुत दोऊ, माया मोह बढ़ायौ।
अब समुझ्यो सर्वेश्वर श्रीपति, वेदहु भेद न पायौ॥२॥
शरनागत प्रतिपालक प्रभुवर, दीननि दुःख मिटायौ।
भवभय मेंटि अभय प्रभु कीजे, चरन शरन अब आयौ॥३॥
धरम हेतु तनु धरो धरनि पै, ऋषि मुनि जिही बतायौ।
समुझि सकै माया को तुमरी, चरनकमल सिर नायौ॥४॥

श्रीवसुदेव कृत श्रीरामश्याम स्तुति

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन ।
जाने वामस्य यत् साक्षात् प्रधान पुरुषौ परौ ॥१॥
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानं पुरुषेश्वरः ॥२॥
एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज ।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः ॥३॥
प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।
पारतन्त्र्याद् वै सादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥४॥
कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत् स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥५॥
तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ।
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥६॥
दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।
नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥७॥

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः ।
अवबोधो भवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥८॥
भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः ।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम् ॥९॥
नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ।
यथा द्रवविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥१०॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥११॥
तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः ।
त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाव्यावहारिकः ॥१२॥
गुण प्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ।
गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥१३॥
यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥१४॥
असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत् ॥१५॥
युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरौ ।

भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तयाऽऽस्य ह ॥१६॥

तत्रे गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द,

मापन्नसंसृतिभयापहमार्तबन्धो ।

एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन,

मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥१७॥

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ,

संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।

नानातनूर्गगनवद् विदधज्जहासि,

कोवेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ॥१८॥

श्रीदेवकी कृत रामकृष्ण स्तुति

(११६)

राम रामप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादि पूरुषौ ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८५ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

सुत सरबेश्वर सुने देवकी दौरी आई ।
मृतक सुतनि करि यादि बहुत रोई पछिताई ॥
इन्स्तुति करिबे लगीं—राम तुम अमित प्रतापी ।
योगेश्वर श्रीकृष्ण जगत्पति खल संतापी ॥
भार उतारन भूमि: को, नृपति असुर जे बनि गये ।
तिनि खल दलिबे उदर मम, बेटा बनि परगट भये ॥

भगवान की माया भी कैसी प्रबल है, इससे भगवान ही जिसे बचायें वही बच सकता है, नहीं तो अहंता ममता की ऐसी सुदृढ़ पाश हैं, कि इनसे बचना बड़ा ही दुष्कर है। वसुदेव देवकी के यहाँ एक बार नहीं तीन तीन बार स्वयं साक्षात् भगवान् का

---

* श्रीराम तथा कृष्ण भगवान् की स्तुति करती हुई देवकी जी कह रही हैं–'हे राम ! हे राम ! हे अप्रमेयात्मन् ! हे कृष्ण ! हे योगेश्वरों के भी ईश्वर ! मैं जानती हूँ आप दोनों प्रजापतियों के भी पति ईश्वर तथा आदि पुरुष हैं।

अवतार हो चुका। पहिले ये सुतपा नामक प्रजापति थे और देवकी जी पृश्नि नाम की इनकी पत्नी थीं, दोनों ने सहस्रों वर्षों तक घोर तप किया। भगवान प्रकट हुए और वर माँगने को कहा। उस समय दोनों ही मोक्ष माँगना भूल गये उन्होंने भगवान के सदृश पुत्र माँगा। तब भगवान ने इनके यहाँ पृश्निगर्भ रूप से अवतार लिया। फिर ये दोनों ही कश्यप और अदिति हुए, तब भी भगवान् इनके यहाँ वामन रूप से अवतीर्ण हुए। अब तीसरे जन्म में आकर ये ही वसुदेव देवकी हुए, जिनके यहाँ अखिल ब्रह्माण्डनायक स्वयं साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण रूप से अवतीर्ण हुए। श्री कृष्ण को भी पुत्र पाकर देवकीजी ने वर क्या माँगा कि छोटी अवस्था में जो मेरे सात पुत्र मर गये हैं, उन्हें ला दो मैं उनका मुख देखना चाहती हूँ, उन्हें अपने स्तनों का दूध पिलाना चाहती हूँ भला जिन पर परब्रह्म की साक्षात् मूर्ति का एक बार भी प्रत्यक्ष दर्शन हो जाय तो क्या कहना है, योगीगण जिनकी मनोमयी मूर्ति की कल्पना करके ध्यान में एक बार साक्षात् करने से मुक्त हो जाते हैं। उन्हीं परब्रह्म को तीन जन्मों तक जिन्होंने लाखों वर्षों तक पुत्र भाव से खिलाया पिलाया वे ही माता भगवत् दर्शन से तृप्त न होकर मृतक पुत्रों के दर्शनों को लालायित हैं और भगवान से ही उन्हें लाने के लिये प्रार्थना कर रही हैं, इसे भगवान की विनोदमयी लीला न कहें तो क्या कहें। भगवान् जिससे जो कराना चाहते हैं, वही कराते हैं। उनकी शरण जाने के अतिरिक्त कोई साधन नहीं, मार्ग नहीं, अध्वा नहीं, पन्था नहीं। उन्हीं की शरण जाने में उन्हीं की स्तुति प्रार्थना करते रहने में परम कल्याण है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक बार जब माता देवकी देवी जी ने सुना, कि मेरे दोनों पुत्र सर्व समर्थ हैं। ये जब गुरु

संदीपिनीजी के पास अवन्तीपुरी में पढ़ते थे तब बहुत दिनों के मरे हुये उनके पुत्र को यमराज के यहाँ से ले आये थे। इस बात को स्मरण करके उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उसी समय उन्हें अपने कंस के द्वारा मारे गये सात पुत्रों की स्मृति हो आयी। अपने नन्हें नन्हें बच्चों का स्मरण आते ही माता का हृदय भर आया और रोते रोते सोचने लगीं—क्या मेरी प्रार्थना पर ये मेरे पुत्रों को नहीं ला सकेंगे ? यही सोचकर वे रामकृष्ण के समीप जाकर विनती करके कहने लगीं। माता ने पहिले बलराम जी को सम्बोधित किया, क्योंकि वे बड़े थे। माता ने कहा—"हे राम ! हे बलराम ! हे अप्रेयात्मन ! हे श्रीकृष्ण ! हे योगेश्वरोंके भी ईश्वर ! अबतक मैं तुम दोनों को अपना पुत्र ही समझती रही थी, किन्तु अब पता चला कि आप किसी के पुत्र नहीं। समस्त प्रजा जिन मरीचि, अत्रि,अंगिरा, वसिष्ठादि की सन्तानें हैं आप तो इन सबके भी पति हैं। आपका जन्म नहीं,मरण नहीं,आदि नहीं,अन्त नहीं आप तो अजन्मा अनादि पुरुष हैं। आप ही नार—जल में वास करने वाले श्रीमन्नारायण हैं। आप कर्मों के अधीन होकर जन्म लेने वाले नहीं हैं। आपतो जन्मादि से सदा सर्वदा रहित हैं जब-जब भूका भार बढ़ जाता है,उसपर प्रबल प्रतापी असुर उत्पन्न हो कर प्रजा को पीड़ा देने लगते हैं। सनातन वेदमार्ग पथ को लुप्त करने को वे नाना प्रकार के अन्याय अत्याचार करते हैं। शास्त्र की प्राचीन प्रथा को त्याग के वेद शास्त्र मार्ग का उल्लंघन करके वे लोग जब मनमानी करने लगते हैं, तब आप अवतीर्ण होकर उन क्षीणायुष प्रबल असुरों का संहार करते हैं। अब के आपने मेरे उदर से अवतार लिया है, मुझे कृतार्थ किया है। प्रभो ! आप समस्त विश्व की आत्मा हैं अथवा यह विश्व आपका ही रूप है, विश्व की तो उत्पत्ति होती है, किन्तु आप उत्पत्ति से

रहित हैं। आद्य हैं, सनातन हैं।

स्वामिन्! यह जगत् त्रिगुणात्मक है। सम्पूर्ण संसार में त्रिगुण ही व्याप्त हैं। ये त्रिगुण माया के अंश हैं और माया आप की अंशभूता है। अर्थात् आप की माया अंशांश से उत्पन्न जो ये गुण हैं,उन गुणों के लेश मात्रसे यह जगत उत्पन्न होता है, लेश मात्र में स्थित रहता है और लेश मात्र से संहार होता है, ऐसे आप सर्व समर्थ सर्वाधीश सर्वात्मा प्रभु की मैं शरण में हूँ।

प्रभो! मैंने सुना है, कि जब आप का मथुरा में यज्ञोपवीत संस्कार हुआ था और आप ऋषि सन्दीपिनीजी के पास पढ़ने अवन्ती पुरी गये और अल्पकाल में ही सभी विद्याओं में पारंगत हो गये थे, तब आपने गुरुजी से दक्षिणा देने की प्रार्थना की। गुरुदेव ने अपनी पत्नी से सम्मति करके बहुत दिन पूर्व अपने मरे हुए पुत्र को देखने की इच्छा की। आप दोनों तुरन्त यमपुरी गये और यमराज से उस पुत्र को लेकर गुरुगृह में आये। अपने पुत्र को जैसा का तैसा पाकर गुरु और गुरुआनी दोनों ही परम प्रमुदित हुए। इस प्रकार आपने गुरुदक्षिणा में गुरु के मृतक बालक को लाकर दिया था।

आप दोनों साधारण पुरुष नहीं हैं, योगियों के ईश्वर जो शिवजी हैं, उनके भी आप ईश्वर हैं। समस्त योगेश्वरों के भी गुरु हैं। आप सब की इच्छा पूर्ण करने में समर्थ हैं। मेरी एक बहुत दिनों की इच्छा है। संकोच के कारण मैंने अब तक आप के सम्मुख उसे निवेदन नहीं किया। प्रभो! आपने मातृ हृदय ऐसा बनाया है, कि इसकी उपमा किसी से दी ही नहीं जा सकती। माता का अपनी सन्तान में कितना ममत्व होता है, इसे माता के अतिरिक्त और कौन जान सकता है। माता अपने

सुतों को कभी नहीं भूल सकती और उनके लिये सदा व्यथित बनी रहती है। प्रभो! आप से पहिले मेरे सात सुत और हुए थे, उन्हें शत्रु रूप में उत्पन्न मेरे भाई कंस ने उत्पन्न होते ही मार डाला था, अब मेरी उन्हें एक बार फिर से देखने की बड़ी लालसा है। आप सर्व समर्थ को पाकर भी मैं सदा उन पुत्रों के लिये बिलखती ही रहूँ, क्या आपकी कृपा से मैं उन्हें एक बार फिर से नहीं देख सकती? प्रभो! वे बालक जहाँ भी हों, वहीं से लाकर, एक बार केवल एक ही बार मुझे उन्हें दिखा दो। मेरी चिरकाल की इच्छा को पूर्ण कर दो। यही मेरी आप सर्व समर्थ के चरणों में प्रार्थना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपनी माता की ऐसी दीनता युक्त प्रार्थना सुनकर राम और श्रीकृष्ण को यह सोचने में देर नहीं लगी कि ये बालक कहाँ पर हैं, जो जन्मते ही मर जाते हैं, वे प्रायः आसुरी योनि के जीव होते हैं, तथा वे प्रायः नीचे के लोकों में जाते हैं। भगवान् ने समझ लिया वे सुतल लोक में निवास करने वाले असुरराज बलि के शासन में सुतल लोक में निवास करते हैं, अतः दोनों योगमाया का आश्रय लेकर सुतल लोक में गये। सुतललोक में जब महाराज बलि ने इन दोनों को देखा तो अत्यंत ही आह्लाद में भरकर इनकी महती पूजा की और स्तुति की। दैत्यराज बलि ने जिस प्रकार भगवान् की स्तुति की उसे मैंआगे कहूँगा।

छप्पय

हैं त्रिदेव त्रिगुनांश शरन हौ लीन्ही तिनकी।
सन्दीपिनि सुत लाइ विपति मेंटी तुम उनकी॥
दोऊ जमपुर जाइ तनय मृत तिनके लाये।
दई दच्छिना गुरुहिँ कृतारथ ह्वै घर आये॥
मेरे ऊ सुत कंश ने, मारे तिनि देखन चहूँ।
प्रभु घट घट की बात सब, जानत हौ पुनि का कहूँ॥

पद

राम अरु कृष्ण जगत के स्वामी।
नहिँ तुम पुत्र पौत्र काहू के, हौ हरि अन्तरजामी॥१॥
जमपुर तैं सुत गुरु के लाये, काम करयो बड़ नामी।
अरथी पावैं अरथ चरन गहि, कामहु पावैं कामी॥२॥
कंस सात सुत मेरे मारे, सुरत करूँ निष्कामी।
देखन चहौं तिनहिं लै आओ, प्रभु तो सब थल गामी॥३॥

—:०:—

देवकीकृत रामकृष्ण स्तुति

देवक्युवाच

राम रामाप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥१॥
कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ किलाद्य मे ॥२॥
यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥३॥
चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा कालचोदितौ ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद् गुरवे गुरुदक्षिणाम् ॥४॥
तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहृतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥५॥

—:o:—

बलिकृत रामकृष्ण स्तुति

(११७)

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८५ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

माँ विनती सुनि राम कृष्ण बलि के पुर आये ।
सुतल लोक हरि लखे असुरपति बलि हरषाये ॥
इस्तुति करिबे लगे-"कृष्ण बल वन्दौं चरननि ।
कृपा करी करुनेश दये दरसन हम असुरनि ॥
वैर भाव करि तरे बहु, असुर यक्ष दानव अधम ।
सो गति सुर पावैं नहीं, करि सतगुनयुत शुभ करम ॥

सभी लोक एक से हैं, सभी में माया का विस्तार है, सभी में त्रिगुणों का विस्तार है, भगवत्लोक को छोड़ कर सभी पुनरावर्ती हैं, सभी में से पाप पुण्य भोग

राम कृष्ण की स्तुति करते हुए दैत्यराज बलि कह रहे हैं-बृहत्काय अनंत भगवान् के लिये नमस्कार है, विश्व को रचने वाले श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है। सांख्य और योग का विस्तार करने वाले ब्रह्मस्वरूप परमात्मा को पुनः पुनः प्रणाम है।

कर लौटना पड़ता है, इनमें कौन बड़ा कौन छोटा। जो जहाँ पहुँच जाता है वहीं निर्वाहकर लेता है,अशांति और अतृप्ति तो ब्रह्मलोक पर्यन्त है। अपने से अधिक सुखीको देखकर ईर्ष्या सर्वत्र है, पतन का भय सभी लोकों में लगा हुआ है। अच्छा लोक वही है, जहाँ भगवान् के दर्शन हो जायँ और बुरा लोक वही है जहाँ भगवत् दर्शनों से वंचित रहना पड़े। यदि भगवान् के दर्शन हों, भगवत् स्मृति हृदय में बनी रहे,तो नीचे के लोक भी उच्च लोक हैं भगवत् स्मृति शून्य उच्च लोक भी अधम ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! माता देवकी का प्रिय करने के निमित्त, उनकी लालसा की पूर्ति के लिये भगवान् श्री कृष्ण चन्द्रजी अपने बड़े भाई बलदेवजी के साथ दैत्यराज बलि के लोक में गये। भगवान् को अपने यहाँ आया हुआ देखकर असुरराज बलि संभ्रम के साथ उठकर खड़े हुए। भगवान् का स्वागत किया, साष्टांग दण्डवत् की, उच्चासन पर बिठाकर षोडशोपचार पूजा की और हाथ जोड़कर गद्गद कंठ से वे दोनों की स्तुति करने लगे।

स्तुति करते हुए महाराज बलि कह रहे हैं—"प्रभो! यह जो जड़ चैतन्य मय सम्पूर्ण चराचर जगत् है उसे आप अपने एक फण पर राई के समान धारण किये हुए हैं। इसीलिये आप की शेष संज्ञा है, कोई भी आपका अन्त नहीं पा सकता इसी लिये आप अनन्त कहलाते हैं। आप महान् से भी महान् हैं। ऐसे आप संकर्षण भगवान् के पादपद्मों में प्रणाम है।

हे भक्तभय भञ्जन भगवन्! आप निखिल जगत् के रचने वाले हैं, आप विश्वस्रष्टा हैं, सबको अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं। आप सांख्य शास्त्र के विस्तारक हैं तथा दूसरे रूप से योग शास्त्र के विस्तारक हैं। आप साक्षात् परब्रह्म स्वरूप।

परमात्मा हैं। आप दोनों के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो! जीवों का एकमात्र चरम लक्ष्य आपके दर्शन प्राप्त करना ही है। जितने भी जप, तप, योग, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा अन्यान्य साधन हैं, सबका एकमात्र उद्देश्य यही है कि आपके दर्शन हो जायँ, आप साधक के दृष्टिगोचर हो जायँ, किन्तु आप साधन साध्य हैं ही नहीं। बापुरे साधन भला आप सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी सर्वाधार सर्वसमर्थ सर्वगुणनिधान भगवान् को प्राप्त करा ही कैसे सकते हैं। आप इतने महान् हैं, इतने पावन हैं, कि साधन आपका स्पर्श कर ही नहीं सकते। फिर भी बिना साधन किये साधक पर रहा नहीं जाता, वह साधन करते हुए आपकी कृपा की प्रतीक्षा करता रहता है, आपकी अनुकम्पा की बाट जोहता रहता है। वैसे मनुष्य चाहे कि मैं अपने पुरुषार्थ से प्रभु को पालूँगा, मैं अपने साधनों से सर्वेश्वर को वश में कर लूँगा, तो यह बात दुर्लभ है, कठिन है, किन्तु आप कृपा कर दें तो कुछ भी कठिन नहीं। आपकी अनुकम्पा से सब ही सुलभ हो जाता है। देखिये, प्रभो! यदि मैं साधन करके आप को अपने लोक में बुलाना चाहता, तो क्या आप मेरे बुलाने से आ सकते थे। मेरे जाने कितने लोग आप को अपने यहाँ बुलाने के लिये लालायित हो रहे होंगे, किन्तु आप सबके यहाँ तो नहीं जाते, जिस पर आप कृपा करें, जिसे आप दर्शन देना चाहें वही आप की कृपा का भाजन बन सकता है, वही आपके देव दुर्लभ दर्शन प्राप्त कर सकता है। आपकी कृपा कब होगी, किस पर होगी, इस का कोई निश्चित निर्णय नहीं। आप सत्वगुण प्रधान पुरुषों पर ही कृपा करते हों, रजो गुण तमो गुण विशिष्ट पुरुषों को ठुकरा ही देते हों, सो भी बात नहीं। आप तो अपने वैर भाव रखने वाले विपक्षियों पर भी कृपा करते हैं, जो आपको अपना

शत्रु समझते हैं, उन शत्रु भाव वालों पर भी आप अनुग्रह करते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं ही हूँ। मेरा तो जन्म असुर कुल में हुआ है जो असुर सदा आप से द्वेष ही करते हैं। फिर भी आप ने कृपा करके मुझे यहाँ सुतललोक में आकर दर्शन दिये। इससे बढ़कर भक्तवत्सलता और क्या हो सकती है?

स्वामिन्! आपने केवल मुझ पर ही कृपा की हो सो भी बात नहीं। मेरे समान जो अन्य रजोगुण तमोगुण विशिष्ट दैत्य हैं, दानव हैं, तथा गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत और प्रमथनायक आदि योनि वाले हैं, जो आपसे प्रेम नहीं करते, आप में भक्ति नहीं करते अपितु आप विशुद्ध सत्वमूर्ति सर्वेश्वर से सदा द्वेषभाव रखते हैं, आपको अपना शत्रु समझते हैं। उनमें प्रह्लाद आदि कितने ही भक्ति भाव से भी आपको भजते हैं, कितने ही सांसारिक नाना कामनाओं के कारण ही आपको भजते हैं, किन्तु आप समदर्शी ने उन्हें वह पद प्रदान किया जिसके लिये बड़े बड़े सत्व प्रधान देवादि तरसते रहते हैं। जिसे बड़े बड़े योगी साधक प्राप्त नहीं कर सकते, सो प्रभो! आपकी कृपा किस पर कब हो जायगी इसका पता नहीं चलता।

हे योगेश्वरों के भी ईश्वर! आप अपनी योग माया का आश्रय लेकर नित्य नये खेल रचते रहते हैं, उनका पार पाना ब्रह्मादिक देवों के लिये भी कठिन है। आपकी यह विश्वविमोहिनी योगमाया ऐसी विचित्र है, कि इसके सम्बन्ध में 'इदमित्थम्' कोई कह ही नहीं सकता। कोई दृढ़ता के साथ पूर्ण परिभाषा करके यह कहने में समर्थ नहीं है, कि भगवान् की योगमाया ऐसी ही है। वह अघटनघटनापटीयसी है। इस सम्बन्ध में बड़े बड़े योगेश्वर भी विमोहित हो जाते हैं, वे इसके यथार्थ रहस्य को प्रकटित करने में अपनेको असमर्थ पाते हैं, जब योगेश्वरों की यह दशा

है, तो फिर हम लोग जो रजोगुण तमोगुण से सदा आविष्ट रहते हैं, वे इस सम्बन्ध में कह ही क्या सकते हैं।

प्रभो! यह जीव इस भवाटवी में न जाने कब से भटक रहा है। कबसे यह त्राण पाने को व्याकुल हो रहा है, कबसे आश्रय खोज रहा है, किन्तु इसे अब तक आश्रय मिला नहीं। यह जीव अपना एक सच्चा साथी खोजता है, जिससे प्यार करे। अनेक योनियों में इसने अनेक साथी बनाये। कितने माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, स्त्री, पुत्र, परिजन स्वजन और सम्बन्धी आदि बनाये; किन्तु कोई सहायक सिद्ध नहीं हुए। सबके सब स्वार्थी ही निकले। यह गृहस्थ तो अन्धकूप के समान है कि इसमें गिर गये, तो फिर निकलना भी कठिन हो जाता है। इस गृहस्थाश्रम को आश्रय समझ कर इसकी ओर आकर्षित हुए, किन्तु इसने तो और अन्धकार में फँसा दिया। सच्चा आश्रय तो आपके पाद पद्म हैं। निरपेक्ष योगीजन उन्हीं की खोज करते हैं, उन्हीं चरणारविन्दों के आश्रय में रहकर काल यापन करना चाहते हैं। प्रभो! मैं भी उन्हीं अरुणवरण के पादारविन्दों का आश्रय चाहता हूँ। इस गृहान्धकूप से निकल कर जगत् के एकमात्र आश्रय आपके पादपद्म की मकरन्द का मेरा मत्त भ्रमर मन सदा आस्वादन करता रहे। सांसारिक सम्बन्धियों के पचड़ों से पृथक रहकर शान्तभाव से एकान्त में अकेला ही विचरूँ, यदि संग करना ही हो तो आपके अनुरक्त भक्तों का, सबके सुहृद् सखा साधुजनों का ही सदा संग करूँ। उन्हीं के साथ कथोपकथन करूँ, उन्हीं के साथ विचरण करूँ।

हे प्रभो! हे सर्वसुहृद्! हे सर्वेश्वर! आपकी वाणी ही वेद है। आप जो करने को कहें वही विधि है, आप जिसे न करने को कहें वही निषिद्ध है। आप जो करने को कहें उसी का श्रद्धापूर्वक

आचरण करने से पुरुष सांसारिक विधि निषेध से परे हो जाता है, उसके लिये न कोई कर्तव्य कर्म रहता है, न अकर्तव्य ही; वह गुणातीत बन जाता है। वह सभी प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है। हे सर्वान्तर्यामी प्रभो! हमें भी आप ऐसा ही कोई आदेश उपदेश दीजिये। कोई आदेश हो तो उसकी आज्ञा प्रदान कीजिये। आपकी आज्ञा का पालन करने से मैं धन्य हो जाऊँगा, कृतार्थ हो जाऊँगा मेरा इस लोक का रहना, तथा मेरा जीवन सफल हो जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार दैत्यराज बलि ने विविध प्रकार से भगवान् की स्तुति की। तब भगवान् ने बड़े प्रेम से अपने आने का कारण बताया कि प्रथम मन्वन्तर में मरीचि प्रजापति की ऊर्णा नाम की स्त्री में ६ पुत्र हुए थे। वे ब्रह्माजी को सरस्वती के साथ सङ्गम करने को उद्यत देखकर हँस पड़े थे। तब ब्रह्माजी ने उनकी इस अविनय के कारण शाप देकर उन्हें असुर योनि में जाने को कह दिया। इससे वे हिरण्यकशिपु के पुत्र हुए। फिर वे ही माता देवकी के गर्भ से उत्पन्न होकर कंस द्वारा मारे जाकर तुम्हारे लोक में हैं। माता उन्हें देखना चाहती हैं उन्हें लेने ही हम आये हैं। महाराज बलि ने कहा—"प्रभो! ले जाइये। सबके स्वामी तो आप ही हैं।"

इस प्रकार सुतललोक से सातों को लाकर भगवान् ने माता को हर्षित किया, यह मैंने राजा बलि द्वारा की हुई रामकृष्ण की स्तुति आपसे कही। अब जैसे मिथिला में राजा जनक और श्रुतदेव ब्राह्मण ने भगवान् की स्तुति की उन दोनों की स्तुतियों को आपसे कहूँगा, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

हे योगेश्वर कठिन योगमाया है तुमरी।
नाथ! कृपा अब करौ छुटै गृहममता हमरी॥
तव चरननि की शरन गहूँ बिचरूँ संतनि सँग।
सेवा में ही लगें निरन्तर मेरे सब अँग॥
प्रभु देवैं आदेश कछु, जाते भवबन्धन कटै।
पद पदुमनि में मन रमैं, विषयवासना तैं हटै॥

पद

नाथ! मम लोक कृतारथ कीयो।
जो अति दुरलभ दरस सुरनिकूँ, सो घर बैठे दीयो॥१॥
जो पद सुर मुनि देव न पायौ, असुरनि सो लैलीयो।
कोई अरि बनि काम भक्ति करि, प्रेम सुधारस पीयो॥२॥
पद पदुमनि में प्रेम बढ़े नित, चरन सहारो लीयो।
आयसु देहिँ करूँ का सेवा, सब कछु प्रभु को दीयो॥३॥

बलिकृत रामकृष्ण स्तुति

बलिरुवाच

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥१॥
दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ।
रजस्तमः स्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥२॥
दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥३॥
विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥४॥
केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः ॥५॥
इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥६॥
तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्म-
त्पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः,
शान्तो यथैक उत सर्व सखेश्वरामि ॥७॥
साध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो ।
पुमान् यच्छ्रद्धयाऽऽतिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥८॥

महाराज बहुलाश्वकृत श्रीकृष्ण स्तुति

(११८)

भवान् हि सर्वभूतानामात्मासाक्षी स्वदृग्विभो ।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

मिथिला के बहुलाश्व नृपति अति सरल अमानी ।
ताही पुर श्रुतदेव बसहिँ द्विज भक्त सुज्ञानी ॥
निरधन द्विज नृप धनी किन्तु सम भक्ति उभय उर ।
दोउनि करन कृतार्थ कृष्ण पहुँचे मैथिलपुर ॥
दोउनि के घर साथ ही, उभय रूप प्रभु धरि गये ।
नृप बोले—साक्षी सकल, विभु कृतार्थ हम सब भये ॥

भगवान तो भावग्राही हैं। यह सत्य है, कि भगवान् निष्किंचनजनप्रिय, दीनबन्धु, दीनानाथ अकिंचनबन्धु तथा निर्धनों के धन हैं, किन्तु उन्हें धनिकों से द्वेष हो, धनिकों से वे शत्रुता रखते

---

* मिथिला देश के महाराज बहुलाश्व भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो ! आप सम्पूर्ण भूतों के आत्मा हैं, साक्षी हैं, और स्वयं प्रकाश हैं। अतः आपने हम चरणचिन्तकों को जो आपके चरणारविन्दों का सदा स्मरण करते हैं, कृपा करके दर्शन दिये हैं।

हों, यह बात नहीं। अभिमान बढ़ाने के कुल, ऐश्वर्य, विद्या, रूप, धन और भी बहुत से कारण बताये हैं इनमें धन सम्पति का मद सर्व प्रधान है, धन ऐश्वर्य पाकर मानव मदोन्मत्त हो जाता है, फिर वह अपने सामने किसी को कुछ समझता ही नहीं। भगवान् का एक नाम मदहारी भी है। वे अभिमानी मदोन्मत्त व्यक्ति के सम्मुख प्रकट नहीं होते। यदि धन पाकर भी जिनको स्तम्भ नहीं, मद नहीं, अभिमान नहीं तब तो सोने में सुगन्ध है। भगवान बाह्य वस्तुओं को नहीं देखते वे तो हृदय की परख करते हैं। यदि हृदय शुद्ध है। उसमें मान नहीं है अच्युत के प्रति अनुराग है, तो चाहें वह धनी या निर्धन, राजा हो चाहें भिखारी ऐश्वर्यहीन हो या ऐश्वर्यशाली, सभी पर समान भाव से कृपा करते हैं। दोनों को एक भाव से देखते हैं और दोनों की भावना का आदर करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मिथिलापुरी में भगवान् श्री कृष्ण के काल में एक बहुलाश्व नाम के विदेह राजा राज्य करते थे। उनका श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में अत्यधिक अनुराग था। उसी नगर में श्रुतदेव नाम का एक ब्राह्मण निवास करता था। राजाके पास अपार धन सम्पत्ति थी। देवेन्द्रको भी दुर्लभ हो ऐसा उनका ऐश्वर्य था। इसके विपरीत ब्राह्मण निष्किंचिन था। उसे नित्य उतना ही धन प्राप्त होता, जिससे कष्टपूर्वक निर्वाह हो सके किन्तु उसे इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं था। वह यथालाभ संतुष्ट द्विज था। धन में तो दोनों की असमानता थी, किन्तु श्री कृष्ण भक्ति में दोनों समान थे। दोनों ही शान्त प्रकृति के थे, दोनों ही सांसारिक विषय वासनाओं से शून्य थे तथा दोनों ही आसक्ति रहित थे दोनों को ही उत्तम कुल का तथा धनादि का अभिमान नहीं था। दोनों की ही इच्छा थी, भगवान् हमारे यहाँ

पधार कर हमारे घरों को पावन बनावें तथा हमें अपने देव दुर्लभ दर्शनों से कृतार्थ करें। भगवान् तो वांछाकल्पतरु ही ठहरे, वे भक्तों की इच्छा को सदा पूर्ण करते हैं। उन दोनोंको कृतार्थ करने भगवान मिथिलापुरी में पधारे। दोनों की ही इच्छा थी भगवान् हमारे ही घर चलें हमारा ही आतिथ्य ग्रहण करें। दोनों ही उन्हें लेने भी साथ गये। भगवान् ने दोनों को ही प्रसन्न किया। जहाँ से ब्राह्मण के घर का मार्ग पृथक् होता था, वहाँ भगवान् ने अपने दो रूप बना लिये। एक रूप से तो वे राजा के संग राजमहल की ओर चल दिये और एक रूप से ब्राह्मण से पीछे पीछे हो लिये। दोनों ही बड़े प्रसन्न थे, कि भगवान ने हमें ही अत्यधिक सम्मान प्रदान किया, हमारी ही इच्छा की पूर्ति की।

जब महाराजा बहुलाश्व के महलों में भगवान् पहुँचे तो महाराज ने शास्त्रीय विधि से परम ऐश्वर्य के साथ भगवान् की पूजा की और अत्यंत ही नम्रभाव से स्तुति करने लगे। भगवान् की स्तुति करते हुए महाराज बहुलाश्व कह रहे हैं—"प्रभो! आपसे किसी के मन की कोई बात छिपी नहीं है, क्योंकि इच्छा का जो उद्गम स्थान है, वहाँ से इच्छा आपकी प्रेरणा से ही निकलती है। कारण कि जितने चर अचर स्थावर जंगम जीव हैं, उनमें आत्मरूप से आपही तो निवास करते हैं, इसीलिये आपको सर्वान्तर्यामी तथा विश्वात्मा कहते हैं। संसार में शारीरिक मानसिक वाचिक जितने भी जो जो कर्म होते हैं, उन सब कर्मों की चेष्टाओं के एकमात्र साक्षी आप ही हैं। आपके साक्ष्य के बिना कोई कर्म संभव ही नहीं। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे किसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। यदि सूर्य चन्द्र तथा अग्नि का प्रकाश न हो, तो संसार के कोई भी पदार्थ दिखायी न दें। सर्वत्र अंधकार ही अंधकार हो जाय। प्रकाश होने पर ही नेत्रों में भी

प्रकाश होता है और उसी के प्रकाश में सबको देखते हैं, सब वस्तुएँ प्रकाशित होने के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा रखती हैं, किन्तु आपको किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा ही नहीं। आप स्वयं ही प्रकाश स्वरूप हैं या यों कहें कि आपके ही प्रकाश से यह जगत् प्रकाशित हो रहा है।

प्रभो! आप हमारे अन्तःकरण की अभिलाषा को समझ कर ही यहाँ पधारे और हमें अपने दर्शनों से कृतार्थ किया, तथा हमें दर्शन, स्पर्श, पूजा और प्रार्थना का सुअवसर प्रदान किया, हम आपके अनुरूप कौन-सी वस्तु समर्पित कर सकते हैं, केवल श्रद्धा सहित आपके पादपद्मों में प्रणाम ही कर सकते हैं।

स्वामिन्! आप बारम्बार कहा करते हैं, कि जितने प्यारे मुझे अपने अनन्याश्रित भक्त हैं उतने प्यारे मुझे अपने बड़े भाई बलरामजी भी नहीं। जो मेरी अर्धाङ्गिनी हैं, जो कहीं भी किसी दशा में मेरा साथ नहीं छोड़तीं। वे लक्ष्मी जी भी मुझे उतनी प्यारी नहीं जितने प्यारे मुझे भक्त हैं। ब्रह्माजी तो मेरे पुत्र ही ठहरे, मेरे स्वरूप ही हैं, मेरी आत्मा ही हैं, वे ही इस चराचर विश्व की रचना करते हैं, जिसमें मैं स्वच्छन्द क्रीड़ा करता हूँ, वे ब्रह्माजी भी मुझे भक्तों की अपेक्षा प्रिय नहीं हैं, मुझे सबसे अधिक प्रिय भक्त ही हैं।" मानो अपनी इस उक्ति को चरितार्थ करने के निमित्त ही भक्त न होने पर भी आप हमारे यहाँ पधारे और हमारी सेवा स्वीकार की।

प्रभो! जब आप भक्तों पर इतना अधिक स्नेह करते हैं, और उन्हें इस प्रकार चाहते हैं तब ऐसा कौन कृतज्ञ पुरुष होगा जो आपके भवभयको भगाने वाले अरुण रङ्गके चरणारविंदोंकी छत्र छाया को छोड़कर अन्यत्र जाना चाहेगा। हे भगवन्! जो मननशील मुनिगण एकमात्र आपको ही चाहते हैं, जिन्हें संसारी अन्य

किसी भी विषय की इच्छा नहीं जो निष्किंचन हैं, जिनका चित्त चंचल नहीं अलोलुप है, शान्त स्वभाव के हैं ऐसे अनन्याश्रय भक्तों को आप सब कुछ दे देते हैं,यहाँ तक कि अपने आपको भी अर्पण कर देते हैं ऐसे आप सर्वस्व दाता को जो भूल जाते हैं, उनसे बढ़कर अभागा और कौन हो सकता है।

स्वामिन्! यह जीव न जाने कब से भटक रहा है। संसार सागर में गोते लगा रहा है, संसार रूपी उत्ताल तरङ्गों वाले जल निधि की निरन्तर चपेटें लगने के कारण यह जीव ऐसा हो गया है, कि स्वयं इसमें पार होने की शक्ति रही नहीं। जब तक आप इसे हाथ पकड़ कर जल से बाहर न कर दें तब तक यह पार नहीं लग सकता। आप दया के सागर हैं, करुणा के निधि हैं। जीवों पर अनुकम्पा करनेके हेतु ही-प्राणियोंके संसारचक्रको शमन करने के निमित्त ही-आपने यदुकुलमें अवतार धारण किया है। जिसके दर्शन, स्पर्श और संग से असंख्यों जीवों का उद्धार हो जायगा, वे जन्म मरण रूप चौरासी के चक्कर से छूट जायँगे। साथ ही आप ऐसे ऐसे अद्भुत अलौकिक कार्य करते हैं, जिनकी कीर्ति संसार में शेष रह जायगी। उस पावन यश का जो पीछे से गान करेंगे वे भी संसार बंधन से छूट जायँगे। इस प्रकार प्रभो! आपके समस्त कार्य लोक हितार्थ ही होते हैं, जीवों के कल्याण के निमित्त ही आपकी सभी चेष्टायें होती हैं।

हे देव! आप निरवधि हैं, आप सभी प्रकार के दोषों से रहित हैं, आप विश्व को अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं। जितने ज्ञान, वैराग्य, यश, श्री ऐश्वर्यादिगुण हैं उन सबसे आप सम्पन्न हैं। आप परमानन्द स्वरूप हैं, आप ज्ञान विज्ञान की मूर्ति हैं आप का बोध अखंडित है, उसमें कभी भी किसी समय भी किसी प्रकार की भी विकृति नहीं आती। आप लोक में सुख शान्ति की

स्थापना हो, इस निमित्त नरनारायण ऋषि का रूप रखकर अत्यंत उग्र किन्तु अत्यंत ही शान्त तप करने वाले हैं, ऐसे आप नारायण रूप प्रभु के पादपद्मों में मेरा पुनः पुनः प्रणाम है।

हे भूमन्! आपने इस अकिंचन पर महती कृपा की जो अपने देव दुर्लभ दर्शनों से मुझे समस्त परिजन पुरजनों के सहित कृतार्थ किया। अब मेरी आपके पादपद्मों में यही विनीत प्रार्थना है, कि आप इन मुनिजनों के सहित कुछ काल इस नगर में निवास कीजिये अपने पाद पद्मों के पुनीत पराग से इस राजमहल को पावन बनाइये। आपकी चरणरजसे मैं ही स्वयं नहीं तर जाऊँगा, किन्तु यह समस्त निमिकुल पावन बन जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार विदेहराज महाराज जनक ने भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने भी उनकी प्रार्थना स्वीकार करके उनके महलों में कुछ काल निवास किया। महाराज बहुलाश्व की भाँति ही श्रुतदेव विप्र ने भगवान् की विधिवत् पूजा की और हर्ष में विह्वल होकर वस्त्र को चारों ओर फहरा कर नृत्य करनेलगा। श्रुततेव ब्राह्मण ने जैसे भगवान की स्तुति की, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा

छप्पय

जो निष्किंचन शान्तरूप निज तिनि दै हारैं।
लिये जनम यदुबंश सुयश जगमें बिस्तारैं॥
नमो नरायन कृष्ण बिराजें कछु दिन पुर में।
निमि कुल करें कृतार्थ सदा निबसें मम उर में॥
भूपति की अति बिनय लखि, प्रभु कछु दिन मिथिला रहे।
ऐसे ही इस्तुति वचन, श्रुतदेवहु द्विज ने कहे॥

पद

विभो तुम स्वयं प्रकाशक त्राता ।
भगतनि के सरबसु सब साक्षी, प्रनतपाल पितुमाता ॥१॥
बारबार श्रीमुख तें भाख्यो, प्रिय न मोइ अज भ्राता ।
मोकूँ प्रिय अति भक्त अहैतुक, जो मेरे सुखदाता ॥२॥
कौन अभागो जो नहिँ सुमरे, अरुन चरन जलजाता ।
प्रभु समर्थ सरबज्ञ सरबपति, पालक रुद्र बिधाता ॥३॥

महाराज बहुलाश्वकृत श्रीकृष्ण स्तुति

राजोवाच

भवान् हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग् विभो ।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥१॥
स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥२॥
को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद् विसृजेत् पुमान् ।
निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥३॥
योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥४॥
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥५॥
दिनानि कतिचिद् भूमन् गृहान् नो निवस द्विजैः ।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥६॥
इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः ।
उवास कुर्वन् कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ॥७॥

श्रुतदेव द्विजकृत श्रीकृष्ण स्तुति

(११६)

नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टोह्यात्मसत्तया ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८६ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

लखि अच्युत श्रुतदेव प्रेमतैं नाचन लागे ।
प्रभु की पूजा करी भाग्य द्विजवर के जागे ॥
इस्तुति करिकें कहें—विश्वपति विश्व बनाओ ।
रचि प्रवेश पुनि करो विविध कौतुक दरसाओ ॥
अभिनन्दन कीर्तन श्रवन, पूजन तुमरो जे करें ।
हिय में दरशन देहिं तिनि, भवसागर तैं ते तरें ॥

भगवान् की सत्ता से ही यह जगत सत्तावान है भगवान ही अणु परमाणु में प्रविष्ट होकर सबको बनाये हुए हैं। भगवान को

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए द्विजवर श्रुतदेव कह रहे हैं—"जिनका हम दर्शन कर रहे हैं, वे अपनी शक्तियों से इस चराचर विश्व को उत्पन्न करके अपनी आत्मसत्ता से इस जगत् में प्रविष्ट हो गये हैं, जो परम विलक्षण परमपुरुष हैं । वे पुरुष नहीं हैं, किन्तु साक्षात परब्रह्म परमात्मा हैं ।

शक्ति तिरोहित हो जाने पर यह जगत् तिरोहित हो जाता है। जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही सूत्र निकाल कर ताना बाना बुनती है, इच्छा होती है, तब तक क्रीड़ा करती है, जब इच्छा होती है, तो फिर उसे ज्यों का त्यों निगल कर अपने भीतर रख लेती है। इसी का नाम भगवान की अचिन्त्य माया है।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रुतदेव ब्राह्मण ने अपने घर पर आये हुए भगवान को जब देखा, तो वह वस्त्र फैलाकर नाचने लगा भगवान की सहज प्राप्त सामग्री से पूजा की और फिर स्तुति करते हुए कहने लगा। ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो ! आज मैं कृतार्थ हो गया। यद्यपि आप सदा सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हैं जीव में जो चैतन्यांश है वह आप ही हो, किन्तु अभक्त आपके दर्शन नहीं कर सकते। आप योगमाया से समावृत होने के कारण सबके सम्मुख प्रकाशित नहीं होते। जिस पर आप कृपा करें, जिसके सम्मुख योगमाया के परदे को हटा दें, जिसे अपने आप को जता दें, जिसे बुद्धियोग दे दें वे ही तत्वतः आप को जान सकते हैं। आपके दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि जब से आपने इस जगत् की रचना की तभी से हम आपके दर्शन कर रहे हैं, किन्तु वह दर्शन यथार्थ दर्शन नहीं थे। यथार्थ दर्शन तो आपके आपकी कृपा से आज ही प्राप्त हुए। अथवा आप जो मानवावतार में सर्व साधारण मनुष्य से दृष्टिगोचर होते हैं, केवल वही आप नहीं। आप प्रकृति पुरुष से परे जो पुरुषोत्तम हैं, उससे भी परे परमात्मा हैं। आप अपनी ज्ञानादिक शक्तियों से इस चराचर विश्व की रचना करके सत्ता रूप में उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। आपकी सत्ता के कारण ही ये स्थावर जंगम पदार्थ भासने लगते हैं। आप इस कारण किसी से भी पृथक् नहीं हैं।

प्रभो ! जैसे कोई सोया हुआ पुरुष है। वह किसी स्थान पर सुखद शैया पर सुखपूर्वक सो रहा है। स्वप्न में वह राजपाठ सिंहासन, सेना, सैनिक, हाथी, घोड़ा, अस्त्र शस्त्र आदि अनेक वस्तुओं की रचना करता है। अपने ही पक्ष की नहीं अपने अनेक प्रतिपक्षी राजाओं की उनकी सेना की कल्पना करता है, फिर स्वयं उनमें अनुप्रविष्ट होकर सबमें भासता है। जो स्वप्न देखता है वास्तव में उसी में चैतन्यांश है। स्वप्न के रचित जितने भी हाथी, घोड़ा, ऊँट, बछैड़ा, सैनिक सेवक आदि हैं सभी कल्पित हैं, मिथ्या हैं, किन्तु देखने वाले की सत्ता से वे सबके सब स्वाप्निक पदार्थ चैतन्य दीखते हैं। वह स्वप्न में देखता है, मेरा किसी ने सिर काट दिया है, सिर पृथक् पड़ा है धड़ पृथक् पड़ा है। लोक में जिसका सिर धड़ से पृथक् हो जाय, वह द्रष्टा नहीं रह सकता अपने ही मृतक शरीर को कैसे देख सकता है, किन्तु स्वप्न में तो स्वप्नदेखनेवाले के अतिरिक्त जितने शरीर हैं, यहाँ तक कि अपना भी स्वप्न का शरीर कल्पित ही है। इसी प्रकार प्रभो ! आप भी अपनी माया से इस सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड की-चराचर जगत् की-रचना करते हैं और फिर उसमें निर्लेप रहकर भी अनुप्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि आपके बिना किसी की सत्ता प्रतीत ही नहीं हो सकती आप उसमें जब तक अनुप्रविष्ट न हों, तब तक यह नानात्व उद्भासित ही न हो। आपकी सत्ता से ही तो यह सब भास रहा है। जैसे बीज से अंकुर होता है और बीज ही वृक्ष बन जाता है, फिर जड़ को खोजो तो बीज दिखायी ही न देगा। क्योंकि बीज ही अंकुर बनकर उसने वृक्ष का रूप रख लिया है। बीज ही वृक्ष के अणु परमाणु में अनुप्रविष्ट हो गया है, यद्यपि वृक्ष की जड़ में वह बीज खोजने पर भी नहीं मिलता, किन्तु आप तो अपने अनन्य भक्तों के हृदय में प्रकट

होकर साक्षात दर्शन भी देते हैं। आप विशुद्ध चित्त वाले भक्तों के ही हृदय में प्रकटित होते हैं, जिनका हृदय शुद्ध नहीं है जो मलिनमति वाले हैं, उनके लिये तो आप अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। चित्त की शुद्धि में पाँच कारण हैं।

चित्त शुद्ध होने का पहिला कारण तो यह है, नित्य आपके सुमधुर नामों का, आपके परम पावन अवतार सम्बन्धी गुणों का श्रद्धा सहित नित्य नियम से साधु पुरुषों के मुख से श्रवण करें। दूसरा कारण है आपके नाम और गुणों का एकाकी या भगवत् भक्तों के साथ कीर्तन करे। तीसरा कारण है शास्त्रीय विधि से यथोपलब्ध सामग्रियों द्वारा आपका पूजन करे। चौथा कारण है आपके निमित्त जो यज्ञयाग, भजन, पूजन, अर्चन, वन्दन तथा नमस्कारादि जो भी कार्य किये जायँ, इनका हृदय से अभिनन्दन करे। तथा पाँचवाँ कारण यह कि जहाँ भी दो भगवत् भक्त मिलें वहाँ अन्य सांसारिक बातें न करके आपके ही सम्बन्ध की चर्चा करें। परस्पर में आपके ही गुणों का उत्साह के साथ कथनोपकथन करें। इन कारणों से तथा ऐसे ही अन्य कारणों से जिनका हृदय पवित्र हो जाता है, उनके हृदय में आप स्वयं प्रकटित होकर दर्शन देते हैं।

यद्यपि आप सबमें सर्वत्र समभाव से व्याप्त हैं। कोई ऐसा जड़ या चैतन्य नहीं जिसके हृदय में आप विराजमान न हों, किन्तु जिनका चित्त लौकिक कर्मों के द्वारा अथवा वैदिक कर्मों के द्वारा विक्षिप्त हो गया है, उन कर्मासक्त अज्ञानियों से आप समीप रहते हुए भी बहुत दूर हो जाते हैं। आप यद्यपि अन्तःकरण में विराजमान हैं, किन्तु आप मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार के विषय नहीं हैं किन्तु जो अपने मन को, अपनी बुद्धि को, अपने चित्त तथा अहंकार को आपके गुणों के श्रवण, मनन, कीर्त-

नादि में लगा देते हैं, निरन्तर आपका ही गुणगान करते रहते हैं उनके आप अति निकट हो जाते हैं; उन्हें अन्तःकरण में ही दिखायी देने लगते हैं।

भगवन्! हम आपके सम्बन्ध में क्या कहें आप वाणी के विषय ही नहीं, फिर भी वाणी की सार्थकता इसी में है कि आपके सम्बन्ध में कुछ कहती रहे। अतः आप सर्वगुणसम्पन्न हैं। आप अपने भक्तों को-अध्यात्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानियों-को अपना परम धाम देने वाले हैं। इसके विपरीत जो ज्ञानी नहीं हैं अज्ञानी है, आपके श्रवण कीर्तनादि से पराङ्मुख हैं, उन देहाभिमानियों को आत्मा से भिन्न बारम्बार जन्ममरण देनेवाले संसार की प्राप्ति करानेवाले हैं। त्रिगुणात्मक जगत् की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है तथा महत्तत्वादि जो उसके कार्य हैं आप इन कार्य कारण सभी के नियामक हैं, चलानेवाले हैं। शासनकर्ता हैं। आपने अपनी योगमाया से अपने को इस प्रकार छिपा लिया है, कि आप दूसरों के सामने प्रकाशित नहीं होते। अज्ञानी जीवों की दृष्टि पर आपने ऐसा पर्दा डाल दिया है, कि सबमें सदा सर्वत्र रहने पर भी अविद्या के कारण आपको लोग देख नहीं सकते, किन्तु आप स्वयं अपनी माया से अनाच्छादित हैं। योगमाया की यवनिका पहिनने पर भी; वह आपको किसी भी अंश में स्पर्श नहीं कर सकती आप उससे सर्वथा निर्लिप्त हैं। आप परब्रह्म है, परम आत्मतत्व हैं ऐसे आप सर्वेश्वर सर्वाधार प्रभु के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

हे देवाधिदेव! हे प्रभो! आप हमें आदेश दें, उपदेश दें, आज्ञा प्रदान करें हम आपकी क्या सेवा करें कैसे सेवा करें। स्वामिन्! संसार में क्लेश तभी तक है, जब तक जीव को आप का साक्षात्कार नहीं हो जाता। आपके दर्शन नहीं हो जाते। जब

आपके दर्शन हो जाते हैं, तब सभी प्रकार के क्लेश अपने आप ही भग जाते हैं, आपका साक्षात्कार होने पर जीव कृतार्थ हो जाता है, वह सभी प्रकार की आधि व्याधियों से विमुक्त होकर परमपद का अधिकारी बन जाता है। प्राणियों के जहाँ आप दृष्टिगोचर हुए तहाँ उसे कोई कर्तव्य शेष रहता नहीं। वह स्वस्थ होकर सोता है, मृत्यु उससे भयभीत होकर भाग जाती है। मैं कैसा भाग्यशाली हूँ, कि मुझे आपके साक्षात् दर्शन हो गये। मेरे यह लोक परलोक दोनों ही बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्विजवर श्रुतदेवजी ने जब भगवान् की इस प्रकार स्तुति की, तब भगवान् ने उन्हें अपने साथ आये हुए ऋषि मुनियों की भक्तिभाव से पूजा करने की आज्ञा दी। श्रुतदेव ने वैसा ही किया। यह मैंने द्विजवर श्रुतदेवकृत श्रीकृष्ण स्तुति कही अब जिस प्रकार श्रुतियों ने भगवान् की स्तुति की वह अत्यन्त दुरूहज्ञान सम्पन्न वेदस्तुति को मैं आपसे कहूँगा। आशा है आप इस परम गम्भीर श्रुतिसार रूप विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

करमनि में विक्षिप्त चित्त तिनि दूर दिखाओ।
करें सतत गुनगान तिनहिं हियमाहिं लखाओ॥
ज्ञानिनिकूँ परधाम देहु अज्ञनि बन्धन जग।
शासक कारन काज करौ माया न बँधौ अग॥
प्रभु दरसन तैं क्लेश दुख, मिटैं पूर्न सब काम हैं।
सेवा सौंपैं मोइ हरि, चरननि माहिं प्रनाम हैं॥

पद

दरस दै दीन दास अपनायौ ।
मिले रहो तब तैं सबई तैं, जबतैं जगत बनायौ ॥१॥
स्वपन माहिँ ज्यौं रचहिँ पदारथ, आपुहिँ आप लखायौ ।
माया तैं त्यौं जगकूँ रचिकैं, पुनि तातैं बिलगायौ ॥२॥
जिनि तव पूजन अरचन कीन्हों, श्रवन करयो गुनगायौ ।
चरचा करैं परस्पर तुमरी, उन हिय दरस दिखायौ ॥३॥
फँसे करम बन्धन में जे नर, तिनि नहिँ दरसन पायौ ।
निशि दिन गान करैं, गुन जे जन, तिनि अति निकट लखायौ ॥४॥
ज्ञानिनि ज्ञान अज्ञ भवदाता, कारन काज चलायौ ।
होहिँ दरस दुख प्रभु सब नासैं, चरनकमल सिरनायौ ॥५॥

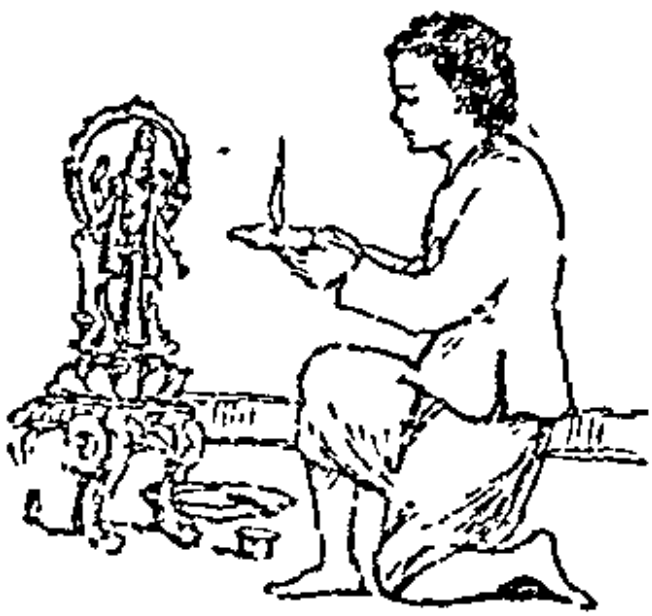

श्रुतदेव द्विजकृत कृष्ण स्तुति

श्रुतदेव उवाच

नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥१॥
यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥२॥
शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम् ।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥३॥
हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम् ॥४॥
नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने,
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे,
स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥५॥
स त्वं शाधि स्वभृत्यान् नः किं देव करवामहे ।
एतदन्तो नृणां क्लेशोयद् भवानक्षिगोचरः ॥६॥

———

वेद स्तुति (१)

(१२०)

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणाम् ।
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अग जगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते ।
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० १४ श्लोक)

छप्पय

ज्यों सोवत सम्राट प्रात मिलि सूत जगावैं ।
त्यों शक्तिनि सँग सुत ब्रह्म श्रुतिगन गुन गावैं ॥
प्रलय अन्त जय होहि करें प्रतिपादन प्रभु गुन ।
जय हो जय हो अजित ! चराचर जिनि आश्रय तन ॥
करहिं अविद्या दूर हरि, जो है दोष गृहीत गुन ।
हैं स्वभाव तें आपु प्रभु, सब भगयुत शोभा सदन ॥

---

१ भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे अजित ! आपकी जय जयकार हो । यह जो दोषों के लिये गुणों को ग्रहण करनेवाली माया है इसको नाश कीजिये । आप समस्त ऐश्वर्यों से स्वभावसे ही परिपूर्ण

संसारी बद्ध जीव विषयों की प्राप्ति के लिये ही सतत प्रयत्न करेंगे, उनके समस्त कार्य विषयों के संग्रह के ही निमित्त होते हैं। वे कार्य तो विषय सामग्री जुटाने को करते ही हैं, साथ ही निरन्तर उसी विषय को सोचा भी करते हैं। यदि मैं ऐसा न करता तो वह वस्तु मुझे अवश्य प्राप्त हो जाती। मेरे शत्रु का पराभव हो जाता। अब आगे से ऐसा करूँगा इत्यादि इत्यादि। जब तक जागते रहेंगे तब तक मन ऐसी ही धुनाबुनी में लगा रहेगा। सो जायेंगे तो स्वप्न में भी इन्हीं बातों को देखेंगे। सारांश यह है कि मूली खाओगे तो डकार भी मूली की ही आवेगी। गौ भैंस आदि पहिले तो घास को वैसे ही थोड़ा चबाकर निगल जाती हैं फिर जब एकान्त में बैठती हैं, तो जुगार करती हैं, उस चबाये हुए को फिर से चबाती हैं। यही बात परमार्थ पथ के पथिकों का है। संतगण प्रथम तो प्रभु प्राप्ति के लिये पूर्ण प्रयत्न करते हैं, साधन, भजन, सत्संग तथा स्वाध्यायादि करते हैं जब प्रभु प्राप्ति हो जाती है, ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है, तो फिर भी उन्हीं कार्यों को करते रहते हैं। उन्हें न करें तो और करें भी तो क्या करें। बिना कुछ किये रहा नहीं जाता. कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। इसलिये वे भगवच्चर्चा करते हुए कालक्षेप करते हैं। उपदेश तो वह होता है, कि श्रोताओं में जो श्रेष्ठ हो विद्वान हो वह अपने से कम समझने वालों को उपदेश दें, उनका कर्तव्य बतावे। न करने योग्य कामों को छोड़ने का उपदेश दें आदि आदि। किन्तु जहाँ से एक ज्ञान वैराग्य और सदाचार के बहुत से संत एकत्रित हो

है यह माया चराचर शरीर ही जिनके आश्रय हैं ऐसे जीवोंके समस्त आनंद को ढक लेती है। वेद आपका कभी माया के साथ कभी मायारहित स्वरूप का वर्णन करते हैं।

जायँ, वहाँ उपदेश तो बनता नहीं, क्योंकि वे सबके सब उस विषय के ज्ञाता हैं, वे आपस में से किसी एक को वक्ता बनाकर ब्रह्म के विषय में चर्चा करते हैं, उसे ब्रह्मसत्र कहते हैं। जहाँ एक से ज्ञान के कर्मकांडी एकत्रित होकर किसी एक को यजमान बनाकर यज्ञ करते हैं उसे कर्मसत्र कहते हैं, और जहाँ एक स्वभाव के भगवत्भक्त एकत्रित होकर भगवच्चर्चा करते हैं उसे कालक्षेप कहते हैं। वह स्थान धन्य है जहाँ ब्रह्मसत्र कर्मसत्र अथवा कालक्षेप होता हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित् ने मेरे गुरुदेव भगवान् श्रीशुक से यह पूछा कि प्रभो! जो अनिर्देश्य है जो सत् असत् कार्य कारण से पर गुणरहित है उस निर्गुण ब्रह्म का गुणमयी श्रुतियाँ साक्षात् प्रतिपादन कैसे कर सकती हैं, तब भगवान् शुक ने राजा को जनलोक में हुआ और भगवान् नारायण द्वारा नारदजी से कहा हुआ ब्रह्मसूत्र का उपाख्यान सुनाया। एक बार नारदजी घूमते घामते भगवान् नर नारायण के निवास स्थान बदरिकाश्रम पर गये। उस समय भगवान् नारायण बदरी वन में निवास करने वाले ऋषियों से घिरे बैठे थे। नारदजी ने दंड प्रणाम करके यही प्रश्न भगवान् से किया। भगवान् ने कहा—"नारद! तुमने जो विषय पूछा है इसकी चर्चा जनलोक में कुमारों के ब्रह्मसत्र में छिड़ी थी। तुम उस समय जनलोक में नहीं थे। जनलोक में वे ही लोग निवास करते हैं। जिन्होंने कभी विवाह नहीं किया स्त्री प्रसङ्ग से सदा जो रहित रहे हैं, यद्यपि तुम बाल ब्रह्मचारी हो जनलोक में रहते हो, किन्तु तुम्हारी प्रकृति घुमक्कड़ है इसलिये जब यह कुमारों का ब्रह्मसत्र हुआ था, तब तुम श्वेतद्वीप में मेरे दर्शनों को चले गये थे। इसीलिये तुम उस सत्संग से वंचित रहे। उस सत्संग में ब्रह्म विचार का बड़ा

अद्भुत विवेचन हुआ। सनन्दनजी ने इसी प्रसङ्ग में वेदों की श्रुतियों ने जैसे भगवान् की स्तुति की वह विषय कहा।

प्राचीन काल से यह परिपाटी प्रचलित है, कि सम्राट् जब सुखद शैया पर शयन करता है और सोते सोते जब ब्राह्ममुहूर्त हो जाता है, तब उसे सम्मानपूर्वक जगाने के लिये सूतमागध वन्दीगण आते हैं। वे राजा के सुयश का गान करते हैं, उस गायन को सुनकर सम्राट् शैया का परित्याग करके अपने नित्य नैमित्तिक कार्यों में प्रवृत्त होता है।

इसी प्रकार जब भगवान अपने रचे हुए सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को अपनी शक्तियों सहित अपने में लीन करके शेष की सुखद शैया पर सुखपूर्वक शयन करते हैं और जब प्रलय का अवसान हो जाता है, तब भगवान के आश्रय में ही रहने वाली श्रुतियाँ भगवान् के यश का प्रतिपादन करने वाले वचनों द्वारा उन्हें जगाती हैं, उन्हें पुनः सृष्टि करने के लिये प्रेरित करती हैं। श्रुतियों ने जो स्तुति की है, उन्हीं से तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मिल जायगा। अब प्रथम वर्ग की कुछ श्रुतियों ने मिल कर भगवान् की स्तुति की।

वे श्रुतियाँ भगवान को प्रबुद्ध करने की इच्छा से स्तुति करती हुई कहने लगीं—"हे प्रभो! आप अब उठिये। आप निद्रा के वश में नहीं हैं। संसारी लोग तो निद्रा के वशीभूत होकर सोते हैं। वे निद्रा द्वारा जीते जाते हैं, किन्तु आपको कोई जीत ही नहीं सकता, क्योंकि आप अजित हैं। आप निद्रा के वश में नहीं हैं आप ने स्वेच्छा से योगनिद्रा को स्वीकार किया है। अब उसके अवसान का अवसर है अतः आप अब उठिये। आपका अधिकाधिक उत्कर्ष हो। आपकी जय हो जय हो। आप तो जय स्वरूप ही हैं, आपके गुणों का हमारे हृदय में उत्कर्ष बढ़े यही

आप की जय है, यही विजय है। प्रभो ! ये जो सम्पूर्ण जीव हैं इनका आश्रय ये स्थावर जंगम शरीर ही हैं। यह जीव शरीर के बिना ठहरता नहीं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर इन्हीं में जीवों की अवस्थिति है। जीव तो आपका अंश ही, आप का स्वरूप ही है, आनन्दादि जितने आपके गुण हैं वे सब इसमें विद्यमान हैं, किन्तु आपकी जो यह माया है, जो अजा कहलाती है जो सफेद काली और लाल बकरी की भाँति है। जो सब कुछ खा लेती है और मैं मैं चिल्लाती रहती है इसने जीव के सभी गुणों को आच्छादित कर रखा है। यह स्वैरिणी स्त्री की भाँति दूसरों को प्रतारण करने के लिये-वंचना करने लिये-ठगविद्या के लिये ही इसने गुणों को धारण किया है।

आप इसे मारिये, प्रतारणा कीजिये, दंड देकर दबाइये। इस आप की मनमोहक अविद्याने ही जीवों को जनम मरण के चक्कर में फँसा रखा है। और किसी के वश की यह बात नहीं है कि इस विचित्र चरित्र वाली माया को दंड दे सके। आप तो सर्वज्ञ हैं, सर्वविद् हैं। सत्य स्वरूप हैं, ज्ञानघन हैं, अनादि अनन्त हैं सर्व व्यापक ब्रह्म हैं। आप आत्मा में रहते हैं, आत्मस्वरूप हैं। परमात्मा हैं। आप दिव्य गुण वाले हैं; आत्मबुद्धि प्रकाशक हैं। ब्रह्माजी को आपने ही उत्पन्न किया है, जिन्होंने चराचर विश्व की रचना की है। वेद भी आपकी ही निःश्वास हैं। ये जितने भी प्राणी हैं सब आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आप में ही रहते हैं और अन्त में आप में ही विलीन हो जाते हैं। आप समग्र ऐश्वर्य से समस्त पराक्रम से समस्त यश तथा श्री से और ज्ञान तथा वैराग्य से युक्त हैं इसीलिये आप भगवान् कहलाते हैं। हे प्रभो! आपकी जितनी भी शक्तियाँ हैं उन समस्त शक्तियों के एकमात्र जाग्रत करनेवाले हैं। समस्त शक्तियाँ आपके ही अधीन हैं। आप

सर्वशक्तिवान् हैं। समस्त वेद आप का ही अनुसरण करते हैं, आप जो कह देते हैं, वेद वैसी ही वाणी बोलते हैं। आप उन्हें जैसा बता देते हैं वैसा ही वे आपके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, अर्थात् आपकी निश्वास ही वेद बन गयी हैं। कभी तो वेद आपका वर्णन उस दशा का करते हैं जब आप माया के साथ क्रीड़ा करने लगते हैं। तब वेद कहते हैं—उन प्रभु ने बुद्धि, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा समस्त लोकों को उत्पन्न किया। वे प्रभु ही सब जनों के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर सब का शासन कर रहे हैं। उन्होंने लोकों की सृष्टि की कामना की। इस सम्पूर्ण प्रपञ्च की सृष्टि करके उसी में वे प्रभु प्रवेश कर गये, इस प्रकार के अनेकों वाक्यों से वे आपको जगत् का बनाने वाला, उसका पालन करने वाला, उसका संहार करने वाला, जीवों का शासक, रक्षक उत्पादक बताते हैं और कभी वेद आपके स्वस्वरूप में स्थित रहने वाले स्वरूप का वर्णन करते हैं। उस समय आपका जीवों से जगत् के पदार्थों से कोई सम्बंध ही प्रतीत नहीं होता। उस समय वेद कहते हैं—वह ब्रह्म अरूप है, अस्पर्श है, वह रस रूप है। वह सत्य स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, आनंद स्वरूप है। वह एक है अद्वय है। इत्यादि वाक्यों से आपके आत्मस्वरूप का निरूपण करते हैं। आप ही सब करते कराते हैं। अतः आपकी सृष्टि के आरंभ का काल उपस्थित हो गया है। अपनी शक्तियों सहित प्रबुद्ध हो कर पुनः सृष्टि संचालन कीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार कुछ श्रुतियाँ ऐसे स्तुति करके जब चुप हो गयी तब दूसरी श्रुतियों का समूह उठा वे अब जिस प्रकार भगवान् की स्तुति करेंगी, वह प्रसंग मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

प्रभु समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश सिरी सहित हैं।
ज्ञान और विज्ञान युक्त आनंद सत चित हैं॥
अवबोधक सब शक्ति जगत कूँ आपु बनावें।
पालन सब कों करें समेटें पुनि सो जावें॥
आत्मरूप तैं थिर रहें, माया सँग क्रीड़ा करें।
द्वै रूपनि तैं बेद सब, प्रतिपादन करि भय हरें॥

पद

अजित हम जय जयकार मनावें।
सुखद शेष शैया पै सोवत, सब श्रुति आइ जगावें॥१॥
सब जीवनिकूँ मोहै माया, सद्गुन सब बिसरावें।
आनन्दादि गुननि ढकि लेवै, ताकूँ मारि भगावें॥२॥
सब गुन सागर सब सम्पतयुत, शक्तिनि काम लगावें।
मायारहित सहित कहि बेदहु, उभय रूपतैं गावें॥३॥

वेद स्तुति (२)

(१२१)

बृहदुपलब्धमेतद्वयन्त्यवशेषतया,
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचना चरितम्
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८७ अ० १५ श्लोक)

छप्पय

दृश्यमान चर अचर जगत जो सुनें लखावें ।
परब्रह्म को रूप वेदवित बिज्ञ बतावें ॥
प्रलय काल में वस्तु नाश ह्वै जावैं सबही ।
शेष रहै नहिँ कछू आपु रहि जावैं तबही ॥
प्रभु निरगुन ही तैं प्रलय, उतपत्ती होवै जगत ।
मिट्टी तैं उत्पन्न घट, पुनि मिट्टी ही में मिलत ॥

हम जन्म मरण के चक्र में क्यों फँस जाते हैं। क्यों आवागमन के जाल में फँस जाते हैं, क्यों बारम्बार नाना योनियों में

---

* भगवान् को जगाते हुए श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे प्रभो ! यह जो इतना भारी जगत् प्रतीत हो रहा है उसे ज्ञानी लोग आप परमात्मा का ही स्वरूप मानते हैं। क्योंकि प्रलय में एकमात्र आप ही अवशेष रह जाते हैं,

क्लेश सहते हैं ? इसलिये कि हमने अपनी सत्ता पृथक् समझ रखी है। जगत् को भगवान् से भिन्न मान लिया है। वास्तव में ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की (कल्पना) भी नहीं हो सकती और उसका अस्तित्व संभव नहीं। एक बालक मिट्टी से खेल रहा है। मिट्टी का उसने एक घर बनाया। पेड़ों की छोटी टहनी तोड़ तोड़ कर गाड़ दीं यह बगीचा बन गया। गीली चिकनी मिट्टी के बैल बनाये। मिट्टी के ही घोड़ा हाथी बनाये, मिट्टी की चक्की बनायी, चूल्हा बनाया। मिट्टी का तवा मिट्टी की रोटी। उसने गृहस्थी की जितनी सामग्री है मिट्टी से ही बना लीं। खेलते खेलते जब ऊब गया। सब कुछ बिगाड़ दिया। मिट्टी का ही सब बनाया था। बन गया तब भी सभी पदार्थ मृण्मय ही थे। अन्त में जब खेल समाप्त हो गया तब भी सब मिट्टी में ही मिल गये। खेलने वाले ने अपनी सुविधा के लिये नामों की रूप की कल्पना कर ली थी। उनमें से नाम रूप की कल्पना हटा दी जाय सब मिट्टी ही है। न भी हटाओ तो मिट्टी के तो वे हैं ही। इसलिये जगत् भी भगवान की क्रीड़ा का उपकरण मात्र है। जैसे मकरी अपने उदर से ही जाला निकालती है जाल बनाती है। इच्छानुसार कुछ काल तक विहार करती है, फिर उस सबको निगल जाती है। इसी प्रकार भगवान् अपने आप में से ही सब निकाल कर जगत् को बनाते

-इस जगत का उदय और अस्त आपसे ही है, जैसे मिट्टी के बर्तनों की उत्पत्ति प्रलय मिट्टी से ही है। इससे ऋषिगण- मन वचन से प्रतीत होने वाले जगत् को आप में देखते हैं। मनुष्य कहीं भी पैर रखे पृथिवी पर ही रहेगा।

हैं। बनाये हुये जगत् से इच्छानुसार कुछ काल तक खेलते हैं, फिर सबको समेट कर उदरस्थ कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब श्रुतियों का एक यूथ स्तुति करके चुप हो गया तो दूसरे यूथ की श्रुतियाँ कहने लगीं—"प्रभो! यह जगत् आपका ही स्वरूप है, जैसे बीज ही वृक्ष बन जाता है और अंत में वृक्ष पर बीज लगकर वे बीज भी वृक्ष बनाने में समर्थ होते हैं। लकड़ी पत्ते फूल और फल जब नष्ट हो जाते हैं, तो बीज ही बच जाता है। इसी प्रकार प्रलय कालमें जितने जो ये घट पटादि दृश्य पदार्थ हैं, सभी लय हो जाते हैं, सबका अदर्शन हो जाता है, सब लोप हो जाते हैं, केवल आप ही आप अवशेष रह जाते हैं। जगत् को आप अपने से ही निर्माण करते हैं, असंख्यों प्रकार के रूप बनाते हैं, उनके असंख्यों नाम रख देते हैं। जैसे मिट्टी के घट सकोरा दिवले, हंडी, परिया कुल्लड़ और न जाने कितने प्रकार के बर्तन बनते हैं। दीखने में उनके आकार प्रकार भी भिन्न भिन्न हैं, उन पर चूना, गेरू, पीली मिट्टी और अनेक प्रकार के रंग पोतकर उनके रङ्ग भी पृथक् बना दिये हैं, उन सबके नाम भी भिन्न भिन्न रख दिये हैं, किन्तु ये नाम और रूप दोनों ही मिथ्या हैं दोनों ही नाशवान आद्यन्तवन्त हैं सत्य उन सब में मिट्टी ही है।

चीनी के हाथी, घोड़ा, ऊँट बछेड़ा आदि भिन्न भिन्न प्रकार के खिलौने बना दिये हैं, उनके नाम, रूप, रङ्ग तथा आकृतियाँ भिन्न भिन्न हैं किन्तु अंत में केवल चीनी ही चीनी अवशेष रह जायगी, खिलौनों का अंत हो जायगा। जिससे जिस वस्तु का निर्माण होता है, उसमें सत्य पदार्थ वही है, जिसका वस्तुओं के नाश हो जाने पर स्वयं का नाश नहीं। सुवर्ण से कटक, कुंडल, बर्तन आदि सभी बनते हैं, सभी आकार प्रकार नाम रूप भिन्न भिन्न हैं।

किन्तु आकार प्रकार नाम रूप सत्य नहीं हैं, सत्य तो एक मात्र सुवर्ण है जो सबके न रहने पर भी बना रहे।

पानी जमकर हिम बन गया। उस हिम खंड को काट काट कर पशु पक्षी नाना प्रकार के हिम के खिलौने बना लिये हिम के बने वे खिलौने उनके नाम रूप सत्य नहीं है, सत्य तो जल ही है, जो खिलौनों के नष्ट होने पर, हिम के गल जाने पर भी वह ज्यों का त्यों बना रहेगा।

इसी प्रकार प्रभो! इस जगत् की उत्पत्ति आप निर्विकार ब्रह्म से ही हुई है, आप में ही यह स्थित रहता है और अन्त में आप में ही लीन भी हो जाता है। इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति तथा प्रलय के भी आप ही कारण हैं। आपसे उत्पन्न होकर यह जगत् आप में ही लीन हो जाता है। अतः अज्ञ लोगों को तो इसमें नानात्व दिखायी देता है। किन्तु जो विज्ञ हैं, तत्वदर्शी हैं मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं, वे जगत् में जितने वाणीद्वारा व्यक्त किये जाने वाले पदार्थ हैं, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य वस्तुएँ, मन जहाँ तक मनन कर सकता है, जितने पदार्थों की कल्पना कर सकता है, सब आप ही हैं। आपकी सत्ता से ही पदार्थों की सत्ता है, आपके अस्तित्व से ही जगत् की वस्तुओं का अस्तित्व है जैसे पक्षी किसी भी देश मे उड़े वह आकाश में ही उड़ेगा मनुष्य शैया पर, वृक्ष पर कहीं भी पैर रखे वह भूमि पर ही मानेगा। मनुष्य पृथिवी के बिना स्थिर रह नहीं सकता। इस प्रकार जितने स्थावर जंगम हैं, चेतन अचेतन हैं, बिना आपके रह नहीं सकते। आप सबके परमकारण तथा अन्तरात्मा हैं जितने यह देह हैं सबके देही आप हैं। सूक्ष्म स्थूल कारण सब शरीरों के शरीरी एकमात्र आप परब्रह्म परमात्मा ही हैं, अतः देव अब उठिये।

इस पर श्रुतियों का तीसरा यूथ कहने लगा—"प्रभो! माया जीवों के ही आनन्दादि गुणों का आच्छादन करती है। आप तो अपराजित हैं, आपको तो कोई भी किसी भी दशा में पराजित नहीं कर सकता। फिर आप तो इस त्रिगुणमयी माया के अधीश्वर हैं, स्वामी हैं भर्ता हैं। आपके सम्मुख तो यह बोल भी नहीं सकती। आप माया को उसी प्रकार नचाते हैं जैसे वीणावादक मृगी को नचाता है। आप ही सबकी गति हैं। आप सबके स्वामी हैं, सब आप में ही निवास करते हैं, सबके एकमात्र शरण आपही हैं, सबके सच्चे सुखदाता सुहृद् भी आप ही हैं। इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय के कारण आप ही हैं आप अव्यय हैं तथा सबके बीज हैं। स्वामिन्! जीवों को दैहिक दैविक तथा भौतिक ताप सन्तप्त कर रहे हैं, इनसे इनका छुटकारा किस प्रकार हो। वेद तो आज्ञा देते हैं शान्त, दान्त, उपरत तथा तितिक्षु होकर अपने आपसे ही आत्मा को देखे। जीव स्वतः कैसे शान्त बन सकता है, कैसे मन तथा इन्द्रियों को वश में कर सकता है। जीव अपने पुरुषार्थसे अपने आप स्वयं प्रकाशित आत्मा को कैसे जान सकता है। प्रतीत होता है, अहंकार युक्त आरम्भ के साधकों को साधन में प्रवृत्त करने को वेद ने ऐसे उत्साहपूर्ण वाक्य कहे हों। नहीं तो दूसरे स्थान पर वेद ही आज्ञा दे देते हैं—"बहुत से शब्दों को शास्त्रों को न पढ़े, क्योंकि ये सब वाणी का विग्लापन मात्र ही हैं, वाणी का विलाश ही है। भगवान् के नाम ही उनका महद्यश है। भगवान् के वीर्य का, पराक्रम का, उनके कर्मों का वर्णन कौन कर सकता है। ऐसा साहस वही करेगा जो समस्त पृथिवीके रज कणों की गणना कर सके।" इससे यही सिद्ध होता है, कि जीव एकमात्र आपका ही आश्रय ले ले, आपके ही प्रपन्न हो जाय। आप ही सम्पूर्ण लोकों के समस्त जीवों के मल को

दूर करने वाले हैं। इसीलिये जो विवेकी हैं। भगवत्भक्त आपके चरणारविन्दों के आश्रित हैं वे सभी काया को क्लेश देने वाले तपों को छोड़कर एकमात्र आपकी त्रैलोक्यपाविनी कथा का ही श्रवण करते हैं। समस्त लोक के पापों को नष्ट करने वाला आपका कथामृत सिन्धु है। उसमें जो अवगाहन करते हैं, डुबकी लगाकर उसमें निमग्न हो जाते हैं वे समस्त संतापों को त्याग देते हैं, फिर उन्हें आधिदैविक आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक किसी भी प्रकार के संताप संतापित नहीं कर सकते। आपकी कथा अमृत के समान है, वह जनम मरण के चक्कर को छुड़ाने वाली है, समुद्र के समान अगाध अनन्त है, हृदय में पहुँच कर वह अनन्त विस्तार वाली बन जाती है ऐसी कथा का जो बड़भागी प्रेमपूर्वक श्रवण करते हैं, वे सभी प्रकार के दुःखों से छुट जाते हैं। यह माहात्म्य तो कैसे भी जो कथा सुनते हैं, उनका है। किन्तु हे परमपुरुष ! जिनके मनके राग लोभादि दोष नष्ट हो गये हैं। जिन्हें निखिल कल्याणगुणसम्पन्न सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक आपके सद्स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो गया है और जिनके कार्य कृत जरामरणादि दोष नष्ट हो गये हैं, ऐसे जो महानुभाव संत हैं जो समाधि में सदा आपका साक्षात्कार करते हैं, अथवा जो आपके धाम में सदा वास करके सतत सुखानुभव स्वरूप आपके चरणारविन्दों का भजन करते है, ऐसे बड़भागियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। उनके तो सभी प्रकार के दैहिक दैविक भौतिक ताप संताप सब नष्ट हो ही जायँगे। जो कथा श्रवण के पश्चात् आपका ध्यान, चिंतन, पादपूजन, वन्दन करते हैं आपके लोक में रहते हैं वे तो कृतार्थ हैं, उनके समस्त मनोरथ सफल हो जाते हैं, वे इस असार संसार को पार करके आपके पद को प्राप्त कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रकार स्तुति करके श्रुतियों का एक समूह चुप हो गया। अब चौथा यूथ आया, उस यूथ की श्रुतियाँ जैसे स्तुति करेंगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

धरै मनुज पद कहूँ परैं पृथिवी पै जैसे।
मनबानी तैं ग्राह्य आपु में थित जग तैसे॥
नाथ कथामृत सिन्धु सकल मल नाश करावै।
जो अवगाहैं सतत शोक सन्ताप भगावै॥
जरामरन रोगादि तजि, सुख अनुभव पद लहैं यथा।
प्रभु स्वरूप पद भजहिं जे, तिनि सन्तनि की का कथा॥

पद

सब कछु ब्रह्महि ब्रह्म लखावैं।
जब होवै संहार जगत को, शेष आपु रहि जावैं॥१॥
ज्यों घट मिट्टी तैं ही उपजैं, मिट्टी माहिं समावैं।
पृथिवी वासो धरैं चरन कहुँ पृथिवी माहिं कहावैं॥२॥
तुमरी कथा सकल मल नासैं, मन संताप भगावैं।
कथासिन्धु जे गोता मारैं, शान्ति सतत ते पावैं॥३॥
जिनिके राग द्वेष दुख छूटैं, जो नित चरननि ध्यावैं।
ते प्रभु प्यारे धन्य संतजन, तुमरे रूप कहावैं॥४॥

वेद स्तुति (३)

(१२२)

*दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदितेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन्यदनुग्रहतः ।
*पुरुषविधोऽन्वयोत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८७ अ० १९ श्लोक)

छप्पय

ते जगमें अति धन्य भजन जे करैं तिहारो ।
भस्त्रा सम तिनि स्वाँस लैहिँ नहिँ नाथ सहारो ॥
जिनि प्रसाद महदादि विश्व ब्रह्माण्ड बनावैं ।
अन्नादिक सब कोश माहिँ जो पुरुष लखावैं ॥
सब में अनुगत अवधि जे, कारज कारन पर प्रभो ।
प्रलय माहिँ अवशेष जो, सत स्वरूप तुमही विभो ॥

मानव जीवन का फल इतना ही नहीं है कि किसी प्रकार पेट भर के जीवित रहें । यदि यही मानव जीवन का लक्ष्य होता तो कीट पतंग, पशु पक्षी तथा वृक्षादि से शाखों में मानव जन्म

---

*भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—भगवन् ! वे लोग लुहारकी धौंकनीके समान व्यर्थ ही श्वास लेते हैं जो आपका अनुसरण नहीं करते । सफल जीवन उन्हीं का ही है जो आप को भजते हैं । जिनके

को श्रेष्ठ क्यों माना जाता, तब तो वह पशु पक्षी वृक्षादि के ही समान है। मानव जन्म की विशेषता यही है, कि इसके द्वारा भगवान्‌का भजन किया जाय, भगवान्‌का साक्षात्कार किया जाय जो ऐसा न करके पेट भरने और सोने आदि में ही समय बिताते हैं, वे तो बद्ध जीव हैं, बार बार जन्मते हैं मरते हैं और चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई अन्य श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! मानव जीवन की सार्थकता आप के भजन में ही है, जो आप का भजन, ध्यान, कीर्तनादि नहीं करते, तो जीवित ही मृतक तुल्य हैं। अन्तर इतना ही है, कि मृतक व्यक्ति साँस नहीं लेता, ये लोग स्वाँस लेते हैं। स्वामिन्! स्वाँस लेना ही कोई जीवन का चिन्ह नहीं है। यदि स्वाँस लेना ही जीवन हो तो लुहार की मृतक चर्म की धौंकनी तो बड़े वेग से स्वाँस लिया करती है। उसका स्वाँस लेना पर संताप के लिये ही होता है। जो धातुएँ शीतल हैं अपने स्वभाव में स्थित हैं—उन्हें संतप्त करना ही उस मृतक धौंकनी की स्वाँस का उद्देश्य होता है। उसी प्रकार जो भजन नहीं करते ऐसे प्राणपोषक पुरुष अपने जीवन से परसंताप ही पहुँचाते हैं। वे आत्मघाती हैं, ऐसे अज्ञ बहिर्मुख व्यक्ति इस लोक में तथा परलोक में भी भार भूत ही होते हैं। जीवन का लक्ष्य

अनुग्रह से महत्तत्व तथा अहंतत्वादि तत्व इतने बड़े विश्व ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं, जो पुरुष रूप से अन्नमयादि कोशों में अनुगत हैं, जो कोशों की चरमावधि हैं अर्थात् आनन्दस्वरूप हैं। जो सत् असत् से परे हैं वे और कोई नहीं आप ही हैं जो सब के नाश होने के अनन्तर भी अवशेष रह जाते हैं।

खाना पीना और जीवित बने रहना ही नहीं है। जीवन की सार्थकता इसी में है, कि प्राणी आप का अनुसरण करे, वेदादि में बतायी हुई आपकी आज्ञाओं का श्रद्धा भक्ति से पालन करे। जो ऐसा नहीं करते वे कृतघ्नी हैं, कृतघ्नी की किसी प्रकार भी निष्कृति नहीं होती। प्राणीमात्र को आप का भजन करना ही चाहिये। क्योंकि सभी प्राणी आपकी सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं। सृष्टि होती है प्रकृति, महतत्व, अहंतत्व, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, प्राण, देवता, तन्मात्रा तथा पंचभूतों से। स्वयं महतत्वादियों में सृष्टि रचने की शक्ति नहीं। ये तो सब जड़ हैं। जब तक आप चैतन्य रूप से इनमें प्रवेश नहीं करते तब तक किसी की भी सृष्टि संभव नहीं। अतः आप समस्त प्राणियों के जनक हैं। जो अपने पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट नहीं करता वह कृतघ्न है। अतः परमपिता भाव से आप का भजन करना प्राणी मात्र का कर्तव्य ही है।

प्रभो! आपने ही इनकी रचना की है, तथा पुरुष रूप से आप ही इन सब शरीरों में अनुगत हैं। ये जो अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय पंचकोश हैं, उन सबकी अंतिम अवधि चरमकोश जो परमानन्द स्वरूप हैं वह आप ही है। जैसे धातु की आकृतियों को बनाने वाला पहिले मिट्टी आदि का साँचा बना लेता है, जब उसके मनोनुकूल साँचा बन जाता है, तब उसमें जिसका इसे निर्माण करना होता है, उस अन्तिम धातुको उसमें डालता है, बनावटी अन्य स्तरों को साँचे की वस्तुओं को पृथक कर देता है। इसी प्रकार अन्न प्राण, मन तथा विज्ञान ये बाहरी साँचे हैं। आप को तो पुरुष को आनन्दमय बनाना है, आनन्द ही उसका स्वरूप है, आनन्द से ही उत्पन्न होता है, आनन्द में ही रहता है, अन्त

में आनन्द में ही मिल जाता है। अतः अन्नादि कोशों की चरमावधि हैं, आप आनन्दमय हैं।

भगवन्! इस चित् अचित् जड़ चेतन तथा कार्य कारण रूप समस्त प्रपंच से परे हैं इसीलिये आपको परमात्मा कहा जाता है। संसार में जो भी उत्पन्न हुआ है, उसका अवश्य नाश होगा। उत्पन्न होने वाले की मृत्यु ध्रुव है, किन्तु आप की सत्ता सदा एक सी बनी रहती है। सब का नाश होने पर भी एक मात्र आप ही अवशिष्ट रह जाते हैं। इसीलिये ऋषिगण आपको सत्य स्वरूप कहते हैं। इस प्रकार आप सत्चित् आनन्द स्वरूप हैं। जगत में जिसकी भी सत्ता है, जो चैतन्य है जहाँ भी आनन्द प्रतीत होता है, वह सब आप का ही स्वरूप है इसी प्रकार शरीर को उत्पन्न करने वाले आप परम पिता होने से, सभी के प्रेरक होने से, आनन्द दाता होने से तथा सत्य के दाता होने से एक मात्र आप ही सेव्य हैं, आप का ही सबको भजन करना चाहिये। जो आप का भजन नहीं करते हैं वे तमसावृत लोकों में जाते हैं और जो आपका भजन करते हैं उन्हें शाश्वती शान्ति प्राप्ति होती है।

स्वामिन्! उपासकों में अनेक मतवाले हैं, कोई आप की किसी रूप से उपासना करते हैं, अन्य किसी दूसरे ही रूप से। ऋषियों ने उपासना के नाना प्रकार बताये हैं। योग मार्ग में सुषुम्ना नाड़ी में षट चक्र बताये हैं मूलाधार, स्वाधिष्टान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा। ये क्रमशः गुद, लिङ्ग, नाभि, हृदय कंठ और भौंहोंके मध्य में होते हैं। मस्तकमें सहस्रार चक्र है। जो स्थूल दृष्टि वाले हैं वे उदर में अर्थात् मणि पूरक चक्र में वैश्वानर रूप से जो आप निवास करते हैं उनकी उपासना करते हैं। वे शाकराहा कहलाते हैं। कुछ लोग हृदयमें जो

बारह दल वाला अनाहत चक्र है, जहाँ से सुषुम्ना में से सब ओर को नाड़ियाँ निकलती हैं, जहाँ आप स्वं ब्रह्म रूप से विराजमान हैं, जिसे दहर विद्या भी कहते हैं उसकी उपासना करते हैं वे लोग आरुणिक संप्रदाय के उपासक हैं। कुछ उपासक व्यापक सुषुम्ना नाड़ी रूप मार्ग में जो हृदय से लेकर मस्तक पर्यन्त व्याप्त है उस सहस्रार चक्र में परब्रह्म रूप से आप की उपासना करते हैं। इनको प्राप्त करके जीव सदा के लिये जन्म मरण के चक्कर से छूट जाता है। वह फिर मृत्यु के मुख में नहीं पड़ता, उसका आवागमन समाप्त हो जाता है।

कुछ साधक जो स्थूल दृष्टि वाले हैं वे कर्मकांड के द्वारा आपकी उपासना करते हैं। अग्निहोत्रादि कर्म से आपका यजन करते हैं। कुछ उपासक लोग हृदय में योगाभ्यास द्वारा भगवत् चिन्तन द्वारा, उपासना द्वारा, आपका चिन्तन करते हैं, आप को भजते हैं। कुछ ज्ञाननिष्ठ जन जो शीर्षस्थानीय हैं आपका परब्रह्म रूप से ध्यान करते हैं। इस प्रकार कोई कर्म रूप से, कोई उपासना रूप से और कोई ज्ञान द्वारा आप को भजते हैं। प्रभो! आप एक अद्वय निरामय हैं। साधकों को जैसी भावना होती है आप उन्हें वैसा ही फल देते हैं। आप सर्वमय हैं और सब के दाता हैं। इसीलिये सर्वभाव से सभी उपासकगण एक मात्र आप को ही नाना भावों से नाना प्रकारों से उपासना करते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार जब श्रुतियों का एक समूह भगवान् की स्तुति करके चुप हो गया, तो श्रुतियों का अन्य यूथ आकर भगवान् की स्तुति करने लगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह सभी वेदों का सारभूत सिद्धान्त है। अतः इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

थूल करम जे करहिं उदर में ध्यान लगावें।
दहरोपासक हृदय ब्रह्म करि तुमकूँ ध्यावें॥
सहस्रार में ध्याइ ज्ञान निष्ठा जे राखें।
सम्प्रदाय करि भिन्न भिन्न निज मत कूँ भाखें॥
मार्ग सुषुम्ना हृदयतें, शिर तक व्यापक वृहद् अति।
जीव ताहि पावैं कबहुँ, होहि मुक्ति लहि परमगति॥

पद

भजन विनु नरतन व्यरथ गँवायौ।
सोये घोर नींद में परिकें, जगे उदर भरि खायौ॥ १॥
स्वाँस धोकनी जैसे लेवै, तैसे समय वितायौ।
जिनकी कृपा बन्यो सबरो जग, तिनि कबहूँ नहि ध्यायौ॥ २॥
सत चित आनँद अनुगत सब में, सबकी अवधि बतायौ।
एक प्रलय में शेष रहे जो, परमानन्द कहायौ॥ ३॥
उदर हृदय सिरमें जिनि ध्यावैं, मारग भिन्न बतायौ।
ध्यावैं प्रभु शिर माहिँ परमपद, पावैं जगत नसायौ॥ ४॥

—:०:—

वेद स्तुति (४)

(१२३)

स्वकृतविचित्र योनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथा स्वमूष्ववितथं तव धाम समम्
विरजधियोऽन्वयन्त्यभि विपश्यव एकरसम् ॥❀

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

प्रभो ! रचित निज योनि बसो तिनमें तस बनिकें ।
अनल काठ में रहे काठ आकृति में सनिकें ॥
उत्तम चाहें अधम सबनि में नाथ विराजो ।
मकरी सरिस बनाय स्वयं क्रीड़ा करि आजो ॥
जो अति निरमल चित्त मुनि, उभय लोक करमनि विरत ।
इन मायिक रूपनि लखें, इक रस सम प्रभु रूप सत ॥

❀ भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं—"हे प्रभो ! अपनी ही बनायी हुई विचित्र योनियों में, हेतु से ही प्रविष्ट हुए की भाँति अपनी बनायी आकृतियों का अनुकरण करते हुए काष्ठ में प्रविष्ठ अग्नि के समान तारतम्य से आप प्रकट होते हैं । अतः इस लोक तथा परलोक के कामों से विरत हुए विशुद्ध बुद्धिवाले व्यक्ति इन मिथ्या रूपों में आपके सम, सत्य और एक रस स्वरूप को देखते हैं ।

यह जगत अगाध अनंत भीषण समुद्र है। जीव इसमें अपने स्वरूप को भूल कर न जाने कब से भटक रहा है। श्रीमन्नारायण इसमें सर्वत्र एक रूप से निवास कर रहे हैं, उनका आश्रय न लेकर यह निराश्रय बनकर तड़प रहा है। इस जलमें दो बड़े बड़े कमल खिले हैं। यदि भटकता हुआ जीव उन कमलों का आश्रय लेले तो कभी डूब नहीं सकता। निश्चय ही वह पार लग जायगा। वे कमल भगवान् के चरणारविन्द ही हैं। जिन्होंने उनका आश्रय ग्रहण किया है वे सुख पूर्वक संसार सागर से तर गये हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब पूर्वोक्त श्रुति समूह स्तुति करके विरत हो गया तब श्रुतियों का अन्य यूथ स्तुति करते हुए कहने लगा। श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! आपने ही इन सब चौरासी लाख योनियों को बनाया है। इनकी आकृतियाँ भी आपने विविध भाँति की बनायी हैं, ऐसी आकृतियाँ बनायी हैं, कि एक दूसरे से मिलती ही नहीं कुछ न कुछ भिन्नता एक दूसरे से अवश्य होगी। ये योनियाँ क्या हैं एक प्रकार के साँचे हैं, जैसे चीनी या मिट्टी के खिलौना बनाने वाले विविध भाँति के साँचे रखते हैं। हाथी, घोड़ा, चूहा, बिल्ली सभी के भिन्न भिन्न छोटे बड़े साँचे होते हैं। यदि उन साँचों में जो यथार्थ वस्तु है चीनी या मिट्टी तो साँचे किस काम के। चीनी भरने से उसी आकृति का चीनी का घोड़ा बन जायगा, हाथी बन जायगा, चूहा बन जायगा, अँगूठी बन जायगी। उन खिलौनों में आकृति को छोड़कर चीनी ही सर्वत्र व्याप्त है। इसी प्रकार ये विभिन्न योनियाँ साँचे हैं, इनकी आकृति ही नाम रूप है .आप उनमें कारण रूप से प्रवेश करके देवता, मनुष्य, असुर, राक्षस, पशु, पक्षी, तिर्यक स्थावर जंगम के नाम से जाने और कहे जाते हैं।

जैसी योनि आप ने बनायी है उसमें प्रविष्ट होकर आप अरूप भी वैसे रूप वाले दृष्टि गोचर होते हैं। जैसे अग्नि का कोई रूप नहीं, किन्तु यदि वह टेढ़ी लकड़ी में प्रवेश करेगी तो उसी लकड़ी की आकृति वाली टेढ़ी प्रतीत होने लगेगी। मोटी लकड़ी में मोटी, छोटी में छोटी, बड़ी में बड़ी जैसा काष्ठ होगा वैसी ही अग्नि प्रतीत होने लगेगी। लोहे के गोले को अग्नि प्रविष्ट करके लाल कर लो तो उसमें गोल अग्नि दिखायी देगी। लम्बे में लम्बी और कुल्हाड़ी, खुरपी, फावड़ा इनमें प्रविष्ट होने पर इन्हीं के रूप की अग्नि दिखायी देगी। ऐसे ही हे भगवन्! आप भी योनियों के अनुरूप वैसा ही रूप बना कर कारण रूप से-चैतन्यांश से- उनमें प्रविष्ट हो जाते हैं और वैसे ही प्रतीत होने लगते हैं। हे देव! आप एक ही हैं, सभी योनियों में छिप कर रहते हैं, आप सर्वव्यापी हैं, सर्व भूतान्तरात्मा हैं, सभी कार्यों के अध्यक्ष हैं। सम्पूर्ण प्राणियों में अधिवास करते हैं, निवास करते हैं, आप सबके साक्षी हैं, सचेता हैं। आप के सदृश दूसरा कोई भी नहीं आप केवल तथा निर्गुण हैं। फिर गुणों में अनुस्यूत से प्रतीत होते हैं। आप चराचर विश्व की सृष्टि कर के उसी में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। आप ही नाना योनियों में नाना रूप रखकर नाना नामवाले कहलाकर चित्र विचित्र नाना खेल कर हैं।

प्रभो! संसार के जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, वे सब विषम हैं, उनमें किसी में समता नहीं। बस, एकमात्र आप ही ऐसे हैं जो सम हैं, समान भाव वाले हैं। विषम योनियों में आप विषम से प्रतीत होने पर भी सम भाव से ही प्रविष्ट होते हैं। आप ब्रह्म होने से सम हैं निर्दोष हैं। आप में किसी प्रकार की विषमता नहीं कारण कि आप एक रस हैं। लोक में

प्रकृति अनुसार भिन्न भिन्न रस प्रतीत होते हैं, किन्तु आप तो ब्राह्मण में, पुल्कस में, चोर में, सब में समान भाव से रहते हैं। इसीलिये जिनकी बुद्धि निर्मल नहीं है, ऐसे अज्ञानी पुरुष ही आप में विषमता देखते हैं, किन्तु जो निर्मल बुद्धि वाले महानुभाव हैं, रजोगुण तमोगुण से रहित हैं वे सर्वत्र आप को ही निहारते हैं, उनकी सब में ब्रह्म दृष्टि हो जाती है, क्योंकि वे लोग सर्व व्यवहार रहित होते हैं, उनकी इस लोक के कर्म भोगों में तथा परलोक के कर्म भोगों में रति नहीं होती वे, इन भोगों से विरत रहते हैं, वे ही आपके इस सत्य, सम और एक रस रूप का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। जिनकी विषम दृष्टि है तथा उभय लोक के कर्मों में रति है, वे आप के इस विशुद्ध रूप को कभी देख नहीं सकते।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो इसके अनन्तर अन्य यूथ की श्रुतियाँ कहने लगीं—"भगवन्! यह जीव स्वकृत कर्मों द्वारा ही नाना योनियों को प्राप्त होता है। कभी मनुष्य बन जाता है, कभी देवता, असुर, गन्धर्व, गुह्यक, कभी पशु पक्षी कीट पतंग बन जाता है। इन सब शरीरों में विद्यमान माया के गुणों से रहित कार्यकारण आवरण जिसमें नहीं है उस जीव को तत्व ज्ञानी आप सर्वशक्तिमान प्रभु का अंश ही बताते हैं। आप भी आनन्द स्वरूप हैं जीव भी आनन्दांश है। अन्तर केवल इतना ही है कि आप पूर्णानंद है। आप आनन्द से परिपूर्ण है, जीव का आनन्द गुप्त है, यह जड़ जगत् तो निरानन्द ही है। जीव का आनन्द मायाकृत गुणों के कारण गुप्त है, वह आप के पाद पद्मों की उपासना द्वारा प्रकट हो जायगा। अतः जीवतत्व का निर्णय कर लेने के अनन्तर विवेक वैराग्यवान् पुरुष का एक ही कर्तव्य अवशेष रह जाता है। वह यह कि आप के चरणार

विन्दों की भक्ति करें । वे चरणारविन्द संसार सागर से सरलता के साथ पार लगाने वाले हैं, भवसागर से उस पार पहुँचाने वाले सुदृढ़ पोत हैं और जितने भी वैदिक कर्म हैं, उनके समर्पण स्थान हैं, सर्व कर्म इन्हीं चरणारविन्दों में समर्पित किये जाते हैं, इनका ही आश्रय ग्रहण करके दुस्तर जो यह संसार है उससे पार लग जाते हैं। इस लिये परमार्थ पथ के पथिक सभी ओर की आशा छोड़कर इन्हीं पावन पादपद्मों का आश्रय ग्रहण करते हैं। तभी जीव का कल्याण हो सकता है।

भगवन्! जीव अपने स्वरूप को भूल गया है इसीलिये माया के चक्कर में पड़कर अपने को दुखी अनुभव करता है जैसे सिंहशावक भेड़ियों में रह कर अपने स्वरूप को भूल जाय, जब विवेकी द्वारा उसे सिंह दिखाया जाता है और स्वर का स्वरूप भी जल के प्रतिविम्ब द्वारा बोध कराता है तब उसे बोध होता है, कि जो यह है वही मैं हूँ। आत्म बोध तभी होता है जब आप की अनुग्रह हो, आप की कृपा का भाजन बन सकें आपकी कृपा प्राप्त हो आपके चरणों की भक्ति हो, यह आप आशीर्वाद दें और यही हमें वर भी दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार स्तुति करके जब श्रुतियोंका एक यूथ चुप हो गया, तब एक अन्य यूथ ने आकर भगवान् की स्तुति आरम्भ की, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा आशा है आप सब इसे शान्त चित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।

छप्पय

पुरुष करमवश पाइ योनि सुर नर पशु जलचर ।
होइ आवरन रहित आपु को अंश जीव बर ॥
जीवतत्व यों समुझि विवेकी पंडित ज्ञानी ।
विश्व चराचर माहिं सार बातहि यह जानी ॥
चेत्र सकल बैदिक करम, करै मुक्त जग बासना ।
भक्ति और श्रद्धा सहित, तव पद पदुम उपासना ॥

पद

बसौ सब देहनि एक समाना ।
देव, मनुज, तिर्यक पशु पच्छी, रचे देह तुम नाना ॥१॥
छोटो बड़ो थूल लघु जैसो, होवै तनु को बाना ।
अनल काठ के सम जस होवै, तस तुम कृपा निधाना ॥२॥
तातैं तजि मिथ्या रूपनि कूँ, पंडित धरि हिय ज्ञाना ।
भजे उभय भोगनि तजि तुमकूँ, इक रस सत्य समाना ॥३॥
तुमरो अंश जीव यह जान्यो, सब तन रह्यो बिलाना ।
होवै सुखी भजै प्रभु चरननि, तजि माया अभिमाना ॥४॥

वेद स्तुति (५)

(१२४)

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वरते-
चरण सरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

लेउ अवनि अवतार बोध दुरबोध कराबन ।
प्राकृत बन तनु धारि करो शुभ चरित सुपावन ॥
चरित महामृत उदधि न्हाइ जे सरल भक्तजन ।
मुक्ति न इच्छा करैं होहिं श्रम रहित मुदितमन ॥
हंस सरिस पद पदुम जे, प्रेम सहित निशिदिन भजें ।
तिनि भक्तनि सँग बैठिकें, देह गेह सब सुख तजें ॥

जब तक मनुष्य मिश्री को नहीं चखता तब तक नीम की पकी निबोरियों को ही बड़े स्वाद से खाता है, उन्हें ही सबसे मधुर फल समझता है, भाग्यवश कभी उसे मिश्री की एक डली मिल जाय तो उसे वे नीम के फल कड़वे लगने लगेंगे । उसकी मिठास के

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे परमेश्वर ! आप इस पृथिवी पर इसीलिये रामकृष्णादि अवतार धारण करते हैं जिससे

सामने उसे सब मिठास तुच्छ लगने लगेंगीं। इसी प्रकार जिसने भगवत् कथामृत का कभी स्वाद नहीं चखा उसे स्त्री पुरुषों की विषय सम्बन्धी वार्तायें ही बड़ी मीठी चित्ताकर्षक प्रतीत होती हैं यदि कभी उन्हें गोपीजनवल्लभ राधारमण की रसमयी कथायें सुनने को मिल जायँ, तो ये विषयवार्तायें विषवत् प्रतीत होने लगेंगीं। भगवत् कथाओं में स्वाद तभी अधिक आवेगा, जब वे श्रद्धा भक्ति तथा अनुराग के साथ सुनी, पढ़ी अथवा गायी जायँ। जब तक श्रद्धा भक्ति अनुराग न भी हो तब तक बिना इच्छा के भी सुनते रहना चाहिये, उनमें स्वयं इतनी मधुरता है कि सुनते-सुनते स्वतः ही श्रद्धा भक्ति अनुराग हो ही जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! संसारी लोग तनिक से ऐश्वर्य को पाकर अपनेको ऐश्वर्यवान् समझते हैं। विश्व ब्रह्माण्डों में जितना भी ऐश्वर्य है; वह आपके ऐश्वर्य का एक क्षुद्रांशमात्र है। चाहे कोई ब्रह्माण्ड का भी ऐश्वर्यशाली हो वह भी आपके ऐश्वर्य का मनसे भी चिन्तन नहीं कर सकता। इसी प्रकार आपका वीर्य भी अमित है, आपका यश भी अनिर्वचनीय है। श्री के तो आप साक्षात् स्वामी ही हैं, ज्ञान तो आपका रूप ही है। विज्ञान स्वरूप आप कहे ही जाते हैं। जगत् के रचने वाले ब्रह्माजी भी आपका यथार्थ स्वरूप नहीं जानते, फिर इस क्षुद्र जीव की तो शक्ति ही

पुरुषों को अत्यन्त दुर्बोध आत्मतत्व का ज्ञान हो जाय। ऐसे आप परमात्मा के चरित्र रूप महान् अमृत के समुद्र में स्नान करके कोई भक्तगण श्रम रहित हो जाते हैं, फिर वे मुक्ति की भी इच्छा नहीं रखते। वे आपके चरण कमलों को हंस के समान सेवन करने वाले भक्तों का संग करके घर द्वार को भी छोड़ देते हैं।

क्या है, जो आपके ज्ञान, विज्ञान, ऐश्वर्य तथा वीर्यादि के सम्बन्ध में जान सके। इसीलिये वेदों में आप को दुर्बोध कहा है, जीव अपनी बुद्धि से अपने पुरुषार्थ द्वारा आपके सम्बन्ध में जानने में सर्वथा असमर्थ हैं। हाँ, आपही जिसे अपना रूप जनाना चाहें वह भले ही आपका स्वरूप पहिचान ले।

आप करुणा के सागर हैं, कृपा के सिन्धु हैं, दया के निधान हैं, अनुग्रह के वारिधि हैं। आपने देखा कि मेरे निर्गुण निराकार रूप को तो प्राणी समझ नहीं सकते। इन्हें मेरा ज्ञान कैसे हो, इस प्रकार दया के वशीभूत होकर तथा अपने अत्यन्त ही दुर्बोध आत्मतत्त्व का ज्ञान कराने के निमित्त आप रामकृष्णादि अवतार धारण करते हैं। योगमाया का आश्रय लेकर आप साधारण जीवों में मिल जाते हैं, उन्हीं के समान शरीर बना लेते हैं। उस दिव्य शरीर से आप बहुत अतिमानुस कार्य करते हैं। कुछ तो आप लोकवत् लीला करते हैं, कुछ ऐसे भी कार्य करते हैं जिन्हें साधारण जीव कभी कर ही नहीं सकते। उन लीलाओं के जो पात्र बने बनते हैं, जो उन्हें अपने चर्मचक्षुओं से अवलोकन करते हैं, वे धन्य हो जाते हैं, कृतार्थ बन जाते हैं। वे ऐसे सुखद चरित्र होते हैं, कि उनके श्रवणमात्र से ही कान पावन बन जाते हैं। कोई आपके प्रसाद प्राप्त पुरुष उन चरित्रों को लिपिबद्ध कर देते हैं, जिससे दूसरे लोग भी उन्हें सुनकर सुख पा सकें वे चरित्र क्या होते हैं अमृत का सागर ही होता है। उन चरित्रों की कोई थाह नहीं पा सकता वे अगाध अपार होते हैं। उस चरितामृत सिन्धु में जो श्रद्धा भक्ति सहित स्नान करते हैं, अवगाहन करते हैं उनके समस्त संसारी श्रम नष्ट हो जाते हैं, वे आधि-व्याधि से रहित होकर स्वस्थ हो जाते हैं, निश्चिन्त बन जाते हैं। उस कथामृत में स्नान करके उसका प्रेमपूर्वक पान करके वे ऐसे तृप्त हो

जाते हैं, कि उन्हें संसारी वस्तुओं की तो बात ही क्या कोई मोक्ष भी देता है, तो वे उसकी भी इच्छा नहीं करते । कोई देता भी है तो उसे ग्रहण नहीं करते। जब वे मुक्ति तक की इच्छा नहीं रखते, तब इन्द्रपद, लोकपालों के पद तथा ब्रह्मपद की तो बात ही क्या ? भगवन् ! यह बात नहीं कि उन्हें कोई पद जब प्राप्त ही नहीं तब त्याग कैसे करेंगे। उनको जो लौकिक देहके, गेहके, गृहिणी आदि के सुख वर्तमान में प्राप्त भी हैं उनका भी वे त्याग कर देते हैं। वे आपके भक्तों का संग करते हैं। आपके भक्त हंस के समान नीर क्षीर विवेकी होते हैं। वे लौकिक कथाओं को पृथक् करके केवल विशुद्ध आपकी ही कथा सुनते हैं, ऐसे भक्त जब परस्पर में बैठ-कर हरिचर्चा करते हैं, तो आनंद की ऐसी धारा बहती है, कि उसमें सभी संसारी सुख तुच्छ प्रतीत होते हैं। उस भक्त मंडली के सत्संग से कथा श्रवण करने वाले अन्य साधक भी घर बार छोड़कर आपके ही ध्यान में सदा निमग्न हो जाते हैं।

प्रभो ! जीव चौरासी लाख योनियों में भटकते भटकते मनुष्य शरीर में आता है। यह मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है, इसमें यदि विवेक से काम लिया जाय तो सभी मनोरथ सफल हो सकते हैं। प्राणी निर्भय बन सकता है । जैसे पक्षी वृक्ष की नीड में अपने घोंसले में आकर सुखी हो जाता है, उसे वर्षा घाम किसी का भय नहीं रहता। इस मनुष्य शरीर से ही प्राणी आपकी सेवा कर सकता है, यज्ञयाग की सामग्री जुटा सकता है। पत्र, पुष्प, फल, नैवेद्य समिधा ला सकता है आपकी नवधा भक्ति कर सकता है। आपकी वेदरूपी आज्ञा का पालन कर सकता है, आपका अनुसरण कर सकता है। मानव शरीर ही आत्मा को प्राप्त कराने वाला आत्मस्वरूप है, यही सच्चा सुहृद् है, यही अनु-कूल होने पर प्रियजन के सदृश आचरण करने वाला होता है,

किन्तु प्रभो ! मनुष्यों का दुर्भाग्य है, कि आत्मरूप से आप सदा उसके साथ रहते हैं, आप उसके सर्वदा सम्मुख बसते हैं, फिर भी परम हितकारी परमप्रिय आत्मस्वरूप में यह प्राणी इतना दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी प्रेम नहीं करता। अपितु और बन्धन का उपाय करता है, अपने पैरों में अपने आप कुल्हाड़ी मारता है। आपसे प्रेम न करके देह से प्रेम करता है मिट्टी के घर से प्रेम करता है, घरवाली से मोह करता है, बाल बच्चे सम्बन्धियों से मोह करता है। अहंता और ममता में ही फँसा रहता है। इस शरीर के भीतर आत्मरूप से आप निवास करते हैं, इस बात को तो वह भूल जाता है, किन्तु इस पंचभूत के शरीर को ही अहं समझता, इसके लालन पालन में ही बहुत समय लगाता है। कंकड़ पत्थर ईंट चूने के बने घर को ही अपना समझता है। स्त्री, पुत्र सगे सम्बन्धी जिनको अपना मानकर उनकी इच्छाओं की पूर्ति के लिये बड़े से बड़ा पापकर्म करता है वे सब अपने पतन के कारण हैं। उनकी इच्छा पूर्ति संम्बन्धी जो वासनायें हैं, वे वासनायें मोक्ष नहीं होने देतीं, चौरासी के चक्कर से निकलने नहीं देतीं, अपितु वे कूकर शूकर आदि निन्दित योनियों में ले जाने की कारण होती हैं। इनसे जन्म मरण का चक्कर न छूटकर और दृढ़तर होता है। इनका संग निर्भयता प्राप्त न कराके भयंकर भय को उत्पन्न करनेवाला होता है इनसे संसार चक्र में भ्रमते रहते हैं, पुनः जन्मते हैं, पुनः मरते हैं। फिर भी यह जीव आपकी ओर न जाकर मोह ममता की ओर जाता है। असत

पदार्थों में सत् बुद्धि करता है। आत्मस्वरूप आप में रति न करके अनात्म पदार्थों की प्राप्ति के लिये ही इधर से उधर भटकता रहता है। सत् का सहारा न लेकर असत् का ही पल्ला पकड़ता है यह कैसी मनुष्यों की कुमति है। आप सच्चिदानन्द को छोड़कर निरानंद विषयों के वन में भ्रमता रहता है। अपने हाथों अपना घात करके दुखी बनता है। प्रभो! आप ऐसी अनुग्रह करें कि ये मानव आपके सत् स्वरूप को समझ कर आप में ही सर्वथा अनुराग करें। इन तुच्छ विषयभोगों के जाल में फँसकर मानव शरीर को निरर्थक न बनावें। वे नृदेह की सार्थकता समझें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रुतियों का यूथ भगवान् की स्तुति करके चुप हो गया। तब दूसरी श्रुतियों का यूथ सम्मुख आकर भगवान् की स्तुति करने लगा। इसका वर्णन मैं आगे के प्रसंग में करूँगा।

छप्पय

नरतन दुरलभ सुलभ सकल सेवा को साधन।
आत्मा लहि प्रिय सुहृद् करै नहिं मुक्ति आचरन॥
सम्मुख सबके रहौ सकल जीवनि हितकारी।
प्रेम न तुमतैं करै मोह ने बुद्धि बिगारी॥
देह गेह सुत नारिके, लालन पालन में रहत।
सूकर कूकर योनि लहि, असत बासना जग भ्रमत॥

पद

लेउ अवतार जगत हित प्रभुवर।
करहु चरित सुखदायी सुन्दर, उपकारी अति मनहर ॥१॥
जिनकूँ पढ़ैं सुनैं जे गावैं, कटैं बन्ध जग दृढ़तर।
होहिँ सुखी न्हावैं जे प्रानी, चरित महामृत सागर ॥२॥
संत संग में सुनहिँ प्रेमतैं, कथा तुम्हारी सादर।
तजि घरवार बनैं बैरागी, करैं न मुक्तिहु आदर ॥३॥
मानुस तन ही मित्र आतमा, अति प्रिय करै निरन्तर।
देह गेह ममता में फँसिकैं, ताकौ करै निरादर ॥४॥
मैं मेरी में मोह फँसावै, भरि बनि शूकर कूकर।
जनम मरन के चक्कर में फँसि, भ्रमत जगत में पामर ॥५॥

वेद स्तुति (६)

(१२५)

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजोहृदि यत्,
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुःस्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

जो गति प्रानायाम योग करि योगी पावैं।
ता गति कूँ करि शत्रुभाव सुररिपु पा जावैं॥
ब्रजबनितनि आसक्ति मृदुल बाहुनि में लागी।
करि हरि हिय तव परस प्रेम उत्कण्ठा जागी॥
जो पद पायौ कामतैं, सो हम श्रुति निष्काम भजि।
समदरसी प्रभु सर्वमय, भजैं अन्य किहि तुमहिँ तजि॥

मिश्री को जान में खाओ, अनजान में खाओ, उजाले में खाओ, अँधेरे में खाओ, चोरी से खाओ, न्यायपूर्वक खाओ कैसे

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! जिन्होंने प्राण, मन और इन्द्रियों को वश में कर लिया है तथा हृदयोग का अभ्यास करनेवाले हैं, ऐसे मुनिजनों द्वारा जिस पद की हृदय में उपासना

भी क्यों न खाओ स्वाद में वह मीठी ही लगेगी, किन्तु अँधेरे में खाना, चोरी करके खाना, अन्याय से खाना यह विधि नहीं है। स्वभाव के वशीभूत होकर कुछ लोग चोरी करके अन्याय से छिप कर सबकी आँख बचाकर खाते हैं। इससे मिश्री के स्वाद में तो अन्तर नहीं आता मिठास तो उसमें वैसी ही है, किन्तु उसमें मन प्रसाद नहीं। विधि तो यही है कि स्वस्थ चित्त होकर १०।२० सगे सम्बन्धी प्रेमियों के साथ बैठकर हँसी प्रसन्नता के प्रवाह में सबको बाँटकर न्यायार्जित द्रव्य से प्राप्त मधुरातिमधुर वस्तु को प्रेमपूर्वक पावे। इसी प्रकार भगवान् को काम से, क्रोध से, शत्रुता से, द्वेषबुद्धि से, भय से अथवा प्रेम से कैसे भी भजो, कैसे भी उनका स्मरण करो तो मुक्ति तो सबको समान रूप से मिलेगी, परिणाम में कोई अन्तर नहीं पड़ने का, किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह अथवा द्वेष से प्राप्त करना यह विधि नहीं है। प्राणी स्वभाव के वशीभूत होकर उन सर्वान्तर्यामी प्रेमास्पद प्रभु से द्वेषबुद्धि रख कर क्रोध करता है, उनसे युद्ध करता है, विधि तो यही है प्रभु को पेट भरके प्यार करे। उनको सर्वस्व समर्पणपूर्वक सेवा पूजा करे अनुरागभरित हृदय से उनका आदर करे। प्रेमपूर्वक उनकी कथा सुने, उनके नाम गुणों का कीर्तन करे, उनकी मनोहर मूर्ति का स्मरण करे। उनका पाद सेवन करे। उनका बारम्बार वंदन करे,

---

की जाती है, उसी पद को आपसे शत्रुता रखनेवाले असुर भी केवल स्मरण मात्र से प्राप्त कर लेते हैं। जिन गोपियों की बुद्धि आपमें अत्यन्त आसक्त हो गयी थी और जिन्होंने आपकी भुजङ्ग के शरीर के सदृश सुविकट गोल और बड़ी २ भुजाओं का आलिङ्गन पाया था वे गोपियाँ और आप के पादपद्मों का चिन्तन करने वाली हम श्रुतियाँ भी आपकी दृष्टि में समान ही हैं।

उनमें सख्य, वात्सल्य, दास्य अथवा मधुर भाव स्थापित करे, उन्हें आत्मनिवेदन करे, गति तो सबकी एक ही है, किन्तु तोष में अंतर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो ! आप समदर्शी हैं। कोई भी किसी भाव से भी, कैसे भी किसी साधन द्वारा भी आप तक पहुँच जाय आप सबको गति देते हैं। सबका समादर करते है। देखिये, योगीगण कितने क्लेश उठाते हैं। पहिले यम नियमों का विधिवत् पालन करते हुए विविध भाँति के आसन करते हैं, प्राणायाम के द्वारा काया को विशुद्ध बनाते हैं, समस्त नाड़ियों का शोधन करते हैं, प्राणों के संयम के साथ मनका संयम करते हैं समस्त इन्द्रियोंका विधिविहित संयम करते हैं,फिर ध्यान धारणाके द्वारा समाधि लगाते हैं, योगाभ्यास के द्वारा वे परमपद को प्राप्त होते हैं। वे किसी को क्लेश नहीं पहुँचाते, किसी से शत्रुता नहीं करते, सत्य बोलते हैं, सभी कठिन से कठिन नियमों का पालन करते हैं। इसके विपरीतस्वभाववाले असुर होते हैं। वे प्राणों का ही पोषण करते हैं, सबको क्लेश पहुँचाते हैं, घोर रजोगुणी तमोगुणी स्वभाव के होते हैं। औरों से द्वेष करना तो पृथक् रहा वे आपसे भी शत्रुता रखते हैं। आपको अपना शत्रु समझकर, शत्रु भाव से ही सर्वदा आपका चिन्तन करते हैं। कैसे भी सही वे चिन्तन तो आपका ही करते हैं। आग जान में छूओ या अनजान में वह जला तो देगी ही। ऐसे ही चाहें योगयुक्त होकर आपका ध्यान करें या शत्रु समझकर स्मरण करें दोनों की गति एक ही होगी। आपके द्वारा मरकर वे भी मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं।

स्वामिन् ! आपके यहाँ स्त्री पुरुष का भी भेदभाव नहीं। जो

गति पुरुषों को प्राप्त हो सकती है वही गति स्त्रियों को भी मिल सकती है। योगियों के समान ही गति गोपियों को भी हुई। पढ़े और अनपढ़ का भी आपके यहाँ भेदभाव नहीं। व्रज की व्रजाङ्गनायें तो अनपढ़ थीं, चिट्ठी भी नहीं पढ़ सकती थीं। उन अनपढ़ियों को जो गति प्राप्त हुई वही हम साक्षात् वेदों की श्रुतियों को भी मिली। आपके यहाँ भावों में भी भेदभाव नहीं। व्रजाङ्गनायें तो महती अनुरागवती थीं। उनका आपके पादपद्मों में कितना अनुराग था, वह अकथनीय है। भुजंग के समान जो आपकी सुन्दर चिकनी गोल गोल लम्बी भुजायें हैं जब, वे भुजायें उनके कंठों में पड़तीं तो उनके स्पर्शमात्र से ही उनका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठता। वे उन विशाल भुजाओं से अत्यंत अनुरक्त हो जातीं एक तो ऐसी अनुरागवती स्त्रियाँ और दूसरे हम जो आपको दूर से ही नेति नेति कहकर बताती हैं, स्पर्श की तो कौन कहे आँखें भरके साक्षात् देख नहीं सकतीं। आपकी दृष्टि में दोनों समान हैं। गोपियाँ केवल आपको ही देखती हैं, उनकी दृष्टि परिच्छिन्न है और हम श्रुतियाँ सबको देखती हैं हमारी दृष्टि अपरिच्छिन्न है फिर भी आपकी समान ही दृष्टि है। ऐसे आप सर्वदर्शी प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम है।

फिर अन्य श्रुतियाँ कहने लगीं—"प्रभो! बहुत से जीव अभिमान में भरकर कहते हैं—"हमने परम तत्व को जान लिया, भगवन् साक्षात्कार कर लिया, सर्वान्तर्यामी के रहस्य को जान लिया।" वे लोग भोले हैं। वे यह नहीं समझते कि आपके बिना

जनाये जीव आपके सम्बन्ध में अपने पुरुषार्थ से कुछ भी जानने में समर्थ नहीं। स्वामिन्! कोई बच्चा है, माता-पिता के सम्मुख उत्पन्न हुआ है। उन्होंने उसे उत्पन्न होते देखा है, उनके सामने ही वह बड़ा हुआ है, बाल्य, पौगंड, किशोर तथा युवावस्था प्राप्त की है, उनके सामने पढ़ा लिखा है, वे तो उसके सम्बन्ध में जान भी सकते हैं, किन्तु जो उससे भी पहिले उत्पन्न हुए हैं, बड़े भाई, बहिन, माता, पिता, नाना, नानी उनके संबंध में बालक क्या प्रत्यक्ष जान सकता है? जो भी कुछ जानेगा इतिहास सुन पढ़कर ही जानेगा। इसी प्रकार आप पूर्वजों के भी पूर्वज हैं। चराचर सृष्टि को रचने वाले भगवान् ब्रह्माजी ही सबके पूर्वज हैं। वे आपके पुत्र ही ठहरे। उनसे सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन तथा नारदादि निवृत्त परायणमुनि उत्पन्न हुए तथा मरीचि, अत्रि, वसिष्ठादि प्रवृत्तिपरायण ऋषि पैदा हुए। जब आप सबसे पहिले हैं, सबको उत्पन्न करने वाले हैं, आपको उत्पन्न करने वाला कोई भी नहीं तब आपके संबंध में कोई यथार्थ कैसे जान सकता है। जब सब प्राणियों को उत्पन्न करने वाले ब्रह्माजी मरीचादि प्रजापति भी आपका यथार्थ तत्त्व नहीं जानते तब मनुष्यों की तो बात ही क्या जो इन सबसे पीछे उत्पन्न हुए हैं।

भगवन्! एकमात्र आपही सृष्टि के आदि में रहते हैं और सृष्टि के अन्त में भी एकमात्र आपही शेष रह जाते हैं। जिस समय आपकी इच्छा इस प्रपंच को समेटने की होती है, जब आप प्रलय करना चाहते हैं तब संपूर्ण चराचर को अपने में लीन

करके योगनिद्रा में शयन करते हैं, उस काल में न तो आकाशादि स्थूल जगत् रहता है, न महत्तत्त्वादि सूक्ष्म तत्व रहते हैं। उस समय सत् असत् स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर नहीं रह जाते। यहीं नहीं जो काल सूक्ष्म स्थूलका बोध कराने वाला है,वह काल भी उस समय नहीं रहता। सबका बोध कराने वाला शास्त्र भी उस समय दिखायी नहीं देते अर्थात् आपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीखता। आप तक न मन पहुँच सकता है न वहाँ वाणी की ही गति है, आपके साक्षात् स्वरूप का पूर्णज्ञान कौन कर सकता है। ऐसे आप अव्यक्त अनादि, अज अवाङ्मनसगोचर अच्युत परब्रह्म के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ये श्रुतियाँ जब स्तुति करके मौन हो गयीं तब अन्य श्रुतियों का यूथ आकर भगवान् की स्तुति करने लगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

प्रभु तुमतैं अज प्रकट भये तिनितैं सबई मुनि।
पीछे तुमतैं सकल भये जानैं तुमकूँ मुनि॥
पीछे बारे प्रथम जनम करमनि जानैं नहिं।
प्रलय माहिं सत असत लीन करि केवल सोवहिं॥
थूल सूक्ष्म तनु प्रलय में, काल शास्त्र कछु नहिं रहैं।
हो अचिन्त्य दुरबोध प्रभु, वेद शास्त्र सबई कहैं॥

पद

वेद समदरसी तुमहिँ बतावें ।
संयम मन इन्द्रिय को करिकें, योगी ध्यान लगावें ॥१॥
जो गति लहें योगतैं सोई, असुर द्वेष करि पावें ।
जो गति ब्रजनवयुवतिनि पाई, जे हिय तुम्हें सटावें ॥२॥
सोई गति निरगुन श्रुति हमकूँ, नेति नेति नित गावें ।
नर नारी द्वेषी अनुरागी, भेद न हिय में लावें ॥३॥
तुम दुरबोध अचिन्त्य अगोचर ऋषि मुनि वेद बतावें ।
तुमतैं पीछे प्रकटे अज मुनि, कैसे तव पद पावें ॥४॥
सब समेंटि सोवैं सुख शैया, तब कछु नहीं लखावें ।
तुमरी कृपा पाइँ प्रभु तुमकूँ, शरन गये अपनावें ॥५॥

वेद स्तुति (७)

(१२६)

जनिमसतः सतोमृति मुतात्मनि ये भिदाम्,
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता,
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥१

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

उत्पति सततैं कहैं असततैं अपर बतावैं।
आत्मा में कछु भेद काम्य करमनि सत गावैं॥
भ्रमवश सब कछु कहैं सबहि संभव माया में।
पुरुष त्रिगुनमय कहैं भेदभ्रम करि काया में॥
पूर्ण ज्ञानमय नित्य प्रभु, सतचित आनँद रूप हैं।
भेदभाव सम्भव नहीं, साक्षी सत्य स्वरूप हैं॥

मतभेद तभी तक होता है, जब तक लोग शब्दों पर बल देते हैं। मैंने जो कहा वही सत्य है, दूसरा कहता है नहीं तुम्हारा

---

१ भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! कोई अविद्यमान की उत्पत्ति और विद्यमान का नाश मानते हैं, कोई आत्मा में ही स्थूल सूक्ष्मादि भेद मानते हैं, कोई कोई लेन देन की वृत्ति वाले काम्यकर्मों

कथन असत्य है मैं जो कह रहा हूँ वही सत्य है। यह सत्यासत्य का विवाद तत्व वस्तु को बिना देखे, बिना साक्षात्कार किये ही होता है। एक व्यक्ति कहता है नीर से प्यास बुझती है, दूसरा कहता है नीर से नहीं पय से बुझती है, तीसरा कहता है पय से नहीं सलिल से बुझती है। कोई कहता है जल से, जीवन से, भुवन से, वन से, तथा पानी आदि आदि जब पानी का साक्षात् कार कर लेते हैं, तो सब शान्त हो जाते हैं। प्यास बुझाने वाली वस्तु के ही नीर, पय, सलिल, जल, जीवन, भुवन, वन, पानी तथा नार आदि नाम हैं। है वस्तु एक उसे ब्राह्मण लोग-ज्ञानी पुरुष-बहुत प्रकार से कहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! कुछ लोग कहते हैं असत् की उत्पत्ति हो जाती है सत् का नाश हो जाता है। जैसे मिट्टी सत् है, उससे असत् घट बन जाता है, घट के नाश होने पर फिर मिट्टी ही रह जाती है। सोना सत् है। अभी तक कोई आभूषण नहीं उसी सत् सोने से जो अब तक नहीं था वह आभूषण बन गया, सत् सोने का अस्तित्व नहीं रहा। घड़ा नहीं था मिट्टी से बन गया, जब घड़ा बन गया मिट्टी नहीं रही। वे असत् की उत्पत्ति और सत् का नाश मानते हैं। कुछ लोग इस देह को आत्मा मानते हैं, उनका कहना है, यह शरीर ही सब कुछ है, जब तक जीओ सुखपूर्वक जीओ। मरने पर शरीर पंचभूतों में मिल

के फल को ही नित्य मानते हैं। वे भ्रम से ऐसा आरोपित करते हैं और ऐसा ही उपदेश भी करते हैं कोई पुरुष को त्रिगुणमय मानते हैं ऐसा भेद भी अज्ञानजन्य है। आप ज्ञान स्वरूप में अज्ञान विद्यमान ही नहीं रह सकता क्योंकि आप भेदभाव से रहित हैं।

जायगा। परलोक पुनर्जन्म कुछ भी नहीं है, अतः शरीर को ही पुष्ट करते रहना और विषयों का ही भली भाँति उपभोग करना यही पुरुषार्थ है।

भगवन्! कुछ लोग कहते हैं—"यज्ञ ही एक ऐसा कर्म है, जिससे सुख शान्ति मिल सकती है। तुम यज्ञ करोगे तो उस यज्ञ कर्म से देवता संतुष्ट होंगे, प्रसन्न होकर वे वर्षा करेंगे, जिससे अन्नादि पदार्थ उत्पन्न होंगे। तुम यदि यज्ञादि कर्मों से देवताओं का सत्कार करोगे तो वे भी तुम्हारा सत्कार करेंगे। परस्पर के सत्कार से सुख प्राप्त होगा। यह संसार ऐसा है कि इस हाथ लेना उस हाथ देना। वे लोग स्वर्गादि सुखों को ही नित्य मानते हैं। मानते ही नहीं,ऐसे लुभावने पुष्पित वचनों से भाँति भाँति की तर्क देकर सबको उपदेश भी करते हैं।

कुछ लोग सत्व, रज और तम इन तीन गुण वाले पुरुष को ही चेतन स्वरूप मानते हैं, वे कहते हैं इस त्रिगुणात्मक पुरुष के अतिरिक्त और कोई ईश्वर ही नहीं। प्राणी आपके विषय में यथा तथ्य जानते नहीं इसीलिये यह भेदज्ञान अज्ञानजनित है मतभेद का मूल कारण यथावत् ज्ञान न होना ही है। भगवन्! आप तो ज्ञानानन्द स्वरूप हैं, अज्ञान से सर्वथा रहित हैं, अतः आपमें अज्ञान तो हो ही नहीं सकता, फिर अज्ञानजनित जो यह भेदभाव है, उसकी कल्पना तो किसी प्रकार संभव ही नहीं। आप तो भेद-भाव से रहित ज्ञानघन सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा हैं।

इसके अनन्तर अन्य श्रुतियाँ स्तुति करती हुई कहने लगीं—"प्रभो! यह संपूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक है। तीनों गुणों में ही जीव आबद्ध है। कीट पतंग पशु पक्षी मनुष्य जितने भी जीवधारी हैं, उनका मन तीन गुणों से युक्त है। यह मनोविलास रूप त्रिगुणात्मक संसार सत् सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में सत् नहीं

असत् ही है, किन्तु इसके अधिष्ठान आप हैं। यह जो भी कुछ दृश्य प्रपंच है, जगत् का पसारा है सब आपमें अधिष्ठित है, इसलिये यह भी सत्य ही है, क्योंकि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह उसी के स्वभाव की होती है। आपने जगत् को बनाया है और बनाकर उसी में अनुप्रविष्ट हो गये हैं, इसी कारण से जो ज्ञानी हैं तत्ववेत्ता हैं वे इस निखिल चराचर विश्व को आत्मरूप में ही देखते हैं, वे कहते सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, नानात्व कुछ भी नहीं जो जिससे उत्पन्न है वह उसी के अनुरूप है मिट्टी से घड़ा बनेगा। यद्यपि मिट्टी का विकार है किन्तु है वह मिट्टी ही। सुवर्ण से ही कुण्डल कङ्कण आदि आभूषण बनते हैं, किन्तु सुवर्णकार वणिक् उसे सुवर्ण से भिन्न नहीं मानते। कोई सुवर्ण क्रय करने जाय और उसे कोई हार, कंकण नथकुण्डल आदि आभूषण दे, तो क्रय करने वाला यह नहीं कहेगा, कि मुझे आभूषण नहीं लेने हैं, मुझे तो सुवर्ण क्रय करना है। वह जानता है, सुवर्ण का संस्कार करके जो ये विविध नामवाले आभूषण बना दिये हैं, ये सब नाम मिथ्या हैं, इनकी जो भिन्न भिन्न आकृतियाँ हैं, वे भी स्थायी रहनेवाली नहीं हैं असत् हैं, इनके बनने के पूर्व भी यह शुद्ध सुवर्ण था, बन जाने पर भी सुवर्ण ही रहा और जब इसके विविध नाम विविध रूप मिट जायँगे, तब भी सुवर्ण ही शेष रह जायगा। यही सोचकर भिन्न भिन्न नाम वाले, भिन्न भिन्न आकृतियों वाले सुवर्ण को भी वे सुवर्ण करके ही ग्रहण करते हैं। यही बात आप और संसार के संबन्ध में समझनी

चाहिये। यह जो भी कुछ देखा सुना और अनुभव किया जाने वाला है यह सब आत्मा से ही निर्मित है और जैसे हिम में पानी ही पानी रहता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी संपूर्ण जगत् को आत्ममय आत्मरूप ही मानते हैं। वे और कुछ देखते ही नहीं। आत्मरूप होने से जगत् हेय नहीं ग्राह्य है, घृणास्पद न होकर प्रेमास्पद है। जैसे गुड़ के बने चीनी, शक्कर, मिश्री सभी विकारों में बुद्धिमान एक ही इक्षुरस को निहारते हैं और रसमय ही समझते हैं, इसी प्रकार रसरूप ब्रह्म को ही जगत् में आत्मज्ञानी अवलोकन करते हैं। रसरूप आप ही हैं प्रभो! जिन्हें प्राप्त करके पुरुष आनन्दी बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार स्तुति करके जब श्रुतियों का एक यूथ चुप हो गया तब एक अन्य श्रुति मण्डल आकर भगवान् का स्तुति करने लगा। इस मण्डल की श्रुतियाँ प्रेम के तत्व को जानने वाली थी अतः वे प्रेम की महिमा का बखान करने लगीं। संसार में एकमात्र प्रेम ही सार वस्तु है अतः महर्षियो! आप इस प्रेम के पावन प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करने की महती कृपा करेंगे।

छप्पय

है यह मनोविलास रूप जो त्रिगुन लखावै।
भोक्ता न्यारो लगै सत्य नहिं असत कहावै॥
किन्तु सत्य-सो लगै व्याप्त प्रभु अन्तरयामी।
तातैं ज्ञानी जगत ब्रह्ममय समुझैं स्वामी॥
नाम रूपतैं कनक ही, कुण्डल कंकन बनि गयो।
ज्ञानी सोनों ही लखैं, ब्रह्म जगत त्यों ही भयो॥

पद

विविध विधि वादी तुमहिँ बतावें ।
कोई कहें असत की उतपति, सत को नाश जतावें ॥१॥
कोई काम्य करम ही मानें, करम सतत करवावें ।
जज्ञजाग करि जग सुख भोगें, अन्त स्वरग में जावें ॥२॥
कोई देह आतमा समुझें, नहिँ परलोक बतावें ।
कहें सुखी जे तनकूँ पोसें, खावें मौज उड़ावें ॥३॥
ऐसें भेदभाव बहु भाखें, तरकनि जुक्ति लड़ावें ।
ज्ञानरूप प्रभु नित्य सरबगत, नहीं कुतरकी पावें ॥४॥
लगे सत्य सो असत जाय जग मत सब समुझि सिहावें ।
ज्ञानी आतमरूप जग निरखें, भेद न तनिक बतावें ॥५॥
सोनो कहो कनक या कुण्डल, एकहि तत्व जतावें ।
जीव जगत अरु ब्रह्म भिन्न नहिँ, प्रभुमय सकल लखावें ॥६॥

—:o:—

वेद स्तुति (८)

(१२७)

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया,
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरोनिर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिराविबुधान पितां-
स्त्वयि कृतसौहृदाःखलु पुनन्ति न येविमुखाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० २७ श्लो०

छप्पय

आश्रय सबको जानि तुम्हें जे जीव भजत हैं ।
धरें मृत्यु सिर पैर निरादर तासु करत हैं ॥
जे तुमकूँ प्रिय सुहृद बन्धु सरबसु करि जानें ।
त्रिभुवन पावन करें प्रानप्रिय प्रियतम मानें ॥
जे तुमतें प्रभु विमुख हैं, पतित कहा पावन करें ।
करमपरक श्रुतियनि बँधे, पशुसम जनमें पुनि मरें ॥

साध्य को प्राप्त करने के निमित्त विविध साधन जुटाये जाते हैं। साध्य को भूलकर केवल साधनों को ही सब कुछ समझकर

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"भगवन्! आप अखिल जीवों के विश्राम स्थान हैं, इस बुद्धि से जो आपका सेवन करते हैं, वे मृत्यु को कुछ न समझकर उसके सिर पर पाद प्रहार करके चले जाते

उसी में फँसे रहते हैं, वे साध्य को प्राप्त कर सकते। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिये घोड़े को खिलाकर हृष्ट पुष्ट किया जाता है, कि उस पर चढ़कर गन्तव्य स्थान पर पहुँच जायँ। किन्तु जाने वाली बात भूलकर घोड़े की सेवा सुश्रूषा में ही जो लगा रहता है, उसी को पुष्ट करने में जो अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है, इससे घोड़ा चाहें जितना भी मोटा बन जाय, लक्ष्य पर वह नहीं पहुँच सकता। इसके विपरीत जो घोड़े को खिलाता पिलाता तो उसी की भाँति है उसे हृष्ट-पुष्ट भी करता है, किन्तु उस पर चढ़कर यात्रा भी करता है, तो वह अपने गन्तव्य स्थान तक अवश्य पहुँच जाता है।

समस्त यज्ञ यागादि साधन इसी निमित्त हैं कि हमें प्रभुप्रेम प्राप्त हो साधनों का फल प्रभुप्रेम है। जो प्रेम को भूलकर केवल जड़ साधनों को ही सब कुछ समझने लगते हैं और उन्हीं में फँसे रहते हैं वे कर्मसंगी पुरुष प्रेम से वञ्चित रह जाते हैं, वे कर्मासक्त बनकर भवाटवी में भ्रमते रहते। प्रभुप्रेम प्रभु की कृपा से ही प्राप्त होता है, अतः उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते रहना यही जीव का पुरुषार्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! जगत् में जितने चर अचर, स्थावर जंगम, उच्चनीच, छोटे बड़े तथा सभी प्रकार के जीव हैं आप उन सबके विश्राम स्थान हैं। सबके एकमात्र आश्रय आपही

हैं। जिन्होंने आपमें सौहार्दभाव स्थापित कर लिया है, वे समस्त लोकों को पवित्र करते हैं, जो आपसे विमुख हैं वे ऐसा नहीं कर सकते। वे चाहे विबुध भी क्यों न हों, आप उन्हें कर्म परक श्रुतियों में पशु के समान फँसा देते हैं।

हैं। आपके आधार पर ही समस्त प्राणी अवस्थित हैं। आप सर्वात्मा हैं, सर्वव्यापक हैं, सबमें समान भाव से रम रहे हैं। जो लोग आपको सर्वत्र सबमें समझकर समभाव से आपका सेवन करते हैं, आपकी पूजा परिचर्या करते हैं, वे जन्ममरण के चक्र से छूटकर विमुक्त बन जाते हैं। वे मर्त्यलोक में रहते हुए भी मृत्यु के पाश से बच जाते हैं। मृत्यु उनके निकट आते तो है, किन्तु सामान्य मनुष्य जैसे मृत्यु का नाम सुनकर ही भयभीत हो जाते हैं, ऐसे आपका सेवन करने वाले भक्त भयभीत नहीं होते वे मृत्यु को देखकर हँस जाते हैं, उसे कुछ नहीं समझते उसकी अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं और आपके वैकुण्ठ में आने के लिये उसे विमान में चढ़ने की सीढ़ी बना लेते हैं। उसके सिर पर पैर रखकर तुरन्त विमान पर चढ़ जाते हैं। वे अमर्त्य बन जाते हैं। समभाव से सर्वत्र आपको जानकर वे किसी से द्वेष नहीं करते, मोह नहीं करते, शोक नहीं तथा किसी की निन्दा नहीं करते, निन्दा तो तब करें जब कोई दूसरा हो तब! वे तो सबमें आपको देखते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष आपकी आत्मा ही हैं।

जो आपमें समभाव नहीं रखते, कर्मों में ही जिनकी आसक्ति है, उनको भी आप कर्मों का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें बँधवा देते हैं। अर्थात् वे यज्ञयाग सकाम कर्मों में लगे रहते हैं स्वामी जिस पशु को बँधवाता है, उसको खाने को घास भूसा देता है, उससे कर्म कराता है तथा उसके कल्याण की कामना करता रहता है। इससे उसका मङ्गल ही होता है। यज्ञादि में याज्ञिक देवताओं के प्रिय बलि पशु को यूप में बँधवा देते हैं, इससे उनका यज्ञ भी पूर्ण होता है तथा उस पशु को भी स्वर्गादिलोकों की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार जो आपकी वेदरूपी पुष्पित वाणी में आसक्त हुए विद्वान हैं, उनके यज्ञ यागादि सकाम कर्मों से देवता

भी बलि प्राप्त करते हैं, इससे वृष्टि भी होती है, यज्ञ करने वालों को स्वर्ग की भी प्राप्ति होती है तथा आपका संसार चक्र भी चलता रहता है। इस प्रकार कर्म परक श्रुतियों में आसक्त हुए पुरुषों का भी आप कल्याण करते।

हे प्रभो! जो लोग आपसे प्रेम करते हैं, आपमें सौहार्द्र स्थापित करके आपमें दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य संबन्ध स्थापित करके आपको ही अपना सर्वस्व समझते हैं, वे स्वयं तो पवित्र होते हैं, साथ ही अपने संसर्ग से त्रिभुवन को पावन कर देते हैं। आपके अनन्य प्रेमी भक्त जिस देश में उत्पन्न होते हैं, वह देश पावन बन जाता है, जिस अवनि पर उत्पन्न होते हैं, वह अवनी परम पावन तीर्थ बन जाती है, वे जिस कुल में उत्पन्न होते हैं, वह कुल कृतार्थ हो जाता है, जिस जननी की कोख से ऐसे प्रेमी भक्त उत्पन्न होते हैं वह जननी कृतार्थ हो जाती है, स्वर्लोक जनलोक, तपलोक, सत्यलोक तथा वैकुण्ठलोक जिस लोक में भी वे जाते हैं उसे और भी पावन बना देते हैं। आपके प्रेमी भक्त जो मनसे सोचते हैं, उन विचारों से संसार में पवित्रता आती है, वे जो बात वाणी से बोलते हैं उसके श्रवण से श्रवण करने वाले पावन बनते हैं, वे शरीर से जो कार्य करते हैं, जो जो भी चेष्टा करते हैं उनसे त्रिभुवन पवित्र होता है। उनके सब कार्य परोपकारमय ही होते हैं, किसी से द्वेष न करना, सबसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करना यही तो सर्वोपरि परोपकार है। आपके प्रेमी भक्त ही सबसे बड़े परोपकारी हैं, क्योंकि वे स्वयं तो पावन होते ही हैं, अपने श्वाँसप्रश्वास से सबको पावन बनाते हैं, इसके विपरीत जो आपके भक्त नहीं हैं, आपके विमुख हैं, वे स्वयं अपने को ही पवित्र नहीं कर सकते, फिर अन्यों को पवित्र करने की बात तो दूरक रही।

दूसरी श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो ! आप सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। समस्त प्राणी इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग तथा समस्त कार्यों को करते हैं, किन्तु आपको करणों की-इन्द्रियों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। आपके हाथ नहीं हैं, किन्तु आप अति शीघ्र सब कुछ ग्रहण कर लेते हैं। आपके पैर नहीं किन्तु सबसे अधिक वेग से दौड़ते हैं। आपके चक्षु नहीं, किन्तु सबको सबसे स्पष्ट देख लेते हैं। आपके कान नहीं किन्तु समस्त प्राणियों की बातें-चाहें वे कितनी भी शनैः शनैः कही गयी हों आप स्पष्ट रूप से सुन लेते हैं। आप समस्त जानने योग्य-बातों को जान लेते हैं, किन्तु आपको यथार्थ रूप में कोई नहीं जानता। इस प्रकार कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण रूप जो भीतर बाहर की इन्द्रियाँ हैं, उनसे आप रहित होने पर भी आपका ज्ञान स्वतः सिद्ध है, उसे प्रकाशित करने के लिये बाह्यकरण तथा अन्तःकरण की अपेक्षा नहीं। वाक् पाणि, पाद, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार जितने भी करण हैं उनकी शक्ति से आप सदा सर्वदा स्वतः ही सम्पन्न हैं। इसलिये आप सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते, सब कुछ उपभोग करते हुए भी कुछ नहीं करते अविद्या आपको स्पर्श नहीं कर सकती। आपको किसी ने सम्राट् बनाया नहीं है आपको किसी ने अभिषिक्त नहीं किया, पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया। आप स्वाभाविक ही सर्वेश्वर हैं, सर्वाधिप हैं, ईश्वर हैं।

ईश्वर तो ब्रह्मा, इन्द्र तथा लोकपाल भी हैं वे भी सृष्टि आदि

करने में समर्थ हैं, प्रजा के पति हैं। यह सब तो सत्य है, ईश्वर तो वे भी हैं, किन्तु उनमें और आपमें अन्तर है। आपको किसी ने किसी पद पर नियुक्त नहीं किया है। अतः आप निर्भय हैं, किसी के सम्मुख उत्तरदायी नहीं ब्रह्मादिक देवों को आपने उनके पदों पर नियुक्त किया है, उन्हें अधिकार सौंपा है, अधिकारी बनाया है। आपने उन्हें जिन कार्यों पर नियुक्त किया है, जिन जिन पदों पर प्रतिष्ठित किया है, वे उन उन कार्यों को अव्यग्र चित्त से बड़ी सावधानी के साथ सदा सम्पन्न करते रहे हैं, उन्हें सदा सर्वदा कालरूप आपका भय बना रहता है। वे आपके भय से ही सब कार्यों को करते हैं, वे आपकी भाँति स्वतन्त्र तथा निर्भय नहीं। आप तो किसी को कर देते नहीं। कर दें भी तो किसे दें आपकी कोई बराबर ही नहीं, फिर बड़ा तो कोई हो ही कैसे सकता है। आप बिना करणों के स्वयं ही सब कुछ उपभोग करते हैं। ये इन्द्रादि देवगण, ब्रह्मादि लोकपालगण हव्यकव्यादि को प्रजा के लोगों से ग्रहण करके उसका स्वयं भी भोग करते हैं और आपको भी अर्पण करते हैं। जैसे लोक में भी करद राजा-गण जो किसी मंडल या देश के अधिपति होते हैं,वे प्रजा से कर लेकर उसका स्वयं भी उपभोग करते हैं,और सम्राट् को भी उसमें से अर्पण करते हैं, किन्तु सम्राट् किसी को अर्पण नहीं करता। जैसे सेवा करने वाले अपनी सहचरों को भी साथ लेकर सेवा में में उपस्थित होते हैं, वैसे ही ये इन्द्रादि लोकपाल अविद्या को संग लिये ही सब कार्य करते हैं, आप अविद्या से सदा सर्वदा विमुक्त

हैं। इस प्रकार प्रभो! आप को किसी भी ईश्वर से समता नहीं, आप ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, अधिपतिओं के भी महाधिपति हैं। महाराजाधिराजों के भी अधिराज हैं। यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड आपके तनिक से संकेत से ही चल रहा है। जितने ये ब्रह्मा, प्रजापति, मनु, इन्द्र, सप्तर्षि तथा राजागण हैं सब आपकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं। सब आपकी इच्छा समझकर व्यवहार करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार स्तुति करके उन श्रुतियों का समूह विरत हुआ। तब दूसरी श्रुतियों का यूथ हाथ जोड़े हुए नम्रता के साथ भगवान् के सम्मुख आया, अब जैसे वे श्रुतियाँ जगने के लिये उद्यत श्रीहरि की स्तुति करेंगी, उस कथा प्रसंग को मैं आगे सुनाता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर इस पावन प्रसंग को श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

अन्तर बाहर करन रहित प्रभु ज्ञान रूप हैं।
बिनु इन्द्रिनि के काज करें अज देव-भूप हैं॥
लोकपाल अज देव अविद्या आश्रय करिकें।
हव्य कव्य को भोग करें कछु तुमहिं अरपिकें॥
सार्वभौम सम्राट सम, अज सुर प्रभु कूँ बलि भरें।
सौंप्यो जिनि जो काज सो, करें ताहि तुमतें डरें॥

पद

सबनि के आश्रय तुम भगवान ।
जिनिकी मति ऐसी निरमल सो, पावें पद निरवान ॥१॥
धरिकें पैर मृत्यु सिर जावे, करि ताको अपमान ।
जनम मरन चक्कर तैं छुटिकें, करें सुयश नित गान ॥२॥
प्रभु पद प्रेम करें जे त्रिभुवन, पावन करें महान ।
जे हैं विमुख करमरत ते जग, भ्रमैं भलहिं विद्वान ॥३॥
इन्द्रिय रहित शक्तियुत स्वामी, सब सद्गुन इस्थान !
सुरगन फँसे अविद्या अंतर, करें हव्य नित दान ॥४॥
जो जो पद अरप्यो प्रभु जाकूँ, सो सो करें सुजान ।
कालरूप प्रभुतैं नित डरपैं, सदा करें सब मान ॥५॥

वेद-स्तुति (९)

(१२८)

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थ निमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्चभवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८७ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

हो हरि मायातीत निहारें जब ई माया।
खेल होहि आरम्भ विविध विधि निकसें काया॥
अवलोकन तैं होहिँ जागरित करम सबनिके।
निकसें धरि तन-लिङ्ग चराचर सब जीवनिके॥
नभ सम शून्य समान प्रभु, मन वानी के विषय नहिं।
कोई पर अरु अपर नहिं, सब समदरसी शास्त्र कहिँ॥

प्रभु का खेल विचित्र है वे स्वयं मायातीत होकर भी माया पति हैं। माया को देख देते हैं तभी यह संसार चक्र चलने लगता है, उनकी दृष्टि में सृष्टि है, उनकी इच्छा से ही सब

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही है—"हे विमुक्त प्रभो! जितनी स्थावर और जंगम जाति हैं, उन सब की जाग्रत हुए

खेल होता है, उनकी इच्छा होते ही यह फैला हुआ पसारा सिमिट जाता है, उन्हीं में विलीन हो जाता है फिर काल पाकर चलने लगता है, यह खेल कब से चल रहा है, कब तक चलता रहेगा इसका न आज तक किसी को पता चला, न आगे चलने की संभावना ही है क्योंकि जो अनादि है, अनंत है, सनातन तथा शाश्वत है, उसके आदि अन्त का पता लग भी क्या सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब श्रुतियों का एक समूह स्तुति करके विराम को प्राप्त हो गया, तो दूसरा यूथ आकर स्तुति करने लगा। श्रुतियाँ स्तुति करती हुई कह रही हैं—"प्रभो ! आप चिद्घनानन्द हैं। पूर्ण ज्ञान स्वरूप हैं, समस्त दोषों से सदा सर्वदा रहित हैं। फिर भी आप क्रीड़ा के लिये, मनो विनोद के लिये, जीवों के भोग भुगाने के लिये इस स्थावर जंगम जगत् की रचना करते हैं। जड़ चैतन्य युक्त इस संसार की सृष्टि करते हैं, आप अपने ही लिये अपनी इच्छा से जगत् की उत्पत्ति करते हैं। आपके अतिरिक्त और ऐसा है कौन जो ऐसे नाना रूपों से युक्त चित्र विचित्र जगत् को बना सके। जैसे कोई सम्राट् है उसके घर में सभी प्रकार के सुख हैं सभी भोग की सामग्रियाँ उपलब्ध हैं, जिसे जो आज्ञा देता है वह उसका पालन अविलम्ब करता है। कुछ भी न करे घर के भीतर पड़ा पड़ा आज्ञा ही देता रहे, तो भी उसके सभी कार्य सम्पन्न हो ही सकते हैं। फिर भी वह घर में ही नहीं बैठा रहता। राज्य

कर्मों की उत्पत्ति तब होती है, जब आप मायातीत प्रभु माया की ओर देख देते हैं। आप आकाशके सदृश सम, शून्य की समता धारण करने वाले हैं। आप मन और वाणी के विषय नहीं, आपकी दृष्टि में कोई पर नहीं अपर नहीं।

में भ्रमण करने अन्य नगरों में जाता है। आखेट के लिये सघन वनों में, पर्वत की गुफाओं में तथा अन्य एकान्त स्थानों में जाता ही है। मनोविनोद के लिये भ्रमण करता ही है। वह केवल इच्छा मात्र ही करता है, केवल उसकी इच्छा होते ही सर्वत्र झंडी पताकायें फहराने लगती हैं, लोग स्वागत के लिये फूल मालायें तथा नाना उपहार जुटाने लगते हैं, इसके लिये वह कहता नहीं किन्तु ये सब तैयारियाँ अपने आप होने लगती हैं। इसी प्रकार आप नित्य मुक्त शुद्ध बुद्ध तथा निरंजन हैं फिर भी आप जब क्रीड़ा की इच्छा से माया को देख भर देते हैं, आप के देखने मात्र से ही जीवों के कर्म अपने आप जाग्रत हो उठते हैं, वे कर्म भोगोन्मुख हो जाते हैं। सम्पूर्ण चर अचर स्थावर जंगम लिङ्ग शरीर से उत्पन्न होकर व्यापारोन्मुख होते हैं। जैसे इन्द्र तो केवल वर्षा कर देते हैं। वर्षा होते ही अगणित जीव अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। चुपचाप पड़े बीज स्वतः ही अंकुरित होने लगते हैं। सम्राज्ञी मधु मक्खी जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है, तो उसे अन्य मक्खियों से कहना नहीं पड़ता वे स्वतः ही उसका अनुगमन करती है, बड़ी दीमक के चलने से सभी दीमकें उसके पीछे पीछे चलने लगती हैं। सम्राट के गमन की इच्छा होते ही सब उसका अनुवर्तन करने लगते हैं, सभी अपने अपने साज सामान लेकर सम्राट की इच्छा पूर्ति में जुट जाते हैं। इसी प्रकार आपकी क्रीड़ा की इच्छा होते ही काल अपना काम करने लगता है प्रकृति स्वतः प्रवृत्त हो जाती है, अब तक जो गुण साम्यावस्था में अवस्थित हैं, काल पाकर गुणों में विषमता, आई उनमें क्षोभ उत्पन्न हुआ। प्रकृति पुरुष के संयोग से चक्र चलने लगा। जीवों की उत्पत्ति होने लगी साक्षात् तथा परम्परा से सब प्राणियों की उत्पत्ति आपके ही

द्वारा होती है। आप आकाश के समान हैं। आपमें कोई विषमता नहीं। आप परम दयालु हैं, महान् कारुणिक हैं, कृपा के सिन्धु हैं, समदर्शी और अत्यन्त अनुकम्पा युक्त हैं। आप निजत्व परत्व से परे हैं। यह अपना है, यह पराया है, यह प्रेम करने योग्य है, इससे द्वेष किया जा सकता है, आप इस द्वैधी भाव से रहित हैं, आपकी दृष्टि में सभी प्राणी समान हैं, सभी आपकी कृपा के पात्र हैं, सभी आपकी दया के भाजन हैं।

जीव में जो परिच्छिन्नता अल्पता तथा कर्मों मे बँध से जाने के तथा माया में जो जड़ तत्वादि दोष हैं, वे आप में लेश मात्र भी नहीं हैं। यद्यपि आप सर्वत्र व्याप्त हैं, आकाश के सदृश सर्वत्र परिपूर्ण हैं, तिस पर भी व्याप्य वस्तुओं के दोषों से सर्वदा रहित ही हैं। इसीलिये आप को निर्लेप निर्द्वन्द निरीह तथा मायातीत कहा जाता है सबमें विद्यमान होने पर भी अविद्यमान से प्रतीत होते हैं। प्रभो! आपके सम्बन्ध में भाषा तथा वाणी द्वारा कुछ कहना बनता ही नहीं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इसके अनन्तर दूसरी श्रुतियों का समूह स्तुति करने आया। उन्होंने कहा—"भगवन्! आप नित्य शुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द स्वरूप तथा सर्व भाव विनिर्मुक्त हैं। आप में कोई इच्छा नहीं अभिलाषा नहीं। आप आत्मा में रमण करते रहते हैं, आप आप्त काम हैं, आपको आनन्द के लिये अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई हो तब तो अपेक्षा भी हो आप तो अद्वय हैं, अखंड हैं, केवल हैं, न जाने सात्विक राजस और तामस कर्मों और उनके फलों को अपने उदर में भरी हुई दुबकी सिमटी सकुची जड़ माया आपके किस अंग में बैठी रहती है। आप विशुद्ध चैतन्यघन में यह अचेतन अविद्या माया प्रकृति कैसे स्थान पाती

है इसका किसी ने समुचित उत्तर नहीं दिया। कोई कहते हैं आपमें वह है नहीं, भ्रमवश भासती है। अच्छा भ्रम ही वश सही, यह भ्रम आपको तो हो नहीं सकता। जीवों को भ्रम होता होगा तो ये भ्रमित जीव कहाँ से आ गये। वे भी आपके अंश हैं। अंश में तो अंशी के ही गुण होने चाहिये। आप अंशी में तो भ्रम है नहीं, इस जीव में भ्रम कहाँ से आ गया। जीव में भी भ्रम नहीं यह तो माया जनित है। प्रश्न तो यही है कि यह माया अवश्य कहीं आपके ही आस पास छिपी होगी, जब आप इसे हँसकर देख देते होंगे, तो प्रकृति में क्षोभ हो जाता होगा सृष्टि का चक्र चल पड़ता होगा। जैसे राजा के लिये मनोरञ्जन की सभी सामग्रियाँ उसके अन्तःपुर में प्रस्तुत हैं। वह वहाँ स्वच्छन्द विहार करता है, किन्तु उसकी इच्छा बाहर जाने की होती है तो उसके निकलते ही छत्रचँवर लेकर सेवक अपने आप ही आगे आगे चलने लगते हैं। यात्रा के सभी सामान स्वयं ही जुट जाते हैं। इसी प्रकार जब माया की ओर आप देख भर देते हैं तब ही प्रकृति के सुषुप्त कर्म जाग उठते हैं—प्रकृति में हल चल हो जाती है। जितने लिङ्ग शरीर हैं वे भोगोन्मुख हो जाते हैं। उन्हीं से स्थावर जंगम प्राणियों की उत्पत्ति होने लगती है। सब उच्चावच छोटी बड़ी उच्च नीच योनियों को प्राप्त होकर संसार के प्रवाह में जन्मते मरते रहते हैं। सभी सुख दुःखों का भोग करते हैं। इन मन प्रवाह में पड़े जीवों में से जिनको आप कृपा कटाक्ष से देख देते हैं जिसे आप अपना कह कर वरण कर लेते हैं, वह जन्म मरण के चक्कर से छूट जाता है। सदा के लिये संसार से विमुक्त हो जाता है। इतना होने पर भी आप पक्षपात से शून्य हैं। आपके लिये न कोई अपना है न पराया है। आप तो समदर्शी हैं।

जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है, तो भी व्याप्य वस्तुओं के दोष का आधार आकाश नहीं है। जैसे घड़े का आकाश है और घड़े में धूम तथा धूम के काले काले कण भी भरे हुए हैं फिर भी एक साथ रहने पर भी घड़े का आकाश उन कणों से सर्वथा निर्लिप्त ही रहता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि में से अपने आप ही स्फुलिङ्ग निकलते रहते हैं। अग्नि को स्फुलिंग निर्माण के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता। वे तो स्वभाव से ही निकलते रहते हैं। उनमें कोई विस्फुलिंग बड़ा होता है कोई छोटा होता है। कोई कहीं गिर पड़ता है कोई कहीं कोई घास में गिर गया तो प्रज्वलित होकर महान् अग्नि का रूप रख लेता है, कोई जल में गिर गया तो शान्त हो जाता है, कोई भूमि पत्थर पर गिर गया तो कुछ देर तक वह चमकता है फिर शान्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रभो ! जितने भी प्राणधारी हैं, सब आप से ही उत्पन्न होते हैं, अन्त में आप में ही पुनः विलीन हो जाते हैं। जितने ये भू, भुव, स्व, मह, जन, तप, सत्य अतल, वितल, सुतल पाताल, महातल, आदि ऊपर नीचे के लोक हैं काल पाकर आपके ही प्रभाव से प्रकाशित होते हैं फिर कालान्तर में आप में ही विलीन हो जाते हैं। जितने ये देव, उपदेवादि हैं, वे भी आप से ही प्रादुर्भूत होकर आपमें ही समा जाते हैं। कहाँ तक कहें जितने स्थावर जंगम चर अचर जीव हैं सबके ही योनि आप हैं और अन्त में सभी आप में ही आश्रय पाते हैं।

हे नित्यानन्दस्वरूप स्वामिन् ! कोई कोई कहते हैं कि ये जितने भी जीव हैं सभी नित्य हैं, सभी सर्वगत है, जब सभी एक से हैं तो उनमें काम कैसे चलेगा। सभी ठाकुर ही ठाकुर बरात में जाँय तो सेवा कौन करेगा। एक से जीवों का नियंत्रण करने वाला कोई एक श्रेष्ठ चाहिये। अतः आप सभी से श्रेष्ठ हैं, सभी के

नियामक हैं। ये जीव आपसे छोटे हैं आप उन सब से महान् हैं आप उन सबका नियन्त्रण करते हैं आप समस्त विश्व ब्रह्माण्डों को अपने अधीन रखते हैं। सबके उत्पत्ति स्थान आप ही हैं, आप कारण रूप से इनका परित्यागन करते हुये इन सबके नियन्ता हैं।

स्वामिन्! आप स्वामी हैं, नियन्ता हैं, उत्पादक हैं। ऐसे हैं वैसे हैं ऐसी कोई भी बात आपके सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। आपके सम्बन्ध में जो यह कहता है-मैंने उन्हें जान लिया उसने कुछ भी नहीं जाना। जो यह कहता है यह भी ब्रह्म नहीं, वह भी ब्रह्म नहीं। ब्रह्म के सम्बन्ध में मैं कुछ निश्चित रूपसे कह नहीं सकता, समझो उसी ने आपको कुछ जाना है। क्योंकि मौन से ही आपके सम्बन्ध में प्रवचन किया जा सकता है। कुछ न कहना ही आपके सम्बन्ध में कुछ कहना है। यदि कोई निर्देश करदे, निश्चयपूर्वक कहदे कि आप ऐसे ही हैं, तो यह बुद्धि निश्चय की हुई मान्यता होगी और मानी हुई समस्त वस्तुएँ दोष युक्त हैं। अतः निश्चय रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। आप सर्वत्र हैं। सब में सम भाव से समवस्थित हैं। अतः जो आपको निश्चय रूप से जानने का अभिमान करते हुए कहते हैं आप ऐसे ही हैं,उनकी मान्यता झूठी है आप उनसे अज्ञात हैं। तत्व ज्ञानियों से विरुद्ध मत दुष्ट मत है, वह अशोभनीय तथा अनादरणीय हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर श्रुतियों का वह समूह स्तुति करते हुए विरत हो गया। थक कर बैठ गया। अब श्रुतियों का अगला यूथ आकर जिस प्रकार से भगवान् की स्तुति करेगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

होवैं जीव असंख्य सर्वगत नित्य सनातन।
तो फिरि तिनिको सतत करैं कैसे प्रभु नियमन॥
होवैं प्रकट सकल तुम में मिलि जावैं।
जैसे चाहैं आपु सबनिकूँ नाच नचावैं॥
बानी मन तैं सोचिजे, कहैं हमनि जाने अखिल।
प्रभु ते कछु जानत नहीं, बुद्धि नहीं तिनिकी विमल॥

पद

तुम्हारो कोई नहीं परायो।
माया कूँ निरखो जब स्वामी, तब जग चक्र चलायो॥१॥
मायातीत स्वयं जंगम जड़, क्रीड़ा हिय रचवायो।
विविध भाँति के जीव चराचर, रचिपचिस्वाँग बनायो॥२॥
सम सब थल नभ सम परि पूरन, वेद भेद नहिं पायो।
मन बानी पहुँचे नहिं तुम तक, योगिनि अलख लखायो॥३॥
नहीं सरवगत नित्य जीव सब, सबकूँ तुमनि बनायो।
सकल नियन्ता सब के कारन, सब निज उदर छिपायो॥४॥
हम जानें यह कहैं अज्ञ जन, विज्ञ न कछु बतायो।
प्रभु सरवत्र सकल घट निवसैं, जिनि खोज्यो तिनि पायो॥५॥

वेद-स्तुति (१०)

(१२६)

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतोजलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैःपरमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

प्रकृति पुरुष तो नित्य जनम तिनिको नहिँ होवै ।
जल बुद्बुद बनि जाय नाम निज अपनो खोवै ॥
फिरि जलमें मिलि जायँ मिलैं ज्यों सरिता सागर ।
सब रस मधुमें मिलहिँ भेद नहिँ सुमन अवर वर ॥
सुमन उपाधि बिसारि रस, मिलि मधु ही संज्ञा रही ।
मिलहिँ प्रलयमें जीव प्रभु, जिनि वेदनि महिमा कही ॥

प्राणियों के शरीरों में, वापी, कूप, तड़ाग तथा नदियों में तथा जहाँ भी जल दृष्टिगोचर होता है, वह समस्त जल समुद्र से ही

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो ! प्रकृति और पुरुष इन दोनों को बारम्बार "अज" कहा गया है, जो अज हैं उनका

आता है। सूर्यनारायण समुद्र में से जल लाकर मेघ बना देते हैं, वे मेघ सर्वत्र वायु के संयोग से बरस जाते हैं, सर्वत्र जल पहुँचा देते हैं। आकाश पाताल में वही जल है। फिर समस्त जल ज्यों का त्यों समुद्र में पहुँच जाता है। कैसे जाता है, इसका पता किसी को लगता नहीं। सूर्य को वारितस्कर कहा है अर्थात् पानी के चोर। सूर्य चर और अचर समस्त प्राणियों के शरीरों से कैसे जल को चुरा ले जाते हैं इसे कोई देख नहीं सकता। आप कितना भी बंद करके सात कोठरियों के भीतर ताला लगाकर जल रख दीजिये उसमें से कुछ न कुछ चोरी हो जायगा। सूर्यनारायण की तीक्ष्ण किरणें वहाँ से भी जल को चुरा लावेंगी। चुराकर रखेंगी कहाँ? वहीं समुद्र में। जल का वहीं तो आलय है। चाहें आप जल को भूमि में डाल दें, गड्ढे में फेंक दें, नदी में उड़ेल दें, खेत में भर दें, वह इर फिरकर चक्कर लगाकर जायगा समुद्र में ही। समुद्र के जल को आप पान नहीं कर सकते। उससे दाल-भात दहीं बना सकते, किन्तु उसी को—जब सूर्यनारायण अपनी किरणों में भरकर वापी, कूप, तड़ाग तथा नदियों में, पर्वत स्रोतों में पहुँचा देते हैं तो वह सबके पीने योग्य परम स्वादिष्ट बन जाता है। समुद्र के जल में और इसमें भेद हो जाता है। फिर वही बहते बहते समुद्र में मिल जाता है, तो तद्रूप हो जाता है। फिर आप नहीं पहिचान सकते कि मु द्र में मिले ः ल

उत्पन्न होना घटित नहीं होता। किन्तु इन दोनों के संयोग होने से जैसे जल से बुद्बुद होते हैं, वैसे ही इनके संयोग से नाना जीव हो जाते हैं। फिर वे सब विविध नाम और गुण वाले आप परमेश्वर में उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जैसे नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, जैसे समस्त रस मधु में विलीन हो जाते हैं।"

में कितना अंश अमुक वापी का है, कितना अमुक कूप का है, कितना अमुक नदी का है, सभी एकाकार एकार्णव बन जाता है। फिर सूर्य लाते हैं फिर विभाग बनता है। यह संयोग वियोग कब से चल रहा है, कब तक चलेगा। इसका उत्तर आज तक तो किसी ने ठीक ठीक दिया नहीं। आगे भी कोई दे सकेगा ऐसी आशा नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब श्रुतियों का एक समूह अपनी शक्ति सामर्थ्यानुसार स्तुति करके निवृत्त हो गया तो दूसरा यूथ आकर प्रभु की स्तुति करने लगा भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"भगवन् ! कुछ लोग कहते हैं—"प्रकृति और पुरुष ही उत्पन्न होकर सृष्टि की रचना करते हैं। किन्तु ऐसा कहना उनका भ्रम ही है। प्रकृति तो अजा है, लाल सफेद और काले रङ्ग की बकरी है। वह किसी से उत्पन्न नहीं हुई। कभी पैदा नहीं हुई इसीलिये इसकी अजा संज्ञा हुई। इसका आदि नहीं इसीलिये इसे विज्ञजन अनादि कहते हैं। इसी प्रकार पुरुष को भी अज कहा है। जब ये दोनों ही जन्मरहित अज तथा अनादि हैं, तब इनका उत्पन्न होना बन ही नहीं सकता। ये तो विद्यमान ही हैं, फिर भी इन दोनों के संयोग होने से तथा आप सत्य संकल्प के संकल्प द्वारा यह सृष्टि हो जाती है। जैसे जल विद्यमान है और वायु भी विद्यमान है। उन विद्यमान जल के कुछ कणों का जब पवन से संयोग होता है, तो उन दोनों के संयोग से बुद्बुद उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि वे बुलबुले जल से ही उत्पन्न हुए हैं, तथापि जल से नाम रूप में भिन्न ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार काल आने पर कर्मों को निमित्त बनाकर आपसे प्रकृति पुरुष का संयोग होने से सृष्टि का प्रवाह चलने लगता

है। प्रकृति से महत्तत्व, अहंतत्व, अन्तःकरण तथा इन्द्रियों आदि की उत्पत्ति होती है और पुरुष के द्वारा देव, मनुष्यादि योनियों को नाम रूप की प्राप्ति होती है। इसे ही प्रकृति पुरुष की उत्पत्ति कह सकते हैं। अंत में ये सभी जीव आपमें ही अपना नाम रूप त्यागकर विलीन हो जाते हैं। समय आने पर फिर कर्मानुसार नाम रूप की उपाधि धारण करके प्रकट हो जाते हैं।

स्वामिन्! आप में जब समस्त जीव विलीन होते हैं, तो उनमें भेद करना कठिन हो जाता है। भेद तो होता है नाम और रूप के द्वारा वे उपाधि उस समय रहती नहीं। जैसे कमलके पुष्प मल्लिका, मालती, माधवी, पारिजात तथा अन्यान्य सभी पुष्पों में रस रहता है जब तक वे पुष्पों के आश्रय में हैं तब तक तो कहा जाता है यह अमुक पुष्प का रस है किन्तु जब मधुमक्खी द्वारा सब पुष्पों से रस एकत्रित करके मधुरूप में परिणित हो जाता है तो फिर यह विवेक नहीं रहता कि यह किस पुष्प का रस है। सबकी मिलकर मधु संज्ञा ही हो जाती है।

भगवन्! भक्तिमार्ग में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये पांच रस हैं। जैसे इन पाँचों का ही समावेश मधुर रस में हो जाता है। मधुर में शान्त भी है, सख्य का भी आस्वादन है, दास्य भी छिपा है, वात्सल्य भी है और मधुर तो प्रत्यक्ष दीखता ही है। उसी प्रकार मधु शहद में खट्टा, चरपरा, नमकीन, कड़वा, कसैला और मीठा ये सभी रस विद्यमान हैं। किसी पुष्प का कड़वाहट लिये हुए रस है किसी में नमकीन मिला है। ये छओ रस के स्वाद मधु में विद्यमान हैं। किन्तु मीठे ने उन सब को छिपा दिया है सभी रस मीठे में मिल गये हैं।

इसी प्रकार प्रलय काल में सभी जीव आपमें एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

जैसे जब जल नदियों में बहता है तो किसी नदी का जल बहुत मीठा होता है, किसी का खारा होता है, किसी का सफेद होता है, किसी का लाल किसी का नीला। किन्तु जब वे समुद्र में जाकर मिल जाती हैं तो फिर अपने पृथक् पृथक् नाम रूप तथा स्वाद को छोड़कर समुद्र के ही जल में तदाकार बन जाती हैं। हे देवाधिदेव! आपमें तो कोई उपाधि है नहीं आप तो नाम रूप उपाधि से रहित हैं। अतः ये अपनी अपनी नाम रूप उपाधियों सहित आपमें कैसे मिल सकते हैं? अतः हे सर्वातीत! सर्वगत! सबकी उत्पत्ति के स्थान भी आप ही हैं और सब के विश्राम स्थान भी आप ही हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब श्रुतियों का एक समूह स्तुति करते करते थक गया तो दूसरी श्रुतियों का समूह आकर स्तुति करने लगा। भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! एक मात्र भजनीय तो आप ही हैं। किन्तु हम आप का भजन कैसे करें? सृष्टि के आदि में सृष्टि चक्र को चलाने के लिये आपने काल और माया को रचा। जो जीव माया मोहित हो जाते हैं काल उन्हें भक्षण कर जाता है वे बारम्बार जनमते हैं मरते हैं। काल चक्र में भ्रमते रहते हैं। फिर जीव आपको कैसे प्राप्त कर सकते हैं? कैसे इस संसार बंधन से विमुक्त हो सकते हैं? कैसे काल पाश से छूट सकते हैं? तो स्वामिन्! आपने बारम्बार जीवों को आश्वस्त किया कि एक बार भी जो "मैं प्रपन्न हूँ" ऐसा कह देता है उसे मैं सभी भूतों से अभय बना

देता हूँ। और भी आपने कहा है यह मेरी दैवी गुण मयी माया दुरत्यय है। जो मेरे प्रपन्न हो जाते हैं वे ही इस कठिनता से पार होने वाली माया से तर जाते हैं, किन्तु प्रभो! हम तो माया मोहित होने के कारण आपकी शरण में आते नहीं। इसी कारण काल के अधीन होकर भ्रमते रहते हैं। कोई कोई सुधी जन विद्याबुद्धि विवेक द्वारा इस आवागमन से छूटने के कारण आपके चरणारविन्दों में दृढ़ भक्ति करते हैं, क्योंकि आप एक मात्र भक्ति द्वारा ग्राह्य हैं। जिन्होंने आपके अरुण वरण के चरणारविन्दों का आश्रय ग्रहण कर लिया फिर वे भव वारिधि में कभी डूब ही नहीं सकते क्योंकि कमल सदा जल से ऊपर ही रहता है, जल में रहने पर भी उससे निर्लेप ही बना रहता है।

स्वामिन्! यह काल बड़ा बली है। समस्त बलवानों से भी अधिक बलशाली है। समस्त जीव इसके नाम से ही थर थर काँपते रहते हैं, इसके सम्मुख किसी की भी कुछ चलती नहीं। यह काल कभी शीतल बनकर सभी को जाड़े में कँपा देता है, कभी ग्रीष्म बनकर सबको तपा देता है, रुला देता है। कभी वर्षामय होकर सबको शीतल कर देता है। शीत, ग्रीष्म और वर्षा तीन भागवाला यह कालचक्र उन्हीं को क्लेश पहुँचाने में समर्थ होता है, जो आपके प्रपन्न नहीं होते, आपकी भक्ति से विमुख हैं, किन्तु भवभयहारी भगवन्! जो आपकी शरण हो चुके हैं, जो आपके अनुगत बन चुके हैं, जिन्होंने सर्वात्म भाव से अपने को आपके लिये समर्पित कर दिया है। उन शरणागत भक्तों को आपका यह

भ्रुकुटि विलासरूप यह काल कैसे भय पहुँचा सकता है ? कैसे उन्हें क्लेश दे सकता है। कैसे उन्हें अपने पंजे में फँसा सकता है ? उन आपके प्रपन्न प्रिय भक्तों को जन्म मरण रूप संसार का भय कैसे रह सकता है ?

हे कृपा के सागर ! रागद्वेष काम क्रोधादि शत्रु तभी तक दुख दे सकते हैं, यह भव बन्धन तभी तक रह सकता है, जब तक यह जीव आपका प्रिय भक्त नहीं बन जाता। आपका भक्त हो जाने से तो जीव निर्भय बन जाता है, वह स्वस्थ होकर तान दुपट्टा सोता है, मृत्यु उससे दूर भग जाती है। काल उसे अपना कवल बनाने में समर्थ नहीं होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार श्रुतियों का वह भी समूह जब स्तुति करके उससे उपरत हो गया, तो दूसरा यूथ स्तुति करने आया। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

माया मोहित जीव कालवश मरि मरि होवैं।
भवसागरमें भ्रमत विजित बाजीकूँ खोवैं॥
सुधी समुझि सबसार भक्ति तव चरन दृढ़ावैं।
भक्त भये भय भग्यो काल हू डरि भगि जावैं॥
भ्रुकुटि विलास सरूप जिह, शीतल बरषा ग्रीष्ममय।
करै अभक्तनि बन्धनित, प्रभु भक्तनि करिदे अभय॥

पद

प्रकृति अरु पुरुष नित्य भरमावैं ।
उभय परस पर मिलहिँ कालवश, नाना योनि बनावैं ॥१॥
ज्यों जलकन मिलि अनिल संगमें, बुद्बुद सृष्टि करावैं ।
त्यों मिलि प्रकृति पुरुष प्रभु इच्छा, नाना जीव रचावैं ॥२॥
ज्यों सरिता सागरमें मिलिकें, नाम रूप बिसरावैं ।
सबरस मिलि ज्यों मधुबनि जावैं, तुममें जीव समावैं ॥३॥
माया मोहित जीव भ्रमैं जग, पुनि जनमें मरि जावैं ।
काल चक्रतें वे बचि जावैं, चरन शरन तब आवैं ॥४॥
शरनागत जनमें नहिँ पुनि पुनि, प्रेमामृत फल पावैं ।
अनुगत भक्तनि भय भगि जावै, जे प्रभु पद नित ध्यावैं ॥५॥

वेद-स्तुति (११)

(१३०)

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं-
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतन्विताः समवहाय गुरोश्चरणं-
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

चित अति चंचल चपल तुरँग सम इत उत भरमत ।
योगी हू अति दुखित रहत जे सतत समाहित ॥
ता मनकूँ गुरु चरन शरन बिनु वश में चाहें ।
होवैं वशमें नहीं भ्रमैं इत उत पछिताहें ॥
करनधार बिनु जलधिमें, पोत बनिक लै जायँ जे ।
भँमर परे डगमग करै, रोवैं पुनि पछितायँ ते ॥

हमने अपने मन से ही इस संसार में विभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लिये हैं। मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, यह मेरा घर है, यह मेरे

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे प्रभो ! यह चित्त अति चंचल घोड़े से भी बढ़कर चंचल है। वे योगी गण जिन्होंने

वाहन हैं ये मेरे सम्बन्धी हैं यदि मन वश में हो जाय। मन की बिखरी हुई असंख्यों वृत्तियों का निरोध हो जाय तो सभी चिन्ता और शोक दूर हो जायँ। सभी दुःख मिट जायँ, किन्तु यह मन अत्यन्त ही चञ्चल है। यह क्षण भर भी स्थिर नहीं रहता। इसे स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं, न जाने कब निकल भागता है। इसका पता ही नहीं लगता। सभी शास्त्रों का विषय एक ही है। यह चंचल चपल मन वश में कैसे हो। जो लोग बिना किसी की सहायता लिये स्वयं ही अपने आप इस मन को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, उनका प्रयास कठिनता से सिद्ध हो सकता है। जिन्होंने जिस मार्ग को देखा है, उसमें किसी के निर्देशानुसार गये हैं। वहाँ के दुःख सुखों का अनुभव कर चुके हैं। यदि उनकी सहायता से उनके संरक्षण में रह कर यात्रा की जाय तो सुगमता से उस पथ को पार कर सकते हैं। बिना पथ प्रदर्शक के चलने से तो पग पग पर असुविधाओं का सामना करना पड़ता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ? भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे परमेश्वर ! हे भक्तभावन ! मन को वश में करना सरल नहीं सुगम नहीं सर्वसाध्य नहीं। बहुत से लोग कहते हैं हम योगाभ्यास के द्वारा मन को वश मे कर लेंगे। इसके लिये वे यम नियमों का पालन करते हुए विविध

प्राणायाम साधनों द्वारा प्राण तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वे भी इसका पूर्णरीत्या दमन नहीं कर सकते। ऐसे चंचल मनको जो गुरु चरणों की शरण का परित्याग करके अन्य उपायों द्वारा वशमें करना चाहते हैं। वे उसी प्रकार विपत्तियों में फँस जाते है, जिस प्रकार बिना मल्लाह की नौका को लिये हुए व्यापारी समुद्र में फँस कर भाँति भाँति के क्लेशा को उठाते हैं।

आसनों का अभ्यास करते हैं। प्राणायाम के द्वारा प्राणों का तथा समस्त इन्द्रियों का निरोध करते हैं। किन्तु वे भी मन को वश में नहीं कर सकते। बारम्बार प्रयत्न करने पर भी मन भाग ही जाता है। जैसे अत्यन्त चंचल अश्व को लगाम लगाकर विविध उपाय करके वश में लाने का प्रयत्न करो किन्तु अपनी चंचलता से वह अवसर पाकर निकल ही भागता है। उसी प्रकार योग के विविध उपाय तो करो, किन्तु गुरुदेव की शरण में न जाओ। उनके मार्ग दर्शन की उपेक्षा कर दो तो वह योग साधन व्यर्थ है। गुरु बिनु ज्ञान कैसे हो सकता है शिक्षक के बिना शिक्षा कैसे प्राप्त की जा सकती है। यह नृदेह एक सुदृढ़ नौका है इसीके द्वारा भव सागर को पार किया जा सकता है। साधक को उसमें बिठाकर उस पार गुरुदेव ही ले जा सकते हैं। गुरु ही कर्णधार हैं। आपकी कृपा ही अनुकूल वायु है ये सभी साधन जुट जाय तो संसार से पार होना कोई कठिन कार्य नहीं किन्तु कोई साधक अभिमान के वशीभूत होकर बिना मल्लाह के ही नौका को स्वतः जल में खींच ले जाते हैं और अपने अहंभाव से ही पार होना चाहते हैं उनका प्रयास उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे बौने का आकाश छूने का प्रयास व्यर्थ होता है।

श्री गुरुचरणों की शरण त्याग कर जो अन्य उपायों में स्वतः ही श्रम करते रहते हैं वे उसी प्रकार नाना विपत्तियों से घिर जाते हैं जिस प्रकार वह व्यापारी वणिक यात्री तूफान आने पर बिना मल्लाह की नौका से जल में घिर जाता है। उसे पग पग पर आपत्ति विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। अतः आपके पाने वाले साधकों को गुरुचरणों की शरण ग्रहण करनी चाहिये। वैसे सब के गुरु परम गुरु तो आप ही हैं। आप ही गुरु बन कर उपदेश करते हैं और इष्ट साधन

बन करके प्राप्ति ही आपकी होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ? इस प्रकार श्रुतियों के एक यूथ की स्तुति समाप्त होने पर दूसरा यूथ स्तुति करने आगे बढ़ा। उस यूथ की श्रुतियाँ स्तुति करते हुए कह रहीं हैं—"हे प्रभो ? यह जीव निरतिशय सुख चाहता है। सुख की इच्छा के लिये इधर उधर भटकता रहता है। सुख प्रेम के बिना मिलता नहीं। इस लिये यह पहिले सभी स्वजनों के समीप जाता है। ये स्वजन मुझे प्रेम प्रदान करेंगे उन्हें समय समय पर भोजन कराता है उनके सुख में सुखी और दुख में दुखी होता है किन्तु वे स्वजन इससे अधिकाधिक संसारी सुख सुविधा चाहते हैं उनकी इच्छा पूर्ति नहीं होतीं तो वे द्वेष करते हैं नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं।

फिर जीव सोचता है स्वजन तो भिन्न भिन्न प्रकृति के हैं, यदि मैं पुत्र से प्यार करूँगा तो सुखी होऊँगा क्योंकि पुत्र तो अपनी ही आत्मा होता है "आत्मा वैजायते पुत्रः" किन्तु कृपालो ! पुत्रों से आज तक किसी को शाश्वत सुख मिला है ? पुत्र तो चाहते हैं पिता का रस चूस लें पुत्र तो और दुखी बनाते रहते हैं। फिर सोचता है अपने शरीर को ही भली भाँति रच पच के राखो। इसका शृङ्गार करो अच्छे अच्छे पदार्थ खिलाकर इसे पुष्ट करो किन्तु यह अनित्य शरीर क्या सुख पहुँचा सकता है यह तो रोग तथा मलों का आलय है। फिर सोचता है स्त्री अर्धाङ्गिनी है इसीसे सुख मिलेगा किन्तु जो स्वयं मर्त्य धर्मा है काल जिसके पीछे लाठी लेकर पड़ा है वह पत्नी कैसे सुखी बना सकती है। इसी प्रकार कभी धन में सुख खोजता है, कभी धाम में, कभी भूमि में कभी प्राण तथा हाथी घोड़ा रथ

आदि वाहनों में सुख का अन्वेषण करता है किन्तु स्वामिन ? सुख के स्रोत तो आप हैं आश्रितों के एकमात्र आश्रय तो आप अच्युत हैं । सम्पूर्ण आनन्दों के आलय तो आप अखिलेश हैं। आप परमानन्द स्वरूप के रहते स्वजन पुत्रादि क्या सुख दे सकते हैं इनसे प्राणियों का क्या लाभ हो सकता है ?

जो इस परम सत्य सिद्धांत से अनभिज्ञ हैं जो इस यथार्थ रहस्य को नहीं जानते, वे स्त्री सुख को ही सर्वोपरि सुख मानकर उसी में निरत रहते हैं। वे कामिनी के संस्पर्श सुख को ही उत्तम सुख समझते हैं, किंतु जो स्वतः नश्वर है वह शाश्वत सुख कैसे दे सकता है ? जो स्वयं नीरस सारहीन है,वह दूसरोंको रस प्रदान कैसे कर सकता है ? यथार्थ सुख तो आपके संस्पर्श में है जिसे हृदय से आपका संस्पर्श प्राप्त हो गया, वही यथार्थ में सुखी बन गया, उसी को परमानन्द की प्राप्ति हो गयी। जो आपसे पराङ्मुख हैं, आपके संस्पर्श से वञ्चित हैं, उन्हें संसारी कौन सी वस्तु सुखी बना सकती है ? कौन नश्वर पदार्थ उन्हें प्रमुदित कर सकता है अतः प्रभो ! सुख तो आपकी सन्निधि में है। आनन्द तो आप आनंदरसार्णव सर्वानंदमय सर्वेश्वर की शरण में है। अतः हे प्रभो ! हमें आप अपने चरणों की शरण दीजिये। यही आपके चरणारविंदों में पुनः पुनः प्रार्थना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों इतना कहकर वह श्रुतियों का समूह विराम को प्राप्त हो गया। इसके अनंतर श्रुतियों के दूसरे यूथ ने आकर भगवान् की जैसे स्तुति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

ये सुख का दै सकें स्वजन सुत धरनि धाम धन।
प्रमदा प्रान महान मान तन सुखकर बाहन॥
नाशवान सब छनिक दुःख परिनाम सबनिको।
सर्वानन्द स्वरूप करें मङ्गल जीवनिको॥
सिस्नोदरपालक पुरुष, रति-सुखमें जे नित निरत।
सारहीन संसार में, करै सुखी तिनि कवन चित॥

पद

गुरु बिनु भवसागर कस तरिहैं।
यह चित चंचल नव तुरङ्ग सम कैसे बशमें करिहैं॥१॥
जोग जोग जतन तैं प्राननि इन्द्रिनि बश करि लइहैं।
नहिं मन दमन होहि तिनहू पै, नितप्रति पचिपचि मरिहैं॥२॥
गुरु चरननि तजि अन्य जतन करि, पुनि पुनि भवजल परिहैं।
करनधार बिनु तरनि पकरिकें, कैसे बनिज उबरिहैं॥३॥
सुत कलत्र धनधाम स्वजन तन, बाहन शांति न करिहैं।
आनँदसिंधु पतितपावन प्रभु, कृपा बिना नित डरिहैं॥४॥
यह संसार असार अमङ्गल, रति सुख सार समुझिहैं।
ते न सुखी होवैं दुख पावैं, पुनि पुनि जनमें मरिहैं॥५॥

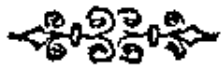

वेद-स्तुति (१२)

(१३१)

भुवि पुरुपुण्यतीर्थ सदनान्पृपयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुपसारहरावसथान् ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

धन्य धन्य ते पुरुष मोह मद रहित सरल चित ।
अरुन बरन तव चरनकमल हियमें धारहिँ नित ॥
तिनि पादोदक पापपुञ्जकूँ देहिँ गलाई ।
तीर्थरूप ते सन्त अवनि पै फिरहिँ सदाई ॥
सुख स्वरूप प्रभु चरनमें, लग्यो सकृत जिनि जननि चित ।
धीरज विरति विराग हर, घरतें होवै ते विरत ॥

यह जीव तभी तक जगत् में भटकता रहता है जब तक इसे

---

* भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"हे भगवन्! मद से रहित वे ऋषिगण भूतल पर परम पुण्यमय तीर्थ स्वरूप हैं जिन्होंने

सच्चे सुख का तनिक भी भान नहीं मिलता। उस परमोत्कृष्ट सुख का आभासमात्र मिलने पर फिर संसार का कोई भी पदार्थ उसे भाता नहीं। शास्त्रकारों ने गृहस्थाश्रम की इतनी प्रशंसा की है वह इसलिये कि इसमें पंचयज्ञ होते हैं, दान, धर्म व्रत करने को मिलता है अतिथि सेवा होती है। यदि ये सब न हो तो गृहस्थियों का घर क्या है नरक, वधशाला है। जिसमें निरंतर राग-द्वेष, काम, क्रोध मदमत्सर उन्हें कष्ट देता रहता है। इसलिए गृहस्थियों को गृहमेधी कहा है। जैसे अश्वमेध, गोमेध, नरमेधादि होते हैं जिन में पशुओं की बलि दी जाती है वैसे ही घर में पुरुषों के सद्गुणों की बलि दी जाती है। घर में जब अन्न न हो, बच्चे भूख से तड़फड़ाते हो, स्त्री भूख से रोती हो अपने उदर की ज्वाला विकल बना रही हो तब कोई विरला ही होगा जो सत्य धर्म पर अड़ा रहेगा, नहीं तो बड़े से बड़े लोगों का साहस कम हो जाता है, उनका मन विचलित बन जाता है और वे परिवार पालन तथा क्षुधा की निवृत्ति के लिये बड़े से बड़ा पाप करने को उद्यत हो जाते हैं। ऐसे घरों में और उनमें रहने वाले राग-द्वेष युक्त परिजनों में रह कर साधक कैसे जप, तप, अनुष्टान तथा अन्यान्य साधन कर सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! जिन्हें भाग्य वश कैसे भी आपके चरणारविन्द मकरन्द का एकबार स्वाद मिल गया है, किसी आप

आपके चरणारविन्दों को अपने हृदय में धारण कर रखा है, उनका चरणोदक पापों को नाश करने वाला होता है जिनका मन एक बार भी आपके पादपद्मों में लग गया है वे पुरुषों के सार को हरनेवाले गृहस्थाश्रम की फिर उपासना नहीं करते।"

के आश्रित भक्त ने जिस पर एकबार भी कृपा की दृष्टि डाल दी है वह फिर गृहस्थी में रह कर नित्य नये पापों को बटोरता रहे यह हो नहीं सकता। आपके भक्त तो परोपकारी होते हैं, आपका भजन करने से वे आपके ही स्वरूप हो जाते हैं।

संसार में जिन पर भगवन्! चार पैसे हो जाते हैं वे मारे अभिमान के अन्य किसी को कुछ समझते ही नहीं। वे सदा मदमें भरे अकड़ते रहते हैं इठला कर चलते हैं। किसी पर धन अधिक हो गया, किसी पर विद्या आ गयी, किसी को रूप अधिक मिल गया, किसी पर सुन्दर सुत कलत्र संयोगवश हो गये तो ये सब मद-माते बन जाते हैं, अपने सम्मुख सभी को तुच्छ समझते हैं, किन्तु भक्त वत्सल! जो आपके भक्त हैं, जिनका चित्त आपमें अनुरक्त है, वे धनमद, जनमद, विद्यामद तथा ऐश्वर्यादि मदों से रहित बन जाते हैं। उन्हें कोई भी मद अपने पथ से डिगा नहीं सकता। उनके हृदय में लक्ष्मी जी के आश्रय, कमल से भी अधिक कोमल अरुणवरण के आपके चरणारविन्द सदा विराजमान रहते हैं। वे उन पुनीत पादपद्मों को निर्धन के परमधन के सदृश सदा धारण किये रहते हैं। जब उनके हृदय में अगणित पाप पुंजों का नाश करने वाले आपके पाद पद्म अवस्थित हैं, तब उनकी समस्त चेष्टायें दिव्य हो जाती हैं, उनके संसर्ग में आने वाले प्राणी पावन बन जाते हैं, उनके शरीर से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुएं दिव्य हो जाती हैं। उनका चरणोदक पाप पुंजों को ढहाने में इन्द्र के वज्र का काम देता है। आपके भक्तों का चरणोदक सभी पापों को नाश करने में सदा सर्वदा समर्थ रहता है। वे भक्त साकार देव हैं, आपके स्वरूप ही हैं, पृथिवी के पुण्यतम श्रेष्ठातिश्रेष्ठ तीर्थ ही हैं।

स्वामिन्! ऐसे संतों की अनुग्रह से जिनका चित्त एकबार भी आप नित्य सुखस्वरूप परमानन्द रूप आप में लग गया तो फिर क्या वे घर में रह सकते हैं? क्या विषय सुख में अपना समय व्यतीत कर सकते हैं? नहीं कदापि नहीं। हे गुणालय! घर में रह कर पुरुष बन्दी बन जाता है, अपनी सीमा में ही रह कर उसे सब काम करने पड़ते हैं विवेक वहाँ रहता नहीं। वैराग्य छोड़ कर सदा के लिये चला जाता है। धैर्य साथ छोड़ देता है। उसका स्थान अधैर्य धारण कर लेता है। पग पग पर अधीरता का सामना करना पड़ता है। क्षमा रहती ही नहीं। इच्छा होती है जो हमारा अपकारी है, हमसे द्वेष करता है, उसे दाढ़ों के नीचे दबा कर पीस दें। अपकारी के साथ अपकार करनेकी भावना घर कर लेती है। स्वेच्छा से किसी को भी क्षमा करने की इच्छा नहीं होती। शान्ति तो सदा सर्वदा के लिये विदा हो जाती है। पल-पल पर अशान्ति, मन की इच्छित वस्तु न मिली तो महान अशांति, मिल गयी तो उससे भी अधिक प्राप्त करने की अशांति सारांश यह है कि घर में नाममात्र की भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। ऐसे सद्गुणों को नाश करने वाले घर में आपके भक्त कैसे आसक्त रह सकते हैं। वे घर बार कुटुम्ब परिवार की आसक्ति को सब प्रकार से त्यागकर एक आप में ही मन को लगाते हैं। वे ऐसे पुरुषसारहर घर में फँसे कैसे रह सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार स्तुति करके पहिले यूथ के चले जाने पर श्रुतियों का अन्य यूथ भगवान् की स्तुति करने आगे बढ़ा। उस यूथ को समस्त श्रुतियाँ स्तुति करती हुई कहने लगीं—"भगवन्! कुछ लोग कहते हैं—"जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उसी के स्वभाव का होता है, उसी के गुणवाला होता है। जैसे सुवर्ण से उत्पन्न कटक कुण्डल आदि सुवर्ण रूप

ही होते हैं। मृत्तिका से उत्पन्न घड़ा, सकोरा, नाद आदि मृत्तिकामय ही होते हैं, इससे सिद्ध कि सत् ब्रह्म से उत्पन्न यह प्रपंच भी सत् ही होगा। ब्रह्म की भाँति जगत् भी सत्य है, इसे मिथ्या नहीं होना चाहिये। सो भगवन्! यह मत ठीक नहीं। जैसे मिट्टी से घड़ा बना तो उसे सदा घड़ा ही बना रहना चाहिये। कनक से कुण्डल बना तो उसे सदा कुंडल ही बना रहना चाहिये। क्योंकि सद् का तो कभी नाश होता नहीं, किन्तु हम देखते हैं, आज मिट्टी है उसका घड़ा बना, कालान्तर में घड़ा नष्ट हो गया उसी मिट्टी से सकोरा बन गया फिर उसी मिट्टी से हँड़िया बन गयी, फिर नाद बन गयी। घड़ा, सकोरा, हँड़िया नाद आदि बनते बिगड़ते रहते हैं, किन्तु मिट्टी एकरस रहती है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि एक मिट्टी ही सत्य है, उससे बने घड़ा सकोरा आदि मिथ्या हैं। अच्छा फिर यह भी नहीं है कि एक वस्तु से उसी के गुण स्वभाव वाली वस्तु हो। जल से कमल उत्पन्न होता है, दोनों का भिन्न स्वभाव है। धर्मात्मा महाराज अङ्ग से महाखल महापापी बेन उत्पन्न हुआ। महापापी बेन के अङ्ग से भगवान् के अंशावतार आदिराजा महाराजा पृथु की उत्पत्ति हुई। समुद्र से विष भी उत्पन्न हुआ, अमृत भी उसी से उत्पन्न हुआ। देह चैतन्य है उससे दाँत, नख, केश इन जड़ वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। गोबर जड़ है उससे बिच्छू उत्पन्न हो जाते हैं, जड़ खम्भ से चैतन्य स्वरूप भगवान् नृसिंह उत्पन्न हो गये।

स्वामिन्! इस पर कुछ लोग कहते हैं कि हम निमित्त कारण न लेकर उपादान कारण ही लेते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मृत्तिका है, चाक, कुम्हार आदि निमित्त कारण है। कुम्हार ने जो घड़ा बनाया चाक से जो घड़ा बना वह कुम्हार और चाक से

भिन्न है और सत्य भी है। किन्तु उपादान के बिना निमित्त कुछ कर ही नहीं सकता। अन्य उपादान बनाकर कुछ करेगा भी तो वह बनावटी होगा। जैसे सुवर्णकार सोने को छोड़कर अन्य किसी वस्तु से कंकण कुंडल बना दे तो एक बार किसी को भ्रम भले ही हो जाय, कि यह सुवर्णके कुंडल हैं, किंतु ध्यानसे देखने से वह समझ जायगा ये तो सुवर्ण के नहीं हैं। जिस काल में जिसका सद्भाव प्रतीत हो और उसी काल में उसी स्थान पर वह अभाव प्रतीत हो जाय तो उसे मिथ्या कहते हैं, भ्रम कहते हैं। जैसे दूर से हमने किसी व्यक्ति को देखा यह देवदत्त है, तो उस आदमी के शरीर में देवदत्त का पूरा सद्भाव प्रकट हो गया। उसी काल में वहीं पर समीप जाकर हमने देखा, अरे यह देवदत्त नहीं कोई अन्य है तो देवदत्त का अभाव हो गया तो वह हमारा भ्रम था। असत्भ्रांति थी। दूर से रस्सी टेढ़ी मेढ़ी पड़ी है। उसमें हमें सर्प की प्रतीति हुई। प्रकाश लेकर उसी समय गये और उसी काल में उसी देश में, उसी रज्जु में हमें रज्जु का भान हो गया तो सर्प मिथ्या सिद्ध हुआ। दूर से सीपी में रजत की प्रतीति हुई पास जाकर देखा तो पता चला यह रजत नहीं सीपी है, तो उसमें रजत की प्रतीति मिथ्या है। इसी प्रकार भगवन्! यह उभय संयोग से उत्पन्न भी प्रपंच माना जाय तो भी इसमें यथार्थ सत्यता सिद्ध नहीं होती। फिर भी जगत् को सत्य मानकर समस्त लौकिक वैदिक कर्म किये जाते हैं। कुछ लोग जगत् को सत्य मानने का ही आग्रह करते हैं कोई कहते हैं। सत् असत् दोनों हैं, कोई

कहते हैं वेद तो कर्मों का ही प्रतिपादन करते हैं। वेदों में स्पष्ट लिखा है सोमयज्ञों में सोमपान करके हम अमर हो जायँगे। इस प्रकार प्रभो! आपकी जो यह वेदरूपा वाणी है, वह नाना भाँति से विषय का प्रतिपादन करके जो जड़ बुद्धि वाले जीव हैं उन्हें मोह में डाले हुए है। जो लोग आपकी भक्ति से शून्य हैं, आपके चरणारविन्दों में जिनकी अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं ऐसे भ्रमित लोगों को वेद का कुछ से कुछ ही अर्थ प्रतीत होता है। यह आपकी गुणमयी दैवी माया ही ऐसी प्रबल है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार स्तुति करके जब यह भी श्रुतियों का समूह थक गया और उसने मौन धारण कर लिया तब दूसरा यूथ स्तुति करने के लिये सम्मुख आया। अब भी उस यूथ को श्रुतियों ने जैसे परात्पर प्रभु की स्तुति की, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब इस परम रहस्य मय गूढ़ ज्ञान को दत्त चित्त होकर बड़ी सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

कोई जगकूँ कहें सत्य यह सत् तैं जायो।
कोई दे दे युक्ति सत्य तैं असत् बतायो॥
कोई माया ब्रह्म जीवकूँ सत्य बतावें।
कोई कहें विशिष्ट अपर कछु और जतावें॥
कोई कर्म प्रधान कहि, कहें कर्म ही सत्य है।
कैसे वेदवानी अमुर्व, का यह सत्य असत्य है॥

पद

भक्त ही जग में धन्य कहावें ।
त्यागि मान मद मोह सदाई हरिकूँ हिये बिठावें ॥१॥
पादोदक दै पाप नसावें, तीर्थ रूप कहलावें ।
भूले भटके शरन आइँ जे तिनिकूँ गैल बतावें ॥२॥
जिनि चितचोर चरन चित लाग्यो ते जग सुखनि भुलावें ।
पुरुषसारहर घरमें कबहूँ मनकूँ नहिं अटकावें ॥३॥
कोई जगकूँ सत्य बतावें जुगतिनि तें समुझावें ।
कोई ब्रह्म सत्य जग मिथ्या की नित रटन लगावें ॥४॥
कोई कर्महि सार जतावें, वेदनि कर्म बतावें ।
जानि जथारथ वेद अर्थ नहिं, जड़मति भ्रमें भ्रमावें ॥५॥

वेद-स्तुति (१३)

(१३२)

न यदिदमग्र आसन भविष्यदतो निधना-
तदनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजाति विकल्पपथै-
र्वितथमनो विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

जगत् सृष्टि तैं पूर्व रह्यो नहिँ सब जग जानें ।
प्रलय अनंतर नहीं रहै निगमागम मानें ॥
आदि अंत जो नहीं मध्य फिरि होवै कैसे ।
मिट्टी तैं घट कहें कनकतैं कुंडल जैसे ॥
मनोविलास समान जग, भ्रमवश भासित होत यह ।
सुधी न सत् समुझैं कबहुँ, अबुध कहें जग सत्य जिह ॥

ज्ञानी और अज्ञानी जब तक संसार में रहेंगे संसारी सभी काम समान भाव से ही करेंगे । अन्तर इतना ही है, कि अज्ञानी इन सभी दृष्य पदार्थों को सत्य मानकर उनकी प्राप्ति अप्राप्ति में

---

१ भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—यह दृश्य जगत् सृष्टि से पूर्व नहीं था और न सृष्टि के अनंतर ही रहेगा । जो वस्तु आदि

सुखी दुखी होता है। इन्हें अधिकाधिक मात्रा में संग्रह करना चाहता है। इनके नष्ट होने पर अपने आप को भी नष्ट हुआ अनुभव करता है। ज्ञानी इन सब पदार्थों को मिथ्या मान कर इन में से किसी में भी आसक्त नहीं होता। सब को भगवान् का ही रूप समझ कर सदा मग्न बना रहता है।

सूतजी कह रहे है—"मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! जब यह दृश्य प्रपञ्च नहीं था, प्रकृति पुरुष के संयोग से रची यह सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब इस जगत् का अस्तित्व नहीं था। जब यह सृष्टि अपने अपने कारणों में विलीन हो जायगी, भगवान् रुद्रदेव अपने तृतीय नेत्र से चराचर का संहार कर देंगे, उस समय प्रलय के अनन्तर भी यह जगत् नहीं रहेगा। जो वस्तु आदि में नहीं है, अन्त में भी जो नहीं रहती, वह भला मध्य में कैसे हो सकती है, इसीलिये ऋषियों ने वेदों में इसका द्रव्य जाति और विकल्प की समानता से निरूपण किया है। जैसे पृथ्वी द्रव्य है। उसका एक गोल मोल आकार बन गया उसे लोग घड़ा कहने लगे। उस घड़े की आकृति से पूर्व घड़ा नहीं था, मिट्टी ही थी। घड़ा फूट जायगा तब भी घड़ा नहीं रहेगा मिट्टी ही रहेगी। जब आदि में भी मिट्टी अन्त में भी मिट्टी तब बीच में जो मिथ्या कार्य घड़ा भासता है, वह भी वास्तव में कुछ नहीं है, वह भी केवल मिट्टी ही मिट्टी है। कुंडल बनने के पूर्व भी सोना ही था। जब कुंडल को गला दिया

अंत में नहीं होती, वह मध्य में भी नहीं हो सकती। अतः यह जगत आप एकरस परब्रह्ममें मिथ्या ही भास रहा है। इसी कारण द्रव्य जाति और उसके विकल्प के रूप में इसका वेदों में वर्णन किया है। यह मनोविलास मात्र है, अबुध ही इसे सत्य बताते हैं, ज्ञानी नहीं।

उसका रूपान्तर कर दिया, फिर भी सोना का सोना ही रह गया तो बीच में जिसे कुंडल कहने लगे थे,वह कुंडल मिथ्या है। वास्तव में वह बीच में भी सोना ही है। कुंडल में सुवर्ण के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं। सत्य सुवर्ण में असत्य कुंडल का आभासमात्र होने लगा है, सो भी अन्धपरम्परा से भ्रमवश। इसी प्रकार सत्य तो आप ही परात्पर प्रभु हैं। आप में कभी क्षय नहीं, वृद्धि नहीं, आप सदा सर्वदा सर्वकाल में एकरस रहते हैं। आप एकरस सत्यस्वरूप परब्रह्म में इस जगत् की मिथ्या प्रतीति हो रही है। जैसे घड़े में देखा जाय कि मृत्तिका के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, उसी प्रकार इस जगत् के अणु परमाणु को ध्यान से वैशारदी बुद्धि द्वारा निहारा जाय, तो इसमें आप के अतिरिक्त जगत् नाम की कोई वस्तु ही न मिलेगी।

स्वामिन्! इस पर कोई कोई आचार्य कहते हैं जगत् तो है ही। प्रलय के अनन्तर उसका अदर्शन हो जाता है। जैसे कोई दीपक है उसे किसी वस्तु से ढक दिया वह दीखता नहीं उसका लोप हो गया। इससे उसका न होना तो सिद्ध नहीं हुआ। जब तक नहीं दीखता तब तक उसका लोप है, जब प्रकट हो गया तो दिखाई देने लगा। अभाव तो उसे कहते हैं जो कभी देखे ही नहीं। गधे के सींग कभी नहीं होते। आकाश में पुष्प कभी नहीं खिलते, वन्ध्या का पुत्र कभी नहीं होता, काष्ठ की गौ कभी दूध नहीं देती। इन वस्तुओं को सुनने से सहसा अस्तित्व प्रतीत होता है किन्तु ध्यानपूर्वक देखा, जाय तो ये

वस्तुयें न कभी पैदा हुई हैं न कभी दिखाई ही देती हैं, फिर इनके नाश होने का प्रश्न ही नहीं। इसी प्रकार यह जगत् न कभी हुआ, न है, न कभी होगा। केवल श्रवण ही मात्र है। कोई कहते हैं नहीं यह जगत् मिथ्या नहीं सत्य ही है, नित्य ही है। इस प्रकार इस मनोविलास रूप जगत् के विषय में अनेक लोग अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं। ये सभी कल्पनायें अविवेक से ही होती हैं। अबुध जन ही इसके विषयमें इद मित्थं कह कर झगड़ते हैं। वास्तव में एक मात्र सत्यस्वरूप एकरस तो आप ही सच्चिदानन्द हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसके अनन्तर अन्य श्रुतियों का समूह भगवान् की स्तुति करने लगा। श्रुतियाँ भगवान् की स्तुति करती हुई कहती हैं—"स्वामिन ! यह जीव जब आप की गुणमयी मोहिनी माया से ममता वश मोहित होता है, तब यह आपका आश्रय तो छोड़ देता है, इसे आश्रय देती है माया की बहिन अविद्या। अविद्या का आश्रय लेते ही इसके आनन्दादि समस्त गुण ढक जाते हैं। फिर माया के जो कार्य हैं देह इन्द्रियों का सेवन उसे करता है, नाना ऊँच नीच शरीरों को धारण करता है। कभी देवता बन जाता है। कभी मनुष्य हो जाता है कभी, कीट पतंग पशु पक्षी तथा वृक्षादि देह धारण करके इधर से उधर भ्रमण करता रहता है। संसार के विषयों का सेवन करता है, तद्रूप धारण करता है। जिस योनि में जाता है, उसी में अपने को वैसा ही अनुभव करने लगता है। वह देह को ही सब कुछ समझता है, देह में ही उसकी अहंता ममता हो जाती है। देह को ही आत्मा समझने लगता है। समस्त देह नाशवान् है अतः देह संसर्ग से मृत्यु को प्राप्त होता है। जो मरता है उसका जन्म होता है, इस न्याय से फिर जन्म

लेता है । जन्म लेने वाले की मृत्यु अवश्यम्भावी है, इसलिये जन्म लेकर फिर मरता है। फिर जन्म लेता है। इस भाँति वह चौरासी के चक्कर में घूमता रहता है। इस अजन्मा की जो ऐश्वर्यादि स्वाभाविक ज्ञान शक्ति थी, वह नष्ट हो जाती है कर्म फल रूपी फल चखने से यह जन्ममरण के चक्कर में फँस जाता है,किंतु आप तो भगवन्! मायाके समीप रहते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते, उससे सदा निर्लेप ही बने रहते हैं। जीव के साथ एक ही वृक्ष पर बैठे रहने पर भी आप उसके फलों का भक्षण नहीं करते। उनसे उदासीन ही बने रहते हैं। जैसे सर्प अपनी केंचुली को छोड़कर उससे सर्वथा उदासीन हो जाता है उसी प्रकार आप नित्य प्राप्त परम ऐश्वर्य में स्थित रहकर माया से निर्लिप्त ही बने रहते हैं। आप ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य वीर्य, तेज रूप जो नित्य ऐश्वर्य हैं, उनको नित्य स्वीकार करके अपने सच्चिदानंद स्वरूप में स्थित रहते हैं तथा अष्ट विभूति युक्त महिमा में नित्य निरन्तर अवस्थित रहते हैं । आपको पाप स्पर्श नहीं कर सकते। जरा आपके समीप फटकने नहीं पाती, मृत्यु आपको देखकर थर-थर काँपती है, वह आपकी ओर आँख उठाकर देखने की कल्पना भी नहीं कर सकती। शोक आपकी परछाईं का भी स्पर्श नहीं कर सकता । आपको फल खाने की इच्छा तक नहीं होती। जो नित्य तृप्त है उसे कुछ खाने की अभिलाषा ही क्यों होने लगी। आप सदा आनंदरस पान करके आनंद स्वरूप बने रहते हैं, इससे अन्य किसी भी पानीय पदार्थ के पीने की वांछा आप को नहीं होती। आपकी समस्त कामनायें सत्य ही होती हैं, असत्य की तो वहाँ तक पहुँच ही नहीं। इसीलिये आप सत्य काम कहलाते हैं । आपके समस्त संकल्प सत्य होते हैं, संकल्प होते ही वह उसी क्षण सम्पन्न हो जाता है, अतः

आप सत्य संकल्प कहे जाते हैं। गुण षडैश्वर्य, अष्टगुण तथा अष्टविभूति सम्पन्न स्वतः प्रकाशमान होकर सबके द्वारा पूजित होते हैं, आपके लिये न कुछ बन्ध है न मोक्ष और नित्य निर्द्वंद्व निरीह निरामय हैं। आप सर्वात्मा सर्वाधार निखिलगुण गणार्णव के पादपद्मों में कोटिशः प्रणाम है।

छप्पय

माया मोहित जीव अविद्या आश्रय लेवै।
सद्गुन होहिं विलीन देह मन इन्द्रिय सेवै॥
नाना योनिनि भ्रमै ऊँच अरु नीच कहावै।
पुनि पुनि होवै जन्म मरन दुख सतत उठावै॥
आयु अखिल ऐश्वर्य युत, अष्ट भूति महिमा भजैं।
स्वतः प्रकाश स्वरूप अहि, कैंचुल बत माया तजैं॥

पद

जगतकूँ मूरख सत्य बतावैं।
आदि अंत जो नहिं होवे सो, बीच कहाँतें आवैं॥१॥
कुंडल कनक मृत्तिका घट वत, कहि कहि बुध समुझावैं।
मनोबिलास समान स्वकल्पित, समुझैं भ्रम नसि जावैं॥२॥
परवश जीव अविद्या आश्रय, बहु योनिनि भरमावैं।
जनमें मरें बहुत दुख झेलैं, माया अंत न पावैं॥३॥
आपु अनंत अखिल ऐश्वरयुत, माया दूरि भगावैं।
अष्ट विभूति युक्त महिमा प्रभु, रहि के सुख सरसावैं॥४॥

वेद-स्तुति (१४)

(१३३)

यदि न सुमुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदिगतोऽस्मृतकण्ठमणिः।
असुतृप योगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्
ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥१

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

जब तक बनि परिव्राज काम हियतैं न हटावैं।
तब तक उरगत माल सरिस तुमकूँ नहिँ पावैं॥
प्राननि कूँ जे पोसि पालि निज देह बढ़ावैं।
उभय लोक में अबुध सतत ते दुःख उठावैं॥
जायँ काल के गाल में, दुखी रहैं इहलोक में।
अनधिरूढ़ पद भये तें, दुःख सहैं परलोक में॥

भगवान् कुछ दूर नहीं, उन्हें पाने के लिये भी किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता नहीं। जैसे आवश्यकता से अधिक खाने से मिथ्या आहार विहार से ज्वर आ गया। अस्वस्थ हो गये,

---

१ भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"भगवन्! जैसे किसी के कण्ठ में ही मणि पड़ी हुई है, किन्तु वह उसे भूल गया है, तो

तो स्वस्थता कहीं बाहर से लानी न पड़ेगी। ज्वर भी कहीं बाहर से नहीं आया, भीतर का मल ही आमाशय में आकर विकृत हो गया, उसी से शरीर अस्वस्थ हो गया। आप मल को युक्ति से बाहर निकाल फेंकिये। दोष पचे नहीं तब तक भोजन न कीजिये। जठराग्नि दोषों को पचा डालेगी, दोषों के पचते ही नाश होते ही तुम स्वस्थ हो जाओगे। भूख लगेगी गहरी नींद आवेगी यही तो स्वास्थ के लक्षण हैं। तुम चाहो बिना दोषों के निकाले, उन्हें पेट में ही भरे रहें और फिर स्वास्थ्य लाभ कर सकें तो यह असंभव है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रहीहैं—"भगवन्! इन विषयोंकेभोगकी छिपी हुई वासना ही जीव को भव बन्धन में डालती है। वासना के वशीभूत हो कर जीव चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाता रहता है। जीव का परम पुरुषार्थ इतना ही है कि इस वासना के बीज को समूल उखाड़ कर फेंक दे। यदि यत्नशील योगयुक्त बनकर सावधानी के साथ इस विषय वासना रूप विषवृक्ष का मूलोच्छेदन नहीं करता, तो इसका भव बन्धन नहीं कट सकता। आप के पद की प्राप्ति इसे नहीं हो सकती। आप कहीं दूर हों सोभी बात नहीं। आप समस्त चराचर प्राणधारियों के हृदय प्रदेश में अत्यंत ही निकट समीप से भी समीप विराजमान हैं, किन्तु सींक की

जब तक उसे स्मृति न हो-ज्ञान हो-तब तक वह दुखी ही रहेगा, उसे प्राप्त न होगी। उसी प्रकार यत्नशील योगी न बन कर निज हृदयस्थ काम की मूल वासना को जो दूर नहीं करते, उन असत पुरुषों को आपकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। उन प्राणपोषक कुयोगियों को लोक परलोक दोनों ही स्थानों में दुःख प्राप्त होता है। इस लोक में तो मृत्यु से परलोक में अस्वरूप विद् होने से आप से।

ओट पहाड़ है। विषय वासना रूप अंधकार के कारण आप दिखायी नहीं देते। माया के परदे के कारण आप अति सन्निकट होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होते। जैसे किसी के कंठ में मणियों की माला पड़ी है। भ्रमवश या मदोन्मत्त होने के कारण वह कंठगत माला को भूल गया। अब वह सोचता है मेरी मणिमाला कहाँ चली गयी। वह स्वयं अपने कण्ठ में सिर झुका कर तो देखता नहीं। अपने आपमें ही तो अन्वेषण करता नहीं बाहर इधर उधर विह्वल बना माला की खोज करता हुआ भटकता रहता है। यदि उसे विवेक हो या कोई विवेकी आकर हाथ में लेकर कंठ में पड़ी माला को दिखा दे, तब उसे बोध होगा, "अरे, मैं व्यर्थ इधर उधर बाहर भटकता फिरा। मणि तो मेरे ही कंठ में पड़ी है। हृदय प्रदेश में विराज मान है। "किन्तु जो प्रयत्नशील नहीं हैं अथवा प्रयत्न भी करते हैं तो माया को बढ़ाने के लिये। लोगों को उपदेश तो देंगे त्याग वैराग्य का, उनकी वक्तृता को सुन कर साधारण भोले भाले लोग तो उन्हें महान त्यागी विरागी समझेंगे, किन्तु उनकी वक्तृता का, उनके संगठन का एक मात्र उद्देश्य है अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना, पैसा बटोरना, भोले भाले लोगों को बहका कर उनसे विषयोपभोग की सामग्री को एकत्रित करना। ऐसे कुयोगियों के भी हृदय में आप सुखस्वरूप विराजमान तो हैं, किन्तु उन्हें आप परमानंद स्वरूप प्रभु के अस्तित्व से सुख नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत इस लोक में तथा परलोक में दुःख ही दुःख प्राप्त होता है।

इस लोक में तो उन्हें सदा दुर्निवार काल का भय बना रहता है। सदा मृत्यु की आशङ्का घेरे रहती है। इस मृत्यु रूपी सर्पिणी से बचने के ही लिये दिन रात्रि प्रयत्न करता रहता है। चिकित्सकों के पास जाता है कि मेरे रोगों को निकाल दो, जिससे रोग ग्रस्त होकर मैं मर न जाऊँ। ज्योतिषी, ओझाओं के पास जाता है, देखो मेरा मारकयोग तो नहीं। कोई ग्रह तो अत्यंत दुखदायी नहीं। कुछ ग्रहों की शांति कर दो। गंडा तावीज झाड़ फूंक कर दो, जिससे मृत्यु मुझे न धर दबावे। खाता है तो मृत्यु से बचने के लिये पीता है, तो सदा जीने के लिये। जहाँ मृत्यु की आशंका होती है वहाँ जाता नहीं। इस प्रकार उसे आठों प्रहर इस लोक में मृत्यु की ही शंका बनी रहती है। सदा सभी कामों में सावधानी बरतता है। कितनी भी सावधानी बरते एक दिन मृत्यु तो आ ही जाती है। जिसकी शंका से जीवन भर चिंतित दुखी और विह्वल बना रहा। जहाँ चिन्ता है वहाँ सुख कहाँ, इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन को दुखमय बिताता है। प्रतिक्षण चौकन्ना रहता है, फिर भी एक दिन मृत्यु आ ही जाती है। उसकी इच्छा न रहने पर भी उसे धर दबाती है। उसकी इहलौकिक लीला समाप्त कर देती है। अब वह परलोकवासी बन जाता है। इस लोक में यदि मृत्यु को भय देने वाले आप अजरामर का चिंतन ध्यान किया होता, तो वह मृत्यु के सिर पर पैर रख कर आपके परमानन्द स्वरूप सुखधाम को प्राप्त हो जाता, वह सब तो इसने किया नहीं। परलोक में भी इसे आपके यम स्वरूप का सामना

करना पड़ता है। इससे मर्त्यलोक में किये कर्मों का लेखा माँगा जाता है। पाप पुण्यों का ब्योरा बताया जाता है, वहाँ भी इसे दुःख ही उठाना पड़ता है। यदि इसने पाप किये हैं, तो नरक की भयंकर यातनायें भोगनी पड़ती हैं। यदि पुण्य किये हैं तो स्वर्ग में सातिशय दोषों के कारण पतन की चिन्ता से चिन्तित होकर दुखी बना रहता है। सारांश यह है कि इसे न इस लोक में सुख होता है न परलोक में। स्वरूप ज्ञान न होने से यह जहाँ जहाँ भी जाता है, वहाँ वहाँ ही इसे दुःखों का चिन्ताओं का, सामना करना पड़ता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार जब स्तुति करके श्रुतियों का यह समूह निवृत्त हो गया, तो अन्य श्रुतियाँ आकर भगवान् की स्तुति करने लगीं। स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"प्रभो! जो कुयोगी नहीं हैं यथार्थ योगी हैं। नाम मात्र के लिङ्गधारी सन्यासी नहीं हैं,यथार्थ त्यागी विरागी हैं,जिनकी समस्त चेष्टायें आप षडैश्वर्य सम्पन्न सर्वात्मा की प्राप्ति के ही निमित्त हैं वे आपके स्वरूप से परिचित पुरुष आप कर्म फलदाता ईश्वर से उत्पन्न न पुण्य के फल को भोगता है न पाप के। वह तो पुण्य पाप कुछ करता ही नहीं। वह तो एकमात्र निरहङ्कार होकर आपकी ही सेवा में संलग्न रहता है। वह जो भी कर्म करता है तुरन्त आपको अर्पण कर देता है। जिसे जो वस्तु अर्पित की जाती है उसका फल भोक्ता अर्पित वस्तु को ग्रहण करनेवाला ही होता है। क्योंकि उसके लिए न कुछ विहित है न अविहित। न कुछ विधि

है न निषेध। वह तो एक ही काम करता है। सनातन परम्परा से चली आई हुई जो आपकी श्रुतमधुर कथायें हैं उन्हें निरन्तर सुनता रहता है। उन ललित कथाओं से अपने श्रवणपुटों को भरता रहता है। जो निरन्तर कानों से आपकी ही कथा सुनेगा, उसका अन्तःकरण निर्मल पवित्र हो जायगा। आप उसके कर्ण-रन्ध्रोंके द्वारा घुसकर उसके हृदयमें प्रवेशकर जायँगे। उसके हृदयके अन्धकार को दूर करके प्रकाशित कर देंगे, फिर मृत्यु उसकी ओर आँख उठाकर देख भी न सकेगी। चिन्ता उसके पास फटकने न आवेगी। जब तक इस लोक में रहेगा निर्द्वन्द होकर आपकी कथा सुधा का उल्लास और आनन्द के साथ पान करता रहेगा। उसके सुख का अनुभव करके परमानन्द में निमग्न रहेगा। जब इस पाँच भौतिक शरीर को छोड़ देगा तो अपवर्ग सुख का आस्वादन करेगा, आपके दिव्यानन्द लोक में मोक्ष सुख की अनुभूति करेगा। क्योंकि उसकी एकमात्र गति तो आप ही मोक्षके अधिपति हैं। वह आपके अतिरिक्त किसीको मानता ही नहीं। मानता ही नहीं जानता ही नहीं। आपका यन्त्र बनकर वह रहता है, आप उसे जैसे घुमाते हैं वैसे घूमता है, आप जैसे चलाते हैं चलता है, आप जहाँ बिठाते हैं वहाँ बैठता है। उसकी गति मति सब आपही हैं। जिस प्रकार कुयोगी इस लोक परलोक दोनों लोकों में दुःख ही दुःख उठाते हैं, उसी प्रकार यथार्थ योगी इस लोग में और परलोक में भी निरतिशय सुख ही सुख उठाते हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार स्तुति करके श्रुतियाँ विराम को प्राप्त हो गयीं। इसके अनन्तर जैसे श्रुतियों का अन्तिम यूथ आया उन्होंने जैसे भगवान् की स्तुति की, उस कथा प्रसंग को मैं आपको सुनाऊँगा। आप सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

जे हैं साँचे भक्त सुयोगी यति विज्ञानी।
विधि निषेध तें रहित करम फल नहिँ अभिमानी॥
अहङ्कार कूँ त्यागि करें नित तुमरी पूजा।
सब में प्रभु को रूप लखें समुझे नहिँ दूजा॥
ललित कथा तुमरी सतत, सुनें श्रवनपुट नित भरें।
कथा सुधा अरु मोक्ष गति, उभयलोक सुखमय करें॥

पद

कुयोगी उभयलोक दुख पावैं।
दुःख स्वरूपा काम वासना, हियतें नहीं भगावैं॥ १॥
हो समीप हिय माहिँ विराजो, भ्रमवश इत उत धावैं।
जैसे परी कंठ में माला, खोजन बाहर जावैं॥ २॥
मर्त्यलोक में डरैं मृत्यु तैं, चिंतित आयु गँवावैं।
मरि कें यमकी सहैं यातना, दोऊ लोक नसावैं॥ ३॥
तुम्हरे भक्त योगयुत ह्वैकें, सुख दुख नहिं लपटावैं।
विधि निषेध तैं रहित सदाई, पुन्य पाप नसि जावैं॥ ४॥
कथा सुनैं जब तक जग जीवैं, परमानँद पद पावैं।
देह त्यागि प्रभु लोक पधारें, चरन शरन जे आवैं॥ ५॥

——::०::——

वेद स्तुति (१४)

(१३४)

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ ❀

(श्रीभा० १० स्क० ८७ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

स्वरगअधिप अज इन्द्र देव तव पार न पावैं ।
औरनि की का कथा स्वयं चाहें नहिं गावैं ॥
ज्यौं रजकन आकाश माहिं उड़ि वायु संगतैं ।
त्यौं अगनित ब्रह्माण्ड भ्रमैं तव प्रगटि अंग तैं ॥
थूल सूक्ष्म जग वस्तु को, करि निषेध श्रुति जिहि कहें ।
नेति नेति कहि अंत में, होहिं सफल प्रभु पद लहें ॥

जो अनन्त है जिसका कहीं अन्त ही नहीं । उसके लिये यह कैसे कहा जा सकता है, कि वह इतने ही तक है । उसका ऐसा ही स्वरूप हो सकता है । वह निर्गुण है; कभी सगुण हो ही नहीं सकता । उसमें इतने ही गुण हैं, इन गुणों के अतिरिक्त उसमें

❀ भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कह रही हैं—"भगवन् ! आप अनन्त हैं अतः इन्द्रादि देव भी आपका अन्त नहीं जानते । अन्यों की

अन्य गुण नहीं। उसकी ये ही विभूति हैं, वह इतने ही अवतार धारण करता है। ऐसा कहकर उसकी अनन्तता का खंडन किया जाता है। भवन के भीतर जितना आकाश है उतना ही आकाश है या एक घड़े के भीतर जितनी वायु है उतनी ही वायु है, यह कहना जिस प्रकार मिथ्या है उसी प्रकार भगवान् के सम्बन्ध में यह कहना कि वे ऐसे ही हैं, इतने ही हैं, यही कर सकते हैं, उनको सर्वव्यापक से हटाकर परिछिन्न करना है। भगवान् की महिमा की उनके ऐश्वर्य माधुर्यादि की कोई सीमा नहीं। वे इतने अनन्त हैं कि स्वयं भी वे अपना आदि अन्त नहीं जानते। आदि अन्त हो तब तो जानें, वे तो अनादि, अनन्त, अपरिछिन्न तथा अप्रमेय हैं। श्रुतियाँ भी उनको अन्वय व्यतिरेक से ही बताती हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब पहिली श्रुतियाँ स्तुतिकरके विराम को प्राप्त हुईं, तब अन्य श्रुतियाँ आकर भगवान् की स्तुति करने लगीं। श्रुतियाँ भगवान् की स्तुति करती हुई कह रही हैं—"भगवन्! आप अनन्त हैं, अतः तीनों लोकों के अधिपति स्वर्गाधिप अमरेश इन्द्र भी आपका अन्त नहीं पा सकते। इन्द्र को छोड़ दीजिये इस निखिल ब्रह्माण्ड के अधिपति, चतुर्दश भुवनों के अधीश्वर कमलासन भगवान् ब्रह्मा भी आपकी महिमा का पार नहीं पा सकते। त्रिपुरारी भगवान् रुद्र भी आपके सम्बन्ध में यह नहीं कह सकते कि आप ऐसे ही हैं, इतने ही हैं। इतने भारी भारी

बात क्या? आप स्वयं भी अपना अन्त नहीं जानते। जैसे आकाशमें वायु के द्वारा असंख्य रजकण उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार कालचक्र के द्वारा अनन्त वरणों के सहित निखिल ब्रह्माण्ड समूह आपमें साथ ही घूमते रहते हैं। और श्रुतियाँ भी अनात्म पदार्थों को नहीं कहकर अन्त में आपमें ही पर्यवसित होती हैं। यही उनकी सफलता है।

देवगण, भुवनेश्वर तथा लोकपाल भी जब आपका पार नहीं पा सकते, तब ये बापुरे अल्पज्ञ मनुष्य तो आपकी महिमा का भला पार पा ही कैसे सकते हैं। आपके गुण अनन्त हैं, आपकी लीला अनंत हैं, आपकी महिमा अनन्त है तथा आपकी विभूति अनन्त हैं इसी लिये अन्यों की बात तो छोड़ दीजिये, स्वयं आप जो सर्वज्ञ; सर्वाधिकार, सर्वान्तर्यामी, सर्व समर्थ, सर्व व्यापक, सर्वेश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए भी अपनी महिमा का पार नहीं पा सकते। आपके स्वरूपकी बात तो छोड़दे आपकी विभूति ही इतनी अनन्त है कि उसी का पार पाना असम्भव है। इस पृथिवीमंडल का विस्तार भूगोलवेत्ताओं ने ५० करोड़ योजन बताया है। इससे दशगुणा जल का आवरण है, जल से दशगुणा तेज का आवरण है, इससे दशगुणा वायु का आवरण है, वायु से दशगुणा आकाश का आवरण है, आकाश से दशगुणा अहंतत्व का आवरण है और अहंतत्व से दशगुणा महत्तत्व का आवरण है। इस प्रकार इस सप्तावरण संयुक्त को ब्रह्माण्ड कहते हैं। ऐसे असंख्यों ब्रह्मांड आपके एक रोमकूप में उसी प्रकार फैल फूटकर विचरण करते रहते हैं, जैसे आकाश में असंख्यों रजकण असंख्यों पक्षी वायु की सहायता से उड़ते रहते हैं। उनमें परस्पर संघर्ष नहीं-लड़ाई नहीं-सभी स्वेच्छा से विचरण करते हैं। जब एक रोम कूप में असंख्य अनन्त ब्रह्माण्ड घूमते हैं,तो आप अनन्त के कितने रोमकूप होंगे, उनमें कितने अनन्त ब्रह्माण्ड निवास कर रहे होंगे, कोई कह सकता है ?

हे अनन्त विभूतियुक्त भगवन्! इसीलिये तो हम समस्त श्रुतियाँ आपके सम्बन्ध में सीधे स्पष्ट नहीं कहतीं। कहे भी तो कैसे कहें। पहिले हम पृथिवी को देखती हैं, तो कहती हैं आप यह नहीं हैं। पर्वत, वृक्ष, चर, अचर सभी पदार्थों को देखकर कहती

हैं, यह नहीं हैं। इस प्रकार जहाँ तक कह सकती हैं नेति नेति कहती हैं। जहाँ कथन नहीं बनता वहाँ मौन हो जातीं हैं। मौन हो जाना ही अन्त में निर्वचन है। हम सब आपमें ही पर्यवसान पानेवाली हैं। इसीलिये नेति नेति कहकर आपमें पर्यवसित हो जातीं हैं, यही हमारी सफलता है, यही हमारी कृतार्थता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार समस्त श्रुतियाँ सर्वेश्वर परमात्मा की स्तुति करके मौन हो गयीं। इधर देवर्षि नारद जी से बदरीवन में भगवान् नारायण कह रहे हैं—"सो, नारद जी इस प्रकार सनकादि महर्षियों ने ब्रह्मलोक में जो ज्ञान सत्र रचा था, उसमें आत्मतत्व रूप यह वेद स्तुति का सन्वाद हुआ था। उसमें सनक, सनदन, सनातन तथा अन्यान्य ऋषि महर्षि श्रोता थे, सनत्कुमार वक्ता के आसन पर बैठे थे। इस तत्वज्ञान के श्रवण के अनन्तर सनकादि महर्षियों ने वक्तारूप में कथन करनेवाले ज्ञानदाता अपने भाई सनत्कुमार का श्रद्धा भक्ति सहित पूजन किया, फिर वे इच्छापूर्वक विचरण करते हुए अन्य लोकों में चले गये।

भगवान् नारायण नारद जी से कह रहे हैं—"सो नारद जी! वेद पुराण और उपनिषदों का सारभूत यह वेदस्तुति का महान् ज्ञान उन चारों ब्रह्मकुमारों ने वेद शास्त्र रूपी समुद्र को मथकर नवनीत के रूप में इसे निकाला था। उन सनकादि महर्षियों को तो अज्ञान होना ही क्या था। वे तो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, माया का उन्होंने स्पर्श ही नहीं किया था। माया तो उनसे पीछे उत्पन्न हुई। वे सदा आकाश में विचरण करते हैं सदा पाँच ही वर्ष के बालक बने रहते हैं। लोक कल्याणार्थ ही उन्होंने यह ब्रह्मसत्र रचा था। सो देवर्षे ! तुम भी इस आत्मतत्व के उपदेश को धारण करो। ब्रह्मपुत्र ! जैसे तुम्हारे भाई सनकादि स्वच्छन्द

होकर सभी भुवनों में विचरण करते हैं, वैसे तुम भी समस्त मानव वासनाओं का नाश करनेवाले इस अद्भुत ज्ञान को प्राप्त करके जहाँ चाहो तहाँ प्रेमपूर्वक घूमो फिरो। इसके धारण करने से तुम्हें किसी प्रकार की न चिन्ता रहेगी, न शोक मोह ही।

श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—सो राजन्! जब भगवान् नर नारायण ने वीणापाणि देवर्षि नारद जी को इस प्रकार उपदेश दिया—वेदस्तुति सुनाई तो उसे सुनकर नारद जी परम प्रमुदित हुए उनके रोम रोम खिल उठे। उन्होंने बड़ी ही श्रद्धा भक्ति सहित इस तत्वज्ञान को धारण किया। नारद जी को धारण ही क्या करना था, वे तो स्वतः ही पूर्ण ज्ञानी थे। उन्हें कभी कोई कामना होती ही नहीं है भगवत् भजन के प्रभाव से वे आप्तकाम बन गये हैं। उनकी मेधाशक्ति धारणाशक्ति अद्भुत है विलक्षण है। अपने पिता ब्रह्मा जी से या भगवान् नारायण से जो भी श्रवण कर लेते हैं उसे तुरन्त धारण कर लेते हैं। वे विवाहादि के चक्कर में कभी पड़े ही नहीं। ये तो ऊर्ध्वरेता हैं, नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। भगवान से तत्व ज्ञान श्रवण करके नारद जी कृतार्थ हो गये। भगवान् के प्रति कैसे कृतज्ञता प्रकट करें, गुरुदक्षिणा रूप में उन्हें क्या अर्पण करें। भगवान् के देने योग्य वस्तु और है ही क्या। केवल कृतज्ञता भार से नत होकर उनके लिये श्रद्धा भक्ति से प्रणाम ही की जा सकती है। उसे ही गुरुदक्षिणा या जो भी कुछ समझें समझ लें। अतः भगवान् के पादपद्मों में प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हुए नारद जी बोले—"प्रभो! आपके अवतार का एकमात्र प्रयोजन यही है कि आप प्राणीमात्र का कल्याण चाहते हैं। आप इन संसारी बन्धनों में बँधे प्राणियों को मुक्तिमार्ग दिखाने के लिये उन्हें भवबन्धन से छुड़ाने के लिये, अपना सत्रूप दिखाने के लिये अपनी कलाओं

तथा अंशों के सहित अवनि पर अवतीर्ण होकर उन्हें ज्ञान की शिक्षा देते हैं। ऐसे आप पवित्रकीर्ति शरणागतवत्सल प्रभु के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम हैं। आप प्राणियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं इससे कृष्ण कहाते हैं, ऐसे आप नारायण रूप कृष्ण के चरण कमलों में बार बार नमस्कार है।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! इस प्रकार नारदजी भगवान् नारायण से ज्ञान प्राप्त करके भगवान् को प्रणाम करके चलने लगे। उन्हें नूतन स्फूर्ति प्राप्त हो गयी थी, गुह्य ज्ञान प्राप्त होने से उनके रोम रोम से उल्लास निकल रहा था। किसी को कोई बहुमूल्य अत्यंत सरस स्वादिष्ट वस्तु प्राप्त होती है, तो उसकी इच्छा होती है। इसे सर्वप्रथम अपने सुयोग्य शिष्य भक्त या पुत्र को दूँ। अपने अत्यंत प्यारे शिष्य को वस्तु देने में जितनी प्रसन्नता होती है उतनी स्वयं अपने उपभोग से नहीं होती। अतः नारद जी ने सोचा—मेरे प्रिय शिष्य वेदव्यास जी भी तो यहीं कहीं समीप की ही गुफा में रहते हैं। क्यों नहीं अभी चलकर इस हाल के प्राप्त टटका ज्ञान को उन्हें दूं। इतना सोचते ही नारद जी ने तुरन्त अपनी वीणा उठाई और लम्बे २ डग भरते हुए शीघ्रता से मेरे पिता भगवान् वेदव्यास जी के आश्रम पर पहुँच गये। भगवान् नारद को आते देखकर मेरे पिता भगवान् कृष्णद्वैपायन संभ्रम के साथ उठकर खड़े हो गये। आसन देकर नारद जी की विधिवत् पूजा की। नारद जी ने कहा—अरे भैया! व्यास! पूजा फूजा पीछे हो जायगी, लो मैं भगवान् नारायण से कैसा विलक्षण तत्व ज्ञान लेकर आया हूँ, इसे तुम धारण करो।

अपने ऊपर नारद जी की इतनी कृपा देखकर कृतज्ञता के भार से लज्जित और नत हुए मेरे पिता जी ने वह ज्ञान नारद जी

से श्रद्धा सहित धारण किया। फिर पिता जी से यह ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ। सो राजन्! आपने पूछा था कि जो गुण रहित है जिसका वाणी द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता, उन ब्रह्म की श्रुतियों ने साक्षात् स्तुति कैसे की? कैसे उनका निरूपण किया श्रुतियों की वहाँ तक पहुँच कैसे हुई।" उसी का वर्णन मैंने यह नारद नारायण सम्वादरूप में कहा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर मेरे गुरुदेव ने भगवान् की पुनः स्तुति की। भगवान् शुक ने दोनों करकमलों को सम्पुटित करके श्रद्धा सहित अञ्जलि बाँधकर अस्फुट वाणी से भगवान् की स्तुति करते हुए कहा—जो प्रभु सर्वाधीश्वर हैं। इस जगत् के एकमात्र कारण हैं। जिनके संकल्पमात्र से केवल उत्प्रेक्षा करने से इस सृष्टि की उत्पत्ति हो जाती है, फिर संकल्पमात्र से ही अगणित उत्पन्न हुई सृष्टि का कल्पान्त पर्यन्त पालन होता रहता है, फिर संकल्पमात्र से ही क्षण भर में यह असंख्य प्रकार की सृष्टि विलीन हो जाती है। जो पुरुषोत्तम हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों के नियामक हैं, स्वामी हैं ईश्वर हैं। जिन्होंने संकल्प से ही इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की है और उत्पन्न करके जीव के सहित आत्मरूप में इसमें प्रवेश भी कर गये हैं। जिससे अंडज-पिंडज स्वेदज और उद्भिज भिन्न भिन्न शरीरों की ब्रह्मा रूप से रचना करते हैं। विष्णु रूप रखकर जो सबका पालन करते हैं। माया से मोहित हुए स्वप्नालोक में भटकते हुए दुःख सुखों का भोग करते हुए जीवों के जो एक मात्र आश्रय हैं। जिस प्रकार प्रगाढ़ निद्रा में पड़ा हुआ पुरुष शरीर के सभी सुख दुःखों को भूलकर परमानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार जीव जिन्हें पाकर मुक्ति सुख का अनुभव करता है, संसार बन्धनों से छूट जाता है। मैं उन्हीं नित्य अखण्डरूप में

स्थित रहनेवाले, सम्पूर्ण जगत् के मूल कारण, उन मायापति और माया को निरस्त करनेवाले अभयरूप श्री हरि के पाद पद्मों में प्रणाम करता हूँ। प्राणिमात्र को उन्हीं चिन्तनीय चितचोर का निरन्तर चिन्तन करना चाहिये।

छप्पय

नारायन ने नारद मुनि सन कह्यो ज्ञान वर।
नारद जी ने तुरत व्यास कूँ सिखयो सुखकर॥
व्यासदेव ने सुत शुक कूँ जिह ज्ञान सिखायो।
नृपति परीक्षित सभा माहिँ तिनि तें हौं पायो॥
थिति पालन संहार के, कारन शोभाधाम है।
मायाधिप कैवल्यपति, प्रभु पद पदुम प्रनाम है॥

पद

स्वरगपति प्रभु को पार न पावैं।
वेद भेद सब विधि नहिँ जानैं, नेति नेति कहि गावैं॥ १॥
रजकन विहँग गगन में विहरैं, नहिँ संकोच लखावैं।
त्यों अगनित ब्रह्मांड रोम में, फैलि फूटि सुख पावैं॥ २॥
स्वाँस स्वाँस तें श्रुति सब निकसीं, प्रभु कूँ विनय सुनावैं।
तुम में ही मिलि सुख सरसावैं, जीवन सफल बनावैं॥ ३॥

—:०:—

वेद स्तुतिः

श्रुतय ऊचुः

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां,
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते,
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥१॥
बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया,
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं,
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥२॥
इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल,
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकाल गुणाः,
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥३॥
इतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा,
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः,
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥४॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः,
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं,
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥५॥

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया,
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं,
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपणयव एकरसम् ॥६॥

स्वकृतपुरेष्वमीष्ववहिरन्तरसंवरणं,
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं,
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवंभुवि विश्वसिताः ॥७॥

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो,
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते,
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥८॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव,
श्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो,
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥९॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि,
यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो,
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥१०॥

क इव नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं,
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः,
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥११॥

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां,
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता,
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥१२॥

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्,
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया,
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥१३॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया,
त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरोनिर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-,
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः॥१४॥

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर,
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो,
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥१५॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो,
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्,
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥१६॥

अपरमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता,
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्,
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥१७॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो,
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे,
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥१८॥

नृषु तव मायया भ्रममसीष्वगत्य भृशं,
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः,
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥१९॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं,
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं,
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥२०॥
स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै,
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां,
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥२१॥
भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा,
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे,
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥२२॥
सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं,
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इपितोऽन्धपरम्परया,
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥२३॥
न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना,
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।

अत उपमायते द्रविणजातिविकल्पयै,
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥२४॥
स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्,
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो,
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥२५॥
यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा,
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव,
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः ॥२६॥
त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो,
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया,
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥२७॥
द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया,
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसिवान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय,
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धाज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम् ॥२९॥
इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्यासमयानैर्महात्मभिः ॥३०॥
त्वं चैतद् ब्रह्मदायाद श्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम् ।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

एवं स ऋषिणाऽऽदिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान् ।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥३२॥

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्त्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥३३॥
इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥३४॥
सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद् वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥३५॥

इत्येतद् वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥३६॥

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो,
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नारदनारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मादि देवों द्वारा द्वारकानाथ की स्तुति (१)

(१३५)

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दम्,
बुद्धीन्द्रिय प्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै
र्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥१

(श्रीभा० ११ स्क० ६ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

एक दिवस अज गये द्वारका श्याम दरस हित ।
लिये संग सुर शंभु साध्य वसु सनकादिक सुत ॥
भये तृप्त नहिं नयन निरखि शोभा द्वारावति ।
कल्पवृक्ष के सुमन चरन धरि करहिँ विनय अति ॥
काटन भव बन्धन भजें, जिन पद पदुमनि भक्त जन ।
तिनि महँ तन मन वचन तें, करें सकल हम प्रभु नमन ॥

---

१ ब्रह्मादिक देवगण भगवानकी स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे नाथ! हम आपके पादपद्मों में बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वचन से प्रणाम करते हैं। आपके चरणारविन्दों का विकट कर्ममय बन्धन से छूटने के निमित्त भावुकभक्त-मुमुक्षु-गण अपने हृदय के भीतर निरन्तर ध्यान करते रहते हैं।

भगवान् का पादपद्म ही भावुक भक्तों के लिये भवसागर से पार होने का एकमात्र पावन पोत है। भगवान् के चरणारविन्द इतने अधिक पावन हैं, कि स्वयं पावनता भी जिन्हें प्राप्त होकर परम पावन बन गयी है। स्वयं भगवान् के साक्षात् पादपद्मों की बात तो छोड़ दीजिये। जिन चरणों के धोवन से निकली गंगा जी सकल भुवनों को पावन बनाने में समर्थ हैं, तो फिर साक्षात् चरणारविन्दों की तो बात ही क्या है। इसीलिये भक्त गण चरणारविन्दों में ही आकर प्रणत होते हैं, उन्हीं में अपना सर्वस्व समर्पण कर देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी को इस अवनि पर विराजित हुए लगभग सवा सौ वर्ष हो गये। अब भगवान् की स्वधाम पधारने की इच्छा हुई। भगवान के कृत्य को देख कर ब्रह्मा जी उनके समीप इस लिये गये कि देखें भगवान् अब क्या करना चाहते हैं। ब्रह्मा जी अकेले भगवान् के समीप द्वारावती में नहीं गये। वे एक बड़े भारी शिष्टमंडल को अपने साथ साथ ले गये थे। जिस में उनके सनकादि मरीचादि पुत्र थे, सभी देवगण तथा प्रजापतिगण थे। त्रिशूलपाणि कामारि भगवान् शङ्कर भी थे। उनंचास मरुद्गण, इन्द्र, द्वादश आदित्य, रुद्र, आठोंवसु, साध्यगण, देवगण, गन्धर्व, अप्सरायें, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृगण, विद्याधर, किन्नर तथा अन्यान्य और भी बहुत से उपदेवगण थे। इन सबका एक विशाल शिष्टमंडल समुद्र के मध्य में सुवर्ण की बनी द्वारावती में पहुँचा। द्वारकापुरी की सुंदरता और समृद्धि के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। जिसमें स्वयं साक्षात् अखिल भुवनपति भक्तवत्सल भगवान् सम्पूर्ण संसार के मल को हरने वाला, अपना परम पावन त्रैलोक्य को कृतार्थ करनेवाला सुयश, समस्त लोकों में

फैलाये हुए हैं। द्वारकापुरी में पहुँच कर उन्होंने भगवान् वासुदेव के दर्शन किये और स्वर्गोद्यान नन्दनवन के अम्लान दिव्य पुष्पों से उनके चरणारविन्दों को ढक दिया। फिर वे सभी अत्यंत श्रद्धा-भक्ति से अंजलि बाँध कर, मस्तक नवाकर गद्गद वाणी से भूत भावन भगवान् की स्तुति करने लगे।

ब्रह्मादि देवगण सभी भगवान् के चरणारविन्दों के उपासक हैं। क्योंकि ये सभी किसी न किसी पद पर प्रतिष्ठित हैं, अधिकारारूढ़ हैं, वे शिष्टाचार परम्परा तथा सदाचारानुसार भगवान् से आँखें तो मिला नहीं सकते। सम्मुख होकर भगवान् के मुखारविन्द का अवलोकन तो कर नहीं सकते, इनके इष्ट तो चरण कमल ही हैं। अतः वे चरण कमलों की ही वन्दना करते हुए कहने लगे—"प्रभो! यह कर्ममय सांसारिक बन्धन अत्यंत ही विकट है। यह ऐसा दृढ़तर बन्धन है कि इसका पार पाना असंभव ही है। यह असार संसार सागर सरलता से पार किया ही नहीं जा सकता। यह तो आपके अरुण वरण के चरणारविन्दों के ही सहारे से पार किया जा सकता है, तभी तो मुक्ति की इच्छा वाले मुमुक्षु तथा भक्ति भाव को प्राप्त करने वाले भावुक भक्त, इन्हीं चरणारविन्दों को हृदयमें धारण करके निरन्तर इन्हीं का ध्यान चिन्तन करते रहते हैं। संसारी लोगों के एकमात्र आश्रय ये पुनीत पाद पद्म ही हैं। इन्हीं में सर्वस्व समर्पण करके सुख तथा शान्ति की प्राप्ति होती है। अतः हम अपनी सत् असत का विवेक करने वाली बुद्धि द्वारा, समस्त विषयों का ज्ञान कराने वाली तथा कर्म करने वाली ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा, सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले तथा शरीर के विभिन्न विभिन्न भागों में रह कर विभिन्न विभिन्न नाम धारण करने वाले, दश प्राणों द्वारा, समस्त इन्द्रियों को घुमाने वाले उन पर शासन करने वाले

मननशील मनके द्वारा तथा वचनों द्वारा हम आपके पादारविन्दों में प्रणाम करते हैं।

स्वामिन ! यह त्रिगुणमयी माया स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं। यह तो आपके ही अधिष्ठान से इस प्रपञ्च की रचना करती है। आप इसके सत्व,रज और तम इन गुणोंमें नियंता रूप से स्थित रहते हैं। इसी से यह अनिर्वचनीय सृष्टि उत्पन्न होती है फिर आप ही इसका पालन भी करते हैं और अन्त में आप ही सबका संहार करते हैं। इतना सब होने पर भी ये कर्म आपको स्पर्श भी नहीं कर सकते, आप इनसे सर्वथा अलिप्त ही बने रहते हैं। निरानन्द जगत् की चिंता, भय, शोक मोह तथा अन्यान्य उद्विग्न बनाने वाली वृत्तियाँ आपके समीप तक फटकने नहीं पातीं, क्योंकि आप तो अखंड आनन्द स्वरूप हैं। परिपूर्ण सुख के सदन हैं। शाश्वती शान्ति के सनातन स्रोत हैं, इन राग द्वेष अभिनिवेषादि कुत्सित वृत्तियों से सर्वथा रहित हैं। ऐसे आप शोभा के धाम, सकल सद्गुणों के विश्राम घनश्याम के पादपद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।

प्रभो ! दुर्वृत्तियों के कारण यह अन्तःकरण मलिन बन गया है। यह किसी प्रकार विशुद्ध बन जाय तो आप का इसमें प्रतिबिम्ब पड़े। शास्त्रों में अन्तःकरण की शुद्धि के अनेकों उपाय बताये हैं। भली प्रकार पढ़ी हुई विद्या के द्वारा भी अन्तःकरण शुद्ध हो सकता है। विविध शास्त्रों का श्रवण भी एक उपाय है। मंत्र जप से भी मन की शुद्धि बताई गयी है, दान तथा तपस्या भी मन की शुद्धि में कारण हैं। किंतु जिनका मन मलिन है ऐसे लोगों की शुद्धि इन विद्या तप दानादि से भी उतनी नहीं होती। वैसे शुभ कर्म व्यर्थ तो जाते नहीं। परन्तु इनसे पूर्ण शुद्धि नहीं होती। सत्पुरुषों की पूर्ण शुद्धि तो आपकी कथा के श्रवण से ही होती

है। महत्पुरुषों के मुख से आपके परम पावन यश को श्रद्धा सहित श्रवण किया जाय। उससे श्रद्धाभक्ति पुष्ट होगी उस पुष्ट हुई उत्तम श्रद्धा के द्वारा जैसा अतःकरण विशुद्ध बनता है, वैसा अन्य किसी साधन से नहीं बनता। अतः आपकी श्रद्धा से श्रवण की हुई कथा ही जीव के समस्त अशुभों को नाश करने में समर्थ हो सकती है। ऐसे पुण्यश्रवणकीर्तन, पुण्यश्लोक आप प्रभु के पादपद्मों में हम सब श्रद्धा भक्ति सहित प्रणाम करते हैं।

हे ऋषभ! हे भगवन्! हे परम पूजनीय प्रभो! जितने साधक हैं, वे विविध साधनों द्वारा आपके इन चरणारविन्दों का ही यजन पूजन करते हैं। मननशील मुनिगण एकान्त स्थान में बैठकर चित्तकी बिखरी हुई वृत्तियों को रोककर, कल्याण कामनासे प्रेमार्द्र हृदय से आपके ही पुनीत पादपद्मों का प्रेमपूर्वक पूजन करते हैं। पांचरात्रादि शास्त्रों के अनुसार जो सात्वत भक्तगण आपके लोक की प्राप्ति के निमित्त स्वर्गादिलोकों को भी अतिक्रमण करने की अभिलाषा से तीनों समय आपके चरणारविन्दों का ही पूजन करते हैं। वे सात्वतगण वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चतुर्व्यूहों द्वारा ही आपकी उपासना करते हैं। ये चतुर्व्यूह अन्तःकरण की मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार वृत्तियों के अधिष्ठातृ रूप में हैं। इनका पूजन उनकी इष्ट की पूर्ति के निमित्त अमोघ है।

इसी प्रकार जो अग्निहोत्री हैं, विधिवत यजन करने वाले हैं। वे भी ऋक्, यजु और साम-इस वेदत्रयी द्वारा वेदों में बतायी

विधि से हवन करते हैं। वे विधि का सदा ध्यान रखते हैं। विधिहीन यज्ञ का कर्ता शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। इस वेद की विधि से भयभीत होकर बड़े नियम से, संयत करों द्वारा हवनीय पदार्थों को लेकर, यथाविधि प्रज्वलित यज्ञाग्नि में मंत्रों को पढ़ते हुए आहुतियाँ देते हैं। वे भी अग्नि में आहुति देते हुए आपके ही पादारविन्दों का चिन्तन करते रहते हैं।

इसी प्रकार जो योगी हैं। आपकी माया को जानने की जिनको जिज्ञासा है। जिन्होंने संयम साधनों द्वारा शरीर के समस्त मलों को निकाल दिया है, जो निर्मल होकर धारणा, ध्यान और समाधि तक पहुँच गये हैं, वे भी उस अध्यात्म योग द्वारा आपके ही चरण कमलों का ध्यान करते हैं।

जो परम भागवत हैं। भगवान ही जिनके एकमात्र इष्ट हैं, जो श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि द्वारा सदा सर्वदा भक्ति में ही तल्लीन रहते हैं। उन भोले भाले भावुक भगवत् भक्तों के तो ये पाद पद्म सर्वथा इष्ट ही हैं। वे तो इन पादपद्मों को ही समर्पित करके समस्त कार्य करते हैं। वे ही चरणारविन्द हमारे समस्त पापों को जलाने के लिये, हमारे समस्त अशुभों को भस्म करने के निमित्त अग्नि स्वरूप हो जायँ। अर्थात् इनके स्मरण से हमारे समस्त पाप संताप जलकर राख हो जायँ।

प्रभो! भक्तों द्वारा पहिनायी हुई जो आपके कंठ में पड़ी वन माला है। चिरकाल से पड़ी रहने से कुछ कुछ कुम्हलायी सी भी

प्रतीत होती है उससे भगवती लक्ष्मी कुछ सौतिया डाह करती हैं। क्योंकि वक्षःस्थल ही उनके रहने का स्थान है, वहाँ पर माला ने अधिकार जमा लिया है। अपने स्थान पर जो बलपूर्वक अधिकार जमा ले उससे ईर्ष्या होनी स्वाभाविक ही है। किन्तु आप लक्ष्मी जी की परवाह न करके, भक्तों की पूजा में दी हुई माला को प्रेमपूर्वक स्वीकार करते हैं, क्योंकि यह माला आपके चरणसेवकों की दी हुई है। चरणसेवा करने के प्रभाव से वह भगवती लक्ष्मीजी की द्वेषाग्नि को भी शमन करने में समर्थ बन जाती है। आपके चरणारविन्दों की महिमा ही ऐसी अनोखी है। ऐसे अत्यन्त महिमावाले वे आपके चरणारविन्द हमारे अशुभों को नाश करने में अग्नि का काम दें। अर्थात् हमारे सब अशुभों को तत्काल भस्मसात् कर दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्रह्मादि देवताओं ने भगवान् के चरणारविन्दों की बड़ी देर तक स्तुति की। अभी उनकी स्तुति का वर्णन समाप्त नहीं हुआ, शेष स्तुति का वर्णन मैं कुछ देर रुककर आचमन करके आगे करूँगा।

छप्पय

माया करि विस्तार करौ पालन संहारन।
देहु न करमनि लिप्त नित्य आनँद विधारन॥
पावन यश के श्रवन शुद्ध होवै सबको मन।
चतुर व्यूह को करैं भक्त याही तैं पूजन॥
याजक विधिवत यज्ञ करि, ध्यान करैं योगी अमल।
जे श्री भक्तनि तुष्टकर, बन्दौं प्रभु के पद कमल॥

पद

वन्दौं प्रभु पद पदुम तिहारे।
मायानाशक नित्य एक रस, थिति लय करिबे बारे ॥ १ ॥
शास्त्र श्रवन स्वाध्याय दान तप, मलिन हिये यदि धारे।
करैं न शुद्ध श्रवन सम स्वामिन, तव महिमा बिस्तारे ॥ २ ॥
जिनि चरननि सात्वत जन ध्यावें, चतुर व्यूह अति प्यारे।
याजक विधिवत आहुति देवें, चरन कमल हिय धारे ॥ ३ ॥
भक्तनि के जो इष्ट परम प्रिय, जिनि अगनित जन तारे।
अशुभ दहन हित होहिँ अनल सम, सबई विघन विदारे ॥ ४ ॥
वनमाला श्री हिय में साले, पहिनावें तव प्यारे।
धारन करि प्रभु सुख सरसावें, पावन चरन सहारे ॥ ५ ॥

—(:)०(:)—

ब्रह्मादि देवों द्वारा द्वारकानाथ की स्तुति (२)

(१३६)

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत् पताको—
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेव चम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूवन्,
पादः पुनातु भगवन्भजतामघं नः ॥ १
(श्री भा० ११ स्क० ६ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

जो पद पदुम पताक भई सुरसरि जगमाहीं ।
असुरनि भय सुर अभय परसि सत्पुरुष सिहाई ॥
अज सुर जिनि संकेत नचैं निरलिप्त सदाई ।
नियमन सबको करें काल के काल कहाई ॥
जिनके शुभ संकेत तैं, प्रकृति पुरुष क्रीड़ा करें ।
रचि पचि कैं ब्रह्माण्ड कूँ, रूप विविध विधि प्रभु धरें ॥

भक्तों को भगवान् के चरण कमल ही भवसागर से पार करते हैं, इसीलिये आश्रितगण सदा सर्वदा सभी आश्रयों का परित्याग करके, एकमात्र प्रभु पादारविन्दों का ही आश्रय ग्रहण करते हैं ।

---

१ ब्रह्मादि देवगण भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"प्रभो ! वामनावतार में जो आपने जिस चरणारविन्द से तीन डग नापी थी, उस

सूतजी कहते हैं मुनियो! भगवान् के चरणों की स्तुति करते हुए ब्रह्मादि देवगण कह रहे हैं—"प्रभो! आपके परम भक्त अनन्याश्रय महाराज बलि निरंतर यज्ञों द्वारा आपके चरणारविन्दों का ही चिन्तन करते थे। उनके चित्त में सदा आपके चरण ही विराजमान रहते। आपके चरणों को छोड़कर वे किसी अन्य का ध्यान भी नहीं करते। तब आपको विवश होकर अपने आश्रित भक्त की भावना पूर्ण करने के निमित्त अपने सुकोमल चरणों से चलकर उनके यज्ञ स्थल तक जाना पड़ा। अपने इष्ट चरणों के दर्शन से भक्तराज बलि परम प्रमुदित हुए। आप छोटे से बटुवामन बनकर गये थे। उन कमल की अत्यन्त कोमल पंखुड़ियों के समान नन्हें नन्हें चरणों को निहारकर असुरराज आनन्द में विभोर हो गये, उन्होंने विधिवत उन सुकोमल चरणों की अपनी पत्नी विन्ध्यावली के साथ पूजा की। आपने त्रिभुवन पर विजय पाने के लिये याचना रूपी दुंदुभी बजाई। उन्हीं सुकोमल चरणों को बढ़ाकर दो डग में विश्व ब्रह्माण्ड को नाप लिया। आपने त्रिभुवन को तीन डगों में विजय कर लिया उसका कोई चिन्ह भी तो होना चाहिये। कोई राजा दूसरे के राज्य को जीतता है तो वहाँ अपना झंडा गाड़ देता है। विजय पताका फहरा देता है। आपने तो तीनों लोकों को विजय किया था। अतः तीन रंग की तीनों लोकों में फहराने वाली और सदा लहराने वाली विजय पताका चाहिये। सो ये त्रिपथ गामिनी भग-

---

चरणारविन्द की तीन धाराओं में बहनेवाली त्रिपथ गामिनी भगवती सुरसरि ही मानों विजय पताका थी। जो चरण असुरों को भय तथा सुरों को अभय, और साधुओं को स्वर्ग तथा खलों को नरक देनेवाला है, वही भजनेवाले हम भक्तों के पापों का परिशोधन करे।

ती सुरसरि हैं, मानो आपकी विजय वैजयंती हैं। ये स्वर्गमें मंदाकिनी के नाम से, पातालमें भोगवतीके नामसे और पृथ्वी में गंगा इस नाम से विख्यात हैं। यह आपके चरणारविन्दों से निसृत हैं, और त्रिभुवन को पावन बनाने के गुण इनमें आपके चरणारविन्दों से ही आये हैं। सुरसरि के भी जो आदि उद्गम हैं वे चरणारविन्द हम आश्रितों का, हम अकिंचनों का, हम शरणागत तथा प्रपन्नों के पाप नाशने के लिये खड्ग का काम करें। हमारे अघों का परिमार्जन करें।

प्रभो! ये ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त जितने भी चर अचरदेह धारी हैं, वे सभी आपके अधीन हैं। बिना आपकी आज्ञा से तिल भर भी नहीं हट सकते। जैसे पशुपति वृषभादि पशुओं की नाक में नकेल डालकर उन्हें इच्छानुरूप घुमाते हैं, वे पशु स्वामी के संकेत पर नाचते हैं। विपरीत दिशा में जा ही नहीं सकते। ये पशु परस्पर में काम क्रोध के अधीन होकर लड़ते हैं, भिड़ते हैं, चिल्लाते हैं तथा डकराते हैं, किन्तु सभी उसी आपकी वेदाज्ञा रूपी दाम में बँधे हैं। उससे न राई भर घट सकते हैं न तिल भर बढ़ सकते हैं। आप ही काल रूप बनके सबका कलयन करते हैं। प्रकृति पुरुष के संयोग से जो यह संसार चक्र चल रहा है वह भी आपके संकेत से ही चल रहा है। आप दूर बैठे बैठे जैसे कठपुतली नचाने वाला काठ की पुतलियों को नचाता है। वैसे सबको नचा रहे हैं, आप प्रकृति और पुरुष से परे हैं, पुरुषोत्तम हैं ऐसे आप सब को नचाने वाले पुरुषोत्तम के पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

भगवन्! आप चराचर जीवों पर ही नियंत्रण [illegible] हों, उन्हीं की नाक में नकेल डालकर घुमाते हों, उन्हीं को [illegible] में बाँधकर कठपुतलियों की भाँति नचाते हों तो बात

आप तो प्रकृति पुरुष महत्तत्व का भी नियन्त्रण करते हैं। काल रूप से इन सबको भी नचाते हैं। आप ही काल बनकर सृष्टि करते हैं, फिर इन काल से ही उसका पालन करते हैं और काल आने पर संहार भी आप ही कर देते हैं। आप ही काल पाकर शीतकाल कर देते हैं, फिर काल आने पर ग्रीष्म बन जाते हैं और काल से वर्षा करने लगते हैं। तीन ऋतुयें ही मानों आपकी नाभि हैं। आपका वेग बड़ा गंभीर है। आपके वेग को कोई जान नहीं सकता। आप महाकाल का रूप रखकर क्षण भर में समस्त लोकों का नाश कर डालते हैं। ऐसे काल रूप आप परम पावन प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम है, नमस्कार है।

प्रभो! आप पुरुष से भी उत्तम हैं। आपकी आज्ञा से यह पुरुष प्रकृति रूपी नारी में महत्तत्व रूप गर्भाधान करता है। प्रकृति में गर्भ आपकी प्रेरणा से ही बढ़ता है। यह प्रकृति के पेट में बढ़ता ही जाता है, बढ़ता ही जाता है। एक आवरण, दो आवरण, तीन आवरण, चार आवरण, पाँच आवरण, छै आवरण, और सात आवरण इस प्रकार सात आवरण वाला यह प्रकृति के पेट में सुवर्ण वर्ण का अंडा बन गया। आप ब्रह्म का ही अंडा होने से लोग इसे ब्रह्माण्ड कहने लगे, यह सब आप त्रिगुणमयी माया को ही लेकर खेल करते रहते हैं। ऐसे क्रीड़ा प्रिय आप पुरुषोत्तम के पादपद्मों में प्रणाम है।

आप समस्त इन्द्रियों के ईश हैं, स्वामी हैं इसीलिये हृषीकेश कहलाते हैं। चर अचर ऐसा कोई भी जीव नहीं जो आप की आज्ञा न मानता हो, आप तो सबके अधीश्वर ही ठहरे। तीनों गुणों में जब न्यूनाधिक्य होता है तभी सृष्टि का प्रवाह बहने लगता है। भाँति भाँति के मोहक पदार्थ पैदा हो जाते हैं। उनके आकर्षण से आकर्षित होकर जीव फँस जाते हैं, जन्म मरण

के चक्कर में पड़कर घूमने लगते हैं, किन्तु आप इन समस्त पदार्थों का उपभोग करते हुए भी-इन सब भोगों को भोगते हुए भी-सदा सर्वदा निर्लिप्त ही बने रहते हैं। आपको ये भोग तनिक भी अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। ऋषि मुनि इन भोगों को अनित्य, क्षणभंगुर, नाशवान तथा बन्धन का कारण समझकर इनका सर्वथा त्याग करके वन, पर्वत तथा एकान्त अरण्यों में चले जाते हैं और वहाँ कड़वे कसैले वन्य फलों को खाते हुए तपस्या में निरत रहते हैं। इतने पर भी वे सदा भयभीत ही बने रहते हैं, कि ऐसा न हो ये विषय भोग हमें यहाँ आकर भी घेर लें। हमारी तपस्या में विघ्न न डाल दें। किन्तु आप इन भोगों को भोगते हुए भी निर्विकार ही बने रहते हैं।

प्रभो! विश्वामित्र पराशरादि मुनियों ने सहस्रों वर्ष घोर तपस्या की। उन्होंने तपस्या करते करते परमसिद्धि प्राप्त की। किन्तु कभी कोई एक सुन्दरी आ गयी तो उसके ही कामबाण से विद्ध हो गये। वे करें भी तो क्या, आपकी यह कामिनी रूपी माया है ही प्रबल। जब आपने इनकी रचना पुरुषों को आकर्षित करने के निमित्त, उनकी बुद्धि को हरण करने के निमित्त ही की है, तो आपकी ही सृष्टि का रचा प्राणी मोहित कैसे न हो। किन्तु प्रभो! आप पर इनके नयन बाणों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता।

भूमंडल में जितने भी कुलीन, यशस्वी तेजस्वी राजा थे, उनकी सबसे सुन्दरी राजकुमारियों से आपने विवाह किया, जिनकी उपमा देवलोक की सुर सुंदरियों तक से, शची और रति से भी नहीं दी जा सकती। ऐसी एक दो दश बीस सौ, दो सौ हजार पाँच सौ नहीं, पूरी सोलह हजार एक सौ आठ सुन्दरी सुकुमारी राजकुमारी थीं, उन सब के साथ आपने विधि विधान

पूर्वक शास्त्रीय रीति से विवाह किया। वे सभी रतिकला में परम-प्रवीणा थीं। वे अपने हाव भाव कटाक्षों से, मनमोहक मन्द मन्द मृदुल मुसकान से, चित्तहर तिरछी चितवन से, भव्य भाव भरी भाव भङ्गीमय भ्रुकुटियों द्वारा फेंके हुए सुरत मन्त्र परिपुष्ट काम बाणों से आपको वेधने का, आपको वश में करने का सतत प्रयत्न करती रहती थीं, किन्तु वे आपकी इन्द्रियों में तनिक भी चंचलता उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकीं, आपके मन को डिगाने में वे सर्वथा असमर्थ ही बनी रहीं। इससे अधिक आपकी निर्विकारता का हम क्या वर्णन करें।

प्रभो! जीव स्वकृत पापों द्वारा ही जन्म मरण के चक्कर में फँस कर नाना योनियों में भटक रहा है। आप ने कृपा करके प्राणियों के उद्धार के लिये ऐसे दो सरल सुगम साधन उत्पन्न कर दिये हैं, कि जिनका आश्रय लेकर पापी से पापी प्राणी भी प्रसन्नता पूर्वक पाप पयोधि से पार हो सकता है। उसमें एक तो आप के चरणारविन्द से निकली गंगा जी हैं और दूसरी आप की ललित लीलाओं से युक्त कमनीय कथा है।

वामनावतार में ब्रह्मा जी के कमंडलु से ब्रह्मलोक तक बढ़े हुए पाद पद्म के प्रक्षालन से प्रभव जो सुरसरि का पुण्य प्रवाह है, वह पाप की राशि को गलाने में सर्वथा समर्थ है। जीव जान में, अनजान में, श्रद्धा से, अश्रद्धा से कैसे भी सुरसरिके शीतल शुभ्र सलिल में घुस जाय। इस नश्वर शरीर को उस ब्रह्मद्रव में धो दे इसी से बेड़ा पार है। इसीलिये सत्संगसेवी विवेकी जन सदा सर्वदा सुरसरि के ही समीप निवास करते हैं। उसी के सुधासदृश सलिल का नित्य नियम से सेवन करते हैं। उसी की मृत्तिका को शरीर में लगाते हैं।

दूसरी पाप नाशिनी है आपकी कथा। आपकी कमनीया कीर्ति ही सु वकरी सरिता है, उसमें आपकी कथावार्ता रूपी ही अमृत का प्रवाह वह रहा है, उसे विज्ञ जन श्रवण पुटों द्वारा निरन्तर अपने हृदय में भरते रहते हैं। वे उस कथामृत के पान से अघाते नहीं। पीते पीते कभी थकते नहीं। निरन्तर सुनते ही रहते हैं, पीते ही रहते हैं। गंगा और कथारूपी ये दोनों सरितायें त्रिलोकीके समस्त पापों को धोने में समर्थ हैं। अतः प्रभो! हम डंके की चोटके साथ कहते हैं, जिन्हें अपने पापों को भस्म करना हो उन्हें गंगा जी का सेवन करते हुए निरन्तर आप के कथा कीर्तन में ही लगा रहना चाहिये। फिर उनके पाप रह ही नहीं सकते। इन गंगा और कथारूपी तीर्थों का सेवन सभी सुखों को देने में सर्वथा समर्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार ब्रह्मादि देवों ने भगवान् की स्तुति की, फिर ब्रह्माजी ने भगवान् से स्वधाम पधारने की प्रार्थना की। जिसे भगवान ने स्वीकार किया। इस प्रकार यह मैंने ब्रह्मादि देवों द्वारा की हुई द्वारकानाथ की स्तुति का वर्णन किया। अब जैसे चिरजीवी मार्कण्डेय मुनिने शिवजीकी स्तुति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप शिव जी की इस स्तुति को ध्यान पूर्वक श्रवण करें

छप्पय

सकल चराचर ईश रहें निरलिप्त निरन्तर।
ऋषि मुनि बनमहँ बसहिं तऊ डरि काँपें थरथर॥
रानी सोलह सहस सुघर वर मृदुल मनोहर।
भावभ्रुकुटि सर तान चलावें नहिं परसें उर॥
पाप पहाड़नि ढाइवे, है ई सुगम उपाय वर।
गंग कथा तन श्रवन तें, सेवें भवनिधि जायें तर॥

पद

कथा अरु गंगा पाप नसावैं ।
श्रद्धायुत जे सेवैं सज्जन, तिनि ढिँग अघ नहिँ आवैं ॥१॥
त्रिपथगामिनी भुवनपताका, वामन विजय बतावैं ।
जिन चरननि तैं निकसी गंगा, तिनिमहँ शीश नवावैं ॥२॥
सबके स्वामी अन्तरयामी, भुवनेश्वर कहलावैं ।
करे परस नहिँ विषय भोग जग, भोगैं नहिँ लिपटावैं ॥३॥
सोलह सहस सुंदरी सैंना, नित सर सुरति चलावैं ।
हाव भाव भंगी कुटिलनितैं, प्रभु मन मोहि न पावैं ॥४॥
गंगान्हाओ कथा सुनो नित, यम फिरि निकट न आवैं ।
प्रभु पद सुखकर परम मनोहर, बार बार सिर नावैं ॥५॥

ब्रह्मादि देवों द्वारा श्रीकृष्ण स्तुति

देवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं,
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैः,
मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥१॥
त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं,
व्यक्तं सृजस्यवसिलुम्पसि तद्गुणस्थः ।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै,
यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥२॥
शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां,
विद्याश्रुताध्ययनदानतपः क्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध,
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात् ॥३॥
स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः,
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतः सपविभूतय आत्मवद्भिः
व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥४॥

यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ,
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां,
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥५॥

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं,
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः ।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो,
भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः ॥६॥

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको,
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्,
पादः पुनातु भगवन् भजतामघं नः ॥७॥

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति,
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य,
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥८॥

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना,
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः,
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥९॥

त्वत्तः पुमान् समधिगम्य यया स्ववीर्यं,
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥१०॥
तत्तस्युषश्च जगतश्च भवानधीशो,
यन्मायया त्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो,
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥११॥
स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि,
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैः,
यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥१२॥
विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः,
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिपदस्त उपस्पृशन्ति ॥१३॥

मार्कण्डेय मुनि द्वारा नारायण की स्तुति (१)

(१३७)

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मन इन्द्रियाणि ।
स्पन्दन्ति वै तनु भृतामजशर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भाववन्धुः ॥ १

(श्री भा० १२ स्क० ८ अ० ४० श्लो०)

छप्पय

मार्कण्डेय मुनीश तपस्या करहिँ हिमालय ।
भये पराजित काम दरस दीये हर सुखमय ॥
शिवा सहित शिव पूजि सुखद आसन बैठाये ।
मुनि अति हरषित भये विनययुत वचन सुनाये ॥
का महिमा वरनन करूँ, प्रेरक सबके जगतपति ।
भक्तनि हित नित देह धरि, निज दरसन तैं देहु गति ॥

जो भगवत् भक्त हैं, जिन्होंने तपस्या द्वारा समस्त कलुषों

---

१ भगवान् नर नारायण जी की स्तुति करते हुए मार्कण्डेय मुनि का रहे हैं—"हे विभो ! मैं आपकी महिमा का वर्णन कैसे करूँ ? जिन प्रा

का नाशकर दिया है। संसार में उनके लिये कुछ भी असक्य नहीं, वे जो चाहें सो कर सकते हैं। अन्तराय तो यह मल ही है। जब शरीर से मल निकल गया, अन्तःकरण निर्मल बन गया, तो उसमें भगवान् का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे भगवान् के दर्शन होते हैं। स्तुति प्रार्थना करके जिसने शुद्ध चित्त से भगवान् को प्रसन्न कर लिया, उसके लिये फिर संसार में कौन सी वस्तु असम्भव है। वे सब कुछ करने में समर्थ हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! महर्षि मृकंडु के तनय परम तपस्वी महामुनि मार्कण्डेय पुष्पभद्रा नदी के तट पर रहकर उग्र तपस्या करते रहे। देवराज इन्द्र ने उनकी तपस्या में विघ्न करने के निमित्त अप्सराओं के सहित कामदेव को भेजा, किन्तु मुनि तप से विचलित नहीं हुए, कामदेव अपना-सा मुँह लेकर लौट गया। इसके अनन्तर कल्प पर्यन्त लोक कल्याण के निमित्त बदरीवन में रहकर तपस्या करनेवाले भगवान् के अवतार तपस्वियों का सा वेष बनाये भगवान् नर नारायण ने आकर मुनिवर को दर्शन दिये। भगवान् ने नर और नारायण दो रूप बना रखे हैं। भगवान् को तपस्वी वेष में अपने आश्रम पर आया हुआ देखकर महामुनि मार्कण्डेयजी संभ्रम के साथ खड़े हो गये। उन्होंने शास्त्रीय विधि से उन दोनों लोकवन्दित तपस्वियों की पूजा की। मुनि की पूजा को भगवान् ने शास्त्रीय विधि से ही स्वीकार किया। तब मार्कण्डेय मुनि दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे प्रेमाश्रु लोचनों से उनके चरणार-

---

के कारण वाणी, मन तथा समस्त इन्द्रियाँ अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं, वे देहधारियों के प्राण आपकी प्रेरणा से ही चेष्टा करते हैं, यही नहीं ब्रह्मा तथा रुद्र के प्राणों की प्रवृत्ति भी आपके ही अधीन है, आप भजन करने वालों के भावबन्धु हैं।

बिन्दों को निहारते हुए गद्गद वाणी से स्तुति करने लगे।

भगवान् नर नारायण की स्तुति करते हुए महामुनि मार्कण्डेय जी कह रहे हैं—"प्रभो! वाणी उसी विषय का वर्णन कर सकती है, जो उसके कहने का विषय हो। आप तो भगवन्! मन वाणी तथा बुद्धि से भी परे हैं, फिर आपके सम्बन्ध में यह वाणी कह ही क्या सकती है, क्योंकि यह तो जड़ है। वाणी ही जड़ नहीं समस्त कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियाँ भी जड़ हैं, और तो क्या इन सब इन्द्रियों का प्रेरक मन भी जड़ है। केवल प्राणों की चेष्टा से ही ये सब चेष्टावान् बनते हैं। प्राणों की गति से ही सबमें स्पंदन होता है। उन देहधारियों के प्राणों में चेष्टा की प्रेरणा करनेवाला कौन है? कौन इन्हें चेष्टावान् बनाता है? कहना होगा प्राणों को प्रेरणा आपके ही द्वारा प्राप्त होती है। जगत् के स्थावर जङ्गम, चर अचर, जड़ तथा चैतन्य सभी में प्राण हैं और आपकी ही प्रेरणा से प्राणियों के शरीर में विविध भाँति की चेष्टायें करते हैं। जड़ को चैतन्य बनाने वाले आप ही हैं। सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों के ही नहीं जो इस जगत् को रचते हैं, उन ब्रह्माजी के प्राणों को भी प्रेरणा देनेवाले आप ही हैं। जगत् के संहारकर्ता शर्व के प्राणों को भी प्रेरणा आपसे ही प्राप्त होती है। आपको किसी से भी प्रेरणा प्राप्त नहीं होती, आप परम स्वतंत्र हैं, सबके स्वामी हैं, सबके नियामक हैं। लोग तो माता-पिता भाई बन्धु को ही सगे सम्बन्धी कहते हैं, किन्तु ये अनित्य शरीर वाले माया के फंदे में फँसे जीव क्या सम्बन्धी होंगे। सच्चे सम्बन्धी तो हे सच्चिदानन्दघनस्वरूप प्रभो! आप ही हैं। आप के बिना दूसरा कोई आत्माका बन्धु नहीं। आप अपने भजनेवालों के सुहृद् हैं, आत्मा हैं, सगे सम्बन्धी और परम हितैषी हैं। अतः आपके पादपद्मों में बार बार नमस्कार है।

प्रभो ! आप लोकके कल्याणार्थ विविधरूप रख लेते हैं। कभी कछुआ बन जाते हैं, कभी मछली हो जाते हैं, कभी नृसिंह का रूप रख लेते हैं। उसी प्रकार अबके आपने त्रिलोकी के अभ्युदय के निमित्त, संसारी लोग दुःखों से छूट जायँ, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लें, इस भावना से ये दो-नर और नारायण पृथक् पृथक् रूप रख लिये हैं। इस जगत् को किसी अन्य ने बनाया हो सो बात नहीं। जैसे मकड़ी अपने ही पेट से तार निकालकर एक जाल बनाती है। जब तक इच्छा होती है उस अपने ही रचे जाल में प्रसन्नतापूर्वक क्रीड़ा करती है, जब इच्छा होती है तब अपने ही आप उसे फिर से निगल जाती है, फिर उसे उदरस्थ कर लेती है। ऐसे ही इस जगत् को रचते भी आप हैं, पालन भी आप ही करते हैं और अन्त में आप ही इसे अपने में लीन कर लेते हैं।

हे सर्व समर्थ स्वामिन् ! जीव का एकमात्र परम पुरुषार्थ आपको पाना ही है। वेदवेत्ता मुनिगण आपको पाने के निमित्त ही विविध भाँति की साधनायें करते हैं। वे विविध भावमय स्तोत्रों द्वारा आपका ही स्तवन करते हैं। आपके चरणारविन्दों का वन्दन करते हैं। विविध भाँति के सामग्रियों से वैदिक तान्त्रिक तथा मिश्रित अनेक प्रकार की विधियों से आपका ही पूजन करते हैं। योग के अंगों द्वारा शरीर को शोध कर दृढ़ आसन लगाकर प्राणायाम और प्रत्याहार करके आपका ही योगीगण ध्यान लगाते हैं, आपका ही समाधि में साक्षात्कार करते हैं।

प्रभो ! संसार में सभी जीव कर्मों के अधीन होकर नाना अच्छे बुरे भोगों को भोग रहे हैं। अपने गुण कर्मों से विवश होकर उच्च नीच योनियों में भ्रमण कर रहे हैं। काल उन्हें अपना कवल बनाकर क्लेश पहुँचाता है। किन्तु स्वामिन् ! जो आपके भक्त हैं, आपके चरणों में अनुरक्त हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व

आपको समर्पित कर दिया है, उन आपके आश्रित जनों को कर्म, गुण और काल जनित क्लेश स्पर्श तक नहीं कर सकता। आप चर अचर स्थावर जङ्गम सभी का नियमन करने वाले हैं, ऐसे आपके अरुण वरण के चरणारविन्दों की हम वन्दना करते हैं, उनके सम्मुख श्रद्धा से नत मस्तक होते हैं।

हे अशरण शरण! भक्तवत्सल परमेश्वर! काल से सभी प्राणी डर रहे हैं। सभी काल से बचने का उपाय कर रहे हैं, देवता अमर कहलाते हैं, किन्तु उनकी अमरता अपेक्षाकृत है। हम मनुष्यों की अपेक्षा वे अमर हैं, किन्तु पतन उनका भी होता है। काल पाकर वे भी गिराये जाते हैं। इन्द्र, प्रजापति, मनु, सप्तर्षि सभी का काल पाकर अंत होता है। सबसे बड़ी आयु वाले ब्रह्मा जी हैं, वे भी अपनी आयु के १०० वर्ष पूरे होने पर, दो परार्ध बीतने पर वे भी बदल जाते हैं। उन्हें भी काल रूप आप से सदा भय बना रहता है। जब इतने बड़े महान् देवता ब्रह्माजी भी आपसे भयभीत रहते हैं, तब अन्य साधारण प्राणियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।

यह प्राणी मृत्यु के भयसे चारों ओर भागता रहता है कभी स्वर्ग जाता है, कभी नरक जाता है, कभी पाताल जाता है, तथा कभी अन्य ऊपर नीचे के लोकों में जाता है, किन्तु इसे कहीं शान्ति नहीं, कहीं सुख नहीं, कहीं निर्भयता नहीं। जब यह सब ओर से निराश होकर आपके चरणों की शरण लेता है तो यह

स्वस्थ हो जाता है, मृत्यु इसका पीछा छोड़ कर भाग जाती है। आपके पादपद्म ही प्राणियों के लिये मोक्षके सदन हैं, वे ही एक मात्र आश्रय हैं। आपके चरणकमलों में हम प्रणत होते हैं, उनकी वन्दना करते हैं।

भगवन्! जीव को संसार में अनेक इच्छायें हैं, वह अपनी विविध इच्छाओं की पूर्ति के लिये अनेकों की शरण जाता है, कभी धन की इच्छा से धन मदसे मदान्ध हुए धनिकों के सम्मुख दीन होकर याचना करता है। कभी कामाग्नि से संतप्त होकर कामिनियों का क्रीड़ा मृग बन जाता है, कभी किसी क्षुद्रदेव की आराधना करने लगता है, किन्तु प्रभो! यदि प्राणी सच्चे हृदय से सब ओर से मन हटाकर सबकी आशा छोड़कर आपका ही भजन करने लगे, तो इसकी इहलोक तथा परलोक की समस्त कामनायें स्वतः ही पूर्ण हो जाती हैं। अपने समस्त इच्छित पदार्थों को वह आपसे ही प्राप्त कर लेता है। इसीलिये भगवन्! इन आत्मस्वरूप को आच्छादित करनेवाले, जिनका कोई फल नहीं, जो असत्य हैं ऐसे शरीर तथा शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त पदार्थों का परित्याग करके सत्य ज्ञान स्वरूप आप गुरुदेव की ही मैंने शरण ली है। आप परमेश्वर का ही मैं भजन करता हूँ, आपको ही मैं अपना सर्वस्व समझता हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महामुनि मार्कण्डेयजी ने भगवान नर नारायण की स्तुति की। वे और भी स्तुति करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जिनिको पूजन ध्यान करैं बन्दन ऋषि मुनि गन।
काल न देवै क्लेश होहिं जे तिनिके निजजन॥
रहैं सदा भयभीत जनक जग अज चतुरानन।
मोक्षरूप नित जानि शरन लीन्हीं तव चरनन॥
जानि देह निष्फल असत, तव पद पदुमनि भजन करि।
पाहिं कामना सकल जन, इच्छित तव प्रभु पग पकरि॥

पद

बन्दौं नर नारायन प्रभुवर।
सकल प्रानधारी प्राननिकूँ प्रेरित करैं निरन्तर॥१॥
माता पिता सगे सम्बन्धी, डसै काल तिनि विषधर।
आपु काल के काल दयानिधि, मिटै चरन गहि सब डर॥२॥
तव बन्दन पूजन सुमिरन, नित होवै भक्तनि सुखकर।
काल जनित दुख परसै नहिं तिनि, जे पग पकरैं दृढ़तर॥३॥
आचारज, गुरु, सत्य, ज्ञानधन, परम पुरुष परमेश्वर।
प्रभु पदु पदुमनि पुनि पुनि पकरैं, कृपा करो करुनाकर॥४॥

मार्कण्डेयमुनि द्वारा नर नारायण की स्तुति (२)

(१३८)

सत्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो,
मायामयाः स्थितिलयोदय हेतवोऽस्य ।
लीलाधृता यदपि सत्वमयी प्रशान्त्यै,
नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम् ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० ८ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

त्रिगुनमयी तव मूर्ति सत्व ई शान्ति प्रदाता ।
नर नारायण रूप सत्वमय भवभयत्राता ॥
सर्वरूप सर्वेश सत्वमय सबके स्वामी ।
मन बानीतैं परे अखिलपति अन्तरयामी ॥
जीव अलखकूँ का लखै, आपु लखावैं कृपा करि ।
अज अविनाशी अमरपति, प्रनवौं प्रभुजी पग पकरि ॥

भगवान् ही विविध रूप रख कर इस संसार में क्रीड़ा करते हैं। उनकी सत्वमयी मूर्ति प्रकाश की ओर ले जानेवाली है, अतः

---

* नर नारायण भगवान् की स्तुति करते हुए मार्कण्डेय मुनि कह रहे हैं—हे सर्वभूतों के सुहृद् ! हे परमेश ! सत्व, रज और तम यद्यपि ये तीनों

मुमुक्षुगण सत्वमय श्रीहरि का ही सदा सर्वदा आराधन करते हैं। सत्व से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से यह संसार बन्धन सदा के लिये छूट जाता है। अतः एकमात्र भजनीय सत्वमूर्ति श्रीहरि ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मार्कण्डेय महामुनि भगवान् नर नारायण की स्तुति करते हुए आगे कह रहे हैं—"भगवन्! आप से ही ये गुण उत्पन्न हुए हैं। त्रिगुण मयी माया में जब विषमता होती है। तीनों गुणों की साम्यता जब नष्ट होती है। तब यह गुण प्रवाह रूप संसार चक्र अपने आप चलने लगता है। आप रजोगुण से ब्रह्मा का रूप रख कर चर अचर तथा स्थावर जंगम जगत् को बनाते हैं। सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होते हैं! बढ़ी हुई सृष्टि की रक्षा के निमित्त सतोगुण प्रधान विष्णु रूप से उसका पालन करते हैं और अन्त में तमोगुण प्रधान रुद्ररूप रख कर इस सबका संहार भी आप ही कर देते हैं। यद्यपि इन तीनों में कोई अन्तर नहीं, कोई भेद नहीं, सब आप का ही खेल है। आप ही विविध भाँति की अद्भुत अद्भुत आश्चर्य जनक लीलाओं के निमित्त रूप रख लेते हैं, और उनसे लोकोत्तर कार्य करते हैं, फिर भी जो आप के सात्विक अनन्य भक्त हैं, उन्हें तो आपकी सत्व मयी मूर्ति ही शान्ति प्रदान करनेवाली होती है। अन्य मूर्तियाँ तो कोई मोह प्रदान करती है, कोई भय तथा दुःख देनेवाली होती

ही आपके रूप हैं। इनसे आप जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के निमित्त, माया के आश्रय लीला करने के लिये विविधरूप धारण करते हैं, फिर भी इन सब में मनुष्यों के लिये आपकी सत्वमयी मूर्ति ही शान्ति प्रदान करनेवाली है। अन्य रजोगुणी तमोगुणी मूर्तियाँ जिनसे दुःख मोह तथा भय प्राप्त होता हो, वे शान्ति प्रदान नहीं कर सकतीं।

हैं। अतः सात्वत भक्त सदा विविध उपचारों से आप परम सत्व युक्त सर्वेश्वर सर्वाधार सर्वनियन्ता परात्पर प्रभु की उपासना करते हैं आपकी इस मूर्ति के दर्शनों से ही परम शान्ति मिलती है।

इसलिये हे विश्वेश्वर! हे भगवन्! जो विचक्षण पुरुष हैं। जिन्होंने त्याग और तपस्या को ही सर्वोपरि माना है, वे परम त्यागी विरागी भगवत् भक्त आपकी इस तपस्या की प्रतीक विशुद्ध नारायण मूर्ति का तथा आपके भक्तों की अत्यन्त प्रिय उपासकों की प्रतीक आपकी इस विशुद्ध नर मूर्ति का ही भजन करते हैं। इन्हीं का ध्यान तथा अर्चना करते हैं। इन युगल मूर्तियों के ध्यान से भक्तों को दिव्य वैकुण्ठादि लोकों की प्राप्ति होती है। आपके परम धाम में उनका प्रवेश होता है जहाँ जाकर उन्हें इस जगत् में पुनः लौटना नहीं होता। जहाँ परमानन्द तथा अभय की प्राप्ति होती है। जो जीव का परम पुरुषार्थ है। उस दिव्याति दिव्य सुख की उस अलौकिक अद्भुत आनन्द की प्राप्ति आपके इस सत्वमय स्वरूप से ही संभव है। अन्य किसी भी रूप से उस सुख की उपलब्धि असंभव है।

प्रभो! आप घट घट वासी हैं। सबके अन्तर की जाननेवाले हैं। कोई अणुमात्र भी ऐसा स्थान नहीं हैं, जहाँ आप न हों। आप सभी स्थलों में समान रूप से व्याप्त हैं। कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो आपसे रहित हो। आप सबके स्वरूप हैं। जैसे मृत्तिका के बने चाहे जितने प्रकार के लाखों करोड़ों पात्र क्यों न हों, किन्तु ऐसा एक भी पात्र नहीं जिसमें ऊपर नीचे भीतर ऊपर मिट्टी व्याप्त न हो। सभी मृत्तिका के ही रूप हैं, उसी प्रकार सभी चर अचर देहधारी सर्वथा आपके ही स्वरूप हैं।

हे जगत् गुरो! सबके गुरु, गुरुओं के भी गुरु आप ही हैं,

जो गुरु रूप से अनन्य भाव से आपका ही भजन करते हैं, उन्हें उनकी भावनानुसार अवश्य वैसा ही फल मिलता है। आप अपने शरणागत के समस्त पाप संताप तथा संशय, भ्रम को हर लेते हैं, इसी कारण आप जगत्गुरु कहलाते हैं।

हे स्वामिन्! जगत्में ३३ कोटिदेवता हैं, एकसे एक बढ़कर ज्येष्ठ श्रेष्ठ देवता हैं, किन्तु सब देवों के भी देव-परम देव-तो आप ही हैं। आप निर्मल तथा निष्क्रिय हैं। आपका अमल विमल रूप है, अतः आप शुद्ध स्वरूप कहलाते हैं। आप ही सरस्वती के प्रेरक हैं। सभी की वाणी के नियामक हैं। यह जो वैदिक मार्ग है, आप के द्वारा ही प्रवृत्त हो रहा है। ऐसे आप काम को भी बिना क्रोध किये हुए परास्त करनेवाले भगवान् नारायण के तथा समस्त नरों में श्रेष्ठ नर ऋषि के पादपद्मों में हम श्रद्धा भक्ति के साथ प्रणाम करते हैं।

हे ज्ञान स्वरूप प्रभो! घर में सभी वस्तुयें रखी हैं, किन्तु तम के कारण वे दिखायी नहीं देतीं। प्रकाश होने पर वे सबकी सब दिखायी देने लगती हैं। प्रकाश होने पर वे कहीं अन्यत्र से नहीं आतीं, वहीं थीं किन्तु तम के कारण दृष्टिगोचर नहीं होती थीं। इसी प्रकार इन्द्रिय रूप में भी आप विद्यमान हैं, प्राण भी आपके ही स्वरूप भूत हैं, हृदय में भी आपही हृदयेश होकर विराजमान हैं, तथा देह प्राण मन सभी रूप से आप प्राणिमात्र में विद्यमान हैं, किन्तु आपकी दैवी गुणमयी इस माया रानी के द्वारा मोहित हुआ प्राणी कपटयुक्त इन्द्रियों के विक्षिप्त हो जाने से अज्ञानान्धकार के कारण आपको देख नहीं सकता। आपका साक्षात्कार नहीं कर सकता। किन्तु जब उसी को आपके द्वारा प्रवर्तित वेद ज्ञान हो जाता है, आप उसे बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं, कृपा करके आप उसे वरण कर लेते हैं, तब वह आपका साक्षात्कार कर लेता है।

प्रभो ! आप ही वेद रूप हैं। वेदों में आपके रहस्य को प्रकट करनेवाला ज्ञान कहा गया है। आप जिसे बता दें वही आपको जान सकता है, नहीं तो बड़े बड़े देवगण, ब्रह्मा तथा रुद्रादि महामनीषी भी कभी कभी मोह को प्राप्त होते देखे गये हैं। आप सम्पूर्ण मतों के अनुकूल देह तथा रूप धारण कर लेते हैं, आपको जो जिस भाव से भजते हैं आप उन्हें उसी भाव के दर्शन देते हैं। आप विशुद्ध विज्ञान स्वरूप हैं, ज्ञान के प्रवर्तक आप ही हैं। आप महापुरुष हैं, परम पुरुष हैं परात्पर पुरुष हैं ऐसे पुरुषोत्तम के पादपद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! जब महर्षि मार्कण्डेय जी ने नर नारायण भगवान् की इस प्रकार स्तुति की तो भगवान् ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा। तब मार्कण्डेय जी ने भगवान् की माया के दर्शनों की इच्छा की। भगवान् ने भी प्रलय का दृश्य उपस्थित करके मुनि को अपनी माया के दर्शन कराये। इसके अनन्तर भगवान् शङ्कर ने जैसे मुनि को दर्शन दिये और मुनिवर ने जैसे शङ्कर जी की स्तुति की, उस प्रसंग को मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

माया मोहित मनुज निकट बसि तुम्हें न देखें।
अचि प्रान हिय बसौ तऊ नहिं मूरख पेखें॥
देहिं ज्ञान जब नाथ हिये में देउ दिखाई।
प्रकृति पुरुष करि योग बिकट माया फैलाई॥
मोहित होवैं रुद्र अज, वेद रूप विज्ञान मय।
परम पुरुष प्रभु परावर, बन्दौं तव पद दैं अभय॥

पद

प्रभु की सत्त्व मूर्ति अति प्यारी ।
करें विविध विधि अनुपम लीला भवभय हरिवेवारी ॥ १ ॥
नर नारायन मूर्ति मनोहर, थिति पालन संहारी ।
आत्मानंद अभय पद देवें, वैकुण्ठहुँ सुखकारी ॥ २ ॥
सर्वरूप सब थल में व्यापक, अच्युत अज असुरारी ।
रहौ समीप अज्ञ नहिँ पेखें, महिमा जग विस्तारी ॥ ३ ॥
सुर मुनि अज हर मोहित होवैं, प्रभु मनहर वपुधारी ।
सब तजि चरन शरन में आवें, विनती करें तुम्हारी ॥ ४ ॥

श्री मार्कण्डेय मुनि द्वारा शिवजी की स्तुति

(१३६)

तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने ।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १० अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

मुनिवर माया लखी शिवा सँग शिव तहँ आये ।
करन कृतारथ मुनिहिँ प्रेम तैं हरि बतराये ॥
बोले—'तुम मुनि धन्य तीर्थ हो तप वपु धारी ।
जगत कृतारथ होहि वन्दि पद धूरि तिहारी ॥
मार्कण्डेय कहें प्रभो ! अधमनिकी इस्तुति करें ।
सिखवें धरमाचरन करि, सदाचार सब सिर धरें ॥

भक्त और भगवान् दोनों ही परस्पर में एक दूसरे का आदर करते हैं, एक दूसरे की स्तुति करते हैं। भक्त तो भगवान् को

---

* शिवजी की स्तुति करते हुए मार्कण्डेय मुनि कह रहे हैं—"जो त्रिगुणात्मक होते हुए भी गुणों के नियन्ता, केवल, अद्वितीय, गुरुरूप ब्रह्म-मूर्ति हैं, उन भगवान् शिव को नमस्कार है।

अपना इष्ट तथा पूज्य मानते हैं, इसी प्रकार भगवान् भी भक्त को अपना पूज्य मानते हैं यह बात भगवान्ने अम्बरीष दुर्वासाके संग में स्पष्ट की। बिना स्तुति पूजा किये कोई रह नहीं सकता। भक्त तो भगवान् की पूजा स्तुति करते ही हैं। किन्तु जब भगवान् की पूजा करने की इच्छा होती है, तो वे किसकी करें, अतः वे अपने भक्तों की ही पूजा स्तुति करते हैं। यही भक्त भगवान् का सनातन सम्बन्ध हैं। इसलिये गाने के लिये-स्तुति के लिये-दोही हैं। या तो हरि या उन हरि के दास-प्रपन्न भगवत्-भक्त।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महामुनि मार्कण्डेय जी को माया के दर्शन हो गये, तो एक दिन घूमते फिरते पार्वतीजी के साथ वृषभ पर चढ़े हुए भगवान् शङ्कर मुनि के आश्रम पर पहुँचे। पार्वती ने कहा—"प्रभो! आप इन तपस्वी मुनि को अपना दर्शन दें, इन्हें कुछ वर दें।"

शिवजी ने कहा—"प्रिये! ये परम भगवत्भक्त तपस्वी त्यागी मुनि कभी कोई इच्छा करते ही नहीं। फिर भी मैं साधु समागम के लोभ से इनसे बातें करूँगा। ऐसा कहकर शिवजी ने मुनि को दर्शन दिये। मुनि ने विधिवत् भगवान् भवानीनाथ की पूजा की और स्तुति करते हुए कहा—प्रभो! आप निर्गुण हैं, सदा सर्वदा शान्त रहते हैं प्राणीमात्र को सुख देनेवाले हैं, आप त्रिगुणमय होने पर भी अघोर हैं। ऐसे आप अघोर रूप अखिलेश को बारम्बार प्रणाम है।"

इसके उत्तर में शिवजी ने कहा—अरे, मुनिवर! तुम मुझे क्या नमस्कार कर रहे हो, नमस्कार योग्य तो आप जैसे त्यागी विरागी परम भगवत् भक्त ब्राह्मण ही हैं। आप तीर्थ स्वरूप हैं। मैं तो समझता हूँ आप इन तीर्थों से भी अधिक श्रेष्ठ हैं। उनसे भी अधिक पूजनीय हैं। देखो, जल से भरे जलाशय, धातु तथा

पाषाणादि की मूर्तियाँ ये ही तीर्थ नहीं हैं। ये स्थावरतीर्थ तो बहुत दिनों में पवित्र करते हैं, परन्तु यह साधु रूप तीर्थ तो दर्शन से ही पवित्र करते हैं। आप तपस्वी ब्राह्मण गण तपस्या और संयम द्वारा चित्त को एकाग्र करते हैं, स्वाध्याय और सत्याचरण द्वारा अपने अन्तःकरण को पवित्र करते हैं, फिर हमारा शरीर रूप जो यह वेदत्रयी है, उसे अपने में धारण करते हैं। ऐसे वेदज्ञ ब्राह्मणों को बारम्बार नमस्कार है, उन्हें पुनः पुनः प्रणाम है।

आप विप्रगण परमपावन हैं। आपके यश श्रवण से तथा आपके दिव्य दर्शनों से महापापी से महापापी, महापतित से पतित चाण्डाल तक शुद्ध हो जाते हैं। जो लोग आपसे सम्भाषण करते हैं, आपका सत्संग करते हैं, उनके पावन होने में तो संदेह क्या ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब स्वयं साक्षात् शिवजी ने तपस्वी ब्राह्मणों की अपने श्रीमुख से इतनी स्तुति की, उन्हें बारम्बार नमस्कार किया, तब तो महामुनि मार्कण्डेय भौचक्के से रह गये। वे बड़ी नम्रता के साथ विनयपूर्वक भगवान् सदाशिवकी स्तुति करते हुए कहने लगे—"भगवन् ! हम तो आपकी चेष्टा कुछ समझ ही नहीं सकते आप ईश्वरों की लीला बड़ी दुर्बोध होती है। आप स्वयं भगवान् होकर हम साधारण जीवों की स्तुति करते हैं। ऐसा लगता है आप सर्व साधारण जनों को शिक्षा देने के निमित्त ऐसा कह रहे हैं। आप हमें नमस्कार प्रणाम कर रहे हैं इससे आपके स्वरूप में किसी प्रकार दोष नहीं आ सकता।

प्रभो ! आप कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं। फिर भी आप कर्ता भोक्ता के सदृश प्रतीत होते हैं। जैसे स्वप्न में न घोड़ा है, न हाथी, न राज्य और न धन, किन्तु स्वप्न द्रष्टा इन सबकी स्वप्न में स्वयं ही सृष्टि कर लेता है और फिर स्वयं उनका उपभोग करता हुआ-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार आप भी इस त्रिगु-

णात्मक जगत् को अपने मन से ही बनाते हैं और उसमें अनुप्र-विष्ट से हुए, गुणों की हुई क्रिया से स्वयं कर्ता के समान प्रतीत होते हैं। ऐसे आप त्रिगुणात्मक होने पर भी गुणों के नियन्ता, केवल, अद्वितीय, ब्रह्मस्वरूप जगत्गुरु भगवान् के पादपद्मों में प्रणाम है।

हे भूमन्! आप कहते हैं—वर माँगो, वर माँगो, मैं अल्पज्ञ भला आपसे क्या वर माँग सकता हूँ, आप तो वांछाकल्पतरु हैं। प्राणियों की सभी प्रकार की इच्छाओं को कामनाओंको पूर्ण करने वाले हैं। आपके दर्शनमात्रसे ही प्राणी सर्वानन्दमय आप्तकाम हो जाता है, ऐसे आप सर्वदाता कामनाकल्पतरु के दर्शन होना क्या यथेष्ट नहीं? आपके दर्शनों के पश्चात् भी माँगने को कुछ शेष रह जाता है क्या?

यदि भगवन्! आपका कुछ माँगने का ही आग्रह है, आप भक्तानुग्रहकातर कहाते हैं, आप पर बिना कुछ दिये रहा ही नहीं जाता, तो हम आपके चरणारविन्दों में एक ही वर माँगते हैं, कि हमारी भगवत्पादारविन्दों में अविचल भक्ति हो। साथ ही आपके भक्तों में भी हमारी भक्ति हो और आप विश्वनाथ पूर्ण-काम पार्वतीपति के पादपद्मों में भी हमारी अविचल, निष्कपट तथा अहैतुकी भक्ति हो। यही हमारी अन्तिम कामना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मार्कण्डेयजी के मुख से ऐसी स्तुति सुनकर भगवान् सतीपति परम प्रसन्न हुए, उन्होंने मुनि को अजरामर होने का, कल्पान्त आयु का तथा भगवत्भक्ति का वर दिया। और उन्हें पुराणाचार्य बनाकर सभी कामनाओं की पूर्ति का आशिर्वाद दिया। यह मैंने महामुनि मार्कण्डेय द्वारा की गयी शिवजी की स्तुति तथा शिवजी द्वारा की गयी ब्राह्मणों की स्तुति

कही। अब अन्तिम स्तुति और करके इस स्तुति प्रकरणको समाप्त करूँगा।

छप्पय

स्वपन सरिस रचि जगत् लगें करता सम भगवन्।
गुननि नियामक नाथ स्वयं निरगुन नहिं बन्धन॥
दरसन करि हम भये कृतारथ, सब अघ धोये।
भक्त और भगवान् आपु चरननि रति होये॥
अखिलभुवनपति उमापति, जिन शिव शङ्कर नाम है।
शिवा सहित प्रभुपदनि में, पुनि पुनि पुन्य प्रनाम है॥

पद

करें हर कैसे विनय तिहारी।
सुख स्वरूप सर्वज्ञ सर्वगत, सब जग के संहारी॥१॥
ज्ञान रूप तुम घट घट वासी, सीमित बुद्धि हमारी।
दया दृष्टि तैं हरो अविद्या, हे शङ्कर त्रिपुरारी॥२॥
निरगुन शान्त त्रिगुनमय स्वामी, हो तुम लीलाधारी॥
पालो रचो फेरि संहारो, बनि अज रुद्र मुरारी॥३॥
पुनि पुनि चरन सरोरुह वन्दौं, माँ गिरिराज कुमारी।
जननी जनक स्वयं शिशु सम्मुख, आये जग सुखकारी॥४॥

—:)०(:—

अन्तिम-स्तुति

(१४०)

नाम संकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥१

(श्रीभा० १२ स्क० १३ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

हरि, अज, नारद, व्यासदेव शुक, नृपति परीक्षित ।
क्रम क्रमतैं जो ज्ञान मिल्यौ निरमल सतचित हित ॥
परम सत्य ऋत अमृत ध्यान नित करें समाहित ।
वासुदेव, शुक चरन करैं वन्दन चितवैं चित ॥
नाम कीरतन अघहरन, प्रनत होहिं दुख दूर सब ।
तिनि पद पदुम प्रनाम करि, लेवैं प्रभु बिश्राम अब ॥

भगवान् ज्ञान स्वरूप हैं, भगवान् गुरु रूप हैं, भगवान् और भगवान् के नाममें कोई अन्तर नहीं । भगवान् और उनकी लीला एक ही हैं, भगवान् और उनका धाम तद्रूप है। इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वन्दन करना, भगवान्

---

* सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिन श्रीहरि का नामसंकीर्तन सभी प्रकार के पापों का नाश करने में समर्थ है। जिनको प्रणाम करने से सभी प्रकार के दुःख शान्त हो जाते हैं, उन परमपुरुष श्रीहरि के पादपद्मों में अंतिम प्रणाम है।

की लीलाओं का स्मरण चिन्तन करना, भगवान् के परम पावन विशुद्ध धाम का स्तवन करना तथा भगवान् के नाम का कीर्तन स्मरण करना यह सब भगवान् की ही स्तुति है। सबसे अंतिम साधन है भगवन्नाम संकीर्तन, अतः सबसे अंत में जिनका पवित्र नाम सभी कलमषों को नाश करने वाला है, उन नामी श्रीहरि का स्तवन करके इस स्तुति प्रकरण की समाप्ति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैंने अपनी मति के अनुसार भागवती स्तुतियों का आपके सम्मुख वर्णन किया। अब अंत में मैं अपनी संप्रदाय परम्परा प्राप्त गुरुओं की, भगवान् वासुदेव की, अपने गुरुदेव भगवान् शुक की तथा भगवान् के नाम संकीर्तन की स्तुति करके इस प्रकरण को समाप्त करता हूँ।

मुनियो ! यह जो विशुद्ध भागवत ज्ञान है, किसी व्यक्ति का बनाया नहीं है। यह परम्परा प्राप्त सनातन विशुद्ध ज्ञान है। यह मनुजकृत नहीं है, और न मनुज स्वतः इसे जान ही सकता है। यह भगवान् का ही ज्ञान है और जिसे वे पात्र समझकर वरण करलें उसी के सम्मुख इसे बताते हैं। ऐसे विशुद्ध विज्ञान घन श्रीहरिके पाद पद्मों में प्रणाम है। उनके चरणारविन्दों में नमस्कार है।

श्रीहरिने इस अतुल ज्ञान प्रदीप का संसार में प्रसार करना चाहा। जिससे माया का तम हटकर प्रकाश हो जाय। उनको सबसे योग्य पात्र अपने आत्मज कमलयोनि ब्रह्माजी हो

दिखायी दिये, अतः उन्होंने योग्य अधिकारी समझकर भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा जी के प्रति इसे प्रेम पूर्वक प्रकट किया, अतः ज्ञान के आदि प्राप्त कर्ता प्रजापतियों के भी पति वेदगर्भ भगवान् कमलयोनि के पाद पद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

भगवान् ब्रह्माजी ने भी इस ज्ञान को किसी सुयोग्य पात्र को देना चाहा। उन्हें हाथ जोड़े सम्मुख हरि गुण गाते वीणा बजाते नैष्ठिक ब्रह्मचारी महर्षि नारदजी दिखायी दिये। अतः ब्रह्माजी ने इन्हें सत्पात्र और सत्पुत्र समझकर इस विशुद्ध ज्ञान को उनसे कहा। उन पर्यटनप्रिय लोकानुग्रहकातर देवर्षि नारद जी को वारम्वार नमस्कार है

नारदजी ने भी बदरीवन में विचार किया कि इस विशुद्ध भागवत ज्ञान को किसे दूँ। इस भागवतामृत को किसे पिलाऊँ वे यह सोच ही रहे थे कि उन्होंने भगवान् वेदव्यास को अत्यन्त ही पिपासित पाया। वे इसकी इच्छा ही कर रहे थे। नारदजी ने सोचा इनसे बढ़कर सत्पात्र अब कौन मिलेगा। अतः उन्होंने इस परमपावन ज्ञान को कृष्णद्वैपायन व्यासदेव को सिखाया, उन ज्ञानावतार सत्यवतीनंदन पराशरपुत्र भगवान् व्यास के पाद पद्मों में प्रणाम है।

व्यासजी ने भी देखा इस ज्ञान को साधारण मनुष्य धारण नहीं कर सकते। जिसकी वाणी मधुर हो और जो वन चारी फलाहारी ब्रह्मचारी हो, वही इसे धारण कर सकता है। सम्मुख उन्होंने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक को देखा। तुरन्त

उन्होंने इस भागवतामृत को शुक मुखमें उड़ेल दिया। उन व्यासनन्दन परमभागवत् परमहंसचक्रचूड़ामणि भगवान् शुक के पादपद्मों में प्रणाम है।

शुकदेवजी ने देखा संसार सर्प सभी को डस रहा है। चक्रवर्ती महाराज परीक्षित् इस संसार सर्प से संत्रस्त होकर सुरसरि के किनारे दुखी बैठे हैं, तो उन करुणा के सागरने परदुख से द्रवित होकर महाराज परीक्षित् को सर्प से निर्भय बनाने को यह ज्ञानामृत उन्हें पिलाया और उन्हें निर्भय बनाया। ऐसे देवरात महाराज परीक्षित् का भी हम अभिनन्दन करते हैं। उनकी भी श्रद्धा के साथ वन्दना करते हैं।

मुनियो! उस विशुद्ध, निर्मल शोक रहित ज्ञान को मैंने भी शुक समाज में बैठकर अपने गुरुदेव के मुखसे सुना। आप सबने मेरे ऊपर अत्यन्त अनुग्रह करके महती कृपा करके अपने प्रश्नों द्वारा मुझसे भी कहला लिया, अतः आप सब भी वन्दनीय हैं, यह आनन्दामृत परमसत्यस्वरूप ज्ञान है, उस अनुपम ज्ञान का हम सब मिलकर ध्यान करते हैं, सभी उसका वन्दन करते हैं।

भगवान् वासुदेव ही इसके आद्याचार्य हैं। इसीलिये यह ज्ञान वासुदेवीय ज्ञान कहलाता है। भगवान् के द्वारा प्राप्त होने से ही इसका नाम भागवत ज्ञान भी है। मोक्ष के सम्बन्ध में संशय में पड़े ब्रह्माजी को ज्ञान सिखाकर जिन्होंने उनके संशय को दूर किया। उन्हें इस ज्ञानग्रन्थको सुनाया उन सर्वसाक्षी

भगवान् वासुदेव को भूयो भूयो प्रणाम है, वारम्वार नमस्कार है।

जिन मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित् को निर्भय बनाया, संसार सर्प से संत्रस्त होने के कारण दुखी बने नरपति के दुःख को भगाया उन साक्षात् ब्रह्मस्वरूप योगिराज शुक के चरणारविन्दों पुनः पुनः प्रणाम है।

हे जगदाधार! हे सच्चिदानन्द स्वामी! हे देवश्वर! हे प्रभो! अन्त में हमारी आपके चरणों में यही भीख है, यही याचना है कि हम चाहे जिस योनि में जन्म लें, जितनी बार जन्म लें, जहाँ भी जन्में, जिस योनि में भी जायं, वहीं पर आपके चरणारविन्दों में हमारी अविचल अव्यभिचारिणी भक्ति हो। प्रभो! आपसे ही हम प्रार्थना कर सकते हैं, क्योंकि आप ही एक मात्र हमारे स्वामी हैं, हमारे सर्वस्व हैं।

प्रभो! आप से जिस वस्तु का भी सम्बन्ध है, वही सबको पावन बनाने में समर्थ है। भगवती गंगा जी का आपके चरणों से संपर्क हुआ था अतः वे त्रैलोक्य को पावन बनाने में समर्थ हैं। आप अनामी के जो परम प्रिय श्रुतमधुर नाम हैं। उनका जो कीर्तन करते हैं, समाज के साथ उच्चस्वर से संकीर्तन करते हैं, वह नाम संकीर्तन सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने में समर्थ है। जो कोई आपके चरणारविन्दों में प्रणाम कर लेता है, उसके समस्त दुःख, दोष, दुरित दूर भाग जाते हैं, वह सभी आपत्ति विपत्तियों से सदा के लिये बच जाता है। उसकी सभी आपदायें शान्त हो

जाती हैं। ऐसे आपनामी को मेरा बारम्बार नमस्कार है पुनः पुनः प्रणाम है।

मुनियो! आप धन्य हैं, जो आपने यह भागवती कथा शान्ताचित्त से दत्तचित्त होकर सुनी। मैं आप सबका परम-कृतज्ञ हूँ। अब इस समय मेरा मन अपने परमगुरु भगवान् व्यास के आश्रम, नरनारायण के धाम बदरीवन को जाने के लिये उत्सुक हो रहा है। आप मुझे कुछ दिन के लिये आज्ञा दें, मैं कुछ घूम फिर आऊं। चित्त को हलका कर आऊं। आप सबकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा है।

शौनकादि मुनियों ने कहा—"सूतजी! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं। महाभाग! हम तो आपके मुख से कथा सुनते सुनते अघाते ही नहीं। समय कब बीत जाता है पता नहीं चलता। आपके कारण हमारा समय बहुत सुखपूर्वक कट रहा है। बड़ा सुंदर कालक्षेप हो रहा है। आपके बिना हमें कथा कौन सुनावेगा? कैसे समय बीतेगा? महाभाग! हम आपको बलपूर्वक रोक भी तो नहीं सकते। आप यहाँ की गर्मी से ऊब कर शीतल प्रदेश में कुछ दिन के लिये जाना चहते हों तो जायँ, किन्तु शीघ्र ही लौट आवें।

सूतजी ने कहा—मुनियो! जीव स्ववश नहीं परवश है। भगवान् जिसे जैसे नचाते हैं वैसे नाचता है। जहाँ रखना चाहते हैं रहता है, यहाँ जो कराना चाहते हैं करता है। अतः मैं भी उन्हीं सर्वाधार सर्वान्तर्यामी श्रीहरिः के अधीन हूँ। जैसे रखेंगे वैसे रहूँगा। जो करायेंगे करूँगा। अच्छा तो मेरी आप सब को प्रणाम है, नमस्कार है। पुनः पुनः वन्दना है।

ओं शांति! शांति!! शांति!!!

छप्पय

प्रभो ! कृपा अब करहु चरन कमलनि लपटाओ ।
भगवन् ! भटक्यो बहुत नाथ ! नहिं अब भटकाओ ॥
भवसागर में भ्रमत चपेटा बहुतक खाये ।
इत उत उतरत फिरयो विविध विधि दुःख उठाये ॥
चरन शरन अब तो गही, प्रभुजी अब अपनाइलें ।
जनम जनम निज भक्ति दैं, निश्छल भक्त बनाइलें ॥

पद

भक्ति प्रभु ! निज चरननि की दीजै ।
भग्यो भग्यो भव भयतैं डोलूँ, नाथ ! अभय अब कीजै ॥१॥
विषय भोग धनसुख नहिं चाहूँ, चरन शरन अब लीजै ।
जनम मरन चाहैं नहिं छूटै, हियो भक्तितैं भीजै ॥२॥
सोई करूँ काज करुनाकर, अन्तःकरन पसीजै ।
प्रभु अब दया दीनपै कीजै, नित्य भागवत पीजै ॥३॥

इति भागवती स्तुति समाप्त
श्रीकृष्णार्पणमस्तु-न मम

अन्तिम स्तुति

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥१॥

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा,
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्रातायकारुण्यतः,
तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥२॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे।
य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे ॥३॥

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।
संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत् ॥४॥

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ॥५॥

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥६॥

कालाय तस्मै नमः

(६९ वें खण्ड की भूमिका)

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥*

(श्रीभा० १० स्क० १६ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

कृष्ण काल बनि करें कलित क्रीड़ा सुखकारी ।
भव्य भाव भरि उतरि अवनि पै भवभयहारी ॥
भक्तनि संसृति मेटि अभक्तनि नाच नचावें ।
करि विनोद विश्वेश जगत में हँसे हँसावें ॥
उतपति थिति लय करहिँ प्रभु, भिन्न भिन्न जिनि नाम हैं ।
कालरूप तिनि कृष्ण पद, पदुमनि माँहिँ प्रनाम हैं ॥

विश्वेश्वर प्रभु का कोई एक रूप नहीं । वे बहुरूपिया हैं, असंख्य रूप हैं "अनेक रूप रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।" भगवान

---

* नागपत्नियाँ भगवान् की स्तुति करती हुई कहती हैं—"प्रभो ! आप काल स्वरूप हैं, कालशक्ति के आश्रय हैं, कालके जो अवयव कलाकाष्ठा तथा सृष्टि प्रलय तक का काल उस सबके साक्षी हैं, आप विश्वरूप हैं, विश्व के साक्षी आप हैं, विश्व के कारण तथा कर्ता भी आप ही हैं ।"

के अनेक रूपों में उनका एक रूप "काल" भी है। जब भगवान् ने कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाया तो अर्जुन अत्यंत घबरा गये, वे भयभीत होकर पूछने लगे—"हे देवताओं में श्रेष्ठ! आप हैं कौन? आप करना क्या चाहते हैं? आपका तो बड़ा उग्ररूप है? अपना परिचय तो मुझे दीजिये?"

इस पर भगवान् ने अपना परिचय देते हुए कहा—"मैं काल हूँ।"

जब हम भगवान् को काल रूप में समझने लगेंगे, तो हमें किसी भी घटना से न दुःख होगा और न विस्मय, हमें यह सब काल भगवान् की क्रीड़ा दिखायी देगी। इस सम्बन्ध में एक कहानी है। किसी भक्त ने भगवान् से पूछा—"प्रभो! आप करते क्या हैं?"

भगवान् ने कहा—"मैं क्रीड़ा करता रहता हूँ।"

भक्त ने पूछा—"क्या क्रीड़ा करते हैं नाथ! किससे क्रीड़ा करते हैं? और क्यों क्रीड़ा करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"क्रीड़ा खिलौनों से होती है, ये समस्त चराचर जीव ही मेरे खिलौने हैं, क्रीड़ा में क्यों का प्रश्न ही नहीं उठता। क्रीड़ा क्रीड़ा के ही लिए होती है, विनोद के लिए मनोरंजन के लिए। मेरी क्रीड़ा को विनोद मनोरंजन भी नहीं कह सकते। जिसे विषाद हो वह विनोद में प्रवृत्त हो, जिस के मन में खेद हो वह मनोरंजन की इच्छा करे। मैं तो वैसे ही खेलता रहता हूँ, लीला करता रहता हूँ, मेरा स्वभाव ही लीला करने का है। मैं लीलाधारी हूँ बहुरूपिया हूँ, विविध रूप रख लेता हूँ, जीव अपने को खिलौना न मान कर जब स्वयं कर्ता बन जाते हैं और मेरे कामों में निजत्व का आरोप करके जब बहुत रोने लगते हैं, तब भी मेरा

विनोद होता है, सुख में हँसने लगते हैं, तब भी मेरा विनोद होता है। जैसे बच्चे खिलौने से प्यार करते हैं तब भी प्रसन्न होते हैं और उसे उठाकर पटक देते हैं, फट से फोड़ देते हैं, तो फोड़ने में भी उन्हें आनन्द आता है। इसी प्रकार सभी प्रकार की चेष्टायें मेरे मनोविनोद का साधन हैं। चलो मैं कैसे क्रीड़ा करता हूँ तुम देखो।

यह कह कर भक्त और भगवान् चल दिये। कहना न होगा दोनों अदृश्य रूपसे चले। आगे चल कर देखा नदी में एक नौका आ रही है, भगवान् तुरन्त सर्प बनकर नौका में चढ़े सर्प को देखकर सभी यात्री भयभीत हो गये नौका उलट गयी। सब जल में डूब गये। भगवान् हँस पड़े। भक्त ने लोगों के मुख से सुना—सब का काल आ गया था।" किन्तु कहने वाला यह नहीं समझ सका कि काल रूप मे भगवान् ही आते हैं।

आगे चल कर देखा दो सगे भाई कहीं से आ रहे हैं। दोनों ही राज कर्मचारी थे, भगवान् तुरन्त मोहिनी रूप रखकर उनके पीछे लग लिए। दोनों के ही मन में तूफान उठने लगा। प्रश्नों की झड़ी लग गयी। किन्तु रंगीली मोहिनी तो बड़ी लजीली भी थी। कटाक्ष उसके ऐसे पैने थे कि समस्त अस्त्रशस्त्र उसके सामने कुंठित हो जाते थे। सब प्रश्नों के अनन्तर उसका छोटा-सा संक्षिप्त उत्तर था। "मैं मातृ-पितृ विहीना कुमारी कन्या हूँ, तुम में से कोई भाई मुझे आश्रय देकर अपनी जीवनसंगिनी बना लो जिससे मेरा निर्वाह हो जाय।" इतना सुनना था कि होने लगा दोनों भाइयों में युद्ध। पहिले तो वाक्युद्ध हुआ। छोटा कहता—मैंने पहिले इसे देखा है, मन से वरण किया है, अब यह तुम्हारी पुत्री के समान है।" बड़ा कहता—"मेरे रहते तुझे विवाह करने का अधिकार ही

नहीं, मैं बड़ा हूँ मैंने इसे पहिले ही वरण कर लिया है, यह तेरी माता के समान है।" वाक्युद्ध के अनन्तर शस्त्र युद्ध आरम्भ हुआ। एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। दोनों ही मर कर धराशायी हुए। लोग कह रहे थे—"यह काल रूप से कहाँ से आ गयी। बेचारे दोनों सगे भाई इसीके कारण काल कवलित हुए।" वे लोग यह नहीं जानते थे कि ये काल रूपमें भगवान ही थे।

आगे चल कर, देखा कि कुछ लोग घोर वन में यात्रा कर रहे थे। भगवान् सिंह का रूप रखकर उनके सम्मुख प्रकट हो गये। कुछ तो सिंह को देखते ही भयभीत होकर मर गये, कुछ भाग कर पेड़ पर चढ़ गये, कुछ सिंह के पंजों में फँस कर मर गये। जो बच कर भग गये थे वे कह रहे थे—"सिंह क्या था, साक्षात् काल ही था।" काल तो था ही किन्तु इतना वे और जान जाते कि ये काल रूप में भगवान् ही हैं, तो उन्हें दुःख या विस्मय नहीं होता।"

इसी प्रकार भगवान कहीं शस्त्रधारी बनकर, कहीं वधिक बन कर, कहीं अग्नि बनकर, कहीं विष बनकर और कहीं रोग बनकर क्रीड़ा कर रहे हैं। हम कह तो देते हैं यह सब काल की क्रीड़ा है, किन्तु अन्तर इतना ही रह जाता है, कि हम यह नहीं समझते कि काल भगवान् का ही रूप है। रामायण में, महाभारत में, भागवत में तथा अन्यान्य वेद शास्त्र पुराण तथा इतिहासों में सर्वत्र काल भगवान् की ही क्रीड़ा का वर्णन है।

संसार के समस्त कार्य काल पाकर ही होते हैं। काल पाकर ही सरदी होती है, काल से ही गरमी होती है, काल पाकर ही बालक से युवक और युवक से वृद्ध होते हैं, काल पाकर ही निर्धन से धनी और धनी से निर्धन बन जाते हैं। एक काल वह होता है, कि सब लोग बिना कहे आदर करने लगते हैं, सर्वत्र सम्मान

होता है, फिर ऐसा काल आ जाता है, कि लोग सामने ही अपमान करने लगते हैं और उस कड़वे घूँट को भी इच्छा न रहने पर भी हँसते-हँसते पीना पड़ता है।

अर्जुन का एक वह भी काल था, कि जिन्हें मनुष्यों की तो बात क्या, समस्त देवता असुर मिल कर भी युद्धमें नहीं जीत सकते थे। उन अमोघ अस्त्र-शस्त्रधारी भीष्म, द्रोण तथा कर्णको उन्होंने युद्धमें सरलता से जीत लिया। कितने करोड़ अरब असंख्य बाण उसके ऊपर छोड़े गये। कोई भी दिव्य से दिव्य अस्त्र-शस्त्र उसे क्षति न पहुँचा सका। फिर एक दिन ऐसा भी काल आया कि उसी विश्वविजयी अर्जुन को, किसी शूरवीर बलवान् योद्धा ने नहीं, दिव्य अस्त्रों से नहीं। साधारण लठियों से-वनवासी दस्यु धर्मी लुटेरे गोपों ने जीत ही नहीं लिया भगवान् की पत्नियों को भी उनके देखते-देखते वे छीनकर ले गये और अर्जुन उनका कुछ भी नहीं कर सके। तभी तो किसी ने कहा है।

पुरुष बली नहिं होत है, काल होत बलवान्।
भीलनि लूटी गोपिका, वहि अरजुन वहि बान॥

धनुष बाण से क्या होता है, काल तो उनके विपरीत हो गया था। अनुकूल काल होने पर शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, दुर्बल भी सबल हो जाते हैं, वही काल जब विपरीत हो जाता है, तो अपने भी पराये हो जाते हैं, बलवान् भी निर्बल हो जाते हैं। काल ऐसा बली है, कि इसके सामने किसी की भी नहीं चलती। यह बलियों से भी बली है। भगवान् का रूप ही है।

जब दैत्यराज महाराज बलि के तीनों लोक के राज्य को भगवान् वामन ने अपने दो पगों में नाप लिया और तीसरे पग के लिये वे उसे बाँधने लगे, तब सब दैत्य भगवान् वामन को मारने दौड़े। उस समय दैत्यों को प्रहार करने से रोकते हुए महाराज बलि ने बड़े ही मार्मिक वचन कहे उन्होंने कहा—"हे दैत्य सेनापतियो ! आप लोग देखना भगवान् पर तथा उनके पार्षदों पर प्रहार मत करना। यह समय हमारे अनुकूल नहीं है। ये काल भगवान् ही समस्त प्राणियों को सुख अथवा दुख देते हैं। जब जैसा समय होता है तब तैसे ही बानिक बन जाते हैं। काल देवता को कोई अपने पुरुषार्थ से जीतना चाहे तो यह असंभव है। देखो, एक समय था कि ये काल भगवान् हमारे अनुकूल थे, तब हमने समस्त देवताओं को चुटकी बजाते जीत लिया, तीनों लोकों का राज्य प्राप्त कर लिया, उस समय काल भगवान् देवताओं की अवनति और हमारी उन्नति के हेतु थे। आज वे देवताओं के अनुकूल हैं हमारे प्रतिकूल हैं अब आप चाहो मंत्री, बुद्धि दुर्ग; मंत्र; ओषधि सामदामादि उपायों से इन काल भगवान् को जीत लें तो असंभव है। ये ही पार्षद जो आज वामन भगवान के सामने अस्त्र शस्त्र लिये तनकर खड़े हैं, तुमने अनुकूल काल होने पर इन्हें अनेकों बार जीत लिया था ये युद्ध से भागे थे। आज काल इनके अनुकूल है अब तुम इन्हें नहीं जीत सकते। इसलिये अनुकूल काल की प्रतीक्षा करो। काल भगवान् हमारे

हो जायँगे तो एक दिन हम इन्हें फिर जीत लेंगे।*

दैत्यराज परम भगवत्भक्त बलिके इन वचनों से पता चलता है, कि काल के सम्मुख कोई भी उपाय,कोई भी युक्ति, कोई भी भाव ठहर नहीं सकते। काल ही सब कुछ कराते हैं, काल ही खेल खिलाते हैं, काल ही फलों को पकाते हैं, काल ही क्रिया कराते हैं काल ही प्रवृत्त कराते हैं, और काल ही निवृत्ति की ओर ले जाते हैं। इसीलिये कविने कहा है

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय।

---

* यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये।
तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान्॥
यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम्।
स एव भगवानद्य वर्तते तद् विपर्ययम्॥
बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः॥
भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधिजित्वा नदन्ति नः॥
एतान्वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति।
तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वंयोनोऽर्थत्वाय कल्पते॥
(श्रीभा० ८ स्क० २१ अ० २० से २४ श्लो०)

समस्त शास्त्र, समस्त महापुरुषों के जीवन और समस्त अवतार चरित हमें यही शिक्षा देते हैं, कि काल की शक्ति दुर्निवार है। एक काल वह भी होता है कि हम अपने प्रेमी को बिना देखे एक पलभर भी जीवित नहीं रह सकते, फिर एक काल ऐसा भी होता है। कि समीप रहते हुए भी हम उससे मिल नहीं सकते। यह काल की कैसी क्रूर विडम्बना है। राम जी ने यही तो सोचकर किष्किन्धा में रोते रोते लक्ष्मण से कहा था—"भैया ! लक्ष्मण ! एक वह भी काल था कि वैदेही और हमारे हृदय के बीच में एक हार आ जाता था, तो हम उस हार के व्यवधान को भी सहन नहीं कर सकते थे। आज मेरे और वैदेही के बीच में कितने नगर, देश, वन, पर्वत और समुद्र हैं उनके अन्तरायको भी हम सहन कर रहे हैं। काल की कैसी कुटिल क्रीड़ा है।

मैंने किसी रामायण में तो आज तक यह प्रसंग पढ़ा नहीं किन्तु अपने बाल्यकाल में यह कथा सुनी थी, वनवासी कोल भीलों के लोकगीतों में यह प्रसङ्ग आता है, कि सीताजी की एक ननद थी उस ननद का क्या नाम था। राम जी की एक बहिन महाराज दशरथ की किसी अन्य रानी से शान्ता तो थीं, किन्तु वे ऋषि पत्नी थीं शृङ्गी मुनि से उनका विवाह हुआ था। वे ऐसा नहीं कर सकतीं। कोई दूसरी ननद थी। उसने एक दिन जनकनन्दिनी से पूछा—"भाभी ! तुम इतने दिनों तक लंका में रहीं; यह तो बताओ रावण कैसा था ?"

मैथिली ने कहा—"जीजी ! अब तुम्हें कैसे बताऊँ वह बड़ा राक्षस था उसे देखकर ही डर लगता था।"

उसने बहुत आग्रह किया, तब सीता जी ने भीत पर एक रावण का चित्र बना दिया। दैवयोग से उसी समय रामजी

वहाँ आ गये। महाराणी जानकी सहम गईं। तब उसने कहा—"देखो भैया! भाभी का रावण के प्रति कैसा प्रेम है कि अब तक वे उसका चित्र बनाती रहती हैं। यह बात सम्पूर्ण महल में और नगर में फैल गयी। विवश होकर भगवान् ने सीताजी को अपने घर से निकाल दिया। वे गंगा जी के कछारों में भटकती रहीं। वहीं किसी नाले में उनके दो पुत्र हुए। उन पुत्रों को गोदी में लिये वे जंगलों से फल तोड़कर पेड़ों के नीचे रह कर निर्वाह करती थीं। अकस्मात् एक दिन आखेट करते हुए रामजी वहाँ पहुँच गये। अत्यन्त कृशगात्र, मलिन वस्त्र पहिने धूप से काली पड़ी, अपनी प्राणप्रिया को राघवेन्द्र पहिचान गये। वे उनकी ओर दौड़े। बनवासिनी सीता ने कहा—"राजन्! आप मेरा स्पर्श न करें। अब मैं आप के स्पर्श करने योग्य रही नहीं। मुझे कलंक लगा है, मुझ कलंकिनी के स्पर्श करने से आपके विमल यश में धब्बा लगेगा। मैं चाहती हूँ आपकी कीर्ति विमल बनी रहे। इतना सुनने पर भी राम जी से नहीं रहा गया। वे भावावेश में वन विहारिणी जनक-नन्दिनी को पकड़ने दौड़े। मैथिली पूरी शक्ति से दौड़ी जिस से राघवेन्द्र उन्हें स्पर्श न कर सकें। जब दोनों अत्यन्त समीप आ गये, तो सीता जी गंगा जी के एक ऊँचे टीले से बड़े भारी नाले में कूद पड़ीं। उनके शरीर का अन्त हो गया।

सौ करोड़ रामायण हैं, किसी न किसी में यह कथा होगी ही परन्तु काल की इसमें कैसी कारुणिक लीला का वर्णन है, जनक-नंदिनी के चरित्र को कितना उज्वल बताया गया है, एक वह भी समय था कि भगवान राम एक क्षणको भी सीताजीका वियोग सहन

नहीं कर सकते थे, फिर उन्होंने ही स्वयं उन्हें निर्वासित कर दिया और जीवन भर उनसे पृथक् ही रहे। यह कथा बंगला की महिला कवियित्रि चन्द्रावती ने अपनी रामायण में भी लिखी है। जैसे हमारे यहाँ तुलसीकृत रामायण प्रसिद्ध है, वैसे ही बंगला में कृत्तिवासकृत रामायण है। उसमें बड़ी अद्भुत अद्भुत कथायें हैं। पूर्वी बङ्गाल में चन्द्रावती की भी रामायण प्रसिद्ध है। मुझे तो उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ नहीं, किंतु उसके उद्धरण मैंने पढ़े हैं। उसमें सीताजी की इस कथा को इस प्रकार लिखा है, कैकेयी की एक पुत्री थी जिसका नाम ककुआ था। वह बड़ी ही कुटिलहृदया थी, वह नाना प्रकार के षडयन्त्र रचने में बड़ी दक्षा थी। वह एक दिन जनकनंदिनी के समीप गयी और बोली—"भाभी! रावण कैसा था?

जानकीजी ने कहा—"बीबीजी! रावण को तो मैंने भी कभी नहीं देखा, वह जब भी मेरे समीप आता मैं पीठ फेर लेती थी, आँखें मींच लेती थी। हाँ, जब वह मुझे लंका ले गया था, तब मैंने समुद्र के जल में उसकी परछाईं अवश्य देखी थी, उसके दश सिर और २० भुजायें मुझे समुद्र में दिखायी दी थीं।"

ककुआ ने कहा—"इस पंखे पर उसका चित्र बनाओ तो सही।"

भोली भाली सीताजी उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में आ गयीं उन्होंने पंखे पर उसका चित्र बनाया। उस ककुआ ने उन्हें इस प्रकार बातों में उरझा लिया कि बातें करते करते उन्हें निद्रा आ गयी। पंखा उनके शरीर से सट गया, वे सो गयीं। ककुआ ने चुपके से श्रीरामचन्द्रजी को बुलाया और सैकड़ों झूठी बातें बनाते हुए कहा—"देखो, भाभी अभी तक रावण को भूले

उसका चित्र बनाकर उसे छाती. से चिपटाकर नित्य सोती हैं।" इस प्रकार श्रीरामजी द्वारा सीता निर्वासित हुईं। बङ्गाल की कवियित्री चन्द्रावती की रामायण की बड़ी प्रशंसा है। सुनते हैं उसकी कविता में करुणा का स्रोत फूट निकला है। उसे अनपढ़ मल्लाह आदि भी गाते हैं और गाते गाते रोते हैं। स्वयं चन्द्रावती का जीवन भी काल की एक क्रूर पहेली है। स्वयं उसके जीवन में एक ऐसी घटना घटी कि उसका हृदयपक गया,उसमें बड़ा भारी घाव हो गया।उसी घावमें सराबोर होकर जो कविता निकली हो, वह तो सजीव करुणा ही होगी। काल ने उसके जीवन के साथ भी एक क्रूर परिहास किया। उसका जीवन भी सुनने योग्य है।

पूर्व बंगाल में उसका जन्म हुआ। उसके पिता का नाम था वंशीदास। प्रतीत होता है ये कायस्थ रहे होंगे। इनकी पत्नी का बहुत अल्प समय में शरीरान्त हो गया। चन्द्रावती मातृहीना हो गयी। पिता की एकमात्र संतति थी। माता के मर जाने के अनन्तर पुत्री पिता के अधिक निकट आई, अत्यंत लाड़ चाव से स्नेह ममता से, पिता अपनी इकलौती सन्तान का लालन पालन करने लगे। वे सम्पन्न थे, जाति कुल में प्रतिष्ठित थे, संभ्रात परिवार के थे। चन्द्रावती अत्यंत ही लावण्यवती थी, वह जितनी ही सुन्दरी थी उतनी ही सुशीला थी। अत्यंत संकोची हृदय की। काल क्रम से वह बढ़ती गयी, बढ़ती गयी, शैशव, कौमार, पौगंडावस्थाओं को पार करके अब उसने किशोरावस्था में पदार्पण किया। वह वन में फूल लेने जाया करती थी। वहीं पर उसी गाँव का, उसी की जाति का एक किशोर बालक कभी आता उसका नाम था जयचन्द्र। चन्द्रावती बड़े स्नेह से माला बनाती और संकोच के साथ जयचन्द्र को दे देती। वह माला लेकर चला जाता।

दोनों में कुछ स्पष्ट बातें तो न होतीं, किन्तु मूक भाषा में कुछ तो बातें हो ही जातीं।

एक दिन अत्यंत ही संकोच से उसने चन्द्रावती के हाथों में एक पत्र थमा दिया और वह चला गया। चन्द्रावती ने अनुराग भरित हृदय से, झल झलाये नेत्रों से, कंपित करों से पत्र को खोल कर पढ़ा। उसमें लिखा था—मैं धृष्टता कर रहा हूँ, अत्यंत डर भी रहा हूँ, सोचता था ऐसी बात तुम्हें न लिखूँ, किन्तु बिना लिखे मुझ से रहा भी तो नहीं जाता। मेरा हृदय दुविधा की चक्की में पिस रहा है। तुम मुझे नित्य माल्य अर्पण करती हो, इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ, उस माला को मैं नित्य रात्रि भर अपने अश्रुओं से सिंचित करता रहता हूँ, जिससे उसके पुष्प अम्लान बने रहें। जब से तुम्हारा अनिर्वचनीय आनन अवलोकन किया है, तबसे निद्रा मुझसे असंतुष्ट होकर चली गयी है। भूख भी नहीं लगती। बात तो असंभव है। बौने के चन्द्र को ग्रहण करने के समान है, फिर भी एक कोने में बैठी आशा मुझे बारम्बार अधीर बनाये हुए है। मैं जानता हूँ, तुम्हारे पिता धनी हैं, प्रतिष्ठित हैं सम्भ्रान्त हैं, तुम उनकी प्राणों से भी प्यारी पुत्री हो एकमात्र संतान हो। इधर मैं मातृ पितृ हीन हूँ, साधन विहीन हूँ मामा के यहाँ रह कर दिन काटता हूँ, तुम्हें पाना असंभव है। इतने पर भी मन मानता नहीं। विवश होकर लिख ही दिया। क्या कभी जीवन में मुझे तुम्हारा दासानुदास बनने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है?"

चन्द्रावती ने पत्र पढ़ा, एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा बारबार पढ़ा। उसका हृदय भर आया, आखें बहने लगीं। किशोरावस्था में एक सुन्दर किशोर युवक जिससे अनुराग करे, कौन ऐसा नारी

हृदय होगा; जो उस अनुराग की उपेक्षा कर दे। यह दूसरी बात है कि वह उसे शब्दों में व्यक्त न कर सके। प्रायः कुलवती नारी जाति के लिए उसे शब्दों में व्यक्त करना अत्यंत कठिन ही है। पुरुष तो कर भी सकता है, किन्तु पुरुषों से चौगुनी अधिक लज्जा रखनेवाली कुलवती नारी उसे कहे भी तो कैसे कहे।

चन्द्रावती जयचन्द्र को चाहती न हो सो बात नहीं, किन्तु वह कह कैसे सकती थी। दूसरे दिन माला के साथ उसने भी जयचन्द्र के हाथों में एक छोटा-सा नन्हा-सा पत्र थमा दिया। जयचन्द्र को आशा थी, जैसे मैंने उससे प्रार्थना की है, वह भी विस्तार से उसका उत्तर देगी, किन्तु उस पत्र में ऐसा कुछ नहीं था, उसमें इतना ही लिखा—"नारी जाति स्वतंत्र नहीं। मेरे पूज्य पिताजी हैं, वे जो करेंगे वही होगा। मैं क्या जानूँ ?"

किसी भाँति वंशीदास जी को यह बात ज्ञात हो गयी कि मेरी पुत्री जयचन्द्र से अनुराग करती है, वे इस सम्बन्ध को हृदय से चाहते तो नहीं थे, किन्तु इकलौती पुत्री का मन भी मारना नहीं चाहते थे। जयचन्द्र के मामा से बात चीत होने पर दोनों के विवाह की बात पक्की हो गयी। दोनों ओर से विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

जब विवाह के कुछ ही दिन रह गये, तो काल ने अपनी एक अत्यंत ही क्रूर क्रीड़ा दिखायी। जयचन्द्र का प्रेम गंभीर नहीं था, वह छिछला था, वह चन्द्रावती के बाहरी रूप को ही देख सका, उसके अन्तर को स्पर्श न कर सका। वह रूप का ही उपासक था। किसी अत्यंत सुन्दरी यवन कन्या के रूप को देखकर जयचंद्र चन्द्रावती के अनुराग को अपनी याचना को भूल गया। उसने उस यवन कन्या के द्वार पर अपनी झोली फैला दी। वहाँ तो निश्चित उत्तर था—यदि तुम अपने धर्म को छोड़कर विधर्मी बन

जाओ तो तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो सकती है, धर्म का मूल्य देकर रूप क्रय किया जाता है। रूपाकर्षण में अन्धे हुए जयचन्द ने अपने धर्म का परित्याग कर दिया। उसने उस यवन कन्या से विवाह कर लिया और वह विधर्मी बन गया।

चन्द्रावती की समस्त आशाओं पर तुषाराघात हुआ। उसके सभी स्वर्णिल स्वप्न धूमिल बन गये। वह मर्माहत हो गयी। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया--"बेटी! वह तो पथभ्रष्ट था; मैं किसी अत्यंत कुलीन लड़के के साथ तेरा विवाह कर दूँगा।"

शीलवती कुलवती पुत्री अब पिता से अपने मन की बात कैसे कहती--मन तो एक ही है, जहाँ फँस जाता है वहाँ से कठिनता से निकलता है, नहीं भी निकलता है। उसने सरलता से कहा—"पिताजी! विवाह होना ही चाहिये यह कोई आवश्यक ही है क्या? मुझे आप पुत्र ही समझें, मैं आपके चरणों में ही रहकर जीवन को नहीं काट सकती क्या?

पिता कवि थे, अनुभवी थे, सहृदय थे, पुत्री की मर्मान्तक पीड़ा का उन्होंने अनुभव किया। उन्होंने पुनः पुत्री से विवाह का आग्रह नहीं किया। पुत्री का मन कैसे लगे इसके लिए उन्होंने उसे कविता करने का आदेश उपदेश दिया, जिसपर कविता करना आ गया उसे फिर अन्य मनोरञ्जन की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका मन तो सदा कविता लोक में ही विचरण करता रहता है, जिस लोक में इस वीभत्स लोक की भाँति निन्दा नहीं, घृणा नहीं, लांछना नहीं, अपवाद नहीं, असौन्दर्य नहीं। जहाँ सत्यं शिवं सुन्दरं का ही साम्राज्य है।

पुत्री ने पिता के आदेश का पालन किया। उसने रामायण बनायी और भी बहुत से लोकगीत बनाये। पिता ने फूलेश्वरी

नदी के तट पर अपनी ब्रह्मचारिणी तपस्विनी पुत्री के लिए विश्वेश्वर शिव का एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया। तपस्विनी चंद्रावती दिन भर पूजा पाठ में ही लगी रहती। भगवान की पूजा के लिए फूलवन से पुष्प चुनती, बिल्व पत्र तोड़ती, माला बनाती। घंटों अर्चना करती और बचे हुए समय में कविता करती। उसे काल कठिनता का बोध ही न होता। काल मंथर गति से चलता जाता। तभी उसके जीवन में फिर एक बड़े वेग का धक्का लगा। फिर एक बवंडर आया और उसकी चोट को वह फिर सहन न कर सकी। वह काल का कवल बन गयी।

जयचन्द्र जिस रूपज्योति में चकाचौंध बना था वह तो मृग तृष्णा थी। कहाँ यथार्थ और परछाई। कहाँ कांच और कहा चैतन्य मणि। जयचंद्र को शान्ति नहीं मिली। उसका मन उसे बारबार धिक्कारता रहता। चन्द्रावती के निश्छल निष्कपट प्रेम को याद कर करके वह रोता रहता। अन्त में वह उस लड़की को छोड़कर अपने गाँव में लौट आया। अब उसे जीवन भार-सा प्रतीत होने लगा। ग्लानि लज्जा और संकोच के कारण उसे मर्मान्तक पीड़ा होने लगी। सम्पूर्ण साहस बटोर कर उसने वंशीदास जी को एक पत्र लिखा। उसमें उसने एक बार चन्द्रावती के दर्शनों की प्रार्थना की।"

पिता का हृदय छलनी हो गया था। जिसने मेरी पुत्री का सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर दिया, जिसने मेरे जीवन को निराश दुखी और रिक्त बना दिया, वही दुष्ट फिर मुझे मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाने आ गया। मर्माहत पिता ने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी उसने उसके पत्र का कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

तब जयचन्द्र ने चन्द्रावतीको एक अत्यंत मार्मिकपत्र लिखा—"देवि! मैं अधिकारी तो नहीं हूँ तुम्हें मुँह दिखाने का। किन्तु

मैं इस संसार से सदा के लिए जा रहा हूँ, चाहता हूँ महाप्रस्थान के पूर्व एक बार तुम्हारे चरण स्पर्शकर सकूँ अपने उष्ण अश्रुओं से तुम्हारे अरुण चरणारविन्दों को धो सकूँ। "हाँ मैं भूल गया, मैं तो म्लेच्छ हूँ, विधर्मी हूँ, तुम्हें स्पर्श करने का मुझे अधिकार ही क्या है, मैं स्पर्श नहीं करूँगा। दूर से एक बार केवल एक ही बार तुम्हारे अंतिम दर्शन करना चाहता हूँ। यही मेरी अंतिम लालसा है। क्या मेरी यह लालसा पूरी हो सकेगी ?"

चन्द्रावती ने पत्र पढ़ा रो पड़ी। काल की कैसी विडम्बना है जिसकी मूर्ति हृदय में तो लिखी है, किन्तु उसे आंख उठाकर देख नहीं सकते। शरीर से स्पर्श नहीं कर सकते। उसके लिए स्वेच्छा से सान्त्वना के दो शब्द लिख नहीं सकते। चन्द्रावती ने डरते डरते अपने पूज्य पिता जी से पूछा जिनकी इच्छा के विरुद्ध वह कुछ भी नहीं कर सकती थी। पिताजी! जयचन्द्र एक बार मिलना चाहता है।"

दुखी पिता ने अपने सम्पूर्ण रोष को छिपाते हुए अपने असह्य क्रोध को पीते हुए कहा—"बेटी! जयचन्द्र विधर्मी है, यवन है, धर्म भ्रष्ट है। उससे हमें क्या काम ?"

पुत्री ने फिर पिता से कुछ भी नहीं कहा। उत्तर भी कैसे दे। वह भगवान् विश्वेश्वर की अर्चना में तल्लीन हो गयी। भीतर से किवाड़ बन्द करके वह दिन भर शिवपूजन और स्तोत्रपाठ में ही लगी रहती।

इधर चन्द्रावती से कुछ भी उत्तर न पाकर जयचन्द्र विक्षिप्त हो गया। उन्मादावस्था में वह मंदिर के समीप आया। दूर खड़े होकर उसने पुकार की—"चन्द्रा! एक बार दर्शन दो, अंतिम बार मैं तुम्हें देखकर इह लोक की लीला समाप्त करना चाहता हूँ।"

चन्द्रावती तो किवाड़ बंद करके स्तोत्रपाठ और पूजा में तल्लीन थी, उसने जयचन्द्र के शब्द सुने ही नहीं। निराश उन्मादी जयचन्द्र ने पत्थर पर सिर पटका और मन्दिर के द्वार पर लिख दिया–"सदा के लिए विदा होने को एक बार झांकी पाने को आया था, किन्तु पापी की वाणी ने भी साथ नहीं दिया वह भी द्वार तक जाकर लौट आई, तुम्हारे कानों तक वह भी नहीं पहुँची। अच्छा क्षमा! अंतिम विदा सदा के लिए विदा।"

इतना लिखकर जयचन्द्र ने फूलेश्वरी नदी में कूद कर अपने प्राणोंको विसर्जित कर दिया। पूजासे निवृत्त होकर जब चन्द्रावती ने दिवाल पर जयचन्द्र के लिखे ये शब्द पढ़े तब उसे कितनी मर्मान्तिक पीड़ा हुई होगी, इसका अनुमान कौन कर सकता है। वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। अपने अन्तःकरण के दुख को किस से कहे। मन की पीड़ा को किसके सम्मुख व्यक्त करे। पिता को तनिक भी पता लगेगा, तो उन्हें कितना क्लेश होगा। अतः उसने उस विषको स्वयं ही पीकर पचा डाला। अब उसे न भूख लगती थी न प्यास। कविता भी लिखती थी तो मानों करुणा को उगल रही हो। थोड़े ही दिनों में पूजा करते करते उसने इस पांचभौतिक शरीर का त्याग कर दिया।

ऐसी थी वह कवियित्री चन्द्रावती जिसके साथ कालने क्रूर तम क्रीड़ा की और जो अपनी करुणामयी कविताओं से अजर अमर हो गयी।

काल की दृष्टि में न कोई छोटा है न बड़ा, न कोई अच्छा है न बुरा, उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। छोटे बच्चे को सोने का, चाँदी का, मिट्टी का, पत्थर का, कागद का या किसी अन्य वस्तु का बना खिलौना दे दो, उसके लिये सभी समान हैं। कुछ देर उस

से खेलेगा, फिर उसे फेंक देगा, नष्ट कर देगा फोड़ देगा। उसकी दृष्टि में सभी बराबर हैं।

पहिले हम समझा करते थे। दुःख तो हम निर्धनों के ही भाग्य में हैं, ये धनी लोग तो बड़े सुखी रहते होंगे। सदा माल उड़ाते होंगे।" तब हम समझते थे धन में ही सुख है। किन्तु जब धनी लोगों के संसर्ग में आये, बड़े लोगों से परिचय हुआ तब पता चला हम छोटे लोगों का दुःख भी छोटा ही है, जो जितना ही बड़ा होगा उसका दुःख भी उतना ही बड़ा होगा। बड़े आदमी हम से सहस्रों लाखों गुने दुःखी हैं। काल की चपेट से कोई भी नहीं बच सकते। काल की दृष्टि में सभी समान हैं। शतरञ्ज की गोटें चाहें वे हाथी हों, घोड़े हों, ऊँट हों, सभी काठ के ही बने हैं सभी एक समान हैं।

आज से ७-८ वर्ष पूर्व ही राजाओं के कैसे ठाठ थे, कैसा उन का वैभव था, कैसे राजकुमार थे। किसी को राजा से भेंट हो जाय, तो मानों भगवान् से भेंट हो गयी। राजा चाहें सुरापी हो मांसाहारी हो, व्यभिचारी हो, बड़े-बड़े संत महात्मा उनके दर्शनों को जाते थे। राजा में आठों लोकपालोंका अंश माना जाता था। गीता का "नराणां च नराधिपम्"। यह श्लोकपढ़कर उसे भगवान् की विभूति माना जाता था। "राजा" शब्द में ही कितना गौरव था। तीर्थों में जहाँ कोई छोटा मोटा भी राजा पहुँच जाता था, तो हल्ला मच जाता था, लोग राजा के दर्शनों को दौड़े आते थे। काल के प्रभाव से एक यह भी दिन आया कि एक ही दिन में वे ईश्वर से साधारण लोग बन गये। साधारण लोगों की भाँति नौकरी करने लगे। लाखों मनुष्य जिनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहते थे, अब वे साधारण लोगों की घुड़कियाँ सहते हैं उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। जो राजमहिषी, राजकुमारियाँ असू-

र्यंपश्या कही जाती थीं। स्वेच्छा से सूर्यनारायण भी जिन्हें नहीं देख सकते थे, वे ही रानी राजकुमारी आज साधारण स्त्रियों की भाँति सिर खोले, खुले बाजारों में घूमती दिखायी देती हैं। यह सब काल की ही तो महिमा है। काल कभी दरिद्री को सिंहासनारूढ़ करता है। तो कभी सिंहासनारूढ़ को पकड़ कर नीचे गिरा देता है। काल स्थिर बैठता नहीं वह चक्र की भाँति निरन्तर घूमता रहता है, नीचे का ऊपर और ऊपर का नीचे यही क्रम उसका सतत अबाधितरूप से चलता ही रहता है। जिस प्रकार राजागण एक ही दिन में अपदस्थ हो गये। कभी ऐसा भी समय आवेगा, कि जनता पुनः राजाओं की माँग करेगी। ये लोग पुनः अपने गये हुए राज्यों को प्राप्त कर लेंगे। किसी की आँखों में जाला पड़ गया हो, तो चिकित्सक या तो अंजन लगाकर उस जाले को गला देता है, या शल्य चिकित्सा करके जाले को काटकर निकाल देता है। यह नहीं करता कि जिस आँख में जाला पड़ गया है, उस आँख को ही फोड़ दे। इधर काल के प्रभाव से राजाओं में, भूमिपतियों में बड़े दोष आ गये थे। वे अत्यंत मदान्ध बन गये थे, अधिकांश व्यभिचारी तथा दुर्व्यसनी बन गये थे। वे अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। दुर्निवार भगवान् काल को वे भूल ही गये थे। विषयों की दिन दूनी रात्रि चौगुनी लालसासे उन्हें आगे का कुछ ध्यानही नहीं रहा था। महाराज मुचुकुन्द ने काल रूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की स्तुति करते क्या ही सुन्दर बात कही थी। उन्होंने कहा—"प्रभो। हम राजा गण सदा इसी चिन्ता में रहते थे, कि हमें इतना धन मिल जाय, उसका राज्य प्राप्त हो जाय, उससे बढ़कर हम भोग-भोग सकें उससे बढ़िया ठाठ-बाठ बना सकें, इन्हीं विचारों में हम लोग उन्मत्त हो गये थे। विषय जितने ही मिलते जाते थे, उनकी लालसा भी

उतनी ही अधिक बढ़ती जाती थी। हमने आपके काल रूप को विस्मृत ही कर दिया था। जैसे क्षुधा के कारण जीभ लपलपाता सर्प असावधान चूहे को दबोच देता है, उसी प्रकार सदा सावधान रहने वाले काल स्वरूप आप प्रमत्त हुए जीवों को सहसा आकर पकड़ लेते हैं। यह हमारी ही दशा नहीं जीव मात्र की ऐसी दशा है।*

जब इन राजाओं ने अति कर डाली तो काल भगवान् ने इन मदान्धों की आँखों में दरिद्रता रूपी अंजन डाल दिया जिससे इनका रोग दूर हो जाय। प्राणी जब तक स्वयं दारिद्र के दुःख का अनुभव नहीं करता, तब तक उसकी आँखें नहीं खुलतीं "असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्" इसलिये काल भगवान् ने इन्हें ऊपर से लाकर नीचे पटक दिया। सिंहासनों से नीचे गिरा दिया। इनके मदको चूर करने के लिये इनके अधिकार छीन लिये। किन्तु यह स्थिति भी बहुत दिन नहीं रहने की। क्योंकि काल भगवान् चुपचाप बैठने वाले नहीं हैं, वे ऊपर की वस्तु को नीचे और नीचे की वस्तु को ऊपर करते ही रहते हैं। राजाओं में अवगुण ही अवगुण नहीं थे कुछ गुण भी थे। एक ही स्थान पर इतने

---

* प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकम्॥
(श्रीभा० १० स्क० ५१ अ० ५०)

ऐश्वर्य का प्रदर्शन कहाँ होता था ? कला, कौशल, संगीत, साहित्य, धर्म, मर्यादा, शिष्टाचार, संरक्षण क्या नाममात्र के समाजवाद में संभव है ? सौन्दर्य, कुलीनता, परम्परागत संस्कृति की मर्यादा को ये ही स्थिर रखते थे। इन जड़ विधि की बेड़ी में जकड़े हुए क्षुद्राशय, क्षुद्रहृदय, अकुलीन, परम्परा से वंचित, चुने हुए शासकों से यह संभव नहीं। जनता अविलम्ब इनसे ऊब जायगी। फिर वंश परम्परागत राजाओं में गुण ही गुण दिखायी देने लग जायँगे। लोग राजा बनाने को व्यग्र बन जायँगे। साम्यवाद की शुष्क चक्की में पिसते पिसते पग पग पर सहकारीसरकारी बंधनोंसे मुक्त होनेके लियेसबलोगराजा चाहेंगे। वे क्या चाहेंगे काल ही उनके मुख से कहलायेगा। फिर राज्यों की स्थापना होगी, फिर सिंहासन लगेंगे, फिर छत्र मुकुट का बोल बाला होगा। यही उन लीलाधारी काल भगवान् की लीला है यही उन कौतुकी का कौतुक है। जब जैसा काल होने को होता है तब वैसे ही वानिक बन जाते हैं। जहाँ ग्रीष्मकाल जाने को होता है, लोग वर्षा के लिये अधीर हो जाते हैं, सदा आकाश की ही ओर ताकने लगते हैं। वर्षाकाल आ जाता है। वर्षा से ऊबे कि शनैः शनैः शरदी आती है। यह काल परिवर्तन इस ढंग से होता है, कि हमें प्रतीत ही नहीं होता कब बदल गया। बदलता तो नित्य ही है। लड़की बढ़ती तो प्रतिक्षण है। हम उसे गोदी में खिलाते हुए अनुभव नहीं करते। एक दिन देखते हैं उसका बाल काल तो चला गया, युवावस्था ने उसपर अधिकार जमालिया, तब पिता को उसके विवाह की चिन्ता होती है। इस प्रकार काल शनैः शनैः गुपचुप प्रतिक्षण परिवर्तन करता रहता है; हमें पता तब चलता है जब उस परिवर्तन का स्थूल रूप हमारी आंखों के सामने आ जाता है।

सबसे बड़ी साधना यही है कि प्रत्येक वस्तु में काल की क्रीड़ा देखी जाय। हमने एक बीज मिट्टी में बो दिया। समय पर उसे पानी से सींच दिया। कुछ दिन पश्चात् हम एक दिन सोकर उठकर सहसा प्रातः देखते हैं, उसमें छोटा अंकुर उत्पन्न हो गया। वह सहसा नहीं हुआ। काल भगवान् उसे भीतर ही भीतर पकातेरहे। जब उसका स्थूल रूप हमारी चर्म चक्षुओं को दिखायी दिया तब परिणाम का पता चला। फिर शनैः शनैः वह अंकुर बढ़ते बढ़ते बड़ा भारी विशाल वृक्ष बन गया। यही काल का काम है। इसी काल को सर्वान्तर्यामी ईश्वर मानो। इस काल को जिसने भगवान् समझकर नमस्कार कर लिया; वही सुख, दुख, पाप, पुण्य, हर्ष, विषाद आदि द्वन्द्वों से छूट कर निर्मुक्त बन जाता है। जो काल के इस रूप को बिना जाने ही मर जाते हैं, वे पुनः पुनः चौरासी के चक्कर में आते जाते रहते हैं। जीवन मरण के प्रवाह में पड़कर मरते और जन्म लेते रहते हैं जो काल का यथार्थ स्वरूप जान जाते हैं। वे न कभी मरते हैं न जन्म लेते हैं; मुक्तिभाक् बन जाते हैं, कालातीत हो जाते हैं। इसलिये प्रवाह रूप से बहने वाले इस काल को ही भगवान मानकर समस्त भगवत् स्तुतियों में काल को बारम्बार नमस्कार की गयी है, काल की महान् महिमा गायी गयी है। यह जो भी कुछ अच्छा, बुरा, खोटा, खरा, सदाचार, व्यभिचार हो रहा है, सब काल के ही प्रभाव से हो रहा है, इसमें दोष किसी का नहीं। काल की महिमा है सबका काल बँधा है, उससे कोई न राई भर घट सकता है न तिलभर बढ़ सकता है। काल ही जंगलों को नगर बनवा देता है, काल ही नगरों को सघन वन के रूप में परिणित कर देता है। काल ही बड़े को छोटा और छोटे को बड़ा [illegible]
इसीलिये राजर्षि भर्तृहरि ने काल को बली [illegible]

भगवत् रूप में वन्दना की है।

एक बार भर्तृहरि कहीं से निकलकर जा रहे थे। वहाँ उन्होंने खंडहर पड़े, देखे उन्हें देखकर वे खड़े हो गये और अत्यन्त ही अधीरता के साथ अपने एक साथी से दीर्घनिःश्वास लेते हुए कहने लगे—

भाई! तुम इन खंडहरों को देख रहे हो न?

उसने कहा—"हाँ, देख तो रहा हूँ, इसमें क्या बात है टूटी फूटी ईंटें पड़ी हैं, ऊँची नीची भूमि है।"

भर्तृहरि ने कहा—"सो तो है ही, किन्तु इन खंडहरों में एक महान् इतिहास छिपा है; ये सब ईंटें अतीत की स्मृतियाँ दिला रही हैं, हृदय में मीठी मीठी हूक पैदा कर रही हैं।"

साथी ने कहा—"कुछ कहो भी तो।

भर्तृहरिजी ने कहा—"क्या कहें, कुछ कहने की बात हो तो कही भी जाय क्या से क्या हो गया। पहिले यहाँ एक बड़ी भारी नगरी थी। ऐसी सुन्दर ऐसी सजी बजी कि इसकी समता की खोजने पर भी कम नगरियाँ मिलेंगी। नगरी ही नहीं थी, यह एक राजा की राजधानी थी। राजा भी ऐसे वैसे साधारण राजा नहीं थे। वे सब से महान् माने जाते थे। सर्वत्र उनके धवल यश का विस्तार था। सर्वत्र उनके दान की ख्याति थी। उनके एक से एक बढ़कर कुलीन, विद्वान, नीतिज्ञ, देशकालज्ञ संधि विग्रह में दक्ष सैकड़ों मंत्री थे। उनकी अद्वितीय राजपरिषद् थी। जो संगीत की ध्वनि से सदा प्रतिध्वनित होती रहती। स्वर्ग की अप्सराओं के समान वारवनितायें जहाँ नित्य नये नये नृत्य दिखातीं, बन्दी विरुदावली गाते। नट नर्तक अपनी अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते। पंडित गण शास्त्र चर्चा करते। जहाँ कितने निर्धन नित्य धनी बनाये जाते। उस राजा की

एक से एक सुन्दरी अप्सराओं को भी लज्जित करने वाली सहस्रों रानियाँ थीं। जिनके हास, विलास, रूप, यौवन, सौन्दर्य, सौभाग्य को देखकर सुर ललनायें भी ईर्ष्या करतीं। कितने सुन्दर सुन्दर उस राजा के सैकड़ों राजकुमार थे, जब वे वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर सुन्दर सुडौल पुष्ट घोड़ों पर चढ़कर निकलते तो पृथिवी डगमग करने लगती। उस राजा की राज कुमारियाँ कितनी सुन्दरी थीं, जब वे अपने अन्तःपुर के बगीचों में टहलतीं तो ऐसा लगता था मानो सैकड़ों पूर्णचन्द्र अपनी शीतलमन्द किरणों से आराम को आलोकित कर रहे हों। उस राजा का अतुल वैभव था, सुरपति को भी लज्जित करने वाला उसका वैभव था, किन्तु आज देख रहा हूँ न यहाँ वह नगरी है, न वे फल फूलों से लदे बाग बगीचे और वृक्ष ही हैं। न वे राज महल हैं, न राजसभा, राजा, रानी, मंत्री, सचिव, सेवक, नट, नर्तकी, सूत, मागध, बन्दी तथा सेवक, सेनापति और तथा प्रजा जन न जाने सबके सब कहाँ चले गये। ये सब काल कवलित हो गये। काल भगवान् के गाल में समा गये। कहने मात्र को रह गये। जिन काल भगवान् की कृपा से ये सबके सब विलीन हो गये, उन काल देव को बारम्बार नमस्कार है, प्रणाम है वन्दना है।"

मुझे बहुत से बन्धु लिखते हैं, पूछते हैं—प्रति मास "भागवती कथा" निकालना चाहते थे। अब तो वर्षों दर्शन नहीं होते, निकालने में देरी क्यों करते हो? क्या उत्तर दूँ, यही कहता हूँ सब काल के अधीन है काल पाकर अवश्य निकल जायेगी। जो काल ऊजड़ को नगर बना देते हैं, नगरों को उजाड़ देते हैं, उन काल भगवान् को बारम्बार नमस्कार है। राजर्षि भर्तृहरि के शब्दों में-

भ्रात कष्टमहो महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत् ।
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत् ताश्चन्द्र विम्बाननाः ।
उद्रिक्तः स च राजपुत्र निवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः,
सर्वंयस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥

छप्पय

हाय ! बन्धु अति कष्ट रही इत नगरी भारी ।
रह्यो महा नृप तासु नारि सुमुखी सुकुमारी ॥
सुन्दर सुघर सुशील राजसुत अति बलवन्ता ।
सेवक सचिव समूह समर प्रिय सब सामन्ता ॥
बन्दी बहु बिरुदावली, गावत रह्यो न नाम है ।
निगले जिनि सब काल तिनि, बारम्बार प्रनाम है ॥

संकीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग
मिती चै० कृ० ६।,२०१५

प्रभुदत्त

सं० २०१५ में यह ६९ वें खण्ड के लिये भूमिका लिखी थी। अब तक ६९ वां खंड अब निकलेगा, इसलिये यह भूमिका भी इसी ६९ वें खंड में जोड़ दी है। काल अब क्या कौतुक कराते हैं। कुछ पता नहीं। पाठक प्रतिक्षायें काल की प्रतीक्षा करें, कालरूप भगवान् को नमस्कार करें, सभी कहानियों में बन्दी के लम्बे हाथ को देखें। आप दुःख शोक से छूटजायेंगे। अच्छा प्रणाम ! नमस्कार !

अखिल भारतीय संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन

के

भूतपूर्व प्रधानमन्त्री

स्वर्गीय पं० केदारनाथ शर्मा, सारस्वत

की

शुभ सम्मति

श्री ब्रह्मचारीजी महाराज द्वारा लिखित और प्रकाशित भागवती कथा को मैंने आरम्भ से पढ़ा, श्री ब्रह्मचारीजी ने भागवत जैसे महत्वपूर्ण कठिन और पवित्र ग्रन्थ को सरस और सरल भाषा के माध्यम से जनता में प्रचारित करके "विद्यावतां भागवते परीक्षा" का प्रमाण ही प्रस्तुत नहीं किया है, प्रत्युत इस कार्य से उन्होंने भारतीय संस्कृति का भी महान् उपकार किया है।

यह असाधारण और अत्यावश्यक कार्य श्री ब्रह्मचारीजी जैसे असाधारण भक्त से ही सम्भव था, मैं इसका घर-घर प्रचार चाहता हूँ।

सप्रेम—केदारनाथ शर्मा सारस्वत

भागवत दर्शन

खण्ड ६९

गीतावार्ता (१)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण २००० प्रति] वैशाख—२०२३ विक्र० [मू० १-२५ पै०

प्रकाशक
[illegible] भवन धार्मिक न्यास (ट्रस्ट)
प्रतिष्ठानपुर (झूसी प्रयाग)

मुद्रक
[illegible] प्रेस
[illegible] (प्रयाग)

विषय सूची

विषय		पृष्ठ संख्या
आत्म निवेदन	...	१
कालायतस्मै नमः (भूमिका)	...	९
१—प्रार्थना	...	३३
२—गीता-वार्ता (श्रीमद्भागवत और गीताज्ञान)	...	३८
३—गीता-वार्ता (धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र)	...	५३
४—सैन्यावलोकन दुर्योधन द्वारा	...	६२
५—पाण्डव पक्षीय शूरवीर	...	७०
६—पाण्डव पक्षीय अन्य महारथी	...	७९
७—कौरव पक्षीय शूरवीर	...	८४
८—सेना नायक की रक्षा ही धर्म है	...	९४
९—हर्ष ध्वनि	...	१०३
१०—पाण्डवों की सेना की ओर से शंखध्वनि	...	११०
११—युधिष्ठिरादि सभी वीरों द्वारा शंखध्वनि	...	११९
१२—शंखों की तुमुलध्वनि	...	१२७
१३—रथी द्वारा सारथी को आज्ञा	...	१३२
१४—नटवर ! निरीक्षण करूँगा	...	१४१
१५—उभय सेना के मध्य में गुडाकेश का रथ	...	१४६
१६—अर्जुन द्वारा सैन्यावलोकन	...	१५३
१७—कृपा विष्ट अर्जुन	...	१६०
१८—शिथिलाङ्ग अर्जुन	...	१६५
१९—मुझे विजय नहीं चाहिये	...	१७१
२०—इनको नहीं मारूँगा	...	१७९

२१—सम्बन्धियों को मारकर माधव ! मिलेगा क्या ? १८४
२२—ये न भी सोचें हमें तो सोचना ही है ... १९१
२३—कुलक्षयकृत दोष १९६
२४—वर्णसंकर कारक दोष २०१
२५—अहो ! हम महापाप करने को उद्यत हैं ... २०६
२६—चाहे जो हो मैं युद्ध न करूँगा ... २१२

॥ श्रीहरिः ॥

आत्म निवेदन

जानामिधर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्य धर्मं न च मे निवृत्तिः
त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन
यथा नियोक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ ❀

छप्पय

हे माधव मनहरन मदन मोहन मदहारी।
हे अनाथ के नाथ कृपालो कुञ्जविहारी॥
सुखकर तुम नहिँ लगत विषय सुख सुखकर लागैं।
ग्राम्य गीत नित सुनत करन गीता सुनि भागैं॥
आपु नचावत नाच जस, नाचौं तस बानो धरूँ।
जानत धरम अधरम सब, अवश कराओ सो करूँ॥

६८ वे खण्ड में हमने सूचना दी थी, कि अब भगवान् के ऊपर हैं, वे लिखावेंगे तो लिखेंगे नहीं तो पाठक भागवत दर्शन

❀ मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु उससे स्वतः निवृत्त नहीं हो सकता। हे हृषीकेश! हृदय में बैठ कर तुम जिस काम में मुझे लगा देते हो, उसी को करता रहता हूँ।

को यहीं समाप्त समझें। तब से जीवन में बड़ी चहल-पहल रही, नटवर ने विविध प्रकार के नाच नचाये,विविध भाँति के बाने बदलवाये। जैसा उनका पार्श्वभाग से संकेत पाते गये, वैसा ही वेश बनाकर नाचते गये। दूसरा कुछ करने को सोचते भी तो सोच नहीं सकते थे, क्योंकि हमारे हृदय का सूत्र तो सूत्रधार के कर कमलों में था। वे जैसा संकेत करते वैसा ही नाच नाचना पड़ता। वैसा ही वेष बनाना पड़ता। वे इस संसार रूपी रङ्ग मंच पर प्रकृति नटी के साथ विचित्र-विचित्र अभिनय कराते हैं और दर्शकों को मंत्र मुग्ध बना लेते हैं। जीव अवश होकर उनके संकेत के सहारे ताल में ताल मिलाकर कुछ बेताल के ही नृत्य कर रहे हैं। कुछ को हँसा रहे हैं, तो कुछ को रुला रहे हैं। कुछ को बता रहे हैं, तो कुछ से छुपा रहे हैं,कुछ को कार्यों में व्यस्त कर रहे हैं, तो किसी को कर्मों से उपरत कर रहे हैं। सब रूपों से वे ही क्रीड़ा कर रहे हैं, किन्तु वे कर्तृत्व का अभिमान दूसरों के सिर पर लाद देते हैं। वह कहता है, ऐसा मैंने किया, मैं शत्रुओं को मारूंगा, मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ, मेरे समान कौन हो सकता है ? इसी अज्ञान अंधकार में जीव भटक रहा है। न कोई किसी को मार सकता है, न जिवा ही सकता है। जिस समय, जहाँ पर, जिसके द्वारा, जैसे भी मृत्यु आनी होगी, वह अवश्य आवेगी, उसे कोई टाल नहीं सकता। जिसे बचना होगा उसे विविध उपायों से कोई मार नहीं सकता। वह मृत्यु के मुख से भी बचकर आ जायगा। विधि के विधान को अन्यथा करने की किसी में शक्ति नहीं। उसे कोई टाल नहीं सकता।

हरिद्वार में एक सेठ केशवदेवजी पोद्दार रहते थे। वे बड़े ही धर्मनिष्ठ आचार विचारवान् सन्त हृदय के भगवत् भक्त सेठ थे।

हमसे बड़ा स्नेह रखते थे। हम जब भी हरिद्वार जाते उन्हीं के अतिथि होते। वे यथा शक्ति हमारी सेवा करते।

उन दिनों उनके पास एक बड़ी मोटर गाड़ी थी। उसे लेकर एक दिन हम ऋषिकेश गये। हमारे साथ वेद बन्धु, भगवन् तथा और भी ४, ५ बन्धु थे। हम कीर्तन करते हुए रात्रि में ऋषिकेश से लौट रहे थे। ऋषीकेश से कुछ ही मील आगे चले होंगे कि हमें सड़क के किनारे बैठा हुआ एक शेर या चीता मिला। पास में ही सड़क पर गौ की एक बछड़ी चर रही थी। रात्रि में वह सड़क पर अपनी माता से बिछुड़कर चली आयी होगी।

शेर ने जब हमारी मोटर का प्रकाश देखा तो उस बछड़ी को उठाकर वह सड़क के नीचे कूद पड़ा। मेरी दृष्टि तो उस पर पड़ी नहीं मेरे साथी लड़कों ने शेर को बछड़ी ले जाते हुए देख लिया। हमने तुरन्त वहाँ मोटर खड़ी कर दी। और चालक से कहा—जिधर सिंह कूदा है, उधर ही तेज प्रकाश करके मोटर को बढ़ा दो। चालक भी साहसी था, उसने उधर ही मोटर बढ़ा दी। तेज प्रकाश में सिंह चीते आदि की आँखों में चका-चौंध हो जाता है, वे प्रकाश को सहन न करके भाग जाते हैं। मोटर के प्रकाश के कारण शेर भग गया। मृत्यु के मुख से निकली बछड़ी बिलबिला रही थी, भय के कारण थर-थर काँप रही थी। लड़कों ने बछड़ी को उठाकर मोटर में रखा, उसे हरिद्वार ले आये। उसकी चिकित्सा की अच्छी हो गयी।

घटना तो छोटी सी ही थी, किन्तु अब आप इस पर विचार कीजिये। बछड़ी के मरने में कोई संदेह ही नहीं था। काल के मुख में जा चुकी थी। शेर अपनी दाढ़ों से उठा ले गया था, उसे भी विश्वास हो गया था, मैं मर चुकी। हम कभी स्वप्न में भी

यह सोचकर नहीं चले थे, कि हमें ऐसी दुर्घटना का सामना करना पड़ेगा। भगवान् को उस बछड़ी को बचाना था। यदि एक मिनट की देर से भी हम आते तो उसका अंत हो जाता। यदि हम शेर को देखकर भयभीत होकर मोटर को भगा ले जाते तो भी उसका अन्त हो जाता। यदि मोटरचालक साहस न करता तब भी उसके बचने में संदेह था, किन्तु भगवान् को जैसा कराना होता है, जिसे निमित्त बनाना होता है, जिसे बचाना होता है, उसके अनुरूप ही वैसे बानिक बन जाते हैं। जो नहीं होना होता है, जिसकी मृत्यु निकट आ जाती है, उसके लिये वैसा ही प्रतिकूल वातावरण बनता है। भवितव्यता श्रीरामजी के अनुकूल थी, उनके अनुकूल वैसा ही वातावरण बन गया। चंचल स्वभाव के रीछ बानरों की सेना उन्हें मिल गयी, जिनके लिये न गणवेष की आवश्यकता और न भोजन की तथा अस्त्र शस्त्रों की। पेड़ों से तोड़कर फल खालो दाँत नख पत्थरों और वृक्षों से युद्ध करलो।

भवितव्यता रावण के प्रतिकूल थी। सुवर्ण के सुदृढ़ लंका के रहते हुए, रावण, कुंभकर्ण तथा मेघनाद जैसे विश्वविजयी वीरों के रहते हुए, सर्व साधन सुसज्जित सेना के रहते हुए भी सैनिकों में लड़ने का उत्साह नहीं रहा। घर का सगा भाई समय पर उसे छोड़कर शत्रु से जा मिला। इसीलिये कहते हैं। होनी को कोई टाल नहीं सकता। भवितव्यता होकर ही रहती है। भगवान् को जिससे जो काम कराना होता है, उससे वे सब प्रकार के साधन न रहने पर भी करा ही लेते। इसमें ननुनच करने से काम चलेगा नहीं। इसीलिये भगवान् ने अर्जुन से कहा है—

यदहंकार माश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यसि॥

अर्थात् हे अर्जुन ! यदि अहंकार के वशीभूत होकर तुम कहो कि मैं युद्ध कदापि नहीं करूँगा तो यह तुम्हारा मिथ्या प्रयत्न है। प्रकृति तुम्हें युद्ध में जैसे बने तैसे नियुक्त कर ही देगी, तुम्हें युद्ध करना ही पड़ेगा।

जब भागवती कथा आरम्भ की थी, तो सोचा था, ५०-६० खण्डों में समाप्त हो जायगी। जब इसका रूप देखा तब तो हम समझ गये श्रीमद्भागवत में अठारह सहस्र श्लोक हैं। यदि एक-एक श्लोक पर एक ग्रन्थ लिखा जाय, तो अठारह सहस्र ग्रन्थ भी अपर्याप्त हैं। भगवान् व्यास के एक श्लोक के पूरे भाव को एक ग्रन्थ मे भली भाँति व्यक्त कर भी सके हैं या नहीं इसमें संदेह ही रह जायगा। तो फिर १०५ भागों मे कैसे समाप्त हो सकता है। फिर सोचा—१०८ भाग रहे तो ठीक है। इसलिये १०८ का ढिंढोरा पीटने लगे। पूरी एक माला बनाने की इच्छा हुई।

जब इसके ६८ भाग निकल गये, तो फिर मन में ऊब आयी। सबसे अधिक ऊब तो तब आती है, जब प्रेस के सम्मुख आर्थिक संकट उपस्थित हो जाता है। कुछ पुस्तकें तो उपहार आदि में बँट जाती हैं। कुछ को न्यौछावर भी आती है, वह गो ब्राह्मण हिताय में व्यय हो जाती है। फुटकर बिक्री के दाम आते हैं वे नौंन तेल लकड़ी में लग जाते हैं। फिर पुस्तक छपाने को यजमान खोजने पड़ते हैं। मेरा तो एक ही यजमान है श्यामसुन्दर। वह भोगराग मे ऐसा तल्लीन रहता है, कि उसे इन संसारी व्यवहारों से कोई प्रयोजन ही नहीं। मेरे सामने वह विविध रूपों से आता है, तब मैं झंझट छोड़कर लेखन कार्य से उपरत हो जाता हूँ, उदासीन बन जाता हूँ, दूसरे कामों में लगा दिया जाता हूँ, उसी की धुना धुनी में व्यस्त हो जाता हूँ।

आज से ५ वर्ष पूर्व सम्वत् २०१७ को मैंने ६८ वें खण्ड की

भूमिका में लिखा था, कि अब निश्चय नहीं कि आगे के खण्ड लिखे भी जायँगे या नहीं। न लिखे जायँ तो पाठक ६८ खण्डों में ही भागवती कथा की समाप्ति समझ लें।

इन पाँच वर्षों में इधर-उधर भटकता रहा। श्रीबद्रीनाथ की यात्रा की मुक्तिनाथ गया। श्रीधाम वृन्दावन में वर्ष डेढ़ वर्ष रहा। गोव्रत किया। और भी जो उस वृन्दावन विहारी ने कराया किया। मुझे निमित्त बनाकर उसने राधा रानी के क्षेत्र में, कालिन्दी के परम पावन पुलिनों में, मानसरोवर की सीमा में पुलिन वास मेला लगवाया। अपने यन्त्र से यन्त्री जो चाहे काम ले।

अब जब ये सब लीलायें करा लीं। तब कहते हैं अब आगे लिखो। क्या लिखूँ जी? कहते हैं गीतावार्ता लिखो। मैं कहता हूँ, बाबा लिखूँ तो सही किन्तु कोई सुनने सुनाने वाला पढ़ने पढ़ाने वाला हो तब न? अब तो गीता भागवत पर लिखना अरण्य रोदन है। कोई सुनने वाला नहीं पढ़ने वाला नहीं। अरण्य रोदन से लाभ क्या? व्यर्थ प्रलाप से प्रयोजन क्या होगा?

वे कहते हैं—प्रयोजन हो न हो? लाभ हानि की चिंता मत करो। "कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन।" तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, फल की इच्छा रखो ही मत। निष्काम भाव से कर्तव्य समझकर सतत कार्य में निमग्न बने रहो।

मैं तो अवश हूँ, उनका क्रीतदास हूँ, आज्ञाकारी अधम सेवक हूँ। जिस काम में लगा देते हैं, उसी में लग जाता हूँ सो, उन्हीं की मूक प्रेरणा से यह गीतावार्ता आरम्भ हुई है। कब समाप्त होगी? कितने खंडों में पूरी होगी, क्या महीने के महीने निकला करेगी? इन सब बातों का उत्तर समय ही देगा। इस समय त

इतना ही समझो भागवत दर्शन या भागवती कथा के आगे के खंड अब पुनः प्रकाशित होने लगे हैं। और विशेष जानकारी प्राप्त करनी होवे "व्यवस्थापक, संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग) के पते से प्राप्त कर सकते हैं। हाँ, तो यह भागवत दर्शन का ६९ वाँ खंड है। इस खंड की पुरानी भूमिका ६८ वें खंड के अंत में छप्पा दी थी, उस समय ६९ वाँ खंड छपेगा या न छपेगा, इसका कोई पता नहीं था। यह भूमिका सं० २०१५ में लिखी गई थी। हमारे बहुत से पाठक पाठिकायें भूमिका प्रिय ही है, ६८ वें खंड के अंत में वह इसीलिये छपा दी थी, कि ६९ वाँ खंड नहीं तो ६९ वें खंड की भूमिका ही वे पढ़ले, किन्तु काल स्वरूप काले कृष्ण की कैसी क्रीड़ा है, वे कब किससे क्या कराना चाहते हैं, इसका यथाथ मर्म कोई जानता नहीं। जब काल रूप कृष्ण की कृपा से ६९ वें खण्ड का छपने का काल आ गया, तो ६९ वें खण्ड में यह भूमिका भी दी जाती है। जब ६८ वाँ खण्ड पुनः छपेगा तब उसमें से यह भूमिका निकाल दी जावेगी। काल की कमनीया क्रीड़ा का कुछ कौतुक देखना हो तो आगे "कालाय तस्मैनमः" पढ़ें।

छप्पय

देश देशमें दयित दया के दृश्य दिखावें।
कृष्ण काल के काल काल को रूप बनावें॥
कहूँ प्रलय करवाय स्वयं जीवनि संहारें।
कहूँ कृपा करि काल बदनतैं जीव निकारें॥
जहँ जैसे जाते जबहिं, करवावें जो काज है।
तहँ तैसे ताते तबहिं, ततकालहि बनि जात हैं॥

पद

काल को उदर बड़ोई भारी।
जामें सबरों विश्व समावै पशु पच्छी नर नारी॥
प्रलय काल में सब सो जावें जल थल अरु नभ चारी।
अंडज पिंडज स्वेदज उद्भिज सब ही को हित कारी॥
पुनि प्रविसें निजनिज जोनिनिमें करमनिकी गति न्यारी।
जाको जैसो करम तासुने तैसी देही धारी॥
भोग करैं करमनिको प्रानी, फल तिनि सुख दुख कारी।
"प्रभु' तुम्हरी मोहक अति लीला बार बार बलिहारी॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)
मागशीर्ष शु० ३।२०२२ वि० } प्रभुदत्त

कालाय तस्मै नमः

(६९ वें खण्ड की भूमिका)

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय यदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥१

(श्री भा० १० स्क० १६ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

कृष्ण काल बनि करें कलित क्रीड़ा सुखकारी ।
भव्य भाव भरि उतरि अवनि पै भवभयहारी ॥
भक्तनि संसृति मेंटि अभक्तनि नाच नचावें ।
करि बिनोद विश्वेश जगत में हँसे हँसावें ॥
उतपति थिति लय करहिँ प्रभु, भिन्न भिन्न जिनि नाम हैं ।
कालरूप तिनि कृष्ण पद, पदुमनि माँहिँ प्रनाम हैं ॥

विश्वेश्वर प्रभु का कोई एक रूप नहीं। वे बहुरूपिया हैं, असंख्य रूप हैं "अनेक रूप रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।" भगवान्

---

१ नागपत्नियाँ भगवान् की स्तुति करती हुई कहती हैं—"प्रभो ! आप काल स्वरूप हैं, कालशक्ति के आश्रय हैं, कालके जो अवयव कला-काष्ठा तथा सृष्टि प्रलय तक का काल उस सबके साक्षी हैं, आप विश्व-रूप हैं, विश्व के साक्षी आप हैं, विश्व के कारण तथा कर्ता भी आप ही हैं ।"

के अनेक रूपों में उनका एक रूप "काल" भी है। जब भगवान् ने कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाया तो अर्जुन अत्यंत घबरा गये, वे भयभीत होकर पूछने लगे—"हे देवताओं में श्रेष्ठ ! आप हैं कौन ? आप करना क्या चाहते हैं ? आपका तो बड़ा उग्ररूप है ? अपना परिचय तो मुझे दीजिये ?"

इस पर भगवान् ने अपना परिचय देते हुए कहा—"मैं काल हूँ ।"

जब हम भगवान् को काल रूप में समझने लगेंगे, तो हमें किसी भी घटना से न दुःख होगा और न विस्मय, हमें यह सब काल भगवान की क्रीड़ा दिखायी देगी। इस सम्बन्ध में एक कहानी है। किसी भक्त ने भगवान् से पूछा—"प्रभो ! आप करते क्या हैं ?"

भगवान् ने कहा—"मैं क्रीड़ा करता रहता हूँ।"

भक्त ने पूछा—"क्या क्रीड़ा करते हैं नाथ ! किससे क्रीड़ा करते हैं ? और क्यों क्रीड़ा करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"क्रीड़ा खिलौनों से होती है, ये समस्त चराचर जीव ही मेरे खिलौने हैं, क्रीड़ा में क्यों का प्रश्न ही नहीं उठता। क्रीड़ा क्रीड़ा के ही लिए होती है, विनोद के लिए मनोरंजन के लिए। मेरी क्रीड़ा को विनोद मनोरंजन भी नहीं कह सकते। जिसे विषाद हो वह विनोद में प्रवृत्त हो, जिस के मन में खेद हो वह मनोरंजन की इच्छा करे। मैं तो वैसे ही खेलता रहता हूँ, लीला करता रहता हूँ, मेरा स्वभाव ही लीला करने का है। मैं लीलाधारी हूँ बहुरूपिया हूँ, विविध रूप रख लेता हूँ, जीव अपने को खिलौना न मान कर जब स्वयं कर्ता बन जाते हैं और मेरे कामों में निजत्व का आरोप करके जब बहुत रोने लगते हैं, तब भी मेरा

विनोद होता है, सुख में हँसने लगते हैं, तब भी मेरा विनोद होता है। जैसे बच्चे खिलौने से प्यार करते हैं तब भी प्रसन्न होते हैं और उसे उठाकर पटक देते हैं, फट से फोड़ देते हैं, तो फोड़ने में भी उन्हें आनन्द आता है। इसी प्रकार सभी प्रकार की चेष्टायें मेरे मनोविनोद का साधन हैं। चलो मैं कैसे क्रीड़ा करता हूँ तुम देखो।

यह कहकर भक्त और भगवान् चल दिये। कहना न होगा दोनों अदृश्य रूपसे चले। आगे चलकर देखा नदी में एक नौका आ रही है, भगवान् तुरन्त सर्प बनकर नौका में चढ़े सर्प को देखकर सभी यात्री भयभीत हो गये नौका उलट गयी। सब जल में डूब गये। भगवान् हँस पड़े। भक्त ने लोगों के मुख से सुना—सब का काल आ गया था।" किन्तु कहने वाला यह नहीं समझ सका कि काल रूप में भगवान् ही आते हैं।

आगे चल कर देखा दो सगे भाई कहीं से आ रहे हैं। दोनों ही राज कर्मचारी थे, भगवान् तुरन्त मोहिनी रूप रखकर उनके पीछे लग लिए। दोनों के ही मन में तूफान उठने लगा। प्रश्नों की झड़ी लग गयी। किन्तु रंगीली मोहिनी तो बड़ी लजीली भी थी। कटाक्ष उसके ऐसे पैने थे कि समस्त अस्त्रशस्त्र उसके सामने कुंठित हो जाते थे। सब प्रश्नों के अनन्तर उसका छोटा-सा संक्षिप्त उत्तर था। "मैं मातृ-पितृ विहीना कुमारी कन्या हूँ, तुम में से कोई भाई मुझे आश्रय देकर अपनी जीवनसंगिनी बना लो जिससे मेरा निर्वाह हो जाय। इतना सुनना था कि होने लगा दोनों भाइयों में युद्ध। पहिले तो वाक्युद्ध हुआ। "छोटा कहता-मैंने पहिले इसे देखा है, मन से वरण किया है, अब यह तुम्हारी पुत्री के समान है।" बड़ा कहता—"मेरे रहते तुझे विवाह करने का अधिकार ही

नहीं, मैं बड़ा हूँ मैंने इसे पहिले ही वरण कर लिया है, यह तेरी माता के समान है"। वाक्युद्ध के अनन्तर शस्त्र युद्ध आरम्भ हुआ। एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। दोनों ही मर कर धराशायी हुए। लोग कह रहे थे—"यह काल रूप कहाँ से आ गयी। बेचारे दोनों सगे भाई इसीके कारण काल कवलित हुए।" वे लोग यह नहीं जानते थे कि ये काल रूपमें भगवान् ही थे।

आगे चल कर देखा कि कुछ लोग घोर वन में यात्रा कर रहे थे। भगवान् सिंह का रूप रखकर उनके सम्मुख प्रकट हो गये। कुछ तो सिंह को देखते ही भयभीत होकर मर गये, कुछ भाग कर पेड़ पर चढ़ गये, कुछ सिंह के पंजों में फँसकर मर गये। जो बच कर भग गये थे वे कह रहे थे—"सिंह क्या था, साक्षात् काल ही था।" काल तो था ही किन्तु इतना वे और जान जाते कि ये काल रूप में भगवान् ही हैं, तो उन्हें दुःख या विस्मय नहीं होता।"

इस प्रकार भगवान् कहीं शस्त्रधारी बनकर, कहीं वधिक बन कर, कहीं अग्नि बनकर, कहीं विष बनकर और कहीं रोग बनकर क्रीड़ा कर रहे हैं। हम कह तो देते हैं यह सब काल की क्रीड़ा है, किन्तु अन्तर इतना ही रह जाता है, कि हम यह नहीं समझते कि काल भगवान् का ही रूप है। रामायण में, महाभारत में, भागवत में तथा अन्यान्य वेद शास्त्र पुराण तथा इतिहासों में सर्वत्र काल भगवान् की ही क्रीड़ा का वर्णन है।

संसार के समस्त कार्य काल पाकर ही होते हैं। काल पाकर ही सर्दी होती है, काल से ही गरमी होती है, काल पाकर ही बालक से युवक और युवक से वृद्ध होते हैं, काल पाकर ही निर्धन से धनी और धनी से निर्धन बन जाते हैं। एक काल वह होता है,

कि सब लोग बिना कहे आदर करने लगते हैं, सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता है, फिर ऐसा काल आ जाता है, कि लोग सामने ही अपमान करने लगते हैं और उस कड़वे घूँट को भी इच्छा न रहने पर भी हँसते-हँसते पीना पड़ता है।

अर्जुन का एक वह भी काल था, कि जिन्हें मनुष्यों की तो बात क्या, समस्त देवता असुर मिल कर भी युद्धमें नहीं जीत सकते थे। उन अमोघ अस्त्र-शस्त्रधारी भीष्म, द्रोण तथा कर्णको उन्होंने युद्धमें सरलता से जीत लिया। कितने करोड़ अरब असंख्य बाण उसके ऊपर छोड़े गये। कोई भी दिव्य से दिव्य अस्त्र-शस्त्र उसे क्षति न पहुँचा सका। फिर एक दिन ऐसा भी काल आयाकि उसी विश्वविजयी अर्जुन को,किसी शूरवीर बलवान् योद्धा ने नहीं दिव्य अस्त्रों से नहीं। साधारण लाठियों से-वनवासी दस्यु धर्मी लुटेरे गोपों ने जीत ही नहीं लिया भगवान् की पत्नियों को भी उनके देखते-देखते वे छीनकर ले गये और अर्जुन उनका कुछ भी नहीं कर सके। तभी तो किसी ने कहा है।

पुरुष बली नहिँ होत है, काल होत बलवान्।
भीलनि लूटी गोपिका, वहि, अरजुन वहि बान॥

धनुष बाण से क्या होता है, काल तो उनके विपरीत हो गया था। अनुकूल काल होने पर शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, दुर्बल भी सबल हो जाते हैं, वही काल जब विपरीत हो जाता है, तो अपने भी पराये हो जाते हैं, बलवान् भी निर्बल हो जाते हैं। काल ऐसा बली है, कि इसके सामने किसी की भी नहीं चलती। यह बलियों से भी बली है। भगवान् का रूप ही है।

जब दैत्यराज महाराज बलि के तीनों लोक के राज्य को भगवान् वामन ने अपने दो पगों में नाप लिया और तीसरे

पग के लिये वे उसे बाँधने लगे, तब सब दैत्य भगवान् वामन को मारने दौड़े। उस समय दैत्यों को प्रहार करने से रोकते हुए महाराज बलि ने बड़े ही मार्मिक वचन कहे उन्होंने कहा—"हे दैत्य सेनापतियों! आप लोग देखना भगवान् पर तथा उनके पार्षदों पर प्रहार मत करना। यह समय हमारे अनुकूल नहीं है। ये काल भगवान् ही समस्त प्राणियों को सुख अथवा दुख देते हैं। जब जैसा समय होता है तब तैसे ही बानक बन जाते हैं। काल देवता को कोई अपने पुरुषार्थ से जीतना चाहे तो यह असंभव है। देखो, एक समय था कि ये काल भगवान् हमारे अनुकूल थे, तब हमने समस्त देवताओं को चुटकी बजाते जीत लिया, तीनों लोकों का राज्य प्राप्त कर लिया, उस समय काल भगवान् देवताओं की अवनति और हमारी उन्नति के हेतु थे। आज वे देवताओं के अनुकूल हैं हमारे प्रतिकूल हैं अब आप चाहो मंत्री, बुद्धि दुर्ग, मंत्र, औषधि सामदामादि उपायों से इन काल भगवान् को जीत लें तो असंभव है। ये ही पार्षद जो आज वामन भगवान् के सामने अस्त्र शस्त्र लिये तनकर खड़े हैं, तुमने अनुकूल काल होने पर इन्हें अनेकों बार जीत लिया था ये युद्ध से भागे थे। आज काल इनके अनुकूल है अब तुम इन्हें नहीं जीत सकते। इसलिये अनुकूल काल का प्रतीक्षा करो। काल भगवान् हमारे अनुकूल हो जायगे तो एक दिन हम इन्हें फिर जीत लेंगे।*

---

* यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये।
तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान्॥
यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम्।
स एव भगवानद्य वर्तते तद् विपर्ययम्॥

दैत्यराज परम भगवत्भक्त बलिके इन वचनों से पता चलता है, कि काल के सम्मुख कोई भी उपाय, कोई भी युक्ति, कोई भी भाव ठहर नहीं सकते। काल ही सब कुछ कराते है, काल ही खेल खिलाते हैं काल ही फलों को पकाते हैं, काल ही क्रिया कराते हैं काल ही प्रवृत्त कराते हैं, और काल ही निवृत्ति की ओर ले जाते हैं। इसीलिये कविने कहा है।

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥

समस्त शास्त्र, समस्त महापुरुषों के जीवन और समस्त अवतार चरित हमें यही शिक्षा देते हैं, कि काल की शक्ति दुर्निवार है। एक काल वह भी होता है कि हम अपने प्रेमी को बिना देखे एक पलभर भी जीवित नहीं रह सकते, फिर एक काल ऐसा भी होता है। कि समीप रहते हुए भी हम उससे मिल नहीं सकते। यह काल की कैसी क्रूर विडम्बना है। रामजी ने यही तो सोचकर किष्किन्धा मे रोते रोते लक्ष्मण से कहा था—"भैया! लक्ष्मण! एक वह भी काल था कि वैदेही और हमारे हृदय के बीच में एक हार आ जाता था, तो हम

बलेन सचिवैर्बुद्धया दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः॥
भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः॥
एतान्वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति।
तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते॥
(श्री० भा० ८ स्क० २१ अ० २० से २४ श्लो०)

उस हार के व्यवधान को भी सहन नहीं कर सकते थे। आज मेरे और वैदेही के बीच में कितने नगर, देश, वन, पर्वत और समुद्र हैं उनके अन्तरायको भी हम सहन कर रहे हैं। काल की कैसी कुटिल क्रीड़ा है

मैंने किसी रामायण में तो आज तक यह प्रसंग पढ़ा नहीं किन्तु अपने बाल्यकाल में यह कथा सुनी थी, वनवासी कोल भीलों के लोकगीतों में यह प्रसङ्ग आता है, सीताजी की एक ननद थी उस ननद का क्या नाम था। रामजी की एक बहिन महाराज दशरथ की किसी अन्य रानी से शान्ता तो थीं, किन्तु वे ऋषि पत्नी थीं शृङ्गी मुनि से उनका विवाह हुआ था। वे ऐसा नहीं कर सकतीं। कोई दूसरी ननद थी। उसने एक दिन जनकनन्दिनी से पूछा—"भाभी ! तुम इतने दिनों तक लंका में रहीं; यह तो बताओ रावण कैसा था ?"

मैथिली ने कहा—"जीजी ! अब तुम्हें कैसे बताऊँ वह बड़ा राक्षस था उसे देखकर ही डर लगता था।"

उसने बहुत आग्रह किया, तब सीताजी ने भीत पर एक रावण का चित्र बना दिया। दैवयोग से उसी समय रामजी वहाँ आ गये। महाराणी जानकी सहम गईं। तब उसने कहा—"देखो भैया ! भाभी का रावण के प्रति कैसा प्रेम है कि अब तक वे उसका चित्र बनाती रहती हैं। यह बात सम्पूर्ण महल में और नगर में फैल गयी। विवश होकर भगवान ने सीताजी को अपने घर से निकाल दिया। वे गंगाजी के कछारों में भटकती रहीं। वहीं किसी नाले में उनके दो पुत्र हुए। उन पुत्रों को गोदी में लिये वे जंगलों से फल तोड़कर पेड़ों के नीचे रह कर निर्वाह करती थीं। अकस्मात् एक दिन आखेट

करते हुए रामजी वहाँ पहुँच गये। अत्यन्त कृशगात्र, मलिन वस्त्र पहिने धूप से काली पड़ी, अपनी प्राणप्रिया को राघवेन्द्र पहिचान गये। वे उनकी ओर दौड़े। वनवासिनी सीता ने कहा—"राजन! आप मेरा स्पर्श न करें। अब मैं आप के स्पर्श करने योग्य रही नहीं। मुझे कलंक लगा है, मुझ कलंकिनी के स्पर्श करने से आपके विमल यश में धब्बा लगेगा। मैं चाहती हूँ आपकी कीर्ति विमल बनी रहे। इतना सुनने पर भी रामजी से नहीं रहा गया। वे भावावेश में वन विहारिणी जनक-नन्दिनी को पकड़ने दौड़े। मैथिली पूरी शक्ति से दौड़ी जिस से राघवेन्द्र उन्हें स्पर्श न कर सकें। जब दोनों अत्यन्त समीप आ गये, तो सीताजी गंगाजी के एक ऊँचे टीले से बड़े भारी नाले में कूद पड़ी। उनके शरीर का अन्त हो गया।

सौ करोड़ रामायण हैं, किसी न किसी में यह कथा होगी ही परन्तु काल की इसमें कैसी कारुणिक लीला का वर्णन है, जनक-नंदिनी के चरित्र को कितना उज्वल बताया गया है, एक वह भी समय था कि भगवान् राम एक क्षणको भी सीताजी का वियोग सहन नहीं कर सकते थे, फिर उन्होंने ही स्वयं उन्हें निर्वासित कर दिया और जीवन भर उनसे पृथक् ही रहे। यह कथा बंगला की महिला कवियित्रि चन्द्रावती ने अपनी रामायण में भी लिखी है। जैसे हमारे यहाँ तुलसीकृत रामायण प्रसिद्ध है, वैसे ही बंगला में कृत्तिवासकृत रामायण है। उसमें बड़ी अद्भुत अद्भुत कथायें हैं। पूर्वी बङ्गाल में चन्द्रावती की भी रामायण प्रसिद्ध है। मुझे तो उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ नहीं, किन्तु उसके उद्धरण मैंने पढ़े हैं। उसमें सीताजी की इस कथा को इस प्रकार लिखा है, कैकेयी की एक पुत्री थी जिसका नाम ककुआ था। वह बड़ी ही कुटिलहृदया थी, वह नाना प्रकार के षडयन्त्र रचने में बड़ी

दक्ष थी। वह एक दिन जनकनंदिनी के समीप गई और बोली—"भाभी ! रावण कैसा था ?

जानकीजी ने कहा—"बीबीजी ! रावण को तो मैंने भी कभी नहीं देखा, वह जब भी मेरे समीप आता मैं पीठ फेर लेती थी, आँखें मींच लेती थी। हाँ, जब वह मुझे लंका ले गया था, तब मैंने समुद्र के जल में उसकी परछाई अवश्य देखी थी, उसके दश सिर और २० भुजायें मुझे समुद्र में दिखाई दी थीं।"

ककुआ ने कहा—"इस पंखे पर उसका चित्र बनाओ तो सही।"

भोली भाली सीताजी उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में आ गयीं उन्होंने पंखे पर उसका चित्र बनाया। उस ककुआ ने उन्हें इस प्रकार बातों में उरझा लिया कि बाते करते करते उन्हें निद्रा आ गयी। पंखा उनके शरीर से सट गया, वे सो गयीं। ककुआ ने चुपके से श्रीरामचन्द्रजी को बुलाया और सैकड़ो झूठी बातें बनाते हुए कहा—"देखो, भाभी अभी तक रावण को भूली नहीं। उसका चित्र बनाकर उसे छाती से चिपटाकर नित्य सोती हैं।" इस प्रकार श्रीरामजी द्वारा सीता निर्वासित हुईं। बङ्गाल की कवियित्री चन्द्रावती की रामायण की बड़ी प्रशंसा है। सुनते हैं उसकी कविता में करुणा का स्रोत फूट निकला है। उसे अनपढ़ मल्लाह आदि भी गाते हैं और गाते गाते रोते हैं। स्वयं चन्द्रावती का जीवन भी काल की एक क्रूर पहेली है। स्वयं उसके जीवन मे एक ऐसी घटना घटी कि उसका हृदय पक गया, उसमें बड़ा भारी घाव हो गया। उसी घावमें सराबोर होकर जो कविता निकली हो, वह तो सजीव करुणा ही होगी। काल ने उसके जीवन के साथ भी एक क्रूर परिहास किया। उसका जीवन भी सुनने योग्य है।

पूर्व बंगाल में उसका जन्म हुआ। उसके पिता का नाम था वंशीदास। प्रतीत होता है ये कायस्थ रहे होंगे। इनकी पत्नी का बहुत अल्प समय में शरीरान्त हो गया। चन्द्रावती मातृहीना हो गई। पिता की एकमात्र संतति थी। माता के मर जाने के अनन्तर पुत्री पिता के अधिक निकट आई, अत्यंत लाड़ चाव से स्नेह ममता से, पिता अपनी इकलौती सन्तान का लालन पालन करने लगे। वे सम्पन्न थे, जाति कुल में प्रतिष्ठित थे, संभ्रात परिवार के थे। चन्द्रावती अत्यन्त ही लावण्यवती थी, वह जितनी ही सुन्दरी थी उतनी ही सुशीला थी। अत्यन्त संकोची हृदय की। काल क्रम से वह बढ़ती गयी, बढ़ती गयी, शैशव, कौमार, पौंगड़ा वस्थाओं को पार करके अब उसने किशोरावस्था में पदार्पण किया। वह वन में फूल लेने जाया करती थी। वहीं पर उसी गाँव का, उसी की जाति का एक किशोर बालक कभी आता उसका नाम था जयचन्द्र चन्द्रावती बड़े स्नेह से माला बनाती और संकोच के साथ जयचन्द्र को दे देती। वह माला लेकर चल जाता दोनों में कुछ स्पष्ट बातें तो न होतीं, किन्तु मूक भाषा में कुछ तो बातें हो ही जातीं।

एक दिन अत्यन्त ही संकोच से उसने चन्द्रावती के हाथों में एक पत्र थमा दिया और वह चला गया। चन्द्रावती ने अनुराग भरित हृदय से, झल झलाये नेत्रों से कंपित करों से पत्र को खोल कर पढ़ा। उसमें लिखा था— मैं धृष्टता कर रहा हूँ, अत्यन्त डर भी रहा हूँ, सोचता था ऐसी बात तुम्हें न लिखूँ किन्तु बिना लिखे मुझ से रहा भी तो नहीं जाता। मेरा हृदय दुविधा की चक्की में पिस रहा है। तुम मुझे नित्य माल्य अर्पण करती हो, इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ, उस माला को मैं नित्य रात्रि भर अपने अश्रुओं से सिंचित करता रहता हूँ, जिससे उसके पुष्प अम्लान

बने रहें। जब से तुम्हारा अनिर्वचनीय आनन अवलोकन किया है, तबसे निद्रा मुझसे असंतुष्ट होकर चली गयी है। भूख भी नहीं लगती। बात तो असंभव है। बौने के चन्द्र को ग्रहण करने के समान है, फिर भी एक कोने में बैठी आशा मुझे बारम्बार अधीर बनाये हुए है। मैं जनता हूँ, तुम्हारे पिता धनी हैं, प्रतिष्ठित हैं सम्भ्रान्त हैं, तुम उनकी प्राणों से भी प्यारी पुत्री हो एकमात्र संतान हो। इधर मैं मातृ पितृ हीन हूँ, साधन विहीन हूँ मामा के यहाँ रह कर दिन काटता हूँ, तुम्हें पाना असम्भव है। इतने पर भी मन मानता नहीं। विवश होकर लिख ही दिया। क्या कभी जीवन में मुझे तुम्हारा दासानुदास बनने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है ?"

चन्द्रावती ने पत्र पढ़ा, एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा बारबार पढ़ा। उसका हृदय भर आया, आखें बहने लगी। किशोरावस्था में एक सुन्दर किशोर युवक जिससे अनुराग करे, कौन ऐसा नारी हृदय होगा; जो उस अनुराग की उपेक्षा कर दे। यह दूसरी बात है कि वह उसे शब्दों में व्यक्त न कर सके। प्रायः कुलवती नारी जाति के लिए उसे शब्दों में व्यक्त करना अत्यन्त कठिन ही है। पुरुष तो कर भी सकता है, किन्तु पुरुषों से चौगुनी अधिक लज्जा रखनेवाली कुलवती नारी उसे कहे भी तो कैसे कहे।

चन्द्रावती जयचन्द्र को चाहती न हो सो बात नहीं, किन्तु वह कह कैसे सकती थी। दूसरे दिन माला के साथ उसने भी जयचन्द्र के हाथों में एक छोटा सा नन्हा सा पत्र थमा दिया। जयचन्द्र को आशा थी, जैसे मैंने उससे प्रार्थना की है, वह भी विस्तार से उसका उत्तर देगी, किन्तु उस पत्र में ऐसा कुछ नहीं था उसमें इतना ही लिखा—"नारी जाति स्वतन्त्र नहीं। मेरे पूज्य पिताजी हैं, वे जो करेंगे वही होगा मैं क्या जानूँ ?"

किसी भाँति वंशीदासजी को यह बात ज्ञात हो गयी कि मेरी पुत्री जयचन्द्र से अनुराग करती है, वे इस सम्बन्ध को हृदय से चाहते तो नहीं थे, किन्तु इकलौती पुत्री का मन भी मारना नहीं चाहते थे। जयचन्द्र के मामा से बात चीत होने पर दोनों के विवाह की बात पक्की हो गयी। दोनों ओर से विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

जब विवाह के कुछ ही दिन रह गये, तो काल ने अपनी एक अत्यन्त ही क्रूर क्रीड़ा दिखायी। जयचन्द्र का प्रेम गंभीर नहीं था, वह छिछला था, वह चन्द्रावती के बाहरी रूप को ही देख सका, उसके अन्तर को स्पर्श न कर सका। वह रूप का ही उपासक था। किसी अत्यंत सुन्दरी यवन कन्या के रूप को देखकर जयचंद्र चन्द्रावती के अनुराग को अपनी याचना-को-भूल गया। उसने उस यवन कन्या के द्वार पर अपनी झोली फैला दी। वहाँ तो निश्चित उत्तर था—यदि तुम अपने धर्म को छोड़कर विधर्मी बन जाओ तो तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो सकती है, धर्म का मूल्य देकर रूप क्रय किया जाता है। रूपाकर्षण में अन्धे हुए जयचन्द्र ने अपने धर्म का परित्याग कर दिया। उसने उस यवन कन्या से विवाह कर लिया और वह विधर्मी बन गया।

चन्द्रावती की समस्त आशाओं पर तुषाराघात हुआ। उसके सभी स्वर्णित स्वप्न धूमिल बन गये। वह मर्माहत हो गयी। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया—"बेटी! वह तो पथभ्रष्ट था, मैं किसी अत्यंत कुलीन लड़के के साथ तेरा विवाह कर दूँगा।"

शीलवती कुलवती पुत्री अब पिता से अपने मन की बात कैसे कहती—मन तो एक ही है, जहाँ फँस जाता है वहाँ से कठिनता से निकलता है, नहीं भी निकलता है। उसने सरलता से कहा—"पिताजी! विवाह होना ही चाहिये यह कोई आवश्यक

ही है क्या ? मुझे आप पुत्र ही समझें, मैं आप के चरणों में ही रहकर जीवन को नहीं काट सकती क्या ?

पिता कवि थे, अनुभवी थे, सहृदय थे, पुत्री की मर्मान्तक पीड़ा का उन्होंने अनुभव किया। उन्होंने पुनः पुत्री से विवाह का आग्रह नहीं किया। पुत्री का मन कैसे लगे इसके लिए उन्होंने उसे कविता करने का आदेश उपदेश दिया, जिस पर कविता करना आ गया उसे फिर अन्य मनोरञ्जन की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका मन तो सदा कविता लोक में ही विचरण करता रहता है, जिस लोक में इस वीभत्स लोक की भाँति निन्दा नहीं, घृणा नहीं, लांछना नहीं, अपवाद नहीं, असौन्दर्य नहीं। जहाँ सत्यं शिवं सुन्दरं का ही साम्राज्य है।

पुत्री ने पिता के आदेश का पालन किया। उसने रामायण बनायी और भी बहुत से लोकगीत बनाये। पिता ने फूलेश्वरी नदी के तट पर अपनी ब्रह्मचारिणी तपस्विनी पुत्री के लिए विश्वेश्वर शिव का एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया। तपस्विनी चन्द्रावती दिन भर पूजा पाठ में ही लगी रहती। भगवान् की पूजा के लिए फूलवन से पुष्प चुनती, बिल्व पत्र तोड़ती, माला बनाती। घंटों अर्चना करती और बचे हुए समय में कविता करती। उसे काल कठिनता का बोध ही न होता। काल मथर गति से चलता जाता। तभी उसके जीवन में फिर एक बड़े वेग का धक्का लगा। फिर एक बवंडर आया और उसकी चोट को वह फिर सहन न कर सकी। वह काल का कवल बन गयी।

जयचन्द्र जिस रूपज्योति में चकाचौंध बना था वह तो मृग तृष्णा थी। कहाँ यथार्थ और कहाँ परछाई। कहाँ कांच और कहाँ चैतन्य मणि। जयचन्द्र को शान्ति नहीं मिली। उसका मन उसे बारबार धिक्कारता रहता। चन्द्रवती के निश्छल निष्कपट प्रेम

को याद करके वह रोता रहता। अन्त में वह उस लड़की को छोड़कर अपने गाँव में लौट आया। [illegible] जीवन भार-सा प्रतीत होने लगा। ग्लानि लज्जा और सकोच [illegible] मर्मान्तक पीड़ा होने लगी। सम्पूर्ण साहस बटोर कर उसने वंशीदास जी को एक पत्र लिखा। उसमें उसने एक बार चन्द्रावती के दर्शनों की प्रार्थना की।"

पिता का हृदय छलनी हो गया था। जिसने मेरी पुत्री का सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर दिया, जिसने मेरे जीवनको निराश दुखी और रिक्त बना दिया, वही दुष्ट फिर मुझे मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाने आ गया। मर्माहत पिता ने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी उसने उसके पत्र का कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

तब जयचन्द्र ने चन्द्रावती को एक अत्यन्त मार्मिक पत्र लिखा- "देवि! मैं अधिकारी तो नहीं हूँ तुम्हें मुँह दिखाने का किन्तु मैं इस संसार से सदा के लिए जा रहा हूँ, चाहता हूँ, महाप्रस्थान के पूर्व एक बार तुम्हारे चरण स्पर्श कर सकूँ अपने उष्ण अश्रुओं से तुम्हारे अरुण चरणारविन्दों को धो सकूँ। "हाँ मैं भूल गया, मैं तो म्लेच्छ हूँ, विधर्मी हूँ, तुम्हें स्पर्श करने का मुझे अधिकार ही क्या है, मैं स्पर्श नहीं करूँगा। दूर से एक बार केवल एक ही बार तुम्हरे अन्तिम दर्शन करना चाहता हूँ। यही मेरी अन्तिम लालसा है। क्या मेरी यह लालसा पूरी हो सकेगी?"

चन्द्रावती ने पत्र पढ़ा रो पड़ी। काल की कैसी विडम्बना है जिसकी मूर्ति हृदय में तो लिखी है, किन्तु उसे आंख उठाकर देख नहीं सकते। शरीर से स्पर्श नहीं कर सकते। उसके लिए स्वेच्छा से सान्त्वना के दो शब्द लिख नहीं सकते। चन्द्रावती ने डरते डरते अपने पूज्य पिताजी से पूछा जिनकी इच्छा के विरुद्ध

वह कुछ भी नहीं कर सकती थी। पिताजी ! जयचन्द्र एक बार मिलना चाहता है।

दुखी पिता ने अपने सम्पूर्ण रोष को छिपाते हुए अपने असह्य क्रोध को पीते हुए कहा—"बेटी! जयचन्द्र विधर्मी है, यवन है, धर्म भ्रष्ट है। उससे हमें क्या काम ?"

पुत्री ने फिर पिता से कुछ भी नहीं कहा। उत्तर भी कैसे दे। वह भगवान् विश्वेश्वर की अर्चना में तल्लीन हो गयी। भीतर से किवाड़ बन्द करके वह दिन भर शिवपूजन और स्तोत्रपाठ में ही लगी रहती।

इधर चन्द्रावती से कुछ भी उत्तर न पाकर जयचन्द्र विक्षिप्त हो गया। उन्मादावस्था में वह मंदिर के समीप आया। दूर खड़े होकर उसने पुकार की—"चन्द्रा ! एक बार दर्शन दो, अंतिम बार मैं तुम्हें देखकर इह लोक की लीला समाप्त करना चाहता हूँ।"

चन्द्रावती तो किवाड़ बंद करके स्तोत्रपाठ और पूजा में तल्लीन थी, उसने जयचन्द्र के शब्द सुने ही नहीं। निराश उन्मादी जयचन्द्र ने पत्थर पर सिर पटका और मन्दिर के द्वार पर लिख दिया—"सदा के लिए विदा होने को एकबार झांकी पाने को आया था, किन्तु पापी की वाणी ने भी साथ नहीं दिया वह भी द्वार तक जाकर लौट आई, तुम्हारे कानों तक वह भी नहीं पहुँची। अच्छा क्षमा ! अंतिम विदा सदा के लिए विदा।"

इतना लिखकर जयचन्द्र ने फूलेश्वरी नदी में कूद कर अपने प्राणों को विसर्जित कर दिया। पूजा से निवृत्त होकर जब चन्द्रावती ने दिवाल पर जयचन्द्र के लिखे ये शब्द पढ़े तब उसे कितनी मर्मान्तिक पीड़ा हुई होगी, इसका अनुमान कौन कर सकता है।

वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। अपने अन्तःकरण के दुख को किस-से कहे। मन की पीड़ा को किसके सम्मुख व्यक्त करे। पिता को तनिक भी पता लगेगा, तो उन्हें कितना क्लेश होगा। अतः उसने उस विष को स्वयं ही पीकर पचा डाला। अब उसे न भूख लगती थी न प्यास। कविता भी लिखती तो मानों करुणा को उगल रही हो। थोड़े ही दिनों में पूजा करते करते उसने इस पांचभौतिक शरीर का त्याग कर दिया।

ऐसी थी यह कवियित्री चन्द्रावती जिसके साथ काल ने क्रूर-तम क्रीड़ा की और जो अपनी करुणामयी कविताओं से अजर अमर हो गयी।

काल की दृष्टि में न कोई छोटा है न बड़ा, न कोई अच्छा है न बुरा, उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। छोटे बच्चे को सोने का चाँदी का, मिट्टी का, पत्थर का, कागज का या किसी अन्य वस्तु का बना खिलौना दे दो, उसके लिये सभी समान हैं। कुछ देर उस से खेलेगा, फिर फेंक देगा, नष्ट कर देगा फोड़ देगा। उसकी दृष्टि में सभी बराबर हैं।

पहिले हम समझा करते थे। दुःख तो हम निर्धनों के ही भाग्य में है, ये धनी लोग तो बड़े सुखी रहते होंगे। सदा माल उड़ाते होंगे।" तब हम समझते थे धन मे ही सुख है। किन्तु जब धनी लोगों के संसर्ग मे आये, बड़े लोगों से परिचय हुआ तब पता चला हम छोटे लोगों का दुःख भी छोटा ही है, जो जितना ही बड़ा होगा उसका दुख भी उतना ही बड़ा होगा। बड़े आदमी हम से सहस्रों लाखों गुने दुःखी हैं। काल की चपेट से कोई भी नहीं बच सकते। काल की दृष्टि मे सभी समान हैं। शतरञ्ज की

गोटें चाहें वे हाथी हों, घोड़े हों, ऊँट हों, सभी काठ के ही बने हैं सभी एक समान हैं।

आज से ७-८ वर्ष पूर्व ही राजाओं के कैसे ठाठ थे, कैसा उन का वैभव था, कैसे राजकुमार थे। किसी को राजा से भेंट हो जाय, तो मानों भगवान् से भेंट हो गयी। राजा चाहे सुरापी हो मांसाहारी हो, व्यभिचारी हो, बड़े-बड़े संत महात्मा उनके दर्शनों को जाते थे। राजा में आठों लोकपालोंका अंश माना जाता था। गीता का "नराणां च नराधिपम्" यह श्लोक पढ़कर उसे भगवान् की विभूति माना जाता था।"राजा" शब्द में ही कितना गौरव था। तीर्थों में जहाँ कोई छोटा मोटा भी राजा पहुँच जाता था, तो हल्ला मच जाता था, लोग राजा के दर्शनों को दौड़े आते थे। काल के प्रभाव से एक यह भी दिन आया कि एक ही दिन में वे ईश्वर से साधारण लोग बन गये। साधारण लोगों की भाँति नौकरी करने लगे। लाखों मनुष्य जिनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहते थे, अब वे साधारण लोगों की घुड़कियाँ सहते हैं उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। जो राजमहिषी, राजकुमारियाँ असूर्यंपश्या कही जाती थीं। स्वेच्छा से सूर्यनारायण भी जिन्हें नहीं देख सकते थे, वे ही रानी राजकुमारी आज साधारण स्त्रियों की भाँति सिर खोले, खुले बाजारों में घूमती दिखायी देती हैं। यह सब काल की ही तो महिमा है। काल कभी दरिद्री को सिंहासनारूढ़ करता है तो कभी सिंहसनारूढ़ को पकड़ कर नीचे गिरा देता है। काल स्थिर बैठता नहीं वह चक्र की भाँति निन्तर घूमता रहता है, नीचे का ऊपर और ऊपर का नीचे यही क्रम उसका सतत अबाधितरूप से चलता ही रहता है। जिस प्रकार राजागण एक ही दिन में अपदस्त हो गये। कभी ऐसा भी समय आवेगा, कि जनता पुनः राजाओं की माँग करेगी। ये लोग पुनः अपने

गये हुए राज्यों को प्राप्त कर लेंगे। किसी की आखों में जाला पड़ गया हो, तो चिकित्सक या तो अंजन लगाकर उस जाले को गला देता है, या शल्य चिकित्सा करके जाले को काटकर निकाल देता है। यह नहीं करता कि जिस आँख में जाला पड़ गया है, उस आँख को ही फोड़ दे। इधर काल के प्रभाव से राजाओं में भूमि-पतियों में बड़े दोष आ गये थे। वे अत्यन्त मदान्ध बन गये थे, अधिकांश व्यभिचारी तथा दुर्व्यसनी बन गये थे। वे अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। दुर्निवार भगवान् काल को वे भूल ही गये थे। विषयों की दिन दूनी रात्रि चौगुनी लालसा से उन्हें आगे का कुछ ध्यान ही नहीं रहा था। महाराज मुचु-कुन्द ने काल रूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की स्तुति करते क्या ही सुन्दर बात कही थी। उन्होंने कहा—"प्रभो! हम राजा गण सदा इसी चिन्ता में रहते थे, कि हमे इतना धन मिल जाय, उसका राज्य प्राप्त हो जाय, उससे बढ़कर हम भोग-भोग सकें। उससे बढ़िया ठाठ बाट बना सकें, इन्हीं विचारों में हम लोग उन्मत्त हो गये थे। विषय जितने ही मिलते जाते थे, उनकी लालसा भी उतनी ही अधिक बढ़ती जाती थी। हमने आपके काल रूप को विस्मृत ही कर दिया था। जैसे क्षुधा के कारण जीभ लपलपाता सर्प असावधान चूहे को दबोच देता है, उसी प्रकार सदा सावधान रहने वाले काल स्वरूप आप प्रमत्त हुए जीवों को सहसा आकर पकड़ लेते हैं। यह हमारी ही दशा नहीं जीव मात्र की ऐसी दशा है। ❀

❀ प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः॥
(श्री भा० १० स्क० ५१ अ० ५० श्लो०)

जब इन राजाओं ने अति कर डाली तो काल भगवान् ने इन मदान्धों की आँखों में दरिद्रता रूपी अंजन डाल दिया जिससे इनका रोग दूर हो जाय। प्राणी जब तक स्वयं दरिद्र के दुःख का अनुभव नहीं करता, तब तक उसकी आँखे नहीं खुलतीं। "असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्रं परमाञ्जनम्" इसलिये काल भगवान् ने इन्हे ऊपर लाकर नीचे पटक दिया। सिंहासनों से नीचे गिरा दिया। इनके मदको चूर करने के लिये इनके अधिकार छीन लिये। किन्तु यह स्थिति भी बहुत दिन नहीं रहने की। क्योंकि काल भगवान् चुपचाप बैठने वाले नहीं हैं, वे ऊपर की वस्तु को नीचे और नीचे की वस्तु को ऊपर करते ही रहते है। राजाओं में अवगुण ही अवगुण नहीं थे कुछ गुण भी थे। एक ही स्थान पर इतने ऐश्वर्य का प्रदर्शन कहाँ होता था? कला, कौशल, संगीत, साहित्य धर्म, मर्यादा, शिष्टाचार, संरक्षण क्या नाममात्र के समाजवाद में संभव है? सौन्दर्य, कुलीनता, परम्परागत संस्कृति की मर्यादा को ये ही स्थिर रखते थे। इन जड़ विधि का बेड़ी में जकड़े हुए क्षुद्राशय क्षुद्रहृदय, अकुलीन' परम्परा से वंचित, चुने हुए शासकों से यह संभव नहीं। जनता अविलम्ब इनसे ऊब जायेगी। फिर वंश परम्परागत राजाओं में गुण ही गुण दिखायी देने लग जायँगे। लोग राजा बनाने को व्यग्र बन जायँगे। साम्यवाद की शुष्क चर्चा में पिसते पिसते पग पग पर सहकारी सरकारी बंधनोंसे मुक्त होने के लिये सब लोग राजा चाहेंगे। वे क्या चाहेंगे काल ही उनके मुख से कहलायेगा। फिर राज्यों की स्थापना होगी, फिर सिंहासन लगेंगे, फिर छत्र मुकुट का बोल बाला होगा। यही उन लीलाधारी काल भगवान की लीला है यही उन कौतुकी का कौतुक है। जब जैसा काल होने को होता है

तब वैसे ही वानिक बन जाते हैं। जहाँ ग्रीष्मकाल जाने को होता है, लोग वर्षा के लिये अधीर हो जाते हैं, सदा आकाश की ही ओर ताकने लगते हैं। वर्षाकाल आ जाता है। वर्षा से ऊबे कि शनैः शनैः शरदी आती है। यह काल परिवर्तन इस ढंग से होता है, कि हमें प्रतीत ही नहीं होता कब बदल गया। बदलता तो नित्य ही है। लड़की बढ़ती तो प्रतिक्षण है। हम उसे गोदी में खिलते हुए अनुभव नहीं करते। एक दिन देखते हैं उसका बाल काल तो चला गया, युवावस्था ने उसपर अधिकार जमालिया, तब पिता को उसके विवाह की चिन्ता होती है। इस प्रकार काल शनैः शनैः गुपचुप प्रतिक्षण परिवर्तन करता रहता है, हमें पता तब चलता है जब उस परिवर्तन का स्थूल रूप हमारी आँखों के सामने आ जाता है।

सबसे बड़ी साधना यही है कि प्रत्येक वस्तु में काल की क्रीड़ा देखी जाय। हमने एक बीज मिट्टी में बो दिया। समय पर उसे पानी से सींच दिया। कुछ दिन पश्चात् हम एक दिन सोकर उठकर सहसा प्रातः देखते हैं, उसमें छोटा अंकुर उत्पन्न हो गया। वह सहसा नहीं हुआ। काल भगवान् उसे भीतर ही भीतर पकाते रहे। जब उसका स्थूल रूप हमारी चर्म चक्षुओंको दिखायी दिया तब परिणाम का पता चला। फिर शनैः शनैः वह अंकुर बढ़ते बढ़ते बड़ा भारी विशाल वृक्ष बन गया। यही काल का काम है। इसी काल को सर्वान्तर्यामी ईश्वर मानो। इस काल को जिसने भगवान् समझ कर नमस्कार कर लिया; वही सुख दुःख, पाप, पुण्य, हर्ष, विषाद आदि द्वन्द्वों से छूट कर निर्मुक्त बनजाता है। जो काल के इस रूप को बिना जाने ही मर जाते हैं, वे पुनः पुनः चौरासी के चक्कर में आते जाते रहते हैं। जीवन मरण के प्रवाह में पड़कर मरते और जन्म लेते रहते हैं जो काल

का यथार्थ स्वरूप जान जाते हैं वे न कभी मरते हैं न जन्म लेते हैं, भुक्तिभाक् बन जाते हैं, कालातीत हो जाते हैं। इसलिये प्रवाह रूपसे बहने वाले इस काल को ही भगवान् मानकर समस्त भगवत् स्तुतियों में काल को बारम्बार नमस्कार की गयी है, काल की महान् महिमा गायी गयी है। यह जो भी कुछ अच्छा बुरा,खोटा,खरा, सदाचार, व्यभिचार हो रहा है, सब काल के ही प्रभाव से हो रहा है, इसमें दोष किसी का नहीं। काल की महिमा है सबका काल बँधा है, उससे न कोई राई भर घट सकता है न तिल भर बढ़ सकता है। काल ही जंगलों को नगर बनवा देता है, काल ही बड़े को छोटा और छोटे को बना देता है। इसलिय राजर्षि भर्तृहरि ने काल को बली मानकर उसकी भगवत् रूप मे वन्दना की है।

एक बार भर्तृहरि कहीं से निकलकर जा रहे थे वहाँ उन्होंने खंडहर पड़े देखे, उन्हें देख कर वे खड़े हो गये और अत्यन्त ही अधीरता के साथ अपने एक साथी से दीर्घनिःश्वास लेते हुए कहने लगे—

भाई ! तुम इन खंडहरों को देख रहे हो न ?

उसने कहा—"हाँ, देख तो रहा हूँ, इसमें क्या बात है टूटी फूटी ईंटें पड़ी हैं, ऊँची नीची भूमि है।"

भर्तृहरि ने कहा—"सो तो है ही ,किन्तु इन खंडहरों में एक महान् इतिहास छिपा है, ये सब ईंटें अतीत की स्मृतियाँ दिला रही हैं, हृदय में मीठी मीठी हूक पैदा कर रही हैं।"

साथी ने कहा—"कुछ कहो भी तो।

भर्तृहरिजी ने कहा—'क्या कहें, कुछ कहने की बात हो तो कही भी जाय क्या से क्या हो गया। पहिले यहाँ एक बड़ी भारी नगरी थी। ऐसी सुन्दर ऐसी सजी बजी कि इसकी समता की

खोजने पर भी कम नगरियाँ मिलेंगी। नगरी ही नहीं थी, यह एक राजा की राजधानी थी। राजा भी ऐसे वैसे साधारण राजा नहीं थे। वे सबसे महान् माने जाते थे। सर्वत्र उनके धवल यश का विस्तार था। सर्वत्र उनके दान की ख्याति थी। उनके एक से एक बढ़कर कुलीन, विद्वान, नीतिज्ञ, देशकालज्ञ संधि विग्रह में दक्ष सैकड़ों मंत्री थे। उनकी अद्वितीय राजपरिषद थी। जो संगीत की ध्वनि से सदा प्रतिध्वनित होती रहती। स्वर्ग की अप्सराओं के समान वारवनितायें जहाँ नित्य नये नये नृत्य दिखातीं, बन्दी विरुदावली गाते, नट नर्तक अपनी अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते। पंडित गण शास्त्र चर्चा करते। जहाँ कितने निर्धन नित्य धनी बनाये जाते। उस राजा की एक से एक सुन्दरी अप्सराओं को भी लज्जित करने वाली सहस्रों रानियाँ थीं। जिनके हास, विलास, रूप, यौवन, सौन्दर्य, सौभाग्य को देखकर सुरललनायें भी ईर्ष्या करतीं। कितने सुन्दर सुन्दर उस राजा क सैकड़ों राजकुमार थे, जब वे वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर सुन्दर सुडौल पुष्ट घोड़ों पर चढ़कर निकलते तो पृथ्वी डगमग करने लगती। उस राजा की राजकुमारियाँ कितनी सुन्दरी थीं, जब वे अपने अन्तःपुर के बगीचों में टहलतीं तो ऐसा लगता था मानो सैकड़ों पूर्णचन्द्र अपनी शीतलमन्द किरणों से आराम को अवलोकित कर रहे हों। उस राजा का अतुल वैभव था, सुरपति को भी लज्जित करने वाला उसका वैभव था, किन्तु आज देख रहा हूँ न यहाँ वह नगरी है, न वे फल फूलों से लदे बाग बगीचे और वृक्ष ही हैं। न वे राज महल हैं, न राजसभा, राजा, रानी. मन्त्री, सचिव, सेवक, नट नर्तकी, सूत, मागध, वन्दी तथा सेवक, सेनापति और प्रजा जन न जाने सबके सब कहाँ चले गये। ये सब काल कवलित

हो गये। काल भगवान् के गाल में समा गये। कहने मात्र को रह गये। जिन काल भगवान् की कृपा से ये सबके सब विलीन हो गये, उन काल देव को बारम्बार नमस्कार है, प्रणाम है वन्दना है।"

मुझे बहुत से बन्धु लिखते हैं, पूछते हैं-प्रति मास "भागवती कथा" निकालना चाहते थे। अब तो वर्षों दर्शन नहीं होते निकालने में देरी क्यों करते हो? क्या उत्तर दूँ, यही कहता हूँ सब काल के अधीन है काल पाकर अवश्य निकल जायँगी। जो काल ऊजड़ को नगर बना देते हैं नगरों को ऊजाड़ देते हैं उन काल भगवान् को बारम्बार नमस्कार है। राजर्षि भर्तृहरि के शब्दों में—

भ्रातः कष्टमहो महान स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत् ताश्चन्द्र बिम्बाननाः।
उद्रिक्तः स च राजपुत्र निवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः;
सर्वयस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥

छप्पय

हाय! बन्धु अति कष्ट रही इत नगरी भारी।
रह्यो महा नृप तासु नारि सुमुखी सुकुमारी॥
सुन्दर सुघर सुशील राजसुत अति बलवन्ता।
सेवक सचिव समूह समर प्रिय सब सामन्ता॥
बन्दी बहु बिरुदावली, गावत रह्यो न नाम है।
निगले जिनि सब काल तिनि, बारम्बार प्रणाम है॥

संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)
मार्गशीर्ष शु० ११ सं० २०२२

प्रभुदत्त

प्रार्थना

(१)

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत—
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥*

छप्पय

करुनासागर श्याम दयानिधि दीनदयाला ।
करौ कृपाकी कोर कुटिल पै कृष्णकृपाला ॥
डूबि रहे भव माहिँ पुण्य पथ दीखत नाहीं ।
मग सूझौ है कौन श्यामघन सूझत नाहीं ॥
लाओ पथ पै पकरि कर, करो दया दाता दयित ।
नन्दनँदन भव पन्थ में, भटकैं हम इत उत भ्रमत ॥

प्रभो ! दयालो हे गीता ज्ञान के दाता ! दीनों पर दया करो । प्रभो ! तुम जो कोटि जन्मों तक तप, यज्ञ, स्वाध्याय दान, धर्मादि पुण्य कर्म करता है, उसे तुम्हारी भक्ति प्राप्त होती है । निरन्तर शुभ कर्मों के करने से जिनके हृदय के कल्मष कट गये हैं, उन परम पुण्यात्मा पुरुषों द्वारा आपकी कृपा की उपलब्धि होती

---

* शास्त्र एक ही है वह है देवकीनन्दन का गाया हुआ गीता । देवता एक ही हैं, वे हैं श्रीदेवकीनन्दन ! मन्त्र एक ही है, वह है देवकी-नन्दन का नाम । कर्म एक ही है, वह है देवकीनन्दन देव की सेवा ।

है। जिनका अन्तःकरण पावन बन गया है, जिनका मन निर्म हो गया है, उन भाग्यशाली भक्तों को आपकी भव भवभंजिन भक्ति की प्राप्ति होती है। हमारे हृदय में उन सत् कर्मों का लेः तक नहीं। कहाँ पावनता को भी पावन करने वाले महान् से भ महान् आप और पाप पंक में निमग्न नीचों से भी नीच कह पामर पुरुष हम। किसी भी भाँति आपकी छाया तक पहुँचने भी हम अधिकारी नहीं। आप भक्त भयहारी हैं, प्रपन्न पारिजा हैं, शरणागत वत्सल हैं। प्रपत्ति प्रिय हैं, हम कैसे आपके परम पावन पादारविन्दों तक पहुँच सकते हैं ?

सुना है आप अपने द्वेषीभक्तों पर भी करुणा की वृष्टि करते हैं। जो असुर आपको द्वेष भाव से भी भजते हैं, उनके भी आप समस्त अपराधों को क्षमा करके, उन्हें अपना निज धाम प्रदान करते हैं। यदि ऐसा न होता तो रावण कुम्भकरण, हिरण्यकशिपु हिरण्याक्षादि राक्षसों के अपराधों की कोई गणना ही नहीं। इन लोगों ने न जाने कितने ब्राह्मणों का वध किया, कितने वेदज्ञ विप्रों को उदरस्थ कर गये। कितनी कुलकामिनियों का सतीत्व नष्ट किया। कितने घट सुरा के गट्ट गट्ट पान कर गये, किन्तु हरि हाथों से मारे जाने के कारण इनके सभी अपराध क्षम्य समझे गये। आप अपने द्वेषी भक्तों पर—जो वैर भाव से आपका चिन्तन करते हैं—उन्हें भी अपना लेते हैं।

किन्तु प्रभो! हम वैसा वैर भी तो नहीं कर सकते। इतना तीव्र द्वेष करने की भी तो हममें शक्ति नहीं है। इतना बल पौरुष भी तो नहीं दिखा सकते। अर्जुन तो शक्तिशाली थे, जब किरात का छद्म वेष बनाकर आप उनके सम्मुख प्रकट हुए तो उन्होंने भारी बाण वर्षा करके, घूँसा लात मार मार कर ही आप को सन्तुष्ट कर लिया। हे शिव स्वरूप! इसके लिये भी तो महान् शक्ति अदम्य उत्साह, निर्भयता तथा निर्भीकता चाहिये,

उसका हममें शतांश, सहस्रांश कोट्यंश भी नहीं। फिर हमारी क्या गति होगी ? नन्दनन्दन !

आपको लोग भक्तवत्सल कहते हैं,भक्तों के समस्त अपराधों को आप उसी भाँति चाट जाते हैं जिस प्रकार गौ अपने सद्यो-जात वत्स के सम्पूर्ण मल को जिह्वा से चाट चाटकर उसे सर्वथा स्वच्छ और निर्मल बना देती है। किन्तु अशरण शरण ! हमारे हृदय में तो भक्ति भाव का लेश नहीं। विषवत् विषयों का बृहद् भंडारा हृदय में भरा है अतः आपकी भक्तवत्सलता भी हमारे किस काम आ सकेगी ?

सुना है प्रभो ! आप का एक नाम प्रपन्न पारिजात भी है। जो आपके प्रपन्न हो जाते हैं। उनकी आप इहलौकिक तथा पार-लौकिक समस्त कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं कल्पवृक्ष की भाँति उनको किसी की कामना को आप शेष नहीं रहने देते। सो प्रभो ! हम प्रपन्न होना जानते ही नहीं। प्रपन्न कैसे हुआ जाता है, किस प्रपन्न को आप अपनाते हैं किसके ऊपर आप अमृतत्व की वृष्टि करते हैं इससे हम अपरिचित हैं।

सुना है आप शरणागत वत्सल है । जो शरण में आ जाता है उसे आप अपना लेते हैं। कल्पवृक्ष के नीचे जाने पर तो वह समस्त कामनाओं को पूर्ण कर ही देता है, किन्तु जो इसके समीप जा ही नहीं पाता,जो उसकी शीतल छायाकी सन्निधिप्राप्तकरने में समर्थ ही नहीं। उसका क्या होगा ? हम ऐसे ही असमर्थ हैं हे अच्युत !

इन सब नामों से साधन सम्बन्धी कामों से हमें कोई अपने उद्धार की आशा नहीं। आशा की एक ही कोर दिखाई देती है कि आपका एक नाम 'पतितपावन' भी है । यद्यपि हमे अपने पतितपने का भी भान नहीं होता, भान न भी हो, पक्षी को मैं नभ में उड़ रहा हूँ, इसका भान न भी हो, किन्तु वह उड़ेगा

तो नभ में ही। हमें चाहें अपने को श्रेष्ठ ही समझते, किन्तु सच्चिनन्द घन, सर्वसुखों के आलय आनन्द के निलय आप अमृत स्वरूप स्वामी को भूलकर विषयों के दास बने हुए हैं। संसारी भोगों के गर्त में कीड़ों की भाँति पड़े कुलबुला रहे हैं और फिर अपने को सुखी समझ रहे हैं। उन विषयों में ही आनन्द की, सुख की परमशांति की खोज कर रहे हैं। फिर हम से अधिक पतित कौन होगा? हे स्वामिन्! हमारी प्रपन्नता की ओर, भक्ति की ओर, शरणागति की ओर न देखिये। हम पतितों का आप करुणा करके उद्धार करें। हम तुम्हारे कमल मुख निसृत गीता ज्ञान को हृदय में धारण कर सकें। हे देवकीनन्दन! आपके गाये गीतों का हार बना सकें, अपने कंठ का आभरण बना सकें, उन गीतों को कंठस्थ कर सकें।

हे श्यामसुन्दर! अपने हृदयरूपी रिक्त मानसमंदिरमें तुम्हारी मुनि मनहारिणी, त्रैलोक्यपावनी, व्रजवधुओं के हृदय कमल को सरसावनी मन मोहिनी मूर्ति को स्थापित कर सके। देव रूप से उसकी मानसिक पूजा अर्चा कर सके।

वाणी से आपके "श्रीकृष्ण गोविन्द, हरे, मुरारे, हे नाथ, नारायण, वासुदेव" आदि सुमधुर नामों का उच्चारण कर सकें। त्रैलोक्य पावन आपके नामों का प्रेमपूर्वक गायन कर सकें। एक मात्र आपके नामों का गायन ही हमारे जीवन का आधार हो वही हमारा व्यापार हो, वही हमारा सर्वस्व हो और क्या बतावें भक्त भय भंजन! एक ही अभिलाषा और है कि हम जो भी कुछ कार्य करें वे सब आपके ही निमित्त हों। हमारे समस्त कर्म, हमारी समस्त चेष्टायें आपकी सेवा के ही रूप में हो। हे गीता गायक! हे देवाधिदेव! हे जगन्मंगल नामों के नामी! हे सदा सर्वदा सेवनीय स्वामिन्! हमारी प्रार्थना आपकी पावन परिषद् में स्वीकार होगी क्या?

छप्पय

एक शास्त्र ही, सार कृष्ण मुख निसृत गीता।
एक देवकी तनय देव ही साँचे भीता॥
एक मन्त्र ही सार नाम प्रभु को अति पावन।
एक नाम कहि कटे अजामिल के जगबन्धन॥
एक करम करतव्य है, नसैं पाप प्रभु शरनतैं।
करैं [कृष्ण सेवा] सतत, तनतैं मनतैं बचनतैं॥

गीता-वार्ता

(श्रीमद्भागवत और गीताज्ञान)

[२]

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै॥
ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम्।
ततोनिवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः॥
स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः।*

(श्री भा० ११ स्क० १६ अ० ६,७,८ श्लो०)

छप्पय

वन्दौं प्रभुपद पदुम परम पावन पल्लवनव।
तीर्थनिकूँ जो करें तीर्थ तारक अति अभिनव॥
सिर चरननि धरि धूरि कहें उद्धव–हे स्वामिन्।
तव अचिन्त्य ऐश्वर्य आपु हैं अगजग पावन॥
भूमि, स्वरग, पाताल अरु, तुमहिं दिशा विदिशा भरो।
जो विभूति तुम्हरी प्रभो! तिनि सबको बरनन करो॥

---

*श्रीउद्धवजी के विभूतियों के पूछने पर भगवान् कहने लगे—उद्धव! तुम प्रश्नकर्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हो। जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है वही प्रश्न कुरुक्षेत्र के रणांगण में युद्ध के समय शत्रुओं से लड़ने को तत्पर अर्जुन ने मुझसे किया था। उसके मन में यह बात बैठ गयी थी, कि राज्य के लिये स्वजन कुटुम्बियों को मारना गर्ह्य है अधर्म है। वह साधारण पुरुषों की भाँति सोच रहा था कि मैं मारने वाला हूँ, ये सब

तब बोले भगवान् 'सुनो उद्धव अतिज्ञानी।
अरजुन हू यह प्रश्न करयो निजकर्ता मानी॥
जानि स्वजन बध निन्द्य राजहित अधरम भारी।
उपरत रनतैं भयो बुद्धि विपरीत बिचारी॥
तब मैंने रन भूमि में, भक्तिज्ञान शिक्षादई।
बहुविधितैं समुझाइके, श्री भगवत् गीता कही॥

आज चिरकाल के अनंतर सूतजी को अपने सत्र में देखकर शौनकादि सभी ऋषि मुनि परम प्रमुदित हुए। उनका हृदय हर्ष से यह सोचकर भर गया, कि अब अच्छी अच्छी उत्तम २ भगवत् कथायें सुनने को मिलेंगी। ऋषियों द्वारा सत्कृत होकर, पैर धोकर जलपान करके तनिक विश्राम के अनंतर जब वे स्वस्थ होकर सुख पूर्वक सत्र में बैठे, तब सब ऋषि मुनिओं से घिरे हुए शौनकजी ने उनसे पूछा—सूतजी! इतने दिनों तक कहाँ कहाँ रहे? आपने तो अत्यधिक समय लगा दिया। आपके बिना सत्र सूना सूना-सा प्रतीत होता था। ऐसी सुन्दर कथायें सुनने को नहीं मिलती थीं, कहाँ रम गये? किन-किन देशों को आपने हरिकथा सुनाकर परम पावन बनाया?

सूतजी ने कहा—मुनियों! यह जीवन जाने कबसे कर्म बन्धनों में जकड़ा हुआ इधर उधर भटकता फिर रहा है, इसे कहीं शान्ति मिलती नहीं। जहाँ कुछ हृदय के अनुकूल दृष्टि गोचर होता है, जहाँ कहीं आकर्षण प्रतीत होता है, वहीं उलझ जाता है। इस सम्बन्ध की एक कथा सुनिये।

एक ब्रजवासिनी महिला अपने पीहर जा रही थी, उसका

सगे सम्बन्धी मरने वाले हैं।' यह सोचकर उसने युद्ध करने का विचार छोड़ दिया, तब मैंने उस पुरुषसिंह को बहुत सी युक्तियाँ देकर बोध कराया था (उस बोध का नाम ही भगवत्गीता है)

गाँव, गिरि गोवर्धन की तलहटी में था। गिरिराज की जो सात कोश की परिक्रमा का मार्ग है, उसी से जा रही थी, मार्ग में उसे लघुशंका लगी। एक शमीवृक्ष के नीचे वह लघुशंका को बैठ गयी। उस वृक्ष पर एक भूत रहता था।

चौंककर शौनकजी ने पूछा—भूत! सूतजी यह क्या कह रहे हो? ब्रजमंडल में भी भूत और वह भी साक्षात् भगवत् स्वरूप गिरिराज गोवर्धन की तलहटी में? महानुभाव! भूतों का वास तो अपावन स्थान में होता है? जिस ब्रजरज के लिये ब्रह्मादि देव तरसते हैं उसमें भूत का वास कैसे हो सकता है। भूत तो बहुत अधम योनि है?

सूतजी ने कहा—महाराज! अपावन ही तो पावन बनने के लिये परमपावन के समीप जाता है। महाराज! दीन न हों तो, भगवान् का नाम दीनदयाल, दीनानाथ कैसे पड़े? पतित ही न होंगे, तो पतितपावन बैठे बैठे, मूंगफली छील छीलकर भले ही चबाते रहें, उनकी पतित पावनता सार्थक न होगी। अधम ही न होंगे तो अधम उधारन, उद्धार किसका करेंगे। बड़ों की छत्र छाया में ही तो सभी रहते हैं।

शौनकजी ने कहा—सूतजी! यह मेरा अभिप्राय नहीं है। भगवान् तो पतितपावन है ही। वे ही प्राणी मात्र के उद्धारक हैं। सबके शरण्य वे ही है। अपने उद्धार के निमित्त सभी उन ही की शरण में जाते हैं। जाना ही चाहिये। मेरे पूछने का अभिप्राय इतना ही है, कि ब्रजभूमि तो परम पावन भूमि है, वहाँ मरने वाले की तो सद्गति ही होनी चाहिये। ब्रज में मरने वाले को अधम भूत योनि कैसे प्राप्त हुई?

सूतजी ने कहा—भगवन्! मैं बार बार बता चुका हूँ कि शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, फिर चाहे

कहीं भी मरो। कर्मों की गति बड़ी गहन है। प्रभो! बिना कर्म फल भोगे गति नहीं, उद्धार नहीं, कोई अन्य उपाय नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—तो सूतजी! शास्त्रों का जो यह वचन है। कि "काशीमरणान्मुक्ति" काशी में मरनेमात्र से ही मुक्ति हो जाती है, तब तो यह वचन विपरीत पड़ जायगा। जब कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा, तो मुक्ति कैसे होगी?"

सूतजी बोले—महाराज! वेदवाक्य कभी विपरीत नहीं होते। यह वचन भी सत्य है, इसमें काशी के मरण की महिमा है।

शौनकजी ने पूछा—तो क्या महिमा, अत्युक्ति मात्र ही है?"

सूतजी बोले—"महाराज! अत्युक्ति कौन बताता है। देश जनित, काल जनित और पात्र जनित तीनों की महिमा गायी है। जैसे सप्तपुरियों में मृत्यु होने से दुर्गति नहीं होती। मगहर-कीकटादि देशों में मरना अशुभ है। यह देशमहिमा है। उत्तरायण में शुक्लपक्ष में, पूर्णिमा, संक्रान्ति आदि पर्वों में मरे तो शुभ है अमुक दिन मरे तो अशुभ यह काल जनित महिमा है। ऐसा कर्म करने वाले की ऐसी गति होती है, अमुक कर्म करने वाला स्वर्ग जाता है, अमुक अमुक निषिद्ध कर्म करने वाला नरक जाता है यह पात्र महिमा है। सभी का अपना अपना स्थान है सभी सत्य हैं। यह सत्य है, कि काशी, ब्रज आदि में मरने वालों का पुनर्जन्म अन्य स्थानों में नहीं होता, फिर भी भगवन्! बिना ज्ञान के काशी में भी मरने से चाहें नरक न जाना पड़े, किन्तु भैरवी यातनायें तो भोगनी ही पड़ती हैं। इसी प्रकार किसी जन्म के पुण्यादि से ब्रज आदि पवित्र क्षेत्रों में मृत्यु हो, तो इतना ही है, कि वहाँ की पावन रज को त्यागकर अन्यत्र जन्म न लेना पड़ेगा। कर्मों का भोग तो भोगना ही पड़ेगा। स्थान के प्रभाव से उसकी अधोगति न होगी, वह ऊँचा ही उठता जायगा। इसलिये ब्रज में भी भूत योनि हो

सकती है, होती है। बहुत से भक्तों को व्रज में भूत मिले हैं, उनका उद्धार किया है, ऐसे अनेकों उदाहरण है।

शौनकजी ने पूछा—अच्छा तो उस व्रजवासिनी को भूत ने पकड़ लिया, फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—हाँ तो महाराज! वह आत्म विस्मृत बन गयी। उसके सम्बन्धी उसे उठाकर मथुरा ले गये, वहाँ कोई भूत विद्या-निपुण ओझा था। उसने मंत्र पढ़ कर उस भूत का आह्वान किया। उस स्त्री पर वह भूत आगया और भूतावेश में वह स्त्री बकारने लगी-अपना वृत्त भूत बताने लगा-उसने कहा-मैं अमुक स्थान का था। अमुक कारण से भूत होकर इस शमी-छोंकरा के वृक्ष पर रहता हूँ, इसने मेरे नीचे लघुशंका करदी मैं इसके ऊपर आ गया।"

भूत विद्या विशारद ने कहा—भाई, तुम जो कहोगे वह करेंगे, इसे छोड़ दो और यह बता दो तुम उस पेड़ पर रहते क्यों हो ?"

भूत ने कहा—अमुक अमुक काम करा दो, मैं इसे छोड़ दूँगा। परन्तु मुझसे यह मत पूछो, कि तुम उस पेड़ पर क्यों रहते हो ?"

भूत विद्या विशारद ने पूछा—भैया, कोई हानि न हो, तो इस बात को बता ही दो तुम उसी पेड़ पर क्यों रहते हो ?"

भूत ने गद्गद कंठ से कहा—भैया! तुम पूछते ही हो तो बताता हूँ, कभी कभी मुझे यहाँ दिव्य वंशी की सुमधुर ध्वनि सुनायी पड़ती है,वह इतनी अद्भुत आकर्षक ध्वनि है,कि उसी के लालच में यहाँ पर मैं रह रहा हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियों! ये जीव संसार में इधर से उधर कर्म वश भटक रहे हैं, संसार की दिव्य, अदिव्य सभी वस्तुएँ हमें अपनी ओर आकर्षित कर रही हैं, जहाँ जिसका प्रारब्धवश अधिक आकर्षण होता है, वहीं जीव अटक जाता है।

कोई रूप के आकर्षण में, कोई रस के आकर्षण में कोई स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, कला, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षादि विविध आकर्षणों से आकर्षित होकर कुछ काल तक—जैसे प्याऊ पर पानी पीने और विश्राम के लोभ से यात्री रुक जाते हैं और स्वस्थ होने पर फिर चल पड़ते हैं, इसी प्रकार यह संसार मार्ग का यात्री कहीं आकर्षित होकर रुक जाता है, आकर्षण कम हो जाने पर या बढ़ जाने पर आगे को चल देता है। कोई आगे बढ़ता है, कोई पीछे लौटता है।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! आप इतने दिन कहाँ अटके रहे? आपको भी कहीं दिव्य मुरली की सुमधुर ध्वनि सुनायी दी क्या?

सूतजी बोले—मुनियों! मेरा ऐसा भाग्य कहाँ जो उन श्यामसुन्दर की दिव्य तानयुक्त सुमधुर मुरली ध्वनि को सुन सकूँ? किन्तु हाँ अनेक तीर्थों में परिभ्रमण करते करते मैं समस्त तीर्थों की सार परमरसमयी व्रजभूमि में चला गया था। वहाँ की रज में मेरा इतना आकर्षण हुआ कि मैं कुछ काल वहाँ रह गया। फिर कथा के लालच से आप लोगों के समीप चला आया। अब बताइये मैं आपको क्या सुनाऊँ? अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाऊँ या और कुछ सुनाऊँ?

शौनकजी ने कहा—सूतजी! यात्रा वृत्तान्त तो आप बीच-बीच में अपने स्वभावानुसार सुनाते ही जायँगे। और कोई दिव्य कथा सुनाइये।

सूतजी ने पूछा—क्या सुनाऊँ महाराज! आप जो आज्ञा करें वही सुनाऊँ।

शौनकजी ने कहा—सूतजी! पहिले आपने ६० भागों में हमें बड़ी दिव्य दिव्य भागवती कथा सुनायी। फिर २ भागों में माहात्म्य सुनाया। कथा से जो शेष भागवती स्तुतियाँ रह गयीं

थी ६ भागों में हमें वे भी आपने सुना दी। अब तो हमें आप दिव्य ब्रह्मविद्या सुना दीजिये। अध्यात्म विद्या का पाठ पढ़ा दीजिये, कुछ दार्शनिक चासनी चखा दीजिये ब्रह्मज्ञान अथवा भगवत् प्राप्ति किस मार्ग से हो उसे हमें सुझा दीजिये।

सूतजी ने कहा—मुनियों! यह प्रश्न तो आपने मेरी सामर्थ्य के बाहर कर दिया। न तो मुझे यह सब कहने का अधिकार है न मेरी इतनी शक्ति ही है। यही तो आर्य वैदिक सनातन वर्णाश्रम धर्म की रीढ़ है। इसी के लिये तो समस्त शास्त्र हैं। सब शास्त्रों का एक मात्र उद्देश्य ब्रह्मज्ञान या भगवत् प्राप्ति ही तो है। इसे जिसने जान लिया, उसे जानने को कुछ भी नहीं रह जाता, और जिसने इसे नहीं जाना उसने कुछ भी नहीं जाना।

शौनकजी ने कहा—सूतजी! अधिकार तो आपको हम सबने मिलकर प्रदान कर ही दिया है, सर्वज्ञ होने का आशीर्वाद तो आपको भगवान् संकर्षण से प्राप्त हो ही चुका है, अब आप हमें इसी विषय की कथा सुनावें।

सूतजी ने कहा—मुनियों! आप तो अपने मंत्रों के द्वारा, तप प्रभाव से पाषाण में देवत्व स्थापित कर सकते हैं। अयोग्य को योग्य बना सकते हैं, फिर मैं तो आपका सेवक हूँ। भगवन्! हमारे यहाँ एक शास्त्र नहीं, अनन्त शास्त्र हैं, विद्यायें भी अनेक हैं। शास्त्र रूपी महारण्य में जो एक बार भटका सो भटकता ही रहता है। उस महारण्य में अनेक छोटे बड़े, सीधे टेढ़े मार्ग हैं। इसीलिये आचार्यों ने तीन शास्त्रों को ब्रह्मविद्या का प्रस्थान-मार्ग बताया है। इसीलिये इन्हें "प्रस्थानत्रयी" कहा है। इन तीनों में (१) श्री मद्भगवत् गीता (२) उपनिषदें और (३) ब्रह्मसूत्र हैं। कोई कोई आचार्य श्रीमद्भागवत को भी इनमें जोड़कर "प्रस्थान चतुष्टय" मानते हैं। श्रीमद्भागवत में तो सम्पूर्ण वेद वेदांग, पुराण तथा इतिहास का सार सार भर दिया है। प्रस्थानत्रयी का

संक्षिप्त सार श्रीमद्भागवत में निहित है। अब उनका केवल विस्तार करना है। गीता ब्रह्मसूत्र और उपनिषदें इन्हीं तीनों को सभी आस्तिक वर्णाश्रमी वैदिक मार्गावलम्बी आचार्यों ने माना है। इन तीनों की ही जो व्याख्या कर दे, वही हमारे यहाँ आचार्य माना जाता था। हमारे यहाँ के आचार्यों ने इन तीनों में से ही भिन्न भिन्न वाद सिद्ध किये हैं। कोई तो कहते हैं, ये तीनों अद्वैत परक हैं। इनमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया गया है। कोई कहते हैं नहीं, अद्वैत की तो इनमें गंध नहीं इनमें तो द्वैत ही द्वैत है। कोई कहते हैं न द्वैत है न अद्वैत इनमें तो विशिष्टाद्वैत है। कोई कहते हैं अजी, इनमें तो शुद्धाद्वैत का कथन है कोई कहते हैं, द्वैताद्वैत है, इस प्रकार भिन्न भिन्न आचार्यों ने इन्हीं के सूत्र श्लोकों से अपने अपने वादों की भित्ति खड़ी की है।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी ! इनमें सबसे श्रेष्ठवाद कौन सा है उसे ही हमें सुनाइये।

सूतजी ने कहा—महाराज ! सर्व श्रेष्ठ कौन है, इसे तो सर्वान्तर्यामी श्यामसुन्दर ही जाने हमारी दृष्टि में तो सभी श्रेष्ठ हैं, सभी का वाद सत्य है, सभी की युक्तियाँ अकाट्य हैं।

शौनकजी ने कहा—सूतजी ! आपकी ये गोलमाल बातें ही तो हमें अच्छी नहीं लगतीं। महानुभाव ! आप कथावाचकों का ऐसा दाव पेच चलाते हैं, कि उसमें किसी का खंडन-मंडन ही नहीं होता। आप सोचें—एक कहता है द्वैत, दूसरा उसका सर्वथा विपरीत कहता है अद्वैत। एक आकाश की ओर जाने को कहता है, दूसरा सर्वथा इसके प्रतिकूल पाताल का मार्ग बताता है। आप कहते हो दोनों सत्य हैं। होंगे अपनी अपनी दृष्टि में सत्य। किन्तु आपने भी तो इनमें से किसी को सर्व श्रेष्ठ चुना होगा। उसी को हमें सुनाइये। आप उन आचार्यों के अनुयायियों से डरते हैं क्या ? कि उनका खंडन कर देंगे तो वे असन्तुष्ट हो जायँगे ?

हो जायँ असन्तुष्ट। यदि असन्तुष्ट होने से ही डरते तो आचार्य गण परस्पर में एक दूसरे का खंडन मंडन ही क्यों करते। हमारे यहाँ तो सभी को बुद्धि का स्वातंत्र्य दिया गया है। हमारे यहाँ आस्तिक भी आचार्य हैं नास्तिक भी आचार्य हैं। नास्तिक आचार्यों ने वेद का, ब्रह्म का, यज्ञयाग आदि सभी का खंडन किया है, उन चार्वाकादि ऋषियों को किसी ने मार नहीं डाला। बौद्ध दार्शनिकों ने शून्यवाद का प्रतिपादन किया है। सभी की बुद्धि भिन्न भिन्न है, सभी अपने अपने विचारों के लिये स्वतंत्र हैं। "वादे वादे जायते तत्वबोध" परस्पर में एक दूसरे के वाद को सुनकर विवाद करके—शंका समाधान द्वारा एक निर्णय पर पहुँचते हैं। आप जिस निर्णय पर पहुँचे हों, आपने इन सबमें जो सर्वश्रेष्ठ वाद समझा हो उसी वाद को हमें बतावें।"

हँसकर सूतजी बोले—महाराज! आप सब ऋषियों की कृपा से न तो मैं किसी से डरता ही हूँ और न मैं गोलमाल बात ही कहता हूँ। भगवन्! सर्वश्रेष्ठ मार्ग कौन सा है इसे तो सर्वान्तर्यामी के अतिरिक्त कोई जानता ही नहीं। सभी वादों के अनुयायी अपने ही वाद सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, और अपनी मान्यता के अनुसार फल भी पाते हैं, जब सर्वश्रेष्ठ की जानकारी सर्वान्तर्यामी ने अपने हाथ में ही रखी है, तो मैं आपको कैसे बतादूँ कि अमुक वाद सर्वश्रेष्ठ है। आप कहें तो मैं इस विषय को एक दृष्टान्त द्वारा समझा दूँ?"

शौनकजी ने कहा—हाँ! सूतजी! दृष्टान्तों द्वारा विषय बहुत सरलता से बुद्धिगम्य हो जाता है। दृष्टान्त देकर ही हमें समझाइये।

सूतजी बोले—"मुनियो! वाराणसी पुरी में एक बड़े ही ही सदाचारी धर्म परायण कर्मनिष्ट ब्राह्मण रहते थे। वे बड़े भगवत् भक्त तथा शास्त्रज्ञ थे। उनके पास एक बहुत दिव्य

लक्ष्मीनारायण नामक शालग्राम थे। लक्ष्मीनारायण शालग्राम में ऊपर नीचे दोनों ओर दो दिव्य चक्र होते हैं। ऐसी शालग्राम की बटिया बड़ी दुर्लभ होती है। उसकी पहिचान भी सब किसी को नहीं होती। जो इस विषय के विशेषज्ञ हैं वे ही हाथ में लेकर बार बार देखकर निर्णय कर सकते हैं कि यह किस नाम की शालग्राम बटिया है। शालग्रामों में हजारों लाखों भेद हैं। लक्ष्मीनारायण नाम के शालग्राम की सबसे अधिक प्रशंसा है।

उन ब्राह्मण के पाँच पुत्र थे, पांचों ही धर्मात्मा बड़े योग्य सरल और विश्वासी थे। वे सुना करते थे हमारे पिता के पास एक अलग शालग्राम की बटिया है यदि पिताजी हमें दे जाते, तो हम भी उनकी पूजा करते। परन्तु किसी ने पिता से याचना नहीं की। पिता सबके मनका भाव जानते थे। वे यह भी जानते थे, कि एक को दे दूँगा। तो दूसरे बुरा मानेंगे। प्रसन्न उन्हें सभी को करना था, क्योंकि सभी उनके योग्य पुत्र थे। इसलिये उन्होंने एक उपाय सोचा।

एक सुयोग्य पंडित को बुलाकर उन्होंने मुक्तिनाथ के समीप दामोदरकुण्ड भेजा जहाँ शालग्राम मिलते हैं पंडितजी ने उन विद्वान से कहा—आप दामोदरकुंड जायँ और चाहें जितने दिन लगें—ऐसी ही लक्ष्मीनारायण की चार बटिया और ले आवें। कदाचित् लक्ष्मीनारायण शालग्राम न मिलें तो इनके अनुरूप ही चार बटिया ले आवें वे ऐसी हों कि सहसा उन्हें कोई पहिचान न सकें।

पंडितजी का आदेश प्राप्त करके वे विद्वान् दामोदरकुण्ड गये। छै महीनों तक वहाँ रहे, निरन्तर शालग्रामों में खोजते रहे। लक्ष्मीनारायण की बटियाँ तो मिली नहीं, किन्तु वे सबदा वैसे ही चार दिव्यशालग्राम और ले आये। पंडितजी को

कह दिया—महाराज, लक्ष्मीनारायण की बटिया तो मिलीं नहीं, किन्तु ये भी तत्सदृश ही हैं। सहसा कोई इन्हें पहिचान न सकेगा। पंडितजी ने वे चारों ले ली और अपने पास रख लीं।

एक दिन उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र को एकान्त में अपने पास बुलाया। उस समय चारों भाई बाहर गये थे। पंडित-जी ने कहा—'देखो भैया! तुम मेरे सबसे बड़े पुत्र हो, मेरे आज्ञा कारी हो, मैं अब संन्यास लेना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है, कि मेरे पास जो अलभ्य शालग्राम हैं। उन्हें तुम्हें दे दूँ। किन्तु उसमें तीन शर्तें हैं।

अत्यंत हर्षित होकर बड़े पुत्र ने कहा—पिताजी वे तीन शर्तें कौन सी हैं?

पिता ने कहा—(१)पहिली शर्त तो यह है,कि तुम नित्य श्रद्धा के सहित इनकी सेवा करते रहना। (२) दूसरी यह है कि किसी दूसरे को इसे हाथ से छूने मत देना। (३) तीसरी यह कि अपनी संतानों को जिनको तुम पूजा का अधिकार दे जाओ उनसे भी ये ही शर्तें करा के देना।

पुत्र ने पिता की बात स्वीकार करली। उनमें से एक बटिया उठाकर दे दी, वह पिता के पैर छूकर प्रसन्नता प्रकट करता हुआ चला गया।

इसी प्रकार उन्होंने क्रमशः पाचों पुत्रों को बुलाया। सभी से एकान्त में ये ही बातें कहीं सभी ने स्वीकार किया और सभी को एक एक बाटिया देकर वे सन्यासी हो गये। अब आप बतावें इन पाँचों में से किसके पास वह सर्वश्रेष्ठ बटिया है?" सभी अपनी बटिया को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसकी श्रद्धा सहित पूजा करते हैं। किसी दूसरे को स्पर्श नहीं करने देते। उनके वंश परम्परा के अनुयायी श्रद्धा सहित उनके वचनों का पालन करते हैं। लक्ष्मी-

नारायण की सर्व श्रेष्ठ प्रतिमा इन पांचों में से किस पर है इसे पिता के अतिरिक्त दूसरा कोई जान ही नहीं सकता।

इसी प्रकार मुनियों! ये सभी आचार्य भगवान् के अपने ही पुत्र हैं, सभी ने उन्हें ज्ञान दिया है। अद्वैतनिष्ठ के कान में कह देते हैं, मैं सर्वदा अद्वैत ही हूँ। द्वैतनिष्ठ से कहते हैं, तुमसे कोई कुछ कहे तुम मानना ही मत। मैं सर्वथा द्वैत हूँ। विशिष्टाद्वैत वाले से चुपके से कह देते हैं, देखना कोई कुछ कहे तुम मानना ही मत विशिष्ट अद्वैत में ही निष्ठा रखना।" सो, मुनियों! अपनी अपनी मान्यता के अनुसार सभी सत्य हैं। भगवान् कहते हैं, जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं उसे उसी भाव से फल देता हूँ। इसलिये मुनियो! सभी श्रेष्ठ हैं, सभी अपनी भावनानुसार फल पाते हैं, सभी का अपनी मान्यता से उद्धार होता है। अब आप पूछते हैं सर्वश्रेष्ठ कौन, तो इसे तो भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई जानता नहीं।

हँसकर शौनकीजी ने कहा—सूतजी? यह तो आपने कथा-वाचकी दाव पेच फेंक दिया। आप इस दृष्टान्त से साफ निकल गये, किन्तु महानुभाव! वे पंडितजी तो मनुष्य थे। उन्होंने तो अपने पुत्रों को फँसाने के लिये उनका उद्धार करने के ही लिये यह चाल चली। किन्तु भगवान् तो 'असत्य नहीं' बोल सकते वे तो ऐसी माया नहीं रच सकते।"

हँसते हँसते सूतजी ने कहा—महाराज! आप कैसी बातें कह रहे हैं। भगवान् ही तो सबसे बड़े मायावी हैं। वे योग माया का आश्रय लेकर ही तो इस विश्वप्रपंच रूपी रास को रचा रहे हैं, वे ही तो माया के आश्रय से इन जीवों को नचा रहे हैं। उनके यहाँ झूठ सचमें कोई भेद नहीं। वे सत्य असत्य से परे हैं। उनका छल कपट छल कपट नहीं माना जाता। यदि उनके छल कपट को

छल मानों तो भीष्मपितामह को कैसे छल से मरवाया ? द्रोणाचार्य के सामने स्वयं ही झूठ नहीं बोले किन्तु बेचारे धर्मराज को भी उलटी पट्टी पढ़ाकर द्रोणाचार्य को मरवाने को उनसे भी झूठ बुलवा दिया। कर्ण को किस तिकड़म से मरवाया। बर्बरीक का सिर कितनी बुद्धिमानी से काट लिया। वेदों में भगवान् का एक नाम 'मायावी' भी है। सबसे बड़े मायापति मायावी तो ये ही हैं। लोककल्याण के लिये ये सब कुछ कर सकते हैं। ये सब आचार्यगण इन्हीं के तो कला तथा अंशावतार हैं। इन्हीं की प्रेरणा से तो ये विभिन्न वादों को चलाते हैं, अनुयायी बनाते हैं।

शौनकजी ने पूछा—अच्छा, जाने दो सर्वश्रेष्ठ की बात। तुम स्वयं किस वाद को मनाते हो, तुम्हारा कौन सा वाद है। क्योंकि कोई भी पुरुष बिना वाद के रह नहीं सकता।

हँसते हुए सूतजी ने कहा—महाराज ! आप तो अब बाल की खाल निकालने लगे। अच्छा महाराज मेरा सर्ववाद है।

शौनकजी ने पूछा—सर्ववाद क्या ? यह तो आप फिर घपला करने लगे। जिसका सर्ववाद है, उसका समझो कोई वाद ही नहीं।"

सूतजी बोले—तो, भगवन् ! मेरे वाद को आप "अवाद वाद" कहिये। अवाद वाद का अर्थ यह हुआ, कि इन ग्रन्थकारों ने तो किसी एक वाद को लेकर इनकी रचना की नहीं। इनमें से आचार्यों ने अपने अपने मतानुसार वाद स्थापित कर लिए इसलिये या तो ये सभी वाद सत्य हैं या फिर वाद विवाद से परे रहना ही सत्य वाद है।

शौनकजी ने कहा—रहने भी दो सूतजी, आपसे वाद विवाद में तो कोई जीत नहीं सकता। अच्छा तो हमें आप पहिले प्रस्थानत्रयी की ही कथा सुनावे फिर उनका श्रीमद्भागवत के साथ

तुलनात्मक विवेचन करें। सर्वप्रथम हमें गीता की कथा व्याख्या के सहित सुस्पष्ट करते हुये सुनाइये। फिर गीता ज्ञान श्रीमद्-भागवत में कहाँ कहाँ किस रूप में है उसे तुलनात्मक दृष्टि से बतावें।

सूतजी ने कहा—अच्छी बात है, महाराज, सर्वप्रथम मैं आपका यथा शक्ति यथा सामर्थ्य गीता की ही कथा सुनाऊँगा। परन्तु भगवन्! मैं यह प्रतिज्ञा नहीं करता कि मैं उसका यथार्थ मर्म समझ गया हूँ, क्योंकि मेरे गुरु के गुरु भगवान् वेद व्यास-जी ने स्पष्ट शब्द में कह दिया है—"गीता के यथार्थ स्वरूप को मैं जानता हूँ, मेरा पुत्र शुकदेव जानता है। किन्तु मेरा शिष्य संजय जानता है या नहीं इस विषय में मैं ठीक ठीक नहीं कह सकता।*

भगवन्! जब मेरे पूर्वज दिव्यदृष्टि वाले संजय के विषय में भी संदेह है तो मेरी तो बात ही क्या? फिर भी पक्षी आकाश में उसका पता लगाने को उड़ता है, जिसकी जितनी सामर्थ्य होती है, वह उतना ही ऊँचा उड़ता है। आप सबकी मेरे ऊपर कृपा है। आप मुझसे कथा सुनते हैं, मेरी शैली की प्रशंसा करते हैं, इसी से मैं अपने को कृतार्थ समझता हूँ। उसी कृपा के वशीभूत होकर आपके प्रोत्साहन से उत्साहित होकर पहले मैं सम्पूर्ण श्रीमद्भगवत गीता की कथा कहूँगा, तदनंतर गीता और भागवत की तुलनात्मक विवेचन करूँगा। ये सब अगले खंड गीता वार्ता के नाम से प्रसिद्ध होंगे। तो हाँ, अब आप श्रीभगवान् के मुखार-विन्द से निसृत गीता ज्ञानामृत का श्रद्धा और प्रेम के साथ अत्यंत स्वाद लेते हुए पान करें। तो अब गीता के प्रथमाध्याय की, और इसी प्रकार क्रमशः अठारहों अध्याय की कथा श्रवण करें।

---

* अहं वेद्मि शुकोवेत्ति संजयो वेत्तिवानवा।

छप्पय

भगवत गीता ज्ञान गंग सम निरमल पावन।
जग-जनहित अवतरित ज्ञान शुभ स्रोत सुहावन॥
परा भक्ति अति विमल सुखद जीवनि हितकारी।
भक्ति भावना भरित भक्त भव भय संहारी॥
श्रीगीता अस भागवत, अनुपम अमल अनूप हैं।
भक्ति ज्ञान धारा धवल, दोऊ भगवत् रूप हैं॥

श्रीपार्थसारथये नमः

गीता-वार्ता

प्रथमोऽध्याय

अर्जुन विषादयोग

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥*

(श्रीभग० गी० अ० १ श्लो०)

छप्पय

श्रीराज धृतराष्ट्र कहैं-सँजय प्रति बानी ।
व्यास कृपातैं तुमनि सकल रन वार्ता जानी ॥
चल चित्रनि के सरिस लखौ घर बैठे सब तुम ।
अब सब देउ बताइ जथारथ जो पूछैं हम ॥
धरमक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, सजि बजिकैं सब नृप गये ।
सब क्षत्रिय रनबाँकुरे, रनहित सब बौरे भये ॥

यह संसार रणाङ्गण है, इस रणभूमि में ऐसा कोई नहीं है, जो युद्ध न कर रहा हो । कोई धर्म के साथ, कोई अधर्म के साथ । कोई धन के लिये, कोई काम के लिये और कोई मोक्ष के लिये

---

*महाराज धृतराष्ट्र संजय से पूछ रहे हैं—हे संजय ! कुरुक्षेत्र जो धर्मक्षेत्र है, उसमें युद्ध की इच्छा एकत्रित हुए मेरे और पाण्डु के पुत्र क्या करते भये ।

लड़ रहे हैं। नर का काम ही है लड़ाई करना युद्ध क्षेत्र में आये और लड़े नहीं, समर भूमि में बैठे और रण से पराङ्मुख हो. यह हो ही कैसे सकता है। कभी-कभी मोहवश, कृपावश अथवा अज्ञानवश नर जुआ डाल देता है। युद्ध से विरत होने की चेष्टा करता है, विषण्णवदन होकर अस्त्र-शस्त्र डाल देता है। उस समय नर के सखा 'सनातन' उसे युद्ध के लिए प्रोत्साहित करते हैं। युद्ध को आवश्यक धर्म बताते हैं और धर्म का मर्म जताते हैं, उसे लड़ने को प्रेरित करते हैं। नर विषण्ण हो जाता है। नारायण हँसते रहते हैं। जीव का धर्म ही है चिन्ता करना, विषाद करना तथा विषाद से विह्वल होना। ईश्वर का स्वभाव है प्रसन्न रहना, हँसते रहना। चिंता में रोना आता है, हँसी मे गीत प्रस्फुटित होता है। जीव का धर्म है रोना, ईश्वर का धर्म है हँसते हुये गीत गाना। भगवत् धर्म होने से भगवान के गाये गीत को भगवद्गीता कहते हैं। उस भगवद्गीता को जिसने समझ लिया, उसका मोह नष्ट हो गया। मैं नारायण का सनातन सखा हूँ, यह जो उसे विस्मृति हो गयी थी, उसकी स्मृति पुनः जागृत हो जाती है। यह सब भगवत प्रसाद से प्रभु कृपा से ही संभव है। जीव अपने पुरुषार्थ से शिव को कैसे समझ सकता है। जिसे वे ही जताना चाहें वही जान सकता है। वही भगवत आज्ञाओं का पालन कर सकता है। उसे जयशील जिसकी सदा जय होती रहती हो, जिसकी कभी पराजय न हो, वही कह सकता है। पूछने वाला प्रज्ञाचक्षु होना चाहिये। जिसने बलपूर्वक राष्ट्र पर अधिकार कर लिया हो अर्थात् जो धर्म का मर्म जानता तो हो किन्तु मोहवश उसका पालन करने में अपने को असमर्थ पा रहा हो। वही पूछता है। शौनकजी के गीता सम्बन्धी प्रश्न को सुनकर सूतजी ने कहा—मुनियों! भरत-वंश में शन्तनु नामके राजा हो चुके हैं उनका विवाह भगवती सुरसरि गंगाजी से

हुआ। उनके गर्भ से आठ पुत्र अष्टवशु उत्पन्न हुये। सात को तो जन्मते ही गंगादेवी ने परलोक पठा दिया। आठवें शेष रहे। उनका नाम देवव्रत था। वे बड़े धर्मात्मा, शूर-वीर तथा पितृभक्त थे। उनको उत्पन्न करके उनकी माँ गंगा अन्तर्हित हो गईं। उनके पिता निषाद की पालिता पुत्री पर आसक्त हो गये। निषाद से जब महाराज ने विवाह का प्रस्ताव किया तो निषाद ने इस शर्त पर कन्या देना स्वीकार किया कि मेरी पुत्री से जो पुत्र हो वही राज्य का अधिकारी हो। इतने योग्य ज्येष्ठ पुत्र के रहते पिता कैसे इस प्रस्ताव का स्वीकार करते। वे उदास होकर चले आये। राजकुमार को जब यह वृतान्त विदित हुआ तो उन्होंने निषाद के सम्मुख यह भीषण प्रतिज्ञा की कि मैं विवाह न करूँगा, आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा। इस पर निषाद ने अपनी कन्या राजकुमार के पिता के निमित्त दे दी। पुत्र ने अपने पिता का विवाह कराया। भीष्म प्रतिज्ञा करने के कारण जगत् में भीष्म के नाम से विख्यात हो गये। निषाद कन्या सत्यवती के गर्भ से दो पुत्र हो गये। एक का चित्रांगद, दूसरे का विचित्र वीर्य नाम रखा गया। एक तो बाल्यकाल में ही युद्ध में मारे गये। दूसरे का विवाह भीष्म ने काशिराज की दो कन्याओं से कराया। वे भी राजरोग से परलोक-वासी हुये तब सत्यवती के कानीन पुत्र भगवान् व्यास से विचित्रवीर्य की दोनों पत्नियों से आपद् धर्म समझकर दो पुत्र उत्पन्न कराये। बड़े का नाम धृतराष्ट्र था जो जन्मान्ध थे। छोटे का नाम पाण्डु था जो वर्ण से पीतवर्ण के थे। जन्मान्ध होने से बड़े होने पर भी वे सिंहासन के अनधिकारी हुये। पाण्डु ही भरतवंश के सिंहासन पर बैठे। वे बड़े मृगया प्रेमी थे। अतः राज्य की देख रेख अपने बड़े भाई को सौंपकर वन चले गये। वहाँ उनके धर्म, वायु, इन्द्र के द्वारा कुन्ती में युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीन और माद्री

में अश्विनीकुमारों द्वारा नकुल और सहदेव ये दो इस प्रकार पाँच पुत्र हुये। ये पाण्डव कहलाये। धृतराष्ट्र के परम बुद्धिमान मन्त्री का नाम संजय था। वे सूत जाति के थे। महाराज पाण्डु के परलोक गमन के अनन्तर वहाँ के ऋषि गण पाँचों पाण्डवों को और महारानी कुन्ती को हस्तिनापुर में भीष्म के समीप पहुँचा गये। नकुल सहदेव की माता माद्री अपने पति के साथ सती हो गई। अतः पाँचों पाण्डवों का पालन-पोषण कुन्ती ने किया। इन पाँचों भाइयों में अत्यन्त स्नेह था। दुर्योधनादि सौ भाई थे। यद्यपि महाराज पाण्डु अपने अन्धे भाई धृतराष्ट्र को राज्य दे नहीं गये थे। वे तो अन्धे होने के कारण राज्य के अनाधिकारी थे फिर भी राज्य पर अधिकार धृतराष्ट्र का ही था। अन्धे होने के कारण राज-काज दुर्योधन ही करता था। अब राज्य के प्रधान अधिकारी पाण्डव आ गये। दुर्योधन चाहता था इन्हें मरवाकर निष्कंटक राज्य करु। राज्य के प्रधानमंत्री विदुरजी थे। वे पाण्डवों से स्नेह करते थे। कौरवों ने षडयंत्र रचकर पांडवों को लाक्षा-गृह भेज दिया। भेजने के पश्चात मरवाना चाहा। किन्तु विदुर-जी की कुशलता से तथा भगवान् की कृपा से पाँचों पाण्डव अपनी माता कुन्ती के सहित वहाँ से छिपकर भाग गये। और ब्राह्मण वेष में भिक्षा पर निर्वाह करते हुये आपद्धर्म का पालन करने लगे। १२ वर्ष वेष बदलकर घूमते रहे। दुर्योधन ने समझा ये सब मर गये। उसने झूठे आँसू बहाये और बड़ी धूमधाम से दिखावे के लिये उनके श्रद्धादि कर्म भी कर दिये। ब्राह्मणों को बहुत दान भी दिया। महाराजद्रुपद की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अयोनिजा-द्रौपदी के स्वयंवर में ब्राह्मण वेष धारी अर्जुन ने द्रुपद की प्रतिज्ञानुसार मत्स्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त कर लिया। वह पाँचों पाण्डवों की पत्नी हुयी। बहुत कहा सुनी के पश्चात धृतराष्ट्र ने आधा राज्य पाण्डवों को दे दिया। वे

इन्द्रप्रस्थ में राजधानी बनाकर बड़ी धूमधाम से राज्य करने लगे। वहीं धर्मराज ने सर्वश्रेष्ठ राजसूय यज्ञ किया। दुर्योधन उस यज्ञ में भेंट लेने पर नियुक्त था। पाण्डवों के ऐसे अपूर्व अद्भुत ऐश्वर्य को देख कर उसके मन में बड़ा डाह उत्पन्न हुआ। उसने अपने मामा शकुनी की सहायता से द्यूत सभा बनाकर पाण्डवों को जीत लिया। उन्हें बारह वर्ष वनवास देकर और एक वर्ष का अज्ञातवास देकर राज्य से निकाल दिया। उन दिनों युद्ध की भाँति जुआ भी क्षत्रियों के लिये धर्म माना जाता था। प्रण के अनुसार १२ वर्ष तक वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करने के पश्चात जब पांडवों ने अपना राज्य माँगा तो दुर्योधन ने भाँति भाँति के बहाने बनाकर राज्य देने से मना कर दिया। शान्ति के लिये पांडवों ने अनेक उपाय किये। स्वयं श्रीकृष्ण दूत बनकर कौरवों की सभा में गये। केवल पाँच भाइयों के लिये पाँच गाँव माँगे। वह भी दुर्योधन के आधीन रहकर केवल निर्वाह के लिये क्षत्रिय धर्म की रक्षा के लिये। दुर्योधन ने स्पष्ट कह दिया मैं युद्ध के बिना सुई की नोक जितनी भूमि छिद जाती है उतनी भूमि भी न दूँगा। तब दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगी। धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों ही धर्मतः भगवान् व्यासजी के पुत्र थे। उन्होंने देखा युद्ध अवश्यं भावी है तो वे धृतराष्ट्र के समीप गये और बोले—बेटा! युद्ध दुर्बुद्धि दुर्योधन के कारण अवश्य होगा। ये नृपतिगण विकराल काल के गाल में जाने वाले हैं। मैं योगबल से सब देख रहा हूँ तुम चिन्ता मत करना।

धृतराष्ट्र ने कहा प्रभो! मेरे सामने यह अनर्थ होगा। अन्धा होने के कारण मैं प्रत्यक्ष नहीं देख सकता फिर भी व्यासजी ने कहा—राजन्! यदि तुम युद्ध प्रत्यक्ष देखना चाहो तो मैं अपने योग बल से तुम्हें दृष्टि दे सकता हूँ। धृतराष्ट्र ने कहा

प्रभो ! जब जीवन भर मैंने नहीं देखा तो अन्तिम समय इन फूँठी आँखों से अपने कुल का नाश क्यों देखूँ। किन्तु मैं युद्ध का वृत्तान्त अवश्य सुनना चाहूँगा। सर्वज्ञ सर्व समर्थ व्यास भगवान् ने कहा—राजन् ! मैं तुम्हारे निजी सचिव सूत संजय को दिव्य दृष्टि दिये देता हूँ। ये घर बैठे युद्ध की सभी बातों को प्रत्यक्ष देख सकेंगे। इनसे कोई बात छिपेगी नहीं। तुम अपने पुत्रों के लिये शोक मत करना मैं महाभारत लिखकर इनकी कीर्ति को अमर कर दूँगा।

जब युद्ध में भीष्म पितामह मारे गये तब धृतराष्ट्र को युद्ध के सम्पूर्ण वृत्तान्त को जानने की इच्छा हुई।

उन्होंने संजय ! से पूछा संजय। मेरे पुत्रों का तथा पाण्डु के पुत्रों का जो यह युद्ध हो रहा है युद्ध के सभी वृत्तान्त मुझे सुना दो।

इस पर शौनकजी ने पूछा सूतजी ! कुरुक्षेत्र को धर्म क्षेत्र क्यों कहा गया और इस कुरुक्षेत्र में ही युद्ध क्यों हुआ।

इस पर सूतजी कहने लगे—"मुनियों ! सभी कार्यों के लिये विशेष विशेष स्थान नियुक्त होता है। देश का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है ऐसी किंवदन्ती है कि एक बार अर्जुन और श्रीकृष्ण यह देखने के लिये चले कि युद्ध किस स्थल पर हो। युद्ध भाई भाइयों में ही है, दोनों ओर सभी अपने सगे सम्बन्धी ही हैं। युद्ध के समय मोह ममता आ गयी तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। स्थान कोई ममता शून्य माया मोह से राहत होना चाहिये। उन दिनों कुरुक्षेत्र केवल अरण्य नहीं था। वहाँ तीर्थ स्थान, सरोवर, मन्दिर, वापी कूप खेती आदि सभी थे। भगवान् ने देखा एक कृषक की पत्नी रोटी लाई है। कृषक खेतों में पानी दे रहा था। अपनी स्त्री से उसने कहा—तू तब तक मेरे पानी को देख तब तक रोटी खा लूँ। स्त्री पानी देखने

लगी। कृषक रोटी खाता रहा। स्त्री के गोद में ५-७ महीने का बच्चा था। एक स्थान से पानी फूटने लगा। स्त्री बार-बार उसमें मिट्टी डाले वह बह जाय। तब झट उसने अपने गोद से बच्चे को उठाकर उस स्थानपर रख दिया। पानी रुक गया, बच्चे को मर ही जाना था। मृतक पुत्र को वैसे ही लगा छोड़कर चली आयी। तब भगवान् ने कहा—पार्थ! यही स्थान उपयुक्त है। उसी स्थान को दोनों पक्षों ने स्वीकार किया। से युद्ध स्थल-रहा है। सत्ययुग में विश्वामित्र वशिष्ठ ने यहीं तप किया और यहीं दोनों में युद्ध हुआ। भगवान् परशुराम ने क्षत्रियों के रक्त से पाँच बड़े कुण्ड भरकर उसी रक्त से पितरों का तर्पण किया था। यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा इन्द्रादि-देवों ने बड़े-बड़े यज्ञ किये। महर्षि भृगु ने यहाँ तपस्या की थी। इसलिये यह भृगुक्षेत्र के नाम से भी विख्यात हुआ। महाराज कुरु ने इस क्षेत्र को कृषि योग्य बनाया तभी से यह धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ। पुराणों में इसकी कथा इस प्रकार है। भरतवंश में महाराज कुरु बहुत ही धार्मिक एवं प्रजा-वत्सल सम्राट थे। प्रजा में धर्म भावना जागृत हो तथा लौकिक धन-धान्य की समृद्धि हो इस हेतु उन्होंने इस क्षेत्र को आध्या-त्मिक शिक्षा तथा तप, शौच, दया, दान, योग तथा ब्रह्मचर्य अष्टाङ्ग धर्म की कृषि करने का निश्चय किया। वे सुवर्ण मण्डित रथ पर बैठकर यहाँ आये। उन्होंने उसी सुवर्ण का हल बनवाया। अब हल तो बन गया उसे खींचे कौन-शिवजी ने बैल दिया। यमराज के भैंसा ही था उन्होंने भैंसा दिया। राजा इस क्षेत्र की धर्मपूर्वक जोत रहे थे। उसी समय इन्द्र आये और बोले—राजन्! बीज क्या बोओगे? राजा ने कहा—बीज तो मेरे पास ही है। इन्द्र चले गये। राजा सात कोस भूमि प्रतिदिन कृषि के निमित्त जोत लेते थे। इस प्रकार ४८ कोस भूमि को वे कृषि

योग्य बना सके। राजा के परिश्रम को देखकर विष्णुजी आये। उन्होंने पूछा—राजन्! भूमि तो तैयार हो गई बीज कहाँ है।

राजा ने कहा—प्रभो! मेरे पास है। भगवान् ने कहा उसे अर्पण कर दो। 'ग्रहण करें प्रभो' ऐसा कहकर राजा ने दायाँ भुजा फैलाई। भगवान् ने चक्र से उसे टुकड़े टुकड़े करके बो दिया। क्रमशः बाईं भुजा दोनों पैर और अन्त में सिर भी दे दिया। इस प्रकार राजा ने सर्वस्वार्पण कर दिया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्हें जीवित करके उनसे वर माँगने का कहा। राजा ने ४ वर माँगे—प्रथम, यह कि जितनी भूमि मैंने जोती है अर्थात् ४८ कोस की यह भूमि परम पुण्य क्षेत्र हो जाय मेरे नाम से विख्यात हो। २—द्वितीय,यह कि शिव सदा यहाँ समस्त देवताओं सहित निवास करेंगे। ३—तृतीय यहाँ जो कुछ शुभ कर्म किये जायँ वे अक्षय हों। ४—चौथा, यह कि जो भी यहाँ मृत्यु को प्राप्त हो वह अपने पाप पुण्य के प्रभाव से रहित होकर स्वर्ग-गामी हो। भगवान् ने चारों वर दिये। तभी से यह क्षेत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ। ब्रह्माजी ने सोचा—ये कलियुगी क्षत्रिय घरों में खाट पर पड़े-पड़े मरेंगे तो नरक होगा। क्षत्रिय को समर में हँसते-हँसते प्राण देना चाहिये। महाभारत का युद्ध धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में इसीलिये कराया कि जो मरे उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो। यह धर्म की लड़ाई थी। धर्मराजजी स्वयं लड़ने वाले थे। लड़ने वाले कुरुवंश के थे अतः कुरुक्षेत्र में लड़ाई हुयी। ये वहाँ तीर्थ यात्रा बुद्धि से नहीं युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुये थे। महाराज धृतराष्ट्र ज्ञानी थे फिर भी सम्बन्धियों में कुछ ममत्व था। इसीलिये दुर्योधन को मेरे पुत्र कहते हैं। पाण्डवों को पाण्डु पुत्र कहकर जिज्ञासा करते हैं और पूछते हैं वे क्या करते भये।

सूतजी कहते हैं—मुनियों! अंधे धृतराष्ट्र संजय से पूछ रहे हैं—संजय! धर्म क्षेत्र कुरु क्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित

हुए मेरे और पाण्डु के पुत्र क्या करते भये ? अब इस प्रश्न का उत्तर संजय जो धृतराष्ट्र को देंगे इसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप समाहित चित्त से सुनने की कृपा करें।

छप्पय

मेरे सौ सब पुत्र युद्ध हित उत्सुक डोलें।
पर पक्षनि तैं कुपित होहिं कटु बानी बोलें॥
पाण्डु पुत्र हैं पाँच धरम रत सब व्रतधारी।
तिनकी रक्षा करें नन्द नन्दन गिरधारी॥
समर भूमि में समरहित, सबई सम्बन्धी सगे।
सकल सुसज्जित शस्त्र तैं, संजय का करिवे लगे॥

सैन्यावलोकन दुर्योधन द्वारा

[४]

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥
पश्यैतां पाण्डु पुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥*

(श्रीभग० गी० अ० १ श्लो० २, ३

छप्पय

संजय कहिवे लगे—बताऊँ सब कछु भूपति ।
दुरजोधन ने लखी पांडवनि की सेना अति ॥
लखि सैनिक उत्साह सुयोधन ह्वैकें चिंतित ।
द्रोणाचार्य समीप गयो सोचत व्याकुल चित ॥
उभय दलनि में वीर को, प्रश्न हिये में नृप जग्यो ।
चरन वन्दि गुरुदेव के, राजा यों कहिवे लग्यो ॥

यह सम्पूर्ण संसार सहयोग पर ही अवलम्बित है। संसा

---

*संजय कहने लगे—महाराज ! तब राजा दुर्योधन पांडवों की सेना के व्यूह को देखकर श्री आचार्य द्रोण के समीप जाकर यह वचन बोलते भये—हे आचार्य ! पांडवों की बड़ी भारी सेना के व्यूह को तो आप देखें। इसकी व्यूह, रचना आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपद के पुत्र ने की है।

में कोई भी आदमी ऐसा नहीं जो अकेले ही कार्य कर सके। किसी कार्य को करने के निमित्त कुछ न कुछ साधन जुटाने ही पड़ते हैं, किसी न किसी से सहायता लेनी ही पड़ती है। मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये सब कुछ करने को तत्पर हो जाता है, आवश्यकता पड़ने पर असम्माननीयों का सम्मान करता है, जहाँ न जाना चाहिये वहाँ जाता है, जिस समय जो कार्य वर्जित है उसे भी करने को उद्यत हो जाता है। स्वार्थ में मनुष्य अन्धा हो जाता है। मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। एक तो (१) परोपकारी महा पुरुष। वे तो अपना कोई निजी स्वार्थ रखते ही नहीं। उनके सब कार्य परोपकार की दृष्टि से, चराचर में व्याप्त प्रभु की सेवा बुद्धि से करते हैं। वे अपने निजी सभी स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर जिससे जनता रूपी जनार्दन की सेवा हो सके, अहर्निश उन्हीं कामों मे लगे रहते हैं। वे मान अपमान को समान समझते हैं। (२) दूसरे वे जो अपना स्वार्थ भी साधते हैं और परोपकार भी करते है। अपने स्वार्थ में विघ्न न पड़े, साथ ही किसी को हानि भी न हो। अपने स्वार्थ का ध्यान रखकर जितना उनसे होता है परोपकार करते है। (३) तीसरे वे जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के निमित्त दूसरों का बड़े से बड़ा अपकार कर सकते हैं। अपने स्वार्थ मे जब तक व्याघात नहीं होता तब तक वे नहीं बोलते, जहाँ अपने स्वार्थ पर कुछ आँच आई कि वे दूसरों के स्वार्थों की परवाह नहीं करते। ऐसे लोगों को दूसरों का थोड़ा धन भी बहुत दिखाई देता है दूसरों की थोड़ी उन्नति भी बहुत दिखायी देती है, अपने प्रतिद्वन्द्वियों को वे बढ़ने देना नहीं चाहते। चारों ओर से किले बन्दी करके उन्हें पदाक्रान्त करने के प्रयत्न में ही लगे रहते हैं (४) चौथे: ऐसे भी होते हैं दूसरों की उन्नति देख ही नहीं सकते। उनका चाहे अपना कोई स्वार्थ सधता भी न हो, बिना बात ही अपनी हानि करके भी दूसरों को कष्ट

पहुँचाते हैं । उनके स्वार्थों को नष्ट कर देते हैं। उन्हें दूसरों को विपत्ति में देखकर आनन्द आता है । दूसरों का अपशकुन हो इसके लिये वे अपनी आँख फोड़कर काने बनकर वे बात उनका अपसकुन करते हैं। दुर्योधन तीसरी श्रेणी के ही व्यक्तियों में था।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र ने अपने सारथी सचिव संजय से कौरव पाण्डवों के युद्ध के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तब परम बुद्धिमान संजय बड़ी शिष्ट भाषा में कहने लगे। सामान्य तथा राजा शासक को कहते हैं फिर चाहें वह एक ही ग्राम का शासन क्यों न करता हो। राजा दो प्रकार के होते हैं, एक तो मूर्धाभिषिक्त दूसरे अमूर्धाभिषिक्त। मूर्धाभिषिक्तराजा राज सिंहासन पर बैठते हैं उनके छत्र लगता है, दोनों ओर चमर डुलाये जाते हैं। अमूर्धाभिषिक्त राजा सिंहासन पर तो बैठते हैं, किन्तु उनके छत्र चमर नहीं लगता। सामान्यतया राजा शब्द सभी क्षत्रियों के लिये प्रयुक्त किया जाता है । उन क्षत्रियों में जो मूर्धाभिषिक्त होगा उसे महाराजा कहेंगे। जिसके चरणों में मूर्धाभिषिक्त राजा भी आकर नतमस्तक हों वह महाराजाधिराज कहलाता है। वैसे राजा शब्द सामान्य रूप से सभी क्षत्रियों के लिये आता है चाहें वह सामान्य हो महाराजा हो या महाराजाधिराज हो।

नियमानुसार धृतराष्ट्र महाराजा नहीं थे, पांडु तो उन्हें न्यासभूत राज्य दे गये थे, किन्तु वे मर गये, जिसकी लाठी उसका भैंस जिसने अधिकार जमा लिया वही अपने को अधिकारी समझने लगा। धृतराष्ट्र अन्धे होने से राजकाज करते नहीं थे । दुर्योधन अपने सभी भाइयों से बड़ा था, अतः वही राजकाज करता था, सभी उसे ही 'महाराज' कहा करते थे किन्तु उसके पिता जीवित थे पिता के जीवित रहने पर सामान्य स्थिति

में बड़ा पुत्र युवराज और सब भाई महाराज कुमार कहलाते थे। किन्तु स्वार्थी लोग दुर्योधन को महाराज ही कहते थे। अब संजय धृतराष्ट्र के सम्मुख कह रहे हैं इसलिये दुर्योधन को महाराज न कहकर केवल राजा ही कह रहे हैं। अर्थात् महाराज तो आप ही हैं, किन्तु आपका पुत्र राजकाज करता है, इससे वह राजा ही है। संजय ने कहा—महाराज ! जब दोनों सेनायें व्यूह रचना करके खड़ी हुईं तो राजा दुर्योधन ने पहिले अपनी सेना की ओर न देखकर शत्रु की सेना को ही देखा। देखकर उसकी आँखे फट गयीं। दृष्टि चौंधिया गयी। वह दौड़ा दौड़ा आचार्य द्रोण के समीप गया और उनसे विनय पूर्वक कहने लगा—गुरुवर ! आप इन पांडवों की बड़ी भारी सेना को तो देखें।"

शौनकजी ने पूछा—सूतजी ! दुर्योधन की सेना ग्यारह अक्षोहिणी और पांडवों की सेना केवल सात अक्षोहिणी। महती सेना तो कौरवों की थी, फिर दुर्योधन अपने आप ही बड़े संभ्रम और आश्चर्य के साथ पांडवों की सेना को महती सेना क्यों बता रहा है। यह आरंभ में ही दुर्बलता दिखाना हुआ।

हँसकर सूतजी बोले—महाराज ! इसे दुर्बलता नहीं कहते डाह कहते हैं। स्वार्थी लोगों को प्रतिपक्षी की तनिक सी उन्नति भी बहुत बड़ी उन्नति दिखायी देने लगती है। उसे नष्ट करने को वे समर्थ लोगों को उभाड़ते हैं कि वे उनकी उन्नति को नष्ट कर दें। दुर्योधन ने जब सुव्यवस्थित ढंग से पांडवों की सेना को उत्साह पूर्वक खड़े देखा तो उसके हृदय में जलन हुई। यह तो वह जानता ही था, कि संख्या में मेरी सेना से पांडवों की सेना कम है, किन्तु सेना की व्यूह रचना, सैनिकों का अदम्य उत्साह, खड़े होने और चलने आदि की सुव्यवस्था इनमें मेरी सेना से

अधिक है। अतः उसने सर्वप्रथम इसका कारण खोजा। उसे पता चला यह सब सेनापति की बुद्धिमत्ता के ऊपर निर्भर करता है। जिस सेना का सेनापति युवक, उत्साही, शिक्षित, बुद्धिमान तथा देश, काल और पात्र के बलाबल का ज्ञाता हो वह संख्या में चाहे कम सेना वाला ही क्यों न हो, विजय श्री उसी का वरण करती है। उसने सोचा—यह सब पांडवों के सेनापति धृष्टद्युम्न की बुद्धिमत्ता का परिणाम है। फिर उसने सोचा धृष्टद्युम्न पर यह कला कौशल आया कहाँ से,उसने यह युद्ध चातुरी सीखी कहाँ ? तब उसे तुरन्त द्रोणाचार्य का स्मरण हो आया। धृष्टद्युम्न तो द्रोणाचार्य का शिष्य है। शिष्य तो हम सब भी उन्हीं के हैं, किन्तु हम ऐसी व्यूह रचना नहीं कर सकते। तब हमारी सेना की व्यूह रचना पांडवों की सेना से श्रेष्ठ कैसे हो, उसने सोचा चोर को न मारकर चोर की मां को ही मार दो, जिससे आगे चोर हो ही नहीं। चेला की शरण में न जाकर गुरु के ही पैर दबाओ जो उस चेले से भी बढ़कर हमें विद्या सिखा दे। यही सोचकर उसने सोचा—द्रोणाचार्य को बुलाकर उनसे यह बात कहूँ। फिर उसने सोचा—द्रोणाचार्य को यहाँ अपने शिविर में बुलाऊँगा तो वे राजाज्ञा समझकर आ तो जायँगे, किन्तु मन में सोचेंगे अवश्य यह क्षत्रिय मैं ब्राह्मण तिस पर भी मेरा शिष्य ! इसने मुझे साधारण नौकर की भाँति बुला भेजा। कहेंगे तो कुछ भी नहीं किन्तु सन्तुष्ट न होंगे, मेरे प्रति ममत्व न रखेंगे। यदि मैं स्वयं उनके समीप चलता हूँ, तो वे इसमें अपना गौरव समझेंगे, मुझे शिष्ट और विनयी मानेंगे, मेरे प्रति अपनापन दर्शावेंगे और मैं जो कहूँगा उसे उत्साह पूर्वक मान लेंगे। मेरा बिगड़ता ही क्या है, मर्यादा का पालन भी हो जायगा और मेरा स्वार्थ भी सध जायगा। यही सोचकर वह बिना सेवकों के साधारण वेष में ही द्रोणाचार्य के शिविर में चला गया।

अपने यहाँ अकस्मात् राजा दुर्योधन को आया देखकर द्रोणाचार्य चकित रह गये, उन्होंने बड़े उत्साह के साथ प्रेमपूर्वक उसका स्वागत किया। वह भी श्रद्धा पूर्वक आचार्य की चरण-वन्दना करके उनके बताये हुए आसन पर बैठ गया।

आचार्य ने बड़े स्नेह से उसकी पीठ थपथपाते हुए पूछा—कहो, राजन्! कैसे कष्ट किया? कोई विशेष बात तो नहीं?"

दुर्योधन ने कहा—नहीं, महाराज! वैसे ही दर्शनार्थ चला आया। मुझे तो आपकी सफल विद्या को देखकर आश्चर्य हो रहा है हँसते हुए द्रोणाचार्य ने कहा—क्यों भैया तुमने मेरी सफल विद्या का क्या चमत्कार देखा?

दुर्योधन ने उत्साह पूर्वक कहा—आप देखते नहीं हैं, पांडवों की यह सजी बजी सेना कैसे सुव्यवस्थित ढंग से खड़ी है, इसकी व्यूह रचना कितनी सुन्दर ढंग से हुई है।

द्रोणाचार्य ने कहा—तो इसमें मेरा क्या हाथ है, यह तो उधर के सेनापति धृष्टद्युम्न का कला कौशल है। उसकी सूझबूझ और बुद्धिमानी का परिणाम है।

दुर्योधन ने दुगुने उत्साह से कहा—महाराज! धृष्टद्युम्न पर यह कला कौशल आया कहा से, यह विद्या वह लाया कहाँ से, है तो आपका ही शिष्य। कहावत है "मेरे ही घर तैं आग लायी नाम धरयो वैसान्दर" अर्थात् अग्नि मेरे ही घर से ले आयी थी, अब उसे अग्नि न कहकर वैश्वानर कहने लगो। आपकी ही विद्या का तो वह उपयोग कर रहा है। आपने ही तो उसे सिखाया है। यह अवश्य है, कि वह बुद्धिमान अधिक है हम लोग भी आपके ही शिष्य हैं किन्तु हम सब उतने बुद्धिमान नहीं निकले। हम सट्ट पट्ट ही रह गये, इसीलिये इतनी सुन्दर व्यूह रचना नहीं कर सके, किन्तु हमारा सौभाग्य है, हम अत्यन्त भाग्यशाली हैं, जो उधर के सेनापति के गुरु ही हमारे रक्षक त्राता और

सर्वस्व हैं। वे उससे भी बढ़कर व्यूह रचना कर देंगे। प्रश्न की बात तो यही रहेगी कि आपकी व्यूह रचना उससे भी बढ़कर हो, जिससे लोग यह न कहने लगें कि गुरु तो गुरु ही रह गये चेला शक्कर बन गया।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! दुर्योधन ने ऐसे घुमा फिराकर बातें क्यों कीं।

सूतजी बोले—महाराज! स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये बड़े लोगों को ऐसे ही उभाड़ा करते हैं। इस सम्बन्ध में मैं आपको एक छोटी सी कथा सुनाता हूँ। एक विद्युन्माली नाम का असुर था। उसने शिवजी की बहुत दिनों तक घोर तपस्या करके अत्यधिक आराधना की। आशुतोष भगवान शिव प्रसन्न हुए और असुर से वर माँगने को कहा। असुर ने कहा मुझे एक ऐसा कामग विमान दीजिये। जो जहाँ चाहे जा सके, जो आकाश में इच्छानुसार उड़ सके।"

शिवजी ने उसे ऐसा ही वरदान दे दिया अब तो वह असुर देवताओं के लिये अजेय हो गया। मनमानी करने लगा, जहाँ चाहता चला जाता, जिसे चाहता जीत लेता।

एक दिन सूर्यनारायण का भी उसने सामना किया, उन्होंने अपनी तीक्ष्ण किरणों से विमान को जला दिया। अब तो असुर बड़ा दुखी हुआ। वह शिवजी के पास गया और विनीत भाव से कहने लगा—देखिये, महाराज! सूर्य ने आपके दिये हुए विमान को जला दिया। इसमें मेरा तो कुछ बनता बिगड़ता नहीं सूर्य ने आप को ही नीचा दिखाया है, आपके ही वर को चिनौती दी है। इसमें आपका ही अपमान है। ऐसी अनेकों बातें कह कर जैसे विद्युन्माली असुर ने शिवजी को सूर्य के प्रति उभाड़ा था वैसे ही असुर रूप में राजा बने दुर्योधन ने अनेकों बातें कहकर द्रोणाचार्य को पांडवों के सेनापति धृष्टद्युम्न के

विरुद्ध उभाड़ना चाहा। वह भीष्मपितामह के समीप नहीं गया, इसलिये कि वे वृद्ध हैं, अपने बाबा हैं, प्रधान सेनापति हैं। उनसे शिष्टता, संकोच, भयमें बातें करनी पड़ेगी। वे बीच में डाँट भी सकते हैं। उनसे खुल कर बाते भी नहीं कर सकते। द्रोणाचार्य ब्राह्मण हैं, इस नाते भीष्मपितामह भी उनका आदर करते हैं,उन्हे प्रणाम करते हैं। वे सब प्रकार से भीष्मपितामह को समझा सकते है, उन्हें बुला सकते हैं। फिर आचार्य द्रोण प्रसन्न हो गये, तो हमारी विजय निश्चय है। अतः पांडवों की सेना को बड़ी भारी सेना बता कर उसके मुख्य मुख्य योद्धाओं के भी नाम बताता है, जिस से द्रोणाचार्यजी यह कहदे—"अर भैया दुर्योधन तू घबड़ाता क्यों है, जिनको तू महान योद्धा महारथी बता रहा है, ये सब तो मेरे सामने तृण के समान है। इसीलिये वह पांडव सेना के मुख्य मुख्य वीरों का नाम गिनाता है।

छप्पय

बोल्यो आदर सहित लखें गुरु सेना भारी।
शत्रु पक्ष के वीर भूमिपति अति व्रतधारी॥
कैसी रचना करी व्यूह की अनुपम सुन्दर।
निरखि निरखिकें क्षोभ होहि मेरे दिय द्विजवर॥
धृष्टद्युम्न ने कला तैं, करी व्यूह रचना सुघर।
जो तुमरो ही शिष्य है, बुद्धिमान अति गुणाकर॥

पाण्डव पक्षीय प्रमुख शूरवीर

[५]

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुन समा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥*

(श्रीभ० गी० १ अ० ४, ५ श्लोक)

छप्पय

परम सुसज्जित बजी सजी सेना सब इनकी ।
शूरवीर रनधीर करूँ का उपमा तिनकी ॥
अरजुन भीम समान प्रबल जोद्धा धनुधारी ।
सात्यकि और विराट शत्रु सेना संहारी ॥
जिनके बलतें बली बनि, पाण्डव सब निश्चिन्त हैं ।
दर्प दलन दल अरि द्रुपद, संग सचिव सामन्त हैं ॥

सामान्यतया जीव का स्वभाव है, वह प्रायः दूसरों की प्रशंसा नहीं करता । जीव में एक सातिशय दोष होता है । अपने से उन्नत

---

* दुर्योधन द्रोणाचार्यजी से कह रहा है— पांडवों की सेना में जो शूरवीर हैं, बड़े धनुर्धारी हैं, भीम अर्जुन के समान युद्ध में लड़ने वाले हैं जैसे युयुधान, विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, महाबली काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, नरपुंगव शैब्य हैं ।

लोगों को देखकर उसे ईर्ष्या होती है। छोटे तो छोटे हैं ही। प्रशंसा अपने से किसी भी बात में बड़े की की जाती है, किन्तु जैव धर्म है वह अपने को ही सब से श्रेष्ठ समझता है। प्रशंसा चार ही प्रकार से की जाती है। (१) यथार्थ प्रशंसा (२) अत्युक्ति या मिथ्या प्रशंसा (३) व्याज स्तुति या व्यंगात्मक अथवा (४) किसी को उभाड़ने को सहैतुक प्रशंसा।

सत्पुरुष किसी में सद्गुण देखकर उनकी यथार्थ प्रशंसा करते हैं। सत्पुरुषों की वह प्रशंसा बहुत ही मूल्यवान होती है, उसी से गुणियों की यथार्थ स्थिति समझी जाती है। दूसरों के गुणों की यथार्थ प्रशंसा करने वाले विरले ही सत्पुरुष होते हैं। दूसरे बहुत बढ़ा चढ़ाकर प्रशंसा करते हैं। उसे अत्युक्ति कहते हैं। बहुत से लोग स्वार्थ वश करते हैं। बहुत से कवि गण कविता में अत्युक्ति करते हैं। कविता को ललित बनाने को उत्तम से उत्तम उपमा देते हैं। तीसरे खल लोग व्यंग में भी प्रशंसा करते हैं। स्तुति के व्याज से वे निंदा ही करते हैं। चौथे वे स्वार्थी लोग हैं जो बलवान् को उभाड़ने के लिये अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये दूसरों की प्रशंसा करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य प्रशंसक की प्रशंसा करने में नहीं है, किन्तु समर्थ व्यक्ति को उत्तेजित करने में है। *"अजी तुम उनकी क्या प्रशंसा करते हो, मेरे सामने वे हैं क्या ?* देख लेना आगे क्या होता है। दुर्योधन द्वारा पांडव पक्षीय वीरों की प्रशंसा द्रोणाचार्य के सम्मुख इसी उद्देश्य की गयी थी।

सूतजी कहते हैं—मुनियों ! दुर्योधन आचार्यद्रोण को उभारने के लिये पांडव पक्षीय सेना के मुख्य-मुख्य योद्धाओं का परिचय करा रहा है। उस सेना में तो बहुत से अतिरथी, महारथी, रथी और अर्धरथी योद्धा थे, किन्तु दुर्योधन जो अत्यंत ही शूरवीर धनुर्धारी नामी योद्धा भी हैं और पांडवों के सम्बन्धी भी हैं, जो ममता के साथ प्राणपण से युद्ध

ही मुख्य मुख्य वीरों का परिचय दे रहा है। उसने कहा—ये सब के सब महारथी और अतिरथी भी हैं। पांडव तो प्रसिद्ध ही हैं, इसलिये उनका परिचय नहीं देता, फिर इन सबको युद्ध में पांडवों के समान न कहकर भीम और अर्जुन के समान बता रहा है। भीमार्जुन के समान कहने से भाव यह है, कि वैसे तो पांडव सभी शूरवीर और योद्धा हैं। सभी में प्राणों का पण लगा कर युद्ध करने का उत्साह है, किन्तु धर्मराज युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं, उन्हें धर्म कार्य अधिक रुचिकर हैं। वे युद्ध करने के पक्ष में आरंभ से ही नहीं है। किसी प्रकार युद्ध रुक जाय वे बड़े होने पर भी दुर्योधन के अधीन रहने का भी उद्यत हो गये। केवल एक एक ग्राम पाकर भी संधि करने को तैयार हो गये। युद्ध को वे किसी भी मूल्य पर टालना चाहते हैं। पूर्ण प्रयत्न करने पर भी जब युद्ध नहीं रुका, उनके गले पड़ ही गया। तो वे विवश होकर लड़ेंगे युद्ध के प्रति उनका उत्साह नहीं। नकुल और सहदेव दोनों अत्यंत सुन्दर हैं। वैद्य तथा पंडित हैं कलाकार हैं, सुकुमार हैं। वैद्यों के पुत्र है। सुकुमार सुन्दर, कलाकार लोग लड़ाई झगड़ों से परे ही रहना चाहते हैं। क्षत्रिय पुत्र होने के नाते युद्ध से पराङ्मुख तो होंगे नहीं, लड़ेंगे तो अवश्य किन्तु लड़ने में उन्हें कोई बहुत उत्साह नहीं। हां भीम और अर्जुन पांडवों में ये दो ही शूर-वीर ऐसे हैं जिनके युद्ध के लिये हाथ खुजाते रहते हैं। इन दोनों में भीम तो भीम पराक्रम ही ठहरे। दुर्योधन भूला नहीं। इस भीमने ही हम सौ भाइयों को मारने की प्रतिज्ञा की है, इसी ने द्रौपदी के भरी सभा में बाल खींचने वाले मेरे भाई दुशासन के रक्त के पान की प्रतिज्ञा की है, इसी ने मेरी जंघा को तोड़ने की प्रतिज्ञा की है। यह बाल्यकाल से ही हम से प्रतिस्पर्धा रखता है, हमने भी इसे मारने के अनेक उपाय किये थे, लड्डुओं में विष खिला दिया, लाक्षागृह में जलाने का

प्रयत्न किया। राज्य भ्रष्ट कर दिया, द्रौपदी को अपमानित किया। यह उन बातों को भूला नहीं। युद्ध के लिये उधार खाये बैठा है, यह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से लड़ेगा, ऐसा ही अर्जुन है। युद्ध में विजयी होने की भावना से ही इसने आशुतोष भगवान् भूतनाथ को प्रसन्न किया है, उनसे पाशुपतास्त्र प्राप्त किया है। अग्नि देव से गांडीव धनुष और दिव्यरथ प्राप्त किया है, चारों लोकपालों को प्रसन्न करके उनसे भी इसने अस्त्र प्राप्त किये हैं। इसी शरीर से जीवित ही स्वर्ग गया है, इन्द्र से इसने अस्त्र विद्या सीखी है। इतनी भारी तैयारी इसने महाभारत युद्ध के ही लिये की है। अतः भीम और अर्जुन पांडव पक्षीय सेना के सर्व श्रेष्ठ वीर हैं, ये युद्ध में कुछ उठा न रखेंगे। अपनी शक्ति से भी अधिक तत्परता से ये लड़ेंगे। हमारी सेना के संहार के लिये सदा सर्वदा सन्नद्ध रहेंगे। इन्हीं के समान इनके और भी वीर हैं। वे धर्म समझकर लड़ने ही नहीं आये। सगे सम्बन्धी होने के नाते ये अपनी पूरी शक्ति के साथ लड़ेंगे।

पहिले युयुधान-सात्यकि को ही लीजिये। पुत्र में और शिष्य में कोई अन्तर नहीं होता। कहीं कहीं तो जो काम पुत्र नहीं कर सकता उसे शिष्य करता है। सात्यकि अर्जुन का अनुगत शिष्य है। युद्ध में न इसे कोई पराजित कर सकता है, न मार सकता है क्योंकि यह अमर है। इसी ने धर्मराज का दूत बनकर आते समय श्रीकृष्ण से कहा था - युद्ध अवश्य होना चाहिये मेरे क्रोध की शांति दुर्योधन को मारकर ही होगी।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! यह सात्यकि कौन था किस का पुत्र था?"

सूतजी ने कहा—महाराज! यह श्रीकृष्ण के वंश का ही यदुवंशी था। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेवजी उस समय के अद्वितीय धनुर्धर थे उनके समान यदुवंशियों में एक ही वीर था उसका

नाम था शिनि। कंस के चाचा देवक की पुत्री देवकी का स्वयंवर हुआ। शिनि और वसुदेव कुल गत भाई भाई थे, दोनों में बड़ी मित्रता थी। शिनि चाहते थे,देवकी का विवाह वसुदेव के साथ हो। स्वयंवर में न जाने वह किस के कंठ में जयमाला डाल दे। इस लिये वह स्वयंवर से कन्या को बल पूर्वक उठा लाया और रथ पर बिठाकर चलने लगा। वह वसुदेवजी के साथ उसका विवाह करना चाहता था, स्वयंवर सभा में वीराभिमानी राजा सोमदत्त भी बैठा था उसे शिनि की यह अशिष्टता बहुत बुरी लगी। सोमदत्त ने राजा शिनि को मल्लयुद्ध के लिये ललकारा। शिनि कब पीछे हटने वाले थे। उन्होंने सोमदत्त की चिनौती को स्वीकार किया। दोनों में घनघोर युद्ध हुआ। यह युद्ध परम विस्मय कारी था। आधेदिन तक यह मल्लयुद्ध हुआ। अंत में शिनि ने सोमदत्त को ऊपर उठाकर भूमि मे दे मारा। उसकी चोटी पकड़ कर छाती में कसकर एक लात मारी। इससे सोमदत्त व्याकुल हो गया। शिनि ने खड्ग निकाल कर सोमदत्त का सिर काटना चाहा किन्तु उसे दया आगयी, उसने उसका सिर नहीं काटा और सोमदत्त से कहा—भागजा, फिर कभी किसी वीर के साथ ऐसा साहस न करना।"

शिनि द्वारा छाती में लात मारने पर सोमदत्त को बड़ी ग्लानि हुई। उसने घोर अरण्य में जाकर आशुतोष भगवान् भूतनाथ की आराधना की। उसकी घोर तपस्या से सन्तुष्ट होकर औघड़दानी भगवान् शिव ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर उससे वर माँगने को कहा। सोमदत्त ने कहा—प्रभो! आप मुझे एक ऐसा पुत्र दीजिये जो युद्ध में शिनि के पुत्र को उठाकर पटक दे और उसकी छाती में लात मारे।" शिवजी ने तथास्तु कहा।

कालान्तर में इसी सोमदत्त के भूरिश्रवा नामका पुत्र हुआ। राजा शिनि के पुत्र सात्यकि हुए। यद्यपि सात्यकि अजेय परम

शूरवीर और दुर्धर्ष थे. तथापि महाभारत युद्ध में कौरवों की ओर से लड़ने वाले भूरिश्रवा ने शिवजी के वरदान के कारण सात्यकि को युद्ध में पटक दिया था और इनकी छाती में लात मारी थी। वैसे ये युद्ध में अपराजित थे। सम्पूर्ण महाभारत युद्ध में केवल पाँचों पांडव और ये महावीर युयुधान सात्यकि तथा श्रीकृष्ण ये सात ही बचे थे। कौरवों की ओर से कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा ये तीन बचे थे। सात्यकि श्रीकृष्ण के ही समान शूरवीर माने जाते थे। अर्जुन के ये परमप्रिय शिष्य थे। इन्होंने प्राणों का पण लगाकर युद्ध किया था और कौरवों की सेना के छक्के छुड़ा दिये थे। कुन्ती माता के वंश में होने से और अर्जुन के शिष्य होने के नाते ये पांडवों के घनिष्ट सम्बन्धी थे, इसी लिये दुर्योधन ने सर्वप्रथम इनका नाम लिया।

दुर्योधन ने युयुधान के पश्चात् महाराज विराट का नाम लिया। विराट भी परमतपी शूरवीर महारथी और पांडवों के घनिष्ठ सम्बन्धी थे।

शौनकजी ने कहा—सूतजी ! महाराज विराट का भी संक्षेप में परिचय करा दें।

सूतजी बोले—महाराज ! राजेन्द्र विराट तो परम प्रसिद्ध हैं। ये मत्स्यदेश (वर्तमान जयपुर राज्य) के राजा थे। बारह वर्ष वनवास के पश्चात् पांडवों ने इनके ही यहाँ एक वर्ष अज्ञात वास किया था। यहीं पर भीम ने कीचक को मारा, यहीं बृहन्नला बने अर्जुन ने कौरवों के समस्त वीरों को परास्त किया। राजा विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ किया था। अतः ये पांडवों के समधी थे। सम्बन्ध वश ही नहीं स्नेहवश भी ये पांडवों की ओर से लड़ने आये थे। अकारण कौरवों ने जो इनके राज्य पर चढ़ाई कर दी थी। इनकी गौओं

को हरकर ले गये थे, इस बात को महाराज विराट भूले नहीं हैं। वे उसकी अब सब कसर कोर इस युद्ध में निकालेंगे।

तीसरे वीराग्रगण्य महाराज द्रुपद हैं। ये भी पांडवों के घनिष्ट सम्बन्धी हैं, सम्बन्धी क्या हैं महाभारत युद्ध के मूल कारण ही हैं। यदि ये न होते इनसे आप की अनबन न होती तो महाभारत युद्ध ही न होता।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! द्रुपद युद्ध के मूल कारण क्यों हैं?

सूतजी बोले—महाराज! मैंने वैसे ही परम्परा सम्बन्ध से कह दिया। वास्तव में युद्ध के मूल कारण तो भगवान वासुदेव ही हैं। वे न चाहते तो युद्ध न होता। उन्होंने चाहा तभी युद्ध हुआ। फिर भी यदि द्रोणाचार्य और द्रुपद में अनबन न होती, तो महाभारत युद्ध की नौबत न आती। द्रोणाचार्य के पिता महामुनि भरद्वाज के आश्रम में द्रुपद और द्रोण साथ पढ़ते थे। दोनों में अत्यन्त प्रेम था, द्रुपद के पिता महाराज वृषत् के परलोक प्रयाण करने पर प्रथमपुत्र द्रुपद पृथ्वीपाल बने। गौ मांगने द्रुपद उनके पास आये राजमद में भरकर द्रुपद ने उनका तिरस्कार किया। अपमान से क्षुभित होकर द्रोणाचार्य ने भीष्मपितामह की शरण ली। कौरव पांडवों के शिक्षक बने। गुरुदक्षिणा में द्रुपद को जीवित पकड़लाने का कुमारों को आदेश दिया। उन्हें अपमान का स्मरण दिलाया, आधा राज्य उनका ले लिया। ये भी अपमान से क्षुब्ध होकर द्रोणाचार्य को मारने के उपाय सोचने लगे। एक मारण अभिचार यज्ञ कराया। जिसमें से द्रोणाचार्य को मारने वाले धृष्टद्युम्न और महाभारत कराने वाली द्रौपदी उत्पन्न हुई। द्रोणाचार्य ने यह जानते हुए भी कि धृष्टद्युम्न मेरे मारने वाला है, उसे अस्त्र शस्त्र सिखाये। इसीलिए दुर्योधन महाराज द्रुपद के लिये विशेष रूप से महारथी बता रहा है कि महाराज, हत्या की

जड़ यह अति बलवान् द्रुपद ही है। यह शूरवीर रणधीर होने पर पांडवों का सगा श्वसुर है। इन्हीं के कारण पांडवों पर इतनी सेना हो गयी है। द्रुपद ने इस युद्ध में अपना सर्वस्व लगा दिया है। सपरिवार युद्ध करने को उद्यत खड़ा है।

चौथा राजा धृष्टकेतु है। यह श्रीकृष्ण की बूआ का नाती-शिशुपाल का पुत्र है। यद्यपि श्रीकृष्ण ने इसके पिता को राजसूय यज्ञ में मार डाला है फिर भी श्रीकृष्ण में प्रीति होने के कारण अपना सम्बन्ध निभाने यह आया है। यह भी पूरी शक्ति से लड़ेगा।

दुर्योधन उन्हीं लोगों को गिना रहा है जो पांडवों के अथवा श्रीकृष्ण के सगे सम्बन्धी हैं। पांचवें ये राजा चेकितान है। ये श्रीकृष्ण के अपने ही हैं, वृष्णिवंशीय यादव हैं। इन्हें अत्यन्त शूरवीर समझ कर ही तो इनको एक अक्षोहिणी सेना का सेनापति बनाया गया है।

छटे ये काशी के राजा हैं। पिता पुत्र दोनों ही लड़ने आये हैं। काशिराज की कन्याओं को भीष्मपितामह हमारे बाबा के लिये लाये थे। हमारी दादी इनकी पुत्री थी। यद्यपि इनके लिये हम और पांडव दोनों ही सगे हैं, फिर भी ये पांडवों की ओर लड़ने आये हैं।

सातवें आठवें ये महाराणी कुन्ती के भाई पुरुजित और कुन्तीभोज हैं। पांडव इनके भानजे हैं, अपने बहिन के स्नेह से और भानजों पर कृपा वश ये दोनों भाई लड़ने आये हैं, ये युद्ध में कुछ उठा न रखेंगे और पूरी समार्थ्य के साथ लड़ेंगे।

नवमें ये राजा शैब्य हैं जो धर्मराज युधिष्ठिर के सगे ससुर हैं। इनकी पुत्री देविका से धर्मराज ने विवाह किया है ये अपने दामाद को राज दिलाने के लिये पूरी शक्ति से लड़ेंगे ये सुप्रसिद्ध शूरवीर धनुर्धर और शत्रु संतापी है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इतने योद्धाओं का नाम दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से बताया। उसके कहने का अभिप्राय इतना ही प्रतीत होता है, कि ये वेतन भोगी केवल सैनिक ही नहीं। ये सब पांडवों के सगे सम्बन्धी मित्र और अत्यन्त स्नेही हैं। इसके आगे और भी पांडव पक्षीय महारथियों का नाम दुर्योधन ने गिनाया उन्हें मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

धृष्टकेतु शिशुपाल-तनय नृप चेदि नरेश्वर।
वृष्णि वंश के वीर धीर रन चेकितान वर॥
काशिराज सुरराज सरिस रनधीर वीर वर।
धरमराज के ससुर शैव्य नरपुंगव दुरधर॥
देवी कुन्ती के अनुज, कुन्ति भोज पुरुजित नृपति।
भगिनी सुतनि निमित्त ये, लड़िवे आये शूर अति॥

पाडवपक्षीय अन्य महारथी

[६]

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमिते ॥*

(श्री भ० गी० अ० १ श्लो० ६-७)

छप्पय

युधामन्यु विक्रान्त उत्तमौजा अरिनासी ।
शूरबीर विख्यात देश पांचाल निवासी ॥
अरजुन—सुत विख्यात सुभद्रा-तनय बीरवर ।
भगिनीसुत-श्रीकृष्ण शूर अभिमन्यु धनुरधर ॥
द्रुपदसुता के तनय जो, प्रतिबिन्ध्य सुत सोम वर ।
श्रुतकर्मा, श्रुतसेन अरु, शतानीक दुरधर समर ॥

यह जीव की स्वाभाविक प्रकृति है, कि वह अपने स्वार्थ

---

* दुर्योधन कह रहा है—और भी वीर हैं—जैसे परमपराक्रमी युधामन्यु हैं, महाबलवान् उत्तमौजा हैं, सुभद्रा के तनय अभिमन्यु हैं, द्रौपदी के पाँचों पुत्र हैं ये सबके सब महारथी हैं। अब हे द्विजोत्तम आचार्य अपनी ओर के जो श्रेष्ठ श्रेष्ठ सेना नायक हैं, उनको भी मैं बताता हूँ, केवल आपकी जानकारी के के लिये बता रहा हूँ उन सब को भी आप समझ लें।

को साधने के लिये, अपने पक्ष की सिद्धि के निमित्त भाँति भाँति की युक्तियों को प्रस्तुत करेगा। अपने पक्ष को प्रबल करने के निमित्त सत्य को झूठ सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा और झूठ को सच। जहाँ अपनी प्रशंसा से काम चलेगा, वहाँ अपनी प्रशंसा के पुल बाँध देगा, जहाँ दूसरों की प्रशंसा से कार्य सिद्धि होती दीखती हो, वहाँ अत्यन्त चढ़ चढ़कर दूसरों की प्रशंसा कर देगा। उसका उद्देश्य दूसरों की प्रशंसा अथवा निन्दा में नहीं है, उसका एक मात्र उद्देश्य अपने स्वार्थ की सिद्धि में है। जिस बात से अपने स्वार्थ की सिद्धि होती हो, उस काम के करने में वह तनिक भी हिचकिचाहट न करेगा।

सूतजी कह रहे हैं मुनियो! पांडव सेना के वीर महारथियों को गिनाते हुए दुर्योधन कह रहा है—आचार्यप्रवर! मैंने पांडव पक्षीय नौ वीरों के नाम गिनाये अब दशवें हैं युधामनु और ग्यारवें हैं उत्तमौजा। ये पांचाल देशीय राजकुमार हैं, अत्यन्त शूरवीर और बलवान हैं. ये दोनों भाई परम पराक्रमी हैं। हमने द्रौपदी का अपमान किया था, अतः ये हम पर परम कुपित हैं, इसी लिये ये अपना पूराबल पराक्रम दिखावेंगे। इन दोनों भाइयों को सम्मुख समर में कोई पराजित नहीं कर सकता।

बारहवाँ वीर है अभिमन्यु। यद्यपि इसकी अवस्था छोटी है, किन्तु है महान शूरवीर। यह श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा का लड़का अर्जुन का औरस पुत्र है। पांडवों को इसके बल पराक्रम पर अत्यन्त ही भरोसा है. गर्भ में ही इसने चक्रव्यूह भेदन आदि युद्धोपयोगी अनेक विद्यायें सीख ली थीं। यह विशेषकर द्वारका ही रहा है, वहीं इसकी शिक्षा दीक्षा हुई है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही इसे सब कुछ सिखाया है। यह अपने पिता ताऊ चाचाओं के ऊपर हमने जो अत्याचार किये हैं, इनसे अत्यन्त दुखित, है यह रण में सब कुछ करेगा, अपने प्राणों का भी

पण लगा देगा। यह अर्जुन के द्वारा श्रीकृष्ण की भगिनी सुभद्रा में पैदा हुआ है। इसके अतिरिक्त पांचों पांडवों के द्रौपदी में उत्पन्न हुए पांच पुत्र और हैं। जैसे युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतसेन। ये पांचों ही बड़े शूरवीर महारथी और बलशाली हैं। जब युधिष्ठिर से द्रौपदी में प्रतिविन्ध्य उत्पन्न हुआ था, तब ब्राह्मणों ने धर्मराज से कहा था—महाराज यह बालक विन्ध्याचल पर्वत के समान शत्रुओं के संहारों को सहन करने में समर्थ होगा इसीलिये इसका नाम प्रतिविन्ध्य रखा गया। जब भीम के पुत्र हुआ था तब पांडवगण एक सहस्र सोम-याग समाप्त कर चुके थे इसीलिये इसका नाम सुत सोम रखा गया। इसी प्रकार अर्जुन जब बड़े बड़े प्रसिद्ध कर्म कर चुका था, सम्पूर्ण दिशाओं को जीत कर दिग्विजयी बन चुका था, इसी लिये इसका नाम श्रुतकर्मा अर्थात् विश्रुत-प्रसिद्ध है कर्म जिसके ऐसे पार्थ का पुत्र। महर्षि शतानीक के नाम से नकुल ने अपने पुत्र का नाम उनके गौरव को बढ़ाने के निमित्त रखा था। सहदेव का पुत्र कृत्तिका नक्षत्र में उत्पन्न हुआ था कृत्तिका नक्षत्र में होने से उन्हीं की संज्ञा होने के कारण इसका नाम श्रुत सेन रखा गया। यद्यपि ये बच्चे अभी बालक ही हैं, तथापि दश सहस्र योद्धाओं से अकेले ही युद्ध करने मे समर्थ हैं। ये सब अपने पिताओं के दुःखों को देखकर और हमारा उनके प्रति व्यवहार सुन सुनकर अत्यन्त कुपित हैं, अतः ये पूरी शक्ति से युद्ध करेंगे। किसी भी दशा मे पीछे पैर न हटावेंगे।

ये मैंने सत्रह मुख्य मुख्य वीरों के तो नाम गिना दिये इनके अतिरिक्त पांड्यराज परम प्रसिद्ध हैं। द्रौपदी के अतिरिक्त पाँचों भाइयों की और भी स्त्रियाँ हैं उनसे भी वीर पुत्र उत्पन्न हुए हैं उन सब के नाम कहाँ तक गिनाये जायँ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! द्रोणाचार्य अपने शिविर में बैठे थे । दुर्योधन को उनके यहाँ आया हुआ देखकर भीष्मपितामह कर्ण, कृपाचार्य तथा अन्यान्य मुख्य मुख्य व्यक्ति भी वहाँ आ गये । आचार्य द्रोण समझ न सके । आज यह पांडव पक्षीय सेना नायकों की इतनी प्रशंसा क्यों कर रहा है। क्या यह पांडवों की इतनी सुसज्जित सुव्यवस्थित सेना को देखकर भयभीत तो नहीं हो गया, क्या यह इनकी इतनी प्रशंसा करके सन्धि का प्रस्ताव तो नहीं रखने वाला है। क्या यह युद्ध बन्द करने की भूमिका तो नहीं बाँध रहा है। भगवान् इसे सुबुद्धि दे। अच्छा है इन भाइयों में सन्धि हो जाय।

द्रोणाचार्य यही सोच रहे थे तभी तक दुर्योधन कहने लगा—"आचार्य प्रवर ! ये तो मैंने पक्षीय वीरों पाण्डवों के मुख्य मुख्य नाम बताये अब हमारी अपनी जो सेना है, उसके मुख्य मुख्य वीरों का—सेना नायकों का—प्रधान प्रधान योद्धाओं का नाम बताता हूँ।

द्रोणाचार्य ने कहा—भाई, सब तो हमारे सामने ही हैं। उनका परिचय देने की आवश्यकता क्या है, आप अपना अभिप्राय बताओ।

दुर्योधन बोला—नहीं नहीं द्विजवर ! मेरा कोई विशेष अभिप्राय नहीं। मैं केवल आपकी जानकारी के लिये बता रहा हूँ। आपके ध्यान में रहे, आप लोग दोनों ओर का बलाबल समझकर निर्णय कर लें कि किसको किस से लड़ना है।"

तब तो द्रोणाचार्य समझ गये सन्धि की कोई बात नहीं। यह केवल हम को उत्साहित करने के लिये दोनों दलों के वीरों की तुलना कर रहा है। देखें यह सबसे बलवान किसे बताता है। उस ओर तो इसने सत्रह नाम गिनाये अपनी ओर के नाम लेता है।

दुर्योधन ने कहा—मैं अपनी ओर के सब वीरों का नाम नहीं लूँगा, हमारी ओर अगणित महारथी हैं, जो पराक्रमी, शूरवीर, उत्साही यशस्वी, तेजस्वी, मनस्वी तथा साहसी हैं। मैं विशिष्ट विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध में ही कहूँगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यहाँ तक तो उसने शिष्टाचार के सहित कथोपकथन किया। अब आगे हम लोगों की सेना नहीं कहता, अब अभिमान में भरकर मेरी सेना कहता है। मेरे सेना के जो नायक हैं, सेनापति हैं उन्हें मैं आपको बताता हूँ, आप समझ लें, सोचलें, विचार करलें और फिर मैं जो कहूँ, उसे ही करें। अब सुनिये मैं अपने सेनानायकों का नाम बताता हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कह कर दुर्योधन अपने सेनापतियों का नाम बताने लगा। उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

ये सब मैंने कहे शत्रु दल सेना नायक।
अब हमरे जो बीर सुनो सब शास्त्रनि गायक॥
जो हैं प्रबल प्रधान जानिलें निज बीरनिकूँ।
फिरिकिनतैं को लड़ै लड़ावै उनतैं तिनिकूँ॥
मेरी सेना में बड़े, शूर बीर अति धनुरधर।
बुद्धिमान बलवान बहु, तिनिकूँ सुनिये विप्रवर॥

कौरव पक्षीय शूरवीर।

[७]

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥*

(श्रीभ० गी० १ अ० ८, ९ श्लोक)

छप्पय

सर्व प्रथम तो आपु विप्रकुल कमल दिवाकर।
सबके हैं आचार्य धनुरधर सकल गुणाकर॥
भीष्म पितामह पूज्य वृद्ध सेनापति अनुपम।
शत्रु सँहाती करन कौन अरिदल में तिनि सम॥
कृपाचार्य संग्रामजित, अश्वत्थामा अतिरथी।
वीर विकर्ण सुवीर वर, भूरिश्रवा महारथी॥

शास्त्र का वचन है, अपनी प्रशन्सा न करे और अपनों की उनके मुखपर प्रशंसा न करे। ऐसा करने से उनकी आयु क्षीण होती है, किन्तु विवशता ही हो, करनी ही हो, तो संकोच के

---

*दुर्योधन कह रहा है—आचार्यवर! अब आप मेरी सेना के सेनापतियों के भी नाम सुनें—आप हैं, भीष्मपितामह हैं, कर्ण हैं, संग्राम में सदा विजयी होने वाले हमारे आचार्य कृप हैं, अश्वत्थामा हैं, विकर्ण हैं और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा हैं।

साथ करे। बड़ों की स्तुति प्रशंसा तो उनके मुख पर या परोक्ष में भी करनी ही चाहिये। किन्तु अपने से छोटों की तो जहाँ तक हो उनके मुख पर प्रशंसा न करे।

अपनी की प्रशंसा उनसे कोई काम कराने के लिये की जाती है। जैसे बच्चे हैं, उनसे कोई काम कराना हो, तो उन्हें उत्साहित करने को कहते हैं—"तुम बड़े राजा हो, मेरा बच्चा तो बड़ा योद्धा है। देखो, बेटा यह काम कर दोगे तो तुम बहुत शूरवीर समझे जाओगे। बड़ों से कोई काम करना हो तो उनसे कहे—अब आप के सामने हम क्या कहें, हमें तो कहने में लज्जा लगती है, नहीं तो आपके समान दूसरा है ही कौन? आपको छोड़कर अब हम दूसरे किसकी शरण में जायें। हमारा तो उद्धार आप ही कर सकते हैं। आप हृदय से अपनी पूरी शक्ति से हमारी सहायता करें तो कोई हमारा बाल भी बाँका नहीं कर सकता है। संसार में ऐसा कौन मानव होगा जिसे अपनी प्रशंसा प्यारी नहीं लगती हो, स्तुति प्रशंसा से तो परमात्मा भी प्रसन्न हो जाते हैं। अतः कार्य सिद्ध कराने की इच्छा रखने वालों को बड़ों की प्रशंसा अवश्य ही करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! पर पक्ष के वीरों का वर्णन दुर्योधन आचार्य द्रोण के समीप करके अपने पक्षके सुप्रसिद्ध वीरों का वर्णन करने लगा।

उसने कहा—मेरी सेना में सर्व प्रथम तो आप हैं, आपसे बढ़कर श्रेष्ठ शूरवीर कोई नहीं है। आपके पश्चात् पितामह भीष्म हैं, तदनन्तर तीसरे कर्ण हैं, चौथे शत्रुओं को संताप देने वाले कृपाचार्य हैं। पांचवें अश्वत्थामा है, छटे विकर्ण हैं, सातवें सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत से शूरवीर हैं, जो मेरे निमित्त जीवन की आशा त्यागकर प्राणों

पण लगाकर युद्ध करेंगे। वे नाना अस्त्र शस्त्रों से सदा सर्वदा सुसज्जित रहते हैं और सभी युद्ध विशारद तथा चतुर हैं।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! सर्वश्रेष्ठ बली, सबसे वयोवृद्ध, सबके सेनापति तो पितामह भीष्म थे, उनका सर्व प्रथम नाम न लेकर दुर्योधन ने द्रोणाचार्य का नाम पहिले क्यों लिया?

सूतजी बोले—महाराज! यथार्थ कारण तो भगवान ही जानते हैं या व्यासजी जानते होंगे। मेरी बुद्धि में तो यही आता है, ये सब बातें दुर्योधन सबके गुरु आचार्य द्रोण को उत्तेजित करने के लिये कर रहे हैं। पांडव पक्ष के उसने १७ योद्धाओं के तो स्पष्ट नाम ही गिनाये हैं। भीम और अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ बताकर उनके समान ही इन सत्रहों को बताया अर्थात् १९ नाम तो उसने स्पष्ट ही लिये। उसका लक्ष्य केवल भीम और अर्जुन को परास्त करने में है। यदि किसी तरह यह दोनों युद्ध में मारे जायें, तो मेरी विजय निश्चित है। भीष्म पितामह ने सेनापतियों की गणना करते समय स्पष्ट कह दिया था, यद्यपि द्रोणाचार्य सर्वविद्या विशारद हैं। ये चाहें तो सबका संहार कर सकते हैं, किन्तु इनमें एक ही दोष है, ये अर्जुन को अपने पुत्र अश्वत्थामा से भी अधिक चाहते हैं ये युद्ध में अर्जुन को किसी प्रकार भी नहीं मारेंगे। उसने सोचा—ठीक है, अर्जुन को न मारें न सही यदि ये भीमसेन को मार दें, तो अर्जुन को मारने का बीड़ा तो कर्ण ने उठा ही लिया है। कर्ण की जान यह भीम ही है। इसी ने हम सब भाइयों को मारने की, मेरी जंघा तोड़ने की तथा दुःशासन के रक्तपान की प्रतिज्ञा की है। किसी प्रकार उत्तेजित होकर द्रोणाचार्य इसे मार दें तो मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो जाय। भीष्म पितामह ने तो स्पष्ट ही कह दिया है मैं पाँचों पांडवों को नहीं मारूँगा। युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव को तो मैं क्या कोई भी कौरवों का महारथी मार देगा। ये न भी मरे तो भीम अर्जुन के

मारे जाने पर ये मृत तुल्य हो ही जायँगे। अतः किसी प्रकार द्रोणाचार्यजी को उत्तेजित करना चाहिये। इसीलिये पाँडवों की सेना के तो १७ वीरों का नाम लिया अपनी सेना के कुल सात ही वीरों का नाम गिनाया। पाँडवों की सेना के जो सत्रह वीर हैं, वे सबके सब क्षत्रिय हैं, विशुद्ध वंश के राजा हैं, सभी मातृ-वंश पितृवंश अथवा पत्नी वंश से पाँडवों के सगे सम्बन्धी हैं। उनमें अनुराग रखते हैं। एक तो वे क्षत्रिय होने के नाते वैसे ही युद्ध को अपना पैतृक धर्म समझ कर लड़ेंगे। क्योंकि धर्म युद्ध से बढ़कर क्षत्रियों के लिये कोई श्रेयस्कर मार्ग नहीं। क्षत्रिय होने के नाते ये सब प्राणपण से लड़ेंगे। दूसरे ये सबके सब पाँडवों के सम्बन्धी हैं। कोई मामा के लड़के हैं, कोई श्वसुर हैं कोई मामा हैं इस प्रकार सम्बन्ध के कारण भी मन लगाकर लड़ेंगे। तीसरे ये सब पाँडवों से स्नेह करते हैं, इनकी विजय चाहते हैं। अतः ये अपनी ओर से लड़ने में कुछ भी कोर कसर न छोड़ेंगे। अब कौरवों की ओर से जो दुर्योधन ने सात गिनाये हैं। उनमें तीन तो ब्राह्मण ही हैं, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा। युद्ध करना ब्राह्मण का धर्म नहीं है। ब्राह्मण का धर्म तो वेद पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना है। आजीविका के लिये वे अध्यापन, यज्ञ कराना और दान ग्रहण इन कार्यों को कर सकते हैं। जब आपत्ति हो, तब विवश होकर वे आपत्ति के समय क्षत्रिय के धर्म-युद्ध-को अंगीकार कर सकते हैं। इन पर कोई आपत्ति तो है नहीं फिर भी ये तीनों लड़ने को तत्पर हैं तो आरूढ़ पतित हैं। अर्थात् ऊँची वृत्ति को छोड़कर आपत् धर्म की नीची वृत्ति को ग्रहण किये हुए हैं। ये लोभवश युद्धकर रहे हैं, क्योंकि पुरुष अर्थ का दास होता है। अर्थ किसी का दास नहीं होता यह बात भीष्म और द्रोण दोनों ही स्वीकार कर चुके हैं इसलिये इन तीनों का युद्ध करना पैतृक धर्म तो है नहीं। ये लोग लोभवश

अर्थ दृष्टि से लड़ेंगे। रही सम्बन्ध की बात सो जब य उच्चवर्ण के हैं तो इनसे हम क्षत्रियों का मौन सम्बन्ध भी नहीं है। तीसरे आदमी स्नेह वश मैत्री भाव से भी लड़ सकता है। मैत्री हृदय से होती है। हृदय इनका पांडवों की ओर है, विशेषकर अपने परमप्रिय शिष्य अर्जुन की ओर अब एक ही उपाय है, बड़े लोगों को सेवा तथा स्तुति के द्वारा प्रसन्न करले, तो वे आवेश में आकर न देने योग्य वर को दे सकते हैं, न करने योग्य कार्य को कर सकते हैं। शिवजी से असुरगण स्तुति सेवा द्वारा ही असंभव वरों को प्राप्त कर लेते हैं। मैंने ही सेवा स्तुति द्वारा महाराज शल्य को अपने वश में कर लिया। वे यद्यपि पांडवों की ओर लड़ने आ रहे थे, किन्तु मेरी सेवा तथा स्तुति प्रार्थना से प्रसन्न होकर वे मेरी ओर हो गये। इस श्रीकृष्ण के सम्मुख मेरी चाल नहीं चली। मैंने सेवा स्तुति द्वारा इन्हें अपनी ओर लाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु इनका पांडवों के प्रति सहज स्नेह है। वैसे साधारणतया बड़े लोग प्रशंसा से स्तुति से शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। यही सब सोचकर उसने अपनी सेना में सर्वप्रथम सर्व-श्रेष्ठ योद्धाओं में द्रोणाचार्य को गिनाया।

सत्य बात तो यह है, कि दुर्योधन ने यह महाभारत युद्ध न तो द्रोणाचार्य के बलभरोसे पर ठाना और न भीष्म पितामह के बल पर, उसे तो एक मात्र अपने मित्र परम योद्धा कर्ण का ही सहारा था। कर्ण के ही बल भरोसे पर वह महाभारत को जीतना चाहता था। किन्तु कर्ण विशुद्ध क्षत्रिय नहीं था। वह सूत पुत्र के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध था। सूत जाति का कार्य युद्ध करना तो है नहीं। वह तो सभा में खड़े होकर राजाओं की या तो स्तुति करते हैं या रथ हाँकते हैं। उनका कार्य क्षत्रिय वीरों की सेवा सुश्रूषा करना है। सूतवंश में कर्ण अपवाद हैं, वह अपनी विद्या तथा बल पौरुष से समस्त वीराभिमानी क्षत्रियों को परास्त करने

में समर्थ है, उसने अकेले ही दिग्विजय करके सब क्षत्रियों को वश में कर लिया है। पांडव भी उसकी वीरता का लोहा मानते हैं, किन्तु हमारे बीच में ये वृद्ध भीष्म पितामह ही रोड़ा हैं। इन्हें न छोड़ सकते हैं न इन पर पूर्ण विश्वास ही कर सकते हैं। ये बूढ़े आदमी कभी कभी बहुत संकट पैदा करते हैं। ये अपनी पद प्रतिष्ठा को छोड़ना भी नहीं चाहते और यमराज भी इनको अपने पास बुलाने में डरते हैं। इससे इनकी प्रतिष्ठा करो तो भी आफत, न करो तो भी आफत।

ये भीष्मपितामह मेरे मित्र कर्ण से द्वेष रखते हैं, बात बात पर उसका अपमान करते हैं, छूटते ही उसे गाली देते हैं, युद्ध तक के लिये ललकारने लगते हैं। कर्ण मेरे कारण इनका शील संकोच करता है, किन्तु शील संकोच की भी कोई सीमा होती है, अब उसी दिन वे मुझे अपनी सेना के अतिरथी महारथी, रथी और अर्धरथियों का गिनाने लगे। सबकी खूब प्रशंसा की, यथार्थ परिचय दिया। कर्ण के पुत्र वृषसेन को भी महारथी बताया, किन्तु जहाँ कर्ण का प्रसंग आया, वहीं उनकी त्योरियाँ बदल गयीं। कहने लगे—यह नीच कर्ण अपने को बहुत बड़ा योद्धा समझता है। परन्तु मैं इस सूत के छोकड़े को न अतिरथी मानता हूँ, न महारथी न रथी ही, यह अर्धरथी की श्रेणी में आ सकता है। यह उस विश्वविजयी वीर का कितना भारी अपमान था, वह तो मेरी शील संकोच से चुप हो गया, नहीं तो उसी दिन घर में ही महाभारत हो जाता।

ये बूढ़े लोग अपने समान किसी को कुछ समझते ही नहीं। इन्हें अपने अनुभवों का अपनी अवस्था का आवश्यकता से अधिक अभिमान होता है। अब इन बूढ़े बाबा को सर्वोच्च सेनापति न बनावें तो ये क्रुद्ध होंगे, पाँडवों की भी ओर जा सकते हैं। इसलिये सेना में सबसे उच्चपद तो इन्हें देना ही है।

सभी योद्धाओं का मूर्धन्य तो इन्हें बनाना ही है और जो परशुरामजी तक को युद्ध में संतुष्ट कर सकता है, इक्कीसबार समस्त विश्वके क्षत्रियों को जीतने वाले से भी जो डटकर लोहा ले सकता है, जो सबसे वृद्ध है उसे छोड़कर दूसरे को सेनापति बनाया भी नहीं जा सकता। अब उनके सम्मुख सर्वप्रथम कर्ण को गिनावें तो वे मारे क्रोध से लाल हो जायँगे। इसमें अपना घोर अपमान समझेंगे। इसलिये सेनापति के नाते सर्वप्रथम वीर तो ये हैं ही, किन्तु द्रोणाचार्य के सम्मुख इन्हें सर्व प्रथम गिनावें, तो वे ऊपर से तो कुछ कहेंगे नहीं, क्योंकि भीष्मपितामह ने ही इन्हें आश्रय दिया है, फिर भी मन में बुरा तो मानेंगे ही कि मैं एक तो ब्राह्मण हूँ, सबका आचार्य हूँ, धनुर्विद्या में विश्वविख्यात हूँ। अस्त्रशस्त्रों की विद्यामें विशारद हूँ, मुझे सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा।

भीष्मपितामह यह साधु ब्राह्मणों का अत्यधिक सम्मान करते हैं। उनके सम्मुख द्रोणाचार्य को मैं सर्वश्रेष्ठ शूर कहूँगा, तो वे बुरा न मानेंगे सोचेंगे—ब्राह्मण होने के नाते वे तो सभी के पूज्य हैं। ये ही सब बातें सोचकर उसने द्रोणाचार्य को सर्व प्रथम गिनाया। जिससे कि वे प्रसन्न होकर मुझे दुर्लभवर दे दें और हृदय से प्राणों का पण लगाकर युद्ध करें। द्रोणाचार्य को प्रसन्न करना ही उसे अभीष्ट था।

दूसरा नाम उसे भीष्म पितामह का लेना ही था, वे वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध और ग्यारह अक्षोहिणी सेना के सेनापति ही थे। युद्ध में सेनापति का पद राजा से भी बढ़कर होता है। राजा को भी सेनापति के ही अधीन रहना पड़ता है। इन दो वृद्धों को सन्तुष्ट करके इनका नाम गिनाकर अब उसने तीसरा नाम कर्ण का लिया वैसे मर्यादा की दृष्टि से तो उसे दूसरा नहीं तो तीसरा नाम कृपाचार्य का लेना था। क्योंकि वे कुरुकुल के पुरोहित थे। सब के पूज्य थे। उन्हीं के कारण द्रोणाचार्य को आश्रय मिला। द्रोणा-

चार्य के पश्चात् ही कृपाचार्य की गणना होनी चाहिये थी। किन्तु भीष्म पितामह को सर्वोच्च सेनापति की दृष्टि से दूसरा पद दे दिया गया तो तीसरा नाम तो उनका होना ही चाहिये, किन्तु दुर्योधन ने उनकी परवाह नहीं की। पुरोहित होने के कारण उन्हें तो हमारे साथ रहना ही होगा। वे हमें छोड़कर कहाँ जा सकते हैं। उन्हे चौथे में रख लो, पांचवें में गिनालो, वे तो अपने हैं ही। मानलो वे क्रुद्ध भी हो जायें तो उनके बिना कुछ बनता बिगड़ता भी नहीं। किन्तु अब भीष्मपितामह के पश्चात् भी कर्ण को न गिनावेंगे तो वह इसमें अपना घोर अपमान समझेगा। अतः द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह के पश्चात् ही उसने कर्ण का नाम ले दिया। बस, इन तीनों को ही वह सर्वोच्च वीर समझता था। तीनों में भी केवल कर्ण को। भीष्म पितामह को तो उसे विवश होकर सेनापति बनाना पड़ा। कर्ण यद्यपि उसकी दृष्टि में सर्व श्रेष्ठ वीर है, किन्तु कर्ण भीष्म पितामह के कार्यों में कुछ कह नहीं सकता, उन्हे सम्मति मंत्रणा दे नहीं सकता, क्योंकि भीष्म पितामह उससे जलते हैं। छूटते ही वे कहेंगे—तू कलका छोकड़ा, सूत का पुत्र तू युद्ध की बातें क्या जानता है। इस बूढ़े सिंह को कुछ सम्मति दे सकते हैं, तो ब्राह्मण होने के नाते द्रोणाचार्य ही दे सकते हैं। इनकी बात वे मानते हैं इनका आदर सम्मान करते हैं अतः भीष्म इधर उधर भटकने न पावें अपने पद का ठीक ठीक उपयोग करें, इसके लिये द्रोणाचार्य को वश में करना परमावश्यक है। अतः प्रथम द्रोण, दूसरे भीष्म और तीसरा नाम उसने कर्ण का लिया। उसकी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ योद्धा समाप्त हो गये अब चार नाम तो उसने उपचार की दृष्टि से ले दिये। चौथा नाम कृपाचार्य का इसलिये ले दिया कि ये हमारे पुरोहित हैं, ब्राह्मण हैं, इनका भी सम्मान करना चाहिये और सबसे बढ़कर यह बात है कि ये द्रोणाचार्य के साले हैं। साले

से बड़ा स्नेह होता है, विशेष कर कलिकाल में महाभारत के समय कलियुग आ तो गया था, किन्तु श्रीकृष्ण के रहने के कारण उसने हाथ पैर नहीं फैलाये थे। कृपाचार्य का नाम लिया तो द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा का भी नाम लेना चाहिये। पुत्र का नाम सुनकर वे प्रसन्न होंगे अतः पांचवा नाम द्रोणाचार्य की प्रसन्नता के निमित्त ले दिया।

छठा नाम उसने अपने भाई विकर्ण का लिया। उसके तो सौ भाई थे। विकर्ण का ही नाम लेने का क्या कारण। विकर्ण से तो दुःशासन बली शूरवीर और प्रसिद्ध था। प्रतीत होता है, विकर्ण की प्रकृति इन सब भाइयों से भिन्न थी। वह धर्मात्मा था और पांडवों का पक्ष लिया करता था। द्रौपदी का जब भरी सभा में दुःशासन ने चीर हरण करना चाहा तब द्रौपदी ने सबसे धर्म का एक प्रश्न पूछा कि न्यायतः मैं जीती गयी या नहीं। इस पर भीष्म पितामह धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य तथा अन्यान्य सभी सभासद चुप हो गये। एक वीर धर्मात्मा विकर्ण ही ऐसा था। जिसने निर्भीक होकर उत्तर दिया और पांडवों के पक्ष का प्रबल समर्थन किया। इस पर कर्ण ने उसे बहुत डाँटा फटकारा, उसके वचनों को लड़कपन की सम्मति बताया। किन्तु उसने इतनी सच्ची बात कही कि कोई भी उतनी सच्ची शास्त्र सम्मत बात न कह सका। इसीलिए दुर्योधन ने उसकी प्रशंसा कर दी कि यह प्रसन्न होकर हमारी ही ओर रहे। कहीं धर्म पक्ष समझकर पांडवों की ओर न चला जाय।

सतवाँ नाम उसने अपने कुल के भूरिश्रवा का ले दिया। वह इसलिये अपने कुल के एक श्रेष्ठ पुरुष का भी नामलेना चाहिये। इसमे भीष्म पितामह प्रसन्न हो जायँगे। ये भूरिश्रवा शास्त्र के नाते कुरुकुल में सर्वश्रेष्ठ थे। भीष्म पितामह के पिता शान्तनु थे, उनके बड़े भाई बाल्हीक थे। बाल्हीक के पुत्र सोमदत्त थे जो

भीष्म पितामह के ताऊ के लड़के के भाई थे। उनके ये पुत्र थे भूरिश्रवा। भीष्म पितामह के भतीजे और कौरव पांडवों के चाचा थे। धृतराष्ट्र तो अंधे थे, पांडु स्वर्ग वासी हो चुके थे। भीष्म पितामह ने विवाह ही नहीं किया अतः ये भूरिश्रवा ही कुल में सर्व श्रेष्ठ थे। अतः भीष्मपितामह बुरा न मानेइसलिये अन्त में उनका भी नाम ले दिया।

सूतजी कहते हैं मुनियों! सात महारथियों का नाम सोचकर दुर्योधन चुप हो गया। पांडव सेना के तो सत्रह नाम गिनाये और अपने सात ही नाम गिना कर उसने यह कह कर बात समाप्त कर दी कि और भी बहुत से से शूरवीर हैं जो प्राणों का पण लगा कर मेरी ओर से लड़ने आये हैं। यह सभी युद्ध विद्या विशारद हैं, धनुर्धर हैं और सभी मेरे स्नेही हैं। अपनी ओर के सात का ही नाम किस हेतु से गिनाया, इस विषय को मैं आगे सुनाऊँगा आप सब दत्तचित्त होकर सुनें।

छप्पय

और बहुत से शूर बीर क्षत्रिय कुछ भूपन।
जो रनतजि नहिं भगे नहीं जिनमें कछु दूषन॥
जीवन आशा त्यागी प्रान पन जिननि लगाये।
शोक मोह भय त्यागि शत्रु दल जिननि भगाये॥
अस्त्र शस्त्र सज्जित सकल, सबहीं युद्ध प्रवीन हैं।
ममहित सब सुख त्यागिकें, आये वृद्ध नवीन हैं॥

———

सेनानायक की रक्षा ही धर्म है

(८)

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥*
(श्रीभ० गी० १ अ० १०, ११ श्लो०)

छप्पय

मेरी सेना जदपि अधिक संख्या में भारी ।
बड़े-बड़े वर बीर बेद विद् बहुबल धारी ॥
तोऊ नहिं परियाप्त भीष्म जाके रक्षक हैं ।
समदरसी कुल श्रेष्ठ सकल सेना अधिपति हैं ॥
शत्रु पक्ष की सेन यह, है परियाप्त ससीम है ।
सब सेना साधन सहित, रक्षक जाको भीम है ॥

उपनिषद् में कहा है —पृथिवी भर का अन्न, सोना चाँदी, समस्त काम काज के पशु तथा समस्त कामिनियाँ एक ही व्यक्ति

---

*दुर्योधन कह रहा है—इतना होने पर भी हमारी सेना अपर्याप्त है, क्योंकि यह वृद्ध भीष्म पितामह के द्वारा रक्षित है। और इनकी सेना पर्याप्त है, जो भीम द्वारा रक्षित है इसलिए आप सब लोग सब ओर से यथा स्थान रह कर बिना नतु नच के भीष्म पितामह की ही रक्षा कीजियेगा।

को दे दी जायँ, तो भी उसकी सन्तुष्टि के लिये ये सब अपर्याप्त हैं। अर्थात् कितनी भी भोग सामग्री क्यों न हो, असन्तोषी पुरुष यह नहीं कह सकता कि बस, मेरे लिये पर्याप्त है। कितना भी धन हो जाय, जब तक हृदय में संतोष नहीं, तब तक व्यक्ति यह नहीं कह सकता मेरे लिये यथेष्ट है, अब नहीं चाहिये। असन्तोषी को कितना भी दे दो उसकी तृप्ति नहीं। तृप्ति या सन्तुष्टि वस्तुओं में नहीं वह तो मन में है। मन में सन्तोष आजाय तो गोधन, गजधन, अश्वधन तथा रत्नधन ये सभी धूरि के समान हैं। अतः सन्तोष का कारण विपुल मात्रा में वस्तुओं का संग्रह न होकर मनस्तोष ही है।

सूतजी कहते हैं—मुनियों! दुर्योधन ने दोनों ही सेना से बड़े बड़े मुख्य मुख्य वीरों का परिचय द्रोणाचार्य को करा दिया। उस ओर के उसने भीम और अर्जुन को तो सर्व श्रेष्ट वीर बताकर उपमा में रखा और युयुधान आदि १७ को उपमेय बनाकर उनकी सेना का एक सुन्दर आकर्षक रूप खड़ा कर दिया। अपनी ओर के उसने कुल सात का ही नाम गिनाया। वे सात भी ऐसे कि यदि वे प्रेम पूर्वक लड़ें तब मेरी विजय संभव है, अन्यथा हम पांडवों की बराबरी नहीं कर सकते। सर्व प्रथम द्रोणाचार्य को ही लो। ये जन्मना ब्राह्मण हैं, स्वभावतः क्षत्रिय की भाँति कठोर नहीं बन सकते, हम सब ही समान रूप से इनके शिष्य हैं, अतः पांडवों के प्रति इनकी स्वाभाविक शत्रुता भी नहीं, तीसरे ये अर्जुन को अपने पुत्र से भी बढ़कर मानते हैं, उधर अर्जुन और भीम ही दो प्रधान बली हैं। अर्जुन से तो ये भिड़ेंगे नहीं। भीम को भी मारेंगे इसमें संदेह है। दूसरे हैं भीष्म पितामह, उनके लिये हम दोनों ही समान है, हम दोनों के ही वे पितामह हैं,। अब तक वे सर्वत्र पांडवों का ही पक्ष लेते आये हैं। श्रीकृष्ण को देखते ही ये घुटने टेक देते हैं, उनकी प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं, उधर श्रीकृष्ण ही

सर्वस्व हैं, पांडव उनकी सम्मति के बिना एक पग भी नहीं रखते। दूसरे भीष्मपितामह वृद्ध भी हैं, तीसरे वे मेरे विजय के एक मात्र आधार कर्ण से मन ही मन जलते हैं, हम सब भाइयों को पापमति अधर्मी बताते हैं।

तीसरा कर्ण है, वह हृदय से मेरे साथ है, फिर भी वह अर्जुन को छोड़कर और किसी पांडव को मारेगा नहीं। कैसा भी सही वह जाति का सूत है, उसे सेनापति न बनाऊँ तो वह मन ही मन बुरा मानेगा, उसे यदि सेनापति बनाता हूँ तो वीराभिमानी क्षत्रिय इसमें अपना अपमान समझेंगे, वे सूत के अधीन रहकर युद्ध करेंगे तो सही, किन्तु मन लगाकर हृदय से नहीं करेंगे।

अब चौथे रहे कृपाचार्य, सो वे तो ब्राह्मण ही ठहरे। उनकी दृष्टि में हम और पांडव बराबर हैं। वे हमारे कुल भर के पुरोहित हैं, उन्हें, जितना प्रेम दक्षिणा से है उतना युद्ध से नहीं। यद्यपि वे समरविजयी हैं, किन्तु शस्त्र समर की अपेक्षा उन्हें शास्त्र समर अधिक प्रिय है, वे विद्याव्यासंगी हैं, अतः धर्म समझ कर प्राण से युद्ध करेंगे यह आशा उनसे नहीं।

पाँचवा अश्वत्थामा है, यद्यपि यह शूरवीर और अस्त्र शस्त्रों का ज्ञाता है, किन्तु है तो ब्राह्मण ही। इसे पांडवों से कोई शत्रुता भी नहीं। मुझे भीष्म पितामह ने पहिले ही बता दिया है, कि यह बली तो बहुत है, किन्तु इसे अपने प्राणों का मोह अत्यधिक है। जिसे प्राणों का मोह है, वह पूरी शक्ति लगाकर युद्ध कैसे कर सकता है। युद्ध में तो प्राणों का पण लगाना पड़ता है, अतः इससे भी बहुत अधिक आशा नहीं है।

अब छटा रहा, मेरा भाई विकर्ण सो मेरे सौ भाइयों में से यही मेरे विरुद्ध बोला था। भरी सभा में इसी ने पांडवों का पक्ष लिया था। जिस बात को भीष्म, द्रोण और मेरे पिता नहीं कह सके उसे इसने कहा था। कर्तव्य समझकर यह हमारी ओर से

लड़ेगा, वैसे मन इसका पांडवों की ही ओर है। हृदय से अनुभव करता है, कि पांडवों का पक्ष धर्म का पक्ष है।

सातवें हैं भूरिश्रवा। ये सोमदत्त के पुत्र हैं, सोमदत्त हमारे प्रपितामह शान्तनु के बड़े भाई हैं। इनकी रुचि यज्ञ याग आदि धर्म कार्यों में अधिक है। ये हममें और पांडवों में कोई भेद नहीं मानते।

इन सभी कारणों से संख्या में अधिक होने पर भी मेरी सेना पर्याप्त नहीं अपर्याप्त ही है। दूसरे हमारे सेनापति भीष्मपितामह हैं। यद्यपि इन्होंने बड़े बड़े वीराभिमानी राजाओं को युद्ध में परास्त किया है। इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश करने वाले परशुराम से टक्कर ली है, उन्हें युद्ध में संतुष्ट किया है, यह सब कुछ होने पर भी हैं तो वृद्ध ही वृद्धावस्था का प्रभाव सभी प्राण-धारियों पर पड़ता है। आदमी प्रतिहिंसा के कारण द्वेषवश आवेश में आकर अपनी शक्ति के बाहर भी काम कर डालता है। इनके हृदय में पांडवों के प्रति कोई द्वेष नहीं प्रतिहिंसा नहीं। पांडवों को न मारने की बात इन्होंने स्पष्ट पहले ही बता दी है, यही नहीं ये पांडवों को युद्धोपयोगी सम्मति भी देते रहते हैं। ऐसे घर के भेदिया हमारे सेनापति हैं। उधर यद्यपि भीम सेना-पति तो नहीं हैं। नाममात्र को उन्होंने—द्रुपद को प्रसन्न करने के निमित्त—धृष्टद्युम्न को सेनापति बना दिया है, किन्तु कर्ता धर्ता सब भीमसेन ही हैं। हमने इसका बहुत अपमान किया है, कई बार इसे मार डालने का असफल प्रयत्न भी किया है। द्रौपदी के अपमान से यह अत्यन्त क्रुद्ध है। आठों पहर इसके हृदय में प्रतिहिंसा अग्नि दहकती रहती है। यह अन्तःकरण से हम लोगों से द्वेष रखता है। यह युद्ध में अपनी शक्ति भर कुछ उठा न रखेगा। जिस सेना का सेनापति मन से लड़ता है, तो उसकी

सेना भी प्राणों का पण लगा देती है। जिस सेना का सेनापति भाग खड़ा होता है, वह सेना चाहे जीत ही रही हो, सेनापति के भागते ही वह भी भागने लगती है। अतः भीमसेन के नेतृत्व में लड़ने वाली सेना दूनी शक्ति से लड़ेगी। अतः इनकी सेना इसका बल पौरुष पर्याप्त है—यथेष्ट है।

दुर्योधन ने यह शब्द दुरथक कहा। वहाँ भीष्म पितामह आदि भी बैठे थे और द्रोणाचार्य कृपाचार्य अश्वत्थामा आदि वीर भी थे। उसका भाव तो यही था, कि अपनी सेना की अव्यवस्था और उत्साह की न्यूनता बताकर तथा पांडवों का वैभव युद्ध कौशल जता कर द्रोणाचार्य को युद्ध के लिये उभाड़ना उन्हें उत्साहित करना, जिससे वे पूरी शक्ति से युद्ध करें। किन्तु साथ ही भीष्म पितामह के सम्मुख अपनी निबलता भी सिद्ध न हो, उनकी प्रशंसा भी यथेष्ट हो जाय, अतः उन्हें समझाने को पर्याप्त अपर्याप्त का अर्थ यह भी हो सकता है,कि आप सबके सब विश्व-विजया महारथी हैं, आपके सम्मुख पांडवों की सेना तृण के समान भी नहीं है, आप चाहें तो क्षण भर में पांडवों सहित उनकी समस्त सेना का संहार करने में समर्थ हैं। फिर हमारी सेना के सेनापति बुद्धिमान, सभी गुणों के सागर, रणनिपुण विश्वविजयी वयोवृद्ध, परम अनुभवी तथा शत्रु संहर्ता भीष्म-पितामह हैं, उधर एक बहुत खाने वाला पेटू गुणहीन भीमसेन ही है। वह भीष्म पितामह के सम्मुख क्या लड़ेगा। अतः हमारी सेना सभी प्रकार से अजेय है, इसे शत्रु पक्ष का कोई भी वीर जीत नहीं सकता। पांडवों की सेना सुगमता से जीती जा सकती है।

द्रोणाचार्य ने तो यही समझा कि दुर्योधन उनका महत्व बता कर उनकी सेना की व्यूह रचना सुव्यवस्था जताकर, मुझसे भी ऐसी ही व्यूह रचना तथा व्यवस्था करने के लिये कह रहा है

और भीष्मपितामहने यही समझा कि उनकी सेना को हेय बता कर मेरे सेनापतित्व की प्रशंसा कर रहा है। अतः उनका मुखमंडल खिल उठा। उनको प्रसन्न करने के निमित्त तथा सेनापति की रक्षा को ही प्रधान कर्तव्य बताने के निमित्त वह केवल द्रोणाचार्य से ही नहीं अपितु सभी सेनानायकों से कहने लगा—देखिये, सेना के समस्त लोगों का, विशेषकर अधीनस्थ सेनापतियों का यह प्रधान कर्तव्य है, कि वह सर्वोच्च सेनानायक प्रधान सेनापति की सभी प्रकार से रक्षा करे.क्योंकि सेनापति की सुरक्षा से ही सम्पूर्ण सेना सुरक्षित रह सकती है, अतः आप सब लोग, अपने अपने नियुक्त स्थानों पर दृढ़ता से डटे रह कर सब ओर से भीष्म पितामह की ही रक्षा करना। पितामह सब ओर देख नहीं सकते, वे तो युद्ध में रत रहेंगे, आप लोग सब ओर से देखते रहो, कोई उनपर आगे से, पीछे से, इधर उधर बगलों से प्रहार न कर सके।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! दुर्योधन ने भीष्म पितामह की रक्षा पर ही इतना भारी बल क्यों दिया?

इस पर सूतजी बोले—महाराज! युद्ध में सेनापति ही तो सब कुछ होता है। स्वयं लड़ लेना—अपने बराबर के योद्धा से युद्ध कर लेना कोई बड़ी बात नहीं। सभी को लडाना, सबकी रेख देख व्यवस्था करना यही सबसे श्रेष्ठ कार्य है। यदि सेनापति बुद्धिमान, तेजस्वी, उत्साही शूरवीर और नीति निपुण है, तो वह मृतक सैनिकों में भी प्राणों का संचार कर सकता है। यदि सेनापति निर्बल, भीरु तथा बुद्धि रहित है तो वह वीर योद्धाओं को भी कायर बना सकता है। युद्ध के प्राण सेनापति ही बताये हैं। कितनी भी बड़ी सेना हो, उसमें सेनापति न हो, तो वह कभी भी विजय प्राप्त नहीं कर सकती। यदि योग्य सेनापति है, तो सैनिक चाहें जितनी कम हो, विजयश्री उसी का

वरण करेगी। इस सम्बन्ध में महाभारत में एक कथा है।

एक बार क्षत्रियों के अत्याचारों से दुखी होकर ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों ने मिलकर क्षत्रियों से युद्ध आरम्भ कर दिया। ये तीन वर्ण के लोग संख्या में बहुत अधिक थे। क्षत्रिय थोड़े थे, किन्तु जब वे लोग चढ़ाई करते, विजय क्षत्रियों की ही होती। तब वे सभी मिलकर एक राजर्षि क्षत्रिय के समीप गये और जा कर पूछा—राजन! हम लोग संख्या में अत्यधिक हैं। क्षत्रिय हमारी अपेक्षा संख्या में बहुत ही न्यून हैं, फिर भी विजय क्षत्रियों की ही होती है, सदा हमारी पराजय ही क्यों होती है। आप ऐसा उपाय बतावें जिससे हमारी विजय हो।

राजर्षि क्षत्रियने बताया—महानुभावों! ये संख्या में अवश्य अधिक हैं, किन्तु आप सबके सब मन मानी करते हैं, कोई किधर जाता है, कोई किधर। हम लोग क्षत्रिय अपने में से एक को सेनापति बना लेते हैं, उसी की आज्ञा में चलते हैं। वह जो कहता है, हम सब उसी का पालन करते हैं। सेना का प्राण सेनापति ही होता है, इसी से हमारी विजय होती है। आप में कोई सेनापति नहीं इसी से आप की पराजय होती है। आप सब मिलकर अपने में से एक को सेनापति बनाइये। सभी उसी की आज्ञा में चलिये, सब मिलकर उसकी ही रक्षा कीजिये, फिर देखिये आप की कैसे पराजय होती है।

यह सुनकर तीनों वर्ण वालों ने अपने में से एक श्रेष्ठ बुद्धिमान अनुभवी व्यक्ति को सेनापति चुन लिया। सब उसी की आज्ञा में चलने लगे। सभी ओर से सभी छोटे छोटे सेनानायक उसकी रक्षा करने लगे। अब के उनकी विजय हो गयी।

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियो! सेनापति के पद का महत्व

समझकर ही भीष्म पितामह को प्रसन्न करने के निमित्त दुर्योधन द्रोणाचार्य से कह रहा है, हम सबमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ श्र भीष्म पितामह ही हैं, वे ही हम सबके अधिपति और सर्वस्व हैं. उनकी रक्षा ही हमारी रक्षा है, अतः आप सब ओर से इनकी रक्षा करें। गूढ़ भाव यह भी हो सकता है. कि इनका हृदय तो पांडवों की ओर है शरीर से ये हमारी ओर से लड़ रहे हैं अतः आप सब लोग दृढ़ता से अपने अपने मोरचों पर डटे रहें और सावधानी के साथ भीष्म पितामह पर भी दृष्टि रखें। ये युद्ध में शिथिलता न करने पावें। अवसर पाकर किसी ओर से शत्रु इन पर प्रहार न करने पावे।

दुर्योधन सुना तो भीष्म पितामह को रहा है, और सम्बोधन कर रहा है द्रोणाचार्य का। एक तीर में वह दो आखेट करना चाहता है, द्रोणाचार्य को तो सावधान करना चाहता है और भीष्म पितामह का प्रशंसा करके हर्षोन्मत्त करना चाहता है। द्रोणाचार्यजी तो उसका अभिप्राय समझ रहे थे, अतः चुपचाप गंभीरता पूर्वक उसकी बातों को सुनते रहे, उन्होंने उसकी बातों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया, किन्तु भीष्म पितामह तो अपनी इतनी भारी प्रशंसा सुनकर हर्षोन्मत्त हो उठे। राजा होकर यह मेरी इतनी प्रशंसा कर रहा है। मेरा इतना अधिक सम्मान कर रहा है। इसलिए उसे हर्षित करने के निमित्त वे भी कुछ करने लगे। अब अपनी प्रशंसा सुनकर वे बहुत ठीक बहुत ठीक कहते या साधु साधु कह कर उनके वचनों का अभिनंदन करते, तो यह सदाचार के विरुद्ध होता, अपनी ही प्रशंसा का अभिनंदन करना आत्मश्लाघा के समान है, अतः दुर्योधन को हर्षित करने के निमित्त जैसे उन्होंने शंख बजाया उसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

तातैं सबई सम्हरि सम्हरि निज निज थाननिमें।
उप सेनापति सैंन डटौलै दशहु दिशनिमें॥
आगे पीछे दीठि रखो अरि आन न पायें।
सेनापति कूँ घेरि रहो सब दायें बायें॥
एक हि सबको काज है, मेरी सिख सब हिय धरो।
सब प्रकार सब और तैं, भीषम की रक्षा करो॥

हर्ष ध्वनि

[६]

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥*

(श्रीभ० गी० १ अ०१२,१३ श्लो०)

छप्पय

निज इस्तुति सुनि भीष्म पितामह परम प्रतापी ।
गद्गद बानी अति प्रसन्नता हियमें व्यापी ॥
सुख पहुँचावन हेतु सुयोधनकूँ सेनापति ।
सिंह दहाड़ समान गरजिके शब्द करयो अति ॥
अपनो शंख बजाइकें, हरष प्रकट करिबे लगे ।
भीषन रव सुनि शंखको, कायर रन तजिवें लगे ॥

यह संसार स्वार्थ प्रिय है। कुछ परोपकारियों को छोड़कर

---

*सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! संजय धृतराष्ट्र को सुना रहे हैं कि राजन् ! जब दुर्योधन ने भीष्म की प्रशंसा की तब कुरुकुल में वृद्ध भीष्मपितामह जो अत्यंत प्रतापशाली हैं वे दुर्योधन को हर्षित करने के निमित्त सिंहनाद के समान उच्चस्वर से गरज कर शंख को फूँकने लगे। उनके शंखनाद के साथ ही शंख, नगारे, ढोल मृदंग नरसिंघे आदि सभी बाजे एक साथ ही बजने लगे। उन सबका सम्मिलित शब्द बड़ा ही भयंकर हुआ।

सभी अपने स्वार्थ की सिद्धि में संलग्न हैं। जहाँ दो स्वार्थ अनुकूल बैठ जाते हैं, जहाँ दो स्वार्थ परायण व्यक्तियों के स्वार्थ समान हो जाते हैं वहीं कार्य होने लगता है। पैसे वालों को कोई काम कराने का स्वार्थ है, श्रमिक को श्रम करके पैसा पैदा करने का स्वार्थ है। दोनों स्वार्थ एक हुए काम होने लगा। आश्रम वाले चाहते हैं, हमारे आश्रम में एक भवन बन जाय, धनिक चाहते हैं हमारे या हमारे अमुक सम्बन्धी के नाम से कोई भवन विख्यात हो जाय, श्वेत पाषाण की पट्टिका पर उनका नाम अङ्कित हो जाय, दो स्वार्थ टकरा गये, दोनों एक दूसरे के अनुकूल पड़ गये। दोनों प्रसन्न हो गये। भवन का निर्माण हो गया।

मनुष्य जहाँ भी जायगा, अपनी स्वार्थ के सिद्धि निमित्त जायगा। अपने स्वार्थ को लेकर जो स्वयं किसी के समीप जाता है, वह लघु बनकर अपने-सम्मान को तिलाञ्जलि देकर—अपने को लघु मानकर जाता है। जिसके पास अपना काम कराने जाता है, उसकी परिस्थिति को वह समझता नहीं कि इन्हें याचना करने पर कितनी असुविधायें होंगी, और मेरे काम को न कर सके, तो इन्हें कितना संकोच होगा। इधर वह भी नहीं समझता कि किन किन परिस्थितियों के कारण, किस विवशता से विवश होकर यह अपने सम्मान को तिलञ्जलि देकर स्वयं मेरे समीप आया है। माँगने वाले को यदि देने वाले की असुविधाओं का ज्ञान होता तो उसे माँगने का साहस ही न पड़ता वह कभी माँग नहीं सकता और यदि जो माँगने आया है, उसकी विवशता का पूर्ण ज्ञान होता तो जिसके पास माँगने आया है वह कभी शक्ति रहते मना नहीं कर सकता।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! दुर्योधन, अपनी पद प्रतिष्ठा को भुलाकर—अपनी विजय की अभिलाषा से द्रोणाचार्य के समीप गया। बड़ों को प्रसन्न करना कोई सरल काम नहीं। बड़ों से एक

तो खुल कर स्पष्ट यह कहा नहीं जाता, आपको हमारा यह काम करना ही पड़ेगा। उनसे बातें घुमा फिराकर शिष्टता के साथ की जाती हैं। यह भी ध्यान रखा जाता है, कि किसी शब्द से इनका अपमान न हो जाय। प्रशंसा भी इस ढंग से की जाती है, कि उसमें बहुत अत्युक्ति न हो जाय। वे ये न समझें कि अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये यह मेरी कितनी बढ़ा चढ़ाकर मिथ्या प्रशंसा कर रहा है। जहाँ तक हो किसी दूसरे को लक्ष्य करके कहा जाता है। जैसे एक छोटा सा उदाहरण लें। दुर्योधन को कर्ण का सारथी शल्य को बनाना था, शल्य क्षत्रिय था, मूर्धाभिषिक्त राजा था, उसकी अपनी निजी सेना थी, सम्बन्ध की दृष्टि से भी श्रेष्ठ था, कौरव पांडवों का मामा था। सूत का पद रथ हाँकने का कार्य बहुत छोटा है। दुर्योधन अपने स्वार्थ में अन्धा हो रहा था, उसे इस बात की चिन्ता नहीं थी, कि शल्य का इसमें कितना भारी अपमान है, जाते ही उसने इधर उधर की बातें बनाकर अपना प्रस्ताव रखा। यह सुन कर शल्य अत्यंत ही भड़का। वह अपने सेना को लेकर जाने लगा। तब दुर्योधन ने उसके पैर पकड़े, भाँति भाँति से उसकी प्रशंसा करने लगा। बोला—मामाजी ! मेरा तात्पर्य आपका अपमान करने का नहीं था, किन्तु सोचिये अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण हैं। मेरी सेना में, श्री कृष्ण के समान सारथी विद्या विशारद आपके अतिरिक्त दूसरा कौन है। यही नहीं मैं तो आपको श्रीकृष्ण से भी बढ़कर मानता हूँ।"

बस, फिर क्या था, शल्य इतना सुनते ही पानी पानी हो गये वे परम हर्षित होकर बोले दुर्योधन ! तैंने मेरी बराबरी श्रीकृष्ण से की है इससे मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ तू जो कहेगा वही मैं करूगा।" इससे दुर्योधन भी प्रसन्न हो गया, कि मेरा कार्य ठीक स्थान पर बैठा।

दुर्योधन को अपना स्वार्थ सिद्ध करना है। कर्ण तो उसका मित्र ही ठहरा। मित्र भी ऐसा कि जो अपने अधीन है आज्ञाकारी है, उसके उपकारों से सेवा, सुश्रूषा से दबा हुआ है। उससे तो वह जो काम भी होगा स्पष्ट रूप से कह सकेगा। कह ही न सकेगा, करने के लिये बल भी डालेगा, आग्रह भी करेगा। किन्तु ये भीष्म और द्रोण दो ऐसे हैं, कि जिन्हें आगे किये काम भी नहीं चल सकता और इन्हें स्पष्ट आज्ञा भी नहीं दे सकते। इन्हें तो प्रशंसा द्वारा प्रसन्न करके ही स्वार्थ साधा जा सकता है यही सोचकर वह द्रोणाचार्य के सम्मुख भीष्म पितामह की प्रशंसा करने लगा।

भीष्मपिता मनस्वी थे, तेजस्वी थे, अपने कुल में सर्वश्रेष्ठ थे। बड़े प्रतापी थे वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध, पदेनवृद्ध, तथा अस्त्र-शस्त्रों में भी सब से बढ़ चढ़कर थे। वे दुर्योधन के मनोगत भावों को समझ गये। वे जान गये द्रोणाचार्य के माध्यम से यह मेरी ही प्रशंसा कर रहा है। यह पांडवों की सुसज्जित सेना को देखकर भयभीत हो रहा है। अपने भय को स्पष्ट नहीं कहता। उसे छिपा रहा है, इसे निर्भय करना चाहिये। मेरी ओर से इसे निश्चिन्त हो जाना चाहिये। यही सब सोचकर उसे प्रसन्न करने के निमित्त उसकी चिन्ता को मेटने के निमित्त उन्होंने मुख से कुछ नहीं कहा अपनी चेष्टाओं से उसे यह दर्शा दिया बेटा! तू चिन्तित क्यों होता है जब तक यह बूढ़ा सिंह बैठा है, तेरा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। इसलिये उन्होंने पूरी शक्ति लगाकर अपने शंख को फूँका। अर्थात् यह कहा लो, मैं युद्ध करने की घोषणा करता हूँ। पूरी शक्ति से इसलिये शंख बजाया कि देखना मेरा पौरुष जितनी शक्ति से मैं शंख बजा रहा हूँ उतनी ही शक्ति से लड़ूँगा भी। शत्रुओं के छक्के छुड़ा दूँगा अपने शंख की ध्वनि से ही मैं उन्हें अधमरा किये देता हूँ

कायर लोग तो मेरे शंख को ही सुनकर भाग खड़े होंगे। इस लिये दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये, उसे उत्साहित करने के निमित्त उसके भय संशय को भगाने के लिये, वीरों के हृदयों में वीरता जगाने के लिये, सेना को युद्ध मे लगाने के लिये, वाहनों को सजाने के लिये और युद्ध का आरंभ करने के लिये उन्होंने शंख बजाया।

सेनापति के पूरी शक्ति से शंख बजाते ही सभी ने समझ लिया युद्ध आरंभ हो गया। सेना के आगे सुसज्जित जो बाजे बजाने वाले खड़े थे उन्होंने भी भीष्म के शङ्ख सुनते ही बाजे बजाने आरंभ कर दिये। जिनके पास शंख थे वे सभी शंखों को बजाने लगे, जिनके पास भेरी थी वह भेरी बजाने लगे। मृदंग वाले मृदंग, पखावज वाले पखावज गोमुख वाले गोमुख तथा जिन पर जो भी बाजे थे वे सब सेनापति का संकेत पाते ही बजाने लगे। ये सब बाजे सर्वप्रथम कौरव सेना के बाजे वाले ही बजाने लगे।

पांडव सेना को पहिले से कोई सूचना नहीं दी गई थी, कि अब सावधान हो जाओ युद्ध का आरंभ होने ही वाला है। नियमानुसार विपक्षी को सूचना दकर युद्ध आरंभ करना चाहये, किन्तु दुर्योधन की प्रशंसा सुनकर पितामह इतने आत्मविभोर हो गये कि उसका प्रसन्नता क लिये उसी समय सहसा शंख फूँकने लगे। चारों ओर से बाजे ही बाजे बजने लगे। उन बाजों के शब्द के सम्मुख सभी शब्द दब गये।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! भीष्म पितामह ने ही सर्वप्रथम शंख क्यों बजाया?

इस पर सूतजी कहने लगे—महाराज! युद्ध तो कौरव ही करना चाहते थे, धर्मराज तो युद्ध के विरुद्ध थे, यहाँ तक कि सदा युद्ध को उधार खाये बैठे रहने वाले

भीम भी युद्ध के विरुद्ध थे। श्रीकृष्ण जब धर्मराज की ओर से दूत बनकर कौरवों की सभा में जाने लगे तब भीम ने यही कहा—महाराज, जैसे हो तैसे युद्ध को रोकियेगा, हम भाई भाइयों में संग्राम न हो।' धर्मराज ने सभी उपायों से युद्ध रोकने की पूरी चेष्टा की। जो युद्ध चाहता ही नहीं वह युद्ध का आरंभ अपनी ओर से कैसे करे। उन्होंने सोचा—हम आक्रमण न करेंगे, यदि हमारे ऊपर आक्रमण होगा तो हम आत्मरक्षा के लिये उसे रोकेंगे। प्रत्याक्रमण करेंगे। इसीलिये भीष्म पितामह ने ही कौरवों की ओर से पहिले युद्ध का श्रीगणेश किया।

दूसरी बात यह कि भीष्मपितामह ही दोनों सेनाओं में सबसे बड़े हैं, बड़े जब आज्ञा देंगे तभी युद्ध का आरम्भ होगा। पांडव मर्यादा का पालन करने वाले हैं।

तीसरे पांडव तो भयभीत नहीं हैं, भयभीत तो दुर्योधन है उसे ही अपनी विजय में शंका है, अतः शंकित व्यक्ति ही सर्वप्रथम आत्म रक्षा का प्रयत्न करता है, जो निर्भय है वह तो खड़े खड़ा खेल देखता रहता है।

चौथा कारण यह भी है श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी बने सन्मुख ही जुते हुए रथ की रस्सियों को पकड़े खड़े थे। घोड़े बारम्बार उछल कूदकर रहे थे। श्रीकृष्ण शंख हाथ में लिये तैयार खड़े थे, वे बारबार शंख को मुख तक ले जायँ किन्तु सदाचार संकोचवश बजाते नहीं थे, भीष्म उनके पांचजन्य का शब्द सुनने को अधीर हो उठे, उन्होंने सहसा शंख बजाकर संकेत किया—माधव ! बजाओ बजाओ अपने पांचजन्य को लो, मर्यादा का ही पालन कराना चाहते हो तो मैं बजा रहा हूँ अब तो बजाओ मेरे श्यामसुन्दर ! अब तो सुना दो तान में नटनागर।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! धृतराष्ट्र ने संजय से यही पूछा

था—मेरे और पांडु के पुत्र समर भूमि में क्या करते भये। बड़े होने के नाते पहिले उन्होंने अपने पुत्रों का नाम लिया, तदनन्तर पांडु के पुत्रों का उसी क्रम से संजय ने उत्तर भी दिया। अब तक उसने दुर्योधन के पक्ष की ही बातें बताईं। धृतराष्ट्र के पुत्रों की बात बताकर अब संजय पांडवों की सेना की जैसे बातें बताने लगे उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

तब तो बजिबे लगे युद्ध के सबई बाजे।
सबनि सम्हारे शस्त्र साज सैनिक सब साजे॥
विविध भाँति के शंख बजे बाजे अति प्यारे।
ढोल खोल करि बोल बजें मिरदंग नगारे॥
चंग मृदंग बजें बहुरि, कोलाहल अतिशय भयो।
नरसिंहा को शब्द सुनि, बीरनि बल बहु बढ़ि गयो॥

———

और कभी किसी की लड़की को ही स्वयंवर से लेकर भाग आते हैं। आज वे लड़ने के लिये नहीं लड़ाने के लिये चले हैं। आज स्वयं सर्प न पकड़ कर दूसरों से पकड़वावेंगे, वे समीप में ही सर्पों के कीलने का मंत्र पढ़ते रहेंगे। दूसरों से कहेंगे—बामी में हाथ तू डाल, मंत्र मैं पढ़ूँगा। आज वे रथी बनकर रणभूमि में शत्रु सेना का संहार करने नहीं चले हैं, आप तो सारथी बनकर स्वयं रथी के रथ में जुते घोड़ों का बाघ पकड़कर लड़ाने को चले हैं। अर्जुन ने कहा—श्यामसुन्दर देखते नहीं, कौरव दल सुसज्जित खड़ा है लड़ने के लिये। दुष्ट दुर्योधन कुछ मंत्रणा करने दौड़ा, दौड़ा द्रोणाचार्य के समीप गया है। युद्ध अब आरंभ हो होने वाला है। आप सोच क्या रहे हैं। मेरा रथ सम्मुख क्यों नहीं लाते, मुझे अपनी सेना के अग्रभाग में ले क्यों नहीं चलते।"

झूठी गंभीरता दिखाते हुए श्यामसुन्दर बोले—बहुत अच्छा श्रीमन्! जो आज्ञा मैं अभी रथ उपस्थित करता हूँ, इन बातों से दोनों ही मुस्करा उठे। रथ आ गया। अर्जुन का रथ अन्य रथों की भाँति सामान्य रथ नहीं था। वह अग्नि देवका दिया हुआ रथ था। खांडव दाह के समय जब अग्निदेव ने श्रीकृष्ण अर्जुन के समीप खांडव वन को दाह करने की इच्छा प्रकट की और उन दोनों से अपनी सहायता करने की प्रार्थना की तो दोनों ने उन्हें सहयोग दिया। खांडव दाह करने के लिए अग्निदेव ने यह दिव्य रथ अर्जुन को दिया था। इसकी अव्याहत गति थी, यह तीनों लोकों में बिना रोक टोक के जा सकता था। बगुला के पंख के समान श्वेत रंग के उसमें चार घोड़े जुते हुए थे। जैसा ही अग्नि प्रदत्त यह दिव्य रथ था, वैसे ही इनमें शुभ्र वर्ण के दिव्य घोड़े थे। चित्ररथ गन्धर्व ने स्वच्छ सफेद रंग के १०० घोड़े अर्जुन को दिये थे। इनकी यही विशेषता थी, कि इनमें से चाहें जितने

मर जाँय, ये सौ के सौ ही बने रहते थे। अर्थात् ये अमर और दिव्य थे। उन्हीं घोड़ों में से चार घोड़े भगवान् ने रथ में तुरन्त जोत दिये और रथ लाकर अर्जुन के सम्मुख खड़ा कर दिया, फिर जैसे सारथी अपने रथी से शिष्टाचार से बोलता है, उसी प्रकार झूठी गंभीरता के स्वर में बोले—श्रीमन्! आपकी आज्ञानुसार रथ समुपस्थित है, आप पधारें और इस रथ को अलंकृत करें।

सैनिक वेष में अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित, वस्त्राभूषणों से अलंकृत वीर वेष में अर्जुन आकर उस रथ में बैठ गये। आज श्यामसुन्दर ने चतुर्भुज रूप धारण किया है। एक हाथ से तो वे घोड़ों की रस्सियों—बागों को साधे हुए हैं, एक हाथ में घोड़ों को हाँकने का तोत्र (कोड़ा) है। एक हाथ में दिव्य शंख है और दूसरे में क्रीड़ाकमल है। युद्ध उन्हें करना नहीं, किसी को मारना है नहीं, अतः आज चक्र और गदायें दोनों नहीं हैं। रथी के बैठ जाने पर अनोखे सारथी ने रथ चला दिया। घर्र घर्र शब्द करता हुआ रथ चल दिया, उसकी छोटी छोटी घंटियाँ बज रहीं थीं विशाल वानर ध्वजा फहरा रही थी। इन्द्रधनुष के समान वह आकाश में लहरा रही थी, उसमें बैठा वानर गर्जन कर रहा था। रथ आकर पांडव सेना के अग्र भाग में खड़ा हो गया।

अर्जुन युद्ध के लिये अत्यन्त ही अधीर हो रहे थे, उन्होंने श्यामसुन्दर से पूछा—श्यामसुन्दर! अब क्या देर है। बजाऊँ शंख, होवे खटापट चटाचट।"

अब सारथी की त्यौरियाँ चढ़गयीं, रथी को डाटते हुए बोले—अरे, तुम मर्यादा नहीं जानते। भीष्मपितामह के रहते, तुम्हें सर्व प्रथम शंख बजाने का क्या अधिकार है। अरे, भाई अब तक यमराज इन बूढ़ों पर दया करते हैं, इन्हें अपने समीप

बुला नहीं लेते तब तक ये मार्ग रोके युवकों के सम्मुख खड़े ही ही रहते हैं। इनके रहते युवक किसी भी कार्य की पहल नहीं कर सकते। जब तक यह बूढ़ा सिंह दहाड़ता नहीं, तब तक हम सबको इसी प्रकार चुपचाप खड़े रहना पड़ेगा। तुमसे अधिक तो युद्ध कराने को मैं उत्सुक हूँ, किन्तु यह बूढ़ा कहे तब न ?

रथी यह सुनकर चुप हो गया, भीष्मपितामह की आज्ञाकी प्रतिक्षा करने लगा। वह कुछ सोचने लगा। सोच रहा होगा—ये बूढ़े भी कैसे जीवन यात्रा में रोड़े बनकर खड़े हो जाते हैं, न तो मार्ग ही छोड़ते हैं न दूसरों को आगे ही बढ़ने देते हैं। इसी बीच में दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये भीष्मपितामह ने बड़े जोर से शंख बजाया उनके शंख बजाते ही समस्त बाजे बजने लगे। अर्जुन ने भीष्म के शंख का शब्द सुना ही नहीं, वह तो विचारों में मग्न था जब सहसा सभी बाजे बजने लगे घोर तुमुल शब्द होने लगा। दशों दिशाओं में इतना भयंकर शब्द भर गया, कि आकाश गूंज उठा तो श्रीकृष्ण ने अपने सारथी को सचेत करने के निमित्त सर्व प्रथम अपने पांचजन्य नामक शंख को बजाया। उस कोलाहल में वे कह तो सकते नहीं थे, कि अब भीष्मपितामह ने शंख बजा दिया, तू भी बजा। उस समय तो भीष्म के शंख बजाते ही अकस्मात् असंख्यों बाजे बज उठे।

जब समीप ही सदा का सुपरिचित दिव्य पाँचजन्य का अर्जुन ने शब्द सुना तो बिना पूछे ही उसने भी अपना शंख बजाना आरम्भ कर दिया। यह नहीं कि वह पूछता—कि भीष्मपितामह ने शंख बजा दिया क्या। श्रीकृष्ण के शंख की तनिक सी ध्वनि सुनते ही अपने आप शंख उसके मुख के समीप चला गया और वह भीषण शब्द उगलने लगा। यद्यपि पहिले बजाया तो हृषीकेश श्यामसुन्दर ने ही, किन्तु उनकी फूँक समाप्त

नहीं हुई थी, उसी बीच इसने भी बजा दिया, तो लोगों को प्रतीत यही हुआ कि श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही अपने अपने शंखों को साथ साथ ही बजा रहे हैं।

श्रीकृष्ण के शङ्ख का नाम था, पाँचजन्य और अर्जुन के शङ्ख का नाम था देवदत्त। ये दोनों ही शङ्ख दिव्य थे और दोनों का ही शब्द अत्यन्त भयंकर तथा शत्रुओं के छक्के छुड़ा देने वाला था, भगवान् के पाँचजन्य के शब्द से तो सभी लोग परिचित थे, उसके बजाने का ऐसा ढङ्ग था, कि सुनने वाले उसके शब्द को ही सुनकर समझ जाते थे, कि इस समय यह प्रसन्नता के लिये बज रहा है, इस समय यह शत्रु सेना के संहार के निमित्त बज रहा है। जब भगवान् हस्तिनापुर से द्वारका गये थे, तब द्वारका के समीप पहुँच कर भी भगवान् ने अपना शङ्ख बजाया था, उसे सुनकर सब द्वारकावासी हर्षित हुए और यही समझा श्यामसुन्दर आ गये हैं। आज युद्ध भूमि में इस शब्द को सुनकर सैनिक समझ गये, कि युद्ध आरंभ होने ही वाला है।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! श्रीकृष्ण और अर्जुन के शङ्खों का नाम पाँचजन्य और देवदत्त क्यों पड़ा। इन पर ये शङ्ख आये कहाँ से?"

सूतजी बोले—महाराज! भगवान् के तो अस्त्र आयुध सब नित्य होते हैं। जो जीव अनन्त काल तक ब्रह्मचर्य से रहकर व्रत उपवास द्वारा तपस्या करते हैं, भगवत् कृपा प्राप्त करते हैं, वे ही भगवान् के अस्त्र आयुध होते हैं, जिन्हें भगवान् अपने श्री अंगों में सदा धारण करते रहते हैं। यह पाञ्चजन्य भी किसी शापवश दैत्य हो गया था। यह दैत्य जाति का असुर बहुत दिनों तक प्रभास क्षेत्र के समीप समुद्र में रहता था। समुद्र चाहता था, किसी प्रकार यह दैत्य यहाँ से निकले दैत्य बड़ा बली था, भगवान् का भक्त था। उसे

निकालना समुद्र की शक्ति से बाहर था। जब बलदेव कृष्ण दोनों भाई अवन्तिका पुरी में सान्दीपनिमुनि के पास विद्या पढ़ने गये और पढ़ने के अनन्तर जब उन्होंने गुरुदक्षिणा माँगने को कहा, तो मुनिवर ने अपनी पत्नी की सम्मति से यही दक्षिणा माँगी, कि हम एकबार प्रभास क्षेत्र में स्नान के निमित्त गये। वहाँ स्नान करते समय, समुद्र की एक लहर आई हमारा लड़का बह गया और वह अकाल में ही डूब कर मर गया। उसे आप लोग फिर से जीवित करके ला दें।"

भगवान के लिये यह कौन सी बड़ी बात थी, उन सर्वज्ञ से यह बात छिपी नहीं थी की लड़का तो यमराज के अधीन नीचे के लोक में है। फिर भी समुद्र को दर्शन देने तथा पञ्चजन पर कृपा करने वे प्रभास में समुद्र के तटपर गये और समुद्र से गुरु पुत्र को माँगा।"

समुद्र ने कहा—भगवान्! मेरे पास तो वह लड़का है नहीं मेरे पास होता, तब तो मैं दे ही देता। हाँ, मेरे जल में एक दैत्य जाति का पञ्चजन नाम का असुर रहता है। वह शङ्ख का रूप रखकर कर प्राणियों को उदरस्थ कर जाता है। संभव है उसने आपके गुरुपुत्र को उदरस्थ कर लिया हो।"

यह सुनकर भगवान् ने उस शङ्ख रूपधारी असुर को मारा उसके पेट में बालक कहाँ रखा था, किन्तु वह बड़ा अच्छा था, भगवान् के चित्त पर चढ़ गया। जो भगवान् के चित्त पर चढ़ गया। उसके भाग्य का तो कहना ही क्या? भगवान ने उसे धो पा कर अपना लिया पञ्चजन दैत्य की देह से यह शङ्ख निकलाया, इसलिये यह "पाञ्चजन्य" नाम से विख्यात हुआ भगवान् श्रीकृष्ण इसे सदा अपने कर कमलों में धारण करते हैं। इसका शब्द बड़ा ही भीषण तथा श्रुत मधुर होता है। इसलिये पांडव पक्ष की ओर से सर्वप्रथम भगवान् का यही दिव्य शङ्ख था।

अर्जुन के शङ्ख का नाम देवदत्त था, अर्जुन जब देवराज इन्द्र से अस्त्र शस्त्र सीखने स्वर्ग गये थे तब इन्द्र ने निवातकवचादि दैत्यों के साथ युद्ध करते समय "देवदत्त" नामक दिव्य शङ्ख इन्हें दिया था। देवताओं का दिया हुआ होने से ही इसका नाम देवदत्त था। भगवान् श्रीकृष्ण के शङ्ख का तो पूछना ही क्या वह तो परम दिव्य था ही, किन्तु अर्जुन का भी शङ्ख दिव्य ही था। इसलिये दोनों शङ्खों को दिव्य कहा गया।

जब श्रीकृष्ण और अर्जुन ने शङ्ख बजाने आरम्भ कर दिये, तो फिर भीमसेन कैसे रह सकते हैं। वे तो भगवान् के संकेत पर ही नाचने वाले ठहरे, वे भगवान् के शङ्ख बजाने की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। वे तो भीमकर्मा ही ठहरे। एक चक्रा नगरी में जो राक्षस अजेय समझा जाता था, किसी से नहीं मरता वह इन्होंने मार दिया। मत्स्य देश का विख्यात वीर कीचक जिसकी सर्वत्र धाक थी, उसे इन्होंने ही मार दिया, द्रौपदी के स्वयंवर में जब सभी राजा एक साथ द्रौपदी को छीनने को अर्जुन के ऊपर टूट पड़े तब इन्होंने ही बड़ा भारी पेड़ उखाड़कर सबको मार भगाया। लाक्षागृह से आने पर हिडंब राक्षस इनके सभी भाइयों को खा जाना चाहता था, उसे इन्होंने ही परलोक पठाया। इनके ऐसे अद्भुत कार्यों को देखकर और सदा मन हलुए का केवल कलेऊ करने से ही भगवान् हँसी में इन्हें भीम कर्मा और कभी कभी पेटू भी कहा करते थे। जब चिढ़ाना होता, तभी इनसे पेटू कहते कहीं अब भी मुझे पेटू न कह दें इसलिये इन्होंने अपने बड़े भारी शङ्ख को पूरी शक्ति के साथ बजाया। इनके शङ्ख का नाम "पौण्ड्र" था।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! भीमके महाशङ्ख का नाम पौण्ड्र कैसे पड़ा।

शीघ्रता से सूतजी बोले—"अब महाराज! प्रत्येक के शङ्ख

के नाम का इतिहास न पूछिये। शङ्खों के अपनी इच्छा के अनुसार सबने नाम रख लिये होंगे। दिग्विजय के समय भीम 'पौंड्र' देश गये होंगे। उधर समुद्र तो है ही, बड़ाभारी "महा-शङ्ख" देखकर इन्होंने उसे पसन्द कर लिया होगा, उस देश के नाम पर इस शङ्ख का भी नाम रख दिया होगा। नाम ऐसे ही रखे जाते हैं। देश के कारण, काल के कारण और पात्र के गुण अवगुणों के कारण।

शौनकजी ने कहा—सूतजी! आपने ठीक कहा। भगवान के शङ्ख के सम्बन्ध में तो हमें जिज्ञासा थी ही, अर्जुन के शङ्ख की जिज्ञासा भी स्वाभाविक है, क्योंकि ये दोनों नर नारायण हैं। नारायण के दिव्य शङ्ख के सम्बन्ध में जान लिया, नर के शङ्ख के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर ली अब आगे सबके नामों की ऊहा पोह की क्या आवश्यकता है। हाँ, तो आप आगे की कथा कहिये।

सूतजी बोले—महाराज! श्रीकृष्ण अर्जुन और भीम के शङ्खों के अनन्तर पांडव पक्षीय सभी मुख्य मुख्य वीर अपने अपने शङ्खों को बजाने लगे। उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

हृषीकेशने पाञ्चजन्य में फूँक लगाई।
तुरत धनञ्जय देवदत्तकूँ दयो बजाई॥
नर नारायण शङ्ख सुने सैनिक हरषाये।
अपने अपने सुघर शङ्ख इक संग बजाये॥
भीम करम प्रिय भीम ने, महा शङ्ख आनन धरयो।
पौण्ड्र नामके शङ्ख तैं, अति ही भीषन रव करयो॥

—०—

युधिष्ठिरादि सभी वीरों द्वारा शंख ध्वनि

[११]

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥❀

(श्री भ० गी० १ अ० १६, १७, श्लोक)

छप्पय

परमराज नरदेव युधिष्ठिर कुन्तीनन्दन ।
कृष्ण धनञ्जय, भीम शंख रव करि अभिनंदन ॥
अनँत विजय निज शंख बजायो सब हरषाने ।
सैनिक धनि उनमत धनुष पै शर संधाने ॥
मनि पुष्पक सहदेव लै, नकुल सुघोषहु मुदितमन ।
लगे बजावन शंख बर, भिषक्तनय शोभासदन ॥

जगत परम्परा का पालन करता है, जिस पथ से हमारे पिता,

❀सूतजी कहते हैं—मुनियो ! पांडव सेना के सभी वीर अपने अपने शंख बजाने लगे । कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर अनंत विजय नामक शंख को बजाने लगे । नकुल और सहदेव अपने सुघोष और मणि पुष्पक नामक शंखों को इसी, प्रकार परम धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, महाराज विराट, और अजेय सात्यकि भी अपने अपने शंखों को बजाने लगे ।

पितामह तथा प्रपितामह आदि गये हैं, यदि हम उनके सत्पुत्र हैं, तो हम भी उसी पथ का अनुसरण करने का प्रयत्न करेंगे। ऊर्वारुक (खरबूजे) को पका देखकर दूसरा भी फल रंग बदलने लगता है। सामूहिक प्रार्थना में प्रथम पंक्ति वालों को जैसा करते देखते हैं, दूसरी पंक्ति वाले भी जान में अनजान में उन्हीं का अनुकरण करने लगते हैं। हमें जो काम करते देखते हैं, हमारे बच्चे खेल में उन्हीं को करने लगते हैं। यह मानव प्राणी अनुकरण प्रिय है। तभी समाज की शृङ्खला बँधी है, यदि सभी अपने मन की करने लगे। एक दूसरे का अनुकरण न करें, तो समाज में, सेना में, जाति में तथा सर्वत्र विद्रोह हो जाय।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भीष्म पितामह ने रणारम्भ का शंख बजा दिया, तो कौरव पक्षीय सभी वीरों ने एक साथ ही शंख बजाकर उनका अभिनंदन किया, उनके कार्यों का समर्थन किया, तदनंतर पांडवों की ओर से सर्व प्रथम श्रीकृष्ण ने शंख बजाया, तुरन्त ही अर्जुन ने भी अपना देवदत्त और भीम ने अपना पौण्ड्र नाम का शंख बजाया। अब तो शंखों की परम्परा चल पड़ी। दोनों ओर से शंख बजते देख और श्रीकृष्ण के पाँचजन्य की ध्वनि सुनकर सभी वीरगण चौंक पड़े, बिना समझे बूझे ही सहसा सभी अपने अपने शंखों को बजाने लगे।

कुन्तीनन्दन धर्मराज ने अपना अनन्त विजय नामक शंख बजाया, नकुल और सहदेव अब कब पीछे रहने वाले थे, उन दोनों ने भी सुघोष और मणि पुष्पक नामक शंखों को बजाया। अब तो सभी अतिरथी महारथी शङ्ख बजाने लगे। धनुष धारियों में परमश्रेष्ठ काशीराज भी अपना शंख बजाने लगे। महाराज द्रुपद का प्रथम पुत्र जो पूर्व जन्म में अम्बा था, जो शिवजी के वरदान से कन्या रूप में प्रकट हुआ था, और उन्हीं के वर से वह पुरुष हो गया था, उसका नाम शिखण्डी था। यह भीष्म

की मृत्यु के लिये ही उत्पन्न हुआ था। अतः उसने भी अपना शंख बजाया। धृष्टद्युम्न, विराट और कभी भी पराजित न होने वाले सात्यकि ने भी अपना शंख बजाया।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! धर्मराज युधिष्ठिर के पहिले अर्जुन ने शंख क्यों बजा दिया, यहाँ तो मर्यादा भंग हो गयी। सर्व प्रथम धर्मराज युधिष्ठिर को शंख बजाना चाहिये था, तब अन्यान्य पांडव बजाते।"

हँसकर सूतजी बोले—अब महाराज! हर समय यह नहीं देखा जाता कि उसने बजाया तब मैं बजाऊँ। युद्ध में एक बड़े ने आरंभ कर दिया, फिर जिसे भी अवसर मिला उसी ने बजाना आरंभ कर दिया। एक पांक्ति में सौ पचास आदमी भोजन करने बैठे हैं। जब सब परस गया और भोजन कराने वाले की ओर से कह दिया गया—"हाँ, सब हरीहर करें।" तो फिर यह नहीं देखा जाता, कि वे बड़े भोजन करना आरंभ कर दें, तब हम करें। उस समय तो जिसके हाथ में जो लड्डू मिठाई तथा अन्यान्य पदार्थ हाथ लग गये वह बिना दूसरे की प्रतीक्षा किये हुए भोजन करना आरंभ कर देता है, इसी प्रकार युद्ध में यह नहीं देखा जाता कि पहिले धर्मराज करे, फिर भीम, तब अर्जुन तदनंतर नकुल सहदेव। श्रीकृष्ण भगवान् के आरंभ करते ही जिसे जब अवसर मिला तभी वह बजाने लगा।

यदि आप तारतम्य ही लगाना चाहते हैं, तो देखिये यह युद्ध है। यहाँ अवस्था की बड़ाई छुटाई नहीं देखी जाती। यहाँ तो वीरता युद्ध में किसका कितना अधिक उत्साह है, इस बात की बड़ाई छुटाई देखी जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में आप उपनिषदों की एक कथा सुनिये।

एक छोटी अवस्था के ऋषि थे। अवस्था तो उनकी छोटी ही थी, किन्तु विद्वान बहुत भारी थे। वे विद्यार्थियों को पढ़ाते थे।

उनके यहाँ पढ़ने उनसे भी अवस्था में बड़े उनके पिता, चाचा, ताऊ तथा पितामह भी आते थे। एक दिन पढ़ाते समय उन्होंने सबको 'पुत्रों' कह कर सम्बोधित किया। इस पर कुछ ऋषियों ने आपत्ति की, कि ये अवस्था में छोटे हैं। बहुत से इनके पिता पितृव्य और पितामह आदि हैं, ये सबको "पुत्र" कह कर सम्बोधन क्यों कर रहे हैं।

इस पर श्रेष्ठ मुनियों ने समाधान किया। इस समय ये ज्ञान दे रहे हैं, ज्ञान दाता गुरु होता है, पढ़ाने वाला पढ़ने वालों की अपेक्षा बड़ा माना जाता है, ये ज्ञान वृद्ध हैं। अतः इनका पुत्र कहना कोई अनुचित नहीं। हम सब इनके शिष्य हैं, शिष्य और पुत्र में कोई अंतर नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—'सो महाराज, युद्ध में अवस्था नहीं देखी जाती। ब्राह्मणों में तो ज्ञान से बड़ा माना जाता है, देखिये शुकदेवजी जब राजा परीक्षित् की सभा में गंगातट पर आये तो वहाँ उनके पिता वेदव्यासजी, उनके पितामह पराशरजी उन वृद्ध प्रपितामह भगवान वसिष्ठ बैठे थे। उनके आते ही सबके सब उनको सम्मान देने के निमित्त उठकर खड़े हो गये। क्योंकि ब्राह्मणों में वय की श्रेष्ठता न मान कर ज्ञान की श्रेष्ठता को ही प्राधान्य दिया जाता है। क्षत्रियों में वह बड़ा माना जाता है, जो वीरता में श्रेष्ठ हो। राजसूय यज्ञ में जब राजाओं में सर्वश्रेष्ठ राजा की प्रथम पूजा का प्रश्न उठा, तो अवस्था में श्रेष्ठ की प्रथम पूजा नहीं हुई। यदि अवस्था में श्रेष्ठ की पूजा होनी होती तो भीष्म पितामह की सर्व प्रथम पूजा होनी चाहिये थी। किन्तु हुई बहुतों से अवस्था में छोटे श्रीकृष्ण की। भीष्मपितामह ने उसी प्रसंग में स्पष्ट कहा, कि क्षत्रियों में अवस्था से छोटापन बड़ापन नहीं गिना जाता। जो क्षत्रिय वीरता में सबसे श्रेष्ठ हो, जो अन्यान्य क्षत्रियों को पराजित करके छोड़ दे वही सब से बड़ा माना

जायगा। इन क्षत्रियों में ऐसा कौन है, जिसे श्रीकृष्ण ने परास्त न किया हो।"

इस पर शिशुपाल कुछ बड़बड़ाया उसने कुछ तीन पाँच करी। श्रीकृष्ण को अग्र पूजा के अयोग्य ठहराया, सो बच्चूजी को प्राणों से ही हाथ धोना पड़ा। यज्ञ की बलि बनना पड़ा। सो महाराज ब्राह्मणों में ज्ञान से, क्षत्रियों में बल पराक्रम से, वैश्यों में धन से और शूद्रों में अवस्था से बड़ाई छुटाई मानी जाती है। इसलिये यहाँ जिसे युद्ध में लड़ने का जितना ही अधिक उत्साह हो वह उतना ही बड़ा है। उसी क्रम से लगा लीजिये।

कौरव पक्ष में तो सब से श्रेष्ठ बली ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध तथा सभी कार्यों में वृद्ध भीष्मपितामह ही हैं। कौरव पांडव तथा श्रीकृष्ण भी उनका समान रूप से आदर करते है। वे अपनी ओर से श्रीकृष्ण का अत्यधिक सम्मान करते हैं, यह दूसरी बात है। उन्हें यद्यपि युद्ध में कोई विशेष उत्साह नहीं। वे नहीं चाहते भाई भाइयों में युद्ध हो। किन्तु जब दुर्योधन ने उन्हें सेनापति बना ही दिया सेना का सर्वोच्च सम्मान उन्हें प्रदान कर ही दिया, तब लड़ना तो उनका कर्तव्य ही है। जब दुर्योधन आकर द्रोणाचार्य के सम्मुख गिड़गिड़ाने लगा, शत्रु पक्षीय वीरों की वीरता का बखान करने लगा, तो उसके सन्तोष के निमित्त, उसे प्रसन्न करने के लिये तथा उसके उत्साह को बढ़ाने के लिये, बड़े होने के कारण प्रधान सेनापति होने के कारण सर्व प्रथम भीष्म का शंख बजाना ठीक ही है।

इधर युद्ध में सबसे अधिक उत्साह श्रीकृष्ण का ही है। दूत बनकर जाते समय जब भीमने जैसे बनें तैसे सन्धि करके ही आप आवें, यह बात उनसे कही तब श्रीकृष्ण ने भीम की बहुत खिल्लियाँ उड़ाई। उन्हें पेटू भीरु न जाने क्या क्या कह डाला।

यह तो सभी ने स्वीकार किया है, कि श्रीकृष्ण न चाहते तो युद्ध न होता। युद्ध के सर्वप्रथम सूत्रधार ये ही नटनागर हैं। किन्तु ये दूसरे के कंधे पर शस्त्र रख कर लड़ना चाहते हैं, यश सम्मान दूसरों को देने में ही ये प्रमुदित होते हैं। ये युद्ध के लिये सन्नद्ध खड़े भीष्मपितामह के शंख की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। जब उन्होंने बजा दिया, तो इनसे नहीं रहा गया। तुरन्त इन्होंने अपना शंख फूँक दिया। नियमानुसार तो जब उधर के सेनापति ने शंख बजाया, तो इधर के सेनापति धृष्टद्युम्न को बजाना चाहिये था, किन्तु उसे पूछता ही कौन है वह तो नाम मात्र का प्रधान सेनापति था, काठ का घोड़ा था। सबके एकमात्र सूत्रधार वीरामणी श्रीश्यामसुन्दर ही हैं। इस बात को सभी जानते मानते हैं अतः उनका इधर से शंख बजाना न्याय संगत ही था। श्रीकृष्ण के सनातन साथी नरावतार अर्जुन हैं चाहे जैसे भी हो आज तो वे रथी हैं। मर्यादा में श्रीकृष्ण से श्रेष्ठ हैं। श्रीकृष्ण को उनकी आज्ञा माननी चाहिये। जब सारथी ने शंख बजाया तो रथी क्यों चूके। अतः श्रीकृष्ण से दूसरी श्रेणी युद्धोत्साह में अर्जुन की मानी जायगी। तीसरी श्रेणी में भीम को आना ही चाहिये था। दुर्योधन ने भी भीम अर्जुन दोनों को उपमा में रख कर उपमेय में अन्य सत्रह वीरों को गिनाया था। भीम के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर आता है। धर्मराज युद्ध करना नहीं चाहते, किन्तु करना ही पड़े तो वे पीछे हटने वाले नहीं हैं, इसीलिये श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम के शंख बजाते ही उन्होंने अपना शंख बजा दिया। उनके अन्तर पांडवों में नकुल सहदेव दो ही बचे। उन्हें बजाना ही था। इसी प्रकार क्रम रख लीजिये।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! यह सब तो ठीक है, किन्तु ऐसा लगता है, व्यासजी कुछ वर्णन करने में पांडवों का पक्षपात करते हैं।

सूतजी ने चौंककर कहा—क्यों महाराज! किस बात में आपको पक्षपात प्रतीत हुआ।

शौनकजी बोले—देखिये, श्रीकृष्ण और पाँचों पाँडवों के शंखों का नाम तो गिनाया। और किसी के शंख का नाम लिया ही नहीं। सब वीरों के नाम ही गिना दिये। घास सी काट दी।"

हँसकर सूतजी बोले—महाराज, उनके शंखों का नाम होता तो गिनाते, जो मुख्य मुख्य अपनी ओर के शंख थे, उनके नाम गिना दिये। शेष तो सभी धान बाइस पसेरी ही थे।

शौनकजी ने कहा—अब देखो सूतजी! आप भी पक्षपात कर रहे हो। मान लो, पांडव पक्षीय इतने ही प्रसिद्ध शंख थे, तो कम से कम कौरव पक्ष के किसी वीर के तो शंख का नाम गिनाते।"

सूतजी बोले—अरे, महाराज! वहाँ तो किसी का नाम गिनाने का भीष्म ने अवसर ही नहीं दिया। भीष्म के शंख बजाते ही, एक साथ इतने बाजे बजने लगे, कि गणना करने का अवसर ही न रहा।

शौनकजी ने कहा—रहने भी दो सूतजी! जान दो और किसी के नाम न गिनाते, कम से कम भीष्म के शंख का तो नाम गिना देते।

सूतजी ने कहा—महाराज, भीष्म के शंख का नाम 'प्रताप' था। अर्थ यों कीजिये प्रताप है शङ्ख जिनका ऐसे भीष्मपितामह। फिर महाराज, शंख का नाम तो उनका गिनाया गया, जो युद्ध में जीवित बचे हो, भीष्म का तो निधन हो गया था। कौरव पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण पाँचों पांडव बच गये थे, इसीलिए उनके शंखों का नाम गिना दिया।

शौनकजी ने कहा—सूतजी! यह तो आप कथावाचकी पन कर रहे हो। जब यही बात है तो युद्ध में तो सात्यकि भी बचे थे, उनके शंख का नाम क्यों नहीं लिया?

हँसकर सूतजी बोले—अरे महाराज ! तभी तो सात्यकि का विशेषण अपरजित अर्थात् अजेय दिया।

शौनकजी बोले—अब सूतजी ! आप जो चाहे सो कहो। यदि युद्ध से बचने वालों के शंखों का ही नाम गिनाना था तो कौरव पक्ष में भी तो अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीन बच रहे थे, तब इनके भी शंखो का नाम गिनाते।

सूतजी ने हँसकर कहा—महाराज ! कह तो दिया गिनाते तो सही, किन्तु बूढ़े बाबा भीष्मपितामह ने तो सब गुड़ गोबर कर दिया। कोलाहल ही इतना अधिक हुआ कि उनके नाम गिनाने लगते, तब तक युद्ध ही छिड़ जाता। इधर के मुख्य मुख्य शंखों के नाम रह जाते। फिर महाराज, पक्ष विपक्ष को हृदय में रखकर ही तो ग्रंथ की रचना होती है। जिस पक्ष को न्याय संगत, श्रेष्ठ समझकर वर्णन किया जाता है, उसके प्रति कुछ न कुछ पक्षपात तो रहता ही है, नहीं तो गाड़ी आगे चले ही नहीं।

शौनकजी ने कहा—हाँ तो यह कहिये। अब आगे की कथा सुनाइये। फिर क्या हुआ।

सूतजी ने कहा—"फिर महाराज ! सभी क्रम से अपने अपने शंख बजाने लगे उन, शेषों के नाम मैं आगे बताऊँगा। तनिक फलों का रस दिलाइये गरमी अधिक हो गयी है, गला सूख गया है।

छप्पय

पांडव सेना माहिँ शंख की होड़ लगी है।
सैनिक भये सचेष्ट सकल भय भीति भगी है॥
परम धनुरधर काशिराज अरु वीर शिखण्डी।
धृष्टद्युम्न बीराट चढ़ी इन सिर रन चण्डी॥
सात्यकि सेना के अधिप, भूपति सम्बन्धी सगे।
दशहु दिशनि तैं शब्द सुनि, शंख बजावन सब लगे॥

शंखों की तुमुलध्वनि

[१२]

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथ्वीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥*

(श्रीभग० गी० १ अ० १८,१९ श्लो०)

छप्पय

द्रुपद नृपति विख्यात द्रौपदीतनय बीरबर ।
महारथी सब पाँच समर विख्यात धनुरधर ॥
अरजुनसुत अभिमन्यु उतरानंदन नरबर ।
शंख बजावन लगे अधिक उत्साह सबनिउर ॥
पृथक् पृथक् सब शंख लै, पूरी शक्ति लगाइ कें ।
बीरनि उत्साहित करत, निज निज शंख बजाइकें ॥

शरीर में कँपी-कँपी अनुराग से, भय से तथा शीत आदि की बाधा से छूटती है, जिसे रोमाञ्च कहते हैं। प्राणि मात्र के शरीरों में भय, अनुराग और जीवन की इच्छा आरंभ से ही

---

*सूतजी कहते हैं—सुनियो ! राजा द्रुपद तथा द्रौपदी के पांचों पुत्र, सुभद्रानंदन महावीर अभिमन्यु इन सभी ने अपने पृथक् पृथक् शंख बजाये वह भयंकर शब्द कौरवों के हृदय को विदीर्ण करने लगा तथा पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त गूँज उठा ।

होती है। इसीलिये, भय से बचने को कर्म करने की प्रवृत्ति, प्यार करने की इच्छा तथा, आहार प्राप्त करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जैसे प्राणी आहार के बिना नहीं रह सकता वैसे ही प्यार के बिना भी नहीं रह सकता। मनुष्य को प्यार करने को मानव न मिलेगा तो पशुपक्षियों से प्यार करेगा, वे भी न मिलेंगे तो पेड़ पौधों से प्यार करेगा, उनके भी अभाव में ईंट पत्थर दिवालों से ही प्यार करेगा। एक राजकुमार ३० वर्ष तक एक कोठरी में कैद रहा। जब उसे वहाँ से निकलने को कहा गया तो उसने निकलना स्वीकार नहीं किया उसे दीवालों से प्रेम हो गया था।

सबसे अधिक प्यार तो प्राणी अपने आपसे करता है। अपने को वह नष्ट होने नहीं देता। जानमें अनजान में वह सदा अपने को बिना कष्ट के जीवित रखने का इच्छुक बना रहता है। कभी चींटी रेंगे हाथ वहीं पहुँच जायगा। इसी प्रकार अकस्मात् शब्द हो, सहसा कोई छू ले तो आदमी चौंक पड़ता है, उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अव्यक्त भय उसे सदा सर्वदा बना रहता है। प्यार में जो रोमांचित होते हैं, वे तो किसी को हृदय से लगाने को होते हैं, दो को एक करने के लिये होते हैं, किन्तु भय में जो रोंगटे खड़े होते हैं, वे आत्म रक्षा के निमित्त होते हैं। रोम चेतावनी देते हैं, इस भय से अपनी रक्षा करो। इस महायन्त्र शरीर में स्वाभाविक अपने आप काम करने वाले ऐसे सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्र लगे हैं, जो अव्यक्त घटनाओं की भी सूचना देते रहते हैं, किन्तु उन्हें विवेकी ही समझ सकते हैं। समर विजयी ही उनका सामना कर सकते हैं कृपण, क्षुद्र और भयभीत पुरुष तो काँप जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! शंखों का शब्द सुनकर सभी समर विजयी सैनिकों के हृदयों में उत्साह का संचार होने लगा, सभी की शिराओं में शीघ्रता से रक्त का संचार होने लगा। उनकी बोटी-बोटी फरकने लगीं, जो मुख्य मुख्य वीर थे, जिनके पास

अपना अपना शंख था वे पांडवों की शंखध्वनि में अपने शंखों की ध्वनि मिलाने लगे। सभी अपने अपने शंखों को पूरी शक्ति के साथ बजाने लगे। पांचों भाइयों तथा छटे नारायण की शंख ध्वनि सुनकर पांडवों के जो श्वसुर हैं, शिखंडी के जो जनक हैं, धृष्टद्युम्न तथा द्रौपदी के जो पिता हैं, पांचाल देश के जो महाराज हैं, पांडवों के जो सगे, सम्बन्धी, सुहृद, रक्षक और त्राता हैं। वे अपना शंख बजाने लगे। अपने नाना को शंख बजाते देख, प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन ये द्रौपदी के पांचों पुत्र अपने अपने शंखों को फूँकने लगे। सुभद्रानन्दवर्धन अभिमन्यु ने जब देखा मेरे पांचों भाई भी शंख बजा रहे हैं, सबको शंख बजाकर हर्ष प्रकट करना चाहिये, मैं तो पिछड़ ही गया, यह सोचकर वे अपना भी शंख बजाने लगे।

कौरवों की ओर से जो बाजे बजे थे, वे तो मधुर-मधुर संगीत युक्त विविध वीर रस के रागों में बजे थे। उनको सुनकर तो वीरों के हृदयों में अनुराग की लहरें उत्पन्न होती थी, वे बाजे बजाने वालों द्वारा बजाये गये वाद्य थे। वेतन भोगी भृत्यों द्वारा बजाये गये थे। उनमें अनुराग की छटा थी। किन्तु इन क्षत्रिय वीरों द्वारा अपने आप ही बजाये जाने वाले शंखों में शत्रु को संहार करने की चेतावनी थी। इनका शब्द रागयुक्त श्रुत मधुर तथा गुदगुदी पैदा करने वाला नहीं था। इन शंखों के शब्द भयंकर थे। शत्रुओं के हृदयों को हिला देने वाले थे, अरि दल में भयका संचार करने वाले थे। शत्रुओं को कँप कँपी छुड़ा देने वाले थे। पांडव पक्षीय वीर तो इन शब्दों को सुनकर उत्साहित हुए किन्तु कौरवों की तो दशा सोचनीय हो गयी। उनके हृदयों में तो शब्द नहीं घुसा मानों किसी ने शूल भौंक दिया हो। उनके छक्के छूट गये और वे थर-थर कांपने लगे।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी ! शंख की ध्वनि तो एक ही थी; यह पांडव पक्षीय वीरों के हृदयों को उत्साहित क्यों करने लगी और कौरव पक्ष वाले वीरों के हृदयों को क्यों चीरने लगी ?"

इस पर सूतजी बोले—महाराज ! धर्म और अधर्म में इतना ही अंतर है, जो बात धर्म प्रवृत्ति वाले पुरुषों को उत्साहित करती है, वही बात अधर्म प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों को भयभीत करती है। जैसे देखिये एकान्तवास ही है। धर्म प्रवृत्ति वाला होगा तो एकान्त में जाकर उसका हृदय शांत होगा। उसे वहाँ के दृश्य मनमोहक लगेंगे, प्रकृति स्तब्ध सी प्रतीत होगी। वहाँ के सन्-सन् के शब्द में उन्हें एक सुन्दर मनमोहक संगीत सा सुनायी देगा, उनका हृदय हर्ष से भर जायगा। वही एकान्त अधार्मिक दस्युओं को काटने दौड़ेगा। चोर डाकू भी तो घोर जगलों में एकान्त गुफाओं में जाकर छिपते हैं। उन्हें वहाँ पग-पग पर भय ही प्रतीत होता है। पत्तों की खड़खड़ाहट सुनते ही वे चौकन्ने हो जाते हैं। भयभीत होकर चारों ओर देखने लगते हैं, वहां का सन्नाटा उन्हें काटने को दौड़ता है। मन उद्विग्न हो जाता है, मन लगाने को चित्त को बहलाने को उन्हें सुरा तथा सुंदरियों का आश्रय लेना पड़ता है। वस्तु तो एक ही है, किन्तु धर्म भाव और अधर्म भाव-दो पृथक्-पृथक् भाव होने से दोनों पर उसकी प्रतिक्रिया भी पृथक् पृथक् होती है। इसमें भावना ही प्रधान है।

देखिये एक षोडशी युवती है। अभी अभी उसका विवाह हुआ है। सखियों ने मन लगाकर उसका भली प्रकार शृंगार किया है। सोलह शृंगार करके वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर वह ससुराल जाने लगती है, वह रोते रोते अपने पिता से लिपट जाती है, कसकर उसकी कमरको पकड़ लेती है फूट फट कर रोती है। उस समय पिता का हृदय विदीर्ण हो जाता है। मुनियो ! पुत्री के बिदा होते समय कैसाभी वज्रहृदय पिता होगा उसका भी हृदय

द्रवित हो उठता है। उसी का जब पति आलिंगन करता है, उसका दूसरा भाव होता है, उसी को जब चाची चाची कह कर वरके भतीजे लिपट जाते हैं, उनका दूसरा भाव होता है। वस्तु एक ही है। वस्त्र भूषणों में कोई अंतर नहीं, केवल भावना के ही कारण सभी पर उसका प्रभाव पृथक् पृथक् भाँति से पड़ता है। इसीलिये पांडव पक्षीय सेना के वीरों की शंखध्वनि ने पांडवों की सेना में तो वीरता तथा उत्साह का संचार किया और धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को चीर डाला।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! संजय इतना वर्णन करके अब प्रकृत विषय पर आते हैं, उन्हें गीता का वर्णन करना है, अतः अब गीता वक्ता और गीता श्रोता को मंचपर लाते हैं, अब कपिध्वज और पार्थसारथी हृषीकेशके सम्वाद का समारम्भ करते हैं, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

एक साथ सब शंख शब्द सुनि शत्रुनि सैनिक।
हिये कँपकँपी छुटी काज तजि दीये दैनिक॥
कौरव दल हिय चीरि शब्द तिनि माहिँ समानो।
मारयो अरिने वज्र हियेमें तकिकें मानो॥
पृथ्वी अरु आकाश में, घोष भयंकर भरि गयो।
शंख शब्द ई शस्त्र सम, काम शत्रु दल करि गयो॥

रथी द्वारा सारथी को आज्ञा

[१३]

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥*

(श्रीम० गी० १ अ० २०,२१ श्लो०)

छप्पय

पंक्तिबद्ध अनुशासित देख्यो कौरव दलकूँ।
अरजुन हरषित भये करयो सुमिरन निज बलकूँ॥
शस्त्र चलन को समय निरखि निज धनुष उठायो।
कपिध्वज फहरे अरिनि घोर रव हियो हिलायो॥
देर नहीं कछु समर में, चलन चहत आयुध अबहिं।
पार्थ सारथी के रथी, नटवर तैं बोले तबहिं॥

संसार में उन पुरुषों के भाग्य की सराहना कौन कर सकता है, जिनको महापुरुषों ने अपना लिया है। अपना निजी जन मान लिया है। एक बड़े भारी विद्वान भक्त थे, किन्तु उन्हें किसी का

---

*संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं—राजन्! कपिध्वज अर्जुन ने जब देखा कौरव वीर तो भली भाँति सुव्यवस्थित रूप से खड़े हैं, अब दोनों ओर से अस्त्र शस्त्र चलने ही वाले हैं, तब अपने धनुष को उठाकर वीरवर अर्जुन ने अपने सारथी श्रीकृष्णचन्द्र से कहा—हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में तो ले चलकर खड़ाकर दीजिये।

आश्रय प्राप्त नहीं हुआ था, वे किसी के द्वारा समाश्रित नहीं थे। कोई मुझे अपना ले। अपना कहकर पुकारे इसी भावना से वे छिपकर एक महात्मा की सेवा करने लगे। उनकी गौओं को ले जाते, दिन भर उन्हें चराते। एक दिन वे समय पर गौएँ लेकर नहीं आये। महात्मा चिंतित हुए, वे हाथ में डंडा लेकर अपने गोपाल को ढूँढ़ने चले। सब से पूछें किसी ने मेरा गोपाल देखा है। बार बार जब उन्होंने मेरा गोपाल मेरा गोपाल कहा, तो वे भक्त उनके चरणों पर गिर पड़े, अपना परिचय दिया।

महात्मा ने पूछा—तुमने बिना परिचय दिये, मुझे बिना नाम बताये, यह इतना छोटा काम क्यों किया ?

भक्त ने कहा—"भगवन् ! काम भी कोई छोटा होता है। आपने मुझे इसी कारण अपना लिया। अपना निज जन करके स्वीकार कर लिया मुझे अपना गोपाल मान लिया इसी सेवा के कारण तो, आज मैं धन्य हो गया कृतार्थ हो गया।"

वास्तव में महापुरुषों के अपनाने से जीवन में एक बड़ा भारी संबल मिल जाता है। असार निस्सार संसार मे एक सहारा मिल जाता है। यह तो संतों के अपनाने की बात है और जिसे साक्षात् परब्रह्म ने ही अपना लिया हो, अपना लिया ही न हो, जिसे अपना सुहृद, मित्र, संगी साथी बना लिया हो, सेवक बन कर जिसके रथ को सदा हाँकते हो, उसकी आज्ञा का पालन करते हों, ऐसे भाग्यशाली के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? पृथानंदन गांडीव धनुर्धारी कपिध्वज अर्जुन उन्हीं भाग्यशाली वीरों में से थे।"जाके रथ पे केशो, ताकूँ कौन अंदेशो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! पांडवों की सेना तो पहिले से ही सुव्यवस्थित युद्ध के लिये खड़ी थी, अब जब दुर्योधन ने जाकर द्रोणाचार्य के सम्मुख चिन्ता व्यक्त की, तो पितामह भीष्म ने भी अपने सभी अधीनस्थ सेनापतियों को आज्ञा दे दी, कि हमारी

सेना व्यवस्थित रूप से खड़ी हो जाय। प्रधान सेनापति की आज्ञा का अविलम्ब पालन किया गया। कौरवों की सम्पूर्ण सेना सुव्यवस्थित होकर समर भूमि में खड़ी हो गयी।

युद्ध की प्रथम घोषणा शंख बजाकर हो गयी। द्वितीय घोषणा बड़ों की आज्ञा लेना और तीसरी घोषणा में बाण छोड़कर उनके चरणों में प्रणाम करते ही दोनों ओर से बाणवर्षा आरम्भ हो जायगी। गांडीवधारी अर्जुन ने जब मन ही मन श्यामसुन्दर को प्रणाम कर लिया, तो उसने धनुष उठाया और श्यामसुन्दर से कहा—वासुदेव! तनिक मेरे रथ को आगे बढ़ाकर और ले चलो।"

भगवान् ने पूछा—आगे किधर, क्या तुम किनारे पर रहना चाहते हो?"

अर्जुन ने कहा—नहीं, भगवन्! मैं किनारे रहना नहीं चाहता। युद्ध तो मैं बीच में ही करूंगा, किन्तु आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ाकर दें।

भगवान् ने कहा—बहुत अच्छा, जैसी आज्ञा।

इस वाक्य को सुनकर रथी सारथी दोनों ही मुसकरा उठे। इस पर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! हम अर्जुन के साहस की प्रशंसा करते हैं। रथी प्रायः अकेला नहीं चलता। बहुत से रक्षा करने वाले रथ उसके आगे, पीछे, दायें और बायें रक्षा करते हुए चलते हैं जिससे शत्रु इधर उधर से आक्रमण न कर दे। किन्तु युद्ध के आरम्भ में ही अर्जुन निर्भय होकर आज्ञा दे रहा है, मेरे अकेले रथ को दोनों सेनाओं के बीचाबीच ले जाकर खड़ा कर दो।"

सूतजी बोले—महाराज! शरणागति में यही तो विशेषता है। शरणागत निर्भय हो जाता है, भगवान् अपने भक्त का कभी पराभव नहीं होने देते। जो शरणागत है, जिसने धर्मरूप साक्षात् भगवान् का आश्रय ले रखा है, उसकी तो विजय निश्चित है।

ऐसे शरणापन्न सैनिक के समस्त साधन श्यामसुन्दर सुन्दरातिसुन्दर बना देते हैं। अब अर्जुन को ही देखिये। भगवान् ने इसके युद्धोपयोगी सभी साधन कैसे सुदृढ़ बना दिये थे। सैनिक के पास इतनी वस्तुयें चाहिये। (१) पहिले तो सैनिक बल और साहस चाहिये। (२) दूसरे उसका धनुष सुदृढ़ चाहिये, (३) तीसरे शस्त्रों के साथ उस पर दिव्य अस्त्र भी चाहिये। (४) चौथे उसके बाण अक्षय चाहिये जो कभी घटें नहीं। (५) पाँचवे उसका कवच सुदृढ़ चाहिये। जो कितने भी शस्त्रों के आघात हों टूटे नहीं। (६) उसका रथ सुदृढ़ हो, उसकी ध्वजा टूटने वाली तथा फटने वाली न हो। (७) सातवा उसका सारथी सुशिक्षित उत्साही और अपने में अनुराग रखने वाला हो, रथी की आज्ञा का तुरन्त पालन करने वाला हो। ये सात बातें जिसके पास हों उसकी विजय निश्चित है। अब अर्जुन की स्थिति पर विचार कीजिये।

(१) अर्जुन के बल साहस के सम्बन्ध में तो कहना नहीं क्या? जब दुर्योधन और ये दोनों ही श्री कृष्ण से सहायता माँगने गये, तो दुर्योधन तो मारे घमंड के सोते हुए श्यामसुन्दर के सिरहाने बैठ गया। पीछे से अर्जुन आया वह विनम्र होकर चरणों में बैठ गया। उठते ही श्यामसुन्दर ने पहिले अर्जुन को देखा। उसकी कुशल पूछी। तभी दुर्योधन ने कहा—देखिये मैं पहिले आया हूँ आपको मेरी ओर से लड़ना पड़ेगा। भगवान् ने कहा—आप अवश्य पहिले आये होंगे, मैंने तो पहिले अर्जुन को देखा है। फिर भी मैं दोनों की सहायता करूँगा। एक ओर तो मेरी सम्पूर्ण नारायणी सेना। दूसरी ओर निहत्ता मैं। मैं रण में अस्त्र शस्त्र ग्रहण न करूँगा, लड़ूँगा नहीं। आप लोग दो में से एक एक ले लें। छोटा होने से अर्जुन पहिले माँगले। अर्जुन ने छूटते ही निहत्ते श्यामसुन्दर को माँगा। दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हुआ, सेना पाकर उल्लास में भरकर चला गया। देखिये यह कितना

भारी साहस आत्म विश्वास और भगवत्ता पर आस्था है। ऐसा तो स्वयं रथी अर्जुन था।

(२) धनुष उसका गांडीव था, खांडवदाह के समय प्रसन्न होकर अग्निदेव ने अर्जुन के मांगने पर तीन उपयोगी वस्तुएँ उसे दी थीं। उनमें एक तो यह गांडीव नाम का दिव्य धनुष था। यह धनुष स्वयं ब्रह्माजी ने बनाया था, ब्रह्माजी ने उसे सोम को दिया। सोम ने वरुण को दिया और अग्निदेव ने वरुण से लेकर अर्जुन को दे दिया। ऐसा धनुष संसार में दूसरा नहीं था, यह न तो कभी टूटता फूटता था न सहस्रों धनुष मिलकर भी इसकी बराबरी नहीं कर सकते थे। (३) अस्त्र सभी लोकपालों ने अपने अपने प्रसन्न होकर अर्जुन को दे दिये थे। सशरीर स्वर्ग बुलाकर इन्द्रदेव ने अपने सभी दिव्यास्त्र अर्जुन को सिखा दिये थे। (४) दो अक्षय-तूणीर वरुण से मांगकर गांडीव धनुष के साथ अग्निदेव ने ही दिये थे। उनसे कितने भी बाण छोड़ते रहो वे कभी घटते नहीं थे। (५) अर्जुन का कवच भी दिव्य था, उसे कोई काट नहीं सकता था। (६) अर्जुन का अग्नि प्रदत्त कपिध्वज रथ तो विश्व विख्यात था। उसकी ध्वजा में कपि का चिह्न था, वह चिह्न ही नहीं था, स्वयं साक्षात हनुमानजी ही चिह्न रूप से उसमें बैठे रहते थे। युद्ध के समय अर्जुन की ध्वजा में बैठने का वरदान स्वयं हनुमान जी ने इन्हें दिया था।

शौनकजी ने पूछा—अर्जुन की ध्वजा में बैठने का वर बजरंग-बली ने कब दिया था और क्यों दिया था, इस कथा को कृपाकर हमें सुना दीजिये।

सूतजी ने कहा—महाराज, यह कथा तो बहुत बड़ी है, मैं इसे बहुत ही संक्षेप में सुनाता हूँ। द्रौपदी की इच्छा जानकर भीम सेन गंधमादन पर्वत के सबसे ऊँचे शिखर की एक पुष्करिणी में कमल के फूल लेकर लौट रहे थे। यह वनवास के समय की बात

है, वहीं से स्वर्ग को मार्ग जाता था। वहीं पर हनुमानजी भी रहते थे। भीमसेन से मिलने उनका हित करने, उन्हें संकट से बचाने और अलभ्य वर देने हनुमान्‌जी उनका मार्ग रोककर रोगी का सा रूप बनाकर आँख बंद करके लेट गये।

उधर से भीमसेन ने आकर उन्हें डाँटते हुए कहा—अरे, बंदर मार्ग छोड़ दे मुझे आगे जाना है।

हनुमान्‌जी ने कहा—आगे जाना ठीक नहीं, इस मार्ग से सिद्ध ही जा सकते हैं। तुम साहस करोगे तो मर जाओगे।

भीमसेन ने कहा—मैं अपना हित स्वयं जानता हूँ, मुझे सम्मति नहीं चाहिये, तुम मुझे मार्ग दे दो।

हनुमान्‌जी ने कहा—भैया, तुम नहीं मानते हो, तो मुझे नाँघ कर चले जाओ। मैं बूढ़ा हूँ, रोगग्रस्त हूँ उठ नहीं सकता।

भीम ने कहा—जान बूझकर यथा शक्ति किसी को नाँघना नहीं चाहिये, सब में भगवान् रहते हैं। नहीं तो जैसे हनुमानजी समुद्र को लाँघकर लंका चले गये थे वैसे मैं भी तुम्हें लाँघकर चला जाता।"

हनुमान्‌जी ने पूछा—भैया, ये हनुमान कौन थे?

भीम ने कहा—"अरे, तुम महावीर हनुमान को भी नहीं जानते। वे पवन के पुत्र हैं, मेरे बड़े भाई हैं, श्रीरामजी का कार्य करने से उनके अत्यन्त प्रिय हैं। तुम व्यर्थ समय नष्ट न करो, नहीं मैं तुम्हें अभी यमसदन पहुँचा दूँगा। मेरा मार्ग छोड़ दो।

हनुमान्‌जी बोले—तुम्हें मुझ बूढ़े रोगी पर दया भी नहीं आती। अच्छा भैया! नहीं मानते हो, तो मेरी पूँछ उठाकर चले जाओ। मुझसे तो उठा नहीं जाता।" इतना सुनते ही भीमसेन ने अवज्ञा से बाये हाथ से पूँछ उठायी। पूरी शक्ति लगाने पर भी जब पूँछ हिली नहीं, तब भीम ने पूछा—देव! तुम वानर वेष में कौन हो।"

हनुमान्‌जी ने हँसकर कहा—मैं तुम्हारा सगाभाई पवन का पुत्र हनुमान् ही हूँ।"

हनुमान्‌जी का परिचय पाकर भीम गद्‌गद हो उठे। उन्होंने इनकी चरण वन्दना की और अपने लंका जाते समय के रूप को दिखाने की प्रार्थना की। भीम की प्रार्थना पर हनुमान्‌जी ने अपना यथार्थ रूप दिखाया। उसे देखते ही भीमसेन के रोंगटे खड़े हो गये। आगे वे देख न सके उन्होंने अपनी आँखें बंद करलीं और अपने रूप को समेटने की प्रार्थना की।

अपने यथार्थ रूप में आने पर भीम ने कहा—आप तो अकेले ही रावण को मारने में समर्थ थे, फिर इतनी सेना इकट्ठी करके रामजी लंका क्यों गये।"

हनुमान्‌जी ने कहा—भैया, तुम ठीक कहते हो, मैं उस पापी अधम को मार सकता था, किन्तु इससे श्रीराम की कीर्ति तो न फैलती। राम कथा तो संसार में विख्यात न होती।" इतना कह कर हनुमान्‌जी ने अपने भाई भीम को कसकर छाती से लगा लिया। वे प्रेमाश्रु बहाते हुए कहने लगे। भीम आज मैं तुम्हारा आलिंगन करके कृतार्थ हो गया। अपने प्रिय का आलिंगन कितना सुखद है। भैया! मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ। जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने तुम्हें इतने क्लेश दिये हैं, उन्हें कहो तो मैं अभी मारकर चला आऊँ। तुम्हारी इच्छा हो तो मैं अभी हस्तिनापुर पर ऐसी पत्थरों की शिलाओं की वर्षा कर आऊँ कि वे सब के सब सपरिवार मर जायँ।"

इतना सुनते ही भीमसेन स्नेह के कारण रोने लगे। रोते-रोते उन्होंने कहा—हे वानर राज! आपका हमारे प्रति इतना स्नेह है, हम तो इसी में कृतार्थ हो गये। हे पूजनीय! आपका आशीर्वाद बना रहे, हम आपकी अनुकंपा से शत्रुओं को जीत लेंगे। देव! आपके सौहार्द्र स्नेह से हम अनाथ बने हुए वन में भटकते हुए

भी आज सनाथ हो गये। आप आशीर्वाद दें हम विजयी बनें।'

यह सुनकर भातृस्नेह से जिनका हृदय भर आया था, जिनकी वाणी अनुराग से गद्गद हो गयी थी, जिनके नेत्रों से प्रेमाश्रु निकल रहे थे वे हनुमान्जी बोले—युद्ध के समय मैं तुम्हारे सिंह-नाद में नाद मिलाऊँगा और अर्जुन की वानर ध्वजा में सदा रह-कर सिंहनाद करूँगा। अर्जुन की सदा रक्षा करता रहूँगा, शत्रुओं को भयभीत करता रहूँगा।'

कपि की ध्वजा में सदा हनुमान् के विराजने से अर्जुन 'कपि-ध्वज' कहलाये। उनका जैसा ही अग्नि प्रदत्त धनुष अजेय था, वैसी ही उसकी कपि की ध्वजा अजेय थी। अतः उनकी ध्वजा अनुपम थी।

अब सातवीं बात है सारथी की। सो जब साक्षात श्याम सुन्दर ही जिसके रथ को हाँक रहे हो उस रथी को भय किसका। श्यामसुन्दर का अर्जुन के प्रति कितना स्नेह था, यह बात एक ही घटना से जानी जा सकती है। जब इन्द्रने श्रीकृष्ण से वर मांगने को कहा—तब भगवान् ने यही माँगा—"मेरी और अर्जुन के मैत्री सदा बढ़ती रही रहे, अर्जुन से मेरी कभी भी अनबन न हो।' शौनकजी! उन श्यामसुन्दर को मैत्री की क्या आवश्यकता थी, वे तो प्राणीमात्र के सहज सुहृद् हैं, किन्तु मैत्री का महत्व बताने को उन्होंने ऐसी लीला रची। मित्र को अपने मित्र से सदा डरते रहना चाहिये, कि किसी भी कारण से हमारी मित्रता में व्याघात न पड़े। जिसके रक्षक, सारथी श्यामसुन्दर हैं उसे किसका भय इसीलिये अर्जुन अपने सारथी से कभी भी च्युत न होने वाले अच्युत से प्रार्थना कर रहा है अनुनय कर रहा है, आज्ञा दे रहा है—'मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले-चलिये। दोनों अनियों के बीचाबीच जाकर खड़ा कीजिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! सारथी को आज्ञा देते समय रथी जो अपना अभिप्राय बतावेगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मेरे रथकूँ प्रभो ! तनिक सो और बढ़ाओ।
भयो जुद्ध को समय नेंक नहिँ देर लगाओ॥
साजि सकल रन साज कौरवनि सेना भारी।
हमारी सेना खड़ी करैं सब समर तयारी॥
उभय दलनि के बीच में, मेरो रथ ठाढ़ो करो।
कैवर्तक केशव समर-सागरकूँ [रथतैं तरो॥

नटवर ! निरीक्षण करूँगा !

[१४]

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्य मस्मिन् रणसमुद्यमे ॥
योत्स्यमाननवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥*

(श्री भ गी० १ अ० २२,२३)

छप्पय

दोऊ दल के बीच सबहि जोधनि देखूँगो ।
कौन कौन तैं लड़ैं जाय नियरे निरखूँगो ॥
शुद्ध मत्त मदमत्त सैनकनि साहस लखिकें ।
को को रन में लड़ैं कौन जावैंगे भगिकें ॥
देखुँगो तब तक विभो, जब तक मम मन भरैगो ।
रन रूपी ब्योपार में, मोतैं को को भिड़ैगो ॥

संसार युद्ध भूमि है, इसमें सब एक दूसरे से लड़ रहे हैं कोई प्रेम से लड़ रहा है, कोई द्वेष से लड़ रहा है। कोई राग

---

* अर्जुन श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—"भगवन् ! जब तक मैं युद्ध की कामना से अवस्थित इन कौरव पक्षीय वीरों को देखूँ कि इस रण उद्यम में किस किस के साथ मुझे युद्ध करना है। (तब तक आप रथ को खड़ा रखें) जो नृपतिगण युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का प्रिय करने के निमित्त यहाँ आये हैं, उन लड़ने वालों को मैं देखूँ तो सही।

पूर्वक लड़ रहा है कोई विराग पूर्वक लड़ रहा है। संसार द्वन्द्व पर अवलंबित है। दो जहाँ मिलेंगे वहाँ व्यापार होगा, वह व्यापार ही युद्ध है। मल्लों का ही युद्ध नहीं होता कलाकार कलाकार से लड़ता है, विद्यार्थी विद्यार्थी से लड़ता है, पति पत्नी की लड़ाई भाई भाई की लड़ाई। लड़ाई से पहिले प्रतिद्वन्द्वी को देखने की सभी को उत्सुकता रहती है। कक्षा में नये छात्र आते हैं, तो पुराने उन्हें उत्सुकता से देखते हैं। अपना कोई नया अधिकारी बदल कर आता है, तो उसके अधीनस्थ उस नये अधिकारी को उत्सुकता से देखते हैं। जब सगाई होती है तो वर वधू दोनों ही अपनी भावी पत्नी भावी पति को देखने के लिये लालायित रहते हैं, इसी प्रकार युद्ध में हमें किस योधा के साथ लड़ना है। इसकी उत्सुकता दोनों पक्षों के वीरों में रहती है। जो आँख मींचकर लड़ते हैं। किसी के भी लगे हमें अस्त्र चलाने हैं। ऐसे लोगों को कम जिज्ञासा होती है, किन्तु जो नामी वीर हैं। अपने को प्रधान शूर वीर समझते हैं, वे बहुत लालायित रहते हैं देखें हमारे सामने कौन आता है, इस दृष्टि से अर्जुन की उत्सुकता स्वाभाविक है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से दोनों सेनाओं के बीच में रथ ले चलने को कहा,तो भगवान् ने पूछा—अर्जुन! लड़ना तो तुम्हें पांडवों की ओर से है दोनों सेनाओं के बीच में क्या करोगे?

अर्जुन ने कहा—महाराज! युद्ध के लिये आये राजाओं को देखूँगा।

हँसकर भगवान् ने कहा—राजाओं को क्या देखोगे भाई! राजा तो तुम्हारे सब देखे देखाये ही हैं। धर्मराज के राजसूय के समय सभी राजा आये थे, द्रौपदी के स्वयंवर में भी सभी राजा थे, दिग्विजय में भी प्रायः सभी राजाओं से भेंट हो चुकी

है, अब उन्हें क्या देखोगे, वे ही सब राजा हैं।

अर्जुन ने कहा—यह तो ठीक है, महाराज ! कि राजा सब वे ही हैं, किन्तु द्रौपदी के स्वयंवर में 'राजसूय यज्ञ में, दिग्विजय के समय तो सभी राजा समान रूप से थे। अब तो राजाओं के दो विभाग हो गये हैं, एक तो वे जो न्याय तथा धर्म पक्ष समझकर धर्मराज की ओर से लड़ने आये हैं। दूसरे वे जो दुर्बुद्धि दुर्योधन की ओर से लड़ने आये हैं। संसार में यह बात किससे छिपी है, कि दुर्योधन ने मेरे बड़े भाई भीमसेन को विष के लड्डू खिलाकर मारने की चेष्टा की कौन, नहीं जानता इन्होंने लाक्षागृह में हमें जला डालने की पूरी चेष्टा की। द्रौपदी का अपमान तो भरी सभा में किया गया, उसे विवस्त्रा बनाने का प्रयत्न तो इन धूर्तों ने शक्ति भर किया। हमारे साथ जूए में जो अन्याय हुआ संसार का कौन सा राजा नहीं जानता। हम १२ वर्ष का वनवास एक वर्ष का अज्ञात वास करके अपनी प्रतिज्ञा को धर्म पूर्वक पूरा करके लौटे तब इसे न्याय पूर्वक हमारा राज्य लौटा देना चाहिये था, किन्तु इस दुर्बुद्धि ने हमें धर्मराज के पांच ग्राम माँगने पर स्पष्ट कह दिया, मैं सूची के अग्रभाग से जितनी नोंक पृथिवी में होती हो,उतनी भी भूमि न दूँगा। उसी पापात्मा की ओर से कौन कौन राजा आये हैं, इन्हें देखूँ तो सही अपनी सेना के सब लोगों को तो मैं जानता ही हूँ, उनकी सेना में घुस कर देखूँ तो लोग संभव है प्रहार न कर बैठे, या कुछ लोग यह न समझ बैठे कि अर्जुन भयभीत होकर कौरवों की शरण में आ गया। अतः आप दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा कर दें, जिससे मैं सबको भली भाँति देख सकूँ।

भगवान् ने कहा—भाई, कोई मर्यादा भी हो, कब तक तुम्हारे रथ को वहाँ खड़ा रखूँ !

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! मैं जब तक भली प्रकार सब को जान न लूँ, पहिचान न लूँ, तब तक आप रथ को खड़ा रखें। भगवान् ने कहा—जान पहिचान कर करोगे क्या ?

अर्जुन बोले—महाराज ! देखूँगा। मेरे साथ लड़ने को कौन कौन उद्यत हैं, कौन कितने पानी में हैं। प्रभो ! सब कार्य पहिले से किया जाता है, समर तो एक व्यापार है, व्यापार भी जूआ के समान जो क्षणभर में लखपती हो जाओ क्षणभर में लखपती से कंगाल बन जाओ। हे अच्युत ! दो पैसे की हांडी भी ली जाती है, तो बहुत ठोक पीटकर, बार बार बजाकर तब ली जाती है। फिर जिनसे प्राणों का पण लगाकर युद्ध करना है उसे बिना देखे हम कैसे लड़ सकते हैं। अतः पहिले हम युद्ध पिपासु अधर्मी के पक्षपाती राजाओं को एक दृष्टि से देख तो लें। देखकर तब इन्हें बताऊँगा कि अधर्मी का पक्ष लेने का परिणाम क्या होता है।

भगवान् ने कहा—भाई ! युद्ध में ही देख लेना।

अर्जुन ने कहा—अजी, महाराज ! पहिले से देख भालकर विचार कर ले किससे कैसे लड़ना पड़ेगा। बिना पहिले से विचारे युद्ध करना ठीक नहीं।

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगारैं आपनो, जगमें होत हँसाय॥

सो प्रभो ! हँसाव क्यों करना। राजा सब यहाँ आये ही हुए हैं और सब तमासा देखनेकी दृष्टि से भी नहीं आये, सभी युद्ध करने के ही संकल्प से आये हैं। ये सब दुर्योधन का प्रिय करने को आये हैं। उसे प्रसन्न करना चाहते हैं। उन्हें ज्ञात नहीं कि न रोग ही रहेगा न रोगी ही बचेगा। दोनों ही समाप्त हो जायँगे मेरी बाण रूपी औषधि से। आपको आपत्ति क्या है, तनिक बढ़ाकर ले चलो न बीच में रथ को।

उभय सेना के मध्य में गुडाकेश का रथ

(१५)

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥*

(श्रीभ० गी० १ अ० २४, २५ श्लोक)

छप्पय

संजय बोले—भारत ! सुनिके अरजुन बानी ।
दीये अश्व चलाय सारथी सॉरंगपानी ॥
उभय सैन के मध्य लाइ रथ ठाढ़ौ कीन्हों ।
हँसि के बोले श्याम—सबहिँ भूपनिकूँ चीन्हों ॥
रथ रव घर घर करि चल्यो, चकित सकल सैनिक रहे ।
खड़ो करयो रथ बिहँसिके, वचन श्याम ने पुनि कहे ॥

---

*संजय कह रहे हैं--राजन् ! अर्जुनद्वाराऐसा कहे जाने पर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने गुडाकेश अर्जुनके रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दिया । भीष्म और द्रोण के सम्मुख तथा समस्त राजाओं के सम्मुख रथ खड़ा करके बोले—पार्थ ! देख लो, ये ही सब राजागण युद्ध करने को डटे हैं । भली प्रकार देख लो ।

जीव तो जीव ही है, नटनागर स्वयं ही प्रेरणा करके उसके हृदय में ज्ञान-दीप जगा देते हैं और फिर स्वयं ही उसे ज्ञान देकर, अपना दर्शन देकर-कृतार्थ करते हैं। वे ही प्रश्न करने की बुद्धि देते हैं, फिर वे ही स्वयं उत्तर देकर उसे निःसंशय कर देते हैं। कैसी क्रीड़ा है जनार्दन की! जीव इस रहस्य को समझ नहीं सकता। इसीलिये तो माया मोह में पड़ा इधर से उधर भटक रहा है, माया मोह में पड़ा चिन्ता के सागर में मग्न हो रहा है। स्वयं ही इसके अज्ञान को दूर करना चाहें, स्वयं ही हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न करके गीता ज्ञान सुनाना चाहें तभी यह चौरासी के चक्कर में पड़ा प्राणी पार हो सकता है। जिसे वे अपना कह कर वरण करलें उसी के द्वारा वे प्राप्त किये जा सकते हैं, अन्य के द्वारा नहीं। बीज को उभाड़कर उसमें फल लगा देते हैं पका कर उसे गिरा देते हैं। यही उनका सनातन व्यापार है। यही उनका मनोरंजन है। इसी के द्वारा वे क्रीड़ा कर रहे हैं, आत्म रतिका सुख भोग रहे हैं। जो इस रहस्य को जान जाता है उसे मोह नहीं होता। जिसे इसका पता नहीं वही मोहित हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब संजय महाराज धृतराष्ट्र से कहने लगे। अर्थात् अब पुनः सञ्जय बोले।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! सब संजय ही तो कह रहे हैं, फिर सञ्जय बोले यह क्यों कहा?

सूतजी बोले—महाराज! सब कुछ संजय तो पूरा संवाद धृतराष्ट्र को सुना ही रहे हैं, फिर भी स्मरण कराने को कि यह संजय और धृतराष्ट्र का संवाद है। घर में बैठे-बैठे धृतराष्ट्र से संजय कह रहे हैं। यहाँ स्मरण दिलाने का तात्पर्य यह है, कि एक श्लोक में तो धृतराष्ट्र का प्रश्न ही है। १२ श्लोकों में पहिले

धृतराष्ट्र के पुत्रों का वर्
हैं। उसी क्रम से मेरे पां
थी। इसलिये १२श्लोकों
थे, अतः पांडवों के सम्ब
तब संजय ने सोचा कौर
वर्णन हो चुका। अब व
दोनों सेना के जो मध्यस्थ
को ही मारने का-प्राण ह
वर्णन करूँ। अब तक
किया, अब जो इन दोनों
किसी को बचा रहे हैं, कि
सारथी बने हुए अर्जुन
ने क्या किया। सारथी
प्रेरणा की, फिर उन्होंने
में क्या कथोपकथन हु
अपने मुख्य विषय पर आ
भरत कितने प्रतापी अ
ले आये और उसे अपन
भाई के पुत्रों से लड़ा
भी चेत जाओ, अभी कु
है। अभी युद्ध आरंभ हु
रहा है। आप अब भी
पांडवों को उनका आधा

सूतजी कह रहे हैं—
से विपक्षी राजाओं को
दोनों सेनाओं के बीच में

र्ण हैं, क्योंकि धृतराष्ट्र बड़े हैं, पांडु छोटे
डु के पुत्रों ने क्या किया, यह बात पूछी
में कौरवों का वर्णन किया। पांडु उनसे छोटे
न्व का वर्णन १० ही श्लोकों में किया।
व और पांडवों का तो छोटे बड़े के क्रम से
ीचों बीच का वर्णन करूँ। अर्थात् अब
य हैं, केवल जिनको काल स्वरूप भगवान
ने का अधिकार है, अब मैं उन्हीं का
मैंने कौरव पांडवों की सेनाओं का वर्णन
सेनाओं को अपने संकेतपर नचा रहे हैं,
किसी को यम सदन पठा रहे हैं, और जो
के रथ को चला रहे है, उन नटनागर
को रथीने कैसे आज्ञा दी, कहाँ चलने व
किधर रथ चलाया। रथी और सारथ
आ, इसे अब सुनाता हूँ। अर्थात् अ
ाता हूँ। आप भरतवंशावतंस हैं। राज
ौर परोपकारी हुए। वे दूसरे के पुत्र को
पुत्र करके माना। तुम अपने पुत्रों को
रहे हो। हे भरतकुलकमलदिवाकर! अब
ब बिगड़ा नहीं है, अभी बेटी बाप की ही
आ नहीं है। आरंभ होने का उपक्रम हो
रोकना चाहे तो युद्ध को रोक सकते हैं
पैतृक राज देकर।

मुनियो! जब अर्जुन ने अपने सारथी
देखने की इच्छा की, और अपने रथ को
ले चलने को कहा, तब हृषीकेश भगवान

ने दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर उसके रथ को खड़ा कर दिया।

जब आदमी निश्चिन्त रहता है और कुछ थकावट सी रहती है, मधुर मधुर बाजे सुनने को मिलते है, तो तनिक झपकी सी आ जाती है। जिसे किसी का दृढ़ भरोसा होता है, कि मेरे सिर ये बैठे हैं तो वह निश्चिन्त होकर—शोक मोह त्यागकर—पैर पसार कर सो जाता है। अर्जुन में ये दोनों ही बात नहीं, न तो वह निश्चिन्त ही है और न उसे नींद ही आ रही है। निद्रा पर उसने विजय कर ली है, चिंता उसके चित में चितचोर के रहते हुए भी चिपटी हुई है। उसी चिंता को चुराने के लिये चितचोर ने चट से चला दिया रथ को और उस बीच में भीष्म द्रोण के सम्मुख तथा सभी राजाओं के बीच में खड़ा कर दिया। भीष्म के सम्मुख इसलिये खड़ा कर दिया कि वे सेनापति हैं, सर्व प्रथम तो इन्हें ही मारना है। द्रोण उनके पार्श्व में खड़े थे, बता दिया दूसरे इन्हे मारना है। इन दो सिंहों के मार देने पर समर-वन साफ हो जायगा, फिर ये सम्मुख खड़े हुए राजा रूपी गीदड़ तोप रह जायँगे। कर्ण वहाँ था नहीं, वह अपने शिविर में सो रहा था। जब तक भीष्मपितामह जीवित हैं, तब तक युद्ध न करने की उसने प्रतिज्ञा कर ली है, अतः प्रमुख वीरों में वह दिखायी नहीं देता। भीष्म और द्रोण ये ही दो बड़ी बड़ी चट्टानें हैं। और सब तो फिर घास फूस हैं। लड़ना तो इन दो से ही है, और भी राजाओं को देख लो, सबको पहिचान लो, सब से नमस्कार प्रणाम कर लो, किन्तु लक्ष इन दो को ही बनाओ। यही तात्पर्य इन दोनों के ठीक सम्मुख रथ खड़ा करने का है।

रथ भी साधारण नहीं था, सारथी भी साधारण सारथी नहीं था। दोनों असाधारण थे। भगवान् का अभिप्राय यही है जैसे

तेरा रथ उत्तम है, मैं सारथी उत्तम हूँ वैसे ही हे इस उत्तम रथ के रथी ! तू भी उत्तम ही बन जा। कुछ शोक मोह ममता, चिंता तेरे में हो तो उसे त्याग दे।

रथ को खड़ा करके भगवान् बोले—हे पार्थ ! इन विपक्षी कुरुवंशियों को देखो। अभिप्राय इतना ही है, कि तुम अपने को भी देखो और इन कौरवों को भी देखो। अपने को तो यह देखो, कि जब मैं सन्धि कराने के निमित्त दुर्योधन के यहाँ हस्तिनापुर गया था और बहुत समझाने बुझाने पर भी दुर्योधन राज्य देने को तैयार नहीं हुआ तो मैं अपनी बूआ पृथा के समीप उनके दर्शनों को गया था। उनसे मैंने पूछा—बूआजी ! अपने पुत्रों के लिये कुछ संदेश भिजवाना है ?

तो छूटते ही उन्होंने कहा था—मेरे पुत्रों से श्यामसुन्दर कह देना—"यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत !" क्षत्राणी जिस लिये पुत्रों को पैदा करती हैं, अर्थात् युद्ध करने के लिये अब वही समय आ गया है।" सो बूआ पृथा ने जब कहा था, उस समय वह काल कुछ दूर था, अब तो सर्वथा समीप आ गया है। अपनी माता कुन्ती के तुम प्यारे पुत्र हो। पृथा के पुत्र होने से ही तुम पार्थ कहाते हो। तुम्हारी माता मेरी सगी बूआ हैं। मैं तुम्हारा ममेरा भाई हूँ। अपनी माता के उन वचनों को अब सार्थक करो। पृथा के दूध को कृतार्थ करो। स्त्रियों के समान रोना धोना नहीं, अबलापन मत दिखाना। तुम वीर क्षत्राणी पृथा के प्यारे पुत्र हो। हे पार्थ ! इन युद्ध की इच्छा से आये हुए कौरवों को देखो।"

शौनकजी ने कहा—सूतजी ! अर्जुन ने तो युद्ध की कामना से आये हुए राजाओं को देखने की इच्छा की थी, फिर भगवान केवल कौरवों को ही देखने के लिये क्यों कह रहे हैं ?

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! राजा के साथ तो मंत्री सचिव, गाने नाचने वाले, बजाने वाले, सेना वाले, सेवक तथा अंग रक्षक सभी रहते हैं, किन्तु कहा जाता है, देखो राजा जा रहा है। क्योंकि राजा की ही उसमें प्राधानता है। विवाह करके घरमें बहू आती है, उसकेसाथदास,दासीबराती,बजाने वाले सभी होते हैं, कहते यही हैं चलो बहू को देख आवें। क्योंकि उसी के पीछे सब हैं। उसे देखने जाने पर और सब तो आप ही दिखायी दे जायँगे। इसी तरह भगवान् कहते हैं तू पहिले अपने भाई कौरवों को ही देख ले। इन्हीं के बुलाने पर इन्हीं का प्रिय करने के निमित्त ये इतने अधिक राजा एकत्रित हुए हैं।"

कौरवों को देखने का दूसरा अभिप्राय यह भी हो सकता है, कि तैंने पूछा था, कि मेरे साथ कौन कौन लड़ेगा ? सो लड़ने वाले कोई दूसरे नहीं। तू भी कुरुकुल का है, भीष्म पितामह भी कुरु कुल के हैं और धृतराष्ट्र के ये दुर्योधनादि सौ पुत्र भी कुरुकुल के ही हैं। इनके सम्बन्धी तुम्हारे सम्बन्धी हैं तुम्हारे सम्बन्धी इनके सम्बन्धी हैं। कोई भाई हैं, कोई भतीजे हैं, कोई भानजे हैं। तुम्हें भाइयों से ही लड़ना पड़ेगा। अपने कुल गोत्रियों, बन्धु बान्धवों से ही युद्ध करना पड़ेगा। सोचसमझ लो,आखें खोलकर भली-भाँति देख लो। ये अन्य नहीं कौरवही है कौरव। तुम दोनों के बाबा एक हैं।

इस प्रकार इन्द्रियों के स्वामी, अन्तर्यामी पार्थसारथी नामी भगवान् हृषीकेश श्यामसुन्दर के कहने पर निद्रा आलस्य रहित सदा सर्वदा समर के लिये संनद्ध अर्जुन, सम्मुख खड़े हुए युद्ध की इच्छा से आये हुए वीरों को आँख फाड़-फाड़कर देखने लगा। अब आगे उसने किस किसको देखा इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

देखो, ये सब भूप युद्ध के ही हित आये।
दुरजोधन ने साम दान तैं इननि बुलाये॥
देखो, ये हैं भीष्म खड़ो रथ सम्मुख इनके।
ये हैं द्रोणाचार्य बगल में ठाड़े तिनके॥
इन सब भूपनि के निकट, रथ तुमरो अनुपम खड़ो।
निज कुल के कौरव कुपित सम्बन्धिनितैं तुम भिड़ो॥

अर्जुन द्वारा सैन्यावलोकन

(१६)

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥*
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥

(श्री भ० गी० १ अ० २६,२७ श्लो०)

छप्पय

पृथापुत्र पुनि लखे युद्धहित कुपित भूपगन ।
कोई ताऊ चचा पितामह आचारज जन ॥
मामा हैं कछु सगे कछू अपने ही भाई ।
कछू पुत्र अरुपौत्र आयु बिनि संग बिताई ॥
लड़त भिड़त सबई रहत, नहीं पराये शत्रु हैं ।
सम्बन्धी सब सुहृदगन, निजजन गुरुजन मित्र हैं ॥

संस्कृत की एक कहावत है "स्नेहानुबन्धो बन्धूनांमुनेरपि

---

*संजय कह रहे हैं—हे राजन् ! वहाँ अर्जुन ने दोनों सेनाओं में खड़े हुए लोगों को देखा। कोई चाचा हैं, कोई बाबा हैं, कोई आचार्य, मामा, भाई भानजे, पुत्र तथा पौत्र हैं, कोई श्वसुर हैं कोई सगे सम्बन्धी हैं, उन सम्पूर्ण उपस्थित बन्धु बान्धवों को युद्ध के लिये खड़े देखकर कुन्ती नन्दन चकित रह गये ।

सुदुस्त्यज" अर्थात् अपने परिवार वाले भाई बन्धुओं में जो अनुबन्ध है खिंचाव है, ममता है उसे छोड़ना त्यागी विरागी मुनियों के लिये भी कठिन है। अपने ही परिवार के लोग जब हमारा अपकार करते हैं, तो हमें उन पर क्रोध आता है, पीठ पीछे हम उनकी भरपेट बुराई करते हैं, उन्हें भला बुरा कहते हैं, किन्तु जब वे हमारे सम्मुख आते हैं, हमारी उनकी चार आँखें होती हैं, तो रक्त की ममता हमारे हृदय में उमड़ पड़ती है। सोचते हैं, कैसे भी सही हैं तो ये हमारे भाई बन्धु, सगे सम्बन्धी ही। कोई वज्र हृदय का ही पुरुष होगा, उसे ही ममता न आवेगी, नहीं तो कुटुम्बियों के प्रति मोह होना मानव स्वभाव है।

सूतजी कहते हैं—मुनियों! जब भगवान् ने अर्जुन से कहा—देख युद्ध की इच्छा से ये अस्त्र शस्त्र लिये कौरव खड़े हैं, इन्हें देख ले।" तब तो अर्जुन के हृदय में एक चोट सी लगी। कौरव तो मैं भी हूँ कुरुवंश में तो मेरा भी जन्म हुआ है। ये भी कौरव मैं भी कौरव,क्या कौरव कौरव से लड़ेगा? क्या भाई-भाई से लड़ेगा? क्या अपने सगे सम्बन्धियों से ही युद्ध करना पड़ेगा?"

अब तक तो अर्जुन के मस्तिष्क में दो ही थे एक पक्ष वाले और दूसरे विपक्ष वाले। एक निज पक्ष के दूसरे शत्रु पक्ष के। आदमी जब ऊपर से देखता है, तो सभी पुरुष एक से चींटी की भाँति रेंगते हुए दिखायी देते हैं। ज्यों ज्यों वह नीचे उतरता आता है वह भेदभाव करने लगता है। यह स्त्री है, यह पुरुष है,और नीचे उतरता है तो देखता है यह सहधर्मी है, यह विधर्मी है, और नीचे आता है, तो देखता है, ये अपने परिचित हैं, ये अपरिचित है। सर्वथा नीचे आने पर सब परिचितों का नाम लेकर अपना सम्बन्ध जताकर सम्बोधन करता है। सम्बन्ध सुख देख के होते हैं। बच्चा पेट में रहता है कोई सम्बन्ध नहीं लगाता। जहाँ वह उदर से बाहर हुआ, मुख देखा तो माता पिता

उसे पुत्र कहने लगते हैं। पिता के भाई भतीजा, माँ के भाई भानजा, पिता के भी पिता पौत्र तथा सभी सम्बन्धी अपना-अपना नाता लगाने लगते हैं। मर जाने पर सब उसे शव या मिट्टी कहने लगते हैं शीघ्र से शीघ्र घर से बाहर करने के लिये व्यग्र हो उठते हैं। इसी का नाम मोहममता है। यह मोहममता प्राणी के जन्म के साथ उत्पन्न होती है मरने तक बनी रहती है। जिसका मोहक्षय हो गया, उसकी मोक्ष ही हो गयी आवागमन से छूट गया।

अब तक तो अर्जुन सुनते ही रहे थे, कौरव हमारे शत्रु हैं, बहुत से राजा उसकी ओर से हम से लड़ने आये हैं। वह क्रोध और वीरता में भरकर कह देता था—"अच्छी बात है। आने दो, अन्यायियों को, हम सबको देख लेंगे। सबके दाँत खट्टे कर देंगे, सबको दिखा देंगे, कि न्याय की विजय होती है, या अन्याय की। किन्तु जब उसने समीप से आकर देखा, तो उसे पुराने सम्बन्ध स्मरण हो आये। सम्मुख उसने भी भीष्मपितामह के समीप सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा को देखा—अरे, ये तो मेरे ताऊजी हैं। मैं इनका कितना आदर करता था देखते ही इनके चरण स्पर्श करता था, आज ये अस्त्र-शस्त्र लिये हमसे लड़ने के लिये खड़े हैं। सम्मुख पितामह भीष्म सेनापति का चिह्न लगाये हमारी सेना का संहार करने को समुपस्थित हैं। ये तो हमारे पिता के भी पिता हैं। जब हम अबोध छोटे छोटे बच्चे थे, तो धूरि धूसरित शरीर से इनकी गोदी में जा बैठे थे, और इनसे "पिताजी पिताजी" अपनी तोतली वाणी में कहा करते थे, तब ये हमारे मुख को बार बार चूमते और कहते-बेटाओं! मैं तुम्हारा पिता नहीं। तुम्हारे पिता का पिता हूँ। मुझसे 'पितामह' कहा करो। तभी से हम इन्हें 'पितामह पितामह' कहा करते थे, हमने अपने पिता को तो भली भाँति देखा नहीं। हमारा पालन पोषण इन्होंने ही किया। अतः हमारे

पिता, पितामह, रक्षक माता तथा सर्वस्व ये ही हैं। आज ये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर हमें मारने को खड़े हैं। इनके पार्श्व में हमारे दूसरे बाबा सोमदत्तजी भी खड़े हैं। ये मुझे कितना प्यार करते थे। जब मैं इनके चरण छूता तो कितनी देर मेरी पीठ को थपथपाते और कहते—बेटा! अर्जुन मैं तेरी वीरता से बड़ा प्रसन्न हूँ। भगवान् करे तू विश्वविख्यात वीरवर हो। तब मैं लज्जा से सिर नीचा कर लेता। और भी कई वृद्ध हैं। जिन्हें हम बाबा ही कहा करते हैं।

सम्मुख ये हमारे गुरुदेव हमारे पूज्य आचार्य भगवान् द्रोणाचार्य खड़े हैं। इनका अपने सभी शिष्यों पर समान स्नेह है, किन्तु मेरे साथ तो ये घोर पक्षपात करते थे, मुझे तो ये अश्वत्थामा से भी बढ़कर प्यार करते थे। इन्हीं की कृपा से तो हम धनुर्वेद में पारंगत हुए। इनकी ही अनुकम्पा से तो हम विश्वविजयी वीर विख्यात हुए। इनका मेरे ऊपर कितना वात्सल्य स्नेह रहा है। आज ये भी हमसे लड़ने को तत्पर हैं। इनके साले हमारे कुलगुरु ये कृपाचार्य भी आज वीरवेष बनाये विपक्ष में खड़े हैं। हमसे लड़ने को कमर कसे हैं। यद्यपि ये अश्वत्थामा हमारे सुहृद सखा हैं, फिर भी गुरुपुत्र होने के नाते हमारे गुरु ही हैं, आचार्य हैं। बड़ागुरु भाई आचार्य के ही समान माना जाता है। ये तीनों आचार्य आज हमसे पराङ्मुख हो गये हैं। हाय! विधि की कैसी विडम्बना है, जिन आचार्यों की हमें पूजा करनी चाहिये थी, जो ब्राह्मण सदा से अवध्य बताये जाते रहे हैं, हम उनके ऊपर बाण छोड़ेंगे। उनके शरीर को रक्तरंजित करेंगे।

ये हमारे मामाजी शकुनि खड़े हैं, यद्यपि ये हमारे छोटे भाइयों-नकुल, सहदेव के सगे मामा हैं, किन्तु इन्होंने कभी भी हम पाँचों में भेद भाव नहीं किया। ये समान रूप से हम पाँचों को ही अपने सगे भानजे मानते रहे। हम भी इन्हें पहिले अपना

सगा ही मामा समझते थे। जब वसुदेवजी आये तब पता चला ये हमारी दूसरी माता के भाई हैं। ये जब आते हम दौड़कर माताजी के पास जाते शीघ्रता से कहते—अम्मा! अम्मा! मामाजी आये हैं। फिर दौड़कर इनके पैरों में लिपट जाते। ये बार बार हमारा मुख चूमते, हमें भाँति-भाँति के उपहार देते। विचित्र विचित्र खिलौना लाते। आज ये हमारे मामाजी हमसे युद्ध करने खड़े हैं। ये शकुनी मामा यद्यपि हमसे मन ही मन जलते हैं, फिर भी मामा ही ठहरे। हम इनके सामने बोल नहीं सकते। और भी हमारे कई मामा यहाँ खड़े हैं।

ये दुर्योधन दुष्ट है। सदा से हमारा अहित ही चाहता है। फिर भी है तो हमारा भाई ही। इसके ये १०० भाई सब हमारे भाई बन्धु ही हैं। जब गन्धर्व गण दुर्योधन को बाँध कर ले गये थे। तब धर्मराज ने हमें कितना डाँटा था—अर्जुन! तू समझता नहीं। दुर्योधन हमारा भाई है, उसका अपमान हमारा अपमान है। वैसे हम भाइयों में कैसा भी मतभेद हो, दूसरों के लिये तो हम १०५ सगे भाई हैं। फिर हममें अन्तर ही क्या है इन सौ के और हम पाँचों के बाबा तो एक ही हैं। आज ये हमारे एक रक्त के भाई शत्रु बन गये हैं, हमारे रक्त के प्यासे हो गये हैं।

यह सामने दुर्योधन का पुत्र लक्ष्मण खड़ा है, इसके समीप ही दुःशासन का लड़का खड़ा है ये दोनों महारथी हैं, और भी भाइयों के पुत्र खड़े हैं। ये सब शूरवीर हैं। यह लक्ष्मण जब भी मिलता, तभी पैर छूकर कहता—चाचाजी! प्रणाम।" तब मैं इसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहता—"बेटा! तुम मन लगाकर शस्त्र विद्या में अभ्यास किया करो। तुम नामी वीर बन जाओगे। तब ये संकोच से दोनों कंधे झुकाकर धीरे से कहता—चाचाजी! आपका आशीर्वाद है।" आज यह सब शिष्टाचार भूलकर लड़ने

को उद्यत है। यही नहीं इसके तो लड़के भी बड़े-बड़े हो गये हैं, वे सब भी प्राणों का पण लगाकर युद्ध के लिये उद्यत हैं।

इनमें मेरे सभी सगे सम्बन्धी हैं, सुहृद हैं, मित्र हैं, बालक पन के सखा हैं, जिनके संग बाल्यकाल में खेले हैं, दुर्योधन, दुःशासन विकर्ण आदि की पुत्रियों के पति भी यहाँ आये हैं ये सब तो अपने बन्धु ही हैं। जिनसे प्रेम का बन्धन हो, अनुराग का सम्बन्ध हो वे सभी बन्धु कहलाते हैं। इधर कौरवों की ओर के जो लड़ने वाले ये लोग हैं। अब जिनसे लड़ने को उद्यत हैं, वे भी सब परस्पर में सम्बन्धी ही हैं। क्या धर्मराज भीम नकुल सहदेव और मैं इस दुर्योधन का भाई नहीं? पुरुजित कुन्ती भोज इनके मामा नहीं हैं। अभिमन्यु, घटोत्कच, इन सबको कौरव पुत्रवत ही मानते हैं। महाराज द्रुपद, शैव जैसे हमारे श्वसुर ऐसे ही इनके श्वसुर। जो इनके सम्बन्धी वे हमारे सम्बन्धी और हमारे सम्बन्धी सो इनके सम्बन्धी। दोनों सेना में सब घर ही घर के तो हैं। सब सम्बन्धी ही तो समर-में समुपस्थित हैं। हाय! यह तो बड़ा अनर्थ होना चाहता है। भाई ही भाई को मारने को उद्यत है, सम्बन्धी ही सम्बन्धी के रक्त का पिपासु बना हुआ है। दोनों ओर से कोई भी मरेगा, अपना ही मरेगा, पाँचों उँगलियों में से छोटी बड़ी किसी को भी काटो, पीड़ा समान ही होगी। विजय पराजय की बात छोड़ भी दें तो दोनों ओर से मरने वाले और मारने वाले सब सगे सम्बन्धी आत्मीय जन ही तो होंगे। शरीर के किसी भी अंग को काट दो क्षति तो अपनी ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन दोनों सेनाओं के वीरों के सम्बन्ध में सोचते रहे। अब सोचते सोचते उन्हें जैसे मोह हो जायगा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कोई लागे ससुर पिता भाभी के भाई।
लडिवे आये सबहिँ मोहममता बिसराई॥
धनुष बान कर लिये शत्रुता मन में मानें।
प्रान हरनकूँ ठड़े मानि अरि सर संधानें॥
सब अपने ई सुहृद हैं, भूल बहुत मोतें भईं।
आँखि फारि जब लखे सब, फटीफटी-सी रहि गईं॥

कृपाविष्ट अर्जुन

(१७)

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥*

(श्री भ० गी० १ अ० २८, २९ श्लो०)

छप्पय

ममता उपजी अधिक कृपावश ह्वै कें अरजुन ।
कवच धनुष शर धारि लखे अपने ही बन्धुन ॥
शोक युक्त मुख भयो हिये में भई गिलानी ।
स्वर गद्गद ह्वै गयो कष्टतैं बोल्यो बानी ॥
पार्थ कहै श्रीकृष्णतैं—प्रभो ! निरखि निज जननि इत ।
गति विचित्र मेरी भई, अति ई चंचल भयो चित ॥

---

*संजय कह रहे हैं—"राजन् ! अर्जुन सभी सम्बन्धियों को देख कर अत्यन्त कृपा से युक्त होकर विषण्णवदन हुए यह वचन बोले ।

अर्जुन कहने लगे—"हे श्रीकृष्ण ! अपने इन सब स्वजनों को युद्ध की इच्छा से रणाङ्गण में समुपस्थित देखकर, मेरे संपूर्ण अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, और मेरे शरीर में कँपकँपी तथा रोमांच हो रहा है ।

दया और कृपा में विशेष अन्तर नहीं जैसे प्रेम में और मोह में। क्रियायें दोनों में समान होती हैं, किन्तु भावना के कारण परिणाम में अंतर हो जाता है। बिना भेद भाव से सर्व साधारण पर की जाने वाली सद्वृत्ति को दया कहते हैं। वही दया जब सम्बन्ध मानकर अपने पराये का भेद रखकर की जाती है, तो उसे कृपा कहते हैं।

एक प्रभावशाली व्यक्ति है। वह सबको मिष्टान्न वितरित कर रहा है। सबको चार चार मोदक दे रहा है। लेने वालों में अपने भाई भतीजे सगे सम्बन्धी हैं, उन्हें पाँच पाँच दे दिये। उनके साथ पक्षपात कर दिया मोहवश। बहुत से कोढ़ी बैठे हैं, उन्हें देख कर हमारे हृदय में दया आ गयी। उनका कुछ उपचार करने लगे। उनमें एक हमारा स्वजन है, उसको देखकर हम दुखी हुए उसके लिये विशेष प्रबन्ध तुरन्त कर दिया। यह कार्य हमने कृपावश किया।

युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। अन्यायी को मार देना क्षत्रिय का कर्तव्य है। न जाने स्वर्ग में भूमि पर अर्जुन ने लड़ने की इच्छा से समराङ्गण में आये हुए कितने क्षत्रियों को मारा, उसे कभी दया नहीं आयी। कभी नहीं सोचा, ये लोग मर जायँगे, तो इनके परिवार वालों की क्या दुर्गति होगी? आज जब शत्रुरूप से—अन्याय का पक्ष लेकर अपने सगे सम्बन्धी लड़ने आये हैं, तो उसे दया आ गयी। वह इस विनाश का परिणाम सोचने लगा। यही बन्धुओं के प्रति स्नेहानुबन्ध है। यही मोह ममता है। ममता अपने यथार्थ रूप में आवे तो उसे कोई पास फटकने भी न दे। वह तो दया का वेष बनाकर आती है, परोपकार का बाना पहिनकर आती है। उन्नति की आशा दिलाती हुई आती है तभी आदमी विवश होकर उसके वशीभूत हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में—दोनों सेनाओं के मध्यमें अपने ही समस्त स्वजनों को—सगे, सम्बन्धी, सुहृद, साथी तथा स्नेहियों को एकदूसरे के प्राणलेनेकोउद्यतदेखकर अर्जुन का हृदय अत्यंत करुणा से भर आया, उसे स्वजनों के प्रति मोह ममता जाग उठी। मोह ममता का परिणाम होता है विषाद। आप जहाँ भी कहीं देखलें। विषाद सदा मोह ममता से होता है। विषाद में मुखमलिन पड़ जाता है, इन्द्रियाँ काम नहीं करती, सभी अंग शिथिल हो जाते हैं, आँखों में आँसू आजाते हैं, स्वर गद्गद हो जाता है, अंगों में कँपकँपी छूटती है, सम्पूर्ण शरीर में स्वेद—पसीना—आ जाता है। इस प्रकार स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय ये आठ विकार विषाद में स्पष्ट दिखायी देते हैं। ये तभी दीखते जब अपने किसी अत्यंत प्रिय का विनाश हो गया हो, विछोह हो गया होगा विनाश की संभावना हो। सांसारिक मोह होने के कारण ये विकार कहे जाते हैं। ये ही आठ यदि प्रभु प्रेम के कारण हों, भगवत् भक्ति में हों, श्रीकृष्ण विरह के कारण हों तो इन्हें अष्ट सात्विक भाव कहा जाता है, किसी भाग्यशाली, पूर्वजन्मकृत पुण्यपुञ्जों वाले सुकृति के शरीर में उत्पन्न होते हैं।

ये भाव अर्जुन को अपने सगे सम्बन्धियों की विनाश संभावना के कारण हुए यदि कहीं अन्यत्र होते, तो उसका पतन हो जाता, सौभाग्य से ये हुए तब जब सम्मुख श्यामसुन्दर उपस्थित थे। उसके रथ को जगत्पति हाँक रहे थे। भला जो प्राणिमात्र के सगे सम्बन्धी हैं सम्पूर्ण चराचर के सुहृद हैं, उनके सम्मुख माया मोह रह ही कैसे सकता है। अर्जुन अत्यन्त कृपावश हो गये और फिर अपने सारथी श्यामसुन्दर से कहने लगे।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! मैं अपने इन स्वजनों को देखकर चकित हो रहा हूँ।

भगवान् ने कहा—क्या तुमने पहिले कभी इन सब को नहीं देखा था ?

अर्जुन ने कहा—देखा क्यों नहीं था, किन्तु पहिले मैंने इन सबका सौम्य रूप देखा था। आज तो सब युद्ध क्षेत्र में डटे हुए हैं, और युद्ध की इच्छा से अस्त्र शस्त्र बाँधे, अपने-अपने वाहनों पर बैठे सेनापति की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये किसी और से भी लड़ना नहीं चाहते। हमसे ही युद्ध करने को उत्सुक हैं।

भगवान् ने कहा—जब ये सब लड़ने की इच्छा रखते हैं, तो तुम भी इनसे भिड़ जाओ।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! कैसे भी सही हैं तो ये हमारे स्वजन हो। इनसे हमें लड़ना पड़ेगा, इस बात के स्मरण आते ही मेरे तो सभी अंग शिथिल हो रहे हैं। धनुषबाण उठाने की बात तो पृथक् रही। इन शून्य से हुये हाथों से तृण भी उठाना संभव नहीं। मुख में रूक्षता आगई है, कंठ तथा तालु सूख रहे हैं, ओठ काले पड़ गये हैं, सम्पूर्ण शरीर में कँपकँपी हो रही है। मुझे ऐसा लग रहा है मानों कोई सम्पूर्ण शरीर को झकझोर रहा है, सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो रहा है।

एक सेह नाम का जंगली जीव होता है। उसके शरीर पर बहुत लंबे लंबे कांटे होते हैं। जब वह कुपित होता है तो उसके वे सब कांटे खड़े हो जाते हैं, तथा शत्रु के शरीर पर बाण का काम करते हैं। अनुराग में भी वे खड़े हो जाते हैं। जिस प्रकार सेह के शरीर में कांटे खड़े हो जाने पर उसका शरीर कांटोंमय बन जाता है, उसी प्रकार मोह हो जाने पर मेरे भी रोम खड़े हो गये हैं। संपूर्ण शरीर के रोम शिथिल न होकर वे सीधे खड़े हो गये हैं। मेरी एक विचित्र दशा हो रही है।

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! पागलपन मत करो। हाथों में

कस कर धनुष को पकड़ लो। प्रत्यंचा चढ़ाओ और शत्रु पर तक तक कर बाणों की वर्षा कर दो। आरम्भ में ऐसा होता ही है। धीरे धीरे लड़ने से फिर अभ्यास हो जाता है।"

अर्जुन ने कहा—प्रभो! अब मैं धनुष उठाने की स्थिति में हूँ ही नहीं। हाथ काम ही नहीं दे रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो। जब भगवान् ने अर्जुन की ऐसी स्थिति देखी, तब तो उन्होंने ध्यान पूर्वक अर्जुन को देखा। यथार्थ में अर्जुन ऐसा हो गया है, मानों इसको सर्वाङ्ग वात व्याधि हो गयी हो तब भगवान् ने चिल्लाकर कहा—अर्जुन! अपने गांडीव धनुष को तो सम्हालो।" इस पर अर्जुन ने जो उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

निज सम्बन्धी सगे परस्पर लड़िबे आये।
अंग शिथिल मम भये तेज बल ओज गँवाये॥
मुँह सूख्यो ही जाय कंप सब तनमें होवै।
फाटी जावै देह नेह रन थलहि डुबोवै॥
वासुदेव कैसे कहूँ, निकसत नहिं मुखतैं वचन।
रोमाञ्चित वपु ह्वै गयो, सेद सरिस सब भयो तन॥

—:०:—

शिथिलाङ्ग अर्जुन

[१८]

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥*

(श्री० भ० गी० १ अ० ३०, ३१ श्लोक)

छप्पय

थर थर काँपे देह गिरै गांडीव करनि तैं ।
डगमग डगमग पैर श्वेद निकसत रोमनितैं ॥
जैसे जरै अँगार जरै त्यों मेरो सब तन ।
जाने का ह्वै गयो भ्रमित सो प्रभो भयो मन ॥
स्ववश रहे तन मन नहीं, अंगशिथिल इन्द्रिय अवश ।
ठाढ़ौ अब नहिं रह सकौं, होवै अपयश वा सुयश ॥

जैसा जब होने वाला होता है, वैसे ही उसके चिन्ह प्राकृत

---

*अर्जुन श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—"हे श्यामसुन्दर ! हाथ से गांडीव गिरा जा रहा है, मेरी त्वचा दहक रही है, मै खड़ा रहने में असमर्थ हूँ, मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है । लक्षण भी विपरीत ही दिखायी दे रहे हैं, हे केशव ! स्वजन बन्धु बान्धवों को मारकर मैं तो इसमें कल्याण नहीं देख रहा हूँ ।

जगत में दृष्टि गोचर होते हैं। शुभाशुभ लक्षणों को जानने वाले, उन लक्षणों से ही शकुन या अपशकुन का निर्णय कर लेते हैं। महाभारतादि सभी ग्रंथों में शकुन और अपशकुन का अत्यधिक वर्णन हैं। जो एक के लिये शकुन है, वही दूसरे के लिए अपशकुन हो जाता है। हस्तिनापुर से लौटते समय कर्ण को श्रीकृष्ण थोड़ी दूर तक साथ ले गये थे। वहाँ कर्ण ने श्रीकृष्ण के सम्मुख बहुत से अपशकुनों का वर्णन किया है। यद्यपि उन सब अपशकुनों को कौरवों के लिए अहितकर तथा पांडवों के लिये हितकर सिद्ध किया है, किन्तु यहाँ तो अर्जुन का दृष्टिकोण ही बदल गया है, उसकी दृष्टि में अब स्वपक्ष परपक्ष रहा ही नहीं। अब तो वह मोह वश दुर्योधनादि कौरवों में तथा अपने सभी भाई पांडवों में कोई अन्तर ही नहीं समझता। उन सबको अपना स्वजन ही कहता है। उनके सगे सम्बन्धियों को अपना ही सगा सम्बन्धी समझ रहा है। दृष्टि में ही सृष्टि है, भावना में ही सब कुछ है। कोई वस्तु स्वतः न अच्छी है, न बुरी। कोई व्यक्ति न अपना है, न पराया। मानने की ही बात है, मानों तो देव नहीं तो पत्थर।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने बार बार सम्हल जा धनुषबाण उठा कर युद्ध के लिये तत्पर हो जा ऐसे भाव व्यक्त किये तब अर्जुन ने कहा—प्रभो! मेरे शरीर में तो अब शक्ति ही नहीं रही। मेरे हाथ से तो यह दिव्य गांडीव धनुष गिरा ही जा रहा है।

भगवान् ने कहा—अरे, तू समझता नहीं कभी कभी एक झुन झुन वायु होती है, जब वह पैरों में चढ़ जाती है, तो पैर कुछ कार्य नहीं कर सकते। उसके लिये लोग कहते हैं। मेरा पैर सो गया। कभी कभी वह झुनझुन वायु गंभीरा बनकर हाथों में भी आ जाती है। उस समय हाथों से रोटी का ग्रास नहीं तोड़ा जाता। तेरा धनुष तो दिव्य है, ताल के समान है, सुवर्ण मंडित है, बहुत

भारी है, जब हाथों में गंभीरा वायु आ जाती है, तो लेखनी भी नहीं पकड़ी जाती है, यह बात तो नहीं है। यदि ऐसा है, तो जिधर का अंग सो गया हो उसके विपरीत कान में एक तिनका रख ले। त्वचा को मल ले। हाथ पैरों को झाड़ कर फटफटा दे।

अर्जुन ने कहा—भगवान्! झुनझुन बात नहीं है, मेरे तो सभी अंग शिथिल हो रहे हैं। त्वचा ऐसी जल रही है, मानों अंगारा जल रहा हो। सम्पूर्ण अंगों में जलन हो रही है।

भगवान् ने कहा—अरे, भैया! युद्ध के ही समय तू यह क्या कर रहा है? मन को स्थिर कर, मन में चेतना ला। स्थिर होकर खड़ा रह।

अर्जुन ने कहा—"आप तो प्राणिमात्र को अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं। इसीलिये आप कृष्ण हैं। आप तो खड़े होने की बात कहते हैं, मैं तो क्षण भर के लिये कोई गंभीर विचार करने में भी असमर्थ हूँ। पैरों में शक्ति नहीं कि स्थिर होकर खड़ा रहूँ। हाथ काँप रहे हैं, पैर डगमगा रहे हैं। साथ ही मेरा मन घूमता सा दिखायी देता है। मुझे पता है, यह मस्तिष्क का रोग नहीं। यह तो मेरे मन की दशा युद्ध का परिणाम देखकर हो रही है। मुझे ज्योतिषियों ने बताया था, कि आज कल ग्रह बहुत ही विपरीत हैं, संसार में भीषण उत्पात होने की सूचना दे रहे हैं। मैंने तब से देखा अपशकुन ही अपशकुन दिखायी देने लगे हैं। देखा गया है, जब प्रातः काल सूर्य उदय होता है, तो सियारिन सूर्य की ओर मुख करके रोती है। उल्लू बुरी तरह शब्द करते हैं, दिशायें धूम्र वर्ण की हो गयी हैं, सूर्य और चन्द्रमा की ओर मंडल दिखायी देते हैं, बार बार भूकंप होते हैं पृथिवी पर्वतों के सहित काँपती सी दिखायी देती है, वायु कठोर चलती है, रक्त की वर्षा होती है, आकाश में ग्रह

गण टकरा रहे हैं, नदी, नद समुद्र आदि जलाशयों में क्षोभ हो रहा है, देवमूर्तियाँ रुदन करती हैं, उनके नेत्रों से अश्रुबिन्द निकलते हैं। मांस भोजी कंक, गृद्ध सियार आदि इधर उधर भ्रमण कर रहे हैं, इन सब उत्पातों को देखकर ऐसा लगता है, विश्वका संहार होने वाला है, मुझे ये लक्षण अनुकूल दिखायी नहीं देते। ये सब विपरीत लक्षण हैं। इन सब उत्पातों से यही प्रतीत होता है, कि स्वजनों को प्रजाजनों को क्लेश होने वाला है।

भगवान् ने कहा—भैया, जो होने वाला है वह तो होकर ही रहेगा, तू क्या इन उत्पातों को टाल सकता है?

अर्जुन ने कहा—भगवान्! मैं तो टाल नहीं सकता, किन्तु आप तो क्लेशों का नाश करने वाले हो इसीलिये केशव कहलाते हो, व्रज में केशी नामक एक दैत्य आया था, वह भी बड़ा उत्पात करता था, आपने उस केशी राक्षस को भी मार दिया। आप इस अनिष्ट रूपी असुर का भी विनाश कर दें।'

भगवान् ने कहा—इन अघासुर बकासुर, केशी आदि असुरों का वध तो मैंने करा दिया, अब ये राजाओं के रूप में असुर तेरे सम्मुख खड़े हैं, इनका तो तू नाश कर ही दे। पीछे देखा जायगा। ये आततायी युद्ध के लिये कौरव सम्मुख खड़े हैं, इन्हें मार कर तो पृथिवी का कंटक दूर कर दे। इन्हें मार कर तो विश्व का कल्याण कर दे।'

अर्जुन ने कहा—हे केशव! मैं यह मानता हूँ। धृतराष्ट्र के ये दुष्ट पुत्र दुर्बुद्धि हैं, इनके विचार अधर्म जन्य हैं। फिर भी हे श्यामसुन्दर! कैसे भी क्यों न हो, हैं तो हमारे स्वजन ही। एक ही कुल गोत्र वंश के हैं। हमारे पिता और इनके पिता सगे भाई भाई ही तो थे। अभी दश पांच पीढ़ियों का भी अंतर नहीं, केवल

एक पीढ़ी का अन्तर है। अपने ही स्वजनों को, भाई बन्धुओं को मार कर हमें क्या मिलेगा? भाइयों को मार कर विश्व का कल्याण कैसे होगा। अतः मेरी दृष्टि में तो वंशवालों का वध करना श्रेयस्कर नहीं है। इस काम को तो पशु भी नहीं करते। जब सिंह जंगली गौओं पर प्रहार करता है, तो गौएँ अपने वंश के सब बच्चों को बीच में कर लेती हैं और मंडलाकार खड़ी हो जाती हैं, अपने सींगों के प्रहार से कुल के संहार को रोकती हैं। हम उन पशुओं से भी निकृष्ट सिद्ध हो रहे हैं, कि अपने कुल का संहार स्वयं ही करने के लिये उद्यत हो रहे हैं। अपने ही भाइयों और सगे सम्बन्धियों का वध करके संसार में आज तक कोई सुखी नहीं देखा गया। कैसे भी हों, अपने अपने ही होते हैं, पराये पराये ही होते हैं। जो अपने स्वजनों को सुख नहीं पहुँचाता उसका जीवन धिक्कार है। कौए की भाँति अपना ही पेट पालकर सौ वर्ष तक जीता रहे तो उसका जीना कोई जीना थोड़े ही है।

श्रीकृष्ण ने कहा—अरे, तू कैसी विपरीत बातें करता है। कुछ ही काल पूर्व तो तू ऐसी बढ़ बढ़ कर बातें कर रहा था। ऐसे ऐसे मनसूबे बाँध रहा था। इस सेनापति को यहाँ नियुक्त करो, इसे वहाँ नियुक्त करो। ऐसा न करोगे तो हमारी विजय कैसे होगी। हमें अपनी विजय के लिए ऐसी व्यूह रचना करनी चाहिये जिससे शत्रु उसका भेदन न कर सकें, हमारा व्यूह अभेद्य हो, और अब तू ऐसी बातें कर रहा है, कि स्वजनों के वध से मैं कल्याण नहीं देखता। ऐसी निराशा की बातें तू किस कारण कर रहा है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसके उत्तर में अर्जुन जो कुछ कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

गर्वतें निरुचय भयो समर को तब तें स्वामी।
लच्छन सब विपरीत दिखें प्रभु अन्तरजामी॥
बरसा होवै रुधिर देखि गवि रोवें ब्रिजारिन।
रवि मंडल चहुँ ओर कालिमा है ये असगुन॥
दीसतु है इन सबनि तें, नाश होदि कुल को अबहिं।
मारि स्वजन समुदाय कूँ, होवेगो कल्यान नहिं॥

मुझे विजय नहीं चाहिये

[१६]

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥*

(श्री भ० गी० १ अ० ३२ ३३, श्लो०)

छप्पय

मनुज मनस्वी स्वजननि हित ही भोग जुटावैं ।
ते ही यदि मरि जायँ, फेरि का, सुख वे पावैं ॥
राज पाहि के सबहिँ बन्धु कुल के हरषावैं ।
संग सबनि सुख भोग करें सब स्वजन सिहावैं ॥
जामें जन कुलके मरें, राज कहा वह-पाप है ।
भोग और जीवन वृथा, गोविंद यह-संताप है ॥

जीवन में जब राग होता है, तब यह भी ला, वह भी ला,

---

*अर्जुन कह रहे हैं—"हे कृष्ण ! मैं विजय नहीं चाहता, राज्य तथा सुख भी नहीं चाहता । हे गोविन्द ! ऐसे राज्य से हमें क्या प्रयोजन है, ऐसे भोगों से क्या, अथवा ऐसे सुख में भी क्या रखा है । जिनके लिये हम राज्य, भोग तथा सुखादि चाहते हैं । वे हमारे सभी स्वजन तो धनों का तथा प्राणों का मोह त्यागकर यहाँ युद्ध के निमित्त खड़े हैं ।

यह भी मेरा बन जाय, वह भी मेरा हो जाय, ऐसे भाव उठा करते हैं। किसी भी प्रकार से क्षणिक अथवा स्थायी वैराग्य हो जाय, धन नष्ट हो जाने से, अपने अत्यंत प्रियके मरने से या मृत्यु की संभावना से अथवा अन्य किसी कारण से संसारी भोगों से मन उपराम हो जाय, तो ये समस्त संसारिक सुख इन्द्रियों को सुख देने वाले भोग तुच्छ दिखायी देते हैं। कल तक जिन भोगों के लिये अत्यन्त आग्रह था, जिनकी प्राप्ति के लिये सब कुछ करने को उद्यत थे, वैराग्य होने पर ये नगण्य से दिखायी देते हैं। उस समय हमें अपने पूर्व के विचारों पर पश्चात्ताप होता है। अरे, हम कैसे बहक गये थे। एक इतनी सी साधारण वस्तु के लिये हम ऐसा भारी अनर्थ करने की बात सोच रहे थे। उस समय अपनी ये बातें शत प्रतिशत सत्य प्रतीत होती हैं। अपने इन उत्तम विचारों का गर्व होता है। उसके पक्ष में हमें सैकड़ों उक्तियाँ याद आने लगती हैं। क्योंकि वैराग्य के बिना त्याग टिक नहीं सकता और अमृतत्व की प्राप्ति में एक मात्र त्याग ही मुख्य कारण है। यदि वैराग्य स्थायी होता है, तो मनुष्य संसार बन्धन से छूट जाता है। यदि वैराग्य क्षणिक है, मोह जनित है किसी कारण विशेष से है तो उसके समाधान हो जाने पर समाप्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन के पूर्व कृत विजय के प्रयत्नों का स्मरण दिलाकर उसे यह भय दिखाना चाहा, कि यदि तू स्वजनों के वध से विरक्त हो जायगा, तब तो तेरी पराजय निश्चित ही है। शत्रुओं को तो मुंह माँगी वस्तु—बिना प्रयत्न के ही मिल जायगी वे बिना युद्ध किये ही विजयी हो जाँयगे। राज्य के सुखों का पूर्ववत उपयोग करते रहेंगे। तू बिना युद्ध के ही पराजित माना जायगा। राज्य के सुखों से सदा सर्वदा के लिये वञ्चित कर दिया जायगा।

इस पर अर्जुन कह रहे हैं—हे कृष्ण! तुम तो समस्त प्राणियों को अपनी ओर खींचने वाले हो, फिर आप मुझसे ऐसी आशा क्यों रखते हैं, कि मैं व्यर्थ की विजय के लिये हिंसा जैसे तुच्छ अधम निन्दनीय तथा लोक गर्हित कार्य में प्रवृत्त होऊँ। मुझे इन शत्रु रूप धारी स्वजनोंको मारकर विजय नहीं चाहिये, नहीं चाहिये। ऐसी विजय को मैं दूर से ही नमस्कार करता हूँ।'

भगवान् ने कहा—देखो, तुम पहिले की भाँति इन्द्रप्रस्थ के राजा होते और दूसरों का राज्य लेने के लिये अन्य राजाओं को पराजित करने को युद्ध करते और किसी कारण से उस युद्ध से पराङ्मुख होकर विजय की आशा छोड़ देते, तब तो ठीक भी माना जाता, क्योंकि शत्रु पक्षीय राजा अपने राज्य पर बना रहता तुम अपने राज्य पर लौट आते। तुम अपने घर वह अपने घर। तुम अपनी राजधानी के राजा बने रहते. वह अपनी राजधानी में अपने पिता पितामह के राज्य को सम्हालता रहता किन्तु आज तो ठीक इसके विपरीत है। आज तुम्हारी विजय हो जाय तब तो तुम्हें अपना पैतृक राज्य मिल जाय, यदि तुम युद्ध से पराङ्मुख हो गये, तब विजय तो गयी ही राज्य भी न मिलेगा। विजय श्री भी उन्हें वरण कर लेगी और सम्पूर्ण राज्य पर भी सदा के लिये उनका अधिकार हो जायगा।"

इसपर अर्जुन ने कहा—महाराज! मुझे राज्य भी नहीं चाहिये।

भगवान् ने कहा—अरे,तुम कैसी बातें कह रहे हो, पागल हो गये हो क्या? क्षत्रिय भला, कभी राज्य के बिना रह सकता है। राज्य नहीं तो राजसी ठाठ कहाँ से आवेंगे, राजसी भोग भोगने को कैसे मिलेंगे?

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! आप तो गोविन्द कहाते हैं। क्या आपने गौओं का पालन दूध की इच्छा से किया था, यदि दूध की इच्छा से करते तो आप वहाँ से चले क्यों आते ? आप तो इन्द्रियों के स्वामी हैं। इन्द्रियाँ सब आपके अधीन हैं। इन्द्रियों पर आपने विजय प्राप्त करली है। यथार्थ विजय तो इन्द्रियों को जीतने में ही है। यह लौकिक विजय तो उपचार मात्र है। आप ही सोचें इस लौकिक राजपाट में रखा ही क्या है। राज्य को तो एक दिन छोड़ना ही है, हमारे सभी पूर्वज अपने इतने भारी भारी राज्यों को छोड़ छोड़कर अंत में वन ही चले गये। जब छोड़ना ही उसका एक मात्र प्रयोजन है, तब पहिले कीच लगाकर फिर उसे धोने से लाभ ही क्या ? कीच को लगने ही न दे। रही राजसी भोगों की बात सो आप मेरे स्वभाव को जानते ही है, मुझे संसारी भोगों में कोई विशेष रुचि भी नहीं। और श्यामसुन्दर ! इन भोगों में रखा ही क्या है। ये संसारी भोग क्षणिक सुख देने वाले है, सुख भी नहीं तत्काल सुखभास सा प्रतीत होता है, परिणाम में तो ये दुखप्रद ही हैं।"

भगवान् ने कहा—अरे, भैया ! यह तो सब सत्य है, किन्तु शरीर को उसका आहार न मिलेगा, तो जीवन निर्वाह कैसे होगा ?

अर्जुन ने कहा—महाराज वनों में ये इतने ऋषि मुनि निवास करते हैं। इन सबके पास राज्य ही है क्या ? हम जो राज्यपाट के बिना इतने दिनों तक वनों में भटकते रहे, क्या भूखों मर गये ? राज्य के बिना भी हम जीवित बने रहे। धर्मराज के त्याग की सर्वत्रख्याति थी बड़े बड़े राजे महाराजे उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते थे। राज्य के बिना भी वनके कंदमूल फलों

पर निर्वाह करके हम जीवित बने रहे। मान लो हम राज पाट के बिना भोगों से वंचित होकर मर ही गये तो क्या हुआ? मरना तो एक दिन सभी को है, ऐसे जीवन से भी क्या लाभ कि जिसके लिये लाखों करोड़ों का जीवन नष्ट करना पड़े। स्वजनों की हत्या करनी पड़े। अपने ही सगे सम्बन्धियों को हाथ में शस्त्र लेकर उनका वध करना पड़े।

भगवान् ने कहा—जब ऐसी ही बात थी, तो वन से लौटकर तुमने राज्य के लिये उद्योग ही क्यों किया?

इसपर अर्जुन ने कहा—देखिये, प्रभो! राज्य अधिकार धन वैभव की दो प्रकार से चाहना होती है। एक तो राज्य पाकर हम सुखी हो जायँ, हमारा शरीर हृष्ट पुष्ट निरोग बन जायँ, हमें ही सब प्रकार के सुख प्राप्त हो। यह भावना तो अधम लोगों में होती है। दूसरे इस भावना से राज्य, धन वैभव को चाहते हैं, कि हमें ये सब मिल जायँ तो हमारे बन्धु बान्धव सब सुखी हो जायँगे। हम सब साथ साथ मिलकर राज्य सुख भोगेंगे। हमारे बन्धु बान्धव अच्छे अच्छे बड़े बड़े पदों पर पहुँच जायँगे। सब ज्ञाति बन्धु मिलकर सामाजिक धार्मिक साहित्यिक कार्य किया करेंगे। नाटक, लीला आदि मनोरंजन के आयोजन होंगे, तो अपने सगे सम्बन्धियों, स्वजनों से घिर कर उनका आनन्द लेंगे। क्योंकि जिसके धन वैभव से सगे सम्बन्धियों, इष्ट, मित्र स्वजनों को सुख न हो वह सब व्यर्थ है। मैंने राज्य का प्रयत्न अपने लिये नहीं किया था। सोचा था सब लोग सुख पूर्वक साथ साथ रहेंगे। देखिये, जब हम इन्द्रप्रस्थ में राजा थे, तब हमने राजसूय यज्ञ किया था, हमारे सभी सगे सम्बन्धी उसमें उपस्थित थे। ये हमारे ताऊजी के सौ के सौ पुत्र वहाँ उपस्थित थे। वे सब राज पुत्रों की भाँति सुखोपभोग करते थे। सभी कहते थे, हमारे यज्ञ में कोई कमी नहीं है। जो चाहो सो ले जाओ,

जितना चाहो खा जाओ बाँधले जाओ। सभी समान रूप से वैभव को अपना ही मानते थे। यथार्थ राजा का सम्मान तो वहाँ दुर्योधन को ही प्राप्त हुआ। सब भूपतिगण तो उसे ही लाँ ला कर भेंट अर्पण करते थे उसी के चरणों में सिर झुकाते थे। झुकाना ही चाहिये था। हम सब भाइयों में धर्मराज के पश्चात् वे ही ज्येष्ठ श्रेष्ठ हैं। सम्मिलित परिवार में सभी का समान अधिकार होता है। चाहे कोई काम करे या न करे। सम्मिलित परिवार ही ठहरा। दुःशासन आगत राजाओं की कैसी दौड़दौड़ कर सेवा करता था। अपने घर का ही काम समझता था। सम्मिलित परिवार का सुख इसी में है, जो भी कुछ आवे वह कुटुम्ब परिवार की सम्पत्ति समझी जाय और सभी समान रूप से सुखोप भोग करें। सभी लोग यही मनाते रहते हैं,कोई हमारे परिवार का उच्चपद पर पहुँच जाय तो उसके सहारे हम भी सुखों का उपभोग करें। उच्चपद प्राप्त करने वाले की भी यही अभिलाषा होती है, कि सब परिवार वालों को बाँटकर खायें। मैंने तो स्वजनों को सुखी करने की भावना से राज्य की इच्छा की थी।

भगवान् ने कहा—तो स्वजन तो अब भी हैं। राज्य प्राप्त होने से धर्मराज, भीम, नकुल और सहदेव सभी सुखी होंगे।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! आप तो महान् हैं, संकुचित सीमा क्यों बनाते हैं, जैसे ही हमारे लिये धर्मराज वैसे ही दुर्योधन जैसे हमारे लिये नकुल सहदेव वैसे ही दुःशासन, विकर्ण, आदि सभी भाई, सभी भाइयों को कुटुम्ब परिवार, सगे सम्बन्धियों को सुख देना चाहिये।

भगवान् ने कहा—मना कौन करता है, राज्य प्राप्त होने पर सब को सुख देना।

अर्जुन ने कहा—सुख देंगे कैसे? ये सब तो धन की प्राणों

की तथा समस्त विषयों की आशा त्यागकर, अस्त्र शस्त्र बाँध कर, वाहनों पर चढ़ चढ़कर रणक्षेत्र में मरने मारने को उद्यत हैं। अब तो एक पक्ष सुखी तभी होगा, जब दूसरे पक्ष को नाश कर दें। अब तो सुख रक्त पान के समान है। जो पक्ष जिसे मार डालेगा, वही उस रक्तरंजित राज्य के सुखों का उपभोग करेगा। सब सम्बन्धियों को समान रूप से सुख तो नहीं मिला ?"

भगवान् ने कहा—अरे, भैया ! आजीविका के लिये कुछ न कुछ हिंसा तो करनी ही पड़ती है अब देखो, किसान खेतीकरता है, हल चलाने में कितने जीव मर जाते हैं, कुम्हार बर्तनों को आग में पकाता है कितने जीव जल जाते हैं। रेशम बनाने वालों को कितने कीड़ों का वध करना पड़ता है। मनुष्य को आजीविका के लिये इच्छा न होने पर भी हिंसा करनी पड़ती है। क्षत्रिय का धर्म ही है लड़ाई करना।

अर्जुन ने कहा—मधुसूदन ! यह तो सत्य है, कि आजीविका के लिये आवश्यक हिंसा इच्छा न होने पर करनी ही पड़ती है। फिर भी भगवन् ! कुछ सगे सम्बन्धी ऐसे होते हैं, जो अपवाद गिने जाते हैं। सर्प सर्वत्र टेढ़ा चलता है, किन्तु अपनी बामी में सीधा ही घुसता है। कैसा भी व्यभिचारी हो माता बहिनों को वह भी छोड़ देता है। यद्यपि क्षत्रिय का धर्म है युद्ध में सम्मुख आये शत्रु को मारना। फिर भी स्वामिन् ! इसमें कुछ अपवाद है, इतने सम्बन्धी ऐसे हैं, कि जिनका अपराधी होने पर भी यथाशक्ति-यथा सामर्थ्य वध नहीं किया जाता चाहें इससे अपने को हानि ही क्यों न उठानी पड़े।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अवद्ध्य सम्बन्धियों के जो नाम अर्जुन ने गिनाये हैं, उनका वर्णन मैं आगे करूँ।

छप्पय

अपने लीये नहीं राजधन वैभव केशव।
इन्द्रिनिके जो भोग अकेले नहिँ सुखकर सब॥
जितने सुख के साज स्वजन सँग सुख पहुँचावें।
बन्धुनि सँग मिलि खाइ वेदविद विज्ञ बतावें॥
जिनके हित सब कछु करें, तेई रन में आइकें।
वे सम्मुख धन प्रान की, ठाड़े आश गँवाइकें॥

इनको नहीं मारूँगा

[२०]

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥*
(श्रीम० गी० १ अ० ३४, ३५ श्लोक)

छप्पय

ये आचारज द्रोन चचा ताऊ गुरु भ्राता ।
पुत्र भतीजे सकल पितामह रक्षक त्राता ॥
ये मातनि के बन्धु हमारे मामा प्यारे ।
पुत्रनि के हू पुत्र मातुपितु अतिहिँ दुलारे ॥
पत्निनि के जो बन्धु हैं, सारे अति प्यारे बड़े ।
वैर भाव हिय धारिकैं, मारन हित सम्मुख खड़े ॥

जो सौहार्द्र है, मित्रता तथा सख्य सम्बन्ध तो कहीं भी किसी भी वर्ग में पूर्व जन्मों के संस्कारानुसार हो जाता है। इसके लिये जाति, धर्म, विद्या तथा समानता आदि की आवश्यकता नहीं

---

*अर्जुन श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—हे मधुसूदन ! आचार्यगण, पिता चाचा आदि, पुत्र भतीजे आदि, पितामह लोग, मामाओं को, श्वसुर, पौत्र, साले तथा अन्य भी जो सम्बन्धी हैं, इन्हें मैं मारना नहीं चाहता, भले ही ये मुझे मार डाले। मैं इन सबका वध, तीनों लोकों का राज्य मिले तो भी करना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या है।

होती। किन्तु यौन सम्बन्ध तो प्रायः अपनी जाति में ही होता है। जिनसे रक्त का सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध तीन के ही द्वारा होता है माता के सम्बन्ध से, पिता के सम्बन्ध से तथा पत्नी के संबन्ध से। माता के जो भी सम्बन्धी हैं वे हमारे अपने सम्बन्धी हैं, फिर चाहें उनको हमने कभी भी देखा तक न हो। अपने पिता के जो सम्बन्धी हैं, फिर चाहें वे हम से प्रेम रखते हों या न रखते हों हमारे सगे सम्बन्धी हैं, कोई विपक्षी उनके विरुद्ध आक्रमण करे तो हमें इच्छा न रहने पर भी लोकाचार के कारण उनका पक्ष लेना पड़ेगा। पत्नी के जितने सम्बन्धी हैं, वे भी हमारे सम्बन्धी हैं। हमारे पुत्र पौत्र तो पितृकुल में ही आ गये। एक ज्ञान का भी सम्बन्ध होता है, जिन्होंने हमें पढ़ाया हो, मंत्र दीक्षा दी हो, ये भी हमारे परिवार में ही सम्मिलित हो जाते हैं। इतने लोगों को अपने सगे सम्बन्धियों को भरसक कभी दंड न देना चाहिये। ये सब हमारे द्वारा संरक्षित समझे जाते हैं। जब कोई हमारी वस्तु को नहीं देता, तो हम क्रोध करके कहते हैं—हम उन पर अपनी वस्तु क्यों छोड़ दें, वे हमारे सगे सम्बन्धी हैं क्या? वे हमारे कुछ लगते तो हैं नहीं, अर्थात् जो सम्बन्ध में हमारे कुछ लगते हों, सगे हों उसके सभी अपराध क्षमा किये जा सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् द्वारा यह जिज्ञासा की गयी, कि ऐसे कौन कौन से सम्बन्धी हैं जो अपराध करने पर भी अवध्य हैं। इस पर अर्जुन कह रहे हैं देखिये मधुसूदन! मैं आप की बात नहीं कहता। आप तो विधि निषेध से परे हैं। आप को तो वैदिक मार्ग की रक्षा करनी है। आप मधुराक्षस को भी मार सकते हैं और अपने सगे मामा का, फूफी के लड़के का, तथा आवश्यकता होने पर अपने सगे सम्बन्धियों का भी वध कर सकते हैं। आप की बात तो छोड़ दीजिये। सामान्य

तथा जिन्होंने हमें विद्या पढ़ायी हो, मंत्र दीक्षा दी हो, जो हमारे वंश परम्परागत पुरोहित हों, ये सब आचार्य कहलाते हैं। इन का कभी भी वध न करना चाहिये। इनका जो वध करता है, वह क्लेश पाता है। आप जानते ही हैं स्वर्गपति देवेन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाया था। उनकी माता देवशत्रु असुरों के कुल की थी, उनके सिर भी तीन थे। एक से वे सोमपान करते, दूसरे से अन्नादि खाते और तीसरे से सुरा का भी पान करते। उच्चस्वर से तो देवताओं को भाग देते और गुप्त रूप में असुरों से भी मिले रहते, उन्हें भी भाग दे देते। इन्द्र ने सोचा—यह आचार्य हमारा पुरोहित न होकर शत्रु का काम करता है। ऐसे तो यह हमारे राज्य, धन ऐश्वर्य सभी को शत्रुओं को दिला देगा। अतः उन्होंने क्रोध में भर कर उसके तीनों सिर काटडाले। इस पर इन्द्र की कैसी कैसी दुर्गति हुई। उनके सिर पर ब्रह्महत्या लगी, जैसे तैसे बड़े बड़े वरदानों द्वारा उसे चार स्थानों में बाँटा, वृत्रासुर से घोर युद्ध करना पड़ा। जब तीनों लोकों के राजा स्वर्गपति देवेन्द्र की आचार्य के मारने पर इतनी दुर्गति हुई तब हम लोग तो वस्तु ही क्या हैं, अतः मैं अपने द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा आदि को नहीं मारूँगा। यद्यपि ये मारने योग्य हैं—अधर्म का पक्ष ले रहे हैं, फिर भी इनका वध उचित नहीं।

धृतराष्ट्र हमारे ताऊ हैं, सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा भी हमारे चाचा हैं और भी पितृतुल हमारे कुल के पितृव्य हैं, इनका वध करना भी न्याय संगत नहीं।

दुर्योधनादि सौ भाइयों के लड़के हमारे अपने ही लड़के हैं, उनके लड़के पौत्र हैं। केवल दो पीढ़ी का ही तो अंतर है। सात पीढ़ी तक तो लोग सूतक पातक मानते हैं इन अपने ही पुत्रों का मैं वध करूँगा तो पुत्रघाती कहलाऊँगा। पितामह तो पिता के

भी पिता हैं, इनका तो पिता से भी बढ़कर आदर करना चाहिये। यही नहीं पिता के जो मित्र हों उनको भी पितृव्य मानना चाहिये। श्रीराम ने जटायु गृद्ध को दशरथ के मित्र होने के कारण चाचा मानकर उसकी मनुष्यों की भाँति क्रिया की, श्राद्धतर्पण किया। सो ये सब भीष्म पितामह सोमदत्त आदि तो हमारे पितामह के सगे बन्धु हैं। इन्हें मारना तो पितृवध से भी अधिक पाप कर है।

इन पांडवों की पत्नियों के पिता भाई हमारे श्वसुर साले लगते हैं, साले के सौ अपराध नहीं माने जाते वह चाहे जितनी भी गालियाँ दे ले साला तो फिर साला ही है। श्वसुर पिता के तुल्य माना जाता है। अन्न देने वाला, भय से छुड़ाने वाला, विद्या देने वाला, संस्कारादि कराने वाला, जन्म देने वाला अपना पिता और श्वसुर इन ६ की पिता संज्ञा है। सो श्वसुरों और सालों को भी कभी नहीं मारना चाहिये।

मातृ पक्ष में अपने जैसे नाना हैं, मामा हैं, मामा के लड़के हैं, ये सब सगे सम्बन्धी हैं। आप हमारे मामाजी के पुत्र ही तो हैं, कैसा सम्बन्ध निभा रहे हैं अतः प्रभो! सगे सम्बन्धियों के वध से मुझे बचाइये। इन्हें मैं मारना नहीं चाहता।

भगवान ने कहा—अरे, भैया! तू तो मारना नहीं चाहेगा, किन्तु ये तुझे कब छोड़ने वाले हैं। तू न भी लड़ेगा तो भी ये सब तुझे घेर कर मार डालेंगे।"

अर्जुन ने कहा—ये मुझे भले ही मार डालें। किन्तु मैं इन्हें नहीं मारूँगा। ये भले ही मर्यादा का पालन न करें, किन्तु मैं तो मर्यादा के बाहर न जाऊँगा। कुल परम्परा का सनातन धर्म का पालन करूँगा।

भगवान ने कहा—भूमि की प्राप्ति के लिये क्षत्रिय धर्म का पालन करने के निमित्त शत्रुतावश शस्त्र लेकर सम्मुख आये हुए

का वध करना पाप नहीं। बिना ऐसे शत्रु को मारे क्षत्रिय धर्म का पालन न होगा, भूमि की प्राप्ति न होगी।

अर्जुन ने कहा—न हो न सही, तनिक सी भूमि के लिए सम्बन्धियों की हत्या! छी! कैसा घृणित कार्य है। आप तो पृथ्वी प्राप्त होने की बात कह रहे हैं। मैं तो कहता हूँ, मुझे पाताल, भूमि तथा स्वर्ग का भी राज्य मिले तो भी मैं ऐसा पाप न करूँगा। स्वर्ग मैं गया हूँ, वहाँ का ऐश्वर्य वैभव सुख मैंने देखा है, वहाँ की अप्सराओं का सौंदर्य आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देता है, इतना सब होने पर भी यदि अपने सगे सम्बन्धियों को मारने पर वह स्वर्ग मिलता हो, तो मैं उसे दूर से ही दंडवत करता हूँ। उसे मैं रक्त से सने भोग के समान मानता हूँ। मुझे ऐसा सुख नहीं चाहिये, नहीं चाहिये। बन्धुवध करके इन्द्र पद पर मैं लात मारता हूँ।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! आवेश में आकर जब अर्जुन ने तीनों लोकों के राज्य पर भी लात मारने की बात कही, तब भगवान् ने कुछ भी नहीं कहा। वे अर्जुन की ओर देखकर तनिक मुस्करा भर दिये। भगवान् की रहस्य भरी मुस्कान से अर्जुन का आवेश ठंडा पड़ गया। वह गंभीर हो गया। फिर गंभीरता पूर्वक शनैः शनैः शास्त्र दृष्टि से अपने पक्ष की पुष्टि करते हुए जैसे उसने कहा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

तीनि लोक को राज भले ही चाहे पाऊँ।
परि हौं इनिकूँ नहीं मारनो माधव चाहूँ॥
हे मधुसूदन! मोइ सकल मिलि चाहैं मारें।
चाहें अस्त्र अमोघ चलावें हमें सँहारें॥
भूमि, स्वरग, पाताल को, राजमिलै वधि निज स्वजन।
तोऊ शव के सरिस प्रभु, भू हित च्यौं फिरि करूँ रन॥

सम्बन्धियों को मारकर माधव ! मिलेगा क्या !

[२१]

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिःस्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥*

(श्रीभ गी० १ अ० ३६, ३७ श्लो०)

छप्पय

अंधपिता धृतराष्ट्र पुत्रशत इनके अघमति ।
इनकूँ बधिकें कहो प्रीति का होगी जगपति ॥
पाप लगेगो हमें जनार्दन स्वजन मारिकें ।
अपयश होवै भलें विरत रन भयो हारिकें ॥
खड्गी, विषदाता अगिनि, हर्ता दारा, क्षेत्र, धन ।
आततायि है योग्य बध, तऊ न मारूँ सब स्वजन ॥

वाद विवाद का कारण यह होता है, कि मनुष्य एक ही बात पर विशेष बल देने लगता है; उसी को मुख्य मान बैठता है, शेष सभी को गौड़ कहकर टाल देता है। कर्मकांडी कर्म पर ही विशेष

---

*अर्जुन कह रहे हैं—हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी। इन आततायियों को मारकर हमें केवल पाप ही पाप मिलेगा, इसलिये इन अपने ही भाई कौरवों को मारना उचित नहीं हे माधव ! अपने ही स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे।

बल देते हैं, किन्तु वेद में कर्म, उपासना, और ज्ञान तीनो का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ हैं। अन्तर केवल है मुख्य तथा गौड़ का। कर्म कांडी कहते हैं, वेद का मुख्य तात्पर्य है कर्म के प्रतिपादन करने में। कहीं कहीं जो थोड़ी बहुत ज्ञान की प्रशंसा है, वह केवल स्तुति मात्र है, ब्रह्म माने वैश्वानर उसकी प्रशंसा मात्र है। इनके विपरीत जो ज्ञानपर ही बल देते हैं,उनकाकहना हैज्ञान के बिना तो मुक्ति हो नहीं सकती। और वेद का मुख्य प्रतिपादन विषय है मुक्ति। कर्म से कभी मुक्ति हो नहीं सकती। यह तो अदृढ़ नौका है, कहीं कहीं कर्म की जो प्रशंसा है, वह बच्चों के बहलाने के लिये। जो कर्म संगी हैं, अज्ञानी हैं उनमें बुद्धि भेद न हो जाय। इसके लिये कर्म की प्रशंसा कर दी है, कि अकर्मण्य बनकर आलसी न हो जायँ। केवल एक ही विषय पर बल देने से मत भेद हो जाता है। पक्ष और विपक्ष दो बन जाते हैं। अर्जुन का पहिले तो बल था क्षत्रिय धर्म पर शत्रुओं से बदला लेने पर इसीलिये आठो प्रहर युद्ध के लिये उतावला हुआ डोलता था। आज उसका मुख्य बल है "स्वजन वध" पर 'स्वजनों को कैसे मारें' यही उसकी बारं बार टेक है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन सभी सम्बन्धियों के नाम गिनाकर और अत्यंत आवेश मे आकर यह कह गये, कि मैं त्रिलोकी के राज्य के लिये भी अपने स्वजनों को नहीं मारूँगा, नहीं मारूँगा। तो इतना सुनकर माधव मुस्करा दिये। भगवान् जब अपने भक्तों के तापत्रय का नाशकरना चाहते हैं,तब वे अपने उस शरणागत नृपुरुष की ओर अपनी मंद मंद मुसकान को छोड़ दिया करते हैं। जब भगवान् मुस्करा दिये, तो अर्जुन का आवेश ठंडा पड़ा गया, वह बड़ी ही दीनता से सहज स्वभाव वाणी मे बोले—अच्छा, जनार्दन ! मैं आप से ही पूछता हूँ कि इन अपने सगे ताऊ के लड़कों को मार कर हमें मिल ही क्या जायगा ?

भगवान् ने कहा—मेरे मित्र ! सब काम मिल ने को ही थोड़े किये जाते हैं। संगीतों में, नाटकों में खेल तमासों में लोग जाते हैं, धन गँवाते हैं समय लगाते हैं, वहाँ मिलता क्या है ? केवल मनोविनोद के लिये प्रसन्नता के लिये भी बहुत से कार्य किये जाते हैं।

अर्जुन बोले—"हाँ, महाराज ! बहुत से कार्य प्रसन्नता के लिये किये जाते हैं, बहुत से लोग भैंसा, बकरा, कुक्कुट तथा मल्लों को लड़ाते हैं, सैकड़ों दर्शक देखने आते हैं, उनमें से बहुत से क्षत विक्षत हो जाते हैं, कभी-कभी मर भी जाते हैं। दर्शक प्रसन्न भी हो जाते हैं, किन्तु इन अपने ही स्वजनों को, सगे नाऊके लड़कों को कुल परिवार के बन्धु बान्धवों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? प्रसन्नता की बात तो दूर रही, हमें दुःख ही होगा, बन्धुबध का पाप पृथक् लगेगा। इनके मारने में केवल पाप ही पाप हाथ लगेगा।

भगवान् ने कहा—बार-बार स्वजन स्वजन की रट लगा रहे हो। यदि अपना ही कोई अंग गल जाय और उससे दूसरे अंगों को क्षति पहुँचने की सभावना हो, तो बुद्धिमान पुरुष उस अपने ही शरीर के सड़े अंग को काट नहीं देते ? यद्यपि ये स्वजन हैं, किन्तु हैं तो आततायी। आततायी को अपना अनिष्ट करने के लिये आता देखे तो उसे बिना विचारे तुरन्त मार डालना चाहिये। यह न सोचे कि यह स्वजन है या विजन। आततायी कोई भी क्यों न हो शास्त्रकारों ने उसे वध योग्य ही बताया है। उसे मार डालने पर तनिक भी पाप नहीं लगता। यही नहीं, आततायी को मारना पुण्यप्रद कार्य है।

अर्जुन ने पूछा—आततायी कौन कहलाते हैं ?

भगवान् ने कहा—आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर वध करने को उद्यत, अपने धन का अपहरण करने

वाला. अपनी भूमि पर खेतों पर बलात् अधिकार कर लेने वाला तथा पत्नी का अपहरण करने वाला ये ६ आततायी कहलाते हैं।

अर्जुन ने कहा—तो आप धृतराष्ट्र के पुत्रों को आततायी क्यों बता रहे हैं ?

भगवान ने कहा—देखो, इन ६ में से एक काम भी करने वाले की आततायी संज्ञा है, इन दुर्योधनादि दुष्टों ने एक नहीं ये ६ के छैऊ पाप किये हैं। एक बार ही नहीं बार-बार किये हैं। तुम तो अब स्वजन स्वजन की रट में सब भूल गये, किन्तु मैं तो नहीं भूला हूँ, और जब तक कृष्णा द्रौपदी के बाल खुले हुए हैं तब तक एक क्षण के लिये भी भूल नहीं सकता। अच्छा सुनो ! कैसे इन्होंने छैके छैऊ पाप किये हैं।

१—पहिले अग्नि लगाने का ही लो। इन दुष्टों ने जान बूझ कर सम्मति करके अपने विशेष आदमियों को भेजकर लाक्षागृह को बनवाया। लाक्ष राल, सन, तैल, कपूर जो शीघ्र ही आग को पकड़ लें, क्षणभर में प्रज्वलित हो उठें ऐसी वस्तुओं का हमें जलाने के लिये घर बनाया। हमें जलाने के लिये विशेष रूप से वहाँ भेजा गया।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! हम जले तो नहीं।

भगवान् बोले—तुम अपने भाग्य से, विदुरजी की बुद्धिमानी से बच गये यह दूसरी बात है इन्होंने तो जलाने में अपनी ओर से कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। जलाने की भावना तो इन की सुदृढ़ थी ही, अच्छे बुरे की भावना ही पाप पुण्य में कारण है। अपनी ओर से तो इन्होंने आग लगाने की पूरी तैयारी कर ही ली थीं। अतः ये पापी तो हुए ही।

२—अब दूसरी बात विष देने की। भीम को लड्डुओं में इन्होंने विष खिला ही दिया था, उनके शरीर पर विष का प्रभाव

हो ही गया था। वे भाग्यवश बच गये। इन्होंने तो अपनी ओर से उसे मरा ही समझ कर जल में फेंक दिया था।

३—तीसरे अनेकों बार हाथ में शस्त्र लेकर हमें मारने आये। विराट नगर में ये लड़ने आये ही थे, इस समय भी मारने को उद्यत हैं।

४—चौथे, कपट के जूए में इन्होंने छल से हमारा सर्वस्व अप हरण कर लिया। यहाँ तक कि तुम्हारे वस्त्र भी उतरवा लिये हमें नंगा करके घर से निकाला।

५—पांचवे, जूए में ही तुम्हारा इन लोगों ने राज पाट, भवन, भूमि तथा वाहनादि सभी ले लिये तुम्हें बनवासी बना दिया।

६—छठे इन्होंने भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया। अपनी जाँघ की ओर कुत्सित संकेत करके भरी सभा में इन्होंने निर्लज्जता की सीमा का भी उल्लंघन कर दिया। इनका साला जयद्रथ तो तुम्हारी पत्नी द्रौपदी को वन में से एकान्त पाकर उठा कर ले ही भागा था।

इस प्रकार ये लोग पूरे आततायी हैं, धर्म शास्त्र को यदि तुम मानते हो, तो ये सबके सब वध करने योग्य हैं।

अर्जुन ने कहा—श्यामसुन्दर! एक ओर की ही बात क्यों करते हो। ये पाप अवश्य हैं इन सबको करने वाले ये पापी आततायी भी हैं, किन्तु दयासिन्धो! आप मुख्य बात को भूल जाते हैं। ये हैं तो अपने ही। देखिये एक तो पापिष्ठ होता है, जो अत्यंत पापी होता है उसे पापिष्ठतर कहते हैं और जो सब से बढ़कर पापी होता है वह पापिष्ठतम कहलाता है। स्मृतिकारों ने कुल नाश करने वाले को पापी नहीं कहा-पापिष्ठतर नहीं कहा, उसे पापिष्ठतम बताया है जो अपने ही कुलका नाश करे। महाराज! मेरी दृष्टि में तो सम्पूर्ण बड़े से बड़े पाप एक ओर-और

अकेला अपने कुल का नाश रूपी पाप दूसरी ओर। इनमें से समस्त पापों की अपेक्षा मैं एक कुल पाप को अत्यधिक पाप समझता हूँ। यद्यपि ये लोग पापी अवश्य हैं, आततायी निःसन्देह हैं परन्तु फिर भी हैं तो स्वजन ही। अपने कुल के बन्धु बान्धव हैं। इसलिये प्रभो ! आततायी होने पर भी मैं अपने इन ताऊजी के पुत्रों को नहीं मारूँगा, क्योंकि ये स्वजन हैं अपने बन्धु हैं। इनसे हम कुल परम्परागत प्रेम से बँधे हैं। सम्बन्ध की रज्जु से जकड़े हुए हैं।

भगवान् ने कहा—देखो, अपने सुख के लिये सब कुछ करना पड़ता है। सड़े अंग को इसलिये काट देते हैं कि इतना अंग को काट देने पर शेष अंगों से सुख पूर्वक जीवेंगे। ये दुष्ट सदा ही उपद्रव करते रहते हैं, बात बात पर रोड़ा अटकाते हैं, सुख की नींद सोने नहीं देते। अतः इन्हें मार कर सुखी जीवन व्यतीत करो।

अर्जुन ने कहा—हे माधव ! आप सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं, आप तो बृहस्पति तक को ज्ञान दे सकते हैं, किन्तु प्रभो ! सुख तो मन का विषय है। इन विषय भोगों की सामग्रियों में तो सुख है नहीं। हमारे मन में चिन्ता ग्लानि पश्चात्ताप बना रहे, तो सब सुख विष के समान प्रतीत होते हैं। हमारे सिर के ऊपर खड्ग लटका दिया जाय और छप्पन भोग हमें खाने को कहा जाय तो हाथ से ग्रासों को भले ही मुख में डालते जायँ किन्तु भय ग्लानि और चिन्ता के कारण हमें भोजन में सुख स्वाद नहीं मिलेगा। मान लो इन स्वजनों को मारकर हम अपने गये हुए राज्य को धन वैभव तथा भोग की समस्त सामग्रियों को प्राप्त कर भी लें, तो हमारे मन में खुटका तो सदा लगा ही रहेगा। अरे, हमने ये स्वजनों को मार कर प्राप्त किये हैं। फिर इन कुटुम्बी बन्धुओं का बध करके हम सुखी किस प्रकार हो सकते हैं ?

भगवान् ने कहा—जैसे तुम्हारे ये सम्बन्धी स्वजन हैं, वैसे तुम भी तो उनके सगे सम्बन्धी स्वजन हो। जब वे नहीं सोचते, तो तुम ऐसा विचार क्यों करते हो। ताली तो दोनों हाथों से बजती है, गाड़ी तो दोनों पहियों से चलती है, पक्षी तो दोनों पंखों से उड़ता है। वे नहीं सोचते तुम भी मत विचार करो। जैसे को तैसा बनना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका उत्तर जो अर्जुन देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा—

छप्पय

मैं जो बिनती करूँ जनार्दन आप विचारें।
निज ताऊ के पुत्र इन्हें हम कैसे मारें॥
पापी तापी होहिँ भले ही स्वजन हमारे।
जैसे तैसे भले बुरे हैं बन्धु विचारे॥
इनकूँ माधव मारिकैं, अंत समय पछिताइँगे।
बधि बन्धुनिकूँ वैरवश, कैसे हम सुख पाइँगे॥

ये न भी सोचें हमें तो सोचना ही है।

[२२]

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥*

(श्री भ० गी० १ अ० ३८, ३९ श्लोक)

छप्पय

जदपि लोभवश भये न ये कुल नाश बिचारे।
बुद्धि भई बिपरीत बिचारें बन्धुनि मारें॥
लोभ मोह में फँस्यो चित्त बिपरीत करै सब।
कौन मित्र को शत्रु अहित हित सोचै नहिँ तब॥
उभय पाप जगमें प्रबल, सोचत नहिँ जिनचित समल।
लालच वश ही करत नर, मित्र द्रोह अरु नाश कुल॥

जब हृदयमें उदारता के भाव आते हैं, तब मनुष्य बड़े से बड़ा त्याग करने को उद्यत हो जाता है, बड़े से बड़े अपराध को क्षमा कर देता है। बिना औदार्यभाव के दातृत्व और क्षमा के भाव

---

*अर्जुन कह रहे हैं—'हे जनार्दन! यद्यपि ये लोग लोभभ्रष्ट मति होने से कुल के नाश से होने वाले तथा मित्रद्रोह के पापको नहीं देखते, किन्तु कुलक्षय कृत दोष को हम तो जानते हैं, अतः हम लोगों को तो इस पाप से पृथक् होने के लिये विचार करना ही चाहिये।

उत्पन्न होते ही नहीं। उदारता दो प्रकार की होती है, एक तो सम्बन्ध जनित-यह मोह ममता के कारण होती हैं, दूसरी सर्व-भूतहित की भावना से इसमें प्राणिमात्र में उस सर्वान्तर्यामी के दर्शन होते हैं। जिसमें सर्वान्तर्यामी के दर्शन हों, घट घट में उसीको समझ कर त्याग भाव से भोग करने की इच्छा हो, वह तो मोक्ष का कारण है। मोह ममता वश जो त्याग करने की भावना हो, अपने सम्बन्धी के अपराधों को भी अपराध न समझे तो यह त्याग संसार बन्धन को और कसता है, बन्धन को सुदृढ़ करता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने बड़ी ही सरलता से कहा—श्यामसुन्दर! अच्छा तुम ही बताओ इन अपने सगे सम्बन्धी बन्धुबान्धवों को मारने से क्या लाभ होगा। इस पर भगवान ने पूछा—जो बात तू सोच रहा है उसे उन्हें भी तो सोचना चाहिये।

इस पर अर्जुन ने कहा—महाराज! मनुष्य को अपना कर्तव्य करना चाहिये, दूसरा करता है या नहीं इसका विचार नहीं करना चाहिये। यदि दोनों ओर से लोग यही सोचें कि वह अपना कर्तव्य पालन करेगा, तब मैं भी करूँगा" तब तो अनर्थ हो जायगा। पति सोचे यदि पत्नी अपने पत्नी पने का निर्वाह करे तब मैं पतिपने का पालन करूँगा। पत्नी सोचे—जब यह यथार्थ एक पत्नीव्रत का पालन करेगा तब मैं पातिव्रत का पालन करूँगी। इसी प्रकार एक बन्धु दूसरे बन्धु से, एक मित्र अपने दूसरे मित्र से, पिता अपने पुत्र से, पुत्र पिता से, माता सुत से, सुत माता से तथा सभी सगे सम्बन्धी परस्पर में अपेक्षा रख कर कर्तव्य का पालन करें तब तो कोई भी कर्तव्य परायण नहीं हो सकता। क्योंकि सब समय सब की बुद्धि एक सी नहीं रहती। कभी न कभी किसी में त्रुटि हो ही जाती है, उसकी त्रुटि को

देखकर हम भी त्रुटि करने लगें, तब तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। अतः दूसरे क्या करते हैं, इसका विचार न करके सर्व प्रथम प्राणी को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। मैं मानता हूँ, ये लोग अपने कर्तव्य को नहीं विचार रहे हैं ये हमें अपना भाई अज्ञान वश नहीं समझ रहे हैं, तभी तो शत्रुओं जैसा व्यवहार करने के लिये तत्पर है हमें मारने के लिये अस्त्र शस्त्र लेकर कटिबद्ध हैं। ये अपना कर्तव्य भूल जायँ, हमें तो नहीं भूलना चाहिये।

भगवान् ने पूछा—ये क्यों भूल रहे हैं ? क्या ये नहीं जानते हम दोनों सगे दो भाइयों की ही संताने हैं ?"

अर्जुन ने कहा—जनार्दन ! समस्त पाप का मूल लोभ है। कहावत है "पाप का बाप लोभ है।' जब मनुष्य के हृदय में लोभ आ जाता है। तब वह कर्तव्याकर्तव्य सब भूल जाता है, अपने सभी सम्बन्धों को तिलाञ्जलि दे देता है। इस समय लोभ के कारण इनकी बुद्धिभ्रष्ट हो गयी है। ये लोग मलिन मति होने के कारण यह विचार ने में असमर्थ हैं, कि संसार में जो कुल का नाश और मित्र द्रोह ये दो बड़े भारी पातक हैं, वे इस युद्ध के ही कारण होने वाले हैं। बहुत से राजा दोनों ओर मित्रता वश आये हैं, इनमें द्रोह होगा और जिस ओर की भी विजय होगी उसी को कुल के क्षय का पाप लगेगा।

अच्छा, इनकी मति तो लोभ के कारण मारी गयी है, ये सोचते हैं, इन पांडवों को इनके सहायकों सहित मार कर हम निष्कंटक राज्य के अधिकारी हो जायँगे। इस समय तो इनके मनमें निष्कंटक राज्य की ही लगन है। इसके कारण ये सब कुछ भूल रहे हैं, किन्तु हम तो धर्माधर्म को समझते हैं। हम तो समझ सकते हैं कि यदि इस रण से पराङ्मुख हो जायँगे, तो

दोनों पापों से बच जायँगे। हमारे यह निश्चय करते ही कि चाहे जो हो हम युद्ध न करेंगे, तो हमारे सहायक राजा अपने अपने घर चले जायँगे। उनके सहायकों के सामने जब कोई लड़ने वाला ही न होगा, तो विवश होकर वे भी लौट जायँगे। अब रहे गये हम दोनो पक्ष के स्वजन सो, हममें राज्य के ही कारण कलह है, हम राज्य को छोड़ देंगे, तो वे भी हमें न मारेंगे। इससे दोनों ही मित्र द्रोह और स्वजन वध के पापों से मुक्त हो जायँगे। न रहेगा बांस न बचेगी बांसुरी। हत्या की जड़ तो यह राज्य का लोभ ही है, इसका त्याग हम अपनी उदारता से कर देंगे, इनके अपराधों को हृदय से भूला देंगे तो इसमें दोनों का ही कल्याण है। यदि हम अपनी बात पर अड़े रहेंगे वे भी लोभ वश अड़े रहेंगे, तो कलह होगी, कुलनाश होगा और दोनों ही पाप के भागी होयँ या न हों, हम अवश्य होंगे, क्योंकि हमने जानबूझ कर पाप किया है। जब अपना एक सम्बन्धी किसी बात पर अड़ जाय, तो दूसरे को उस प्रतिद्वन्दिता से हट जाना चाहिये। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे सामने महाराज अंग का है।

धर्मात्मा राजा अंग का लड़का मृत्यु की पुत्री सुनीथा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण बड़ा पापी था। वह वेन के नाम से विख्यात था। पिता पुत्र का स्वभाव विपरीत था। वे धर्मात्मा थे, वेन खलमति दुष्ट स्वभाव का था। महाराज अंग ने उसे बहुत समझाया। पापों से हटाने का बहुत प्रयत्न किया, वह माना ही नहीं। उसने पुत्र ने कर्तव्य का पालन नहीं किया, तब राजा अंगने यह नहीं किया, कि यह पुत्र के कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो ऐसे दुष्ट के साथ मैं भी पिता पने का पालन न करूँ। दोनों में युद्ध होता तो किसी एक का वध होता, उन्हें पाप लगता। यही सोचकर महाराज अंग एक दिन रात्रि में चुपके से उठकर घर से निकल गये। उस समय संघर्ष समाप्त हो गया। न पिता

को पुत्र का वध करके पुत्रहन्ता दोष लगा, न पिता का वध करके उसे पितृहन्ता का दोष लगा। अतः आप विचार कर लें इस युद्ध से पराङ्मुख हो जाने पर दोनों ही पक्षों का कल्याण है।

भगवान् ने कहा—मानलो, कुल का क्षय भी हो जाय, तो नाश तो कौरवों का ही होगा, तुम्हारा विजय तो निश्चित ही है। जिस पक्ष की पराजय होगी उसी का नाश होगा। विजय होने पर राज्य तुम्हें मिल ही जायगा। तुम कुलक्षय दोष के लिये प्रायश्चित्त कर लेना फिर निष्कंट राज्य करना।

इस पर अर्जुन ने कहा—महाराज कुलक्षय से एक ही दोष होता हो, तो उसका प्रायश्चित भी किया जा सकता है, कुलक्षय से तो अनेकों अनर्थों की संभावना है वे ऐसे अनर्थ हैं, जिनका प्रायश्चित्त संभव ही नहीं। इस पाप से तो अनर्थों की एक शृंखला ही चालू हो जायगी, पापों की एक परम्परा ही स्थापित हो जायगी। क्या क्या अनर्थ हो सकते हैं, इन्हें भी आप सुनलें। इन्हें सुन कर फिर आप जैसा उचित समझें वैसी आज्ञा दें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इतना कह कर अर्जुन ने कुलक्षय से होने वाले जिन अनर्थों का भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख वर्णन किया। उन्हें मैं आगे वर्णन करूँगा आप दत्त चित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

ये तो अंधे भये हमें अन्धे न बनाओ।
बन्धुद्रोह कुल नाश जनार्दन अब न कराओ॥
जानि बूझि के पाप पंक में प्रभु न फँसाओ।
हँसी बहुत ह्वै गई जगत् कूँ अब न हँसाओ॥
कहो दयामय कुल जनित, नाश दोष जानत सकल।
तब फिरि जातें हटन हम, करें उपाय न क्यों प्रबल॥

कुलक्षय कृतदोष

[२३]

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुल स्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥*

(श्री भ० गी० १अ० ४०, ४१ श्लो०)

छप्पय

कुलक्षय तैं जो दोष तिन्हें अब आपु बिचारें ।
निगलें मक्खी नहीं जानि स्वजननि क्यों मारें ॥
नष्ट होहि कुलधरम सनातन कुलके क्षय तैं ।
नसें धरम कुल सकल वंश सनि जावै अघतैं ॥
इतने ही प्रभु दोष नहिं, कुलक्षय के जो पाप हैं ।
तिनहिं गिनाऊँ जो सुने, करता ज्ञाता आप हैं ॥

जो जितना ही अधिक पावन शुचि अथवा पवित्र होता है, वह उतना ही अधिक अपावन बन जाता है । जल को जीवन

---

* अर्जुन कह रहे हैं—हे कृष्ण ! कुलके क्षय से कुलगत सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नष्ट होने पर समस्त कुल में अत्यधिक पाप फैल जाता है । पाप के फैल जाने पर कुल की जो सच्चरित्रा स्त्रियाँ होती हैं, वे दूषित हो जाती हैं । हे वृष्णिवंशावतंस ! स्त्रियों के दुष्ट हो जाने पर उनकी संताने वर्ण संकर होती हैं ।

बताया है, वह अपावन को भी पावन बना देता है, किन्तु जहाँ स्पर्शास्पर्श का विचार होता है, वहाँ जल ही विशेष कारण बन जाता है, अमुक के हाथ का जल निषेध है, अमुक पकान्न में जल पड़ गया है, अतः वह निखरा नहीं रहा सखरा हो गया।

इसी प्रकार कन्या को रत्न बताया है कन्यारत्न दुष्कुल में भी हो, तो उसको ग्रहण कर लेना चाहिये। वही कन्यारत्न शास्त्र विधि से किसी को अर्पण कर दिया जाता है, किसी की धर्मपत्नी बन जाती है, तो फिर उसकी पवित्रता पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। पर पुरुष से उसे सदा सर्वदा बचाते रहना चाहिये। स्त्री क्षेत्र है, क्षेत्र यदि पवित्र शुचि रहेगा तो उसमें उत्तम बीज उत्पन्न होकर समृद्धि का कारण होगा। यदि बीज उपयुक्त नहीं है, तो क्षेत्र में स्वतः ही विलीन हो जायगा। क्षेत्र तो शुद्ध बना रहेगा। यदि क्षेत्र अशुद्ध हैं, तो वह अच्छे से अच्छे बीज को भी अपावन व्यर्थ बना देगा, क्षेत्र तो अपावन यही है। क्षेत्र बीज दोनों ही अपावन बन जायँगे। इसीलिये आर्य संस्कृति में महिलाओं की पावनता पर विशेष बल दिया गया है पग पग पर उनकी पावनता के सम्बन्ध में सचेष्ट रहने का आदेश उपदेश शास्त्रों में है। आर्य ललनाओं में पुरुषों की अपेक्षा, सहृदयता, सौहार्द्र, त्याग का भाव, दया दाक्षिण्य विशेष बताये गये हैं। स्त्रियाँ जब त्याग भाव को त्याग कर प्रतिस्पर्धा पर उतर आती हैं तभी उनका पतन होता है। मेरे भाई ऐसा करते हैं। मैं क्यों न करूँ? मेरे पति स्वेच्छाचारी हैं तो मैं स्वेच्छाचारिणी क्यों न बन जाऊँ? पुरुषों को इतने अधिकार हैं, तो स्त्रियाँ इनसे वञ्चित क्यों रखी जायँ। पुरुष हम पर शासन क्यों चलाता है? इस प्रकार के प्रतिस्पर्धा के भाव जहाँ पनपे, वहीं समझे कुल धर्म, वंशपरम्परा की पवित्रता नष्ट हो जायगी।

फिर शुद्ध वर्ण की संतानें न होकर संकर वर्ण की सन्तानें होने लग जायँगी, जिन्हें शास्त्रकारों ने श्रद्धादि शास्त्रीय कर्मों का अनधिकारी बताया है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! कुलक्षय कर्ताओं को कौन कौन से दोष लगते हैं, उनकी परम्परा शृंखला बताते हुए अर्जुन कह रहे हैं—प्रभो ! कुल के क्षय से सनातन जो कुलधर्म है नष्ट हो जाता है।"

भगवान् ने पूछा—कुल से और सनातन धर्म से क्या सम्बन्ध ? धर्म तो शाश्वत है। कुलक्षय से धर्म नष्ट कैसे हो जायगा ?

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ हैं सब कुछ जान बूझकर पूछ रहे हैं। भगवन् ! यह सत्य है, कि सनातन धर्म तो सदा सर्वदा सभी काल में एक रस रहता है, फिर भी धर्म के अनेकों भेद हैं कुलधर्म, जातिधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म तथा सभी के मान्यतानुसार धर्म पृथक हैं, किन्तु ये सभी धर्म एक सनातन धर्म की शृंखला में बँधे हुए हैं कुलधर्म जातिधर्म तथा वर्णाश्रमादि धर्मों का पालन इसी अभिप्राय से किया जाता है, कि हम धर्म से च्युत न होने पावें। एक मर्यादा के भीतर आबद्ध रहें। लोग अपने ही वर्ण में अपनी ही जाति में रोटी बेटी का सम्बन्ध इसीलिये करते हैं, कि हमारी मर्यादा बनी रहे हमारे कुल में संकरता तथा व्यभिचार का प्रवेश न होने पावे। जब कोई हमारे कुल का नाश कर देगा, तो युवक तो सब मर ही जायँगे। शेष रह जायँगे बालक वृद्ध और स्त्रियाँ।

बालकों की कोई रेख देख करने वाला न रहेगा, तो वे मन मानी करेंगे। स्त्रियाँ स्वच्छन्द हो जायँगी, तो वे भी स्वेच्छा चारिणी बन जायँगी, लड़के संस्कार हीन बन जायँगे, कुल की मर्यादा का पालन न करेंगे। सूकर कूकर पशुओं

की भाँति जहाँ तहाँ भोजन करने लगेंगे। स्वेच्छानुसार व्यवहार करेंगे। चाहे जिस वर्ण की स्त्री को रख लेंगे। स्त्रियाँ व्यभिचारिणी बन जायँगी। यह परम्परा का सदाचार तो वृद्ध लोगों के जाति के भय से पालन किया जाता है। अथवा धर्म भावना से। एक बार जहाँ पैर ऊँचे नीचे पर पड़ा वहीं मनुष्य गिरने लगता है जैसे मलिन वस्त्र वाला जहाँ मन चाहता है वही धूलि में मैले में बैठ जाता है, वह सोचता है कपड़े तो मैले हैं ही और भी मैले हो जायँगे। किन्तु जिनके वस्त्र धुले धुलाये स्वच्छ हैं, पवित्र हैं, वे मैले स्थान में बैठने में हिचकेंगे। यथा शक्ति वहाँ न बैठेंगे। इसी प्रकार जो कुल मर्यादा में बँधे हैं, वे अपने बड़ों के भय से उसमें बँधे रहते हैं। जहाँ बड़ों का भय सिर से हटा वहाँ उन्हें जो अच्छा लगता है, उसे ही करने लगते हैं। सनातन कुल धर्म को प्रनष्ट कर देते हैं। कुलक्षय के हो जाने से ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

धर्म का जहाँ कुल में से नाश हुआ तो पूरे कुल में अधर्म का ही बोल बाला हो जाता है कुल भर के सभी सदस्य पाप पंक में पूर्णरीत्या फँस जाते हैं समस्त वंश के लोग कुलगत परम्परा को तिलाञ्जलि दे देते हैं। इससे होता क्या है, कि स्त्रियों का हृदय अत्यंत ही सुकुमार तथा संवेदन शील होता है, बहुत से लोग उनके प्रति आ आकर सहानुभूति दिखाने लगते हैं उनकी कुछ सहायता करके उनसे सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। शनैः शनैः वह सम्बन्ध व्यभिचार के रूप में परिणित हो जाता है। उनके अवैध जारजपुत्र संतानें होने लगती हैं।

पति किसी जाति का स्त्री किसी जाति की। स्त्री किसी वर्ण की पुरुष किसी वर्ण का। उनके संसर्ग से जो सन्तानें होंगी वे वर्णसंकर होंगी वह वर्ण संकरता का दोष जिस कुल को वह

नाश करता है उस कुल में, तथा नाश कर्ता के कुल में दोनों ही कुलों में आवेगा।

भगवान् ने कहा—जो कुलक्षय करता है वह तो जीवित ही रहता है, अपनी पत्नियों से ही सम्बन्ध रखता है, तो उस कुल में संकरता कैसे आ जायगी।

अर्जुन ने कहा—जो किसी के कुल का नाश करता है, वह नाश कर्ता कुलक्षय के कारण पातकी महापातकी नीच बन जाता है, ऐसी दशा में वह चाहे अपनी पत्नियों के ही पास बिना प्रायश्चित्त किये जायँ तो उसे भी पाप लगेगा। अपनी पत्नी में भी उत्पन्न होने पर उसकी संतानें वर्णसंकर ही कहलावेंगी। वह भी वर्ण संकरता के दोष से बच नहीं सकता। प्रभो! वर्ण संकरता का दोष साधारण दोष नहीं है। "स एव पापिष्ठ तमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्" वह सबसे बढ़कर पापी है जो कुल का नाश करता है।

भगवान् ने कहा—वर्णसंकर ही संतान हो जाय, तो हानि ही क्या है?

सूतजी कहते—"मुनियो! जब इस प्रकार भगवान् ने संकरता जनित दोषों की जिज्ञासा की तब इसका जो उत्तर अर्जुन ने दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब सावधानी के सहित इसे सुनने की कृपा करें।

छप्पय

पाप पंक में फँसे वंश कुल रीति भुलावैं।
बढ़ि जावै व्यभिचार नारि नहिं नेंक लजावैं॥
व्यभिचारिनि बनि जायँ बरन संकर सुत होवैं।
नारि बनैं स्वच्छन्द बंश मरजादा खोवैं॥
कुल की शुचिता में प्रभो! नारी ही कारन कही।
नारी यदि दूषित भई, कुलगत सब शुचिता गई॥

वर्ण संकर कारक दोष

[२४]

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ❀

(श्री भ० गी० १ अ० ४२,४३ श्लोक)

छप्पय

व्यभिचारिनि संतान बरनसंकर संतापी ।
उभय कुलनि लैजायँ नरक खल अति ही पापी॥
जिनने कुलको नाश करयो उनके सब कुलकूँ ।
दूषित नारिनि बंश स्वयं अपने निज कुलकूँ ॥
श्राद्ध अन्न तिल तरपनहु, संकर नर जो देत हैं ।
पितर रहैं बंचित सतत, तिनि करतैं नहिँ लेत हैं ॥

परलोक को हम साधारण मनुष्यों ने देखा तो नहीं है। त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ मुनियों ने जो परलोकादि अचिन्त्य विषयों के सम्बन्ध में कहा है, उसी पर विश्वास करना पड़ता है।

❀ वर्णसंकर तो अपने कुलको तथा कुल घातियों के कुल को दोनों ही कुलों को नरक में ले जाने के निमित होता है, इनके पितर पतित हो जाते हैं, क्योंकि उनको संकरों का दिया हुआ श्राद्ध तर्पण का अन्न जल नहीं मिलता। इन वर्णशंकर कारक दोषों के कारण कुल घातियों के जो शाश्वत कुल धर्म तथा जाति धर्म हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं।

मृतक व्यक्ति के वंशज अपने पितरों को जल से तर्पण करते हैं, तिलाञ्जलि देते हैं, श्राद्ध करते हैं, उनके निमित्त ब्राह्मण भोजनादि करते हैं। इससे पितरों की तृप्ति होती है। किन्तु श्राद्ध करने वाला सुपात्र हो, पितरों की वंशपरम्परा का ही व्यक्ति हो। स्मृतिकारों ने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ तक कि कैसे ब्राह्मणों को श्राद्ध में खिलाना चाहिये, कैसे ब्राह्मणों को न खिलाना चाहिये। किस समय श्राद्ध करना चाहिये, किस समय न करना चाहिये। किस देश में श्राद्ध तर्पण शतगुना सहस्र गुना हो जाता है, कहाँ पर श्राद्ध निष्फल बन जाता है, श्राद्धकर्ता कैसा होना चाहिये किस कर्ता के हाथ दिये हुए अन्न पानी को पितरगण ले लेते हैं, किसके दिये हुए को वे ग्रहण नहीं करते, अपितु उसका तिरस्कार कर देते हैं, अनिष्ट कर देते हैं। पितरों की तृप्ति से उनकी तृप्ति से कुल की वृद्धि होती है, उनकी अप्रसन्नता से कुलका नाश भी हो जाता है अतः जिन्हें अपने कुलकी अभिवृद्धि अभीष्ट हो, उन्हें देश, काल और पात्र देखकर श्राद्धादि कर्म करने चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! वर्णसंकर सन्तान से इसलोक तथा परलोक में क्या क्या अनर्थ होते हैं। इनका वर्णन करते हुए अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान् से कह रहे हैं—हे श्यामसुन्दर! वर्णसंकर संतान दो कुलों को नरक ले जाती है। एक तो जिन लोगों ने उस कुल का नाश कर दिया हो, जिसकी ये विधवा स्त्रियाँ हों क्योंकि उनकी व्यभिचार में प्रकृति तो इसी कारण हुई कि उनके पति आदि को दूसरे लोगों ने मार डाला है। यदि वे मारते नहीं उनके कुल का नाश न करते, तो संभव है ये स्त्रियाँ दूषित न होतीं। जिनके कारण आदमी पाप में प्रवृत्त होता है, पाप के भागी तो वे लोग भी होते हैं। अतः उन अनाथ

स्त्रियों से अन्य अधम वर्ण के पुरुषों द्वारा जो संतानें होंगी, वे अपने कुल वालों को तो नरक में पहुँचावेंगीही, जिसने उस कुल का नाश किया है उसे भी अधोगति देने में कारण होंगी।

आप कहेंगे—जिन्होंने कुल का नाश किया उन कुल घातियों की तो पाप के कारण अधोगति होना न्याय संगत है, किन्तु जो मर गया, उसका क्या दोष? वह तो परेच्छा से मारा गया है, उसकी दुर्गति क्यों होगी?

उसकी दुर्गति होगी, परलोकगत क्रिया कर्म के अभाव के कारण। वेदों का वचन है। 'जो अपुत्री है उसकी गति नहीं होती।' यदि पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, भगवान के चरणों में अहैतुकी भक्ति दृढ़ नहीं हुई है, तो वह परलोक मे अपने वंश वालों से श्राद्धतर्पण की अपेक्षा रखेगा। किन्तु उसके कुल में तो कोई शेष रहा नहीं। केवल स्त्रियाँ ही रह गयीं, वे भी व्यभिचारिणी बन गयीं। तब उनका श्राद्ध तर्पण कौन करे? श्राद्ध तर्पण के अभाव में उनकी अधोगति होगी।

आप कहें कि उनकी स्त्रियों से जो अवैध सन्तानें हुई हैं, वे ही श्राद्ध तर्पण कर सकते हैं?

वह भी संभव नहीं। एक तो ऐसी अवैध सन्तानों की धार्मिक कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती, यदि किसी प्रकार प्रवृत्ति भी हो, तो वे श्राद्ध तर्पण के अपात्र हैं संकरवर्ण के व्यक्ति का दिया हुआ श्रद्धान्न तथा तिलतर्पण को पितर ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वह उस वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में असमर्थ है जिस जाति धर्म अथवा वर्ण धर्म की मर्यादा में जो वंश चल रहा है उसे वर्णसंकर कैसे चला सकता है। घोड़ा घोड़ी के संसर्ग से तो कितनी भी पीढ़ी चलती चलें वंश अक्षुण्ण बना रहेगा, इसी प्रकार गधा और गधी की संतानों को भी समझें।

किन्तु घोड़ा और गधी के संसर्ग से संतान तो हो जायगी किन्तु वह न गधी के वंश को ही अक्षुण्ण रख सकता है, न घोड़े के ही वंश को। यह एक खच्चर तीसरी जाति बन जायगी। इसी प्रकार विलोम अथवा प्रतिलोम संकर जातियों का दिया हुआ पिंड पितरों को नहीं पहुँचता। जिन पितरों को श्राद्ध में पिंड तथा तिल तर्पण का जल न मिलेगा, तो उनकी अधोगति तो होगी ही। इसीलिये जिन पितरों की पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो गयी है, वे पितर पतित होकर नरकमें तो गिरेंगे ही। इसी प्रकार हे प्रभो! हमने इन कौरवों के कुल को नाश कर दिया तो हम नाश करने वाले तो नरक में जायँगे ही, इनके पितर भी श्राद्ध तर्पण न मिलने के कारण अधोगति को प्राप्त होंगे।

अर्जुन कह रहे हैं—सो हे जनार्दन! मैंने आपके सम्मुख ये सब दोष स्पष्ट बता दिये। वर्णसंकर बनाने का दोष तो कुल घातियों को ही लगता है इससे कुलघातियों के भी सनातन कुल धर्म तथा जातिधर्म नष्ट हो जाया करते हैं। हमें जो अधर्म से बचाये हुए हैं वे कुल धर्म तथा जाति धर्म ही हैं। क्षत्रिय लोग बार बार दुहाई दिया करते हैं—हमारे कुल में सदा से चला आ रहा है, जो शरण में आ जाय उसकी रक्षा करें। जो क्षत से रक्षा करे वही क्षत्रिय है। हमारी जाति में कभी हेय कार्य नहीं हुआ। जो कोई जाति धर्म का उल्लंघन करता है, उसे जाति के पंच लोग जाति से बहिष्कृत कर देते थे। कुल धर्म और जाति धर्म की दृढ़ता से रक्षा करने पर ही सनातन धर्म रक्षित रह सकता है। इसके विपरीत करने से सभी मनमानी करने लगेंगे। समाज में विप्लव हो जायगा। लोग परलोक की चिंता न करेंगे, केवल इस शरीर को ही सब कुछ समझकर दिन रात्रि पेट की ही चिन्ता में मग्न रहेंगे। जैसे बने तैसे बिना पाप पुण्य का विचार किये हुए-पेट पालने को ही परम पुरुषार्थ मान लेंगे। पेट भरने को जघन्य

जघन्य पाप करने को उद्यत हो जायँगे। वे अपने आप ही
रक के द्वार को खुलवाने का उपक्रम करते रहेंगे। अतः प्रभो...!
में अपने कुल धर्म का पालन करना चाहिये, अपने स्वजनों का
भी वध न करके अपने सिर पर कुल घातियों के पापों को
न चढ़ा लेना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन इतना कह कुल धर्म
ष्ट होने पर क्या दोष होता है, उसका जो वर्णन करेंगे उसे
आगे बताऊँगा।

छप्पय

तिल तरपन तें रहित पितर गति अधमहु पावैं।
संकर कुल के पितर अबसि नरकनिमें जावैं॥
इतने ये सब पाप लगैं कुलघातिनि नटवर।
सब अनरथ को मूल बरनसंकर अघदुष्कर॥
इन दोषनिके मूल कुल-घाती ही कहलात हैं।
उनके सब कुलधरम अरु, जाति धरम नसि जात हैं॥

अहो! हम महा पाप करने को उद्यत हैं!

[२५]

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥*

(श्री भ० गी० १ अ० ४४, ४५ श्लो०)

छप्पय

जाति धरम कुल धरम नष्ट जिनि को ह्वै जावैं।
ते नर निश्चय नरक माँहि बहु समय बितावैं॥
ऐसी शास्त्रनि सुनी वृद्ध ऋषिमुनि मुख बानी।
अधिक कहाँ तक कहूँ आपु ज्ञानी विज्ञानी॥
कुल में संकरता करन, निजकुल नाश कराबनो।
अपने तीखे अस्त्र तैं, अपनो नाश करामनो॥

नास्तिक लोगों का कहना है, कि स्वर्ग नरक कुछ नहीं है जो प्रत्यक्ष है वही सत्य है, जिस देह से हमने कर्म किये हैं, वह तो

---

*अर्जुन कह रहे हैं—हे जनार्दन! हम ऐसा सुनते आये हैं, कि जिन मनुष्यों का कुल धर्म नष्ट हो गया है, उनका अनिश्चित समय तक नरक में वास होता है। हाय! बड़े दुःख की बात है, हम लोग बुद्धिमान होकर भी ऐसा महान् पाप करने जा रहे हैं, जो राज्य सुखके लोभ से अपने स्वजनों को ही मारने को उद्यत हो रहे हैं।

भस्म हो जाता है, फिर उसका पुनर्जन्म कैसे होगा ? अतः परलोक की चिंता न करो, खाओ पीओ आनन्द करो। यदि आँखों देखा ही सत्य होता तो हमें आँखों से तो अपनी पीठ भी नहीं दीखती आँखों से आँखें ही नहीं दिखायी देती। तो क्या हमारे पीठ या आखें नहीं हैं। आप कहोगे हम दर्पणमें देख लेते हैं। दूसरों के आँख पीठ है, तो हमारे भी होंगी। तब यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण न होकर अनुमान ही हुआ। जब आप अनुमान को मानते हैं, तो आप्त वाक्य ऋषियों के वाक्यों को भी प्रमाण मानिये। सभी शास्त्र स्वर में स्वर मिलाकर उद्घोष कर रहे हैं। आत्मा अमर है, जीव नित्य है शरीर के नष्ट होने पर जीव अन्य योनियों में प्रवेश करके अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगता है।

मरने पर हमारे शरीरों की चार प्रकार से क्रियायें की जाती हैं। (१) कुछ लोगों को भूमि में गाड़ देते हैं। जैसे अजात दन्त बालक, कुष्टी तथा जहाँ नदियाँ न हों वहाँ संन्यासियों के मृत देह भूमिमें गाड़े जाते हैं। (२) साधु संन्यासियोंके असमर्थ व्यक्तियों के देह जल में प्रवाहित कर दिये जाते हैं। (३) गृहस्थियों के जलाये जाते हैं तथा (४) कुछ लोगों के मृत शरीर बन में पेड़ों पर या इसीके निमित्त बने मंचों पर लटका दिये जाते हैं उन्हें पक्षी खा जाते हैं। इसीलिये इस शरीर की तीन ही गतियाँ बतायीं हैं कृमि, विट् और भस्म ! भूमि में गाड़ देने से कीड़े बन जाते हैं। पेड़ पर लटका देने से, जल में प्रवाहित करने से पशु पक्षी खाकर विष्ठा बना देते हैं तथा अग्नि में जला देने से भस्म हो जाती है। देह तो यों समाप्त हुई। जिनको पूर्ण ज्ञान हो गया है, सम्पूर्ण चराचर में व्याप्त एक ही आत्मा का साक्षात्कार हो गया है, वे जन्म मरण से छूटकर सर्वान्तर्यामी भी बन जाते हैं। जिन्हें भक्ति द्वारा भगवत् तत्व का साक्षात्कार हो चुका है,

वे सदा के लिये भगवत लोक में पहुँच जाते हैं। शेष सब पितर बन जाते हैं। पितरों की तीन ही गति हैं या तो वे शुभ कर्मों के कारण स्वर्गादि पुण्य लोकों में चले जाते हैं, अथवा पापकर्मों के कारण नरक भेज दिये जाते हैं अथवा दोनों सम होने के कारण फिर से यहीं पृथिवी पर अन्य योनियों में भेज दिये जाते हैं। यह सम्पूर्ण संसार सहयोग पर ही स्थित है। जिन पूर्वजों से थाती रूप में हमें यह शरीर मिला हैं, वे हमारे पितर हमसे श्राद्ध तथा तर्पण की आशा लगाये रहते हैं। हमारा दिया हुआ तर्पण का जल श्राद्ध का अन्न वे जिस योनि में भी जहाँ भी होंगे उनका आहार बनकर उन्हें मिल जायगा। यदि वे स्वर्ग में होंगे तो वह अमृत बनकर उन्हें मिलेगा, यदि वे पशु होंगे तो दाने घास के रूप में उन्हें मिल जायगा। नरक में होंगे, तो उनकी नारकीय यातना कम हो जायगी। संतानों के सुकृत के कारण वे नारकीय योनि से छूट जायगे। किन्तु जिनके कुल में कोई भी न होगा, या वर्णसंकर होंगे, तो वे श्राद्ध तर्पण से रहित होने के कारण यदि नरक में रहे तो चिरकाल तक नरकों में ही सड़ते रहेंगे। इस कारण गृहस्थियों को न तो किसी के वंश का मूलोच्छेदन करना चाहिये और न अपने ही वंश को वंश हीन होने देना चाहिये। यही पितृ ऋण से उऋण होने का तात्पर्य है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन अपने सारथी श्रीश्याम सुन्दर से कह रहे हैं—हे जनार्दन ! जातिधर्म और कुलधर्म मनुष्यों को पाप मे बचाने के सुदृढ़ कवच हैं। बहुत से पापों से पुरुष जाति बन्धुओं के भय से बच जाता है। बहुत से पाप कुल के भय से नहीं करता। अरे, हम कुलीन हैं, उत्तम कुल में हमारा जन्म हुआ है, ऐसे पापकर्म को करेंगे तो हमारे कुल में कलंक लग जायगा, लोग थूकेंगे। छिः छिः करेंगे, कहेंगे—"अरे, इसने तो अपने सम्पूर्ण कुल को ही डुबो दिया॥

जिनका कुल धर्म नष्ट हो गया है, वे निरन्तर नरकों में ही सड़ते रहते हैं । यदि उन्हें अपनी सन्तानों से अपने वंशजों से कुछ सहायता मिलें, उनके नाम से श्राद्ध, तर्पण दान पुण्य तथा सत्कर्म करते रहें, तो चाहें नरक में भी क्यों न हों, वहाँ भी उनकी यातनायें कम हो जायँगी और शीघ्र ही वंशजों के पुण्य प्रभाव से उन्हें नरक से छुटकारा मिल जायगा, किन्तु जब इस कर्म भूमि से ही उन्हें कुछ सहारा न मिलेगा, तो नरक और स्वर्ग का योनियाँ तो भोगयोनि हैं । वहाँ कोई नये कर्म तो किये नहीं जा सकते । उनके तो शुभाशुभ कर्म भोग से ही नष्ट होंगे, अतः वे अनिश्चित काल तक नरक में बने रहेंगे ।

ये बातें मैं अपने आप नहीं कह रहा हूँ । बाल्यकाल से जो हमारे यहाँ ज्ञानी विज्ञानी त्रिकालदर्शी ऋषि मुनि आते रहते थे, उनके श्रीमुख से मैंने अनेक बार ये बातें सुनी हैं । भगवान ने बड़ी कृपा की जो मुझे समय पर ही यह सद्बुद्धि आ गयी । तनिक भी देर हो जाती तो कितना बड़ा अनर्थ हो जाता अपने ही हाथों अपने कुल का नाश कराना पड़ता । कुलनाश के महापाप के हम सदा सर्वदा के लिये पापी घोषित किये जाते ।

प्रभो ! मैं इस आपसी युद्ध के परिणाम को ज्यों ज्यों सोचता हूँ, त्यों त्यों मेरी मेरी बुद्धि चकराने लगती है । कैसा अनर्थ करने के लिये हम उद्यत हो गये थे ? हाय ! कैसा पाप ! कैसा अनर्थ ! कितना जघन्य कृत्य हमारे द्वारा होने जा रहा था । वह भी अज्ञान में नहीं जानबूझकर । वह भी मूर्खता वश नहीं बुद्धिमत्ता के साथ । हम बनते तो हैं बड़े भारी बुद्धिमान, किन्तु कार्य करने जा रहे हैं, महामूर्खों जैसा ।

भगवान् ने पूछा—मूर्खों जैसा कार्य क्या ?

अर्जुन बोले—यही कि हम अपने सगे सम्बन्धी स्वजनों का वध करने को उनकी निरपराध हत्या करने को समुद्यत हैं । सो

भी एक तुच्छ सी वस्तु राज्य प्राप्ति के लिये।

राज्य में रखा ही क्या है। राज्य समस्त अनर्थों की जड़ है। राजनैतिक पुरुष कभी चैन से सुख से बैठ नहीं सकता। उसे सदा सर्वदा यही खुटका लगा रहता है, कोई मेरे पद को छीन न ले। कोई मुझे पदच्युत न कर दे। उसे दबाओ, इसे मरवाओ, इसे इतना दबा दो कि सांस न ले। इन्हीं सब बातों के चिन्तन में उसका सम्पूर्ण समय जाता है केवल इसलिये कि राज्य हाथ में रहने से अच्छे अच्छे पदार्थ खाने को मिलेंगे,अच्छे अच्छे भोग भोगने को मिलेंगे। सुन्दर सुन्दर वाहन चढ़ने को मिलेंगे। सुन्दर स्वच्छ सुखद भवन रहने को मिलेंगे इन्हीं भोगों की लालसा के पद प्रतिष्ठा के लोभ से राजनैतिक पुरुष बड़े से बड़ा पाप करने को उद्यत हो जाते हैं। हमीं को देखो दुर्योधन ने हमारा कौन सा अनिष्ट किया है। पेट तो हम वन में भी भर लेते थे। अंतर इतना ही था, कि वहाँ राजसी ठाठ नहीं थे, सुन्दर सुन्दर गुदगुदे गद्दे बिछाने को नहीं थे। शीघ्र गामी वाहन चढ़ने को नहीं थे। उन्हें ही प्राप्त करने के लिये हम अपने स्वजनों की हत्या करने जा रहे हैं। ऐसा पाप मैं नहीं करूँगा, नहीं करूँगा अपने स्वजनों को नहीं मारूँगा नहीं मारूँगा। मैं चाहे जो हो जाय शस्त्र नहीं चलाऊँगा नहीं चला जाऊँगा।

यह सुनकर भगवान् मंदमन्द मुस्कराने लगे और फिर बहुत ही गंभीर वाणी में बोले—अरे भाई! मान लो, तुम शस्त्र न भी चलाओ तो तुम्हारे ये शत्रु तो नहीं ही मानेंगे। तुम चाहे शस्त्र चलाओ या न चलाओ, तुम युद्ध करो या न करो। ये मानने वाले थोड़े ही हैं, ये बिना शस्त्र चलाये रहेंगे नहीं। ये बिना युद्ध किये मानेंगे नहीं, फिर तुम्हें क्षत्रिय की मौत न मरकर कुत्ते की मौत मरना पड़ेगा। इससे लाभ ही क्या

हुआ तुमने उन्हें न मारा तुम्हें उन सब ने मिलकर शस्त्र रहित और अप्रतीकार कारक मानकर मार डाला। बात तो एक ही हुई।

सूतजी कहते हैं—मुनियों ! भगवान् की इस तर्क का जो अर्जुन ने उत्तर दिया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

'हाय ! शोक ! अति शोक ! बनें हम बुद्धिमान नर।
करिबे कुल संहार शस्त्र बाँधे रन तत् पर॥
महापाप यह करें स्वजन कुल बन्धु नसावें।
अनरथ करें महान् तऊ नहिं नेंक लजावें॥
राज और सुख लोभ तें, सम्बन्धिनि मरवाइकें।
हाथ रँगावें रक्त तें, अपनो कुल कटवाइकें॥

चाहे जो हो मैं युद्ध नहीं करूँगा

[२६]

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥*

(श्री भ० गी० १ अ० ४६,४७ श्लो०)

छप्पय

आपु कहैं—निःशस्त्र समुझि ये तोकूँ मारें ।
करै नहीं प्रतिकार सुगमतातैं संहारें ॥
तो अति उत्तम बात न जातैं हौं घबराऊँ ।
कियो मानसिक पाप तुरत ताको फल पाऊँ ॥
सब कौरव कर शस्त्रलै, मोकूँ मारें यदि अबहिँ ।
होवै मम कल्यान अति, जगत सराहै सब तबहिँ ॥

वैराग्य उसी का नाम है जिससे अपनी देह में तथा देह से

---

*अर्जुन कह रहे हैं—"भगवान् ! यदि ये धृतराष्ट्र के पुत्र मुझे रण में मार भी डालें और मैं शस्त्र रहित बिना प्रतिकार किये उनके आघातों को सहते हुए मर जाऊँ, तो मेरे लिये यह अधिक क्षेमकारी होगा । धृतराष्ट्र से संजय कह रहे हैं—राजन् ! ऐसा कहकर रणभूमि में शोक से जिसका मन उद्विग्न हो गया है ऐसा अर्जुन बाणसहित धनुष को त्याग कर रथ के ऊपर बैठ गया ।

सम्बन्धि गृह धनादि में आसक्ति न रह जाय। यह वैराग्य चाहे क्षणिक हो अथवा मोह जनित ही क्यों न हो। उसमें सर्वस्व त्याग की भावना सन्निहित रहती है। जिस पक्ष को हम उचित समझते हैं, उसके लिये मनस्वी पुरुष प्राणों की आहुति देने को भी तत्पर हो जाते हैं। सिद्धान्त के लिये प्राणों को तृणवत् समझ कर अपनी बात पर मर मिटते हैं। ऐसा न होता तो असंख्यों व्यक्ति देश तथा धर्म के नाम पर हँसते हँसते सूली फाँसी पर क्यों चढ़ जाते ? अपने प्राणों को तृणवत् समझकर सिद्धान्त पर उसे न्यौछावर क्यों कर देते ? कभी कभी हम मोहवश अज्ञानवश विपरीत बात पर भी अड़जाते हैं किन्तु जो हमारे गुरुजन हैं। हितैषी हैं शुभ चिन्तक हैं वे अपने सदपदेशों के द्वारा हमारे मोह को नष्ट कर देते हैं, हमें कुपथ से हटाकर सुपथपर ले आते हैं। जिसे हम सत्य मान रहे थे उसे उनके उपदेशों से असत् मानने लगते हैं, हमारा मोह दूर हो जाता है। पहिले तो हम उसके पक्षमें ऐसे ऐसे अकाट्य तर्क उपस्थित करते हैं, कि उनके कारण हमें स्वयं ही अपने कथन पर गर्व होने लगता है, किन्तु मोह निर्मित यह बालू की भीत कैदिन टिकाऊ रह सकती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने कहा—कौरव लोग तुझे मार डालेंगे, इसके उत्तर में अर्जुन ने कहा—महाराज यदि कौरव मुझे मार भी डालें तो इसमें मेरा सबसे बढ़कर कल्याण होगा।

भगवान् ने कहा—कल्याण क्या होगा जी।

अर्जुन बोले—मैंने अपने कुल का वध करने का मन से संकल्प किया था, चाहे उसे कार्य रूप में परिणित न किया हो, किन्तु मानसिक पाप तो हो ही गया। यदि कौरव मुझ शस्त्र हीन को सब मिलकर मार भी देंगे तो मेरेमानसिक पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा।

भगवान् ने पूछा—जब वे सब तुम्हें मारने आवेंगे, तो तुम क्या करोगे ?

अर्जुन ने कहा—वे सब अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर भले ही आवें, किन्तु मैं शस्त्र कभी न उठाऊँगा।

भगवान् ने पूछा—शस्त्र भले ही न उठाओ किन्तु हाथ से वाणी से तथा अन्यान्य संकेतों द्वारा प्रतीकार तो करोगे ही।

अर्जुन ने कहा—माधव ! न तो मैं शस्त्र उठाऊँगा और न उनके प्रहारों का प्रतीकार ही करूँगा। केवल उनके प्रहारों को सहता रहूँगा और तब तक सहता रहूँगा जब तक मेरा शरीर निर्जीव होकर भूमि पर न गिर पड़े। प्राणहीन होकर धराशायी न बन जाय।

संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं—राजन् ! इस प्रकार युद्ध न करने का अर्जुन पूर्ण निश्चय करके चुप हो गया। अब तक तो वह सेना का अवलोकन करने के निमित्त सारथी के आसन के समीप खड़ा खड़ा दोनों सेनाओं को देख रहा था। अब जब रण भूमि में दोनों सेनाओं के मध्य में उसने ऐसा निश्चय कर लिया तो चुप चाप वहाँ से उठकर रथ के ऊपर-रथी के स्थान पर जाकर बैठ गया।

शौनकजी ने पूछा—रथोपस्थ-रथके ऊपर बैठ गया इसका क्या तात्पर्य है सूतजी !

सूतजी बोले—महाराज ! युद्ध के रथ ऐसे होते थे, जिन में ऊपर तो रथी बैठता था ऊँचे स्थान पर। उसके पीछे बड़ी ध्वजा जिसमें लगी रहती वह दंडा खड़ा रहता था। रथ के पीछे एक गाड़ी और लगी रहता थी। उसमें अस्त्र शस्त्र, धनुष और बाण भरे रहते थे। रथी का धनुष टूट गया तो तुरन्त सेवक दूसरा धनुष दे देता, बाण चुक जाते तुरन्त बाण दे देता। बल्लम, फरसा, तलवार,गदा तथा और भी जिस शस्त्र का संकेत करता

उसे दे दिये जाते। उसके तीनों ओर अंग रक्षक खड़े रहते थे। वे भी रथी के ऊपर होने वाले प्रहारों को रोकते थे। रथ के पहियों के रक्षक पृथक् रहते, कि कोई पहियों को न तोड़ दे। रथी के नीचे घोड़ों की रस्सी और तोत्र लिये सारथी इतने नीचे स्थान पर बैठता जहाँ रथी के दोनों पैर उसकी कनपुटी तक पहुँच जायँ। रथी के दोनों अंगूठे सारथी की कनपुटी से सटे रहते। जब जिधर रथ मोड़ना होता, तब मुंह से न कहकर पैरों के अंगूठों से कनपुटी को मोड़कर संकेत कर देता इधर रथ को ले चलो। अर्जुन के अंगूठे निरन्तर श्यामसुन्दर की कनपुटियों पर सटे रहते जिनसे भगवान् की दोनों कनपुटियों में गढ्ढे पड़ गये थे। अर्जुन अब तक तो श्यामसुन्दर के समीप सारथी के स्थान में नीचे खड़े थे। अब धनुष को बाणों सहित पटक कर शोक से उद्विग्न होकर रथी के ऊपर के स्थान में खड़े नहीं हुए, धम्म से गिर पड़े और उदास मन से कपोल पर हथेली टेक कर शोकाकुल बने बैठ गये।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! इस प्रकार ॐ तत्सत् ॐ तत्सत् कहकर इस गीता का प्रथम अध्याय समाप्त हो गया।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! राम गीता, उत्तर गीता, ऐल गीता आदि अनेकों गीतायें हैं आप का अभिप्राय किस गीता से है?

सूतजी ने कहा— महाराज! मैं तो श्री आनन्द कन्द व्रज चन्द्र नन्दनन्दन वासुदेव पद्मनाभ के श्री मुख से निसृत श्रीमद् भगवत् गीता की कथा आप को सुना रहा हूँ।

यह गीता है क्या, समस्त उपनिषदों का सार है यद्यपि यह स्वयं भी उपनिषद् है जैसे चीनी स्वयं भी मिठाई है गन्ना, रस राब गुड़ मीठे होने से मिठाई कहलाते हैं। फिर भी इन सब का सार मिश्री ही है। इसी प्रकार यह उपनिषदों का सारातिसार है।

संसार में विद्या तो बहुत प्रकार की हैं, किन्तु यह तो विशुद्ध ब्रह्म विद्या है। यह योग का शास्त्र है। अनेक प्रकार के योगों का इसमें वर्णन है। इसलिये यह योग शास्त्र है। इसमें नारायण स्वरूप श्रीश्यामसुन्दर और नर स्वरूप अर्जुन का सुखद सरल सम्वाद है। इस अध्याय में केवल अर्जुन के विषाद का ही वर्णन है अतः इसका नाम 'अर्जुन विषाद योग, यही रखा है। प्रथम अध्याय तो है ही अब यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद् भगवत् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योग शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादेऽर्जुन विषाद योगो नाम प्रथमोऽध्यायः १॥

छप्पय

संजय बोले–नृपति ! सुनहु यों अरजुन दुःखित।
शोक मगन अति भयो विचारै ह्वैकें चिंतित॥
बान सहित धनु त्यागि युद्धतें विरत भयोतब।
मनमहँ अति पछताव भरे आँसू नैननिजब॥
प्रथम सारथि के निकट, ठाढ़ो ह्वै निरखत सबनि।
अब शर धनु तजि रथी थल, बैठ्यो बिलखत विकल बनि॥

[अर्जुन को मोह]

भागवत दर्शन

खण्ड ७०

गीतावार्त्ता (२)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:o:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:o:—

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:*:— संशोधित मूल्य २-०-० रु०

प्रथम संस्करण १००० प्रति] आश्विन, दशहरा—२०२६ [मू० १-६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ सं०
भागवती कथा पर शुभ-सम्मति (मा. स. गोलवलकर)	४
अपनी निजी चर्चा	७
गीता माहात्म्य	२२
१. कृष्ण कृपा की कोर	३३
२. पार्थ ! नपुसकता छोड़ो	३९
३. गुरुओं का वध कैसे करूं ?	४४
४. अर्जुन की प्रपत्ति	५०
५. हृषीकेश गुडाकेश से बोले	५८
६. न सोचने योग्य बात का सोच क्यों करते हो ?	६३
७. द्वन्द्वों को सहन करो	७०
८. तत्वदर्शी कौन ?	७६
९. अविनाशी का नाश नही	८१
१०. आत्मा न मरता है न इसे कोई मार ही सकता है	८६
११. देही नित्य है देह परिवर्तनशील है	९२
१२. आत्मा शुद्ध सनातन है.	९९
१३. आत्मा अचिन्त्य है	१०७
१४. जिसने जन्म लिया है वह मरेगा भी	११६
१५. महान् आश्चर्य	१२५
१६. क्षत्रियों को धर्म युद्ध स्वर्ग का खुला द्वार है.	१३२
१७. संभावित की अकीर्ति मरण से भी बुरी है	१४६
१८. शत्रु तुम्हारी सामर्थ्य की निंदा करेंगे	१५२
१९. जय पराजय दोनों में ही लाभ	१५९

		पृष्ठ
२०.	निष्काम कर्मयोग विवेचन	१६९
२१.	सकाम कर्मों में दोष	१७२
२२.	भोगैश्वर्य प्रसक्त पुरुषों की बुद्धि विशुद्ध नहीं होती	१७७
२३.	तुम गुणातीत हो जाओ	१८३
२४.	बिना फल चाहे अनासक्त होकर कर्म करो	१८९
२५.	कर्मों को कुशलता पूर्वक करना ही योग है	१९६
२६.	परम पुरुषार्थ समत्व बुद्धि से ही प्राप्त होता है	२०२
२७.	योग प्राप्त पुरुष के सम्बन्ध में प्रश्न	२१०
२८.	स्थितप्रज्ञ लक्षण (१)	२१६

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघ चालक
परम पूज्य श्री माधव सदाशिव गोलवलकर
(श्री गुरुजी)
की

भागवती कथा

पर

शुभ-सम्मति

लगभग एक वर्ष पूर्व की बात है। श्री बदरीनारायण क्षेत्र में श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज ने सकीर्तन भवन का निर्माण कराया था और उसका उद्घाटन मैंने ही करना चाहिए ऐसी उनकी इच्छा थी। श्री महाराज जी की इच्छा को आदेश मानकर मैंने श्री बदरीनाथ की यात्रा करने का निश्चय किया। सोचा कि वर्षों की उत्कट इच्छा पूर्ण करने के लिए परम कृपालु श्री बदरीनाथ ने ही यह संयोग बनवाया और अपने अन्तरग भक्त श्री ब्रह्मचारी जी महाराज को मुझे भवन के उद्घाटन करने के हेतु निमन्त्रित करने की प्रेरणा दी होगी। इस कार्यक्रम का निमित्त बनाकर मुझपर श्री भगवान् ने दया कर मुझे अपने पास खीचकर ले जाने का मेरे लिए भाग्य का सुयोग प्राप्त कर दिया। अकारण करुणा करने का यह पवित्र खेल खेल कर मुझपर अपना वरदहस्त मानों रख दिया।

श्री महाराज जी की सन्निधि मे यात्रा करने के आनन्द का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। श्री बदरीनाथ पहुँच कर पाँच रात्रि वहाँ भगवद्चरणों में रहने का सद्भाग्य का प्राप्त हुआ। और श्री महाराज जी के श्री मुख से श्री मद् भागवत के कुछ अंश का विवरण सुनने का असीम सुख प्राप्त कर सका। भगवान् श्री कृष्ण जी के मथुरा चले जाने के कारण शोक विह्वल गोप गोपियो और विशेष कर नन्द बाबा और यशोदा मैया की भाव विभोर अवस्था का उनके द्वारा किया हुआ वर्णन पत्थर को पिघला सकने वाला कारुण्य रस का उत्कट

आविष्कार था। उनको सांत्वना देने के लिए श्री भगवान् के द्वारा प्रेषित उद्धव जी के आगमन पर गोप गोपी, यशोदा माई, आदि की स्थिति, उनकी भावनाएँ उनका उद्धव जी के साथ हुआ संभाषण श्री ब्रह्मचारी जी के श्री मुख से सुनते-सुनते मन एक सुखद वेदना का अनुभव कर द्रवित हो जाता था। इस अनुभव का वर्णन किस प्रकार करूँ।

यह मंगल अनुभव सब लोगों को प्राप्त होना कितना अच्छा होगा ऐसा विचार मन में उठता रहा, और इसका समाधान भी प्राप्त हुआ है। पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी ने अपनी मधुर भावनी भाषा में श्री मद् भागवत को सरल हिन्दी में प्रसिद्ध करने का संकल्प किया था और उसके अनेक खंड प्रकाशित भी हो चुके थे इसका पुनः स्मरण हुआ जब श्रद्धेय श्री महाराज जी का कृपा पत्र मुझे प्राप्त हुआ कि श्री मद्भागवती कथा कथा लेखन का कार्य जो बीच मे रुक सा गया था उन्होने फिर करना प्रारम्भ कर दिया है और अब ७० वाँ खण्ड छप रहा है। श्री महाराज जी ने उसकी प्रस्तावना के रूप में मुझे कुछ लिखने का आदेश दिया। मुझे मेरी अयोग्यता का कुछ ज्ञान तो अवश्य है। अतः मैं निश्चय नही कर सका कि मुझे क्या करना उचित होगा। किन्तु श्री महाराज जी का आग्रहपूर्ण और एक पत्र आने पर यह धृष्टता करने बैठा हूँ।

इसमें मेरा एक ही काम है। सब बन्धुओं से माताओ से मैं नम्रता पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि श्री ब्रह्मचारी जी की यह "श्रीमद्भागवती" कथा अपने पास रखें उसका अध्ययन मनन करें। मूल श्री भागतव महापुराण समझना सबके लिए संभव नही है। पंडितों की विद्वता की "भागवते परीक्षा" होती है यानी जो श्रीमद्भागवत रहस्य समझ सके वही विद्वान्, वही पंडित कहलाने योग्य माना जा सकता है ऐसा परम्परा से अपने यहाँ विश्वास है। श्रीमभद्भागवत् की रहस्य की गूढ़ता इससे अभिव्यक्त होती है। जहाँ पंडितों की बुद्धि कुंठित होती है वहाँ सामान्य श्रद्धालु वाचक की क्या स्थिति होगी यह समझना सरल है। फिर आज कल देववाणी संस्कृत के अध्ययन की उपेक्षा होने के कारण और भी कठिनाई उत्पन्न हुई है। ऐसे सब बन्धु क्या श्रीमद्भागवत को समझने से वंचित ही रहे? यह होना

उचित नहीं। श्रीमद्भागवत तो सर्व श्रेष्ठ ज्ञान के परिपाक पर उत्पन्न होने वाली अद्वैत भक्ति का आधार है। श्री भगवान् की वह शब्दवपु ही है। उसके ज्ञान से वंचित रहने के समान मनुष्य का अन्य दुर्भाग्य हो नही सकता। इस दुर्भाग्य से रक्षण कर सर्वसामान्य मनुष्य को श्रीमद्भागवत का रहस्य सुगम भाषा में बनाना, श्रीमद्-भागवत मे अभिव्यक्त ज्ञान भगवत्स्वरूप तथा विशुद्ध पराभक्ति का बोध सब को अपनी बोली के माध्यम से प्राप्त कर देना आवश्यक है। और यह केवल शुष्क भाषानुवाद के रूप में न होकर उत्कट भक्ति भाव से होना आवश्यक है।

श्री ब्रह्मचारी जी भगवद् भक्ति में नित्य लीन रहते हैं। अतः उनके मुख से निकलने वाली सहजवाणी विशुद्ध भक्ति के मधुर रस से आर्द्र रहती है। ऐसी मृदु मधुर सरस भाषा में श्रीमद्भागवत महा पुराण रहस्य सबको अवगत करा देने के लिए वे कृत सकल्प है। अष्टो-त्तरशत खण्डो मे ग्रन्थ पूर्ण करने की उनकी योजना है। उसमे से यह ७० वाँ खड है। शीघ्र ही शेष खड भी प्रकाशित होंगे और सामान्य सीधे साधे भोले किन्तु भक्ति की चाह रखने वाले असख्य श्रद्धालु बन्धुओं की अभिलाषा पूर्ण होगी ऐसा मुझे विश्वास है।

परम मंगल अकारण करुणामय दया घन श्री भगावन् की असीम कृपा से उनकी साक्षात् मूर्ति ही श्री भगवती कथा के शब्द देह को धारण कर प्रकट हो और ससार तप्त जन को शाति प्रदान करें इस हेतु उनके चरण कमलो में मैं विनम्र प्रार्थना करता हूँ।

केवल प्रस्ताविक के नाते अधिक लिखना मेरे लिए अशोभनीय होगा। वस्तुतः मेरा यह लिखना भी सामान्य छोटे से दीपक से सहस्र राशि सूर्य नारायण को प्रकाशित करने की चेष्टा के समान हास्यास्पद है। श्री महाराज जी की आज्ञा का पालन करना इसी एक उद्देश्य से यह धृष्टता की है जिसके लिए सब श्रेष्ठ भक्त वाचक वृन्द से क्षमा याचना करता हूँ।

मा० स० गोलवकर

अपनी निजी चर्चा

[१]

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेणवभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥*
(श्री मद्भाग० १ स्कं० १९ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

माँ गंगे ! अति सरस सुखद पय सतत पिआओ ।
कृष्ण चरण रज सहित तुलसियुत नीर बहाओ ॥
अज हर सुर सब लोक करत पावन भू आओ ।
करहु कृतारथ सबनि स्वरग सुख मोक्ष दिवाओ ॥
तारे अगनित जीव जड़, अंत अंक आश्रय लहहिँ ।
हत भागी ते मृतक नर, चरन शरन तव नहिँ गहहिँ ॥

पूर्व जन्मों के संस्कार वश बाल्य काल से ही भगवती भागीरथी गंगा के प्रति मेरे हृदय में प्यार रहा है। जन्म भूमि

---

* गंगा तट पर पहुँच कर महाराज परीक्षित कह रहे हैं—श्रीकृष्ण चरण रज के संसर्ग से तुलसी विश्रित शोभायुक्त नीर को बहाने वाली श्री गंगाजी हैं। तथा जो लोकपालों सहित दोनों लोकों को पावन करने वाली हैं, ऐसी गंगाजी को कौन मुमुर्षु पुरुष सेवन न करेगा।

से गंगाजी ३० कोश बताई जाती हैं। उस ओर के श्री के सभी घाटों पर प्रत्येक पूर्णिमा को नहान का मेला है। बहुत से लोगों का तो प्रत्येक पूर्णिमा को गंगा स्नान का नियम रहता है। कोई १२ पूर्णिमा २५ पूर्णिमा १०० पू. की मानता मानते हैं। हमारा यह काम गंगाजी करदें तो १२ पूर्णिमा नहायेंगे। इस प्रकार गंगा मैया तट से दूर वालों को भी कभी न कभी अपने चरणों की शरण में बुला हैं। जबकी मैं बातें कह रहा हूँ, तब मोटर बस आदि प्रचार नहीं था। समर्थ लोग रथों में, बहली, मंझौली, गाड़ी, गाड़ा, लढ़िया, लहड़ू आदि बैलों की गाड़ियों में गंगा स्ना के निमित्त जाते थे। घर से अचार, परामठे, लड़ुआ, सकल से पारे नमकीन सकलपारे, मठरी, टिकियाँ आदि बना कर पाथेय-टोसा-बांध कर ले जाते थे दो तीन दिन उसी टोसा से निर्वाह करते गंगा तट पर पहुँच कर बालू में उड़द की दाल बाटी बनाते गंगा जल में बनी दाल बाटी में सकरे निखरे छूआ छूत-कच्ची पक्की का भेद भाव नहीं। गंगा किनारे बैठकर खालो। बैल गाड़ियों की गंगा किनारे भीड़ लग जाती। जो लोग गरीब होते जिनके घर में बैल गाड़ियाँ न होतीं, वे लोग ऊँट गाड़ी सिकरमों में जाते। ऊँट की गाड़ी आधुनिक बड़ी बसों के समान दुमंजिली होती। उनमें १८-२० आदमी नीचे बैठते उतने ही ऊपर। प्रायः पुरुष नीचे की मंजिल में बैठते ऊपर की मंजिल में महिलाएं बैठतीं। कभी-कभी महिलाओं की गोद के छोटे-छोटे बच्चे पेशाब कर देते। नीचे के लोगों के ऊपर आता। कोई बुरा नहीं मानते यह कह कर टाल देते थे पूत को मूत प्रयाग को पानी। ऊँट गाड़ियो में कोल अलीगढ़ से अतरौली तक के ६ पैसा दो आना सवारी

लगती। वहाँ से रामघाट तक पैदल जाते। हरिद्वार से लेकर वालीवाला घाट, गढ़मुक्तेश्वर, बिजनौर, गंज, हस्तिनापुर, शुक्रताल, भगवानपुर, अनूपशहर, भैरिया, कर्णवास, राजघाट नरौरा, नरवर, रामघाट, आदि जितने गंगा जी के घाट थे सभी पर पूर्णिमा के मेले लगते। गंगा दशहरा, कतिकी पूर्णिमा आदि को भारी भारी मेला लगते। मेला तो अब भी लगते हैं, किन्तु तब की सी श्रद्धा भक्ति अब कहाँ रही। गंगा जी से जो लौट कर आते, वे गाँव घर वालों को बाँटने के लिये प्रसाद अवश्य लाते। गंगाजी से लौटकर आये हैं, लोग प्रसाद माँगेंगे तो क्या देंगे। इसलिये प्रत्येक यात्री गंगाजी का प्रसाद लाता। प्रसाद की तीन वस्तुएँ होतीं। गंगा जल, गंगोटी और चनौरी या इलायची दाने। गंगा घाटो पर कांच की बनी गंगा जली बिकती थीं। वे बहुत ही पतले कांच की बनी रहती। उनके रखने को झाऊ के बने ढकोला बिकते थे। उन दिनों एक पैसे के दो तीन ढकोले मिलते थे। ढकोला में घास-फूस रख कर उसमें गंगा जली रख लेते। ढकोला सहित घास-फूस रखी हुई गंगाजली उन दिनों ६ पैसे दो आने में बड़ी हुई तो १० पैसे में मिलती थी। काबर लेनी हो अर्थात् कंधे पर रख कर दोनों ओर गंगा जली भरी रहती थीं। उन्हें प्रायः शिवरात्रि के अवसर पर भर कर लाते और सुप्रसिद्ध महादेवों के मन्दिरों में वह काबर चढ़ाई जाती थी। कैसी छटा होती थी गंगा जी के उन मेलों की। वे सब बातें अब स्वप्न हो गयीं। उन दिनों सभी देहातियों को चलने का अभ्यास था। कोई कोई तो ३०-३०, ३५-३५ मील एक दिन में चले जाते। दूसरे दिन गंगा नहा कर अपने गाँव में लौट आते थे। एक दिन में ३०-३५ कोश चलना साधारण सी बात समझी जाती थी। हम लोग बहुत

छोटे-छोटे बच्चे थे। पूर्णिमा के सायंकाल से या प्रतिपदा को गंगा जी से लौटने वालों की टोह लेते रहते। प्रसाद के लालच से। प्रसाद में एक बूँद गंगा जल, चने की बराबर गगा की मिट्टी (गंगोटी) और दो चार चिनौरी या कोई बड़ा हुआ तो एक दो इलायची दाने। चिनौरी में और इलायची दानों में अन्तर रहता है, दोनों ही चीनी से बनती हैं चिनौरी तो समा या कांगुनी के बीजों से चीनी के बक्खर से बनाई जाती हैं, वे चना की कराबर छोटी होती हैं इसीलिये उन्हें चिनौरी कहते हैं। बड़ी इलायची के दानों से उनसे चौगुनी पचगुनी बड़ी बनती हैं उसे इलायची दाना कहते है। चिनौरी तो मीठी होती ही हैं और बच्चों को-विशेष कर-देहाती गाँव के बच्चों को मीठा कितना प्रिय होता है, इसको सभी जानते हैं। किन्तु हमें तो सबसे अधिक स्वाद उन दो बूँद गङ्गाजल में आता था। गङ्गोटी (गङ्गा जी की मिट्टी) को हम लोग मिट्टी नही समझते थे। सोचते थे, यह कोई विलक्षण वस्तु है उसे माथे से शरीर से लगा कर खा जाते थे।

प्रसाद देने वाले गङ्गाजल की बूँदे बड़ी कृपणता से देते। क्योंकि उस गङ्गाजल को उन्हें घर में सँजो कर रखना भी होता था। उस गङ्गाजली के सामने नित्य नियम से दीपक जलाया जाता था।

जब गंगाजल प्रसाद में मिलता, तो बड़ी इच्छा होती, तनिक अधिक मिल जाय, उसमें अमृतोपम स्वाद प्रतीत होता था। सब कुछ भावना के ही ऊपर तो निर्भर करता है। तब तक हम यह नही समझते थे कि गंगाजी कोई नदी है। हम यही सोचते थे कहीं से थोड़ा-थोड़ा जल चूता होगा, ये लोग वहाँ से बड़ी कठिनाई से मरकर लाते होंगे, तभी तो इतनी कृपणता से एक-एक

चूंद देते हैं। मन में बड़ी अभिलाषा थी कि कभी एक पल भर कर गंगाजल पीने को मिल जाय। गंगा मैया ने यह भी इच्छा पूर्ण की और वह भी गंगा दशहरा के दिन।

सर्वप्रथम गंगा दर्शन

मुझे खूब याद है, उस समय मेरी अवस्था ३-४ वर्ष की रही होगी। क्योंकि रेल में मेरी टिकट नहीं ली गयी थी। स्टेशन से निकलते समय मेरी माँ मुझे गोदी में लेकर अपने वस्त्र से ढककर ले गयी थी। जिससे रेल बाबू मेरी टिकट न माँगे। स्यात् ३ वर्ष तक के लड़कों को टिकट नहीं लगती थी। मेरी अवस्था तीन से अवश्य ही कुछ बड़ी रही होगी। मातायें इस प्रकार की चोरी करने में कोई पाप नहीं मानती। सर्वप्रथम तभी मैं गंगाजी गया और तभी सर्वप्रथम रेल में बैठा। उन दिनों मेले के दिनों में मालगाड़ी के डिब्बे लग जाते थे। यात्री मालगाड़ी के डिब्बों में ही जाते थे। हम जब पहिले पहिल गये थे, तो तीसरी श्रेणी के एकदम नये डिब्बे बन कर आये थे। हमारे साथियों को तो मालगाड़ी के डिब्बों में चढ़ने का अभ्यास था। उन चमचमाते डिब्बों में मारे डरके कोई चढ़े नहीं। सभी कहें—अरे, ये तो 'फस्ट किलास के है, इनमें चढ़ोगे तो ड्योढ़ों किरायो लग जायगो। फिर एक पढ़े-लिखे आदमी ने बताया—"नहीं, यह थरड किलास के ही डिब्बे हैं, इनमें चढ़ जाओ।" तब हम सब चढ़े और फैल फूट कर बैठ गये।

रेल से गगा स्नान जाना होता तो राजघाट तक सीधी रेल जाती। ऊँटगाड़ियों में जाना होता तो अतरौली तक पक्की सड़क थी वहाँ तक ऊँटगाड़ियों में जाते। वहाँ से रामघाट ७ कोश है उतना फिर पैदल चलना पड़ता। चाँदनी रात्रि में हंसते

खेलते "गंगा मैया की जै", "धारा वाली की जै" राधे, वा
प्यारे, हनुमान की हुं, के नारे लगाते हुए मेले के साथ-साथ चले
जाते। वे ७ कोश मालूम ही न पड़ते। रास्ते में पग-पग पर
प्याऊ। ठंडा पानी पीओ, कोई पानी के साथ गुड़ भी देते
कोई चना और गुड़ की जमाई हुई 'गुड़चनी' देते। हम लोग
गाँव के धर्मभीरु लोग दान पुण्य की इन वस्तुओं को नहीं लेते
यही नहीं जिस प्याऊ पर पानी पीते उस प्याऊ वाले को भी एक
पैसा दे देते। जिससे पानी पिलाकर वह हमारा पुण्य न लेले।
एक बुढ़िया पिसनहारी की प्याऊ थी। आटा पीस-पीस कर
उसकी पिसाई से उसने प्याऊ लगवाई थी। कैसी लोगों की धर्म
भावना थी। दो पैसे में पाँच सेर अन्न पीसना पड़ता। दस-दस
सेर नित्य अन्न पीसकर १०-२० वर्ष में १५०-२००) इकट्ठे कर
लिये। १५०-२०० होते ही उनकी सबसे पहिले इच्छा यही होती,
मेरे इन पैसों से कोई कूआ बन जाय, कहीं तिदरी बन जाय, या
प्याऊ ही लग जाय। सेठों पर पैसा आ जाता तो वे धर्मशाला,
पाठशाला, औषधालय, सदावर्त आदि लगाते उन दिनों यही
मुख्य समझा जाता। अब तो जो आवे अपनी ही सुख सुविधा में
लगाओ। सैकड़ों बहुमूल्य साड़ियाँ खरीदो। मोटर लो वातानु-
कूलित घर बनवाओ। धरम-करम सब ढोंग है, पिछड़ापन है,
बामनों की ठग विद्या है।

सर्वप्रथम राज घाट में ही भव भयहारिणी त्रिताप शमनी
भगवती भागीरथी के दर्शन हुए। उन दिनों गंगा जी में जल
थोड़ा ही था, तब तक भी हम यह नहीं समझ सके कि यह कोई
नदी है। तभी यही समझा यह कोई तालाब है और रेल के पुल
तक भरा हुआ है। हमारा यह भ्रम तो दूर हो गया कि तनिक
तनिक रिसने वाला जल नहीं है, बड़ा भारी तलाव है। ज्येष्ठ

की गरमी के दिन-चिरकाल की अभिलाषा आज सजीव साकार हुई। मुझे याद नहीं दिन में ५० बार स्नान किया या १०० बार-ऐसा लगा किसी जन्म के दरिद्री को अपार धन राशि मिल गयी हो। बिना प्यास के भी पचासों बार जल पीते। अभी स्नान किया है, लौटकर खरबूजा खा लिया। फिर स्नान, चनोरी खाली फिर स्नान। कैसी उस समय की भावना थी। हायः वह अब पुनर्जन्म की सी बातें हो गयीं। दो या तीन दिन गंगा किनारे रहे। वे दिन कैसे स्वर्गीय सुख की भाँति बीते। वे गंगा जल में बनी रोटियाँ, वह उड़द की दाल लिखते लिखते अब भी मुँह में पानी भरा आ रहा है। गंगा मैया की यह सर्वप्रथम कृपा थी।

इसके पश्चात् तो अनेक बार गंगा स्नान को गये। अनूप शहर में महीनों गगा किनारे रहे परन्तु गंगा तट वासी बनने की जो एक जन्म जन्मान्तरीय अभिलाषा थी वह पूरी नहीं हुई।

सन् २१ के असहयोग आंदोलन में जेल गये वहाँ से ६ महीने पश्चात् छूट कर सीधे गंगा किनारे अनूप शहर आये। वहाँ महीने भर रहकर चांद्रायण व्रत किया और मैया से प्रार्थना की माँ अब मुझे अपने चरणों से पृथक् मत करना। माँ ने मेरी यह बात मान ली और मैं काशी जी में आकर गंगा किनारे रहने लगा। किन्तु इस वैराग्य ने मुझे कहीं टिकने नहीं दिया। सोचा-ऐसे ही सर्व साधारण पुरुषों की भाँति जीवन बिताओगे। संसार में एक आदर्श स्थापित करो, त्याग वैराग्य का उच्चादर्श दिखा दो। इस पर भी गंगा ने नहीं छोड़ा सोचा—गंगा किनारे-किनारे बिचरेंगे, जो भी भिक्षा मिल जायगी उसी पर निर्वाह करेंगे, पक्षियों की भाँति अनिकेतन, अपरिग्रही बनकर जीवन

बितायेंगे। गंगा किनारे-किनारे चल पड़े। गंगा जी ने नहीं छोड़ा नहीं छोड़ा।

रोटी माँगने में बड़ी लज्जा, अत्यंत संकोच कभी माँगा नहीं। दो चार लड़के साथ रहते वे ही माँग लाते मैं तो माँगी हुई भिक्षा को बाँटकर खाने वालों में था। गंगोत्री तक सर्वत्र देखा। किसी ऐसे स्थान की खोज में थे, जहाँ जंगली कंद मूल फल बारहो महीने मिल जायँ, जिससे किसी के यहाँ माँगने न जाना पड़े, किन्तु गंगा किनारे ऐसा कोई स्थान नहीं मिला। सन्त महात्माओं से पूछता रहा। किसी ने कहा—चित्रकूट के जंगल में कंदमूल फल मिलते है। बहुतों ने कई प्रकार की कथायें भी सुनायीं। एक दिन हम लोग मार्ग भूलकर भटकते-भटकते चित्रकूट के जंगल में पहुँचे। कहीं मार्ग ही नहीं दीखता था सर्वत्र अंधेरा था चलते-चलते एक महात्मा की कुटी में पहुँचे उन्होंने पूछा—"कुछ खाओगे" हमें भूख बड़े जोर की लगी थी हाँ, कहने पर उन्होंने धूनी में से एक सकरकंदी से भी बहुत बड़ी कंद निकाली। उसे वस्त्र के ऊपर झाड़ा। उसमें से चावल के दानों की भाँति बहुत से दाने निकले, उन्हें हमने खाया अत्यंत ही स्वादिष्ट थे। खूब पेट भर गया।"

इन बातों को सुन-सुनकर मेरे मन में भी यही बात आई, कि ऐसे कंदों का कोई वन मिल जाय, तो जीवन भर वहीं रहूँ। चित्रकूट गया। कंदमूलों की खोज की। किन्तु काल के प्रभाव से जंगली कंदमूल फलों को तो वसुन्धरादेवी ने अपने गर्भ में छिपा लिया। लोगों ने बताया आज से ५०।१०० वर्ष पहिले तो कुछ कंदमूल फल थे। जिनसे कुछ महात्मा किसी प्रकार जीवन निर्वाह कर सकते थे, किन्तु अब तो वन ही नहीं रहे। जिस कंद की बात कही जाती है कि चावल के दाने से भूनने पर

निकलते हैं, वह कंद यहाँ थी तो सही। एक वैरागी महात्मा थे उनको उसका ज्ञान था। उनके शरीरान्त के पश्चात् अब कोई उस कंद को नहीं जानता। अब भी कहीं-कहीं कंद हैं किन्तु वे खाने योग्य नहीं है। कमर की बराबर गड्ढा खोदो। दिन भर खोदते रहो कभी उसमें से कंद निकल आवेगी कभी नहीं भी निकलेगी। वह खाने में कसैली कड़वी होती है। उससे पेट नहीं भरेगा १२ महीने केवल कंदमूलों पर ही रहकर निर्वाह किया जाय, ऐसा कोई स्थान नहीं। चित्रकूल के कंदमूल के नाम से जो माघ मेले में कंद बेचते है, वह कन्द नहीं। खजूर क जड़ है, हाथ में एस्कीन लगाकर बहुत पतले परत को मीठा बना देते हैं यह ठग विद्या है। इतना बड़ा कंद चित्रकूट में कहीं नहीं मिलता।"

इन बातों को सुनकर निराश होकर मैं चित्रकूट से लौट आया। फिर किसी ने बताया नर्मदा किनारे कन्दमूल फल मिलते हैं यह सुनकर हुसंगाबाद के समीप नर्मदा किनारे गया। सोचा था "रेवातीरे तपः कुर्यात मरण जान्हवीतटे"—तपस्या करनी हो तो नर्मदा के तट पर करे किन्तु मरना हो तो गंगा जी के ही किनारे आकर मरे। मृतकों को एक मात्र आश्रय देने वाली श्री गंगा जी ही है। "कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः" ऐसा कौन मुमुर्षु पुरुष होगा जो ऐसी गंगा जी का सेवन न करे।"

नर्मदा किनारे भी मेरी आशा निराशा में ही परिणित हुई। वहाँ से लौटकर फिर तीर्थराज प्रयाग में प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में हंसतीर्थ पर रहने लगा। गंगा, यमुना और सरस्वती तीनों माताओं ने अपना लिया। झूसी वाले बाबा बन गये।

यह जीव पूर्वकृत वासनाओं से बंधा है। कुछ वासनायें, शुभ होती हैं, कुछ अशुभ। कुछ सद्वासनायें हैं कुछ असद्वासनायें।

कैसी भी क्यों न हो प्राणी पूर्व कर्मकृत वासनाओं से बँधा है। उन वासनाओं का ऐसा सुदृढ़ जाल है, कि मनुष्य कितनी भी इच्छा करे। उसे वासनायें ठेल ठालकर उसी ओर ले जायेंगी। इसीलिये भगवान् ने गीता में अर्जुन से कहा—यदि तू अहंकार के वशीभूत होकर इस बात का आग्रह करे, कि मैं युद्ध न करूँगा, तो तुम्हारा यह व्यवसाय मिथ्या है, प्रकृति तुम्हें पूर्व जन्मकृत कर्मों द्वारा निर्मित वासनाओं के अनुसार उन्हीं कार्यों में नियुक्त कर देगी। तू करना भी न चाहेगा तो तुझे अवश होकर उस कार्य को करना पड़ेगा।"

जब काशी से गंगा किनारे चला था, तब कागद लेखनी फेंककर यह प्रतिज्ञा करके चला था, कि अब सफेद कागदों को काला न करूँगा। अब लेख पुस्तकें न लिखूँगा, किन्तु मेरा यह व्यवसाय मिथ्या सिद्ध हुआ। 'भागवती कथा, जैसे विशाल ग्रन्थ के लेखन में प्रकृति ने-वासनाओं ने-प्रवृत्त कर दिया। पहिले सोचा था यह ग्रंथ ५०।६० भागों में पूरा हो जायगा। किन्तु जब ६० भागों में केवल कथा प्रसंग ही आया तो १०८ भाग में लिखने की प्रसिद्धि हो गयी। बीच में अनेक विघ्न आये, मन ने बारंबार धिक्कारा अरे, तैने किस लिये घर छोड़ा था, करने क्या लग गया। लेखन प्रकाशन, कागद, कलम, स्याही प्रेस, किस गोरख धंधे में फँस गया। छोड़ इन झंझटों को। किन्तु झंझट मुझे छोड़े तब न।

गंगा जी में कोई रीछ बहा जा रहा था। एक गुरु चेल नहा रहे थे। चेला ने समझा काला कंबल बहा जा रहा है, इसे तैर कर ले लूँ जाड़ा ही कटेगा। गुरुजी मना करते रहे, वह माना ही नहीं। उसे तो अपनी तैरने की विद्या का अभिमान था। जाकर झट रीछ के पास पहुँच गया। ज्यों ही रीछ को पकड़ना चाहा

रीछ ने उसे स्वयं ही पकड़कर अपने पंजों में कस लिया। चेला जी उससे छुड़ाने का बहुत प्रयत्न करने लगे, किन्तु रीछ का पकड़ा सहज नहीं छूट सकता।

किनारे पर खड़े गुरुजी ने जब देखा कि चेला जी तो गंगा के प्रवाह में बहे चले जा रहे हैं, तो वे चिल्लाये—"अरे, कंबल हाथ नहीं आता है, तो जाने दे, उसे छोड़कर तू तो पार हो जा।" तब चेला ने उत्तर दिया—"गुरुजी! मैं तो कंबल को बहुत छोड़ना चाहता हूँ, किन्तु कम्बल मुझे छोड़े तब तो?"

सो वास्तव में मुझे कंबल ने कसकर कपड़ लिया है। इस मान, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि कीर्ति के कंबल रूपी रीछ ने मुझे इस प्रकार कस कर पकड़ लिया है, कि मैं छटपटाता हूँ, पूरा प्रयत्न करता हूँ, किन्तु इसके पंजों से छूट नहीं सकता। यह मुझे पूरा विश्वास है, कि श्याम सुन्दर कभी न कभी तो मेरी सुधि लेंगे। मेरी वासनाओं की पूर्ति करके मुझे पार लगा देंगे।

लोग कहते हैं—"अजी, महाराज! आप तो परोपकार कर रहे है, आप कुछ अपने लिये थोड़े ही करते हैं। आपको पता नहीं भागवती कथा से कितने लोगों का कल्याण हुआ है, कितने भूले भटके सुमार्ग पर आये हैं। सहस्रों स्थानों पर इसकी नित्य प्रति नियम से कथा होती हैं, कितने लोग इन कथाओं को श्रवण करके कल्याण मार्ग में अग्रसर हुए है। भागवत, चरित के कितने व्यास गाँव-गाँव नगर-नगर जाकर भगवान् की कथा कहते हैं, कितने लोग भागवत् चरित, का नित्य नियम से पाठ करते हैं। लोगों का कल्याण ही हो रहा है।"

लोगों का कल्याण हो रहा हो, यह तो उनका कल्याण है, किन्तु अपना तो कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता दिखायी नहीं देता। भागवती कथा में कोई नई बात तो लिखी नहीं भगवान्

वेदव्यास के ही वचनों को इधर उधर से लेकर सजा दिया है। जैसे स्वामी का बहुत सुन्दर नाना भाँति के पुष्पों से सुसज्जित पुष्पित उद्यान हो। फूल के नाना वृक्षों को उसने लगवाया हो, माली यदि उन फूलों को तोड़कर उसका हार बना देता है, तो इसमें माली की क्या विशेषता? भगवान् व्यास ने तो कोई विषय छोड़ा ही नहीं। "व्यासोच्छिष्टमिदं जगत्" इस जगत् का का समस्त ज्ञान व्यास जी का उच्छिष्ट है। व्यास जी जो भी कुछ कह गये हैं परवर्ती लोग उसी का विस्तार मात्र करते हैं। जब लोग व्यास जी के ही वचनों से लाभ नहीं उठाते तो मेरे वचनों से क्या लाभ उठावेंगे। संसार तो सदा से ऐसा ही चला आ रहा है, ऐसा ही चलता जायगा। कुत्ते की पूँछ को कितना भी दबाकर रखो, वह टेढ़ी की टेढ़ी ही बनी रहेगी। व्यास जी स्वयं रो-रो कर कहते हैं "ऊर्ध्वबाहु विरोम्येतद् न कश्चित् शृणोति मे।" मैं दोनों हाथों को उठाकर रो-रो कर कह रहा हूँ, किन्तु कोई मेरी बात को सुनता ही नहीं। अरे, धर्म से अर्थ भी प्राप्त हो सकता है, धर्म से कामोपभोग भी हो सकता है। ऐसे धर्म का तुम सेवन क्यों नहीं करते।" जब व्यास जी की ही कोई बात नहीं सुनता, तो मुझ जैसे अल्पज्ञ की कौन सुनेगा। इसलिये लोक का कल्याण होगा। बहुत से लोगों को लाभ होगा, केवल इस भावना से तो मैं लिखता नहीं। मेरी तो वासना मुझे बार-बार विवश कर देती है। लिखे बिना नहीं रहा जाता। इर-फिर कर जब दूसरे कामों से उपरत होता हूँ, तो लिखवास लगती है। लिखने लगता हूँ, बीच में फिर कोई वासना उदय हो गयी– सस्ती प्रसिद्धि का फिर कोई अवसर प्राप्त हो गया–तो फिर उधर लग जाता हूँ, धूमधड़ाका मचाने लगता हूँ, जेल चला जाता हूँ। स्वयं जाता हूँ, सो बात नहीं, कोई भेज देता है। धूम

घड़ाके के बिना रहा नहीं जाता "स्वभावो दुरतिक्रमः" स्वभाव छूटना बड़ा कठिन है।

भागवती कथा संवत् २००० या २००१ में लिखनी आरम्भ हुई। संवत् २००३ में इसका प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ था। सोचा था—प्रत्येक महीने एक खण्ड निकाला करेंगे, इस प्रकार ९ वर्ष में इसके पूरे खण्ड निकल जायेंगे। यदि नियमित रूप से निकलती होती तो संवत् २०१२ में इसके पूरे १०८ खण्ड निकल जाते किन्तु ६० खण्ड तक पहुँचते-पहुँचते इसे ८ वर्ष लग गये। ६० वाँ खण्ड संवत् २०११ में प्रकाशित हुआ था। उस समय तक भागवती कथा का केवल कथा भाग ही समाप्त हुआ था। प्रकाशन के झंझटों से बड़ी ऊब आ गयी सोचा—अब होना था, सो हो गया ६० तक ही समाप्त कर दो। बीच में रुक गये और आंदोलनों में लग गये। फिर मन न माना तनिक अवसर मिलने पर पुनः प्रेरणा हुई कम से कम माहात्म्य तथा स्तुतियों को तो लिख ही दो। अतः पुनः संवत् २०१२ से महात्म्य के दो खण्ड एक वर्ष में लिखकर छपाये। फिर संवत् २०१३ से लेकर संवत् २०१७ तक ४ वर्ष में ६ खण्ड स्तुतियों के छपाये। और पाठकों से कह दिया। अब यहीं भागवती कथा की समाप्ति समझें। हिसाब-किताब बेबाक जिसका जितना लेना-पावना हो उतने की और पुस्तकें मंगा लें। भागवती कथा तो कभी समाप्त होने की वस्तु नहीं। अनन्त की कथा भी अनन्त है, इसका कहीं अन्त नहीं और जहाँ अन्त करना चाहो वहीं अन्त है ६ वर्ष तक फिर लेखन कार्य से उपरत रहे।

संवत् २०२३ फिर एक झोंका आया। गीतावार्ता भी तो भागवती कथा है भागवती कथा के गीतावार्ता खण्डों को भी लिखो। गीतावार्ता का प्रथम खंड (अर्थात् भागवती कथा का ६६वाँ खंड) संवत् २०२३ में प्रकाशित हुआ। फिर तो ऐसा तूफान उठा कि बड़े-बड़े वृक्षों की जड़ें हिल गयीं। इस उथल पुथल के

जीवन में बड़े-बड़े अनुभव हुए। अब तो फिर से लिखवाने ने जोर मारा है लिखने का पर्व आया है। प्रत्येक खंड में २०।२१ अध्याय भागवती कथा के रहेंगे, तो एक अध्याय में "अपनी निजी चर्चा" भी रहा करेगी। उसमें पाठक पाठिकाओं को अपने अनुभव की कटु बातें बताता रहूँगा। यद्यपि ये चर्चा गंगा जी की गैल में मदार के गोतों के समान है। मखमली गद्दी मे टाट का थेगरी के समान है, रत्नों की माला में काच के मन के समान है। पाठकों को पसंद हो न हो। मुझे तो कहना ही होगा। पाठकों से मेरा आत्मीयता का पारिवारिक सम्बन्ध है। अपने आत्मीयों से परिवार वालों से अपने दुख-सुख की अनुभव की कड़वी, खट्टी बातें बतानी ही पड़ती है। दुख-सुख कहने से चित्त हलका हो जाता है, दुख सुख-बंट जाता है। अतः पाठक गोरक्षा आंदोलन की बातें उपवास की घटनायें सब सुनने को तैयार हो जायं और अब फिर से भागवती कथा के स्थायी सदस्य बन जायं, अब गङ्गा जी माँ ने पुनः अपने चरणों में बुला ही लिया है। अपने समस्त साथी एक-एक करके चल बसे। हमने भी अब बोरिया बिस्तर बांध बूंध कर तैयार कर लिया है, पता नहीं कब बुलावट आ जाय। अब तो जब तक भी जीना है, लिखना ही है। लिखना मेरा सहज धर्म हो गया है। भगवान् ने कहा है "सहजं धर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजत्" सो इस लेखन प्रकाशन में दोष ही दोष हैं लिखने में तो कोई श्रम होता नहीं। झंझट की जड़ तो प्रकाशन है। प्रकाशन आजकल विशुद्ध व्यापार बन गया है। जो जितना चतुर व्यापारी होगा वह प्रकाशन में उतना ही अधिक सफलता प्राप्त कर लेगा। हम बहुत प्रयत्न करें और चाहें भी तो इस व्यापार में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। क्योंकि यह स्वधर्म नहीं पर धर्म है। फिर भी सभी सफल थोड़े होते हैं। हमारी गणना असफल ही व्यापारियों में होगी। बस, इतना ही तो है। इसलिये अब तो यह व्यापार फिर से आरम्भ कर ही दिया है सुख हो दुख हो, हानि हो लाभ हो, जय हो पराजय हो। सहजकर्म छूटता नहीं चौबीस घंटे समाधि में रह नहीं सकते। इससे अच्छा है भागवत सम्बन्धी कथाओं का ही मनन-चिन्तन हो।

गंगा जी ने अब तक तो कृपा की ही है, मै भले ही उन्हें छोड़कर चला गया होऊँ, किन्तु उन्होंने मुझे नहीं छोडा है। माँ! यह तुम्हारे अनुरूप ही है। पुत्र कुपुत्र भले ही हो जाय किन्तु माँ कभी कुमाता नहीं होती। इसलिये हे जननि! मुझे जैसे अब तक अपनाया है, वैसे ही अन्त तक निबाह लो। इस शरीर की अस्थियाँ आपके पावन प्रवाह में मिल जायं, यही मेरी भीख है। अब जीवन की सांध्य वेला में एक मात्र तुम्हारा ही सहारा है। साथी सब छोडकर चले गये। बहुत से परलोक वासी हो गये। बहुत से मुझे निकम्मा समझकर अपने स्वार्थ की सिद्धि न होते देखकर मुझे छोडकर अन्यत्र चले गये। बहुत से द्वेष करने लगे—तरह-तरह के लांछन लगाकर बदनाम करने की चेष्टा करने लगे। सबने त्याग दिया किन्तु माँ तुमने अब तक नहीं त्यागा। तुम ही इस अधम पर कृपा की दृष्टि की वृष्टि करती रहीं। माँ इसी प्रकार अन्त तक अपने क्रोड में स्थान देकर दीन हीन मति मलीन को अपनाये रहना यही मेरी भीख है हाँ, तो शेष अगले खंड में।

छप्पय

जननी! भटक्यो बहुत अधम पै करुना कीजे।
आयो तुम्हरी शरन मातु अब आश्रय दीजे॥
तव तट तजि माँ! दुखित फिर्‌यो हौं मार्‌यो मार्‌यो।
विषयवासना फँस्यो मोह जग बन्धन डार्‌यो॥
मान प्रतिष्ठा यश निमित, फिर्‌यो दंभ छल कपट युत।
गही शरन तव चरन की, अपनाओ हौं अधम सुत॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)
पुरुषोत्तममास (अधिक आषाढ़) शु० १
सं० २०२६ वि०

माँ का अधम सुत
प्रभुदत्त

गीता माहात्म्य

(प्रथम अध्याय)

[१]

शृणु सुश्रोणि वक्ष्यामि गीतासु स्थितिमात्मनः ।
वक्त्राणि पञ्च जानीहि पञ्चाध्यायाननुक्रमात् ॥
दशाध्यायान् भुजांश्चैकमुदरं द्वौ पदाम्बुजे ।
एवमष्टादशाध्यायी, वाङ्मयी मूर्तिरेश्वरी ॥*

(पद्म० पु० उ० अ० १७१,२७,२८ श्लो०)

छप्पय

गीता मेरी मूर्ति मोह गीता मय मानों ।
प्रथम पाँच अध्याय पाँच मुख मेरे जानों ॥
हैं जो दश अध्याय भुजादश मेरी मनहर ।
सोलहवो मम उदर जगत पालक अति सुखकर ॥
शेष बचे अध्याय द्वै, चरन कमल मेरे मृदुल ।
माँ गीता की गोद में, पावें सुख सब नर सरल ॥

*श्री भगवान् लक्ष्मी जी से गीता को अपना स्वरूप बताते हुए कहते हैं—हे सुन्दरि गीता मे मैं अपनी स्थिति का वर्णन करता हूँ । पहिले ५ अध्याय मेरे पांच मुख हैं १० अध्याय मेरे दश हाथ हैं । सोलवां अध्याय मेरा उदर है और १७ वां १८ वा अध्याय मेरे दोनों पैर हैं । इस प्रकार १८ अध्यायों वाली यह मेरी वाङ्मयी मूर्ति है ।

श्रीमद्भागवत गीता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की वाङ्मयी मूर्ति है। भगवान् का शरीर ही है। शरीर में मुख्यतया ४ही अंग प्रधान हैं हाथ, पैर, उदर -मुख। श्रीभगवत् गीता में १८ अध्याय हैं। यह गीतामयी भगवत् मूर्ति पंचमुखी है। पंचमुखी कहने का अभिप्राय पंचभूत पंचतन्मात्रायें, पंच प्राण पंच ज्ञानेन्द्रिय पंच कर्मेन्द्रिय तथा पंच देवो मय है। इसलिये पहिले पांच अध्याय तो पंचमुखी भगवान् के पंच मुख हैं, और छटे से लेकर १५ तक ये दश भगवान् के हाथ है। अर्थात् दशों दिशायें ही उनके हाथ हैं। सोलहवां अध्याय उदर है। निखिल विश्व ब्रह्माण्ड ही उनका उदर है। और सत्रवें और अठारवें ये दो उनके पैर हैं। जीवात्मा और परत्मा। इस प्रकार यह गीता विराट् भगवान् की वाङ्मयी मूर्ति हैं। इस गीता-शास्त्र के पठन-पाठन से, श्रवण मनन से, ध्यान धारणा से भगवान् के विराट् स्वरूप का ज्ञान होता है।

भगवती सती ने अपने जीवन में अनुभव कर लिया, कि माता-पिता, भाई-बन्धु सगे-सम्बन्धी कोई भी अपने नहीं होते। अपने तो एक जगत्पति ही हैं, इसलिये दूसरे जन्म में वे पर्वत की पुत्री पार्वती जी ही हुईं और उन्होंने अपनी घोर तपस्या द्वारा अपने प्राणधन भगवान् शंकरजी को ही पुनः पतिरूप से प्राप्त कर लिया। अब के उन्होंने भगवान् शंकर जी से लौकिक प्रश्न पूछे ही नहीं। सब परमार्थ सम्बन्धी ही प्रश्न किये। जितने तन्त्र हैं मन्त्र हैं, माहात्म्य हैं सब भगवती पार्वती ही द्वारा प्रकट किये हुए हैं। लोक कल्याणार्थ भगवती पार्वती प्रश्न पूछ देती हैं। भगवान् शंकर स्नेह वश उसका समाधि भाषा में उत्तर दे देते हैं। माँ का इन संसारी जीवों के प्रति कितना उपकार है। इसी प्रकार एक दिन माता पार्वती जी ने शिवजी पूछा—"प्रभो! आप भगवान्

विष्णु के अनन्य उपासक हैं और भगवान् विष्णु भी आपकी पूजा करते हैं। समय-समय पर आपने मुझे भगवान् की महिमा सुनायी है। आज मैं आप से एक और प्रश्न करना चाहती हूँ।"

शिव जी ने हँसकर कहा—"हाँ, हाँ, देवि! तुम निःसंकोच होकर पूछो क्या पूछना चाहती हो, मुझे तो भगवत् सम्बन्धी प्रश्न कोई अच्छा अधिकारी पूछे तो उसका उत्तर देने में बड़ा आनन्द आता है।"

पार्वती जी ने कहा—भगवन्! मैंने सुना है श्री मद्भागवत् गीता भगवान् की वाङ्मयीमूर्ति है, अतः मैं आज श्री मद्भगवत् गीता का महात्म्य सुनना चाहती हूँ।"

यह सुनकर भगवान् शंकर हँसे और बोले—"देवि! तुम तो सदा जीवों के कल्याण के ही लिये प्रश्न किया करती हो। अच्छी बात है, तुमने बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। जैसा तुमने मुझसे प्रश्न किया है, ऐसा ही प्रश्न भगवती लक्ष्मी जी ने अपने प्राणनाथ भगवान् विष्णु से किया था।"

पार्वती ने कहा—"भगवन्! लक्ष्मी जी ने किस प्रसंग में यह पूछा था?"

शिवजी बोले—"देवी! लक्ष्मी जी जगन्माता हैं न? वे भी जगत् के जीवों के कल्याण के निमित्त अपने प्राणवल्लभ परमेश्वर से प्रीति पूर्वक पूछती रहती हैं। एक दिन लक्ष्मी जी ने पूछा—"महाराज! आप सोते बहुत है। जगत् के पालन का इतना भारी काम तो आपने अपने सिर पर ले रखा है और फिर भी जब देखो तब शेष नाग की सुखद शैया पर सदा सुख पूर्वक सोते ही रहते हैं। अपने इतने भारी ऐश्वर्य के प्रति उदासीन ही बने रहते हैं।"

यह सुनकर शेषशायी भगवान् हँस पड़े और बोले—"देवि ! यही तो तुम्हारा भ्रम है, मैं सोता नहीं।"

लक्ष्मी जी ने कहा—"महाराज ! मैं तो सदा आपके परम कोमल अरुण वरण के चरणारविन्दों को शनैः शनैः सुहलाती रहती हूँ, आप उस समय झपकियाँ लेते रहते है।

भगवान् बोले—"देवि ! मै झपकिया नहीं लेता । मैं अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा माहेश्वर तेज का साक्षात्कार करता रहता हूँ। लक्ष्मी जी ने पूछा—कैसा है, वह तेज प्रभो ! भगवान् विष्णु ने कहा—वह तेज अजर अमर, प्रकाश स्वरूप, आत्मरूप शोक रोग आदि से रहित, अखण्ड, एकरस, आनन्दपुंज, नित्य, निरीह, एक, अद्वितीय है। उसी के ध्यान मे मै मग्न रहता हूँ। तुमको प्रतीत होता है, कि मैं सो रहा हूँ।"

लक्ष्मी जी ने आश्चर्य के साथ पूछा—प्रभो ! सब लोग तो आपका ध्यान करते हैं, आप किसका ध्यान करते हैं। यह माहेश्वर तेज आप से भिन्न है क्या ?"

भगवान् ने कहा—"देवि वह तत्व द्वैत, अद्वैत से भिन्न है। परमात्म स्वरूप है। गीताशास्त्र में मैंने उसका वर्णन है किया है।"

यह सुन लक्ष्मी जी बोली—"प्राणनाथ ! आपका स्वरूप स्वयं परमानन्दमय है और उसे आप मन, वाणी का विषय भी नहीं बताते तो गीता उसका वर्णन कैसे कर सकती है ?"

भगवान् विष्णु ने कहा—कहा—देवि ! गीता तो मुझसे भिन्न नहीं। वह भी तो मेरा स्वरूप है।

लक्ष्मी जी ने कहा—"जब गीता आपका स्वरूप ही है आपसे भिन्न कहाँ रहा ?"

भगवान् ने कहा—देवि ! मैं भिन्न कब कहता हूँ। जैसे सहस्रों नाम हैं यद्यपि मैं नाम रूपों से सदा परे हूँ, फिर भी किसी भी एक नाम का श्रद्धाभक्ति पूर्वक मनुष्य आश्रय ले ले वह एक नाम के ही प्रभाव से संसार सागर से सदा के लिये पार पहुँच जायगा। उसी प्रकार अठारह अध्याय वाली श्लोक वाली गीता के एक श्लोक आधा श्लोक अथवा चौथा श्लोक को भी जो अपने जीवन में ढाल लेगा। उसे ही आदर्शवचन मानकर उसके अनुसार जीवन यापन करेगा तो संसार सागर से उसी भाँति विमुक्त हो जायगा, जैसे सुशर्मा नामक ब्राह्मण गीता के केवल प्रथम अध्याय के पाठ से ही मुक्त हो गया था।"

यह सुनकर लक्ष्मी जी ने अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ पूछा—"प्रभो ! वह सुशर्मा ब्राह्मण कौन था और कैसे वह गीता के प्रथम अध्याय के पाठ से मुक्त बन गया इस प्रसंग को कृपा करके मुझे सुना दें।"

भगवान् ने कहा—"देवि ! सुशर्मा न तो कोई कुलीन ही था, न ब्राह्मणोचित कर्म करने वाला कोई सद्गृस्थ। वह जाति का तो ब्राह्मण अवश्य था, किन्तु कार्य उसका एक भी ब्राह्मणों के समान नहीं था। वह कृषि कार्य करता, जंगलों में से पत्ते लाकर बेचता था। मांस मदिरा का सेवन करता था, कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि उससे कोई भी कुकर्म बचा नहीं था। एक दिन वह बन में किसी पत्ते लाने को गया था, वहाँ किसी काले सर्प ने उसे डस लिया उसकी अकाल मृत्यु हो गयी।

लक्ष्मी जी ने पूछा—"फिर क्या हुआ भगवन् !

भगवान् बोले—"पापियों के लिये जो होता है, वह उसके लिये भी हुआ। यमराज ने उसे नाना नरकों में डाल दिया। नरकों की यातनायें सहता हुआ वह अपने दुष्कृत कर्मों का फल भोगता रहा। जब उसके कुछ पाप शेष रहे, तो पृथ्वी पर आकर बैल की योनि में उसका जन्म हुआ।

बैल बड़ा हुआ। एक पंगु मनुष्य था, उसने एक बैल की गाड़ी बनवायी। उसी गाड़ी में जोतने के लिये उस बैल को क्रय कर लिया। वह पंगु बड़े ठाठ के साथ उस गाड़ी मे बैठकर घूमा करता था और उस बैल को भी खूब घुमाता था। एकदिन पहाडी मार्ग पर उसने उसे बहुत घुमाया, इससे वह बैल अत्यन्त थक गया और मूर्छित होकर गिर पड़ा। पंगु गाड़ी में ही बैठा रहा। एक नगर की सड़क पर वह गिरा था। बहुत से लोग कुतूहल वश उसे देखने आये। दर्शनार्थियों की एक बड़ी भारी भीड़ लग गयी।

तब उनमें से एक धर्मात्मा पुरुष बोले—"अरे, भैया! यह जीव अपने पाप कर्मों के कारण ऐसी यातना भोग रहा है, इसके निमित्त सभी लोग अपना-अपना थोड़ा-थोड़ा पुण्य दान करो, जिससे इसका परलोक बन सके। सबसे पहिले तो मै अपनी एक एकादशी के पुण्य का दान करता हूँ। दूसरे ने कहा—मैने एक कूप बनवाया है, उस कूप के पुण्य को इसकी सद्गति के लिये दान करता हूँ। इस प्रकार एक दूसरे की देखा देखी सभी लोग उस बैल की सद्गति के लिये दान करने लगे।

उस भीड़ में एक वेश्या भी खड़ी थी। सब लोगों को पुण्य दान करते देख कर उसने कहा—"मैंने तो अपने जीवन में पाप ही पाप किया है, किन्तु अकस्मात् दैवेच्छा से मुझसे कुछ भी

पुण्य कर्म बन गया हो तो उस पुण्य को मै इस इस बैल निमित्त दान करती हूँ।

अब तक वह बैल साँस ले रहा था, अब उसने अंतिम साँ ली और वह मर गया। मर कर यमराज के न्यायालय में उप स्थित किया गया। इसके पाप पुण्यों पर विचार हुआ। चित्र गुप्त जी ने इसका पुराना चिट्ठा उपस्थित किया। उन्होंने बताय इसने पाप तो बहुत किये थे, किन्तु बहुत से लोगों ने इसके निमि बहुत से पुण्यों का दान किया है, उन सब पुण्यों से इसके कुछ पा तो नष्ट हो ही गये। सर्व श्रेष्ठ दान तो एक वेश्या का है, उस के पुण्य प्रभाव से यह सब पापों से विमुक्त हो गया और अब य पुनः पृथ्वी पर ब्राह्मण योनि में जन्म लेगा।"

भगवान् श्री लक्ष्मी जी से कह रहे हैं—"देवि! वही बै भूमि पर आकर एक अत्यन्त उत्तम कुलीन कुल में वेद वेदा ज्ञाता विशुद्ध ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ। अब के यह जा स्मर हुआ। इसे अपने पूर्वजन्मों की याद थी। उसे यह भ स्मरण था कि मै एक वेश्या के दिये हुए पुण्य से पुण्यवान बना हूँ और उस पुण्य के प्रभाव से मै ऐसे उत्तम कुल मे जन्मा हूँ। अ वह समर्थ होने पर उस वेश्या के समीप गया। और उस बोला—"देवि! आपने एक मरते हुए बैल पर कृपा करके अप पुण्यदान किया था क्या?"

वेश्या ने कहा—"हाँ, मैंने किया तो था।"

ब्राह्मण ने पूछा—"कौन-सा पुण्यदान किया था?"

वेश्या ने कहा—"पुण्य का तो मुझे स्वयं ही पता नहीं।"

ब्राह्मण ने कहा—"देवि! ऐसी बात मत कहो। वह वेल मैं ही हूँ। उस समय बहुत से लोगों ने मेरे निमित्त पुण्यदान किया था, उसमें आपका पुण्य सर्वोत्कृष्ट माना गया। उसी के प्रभाव से मैं समस्त पापों से विमुक्त होकर साधक जिज्ञासु मुमुक्षु योनि में उत्पन्न हुआ हूँ। बड़े भारी पुण्यों के प्रभाव से ही मनुष्यों के हृदय में दया उत्पन्न होती है। दूसरों के प्रति जो दया के भाव प्रदर्शित करे वह अवश्य ही बहुत पुण्यात्मा प्राणी होगा।"

वेश्या ने कहा—"मैंने तो जीवन में पाप ही पाप किये हैं। कोई बहुत बड़ा पुण्य मैंने इस जन्म में किया हो इसका मुझे स्मरण नहीं। हाँ, मेरा एक तोता है। वह देववाणी में बड़े मधुर स्वर में कुछ बोलता है, उसके शब्द मुझे बहुत ही प्यारे लगते हैं और उन्हीं के श्रवण से मेरा अन्तःकरण शुद्ध होने लगा है, मेरे मन में दया धर्म के भाव जागृत होने लगे हैं।"

वेश्या की यह बात सुन कर वह ब्राह्मण वेश्या को साथ लिये, हुए तोता के पास गया और बोला—"तोता! तुम कौन हो? तुम कौन सा मनोहर स्तोत्र पढ़ते हो, तुम्हें यह स्तोत्र कहाँ से मिला। यदि तुम हमें सुनाने के योग्य समझते हो तो सुना दो।"

तोता ने कहा—"विप्रवर! पूर्व जन्म में मैं भी बड़ा विद्वान् ब्राह्मण था। मुझे वेदशास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था। इतना होने पर भी मुझे अपने ज्ञान का बड़ा अभिमान था। समस्त पापों का बीज अभिमान ही है। अभिमान के वशीभूत होकर ही जीव

नाना पापों में प्रवृत्त हो जाता है। मैं भी अपनी विद्वत्ता के मद में मदमत्त होकर विद्वानों का अनादर करने लगा, उनसे ईर्ष्या द्वेष रखने लगा। सद्गुरु की भी मैं निन्दा करता और अपने ज्ञान के अभिमान में सदा चूर बना रहता।

कालान्तर में मेरी मृत्यु हुई। अपने पापों के फल भोगने के निमित्त मुझे नाना नरकों में क्लेश सहनी पड़ीं और अंत में गुरुओं की निंदा के प्रभाव से इस तोता योनि में आना पड़ा। बाल्यकाल में ही मुझे जन्म देने वाले मेरे माता-पिता मर गये थे, मैं अनाथ हो गया था, ग्रीष्म ऋतु में पानी न मिलने से मैं अचेत हो गया और एक मार्ग पर पड़ा बिलबिला रहा था।

उसी समय कुछ कृपालु मुनि उधर से निकल रहे थे, उनको मेरी दयनीय दशा पर दया आई, वे मुझे कृपा करके अपने आश्रम पर उठा ले गये। मुझे पानी पिला कर सचेत किया। मुनियों के समीप पढ़ने वाले विद्यार्थियों ने मुझे कुतूहल वश एक पिंजड़े में बंद कर दिया। वहाँ वे मुझे दाना पानी देने लगे। वे सब विद्यार्थी गीता पढ़ते थे। पहिले अध्याय को वे कंठस्थ करते और मुझे भी कराते। विद्यार्थी जैसे बोलते थे, वैसे ही मैं भी सुस्पष्ट शब्दों में गीता के प्रथम अध्याय का पूरा पाठ करने लगा। आश्रमवासी पाठ से अत्यन्त प्रभावित थे। मैं बहुत ही मधुर कंठ से पाठ करता था। एकदिन दैवयोग से एक बहेलिया वहाँ आ गया। वह पक्षियों को पकड़ कर उन्हें बेचा करता था। मेरे मुख से जब उसने शुद्ध-शुद्ध सुस्पष्ट शब्दों

में श्लोक सुने तो वह अत्यन्त ही प्रभावित हुआ। उसने सोचा यदि यह तोता मुझे मिल जाय, तो मै उसका बहुत मूल्य पाऊं। "किन्तु मुनियों के ब्रह्मचारी इसे स्वेच्छा से देने को तैयार न होंगे, यही सोच कर वह रात्रि में मुझे चुरा ले आया। इस वेश्या ने जब मुझे मधुर स्वर में श्लोक बोलते देखा, तो भारी मूल्य देकर खरीद लिया। मै गीता का प्रथम अध्याय का पाठ करता हूँ, इसी से इस वेश्या की बुद्धि शुद्ध हुई है और मैं भी जाति स्मर हुआ हूँ। यह सुनकर ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसी दिन से वह गीता का श्रद्धा भक्ति के साथ श्लोकार्थ को समझकर पाठ करने लगा। गीता के प्रथम अध्याय के प्रभाव से वेश्या का अन्तःकरण शुद्ध हो गया, और तोता भी गीता के प्रभाव से भवबंधन से छूट गया।"

सूत जी कहते है—"मुनियो ! यह मैंने गीता के प्रथम अध्याय के श्रवण का आप लोगों को महात्म्य सुनाया। ऐसे ही अठारहों अध्याय का मै तुम से क्रम-क्रम से वर्णन करूंगा। आशा है इसे आप दत्ताचित्त होकर श्रद्धा भक्ति के सहित श्रवण करेंगे और साथ ही गीता का मनन स्वाध्याय और पाठ करे। अब अगले अध्याय का माहात्म्य अगले खंड में वर्णन करेंगे।

छप्पय

गीता को इश्लोक एक आधो चौथाई।
पढ़ें प्रेम तैं पुरुष मुक्ति तिनिकी ह्वै जाई॥
विप्र सुशर्मा बैल भयो निज पापनि कारन।
वेश्या पुन्य प्रभाव तर्‌यो तोता उच्चारन॥
तोता बोल्यो प्रथम द्विज, शुक जन्म्यो अभिमान वश।
गीता इक अध्याय पढ़ि, तरे विप्र वेश्या सुयश॥

कृष्ण कृपा की कोर

[१]

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ *

(श्री भ० गी० २ अ० १,२ श्लो०)

छप्पय

संजय कहिबे लगे—नृपति ! सुनु भगवत गीता ।
भई भूमिका पूर्ण सुनत छूटत भव भीता ॥
अरजुन कूँ हरि लख्यौ गिर्यौ ममतातैं व्याकुल ।
नयन बहत जलधार शोकयुत अति ई आकुल ॥
करुनासागर दयामय, बने सारथी अरु सगे ।
मंद—मंद मुसकाइ यों, अरजुन तैं कहिबे लगे ॥

जीव के पास क्या है, अहंता और ममता । मैं ऐसा हूँ वैसा हूँ ।

---

* संजय कहने लगे—राजन् ! अर्जुन को जब इस प्रकार करुणा से व्याप्त अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रों से युक्त, शोक संविग्न भगवान् मधुसूदन ने

मेरे समान कौन है, मैं इस काम में हाथ न लगाता तो यह पूरा थोड़े ही होता। यह घर मेरा है, यह बाग बगीचा मेरा है, यह धन मेरा है,यह मेरा परिवार है, और चाहें जैसे रहें मैं और मेरा परिवार सुखी रहे। यह जैव धर्म है। ईश ज्ञान स्वरूप हैं, हैं। उनके यहाँ भक्ति का भंडार है। ज्ञान वैराग्य की निधि है। जीव का धर्म है विषाद करना। अंधकार में रोते रहना ईश का स्वरूप है आनंद में निमग्न रहना प्रकाश में सदा सर्वदा हँसते रहना। रेशम का कीड़ा अपने ही मुख से तो सूत निकालता है और ममतावश अपने ही आप ताना पूरकर फँस जाता है। ज्ञान होने पर वे सब तार टूट जाते है। वह उस जाल से निकल भागता है। जिनके तार नहीं टूट सकते वे चौरासी की भट्टी में भूने जाते हैं पुनः पुनः जन्म लेते रहते हैं, पुनः पुनः मरते रहते हैं। जीव जब ईश की शरण में जाता है, तब उसके बन्धन टूट जाते हैं, जाल छिन्न भिन्न हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने सर्वथा जूआ डाल ही दिया। वह आगे बढने को युद्ध करने को उद्यत ही न हुआ धनुष बाण डालकर शोक संविग्न चित्त से हथेली पर कपोल रख कर शोक की मुद्रा में बैठ गया तब उससे मधु नामक अत्याचारी राक्षस को मारने वाले मधुसूदन यों कहने लगे—अरे भैया अर्जुन यह क्या? भैया समय की रागिनी ही शोभा देती है। असमय के राग में रस नहीं आता। यद्यपि "राम नाम सत्य है, सत्य

देखा, तो उससे यह बचन बोले। भगवान् ने कहा—अर्जुन! असमय में तुझे यह मोह किस कारण से हुआ? क्योंकि ऐसा मोह न तो स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्तिकर ही है यह तो अनार्यों द्वारा आचरित है।

बोले गति है" ये वाक्य सर्वदा सत्य हैं, उपदेशात्मक हैं, अच्छे हैं, वैराग्यप्रद है। इनमें ज्ञान वैराग्य के भाव निहित है, फिर भी आप विवाह के समय इन्हें बोल दें तो सभी बुरा मानेंगे। कारण यह कि इनका उच्चारण शव यात्रा के समय किया जाता है, वर यात्रा के समय यह कटु सत्य होने पर भी असामयिक है। अशुभ समझा जाता है। तुम किसी विवाह के समय कुल भोज के समय ऐसी पारिवारिक ममता प्रकट करते। तुम्हारे पुत्रों का विवाह होता और दुर्योधनादि द्वेषवश उसमे न आते, तो तुम जाकर उनके पैर पकड लेते कहते अरे भैया हम लोग भाई भाई हैं। यो राग द्वेष तो होता ही रहता है। दुख सुख में हम सब भाई एक हैं। तुम्हारे दुख में हम आवेंगे, हमारे दुख में तुम आओ। तुम्हारे विवाह उत्सवों में हम सम्मिलित होगे, हमारे में तुम्हें चलना पड़ेगा। सोचो तो सही, तुम्हारे बिना यह कार्य सम्पन्न कैसे हो सकता है।"

उस समय ऐसी ममता दिखाना-अपनापन प्रकट करना उचित था सामयिक था। अब इस समय रणभूमि में जब दोनों दल सुसज्जित होकर युद्ध करने के लिए उद्यत हैं, उस समय ये मेरे स्वजन हैं, सम्बन्धी हैं, भाई हैं भतीजे हैं। इन्हें न मारूँगा, इन पर बाण न छोड़ूँगा ये बातें कहना उचित नही। असामायिक है। यह भैया प्रेम नहीं मोह है। यह तो कर्तव्य पालन करने में प्रमाद है। यह तुम जैसे सद्कुल में उत्पन्न कुलीन शूरवीर को शोभा नहीं देता।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! सत्य बात का जब भी ज्ञान हो जाय, तब ही उसे मान लेना चाहिये। पाप का जब भी बोध हो जाय, तभी उसका परित्याग कर देना चाहिये। पहिले हम राज्य प्राप्ती की आकांक्षा में इस सत्य को भूल गये थे; कि तुच्छ

राज्य के निमित्त हमें अपने सगे सम्बन्धियों का वध करना पड़ेगा। तब हम इन्हें शत्रु की ही दृष्टि से देखते थे। आज जब मेरी दृष्टि विशाल हुई है; तब मुझे इस तथ्य का साक्षात्कार हुआ। तब यथार्थ ज्ञान हुआ कि ये लड़ने वाले तो सगे भाई हैं राज्य की और स्वजन रक्षा की जब मैंने तुलना की तो स्वजन रक्षा का पलड़ा भारी हो गया। इसीलिये मैं युद्ध से पराङ्मुख हो गया।

भगवान् ने कहा—अरे, जिसे तू ज्ञान समझ रहा है, वह अज्ञान है, जिसे तो स्वजन स्नेह कर रहा है, वह मोह है। जिसे तू आर्य धर्म कह रहा है, वह अनार्य धर्म है।

अर्जुन ने पूछा—अनार्य धर्म क्या भगवन्!

भगवान् बोले—अशौच, अनृत, चोरी करना, नास्तिकता, शुष्क वैर, काम, क्रोध और तृष्णा के वशीभूत होना, यह अनार्यों के लक्षण हैं। इन सब की पूरी व्याख्या तो मैं न करूँगा किन्तु इतना ही कहूँगा, कि यह मोह ममता तुम्हारी अज्ञान जनित है। तुम क्षत्रिय धर्म से च्युत हो रहे हो, अपनी प्रतिज्ञा का पालन ममता वश नहीं कर रहे हो। इससे होगा क्या? सब लोग तुम्हें डरपोक समझेंगे। कहेंगे—अर्जुन युद्ध से भयभीत होकर प्राणों के लोभ से भाग गया।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! मुझे प्राणों का लोभ नहीं है।

भगवान् बोले - अरे, बाबा! है क्यों नहीं। अपने प्राणों का लोभ न भी सही, किन्तु कुटुम्बियों के प्राणों का तो लोभ है। मोह न भी हो ममता तो है ही। इस ममता का परिणाम क्या होगा जानते हो?

अर्जुन ने कहा—हाँ बताइये!

भगवान् बोले—अरे भैया! यह स्वर्ग के मार्ग को अवरोध

करने वाले भाव है। सीधा नरक का मार्ग है। देखो, संसार में पुण्य कर्म करने वालों का जब तक पृथ्वी पर नाम रहता है। तब तक वह स्वर्ग में रहता है। कीर्ति ही स्वर्ग को ले जाने वाली है, अकीर्ति ही नरक के द्वार को खोल देती है। युद्ध से हटने पर सर्वत्र तुम्हारी अकीर्ति फैल जायगी। इस लोक में भी लोग तुम्हें धिक्कारेंगे छी: छी: करेंगे और परलोक भी बिगड़ जायगा। स्वर्ग से भी वंचित हो जाओगे। युद्ध से पराङ्मुख होने पर ये कौरव तुम्हें राज्य तो देंगे नहीं। सम्पत्ति से वंचित हो जाओगे अर्थ न रहने पर धर्म कार्य भी नहीं कर सकते कामों से--इन्द्रिय भोगों से भी वंचित हो जाओगे। जब धर्माचरण न करोगे, तो मोक्ष के मार्ग को भी कैसे ग्रहण कर सकते हो अतः इस कायरता से तुम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय से वंचित बन जाओगे। इसलिये तुम जिसे त्याग समझ रहे हो, वह कायरता है, जिसे तुम प्रेम समझ रहे हो वह मोह है। जिसे तुम दया समझ रहे हो वह कृपा है करुणा है, यह सम्बन्धजनित मोह है। जिसे ज्ञान समझ रहे हो वह अज्ञान है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! तब मैं क्या करूँ? मेरा मन तो छोटा छोटा हो गया है। मुझे तो स्वजन वध में हिचकिचाहट हो रही है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! इसके उत्तर में भगवान् जो वीरता के वाक्य कहेंगे, अर्जुन को जैसे प्रोत्साहन देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा, भगवान् के वचनों पर फिर अर्जुन अपनी विवशता बतायेंगे वह इससे भी आगे वर्णन किया जायगा।

छप्पय

बोले श्री भगवान–अरे, अरजुन का भाई।
असमय ममता मोह बुद्धि तेरी बौराई॥
शोक समय यह नाहिं युद्ध को समय सुहावन।
वारनि उठत उमग करै कायरता तजि रन॥
आरज सम्मत पथ न यह, अवरोधक है स्वरग को।
अपकीरतिकारक कुपथ, बाधक अति अपवरग को॥

———

पार्थ ! नपुंसकता छोड़ो ।

[२]

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥*

(श्रीम० भ० गी० २ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

पारथ होओ ठड़े नपुंसकता कूँ त्यागो ।
क्षत्रिय ह्वैकें बन्धु अरे, तुम रनतैं भागो ॥
उचित न तुमकूँ बीर समर विजयी रन प्यारे ।
जिनि सुर जाति न सके असुर तिनि तुम संहारे ॥
हियकी दुरबलता तजो, कटि बाँधो होओ ठड़े ।
बाँधि समर में शस्त्र सब, शत्रु हँसत सम्मुख खड़े ॥

उस समय हम लोग अत्यधिक धर्म संकट में पड़ जाते हैं, जिस समय हमारी अपनी स्वतः इच्छा तो किसी काम को करने

---

* भगवान् कह रहे हैं "हे पार्थ ! इसलिये अब नपुंसकता को प्राप्त न हो । तुम में ऐसे कायरता होनी तुम्हारे स्वरूपानुरूप नहीं है क्षुद्रता और हृदय की दुर्बलता को त्यागकर हे परन्तप ! उठ कर खड़े हो

को नही होती, किन्तु हमारे हितैषी गुरुजन शुभचिंतक उसी काम को करने को बहुत अधिक आग्रह करते हैं, अत्यधिक बल देते हैं। हम उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन भी नहीं कर सकते और बिना शंका का समाधान हुए उस कार्य को इच्छा के विरुद्ध करना भी नही चाहते। ऐसी दशा में हम दीन होकर उनके ही सम्मुख अपनी अकाट्य युक्तियों को रखना चाहते है। बड़े लोग हमारी तर्कों को सुनते हैं और उस बिना नींव की बालू की बनी भीत को अपनी युक्तियों द्वारा हँसते-हँसते ही ढहा देते हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन के विषाद को, मोहममता कातरता तथा कायरता को भगाने के निमित्त उसकी वीरता की प्रशंसा करते हुए उसे युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित करते हुए कहने लगे। भगवान् तो भगवान् ही ठहरे वे समस्त प्राणियों के उत्पत्ति, विनाश, भावी सम्पत्ति विपत्ति और उनके ज्ञान तथा अज्ञान को जानने वाले है, उनमें ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष ये ६ पूर्णभाव से समग्ररूप से रहते है। उनमे कोई बात छिपी तो है नही। वे जानते हैं, युद्ध होगा अवश्य होगा। अर्जुन द्वारा ये सब मारे जायँगे। अतः अर्जुन जो कुछ काल के लिये हतोत्साह हो गया है, उसमें उत्साह भरने के निमित्त कहने लगे—"हे पार्थ! बहुत दिन भी नही हुए, अभी थोड़े ही दिन पूर्व मैं धर्मराज का दूत बन कर हस्तिनापुर गया था। जब कौरवों ने मेरी बात नहीं मानी, तो मैं बूआ कुन्ती के पास गया था और उससे मैंने कहा—बूआ जी अपने पुत्रों के लिये तुम क्या संदेश देती हो।"

जाओ। तब अर्जुन कहने लगे—हे मधुसूदन! रण मे भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण को जो दोनों ही पूजा करने योग्य हैं, हे अरिसूदन आप ही बतावें इनके विरुद्ध मैं कैसे लड़ सकूँगा।

इस पर वे घंटों मुझे समझाती रहीं। उन्होंने मुझे महारानी विदुला और सञ्जय का संवाद सुनाया था। तुम्हारी ही भाँति सञ्जय भी अपने शत्रुओं से भयभीत होकर युद्ध से भाग कर घर में चुपचाप सो रहा था। माता ने अनेक वीरता की बातें कह कह कर उसे प्रोत्साहित किया और उसको भाँति-भाँति से समझा बुझाकर युद्ध भूमि में भेजा और वह विजयी हुआ। बूआ कुन्ती ने मुझसे यह भी कहा था, कि जब अर्जुन मेरे गर्भ में था, तब मुझे आकाशवाणी हुई थी, कि तेरा यह वीर पुत्र संसार में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी होगा, यह अपने शत्रुओं को परास्त करके सम्राट् बनेगा। माता ने तो बहुत सी बातें कही थीं वे सब मैंने तुम से आकर नहीं कही। तुम उसी वीरमाता पृथा के परंतप पुण्यवान् पुत्र हो। परंतप इसीलिये तुम्हारा नाम है, कि तुम शत्रुओं को सदा सर्वदा संताप ही पहुँचाते रहते हो। आज परंतप होकर भी तुम शत्रुओं को रुलाकर नहीं हँसाकर अपनी हँसी करा रहे हो, यह तुम्हारे स्वरूपानुरूप नहीं है। ऐसी नपुंसकता-क्लीवता तुम्हारे योग्य नहीं है। यह तो तुम दुर्बलता दिखा रहे हो, शत्रुओं को खिल्लियाँ उड़ाने का अवसर दे रहे हो, यह तो तुम्हारी कायरता है, हृदय की दुर्बलता है। इस प्रकार भयभीत होकर कायरों की भाँति बैठ जाना, भैंसे की भाँति पाप पंक में पड़ जाना, युद्ध से पराङ्मुख होना, उचित नहीं। शत्रुओं के सिर पर पैर रखकर युद्ध में विजय श्री का वरण करो।

इस पर अत्यंत स्वच्छता और सरलता के साथ, जिज्ञासु भाव से अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन ! आप बारबार शत्रु शब्द का प्रयोग कर रहे हो। अरियों को मारने की बात कह रहे हो। यह आपके स्वरूपानुरूप ही है। आप सदा सर्वदा अपने

अरियों को मारते ही रहते हो। इसीलिये आपका का नाम अरि सूदन है। आप मधु आदि दैत्यों का भी संहार करते रहते हो इसीलिये आपको दैत्यनिकृंदन तथा मधुसूदन भी कहते है। परन्तु हे मेरे माधव ! तुम पहिले मुझे यह तो बताओ यहाँ शत्रु है कौन ? कोई दैत्य भी हो तो उसे मारूँ। मैंने निवातकवचादि दैत्यों को बिना किसी आपत्ति के मार ही डाला था। जो भी शत्रु युद्ध में मेरे सम्मुख आया उसे मैंने सदा पछाड़ा ही है। किन्तु हे अरिसूदन ! मुझे सम्मुख शत्रु तो बतादो, जिनका संहार करूँ। हे मेरे माधव ! एक भी तो शत्रु दिखादो।"

भगवान् ने कौरव सेना की ओर संकेत करते हुए कहा—"सम्मुख ये सबके सब शत्रु ही तो समुस्थित हैं।'

अर्जुन ने कहा—श्यामसुन्दर ! ऐसा मत कहो। सम्मुख तो मेरे ये भीष्म द्रोण आदि गुरुजन खड़े हैं। जिनके लिये शास्त्रकारों ने कहा, कि गुरु को जो 'हुं' अथवा तू ऐसे हलके शब्द कह देता है अथवा ब्राह्मण को वादविवाद में जीत लेता है, तो वह स्मशान का वृक्ष बनता है जिस पर कंक और गृद्धादि बैठते हैं।"

जब वाद विवाद में जीत लेने पर केवल हलकी वाणी बोलने पर इतना पाप बताया है, तो आप तो मुझसे अस्त्र शास्त्रों द्वारा लड़ने को कहते हैं। जिन की पूजा सदा मैं सुगंधित सुमनों से किया करता था, जिनके पादपद्मों में श्रद्धा- भक्ति के साथ पुष्प चढाया करता था। उनसे आप वाणों द्वारा लड़ने को कह रहें है। स्वामिन ! शत्रुओं से मुझे चाहें जितना लड़ा लो। विपक्षियो के ऊपर चाहें जितने वाण छुड़वालों वाणों की घनघोर वर्षा करालो, किन्तु हे मेरे प्राणो से भी प्यारे माधव ! इन गुरुजनों के विरोध में शस्त्र उठाने की बात मुख से भी न निकालिये। इन से लड़ने के लिये मुझे प्रोत्साहित

न कीजिये । ये गुरु जन लड़ने योग्य नहीं है पूजा के पात्र हैं । इनके लिये तो यही आज्ञा दें कि सुन्दर-सुन्दर तत्काल के तोड़े सुगंधित पुष्पों के बड़े-बड़े बहुमूल्य हार लाकर इनके कंठों में पहिना दे । मालाओं से इनके वक्ष.स्थल को भर दे । पुष्पों से इन्हें ढांप दे । ये बातें तो इनके योग्य है । इसके तो ये पात्र है ।

शत्रुओं से लड़ने से मैं घबराता नही हूँ, किन्तु गुरुजनो को मारना नही चाहता । स्वजनों का वध मेरे वश की बात नही है । अतः मुझे गुरुओं के वध के लिये प्रेरित न करें ।

भगवान् कहा—अरे, अज्ञानी ! इन विपक्षियों को मारेगा नहीं तो खायगा क्या ? क्षत्रिय का धर्म तो युद्ध के द्वारा ही—अपने पौरुष से ही आजीविका प्राप्त करना बताया है ।

सूत जी कहते हैं मुनियो ! इसका उत्तर जो अर्जुन देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।

छप्पय

अरजुन कहिबे लगे—तनिक सोचो मधुसूदन ।
रन हौं कैसे करूँ धरम संकट अति भीषन ॥
बाबा कहिं कहिं अंक बैठि जिनि मूँछ उखारूँ ।
सोचो मनमें आपु तिन्हें रनमें कस मारूँ ॥
द्रोण भीष्म गुरुजन उभय, पूजूँ जिनिपद सुमनधरि ।
तिनिकूँ तीखे बान तैं, मारूँ कैसे क्रोध करि ॥

—:o:—

गुरुओं का वध कैसे करूँ ?

[३]

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
याद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥
(श्रीम० भ० गी० २अ० ५, ६ श्लो०

छप्पय

अन्तरजामी आप मरम धरमनि को जानें ॥
गुरुवर महानुभाव रक्तैं कर कस सानें ।
इनकूँ मारे विना भीख को टुकड़ा उत्तम ॥
मरिवे पापी पेट न गुरुवध वर परुषोत्तम ।
करि हत्या गुरुजननि की, रुधिर सने ये भोग सब ।
अर्थ काम इन्द्रिय सुखद, भोगें का सुख मिलै तब ॥

❀ अर्जुन कह रहे हैं—भगवन् ! महानुभाव गुरुओं को न मार कर

मनुष्य सत्य बात पर दृढ़ रहता है, अन्त तक अड़ा रहता है, किन्तु लोभ मोह अथवा कामके वशीभूत होकर अज्ञानवश स्वार्थ को सत्य का परिधान पहिना कर उसके लिये अड़ जाते हैं, तो समझाने बुझाने पर यदि हठधर्मी न हुए तो हमारा आग्रह ढीला पड़ जाता है। जैसे कोई परपुरुष से परस्त्री अथवा परस्त्री से परपुरुष अनुचित अवैध प्रस्ताव करता है। यदि दोनों अपने सत्य धर्म पर पातिव्रत या पत्नीव्रत पर सुदृढ हैं, तो उन्हें कोई अपने संकल्प से डिगा नहीं सकेगा, किन्तु भीतर ही-भीतर लोभ या काम की वासना छिपी हुई है, तो ऊपर कितना भी ना ना करो अंत में ढीलापन आ ही जाता है। जहाँ द्विविधा हुई यह करूँ या न करूँ। यह करना उचित होगा या अनुचित तभी समझो भीतर की निर्बलता बोल रही है। उस समय अपने गुरुजन जो कहे वही करना चाहिये। उन्हीं की शरण में जाना चाहिये यह ठीक है या नहीं। यह दुविधा ही निर्बलता की द्योतक है। इस विषय में एक दृष्टान्त है। उत्तर काशी में पहिले बहुत से साधु रहते थे। वहाँ पहाड़ियों पर भूत प्रेतों का आवेश आता है, उसी आवेश में जो कोई पूछता है उसका उत्तर उस व्यक्ति

इस लोक में भिक्षा के अन्न पर भी निर्वाह करना श्रेयस्कर समझता हूँ, आप सोचें-गुरुजनों का वध कर के भी लोक में हमे रक्त से सने हुए अर्थ और काम रूपी विविध भोगों का उपभोग ही तो हमे मिलेगा। फिर हम यह भी तो जानते नहीं कि हमारे लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है अथवा न करना। और यह भी नहीं जानते कि उनके द्वारा हम जीते जायेंगे या वे हमें जीत लेंगे। जिन्हें मारकर हम जीने की भी इच्छा नहीं रखते, वे ही हमारे ताऊ के लड़के कौरव हमारे सम्मुख युद्धार्थ खड़े हुए हैं।

के माध्यम से प्रेत देता है। एक बार एक व्यक्ति पर भूतावेश आया। उससे सभी आदमी अपनी-अपनी बातें पूछ रहे थे। प्रेत उनका उत्तर दे रहा था। वहीं पर एक साधु रहता था, वह अपने को पूर्ण ज्ञान निष्ठ स्थितप्रज्ञ मानता था। सबसे यही कहता मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है। उसने उस प्रेत से भी पूछा—अच्छा बताओ मै पूर्ण ज्ञानी हूँ या नहीं।

प्रेत ने उत्तर दिया—अभी तुम्हें पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ।

उसने पूछा—क्यों? मुझमें क्या त्रुटि है?"

प्रेत ने कहा—तुम्हें संदेह है कि मैं ज्ञानी हूँ या नहीं। उसी संदेह के कारण पूछ रहे हो। जिसे संदेह है वह पूर्ण ज्ञानी कैसे हो सकता है? सो यह ठीक है या नहीं। यह करूँ या न करूँ। यह मोह जनित द्विविधा है। यह द्विविधा सत्गुरु की शरण जाने से छूट सकती है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! जब भगवान् ने क्षत्रिय धर्म का स्मरण कराते हुए अर्जुन से पूछा—कि यदि युद्ध में शत्रुओं को न मारोगे तो तुम्हें राज्य कैसे मिलेगा? राज्य न मिला तो निर्वाह कैसे करोगे? क्या खाओगे।

— इसका उत्तर देते हुए अर्जुन कह रहे है—भगवन्! इस समय हमारे सामने दो ही विकल्प हैं। (१) एक तो यह कि जिन स्वजनों ने हमारे राजपाट, धन सम्पत्ति को दबा रखा है, उन्हें मारकर राज्य प्राप्त कर लें। अथवा (२) दूसरा यह कि राज्य पाट तथा धन सम्पत्ति की ममता छोड कर वनों में वास करते हुए भिक्षान्न से निर्वाह करते हुए जीवन के शेष दिनों को बिता दें दोनों ही बातों पर गंभीरता पूर्वक विचार करना पड़ेगा।

यदि हम स्वजनों को मारकर राज्य लें तो वह राज उनके रक्त से सना हुआ होगा। वे प्राण रहते तो राज्य छोड़ने वाले

हैं नहीं। उनके प्राणों का अन्त करके ही राज्य प्राप्त हो सकेगा। उस प्राप्त राज्य तथा धन से हम काम रूप भोगों को ही तो भोगेंगे। उन भोगों में हमें कौरवों का रक्त मिला हुआ दिखाई देगा-तब ये भोग हमें सुखप्रद प्रतीत न होकर दुखदायी ही लगेंगे।

दूसरा पक्ष यह है, कि दुर्योधन जैसे अब तक राज्य सुख भोगता रहा है, उसी प्रकार आगे भी अपने भाइयों सहित सम्पूर्ण वसुन्धरा के राज्य का सुख भोगता रहे। हम लोग जैसे अब तक लाक्षागृह से भागकर जैसे भिक्षान्न पर निर्वाह करते रहें, वैसे ही भिक्षा माँग कर जीवन निर्वाह करें। इस अल्प जीवन के लिये क्यों पाप बटोरें, क्यों अपने सगे भाइयों के रक्त से अपने हाथों को रंगे।

मुझे तो इन दोनों पक्षों में से दूसरा ही पक्ष श्रेष्ठतम प्रतीत होता है। इससे कुल नाश तो न होगा। हम भले ही क्लेश भोगते रहें। फिर क्लेश तो मन के माने के होते हैं। स्वजनों को मार कर यदि हम राजा भी बन जायें तो जीवन भर कुल क्षय दोष का पछितावा बना रहेगा। इससे वह सुख दुःख रूप ही प्रतीत होगा। इसके विपरीत हम बिना किसी का बध किये राज्य के लोभ को स्वेच्छा से त्याग दें। तो मन में जो त्याग जनित संतोष होगा वह लाख राज्यों से बढ़ कर सुख प्रद है।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े। और बोले—क्या यह तुम्हारा निश्चित मत है, कि युद्ध नहीं करना चाहिये। क्या तुम यथार्थ में अब झोली बनाकर घर घर से भिक्षा माँग कर उसी पर निर्वाह करने को उद्यत हो ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने ऐसी शंका व्यक्त की। तब तो अर्जुन संकट में पड़ गये। उनके निश्चय में कुछ

शिथिलता आ गयी। भगवान् के प्रति उनके मन में स्नेह उत्पन्न हो गया। अतः वे कहने लगे—भगवन्! मैने तो अपने जीवन नौका को आप को सौंप दिया है, उसे आप चाहे जिधर ले जावें मैने तो अपने जीवन रथ के इन्द्रिय रूपी घोड़ों की रस्सियाँ हाथों में थमा दी हैं, आप उन्हें जिधर चाहें घुमा दें। मैं स्वयं यह भी निर्णय करने में असमर्थ हूँ, कि मुझे युद्ध करना या नहीं। युद्ध करना श्रेष्ठ है, अथवा युद्ध न करना उत्तम है इसका मैं स्वयं विचार करके किसी पक्ष को स्थिर नहीं कर सकता।

रही जय पराजय की बात सो यह तो समय ही बतावेगा कि जीत हमारी होगी या उनकी। गर्भवती के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कोई नहीं कह सकता कि छोरा होगा या छोरी लड़का होगा अथवा लड़की। जय पराजय ईश अधीन है। एक बात के कारण मैं आशान्वित हूँ। वह यह है कि आप स्वयं साक्षात् जगत्पति होकर मेरे रथ को हाँक रहे हैं। जिस पक्ष में आप हैं उस पक्ष की मान लो विजय हो भी जाय, तो वह विजय किस काम की। जिन अपने सगे ताऊ के पुत्र दुर्योधनादि स्वजनों को मारकर हम जीना नहीं चाहते, वे ही हमारे कुल के बन्धु शत्रु भाव से हमसे लड़ने को उद्यत है। अतः मेरी बुद्धि कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में भ्रम में पड़ गयी है। किस काम को करना चाहिये, किस काम का परित्याग कर देना चाहिये। इस विषय में कर्तव्य विमूढ़ बन गया हूँ। मै निश्चयात्मक बुद्धि से दृढ़ता के साथ यह नहीं कह सकता कि मैं युद्ध न करूँगा, और आधिकारिक रूप में दृढ़ता के साथ यह निर्णय करने में भी असमर्थ हूँ कि युद्ध करूँगा ही। अब इस विषय में आप ही प्रमाण हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इतना कहकर अर्जुन कातरभाव

से भगवान् के श्रीमुख को निहारने लगे। इससे भगवान् को बड़ा हर्ष हुआ कि यह सर्वोत्तम भाव ने मेरी शरण होगा। अब अर्जुन जैसे भगवत् प्रपन्न होंगे उस विषय को तनिक सुस्ताकर आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

जिह हू जानत नाहिँ करें रन नहीं करें वा।
दोउनि में का उचित हमहिँ मारे न मरें वा॥
हम ही विजयी होहिँ यही ध्रुव निश्चय नाहीं।
वे ही जीतें हमें समर जूझा के माहीँ॥
जिनि बधि जीवो नहिँ चहत, स्वजन सबहिँ छोटे बड़े।
ते ताऊ धृतराष्ट्र सुत, समर करन सम्मुख खड़े॥

अर्जुन की प्रपत्ति

[४]

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नं ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥
(श्री म० भ० गीता २ अ० ७,८ श्लो०)

छप्पय

हौं कायरता दोष हेतु उपहत स्वभाव तैं ।
अति ई मोहित चित्त धरम विषयक सुभाव तैं ।
तुमतैं पूछूँ प्रभो ! पुन्यपथ सरल सुभावैं ।
होवै जातैं श्रेय सरस सुठि गेल बतावैं ॥
प्रभुपद पदुमनि महँ परयो, शिष्य भक्त अनुदास हूँ ।
सुठि शिक्षा देवैं दयित, शरणागत पद-पास हूँ ॥

❀ अर्जुन कह रहे हैं भगवन् ! कृपणता दोष से मेरा स्वभाव उपहत हो गया है, धर्म के विषय में भी मैं संमूढ चित्त वाला बन गया हूँ । इसी-

संसार में शरणागति ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा मनुष्य निस्संशय, निश्चिन्त तथा निर्भय बन जाता है। संसार के तुम अनुकूल भोग्य पदार्थों को पाकर ऊपर से प्रसन्न से भले ही दिखायी दो, किन्तु आप के हृदय में एक चारे बना ही रहेगा, एक संशय आप के हृदय को कचोटती रहेगी। आप भले ही ऊपर से सुखी दीख पड़ें किन्तु एक चिन्ता भीतर ही भीतर आप को जलाती रहेगी, आप भले ही अपने बल पौरुष तथा साहस का प्रदर्शन करते रहें, एक चिन्ता आपके अन्तःकरण में व्याप्त ही रहेगी जो आपको सुख से बैठने न देगी। किन्तु यदि आप ने किसी समर्थ की शरण ले ली है किसी पूर्ण प्रभु के प्रपन्न हो गये हो, किसी को आपने आत्म समर्पण कर दिया है सत् गुरु के चरणों में अपना सब कुछ सौंप दिया है, अपनी नौका का पतवार किसी समर्थ के हाथों में दे दिया है, तो आप निर्भय हो जायेंगे। आप का शोक मोह सब नष्ट हो जायगा आप अपने यथार्थ स्वरूप को जो विस्मरण के गर्त में डाल चुके थे अब फिर से आप को स्मृति प्राप्त हो जायगी। गुरु प्रसाद से आप उठ कर खड़े हो जाओगे और फिर मनमानी घर जानी न करके गुरु की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने में समर्थ हो सकोगे। अपने कर्तापने के अभिमान को भूलकर यन्त्रवत् बन जाओगे। कठ पुतली की भाँति सूत्रधार जैसा भी नाच नचाना चाहेंगे वैसा

लिये मैं आप से पूछता हूँ, जो भी मेरे लिये हितकर हो उसे मुझे निश्चित रूप से बता दें, मैं आप का शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा दें, मैं शरणागत प्रपन्न भक्त हूँ। प्रभो! जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर करे उस उपाय को मैं पृथ्वी पर धनधान्य सम्पन्न निष्कंटक राज्य को पाकर तथा इन्द्रपद पाकर भी नहीं देख रहा हूँ।

ही नाच नाचने लगोगे। जहाँ बिठावेंगे वहाँ बैठ जाओगे जो खाने को दे देंगे उसी को खाकर सुखी रहोगे, जो पहिनने को देंगे उसे पहिन कर प्रमुदित रहोगे। उसकी इच्छा में तुम अपनी इच्छा मिला दोगे। जब तुम्हारा पृथक् अस्तित्व ही न रहेगा, तो शोक मोह, काम, क्रोध, चिन्ता, आसक्ति, संदेह तथा अन्य इन्द्रिय शोषक वृत्तियाँ आ आकर तुम्हारी शान्ति में विघ्न कैसे डाल सकती हैं, तुम्हे चिंतित दुखी, दुर्बल, संशय ग्रस्त कैसे बना सकती हैं। ये सब दोष तो अपने को कर्ता मानने पर ही क्लेश पहुँचाने वाले दुःख देने वाले होते हैं। आत्म समर्पण करते ही ये सभी समर्पित हो जाते है। अतः जीवन उसी का धन्य है जो प्रभु की शरण में आ गया, बनवारी का बन गया। प्रभु प्रपन्न हो गया।

सूतजी कहते हैं —मुनियो ! जब भगवान् ने अर्जुन का ढीला पड़ते देखा तो उन्हें मन ही मन बड़ा हर्ष हुआ। वे सोचने लगे अब इसमें उतनी मूढ़ ग्राहता नही रही अब यह अपने मोह जनित निश्चय पर दृढ नही रह सकता। अब इसकी स्वजन वध भय रूपी बालू की भीति मे दरारें पड गयी हैं अब यह ढहना ही चाहती हैं कसर इतनी ही है कि अभी तक यह सर्वात्मभाव से प्रपन्न नहीं हुआ। शरणा गति के बिना भ्रम भगता नहीं।

भगवान् यह सोच ही रहे थे तभी तक जैसे लबालब भरे जल के पात्र को तनिक सी ठेस लगने पर वह छलकने लगता है जैसे भरे हुए हृदय को तनिक सहारा मिले ममता दिखायी दे तो वह फूट पड़ता है हृदय की पीड़ा नयनों द्वारा बहने लगती है उसी प्रकार अर्जुन अब अपनी दीनता को छिपा नहीं सके उनका हृदय भर आया, वह इतना भरा कि अपने में समा नही सका फूट पड़ा। वे भली भाँति खुल पड़े और सर्वात्म भाव से सर्वेश्वर की शरण ग्रहण करली। प्रपन्नों के लिए परिजात बने तोत्रपाणि प्रभु के

प्रपन्न हो गये और विह्वल होकर कहने लगे—स्वामिन् ! मैं अंधा हो गया हूँ, मुझे मोह ममता ने घेर लिया है अज्ञान अंधकार ने मेरे नेत्रों पर आवरण डाल रखा है। मैं निर्णय नहीं कर सकता हूँ, कि यह कुपथ है या सुपथ। यह भी नहीं जानता कि मैं पथ से ही चल रहा हूँ या पथ भ्रष्ट बन गया हूँ।

भगवान् ने कहा —"अरे अब तक तो तू बड़ी डींग हाँक रहा था, शास्त्रों के बड़े-बड़े अकाट्य प्रमाण दे रहा था। अभी-अभी यह क्या हो गया ? क्यों ढीला-सा पड़ गया ?"

अर्जुन ने कहा—स्वामिन् ! अब इस समय मुझे कुछ अनुभव होने लगा कि मैंने जो कृपावश सम्बन्धियों के प्रति पक्षपात किया है, उनको अत्यधिक महत्व दे दिया, यह जीवन में कहीं न कहीं भूल हो गयी है। ऐसा मुझे भान होने लगा है, कि कृपणता, कार्पण्य गुण नहीं है दोष है। उस दोष से मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, स्वभाव उपहत-नष्ट-हो गया है। पर-भाव या दुर्भाव का प्राबल्य हो गया है। धर्म के विषय में मेरी बुद्धि स्वतः काम नहीं कर रही है। अपने आप निर्णय करने में असमर्थ सी प्रतीत हो रही है। मेरा चित्त धर्म के विषय में विमूढ़ बन गया है।

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई ! यह तो बड़ी बुरी बात हुई। बुद्धि ही विभ्रम में पड़ गयी तो फिर निर्णय कैसे करेगा। कौन कर्तव्य है कौन अकर्तव्य है इसे कैसे जानेगा ?"

अर्जुन ने कहा—इसीलिये तो मैं आपसे ही पूछता हूँ आप अच्युत हो, आपको कभी भ्रम नहीं होता। मैं तो श्रेय मार्ग खोज रहा हूँ। श्रेय प्राप्ति के लिये ही युद्ध करने को उद्यत हुआ था।

अब श्रेय में शका उत्पन्न हो गयी। मोहवश सोचने लगे
के वध से श्रेय कैसे होगा। यह तो प्रेय मार्ग है, इससे तो इ
सुख ही प्राप्त होंगे। विषय भोग तो अज्ञानगर्त में डा
वाले हैं। अच्छा, क्षत्रिय होकर मैं स्वजन समझ कर
बन्धुओं को न मारूं, यज्ञ युद्धभूमि छोड़ कर भाग जाऊं,
के अन्न पर निर्वाह करके जीवन यापन करने लगूं, तो
हूँ यह क्षत्रिय धर्म के विपरीत तो न होगा। क्षत्रिय का धर्म
युद्ध मे शस्त्र लेकर शत्रु भाव से अपने सम्मुख युद्ध करने
जो भी खड़ा हो जाय, उसी का वध करना उसका धर्म है।
सो इन बन्धु रूपी शत्रुओं का वध न करके मैं क्षत्रिय धर्म
च्युत तो नही हो रहा हूँ। जो स्वधर्म से च्युत हैं उसे श्रेय की
प्राप्ति हो ही कैसे सकती है, सो युद्ध करने में श्रेय है या
करने मे श्रेय है इसका निर्णय करने में स्वतः मैं असमर्थ हूँ
इसीलिये आप ही निश्चत निर्णय करके मुझे बतादें कि
करूं या न करूं ?

भगवान् बोले—अरे भैया कैसी बात कर रहे हो,
तुम्हारा सखा हूँ, सुहृद हूँ, सम्बन्धी हूँ, तथा छोटा काम
वाला तुम्हारा सारथी हूँ। मैं तुम्हे पूछने पर अपनी निजी
सम्मति दे सकता हूँ, उपदेश देने का काम गुरुजनों का है
मित्र अनुशासन नही कर सकता वह बल पूर्वक आग्रह से
नहीं कह सकता कि तुम्हे यह कार्य करना ही पड़ेगा।

अर्जुन ने कहा—छोड़ो, पुरानी बातों को। मित्रता
सखापने के व्यवहार को अब मैं तिलांजली दे चुका हूँ। अब
मैंने आपका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया है, अब तो मैं आपका
भक्त बन चुका हूँ। आप प्रपन्न पारिजात हैं। आप मेरी
पूर्ण कीजिये, मुझे श्रेय का मार्ग सुझाइये, अपने चरणो

दास बनाइये, मुझे सखा भाव से नहीं शिष्य भाव से अपनाइये। सम्मति न देकर उपदेश दीजिये। प्रेरणा न देकर अधिकार के शब्दों में आज्ञा दीजिये कि अर्जुन! तुझे यह ही करना पड़ेगा। तेरा कल्याण इसी कार्य के करने में है।

भगवान् ने कहा— अरे यार, छोड़ो इन गुरु शिष्यों की बातों को। ये सब बातें तो पीछे की हैं, इस समय तो जो सम्मुख है उसे ही करो। युद्ध होने के पश्चात् सोच लेंगे श्रेय का मार्ग कौन सा है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! आप सत्य कह रहे हैं किन्तु मेरे हृदय में तो शोक व्याप्त हो रहा है, इससे इन्द्रियाँ शिथिल बन रही हैं, अन्तःकरण में उत्साह नहीं होता, बिना उत्साह के युद्ध कैसे हो सकेगा। शोक भी साधारण नहीं। यह मेरी समस्त बाह्य तथा अंतः की इन्द्रियों के तथा देह के सह ओज और बल को सुखा रहा है शरीर में बल नहीं, इन्द्रियों में ओज नहीं और अन्तःकरण में साहस नहीं। सब को यह शोख रहा है। इस मेरे शोक को प्रथम दूर कीजिये तब लड़ने की बात करें।

भगवान् ने कहा—देखो, भैया! जब आदमी श्री हीन हो जाता है, तब उसके समस्त सद्गुण विलीन हो जाते हैं। समस्त गुणों की जननी श्री ही हैं। एक आदमी कल तक श्री सम्पन्न था वह जो भी कार्य करता, उसी को लोग प्रशंसा करते। आज वह श्री हीन निर्धन हो गया। उसका समस्त उत्साह भग हो गया, अब वह अच्छी भी बात कहता है तो लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। अतः पहिले युद्ध करके राज्य प्राप्त करो, श्री सम्पन्न हो जाओ तब अपने आप शोक रहित बन जाओगे।

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! आपका कहना सत्य है पृथिवी पर मनोनुकूल भोग सामग्रियाँ हों, राज्य में अवर्षण दुर्भिक्ष आदि उत्पात न हों अपना कोई शत्रु कंटक न हो, राज्य धन धान्य से पूर्ण समृद्धशाली हो, तो ऐसे चक्रवर्ती राजा को एक प्रकार का आत्मतोष होता है, उसे शोक नहीं होता, किन्तु हे सर्वेश्वर ! मेरा शोक तो ऐसा है कि भूमि के शत्रुहीन समृद्धशाली साम्राज्य की तो बात ही क्या स्वर्ग के देवेन्द्र पद को भी पाकर यह शान्त नहीं होने का। पहिले आप कृपा करके मुझ शरणागत के शोक मोह को नाश कर दीजिये। मुझे सुनिश्चत पुण्य पथ बता दीजिये मेरे निश्चित कर्तव्य का मुझे आदेश दे दीजिये। फिर आप जो भी कहेंगे वही करूँगा। मेरे संशयों का सर्व प्रथम मूलोच्छेदन कर दें। अब तो मैंने आत्मसमर्पण कर ही दिया, अब तो मैं आपका शिष्य बन ही गया। कुलवती कन्या एक ही बार आत्मसमर्पण करती है और उसे जीवन भर निभाती है। उसे आत्मसमर्पण करती है वह उसका भरण पोषण करता है, इसलिये भर्ता कहलाता है, पालन पोषण करने से पति। उसके सर्वस्व का स्वामी होने से स्वामी और प्राणों तक पर अधिकार होने से प्राणनाथ कहा जाता है, यही बात सत् शिष्य के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। पहिले आप मेरी शंका का समाधान कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के प्रपन्न होने पर हँसते हुए भगवान् ने जो भी कुछ कहा उसका वर्णन मैं आप से आगे कहूँगा। अब आगे से भूमिका न रह कर गीता वार्ता आरम्भ हो जाती है। अब अर्जुन का व्यमोह न रह कर भगवान् का उपदेश प्रारंभ होता है, इसे आप भली भाँति तत्परता तथा सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

कैसे होऊँ सुखी गैल नहिँ देह दिखाई।
निष्कंटक भूराज इन्द्रपद दुरलभ पाई॥
विपुल होहिँ धन धान्य मिलैं सब सुख के साजा।
एक छत्र सम्राट कहैं सब राजनि राजा॥
इतने पै ऊ मोह प्रभु, सो उपाय दीसत नहीं।
इन्द्रिय शोषक शोक नसि, रहै नहीं संशय कहीं॥

हृषीकेश गुडाकेश से बोले

[५]

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्द मुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥❀

(श्री भ० गी० २ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

संजय कहिबे लगे—वृत्त यह भूप ! बतायो ।
रनमें चिन्तित पार्थ बन्धुबध तैं घबरायो ॥
बहुतक ज्ञान बघारि परंतप ! चुप्प भये जब ।
नहीं लड़ैंगो कही बात यह गुड़ाकेश तब ॥
हृषीकेश सुनिबो करें, मनमें कौतूहल भय ।
गोविंदैं आयसु देहिं का, अरजुन मन सोचत रह्यो ॥

❀ संजय कह रहे हैं—हे परतप ! गुडाकेश अर्जुन ह
श्रीकृष्णचन्द्र जी से ऐसा कह कर और पुनः 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'
बात को गोविन्द प्रभु से कह कर चुप हो गया । हे भारत ! उस
करते हुए अर्जुन से दोनों सेनाओं के मध्य में भगवान् हृषीकेश हँसते
की भांति ये वचन कहने लगे ।

जिनसे अपनी अत्यधिक आत्मीयता है, जो हमारा आदर करते हैं, हृदय से हमें मानते हैं। उनसे हम शक्ति भर या तो गूढ़ विषय की बातें ही नहीं करते, यदि कभी प्रसंग आ भी जाता है, तो उनसे उपदेश करने की भाषा दूसरी ही होती है, उसमें एक चुभता हुआ व्यंग-सा रहता है, जिसमें अपनेपन का पुट लगा रहता है। पिता अपने पुत्र से साधारणतया बात भी नहीं करता उसकी कुशल भी नहीं पूछता। पुत्र भी उनके सामने पीठ या पलंग पर बैठा रहता है, कभी प्रातः पैर छू लिये तो छू लिये न छुए न सही। इसके विपरीत पुत्र का मित्र आता है। वहाँ जितनी बार मित्र के पिता को देखता है, खड़े होकर अभिवादन करता है। पिताजी! प्रणाम। पिता भी उससे बड़े स्नेह से कुशल पूछते हैं, इधर-उधर की बातें करते हैं, प्रेम प्रकट करते हैं। पिता पुत्र में प्रेम तो अगाध है, किन्तु उसे व्यक्त नहीं करते। बातें भी करनी होंगी, तो किसी दूसरे को लक्ष्य करके व्यंग वाणी में न बोलेंगे। सीधे उन्हें संबोधन भी न करेंगे। "क्या बतावें आजकल के लड़के अपने को सम्राट् समझने लगते हैं। जहाँ तनिक पढ़ लिख गये, माँ बाप को मूर्ख समझने लगते हैं। बुद्धि तो बहुत होती नहीं। समझते हैं हम ही सबसे बड़े बुद्धिमान हैं। मानो संपूर्ण संसार की बुद्धि का इन्होंने ही ठेका ले लिया हो।

यद्यपि ये बातें गोल मोल हैं, सबके प्रति सार्वजनिक भाव से कही गयी है। कटाक्ष अपने पुत्र के ही ऊपर है। पुत्र भी समझता है, ये सब बातें मेरे ही ऊपर कही जा रही हैं। किन्तु पिता पुत्र के प्रेम की एक ऐसी दृढ़ शृंखला है, कि कितनी भी कटु बातें कही जायँ, उनसे कटुता नहीं आती। पुत्र और विनम्र होता जायगा, पिता अपने कटाक्ष बाणों की वर्षा और भी तीक्ष्ण

करता जायेगा। कभी हँसी उड़ावेगा, तो बीच में स्नेह भी उगलता जायगा। बेटा! हम ये बातें तुम्हारे हित के लिये कह रहे हैं। अब इन्हें चाहे मानो या न मानो। "कैसा अपूर्व स्नेह है। इस स्नेह की प्रत्यक्ष झांकी भगवान् हृषीकेश श्रीकृष्णचन्द्र और गुड़ाकेश अर्जुन के सम्वाद में देखने को मिलती है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! जब अर्जुन प्रपन्न हो गये और दीन होकर शिष्य भाव से अपना श्रेय पूछने लगे तब भगवान ने पूछा—मैंने तुमसे कह तो दिया तुम्हारा विचार अनार्यों जैसा है, स्वर्ग को न देने वाला है और कीर्ति का नाश करने वाला—अकीर्ति कारक है। अब तुम क्या कहते हो तुमने निश्चय क्या किया है?

अर्जुन ने तब उन गोविन्द से कहा जिन्होंने इन्द्र के कोप से गौओं की रक्षा की थी। इन्द्र को भी कर्तापने का अभिमान हो गया था। कृष्ण को मनुष्यों का छोकरा मानने लगा था। ब्रज को वह शोक से नहीं जल से निमग्न करना चाहता था। उस समय भगवान् ने समस्त ग्वालबाल तथा गौओं की रक्षा की थी। स्वर्ग से सुरभि तथा इन्द्र आये और सुरभि के कहने पर इन्द्र ने उन्हें 'गोविन्द' इस नाम से सम्बोधन किया। क्योंकि उन्होंने दुखित ग्वाल-बालों और गौ तथा बछड़ों की रक्षा की थी। ऐसा ही समय अब फिर दोनों सेनाओं के मध्य में महाभारत युद्ध में आ गया है। अर्जुन शोक के सागर में निमग्न हो गया है; वह संशय ग्रस्त होकर गोविन्द से यह कहकर कि जब तक आप मेरी शंका का समाधान न कर देंगे—जब तक आप मुझे श्रेय का मार्ग सुझा न देंगे जब तक यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इसे स्पष्ट बता न देंगे, तब तक मैं युद्ध कभी भी न करूँगा न करूँगा त्रिकाल में भी युद्ध में प्रवृत्त न हूँगा। इतना कहकर चुप हो गये। चुप होने

का अभिप्राय यह कि अब तक तो मैं अपनी ही बात बकता रहा। आप भी चुपचाप सुनते रहे। अब मेरा वक्तव्य तो समाप्त हुआ मुझे तो कुछ कहने को शेष नहीं है। अब आप भी कुछ कहिये। मेरी हाँ में हाँ ही न मिलाते रहिये।

सञ्जय महाराज धृतराष्ट्र को बता रहे हैं राजन्! जब अर्जुन अपनी समस्त युक्तियाँ देकर और यह सिद्ध करके कि स्वजनों से युद्ध करना सर्वथा अनुचित है, फिर भी मैं आपका शिष्य हूँ जो कहोगे वह करूँगा। ऐसा कहकर जब चुप हो गया। तब भगवान् ऊपरी मन से हँसे। अभिप्राय यह कि यहाँ प्रसन्नता की हँसी नहीं है, किसी विनोद की बात पर भी अट्टहास नहीं है। यहाँ तो अर्जुन की मूर्खता पर हँसी का अभिनय किया गया है। अपना मित्र है, सुहृद है, साथी है सम्बन्धी और अब शरणागत है, प्रपन्न है शिष्य है अपना ही है, उसकी मीठी-मीठी खिल्ली उड़ाने को हँसते हुए का सा स्वाँग बनाकर बोले।

हँसते हुए से क्यों बोले जी ?

इसलिये कि अर्जुन बहुत अधिक चिन्तित हो गया है, बहुत दूर तक की सोचता गया है, विचारों की एक शृंखला बँध गयी है। जैसे कोई पक्षी सोचने लगे—मैं यहाँ वृक्ष पर बैठा हूँ। ऊपर इतना बड़ा नीला आकाश का छत्र तना है। यदि यह पूरा आकाश मेरे ऊपर गिर पड़े तो मैं मर जाऊँगा। यह सोच कर वह दुखी चिन्तित होकर अपनी रक्षा के विविध उपाय सोचने लगता है। अभी न तो आकाश गिरा है न निकट भविष्य में गिरने की संभावना ही है, किन्तु उसने अपने विचारों से ही अपने ऊपर एक भावी संकट की कल्पना कर ली है। यही दशा अर्जुन की है, वह स्वजनों के वध से कुल क्षय पाद से विषण्णवदन होकर बैठा है। भगवान् से क्या कर्तव्य है क्या अकर्तव्य है इसकी जिज्ञासा कर

रहा है। भगवान् का कर्तव्य है, उसकी शंका का समाधान करें, इसके पूर्व उसकी उदासी को दूर करें। उसके शोकयुक्त मुखमंडल को पुष्प की भाँति खिला दें। यह स्वाभाविक बात है, दुखी को देख कर मनुष्य दुखी हो जाता है, हँसते हुए को देखकर हँसी आ जाती है। बड़ी-बड़ी निर्मल स्वच्छ सुहावनी लजीली कँटीली रतनारी आँखों को देखकर आँखें खिल उठती हैं, मन में हर्ष होता है, इसके विपरीत दुखी हुई, पानी भरी दीठ से सनी आँखों को देखकर हमारी आँखों में स्वयं किरकिरी सी होने लगती है पानी भर आता है। इसी हेतु से अर्जुन को हँसाने के लिये उसका शोक मोह दूर करने के लिये कुछ-कुछ मीठी चुटकी लेने के अभिप्राय से भगवान् हँसते हुए की भाँति ऊपर से हँसते हुए बोले।

दोनों सेनाओं के बीच का यह संवाद है रथ के ऊपर ही बैठे बैठे यह कथोपकथन हुआ है, अतः बहुत लम्बी भी न होना चाहिये अधिक से अधिक दो तीन घड़ी में ही इसे समाप्त करना है, साथ साथ इसमें सम्पूर्ण शास्त्रों का सार भी कह देना है। इस कार्य को भगवान् के अतिरिक्त कोई दूसरा कर नहीं सकता। इसीलिये दोनों सेनाओं के बीच में हृषीकेश गुड़ाकेश से बोले।

सूतजी कहते है—अब मुनियो भगवान् बोले क्या ? उसे भी दत्तचित्त होकर सुन लीजिये।

छप्पय

भरतवंश अवतंस। विकट भव रनके पथमें।
भयो सुखद संवाद कृष्ण अरजुनको रथमें॥
हृषीकेश मन हँसत शोक महँ मगन पृथासुत।
अन्तरजामी श्याम समुझि ताको, दुख हियगत॥
मंद मंद मुसकात प्रभु, भक्तनि वन्दित जिन चरन।
उभय सैन के मध्य में, प्रेम सहित बोले बचन॥

न सोचने योग्य बात का सोच क्यों करते हो ?

[६]

श्री भगवानु वाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥❀

(श्री भ० गी० २ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

बोले श्रीभगवान—अरे, अरजुन ! क्यों चिन्तित ।
सोच जोग जो नाहिँ तिनहिँ कू तू अब सोचत ॥
शास्त्रनि ज्ञान बघारि बचन पंडित सम बोलै ।
भयो मोहवश मीत धरम क्षत्रियतैं डोलै ॥
जिनके प्रान नहीं गये, गये प्रान जिनके तुरत ।
नहिँ सोचत पंडित उभय, कालचक्र घूमत सतत ॥

विषयों से वैराग्य हो, बुद्धि निर्मल हो, विवेक करने की शक्ति

❀ भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—अर्जुन ! शोक न करने वालों का तू शोक करता है और बात कहता है पंडितों जैसी । देख भैया !

हो, सत् असत् के समझने की सामर्थ्य हो तभी यथार्थ वस्तु
होता है। तत्वज्ञान के लिये वैराग्य विवेक दोनों
है। यद्यपि त्याग ही अमृतत्व प्राप्ति में कारण बताया है,
त्याग भी बिना वैराग्य के टिक नहीं सकता। हम रोते हैं
हमारा कान ले गया, किन्तु अपने कान पर हाथ रखकर
देखते है कि वास्तव में हमारा कान है या नहीं। बस, सुनी सुना
बातें याद कर करके उनके लिये एक मिथ्या अनुमान
रहते हैं उन्हो के कारण दुखी, चिन्तित, शोकाकुल और
वदन बने रहते है। व्यर्थ में रोते रहते हैं। यही जीव धर्म
यही जीव का नर का स्वभाव है। नारायण का स्वभाव इससे
है। वे सोच नहीं करते सदा आनन्द में मग्न रहते हैं प्रसन्नता
परिपूर्ण बने रहते है, कभी शोक संविग्न नहीं होता सदा
रहते है। यह हास्य ही शोक संविग्न साथियों के शोकाश्रु
को शोषण करने में सुखाने में समर्थ होता है। शोक से
कितने भी आंसू निकले हों उन आंसुओं का चाहे जितना
समुद्र बन गया हो जहाँ भगवान् जोरों से हँसे मानों पूरा शोक
आंसुओं का समुद्र सूख गया। भगवान् के हँसने की ही देर
जहाँ हँसे तहाँ सब दुःख खँसे सो हे प्राणियों! भगवान् की
तो निरन्तर बनी रहती है वे तो सदा प्रसन्न है किन्तु वह
तुम्हें देखने को कब मिलेगी इसकी प्रतीक्षा करो, वह हँसी

पंडित तो वे कहलाते हैं जो प्राण चले जाने वालों का और जिनके
नहीं गये हैं उन दोनो का ही शोक न करते हों। तू सोच, क्या मैं
काल में नहीं था तू नहीं था, ये राजा नहीं थे। अर्थात् हम सब
भी थे। और क्या आगे हम सब नहीं रहेंगे? अर्थात् आगे भी
रहे बने रहेंगे।

अपने साधन से प्राप्त नही होने को। वे ही जब कृपा करें। उनके ही हृदय में जब जीव के प्रति करुणा उदय हो जाय। वे तो प्राणि मात्र के सुहृद् है। इस बात को बिना समझे ही हम शोक मग्न अशान्त बने रहते हैं। जहाँ हमें इस सत्य का भान हो जाय कि श्यामसुन्दर तो प्राणि मात्र के मीत हैं हितू है अपने है, फिर दुःख का क्या काम ऐसा निश्चय हो जाने पर तो परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। जिनको श्यामसुन्दर की हँसी देखने को मिल जाय, वे तो बड़भागी ही है फिर जिन्हे उनका गीता ज्ञान सुनने का सुअवसर प्राप्त हो उनके सम्बन्ध में तो फिर कहना ही क्या ?

सूतजी कहते है—मुनियो ! अब जब अर्जुन को सर्व कर्म छोड़कर एक मात्र अपने हो अधीन समझ लिया जब उसने यह वचन दे दिया कि तुम जो कहोगे वही करूँगा, तब भगवान् बोले। मनहूस की भाँति मुँह लटकाकर गाल फुलाकर, अहकार जताकर, अकड़ दिखाकर नही बोले। प्यार से बोले दुलार से बोले ममता भरी वाणी में बोले—अपनापन प्रकट करते हुए; हँसते हुए से बोले। वे तो वासुदेव है घट-घट मे वास करने से ही उन्हे वासुदेव कहते है। सर्व प्रथम ज्ञान देते समय मंगलाचरण करना चाहिये। भगवान् वासुदेव का नाम लेना चाहिये। ये तो स्वय वासुदेव है, ये किसका नाम लें, ये सर्व प्रथम सबसे पहिले अक्षर को बोले क्योंकि ये स्वय ही अ-क्षर है। इनका कभी क्षर नाश नही होता। अपना ही नाम सर्वप्रथम लें। एकाक्षरी कोश में 'अकार'' को वासुदेव कहा है। 'अकारो वासुदेव स्यात' इसलिये भगवान् ने उपदेश आरम्भ करने के पूर्व सर्वप्रथम 'अकार' का उच्चारण किया। फिर 'शो' का उच्चारण किया। अर्थात् यह बताया कि सोच तो जीव को संसारी भोग्य पदार्थों

में ही होता है। वासुदेव के सम्मुख सोच का क्या काम ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! तू जिन व्यक्तियों का सोच न करना चाहिये उनका सोच करता है।

अर्जुन ने कहा महाराज ! मैं न सोच करने वालों का सोच कहाँ करता हूँ। मैं तो अपने स्वजनों का बन्धुबान्धवों का गुरुजनों का शोक करता हूँ।

भगवान् बोले—"देखो, फिर वही बात, बात कर रहे हो मूर्खों की सी और लगाते हो अपने को बड़ा भारी पंडित। मानों सर्व-शास्त्र तुमने ही पढे हैं। दूसरा तो शास्त्रों के सम्बन्ध में कुछ जानता ही नहीं। जानते हो पंडित कहते किसे हैं ?"

अर्जुन ने कहा—"महाराज अब आप ही पंडितों की व्याख्या बता दीजिये।"

भगवान् बोले—देखो, पंडित उसे कहते हैं, जो शरीर में से चाहे किसी के प्राण चले जायें चाहे शरीर में प्राण बने रहें उसकी चिन्ता न करना हो।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! यह तो निर्मोही निर्दयी का काम है, कि मरने पर भी किसी के लिये न रोवे अपने स्वजन है, बन्धु है, आत्मीय हैं, मरते है तो उनके लिये सोच होता ही है। घर में किसी के सनान होती है तो हर्ष होता ही है।

भगवान् ने कहा—अच्छा अर्जुन हमें बता दो जिसके शरीर में प्राण हैं, वे कौन हैं ?

अर्जुन ने कहा—"महाराज ! यह भी कोई पूछने की बात है। आप है, हम है, ये सब राजागण है सब प्राणधारी जीवित ही हैं। जब तक इनके शरीर में प्राण हैं तब तक ये प्राणवान् जीवित है जब इनके प्राणों का अन्त हो जायगा। प्राणान्त होने पर ये ही मृतक बन जायेंगे।"

भगवान् ने पूछा—"मर कर कहाँ चले जायेंगे ?"

अर्जुन ने कहा—परलोक वासी बन जायेंगे।

भगवान् ने पूछा—फिर ये परलोक वासी होने पर रहेंगे की नहीं।

यह सुनकर अर्जुन कुछ द्विविधा सी में पड़ गये तब भगवान् ही कहने लगे—"देखो, तुमने तीन नाम लिये 'त्वं' 'अहं' और 'इमे' अर्थात् तू, मैं और अन्य। उत्तम पुरुष मध्यम पुरुष और सर्वनाम। अब पहिले मैं पर ही विचार करो! तुम कह सकते हो पहिले मैं नहीं था ?"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, मुझे क्या पता कि आप पहिले थे कि नहीं ?"

भगवान् ने कहा—देखो, भाई! ध्यान लगाकर देखो, मैं पहिले बदरीवन में तप करने वाला नारायण ऋषि था कि नहीं ?

भगवान् ने कहा—तब मैं वही नारायण हूँ या नहीं ?

अर्जुन ने कहा—हाँ महाराज! आप साक्षात् नारायण हो।

भगवान् ने कहा—तुम पहिले थे या नहीं ?

अर्जुन ने कहा—भगवन्! मैं भी पहिले था।

"तुम कौन थे ?" भगवान् ने पूछा।

अर्जुन बोले—"प्रभो! मैं आपका सेवक सखा, बन्धु नर था।"

अच्छा, ये राजागण पहिले थे या नहीं ?

अर्जुन ने कहा—हाँ प्रभो। ये भी लोग कोई देवता थे, कोई असुर थे, ये सब भी पहिले थे।

भगवान ने कहा—अच्छा, इसके आगे हम तुम और ये सब रहेंगे या नहीं ?

अर्जुन ने कहा—अब महाराज आगे की बात तो मैं जानता नहीं।

भगवान् ने कहा—जो पहिले था, अब भी है, वह आगे रहेगा ही। जो भूत में था वर्तमान् में है वह आगे भी रहेगा।

अर्जुन ने कहा—अच्छा महाराज। मान लो पहिले भी था, आगे भी रहेगा, तो जिस रूप में अब है उस रूप में तो नहीं रहेगा। जो हमारे सम्बन्ध के अनुरूप में नहीं उसके रहने से भी क्या लाभ ?

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—देखो, भैया! अर्जुन कुछ सोच समझ कर बातें किया करो। तुम कहते हो भीष्म द्रोणादि जिस रूप में हैं उस रूप में तो ये मरकर नहीं रहेंगे। अब मैं तुम्हीं से पूछता हूँ अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों कोई रहता है। नदी का पानी एक रूप में रहता है क्या कभी? कभी निर्मल रहता है, कभी गँदला हो जाता है। गँदले पानी को नदी का पानी नहीं कहते क्या ? क्या जल सदा एक सा ही रहता है ? वह तो प्रति क्षण प्रति पल बदलता रहता है। उसके स्थान पर दूसरा जल आ जाता है, कल तुम जिस जल में स्नान करके आये थे, वह जल बह कर न जाने कहाँ चला गया। फिर भी आप आज कहते हैं मैं तो कल के ही स्थान पर कल वाली गंगा में ही स्नान करके आया हूँ। आप रोते तो नहीं हाय ! कल जिस जल में मैंने स्नान किया, वह जल न जाने कहाँ चला गया। अब यह नया जल आया है। जल में नया पुराना क्या ? नदी का प्रवाह तो एक ही है। एक बहता है दूसरा जल उसका स्थान ग्रहण करता जाता है। जल की धार तो अविच्छिन्न रूप से बह ही रही है। जल तो एक ही है। मृत्तिका आदि के संसर्ग से सूर्य चन्द्र की किरणों से वह गँदला, गरम तथा ठंडा होता रहता है,

संसर्ग से उसके यथार्थ स्वरूप में तो च्युति नहीं आती।

अर्जुन ने कहा—महाराज, नदी का पानी तो वह गया वह समुद्र में विलीन हो जाता है, फिर वह लौटकर तो नदी की धारा में नहीं आता।

भगवान् ने कहा—अरे भाई, आता क्यों नहीं। समुद्र से वाष्प बन कर जलधर मेघ उन्हें फिर ले आते है, फिर वर्षा देते हैं, फिर उसका हिम बरफ बना देते है, पिघलकर या वर्षा में बरस कर पुनः प्रवाह में पतित हो जाता है। यह आवागमन तो लगा ही रहता है। अच्छा मैं दूसरा शरीर का ही दृष्टान्त देकर तुम्हें समझाता हूँ, इसे तुम भली भाँति समझ जाओगे।

अर्जुन ने कहा—हाँ, महाराज शरीर का ही दृष्टान्त देकर समझावें क्योंकि जो भी प्राणधारी है, शरीर सभी पर है। शरीर तो जीवका रहने का स्थान है। कैसा भी शरीर क्यों न हो, बिना शरीर के जीव रह न सकेगा। अतः शरीरधारी शरीर के दृष्टान्त से सरलता से समझ सकेंगे ?

सूत जी कहते है—मुनियो ! अब भगवान् शरीर का ही दृष्टान्त देकर आत्मा की अजर अमरता का जैसे प्रतिपादन करेंगे, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

ऐसो कबहूँ काल नहीं जामें हौं माहीं।
ऐसो हू नहिं काल रहै नहिं तू जिहि माहीं॥
ये जितने हैं भूप उभयदल के क्षत्रियगन।
समय न ऐसो कबहुं रहैं नहिं जामें जे जन॥
कबहुं न आवै सो समय, जामें हम तुम नृपति सब।
रहैं नहीं संसार महँ, सोचै क्यों तू पार्थ तब॥

द्वन्दों को सहन करो

[७]

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥*

(श्रीभा० ६ गी० अ० १३, १४ श्लो०

छप्पय

जैसे देही देह माहिं बालक बनि जावै ।
फिरि ह्वै जावै युवक रँगीलो समय बितावै ॥
पुनि बनि जावै वृद्ध चलै तब लठिया टेकत ।
लचि जावै तिहि कमर रहै नीचे कूँ देखत ॥
तैसे तजि इक देह कूँ, देही जावै अन्य तन ॥
होवै मोहित धीर नहिं, करै न कबहूँ खिन्न मन ॥

हमारे शरीर में दो हैं, एक देह दूसरा देही। देही अर्थात

*भगवान् कह रहे हैं—हे अर्जुन ! जैसे शरीराभिमानी जीव इस देह ही में बालक युवक तथा वृद्ध इन अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार दूसरे शरीरों में भी चला जाता है, धीर पुरुष इस विषय में मोह को प्राप्त नहीं होते। हे भारत ! इन्द्रिय और उनके विषयों के संयोग से जो सरदी, गर्मी तथा सुख दुख होते हैं, वे उत्पत्ति विनाशशील तथा अनित्य हैं। इसलिये हे कुन्तीनंदन ! उनको तुम सहन करो।

शरीराभिमानी जीवात्मा। जीवात्मा तो कभी मरता नहीं क्योंकि वह नित्य है। हाँ शरीर अवश्य बदल जाता है। जो जीवात्मा आज मनुष्य योनि में है, वही कल मानवेतर योनि में चला जाता है शरीर तो नाशवान् है ही। अतः न तो आत्मा के लिये सोच करना चाहिये क्योंकि वह मरता नहीं है और शरीर के लिये भी सोच नही करना चाहिये, क्योंकि वह तो क्षणभंगुर नाशवान् है ही। जिन्हें ज्ञान हो गया है, वे कैसी भी परिस्थिति में रहें, कभी दुखी नहीं होते। दैत्यराज बलि पूर्ण ज्ञानी थे। सर्वस्व दान देने पर भी भगवान् ने उन्हें बाँध लिया, फिर भी वे विचलित नहीं हुए। उनके जीवन की एक बहुत ही दिव्य शिक्षाप्रद कथा आती है।

एक बार देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त कर ली। असुरों को स्वर्ग में ही नहीं निकाल दिया उनके घरों से भी निकाल दिया,। तब असुरों के राजा महाराज बलि गधे की योनि में रहकर—गधा बनकर—समय बिताने लगे। वे एक छोटे से स्थान में गधा बने पड़े रहते थे। एक दिन घूमते फिरते इन्द्र उधर आ निकले। उन्होंने गधा बने हुए महाराज बलि को पहिचान लिया। और हँस कर बोले—कहो दैत्यराज! अब तो तुम सुखी होगे? गधा बने हुए तुम्हें लज्जा भी नहीं लगती? एक दिन तुम स्वर्ग के स्वामी थे, आज गधा बनकर जीवन यापन करते हुए दुःख भोग रहे हो?

यह सुनकर गधा बने बलि बोले—इन्द्र! तुम्हारे सहस्र नेत्र होने पर भी तुम नितान्त अंधे ही रहे। भाई इसमें लज्जा की कौन सी बात है।

इन्द्र ने कहा—त्रिलोकेश होकर आज गधा बने हो यह लज्जा की बात नहीं?

बलि ने कहा—गधा क्या है ?

इन्द्र ने कहा—एक योनि है, देह है।

बलि ने पूछा—देह किसकी है ?

इन्द्र—देही जीवात्मा की देह है।

बलि ने पूछा—देह नित्य है या अनित्य ? नाशवान् है या शाश्वत्।

इन्द्र ने कहा—देह तो सभी नाशवान्, अनित्य क्षणभंगुर होती हैं।

बलि—और देही ?

इन्द्र ने कहा—देही तो नित्य-शाश्वत सदा एक रस रहने वाला है।

बलि—फिर तुम दुखी किसे समझ रहे हो। यदि देह के कारण लज्जित या दुखी है, तो देह तो अनित्य क्षणभंगुर नाशवान् है ही उसके लिये सोच करना हँसना तो व्यर्थ ही है। यदि तुम आत्मा पर हँस रहे हो, उसे दुखी या हँसी योग्य समझते हो, तो समझते रहो। जो शाश्वत है नित्य है निरंजन है, उसको न तो कभी दुख सुख होगा और न तुम्हारी हँसी उडाने से उसका कुछ बिगड ही जायगा। जैसा ही इन्द्र का शरीर वैसा ही गधे का शरीर शरीरो में तो कोई अन्तर नहीं। कभी तुम्हारे शरीर में रहने वाला जीवात्मा भी गधे के शरीर में प्रवेश कर सकता है। धीर पुरुष—ज्ञानी पुरुष—देह बदलने से न तो मोहित ही होते है, न किसी की हँसी ही उड़ाते हैं। इसी विषय को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने शरणापन्न अर्जुन को सरलता के साथ युक्ति सहित समझा रहे है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को इस शरीर का ही दृष्टान्त देकर समझाते हैं। वे कहते हैं—

र्जुन ! तुम बताओ। शरीर किसे कहते हैं ?

अर्जुन ने कहा – शरीर वही जिसमें इन्द्रियाँ हाथ पैर आदि हों।

भगवान् ने कहा—ये सब अवयव तो शव-मृतक देह में भी होते हैं।

अर्जुन ने कहा—महाराज, उसमें जीवात्मा तो रहता ही नहीं। जीवात्मा के बिना तो शरीर व्यर्थ है।

भगवान् ने कहा—तो तुम्हारे कथन से दो वस्तुएं सिद्ध हुईं। एक देह और दूसरा उसका अभिमानी जीवात्मा। अब यह बताओ शरीर नित्य है या अनित्य ? घटता बढ़ता कौन है ?

अर्जुन ने कहा—शरीर तो अनित्य है, क्षणभंगुर है, नाशवान् जीवात्मा के संसर्ग से घटता बढ़ता रहता है।

भगवान् ने पूछा—जीवात्मा घटता बढ़ता है मरता जीता है ?

अर्जुन ने कहा—आत्मा तो नित्य है शाश्वत है, उसमे घटना बढ़ना संभव नहीं।

भगवान् ने कहा—तब मरना जीना क्या हुआ ? सोच किस बात का होता है ?

अर्जुन ने कहा—सोच इसी बात का होता है, वह एक शरीर दूसरे शरीर में चला जाता है सम्बन्धियों से विछोह हो जाता है।

भगवान् ने कहा—बदलना ही दुःख का कारण है, तो शरीर प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। जो आज बालक है, वह थोड़े दिन में युवक हो जाता है। वह क्या रोता रहता है, कि हाय मैं छोटे से बड़ा क्यों हो गया, पतले से मोटा क्यों हो गया ? ठिंगने से लम्बा क्यों हो गया ? बालकपन में तो मेरे दाँत नहीं थे दाँत क्यों उग आये ? छोटेपन में तो मेरे दाढ़ी मूंछ नहीं थी क्यों उग आई ? फिर वृद्ध हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है, कम सुनाई

देता है, कम दाखता है, भूख कम लगती है, कमर झुक जाती है, बाल सफेद पड़ जाते हैं, अंगों में झुर्रियां पड़ जाती है, किन्तु वह यह नहीं कहता मै वह नहीं हूँ। शरीर में इतने परिवर्तन होने पर भी अपने को वही समझता है। जब एक ही शरीर में इतने परिवर्तन होने पर सोच नहीं करता तो दूसरा शरीर प्राप्त करने पर सोच किस बात का। एक शरीर का त्याग हुआ दूसरे शरीर का वही अभिमानी बन गया। शरीर अनित्य क्षणभंगुर नाशवान और परिवर्तनशील होता ही है।

जो इस विषय को जानता है, जिसने धैर्य धारण करके विषय को समझा है, वह तो चिंता करेगा नहीं। मूर्ख भले मोह को प्राप्त हो जाय।

अर्जुन ने कहा—महाराज, आत्मा तो नित्य है, यह निर्विवाद बात है, फिर भी देह से देही का सम्बन्ध हो जाने उस व्यक्ति के बहुत से सगे सम्बन्धी स्वजन बन जाते हैं। देही एक देह को त्यागकर दूसरे देह में जाता है, तो स्वजनों को दुःख होता ही है।

भगवान् ने कहा—अच्छा यह बताओ दुःख किसे कहते हैं। पहले दुख सुख को ही समझ लो। पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। पाँच उनके विषय, शब्द, रूप, रस, गंध, और स्पर्श। जब इन्द्रियों विषयों से संयोग हो जाता है तभी दुख सुख होता है। सरदियों में त्वचा का अग्नि से संयोग हो जाय सुख लगेगा, गर्मी संयोग होने से दुख होगा। अनुकूल वेदना को सुख कहते हैं, प्रतिकूलवेदना का नाम दुख है। यह शीतल है यह गरम है यह है यह कड़वा खट्टा है, यह मधुरराग है यह कर्कश स्वर है। इत्यादि इत्यादि ये तभी भान होते जब स्पर्शेन्द्रिय, रसना तथा श्रवणेन्द्रिय आदि का उनके तद्तद् विषयों से संयोग

हो। ये संयोग स्थायी नहीं नित्य नहीं। उत्पत्ति विनाशशील तथा अनित्य है। जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्य होगा। वह स्थायी नही। आज हमें रात्रि में जाड़ा लगा, ठिठुरते रहे। सूर्य निकल आया, जाडा भाग गया हम रात्रि की बात को भूल गये। इसलिये जो अनित्य है, क्षणभंगुर है उत्पत्ति तथा विनाशशील है, उसका सोच करना व्यर्थ है। इन्द्रिय और विषयों के संयोग से जो दुःख सुख शीत तथा उष्ण का बोध होता है वह स्थायी नहीं। उसका तो सहन करना ही पडेगा। तितिक्षा ही उसका एक मात्र समाधान है। अतः अर्जुन शोक मोह छोडकर इन द्वंदों को सहन करो। तभी तुम द्वन्दातीत हो सकोगे। तभी मोक्ष के अधिकारी बन सकोगे।

अर्जुन ने पूछा—मोक्ष प्राप्त करने का अमृतत्व लाभ करने का अधिकारी कौन है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका उत्तर जो श्री भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

इन्द्रिनि के सब विषय रूप, रस, परस, शब्द जो।
उतपति और विनाशशील सबरे ई ते सो॥
सरदी गरमी होइ होइ संभोग उभय जब।
होवै सुख दुख तबहिँ नित्य नहिँ नाशवान सब॥
नाशवान अरु छनिक जे, सोच कहा तिनिको करै।
सहन करो भारत! तिनहिँ, देही कबहूँ नहिँ मरै॥

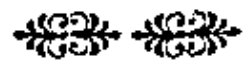

तत्वदर्शी कौन ?

[८]

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥❀

(श्री भा० गी० २ अ० १५, १६ श्लो०

छप्पय

जो हैं धीर गंभीर पुरुष सुख दुख सम समुझें ।
यह जीवै यह मरै व्यरथ तामें नहिं उरझें ॥
इन्द्रिय अरु तिनि विषय नित्य नहिं आवें जावें ।
उभय होहि संयोग न दुख सुख तें घबरावें ॥
नहीं नित्य रसना न रस, सुख संयोग लखात है ।
उभय योग व्याकुल न जो, अमृत रूप वनि जात है ॥

❀भगवान् कह रहे हैं—हे पुरुष श्रेष्ठ ! वही धीर पुरुष अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है । जिसे इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते तथा जो सुख और दुख को समान समझता है । क्योंकि असत् वस्तु की कभी सत्ता होती नहीं और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता जो लोग तत्वदर्शी हैं, उन्होंने ही इन दोनों का मर्म भली-भांति जाना है उन्होंने इस तत्व को साक्षात्कार किया है ।

वास्तव में सुख और दुःख क्या है, ये दोनों स्थायी नहीं क्षणिक है। जब इन्द्रियों का अनुकूल विषयों से संयोग हो जाता है तो उसकी सुख संज्ञा हो जाती है, उन्हीं इन्द्रियों का प्रतिकूल विषयों से संसर्ग हो जाता है, उसी को दुःख कहने लगते हैं। ये दुःख सुख स्थायी नहीं होते। एक पूर्वी देश का कृपण आदमी था। उसके पास एक रुपया था, जाड़े के दिन थे। रात्रि मे जब वह सोता तो शीत उसकी इन्द्रियों को व्यथित करता. तब वह दुख में रुपये से कहता—"भोर भइल तुहि भुनाई" जहाँ प्रातःकाल हुआ तहाँ तुझे भुना कर रुई लाऊँगा, रजाई बनाऊँगा। प्रातः जब सूर्य निकल आता गुलाबी अनुकूल धूप का उसकी इन्द्रियो के साथ संयोग होता उसे सुख प्रतीत होता। रात्रि के क्षणिक दुख को भूल जाता और रुपये से कहता—"मरिजैयों परि तोइ न भुनैयो" चाहे मर जाऊँ, परन्तु तुझे भुनाऊँगा नहीं। रात्रि में फिर जाड़ा लगता, पुनः प्रातः रजाई बनाने को प्रतिज्ञा करता। दूसरे दिन धूप लगते ही उसे पुनः भूल जाता। इसी प्रकार उसने पूरा जाड़ा निकाल दिया। गर्मियों में तो जाड़े का प्रश्न ही नहीं था। वह जाड़े की सब बातें भूल गया।

आप सोचिये, यदि दुख स्थायी होता, तो वह कभी टलने वाला नहीं था, भुलाये नहीं भूलता। सुख स्थायी होता तो उसे दुख का अनुभव नहीं हो सकता था। इससे सिद्ध यही हुआ कि जब इन्द्रियों का अपने अनुकूल विषयों से संसर्ग होता है, उसी को लोग सुख नाम से बताने लगते हैं, प्रतिकूल विषयों का इन्द्रियों से संसर्ग हुआ तो मैं दुखी हूँ दुखी हूँ ऐसा कहने लगता है। फिर दुख सुख सदा एक से नहीं रहते। जो वस्तु आज हमें सुखद प्रतीत होती है, कालान्तर में उसी को दुखदायी अनुभव करने लगते हैं। जो स्त्री पहिले सुख की खानि प्रतीत होती है। ज्ञान हो जाने

पर सच्चा सन्यासी हो जाने पर, वही दुखदायी अनुभव होने लगती है, उसका स्पर्श भी पाप समझा जाता है। अतः सुख दुख सदा नहीं रहता, किन्ही वस्तुओं में नही। देश काल पात्र के अनुसार इन्द्रियों का विषयों से संसर्ग होने से क्षण भर को इनकी प्रतीति सी होने लगती है। मतिमान् पुरुष इनसे तटस्थ रहते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! अर्जुन की ऐसी जिज्ञासा पर कि अमृत्व लाभ कौन कर सकता है, इस पर भगवान् कहने लगे—अर्जुन! नित्य और मुक्त जीवों की बात तो तुम छोड़ दो। साधारणतया पुरुष दो प्रकार के होते है। एक बद्ध और दूसरे मुमुक्षु। बद्ध तो वे कहाते हैं—जो आहार निद्रा मैथुनादि में ही समय बिताते हैं, इन्द्रियों के ही दास बने रहते हैं। वे अधम पुरुष हैं और जिनको ज्ञान की जिज्ञासा होती है जो सोचते रहते हैं जीव क्या है, जगत् क्या है, आत्मा क्या है, उसका इन्द्रियों के साथ क्या सम्बन्ध है। दुख सुख क्या है वे मुमुक्षु कहलाते हैं। वे बद्ध पुरुषों मे से श्रेष्ठ कहलाते है। हे पार्थ! तुम श्रेष्ठ पुरुषों से ही हो। तुम बद्ध प्राणी नहीं। पुरुषर्षभ हो। मूर्खों को समझाने में बड़ी कठिनायी होती है। क्योंकि उनका अन्तःकरण विषयासक्त होने के कारण मलिन रहता है। मलिन वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। तुम्हारा हृदय त्याग और वैराग्य के कारण निर्मल हो गया है। तुम पहिले कह ही चुके हो कि चाहे तीनों लोकों का राज्य भी मुझे मिले। मै इन्द्रियों की तृप्ति के लिए अधर्म कार्य न करूँगा। ऐसी बात निर्मल चित्त का पुरुष ही कह सकता है। शुद्ध अन्तःकरण वाले को समझाने में भी कोई कठिनायी नही होती। मलिन हृदय के पुरुष तो विषयो में निमग्न रहते हैं शास्त्रों का उपदेश ऐसे लोगों के लिए है भी नहीं

शास्त्र तो केवल मुमुक्षु पुरुषों के हिताथ ही है। सो मैं तुम्हें समझाता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनना। मुझे एक बात सहस्र बार कहनी पड़ेगी। उसे तुम पुनरुक्ति दोष नहीं मानना। क्यों कि जब तक बात श्रोता की बुद्धि में भली भाँति न भरेगी वक्ता उसी बात को बार-बार दुहराता रहेगा। जैसे किसी के फोड़ा है। उसके पीड़ा हो रही है, तो जब तक पीड़ा न जाय, तब तक वह बारंबार 'हाय-हाय' इस शब्द को कहता ही रहेगा। पीडा समाप्त होने पर ही वह "हाय" कहना बंद करेगा।

हाँ तो तुमने अमृतत्व लाभ करने वाले के सम्बन्ध में पूछा था, सो मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि इन्द्रियो का अनुकूल विषयों से जो संयोग है उसे सुख कहते हैं। प्रतिकूल विषयो का जब इन्द्रियों मे संयोग होता है वह दुख कहलाता है। जिस धैर्यवान् पुरुष को इन्द्रिय और विषयों का संसर्ग विचलित नहीं कर सकता वही मोक्ष का अधिकारी है। भोजन नहीं मिल रहा है और आप कह दें कि हम तो एकादशीव्रत है, तो यह व्रत, व्रत नही कहा जा सकता। यह तो अन्न न मिलने की विवशता है। अन्न रहते हुए भी हृदय से उसको त्याग दें। वही व्रत है। जब इन्द्रियों के विषय सम्मुख ही नहीं हैं तो कैसे हम कह सकते हैं कि आप बड़े धैर्यवान् हैं। 'विकारों के कारण उपस्थित रहने पर भी जिनका मन विचलित नहीं होता, यथार्थ में वे ही पुरुष धीर कहाते हैं इन्द्रियो और विषयों का संयोग होने पर भी जिनके मन में व्याकुलता नही आती। जो सुख दुख दोनों को ही समान समझते है, वास्तव में वे ही अमृतत्व के अधिकारी हैं, वे ही मोक्ष के योग्य कहाते हैं।

जो असत है, जैसे गदहे के सींग, शशक के सींग, बन्ध्या का पुत्र, ईख का फल, चंदन का फूल, उनका कभी भाव नहीं होता। जो वस्तु है ही नही उसका अस्तित्व होगा ही कैसे। और जो सत

है उसका कभी अभाव नहीं होता। जैसे सूर्य की किरणें, जल में शीतलता, अग्नि में दाहता, सुवर्ण में चमक आदि आदि ये सब वस्तु के साथ बनी ही रहती है। सुवर्ण के चाहे जैसे आभूषण बना लो उसका सुवर्णपना नष्ट न होगा। मिट्टी के चाहे जैसे चाहे जितने लंबे चौड़े छोटे मोटे पात्र बना लो, उसमें से मिट्टीपना नहीं जायगा। जल को चाहे जैसे गरम कर लो। अन्त में वह शीतल ही हो जायगा। ये दृष्टान्त अनित्य वस्तुओं के हैं, इनमें से चाहे किसी का भाव अभाव संभव भी हो जाय, किन्तु आत्मा जो नित्य शुद्ध चैतन्य है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता और जो अनात्म पदार्थ है उनकी कभी स्थायी सत्ता नहीं हो सकती। इस गूढ़ ज्ञान के रहस्य को सभी नहीं जान सकते। इसके यथार्थ मर्म को सभी नहीं पहिचान सकते। तत्वज्ञानी पुरुषों ने ही सत् और असत् के भाव तथा अभाव के अन्त को पाया है। वे ही इसके यथार्थ मर्म को जानने में समर्थ हो सकते हैं। तुम इस बात को गांठ बांध लो कि जो नाशवान् है, त्रिकाल बाधित सत्ता कभी संभव नहीं और जो अविनाशी है उसका कभी विनाश भी संभव नहीं।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! अविनाशी कौन है, अविनाशी की परिभाषा मुझे बताइये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अविनाशी की परिभाषा पूछने पर भगवान् ने जैसे उसकी व्याख्या की है, उस प्रकरण को आगे कहूँगा।

छप्पय

असत वस्तु की कबहुँ कहो का सत्ता होवे।
सत को कबहुँ अभाव न होवे मूरख रोवे॥
सत को होहि न नाश फेरि चिन्ता है काकी।
असत न होवे कबहुँ वेद ऋषि मुनि सब साखी॥
सत्य असत्य स्वरूप कूँ, सब ज्ञानिनि निश्चय कर्यो।
सत्य सदा ई एक रस, असत न जीवे नहिं मर्यो॥

अविनाशी का नाश नहीं ।

[६]

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युद्ध्यस्व भारत ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

कौन असत को सत्य जाहि तुम स्वयं विचारो ।
जो सब जग में व्याप्त जगत को एक सहारो ॥
वही एक है सत्य सर्वगत विभु अविनासी ।
वही पिंड ब्रह्मांड अमर अज घट घट वासी ॥
जो अविनासी विभु विमल, अव्यय अरु आधार है ।
नाश ताहि को करि सकै, एक मात्र जो सार है ॥

युद्ध क्षेत्र में आकर युद्ध से कोई भागना भी चाहेगा तो भागकर

---

* भगवान् कह रहे हैं—हे अर्जुन ! तुम उसी को अविनाशी समझो, जिससे यह सम्पूर्ण दृश्यवान् जगत् व्याप्त है । उस अविनाशी का नाश कोई भी करने में समर्थ नहीं । हे भारत ये जितने भी शरीर हैं अन्तवन्त अर्थात् नाशवान् हैं और इनका शरीरी नित्य, अविनाशी और अप्रेय है । इसलिये भैया ! तू युद्ध कर ।

जायगा ही कहाँ। यह सम्पूर्ण संसार ही युद्ध क्षेत्र है। कहीं न कहीं तो लडना ही पड़ेगा। कहीं क्यों लड़ना पड़ेगा, जिसका जिससे जोड़ बदा है, जिसका नाम जिस योद्धा के साथ लिखा है, उसी से लड़ना होगा। दूसरे से लड़ भी तो नहीं सकते। कोई न किसी को मारता है, न कोई किसी के द्वारा मारा जाता है। करने कराने वाले सब वे ही काले कृष्ण हैं। वे काल स्वरूप हैं वे ही जिसे चाहें मरवा दें वे ही जिसे चाहें जिला दें। संसार चक्र में घूमते रहने वाले रथ की रस्सियाँ उन्हीं के हाथों में हैं। वे चाहें जिधर रथ को घुमा दें। उनके कोई ऊपर नहीं, उनका कोई शासक नहीं, नियायम नहीं, सिखाने वाला नहीं चलाने वाला नहीं, पथ प्रदर्शक नहीं, त्रुटि निकालने वाला नहीं, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एक छत्र सम्राट है। वे ही सबको प्रेरित करते हैं, आज्ञा देते हैं, स्वयं ही रथ हांकते हैं और बलपूर्वक युद्ध कराते हैं। अवश होकर जीव को उनकी आज्ञा पालन करनी पड़ती है, युद्ध करना पडता है।

वालि को भगवान ने छिपकर धोखे से, वृक्ष की ओट से दूसरे से युद्ध करते हुए मार डाला। ऐसा क्यों किया? बस यह पूछने की आवश्यकता नहीं। उन्हें मारना था, मार दिया। "मारना था, तो सम्मुख मारते लड़कर युद्ध में मारते ऐसे छिपकर मारना तो अन्याय है?" उनके लिये सभी न्याय है, वे न्याय ही करते हैं। वे सबका, कल्याण ही करते हैं, वे प्राणी मात्र के सुहृद हैं। संसार रूपी वाटिका को वे हरी भरी सुसज्जित देखना चाहते है, जिस पेड़ को वे उपयोगी नहीं समझते काटकर फेंक देते हैं। वे कभी अन्याय नहीं करते।

हां तो विषयान्तर न करो प्रकृत विषय पर आ जाओ। वालि के मरने पर उसकी पत्नी तारा रोती हुई भगवान

समीप आई। भगवान् ने पूछा—भामिनि ! तुम रो क्यों रही हो।

तारा ने कहा—"अपने पति के लिये रो रही हूँ।"

भगवान् ने कहा—तुम्हारा पति तो सामने पड़ा है ?

तारा ने कहा—भगवन् ! यह तो मृतक है। इसमें जो सार था, जीवात्मा वह तो इसमें से चला गया।

भगवान् ने पूछा—कहाँ चला गया वह ?

तारा ने कहा—मैं क्या जानूँ महाराज किसी अन्ययोनि मे चला गया होगा।

भगवान् ने पूछा—"क्या शरीर के साथ वह नही मर जाता।"

तारा ने कहा—भगवन् ! जीवात्मा का क्या मरना। आत्मा तो अमर है नित्य है शाश्वत है। नाशवान् तो शरीर ही है। जीवात्मा तो एकयोनि को छोड़कर दूसरी में चला जाता है।

भगवान् ने कहा—"देवि ! जो मैं कहना चाहता था, वह तुमने ही कह दिया। यदि तुम आत्मा के लिये सोच कर रही हो, तो व्यर्थ है, क्योंकि वह तो नित्य है, उसका तो कभी नाश ही नही होता अविनाशी है। कोई भी आत्मा का कभी भी नाश करने में समर्थ नहीं। शरीर तो अनित्य क्षणभंगुर नाशवान् है ही। इसका तो नाश होना ही है। जो अवश्यम्भावी है उसके लिये भी सोच करना व्यर्थ है।" इसी बात को भगवान् गीता में अर्जुन को समझा रहे है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने अविनाशी की जिज्ञासा की तब उसको समझाते हुए भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन ! जो इस चराचर में, जो घट-घट में, इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच में उसी प्रकार व्याप्त है जैसे अग्नि में दाहकता व्याप्त है,

उसी को तुम अविनाशी समझो। उस अविनाशी का कोई किसी प्रकार भी, किसी काल में भी नाश नहीं कर सकता। अतः अविनाशी के लिये चिंता करना व्यर्थ है। और जो अविनाशी नहीं है। नाशवान् तथा क्षणभंगुर है, उसका तो अभाव, अदर्शन या लोप होना ही है। जो अवश्यम्भावी है, उसके लिये भी शोक करना शोभा नहीं देता।

अर्जुन ने पूछा—नाशवान् क्या है?

भगवान् ने कहा—अरे, नाशवान् तो शरीर है। शरीरी जिस घर में रहता है, दुपट्टा तानकर जहाँ सोता है, उसे शरीर या पुरी कहते हैं। शरीरों में रहने से जीवात्मा को शरीरी कहते हैं। पुरियों में शरीरों में सोते रहने के कारण ही इसकी पुरुष संज्ञा है। जो नित्य शाश्वत नाश रहित, अप्रमेय जीवात्मा है, उसके वास स्थान को शरीर कहते है। जैसे परिव्राट सन्यासी घूमता ही रहता है कभी किसी दिन किसी फूटे मठ में रह जाता है, कभी किसी मन्दिर में महल में भी वास कर लेता है। प्रातः हुआ अपने दंड कमन्डलु उठाये फिर चल देता है। न जाने कितने घरों में कुटी में वनों में मन्दिरों में उसने वास किया है, जिसे छोड़ देता है, फिर उसकी चिंता भी नहीं करता, भूल जाता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा न जाने कितनी पुरियों में देहों में सोता होगा और न जाने कितनी देहों में इसका सोना शेष है। नित्य अविनाशी को कोई मार नहीं सकता। शरीर को कोई सदा स्थिर नहीं रख सकता। तब फिर भैया! क्यों घबड़ाता है, इन भीष्म द्रोणादि के शरीरों में जो आत्मा विद्यमान है, उसे तो तू क्या तेरे जैसे करोड़ों भी शूर वीर आवें तो भी नहीं मार सकते। और इनका जो शरीर है उसका तो अन्त होना ही है। इसलिये भैया! तू समझ सोच कर आलस्य को छोड़ दे, [illegible]

परित्याग कर दे, मोह को छोड़ दे, ममता को विसार दे। उठकर खड़ा हो जा और डट कर युद्ध कर। झट से सचेत हो जा, खट से खड़ा हो जा, पट से प्रहार कर और सट्ट से शत्रुओं का संहार कर डाल। तू जो स्वजन स्वजन बार बार चिल्ला रहा है। बता ये विजन कौन है। सभी के सभी स्वजन नहीं हैं। कोई किसी को मारता नहीं। यह सब उसी काल के द्वारा हो रहा है।

अर्जुन ने कहा—फिर मारता कौन है ? मरता कौन है, यही बता दीजिये।

सूत जी कह रहे हैं—मुनियो ! अब इस प्रश्न का उत्तर भगवान् आगे देंगे।

छप्पय

आत्मा तो है अमर शरीरी सब दुखभंजन।
नाशरहित निरलेप निरामय नित्य निरंजन॥
अप्रमेय है सदा प्रभा जाकी नहिँ कोई।
सकल शरीरनि माहिँ बसै जीवात्मा सोई॥
नाशवान ये देह सब, क्षणभंगुर सुख दुःखकर।
तातें मेरी मान सिख, भारत ! अब तू जुद्ध कर॥

आत्मा न मरता है न इसे कोई मार ही सकता है

[१०]

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥*
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(श्री भग० गी० २ अ० १९, २० श्लो)

छप्पय

जो यह जानें जीव आतमा मारन वारो ।
जो समुझै यह बात आतमा मरयो बिचारो ॥
अज्ञानी हैं उभय आतमा रूप न जानें ।
तातैं मारनहार मरयो ग्वाकूँ वे मानें ॥
मारै नहिँ जिहि आतमा, जग में काहूँ कूँ कबहूँ ।
सदा अमर अज एक रस, मरयो ताहि समुझै तबहूँ ॥

हम जिसे 'जीवित देह' कहते है, उसमें दो वस्तु है, एक त

---

* जो पुरुष इस आत्मा को मारने वाला जानता है, अथवा मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही कुछ नही जानते । वास्तव मे यह

'जीवन' और दूसरा देह। इन दोनों के संयोग होने से ही यह पुरुष बना है। जीवन चैतन्य है, देह जड़ है। जीवन नित्य है, देह अनित्य है। जीवन की नित्य सत्ता है, देह कभी होता है कभी नहीं होता। देह का नाश हो जाता है, जीवन अविनाशी है वह विनाश से रहित है, जब जीवन देह से पृथक हो जाता है, तो देह मृतक कहलाती है, अन्तवन्त होने के कारण उसका अन्त हो जाता है; किन्तु जिसके सयोग के सम्पर्क से जड़ शरीर जीवित था वह आत्मा शरीर से पृथक हो जाने पर भी शरीर के समान मृतक नहीं होता। हम लोग जो सबसे बड़ी भूल करते हैं वह यही है कि देही और देह में, शारीरी और शरीर में पुर में और पुरुष में जड़ में और चैतन्य में भेद नहीं करते है, इस शरीर को ही सब कुछ समझ कर इसी में अहंता कर लेते हैं, और इस शरीर से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं में ममता कर लेते हैं। इस अहंता ममता के कारण ही हम क्लेश उठाते है। यदि हमें यह निश्चित ज्ञान हो जाय कि शरीर पृथक है देह के मरने पर देही मरता नही। घर के नष्ट होने पर घर का स्वामी नष्ट नहीं हो जाता। घर के नष्ट होने पर उसमें स्थित आकाश नष्ट नही होता। इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर आत्मा की कोई हानि नहीं होती।

सूत जी कहते हैं मुनियो! जब भगवान् ने अर्जुन से यह

जीवात्मा न किसी को मारता है, न स्वयं मरता ही है ॥१९॥

यह आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न कभी मरता ही है तथा यह भी नही है कि यह होकर फिर होने वाला है, यह तीनों कालों मे है इसलिये यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नही होता है ॥२०॥

कहा कि नित्य और अप्रमेय आत्मा अविनाशी है और उसके ये शरीर नाशवान् है, इसलिये तू चिन्ता छोड़ कर युद्ध कर युद्ध करने से तुझे दुःख नहीं होना चाहिये। स्वधर्म पालन रूप कर्तव्य कर्म करने में तुझको प्रसन्नता का ही अनुभव करना चाहिये। युद्ध में शत्रु को मार देने से चित्त में आह्लाद ही होता है।

इस पर अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन! आप सत्य कह रहे हैं। युद्ध सम्मुख उपस्थित हो, हाथ में अस्त्र-शस्त्र लिये अरिगण युद्धके लिये उद्यत हों, उस समय युद्ध से पराङ्मुख हो जाना क्षत्रिय के लिये अधर्म है, शत्रुओं पर विजय पा लेना मनः संतोष कारक है। आपका यह कहना भी यथार्थ है, कि देह के मरने पर आत्मा नहीं मरता, किन्तु प्रभो! मनः प्रसाद ही तो धर्म नहीं। पर स्त्री गमन से मनप्रसाद तो होता है, किन्तु शास्त्र दृष्टि से वह है तो पाप ही। कोई हमसे द्वेष करने वाला ब्राह्मण है उसके मार देने पर मन में तो प्रसन्नता होगी, किन्तु ब्रह्महत्या जनित पाप तो लगेगा ही। इसी प्रकार दीनानाथ! देह के साथ आत्मा चाहे न मरे, आत्मा भले ही अविनाशी और अप्रमेय हो, इन भीष्म, द्रोण तथा कृप आदि गुरुजनों के वध से पाप तो लगेगा ही। उस पाप में प्रभो! मुझे क्यों प्रवृत्त करते हैं।

इस पर हँसते हुए भगवान् वासुदेव ने कहा—"मारने वाला कौन है? और मरने वाला कौन है?

अर्जुन ने कहा—"मारने वाला अर्जुन और मरने वाले भीष्म, द्रोण तथा कृपादि गुरुजन।"

भगवान् ने पूछा—अर्जुन, भीष्म, द्रोण, कृप किसके नाम है?

अर्जुन ने कहा—शरीरों का ही नाम है।

भगवान् ने कहा—जीवात्मा के बिना शरीर तो मृतक जड़ है ही। मृतक को कोई क्या मारेगा। पिसे हुए को कोई क्या पीसेगा? रही आत्मा की बात सो जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसे मृतक मानता है। वे दोनो ही मूर्ख है, अंधेरे में हैं अज्ञानी है। वास्तविक बात यह है कि आत्मा न तो स्वयं किसी को मारता ही है न किसी के द्वारा वह स्वयं ही मारा जाता है।

अर्जुन ने पूछा— भगवन्! फिर मरता कौन है?

भगवान् ने कहा—"देखो भैया, जो उत्पन्न होता है, वह मरता भी है। जिसने जन्म लिया है उसे ध्रुव रूप से मरना ही पड़ेगा। जन्म वह लेता है, जो पहिले नही था अब उत्पन्न हो गया है। आत्मा तो सदा सर्वदा विद्यमान है, इसलिये इसके जन्म लेने का प्रश्न ही नहीं उठता जब जिसका जन्म ही नहीं उसकी मृत्यु कैसी। अजन्मा तो अविनाशी अजर अमर है। जो जन्म लेता है उसमे ६ विकार रहते हैं। पहिले उसका आस्तित्व नही था जन्म होने पर उसका आस्तित्व हुआ। जो जन्म लेता है, वह बढ़ता है, सनक सनन्दनादि कुमार यद्यपि बढ़ते नहीं सदा ५, ६ वर्ष के ही बने रहते हैं, फिर भी जन्म लेने से ५, ६ वर्ष तक बढ़े ही। फिर ये तो मुक्त जीव है, इनका बढ़ना घटना क्या। साधारण जीव तो जन्म के साथ बढ़ता है। बढ़ने के साथ परिणाम को प्राप्त होता है। लंबा चौड़ा तगड़ा मोटा आदि होता है। बढ़ते-बढ़ते फिर अपक्षीयते-क्षय होने का, वृद्ध होने का आरम्भ होता है। बढ़ोतरा रुक जाती है शिथिला आने लगती है। क्षय होते-होते विनश्यति नष्ट हो जाता है मर जाता है। इस लिये जन्म के साथ ही साथ मृत्यु भी उत्पन्न होती है जो जन्मा है उसे एक दिन मरना पड़ेगा। आत्मा में जन्म

मरणादि ६ विकारों में से एक भी नहीं। पहिले कभी न होकर फिर कभी आगे होगा ऐसी भी बात नहीं। न इसका जन्म कभी पहिले था, न अब है न आगे होगा। यह जन्म लेकर सत्ता वाला हुआ है सो भी बात नहीं। यह तो सदा से सत्तावान ही है। यह अज है इसमें उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। यह ऐसा भी नहीं कि पहिले कभी न रहा हो और पीछे से नित्य हो गया हो, इसमें तो भूत, भविष्य और वर्तमान काल का भेद भाव है ही नहीं। यह तो सदा सर्वदा एक रस रहने वाला शाश्वत है। इसमें कभी नवीनता नहीं पुराण है। पुराण से यह न समझें कि पहिले कभी नवीन था, फिर काल पाकर पुराना हो गया ऐसी बात नहीं है, पुराना होने पर भी नित्य नूतन सा ही बना रहे। इससे यही समझना चाहिये कि यह सभी विकारों से रहित है। जैसे पुराण पुरुष।

एक बार शिवजी का पार्वती जी के साथ विवाह हुआ। विवाह के समय शाखोच्चार दोनों ओर से पंडित बोलते हैं। जब गिरिराज हिमालय के ओर के पंडित शाखोच्चार कर चुके तब शिवजी से पूछा गया आपका क्या नाम है? शिवजी ने कहा—हमें रुद्र, शिव, शंकर अनेक नामों से पुकारते हैं।

फिर पूछा गया—आपके पिता का क्या नाम है?

तब शिवजी ने कहा—"अज।"

फिर पूछा गया—पितामह का क्या नाम है?

शिवजी ने कहा—"विष्णु।"

फिर पूछा गया—प्रपितामह का क्या नाम है?

तब हँसकर शिवजी बोले—"प्रपितामह तो सबके हम ही हैं। शिव, शंकर, रुद्र।"

कहने का अभिप्राय यही कि पुराने होने पर नवीन-नवीन

बने रहते हैं। इस समय ही नवीन बने है सो बात नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब हमारे ही पुराण पुरुष के नाम हैं।

भगवान् कह रहे है—सो भैया, अर्जुन! आत्मा अमर एक रस है शरीर के मरने पर आत्मा नहीं मरती और जो आत्मा के इस ज्ञान में पूर्ण निष्ठावान् है उसे शरीरों के वध करने पर भी पाप का स्पर्श तक नहीं होता क्योंकि वह जानता है शरीर अन्तवान है आत्मा कभी मरता नहीं। मूर्ख यदि बिना तत्व ज्ञान के इसका आचरण करेगा, तो उसका पतन होगा और तत्व ज्ञानी यदि पूर्ण निष्ठा के साथ इसका अनुसरण करेगा, तो वह पाप, पुण्य दोनों से ही छुट कर परमपद का अधिकारी बन जायगा।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब भगवान् ने आत्मा का अजर अमर एक रस स्वरूप बताकर अर्जुन से युद्ध करने को कहा, तब अर्जुन ने शंका करी—भगवन्! यह बात तो समझ में आ गयी कि आत्मा न मरता है और न किसी के द्वारा मारा ही जाता है, किन्तु दूसरों को मारता भी नहीं यह कैसे जाने।" इस पर भगवान् हँसे और बोले—जो स्वयं न मरता है न किसी के द्वारा मारा ही जाता है, ऐसा अविनाशी दूसरे को मारेगा क्या? इसी का उत्तर वे आगे देते हैं।

छप्पय

नहीं आतमा कबहुँ जनम लेवै जा जगमें।
सदा सरबदा रहै मृत्यु के जाइ न मगमें॥
नहिँ होवै उत्पन्न नहिँ पुनि ह्वैवे वारो।
तीनि काल में रहै काल का करै विचारो॥
नहीं जनम जाको मरन, नित्य रहै प्रभु पुरातन।
मरि जावै यदि देह तो, नहीं मरै यह सनातन॥

देही नित्य है देह परिवर्तनशील है।

[११]

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥*
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

[श्री भग०गी० २ अ० २१,२२ श्लो०]

छप्पय

जानत जो जिह पुरुष आतमा अज अविनासी।
नित्य, सत्य, सुखरूप अजनमा घट-घट वासी ॥
व्यय जाको नहिं होइ कहें अव्यय जाकूँ जन।
तो फिरि सोचो सखे ! कौन काको मारै तन ॥
जिनकूँ ऐसो ज्ञान है, मरवावै काहू नहीं।
काहू कूँ मारत नहीं, सत असत्य होवै कहीं ॥

---

* हे पार्थ ! जो इस आत्मा को अज, अव्यय तथा अविनाशी जानता है, वह फिर भला किसे प्रकार किसे मरवायेगा ? और वह किसी को मारेगा ? ॥२१॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र को त्याग कर नये वस्त्र धारण कर लेता है वैसे ही यह देही-जीवात्मा-पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है ॥२२॥

देह और देही, शरीर और आत्मा तथा जड और चेतन्य सम्बन्ध होने पर अज्ञानी उसे एक धर्मीय ही समझने लगते हैं। देही तो अमर है। नित्य है, शाश्वत है, जीवन है, किन्तु जिस घर में यह रहता है। वह अनित्य अशाश्वत और जड है। वह जन्मता है मरता है। ज्ञान कोई बहुत भारी वस्तु नहीं। जल और दूध मिलकर एक हो जायें तो ज्ञानी का परम हंस का काम इतना ही है, कि जल को पृथक कर दे दूध को पृथक कर दे। इसे हंस ही कर सकता है। इसी प्रकार जड़ चेतन की देह देही का जो घुटाला हो गया है उसे ज्ञानी परम हंस ही पृथक कर सकता है। मूर्ख लोग मृत्यु से डरते हैं, वे अपने समस्त कार्य मृत्यु से बचने के लिये ही करते है। हमारा शरीर सदा बना रहे, इसका कभी नाश न हो इसीलिये सुंदर से सुंदर वस्तु खाते है। मूल्यवान औषधियों का सेवन करते हैं, अच्छे से अच्छे चिकित्सकों को दक्षिणा देकर उनसे अजर अमर निरोग बने रहने का विधान पूछते हैं, किन्तु जो नाशवान् है, वह अजर अमर निरोग रह ही कैसे सकता है। तुम लाख मृत्यु से डरो। मृत्यु किसी न किसी दिन तुम्हें धर दबावेगी। किन्तु जो जड़ चैतन्य का, देह देही का, नित्य अनित्य का, मर्म जानते है, वे मृत्यु से डरते नहीं। उसे भी वे एक साधारण सी घटना समझते हैं।

सूतजी कहते है—मुनियो! भगवान् अर्जुन को फिर उसी बात को समझाते हुए कहने लगे—हे पार्थ! तुम सोचो तो सही आत्मा और देह ये दोनों विरुद्ध धर्मी है। देह जन्मता मरता है। उसका व्यय ह्रास होता है, घटता बढता रहता है। बाल्य, युवा और वृद्धा ये अवस्थायें होती हैं। यह नाशवान् है। आत्मा का न कभी जन्म है न मरण। वह अजन्मा अमर है। उसमें व्यय नहीं, क्षय नहीं, ह्रास नहीं, बढ़ोत्तरी नहीं, घटोत्तरी नहीं

वह अव्यय है। जिसका जन्म ही नहीं उसके नाश का प्रश्न ही नहीं उठता अतः अविनाशी है। ऐसा अज, अव्यय और अविनाशी आत्मा कैसे किसी को मारेगा और उसे मारने से मिलेगा ही क्या ?

अर्जुन ने पूछा—फिर मृत्यु क्या है ?

हँसते हुए भगवान् बोले—अरे, मृत्यु भी एक दशा है, एक स्थिति है। जैसे देह की बाल्यावस्था है, युवावस्था है, वृद्धावस्था है वैसे ही सर्वावस्था अर्थात् मृत्यु की अवस्था है।

अर्जुन ने पूछा—मृत्यु किस की होती है, जड़ की या चैतन्य की ? आप कहते हैं, चैतन्य तो कभी मरता नहीं। जड़ तो जड़ ही ठहरा वह तो मृतक ही है। मृतक की मृत्यु ही क्या ?

भगवान् ने कहा—अरे भाई ! यह शरीर जड़ और चैतन्य का संहात ही तो है। चैतन्य आत्मा किसी के आश्रय से ही तो रहता है। जैसे कोई पगड़ी, अंगरखी, धोती पहिने पुरुष खड़ा है, आप उसे देखकर यही कहेंगे कि यह देवदत्त खड़े हैं। उस समय आप देवदत्त कहने से उनके वस्त्र, आभूषण, नख बाल, केश सभी का समारोह उसमें कर लेंगे।

वास्तव में जो धोती, अंगरखा, पगड़ी तथा साफी आदि वस्त्र पहिने हैं, वे उनकी जीवित देह से सर्वथा पृथक् हैं। वस्त्रों के जीर्ण होने पर उन वस्त्रों का परित्याग करके नवीन वस्त्र धारण कर लें तो क्या उन्हें आप देवदत्त न कहेंगे। इस प्रकार देह में रहने वाला देही, पुराने शरीर को छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण कर ले तो देही—आत्मा—तो वही रहेगा। जैसे पुरुष पुराने-पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये-नये वस्त्र पहिनकर रहता है, इसमें वह तनिक भी दुःख नहीं मानता प्रत्युत सुख

का ही अनुभव करता है। इसी प्रकार ज्ञानी शरीर परिवर्तन से दुखी नहीं होता नवीन सुख की ही अनुभूति करता है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! जीवात्मा पुराने ही वृद्धावस्थापन्न-शरीरों को ही छोड़कर नये शरीर धारण करता हो, सो बात तो नहीं। बहुत से बालक पैदा होते ही मर जाते हैं बहुत से बाल्यावस्था में बहुत से युवावस्था में मरते हैं, वे पुराने ही शरीरों को तो नहीं त्यागते, नये शरीरों को भी त्याग देते हैं।

भगवान् ने कहा—"पुराने से अभिप्राय वृद्धावस्थापन्न शरीर से नहीं है। जीव जब जन्मता है तो प्रारब्ध कर्मों के अधीन होकर ही कार्य करता है। संचित कर्मों में से एक शरीर के भोगने के लिये जितने कर्म दिये जाते हैं उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। नवीन जन्म होने से पूर्व इस जन्म के आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँच बातें पहिले ही निश्चित रहती हैं। जिस शरीर को जितने दिन की आयु दी, उतने दिन भोगने पर वह शरीर जीर्ण ही माना जाता है। युद्ध की सामग्रियों की कुछ सीमा होती है, उतना समय बीत जाने पर उस सामग्री का जो एक दिन भी उपयोग न हुआ हो, उसे पुरानी समझकर कोठार से पृथक् कर दिया जाता है। द्विजातियों का यज्ञोपवीत है साधारण नियम तो यह होता है यज्ञोपवीत पुराना होने पर उसका परित्याग कर दिया जाता है, नवीन यज्ञोपवीत उसके स्थान में धारण कर लेते हैं। किन्तु यदि अशुद्धता हो गई, यज्ञोपवीत कान पर नहीं चढ़ाया, अशुद्ध हो गया तुरन्त दूसरा बदलना पड़ता है। जन्म सूतक आ गया, सूतक सूतक गये अस्पर्श का स्पर्श हो गया अथवा और भी अशौच हो तब भी यज्ञोपवीत बदलना पड़ता है। और दूसरे जीर्ण यज्ञोपवीत त्याग कर तथा नवीन धारण कि

आज ही हमारा कोई सम्बन्धी मर गया है और हमें उसकी शवयात्रा में जाना पड़ा, तो आज ही हमें पुनः उस यज्ञोपवीत को बदलना होगा। इतनी ही देर में शवयात्रा के साथ जाने में ही वह जीर्ण समझा जायगा। और पहिनते समय इसी मन्त्र को पढ़ेंगे भी--हे ब्रह्मस्वरूप यज्ञोपवीत! इतने दिन पर्यन्त मैंने तुम्हें धारण किया था, अब जीर्ण होने से ही मैंने तुम्हारा परित्याग कर दिया है। हे सूत्र! अब तुम सुख से चले जाओ, समुद्र में जाओ, समुद्र में जाओ।* जैसे यहाँ जीर्ण से केवल पुराना ही अर्थ नहीं है अनुपयोगी अर्थ है। वैसे ही जीर्ण शरीर त्याग कर नये में चले जाने का अर्थ यही है, कि प्रारब्ध-भोग समाप्त होने पर नया शरीर धारण कर लेना। कुछ बहुत बड़े आदमी होते हैं उनका ऐसा नियम होता है, कि जिस वस्त्र को एक बार धारण कर लिया फिर दुबारा उसे धारण नहीं करते। उनके लिये एक बार धारण करने से ही वह वस्त्र जीर्ण हो जाता है।

इसलिये जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुष पुराने कपड़े को त्याग कर नया वस्त्र पहिन लेते है और उसमें उन्हें कोई हर्ष शोक नहीं होता उसी प्रकार देही पुराने-पुराने शरीरों को त्याग कर नये-नये शरीरों को धारण करने में किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करता।

एक महात्मा थे, उनके पास एक व्यक्ति गया और बहुत रोने लगा। महात्मा ने पूछा—भाई क्यों रोते हो?

---

* एतावद्दिनं पर्यन्तं ब्रह्म त्वं धरितं मया।
जीर्णत्वात् त्वत्परित्यागः गच्छ सूत्र यथा सुखम्॥
[समुद्रंगच्छध्वं २]

उसने कहा—महाराज ! मेरा पुत्र मर गया।

महात्मा ने पूछा—कैसे मर गया ?

उसने कहा—"सर्प ने काट लिया।"

महात्मा ने पूछा—"तब क्या चाहते हो ?"

उसने कहा—"महाराज ! उसे जीवित कर दें।"

महात्मा ने कहा—सायकाल में आना।

यह सुनकर वह व्यक्ति चला गया। महात्मा बड़े त्यागी थे, एक मिट्टी का पात्र रखते थे। उस आदमी के आने के पूर्व वे शौच चले गये। शौच में जाकर उन्होंने अपना मिट्टी का पात्र फोड़ दिया और चिल्ला चिल्ला कर रोने लगे। इतने में ही वह आदमी आ गया। उसने पूछा—महाराज ! क्यों रो रहे हैं ?

महात्मा ने कहा—भैया ! मेरा यह मृत्तिका पात्र मेरा बहुत दिन का साथी था, इसी ने मुझे नग्नावस्था में देखा। इसी ने मुझे जल पिलाया अब यह फूट गया। अब मैं कैसे करूँगा। अब मैं किसी दूसरे के सामने कैसे होऊँगा।"

उसने कहा—"महाराज ! मिट्टी का ही तो पात्र था, उसका समय आ गया, अवधि समाप्त हो गयी, दूसरा ले लीजियेगा।"

महात्मा ने कहा—नहीं भैया, मैं तो इसी को जोड़ना चाहता हूँ।"

उस व्यक्ति ने कहा—"महाराज ! इसके तो टुकड़े टुकड़े हो गये यह अब कैसे जुड़ सकता है, इसके स्थान पर दूसरा मिट्टी का पात्र ले लें। मिट्टी के पात्र तो बहुत मिलते है।"

महात्मा ने कहा—"जैसे खन्ड खन्ड हुआ मृत्तिका पात्र समय आने पर फूट जाने से नहीं जुड़ सकता, इसी प्रकार काल आने पर अवधि समाप्त हो जाने पर-प्रारब्ध कर्मों के चुक जाने पर मृतक

हुआ शरीर पुनः जीवित नहीं हो सकता। जीवात्मा इस शरीर को त्याग कर किसी अन्य शरीर में चला गया। काल रूपी सर्प ने इसे डस लिया इसका अन्त कर दिया। इसमें रहने वाला देही तो मरता नहीं। वह दूसरे शरीर में चला जाता है, अब इस मृतक शरीर से तुम ममता छोड़ दो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह देह जीवात्मा देही के वस्त्र के समान, यज्ञोपवीत के समान है, जैसे पुरानी वस्तु को छोड़कर नयी वस्तु ग्रहण कर लेने पर ग्रहण कर्ता को कुछ भी कष्ट नहीं होता इसी प्रकार जीवात्मा एक के पश्चात् दूसरी, दूसरी के पश्चात् तीसरी, तीसरी के पश्चात् चौथी, इसी प्रकार अनेक योनियों में भटकता रहता है। मूर्ख इस परिवर्तन से भले ही मोह को प्राप्त हो जायें, किन्तु ज्ञानी तो इस देह के परिवर्तन को अपरिहार्य अनिवार्य मानता है। देह के परिवर्तन से आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। क्योंकि वह तो अपरिवर्तनशील है।

छप्पय

वस्त्र पुरातन त्यागि नये पहिने जैसे नर।
फेंकै जीरन समुझि पहिन नूतन पट मनहर॥
जीवात्मा त्यौं त्यागि पुराने देहनि जावै।
एक त्यागि कै जाइ नये में पुनि घुसि जावै॥
नये वस्त्र मिलि जाइँ जब रोवत नहिं तजि पुरातन।
नाशवान तन सबहिं ये, जीवात्मा तो सनातन॥

आत्मा शुद्ध सनातन है

[१२]

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥*

(श्री भग०गी०, २ अ०, २३, २४ श्लो०)

छप्पय

कटै न आतमा कबहुं चाहिँ काटो शस्त्रनितैं ।
है अकाट्य सिद्धान्त मरै नहिँ यह अस्त्रनितैं ॥
अगिनी चाहें क्रोध करै सब शक्ति लगावै ।
परि आतमा कूँ विविध युक्त करि नहीं जरावै ।
तीनि काल में आतमा, गरै न जल जितनों भरै ।
वायु सुखावै नहिँ कबहुँ, जतन शक्ति भरि भल करै ॥

---

* इस आत्मा को शस्त्र छेदन नहीं कर सकते । अग्नि जला नहीं सकती । जल इसे गला नहीं सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती ॥२३॥

यह जो आत्मा है, शस्त्र द्वारा छेदन नहीं हो सकती । जलायी नहीं जा सकती, गलाई नहीं जा सकती, सुखाई नहीं जा सकती । यह आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन है ॥२४॥

यह जो हमें जगत दिखायी देता है, इसे प्रपञ्च कहते हैं। प्रपञ्च का अर्थ है भली प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँचों वस्तुओं से निर्मित, दृश्य जगत की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो इन पाँचों से निर्मित न हो, जिसमें इन पाँचों वस्तुओं का समावेश न हो। अपने शरीर को ही ले लीजिये इसमें चर्म, नख, हड्डी, मांस, मल आदि पार्थिव हैं। स्वेद-पसीना-मूत्र कफ, आदि जलीय अंश हैं। पित्त, उष्णता आदि अग्नि के अंश हैं। दश भाँति के प्राण, वात आदि वायु के अंश हैं, आकाश तो सर्व व्यापक है ही। आकाश-अवकाश न हो तो ये देह आदि रहें ही कहाँ। मुख के, उदर में, नस नाड़ियों में सम्पूर्ण शरीर में आकाश है। ये पंचभूत उत्पन्न होते हैं। विलीन होते हैं, अतः इनसे निर्मित जो भी वस्तु होगी वह नाशवान् होगी। ये भौतिक पदार्थ ही एक दूसरे का विनाश करने में समर्थ होते हैं। जैसे पेड़ की डाली है या कोई भी पार्थिव शरीर है, उसे लोह आदि धातुओं से बने अस्त्र-शस्त्र काट सकते हैं। सब पार्थिव वस्तुओं को जल गला सकता है, अग्नि जला सकती है; वायु सुखा सकती है। तात्पर्य यह है, कि देह से ही देह उत्पन्न होती है और देहों के द्वारा ही देहों का विनाश होता है। आत्मा प्रपञ्च से परे है अतः पंचभूत निर्मित कोई वस्तु उसे क्षति नहीं पहुँचा सकती।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने शरीर की वस्त्रों के साथ उपमा देकर नर की देही के साथ तुलना की तब यह प्रश्न स्वाभाविक उठ सकता है, कि जैसे पुराने वस्त्र नष्ट हो जाते हैं वैसे ही वस्त्रों को पहिनने वाला पुरुष भी तो एक दिन नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शरीर का नाश तो हो ही जाता है, उसके साथ में शरीरी का भी नाश हो जाता

है क्या ? इस शंका के निवारणार्थ फिर आत्मा के अज, नित्य तथा शाश्वत रूप को दुहराते हुए बताते हैं कि इस आत्मा को पृथिवी से बने धनुष, बाण, खड्ग तथा अन्यान्य विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्र काटना चाहें तो काट नहीं सकते। जल अपनी पूरी शक्ति लगा दे तो भी अन्य भौतिक वस्तुओं की भाँति आत्मा को गला देने में समर्थ नहीं। अग्नि सब को जला देने में समर्थ है, प्रचंड अग्नि जल को भी जला देती है, किन्तु कैसी भी अग्नि हो, आत्मा को जला ही नही सकती। वहाँ तक उसकी शिखाओं की लपटों की पहुँच ही नहीं। इसी प्रकार वायुदेव चाहें कि हम गीली से गीली वस्तु को सुखाने में समर्थ है, आत्मा को भी सुखा देंगे, तो उनका यह प्रयास सफल नहीं हो सकता। वायु द्वारा आत्मा का सुखा देना तो पृथक रहा उनका स्पर्श भी नहीं कर सकता। अब रह गया आकाश सो आकाश तो स्वयं कोई क्रिया करता नहीं, उसके आश्रय से ही जगत् कार्य होता है, फिर भी आकाश सनातन तो नही अनादि तो नहीं, वह सृष्टि के साथ उत्पन्न होता है, प्रलय के साथ विलीन हो जाता है, वह चाहे कि अपने साथ आत्मा को भी विलीन कर ले तो वह ऐसा कर नही सकता। क्योंकि जैसे आत्मा पार्थिव पदार्थों द्वारा छेदन न होने से अछेद्य है। अग्निदेव के द्वारा दहन न किये जाने के कारण 'अदाह्य' है जल द्वारा गलाई न जाने के कारण अक्लेद्य है और वायु द्वारा सुखाई न जाने के कारण अशोष्य है वैसे ही आकाश द्वारा प्रलय के समय साथ ही साथ उसे समाप्त न करने से आत्मा सनातन है। अनित्य पार्थिव पदार्थों से विलक्षण होने के कारण यह सदा सर्वदा एक रस रहने के कारण नित्य कहलाता है। यह किसी एक देश में एक पिंड में एक ब्रह्माण्ड मे ही न रह कर सर्वत्र व्याप्त है अतः

सर्वगत कहलाता है। इस जगत के जितने पदार्थ हैं सब गतिशील तथा परिवर्तनशील हैं, सब किसी न किसी प्रकार चलते रहते हैं, सब किसी न किसी रूप में बदलते रहते हैं, किन्तु आत्मा कहीं चलता नहीं। चले भी कहाँ जहाँ न हो वहाँ जाय, यह तो सर्वगत है सर्वत्र व्याप्त है अतः हिलना डुलना भी चाहे तो कहाँ हिले डुले। वह अविचल भाव से अवस्थित है। यह भी कहना बनता नहीं, क्योंकि पार्थिव वस्तु आकाश में अवस्थित है। उसके भीतर भी आकाश एक बीच में व्यवधान मात्र है। जैसे घड़े के भीतर भी आकाश है, और स्वयं आकाश में स्थित भी है। घड़े के फूट जाने पर घड़े का आकाश दौड़कर महाकाश में विलीन नहीं होता। घड़े के हट जाने से उसका अन्तराय हट गया। किन्तु इस आत्मा में तो किसी प्रकार का, किसी वस्तु का व्यवधान ही नहीं। यह तो व्यवधान से रहित स्थाणु और अचल भाव से सदा सर्वदा एक रस अवस्थित है। इसीलिये यह सनातन है, नवीन नहीं युवा नहीं, वृद्ध नहीं। बस, जैसे का तैसा है, जैसे का तैसा बना अवस्थित है और अनन्त काल तक जैसे का तैसा ही बना रहेगा।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! बार बार एक ही बात को दुहराने में क्या लाभ एक बार कह दिया कि यह पार्थिव पदार्थों की भाँति जन्म मरण से रहित नित्य है। एक ही बात को फिर घुमा फिरा कर कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! एक बात को बार-बार कहने का नाम ही तो कथा है, पुनरावृत्ति का नाम ही तो इतिहास है। बात तो इतनी ही है, भगवान् हैं, दृश्य प्रपञ्च मिथ्या है। इसी का तो समस्त शास्त्रों में विस्तार है। हम नित्य एक ही बात को तो पुनरावृत्ति करते रहते हैं। नित्य एक ही आकाश में स्थित रहते हैं सूर्य चन्द्र नित्य ही समय से उदय अस्त होते

हैं, नित्य ही हम एक ही वायु में श्वास प्रश्वास लेते हैं। एक ही जल को दिन में अनेक बार पीते रहते है। एक ही पृथिवी के बने, गेहूँ, चावल, दाल, साग को नित्य नित्य खाते रहते हैं। नित्य खाने पर भी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति तभी होगी जब ये सब व्यापार बन्द हो जायंगे, किन्तु जीवन धारण के निमित्त ये काम बारम्बार करने पड़ते हैं जब तक पूर्ण ज्ञान नहीं होता जब तक आत्मा के यथार्थ रूप का ज्ञान नहीं होता, तब तक ये ही बातें बारम्बार सुननी पड़ेगी। देह के प्रति जब तक ममता है, देही का जब तक पूर्ण बोध नहीं होता तब तक जितने भी जन्म धारण करने होंगे ये ही बातें सुननी होंगी। जहाँ देह देही का विभाग समझ में आ गया। देह की अनित्यता तथा देही की नित्यता हृदय में बैठ गयी, तहाँ दुःख, सुख, शोक, मोह, विषाद, चिन्ता, कहना सुनना सभी समाप्त हो जायगा। योनि चाहे चींटी की हो या इन्द्र की हो, सभी दुःखालय हैं सभी शोक मोह का घर है। आत्मा अचल है सनातन है जिस योनि में भी यह यथार्थ ज्ञान हो गया वहीं बेड़ा पार है।

एक बार स्वर्ग लोक से एक चीटियों का झुंड आ रहा था, कुछ चीटी उधर जा रही थीं। चींटी जब चलती हैं, तो पंक्ति बद्ध चलती हैं। कुछ जाती रहती है और कुछ आती रहती हैं। जाने वाली आने वालियों से नमस्कार प्रणाम करती हैं, मुंह से मुंह मिला कर अभिवादन करती हैं अपनी भाषा में कुशल क्षेम पूछती हैं फिर नमस्कार करके चली जाती है। एक चीटा उधर से आ रहा था एक चींटा इधर से जा रहा था। जाने वाले चीटा ने आने वाले चींटा का अभिवादन किया। वह खड़ा हो गया। उसने इसके अभिवादन का उत्तर नहीं

दिया। तब जाने वाले चींटे ने आने वाले चींटे की ओर ध्यान से देखा वह रो रहा था।

इस चींटे ने पूछा—"भाई साहब! क्यों रो रहे हो?"

उसने कहा—भाई, आज मैं अत्यन्त ही दुखी हूँ। मेरे दुःख का वारापार नहीं।"

इस चींटे ने कहा—"दुःख का कारण तो बताओ। परस्पर में दुःख सुख कहने से शांति मिलती है, दुःख सुख बंट जाता है। संसार का व्यवहार परस्पर के सहयोग से चलता है।"

उस चींटा ने कहा—क्या कहूँ भाई साहब! आप तो जानते ही हो, मैं इससे पिछले जन्म में इन्द्र था। इसी स्वर्ग में राज करता था। इन्द्र पद परिवर्तनशील है, एक इन्द्र चला जाता है, दूसरा इन्द्र उसके स्थान आ जाता है, किन्तु इन्द्राणी एक ही रहती है जो इन्द्र आ जाता है, उसी की वह इन्द्राणी बन जाती है।

"यह इन्द्राणी पहिले मुझसे अत्यन्त स्नेह करती थी। बारबार कहती थी तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारे हो तुम्हारे बिना मैं रह नहीं सकती। तुम्हारे स्पर्श के अतिरिक्त किसी दूसरे का स्पर्श कर नहीं सकती।" मैं भी इससे अत्यधिक स्नेह करता था। काल क्रम से मेरा इन्द्र काल समाप्त हुआ। मैं चींटा बन गया अब यह दूसरे इन्द्र की इन्द्राणी हो गयी। आज मैं इसके पास गया। इसके शरीर पर ज्यों ही चढ़ने लगा, इसने मुझे उठाकर दूर फेंक दिया, फिर चढ़ने लगा फिर फेंक दिया ऐसे कई बार जब फेंका गया तब मैंने उसे अपना परिचय दिया तब उसने कहा—"देखो, शरीर परिवर्तन से सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जाता है, भाव भी परिवर्तित हो जाते हैं जिस समय तुम इन्द्र थे उस समय मेरा और था, अब उन बातों को दूर

जाओ। अब किसी चीटी से जाकर मित्रता करो। सो भैया! अपने ही स्वजन द्वारा तिरस्कृत होने के कारण मैं रुदन कर रहा हूँ।"

उन दोनों चीटों का सम्वाद लोमश ऋषि सुन रहे थे। उन्होंने उनकी बोली ही में उन्हें समझाया—देखो देह तो अनित्य है अशाश्वत है, देह से जब तक सम्बन्ध रखोगे तब तक क्लेश के ही भाजन बनोगे। देह तो चाहे चीटी का हो या इन्द्र का उसका नाश होगा, देह नाश के साथ पुराने सम्बन्धों का पुराने भावों का भी नाश स्वतः हो जायगा। इन्द्राणी ने जो कुछ कहा ठीक ही कहा। तुम उस अविनाशी, अपरिवर्तनशील, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन, अजर अमर सनातन आत्मा का ज्ञान करो। देह दृष्टि को त्याग दो आत्म दृष्टि को अपनाओ तो दुःख से तुम सदा के लिये छुटकारा पा जाओगे।"

महर्षि के इस उपदेश से, चीटा का अज्ञान नाश हुआ उसे देह की अनित्यता तथा आत्मा की नित्यता तथा सनातनपने का ज्ञान हुआ और वह देह बन्धन से विमुक्त होकर आत्म निष्ठ हो गया।

सूत जी कहते है—सो, मुनियो! बारबार देह की अनित्यता तथा आत्मा की नित्यता का कथन करना ही परमार्थ का अभ्यास है। नित्य के अभ्यास से संसार से वैराग्य होता है। जिससे शम, दम, त्याग, तितिक्षा, उपरति आदि के द्वारा ज्ञान लाभ होता है। इसीलिये भगवान् आत्मा की नित्यता और देह की अनित्यता पर पुनः पुनः बल देते है। आगे भी इसी का पुनः विवेचन करेंगे इसे आप भगवान् के ही शब्दों में सुनिये।

छप्पय

आत्मा नित्य अछेद्य छिद्र कस होवै तामें।
जरिबेवारी नहीं अगिनि का करि है तामें॥
गीली कैसे होहि नीर की पहुँच नहीं है।
सुखवै कैसे वायु सूखनों बनत नहीं है॥
शुद्ध बुद्ध है आतमा, नित्य सर्वव्यापी अचल।
सदा एकरस सनातन, थिर अभेद्य है सबहिँ थल।

आत्मा अचिन्त्य है

[१३]

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं सोचितुमर्हसि ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० २५, २६ श्लो०)

छप्पय

आत्मा है अव्यक्त व्यक्त फिरि कैसे होवै ।
आत्मा एक अचिन्त्य व्यरथ फिरि तू क्यों रोवै ॥
जामें नहीं बिकार फेरि कैसे मरि जावै ।
अजर अमर जो वस्तु मृत्यु ता ढिँग नहिँ आवै ॥
अमर आतमा समुझि कें, शोक मोह कूं छोरि तू ।
निरभय ह्वैकें समर करि, ममता तें मुख मोरि तू ॥

---

* यह आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है, विकार रहित है ऐसा मनीषी कहते हैं, इसलिये इस आत्मा को तू ऐसा जानकर शोक करना छोड़ दें। इसके लिये शोक करना उचित नहीं ॥२५॥

मान लो तुम इसे नित्य जन्मने तथा नित्य मरने वाला ही समझते हो, तो भी हे महाबाहो ! तुम्हें इस भांति सोच करना उचित नहीं है ॥२६॥

जब हमें किसी के शोक को दूर करना होता है, तो उसे सब प्रकार से समझाते है। जिस रीति से भी वह समझे भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन करके उन मतों द्वारा भी उन्हें शोक करने से रोकते है। एक 'तुष्यतु दुर्जन न्याय, होता है, उसमें हम पूर्व पक्ष उठाकर प्रतिपक्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, नाना युक्तियाँ देकर कहते है मान लो-यह ही बात सत्य सही, तो भी इस सिद्धान्त को मान लेने पर भी तो आप जिस हठ पर अड़े हैं, उसकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती। "तुष्यति दुर्जन न्याय" सिद्धान्त नहीं है विधि नहीं है। यदि दुर्जन लोग इसी बात से सन्तुष्ट होते हैं तो थोड़ी देर के लिये हम इस बात को भी माने लेते हैं, किन्तु इस बात के मान लेने पर भी तो तुम्हारी हठ की बात यथार्थ प्रतीत नहीं होती। नाना युक्ति वादों मे वही समझा सकता है, जो उस सिद्धान्त का पारदर्शी गुरु हो। और उसी जिज्ञासु को समझा सकता है, जो हृदय से यह कह कर शरण में आया हो कि मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, मेरी रक्षा करो, मेरे संशयों को दूर करो मैं तुम्हारे प्रपन्न हूँ, तुम्हारी शरण में आ गया हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ पारदर्शी सच्चे सद्गुरु नारायण थे और अर्जुन सच्चे शरणागत वास्तविक प्रपन्न यथार्थ जिज्ञासु नर थे। उन्हीं के द्वारा इस गीता ज्ञान की सुरसरि प्रवाहित हुई है।

सूत जी कहते है—"मुनियो ! जब भगवान् ने आत्मा को शुद्ध सनातन सिद्ध किया अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है ऐसा आत्मा दिखायी तो देता नही, उसका चिन्तन हम कैसे करें।

इसीलिये भगवान् कहते हैं—देखो, भैया ! जो वस्तु इन्द्रियों द्वारा ग्रहण की जाती है, उसे ही व्यक्त कहते है। जैसे यह पुष्प सफेद हैं हम कैसे जानें हमारी चक्षु इन्द्रिय ने उसके सफेदपन

को देखा है यह सुगन्धि युक्त है, दुर्गन्धि युक्त है, इसे आँखें तो देख नहीं सकती, इसकी अनुभूति घ्राणेन्द्रिय ने व्यक्त की है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों को समझ लो। व्यक्त का अर्थ है प्रत्यक्ष होना इन्द्रियों द्वारा उसकी अनुभूति होना। व्यक्त वह होता है, जो हमसे पीछे उत्पन्न हुआ हो। माता के पश्चात् ही पुत्री का व्यक्तित्व प्रकट हुआ अर्थात् उसका जन्म हुआ। उस लड़की से भी जो लड़की हुई उसके जन्म को उसकी माँ ने भी देखा और नानी ने भी देखा। किन्तु उस प्रकट हुई लड़की ने न अपनी माता का विवाह देखा न नानी का विवाह देखा। हाँ और लड़कियों का विवाह देखते-देखते वह अनुमान लगा सकती है, कि ऐसे ही संभवतया मेरी माता का तथा नानी का भी विवाह हुआ होगा। व्यक्ति का प्रत्यक्ष या साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा होता है, किन्तु आत्मा तो इन्द्रियों से भी परे है। उनसे बहुत पुराना है, अतः वह अव्यक्त कहलाता है। आत्मा में शब्द नहीं, रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं और स्पर्श नहीं फिर इन्द्रियाँ इसे कैसे प्रत्यक्ष कर सकती है इसीलिये आत्मा को अव्यक्त कहा गया है।

अच्छा मान लो प्रत्यक्ष न सही, अनुमान से हम चिन्तना तो कर सकते हैं। अनुमान लगा लिया जाता है। जैसे और लड़कियाँ हमारे देखते-देखते लड़की से युवतियाँ हो गयीं उनका विवाह हो गया उनके बच्चे हो गये। ऐसे ही हमने प्रत्यक्ष तो देखा नहीं, किन्तु अनुमान से कहते हैं, हमारी नानी भी कभी लड़की रही होगी, वह भी युवती हुई होगी, उसका भी विवाह हुआ होगा, उसी से मेरी माँ का जन्म हुआ होगा और उस माँ से भी मेरा जन्म हुआ होगा। ये सब बातें अनुमान से चिन्तन करने से सिद्ध हुई हैं। जैसे इन्द्रियों द्वारा व्यक्तित्व व्यक्त होता है वैसे ही अनुमान द्वारा अनुमेय चिन्त्य

हो जाता है, सो यह आत्माचिन्त्य भी नहीं। धूम को देखकर अग्नि का अनुमान वही कर सकेगा जिसने इसके पहले अग्नि से धूम निकलते हुए प्रत्यक्ष देखा होगा। वही अनुमान लगा सकता है, कि जहाँ धूआँ उठ रहा है वहाँ अग्नि भी होगी ही। किन्तु इस आत्मा का अनुमान अन्तःकरण कैसे कर सकता है क्योंकि आत्मा अनुमान का विषय ही नहीं। क्योंकि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष ही नहीं है। उसमें व्याप्ति का ग्रहण करना असम्भव है। व्याप्ति समान धर्म को कहते हैं जैसे हमने कहीं पहले धूम सहित अग्नि देखी है तब यह व्याप्ति लगा लेंगे कि जहाँ-जहाँ धूआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है। जब आत्मा को देखा ही नहीं तो उसमें व्याप्ति कैसे लगाओगे वह चिन्त्य कैसे होगा। इसीलिये अव्यक्त होने के साथ आत्मा अचिन्त्य भी है।

अच्छा कहते हैं अनुमान से न सही कल्पित वस्तु द्वारा हम कल्पना कर सकते हैं। तो कहते हैं कल्पना भी तो किसी आधार पर ही की जाती है, प्रकृति को भी अव्यक्त कहते हैं, वह अचिन्त्य भी है, किन्तु कल्पना तो उसकी कर ही लेते हैं। इस पर यही कहा जा सकता है, कि प्रकृति में भी तो विकार होता है। अन्तःकरण, इन्द्रियाँ ये सब प्रकृति की ही तो विकृति है, किन्तु आत्मा तो निर्विकार है, अतः इसीलिये अव्यक्त अचिन्त्य के साथ ही साथ आत्मा अविकार्य भी है। इस प्रकार वेदादिसत् शास्त्रों में ऐसे इसके रूप का केवल वर्णन मात्र है। वेदादि भी यथार्थ रूप में इसका वर्णन करने में असमर्थ हैं। वह भी अन्वय और व्यतिरेक के ही द्वारा दूर-दूर से इसका वर्णन करते हैं। आत्मा का ऐसा विलक्षण रूप है, कि शब्दों द्वारा उसे व्यक्त करना असंभव है वेदादिशास्त्र भी नित्य, सर्वगत, अचल, सनातन, अव्यक्त अचिन्त्य तथा निर्विकार ऐसे ही शब्दों द्वारा इसका परिचय देते हैं, आत्म

को अविनाशी बताते हैं। जब आत्मा अविनाशी है, तो फिर तुम क्यों व्यर्थ में सोच कर रहे हो कि इनके मारे जाने पर यह पाप लगेगा, यह दोष होगा, आत्मा तो न जन्म लेता है न मरता है वह तो जनम-मरण से रहित है।

अच्छा, थोडी देर के लिये मान लो कुछ लोग कहते है यह आत्मा भी शरीर के साथ जन्म लेता है, शरीर के साथ मर जाता है तो इसमें भी सोच करने का कोई कारण प्रतीत नही होता। जो लोग आत्मा को अजर अमर नित्य सनातन नहीं मानते उनमें से कोई तो कहते हैं—आत्मा ज्ञान स्वरूप तो, है परन्तु प्रत्येक क्षण में नष्ट होने वाला है। कुछ कहते हैं आत्मा कोई देह से भिन्न नहीं है देह ही आत्मा है। वह क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होता है और उत्पन्न भी होता है नष्ट भी होता है। कुछ लोग कहते है देह आत्मा एक नहीं है। आत्मा देह से सर्वथा पृथक है, तो भी जब देह उत्पन्न होता तो आत्मा की भी उत्पत्ति होती है, देह के नष्ट होने पर आत्मा का नाश हो जाता है। कुछ कहते है आत्मा सृष्टि के आरंभ में जैसे आकाश उत्पन्न होता है वैसे ही उत्पन्न होता है और कल्प के अन्त में, प्रलय में, आकाशादि के साथ ही साथ नष्ट हो जाता है। कोई इसकी नित्यता को स्वीकार करते हुए भी उसे जन्म मरण से रहित नहीं मानते। इस प्रकार वे लोग आत्मा को नित्य, शुद्ध बुद्ध सनातन न मानकर जन्म मरणशील मानते हैं।

भगवान् कहते हैं—"अच्छा मान लो, । आत्मा नित्य उत्पन्न होने वाला और नित्य मरने वाला शरीर के ही समान समझते हो, तो भी सोच करने का कोई कारण प्रतीत नही होता। जब वह मरणधर्मी ही है तो मृत्यु अवश्यम्भावी है, अवश्यम्भावी वस्तु के लिये सोच करना मूर्खता है।

शौनक जी ने पूछा—सूतजी ! मृत्यु अवश्यम्भावी अवश्य है, किन्तु जो समय मरने का नहीं है, उस समय कोई मर जाय, तो दुःख तो होता ही है।

सूत जी ने कहा—असमय में कोई मरता ही नहीं। सबकी मृत्यु समय आने पर ही होती है।

शौनक जी ने कहा—तब अकाल मृत्यु का अर्थ क्या हुआ? उनकी अकाल में ही मृत्यु हो गयी। जल में डूबने से, सर्प के काटने से, पेड़ से या छत से गिरने से अग्नि में जल जाने से आदि कारणों से अकाल मृत्यु कही गयी है। जब सब काल से ही मरते हैं, तब १०० प्रकार की अकाल मृत्युओं का वर्णन क्यों है?

सूत जी ने कहा—महाराज ! अकाल मृत्यु का अर्थ इतना ही है, कि अभी इसके मरने का समय नहीं था। वैसे सब की मृत्यु चाहे काल में हो या अकाल में, पहिले निश्चित रहती है। जो सर्प से काटा जायगा, पानी में डूबकर मरेगा, यह भी पहिले से ही प्रारब्ध के अनुसार निश्चित रहता है। मृत्यु तो निश्चित समय से ही होती है, जो वृद्धावस्था प्राप्त करके मरते हैं उनके लिये लोग कह देते हैं—उनके मरने का तो समय ही था, अच्छा हुआ मर गये अधिक जीते तो दुःख ही पाते। जो वृद्ध नहीं हुए हैं, किसी दुर्घटना में मर गये हैं उनके लिये कहते हैं—अभी उनके मरने का समय थोड़ा ही था, अकाल में ही बेचारों की मृत्यु हो गयी। वैसे उनकी मृत्यु दुर्घटना से होगी यह बात पहिले से निश्चित थी। जब सबकी मृत्यु निश्चित है और सभी को निश्चित समय आने पर निश्चित रूप से मर ही जाना ही तो मरने वालों के प्रति अत्यन्त शोक करना अज्ञानता ही है। इस विषय में पुराने लोग एक दृष्टान्त दिया करते हैं—

प्राचीन काल में उशीनर देश में एक सुयज्ञ नाम का

बड़ा ही धर्मात्मा प्रजावत्सल सर्व सद्गुण सम्पन्न राजा था। एक बार वह सेना सजाकर शत्रुओं से संग्राम करने समर भूमि में गया। वहाँ वह शत्रुओं द्वारा मारा गया। राजा का मरण सुनके उसके बन्धु-बान्धव एकत्रित हो गये। उसकी रानियाँ शोक में व्याकुल होकर छाती पीट-पीटकर रोने लगीं। रानियाँ मृतक राजा के शरीर को घेरकर बैठ गयी। अन्य लोग शरीर का दाह संस्कार करना चाहते थे, किन्तु वे रानियाँ उस शरीर को उठाने ही नहीं देती थी। उसी समय यमराज एक छोटे से बालक का रूप रखकर, वहाँ आये और सबको सुनाते हुए अपने आप ही कहने लगे।

देखो, कितने आश्चर्य की बात है, ये लोग मुझसे अवस्था में बूढ़े हैं, नित्य ही लोगों को मरते देखते हैं, फिर भी मृतक के लिये शोक करते है। अरे, यह प्राणी जहाँ से आया था, वहाँ चला गया, जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा ही इसके लिये ये इतना शोक क्यों कर रहे है। क्या ये शोक करने वाले सदा जीते ही रहेंगे। इन्हें भी तो एक न एक दिन मरना ही है। मैं तो अभी अबोध बच्चा हूँ, माता-पिता भाई-बन्धु मेरा कोई है नहीं जंगल में अकेला विचरता रहता हूँ, जब तक मेरा काल नहीं आता कोई सिंह व्याघ्र मुझे खा नहीं सकता। इसीलिये मैं सिंह भेड़ियों से डरता नहीं।

रानियों ने जब नन्हे से छोटे बच्चे की ये बातें सुनी तो उन्होंने कहा—बच्चे! तू समझता नहीं। ये हमारे प्राणनाथ थे इनके बिना हम विधवा हो गयी। ये मर गये। इनके बिना हम कैसे जियेंगी।

बच्चे ने कहा—ये चले कहाँ गये? ये तो तुम्हारे सामने ही पड़े है।'

रानियों ने कहा—यह तो मृतक शरीर है। इसमें से हंसा तो उड़ गया खाली उसके रहने का यह पिंजड़ा पड़ा है। जीवात्मा तो चला गया।

बालक ने कहा—तब जीवात्मा ही मर गया है, शरीर तो ज्यों का त्यों ही है।

रानियों ने कहा—जीवात्मा तो कभी मरता नहीं। आत्मा तो अजर अमर है।

बालक ने कहा—और शरीर?

रानियों ने कहा—"भैया, शरीर तो क्षणभंगुर है। पानी के बुदबुदों के समान है, जीवात्मा के बिना शरीर तो व्यर्थ है। वह तो नाशवान् है ही।"

बालक ने कहा—नाशवान है तो उसका नाश हो गया। मरणशील की मृत्यु हो गयी तब फिर तुम शरीर के लिये सोच क्यों करती हैं। रही आत्मा सो वह शुद्ध बुद्ध अजर अमर तथा जरामृत्यु से रहित है वह न कभी जन्म लेता है और न मृत्यु के ही चंगुल में फंसता है। जब वह मरता ही नहीं तो अमर के लिये क्या शोक? मोह? और जिसका नाश अवश्यम्भावी है उस शरीर के लिये भी निष्प्राण होने पर क्या शोक? इसलिये न तो तुम लोगों को शरीर दृष्टि से ही सोच करना चाहिये और न आत्म दृष्टि से ही सोच करना चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! बालक बने यमराज के वचनों से उन रानियों का शोक दूर हो गया और वे राजा के मृतक शरीर से जो बारम्बार लिपट-लिपटकर रो रही थीं, उससे पृथक हो गयीं। तब बन्धु-बान्धवों ने राजा के मृतक शरीर का संस्कार किया।

भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी अर्जुन से कह रहे हैं, हे पार्थ, तुम्हें किसी भी प्रकार मृतकों का तथा मरने वालों का शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि जन्म लेने वालों की मृत्यु तो ध्रुव ही है, इसका विवेचन आगे करेंगे।

छप्पय

अच्छा, तू यदि जाइ जनमिवे वारो जान।
नित नित होवे जनम मरै पुनि पुनि यदि मानें॥
तोऊ नहिं कछु हानि सोच को काम न भाई।
जो जनम्यो है जीव अवसि सो तो मरि जाई॥
जनम मरनको चक्र जिह, लग्यो रहै जगमें सतत।
टारि न नर बाँकू सकै, ताको सोच न बुध करत॥

जिसने जन्म लिया है वह मरेगा भी

[१४]

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥*

(श्री भग०-गी० २ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

जनम संग ही मृत्यु बुलावे बिनु ही आवे।
लीयो जाने जनम अवसि ही सो मरि जावे॥
जो मरि जावे जीव जनम ताको पुनि होवे।
जनम और यह मृत्यु संग ही सँग में सोवे॥
यह निश्चित सिद्धान्त है, का झूठी होवे कहीं।
निरपायक जो विषय है, सोच जोग सो है नहीं॥

इस भूलोक को मर्त्य लोक कहते भुवः स्वर्ग, महः जनः तप और सत्य आदि जो ऊपर के लोक हैं, इनमें मृत्यु नहीं होती है।

---

* क्योंकि जो जन्मता है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जो मरता है, उसका जन्म लेना ध्रुव है। इसलिये जो अपरिहार्य है, उस विषय में सोच करना उचित नहीं ॥२७॥

हे अर्जुन! देखो सभी प्राणी पहिले अव्यक्त (न दीखने वाले)

पुण्यक्षीण होने पर उन्हें गिरा देते हैं। मृत्यु केवल इसी लोक में होती है। मृत्यु जन्म के साथ ही साथ निश्चित रूप से उत्पन्न हो जाती है, जो जनमा है, उसे निश्चय ही मरना पड़ेगा और जो मरा है, उसे जन्म लेना ही पड़ेगा। इस पर शंका होती है, कि तब तो संसार में सभी को जन्म लेना पड़ेगा, मुक्ति किसी की हो ही नहीं सकती। कैसा भी ज्ञानी जीवन मुक्त हो, मृत्यु तो उसकी भी होती है; जब मृत्यु होती है, तो फिर उसे जन्म भी लेना चाहिये इस सिद्धान्त से तो कभी किसी की मुक्ति संभव ही नहीं। इस पर कहते हैं—मृत्यु तो अज्ञान का ही चिन्ह है, अज्ञानी की ही मृत्यु होती है, वही मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है। आत्मज्ञानी तो मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह तो मृत्यु को तर जाता ज्ञानी की मृत्यु होती ही नहीं। जब उसकी मृत्यु ही नहीं तब जन्म का प्रश्न ही नहीं होता। अज्ञान के नाश का नाम ही मुक्ति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने "तुष्यति दुर्जन" न्याय से आत्मा को नित्य जन्म मरण शील स्वीकार करके यह सिद्ध किया कि चाहे आत्मा को तुम अजन्मा मान लो चाहे जन्म मृत्यु वाला मान लो दोनों ही प्रकार से तुम्हें इसके लिये शोक नहीं करना चाहिये। इसी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं—देखो जिसने जन्म लिया है, उसे मरना अवश्य पड़ेगा और जो मरा है उसे जन्म भी लेना पड़ेगा। यह सिद्धान्त अपरिहार्य है, निर्व्यलीक है, दृढ़ है, निश्चित है, अटल है इसमें फेर

होते हैं बीच में व्यक्त (प्रकट) हो जाते हैं। मरने के पश्चात् फिर अव्यक्त हो जाते हैं; जब यह नियम ही है तो फिर चिन्ता क्या करनी ॥२८॥

फार नहीं हो सकता। जन्मने वाला चाहे कि हम मृत्यु की चपेट से बच जायें, तो उसकी मूर्खता है, जन्म के साथ ही साथ मृत्यु लगी हुई है। जब यह निश्चित ही मत है, इसमें परिवर्तन संभव ही नहीं तो फिर मृत्यु के लिये सोच करना पागलपन है।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने मरने वाले के लिये सोच करना एक प्रकार का भ्रम या अज्ञान ही बताया। वास्तव में कौन किसे कोई मारता है और कौन मरता है प्राणी अपने कृत कर्मों का फल भोगने को जन्म लेता है उन कर्मों के भोग समाप्त होने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जन्म और मृत्यु का काल निश्चित है। निश्चित समय पर जन्म होता है और निश्चित काल पर ही मृत्यु हो जाती है। सूर्य निश्चित समय पर उदय होते हैं। निश्चित समय पर अस्त होते हैं। अस्त होते समय तुम रुदन करो कि हाय हायरे सूर्य क्यों अस्त हो रहे हैं। अभी इन्हें अस्त नहीं होना चाहिये, अभी तो हमें बहुत सा काम है।" आपके चाहे लाख काम पड़े रहें, सूर्य तो अपने समय से अस्त हो ही जायंगे। अथवा सूर्य न अस्त होते हैं न उदय। सूर्य तो सदा बने रहते हैं, भ्रम वश-छाया के कारण भ्रान्ति से लोग उनमें उदय और अस्त का अध्यारोप करते हैं मानलो अस्त भी होते हैं, तो यह तो उनका नित्य का दैनिक कार्य है अपरिहार्य है उसके लिये चिन्ता शोक मूर्खता ही है। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

किसी नगरी में एक बहुत भारी धनी सेठ रहते थे। उनके धन तो अपार था, किन्तु कोई सन्तान नहीं थी। पुत्र के लिये उन लोगों ने बहुत सा दान पुण्य किया यज्ञ याग कराये। किसी सन्त की कृपा से उनके एक पुत्र रत्न पैदा हुआ। उसका नाम

उन्होंने अत्यंत ही लाड़ चाव से किया। जब वह १८ वर्ष का हो गया, तो उसका विवाह अपने एक सजातीय धनिक की कन्या से कर दिया। लड़की वाला सेठ इनसे भी अत्यधिक धनी था, उसकी कन्या अपसरा के समान अत्यंत सुन्दरी थी। बड़ी धूम धाम से विवाह हो गया। विवाह के पश्चात् लडके के माता-पिता मर गये। अब वह और उसकी पत्नी दो ही रह गये। कालान्तर में उसकी पत्नी गर्भवती हुई। जब गर्भ का बालक ७-८ महीने का ही था, तभी उसके पति का देहान्त हो गया। इतने भारी सेठ की लडकी, इतनी भारी संपति की स्वामिनी घर में अकेली ही विधवा रह गयी। लोगों के समझाने बुझाने पर उसने धैर्य धारण किया, वह अपने पति के साथ सती हो जाना चाहती थी। किन्तु गर्भस्थ बालक का ध्यान करके वह सती नहीं हुई। समय पूरा होने पर उसके गर्भ से एक बहुत सुदर पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्र का पालन वह बड़े ही प्रेम से करने लगी। जैसे आँखों की पलकें पुतली की रक्षा करती हैं, ऐसे वह सदा सर्वदा अपने पुत्र की रक्षा करती। एक पल को भी उसे अपने से पृथक् न होने देती। अत्यंत लाड़ प्यार से पला वह पुत्र भी जब उसकी अवस्था ५ वर्ष की थी। एक दिन अकस्मात् मर गया। अब माता की कैसी दशा हुई होगी इसका अनुमान मुक्त भोगी ही लगा सकते हैं। माँ पगली हो गयी। पुत्र को छाती से चिपटाये इधर उधर पगली के समान फिरने लगी। सबसे कहती—मेरा सर्वस्व ले लो परन्तु कोई मेरे पुत्र को जीवित कर दो। जो जितना चाहेगा उसे मैं उतना धन दे दूंगी। मेरी अरबों खरबों की सम्पति है। मैं उसमें से एक पैसा भी न लूंगी। मेरे पुत्र को जो जिला देगा, उसी को मैं अपनी चल अचल सम्पत्ति दे दूंगी, मैं स्वयं भीख माँग कर निर्वाह कर लूंगी। कोई मेरे पुत्र को

जीवित कर दे।" किन्तु किसी को सामर्थ्य नहीं थी। कि मृतक को जीवित बना दे।

उन्हीं दिनों उस विधवा के गाँव के पास में ही एक छोटी सी राजधानी में एक बड़े भारी नामी सन्त महात्मा आये हुए थे। सहस्त्रों लक्षों नर नारी उनके दर्शनों के लिये जाते थे किसी ने उस विधवा को सुझाया—"तू उन महात्मा की शरण में चली जा वे चाहें तो तेरे पुत्र को जीवित कर सकते हैं।"

अर्थी पुरुष दोष नहीं देखता, जहाँ भी उसे अपने कार्य की सिद्धि की संभावना होती है, वहीं दौड़ा चला जाता है। वह पुत्र शोक से पगली हुई विधवा अपने पुत्र के मृत शरीर को लिये हुए उन महात्मा की शरण में पहुँची और अत्यंत ही दीनता से प्रणाम करके बोली—"मैंने आप की बड़ी प्रशंसा सुनी है, मेरे एक मात्र यही एक पुत्र था। मैं अगणित सम्पत्ति की स्वामिनी हूँ, मेरे पास असंख्य द्रव्य है। क्या आप मेरे इस मृतक पुत्र को जीवित कर सकते हैं। मैं अत्यंत ही दुखित हूँ।"

महात्मा ने बिना एक क्षण रुके तुरन्त कहा—हाँ, मैं इसे जीवित कर सकता हूँ, किन्तु तुम्हें एक वस्तु लानी होगी?

विधवा ने पूछा—उस वस्तु के लाने में क्या व्यय होगा? आप जो कहेंगे वही मैं ले आऊँगी। मैं अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति आपके चरणों में अर्पित कर दूंगी आप मेरे पुत्र को जिला दें।

महात्मा ने कहा—"मुझे तुम्हारी सम्पत्ति नहीं चाहिये। मुझे तो तुम कहीं से माँग कर एक मुट्ठी सरसों ला दो। बस, इतने से ही काम चल जायगा।"

विधवा ने कहा—"मेरे यहाँ सहस्त्रों मन सरसों है, आप जितनी चाहें उतनी मैं मगा दूं।"

महात्मा ने कहा—तुम्हारे घर की सरसों से काम न चलेगा।

तुम्हें किसी घर से भीख माँगकर लानी होगी। एक घर में न मिली, तो दूसरे घर जाना होगा, दूसरे में न मिली तो तीसरे में। ऐसे गाँव भर में घूमना होगा एक गाँव में न मिली तो दूसरे गाँव में जाना होगा, दूसरे में न मिली तो तीसरे में जाना होगा, ऐसे गाँव-गाँव भटकना होगा।"

उसने दृढ़ता के साथ कहा—"मैंने आज तक कभी किसी से कोई वस्तु माँगी नहीं है। सदा दूसरों को दिया ही है, किन्तु अपने पुत्र के जीवन के लिये सब कुछ करने के लिये उद्यत हूँ। घर-घर जाकर अलख जगाऊँगी, अंचल पसार कर भीख माँगूगी।"

महात्मा जी ने कहा—"अपने पुत्र के मृतक शरीर को यहीं छोड़ जाओ मैं इसकी रक्षा करूँगा।"

उसने कहा—"इसे मैं नहीं छोड़ सकती। इसे लिये-लिये ही भीख माँगूगी।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा।" इतना सुनकर वह पुत्र के मृतक शरीर को लेकर भीख माँगने चलने लगी, तब महात्मा ने कहा—"किन्तु सरसों लाने में एक शर्त है।"

विधवा ने कहा—"वह कौन सी शर्त है?"

महात्मा ने कहा—"सरसों उसी घर की होनी चाहिये जिसमें आज तक कोई मरा न हो।"

वह तो पुत्र शोक से पगली बनी हुई थी, उसने कहा—"अच्छी बात है मैं ऐसे ही घर से लाऊँगी।" यह कहकर वह द्वार-द्वार पर जाकर रो रो कर भीख माँगने लगी। मुझे कोई मेरे पुत्र के जीवन के लिये एक मुट्ठी सरसों दे दो।"

उसकी करुण पुकार सुनकर सभी अपने-अपने घरों से सरसों

ला लाकर देने लगे। वह कहती—मुझे तो केवल एक मुट्ठी चाहिये। तब लोग मुट्ठी भर कर देते। वह सबसे पूछती 'तुम्हारे घर में कोई मरा तो नहीं।" इसके उत्तर में सब कहती—हमारे घर में तो इसी वर्ष कई मरे हैं। कोई कहता हमारे माता, पिता, भाई बहिन, सगे सम्बन्धी मरे है। कोई स्त्री रो रो कर कहती मेरे तो बड़े-बड़े आठ पुत्र मर चुके। प्रातःकाल से सायंकाल तक वह घर-घर और गाव-गांव घूमती रही किन्तु उसे ऐसा एक भी घर नहीं मिला जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। तब वह निराश हो कर महात्मा के पास लौट आई और बोली—"भगवन्! ऐसा घर तो कोई मिला नही जहाँ आज तक कोई मरा न हो।"

तब महात्मा ने कहा—"देवि! जब सब घरों में आदमी मरते है, तब तुम्हारा ही पुत्र मर गया, तो इसमें क्या विशेषता है। जिसने जन्म लिया है, उसे तो मरना ही है, केवल तुम्हारे ही ऊपर यह संकट आया हो, सो भी बात नहीं है। तुम्हारे तो एक ही पुत्र मरा है, बहुतों के तो दस बीस पुत्र मर चुके हैं। मृत्यु तो जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है, काल आने पर हो जाती है। अकेले तुम्हारे घर में ही मृत्यु हुई हो सो भी बात नही। घर-घर में मृत्यु है, जन-जन की मृत्यु है, स्त्री हो, पुरुष हो, बालक हो, युवा हो, वृद्ध हो, मृत्यु किसी का शील संकोच नहीं करती। जितने हो गये हैं, जितने हैं और जितने आगे होंगे सभी को मृत्यु की दाढ़ों के नीचे पिसना पड़ेगा। जो मृत्यु अवश्यम्भावी है उसके लिये माँ! तुम्हें दुःख शोक नहीं करना चाहिये। तुम्हारे पति की मृत्यु हो गयी, तुम्हारे सास-ससुर मृत्यु के मुख में चले गये। माता-पिता को भी उठा ले गयी, वही मृत्यु तुम्हारे पुत्र को ले गयी और एक दिन तुम्हें भी उठा ले जायगी। जब

सब के साथ एक दिन यह बीतनी है, तो तुम फिर चिन्तित क्यों होती हो ?"

महात्मा के इस उपदेश से उस विधवा का शोक मोह जाता रहा। उसने मृतक पुत्र के संस्कार किये। अपना सर्वस्व भिक्षुओं को दान करके वह स्वयं भी भिक्षुणी बन गयी।

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! मृत्यु का सामना तो सभी को करना है, इसी को और पुष्ट करते हुए भगवान् कह रहे हैं—तुम्हें जितने जो प्राणी दीख रहें है पहिले ये दिखायी नहीं देते थे, बीच में दीखने लगे, अंत में फिर दिखायी नहीं देंगे। जन्म से पहिले बच्चा नहीं था। जन्म होने पर दिखायी देने लगा। मरने पर फिर वह अव्यक्त में लीन हो गया। सभी वस्तुओं की यही दशा है। आम में मौर आने से पूर्व फल नहीं थे, फिर छोटी-छोटी अमिया दिखायी देने लगीं। देखते-देखते बड़ी हो गयीं। देखते-देखते पक गयी। पककर टपक पड़ी, अब आम के पेड़ में एक भी फल नहीं। समय आने पर फिर उसमें न जाने कहाँ से फल लग जायेंगे, पक जायेंगे फिर झड़ जायेंगे। कुछ कच्चे ही झड़ जायेंगे। सब वस्तुओं का पहिले अभाव, अदर्शन होता है, फिर उसका भाव या दर्शन होने लगता है, फिर लोप हो जाता है। ये समस्त प्राणी अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं फिर अव्यक्त में ही विलीन हो जाते हैं जब यह नियम सार्वजनिक है, सब में एक ही समान लागू है, कुछ अकेले तुम्हारे ही ऊपर नहीं बीत रही है सभी एक ही नियम में आबद्ध हैं और उस नियम में भी किसी को छूट नहीं, पक्षपात नहीं, तब फिर हे अर्जुन तुम व्यर्थ में शोक मोह क्यों करते हो ? इस आत्मा का देखना दुर्लभ है, इस आत्मा का वर्णन करना और भी कठिन है, इस

आत्मा का श्रवण भी आश्चर्य प्रद है। इसकी अद्भुतता का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन को फिर उसी विषय को समझाते हैं।

छप्पय

जितने प्रानी जनम समयतें पहिले पहिलें।
रहें सबहिं अव्यक्त प्रकट नहिं ऐसो कहिलें॥
है जामें जब प्रकट व्यक्त सब तिनहिं बतावें।
वे ही किरपा करें बीच में प्रकट लखावें॥
पृथक होहिं जब देह तें, मृत्यु जाहि सबही कहैं।
तबहू पुनि अव्यक्त सब, सोच योग पुनि नहिं रहैं॥

महान् आश्चर्य

[१५]

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥*
(श्री भग० गी० २ अ० २९, ३० श्लो०)

छप्पय

आत्मा एक अचिन्त्य अपर अचरजवत देखत ।
कोई बरनन करै आचरजवत ही बरनत ॥
अचरजवत ही सुनै अपर अधिकारी श्रोता ।
अचरजवत व्याख्यान करै कोई बनि वक्ता ॥
समरथ श्रोता सुनहिँ जो, समुझै अस अचरज करैं ।
कोई-कोई सुनहिँ परि, जाने नहिँ व्यरथहिँ लरैं ॥

---

* कोई तो इस आत्मा को आश्चर्यवत् देखता है। कोई दूसरा इसे आश्चर्यवत् कहता है, कोई आश्चर्यवत् सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इसे नहीं जानता ॥२९॥

हे भारत ! सबके देहों में यह जो देही आत्मा है, वह सदा ही अवध्य है। उसे कोई मार नहीं सकता। इसलिये तू सम्पूर्ण प्राणियों के लिये सोच मत कर। यह तेरे अनुरूप नहीं है ॥३०॥

आत्मज्ञान गुड़का पूआ नहीं है, कि झट से उठाया फट से मुख में रखा और गप्प से खा गये। ये लोहे के चने हैं, छुरे की धारा पर चलने के समान है; ब्रह्मज्ञान कोई खिलवाड़ वाली वस्तु नहीं। क्योंकि संसार में इन्द्रियों से जानने योग्य विषय ही अगणित हैं। कितने पदार्थ है, उनका वर्गीकरण सांख्यवाले भले ही कर लें किन्तु सब की संख्या करना तो कठिन है। ये सब विषय इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते है। आकाश में शब्द हो रहा है, इसे श्रवणेन्द्रिय के बिना आप जान ही नहीं सकते। पार्थिव पदार्थों में कैसी गन्ध है। इसका अनुभव घ्राणेन्द्रिय द्वारा ही हो सकता है। जलीय पदार्थों में कैसा रस है इसका ज्ञान रसनेन्द्रिय द्वारा ही होगा। तेजीय पदार्थों में कैसा रूप है इसका साक्षात्कार चक्षुइन्द्रिय से ही संभव है। वायु में कैसा स्पर्श है, इसे स्पर्शेन्द्रिय ही अनुभव करती है इन्द्रियाँ भी स्वयं तब तक अनुभव नहीं कर सकती जब तक उनके साथ मन न हो। आकाश भी है। उसमें शब्द भी हो रहा है और श्रवणेन्द्रिय भी वहाँ विद्यमान है। किन्तु मन कहीं अन्यत्र लगा हुआ है। मन के साथ श्रवणेन्द्रिय का सहयोग नहीं है। तो आप आकाश शब्द और श्रवणेन्द्रिय तीनों के विद्यमान होने पर भी शब्द नहीं सुन सकते है। इसी प्रकार विषय भी हो, तन्मात्रा भी हो, इन्द्रिय भी हो और मन भी हो, किन्तु आपकी बुद्धि विक्षिप्त है। उस पर किसी प्रकार का आवरण चढ़ा है तो भी आप यथार्थ बोध करने में समर्थ नहीं। कारण क्या है, यही कि यह एक की अपेक्षा दूसरे श्रेष्ठ है, विषय की अपेक्षा इन्द्रिय श्रेष्ठ है, इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है। क्यों श्रेष्ठ है, इसलिये कि ये एक दूसरे के पूर्वज है। पृथिवी, अप्, तेज वायु और आकाश के

पूर्वज गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं, इन तन्मात्राओं के पूर्वज ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। उनके पूर्वज मन हैं मन की पूर्वजा बुद्धि है। तो हम जो भी ज्ञान प्राप्त करते हैं बुद्धि के द्वारा ही करते हैं, किन्तु बुद्धि तो आत्मा से बहुत ही पीछे की वस्तु है। उस बुद्धि के द्वारा आत्मज्ञान हो जाना कितने आश्चर्य की बात है। इसलिये भगवान् आत्मज्ञान में उपयोग होने वाली प्रत्येक वस्तु के विषय में आश्चर्य शब्द का प्रयोग कर रहे हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने बारंबार अर्जुन को कहा—तू शोक मत कर, उठकर खड़ा होजा युद्ध कर। मोह को छोड़ दे। फिर भी जब अर्जुन का अज्ञान दूर नहीं हुआ, तो शंका होती है, या तो श्रोता अर्जुन ही ऐसा अनधिकारी है, कि भगवान् के बारबार समझाने पर भी वह शोक का परित्याग नहीं करता, उठकर खड़ा नहीं हो जाता। अथवा वक्ता श्री कृष्ण में ही इतनी योग्यता नहीं कि वे अपने शरणागत शिष्य के सब सन्देहों को दूर कर सकें क्योंकि बारबार समझाने पर भी श्रोता की समझ में जो बात न आवे वहाँ वक्ता की जड़ता समझनी चाहिये, अथवा वह विषय ही ऐसा गूढ़ है, कि श्रोता वक्ता दोनों ही उसके समझने समझाने में असमर्थ हैं। इस पर भगवान् कहते हैं श्रोता भी सच्चा जिज्ञासु है, वक्ता भी समर्थ है, परन्तु भैया, यह आत्म सम्बन्धी विषय ही ऐसा आश्चर्य मय है, कि इसमें जो न हो जाय वही आश्चर्यवत है। देखो, जैसे माता से उत्पन्न पुत्री माता की सब बातों को देखले यह आश्चर्य की बात है कि नहीं। इसी प्रकार कोई-कोई पुरुष इस आत्मा को आश्चर्य के समान देखता है। अरे यह कैसा आश्चर्य है। कोई आश्चर्य की भाँति नहीं देखता यथार्थ में देख लेता है, उसे देख लेना भी महान् आश्चर्य की बात है। जो पुरुष देख लेता

है वह भी आश्चर्यमय पुरुष है, क्योंकि सर्वसाधारण पुरुष इस आत्मा को देख नहीं सकते।

इसी प्रकार कोई पुरुष आश्चर्यवत् आत्मा का वर्णन करता है। कोई पुरुष इसका वर्णन करता है, यह भी आश्चर्य की ही बात है तथा कोई-कोई आश्चर्यमय पुरुष इसका वर्णन करता है।

इसी भांति कोई पुरुष आश्चर्य की भांति इस आत्मा का श्रवण करता है। कोई श्रवण करता है यह भी आश्चर्य की बात है कोई अन्य आश्चर्य जैसा पुरुष इसका श्रवण करता है और श्रवण करके इस आत्मा को आश्चर्य की भांति मानता है, कोई-कोई श्रवण करके इसे जान लेता है, किन्तु कोई-कोई तो श्रवण करने पर भी इसे नहीं जानता।

कहने का अभिप्राय इतना है कि देखने में, कहने में, मानने में, सुनने में, जानने तथा न जानने में आश्चर्य ही आश्चर्य है।

सूतजी कह रहे हैं—"महाराज, आत्मा का जानना टेढ़ी खीर है। एक अंधा था, उसने कभी खीर नहीं खाई थी। कोई आदमी खीर की प्रशंसा कर रहा था। अंधे ने पूछा—खीर कैसी होती है? उस आदमी ने बताया—"स्वच्छ, सफेद होती है।" अंधे ने फिर पूछा—सफेद कैसी?

उस आदमी ने बताया—"जैसे बगुला।"

अंधे ने पूछा—"बगुला कैसा होता है?"

तब उस आदमी ने अपना हाथ बगुले की चोंच के समान टेढ़ा करके बताया—बगुला ऐसा होता है।" अंधे ने उस आदमी के टेढ़े हाथ के ऊपर अपना हाथ फिराया और फिर बड़े आश्चर्य के साथ कहा—ओ हो! यह बड़ी टेढ़ी खीर है।"

वास्तव में खीर टेढ़ी नहीं थी। बगुला टेढ़ा था। बगुला भी

नहीं बगुला की आकृति सदृश हाथ। किन्तु जिसका साक्षात्कार नहीं उसके लिये ऐसे ही आश्चर्यवत् अनुमान लगाया जा सकता है।

एक स्थान पर कुछ आदमी एकत्रित थे। उनमें कुछ तो चक्षु इन्द्रिय से हीन अंधे थे, कुछ गूंगे तथा बहरे थे। क्योंकि जो गूंगा होता है वह प्रायः बहरा भी होता है। किसी की घ्राणेन्द्रिय निरर्थक थी, कोई स्पर्शेन्द्रिय से रहित थे। किसी की सब इन्द्रियाँ ठीक थी। उस भीड़ में एक हाथी आ गया। किसी ने चिल्लाया हाथी है हाथी है। हाथी सौम्य था, भीड़ में आकर खड़ा हो गया। सभी को जिज्ञासा हुई हाथी कैसा है। एक अंधे ने उसके पैरों पर हाथ फेर कर कहा—मोटे खंभे के समान है, दूसरे ने उसके दाँत पर हाथ फेरा। उसने कहा—सूखी लकड़ी के समान है। किसी ने उसकी सूंड़ पर हाथ फेरा उसने कहा—मोटे सर्प के समान है, जिसके आँखें तो थी किन्तु श्रवणेन्द्रिय और वाक्इन्द्रिय नहीं थीं। वह सामने छोटी पहाड़ी की ओर संकेत करके चलने का संकेत करते हुए जताने लगा कि चलती फिरती छोटी पहाड़ी के समान है। जिसकी स्पर्शेन्द्रिय काम नहीं करती थी, वह उसे गोबर के कंडों के बड़े बिठौरा के समान बताने लगा। जिसने पहिले कभी हाथी को देखा नहीं था न सुना था, वे उसे आश्चर्य के साथ देखने लगा। कोई कोई उसमें सर्वेन्द्रिय पूर्ण हाथी से पहिले ही परिचित था, वह सब की बातें सुनकर हँसने लगा। क्योंकि वह हाथी का साक्षात् कार कर चुका था। हाथी को सभी ने अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न रुचि से भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में देखा। कोई उसका पूरा वर्णन कर चुके, किसी ने अधूरा किया किसी ने नाम ठीक बताया किसी ने रूप ठीक बताया किसी ने वर्णन

ठीक किया। इसी प्रकार आत्मा को सभी देखने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु कोई विरले ही देख पाते है, बहुत से सुनते हैं बहुत से सुनकर भी नहीं जानते। इसमें सर्वत्र आश्चर्य ही आश्चर्य है।

भगवान् कह रहे हैं—अर्जुन वास्तविक बात तो यह है कि देह में रहने वाला देही नित्य है, उसे कोई मारना चाहे भी तो नहीं मार सकता क्योंकि वह अवध्य है, एक ही शरीर में ऐसा हो सो बात नहीं जितने भी शरीर हैं उन लिंग देहोपाधिक जो आत्मा है उसे कोई त्रिकाल में भी मार नहीं सकता। स्थूल शरीर हो, सूक्ष्म शरीर हो अथवा कारण शरीर हो सब शरीरों में आत्मा तो एक ही है। स्थूल शरीर भले ही नष्ट हो जाय, आत्मा तो अविनाशी है। इसलिये तुम जो कह रहे हो, भीष्म को न मारूंगा, द्रोणाचार्य को न मारूँगा, कृपाचार्य को न मारूंगा अपने सगे सम्बन्धियों को न मारूंगा। यह तुम्हारा सोचना, चिंता करना मिथ्या है। शरीर तो नाशवान है ही एक दिन नष्ट होगा ही किन्तु इनमें स्थित आत्मा तो अविनाशी है, इसलिये तुम्हें युद्ध से पराङ्मुख नहीं होना चाहिये युद्ध करना चाहिये।

सूत जी कह रहे हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् बार-बार आत्मा के नित्यत्व अविनाशीपने का वर्णन करके तथा शरीर को नाशवान् क्षणभंगुर बताकर अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिये आग्रह कर रहे हैं। आत्मा और देह के सम्बन्ध में बताकर फिर वे धार्मिक दृष्टि से-वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अर्जुन को कर्तव्य पालन की स्वधर्म में स्थित रहकर क्षत्रिय के युद्ध रूपी कर्म की सार्थकता का भी उपदेश देते हैं। स्वधर्म में समारूढ़ रहना यह सब से बड़ा कर्तव्य पालन रूप कर्म है, स्वधर्म में

स्थित रहकर यदि मृत्यु भी हो जाय, तो श्रेयस्कर है स्वधर्म से च्युत होकर सौ वर्षों तक जीवित भी रहें तो अश्रेयस्कर है, निन्दनीय है। इसी पक्ष को सिद्ध करने को आगे वर्णाश्रम के कर्तव्य पालने पर बल देंगे।

छप्पय

जितने हैं सब देह छनिक अरु नाशवान् हैं।
देही सब में एक नित्य सत ज्ञानवान हैं॥
वध ताको नहिं होहिं विज्ञ वधरहित बतावें।
पुनि-पुनि जनमे देह जगत में आवें जावें।
सब देहनिमे एक सो, आत्मा नित्य अवध्य अज।
फिरि स्वजनानि को सोच का, मोह शोक कूँ तुरत तज॥

क्षत्रिय को धर्म युद्ध स्वर्ग का खुला द्वार है

[१६]

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥❀

(श्री भग० गी० २अ० ३१, ३२ श्लोक)

छप्पय

अपनो ही निज धरम देखि पुनि बात बिचारो ।
आवै सज्जित शत्रु समर में सम्मुख मारो ॥
अस्त्र-शस्त्र कूँ देखि न क्षत्रिय कंपित होवै ।
हिय में उठे हिलोर शत्रु कूँ पुनि पुनि जोवै ॥
धरम युद्ध तें अधिक बड़, क्षत्रिय कूँ नहिँ बात है ।
क्षत्रिय रन कूँ देखि कें, मन में बहुत सिहात है ॥

❀ और फिर स्वधर्म को भी देखकर तुम्हें भय नहीं करना चाहिये, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्म युद्ध से बढ़कर कोई भी कल्याण कारक कार्य नहीं है ॥३१॥

हे पार्थ ! अपने आप ही प्राप्त यह धर्म युद्ध स्वर्ग का खुला हुआ द्वार ही है। भाग्यशाली सुखी क्षत्रिय ही इस प्रकार के युद्ध को प्राप्त कर सकते हैं। सब को ऐसा धर्म युद्ध प्राप्त नहीं होता ॥३२॥

सनातन वैदिक वर्णाश्रम आर्य धर्म में मनुष्य जीवन का चर्मलक्ष्य मोक्ष बताया है। मोक्ष प्राप्त कर लेने के अनन्तर कुछ भी पाने के लिये अवशेष नहीं रहता। जब तक जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं होता तब तक वह चौरासी के चक्कर में भटकता ही रहेगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। व्यक्तिगत रूप में तो कोई भी किसी प्रकार से मोक्ष प्राप्ति करने को समर्थ है, किन्तु सामाजिक रूप में वर्णाश्रम धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जो हमें शनैः शनैः कर्तव्य पालन करते हुए मोक्ष की ओर ले जा सकता है। मनुष्य का जन्म अनेक योनियों में भ्रमण करते-करते प्रारब्ध कर्मों के अनुसार होता है। जन्म जन्मान्तरों की वासनाएँ भी जीव के साथ जुटी रहती हैं एक वासना तो ये स्वभाविक होती है, कि मैं धनी बन जाऊँ, दूसरी वासना यह रहती है कि मैं संसारी सुखों का सरलता से उपभोग करता हुआ पुत्र पौत्रवान् बनूँ। ये दोनों वासनायें अन्याय से भी पूरी हो सकती हैं। धन भी अन्याय से उपार्जित किया जा सकता है और कामोपभोग भी अन्याय से हो सकता है, किन्तु अन्याय से अन्तःकरण संतुष्ट नहीं हो सकता। वर्णाश्रम वैदिक धर्म की मान्यता है, कि यह जो हमें दृश्यमान् लोक दीख रहा है यह ही सब कुछ नहीं है एक परलोक भी है। न्यायपूर्वक कार्य करने वालों को स्वर्ग में भी जाकर विषयों के दिव्य सुख प्राप्त होंगे और अन्याय करने वालों को परलोक में नरक की यातना भोगनी पड़ेगी। अतः काम और अर्थ का उपभोग इस ढंग से करना चाहिये कि हमें यहाँ भी सुख मिले और परलोक में नरक न जाकर स्वर्ग के सुख प्राप्त हों। काम और अर्थ के उचित न्याय्य उपभोग करने को ही धर्म कहते हैं। तुम्हें अर्थोपार्जन करना है तो धर्म पूर्वक करो,

तुम्हे कामोपभोग करना है तो धर्म पूर्वक करो। अर्थ और काम की वासना प्राणि मात्र में है, किन्तु उसे ठीक-ठीक नियमपूर्वक मर्यादापूर्वक न्यायपूर्वक काम में लाने का नाम ही धर्म है। जैसे मैथुन की इच्छा प्राणी मात्र में स्वाभाविक होती है। अन्य जीव तो जहाँ भी समानशील स्त्री लिंगधारी पाते हैं उससे करके अपनी वासना तृप्त करते हैं, किन्तु धर्मशील नियम के भीतर रहेगा, मर्यादापूर्वक वर्ताव करेगा। परस्त्री न हो, कन्या या विधवा न हो, धर्मपूर्वक जिसके साथ वैदिक विधि से न्याय पूर्वक विवाह हुआ हो। मातृकुल पितृकुल की कम से कम सात पीढी बचाकर विवाह हुआ हो, कन्या अपने गोत्र की न हो। इस प्रकार मर्यादापूर्वक कामोपभोग को धर्म कहा है। धर्मशास्त्रों में अर्थ और काम को त्याज्य नहीं बताया है, उनकी गणना पुरुषार्थ में की है, किन्तु वह पुरुषार्थ मर्यादित धर्मपूर्वक हो। अतः काम, अर्थ और धर्म इन तीन को पुरुषार्थ कहा है। ये तीनो स्वर्ग तक पहुँचा सकते हैं। किन्तु स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही जीव का लक्ष्य नही है। जीव का चर्मलक्ष्य तो मोक्ष है। अतः मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है। सामाजिक रूप में मोक्ष या परम पुरुषार्थ कैसे प्राप्त कर सकें इसीलिये ऋषियों ने गुण कर्म स्वभावानुसार वर्णाश्रम धर्म की रचना की। आदि सत्युग में एक ही वर्ण था, एक ही वेद था। वर्ण का नाम हंस और वेद का नाम प्रणव या ओंकार। ज्यों-ज्यों प्रजा की वृद्धि हुई कार्य क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण और ऋक्, यजु, साम और अथर्व चार वेद हुए। चार वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास ये चार आश्रम हुए। आदि में वे गुण, कर्म स्वभाव से बनाये गये थे, फिर उनका प्रचलन जन्म से हुआ। यह मान लिया गया, ब्राह्मण का लड़का

ब्राह्मण और क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय ही होगा यदि उसका रज वीर्य विशुद्ध रहा तो। अतः पीछे जन्म से ही वर्ण का निर्णय हुआ। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं था। ब्राह्मण के बालक का पांच वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार हो। उस अवस्था में आप गुण कर्म स्वभाव से निर्णय कर नहीं सकते। अतः सब वर्णों की आजीविका और धर्म पृथक्-पृथक् बाँट दिये। ब्राह्मण को शम, दम, तप, तितिक्षा आदि गुण वाला होना चाहिये वेद पढ़ना, पढ़ाना दान देना लेना, यज्ञ करना कराना ये ही उसके धर्म हैं। जिनमें वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना ये तो उसके परलोक सम्बन्धी धर्म हैं। पढ़ाना, दान लेना, और यज्ञ करना ये स्वधर्म पूर्वक आजीविका के साधन मात्र है। क्षत्रिय वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना इन धर्मों का पालन करें और प्रजा पालन रूप धर्म से अपनी आजीविका चलावें। वह युद्ध से कभी पराङ्मुख न हो। युद्ध भी अधर्म का न हो धर्म-पूर्वक युद्ध उसका परम धर्म है। इसी प्रकार वैश्य वेदाध्ययन, दान और यज्ञ रूपी कर्मों को करता हुआ कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और व्याज इन चार कार्यों से अपनी धर्मपूर्वक आजीविका चलावे। शूद्र के लिये सेवा ही एक मात्र धर्म है और सेवा द्वारा ही तीनों वर्णों के द्वारा अपनी आजीविका चलाने का विधान शूद्र की सेवा से ही सद्गति है। विशुद्ध भाव से अपना धर्म समझकर तीनों वर्णों की सेवा करता रहे। तीनों वर्णों का भी धर्म है, कि अपने खाने के पहिले शूद्रों को खिलावे। खेती में अन्न पैदा हो, तो सबसे पहिले शूद्रों का भाग निकाल दे। शूद्रों के लिये कठोर नियमों का पालन नहीं। उनके लिये शौचाचार का भी कठोर नियम नहीं वे सेवा करते रहे तो मरकर स्वर्ग में सुख भोगेंगे। कुछ पुण्य शेष रह जाने पर अबके उनका जन्म

वैश्य कुल में होगा। शूद्र के लिये तो एक गृहस्थाश्रम का ही विधान था। उसे ब्रह्मचर्य धारण करके वेदाध्यन के लिये तपस्या नहीं करनी पडती थी। अब वैश्य को ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रमों का विधान है। वैश्य वानप्रस्थ नहीं हो सकता। वह कृषि गोरक्ष वाणिज्य के द्वारा धर्म पालन करते-करते मरेगा तो स्वर्ग में जायगा। स्वर्ग में जितने उसके पुण्य हैं उनका उपयोग करके कुछ पुण्य शेष रहने पर अब के वह क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेगा। क्षत्रिय को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीन आश्रमों का अधिकार है। वहाँ प्रजा पालन रूपी धर्म करे। युद्ध का अवसर आने पर उसे हाथ से जाने न दे। क्योंकि जैसे यज्ञ करना ब्राह्मण का परम धर्म है वैसे ही धर्म युद्ध में वीरता के साथ लड़ना क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। जब पुत्र योग्य हो जाय, तो प्रजा रक्षण का भार उसके सिर पर देकर वन में तपस्या करने चला जाय। क्षत्रिय को बीमारी से खाट पर मरने का विधान नहीं। या तो धर्म युद्ध में प्राण दे दे या वन में योग के द्वारा शरीर छोड़ दे। ऐसा क्षत्रिय स्वर्ग का सुख भोग कर पुण्य शेष रहने पर ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न होगा। ब्राह्मण को चारों आश्रम का अधिकार है। वह विरक्त त्याग वैराग्य सम्पन्न हो तो ब्रह्मचर्य से ही सन्यास में जा सकता है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण कर सकता है। नहीं तो ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से सर्वस्व त्यागी विरागी सन्यासी हो सकता है। यदि शरीर त्याग के पूर्व ही उसने काम और क्रोध के वेग को सहन करने में वह समर्थ हो गया अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो गया तो वह जीवन रहते ही मुक्त हो जाता है, उसी को जीवन मुक्तावस्था कहते हैं। यदि सन्यासी घोर कठोर नियमों का पालन करते हुए भी उसे पूर्ण ज्ञान न हुआ, उसके

ज्ञान में कुछ त्रुटि रह गयी, तो उसे तपस्या और स्वधर्म पालन रूपी पुण्य के कारण ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी। वहाँ ब्रह्मा जी उसके अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण करके कल्प के अंत में उसे मुक्त बना देंगे। अत्यत संक्षेप में यही वर्णाश्रम धर्म का रहस्य है।

आर्य सनातन वैदिक धर्म केवल वर्णाश्रम धर्म से ही मुक्ति मानता हो, ऐसा भी उसका आग्रह नहीं। उसका सिद्धान्त है, त्याग से, वैराग्य से, भगद्भक्ति से कैसे भी कोई भगवान् को पाना चाहे पा सकता है, किन्तु वर्णाश्रम धर्म समस्त समाज के लिये एक सर्वोपयोगी सीधा राज पथ है, इसके द्वारा सभी बिना रोक टोक के क्रम-क्रम से उन्नति करते हुए उन्नति के शिखर तक पहुँच सकते हैं। वर्णाश्रम धर्म में एक बात पर बहुत अधिक बल दिया गया कि जो तुम्हारा कुलागत वंश परम्परा से आजीविका साधन है उसका कभी त्याग मत करना। कैसा भी कष्ट क्यों न पड़े ब्राह्मण के बालक को स्वधर्म नहीं छोड़ना चाहिये। इसी प्रकार क्षत्रिय वैश्य और शूद्र को। इसमें अपवाद भी है आपद् धर्म भी हैं जिनका विस्तार से वर्णन स्मृति ग्रथों में है। यदि तुम परम्परागत अपने आजीविका के साधन का परित्याग करके दूसरे के कार्य को करने लगोगे तो समाज में विप्लव हो जायगा। अतः तीन कार्यों को छोड़कर कर कोई अपना कार्य बदल नहीं सकता था। एक तो चौर कर्म जिनके पूर्वज चोरी करते आ रहे हों और उनके वंश का कोई चोरी करना छोड़ दे तो उसे पाप नहीं लगेगा। दूसरा जीव हिंसा का कर्म। किसी के पूर्वज प्राणियों का वध करते रहे हों उनका वंशधर उस कर्म को छोड़ दे तो उसे भी पाप न लगेगा। तीसरे नाटकों में स्त्री बनकर जिसके पूर्वज आजीविका प्राप्त करते रहे हों और उसका वंशज उसे छोड़ दे तो, उसे भी पाप न लगेगा। शेष सभी को अपना

स्वधर्म छोडकर परधर्म ग्रहण करने में वर्णाश्रम धर्म के अनुसार पाप का भागी होना पड़ेगा। बढ़ई के लड़के को बढ़ई गीरी ही करनी चाहिये। चर्मकार के पुत्र को चर्मकारी से ही आजीविका चलानी चाहिये यदि वह उसे छोड़ देता है तो पाप का भागी होता है आपत्ति काल को छोड़कर। इसीलिये महाभारत आदि में धर्मव्याध ऐसे ज्ञानियों ने—जिनके पास ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने बड़े-बड़े ऋषि मुनि ब्राह्मण आते थे उन्होंने मांस बेचना अपना स्वधर्म समझकर नही छोड़ा—ऐसा अनेक स्थानों में उल्लेख है। धर्मव्याध ने स्पष्ट कहा—मैं स्वयं तो जीवों की हिंसा करता नहीं। मै तो वधशाला से मांस लाकर बेचता हूँ, यह मेरा स्वधर्म है इसे मैं छोड़ नहीं सकता। अपना धर्म कैसा भी दोष युक्त हो और दूसरों का धर्म कैसा भी निर्दोष हो, आपत्ति काल को छोड़कर किसी भी दशा में अपने धर्म को नही छोडना चाहिये। यहाँ तक कि वेश्याओं को भी स्वधर्म पालन का विधान है।

पाटलिपुत्र (पटना) में एक बडी नामी वेश्या थी, एक बार गंगाजी में बड़ी भारी बाढ़ आयी। बाढ़ नगर को निरंतर डुबा रही थी। बड़े-बड़े ब्राह्मण एकत्रित हुए। एक ब्राह्मण ने कहा—कोई धर्मात्मा अपना धर्म दे तो उसके प्रभाव से बाढ़ रुक सकती है। किसी का साहस नहीं हुआ। किसी को अपने धर्म कर्म पर दृढ विश्वास ही नही था। उनमें से एक वेश्या ने कहा—"मै अपने धर्म के प्रभाव से बाढ़ को रोक सकती हूँ।"

सब लोग व्यंग से उसकी ओर देखने लगे। धन के लिये दूसरो को शरीर बेचने वाली यह वेश्या क्या बाढ़ को रोक सकेगी। "किन्तु एक ब्राह्मण ने उसकी बात पर विश्वास किया।

उसने कहा-देवि ! तुम अपने धर्म के प्रभाव से विनाशकारी बाढ़ को रोक दो।"

वेश्या ने हाथ में जल लेकर कहा—"यदि मैंने कभी अधर्म का आचरण न किया हो तो यह बाढ़ रुक जाय।" लोगों ने परम आश्चर्य के साथ देखा बाढ़ तुरन्त रुक गयी। गंगा जी उसी समय मर्यादा में आ गयी। राजा ने जब सुना तो वह तुरन्त वहाँ आया। उसने पूछा—"बाढ़ किसने रोक दी।"

हाथ जोड़कर वेश्या ने कहा—"अन्नदाता ! मैंने अपने धर्म के प्रभाव से बाढ़ को रोक दिया है।"

राजा ने कहा—"तुम ऐसे कौन से धर्म का आचरण करती हो, जिससे इतनी भारी बाढ़ तुरन्त रुक गयी।"

वेश्या ने कहा—स्वामिन् ! मैं कुल परम्परागत वेश्या हूँ। मैं अपने स्वधर्म का पालन करती हूँ, हमें लोग पण्य स्त्री कहते हैं। जिससे मै जो वायदा करती हूँ, उसका प्राण पण से प्रेम-पूर्वक पालन करती हूँ। मैं अपनी ग्राहकों में ऊँच नीच, छोटे बड़े का भेद नहीं करती, जिससे जो वायदा कर लेती हूँ, उसी की हो जाती हूँ; फिर दूसरा कोई कितना भी अधिक द्रव्य दे उसकी ओर देखती भी नहीं। मैं अपनी ग्राहकों से कृतज्ञता और धर्म पूर्वक व्यवहार करती हूँ। दंभ, छल, कपट, अन्याय से दूर रहती हूँ, अपनी कुल, परम्परा, मर्यादा का कठोरता से पालन करती हूँ। तब राजा ने कहा—देवि ! तुम सत्य कहती हो, धर्म पालन में व्यवसाय बाधक नहीं होता।

इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म का आग्रह अपनी वंशपरम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने पर सदा से रहा है। बहुत से लोग मूर्खता से महाभारत युद्ध को राज्य के निमित्त हुआ बताते हैं, किन्तु वास्तव में यह युद्ध केवल धर्म के ही लिये हुआ।

धर्मराज का कहना था हमने अपनी प्रतिज्ञानुसार १२ वर्ष का वनवास एक वर्ष का अज्ञातवास पूरा कर लिया। अब हमें हमारा राज्य लौटा दो। दुर्योधन का कहना था– कि भूमि में सुई गाड़ देने पर जितना गढ्ढा हो जाता है मैं उतनी भी भूमि तुम्हें विना युद्ध के न दूंगा। क्योंकि तुमने अज्ञातवास की अवधि पूरी नहीं की। "गणना में कुछ गडबडी थी मतभेद था। धर्मराज किसी भी प्रकार युद्ध करना नही चाहते थे, वे अपने हाथो अपने कुल का नाश किसी भी मूल्य पर करने को उद्यत न थे। वे यहाँ तक राजी हो गये कि हम ५ भाइयों को केवल ५ गाँव दे दो। हम दुर्योधन के अधीन होकर भी रहेंगे।" दुर्योधन इस पर भी राजी नही हुआ। तब धर्मराज ने श्रीकृष्ण को दूत बना कर भेजा कि महाराज जैसे भी बने तैसे आप युद्ध को रोक दो। संधि कर आओ। आप जो कर आवेंगे मुझे वही स्वीकार है।

आप कह सकते हैं—"कि धर्मराज ने ५ गांव ही क्यो माँगे। छोड़ देते ५ गांवों को भी जैसे पहिले १२ वर्ष भीख माँगकर रहे। वैसे ही वनों में रहकर भीख माँगकर निर्वाह कर लेते।" किन्तु पहिले की स्थिति में और अब में बहुत अंतर है। पहिले तो इन भाइयों का विवाह नही हुआ था। आपत्ति के मारे थे। आपत्ति काल में क्षत्रिय को ब्राह्मण वृत्ति से निर्वाह करने का विधान है। अब तो ये विवाहित थे, समर्थ थे। समर्थ विवाहित क्षत्रिय को भीख माँगकर निर्वाह करना अधर्म है पाप है उसे तो प्रजारक्षण रूप धर्म ही करना चाहिये। इसीलिये केवल धर्म की रक्षा के लिये क्षत्रिय धर्म का पालन करने के लिये वे पाँच गाँव माँगते थे। जब श्रीकृष्ण के बहुत समझाने पर भी दुर्योधन ५ गाँव क्या एक सूई के नोंक बराबर भूमि देने को तैयार न हुआ।

तब श्रीकृष्ण अपनी बूआ कुन्ती के पास गये और बोले—बूआ ! अपने पुत्रों के लिये अब क्या कहती हो।"

उस समय १३ वर्ष से पुत्रों से बिछुड़ी बूढ़ी विधवा दुःखिनी कुन्ती ने यह नहीं कहा—भैया, जाने दो धर्मराज से कहना भीख पर ही निर्वाह कर लो। क्यों कुल का विनाश करते हो। माँ युद्ध से डरीं नहीं। गर्ज करके उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा—केशव ! अर्जुन से और युद्ध के लिये सदा कटिबद्ध हुए भीम से तुम मेरी ओर से कहना कि क्षत्राणी जिसके निमित्त पुत्रों को उत्पन्न करती है वह काल अब उपस्थित हो गया है। अर्थात् युद्ध करके अपने भाग ले लो।" इससे यही सिद्ध हुआ कि धर्मराज ने राज्य के लोभ से नहीं धर्म पालन के लिये क्षत्रियधर्म की रक्षा के लिये युद्ध किया।

क्षत्रिय लोग युद्ध द्वेष से नहीं, किसी को मारने के लिये नहीं धर्म समझकर करते थे। धर्म युद्ध के कुछ नियम थे। दो पक्षों में जहाँ युद्ध की संभावना होती वहाँ दोनों पक्ष वाले शीघ्रता से राजाओं के पास जाते। जिसका निमंत्रण पहिले पहुँच जाता उसी की ओर बिना भेद भाव के वे लड़ने आ जाते। श्रीकृष्ण के पास अर्जुन और दुर्योधन साथ ही साथ युद्ध निमंत्रण देने पहुँचे। श्रीकृष्ण ने दोनो को ही सहायता देने का वचन दिया। एक ओर तो अपनी अपार चतुरंगिणी नारायणी सेना रखी और दूसरी ओर युद्ध से विरत अपने को रखा। दोनों से कहा—आप लोग इनमें से जिसे चाहें लेलें। अर्जुन दुर्योधन से छोटा है इसलिये इसे पहिले माँगने का अधिकार है। अर्जुन ने निःशस्त्र श्रीकृष्ण को ही माँगा, तब दुर्योधन को श्रीकृष्ण की चतुरंगिनी सेना मिली और उसका सेनापति कृतवर्मा अंत तक पाडवों के विरुद्ध लड़ता रहा। मान लो अर्जुन ने सेना ही माँगी

होती तो क्या श्रीकृष्ण दुर्योधन की ओर से लड़ने न जाते। मान लो वे अस्त्र शस्त्र न भी उठाते तो दुर्योधन को पांडवों के मारने के सम्मतियाँ तो देते ही रहते। इस प्रकार युद्ध द्वेष से नहीं किया जाता था, क्षत्रिय धर्म समझ कर किया जाता था।

युद्ध के असंख्यों नियमों में से ये भी नियम थे कि युद्ध में सम्मुख अस्त्र शस्त्र लिये कोई भी लड़ने को आवे, उसे मार देने में कोई पाप नहीं। यही नहीं क्षत्रियों को उसे मार देने पर पुण्य की ही प्राप्ति होती है। परन्तु इतने लोगों को युद्ध में भी न मारे। लड़ते-लड़ते जिसका घोड़ा मर गया हो, पैदल हो उससे युद्ध करना बंद कर दे। जिसका सारथी मर गया हो, जिसके लड़ने के सब शस्त्र टूट गये हो, जिसने युद्ध बंद करके हाथ जोड़ लिये हो, जो दुःख के कारण अस्त व्यस्त हो गया हो, सिर के केश खुल गये हों, जो युद्ध में पीठ दिखाकर भाग खड़ा हुआ हो, जो युद्ध भूमि में युद्ध न करके बैठा हुआ हो, किसी ऊँचे स्थान पर या वृक्ष पर चढ़ा हुआ बैठा हो, उन लोगों को धर्म युद्ध करने वाला कभी न मारे दूत चाहे कैसी भी कड़ी बातें कह जाय, वह भी अवध्य माना गया है। गौ तथा ब्राह्मण ये भी सर्वथा सब समय अवध्य बताये है। यदि हाथ में अस्त्र शस्त्र धारण किये युद्ध की इच्छा से वेद पारंगत ब्राह्मण भी आ जाय तो उसे मारने में भी कोई पाप नहीं है।

इस प्रकार क्षत्रिय का सबसे बड़ा धर्म युद्ध ही है। युद्ध का नाम सुनते ही शूरवीर क्षत्रियों के हृदय में हिलोरें उठने लगती हैं। यदि युद्ध धर्म न होता तो दुर्योधन की ११ अक्षोहिणी सेना अन्त तक क्यों लड़ती रहती भीष्म, जैसे विद्वान् लड़ाई क्यों करते। अतः धार्मिक पुरुषों को स्वधर्म का पालन अवश्य करना

चाहिये इस बात पर बल देते हुए भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—देखो, भैया अर्जुन! आत्मा तो मरती नहीं। देह क्षणभंगुर है विनाशशील ही है, इसका नाश अवश्य-भावी है, फिर तुम युद्ध करने से हिचकते क्यों हो? अच्छा यह तो मैंने तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तुम्हें समझाया अब वर्णाश्रम धर्म की दृष्टि से समझ लो जो मोक्षमार्ग का सोपान है। तुम संयोग संस्कार तथा प्रारब्धवश क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न हुए हो। क्षत्रियों का परम धर्म है धर्मपूर्वक युद्ध करना। कोई अन्याय कर रहा हो। तो तेजस्वी क्षत्रिय को उसका पूरी शक्ति से विरोध करना चाहिये। यह दुर्योधन तुम्हें तुम्हारा पैतृक राज्य नहीं दे रहा है तुमको क्षत्रिय धर्म से गिरा रहा है और साथ ही सेना सजाकर अस्त्र शस्त्र लेकर तुमसे उलटे लड़ने को भी तैयार है। तो क्या ऐसी दशा में तुम्हें अधर्म का प्रतिरोध न करना चाहिये? अपने क्षत्रिय धर्म से च्युत हो जाना चाहिये। क्षत्रिय तो धर्म्य युद्ध के लिये सदा उत्सुक रहते हैं, युद्ध के अवसर को खोजते रहते हैं। बिना युद्ध के उनके हाथ खुजाते रहते हैं, एक तुम भी क्षत्रिय हो, शत्रु को सम्मुख देखकर काँप रहे हो। पसीना-पसीना हो रहे हो। तुम्हें ऐसे अवसर पर काँपना न चाहिये। अपने धर्म से विचलित न होना चाहिये। क्षत्रिय के सहज स्वभाव के अनुकूल ही है, युद्ध में प्रवृत्त होजाना। उसके लिये धर्म्य युद्ध से बढ़कर कोई कल्याण का अन्य साधन है ही नहीं।

अर्जुन ने कहा—महाराज, मैं युद्ध से डरता नहीं। युद्ध तो मुझे प्रिय है, किन्तु मैं गुरुजनों के वध से डरता हूँ।

भगवान् ने कहा—तुम्हें बार-बार तो समझा दिया। जो शत्रु भाव से शस्त्र लेकर युद्ध करने की प्रबल इच्छा से सम्मुख डटे हैं,

प्रहार करने ही वाले है, तो फिर वे गुरुजन कहाँ रहें। वेद पारंगत ब्राह्मण भी अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध में सम्मुख खड़ा हो, तो उसे मारने में भी कोई दोष नहीं। धर्मशास्त्र वाले तो युद्ध में सम्मुख जो भी आवे उसी से लड़ने की आज्ञा देते है।

क्षत्रिय तो प्रयत्न करके, उत्सुकता के साथ युद्धावसर खोजते रहते हैं, तुम्हें यह युद्ध का अवसर घर बैठे ही अकस्मात्-बिना प्रयत्न के यदृच्छया-प्राप्त हो गया है। यह स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है। स्वर्ग के लिये किये जाने वाले यज्ञ यागों में तो कई प्रकार के व्यवधान है, अपवाद हैं, संदेह है, किन्तु क्षत्रिय के लिये युद्ध धर्म तो स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है। बिना किसी रोक टोक के, बिना किसी विशेष प्रयत्न के तुम स्वर्ग के दरबाजे में प्रवेश कर जाओगे। यदि इस सुअवसर को भी तुम हाथ से खो दोगे तो महा आलसी कहलाओगे।'

एक आदमी आम खाने के लिये सदा समुत्सुक बना रहता था। एक बार वह अकस्मात् बिना प्रयत्न के आम के पेड़ के नीचे जाकर सो गया। वायु के झोंके से सुंदर पके पके सिंदूरिया रंग के अत्यंत मीठे आम उसकी छाती पर आकर गिर गये। इस सुवर्ण अवसर को भी पाकर जो आम को नहीं खाता उसे आलसी मूर्ख के अतिरिक्त क्या कहा जाय।

अरे, यह तो तुम्हारे लिये सुवर्ण-अवसर है ऐसे अवसर को भाग्यशाली सुखी क्षत्रिय ही प्राप्त कर सकते है। लोग तो युद्ध अवसर की प्रतीक्षा करते है यत्न करते हैं। तुम्हे बिना ही यत्न के युद्धावसर प्राप्त हो रहा है। सो भैया कायरता मत करो। भीष्म द्रोण तथा कर्ण जैसे सुप्रसिद्ध दिग्गज महारथियों के साथ युद्ध का अवसर मिल रहा है, इस युद्ध में तो तुम्हारे दोनों ही हाथों

में लड़ूं है। जीत गये तो राज्य मिलेगा कीर्ति यश मिलेगा। संसार में सर्व श्रेष्ठ योद्धा के नाम से सदा के लिये तुम्हारी ख्याति बनी रहेगी, और हार गये, युद्ध में मर ही गये तो इससे भी बढ़िया वस्तु स्वर्ग की प्राप्ति होगी। ऐसे अवसर को व्यर्थ में क्यों खो रहे हो?"

अर्जुन ने कहा—"क्यों प्रभो! मुझे राज्य का और स्वर्ग का लोभ देकर गुरुजनों से युद्ध कराना चाहते हो? मैं तो इस पृथिवी मंडल के राज्य की तो बात ही क्या त्रैलोक्य का राज्य-इन्द्र पद-भी नहीं चाहता। जब मुझे कुछ इच्छा नहीं तब युद्ध न करने से मेरी हानि ही क्या हो जायगी?"

सूत जी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन की इसी शंका के निवारणार्थ भगवान् उसे आगे समझा रहे हैं—

छप्पय

का सोचत है तात अरे अरजुन अज्ञानी।
मैं मारूं यह मरे नहीं सोचत है ज्ञानी॥
क्षत्रिय कूं यदि धरमयुद्ध कबहूं मिलि जावै।
तो अति होवै मगन अंग फूल्यो न समावै॥
स्वरग द्वार रूपी खुले, रन के सहज कपाट वर।
क्षत्रिय कूं मिलि जाय यदि, भाग्यवान वह वीर नर॥

संभावित की अकीर्ति मरण से भी बुरी है

[१७]

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्राम न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथायिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० ३३, ३४ श्लो०)

छप्पय

जो क्षत्रिय रन पाइ डरपि के ग्वातें भागे ।
क्षत्रिय धर्म विरुद्ध पाप ताकूँ अति लागै ॥
धरमयुद्ध नहिँ करै करै हठ अपनी भाई ।
तो होवै अपकीर्ति कीर्ति सबरी नसि जाई ।
खोइ कीर्ति यश सकल तू, जग निंदित बनि जाइगो ।
अरजुन भाग्यो छोड़ि रन, सब थल अपयश छाइगो ॥

---

* यदि तुम इस धर्मयुद्ध को नहीं करोगे, तो अपने धर्म की तथा अपनी कीर्ति को नष्ट करके केवल पाप ही पाप कमाओगे ॥३३॥

युद्ध न करने से तुम्हारी चिरकाल तक अपकीर्ति को लोग कहते रहेंगे । सभावित पुरुष की अपकीर्ति तो मरने से भी अधिक बुरी बतायी गयी है ॥३४॥

इस संसार में सदा धर्म का आचरण करते हुए फूंक-फूंक कर पैर रखना चाहिये। क्योंकि संसारी लोग छिद्रान्वेषी होते हैं। साधारणतया लोग दूसरों की प्रशंसा की अपेक्षा निन्दा अधिक करते हैं। प्रशंसा तो जब हम अत्यंत विवश हो जाते हैं तब करते हैं। कोई अत्यन्त लोकप्रिय हो गया हो, बहुत से उसके समर्थ बलवान् प्रशंसक बन गये हों, अत्यन्त वैभवशाली हो गया हो, जिससे अपने स्वार्थ सधने की संभावना हो, जिसकी निन्दा करने पर घोर दण्ड मिलने का भय हो, ऐसे ही और भी अनेक कारण होने पर लोग किसी की विवश होकर प्रशंसा करते हैं, किन्तु फिर भी निन्दा का अवसर खोजते रहते हैं, कारण कि मानव स्वभाव छिद्रान्वेषी है सर्व साधारण की कोई निन्दा करता भी नहीं चोर-चोर तो भाई-भाई होते ही है, सर्व साधारण जैसे स्वयं हैं, वैसे ही उनके साथी भी हैं, सर्वसाधारण लोगों की निन्दा करो भी तो उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं, कोई लाभ नहीं। निन्दा तो संभावित पुरुष की ही अधिक दुखदायी होती है। जिसका जितना ही अधिक नाम होगा, जिसकी जितनी ही अधिक कीर्ति, प्रसिद्धि, प्रशंसा तथा ख्याति होगी उसकी उतनी ही अधिक निन्दा दुःखदायिनी होगी अतः संभावित पुरुषों को भरसक अपनी ओर से अकीर्तिकर कार्यों से सदासर्वदा बचे रहना चाहिये। उसे दृढ़ता से स्वधर्म का पालन करते रहना चाहिये। साधारण लोगों के जैसे अन्य सब कार्य साधारण होते हैं वैसे उनकी अकीर्ति भी साधारण होती है। उन्हें जानता ही कौन है। घर गाँव के कुछ लोग जानते हैं, उनसे कोई अकीर्तिकर कार्य बन भी जाता है, तो आपस के लोग कह देते हैं—"अरे, भाई, सभी से ऊँच-नीच काम हो ही जाता है, कौन दूध का धुला है। किन्तु जिन्होंने लोकोत्तर

कार्य किये है, जिनका यश जन साधारण में फैल गया है, उनके द्वारा कोई अकीर्तिकर कार्य हो जाय, तो वह उनके साथ सदा के लिये अपयश बंध जाता है। जैसे चन्द्रमा ने बड़े-बड़े पुण्य कार्य किये, उन्होंने किसी से न करने योग्य राजसूय यज्ञ किया। वे समस्त ओषधियों के तथा ब्राह्मणों के स्वामी बन गये। सुन्दर वे इतने अधिक थे, कि बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों की पत्नियाँ स्वेच्छा से अपने-अपने पतियों का परित्याग करके चन्द्रमा के समीप चली आयी। इससे चन्द्रमा का अभिमान बढ़ गया। उन्होंने बल पूर्वक अपने गुरु बृहस्पति जी की पत्नी तारा का अपहरण किया। लोगों ने बहुत समझाया—यह कार्य आपके स्वरूपानुरूप नहीं है, किन्तु चन्द्रमा माने ही नहीं, इससे उनकी अपकीर्ति हुई। इनके श्वसुर ने ही इन्हें क्षयी होने का शाप दे दिया। चन्द्रमा में कलंक अभी तक चला आता है अब तक लोग भाद्रपद की चतुर्थी को जिस दिन चन्द्रमा को कलंक लगा था, उसका मुख नहीं देखते। उसदिन भूल से भी चन्द्रमा दिखायी दे जाय, तो देखने वाले को अब तक पापका भागी होना पड़ता है। अतः सुप्रसिद्ध ख्यातनामा पुरुष को पूरी शक्ति लगा कर अकीर्तिकर कार्यों से बचते रहना चाहिये। यों कोई झूठे ही लांछन लगा दे उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। सत्य बात तो कभी न कभी प्रकट हो ही जाती है। झूठी बात से थोड़े दिन अपकीर्ति भले ही हो, पीछे जब लोगों को पता चलेगा, कि वे तो व्यर्थ में ही कलंकित किये गये। उनमें यह दोष था ही नहीं तब उनकी कीर्ति और भी बढ़ जायगी। जगज्जननी जानकी में वे दोष थे ही नहीं जो निंदकों ने व्यर्थ में उनमें लगाये थे। जब यह बात प्रकट हो गयी, वे गंगा जल से भी विशुद्ध पवित्र सिद्ध हो गयी। तो वे जगद्वन्द्या बन गयी। अतः स्वयं आदमियों को समझ बूझकर-

भ्रमवश-कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये जो स्वधर्म के विरुद्ध, यश का नाश करने वाला अकीर्तिकर हो।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने 'अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते' कहकर त्रैलोक्य के राज्य को भी ठुकरा देने की बात कही तब भगवान् ने कहा—तुम चाहते क्या हो ?

अर्जुन ने कहा—मैं युद्ध से भयभीत नहीं होता, केवल गुरुजनों के वध से डरता हूँ।

भगवान् ने कहा—"स्वधर्म च्युति से नहीं डरते ?"

अर्जुन ने कहा—एक ओर गुरुओं के वध का पाप हो और दूसरी ओर स्वधर्म परित्याग का पाप हो, तो मैं गुरुवध रूपी पाप ही न करना चाहूँगा।

भगवान् ने कहा—दोनों का बलाबल देख लो। मान लो तुम तो गुरुवध के पाप के भय से युद्ध से निवृत्त होओगे और कौरव यह समझें कि कर्ण के भय से यह युद्ध छोड़कर भग रहा है, तो वे तुझे भागते हुए को घेर लेंगे।

अर्जुन ने कहा—"घेर लें, मैं कोई कर्ण के भय से तो भग नहीं रहा हूँ, झूठा दोषारोपण लगा-कर वे मेरी निन्दा करें तो करने दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"वे घेर ही न लेंगे। मार भी डालेंगे।"

अर्जुन ने कहा—ये सब मिलकर भले ही मुझे मार डालें, परन्तु मैं अपने इन स्वजनों पर हाथ न उठाऊँगा।

भगवान् ने कहा—"मारने की संभावना है, संभव है तुम बचकर निकल भी सकते हो, फिर खाओगे क्या ?"

अर्जुन ने कहा—"भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करूँगा।"

भगवान् ने पूछा—समर्थ होने पर कोई आपत्तिकाल न रहने

पर क्षत्रिय को परधर्म अपनाना क्या अधर्म नहीं है। फिर जहाँ-जहाँ भी भिक्षा माँगने जाओगे वहीं लोग कहेंगे अजी, इन अर्जुन की तो हमने बड़ी ख्याति सुनी थी। हमने तो सुना था, कि जिन निवात कवचों को सब मिलकर देवता भी नहीं जीत सके थे, उनको इन अकेले अर्जुन ने ही जीत लिया था। हमने सुना था, किरात रूप शिव जी भी इनसे लड़ने आये थे तो इन्होंने अपनी युद्ध चातुरी से शिव जी को भी सन्तुष्ट किया था, आज ये युद्ध से पीठ दिखाकर अपने स्वधर्म को त्यागकर घर-घर भीख माँगते फिरते हैं। इस प्रकार युद्ध से पराङ्मुख होने पर तुम पर कई प्रकार के पाप लगेंगे।

अर्जुन ने पूछा—कौन से पाप लगेंगे ?

भगवान ने कहा—पहिला पाप तो यह लगेगा कि दैवतः प्राप्त युद्ध रूपी धर्मकार्य को तुम छोड़ रहे हो। दूसरा पाप यह लगेगा तुम्हारे भाई जो तुम्हारे ही बल भरोसे पर अपना राज्य प्राप्त करके क्षत्रिय धर्म का पालन करते, वे असहाय हो जायँगे, भाइयों के प्रति विश्वासघात का पाप। तीसरे मारे गये तो नरक में जाओगे, क्योंकि जो क्षत्रिय युद्ध छोड़कर भागता है, प्रजा का पालन नहीं करता, ब्राह्मणों की सेवा नहीं करता वह स्वधर्म से च्युत हो जाता है। तुम युद्ध से भागकर ये तीनों कार्य न कर सकोगे। यदि युद्ध छोड़कर जीवित भी रह गये, तो मृत्यु से भी बढ़कर वह जीना होगा। क्योंकि अब तक तो तुम्हारी संसार में कीर्ति व्याप्त थी, सब लोग तुम्हारे अमानुषीय कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे, अब उसी प्रकार समस्त प्राणी अनंतकाल तक तुम्हारी अपकीर्ति की चर्चा करते रहेंगे। मर कर नरक जाने की अपेक्षा भी संभावित पुरुष की अपकीर्ति अत्यन्त कष्टकर तथा दुखदायी है। युद्ध करने से कोई तुम्हें दोष

लगेगा नहीं क्योंकि शास्त्रकार कहते हैं—जो शस्त्र हाथ में लेकर अपने को मारने को आया हो वह आततायी है। ऐसा आततायी चाहे अपना गुरु ही क्यों न हो, चाहे बालक, वृद्ध, बहुश्रुत ब्राह्मण ही हो, उसे बिना विचारे मार देना चाहिये। यदि तुम इन्हें मार सके तब तो तुम्हें यश, कीर्ति के साथ भूमंडल का राज्य मिलेगा। लड़ते-लड़ते क्षत्रिय धर्म के अनुसार मर गये तब तो तुम्हारे लिये स्वर्ग का द्वार खुला ही है, दोनों बातों में से जो तुम्हें अच्छी लगे उसे करो। यदि अधर्म अपकीर्ति नरक से प्रेम हो, तब तो युद्ध छोड़कर भाग जाओ। यदि स्वधर्म, कीर्ति, यश तथा स्वर्ग से प्रेम हो तो युद्ध करो।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! भगवान् इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए वे और भी अर्जुन को समझाने लगे।

छप्पय

जहाँ-तहाँ सब लोग करें चरचा जाई की।
बहुत काल अपकीर्ति रहै तेरे भगिवे की॥
जैसे तेरे शुभ कामनि की करें बड़ाई।
अब तजि भागे युद्ध होहि सरवत्र बुराई॥
माननीय नर के लिये, अपकीरति ई मरन है।
मरिबो हू जाते भलो, तू तो क्षत्रियवरन है॥

शत्रु तुम्हारी सामर्थ्य की निंदा करेंगे

[१८]

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥*

(श्रीभग० गी० २ अ० ३५, ३६ श्लोक)

छप्पय

तेरी कीरति तीन लोक में छाई अबई ।
शूरवीर रनधीर सराहें तोकूँ सबई ॥
समुझि तोइ रन विरत सबनि मन लघुता आवै ।
सम्मानित ह्वै प्रथम फेरि कायर कहलावै ॥
सब समुझैं अरजुन डरयो, भागि गयो रन छोरिकें ।
भीष्म द्रोन संग का लरै, बैठि गयो मुख मोरिकें ॥

---

* महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से भगा हुआ मानेंगे । पहिले तू जिनमे श्रेष्ठ माना जाता था, उन्ही मे अब तू बहुत छोटा समझा जायगा ॥३५॥

जो तेरे शत्रु हैं, वे तेरे विषय मे न, कहने योग्य बातों को कहेंगे । तेरी सामर्थ्य की निंदा करेंगे । बताओ, तो सही इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या होगी ॥३६॥

संसार में हम बहुत से पापों से लोक निंदा के भय से ही बचे रहते हैं। जाति प्रथा में यही विशेषता थी, कि लोग जाति च्युति के भय से बहुत सी बुराइयों से दूर रहते थे। मनुष्य सामजिक प्राणी है, बिना समाज के उसका रहना कठिन हो जाता है। समाज में शत्रु और मित्र सभी प्रकार के लोग होते है। मित्र तो बहुत कम होते है, क्योंकि दूसरों की प्रशंसा मनुष्य चाहता नहीं। समाज में शत्रु ही अधिक होते हैं। एक वस्तु को हम भी चाहते हैं आप भी चाहते है बस, दोनों में शत्रुता हो गयी। संसार में धन कौन नहीं चाहता, यश-वैभव, स्त्री-पुत्र, भूमि-भवन वाहन तथा अन्य संसारी सुखों की वस्तुओं की इच्छा सभी को होती है। विषय भोग संसार में इतने सीमित है, कि सबको समान रूप से प्राप्त हो ही नही सकते। मान लो किसी प्रकार सबको बराबर-बराबर मिल ही जायँ, तो उनसे उनकी तृप्ति नहीं। जिनके पास अधिक विषय की सामग्री होगी, उनसे दूसरे कम सामग्री वाले स्वाभाविक जलेंगे ही। जलन ही शत्रुता का कारण है। जहाँ परस्पर में स्वार्थ में बाधा हुई वहाँ एक दूसरे को बुरा भला कहने लगते हैं। किसी के हाथ चलते हैं, किसी की जीभ चलती है। निंदक लोग यह नही विचार करते कि हम जिसकी निंदा कर रहे है, उसमें ये अवगुण इतनी मात्रा मे हैं भी कि नही। वे तो तिल का पहाड़ बनाकर बताते हैं। बिना ही आधार के झूठी निंदा करते है। इसीलिये मनस्वी लोग अपने आश्रितों को लोक निंदा का भय दिखाते रहते है— भैया, ऐसा काम कभी मत करो, जिससे चार लोग परस्पर में चवाव करें, निंदा करें। इसीलिये भगवान् शत्रुओं के द्वारा की जाने वाली निंदा का भय दिखाते हुए अर्जुन को धर्मयुद्ध में लगाने को प्रेरित करते है।

सूत जी कहते है—मुनियों! पहिले तो भगवान् ने युद्ध से विरत होने के पाप को बताया। अब निंदाकों द्वारा की जाने वाली निंदा का भय दिखाते हुए कहते है। देखो, जो लोग जिस विषय को जानते नहीं और उस विषय की आलोचना करें, तो मूर्खों पर तो चाहे उसका कुछ प्रभाव पड़ भी जाय, किन्तु बुद्धिमान लोग तो उसकी ऊटपटांग बातें सुनकर हँस ही देंगे, किन्तु जो जिस विषय के विशेषज्ञ हैं, वे यदि झूठी भी आलोचना कर दें, तो सभी लोग उसे सत्य मान लेते हैं। कह देते हैं—अजी, वे तो इस विषय में पारंगत हैं, वे असत्य थोड़े ही कहेंगे। तो सर्वसाधारण युद्ध से पराङ्मुख हो जाने पर तुम्हारी निंदा करें, तो उसकी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि वे तो परिस्थिति से पूर्णरीत्या परिचित ही नहीं। किन्तु जो भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन तथा धृतराष्ट्र के अन्य सभी महारथी ताली पीट-पीटकर तुम्हें। चिढ़ाते हुए यही कहेंगे—"अर्जुन की वीरता देख ली। कर्ण को देखते ही उसके छक्के छूट गये। कर्ण तुम्हारा प्रतिस्पर्धी है ही। कर्ण को विश्वास है, कि युद्ध में मैं अर्जुन को परास्त कर दूँगा। उसके अस्त्र शस्त्र सीखने के समस्त प्रयत्न इसीलिये थे, कि तुमको युद्ध में परास्त कर सके। उसने भगवान् परशुराम से झूठ बोलकर—अपने को ब्राह्मण पुत्र बताकर—ब्रह्मास्त्र इसीलिये सीखा था कि वह तुम्हें मार दे। माता कुन्ती से भी उसने कहा था—मैं तुम्हारे अन्य पुत्रों को वश में आने पर भी नहीं मारूँगा। किन्तु अर्जुन को यदि मैं मार सका तो अवश्य मारूँगा।" दुर्योधन ने कर्ण के बल भरोसे ही युद्ध का निश्चय किया है। कर्ण ने तुम्हें ही अपना प्रतिस्पर्धी जोड़ीदार-चुना है। कौरव पक्ष के महारथियों को ही नहीं, तुम्हारे अग्रज धर्मराज

युधिष्ठिर को भी सबसे अधिक भय कर्ण का ही है। वे वन में बारह वर्षों तक कर्ण का ही निरन्तर स्मरण करते हुए आह भरते रहे थे। आज यदि तुम किसी भी अन्य कारण से युद्ध करना बंद कर दो, तो सब यही समझेंगे अर्जुन भय के कारण युद्ध से विरत हो गया। अब तक सब लोगों के हृदय में जो तुम्हारा महान् गौरव था, वह समाप्त हो जायगा। महाराज धृतराष्ट्र सबसे अधिक तुम्हीं से डरते हैं, जब विदुर जी ने कहा—अर्जुन की वीरता की आख्यायिकायें—उसके जीवन काल में ही दृष्टान्त का विषय बन गयी है। अर्थात् कथा कहने वाले व्याख्या करने वाले दृष्टान्त के रूप में अर्जुन के सशरीर स्वर्ग जाकर लौट आने की, किरात रूपी शिवजी से युद्ध करने की, निवातकवचादि असुरों को परास्त करने की, विराट् नगर में कौरवों को हराकर गौएँ छीन ले जाने आदि की वीरता पूर्ण घटनाओं का उल्लेख करने लगे हैं। साधारणतया सर्व साधारण पुरुषों में आख्यायिकायें मरणोत्तर प्रचलित होती हैं। कोई-कोई अत्यंत भाग्यशाली पुरुष होते है। कि उनके जीवन काल में ही लोग उनकी घटनाओं को उदाहरण के रूप में कहने लगते हैं। तुम उन्हीं भाग्यशालियों में हो। तुम संभावित बन चुके हो तुम्हारे धर्मात्मापने की—शूर वीरता की जब मन में स्थायी धाक बैठ चुकी है। सब लोगों को यह दृढ़ विश्वास हो गया, कि तुम कितने भी कष्ट क्यों न पड़े अपने स्वधर्म-क्षत्रिय धर्म रूपी युद्ध से पराङ्मुख नहीं हो सकते। यह जो कीर्ति में तुम्हें बहुमत प्राप्त हो गया है। युद्ध से विरत होते ही तम अल्पमत में आ जाओगे। तुम लाघवको-लघुताको-प्राप्त हो जाओगे। हम लोग जो तुम्हारे निकट सम्बन्धी है ऐसे कुछ लोग भले ही तुम्हारी निंदा न करें—किन्तु सर्वसाधारण में तुम्हारी लाघवता-

हलकापन-फैल जायगा।

अर्जुन ने कहा—फैल जाने दीजिये। अब तक बहुमत में थे—अब अल्पमत में आजायँगे। इससे क्या होगा?

भगवान् ने कहा—इससे मानसिक क्लेश बढेगा। सुख दुख का कारण मन ही है। मन यदि सन्तुष्ट नहीं तो संसार के चाहें कितनी भी सुखोपभोग की सामग्रियाँ समुपस्थित हों, उनसे सुख नहीं मिल सकता। यद्यपि त्यागी विरागी पुरुष निन्दा स्तुति की कुछ परवाह नहीं करते, फिर भी निरन्तर निन्दा का उन पर भी प्रभाव होता ही है। जब परमज्ञानी जड़भरत जी महाराज को राजा रहूगण ने बहुत बुरा भला कहा, तो अन्त में उन्हें भी रोष तो आ ही गया। अपना परिचय देते हुए स्पष्ट कह दिया—क्या तुम छोटे से राज्य सिन्धु सौवीर देश के क्षुद्र शासक हो, मैं पहिले समस्त भूमंडल का चक्रवर्ती राजा भरत था।" निन्दा तो उनको भी अप्रिय लगी। मेरी ही बात देख लो। मेरे ऊपर सत्राजित ने स्यमन्तकमणि की चोरी का झूठा लांछन लगाया था। और मेरे विपक्षियों ने उस बात को यहाँ तक बढ़ा-चढा कर फैला दिया कि यादवों की स्त्रियाँ अपने छोटे-छोटे बच्चो से कहने लगी थीं—"सुवर्ण के आभूषणों को पहिन कर मत जाओ, आज कल कृष्ण की नीयत खराब हो गयी है, कहीं तुम्हारे गहनों को न उतार लें। यह विपक्षियों द्वारा मेरे विरुद्ध प्रबल प्रचार का ही परिणाम था। तब मुझे झूठ होने पर भी इसका निराकरण करना पड़ा। द्वारका के बहुत से लोगों को साथ लेकर सत्राजित के भाई की मृत्यु का तथा स्यमन्तकमणि का पता लगाना पड़ा। ये अहित करने वाले विपक्षी शत्रु लोग सुई को फार बना देते हैं, तिल को पहाड कर देते हैं। उन्हें छोटा मोटा कोई छिद्र मिल भर जाय, उसके सहारे

वे ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ करके उसका प्रचार प्रसार करते हैं, कि करने वाले के कभी मन में भी वे बातें न आई होंगी। ये दुर्योधनादि तुम्हारे युद्ध से हटते ही न कहने योग्य ऐसी-ऐसी कलुषित बातें तुम्हारे सम्बन्ध में कहेंगे, तुम्हारी सामर्थ्य की ऐसी निन्दा करेंगे, कि तुम्हें घोर कष्ट पहुँचेगा मानसिक व्यथा होगी।

अर्जुन ने कहा—"भगवान ! युद्ध करता हूँ, तो भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन कहेंगे, देखो जिस बच्चे को हमने प्यार से गोद में खिलाया था, अपने पुत्र के समान जिसका पालन पोषण किया था, वह कृतघ्नी हमसे आज लड़ने आ गया है, वे निन्दा भी करेंगे और कदाचित मैं उन्हें मार सका तो गुरु वध का घोर पाप मुझे लगेगा। यदि उन्होंने मुझे मार दिया तो मृत्यु दुःख सहना पड़ेगा। यदि मैं गुरु वध के पाप से युद्ध छोड़कर समरांगण से पृथक् होता हूँ, तो दुर्योधनादि शत्रु हमारी सामर्थ्य की निन्दा करेंगे मुझे बुरा भला कहेंगे। इसलिये युद्ध करने में भी पाप है और क्षत्रिय धर्मानुसार प्राप्त युद्ध को छोड़ दें तो भी पाप है। इनके द्वारा मारे जाने पर भी पाप, इन्हें मार दें तो भी पाप और समर छोड़कर भाग जायँ तो भी पाप। हमें तो चारों ओर पाप पंक ही पाप पंक दिखायी दे रही है, इसका कोई निराकरण होना चाहिये।

इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन भ्रमवश तुम ऐसा अनुमान लगा रहे हो, मेरे मत में तो जय पराजय, मरने-मारने दोनों में ही तुम्हारा कल्याण है।

सूत जी कहते है—मुनियो ! इस विषय का जो विवेचन भगवान् ने किया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

इतनो ई तक नाहिँ तोइ सब गारी दिन्हे।
जो नहिँ कहिबे जोग्य बात वे व्यरथ बकिन्हे॥
वैरी निद्रा करें द्वेषवश दोष लगावैं।
भयो पार्थ भयभीत भीरु कहि तोइ चिढ़ावैं॥
अपने ई निन्दा करें, जिन सँग भोग्यो बहुत सुख।
वे ई अपकीरति करैं, कहो कौन जा सरिस दुख॥

जय पराजय दोनों में ही लाभ

[१९]

हतो व प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥❀

(श्री भग० गी० २अ० ३७,३८ श्लो०)

छप्पय

लड्डू दोऊ हाथ हार होवै चाहें जय ।
रन है क्षत्रिय धरम कहो जामें काको भय ॥
लड़त-लड़त मरजाउ स्वरग में निश्चय जाओ ।
है जावै यदि जीत राज पृथिवी को पाओ ॥
कायरता अब मति करो, उठो युद्ध हित हरषि कें ।
हौं शत्रुनि तें लड़ूँ, बोलो बानी गरजि कें ॥

❀ मान लो, युद्ध में तुम मर ही गये, तो स्वर्ग को प्राप्त करोगे। यदि जीत गये, तो पृथिवी का राज्य भोगोगे। इसलिये हे कुन्तीनन्दन! तुम युद्ध का निश्चय करके उठकर खड़े हो जाओ ॥३७॥

सुख और दुःख को, लाभ हानि तथा जय पराजय इन सब को समान समझ कर तदुपरान्त युद्ध करने को उद्यत हो जाओ फिर तुम्हे युद्ध में हिंसा जनित पाप नही लगेगा ॥३८॥

मानव शरीर कर्म करने के लिये ही होता है। शरीर धारी कर्म तो सभी करते हैं, किन्तु जो कर्म परमार्थ को लक्ष्य करके किये जाते हैं, वे ही इष्ट सिद्धि में सहायक होते हैं। वैसे आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि कर्म पशु पक्षी आदि सभी योनि वाले जीव करते हैं, किन्तु ये कर्म भोग के निमित्त होते हैं। योग के निमित्त कर्म किये जायँ वास्तव में वे ही कर्म है। योग क्या? कर्मों के कुशलता पूर्वक करने का ही नाम योग है। भोजन तो भोगी भी करता है योगी तथा भक्त भी करता है, किन्तु भोगी स्वाद के लिये, शरीर को पुष्ट बनाने के लिये भोग करने मे शरीर अधिकाधिक समर्थ हो इस उद्देश्य से करता है। योगी का मुख्य उद्देश्य यज्ञ है, क्योंकि यज्ञ के निमित्त किये हुए कर्मों को छोड़ कर सब कर्म बन्धन के कारण है। अतः यज्ञ करके उससे प्रसाद रूप में बचे हुए अन्न को जो खाता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है। योगी और भोगी भोजन तो दोनों ही करते है, किन्तु भोगी अकुशलता से केवल इह लोक को ही दृष्टि में रख कर करता है और भोगी कुशलता से परलोक को लक्ष्य करके करता है। केवल भावना का ही अन्तर है भोजन करना रूप कर्म देखने में दोनों का समान ही है तनिक भी अन्तर नहीं, किन्तु भावना के अनुसार दोनों के फलों में बहुत अन्तर है। इसलिये कर्मों को सावधानी के साथ सोच समझकर लोक परलोक दोनों का ध्यान रखकर करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने युद्ध करने और युद्ध न करने मे दोनों पाप तथा अपकीर्ति बतायी तब भगवान् ने हँसकर कहा—अरे, बूआ कुन्ती के लाड़िले लड़के! अरे मेरे फुफेरे भाई! मैं तो युद्ध करने में तुम्हें सब प्रकार से लाभान्वित ही मानता हूँ। मान लो तुम युद्ध में हार ही गये। बिना पीठ

दिखाये पूरी शक्ति से लड़ते ही रहे और इस पर भी तुम्हें भीष्म पितामह ने, द्रोणाचार्य ने अथवा महावीर कर्ण ने मार ही डाला तो तुम्हारे लिये क्षत्रिय धर्म के कारण स्वर्ग का मार्ग खुला ही हुआ है। स्वर्ग में जाकर दिव्य सुखों का उपभोग करो। और यदि भगवान् की कृपा से तुम जीत ही गये तो सम्पूर्ण वसुन्धरा का राज्य प्राप्त करोगे, विपुल धन ऐश्वर्य के अधिकारी बनोगे। उस धन से बड़े-बड़े यज्ञ याज्ञादि दान धर्म करोगे, जिनका फल सुख ही है। अब तुम्हें बोलो, क्या आपत्ति है?

सूत जी कहते हैं—"मुनियो, ! जब भगवान् ने यह पूछा तो अन्यमनस्क भाव से बैठे ही बैठे चिन्तामग्न अर्जुन बोला—"भगवन् ! अभी मैं कुछ निश्चय नहीं कर सका हूँ कि युद्ध करूँ या उससे विरत होकर चला जाऊँ।"

भगवान् ने कहा—'यही तो तुम्हारी जड़ता है। ऐसे अन्यमनस्क भाव से हाथ पर हाथ रखे अनिश्चित स्थिति में बैठे रहने से कैसे काम चलेगा ? क्या तुम्हें यह शोभा देता है। मैं तुमसे कह रहा हूँ, तुम एक निश्चय कर लो और वह निश्चय युद्ध ही करूँगा इस प्रकार शीघ्रता से शीघ्र ही करलो अब हाथ पर हाथ रखे बैठे रहने से काम न चलेगा, अब उठ कर खड़े हो जाओ। जो सोता रहता है, उसे तमोगुण घेर लेता है, जो उठ कर बैठ जाता है, उसका कल्याण समीप आ जाता है और जो उठ कर कमर कसकर-कटिबद्ध होकर खड़ा हो जाता है श्रेय उसके पैरों को चूमने लगता है, कल्याण उसका मित्र सखा बन जाता है, अतः तुम्हारा कल्याण युद्ध में ही है। बोलो, खड़े होते हो कि नहीं।"

अर्जुन ने कहा—खड़े होने को तो मैं अभी हो जाऊँ, किन्तु पहिले मुझे समझा तो दीजिये। मैं आपकी ही बात को बड़ी

करता हूँ। मरने पर स्वर्ग निश्चित है, जीतने पर राज्य को मिलना भी ध्रुव है। अच्छा, राज्य मिल गया, तो इस लोक के शारीरिक सुख ही तो मिल जायेंगे। मरने पर स्वर्ग में दिव्य भोग मिल जायेंगे। भोग चाहें इस लोक के हों या परलोक के दिव्य हों, दोनों पाप रूप ही हैं। आप कहते हैं—युद्ध न करोगे तो तुम्हें क्षत्रिय धर्मानुसार पाप लगेगा, तुम्हारी अपकीर्ति होगी, तो मैं कहता हूँ कि यही दोष तो युद्ध करने में भी है। जिनके बन्धु बान्धवों को हम रण में मारेंगे, वे निन्दा तो करेंगे ही, और विषयों का भोग रूप राज्य प्राप्त होगा वही एक प्रकार का पाप ही है, स्वर्गीय सुख भी मीठा पाप ही है। इस पाप से छुटकारा पाने का कोई उपाय बतावें।

भगवान् ने कहा—"देखो दुःख का कारण द्वन्द्व ही है। निर्द्वन्द्वता में दुःख नहीं होता। द्वन्द्व कहते हैं जोड़े को। पाप पुण्य, जीवन मरण, सुख दुःख, राग द्वेष, लाभ अलाभ जय पराजय, हानि लाभ, यश अपयश तथा संयोग वियोग ये ही द्वन्द्व कहलाते हैं। ये द्वन्द्व एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। धर्म अधर्म की पाप पुण्य की। हम सब अनुकूल परिस्थिति में प्रसन्न होते हैं, प्रतिकूल परिस्थिति में अप्रसन्न जैसे हम सदा जीवन चाहते हैं, सदा जीवन न मिलकर हमें मरण प्राप्त होता है, तो दुःख होता है। हम सदा लाभ चाहते हैं। लाभ न मिलकर हानि हुई तो दुःख होगा। इसी प्रकार जय चाहने पर पराजय होने से दुःख होगा। क्योंकि दोनों में विषमता है। विषमता कोई स्थूल वस्तु नहीं मन का भाव ही है। उस भाव को बदल दो। प्रत्येक स्थिति में समता रखो। समभाव को अपनाओ।"

अर्जुन ने कहा—समभाव भगवन्! कैसे हो?

भगवान् ने कहा—समभाव होता है, कर्तव्य की प्रधानता

देने से। हम अपना कर्तव्य करते जायँ परिणाम जो भी कुछ हो। जो फल को हेतु बनाकर हमें इससे इसी वस्तु की प्राप्ति हो, ऐसा निश्चय करके काम करने को फल हेतुक कार्य कहते हैं।

शौनक जी ने पूछा—सूत जी समभाव का स्वरूप क्या है?

सूत जी बोले—महाराज, समभाव का स्वरूप है, सभी परिस्थितियों में उन्ही एक सर्वान्तर्यामी प्रभु को देखना। वे जो कुछ कर रहें। उनमें विषम भावना लाना अपना कर्तव्य समझ कर शुभ कार्यों को करते रहना।

एक महात्मा भिक्षा माँगने जा रहे थे दो भाई परस्पर किसी स्वर्थवश लाठी लेकर लड़ रहे थे। उन महात्मा ने कर्तव्य समझकर उन दोनों को समझाया, लड़ो मत। लड़ने से कोई लाभ नहीं।

उनकी तो विषम दृष्टि थी। क्रोध में अंधे हो रहे थे। महात्मा को अपने कार्य में विघ्न डालते देखकर उन्हीं पर प्रहार कर दिया। प्रहार से वे अचेत होकर भूमि पर गिर गये। वे दोनों भाई भाग गये। उनके आश्रम वालों को पता चला तो वे उन्हें उठा ले गये। उपचार किया। गरम-गरम दूध मुख में डाला। दूध पीने से कुछ चेतना लौटी एक ने यह जानने को कि इन्हें अभी होश हुआ या नहीं पूछा—स्वामी जी! जानते है आपको कौन दूध पिला रहें हैं?

महात्मा ने कहा—"भैया! जिसने लाठी मारी है, वही दूध पिला रहा है।"

सूत जी कहते हैं—महाराज इसी का नाम समभाव है। सुख हो, दुःख हो, लाभ हो हानि हो, जय हो पराजय हो। बिना इस पर ध्यान दिये कर्तव्य बुद्धि से करने योग्य कर्म को

जो करता है। वही समता रखने वाला पुरुष है। इसीलिये भगवान् अर्जुन को समझा रहे हैं—"अर्जुन ! तुम कर्तव्य समझ कर क्षत्रिय का युद्ध कर्तव्य है इसी भाव से युद्ध को तैयार हो जाओ। इससे सुख मिलेगा या दुःख, इससे हमारी हानि होगी या लाभ, इस युद्ध में हमारी जय होगी या पराजय, इन बातों की ओर ध्यान ही मत दो। विचार ही मत करो, हमें युद्ध करना ही है, इस इति कर्तव्य बुद्धि से यदि तुम युद्ध करोगे तो फिर पाप लगने का प्रश्न ही नहीं है।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यहाँ तक सांख्य दृष्टि से भगवान् ने उपदेश दिया अब आगे कर्म योग दृष्टि से जैसे उपदेश देंगे उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

सुख दुख कूँ सम समुझि होहु निष्काम बीरबर।
युद्ध एक करतव्य समुझिकै ह्वै जा तत्पर॥
लाभ हानि तू जानि बराबर मति घबरावै।
होहि पराजय बिजय सोच मनमें मत लावै॥
द्वन्दनि में सम बुद्धि करि, रनहित ह्वै जाओ खरे।
फेरि पाप व्यापै नहीं, हौं सारथि तेरो अरे॥

निष्कामकर्म योग-विवेचन

[२०]

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायतो महतो भयात्॥❀

(श्री भग० गी० २ अ० ३९, ४० श्लो०)

छप्पय

अब तक मैंने तोइ सांख्य की शिक्षा दीन्ही।
जाने कीन्हीं शुद्ध बुद्धि ताई ने चीन्हीं॥
करम योग अब कहूँ बुद्धि कूँ शुद्ध बनाओ।
करिकें मन एकाग्र योग में ध्यान लगाओ॥
जा बुद्धितें युक्त हूँ, बुद्धिमान बनि जाइगो।
सुख दुख में सम भाव करि, करम बंध नसि जाइगो॥

❀ यह मैंने तुझे सांख्य ज्ञान सम्मत सम्मति दी है। अब योग सम्मत कहता हूँ उसे सुनो। जिस बुद्धि से युक्त होकर हे पार्थ कर्म कृत बन्धनों को काट सकोगे॥३९॥

इस मार्ग में आरंभ किये का नाश नहीं होता। विपर्यय दोष—उलटा भी नहीं होता। इस धर्म का यत्किंचित भी आचरण महान् भय से छुड़ा देता है॥४०॥

कर्म मात्र सदोष है, अतः बन्धन का कारण है। कर्म चाहें पुण्य प्रद हों या पाप प्रद, धर्मयुक्त हो या अधर्मयुक्त अच्छे हों या बुरे। सभी संसार देने वाले हैं। शुभ कर्मों का फल स्वर्गप्रद है, अशुभ कर्मों का फल नरकप्रद है। मिले जुलों का फल मर्त्य लोक में जन्म होना है। जैसे अग्नि धूम से आवृत रहती है ऐसे ही सभी कर्मारम्भ दोष युक्त हैं। कैसा भी कर्म करो उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। पानी से परबट की हुई, जुती हुई भूमि है, उसमें जानकर जो भी वस्तु बो दोगे वही फलवती हो जायगी। यदि अनजाने में भी प्रारब्धानुसार बीज पड़ गया तो वह भी अंकुरित होकर फलवान् बन जायगा। इसी प्रकार कर्म कैसे भी करो उसका फल भोगना ही पड़ेगा। बीज उर्वराभूमि पर पड़ने से जमेगा ही, किन्तु यदि बीज को भून दो और फिर चाहें जैसी उर्वरा-भूमि में बो दो। उससे अंकुर पैदा न होगा। उस भूंजे हुए बीज से पेट तो भर जायगा, किन्तु भविष्य में बीज देने का कारण न होगा। बीज को भूनना-उसे बोने के अयोग्य बनाना—यही बुद्धि का कार्य है। इसीलिये इस योग को बुद्धियोग कहते हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने क्षत्रिय को युद्ध रूपी कर्म करना ही चाहिये। क्षत्रिय का धर्म ही है युद्ध करना, और युद्ध में शत्रु के सम्मुख लड़ते लड़ते मर जाना। उससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह बात कही तो अर्जुन ने इसका अनुमोदन किया। वह युद्ध से भयभीत थोड़े ही था। उसे तो अपने स्वजनों गुरुजनों के वध रूपी पाप से भय था। भगवान् एक ओर तो कर्म का उपदेश देते हैं। दूसरी ओर ज्ञानी को कर्म न करने को कहते हैं। विद्वान् के सभी प्रकार के कर्मों का निराकरण करते हैं। इसमें किस अवस्था में कर्म करना चाहिये और किस अवस्था

में कर्म न करना चाहिये। इसके सांख्य योग और बुद्धि योग दो-दो मार्ग बताये हैं। भगवान् उन्हीं के सम्बन्ध में आगे बतावेंगे।

श्री भगवान् अर्जुन से कहते हैं—हे पार्थ अब तक मैंने तुम्हें सांख्य योग का उपदेश किया। अब तुम कर्मयोग-शुद्धि बुद्धि द्वारा किये हुए कर्मयोग को श्रवण करो। जिस बुद्धि से युक्त होकर तुम कर्म बन्धनों से छूट जाओगे। वेद शास्त्रों में अनेक स्थानों में ब्रह्म को "औपनिषद् पुरुष" कहा गया है। उपनिषदों में उस परामत्म तत्व का ही बारंबार निरूपण किया गया है। वह ब्रह्म सर्वोपाधि शून्य है। इसलिये उपनिषद् समूह की ही संज्ञा "संख्या" दी है। उस संख्या के द्वारा जिसका निरूपण हो उसका नाम है "सांख्य" अर्थात् ज्ञान। ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य नहीं, कोई विधि विधान नहीं। निषेध नहीं, वह तो ज्ञान से ही तृप्त है। दूसरा कर्म मार्ग है, जैसे स्वर्ग की कामना से अश्वमेधयज्ञ रूपी कर्म करना चाहिये। पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ करना चाहिये। शास्त्र विहित कर्मों का सकाम भाव से शास्त्रीय नियमों द्वारा किये हुए कर्मों को कर्म मार्ग कहते हैं। जो लोग सकामी हैं। उन्हें उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। ज्ञानी को कर्म न करके निरंतर आत्मचिन्तन में निमग्न रहना चाहिये। किन्तु ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग से एक विलक्षण विवेक बुद्धि द्वारा किया हुआ एक निष्काम कर्म योग मार्ग है, जिसे उपासना मार्ग कह लीजिये-भक्ति मार्ग कह लीजिये, उसी का मैं तुम्हें उपदेश करूंगा। क्योंकि मैंने संक्षेप में ज्ञान मार्ग का भी उपदेश दे दिया। और वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म मार्ग को भी बता दिया। यह जो मैं निष्काम कर्म योग तुम से कहूँगा, यह बड़ा विलक्षण है। कर्म तो सब बन्धन के ही

कारण हैं। कर्म करोगे तो बन्धन में पड़ोगे, किन्तु मैं जिस कर्म योग का उपदेश दूंगा, उससे कर्म करते हुए भी तुम कर्मों के बन्धन से विमुक्त हो जाओगे।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! जब कर्म मात्र बन्धन के कारण हैं, तो कर्म करते हुए भी उनका बन्धन न लगे यह कैसे संभव हो सकता है। जल में घुसो और शरीर गीला न हो, आग में घुसो और शरीर जले नहीं। यह भी भला संभव है।"

इस पर सूत जी ने कहा—महाराज, संभव क्यों नहीं। एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहिन कर जल में घुस जाओ चाहे जितनी गहराई में चले जाओ शरीर भीगेगा नहीं अकरकरा तथा और भी कई प्रकार के लेप लगाकर बाजीगर आग में घुस जाते हैं उनका शरीर जलता नहीं। इसी प्रकार शुद्ध बुद्धि से युक्त होकर कर्मों का जो दोष सकामता है उसे निकाल कर कर्म करो कर्म का दोष नहीं लगेगा। कर्मों को कुशलता पूर्वक करना उसके बन्धन कारक दोष को हटाकर चातुरी से करना इसी में तो बुद्धिमानी है। इस विषय को एक दृष्टान्त द्वारा समझ लीजिये।

एक गाँव में एक वैद्य जी रहा करते थे, वह वैद्यक कर्म द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। गाँव में या आस-पास में कोई रोगी हो और विशेषकर किसी धनिक को रोग हो तो प्रसन्नता होती थी, क्योंकि उसकी चिकित्सा से उन्हें आर्थिक लाभ होता था। उनके घरके ही सम्मुख एक दूसरे विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उन्हें यद्यपि आयुर्वेद का पूर्ण ज्ञान था, किन्तु वे आजिवा दूसरे साधनों से चलाते थे, आयुर्वेद को उन्होंने आजीविका का साधन नहीं बनाया था। वे सदा मिथ्या आहार विहार से बचे रहते, जितनी भूख होती उससे कम ही भोजन करते। अपनी प्रकृति के अनुरूप

ही वस्तुओं का सेवन करते, इससे वे कभी बीमार न पड़ते। वैद्य जी सोचते यह सदा स्वस्थ ही रहता है, कभी बीमार नहीं पड़ता। इससे मुझे कभी आय नहीं होती।

एक दिन रात्रि के समय वे विद्वान् ब्राह्मण दही की एक हँड़िया लाये। वैद्य जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। वैद्यक शास्त्र का सिद्धान्त है "रात्रौ दध्ना न भुञ्जतो" रात्रि में दही नहीं खाना चाहिये। "प्रतीत होता है यह ब्राह्मण इस बात से अपरीचित है आज यह परिवार सहित दही खायगा कल बीमार होगा; मेरी आमदनी हो जायगी।" यह सोचकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और कान लगाकर सुनता रहा देखें यह अपने परिवार वालों से क्या बात कर रहा है।

उस ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से कहा—देखो, आज मैं यह बहुत बढ़िया दही लाया हूँ, इसे रात्रि में खाना है, किन्तु बुद्धि युक्त होकर युक्ति के साथ खाना है।

स्त्री ने पूछा—"बुद्धि युक्त होकर युक्ति से कैसे खाया जाता है। इसकी मुझे युक्ति बताइये।"

ब्राह्मण ने कहा—"पहिले इसे रई से खूब मथलो; फिर इसमें घृत का घुंगार दे दो। तदनन्तर भुनी हींग, भुना जीरा, सौंठ सेंधा नमक डाल दो, राई और हींग जीरे का छौंक दे दो और थोड़ा पोदीना पीसकर मिला दो। तब परिवार के सब लोग खाना।"

यह सुनकर वैद्य निराश हुआ। उसने सोचा शास्त्र रात्रि में दही खाने का निषेध इसलिये करता है, कि दही वातल होता है, रात्रि में वात का प्रकोप होता है, दही हानि करता है, किन्तु इसने दही खाया तो सही किन्तु बुद्धि पूर्वक उसके समस्त दोषों का परिहार करके खाया। मथन से दही का दहीत्व नष्ट होकर

तक्र बन गया। राई, सोंठ, सेंधानमक, जीरा, हींग और पोदीना मिला देने से दही के जो वात जनित विकार थे वे भी नष्ट हो गये। अब दोष रहित दधि विकार न करके उपकार ही करेगा। इसी प्रकार सकाम कर्म सभी बन्धन के कारण हैं। किन्तु उनकी सकामता निकाल दी जाय, बिना फल की इच्छा कर्तव्य कर्म समझकर फलाशा के बिना किये हुए कर्म उसी प्रकार फिर उत्पन्न न होंगे जैसे उबाले हुए धान बोने से अथवा चावलों से भूसी दूर कर देने से उन्हें बो दिया जाय, तो वे फिर जमने वाले नहीं होते। इसलिये युक्ति पूर्वक निष्काम भाव से किये हुए कर्म को ही निष्काम कर्मयोग कहते हैं। इसी को लक्ष्य करके भगवान् ने कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा— अर्जुन! मैंने जो तुमको निष्काम कर्मयोग के सम्बन्ध में बताया इसमें आरम्भ का (बीज का) नाश नहीं होता, और स्वादिष्ट बन जाता है। जैसे जिस बीज को फिर से न जमाने की इच्छा हो, उसे एक बार उबाल ले फिर हींग जीरा घी डालकर छौंक दें। तो कितना स्वादिष्ट बन जायगा। अन्न को पेट भरने को ही पैदा किया जाता है। उस छौंके हुए अन्न के बीजों से पेट तो भर जायगा स्वाद भी आवेगा, किन्तु वह बोने पर फिर से बीज उत्पन्न करने में असमर्थ हो जायगा। इसी प्रकार निष्कामभाव से किया हुआ कर्म हमें प्रभु प्राप्ति रूप फल की प्राप्ति तो करा देगा, किन्तु संसार में पुनः पुनः जन्म लेना पुनः पुनः मरना। संसार को प्राप्त करा देना इसमें असमर्थ रहेगा। इसके करने से कोई उलटा-पुलटा भी नहीं होता। जैसे विश्वरूप को पिता त्वष्टा मुनि ने इन्द्र को मारने के संकल्प से यज्ञ किया था, किन्तु दैवयोग से एक स्वर विपर्यय हो गया। दीर्घ के स्थान में प्लुत स्वर हो गया। फल प्रतिकूल हो गया। इस निष्काम कर्म

योग में यह भी बात नहीं। इस धर्म का स्वल्प आचरण संसार रूप महान् भय से मनुष्य की रक्षा करता है त्राण करता है। इस धर्म में कहीं पतन की आशंका नहीं। सीधा राजपथ है आँख मूंद कर चले जाओ।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब भगवान् सकाम कर्म करने वालों में जो दोष हैं उनको आगे बतावेंगे, उन्हें आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

करमयोग आरम्भ बीजको नाशन होवै।
प्रत्यवाय फलरूप दोष सबई इत खोवै॥
करमयोग अति सुगम करमफल कूँ नहिँ चाहै।
धरम काम कूँ सतत करै फलतैं बिलगावै॥
सुगम धरम कूँ नेक हूँ, साधन जो साधक करै।
मृत्युरूप भयतैं छुटै, चौरासी चक्कर हटै॥

सकाम कर्मों में दोष

[२१]

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरतः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥*

(श्रीभग० गी० २ अ० ४१,४२ श्लो०)

छप्पय

होइ बुद्धि अति शुद्ध एक निश्चय करि लेवै ।
निश्चयधारी बुद्धि एक ही योगहिँ सेवै ॥
हैं जो अस्थिर बुद्धि विवेकहु जिनमें नाहीँ ।
ते थिर कैसे होहिँ कामना फँसे सदाहीँ ॥
हैं अनन्त शाखा बहुल, नर सकाम धी फल निरत ।
कैसे वह जग तैं छुटै, भ्रमत रहत फलभुक् सतत ॥

---

* हे कुरुनदन ! इस योग मे व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है । किन्तु जिसकी बुद्धि अस्थिर है, उनकी बुद्धियाँ बहुत भेदों वाली और अनन्त होती हैं ॥४१॥

हे पार्थ ! कागद के बने बनावटी पुष्प के समान इस प्रकार की वाणी को वेद के बाद विवाद मे ही निरत जो अविवेकी पुरुष कहते हैं, वे इसके अतिरिक्त कुछ नही हैं, ऐसा कहने वाले होते हैं ॥४२॥

वेद कर्म बहुल हैं। वेद की प्रायः समस्त ऋचाओं में कर्म की प्राधान्यता है। कौन सा यज्ञ कैसे करना चाहिये, कौन से कर्म का क्या फल है, कौन सी यज्ञ करने से कौन-कौन से भोग प्राप्त होते है, इन्हीं का विस्तार से वर्णन है। बीच-बीच में वेदों में कहीं-कहीं ज्ञान की भी महिमा है, जिस वेद में ऐसी ज्ञान की महिमा है उन्हें 'उपनिषद्' कहते है। सब वेदों की उपनिषदों की संख्यायें हैं जैसे ऋक्वेद की १० उपनिषदें हैं कृष्ण यजुर्वेद की ३२ उपनिषदें हैं सामवेद की १६ उपनिषदें हैं तथा अथर्ववेद की ३१ उपनिषद हैं, और भी बहुत उपनिषदें है कुछ उपासना परक भी ऋचायें हैं। अधिकांश ऋचायें कर्मकाड की हैं, उनमें कर्म करते समय फल की प्रधानता रहती है। जैसे स्वर्ग की कामना से अश्वमेध यज्ञ को करना चाहिये। उन यज्ञयागों से कैसे-कैसे भोगों की प्राप्ति होती है, इसका भी वे वर्णन करते हैं। इससे कर्म को ही प्रधान मानने वाले भी मांसक लोगों का कथन है कि यज्ञ कर्म परक है। यज्ञ में कर्मों का ही विधान है। जब तक जीवित रहे वेद में बताये हुए कर्मों को ही करता रहे। शुभ कर्मों के करने से अक्षय सुखों की प्राप्ति होगी। अक्षय से उनका तात्पर्य कभी क्षय होने से नहीं है। वहाँ अक्षय का अभिप्राय चिरकाल तक, स्वर्गीय सुख भोगने से है। वे यह मानते हैं कि जैसे कर्मों द्वारा उपार्जित भोग इस लोक में कभी न कभी क्षीण हो जाते हैं वैसे ही परलोक में पुण्य कर्मों से प्राप्त स्वर्गादि लोक भी क्षय हो जाते हैं। स्वर्ग में पान करने को अमृत मिलता है, उर्वशी आदि अप्सराओं के संग में विहार करने का अवसर मिलता है पारिजात के दिव्य पुष्पों को सूंघने को सुगन्धि मिलती है। देवताओं का आधिपत्य भी मिल जाता है, वहाँ के दिव्य उपवनों में क्रीड़ा करने का अवसर मिलता है यही सर्वश्रेष्ठ सुख है, इसी के लिये प्रयत्न करना

चाहिये। इस पर शंका करते हैं कैसा भी दिव्य सुख है, किन्तु वह है तो क्षयिष्णु कभी न कभी तो स्वर्ग से च्युत होना पड़ेगा। इस पर वे कहते हैं, यदि स्वर्ग में पुण्यक्षय होने पर पतन भी हो तो उत्तम कुल में यहीं पृथ्वी पर ही तो जन्म होगा, यहाँ हम पुनः वेद की विधि के अनुसार पुण्यकर्म करके स्वर्ग को प्राप्त कर लेंगे। कर्मों के द्वारा इसलोक में उत्तम भोगों को भोगेंगे परलोक में दिव्य भोगों का आनन्द लेंगे। यही सर्वोत्तम सुख है इसी का नाम मोक्ष है। यही परमानन्द है। ये जो ज्ञान की ऋचायें हैं ये तो स्तुति मात्र हैं, अतिशयोक्तियाँ है, इनका तात्पर्य स्तुति में है। कर्मकांड वाले इस लोक के उत्तम भोगों को और परलोक के दिव्य सुखों को ही सब कुछ मानते हैं। कर्मों का अनुष्ठान वे इन्हीं सुखों की प्राप्ति के निमित्त करते हैं। भगवान् कर्म करने को तो कहते हैं किन्तु इन सुखों की प्राप्ति के निमित्त सकाम भाव से किये जाने वाले कर्मों की निन्दा करते हैं। वे बिना फल की इच्छा किये हुए निष्काम कर्म योग की प्रशंसा और सकाम कर्मों की निन्दा करते हुए अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"देखो; भैया, कर्म तो एक ही भाँति किये जाते हैं, कर्मों में तो कोई अन्तर है नहीं। दो आदमी पानी में डूब रहे हैं। एक को एक आदमी इस भावना से पकड़ने जा रहा है, कि इसे बचालूँ दूसरा इस भावना से तैर कर जा रहा है कि इसे डुबा दूँ। दोनों ने दोनों को पकड़ा। डुबाने वाला डुबाना चाहता था, किन्तु थाह आ जाने से वह बच गया। बचाने की भावना से जो गया था, उसने उसे पकड़ तो लिये, किन्तु भँवर में पड़ गया इससे वह उसके हाथ से छूट गया वह गया। यद्यपि दोनों का कर्म तैर-कर जाना पकड़ना एकसा ही था। जो डुबाना चाहता था, वह डुबा न सका, जो बचाना चाहता था वह बचा न सका। किन्तु

दोनों के फल में बहुत अन्तर हो गया। यद्यपि बचाने की भावना से जाने वाला अपने प्रयास में सफल न हुआ उसे बचा न सका, किन्तु उसे बचाने के प्रयत्न के कारण पुण्य हुआ। दूसरा खोटी बुद्धि से बुरी भावना से गया था। यद्यपि उसके कारण उस व्यक्ति के प्राण बच गये किन्तु उसे पाप ही लगा क्योंकि उसके भाव दूषित थे। इसी प्रकार सकामी निष्कामी कर्म तो एक से ही करते हैं, किन्तु दोनों के फल में अन्तर हो जाता है। हे कुरुनन्दन। तुम्हारे पूर्वज कुरु ने भी कर्म किया था, किन्तु उन्होंने सकाम कर्म का अनुष्ठान किया था। बुद्धि दो प्रकार की होती है, एक व्यवसायात्मिका दूसरी अव्यवसायात्मिका। जिस बुद्धि का निश्चय एक ही हो, अटल हो, ध्रुव हो कभी डिगने वाला न हो। इस मोक्ष मार्ग में उसी एक तत्व को निश्चय करने वाली बुद्धि को व्यवसायात्मिका कहते हैं 'निष्काम भाव से भगवत् प्रीत्यर्थ कर्म करना।' यही एक इसका दृढ़ निश्चय होता है, किन्तु जो कर्म फल की इच्छा [illegible] की बुद्धियाँ एक नहीं होतीं [illegible] वाली अनेकों शाखाओं वाली [illegible] निश्चय है, कि मैं एकमात्र श्री हरि की आराधना से ही इस असार संसार को बात की बात में पार कर जाऊँगा। वे लोग ही व्यवसायात्मिका बुद्धिवाले निष्काम कर्म योगी कहाते हैं क्योंकि उनकी बुद्धि बहुत से फलों की कामना न रहने के कारण अबाधित हैं और ये फलाकांक्षी होने से नाना कामनाओं से बाधित होने वाली हैं। एक तो किसी कामना विशेष से कर्म किया जाय दूसरा केवल प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म किया जाय, तो इन दोनों के फलों में बहुत भेद हो जाता है।

भगवान् ने अर्जुन से कहा—हे पार्थ! एक अर्थवाद होता है। जैसे 'अधरामृत' अमृत उसे कहते हैं, जिससे आदमी कभी मरे नहीं। किन्तु अधरामृत का पान करने वाले गृहस्थी मरते देखे गये.

हैं। इसलिये अधर के लिये अमृत कहना अर्थवाद है। प्रशंसापरक है। इसी प्रकार कर्मासक्त अज्ञानी लोगों को वैदिक कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिये वैदिक कर्मकांड की प्रशंसा की गयी है। जैसे पलास-टेसू का पेड़ है, वह खूब फूला हुआ है। उसमें नीचे से ऊपर तक लाल-लाल फूल खिले हुए हैं। उसकी प्रशंसा में भाँति-भाँति की उक्तियाँ दी गयी हैं, विविध-भाँति की सूक्तियाँ पढ़ी गयी हैं, किन्तु उसके फूलों को सूँघो तो वे निर्गन्ध हैं, देखने में भले से लगने वाले पुष्प गन्धहीन हैं। इसी प्रकार कर्मकांडी लोग कहते हैं। वेदों का अभिप्राय कर्मकाड में ही है, ज्ञान कांड कोई वस्तु ही नहीं। वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मकाण्ड ही है। स्वर्गीय सुखों के अतिरिक्त मोक्ष आदि कोई नहीं है, जो कुछ है स्वर्गीय सुख ही है ऐसा मानने वाले वेदुराही सकाम कर्मों की ही प्रशंसा करते रहते हैं। उनका मत इतना ही है, कि इस लोक में वेद विधि से नित्य नैमित्तिक यज्ञ, अग्निहोत्र, दार्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयज्ञ पशु यज्ञ आदि कर्मों को करते रहना चाहिये इनके फल स्वरूप अक्षय स्वर्गीय सुखों का उपभोग करना चाहिये। ऐसा कहने वाले लोग कामात्मा हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने ऐसे कामात्मा विषय सुख लोलुप लोगों की बड़ी भर्त्सना की है। इस विषय को मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

जन सकाम ऐश्वर्य भोगहित करम करावैं।
वेदवाद आसक्त जाहि सर्वस्व बतावैं॥
टेसू को ज्यों फूल दिखाऊ गंध न तामें।
बानी ऐसी कहैं, स्वरग ही सार जतावैं॥
ते अविवेकी हठ करैं, चढ़न स्वरग सीढ़ी चहत।
करि सकाम करमनि चढ़ैं, कछु दिन रहि पुनि-पुनि गिरत॥

भोगैश्वर्य प्रसक्त पुरुषों की बुद्धि विशुद्ध नहीं होती

[२२]

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥❀

(श्री भग० गी० २ अ० ४३, ४४ श्लो०)

छप्पय

कामात्मा जो पुरुष मोक्ष कबहूँ नहिं पावें ।
स्वरग-स्वरग ही स्वरग-स्वरग की रटन लगावें ॥
करमनि में आसक्त रहे निज बुद्धी तिनकी ।
नाना क्रिया कलाप कुशल है मति अति जिनकी ॥
भोग और ऐश्वर्य हित, अंट संट सब कुछ कहें ।
सुनें न काऊ की कबहूँ, करमकाण्ड लिपटे रहें ॥

गुण प्रवाह का ही नाम संसार है। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं, तीनों ही जीव को तीनों लोकों में घुमाते रहते

❀ जो सकामी होते हैं, वे स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानते हैं, और जो यज्ञादि क्रिया विशेष हैं, जो कि भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने

हैं। पृथिवी, स्वरग और नरक इन्हीं तीनों में प्राणी घूमता रहता है। सत्त्व की प्रधानता से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती, तमोगुण की प्रधानता से नरक आदि अन्धतम लोकों की प्राप्ति होती है और रजोगुण की प्रधानता से पृथिवी पर जन्म होता है। अतल, वितल, सुतलादि जो सात नीचे के लोक हैं वे भू-विवर कहलाते हैं। स्वर्ग भी तीन प्रकार के होते हैं। एक भौम स्वर्ग, दूसरा भूविवर स्वर्ग तीसरा दिवि स्वर्ग। भौम स्वर्ग तो भूमि में ही ऐसे लोक हैं जिनमें स्वर्ग के समान सुख होते हैं जैसे प्लक्षद्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप शाकद्वीप, और पुष्करद्वीप ये सब के सब भौम स्वर्ग हैं। एक जम्बूद्वीप ही कर्ममय द्वीप है। जम्बूद्वीप में भी नौ वर्ष हैं इन नौ वर्षों में भी केवल भारतवर्ष ही कर्म भूमि है, शेष आठ वर्ष दिव्य स्वर्ग से लौटे हुए पुण्यात्माओं के पुण्य भोगने भू स्वर्ग माने गये हैं। इसी प्रकार पृथिवी के नीचे जो भू विवर स्वर्ग है, उनमें भी स्वर्ग से अधिक सुखोपभोग हैं। दिवि स्वर्ग जो भूमि से ऊँचा है उसमें तो देवता ही रहते है। जिन लोगों का चित्त भोग और ऐश्वर्य में ही आसक्त रहता है, वह इन्हीं तीनों लोकों में आते जाते हैं। जो पापात्मा होते है, वे नरकों में दुःख भोगते हैं, कुछ पाप शेष रहने पर फिर भूमि पर जन्मते हैं, फिर नरकों में जाते है। जो पुण्य आत्मा हैं, वे पुण्य के प्रभावसे स्वर्गादि सुखों का उपभोग करके कुछ पुण्य शेष होने पर पृथिवी पर जन्म लेते हैं, भूमि

वाली हैं, उनके प्रति प्रशंसायुक्त वाणी कहते हैं ॥४३॥

उन वचनों से जिनका चित्त अपहृत हो गया है, ऐसे भोग और ऐश्वर्य में ही आसक्ति रखने वाले पुरुषों की स्व-स्वरूप में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ॥४४॥

के सुखों को भोगते हैं, फिर पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं। इस प्रकार ये कर्म जन्म कर्म और फलों के देने वाले कहे गये हैं। जिनका चित्त इन्हीं भोग और ऐश्वर्य में फँसा है वे इन्हीं को सर्वस्व समझते हैं। वे कहते है इन सुखों के अतिरिक्त मोक्षादि कुछ नही है, किन्तु जो मोक्षार्थी हैं, वे इन भोग और ऐश्वर्यों को क्षणभंगुर मानकर उनकी निंदा करते हैं। भोग उनको कहते हैं, जिनका आस्वादन इन्द्रियों के द्वारा किया जाय। जैसे खाने पीने, सूँघने, सुनने, देखने, तथा स्पर्शादि की सामग्री। ऐश्वर्य उसे कहते हैं, जिससे स्वामित्व, ठाठ बाठ प्रभाव प्रदर्शित हो, जैसे छत्र, चमर, आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र और भी महल भूमि ऐश्वर्य प्रदर्शित करने की सामग्री। ससारी लोगों का चित्त प्रायः दोनों ही वस्तुओं में फँसा हुआ होता है। खूब ठाठ बाठ से रहें तथा इन्द्रियों को सुख देने वाली सामग्रियों की बहुलता हो। मोक्षार्थी इन सब को विषवत देखता है। उनकी निंदा करता है। भगवत् गीता का प्रतिपाद्य विषय भगवत् प्राप्ति या मोक्ष है, इसलिये उसमें इन भोगेश्वर्य प्रसक्त पुरुषों को बहुत खरी-खोटी बातें सुनाई गई हैं।

भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! जो कामात्मा पुरुष हैं, वे स्वर्ग को ही सब कुछ मानते हैं, अर्थात् उनके समस्त वैदिक विधान स्वर्ग प्राप्ति के ही निमित्त हुआ करते है। हमें पहिनने को अम्लान दिव्य-दिव्य मालायें प्राप्त हों, लगाने को सुन्दर सुगन्धित दिव्य चन्दन मिले, क्रीड़ा करने को अत्यन्त सुन्दरी अप्सराओं का समूह मिले, पहिनने को दिव्य वस्त्राभूषण मिले। चढ़ने को समस्त स्वर्गीय सामग्री से सम्पन्न विमान मिले इस प्रकार के भोगों की इच्छा करते है। साथ ही वे ऐश्वर्यशाली भी बनना चाहते है, हमें देवताओं का आधिपत्य प्राप्त हो, रत्नजटित

सिंहासन हो, छत्र चँवर हों, दास दासियों का समूह हाथ जोड़े खड़ा हो। इनके समस्त कार्य इन्हीं की प्राप्ति के निमित्त होते है इन्हें पाने के लिये वे वेद की विधियों का पालन करते हैं। जैसे श्रुति है "ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामना वाले पुरुष को वायु के उद्देश्य से श्वेत पशु की बलि देनी चाहिये।" इन वेद वाद वाक्यों को ही वे परम सत्य समझते हैं। उनके लिये सब वेद वाक्य काम परक है। हम सोमपान करते हैं, चातुर्मास्य यज्ञ करने वालों को अक्षय पुण्य होता है, किन्तु यहाँ अक्षय शब्द केवल प्रशंसा-वाचक है। प्रशसावाचक न होता, तो फिर पुण्य क्षीण होने पर उन्हें मर्त्य लोक में क्यों आना पड़ता? वास्तव में ये सब कर्म जन्म, कर्म और फलों को देने वाले हैं। जिस कामना से सविधि वैदिक यज्ञयागादि कार्य करते हैं उनका फल तो उन्हें अवश्य ही मिलता है, किन्तु वह फल वास्तविक अक्षय सुख को देने वाला नही होता। फल की ही कामना से कर्म करने के कारण उनका चित्त आवरणयुक्त हो जाता है। उनकी बुद्धि विषयों की आशा से भ्रमित हो जाती है। उनकी आसक्ति भोगों में ही बनी रहती है। इन भोगो को भोगूं मुझे ये भोग पदार्थ मिल जायें और साथ ही इन सब भोग्य सामग्रियों का स्वामित्व भी मुझे मिल जाय। मेरा ठाठ-बाठ विपुल ऐश्वर्य भी बना रहे। ऐसे लोगों की व्यवसायात्मिका बुद्धि, योगमयी बुद्धि अर्थात् आत्म-तत्व को निश्चय करने वाली—सद्असद् विवेकनि बुद्धि उत्पन्न नही होती। वे लोग चाहें कि अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करके एकाग्रचित्त होकर समाधिमग्न हो जायं तो नहीं हो सकते।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! ये कर्मकांडी मीमांसक लोग स्वर्ग को ही अपना अन्तिम ध्येय क्यों मानते है?"

सूत जी ने कहा—"भगवन् ! जिनके अन्तःकरण की जहाँ तक पहुँच है, वहीं तक की बातें तो वे सोच सकेंगे। एक आदमी ने एक महात्मा से पूछा—"पहिले तो जो भी ऋषि तपस्या करता था, उसी के सामने स्वर्गीय अप्सरायें आ जाती थीं, आजकल अप्सरायें क्यों नहीं आती ?"

इस पर उन महात्मा ने कहा—"पहिले तो लोग इन सब संसारी भोगों का मन से परित्याग करके तपस्या करते थे। उन्हें इस लोक के भोग विषवत् लगते थे, इसलिये इस लोक के भोग तो उन्हें लुभा नहीं सकते थे, तब दिव्य लोक की अप्सरायें आया करती थीं। आजकल के लोगों के मन से तो इस लोक के भोगों की ही इच्छा नहीं गयी हैं। वे इसी लोक की तनिक सी सुन्दरी को देखकर फिसल जाते है। उनके लिये भला स्वर्ग की अप्सरायें क्यों आने लगी। जो गुड़ की डरी से ही मर जाय, उसके लिये तीक्ष्ण विष का प्रयोग व्यर्थ है। जो इस लोक के भोगों को तुच्छ समझकर वैदिक विधि से स्वर्गीय सुख के लिये अनुष्ठान करते है, उन्हे स्वर्ग के दिव्य सुख प्राप्त होते है। किन्तु ये सुख भी क्षयिष्णु हैं, जन्म-मृत्यु को देने वाले हैं। दुःखप्रद है। विवेकी पुरुष जब इनकी भी इच्छा का परित्याग करके व्यवसायात्मिका बुद्धि को समाधि में स्थिर कर लेगा उसे ही यथार्थ अमृतत्व (मोक्ष की) प्राप्ति हो सकेगी। इसलिये सच्चे जिज्ञासुओं को इन अर्थवाद वाली—देखने सुनने में लुभावनी लगने वाली वाणी के लोभ में न फंसना चाहिये। उनके फलों के लालच में पड़कर अपनी बुद्धि को भ्रान्त न बनाना चाहिये। कर्मों को करें, किन्तु फल की आसक्ति का परित्याग करके करे। तीनों गुणों सेऊपर उठ कर श्रद्धा भक्तिपूर्वक कर्तव्य बुद्धि से कर्म करने चाहिये। इसी का निरूपण भगवान् आगे करेंगे।

छप्पय

स्वरग माहिँ सुख भोग जगत ऐश्वर्य हु पावैं।
जनम मरन तिनि नहीं छुटे पुनि आवैं जावैं॥
पुष्पित बानी हरयो चित्त आसक्त अधम जे।
करम त्याग नहिँ करैं सुफल हित करम करैं ते॥
जे विवेकन तैं रहित हैं, बुद्धी जिनकी नहिँ विमल।
आत्मतत्त्व निश्चित करन, धी नहिँ भोगैं करम फल॥

तुम गुणातीत हो जाओ

[२३]

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥*

(श्री भा० गी० २ अ० ४५,४६ श्लो०)

छप्पय

सात्त्विक राजस और तामसिक तीनि गुननिको ।
प्रतिपादन नित करैं वेद साधन करमनिको ॥
करम रूप संसार द्वन्द गुन फल उपजावै ।
होवै कैसे मोक्ष करम फल ही नर पावै ॥
फल की आशा छोड़िकै, करै करम करतव्य तू ।
आत्मवान निर्द्वंद बनि, नित्य सत्त्व निश्चिन्त तू ॥

---

*हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्य विषय वाले हैं, तू इन तीनों गुणों से रहित निर्द्वंद, नित्य सत्त्व में स्थित, योगक्षेम की चिन्ता न करने वाला आत्म परायण हो जा ॥४५॥

जिसके चारो ओर जल ही जल भरा हुआ है, ऐसे पुरुष का जितना प्रयोजन छोटे जलाशय में रहता है, उतना ही प्रयोजन ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण का वेदों में रह जाता है ॥४६॥

उपनिषदो को छोड़कर जो कर्मकाण्ड को प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ हैं, साधारणतया उन्हें ही 'वेद' कहा गया है। और औपनिषद् ज्ञान को वेद का अन्तिम तत्व होने से वेदान्त कहा गया है। वेद में सौ में से ९० भाग कर्ममूलक ही हैं। इसलिये कर्म को ही सब कुछ मानने वाले मीमांसकों का कहना है, कि वेद का प्रतिपाद्य विषय कर्म ही है। कर्मकाण्ड में क्या है, तीनों लोकों की ही बात है, क्योंकि वेद सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की ही विधि निषेध का वर्णन करता है। जब तीनों गुणों की बात कही जायेंगी तो वे स्वाभाविक ही द्वन्द्व परक होंगी। क्योंकि सत्त्व से सुख होगा तो तम से दुःख। वैदिक कर्म करने वालों की कीर्ति होगी तो न करने वालों की अकीर्ति। जो विधि विधान से वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करेगा वह सुखी होगा, न करने वाला दुखी। इसी प्रकार सबको समझो। जो त्रिगुणों में स्थित रह कर कर्म करेगा उन्हें गुणों के अनुसार ही फल मिलेगा। जैसा कर्म करेगा उसे उसके अनुरूप फल की प्राप्ति होगी, फिर उन प्राप्त हुए फलों की रक्षा के लिये भी यज्ञ याग करना पड़ेगा कि यजमान के पुत्र पौत्र, पशु, धन, धान्य की-अमुक देवता रक्षा करें। कर्म करने वाला मन के अनुकूल काम करेगा। जिससे उसे मनोनुकूल पदार्थों की प्राप्ति हो। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि त्रैगुण्य कर्म हमें तीनों लोकों के भोग और ऐश्वर्य में ही फँसाये रखेंगे। अतः हमें तीनों गुणों से ऊपर उठकर वेदों से ऊपर उठकर वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार कार्य करना चाहिये। इस पर यह शंका होती है, कि तब तो आप वेदों का खंडन करते हो, उनके कहे अनुसार कर्म करने को मना करते हो। बात ऐसी नहीं। आप कहते हो भाई लड्डू खाओ तो यहाँ सीमा है केवल लड्डुओं में ही। हम कहते हैं मधुर रस का आस्वादन करो। इसमें समस्त मीठे

पदार्थ आ गये उनमें लड्डुओं का अन्तर्भाव होगा। तुम सीमा बाँधते हो वेदान्तनिष्ठ पुरुष निस्सीम होने को कहते है। लड्डू का रसास्वादन करने वाले का मुख तो मीठा होगा उसे मधुरता का आनन्द मिलेगा, किन्तु वह रसगुल्ला के स्वाद से वंचित रहेगा। किन्तु समस्त मधुर रस का आस्वादक लड्डू के साथ उससे भी उत्तम निस्सीम 'रसो वै सः' का भी महान् आनन्द लूटेगा, इसलिये तीनों गुणों की संकुचित सीमा में ही फँसे मत रहो। गुणातीत रस को चखो इसी की शिक्षा भगवान् अर्जुन को देते हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाले वेद त्रिगुणात्मक हैं। अर्थात् इर फिर कर संसार को ही देने वाले हैं। कर्म की प्रशंसा करती हुई श्रुति कहती है—"समस्त कामनाओं की प्राप्ति दर्शपूर्णमास यज्ञ से होते हैं अर्थात् अमावस्या और पौर्णमासी के दिन की हुई इष्टि के द्वारा समस्त कामनायें पूर्ण होती हैं, किन्तु रोचक वाक्य है। दर्शपूर्णमास यज्ञ कराने करने वाले छोटी-छोटी कामनाओं के लिये व्यग्र रहते हैं। इन गुणों को लक्ष्य करके जो-जो कर्म किये जायँगे उनमें क्लेश, चिन्ता, वासना बनी ही रहेंगी इसलिये तुम इन तीनों गुणों से अतीत निस्त्रैगुण्य हो जाओ। जब तुम तीनों गुणो से ऊँचे उठ जाओगे तो गुणकृत दोष तुम्हें बाधा ही नहीं पहुँचायेंगे। साधारणतया फल के उद्देश्य से जो कर्म किये जाते हैं उनसे सुख हो सुख मिले सो भी बात नहीं विधि का विपर्यय होने से, सामग्री अशुद्ध होने से, मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण होने से सुख के स्थान में दुःख भी मिल सकता है। लाभ भी हो सकता है हानि भी हो सकती है। यश भी मिल सकता है अपयश भी मिल सकता है। मान भी हो सकता है अपमान भी हो सकता है। दक्ष तो वैदिक विधि से बृहस्पतिशव यज्ञ ही कर रहा था। उसे दुःख ही मिला, अपमान

ही हुआ। इस प्रकार त्रिगुणों का किया हुआ कार्य तो सद्वन्द्व होगा ही। इसलिये तुम द्वन्द्वों से ऊँचे उठकर कार्य करो। द्वन्द्वों की परवाह ही न करो। कर्तव्य समझ कर मेरी प्रसन्नता के निमित्त कर्तव्य कर्मों को निर्द्वंद्व बन कर करो।

सत् स्वरूप मै भगवान् ही हूँ। इसीलिये मैं त्रिगुण वाले सत्त्वगुण में नही रहता मेरा एक 'नित्य सत्त्व' इस त्रिगुण वाले सत्त्व से पृथक है। इसलिये उसे मुझे 'नित्य सत्त्व' कहते हैं तुम उसी में स्थित होकर अर्थात् मत्परायण होकर कर्म करो।

जो लोग तीनों गुणों के अधीन होकर कार्य करते हैं उन्हें अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की चिंता करनी पड़ती है। पुत्र नहीं है तो पुत्रोष्टि यज्ञ करके पुत्र की प्राप्ति करो। जो प्राप्त वस्तु है उसकी रक्षा की भी चिंता करनी पड़ती है। उसे क्षेम कहते हैं इसलिये यज्ञकर्ता के लिये यजमान अग्नि से प्रार्थना करता है कि यजमान के धन धान्य, पशु तथा परिवार की रक्षा करो। त्रिगुणों में रहकर कर्म करने वाले को योग और क्षेम की चिंता करनी पडती है। तुम मत्परायण होकर मेरा ही अनन्य भाव से चिंतन करो। योगक्षेम की चिंता तुम स्वयं मत करो। तुम्हारे योगक्षेम का वहन तो मै स्वयं करूँगा। जो त्रिगुणों में रहकर कार्य करता है उसे चित्त के अधीन होकर काम करना पडता है। वह चाहता है सुख सामग्री मेरे मनोनुकूल हों, किन्तु तुम मन बुद्धि से ऊपर जो आत्मा है उसमें स्थित होकर आत्मनिष्ठ आत्मवान् बन जाओ।

देखो, भैया! एक साधक है, यमुना जी के खादर में रहकर तपस्या करता है जहाँ उसकी कुटी है, उससे थोड़ी दूर पर एक छोटा सा तालाब है, उस तालाब से वह साधक पानी लाता है, उसी में जाकर स्नान करता है, कपड़े धोता है। सब

काम उसी में जाकर करता है। श्रावण भादों में यमुना जी के बढ़ आने पर उसकी कुटिया के चारों ओर यमुना जी का जल ही जल भर गया। अब उसे उस छोटे तालाब में जाकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं करनी पड़ेगी। अब तो उसके चारों ओर जल ही जल भरा है, जिधर से चाहे बिना पात्र के ही जल पी ले। जिधर चाहे उतर कर स्नान कर ले। जिधर चाहे बैठकर कपड़े धो ले। अब तो वह जल के बीच में बैठा है, जिस सरोवर से वह जल लाता था, वह भी जल मग्न है। इसी प्रकार वे दोक्त कर्मकांड के अनुसार कर्म करने पर उन कर्मों द्वारा जो फल मिलता है, उससे कहीं सौ गुना सहस्र गुणा लक्ष्य गुणा अनन्त गुणा फल ब्रह्मतत्व का साक्षात् कार करने वाले जिज्ञासु को स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। जैसे बाढ़ आ जाने पर छोटी तलैया डूबकर पूरी विशाल जल राशि में विलीन हो जाती है उसी प्रकार ये क्षुद्र स्वर्गीय सुख ब्रह्मानंद रूपी अमृत सागर में मिलकर विलीन हो जाते हैं, इसलिये सकाम कर्मों के प्रति आशक्ति को छोड़कर निष्काम कर्मों की ओर ध्यान दो। फल की आशा ही दुःख का हेतु है। इसलिये फलाशा को छोड़कर कर्म करो।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! भगवान् कर्म का निषेध नहीं कहते, किन्तु कृपणता का परित्याग करने को कहते है। फल की आशा से कर्म करने वाले को ही कृपण कहा गया है। उदार वे लोग हैं जो फल की इच्छा न रखते हुए प्रभु प्रीत्यर्थ कार्य करते हैं। इसी का उपदेश भगवान् आगे देंगे।

छप्पय

चहुँ दिशि पानी भरयो बाढ़ सब दिशितैं आई।
भूमि न दीखै कहुँ नीर ही नीर दिखाई॥
क्षुद्र जलाशय माहिं फेरि ज्ञानी क्यों जावै।
परिपूरन जल भरयो तहाँ ही प्यास बुझावै॥
विज्ञवेदविद् तत्त्व लखि, ज्ञानी जब बनि जायगो।
करमकांडयुत वेद में, फल हित नहिं भरमायगो॥

बिना फल चाहे अनासक्त होकर कर्म करो

[२४]

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० ४७, ४८ श्लो०)

छप्पय

करमनि खण्डन नाहिँ करौ तुम करमनि डटिकें।
करमकाण्ड है व्यरथ समुझि जाओ नहिँ हटिकें॥
किन्तु करम अधिकार न तिनिके फलकूँ चाओ।
करो करम निष्काम नहीं फल हित ललचाओ॥
चनूँ करम फल हेतु नहिँ, करतब मेरो यही कहि।
नहीं करौगो करम कछु, ऐसी हू आसक्ति नहि॥

जीवत्व कर्मों के ही कारण है, कर्म न हों तो वह जीव नहीं शिव है। पूर्णत्व की उपलब्धि तक कर्म करते रहना चाहिये।

---

* हे अर्जुन! तू अपना अधिकार कर्म करने में ही समझ, उसके फल में तेरा कभी भी अधिकार नहीं है। तू कर्मों को फल के हेतु से

कर्म काण्डी कहते हैं। कर्म किसी उद्देश्य को लेकर किसी फल की आशा से किया जाता है। इस कर्म से मेरा यह प्रयोजन सिद्ध हो जाय, प्रयोजन के बिना तो मंद बुद्धि भी कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता। अतः भोग ऐश्वर्य के निमित्त ही कर्म करना चाहिये। योग क्षेम सुचारु रीति से चले इस लोक में हमें पूर्ण सुख मिलें, परलोक में दिव्य सुख मिले यही कर्म करने का प्रयोजन है। कर्म ही सब कुछ है उसमें ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं। ज्ञान मार्गी कहते है ब्रह्म एक है, उसमें कोई दूसरा है ही नहीं। वह ब्रह्म सत्य ज्ञान आनंदघन है। वह ब्रह्म "अहं" पदवाच्य से पृथक नही। अहं कह लो या ब्रह्म कह लो एक ही बात है। ज्ञानी को स्व-स्वरूप का सतत अनुसंधान करते रहना चाहिये। ब्रह्मज्ञानी ही उस एक अद्वय तत्व का अखण्डाकार वृत्ति से अनुभव कर सकता है। कर्ममात्र बन्धन के कारण हैं इसलिए ब्रह्मवेत्ता को इहलौकिक पारलौकिक समस्त कर्मों का परित्याग करके संन्यास धर्म का पालन करना चाहिये। सन्यास धर्म का पालन करना भी विधि है उसे विधि निषेध दोनों से पृथक होकर निष्क्रिय निरंजन निर्लेप नित्य सत्वस्थ कूटस्थ बन जाना चाहिये। जब इसमें अहं पदवाच्य ही ब्रह्म है तो ईश्वर की पृथक कोई आवश्यकता नही। कर्म मार्ग भी स्वतंत्र और ज्ञान मार्ग भी अपने में स्वतंत्र। भगवान् एक मध्य मार्ग बताते है, उसे वैदिक परिभाषा में उपासना कहते है, पौराणिक परिभाषा में भक्ति कहते हैं और

मत कर और न कर्मों में आसक्ति वाला ही बन ॥४७॥

हे धनञ्जय! तू योगस्थ होकर आसक्ति को त्यागकर सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखकर कर्मों को कर क्योंकि समत्व बुद्धि को ही योग कहते हैं ॥४८॥

श्रीमद्भगवत् गीता की परिभाषा में निष्काम कर्म योग कहते हैं। उपासना कहो, भक्ति कहो, निष्काम कर्म योग, बुद्धियोग या केवल योग ही कहो सबका एक ही अर्थ है। भगवान् उसकी चतुः सूत्री अर्जुन को बताते हैं।

भगवान् ने कहा—देख अर्जुन! तू नर है समस्त जीवमात्र का प्रतिनिधित्व करता है। मै नारायण हूँ, ईश्वर हूँ, ब्रह्म हूँ, परमात्मा हूँ तेरा सच्चा सुहृद् सखा आत्मीय हूँ, इसलिये मै तुम्हें एक चार सूत्रों वाला सिद्धान्त बताता हूँ। (१) पहिला तो यह कि जीव मात्र का अधिकार कर्म करने में है। जीव बिना कर्म किये एक क्षण रह ही नहीं सकता। यह शरीर ही कर्म भोग के निमित्त-प्रारब्ध कर्मों के भोगने के निमित्त मिला है। जब कर्मों द्वारा ही शरीर प्राप्त हुआ है, प्रारब्धानुसार ही कर्मों में प्रवृत्त होता है तो उन्हें छोड़ना भी चाहे तो कैसे छोड़ सकता है। कर्म करना उसका स्वत्व है, जन्म सिद्ध अधिकार है। परन्तु (२) दूसरी बात को और स्मरण रखो। जैसा तुम्हारा अधिकार या स्वत्व कर्म करने में है, वैसा अधिकार कभी भी उसकी फल प्राप्ति में नहीं है।

शौनक जी ने कहा—सूत जी! यह तो एकदम उलटी बात हो गयी। हम जिस उद्देश्य को लेकर कर्म करते हैं उसका फल हमें मिलेगा ही आम का पेड़ हम लगावेंगे, उसके फलों के अधिकारी भी हम होंगे ही। अंगूर की बेल लगावेंगे तो उसके फल हम खावेंगे ही। मनुष्य जो भी कर्म करता है फल की आशा रखकर कर्म करता है, किसान खेत बोता है, तो इसी आशा से बोता है मुझे अन्न रूपी फल मिले। मनुष्य विवाह करता है तो इसी आशा से कि मेरे पुत्र हो, मेरी वंश परम्परा अक्षुण्य बनी रहे। फल की आशा के बिना तो कोई काम आरंभ किया

ही नहीं जा सकता। कर्म के फल की आशा में तो जीव का अधिकार होना चाहिये इसीलिये सभी कर्म फल के संकल्प से किये जाते हैं।

सूत जी ने कहा—भगवन्! जैसे कर्म करने में हमारा अधिकार है वैसे फल प्राप्ति में हम स्वतंत्र नहीं। राजा नृग ने तो दान स्वर्ग की कामना से किया था, उसे योनि मिली गिर गिट की। श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी के सहित युवराज होने की पूर्वरात्रि में युवराज होने के लिये उपवास किया था, किन्तु उन्हें हुआ बनवास। तो जो कर्म हम कर रहे हैं उसका फल तो अदृष्ट के अधीन है। उसमें हमारा अधिकार नहीं। फल मिले न मिले अनुकूल फल मिले, प्रतिकूल मिले यह तो दवाधीन है। इसी लिये भगवान् ने दूसरा सूत्र कहा—"कर्म के फलों में तुम्हारा अधिकार कभी नहीं है।"

शौनक जी ने पूछा—"(१) कर्म करने मे जीव का अधिकार है। (२) कर्म के फलों में अधिकार नहीं। ये दो सूत्र हो गये। अब तीसरा बताइये।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! तीसरे में इन दोनों का निचोड़ बताते हुए भगवान् कहते हैं—(३) "इसलिये तुम वैदिक कर्मकांडियों की भाँति-मीमासकों की भाँति-कर्मों के फल का हेतु मत बनो। अर्थात् मेरे इस कर्म से मुझे यह फल मिले इस संकल्प से कर्म मत करो।"

शौनक जी ने कहा—सूत जी! यह भी सर्वथा विपरीत बात है। जब तक भीतर से कोई संकल्प न होगा, तब तक कोई कार्य होगा ही नही। बिना संकल्प के तो श्वास प्रश्वास भी नहीं ले सकता बिना सकल्प के तो पलक भी नही मार सकता। चाहे

कितना भी सूक्ष्म सहज संकल्प क्यों न हो। कर्म तो संकल्प ही द्वारा होते हैं।

सूत जी ने कहा—"कर्म करना ही चाहिये, कर्म करना मेरा कर्तव्य है इसी संकल्प से करे।"

शौनक जी बोले—"कर्तव्य में भी तो कुछ न कुछ हेतु होना चाहिये। इस लोक के सुख का हेतु परलोक के सुख का हेतु कुछ तो होना ही चाहिये।"

सूत जी बोले—चाहे इस लोक का हो या स्वर्गीय सुख का हो लौकिक हेतु बन्धन कारक है यदि आप हेतु के बिना नहीं ही मानते तो हम कहते हैं, प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करना चाहिये। जो सहज कर्तव्य कर्म सम्मुख आ जाय तो यही संकल्प करे। इस कर्म के द्वारा सर्वात्मा श्री हरि प्रसन्न हों। संसारी फलों के हेतु मत बनो। क्योंकि चाहे यहाँ का सुख हो, या स्वर्ग का ये सब क्षयिष्णु तथा अंतवन्त है। अतः इनके उद्देश्य से कर्म न कर।

शौनक जी ने पूछा—"चौथा सूत्र कौन सा है।"

सूत जी ने कहा—चौथा अंतिम सूत्र बताते हुए भगवान् अर्जुन को सावधान करते हुए कहते हैं—"देखो, अर्जुन सावधान, (४) कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये।" अर्थात् तुम सोचो—"कर्म कैसा भी किया जाय, उससे क्लेश ही होता है। कर्म अज्ञान जन्य है, जब कुछ कर्म फल में अधिकार ही नहीं तो हम कर्म करें ही क्यों? तो यह भी उचित नहीं। जैसे कर्मासक्त पुरुष कर्मों में आसक्त होकर कर्मों को करते हैं वैसे ही कर्म न करने की भी तो एक आसक्ति ही है और आसक्ति

ही बंधन का मूल कारण है। इसलिये कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति न होनी चाहिये।

इन चारो सूत्रों का तात्पर्य यही हुआ कि कर्म करने की कर्म न करने की, फल प्राप्ति की, फल न प्राप्ति की सभी आसक्तियो का परित्याग करके कर्तव्य बुद्धिसे प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करते रहना चाहिये। कर्मों को योगस्थ होकर करें। योगस्थ माने ज्ञान कर्म दोनों को मिलाकर करे। कर्मकांडियों की तो इस बात को मान ले कर्म करना चाहिये और ज्ञान कांडियों की इस बात को मान ले कि फल की आशा को न करनी चाहिये। सर्वथा कर्मों में आसक्त भी न हो और सर्वथा कर्मत्याग में आग्रह न करे। आसक्ति का परित्याग करके कर्म करे। इसमें एक बड़ा लाभ है। हमने अमुक कामना के संकल्प से कर्म किया यदि वह सिद्ध हो गया। वे भोग प्राप्त हो गये तो हमें हर्ष होगा, न प्राप्त हुए तो विषाद होगा। जहाँ हर्ष विषाद है वहाँ सच्चा सुख नही। इसलिये, सिद्धि असिद्धि की ओर ध्यान ही न दे उसमें समभाव रखे। सिद्धि हो जाय तो श्रेष्ठ न हो जाय तो उससे भी श्रेष्ठ। यह भावना रखे कि मंगलमय भगवान् जो भी करेंगे सब मेरे मंगल के लिये, कल्याण के लिये भले के लिये करेंगे। शिव का कोई कर्म अशिव नहीं हो सकता। सब कर्म शिवमय है मगलमय है आनंदमय है इसी समत्व बुद्धि को योग कहते हैं। उपासना कहो भक्ति कहो, निष्काम कर्म योग कहो, फलाशा परित्याग बर्ताव कहो नाम चाहे जो रख लो। क्योंकि नाम रूप दोनों मिथ्या है। एक भगवान् का नाम और भगवान् का रूप ये ही सत्य हैं। इसलिये योगस्थ होकर ज्ञानकर्म के समुच्य पूर्वक कर्म करना चाहिये।

सूत जी कहते हैं—मुनियो आगे भगवान् फिर इसी बात को और स्पष्ट रूप से खोलकर समझावेंगे।

छप्पय

योगयुक्त बनि करम करे जो पहु ! अब तू !
जानि करम करतव्य त्यागि करमनि के फल तू ॥
सिद्धि असिद्धि समान समुझि आसक्ति न लावै ।
तो फिरि करिकें करम तऊ समबुद्धि कहावै ॥
फल हित करिबो करम तो, उभय लोक को भोग है ।
सुख दुख सिद्धि असिद्धि में, सम रहनो ही योग है ।

कर्मों को कुशलता पूर्वक करना ही योग है

[२५]

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युजस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥❀

(श्री भग० गी० २अ० ४९, ५० श्लोक)

छप्पय

कहाँ करम निष्काम कहाँ फल इच्छा धरिकें।
बुद्धियोग सम कह्यौ बिषम विषयनि में फसिकें॥
है सकाम अति तुच्छ अन्त में सब दुखदाई।
बुद्धियोग की शरन जाउ संशय मिटि जाई॥
क्षुद्र करम फल भोग हैं, नाशवान ऐश्वर्य धन।
फलहित जे करमनि करें, तेई जग में अति कृपन॥

❀ हे धनञ्जय ! बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यन्त छोटा है। इसलिए तू समत्व बुद्धि का ही आश्रय ग्रहण कर क्योंकि फल की इच्छा से काम करने वालो का ही नाम कृपण है ॥४९॥

जो पुरुष समत्व बुद्धि से युक्त है, वह इसी लोक मे सुकृत (दुष्कृत पुण्य) पाप दोनों का त्याग कर देता है। इसलिये तुम योगस्थ होने के लिये उद्योग करो, कर्मों में कुशलता प्राप्त करने का ही नाम योग है॥५०॥

संसार में न कोई बुरा है न भला। भावना से ही उसमें बुरे भले की कल्पना की जाती है। एक वस्तु है नीचे से देखो तो उसका कुछ और ही रूप दीखेगा। उसे उसके समान अन्य वस्तुओं से पृथक् करके देखेंगे। आप जितने ही ऊँचे चढ़ कर देखेंगे उतना ही भेद भाव विलीन होता जायेगा। उसका रूप भी भिन्न दिखाई देने लगेगा। इसलिये दृष्टि को उदार करके देखो। संकुचित दृष्टि से मत देखो। ऊँची दृष्टि करके देखो, नीचे स्तर पर उतर कर मत देखो। पर की ओर दृष्टि लगाकर देखो ऊपर की ओर दृष्टि मत रखो। छोटे 'स्व' का नाम ही स्वार्थ है। 'स्व' ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा वह परमार्थ होता जायगा। केवल मेरा शरीर सुखी रहे। यह संकुचित स्वार्थ है, मेरा परिवार सुखी रहे। यह उससे विस्तृत है, मेरा ग्राम जन पद सुखी रहे यह उससे भी विस्तृत है। मेरा प्रान्त, मेरा देश मेरा महाद्वीप, मेरा विश्व ब्रह्माण्ड सुखी रहे। यही क्रम-क्रम से परमात्म का विस्तृत महान् विस्तृत स्वरूप है। इसीलिये परम परमार्थमयी हम प्रार्थना करते हैं—"सभी सुखी रहे सभी निरामय (रोगरहित) हों सभी कल्याण मार्ग को देखने वाले हों। संसार में कोई भी दुखी न हो। कृपा सीमित पुरुषों पर (अपने सगे सम्बन्धियों) पर की जाती है। ज्यों-ज्यों कृपा का क्षेत्र बढ़ता जाता है, वही कृपा दया के रूप में परिणित होती जाती है अपनी सीमा को बढ़ाते-बढ़ाते निस्सीम हो जाती है। कृपा सदा फल को आगे रखकर की जाती है। दया सहजभाव से निष्काम बुद्धि से कर्तव्य समझ कर की जाती है। जो प्रत्येक कार्य को फल की ही दृष्टि से करते है। लाभ को ही आगे रख कर प्रवृत्त होते है वे ही कृपण कहाते हैं। इसलिये उदार होना चाहिये। कृपणता का परित्याग करना चाहिये। वस्तु तो एक ही है केवल भाव को ही बदलना पड़ता है।

सूत कहते हैं—"मुनियो! सकाम कर्म और निष्काम कर्म देखने में एक से ही होते हैं, क्रिया भी एक सी ही करनी पड़ती है, किन्तु कर्म एकसे से होने पर भी भावना के कारण उनमें गुरुत्व और लघुत्व की कल्पना करनी पडती है। भगवान् श्रीकृष्ण रूप से दुर्योधन की राज सभा में गये और वामन रूप से बलि की यज्ञशाला में गये। भगवान् एक ही है। दोनों राजा थे दोनों ही स्थानों में याचना करने ही गये। किन्तु भावना में अन्तर था। दुर्योधन के यहाँ वे परमार्थ दृष्टि से गये, समझा बुझाकर कुछ माँगने के लिये गये। वह याचना भी अपने स्वार्थ के निमित्त नहीं, पांडवों के निमित्त परमार्थ के निमित्त थी। वे युद्ध बन्द कराकर भूमडल के राजाओं का विनाश न हो इस उद्देश्य से गये। उनके जाने का एकमात्र उद्देश्य प्राणिमात्र का उपकार था। इसीलिये कितने ठाठ बाठ से कितने निर्भय होकर गये। दुर्योधन ने भी उनके आगमन पर कैसी उदारता दिखायी। मार्ग के उनके स्वागत सत्कार का, ठहरने भोजन का कितना राजसी प्रबन्ध उसने कराया। उसने कहा—श्रीकृष्ण के आने पर मै उन्हें इतने हाथी दूंगा इतने घोड़े, इतने दास दासी दूंगा। उनके साथी जो वस्तु खाने पीने आदि की माँगेगे उनसे कई गुनी मै दिया करूंगा। उसने उनके स्वागत में पूरी उदारता बरती। श्री कृष्ण किसी निजीस्वार्थ से, लालच से या निजी फल की इच्छा से तो गये नहीं थे। भय तो स्वार्थ में होता है, निस्वार्थी तो सदा निर्भय होता है, सिंह के समान गर्जता रहता है। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के स्वागत सत्कार की कुछ भी परवाह न की। वे उन सब पदार्थों पर लात मार कर विदुर के घर चले गये। दुर्योधन के यह पूछने पर कि महाराज! आपने मेरे घर भोजन क्यों नही किया? तो आपने बिना लगाव लपेट के निर्भय होकर कह दिया—

"राजन् ! भोजन दो कारणों से किया जाता है, या तो कराने वाले का प्रेम हो, या अपने ऊपर कोई विपत्ति हो। सो राजन ! तुम्हारा मुझसे प्रेम तो है नहीं, न मेरे ऊपर कोई विपत्ति ही है, इसलिये शत्रु का अन्न नहीं खाना चाहिये।"

दुर्योधन ने कहा—"मेरी आपकी शत्रुता कैसी आपतो मेरे सम्बन्धी हैं। मेरी सगी लड़की आपके सगे लड़के से विवाही है।"

भगवान् ने कहा—विवाहने से क्या होता है रुक्मी ने तो अपनी बहिन, अपनी लडकी, अपनी पोती तीन-तीन लड़कियाँ हमारे घर में विवाही थी, फिर भी वह हमसे सदा शत्रुता ही मानता रहा। पांडव मेरे मित्र हैं। मित्र का शत्रु अपना भी शत्रु होता है। अतः तुम मेरे शत्रु हो।" बताइये इतनी निर्भीकता से, उन्हीं के नगर में उन्हीं के राज्य में कोई स्वार्थ से याचना के लिये गया हुआ व्यक्ति कह सकता है। भगवान् ने अपना विराट रूप भी दिखाया। इतनी निर्भीकता निष्काम भाव से परमार्थ भावना के कारण जाने के कारण थी।

उसी प्रकार वामन भगवान् भी याचना करने गये। किन्तु वे गये स्वार्थ भावना से, अपने लिये भूमि माँगने के निमित्त। इसलिये बहुत छोटे बौना बनकर गये। क्योंकि परमार्थ की अपेक्षा स्वार्थ बहुत निम्न स्तर का है। स्वार्थीयाचक से सभी भयभीत होते हैं, अतः वामन भगवान् जब स्वार्थ साधने चले तो बेचारी पृथिवी भी डगमगाने लगी। उनके पैर-पैर पर नत हो जाती थी, कि इस स्वार्थी के बोझ को मैं सहन नहीं कर सकती। जो फल की इच्छा से कर्म करने जाता है, उसका हृदय संकुचित हो जाता है वह गर्जकर बोल नहीं सकता। दीनता से रिरिया कर बोलेगा। उसे झूठी प्रशंसा करनी पड़ती है। दूसरों को बढ़ा-चढ़ा कर स्तुति करनी पड़ती है। वामन भगवान् ने राजा बलि

की बड़ी भारी दीनता के साथ स्तुति की उसके पिता, पितामह, प्रपितामह की झूठी स्तुति की। विष्णु को उनके सामने भगोड़ा और स्वल्पवीर्य सिद्ध किया। राजा के पुरोहित की झूठी स्तुति की। फिर जब राजा ने उनकी याचना के अनुसार भूमि दे दी तब इनकी तृष्णा और बढ़ी। लाभ से लोभ बढ़ा ही करता है, इन्होंने अन्याय से, अधर्म से धोखाधड़ी करके उसका सर्वस्व छीन लिया। क्योंकि लोभी की कभी तृप्ति होती ही नहीं उसे चाहे जितना दे दो। वह अपने अंगों को बढ़ाता ही जाता है बढ़ाता ही जाता है। इस प्रकार भगवान् ने दो स्थानों में विराट् रूप दिखाकर यह सिद्ध कर दिया कि सकाम में और निष्काम में, आसक्ति में और अनासक्ति में, स्वार्थ में और परमार्थ में बहुत अन्तर है परमार्थी निस्वार्थी उदार और निर्भय रहता है। सकामी स्वार्थी-आसक्ति वाला भयभीत और कृपण होता है। वह स्वार्थवश निर्भय होकर बातें नहीं कर सकता। इसी बात को बताने के लिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! देखो, जिनके पास द्रव्य अधिक होता है, वे द्रव्य के धनी कहलाते हैं। जिनके पास विद्या अधिक होती है वे विद्या के धनी कहाते हैं, जिनके पास तप अधिक होता है वे तपोधन कहाते है। तुम्हारा धन विजय ही है। तुम जहाँ भी जाते हो, जिससे भी युद्ध करते हो विजय श्री तुम्हारा ही वरण करती है। विजय ही तुम्हारा धन है। इसीलिये तुम संसार में धनञ्जय के नाम से विख्यात हो। फिर भी तुम कृपणता कायरता क्षुद्रता करते हो। देखो, यह सकाम कर्म बुद्धियोग अर्थात् निष्काम कर्म की अपेक्षा बहुत ही निम्न कोटि का है। तुम जैसे विजय के धनी इस निम्न कोटि के कर्म को मत अपनाओ। तुम बुद्धि

की शरण में जाओ। कैसी बुद्धि, जो भगवान् में लगी हो, परमात्मतत्त्व को ही सर्वश्रेष्ठ समझती हो, उसी बुद्धि को अपनाओ। क्योंकि फल की कामना रखने वाले पुरुष तो कृपण होते हैं, दीन होते हैं। स्वार्थी होते हैं और क्षुद्राशय वाले होते हैं। देखो, जो परमात्म बुद्धियुक्त पुरुष हैं; उसकी दृष्टि द्वैत भाव से रहित हो जाती है। ऐसा बुद्धियुक्त पुरुष सुकृत और दुष्कृत (पुण्य और पाप) दोनों को ही त्याग देता है। वह समत्व बुद्धि का आश्रय ले लेता है। इसलिये तुम जो भी कुछ प्रयत्न करो वह बुद्धियोग के लिये ही करो। कर्मों को कुशलता पूर्वक ही करने का नाम योग है। उन्हीं कर्मों को जो बेमन से अनिच्छा से अकुशलता से करता है वह अयोगी है। इसलिये तुम तो धनञ्जय हो, अयोगी न बनके तुम योगी बन जाओ।"

सूत जी कहते हैं—मुनियो! आगे इसी बात को भगवान् फिर अर्जुन से कहेंगे उसे आप दत्त चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

बुद्धियोगयुत पुरुष नहीं बन्धन में आवै।
पाप पुण्य कूँ त्यागि फेरि तन तजिकें जावै॥
पाप पुण्य फल भोग हेतु तनकूँ पुनि धारै।
लहै पुरुष समभाव असत सतबुद्धि विचारै॥
तातैं लगि जा योग में, योगयुक्त जे जन रहैं।
करमबन्ध सबरे नसें, योग करम कौशल कहैं॥

परम पुरुषार्थ समत्व बुद्धि से ही प्राप्त होता है

[२६]

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० ५१, ५२ श्लो०)

छप्पय

समबुद्धी में रहैं करम फल त्यागी ज्ञानी ।
बुद्धि विषम बनि जाय करमफल फँसि अभिमानी ॥
नाना करमनि फँस्यो शान्ति वह कैसे पावै ।
फलहित इत उत भ्रमत करम कारिडनि ढिँग जावै ॥
ज्ञानी जन समबुद्धि करि, त्यागि करम फल जात हैं ।
निरबिकार पद परम, लहि, दोष रहित बनि जात हैं ॥

धर्म, अर्थ और काम सुख इन तीनों को पुरुषार्थ कहते हैं

---

* क्योंकि कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को समत्व बुद्धि वाले ज्ञानी पुरुष त्यागकर जन्म बन्धन से विनिर्मुक्त होकर निर्विकार अमृतमय पद को प्राप्त होते हैं ॥५१॥

पुरुष का यही अर्थ-प्रयोजन-है कि इस लोक में सुख सम्पत्ति के लिये परलोक में भोग ऐश्वर्य के लिये धर्म सम्बन्धी कर्म करे। अर्थ से धर्म और काम की प्राप्ति होती है। ये सभी कर्मजन्य हैं। कर्म करोगे तो उससे तुममें कर्म करने की पात्रता प्राप्त होगी। जिससे अर्थ की प्राप्ति होगी और अर्थ से धर्म और कामोपभोग कर सकोगे। धार्मिक वेदोक्त कर्मों से परलोक में भोग ऐश्वर्य प्राप्त होगा। इसलिये कर्मों के अनुष्ठान से इस लोक के सुख और परलोक के दिव्यभोग तो मिल ही जावेंगे किन्तु ये भोग नाशवान क्षयिष्णु और परिणाम में क्लेशकर ही होते है। अतः तीन पुरुषार्थ से बढ़कर एक चौथा परम पुरुषार्थ है मोक्ष। मोक्ष की प्राप्ति करने वाले को क्या कर्म न करना चाहिये। इस पर कहते हैं। कर्म तो करो किन्तु समबुद्धि से करो। फल की आशा मत रखो। प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करते जाओ, उसका जो भी परिणाम हो, उसमें अपनी बुद्धि को समभाव में रखो। दुःख तो तभी होता है, हम जो चाहते है, जितना चाहते है, जैसा चाहते हों, वह उतना वैसा न मिले। जब हम फल चाहेंगे ही नहीं फल को ईश्वरार्पण कर देंगे, तो फिर चाहे अनुकूल हो प्रतिकूल हो, पक्ष में हो विपक्ष में हो, सुखप्रद हो दुखप्रद हो, हानिकारक हो लाभदायक हो। सभी में बुद्धि सम रहेगी। भगवान् जो भी करेंगे हमारे हित के लिये, कल्याण के लिये करेंगे। इसी का नाम समबुद्धि है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् एक ही बात पर बार-बार बल देते हुए फिर उसी बात को दुहरा रहे है, कि तुम सभी

जिस समय में तेरी बुद्धि मोहरूप कीच के दल-दल को भली भाँति तर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने योग्य समस्त विषयों के प्रति वैराग्य को प्राप्त हो जायगा ॥५२॥

घटनाओं में सन्तुष्ट रहो, सभी में उसी मंगलमय का हाथ देखो। पुराने लोग इस विषय में एक दृष्टान्त दिया करते हैं, वह इस प्रकार है।

एक बड़े प्रजावत्सल राजा थे। उनके एक बड़े धर्मात्मा भगवत् भक्त, सम बुद्धि वाले प्रधान मन्त्री थे। उनका भगवान् पर पूर्ण विश्वास था, वे सभी घटनाओं में समभाव रखते सभी को मंगल मय प्रभु का विधान समझ कर कहते—"बड़ा मंगल हुआ।" पुत्र का पुत्री का विवाह हो, तो भी वे कहें—"बड़ा मंगल हुआ।" और कभी किसी का प्राप्तवयस्क युवा पुत्र भी मर जाय, तो भी वे कहते है—"बड़ा मंगल हुआ।" ऐसे अवसरों पर "बड़ा मंगल हुआ।" उनकी यह बात लोगों को खटक जाती थी, किन्तु राज्य के प्रधान मन्त्री थे कोई उनसे कुछ कहता नहीं था, उनका यह आदर्श वाक्य था, "बडा मंगल हुआ" वे मुँह से ही नहीं कहते थे, मन से भी ऐसा ही मानते थे।

एक दिन राजा कोई कार्य कर रहे थे किसी वस्तु को किसी शस्त्र से बना रहे थे उनकी एक अँगुली कट गयी। अँगुली कटकर पृथक् हो गयी। राजा को बड़ी पीड़ा हो रही थी। मन्त्री जी राजा को देखने गये। राजा ने अत्यन्त ही क्लेश के साथ कहा—"मन्त्री जी! मेरी अँगुली कट गयी है।" मन्त्री जी की तो सहज स्वाभाविक आदत ही थी, अपने आप उनके मुख से निकल गया—"बड़ा मंगल हुआ।" इस पर राजा को बडा क्रोध आ गया। उसने सोचा—"मुझे तो बड़ा क्लेश हो रहा है, यह कर रहा है, "बडा मंगल हुआ।" इस पर क्रोध में भरकर राजा ने कहा—"तुमने काम तो ऐसा किया है, कि तुम्हें शूली पर चढ़ा देना चाहिये, किन्तु तुमने इतने दिन राज की सेवा की है, तुम मेरे पिता के सामने से प्रधान मन्त्री हो, अतः तुम्हें शूली तो नहीं

दिलाता, किन्तु मेरे राज्य को छोडकर चले जाओ।" मन्त्री जी के मुख से निकल गया "बड़ा मंगल हुआ।" और इतना कह कर वे सपरिवार उस राजा के राज्य से निकल गये। इन राजा का एक दूसरा पडोसी राजा बड़ा शत्रु था, वह इन राजा को सदा बड़ी हानि पहुँचाता रहता था। अबके भी वह इनके ऊपर चढ़ाई करने का प्रयत्न कर रहा था, उसने जब सुना कि इतने बड़े भगवद्भक्त बुद्धिमान मन्त्री को राजा ने राज्य से निकाल दिया है, तो वह मन्त्री के पास गया और बोला—"आप जैसे भगवत्-भक्त सम बुद्धि वाले प्रधान मन्त्री का मै हृदय से स्वागत करता हूँ, आपको प्रधानमंत्री पाकर मेरी प्रजा कृतार्थ हो जायगी। आप मेरे राज्य के प्रधान मन्त्री बन जाइये।"

मन्त्री ने इसे स्वीकार कर लिया और वे उस राज्य के प्रधान मन्त्री बन गये। प्रधान मन्त्री बनते ही उन्होंने सर्वप्रथम तो यह कार्य किया कि यह राजा जो, पहिले जिसके यहाँ ये मन्त्री जी रहते थे—उन पर चढ़ाई करने की तैयारी कर रहा था, उसे रुकवा दिया, और जिस सोने की खान के सम्बन्ध में शत्रुता थी, उसे कह सुनकर उस पुराने राजा को दिला दी। शत्रुता समाप्त कर दी और दोनों में प्रगाढ़ मैत्री हो गयी।

एक दिन पहिला राजा जिसकी ऊँगली कट गयी थी, वह शिकार खेलने, अपने सैनिक सचिवों के सहित घोर बन में गया। वहाँ एक हिरन का पीछा करते हुए राजा अपने साथियों से पृथक् हो गया। घोर जंगल में जाकर हिरन तो किसी झाड़ी में छिप गया, राजा भूखा-प्यासा अकेला जंगल में भटकने लगा। उसी जंगल की एक गुफा में एक कापालिक शाक्त रहता था। वह देवी के सामने पर्व-पर्व पर नर बलि चढ़ाया करता था। दूसरे दिन उसका बलि चढ़ाने का पर्व था। उसके शिष्य सेवक किसी

बलि पशु पुरुष की खोज में इधर-उधर वनमें घूम रहे थे। राजा को जब वन में अकेले घूमते देखा तो उन्होंने राजा को पकड़ा लिया और कापालिक के पास ले गये। इतने सुन्दर स्वच्छ तेजस्वी पुरुष को देवी का बलि पशु पाकर कापालिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने एक स्थान में राजा को बन्द कर दिया। खाने-पीने को सुन्दर-सुन्दर पदार्थ दिये। राजा भूखे-प्यासे तो थे ही भोजन पान तो किया, किन्तु कल मेरा ये बलिदान कर देंगे इस चिंता से उन्हें निद्रा नहीं आयी। रात्रि भर चिन्ता और दुःख करते रहे। प्रातःकाल हुआ। बलि पशु का पूजन करने को पहिले उसे स्नान कराया गया। स्नान कराते हुए लोगों ने देखा, इनकी तो एक उँगली कटी है। जो अंग-भंग विकलांग होता है, जिसका कोई अंग क्षत विक्षित होता है, ऐसे अंगहीन की बलि नहीं दी जाती। उँगली कटी होने के कारण उन लोगों ने राजा को छोड़ दिया। राजा छूटकर अपने राज्य में आया। तब उसे अपने प्रधान मन्त्री की बात याद आयी, आज मैं जो बलिदान से बच गया, वह उँगली कट जाने से ही तो बच गया। सचमुच उँगली का कट जाना, परम मंगलमय ही हुआ। इस विचार के आते ही उन्होंने प्रधान मन्त्री को बुलाने के लिये तुरन्त आदमी भेजा। राजा का बुलावा पाते ही मन्त्री जी ने आकर राजा को अभिवादन किया।

राजा ने मंत्री जी से कहा—"मन्त्री जी! आपने मेरी उँगली कटने पर जो कहा था—"बड़ा मंगल हुआ।" वास्तव में यह बात परम सत्य थी, आज मेरी उँगली कटी न होती तो कापालिक तो मेरा बलिदान ही कर देते। मैं कटी उँगली के कारण ही मृत्यु के मुख में गया हुआ लौट आया। मैंने आपके साथ बहुत अन्याय किया। बहुत बड़ा अपराध किया, आपको अत्यन्त कष्ट दिया। मेरे अपराध को क्षमा दें और पुनः अपना मन्त्री पद सम्हालें।"

मन्त्री ने कहा—"महाराज! आपकी बुद्धि सद् असद् का विवेक करने वाली हो गयी, यह भी 'बडा मंगल हुआ' मंगलमय भगवान् के यहाँ कभी कोई कार्य अमंगलमय नहीं होता। आपकी उँगली कटी यह भी 'बड़ा मंगल हुआ' आप बच गये यह भी मंगल हुआ। आपकी बुद्धि विशुद्ध बन गयी यह भी मंगल हुआ। आपने मुझे देश निकाला दे दिया, यह भी मंगल ही हुआ। आपके शत्रु राजा ने मुझे प्रधानमंत्री बना दिया, यह भी मंगल ही हुआ। वहाँ रहकर भी मै निरंतर आपकी और आपकी प्रजा की सेवा ही करता रहा, यह भी मंगल ही हुआ। इतने कालकी शत्रुता समाप्त हो गयी, यह भी मंगल ही हुआ। वे राजा आप पर चढ़ाई करने वाले थे, मेरे प्रधान मंत्री होने से युद्ध रुक गया, यह भी मंगल ही हुआ। जिस सुवर्ण की खान पर विवाद था, वह आपको मिल गयी, यह भी मंगल ही हुआ। शत्रु राजा आपका मित्र बन गया, यह यह भी मंगल ही हुआ। मंगलमय प्रभु के सभी विधान मंगलमय ही होते हैं। राजन्! इस प्रकार आप भगवान् पर विश्वास करके समबुद्धि वाले बन जाइये। समबुद्धि वाले पुरुष वाह्य घटनाओं की ओर ध्यान नहीं देते। इनकी दृष्टि तो सदा आत्म तत्व में ही लगी रहती है। आत्मा मंगलमय, आनन्दमय, सच्चिदानन्द नित्य-कूठस्थ सत्यरूप, सुन्दररूप और मंगलमय है। इसी बात को भगवान् अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं—

भगवान् ने कहा—"हे अर्जुन! जिस पुरुष की बुद्धि साम्यभाव में स्थिर हो जाती है, वह पुरुष कर्मों के फल की ओर दृष्टि रख कर कार्य नहीं करता। कर्म जनित फलों का परित्याग करके अपनी बुद्धि को आत्माकार तदाकार कर लेते हैं। वे समबुद्धि वाले बन जाते हैं। वे जन्म मरण के चक्कर में नही फँसते, क्योंकि जन्म तो कर्मों की वासना के अनुसार ही होता है। जब वे

वासना रहित होकर निष्काम भाव से फलाशा छोड़कर कार्य करते हैं, तो आगे जन्म का बीज कैसे जमेगा, कैसे अंकुरित, पुष्पित होकर फल वाला होगा। ऐसे पुरुष जन्म मरण बन्धन से छूटकर–सर्वथा मुक्त होकर अनामय पद को प्राप्त होते हैं, अर्थात् अविद्या तथा उसके कर्म रूप-आमय-रोग- से रहित पदवी को प्राप्त हो जाते हैं।

अब तुम पूछ सकते हो, कि फल की आशा छोड़कर निष्काम भाव से, समत्व बुद्धि का आश्रय लेते हुए हम कर्म करते जायें तो कब हमारा अन्तःकरण विशुद्ध बन जायगा, कब हमारे चित्त की शुद्धि हो जायगी। तो इस विषय में भी मेरा निश्चित मत सुन लो।

भगवान् कह रहे हैं—जिस समय तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी कीच के दल-दल को पार कर जायगी। अविवेक रूपी मल को धोकर फेंक देगी, उसी समय वैराग्य को प्राप्त कर लोगे। अब तक तो तुम्हारी बुद्धि उन संस्कारों में फंसी हुई है, जो तुमने इस लोक और परलोक के सम्बन्ध में बहुत सी बातें सुन रखी हैं, अथवा आगे ऐसी ही वेदवादरता वाणी सुनोगे। जब तक कर्मोपार्जित लोकों की परीक्षा न की जाय तब तक निर्वेद अर्थात् वैराग्य नहीं होता। ब्रह्मज्ञानी को सकाम कर्मों से प्राप्त लोकों के क्षयिष्णु होने का जहाँ यथार्थ ज्ञान हो गया, वहाँ उन कर्म फलों से प्राप्त लोकों से—भोग और ऐश्वर्य से वैराग्य हो जाता है। अतः बुद्धि को मोह कलिल से पार करके समभाव में स्थिर करो।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अर्जुन को बारबार समबुद्धि में स्थिर होने को कहा, तो अर्जुन के मन में उठा कि यह विषम बुद्धि हो क्यों गयी। कर्म और उनके फल की,

अभिलाषा में विक्षिप्त बुद्धि किस कारण हुई और यह बुद्धि एकाग्र होकर कब समाधिस्थ हो सकेगी कब यथार्थ में भक्ति-योग-निष्काम कर्मयोग में लग सकेगी।' इसी शंका का समाधान भगवान् आगे करेंगे। तब अर्जुन उस व्यक्ति का लक्षण पूछेंगे जिसकी बुद्धि समभाव में स्थिर हो गयी हो, इसका उत्तर भगवान् विस्तार के साथ देंगे—

छप्पय

बुद्धि फँसी जब तलक मोह दलदल के माहीं।
तब तक होहि न ज्ञान भोग इच्छा नहिँ जाहीं।
पार करै जब कीच निकरि बाहर जब जावै।
तब ह्वै जाइ प्रकाश बहुत सुख हिय में पावै॥
सुने सुनाये फेरि बहु, उभय लोक के भोग सब।
बनि विरक्त तिनितैं तुरत, पावै पादवी मोक्ष तब॥

योग प्राप्त पुरुष के सम्बन्ध में प्रश्न

[२७]

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥❀

(श्री भग० गी० २ अ० ५३, ५४ श्लोक)

छप्पय

वेद प्रशंसा करैं काम्य करमनि की पुनि-पुनि ।
ऐसो यदि तुम करौ पाउ फल हिय हुलसे सुनि ॥
भाँति-भाँति फल जब-जब तुमरे स्रवननि आवैं ।
बिचलित मन ह्वै जाय भोगहित तुम्हें भुकावैं ॥
वही अचल धी आतम में, जब इस्थिर ह्वै जायगी ।
योग प्राप्त अब ह्वै गयो, स्थितधी पदवी पायगी ॥

यह बुद्धि ही अपने पति रूप पुरंजनः पुरुष जीव को नाच नचा रही है। इस बुद्धि में पूर्वजों के पूर्वजन्म के जैसे संस्कार पड़

❀ भाँति-भाँति के सुने हुए सिद्धान्तों से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में अचला-निश्चला होकर ठहर जायगी तब तू समत्व रूपी

जाते हैं, वैसे ही संस्कार दृढ़ होकर आगे बढ़ते जाते हैं। अत्यन्त ही सूक्ष्म से सूक्ष्म हुई बुद्धि हमें संसार के उस पार पहुँचा सकती है, आत्म साक्षात्कार करा सकती है। यही बुद्धि जब स्थूल हो जाय सत असत का विवेक छोड़कर विषयों में ही फंस जाय तो यही संसार बंधन को सुदृढ़ करने में कारण हो सकती है। सब बुद्धि का ही विलास है बुद्धि का ही खेलमाल है, इसीलिये भगवान् बारबार नर से बुद्धि की शरण में जाने को कहते हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! हमारी बुद्धि जन्म जन्मान्तरों के संस्कार से काम्य कर्मों में फंसी हुई है। उसमें निष्काम की बात बैठती नहीं। जो सांचा गधा बनाने का बना हुआ है, उसमें हाथी की मूर्ति कैसे आवेगी जब तक कि उस सांचे को बढ़ाकर उसमें परिवर्तन न किया जाय। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं—अर्जुन इस समय तो तुम्हारी बुद्धिकर्मकांड की कर्म प्रशंसक श्रुतियों को सुनते-सुनते विचलित सी बन गयी है। यह बात तुम्हारी बुद्धि में बैठती ही नहीं कि बिना किसी कामना के निष्काम कर्म कैसे हो सकता है इसलिये कि विषम बुद्धि होने से वह चलायमान हो रही है। जिस समय तुम्हारी बुद्धि अविवेक रूपी मल को त्यागकर समभाव में स्थिर हो जायगी। समत्वरूपी योग में दृढ़धारणा वाली बन जायगी। अनिश्चला से निश्चला हो जायगी विभिन्न श्रुतियों के वचनों को सुनकर विक्षिप्त बनी बुद्धि विमला अमला निश्चला समाधि में

योग को प्राप्त हो जावेगा।

अर्जुन ने पूछा—हे केशव ! समाधि में स्थित पुरुष की क्या परिभाषा है ? और वह स्थितप्रज्ञ बोलता कैसे है ? रहता कैसे है ? तथा चलता कैसे है ?

स्थिर हो जायगी, परमात्म रूप में तल्लीन बन जायगी, समझ लो उसी समय तुम्हें समत्व-योग की, निष्काम कर्म योग की, भक्ति योग की प्राप्ति हो जायगी। तुम समाधिस्थ हो जाओगे, स्थित प्रज्ञ बन जाओगे, तभी तुम स्थितधी कहलाने योग्य बन जाओगे।"

इस पर अर्जुन ने शंका की—भगवन्! आपने जो कहा—कि तुम समाधिस्थ होकर स्थितप्रज्ञ बन जाओगे, सो कृपा करके हमें यह बात बताइये स्थितप्रज्ञ कहते किसे हैं, उसका विशेषण आपने समाधिस्थ दिया, जो समाधि में स्थित है, उसकी पहिचान बताइये। उसका लक्षण कहिये साधारण मनुष्यों की अपेक्षा स्थितप्रज्ञ पुरुष की चाल ढाल, बोल चाल, रहनी-सहनी, कथनी करनी, सब पृथक् ही होनी चाहिये। इसलिये मेरे चार प्रश्न हैं। (१) पहिला प्रश्न तो यह कि वह समत्व बुद्धि वाला समाधिस्थ पुरुष किन लक्षणों से जाना सकता है? (२) दूसरा मेरा प्रश्न है, वह स्थितप्रज्ञ पुरुष बोलता कैसे है, क्योंकि जब तक मनुष्य बोलता नहीं तब तक उसके कुल का शील का सदाचार का पता नहीं चलता। सुन्दर-वस्त्राभूषण पहिने, शरीर से सुन्दर, मूर्ख भी भली भाँति सज बज कर ठाठ से पंडितों के मध्य में तब तक शोभा पाता रहता है, जब तक वह कुछ बोलता नहीं। जहाँ वाणी बोलने लगा, वहीं उसके कुल शील तथा सदाचार का पता चल जायगा। पेड की एक डाल पर कौआ और कोयल दोनों बैठे हों, तो जब तक वे बोलेंगे नहीं तब तक कोई जान नहीं सकता, कौन कोयल है कौन कौआ। किन्तु जहाँ उन्होंने मुख से वाणी बोली, सभी लोग जान जायँगे, यह कोयल है यह कौआ है। इसी प्रकार स्थितिप्रज्ञ पुरुष की बोली बात करने की शैली कैसी होती है?

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! वाणी से कुलशील का परिचय कैसे हो जाता है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! वाणी तो मनुष्य के अन्तःकरण की प्रतिच्छाया है। बहुत से लोग वाणी सुनकर ही उसके सम्बन्ध में सब बता देते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।"

एक सडक के किनारे एक अंधा व्यक्ति रहता था। वह पथिकों को पानी पिलाता था। एक बार कुछ राज कर्मचारी सैनिक लोग उधर से निकलते हुए मार्ग भूल गये। उन सैनिकों में से एक ने पूछा—"ओ अंधे ! अमुक स्थान के लिये मार्ग किधर से है ?"

अंधे ने कहा—"सिपाही जी ! इधर से ही आप चले जायें।"

यह सुनकर वे लोग चले गये। इतने में ही उनका सेनाध्यक्ष आया। उसने पूछा—"अन्धे जी ! इधर से कुछ सैनिक गये हैं क्या ?"

अंधे ने कहा—"हाँ, सेनापति जी ! थोड़ी देर पहिले ही गये हैं।" वह यह सुनकर आगे चला गया। इतने में ही पीछे से प्रधान मंत्री आया, उसने पूछा—"क्यों जी सूरदास जी ! इधर से कुछ सैनिक गये है ?"

उसने कहा—"हाँ, मंत्री जी ! पहिले सिपाही गये हैं, उनके पीछे सेनाध्यक्ष दोनों इधर से गये हैं।" उनके चले जाने के अनंतर राजा आये, उन्होंने पूछा—"क्यों जी सूरदास जी महाराज ! इधर से कुछ सैनिक तो नहीं गये हैं ?"

अंधे ने कहा—"हाँ, अन्नदाता ! पहिले बहुत से सैनिक गये, फिर सेनाध्यक्ष गये, फिर मंत्री जी गये।"

राजा ने पूछा—"सूरदास जी महाराज ! यह तो बताइये, आप देखते तो हैं नहीं आपने यह कैसे पहिचान लिया, कि यह सैनिक है, यह सेनाध्यक्ष है, यह मंत्री है, यह राजा है ?"

अंधे ने कहा—"प्रभो ! देखने से ही परिक्षा थोड़े होती है। मनुष्य की वाणी से ही उनके कुल, शील, सदाचार पद, पदवी, गंभीरता तथा हलकेपन का पता चल जाता है। सैनिक उजड्ड अभिमानी होते है, उन्होंने पूछा—ओ अंधे ! अमुक स्थान को मार्ग कौन सा है ? मै समझ गया ये कोई साधारण सैनिक है। सेनाध्यक्ष ने अंधे जी कहा—तो मै समझ गया यह है तो सैनिक ही, किन्तु उन लोगों से अधिक सुशिक्षित सभ्य सेनापति है।"

फिर एक ने आकर पूछा—"सूरदास जी ! इधर से सैनिक गये है।" मै समझ गया, इतने सम्मान से अभिमान शून्य वाणी में बोलने वाले कोई अ-सैनिक पदाधिकारी मंत्री होंगे। जब आपने आकर अजी, "सूरदास जी महाराज" कहा—तो मैं समझ गया, अवश्य ही आप वंश परम्परा से शासन करने वाले परम कुलीन, अभिमान शून्य, प्रजा वत्सल राजा हैं। प्रभो ! मनुष्य की वाणी ही उसकी कुलीनता को बता देती है।

इसीलिये अर्जुन का दूसरा प्रश्न था केशव ! (२) स्थितप्रज्ञ पुरुष क्या बोलता है कैसे बोलता है। (३) तीसरा प्रश्न उन्होंने किया, वह स्थित धी कैसे बैठता उठता है। बैठने-उठने से भी मनुष्य के अंतःकरण के भाव स्पष्ट प्रकट हो जाते हैं। अभिमानी बैठेगा तो चारो ओर देख भालकर बड़े अभिमान के साथ बैठेगा। निरभिमानी जहाँ चाहे परमविनीत भाव से बैठ जायगा। (४) चौथा मेरा प्रश्न है, कि स्थितप्रज्ञ चलता कैसे है। चाल ढाल से भी मनुष्य के व्यक्तित्व का पता चलता है। अभिमानी चलेगा, तो बड़ी अकड़ के साथ अंगों को हिलाता डुलाता चलेगा। विषयी चोर चारों ओर देखता भालता रहस्यमयी दृष्टि से अवलोकन करता हुआ चलेगा। जो शान्त निरभिमान जितेन्द्रिय पुरुष हैं, वे गंभीरता के साथ नीची दृष्टि किये शान्त

भाव से चलेंगे। इन बातों को जान लेने पर हम समझ सकेंगे, कि कौन स्थितप्रज्ञ है कौन नहीं है।

श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करते हैं अन्य साधारण पुरुष उन्हीं-उन्ही बातों का अनुकरण किया करते हैं। जब हमें सिद्धों के समाधिज्ञान सम्पन्न पुरुषों के लक्षण ज्ञात हो जायेंगे। उनके लक्षण, उनकी बोली चाली, उठन-बैठन, तथा चलन-चितवन का पता चल जायगा, तो हम लोग भी उन्हीं का अनुकरण किया करेंगे।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने इस प्रकार समत्व बुद्धि वाले उपासक, कर्मयोगी, भगवत् भक्त के लक्षण पूछे, तब भगवान् ने बड़े विस्तार के साथ उनके लक्षण बताये। लक्षण बताने में वाह्य चिन्हों का उल्लेख नहीं किया कि वह ऐसे जटाजूट रखता है, या मूड़ मुडाता है। वह ऐसे तिलक छापे लगाता है या ऐसे वस्त्र पहिनता है। भीतर के सद्गुणों के ही कारण आन्तरिक स्थिति समझी जाती है। बाहरी चिन्ह तो एक लोक में दिखाने के लिये होते हैं। वाह्य चिन्ह धर्म में कारण नहीं। "न लिङ्ग धर्म कारणम्।" सर्वप्रथम भगवान् पहिले ही प्रश्न का जैसे उत्तर देंगे, उसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

अरजुन पूछन लग्यो—कौन थिरधी है केशव।
काकूँ इस्थितप्रज्ञ कहें समुझाओ माधव॥
लच्छन तिनिके कहो जिन्हें लखिकें हम जानें।
ये समाधि सम्पन्न कौन चिन्हनितें मानें।
थिरधी कस भाषन करै, कैसे बैठत उठत है।
समुझैं हम कस दरश करि, कैसे मग में चलत है॥

स्थितप्रज्ञ लक्षण (१)

[२८]

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥❀

(श्रीभग० गी० २ अ० ५५, ५६ श्लो०)

छप्पय

सुनि बोले भगवान्—सखे ! अरजुन बड़भागी ।
युद्ध क्षेत्र में बुद्धि तिहारी प्रिय ! इत लागी ॥
जो हैं इस्थितप्रज्ञ नित्य सन्तुष्ट कहावैं ।
नहीं भोग ऐश्वर्य कामना तिन ढिँगआवैं ॥
तजैं कामना सकल जे, फल करमनि नहिँ चाहते ।
आत्म-आत्म में तुष्ट है, इस्थितप्रज्ञ कहावते ॥

❀ श्री भगवान् ने कहा—"हे पार्थ ! जिस समय पुरुष मनोगत सम्पूर्ण कामनाओं को भली भांति त्याग देता है और अपने आप से ही अपने आप में सन्तुष्ट हो जाता है, तभी उसे स्थित प्रज्ञ कहते हैं ॥५५॥

जिसका मन दुःखों के प्राप्त होने पर उद्विग्न नहीं होता और सुखों के प्राप्त होने पर जिसे लालच नहीं होता, जो राग, भय और क्रोध से रहित है, ऐसे मननशील व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥५६॥

मन में भाँति-भाँति की असंख्यों कामनायें जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार से भर जाती हैं, वे कामनायें इतनी सूक्ष्म होती हैं, कि जैसे पुष्प में गंध दिखायी नहीं देती वैसे ही ये कामनायें दिखायी नहीं देती। जैसे आकाश में अनंत शब्द भरे हुए है, वे सुनायी नहीं देते, किन्तु यन्त्र विशेष से उन ध्वनियों का संसर्ग होते ही वे स्पष्ट सुनायी देने लगते हैं। इसी प्रकार मन में कामनाओं का एक बड़ा भारी कोष भरा है। एक आदमी के मन की कामनाओं को आप देखें तो उनकी पूर्ति में कितना समय लगेगा। संसार में जितने जव, गेहूं, चावल, आदि अन्न हैं, जितना धन है, जितने दूध देने वाले खेती करने वाले, वाहनों में उपयुक्त होने वाले पशु हैं, जितनी भी संसार की स्त्रियाँ है ये सब भोग पदार्थ एक ही व्यक्ति को दे दिये जायें, तो भी उसकी मनोकामना पूर्णरीत्या पूरी न होगी। मनोकामनाओं की कोई संख्या नहीं, गणना नहीं वे अगणित तथा असंख्या हैं। आप चाहें कि भोग द्वारा हम समस्त कामनाओं को शान्त कर देंगे, तो यह असंभव है। आप चाहो कि जलती अग्नि जब तक तृप्त न हो जायगी, तब तक हम उसमें ईंधन डालते ही रहेंगे, तो वह अग्नि कभी भी तृप्त नहीं हो सकती। मन में भरी कामनायें भोग से नहीं, विचार से विवेक से, वैराग्य से तथा त्याग से ही शान्त हो सकती हैं। ये कामनायें आत्मा में नहीं। आत्मा का कामनामय स्वभाव होता जैसे जल का शीतत्व, अग्नि का उष्णत्व तब तो ये कामनायें छूट ही नहीं सकती थी। यह तो मन के विकार हैं, यदि सूत पहिले से ही पक्के रंग में रंगा हो, तो वस्त्र का वह रंग छूट नहीं सकता। जैसे कालीऊन से बना हुआ कंबल। यदि वस्त्र बनने के पश्चात् कच्चे रंग से कोई कपड़ा रंग दिया हो, तो वह युक्ति से छूट

सकता है। मन पर वासनाओं का कामनाओं का वास्तव में यह कच्चा रंग है। मन के ऊपर जो वृत्तियों का विस्तार होता है वह प्रमाण के द्वारा, विपर्यय के द्वारा, विकल्प के द्वारा और निद्रा तथा स्मृति के द्वारा विस्तार होता है। इससे काम संकल्प आदि वृत्तियाँ विस्तृत होती है। मन को निर्विकार, निर्विकल्प, निर्लेप बनाकर बाहरी पदार्थों से नहीं अपने आप में अपने से ही जब संतोष हो जाय, तभी समझो हमारी साधना सिद्ध हो गयी।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण पूछे तब भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—हे पार्थ! मन ही मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण है। हार जीत कोई स्थूल वस्तु नहीं। मन ने समझ लिया हम हार गये, तो हार हो गयी। मन ने समझ लिया हम जीत गये, तो जीत हो गयी। मन की वृत्तियाँ एक नहीं शतशः सहस्रशः है, असंख्यों वृत्तियाँ मन को चंचल बनाये रहती है। जिस समय विद्वान् साधक पुरुष मनोगत समस्त वृत्तियों का परित्याग करके संतुष्ट हो जाय। जिसको जिस वस्तु की कामना होती है, उसको वह वस्तु प्राप्त हो जाती है, तो वह उस वस्तु को पाकर सन्तुष्ट हो जाता है। जैसे कोई निर्धन है उसे धन की कामना है, भाग्यवश उसे धन मिल गया, तो वह धन को पाकर परम सन्तुष्ट हो जायगा। कोई कामी है, उसे किसी मनोनुकूल कामिनी की कामना है, दैव योग से उसे उसी कामिनी का उपलब्धि हो जाय, तो वह उसे पाकर सन्तुष्ट हो जायगा। किन्तु ये सन्तोष स्थायी नहीं पूर्ण नहीं। धनेच्छु को धन मिलने पर क्षण भर को तो संतोष हो जायगा, किन्तु वह संतोष असंतोष रूप ही होगा। लाभ से लोभ बढ़ता है, अधिक धन प्राप्ति की उसकी कामना होगी,

वह कामना दिन दूनी रात्रि चौगुनी बढ़ती ही जायगी। कहाँ तक बढ़ेगी कोई अन्त नहीं। बाह्य पदार्थों की प्राप्ति से जो संतोष होता है उसमें पूर्णता नहीं नित्य सुख नहीं। अतः पहिले विद्वान् मन की समस्त वृत्तियों का परित्याग कर देता है। फिर परम आनंद की खान जो अपनी आत्मा है उस आत्मा में-बिना बाहरी लौकिक उपकरणों के-अपनी स्वयं प्रकाश आत्मा द्वारा ही परम सन्तुष्ट हो जाता है। आत्माराम आप्त काम बन जाता है। रति करने को उसे कामिनी की आवश्यकता नहीं रहती। स्वयं आत्मरति बन जाता है आत्मा में ही क्रीड़ा करता रहता है, वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है। समस्त बाह्य उपकरणों से अनपेक्षित वह विद्वान् अपनी प्रज्ञा में ही समभाव से स्थित हो जाता है।

भगवान् कह रहे हैं—अर्जुन ! जिस समय साधक के अन्तःकरण में रहने वाली समस्त कामनायें विलीन हो जाती हैं, लुप्त हो जाती हैं, उसके अन्तःकरण से निकल जाती है, उस समय मर्त्य न होकर अमर हो जाता है मरणधर्मा न रह कर वह अजर अमर निरुपाधिक बन जाता है। फिर संसारी कितने भी दुःख क्यों न आ जायँ, वह दुःखों से उद्विग्न नही होता। संसारी लोगों का चित्त तो तनिक से दुःख से उद्विग्न हो जाता है, किन्तु समबुद्धि वाला साधक-ज्ञानी उपासक कभी-कैसा भी संकट आने पर-उद्विग्न नहीं होता, और संसारी सुख प्राप्त होने पर उनमें स्पृहा नहीं करता, कि ये सुख मुझे सदा ही प्राप्त होते रहें अथवा इनसे भी अधिक संसारी सुख मुझे मिल जावें। अथवा बिना पुण्य कर्म किये ही मुझे सुख मिले। संसारी लोग पाप तो करते हैं, किन्तु पापों का फल जो दुःख है उसे भोगना नहीं चाहते। वे पुण्य तो करते नहीं किन्तु पुण्यों का फल जो

संसारी सुखोपभोग हैं उन्हें चाहते हैं। इसी का नाम स्पृहा है। ज्ञानी प्रारब्धवश दुःख मिल जाय, तो उसमें उद्विग्न दुखी नहीं होता और सुख मिल जाय तो फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता कि मैं कैसा भाग्य शाली हूँ, मुझे जैसे सुख प्राप्त हो रहे हैं वैसे दूसरों को नही हो सकते। सुख दुख में ज्ञानी की बुद्धि सम रहती है। वह समझता है शोक, मोह ज्वरादि आध्यात्मिक दुःख, व्याघ्र सर्पादि द्वारा प्राप्त अधिभौतिक दुख और वात वर्षादि से प्राप्त आधिदैविक दुःख ये सब प्रारब्धानुसार आते जाते हैं इसी प्रकार प्रारब्ध जनित पुण्य कर्मों के परिणाम स्वरूप हमें सांसारिक सुख मिल जाते हैं। वह दोनों में ही समभाव रखता है, दोनों को ही प्रारब्ध भोग मानकर निस्पृह निर्मम बना रहता है। जब उसकी बुद्धि सुख दुख में सम हो जायगी, तो फिर उसे राग, भय और क्रोध स्पर्श भी न कर सकेंगे।

राग उसे कहते हैं—जो वस्तु अपने को अच्छी लगे उसके अच्छेपन में चित्त रँग जाय तदाकार हो जाय। जैसे हमें मिष्ठान्न अत्यन्त प्रिय है। अब मिष्ठान्न की प्राप्ति में, उसके उपभोग में ही चित्त फँसा रहे तो समझो हमारा मिष्ठान्न में राग हो गया। मिष्ठान्न प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न पड़ जाय और अपने को उस विघ्न के निवारण में असमर्थ अनुभव करके मन में यह सोचे अब क्या होगा, इस विघ्न से कैसे बचा जायगा इसी का नाम भय है। भय के कारण मन में दीनता आ जाती है अपने को असमर्थ अनुभव करने लगते हैं। इसी प्रकार हमारा मिष्ठान्न में राग है। हमारे मिष्ठान्न पदार्थ को छीनने वाले, नष्ट करने वाले उसमें विघ्न करने वाले के प्रति विपरीत भावना हो जाती है और अपने में उसके निवारण

की सामर्थ्य समझ कर जो हृदय जलने लगता है, वाणी से अंट-संट बातें बकने लगते हैं इसका नाम क्रोध है। भय और क्रोध दोनों राग के पुत्र हैं। जिसे राग होगा उसी को भय लगेगा उसी को क्रोध आवेगा। बाप बेटे तीनों साथ ही साथ रहते हैं। ज्ञानी तीनों से अलग रहता है। न तो उसे अनुकूल विषयों में राग होता है, न विषयों के तथा शरीर के नाश का भय होता है और न विषयों के अपहरण करने वाले के प्रति क्रोध ही होता है। उस मननशील व्यक्ति को स्थित धी (स्थिर बुद्धि वाला विद्वान्) सिद्ध हुआ साधक अथवा उपासना की अंतिम सीढ़ी पर पहुँचा उपासक अथवा सम बुद्धि वाला निष्काम कर्मयोगी कहते हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् और भी खोलकर स्थितप्रज्ञ समबुद्धि वाले पुरुष के लक्षण बतावेंगे उन्हें मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

जो न दुःख में दुखी होहि रोवै पछितावै।
सुख में बनि के सुखी कबहुँ फूले न समावै॥
दुख में नहिं उद्वेग न सुख की इच्छा मन में।
इन्द्रिय विषय सँयोग होहि सभुझै यह तन में॥
जिनके ढिग नहिं भूलि कें, क्रोध राग भय आवते।
तेई मुनिवर जगत में, इस्थित प्रज्ञ कहावते॥

[आगे की कथा ७१ वें खंड में पढ़िये

श्री महावीर हनुमान्

(लेखक श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

श्री ब्रह्मचारी जी महाराज ने श्री वृन्दावन धाम में रहकर श्री हनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, ऊपर एक श्लोक फिर एक छप्पय, तदनन्तर उस अध्याय के विषय की भूमिका फिर विषय विवेचन एक-आध दृष्टान्त कथा कहानी अंत में एक छप्पय लिखकर अध्याय समाप्ति। ऐसे इसमें २२ अध्याय है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है, हनुमान् जी के भक्तों तथा कथावाचकों के बहुत ही काम की वस्तु बन गयी है। पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

श्री हनुमत्-शतक

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

हनुमान् चालीसा की भाँति नित्य पाठ करने के लिये यह "हनुमत् शतक" है, इसमें हनुमान् जी के जीवन सम्बन्धी १०८ छप्पय हैं, हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक कवि डाक्टर रामकुमार जी वर्मा ने तीन छप्पयों में इसकी भूमिका लिखी है। हनुमान् जी के भक्तों के लिये नित्य पाठ की यह बहुत ही उपयोगी पुस्तिका है! अब तक इसके दो संस्करण छप चुके हैं। पुस्तक के आदि में श्री हनुमान् का बहुत ही भव्य भावमय बहुरंगा चित्र है। मध्य में २१ छोटे चित्र (लाइन ब्लाक) हैं। मुखपृष्ठ पर हनुमान् जी का सुन्दर भावमय चित्र है। सुन्दर छपायी सफायी वाली इस पुस्तक की न्योछावर केवल ५० पैसा है।

भक्त-चरितावली

पूज्य श्री महाराज आज से ४०-५० वर्ष पूर्व झूसी (प्रतिष्ठानपुर) के हंसतीर्थ में सन्ध्यावट नामक एक सघन वटवृक्ष के नीचे छोटी सी कुटिया में रहकर अनुष्ठानादि करते रहते थे। जपानुष्ठान से जो समय मिलता उसी में वे भक्तों का चरित्र लिखते थे। आज से ४० वर्ष पहिले हिन्दी प्रेस के स्वामी स्व० पं० रामजी लाल शर्मा ने इसे छापा था। वे श्री महाराज के भक्त थे। तभी से कुछ फरमे शेष थे उन्हें ही इस रूप में निकाला है। यदि भगवत् भक्तों ने इसे पसन्द किया, तो शीघ्र ही इसका दूसरा संस्करण छापा जायगा। आशा है कृपालु पाठक पाठिकायें इस ग्रन्थ को प्रेमपूर्वक पढ़ेंगे। भक्त-चरितावली भाग (१), पृष्ठ ४४४, मूल्य ४ रु०। भाग (२) पृष्ठ ३०३, मूल्य २ रु० ५० पैसा।

विनीत

व्यवस्थापक

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

श्री गीताजी की आरती

आरती गीता की कीजे
अलौकिक अमृत सतत पीजे ।

उपनिषद गैयाँ सब प्यारी, ठड़े दुहिवैं कूँ बनवारी ।
पृथासुत बछरा पुहनावै, थननि में दूध अधिक आवै ।
पान करि सुख अनुपम लीजे ॥ अलौकिक० ॥१॥

दुरित दुख सबई भजि जावैं, नारि नर शांति परम पावै ।
कथामृत पीकैं छकि जावैं, सहज भवसागर तरि जावैं ।
देर अब तनिक नहीं कीजे ॥ अलौकिक० ॥२॥

उभय दल लडिवैं कूँ ठाढ़े, करनि में अस्त्र शस्त्र धारे ।
पार्थ ने धनुष बान डारे, बिहँसि के बोले तब कारे ।
मोह तजि करतब करि जीजे ॥ अलौकिक० ॥३॥

कृपा हरि करुना करि कीन्हीं, अलौकिक जग कूँ निधि दीन्हीं ।
व्यास शुक ऋषि मुनिवर चीन्हीं, पुरुष बड़भागिनि लै लीन्हीं ।
सुधी जन बाँटि बाँटि पीजे ॥ अलौकिक० ॥४॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

संकीर्तन भवन झूसी, (प्रयाग)

मुद्रक—भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

॥ श्री हरिः ॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) से प्रकाशित

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

१. भागवती कथा (१०८ खंडों में)—अब तक ७० खण्ड छप चुके हैं।

श्रीमद्भागवत को उपलक्ष्य बनाकर इसमें अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रों का सार सरल, सुगम, सरस भाषा में वर्णित हैं। पढ़ते-पढ़ते आपकी तृप्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा अपने आप ही पढ़ने लगेंगे। सर्वथा औपन्यासिक शैली में लिखी है, भाषा इतनी सरल ओज पूर्ण है कि थोड़े पढ़े बालक मातायें तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। अध्याय के आरम्भ में एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छप्पय, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका तदन्तर प्रतिपादित विषय दृष्टान्त और सरल कथाओं तथा कथोपकथन के रूप में वर्णित है, अंत में एक छप्पय देकर अध्याय की समाप्ति की है। प्रत्येक खंड मे १५–२० अध्याय होते हैं लगभग २५० पृष्ठों का एक खंड होता है ७-८ सादे तथा एक बहुरङ्गा चित्र होता है। तेलगू भाषा में इसका अनुवाद हो गया है। बीसों खंड छप भी गये हैं प्रत्येक खंड का मूल्य १) रुपया ६५ पैसे। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत सी जिला परिषदों के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है।

६० खंडों में तो कथा भाग समाप्त हो गया है। शेष खंडों मे से प्रत्येक में किसी एक विषय का विवेचन होता है। सभी खंड प्रायः स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक खड के ३-३ ४-४ संस्करण छप चुके हैं। सैकड़ों स्थानों में इसकी नित्य नियम से कथा होती है। बड़े-बड़े आचार्यों, विद्वानों नेताओ तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हमारा बड़ा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर विद्वानों की सम्मतियाँ पढ़े। यह ग्रन्थ किसी का अक्षरशः अनुवाद नही स्वतन्त्र विवेचन है।

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यों में)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दों में लिखा है। बीच-बीच मे दोहा, चौपाई सोरठा, लावनी, भजन तथा अन्य राग-रागिनियाँ हैं। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी सप्ताहिक, मासिक तथा पाक्षिक परायण होते हैं। अनेक स्थानों में १०८-१०८, के इसके अनुष्ठान हुए हैं। सैकड़ों "भागवत चरित व्यास" बाजे तबले पर इसकी कथा करके धर्म प्रचार के साथ ही अपनी अजीविका चलाते हैं। सैकडों सादे चित्र ५-६ बहुरंगे चित्र हैं कपड़े की सुन्दर जिल्द है, लगभग ९५० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ६ रु० ५० पैसे पाँच सस्करणो में अब तक २३ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं। बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालयो के लिये स्वीकृत है।

३. भागवत चरित (सटीक दो भागों में)—अनुवादक—पं० रामानुज पांडेय, बी० ए० विशारद "भागवत चरित व्यास" भागवत चरित की सरल हिन्दी मे सुन्दर टीका है प्रथम खड छप चुका है। १२२५ पृष्ठ हैं मूल्य ८ रुपया।

४. बद्रीनाथ दर्शन—श्रीबद्रीनाथ यात्रा पर यह बड़ा ही खोजपूर्ण ग्रन्थ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातों का तथा समस्त उत्तराखंड के तीर्थों का इसमे वर्णन है। लगभग सवाचार सौ पृष्ठों की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपया। भारत सरकार द्वारा हिन्दी प्रान्तों के लिये स्वीकृत है।

१८. भागवत चरित की बानगी—भागवत चरित के पद्यों के कुछ अध्याय बानगी के रूप में पृथक छापे हैं। इससे भागवत चरित के पद्यों की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसा।

१९. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) दोनों स्तोत्र हैं। मूल्य स्तोत्र भी दिये हैं। नित्य पाठ करने योग्य है। मूल्य २० पैसा।

२०. श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरित से यह पद्यो में श्रीकृष्ण चरित पृथक् छापा गया है। पृष्ठ सं० ३५० मूल्य २ रु० ५० पैसे।

२१. गोपालन शिक्षा—गौ कैसे पालनी चाहिये। गौओं की कितनी जाति हैं, गौओ को कैसा आहार देना चाहिये। बीमार होने पर कैसे चिकित्सा की जाय। कौन-कौन देशी दवाएँ दी जाय, इन सब बातों का इसमें विशद वर्णन है। पृष्ठ २०४ मूल्य २ रुपया ५० पैसा।

२२. मुक्तिनाथ दर्शन—नैपाल में सुप्रसिद्ध मुक्तिनाथ तीर्थ है। इस तीर्थ की यात्रा का बहुत ही हृदय स्पर्शी वर्णन है। नैपाल राज्य तथा नैपाल के समस्त तीर्थों का इसमें विषद वर्णन है, मूल्य २ रुपया ५० पैसा।

२३. आलवन्दार स्तोत्र—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के महामुनीन्द्र श्रीमत् यामुनाचार्य कृत यह स्तोत्र सर्वमान्य तथा बहुत प्रसिद्ध है। प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिरों मे इसका पाठ होता है। मूल श्लोकों के सम्मुख छप्पय छन्द छापी गई हैं। सभी ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसका ५ हजार का सस्करण कलकत्ता के उद्योगपति श्री बांगड़ जी की ओर से छापा गया है। हम इसकी एक लाख प्रति छपाना चाहते हैं। जो सज्जन, १ सहस्र रुपये भेज देंगे, उन्हें हम ५ हजार प्रतियाँ छापकर वितरण के लिये भेज देंगे। वे स्वयं वितरण करावें, या हम उन्हें वितरण कर देंगे।

२४. रास पंचाध्यायी—भागवत चरित से रास पंचाध्यायी पृथक् छापी गयी है। बिना मूल्य वितरत की जाती है।

२५. गोपी गीत—श्रीमद्भागवत के गोपी गीत का उसी छन्द में ब्रजभाषा अनुवाद है। वह भी बिना मूल्य वितरित है।

२६. श्रीप्रभु पदावली—श्री ब्रह्मचारीजी के स्फुट पदों का सुन्दर संग्रह है।

२७. परमसाहसी बालक ध्रुव—१०० पृष्ठकी पुस्तक मूल्य ६० पैसे।

२८. सार्थ छप्पय गीता—गीता के श्लोक एक ओर, मूल और अर्थ सहित छापे हैं। उनके सामने अर्थ की छप्पय हैं। सचित्र पुस्तक का मूल्य ३ रु० है।

२९. हनुमत् शतक—नित्य पाठ करने योग्य यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर है। इसमे १०८ छप्पय हैं, सुन्दर हनुमान् जी का एक बहुरंगा तथा २१ सादे चित्र हैं। मूल्य ५० पैसा।

३०. महावीर हनुमान्—श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने श्रीहनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भगवती कथा की भाँति लिखा है, इसमें २१ अध्याय है। (पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य २) ५० पैसा।

३१. भक्त-चरितावली (दो भागों में)—यदि आप चाहते हैं कि हम भी प्रभु के भक्तों की गाथा पढकर, भक्ति में आत्मविभोर होकर, प्रभु की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनों भाग मँगाकर पढ़ें। भक्त-चरितावली भाग (१) पृष्ठ ४४४ मूल्य ४) रु०। भाग (२) पृष्ट ३०३ मूल्य २ रु० ५० पैसा।

३२. छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय—श्री भर्तृहरि के नीति, शृङ्गार और वैराग्य तीनो शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद। पुस्तक बहुत ओजस्वी कविता में है। (प्रेस में)।

३३. श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप मे दी गई है। शीघ्र ही छप रही है।

श्रीभागवत चरित की आरती

भागवतचरित अमृत पीजे।
आरती सब मिलिकें कीजे॥

दया के सागर हैं यदुचन्द, गहे अजने तिनिपद अरबिन्द।
कमलमुख झरें सुधाके बिन्दु, तिनहिं पी पी के नित जीजे॥ आ०

नाम को रसना करिकें गान, करें मन मोहन मूरति ध्यान।
नयन निरखें सब थल भगवान, कृष्णको कीर्तन नित कीजे॥ आ०

यादि जिव चरितनिकी आवे, पुलक तनु सबरो ह्वै जावे।
प्रेम सब अंगनिमें छावे, भावमें भक्त रहें भीजे॥ आ०

हियेपै चढ़े भक्ति को रंग, मिलै भक्तनिको नित सतसंग।
काज सब करें कृष्णहित अंग, व्यरथ नर जीवन नहिं छीजे॥ आ०

प्रेम अरु लयतें सब गाओ, पार भव सागर ह्वै जाओ।
कृष्ण पद-रज प्रभुको पाओ, आरती भक्त वृन्द लीजे॥ आ०

भागवत दर्शन

खण्ड ७१

गीतावार्त्ता (३)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रमुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रमुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:*:—सजिल्द मूल्य २-० रुपया

प्रथम संस्करण १००० प्रति] मार्गशीर्ष-गीता जयन्ती २०२६ [मू० १-६५ पै०

मुद्रक—वशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

॥ श्रीहरिः ॥

(ब्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य अनुपम पाठ के योग्य महाकाव्य)

श्रीभागवतचरित

[रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी]

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रंथ हैं। हिन्दी भाषा में रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका सस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को 'भागवत चरित' ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रंथ ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। बीच-बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागों में विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल, सरस तथा प्रांजल छन्दों में गाया गया है। सैकड़ों नर-नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पंडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ की पुस्तक सुंदर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है सैंकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़े की टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उस पर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजार में ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधार लें। न्योछावर केवल ६) रुपये ५० पैसे मात्र, डाकव्यय पृथक्।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर [झूसी] प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
अपनी निजी चर्चा	
गीता माहात्म्य	
१. स्थितप्रज्ञ के लक्षण (२)	[illegible]
२. स्थितप्रज्ञ के लक्षण (३)	३१
३. स्थितप्रज्ञ के लक्षण (४)	३८
४. स्थितप्रज्ञ के लक्षण (५)	४४
५. अशान्त को सुख नहीं	५०
६. मन इन्द्रिय निग्रह ही सिद्धि का मूल है	५५
७. काम कामी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता	६०
८. ब्राह्मी स्थिति	६६
९. कहो केशव ! क्या करूँ ?	७२
१०. कर्मयोग और ज्ञानयोग दो निष्ठायें हैं	७९
११. कर्म किये बिना कोई रह ही नहीं सकता	८७
१२. निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है	९६
१३. यज्ञार्थ कर्म बन्धन का कारण नहीं	१०३
१४. परस्पर के सहयोग से ही कार्य सिद्ध होता है	११६
१५. बिना यज्ञ किये जो खाता है वह पाप को ही खाता है	१२१
१६. प्रभु प्रवृत चक्र का अनुवर्तन न करने वाला पापी है	१२८
१७. आत्म तृप्त ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य नहीं	१३६
१८. तू तो भैया निष्काम कर्मों को ही कर	१४२
१९. निष्काम कर्मयोग संसार को अधिक उपयोगी है	१५३
२०. श्रेष्ठ पुरुष कर्म न करें तो सभी अकर्मण्य बन जायेंगे	१६०
२१. अज्ञानियों में बुद्धि भेद पैदा न करें	१६६

२२. कर्म तो प्रकृति द्वारा ही हो रहे हैं १७२
२३. ज्ञानी पुरुष अज्ञों को कर्मों से विचलित न करे १७८
२४. सर्व कर्म समर्पण का फल १८५
२५. ज्ञानी भी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है १९०
२६. स्वधर्म पालन ही श्रेय है, परधर्म भयावह है १९७
२७. हत्या की जड काम ही है २०९
२८. काम के कार्य और अधिष्ठान २१५

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)

छप्पय छन्दों में

सत्यनारायण भगवान् की महिमा अपार है। संसार सत्य के सहारे ही अवस्थित है। सत्य सार है। जगत् असत है। सत्य ज्ञान है, सत्य ही अनन्त अनादि है, सत्य ही ब्रह्म है सत्य पालन ही संसार मे सर्व सुलभ सुखकर सुन्दर साधन है। यह संसार तो सिन्धु के समान है, सत्य का सहारा लेकर ही इसे पार किया जाता है, इसीलिये हम सत्यनारायण भगवान् का व्रत, पूजन तथा अनुष्ठान करते है। कलिकाल में सत्यनारायण व्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिये सत्यनारायण भगवान् का पूजन घर-घर होता है।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है।

भक्तों के बार-बार आग्रह करने पर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने यह पुस्तक छप्पय छन्दों में लिखी है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है, अभी छपी है पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ७५ पैसे।

व्यवस्थापक

अपनी निजी चर्चा

[२]

तस्मादहं विगतविकत्थ ईश्वरस्य,
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् ॥
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥*

(श्री भाग० ७ स्क० ९ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

प्रभु ! अति अशुचि शरीर होहिँ नित नव-नव व्याधी ।
जप्त जाग नहिँ ध्यान धारना सहज समाधी ॥
ज्ञान पंथ अति कठिन भक्ति हित-हिय कस लाऊँ ।
कैसे पूजा करूँ ध्यान किहि भाँति लगाऊँ ॥
सब साधन तें हीन हौं, कस तुमकूँ हिय महँ धरूँ ?
उलटी सुलटी यथा मति, तव महिमा बरनन करूँ ॥

कथा भागवती लिखनी है, इसके पूर्व चर्चा अपनी करनी है,

---

* भगवान् नृसिंह की स्तुति करते हुए प्रह्लाद जी कह रहे हैं—"प्रभो ! यद्यपि मैं नीच हूँ, तो भी बिना संकोच के निर्भय होकर यथामति आपकी उस महिमा का वर्णन करता हूँ, जिसका वर्णन करने से अविद्या-वश संसार चक्र में भटकता हुआ पुरुष तत्काल पावन हो जाता है ।

जीवका धर्म ही है, अपना सिक्का पहिले जमाता है। अपनी बात न बतावे तो वह जीव ही नहीं। अतः जैन धर्म के वशीभूत होकर पहिले अपनी बात बताकर तब भगवत् बानी का विस्तार करूंगा।

हाँ, तो पिछले खण्ड में अपनी निजी चर्चा के प्रसंग में पाठक पाठिकाओं को आश्वासन दिलाया था, कि निजी चर्चा चालू रहेगी उसी क्रम में यह प्रसंग लिखा जा रहा है हाँ, तो कहाँ से आरम्भ करूं। कथा बहुत बड़ी है, और स्थल बहुत संकीर्ण केवल छोटे से एक अध्याय में ही तो लिखना है। अच्छा सुनिये हरिद्वार, कनखल, गरुड़ चट्टी, नर्मदा तट, चित्रकूट आदि से निराश होकर यहाँ त्रिवेणी तट पर आ गया। हंसतीर्थ-सन्ध्यावट सघन छाया, शांत एकांत स्थान, एकाकी कुटिया, एकाकी जीवन, मंत्र जाप ही व्यापार, बिल्व दुग्ध ही आहार। न प्रसिद्धि न प्रतिष्ठा। एक दिन पं० पद्मसिंह जी शर्मा खोजते-खोजते भटकते हुए वहाँ आ पहुँचे। बड़े ही प्रसन्न हुए। बड़े विनोदी थे वे, बोले—"महाराज, बड़े एकान्त स्थान में आकर बैठे हो, यहाँ लीडरों का प्रवेश नहीं। नेता तो वही पहुँचते हैं जहाँ मोटर की सुविधा हो, आपके स्थान को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई।" सचमुच वह स्थान परम एकान्त था, मै स्वच्छता प्रिय तो सदा से ही रहा हूँ, लिपीपुती भूमि मुझे अत्यन्त ही मनोरम प्रतीत होती है गो के गोबर में श्री का निवास है। सात्विकता और शांति का प्रतीक है। सन्ध्या-वट की अपनी नन्हीं-कुटी को मै लिपवा-पुतवाकर खूब स्वच्छ रखता। जो भी आता वही कहता—"काक भुसुंडि का सा आश्रम है, यहाँ कितनी शांति है।

मेरे सभी साथी संगी एक-एक करके चल दिये। सब साथियों के नाम के पीछे स्वर्गीय लगाना पड़ता है। लखनऊ जेल मे हम

२५०-३०० साथी थे, उनमें से अब केवल दो ही चार बचे है, वे भी बोरिया बिस्तर बाँधे तैयार बैठे हैं कहाँ जाते हैं इतने लोग, कैसा चालू मार्ग है, फिर कोई चिट्ठी पत्री भी नही देता। कितने-कितने प्रसिद्ध पुरुष चले गये। दो चार दिन समाचार पत्रों में हो हल्ला मचता है, फिर टांइ-टांइ फिस्स। इसी का नाम जगत् है। जब तक जीते है, हम यह कर देंगे, वह कर देंगे, यह उचित नहीं, वह आदमी भला नहीं, मेरी बात मानोगे तो सब सुखी हो जाओगे। मेरी योजना से सबके दुख दूर हो जायंगे। जब चले गये अपनी अहंमन्यता साथ ले गये। संसार फिर अपनी उसी मंथर गति से चलता रहता है 'मेरी-मेरी कहि जाने मोइ छांडि कित गये।

एक गुरु के चरणों में जाकर शिष्य ने पूछा—"भगवन्! कोई उत्तम उपदेश दें।"

गुरु ने कहा—मुझे भूल जाओ।

शिष्य ने कहा—"यह तो असंभव है।"

गुरु ने कहा—"तब अपने को ही भूल जाओ।"

शिष्य ने कहा—"यह भी कठिन है।"

तब गुरु ने कहा—तब जाओ मन से, वाणी से और कर्म से सबकी सेवा करो, किन्तु उसमें अहंभाव न आने पावे कि यह मैंने किया।

गुरु को भूल जाना त्रिपुटि को मिटाना है ज्ञानमार्ग है। अपने को भूल जाना भक्ति मार्ग है, अहंकार रहित होकर कर्म करते रहना। निष्काम कर्मयोग मार्ग है। जो ज्ञान के अधिकारी नहीं है। वे इसी मार्ग से जा सकते हैं। यही सोचकर कर्म करने की चेष्टा की, किन्तु बीच-बीच में प्रतिष्ठा प्रसिद्धि की वासनाओं ने अपनी अहंकृति ने सब गुड़ गोबर कर दिया।

कुछ पूरा जीवन लिखने नहीं बैठा हूँ, बात इतनी ही बतानी है, कि "भागवती कथा" के लिखने में व्यवधान कैसे पड़ा। भवितव्यता ने, प्रारब्ध ने ही विघ्न डाल दिया। लिखते रहते तो ९ वर्ष में ही १०८ खंड कब के पूरे हो जाते। किन्तु आज भागवती कथा को आरम्भ हुए २३ वर्ष हो गये। संवत् २००३ में प्रथम खंड निकला था। मंथर गति से भी निकलती तो १०। १२ वर्ष लग सकते थे, किन्तु बीच-बीच में वासनाएं उभरती गयीं प्रारब्ध कर्मों के भोग प्रबल होते रहे। यहाँ चलो वहाँ चलो। यह करो वह करो। वहाँ की जेल का जल पीओ, वहाँ की जेल में समय बिताओ। इन सब कारणों से इन २३-२४ वर्षों में ७० ही खंड छप चुके। अंतिम ६८वाँ खंड आज से ९-१० वर्ष पूर्व सं० २०१७ में निकला था, और पाठकों से निवेदन कर दिया था, कि अब इसे अंतिम ही खंड समझें। सब का हिसाब बेबाक करके फिर प्रारब्ध के अधीन होकर इधर-उधर भटकता रहा। १० वर्ष तक बहुत भटका आपको उसका पूरा विवरण दूँ तो दस खंडों में भी नहीं दे सकता। यों ही समझो भाग्य जहाँ नचाता रहा नाचता रहा। श्री वृन्दावन वास के दिनों में गोव्रत काल में गोलोक का पुलिनवास मेला हुआ उसके अनंतर एक ६९वां खंड बीच में सं० २०२२ में पुनः प्रकाशित हो गया। फिर चार वर्ष बीच में बीत गये इसी से पाठकों का प्रयोजन है। पाठकों का भी क्या प्रयोजन है, अपनी सफाई देनी है। सफाई भी कौन माँग रहा है अपने मन की भड़ास निकालनी है। हमने यह-यह बहादुरी की इसी को बताना है। बहादुरी हुई या कायरता हुई इसे तो पाठक ही निर्णय करेंगे।

हिन्दु धर्म की रीढ़ गौ ही है। इसे सभी जानते हैं। गौ के प्रति भक्ति भाव रखना यह हिन्दु धर्म का मूल मंत्र है गौ के बिना

हिन्दु धर्म का कोई भी संस्कार सम्पन्न नहीं हो सकता। इतिहास साक्षी है, हिन्दु धर्म एक मात्र गोभक्ति पर ही अवलंबित है।

जब झूसी में कई सौ गौएँ रखकर गो व्रत किया था, तब गौओं को ही वन में ले जाकर चराते थे। गौओं को कूटू खिला कर उनके गोबर में जो दाने निकलते थे, उन्हीं की रोटी बनाकर खाते थे, गौओं का गोबर उठाते थे, गौओ के ही बीच में सोते थे। पूरा जीवन गो मय था। यह व्रत ६ महीने का था, उस बीच में कई बार स्वर्गीय लाला हरदेव सहाय जी आये। वे गोहत्या बन्दी के लिये अपने ढंग से प्रयत्न करते रहते थे। वे अपने सहयोगियों से मत भेद होने के कारण मेरे पास आये और बोले—"गौरक्षा के लिये उनके सम्मिलित प्रयत्न होना चाहिये। मैं समझता था, गौ का प्रश्न एक ऐसा प्रश्न है, इस पर सभी दल के हिन्दुमात्र एक मत हैं, इसमें कोई कठिनाई न होगी। क्योंकि कांग्रेसी पहिले सब से बड़े गौ भक्त माने जाते थे सरकार की ओर से गो सप्ताह मनाया जाता था। मंत्रीगण लाखों जनता के बीच में बडी श्रद्धा भक्ति से गो को पूजा करते थे। धार्मिक संस्थायें तो सब एक स्वर से गोहत्या बन्दी की माँग करती ही थीं। हमने सोचा—राजनैतिक मतभेद जिन दलों में हो उनमें होता रहे, उससे हमे क्या प्रयोजन, गौ का प्रश्न तो हिन्दु मात्र का धार्मिक समाजिक परम्परागत सनातन सार्वभौम सर्वसम्मत प्रश्न है इसमें सभी राजनैतिक धार्मिक सामाजिक साहित्यिक व्यक्ति सम्मिलित हो जायंगे। इसीलिये तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ के अवसर पर 'गोहत्या निरोध समिति' सभी संत महंत मडलेश्वर नेता तथा समाज के अग्रणियों की सम्मति मे बनायी गयी। सब ने इसे एक स्वर से स्वीकार कर लिया। लाला हरदेव सहाय जी उसके महामंत्री बने। मेरा नाम उन्होंने अध्यक्ष में रख दिया।

यद्यपि मैं आरम्भ से ही किसी सभा संस्था का न सदस्य बनता था। न पदाधिकारी ही। किन्तु लाला जी का अत्यन्त आग्रह था, मैंने इस शर्त पर स्वीकार किया कि आप चाहें मेरा नाम भले ही दे दें। मैं न तो कभी हस्ताक्षर ही करूंगा और न कभी इसका हिसाब किताब भी देखूंगा।" लाला जी अपने ढंग से कार्य करते रहे। मथुरा से कार्य आरम्भ हुआ। वहां वधशाला पर धरना की तैयारियाँ होने लगी। सत्याग्रह की नौबत ही न आई जिलाधीश की बुद्धिमत्ता से वधिकों ने अपने आप वधशाला हटा दी।

इस सफलता से उत्साह बढ़ा, उत्तर प्रदेश विधान सभा के सम्मुख सत्याग्रह किया गया। उन दिनों श्री कन्हैयालाल जी मुंशी राज्यपाल थे। स्वर्गीय बाबू संपूर्णानन्द जी मुख्य मंत्री। मुंशी जी सांस्कृतिक व्यक्ति हैं। बाबू सम्पूर्णानन्द जी से हमारे अत्यंत घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध थे। इसलिये उत्तर प्रदेश में सम्पूर्ण गो वंश की हत्या पर प्रतिबन्ध लगने का कानून बन गया। इससे हमारा उत्साह और बढ़ा। प्रधान मंत्री ने घोषणा कर दी थी कि यह प्रश्न राज्य सरकारों का है वे चाहें तो अपने-अपने राज्यों में गोवध बन्द करा सकती हैं। हमने सोचा—सभी प्रान्तों के मुख्य मंत्री हिन्दु है अपने परिचित है। सभी प्रान्तों में आन्दोलन करके गोवध बंद करा देंगे। इसलिये उत्तर प्रदेश से बिहार गये। बिहार के मुख्य मंत्री श्रीबाबू अपने पुराने परिचित थे और भी सभी मंत्री अधिकारियों से सम्बन्ध था। २२-२३ दिन कारावास में रहना पड़ा किन्तु वहाँ भी कानून बन गया। वहाँ से हम उड़ीसा में जाने वाले थे, तभी तक केन्द्र की ओर से ऐसी कानूनी अड़चनें डाली गयी कि सब किया कराया बेकार-सा हो गया। आगे कुछ करने का मार्ग भी अवरुद्ध सा हो गया। यह बहुत बड़ा प्रसंग है। उसे यहाँ छोड़ ही देते हैं।

५-६ वर्ष प्रतीक्षा करते रहे, जिन लोगों ने सहयोग देने का-साथ कार्य करने का वचन दिया था। उन्होंने भी निभाया नहीं। अपने ही सहयोगियों, मित्रों साथियों को संदेह हो गया। गोहत्या बन्दी का सम्पूर्ण श्रेय ये ही ले जायेंगे। श्रेय का भी झगड़ा पड़ा। लाला हरदेव सहाय जी परलोक वासी हो गये। तब हमने श्रीवृन्दावन जाकर पुनः एक वर्ष का गो सेवा व्रत लिया। अन्नके कूटू न लेकर केवल मात्र गौ के दुग्ध पर ही पूरे वर्ष रहे। यमुना के उस पार गौओं को चराते इस पार आकर गौओं के बीच में रहते। गो सेवा व्रत के बीच में ही प्रधान मंत्री नेहरू जी परलोक वासी बन गये। लालबहादुर जी प्रधान मंत्री बने। उनसे अपना आत्मीय घरेलू सम्बन्ध था। उन्होंने वचन भी दिया था, कि मैं गो हत्याबंद करा दूंगा। किन्तु वे अधिक दिन जीवित न रह सके। रूस में ही उनका प्राणान्त हो गया। उनके स्थान पर इन्दिरा प्रधानमंत्री बनीं।

गो रक्षा का प्रश्न ज्यों का त्यों ही रह गया। अपने में तो उतनी शक्ति नही थी, कि इस प्रश्न पर एक प्रबल संगठन खड़ा कर सकें। गौ के नाम पर जो संगठन थे, वे प्रायः सभी शक्ति हीन थे, उनमें परस्पर में बड़ा भारी मत भेद। श्रेय प्राप्ति की इच्छा सभी को थी। उन सबसे प्रबल इच्छा मेरी थी। श्रेय का बंट बारा न हो सका। किया क्या जाय। मन में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उठने लगे। जिनसे सहयोग की पूरी आशा थी, उनसे निराश होना पड़ा कुछ लोगों ने इस प्रश्न को अपनी बपौती ही मान लिया था। उनका कहना था—कि यह प्रश्न हमारा है हम ही इसके एक मात्र नेता है, दूसरा कोई इस सम्बन्ध में बोल नहीं सकता। बोले तो हमसे पूछकर—हमारे अधीन होकर—बोले। ऐसी अनेक विघ्न बाधायें थीं। एक सबसे बड़ी बाधा और हो

गयी। पहिले यह प्रश्न विशुद्ध धार्मिक था। हिन्दुओं की अपनी निजी धार्मिक मान्यता मानी जाती थी। स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर अन्य धर्मावलम्बी भी अनुभव करने लगे कि जब देश का बँटवारा हो ही गया है तब भारतवर्ष से नियमानुसार गोहत्या बंद हो ही जानी चाहिये। मध्यप्रदेश ने तो स्वराज्य होते ही कानून पास कर दिया था, उत्तर प्रदेश बिहार में भी कानून बन गया। पंजाब में भी प्रतिबंध लग गया। तब राजनैतिक स्वार्थ सिद्धि वालों के कान खड़े हुए उन्होंने अल्प संख्यक और बहु संख्यक का प्रश्न उठाकर इस प्रश्न को शुद्ध राजनैतिक प्रश्न बना दिया। वर्तमान समय की राजनीति इतनी गंदी है, कि जो प्रश्न राजनैतिक बन गया मानों उसकी छीछालेदर हो गयी। भगवान् की इच्छा कहिये, भाग्य का विधान कहिये, संयोग संस्कार कहिये, प्रारब्ध की क्रूर विडम्बना कहिये, गो रक्षा का प्रश्न जो विशुद्ध धार्मिक था विशुद्ध राजनैतिकों के चक्कर में पड़कर उलझ गया। किसने इसे राजनैतिक बना दिया, अब इस बात को न पूछिये। यही कहना उचित होगा, कि भाग्य ने ही ऐसा वीभत्स्य कार्य कर डाला। लोग खिल्ली उड़ाते थे, बड़े गो भक्त बने थे, करा ली गो हत्या बंद, बन गया कानून। कुछ कहते थे ये कल के छोकड़े स्वयंभू नेता बने है। कुछ लोग कहते भारत केवल हिन्दुओं का ही देश थोड़े है, जैसे हिन्दुओं को गोरक्षा का अधिकार है, वैसे ही गैर हिन्दुओं को गोवध का भी अधिकार मिलना चाहिये। कुछ कहते—यदि देश से गोहत्या बंद हो जायगी, तो हम किस मुंह से गैर हिन्दुओं से वोट मांगने जायंगे। वोट भी गोरक्षा के बीच में आ गया। मुझे आश्चर्य हुआ हिन्दुओं मे ही कुछ लोग गो हत्या बन्दी के विरुद्ध थे, जीवन में पहिली बार यह बात सुनने में आई कि हिन्दु नाम धारी खुल्लम खुल्ला इसका

विरोध करने लगे। नहीं तो स्वराज्य के पूर्व एक भी हिन्दु ऐसा नहीं था, जो गो हत्या का समर्थन करे चाहे वह किसी भी दल का क्यों न हो। यह राजनीति क्या-क्या करा लेती है। संस्कृत साहित्य वालों ने राजनीति को वारांगना की उपमा दी है, वह अनेक रूपों में प्रकट होती है। इसके चक्कर में पड़ा मानव मानवता को तिलाञ्जलि दे देता है।

जबसे वृदावन गोव्रत और पुलिन वास मेला समाप्त हुआ, तबसे मन में एक बडी बेचैनी सी हो रही थी, क्या किया जाय, कैसे यह कार्य सम्पन्न हो, जिनसे पूरी सहयोग की आशा थी, उनको और भी अनेकों कार्य थे, गोरक्षा का ही कार्य उनके लिये मुख्य नहीं था। इधर-उधर गये, जनता में तो जोश का ज्वार भाटा आता है, वह अधिक दिन स्थिर नहीं रहता। वैराग्य और बुखार चढ़ते उतरते रहते हैं।

इसी धुनी बुनी में पुनः प्रयाग का कुंभ आ गया। स्थान-स्थान पर गो रक्षा सम्मेलन हुए। किन्तु सम्मेलनों में प्रस्ताव पास हो गये; कर्तव्य की इतिश्री हो गयी। अपने भी पडाल में गोरक्षा सम्मेलन हुए प्रख्यात वक्ताओं ने प्रभावशाली भाषण दिये।

इसी बीच में हमारे एक सहयोगी बन्धु साधु ने अपने बल भरोसे पर इस प्रश्न को उभाडा वे कुछ साधुओं को साथ लेकर गये; संसद के सामने प्रदर्शन भी हुए जेल भी गये; जनता में कुछ जागृति भी आई, किन्तु मामला आगे बढ़ा नहीं। सस्थाओं ने सहयोग नहीं दिया। बड़े लोगों ने रुचि नहीं दिखायी। बात फिर वहाँ की वहीं रह गयी।

मैं जैसे प्रायः प्रतिवर्ष श्रीबद्रीनाथ जाया करता था, उस वर्ष भी गया। मार्ग में मेरे मन में एक संकल्प उठा क्यों न मैं

अनशन करके अपने इस शरीर का परित्याग कर दूँ। जब स्वराज्य हो जाने पर भी एक वर्ष तक गोहत्या बंद नहीं हुई—जिसकी कि हम स्वराज्य के प्रथम दिन ही होने की पूर्ण आशा बाँधे बैठे थे, तब मेरे मन में आई क्यों न मैं इस प्रश्न पर अनशन करके शरीर को समाप्त कर दूँ। एक व्यक्ति ने आन्ध्र को मद्रास प्रान्त से पृथक् करने के प्रश्न पर अनशन करके शरीर समाप्त कर दिया था और उसके शरीरांत के पश्चात् ही पृथक् आन्ध्र प्रान्त बन गया, तो उसी से मुझे प्रेरणा मिली। जब एक प्रान्त को पृथक् करने के लिए उन्होंने शरीर त्याग दिया, तो मैं गौ की रक्षा के लिये तन त्यागना चाहता हूँ। इसकी मैंने अपने परिचित बन्धुओं में चर्चा की। सबने असहमति प्रकट की, तत् कालीन राष्ट्रपति ने भी ऐसा न करने का आग्रह किया। अपनी भी कमजोरी थी, शरीर त्याग देना कोई सहज कार्य थोड़े ही है। उस समय वह इच्छा दब गयी। अब के वह पुनः प्रबल हो गयी। बहुत रोकने पर भी मैं अपने को रोक न सका और मैंने इसकी घोषणा कर ही तो दी। 'कल्याण' में एक लेख प्रकाशित किया और यह भी निवेदन कर दिया—जो मेरे साथ अनशन करना चाहें, वे भी अपने नाम भेजें। बहुत से लोगों ने नाम भेजे।

उस समय कोई दंभ नहीं था, बनावट नहीं थी, सन्देह भी नहीं था, यह दृढ़ निश्चय था, कि अब तो शरीर छूट ही जायगा। अपनी अन्तरात्मा को टटोला, कोई वासना तो नहीं है। सोचते-सोचते मन में आया, एक बार समस्त तीर्थों की यात्रा और करलें। अनशन की तिथि हमने गोपाष्टमी रखी थी, लगभग एक वर्ष का समय था। सोचा अब के अंतिम बार खूब धूम-धाम से तीर्थों की यात्रा कर लें।

जब दधीचि मुनि से देवता लोग वृत्रासुर को मारने को उनकी हड्डी माँगने गये, तब ऋषि ने कहा—"शरीर तो मैं त्याग दूँगा, तुम मेरी अस्थियों से वज्र बना लेना, किन्तु मेरी इच्छा समस्त तीर्थों की यात्रा करने की शेष है।"

देवताओं का तो स्वार्थ था, वे सोचने लगे—"न जाने ऋषिवर कितने दिनों तक तीर्थ यात्रा करते रहें। उन्हें तो अपनी स्वार्थ सिद्धि की शीघ्रता थी देवताओं ने कहा—"ब्रह्मन्! आप तीर्थों में कहाँ भटकते फिरोगे तीर्थ यात्रा में बड़ा कष्ट होता है। आपको तो तीर्थों में स्नान ही करना है न? हम यदि सब तीर्थों को यहीं बुला दें तो?"

ऋषि को इसमें क्या आपत्ति होनी थी। ऋषि जिस तीर्थ का नाम लेते वही तीर्थ देवताओं के प्रभाव से वहाँ आ जाता।" इस प्रकार दधीचि मुनि ने तो नैमिषारण्य में बैठे ही बैठे सब तीर्थ कर लिये। मेरे लिये सब तीर्थों को कौन बुलाता? इसलिये एक तीर्थ यात्रा गाड़ी चलाने का निश्चय किया। वृंदावन से श्री बलदेवाचार्य प्रतिवर्ष गाड़ी ले जाते थे उन्हीं की वह गाड़ी थी, मुझे न उससे कुछ हानि थी, न किसी प्रकार का आर्थिक लाभ? आलोचकों ने तो झूठा हल्ला उड़ा दिया—ब्रह्मचारी जी को इससे इतना लाभ हुआ है।" किन्तु यह एक दम सफेद झूठ। जिनकी गाड़ी थी लाभ उन्हीं को हुआ होगा।

एक बात और है। प्राणी स्वभाव के वशीभूत होकर ही सब कार्य करता है। एक राजा के पुत्र हुआ। उस पुत्र के जैसे सबके चोक के आगे चार दाँत होते है, उसके तीन ही दाँत थे। प्रायः चार के स्थान में दो दाँत वाले तो बहुत मिल जाते है, तीन दाँत वाले कोई विरले ही होते हैं। तीन दाँत होना दोष माना जाता है। ज्योतिषियों ने राजा से कहा—"महाराज! इस लड़के को

आप अपने राज्य से निकाल दें नहीं तो यह आप के राज्य को चौपट कर देगा।"

उन दिनों ज्योतिषियों को बहुत चलती थी। राजा ने राजकुमार को निकाल दिया। फिर भी अपना पुत्र ही ठहरा। उसकी मासिक वृत्ति बांध दी। १०-५ हजार मासिक जहाँ भी वह रहता उसको भेज देते। जिस दिन उसे वृत्ति के रुपये मिलते उसी दिन वह उन्हें व्यय कर देता। २९ दिनों ऐसे ही मारा-मारा फिरता रहता। उसके पास पैसे टिक ही नहीं सकते थे। प्राणी संस्कारों से विवश है। जिन पर यथेष्ठ धन है, वे चाहते हुए भी उन्हें व्यय नहीं कर सकते। उनके भाग्य में व्यय करना लिखा ही नहीं। अतः कोई कृपणता करे उसकी निंदा नहीं करनी चाहिये। कोई आते ही धन को आनन फानन में उड़ा दे उसकी स्तुति भी न करनी चाहिये, क्योंकि दोनों अपनी-अपनी प्रकृति से विवश होकर वर्ताव कर रहे हैं। जो दूसरों की निंदा करते हैं वे अच्छा काम नहीं करते। किन्तु वे भी विचारे क्या करें वे भी अपनी प्रकृति से विवश हैं, जिनकी निंदा करने की आदत है, वे बिना निंदा किये रह ही नहीं सकते सभी स्वभाव के वशीभूत होकर पूर्व जन्म की प्रकृति के अनुसार वर्ताव कर रहे हैं।

मेरे भी तीन ही दाँत हैं, सब मुझे बालक पन में त्रिदंता-त्रिदंता कह कर चिढ़ाते थे। मेरे ऊपर भी सदा कर्जा लदा रहता है। लोग कहते हैं "तेते पैर पसारियो जेती लंबी सौर।" किन्तु मेरे पास सौर ही नहीं इसलिये खूब कसकर पैर फैलाता हूँ। खर्च लाखों का बंधी आमदनी नहीं के समान। कर्जा बना ही रहता है। हमारे स्वर्गीय जुगलकिशोर जी बिरला कहा करते थे—"ब्रह्मचारी जी की यह आदत मुझे बहुत बुरी लगती है, वे कर्जा कर लेते हैं।" किन्तु मैं जान बूझ कर थोड़े ही करता हूँ,

हो जाता है। वे तथा कानपुर की मौजी प्रायः मेरे कर्जों को चुकाते रहते थे। अब दोनों ही परलोक वासी बन गये। अब श्यामसुंदर किसी दूसरे से चुकवाते हैं। उन्हीं का एक मात्र सहारा है। उनकी कृपा के अतिरिक्त मेरे पास और है ही क्या ?

हाँ तो उस समय मैंने विचारा मेरे ऊपर कितना कर्जा है। सोचने पर लगभग दस हजार निकला। अपने एक घनिष्ट सम्बन्धी से कहा। उन्होंने वचन दिया—"मैं दस हजार रुपये दे दूँगा।" इस प्रकार सबसे निश्चिन्त होकर मैंने मरने का निश्चय कर लिया।

स्थान तो भर गया। अब कैसे मृत्यु आई और कैसे मैं बच गया। इस प्रकरण को अगले खंड में पढ़िये।

छप्पय

आत्म लाभ भगवान सुयश निज नहीं लिखावैं।
चाहिँ प्रशंसा नहीं-नहीं वैभव दरसावैं॥
पूजा चाहैं नहीं किन्तु करुनावश स्वामी।
स्वीकारैं करि दया भक्त हित अन्तरजामी॥
मुख मंडित जैसो करो, तैसो दरपन में खिलै।
मान भक्त जस करै प्रभु, तस ही ताही कूँ मिलै॥

गीता-माहात्म्य

[२]

(द्वितीय-अध्याय)

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीता ज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम् ॥ *

(वाराह पुराण)

छप्पय

गीता को अध्याय दूसरो अति सुखदाई ।
प्रेम सहित पढ़ि गुनै मुक्ति ताकी है जाई ॥
मित्रवान् द्विज कहो देवशर्मा तैं महिमा ।
ज्ञान द्वितिय अध्याय परमपद देवै जग माँ ॥
निज अनुभव द्विजतैं कह्यो, अजापाल बनि बसहुँ वन ।
करत-करत नित पाठ मम, अति ही इस्थिर भयो मन ॥

बोध के लिये बहुत अधिक पोथी पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती । बोध तो एक बात से हो जाता है, जो शिक्षा मिले उसे जीवन में आत्मसात करले । तब तो वह शिक्षा फलवती होती

---

* श्री भगवान् कह रहे हैं—"मैं गीता के ही आश्रय से बैठता हूँ गीता ही मेरा सर्वोत्तम गृह है, गीता ज्ञान का आश्रय लेकर ही मैं तीनों लोकों का पालन करता हूँ ।

है, यदि केवल तोता रटन्त ही है, तो शास्त्रों को पढ़ लेने पर भी मूर्ख के मूर्ख ही बने रहोगे। क्रियावान पुरुष ही वास्तव में विद्वान है। यदि उपदेश लग जाय तब तो साधारण आदमी का भी एक वचन बहुत है। एक जिज्ञासु साधक थे। उनके बाल बच्चे समर्थ हो गये थे। वे सोच रहे थे—"अब चलकर वृन्दावन में वास करूँ, वहीं भगवत् भक्ति में जीवन बिता दूँ। फिर घर का मोह घर दबाता सोचते मेरे पौत्र बड़े हो जाँय पौत्री का विवाह हो जाय। लड़कों का काम कैसे चलेगा। फिर सोचते भगवान् सब चला देंगे।" इस प्रकार वे द्विविधा में पड़े हुए थे।

एक दिन अपनी दुकान के सामने खड़े हुए थे। सड़क पर झाड़ू देते-देते भंगिनि आई और बोली—"लाला जी, एक तरफ हो जाइये, एक तरफ हो जाइये।" लाला जी, का मोह भंग हुआ। वे जैसे बैठे थे, वैसे ही भजन करने श्री वृन्दावन चले गये, एक तरफ हो गये। किसी प्रकार एक भी उपदेश भली भाँति लग जाय, अन्तःकरण में घुसकर आर पार हो जाय। वही सच्ची लगन है।

लागी-लागी सब कहें, लागी बुरी बलाय।
लागी तब ही जानियो, जब आर पार ह्वै जाय॥

सूत जी कहते है—"मुनियो! पिछली बार मैंने आपको श्रीमद्भगवत्गीता के प्रथम अध्याय का माहात्म्य सुनाया था। अब जिस प्रकार पार्वती जी के पूछने पर शिवजी ने उन्हें गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य सुनाया, उसी को मैं आपको सुनाता हूँ, आप सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा कीजिये।"

भगवती पार्वती जी ने भोले बाला शंकर जी से फिर पूछा—

"प्राणनाथ ! गीता के प्रथम अध्याय का तो मैं माहात्म्य सुन चुकी, आप कृपा करके मुझे द्वितीय अध्याय का माहात्म्य और सुना दीजिये।"

इस पर भोले बाबा शंकर जी ने कहा—प्रिये ! यही प्रश्न लक्ष्मी जी ने पुनः भगवान् विष्णु से पूछा था, उसी को मैं आपको सुनाऊंगा।

लक्ष्मी जी ने कहा—"प्रभो ! अब आप मुझे श्रीमद्भगवत्-गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य सुना दो।"

भगवान् ने कहा—"भामिनि ! तुम दत्त चित्त होकर द्वितीय अध्याय के माहात्म्य को श्रवण करो। प्राचीनकाल में दक्षिण दिशा में पुरन्दर पुर नाम का एक बड़ा ही समृद्धशाली नगर था। वह नगर ब्राह्मीश्री से युक्त था, उसमें स्वधर्म में निरत जप अनुष्ठान करने वाले अतिथियों से पूजक ब्राह्मण निवास करते थे। उन्हीं ब्राह्मणों में से देवशर्मा नाम के एक शान्त दान्त संयमी सदाचारी कर्तव्य परायण ब्राह्मण थे। वे अतिथियों के पूजक, स्वाध्यायशील, वेदशास्त्रों के विशेषज्ञ, यज्ञ यागों में लगे रहने वाले द्विज थे। वे सदा कर्मकांड में निरत रहते। द्रव्यों के द्वारा अग्नि में हवन करके निरन्तर देवताओं को सन्तुष्ट करते रहते थे। इस प्रकार वे धर्मात्मा ब्राह्मण चिरकाल तक वैदिक कर्मकाण्डों में निरत रहे, किन्तु उन्हे निरन्तर रहने वाली शाश्वती शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई। वे निरन्तर यही सोचते रहते थे, कि मेरी साधना में क्या त्रुटि रह गयी है, मुझमें ऐसी कौन सी कमी अवशेष है, जिससे मुझे कभी भी नष्ट न होने वाली शांति नहीं मिल रही है। वे अतिथियों के परम भक्त थे, जो भी उनके घर पर अतिथि के रूप में आ जाता, उनकी यथा साध्य यथा शक्ति सभी द्रव्यों से पूजा करते। उनका स्नेह पूर्वक आतिथ्य सत्कार करते। उनके

आतिथ्य तथा प्रेम पूर्वक बर्ताव के कारण उनके यहाँ बड़े-बड़े सत्य-संकल्प संत महात्मा तथा तपस्वी पुरुष आने लगे। वे सभी के सम्मुख शाश्वती शांति के लिये प्रार्थना करते। एकदिन उनके यहाँ एक बड़े ही त्यागी विरागी शांत महात्मा पधारे। ब्राह्मण ने उनका भक्ति भाव से स्वागत सत्कार किया। उनकी विधिवत् पूजा की अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थों द्वारा श्रद्धासहित उन्हें भोजन कराया। जब वे महात्मा प्रसाद पाकर आराम करने लगे, तब उनके चरणों को दबाते हुए ब्राह्मण ने उनसे प्रश्न किया—"भगवन् आप पूर्ण अनुभवी हैं, आपका चित्त परमशांत है, आपको किसी संसारी वस्तु की आकांक्षा भी नहीं है, आपनिरन्तर ध्यान में ही निमग्न रहत हैं। ऐसी स्थिति आपको किस साधन द्वारा प्राप्त हुई। प्रभो! मुझे शांति नहीं। शाश्वती शांति कैसे प्राप्त हो, कृपा करके इसका उपाय मुझे बता दें यदि आप मुझे इसका अधिकारी समझते हों तो?"

यह सुनकर वे संत कुछ देर सोचते रहे और फिर बोले—"ब्रह्मन्! मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। हाँ, मैं एक ऐसे व्यक्ति को बता सकता हूँ, जो आपके इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे सकता है।"

देवशर्मा ने कहा—"ब्रह्मन्! आप मुझे उन्हीं महापुरुष का पता बता दें, जो मुझे उचित साधन बता सकें। उनका क्या नाम है?"

महात्मा ने कहा—"उन महापुरुष का नाम है, मित्रवान्।"

देवशर्मा ने पूछा—"प्रभो! वे महात्मा कहाँ रहते हैं? क्या कार्य करते है, मुझे उनके दर्शन कैसे प्राप्त हो सकेंगे?"

महात्मा ने कहा—"वे संत महात्मा का वेष बनाकर घर-घर भिक्षा नहीं माँगते फिरते। वे तो सर्व साधारण मनुष्य के वेष में सौपुर नाम के ग्राम में निवास करते है, नगर के उत्तर भाग

में एक विशाल वन है, उसमें वे बकरी चराया करते हैं। वे बकरियों के चराने वाले के नाम से विख्यात हैं। सोपुर ग्राम बहुत विख्यात है बहुत समृद्धशाली है, वहाँ जाकर पूछने से सभी उन बकरी वाले चरवाहे का पता बता देंगे।"

यह सुनकर देवशर्मा को बड़ा हर्ष हुआ। महात्मा के चले जाने के पश्चात् वे सोपुर नाम के ग्राम में गये, जिस वन में वे बकरियों को चराया करते थे, लोगों ने उसका पता बता दिया। देवशर्मा उसी वन में चले गये। उन्होंने वहाँ जाकर क्या देखा कि वह वन बड़ा विशाल है, उसके समीप ही एक छोटी सी नदी, कल-कल करती हुई मंद-मंद गति से बह रही है, बहुत सी बकरियाँ उस वन में चर रही हैं। नदी के तट पर एक बहुत बड़े शिला खंड पर—एक व्यक्ति बैठा है। उसके नेत्र आनन्दातिरेक से निश्चल हो रहे है। वह शून्य में निहार रहा है, उसके पलक नहीं गिरते। वह ध्यानमग्न अवस्था में बैठा हुआ है। देव शर्मा समझ गया, ये ही मित्रवान् हैं।

उस वन में प्रवेश करते ही देवशर्मा का मन प्रसन्न हो गया। वह वन परम शांत था, उसमें शीतल मंद सुगन्धित वायु बह रही थी, चारों ओर शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ था, मृगों के झुंड के झुंड शान्त भाव से विचरण कर रहे थे, कुछ वृक्षों के नीचे बैठे जुगार कर रहे थे, बहुत से सिंह व्याघ्र अपनी स्वाभाविक हिंसा की वृत्ति का त्याग कर घूम रहे थे। सभी जीव परस्पर का स्वाभाविक विरोध त्याग कर मित्र भाव से विचरण कर रहे थे। परस्पर विरोधी जन्तु एक साथ रहते हुए किसी को कष्ट नहीं पहुँचा रहे थे। सिंह और बकरी एक ही घाट पर पास-पास में पानी पी रहे थे। सब निर्भय होकर वन में भ्रमण कर रहे थे। मित्रवान् सबके ऊपर कृपा की दृष्टि फेरता हुआ

मानों अमृत छिड़क रहा हो। देवशर्मा उस वन की शांति देखकर परम विस्मित हो गया। वह शनैः शनैः मित्रवान् के समीप गया। मित्रवान् ने जब देवशर्मा को देखा तो उसने हाथ जोड़कर सिर झुका कर उन्हें प्रणाम किया। मित्रवान् के अभिवादन को स्वीकार करते हुए देवशर्मा ने उनसे पूछा—"महाभाग! आप परम शांत है, आपके इस वन में भी ब्राह्मी श्रीविराजमान है, चारों ओर परम शांति छायी हुई है, इसका क्या कारण है। मैं आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, जिससे मुझे शाश्वती शांति प्राप्त हो। आप मुझे ऐसा कोई साधन बतावें जिससे मेरी चिरकाल की अभिलाषा पूरी हो। आप मुझे ऐसा उपदेश करें जिससे मुझे परम सिद्धि प्राप्त हो सके।"

यह सुनकर वह अजापाल मित्रवान् परम प्रसन्न हुआ। कुछ देर शांत गम्भीर भाव से कुछ सोचता रहा। फिर बड़ी ही गम्भीर वाणी से उसने कहना आरम्भ किया—"द्विजवर! मैं आपको अपना अनुभव सुनाये देता हूँ, उसी से आपके प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा। मैं चिरकाल से इसी वन में बकरियों को चराता रहता हूँ। एक दिन की बात है, कि मैं बकरियों को चरा रहा था, उसी समय एक भयंकर व्याघ्र मुझे अपनी ही ओर आता हुआ दृष्टि गोचर हुआ। मैं भय के कारण काँपने लगा। मैंने बकरियों को बड़े वेग से भगाया और स्वयं भी उनके पीछे-पीछे पूरी शक्ति से भागने लगा। भागते-भागते हम नदी के किनारे आ पहुँचे। व्याघ्र भी हमारा पीछा कर रहा था। उसी समय मैंने एक अद्भुत घटना देखी।"

देवशर्मा ने पूछा—"आपने कौन सी अद्भुत घटना देखी?"

मित्रवान् ने कहा—"हमारी बकरियों में से एक बकरी एक स्थान पर निर्भय होकर खड़ी हो गयी। वह व्याघ्र भी पीछा

करता हुआ वहाँ आ गया और वह भी शांत भाव से बकरी के पास खडा हो गया। व्याघ्र को अपने समीप शांत भाव से खड़ा देखकर बकरी ने कहा—"व्याघ्र ! तुम खड़े क्यों हो, मुझे खाकर अपनी भूख को शान्त क्यों नही कर लेते, तुम्हें तो तुम्हारे अनुकूल अभीष्ट भोजन प्राप्त हुआ है। मुझे मार कर मेरे मांस से अपनी तृप्ति कर लो।"

व्याघ्र ने कहा—"यद्यपि मुझे आज बहुत भूख लग रही है, फिर भी न जाने क्या बात है तुम्हें मारकर खाने का मेरा मन नहीं कर रहा है ?"

बकरी ने पूछा—"बात क्या है, तुम तो शिकार को पाते ही उस पर टूट पड़ने वाले व्याघ्र हो, तिस पर भी भूखे बाघ।"

व्याघ्र ने कहा—"तुम जो कहती हो, वह सब ठीक ही है किन्तु न जाने क्यों इस स्थान पर आते ही मेरा सभी वैरभाव समाप्त हो गया है, मेरी भूख प्यास भी चली गयी। मैं एक अपूर्व शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ।"

बकरी ने कहा—"तुम सच कहते हो, मै तो व्याघ्रका नाम सुनकर ही भय से थर-थर काँपने वाली बकरी हूँ, किन्तु इस स्थान पर आते ही न जाने क्यों मेरा भय भग गया है, मै अपने को सर्वथा निर्भय अनुभव कर रही हूँ। आप इसका कारण जानते हैं ?"

व्याघ्र ने कहा—"मैं तो जानता नही। अवश्य ही कोई इस स्थान में विलक्षण बात है। चलो सामने खड़े हुए इन अजापाल महापुरुष से पूछें।"

मित्रवान् देवशर्मा से कह रहे हैं— 'ब्रह्मन् ! उन दोनों की बातें मै दूर खड़ा-खड़ा सुन रहा था। मुझे खड़ा देखकर मेरी अन्य बकरियाँ भी वहाँ निर्भय होकर खड़ी हो गयीं।

मुझे भी उस स्थान में परम शान्ति का अनुभव होने लगा। वह बकरी और व्याघ्र मेरे समीप आये और मुझसे ही पूछने लगे। व्याघ्र ने मुझसे पूछा—"महाभाग! आप जानते है, हमारा स्वाभाविक वैर यहाँ आकर क्यों छूट गया? मेरी भूख प्यास यहाँ क्यों समाप्त हो गयी।"

उन दोनों के ऐसे मैत्री भाव को देखकर मुझे भी परम विस्मय हो रहा था। मैंने कहा—"व्याघ्रराज! मैं भी इसका कारण नहीं जानता। मैं भी मानसिक शांति का इस स्थान पर आते ही अनुभव कर रहा हूँ। इस सघन वृक्ष पर एक बहुत ही बूढ़ा वानरराज विराजमान् है। सम्भव है, उसे इसका कारण मालूम हो। हम सब चलकर इस वानरराज से इसका कारण पूछें।"

मित्रवान् कह रहे हैं—"सो, ब्रह्मन्! हम तीनों ही उस वानरराज के समीप गये। मैंने वानर को सभी बात बताकर उससे पूछा—"इस स्थान में आते ही सबका स्वाभाविक वैरभाव क्यों छूट गया है। यदि आप इसका कारण जानते हों, तो हमें बतावें।"

इस पर वानरराज ने कहा—"अजापाल जी! यह बडी ही रहस्यमयी बात है। इसके पीछे एक अत्यन्त प्राचीन इतिहास है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप सब उसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

यह जो वन में सम्मुख आपको बहुत प्राचीन बडा भारी मन्दिर दिखायी देता है, इसमे एक बहुत ही प्राचीन शिवलिङ्ग है, सुनते हैं स्वयं ब्रह्माजी ने इस शिवलिङ्ग की स्थापना की थी। इस मन्दिर में कुछ दिन पूर्व एक सुकर्मा नाम के महात्मा रहते थे। वे बड़े ही विनम्र संयमी तथा सदाचारी थे। नित्य प्रति वन से चुन-चुनकर पुष्प तथा बिल्वपत्र लाते, नदी से जल लाकर

शिवजी की श्रद्धा से पूजा करते और वन के कन्द मूल फल लाकर उन्हें भगवान् के अर्पण करके उन्हीं से अपना निर्वाह करते तथा जो अतिथि अभ्यागत आ जाते उनका भी उन्हीं वन्य फल मूलों से स्वागत सत्कार करते। इस प्रकार शिवजी की आराधना करते उन्हें बहुत वर्ष व्यतीत हो गये।

एक दिन एक बहुत ही योग्य अतिथि उनके समीप आये। सुकर्मा ने उनका बडी श्रद्धाभक्ति से स्वागत सत्कार किया। उन्हें वन से कन्द मूल फल लाकर भोजन कराया। जब वे भोजन करके विश्राम करने लगे, तब सुकर्मा ने उनसे पूछा—"ब्रह्मन्! मैं यहां रह कर शिव जी की सेवा करता हूँ।"

उन माहात्मा ने पूछा—"आप किस कामना से शिवजी की आराधना करते हैं?"

सुकर्मा ने कहा—"विद्वन्! मैं केवल तत्त्वज्ञान की अभिलाषा से ही शिवजी की आराधना करता हूँ। मेरी कोई संसारी वासना नहीं। मैं शाश्वती शान्ति चाहता हूँ। मेरा अहोभाग्य जो आज आपके देवदुलभ दर्शन प्राप्त हुए। आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें। परम शान्ति के लिये मुझे आप कोई उपाय बतावें।"

वे महात्मा सिद्ध थे, तपोधन और ब्रह्मवेत्ता थे। सुकर्मा के सद्व्यवहार से और उनके विनीत मधुर वचनों से वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने एक शिलाखंड पर गीता का द्वितीय अध्याय लिख दिया। और सुकर्मा से कहा—"ब्रह्मन् आप इसका ही पाठ नित्य प्रति श्रद्धा भक्ति के साथ किया करें। इसी से आपको परम सिद्धि प्राप्त हो जायगी।" ऐसा कहकर वे महापुरुष सुकर्मा के देखते ही देखते वहीं उसी स्थान पर अन्तर्धान हो गये।

वानरराज अजापाल से कह रहा है—"सो अजापाल सुकर्मा ब्राह्मण गीता के द्वितीय अध्याय को प्राप्त करके कृतार्थ हो गया।

वह नित्य प्रति अत्यंत श्रद्धा भक्ति से गीता के दूसरे अध्याय का पाठ करता मनन करता और निरंतर उसी के चिंतन में निमग्न रहता। दीर्घकाल तक निरालस्य होकर वह यही तपस्या करता रहा। इसके कारण उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। उन्हीं की तपस्या के प्रभाव से यह वन इतना शांत है, वे यहाँ से जाकर और भी अनेक स्थानों में रहे। वे जहाँ-जहाँ भी रहे वही स्थान तपोवन बन गया। वहाँ शीत उष्ण, भूख प्यास, रागद्वेष आदि की समस्त बाधायें दूर हो गयीं। इसी कारण बकरी और व्याघ्र अपने स्वाभाविक वैर भाव को भूलकर परस्पर में मैत्री भाव का व्यवहार करने लगे हैं।"

अजापाल मित्रवान् देवशर्मा से कह रहे हैं—"सो, ब्रह्मन्! वानरराज के कहने पर मैं बकरी और व्याघ्र के साथ उस जीर्ण शीर्ण मन्दिर के निकट गया। वहाँ एक शिला पर गीता का द्वितीय अध्याय खुदा था। मैंने उसे पढ़ा और कंठस्थ कर लिया। उसी की निरन्तर आवृत्ति करने से मैंने तपस्या का पार पा लिया है, शाश्वती शांति की उपलब्धि कर ली है। आप भी गीता के द्वितीय अध्याय को पढ़ो, उसका मनन करो और नित्य उसी की आवृत्ति किया करो आपको परमशांति प्राप्त हो जायगी।"

देवशर्मा यह सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुआ उसने मित्रवान् का अभिनन्दन किया, उनका पूजन किया और प्रणाम करके अपने नगर पुरन्दर पुर की ओर चल दिया। वहाँ एक देवालय में सुकर्मा मुनि मिल गये। देवशर्मा ने कहा—"ब्रह्मन् मैं गीता का द्वितीय अध्याय आपके ही श्रीमुख से पढ़ना चाहता हूँ। आप मुझे उसका गूढ़ रहस्य समझा दें।"

यह सुनकर सुकर्मा मुनि परम प्रसन्न हुए। देवशर्मा को सच्चा अधिकारी समझ कर उन्होंने उनको गीता के दूसरे

अध्याय का उपदेश दिया। महामुनि सुकर्मा से उपदेश पाकर देवशर्मा कृतार्थ हो गये। वे नित्य नियम से गीता के दूसरे अध्याय का पाठ किया करते इसी से उन्होंने परमपद को प्राप्त कर लिया।

भगवान् विष्णु श्री लक्ष्मी जी से कह रहे हैं—"देवि! यही श्रीमद्भगवत् गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य है। अब तीसरे अध्याय का भी माहात्म्य मै तुम्हें सुनाऊँगा।

सूत जी शौनकादि मुनियों से कह रहे है—सो महाराज, यह मैंने आपको गीता के द्वितीय अध्याय का महात्म्य सुनाया। तृतीय अध्याय का आगे (इससे अगले खड़ में) सुनाऊँगा।

छप्पय

वन में बकरी चरहिं व्याघ्र इक भूखो आयो।
लै बकरी हौं भग्यो व्याघ्र निज बैर भुलायो॥
वन प्रभाव कपि कह्यो सुकर्मा पढ़िकें गीता।
नित दूसर अध्याय पाठ करि तजि भयभीता॥
अजापाल तैं सकल सुनि, भये देवशर्मा अभय।
पढ़ि दूसर अध्याय नित, छूटे सबको जगत भय॥

स्थितप्रज्ञ के लक्षण (२)

[२९]

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

[श्रीभग० गी० २ अ०, ५७, ५८ श्लो०]

छप्पय

सदा रहै निरलेप नहीं अनुकूल [illegible] है ।
नेह रहित व्यवहार नहीं प्रतिकूल [illegible] है ॥
कोई शुभ मिलि जाय हरष [illegible] नहिं [illegible] ।
मिलि जावै यदि अशुभ [illegible] नहिं [illegible] ॥
इस्तुति निन्दातैं [illegible] बनावते ।
रहै प्रतिष्ठित बुद्धि [illegible] कहावते ॥

प्रेम कहो, राग कहो स्नेह कहो, ये सब बन्धन के कारण हैं। संसार में अनेक प्रकार के बन्धन हैं, किन्तु प्रेम की रज्जु का बन्धन सबसे दृढ़ होता है, वह छुटाये नहीं छुटता। किसी संसारी वस्तु में –संसारी पुरुष में–जो सात्विक अनुराग होता है, उसे प्रेम कहते हैं। वही अनुराग यदि रजोगुण वाला हो, तो चित्त की वृत्तियों को तन्मय करने वाला—उसे रंगने वाला-राग कहलाता है तथा वही अनुराग तमोगुण से अभिभूत हो तो उसका नाम स्नेह है। जो स्नेहवान् है, वह रात्रिदिन जलता रहता है। स्नेह चिकनाहट को कहते हैं। दीपक में जब तक स्नेह चिकनाई –तेल-घी– रहेगा, तब तक जलता ही रहेगा। जहाँ स्नेह–चिकनाई–समाप्त हुई, तहाँ उसकी जलन भी समाप्त हो जाती है। इसीलिये जानकी जी ने हनुमान जी से कहा था—"हनुमान्! वे महात्मा ही धन्य हैं, जिनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। जिनको प्रिय की प्राप्ति में कोई हर्ष नहीं, अप्रिय की प्राप्ति में कोई विषाद नहीं, जिनकी वृत्ति प्रिय और अप्रिय में दुःख तथा सुख में सम रहती है, ऐसे महात्माओं को मैं प्रणाम करती हूँ।" हनुमान्! मेरा राघव के प्रति स्नेह है, इसलिये मै अहर्निशि उन्ही की स्मृति में जलती रहती हूँ।

एक बात और भी समझ लेनी चाहिये कि ये प्रेम, राग और स्नेह संसारी वस्तुओं में संसारी पुरुषों मे ही बन्धन के कारण हैं। यदि ये ही भगवान् के सम्बन्ध हों, तो श्रद्धा, रति भक्ति तथा प्रेम के नाम से अत्यन्त ही पवित्र होते हैं तथा भगवत् साक्षात् के प्रधान कारण बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन ने भगवान् से चार प्रश्न किये थे (१) स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं, (२) स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है, (३) स्थितप्रज्ञ कैसे भाषण करता है, (४) और कैसे चलता फिरता

है। स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं, इसका उत्तर तो दे चुके अब वह कैसे बोलता है और कैसे रहता है, इन प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं। पहिले यही बतावेंगे कि उसके बचन कैसे होते हैं, वह बोलता है तो कैसी भाषा में बोलता है।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन अपने से सम्बन्ध रखने वाली अपने को प्रिय लगने वाली वस्तुओं में स्नेह होना स्वाभाविक है जैव धर्म है, जो वस्तु हमें रुचिकर है उनके प्रति आसक्ति-राग हो ही जाता है, किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष सभी पदार्थों में अनभिस्नेह-आसक्ति से रहित होता है। उसे इन्द्रियों के अनुकूल पदार्थ मिल जायँ, तो उनमें राग नहीं होता, प्रतिकूल मिल जायँ, तो द्वेष नहीं होता। शुभ मिल जायँ तो हर्ष नहीं होता अशुभ मिल जायँ तो विषाद् नहीं होता। अच्छे पदार्थ मिल जायँ तो सुख नहीं होता, बुरे पदार्थ मिल जायँ तो दुःख नहीं होता। जिसकी बुद्धि अनुकूल प्रतिकूल, शुभ अशुभ तथा दुःख सुख में सम रहती है, यदि अनुकूल अथवा शुभ पदार्थ प्राप्त हो जायँ तो उसका अत्यधिक अभिनन्दन नहीं करता उसे प्राप्त करके हर्षातिरेक में अन्धा नहीं हो जाता, फूलकर कुप्पा नहीं बन जाता, तथा प्रतिकूल अशुभ को प्राप्त द्वेष ईर्ष्या अथवा विषाद नहीं करता समझना चाहिये उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है वही स्थितप्रज्ञ है।

शौनक जी ने पूछा—सूत जी! सुख और दुःख तो हमें पूर्व जन्म के पुण्य पापों के अनुसार प्रारब्धवश ही मिलते हैं। उनके प्राप्त होने पर हर्ष विषाद का होना स्वाभाविक है। स्थितिप्रज्ञ महापुरुष का शरीर भी प्रारब्धानुसार ही रहता है, कैसा भी त्यागी विरागी हो उसे भी भोग प्रारब्धानुसार ही मिलते है। हमने ऐसे लोग देखे हैं, कि बड़े त्यागी, बड़े विद्वान्, बड़े वैराग्यवान् है, फिर भी उन्हें भोगने को सुन्दर-सुन्दर इन्द्रियों को सुख देने

वाले पदार्थ मिलते हैं, इसके विपरीत वैसे ही वैराग्यवान् त्यागी विरक्तमहापुरुषों को कभी-कभी भर पेट भिक्षा भी नहीं मिलती। तो अनुकूल में हर्ष और प्रतिकूल में विषाद के भाव तो प्रारब्धानुसार होंगे ?

सूत जी ने कहा—भगवन् ! यही एक समझने की बात है। आपका यह कहना यथार्थ है कि अनुकूल तथा प्रतिकूल भोग पदार्थ हमें पूर्व जन्म के पुण्य पाप रूपी प्रारब्धानुसार सी मिलते हैं, किन्तु प्रारब्धानुसार पदार्थ ही मिलते हैं, उनमें आसक्ति या स्पृहा तो अपनी ही है, वही "क्रियमाण. कर्मों के निर्माण में कारण बन जाती है, उसी से पुनः जन्म मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीन प्रकार के कर्म होते हैं। जन्म जन्मान्तरों के किये हुए कर्म जो संग्रहीत रहते हैं उन्हें. संचित कहते हैं, उनमें से एक जन्म के भोगने को जो वर्तमान शरीर को दिये जाते हैं, उन्हें प्रारब्ध कहते हैं. जो इस जन्म में कर्म करते हैं, वे क्रियमाण कहलाते है ! अब आप कहेंगे कि जब हम सब कर्म प्रारब्धानुसार ही करते हैं। आयु, कर्म, वित्त विद्या और मृत्यु ये पांच वस्तुएं माता के पेट में ही निश्चित हो जाती है, तो फिर क्रियमाण कर्म कहाँ रहे। हम तो प्रारब्धानुसार ही कर्म करते है। तो इसे यों समझना चाहिये कि प्रारब्धानुसार तो भोग ही प्राप्त होते हैं। जैसे हमने कोई पूर्व जन्म में दान आदि पुण्य कर्म किया, उसके फल स्वरूप इस जन्म में हमें प्रारब्धवश खाने को रसगुल्ला प्राप्त हुए। आप उन रस गुल्लों को केवल प्रारब्ध भोग समझकर—निस्पृह भाव से—बिना अभिनन्दन किये-पालेंगे तो इससे आपका प्रारब्ध तो क्षय हो जायगा, क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का बिना भोग के क्षय नहीं होता. यदि आप को खाते समय उनमें स्पृहा होगी, ऐसे ही रसगुल्ले हमें और

मिलें, नित्य मिलें, उन्हें पाने का उद्योग करें तो यह क्रियमाण कर्म हो गया। इससे आप पुनर्जन्म के अधिकारी हो गये। क्योंकि जो स्पृहा—जो इच्छा एकबार उठी, उसे कभी न कभी भोगना अवश्य पड़ेगा। जो सुख दुख में सम रहता है, अनुकूल प्रतिकूल दोनों को ही प्रारब्ध भोग समझता है, उसके कर्म आगे को नहीं बनते। महाराज जनक के सम्बन्ध को ऐसी अनेकों कथायें प्रचलित है, कि किसी ने उनकी राजधानी में आग लगा दी। वे उसी प्रकार बिना विषाद के बैठे रहे कि मिथिला के जलने पर मेरा क्या जलेगा।

एक महात्मा थे, वे बैठे-बैठे लड्डू खा रहे थे। एक ने ईर्ष्यावश कहा—यह साधु काहे का है, यह तो स्वादु है, कैसे प्रेम से लड्डू खा रहा है। हम तो इसे महात्मा तब समझें जब यह इसी स्वाद से गोबर को भी खाय।"

वे परमहंस महात्मा स्वयं न माँगते थे न स्वयं खाते थे जो उनके मुख में कोई दे देता तो खा लेते थे। उस ईर्ष्यालु ने गोबर खिलाना आरम्भ किया और वे महात्मा इसी प्रकार १०, १५ सेर गोबर भी खा गये। इसी का नाम समबुद्धि है। लड्डू खाने का उन्होंने अभिनन्दन नहीं किया। गोबर खाने में उन्होंने द्वेष नहीं किया। दोनों को ही प्रारब्ध का भोग समझकर पा गये। उनका प्रारब्ध गोबर खाने का न होता, तो उस व्यक्ति की ऐसी बुद्धि होती ही नहीं। इसलिये प्रारब्धवश जो भोग प्राप्त हो उन्हें अवश्यम्भावी भोग समझ कर समभाव से पा ले, उनमें स्पृहा न करे। अब भगवान् तीसरे प्रश्न का उत्तर देते है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष रहता कैसे है।

भगवान् कहतेहैं—अर्जुन! स्थितप्रज्ञ पुरुष कछुए के समान है, जैसे कछुए की पीठ इतनी सुदृढ़ होती है, कि वह खड़ग से भी

कटती नहीं। इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ विवेकी विद्वान् की धारणा भी ऐसे ही सुदृढ़ होती है, वह किसी भी संघात से प्रहार से विचलित नही होती जैसे कछुए के मुख और नीचे का भाग कोमल होता है, इसी प्रकार ज्ञानी का प्रारब्ध भोगोन्मुख होता है, किन्तु कछुए में जैसे ऐसी सामर्थ्य होती है, कि वह जब चाहे तब बाहर की ओर निकले अपने समस्त अंगों को अपने भीतर समेट कर तुरन्त समाधिस्थ सा बन जाता है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ का अपनी इन्द्रियों पर इतना अधिकार हो जाता है, कि वह जब चाहे तब अपनी समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से तुरन्त खींचकर-इन्द्रिय जित होकर--समाधि में निमग्न हो जाता है। साधारण संसारी लोग इन्द्रियों के अधीन होते हैं। इसीलिये वे इन्द्रियाराम कहलाते हैं। स्थितप्रज्ञ महापुरुष इन्द्रियो क अधीन नही होता, वह स्वयं इन्द्रियों को अपने अधीन कर लेता है। जब इसकी ऐसी स्थिति हो जाय, तब समझना चाहिये उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ स्थिति को प्राप्त कर चुका है।

सूत जी कहते है—मुनियो! भगवान् ने तीसरे प्रश्न का उत्तर दिया कि स्थितप्रज्ञ ऐसी स्थिति में-आसीत-रहता है, अब इसी विषय को विस्तार के साथ भगवान् और भी सुस्पष्ट रूप से आगे बतावेंगे। उसे आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें—

छप्पय

इन्द्रिय विषयनि पाइ स्वय विचलित ह्वै जावैं।
तिनि जे वश में रखैं वही ज्ञानी कहलावैं॥
जब चाहे तब कूर्म समेटे अपने अंगनि।
जब चाहे मुख हाथ पैर तैं भोगे भोगनि॥
जिनकी इन्द्रिय विषय में, स्वेच्छा तैं नहिँ जात हैं।
थिर धी तेई विज्ञ नर, स्थितप्रज्ञ कहात हैं॥

स्थितप्रज्ञ के लक्षण (३)

[३०]

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥*

(श्रीभग० गीता २ अ० ५९, ६० श्लोक)

छप्पय

अजितेन्द्रिय जो पुरुष रोगवश भोग न पावैं ।
करैं नियम व्रत तबहुँ रहित भोगनि ह्वै जावैं ।
होवैं विषय निवृत्त किन्तु आसक्ति न जावै ।
कब पावैं यह वस्तु वासना पुनि-पुनि आवै ॥
थिर धी जो बनि जात जन, दरश करैं परमात्म हू ।
इन्द्रिय विषय वियोग करि, हटि जावै आसक्ति हू ॥

---

* इन्द्रियों को उनका आहार न दो तो वे विषयों से तो निवृत्त हो जाती हैं, किन्तु उनमेंकी आसक्ति निवृत्त नहीं होती, किन्तु स्थितप्रज्ञ को परमात्म दर्शन हो जाने के कारण आसक्ति भी निवृत्त हो जाती है ।

हे कुन्तीनंदन ! यत्न करने पर भी बुद्धिमान पुरुष के भी मन को ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ हठपूर्वक हरण कर लेती हैं ॥६०॥

सब इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय सबसे प्रबल है। रसना को वश में कर लेने पर शब्द, रूप, गन्ध और स्पर्श ये अपने आप निवृत्त हो जाते है। महीने भर से जिसने भोजन नहीं किया है, उससे कहो, इत्र सूंघ लो, तो वह सूंघ तो लेगा, किन्तु उसे वह विशेष रुचिकर न होगा, उसे तो भोजन चाहिये। इसी प्रकार उसे सुख स्पर्श वाली वस्तुएँ, नेत्राभिराम वस्तुएँ, सुखद संगीत रूप सौंदर्य युक्त कामिनी कुछ भी अच्छी न लगेंगी जब पेट में चार मुट्ठि चावल पड़ते हैं, तभी रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द संबन्धी विषय सुखद और रुचिकर प्रतीत होते हैं। उपनिषदों में एक कथा आती है, कि आचार्य ने शिष्य से पूछा—तुम कौन-कौन विद्या जानते हो ? उसने बहुत सी विद्याओं का नाम गिनाया। ऋक्, यजु, साम और अथर्व मैं जानता हूँ। तब आचार्य ने उससे कहा—"इतने दिन निराहार व्रत करो।" उसने गुरु आज्ञा से अन्न छोड़ दिया। लंबे उपवास के कारण उसका चित्त विक्षिप्त हो गया। आचार्य ने पूछा—"अमुक वेद की अमुक ऋचा बोलो।" तो उसने कहा—"महाराज, मैं तो निराहार रहने के कारण सब कुछ भूल गया।" तब आचार्य ने समझाया जिसके बिना सब व्यर्थ हो जाता है वह अन्न ही ब्रह्म है। निराहार व्यक्ति के सभी विषय निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु भीतर की वासना-इच्छा-स्पृहा नहीं जाती।

एक नट था, वह एक प्रकार की समाधि लगाना जानता था, एक नाड़ी होती है, उसका अवरोध करने पर एक प्रकार की अचेतनता हो जाती है, भूख प्यास का भान नहीं होता इसे जड़ समाधि कहते हैं। बहुत से व्यापारी बड़े-बड़े नगरों में जा-जा कर अधिकारियों से अनुमति लेकर ऐसी समाधि लगाते हैं। पृथिवी के भीतर गड्ढा खोदकर उसे ऊपर से बंद करा देते हैं

और उसमें महीने दो महीने बैठे रहते हैं। नियत समय पर लोग गड्ढे को खोदकर उसमें से उन्हें निकालते हैं, सहस्रों नर नारी उन्हें देखने आते हैं, रुपया, पैसा द्रव्य चढ़ाते हैं। वास्तव में यह धारणा ध्यान वाली समाधि नहीं है। यह तो जड़ समाधि है, परमार्थ में इसका कोई लाभ नहीं। यह तो एक व्यापार है, इससे साधारण अज्ञ लोगों को ठगा जा सकता है। पैसा पैदा किया जा सकता है। ब्रह्मानंद का आस्वादन इसके द्वारा नहीं हो सकता।

एक नट किसी राजा के पास गया और बोला—"अन्नदाता मैं ६ महीने बिना कुछ खाये पीये समाधि लगा सकता हूँ।"

राजा ने कहा—"तुम यदि ६ महीने बिना खाये पीये बने रहो, तो हम तुम्हें ५ गाँव और एक हाथी पारितोषिक रूप में देंगे।"

नट ने बड़े हर्ष पूर्वक इसे स्वीकार किया एक नाड़ी का अवरोध करके वह अचेतन राजमहल की एक एकान्त कोठरी में पड़ा रहा। राजा ने उसमें ताला डाल दिया। पाँच महीने तक वह उसमें पड़ा रहा। इसी बीच एक सीमावर्ती दूसरे राजा ने इन पर चढ़ाई की। इसे पराजित करके सपरिवार राज्य से बाहर निकाल दिया और किले पर-राज महल पर-अपना अधिकार जमा लिया। जब राजा अन्तःपुर में आया तो उसने सभी भवनों को देखा सबमें बड़ा भारी राज वैभव था। तब उसने सेवकों से कहा—"इस कोठरी में बड़ा सुदृढ़ ताला लगा है, इसे देखो, इसमें क्या है।" ताला तोड़कर देखा, तो उसमें बड़ी दाढ़ी केश वाला बढ़े हुए नख वाला एक समाधिस्थ पुरुष मिला। समाधि में अचेतना में भी दाढ़ी बाल, नख आदि तो बढ़ते ही रहते हैं।

सब इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय सबसे प्रबल है। रसना को वश में कर लेने पर शब्द, रूप, गन्ध और स्पर्श ये अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। महीने भर से जिसने भोजन नहीं किया है, उससे कहो, इत्र सूंघ लो, तो वह सूंघ तो लेगा, किन्तु उसे वह विशेष रुचिकर न होगा, उसे तो भोजन चाहिये। इसी प्रकार उसे सुख स्पर्श वाली वस्तुएँ, नेत्राभिराम वस्तुएँ, सुखद संगीत रूप सौंदर्य युक्त कामिनी कुछ भी अच्छी न लगेंगी जब पेट में चार मुट्ठि चावल पड़ते हैं, तभी रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द संबन्धी विषय सुखद और रुचिकर प्रतीत होते हैं। उपनिषदों में एक कथा आती है, कि आचार्य ने शिष्य से पूछा—तुम कौन-कौन विद्या जानते हो ? उसने बहुत सी विद्याओं का नाम गिनाया। ऋक्, यजु, साम और अथर्व मै जानता हूँ। तब आचार्य ने उससे कहा—"इतने दिन निराहार व्रत करो।" उसने गुरु आज्ञा से अन्न छोड़ दिया। लंबे उपवास के कारण उसका चित्त विक्षिप्त हो गया। आचार्य ने पूछा—"अमुक वेद की अमुक ऋचा बोलो।" तो उसने कहा—"महाराज, मैं तो निराहार रहने के कारण सब कुछ भूल गया।" तब आचार्य ने समझाया जिसके बिना सब व्यर्थ हो जाता है वह अन्न ही ब्रह्म है। निराहार व्यक्ति के सभी विषय निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु भीतर की वासना-इच्छा-स्पृहा नहीं जाती।

एक नट था, वह एक प्रकार की समाधि लगाना जानता था, एक नाड़ी होती है, उसका अवरोध करने पर एक प्रकार की अचेतनता हो जाती है, भूख प्यास का भान नहीं होता इसे जड़ समाधि कहते है। बहुत से व्यापारी बड़े-बड़े नगरों में जा-जा कर अधिकारियों से अनुमति लेकर ऐसी समाधि लगाते हैं। पृथिवी के भीतर गड्ढा खोदकर उसे ऊपर से बंद करा देते है

और उसमें महीने दो महीने बैठे रहते हैं। नियत समय पर लोग गड्ढे को खोदकर उसमें से उन्हें निकालते हैं, सहस्रों नर नारी उन्हें देखने आते हैं, रुपया, पैसा द्रव्य चढ़ाते हैं। वास्तव में यह धारणा ध्यान वाली समाधि नहीं है। यह तो जड़ समाधि है, परमार्थ में इसका कोई लाभ नहीं। यह तो एक व्यापार है, इससे साधारण अज्ञ लोगों को ठगा जा सकता है। पैसा पैदा किया जा सकता है। ब्रह्मानंद का आस्वादन इसके द्वारा नहीं हो सकता।

एक नट किसी राजा के पास गया और बोला—"अन्नदाता मैं ६ महीने बिना कुछ खाये पीये समाधि लगा सकता हूँ।"

राजा ने कहा—"तुम यदि ६ महीने बिना खाये पीये बने रहो, तो हम तुम्हें ५ गाँव और एक हाथी पारितोषिक रूप में देंगे।"

नट ने बड़े हर्ष पूर्वक इसे स्वीकार किया एक नाड़ी का अवरोध करके वह अचेतन राजमहल की एक एकान्त कोठरी में पड़ा रहा। राजा ने उसमें ताला डाल दिया। पाँच महीने तक वह उसमें पड़ा रहा। इसी बीच एक सीमावर्ती दूसरे राजा ने इन पर चढ़ाई की। इसे पराजित करके सपरिवार राज्य से बाहर निकाल दिया और किले पर-राज महल पर-अपना अधिकार जमा लिया। जब राजा अन्तःपुर में आया तो उसने सभी भवनों को देखा सबमें बड़ा भारी राज वैभव था। तब उसने सेवकों से कहा—"इस कोठरी में बड़ा सुदृढ़ ताला लगा है, इसे देखो, इसमें क्या है।" ताला तोड़कर देखा, तो उसमें बड़ी दाढ़ी केश वाला बढ़े हुए नख वाला एक समाधिस्थ पुरुष मिला। समाधि में अचेतना में भी दाढ़ी बाल, नख आदि तो बढ़ते ही रहते हैं।

राजा ने समझा कोई बड़े भारी योगी महात्मा हैं, पहिले राजा के गुरु होंगे समाधि सम्पन्न होंगे। जब तक इनकी समाधि व्युत्थान न हो, तब तक इनकी सावधानी से देख-रेख की जाय। सेवक उसकी देख-रेख करने लगे। उनके सम्मुख धूप जलाते, पुष्प चढ़ाते। राजा भी नित्य दर्शनों को आते।

६ महीने की अवधि समाप्त होते ही उनकी वह जड़ समाधि खुली। दैवयोग से राजा भी वहीं थे। राजा ने जब देखा, योगिराज की समाधि खुल रही है। हाथ पैर हिलाने लगे हैं, तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

समाधि खुलते ही उसने दीनता के स्वर में कहा—"महाराज की जय हो, अब मुझे मेरा पारितोषिक मिलना चाहिये। अब मुझे ५ गाँव और एक हाथी दीजिये।"

यह सुनकर राजा अवाक् रह गया। उसने पूछा—"कैसा पारितोषिक ? कैसे गाँव ! कैसा हाथी ?"

तब उसने कहा—"सरकार ! आपने वचन दिया था, कि ६ महीने की समाधि लगाओगे, तो तुम्हें ५ गाँव एक हाथी पारितोषिक रूप में मिलेगा।"

राजा ने कहा—"मैंने तो तुम्हें वचन नहीं दिया था। मैंने तो अभी १५ दिन हुए उस राजा को पराजित करके इस राजमहल पर अधिकार किया है, तुम कौन हो ?"

उसने कहा—"अन्नदाता ! मैं नट हूँ पहिले महाराजा ने मुझे वचन दिया होगा। ६ महीने में क्या हुआ मुझे पता ही नहीं।"

यद्यपि ६ महीने तक उसने अपनी सभी इन्द्रियों को उनके आहारों से सर्वथा वंचित रखा। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श सुख से इन्द्रियों का संयोग नहीं होने दिया उन्हें विषयों से पृथक्

रखा, किन्तु समाधि से पूर्व जो उसकी ५ गाँव और एक हाथी पाने की वासना-स्पृहा-इच्छा थी। प्राप्त करने का रस लेने का जो संकल्प था, वह उसका निवृत्त नहीं हुआ था। वासना या रस बना रहा। यदि यह समाधि इसकी सच्ची ज्ञान की समाधि होती, तो ५ गाँव की तो बात ही क्या अखिल ब्रह्माण्ड का आधिपत्य भी उसके लिये तुच्छ था।

इसी प्रकार एक राजा है, उसे सद्गुरु कृपा से पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। वह राज्य पाट को छोडकर वन मे चला गया और वहाँ श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करता हुआ काल यापन करने लगा। उसका एक पड़ोसी राजा था, उसने उस पर चढ़ाई कर दी। उसे राज्य से निकाल दिया। राज्यभ्रष्ट होने पर वह वन में वास करने लगा। समस्त राजसी भोगों से निवृत्त हो गया, किन्तु राज्य की वासना तो उसे बनी ही रही। कालान्तर में उसके मित्र राजा ने उस राजा को परास्त कर दिया इसे बुलाकर पुनः राज्य दे दिया। वासना बनी रहने से यह तो वन में रहकर भी पुनः राजा हो गया। दूसरा जो ज्ञान पूर्वक त्याग करके गया था, वह संसार से ही मुक्त हो गया। इसलिये बंधन का कारण वासना है, इच्छा या स्पृहा है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने कछुए का दृष्टान्त देकर यह बताया—कि जैसे कछुआ जब चाहता है, तब अपने अंगों को अपने भीतर समेट लेता है, इसी प्रकार ज्ञानी जब चाहता है तभी अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा लेता है। इस पर अर्जुन ने शंका की कि इन्द्रियों को विषयों से तो दंभी भी हटा लेते हैं, रोगी भी विषयों से निवृत्त हो जाते हैं। अज्ञानी भी निराहार रहकर किसी कामनावश विषयों का त्याग देते हैं।" तो क्या ये सबके सब आत्मा को प्राप्त

लेते हैं ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं-"देखो, अर्जुन! मूढ़ पुरुष तथा रोगी पुरुष भी किसी कारणवश इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों के तद् तद् विषयों से निवृत्त हो जाते हैं। इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों को ग्रहण नही करते हैं किन्तु उनका उन विषयों में राग तो बना ही रहता है! एक महीने निराहार रहे, रसना इन्द्रिय को चखने को रस नही दिये, किन्तु वह यह तो सोचता ही रहता है, एक महीने पश्चात् यह खाऊंगा, वह खाऊंगा, अमुक वस्तु का रसास्वादन करूंगा।" यह वासना तो बनी ही रहती है। इस वासना के बने रहने के कारण विषयों का बाह्य त्याग यथार्थ त्याग नहीं कहा जा सकता। यथार्थ त्याग तो वही है, कि विषयों के त्याग के साथ उनके पुनः प्राप्त करने की इच्छा, फिर से रसास्वादन की स्पृहा भी नष्ट हो जाय। विषयों के प्रति राग रहे ही नहीं। विषयों के संग में राग भी समूल नष्ट हो जाय। यह विषयों के प्रति राग तो तभी नष्ट हो सकेगा जब पुरुष को परम पुरुषार्थ रूप ब्रह्म का परमात्मा का साक्षात्कार हो जाय। ब्रह्म साक्षात् करके जिसका विषयो के प्रति राग नष्ट हो गया है, उसे ही स्थितप्रज्ञ समझना चाहिये।

सूत जी कहते है—इस पर शंका होती है कि मन और इन्द्रियाँ तो बुद्धि के-प्रज्ञा के अधीन हैं। प्रज्ञा के प्रतिष्ठित करने के लिए विवेक वैराग्य धारण करके प्रज्ञा को वश में कर ले। फिर मनोनिग्रह तथा इन्द्रियसंयम की क्या आवश्यकता है? इस विषय को स्पष्ट करते हुए भगवान बताते हैं कि आसक्ति का नाश न करके केवल विषयों से इन्द्रियों को पृथक रखने पर संयम के अभाव में मन और बुद्धि पर विजय पाना असंभव है, अतः सर्वप्रथम तो इन्द्रियों पर ही विजय प्राप्त करनी आवश्यक है।

भगवान् कहते हैं—हे कौन्तेय ! चाहे पुरुष कितना भी विवेकी क्यों न हो, ये इन्द्रियाँ जन्म जन्मान्तरों से विषयों को भोगते-भोगते इतनी अभ्यस्त हो गयी हैं, इतनी प्रमथन स्वभाव-वाली बन गयी हैं, कि बारम्बार प्रयत्न करते रहने पर भी विवेक द्वारा बुद्धि को सर्वथा यह समझाते रहने पर भी कि ये विषय क्षणभंगुर हैं, दोष युक्त हैं, नाशवान् है, फिर भी तनिक सा भी अवसर आने पर-यत्किंचित् भी असावधान होने पर ये इन्द्रियाँ बलात्कार से मन को विकृत बना देती हैं, इस-लिये सर्वप्रथम तो इन प्रमथनशील इन्द्रियों को ही वश में करना चाहिये। पहिले मूल पर ही कुठारा घात करना चाहिये। इन्द्रियों को कभी स्वाधीन न छोड़े। स्थितप्रज्ञता में इन्द्रियों का संयम मुख्य कारण है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् इन्द्रिय संयम पर बल देते हुए असंयतेन्द्रिय का पतन कैसे होता है इस क्रम को भी प्रसंग प्राप्त होने पर आगे बतावेंगे।

छप्पय

नहिँ जावै आसक्ति विषय भोगनितैं जब तक।
होवै नहीं विरक्त भोग इन्द्रिनितैं तब तक॥
इन्द्रिय हैं अति दुष्ट इन्हें चाहें समुझाओ।
आवै विषय समीप रोकि फिरि तुम नहिँ पाओ।
मिलहिँ विषय इन्द्रिय उभय, करो चाहिँ जितनो जतन।
बुद्धिमान जनको फँसै, रोकत रोकत दुष्ट मन॥

स्थितप्रज्ञ के लक्षण (४)

[३१]

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥*

(श्री० भग० गी० २ अ० ६१, ६२ श्लोक)

छप्पय

वश इन्द्रिनि कूँ करै वही साधक कहलावै ।
सब विषयनितैं खीचि मोइ में चित्त लगावै ॥
ध्यान धारणा करै एक आसनतैं थिर ह्वै ।
सच्चे सयम करै गिरै नहिँ इन्द्रिय वश ह्वै ॥
इन्द्रिय जाके स्ववश हैं, इत-उत नहीं चलावते ।
जो इनि कूँ वश में करें, ते थिरधी कहलावते ॥

---

* ऐसी प्रमथनशील इन्द्रियों को वश मे करके मेरे परायण होकर रहना चाहिये, कारण कि जिसकी इन्द्रियाँ वश मे हैं, उसी की बुद्धि स्थिर कही जाती है ॥६१॥

विषयो का ध्यान करने वाले पुरुष की उन विषयों मे आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति से कामना होती है और कामना की पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है ॥६२॥

रथ के घोड़े यद्यपि सारथी के संकेत से चलते हैं, किन्तु जब वे सुशिक्षित हों तब। सुशिक्षित घोड़े ही सुमार्ग पर चलेंगे। यदि घोड़े सुशिक्षित नहीं हैं इच्छानुसार चलने वाले हैं, तो उनकी लगाम को सारथी कितना भी खींचे, वे कुमार्ग की ही ओर दौड़ेंगे। इससे वे स्वयं ही संकट में न पड़ेंगे, रथी सारथी सभी को डुबो देंगे। इसलिये सर्वप्रथम सारथी को घोड़ों पर ध्यान देना चाहिये, उन्हें सुशिक्षित बनाना चाहिये। घोड़े सारथी के अधीन हों, उसके संकेत पर ही चलने वाले हों, तो रथी सारथी सभी की रक्षा होगी और रथी सुखकर मार्ग से अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच सकेगा। यह देह ही रथ है, इन्द्रियाँ उस रथ के घोड़े है। मन घोड़ों की बागडोर है बुद्धि सारथी है और यह जीवात्मा ही रथी है, इसका गन्तव्य स्थान क्या है, मोक्ष-भगवत् प्राप्ति। सुकर मार्ग क्या है, ज्ञान मार्ग अथवा निष्काम कर्म योग-उपासना या भक्ति मार्ग अतः इन पथों के पथिकों का सर्वप्रथम कर्तव्य यही है, कि इन्द्रियों को विषयों की ओर स्वच्छन्द गति से जाने से रोकें। उन्हें संयम की शिक्षा दें। उन्हें संयत-स्ववश में रखने का सतत प्रबल प्रयत्न करता रहे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह शरीर प्रारब्ध से बनता है, प्रारब्ध से ही भोगों की प्राप्ति होती है, साथ ही भगवान् ने सद् असद् विवेकिनी बुद्धि भी दी है, आरंभ में बुद्धि कच्ची होती है, निरन्तर के अभ्यास से तथा विषयों के प्रति वैराग्य दृष्टि रखने से बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है, स्थिरता को प्राप्त हो जाती है, ऐसी ही प्रतिष्ठित बुद्धि हमें अपने यथार्थ गन्तव्य स्थान की ओर ले जाने में समर्थ हो जाती है। जैसे रथ को घोड़े ही खींचते हैं, वैसे ही इस देह रूपी रथ का निर्वाह इन्द्रियों के ही द्वारा होता है। घोड़ों को जैसा आहार दोगे वैसा ही उनमें बल आवेगा।

यदि उन्हें आपने आवश्यकता से अधिक दाना चारा दे दिया, तो भी वे बलवान् न बनेंगे। उन्हें अनेक रोग हो जायंगे। इसी प्रकार उन्हें आवश्यकता से न्यून दाना चारा दोगे, तो वे निर्बल हो जायंगे, रथ को वहन करने में असमर्थ हो जायंगे। इसलिये सर्व प्रथम तो आवश्यकता इस बात की है, कि उनका आहार विहार नियमित होना चाहिये। जिसको जितने आहार की आवश्यकता हो, उससे न अधिक दिया जाय, न कम। बहुत अधिक पौष्टिक भी न हो और कम पौष्टिक भी न हो, उनका संतुलित आहार हो। आहार-विहार का संतुलन रखने के साथ ही वे मनमानी ओर जाने वाले न हों। उन्हें संकेत के अनुसार चलने का अभ्यास कराना चाहिये। उन्हें स्ववश में रखना चाहिये। इसी बात को भगवान् अर्जुन को बता रहे है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अपने भक्त अर्जुन से कह रहे हैं— "अर्जुन! ये इन्द्रियाँ प्रमथनशील है, मनुष्य को मथ डालती हैं, इन्हें कुमार्ग की ओर जाते हुए रोकने का एक मात्र उपाय यह है, कि पहिले तो चाबुक मार-मार कर इन्हें अपने वश में करे। इनके मुख में संयम रूपी लगाम लगा दे जिससे इधर-उधर भटके नहीं। उस लगाम को सावधानी से कड़ी किये रहे। ढीली न छोड दे। अर्थात् चित्त को समाहित रखे मन को दृढ़ता से वश में किये रहे, और एक बात ध्यान में रखे। एक शत्रु हैं अहंकार उसके परायण न होकर मत्परायण हो जाय। क्योंकि मै तो प्राणीमात्र का सुहृद हूँ, और सुहृद कभी अपने मित्र को कुपथ पर जाने नहीं देता। अतः मेरा अनन्यभक्त होकर बिना इधर-उधर चित्त को घुमाये स्थिर भाव से स्थित होवे। इससे होगा क्या? सभी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। बस, यही तो मुख्य साधन है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, जिसकी इन्द्रियाँ संयमित

हैं उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित है। वही स्थितप्रज्ञ पुरुष है।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया, जो जितेन्द्रिय हो गया, फिर उसे भगवान् (मत्परायण) मेरे परायण होने को क्यों कहते हैं।"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! संसार में मित्र सभी चाहते हैं। मनोनुकूल मित्र न मिल सके यह दूसरी बात है, सब की इच्छा मित्र प्राप्त करने की होती है, जीव मैत्री बंधन में ही तो बँधा हुआ है। भगवान् भी मित्र चाहते हैं, उन्हें भी मित्र बनाने की अभिलाषा है, इसलिये अपने स्वार्थवश भगवान् कहते हैं—"तू मेरा अनन्य मित्र बनकर कार्य कर। भगवान् को भी मित्र की आवश्यकता है। एक भी आज्ञाकारी मनोनुकूल अपने मन में मन मिलाने वाला मनोहर मित्र मिल जाय, तो जीवन सुखमय हो जाय। मित्र के ऊपर सब भार छोड़कर निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाता है। गाँव में एक चौकीदार होता है, किन्तु वह अकेला ही घोर अँधेरी रात्रि में पहरा देता रहता है, क्योंकि उसे विश्वास है मेरे पीछे पूरा शासन है। मुझे बलवान् का आश्रय है। इसी प्रकार भगवान् अपने को सबसे अधिक बलवान् बताते है और अपने आश्रय में आने को कहते है। तू मेरा मित्र बन जा, मुझे अपना मित्र बना ले। चिन्ता भय सब को मेरे ऊपर छोड़ दे। मत इन्द्रियों के अधीन हो, न मन के और न बुद्धि के ही। सूक्ष्म से, सूक्ष्म बहुत ही पतली की हुई, मेरी ओर बढ़ने वाली बुद्धि के सहारे से प्रतिष्ठित बुद्धि के द्वारा मेरे समीप आ जा। क्योंकि ये मन सहित इन्द्रियाँ चोर हैं, तुझे दिन दहाड़े चौराहे पर लूट लेंगे। इसी बात को बताते हुए भगवान् कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन देखो, हमें संसार में शब्दवान,

रूपवान्, रसवान्, गंधवान्, और स्पर्शवान् संसारी पदार्थ सम्मुख प्रत्यक्ष दीख रहे है। इन्द्रियों का सीधा सम्बन्ध तन्मात्राओं से-विषयों से-है। पुरुष पहिले पहिल देखी हुई, सुनी हुई, अनुभव की हुई वस्तुओं का उनके विषयों का ध्यान करता है चिन्तन मनन करता है। इन्द्रियों के अनुकूल विषयों का ध्यान करते-करते उनमें आसक्ति हो जाती है। जिस वस्तु में आसक्ति हो जाती है, उसे प्राप्त करने की अभिलाषा होना स्वाभाविक है, क्योंकि आसक्त हुआ पुरुष ही अपनी कामनानुसार वस्तु के लिये प्रयत्नशील होता है। जिस वस्तु को हम चाहते हैं, वह हमें किसी कारण वश प्राप्त नहीं होती और अहंकार वश हम उसे प्राप्त करने में अपने को समर्थ पाते हैं, तो प्राप्तव्य वस्तु की न प्राप्ति में जो विघ्न डालता है, उसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। यदि अहंकार के वशीभूत न होकर हम अपने को असमर्थ समझलें तो फिर क्रोध न होकर असमर्थता के भाव आते हैं, किन्तु जब अहंकार में भरकर मनुष्य कहता है—'वह कौन होता है, जो मेरी कामना में विघ्न डालता है, उसे मैं पाठ पढ़ा दूंगा, तब वाणी द्वारा शरीर द्वारा वह क्रोध के भाव प्रकट करता है। गाली देता है, लड़ने को उद्यत हो जाता है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! ये क्रोध, काम का पुत्र है, बिना कामना के क्रोध होगा ही नहीं। जहाँ आपको क्रोध दिखायी दे, वहाँ समझिये कोई न कोई अहंकार मिश्रित कामना अवश्य है। क्रोध आने पर आकृति बदल जाती है, भौंहें चढ़ जाती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर कांपने लगता है, इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं रहती। इस प्रकार विषयों की आसक्ति से पतन का क्रम आरंभ हो जाता है। विषयों के चिंतन से आसक्ति, आसक्ति से

कामना और कामना से ही क्रोध होता है। क्रोध के अनंतर क्या होता है, इसे भगवान् आगे बतावेंगे।

छप्पय

प्रथम विषय को ध्यान होहि मन रँग-रँगि जावै।
इन्द्रिय चाहें विषय यादि ताही की आवै॥
चिंतन करिबे लगो फेरि आसक्ति बढ़ति है।
बढ़त-बढ़त आसक्ति कामनारूप धरति है॥
होहि कामना प्रबल जब, तब कछु नहीं सुहातु है।
विघ्न कामना में परै, तुरत क्रोध ह्वै जातु है॥

स्थितप्रज्ञ के लक्षण (५)

[३२]

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० ६३, ६४ श्लो०)

छप्पय

मन में आयो क्रोध हिताहित कछु नहिँ सूझै ।
कैसो बोलें बोल बुद्धितैं फिरि नहिँ बूझै ॥
क्रोध बढ़यो संमोह रूप फिरि तानें धार्‌यो ।
भ्रम इस्मृति में होय चाहि जो सो करि डार्‌यो ॥
इस्मृति भ्रम जब ह्वै गयो, बुद्धिहीन बनि जात है ।
बुद्धिनाश के होत ही, तुरत फेरि नशि जात है ॥

---

* क्रोध से संमोह होता है, समोह से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिभ्रंस होने मे बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि के नाश से सर्वनाश हो जाता है ॥६३॥

रागद्वेष मे रहित स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष अपने वश में की हुई इन्द्रियो के द्वारा इन बाह्य विषयो को भोगता हुआ भी, अखण्ड प्रसन्नता को प्राप्त करता है ॥६४॥

अनर्थ का कारण मन ही है। इन्द्रियाँ सब मन के अधीन हैं। मानसिक संकल्प न हो तो इन्द्रियाँ काम ही न करेंगी। यदि मन असत् संकल्पों से भरा रहेगा, तो वह असत् बातों का ही मनन करेगा। उसमें सद्भावों का उदय ही न होगा। सदा चिन्ता, व्यग्रता तथा अशांति बनी रहेगी। यदि मन में शुभ संकल्प उठते है, सत् भावनायें हिलोर मारती रहें तो मन सत् बातों का ही मनन करता रहेगा। वह प्रत्येक कार्य में निश्चिन्त रहेगा, वह कभी व्यग्र न होगा सदा अव्यग्र भाव से सत् कार्यों में संलग्न रहेगा। उसे दृढ़ विश्वास रहेगा, कि प्रारब्ध कर्मानुसार जो वस्तु आने वाली होगी, वह मेरे पास अवश्य आ जायगी, जो न आने वाली होगी लाख प्रयत्न करने पर भी न आवेगी। इसलिये न आने वाली वस्तु के लिये वह सोच नहीं करता और अकस्मात् प्राप्त होने वाली वस्तु को देखकर विस्मयान्वित नहीं होता। वह संसारी संहातों को अव्यग्र भाव से सहता है मन में से असत् भावनायें निकल गयी है, वह निर्मल स्वच्छ बन गया है, इसकी सबसे बड़ी पहिचान यही है कि अन्तःकरण विषय चिन्ता की व्याकुलता से रहित हो जाता है। जिसका मन स्वच्छ हो जाता है, उसके मुख पर सदा सर्वदा मुस्कराहट बनी रहती है। वह बच्चों की तरह से निष्कपट भाव से स्वच्छ हँसी हँसता है। निर्मल अट्टहास करता रहता है। मुख तो अन्तःकरण के भावों का दर्पण है। तुम्हारे अन्तःकरण में जैसे भाव बने रहेंगे, उनकी वैसे ही प्रतिच्छाया आपके मुख मंडल पर अभिव्यक्त होती रहेगी। अतः हत्या की जड़ ये राग द्वेष ही हैं। रागद्वेष से रहित मन ही प्रसन्नता को प्राप्त कर सकता है।

सूत जी कहते है—"मुनियो! भगवान् ने विषयों के संग से काम और काम से क्रोध की उत्पत्ति बतायी है। अब क्रोध से

क्या होता है, इसे बताते हैं। इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि जिधर की भूमि ढालू होती है, उधर पानी बहता ही जाता है। एकबार जहाँ पतन हुआ तो फिर पतन की ओर ही व्यक्ति बढ़ता जाता है, इसी प्रकार एकबार उन्नति की ओर बढ़ने लगे और उसमें उसे रस आने लगे, तो वह बढ़ता ही जाता है। जैसे जिसके वस्त्र स्वच्छ धुले धुलाये हों वह मैले स्थान में बैठने से संकोच करता है, किन्तु जिसके पहिले ही वस्त्र मैले हो चुके है, वह मैल कुचैल जैसा भी स्थान पाता है, वहीं बैठ जाता है वह और भी मैला हो जाता है, उसका मैल उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है, किन्तु उसे स्वयं प्रतीत होता नहीं। यही तो भगवान् की माया है। हाँ तो क्रोध होने तक का क्रम तो भगवान् ने बताया। अब इसके पश्चात् जो होता है, उसे बताते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! क्रोध आजाने के पश्चात् संमोह होता है। संमोह उसे कहते हैं जब यह विवेक न रहे कि यह कार्य करने योग्य है या न करने योग्य। क्योंकि क्रोध हमेशा अहंकार से होता है, जब मनुष्य समझाता है, कि अमुक-आचरण मेरी कामना के विरुद्ध हो रहा है और मै चाहूँ तो क्रोध करके इसे हटा भी सकता हूँ। उस समय अपनी सामर्थ्य का भान नहीं रहता। क्रोध में भर कर व्यक्ति बड़े से बड़ा अनर्थ कर डालता है। क्योंकि उसे कार्य अकार्य का, सत् असत् का शुभ अशुभ का, कल्याण अकल्याण का भान ही नहीं रह जाता। क्रोध में विक्षिप्त बन जाता है। इसी से संमोहित हो जाता है। मोह उसके अन्तःकरण को आच्छादित कर लेता है, दबा लेता है।"

आत्मा तो नित्य शुद्ध मुक्त है। किन्तु इसे अपने स्वरूप की विस्मृति हो गयी है। विस्मृति क्यों हो गयी है, मोह के कारण। मोह क्यों हुआ क्रोध से, क्रोध क्यों हुआ काम से, काम क्यों हुआ सङ्ग-आसक्ति से। आसक्ति क्यों हुई विषयों के चिंतन से। तो

स्मृति भ्रंश या विस्मृति का मूल कारण है विषयासक्ति। क्रोध में भर कर प्राणी अपनी रही सही स्मृति को भी खो बैठता है। उस स्मृति विभ्रम का परिणाम यह होता है, कि बुद्धि में जो थोड़ी बहुत सत् असत् विवेचन की शक्ति थी उसका भी नाश हो जाता है। स्मृति विभ्रम से बुद्धि का सर्वथा विनाश हो जाता है, बुद्धि नाश हो गया तो मानो उस पुरुष का सर्वनाश हो गया।

इसलिये बाह्य इन्द्रियों का निग्रह भी करलो किन्तु जब तक मन निर्विषय न होगा, मन से विषयों का स्वाद-रसासक्ति-न जायगी तब तक काम न चलेगा। अतः इन्द्रिय संयम पूर्वक मन को राग द्वेष से रहित करो। संसारासक्त मन का स्वभाव है उसका किसी वस्तु में राग हो जाता है, किसी से द्वेष हो जाता है। किन्तु जिसने अपने मन को विशुद्ध बना लिया है। जिसने देह के मल को मन के राग द्वेष जनित विक्षेप को और बुद्धि के अज्ञान रूप आवरण को हटा लिया है। ऐसे पुरुष की इन्द्रियाँ अपने वश में हो जाती हैं, वह जितेन्द्रिय हो जाता है, उसकी इच्छा के बिना इन्द्रियाँ असत् मार्ग मे प्रवृत्त नहीं होती और उसका मन उसके वश में हो जाता है। ऐसा व्यक्ति रागद्वेष विहीन इन्द्रियों से अनिषिद्ध विषयों को ग्रहण करता हुआ भी मनः प्रसाद को प्राप्त कर लेता है।

इस पर शौनक जी ने पूछा—सूतजी! आप पहिले तो बता आये हैं, कि विषयों के ध्यान मात्र से ही उनमें संग अथवा आसक्ति हो जाती है और आसक्ति ही अनर्थ का हेतु है। अब आप बताते है रागद्वेष से विहीन इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करते हुए भी वह मन की प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है। तो जब विषयों के चिन्तन मात्र से ही अनर्थ की सम्भावना है, तो इन्द्रियों द्वारा भोग से तो

निश्चय ही पतन होगा। फिर भगवान् ने "विषयानिन्द्रियै चरन्" विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता हुआ" ऐसा क्यों कहा ?

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! केवल विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता हुआ मन को प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है, इतना ही नहीं कहा। इसमें दो विशेषण भी हैं रागद्वेष विमुक्त आत्मवशी विधेयात्मा भी है। जिसके मन में रागद्वेष भरा है और जिसने चित्त को वश में नहीं किया है उसका तो विषयों के चिन्तन मात्र से ही पतन होगा, भोग की बात तो पृथक् है किन्तु इन्द्रिय निग्रह पूर्वक आत्मवशी पुरुष अनिषिद्ध विषयों का उपभोग करने पर पतित न होगा, किन्तु मन की प्रसन्नता को ही प्राप्त करेगा। जैसे संखिया है, आप उसे कच्चा खाओ, तो निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त हो जाओगे, किन्तु उसी संखिया को आयुर्वेद शास्त्रानुसार शोधन करके उसका सेवन करो, तो अनेक रोगों से मुक्त होकर तुम नीरोग बन जाओगे। कच्चा संखिया विष है, वही युक्ति से संशोधित होकर अमृत तुल्य बन जाता है। इसी प्रकार यात्रा तो विषयों के बिना चलेगी नहीं। उसके लिये अन्न जल, कन्दमूल फल आदि का सेवन करना ही है, किन्तु विषयासक्त मन द्वारा इनका सेवन करोगे तो इनके रस में स्पृहा होगी, वह जन्ममरण का कारण होगा। यदि इन्द्रियजित और मनोनिग्रह पूर्वक विधेयात्मा-वशी-बनकर अनिषिद्ध विषयों का ग्रहण करोगे तो जीवनन्मुक्त हो जाओगे मन की प्रसन्नता को प्राप्त कर लोगे। अब प्रसाद प्राप्त होने पर क्या होता है—इस बात को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने परमभक्त अर्जुन को बतायेंगे, इसका वर्णन भगवान् आगे करेंगे।

छप्पय

वश जिनि इन्द्रिय करी विषय फिर दुःख न देवैं।
अन्तःकरन अधीन भयो च्यौं विषयनि सेवैं॥
साधक सुखतैं रहै नित्य व्योहार चलावै।
भोगे इन्द्रिय विषय चित्त आसक्ति न आवै॥
राग, द्वेष तैं रहित है, सहजभाव विचरन करै।
नहीं दुखित कबहूँ बनै, मन में मोद महा भरै॥

अशान्त को सुख नहीं

[३३]

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥*

(श्रीभग० गी० २ अ० ६५, ६६ श्लोक)

छप्पय

अन्तःकरन प्रसन्न मोद मन में जब आयौ ।
हिय में उठति हिलोर दुःख को नाम न पायौ ॥
सब दुख को है मूल विषय को चिंतन करिबो ।
रूप, शब्द, रस, परस रागवश हिय में भरिबो ॥
मन प्रसन्न जब ह्वै गयो, बुद्धि हटै सब ओर तैं ।
भयो लीन मुनि ब्रह्म में, कृष्ण कृपा की कोर तैं ॥

---

* अखण्ड प्रसन्नता होने पर इस पुरुष के समस्त दुःखों का नाश हो जाता है, जिसका चित्त प्रसन्न रहता है, उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त हो जाती है ॥६५॥

जो पुरुष योगयुक्त नहीं है, उसकी सद्बुद्धि नहीं होती और अयुक्त पुरुष के सद्भावना भी नहीं होती, सद्भावना के बिना शान्ति नहीं और जो अशान्त है, उसे सुख कहाँ ॥६६॥

साधक दो प्रकार के होते हैं एक कृतोपासक दूसरे अकृतोपासक। ज्ञान तो विवेक और विचार से होता है। कृतोपासक उसे कहते हैं, जो उपासना करते-करते, मन्त्र जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान, योगादि साधनों द्वारा चिरकाल की उपासना से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उस अन्तःकरण में विमल बुद्धि द्वारा जो दृढ़ धारणा होगी और उस धारणा से ध्यान और समाधि द्वारा असंप्रज्ञात समाधि द्वारा तत्व ज्ञान हो, उससे सिद्धि प्राप्त हो जाय। यह तो कृतोपासक का लक्षण हुआ। अकृतोपासक ज्ञान को ही मुख्य समझता है, वह उपासना आदि को निम्नस्तर की वस्तु मानता है, वह केवल विचार विवेक द्वारा ही सिद्धि प्राप्तकर लेना चाहता है। ऐसे अकृतोपासक ज्ञानी को ज्ञान चाहें भले ही हो जाय, किन्तु उपासना, श्रद्धाभक्ति के अभाव में उसका वह शुष्क ज्ञान टिकाऊ नहीं हो सकता। ऐसे अनुपासक विमुक्तमानी पुरुषों का प्रायः पतन ही हो जाता है, क्योंकि उन्होंने भगवान् के चरणारविन्दो का आदर नहीं किया उन्होंने उपासना मार्ग को हेय समझकर उसे अपनाया नहीं। ऐसे लोग जब तक विषयों से दूर रहते हैं, तब तक तो ठीक रहते हैं, जहाँ उन्हें संयोगवश, विषयी पुरुषों का संग मिल गया, वहाँ वे योगारूढ होने पर भी पतित हो जाते हैं, क्योंकि इन्द्रियों का स्वभाव ही है, विषयों को ओर आकृष्ट हो जाना। जैसे राजकर्मचारी साधारण, अधम, मध्यम, उत्तम और सर्वोत्तम होते हैं, जो अपने काम को साधारण अधिकारी के द्वारा कराता-कराता सर्वोत्तम अधिकारी के पास जाकर कार्य को पूर्ण करा लेता है, उसका कार्य तो सविधि सम्पन्न हो जाता है, किन्तु जो साधारण, अधम, मध्यम तथा उत्तम अधिकारियों को अवहेलना करके सर्वोत्तम अधिकारी के पास पहुँच जाता है, नीचे के अधिकारियों को तुच्छ समझता है, तो वे अवसर आने

पर उसके काम में रोड़े अटका देते हैं। क्रम-क्रम से एक सीढ़ी के अनन्तर दूसरी सीढ़ी पर चढ़ने से हानि की सम्भावना नहीं होती।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने जब यह कहा कि राग-द्वेष से विहीन इन्द्रियों द्वारा जो अनिषिद्ध विषयों का सेवन करता है, उसे प्रसाद की प्राप्ति होती है अब प्रश्न यह उठता है प्रसाद प्राप्त होने पर क्या होता है इसी का उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"प्रसाद प्राप्त होने पर समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। जीव को दुःख अशान्ति तभी होती है जब वह अपने को कर्ता मानकर अहंकार के अधीन होकर आसक्ति पूर्वक कर्मों में प्रवृत्त होता है। तब अनुकूल प्रवृत्ति के प्रति राग होता है, प्रतिकूल प्रवृत्ति के प्रति द्वेष होता है। कार्य अपनी इच्छानुकूल हो गया तो हर्ष हुआ, प्रतिकूल हुआ तो विषाद हुआ। इसलिये हर्ष विषाद, राग द्वेष, अनुकूल प्रतिकूल ये सभी द्वन्द्व दुःख के अशान्ति के कारण हैं। इसलिये कर्मों को कर्तव्य समझकर—मेरी सेवा समझकर—अनासक्त भाव से करना चाहिये और करके भी उसे मेरे अर्पण कर देना चाहिये। हानि लाभ, अनुकूल प्रतिकूल की चिन्ता स्वयं न करके मुझे सौंप दे। यह विश्वास रखे, कि मैं जीवमात्र का सच्चा सुहृद् हूँ। एक सुहृद् अपने दूसरे सुहृद् का कभी अनिष्ट कर ही नहीं सकता। दुःख तो जीव को तभी तक प्राप्त होता है, जब तक उसे मेरे प्रसाद की मेरी कृपा, अनुग्रह, करुणा वत्सलता की प्राप्ति नहीं होती। जहाँ मेरा प्रसाद प्राप्त हो गया, वहाँ उसके समस्त दुःखों का—समस्त चिन्ताओं का—सभी प्रकार की अशान्तियों का अन्त हो जाता है। उसका चित्त मेरे प्रसाद से स्वच्छ निर्मल बन जाता है। जिस मननशील व्यक्ति की बुद्धि निर्मल बन गयी जिसका चित्त परम प्रमुदित बन गया, उस

प्रसन्नता प्राप्त पुरुष की बुद्धि मेरे में स्थिर हो जाती है। अर्थात् वह ब्रह्माकार वृत्ति वाला बन जाता है।"

देखो, इस विषय को फिर व्यतिरेक से फिर उलट कर समझ लो। जो अयुक्त पुरुष है, जिसने योग नहीं किया, कर्मों को कुशलता पूर्वक नहीं किया, अतःकरण सहित वाह्यकरणों—बाहर की इन्द्रियों को जीता नहीं, चित्त को समाहित नहीं किया, ऐसे पुरुष को निश्चयात्मिका—सद् असद् का विवेक करने वाली, वेदान्त विचार जनित विशुद्ध बुद्धि नहीं होती। बुद्धि न होने से उस अयुक्त पुरुष की विशुद्ध भावना नहीं होती। जिसे भावना नही उस मनुष्य को शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। सद्भावना ही शान्ति का मूल कारण है। दुर्भावना से तो अशान्ति ही बढ़ती है, जिसे शान्ति नही वह अशान्त पुरुष है। जो अशान्त है उसे सुख कहाँ? सुख तो शान्ति का ही पुत्र है। दक्ष प्रजापति की शान्ति पुत्री से ही सुख पुत्र उत्पन्न हुआ है। इसलिये सुख चाहने वाले को शान्ति की आराधना करना चाहिये। शान्ति प्राप्त होती है विशुद्ध भावना से, विशुद्ध भावना होती है, योगयुक्त विशुद्ध बुद्धि से, विशुद्ध बुद्धि होती है समस्त दुःखों के नाश से और समस्त दु ख का नाश हो जाता है, मेरे प्रसाद से। इसलिये इन्द्रियों को वश में करके रागद्वेष से रहित होकर मेरे प्रसाद की प्राप्ति का प्रतिपल प्रबल प्रयत्न करना चाहिये। प्रभुप्रसाद के बिना यह समस्त संसार दुःखमय है।

सूतजी करते हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने इन्द्रियों सहित मन चित्त को समाहित करने पर बल दिया। अब जिस पुरुष का चित्त समाहित नहीं हुआ है, ऐसे असमाहित चित्त वाले को बुद्धि क्यों नहीं होती इसका वर्णन भगवान् आगे करेंगे।

छप्पय

जानें मन अरु इन्द्रि योगतैं जीते नाहीं।
बुद्धि शुद्ध नहिँ तासु न निश्चय मन के माहीं॥
युक्त अयुक्त विवेक नाश जाको ह्वै जावै।
उठै न अन्तःकरन भावना हीन बनावै॥
होहि भावनाहीन नर, मिलै शान्ति ताकूँ नहीं।
शांति बिना सुख जगत में, नहीं सुन्यों देख्यो कहीं॥

मन इन्द्रिय निग्रह ही सिद्धि का मूल है

[३४]

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥*

(श्रीभा०गी० २ अ० ६७, ६८ श्लो०)

छप्पय

जैसे जल में नाव वायु के वश ह्वै जावै ।
लै जावै जित वायु नाव तित ही कूँ जावै ॥
तैसे ही यह बुद्धि असत-चित खल-पुरुषनि कूँ ।
ह्वै मन के आधीन सुगावै सब विषयनि कूँ ॥
इन्द्रिय विचरैं बिषय-बन, मन जामें फाँसे जातु है ।
सो इंद्रिय व पुरुष की, बुद्धी तुरत नसातु है ॥

---

* जैसे जल मे पड़ी नौका को वायु हर लेती है, वैसे ही विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में से जिस इन्द्रिय के साथ चंचल मन रहता है, तो वह इन्द्रिय इस पुरुष की बुद्धि को हर लेती है ॥६७॥

इसलिये हे महाबाहो अर्जुन ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ उनके विषयों से सब भाँति वश में की हुई होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है ॥६८॥

जन्म जन्मान्तरों से हमारी इन्द्रियाँ विषयाभिगामिनी रही हैं। जो जिस वस्तु का निरन्तर सेवन करता है, उसे उस वस्तु का व्यसन हो जाता है। व्यसन हो जाने पर मन इतना दुर्बल बन जाता है, कि वह इन्द्रियों पर अपना नियन्त्रण करने में असमर्थ हो जाता है, मनको इन्द्रियों के अधीन हो जाना पड़ता है। मन वश में हो जाय तो इन्द्रियाँ तो उसकी अनुवर्तिनी हैं ही। विषय का प्रियत्व अप्रियत्व मनके ऊपर अवलंबित है। जिस विषय को इन्द्रियों के द्वारा मन ने प्रिय मान लिया, उस विषय की ओर इन्द्रियाँ बिना प्रयत्न के स्वतः चली जाती है। जिसने अपने मन को वश में कर लिया, उसका बाहरी विषयों में आकर्षण नहीं होता।

एक बड़े विरक्त परमहंस महात्मा थे, उन्होंने इन्द्रियों सहित मन को अपने अधीन कर रखा था, वे सदा परमहंस वृत्ति में रहते थे। कुछ लोग उन्हें बहुत ऊँचा महापुरुष मानते थे और कुछ लोग उन्हें पागल समझते थे। वे किसी की कुछ परवाह ही नहीं करते, अपने आप ही आत्म सुख में सदा प्रसन्नवदन रहते थे।

एकदिन वे परमहंस घूमते फिरते किसी वेश्या के यहाँ चले गये। वेश्या बड़ी नामी थी और धनी भी थी। वह महात्मा को पहिचानती थी, अपने घर के सम्मुख परमहंस को देखकर वह अत्यंत ही प्रसन्न हुई। बड़े आदर के साथ वह उन्हें अपने घर के भीतर ले गयी। महात्मा को उसने खूब मल-मल कर स्नान कराया, सुन्दर रेशमी वस्त्र पहिनाये, तेल, फुलेर, इत्र लगाया। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन कराया। महात्मा ने किसी बात में भी आपत्ति न की। भोजन करा कर उसने महात्मा जी के लिये अत्यन्त ही मृदुल, सुखकर, स्वच्छ शैया बिछायी उस पर लेटने को महात्मा जी से कहा—महात्मा जी जाकर उस पर लेट रहे।

उस वेश्या ने कहा—"महाराज ! आज्ञा हो तो मैं भी इसी पर लेट जाऊँ ?"

महात्मा ने कहा—"लेट जाओ, किन्तु जैसी यह शैया स्वच्छ है वैसा ही स्वच्छ मन को बनाकर लेटना। इन्द्रियों को मन के अधीन करके लेटना। मन को इन्द्रियों के अधीन मत होने देना।"

इसी का नाम धैर्य है। धैर्यवान् पुरुषों का मन विकार के हेतुओं के सम्मुख समुपस्थित हो जाने पर भी विकार प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति तभी प्राप्त हो सकती है जब मन के सहित सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में निगृहीत हों। पूर्वकाल में बड़ी छोटी सभी नौकायें वायु द्वारा ही चला करती थीं। पाल लगा दिया, उसमें वायु भर गयी, और जिधर की वायु हुई, उसी ओर नौका वायु के सहारे बह जाती थी। जाना है, हमें पूर्व दिशा को। वायु उस दिशा के अनुकूल न होकर प्रतिकूल हो, तो जब तक अनुकूल वायु न हो जाय, नाविक लोग वहीं लंगर डालकर अनुकूल होने की प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहते थे। नौका में मल्लाह न हो या असावधान हो, तो जल में खड़ी नौका में वायु भर जाती है, वह वायु नौका को जहाँ चाहते हैं लेजा सकती है, जल में डुबा सकती है। जल में पड़ी नौका हलकी होती है, वायु के तनिक से झोंके से डगमगा जाती है, हिल जाती है और वेग अधिक हो जाने से डूब जाती है। इसी प्रकार जल क्या है मन की चंचलता। वायु क्या है अस्वाधीन हुई इन्द्रियाँ। वेग क्या है इन्द्रियों के अधीन हुआ मन। नौका क्या है बुद्धि। इसी प्रकार विषयों में प्रवृत्त हुई अस्वाधीन इन्द्रियों को लक्ष्य करके मन उनके साथ वेग से दौड़ता है, तो वह बुद्धि रूपी नौका को जल में डुबो देता है। सब इन्द्रियाँ भी नहीं एक ही इन्द्रिय के पीछे मन प्रवृत्त हो जाता है, तो भी बुद्धि रूपी नौका को हरण करने में उसे-डुबा

देने में-वह समर्थ हो जाता है। इसलिये मन सहित समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर उन्हें निगृहीत करना चाहिये। यही सिद्धि का मूलमंत्र है। इसी विषय को बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! भैया ! तुम्हारे तो भुजा हैं। जो बिना बाहु का लूला आदमी होता है, वह वस्तु को निग्रह नहीं कर सकता। उन्हें पकड़ नहीं सकता। जिसकी भुजाएं छोटी होती है, वे भी बड़ी वस्तुओं को अपने अधीन नहीं कर सकते। भैया रे ! तुम्हारे तो बड़ी-बड़ी बाहुएं हैं, तुम तो महाबाहु कहलाते हो, तुम्हारे लिये मन सहित इन्द्रियों को अपने नियन्त्रण में करना कोई कठिन कार्य नहीं है। देखो, जब इन्द्रियां अपने-अपने विषयों की ओर उन्मुख होती हैं, उनका उपभोग करने दौड़ती है, तो निर्बल मन उन इन्द्रियों का अनुसरण करता है। ऐसा जो मन को वश में न करने वाला असंयतचित्त पुरुष है, उसकी बुद्धि को एकही विषयोन्मुखी इन्द्रिय उसी प्रकार डुबाने में समर्थ हो जाती है जैसे जलके भीतर पड़ी हुई नौका को वेगवती वायु का एक झोंका डुबाने में समर्थ होता है। इसलिये हे महाबाहो ! तुम अपनी बुद्धि को प्रतिष्ठित करना चाहते हो, स्थितप्रज्ञ बनना चाहते हो, तो मन के सहित इन्द्रियों को उनके विषयों से निग्रहीत करो। इन्द्रियों को मन सहित अपने वश में करो। जिसने मन सहित इन्द्रियों को उनके विषयों से रोक लिया है, वही योगी है, वही कर्म करना जानता है, उसी की बुद्धि विशुद्ध है और वही स्थितप्रज्ञ है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने इन्द्रिय निग्रह पर बल दिया, अब आगे बताते हैं, कि स्थितप्रज्ञ हो जाने पर उसका संयम कैसा होता है।

छप्पय

हत्या की जड़ जिही असंयत इन्द्रियगन हैं।
इन्द्रिय भोगैं विषय संग लै लैकें मन हैं॥
इन्द्रिनि करि आधीन विषयतें चित्त हटावै।
होह बुद्धि च्यौं भ्रष्ट फेरि काहे दुख पावै॥
निग्रह जिनने करि लई, इन्द्रिय भागत विषय-चन।
बुद्धि प्रतिष्ठित तासु की, यही बतावैं विज्ञजन॥

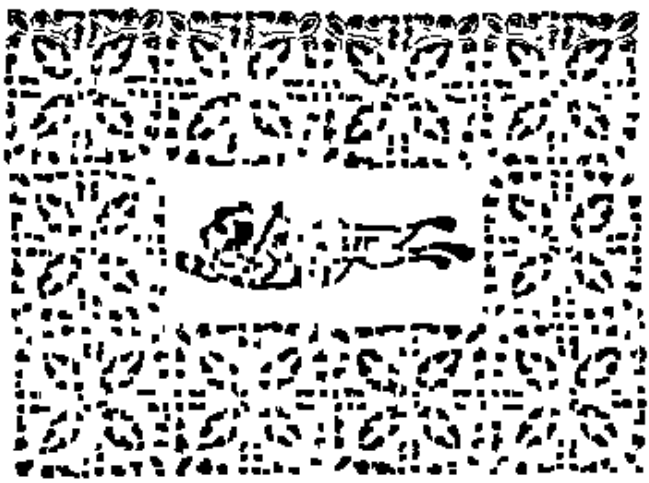

काम कामी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता

[३५]

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥*

(श्री० भग० गी०, २ अ०, ६९, ७० श्लोक)

छप्पय

जो सबकूँ है निशा जगे ताई में जोगी ।
सोवै तामें सतत जगें जामें सब भोगी ॥
विषयनि में सुख समुझि जगें विषयी सब प्रानी ।
ब्रह्मज्ञान कूँ राति जानि सोवैं अभिमानी ॥
परमानन्दस्वरूप प्रभु, ज्ञान-रात्रि साधक जगै ।
सोवै पाँइ पसारि सुख, विषय-दिवस औरनि लगै ॥

---

* समस्त प्राणियों की जो रात्रि है संयमी पुरुष उसमें जागता रहता है और जिस में सब प्राणी जागते हैं, तत्वज्ञानी मुनि को वह सोने की रात्रि है ॥ ६९ ॥

जैसे सब ओर से परिपूर्ण, स्थिर प्रतिष्ठा वाले समुद्र में अनन्त नदियों का जल प्रवेश करता है, वैसे ही जिस पुरुष के शरीर में समस्त भोग बिना विकार के समा जाते हैं, वही पुरुष शान्ति प्राप्त करता है, कामों की कामना करने वालों को शान्ति नहीं ॥ ७० ॥

ये जो विषयों की कामना है वास्तव में यह कुछ है नहीं, केवल छायामात्र है। आप छाया को पकड़ने दौड़ो तो छाया तुमसे अधिक आगे भागेगी और कभी हाथ न आवेगी। किन्तु जब आप छाया की उपेक्षा करके उसे पीठ देकर भागोगे, तो वह आपके पीछे पीछे दौड़ेगी। वास्तव में न तो छाया आगे-आगे ही दौड़ती है और न पीछे-पीछे ही लगती है। छाया कोई वस्तु ही नहीं, आपके शरीर का प्रतिबिंब मात्र है, आपका शरीर भागेगा तो छाया भी भागती हुई सी दीखेगी, आप उलटे भागेंगे तो, वह पीछे-पीछे आती हुई-सी दिखायी देगी। इसी प्रकार संसारी विषय वासनाओं की स्थिति है। आप जितना ही अधिक विषयों का संग्रह करेंगे, कामना उतना ही अधिक बढ़ती जायगी। दुःख वस्तुओं में नहीं है, दुःख तो कामना, वासना अथवा स्पृहा में है। जब आप समस्त भोग्यपदार्थों के प्रति स्पृहा—कामना—को त्याग देंगे, तो प्रारब्ध के भोग तो आपके बचे ही रहेंगे। उनका अन्त तो बिना भोगे होने का नहीं। इच्छा न रहने पर भी वे भोग आपके पीछे-पीछे दौड़ेंगे। आप उन्हें निष्काम होकर—बिना स्पृहा के—प्रारब्ध भोग समझकर—निर्विकार बनकर भोगेंगे तो वे प्रारब्ध भोग तो समाप्त हो जायेंगे, किन्तु आगे वे वासना बीज न बना सकेंगे। उन कर्मों में अंकुरित होने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। जैसे धान के ऊपर की भूसी को उतार दो, तो वे चावल पेट तो भर सकते हैं, अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकते। उनका पुनर्जन्म नहीं हो सकता।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! संसारी जीवों में और संयमी जीवों में, बद्ध जीवों में और मुक्त जीवों में, संयमी जीवों में तथा असंयमी जीवों में प्रकाश अन्धकार के समान आकाश पाताल के समान बहुत अन्तर होता है दोनों की विपरीत गति है। इसी

विपरीत भेद का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—अर्जुन! मननशील संयमी और अमनन-शील असंयमी के व्यवहार में दर्शन में बड़ा भारी अन्तर है। संसारी लोग जिसे दिन समझते हैं, संयमी उसे रात्रि मानता है, संसारी लोग जिसे रात्रि मानकर रात्रि के कार्यों को करते है, सोते है, संयमी उसमें दिनके कार्य करके जागता रहता है। संसारी लोग जिन कामों में अपने को चतुर समझते हैं, संयमी उनसे उदासीन बना रहता है, संसारी लोग जिस विषय में उदासीन बने रहते हैं, आत्मसंयमी उसी को कर्तव्य समझकर जाग्रत भाव से करता रहता है। संसारी लोग जिन्हें पाने के लिये समुत्सुक बने रहते हैं, संयमी उनकी ओर से आँखें बन्द कर लेता है और असंयमी जिस विषय की चर्चा भी नही करते संयमी उसी के श्रवण मनन तथा निदिध्यासन में निमग्न रहता है। समस्त प्राणियों के लिये जो रात्रि है, उसमें संयमी सोता नही—जागता रहता है। रात्रि में सब प्राणी तो तमोऽभिभूत होकर सुख से सोते हैं, किन्तु संयमी शांत एकान्त निस्तब्ध समझकर उस समय ध्यान करता है। जागता रहता है, तमके अधीन नही होता। अज्ञान अन्धकार से अपने को बचाये रखता है, ज्ञान के प्रकाश में सर्वदा जागरूक रहता है। अर्थात् संसारी लोग रात्रि में सोते हैं विषय चिन्तन करते हैं। संयमी उस समय जागता हुआ आत्म-चिन्तन करता है। ज्ञान के प्रकाश में स्वस्वरूप का अनुसंधान करता है। समस्त प्राणी जिसे दिन कहते है, जिसमें जागकर विषयों को जुटाने का कार्य करते हैं। ज्ञानी उसे रात्रि—अन्धकार—मानता है। उस समय वह तान दुपट्टा सोता रहता है। अर्थात् न तो विषय भोगों को जुटाने के लिये कर्म करता है और न उनके लिये प्रयत्नवान् ही होता है। संसारी लोग स्त्री और पुरुष दो—मिथुन—

होकर मैथुन करते हैं ब्रह्मज्ञानी इसके विपरीत अपनी आत्मा से आत्मा में ही सुखानुभूति का अनुभव करता हुआ आत्ममिथुन होता है। संसारी लोग रमणियों में आनन्दानुभूति करते हैं, संयमी आत्मा में ही आनन्द लेते हुए अपने को आत्मानन्दी मानता है। संसारी लोग विषयों में ही प्रकाश की अनुभूति करते हैं, ज्ञानी आत्मा की ज्योति में ही सदा संतुष्ट लीन होकर स्व-प्रकाश से प्रकाशित होता हुआ आत्मज्योति कहलाता है। संसारी लोग विषयों में रति करते हैं, ज्ञानी आत्मा में ही रति करता है। संसारी लोग विषयों में क्रीड़ा करते हैं, यह ज्ञानी अपने आप में ही क्रीड़ा करता हुआ प्रमुदित होता है। इस प्रकार संसारी प्राणियों में और आत्मज्ञानी संयमी स्थितप्रज्ञ पुरुष में परस्पर बहुत अन्तर है। ज्ञानी रात्रि को—तमरूपी अन्धकार को—प्रकाश में परिणित कर देता है अज्ञानी उसमें सोता रहता है। संसारी लोग प्रकाश समझकर—दिन मानकर—जिसमें जागते हैं, संसारी विषयों की कामना स्पृहा करते हैं, संयमी उनकी ओर से आँख मीचकर उसे रात्रि मानता है रात्रि मानता हुआ भी वह मनन-शील उसमें स्वप्न नहीं देखता मनन करता रहता है।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! संयमी ब्रह्मज्ञानी स्थित पुरुष—शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध आदि विषयों का मीठा, खट्टा, कड़ुवा, चरपरा, नमकीन आदि रसों को इन्द्रियों द्वारा उपभोग करता है या नहीं?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! न करता तो यह शरीर रहता ही कैसे?"

शौनक जी ने पूछा—जब, अज्ञानी काम-कामी संसारी लोग भी विषयों का उपभोग करते हैं और स्थितप्रज्ञ ज्ञानी भी उनका उपभोग करते हैं तो दोनों में अन्तर क्या हुआ।

सूत जी ने कहा—महाराज, विषय एक से और उपभोग एक समान होते हुए भावनानुसार फल का अन्तर हुआ।

शौनक जी ने पूछा—फल में क्या अन्तर है ?

सूतजी ने कहा—ज्ञानी को निस्पृह निष्काम निर्वासना हो से शान्ति प्राप्त होती है और उन्हीं विषयों के उपभोग से संसार अज्ञानी पुरुषों की अशान्ति बढ़ती है। दृष्टान्त के लिये समुद्र और नदियों को ले लीजिये। जल तो एक ही है। नदियों को वह जल क्षुब्ध कर देता है। समुद्र को वही जल शान्त बना देता है वर्षाऋतु में बाढ़ के कारण नदियाँ कितनी भर जाती हैं। अपनी मर्यादा को उल्लङ्घन करके अमर्यादित बहने लगती है, तटों को तोड़कर दूर चली जाती हैं। भयंकर और भयावह बन जाती हैं छोटे-छोटे नाले भी उमड़-घुमड़कर उसकी अशान्ति को बढ़ाने में कारण बन जाते है। ऊपर से वर्षात् का पानी गिरता है, नीचे से क्षुद्र नाले बढ़कर उसके पानी को बढ़ा देते है इससे नदियाँ उन्मत्त हो जाती हैं, अपनी गम्भीरता मर्यादा को मेंट देती हैं जल के कारण। वही जल समुद्र में भी बरसता है, वर्षा के समस्त जल को समुद्र बिना किसी प्रकार की आपत्ति के अपने में आत्सम-सात करता है। वर्षा के अतिरिक्त गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, सरयू आदि सहस्रों नदियाँ, दामोदर, सोन आदि सैकड़ों नद पूरे वेग से अथाह अगणित जलराशि को लिये हुए समुद्र में आकर गिरते हैं। चाहें जितनी भी नदियाँ, चाहें जितने भी जल के साथ समुद्र में गिरें, किन्तु समुद्र न तो अपनी मर्यादा को छोड़ता है, न क्षुब्ध ही होता है, शान्त तथा गम्भीर ही बना रहता है। वर्षात् के पश्चात् के पश्चात् नदियों का जल स्वल्प हो जाता है, छोटी-छोटी नदियों का तथा क्षुद्र नालों का जल तो सूख भी जाता है, किन्तु समुद्र का जल न तो सूखता ही

है न कम ही होता है। वह ज्यों का त्यों परिपूर्ण, शान्त गंभीर, मर्यादित तथा विक्षुब्ध बना रहता है। बस, यही अन्तर ज्ञानी और अज्ञानी के विषयों के उपभोग में होता है। इसी बात को समझाते हुए भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! जैसे चारों ओर से भरे हुए नदियों के जल से समुद्र अपनी मर्यादा का त्याग नहीं करता, उसमें, वर्षा आदि के और भी जल प्रविष्ठ होते है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष में भी शब्द रूप रसादि विषय प्रवेश करते है, किन्तु निस्पृह होने के कारण उसे अशांत नही कर सकते। वह तो गम्भीर तथा शांत ही बना रहता है और जो कामों की कामना वाला विषयी पुरुष है, वह तो उन विषयों को पाकर अशांत तथा क्षुब्ध हो जाता है।"

सूतजी कहते है—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने स्थित-प्रज्ञ के लक्षण बताते हुए इस विषय का उपसंहार करते हुए इस स्थिति का जो नाम बताया है, इस विषय को मैं आप से आगे कहूँगा। आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

जैसे सरिता आइ-आइ सागरहिँ समावैं।
है जल तैं परिपूर्ण अचल नहिँ जलहि हिलावैं॥
नहिं वह विचलित होहि नदी कितनी हू आवैं।
आइ-आइ के सहज भाव निज रूप गँवावैं॥
तैसे ही ज्ञानी हिये, भोग-विकार विना किये।
मिले शान्ति पावै वही, शान्ति न कामी के लिये॥

ब्राह्मी स्थिति

[३६]

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥*

(श्रीभग० गी० २ अ० ७१, ७२ श्लो०)

छप्पय

सकल कामना त्यागि रहित ममता तैं होवै ।
अहंकार जो शत्रु मारि कैं जड़तैं खोवै ॥
भोगनि की नहिँ रही लालसा हिय में रचक ।
विषयनि सँग नहिँ फिरै भोग-वन वनिकैं बचक ॥
शान्ति लाभ वैई करैं, उदासीन जे भोगतैं ।
करम करैं निष्काम जे, पावैं ताकूँ योगतैं ॥

---

* जो पुरुष समस्त कामनाओं को त्याग कर निर्मम निरहंकार तथा निस्पृह होकर बर्ताव करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है ॥७१॥

हे कुन्तीनंदन ! यही ब्राह्मी स्थिति है, इसको प्राप्त करके पुरुष मोहित नहीं होता है, और इस स्थिति में स्थित होकर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त हो जाता है ॥७२॥

तूणीर में जब तक वाण रहते हैं, धनुष वाण की लड़ाई भी तक चलती है। तूणीर वाण से निःशेष हो गया-वाण हित बन गया-तो फिर लड़ाई समाप्त हो जाती है। यह संसार ो एक समरांगण है, इसमें सद्वृत्तियों और असद्वृत्तियों-दैवी म्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का-निरन्तर युद्ध होता रहता है। भी दैवी सम्पत्ति बढ़ जाती है, कभी आसुरी सम्पत्ति बढ़ ाती है, कभी वह उसे दबा लेती है, फिर यह उसे पराजित र देती है, यह युद्ध बराबर चलता रहता है। इस युद्ध का ारण शुभ और अशुभ कामनायें-स्पृहा-ही है। यह विषयों की पृहा ही युद्ध के लिये प्रेरित करती है। युद्ध होता है अहंता ामता के कारण। मैं ऐसा हूँ, मेरा ही प्रभुत्व होना चाहिये। यह ार मेरा है। यह जाया, सुत, सम्पत्ति यश कीर्ति मेरी है। इस रे पन में जो बाधा करे वही शत्रु उससे लड़ाई करनी पड़ती है। ड़ाई में अशान्ति स्वाभाविक है। यदि लड़ते-लड़ते तूणीर के ाण चुक जाँय, ममता समाप्त हो जाय, तो अहंता भी समाप्त ो जायगी। स्पृहा या वासना अथवा कामना अहंता के ही ारण होती है। जहाँ स्पृहा नहीं कामना नहीं विषया में भोग-ासना नहीं वहाँ अहंता भी नही। अच्छा भाई अब हमने तो ड़ाई बन्द कर दी अब तू जो चाहे सो कर। इसी का नाम ान्ति है। जब तक अहंकार है, मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, मैं यह -कर डालूँगा, मैं वह कर डालूँगा। जब तक ममता है, यह मेरा ै, तुम्हारा कैसे हो सकता है, मैं ईंट से ईंट बजा दूँगा, प्राणों ा पण लगा कर इसकी रक्षा करूँगा।" ऐसी बातें भोगवासना के कारण-विषयों में कामासक्ति के कारण-अत्यन्त बढी हुई स्पृहा के कारण होती है तूणीर के वाण अहंता को और बढ़ा देते हैं, वे शत्रु सेना के सहार में अपने को समर्थ समझते हैं। जहाँ सद्

बुद्धि आई, ममता छूटी अहंता कम हुई, कामनायें समाप्त हुई भोगों के प्रति आकर्षण जाता रहा। वहाँ ही पुरुष निःस्पृ निर्मम और निरहंकार बन जाता है, उसकी अशांति मिट है और उसे शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। जब तक युद्ध कारण समाप्त न होगा तब तक शान्ति प्राप्त न हो सकेगी आज सम्पूर्ण जगत अशान्त है, शान्ति चाहता है, किन्तु जिससे प्राप्त होगी उसके मूल कारण को नहीं खोजता अशान्ति जिससे बढ़ती है-विषय भोगों की बहुलता से-उसे लिए निरन्तर प्रयत्नशील बना रहता है। तुम्हारा जो गन्तव्य स्थान है और यात्रा उसके विपरीत दिशा में कर रहे हो तो तुम अपने गन्तव्य को कैसे पहुँच सकते हो और उससे अधिकाधिक दूर ही होते जाओगे। विषयों का अधिकाधिक उपयोग उनका प्रचुर मात्रा में संग्रह करना-उनके प्रति आसक्ति-स्पृहा कामना-रखना ये तो अशान्ति को बढ़ाने वाले हैं। अतः भोगों का त्याग ही शान्ति का सरल, सीधा, सरस सुखद सच्चा मार्ग है।

सूतजी कहते है—मुनियो! भगवान् ने भोगों को त्याग का आग्रह नहीं किया। हमारा शरीर तो प्रारब्ध कर्मों के भोग के ही लिए बना है। यह भोगों के बिना टिक नही सकता। जब तक जीवन है, शरीर है, प्रारब्ध कर्मानुसार जो भोग प्राप्त होंगे, वे अनिच्छा से ही सही भोगने पड़ेंगे। पेट को भरने लिए कुछ न कुछ खाना ही पड़ेगा। तृषा की निवृत्ति के लिए पेय पदार्थ पीने ही पड़ेंगे। प्राण रक्षा के लिये स्वांस प्रस्वांस लेना ही पड़ेगी पृथ्वी, अप्, तेज वायु ये सब शरीर के भोग्य पदार्थ हैं इन्हीं से शरीर बना है इन्हीं से इसकी स्थिति है। पर इन भोगों के प्रति जो स्पृहा है, यही जन्म मरण का--संसारी बन्धन का-

कारण है। भगवान् ने कहा—ये भोग बिना स्पृहा के स्थितप्रज्ञ पुरुष के शरीर में ऐसे ही समा जाते हैं जैसे गंगा जी के प्रवाह में दुग्ध समा जाता है। वह समर्थ पुरुष उन भोगों को ऐसे ही पचा जाता है जैसे अगस्त जी आतापी को पचा गए थे। सबके पेट को फाड़ने वाला आतापी अगस्त जी के पेट में जाकर निर्वीर्य बन कर विलीन हो गया। इसीलिए भगवान् अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा— हे अर्जुन ! कामना-विषयों में भोगेच्छा-यही बन्धन का कारण है। इसलिए जो पुरुष सभी प्रकार की कामनाओं का परित्याग कर देता है, स्पृहा रहित होकर आचरण करता है। जिसे किसी वस्तु में ममता नहीं। जिसे अपने कुछ होने का अहंकार नहीं ऐसे ही पुरुष को शान्ति देवी वरण करती है। शान्ति देवी सौति के साथ रहना नहीं चाहती। उसकी सौति हैं स्पृहा, अहंता ममता, अशान्ति। इन सबसे विमुक्त होकर वे एकाकी ही स्थितप्रज्ञ के साथ रमण करना चाहती है।

तैंने मुझसे चार प्रश्न किए थे। (१) स्थित पुरुष की परिभाषा क्या है (२) वह कैसे बोलता है (३) वह रहता कैसे है और (४) वह चलता कैसे है, विचरता कैसे है, व्रजन कैसे करता है अर्थात् क्या खटपट करता रहता है। मैंने क्रमशः तुमको विस्तार के साथ, दृष्टांतों के साथ, साधकों की बुद्धि में बैठ सके ऐसे सरलता के साथ वर्णन कर दिया। इसी का नाम ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त पुरुष का ही नाम स्थितप्रज्ञ है, उसी को प्रकारान्तर से समाधिस्थ, स्थितधी, प्रतिष्ठितप्रज्ञ, मत्पर, युक्त, योगी, समाहित चित्त, आत्मवशी, विधेयात्मा, रागद्वेष

वियुक्त, प्रसाद-प्राप्त, प्रसन्नचित्त, संयमी, मुनि, निःस्पृह, [illegible] कार तथा ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त पुरुष कहते है।

यह जो मैंने ब्राह्मी स्थिति बताई है, यह सहज वस्तु नहीं। इसके लिए जीवन भर बड़ी लगन के साथ प्रयत्न [illegible] चाहिये। यह एक जन्म में भी प्राप्त नहीं होती। सहस्रों [illegible] से प्रयत्न करते-करते एक चरम देह-अंतिम शरीर प्राप्त [illegible] है। उस चरम देह में कोई तो ऐसे होते है, कि जन्म से सिद्ध होते है, उन्हें ससारी वासनायें स्पर्श भी नही कर सकती वे ब्राह्मीस्थिति प्राप्त जीवन्मुक्त सिद्ध होते है। उनके लिए [illegible] साधन नही कोई कर्तव्य नहीं शरीर जब तक रहा आवे, [illegible] आवे जब छूट जाय छूट जाय। वे तो विदेह मुक्त होते है। शरीर में कुछ भोग बने रहते है, कुछ साधन शेष रह जाते है तो वह संयमी साधक निरन्तर साधनों में लगा ही रहता है उसे यदि अन्तिम स्वांस पर भी यह ब्राह्मीस्थिति प्राप्त हो तो वह ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त हो जायगा, विमुक्त बन जायगा फिर वह मोह को प्राप्त नही हो सकता। इसलिए अर्जुन सच्चे साधक का एक मात्र जीवन का उद्देश्य इसी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने का होना चाहिए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने यह विद्या का औपनिषद ज्ञान वाला योगशास्त्र अर्जुन के प्रति कहा इस अध्याय में सांख्य योग-अर्थात् ज्ञान योग-का भी वर्णन और साथ ही निष्काम कर्म योग अर्थात् भक्ति का भी वर्णन है किन्तु भगवान् के वचनों से ऐसा लगता है, कि उन का झुकाव ज्ञान निष्ठा की ओर अधिक है। परन्तु वास्तविक वा ऐसी नही है। अर्जुन का आग्रह युद्ध छोड़कर-हिंसा से निवृत होकर भैक्ष्य वृत्ति पर निर्वाह करने का था। भगवान् ने उसकी

तीव्र शब्दों में निंदा की और निष्काम कर्म योग की अर्थात् सर्व कर्म प्रभु के ही निमित्त करने की बात कही। इस पर अर्जुन ने पूछा—परमात्मा में चित्त लगाकर प्रभु की ही सेवा समझ कर जो निष्काम भाव से कर्म करता है, उसकी स्थिति क्या है, उसकी परिभाषा रहन सहन कैसा है। इस पर भगवान् ने ऐसे लक्षण बताये जो ज्ञान प्राप्त परमहंस सन्यासी के होते है। तब अर्जुन को यह बात बड़ी बेतुकी सी लगी, कि एक ओर तो कहते है नपुसंकता मत करे, युद्ध मत छोड़े, कर्म कर युद्ध कर। दूसरी ओर ज्ञान निष्ठा परमहंस स्थिति प्राप्त सन्यासी की प्रशसा करते हैं। तो मैं क्यों न ज्ञान निष्ठा को ही ग्रहण करूँ। यद्यपि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार मुझे सन्यास लेने का अधिकार नहीं है, फिर भी मैं ज्ञाननिष्ठ होकर यत्न तो कर ही सकता हूँ। क्षत्रिय को वानप्रस्थ का तो अधिकार है ही। मैं घोर तपस्या करूँ और फिर जैसे महाराज मुचुकुंद से भगवान् ने कहा था—तुम अगले जन्म में ब्राह्मण होकर विमुक्त बन जाओगे। उसी प्रकार दूसरे जन्म में मैं ब्राह्मण बन कर सन्यासी हो जाऊँगा और मुक्त हो जाऊँगा। इस हिंसा के कार्य में वैराग्य होने पर भी क्यों प्रवृत्त होऊँ। इसी शंका को अर्जुन आगे उठावेंगे और भगवान् उसका समाधान करेंगे। यह विषय बड़ा गूढ़ है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

अरजुन तोतैं कही ब्रह्म पदवी जिनि पाई।
जो जा थिति कूँ पाइ होहि मोहित नहिँ भाई॥
ब्राह्मी थिति है यही नहीं है सुगम सबनि कूँ।
विषयी आवै नहीं श्रेष्ठ समुझै विषयनि कूँ॥
अंतकाल में हू पुरुष, जा इस्थिति कूँ पाइगो।
ब्रह्मानन्द निमग्न है, जग के भोग भुलाइगो।

॥ श्री हरिः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

[१]

अर्जुन उवाच

कहो केशव ! क्या करूँ ?

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥❀॥

(श्री भग० गी० ३अ० १, २श्लो०)

छप्पय

अरजुन बोल्यो प्रभो ! आपुने ज्ञान सुनायो ।
बड़ी प्रशंसा करी ज्ञानकूँ श्रेष्ठ बतायो ॥
केशव ! है यदि ज्ञान श्रेष्ठ च्यों करम बताओ ।
उत्तम ज्ञान महान, कर्म में नहीं फँसाओ ॥
ज्ञानवान बनि जगत में, है विरक्त विचरन करूँ ।
करूँ जनार्दन करम च्यों, च्यों रनमें मारूँ मरूँ ॥

❀ अर्जुन कहने लगे—हे जनार्दन ! यदि कर्मों की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) को ही आप श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर हे केशव ! मुझे घोर

जीव और ब्रह्म, मुमुक्षु और ज्ञानी सिद्ध, शिष्य और गुरू, नर और नारायण तथा भक्त और भगवान् एक वृक्ष के दो पक्षी हैं। अन्तर केवल इतना ही है, कि नर संशय युक्त है और नारायण संशय रहित है। नर जिज्ञासु है नारायण उसकी जिज्ञासा को शांत करने वाले हैं, नर अपूर्ण है नारायण परिपूर्ण हैं। परन्तु दोनों में ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है, कि एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते। एक साथ खाते पीते हैं, चलते बैठते हैं। साथ-साथ तपस्या करते हैं। उन्हें कोई भी एक दूसरे से पृथक नहीं कर सकता। दोनों को पृथक सम्बोधन भी नहीं किया जाता। सहोदर जो ठहरे। दोनों पृथक्-पृथक् प्रतीत होने पर भी भेद रहित हैं। भेदवादियों को भेद से प्रतीत होते हैं अभेदवादियों को अभेद से। कोई भेदाभेद के चक्कर में न पड़ कर उन्हें अचिन्त्य कहते हैं। दोनों का जो सम्वाद है, वह मंगल मय है। नारायण कहते हैं—तुम नर ! ऐसा जानो कि जीवन में नम्रता लाना, गुरुओं के सम्मुख प्रणिपात करना, उनसे प्रश्न करना, और उनकी सेवा सुश्रूषा करना ये ही ज्ञान प्राप्ति के सरल सुगम साधन हैं। बिना नम्रता के, बिना प्रणिपात किये, बिना प्रपन्न बने कोई ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी ही नहीं बन सकता। इसलिये जीवन में सरलता, शुचिता नम्रता लाओ। विनम्र होकर गुरुजनों से जिज्ञासु भाव से प्रश्न करो और अहंकार को छोड़कर उनकी सब प्रकार से सेवा करो। इससे होगा क्या, वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे जिससे

कर्मों में क्यों नियुक्त करते हैं ? ॥१॥

आप इन पुरे मिले से वचनों द्वारा मेरी बुद्धि को विमोहित-सी बना रहे हैं। इसलिये आप निश्चित एक ही बात कहिये। जिसके द्वारा मैं श्रेय को प्राप्त कर सकूं ॥२॥

तुम इस संसार बन्धन से विमुक्त बन जाओगे। तुम्हारी अहं ममता छूट जायगी। तुम कर्तृत्व दोष से रहित बन जाओगे। इसलिये तुम्हारे हृदय में जो भी शंका हो, उसे बिना किसी संकोच के कह दो। उसे मुझसे श्रद्धा भक्ति पूर्वक पूछ लो।

गुरुदेव का ऐसा आश्वासन पाकर संशय और मोह में पड़कर पूछता है। बोलता है (अर्जुन-उवाच) वह अभिमान के वशीभूत होकर नहीं पूछता। अत्यन्त विनीत भाव से सुन्दर सम्बोधनों से युक्त वाणी बोलता है। अत्यन्त श्रद्धा भक्ति और प्यार में बार-बार सम्बोधन किया जाता है। भगवान् ने पीछे कहा—तेरा अधिकार कर्म करने में ही है। फिर आगे कह दिया—देखो, भैया! ये कर्म में रत पुरुष बड़े कृपण-लोभी लालची-होते हैं। क्योंकि बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म बहुत ही निम्नस्तर का साधन है। इससे अर्जुन समझ न सके कि भगवान् का अभिप्राय क्या है। या तो वे मुझे बहुत ही निम्न कोटि का साधक मानते हैं, इसीलिये 'तेरा' पर जोर देकर कहते हैं—"भैया! तेरा तो अधिकार कर्म करने में ही है। उसके फल में तेरा अधिकार नहीं, इसलिये निरन्तर कर्म करता जा।" फिर एक स्थान पर कहते हैं—अरे कुटिया के चारों ओर गङ्गा जी का जल भर जाने पर साधक फिर कुआ के पास नहीं जाता, उसके चारों ओर जल ही जल भरा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी को कर्म की अपेक्षा नहीं रहती। यहाँ तेरा अधिकार नहीं कहा। इसलिये प्रतीत होता है, मैं तो कर्म का अधिकारी हूँ, मुझसे जो श्रेष्ठ साधक होंगे, वे ज्ञान के अधिकारी होंगे। इसलिए जिज्ञासु को शंका हो गयी। उसी शंका के निवारणार्थ अर्जुन ने प्रश्न किया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने सांख्ययोग अर्थात्

ज्ञान निष्ठा की प्रशंसा की और स्थितप्रज्ञ-जो प्रज्ञा-बुद्धियोग-ज्ञाननिष्ठा में स्थिर रहे उसके लक्षण बताकर अंत में कह दिया—"अर्जुन ! जो मैंने समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं, ऐसी स्थिति जिसकी हो गयी है, वही ब्राह्मी स्थिति वाला ज्ञानी महापुरुष है। इस स्थिति को जिसने भी प्राप्त कर लिया है, वह कभी भी मोह रूपी पंक में नहीं फँस सकता। पहिली अवस्था में, युवास्था में, या वृद्धावस्था में प्रयत्न करने पर भी ऐसी स्थिति प्राप्त न हुई हो और मृत्यु के समय-अन्तकाल में ही सही-एक क्षण को भी यह स्थिति प्राप्त हो जाय, तो मुमुक्षु ब्रह्मरूप निर्वाण स्थिति को प्राप्त हो जाता है। ऐसी इस सांख्य योग-ज्ञान योग-की महिमा है।"

इस पर अर्जुन ने यही निष्कर्ष निकाला कि बुद्धि योग ही भगवान् के मत में सर्वश्रेष्ठ साधन है, और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ है किन्तु इसके पहिले भगवान् ही अपने श्रीमुख से कह चुके हैं कि "हे भारत ! तू युद्ध कर" फिर कहा है—तुम जो युद्ध क्षेत्र में अपने सगे सम्बन्धियों को देखकर विचलित हो रहे हो—थर थर काँप रहे हो-ऐसा तुम्हें नहीं करना चाहिये। क्योंकि युद्ध करना तो तुम्हारा स्वधर्म है। स्वधर्म का परित्याग पाप है, क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर-कल्याण का मार्ग-दूसरा कोई है ही नहीं। इसलिये तुम स्वधर्म का पालन करो-युद्ध करो-ऐसे धर्म को तो बड़े भाग्यशाली सुखी क्षत्रिय ही प्राप्त करते है। अन्य साधनों मे तो स्वर्ग द्वार कपाट पाटन उद्घाटन-के लिये साधन करने पड़ते हैं, किन्तु क्षत्रिय के इस महान परम-धर्म से तो स्वर्ग के द्वार अपने आप खुले हुए मिलते हैं, इससे तुम सब कुछ छोड़कर युद्ध कर्म को ही करो।" तुम युद्ध करने दृढ़ निश्चय कर लो। इसमें

विचार करने की आवश्यकता नहीं। तुम युद्ध के लिये तैयार तो हो जाओ, तुम जो भाई बन्धुओं के वध से पाप लगने की आशंका करते हो, यह उचित नहीं। तुमको पाप लगेगा ही नही।" इस इस प्रकार भगवान् ने पहिले युद्ध रूपी कर्म करने पर अत्यधिक बल दिया। इस पर अर्जुन की बुद्धि विमोहित बन गयी। उन्हें यह आशंका हुई कि भगवान् का तात्पर्य क्या है, या तो कर्म योग और ज्ञान योग के साधक पृथक-पृथक होते होंगे, भगवान् ने मुझे निष्काम कर्म योग का ही अधिकारी समझा होगा इसीलिये बारम्बार मुझे कर्म करने को प्रेरित करते हैं। जब यही बात है, तो ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करने का--उसकी प्रशंसा करने का-क्या कारण है। यह कहो कि भगवान् ने दोनों मार्ग बता दिये और मुझे स्वतन्त्र छोड़ दिया कि इनमें से जो तुम्हें अच्छा लगे चुन लो। तो मैंने तो युद्ध त्याग का--सन्यास का--मार्ग पहिले ही सुन लिया था। मैंने अस्त्र शस्त्र त्याग ही दिये थे। भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करने का निश्चय कर ही लिया था, किन्तु भगवान् ने इस पर मेरी बड़ी भारी खिल्ली उड़ाई। मेरे कार्य को अनार्यजुष्ट, अस्वर्गकर, अकीर्तिकर बताया। भगवान् मुझसे कराना क्या चाहते हैं। युद्ध भूमि न होती वैसे मुझे समझाते तो ठीक था, कि यह योग मार्ग है, यह भक्ति मार्ग है, यह ध्यान मार्ग है, यह ज्ञान मार्ग है, युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं सब अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित आमने सामने खड़े हैं और भगवान् ज्ञान मार्ग--संन्यास धर्म--की प्रशंसा कर रहे हैं यह तो गङ्गा जी की गैल में मदार के गीतों के समान है। भगवान् मेरे लिये जो एक निश्चित मार्ग उचित समझते हों उसी का मुझे उपदेश देना चाहिये। यही सोचकर अर्जुन श्री भगवान् से पूछने लगे-"हे प्रभो! संसार में जितने भी

जन हैं, वे आपसे अपनी अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करते हैं। जिसे जो भी वस्तु चाहिये सब आपसे ही मांगते हैं। इसीलिये आप 'जनार्दन' कहलाते हैं। मुझे भी कुछ शंका है, उसे आपके अतिरिक्त किससे पूछूं, सो हे जनार्दन ! यह बताइये कि आपके कथनानुसार कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग--ज्ञान--ही श्रेष्ठ है तो हे क्लेशो के नाश करने वाले केशव ! मुझे युद्ध रूपी-घोर वीभत्स कार्य में प्रेरित क्यों कर रहे हैं ? क्यों बार-बार युद्ध करो, युद्ध करो की रटन लगा रहे है। यह तो आप मिली जुली सी बातें कर रहे हैं।

यह जो रामाय स्वस्ति रावणायस्वति-राम का भी कल्याण हो, रावण का भी कल्याण हो--वाली उक्ति को आप चरितार्थ कर रहे हैं, कृपा करके इसे छोड़िये। मुझसे आपका कोई संकोच तो है नहीं। आपको किसी का भय भी नहीं फिर आप ऐसी गङ्गा जमुनी-मिली जुली-जो बात कह कर मुझे ठग क्यो रहे हैं ? मेरी बुद्धि को मोह-से मे क्यों डाल रहें है। यद्यपि मैं यह भली भाँति जानता हूँ, आप मुझे जान बूझ कर कभी भी मोह में न डालेंगे, और सर्वज्ञ होने से आप से भूल होना भी असम्भव है। अतः त्रुटि मेरी ही होगी। इसलिये सशय वाली बात छोड़िये। मिली जुली बात मत बताइये। जिससे मेरा कल्याण हो, मुझे श्रेय की प्राप्ति हो जाय, ऐसा एक ही उपाय मुझे निश्चित रूप से बता देने की कृपा करें। मैं तो आपका अनुरक्त भक्त हूँ, विशाल बुद्धि भी नहीं है। अतः खुलासा करके-स्पष्ट शब्दों में मुझे मेरे कर्तव्य का बोध करा दें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने अत्यन्त करुणा भरे शब्दो में अपनी मानसिक व्यथा बतायी और अपनी निष्ठा के सम्बन्ध में भी जिज्ञासा की तब भगवान् ने विस्तार पूर्वक जो

इस विषय में कहा, उसे मैं आप लोगों को आगे बताऊँगा, आशा है आप मेरे कथन को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।

छप्पय

कबहूँ मोकूँ नाथ! ज्ञान अति श्रेष्ठ बतावैं।
करैं प्रशंसा करम युद्ध मोतैं करवावैं॥
कहैं सकाम अकाम करैं घपलो दोउनि में।
चकरावै मम बुद्धि मोह होवै मम मन में॥
एक बात निश्चित करो, ज्ञान पन्थ धारन करूँ।
जामें हो कल्यान मम, कहो युद्ध केशव! करूँ॥

कर्मयोग और ज्ञानयोग दो निष्ठायें हैं

[२]

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

बोले श्री भगवान—न मैंने घपलो कीयो ।
दोऊ दये मिलाय ध्यान तैंने नहिँ दीयो ॥
द्वै निष्ठा है लोक माहिँ मैंने बतलाई ।
फिर तैं दोउनि कहूँ तोड़ न्यारी समुझाई ॥
सांख्ययोग की एक है, ज्ञानी नित जामें रहैं ।
करम योग है दूसरी, करम योग जाकूं कहैं ॥

संसार में दुःख का कारण कर्म है । कर्म करने से उनके फल

---

* श्री भगवान् ने कहा—देखो, भैया ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठायें मेरे द्वारा पूर्व में बतायी गयी हैं । साख्य वालों की ज्ञान योग से और योगियों की निष्ठा कर्म योग से हैं ॥३॥

कर्मों के न करने से ही कोई मनुष्य निष्कामता को प्राप्त नहीं हो

मिलेंगे। फल संचित होते जायेंगे। उनसे नाना योनियों में जन्म मिलेगा। जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु भी ध्रुव है। संचित कर्मों में से एक जन्म के जो भोग है, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। उसका नाम भाग्य भी है, वे दिखायी नहीं देते अतः अदृष्ट, भी कहलाते हैं। प्रारब्ध कर्मों का बिना भोग किये नाश ही नहीं होता। कर्म करने पर जो नई-नई वासनायें-भोगेच्छायें उठती हैं उनसे क्रियमाण कर्मों का निर्माण होता रहता है। अतः संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों की शृंखला ऐसी सुदृढ़ है, कि इससे छुटकारा नही मिलता है। बन्धन बढ़ता ही जाता है। इसी का नाम भवरोग है संसार बंधन है, मोह का जाल है। किसी प्रकार यह मोह का जाल टूट जाय। भवरोग मिट जाय संसार बंधन छिन्न-भिन्न हो जाय, तो सब दुःख दूर हो जायँ, समस्त चिन्तायें अशांति मिटकर प्राणी परमसुखी बनकर शान्ति लाभ करे। अहंता ममता-मोह ही हमें अधिकाधिक अशांत और दुखी बनाता है। इस मोह का क्षय हो जाय, नाश हो जाय, उसी स्थिति का नाम मोक्ष है। प्राणीमोक्ष चाहता है। जीव का परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। जीव के समस्त प्रयत्न मोक्ष के लिये ही हैं। बन्धन का कारण कर्म ही हैं। परन्तु बिना कर्म किये प्राणी एक क्षण भी नही रह सकता। तब तो यह बड़ी भारी विवशता है। कर्म के बिना प्राणी क्षण भर भी रह नहीं सकता और बन्धन का कारण कर्म ही है। तब मोक्ष कैसे प्राप्त हो। यदि कर्म युक्ति पूर्वक किये जायं तो कर्मों को करते हुए उनके बन्धनों से बचा जा सकता है। जो ऐसी युक्ति बताते हैं जो कर्मों का शासन करते हैं उन्हें शास्त्र कहते हैं।

सकता और न कर्मों के त्याग मात्र से ही कोई सिद्धि को प्राप्त हो सकता है ॥४॥

इसलिये कौन-सा कार्य करने योग्य है, कौन-सा कार्य नहीं करने योग्य है, इसमें शास्त्र ही प्रमाण है।

अब शास्त्र किसे कहते है? यह प्रश्न उठता है। शास्त्र उसे कहते हैं, जो बिना किसी दूसरे की सहायता के हमें मोक्ष का सीधा मार्ग बता दें। जो मोक्ष का सीधा मार्ग न बता सके वह शास्त्र नहीं। आधुनिक भौतिक विज्ञान के ग्रथ हमें मोक्ष का माग नहीं बताते वे यही बताते हैं, कि अमुक-अमुक पदार्थों के मिश्रण से अमुक-अमुक उपयोगी भौतिक वस्तु बन जायगी, अतः वे भौतिक ग्रंथ हैं। मोक्ष प्राप्ति कराने वाले शास्त्र नहीं।

जैसे आयुर्वेद है, वह शास्त्र है, जब तक हमने आयुर्वेद के ग्रंथ नहीं देखे थे, तब तक हम यही समझते थे कि आयुर्वेद ग्रंथों में रोगों क निदान और उनके निवारणार्थ सोंठ, मिरच, पीपल, हरड़ बहेड़ा, आमला आदि-आदि औषधियों का विवरण होगा। किन्तु चरक आदि मुनियों की संहितायें देखीं तो पता चला यह तो मुक्ति तक पहुँचाने का शासन करने वाला शास्त्र है। उनका कहना है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण है आरोग्य-आयु का सदुपयोग। वे आरोग्य के द्वारा मोक्ष प्राप्त कराना चाहते हैं। वात्स्यायन आदि महर्षि कहते है, मोक्ष काम के द्वारा प्राप्त हो सकती है। जैमिनी आदि महर्षि कहते हैं मोक्ष धर्म के द्वारा प्राप्त हो सकती है, पाणिनीय पतंजलि आदि महर्षि कहते हैं, मोक्ष शब्द के सम्यक् प्रयोग—से व्याकरण से—प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ऋषियों ने मोक्ष प्राप्ति के भिन्न-भिन्न उपाय बताये हैं। कर्म करे बिना तो प्राणी रह नहीं सकता और कर्म ही संसार में जकड़ता है अतः युक्ति से--योग से--सावधान होकर--हाथ पाँव को बचाकर--कर्मों को ऐसी कुशलता से करे कि न साँप मरे न लाठी टूटे। इसी का नाम साधन है

योग है। जैसे किसी को पुराना अजीर्ण रोग है। और अजीर्ण में भोजन को विषवत् बताया है। उसका उपाय लंघन है। अर्थात् भोजन न करना। पुराना अजीर्ण है, कै दिन भोजन न करेगा। भोजन बिना किये तो रह नहीं सकता, मर जायगा। अतः भोजन युक्ति से करे। लंघन करे किन्तु युक्ति से करे। लघु भोजन को भी लंघन कहा है (लंघनं लघु भोजनम्) भोजन भी करे तो ऐसा करे जो हलका हो, हृदय को सुख देने वाला हृद्य हो, शीघ्र स्वयं पचने वाला और अजीर्ण को भी पचाने वाला हो। जैसे पतली खिचड़ी हो, उसमें हींग जीरे का छौंक लगा हो, चित्रक, अजमोद, सोंठ, काली मिरच पीपल, अदरक पड़ा हो। यद्यपि खिचड़ी भोजन ही है, किन्तु अनेक प्रकार के योग द्वारा वह अजीर्ण को नाश करने की औषधि बन गयी है, इसी प्रकार कर्म बन्धन का ही कारण है, किन्तु उसे शास्त्रीय पद्धति से—युक्ति के द्वारा—कुशलता पूर्वक किया जाय तो बन्धन का कारण न होकर मोक्ष का साधन बन जायगा। जो कर्मों को युक्ति के द्वारा कौशल पूर्वक करते हैं उनको साधक कहते हैं।

उस साधक की मनः स्थिति कैसी है उसी को निष्ठा कहते हैं। रुचि, विश्वास, मान्यता, दशा, ये सब निष्ठा के ही अन्तर्गत हैं। मोक्ष के मार्ग बहुत हैं। साधक की मनः स्थिति को दो भागों में बाँट देते हैं। एक तो वे लोग जो हृदय प्रधान हैं, दूसरे वे हैं जो कर्म प्रधान हैं। हृदय प्रधान लोग अन्तःकरण—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—के द्वारा विचार विवेक, वैराग्य आदि विषयों पर मनन करते रहते हैं। कर्म प्रधान बाह्यकरण—बाहर की ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्य किया करते हैं। वेदों में कहीं तो कर्मों की प्रशंसा है, और कहीं ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताया है। बहुत-सी श्रुतियाँ परस्पर में भिन्न-भिन्न-सी प्रतीत हैं। उन भिन्न-

भिन्न-सी प्रतीत होने वाली श्रुतियों को एकतानता करने के ही लिये मीमांसा शास्त्र है। मीमांसा के दो भाग हैं, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक तो वार्ता-व्यवसाय-आजीविका उपार्जन के निमित्त किये जाने वाले कर्म जैसे यजमानी, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि इस लोक के कर्म—दूसरे यज्ञयागादि परलोक सम्बन्धी कर्म। कर्म करने वालों का कहना है, कि यज्ञ के लिये किये जाने वाले कर्मों को छोडकर अन्य सभी कर्म बन्धन के कारण है। इसलिये निरन्तर यज्ञ यागादि कर्मों में ही निरत रहना चाहिये।

वेद को विभिन्न ऋचाओं को दो भागों में बाँटा गया है, एक कर्म परक दूसरी ज्ञान परक। कर्मपरक ऋचाओं का जिनमें समन्वय है उन्हें पूर्व मीमासा कहते है और जिनमें ज्ञान परक श्रुतियो का समन्वयात्मक विवेचन है उसे उत्तर मीमांसा या वेदान्त दर्शन कहा जाता है मीमांसक लोग कर्म को ही प्रधान मानते हैं उनका कहना है, शुभ कर्म करते रहो, निरन्तर यज्ञ यागादि कर्मों में निरत रहो, उससे आपको अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति होगी, उनके मत में यही मुक्ति है। वेदान्तियों का कहना है, सर्वस्व त्यागकर-कर्मों से सन्यास लेकर विचार विवेक पूर्वक तत्त्व वस्तु का अनुसंधान करते रहो। वेदान्तियों में तत्त्व वस्तु पर मत भेद है। कोई निर्गुण निराकार सच्चिदानंदघन परमात्मा को परम तत्त्व मानते हैं। कोई सगुणसाकार ब्रह्म को ही परमतत्त्व कहते है। उनके मत में श्री कृष्ण से परे कोई भी तत्त्व नहीं। श्री कृष्ण ही परमतत्त्व हैं।

इससे यही सिद्ध हुआ कि सृष्टि के आदि काल से—प्राचीन काल से—दो प्रकार की निष्ठायें परम्परा से चली आ रही हैं। एक ज्ञान निष्ठा दूसरी कर्म निष्ठा। श्री कृष्ण जी के काल में

ज्ञान निष्ठा का जो भी रूप रहा हो, कर्म निष्ठा का यही रूप था, कि बड़े-बड़े यज्ञयाग करते रहो। नित्य पंच महायज्ञ करो। अमावस्या को पितरों के लिये दर्श यज्ञ करो, पूर्णिमा को देवताओं के निमित्त पौर्णमा यज्ञ करो। चतुर्मास्य में चातुर्मास्य यज्ञ करो। पशु यज्ञ, सोमयज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, राजसूय आदि-आदि बड़े-बड़े यज्ञ हैं, जिन का वेदों में विशद वर्णन है। मीमांसकों का कहना है वेद में कर्म कांड को ही सबसे अधिक ९६ हजार ऋचायें हैं। अतः वेद कर्म प्रधान है। ज्ञान सम्बन्धी ऋचाओं को तो प्रशंसात्मक कह कर उपेक्षणीय या गौण कर देते है। भगवान् श्री कृष्ण ने कर्मयोग को द्रव्य यज्ञों तक ही सीमित न रखकर उन्होंने यज्ञ की विशद व्याख्या कर डाली है। वे द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ आदि समस्त शुभ कर्मों को यज्ञ की संज्ञा दे देते हैं। वे मीमांसकों के कर्म वाद को कर्म योग नहीं मानते वे कर्मयोग के साथ निष्काम को और जोड़ते हैं। प्रभु प्राप्ति के लक्ष्य निष्काम भावना से—तुम जो भी कार्य करो वही यज्ञ है। मीमांसकों के कर्म की और उनके स्वर्ग रूपी मोक्ष की उन्होंने खिल्ली उड़ायी है। प्रभु प्राप्ति या मुक्ति के निमित्त अंतःकरण से ही नहीं वाह्यकर्ण अर्थात् वाह्य इन्द्रियो से समस्त कर्मों को करते रहने पर हा बल दिया है। इन सबका उल्लेख यथा स्थान होगा। इसलिये जहाँ कर्मयोग आवे वहाँ निष्काम भाव से की जाने वाली भगवत् भक्ति, निष्काम भाव से किये जाने वाला योग, यज्ञ स्वाध्याय आदि सभी को समझना चाहिये।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कि भगवन्! कभी आप कर्मों के करने पर अत्यधिक बल देते है और कभी समस्त कर्मों का परित्याग करके सन्यास धर्म को श्रेष्ठ बताते हैं, इससे मैं किंकर्तव्य विमूढ़-सा बन गया हूँ। मुझे एक निश्चित

मार्ग बता दो जिससे मुझे परम कल्याण की प्राप्ति हो सके।

इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन! मैंने प्राचीनकाल से ही दो निष्ठायें बतायी हैं उन निष्ठाओं को सब लोग समझने में असमर्थ हैं। जब तक शरीर में पाप रहते हैं, तब तक परमार्थ की बातें बुद्धि में बैठती नहीं। सहस्रों जन्मों में जिन्होंने तपस्या यज्ञ याग दान धर्मरूप शुभ कर्म किये हैं। उन्हीं के अघ-पाप-क्षीण होते हैं। ऐसे ही क्षीण पाप पुरुष मुमुक्षु या अनघ कहलाते है। हे अर्जुन! तुम अनघ हो, पाप रहित हो, कल्मष विहीन हो। इसीलिये मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ। तुम पापी होते, अघवान् होते तो मै तुम्हें कभी उपदेश न करता। जो पापी पुरुष हैं, उनके हृदय में सदुपदेश ठहर ही नहीं सकता। पाप रहित होने से तुम मेरे उपदेश श्रवण करने के अधिकारी हो, अतः बताता हूँ सुनो—"देखो, जो सम्यक् आत्मबुद्धि वाले बुद्धि जीवी बुद्धिमान ज्ञानी पुरुष है, वे तो ज्ञानयोग की निष्ठा वाले हैं और जो कर्म प्रधान प्रकृति के कर्म योगी हैं, वे कर्मयोग की निष्ठावाले हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञाननिष्ठ लोग क्या करते हैं, कैसे रहते हैं, उनको रहन-सहन आचार-विचार के विषय में बताइये।"

भगवान् ने कहा—सन्यासी लोग भी कर्म का अनुष्ठान नहीं करते। वे घर छोड कर विरक्त होकर-निष्कर्म बन कर-वन में वास करने लगते हैं।"

अर्जुन ने कहा—महाराज! यह मार्ग तो बहुत ही अच्छा है, न ऊधो का लेना न माधो का देना। सब काम छोड़कर चुप-चाप जाकर वन में बैठ जाय।"

भगवान् ने हँसकर कहा—भैया! उत्तम तो है, कर्म तो पत्थर भी नहीं करता। केवल कर्मों को छोड़ देने मात्र से ही कोई सर्व कर्म शून्यता रूप ज्ञान निष्ठा को प्राप्त नही कर सकता।

और सोचा—घर से निकल चलें, परिवार वालों से पृथक् होकर वन में वास करने लगे। काषाय वस्त्र पहिनकर घर-घर से मधूकरी माँगते फिरे। इतने से ही सिद्धि मिल जाय, सो भी बात नहीं। कर्म छोड देने से ही कोई सन्यासी नहीं बन जाता।

अर्जुन ने पूछा—"कर्म जब बन्धन के ही कारण हैं, तो उन्हें छोड़ देना बुरा है क्या?"

भगवान् ने कहा—बुरा तो नहीं, किन्तु कर्मों को कोई छोड़ सके तब न? कर्मों को छोड देना कोई साधारण काम है?

सूतजी कहते है—मुनियो! कर्म बाह्य इन्द्रियों-हाथ, पैर, वाणी मल मूत्रेन्द्रियों तथा आँख, कान, मुख, नासिका और त्वचा रूपी ज्ञान कर्म इन्द्रियों से ही नहीं होते, कर्म तो अन्तःकरण मन बुद्धि चित्त और अहंकार द्वारा भी होते रहते है। शरीरधारी ऐसा कौन-सा प्राणी है, जो सर्वथा कर्मों से विरत हो सके। उन कर्मों का नियम न करना ही पुरुषार्थ है। इसी पर बल देते हुए भगवान् जो उपदेश देंगे उसका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

करमनि को नहिँ त्याग बने दोउनि में अरजुन।
करिकें पहिले करम पाँइ निष्ठा साधक जन॥
होवैं नहिँ निष्काम करें बिनु करम योगिजन।
केवल करिकें त्याग सिद्ध होवैं नहिँ मुनिजन॥
चाहें निष्ठा ज्ञान की, करमयोग होवै भले।
करिकें दोऊ करम ही, सिद्ध होहिँ जावै चले॥

कर्म किये बिना कोई रह ही नहीं सकता

[३]

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ❀

(श्री० भग गी० ३ अ, ५, ६ श्लोक)

छप्पय

करम करे बिनु तीन काल महँ रहै न कोई ।
चाहें जागत रहो भले ही जाओ सोई ॥
साँस और प्रस्वास करम ही जाकूँ मानो ।
छिनभर नाहिँ न रहें करम बिनु तुम सब जानो ॥
जीव चराचर जगत के, प्रकृति जनित गुणवश रहैं ।
करम करन कूँ विवश सब, करम बिना कबहूँ न रहैं ॥

❀ क्योंकि बिना कर्म किये कोई भी जन एक क्षण भी नही रह सकता । प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा सभी प्राणी अवश होकर कर्मों को करते रहते हैं ॥५॥

जो पुरुष ऊपर से तो कर्मेन्द्रियो को रोके रहता है और मन से इन्द्रियों के भोगो का चिन्तन करता रहता है उस मूढ बुद्धि को मिथ्याचारी कहते हैं ॥६॥

ज्ञानेन्द्रिय से न करोगे तो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूपी अन्तःकरण से कुछ चिन्तन करते रहोगे। कर्म किये बिना कोई रह ही नही सकता। सन्यास लेना भी कर्म है, भिक्षा माँगने जाना भी कर्म है, खाना भी कर्म है, मल मूत्र विसर्जन भी कर्म हैं इस पर कह सकते हैं—केवल शरीर सम्बन्धी कर्म यद्यपि कर्म हैं, किन्तु इनके करते हुए भी जो निरन्तर ब्रह्म चिन्तन करता है उसे कर्मजनित किल्विस-पाप-दोष नहीं लगता। यह तो ठीक ही है जो ब्रह्म में लीन हो गया है, उसका तो कर्तृत्व ही समाप्त हो गया है। हम सर्व साधारण साधक के सम्बन्ध में बता रहे हैं, कि कर्म के बिना प्राणी का रहना असंभव है। यद्यपि कर्म ही बंधन का कारण भी है, किन्तु कर्म वासना बाँधती है। इसलिये निष्काम बुद्धि से किया हुआ कार्य बन्धन का कारण नहीं होता। इसी बात पर भगवान् श्री कृष्ण जी समस्त गीता में बल देते रहेंगे। यद्यपि संन्यास निष्ठा का वे निराकरण नही करते। वे मानते है, जिसका अन्तःकरण निरन्तर वैराग्य युक्त होकर सद्असद् के विवेक में ही लगा रहे, तो उससे तो बाह्यकर्म होंगे ही, किन्तु बहुत से ज्ञानाभिमानी जो यह कहते हैं, कि सन्यास लिये बिना मोक्ष हो नही हो सकती। ब्रह्मरूप लोक की इच्छा से ही प्रव्रज्या- सन्यास-ग्रहण करते हैं यह लोक केवल सन्यासी को ही प्राप्त होता है। भगवान् इस बात का निराकरण करते है। वे कहते हैं, निष्काम कर्मों को अंत तक करते रहने वाला भी उसी लोक को प्राप्त होता है, जिसको कर्म त्यागी वीतराग सन्यासी। यही नही, वे निष्काम कर्म योगी को विशिष्ट—उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ—मानते है। गीता में यही विशेषता है। वे कर्मों के स्वरूपतः त्यागने पर बल नहीं देते, अपितु उसकी निन्दा करते हैं।

वेष दो प्रकार से बनाया जाता है, एक तो सचाई के साथ

अपना कर्तव्य पालन की बुद्धि से। दूसरा अपनी आजीविका चलाने के निमित्त दंभ से—लोगो को प्रभावित करके उन्हें ठगने के लिये। बहुत से बिना वेष बनाये ही साधारण रूप में अपना कर्त्तव्य पालन करते रहते हैं। दूसरे लोग उन्हें सर्व साधारण पुरुष ही समझते है ऊपर से वे सर्वसाधारण लोगों की भांति बने रहते हैं, किन्तु भीतर ही भीतर वे अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहते हैं। जैसे कोई जनता की शुद्धभावना से सेवा करने वाला राजचर (पुलिस सिपाही) है। वह अपने गणवेष (वरदी) में सुसज्जित होकर अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है, तो वह उचित कर रहा है। लोग उसे देखते ही उसकी वेश-भूषा से ही समझ जाते हैं यह राज्य का चर (सिपाही) है। दूसरे डाकू चोर भी अपनी आजीविकार्थ—लोगों को लूटने पाटने को अपने पेट तथा परिवार को पालने को राजचर गणवेष (वरदी) धारण कर लेते हैं, तो वे मिथ्याचारी हैं, दंभी हैं, कपटी हैं पाखंडी हैं। भगवान् ऐसे मिथ्याचारियों की निन्दा करते है। तीसरे वे गुप्तचर है, जो सर्वसाधारण लोगों के रूप में रहते हैं, कोई गणवेष धारण नही करते—किन्तु साधारण वेष में भी अपने कर्तव्य का तत्परता से पालन करते हैं। भगवान् उनकी बहुत प्रशंसा करते हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ विशेष व्यक्ति बताते हैं।

वैसे ज्ञाननिष्ठ संन्यास मार्ग अनादि है श्री शुक याज्ञवल्यादि महर्षियों ने इसे अपनाया है, फिर भी भगवान् निष्काम कर्म युक्त वासना सन्यास को बिना किसी प्रकार विशेष वेष बनाये कर्मयोग का विशेष आदर करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं इसके लिये सर्वप्रथम वे स्वयं अपना ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तथा व्यास वसिष्ठ जैगीषव्य और जनकादि राजर्षियों का उदाहरण देते है।

पहिले जिनको अत्युत्कट वैराग्य होता था, वे वन में भोजपत्र

की काषाय रंग की छाल पहिन कर रहते थे। तूमा या बाँस का सुगमता से जंगल में मिलने वाला पात्र रखते थे। कोई विरले ही ऐसे होते थे उनके न तो मठ होते थे, न उनकी कोई जमात ही चलती थी। दूसरे ऐसे होते थे जो लोक संग्रह के लिये निष्काम भाव से केवल परमार्थोपयोगी कार्यों में लगे रहते थे। ऐसे ही ऋषि महर्षि सब होते थे, किसी-किसी के साथ १०।१० सहस्र भजन करने वाले साधक होते थे वे कुलपति कहाते थे। उनमे बहुत से सपत्नीक गृहस्थ महर्षि होते थे। जैसे विश्वामित्र, भरद्वाज, वसिष्ठ, जमदग्नि आदि-आदि। बहुत से अपत्नीक नैष्ठिक होते थे, जैसे महर्षि कण्व शौनक आदि। कर्म त्यागी परमहंस अवधूत शुकदेव के समान तो कोई विरले ही होते थे, किन्तु वे भी अपने पूर्वज, व्यास, परासर, शक्ति और वसिष्ठ को यह उपदेश नहीं देते थे, कि तुम सन्यास ले लो। सन्यास के बिना गति नहीं। अन्ययुगो में सन्यास मार्ग निषेध तो नही था, किन्तु अपवाद स्वरूप कोई-कोई होते थे। कलियुग में तो प्रत्यक्ष रूप से सन्यास का निषेध है। धर्मराज युधिष्ठिर के राज्य में ही श्रीकृष्ण भगवान् के रहते-रहते कलियुग आ गया था, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभाव से कलियुग ने पैर नहीं फैलाये थे। सर्वान्तर्यामी भगवान् ने इसीलिये ब्रह्मार्पण बुद्धि से—निष्काम कर्म पर ही सर्वाधिक बल दिया। धर्मराज युधिष्ठिर ने यह वरदान माँग लिया था कि पाँच हजार वर्ष तक कलि का प्रभाव न बढ़े—वर्णाश्रम धर्म थोड़ा बहुत बना रहे। उस समय में कोई अत्युत्कट वैराग्यवान् अपवाद स्वरूप सन्यास ले भी सकता था, किन्तु कलियुग के पाँच सहस्र बीत जाने पर तो जैसा सन्यास लोग लेते हैं, उससे भगवान् ही बचावे। भगवान् ने लोगो को मिथ्याचारी बताया है। अतः इस युग में तो ब्रह्मार्पण बुद्धि

से—केवल भगवत् सेवा भाव से—निष्काम कर्म योग का ही भगवान् उपदेश करते हैं। उसी की भूमिका बांधते हुए अर्जुन की शंका का भगवान् उपदेश दे रहे हैं।

सूत जी कहते है—"मुनियो! अर्जुन से भगवान् ने जब दो नियम पूर्व स्थितियों-निष्ठाओं का वर्णन किया, तब यह स्वाभाविक ही पूछने वाले की इच्छा होती है, कि महाराज! दो तो ठीक हैं, किन्तु इन दो में से आप किसे श्रेष्ठ समझते हैं। इसी का वर्णन करते हुए भगवान् निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता को बताते हुए कह रहे हैं। अर्जुन से भगवान् बोले—अर्जुन! यह कहना तो सरल है, कि समस्त कर्मों को छोड़ छाड़ कर निरन्तर ब्रह्म चिंतन में ही निमग्न हो जाओ। किन्तु अपवाद स्वरूप किसी एक आध को छोड़कर क्या ऐसा संभव हो सकता है?"

अर्जुन ने पूछा—"संभव क्यों नहीं हो सकता महाराज!"

भगवान् ने कहा—अरे, भाई! सभी प्रकृति के अधीन हैं। प्रकृति जनित जो सत्व रज और तम ये तीन गुण हैं, ये गुण तो कर्म कराने के लिये ही हैं। गुणों में क्षोभ होने से ही सृष्टि का कार्य आरम्भ हो जाता है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं दीखता जिसमें ये तीनों गुण अपना कार्य न कर रहे हों। ये जो राग द्वेषादि स्वाभाविक गुण है ये अवश होकर प्राणियों से कर्म कराते रहते हैं। आप गुणातीत हो जाओ, तो दूसरी बात है, नहीं तो बिना कर्म किये क्षण भर भी नहीं रह सकते।

अर्जुन ने पूछा—कर्मेन्द्रियों से कुछ काम न करे आँख मूंदकर चुपचाप बैठा रहे तो?"

भगवान् ने कहा—अरे बाबा! कर्मेन्द्रियों से किया हुआ कार्य ही कर्म थोड़ा होता है। कर्म तो मन से भी होता है। मनन करना भी कर्म है। जिसे अपने कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक नहीं ऐसा

विमूढ़ात्मा बाहरी इन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहे वह तो मिथ्याचारी है, बगुला भक्त है।

शौनक जी ने पूछा—सूतजी ! बगुला भक्त कैसा ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! श्री रामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के साथ सीता जी को खोजते-खोजते पम्पा सरोवर पर पहुँचे। पम्पा सरोवर का जल परम स्वच्छ था, उसमें मछलियाँ भी बहुत थीं। भगवान् ने देखा एक स्वच्छ रंग का बगुला एक पैर से खड़ा हुआ, दोनों नेत्रों को बन्द किये हुए ध्यान मग्न बना जल में खड़ा है। श्री रामचन्द्र जी उसे देख कर बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने अपने छोटे भाई लक्ष्मण से कहा—"सुमित्रानदवर्धन लक्ष्मण ! देखो-देखो, यह जल के भीतर एक पैर से खड़ा हुआ कैसा तपस्वी बगुला है। आँखें बन्द करके ध्यान में निमग्न है। इनकी ऐसी तपस्या को धन्यवाद है।"

लक्ष्मण जी जब तक कुछ उत्तर दें तब तक एक बड़ा मत्स्य बोला—"भगवन् ! आप इसके बाह्यरूप को ही देख रहे हैं। ऊपर से तो यह ध्यान का ढोंग बनाये हुए है किन्तु भीतर इसके हृदय में छुरी चल रही है। यह भगवान् का ध्यान न करके मछली का ध्यान कर रहा है। जहाँ इसे कोई जल के ऊपर आती हुई मछली दिखायी देगी झट से उसे पकड़ कर गड़प कर जायगा। चट से निगल जायगा। सहयोगी ही सहयोगी के चरित्र को जानता है, आपने तो इसे अभी-अभी देखा है। हमारे समीप तो यह वर्षों से रह रहा है। मछली खा-खाकर इसने हमारे वंश का नाश कर दिया है, हमें निष्कुलो कर दिया है। सो; शौनक जी बगुला भगत को ही मिथ्याचारी कहते हैं। कहो तो एक मिथ्याचारी की कथा और सुना दूँ ?"

शौनक जी ने कहा—हाँ-हाँ सूत जी ! मिथ्याचारी की कथा अवश्य सुनाइये ।

सूत जी बोले—"महाराज ! एक सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थान में एक दंभी रहता था । उसके पुत्र पौत्र सब थे, किन्तु वह परमहंस महात्मा का वेष बनाकर दूर-दूर चला जाता । उसके कुछ साथी उसके मिथ्या भक्त बनकर पीछे से जाते । वह दंभी वर्षों केवल तिल ही खाता, तिल का तैल पीता उसकी लघु शंका से भी तिल का सार तैल ही निकलता । वह कहीं बड़े शहर के समीप घोर जंगल में जाकर मिथ्या समाधि लगाकर बैठ जाता । एक दो दिन के पश्चात् उसके साथी उसे चारों ओर सबसे पूछते ताँछते खोजते-खोजते वहाँ जाते और लोगों में हल्ला करते ये बड़े सिद्ध महात्मा हैं, इनके मूत्र में मसाल जलती है । वह नग्न रहता था। मोटा शरीर था । सहस्रों नरनारी उसे देखने को आने लगते। उसके छिपे साथ उसके पेशाब को लोटे में ले लेते उससे मशाल जला देते । लोगों को विश्वास हो जाता । कोई किसी धनिक से कहता—एक मन सुवर्ण भूमि में गाड़ दो सात दिन तक इनके मूत्र से उसे सींचते रहो, दुगुना हो जायगा ।" कुछ लोग लोभवश चक्कर में आ जाते । दुगुने के लोभ से सोना गड़वा देते । दोचार दिन पश्चात् अवसर पाकर उस सुवर्ण को निकाल कर चंपत हो जाते । यद्यपि वह वास्तव में परमहंस समाधि मग्न त्यागी महात्मा नहीं था, किन्तु लोगों को ठगने के लिये उसने ऐसा मिथ्याचारी वेष बना रखा था । ऐसे ही मिथ्याचारी संन्यासी का वेष बनाये लोगों को ठगने को पेट पालने को बहुत फिरते रहते है । वे मिथ्याचारी कहलाते है ।

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियो ! मिथ्याचारियों से बचते रहना चाहिये निष्काम भाव से प्रभुप्रीत्यर्थ भगवान् की भक्ति करते हुए

ोक संग्रहार्थ नियत कर्म कर्मी को करते ही रहना चाहिये।
सी बात को भगवान् और स्पष्ट करके कहते हैं।

छप्पय

कछु ढोंगी यह करें करम इन्द्रिनि कूँ हठतैं।
रोकि अकरमी बनें कहें हम विरत करमतैं॥
चितन मन तैं करैं अकरमी कैसे होवैं।
धुनाबुनी मन करै भले जागें या सोवैं॥
दम्भी मिथ्याचार वे, कहैं करैं हम योग है।
मनतैं चिन्तैं विषय ते, इन्द्रिनि के जो भोग हैं॥

निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है

[४]

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० ७,८ श्लो०)

छप्पय

वे हैं सबतैं श्रेष्ठ रोकि इन्द्रिनि कूँ मनतैं ।
कारज सबरे करैं करम फल तजि कें तनतैं ॥
बन्धन को है हेतु वासना जग भोगनि की ।
भले न तनतैं करो भावना है जा मन की ॥
अनासक्त है कें करें, इन्द्रिय द्वारा करम जो ।
श्रेष्ठ करम योगी वही, जाने करमनि मरम जो ॥

---

* हे अर्जुन ! और जो पुरुष मन के द्वारा इन्द्रियो को वश मे करके अनासक्तभाव से कर्मेन्द्रियो से कर्मयोग को करता रहता है, वह श्रेष्ठ है ॥७॥

इसलिये भैया ! ते नियत कर्मों को करता रह । क्योंकि अकर्मी बने रहने की अपेक्षा कर्म करते रहना श्रेष्ठ है । और फिर कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी तो नहीं चल सकती ॥८॥

एक बात को हम भी बार-बार याद दिलायेंगे और पाठक भी याद रखेंगे। इसे पुनरुक्ति दोष न समझेंगे। गीता में जहाँ भी कर्मयोग या केवल योग शब्द आवे उसका निष्काम कर्मयोग या ब्रह्मार्पण बुद्धि से किया हुआ कर्म ही समझें मीमांसकों का कर्मयोग न लें। वैसे ज्ञान मार्ग कर्म मार्ग ये दो अति प्राचीन अनादि मार्ग हैं। जिन्हें कर्मकांड मार्ग और वेदान्त मार्ग कहा है। वेद कर्म प्रधान है। कर्म से अभिप्राय यज्ञ यागादि पुण्य कर्मों से है। तीनों वेदों में यज्ञ की ही प्रशंसा है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ की विधियों का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है, और परस्पर में उन विधियों में भी भिन्नता है। महर्षि जैमिनी ने उनकी मीमांसा एक-तानता-की है। इसलिये कर्म कांडियों को मीमांसक कहते हैं उनका कहना है कर्म चार प्रकार के हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषेध। कर्म बन्धन का कारण है इसे वे भी मानते हैं, किन्तु उनका कहना है बन्धन का कारण निषिद्ध तथा काम्य कर्म ही है। यज्ञ के लिये किये हुये कर्म बन्धन के कारण नहीं है। ज्ञान मार्ग वाले कर्ममात्र को बन्धन का कारण समझते हैं, अतः वे कर्म सन्यास को ही एक मात्र मोक्ष का साधन मानते हैं। किन्तु कर्म किये बिना तो प्राणी क्षण भर भी नहीं रह सकता—उसकी शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती—इसलिये वे कहते हैं, केवल शरीर यात्रा के लिये किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं। किन्तु गीताकार कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग दोनों निष्ठाओं को स्वीकार करते हुए भी दोनों का समन्वय कर देते हैं। इसीलिये निष्ठायें न कहकर 'निष्ठा' शब्द का प्रयोग किया। वे मानते हैं। जैगीषव्य शुकादि समस्त कर्मों का त्याग करके संन्यास धर्म का आचरण करने लगे। वे भिक्षा से शरीर यात्रा चलाते थे। भिक्षा के लिये भी किसी पर जोर नहीं डालते थे—आग्रह नहीं करते थे। गृहस्थियों के द्वार पर जाकर

खड़े हो जाते थे, और उतनी देर तक खड़े रहते थे, जितनी देर में कोई अपनी एक गौ को दुहले। उतने समय में उसने भिक्षा दे दी तो ठीक है, न दी तो चुपचाप चले आते थे, दूसरे गृहस्थी के द्वार पर जाकर नारायण हरि करते थे। दूसरे वसिष्ठ विश्वामित्र नेगीपव्य आदि महर्षि जनक राजर्षि अपने नियत कर्मों को निष्कामभाव से ब्रह्मार्पण बुद्धि से करते हुए भी सिद्धि को प्राप्त हो गये। तो गीताकार का कहना है। कर्मों में जो कामनारूपी विष है, उसे मार कर करो तो कर्म बन्धन का कारण नहीं है। जैसे संखिया है, विष है जो उसे खायगा वह मर जायगा यह निश्चित बात है, किन्तु उसे ही शोधकर संस्कार करके उचित मात्रा में विधि पूर्वक सेवन करो तो वह अमृत का कार्य करेगा। पारा है उसे पी जाओगे तो शरीर में से फूटकर निकलेगा मृत्यु का कारण बनेगा। किन्तु उसी पारद को देह शुद्धि और लोह शुद्धि द्वारा स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थान, पातन, रोधन, नियमन, दीपन, गगनग्रास, चारण, गर्भद्रुति, वाह्यद्रुति, जागरण, रंजन, सारण, क्रामण और वेधादि कर्मों से शुद्ध करके सेवन करे तो अमृत का काम करेगा। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो औषधि न हो, किन्तु उसका किस योग से कैसे सेवन करना चाहिये ऐसे योजक दुर्लभ है। श्रीकृष्ण सबसे बड़े संयोजक हैं। उनका कहना है। सन्यास मार्ग में दो प्रकार के लोग होते हैं, एक तो ऐसे जो जन्म से ही वैराग्यवान् हैं, जिन्हें संसारी मोह ममता अपनी ओर आकर्षित कर ही नहीं सकती। जैसे शुकदेवजी! उनको तो कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं। वे तो जन्मजात संन्यासी है दूसरे ऐसे लोग जो संन्यास धर्म की प्रशंसा सुनकर उत्सुकता से, लोभवश या किसी के बहकावे में आकर आवेश में संन्यासी का वेष बना लेता है और कर्मेन्द्रियों के कर्म से विरत

होकर "मैं ब्रह्म हूँ" काषायवस्त्र पहिनने से ही, दण्डधारण मात्र से ही नर तुरन्त नारायण रूप बन जाता है ऐसे श्रुत मधुर वाक्यों से विमोहित श्रुति स्मृति कर्मों से रहित—सन्यासी वेषधारी व्यक्ति मिथ्याचारी है, विमूढ़ात्मा है, कपटी, असदाचारी तथा आत्मवंचक है। इसी प्रकार कर्मयोगियों में भी प्रकार के लोग हैं, एक तो वे जो निष्कामभाव से, लोक संग्रह के निमित्त जनतारूपी जनार्दन की सेवा के भाव से, प्रभु पूजा के निमित्त ब्रह्मार्पण बुद्धि से, बिना किसी लौकिक फल की इच्छा से निष्कामकर्मों का अनुष्ठान करते हैं उनके वे कर्म बन्धन का कारण न होकर मोक्ष के कारण होते है। दूसरे जो लोभ लालचवश तो कर्म करते हैं, किन्तु लोगों पर प्रकट करते हैं, मै तो जनतारूपी जनार्दन की सेवा कर रहा हूँ, परोपकार के निमित्त कर्म कर रहा हूँ ऐसे लोग जो अपने को कर्मयोगी घोषित करते हैं, वे दम्भी हैं मिथ्याचारी और पाखंडी हैं। पाखंड और मिथ्याचारी तो कहीं भी हों वे तो निन्दनीय हैं ही, किन्तु जो एक तो श्रौत स्मार्त समस्त कर्मों त्याग करके केवल शरीर निर्वाह के निमित्त भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने वाला है, दूसरा निष्काम भाव से सभी नियत कर्मों को ब्रह्मार्पण बुद्धि से करते हैं इनमें से कौन उत्तम है। तो कहते हैं भाई दोनों ही उत्तम है दोनों ही मोक्ष के अधिकारी है दोनों ही कर्मबन्धनों से विमुक्त हैं इस पर जिज्ञासु पूछता है—नहीं, तो भी दोनों मे से किसकी अधिक उपयोगिता है, किसकी विशेषता है। तो भगवान् कहते हैं, भाई सच्ची पूछते हो, तो विशेषता तो कर्मयोगी की है, सच्चा संन्यास धर्मावलम्बी विमुक्त हो जायगा इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, किन्तु निष्काम कर्मयोगी-मुक्ति का अधिकारी होते हुए भी लोक संग्रह में विशिष्ट रहेगा। संसार के अन्य मुमुक्षु उसका आदर्श ग्रहण करेंगे। जो ज्ञाननिष्ठा वाले है उनसे आप

हठ पूर्वक कर्म कराने का आग्रह करो तो यह भी उनके साथ अन्याय है। परन्तु यहाँ प्रश्न तो अर्जुन का है। अर्जुन कहते हैं आप इन दोनों में से मेरे लिये जो एक उपयोगी मार्ग समझो उसे निश्चय पूर्वक बतादो। तब भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा—तुम निष्काम कर्म योगी बन जाओ। अर्जुन! तू नियत कर्मों को कर, क्योंकि अकर्मी बनने से तो ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करते रहना उत्तम है। इसी बात का विवेचन भगवान् ने आगे किया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने ऊपर से त्याग का स्वांग दिखाने वाले और मन से विषयों का चिन्तन करने वाले बनावटी त्यागी को मिथ्याचारी बताया, तब अर्जुन ने पूछा—मन से चिन्तन करने वाला तो ढोंगी है, किन्तु जो मन से भी चिन्तन नहीं करता और कर्मेन्द्रियों से कर्म भी नहीं करता वह ठीक है न? भगवान् ने कहा—उसके ठीक होने में तो कोई सदेह नहीं किन्तु अर्जुन! मैं अपने मन की बात बताता हूँ। जो ज्ञानेन्द्रिय सहित मन का तो संयम कर लेता है क्योंकि अनर्थ का हेतु तो मन है। वस्तु या कार्य न कोई अच्छा है न बुरा भावना ही उसे अच्छे बुरे की संज्ञा देती है। इसलिये इन्द्रियों और मन को तो काबू में किये रहे और अपनी स्थिति के अनुसार अपने वर्ण आश्रम के अनुसार ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्मों को अनासक्त भाव से करते रहने वाले को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ। उसकी कुछ विशिष्टता है।

अर्जुन ने कहा—महाराज! फिर आपने घपला कर दिया। फिर वही गोल माल बात कह दी। मेरे लिये एक निश्चित मार्ग बता दो?

हँसकर भगवान् ने कहा—अच्छा, तुम्हारे लिये निश्चित

बता दें। आज्ञा की क्रिया का प्रयोग कर दें अच्छा, तो तू नियत कर्म को कर।

अर्जुन ने पूछा—नियत क्या ?

भगवान् ने कहा—अरे भाई! नियत वही फल की इच्छा से रहित होकर-नियमित-नियम से विधान किया हुआ श्रौत और स्मार्त कर्मों को नित्य कर्मों को नियत कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"कर्म करने का ही आप आग्रह क्यों करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—इसलिये कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करते ही रहना श्रेष्ठ है।

अर्जुन ने पूछा—कर्म न करें तो हमारी हानि ही क्या होगी ?"

हँसकर भगवान् बोले—कर्म न करोगे, तो यह चोला कै दिन चलेगा ? कर्म न करने से शरीर यात्रा भी भली भाँति सिद्ध न होगी।

अर्जुन बोले—क्यों महाराज! ये त्यागी विरागी ज्ञानी सन्यासी सब मर ही जाते हैं क्या ? जैसे भिक्षा से इनका निर्वाह होता है वैसे ही मेरा भी निर्वाह हो जायगा।

भगवान् ने कहा—भिक्षा माँगना भी तो एक कर्म ही है।

अर्जुन ने कहा—वह तो केवल शरीर निर्वाह के निमित्त किया हुआ कर्म है उससे पाप नहीं लगेगा। वह बन्धन का कारण नहीं।

भगवान् ने कहा—"जैसे केवल देह निर्वाह के लिये किया हुआ कार्य बन्धन का कारण नहीं होता, उसी प्रकार यज्ञ के लिये किया हुआ कर्म भी बन्धन का कारण नहीं होता।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने यज्ञ के लिये कर्म

किस भावना से करना चाहिये इसका विवेचन जैसे किया है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

शास्त्र विहित करतव्य करम करि भैया ! अरजुन।
बैठे ठाले कहा करोगे भ्रमत जगत मन॥
करम करन है श्रेष्ठ अधम है अकरम रहिबो।
करम बिना जग माहिँ पार्थ है दुखई सहिबो॥
करै नहीं यदि करम तू, कैसे भोजन पाइगो।
होहि देह निर्वाह नहिँ, तू भूखनि मर जाइगो॥

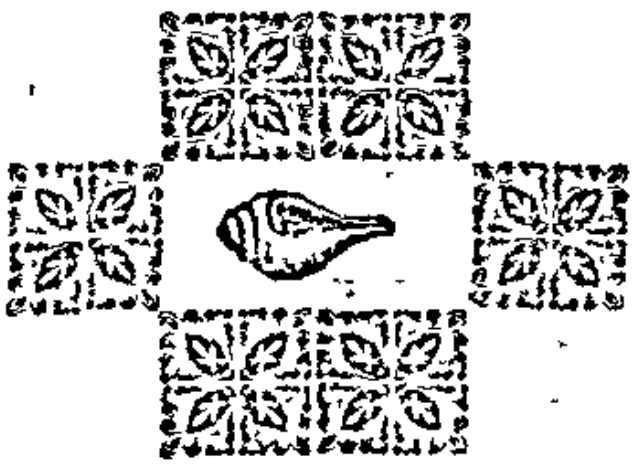

यज्ञार्थ कर्म बन्धन का कारण नहीं

[५]

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥*

(श्रीभ० गीता ३ अ० ९, १० श्लोक)

छप्पय

यज्ञ हेतु जो करम-करम वेई उत्तम है ।
यज्ञ बिना जो करम बन्ध जग सबहिं अधम है ॥
कर्म बन्ध तब होहि करै जब अन्य करम नर ।
वेद विहित शुभ कर्म होहिं वेई अति सुखकर ॥
कुन्तीसुत ! आसक्ति तैं, हटि कें ही करमनि करो ।
यज्ञ निमित सब भाँति तैं, करम करो हरि हिय धरो ॥

---

* परन्तु हे कौन्तेय ! यज्ञ के ही निमित्त कर्म करना चाहिये । यज्ञ के अतिरिक्त कर्म करने वाला व्यक्ति कर्म बन्धन मे बँध जाता है, अतः तू आसक्ति रहित होकर यज्ञार्थ ही कर्मों को कर ॥९॥

ब्रह्मा जी ने इस प्रजा को पहिले यज्ञ सहित रच कर लोगों से कहा था, कि तुम इस यज्ञ के द्वारा ही बढ़ो, यह यज्ञ ही तुम सब की इच्छित वस्तु देने वाला हो ॥१०॥

यज् धातु देव पूजा, संगतिकरणदान आदि अनेक अर्थों में व्यवहृत होती है। वैसे सभी धातुएँ अनेक अर्थ वाली होती हैं। परन्तु जिस धातु से यज्ञ बना है, उस धातु का प्रयोग तो परमार्थ कामों में ही किया जाता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं इह-लौकिक और पारलौकिक। जिन कर्मों के करने से इसी लोक में सुख मिले उसे इहलौकिक कर्म कहते है, जैसे कृषि व्यापार आदि पारलौकिक कर्म वे कहाते है, जिनमें इह लौकिक सुख चाहे मिले न मिले परलोक में दिव्य लोकों में सुख मिले और अन्त में परम सुख मोक्ष की प्राप्ति हो। गुरु के निकट अध्ययन करने वाला द्विज वटु को कौन सा इहलौकिक सुख है। दिन भर परिश्रम करता है, उपवास करता है, अग्नि होत्र करता है, शरीर को सुखाता है, इन्द्रियों के सुखों से वंचित रहता है। किन्तु अन्त में परलोक में उसे परम सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार यज्ञ एक पारलौकिक कर्म है। यदि किसी संसारी सुख की कामना से यज्ञ न किया गया हो, तो यज्ञ से बढ़कर पावन कार्य कौन हो सकता है। यद्यपि कर्म बन्धन के कारण है, किन्तु निष्काम भाव से किया हुआ यज्ञ कर्म बन्धन का कारण न होकर भक्ति का कारण है। आप कहोगे कि युक्ति पूर्वक किये हुये तो सभी कार्य उत्तम है। बात तो ठीक है, किन्तु शास्त्रों में दो प्रकार के कर्म बताये है, एक विधिकर्म दूसरा निषेध कर्म—एक कर्तव्य एक अकर्तव्य। उन्हें ही विहित अविहित भी कहते हैं। शास्त्र जिन कर्मों को करने को कहता है, उन्हें तो कर्तव्य कर्म विधि कर्म विहित कर्म कहा जाता है। शास्त्र जिन कर्मों का निषेध करता है, जिन कर्मों से मनुष्यों को रोकता है मना करता है, वे कर्म चाहे ऊपर से कैसे भी भड़कीले दिखायी दें वे निषिद्ध कर्म हैं। उन्हें नहीं करना चाहिये। आप कहेंगे कि शास्त्र में तो

वेश्याओं के भी धर्म बताये है हमने सुना है चौर शास्त्र भी है, शास्त्र में तो व्यवाय, मांस, मदिरा का भी विधान है। यद्यपि वेश्या वृत्ति चोरी, जारी, सुरापान, मांस भक्षण निषिद्ध कार्य है, किन्तु इनके लिये विधान क्यों है।" ऐसी शंकायें वे ही लोग करते है, जो शास्त्रों का मर्म नही जानते। इनके भी विधि विधान है, किन्तु वे लौकिक शास्त्र हैं। जैसे कृषि का भी शास्त्र है, किन्तु कृषि करने से कोई मोक्ष की प्राप्ति थोडे ही हो जायगी किन्तु कृषि के बिना प्राणी रह नहीं सकता, अतः खेती करनी ही पड़े तो इन-इन बातो को बचाकर करनी चाहिये। वेश्यावृत्ति यद्यपि नीच कार्य है, किन्तु जिनके वंशपरम्परा से चला आया है, या किसी विवशता के कारण यह व्यवसाय स्वीकार किया है, तो उसे बिना नियम के मनमाने ढग से करना चाहिये। शास्त्र में उसके भी नियम है। चोरी यद्यपि निषिद्ध कर्म है, किन्तु कोई अत्यन्त विवशता में करनी ही पड़े तो उसके भी नियम है, घरवाले को अत्यन्त आवश्यक दैनिक काम की वस्तुओं को न उठाना चाहिये।

एक बड़े शास्त्री पंडित थे। कई दिन से खाने को अन्न नही मिला। सोचा—क्या करें, न हो तो चोरी ही करें। फिर सोचा—किसी के घर में करें। यदि धन हीनों के करें तो उन्हें कष्ट होगा। व्यवसाइयों के करें तो उन्हे असुविधा होगी। चलो, राजा के यहाँ करें, उन्हें किसी वस्तु की कमी नहीं है। गये राजा के यहाँ। पहरे वाले ने पूछा—कौन हो?" पडित जी झूठ कैसे बोल सकते थे, शास्त्र कहता है-सत्यंवद-सत्य ही भाषण करो। बोले—हम चोर है? उसने देखा ब्राह्मण है, पंडित है हँसी करता है। वह कुछ नहीं बोला। राजा के शयनागार में घुस गये। मणियों के दीपक जल रहे थे। सोने चाँदी के वर्तन

रखे थे। हीरा मोती के हार टंगे हुए थे। शास्त्रज्ञ पंडित ही ठहरे। सोचने लगे—सुवर्ण चोरी तो महापातकों में से है। मणि मुक्ता, चाँदी आदि धातुओं की चोरी निषेध है, फल की चोरी सुवर्ण चोरी के समान है। इस प्रकार सबको छोड़ते-छोड़ते भंडार में पहुँचे। अन्न की चोरी भी निषिद्ध मिठाई भी निषिद्ध अन्त में भूसी रखी थी। सोचा—भूसी की चोरी के सम्बन्ध में कुछ नहीं है। इसी को ले चलें। भूसी बाँधकर चलने लगे। तभी तक राजा को जगाने वाले-गाने वाले सूत मागध बंदी द्वार रोक कर गाने-बजाने का उपक्रम कर रहे थे। पंडित जी को पता ही न चला कि अरुणोदय का समय हो गया है। चोर ही ठहरे, अब क्या करें राजा के पलग के नीचे छिप गये। राजा विद्वान् था कविता प्रेमी था। गायक गाने लगे, मणियों के प्रकाश में उठकर उसने अपना महान् वैभव देखा। अप्सरा के समान पत्नी सजी-बजी सो रही थी हाथी चिंघाड़ रहे थे, घोड़े हिनहिना रहे थे सूत मागध बंदी स्तुति गा रहे थे, राज्य सेवक मंत्री हाथ जोड़े आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े थे, राजा को अपना वैभव देखकर कविता करने की सूझी। उसने इस आशय की कविता बनायी—स्वच्छ चाँदनी से भी उज्वल महल हैं, हाथी चिंघाड रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं। दुग्ध फेन के सदृश शैया है, मनोनुकूल पत्नी है, आज्ञाकारी सेवक सचिव हैं।" इस प्रकार तीन पद तो बना चुके चौथा पद नहीं बन रहा था। राजा बार-बार तीनों चरणों को दुहरावें। अब पंडित जी से नहीं रहा गया। जो जिस वस्तु का व्यसनी होता है, वह वस्तु सम्मुख आने पर व्यसनी पर रहा नहीं जाता। पंडित जी विद्या व्यासंगी थे। तुरन्त बोल उठे—"इतना सब होने पर भी आँखें मिच जाने पर कुछ भी नहीं है। (संमीलने नयनयोः नहि किंचिदस्ति)" राजा गुणग्राही थे। इस सुन्दर उपयुक्त उक्ति को

सुनकर बोले—आप कौन है ?

पंडित जी ने कहा—"हम चोर हैं ?"

राजा ने कहा—"यहाँ कैसे आये ?"

पंडित जी—चोरी करने आये ?

राजा—किसी ने रोका नही। अपना परिचय दिये बिना चले आये।

पंडित जी—पहरेदार ने पूछा था, हमने कह दिया चोर हैं।

राजा—आपने क्या-क्या चोरी की ?

पंडित जी—अपनी पोटली दिखाते हुए कहा—"इस भूसी को चोरी की।"

राजा—"यहाँ इतनी वस्तुएँ थी, सोना, चाँदी मणि, मुक्ता, धन धान्य इनकी चोरी क्यों नहीं की।"

पंडित जी बोले—राजन् ! इन वस्तुओं को देखकर मन तो करा, किन्तु शास्त्र आड़े आ गया। शास्त्र में सुवर्ण चोरी महापाप है, और भी वस्तु निषेध है। भूसी चोरी का कोई निषेध वचन न मिलने से केवल यही चुराई।"

यह सुनकर राजा उनके पैरो में पड़ गया। धन्य है पंडित-राज ! आप जैसे चोर को पाकर मैं कृतार्थ हो गया। इतने भारी शास्त्रज्ञ मेरे राज्य में भूखे रहें, मुझे धिक्कार है। ब्रह्मन् ! आज से आप मेरे राज्य पंडित हुए एक लक्ष सुवर्ण मुद्राएं वर्ष में आपको मिला करेंगी।"

इस कथा का अभिप्राय इतना ही है कि पंडित ने निषिद्ध कर्म अवश्य किया किन्तु उसे भी मर्यादा के भीतर ही किया। व्यवाय, मांस भक्षण, सुरापान ये निषिद्ध कर्म है, किन्तु करना ही हो, तो इन्हें मर्यादा के साथ करें। जैसे सुरापान करना ही है, तो सौत्रामणि यज्ञ करके उससे बची हुई का पान करें (सौत्रामण्यां

सुरां पिबेत्) यहाँ पिबेत् विधि वचन नहीं है। पीना ही चाहिये यह बात नहीं है। यदि पीने की उत्कट इच्छा ही हो तो सौत्रामणि यज्ञ करके ही पीवे। अन्य समय भूलकर भी न पीवे। तात्पर्य निषेध में ही है। एक सज्जन एक महात्मा के पास गये बोले—"महाराज! कोई ऐसा उपाय बताओ कि मेरी शराब छूट जाय, बहुत प्रयत्न किया छूटती ही नहीं है। बिना उसके मुझ पर रहा ही नहीं जाता।"

महात्मा अनुभवी थे—"बोले, तुम भगवान् का भोग लगा कर पिया करो।"

उसने कहा—"क्या महाराज! शराब का भी भगवान् को भोग लग सकता है?"

महात्मा ने कहा—"लग क्यों नहीं सकता। शास्त्र कहता है "यदन्नं पुरुषो भवतितदन्नं तस्य देवता।" मनुष्य जो वस्तु खाता है, उसका देवता भी उसी वस्तु को खाता है।" जाओ नहा धोकर चौका लगा कर, तुलसी दल डालकर भगवान् का भोग लगा कर पिया करो। प्रतीज्ञा करो भोग लगाये बिना कभी न पिऊंगा।" महात्मा जी पर उनकी श्रद्धा थी। प्रतिज्ञा करके चले गये।

वे राजकर्मचारी थे। अनेक स्थानों पर जाना पड़ता। कहीं चौका लगावें, कहाँ नहावें, कहीं तुलसी मिली कहीं नहीं मिली। कई-कई दिन बिना पिये हो जाते। एक दिन उन्हें बड़ी ग्लानि हुई "अरे, कैसी बुरी वस्तु का भगवान् को भोग लगाते हैं छोड़ें इसे।" बस, उस दिन से सदा के लिये उनकी सुरा छूट गयी।

महात्मा जी ने जो कहा था—"भोग लगाकर पिया करो।" इस पिया करो में विधि नहीं थी। आज्ञा नहीं थी। पीने का व्यसन लगाने में तात्पर्य नहीं था। निषेध में तात्पर्य था। उस पंडित ने

चोरी करी तो उससे उन्हें कोई मुक्ति नहीं मिल गयी, इहलौकिक लाभ हुआ। इसने भगवान् को सुरा भोग लगाई, तो भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे वैकुंठ थोड़े ही दे दिया। उसका लौकिक व्यसन छूट गया। इसलिये निषिद्ध कर्म भी करने पड़ें तो शास्त्र उनका भी नियमन करता है। कर्तव्य कर्म, विधि विहित कर्मों की तो शास्त्र की आज्ञा ही है, किन्तु विहित कर्मों के करने से भी कोई मोक्ष थोड़े ही मिलेगी। दान, धर्म, तप, जप, यज्ञ याग ये विहित कर्म हैं कर्तव्य कर्म हैं, किन्तु इनका भी फल स्वर्ग ही है। अच्छे लोकों की प्राप्ति मात्र ही इन शुभ कर्मों से पुण्य कर्मों से भी मोक्ष थोड़े ही मिल सकती है। मोक्ष तो आसक्ति त्याग से ही संभव है। फिर चाहे वह आसक्ति पुण्य कर्मों की हो या पाप कर्मों की पुण्य कर्मों की आसक्ति रेशम का मुलायम बंधन है। पाप कर्मों की आसक्ति लोह का कड़ा बंधन है। अतः कर्तव्य कर्मों को ही आसक्ति रहित करते रहने का नाम निष्काम कर्मयोग है। अतः कर्तव्य बुद्धि से कर्मों को करते रहने में कोई दोष नहीं।"

इस पर पूछा जा सकता है—"की आप कर्म करते रहने पर ही बल क्यों देते हो। किसी की रुचि कर्म करने की नहीं हैं तो।" इस पर कहते है—"अरे, बाबा! हम कब कहते हैं शुकदेव जी को पकड़कर लाओ और उन्हें यज्ञयाग शुभ कर्मों में लगा ही दो। कोई अपवाद स्वरूप ऐसे वीतराग जन्म से ही त्यागी विरागी हैं, उनके लिये तो ज्ञान मार्ग संन्यास मार्ग-त्यागपंथ है ही किन्तु साधारणतया कर्म करे बिना कोई रह ही नहीं सकता अतः यज्ञ के निमित्त किये हुए आसक्ति रहित कर्म बंधन का कारण न होकर मोक्ष के ही कारण है। अब शुकदेव जी को ही ले लीजिये। उन्होंने पैदा होते ही संन्यास धारण कर लिया, वन को चले गये। भिक्षा माँगने भी जाते तो किसी के घर उतनी ही देर

ठहरते, जितनी देर में एक गौ दुही जा सकती है। क्योंकि वे जानते थे, अधिक कर्म करने से ममता-आसक्ति हो जायगी आसक्ति ही बन्धन का हेतु है, किन्तु वे ही जब भागवत पढ़ने लगे तो १८ सहस्र श्लोक वाली भागवत को एक स्थान पर रुक कर पढ़ गये। उन्होंने स्वयं राजा परीक्षित से कहा—हे राजर्षे यद्यपि मैं निर्गुण ब्रह्म में निष्ठावान् हूँ, किन्तु भगवान् की लीलाओं ने मेरा मन ऐसा आकर्षित कर लिया था, कि हठपूर्वक मुझे इस आख्यान को पढ़ना पड़ा। कारण कि विधि और निषेध दोनों प्रकार के कर्मों से परे रहने वाले, निस्त्रैगुण्यभाव में स्थित रहने वाले मुनिगण भी प्रायः करके भगवान् के गुणगान रूप कर्म में रमण करते रहते है। भगवान् के गुणगान सुनते रहना दूसरों को सुनाते रहना। भगवान् पुण्यश्लोक की पुण्य लीलाओं को लिखते रहना उनका प्रचार प्रसार करते रहना यह ज्ञान यज्ञ है। ज्ञान यज्ञ रूपी कर्म में लगे रहने वाला कर्म जनित दोषों के लिप्त नहीं होता। ये कर्म बन्धन के कारण नही हैं। तभी तो गो दोहनमात्र समय तक ठहरने वाले शुकदेव जी राजा परीक्षित् की कथा सुनाने को ७ दिन तक उनके यहाँ ठहरे रहे। यदि वे किसी के विवाह तेरही में ठहरते तो बँध जाते, किन्तु वे तो ज्ञान यज्ञ में संलग्न रहे, वह भी निष्कामभाव से राजा से दक्षिणा लेने के लोभ से सुनाने में प्रवृत्त नही हुए अतः मुक्त संग होकर यज्ञार्थ किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नही होता है।

सूत जी कहते है—मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं जैसे संन्यास मार्गगामी कर्म योगी को केवल शरीर निर्वाह के लिये किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं होता, वैसे ही निष्काम, कर्म योगी के लिये यज्ञ के निमित्त

किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नही होता। इसी बात को समझाते हुए कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—कर्म से ही प्राणी बँधता है किन्तु यज्ञ के निमित्त किये हुए कर्म से बन्धन नही होता।

अर्जुन ने कहा—"कर्म तो बंधन का कारण ही है, कर्म चाहे पुण्यकर्म हो या पाप कर्म। यज्ञ एक पुण्य कर्म है, उसके करने से भी आदमी बँधेगा ही।"

भगवान् ने कहा—"तुम ठीक कहते हो कौन्तेय! पाप कर्म से जैसे नरक होता है, वैसे ही पुण्यकर्म से स्वर्ग होता है, किन्तु यज्ञरूप पुण्य कर्म यदि स्वर्ग की इच्छा का परित्याग करके निष्काम भाव से मुक्त सङ्ग होकर किया जाय तो बन्धन का हेतु नहीं होता।"

अर्जुन ने कहा—"तो बन्धन का कारण आसक्ति ही हुई। अनासक्त भाव से कोई भी कार्य किया जाय, तो बधन का कारण नही होता, तब फिर यज्ञ करो इसी पर आप बल क्यों देते है। हमें कहते हैं, मुक्त संग होकर पाप कर्म करो वह भी बन्धन का कारण न होगा।"

यह सुनकर भगवान् हंस पड़े और बोले—"देखो, भैया! मुक्ति के अधिकारी सभी नहीं होते। केवल मुमुक्षु ही मुक्ति का अधिकारी होगा। मुमुक्षु की पाप कर्मों में तो प्रवृत्ति होगी ही नहीं, उसकी स्वाभाविकी रुचि पुण्य कार्यों में होगी। और यज्ञ से बढ़कर कोई पुण्य कार्य नही। यदि आप मुक्त संग न होकर यज्ञ करेंगे, तो उससे आपको स्वर्गादिलोकों की ही प्राप्ति होगी। यदि मुक्त संग होकर यज्ञ करोगे तो स्वर्गादिलोक ही न मिलकर मुक्ति मिल जायगी।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा थोड़ी देर को मान लें, किसी ज्ञानी

की हिंसादि पाप कर्मों में प्रवृत्ति हो ही जाय, और वह अनासक्त भाव से कर्तृत्वाभिमान् शून्य होकर उन कर्मों में प्रवृत्त हो जाय, तो उसे पाप लगेगा कि नहीं।"

भगवान् ने कहा—"उसकी बुद्धि उस कर्म को पाप स्वीकार करले तो अवश्य पाप लगेगा।"

अर्जुन ने कहा—उसकी बुद्धि भी उस हिंसादि पाप कर्म में लिप्त न हो तब ?

हँसकर भगवान् बोले—अरे भाई, तब क्या, तब तो पाप पुण्य का प्रश्न ही नहीं बुद्धि ही तो यह पाप है, यह पुण्य है इसकी साक्षी है, जब उसमें कर्तृत्व अभिमान भी नहीं है, बुद्धि भी उसकी अनुलिप्त नहीं होती है, तो ऐसा पुरुष तो खड्ग लेकर एक ओर से प्राणियों का संहार करता चले तो भी वह बंधन में नहीं बंध सकता। भगवान् रुद्र तो प्रलयकाल में समस्त प्राणियों का संहार ही करते है, उन्हें कुछ पाप लगता है क्या ?

मुमुक्षु की स्वाभाविक प्रावृत्ति पुण्य कार्यों में होती है उनमे असक्ति न करे अनासक्त भाव से उन पुण्य कर्मों को करते जाय इसलिये मैं तुम्हे आज्ञा देता हूँ तुम यज्ञ के ही निमित्त मुक्त संग होकर कर्म करो।"

अर्जुन ने कहा—आप यह नई आज्ञा क्यों दे रहे है। यज्ञ के ही लिये ही आग्रह क्यों कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा—मैं कोई भी नई बात नहीं कह रहा हूँ। अपनी ओर से तुम्हें कोई आज्ञा नही दे रहा हूँ। समस्त प्रजाओं को रचने वाले तो प्रजापति भगवान् ब्रह्मा ही हैं न। वे ही समस्त प्रजा को रचते है, वे ही उन सब के लिये विधान बनाते है। जब उन्होंने कल्प के आदि में सृष्टि रचना की तो प्रजाओं के साथ ही साथ यज्ञ की भी रचना की। पहिले मानसी सृष्टि की। उससे

प्रजा की वृद्धि नहीं हुई, तब भगवान् की स्तुति की मनु शतरूपा दो जोड़ा हुए, उनके लिये स्थान चाहिये कर्म चाहिये। स्थान के लिये कर्म के लिये उनके ही शरीर से वराह रूप में भगवान् प्रकट हुए। वे भगवान् वराह ही यज्ञ स्वरूप हैं। उनके ही अंग से यज्ञ की सब विधियाँ, सब अंगोपाङ्ग समस्त वस्तुएं हुईं। वराह भगवान् वेदत्रयी रूप हैं, क्योंकि यज्ञ वेदत्रयी से ही सम्पन्न होते हैं। वराह भगवान् त्वचा में छन्द, रोमवली में कुशा, नेत्रों में घृत, चारों चरणों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, और ब्रह्मा थूथने में स्रुक, नासिका में स्रुवा, उदर में इडा, कानों में चमस, मुख में प्राशित्र, कन्ठ में ग्रह, भगवान् का चबाना ही मानों अग्नि होत्र है, अभिव्यक्ति ही दीक्षा, ग्रीवा उपसद (तीन इष्टियाँ) दोनो दाढ़े प्रायणीय और उदयनीय (दीक्षानन्तर इष्टि, यज्ञ समाप्ति इष्टि) जिह्वा प्रवर्ग्य कर्म (उपसद के पूर्व का महावीर कर्म) सिर (दोनो प्रकार की होमरहित और उपासना की अग्नि) सभ्य और आवसभ्य अग्नि सिर है। भगवान् का वीर्य ही सोम है। तीनों सवन आसन है। सातों धातुएं रस, रक्त, मेदा मांस अस्थि, वीर्य, और ओज ये ही अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोयमि नाम की सात संस्थायें हैं। सन्धियाँ ही सत्र है। यज्ञ (सोम रहित यज्ञ) क्रतु (सोम सहित यज्ञ वराह का स्वरूप है।) यज्ञानुष्ठान ही वराह के अंगों की गठन है, इस प्रकार अखिल देवता, सभी क्रियायें, सभी द्रव्य, वैराग्य, भक्ति, आत्मानुभव तथा समस्त विद्याओं के स्वरूप वराह भगवान् है। ये वराह दूसरे कोई नहीं हैं। अर्जुन मैने ही वराह रूप रखकर पृथ्वी का उद्धार किया था। इसीलिये यज्ञ मेरा ही स्वरूप है। "यज्ञो वैविष्णुः" वेद भी यज्ञ को मेरा स्वरूप मानता है। इसलिये जैसे समस्त सृष्टि ब्रह्मा जी से हुई वैसे

ही यज्ञ स्वरूप मे वराह भी ब्रह्मा जी से हुआ। ब्रह्मा मुझसे मेरे नाभि कमल से उत्पन्न हुआ। मैं ब्रह्मा जी की नाक से उत्पन्न हुआ। प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा जी ने ही सर्व प्रथम यज्ञ कर्म का विस्तार किया। यज्ञ करने के अनन्तर वे ब्राह्मणादि प्रजा के जनों से बोले—"सुनो भाइयो मेरी बात। जैसे मैंने यह यज्ञानुष्ठान किया है, वैसे ही तुम लोगभी इसी यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करना।"

प्रजा के लोगों ने पूछा—प्रभो! यज्ञों में क्या होता है?

ब्रह्मा जी ने कहा—"यज्ञों में देवताओं का यजन पूजन होता है।"

प्रजा के लोगों ने पूछा—"तब भगवन्! इस यज्ञ से लाभ तो देवताओं का ही हुआ। हमको यज्ञ से क्या लाभ?"

ब्रह्मा जी बोले—"देखो, भाई! जैसे यह शतरूपा है न, यह मनु की गृह कामधेनु है। स्त्री से गृहस्थियों की सब कामनायें पूरी होती हैं। वे देवता, पितर तथा ऋषियों के ऋण से स्त्री की ही सहायता से उऋण होते हैं। वैसे ही यह यज्ञ तुम्हारे लिये इष्ट कामधेनु है। इसी के द्वारा तुम अपने इष्ट की प्राप्ति कर सकते हो। अपने ही समस्त अभीष्ट फलों की पूर्ति कर सकते हो। देवताओं की प्रसन्नता के लिये किया हुआ यह यज्ञ तुम्हारी सब कामनाओं की पूर्ति करेगा।"

प्रजा के जनों ने कहा—"भगवन्! यज्ञ के भाग को तो देवता प्राप्त कर लेंगे, हम सब लोग तो कोरे के कोरे ही रह जायंगे।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! प्रजाजनों की ऐसी बात सुनकर ब्रह्मा जी हंस पड़े। अब ब्रह्मा जी ने जैसे प्रजाजनों को समझाया उस प्रकरण को जैसे भगवान् वासुदेव अर्जुन से कहेंगे। उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

यज्ञ कहा है सुनो, तुम्हें अबई बतलाऊँ।
यज्ञ कहाँ तैं भयो आदि सब वृत्त बताऊँ॥
कमलासन अज ब्रह्म प्रजापति जो कहलावैं।
यज्ञ सहित सब प्रजा रचीं उनतैं बतलावैं॥
वृद्धि प्राप्त सबई करो, तुम सब यज्ञ प्रभाव तैं।
यज्ञ भोग-इच्छित तुम्हें, देगो सहज स्वभाव तैं॥

'परस्पर के सहयोग से ही कार्य सिद्ध होता है

[६]

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

यज्ञ और सब प्रजा साथ ही जनमे तुम हो ।
देवनि को मुख यज्ञ, यज्ञ तैं ही उन्नत हो ॥
देवनि कूँ तुम करो यज्ञ तैं उन्नत भाई ।
उन्नत तुमकूँ करैं देव हो उभय भलाई ॥
दोऊ तुम निस्वार्थ हैं, रहो परस्पर भावमय ।
होइ परम कल्यान तब, उन्नत होंगे तुम उभय ॥

* ब्रह्मा जी ने कहा—यज्ञ करके तुम देवताओं को बढ़ाओ और यज्ञ से उन्नत देवतागण तुम्हारी वृद्धि करें । इस प्रकार तुम लोग परस्पर मे एक दूसरे की उन्नति करते हुए परम श्रेय को प्राप्त होगे ॥११॥

यह संसार परस्पर के सहयोग से चल रहा है। पृथ्वी अकेली कुछ नहीं कर सकती, जब तक कि उसमें जल, तेज, वायु और आकाश का सहयोग प्राप्त न हो, खाली जल पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश के बिना टिक नहीं सकता। भवन में जब तक ईंट गारा, सहयोग न करेंगे तब तक वह खड़ा रह ही नहीं सकता। बच्चे के पालन पोषण में माता पितादि सहयोग न करें, तो वह रह नहीं सकता। शरीर की समस्त इन्द्रियाँ, समस्त अंग परस्पर में सहयोग देना छोड़ दें, तो शरीर एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता। संसार सहयोग की नीव पर ही अवस्थित है। संसार का एक भी पदार्थ, एक द्रव्य, एक भी कर्म सहयोग के बिना अपने काम को करने में समर्थ नहीं। सन्तानें माता-पिता के सहयोग से ही होती हैं। सहयोग का ही नाम संसार है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन ! जब ब्रह्माजी ने प्रजा के जनों से कहा कि तुम यज्ञ कर्म द्वारा देवताओं के सहयोग से काम चलाओ। तब प्रजाजनों ने पूछा—देवता तो हमारा दिया हुआ यज्ञ भाग खा जायंगे। हमें उन्हें तृप्त करने से क्या लाभ ?

इस पर ब्रह्मा जी ने कहा—"देखो, भैया ! हविर्भाग को तुम देवताओं के मुख में डालोगे तो देवता भी तुम्हें तृप्त करेंगे।"

प्रजा के लोगों ने कहा—"भगवन् ! देवता तो हमें दृष्टि गोचर होते नहीं। उनका मुख तो हमें दीखता नहीं। फिर उनके मुख में हम हविष्य कैसे डालें ?"

यज्ञ के द्वारा प्रवृद्ध हुए देवतागण तुम्हें इच्छित भोगों को देंगे। जो पुरुष उन देवताओं द्वारा दत्त भोगों को उनको बिना अर्पण किये खाता है, वह तो चोर है ॥१२॥

ब्रह्मा जी ने कहा—"देवताओं का मुख अग्नि है। अग्नि के द्वारा ही वे अपने भाग को ग्रहण करते हैं, तुम जिस देवता के उद्देश्य से अग्नि में आहुति दोगे, वही देता उससे तुरन्त ग्रहण कर लेगा।"

प्रजाजन—इससे हमारा श्रेय क्या होगा ?

ब्रह्मा जी—"अरे, तुम अग्नि द्वारा उन्हें तृप्त करोगे, तो वे भी तुम्हारी कामनाग्नि, जठराग्नि आदि को शान्त करेंगे। तुम उन्हें तृप्त करोगे, वे तुम्हें तृप्त करेंगे। इस प्रकार परस्पर के सहयोग से परम श्रेय जो मोक्ष है, उसको तुम प्राप्त हो जाओगे।"

प्रजा के लोगों ने पूछा—"यदि हम देवताओं का यजन न करें, उनके भाग न दें तब क्या होगा ?"

ब्रह्मा जी ने कहा—"तब तुम्हें चोरी का पाप लगेगा।"

प्रजाजनों ने पूछा—"चोरी का पाप कैसे लगेगा महाराज! हम देवताओं की कौन सी वस्तु चुराने गये ?"

ब्रह्मा जी ने कहा—पहिले यह समझो चोरी कहते किसे हैं ?

प्रजा के लोगों ने कहा—"किसी की वस्तु हो, उससे बिना पूछे उसकी बिना अनुमति लिये हुए उस वस्तु का उपयोग स्वयं ही कर लेने को चोरी कहते हैं।"

ब्रह्मा जी ने कहा—"हाँ ठीक है, अच्छा तुम जो अन्न खाते हो, वह कहाँ से आता है ?"

प्रजा जन—"उसे तो हम अपने पुरुषार्थ से पृथ्वी से उत्पन्न करते हैं।"

ब्रह्मा जी—"यदि पृथ्वी पर इन्द्र वर्षा न करें तो अन्न कैसे उत्पन्न होगा ?"

प्रजाजन—"हम नदियों से-कुओं में से-पानी दे लेंगे।"

ब्रह्मा—कहीं से ले लो जल तो चाहिये। जल के अधिष्ठातृ देव वरुण हैं, वर्षा के अधिष्ठातृ देव इन्द्र हैं। प्रकाश के अधिष्ठातृ देव सूर्य है, प्राण के अधिष्ठातृ देव वायु हैं। पृथ्वी न हो, जल को वर्षा न हो, प्रकाश न हो, वायु न चले, तो अन्नादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। अतः जो उत्पन्न करता है, उसका स्वामी तो उत्पन्न करने वाला ही माना जायगा। आप देवताओं द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं को देवताओं को दिये बिना, उनकी अनुमति लिये बिना, उनका यजन-याजन पूजन किये बिना, उनका भोग लगाये बिना खालोगे तो चोरी नहीं हुई तो क्या हुआ। चोर की जो दशा होती है, बन्धन में डाल दिया जाता है, वही दशा तुम्हारी होगी। तुम बन्धन में डाल दिये जाओगे। खाने के लिये तो कारागार में बन्दियों को भी दिया ही जाता है, पेट तो चोरों का भी भरता ही है, किन्तु उनकी इस वृत्ति की प्रशंसा नहीं। वे स्वतन्त्रता के—मुक्ति के—अधिकारी नहीं। उन्हें बार-बार बन्धन में पड़ना पड़ेगा। इसी प्रकार यज्ञों द्वारा संतुष्ट हुए देवतागण उल्लास के सहित इष्ट भोगों को प्रदान करेंगे। तुम्हें दूध के लिये पशु, खाने को अन्न, गृह के कामों को सम्पन्न करने वाली, तथा सन्तान उत्पन्न करने वाली गृहिणी, पुत्र, पौत्र, धन धान्य आदि वस्तुओं को देंगे। उनकी दी हुई वस्तुओं का उन्हें बिना दिये हुए—बिना भोग लगाये हुए—तुम उपयोग करोगे, तो चोर न हुए तो कौन हुए। चोरी का दन्ड तुम्हें यही मिलेगा कि तुम्हारा संसार बन्धन नहीं छूटेगा जन्म मरण के चौरासी के चक्कर में फँसे ही रहोगे।"

प्रजाजनों ने कहा—"हम पैदा करके सब देवताओं को ही खिला देंगे, तब तो हम भूखे ही मर जायँगे।"

ब्रह्मा जी ने कहा—अरे, यह बात नहीं है। देवता तो भावना

के भूखे होते है, वे मुख मे बहुत नहीं खाते। नासिका से सूंघकर ही तृप्त हो जाते हैं। उनका सत्कार करो पूजन करो। जितना पैदा करो सबके सब को स्वाहा कर देने को कौन कहता है। यज्ञ करके अवशिष्ट बच जाय, उसे प्रभु प्रसाद समझ कर भक्षण करो। जो कुछ पाक तैयार करो उन्ही के निमित्त से करो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसका पूरा विवेचन जो ब्रह्मा जी प्रजा के जनों से करेंगे। उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

जिनि देवनि कूँ सदा यज्ञ तैं तुष्ट करो तुम।
बिनु मांगे ही देइँ भोग इच्छित वे उत्तम॥
उन भोगनि कूं देवनि को परसाद समुझिकें।
भोगो उनकूँ अरपि यज्ञ कूँ नित-नित करिकें॥
यज्ञ-भाव-भावित अमर, देहिँ भोग हरषित रहें।
बिना दिये भोगे स्वयं, ताहि चोर ऋषि मुनि कहें॥

विना यज्ञ किये जो खाता है वह पाप को ही खाता है

[७]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

यज्ञ देव हित करैं हिये में जो हरषावैं ।
यज्ञ-शेष जो बचै अन्न ताही कूँ खावैं ॥
ते अति उत्तम पुरुष होहिँ निष्पाप निरन्तर ।
यज्ञ-शेष है अमृत पुण्यप्रद अति ही सुखकर ॥
स्वारथ-रत पापी पुरुष, उदर निमित्त पकात हैं ।
अन्न खायँ नहिँ ते अधम, पाप-पाप ही खात हैं ॥

---

* जो यज्ञ से बचे अन्न को खाने वाले पुरुष हैं, वे सभी पापों से छूट जाते हैं, और जो पापी पुरुष अपने पेट के ही निमित्त पका कर खा लेते हैं, वे तो मानों साक्षात् पाप को ही खाते हैं ॥१३॥

अन्न से ही सभी प्राणी पैदा होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से

यह सृष्टि चक्र ऐसे ही नहीं चल रहा है, इसे कोई चला रहा है और सुव्यवस्थित ढंग से चला रहा है। जो बद्ध जीव हैं, बुद्धि पूर्वक वैदिक तांत्रिक कर्मों को-यज्ञानुष्ठानों को-कर नहीं सकते, केवल आहार निद्रा मैथुनादि को ही अपने जीवन का लक्ष्य माने बैठे हैं, ऐसे लोगों के लिये शास्त्रोपदेश नहीं है। जिन्हें मुक्ति की इच्छा है—जिनकी सन्तुष्टि इन संसारी भोगों से नहीं होती। जो संसारी भोगों के अतिरिक्त भी दिव्य सुख-परम-शान्ति चाहते हैं। शास्त्र उन्हीं सुपात्रों के लिये है और वे ही शास्त्र के उपदेशों को सुनने के पात्र हैं। ब्रह्मा जी ने यज्ञ के साथ ही साथ प्रजा को उत्पन्न किया। यज्ञ और प्रजा सगे भाई-भाई है। प्रजा के लोग दो भागों में विभक्त है। वर्णाश्रमी और अवर्णाश्रमी। अवर्णाश्रमियों में वर्ण व्यवस्था नहीं, वैदिक कर्मकान्ड नहीं। वर्णाश्रमियों में भी चार वर्ण हैं, ब्राह्मण वर्ण, जिनका काम ही है यज्ञ याग, पूजा पाठ करना। दूसरा क्षत्रिय-प्रजा के लोगों को चोर डाकू आदि दस्युओं के भय से बचाना, विपक्षियों को युद्ध में हराकर धर्म का प्रचार-प्रसार करना। तीसरे वैश्यों का कार्य यह है कि अन्नादि दुग्धादि पैदा करके उसे प्रजाजनों में वितरित करना, चौथे शूद्रों का काम यह है कि इन तीनों वर्गों के लोगों की श्रद्धा पूर्वक सेवा करते रहना। इनकी सेवा के अतिरिक्त और किसी शास्त्रीय कर्म कलाप की स्वतन्त्र रूप में आवश्यकता नहीं क्योंकि सेवा धर्म ऐसा महान् धर्म है कि जिन की सेवा करते हैं उनके कुछ सुकृत उन्हें स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार स्त्रियों को भी किसी कर्मकान्ड के स्वतन्त्र रूप में करने की आवश्यकता नहीं। स्त्री

होती है तथा वृष्टि होती है यज्ञ से और यज्ञ कर्म से ही उत्पन्न होता है॥१४॥

तो पुरुष की अर्धाङ्गिनी है न ? उसे पुरुष के किये हुए कर्मकांड का स्वतः ही आधा भाग मिल जायगा। इनके अतिरिक्त जो तीन वर्ण वाले-विप्र, क्षत्रिय, वैश्य-है उनकी द्विज संज्ञा है। वैदिक कर्मकाण्ड को परम्परा को निभाना उनका प्रधान कर्तव्य माना गया है। अतः ये यज्ञधिकारी हैं, इन्हें सदा सर्वदा यज्ञ का उपवीत धारण किये रहना चाहिये। यज्ञ क्यों करना चाहिये ? क्योंकि यज्ञ प्रजाजनों का सहोदर है, ब्रह्मा जी ने प्रजा और यज्ञ को साथ उत्पन्न किया। हिंसा न करना यही परम धर्म है। किन्तु बहुत-सी ऐसी हिंसायें हैं कि उनके किये बिना शरीर निर्वाह ही नहीं हो सकता। वे आवश्यक हो जाती हैं। पहिले सभी लोग जीवनोपयोगी सभी आवश्यक कर्म अपने आप अपने घरों में ही करते थे। जैसे भोजन बनाना भोजनोपयोगी सामान को तैयार करना, जल कुए से या नदी से लाना। घर को स्वयं स्वच्छ रखना। इनमें छोटे-मोटे जीवों की हिंसा हो जाना अनिवार्य है। धान कूटते समय, अन्न पीसने को चक्की चलाते समय, भोजन बनाने को चूल्हे में अग्नि जलाते समय या दीपक जलाते समय, जल रखते समय, झाड़ू लगाते या लीपते समय ये पाँच अपराध तो अनिवार्य से ही हैं, इनमें जाने में अनजाने में हिंसा हो ही जाती है। इन पाँचों पापों के परिहार्थ शास्त्रों ने पंच महायज्ञ प्रत्येक द्विज के घर मे अनिवार्य बताये हैं। उन पाँचों यज्ञों के नाम हैं-(१) ब्रह्मयज्ञ (२) देवयज्ञ (३) भूतयज्ञ। (४) पितृयज्ञ और (५) मनुष्य यज्ञ। ब्रह्मयज्ञ का अर्थ है स्वाध्याय यज्ञ। नित्य के स्वाध्याय से ऋषिगण तृप्त होते हैं। नित्य वेद पुराण उपनिषदादि का स्वाध्याय या मंत्र जप करना चाहिये। देवयज्ञ उसे कहते हैं जो देवताओं के निमित्त नित्य अग्नि में हवन किया जाय। धाता विधाता तथा सभी भूतों की तृप्ति के लिये

भोज्य पदार्थ अर्पण करना। पितरों के निमित्त अन्न देने को पितृ यज्ञ कहते हैं। तथा सनकादि महर्षियों और मनुष्य रूप में कोई अतिथि आ जाय, उन्हें अन्न अर्पण करना। ब्रह्मयज्ञ को छोड़कर ये चारों वैश्व देव यज्ञ कहाते है। इनके अतिरिक्त गौ, कुत्ता, कौआ, देवतादि और चींटी आदि जीवों को अन्न की बलि देनी चाहिये। ये सब कर्म मिलाकर बलि वैश्य देव यज्ञ कहाते हैं। इस यज्ञ को प्रतिदिन सृष्टि के क्रम को अक्षुण्ण बनाये रखने को करते रहना चाहिये।

आप पूछेंगे कि इन कर्मों से और सृष्टि के कर्मों से क्या सम्बन्ध ? तो इसका उत्तर यही है, कि संसार परस्पर की सहानुभूति कृतज्ञता से ही चल रहा है। सभी प्राणी देवताओं के पितरों के, ऋषियों के, मनुष्यों के, कुटुम्बियों के तथा समस्त चराचर प्राणियों के ऋणी हैं। अतः हमें सबको यथा शक्ति बलि देनी चाहिये, अग्नि में हवन करना चाहिये तथा देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर तथा सभी प्राणियों के नाम से तर्पण करना चाहिये। जो पाक बनावे वह अपने ही लिये न बनावे। पाक बनाकर वैश्व देव यज्ञ करे, कोई अतिथि आ जाय, तो उसे भोजन करा के उनका जो अवशिष्ट-बचा अन्न हो उसे पावें-यज्ञ से बचे अन्न को 'अमृत' कहते हैं, अतिथि को भोजन कराने के अनंतर जो बचता है उसे 'विघस' कहते हैं। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं, गृहस्थ को "अमृताशी तथा विघसाशी होना चाहिये। जिनका हमारे ऊपर ऋण है, जिन्होंने ने हमारे ऊपर उपकार किये हैं, उनके ऋण को न चुकाना, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट न करना यह तो अन्याय है, पाप है, कृतघ्नता है। इसलिये कृतघ्नता के पाप से बचने के लिये यज्ञ करना आवश्यक है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी

अर्जुन से कह रहे हैं—अर्जुन ! मनुष्य में और पशुपक्षियों में अन्तर इतना ही है, कि पशु-पक्षी आदि बद्ध जीव केवल पेट भरने को ही जीते हैं। चींटी रात्रि दिन भोजन की चिंता में ही घूमती रहती है, पशु-पक्षी अज्ञानी जीव भोज्य पदार्थ आते ही भक्षण करने लगते हैं। किन्तु मुमुक्षु जीव भोज्य सामग्री सम्मुख आते ही उस परम पिता परमात्मा सबको देने वाले के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते है। यज्ञ के द्वारा वैश्व देवादि को आहुति देते हैं, सब प्राणियों का भाग निकाल कर यज्ञ से बचे हुए अमृत तुल्य अन्न को प्रसाद समझकर पाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—इससे क्या होता है, भगवन् !

भगवन् ने कहा—अन्नादि सब में कुछ न कुछ पाप का अंश रहता है, कर्मों में भी पाप हो जाता है, मनुष्य कितना भी बचावे उससे भी कुछ न कुछ पाप हो ही जाता है। इन सभी पापों से वही मनुष्य छूटता है, जो यज्ञ से तथा अतिथि सत्कार से बचे हुए अन्न को खाता है।

अर्जुन पूछा—"यदि वह यज्ञ किये विना ही ताजी-ताजी बनती जायँ और तुरन्त खाता जाय, तो उसका क्या होगा ?"

भगवान् ने कहा—होगा क्या ? वह अन्न थोड़े ही खाता है, वह तो साक्षात् पाप को ही खाता है। अपने ही निमित्त पाक करने वाला तो पापी है क्योंकि जिस अन्न को वह पकाता है या विना अर्पण किये हुए अन्न को खाता है, वह चोरी करता है, क्योंकि उस अन्न में देवतादिकों का भी तो भाग है। दूसरों के भाग को अकेले ही अकेले खा जाना पाप नहीं है क्या ?

अर्जुन ने पूछा—"अन्न में देवतादिकों का भाग कैसे है ?"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, पहिले इसी पर विचार करो यह अन्न होता कैसे हैं ? यह अन्न पानी से उत्पन्न होता है, पानी

न हो तो अन्न उत्पन्न न हो, केवल पानी से भी नहीं हो सकता, जब तक प्रकाश न हो। पृथ्वी चाहिये वायु चाहिये प्रकाश चाहिये आकाश चाहिये ये सब तो निर्जीव हैं। जीवन के बिना प्राणियों की स्थिति नहीं, इसलिये जल को जीवन कहा है। जल इसमें मुख्य है। इसीलिये जल को वीर्य भी कहा है। अन्न गेहूँ, जौ, चना, चावल आदि को ही नहीं कहते। जो वस्तुएँ खायी पीयी जाती हैं वे सभी अन्न कहलाती हैं। यह अन्न होता है पानी से। पानी हमें पर्जन्य अर्थात् वृष्टि से मिलता है। वृष्टि के बिना पानी कहाँ से आवे। वृष्टि मेघ करते है उन मेघों के स्वामी इन्द्र हैं। इन्द्र कृपा न करें तो वर्षा होगी ही नहीं। ये मेघ बनते हैं धूम्र से। जैसा धूम्र होगा, वैसे ही मेघ बनेंगे। यदि मंत्रों के द्वारा विशुद्ध सामग्रियों की आहुति से जो यज्ञ धूम्र होगा, उससे शुद्ध पवित्र पुण्यमय मेघ बनेंगे। यदि भोजन बनाने वाली साधारण अग्नि के धूम से, या कोयला आदि के दुर्गन्धमय धूम से मेघ बनेंगे तो पापमय मेघ होंगे। ये पुण्यात्मा पापात्मा जीव आकाश में जलमय बन जाते है। स्वर्ग से भी जो जीव ढकेल दिये जाते है वे भी आकाश में मेघमंडलों में घूमते रहते हैं। ऐसे ही नारकीय पापी जीव भी। जब वृष्टि होती है, तो जलमय होकर वे जीव भी बरसते हैं, और औषधियों को-अन्नों को- जीवनदान देते हैं। 'बीज' उस जीवनमय जल के सहारे वृद्धि को प्राप्त होते हैं। कर्मानुसार पूर्व जन्मों के प्रारब्धानुसार प्राणी उन-उन अन्नों को-औषधियों को खाते हैं। उनसे स्त्रियों के रज नाम की धातु बनती है, पुरुषों की वीर्य नामक धातु बनती है। प्रारब्धानुसार-संयोग संस्कारानुसार-दोनों का परस्पर में संयोग होने से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। इसलिये सभी प्राणी जिस अपने-अपने आहार को खाते हैं, उसी का नाम अन्न है।

उसी अन्न से भूतमात्र की उत्पत्ति है। वह अन्न मेघों द्वारा—पर्जन्य द्वारा जल से ही पैदा होता है। वे विशुद्ध पर्जन्य—मेघ—यज्ञ धूम द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। साधारण धूम से अशुद्ध पर्जन्य। अतः अन्नोत्पत्ति में प्रधान कारण यज्ञ ही हुआ, अतः प्रजाजनों का यज्ञ अवश्य करना चाहिये। जो यज्ञ नहीं करता, कर्ममार्ग को छोड़ देता है, वह पापी है, कृतघ्नी है, संसार को विनाश की ओर ले जाने वाला है। इसलिये यज्ञ आवश्यक है, परम कर्तव्य है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने कर्मकांड को आवश्यक कर्तव्य बताकर नित्य यज्ञ करने का उपदेश दिया। अब आगे वे धर्म नाम के अपूर्वरूप यज्ञ कर्म की उत्पत्ति कारण जैसे बतावेंगे। उस प्रकरण को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

अन्नहि तैं उत्पन्न होहिं ये सबरे प्रानी।
अन्न होहि उतपन्न तबहिँ जब बरसे पानी॥
पानी बिनु नहिँ होहि अन्न तुमः निश्चय जानो।
जल ही जीवन कह्यो भुवन बन नीरहिँ मानो॥
वृष्टि यज्ञ तैं होति है, यज्ञ करम उतपन्न हैं।
विहित करम बिनु होहिँ नहिँ, यज्ञ याग सम्पन्न हैं॥

प्रभु प्रवृत्त चक्र का अनुवर्तन न करने वाला पापी है

[८]

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥*

(श्री भग०गी० ३ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

वेदनि ने ही करे करम प्रकटित मुनि गावें ।
वेद एक आधार ज्ञान भंडार कहावें ॥
अविनाशी जो ब्रह्म वेद तिनि स्वयं बनाये ।
नहीं पुरुष कृत वेद ब्रह्म अक्षर प्रकटाये ॥
ब्रह्म वेद के बाप हैं, करम वेद संभव कहे ।
यज्ञ कर्म तें होत हैं, ब्रह्म यज्ञ में नित रहे ॥

---

* फिर कर्म होता है ब्रह्म-वेद-से और वेद को तू अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान । इसीलिये सर्वगत जो ब्रह्म है, वह नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥१५॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार सृष्टि चक्र चलता रहता है, जो पुरुष इसका अनुवर्तन नहीं करता, वह इन्द्रियाराम पापी पुरुष इस लोक में व्यर्थ ही जीता है ॥१६॥

संसार की प्रत्येक वस्तु पाप और पुण्य से पूरित है, कोई आदमी ऐसा नहीं जिससे केवल पाप ही पाप या पुण्य ही पुण्य बनता हो। कुछ न कुछ जाने अनजाने में पाप पुण्य सभी से होते हैं, कोई ऐसा कर्म नहीं जिसमें पाप पुण्य दोनों सम्मिलित न रहते हों। कोई क्रिया ऐसी नहीं है जो पाप पुण्य से रहित हो। पाप और पुण्य से ही यह संसार चक्र चल रहा है। जैसे दो पहियों के बिना गाड़ी भली-भाँति चल नहीं सकती, इसी प्रकार धर्म अधर्म, पुण्य पाप, अच्छा बुरा ये दो संसार रूपी गाडी के चक्र हैं। इस संसार चक्र से छूट जाना पृथक् हो जाना, मुक्त हो जाना इसी का नाम परम पुरुषार्थ है। जो पुरुष इस परम पुरुषार्थ के लिये सतत प्रयत्न करता रहता है, उसी का जीवन तो अमोघ है सार्थक है, जो इसके लिये प्रयत्नशील नहीं है उसी का जीवन मोघ है व्यर्थ है। नदी के प्रवाह में बहती हुई लकडी किनारे लग जाय, उसका बहना बन्द हो जाय, वही किसी काम की है, जो बहती ही गयी, बहती ही गयी, वह किसी के क्या काम की। यह संसार चक्र यज्ञमय है। यज्ञ करके जो खाता है, वह तो अमृत को खाता है, वह जन्म मृत्यु से छूट जायगा। जो यज्ञ किये बिना ही खाता है, वह अन्न थोड़े ही खाता है, पाप को खाता है, सजीव कीड़ों का भक्षण करता है। इस सम्बन्ध में एक कथा है।

एक परम श्रद्धालु भक्त था, वह बडी ही श्रद्धा भक्ति से समागत साधु-संत अतिथि-अभ्यागतों की सेवा किया करता था। जो साधु-संत अतिथि-अभ्यागतों की सेवा करते है, उनका नाम पुण्य प्रभाव से दूर-दूर फैल जाता है। जितनी अधिक कीर्ति अन्न दान से होती है, उतनी किसी भी दान से नही होती। उस अतिथि सत्कार करने वाले के यहाँ सदा १०।५ साधु-संत अतिथि बराबर आते ही रहते थे।

एक दिन एक साधु आये। गृहस्थी ने पूछा—"भगवन्! बना बनाया प्रसाद पावेंगे या स्वयं पाक करेंगे?"

साधु ने कहा—"मैं तो स्वय पाक करूंगा।"

गृहस्थी ने कहा—"क्या बनाइयेगा?"

साधु ने कहा—"अधिक झंझट करके आपको कष्ट देना नहीं चाहता। केवल खीर बना लूँगा। दस सेर दूध मंगा दीजिये।"

"साधु ने जो-जो भी सामग्री माँगी गृहस्थी ने उससे अधिक ही दे दी, कि संभव है समय पर कोई दूसरा अतिथि आ जाय, तो उसका सत्कार भी इसी के द्वारा हो जायगा। उस साधु ने अपने ही निमित्त जिह्वा स्वाद के निमित्त बहुत रचपच के अघोटा दूध की सुन्दर खीर बनायी। खीर बनकर तैयार हो गयी। बड़े थाल में ठंडी होने के लिये उसने परोस ली। उसी समय एक दूसरे महात्मा आ गये। अब इस साधु के पेट में खलबली मच गयी। हाय! मैंने तो केवल अपने ही निमित्त खीर बनायी थी, अब यह दूसरा साधु आ गया। इसे भी खीर देनी पड़ेगी। किसी प्रकार इस साधु को यहाँ से टरकाना चाहिये।" यह सोचकर वह उन नवागत महात्मा के समीप गया और बोला—"अजी, महात्मा जी! आप यहाँ कहाँ आ गये। यह तो ऐसे ही सट्ट-पट्ट गृहस्थ है। यहाँ से थोड़ी ही दूर अमुक गाँव में एक बड़ा अच्छा सद्गृहस्थ है। वहाँ आप चले जायँ, वहाँ बहुत अच्छे माल मिलेंगे। शीघ्र ही जायँ, नहीं, वहाँ भी भोजन चुक जायगा।"

महात्मा सिद्ध थे, उन्होंने परात में परसी खीर देख ली थी। वे समझ गये यह साधु स्वयं ही अपने आप सब खीर को खाना चाहता है। इसे भोग लगाकर अतिथि-अभ्यागतों को देना नहीं चाहता। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है हम आगे ही चले जायेंगे।" यह कहकर वे अपना झोली डंठा उठाकर चल दिये।

वह साधु शीघ्रता से चौका में आया। उसने सोचा—शीघ्रता से खीर को खालूं, नहीं फिर कोई दूसरा साधु आ जायगा।" यह सोचकर वह थाल को देखने लगा। थाल ठंडा तो हो गया था, किन्तु उसने देखा, जितने चावल है, वे कीड़े की भाँति रेंग रहे हैं। थाल में उसे सफेद कीड़े ही कीड़े दिखायी दिये। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह समझ गया। ये जो महात्मा आये थे, कोई सिद्ध पुरुष थे। मेरे ऊपर कृपा करके-मुझे उपदेश देने को-उन्होंने यह लीला दिखायी है।

वह दौड़कर महात्मा जी के समीप गया और दूर जाकर उन्हें रोका। साष्टांग प्रणाम करके उसने कहा—"प्रभो! मेरा अपराध क्षमा किया जाय, मै बड़ा पापी हूँ। मैंने आपको लोभवश झूठा बहाना करके टरका दिया। मेरे ऊपर कृपा कीजिये।"

महात्मा ने हँसकर पूछा—"क्या बात है?"

साधु ने कहा—"महाराज, खीर के चावल तो कीड़े हो गये हैं।"

महात्मा ने कहा—"अजी, आप कैसी बात कर रहे हैं। साधु लोग तो भगवान् के भोग के निमित्त ही पाक करते है। भोग लगाये बिना वे पाते ही नहीं। भगवान् के भोग में कीड़े कैसे हो सकते हैं। आपने उसमें तुलसी दल छोड़ा कि नहीं?'

साधु ने कहा—"तुलसी दल तो नहीं छोड़ा महाराज!"

महात्मा बोले—"तुलसी छोड़े बिना प्रसाद कैसे हो सकता है।" अपने सालिगराम के बटुए में से तुलसी निकालकर कहा—"लो, इस तुलसी को छोड दो।"

साधु ने पैरों पर पड़कर कहा—"प्रभो! आप भी पधारो।"

महात्मा तो दयालु होते ही हैं, साधु के साथ-साथ चले आये। तुलसी दल के डालते ही खीर में एक भी कीड़ा दिखायी नहीं

दिया। साधु—ने पहिले श्रद्धा पूर्वक उन साधु को तृप्ति पूर्वक जिमाया। फिर जो बचा उसमें से गृहस्थी को उसके बच्चों को बांट कर शेष अमृत तुल्य उस खीर को स्वयं पाया। देवताओं को अर्पण करने के अनन्तर जो बचता है वह अमृत है जो अपने ही लिये पकाया जाता है, वह देखने में अन्न भले ही लगे वह तो साक्षात् पाप है। इसीलिए वैश्य देव यज्ञ में अयज्ञीय अन्न जैसे उडद, चना, मसूर, मटर, तेल में पके, मक्का, जुनरी आदि अन्न, वासी अन्न, खाने के पश्चात् बचा हुआ अन्न आदि निषेध है। इनमें पुण्य की मात्रा कम पाप की मात्रा अधिक होती है। पाप पुण्य भावना ही पर तो निर्भर है। चावल है बना कर दो चार दिन रख दो। सड़कर कीड़े पड़ जायंगे। वे कीड़े बाहर से थोड़े ही आ गये। चावल के ही कीड़े बन गये। क्योंकि उनका सदुपयोग नहीं किया। देवता पितर अतिथियों को तुरन्त अर्पण नहीं किया गया। प्रत्यक्ष पाप रूप होकर कीड़े रूप में प्रकट हो गये।

सुकर्म यज्ञादि वेद से प्रमाणित होता है, कि यह सुकर्म है, यह कुकर्म है। वेद में कहा है—मनुष्य जो अन्न खाता है, वह उसका साधारण अन्न है, जो पुरुष इसे अकेला ही सेवन करता है, वह पाप से छुटकारा नहीं पाता। क्योंकि वह उसका और देवताओं का मिला जुला अन्न है। जो अज्ञानी पुरुष पापमय अन्न ग्रहण करता है, सच कहता हूँ, वह उसका वध ही है। वह अन्न न तो अर्यमा का पोषण करता है, और न मित्र का, अकेला भोजन करने वाला तो केवल पापी ही होता है।" इसीलिये वेद की आज्ञा को मान कर वेदोक्त यज्ञों में ही प्रवृत्त होना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने विहित कर्मों के अनुष्ठान-यज्ञकर्म-करने के लिये अर्जुन को आज्ञा दी तब

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! यज्ञ कर्म पर ही आप इतना बल क्यों देते हैं ?"

भगवान् ने कहा—भाई धर्माधर्म का निर्णय करने वाला तो वेद ही है। वैसे तो संसार में पाखन्ड शास्त्र बहुत हैं, किन्तु अपूर्व का साधन करने वाला वेद विहित कर्म ही है। इसलिये कार्य अकार्य में वेद ही प्रमाण है।"

अर्जुन ने पूछा—"वेद ही प्रमाण क्यों है ?

भगवान् ने कहा—इसलिये कि वह अपौरुषेय है। किसी पुरुष ने वेद को नहीं बनाया। जिस परमात्मा को अक्षर ब्रह्म कहते हैं। जिसका कभी क्षर नाश नहीं होता वही अक्षर है। अतः वेदों को प्रमाणित करने के लिये किसी अन्य शास्त्र की आवश्यकता नहीं। वह तो स्वतः प्रमाण है। श्रुति में भी कहा है—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद श्लोक ग्रंथ, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान ये सब परमात्मा के निःश्वास हैं। इसलिये वेदों का वचन प्रमाण है। वेदों की छियानवे हजार ऋचाएं यज्ञों का ही प्रतिपादन कर रही हैं अतः वेद यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इसलिये वेद विहित यज्ञों को करते ही रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"यदि कोई वैदिक यज्ञों का अधिकारी और समर्थ होने पर भी यज्ञ नहीं करता तो उसे क्या दोष लगता है ? क्या वह परमार्थ पथ का अधिकारी नहीं हो सकता ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, परमार्थ मोक्ष की बात छोड़ो, वह तो पुण्यात्माओं के स्वर्गादि लोकों का अधिकारी नहीं हो सकता। वह तो पाप मय जीवन बिताने वाला है। क्योंकि यज्ञ कर्म न करेगा, तो उसे सदा सर्वदा अपनी इंद्रियों की तृप्ति की ही चिन्ता लगी रहेगी। आज यह साग बने, आज यह पदार्थ

तैयार हो, आज ऐसा भवन बनाओ जिसमें गरमी में गरमी न लगे जाड़ों में जाड़ा न लगे। आज ऐसा वाहन लाओ जिसमें शरीर में तनिक भी कष्ट न हो। साराश वह सदा शरीर सुख जिनसे मिले ऐसे द्रव्यादि की चिन्ता में मग्न रहेगा उस इन्द्रियों के रमण करने वाले का जीवन तो व्यर्थ ही है। सार्थक जीवन तो वही है जो मोक्ष के लिये प्रयत्नशील हो। जिसका लक्ष्य केवल शरीर सुख ही है, इन्द्रिय भोग प्राप्ति है, वह क्या जीवन है।"

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से उत्पन्न होता है, वृष्टि धूम्र से होती है, विशुद्ध धूम्र यज्ञ से बनता है, यज्ञ की विधि वेद बताता है। यह परमात्मा द्वारा चलाया हुआ चक्र है। इस चक्र का जो अनुवर्तन नही करता। मनमानी घर जानी करता है। वह चाहे पशु-पक्षी हो, मनुष्य हो, धनी हो, निर्धन हो, संसारी बुद्धि वाला हो, निर्बुद्धि हो सब की एक ही गति होती है, वे ससार चक्र में घूमते ही रहते हैं। एक योनि से दूसरी योनि में जाते रहते है। उनका जीना न जीना बराबर ही है। जीना तो उसी का सार्थक है, जिसने ज्ञान द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करली है।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब भगवान् ने वैदिक कर्म काण्ड यज्ञ यज्ञादि पर इतना अधिक बल दिया तब अर्जुन को संदेह हुआ कि पहिले तो भगवान् ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा दो बता आये हैं, और अब पूरा बल यज्ञ यज्ञादि कर्मों पर ही दे रहे हैं। कह रहे हैं—जो वेद विहित कर्मों का अनुष्ठान नही करता, वह पापी है, तो इससे तो शुक आदि मुनि भी नहीं बच सकते। क्योंकि वे बलि वैश्व देव यज्ञ नही करते। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्यादि का तर्पण नहीं करते।

श्राद्ध नहीं करते। तब तो इनका भी जीवन व्यर्थ है। इसी शंका का भगवान् जो समाधान करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

ऐसे ही हे पार्थ! जगत को चक्र सनातन।
मख वेद ही सत्य वही अज पुरुष पुरातन॥
होहि अवरतित चक्र चले अनुकूल न तातैं।
पालन नहिँ करतव्य करैं सुख होवै जातैं॥
वे भोगी इन्द्रियरमन, पाप पंक में फँसे नर।
वे (तो जीवें व्यरथ ही, विहित करम ही सुघर घर॥

आत्म तृप्त ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य नहीं

[६]

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० १७, १८ श्लो)

छप्पय

आत्मा ई है सत्य और सब असत कहावै ।
है अव्यक्त अनादि आतमा वेद बतावै ॥
जो आत्मा में रमन करै वह आत्मराम है ।
आत्मा में ही तृप्त तिन्हें फिर कौन काम है ॥
जाकी नित ही आत्मरति, आत्मतृप्त सन्तुष्ट है ।
ताकूँ जग में रह्यो फिर, कहो कौन करतव्य है ॥

---

* परन्तु जो पुरुष आत्मतृप्त तथा आत्मरति है और सदा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है कि यह उसे करना ही चाहिये ॥१७॥

इस संसार में उस ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य से भी प्रयोजन नहीं, न अकर्तव्य से कोई प्रयोजन । उसका सम्पूर्ण प्राणियों में कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है ॥१८॥

द्वितीय अध्याय में—भगवान् ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान की बहुत प्रशंसा की। तब अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपके मन में तो सिद्ध यही हुआ न कि कर्मकाण्ड की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) श्रेष्ठ है। इतना सब होने पर भी आप मुझको बार-बार क्षत्रिय धर्म का कर्म करने को—युद्ध करने को—कह रहे हो यह कैसी उलटी बात है। मिलीजुली बात मत करो। जिसके लिये ज्ञान श्रेष्ठ हो, उसके लिये होता रहे। आप तो मेरे लिये एक निश्चित मार्ग बता दो जिससे मैं परम श्रेय को प्राप्त कर सकूँ।"

कोई उतावला उपदेशक होता तो कह देता—तेरे लिये तो भैया, मैं यही उचित समझता हूँ कि तू युद्ध कर। किन्तु भगवान् उतावले उपदेशकों में नहीं है। वे अर्जुन को लक्ष्य करके मनुष्य मात्र को उपदेश दे रहे हैं अर्जुन नर है। वह समस्त मुमुक्षुओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिये भगवान् शीघ्रता न करके शनैः शनैः उसे ऐसे समझाते हैं, जिससे पूरी बात उसके हृदय में बैठ जाय। पूरे विषय को हृदयंगम कर लें। प्रश्न इतना ही था "मेरे लिये आप दो न बताकर एक निश्चित मार्ग बता दो।" इसका उत्तर यह था अमुक मार्ग तुम्हारे लिये हितकर है। किन्तु भगवान् ने मूल प्रश्न को छुआ ही नहीं। कहने लगे—"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" इस लोक में दो निष्ठायें है। प्रश्न कुछ और उत्तर कुछ और। कोई बहरा आदमी था बैंगन लिये जा रहा था। मार्ग में उनके एक बहुत पुराने मित्र मिले। उन्होंने कहा—"राम-राम जी" बहरे ने शब्द तो सुने नहीं, ओठ हिलते हुए दिखाई दिये। उसने अनुमान लगाया कुछ पूछ रहे है। मैं बहरा हो गया हूँ, इस बात को वे कहना नहीं चाहते थे, उन्होंने अनुमान लगाया। यही पूछते होंगे कहाँ गये थे क्या लाये हो?"

इसलिये राम-राम के उत्तर में बहरे जी बोले—अजी, बाजार गया था, बैंगन लाया हूँ।"

उस आदमी ने पूछा—"कहो, बाल-बच्चे सब अच्छे हैं?"

इसने फिर होठ हिलते देखे। अब के अनुमान किया—पूछ रहे होंगे बैंगनों का क्या करोगे।"

इसलिये बहरे बोले—"सब ससुरों का भुरता बनाकर रोटी से खालेंगे।"

"वह आदमी हंस पड़ा। प्रश्न कुछ उत्तर कुछ। भगवान् न तो बहरे है, और होते भी तो वे अपने बहरेपन को छुपाते नहीं। फिर उनसे जो कुछ पूछा गया उसका दूसरा कुछ उत्तर क्यों दिया।"

बात ऐसी नहीं है। वे दो निष्ठा बता कर पहिले यह सिद्ध करना चाहते हैं, कि मैंने दाल-भात को मिलाकर खिचड़ी नहीं पकाई है। दाल पृथक् है, भात पृथक् है दोनों पृथक्-पृथक् हंडी में बने हैं। कुछ लोग ऐसे है जो स्वाद को जीतने के लिये भात ही भात रूखा खाते हैं। कुछ ऐसे बीमार है, जिन्हें भात पचता नहीं केवल पतली दाल ही दाल पीते है। किन्तु अधिकांश लोग ऐसे होते है, कि दाल भात को पृथक्-पृथक् पात्रों में परसा कर भी दाल और भात को युक्ति से मिला कर खाते है। इतना सिद्धान्त बताने के अनन्तर फिर भगवान् मूल प्रश्न का उत्तर देंगे। तस्मात् इसलिये भैया तुम तो दाल और भात को उचित मात्रा में मिलाकर खाओ। इसीलिये भगवान् ने ज्ञान, निष्ठा, कर्म निष्ठा दो बताईं। ज्ञानी लोगों को स्वाद से कोई प्रयोजन नहीं वे तो केवल बुभुक्षा को शांत करने के लिये जैसे-तैसे पेट भर लेना चाहते है। इसलिये स्वाद की अपेक्षा न करते हुए केवल अलोने भात से पेट भर लेंगे। कुछ स्वादु होते हैं, या बीमार

होते हैं। वे नमक मिरच खटाई जीरा हींग पड़ी स्वादिष्ट दाल को ही पीकर अपना काम चला लेते हैं। दोनों का भेद बताकर भगवान् कहते हैं इसलिये भैया तू दाल भात दोनों को भगवान् का भोग लगा दे। फिर भगवत् प्रसाद समझकर प्रेम पूर्वक दोनों को ही पाजा। इससे ज्ञानियों की भाँति तेरा पेट भी यथेष्ट भर जायगा, स्वाद भी आ जायगा और कुछ हानि न होगी। इसी का नाम निष्काम कर्म योग है।

इसलिये पहिले तो भगवान् ने वेद विहित यज्ञादि कर्मों की बड़ी प्रशंसा की कर्म निष्ठा का प्रतिपादन किया। फिर दो श्लोकों में ज्ञाननिष्ठ संन्यासी का स्वरूप बताया और अंत में अर्जुन के प्रश्न का उत्तर दिया इसलिये (तस्मात्) तुम तो आसक्ति छोड़कर कार्य कर्म को करो यहाँ प्रत्यक्ष निष्काम कर्म करने की आज्ञा है। यद्यपि ये तीनों ही वस्तुयें वे ही दोनों दाल भात हैं। एक भात ही खाकर तृप्ति का अनुभव करता है। दूसरे पतली दाल खाकर रोग को बढ़ने नहीं देते या जिह्वा को तृप्त कर लेते हैं। किन्तु तीसरा आदमी पेट तो भर ही लेता है, किन्तु अन्न को (ब्रह्म को) स्वादिष्ट बनाकर उसका उपयोग करता है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने वेदविहित बलि वैश्वदेव तथा अन्य नित्य नैमितिक कर्मों की इतनी प्रशंसा की, और अंत में कह दिया जो इस यज्ञ चक्र में सहयोग नही देता, वेद-विहित कर्मों को नहीं करता, उसका जीवन तो व्यर्थ है।

इस पर अर्जुन ने कहा—"तब तो भगवन्! मै इस युद्ध को छोड़कर वेदी बनाकर वेदविहित यज्ञानुष्ठानों में ही लग जाऊँ। स्वय ही न लग जाऊँ, ये लंगोटी लगाये घर-घर से भिक्षा करते हुए कर्म से रहित शुकदेव आदि संन्यासी घूम रहे है, इन्हें भी

पकड़-पकड़ कर यज्ञ रूपी महान् शुभ कर्मों में लगा दूं ?"

इस पर हंसते हुए भगवान् बोले—"अरे, भैया, तुम समझे नहीं। जो जन्मजात वैराग्यवान् है, जो अपने आत्मज्ञान में ही तृप्त हैं। जो आत्मा में ही क्रीड़ा करते रहते हैं। जिन्हे रति के लिये किसी बाहरी वस्तु की अपेक्षा नहीं। ऐसे आत्मवान् आत्म-क्रीड़ आत्मरति आत्मतुष्ट ज्ञानी विरागी पुरुषों के लिये कोई शास्त्रीय बन्धन नहीं। उनके लिये कोई कर्तव्य नहीं वे यदि वैदिक कर्मकांड से विरत है, तो उनके लिये किन्चित् भी दोष नहीं। वे तो स्वतः तृप्त हैं। निष्काम कर्मों का शुभ फल-महा फल-तो उन्हे प्राप्त ही हो चुका। वे विधि के दास नहीं। शास्त्रीय आज्ञाओं से वे ऊंचे उठे हुए है, उनके लिये शास्त्रीय अनुशासन लागू नही।

अर्जुन ने कहा—"तो क्या ऐसे आत्मवान् पुरुष को कदापि कर्म करना ही न चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—ऐसा भी मत कहो "कर्म करना ही न चाहिये" यह भी तो एक अनुशासन ही है। उनकी इच्छा पर पर छोड दो। ब्रह्मज्ञानी आत्मज्ञानी पुरुष, संन्यासी किसी की आज्ञा के अधीन नही होता, वह विधि निषेध दोनों से ही रहित है। उसके लिये न को कोई कर्तव्य कर्म है और न अकर्तव्य। उसके लिये न कोई विहित कर्म है न अविहित। उसे इन सबसे कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि उसका ब्रह्मा से लेकर चीटीं पर्यन्त, जंगम तथा स्थावर किसी भी प्राणी से—भूत मात्र से—स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं। वह कर्म नहीं करता तो भी ठीक है और जड भरत की भांति राजा रहूगण को उपदेश देता यह भी ठीक है। इसलिये आत्म निष्ठ ज्ञानी पुरुष से कर्म करने का तुम आग्रह कदापि न करना।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, फिर वही बात। फिर आप कर्म

की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ बताने लगे। फिर कर्म त्यागी वीत-रागी संन्यासी की प्रशंसा करने लगे। अच्छा उनकी आप प्रशंसा करें तो करते रहें। मुझसे क्या कहते हैं, मेरे मूल प्रश्न का तो उत्तर दीजिये। दोनों मार्गों में से मैं किसे ग्रहण करूं?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस पर भगवान् जो उत्तर देंगे। उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

आत्मतृप्त जे पुरुष नहीं करतव है तिनिकूँ।
दोऊ एक समान भेद है कछु नहिं उनकूँ॥
करमनि कूँ यदि करें नहीं बन्धन में आवैं।
नहीं करें तो वेद विप्र सुर दोष लगावैं॥
सर्वभूत में स्वार्थ को, तिनि को नहिं सम्बन्ध है।
अज्ञानी के ही निमित, करमनि को ही बंध है॥

तू तो भैया निष्काम कर्मों को ही कर

[१०]

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० १९,२० श्लो०)

छप्पय

आसक्ति ही एक कर्म में बन्धन कारक ।
अनासक्त को कर्म बनें भव जग के तारक ॥
जातें तुम आसक्ति छोड़ि शुभ करम करो नित ।
करतव है यह करम न राखो फल में निज चित ॥
अनासक्त ह्वैकें करै, करमनि कूँ जो नेम तैं ।
सो पावै पद करम करि, परमात्मा को प्रेम तैं ॥

---

* इसलिये तू आसक्ति-रहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्मों को कुशलता से करता रह । क्योंकि अनासक्त पुरुष ही कर्मों को करता हुआ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ॥१९॥

देखो, कर्म के ही द्वारा जनक आदि परम सिद्धी को प्राप्त हुए हैं । इसलिये तुझे लोक संग्रह को ध्यान मे रखते हुए कर्तव्य कर्मों को करते ही रहना चाहिये ॥२०॥

भगवान् ने गीता में दो निष्ठायें बताई है। ज्ञानियों के लिये ज्ञानयोग और कर्म योगियों के लिये कर्मयोग। कर्म योगियों में भी दो भेद है कर्म योगी और निष्काम कर्म योगी। कर्म योगी तो वर्णाश्रमी हैं। जिनको वर्ण धर्म और आश्रम धर्म का अत्यन्त आग्रह है। उनके मत में केवल वर्ण आश्रम रूपी धर्म का आचरण करते रहो, अपने-अपने वर्ण आश्रम के अनुरूप कर्म करते रहो। मोक्ष प्राप्त हो जायगी। उनके मत में जो वर्णाश्रम से इतर है। पंचम वर्ण वाले है, उन्हे सबसे पहिले धर्म कर्म करने वालों की सदा सेवा रूपी कर्म करते रहना चाहिए। चोरी, हिंसा, झूठ, अशौच, अनाचार का परित्याग करके श्रद्धा भक्ति के साथ समाज की सेवा रूपी कर्म में निरन्तर लगे रहना चाहिये। इससे क्या होगा, कि इस जन्म में जो तुमने सेवा रूप पुण्य कर्म किया है, इस जन्म में तो तुम वर्णाश्रमी नहीं बन सकते। सेवा के पुण्य से तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। स्वर्गीय सुखों को भोग कर थोड़े पुण्य शेष रह जाने पर तुम्हारा जन्म वर्णाश्रमी समाज में हो जायगा। तुम्हारा जन्म सद्शूद्र कुल में हो जायगा। फिर भी तुम निरभिमान होकर सेवा रूपी कर्म को कर्तव्य समझकर करते रहोगे, तो अन्त में मर कर स्वर्ग सुखों को भोगकर वैश्य हो जाओगे, वहाँ तुम अपने वर्ण आश्रम के अनुरूप कर्म करते रहोगे तो मरकर स्वर्ग में पुण्य के प्रभाव से सुखों को भोगकर क्षत्रिय हो जाओगे। क्षत्रिय होने पर ब्रह्मचर्य धारण पूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करते-करते अन्त में गृहस्थी को त्याग कर वन में जाकर तपस्या रूपी कर्म को करते-करते मर जाओगे तो तुम्हें तप लोक की प्राप्ति होगी। वहाँ से कभी भी पुण्य क्षीण होने पर फिर जन्म होगा तो ब्राह्मणकुल में जन्म होगा। ब्राह्मण होने पर विधिवत् ब्रह्मचारी के कर्मों को करते

हुए गृहस्थी बनोगे, वहाँ श्रौतस्मार्त कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करते हुए वानप्रस्थी बनोगे, वहाँ भी नित्य नैमित्तिक कर्म बलि वैश्य देव तथा अग्नि होत्र को न छोड़ोगे। शास्त्र में जैसे वानप्रस्थ के कर्म बताये कि वर्षा के दिनों में मैदान में बैठकर पूरी वर्षा को सिर पर ले। जाड़ों में कण्ठ पर्यन्त जल में खड़ा होकर तपस्या करे। गरमी में धूप में बैठ कर चारों ओर अग्नि जलाकर तप करे। ऐसा करते-करते वह संन्यास का अधिकारी बन जायगा। तब अग्निहोत्र की अग्नि को प्राणाग्नि जठराग्नि मे विलीन करले और संन्यास धर्मों का कठोरता से पालन करे। कोई संग्रह न करे एक ग्राम में एक दिन रहे, किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे। व्याख्यान प्रवचन न करे। इस प्रकार संन्यासी के कर्मों को करते-करते उसे पूर्ण ज्ञान हो जाय तो फिर उसे किसी लोक में जाना न पड़ेगा। यहीं उसकी मुक्ति हो जायगी। यदि संन्यासावस्था में उसे ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ और बीच में ही शरीर छूट गया तो उसे ब्रह्म लोक की प्राप्ति होगी। वहाँ ब्रह्मा जी उसके अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण कर देंगे और प्रलय-काल मे वह ब्रह्मा जी के साथ मुक्त हो जायगा। इसी का नाम कर्म मार्ग या कर्म योग है। इसमें इतनी बातें हैं।

१—वर्णाश्रम धर्म ही मुक्ति से मिल सकती है।

२—संन्यासी को ही मुक्ति मिल सकती है।

३—संन्यासी केवल ब्राह्मण ही हो सकता है।

४—वेद विहित श्रौत स्मार्त कर्म ही मुक्ति में कारण हैं। अन्य पाखड कर्म नही। इस मार्ग में भगवान् को चाहे मानो चाहे मत मानों कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस मार्ग में भगवान् का मानना गौण है वर्ण और आश्रम विहित कर्म और वेदों को स्वतः प्रमाण मानना ही प्रधान है। इस मार्ग में कर्म करते-

करते अन्त में निष्काम बनकर मोक्ष लाभ करना है। यही उद्देश्य है।

दूसरा है निष्काम कर्म योग। इसको वर्णाश्रमी अवर्णाश्रमी दोनों ही कर सकते हैं। तुम जहाँ हो, जिस वर्ण में जिस आश्रम में हो, जिस स्थिति में हो वहो रहो। इस मार्ग में यह आग्रह नहीं कि एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाओ ही। ब्रह्मचारी को सदृशी भार्या का वरण करना ही चाहिये। गृहस्थ छोड़कर वानप्रस्थ में जाना ही है। वानप्रस्थी को सन्यास ग्रहण करना ही है। आप वर्णाश्रमी हैं, वर्णाश्रम में ही बने रहिये। अवर्णाश्रमी हैं, तो वहीं अपनी कुल परम्परा वंशपरम्परा की वृत्ति को करते रहिये। यदि ब्रह्मचारी हैं, गृहस्थ बनने की इच्छा नहीं है, तो वहाँ रहकर ही निष्काम कर्म करते रहें। गृहस्थी हैं, गृहस्थ में रहें। वानप्रस्थ है संन्यासी हैं तो वहाँ भी इस धर्म का अनुष्ठान करें। जिस कर्म को भी करें उसका फल न चाहें। उसे ब्रह्म को-भगवान् को-परमात्मा को-अर्पण कर दें परमात्मा को चाहे साकार माने चाहें निराकार कोई अन्तर नहीं पड़ता। निराकार साकार दोनों ही मानें। जो भी कर्म करें नि.संग होकर आसक्ति रहित होकर करें। आप जहाँ है वहीं आपको निष्काम कर्म द्वारा मुक्ति मिल जायगी। चाहे जिस वर्ण, आश्रम, जाति तथा सम्प्रदाय के मानने वाले हों। आप संसार-सागर से मुक्त हो जायेंगे। यदि आप वेद विहित कर्मों में विश्वास करने वाले हैं। वेद के वलि वैश्व देव श्रोत स्मार्त अन्य कर्मों पर श्रद्धा रखते हैं, तो इन कर्मों को बड़े प्रेम से श्रद्धा-भक्ति के साथ करें, अवश्य करें, किन्तु उन्हें निष्काम भाव से बिना किसी फल की इच्छा से करें उस दशा में इसी निष्काम कर्म योग का नाम उपासना मार्ग होगा।

यदि आप वेद विहित कर्मकांडों के करने में असमर्थ हैं या अन्य किसी कारण से उन्हें नहीं कर सकते। आपकी वेदानुकूल श्रीमद्भागवतादि पुराणों के कर्मों पर निष्ठा है, तुम्हारी सगुण साकार अवतारों के पूजन पर आस्था है, तो पांचरात्र आदि शास्त्रों के अनुसार भगवान् का पूजन करें। उनके नामों में निष्ठा है तो उनके नामों का श्रद्धाभक्ति के साथ झांझ मृदंग के साथ कीर्तन करें। उनके रूप में निष्ठा है, तो भगवान् के सगुण साकार रूप का ध्यान करें। उनकी लीलाओं पर निष्ठा है तो उनकी लीलाओं का अभिनय देखा करें। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, दास्य, सख्य, वात्सल्य, आत्मनिवेदन आदि भगवान् के सम्बन्ध की जिस निष्ठा में रुचि हो, उसे ही श्रद्धा-भक्ति से करें, किन्तु करें निष्काम भाव से। जो करें उसे भगवद्अर्पण बुद्धि से करें। मेरी इस पूजा से सर्वात्मा श्री हरि प्रसन्न हो जायं, उस दशा में यही निष्काम कर्मयोग भक्ति मार्ग के नाम से कहा जायगा।

इसमें इतनी बातें होंगी—

१—इस मार्ग में चाहे निराकार रूप में या साकार रूप में भगवान् को मानना परमावश्यक है।

२—क्योंकि यह पद्धति पुराण आदि शास्त्रों के सम्मत है और पुराणादि शास्त्र वेदों का अनुसरण करते हैं, इसलिये वेदों को अपौरुषेयत्व मानना होगा।

३—इसमें वर्ण आश्रम का कोई आग्रह नहीं। सभी वर्ण के सभी आश्रम के तथा अवर्णाश्रमी भी और स्त्रियाँ भी इस धर्म का पालन कर सकती हैं।

४—जो भी भगवान् की भक्ति करेगा वही उन्हें प्राप्त करेगा। (संसार चक्र से मुक्त हो जायगा) यदि आपकी निष्ठा

बाहरी पूजा में नहीं है, आप अपने भीतर की क्रियाओं को ही संयमित करके अपने स्वरूप का ज्ञान करना चाहते हैं, विमुक्त बनने के इच्छुक हैं, तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और ध्यानरूपी कर्मों द्वारा समाधि अवस्था को प्राप्त कर सकते है, तब यह निष्काम कर्मयोग अष्टाङ्गयोग के नाम से कहा जायगा।

यदि आप वेदों को स्वतः प्रमाण नहीं मानते, किन्तु आपकी ईश्वर में किसी महापुरुष में अटूट दृढ़ निष्ठा है, और उनके द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना चाहते है, तो गीताशास्त्र इस पंथ को भी निष्काम कर्मयोग में ही मानने को तैयार है। भगवान् का कहना है जो मुझे जिस भाव से भी भजता है उसी भाव से वह मुझे प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार कर्मयोग के ये कर्मयोग और निष्काम कर्मयोग दो भेद हुए यह तो कर्म निष्ठा हुई। अब दूसरी है सांख्यवादियों की ज्ञान निष्ठा या ज्ञानयोग है।

२—ज्ञानयोग—में कर्मों का कोई आग्रह नहीं, वर्ण आश्रम का कोई आग्रह नहीं, कर्तव्य अकर्तव्य का कोई आग्रह नहीं। वे किसी के ऋणी नहीं, देवता, पितर, ऋषि तथा मनुष्यो के लिये उनका कोई कर्तव्य नहीं। वे कर्मो से दूर रहते है। दूर रहने का भी आग्रह नहीं। कर्म भी कर लेते है, शरीर निर्वाह के लिये भिक्षा-वृत्ति करते हैं। उन्हें मुक्ति प्राप्त करनी नहीं होती, वे तो जीवन्मुक्त ही है। वे आत्मरत, आत्मतुष्ट, आत्मक्रीड़ तथा आत्मतृप्त है। ऐसे ज्ञाननिष्ठ ज्ञानयोगी विरले ही हैं।

इससे योग तीन प्रकार के हुए एक कर्मयोग दूसरा निष्काम कर्मयोग तीसरा ज्ञानयोग। भगवान् ने गीता में कर्मयोग और निष्काम कर्मयोग को एक ही करके बताया है। उपासना मार्ग ही निष्काम कर्मयोग है उसे ही भक्तियोग या भक्ति मार्ग कहें। गीता

मे अर्जुन से जिन दो निष्ठाओं का वर्णन किया है, उन्ही का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने श्रीमद्भागवत में उद्धवजी से स्पष्ट कहा है—"हे मेरे प्यारे उद्धव ! मैंने मनुष्यों के कल्याणार्थ तीन प्रकार के योग बताये हैं, एक ज्ञानयोग, दूसरा कर्मयोग और तीसरा भक्तियोग। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा कोई अन्य उपाय है ही नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! इन तीनों योगों के अधिकारी कौन है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, उद्धवजी ! जो लोग कर्मों से और उनके फलों से सर्वथा विरक्त बन गये है जो कर्मों को त्याग चुके है वे लोग ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों से और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःख बुद्धि नही हुई है, वे सकामी लोग कर्मयोग के अधिकारी हैं, किन्तु जो पुरुष न तो बहुत अधिक विरक्त ही हैं और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्म के शुभ संस्कारों से संयोग सस्कार सौभाग्यवश मेरी लीलाओं में, मेरी कथाओं में, मेरी सेवा आदि में श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है वे लोग भक्तियोग के अधिकारी है। उनको उसी भक्ति योग के ही द्वारा सिद्धि मिलेगी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी।

आगे भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"उद्धव ! यह कर्म करना चाहिये, यह कर्म नही करना चाहिये आदि-आदि कर्मों के सम्बन्ध में जितने भी विधि निषेध हैं ये तभी तक है, जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखो से वैराग्य न हो अथवा जब तक मेरी लीला कथा के श्रवण कीर्तन में श्रद्धा न हो जाय। इस प्रकार अपने वर्ण और आश्रम के अनुकुल धर्म में स्थित रहकर यज्ञों के द्वारा बिना किसी आशा और कामना के

मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर, केवल विहित कर्मों का ही आचरण करता रहे, तो उसे न स्वर्ग में जाना पड़ेगा और न नरक में। अपने ही धर्म में निष्ठा रखने वाला पुरुष इसी शरीर में रहते-रहते, निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देता है और रागादि मलो से विमुक्त होकर परमपावन बन जाता है। इसी के द्वारा अनायास ही उसे विशुद्ध ज्ञान की अथवा मेरी भक्ति की प्राप्ति हो जाती है।"

इससे स्पष्ट हो गया, कि निष्काम कर्मयोग को ही भक्तिमार्ग कहते है। गीता में भगवान् अर्जुन से इसी निष्काम कर्मयोग का उसे अधिकारी समझकर उसी को करने के लिये जोर देकर कह रहे हैं। हे अर्जुन! तुम निष्काम कर्मयोग के ही अधिकारी हो इसलिये (तस्मात्) तुम्हें इसी योग का अनुसरण करना चाहिये।

सूतजी कहते है—"मुनियो! अर्जुन ने जब पूछा कि भगवन्! आप कभी ज्ञानयोग की प्रशंसा करते है कभी कर्मयोग की। मेरा श्रेय जिसमें हो, मेरे उपयुक्त जो निष्ठा हो उसे मुझे बताइये। तब भगवान् ने कहा—पहिले दोनों निष्ठाओं के रहस्य को तो समझ लो। दोनों के लक्षण तो जान लो। तब तुम्हें बताऊंगा तुम्हारे लिये कौनसी निष्ठा अनुकूल पड़ेगी।" ऐसा कहकर भगवान् ने पहिले कर्म मार्ग वैदिक कर्मकांड का उल्लेख करके यज्ञादि करने पर बल दिया। फिर कहा इन कर्मों को फल की इच्छा न रखकर कर्तव्य बुद्धि से करते रहो, तो भी सिद्धि प्राप्त हो जायगी और ज्ञाननिष्ठा से भी हो जायगी। दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुँच जायंगे। दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न है। तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तुम तो इसलिये फल विशेष की कोई भी अभिलाषा न रखकर-फलासक्ति

से सर्वथा शून्य होकर-कर्तव्य समझकर-कर्मों को निष्काम भाव से करते ही रहो।"

अर्जुन ने पूछा—"निष्काम भाव से कर्म करते-करते हम ज्ञान निष्ठा के अधिकारी बन जायंगे और फिर ज्ञान निष्ठा द्वारा मोक्ष प्राप्त होगी क्या ?"

भगवान् ने कहा—देखो, अज्ञानी को तो मोक्ष प्राप्त हो नहीं सकती। ज्ञान के बिना तो मुक्ति होती ही नहीं। साध्य तो मुक्ति है। किन्तु ज्ञाननिष्ठा और निष्काम कर्मनिष्ठा ये दोनों पृथक् निष्ठायें है। एक को दूसरे की अपेक्षा नहीं। ज्ञाननिष्ठ साधक ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष प्राप्त कर सकेगा और फलासक्ति से शून्य निष्काम कर्मयोगी निष्काम कर्म द्वारा ही मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! निष्काम कर्म निष्ठा द्वारा किसी ने संसिद्धि-मुक्ति-प्राप्त की भी है क्या ?"

भगवान् ने कहा—की क्यों नही। जनकादिकों ने कर्म निष्ठा द्वारा ही परम सिद्धि-मोक्ष-को प्राप्त कर लिया है। वे संन्यासी नही बने, घर-घर मधुकरी नहीं माँगते फिरे, उन्होंने काषाय नहीं पहिने फिर भी उन्हे परम सिद्धि प्राप्त हो गयी।

अर्जुन ने पूछा—तब महाराज, निष्काम कर्मनिष्ठा श्रेष्ठ है, या कर्मों से संन्यास करके ज्ञाननिष्ठा द्वारा संसिद्धि को प्राप्त करना श्रेष्ठ है।

भगवान् ने कहा—दोनों ही श्रेष्ठ है, दोनों का ही चरमलक्ष्य एक है, दोनों के ही द्वारा मुक्ति मिल जायगी। जो अज्ञानी हैं अपंडित हैं, वे ही एक ही निष्ठा का आग्रह करते हैं। निष्काम कर्मयोगी कहते है, घर-घर से भीख माँगने मे क्या रखा है, निष्काम भाव से कर्म करते ही रहना चाहिये। ज्ञाननिष्ठा वाले कहते हैं, ज्ञान के बिना तो मुक्ति होती नहीं निष्ठा

तो एक ही ज्ञान निष्ठा है अतः कर्म के द्वारा ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की जाती है। यह केवल दुराग्रह मात्र है। सांख्य-ज्ञान-और योग-कर्मनिष्ठा-एक ही हैं दोनों का चरम लक्ष्य भिन्न नहीं। दोनो के ही द्वारा संसिद्धि-मुक्ति-मिल जाती है!

अर्जुन ने कहा—भगवन्! यह तो ठीक है ज्ञाननिष्ठा और निष्कामकर्म निष्ठा दोनों ही श्रेष्ठ हैं, फिर भी दोनों में उन्नीस बीस कोई तो होगी ही।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"बड़े विचित्र आदमी हो जी तुम। निष्ठाओं में भी उन्नीस-बीस होती हैं क्या? सालिगराम की सभा बटिया बराबर ही है। छोटी को पूजा करो चाहे बड़ी को, फल तो सभी समान देंगे।"

अर्जुन बोले—भगवन्! सालिग्राम की बटियाँ समान होने पर भी उनमें भी भेद होते हैं, कोई वीर नृसिंह होते हैं, कोई लक्ष्मी-नारायण होते हैं, कोई हिरण्यगर्भ होते हैं।

भगवान् ने कहा-अरे, भाई निष्ठा का अर्थ स्थिति है। कर्म स्थिति वाला भी संसार से विमुक्त हो जाता है, कर्म त्यागी संन्यासी भी मुक्ति लाभ करता है। फिर भी तुम्हें उन्नीस-बीस का आग्रह ही है, तो निष्काम कर्मनिष्ठा, ज्ञाननिष्ठा से अधिक उपयोगी है।

अर्जुन ने कहा—अधिक उपयोगी कैसे है महाराज!

भगवान् ने कहा—देखो, संसार में सबसे श्रेष्ठ कार्य यह है, कि जीवों को जो यह संसार भय है, इससे उन्हें छुड़ाना। जो एक जीव को भी संसार बन्धन से छुड़ाता है-उसे भगवत् उन्मुख करता है, वह सबसे बड़ा उपकारी है। लोगों को अपने-अपने धर्मों में प्रवृत्त कराना उन्हें विपरीत मार्ग से हटाना यह कितना बड़ा उपकार है। इसी का नाम लोकसंग्रह है। लोग हमारे सम्पर्क में आवें, हमसे कुछ सद्गुण सीखें यही लोकसंग्रह को

भावना है। जो गुम्म सुम्म बैठा रहे, सर्व कर्म परित्याग करके स्वयं मोक्ष के लिये प्रयत्न करता रहे, उससे तो यह लोकसंग्रही संसार की दृष्टि में उपयोगी ही है। इसलिये लोकसंग्रह को भी दृष्टि में रखकर निष्काम भाव से कर्मों को करते रहना अधिक उपयोगी है।"

अर्जुन ने पूछा—वैसे दोनों में से श्रेष्ठ तो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी ही है।

भगवान् ने कहा—फिर वही मूर्खता की बात! अरे, बाबा हम कहते है, तत्वज्ञानी की दृष्टि में दोनों एक मे है, ऐसा न होता तो परमज्ञानी सर्वस्व त्यागी परमहंस चक्र चूडामणि शुकदेव जी को ज्ञान प्राप्त करने भगवान् वेदव्यास राजर्षि जनक के समीप क्यों भेजते। किसी संन्यासी के पास भेजते उन्हें शुकदेव जी के योग्य समझा तभी तो उनके पास इन्हें भेजा था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने निष्काम कर्मयोगी को अधिक उपयोगी बताकर उसकी प्रशंसा की, तब अर्जुन को जिज्ञासा हुई निष्काम कर्म करने वाला अपने लिये उपयोगी भले ही हो। अन्य लोगों को उसका क्या उपयोग?" इसी शंका का समाधान करते हुए भगवान् स्वयं अपना ही दृष्टान्त देते हुए जैसे बतावेंगे, उस विषय को मै आगे वर्णन करूंगा।

छप्पय

करम नहीं हैं व्यरथ करम तैं सब कुछ पावै।
साधक करै न करम परमपद किहि विधि पावै॥
जितने अब तक भये जनक आदिक नृप ज्ञानी।
अनासक्त है करयो करम ते नहिं अभिमानी॥
समुझि लोकसंग्रह करम, करो जगत सुख पाइगो।
ज्ञान बिना तजि करम कूं, अरजुन! फिर पछिताइगो॥

निष्काम कर्मयोग संसार को अधिक उपयोगी है

[११]

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ *

(श्री० भग० गी० अ० २१, २२ श्लोक)।

छप्पय

श्रेष्ठ पुरुष जो करैं करैं अनुकरन सकल जन ।
बालक तैसे करैं करैं ग्वाके जो गुरुजन ॥
सम्मानित जो होहिँ लोकहित सद्कर्मनितैं ।
शिक्षा सबकूँ देहिँ स्वार्थ तजि त्याग भावतैं ॥
श्रेष्ठ जाइ मानें बडे, जाकूँ करैं प्रमान हैं ।
बरतैं ताकूँ अन्यजन, अधिक करैं सम्मान हैं ॥

---

* श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है इतर जन वैसा ही वैसा आचरण करते हैं, बडे पुरुष जिस बात को प्रमाण मान लेते हैं, अन्य लोग भी उनका अनुवर्तन करते हैं ॥२१॥

हे पार्थ ! तुम मुझे ही देखो, तीनों लोकों में मुझे कुछ भी कर्तव्य नहीं है । मुझे कुछ पाने योग्य तथा न पाने योग्य भी वस्तु नहीं है, फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ ॥२२॥

इस लोक को गतानुगत कहा गया है, प्रायः सभी लोग अपने बडो को जो करते देखते हैं, उसी को आँख मूँद कर करने लगते हैं। तर्क की कसौटी पर कस कर काम करने वाले तो कोई लाखो करोड़ों में विरले ही होते है। सर्व साधारण लोग तो अपने से बडो के अनुगत होते हैं। बच्चे अपने माता-पिता तथा गुरुजनों को जो अच्छा बुरा करते देखते हैं, वे स्वयं भी उनकी देखा देखी करने लगते हैं। इस विषय में एक कथा है।

एक पंडित जी थे, उनकी पंडितानी बडो भोली-भाली धर्म भीरु थीं। पंडित जी कुछ तार्किक थे, पंडितानी ने कहा—"कल पंडित जी बासौड़ा है, शीतलामाई की पूजा है, कल ताजी रसोई न बनेगी, बासी खानी पड़ेगी।"

पंडित जी ने कहा—"यह बासी खाना आदि डुकरिया पुरान की बातें है। मेरे लिये तो तुम ताजी रसोई बना देना, तुम बासौड़ा करती रहना।"

पडितानी ने अपना अधिकार दिखाते हुए कहा—"तुम वेद की आज्ञा नहीं मानते। सदा से होता आया है। सब लोग करते आये हैं।"

पंडित जी ने हँसकर कहा—"सब वेद तुमने ही पढ़ लिये हैं। बताओ किस वेद में बासी खाना लिखा है। यह तो डुकरिया पुरान की बातें हैं।"

पंडितानी ने कहा—"तब सब लोग मूर्ख हैं, अकेले तुम ही बड़े भारी पंडित बने हो। सब लोग जो करेंगे वही हमें करना पड़ेगा।"

पंडित जी ने कहा—"देवी जी! मै तुम्हें मना थोड़े ही करता हूँ, तुम बासौड़ा तिसौड़ा जो चाहो सो करो, किन्तु मुझे तो क्षमा

कर दो। रही सबकी बात सो, लोग तो भेड़िया धँसान हैं, एक भेड़ जिधर जाती है, सब उधर ही जाती हैं।"

पंडितानी ने कहा—"सब तो भेड़ हैं, अकेले आप ही बाध हो, आपको लोक विरुद्ध बात न करनी चाहिये। सब जो करें उसे मानना चाहिये।

पंडित जी ने कहा—"देखो, मेरी बात मानों लोग सर्व-साधारण तो भेड़िया धंसान हैं। पीछे चलने वाले है। अच्छी बात है, तुम नहीं मानती हो, तो मै तुम्हें करके दिखा दूंगा। मै भी कल शीतला देवी का पूजन करने चलूंगा। गाँव भर में मुनादी करा दो, कि कल पंड़ित जी शीतला देवी का पूजन करने चलेंगे। सब लोग उनके पीछे ही चले, कोई आगे न जाय।"

इस बात से सब को प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन बासी पकवान पानी पूजन की सामग्री लेकर पंडित जी चले, उनके पीछे-पीछे गाँव के सभी स्त्री पुरुष चले। मार्ग में एक गधा बैठा था, पंडित जी ने उसका पूजन किया, प्रदक्षिणा की साष्टांग प्रणाम किया, और आगे बढ़ गये। सब लोगों ने भी भी पंडित जी का अनुकरण किया। सभी ने गधे का पूजन किया। किसी ने कुछ भी नहीं सोचा। कुछ लोग थोड़े तार्किक थे, उन्होंने पूछा—"पंडित जी! पहिले तो कभी गधे का पूजन नही होता था, आपने यह नई रीति कैसे चलायी।"

पंडित जी ने उन्हें तनिक डाँटकर कहा—"मूर्ख लोग नहीं करते होंगे। गधा तो शीतलामाई का वाहन है, जैसे शंकरजी की पूजा के पहिले नन्दी का पूजन करते हैं, वैसे ही शीतला देवी के पूजन के पहिले उनके वाहन गर्दभ का पूजन अवश्य होना चाहिये।"

पडित जी ज्येष्ठ थे, श्रेष्ठ थे विद्वान् थे वे सब चुप हो गये। तब पडित जी ने आकर पडितानी से पूछा—"कहो, सब लोग

भेड़िया धंसान है या नहीं। पहिले तुमने कभी गधे का पूजन किया था ?"

पंडितानी ने कहा—"पहिले तो कभी नहीं किया था। क्या किसी शास्त्र में गधे का पूजन नहीं है ?"

पंडित जी ने कहा—"लोग तो बड़ों के पीछे चलने वाले होते हैं, इसीलिये बड़े लोगों को बहुत समझ सोचकर शास्त्र की आज्ञानुसार आचरण करना चाहिये। आचार्यगण जिस मार्ग से गये हों, उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। पाखंडियों के चक्कर में न फँसना चाहिये। आचार्य शब्द का अर्थ ही यह है, जो ऐसे शास्त्रीय वचनों को छाँट-छाँट कर चुन लेता है, जिनमें सभी जीवों का उपकार हो, जो सबके परम हितकर हों, और उनका स्वयं भी आचरण करके लोगों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करता है। शेष सभी उसी आचार्य के दिखाये हुए पथ से चलते हैं, उसी का अनुवर्तन करते हैं। अतः आचार्य को महापुरुष को बड़ी सावधानी से वर्तना चाहिये उसके ऊपर सर्वसाधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उत्तरदायित्व है।"

तब पंडितानी ने कहा—"महाराज, तब तो बड़े लोगों की एक भूल समस्त संसार के लिये घातक बन जाती है।"

पंडित जी ने कहा—"हाँ, यह बात तो है ही। श्रेष्ठ पुरुष जनता के पथप्रदर्शक होते हैं, उन्हें भूलकर भी निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। सदा सर्वदा सदाचार का ही पालन करना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने निष्काम भाव से विहित कर्मों को करते रहने पर अधिक बल दिया, तो अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! मुझे ही आप निष्काम भाव से कर्म करते रहने को प्रेरित क्यों करते है ?"

इस पर भगवान् ने कहा—"तुम सर्वसाधारण क्षत्रियों के समान नहीं हो। तुम श्रेष्ठ पुरुष हो, नारायण के सखा नर हो।"

अर्जुन ने पूछा—"श्रेष्ठ होने से क्या हुआ ?"

भगवान् ने कहा—"हुआ यह है, कि श्रेष्ठों का कार्य संसार में अनुकरणीय होता है, लोग भीतरी भाव की ओर तो कम देखते हैं। ऊपर के कार्यों का अधिक अनुकरण करते है। तुम जगत् प्रसिद्ध परम विख्यात योद्धा धनुर्धर धर्मपरायण होकर युद्ध के समय—चाहें वैराग्य से ही सही—रण से पराङ्मुख हो जाओगे तो सर्वसाधारण के लिये एक आदर्श हो जायगा। भागने वाले निर्बल डरपोक कायर जब युद्ध भूमि में भयभीत हो जाया करेंगे। तब यही कह दिया करेंगे, कि जब अर्जुन ऐसा शूरवीर विश्व विख्यात व्यक्ति रण से भाग गया, तो हमें क्या दोष लगेगा। इसलिये भैया, श्रेष्ठ पुरुषों को फूंक-फूंक कर पग धरना चाहिये। क्योंकि सर्वसाधारण लोग श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही अनुकरण किया करते हैं। जिस बात को वे प्रमाण मान लेते हैं, दूसरे लोग फिर स्वय शास्त्रों को देखने का झंझट नही करते, अथवा उनमें शास्त्रीय निर्णय स्वयं करने की सामर्थ्य भी नहीं होती। वे तो बड़े लोगों द्वारा स्वीकृत प्रमाण को ही प्रमाण मानकर उनका अनुवर्तन करने लगते हैं।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! तब तो बड़े लोगों को ज्ञान होने पर-कुछ कर्तव्य शेष न रहने पर भी-लोक संग्रह के लिये कर्म करते रहना चाहिये। ऐसा किसी ने किया है क्या ? इस विषय मे कोई प्रमाण हो तो दीजिये।"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"अर्जुन ! यदि घर के कोने में ही किसी को शहद मिल जाय, तो फिर उसे शहद के लिये पर्वतों पर भटकना नही पड़ता। इस विषय में प्रमाण

खोजने बाहर कहाँ जायँ, तुम प्रत्यक्ष में मेरा ही प्रमाण ले लो। तुम बताओ—मेरे लिये तीनों लोकों में कोई कर्तव्य शेष रह गया है क्या ?"

अर्जुन ने कहा—"नहीं भगवन्! आप तो परिपूर्ण हैं, कर्तव्याकर्तव्य से सर्वथा पृथक् हैं। आप तो स्वतः तृप्त हैं।"

भगवान् ने कहा—"देखो, मनुष्य की साधारणतया कर्मों में तभी प्रवृत्ति होती है, जब उसे किसी अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की कामना हो। कोई धन हीन है, उसे धन प्राप्त करने की कामना है, तो वह धन प्राप्ति के लिये कृषि वाणिज्य या भिक्षा आदि व्यापार रूपी कर्म में प्रवृत्त होगा। क्या तुम्हें विश्वास है, कि मुझे किसी अप्राप्त फल के पाने की अभिलाषा है ?"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! आप तो आत्माराम हैं, आप तो कामना से रहित है।"

भगवान् ने कहा—"ऐसा होते हुए भी हे पार्थ! तुम देखते ही हो, मैं रात्रि-दिन संसार के हित के कार्यों में लगा ही रहता हूँ। कर्मों में तत्पर बना ही रहता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! आप ऐसा क्यों करते हैं ? जब आप स्वयं कृत कृत्य हैं आपको कोई कामना नहीं, अभिलाषा नहीं, कुछ भी पाना नहीं तब फिर आप कर्म करके व्यर्थ में कष्ट क्यों उठाते हैं ? किसलिये सतत कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं ?"

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! अर्जुन के ऐसे प्रश्न को सुनकर भगवान् जनार्दन हँसे और उसके प्रश्न का विस्तार के साथ परम युक्ति तथा चातुरी के साथ उत्तर देने लगे। भगवान् ने जैसे अर्जुन के इस गम्भीर प्रश्न का सरलता से उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब उसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

समुझावैं श्रीकृष्ण–पार्थ ! मोकूँ ही देखो।
मोकूँ का करतव्य न देनो मोकूँ लेखो॥
तीनि लोक में मोइ नहीं कछु लैंनो दैंनों।
काहू को नहिं रिनी न काहू तैं कछु लैंनों॥
फिरि हू हौं करतव समुझि, करम करूँ अव्यग्र चित।
मेकूँ करतो देखिकें, होवै सब संसार हित॥

श्रेष्ठ पुरुष कर्म न करें तो सभी अकर्मण्य बन जायँगे

[१२]

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ *

(श्री भग० गी० ३ अ, २३, २४ श्लोक)

छप्पय

यदि हौं करिकें करम नहीं आदर्श दिखाऊँ ।
ह्वै हौं करम विहीन सबनि कूँ जिही जताऊँ ॥
तो अनर्थ अति होहि सबहिं करतब कूँ त्यागें ।
तजिकें निज करतव्य करम तें सबई भागें ॥
करें अनुसरन जगत जन, करतब तें सबई डरें ।
हौं जैसो जैसो करूँ, सबहिँ अनुकरन तस करें ॥

---

* हे पार्थ ! क्योंकि मैं यदि सावधानी से कर्मों को न करूँ, तो भैया, फिर लोग सब प्रकार से मेरे बर्ताव का अनुकरण करने लगेंगे— सभी अकर्मण्य बन जायेंगे ॥२३॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सभी लोक नष्ट हो जायेंगे, और मैं सांकर्य दोष का कर्ता समझा जाऊँगा तथा इस सम्पूर्ण प्रजा का विनाशकर्ता कहा जाऊँगा ॥२४॥

जो लोग ऋषभदेव, जड़भरत के सदृश सदा सर्वदा ब्रह्म वृत्ति में ही रहते है, जिन्हें शरीर को सुधि नही भोजन की जल की शौच अशौच की कुछ चिन्ता नहीं। जैसे भगवान् कपिल की माता देवहूति, तो ऐसी स्थिति पर पहुँचे हुए ब्रह्मज्ञान सम्पन्न पुरुषों के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता, किन्तु जिनको तनिक भी शरीर की सुधि है। ऐसे ब्रह्मज्ञानी को भी सग्रह के ही निमित्त सही–निष्कामभाव से कर्तव्य कर्मों को करते ही रहना चाहिये, क्योंकि कोई भी व्यक्ति बिना कुछ किये रह नहीं सकता। जो ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ पुरुष हैं, उनके ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता है। सर्वसाधारण पुरुष तो जड बुद्धि के है, वे स्वतः परमार्थ की ओर बढ़ नहीं सकते, क्योंकि उनके ज्ञानचक्षु नहीं–अन्धे है–ऐसे अन्धे अज्ञानियों के पथप्रदर्शक ज्ञानी ही है। यदि ऐसे अंधों को पथप्रदर्शक भी धन दारा लंपट–वेषधारी ठग–परमार्थ से रहित अंधे ही मिल गये, तो दोनों ही कुए में गिरेंगे। ऐसे पाखडी स्वय कूए में गिर जायं, तो कोई बात भी नहीं, किन्तु वे तो कामनी काचन के लोभी समाज को वटोरकर उसे भी अपने साथ कूए में गिरा देते हैं। यह संसार भी तो भगवान् का ही बनाया हुआ है, इसकी सेवा करना भी भगवान् की ही सेवा करना ही है। धूर्त पाखंडी–वेषधारी लंपट–लोगों को कुपथ की ओर न ले जायं, उनसे जनता को बचाना बड़े पुण्य का काम है। अतः शरीर का अनुसन्धान रहने तक भगवत् पूजा समझकर–निष्काम भाव से कर्मों को करते ही रहना चाहिये। संसारी लोगों को सुपथ पर चलाने के ही निमित्ति अज अव्यक्त परमात्मा अनेक अवतार लेते हैं। असंख्य रूपों में आकर इस पृथ्वी को अधर्म से बचाते है, धर्म की संस्थापना करते हैं। लोग तो अंधानुकरण प्रिय हैं। ज्ञानी पुरुष कर्मों से निवृत्त हो जाय, तो बहुत से आलसी–ढोंगी–

ज्ञानाभिमानी पुरुष-वेष बनाकर-अपने को ब्रह्म बताकर-कर्म हीन बन जायेंगे। समाज में अनाचार-अत्याचार-फैलायेंगे। समाज को कुपथ की ओर ले जायेंगे। अतः श्रेष्ठ पुरुषों का परम कर्तव्य है, कि अपने स्वार्थ के लिये नहीं-प्रभु पूजा समझकर-ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्तव्य कर्मों को करते ही रहना चाहिये। जो स्वयं नकटे होते हैं, वे दूसरों को भी नकटा बनाने का प्रयत्न करते हैं। एक ज्ञानाभिमानी ढोंगी आचार्य था। उसकी किसी कारणवश नाक कट गयी। अब वह नाचने लगा, कूदने लगा, गाने लगा, हँसने लगा। लोगों ने उसकी इस प्रसन्नता का कारण पूछा, तो उसने कहा—"अहा, मुझे तो भगवान् के दर्शन हो रहे हैं।"

लोगों ने कहा—"हमें भी भगवान् के दर्शन करा दें।"

उस नकटाचार्य ने कहा—"जब तक नासिका रहेगी तब तक भगवान् नहीं दीखेंगे। इसी ओट में भगवान् छिपे है। नाक कटवा लो, मुझसे मंत्र ले लो, भगवान् दीखने लगेंगे।"

कुछ लोगों ने नाक कटवाली, उस नकटाचार्य ने उनके कान में कह दिया। "अब तो नाक कट ही गयी। अब जुड़ने की नहीं। भलाई इसी में है, कि तुम भी नाचने कूदने लगो।"

लोगों ने भी सोचा—नकटा कहलाने की अपेक्षा तो भगवत् दर्शी कहलाना ही ठीक है। वे भी नाचने कूदने हँसने लगे। होते-होते नकटों का एक बड़ा भारी समाज बन गया। वे कुछ काम तो करते नहीं थे; जनता के ऊपर भार बन गये। माल उड़ाते और अपने समाज को बढ़ाते थे। उस देश का राजा भक्त था, उसके यहाँ भी ये नकटे गये खूब हँसने खेलने और प्रसन्नता प्रकट करने लगे।

राजा ने पूछा—"आप सब इतने प्रसन्न क्यों है?"

वे कहने लगे—"अहाहा ! हमें साक्षात् भगवान् के दर्शन हो रहे हैं।"

राजा ने कहा—"कृपा करके हमें भी दर्शन करादें।"

उस नकटाचार्य ने कहा—"आप को दर्शन कैसे हो सकते है। भगवान् नाक की ओट में छिपे हैं। पहिले नाक कटवा लीजिये, हमसे मंत्र ले लीजिये, तब दर्शन होंगे।"

भगवान् के दर्शनों के लोभ से राजा नाक कटाने को तैयार हुआ। राजा का मन्त्री बडा बुद्धिमान था, उसने राजा से कहा—"महाराज पहिले मै नाक कटाकर मंत्र लेता हूँ, तब आप कटावें।"

राजा ने कहा ठीक है, मंत्री ने नाक कटवायी, तब उस नकटाचार्य ने कहा—"मंत्री जी ! अब हमारे समाज की लाज आपके ही हाथ में है। नाक तो कट ही गयी, अब आप भी नाचिये-कूदिये। राजा को भी नकटा बनाकर हम सब मिलकर माल उड़ावेंगे।"

मंत्री ने पहिले से ही नाक जोड़ने वाले को बुला रखा था, तुरन्त टाँके लगवाकर अपनी नाक जुड़वा ली, और उन सब नकटों को पकड़ कर जेल में डाल दिया। उनसे नित्य १० सेर आटा पिसवाना, जो नहीं पीसता उनके कोड़े लगवाता।

इस प्रकार के नकटों के अनाचार से बचाने के निमित्त ज्ञानी-पुरुष को बिना किसी फल की इच्छा किये अपनी स्थिति के अनुरूप लोकोपकारक कर्मों को करते ही रहना चाहिये। बहुत से ज्ञानी पुरुष ज्ञान होने पर भी अपने कर्मों में लगे ही रहते है।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जब अर्जुन ने यह पूछा कि आप स्वयं कृत-कृत्य होने पर भी कर्म क्यों करते रहते है। कर्म करके कष्टों को क्यों उठाते हैं, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! यदि मैं कर्म न करूँ, तो बड़ा अनर्थ हो जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"क्या अनर्थ हो जायगा भगवन् !

भगवान् ने कहा—मेरे अनुयायी सब आलसी बन जायँगे। ज्ञानी तो कोई करोड़ों में एक विरले ही होते हैं, नहीं तो सभी झंझटों से बचने का ही उद्योग करते हैं। आलस्य में पड़े रहना, सोते रहना, ऊँघते रहना कुछ न करना लोगों को सुहाता है। इसीलिये मैं आलस्य रहित होकर-अतन्द्रित होकर-निरन्तर कर्मों में तत्पर बना रहता हूँ। मै ऐसा न करूँ तो सब लोग मेरी देखा-देखी मेरे ही माग का अनुसरण करने लगेंगे। जो लोग हृष्ट-पुष्ट है, कर्म कर सकते है, कर्मों के अधिकारी भी है, वे भी कह देंगे—"कि इतने श्रेष्ठ पुरुष जब श्रीकृष्णचन्द्र जी ही कर्म नहीं करते, तो फिर हम क्यों कर्म करें।

अर्जुन ने कहा—"मान लो, सभी आपके अनुयायी कर्मों को छोड़ ही दें, तो क्या दोष है।"

भगवान् कहा—"कर्मों को सर्वथा छोड़ देना कोई—हँसी-खेल है क्या ? कर्तव्य कर्मों को छोड़कर वे निद्रा आलस्य में पड़े रहेंगे। इन्द्रियों को तृप्त करने को कुकर्म करने लगेंगे। कुकर्मों से नरकों में जायँगे। इस सबका दोष मुझे ही लगेगा, क्योंकि वे मेरे अनुयायी होने के कारण ही मेरी देखा-देखी कर्तव्य कर्मों से विमुख बन गये। जब लोग कर्तव्य कर्मों से विमुख हो जायंगे तो समाज में उच्छृंखलता बढ़ जायगी। ये समस्त लोक विनष्ट हो जायँगे। वर्ण सांकर्य, वर्णसांकर्य, आश्रम साकर्य आदि बढ़ जायंगे। इन सब अनर्थों का मूल कारण मै ही माना जाऊँगा, मैं ही वर्णसंकरता का कर्ता कहलाऊँगा और सम्पूर्ण प्रजा के विनाश का कारण लोग मुझे ही कहेंगे। इसीलिये मैं अतन्द्रिय होकर-निरालस्य होकर कुछ न कुछ कर्तव्य कर्म करता ही रहता हूँ। यद्यपि मैंने महाभारत में शस्त्र न उठने को-युद्ध न करने को-एक विशेष

कारण वश-प्रतिज्ञा कर ली थी, फिर भी मैं हाथ पर हाथ रखे बैठा नहीं रहा। तुम्हारे रथ के हाँकने का ही काम मैंने ले लिया। तुमने कहा था—मैं आपका शिष्य हूँ, अनुयायी हूँ मेरी रक्षा करो, जो मेरा कर्तव्य हो उसका मुझे उपदेश करो। उपदेश केवल मुख से ही थोड़े दिया जाता है, कर्तव्य करके दिखा दिया जाता है, यदि तुम मेरे सच्चे अनुयायी हो, मुझे श्रेष्ठ मानते हो तो मेरा अनुवर्तन करो। जैसे मैं निरतर कर्तव्य कर्मों में लगा रहता हूँ, वैसे ही तुम भी कर्मों को न छोड़कर अपने कर्तव्य रूप कर्म में निरत रहो।

इस पर अर्जुन ने शंका की और कहा—"भगवान् ! आप तो सर्वसमर्थ है, भगवान् है आप तो कर्म करने पर भी उनके फलों में लिप्त नहीं होते, आपको कर्तृत्वदोष नही लगता। किन्तु मै तो आपके सदृश नहीं हूँ। कसा भी लोक संग्रह की दृष्टि से कर्म करूँ, मुझे कर्तापने का अभिमान हो ही जायगा। अतः मैं आपकी भाँति कर्म कैसे कर सकता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

करौ न हौ यदि करम नष्ट अरु भ्रष्ट होहिं सब।
कोई करै अनर्थ अर्थहित लड़ैं भिड़ैं तब॥
सती नारि नहिं रहैं करैं सबई मनमानी।
ज्ञान न अरजन करैं रहैं सबई अज्ञानी॥
संकरता जो दोष है, ताको हौं करता बनूँ।
नष्ट होहि सबरी प्रजा, नाश करनहारो बनूँ॥

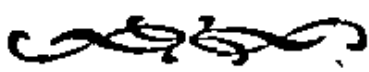

अज्ञानियों में बुद्धि भेद पैदा न करें

[१३]

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरेन् ॥*

(श्री भग० गी० ३अ० २५,२६ श्लो०)

छप्पय

वस्तु एक ई जाइ भाव तैं विष करि लेवो ।
भाव शुद्ध करि ताहि अमृत करिकैं पुनि सेवो ॥
अज्ञानी आसक्त करैं करमनि कूं जैसे ।
आसक्ती तजि करैं करम ज्ञानी हू तैसे ।
करैं लोकसंग्रह निमित, पंडित हू सबरे करम ।
होहिं लित तिनमें नहीं, मूरख समझैं नहिं मरम ॥

---

* हे भारत ! जैसे अज्ञानी जन कर्म मे आसक्त होकर कर्म करते हैं, विद्वान् ज्ञानी को चाहिये वैसे ही अनासक्त भाव से कर्मों को करता रहे ॥२५॥

जो कर्मों मे ही आसक्त है, ऐसे अज्ञानी पुरुषों में विद्वान् को बुद्धि भेद उत्पन्न नही करना चाहिये । उसे स्वयं योग युक्त होकर कर्म करते रहना चाहिये, और दूसरों से भी कराते रहना चाहिये ॥२६॥

दो व्यक्ति हैं, कर्म एकसा ही कर रहे हैं, किन्तु दोनों के फल में अन्तर हैं। पहिले राजपुत्रों को सभी विभागों में रहकर उनका काम सीखना पड़ता था। यहाँ तक कि उन्हें कुछ दिनों तक साधारण सैनिक का वेष पहिन साधारण सैनिक के सामान कार्यरत होना पड़ता था। जिस समय राजकुमार साधारण सैनिकों के साथ उनका जैसा वर्ताव करता है,। अपने अधिकारी को अभिवादन करता है, उसकी आज्ञा का पालन करता है, उस समय यह उसे यह भान रहता है, मैं राजकुमार हूँ, यह साधारण अधिकारी मेरा नौकर है, दूसरे मेरे साथी जो इसे अभिवादन कर रहे हैं, वे भय से नौकरी के लिये अर्थ प्राप्ति के लिये कर रहे है। मुझे वेतन का लोभ नहीं, मुझे वेतन चाहिये भी नहीं। मैं जो इसकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ इसे प्रणाम कर रहा हूँ, केवल साधारण सैनिक का कर्तव्य क्या है, उस कर्तव्यपालन की दृष्टि से करता हूँ। राजकुमार और साधारण सैनिकों का गणवेष एकसा है, कार्य एकसा है, अनुशासन पालन एकसा है, किन्तु दोनों के फल में महान् अन्तर है। एक तो प्रजा का पालन मैं तत्परता से कर सकूँ, मेरे द्वारा सभी कर्तव्यों का भली भाँति पालन हो सके, इस दृष्टि से शिक्षा ग्रहण कर रहा है। दूसरा सकाम भाव से–वेतन के लोभ से–कर्म में आसक्त है। ऊपर से देखने पर आसक्ति दोनों की समान प्रतीत होती है, किन्तु भावना दोनों की भिन्न भिन्न है।

वनवास के समय पांडवों के साथ द्रौपदी भी थीं, जब बारह वर्ष का वनवास समाप्त करके एक वर्ष का अज्ञातवास करना था, तब सभी वेष बदल कर विराट् के यहाँ नौकरी करने लगे। द्रौपदी ने विराट् राजा की रानी से कहा—"मैं जाति की सैरन्ध्री (नाइन) हूँ, आपके यहाँ नौकरी करूँगी, किन्तु मेरी तीन

शर्तें हैं—'एक तो मैं किसी के पैर नहीं धोऊँगी, किसी का उच्छिष्ट भोजन न करूँगी। तीसरे कोई पर पुरुष मुझसे छेड़-छाड़ करेगा तो उसे आपको दंड देना पड़ेगा। रानी ने ये बातें मान लीं और उसे अपने यहाँ नौकरानी रख लिया। महारानी द्रौपदी साधारण नौकरानी जो सब सेवा का कार्य करती थीं वे भी उन्ही की भाँति सब कार्य करती थी। जूठे बर्तन मलती थी, रानी के शरीर में तैल मर्दन करती, उन्हें न्हिलाती धुलाती, उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करती, किन्तु अन्य नौकरानियों के फल में और इनके फल में बहुत अन्तर था यद्यपि अन्य नौकरानियों की भाँति मासिक वेतन भी ये लेती थीं, किन्तु अन्य नौकरानी लोभ-वश भोग के लिये वेतन लेती, ये लेना चाहिये इसलिये लेती थी। अन्य नौकरानी भयवश उनकी आज्ञा का पालन करती, किन्तु ये कर्तव्य समझ कर करतीं। अन्य सैरन्ध्री स्वाद के लिये राजा आदि पर पुरुषों का उच्छिष्ट भोजन करती। ये उसका परि-त्याग कर चुकी थी। अन्य दासियाँ राज परिवार के पुरुषों को रिझाने के लिये—उनसे पारितोषिक पाने के लिये—उनकी नीच से नीच सेवा करती, उनके चाहने पर अपने शरीर को भी अर्पण कर देती, किन्तु ये इन कामों से सदा सर्वदा दूर ही रहती। कीचक ने अन्य दासियों की भाँति इनसे भी अनुचित कार्य कराना चाहा, किन्तु इन्होंने उसे स्वीकार नही किया और इसी कारण उसकी मृत्यु भी हुई।

दूसरे आदमी द्रौपदी जी को रानी की सेवा में आसक्त देखते तो वे इन्हें भी और सब दासियों की भाँति महल की दासी ही मानते क्योंकि इनके ऊपरी आचरण सब साधारण दासियों जैसे ही थे, किन्तु भीतर में बहुत अन्तर था, भीतर वे अपने को इस विराट् महारानी से भी श्रेष्ठ समझती थीं। इसी प्रकार जैसे

अज्ञानी सकाम कर्मों में आसक्त होकर काम में लगे रहते हैं वैसे ही निष्काम कर्म योगी विद्वान् की लोक संग्रह की दृष्टि से सकामियों की भाँति कर्मों में लगा रहता है, किन्तु दोनों के फल में बहुत अन्तर है। वह भोगों में आसक्त रहने के कारण भोगों को प्राप्त करता है, ज्ञानी अनासक्त होने के कारण निष्काम भाव से उन्हीं कर्मों को करता हुआ भी मोक्ष को प्राप्त करता है। जीवन मुक्ति के सुख का उपभोग करता है।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की, कि कैसा भी लोक संग्रह की दृष्टि से मैं कर्म करूँ, मुझे कर्तृत्व अभिमान हो ही जायगा। इसका उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं—"देखो, भारत! कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। उन कर्मों में जो अभिनिवेश है, वही है बन्धन का कारण है। बहुरूपिया नाना रूप बनाकर वर्ताव करता है, कभी तो वह राज कर्मचारी बनकर दूसरों पर आज्ञा चलाता है, कभी स्त्री वेष रखकर स्त्रियों की भाँति हाव भाव कटाक्ष चलाता है। कार्य सब स्त्रियों के जैसा ही करता है। अनजान लोग दूर से देखें, तो उसे अन्य स्त्रियों की भाँति स्त्री ही समझें, किन्तु इस व्यवहार से वह स्त्री तो नही बन जाता। इसी प्रकार लोक संग्रह की इच्छा से कर्म करने वाले विद्वान् की कर्मों में आसक्ति नही हो सकती। इसलिये जैसे कर्मासक्त पुरुष कर्म करते है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को भी निरन्तर कर्म करते रहना रहना चाहिये। अन्तर इतना ही है, कि कर्मों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये।

इस पर अर्जुन ने शंका की—"भगवन्! कर्म तो बन्धन कारक होते ही है। कोयले की दलाली में हाथ काले हो ही जाते हैं, अतः लोक संग्रह ही अभीष्ट हो, तो लोगों को मौखिक उपदेश कर दिया करें, कि आप लोग अपने कर्तव्य कर्मों से विमुख

न हों, कर्मों को करते ही रहें। स्वय कर्मों से दूर ही रहे।"

इस पर भगवान् ने कहा—"देखो, भैया! इस संसार में अधिकांश लोग कर्मासक्त ही हैं। इन कर्मासक्त अज्ञानी पुरुषों को आप कर्म त्याग का उपदेश दें, तो न तो ये संन्यासी ही बनेंगे न कर्म करने वाले ही रहेंगे, उभय भ्रष्ट हो जायेंगे। इससे उपदेश देने वाले को भी दोष का भागी होना पड़ेगा। इसलिये कर्मासक्त अज्ञानी पुरुषों में बुद्धि भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये। रही स्वयं कर्म न करते हुए, उन्हें कर्म करते रहने को उपदेश की बात सो यह भी उचित नहीं। लोग केवल उपदेष्टा के उपदेश को ही सुनकर उसके अनुसार कर्म करने नही लगते, यह भी देखते है, कि इसका स्वय का आचरण कैसा है। इसलिये ज्ञानी विद्वान को चाहिये, कि जैसे वे सकाम भाव से कर्मों में आसक्त रहते है, वैसे ही स्वयं निष्काम भाव से उनमें आसक्त-सा लगा रहे।

अर्जुन कहा—तब तो महाराज, यह दम्भ हुआ कि आसक्त तो नही है, किन्तु लोगों को आसक्त की भाँति दिखावें।"

भगवान् ने कहा—अरे, भाई आसक्त की भाँति दिखाने से यह अभिप्राय नहीं कि उनके सम्मुख ढोंग करे। कर्मों को कर्तव्य बुद्धि से बिना फल की इच्छा से ईश्वरार्पण बुद्धि से लोक संग्रह के निमित्त करता रहे, उन्हें छोड़ने का आग्रह न करे। विद्वान् ही कर्मों को छोड़ देंगे तो मूर्ख लोग तो कर्मासक्त होने के कारण पथभ्रष्ट बन ही जायेंगे। कर्म एक से होने पर भी मन की भावना तो दूसरी ही रहती है। कर्म ऐसे ही करने चाहिये। इसलिये योगी पुरुष युक्त होकर-सम्यक् प्रकार से समाहित चित्त से स्वयं आचरण करता हुआ प्रीति पूर्वक उन्हें भी कर्मों में लगाये रहने की प्रेरणा देता रहे। आज सकाम भाव से कर

रहे हैं, शनैः-शनैः निष्काम भाव से भी करना सीख जायँगे। सर्वथा कर्म न करने से तो पतित हो जायँगे। कर्तृत्वाभिमान न हो तो कर्म बिगाड़ नहीं सकते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् अर्जुन से जो कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कर्मनि में आसक्त पुरुष जो हैं अज्ञानी।
बुद्धि भेद नहिँ करैं कबहुँ तिनिमें नर ज्ञानी॥
शास्त्र विहित जो कर्म करैं तजि जीवन हिंसा।
निन्दैं तिनकूं नहीं प्रेम तैं करैं प्रशंसा॥
स्वयं शास्त्र सम्मत करम, करै करावै सबनितैं।
करमनि तैं निरलिप्त है, अनासक्त बनि फलनितैं॥

कर्म तो प्रकृति द्वारा ही हो रहे हैं

[१४]

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥❀

(श्री भग० गीता ३ अ० २७, २८ श्लोक)

छप्पय

कौन करम कूँ करै प्रकृति ही करम करावै ।
जैसी जाकी प्रकृति काम तैसे करवावै ॥
सात्विक राजस और तामसिक गुन जितने हैं ।
उनतैं होवैं करम भेद गुनके उतने है ॥
अहंकार मोहित भयो, जिनको अन्तःकरन है ।
मैं करता हूँ करम को, मानें उनको भरम है ॥

❀ कर्म तो भैया ! सभी प्रकृति के गुणों द्वारा अपने आप ही हो रहे हैं । अहंकारी-विमूढ़ात्मा पुरुष-व्यर्थ मे ही "मैं करता हूँ" ऐसा मान लेता है ॥२७॥

हे महाबाहो ! जो गुण और कर्म के विभाग को जानता है, ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष इस बात को मानकर आसक्त नही होता, कि ये सम्पूर्ण गुण गुणों में वर्त रहे है ॥२८॥

सत्व रज और तम जब ये तीनों गुण सर्वथा सम हो जाते हैं तभी समझो प्रकृति अब अपने यथार्थ रूप में आ गयी। तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है, साम्यावस्था में वह निर्व्यापार बनी रहती है, कोई भी संसार का कार्य नहीं होता। जब प्रकृति के गुणों में क्षोभ होता है-गुणो में विषमता आती है-विकृति होती है, तभी संसार का व्यापार चालू हो जाता है। प्रकृति में क्षोभ क्यों होता है जी। मायावी की इच्छा से। यह मायावी कौन है। महेश्वर-परब्रह्म-ही सबसे बड़ा मायावी है। उसे क्षोभ करने की क्या पडी? क्यों वह संसार के व्यापार में प्रवृत्त होता है—यह भी उसका अपना स्वभाव है। सबका स्वभाव दुस्त्यज है। यह संसार के सब व्यापार प्रकृति के ही द्वारा चल रहे हैं। सत्व प्रधाना प्रकृति कहाती है रज प्रधाना को माया कहकर पुकारते हैं, और तम प्रधाना को अज्ञता-अज्ञान-कहते हैं। एक ही के तीन नाम है। समस्त कर्म इन्हीं के द्वारा अपने आप हो रहे है। यह अहकारी प्राणी व्यर्थ में ही बिना बात अपने को कर्ता माने बैठा है।

एक राज-पथ पर गाड़ी जा रही थी। उसके नीचे एक कुत्ता भी चल रहा था। किसी ने कुत्ते से पूछा—"कूकर जी! आप गाड़ी के नीचे क्यों चल रहे है?"

कुत्ता बोला—"गाडी को चला रहा हूँ, मै न चलूं, तो गाड़ी कैसे चलेगी?"

गाड़ी हाँकने वाले गड़वारे ने कुत्ते की बात सुनी और उसके एक पैना कसके मारा। कूकरदेव कूं कूं करते कूदकर कोने में खड़े हो गये। गाड़ी फिर भी चलती रही। तब उस कूकर का भ्रम दूर हो गया, कि गाड़ी तो बैलों द्वारा स्वतः चल रही है। मैं चलाता हूं, यह मेरा मिथ्याभिमान था।

आप सोचें—मनुष्य एक कण पृथ्वी बना सकता है ? एक बूँद पानी का निर्माण कर सकता है ? एक अग्नि विस्फुलिंग उत्पन्न कर सकता है ? वायु की लहर बना सकता है ? वह घास से बिना गौके पेट में गये दूध बना सकता है ? अन्न से बिना पेट में गये एक कण वीर्य, एक बिन्दु रज बना सकता है ? मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। प्राकृत वस्तुओं में ही न्यूनाधिक मिलावट करके अहंकार करता है, मैंने वाष्पयान बना लिये मैंने वायुयान बना लिये, मैंने आकाशवाणी का आविष्कार कर लिया। अरे, बाबा ये पदार्थ तो सब प्रकृति जन्य है, अपनी ओर से कोई नवीन भूत बनाते, तब तुम्हारा बनाना भी कहा जाता। जिन हाथों से तुम बनाते हो, वे भी प्रकृति निर्मित हैं, जिस बुद्धि से विचार कर बनाते हो, वह भी प्रकृति का विकार ही मात्र है। पुरुष के शरीर में प्रकृति की प्रेरणा से वीर्य बिन्दु बनते है, स्त्री की देह में प्रकृति की प्रेरणा से रज बनती है, दोनों की प्रकृति प्रेरित करके गर्भाधान कराती है, प्रकृति ही उसे पेट में बढ़ाती है। प्रकृति जन्य प्रसूति मारुति उसे गर्भ से बाहर कर देती है। पोषण के लिये प्रकृति ही माता के स्तनों में दुग्ध उत्पन्न कर देती है। प्रकृति ज्यों-ज्यों उसे बढाती जाती है, त्यों-त्यों उसमें बाल्य, कौमार, पौगंड, किशोर, युवा आदि प्राकृतिक अवस्थायें और उनके अनुकूल ही हाव-भाव कटाक्ष स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। बीज में अनुकूल प्राकृति परिस्थितियाँ होने पर स्वतः ही अंकुर उत्पन्न हो जाता है। प्रकृति को निमित्त बनाकर मायावी महेश स्वयं ही क्रीड़ा कर रहा है। इसे ज्ञानी ही समझकर प्रमुदित होता है, अज्ञानी अपने को कर्त्ता मानकर मोहित हो जाता है, दुखी बन जाता है। ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर इतना ही है। जो कुछ हो रहा है प्रकृति के द्वारा स्वतः ही हो रहा है। कर्तृत्वा

भिमान मेटने का ही नाम साधन है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने यह शंका की कि कर्म कैसे भी किये जायं कर्ता को उन किये हुए कर्मों का कुछ तो फल भोगना ही पड़ेगा। इस पर भगवान् उन्हें समझाते हुए कह रहे हैं—"अर्जुन ! कर्म कौन करता है।"

अर्जुन ने कहा—कर्म को तो कर्ता ही किया करता है।

भगवान् ने पूछा—कर्ता कौन है ?

अर्जुन ने कहा—"जैसे मैंने युद्ध किया, तो युद्ध का कर्ता उसके फल का भोक्ता मै ही हुआ।"

भगवान् ने कहा—"युद्ध तुमने किया, या धनुष बाण ने किया ?"

अर्जुन ने कहा—"धनुष बाण भी तो मेरे ही हैं।"

भगवान् ने कहा—"तुम्हारे कैसे हैं, धनुष तो बांस का है उसकी डोरी तांत की है, बाण लकड़ी और लोहे का है।"

अर्जुन ने कहा—"भले ही इन वस्तुओं से बने हों, चलाने वाला तो मै हूँ।"

भगवान् ने कहा—"तुम कहाँ चलाने वाले हो, हाथ चलाता है।"

अर्जन ने कहा—"हाथ भी तो मेरा ही है।"

भगवान् ने कहा—"हाथ तुम्हारा कैसे है ? वह तो मांस का है मज्जा, अस्थि, रक्त आदि से निर्मित है।"

अर्जुन ने कहा—है तो मेरे ही शरीर का एक अंग।

भगवान् ने कहा—"शरीर तुम्हारा कैसे है, वह तो तुम्हारे माता-पिता के रजवीर्य से निर्मित है।"

अर्जन ने पूछा—"निर्माण किसने कराया ?"

भगवान् ने कहा—"प्राकृत वस्तुओं से प्रकृति की प्रेरणा से समस्त कर्म माया के गुणों द्वारा सम्पन्न होते है।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर लोग यों क्यों कहा करते हैं, कि यह मैंने किया ?"

भगवान् ने कहा—"ज्ञानी ऐसी बात कभी नही कहता। किन्तु जिनका अंतःकरण अहंकार से अत्यन्त विमूढ़ बन गया है, वे ही अज्ञजन ऐसा कहते हैं, कि मै कर्ता हूँ। वे ही ऐसा मानते हैं, कि यह कार्य मेरे द्वारा किया हुआ है। प्रकृति के जो कार्य कारण रूप विकार हैं, उनके द्वारा जो लौकिक वैदिक आदि कर्म सम्पन्न होते है, उन कर्मों को अनात्म में आत्म बुद्धि करने वाले विमूढ़ पुरुष अपना किया हुआ मानते है, किन्तु विद्वान् ऐसा नहीं मानते।

अर्जुन ने पूछा—विद्वान् कैसा मानते हैं ?

भगवान् ने कहा—विद्वान् तो यही समझता है, कि पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ है पाँच ही उनके विषय हैं, वे इन्द्रियाँ अपने विषयों मे प्रकृति की प्रेरणा से वर्तती रहती हैं। जब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में प्रवृत्त हो ही रही है, तो फिर वह अपने में कर्तृत्व का अभिनिवेश करेगा ही क्यों ? किन्तु इसे वही विद्वान् समझ सकेगा जो गुण कर्म के विभाग को जानता है।

अर्जुन ने पूछा—"गुण कर्म का विभाग जानने वाला किसे कहते है ?"

भगवान् ने कहा—अहंकार के आश्रय हैं देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण। मैं मोटा हूँ, मै दुबला पतला हूँ। मेरी कर्मेन्द्रियाँ पुष्ट है, असमर्थ है। मेरा मन आज दुखी है सुखी है, मेरा चित्त विक्षिप्त हो गया था, अब चित्त प्रसन्न है, मेरी बुद्धि विलक्षण है। आदि-आदि अहंकार सदा देह इन्द्रिय और अतःकरण के आश्रय से ही होता है। इन देहादि के जो व्यापार हैं वे ही कर्म

कहलाते हैं। इन गुण कर्मों का जो विभाग कर दे। यह जड़ है चैतन्य है यह विकारी है यह निर्विकार है। इसका यथार्थ स्वरूप जानता है, वह गुणकर्म विभाजक तत्त्ववेत्ता है। वह प्रकृति के किये हुए गुणों में और कर्मों में अपने को कर्ता नहीं मानता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यहाँ तक तो भगवान् ने यह बताया कि कर्म तो प्रकृति द्वारा होते ही रहते हैं, उन्हें न करने का और करने का दुराग्रह अज्ञानी ही करते हैं। ज्ञानी तो साक्षी रूप से उन्हें देखता हुआ उदासीन भाव से कर्तव्य कर्मों को करता रहता है। वह दुराग्रह नहीं करता कि कर्मों को छोड़ना ही चाहिये, किन्तु अज्ञ पुरुष आलसी अकर्मण्य न बन जायँ, उनमें बुद्धि भेद न हो जाय, इसलिये निष्काम कर्मों को पूर्ण ज्ञानी होने पर भी करता ही रहता है। यही निष्काम कर्मयोगी की विशेषता है। इसका वर्णन भगवान् आगे करेंगे।

छप्पय

किन्तु तत्त्ववित गुण विभाग कूँ विधिवत जानें।
जानें कर्म विभाग महाबाहो! वह मानें॥
बरति रहे गुन गुननि आतमा इनतें न्यारो।
है असंग निरलेप अकर्ता नित्य विचारो॥
मन इन्द्रिय चित बुद्धि सब, विषयनि में बरतत रहत।
होवै नहिँ आसक्त मुनि, शुद्ध बुद्ध आत्मा सतत॥

ज्ञानी पुरुष अज्ञों को कर्मों से विचलित न करे

[१५]

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० २९, ३० श्लो०)

छप्पय

प्रकृति गुननि में लिप्त अज्ञ नर करम करें जो ।
गुन करमनि आसक्त कर्म फल हित बरतें सो ॥
बरति रहे गुन गुननि रहस्य न जाको जानें ।
फिरि हू श्रद्धा सहित वेद शास्त्रनि कूँ मानें ॥
तिनि तैं करम छुड़ाइकें, नहिँ विचलित ज्ञानी करत ।
छोड़ो करम सकाम तुम, नहिँ तिनि तैं हठवश कहत ॥

---

* ये प्रकृति के गुणों से सम्मूढ पुरुष गुण और कर्मों में आसक्त रहते ही हैं, ऐसे भली-भाँति न समझने वाले अज्ञ पुरुषों को भली-भाँति जानने वाला विज्ञ पुरुष विचलित न करे ॥२९॥

आध्यात्मचित्त से मुझमें सम्पूर्ण कर्मों को समर्पण करके आशा-रहित निर्मम तथा संताप-रहित होकर युद्ध कर ॥३०॥

कर्म के आधार पर ही यह सृष्टिचक्र चल रहा है। प्रभु की प्रेरणा से ही प्रकृति सब कर्मों को करा रही है। प्राणी गुणों के प्रवाह में ऐसे बह रहे हैं, कि उन पर कर्म किये बिना रहा ही नहीं जाता। तुम उनको बहुत समझाओ कि यह कर्म बन्धनकारक है, इससे संसार में पुनः पुनः आवागमन होगा, जन्म मृत्यु के चक्कर में फंस जाओगे, किन्तु लोग मानते ही नही। हम कर्म न करेंगे, तो संसार कैसे चलेगा। घर गृहस्थी चौपट हो जायगी, बाल बच्चे अनाथ की भाँति मारे-मारे फिरेंगे। घर का सब ढाँचा बिगड जायगा। उन्हें तुम बहुत समझाओ, कि तुमने कुछ ससार का ठेका तो ले नहीं रखा है, न संसार को तुमने बनाया ही है। ब्रह्माजी ने इसे बनाया है, वे इसकी चिन्ता करेंगे। कौन किसका पुत्र, कौन किसकी पत्नी। जैसे प्याऊ पर कुछ देर को यात्री एकत्रित होते है। साथ-साथ खाते-पीते है, विश्राम करते है। समय आने पर सब अपना-अपना रास्ता लेते हैं, क्यों तुम बाल बच्चों के लिये मर रहे हो, क्यों घर बनाने की चिन्ता में मग्न हो, सब यहाँ का यहीं रखा रह जायगा। इसलिये कर्मों के झंझटों को छोड़ दो। निरन्तर प्रभु चिन्तन में निमग्न रहो। भगवान् आपके योगक्षेम का सब प्रबन्ध स्वतः ही करेंगे।

ये सब बातें सच्ची हैं, संसार में कौन किसका सगा सम्बन्धी है, सब स्वारथ के मीत हैं लोग नित्य देख भी रहे हैं। अपने देखते-देखते कितने पैदा हुए, कितने मर गये। कितने बच्चे से बूढे हुए, कितने बूढ़े परलोकवासी हो गये। मनुष्य देखता हुआ भी अंधा बना रहता है। यही भगवान् की माया है, यही प्रकृति का खेल है। देह और इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के गुणों में आसक्त प्राणी दिन-रात्रि कर्मों में ही अन्धा होकर जुटा रहता है, उसे तुम कर्मों के दोष बताकर कर्मों से निवृत्त करदो। तो वह ज्ञानी

तो हो नहीं सकता। आलसी प्रमादी बन जायगा–उभय भ्रष्ट–हो जायगा। जब प्राणियों को कर्मों में स्वाभाविकी आसक्ति है, तो ज्ञानी को चाहिये उन्हें कर्मों से हटावे नहीं। शनैः शनैः उनके भावों में परिवर्तन करदे! उनकी आसक्ति–स्पृहा–को मेट दे। उन्हें मन से निष्काम तथा निस्पृह बना दे। वास्तव में कर्म बन्धन के कारण नहीं हैं। उनमें जो आसक्ति हो जाती है विषयों में भोगेच्छा बढ़ जाती है, बन्धन का कारण यही है। इसलिये ज्ञानी को चाहिये कि स्वयं भी निष्काम भाव से करम करते हुए शनैः शनैः उन कर्मासक्त पुरुषों की भावना को बदल दे। हाथी पकड़ने वाले एक सिखायी पढ़ाई पालतू हथिनी को जंगली हाथियों के झुंड में छोड़ देते हैं। वह पालतू हथिनी सब काम उन झुंड के हाथियों के समान ही करती है, किन्तु उसके कार्य करने का अभिप्राय उनके समान कर्म करना नहीं है, उनमें से किसी को फँसाकर अपने जैसा बनाना है। इसी प्रकार ज्ञानी कर्मासक्तों के साथ रहे, उनके सदृश कर्म में भी लगा रहे, किन्तु कर्मों को विषय भोगों की कामना से न करे। प्रभु की सेवा समझकर-समर्पण भाव से-कर्म करता रहे। इससे जो उन कर्मासक्त लोगों में मुमुक्षु होंगे, वे कर्म के रहस्य को समझकर निष्काम कर्मयोगी बन जायंगे। ज्ञानी का और अज्ञानी का ऊपर से देखने में कर्म एकसा ही प्रतीत होगा, किन्तु अज्ञानी तो गुण कर्मों में आसक्त होकर भौतिक दृष्टि से कर्म करेगा और ज्ञानी सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करता हुआ आध्यात्म भाव से करेगा। वह जो भी करेगा। भगवान् के ही निमित्त करेगा। इस विषय में एक दृष्टान्त है—

कोई साधक एक महात्मा के समीप गया। साधक शरीर से हृष्ट-पुष्ट था। उसे आध्यात्म ज्ञान की जिज्ञासा हुई। कर्मों में

तो उसकी स्वाभाविक आसक्ति थी ही। जाकर महात्मा के चरणों में प्रणाम किया।

महात्मा ने कुशल प्रश्न पूछने के अनंतर पूछा—"कहो भाई, कैसे आये ?"

साधक ने कहा—"भगवन् ! मै परमार्थ की जिज्ञासा से आया हूँ, मुझे कोई ऐसा साधन बता दीजिये, जिससे मैं परमपद का अधिकारी बन सकूँ।"

गुरु ने कहा—"तुम बिना कुछ किये, निश्चल भाव से चुपचाप बैठ सकते हो ?"

साधक ने कहा—जन्म से ही कार्य करने का स्वभाव है, एकदम चुपचाप कितनी देर बैठ सकता हूँ। कुछ साधन बतावें।

गुरु ने कुछ देर तक सोचा और फिर बोले—"तुम दिन भर दंड बैठक करते रहो, और मन में यह भावना रखो, कि मैं भगवान के लिये बैठक लगा हूँ।"

साधक ने कहा—"महाराज, दंड बैठक कब तक लगाऊँगा कोई इससे सरल उपाय बतावें।"

गुरु ने कहा—"अच्छा, तुम दौड़ लगाते रहो, किन्तु इस भावना से दौड़ों, कि मै प्रभु को पाने के लिये दौड रहा हूँ।"

साधक ने कहा—"भगवन् ! दौड़ते-दौड़ते तो थक जाऊँगा कोई और सरल उपाय बतावें।"

गुरु ने कहा—"अच्छा, धीरे-धीरे चलते ही रहा करो, किन्तु यह निश्चय करके चलो कि मैं भगवान् के लिये चल रहा हूँ।"

साधक पूछा—"प्रभो ! कोई बैठे-बैठे करने का नही है ?"

गुरु ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं, तुम यही सोचकर बैठे रहो, कि मैं भगवान् के लिये बैठा हूँ।"

साधक ने कहा—'बैठा कब तक रहूँगा, किसी मंत्र का जप नहीं कर सकता।"

गुरु ने कहा"—कर क्यों नहीं सकते। भगवान् के अनन्त नाम हैं, अनंत मन्त्र हैं। जो तुम्हें अच्छा लगे उसी का जप करते रहो, किन्तु भावना यही बनी रहे कि मैं भगवान् के लिये जप कर रहा हूँ।"

साधक ने पूछा—"स्वामिन्! आप तो बार-बार भावना पर ही बल दे रहे हैं। कोई क्रिया बताइये, जिसके करने से अन्तःकरण शुद्ध हो।"

गुरु ने कहा—"क्रिया भी तो भैया भावना से ही की जाती है। सकाम भावना से भी क्रिया होती है, निष्काम भावना से भी क्रिया होती है। अज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्त होकर विषय भोगों की कामना से क्रिया करते हैं। ज्ञानी पुरुष निष्काम भाव से निराशी और निर्मम होकर भगवत् सेवा समझकर क्रिया करते हैं जो क्रिया भगवान् के लिये न होकर विषयों की प्राप्ति के लिये है, वह तो बन्धनकारक है, और जो प्रभु की पूजा के निमित्त क्रिया है, वह मुक्ति का साधन है। अतः जो भी क्रिया करो भगवान् के लिये करो जो करो उसे भगवत् अर्पण बुद्धि से करो। यही निष्काम कर्म योग है।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्री कृष्ण जी निष्काम कर्म योग का उपदेश करते हुए अर्जुन से कह रहे है—अर्जुन! ये जितने भी प्राणी हैं, सबके सब माया के गुणों से अत्यन्त विमूढ़ बने हुए हैं। ये सब निरन्तर कर्मों में लगे रहते हैं। नहाओ धोओ, शौच कर्म करो, भोजन करो, बाल बनवाओ, बाल काढ़ो शृंगार करो, वस्त्रों को धोओ, उन्हें सजाओ। ये सब देह की क्रियायें हैं। इसी प्रकार उठना बैठना, चलना फिरना, देखना,

भालना, सूंघना, चखना आदि इन्द्रियों की क्रियायें हैं, तथा चिन्तन करना, मनन करना निश्चय करना ये अन्तःकरण की क्रियाय हैं। प्रकृति के जितने गुण हैं, उनके कर्मों में मूर्ख लोग आसक्त बने ही रहते हैं, क्योंकि यह शरीर ही प्रकृति निर्मित है। मिट्टी का बना घर मिट्टी से ही ल्हेसा लीपा जाता है, प्रकृति निर्मित देह में प्रकृति क्रियाओं का होना स्वाभाविक ही है।"

अर्जुन ने कहा—"तब तो भगवन्! ज्ञानी को चाहिये कि उन कर्मासक्त विमूढ़ पुरुषों को कर्मों से हटावे। जो कर्म उन्हें संसार-चक्र में फंसाये हुए हैं, उनका तो त्याग कराना ही श्रेयस्कर है।

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया, कर्म थोड़े ही बाँधते हैं। बाँधने वाली तो भोग वासनायें ही है। केवल वासना के बदलने की आवश्यकता है। अब तो वे कर्मों में श्रद्धा रखकर प्रकृति के गुण कर्मों में बंधे हुए कर्म कर तोभी रहे है। ज्ञानी ने यदि उन्हें कर्मों से छुड़ा दिया, तो कर्म की श्रद्धा वाले व्यक्ति विचलित बन जायंगे। इधर-उधर दोनों ओर से गिर जायंगे। अतः परिपूर्ण ब्रह्म के ज्ञाता विद्वान को चाहिये कि उन अनात्मज्ञों में बुद्धि भेद न डाले। उन्हें कर्मों से विचलित न करे।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्म तो प्रकृति के गुण कर्मों में आसक्त अज्ञानी ही करते है। ज्ञानी तो इन कर्मों से सर्वथा दूर ही रहता होगा? वह तो कर्म नही करता होगा?"

भगवान् ने कहा—"यही तो मैं बता रहा हूँ। ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञानी को कर्म करते ही रहना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"तब मेरे लिये भगवन्! क्या आज्ञा है?"

भगवान् ने कहा—"तुमको बार-बार तो बता दिया है, तुम युद्ध करो, किन्तु प्रकृति के गुण कर्मों में संमूढ होकर किसी फल की प्राप्ति की इच्छा से नही, भौतिक भावना से नहीं। अध्यात्म

बुद्धि से ब्रह्मात्म भाव से तथा तुम जो भी करो सबको मुझे ही अर्पण करते हुए फल की इच्छा न रखते हुए युद्ध रूपी कर्म को करो। परन्तु सावधान उसमें ममता का भाव न होने पावे शोक मोह का लेश मात्र भी न हो। तुम्हें जो युद्ध की वीभत्सता देखकर ज्वर सा आ रहा है, शरीर काँप रहा है, रोयें खड़े हो रहे है, इस भाव को त्यागकर, प्रसन्नता पूर्वक युद्ध करो, कि मैं धनुष-बाणों द्वारा ही प्रभु का पूजन अर्चन कर रहा हूँ, उनकी स्वधर्म पालन रूप पूजा कर रहा हूँ। तुम्हारे प्रतिपक्षी तो विजय की अभिलाषा से लड़ रहे है, तुम सुख दुख लाभ अलाभ, जय पराजय को समान समझकर मेरी पूजा मानकर युद्ध करो। तुम्हें किसी प्रकार का भी पाप नहीं लगेगा। मेरी बात मान लो। मेरी बात न मानोगे तो पछिताओगे।"

अर्जुन ने कहा—आपकी बात न मानने से क्या परिणाम होगा?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से अर्जुन को समझा रहे है। अन्वय-भगवत् आज्ञा-तो यह हुई कि तुम निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करो। व्यतिरेक-कर्म न करने में जो दोष होगा उसका वर्णन वे आगे करेंगे।"

छप्पय

अरजुन! मोमें चित्त लगाओ मति घबराओ।
जिन-जिन करमनि करो मोई अरपन करवाओ॥
फल की आशा नहीं कबहुँ हिरदे में लाओ।
विषयनि ममता त्यागि ब्रह्ममें चित्त लगाओ॥
राग द्वेष ममता अहं, तजि निज करतब जानिकें।
युद्ध करो भय मति करो, ताप रहित निज मानिकें॥

सर्व कर्म समर्पण का फल

[१६]

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० ३१, ३२ श्लो)

छप्पय

मेरो मत इसपष्ट जाइ मानव जे धारें ।
दोष दीठि तें रहित हिये में श्रद्धा धारें ॥
मम मत को अनुसरन करें फल अरपन करिकें ।
श्रद्धा भक्ति समेत चित्त मोई में धरिकें ॥
ते ह्वै जावैं मुक्त सब, नहीं होहि करमनि व्यथा ।
तू तो मेरो मित्र है, अरजुन तेरी का कथा ॥

---

* जो भी अनिन्दक श्रद्धालु पुरुष मेरे इस मत के अनुसार सदा ही वर्ताव करते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से विमुक्त बन जाते हैं ॥३१॥

और जो निन्दक मूर्ख लोग मेरे इस मत के अनुसार आचरण नहीं करते ऐसे सर्व ज्ञान–विमूढ पुरुषों को तू नष्ट हुआ ही समझ ॥३२॥

सर्व कर्म समर्पण यह एक ऐसा योग है, कि कर्म करते हुए भी उनके फलों से अपना कोई प्रयोजन नहीं। एक किसी व्यापारी के यहाँ मासिक वेतन पर कोषाध्यक्ष है। लाखों रुपये उसके हाथ में नित्य आते हैं, लाखों रुपयों को वह भिन्न-भिन्न कार्यों में व्यय करता है। स्वामी के व्यापार में कभी लाखो का लाभ हो जाता है, कभी लाखों का घाटा भी होता है। उसको लाभ से कोई विशेष सुख नहीं घाटे से विशेष दुख नहीं। अधिक आय से हर्ष नही, अधिक व्यय से विषाद नहीं। उसे तो नियत मासिक वेतन से प्रयोजन है। अधिक आय अधिक व्यय-अधिक लाभ अधिक हानि के परिणाम से-फल से-उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं। यह भी नहीं कि घाटा होने पर वह कोई दूसरे कार्य को करने लग जाय, वह तो कर्तव्य बुद्धि से अपने कर्तव्य कर्म को करता ही रहेगा। वह तो जो भी लाभ अलाभ प्राप्त होता है, सब को अपने स्वामी को अर्पण कर देता है। जो केवल कर्तव्य कर्म को तो करता रहता है, फल को भगवद् अर्पण कर देता है, वह सुख दुख में, लाभ अलाभ में और जय पराजय में समभाव से रहता है। यह कितना अच्छा निष्काम कर्मयोग है। कर्तव्य कर्म भी होते रहते हैं, निष्क्रिय बैठना भी नही पड़ता, लोक संग्रह भी होता जाता है, और सहज ही मुक्ति का-परमपद का-अधिकारी भी बन जाता है। मान लो कभी भूल से कर्तव्य कर्म करते हुए फल की इच्छा हो भी गयी तो पतन तो न होगा, कर्तव्य कर्मों के करने के परिणाम स्वरूप उसे स्वर्ग की ही प्राप्ति तो होगी। इसीलिये भगवान् बारम्बार कर्तव्य कर्मों को निष्काम भाव से करते रहने पर ही अत्यधिक बल देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् से जब अर्जुन ने पूछा—कि महाराज, दो निष्ठाओं में से मेरे लिये जो अनुकूल

हो उसे बताइये। तब भगवान् ने अर्जुन को समझाना आरम्भ किया—"देखो, भैया, कर्म न करने मात्र से ही कोई मोक्ष का अधिकारी नही बन जाता-केवल गेरुवा वस्त्र पहिन कर संन्यास का ढोंग बनाने से ही सिद्धि नही मिल जाती। निष्काम भाव से-ईश्वर अर्पण बुद्धि से-बिना फल की इच्छा रखें-जो कर्तव्य कर्मों को करता रहता है, वही सच्चा योगी है, वही साधक है। केवल इसी एक विषय को अनेक युक्तियों से समझाते-समझाते अन्त में यह स्पष्ट कह दिया कि तुम आध्यात्म बुद्धि से समस्त कर्मों को मेरे अर्पण करके शोक, ममता और आशा को त्याग कर जो तुम्हारा इस समय प्राप्त धर्म युद्ध है, उस युद्ध को करो। यह मेरा निश्चित मत है।"

इस पर अर्जुन ने शंका की—"प्रभो! सब लोगों को शास्त्र ज्ञान की इतनी भारी अनुभूति हो नहीं सकती, क्योंकि शास्त्र अनन्त हैं, और उनमें भी परस्पर विरोधी से वचन दृष्टि गोचर होते हैं उन सब को पढ़कर उनकी संगति लगाना सर्व साधारण के लिये सम्भव नहीं। ऐसे लोगो के लिये भी कोई उपाय है?"

भगवान् ने कहा—"उपाय क्यों नहीं है, शास्त्रकारों ने तो सभी प्रकार के अधिकारियों का निर्वाह किया है। साधन में एक सबसे बडा विघ्न है 'असूया'। असूया उसे कहते है जो गुणों में भी दोष निकालते है। दूसरो के मत का एक मात्र खडन करना ही जिनका उद्देश्य रहता है। जिसमें यह 'असूया' रूपी दुर्गुण न हो, और जो श्रद्धावान् हो। शास्त्र और आचार्य द्वारा की हुई बात में विश्वास करने का नाम श्रद्धा है। गौ का मूत्र पवित्र है यह शास्त्र का वचन है, इस पर श्रद्धा रखकर गो मूत्र का पान करे। जो ऐसा न करके कहे—अरे, पशू का मूत्र नहीं पीना चाहिये। यही असूया है। यद्यपि चाहे उह विषय की हमें

स्वयं अनुभूति न भी हो, किन्तु शास्त्र कह रहा है, हमारे आचार्य देव की आज्ञा है, ऐसी भावना रखकर जो श्रद्धाभक्ति पूर्वक कार्य करता है वह भी मेरे इस उपदेश को सुनकर सब कर्मों को अर्पण करता हुआ निष्काम भावना से कर्म करता रहता है, वह भी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। यह मेरा निश्चित मत है।

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, भगवन्! जो लोग आपके इस मत का आदर न करके सकाम कर्मों का ही आग्रह करें अथवा केवल बनावटी संन्यास के ही लिये बहुत बल दें। आग्रह पूर्वक कर्तव्य कर्मों का परित्याग करके निष्क्रिय बन जायँ, उनकी क्या दशा होगी।"

अर्जुन का ऐसा प्रश्न सुनकर सदा प्रसन्न रहने वाले भगवान् वासुदेव को कुछ रोष आ गया। वे रोष के आवेग में कुछ ऊँची वाणी में कहने लगे—"अर्जुन! जो अश्रद्धालु लोग मेरे वचनों पर विश्वास नहीं करते और मेरे कार्यों में दोषों का आरोप करते हैं, कि अर्जुन को युद्ध रूपी कैसे वीभत्स कार्य में श्रीकृष्ण लगा रहे है, ऐसे दुष्ट चित्त वाले पुरुष सर्वज्ञान विमूढ़ हैं। सर्व स्वरूप मैं ही परब्रह्म हूँ, वे अज्ञानी मेरे ज्ञान से वन्चित रह जाते हैं। वे मेरे बताये हुए मत का अनुष्ठान नहीं करते, तो उन अज्ञानियों को तुम परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट ही समझो। अरे, जिसका जो स्वभाव है, उसी के अनुसार तो काम करेगा। केवल उसमें कर्तव्य बुद्धि होना कामना की इच्छा न करना और उसे मेरे अर्पण कर देना, इतना ही कौशल है। इस कौशल के साथ जो कर्म करेगा तो कर्म करते हुए भी कर्मों के बन्धन में न फँसेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने अन्वय

और व्यतिरेक द्वारा अपने निष्काम कर्म योग का फल बताया। अब आगे भगवान् इस बात को बता रहे हैं, कि सब अपनी प्रकृति से विवश होकर ही कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

मोमें देखें दोष न मोमें श्रद्धा लामें।
नित-नित निन्दा करें मोइ ढोंगी बतलामें॥
नहीं करें अनुकरन न मेरे मत कूं मानें।
नहिं ममता आसक्ति तजें भोगहिं सुख जानें॥
अज्ञानी मूरख सकल, ज्ञान रहित आसक्त हैं।
सब धरमनि तें बहिष्कृत, मूढ़ अज्ञ ते नष्ट हैं॥

ज्ञानी भी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है

[१७]

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥*

(श्रीम० गी० ३ अ०, ३३, ३४ श्लोक)

छप्पय

प्रकृति करावै करम प्रकृति के वश सब प्रानी ।
है स्वभाव तैं विवश करैं ज्ञानी अज्ञानी ॥
करनो चाहें नहीं प्रकृति बरबस करवावै ।
जो स्वभाव प्रतिकूल पास ताके नहिं जावै ॥
अज्ञानी की बात का, ज्ञानी हू है के अवश ।
करै अनुसरन प्रकृति को, हठ न चलै जामें विवश ॥

---

* ये सभी प्राणी अपने स्वभाव से विवश होकर कर्म कर रहे हैं, यहाँ तक कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं, इसमें कोई आग्रह क्या करेगा ? ॥३३॥

इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय भोगों में रागद्वेष छिपे हैं । मनुष्य इन राग द्वेष के वश में न हो, क्योंकि दोनों ही मोक्ष मार्ग में विघ्न-कारक और शत्रु हैं ॥३४॥

एक मनुष्य जब उत्पन्न होता है, उसके उत्पन्न होते ही बाजे-बजते हैं, मंगल होते हैं। उसका लालन-पालन अनेक पुरुषों की रेख-देख में होता है। उसकी सुख सुविधा की वस्तुएं प्रथम ही प्रस्तुत रहती हैं, इसके विपरीत एक उत्पन्न होते ही अन्न के लिये तरसता है, कोई उसकी ओर ध्यान ही नही देता। उसे एक-एक वस्तु के लिये परमुखापेक्षी बनना पड़ता है। यह क्या बात है, आप कहेंगे यह तो सामाजिक विषमता का कुपरिणाम है। जब साम्यवाद हो जायगा, तब यह भेदभाव नही रह सकता, किन्तु साम्य में तो प्रलय है, विषमता में ही सृष्टि का चक्र चल सकता है। जैसी साम्यता की आप कल्पना करते है, वैसी साम्यता कभी हो ही नहीं सकती। एक बालक पैदा होते ही दुबला पतला निर्बल है, दूसरा पैदा होते ही हृष्ट-पुष्ट तथा सबल है। एक पैदा होते ही स्वरूपवान् है, एक पैदा होते ही, कुरूप है। एक पैदा होते ही लम्बा-चौड़ा सुगठित है, एक पैदा होते ही ठिंगना बेढंगा है। इन विपरीतताओं का समाधान तब तक नही हो सकता जब तक कि आप पुनर्जन्म के सिद्धान्त को न मानें। पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण ही ऐसी विभिन्नता हुआ करती है।

पूर्वजन्म में जिसने धर्म कर्म किये होंगे, उसकी जन्म से ही प्रवृत्ति धार्मिक कार्यों में रहेगी। पूर्व जन्मों में जिसने अधर्म-कर्म किये होंगे, उसको स्वाभाविक प्रवृत्ति अधर्म के ही कार्यों में होगी। पूर्वजन्म में जिसने ज्ञानार्जन किया होगा, वह जन्म से ही ज्ञानवान् होगा। पूर्वजन्म में जैसी इच्छायें उसकी रही होंगी, वर्तमान जन्म में उन्हीं की अभिव्यक्ति प्रतीत होगी। पूर्वजन्म के संस्कार ही इस जन्म में अपने आप उन्हीं संस्कारों में प्रवृत्त करते है। हमने बहुत छोटे ऐसे बच्चों को देखा है, कि वे ५, ६ वर्ष की अवस्था में ही संगीत में ऐसे पारंगत हो जाते हैं, कि बड़े-बड़े

संगीताचार्य भी उन्हें देखकर विस्मित हो जाते हैं, कोई बच्चे बहुत ही छोटी अवस्था से इंजन के कल पुर्जों की इतनी भारी जानकारी रखते हैं, कि बड़े-बड़े मिस्त्री भी उतनी नहीं रखते। एक ही कक्षा में सैकड़ों विद्यार्थी पढ़ते हैं, एक तो सुनते ही याद कर लेता है वह एक वर्ष में दो-दो तीन-तीन कक्षाओं को धड़ाधड़ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करता चलता है। दूसरा ४ वर्ष में भी दिन-रात्रि परिश्रम करने पर भी उत्तीर्ण नहीं होता। इससे यही निष्कर्ष निकला कि इस जन्म में पूर्वजन्म की प्रकृति पूर्वजन्म का स्वभाव ही कारण है। जैसे आप एक पुस्तक को आधी पढ़कर सो गये, तो दूसरे दिन उठकर आप को वह पुस्तक फिर से न पढ़नी पड़ेगी। जहाँ तक कल पढ़ गये थे उससे आगे से ही पढ़नी होगी। सोते समय तुम पढ़े-लिखे सबको भूल गये थे, जागने पर फिर वह पूर्व का पढ़ा हुआ स्मरण हो आया। इसी प्रकार मृत्यु भी एक प्रकार निद्रा ही है। "मृत्युरत्यंत विस्मृतिः" सोने में थोड़ी देर को विस्मृति होती है, इसी शरीर से जागने पर स्मृति हो आती है। मृत्यु में विस्मृति कुछ अधिक काल तक रहती है, दूसरा शरीर पाने पर पूर्वजन्म की स्मृति होती है। पूर्वजन्म के जैसे संस्कार रहे होंगे, पूर्वजन्म में जैसी प्रकृति रही होगी, वैसी ही प्रकृति इस जन्म में भी रहेगी। इसीलिये तो पूर्वजन्म में जिन्होंने मुक्ति के लिये प्रयास किया है, उन्हें ज्ञान होने पर या भगवत् साक्षात्कार होने पर मुक्ति अथवा भगवल्लोक की प्राप्ति हो जाती है। साधारणतया भगवत् दर्शन होने के अनन्तर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता। वह जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाता है। किन्तु राजर्षि मुचुकुन्द को तो भगवान् के साक्षात् दर्शन हो गये थे। भगवान् ने उनसे बारंबार वर माँगने को कहा। इतने पर भी उन्होंने कोई संसारी कामनाओं के पूर्ण करने का वर नहीं

मांगा। यही कहा आप मुझ शरणागत की रक्षा कीजिये।" इससे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और अपने आप ही उन्हें वरदान दिया—"राजन्! तुम्हारी मति बड़ी सुन्दर है, तुम्हारा निश्चय बड़ा पवित्र है, मुझमें तुम्हारी विषय वासना शून्य निर्मल भक्ति सदा बनी रहेगी। तुमने इस जन्म में क्षत्रिय धर्म का पालन करते समय, शिकार आदि के अवसरों पर बहुत से पशुओं का वध किया है। अब एकाग्रचित्त से मेरी उपासना करते हुए, तपस्या के द्वारा उन पापों को धो डालो। महाराज! आप अगले जन्म में ब्राह्मण बनोगे और समस्त प्राणियों के सच्चे हितैषी परम सुहृद् होओगे तथा फिर मुझ विशुद्ध विज्ञान घन परमात्मा को प्राप्त करोगे।"

अब बताइये। भगवत् साक्षात्कार होने पर भी पाप शेष रह गये क्या? भगवान् ने इसी जन्म में उन्हें मुक्ति क्यों नहीं दे दी? एक जन्म का झंझट और क्यों लगा दिया?

बात यह है, कि भगवान् तो जैसी जिसकी निष्ठा होती है; वैसा ही उसको फल देते हैं। महाराज मुचुकुन्द कर्म निष्ठा वाले थे, वे यज्ञ यागादि करके अपने वर्णाश्रम के अनुरूप कर्मों में सदा लगे रहे। युद्ध में भी उन्होंने प्राणियों का वध किया और मृगयादि में भी। फिर भी अपने वर्णाश्रम धर्म का ही पालन करते रहे। भगवान् ने उन्हें वर्णाश्रम के विहित ही वरदान दिया। क्षत्रिय को संन्यास का अधिकार नहीं और कर्म मार्ग में संन्यास के बिना मुक्ति नहीं। वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए भी वे भगवत् भक्त थे। भगवान् ने दोनों का ही निर्वाह कर दिया। एक जन्म की क्या बात है। तपस्या से पूर्व-जन्म के हिंसादि पाप भी कट जायेंगे अन्त में भगवत् प्राप्ति भी हो जायगी, क्योंकि चाहे कितना भी ज्ञानी हो, कितना भी भगवत्

भक्त क्यों न हो पूर्वजन्म की प्रकृति इस जन्म में अनुसरण करती ही है।

सूतजी कहते है—मुनियो! भगवान् जैव धर्म का वर्णन करते हुए बता रहे हैं—"अर्जुन! तुम सोचते होगे, कि आप तो इस चराचर विश्व के स्वामी हो और आप अपने मत की डंके की चोट घोषणा कर रहे हो, राजा की भांति आज्ञा भी देते हो जो श्रद्धावान् और दोष दृष्टि से रहित होकर सर्वदा मेरे इस मत का आचरण करते है, वे भी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।" और न करने वालों को भयभीत करते हुए उनकी घोर निन्दा करते हुए यह भी आज्ञा दे रहे हैं—"कि जो निन्दक मेरे मत का आचरण नहीं करते वे दुष्ट, अज्ञानी महामूढ़ समस्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जायंगे।" इतना होने पर भी प्राणी आपकी आज्ञा का पालन क्यों नहीं करते? आपकी बात क्यों नहीं मानते।"

इस पर भगवान् हंस पड़े और कुछ ठंडे होकर मुसकराते हुए बोले—अर्जुन! क्या बतावें, चाहे कितना भी ज्ञानी पुरुष क्यों न हो, वह भी पूर्व जन्म की प्रकृति के अनुसार विवश होकर इस जन्म में अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है। ये प्राणी प्रकृति का ही अनुसरण करते है। इसमें निग्रह अनुग्रह आज्ञा अनुज्ञा से काम चलने का नहीं। प्रकृति उन्हें बलात् पूर्वजन्मों के संस्कारानुसार प्रेरित करती है।

नही तो धृतराष्ट्र के समान ज्ञानी कौन है, कितने विवेकी कितने साधु सेवी हैं। साक्षात् धर्म के अवतार विदुर जी जिनके सम्मति दाता उनकी भी बुद्धि कैसी हो गयी है, जब अक्रूर जी ने आकर उन्हें बहुत फटकारा तो उन्होंने यथार्थ ही कह दिया था—अक्रूर जी! सुना है, सर्वशक्तिमान् भगवान् ही पृथ्वी का भार उतारने के निमित्त यदुकुल में उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कौन है जो उनके

विधान में उलट फेर कर सके। उनकी जैसी इच्छा होगी वही होगा। भगवान् की माया का मार्ग अचिन्त्य है। उसी माया के द्वारा इस संसार की सृष्टि करके वे इसमें प्रवेश करते हैं तथा कर्म और कर्म फलों का विभाजन करते हैं। इस संसार चक्र की बेरोकटोक चाल में उनकी अचिन्त्यलीला शक्ति के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है।" सो, अर्जुन! धृतराष्ट्र ने मेरी प्रकृति की ही महिमा गाकर अपने को उसके अधीन होकर वर्ताव करने को विवश बताया।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! तब तो अपना कोई कर्तव्य ही न रहा। जब सब काम प्रकृति के ही अनुसार हो रहे हैं, और उसमें निग्रह करने से भी काम नहीं चलता, तब तो लौकिक वैदिक पुरुषार्थ का कोई विषय ही न रहा। फिर यह विधि है यह निषेध है, शास्त्र के ऐसे वचन व्यर्थ ही है।

इस पर भगवान् ने कहा—"तुम ठीक कहते हो, यद्यपि सब प्रकृति के ही अनुसार वर्ताव कर रहे है, किन्तु उन भोग्य पदार्थों के प्रति स्पृहता निस्पृहता रागद्वेष के भाव न होने चाहिये। बन्धन का कारण तो राग द्वेष है। क्षत्रिय है अपनी पूर्व जन्म की प्रकृति के अनुसार युद्धादि में प्रवृत्त तो होगा, किन्तु सुख दुख, लाभ अलाभ, जय पराजय में समभाव रखकर प्रकृति अनुसार युद्ध करेगा, तो उसे युद्ध जनित पाप नहीं लगेगा। इन्द्रियों के कुछ विषय तो अपने अनुकूल होते हैं और कुछ विषय प्रतिकूल होते हैं, कुछ में राग होता है कुछ में द्वेष होता है। मुमुक्षु पुरुष की इतनी ही विशेषता है, कि अनुकूल और प्रतिकूल विषयों के अधीन न होना चाहिये। विषय न शत्रु है न मित्र उनमें जो राग-द्वेष है वही शत्रु है, वे ही परिपन्थी हैं। कुमार्ग की ओर ले जाने वाले है। स्वाभाविक राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाने पर मुमुक्षु

को उसकी प्रकृति विपरीत मार्ग की ओर नहीं ले जाती। इसलिये शास्त्र की विधि निषेध आज्ञा रागद्वेष के सम्बन्ध में है। वह व्यर्थ नहीं है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने रागद्वेष त्यागकर प्रकृति अनुसार कर्म करने को कहा तब अर्जुन ने शंका की मैं भी तो युद्ध त्यागकर भिक्षावृत्ति पर अपनी प्रकृति के ही अनुसार कार्य करना चाहता हूँ फिर आप मुझे उससे क्यों रोक रहे हैं?" इसका जो उत्तर भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

इन्द्रिय उनके अर्थ विषयतें राग-द्वेष है।
जो अपने अनुकूल द्वेष नहिँ राग-शेष हैं॥
जो होवैं प्रतिकूल द्वेष उनतें अति होवै।
वशीभूत जो विषय ज्ञान विज्ञानहिँ खोवै॥
राग-द्वेष वश होहि नहिँ, नहिँ ये अपने मित्र हैं।
अवरोधक कल्यान के, विघ्नरूप अति शत्रु हैं॥

स्वधर्म पालन ही श्रेय है, परधर्म भयावह है

[१८]

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ *

(श्री भग० गी० ३ अ०, ३५, ३६ श्लोक)

छप्पय

सबको है इक धरम वही करतव्य कहावै ।
अपनो अपनो धर्म सविधि करि मोक्ष दिवावै ॥
अपनो गुनतैं रहित धरम सुखकर है भाई ।
अच्छो ऊ परधरम सदा होवै दुखदाई ॥
मरनो अपने धरम में, सुखदाई होवै सतंत ।
भयदाता परधरम है, सदा रहै तातैं विरत ॥

---

* भली-भाँति आचरण मे लाये हुए दूसरों के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है । स्वधर्म पालन मे तो मरना भी उत्तम है, क्योंकि परधर्म भय को देने वाला है ॥३५॥

अर्जुन ने पूछा—"हे वृष्णिवंशावतंस भगवन् ! यह पुरुष बिना इच्छा के भी जैसे किसी ने बलात् लगा दिया हो, इस प्रकार किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है ॥३६॥

वर्णाश्रम धर्म की प्राचीन परम्परा ऐसी थी, कि जिसका जो वंश परम्परा से चला आता हुआ पैतृक धंधा होता था, उसी के द्वारा वह अपना जीवन निर्वाह किया करता था। इसे "स्वधर्म" कहते थे। स्वेच्छा से बिना आपत्ति के कोई अपने कुलागत धर्म को बदल नहीं सकता था। आपत्ति काल का धर्म दूसरा था, उसे आपद्धर्म कहते थे, उस आपद् धर्म के भी नियम थे। ब्राह्मण आपत्ति काल में क्षत्रिय धर्म अर्थात् हाथ में खड़ लेकर युद्ध से आजीविका प्राप्त कर सकता था। आपत्ति काल में खेती और व्यापार से भी आजीविका चला सकता था, किन्तु कैसी भी आपत्ति हो, शूद्र वृत्ति को नहीं अपना सकता था। क्षत्रिय आपत्ति के समय ब्राह्मण वेष बनाकर भिक्षा से निर्वाह कर सकता था, खेती व्यापार कर सकता था, इसी प्रकार वैश्य शूद्र-वृत्ति तथा वनवासियों की जो पत्तल बनाना, चटाई बुनना, इनको कर सकता था, किन्तु इनको वह तभी तक कर सकता था, जब तक आपत्ति हो। आपत्ति निवृत्ति हो जाने पर उसे पुनः स्वधर्म का पालन करना चाहिये यदि अनापत्ति काल में भी वह परधर्म का पालन करता है, तो पतित हो जाता है।

महाभारत युद्ध, भूमि के लोभ से या राज्य पाने की इच्छा से अथवा ऐश्वर्य भोग की लालसा से नहीं हुआ था। विशुद्ध धर्म युद्ध था। पांडवों के जब आपत्ति के दिन थे तब वे बारह वर्षों तक ब्राह्मणों का वेष बनाये—भिक्षावृत्ति—पर—निर्वाह करते रहे। जब उनका विवाह द्रुपद पुत्री द्रौपदी से हो गया। वे गृहस्थ क्षत्रिय बन गये आपत्ति के दिन बीत गये तब उन्होंने कहा— "अब हम भिक्षा पर निर्वाह नहीं कर सकते, अब हम प्रजा-पालन रूपी क्षत्रिय धर्म का ही पालन करेंगे। जैसे-तैसे उन्हें खांडव प्रस्थ एक बन का राज्य दे दिया गया। वहाँ उन्होंने अपने

पुरुषार्थ से क्षत्रियोचित धर्म का पालन करते हुए इन्द्रप्रस्थ नामक एक समृद्धशाली साम्राज्य की स्थापना कर ली।

जब द्यूत क्रीडा में अपना सर्वस्व हारकर वनवास करने लगे, तब यद्यपि आपत्ति काल ही था, फिर भी वे क्षत्रियोचित ठाठ-बाठ से रहते थे। जब अज्ञातवास में रहे तो विशुद्ध आपद्-धर्म का पालन किया। वन की अवधि समाप्त होने पर भी जब दुर्योधन उनके पैतृक राज्य को लौटाने को तैयार न हुआ, तब क्षत्रिय धर्म के अनुसार उन्हें युद्ध करके राज्य प्राप्त करना चाहिये था, किन्तु धर्मराज भाई भाइयों में रक्तपात को उचित नहीं समझते थे, अतः उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि यद्यपि हम अवस्था में बड़े हैं, दुर्योधन हमसे छोटा है। राज्यवंश की परम्परानुसार हमें राज्यगद्दी मिलनी चाहिये। दुर्योधनादिकों को हमारे अधीन रहकर छोटे राज्यों में राज करना चाहिये, किन्तु यदि दुर्योधन का सम्राट् बने ही रहने का हठ है, तो हम कुल की कलह को मिटाने के लिये उसके अधीन भी रहने को तैयार हैं। क्षत्रिय धर्म का पालन करने तथा निर्वाह के लिये वह हम पाँच भाइयों को केवल पाँच गाँवों का ही राज्य दे दे। पहिले एक-एक गाँव के भी राजा होते ही थे। एक गाँव में कई राजा या भूपति होते थे। वास्तव में राजा शब्द भूमिपति क्षत्रिय मात्र के लिये प्रयुक्त होता था, किन्तु दुर्योधन पाँच-गाँव की तो बात ही क्या भूमि में सुई की नोंक गड़ाने पर जो छोटा सा छिद्र हो जाता है, उतनी भी भूमि देने को जब तैयार न हुआ, तो विवश होकर स्वधर्म से प्रेरित होकर धर्मराज ने युद्ध किया। राज्य के लालच से नहीं।

उन दिनों वंश परम्परागत कार्य को सभी लोग अत्यन्त आग्रहपूर्वक करते रहते थे। अपना वंश परम्परागत धर्म कितना

भी सदोष हो, उसे कोई बदलता नहीं था। धर्म शास्त्रकारों ने केवल तीन ही कार्यों को बदलने की छूट दी है। एक तो जिसके वंश परम्परा में चोरी करते आये हों वह यदि चौर्यकर्म को छोड़ दे तो उसे पाप न लगेगा। दूसरा हिंसा का कर्म, फाँसी देना जीवहत्या करना आदि। तीसरा नाटकों में स्त्री बनकर अभिनय करना। किसी के बाप दादे ऐसा कर्म करते आ रहे हैं और कोई उसे छोड़कर दूसरा कार्य अपना ले तो उसे दोष न लगेगा। शेष जो भी परम्परागत कार्य हों उन्हे धर्मपूर्वक करते ही रहना चाहिये। इस विषय के महाभारत में अनेक दृष्टान्त हैं। धर्म-व्याध ने इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है। महाभारत की बहुत सुप्रसिद्ध सर्वत्र प्रचलित कथा है कि कौशिक ब्राह्मण अपने माता-पिता की सेवा रूप धर्म को त्यागकर वन में तपस्या करने लगा। तपस्या करते-करते उसकी जटायें बढ़ गयीं। उनमें पक्षियों ने घोंसला बनाकर अंडे दे दिये। अंडे बच्चे बनकर उड़ गये। एक वृक्ष पर बगुली बैठी थी उसने तपस्वी पर बीठ कर दी इससे तपस्वी को क्रोध आ गया। तनिक वक्रदृष्टि से उसकी ओर देखा वह मरकर गिर गयी। इससे उन्हें दुःख भी हुआ अपनी तपस्या का अभिमान भी बढ़ा, भिक्षा करने एक सती के घर में गये। सती अपने पति परमेश्वर की सेवा रूप स्वधर्म में संलग्न थी। उसे भिक्षा लाने में देरी हुई। ब्राह्मण को क्रोध आ गया। उस स्त्री से बोले—"तू मेरे प्रभाव से परिचित नहीं है?" स्त्री ने हँसकर कहा—"बाबाजी! बगुली नहीं हूँ, मै अपने स्वधर्म पालन में लगी हुई थी। मै तुम्हारी दृष्टि से भस्म होने वाली नही। ब्राह्मण का क्रोध कपूर की भाँति उड़ गया। उसने उपदेश करने की प्रार्थना की। सती ने कहा—"महाराज! मुझे उपदेश करने का अवकाश नहीं मिथिलापुरी में धर्मव्याध नाम का धर्मात्मा

है, उसके पास जाओ, वह तुम्हें उपदेश देगा। ब्राह्मण पूछता हुआ मिथिला में धर्मव्याध के समीप पहुँचा। वह वधशाला के बाहर मांस बेच रहा था। ब्राह्मण को आता देखकर धर्मव्याध ने उठकर उन्हें प्रणाम किया और बोला—"ब्रह्मन्! जिस व्याध को खोजते हुए उस सती के कहने पर यहाँ आये हैं वह व्याध मैं ही हूँ।"

अब तो ब्राह्मण के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। धर्मव्याध से बातें करने से उसे प्रतीत हुआ यह तो पूर्णज्ञानी सिद्ध पुरुष है। जब वह मांस बेच चुका तो ब्राह्मण को लेकर घर की ओर चला। ब्राह्मण ने कहा—'भैया, तुम पूर्णज्ञानी होकर यह मांस बेचने का नीच कार्य करते हो, यह तुम्हारे उपयुक्त नहीं है। तुम्हारे इस कार्य से मुझे तो बड़ा क्लेश हो रहा है।

इस पर व्याध ने कहा—"देखिये, ब्रह्मन्! यह कार्य मैंने स्वेच्छा से नहीं अपनाया है। यह मेरा वंशपरम्परा का व्यवसाय है। मेरे पिता, पितामह, वृद्ध प्रपितामह सब इसी के द्वारा अपनी आजीविका चलाते आये हैं। यह हमारा स्वधर्म है। मैं स्वयं कोई निषिद्ध कार्य नहीं करता। मैं स्वयं जीवों को मारता भी नहीं। मरे मराये जीवों का मांस लाकर बेचता हूँ। मैं स्वयं कभी मांस नहीं खाता। सत्य बोलता हूँ, अपने माता-पिता को देवता मानकर उनकी पूजा करता हूँ, परनिन्दा नहीं करता, यथाशक्ति दान देता हूँ, अतिथि अभ्यागत, देवता तथा सेवकों को सन्तुष्ट कर उनसे बचे अन्न को खाता हूँ, मैं अपने वंश परम्परागत व्यवसाय को क्यों छोड़ूँ। फिर उसने अपने माता-पिता को दिखाकर कहा—इनकी सेवा ही मेरा तप है। घर के तीर्थ—माता-पिता—को छोड़कर बाहर तपस्या के लिये भटकने से क्या लाभ? आप घर जाइये माता-पिता की सेवा कीजिये।

धर्म व्याध ने कौशिक ब्राह्मण को बहुत उपदेश दिया है। महाभारत में वह धर्म व्याध गीता के नाम से बड़ा ही शिक्षाप्रद रोचक प्रकरण है। इस संवाद से तीन शिक्षायें मिली। जिनका माता-पिता की सेवा धर्म है उन्हें अन्यत्र तपस्या के लिये जाने की आवश्यकता नही। स्त्रियो का अपने पतियों में सहज अनुराग होता है। अतः स्त्रियों का सहज धर्म पति सेवा ही है। स्त्रियों को पति सेवा से ही सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। पति को छोडकर उन्हें अकेले तीर्थ यात्रा, उपवास व्रत तथा तपस्या आदि की आवश्यकता नही और जिनका जो वंश परम्परा का सहज धर्म है वह सदोष भी हो तो उसे त्यागने की आवश्यकता नहीं।

वेश्यावृत्ति एक अत्यन्त नीच गर्ह्य हेय वृत्ति है किन्तु जिसका यही वंश परम्परा का व्यापार हो, उसको भी इसे त्यागने की आवश्यकता नहीं।

पाटलिपुत्र के राजा के राज्य में एक समय गंगाजी में बड़ी भारी बाढ़ आई। उसने ड्योढी पिटवादी कोई अपने धर्म से बाढ़ को रोक सकता हो, तो आवे। एक वेश्या सम्मुख आई। उसने कहा—मै बाढ़ को रोक सकती हूँ।"

राजा ने कहा—"तू नीच कर्म करने वाली वेश्या तू कैसे रोक सकती है?"

उसने कहा—"राजन्! वेशावृत्ति मेरा वंश परम्परा का व्यसाय है, मेरा सहज धर्म है। मैं अपने ग्राहकों से छल कपट नही करती। जिसदिन जिससे जितने में पण हो जाता है, फिर कोई मुझे करोड़ रुपये दे मैं अपने पण को बदलती नही। मैं प्राणि मात्र का हित चाहती हूँ, सत्य का आचरण करती हूँ।" "उसी धर्म के बल पर मैं बाढ़ को रोक सकती हूँ।" राजा ने

उसकी बात स्वीकार की। सबके देखते देखते वेश्या के धर्म के प्रभाव से बाढ़ शान्त हो गयी।

ऐसी ही कथा गंडकी की भी है। गंडकी एक वेश्या की पुत्री अत्यन्त ही रूपवती थी। उसके सौंदर्य की रूप यौवन की और धर्म की तीनो लोकों को में ख्याति थी। वह एकदिन को जिस पुरुष से पण करती, एकदिन को जिसे अपना शरीर समर्पित करती। दूसरे दिन सूर्योदय तक उसमें ईश्वरभाव रखकर सब प्रकार से उसकी सेवा करती। सूर्योदय होने पर उसके चरणों में प्रणाम करके प्रेम पूर्व उसे विदा कर देती, तब दूसरे पुरुष से दूसरे दिन तक को पण करती। एकबार पण कर लेने पर फिर कोई कितना भी सुन्दर पुरुष क्यों न आ जाय कितना भी अधिक धन क्यों न दे दे वह अपने पण को बदलती नहीं थी।

एक दिन एक बड़ा ही सुन्दर नवयुवक आया। उसने एक रात्रि का उससे पण किया, उतने रुपये दे गया और चला गया। सके पश्चात् बहुत से सुन्दर से सुन्दर युवक आये। करोड़ों उवर्ण मुद्रायें देने उद्यत हुए। अपनी माता के अत्यन्त आग्रह सु करने पर भी उसने अपने पण को नहीं बदला और उसी युवक का ध्यान करते-करते उसी की प्रतीक्षा में बैठी रही। रात्रि के दस बजे वह नारायण नाम का युवक आया। उसने भगवत् बुद्धि से उसका स्वागत सत्कार किया। उसका नियम था, एकदिन को जिसके साथ पण करती, उसमें भगवत् बुद्धि रखकर पाद्य, अर्घ्य आचनीय जल देकर स्नान कराती, सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलंकृत करके चन्दन, अक्षत, पुष्पमाला अर्पण करके नाना प्रकार के व्यजनों से उसे भोजन कराके तदनन्दर आत्मसमर्पण कर देती। [illegible] उसने पाद्य, अर्घ्य आचमनीय जल देकर ज्यों ही सुगन्धित

जल से स्नान कराने को उसके वस्त्र उतारे, त्योंही क्या देखती है, उस युवक के सम्पूर्ण शरीर में गलित कुष्ट है। यह देखकर भी वह तनिक विचलित न हुई। रुई लाकर उसके घावों के पीव को पोंछती रही औषधि लगाती रही। बहुत-सी सेविकायें उसने सेवा में लगा दी। उसकी माँ बहुत मना करती रही—"बेटी! इसके रुपये लौटा दे, इस कोढ़ी को घर से बाहर कर दे।" किन्तु उसने स्पष्ट कह दिया—"माँ! मैं अपने स्वधर्म से कभी भी विचलित न हूँगी। सूर्यास्त तक ये मेरे पति परमेश्वर हैं। शक्ति भर मैं इनकी सेवा में सतत संलग्न रहूँगी। वह आधी रात्रि तक उसके घावों को धोती रही औषधि लगाती रही अर्धरात्रि के पश्चात् उस युवक को विसूचिका (हैजा) हो गयी। बार-बार शैया पर ही मल मूत्र उत्सर्ग कर दे, वमन कर दे। वह तुरन्त वस्त्रों को बदल दे। उसके यहाँ वस्त्रों की कमी नहीं थी। ज्यों ही वह नये वस्त्र बदले त्यों ही वह युवक पुनः मल त्याग दे, वमन करदे। वह न तो घृणा करती, न क्रोध करती, अव्यग्र भाव से श्रद्धा पूर्वक सेवा में संलग्न बनी रही। अरुणोदय के समय वह युवक मर गया।

अब इस गंडकी-वारांगना-पण्यस्त्री-ने कहा—"सूर्योदय से पूर्व ही मेरे पण्यपति का स्वर्गवास हुआ है, मै तो इनके साथ सती होऊँगी।" उसकी माता ने, सम्बन्धियों ने, बड़े-बड़े सेठ साहूकारों ने राजा ने उसे ऐसा करने से बहुत मना किया, किन्तु उसने किसी की बात मानी नहीं। नगर भर में जितना चन्दन मिला, सब क्रय करके उसने चन्दन की चिता बनवायी, उसे गोदी में लेकर सोलह-शृंगार करके वह चिता में बैठ गयी। सब रो रहे थे, नगर भर के लोग अपने नगर की इतनी नामी सुन्दरता की सजीव मूर्ति को जीवित जलते देखकर हा-हा करके रुदन

कर रहे थे, पुरोहित ने चिता की परिक्रमा करके ज्योंही उसमें अग्नि देनी चाही, त्यों ही वह युवक हँस पड़ा। सबने रोना बन्द किया, उपस्थित जन समूह में हर्ष की एक लहर छा गयी। लोग परस्पर में काना फूँसी करने लगे।

तब उस वारागना ने पूछा—"महाराज! आप हैं कौन? पहिले तो बड़े सुन्दर नवयुवक बन कर आये, फिर कुष्टा बन गये, फिर आतुर रोगी बने, फिर मर गये और हँस रहे हो?"

हँसते हुए युवक ने कहा—"मैने तो पहिले ही तुम्हे अपना नाम बता दिया था। मैं साक्षात् नारायण हूँ, तुम्हारे स्वधर्म पालन की निष्ठा की परीक्षा लेने आया था। तुम उसमें पूर्ण-रीत्या उत्तीर्ण हो गयीं, अब तुम मुझसे जो चाहो सो वरदान माँग लो।"

ऐसा कहकर भगवान् ने अपना दिव्यचतुर्भुज रूप उसे दिखाया। भगवान् के दर्शन पाकर उसने कहा—"प्रभो! आप ऐसे कृपा के सागर हैं, कि मुझ लोक निंदित नीच वारांगना, पण्यस्त्री बहुभर्तृका के भी समीप पधारे और मुझे दर्शन दिये अपनी सेवा का देवदुर्लभ अवसर प्रदान किया और अब आप मेरे अंक में बिराजमान है, अब माँगने को शेष रहा ही क्या? फिर भी आपका कुछ देने का आग्रह ही है, तो आप सदा सर्वदा इसी प्रकार मेरे अंक में बिराजमान रहें।"

भगवान् को वृन्दा के शाप वश अपना पाषाण का श्री विग्रह बनाना ही था। गण्डकी का शरीर दिव्य जलमय होकर गण्डकी नदी के नाम से प्रवाहित हो गया और भगवान् शालग्राम रूप से उसके अंक में सदा बिराजमान रहते हैं।"

इस कथा से यही सिद्ध होता है, कि अपना स्वधर्म-वंश परम्परा से चला आया कर्म-कैसा भी निन्दित क्यों न हो, यदि

उसका भलीभाँति प्रभु सेवा समझकर पालन किया जाय, तो उसी साधन से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, भगवत् साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की, कि लोकसंग्रह की दृष्टि से पूर्णज्ञान हो जाने पर भी कर्म करते रहना तो ठीक है, किन्तु कर्म ऐसा मृदु, दूसरों को संताप न देने वाला, अहिंसक तथा अधिक श्रमकारक न होना चाहिये। इसलिये हम एकान्त में बैठकर मंत्रानुष्ठान रूपी कर्म करें, जप करें, कापोती वृत्ति धारण करके कबूतर की भाँति एक-एक दाना चुनकर लावें। या शिलोंच्छ वृत्ति से निर्वाह करें, नहीं तो घर-घर से नित्य भिक्षा वृत्ति से ही निर्वाह करें। जिस युद्ध में असंख्यों जीवों का वध हो, ऐसे क्रूर कर्म को क्यों करें? रागद्वेष त्यागकर मुनिवृत्ति धारण कर लें।"

इस पर भगवान् ने कहा—"देखो भैया, संसार में इतने काम निन्दनीय हैं—श्रद्धाहीनता, असूया या डाह, चित्त की दुष्टता, मूढ़ता, प्रकृति के वशवर्ती होना, पुष्कल रागद्वेष और परधर्म में रुचि रखना।"

अर्जुन ने पूछा—परधर्म क्या?

भगवान् ने कहा—"जिस वर्ण के लिये जिस आश्रम के लिये जो कर्म विहित है, उसी का नाम तो स्वधर्म है और जो इसके विपरीत अपने वर्ण आश्रम के विरुद्ध वृत्ति को स्वीकार कर लेना परधर्म है। वंश परम्परा से जिस कार्य के द्वारा अपनी आजीविका चलाते आये हो, उसी को करते रहो, इससे समाज की स्थिति सुदृढ़ बनी रहेगी, किन्तु जो अपने पैतृक धन्धे को त्यागकर इधर-उधर भटकते फिरेंगे, तो इससे तो समाज में कर्म संकरता बढ़ेगी। कृषक का लड़का खेती ही करे धोबी का बच्चा कपड़े ही

धोवे। जब सब अपने-अपने धर्म कर्म में लगे रहेंगे तो सभी सुखी रहेंगे।"

अर्जुन ने पूछा—"अपनी वंश परम्परा का काम कुछ हेय हो, छोटा हो, अंग हीन हो तो उसे छोड़कर कोई दूसरा साङ्गोपाङ्ग कर्म स्वीकार करले तो इससे क्या दोष लगेगा ?"

भगवान् ने कहा—जिसे तुम हेय कर्म समझते हो, आखिर उसे भी तो कोई करेगा ही जब समाज में सब कामो को सभी नहीं कर सकते। अच्छा बुरा सभी काम किसी न किसी को करना ही है, तो सुविधा तो इसी में है, कि जो जिसका वंश परम्रा से कार्य चला आ रहा है, उसे विगुण होने पर भी न छोड़े और दूसरों का कर्म चाहे गुण सहित सुन्दर भी हो, तो ग्रहण न करे। केवल चोरी और प्रत्यक्ष हिंसा के कार्य वंशपरम्परा के भी चाहें तो छोड़े जा सकते हैं।

अर्जुन ने पूछा—स्वधर्म के ही लिये इतना आग्रह क्यों है ?

भगवान् ने कहा—इसलिये उस कर्म के संस्कार वंशानुगत हैं। एक व्यक्ति न्यायाधीश है, न्याय करके वेतन से निर्वाह करता है, दूसरा है, मिट्टी के वर्तन बनाकर, घास खोद कर, कपड़े धोकर, कपड़े सी कर निर्वाह करता है। दोनों का निर्वाह ही तो होता है, धर्मवृत्ति रखना दूसरी बात है। एक व्यक्ति मांस बेचते हुए भी पूर्ण धार्मिक रह सकता है, दूसरा यज्ञयाग शुभ कर्मों को करते हुए भी अधार्मिक हो सकता है। रागद्वेष के अधीन होकर जो कर्म करते हैं, ऊपर से कार्य अच्छा भी क्यों न प्रतीत हो, वह अधम ही करता है और रागद्वेष से रहित होकर फिर चाहे मांस बेचने का निन्दित कर्म ही क्यों न हो, उससे भी परमार्थ की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये दूसरों के गुण सहित धर्म से अपना गुण रहित धर्म भी उत्तम है। स्वधर्म का पालन करते-करते मर जाना भी

श्रेष्ठ है, फिर भी परधर्म को स्वीकार न करे, क्योंकि परधर्म भय का देने वाला है। वास्तव में ये कामनायें ही तो हमें कर्मों में प्रवृत्त करती हैं।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! बहुत से ऐसे कार्य हैं, जिन्हें हम करना नहीं चाहते। उन्हें करने को हमारी इच्छा नहीं होती, फिर भी जाने कौन-सी अव्यक्त शक्ति हमें बलात् प्रेरित करके हमसे उन कार्यों को करवा लेती है। जिस काम को हम शास्त्रीय समझते है जिसके करने से इस लोक में परलोक में सुख बताया गया है, उसे इच्छा रहने पर भी हम कर नहीं सकते। उस शक्ति का नाम बताइये जो हमें हठ पूर्वक—इच्छा न रहने पर—भी पाप कर्मों में प्रवृत करती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् ने जो इसका युक्तियुक्त उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आप से आगे करूंगा। आप सावधानी के साथ इस परम पावन प्रकरण को श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

अरजुन पूछें फेरि—नाथ! इक बात बताओ।
पाप करम ज्यौं करै मनुज जाकूँ समुझाओ॥
मन में इच्छा नाहिँ फेरि हू हठवश कोई।
मानों प्रेरित करै लगावै बरबस सोई॥
प्रवृत कौन ताकूँ करै, पाप करम ज्यौं करतु है।
जानि बूझि सब बात कूँ, कूआ में ज्यौं परतु है॥

हत्या की जड़ काम ही है

[१९]

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥*

(श्री भग०गी० ३ अ० ३७, ३८ श्लो०)

छप्पय

हँसि बोले भगवान्—काम ही है रिपु भारी ।
काम रूप बहु धरै बिगारै बुद्धि हमारी ॥
काम क्रोध बनि जाय रजोगुन के ये सुत हैं ।
लम्बोदर है बड़े करें नित अति भोजन हैं ॥
काम बड़ो पापी प्रबल, क्रोध सहित सिर पै खड़ो ।
करम करावै हठ सहित, है यह खल वैरी बड़ो ॥

श्री भगवान् ने कहा—हे महाबाहो ! वह काम है, यही क्रोध है । यह रजोगुण से उत्पन्न होता है, बहुत खाने वाला है; यह बड़ा पापी है, तू इसे ही इस सम्बन्ध मे शत्रु समझ ॥३७॥

जैसे धुएँ से अग्नि तथा मैल से दर्पण ढका रहता है और जरा से गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार काम के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है ॥३८॥

यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। तीनों गुण न हों तो यह सृष्टि ही न चले। तीनों गुण परस्पर में मिले-जुले रहते हैं। ब्रह्माजी जैसी-जैसी इच्छा करते गये, वैसी-वैसी सृष्टि बनती गयी। जिस समय उन्होंने जैसा संकल्प किया वैसी ही आकृति बन गयी। सृष्टि संकल्पमय है। कामनामय है। केवल सत्वगुण से, भी सृष्टि नहीं होती और न केवल रजोगुण या तमोगुण से। किन्तु जो गुण प्रधान होता है, वैसी ही सृष्टि कहाती है, जैसे सत्वगुण वाले जीव रजोगुणी जीव तमोगुणी जीव आदि-आदि। इसीलिये जहाँ धर्म, की उत्पत्ति ब्रह्माजी से है, वहीं अधर्म भी ब्रह्माजी का ही पुत्र है।

रजोगुण से उत्पन्न जो कामना है, वही संसारचक्र को दृढ़तर बनाती है। सत्वगुण की जो कामना है वह संसार बन्धन को ढीला करती है। अतः रजोगुण समुद्भूत कामना का ही निग्रह करना यही पुरुषार्थ है, साधक के लिये यही आदेश है, कि इसके ऊपर वह विजय प्राप्त करे। जीवात्मा जैसा-जैसा ध्यान करता है, वैसी-वैसी ही उस ध्येय विषय में आसक्ति बढ़ती जाती है, उसके प्रति अधिकाधिक लगाव होता जाता है। फिर उस विषय को प्राप्त करने की चाह, इच्छा, वासना अथवा कामना होती है। कामना ही दुःख का कारण है। कामना के अधीन हुआ प्राणी सभी अनर्थ कर सकता है। बलवती कामना विवेक को अपने पास भी फटकने नहीं देती। वह अविवेक को निमन्त्रित करती है। कामना अनेक रूपवाली है, जब वह पुरुष रूप में प्रकट होती है तब उसका नाम "काम" पड़ जाता है, स्त्री रूप में कामना, वासना-इच्छा कहलाती है। जीवात्मा जब कामना करता है मेरे स्त्री हो तो वह स्त्री वाला बन जाता है, जब कामना करता है मैं पुत्रवान्, धनवान्, ऐश्वर्यवान् बन जाऊं तब तैसा बन जाता है। संसारी

कामना करते-करते वह अपने अविवेक को खोकर सर्वज्ञान विमूढ़ात्मा बन जाता है, अपने को ही कर्ता मानकर अनर्थ की सृष्टि करने लगता है।

भगवान् ने इस अनर्थ के क्रम को पीछे बहुत विस्तार से बताया। पहिले पुरुष विषयों का ध्यान करता है। उससे "संग" उत्पन्न होता है। 'संग' से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, संमोह से स्मृतिविभ्रम। फिर भगवान् ने इन सबसे बचे रहने का भी उपदेश दिया। अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है, कि इन इतने अनर्थों की जड़ कौन है। चोर तो बहुत से हैं, उन्हें कहाँ-कहाँ मारते फिरेंगे। यदि कहीं चोर की माँ का पता चल जाय, तो पहिले उसी को मार दें, जिससे चोर उत्पन्न ही न हों। महर्षि भृगु की पत्नी असुरों को प्रसूय देती थी। असुर देवताओं का अनर्थ करके भृगु पत्नी के पास छिप जाते, भगवान् ने उस भृगु पत्नी को ही मार डाला। इसी प्रकार सब अनर्थों के मूल कारण का पता चल जाता तो उसी से जूझते। इसीलिये अर्जुन ने पूछा—"हमें इच्छा न रहने पर भी ऐसी कौन-सी शक्ति है जो बलात् पापों में लगा देती है। अब उसी का उत्तर सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह पूछा कि हमें बलात् पापों में कौन प्रवृत्त करता है, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—"अर्जुन! जो हमें बलात् पापकर्मों में प्रवृत्त कराता है उसका नाम "काम" है।

अर्जुन ने पूछा—"काम किसे कहते हैं भगवन्!

भगवान् ने कहा—"संसारी भोगों को भोगने की इच्छा का नाम काम है। भोगों में सुख बुद्धि हो जाने पर उनके अधिकाधिक भोग से हमें अधिक से अधिक सुख मिले ऐसी कामना करने का ही नाम काम है।

अर्जुन ने पूछा—"मान लो, जो कामना करता है, उसकी पूर्ति नहीं होती, या उसकी प्राप्ति में कोई विघ्न डालता है, तब काम का क्या स्वरूप होता है।

भगवान् ने कहा—"कामना, वासना या इच्छा की पूर्ति नहीं होती है और अपने को समर्थ समझता है, तब वही काम 'क्रोध' का रूप धारण कर लेता है। जैसे रस ही जमकर गुड़ बन जाता है, जैसे दूध ही जमकर दही बन जाता है, वैसे ही इच्छा पूर्ति न होने पर काम ही क्रोध बन जाता है। दोनों एक ही है सगे भाई समझो या पिता पुत्र समझो वैसे मूल पुरुष तो काम ही है, किन्तु उसका परिवार बहुत बड़ा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, माया, शठता, हिंसा, कलह दुरुक्ति, भय आदि इसी काम के वंशज हैं। जैसे दूध से दही, मक्खन, मट्ठा, घृत, रबड़ी, खोया आदि बन जाते हैं, किन्तु सबका मूल कारण तो दूध ही है। दूध न हो तो इनमें से एक भी वस्तु न बने। इसी प्रकार काम न हो, तो उसका परिवार भी न बढ़ेगा।

अर्जुन ने पूछा—"इसके नाती पोते पर पोते तो बहुत हैं, यह भी तो किसी का पुत्र होगा यह किससे उत्पन्न हुआ है?

भगवान् ने कहा—"इसके बाप का नाम है रजोगुण, तमोगुण भी चाचा है, किन्तु उत्पन्न यह रजोगुण से ही होता है।

अर्जुन ने कहा—"इस काम का आहार क्या है? कितना खाता है?"

भगवान् ने कहा—"इसके खाने पीने की बात मत पूछो। संसार में ऐसा कोई ही पदार्थ होगा, जिसे यह खा न जाता हो। कितना खाता है, इसका कोई प्रमाण नहीं। यह इतना भारी पेटू है, कि कितना भी खा ले, इसका कभी पेट ही नहीं भरता। बस, कहना तो यह जानता ही नहीं। पर्याप्त है, अब नहीं चाहिये। ये शब्द इसके कोष में ही नहीं हैं।"

अर्जुन ने कहा—इसका स्वरूप है क्या ?

भगवान् ने कहा—पाप ही इसका स्वरूप है। अधर्म ही आधार है।

अर्जुन ने कहा—इस काम से मैत्री कर लें तो कैसा रहेगा ? तब तो यह क्लेश न देगा ?

भगवान् ने कहा—कदापि नहीं, सर्वथा नहीं, इससे मित्रता न करना। इसे तुम इस संसार में अपना सबसे बड़ा शत्रु ही समझो। इस पापी से तो दूर ही रहना अच्छा है।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! यह काम दिखायी तो देता नहीं। फिर इसे हम कैसे जानें ?

भगवान् ने कहा—जो वस्तु आँख से दीखे उसी को तुम मानोगे ? अपनी आख अपनी ही आँखों से नही दीखतीं तो क्या यह कह दोगे, कि आँखें नहीं। अपनी पीठ नहीं दिखायी देती। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं दीखती उसका अनुमान लगाया जाता है, दूर से अग्नि दीखती नहीं, केवल धुँआ दिखायी देता है। धूँए ने अग्नि को ढक रखा है, तो अनुमान लगा लेंगे कि जहाँ-जहाँ धूँआ है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी चाहे अग्नि दिखायी न दे किन्तु धूँए से ढकी रहने पर भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है। कामना पूर्वक की हुई क्रियाओं से 'काम' प्रत्यक्ष-सा दिखायी देता है। उसके कारण ज्ञान दब जाता है।

अर्जुन ने कहा—"अग्नि से ही धूँआ उत्पन्न होता है, इससे उसका अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु धूँआ से ढकी अग्नि अपना कार्य–दाहकता–से पृथक् तो नहीं हो जाती। अपना कार्य तो करती ही रहती है ? इसी प्रकार काम से ढकने पर भीतर ज्ञान अपना प्रकाश तो फैलता ही रहता होगा ?"

भगवान् ने कहा—दृष्टान्त का सर्वांश नहीं लिया जाता, जितने से प्रयोजन होता है, उतना ही लिया जाता है, यहाँ अग्नि के ढकने से ही प्रयोजन है। धूँआ अग्नि को प्रकट नहीं होने देता।

अच्छा दूसरा दृष्टान्त लो। जैसे दर्पण है स्वच्छ रहता है, तो उसमें प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, उसके ऊपर धूल जम गयी तो उसमें कुछ भी नहीं दीखता। इसी प्रकार जीव तो चैतन्यांश है। जब इस पर काम की धूलि जम जाती है, तब उसमें कुछ भी नहीं दीखता कोई भी देखने की क्रिया नहीं होती।

अर्जुन ने कहा—यद्यपि धूलि ढके दर्पण में कुछ भी नहीं दीखता, किन्तु उसकी धूलि को स्वच्छ कर दो, तो फिर सब कुछ दीखने लगता है, पुनः अपनी क्रिया करने लगता है।

भगवान् ने कहा—हाँ ठीक है, इसी प्रकार काम रूपी अज्ञान के हट जाने पर जीव को ज्ञान का प्रकाश दिखायी देने लगता है। अच्छा देखो जैसे जीव है, वह जेर से झिल्ली से लिपटा रहता है, तो न तो स्वयं क्रिया ही कर सकता है, न दीखता ही है। झिल्ली के फट जाने पर उससे पृथक् होने पर उसका प्रकाश प्रतीत होने लगता है। सो भैया, जैसे धूंए से अग्नि ढकी रहती है, मैल से दर्पण ढका रहता है और गर्भ की झिल्ली से गर्भ गत बालक ढका रहता है, उसी प्रकार यह काम से ढका रहता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् इस दृष्टान्त को और भी स्पष्ट करेंगे, तथा काम कहाँ रहता है, उसके अधिष्ठान को बतायेंगे, इसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

ज्ञान सदा परकाश नहीं तमतैं घबरावै।
ताहि ढकै कछु काल घटाघन ऊपर आवै॥
धूआँ तैं ज्यों अगिनि दिखाई देवै नाहीं।
दरपन में ज्यों मैल दिखै नहिं मुख तिहिं माहीं॥
गरभ ढक्यों ज्यों जेर तैं, नहिं इत उत तातैं हिलै।
करम ढकै त्यों ज्ञान कूँ, कहौ मोक्ष कैसे मिलै॥

काम के कार्य और अधिष्ठान

[२०]

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ०, ३९, ४० श्लोक)

छप्पय

काम करावै करम न करिबो तोऊ चायें।
भोगनि देहि भुगाइ करन मन सँग मिलि जायें॥
सबई ज्ञान भुलाइ बिषय इन्द्रीनि मिलावै।
प्रानी ह्वैकें अवश विवश बनि कें फँसि जावै॥
काम अगिनि खावै बहुत, तृप्त न कबहूँ होत जो।
ज्ञानिनि को बैरी बढ़ो, ढकै ज्ञान की जोति जो॥

जो अपना प्रबल शत्रु हो और जिस पर विजय करनी हो उसे मारना हो, तो उसके सम्बन्ध में दो बातें जान लेनी आवश्यक हैं। एक तो यह कि वह कार्य क्या करता है और दूसरे यह कि वह रहता कहाँ है। कहाँ रहकर वह अपना कार्य करता है। रहने के

---

* हे कौन्तेय ! इस अग्नि के सदृश कभी भी पूर्ण न होने वाले, ज्ञानियों के भी शत्रु रूप इस काम के द्वारा ज्ञान ढका रहता है ॥३९॥

इस काम के इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अधिष्ठान बताये हैं, यह इनके द्वारा ही ज्ञान को ढकता है तथा जीवात्मा को मोहित करता है ॥४०॥

स्थान को गृह, देह, शरीर या अधिष्ठान, अथवा वास स्थान कहते हैं। जिसके रहने के स्थान का पता नहीं चलता, उसे जीतना कठिन हो जाता है।

त्रिपुर निवासी असुर देवताओं को मारकर अपने पुर में घुस जाते थे, और सोने, चाँदी तथा लोहे के बने तीनों पुरों में सदा घूमते रहते थे। वे कहाँ रहते हैं, कहाँ से आक्रमण करते हैं, इसका किसी को पता ही नहीं लगता था। उनके निवास स्थान का-अधिष्ठान का-किसी को ज्ञान ही नहीं था। देवताओं ने शिवजी से प्रार्थना की। शिवजी ने सर्वप्रथम आकाश में उड़ते रहने वाले उनके तीनों पुरों का पता लगाया और तब उन पर आक्रमण किया। किन्तु शिवजी को आश्चर्य तब हुआ, जब उन्होंने देखा, जिन असुरों को मैं अभी-अभी मार चुका हूँ, थोड़ी देर पश्चात् वे जीवित होकर पुनः लड़ने आ गये हैं। वे मृतक असुरों को उठा ले जाते और अपने पुर में ले जाकर न जाने क्या कार्य करते कि वे पुनः जीवित होकर-युद्ध करने आजाते। इसलिये इस बात का पता लगाना भी अत्यावश्यक था, कि वे अपने अधिष्ठान में-वासस्थान में-कार्य क्या करते हैं। पता लगाते-लगाते यह प्रतीत हुआ, कि मायासुर निर्मित उस पुर में एक अमृत कुण्ड है। मृतक असुरों को उसमें लाकर डाल देते हैं उसमें गोता लगाते ही वे जीवित हो उठते हैं। तब मायावी भगवान् विष्णु ने गौ का रूप धारण किया, ब्रह्माजी को बछड़ा बना लिया। सवत्सा प्यासी गौ उस पुर में घुस गयी और असुरों के देखते-देखते अमृत कुण्ड के समस्त अमृत को पान कर गयी इसी प्रकार-शत्रुघ्नजी-जब मधु-असुर-के-पुत्र-लवणासुर-को-मारने गये, तो पहिले उसके निवास का पता लगा लिया। उसके पास एक ऐसा त्रिशूल था, कि उसे जब वह हाथ में ले लेता था, तो संसार में उसे कोई जीत नहीं सकता था। वह एक स्थान में उसे

रखकर उसकी पूजा करता, और उसे वहीं रखकर आखेट करने जाता। शत्रुघ्नजी ने उस त्रिशूल के स्थान का पता लगा लिया और उसके द्वार पर धनुष बाण धारण करके बैठ गये। असुर जब आया तो उसे त्रिशूल लेने भीतर नहीं घुसने दिया। भगवान् रामचन्द्रजी के दिये हुए बाण से उन्होंने असुर को मारकर उस पर विजय प्राप्त कर ली और माथुर शूरसेन प्रान्तों के राजा बन गये। इसलिये जिस पर विजय प्राप्त करनी हो, उसके अधिष्ठान का पता प्रथम लगा लेना चाहिये और यह भी जान लेना चाहिये कि वह करता क्या है। प्राणियों का सबसे बड़ा शत्रु परम पराक्रमी प्रबल वैरी काम ही है। हमें काम पर त्रिपुरारी शिव की भाँति विजय पानी है, तो उसके कार्य तथा अधिष्ठान के सम्बन्ध में जानकारी अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिये।

सूतजी कहते है—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को बता रहे है—"अर्जुन! जैसे धुएँ से अग्नि, मैल से दर्पण और जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही इस अनल के सदृश काम रूप शत्रु से ज्ञान ढका रहता है। ज्ञान को दबाये रखना ही इसका कार्य है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! काम को अनल की उपमा आप क्यों दे रहे है?"

भगवान् ने कहा—"अनल का अर्थ है, जिसका अलं-पर्याप्ति-न हो उसे अनल कहते है। जो खाते-खाते अलं—बस—न करे। आयुर्वेद शास्त्र में एक भस्मक रोग होता है, उस रोग का रोगी कितना भी खाता जाय उसका उसका पेट नहीं भरता। वह यह नहीं कहता कि बस, अब मुझे नहीं चाहिये। अग्नि का भी यही स्वभाव है, प्रज्वलित अग्नि में चाहे जितना घृत, अन्न साकल्य, ईंधन डालते जाओ। जितना डालते जाओगे उतने ही पदार्थों को अग्नि जलाती जावेगी। वह मना नहीं करेगी कि अब मेरा पेट भर गया, अब मुझे नहीं चाहिये। इसीलिये उसका दूसरा विशे-

पण है दुष्पूर। अर्थात् जो खाते-खाते कभी तृप्त न हो, सदा अतृप्त ही बना रहे, जितना मिलता जाय उतना ही अधिक और खाने की इच्छा बढ़ती जाय। यह कामवासना-भोगों की इच्छा भी ऐसी ही है यह कामवासना कभी तृप्त नहीं होती।

अर्जुन ने कहा—"भोग से तो तृप्त हो ही जाती होगी, जिस विषय के भोग की इच्छा हुई, वह भोग्य पदार्थ मिल गया तो भोगेच्छा तो शान्त हो ही जाती होगी?"

भगवान् ने कहा—"भोगने से भोगों की इच्छा शांत नहीं होती। महाराज ययाति देवयानी के साथ भोग भोगते हुए अतृप्त बने रहे, तभी तक उनको वृद्धावस्था ने आ दबाया। तब शुक्राचार्य की कृपा से वे अपनी वृद्धावस्था को अपने छोटे पुत्र पुरु को देकर उसकी युवावस्था लेकर फिर विषय भोगों को सहस्रों वर्षों तक भोगते रहे, किन्तु इतने दिन काम भोगों को भोगते-भोगते भी उनकी तृप्ति नहीं हुई, अपितु भोगेच्छा अधिकाधिक बढ़ती ही गयी, तब उन्हें भोगों से वैराग्य हुआ और अन्त में उन्होंने यह गाथा गायी—"पृथ्वी भर के चावल जौ आदि जितने धान्य हैं, सुवर्ण आदि धन हैं गौ, घोडा, हाथी आदि पशु हैं, भोगने योग्य स्त्रियाँ हैं, ये सबकी सब एक ही व्यक्ति को दे दी जायँ, तो संसार की ये समस्त भोग वस्तुएँ एक पुरुष के मन को भी सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकती। जो काम के प्रहार से जर्जरित हो गया है, विषय भोग की सामग्री उसे कदापि तृप्त नहीं कर सकती। विषयों के भोगने से भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती। अपितु भोगने से तो वह और भी अधिकाधिक भड़कती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने से उसकी लपटें और ऊँची उठती जाती हैं। विषयों की तृष्णा ही दुःखों का उद्गम स्थान है। मन्दबुद्धि लोग अत्यन्त ही कठिनाई से उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है, किन्तु तृष्णा नित्य नवीन ही होती

जाती है, अतः जो अपना कल्याण चाहता हो उसे शीघ्रातिशीघ्र तृष्णाका–कामवासनाका–भोगेच्छा का त्याग कर देना चाहिये।" इस गाथा को गाकर महाराज ययाति वैराग्य धारण करके–पुत्र को उसकी युवावस्था देकर भोगवासनाओं से निवृत्त हो गये। इसीलिये मैंने कामरूप वासना को हे मेरी बूआ के पुत्र! दुष्पूर अनल की–कभी तृप्त न होने वाली अग्नि की–उपमा दी।

अर्जुन ने पूछा—"यह काम करता क्या है? कौन सा जादू करता है?"

भगवान् ने कहा—यह काम ज्ञान को ढक लेता है।

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान क्या?

भगवान् ने कहा—"जिसके द्वारा यथार्थ वस्तु को जाना जाय, उसी का नाम ज्ञान है।"

अर्जुन ने कहा—ज्ञान को यह काम ढक कैसे लेता है।

भगवान् ने कहा—जैसे कुहरा सूर्य को ढक लेता है।

अर्जुन ने पूछा—तब प्रभो! यह काम कामी लोगों के ही ज्ञान को ढकता होगा, क्योंकि कामी लोग तो कामोपभोग के समय उसमें सुखानुभूति करते हैं। ज्ञानी को इसकी चिन्ता न करनी चाहिये?

भगवान् ने कहा—"ऐसी बात नहीं है, यह काम कामी अज्ञानी पुरुषों का भले ही कुछ काल को मित्र सा प्रतीत होता भी हो, किन्तु ज्ञानियों का तो यह नित्य वैरी है। ज्ञानी पुरुष तो भोग के समय भी सुखानुभूति नहीं करता, वह अनुभव करता है, कि ये भोग अनित्य है, क्षणभंगुर है, इन्हीं के द्वारा मैं संसार में फँसा हूँ। अतः ज्ञानी भोग काल में और भोग के अन्त में भी इस काम से दुःख का ही अनुभव करता है अतः यह काम ज्ञानियों का तो नित्य ही वैरी है। उनके साथ तो इसका मैत्री व्यवहार कभी सम्भव ही नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—"महाराज, यह काम रूप शत्रु रहता कहाँ है? इसके रहने के स्थान कौन-कौन से हैं?"

भगवान् ने कहा—यह तुमने बहुत सुंदर प्रश्न किया, शत्रु के अधिष्ठान का पता लग जाने से वह अत्यन्त ही सुगमता से

जीता जा सकता है। यह काम रूप शत्रु इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन्ही स्थानों में रहता है।

अर्जुन ने पूछा—"इन्द्रियों में कैसे रहता है?"

भगवान् ने कहा—"देखो, श्रोत, त्वक, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय हैं। यह काम इन विषयों में इन्द्रियों की भोगेच्छा-सुखानभूति उत्पन्न करके देहाभिमानी जीव को मोहित कर लेता है। वैसे ही कर्मेन्द्रियों के वचन, ग्रहण, गमन, त्याग और आनन्द द्वारा भी।"

अर्जुन ने पूछा—मन बुद्धि में कैसे रहता है?

भगवान् ने कहा—जैसे इन्द्रियाँ इसकी अधिष्ठान हैं वैसे ही मन बुद्धि भी। संकल्प विकल्पादि लक्षण वाला मन होता है, निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। काम मन बुद्धि में घुसकर जीव को मोह में डाल लेता है।

अर्जुन ने पूछा—"इसमें प्रधान अधिष्ठान कौन हुआ।"

भगवान् ने कहा—"प्रधान तो मन ही है। मन जैसे-जैसे इन्द्रियों को प्रेरित करता है वैसे-वैसे वे भोगों में प्रवृत्त होती है। किन्तु मन स्वयं भोग भोगने में असमर्थ है। क्योंकि 'मन' शब्द नपुंसक लिंग है। जब तक इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त न होंगी। मन कुछ कर ही नहीं सकता। इस कारण प्रधानता इन्द्रियों की ही है।

अर्जुन ने पूछा—"तब हम पहले किसका नियमन करें?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

रहै कहाँ जिह काम? सकल इन्द्रिनि के माहीं।
कर्मेन्द्रिय या ज्ञान उभय कूँ छोड़त नाहीं॥
वास करै मन बुद्धि जाइकें इन्हे बिगारै।
प्रेरित भोगानि करै अगिनि महँ घृत सम डारै॥
इन्द्रिय मन अरु बुद्धि तें, ढकत रहत है ज्ञान कूँ।
जीवात्मा मोहित करै, प्रेरित करि अज्ञान कूँ॥

॥ श्री हरिः ॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) से प्रकाशित

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित

पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

हिन्दुत्व की रक्षा के निमित्त प्रत्येक हिन्दु के लिये
नित्य अवश्य पालनीय चार नियम

१. *शिखाधारण*—प्रत्येक हिन्दु को सिर पर शिखा अवश्य रखनी चाहिये।

२. *प्रात स्मरण*—प्रातःकाल उठकर अपनी निष्ठा के अनुसार भगवान् के किन्हीं नामों का स्मरण अवश्य करना चाहिये।

३. देवदर्शन—नित्य नियम से आस-पास के किसी देवालय या मन्दिर में—दिन में एक बार—किसी भी समय देवता को प्रणाम अवश्य करना चाहिये।

४. *धर्मग्रन्थ पाठ*—किसी भी धार्मिक ग्रंथ का एक श्लोक अथवा एक छंद ही नित्य नियम से पाठ अवश्य करें अथवा सुने ही।

इससे अधिक जितना भी धार्मिक कृत्य करें, उतना ही उत्तम है।

"अधिकस्याधिकंफलम्"

१. भागवती कथा (१०८ खंडों में)—अब तक ७० खण्ड छप चुके हैं। प्रत्येक खंड की न्योछावर १ रु० ६५ पैसे।

श्रीमद्भागवत को उपलक्ष्य बनाकर इसमें अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रों का सार सरल, सुगम, सरस भाषा में वर्णित हैं। पढ़ते-पढ़ते आपकी तृप्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा अपने आप ही पढ़ने लगेंगे। सर्वथा औपन्यासिक शैली मे लिखी है, भाषा इतनी सरल ओज पूर्ण है कि थोड़े पढ़े बालक मातायें तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। अध्याय के आरम्भ में एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छप्पय, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका। तदनन्तर प्रतिपादित विषय, दृष्टान्त और सरल कथाओं तथा कथोपकथन के रूप में वर्णित है, अन्त मे एक छप्पय देकर अध्याय की समाप्ति की है। प्रत्येक खंड में १५-२० अध्याय होते हैं, लगभग २५० पृष्ठो का एक खंड होता है। प्रत्येक खंड का मूल्य १) रुपया ६५ पैसे। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत सी जिला परिषदो के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है। ६८ खंडों में तो श्रीमद्भागवत के आधार पर विवेचन है ६९ वें खंड से गीतावार्ता नाम से श्रीमद्भगवत्-गीता का विवेचन हो रहा है। २०) भेजकर स्थायी ग्राहक बनें। वर्ष के १२ खंड आपको घर बैठे रजिस्ट्री से मिल जाया करेंगे।

६० खंडों में तो कथा भाग समाप्त हो गया है। शेष खंडों में से प्रत्येक में किसी एक विषय का विवेचन होता है। सभी खंड प्रायः स्वतन्त्र हैं। विद्वानों नेताओं तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हमारा बड़ा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर बहुत से विद्वानों की सम्मतियाँ पढ़ें। यह ग्रन्थ किसी का अक्षरशः अनुवाद नहीं स्वतन्त्र विवेचन है। हम यहाँ ७० वें खंड पर केवल एक सम्मति राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक श्री गुरुजी की ही देते हैं—

पता—सकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक
परम पूज्य श्री माधव सदाशिव गोलवलकर
(श्री गुरुजी)
की

भागवती कथा

पर

शुभ-सम्मति

लगभग एक वर्ष पूर्व की बात है। श्री बदरीनारायण क्षेत्र में श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज ने, सकीर्तन भवन का निर्माण कराया था और उसका उद्घाटन मैंने ही करना चाहिए, ऐसी उनकी इच्छा थी। श्री महाराज जी की इच्छा को आदेश मानकर मैंने श्री बदरीनाथ की यात्रा करने का निश्चय किया। सोचा कि वर्षों की उत्कट इच्छा पूर्ण करने के लिए परम कृपालु श्री बदरीनाथ ने ही यह संयोग बनवाया और अपने अन्तरग भक्त श्री ब्रह्मचारी जी महाराज को मुझे भवन के उद्घाटन करने के हेतु निमन्त्रित करने की प्रेरणा दी होगी। इस कार्यक्रम का निमित्त बनाकर मुझ पर श्री भगवान् ने दया कर, मुझे अपने पास खीचकर ले जाने का मेरे लिए भाग्य का सुयोग्य प्राप्त कर दिया। अकारण करुणा करने का यह पवित्र खेल, खेल कर मुझपर अपना वरदहस्त मानो रख दिया।

श्री महाराज जी की सन्निधि में यात्रा करने के आनन्द का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। श्री बदरीनाथ पहुँच कर पाँच रात्रि वहाँ भगवद्चरणों में रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ। और श्री महाराज जी के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत के कुछ अंश का विवरण सुनने का असीम सुख प्राप्त कर सका। भगवान् श्री कृष्ण जी के मथुरा चले जाने के कारण, शोक विह्वल गोप गोपियों और विशेष कर नन्द बाबा और यशोदा मैया की भाव विभोर अवस्था का, उनके द्वारा किया हुआ वर्णन पत्थर को भी पिघला सकने वाला कारुण्य रस का उत्कट

आविष्कार था। उनको सांत्वना देने के लिए श्री भगवान् के द्वारा प्रेषित उद्धव जी के आगमन पर गोप, गोपी, यशोदा माई, आदि की स्थिति, उनकी भावनाएँ, उनका उद्धव जी के साथ हुआ संभाषण श्री ब्रह्मचारी जी के श्री मुख से सुनते-सुनते मन एक सुखद वेदना का अनुभव कर द्रवित हो जाता था। इस अनुभव का वर्णन किस प्रकार करूँ ?

यह मंगल अनुभव सब लोगों को प्राप्त होना कितना अच्छा होगा ऐसा विचार मन में उठता रहा, और इसका समाधान भी प्राप्त हुआ है। पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी ने अपनी मधुर भावनी भाषा मे श्री मद् भागवत को सरल हिन्दी में प्रसिद्ध करने का सकल्प किया था और उसके अनेक खंड प्रकाशित भी हो चुके थे इसका पुनः स्मरण हुआ जब श्रद्धेय श्री महाराज जी का कृपा पत्र मुझे प्राप्त हुआ कि श्री मद्भागवती कथा लेखन का कार्य जो बीच में रुक-सा गया था, उन्होने फिर करना प्रारम्भ कर दिया है और अब ७० वाँ खण्ड छप रहा है। श्री महाराज जी ने उसकी प्रस्तावना के रूप में मुझे कुछ लिखने का आदेश दिया। मुझे मेरी अयोग्यता का कुछ ज्ञान तो अवश्य है। अतः मैं निश्चय नहीं कर सका कि मुझे क्या करना उचित होगा। किन्तु श्री महाराज जी का आग्रहपूर्ण और एक पत्र आने पर यह धृष्टता करने बैठा हूँ।

इसमें मेरा एक ही काम है। सब बन्धुओ से माताओं से मैं नम्रता पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि श्री ब्रह्मचारी जी की यह "श्रीमद्भागवती कथा" अपने पास रखें, उसका अध्ययन मनन करें। मूल श्री भागवत महापुराण समझना सबके लिए संभव नही है। पंडितो की विद्वता की "भागवते परीक्षा" होती है, यानी जो श्रीमद्भागवत रहस्य समझ सके वही विद्वान्, वही पंडित कहलाने योग्य माना जा सकता है, ऐसा परम्परा से अपने यहाँ विश्वास है। श्रीमद्भागवत की रहस्य की गूढ़ता इससे अभिव्यक्त होती है। जहाँ पंडितों की बुद्धि कुंठित होती है वहाँ सामान्य श्रद्धालु वाचक की क्या स्थिति होगी यह समझना सरल है। फिर आज कल देववाणी संस्कृत के अध्ययन की उपेक्षा होने के कारण और भी

कठिनाई उत्पन्न हुई है। ऐसे सब बन्धु क्या श्रीमद्भागवत को समझने से वंचित ही रहे? यह होना उचित नहीं। श्रीमद्भागवत तो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के परिपाक पर उत्पन्न होने वाली अद्वैत भक्ति का आधार है। श्री भगवान् की वह शब्दवपु ही है। उसके ज्ञान से वंचित रहने के समान मनुष्य का अन्य दुर्भाग्य हो नहीं सकता। इस दुर्भाग्य से रक्षण कर सर्वसामान्य मनुष्य को श्रीमद्भागवत का रहस्य सुगम भाषा में बनाना, श्रीमद्भागवत में अभिव्यक्त ज्ञान भगवत्स्वरूप तथा विशुद्ध पराभक्ति का बोध सब को अपनी बोली के माध्यम से प्राप्त कर देना आवश्यक है। और यह केवल सूक्ष्म भाषानुवाद के रूप में न होकर उत्कट भक्ति भाव से होना आवश्यक है।

श्री ब्रह्मचारी जी भगवद्भक्ति में नित्य लीन रहते हैं। अतः उनके मुख से निकलने वाली सहजवाणी विशुद्ध भक्ति के मधुर रस से आर्द्र रहती है। ऐसी मृदु मधुर सरस भाषा में श्रीमद्भागवत महापुराण रहस्य सबको अवगत करा देने के लिए वे कृतसंकल्प हैं। अष्टोत्तरशत खण्डों में ग्रन्थ पूर्ण करने की उनकी योजना है। इसमें से यह ७० वाँ खंड है। शीघ्र ही शेष खंड भी प्रकाशित होंगे और सामान्य सीधे साधे भोले किन्तु भक्ति की चाह रखने वाले असंख्य श्रद्धालु बन्धुओं की अभिलाषा पूर्ण होगी ऐसा मुझे विश्वास है।

परम मंगल अकारण करुणामय दयाघन श्री भगवान् की असीम कृपा से उनकी साक्षात् मूर्ति ही श्रीभगवती कथा के शब्द देहको धारण कर प्रकट हो और संसार के तप्त जनों को शांति प्रदान करें इस हेतु उनके चरण कमलों में मैं विनम्र प्रार्थना करता हूँ।

केवल प्रस्ताविक के नाते अधिक लिखना मेरे लिए अशोभनीय होगा। वस्तुतः मेरा यह लिखना भी सामान्य छोटे से दीपक से सहस्र राशि सूर्य नारायण को प्रकाशित करने की चेष्टा के समान हास्यास्पद है। श्री महाराज जी की आज्ञा का पालन करना इसी एक उद्देश्य से यह धृष्टता की है, जिसके लिए सब श्रेष्ठ भक्त वाचक वृन्द से क्षमा-याचना करता हूँ।

—मा० स० गोलवलकर

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यों में)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दों मे लिखा है। सैकड़ों सादे चित्र ५-६ बहुरंगे चित्र हैं कपड़े की सुन्दर जिल्द है, लगभग हजार पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ६ रु० ५० पैसे, पाँच सस्करणो में अब तक २३ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं। बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालयो के लिये स्वीकृत है।

३. भागवत चरित (सटीक दो भागों में)—अनुवादक—पं० रामानुज पाडेय, बी० ए० विशारद "भागवत चरित व्यास" भागवत चरित की सरल हिन्दी में सुन्दर टीका है प्रथम खड छप चुका है। जिसमे १२२५ पृष्ठ हैं, मूल्य ८ रुपया। द्वितीय खंड शीघ्र ही छपने वाला है।

४. बद्रीनाथ दर्शन—श्रीबद्रीनाथ यात्रा पर यह बड़ा ही खोजपूर्ण ग्रन्थ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातो का तथा समस्त उत्तराखड के तीर्थों का इसमे वर्णन है। लगभग सवाचार सौ पृष्ठो की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपया। भारत सरकार द्वारा अहिन्दी प्रान्तो के लिये स्वीकृत है।

५. महात्मा कर्ण—महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण का यह अत्यन्त ही रोचक शिक्षाप्रद तथा आलोचनात्मक जीवन-चरित्र है। ३५६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ३ रु० ४५ पैसे।

६. मतवाली मीरा—मीराबाई के दिव्य जीवन की सजीव झाँकी तथा उनके पदों की रोचक भाषा में व्याख्या। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २ रु० ५० पैसे है। यह इसका छठा संस्करण है।

७. नाम संकीर्तन महिमा—नाम संकीर्तन के ऊपर जितनी भी शंकायें उठ सकती हैं उनका शास्त्रीय ढङ्ग से युक्तियुक्त विवेचन है। मूल्य ६० पैसे।

८. श्रीशुक (नाटक)—श्रीशुकदेव मुनि के जीवन की दिव्य झाँकी। पृष्ठ सं० १०० मूल्य ६५ पैसे।

९. भागवती कथा की बानगी—भागवती कथा के खडों के कुछ अध्याय बानगी के रूप में इसमे दिये गये हैं। इसे पढकर आप भागवती कथा की शैली समझ सकेंगे। पृष्ठ १०० मू० ३१ पैसे।

१०. शोक शान्ति—अपने प्रिय स्वजनो के परलोक प्रयाण पर सान्त्वना देने वाला मार्मिक पत्र। शोक संतप्तों को संजीवनी बूटी है। पृष्ठ ६४, मूल्य ३१ पैसे। पंचम संस्करण।

११. मेरे महामना मालवीयजी—महामना मालवीयजी के सुखद

संस्मरण। १३५ पृष्ठ की छोटी पुस्तक, मूल्य ३१ पैसे।

१२. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु पुनः हिन्दु बन सकते हैं, इस प्रश्न का शास्त्रीय ढङ्ग से प्रमाणो सहित विवेचन बड़ी ही मार्मिक भाषा मे किया गया है, वर्तमान समय मे जब विधर्मी अपनी संख्या बढ़ा रहे हैं यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ ७६ मूल्य ३१ पैसे।

१३. प्रयाग माहात्म्य—तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य पर ३२ पृष्ठ की छोटी सी पुस्तिका, मूल्य २० पैसे।

१४. वृन्दावन माहात्म्य—श्रीवृन्दावन के माहात्म्य पर लघु पुस्तिका। मूल्य १२ पैसे।

१५. राघवेन्द्र चरित (छप्पय छन्दो में)—श्रीरामचन्द्र जी की कथा के ९ अध्याय भागवत चरित से पृथक् छापे हैं। रामभक्तो को नित्य पाठ के लिये बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ स० १६० मूल्य ४० पैसे।

१६. प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि इसमे श्लोको सहित बताई है। श्लोको का भाव दोहाओं में भी वर्णित है। मूल्य २५ पैसे।

१७. चैतन्य चरितावली—महाप्रभु चैतन्यदेव की जीवनी। प्रथम खण्ड का मूल्य १ रु० ६० पैसे। अन्य खण्ड भी छपने वाले हैं।

१८. भागवत चरित की बानगी—इससे भागवत चरित के पद्यों की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसे।

१९. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) दोनो स्तोत्र है। मूल स्तोत्र भी दिये हैं। मूल्य २० पैसे।

२०. श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरित से यह पद्यों में श्रीकृष्ण चरित पृथक् छापा गया है। पृष्ठ सं० ३५० मूल्य २ रु० ५० पैसे।

२१. गोपालन शिक्षा—गौ कैसे पालनी चाहिये। गौओ की कितनी जाति हैं, गौओ को कैसा आहार देना चाहिये। बीमार होने पर कैसे चिकित्सा की जाय। कौन-कौन देशी दवाएं दी जायें, इन सब बातो का इसमे विशद वर्णन है। पृष्ठ २०४ मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२२. मुक्तिनाथ दर्शन—नेपाल में सुप्रसिद्ध मुक्तिनाथ तीर्थ है। यात्रा का बहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन है। नेपाल राज्य तथा नेपाल के समस्त तीर्थों का इसमे विशद वर्णन है, मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२३. आलवन्दार स्तोत्र मूल तथा छप्पय छन्दों में अनूदित—

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के महामुनीन्द्र श्रीमत् यामुनाचार्य कृत यह स्तोत्र सर्वमान्य तथा बहुत प्रसिद्ध है। ५ बार में १६५०० छपी है। अमूल्य।

२४. रास पंचाध्यायी—भागवत चरित से रास पंचाध्यायी पृथक् छापी गयी है। बिना मूल्य वितरत की जाती है।

२५. गोपी गीत—श्रीमद्भागवत के गोपी गीत का उन्हीं छन्दो में ब्रजभाषा अनुवाद है। वह भी बिना मूल्य वितरित है।

२६. श्रीप्रभु पदावली—श्री ब्रह्मचारीजी के स्फुट पदों का सुन्दर संग्रह है। पृष्ठ संख्या १२२, अमूल्य।

२७. परमसाहसी बालक ध्रुव—१०० पृष्ठ की पुस्तक मूल्य ६० पैसे।

२८. सार्थ छप्पय गीता—गीता के श्लोक एक ओर मूल और अर्थ सहित छापे है। उनके सामने अर्थ की छप्पय हैं। सचित्र पुस्तक का मूल्य ३ रु० है।

२९. हनुमत् शतक—नित्य पाठ करने योग्य यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर है। इसमें १०८ छप्पय हैं, सुन्दर हनुमान् जी का एक बहुरंगा तथा २१ सादे चित्र हैं। मूल्य ५० पैसे।

३०. महावीर हनुमान्—श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने श्रीहनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, इसमें २१ अध्याय है। (पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य २) ५० पैसे।

३१. भक्त-चरितावली (दो भागों में)—यदि आप चाहते हैं कि हम भी प्रभु के भक्तों की गाथा पढ़कर, भक्ति में आत्मविभोर होकर, प्रभु की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनो भाग मँगाकर पढ़ें। भक्त-चरितावली भाग (१) पृष्ठ ४४४ मूल्य ४) रु०। भाग (२) पृष्ठ ३०३ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

३२. छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय—श्री भर्तृहरि के नीति, शृंगार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दो में भावानुवाद। पुस्तक बहुत गौरवी कागज में है। (प्रेस में)।

३३. श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में लोकोपयोगी साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है। अभी छपी है। पृष्ठ ७८ मूल्य ७५ पैसे।

३४. छप्पय विष्णु सहस्र नाम तथा दोहा—भाष्य सहित सहस्र नामों के सहस्र दोहे। शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

मुद्रक—बलीश्वर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज (प्रयाग)

भागवत दर्शन

खण्ड ७२

गीतावार्त्ता (४)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण १००० प्रति] पौष शुक्ल ७ मकर संक्रान्ति २०२६ [मू० १-६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)

[छप्पय छन्दों में]

सत्यनारायण भगवान् को महिमा अपार है। संसार सत्य के सहारे ही अवस्थित है। सत्य सार है। जगत् असत है। सत्य ज्ञान है, सत्य ही अनन्त अनादि है, सत्य ही ब्रह्म है सत्य पालन ही संसार में सर्व सुलभ सुखकर सुन्दर साधन है। यह संसार तो सिन्धु के समान है, सत्य का सहारा लेकर ही इसे पार किया जाता है, इसीलिये हम सत्यनारायण भगवान् का व्रत, पूजन तथा अनुष्ठान करते है। कलिकाल में सत्यनारायणव्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिये सत्यनारायण भगवान् का पूजन घर-घर होता है।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है।

भक्तों के बार-बार आग्रह करने पर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने यह पुस्तक छप्पय छन्दों में लिखी है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है, अभी छपी है। पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ७५ पैसे।

व्यवस्थापक

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

(पंचम संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्ष का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३१६ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ३.४५ मात्र है, शीघ्र मँगाइये, नूतन संस्करण छप गया है। डाकव्यय अलग।

मतवाली मीरा

(पंचम संस्करण)

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा? उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है। ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढङ्ग से अलोचना की है, इसमें भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्व का मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन, बेटियों, माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते-पढ़ते प्रेम में गद्गद् हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढङ्ग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २.५० रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये रंगीन चित्र बड़ा ही कला पूर्ण है। डाकव्यय अलग।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
अपनी निजी चर्चा	६
गीता-माहात्म्य	२३
१. इस महापापी काम को मार डालो	३३
२. काम शत्रु को मारने का अन्तिम उपाय	४०
३. परम्परा प्राप्त योग	४५
४. भक्त सखा समझकर तुमसे रहस्य कहता हूँ	५७
५. अजन्मा होकर भी मैं जन्म लेता हूँ	६४
६. मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ	७३
७. मेरे दिव्य कर्मों का वेत्ता मुझे ही प्राप्त होता है	८१
८. जो मेरी जिस रूप की पूजा करते हैं, उन्हें मैं उसी रूप से फल देता हूँ	९०
९. गुणकर्मानुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था	९८
१०. कर्म का रहस्य और कर्म करने की आज्ञा	१०४
११. कर्म, अकर्म और विकर्म	१०९
१२. कर्मफल की आसक्ति छोड़ने वाला पंडित करता हुआ भी कुछ नहीं करता	११४
१३. केवल शरीर से सम्बन्धित कर्म करने वाला साधक पाप का भागी नहीं होता	११९

१४. ब्रह्मार्पण-यज्ञ ...
१५. विविध भाँति के यज्ञ (१) १३२
१६. विविध भाँति के यज्ञ (२) १४०
१७. विविध भाँति के यज्ञ (३) १५५
१८. सभी यज्ञ कर्म जनित होते हैं १६०
१९. ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है १६७
२०. संसार सागर से पार होने को ज्ञान दृढ़तर नौका है १७४
२१. ज्ञानाग्नि परम पावन है १७९
२२. श्रद्धा ही ज्ञान में मुख्य कारण है १८५
२३. अतः ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करो, उठो, युद्ध में डट जाओ १९४
२४. संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्षप्रद है २०२
२५. संन्यास तथा कर्मयोग दोनों ही समान है २१०
२६. संन्यास से कर्मयोग की विशिष्टता २१६

अपनी निजी चर्चा

[३]

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं-
भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ।*

(श्री भाग० ७ स्क० ९ अ०, १७ श्लोक)

छप्पय

चाहें हिय में धर्यो दूरि अति सतत रहैं ते ।
जिनि तें रंच न प्यार दारि हिय माहिँ दरैं ते ॥
नाना योनिन मध्य नाथ हम भटकि रहे हैं ।
रहिबो चाहें निकट और हू दूरि भये हैं ॥
होहि भक्ति तव चरन में, साधन सुलभ सुझाइ दैं ।
अब तक भटके भूल में, अब तो प्रभु अपनाइ लैं ॥

---

* मैं बहुत सी योनियों में भटकता फिरा । जहाँ भी गया वहीं प्रिय का वियोग और अप्रिय की प्राप्ति यही होता रहा । दुःख निवारण की जो औषधि की वह भी दुखदायी ही सिद्ध हुई । जो आत्मा नहीं हैं ऐसी अनित्य वस्तुओं को आत्मा समझकर मैं न जाने कब से भटक रहा हूँ, मुझे यह बताएँ कि आप का दास्य योग मुझे कैसे प्राप्त होगा ।

अनेक योनियों में नाना रूप बनाकर जीवन जाने कब से भटक रहा। इसे शाश्वती शांति प्राप्त नहीं होती। जिसे शाश्वती शान्ति का साधन समझकर उसे पाने का प्रयत्न करता है, उससे और अशांति बढ़ती है। हम समझते हैं धनिक लोगों को शान्ति होगी, किन्तु जब उन्हें देखते है, वे हम साधारण लोगों से भी अधिक अशान्त हैं। जो अपने को उच्च कुल का कुलीन समझकर दूसरे कुल हीनों को हेय दृष्टि से देखते है, उन्हें भी हम अशान्त ही पाते हैं, जो बड़े आचार विचार से जप अनुष्ठान करते हुए समय बिताते हैं, उनके भीतर भी एक छिपी हुई अशान्ति रहती है। युवा वस्थापन्न नवयुवक जो सदा सर्वदा सबकी खिल्ली ही उड़ाते रहते हैं, वास्तव में देखा जाय, तो वे अपनी अशान्ति का ही प्रदर्शन करते फिरते हैं जो सुन्दर स्वरूपवान् लड़का-लड़की अपने सौन्दर्य के सम्मुख अन्य सभी साधारण रूप वालों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते है, वास्तविकता से देखा जाय तो वे भी दुखी हैं, अशान्त हैं, उन्हें भी कोई भारी अभाव अनुभव होता रहता है। जिन्हें हम बहुत भारी विद्वान् शास्त्रज्ञ समझते है और सोचते हैं, शास्त्राध्ययन से इन्हें शान्ति मिल गयी होगी, वे मूर्खों से भी अधिक अशान्त देखे जाते हैं। इसलिये हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि संसारी पदार्थों में शान्ति नहीं। हमें भ्रान्ति बनी रहती है, अपने से कोई किसी काम में बड़ा हो, तो हम अनुमान लगा लेते हैं, यह सुखी होगा, किन्तु वास्तव में सभी अशान्त हैं, सभी भटक रहे हैं, सभी किसी न किसी अभाव का अनुभव कर रहे है। इसका कारण यही है कि हम संसारी पदार्थों में शन्ति खोज रहे हैं, जहाँ जो वस्तु है ही नहीं वहाँ उसे खोजना अनाड़ीपन है।

एक बुढ़िया थी, चौराहे पर कुछ खोज रही थी, एक आदमी

ने पूछा—"बूढ़ी माँ ! क्या खोज रही हो ?"

बुढ़िया ने कहा—"बेटा ! सूई खोज रही हूँ ।"

आदमी ने कहा—"चौराहे पर सुई कहाँ से आई ?"

बुढ़िया ने कहा—"कल रात्रि में मेरे घर के आंगन में सूई खो गयी थी । सो खोई हुई को खोजती हूँ ।"

उस आदमी ने हँसकर कहा—"माँ घर के आंगन में खोई सुई को चौराहे पर खोज रही हो, बड़ी उलटी बात कर रही हो । उसे जाकर घर के आँगन में ही खोजो ।"

वास्तव में देखा जाय, तो वह बुढिया ही उलटी बात नही कर रही है, हम सब उलटी बात कर रहे हैं । जो शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श हमें बन्धन में डालते हैं, संसार बन्धन के–अशान्ति के--मूल कारण हैं, हम उन्हीं में शान्ति खोज रहें हैं । शान्ति तो श्याम सुन्दर के चरणारविन्दों में है, हम जितने ही विषयासक्त हैं, उतने ही जाते शान्ति से दूर हटते जाते है । किसी प्रकार प्रभुपादारविन्दों में अनुराग हो जाय, तो संसार के सभी विषय, संसारी सभी मान प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति फीकी दिखायी देने लगे, किन्तु भगवत पादारविन्दों में प्रेम होता नहीं । जब तक प्रेम न होगा यह भटकन न समाप्त होगी । जीव नाना कारणों से इधर-उधर भटकता ही रहेगा । तो अब भटकने की ही थोड़ी सी कटु कहानी सुनिये ।

हाँ तो अनशन के पहिले तीर्थयात्रा करने का निश्चय हुआ । अनशन आरम्भ होना था गोपाष्टमी से हमने यात्रा आरम्भ की भाद्र की अनन्त चतुर्दशी के लगभग । सोचा यह था--दो महीने में जितने तीर्थों की यात्रा हो सकेगी, उतनी कर लेंगे । गोपाष्टमी से एक या दो दिन पूर्व आकर अनशन- पर बैठ जायँगे । इसके पूर्व आन्दोलन की तैयारियाँ होने लगी, एक बड़ा प्रदर्शन सनातन

धर्म सभा के माध्यम से हुआ। पूर्ण सफल रहा। बहुत से बन्धुओं ने हमारे साथ अनशन करने की इच्छा प्रकट की। उन सबके नाम प्रकाशित हुए। प्रश्न यह था, कि अनशन किया कहाँ जाय? सबकी एक स्वर से सम्मति थी, 'कि भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में अनशन हो। लोगों की तर्क यह थी, कि आन्दोलन केन्द्र में हो रहा है, अतः यहाँ अनशन होने से केन्द्रीय सरकार पर विशेष दबाव पड़ेगा, राजधानी के कार्यों का समाचार पत्रों में प्रकाशन भी अधिकता से होगा, इसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी है। सबकी सम्मति थी जो भी कुछ हो दिल्ली में ही हो, किन्तु मैं इससे सहमत नही था। मैने कहा—"मैं न तो किसी पर दबाव डालने को अनशन कर रहा हूँ, और न मुझे प्रकाशन की चिन्ता है। मै तो अपने श्याम सुन्दर गोपाल के सम्मुख अनशन करूंगा। गोपाल की क्रीड़ा भूमि रासस्थली वृन्दावन में करूंगा। वृन्दावन नगर में भी नहीं। घोर वन में राधारानी के पावन क्षेत्र में। जहाँ कृष्ण से रूठ कर--मान करके--मान सरोवर के निकट रूठी हुई राधारानी अभी तक बैठी हैं, वही-उसी गोलोक में जहाँ मनुष्य कठिनता से पहुँच सके, वही करूंगा। मैं गोलोक को छोड कर दूसरे किसी स्थान पर अनशन नहीं करूंगा। फिर चाहे प्रचार हो या न हो, किसी पर दबाव पड़े या न पड़े।" अतः मेरा तो गोलोक में अनशन का निश्चय हो गया। अब बहुत ही संक्षेप में गोलोक का परिचय पाठकों को करा दूं, जिससे पूरी स्थिति समझ में आ जाय।

जहाँ आज कल वृन्दावन नाम का नगर मथुराजी से ६ मील दूर बसा हुआ है, उसके उस पार मथुरा जिले की माट नाम की तहसील है। माट के चोर आज से नही। ५०० वर्ष से बहुत प्रसिद्ध है। एक सुप्रसिद्ध कथा है कि मदन मोहन जी

के मन्दिर के ऊपर सुवर्ण का एक बड़ा भारी कलश था, किसी ने कहा—असली चोर हम उसे जानें जो इस सुवर्ण कलश को उतार लावे। मन्दिर के चारों ओर रात्रि भर पहरा रहता था। माटका एक चोर गया। रात्रि में जो घंटा बजते हैं, उन घन्टों की ध्वनि के साथ वह मन्दिर में लोहे की कीलें गाड़ते-गाड़ते ऊपर पहुँच गया। तभी तक पहरे वालों को पता, चल गया, चोर कलश लेने ऊपर पहुँच गया है, लोग इकट्ठे हो गये। चोर सुवर्ण कलश लेकर श्रावण भादों की भरी हुई यमुनाजी में ऊपर से ही कूद पड़ा और कलश को लेकर पार हो गया। यह आज से ४००।५०० वर्ष पुरानी बात है, वह लाल पत्थर का मन्दिर विना कलश के ज्यों का त्यों ही अभी तक खड़ा है, और उस चोर की बहादुरी का बखान कर रहा है, इसीलिये ब्रज के रसिक भक्तों ने गाया—

"धनि-धनि माँट गांव के चोर।"

उस माँट गांव से लगभग २-२॥ मील, वृन्दावन से लगभग एक डेढ़ मील गोलोक है। जहाँ आज गोलोक है, वहाँ किसी काल में बड़ा ही घोर सघन वन था। मुसलमानी बादशाही के समय में बड़े-बड़े अधिकारी यहाँ शेर चीते का शिकार खेलने आते थे। राधारानी जी का मन्दिर है, मानसरोवर है। महाप्रभु हित हरिवंशजी द्वारा सेव्य मानवती राधाजी का यहाँ छोटा सा मन्दिर है। महाप्रभु हितहरिवंशजी की यह भजन स्थली है। परम रसिक हरिदासजी महाराज भी यहाँ कुछ काल रहे। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने यहाँ श्रीमद्भागवत का सप्ताह किया था। महाप्रभु जी की बैठक अभी तक विद्यमान है। लोग ऐसा कहते हैं, कि पहिले यमुना जी राधारानी से उधर ही थी। राधारानी मन्दिर इसी

पार था। अब यमुनाजी बढ़ते-बढ़ते इधर आ गयी हैं, राधारानी का मन्दिर उस पार हो गया। अभी तक राधारानी से मील भर दूरी पर यमुनाजी के कगार विद्यमान हैं। राधारानी क्षेत्र यमुना जी के वक्ष-स्थल में है। जहाँ आज गोलोक बना है, वही रास क्रीड़ास्थल है। वहीं श्रीकृष्णचन्द्रजी ने बाँसुरी बजाकर सखियों को बुलाया था। वहीं से राधाजी रास में से रूठकर मान करके मानसरोवर पर जा बैठी।

आज से २०-२२ वर्ष पहिले तक यहाँ हींस, करील और छौंकराओं के वृक्षों का सघन बन था। दिन में भी कोई अकेला आदमी वहाँ नहीं जाता। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को राधारानी का मेला लगता तो बहुत से लोग मिलकर पगडंडियों से जाते। वृन्दावन से माट वाली सड़क तो अभी ५-६ वर्ष पूर्व मेरे सामने बनी है। पीपों का पुल तो उसी वर्ष से चालू हुआ है जिस वर्ष गोलोक में डेढ़ दो महीने का पुलिनवास मेला लगा था। २०-२१ वर्ष पूर्व ही जहाँ गोलोक है उस सघन वन में लगभग ५००-६०० जंगली गौएं और लगभग दो-ढाई हजार जंगली सूअर रहा करते थे। जंगली गौएं बन गायें नहीं था। जिन पर गौएं चरती नहीं थी, वे अपनी गौओं को छोड़ आते थे। सर्वथा स्वतन्त्र रहने से वे जंगली हो गयी थीं। उनके बड़े सुन्दर-सुन्दर बच्चे होते उन्हें पानी गांव या आस-पास के गांव के लोग किसी प्रकार चोरी छिपे पकड़ ले जाते। गौएं स्वच्छन्द घूमती रहती। वर्षा में यमुनाजी का जल भर जाता था। गौएं सूअर कैसे भी दिन काटते। अंगरेज लोग भी यहाँ सूअर का शिकार खेलने आते। ऐसा था गोलोक बनने से पूर्व का यह बन। सदा से इस बन में छुट्टल-स्वतन्त्र-गौएं ही निवास करती।

अंगरेज सरकार की "अधिक अन्न उपजाओ" नामक योजना

चली। उस योजना की वक्रदृष्टि इस गौओं के वन पर भी पडी। सरकार ने जंगली गौओं को पकड़वाना चाहा। राजस्थान के गौ पालने वाले लाल पगडी वाले ग्वाले ऊँटों पर चढ़कर गौओं को पकड़ने आये। उन्होंने ऊँटों पर चढ़कर गौओं का पीछा किया, कुछ गौएं मर गईं किन्तु वे वश में नहीं आईं। तब कुछ ग्वाले अपनी ४००-५०० गौएं लेकर कार्तिक महीने में जब यमुना जी घट गयीं तब यहाँ आकर रहने लगे। वे अपनी गौओं को चरा-कर यहाँ लाकर बैठाते। धीरे-धीरे जंगली गौएं उन गौओं से हिल-मिल गयीं। उनके साथ चरने भी आने लगी। साथ-साथ उठने बैठने खाने लगीं। शनैः-शनैः उन ग्वालों ने गौओं के गलों में रस्सी डालना आरम्भ कर दिया। ६ महीने में जंगली गौएं हिल-मिल गयी। अपनी गौएं के साथ वे इन सबको भी राज-स्थान ले गये। इस प्रकार यह वन गौएं से तो खाली हो गया। अब रह गये जंगली सूअर। इसके लिये सरकार ने कंजरा जाति वालों को बुलाया जो सेह आदि को भी मार लेते है। उन्होंने शनैः-शनैः सभी जङ्गली सूअरों को मार डाला। फिर इस वन के वृक्ष काटे गये। माट के पास ही एक राया गाँव है। राया के विधायक चौधरी जी ने एक बड़ा कृषि संघ खोला। उसके द्वारा इस भूमि को जोतने बोने योग्य बना दिया। वह कृषि संघ घाटे के कारण अस्त-व्यस्त हो गया। सरकार से भी बहुत-सा ऋण लिया था। सरकार ने कौड़ी के दामों में उस भूमि को नीलाम कर दिया। लोगों ने १०-१०, २०-२० एकड़ जमीने नीलाम में खरीद ली। यह सब कांड स्वराज्य हो जाने के पश्चात् हुआ।

इसके पश्चात् वंशीवट पर हमारा वंशीवट विहारी गिरि-धारी जी का मन्दिर बना। पहिले वह राजा अवागढ़ की कुञ्ज थी उसे ही हमने खरीद लिया। उसको संकीर्तन भवन धार्मिक

न्यास (ट्रस्ट) बना। तभी एक वर्ष का गोव्रत हुआ। हम प्रातः-काल गौओं को लेकर यमुना जी को पार करके उस पार गौओं को चराने ले जाते। सायंकाल लौटकर वंशीवट के आश्रम में आ जाते। पहिले वृन्दावन भर की सहस्रों गैयाँ उसी पार चरने को जाया करती थीं, तब तक उस पार विशेष खेती आदि नहीं होती थी, सब गोचर भूमि ही थी। जब वह क्षेत्र पानी से परिपूर्ण हो जाता था, उतने दिनों तक तो गैयाँ उस पार जाती नहीं थीं, नहीं तो बारहो महीने गौएँ उसी पार चरने जाती थीं। आषाढ़, श्रावण में जब यमुना जी पूरी भर जाती तब सहस्रों गौएं तैरती हुई बहुत सुंदर लगती थीं तैरते हुए उनके सींग ही सींग दिखायी देते थे। ग्वाला गौओं की पूंछों को पकड़कर पार होते थे। उस दृश्य को मैं बाल्यकाल से ही देखता रहा था। हम गौओं की पूंछ पकड़ कर पार नहीं होते थे, हम तो नौका से जाते दूसरे ग्वाले हमारी गौओं को लेकर उस पार हो जाते।

उस पार हमने यमुना जी के किनारे एक शीशम के वृक्ष के नीचे, यमुनाजी ढाह को खोदकर एक झोंपड़ी डाल रखी थी। उसके चारों ओर सुंदर चबूतरा बना रखा था, उसे गौ के गोबर से लीप पोतकर स्वच्छ रखते। हम वहीं बैठे रहते। गौएं आस-पास चरती रहतीं। वहीं पर छाक लेकर आश्रम से कला, उर्मिला तथा अन्यान्य मातायें मट्ठा लेकर दोपहर के समय आतीं। सभी गोपाल साथ बैठकर भोजन करते, बहुत से दर्शनार्थी कौतूहलवश आ जाते कि देखें ब्रह्मचारी जी गौएं कैसे चराते हैं। हम लोग टाट ही पहिनते, टाट ही ओढ़ते, टाट ही बिछाते थे। गौओं के बीच में ही रात्रि में सोते थे। जीवन गौमय बन गया था। जहाँ उस पार हमारी बैठक झोंपड़ी चबूतरा था, वहाँ बहुत से भंडारे भी होते। १० - २० आदमियों की पांत तो प्रायः नित्य ही होती।

कभी-कभी रासमण्डली आकर रास करती। गोचारण का वर्ष भर उत्सव ही था।

उसी समय समीप की कुछ भूमि को अपने आश्रम की ओर से क्रय करने की बात चली। १० एकड़ भूमि क्रय करके उसमें गोधाम बनाया। गोधाम के समीप ही एक ४० एकड़ का फार्म था, रायें के लाला वसन्तलाल जी ने वह फार्म बनाया था। चारों ओर तारों से घिरा था पानी की मशीन (ट्यूबेल) लगा था। कुछ दिन तक उसमें गेहूँ हुए, ईख हुई, अमरूदों का बगीचा लगा। पीछे घाटा लग जाने से कई वर्ष से वह वैसे ही वीरान पड़ा था। उसमें एक छोटी-सी पक्की कुटिया भी थी। इतने भारी कछार भर में वही एक पक्की कुटिया थी। पीछे से उसे भी क्रय कर लिया गया। उसकी चहारदीवारी बनायी, पक्के मकान बनाये। बड़े-बड़े कमरे शौचालय, स्नानघर, मशीनें बैठायी और उसी सबका नाम 'गोलोक' रखा गया। पुलिनवास मेले के समय तो 'गोलोक' देश भर में विख्यात हो गया। उस समय उसमें दूरभाष (टेलीफोन) तार, डाकघर, पुलिस थाना सब कुछ बन गया था। वृन्दावन से यहाँ तक बिजली लग गयी थी। पीपों का पुल भी उसी वर्ष से चालू हो गया था देश के प्रायः सभी प्रान्तों के सहस्रों भक्त वहाँ रहते थे। ९ स्थान पर श्रीराधा जी की, ललिता, विशाखा आदि अष्ट सखियों के नाम से अष्टनिकुञ्ज और एक श्रीराधा के नाम की नवमी कुञ्ज इस प्रकार नवनिकुञ्ज बनी थीं। उन सबमें चौबीसों घंटे पृथक्-पृथक् अखंड कीर्तन होता था। वह दृश्य अपूर्व था, अलौकिक था सभी प्रान्त के भक्त अपनी-अपनी ध्वनियों से चौबीसों घंटे ध्वनिवर्धक (लाउड-स्पीकर) लगाकर कीर्तन करते रहते थे। आन्ध्रप्रदेश से ही लग-भग २०० - २५० भक्त आये थे। नेपाल से ४००।५०० बिहार से

१५० - २०० । इसी प्रकार बंगाल, आसाम, राजस्थान आदि से भक्तगण पधारे थे । फूंस का एक बड़ा भारी पंडाल बनाया गया था, जिसमें ८-१० हजार दर्शनार्थी बैठ सकें । उसमें भी प्रातः-काल से रात्रि के एक दो बजे तक कार्यक्रम चलते रहते थे । देश भर के प्रायः सभी बड़े-बड़े महात्मा उसमें पधारे । भिन्न-भिन्न विषयों के प्रायः २२ । २४ सम्मेलन हुए । उस दृश्य को तो जिसने देखा होगा वही उसका अनुमान लगा सकता है । १०८ पाठकों द्वारा नौ दिन तक रामचरित मानस का नवाह, १०८ पंडितों द्वारा १०८ श्रीमद्भागवत के सप्ताह, १०८ व्यासों द्वारा १०८ से भी बहुत अधिक "भागवतचरित के सप्ताह, गोपालयज्ञ आदि अनेकों कार्यक्रम हुए । लगभग दो महीनों तक मथुरा के श्री गगेजी चतुर्वेदी द्वारा "भागवतचरित" के द्वारा श्रीकृष्णलीला हुई । उस आनन्द का वर्णन लेखनी के बाहर की बात है ।

उस विशाल पण्डाल के सम्मुख ही मेरी कच्ची मिट्टी की बनी कुटिया थी । उसके चारों ओर फूँस की टटियाओं का बड़ा बाड़ा था, चारों कोनों पर चार गोल फूंस की कुटियायें थी । बैठने को बड़ा भारी छप्पर का उसारा था, वह सदा गोबर से लीप पोतकर स्वच्छ रखी जाती थी । उसी में मैं रहता था । भीड़ का कोई ठिकाना ही नहीं था । हजारों लाखों नर-नारियों की भीड़ बनी रहती ।

पुलिनवास मेला समाप्त हो गया । चैत्र में-श्रावण भादों में यमुना जी की बाढ़ आई पूरा गोलोक स्थान राधारानी तक जल-मय हो गया । जिधर देखो उधर जल, कहीं पता ही नहीं कहाँ नेपाली कुञ्ज थी, कहाँ आंध्र वाली कुञ्ज, कहाँ आसाम तथा बङ्गाल की कुञ्ज । सब स्थान जलमय । हमारी कुटिया का नाम निशान नहीं रहा । यह है अत्यन्त संक्षेप में गोलोक का परिचय ।

हाँ तो इसी गोलोक में मुझे अनशन करना था। बाढ़ तो आई उतर गयी। बढ़ी हुई यमुना अपनी सरदी और नयी मिट्टी छोड़कर चली गयी वह नयी मिट्टी खाद का काम देती है। उससे फसल दुगुनी तैयार होती है। वैसे दश मन अन्न हो तो बाढ़ आने पर बीस मन। गोलोक में बाढ़ प्रति वर्ष नहीं आती। जैसी बाढ़ उस वर्ष आई वैसी ४० वर्ष पहिले कभी आई थी। थोड़ा बहुत पानी तो प्रतिवर्ष ही प्राय. आ जाता है, किन्तु २-४ दिन रहकर उतर जाता है, किसी वर्ष गोलोक तक पानी आता ही नहीं। अनशन के वर्ष सबसे बड़ी बाढ़ आई और प्रायः एक महीने तक गोलोक के सभी भवन जल-मग्न रहे। वहाँ की गौएं तथा अन्य पशु दूसरे स्थान में भेज दिये गये। जिस समय हमारी तीर्थयात्रा रेलगाड़ी चलने वाली थी, गोलोक जलमय था। मेरी कच्ची कुटिया धराशायी होकर अदृश्य हो गयी थी। भूमिसात् बन गयी थी। मुझे आशा थी बाढ़ १०। २० दिन में उतर जायगी। कार्तिक शुक्ला गोपाष्टमी तक गोलोक निवास योग्य बन जायगा। मैं अपने आदमियों से कह गया था, जैसे ही बाढ़ का पानी उतर जाय, तैसे ही मिट्टी के गारे की जैसी पहिले कुटी बनी थी वैसी ही कुटी बना देना। उसके चारों ओर की दीवालें तो गीली मिट्टी से बनायी जाती हैं। ऊपर फूंस के छप्पर से छाई जाती है, एक छोटी कुटिया, उसके सामने एक छोटा-सा बरामदा चारों ओर फूंस की बाड़। यही उस कुटिया का स्वरूप था।

गोग्रन के समय मेरा सम्पूर्ण शरीर काला पड़ गया था तथा अत्यन्त ही कृश हो गया था। उसी निर्बलता में १४ कोश की गिरिराज गोवर्धन की परिक्रमा की। हजारों आदमी साथ थे, वहाँ गोवर्धन पर अन्नकूट का जो बृहद्भोज हुआ, वह अनुपम था,

उस दृश्य को बिना देखे कोई उसका अनुमान भी नहीं कर सकता। हमारे श्री देवरहाबाबा जी पुलिनवास मेले में मञ्च पर बराबर रहे और वहाँ गोवर्धन के अन्नकूट में भी पधारे। उस समय जोश मे, निर्बलता में पैदल परिक्रमा कर तो ली, किन्तु उससे वायु विकृत हो गयी। हाथ पैरों में छुंछुंनवात हो गयी। हाथ की तो ठीक हो गयी। पैर की अभी तक ठीक नहीं हुई, किन्तु उसकी कुछ भी परवाह न करके हम अनन्तचतुर्दशी के लगभग दिल्ली से तीर्थयात्रा के लिये चल दिये।

वह तीर्थयात्रा रेल अपने ढंग की निराली थी। देश में उसके कारण कितनी हलचल हुई कैसा-कैसा प्रत्येक स्टेशन पर उसका स्वागत हुआ यह तो एक पृथक् विषय है, इसका वर्णन एक लेख में नहीं कोई यात्री इस पर एक पूरी पुस्तक लिखे तभी उसका दिग्दर्शन हो सकता है। स्थान-स्थान पर सभायें हुईं, प्रत्येक स्टेशनो पर अभूतपूर्व स्वागत हुआ। इस कार्य में हमारे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के स्वयं सेवको ने अपूर्व उत्साह दिखाया हमारे उत्तरप्रदेश के प्रमुख प्रान्त प्रचारक रज्जूभैया ने जो परिश्रम किया वह तो अवर्णनीय है। वे स्वयं एक साधारण दर्शक की भाँति भीड़ में दिखायी देते थे, जैसे पूरे नाटक की योजना करके, उसके पात्रों के अभिनय बाटकर स्वयं आकर साधारण दर्शको की पंक्ति में बैठकर नाटक को देखता, यही कार्य रज्जूभैया ने किया। लखनऊ का वह भव्य भरा मञ्च, प्रयाग की शोभायात्रा का वह दशहरे जैसा दृश्य, कानपुर के फूलबाग का वह अविस्मरणीय समारोह और फिर वाराणसी की शोभायात्रा और टाउन हाल की सभा ने तो सभी को मात कर दिया। कितने लाख नर-नारी इसमें सम्मिलित हुए कुछ कहने की बात नहीं। ८०। ८०। ९०। ९० वर्ष के बूढ़ों के मुख से सुना गया है, कि

हमने अपने जीवन में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा। उस समय के वृत्त पत्रों में ये सब समाचार प्रकट हो चुके हैं कोई यात्री लेखक इसका सविस्तार कभी वर्णन करेंगे, हमें तो अपने विषय पर आ जाना चाहिये।

हाँ तो देहली, हरिद्वार, ऋषिकेश, लखनऊ, प्रयाग, कानपुर, काशी, वैधनाथ, कलकत्ता, कटक, भुवनेश्वर, पुरी, वालटेयर, सिंहाचलम्, राजमहेन्द्री, वैजवाड़ा मदरास, चिदवरम्, कांची, कुंभकोणम्, मदुरा, रामेश्वर आदि होते हुए पुनः मदरास लौट आये। मैं तो रेल मे बहुत ही कम बैठा, स्वयसेवक बन्धु मुझे तो मोटरों द्वारा न जाने कहाँ-कहाँ ले जाते और फिर १०० २००।५०० मील पर चलकर हमारी गाड़ी से हमें मिला देते। फिर मदरास से जो रेल छोड़ी तो फिर छूट ही गयी। पूरे मदरास प्रान्तभर की यात्रा मोटरों से ही की। रेल अपने मार्ग से पथ तै कर रही थी, हम मोटरों से घूम रहे थे। श्रीरंगम् में एक दिन रेल दिखायी तो दी कुछ दूर उस पर चढे भी किन्तु श्रीरामेश्वर से लौट कर मदरास तक मोटरों में ही आये।

कार्तिक कृष्ण पक्ष में (७ नवम्बर) को एक १० लाख नर-नारियों के प्रदर्शन का निश्चय पहले ही हो चुका था। मदरास में मुझे मेरी समिति के बन्धुओं का आदेश मिला कि प्रदर्शन में मदरास से तो कम ही लोग आवेंगे अधिकांश पंजाब से आवेंगे। अतः ७ दिन में पूरे पंजाब के दौरे का कार्यक्रम बनाया है आप तुरन्त वायुयान से पंजाब के दौरे के लिये आ जाओ। जिस दिन आदेश मिला उसी दिन चलना था वायुयान में ३ स्थान पहले से ही निश्चित करा लिये थे। वायुयान दोपहर के पश्चात् चलने वाला था। मदरास प्रांत के मेरे प्रथप्रदर्शक प्रबंधक साथी राम स्वामी ने कहा—एक साधु एक बहुत बड़ी भूमि गौओं के निमित्त

दे रहे हैं, आप उसे चलकर देखलें। रामराज रामानुज आदि पहले चलकर वायुयान में अपना सामान रखकर स्थान ग्रहण कर लें। वायुयान में छूटने की देरी नहीं थी, किन्तु भूमि के लोभ से मैंने इसे स्वीकार कर लिया। साथी लोग वायुयान स्थल की ओर चले गये और मैं रामस्वामी के साथ एक शीघ्र गामी मोटर में चढ़कर भूमि देखने चल दिया। गाड़ी पूरी वेग से दौड़ रही थी। आगे रेल के फाटक के पास न जाने किससे मोटर इतने वेग से टकराई की उसका इन्जन चकनाचूर हो गया। चालक क्षत विक्षत होकर रक्त से सना हुआ मोटर से लुढ़क पड़ा। रामस्वामी भी रक्त से नहा गये। मैं सबसे पीछे अकेला था। दोनों ओर से मोटर में भिड़ गया छाती में बड़े वेग से धक्का लगा। माथे में थोड़ी चोट आयी।

किन्तु स्वयं सेवक की कर्तव्य परायणता तो देखिये रक्त में सने रामस्वामी ने कहा—महाराज! आप किसी प्रकार वायुयान को पकड़े। कोई मोटर हो तो उससे चले जायें, यह कहकर वह बेहोश हो गया। मेरी इच्छा तो नहीं थी, अपने साथी को इस दशा में छोड़कर जाऊँ; किन्तु एक तो स्वयं सेवक की आज्ञा, दूसरे पंजाब का कार्यक्रम। लोग कितनी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते होंगे, मैंने अपने दोनों साथियों को उसी दशा में छोड़कर जाने का निश्चय किया। दुर्घटना के कारण दर्शकों की भीड़ लग गयी। कई मोटरें भी खड़ी हो गयी। एक मोटर वाले ने मुझे पहुँचाना स्वीकार किया। आँखों में आँसू भरकर राम स्वामी को देखता हुआ मैं मोटर में बैठ गया। उस मोटर वाले राजकीय अधिकारी को किसी आवश्यक कार्य से जाना था। वह मुझे एक टैक्सी में बिठाकर चला गया। टैक्सी ने मुझे वायुयान स्थल पर पहुँचा दिया। मेरे साथी अत्यन्त ही

उत्सुकता से मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। वायुयान के छूटने का समय समाप्त हो चुका था, मेरे पहुँचते ही हड़बड़ाहट के साथ रामानुज ने कहा—"यदि १५।२० मिनट वायुयान लेट न होता तो आज न मिलता। दौड़कर ज्योंही वायुयान में बैठे, त्यों ही वह सीटी देकर उड़ गया। अब मुझे अपनी छाती की चोट की याद आई। छाती को साफी से कसकर बांध दिया। २।२॥ घंटे में वायुयान देहली पहुँच गया। ७ ता० का प्रदर्शन था। ८ को हमारा कार्यक्रम पढरपुर में था, अतः ७ ता० के शाम के वायुयान से स्थान अतिरिक्त कराया टिकटें ली और जयदयाल जी डालमिया के यहाँ पहुँचे। डालमियाजी की पत्नी किसी प्रकार चाहती नहीं थी मैं ऐसी दशा में पंजाब के दौरे पर जाऊँ। उन्होंने डाक्टर को बुलाया। डाक्टर ने भी यही सम्मति दी ऐसी दशा में आपको जाना नहीं चाहिये, किन्तु इन सात दिनों में स्वयं सेवक बन्धुओं ने एक-एक दिन में ८-८-१०-१० स्थानों में कार्यक्रम रखे थे। समय पर न पहुँचेंगे तो लोगों में कितनी निराशा होगी। उस समय लोगों में गौरक्षा के लिये अपार जोश था, वे सब कुछ करने को उद्यत थे, हमें भी चढ़े हुए तंदूर पर चपातियाँ सेकनी थीं। तंदूर के ठंडा होने पर उसे गरम करने में बड़ी देर लगेगी। अतः मैंने कुछ नही कहा और मैं सो गया।

प्रातःकाल सबके मना करने पर भी मैं भगवान् का नाम लेकर मोटर में बैठ गया। दो मोटरें तैयार हुई वे सात दिन में पूरे पंजाब जम्बू तक हमें घुमाकर ६ ता० को देहली ले आवेंगी। इस निश्चय के साथ हम सब भगवान् का नाम लेकर उनका स्मरण करते हुए चल पड़े। ७ दिन में पूरे पंजाब का दौरा किया। एक-एक दिन में ८-८ १०-१० सभाओं में भाषण

करके हम देहली लौट आये। रात्रि में वृन्दावन आकर वृन्दावन विहारी का दर्शन किया ७ ता० को गोरक्षा के निमित्त महान् ऐतिहासिक प्रदर्शन था। लगभग १० लाख की भीड़ एकत्रित थी। जिधर देखो उधर गोरक्षकों की बसें मोटरें कारें खड़ी थी। उस प्रदर्शन में जो भी कुछ हुआ सभी को विदित है, अधिकारियों की योजना क्या थी इसे तो भगवान् ही जानें।

एक साधु ने बड़े उत्तेजित स्वर में आकर कहा—"यहाँ क्या बैठे हो समद भवन पर सत्याग्रह करो।" मैंने तुरन्त उनके हाथ से ध्वनिवर्धक यन्त्र छीन लिया और कहा—आज हमारा कार्य क्रम सत्याग्रह का नही है, केवल प्रदर्शन मात्र का है आप बैठ जायें।

उन्होने कहा—"मुझे पांच मिनट का समय मिला है, मुझे बोलने तो दीजिये।"

मैंने कहा—"मैं समिति का अध्यक्ष हूँ मैं आपको बोलने की आज्ञा नहीं देता।" वे बैठ गये। दो भाषण और हुए और फिर हे भगवान्! पीछे से आश्रु गैस के गोले छूटने लगे।

अपने जीवन में मैंने आश्रु गैस के गोले नहीं देखे थे, माघ मेले में हमारे यहाँ सड़कों पर चूना छिड़का जाता है। मैंने समझा गन्दगी को दूर करने को चूना छिड़क रहे हैं, किन्तु वह तो जादू का चूना था। बात की बात में हमारी भरी हुई मंच पूरी खाली हो गयी। सब नीचे लुढ़क गये, भीड में भकदड मच गयी। गोलियाँ चलने लगी। लोग हताहत होकर रक्त मे स्नान करने लगे। एक मात्र मैं मंच पर खड़ा-खड़ा देखता का देखता ही रह गया। नीचे खड़े मेरे साथी लड़कों ने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू किया—"महाराज जी! महाराज जी! आप कूद पड़िये वहाँ न रहिये, गोलियाँ चल रही हैं। अब मुझे होश हुआ।

मंच बहुत ऊँची थी मैं कूद पड़ा। तीन-चार लड़कों ने मुझे बीच में ही लपक लिया, और मुझे लेकर चलने लगे। आँखों में अश्रु गैस का धुआँ भरा हुआ था। लड़के भीगे कपड़े से मेरी आँखों को पोंछते जाते थे और भीड़ में मुझे लिये जा रहे थे। आगे एक पानी पिलाने वाली मोटर मिली। उसमें हमारे परिचित थे लड़कों ने मुझे उसमें बैठा दिया और बाजार लेन में स्व० लाला सूरज नारायण जी के घर जहाँ मैं ठहरा था, पहुँचा दिया।

अध्याय तो समाप्त हो गया। इतना ही स्थान सुरक्षित था, अतः पाठक अब आगे की कहानी अगले अंक में पढ़े। अब तो भागवत दर्शन के गीता वार्ता के अगले प्रकरणों को सुनें अब तक तो यह विषय प्रवेश हुआ। अब आगे यथार्थ कहानी आवेगी।

छप्पय

देख्यो आँखि पसार जगत में सब प्रपञ्च है।
सुख जिनमें हम लखें न तिनिमें शांति रंच है॥
माया रूप बनाय विविध विधि सम्मुख आवे।
चाक चिक्य कूँ निरखि अज्ञ बन्धन बँधि जावे॥
सबहिँ शास्त्र इक स्वर कहत, तब चरननि नहिँ मृत्युभय।
चरन शरन जिनने लई, तिनिनें पायो पद अभय॥

गीता-माहात्म्य

[३]

(तृतीय अध्याय)

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः

(महाभारत)

छप्पय

गीता को अध्याय तीसरो है अति पावन।
ज्ञान करम संन्यास योग जामें मन भावन॥
जनस्थान जड विप्र वृत्ति बनिया अपनाई।
दुष्कर्मनि धन नस्यो गयो पुनि करन कमाई॥
धन लैकें लौटयो पथहिं, आयो एक तरुतर जबहिं।
चोरनि मारयो लोभवश, लूट ले गये धन सबहिं॥

यह जीव पूर्व जन्मों के संस्कारों के वशीभूत होकर कर्म करता रहता है, कुछ कर्म पुण्यमय होते हैं, कुछ पापमय। कुछ कर्मों के करने से संसार बन्धन होता, कुछ कर्मों से संसार ढीला होता है। कभी-कभी अनजान में हमारे द्वारा ऐसे कर्म हो जाते

---

* गीता सर्व शास्त्रमयी है, भगवान् हरि समस्त देवमय हैं। गङ्गा जी सर्व तीर्थमयी हैं और मनुस्मृति सर्व वेदमय है।

है, जो हमें नरक में ले जाते है, और कभी अपने आप ही ऐसे पुण्यप्रद कर्म हो जाते हैं, जो हमें स्वर्ग तथा वैकुंठ तक ले जाते है। कौन सा कर्म शुभ है, कौन सा अशुभ इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान चकरा जाते हैं। बहुत से कर्मों का तो तब पता चलता है जब उनका फल प्रत्यक्ष होता है। पुराणों में ऐसे सहस्रों आख्यान है, कि अनजान में ऐसे-ऐसे कार्य हो गये हैं, जो परम पुण्यप्रद थे। और मनुष्य से वे कर्म बिना इच्छा के स्वतः ही हो गये थे। कोई चुहिया थी, शिवजी के मन्दिर में जलते हुए दीप की बत्ती खाने बैठी थी, कि दीपक बुझने ही वाला था, ज्यों ही चुहिया उसे खाने को लपकी त्यों ही एक बिल्ली आ गयी। बिल्ली को देखकर चुहिया शीघ्रता से भागी। शीघ्रता में भागने से दीपक की बत्ती ऊँची हो गयी। दीपक शीघ्र ही बुझने वाला था, किन्तु बत्ती ऊँची होने से कुछ देर और भी जलती रही। इसी पुण्य से वह चुहिया अगले जन्म में एक बड़े भारी राजा की रानी हुई। उसे पूर्व जन्म की याद थी, इसलिए वह सदा मन्दिरों में सहस्रों दीपक जलवाया करती थी। राजा ने जब उससे इतने दीपक सदा जलवाने का कारण पूछा तो उसने अपने पूर्व जन्म का यह वृत्त बताया। चुहिया ने जान बूझ कर यह सुकृत नहीं किया था। उससे अकस्मात् ऐसा शुभ कार्य बन गया।

एक आदमी पान खाया करता था। पान में चूना लगाकर बचे हुये चूने को उसने मन्दिर में पोंछ दिया। इसी पुण्य से उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई, क्योंकि मन्दिर का कुछ भाग उसने चूने से रंग दिया था। यह चूना लगाने का पुण्य उससे अकस्मात् हो गया।

एक प्यासा कौआ पानी की तलाश में इधर-उधर घूम रहा

था, एक मन्दिर में चरणामृत रखा था। पुजारी वहाँ था नहीं कौआ जल समझ कर उसे पी गया। इससे वह स्वर्ग गया। बिना जाने ही उससे यह अकाल मृत्युहर सर्वव्याधि विनाशक विष्णु चरणामृत पीने का पुण्य मिल गया।

एक पक्षी मन्दिर पर बैठा था, उतने में ही एक बाज उसकी ओर झपटा। बाज से बचने के लिये उसने तीन बार मन्दिर के चक्कर लगाये। अन्त में बाज ने उसे मार डाला। वह स्वर्ग गया। अनजान में उसे भगवत् मन्दिर की परिक्रमा करने का पुण्य मिल गया। इस प्रकार की असंख्यों कथायें भिन्न-भिन्न पुराणों में भरी पड़ी हैं। आधुनिक विचार के लोग इन्हें गप्प समझेंगे। वे भले ही गप्प समझते रहें। जो सुकृत कर्म है पुण्य प्रद कार्य हैं, वे जान में अनजान में कैसे भी हो जायें अच्छा ही फल देंगे।

स्कन्द पुराण में प्रह्लाद के पौत्र विरोचन के पुत्र परम दानी दैत्यराज बलि की पूर्व जन्म की एक कथा आती है। ये पूर्वजन्म में एक बड़े भारी जुआड़ी थे। जुआड़ी से कोई पाप कर्म बचा नहीं रहता, वह धन के लिये चोरी व्यभिचार, हत्या, हरण सब कुछ करता है। इस जुआड़ी का किसी परम सुन्दरी वेश्या से सम्बन्ध था। वेश्यायें तो धन की भूखी होती हैं। जो धन दे, उसकी प्यारी जो धन न दे सके उसकी ख्वारी। उसे वे मार कर भगा देती हैं। इस जुआड़ी पर भी धन नहीं था। वह वेश्या इससे स्नेह नहीं करती थी। एक दिन इसे जुआ में बहुत सा धन मिला। तब यह बड़ी प्रसन्नता से उस वेश्या को रिझाने के लिये उसके घर की ओर चला। उसे देने को सुन्दर इत्र बहुमूल्य पुष्प हार तथा पान का स्वस्तिकाकार बीड़ा बनाकर ले चला। हर्ष में भरा शीघ्रता पूर्वक जा रहा था। मार्ग में किसी वस्तु में ठोकर खाने

से उसके पैर लड़खड़ाये, वह गिर पड़ा बेहोश हो गया, किन्तु हाथ की वस्तुएं गिरी नहीं। कुछ देर में उसे उसकी मुर्छा भंग हुई। उसे अपने दुष्कर्मों पर परम पश्चात्ताप हुआ। उसने सोचा—एक अधम वेश्या को रिझाने को मैं यह क्या कर रहा हूँ। देव की गति तो देखिये जहाँ वह गिरा था-वहीं एक शिव मन्दिर था, वह उठा और उसने अपनी समस्त वेश्या के निमित्त लायी हुई सामग्री शिवलिंग पर चढा दी। कुछ दिन पश्चात् उसकी मृत्यु हुई। यमदूत उसे पकड़ कर यमराज के पास ले गये। यमराज जी ने अपने मुनीम जी चित्रगुप्त जी से उसके पाप पुण्य का लेखा जोखा पूछा। चित्रगुप्तजी ने अपनी बही में सब उसके पुण्य पाप देखकर यमराज से कहा—धर्मराज! इसने तो जीवन भर पाप ही पाप किये हैं, इसे तो घोर नरकों में डालना चाहिये।

यमराज ने कहा—"फिर से देख लो, कोई पुण्य कर्म भी इससे हुआ है या नही?"

चित्रगुप्त जी ने कहा—मरने से कुछ समय पूर्व इसने कुछ गन्ध, पुष्पों का हार पान का बीड़ा शिवजी पर चढ़ाया है। यही इससे एक महान पुण्य बना है।

यमराज ने उस जुआड़ी से पूछा—तुम पहिले अपना पुण्य भोगोगे या पाप?

उसने कहा—"महाराज, जीवन भर मैंने पाप तो किये ही हैं। पापों का फल तो मुझे भोगना ही है। यदि मेरा कोई पुण्य हो, तो पहिले मैं उस पुण्य का ही फल भोगना चाहता हूँ।

पुण्य साधारण नहीं था, अतः उसे तीन घड़ी के लिये इन्द्र बना दिया गया। तीन घड़ी के लिये बृहस्पति जी की सम्मति से इन्द्र अपने इन्द्रासन से हट गये। स्वर्ग का शासन तीन घड़ी के

लिये इनके अधिकार में आ गया। इसने सोचा—"ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता है। इतनी भारी सत्ता हाथ में आई है, क्यों न मैं इस समय का और इस इतनी बड़ी स्वर्गीय सम्पत्ति का सदुपयोग कर लूं। 'कर ले सो काम भज ले सो राम' तीन घड़ी पश्चात् तो ये सब सामग्रियां छूट ही जायंगी। दान-पुण्य करके मैं इसका सदुपयोग कर लूं तो अच्छा है। यह सोचकर तुरन्त उसने सभी ऋषि महर्षियों को बुला भेजा। तुरन्त स्थानापन्न इन्द्र की आज्ञा से ऋषि मुनि आ गये। अब उसने दोनों हाथों से लुटाना आरम्भ कर दिया। स्वर्ग की जो वस्तु सामने आती उसी को किसी महर्षि को तुरन्त दे डालता। ऐरावत हाथी को अगस्त्य जी को दान कर दिया। इसी प्रकार उच्चैःश्रवा घोड़ा को विश्वामित्र जी को, कामधेनु गौ को वसिष्ठ जी को, चिन्तामणि रत्न को गालव जी को, कल्पवृक्ष को कौण्डिन्य मुनि को तथा जो भी बहुमूल्य वस्तु सामने आई सभी को सभी महर्षियों में बांट दिया। दान पुण्य करते-करते ही तीन घड़ी का समय व्यतीत हो गया। वह चला गया। इन्द्र ने अपनी सम्पत्ति हीन पुरी को देखा। बृहस्पति जी की सम्पत्ति से ऋषियों को द्रव्य दे देकर वे सब सामग्रियां फिर उन्होंने क्रय कर लीं।

स्वर्ग में भी दान देने से उसका पुण्य अक्षय हो गया, अब वह जुआड़ी बिना नरकों की यातना भोगे महादानी असुरेन्द्र महाराज बलि हो गया। जिसके द्वार पर वामन बनकर भगवान् विष्णु ने भी भीख मांगी। यह सब दैव विपाक से अकस्मात् ही सब कुछ हो गया। ऐसी ही कथा श्री मद्भगवत् गीता के तृतीय अध्याय के महात्म्य की है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले प्रकरण में मैंने आपको श्रीमद्भगवत्गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य सुनाया।

अब जिस प्रकार पार्वती जी के पूछने पर शिव जी ने, लक्ष्मी जी के पूछने पर भगवान् विष्णु ने तीसरे अध्याय का माहात्म्य कहा, उसे अब मैं आप के सुनाता हूँ। पार्वती जी के पूछने पर शिवजी कहने लगे—"देवि ! प्राचीन काल में दक्षिण देश के जनस्थान में जड नाम का ब्राह्मण रहता था। वह केवल नाम का ही ब्राह्मण था, कर्म उसके म्लेच्छों के समान थे। ब्राह्मणों का सा उसका कोई भी आचरण नही था। उसने ब्रह्मवृत्ति त्यागकर व्यापार दुकानदारी का व्यवसाय कर लिया था। वह व्यापार से जो धन कमाता उसे सुरापन, परस्त्रीगमन तथा जुआ आदि में व्यतीत करता। कालान्तर में वह धन हीन हो गया। अब उसकी कोई बात भी नही पूछता। लोग तो स्वार्थ के साथी होते हैं, जब तक जिससे अपना कोई स्वर्थ सधे, तब तक वह प्यारा जहाँ स्वार्थ में आघात पड़ा, तहाँ राम राम जी राम राम जी। तुम अपने घर हम अपने घर।

जब उसका अपने देश में निर्वाह नहीं हुआ तो वह उत्तर दिशा की ओर व्यापार करने चला गया। व्यापार में तो वह बहुत निपुण था ही, उसने वहाँ जाकर बहुत सा धन पैदा कर लिया। अब उस सम्पूर्ण धन को लेकर वह अपने नगर की ओर चला। आठ दश दिन तक चलते-चलते वह एक वन में पहुँचा। वहाँ उसे रात्रि हो गयी। चोरों ने जब उसके पास बहुत धन देखा, तो उसे पकड़ लिया। सब धन छीन लिया और यह जाकर किसी को बतावे नहीं इस डर से उसे मार कर वहीं आस पास गड्ढे में फेंक दिया।

अपने दुष्कर्मों के कारण वह बड़ा भारी प्रेत बनकर उस पेड़ पर रहने लगा। प्रेतो का शरीर सूक्ष्म होता है, उनका मुख सुई के छिद्र से भी छोटा होता है। भूख लगने पर वे खा नहीं

सकते। प्यास लगने पर पास में पानी होने पर भी पी नहीं सकते। वासनायें वे ही सब पुरानी बनी रहती हैं। इससे उन्हें अत्यन्त ही पीड़ा होती है। दूसरे बड़े प्रेत उसे यातनायें भी देते है इस प्रकार वह प्रेतयोनि में नाना यातनाओं को भोगता हुआ उस छोंकरे के पेट पर रहने लगा।

उस जड़ का पुत्र एक बड़ा धर्मात्मा था कभी-कभी दुष्टों के भी प्रह्लाद की भांति धर्मात्मा पुत्र हो जाते हैं। यह भी किसी पूर्व जन्म कृत सुकृत का ही फल है। उसका पुत्र सदाचारी धर्मात्मा, मातृ-पितृभक्त तथा संध्यावन्दन नित्य कर्म करने वाला था। उसने बहुत दिनों तक तो अपने पिता की प्रतीक्षा की, जब बहुत दिन व्यातीत होने पर भी वह न लौटा, तो उसने उसकी बहुत खोज की, किन्तु कुछ भी पता न चला। वह इधर-उधर खोजता हुआ फिर ही रहा था, कि उसे एक परिचित व्यक्ति मिल गया। उससे उसने अपने पिता का वृतान्त पूछा।

उसने कहा—भाई! मैंने उसे आते हुए देखा तो था, वह मेरे यहाँ ठहरा था, घर को बहुत सा धन लेकर जा रहा था। पीछे मैंने सुना चोरों ने एक धनिक को मार डाला उसका सब धन छीन लिया। हो न हो वह तुम्हारा पिता ही होगा। अब तक घर नहीं पहुँचा तो वही होगा।

अब पुत्र को पूरा विश्वास हो गया, मेरे पिता की अकाल मृत्यु हुई है, चोरों ने धन के लोभ से उनके प्राण ले लिये है उनकी अवश्य ही दुर्गति हुई होगी। चलो, काशी जी में चलकर उनके श्राद्धादि कर्म करें। यही सोचकर वह श्राद्ध की बहुत सी सामग्री लेकर काशी जी की ओर चल दिया।

संयोग संस्कार तो देखिये, चलते-चलते उसे उसी स्थान पर रात्रि हो गयी, जहाँ चोरो ने उसके पिता का सर्वस्व छीनकर मार

डाला था और वह प्रेत बनकर उसी वृक्ष पर रहता था। ब्राह्मण कुमार ने उस पेड़ के नीचे ही अपना आसन लगाया। समीप ही जलाशय था, नित्यकर्म से निवृत्त होकर वह सो गया। प्रातः-काल होने पर वह स्नानादि से निवटकर सन्ध्यावन्दन करने लगा। वह नित्य गीता के एक अध्याय का पाठ भी किया करता था। सन्ध्यावन्दन जप करने के अनन्तर उसने गीता के एक अध्याय का पाठ किया। संयोग की बात कि उस दिन पाठ के लिये उसका तृतीय अध्याय ही था। ज्योंही उसने गीताजी के तीसरे अध्याय का पाठ समाप्त किया, त्योंही उसने एक अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण दृश्य देखा। उस दृश्य को देखकर ब्राह्मण कुमार तो परम चकित रह गया। देखा एक परम रमणीय दिव्य विमान स्वर्ग से उतर रहा है। वह विमान उसके समीप ही आकर खड़ा हो गया। उस वृक्ष से एक प्रेत उतरा। देखते ही देखते उसका शरीर दिव्य हो गया। वह साक्षात् देवस्वरूप बन-कर विमान में आकर विराजमान हो गया। विमान में बैठते ही उसने कहा—"बेटा! तुम धन्य हो तुमने मेरा उद्धार कर दिया।"

ब्राह्मण कुमार ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से पूछा—"महाभाग! आप कौन हैं?"

उस दिव्य पुरुष ने कहा—"बेटा! मैं तुम्हारा अभागी पिता ही हूँ। मैं व्यापार से प्राप्त बहुत-सा धन लेकर आ रहा था, यहाँ चोरों ने मुझे मारकर मेरा सब धन छीन लिया। अकाल मृत्यु होने से तथा पाप कर्मों के कारण, मैं चिरकाल से प्रेतयोनि में रहकर नाना यातनाओं को भोग रहा था। तुमने श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय को सुनाकर मेरा उद्धार कर दिया। धन्य है गीता माता और धन्य है उसका तीसरा अध्याय जो पापियों को

भी श्रवणमात्र से पावन बना देता है। बेटा ! जैसे पाप मैंने किये है, वैसे ही मेरे बड़े भाई ने भी किये हैं, मेरे परिवार वालों की भी ऐसी ही दुर्गति हुई है। वे सब नरक में पड़े हुए नाना यातनाओं को भोग रहें हैं। उन सबका भी तुमको उद्धार करना चाहिये। अब तुम्हें काशी आदि जाने की आवश्यकता नही। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय से तुमने मेरा तो उद्धार कर ही दिया, अब अपने दूसरे बन्धुबान्धवों का भी इसी से उद्धार करो।"

ऐसा कहकर वह दिव्यरूपधारी व्यक्ति विमान में बैठकर दिव्यलोकों में चला गया। इधर यह ब्राह्मण पुत्र भी प्रसन्नता पूर्वक अपने नगर में लौट आया। अब इसे तीसरे अध्याय के महत्त्व का बोध हुआ। अब उसने एक भगवान् के मन्दिर मे बैठ कर श्रद्धापूर्वक तीसरे ही अध्याय का पाठ आरम्भ कर दिया।

मेरे परिवार के सभी लोगों का नरक से उद्धार हो, इस सकल्प से वह नित्य नियम से गीता के केवल तीसरे ही अध्याय का पाठ किया करता था। उसके पाठ के प्रभाव से उसके कुल के जितने भी लोग नरक में पड़े हुए थे, उन सबका उद्धार हो गया। वे सब दिव्य शरीर धारण करके विष्णु पार्षदों के कहने पर यमराज के कारागार से मुक्त होकर, दिव्य विमानों पर बैठकर दिव्यलोकों को चले गये।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! यह है श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का महनीय माहात्म्य जो इसे श्रद्धाभक्ति के साथ पढ़ेगा या सुनेगा ही उसकी भी सद्गति होगी। यह मैंने आपसे गीताजी के तीसरे अध्याय का माहात्म्य सुना दिया। अब आगे (अगले खण्ड) में आपको चतुर्थ अध्याय के माहात्म्य को

सुनाऊँगा। जिस प्रकार शिवजी ने पार्वती जी को और भगवान् विष्णु ने श्री लक्ष्मी जी को सुनाया था।

छप्पय

पुत्र प्रतीक्षा करी फेरि सब परिचय पायो।
काशी करिबे श्राद्ध चल्यो ताही तरु आयो॥
गीता को अध्याय तीसरो पाठ कर्‍यो जब।
त्यागि अशुचि तनु तुरत प्रेत पितु दिव्य भयो तब॥
पिता पुत्र आयसु दई, कुल सबरो नरकनि पर्‍यो।
पुत्र पाठ तैं विप्रसुत, स्वयं तर्‍यो कुल हू तर्‍यो॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) } मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी (*गीता जयन्ती*)

इस महापापी काम को मार डालो

[२१]

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

(श्री भग० गीता ३ अ० ४१, ४२ श्लोक)

छप्पय

तातैं सबतैं प्रथम सीख अरजुन ! मम मानो ।
इन्द्रिनि कूँ वश करो द्वार इनही कूँ जानो ॥
इन्द्रिय ही घर कह्यो काम इनही में आवै ।
इन्द्रिय वश करि लेउ काम तुरतहिं भगि जावै ॥
इन्द्रियजित यदि होउगे, काम-शत्रु नसि जाइगो ।
ज्ञान और विज्ञान रिपु, पापी यह मरि जाइगो ॥

❀ इसलिये हे अर्जुन ! तुम सर्व प्रथम इन इन्द्रियों को ही वश में करके ज्ञान विज्ञान के नाशक इस महापापी काम को ही नाश कर दो ॥४१॥

विषयों से परे इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे वह (आत्मा) है ॥४२॥

क्रम-क्रम से चढ़ने पर मनुष्य सबसे ऊपर चढ़ जाता है, तुम चाहो, हम छलांग मारकर एक दम ऊपर चढ़ जायें, तो गिर ही पड़ोगे। तुम्हें राजा के पास जाना है, तो पहले प्रहरी के पास जाओ। प्रहरी तुम्हें मन्त्री के पास ले जायगा। मन्त्री राजा से मिला देगा। जो ऐसा न करके सर्वप्रथम ऊँचे ही चढ़ जाना चाहते हैं, वे निराधार होने के कारण गिर जाते हैं। इस संसार में नाना प्रकार के पदार्थ हैं, कुछ तो गाने बजाने वाले है, कुछ दृश्य देखने योग्य है, कुछ छूने से सुख-दुख की अनुभूति कराने वाले, कुछ चखकर रसास्वादन कराने वाले हैं कुछ सूंघकर सुगंधि-दुर्गंधि का ज्ञान कराने वाले है, इन सब पदार्थों का ज्ञान हमें इन्द्रियों के ही द्वारा होता है, इन्द्रियाँ अपना कार्य न करें तो इन पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी हम उन्हें उपयोग में नहीं ला सकते। नाना भाँति के रंग-बिरंगे फूल खिले हुए हैं। ऊपर से देखने को चक्षुओं के गोलक ठीक हैं, ज्यों के त्यों बने हैं, उनमें शीशा चमक रहा है, पलक झप रहे हैं, किन्तु उनमें चक्षु इन्द्रिय अपना कार्य नही कर रही है, वह देखने में समर्थ नहीं है, तो विषय सम्मुख रहते हुए भी व्यर्थ हैं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में ऐसा ही समझो। नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थ सम्मुख उपस्थित हैं, हाड़ मांस की बनी सुंदर नासिका (गोलक) में दिखायी दे रही है, किन्तु उसमें घ्राणेन्द्रिय अपना कार्य नहीं करती, तो उन सुगन्धित पदार्थों का रहना व्यर्थ है। इसी प्रकार रसना, स्पर्शेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ विषयों को इन्द्रियों की अपेक्षा है और इन्द्रियों को विषयों की अपेक्षा है। तभी तो कहीं इन्द्रियों को विषयों से पर बताया है और कहीं विषयों को इन्द्रियों से पर बताया है। गीताकार विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों को पर मानते

हैं। इन्द्रियों से परे मन है। यद्यपि मन भी इन्द्रिय-करण-है किन्तु दोनों में अन्तर इतना ही है, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ वाह्यकरण-वाहरी इन्द्रियाँ-हैं और मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार-ये भीतरी सूक्ष्म इन्द्रियाँ-अर्थात् अन्तःकरण है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म और वाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा अन्तः इन्द्रिय-अन्तःकरण सूक्ष्म है श्रेष्ठ है। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है। जैसे इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकों के विना विषयों का साक्षात्कार नहीं कर सकतीं, वैसे ही इन्द्रियाँ मन की सहायता के विना अपने व्यापारों में प्रवृत्त नहीं हो सकती। मन यदि दूसरे विषय में फँसा हो, तो विषयों का इन्द्रियों के साथ संसर्ग होने पर भी वे उसको ग्रहण नहीं कर सकतीं। इस विषय में भागवतकार ने दृष्टांत दिया है।

एक वाण बनाने वाला था। उसकी दूकान राज पथ के किनारे ही राजपथ से सटी हुई थी। वाण जब तक सर्वथा सीधे नहीं होते तब तक लक्ष्य बेधने में समर्थ नहीं होते। धनुष वाणों के युद्ध की परम्परा प्रायः समाप्त हो जाने से अब उतने वाण बनते नहीं। पहले नगरों में बहुत-सी दुकानें वाण बनाने की ही होती थीं, और वाण बनाने वाले तन्मय होकर उन वाणों को सीधा किया करते थे। उनमें तनिक भी टेढ़ापन वे नहीं छोड़ते थे।

राजपथ के किनारे वाला वाणकार अपने वाणों को सीधा करने में इतना तल्लीन था-उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया था-कि राजा की सवारी वड़ी धूम-धाम से उसके सामने से से निकल गयी। राजा के साथ-रथ, हाथी, घोड़ा तथा पैदल सैनिकों की-चतुरंगिनी सेना थी। आगे-आगे भाँति-भाँति के बाजे बजते जाते थे। राजा भी पालकी पर नहीं हाथी पर

बैठा था। सहस्रों पुरुष राजा का जय जयकार करते जाते थे। जब राजा की शोभायात्रा निकल गयी, तब किसी सैनिक ने उससे आकर पूछा—"क्यों भाई, इधर से राजा की शोभा यात्रा गयी है क्या ?"

उस बाण बनाने वाले ने कहा—"मै नही जानता।" क्यों नहीं जानते जी तुम ? राजा के साथ चतुरंगिनी सेना थी, लाखों आदमी उनके साथ में थे, तुम्हारी आँखें खुली थीं, तुम आँख बन्द करके सो भी नहीं रहे थे, बाजे वेग के साथ बज रहे थे, तुम्हारे कान खुले थे, तुम बहरे भी नहीं थे, फिर भी क्यों नहीं देखा सुना ?"

इसका एक ही उत्तर है, मेरा मन कहीं दूसरे स्थान में-बाणों को सीधा करने मे-लगा था। मन की सहायता के बिना इन्द्रियाँ विषयों का साक्षात्कार कर नहीं सकती। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, पर है। मन भी केवल संकल्प विकल्प ही कर सकता है। इस काम को करें या न करें। यह अच्छा है या बुरा, इससे लाभ है या हानि। मन अपने विचार को बुद्धि के सम्मुख प्रस्तुत भर कर सकता है। यह निर्णय निश्चयात्मिका बुद्धि ही दे सकती है, कि इसे करना चाहिये या न करना चाहिये। इससे लाभ होगा या हानि, बुद्धि जो भी निर्णय दे देगी, उसी के अनुसार मन इन्द्रियों के द्वारा उस कार्य को सम्पन्न कराने की आज्ञा दे देगा। इससे सिद्ध हुआ मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, सूक्ष्म है पर है बुद्धि से परे महत्तत्व है और महत्तत्व से परे अव्यक्त अर्थात् प्रकृति है। महत्तत्व, प्रकृति ये समाष्टि तत्व हैं, शरीर में बुद्धि तक ही सीमित हैं और ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में निवास करते हैं, इस न्याय से गीताकार बुद्धि से परे परमात्मा को बताते हैं। उन परमात्मा से परे कुछ भी नहीं हैं, वे

परमात्मा ही अन्तिम सीमा हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, वे ही चरमलक्ष्य हैं। पराकाष्ठा है।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब भगवान ने इन्द्रियों को मन को और बुद्धि को काम का अधिष्ठान रहने का स्थान बताया, तब अर्जुन ने पूछा—पहिले हम किसका नियमन करें, पहले किसे वशीभूत करने की चेष्टा करें।

इस पर भगवान् ने कहा—"हे भरत कुलभूषण अर्जुन! पहिले तुम इन्द्रियों को अपने वश में कर लो।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! इन्द्रियो के वश करने से क्या होगा?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! करने कराने वाली तो सब इन्द्रियाँ ही हैं। सम्मुख कोई सुंदर सुगन्धित फल रखा है, मन उसे देखकर ललचा उठा, बुद्धि ने भी उसका साथ देकर उसे उठाकर खाने की स्वीकृति दे दी। किन्तु तुम इन्द्रियों को रोके रहे। आँख से उसे देखा ही नहीं। देखा भी तो कर्मेन्द्रियों को संयम में रखा। फ़ेर वहाँ तक गये ही नहीं, हाथों ने उसे उठाया ही नहीं। तो तुम विषयों का उपभोग न कर सकोगे। इसलिये सर्वप्रथम वाह्य इन्द्रियों का संयम करके इस कामरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करो। यह शत्रु बड़ा अनर्थ करता है।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! यह काम क्या अनर्थ करता है?"

भगवान् ने कहा—"यह ज्ञान को नष्ट कर देता है, अज्ञानी बना देता है। विज्ञान को भी नाश कर देता है?"

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान क्या?

भगवान् ने कहा—आचार्यगण जो हमें उपदेश करते हैं ऐसा आचरण करना चाहिये। ऐसा न करना चाहिये। शास्त्र जो विधि निषेध का विधान करते हैं इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—फिर विज्ञान क्या हुआ ?

भगवान् ने कहा—गुरु और शास्त्र ज्ञान का जो फल है, उसे ही विज्ञान या अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं यह विज्ञान ही निःश्रेयस्-मुक्ति-का हेतु है। इसलिये यह काम बड़ा पापी है। अनर्थ की जड़ यही महान् शत्रु है। इन्द्रियों पर विजय पालोगे तो मन और बुद्धि पर भी तुम्हारी विजय हो जायगी।

अर्जुन ने पूछा—"इन्द्रियों पर विजय होने पर मन बुद्धि पर विजय कैसे हो जायगी ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई, मन और बुद्धि भी तो इन्द्रियाँ ही हैं। अन्तर इतना ही है, श्रोत्र, त्वक चक्षु आदि वाह्यइन्द्रियाँ-बाहर के करण-हैं और मन बुद्धि आदि भीतर की इन्द्रियाँ-अन्तःकरण हैं। केवल सूक्ष्मता का ही अन्तर है।

अर्जुन ने पूछा—सूक्ष्मता का क्या अन्तर है, प्रभो !"

भगवान् ने कहा—"देखो, पंडितगण तथा ऋषि मुनियों ने एक क्रम बना रखा है, उनका कथन है कि वाह्यविषयों की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा मन परे हैं। मन से परे बुद्धि है। और बुद्धि से परे वह आत्मा (परमात्मा) है, उससे श्रेष्ठ उससे परे कोई भी नहीं। मुमुक्षु का एकमात्र लक्ष्य परमात्म प्राप्ति ही है। वह तभी सम्भव है, जब इन्द्रियों के द्वारा इस परम शत्रु काम पर किसी प्रकार विजय हो जाय।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने परतत्त्व का उपदेश कर दिया। अब इसका जो फल होगा उसका वर्णन करके भगवान् इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। उसे आपसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

विषयनि तैं है श्रेष्ठ सकल इन्द्रिय समुदाया।
इन्द्रिनि तैं मन प्रबल यही ईश्वर की माया॥
मन तैं हूँ है श्रेष्ठ सूक्ष्म यह बुद्धि विचारी।
बुद्धि भ्रष्ट ह्वै जाय बात सब देइ बिगारी॥
बुद्धि तत्त्व तैं परे जो, आतमा ताकूँ मानियो।
विषय करन मन वश करो, शुद्ध बुद्धि तैं जानियो॥

काम शत्रु को मारने का अन्तिम उपाय

[२२]

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ०, ४३ श्लो०)

छप्पय

शत्रु काम है प्रबल युक्ति तैं वश में होवै ।
विषयनि तैं मन रोकि बुद्धि तैं ताहि सँजोवै ॥
भई बुद्धि वश फेरि काम का करै विचारौ ।
मन यदि वश ह्वै जाय शत्रु कूँ तुरत पछारौ ॥
बुद्धितत्त्व तैं परे जो, आत्मा सूक्ष्म महाप्रबल ।
वश में होवै काम-अरि, होहिं चाहिं जैसो सबल ॥

निष्काम होना ही मुक्ति का मार्ग है, कामना ही संसार बन्धन का कारण है। हिरण्यकशिपु को मारकर जब भगवान् प्रह्लाद जी की स्तुति से प्रसन्न हुए तब भगवान् नृसिंह ने उनसे कोई वर मांगने को कहा।

---

* इस प्रकार हे महाबाहो ! बुद्धि से परे (परमात्मा) को जानकर सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा मन को वश मे करके इस काम रूप दुर्जय शत्रु को मार डालो ॥४३॥

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो ! जब आपके साक्षात् दर्शन हो गये, तब और वर क्या माँगू ?

भगवान् ने हठ की ओर कहा—"नहीं, तुम्हारी इच्छा न हो, तो भी मेरी प्रसन्नता के निमित्त तुम मुझसे कुछ वर अवश्य माँग लो। इस से मुझे प्रसन्नता होगी। तुम्हारी जो भी कामना हो, वही वर माँगलो।"

प्रह्लाद जी ने कहा—"प्रभो ! आप नहीं ही मानते हैं और वर माँगने का हठ ही करते हैं, तो मैं यही वर माँगता हूँ, कि मेरे मन में कोई काम की वासना ही न उठे। मेरी समस्त कामनाओं का जड़ मूल से नाश हो जाय।"

यही भागवत धर्म में दीक्षित पुरुषों की सच्ची अभिलाषा है, मनुष्य को चौरासी के चक्कर में डालने वाली ये भाँति-भाँति की कामनायें ही हैं। संसार में सबसे बड़ा शत्रु यह 'काम' ही है। भोगों की इच्छा-विषय वासनाओं की कामना-भोगों में स्पृहा-यही संसार बन्धन को दृढ़ करने वाली हैं।

भगवत् कृपा से गुरु और शास्त्रोंपदृष्ट मार्ग से इस काम रूप शत्रु पर विजय हो जाय तभी मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जायगा।

काम जब मन में आता है, तो सबसे पहिले अन्तःकरण की शान्ति को ही नष्ट करता है। इस सम्बन्ध की धार्मिक ग्रन्थों में अनेक कथाएँ हैं। रैक्व मुनि की हंसों द्वारा प्रशंसा सुनकर राजा जानश्रुति उनके पास ब्रह्मज्ञान का उपदेश लेने गया। मुनि को उन्होंने भाँति-भाँति के धन रत्न देने चाहे। मुनि ने यही कहा—"राजन् ! ये वस्तुएं तो उन्हें देनी चाहिये जिन्हें संसारी भोगों की कामना हो, इन वस्तुओं से ब्रह्मज्ञान नहीं खरीदा जा सकता। दुःख तथा अशान्ति का कारण 'काम' ही है।

एक कोई-महात्मा थे, उनके मन में एक फल के खाने की कामना हुई। फल तोड़ कर खाया, वह खट्टा था, उनकी कामना और बढ़ी। मार्ग में एक दूसरे महात्मा साधारण वेष में पड़े थे, उनके शरीर पर मक्खियाँ भिनक रही थीं मच्छर उन्हें काट रहे थे।

उन महात्मा को देख कर इन मैले कुचैले महात्मा ने कहा—"आइये, भगवन्! अच्छे आये। कहिये फल खट्टा निकला न? मीठे फल खाने की कामना है?"

इन महात्मा ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"स्वामिन्! आपको कैसे पता कि मेरी अमुक फल खाने की कामना है?"

महात्मा ने कहा—"यह भी कोई बड़ी बात है क्या? मन तुम्हारे शरीर में रहे या मेरे में। मन तो एक ही है। जिसे भगवत् साक्षात्कार हो गया है। उसे किसी के भी मन की बात जानने में कठिनायी नहीं होती।"

उन महात्मा ने कहा—"महात्मन्! आप भगवत् साक्षात्कार करने वाले सिद्ध सन्त हैं, तो भगवान् से कह क्यों नहीं देते, ये मक्खी मच्छर आपको इतना कष्ट दे रहे हैं, इन्हें भगवान् आपके शरीर से हटा दें।"

तब उन महात्मा ने कहा—"ब्रह्मन्! ये मक्खी मच्छर उतना कष्ट नहीं दे रहे हैं, जितना कष्ट आपको अमुक फल खाने की कामना दे रही है। शरीर तो अनित्य है नाशवान् है इसे कोई कष्ट क्या देगा। सबसे बड़ा कष्ट देने वाला तो महान् शत्रु यह काम ही है। जिसने कठिनता से जीते जाने वाले इस शत्रु पर विजय पाली है, उसे बाहरी व्यक्ति कोई कष्ट नहीं पहुँचा सकता। अतः सबसे पहिले आपने ही शरीर में रहने वाले इस काम को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने बुद्धि से परे परमात्म तत्त्व को बताया, अर्जुन ने पूछा—तब प्रभो ! यह काम तो बीच में पड़ा ही रहेगा। हम इन्द्रियों का संयम भी करलें, किन्तु मन में काम वासना बनी ही रहे, तो परमात्म तत्त्व की प्राप्ति तो हो नहीं सकती, क्योंकि यह पापी काम तो ज्ञान विज्ञान का विनाशक ही है।

भगवान् ने कहा—"केवल इन्द्रियों के ही रोकने से काम थोड़े ही चलेगा। मैंने तो क्रम बताया, कि जैसा ऊपर चढ़ने को सर्व प्रथम पहिली सीढ़ी पर पैर रखना होगा, फिर क्रम-क्रम से सब सीढ़ियों को चढ़ते हुये झट ऊपर पहुँच जायंगे। पहिली सीढ़ी पर बिना पैर रखे आप कैसे ऊपर चढ़ सकते हैं ? इसलिए सबसे प्रथम तुम वाणी आदि इद्रियों का सयम करो। फिर मन का संयम करो सद्-असत् के निश्चय करने वाली बुद्धि द्वारा इस काम रूपी शत्रु को मार डालो।

अर्जुन ने पूछा—"क्या भगवान् बुद्धि से ही जाने जा सकते हैं, क्योंकि वे बुद्धि से परे है।

भगवान् ने कहा—"मैं तो वाणी, मन तथा बुद्धि का विषय नहीं हूँ, फिर भी बुद्धि मुझे मेरे समीप तक पहुँचा देती है। जैसे कोई व्यक्ति मन्दिर में जाकर भगवान् की अर्चा विग्रह-मूर्ति-के दर्शन करना चाहता है तो रथ के द्वारा वह दर्शन करने जा सकता है, किन्तु रथ उसे मन्दिर के जगमोहन तक तो ले जा नहीं सकता, क्योंकि जगमोहन के भीतर जाने का उसे अधिकार ही नही। रथ तो केवल तुम्हें मन्दिर के द्वार पर ले जाकर बाहर पहुँचा देगा। वहाँ से रथ से उतर कर स्वयं ही तुम्हें मन्दिर की मूर्ति तक पैदल जाना पड़ेगा। दर्शनों में जो शत्रुबाधक हो, तुम्हें वहाँ तक जाने में विघ्न

उपस्थित करते हों उन पर विजय प्राप्त करके ही आप मूर्ति तक पहुँच सकेंगे। जो विष्णु का परम पद है वहाँ तक आपको शरीर रूपी रथ जिसमें इन्द्रियाँ रूपी घोड़े जुते हुये हैं बुद्धि रूपी सारथी पहुँचा सकता है द्वार पर काम रूपी दुरासद् शत्रु काम खड़ा है। उसे निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा मारकर परम-पद-मोक्ष के समीप पहुँच जाओगे। बिना शत्रु को मारे आप पर तत्त्व को प्राप्त नही नहीं कर सकोगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने भगवद् गीता के तीसरे अध्याय में निष्काम कर्म की उपादेयता का वर्णन किया है। अब चतुर्थ अध्याय में जैसे ब्रह्मार्पण योग का वर्णन करेंगे, उस कथा को मैं आप से आगे कहूँगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योग शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

छप्पय

भगवद् गीता माहिँ तृतीय अध्याय मनोहर।
बरनन प्रभु ने कर्यो सुखद अति करम योग वर॥
सुख दुख लाभ अलाभ पराजय जय सम करिकें।
सकल कामना त्यागि लड़ौ निष्कामी बनिकें॥
काम शत्रु कूँ मारि कें, करम योग करि बनो मुनि।
यह प्रकरन पूरन भयो, ब्रह्मार्पन को मरम सुनि॥

श्री पार्थसारथये नमः

गीता-वार्ता

चतुर्थोऽध्यायः

(४)

परम्परा प्राप्त योग

श्री भगवानुवाच

[१]

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

बोले श्री भगवान–ज्ञान यह अज अविनाशी ।
मैं ही वक्ता प्रथम सकल घट घट को वासी ॥
सर्व प्रथम यह ज्ञान सूर्य कूँ मैंने दीयो ।
सुत वैवस्वत दयो पाइ तिनि धारन कीयो ॥
वैवस्वत ज्ञानी बड़े, मनुपद अधिकारी भये ।
दयो पुत्र इक्ष्वाकु कूँ, नृपति कृतारथ ह्वै गये ॥

---

* श्री भगवान् कहते हैं—यह जो अविनाशी योग है, इसे मैंने पहिले विवस्वान् से कहा था । विवस्वान् ने मनु से कहा और मनु ने राजा इक्ष्वाकु से कहा ॥१॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार वंश परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना । यह योग चिरकाल से इस लोक मे लोप हो गया था ॥२॥

जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं, जिन उपकरणों से किया जाता है उसे साधन कहते हैं, जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किया जाता है उसे साध्य कहते हैं। कर्म करने के पूर्व साध्य-साधन का निर्णय हो जाना चाहिये। मनुष्य एक बुद्धिजीवी प्राणी है। अन्य योनि वाले गुणप्रवाह में बहने वाले स्वभावानुसार कर्म करने वाले हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि सामान्य कर्म पशुओं में मनुष्यों में प्रायः समान हैं, अन्तर इतना ही है, कि अन्य योनि वाले परमार्थ के निमित्त साधन नहीं कर सकते, मनुष्य परमार्थ के लिये प्रयत्न या साधन कर सकता है, अतः मनुष्य का एक दूसरा नाम साधक भी है। इस साधक या मनुष्य जन्म का साध्य क्या है, ऋषि, मुनि, वेदशास्त्र सभी एक स्वर से कहते हैं मनुष्य का साध्य मोक्ष है। मोक्ष क्या है, इस विषय में मतभेद है। कुछ सकाम कर्मावलम्बी स्वर्ग सुख को ही मोक्ष कहते हैं, कुछ शून्य को ही मोक्ष कहते हैं। वेद शास्त्र उस स्थिति को मोक्ष कहते है—जहाँ द्वन्द्वों का अभाव हो, परम शान्ति हो, परमानन्द हो, जिसमें जन्म मरण का चक्र न हो, जो नित्य, शाश्वत, सनातन, निर्भय पद हो।

इस मोक्ष की प्राप्ति के साधन, उपाय या निष्ठा क्या हैं? शास्त्रकारों ने मोक्ष प्राप्ति के बहुत से उपाय बताये हैं। किन्तु शास्त्रकारों ने उन सब साधनों को दो भागों में बाँट दिया है, एक कर्म मार्ग दूसरा ज्ञान मार्ग, उसे ही प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग, सांख्य और योग मार्ग, क्रम मार्ग सद्यःमार्ग आदि अनेक नामों से पुकारा गया है। वेद में दो प्रकार के वचन आते हैं, कर्मों को करते रहना चाहिये और कर्म मात्र बन्धन के कारण हैं, अतः कर्मों को छोड़ना चाहिये। दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। अतः ऋषियों ने दोनों के दो प्रकार के साधन बताये हैं।

कर्म करते रहना चाहिये, इसी का नाम कर्म मार्ग है, अर्थात् कर्म करते हुए मोक्ष पाने का मार्ग। दूसरे कर्म न करना चाहिये, अर्थात् संसार से वैराग्य करके जितना भी कर्मों को छोड़ सके उन्हें छोड़ते रहने का नाम त्याग मार्ग, सन्यास मार्ग या ज्ञान मार्ग है। उसमें त्याग के ही द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। मुक्ति करना दोनों का ही लक्ष्य है, एक कर्म के द्वारा दूसरे ज्ञान के द्वारा।

ये दो मार्ग सनातन हैं, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ये ब्रह्माजी के सात मानस पुत्र प्रजापति के पद पर प्रतिष्ठित हैं ये कर्म परायण पुरुषों के लिये कर्म मार्ग के आचार्य है। सन, सनत्सुजात, सनक, सनंदन, सनत् कुमार, कपिल और सनातन ये सात भी ब्रह्मा जी के मानस पुत्र ही हैं इनको स्वयं विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति धर्म के आचार्य हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म दोनों ही सनातन मार्ग हैं। दोनों ही निष्ठायें सदा से चली आ रही है और दोनों से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। बिना त्याग के तो अमृतत्त्व अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती नहीं अतः त्याग की प्रधानता तो दोनों में ही है अन्तर इतना ही है, कि कर्म मार्ग वाले आरम्भ में वेदोक्त कर्मों को कर्तव्य बुद्धि से करते हुए अन्त में त्याग करते हैं। सांख्य माग वाले कर्मों का आदर नहीं करते, वे कहते हैं, जिस क्षण भी जहाँ भी वैराग्य हो जाय उसी क्षण जहाँ भी हो, चाहे घर में हो या वन में प्रव्रज्या ले लेनी चाहिये। सर्वस्व त्यागकर ब्रह्म विचार में ही लीन बने रहना चाहिये। कर्म मार्ग वालों का कहना है, देखो, वेद कर्म परक है, उसमें कर्म करने पर ही बल दिया गया है। वेद की एक लाख श्रुतियों में ९६ सहस्र ऋचायें कर्म परक ही हैं अतः वर्णाश्रम विहित कर्मों को करते ही रहना चाहिये।

मोक्ष प्राप्ति की ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार सीढ़ियाँ हैं। इन सीढ़ियों से चढकर मनुष्य ब्रह्मलोक में सम्मानित होता है, अतः क्रम पूर्वक आश्रम से आश्रम में जाना ही चाहिये। यही कर्म मार्ग का रहस्य है। व्यास जी ने अपने परम विरक्त पुत्र शुकदेवजी को सब शास्त्र पढ़ाकर जब ज्ञान प्राप्ति के लिये महाराज विदेह जनक के पास भेजा, तो पहिले तो महाराज जनक ने उनकी अनेक प्रकार से परीक्षा ली जब उनकी बुद्धि को सुख-दुख में, मान अपमान में, धन और मिट्टी में, मृतक मास और स्त्री में सम देखा तो उनके प्रश्न करने पर उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया। पहिले उन्होंने यही बताया, क्रम पूर्वक वर्णाश्रम धर्म का श्रद्धा से पालन करना चाहिये जब शुकदेवजी ने पूछा—"किसी को इच्छा गृहस्थ बनने की न हो, तो क्या उसे मुक्ति की प्राप्ति न होगी ?

इस पर महाराज जनक ने कहा—"नहीं, जिन्हें उत्कट वैराग्य हो, संसारी भोगों की तनिक भी स्पृहा न हो, घर परिवार के लोगों में ममता न हो तो ऐसे साधक के लिये गृहस्थ होने की कोई आवश्यकता नहीं। उसे त्यागमार्ग ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। तुमको गृहस्थ बनने की आवश्यकता नहीं। तुम सर्वोत्तम ज्ञान के अधिकारी हो। इस प्रकार उनको कर्म मार्ग का रहस्य बताकर ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया।

कर्ममार्ग में कर्मों का दृढ़ता से पालन करते रहना चाहिये बलि वैश्व देव यज्ञ देवता, पितर तथा अतिथियों का पूजन निष्ठा से करते रहना चाहिये। देव, ऋषि तथा पितरों के ऋण से उऋण होने के लिये यज्ञ, दान और पुत्रोत्पत्ति करनी ही चाहिये। जिसके पुत्र नहीं उसकी गति नहीं। ज्ञानमार्गी साधक किसी का

ऋणी नहीं, उसका किसी भी प्राणी के प्रति लेना देना नहीं, उसे तो निरन्तर ब्रह्मज्ञान में लीन रहना चाहिये।

इस प्रकार इन दो सनातन मार्गों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग भी है, उसे निवृत्त मूलक प्रवृत्ति परक कर्म मार्ग कहते हैं। इसमें कर्मों को करते रहने पर विशेष बल है इसलिये है तो यह कर्म मार्ग के ही अन्तर्गत, किन्तु भावना में अन्तर होने के कारण इसे निष्काम कर्मयोग, ब्रह्मार्पणमार्ग, भक्तिमार्ग, भागवतधर्म, सात्वत पन्थादि नामों से पुकारते हैं। यद्यपि यह मार्ग है तो सनातन किन्तु बीच-बीच में यह मार्ग लुप्त प्रायः हो जाता है। भगवान् अधिकारी के सम्मुख इसे प्रकट करके इसकी पुनः वारम्वार प्रतिष्ठा करते हैं। अब के भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने इसी निष्काम कर्मयोग अथवा भक्ति रूप धर्म एवं अनन्य योग को जो उनके समय में चिरकाल से नष्ट हो गया था, युद्ध क्षेत्र में अर्जुन के प्रति कहा था। महाभारत में जब जनमेजय ने वैशम्पायन मुनि ने पूछा—"भगवन् किसने इस धर्म को कहा। वे कोई देवता थे या ऋषि, जो एकान्तिक अनन्य भक्त हैं उनकी दिनचर्या क्या है और यह धर्म कब से उत्पन्न हुआ। इसे सुनने को मेरे मन में बड़ा कुतूहल है मेरी इस शंका को निवारण कर दीजिये ?"*

इस पर वैशम्पायन जी ने कहा—राजन् ! जिस काल में कौरव और पांडवों की दोनों सेनायें आमने सामने युद्ध के लिये आ डटी थी और उस समय अर्जुन युद्ध से विमनस्क हो गये थे,

---

* कोनेष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा।
एकान्तिना च का चर्या कदा चोत्पादिता विभो ॥
एतन्मे सशय छिन्धि परं कौतूहलं हि मे।
(म० भा० शांति० प० ३४८ अ०)

उस समय स्वयं साक्षात् भगवान् ने गीता में इस धर्म को उपदेश दिया था। †

इसका नाम पांचरात्र पूजा पद्धति भी है। महाभारत के शांति पर्व के अन्तर्गत एक मोक्ष पर्व है, उसमें मोक्ष के उपायों का कितने विस्तार से वर्णन किया गया है, मोक्ष की इच्छा वालों को इस पर्व को बार-बार पढना चाहिये। मोक्षधर्म पर्व में एक नारायणीयोपाख्यान है। एक बार नारद जी बदरीवन में भगवान् नरनारायण जी की सेवा में गये। वहाँ उन्होंने उनसे परतत्त्व के सम्बन्ध में पूछा। भगवान् नारायण ने परमात्मा को ही सर्वश्रेष्ठ पूजनीय बताया, और उन्हें श्वेतद्वीप में जाकर श्वेतद्वीपवासी नारायण के दर्शन करने की आज्ञा दी। नारदजी श्वेतद्वीप में गये और वहाँ के दिव्यपुरुषों को देखकर तथा वहाँ की पूजा पद्धति को देखकर बड़े चकित हुए। वहीं नारदजी ने भगवान् की पांचरात्र विधि से पूजा देखी।

पांचरात्र विधि मे यज्ञ करने के सम्बन्ध में राजा उपरिचर की कथा है, राजा उपरिचर तप प्रभाव से ऊपर ही ऊपर रहा करते थे वे सात्वत धर्म या ऐकान्तिक धर्म के उपासक थे। अपने यज्ञों में वे वन के फल फूलों की ही बलि देते थे, सत्य में तत्पर रहते थे और कभी हिंसा नहीं करते थे। उन्होंने अपने राज्य, धन, स्त्री और वाहन आदि सभी उपकरणों को भगवान् की ही वस्तु समझकर, सब उन्हीं को समर्पित कर रखा था।*

---

† समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुनेविमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥

* आत्मराज्य धनं चैवं कलत्रं वाहनं तथा।
यत्तद्भागवतं सर्वमिति तत् प्रोक्षितं सदा॥
(महा० भा० शां० प० ३३५ अ०, २३ श्लो०)

पांचरात्र विधि से ही वे यज्ञयागादि कराते थे। पांचरात्र विधि से यज्ञ कराने के सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कथा का वर्णन है। राजा उपरिचर के यहाँ अश्वमेध यज्ञ हुआ। शास्त्र की समस्त विधियाँ सम्पन्न हुईं, किन्तु किसी भी पशु का वध नहीं हुआ। बृहस्पति जी उस यज्ञ के आचार्य थे। भगवान् ने अदृश्य होकर ही अपना भाग ग्रहण किया। इस पर बृहस्पति जी बहुत कुपित हुए तब एकतमुनि ने उनको भगवान् की महिमा बतायी और कहा—मुनिवर हम श्वेतद्वीप जाकर भी भगवान् के दर्शन न कर सके। भगवान् जिसे दर्शन देना चाहें उन्हे ही दर्शन देते हैं। क्रोध करने से नहीं। इस प्रकार महाराज उपरिचर वसु सात्वत धर्मावलम्बी थे। एक बार जब ब्राह्मणों में और देवताओं में इस बात पर विवाद हुआ कि वेद में "अज से हवन करना चाहिये" अज क्या ? ब्राह्मण तो कहते थे 'अज' का अर्थ बीज है, जो तिल आदि। देवता कहते थे अज का अर्थ बकरा है। इन उपरिचर वसु को मध्यस्थ बनाया। इन्होंने देवताओं का पक्षपात करके 'अज' का अर्थ बकरा बता दिया। इससे ब्राह्मणों ने शाप देकर इन्हें नीचे गिरा दिया और एक गुफा में रहने लगे। उन्होंने भगवान् की आराधना की थी, अतः भगवत् कृपा से उनका पुनः उत्थान हो गया।

सत्ययुग में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी, ज्यों-ज्यों धर्म कम होने लगा लोगों में सकामता बढ़ने लगी तो त्रैगुण्य वेदत्रयी का प्रचार होने लगा। त्रेतादि युगों में मन्त्रों द्वारा पवित्र किये हुए पशुओं का यज्ञों में वध आरम्भ हुआ। तब सकाम कर्मों का प्रचलन हुआ। ये सकाम कर्म वाले नियत काल तक प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फलों को लक्ष्य करके प्रवृत्ति मार्ग का आश्रय लेने लगे। इन कर्म परायण

पुरुषों में यही बड़ा दोष आ गया। ये अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो गये। इनका लक्ष्य मोक्ष न होकर नियत काल पर्यन्त स्वर्गीय सुखों का भोग ही रह गया। उन यज्ञों के पुण्यों की सीमा में आबद्ध होकर ही वे सकाम कर्म करने लगे और उसी के अनुसार उन्हें फल भी मिलने लगा। इस प्रकार प्रवृत्ति मार्ग या कर्म मार्ग में तीन भाँति के लोग हो गये। एक तो मोक्ष को लक्ष्य करके वेद शास्त्र की आज्ञा को मानकर कर्तव्य बुद्धि से कर्म करने वाले वर्णाश्रमी। यदि वे विधिवत् वेद की आज्ञाओं का पालन करते हुए अव्यग्रभाव से निरन्तर वर्णाश्रम विहित कर्मों में जुटे रहे तो चाहे कितने भी समय के पश्चात् वे ब्राह्मण होंगे फिर सन्यासी होंगे ब्रह्मलोक में जायँगे। वहाँ ब्रह्मा के साथ मुक्ति के अधिकारी होंगे। सकाम कर्म करने वाले यज्ञीय पुण्यों के प्रभाव से स्वर्ग जायँगे पृथ्वी पर आयँगे, फिर स्वर्ग जायँगे। ज्ञानमार्ग के उत्तम अधिकारियों को न वर्ण की अपेक्षा, न आश्रम की अपेक्षा वे अपने ज्ञान वैराग्य और घोर तितिक्षा द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेंगे।

अब निष्काम कर्म योग एक बीच का मार्ग रहा। उसमें कर्म तो करते जाओ, किन्तु फल की अपेक्षा मत करो। ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करो। प्रधानतया इसी निष्काम कर्मयोग का उपदेश भगवत् गीता में दिया गया है और इसी मार्ग को भक्तिमार्ग सात्त्वत मार्ग कहा।

सात्त्वत धर्म की उपदेश परम्परा बताते हुए वैशम्पायन मुनि ने ब्रह्मा जी के सात जन्मों की परम्परा दी है, ६ धर्मों की परम्परा बताने के अनन्तर कहा—यह जो ब्रह्माजी का भगवान् की नाभि कमल से सातवां जन्म हुआ है, इसमें स्वयं नारायण ने ही इस सात्त्वत धर्म का उपदेश ब्रह्मा जी को दिया। ब्रह्माजी ने

प्रजापति दक्ष को। दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र सविता से भी बड़े पुत्र को इस धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने विवश्वान् सूर्य को दिया। सूर्य ने मनु को, मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु के द्वारा इस धर्म का सर्वत्र प्रचार हुआ। कल्प के अन्त में यह धर्म पुनः नारायण में ही विलीन हो जायगा।

महाभारत में तो ऐसी विस्तार की ब्रह्माजी के सात जन्मों की परम्परा है। श्रीमद्भगवत् गीता में भगवान् ने इसे अति संक्षिप्त कर दिया है, इसलिये कि भगवान् का इतना ही बताने का तात्पर्य है कि यह निष्काम कर्मयोग ब्रह्मार्पण योग या भक्ति मार्ग कोई नूतन मार्ग मैं नहीं बता रहा हूँ। यह मेरा सनातन मार्ग है, जब-जब यह समय पाकर लुप्त हो जाता है, तब-तब मैं स्वयं योग्य अधिकारी द्वारा इसे पुनः प्रकट कर देता हूँ। श्री भगवत् गीता में वर्णाश्रम धर्म का भी वर्णन है, उसकी प्रशंसा भी है, सकाम कर्मयोग का भी वर्णन है उसकी निन्दा भी है, ज्ञानमार्ग या संन्यास मार्ग का भी वर्णन है, उसकी महान प्रशंसा है, उसके अधिकारी को सर्वश्रेष्ठ बताया है, उसके लिये विधि निषेध नहीं है यह भी बताया है, किन्तु गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मार्पण योग भक्तियोग या निष्काम कर्मयोग ही है, जिसका विस्तार भगवान् वेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवत में किया है। श्री मद्भागवत के बिना पढ़े गीता का अर्थ लग ही नहीं सकता।

महाभारत काल में दो ही मार्गों का प्रचलन था। वर्णाश्रम धर्म प्रवृत्ति मार्ग अथवा ज्ञान मार्ग निवृत्ति मार्ग अथवा संन्यास धर्म यह निष्काम योग, ब्रह्मार्पण योग, भक्ति योग लुप्त प्रायः हो गया था। भगवान् ने अर्जुन के माध्यम से उसे पुनः प्रकट किया। इसे श्री भगवान् स्वयं ही अपने श्रीमुख से कह रहे हैं। श्रीमद्-भगवत्गीता के चतुर्थ अध्याय का कहीं तो 'ज्ञान-कर्म संन्यास

योग 'नाम है, कहीं ब्रह्मार्पण योग। जहाँ ज्ञान कर्म संन्यास योग है उसका अर्थ यों लगाना चाहिये कि साधारण लोग जो कार्य करते है वह अज्ञान पूर्वक कार्य करते हैं, किन्तु ज्ञान पूर्वक किये हुये कर्म संन्यास के ही सदृश है। ज्ञान पूर्वक किये हुये कर्मों से बन्धन नहीं होता, प्रत्युत जो गति संन्यासी की होती है, वही गति ज्ञान पूर्वक कर्म करने वाले कर्म योगी संन्यासी की भी होती है। ब्राह्मार्पण योग का अर्थ हुआ, सब कर्मों को ब्रह्मार्पण भाव से करो। इस कर्म का मुझे यह फल मिले ऐसी भावना न रखकर सब कर्मों को ब्रह्म के अर्पण कर दिया करे। किसी वस्तु को आप किसी को अर्पण कर दें उसे दे देंगे फिर आपका उसके फल पर, सुख-दुख पर कोई स्वत्व नहीं रहेगा। इस ब्रह्मार्पण अव्यय योग की परम्परा भगवान् बताते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब भगावन् ने काम रूपी शत्रु को मारकर निष्काम भाव से कर्म करने को कहा, तब यह शंका स्वभाविक उठती है, कि कर्म या तो वर्णाश्रम धर्म के पालन के हेतु किये जाते है, या मोक्ष के लिये सर्वथा कर्मों का संन्यास करने का विधान है, यह तो नई सी बात ही प्रतीत होती है, कि कर्म करते भी रहो किन्तु उनका फल मत चाहो, कर्म करते हुए भी संन्यासी बने रहो।

इस पर भगवान् बिना पूछे स्वयं ही इस निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग अथवा सात्वत धर्म की संक्षिप्त परम्परा बताते हुए कहते हैं—"अर्जुन! इस कभी भी व्यय न होने वाले योग का मैंने पहिले विवस्वान् को उपदेश दिया था।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! आपने तो विवस्वान् जी को शिष्य बनाया, फिर विवस्वान् जी ने अपना शिष्य किसे बनाया।"

भगवान् ने कहा—पुत्र अपनी आत्मा ही होता है। विवस्वान्-कोई घर बार छोड़कर संन्यासी तो बने नहीं, वे तो घर में ही रहकर मेरे उपदेश से ब्रह्मार्पण बुद्धि से निष्काम कर्मों को करते रहे। अतः उन्होंने इस सम्प्रदाय की रक्षा के लिये अन्य बाहरी किसी को शिष्य न बना कर अपने पुत्र वैवस्वत मनु को ही इसका उपदेश दिया।

अर्जुन ने पूछा—वैवस्वत मनु ने किसे अपना शिष्य बनाया ?

भगवान् ने कहा—वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति आदि दश पुत्र हुए। इन में इक्ष्वाकु सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र थे। अतः मनु जी ने फिर इस योग का उपदेश इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु के सौ पुत्र हुए। वे सबके सब राजा हुए। बड़े पुत्र विकुक्षि से तो इक्ष्वाकु असंतुष्ट हो गये थे। इसलिये उन्होंने अपने किसी योग्य पुत्र को इसका उपदेश दिया होगा। इस प्रकार यह योग परम्परा से प्राप्त राजर्षियों में प्रचलित हुआ, किन्तु हे परतप अर्जुन ! काल की कराल कुटिल गति है, समय सदा एक सा नहीं रहता है। वह परिवर्तनशील है। इस द्वापर के अन्त में कलियुग के आरम्भ में जो यह महाभारत युद्ध हो रहा है, तब से अब तक बहुत समय बीत गया। पहिले भी मैंने सृष्टि के आदि में अनेकों बार ब्रह्मा को उपदेश दिया था और समय पाकर यह नष्ट हो गया था। उसी प्रकार अब भी अदृश्य हो गया, लोप हो गया। अब इस योग की परम्परा समाप्त हो गयी। इस सम्प्रदाय का लोप प्रायः हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने यह कहा कि विशेषतः राजर्षियों के जानने योग्य यह योग नष्ट हो गया, तब अर्जुन ने कहा—प्रभो ! यह तो बड़ा बुरा हुआ। ऐसा दिव्य योग समय पाकर नष्ट हो गया। अब इसके उद्धार का कोई उपाय

नहीं है क्या ? इसका भगवान् जो उत्तर देंगे, उसे आगे आप दत्तचित्त हो कर श्रवण करें।

छप्पय

नृपति वीर इक्ष्वाकु फेरि पुत्रनि कूँ दीन्हों।
धारन काहू करयो नहीं काहू ने चीन्हों॥
काल पाइ कें बीज अदरशन भयो यहाँ तैं।
राजरिषिनि के योग्य कहूँ हौं तोतैं तातैं॥
नष्ट भये जा जोग कूँ, तोकूँ आजु सुनाउँगो।
सबई संशय दूरि करि, धरमयुद्ध करवाउँगो॥

भक्त सखा समझकर तुमसे रहस्य कहता हूँ

[२]

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

तू है मेरो भक्त सुहृद् सुठि मित्र सनातन ।
ताई तैं यह कह्यौ तोइ तैं योग पुरातन ॥
स्वजन देखि कछु कहें उठै मन भाव मिले तैं ।
होवै हिय में हरष रहस की बात कहे तैं ॥
गुप्त योग यह सुगम अति, उत्तम है सब योग तैं ।
श्रद्धा तैं आचरन करि, छुटि जावै भवभोग तैं ॥

---

* वही यह पुरातन योग आज मैंने तुम्हारे प्रति कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त हो, सखा हो। यह योग बड़ा उत्तम है और सब किसी को बताने योग्य भी नहीं है ॥३॥

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! आपका जन्म तो पीछे हुआ है और विवस्वान् का जन्म बहुत पहिले हुआ है, फिर मैं यह कैसे जानूँ कि बहुत पहिले आपने ही इसे कहा था ॥४॥

रहस्य की बात सबके सम्मुख नहीं कही जाती। जो जिस बात को समझने की क्षमता न रखता हो, उसके सम्मुख उसे कहना व्यर्थ है। ४-५ वर्ष की कोई बच्ची अथवा बालक है, उसके सम्मुख कोई विवाहित युवती पति-सुख सम्बन्धी बातें करे। वैसे हाव-भाव कटाक्षों का प्रदर्शन करे, तो वे उसे क्या समझ सकेंगे। हाँ जिस युवक या युवती ने उस सुख की अनुभूति की है, वे केवल संकेत मात्र से ही सब समझ जायेंगे। अतः अधिकारी के ही सम्मुख कहना उचित है।

जिसका जिसके प्रति प्रेम है, अनुराग है, स्नेह है, वह उसका प्रेमी है, अनुरागी है, किन्तु यही प्रेम, अनुराग या स्नेह सांसारिक भावना से न होकर भगवत् भावना से हो तो उसी प्रेम या स्नेह को भक्ति कहते हैं और जिसमें किसी के प्रति भगवत्-भाव हो गया हो, उसे भक्त कहते हैं। भक्ति के अनेक भेद हैं। भक्त में और भगवान् में कैसा स्नेह होना चाहिये, इस विषय पर भक्ति शास्त्रों में बड़े विस्तार से विचार किया गया है। भक्त और भगवान् में कैसा सम्बन्ध होता है, इस सम्बन्ध में ५ रस माने गये हैं। शान्तरस, दास्यरस, वात्सल्यरस, सख्यरस और मधुररस।

जब भक्त भगवान् को सर्वान्तर्यामी मानकर शांतभाव से बैठकर उसकी अनुभूति करता है, उसे शांतरस के आस्वादन करने वाला भक्त कहते हैं। वह शरीर से नहीं—अन्तःकरण में—ब्रह्म का संस्पर्श पाता है और उस स्पर्श से वह पुलकित होकर आनन्दानुभव करता है।

यही रस जब और घनीभूत होता है, तो भगवान् को अपना स्वामी मानकर और अपने को उनका दास समझ कर सेवा में संलग्न हो जाता है, तब यही रस दास्यरस के रूप में परिणत हो जाता है। स्वामी की सेवा में कितना रस आता है, इसका अनु-

भव बिना दास बने कोई कर ही नही सकता। दास की यही भावना रहती है कौन सा कार्य करके मै अपने स्वामी को सुख पहुँचा सकूँ। दास का अपना निजका कोई सुख नहीं। उसे तो स्वामी के ही सुख में सुखानुभूति होती है। स्वामी अपनी रसना से जिस रस का आस्वादन करता है, उसका सुख सेवक ही अनुभव करता है। स्वामी की चरण सेवा में स्वामी को जो भी सुख मिलता हो, सेवक समझता है अहा! मेरे हाथ कृतार्थ हो रहे हैं, जो स्वामी के चरणारविन्दों के स्पर्श सुख को प्राप्त कर रहे है। वास्तव में स्वामी की सेवा से सुख सेवक को ही मिलता है। जिस सेवा में स्वयं को सुखानुभूति न हो, वह सेवा न होकर चाकरी है, नौकरी है, बेगार है, लोभ-लालच के लिये किया हुआ कार्य है। सेवारस सबसे श्रेष्ठरस है, किन्तु इसमें स्वामी और सेवक के बीच कुछ संकोच बना रहता है, यह संकोच भी हट जाय और स्वामी को स्वामी न समझकर अपना पुत्र समझ ले तो वही दास्यरस वात्सल्यरस में परिणित हो जाता है, जैसे ईख के जमे गुड को मैल रहित करने पर उसी गुड़ की चीनी बन जाती है।

वात्सल्यरस में सेवा तो सेवक के ही समान की जाती है, यही नही वत्स की, बच्चे की सेवा स्वामी से भी बढ़कर होती है। माता चाहे जितना बहुमूल्य साड़ी पहिने हो, बच्चा बिना संकोच के आकर उससे अपनी नाक पोछ देता है, माता को इससे प्रसन्नता ही होती है। माता को वत्स के मल-मूत्र उठाने में कोई संकोच नहीं। छोटी से छोटी सेवा को माँ बड़े स्नेह से लाड़-प्यार से करती है। वात्सल्यजनित सेवा एक पराकाष्ठा की सेवा है, इतना सब होने पर भी माता-पिता और पुत्र में कुछ संकोच रहता ही है। वह संकोच भी जहाँ न रहे हृदय की गूढ से गूढ़ रहस्य से रहस्य

बात जिसके सम्मुख कही जा सकती हों, वह सम्बन्ध सख्य सम्बन्ध कहलाता है।

एक सखा अपने दूसरे सखा से कुछ छिपाता नहीं, सब कहने न कहने योग्य बातों को हृदय खोलकर स्पष्ट कह देता है। विहार, शैया, आसन तथा भोजनादि में कोई दुराव नहीं कोई अलगाव नहीं। एक शैया पर सो जायंगे, एक आसन पर बैठ जायंगे, एक थाली में खा लेंगे। यह सख्य सम्बन्ध स्नेह की पराकाष्ठा है। सच्चा सखा दुर्लभ है, भाग्यशालियों को ही वास्तविक सखा की प्राप्ति होती है, जिसका कोई अपना पृथक् स्वार्थ नहीं, पृथक् सुख नहीं, पृथक् अस्तित्व नहीं। दोनों व्यक्तित्व घुल-मिल जाते है यह सख्यरस की अन्तिम सीमा है, भगवान् के अतिरिक्त ऐसा सम्बन्ध अन्य किसी में सम्भव नहीं। पुरुष के सच्चे सखा वे ही श्यामसुंदर हैं। भक्त को ऐसे सखा मिल जायं, तो फिर उसे कुछ कर्तव्य शेष रह ही नही जाता। यदि भक्त नारी हो और सखा पुरुषोत्तम हो, तो वही सख्यरस मधुररस के नाम से विख्यात हो जाता है। किन्तु एकलिंगी होने से सख्यरस ही सर्वश्रेष्ठ है। संसार में भी सखा होते हैं, किन्तु संसारी सखाओं में सुखानुभूति होने पर भी कुछ संसारीपन तो रह ही जाता है। यदि सखा भक्त है, अपने दूसरे सखा को भगवान् मानकर उसकी भक्ति करता है, तो ऐसे सनातन सखा के सम्मुख तो कोई दुराव की बात ही शेष नहीं रहती है। वह सखा तो सनातन सखा है, अनादि सम्बन्ध वाला सखा है। उसे जीवात्मा परमात्मा कहलो, प्रकृति पुरुष कहलो, नर और नारायण कहलो अथवा भक्त और भगवान् कहलो। दोनों अनादि हैं शाश्वत सम्बन्धी हैं सनातन साथी हैं। वे ही नर और नारायण श्रीकृष्ण और अर्जुन के रूप में द्वापर के अन्त में प्रकट हुए हैं। दोनों में स्वाभाविक मैत्री है,एक दूसरे के बिना रह

नहीं सकते। एक दूसरे से रहस्य की बात छिपा नहीं सकते। नारायण नर के सामने हृदय खोलकर रखते हैं, नर तो कल्याण स्वरूप ही है, उसका कल्याण तो हुआ हुआया ही है, उन दोनों के सम्वाद से लोक का कल्याण होता है। इसीलिये उन दोनों के सम्वाद को उपनिषद् कहते हैं दोनो के मिलन को योग कहते हैं, नारायण शासन करते हैं नर पर, इसलिये यह शास्त्र कहलाता है। भगवान् गाते है, भक्त सखा नर सुनता है इसलिये भगवान् का यह गान भगवद्गीता कहलाता है। यह संसारी विद्या नहीं वास्तव में यह विद्या संसार से मुक्त करने वाली, मुक्ति प्रदान करने वाली है, इसीलिये यह विद्या ब्रह्मविद्या कहाती है। अतः अब ब्रह्मार्पण योगरूप श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद को पाठकगण श्रवण करें।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब भगवान् ने यह कहा कि समय पाकर यह निष्काम कर्मयोग या भक्तियोग नष्ट हो गया, तब अर्जुन ने पूछा—प्रभो! इसके पुनरुद्धार का कोई उपाय है?

भगवान् ने कहा—"अरे, मेरा-तेरा जो सम्वाद है उसी योग के पुनरुद्धार के ही निमित्त तो है। जिस योग का पहिले मैंने विवस्वान् को उपदेश दिया था, उसी योग का तो मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, उसी प्राचीन योग को तो तुमसे कहा है, क्योंकि यह उत्तम योग बहुत रहस्यमय है। सबके सम्मुख यह कहा नहीं जा सकता।"

अर्जुन ने कहा—प्रभो! इतने रहस्यमय योग का इस दास को ही आपने अधिकारी क्यों समझा?

हँसते हुए भगवान् ने कहा—"तुम मेरे भक्त हो इसलिये तुमसे मैंने कहा।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! मैं अकेला ही आपका भक्त थोड़ा

हूँ। आपके तो अनेकों भक्त हैं। इस समय भी भीष्म, द्रोण, कर्ण, धर्मराज, विदुर आदि आपके अनेक भक्त हैं।"

भगवान् ने कहा—अरे, ये सब भक्त हैं तो अवश्य, किन्तु ये सब तो मुझसे अवस्था में बड़े है, इनमें स्वयं बड़प्पन का अभिमान है, मैं इनका अभिवादन करता हूँ। कुछ बीच में बड़े छोटे पन का संकोच है, किन्तु तुम तो मेरे सखा हो, एक अवस्था के हो, हमजोली हो, मित्र हो, सुहृद् हो। तुमसे खुलकर हृदय की बात कह सकता हूँ, रहस्य को प्रकट कर सकता हूँ, भक्त होने के साथ ही तुम मेरे सखा भी हो, अन्य भक्तों की अपेक्षा तुममें यही विशेषता है। इसीलिये तुम्हारे सम्मुख इस रहस्यमय योग को प्रकट कर रहा हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भीष्मपितामह आदि को भगवान् ने अपने से अवस्था में बड़ा बताया और अर्जुन को एक अवस्था का अपना सच्चा सखा कहा, तब अर्जुन के मन में यह शंका हुई, कि ये बनते तो मेरे सखा हैं और कह रहे हैं, कि यह योग मैंने पहिले विवस्वान् सूर्य को दिया था। सबसे पहिले उन्हीं को उपदेश दिया था, उन्होंने वैवस्वतमनु से कहा, तो कहाँ विवस्वान् कहाँ मनु और कहाँ मैं उनका साथी अर्जुन कहाँ मेरी ही अवस्था के श्रीकृष्ण।

इसलिये अर्जुन ने पूछा—प्रभो! एक शंका आपके कथन में मुझे और उत्पन्न हो गयी। विवस्वान् का जन्म आज से न जानें कितने वर्ष पूर्व हुआ था। उनकी तो हम कथा मात्र ही सुनते है। वैवस्वतमनु को ही उत्पन्न हुए लाखों करोड़ो वर्ष हो गये और आप तो मेरे मामाजी वसुदेवजी के घर में अभी उत्पन्न हुए हैं। माँ कुन्ती के मुख से मैं ऐसा सुनता आया हूँ, कि मेरा और आपका जन्म प्रायः एक समय में ही हुआ था। तो जब आप

इतने पीछे उत्पन्न हुए और विवस्वान् इतने पहिले उत्पन्न हुए तो आपने ही उपदेश दिया, यह बात मेरी बुद्धि में बैठती नहीं।

आप कहते हैं—"मैंने सृष्टि के आदि में उपदेश दिया, तो सृष्टि के आदि में आप जैसे थे, वैसे ही थे या कोई और विलक्षण रूप था, क्योंकि इस समय तो आप मानव देह में हैं। विवस्वान् सूर्य तो देवता हैं, तो पहिले आप भी देवता रहे होंगे। मानलो देवता रहे भी हों, तो पूर्वजन्म की बातें तो प्रायः स्मरण रहती नहीं फिर आपको कैसे स्मरण रहीं। आप सदा सर्वदा सत्यवादी हैं, असत्य भाषण आप करते नहीं, इसलिये इस रहस्य को मुझे समझावें कि आपने सृष्टि के आदि में विवस्वान् को उपदेश कैसे किया? इस शंका का समाधान करके तब आप आगे बढ़ें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने ऐसी शंका की तो भगवान् ने जिस प्रकार इस शंका का समाधान किया, इसको मैं आगे कहूँगा, आप सब सावधानी के साथ इस सम्वाद को श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

अरजुन पूछन लगे—कही यह कैसी गाथा।
बात न बैठे हिये परम अचरज की बाता॥
परम पुरातन समय सूर्य को जनम भयो है।
प्रकटे पीछे आपु फेरि कस योग कह्यो है॥
समझूँ कैसे बात यह, कल्प आदि में विवस्वत।
मेरी तुमरी आयु सम, योग कह्यो कब पति जगत॥

अजन्मा होकर भी मैं जन्म लेता हूँ

[३]

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ०, ५, ६ श्लोक)

छप्पय

बोले तब भगवान्—"अरे, अर्जुन ! भोरी अति ।
पर पक्षनि कूँ ताप देहि तेरी नहिँ दृढ़ मति ॥
मेरे बहुतक जनम भये जा जग के माहीं ।
का तेरे नहिँ भये अरे, तू जानत नाहीं ॥
नर नारायन ऋषि भये, कर्यो संग मिलि जोग तप ।
मैं जानूँ तिनि सबनि कूँ, जाने नहिँ तू परन्तप ॥

---

* श्री भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! मेरे बहुत जन्म हो चुके हैं और तेरे भी । हे परंतप ! उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता ॥५॥

मैं अज, अव्यय और सभी प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन बनाकर योगमाया के द्वारा उत्पन्न होता हूँ ॥६॥

काल स्वरूप भगवान् इस जगत् नाट्यस्थली में भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते हैं। उनको जो अज अव्यक्त मानकर नटवर रूप में क्रीड़ा करते हुए देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते, वे ही उनकी कृपा के भाजन बन जाते हैं। अर्जुन को जो भगवान् ने भक्तिरूप धर्म का—भागवत धर्म का—उपदेश दिया है, वह बहुत प्राचीन है। जब यह भागवत धर्म लुप्त हो जाता है, तब भगवान् पुनः इसका उपदेश योग्य अधिकारी को करते हैं।

हम मृत्युलोक वासी मनुष्यों का जो ३६० दिन का वर्ष होता है, वह देवताओं का एक दिन होता है। ऐसे देवताओं के दिनों से ३६० दिन का उनका एक 'दिव्यवर्ष' होता है। बारह सहस्र दिव्य-वर्षों की एक चौकड़ी होती है उसमें सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये चारों युग एक बार बीत जाते हैं। ऐसी चौकड़ियां जब एक सहस्र बार बीत जाती हैं, तब ब्रह्मा जी का एक दिन होता है और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। ब्रह्मा जी के एक दिन को कल्प कहते है, जैसे हम दिन भर कार्य करके रात्रि में सो जाते हैं, ऐसे ही ब्रह्मा जी कल्प के अन्त मे समस्त सृष्टि को समेट कर सो जाते हैं उनके सोने को प्रलय कहते है, रात्रि बीत जाने पर वे पूर्व के समान फिर सृष्टि करते है। ब्रह्माजी के ३६० दिनों का उनका एक ब्राह्मवर्ष होता है और एक ब्रह्मा १०० वर्ष तक रहते हैं। १०० वर्ष के अनन्तर महाकल्प में महाप्रलय होती है, तब भगवान् के शरीर से दूसरे ब्रह्मा निकलते हैं।

जिस भागवत धर्म का उपदेश भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने अर्जुन को दिया है, उसकी परम्परा बताते हुए महाभारत के मोक्षधर्म पर्व में वैशम्पायन जी ने महाराज जनमेजय को बताया है कि सृष्टि के आदि में—महाप्रलय के पश्चात् भगवान् नारायण के मुख से ब्रह्माजी का मानसिक जन्म हुआ। भगवान् ने उनको

इसी भागवत धर्म का उपदेश दिया, ब्रह्माजी से फेनप ऋषियों ने इसे ग्रहण किया। फेनपों से वैखानसों ने वैखानसों से सोम ने इसे ग्रहण किया तदनन्तर काल क्रम से यह धर्म लुप्त हो गया।

पहले महाकल्प में तो ब्रह्मा जी का जन्म उनके मुख से हुआ था, दूसरे महाकल्प में ब्रह्मा जी का जन्म भगवान् के नेत्र से हुआ। तब ब्रह्मा जी ने सोम से इस धर्म को सुना। ब्रह्मा जी से रुद्र ने, रुद्र से बालखिल्यों ने ग्रहण किया, फिर समय पाकर यह धर्म लुप्त हो गया।

तीसरे महाकल्प के आदि में ब्रह्माजी भगवान् की वाणी से उत्पन्न हुए। तब भगवान् नारायण ने सुपर्ण नामक ऋषि को इसका उपदेश दिया। सुपर्ण से वायु ने, वायु से विघसाशी ऋषि ने, उनसे महोदधि ने इसे ग्रहण किया फिर काल की कुटिल कराल गति से यह धर्म लुप्त हो गया।

चौथी बार श्री ब्रह्मा जी का जन्म भगवान् के कान से हुआ। तब भगवान् ने इस सात्वत धर्म का उन्हें ही उपदेश दिया। ब्रह्माजी से स्वारोचिषमनु ने ग्रहणकिया, स्वारोचिषमनु से उनके पुत्र शंखपद ने, उनसे उन्हीं के पुत्र दिग्पाल सुपर्णाभ ने इसे ग्रहण किया। तदनन्दर पुनः यह धर्म लुप्त हो गया।

पांचवी बार ब्रह्मा जी का जन्म भगवान् नारायण की नासिका से हुआ। फिर भगवान् से इस भागवत धर्म को ब्रह्माजी ने ग्रहण किया। ब्रह्मा जी से सनत् कुमार ने, सनत् कुमार से वीरण प्रजापति ने, उनसे रैभ्य मुनि ने. रैभ्य से उनके पुत्र दिग्पाल कुक्षि ने ग्रहण किया फिर यह धर्म लुप्त हो गया।

छटीबार ब्रह्मा जी का जन्म नारायण के अंड से हुआ। तब

भगवान् ने पुनः इन ब्रह्मा को इस भागवत धर्म का उपदेश दिया। उनसे बर्हिषद् मुनियों को, मुनियों से ज्येष्ठ नामक ब्राह्मण को, ज्येष्ठ से राजा अविकम्पन को यह धर्म मिला। फिर समय पाकर इस धर्म की सम्प्रदाय नष्ट हो गयी।

अबके सातवीं बार ब्रह्मा जी का जन्म भगवान् के नाभि कमल से हुआ है। अब के भी भगवान् ने ब्रह्माजी को ही इसका उपदेश दिया। ब्रह्मा ने प्रजापति दक्ष को, दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र सविता से भी बड़े पुत्र को और उनसे विवस्वान् (सूर्य) को दिया। सूर्य ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को और इक्ष्वाकु ने ही इसका प्रचार संसार में सर्वत्र किया। फिर कालक्रम से यह धर्म नष्ट हो गया था, उसी को फिर भगवान् वासुदेव ने महाभारत के युद्ध के समय अर्जुन को उपदेश दिया। उस भगवत् गीता में इस भागवत धर्म सात्वत सम्प्रदाय का वर्णन मुख्य रूप से और यतियों का जो संन्यास धर्म है उसका भी इसमें वर्णन है।

जैसे ब्रह्माजी के कल्पारंभ में जन्म होते हैं वैसे ही भगवान् नारायण भी अपनी इच्छा से कच्छ, मत्स्य, वराह, कपिल, दत्तात्रेय, सनत् कुमार, नरनारायण, ध्रुवनारायण, पृथु, ऋषभ, यज्ञ, नृसिंह, हरि, वामन, हंस, धन्वन्तरि, मोहिनी, परशुराम, राम, कृष्ण बलराम, बुद्ध, कल्कि आदि अनेक रूपों में अवतरित होते हैं। उनके कलावतार, अंशावतार, आवेशावतार कल्पावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार आदि असंख्यों अवतार हैं, उनकी कोई गणना करने वाला संसार में नहीं प्रकट हुआ। जब स्वयं भगवान् अनंत हैं तो उनके अवतार भी अनंत हैं। उन्हें भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। उन सबके रहस्य को स्वयं भगवान् ही भली भाँति जान सकते हैं।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने कहा कि इस योग

का उपदेश मैंने पहले विवस्वान् को दिया था, तब अर्जुन ने पूछा—आप विवस्वान् से पीछे पैदा हुए हैं, फिर आपने विवस्वान् को कैसे उपदेश दिया होगा ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन ! मेरे बहुत जन्म बीत चुके हैं।"

अर्जुन ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्या कहा महाराज ! आपके और जन्म, सो भी एक नहीं असंख्य जन्म। भगवन् ! जन्म तो कर्मों के अनुसार होते हैं। कर्म ही बन्धन के कारण हैं। आपके जन्म कैसे हुए।"

भगवान् ने हंसते हुए कहा—"अरे, मुझे कर्म और उसके बन्धन स्पर्श भी नहीं कर सकते। मैं कर्मों के अधीन होकर जन्म नहीं लेता। मैं तो स्वेच्छा से, क्रीड़ा के लिये जन्म लेता हूँ।

अर्जुन ने कहा—कितने जन्म आपने लिये।"

भगवान् ने कहा—"जैसे मैं अनन्त हूँ, मेरे नाम अनन्त हैं, वैसे ही मेरे अवतार भी अनन्त हैं। उन अवतारों के अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार, युगावतार आदि भेद भी अनन्त हैं। कच्छ, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, हंस, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, शेष, हयग्रीव आदि अनन्त रूपों में मैं समय-समय पर अवतीर्ण होता हूँ। मेरे ही अनंत जन्म नहीं हुए हैं, अर्जुन ! तुम्हारे भी बहुत से जन्म हो चुके हैं।"

अर्जुन ने कहा—महाराज, मेरे भी बहुत जन्म हुए हैं, आप कैसे जानते हैं, मैं तो जानता नहीं। मुझे तो स्मरण नहीं।"

भगवान् ने कहा—जीव में और शिव में, तुममें और मुझमें इतना ही तो अन्तर है। मैं तुम्हारे सब जन्मों की बातें जानता हूँ। पहले ब्रह्मा जी के भी पांच सिर थे, भगवान् रुद्र ने किसी कारण से उनका पंचम सिर नख से काट लिया। काटते ही वह सिर रुद्रदेव के हाथों में चिपक गया। ब्रह्मा जी को क्रोध आया।

क्रोध के कारण उनके मस्तक पर पसीना आ गया। उस पसीना को ब्रह्मा जी ने हाथ से छिड़क दिया। उससे एक पुरुष उत्पन्न हो गया। उस पुरुष ने ब्रह्मा जी से पूछा—"मैं क्या करूं" तब ब्रह्मा जी ने रोष में भरकर कहा—इस कपाली रुद्र को मारो वह ब्रह्मा जी का पुरुष रुद्रदेव के पीछे दौड़ा रुद्रदेव मुट्ठी बाँधकर भगे। सर्वत्र घूमते रहे, परन्तु उस पुरुष ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। तब वे भगते हुए मेरी शरण में बदरीनाथ में आये। मैंने हुंकार मारकर ब्रह्मा जी के पुरुष को अचेतन कर दिया। तब रुद्रदेव को भूख लगी। मुझसे भिक्षा माँगी। कपाली को रक्त की भिक्षा देनी चाहिये। मैंने अपनी दक्षिण भुजा ऊपर करदी। उसमें रुद्रदेव ने अपने त्रिशूल से प्रहार किया। जिससे उसमें से सुवर्ण वर्ण की एक रक्त की धारा निकली, जिसे कपाली रुद्र ने अपने कपाल में ले ली। उसको मंथन करने से जो व्यक्ति हुआ वही मेरा पुरुष "नर" हुआ। अर्जुन! वह नर तुम्हीं थे।

फिर नर की और ब्रह्मा जी के पुरुष की लड़ाई हुई। उसमें ब्रह्मा जी के आदमी को नर ने मार दिया। फिर ब्रह्मा के पुरुष को और नरको मैंने सूर्य और इन्द्र को दे दिया। फिर वे ही बालि सुग्रीव हुए। बालि रूप में अर्जुन तुम ही उत्पन्न हुए थे। फिर तुम को सुग्रीव के कहने से रामरूप से मैंने ही मारा तब वे दोनों कर्ण और अर्जुन के रूप में प्रकट हुए हो। अब तुम कर्ण को मारोगे। धर्म की मूर्ति नामक पत्नी में जो हरि, कृष्ण, नर और नारायण चार पुत्र हुए। उनमें से मुझ नारायण के सखा नर तुम ही हो। कहाँ तक गिनाऊँ हे परंतप! तुम्हारे भी बहुत जन्म हो चुके है।"

अर्जुन ने पूछा—महाराज! आप तो सब जानते हो, मुझे ये सब बातें क्यों नहीं याद हैं?

भगवान् ने कहा—"तुम जीव धर्म के कारण भूल जाते हो, मैं ईश होने के कारण भूत भविष्य तथा वर्तमान तीनों काल की बातों को जानता हूँ।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आप तो अज है। आपका तो कभी जन्म होता ही नहीं। जन्म मृत्यु के चक्कर से आप सर्वदा रहित हैं। फिर आपका जन्म कैसे संभव हो सकता है?"

भगवान् ने कहा—"जन्म और मृत्यु कहते किसे है?"

अर्जुन ने कहा—"नूतन इन्द्रियों के सहित नूतन देह धारण करने को जन्म कहते है तथा पहले देहेन्द्रियों के वियोग को मृत्यु कहते हैं। जन्म मृत्यु में धर्माधर्म ही कारण हैं। आप दोनो से रहित है।

भगवान् ने कहा—"परंतप! तुम ठीक कहते हो, मेरा जन्म साधारण जीवो के समान भौतिक पदार्थों से कर्माधीन होकर नहीं होता।

अर्जुन ने कहा—फिर भी जब आप जन्म लेते है, तो घटते बढ़ते तो होंगे ही। बाल्य, पौगंड, किशोर, युवा और वृद्धावस्था वाले तो होते ही होंगे?"

भगवान् ने कहा—"जब मेरा जन्म भौतिक नही, कर्माधीन नही तो फिर मुझमें वृद्धि तथा ह्रास सभव कैसे हो सकता है, मै तो नित्य शाश्वत तथा अव्यय हूँ।"

अर्जुन ने कहा—अज अव्यय होने पर भी जब शरीर की उपाधि को ग्रहण करते हैं, तो आप साधारण जीवों के ही समान होते होंगे?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, मैं समस्त जीवों का ईश्वर स्वामी ही बना रहता हूँ। मेरी ईश्वरता सर्वव्यापकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

अर्जुन ने कहा—"आप अज हैं, अव्यय हैं और ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त चराचर जीवों के स्वामी भी हैं, तब आप शरीर धारण किस प्रकार करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—देखो, मैं वास्तव में अजन्मा भी हूँ और अविनाशी भी हूँ, तथा जड़ चैतन्य चर और अचर का स्वामी भी हूँ, इतना सब होने पर भी मैं अपनी माया से जन्म लेता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—माया क्या है, भगवन् ! भगवान ने कहा—"जो इस विचित्र भाँति के विश्व को विविध शक्तियों से सम्पन्न हो, जिसके लिये कोई असंभव अनहोनी बात न हो वही माया है।"

अर्जुन ने कहा—"यह माया तो संसार को प्रकट करती है ?" आप माया से कैसे जन्म लेते हैं ?

भगवान् ने कहा—संसारी माया के द्वारा नहीं। मेरी एक अपनी निजी माया है, उसी अपनी माया के कारण मैं उत्पन्न हुआ-सा-देहवान्-सा दिखायी देता हूँ। मैं अपनी ही रची माया के द्वारा प्राणियों को दृष्टिगोचर हो रहा हूँ। भौतिक पदार्थों से बनी इन्द्रियाँ भला मुझे देखने में समर्थ कैसे हो सकती है, क्योंकि मैं सम्पूर्ण भूतों के गुणों से सदा सर्वदा विमुक्त ही रहता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"यह जो संसार को उत्पन्न करने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति है उससे ही आप उत्पन्न होते हैं।"

भगवान् ने कहा—"यह प्रकृति तो मेरी चेरी है, इसे तो मैं वश में रखता हूँ, यह तो मेरे अधीन रहती है। मेरी अपनी एक निजकी प्रकृति है उसी को अधिष्ठान बनाकर अपनी ही योग माया से मैं उत्पन्न-सा हुआ-सा दिखायी देता हूँ। मैं समस्त जीवों का आत्मा हूँ ईश्वर हूँ संसार के कल्याण के निमित्त अपनी योग माया का आश्रय लेकर देहवान् सा-दृष्टिगोचर होता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! संसार के कल्याण के हेतु आप कब प्रकट होते हैं। आप किसी निश्चित समय में ही प्रकट होते हैं या जब इच्छा होती है तभी प्रकट होते है। आपके प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन क्या है?

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से उनके जन्म का कारण और काल का प्रश्न किया, तब भगवान् ने जो इसका उत्तर दिया उसका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

यद्यपि जनमूँ नहीं कबहुँ हौं घट-घट बासी।
मृत्यु न मेरी होहि अखिलपति अज अविनासी॥
जितने जग के माहिँ चतुरविधि जीव चराचर।
तिनि सबको हौं ईश प्रकृति तैं परैं परावर॥
तोऊ अपनी प्रकृति के, है अधीन क्रीड़ा करूँ।
सहित योगमाया प्रकट, होऊँ तन बहुतक धरूँ॥

मैं युग युग में अवतरित होता हूँ

[४]

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० ७, ८ श्लो)।

छप्पय

भारत ! जब जब होहि धरम की ग्लानि जगत में ।
बाढ़ैं पापी असुर करैं उत्पात अवनि में ॥
हानि धरम की होहि संत जन अति दुख पावैं ।
अधरम अति बढ़ि जाय दुष्ट सज्जननि सतावैं ॥
तब तब हौं बहु रूप धरि, विविध वेष धारन करूँ ।
जन सम्मुख साकार बनि, संतनि की विपदा हरूँ ॥

जो सम्पूर्ण जगत् को धारण किये हुए है, जो संसार चक्र को

---

* हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ ॥७॥

साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों के विनाश के लिये और धर्म की स्थापना के लिये मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ ॥८॥

सुव्यवस्थित रूप से चला रहा है,वही धर्म है। संसार को तो भगवान् चला रहे है, जो धर्मरूप साक्षात् श्रीहरि ही हैं। ऐसा पुराणों में आया है, कि पहिले धर्म एक रूप में रहते थे, अर्थात् सर्वत्र धर्म ही धर्म था, अधर्म का नाम भी नहीं था। केवल धर्म के रहने से संहार नही हो सकता। अतः संहार के निमित्त ब्रह्माजी के पृष्ठ भाग से अधर्म की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजी के वक्षःस्थल से धर्म उत्पन्न हुआ है, अतः वह ज्येष्ठ है श्रेष्ठ है। पीठ से अधर्म हुआ अतः वह कनिष्ट है, निकृष्ट है। अधर्म होने से धर्म क्षयिष्णु हो गये। धर्म के क्षयिष्णु होने की एक पौराणिक कथा है।

पिप्पलाद मुनि की पत्नी अत्यन्त ही सुंदरी थी, वह एक बार गंगा स्नान कर रही थी। धर्म वहाँ पहुँच गये। उसके सौन्दर्य के कारण धर्म का मन चंचल हुआ। उनके मनमें काम की वासना उत्पन्न हो गयी। सती-साध्वी धर्म परायणा मुनि पत्नी से धर्म के मनोभाव छिपे न रह सके। उन्होंने धर्म को शाप दिया—'समस्त कर्मों के साक्षी होकर भी तुम्हारा मन दूषित हो गया है, अतः आज से तुम क्षयिष्णु हो जाओ तुम्हारी एक रूपता नष्ट हो जाय। तभी से धर्म का ह्रास होना आरंभ हो गया। सत्ययुग में धर्म चारों चरण मे—अर्थात् परिपूर्ण रूप में—रहते है। सत्य के अन्त में धर्म में ह्रास होता है, अतः त्रेता में धर्म में तीन ही चरण रह जाते है। द्वापर में दो, कलियुग में एक और कलि के अन्त में वह भी नष्ट हो जाता है, तब भगवान् कल्कि रूप में प्रकट होकर अधर्म का शमन करके धर्म की स्थापना कर देते हैं। इसलिये घोर कलियुग के पश्चात् शुद्ध सत्ययुग आरम्भ हो जाता है।

भगवान् धर्म के साथ ऐसा पक्षपात क्यों करते हैं? इसलिये कि धर्म ही जीवों का संरक्षण करता है। धर्म ही सबको धारण

करता है। धर्म सबका संरक्षण कैसे करता है? इस बात को समझ लेने के लिये पहिले धर्म का स्वरूप समझना चाहिये। धर्म कहते किसे हैं-जो समस्त प्रजा को धारण करे, जो समस्त प्रजा का वैभव बढ़ावे सबकी उन्नति चाहे। जो सबको अहिंसा का उपदेश दे, प्राणियों की हिंसा को रोके। जो परस्पर में विरोध उत्पन न करे, जो लोक परलोक में सुखप्रद हो वही धर्म है। धर्म वाद-विवाद लड़ाई-झगडा मारपीट से प्राणियो को बचाकर परस्पर में मैत्रीभाव से रहने को कहता है। इसीलिये धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियदमन, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध इन दस लक्षणों वाले को धर्म कहा है। कहीं पर दस से बढ़ाकर ये सद्गुण ३० बताये है। उनके नाम ये है। सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, युक्तायुक्त विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी, संतसेवा, भोगों से निवृत्ति, प्रारब्धचिन्तन, मौन आत्मचिन्तन अन्नजलादि को बाँट कर खाना, प्राणिमात्र में ईश्वरबुद्धि, हरि कथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमस्कार, प्रभु के प्रति दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के भाव रखना।

भगवान् मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह इन पाँचों में ही समस्त धर्म का समावेश कर दिया है। सोचिये जो प्राणीमात्र की हिंसा से बचने का प्रयत्न करेगा, वह दूसरों में कलह किस प्रकार होने देगा। वह तो प्राणीमात्र को प्यार करके सबको अपने समान ही अनुभव करेगा। जो मनसा वाचा कर्मणा सत्य का ही आचरण करेगा, उससे दूसरों का अनिष्ट कैसे हो सकेगा। जो किसी प्रकार की कायिक, वाचिक और मानसिक चोरी न करेगा, वह कपट का व्यवहार कैसे करेगा। जो शरीर से, मनसे, वचन से पवित्र रहेगा, उससे पाप

की संभावना कैसे हो सकती है। जो अपनी इन्द्रियों को सदा वश में रखने का प्रयत्न करेगा उससे अनर्थ की संभावना कैसे हो सकती है।

धर्म के मन में पिप्पलाद् मुनि की पत्नी के प्रति काम का संकल्प उठा इसी से वे क्षयिष्णु बन गये, इससे सिद्ध हुआ अधर्म काम संकल्प से होता है। जो धर्म के विपरीत है वही अधर्म है। अर्थात् हिंसा करना, सत्य न बोलना, चोरी करना, पवित्रता से न रहना और अपनी इन्द्रियों को वश में न रखना ये ही अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सृष्टि का विनाश होता है। जो धर्म के अहिंसा सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह इन अंगों का पालन करते हैं, वे लोग साधु कहलाते हैं, इसके विरुद्ध जो हिंसा, झूठ, चोरी, अपवित्रता और भोगों में स्वच्छन्दता आदि असद् व्यवहार करते हैं, वे असाधु हैं, दुष्कृत-दुष्टपुरुष-हैं। सज्जन लोग तो न किसी को दुःख ही देते हैं न किसी की हिंसा ही करते हैं, तो उनका संरक्षण कैसे हो, दुष्टों से उनका परित्राण कैसे हो? भगवान् कहते हैं इसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। वैसे साधु पुरुषों की—सज्जनपुरुषों की—रक्षा तो उनका वह धर्म ही करता रहता है, जिस धर्म की रक्षा में वे अपने प्राणों तक को होमने को तैयार हो जाते हैं। अर्थात् धर्म रूप से शरीरी होकर प्रतिक्षण भगवान् उनकी रक्षा करते हैं, किन्तु जब अधर्म अत्यधिक बढ़ जाता है, धर्म निर्बल बन जाता है, तब भगवान् शरीर धारण करके साधु संरक्षण और दुष्ट विनाश का कार्य करते हैं। साधु पुरुष तो किसी के प्राण का हरण नहीं करते चाहे वह दुष्ट ही क्यों न हो, किन्तु भगवान् इस काम में नहीं हिचकते। वे दुष्टों का विनाश ही कर देते हैं, क्योंकि वे स्वयं धर्म अधर्म पुण्यपाप से परे हैं। उन्हें न किसी काम से पुण्य होता है, न पाप ही लगता है, वे तो सबके स्वामी भगवान् ही ठहरे।

अच्छा अब प्रश्न यह उठता है, कि भगवान् ने बैठे ठाले इस अधर्म को उत्पन्न ही क्यों किया ? अकेले धर्म ही रहते, सब उनकी छत्रछाया में सुखी रहते। भगवान् को भी बार-बार अवतार लेने की आवश्यकता न पड़ती। सब एकरस बने रहते।

बात तो ठीक ही है, किन्तु फिर यह द्वन्द्वात्मक संसार कैसे चलता। सब एक-सी दशा में ऊब जाते। संसार का स्वरूप ही परिवर्तनशील है। जब भगवान् को कोई काम नहीं होता, तो वे भी बैठे-बैठे ऊब जाते। उनकी क्रीडा भी न बनती। इसलिये संसार चलाने के लिये, क्रीडा करने के लिये, मन विनोद के लिये, चहल पहल के लिये, कुछ होते रहने के लिये भगवान् ने धर्म और अधर्म की सृष्टि की।

अच्छा जब धर्म अधर्म दोनों ही भगवान् के द्वारा निर्मित हैं, तो भगवान् धर्म का ही पक्ष क्यों लेते है। अधर्म के साथ पक्षपात क्यों करते है ? इसका उत्तर यही है, कि भैया अच्छे पुरुषों के साथ भव्य व्यक्तियों के प्रति पक्षपात होना स्वाभाविक ही है। माता-पिता भी अच्छी बुरी संतानों में से अच्छी संतान के प्रति पक्षपात करते ही हैं। बुरी संतानों को मार ही डालते हों, सो बात नहीं। जीने उन्हें भी देते है, अस्तित्व उनका भी बनाये रखते है, किन्तु अधिक पक्ष अच्छी ही सन्तान का लिया जाता है, यदि जननी जनक स्वयं अच्छे हों तब। जिसमें जितने ही अच्छे गुण हों, जिनमें जितना ही अधिक गुरुत्व हो, बड़प्पन हो, उसका उतना ही अधिक आदर किया जाता है। धर्म बड़े हैं, अच्छे है गुण में भी अधिक हैं। रुपये में दस आने धर्म है ६ आने अधर्म हैं। सत्ययुग में तो धर्म के चारों पाद रहते हैं। त्रेता में ३ रहते हैं, द्वापर में दो और कलि में एक। तो ३ और दो पांच और कलि का एक इस प्रकार ६ ही पाद हुए। इधर सत्ययुग के चार और

त्रेता के तीन-सात द्वापर के दो इस प्रकार नौ हुए, एक पाद कलि का ऐसे १० पैर हुए जब कलियुग के अन्त में धर्म बिना पैर के हो जाते है, तो भगवान् स्वयं घोड़े पर चढ़कर धर्मद्रोही दुष्टों का नाश करके धर्म के चारों पैरों को फिर से जोड़ देते है। घोर कलिकाल से चतुष्पाद वाला शुद्ध सत्ययुग आ जाता है। भगवान् कलि के अन्त में ही प्रकट होते हों, सो बात नहीं जब-जब अधर्म की हानि होती देखते है तब-तब वे जलचर, स्थलचर पशु, पक्षी, मनुष्य, तिर्यक् अनेक रूपों में प्रकटित हो जाते है। वे प्रत्येक युग के अन्त में युगावतार रूप में होते है जैसे कपिल, राम, व्यास और कल्कि मन्वन्तरों के अन्त में मन्वन्तरावतार रूप में प्रकट होते हैं जैसे यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विश्वक्सेन, धर्मसेतु, स्वधामा, योगेश्वर और बृहद्भानु तथा इसी प्रकार देवताओं के कार्य के लिये धन्वन्तरि, मोहिनी कच्छादि अवतार धारण करते है। मत्स्य, नृसिंह, परशु-राम, राम, कृष्ण, बलदेव तथा बुद्धादि रूप में भगवान् प्रकटित होते हैं। इनके अतिरिक्त तप, प्रजापति, ऋषि, धर्म, विष्णु, मनु, देवता, पृथ्वीपाल ये भी सब भगवान् के अंशावतार हैं। यहाँ तक कि भगवान् को जब प्रलय करनी होती है तब अधर्म, रुद्र क्रोधवश सर्प और दैत्य आदि विनाशक विभूतियाँ भी भगवान् के काल स्वरूप ही हैं। इस प्रकार युगावतार, मन्वन्तरावतार, अंशा-वतार, कलावतार, आवेशावतार और परिपूर्णावतार भगवान् के अनेक अवतार होते हैं। भगवान् स्वयं शरीर धारण करके दर्शनों की इच्छा वाले अपने अनन्य भक्तों को दर्शन देते हैं, उनका स्पर्श करते हैं, उनसे वार्तालाप करते हैं और उन्हें उपदे-शादि देकर अपने सत्संग का लाभ भी देते हैं और दुष्टों का दमन भी करते हैं तथा शिष्टों का संरक्षण करते हैं। भगवान् अवतार

न लें तो यह पृथ्वी घोरातिघोर नरक बन जाय कभी भगवान् स्वयं सशरीर प्रकट हो जाते हैं कभी साधु महात्मा और भक्तों के शरीर में प्रवेश करके उनके द्वारा विविध लोक कल्याण के धार्मिक कार्य करा लेते हैं। जिनको विभूतिवान्, धर्मात्मा धर्म-रक्षक, विशुद्ध सदाचारी संत देखो, लो ये भगवान् के ही अंश या कला के अवतार हैं अवतारों की कोई संख्या नहीं गणना नहीं। ये सब अवतार धर्म की अभिवृद्धि के ही निमित्त होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो अर्जुन के यह पूछने पर कि भगवन्! आप कब और क्यों अवतार लेते हैं तब भगवान् कहने लगे—अर्जुन! मैं युग-युग में अवतार लेता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"युग-युग से आपका अभिप्राय क्या है?"

भगवान् ने कहा—"युग माने समय! जब जिस समय आवश्यकता होती है, अधर्म बढ़ जाता है तभी मैं अवतार लेता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"यदि आपके अवतार का कारण अधर्म की वृद्धि ही है, तब तो लोग अधर्म ही किया करेंगे।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे भाई, मेरे अवतार का मुख्य कारण तो साधु संरक्षण है।"

अर्जुन ने पूछा—अधर्म की वृद्धि और साधु संरक्षण का क्या सम्बन्ध?"

भगवान् ने कहा—अधर्म तो तभी बढ़ेगा जब धर्म की ग्लानि होगी जगत् में धारण करने वाले धर्म का ह्रास होगा। उस समय मैं अधर्म को दबाने के लिये और धर्म को पुनः स्थापन करने को अवतार लेता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"उस समय आप क्या कार्य करते है?"

भगवान् ने कहा—"उस समय मै असाधु पुरुषों से सताये हुए

साधु पुरुषों की रक्षा करता हूँ और उन दुष्ट दुष्कर्म करने वाले असाधुओं का विनाश करता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"दुष्ट दुष्कर्मियों को मार डालने से क्या होता है?"

भगवान् ने कहा—"होता क्या है, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले पापियों को पीड़ित करने से अधर्म करने वाले भयभीत हो जाते हैं, धर्म की संस्थापना हो जाती है, अतः जब-जब अत्याचारी पापाचारी दुष्ट लोग बढ़ जाते हैं, प्रभु प्रेमी पुरुष पापियों द्वारा पीड़ित होने लगते हैं तभी समय-समय पर मैं प्रकटित होकर दुष्टों को मारकर शिष्टों की रक्षा करता हुआ धर्म की अभिवृद्धि कर देता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अपने अलौकिक जन्म लेने और दिव्य कर्म करने की बात कही तब अर्जुन ने शंका की—"भगवन्! आपके इन अलौकिक जन्म और दिव्य कर्मों को कौन जान सकता है और उनके जानने का फल क्या है?" तो इसके उत्तर में भगवान् जो कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

साधुनि के उद्धार हेतु ही तनकूँ धारूँ।
साधुनि कूँ जो कष्ट देहिँ तिनिकूँ संहारूँ॥
पापी जो अति नीच दुष्ट खल संत विरोधी।
तिनिको करन विनाश धरूँ तन जो अति क्रोधी॥
धरम-सेतु बाँधन निमित, मारन हित खल अति विकट।
युग-युग में अवतार लै, होऊँ सब सम्मुख प्रकट॥

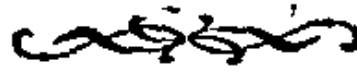

मेरे दिव्य कर्मों का वेत्ता मुझे ही प्राप्त होता है

[५]

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

मेरे हैं अति दिव्य जनम सब जन नहिँ जानें ।
करम अलौकिक विमल ताहि सब नहिँ पहिचानें ॥
ऐसी क्रीड़ा करूँ होहिँ मोहित नर नारी ।
दिव्य देह तैं करूँ करम सन्तनि सुखकारी ॥
जनम करम मेरे मधुर, विमल बुद्धि में आइँगे ।
जनम मरन तैं छुटहिँ ते, मोई में मिलि जाइँगे ॥

---

* हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं, जो इन्हें तत्त्व से जानता है, वह वर्तमान देह को त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, वह मुझे ही प्राप्त हो जाता है–विमुक्त हो जाता है ॥९॥

राग भय और क्रोध से जो रहित हैं, तथा जो मुझमें स्थित रहते हैं और जो मेरे आश्रित हैं, ऐसे बहुत से ज्ञान रूप तप से पवित्र हुए मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं ॥१०॥

जन्म होता है शुभ, अशुभ पुण्य पाप रूपी कर्मों द्वारा और प्राणी कर्म करता है, पूर्वकर्मों की वासना द्वारा। एक व्यक्ति के कर्मों को देखकर उसके तीन जन्मों का अनुमान लगाया जा सकता है। एक व्यक्ति है प्रेमपूर्वक प्रसन्नता के साथ यथेष्ट दान करता है, जो जिस आशा से उसके पास याचना करने आता है, यथाशक्ति यथासामर्थ्य वह मना नहीं करता प्रसन्न होकर निरभिमान भाव से उसकी इच्छा की पूर्ति करता है। देते समय उसे प्रसन्नता होती है, देते-देते उसका मन नही भरता। बहुत देने पर भी उसके मन में यही रहता है, मैंने कुछ नही दिया और होता, तो और अधिक देता। जो सबसे मीठा बचन बोलता है, शत्रु भी जिसकी वाणी सुनकर विमुग्ध हो जाता है, जिसके मुख से कभी कटु बचन निकलते ही नहीं। रोष में भी जो ऐसे बोलता है मानों इसके मुख से फूल झर रहे हों। जो सदा सर्वदा पूजा पाठ अनुष्ठान देवपूजन, कथा कीर्तन में लगा रहता है। जिसे पूजा पाठ जप तप में आनन्द आता है, करने के अनन्तर संतोष होता है। जो सदा गौ, ब्राह्मण, सन्त महात्मा तथा अतिथियों की सेवा में लगा रहता है, जिसके द्वार से कोई असत्कृत होकर नहीं लौटता ऐसे शुभ कर्म करने वाले व्यक्ति को देखकर हम अनुमान लगा सकते है, यह पूर्वजन्म में धर्मात्मा रहा होगा, स्वर्गीय जीव रहा होगा। इसीलिये इसका ऐसा मधुर दानशील सत्कार प्रिय स्वभाव है, क्योंकि ऐसा स्वभाव बिना पूर्वजन्म के शुभ कर्मों के नहीं मिलता और अब जब यह ऐसे पुण्य कर्म कर रहा है, तो अगले जन्म में अवश्य ही यह महात्मा सज्जन पुरुष होगा।

इसके विपरीत जो बात-बात पर क्रोध करने वाला हो, जिसके मुख से वाणी निकलती हो, तो ऐसी मानों विष से बुझी हो। जो मीठा बोलना जानता ही न हो जो मनका दरिद्री हो,

आई हुई वस्तु सड़ भले ही जाय, किन्तु जो दूसरों को देना जानता ही न हो। जो बात-बात में झगड़ा टंटा करता हो, अपने घर परिवार वालों से पास पड़ोसियों से सदा द्वेषभाव रखता हो। जिसके साथी संगी दुराचारी व्यभिचारी ओच्छी बुद्धि वाले व्यसनी नीच पुरुष हों। जिसकी उठन-बैठन क्षुद्र प्रकृति के नीच पुरुषों में ही हो। जो स्वयं मादक वस्तुओं का सेवन करता हो और ऐसे ही ओच्छी बुद्धि वाले व्यसनियों की सेवा करता हो। दुराचारिणी स्त्रियों से जिसका सम्बन्ध हो, ऐसे व्यक्ति को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है, यह पूर्वजन्म में दुर्गुणी नीच पुरुष रहा होगा और अगले जन्म में भी यह नीच होगा। इस प्रकार व्यक्ति के कर्मों को देखकर ही तीन जन्मों के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि जैसे जिसके कर्म होंगे वैसा उसको जन्म मिलेगा। जन्म में मुख्य कारण शुभाशुभ कर्म ही है, किन्तु यह अनुमान साधारण जीवों के ही सम्बन्ध में लगाया जा सकता है। भगवान् का भी जन्म होता है, वे भी कर्म करते हुए से दिखायी देते हैं, किन्तु न तो उनका जन्म पूर्व जन्मकृत पुण्य पापों अथवा शुभाशुभ कर्मों के कारण ही होता है और न उनके कर्म राग द्वेष या पुण्य पाप के ही निमित्त होते है। भगवान् का जन्म दिव्य है, अप्राकृत है। वास्तव में वे माता के गर्भ में आते नहीं। आते से दिखायी देते हैं। उनका जन्म लेने का संकल्प ही माता के उदर में आने के समान है। भगवान् जिस भाग्यशालिनी देवी को अपनी माता बनाने का देवदुर्लभ पद प्रदान करते हैं, उनका उदर प्रसूति मारुत से फूला सा दिखायी देता है। साधारण गर्भस्थ बालक की भाँति वे ९ महीने उदर में उलटे टँगे नहीं रहते। माता को यही प्रतीत होता है मेरे गर्भ की वृद्धि हो रही है। जब दशवाँ महीना होता है तब

वह प्रसूतिवायु निकल जाती है, पेट हलका हो जाता है, भगवान् अप्राकृत रूप से वहाँ प्रकट हो जाते हैं भगवान् देवकी मैया के सम्मुख कारावास में साधारण बालकों की भाँति पैदा न होकर चतुर्भुज रूप से प्रकट हो गये थे। उनका साधारण रूप नहीं था, दिव्य स्वरूप था। उनके नेत्र कमल के समान कमनीय कोमल विशाल तथा दर्शनीय थे। दो के स्थान में चार भुजायें थीं। वे अत्यन्त ही दिव्य सुहावनी और कमलनाल के सदृश सुंदर तथा कोमल थीं। उन चारों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हुए थे। वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह जो अत्यंत ही सौंदर्य-माधुर्य और लावण्ययुक्त सुंदर सुवर्णमयी घुंघराली रेखा के समान था। कंठ में कमनीया कौस्तुभमणि शोभायमान थी वर्षा कालीन जल भरे काले-काले मेघों के समान परम शोभायमान श्याम शरीर पर सुवर्ण वर्ण का दमदमाता हुआ पीताम्बर फहरा रहा था। महा मूल्यवान वैदूर्यमणि का किरीट मस्तक की शोभा बढ़ा रहा था। दोनों कमनीय कानों में मकराकृत कुण्डल हिल रहे थे उनकी कांति से काले-काले कोमल घुंघराले बाल, बाल सूर्य की कोमल कमनीय किरणों के समान चमचम करके चमक रहे थे। कमर में दिव्य कनकमयी क्षुद्र घंटिकाओं से युक्त करधनी की ललित लड़ियां लटक रही थीं। कमल मृणाल के सदृश दिव्य विशाल बाहुओं में बाजूबन्द सुशोभित थे। करों में कनक के कंकण अपनी अद्भुत आभा छिटका रहे थे। उनके प्रत्येक अंग प्रत्यंग से अद्भुत आभा निकल रही थी अति अद्भुत अनोखी छटा छिटक रही थी। अब बताइये साधारण बालक तो सर्वदा नग्न जेर से, रक्त तथा मल से लिपटे पैदा होते हैं। भगवान् इन सबसे सर्वथा रहित थे। साधारण बच्चों के पैदा होते समय माता को महान् कष्ट होता है। माता देवकी तथा यशोदाजी को पता ही न चला हमारे कर

बच्चा हुआ है। साधारण बालक पैदा होते ही ह्वाऊ ह्वाऊ करके रुदन करता है। वह और कोई वचन बोल नहीं सकता। ये हमारे श्याममुंदर जन्म लेते ही मंद-मन्द मुस्कराने लगे और माता-पिता से खूब घुल-घुल कर बातें करने लगे। उन्हें सान्त्वना देने लगे। उनको सब भविष्य का कार्यक्रम समझाने लगे। ऐसा कोई साधारण बालक कर सकता है ?

इसी प्रकार भगवान् ने जो कर्म किये वे सब भी ऐसे दिव्य थे, कि साधारण बालकों की शक्ति के बाहर की बात है। ६ दिन के भी नहीं हुए थे, कि इतनी भारी योजनों लम्बी-चौड़ी पूतना को पछाड़ दिया। इतने भारी गोवर्धन पर्वत को सात दिनों तक उँगली पर धारण किये रहे। सहस्रों गोपिकाओं के बीच में सहस्रों रूप रखकर निर्विकार भाव से कामक्रीड़ा की सर्वोत्कृष्ट क्रिया रासलीला को करते रहे। सोलह सहस्र एक सौ युवतियों के साथ एक ही साथ एक ही मुहूर्त में विवाह किया और उतने ही रूप रखकर उनके साथ पृथक्- पृथक् महलों में रहकर गृहस्थोचित क्रीड़ायें करते रहे। अतः भगवान् के जन्म साधारण जीवों के सदृश साधारण न होकर दिव्य होते हैं और उनके समस्त कर्म भी अप्राकृत तथा दिव्य हुआ करते है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने शंका करी, कि आप जो युग-युग में अवतार लेकर साधु संरक्षण और दुष्ट निग्रह का कार्य करते हैं, तब आपके जन्म कर्म कैसे होते है। इस पर भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! मेरे जन्म भी साधारण जीवों के समान न होकर दिव्य होते हैं और कर्म भी दिव्य होते है।"

अर्जुन ने पूछा—दिव्य किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—दिव्य माने असाधारण अप्राकृतिक। यद्यपि मैं अज हूँ, कभी जन्म नहीं लेता। नित्य सिद्ध हूँ, सच्चिदानंदघन हूँ

फिर भी लीला से वैष्णवी माया द्वारा जन्म के समान अभिनय करता हूँ। इसी प्रकार धर्म की संस्थापना के निमित्त कर्मों के समान कर्मों का अनुकरण मात्र करता हूँ। उन कर्मों से किसी प्रकार के बंधन की संभावना नहीं। यही मेरे दिव्य कर्मों का रहस्य है। जो मेरे इन दिव्य जन्मकर्मों को तत्त्व से जान लेता है, वह इस देह का त्याग कर दूसरा शरीर धारण नहीं करता, पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मुझी को प्राप्त हो जाता है।

अर्जुन ने पूछा—तत्त्व से जानना किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अरे भाई मेरे अलौकिक कर्मों को देखकर कुछ काल के लिये तो सभी आश्चर्यचकित होकर मुझे दिव्य समझने लगते हैं, पीछे सब कुछ भूल जाते हैं, क्योंकि उन्होंने केवल मेरे प्रभाव में आकर-आश्चर्यचकित होकर-वाणी से-मेरी दिव्यता स्वीकार करली। तत्त्वतः उन्हें मेरी दिव्यता का अनुभव नहीं हुआ।"

अर्जुन ने पूछा—फिर तत्त्वतः किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—यो समझे कि मै तो नित्य शुद्धबुद्ध तथा विमुक्त हूँ किन्तु स्वेच्छा से धर्म संस्थापनार्थ और अपने निजी आश्रितों पर कृपा करने के हेतु अप्राकृत रूप में जन्म न लेकर जन्म लेने का-सा अभिनय मात्र करता हूँ। इस रहस्य को सब लोग नहीं समझ सकते। जो मेरे एकान्त भक्त है, निजी सेवक हैं, प्रपन्न हैं, शरणागत हैं तथा अनन्योपासक हैं, वे ही मेरे भक्त यथार्थ रूप से तत्त्वतः मेरे दिव्य जन्म कर्म का रहस्य जानते हैं ?

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! उन यथार्थ तत्त्वज्ञों का लक्षण क्या है ?"

भगवान् ने कहा—जिनका राग, भय और क्रोध नष्ट हो गया

है, जिनका चित्त एकमात्र मुझमें ही लगा है और जो केवल मेरा ही आश्रय लिये हुए हैं वे ही यथार्थ तत्त्ववेत्ता हैं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! राग किसे कहते है?

भगवान् ने कहा—किसी भी रंग में रँग जाने को राग कहते हैं। जैसे अंग को रंगने के चूर्ण को अंगराग कहते है। उसी प्रकार चित्त जिस-जिस विषय का उपभोग करता है, उनमें से जिस भोग्यवस्तु के प्रति तृष्णा बलवती हो जाती है, उसी का नाम राग है। चित्त चाहता है, उसी का आस्वादन करते रहें। जैसे कामिनी के प्रति जो तृष्णा है वह काम राग है उसी प्रकार सभी विषय भोग के फलों की आसक्ति के संबंध में समझना चाहिये।"

अर्जुन ने ने पूछा—"भय किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—शंका का नाम भय है। हम गंगा किनारे भजन करने जायंगे, तो वहाँ भोजन कहाँ मिलेगा? सब कुछ छोड़ देंगे तो जीवन निर्वाह कैसे होगा? वन में रहेंगे तो हमें वन्य पशु-पक्षी पीड़ा पहुँचावेंगे। इस प्रकार संसार में सैकड़ों प्रकार के भय हैं। उन सब भयों का परित्याग करके जो निर्भय हो गये वास्तव में वे ही यथार्थ तत्त्व को जानने वाले हैं। भय अविश्वास से होता है, "जिन्हें एकमात्र मेरा दृढ़ विश्वास है वे सदा सर्वदा निर्भय बने रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—क्रोध क्या? भगवान् ने कहा-अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य हो और अपने में उसे निवारण करने का अहंकार विद्यमान हो उसे ही क्रोध कहते हैं। हम भजन करने एकान्त में जायेंगे वहाँ हमें कोई भी इन्द्रियों के विषय उपलब्ध न होंगे। ये उपदेश करने वाले ज्ञान का पंथ बताने वाले तो सब ऐसे ही हैं।" इनके कहे अनुसार वर्ताव करने से कल्याण कैसे हो सकता है। इस प्रकार ज्ञान के प्रति और ज्ञान प्रदान करने वालों के प्रति जो

द्वेष भाव होकर उनके प्रति आक्रोश के भाव होते हैं उसी का नाम क्रोध है। राग, भय और क्रोध इन तीनों को जो विवेक के द्वारा, विचार के द्वारा, वैराग्य के द्वारा नष्ट कर देते हैं वे ही राग भय क्रोध से रहित कहलाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"आपमें चित्त लगने के लक्षण क्या है?"

भगवान् ने कहा—"जिनका चित्त मुझ ईश्वर को छोड़कर कहीं अन्यत्र-संसारी भोगों में-भूलकर भी नहीं जाता वे ही मुझमें तन्मय होने वाले पुरुष मन्मय कहलाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"आपका ही आश्रय लेने वालो का लक्षण क्या है?"

भगवान् ने कहा—"जो मेरे अतिरिक्त संसार के किसी भी व्यक्ति का दुःख निवृत्ति के निमित्त आश्रय न लें। यही विश्वास रखें कि भगवान् ही हमारे सब दुःखो को दूर कर देंगे। वे ही हमारा सब प्रकार से कल्याण करेंगे। इस प्रकार यह एक प्रकार की तपस्या है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! तपस्या तो निराहार रहकर-अनशन करके-शरीर को सुखाने को कहते है। इसे आप तपस्या क्यों बता रहे हैं?"

भगवान् ने कहा—"शरीर को तपाना तो तप है ही, किन्तु यह ज्ञानरूपी तप उस शरीर को सुखाने वाली तपस्या से श्रेष्ठ है इस ज्ञानरूपी तपस्या को करने वाले ज्ञान तपस्वी मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाते है। शारीरिक तपस्या का फल तो स्वर्ग है, किन्तु ज्ञान रूप तप के तपस्वी मेरे भाव से भावित होकर मेरे स्वरूप को ही प्राप्त कर लेते है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! यह तो बहुत ही कठिन तप है। राग भय क्रोध से रहित होना सदा आपमें ही तन्मय बने रहना

तथा एकमात्र आपको ही अपने जीवन आश्रय समझते रहना ये सभी बातें कठिन ही नहीं दुर्लभ है, असंभव सी हैं। ऐसे तप से पवित्र हुए कोई आपके भक्त आपको प्राप्त हुए भी है या नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, अर्जुन ! तुम एक दो की बात कहते हो। ऐसे असंख्यों बहुत से ज्ञान तप पूत भक्त मुझे प्राप्त कर चुक है, उन सबके नाम तुम्हें कहाँ तक गिनाऊँ। महाराज रन्तिदेव तथा उनके सभी साथी नारायण-पारायण बन गये। आत्मज्ञानी महाराज शान्तरथ महाराज जनके वंश में उत्पन्न अनेक राजा तथा महाराज हिरण्यनाभ आदि असंख्यों राजा इसी ज्ञान तप रूपी योग के प्रभाव से विमुक्त बन गये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! तब अर्जुन ने शंका की क्या भगवन् ! आप एक सी साधना करने वालों को ही मिलते हैं। कोई दूसरे प्रकार से आपका भजन करे तो उसका क्या होगा। इसका उत्तर जो भगवान् देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

कोई पहिले मिल्यो भई शंका जब मन में।
कहें कृष्ण भगवान—भक्त जो जनमें जग में॥
राग, द्वेष जिनि छुट्यो क्रोध जिनि में है नाहीं।
तन्मय मोमे सतत रहें मेरे ही माहीं॥
मेरे आश्रित जे रहें, ज्ञान रूप तप करि सतत।
भये बहुत मम रूपरत, मोर भाव-भावित भगत॥

जो मेरी जिस रूप की पूजा करते हैं, उन्हें मैं उसी रूप से फल देता हूँ

[६]

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥*

(श्री भग० गी० ४ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

जैसे मेरे भक्त भजें जब जा प्रकार तैं ।
मैं हूँ तैसे भजूँ भक्त अनुकूल भाव तैं ॥
चारिहु दिशि तैं आइ मिलै सागर में सरिता ।
अभिमत करिकें ध्यान होहि मोई में ममता ॥
सिमिटि सिमिटि सागर मिलै, बरसा कूप तडाग जल ।
सब पथ तैं मेरे निकट, आवै और न अन्य थल ॥

---

* हे पार्थ ! जो मुझे जिस भाव से भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी भाव से भजता हूँ, क्योंकि सभी मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं ॥११॥

इस लोक में कर्मों के फलेच्छुक लोग देवताओं का पूजन करते हैं, क्योंकि कर्मजा सिद्धि सुरों द्वारा शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है ॥१२॥

यह संसार भिन्न-भिन्न रुचि वाला है। किसी भी एक व्यक्ति की आकृति, प्रकृति, रूप, रंग, स्वभाव दूसरे से नहीं मिलते। एक वृक्ष में लाखों पत्ते हैं, सबमें कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य होगी। सबकी वाणी, आकृति, हाथ की रेखायें, हस्ताक्षर सभी एक दूसरे से भिन्न होंगे। यह विभिन्नता क्यों है ? क्योंकि सृष्टि विभिन्नता में ही है। एकता में प्रलय है,विषमता का ही नाम संसार है। ऐसी विषमता भगवान् ने क्यों बनायी ? अब भगवान् की बात तो भगवान् ही जानें। हम तो यही कह सकते हैं, यह सब उनकी लीला है, क्रीड़ा है, विनोद है, नटनागर अपने खेल के लिये इस विषम जगत् को रचकर विहार कर रहे है, क्रीड़ा कर रहे है। संसार को विषम मानकर ही सब सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं।

सबकी रुचि भिन्न है। कोई वस्तु किसी को बहुत अच्छी लगती है, वही वस्तु दूसरे को बहुत बुरी लगती है। कोई व्यक्ति एक मनुष्य को साक्षात् ईश्वर समझता है, उसी का दूसरा भाई उसे ढोंगी, पाखंडी, धूर्त और न जाने क्या-क्या कहता है। सबकी भावनायें भिन्न-भिन्न हैं, सबके उद्देश्य भिन्न है, सबकी प्राप्य वस्तुएँ भिन्न है। इसीलिये द्वन्द्व की सृष्टि कही जाती है। सुख-दुख पुण्य-पाप धर्माधर्म अच्छा-बुरा इन्हीं सबका नाम द्वन्द्व है। इसीलिये सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। कोई सात्त्विक् प्रकृति के होते हैं, कोई राजस् प्रकृति के और कोई तामस् प्रकृति के। कोई धर्मप्रिय हैं, कोई अधर्मप्रिय। इसीलिये पुरुषार्थ एक न होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार बताये हैं। कोई धर्म को ही सब कुछ समझते हैं, कुछ लोग धन को ही सर्वस्व मानते हैं। अर्थ प्राप्ति के लिये वे सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं, कोई काम प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। काम सुखों के ही पीछे सदा पागल बने रहते हैं। कोई मोक्ष प्राप्ति को ही सब कुछ समझते हैं। मोक्ष

के ही लिये वे मुमुक्षु जीव सतत प्रयत्न करते रहते है। भगवान् का भजन करने वाले भी सब एक प्रकृति के नहीं होते कोई संसार दुःखो से दुखी होकर उन दुःखों से त्राण पाने के निमित्त भगवान् का भजन करते हैं, कोई, ब्रह्म क्या है, जगत् क्या है, बंधन क्या है, मोक्ष क्या है, इन बातों की जिज्ञासा के लिये ही व्यग्र बने रहते हैं। कोई अर्थ को ही सब कुछ समझकर अर्थ प्राप्ति के ही निमित्त भगवान् का भजन करते हैं, कोई ज्ञाननिष्ठ होकर सदा सर्वदा ब्रह्मानन्द में ही निमग्न बने रहना चाहते हैं। इस प्रकार यह जगत् भिन्नता का भंडार है। सब एक दूसरे से भिन्न, सब एक दूसरे से किसी न किसी बात में विपरीत। भगवान् तो सबसे बड़े खिलाडी हैं, वे भी इस विभिन्नता को स्वीकार करके ही क्रीड़ा करते हैं। बहुत से ज्ञानी शास्त्रों की दुहाई देकर कहते हैं ब्रह्म एक अद्वय, भेदभाव से शून्य निर्गुण, निराकार है। भगवान् धीरे से उनके कान में कह देते हैं—"तुम ठीक कहते हो, मैं निर्गुण निराकार भेदभाव से रहित अद्वितीय ही हूँ।

फिर कुछ लोग कहते हैं—"वेद तो कहता है, जीव ब्रह्म पृथक्-पृथक् हैं दो पक्षी समान भाव से वृक्ष पर बैठे है, एक कुछ नहीं खाता, एक फल को खाता है।" इसलिये द्वैत ही हैं। भगवान् उनके कान में कह आते है—"तुम सर्वथा सत्य कहते हो, मैं द्वैत ही हूँ। अद्वैत किसी प्रकार भी नही। कुछ कहते हैं ब्रह्म द्वैताद्वैत है। भगवान् उनके भी कान में कहते हैं वास्तव में मैं भेदाभेद ही हूँ। कुछ कहते हैं वे भेद हैं या अभेद यह विषय मनुष्य की बुद्धि के बाहर है अचिन्त्य है, उनके कान में भगवान् कह देते हैं—"वास्तव में मैं अचिन्त्य भेदाभेद रूप ही हूँ। इसलिये भगवान् को जो जिस भाव से भजते हैं भगवान् का साक्षात्कार उन्हें उसी रूप से होता है। कोई उन्हें शिव रूप से पूजते हैं, कोई शक्ति

रूप से, कोई गणेश, सूर्य तथा विष्णु रूप से। जो जिस रूप से उन्हें पूजता है उसे उसी रूप में भगवान् दर्शन देते हैं। आप कहेंगे तब तो भगवान् बहुरूपिया है, नाटकिय है, मायावी हैं, जो नाना रूप बना लेते है। वेद में ये भी भगवान् के नाम हैं। प्रकृति को माया कहा है और माया वाला मायावी महेश है। आप पूछेंगे कि फिर वास्तव में भगवान् हैं क्या? तो इसका उत्तर यही है, कि वास्तव में भगवान् का कोई रूप नहीं वे अरूपी हैं, भक्त जैसा रूप चाहते हैं भगवान् वैसे ही बन जाते हैं। गंगाजी की गीली चिकनी मिट्टी का कोई रूप नहीं है। खेलने वाले बालक हाथी बनाना चाहेंगे, हाथी की आकृति बन जायगी फिर उसे मिटाकर बन्दर बनाना चाहेंगे बन्दर की आकृति हो जायगी। उस गीली मिट्टी से पशु, पंक्षी, पौधा, पेड़, मनुष्य, सर्प जिसकी भी आकृति बनाना चाहो उसी की सी आकृति बन जायगी। गंगाजी की गीली मिट्टी मना नहीं करेंगी। फिर उसे छोड़ दो, अपने स्वरूप की हो जायगी। अपना तो उसका कोई स्वरूप ही नहीं अरूप हो जायगी। ऐसे ही भगवान् विनोदी हैं। विनोद-विनोद में सब बन जाते हैं। जो उन्हें पुत्र बनाना चाहता है, उसे पिताजी माताजी कहने लगते है। जो उन्हे सखा बनाना चाहता है, उससे हृदय से हृदय सटाकर मिलते हैं, जो उन्हे स्वामी बनाना चाहता है उसे दास समझ कर आज्ञा देते हैं, जो उन्हें पति बनाना चाहता है, उसका मन्द-मन्द मुस्कराते हुए घूंघट खोलते है। विनोदी को तो विनोद चाहिये। उसका अपना कोई रूप नही। इस सम्बन्ध का एक दृष्टान्त है।

एक देहाती पंडितजी थे। पूरे गाँव में उनकी यजमानी थी। उनके यजमान प्रायः सब किसान ही थे। कुछ बहुत निर्धन थे, कुछ खाते पीते साधारण मध्यवित्त वाले किसान थे। एक दिन एक

किसान ने उन्हें निमन्त्रण दिया। पंडितजी ने समझा खीर पूड़ी बनी होंगी। अतः स्नान करके केशर मिश्रित सुगन्धित चन्दन लगाकर, नई धोती अंगरखी पहिन कर, बड़े ठाट-बाट से न्योता खाने गये। वहाँ जाकर देखा कि खीर पूड़ी तो हैं नहीं मक्का की रोटी और चने का साग परसा जा रहा है। तब आप बोले—"तुम तब तक परसो मैं एक काम करके अभी आता हूँ।" यह कहकर पंडितजी दौड़कर घर गये। उन्होंने नई धोती अंगरखी उतार कर रख दी। एक फटी सी मैली धोती पहिनी, एक फटा सा पुराना कंबल लपेट लिया। केशर चन्दन मिटाकर कंकड़ घिसकर उसका तिलक लगा लिया और भोजन करने गये।

यजमान ने जब इनका ऐसा सर्वथा बदला हुआ रूप देखा, तो वह आश्चर्यचकित हो गया। उसने पूछा—"पंडितजी! यह क्या? आप तो एकदम बदल ही गये, यह आपने कैसा रूप बना लिया?"

तब हँसते हुए पंडितजी बोले—"भैया, वह जो रूप था, वह खीर पूड़ी का रूप था, जब मैंने देखा, यहाँ तो मक्का की रोटी और चने का साग है, तो उसी के अनुरूप रूप बनाकर आया हूँ। "जैसी तेरी कोमरी वैसे मेरे गीत।" जैसा खेल हो वैसा ही वेष बनाने से वह खेल फबता है। भगवान् भी विनोदी हैं, वे भी भक्तों की भावना के अनुरूप वेष बनाकर उनकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन ने शंका की कि ज्ञान तप से विशुद्ध साधक तो आपको प्राप्त हो जायंगे, किन्तु जो तपस्वी नहीं हैं ज्ञान से पवित्र नहीं हुए हैं, ऐसे अपवित्र और असाधु पुरुष आपको प्राप्त नहीं हो सकते? इस पर भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन! ज्ञान रूप तप से पवित्र हुए जो बहुत से साधक थे वे

मुझे ही पाना चाहते थे, इसीलिये वे मुझे प्राप्त हो गये। जो मुझे पाना चाहते ही नहीं, वे मुझे कैसे प्राप्त होंगे ?"

इस पर अर्जुन ने कहा—"प्रभो ! आप तो समदर्शी हैं, आपकी दृष्टि में तो सभी बराबर हैं। ज्ञानी अज्ञानी का छोटे बड़े का भेद तो साधारण लोगों में होता है। माता-पिता की दृष्टि में तो सभी सन्तानें समान हैं। सभी पर समान भाव से दया करनी चाहिये। पक्षपात और निर्दयता तो संसारी लोग करते है आप तो विषमता तथा निर्घृणता दोषो से रहित हैं, आपको तो सभी को एक सी गति देनी चाहिये, फिर चाहें वे ज्ञान तप से पवित्र हों या अपवित्र। आपकी तो सब सन्तानें ही हैं।"

इस पर भगवान् ने कहा—भाई, एक दृष्टि से तो सब समान हैं, फिर भी स्थिति के अनुसार भेद न करें तो संसार ही न चले। माता के ४ पुत्र हैं। एक दृष्टि से तो सब समान है, सबको एक सा भोजन देना चाहिये, किन्तु जिसे सावधिक ज्वर है, उसे माता उपवास कराती है, जिसे अजीर्ण है, उसे पतली खिचड़ी देती है, जो हृष्ट-पुष्ट है उसे हलुआ देती है। स्थिति के अनुसार भेदभाव करना ही पड़ता है। जो लोग मुझे जिस भाव से भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी भाव से भजता हूँ, अर्थात् उन पर उसी भाव से अनुग्रह करता हूँ। आर्त भक्त दुःख दूर करने को भजन करता है, तो मैं दुखहर्ता के रूप से उसके दुःख को दूर करता हूँ। जैसे द्रौपदी ने आर्त होकर मुझे पुकारा। वह विवस्त्रा बनना नहीं चाहती थी, अतः मैं वहाँ अनन्त वस्त्र रूप में बन गया। जो जिज्ञासु बनकर मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं गुरु रूप से उपदेश देता हूँ। जो अर्थार्थी बनकर मेरा भजन करते हैं जैसे ध्रुव। उनके सम्मुख मैं उसी रूप में प्रकट होकर उनको मन चाही राज्यादि वस्तुएँ

हूँ। ज्ञान रूपी तप से पवित्र ज्ञानी मुझे ही चाहते हैं, अतः वे मेरे भाव को ही प्राप्त हो जाते हैं।

अर्जुन ने कहा—"तब तो भगवन्! जो आपको भजे उसी को मन चाही वस्तु प्राप्त हो। जो आपको न भजे, किसी अन्य देवता की उपासना करे, तो क्या उसकी इच्छा पूर्ति न होगी?"

भगवान् ने कहा—मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा देव है ही नहीं। मैं ही एकमात्र देव हूँ। मेरे ही अन्य देवता सब रूप हैं। सूर्य चन्द्र मेरे ही चक्षु हैं, इन्द्रादिदेव मेरी ही बाहुएं हैं। किसी भी देवता की उपासना करो, अन्त में वह मेरे ही पास पहुँचेगा। जल को जहाँ भी डाल दो भूमि पर, नदी में, तालाब में, आकाश में इर-फिर कर वह समुद्र में ही पहुँच जायगा। इसी प्रकार मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं।

अर्जुन ने पूछा—जब इर-फिर कर आपके ही पास पहुँचने वाला है, तो लोग आपका ही भजन क्यों नहीं करते। इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि आदि देवताओं की पूजा क्यों करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मानव सरलता चाहता है। व्यय कम हो, श्रम कम करना पड़े और फल शीघ्रातिशीघ्र मिल जाय, यह जैव धर्म है। सर्व साधारण लोग मोक्ष नहीं चाहते, मुझे नहीं पाना चाहते। वे तो काम सुख के इच्छुक हैं। उन्हें नाना कामनायें दुःख देती रहती हैं। उन कामनाओं की पूर्ति देवताओं से शीघ्र हो जाती है। मुझे पाने के लिये तो चिरकाल तक जप, तप, मन्त्रानुष्ठान, त्याग, वैराग्यादि करना पड़ता है। वे इन सब झमेलों में पड़ना नहीं चाहते। वे चाहते हैं इस हाथ देना उस हाथ लेना। हे देवीजी मेरे बच्चे का ज्वर उतर जाय तो मैं सवा सेर लड्डू चढ़ाऊँगी। वे सवा सेर लड्डू देकर ही अपनी मनोकामना की पूर्ति चाहते हैं। इसीलिये नाना भाँति की कामना वाले लोग,

अपने स्वार्थ की सिद्धि चाहने वाले पुरुष मेरा पूजन न करके देवताओं का ही पूजन करते हैं, क्योंकि इस संसार को धन, स्त्री, आरोग्य आदि कामनाओं की सिद्धियां इन देवताओं से शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं। उन्हें इन्हीं की चाहना है। अतः देवताओं को पूजते हैं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! इन भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव भिन्न-भिन्न क्यों होता है? सबके समान गुण तथा कर्म क्यों नहीं होते?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका उत्तर जो भगवान् देंगे इसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

नहीं करें निष्काम करम जे चाहें तिनि फल।
मिलि जावे फल तुरत होहि नहिँ कबहूँ निष्फल॥
फल आकांक्षी पुरुष करें पूजन देवनि को।
विनती पुनि-पुनि करें देव! देवो फल मन को॥
करम करें फल के निमित, ते अति क्षुद्र कहात हैं।
मर्त्यलोक में भोग सुख, तुरत तिनहिँ मिलि जात हैं॥

गुण कर्मानुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था

[७]

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥❀

(श्री भग० गी० ४ अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारि बरन हैं ।
गुन अरु करम विभाग सबनि के अलग-अलग है ॥
मैंने ई सब रचे सबनि के करम बताये ।
जैसे जाके करम यथा क्रम तिनहिं लगाये ॥
सृष्टि, नाश, पालन मरन, करूँ मोइ करता कहत ।
अविनाशी निरलिप्त बनि, सदा अकरता ई रहत ॥

❀ गुण कर्म और स्वभाव से चारों वर्ण मेरे ही द्वारा रचे गये हैं उनका कर्ता होने पर भी मुझ अव्यय को तुम अकर्ता ही समझो ॥१३॥

मुझे कर्म लिप्त नहीं करते, क्योंकि कर्म फल मे मेरी स्पृहा नहीं है । इस प्रकार जो मुझे भली भाँति जानता है, वह भी कर्मों मे नहीं बँधता ॥१४॥

यह सृष्टि रूपी निरन्तर बहने वाली नदी गुण कर्म प्रवाह के कारण बहती रहती है, इसमें गुण कर्म प्रवाह जब बन्द हो जाता है, तब इसका प्रवाह बन्द हो जाता है, सृष्टि का प्रलय हो जाता है, क्योंकि यह संसार का चक्र है, पहिया है, कभी रुकने वाला नहीं समय पाकर फिर चालू हो जाता है। चलना और रुकना दोनों कर्म है, अतः यह कर्म शृंखला अनादि है और सदा चलती रहती है। इसलिये संसार चक्र सदा ऐसा ही चलता रहता है।

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इनमें सत्त्व गुण की प्रधानता से सात्त्विक कर्म होते हैं, रजो गुण की प्रधानता से राजसी कर्म होते हैं और तमोगुण की प्रधानता से तमोगुणी कर्म होते हैं।

इन गुणों और कर्मों को उत्पन्न किसने किया ? तो कहना चाहिये। गुण और कर्म ही संसार की उत्पत्ति में मूल कारण हैं, जिसने इस संसार को उत्पन्न किया, इन गुण कर्म प्रवाह का कर्ता है।

अब प्रश्न यह उठता है, कि जो वृक्ष लगाता है, वह उसके फल खाने का भी अधिकारी है। जिसने इस त्रिगुणात्मक दुःख मूल संसार को बनाया, उसे भी दुःख व्याप्त होता होगा। इस पर कहते हैं, उन संसार रूपी वृक्ष के बीज रूप और कर्ता रूप प्रभु को अणु मात्र भी दुःख नहीं व्यापता। वे कर्ता होकर भी अकर्ता बने रहते हैं। कर्म करते हुए भी अकर्मी बने रहते हैं। ऐसा क्यों होता है, ऐसा तो सम्भव नहीं ? तो इसका उत्तर यही है कि भगवान् के लिये कोई सम्भव असम्भव का प्रश्न ही नहीं, क्योंकि वे विरुद्ध धर्माश्रयी हैं, इस बात को भगवान् ने बारम्बार कहा है वेदों में भी बताया है वह पैर वाला

नहीं है, फिर भी बड़े वेग से चलता है, यद्यपि उसके हाथ नहीं। फिर भी वह भांति-भांति के कार्य करता है। इत्यादि-इत्यादि।

जब माया में ही कोई असम्भव बात नहीं, सभी सम्भव है तो मायेश के लिये तो कहना ही क्या ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने भागवान् से स्वभाव की भिन्नता का कारण पूछा, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! यह संसार गुण के विभाग से और कर्मों के विभाग से भिन्न ही है।"

अर्जुन ने पूछा—"गुण का विभाग क्या ?"

भगवान् ने कहा—कोई सत्त्व गुण सम्पन्न होते हैं, कोई रजोगुणी होते हैं और कोई तमोगुणी स्वाभाव वाले होते हैं। *यही गुणों का विभाग है।*

अर्जुन ने पूछा—कर्म विभाग क्या ?

इस पर भगवान् ने कहा—जो जैसे गुण वाला होगा उसका स्वभाव भी वैसा होगा और उसके कर्म भी वैसे ही होंगे। जैसे सत्त्वगुण सम्पन्न व्यक्ति शम, दम तपस्या आदि सात्त्विक कर्म करेगा। रजोगुणी, शौर्य तेज युद्धादि राजसी कार्य करेगा। तमोगुणी निद्रा आलस्य प्रमाद आदि कर्मों को करेगा। इन्हीं गुण कर्मों के विभाग से चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बनी है।

अर्जुन ने पूछा—गुण कर्म विभाग से चातुर्वर्ण व्यवस्था कैसे बनी है।

भगवान् ने कहा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र इन चार वर्णों वाले समाज संगठन को चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कहते हैं। जैसे ब्राह्मण सत्त्वगुण प्रधान होंगे वे शम, दमादि कर्म भी सात्त्विक करेंगे। जिनमें सत्त्वगुण तो थोड़ा सा गौण रूप से होता है, रजोगुण की प्रधानता होती है वे क्षत्रिय वर्ण के होते हैं, उनके

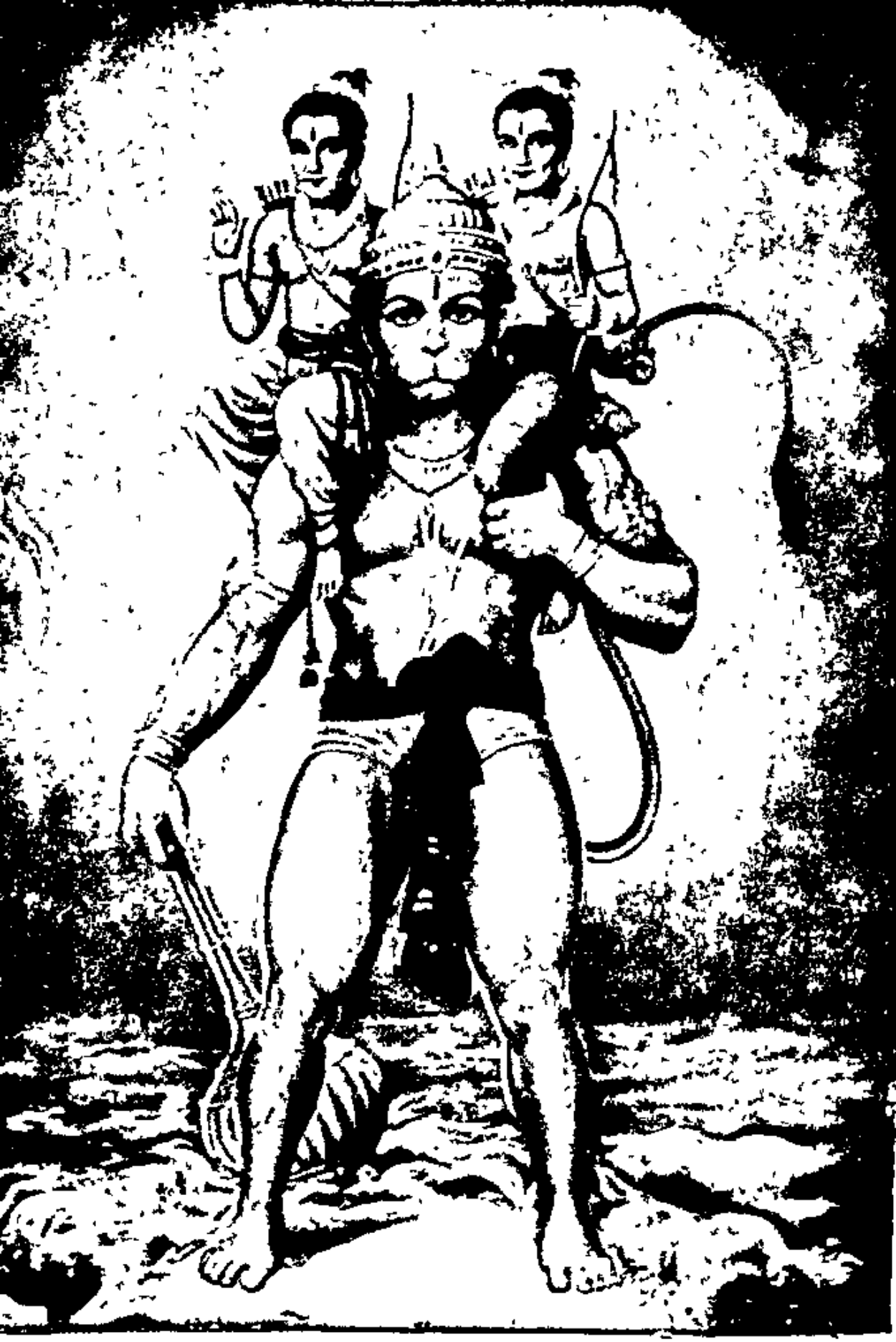

No. 697 हनुमानजी (राम लक्ष्मण सहित) S.S.B.

भागवत दर्शन

खण्ड ७३

गीतावार्त्ता (५)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण] माघ पूर्णिमा [मू० १.६५ पै०
१००० प्रति २०२६

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

(पंचम संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्ष का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३५६ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ३.४५ मात्र है, शीघ्र मँगाइये, नूतन संस्करण छप गया है। डाकव्यय अलग।

मतवाली मीरा

(पंचम संस्करण)

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा? उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है। ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढङ्ग से अलोचना की है, इसमें भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्व का मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई

के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन, बेटियों, माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते-पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढङ्ग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २.५० रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये रंगीन चित्र बड़ा ही कला पूर्ण है। डाकव्यय अलग।

नई प्रकाशित पुस्तकें

श्री हनुमत्-शतक

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

हनुमान् चालीसा की भाँति नित्य पाठ करने के लिये यह "हनुमत-शतक" है, इसमें हनुमान जी के जीवन सम्बन्धी १०८ छप्पय हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक कवि डाक्टर रामकुमार जी वर्मा ने तीन छप्पय में इसकी भूमिका लिखी है। हनुमान् जी के भक्तों के लिये नित्य पाठ की यह बहुत ही उपयोगी पुस्तिका है। अब तक इसके दो संस्करण छप चुके हैं। पुस्तक के आदि में श्री हनुमान् जी का बहुत ही भव्य भावमय बहुरंगा चित्र है। मध्य में २१ छोटे चित्र (लाइन ब्लाक) हैं। मुख पृष्ठ पर हनुमान् जी का सुन्दर भावमय चित्र है। सुन्दर छपाई वाली इस पुस्तक की न्योछावर केवल ५० पैसे है।

श्री महावीर हनुमान्

(लेखक श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

श्री ब्रह्मचारी जी महाराज ने श्री वृन्दावन धाम में रहकर श्री हनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, ऊपर एक श्लोक फिर एक छप्पय, तदनन्तर उस अध्याय के विषय की भूमिका फिर विषय विवेचन एक आध दृष्टान्त कथा कहानी अन्त में एक छप्पय लिखकर अध्याय समाप्ति। ऐसे इसमें २२ अध्याय हैं। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है, हनुमान् जी के भक्तों तथा कथा वाचकों के बहुत ही काम की बन गयी वस्तु है। पृष्ठ संख्या २०० मूल्य २ रु० ५० पैसे आज ही पत्र लिखकर पुस्तक मँगा लें थोड़ी ही प्रतियाँ शेष हैं।

भक्त-चरितावली

(दो भागों में)

यदि आप चाहते है कि हम भी प्रभु के भक्तों की गाथा पढ़कर, भक्ति में आत्मविभोर होकर, प्रभु की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनों भाग मगा कर पढ़ें। पूज्य श्री महाराज जी आज से ४०-५० वर्ष पूर्व झूसी (प्रतिष्ठानपुर) के हसतीर्थ में सन्ध्यावट नामक एक सघन वटवृक्ष के नीचे छोटी-सी कुटिया में रहकर अनुष्ठानादि करते रहते थे। जपानुष्ठान से जो समय मिलता उसी में वे भक्तों का चरित्र

लिखते थे। उसी समय के लिखे हुए लेखों को पुस्तक रूप में तैयार किया गया है। प्रथम भाग पृष्ठ संख्या ४४४ मूल्य ४ रु० द्वितीय भाग पृष्ठ संख्या ३०३ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)

[छप्पय छन्दों में]

सत्यनारायण भगवान् की महिमा अपार है। संसार सत्य के सहारे ही अवस्थित है। सत्य सार है। जगत् असत है। सत्य ज्ञान है, सत्य ही अनन्त अनादि है, सत्य ही ब्रह्म है सत्य पालन ही संसार में सर्व सुलभ सुखकर सुन्दर साधन है। यह संसार तो सिन्धु के समान है, सत्य का सहारा लेकर ही इसे पार किया जाता है, इसीलिये हम सत्यनारायण भगवान् का व्रत, पूजन तथा अनुष्ठान करते हैं। कलिकाल में सत्यनारायण व्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिये सत्यनारायण भगवान् का पूजन घर-घर होता है।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है।

भक्तों के बार-बार आग्रह करने पर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने यह पुस्तक छप्पय छन्दों में लिखी है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ७५ पैसे।

छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय

श्री भर्तृहरि के नीति, शृङ्गार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद।

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही, अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित सा होता जा रहा है। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि श्री महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान् एवं साधारण जन इसमे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की पुस्तक प्रेस में पहुँच गई है शीघ्र ही आपको प्राप्त होगी।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम तथा दोहा

(भाष्य सहित सहस्र नामों के सहस्र दोहे)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वद्जनों के हाथों में पहुँची, लोगों ने

पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये। पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जी इसी प्रकार 'श्रीविष्णुसहस्र नाम' को भी लिख दीजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के एक-एक दोहे भी बना दिये। इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनों बन गये। प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते उसे कथा में सुनाते उसका वर्णन इस परिचय-सूचनापत्र में करना असम्भव है। शीघ्र ही छपकर तैयार हो रही है पत्र लिखकर अपनी प्रति सुरक्षित करालें।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

विषय	पृ० सं०
हमारे न्यास (ट्रस्ट) के नये अध्यक्ष	१०
अपनी निजी चर्चा	१४
गीता-माहात्म्य (४)	२६
गीता-माहात्म्य (५)	४०
१. योगयुक्त पुरुष कर्म करने पर भी उनमें लिप्त नहीं होता	४६
२. कर्मयोगी कमलवत निर्लेप रहता है	५६
३. कर्मयोगी अनासक्त भाव से चित्तशुद्धि के लिये कर्म करते है	६३
४. आत्मा कर्तृत्व अभिमान से शून्य है	७१
५. अज्ञान से ज्ञान ढक गया है इसी से प्राणियों को मोह हो गया है	७८
६. समदर्शी का ही नाम पंडित है	८५
७. जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (१)	९२
८. जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (२)	१००
९. जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (३)	१०९
१०. जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (४)	११८
११. प्राणायाम परायण जीवन्मुक्त के लक्षण (५)	१२८
१२. भगवान् को सुहृद् समझने पर शान्ति मिलती है	१३७

१३. कर्मों के फल को त्यागने वाला ही संन्यासी है १४६
१४. निष्काम कर्म से अन्तःकरण की शान्ति मिलती है १५२
१५. अपनी आत्मा ही शत्रु तथा मित्र है १५९
१६. युक्त योगी के लक्षण १६५
१७. योगी का परम कर्त्तव्य १७२
१८. योगासन की विधि १८२
१९. ध्यान की विधि १८९
२०. योग द्वारा परम शान्ति की प्राप्ति १९५
२१. योगी के आहार विहार के नियम २०२
२२. युक्त योगी की परिभाषा २१०
२३. योगी आत्मतुष्ट हो जाता है १५

हमारे न्यास (ट्रस्ट) के नये अध्यक्ष

पाठक जानते ही होंगे हमारे संकीर्तन भवन का 'संकीर्तन भवन धार्मिक न्यास (ट्रस्ट)' नाम से एक ट्रस्ट है। इसी न्यास की ओर से भागवती कथा का तथा पू० ब्रह्मचारी जी के अन्यान्य ग्रंथों का प्रकाशन होता है। एक 'संकीर्तन भवन, संस्कृत ब्रह्मचर्याश्रम' है, जिसमें निःशुल्क विद्यार्थी पढ़ते हैं उनके भोजन आदि का समस्त भार आश्रम पर है। एक भागवत प्रेस है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक अखण्ड कीर्तन होता है, नित्य नियम से कथा तथा अन्यान्य धार्मिक उत्सवादि होते रहते हैं। आरम्भ से ही इस ट्रस्ट के अध्यक्ष १००८ श्री स्वामी ब्रह्मचैतन्य पुरी जी महाराज थे तथा मंत्री प्रयाग के महान् कर्मठ, सनातन धर्म के नेता वयोवृद्ध पं० मूलचन्द्र जी मालवीय थे। ५ और भी न्यासीगण हैं। गत वर्ष पूज्य श्री स्वामी जी का देहान्त हो गया। उनके स्थान पर झरिया, धनबाद के सुप्रसिद्ध, परम भगवत्भक्त हरिभक्तिपरायण पंडित यशवन्तराय हरिशंकरजी वोरा हमारे न्यास के नये अध्यक्ष हुए हैं। वोराजी कितने धार्मिक, सात्विक, साधुसेवी तथा दातृत्वगुण सम्पन्न हैं, इसे कहना छोटे मुख बड़ी बात ही कही जायगी। भागवतकार ने कहा है—

जन्म कर्म वयो रूप विद्यैश्वर्य धनादिभिः।
यदि यस्य न भवेत् स्तम्भः तत्रायं मदनुग्रहः।

उच्च कुल में जन्म होना, सद्कर्मों में लगे रहना, सुन्दर

रूपवान होना, विद्वान् तथा ऐश्वर्यवान और धनवान् होना ये महान् गुण हैं। इन इतने भारी गुणों को प्राप्त करके कुछ न कुछ अभिमान हो ही जाता है; यदि इन गुणों को पाकर भी जिसे अभिमान न हो, तो समझना चाहिये उस पर भगवान् की बड़ी भारी कृपा है, महान् अनुग्रह है।

हमारे बोराजी भगवान् के परम कृपापात्रों में से हैं। ये सब की सब वस्तुएं उनमें पूर्ण रूप से रहने पर भी वे अभिमानशून्य हैं। बिल्कुल छोटे बच्चों का सा स्वभाव है। इससे अधिक हम उनकी प्रशंसा नहीं करेंगे क्योंकि वे अपने निजी जन हैं और अपनों की प्रशंसा करना अपने मुँह मियामिट्ठू बनने के समान है। हमारे न्यास का यह अहोभाग्य है, कि हमें ऐसे सुयोग्य अध्यक्ष प्राप्त हुए हैं। आपके ही सहयोग से संस्कृत विद्यालय सुचारू रूप से चल रहा है। और यह भागवती कथा भी नियमित रूप से निकलने लगी है। अब कम से कम एक वर्ष के निकलने का प्रबंध तो हो गया है। हमें कागज की सबसे बड़ी कठिनाई थी सो कलकत्ते के सुप्रसिद्ध उद्योगपति सेठ गोबिन्दलालजी बाँगड़ की कृपा से उनकी कागजमिल रानीगंज से तथा राजमहेन्द्री से हमें वर्ष भर तक कागज मिलने का प्रबंध हो गया है, इसके लिये हम सेठजी को किन शब्दों में धन्यवाद दें। वे अपने ही हैं।

इधर १०-१२ वर्ष से पूज्य महाराज जी गोरक्षा के कार्य से झूसी से बाहर ही रहे, उनकी अनुपस्थिति में आश्रम का कार्य अस्त व्यस्त हो गया। भागवती कथा का निकलना बंद हो गया, प्रेस पर तथा आश्रम पर बहुत सा ऋण भी हो गया। पिछले खण्ड भी बहुत से चुक गये। ३०-३५ वर्ष पहिले जो भागवती कथा के स्थायी ग्राहक बने थे, वे भी सबके सब अस्त

व्यस्त हो गये। धार्मिक ग्रन्थों को प्रायः वृद्ध नर नारी ही अधिक पढ़ते हैं। ३०-३५ वर्ष में उनमें से अधिकांश परलोकवासी हो गये। सरकारी नौकर न जाने कहाँ के कहाँ चले गये। अतः अब स्थायी ग्राहक फिर बनाने पड़े हैं। ५-६ महीने में अभी लगभग सवा सौ ग्राहक बने हैं। यदि सभी ग्राहक उद्योग करके १०-१०, ५-५ ग्राहक बना दें तो भागवती कथा अपने पैरों पर खड़ी हो जाय। कम से कम दो हजार स्थायी ग्राहक हो जायँ तो अगले खंड भी नियमित निकल सकते हैं और पिछले खंड जो चुक गये हैं वे भी छप सकते हैं, आशा है २०) वार्षिक देकर इसके अधिक से अधिक स्थायी ग्राहक बन जायंगे तथा सभी ग्राहक स्थायी ग्राहक बनाने की यथाशक्ति चेष्टा करेंगे। हम पिछले जो अंक चुक गये है, उन्हें फिर से छपाने का भी प्रबंध कर रहे हैं अब तक चुके हुए खंडों में दूसरा, अड़तालीसवाँ, उनचासवाँ, सत्ताइसवाँ तथा तीसवाँ ये खंड फिर से छप गये हैं, आगे जो छपते जायँगे उनकी सूचना हम नये खंडों में प्रकाशित करते रहेंगे।

संकीर्तन भवन धार्मिक न्यास (ट्रस्ट) के मंत्री पंडित मूलचन्द्र जी मालवीय थे। उनका भी थोड़े दिन पूर्व परलोकवास हो गया। उनके स्थान पर मंत्री मुझे बना दिया गया है। कहाँ इतने कर्मठ, वयोवृद्ध, अनुभवी, विद्वान तथा परम लोकप्रिय नेता पंडित मालवीयजी और कहाँ अपक्वावस्था का, विद्या बुद्धि से रहित अनुभव शून्य मैं बालक। मैं सर्वथा इस पद के अयोग्य हूँ। किन्तु पूज्य महाराज जी की आज्ञा शिरोधार्य करके मैंने यह गुरुतर भार अपने कन्धों पर ले लिया है। मैं इसमें तभी कुछ सफल हो सकता हूँ, जब सभी पाठक पाठिकायें पूर्ण रूप से मेरा सहयोग करें। आशा है भागवती कथा के सुयोग्य धार्मिक पाठक मेरी सब प्रकार से

सहायता करेंगे। जिससे यह परम दिव्य साहित्य सभी को सुलभता से प्राप्त हो सके।

पुनश्च यह बात सूचित करते हुए हमें अत्यन्त दुःख हो रहा है कि इस खण्ड के छपते समय हमारे न्यास के सबसे पुराने न्यासी (ट्रस्टी) श्री रामनारायण बेनीप्रसाद बुकसेलर, कटरा फर्म के स्वामी बाबू बेनीप्रसाद जी अग्रवाल का भी अभी देहान्त हो गया। आप बड़े अनुभवी व्यवसायी और वयोवृद्ध थे, न्यास के आजीवन सदस्य रहे। भगवान् उनकी परलोक गत आत्मा को शान्ति प्रदान करें।

संकीर्तन भवन धार्मिक न्यास
झूसी (प्रयाग)
माघ शु० १३। २०२६

विनीत
रामनुज पाण्डेय
मन्त्री

अपनी निजी चर्चा

[४]

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र—
संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलम्,
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥*

(श्री० भाग० ७ स्क० ९ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

पूर्व जन्म कृत कर्म पाश में बँध्यो फिरतु हूँ।
जो नहिँ भावैं तनिक तिनहिँ के संग रहतु हूँ॥
भव चक्की में पिसूँ बात कोई नहिँ बूझै।
चरन कमल तव छाँड़ि, अन्य अवलम्ब न सूझै॥
शरणागत वत्सल विभो! अब कब तक तरसाइँगे।
परम शरन निज पदु पदुम-में कब नाथ! बुलाइँगे॥

---

* हे कृपण वत्सल! मैं इस संसार चक्र में पिसने से ही अधिक भयभीत हूँ। मैं इन ससारी भयंकर जन्तुओ के बीच मे अपने कर्म पाशो के कारण डाल दिया गया हूँ। हे मेरे स्वामिन्! आप प्रसन्न होकर अपने चरणो में जो समस्त जीवो के एकमात्र शरण और मोक्ष स्वरूप हैं उनमें कब मुझे बुलावेंगे?

एकबार धर्मराज युधिष्ठिर को कर्ण ने बहुत अधिक व्यथित किया। धर्मराज घबड़ा गये अचेत हो गये। तभी अर्जुन को लिये हुए श्री कृष्ण जी अपना रथ लेकर आ गये। धर्मराज को भगवान् ने डेरे पर भेज दिया और अर्जुन कर्ण से युद्ध करने लगे।

भगवान् ने अर्जुन से कहा—"अर्जुन! धर्मराज बड़े मर्माहत हो गये थे, पता नहीं उनकी मूर्छा जगी या नहीं। चलो, पहिले चलकर धर्मराज को देख आवें, तब फिर कर्ण से युद्ध करेंगे।"

भगवान की इच्छानुसार अर्जुन धर्मराज युधिष्ठिर के शिविर में पहुँचे। तब तक चिकित्सकों के अथक परिश्रम से धर्मराज के शरीर से बाण निकाले जा चुके थे, उनके घावों को धोकर उनमें औषधि लगाकर पट्टी बांधी जा चुकी थी। धर्मराज की मूर्छा भंग हो चुकी थी, वे चैतन्य हो चुके थे। श्री कृष्ण और अर्जुन को प्रसन्न मुद्रा में अपने समीप आते देखकर धर्मराज ने समझा वह दुष्ट सूत पुत्र अवश्य ही अर्जुन के बाणों से मर कर परलोक वासी बन चुका है, इसीलिये दोनों का बड़े ही स्नेह से स्वागत करते हुए धर्मराज बोले—"बड़े सौभाग्य की बात है कि मैं तुम दोनों को कर्ण को मारकर भी सकुशल लौटा हुआ देख रहा हूँ। उस सूत पुत्र ने आज मुझे अत्यन्त ही व्यथित किया। वह एक मात्र मेरे हृदय का शूल था। उसी से मुझे सबसे अधिक भय था। वनवास में भी मैं उसी का स्मरण करके आहें भरा करता था। दुर्योधन उसी के बल भरोसे इतनी उछल कूद किया करता था। तुम लोगों ने आज मेरे हृदय के कांटे को निकाल फेंका है। आज मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ। वह सूत पुत्र बड़ा भारी बली था। श्री कृष्ण की सहायता बिना दूसरा कोई उसे मार ही नहीं सकता था। वह दुष्ट बड़ी कठिनाई से मरा होगा?

मरते समय उसने प्राणों का पण लगाकर भयंकर युद्ध किया होगा ? अर्जुन । तुम्हारे अधिक चोट तो नहीं आई ! उस सूत पुत्र की मृत्यु का पूरा वृत्तान्त मुझे सुनाओ ।"

धर्मराज की ऐसी उत्सुकता भरी बातें सुनकर अर्जुन ने कहा—"महाराज ! आपको क्लेश पहुँचाने वाला सूतपुत्र कर्ण अभी मरा नहीं है, अब शीघ्रता में आपको देखने चले आये । अब हम....."

अर्जुन आगे और भी कुछ कहना चाहते थे, किन्तु धर्मराज बीच में ही बोल उठे । एक तो कर्ण ने उन्हें बहुत अधिक पीड़ित किया था, दूसरे वे क्षत विक्षत और अचेत होने कारण अधीर भी हो रहे थे । वे अपना क्रोध के कारण संतुलन गँवा बैठे और अत्यन्त ही रोष में भर कर अर्जुन को जली कटी बुरी बातें सुनाते हुए कहने लगे—"अर्जुन ! तुझको धिक्कार है, जो मुझे पीड़ा पहुँचाने वाले सूत पुत्र को तू अब तक नही मार सका । तू इतना भारी गांडीव धनुष बाँधे फिरता है, यह धनुष है या साधारण लाठी । यदि तुझमें बल पौरुष नहीं तो इस गांडीव को किसी को दे क्यों नहीं देता ।"

यह सुनकर अर्जुन भी कुपित हुए । उन्होंने म्यान से तलवार निकाल ली । भगवान् श्री कृष्णचन्द्र अर्जुन के अभिप्राय को ताड़ गये और अत्यन्त ही मधुर वाणी में बोले—"धनंजय ! तुम म्यान से तलवार क्यों निकाल रहे हो ? यहाँ कोई अपना शत्रु तो दिखाई देता नहीं, फिर यह प्रयास किसलिये ?"

अर्जुन ने कहा—"मैं धर्मराज का वध करूंगा ।"

आश्चर्य के साथ भगवान् ने पूछा—क्यों ?

अर्जुन ने कहा—मेरी प्रतिज्ञा है, जो मेरे गान्डीव धनुष की निन्दा करेगा, उसका वध कर दूँगा। धर्मराज ने मेरे गान्डीव की निन्दा की है, अतः प्रतिज्ञा पालन के हेतु मुझे उनका वध करना चाहिये। मैं बिना वध किये मानूँगा नहीं।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और अत्यन्त ही मधुर वाणी में बोले—"जो धर्मशास्त्र के वचनों का यथार्थ मर्म नहीं समझते वे ऐसी ही मूर्खता कर बैठते हैं। देखो, वध करने का अभिप्राय सर्वत्र सिर को धड़ से पृथक् करना ही नहीं होता। अपने से बड़े गुरुजनों को तू कह देना उनकी निन्दा कर देना, पत्नी को अपनी शैया से पृथक् कर देना, राजा की आज्ञा का उल्लंन कर देना ये बिना अस्त्र के वध ही हैं। ब्राह्मण का भी सर्वस्व छीनकर उसे देश से निकाल देना वध ही है। अतः तुम धर्मराज को 'तू' कह कर निन्दा कर दो, उनका एक प्रकार से वध ही हो गया। इससे तुम्हारी प्रतीज्ञा पूरी हो जायगी।"

भगवान् की बात मानकर अर्जुन ने धर्मराज की बहुत निन्दा की। निन्दा करने के अन्तर उन्होंने अपनी खड्ग फिर निकाली।

भगवान् ने पूछा—"अब खड्ग किस के वध के लिये निकाल रहे हो।"

अर्जुन ने कहा—"अब मैं अपना ही वध करूँगा।"

भगवान् ने पूछा—"क्यों ?"

अर्जुन ने कहा—"मैंने अपने पितृ तुल्य गुरुवर ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज की निन्दा की है, इस पाप का प्रायश्चित्त आत्म हत्या

ही है, अपना वध करना ही इसका एक मात्र प्रायश्चित्त है।"

यह सुनकर भगवान् फिर हँसने लगे और बोले—"अब के भी तुम भूल कर गये। अरे, अपना भी वध शस्त्र से नहीं किया जाता। तुम अपनी प्रशंसा अपने ही मुँह कर लो। अपनी प्रशंसा स्वयं करना यह आत्मा हत्या के समान पाप है।"

इस कथा को कहने का अभिप्राय इतना ही है कि मैं अपने सम्बन्ध की बातें लिख कर आत्म हत्या जैसे पाप का अधिकारी बन सकता हूँ। क्योंकि अपने सम्बन्धी की बातें कितनी भी सावधानी से कही जायं, उनमें कहीं न कही आत्म प्रशंसा आ ही जायगी। यह जीव का सहज धर्म है, किन्तु मैं इस निजी वार्ता को आत्म प्रशंसा की नीयत से नही लिख रहा हूँ, यदि जान में अनजान में आत्म प्रशंसा हो जाय, तो पाठक पाठिकायें मुझे क्षमा कर दें। मैं तो पाठक और लेखक के व्यवहार को निभाने के निमित्त इस प्रसंग को लिख रहा हूँ।

यह लेखक पाठक का सम्बन्ध ऐसा घनिष्ट है कि इसमें छिपाने के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसा न होता तो भगवान् व्यास अपनी उत्पत्ति की अपवाद पूर्ण कथा को स्वयं ही क्यों लिखते। अपने पिता की निर्बलता अपनी माता के छिद्रों को क्यों स्पष्ट प्रकाशित करते। यदि वे इन बातों को छिपाना चाहते तो स्यात् छिपा भी सकते थे। लोगों तक ये बातें भले ही न पहुँचती, किन्तु व्यास जी अपने पाठकों के साथ न्याय न करते। इतनी उनमें कमी रह जाती।

मेरे अनशन के सम्बन्ध की भी बहुत सी बातें परदे की ओट में हुईं। बहुत से पाठक उनसे अनभिज्ञ ही रहे। मैं उन बातों

को अपने प्रेमी पाठकों से छिपाये रखूं तो मैं दोष का भागी बनूंगा। मेरा मन मानता नहीं कि मैं अपने पाठकों से कोई बात छिपाऊं अतः धीरे-धीरे मैं सभी रहस्यमय बातों को बताऊंगा। पाठक बड़े धैर्य के साथ इस प्रसंग को सुननेकी कृपा करें।

हां, तो कहां तक बात हो गयी थी, ७ नवम्बर को अप्रत्याशित महान दुर्घटना से मैं सकुशल बाल-बाल बचकर बाजार लेन मे आ गया।

रात्रि के ही वायुयान से मुझे महाराष्ट्र के दौड़े पर जाना था। दूसरे ही दिन पन्ढरपुर का कार्य क्रम था। महाराष्ट्र के स्वयं सेवकों ने इसके लिये बहुत दिना से तैयारी कर रखी थी। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त हरिभक्त पारायण श्री दाडेकर जी के नेतृत्व में हस्ताक्षर अभियान चालू था। कई लाख या करोड़ हस्ताक्षर उन्होंने कराये थे। मेरे महाराष्ट्र भर के दौरे के लिये बम्बई के सुप्रसिद्ध कलाकार गायक श्री शंकर जयकिशन जी की मोटर उन्होंने मँगवा रखी थी। जैसे भी हो तैसे कल मुझे पन्ढरपुर पहुँचना ही पड़ेगा। वायुयान में हमारे ३ स्थान पहिले से ही आरक्षित थे। पहिले से ही टिकटें ले रखी थीं। हमारी वायुयान की टिकटें जोशी जी पर थीं। उनसे निर्णय हो चुका था वायुयान के आध घन्टे पहिले वे हमें वायुयान स्थल पर मिलें। इसलिये दुर्घटना में मरे हुए, घायल हुए लोगों का हाल-चाल पूछ सायंकाल हम वायुयान के छूटने से कुछ समय पूर्व ही वायुयान स्थल पर पहुँच गये। किन्तु वहां जाकर देखते हैं, जोशी जी नहीं आये। बड़ी चिन्ता हुई वायुयान के छूटने का समय हो गया, हमें पल-पल भारी हो रहा था। क्या करें कैसे

करें, जोशी जी ऐसे असावधान व्यक्ति तो नहीं थे, वे क्यों नहीं आये। सबसे अधिक चिन्ता मुझे महाराष्ट्र के अपने प्रिय बन्धु स्वयं सेवकों की थी। उन्होंने कितने उत्साह से सभा की स्वागत सत्कार की तैयारियां कर रखी होंगी। कितने लोग निराश होंगे। एक स्थान पर समय से न पहुँचे, तो सब जगह नहीं पहुँच सकेंगे। कार्य-क्रम उन्होंने इतना व्यस्त रख रखा था कि कुछ घन्टों की देरी होने पर ही गड़बड़ी हो जायगी।

अपनी तीर्थ यात्रा गाड़ी को हम मदरास ही छोड़ आये थे। बम्बई में उसे देखने की आशा थी, अब तो उसे देखना ही भय था, क्योंकि महाराष्ट्र गुजरात का दौरा तो मोटर कारों से ही करके अनशन के लिये वायुयान से गोपाष्टमी से एक दिन पूर्व वृन्दावन पहुँचना है। अब वायुयान के छूटने में कुछ ही मिन्टों की देरी थी।

रामराज ने दूरभाष यन्त्र द्वारा पता लगाया तो मालूम हुआ जोशी जी तो गिरफ्तार हो गये। और भी सैकड़ों आदमी गिरफ्तार हुए हैं। अब हम क्या करें। वायुयान अधिकारी के पास गये अपनी विवशता बताई और जैसे भी हो तैसे इसी वायुयान से जाने की उनसे अनुमति चाही।

उन्होंने धैर्यपूर्वक हमारी बात सुनी अपनी सूची देखी और कहा—सूची में आपके नाम की तीन सीटें हैं। आपका रुपया भी जमा है, किन्तु हम नियमों में बंधे हैं। विवश है, आपको बिना टिकट के हम वायुयान में न चढ़ने देंगे।

हमने कहा—कोई भी उपाय हो सकता है ?

सोचकर उन्होंने कहा—एक ही उपाय है आप नये टिकट

खरीद लें। वायुयान को हम आपके लिये १०-१५ मिनट रोक लेंगे।

अब यह नई आपत्ति। हमारे पास नई टिकट खरीदने का पैसा कहाँ ? हम तो सदा से कोरमकार पिचोतर सो ही रहे हैं। रामराज ने तुरन्त जयदयाल जी को फोन किया। उन्होंने अपने आदमी से तुरन्त मोटर से रुपये भेजे। तीन टिकटें खरीदी गयीं। वायुयान खड़ा हुआ हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। दौड़कर हम उसमें चढ़ ही तो गये। "बोलो गौ माता की जय।"

आधी रात्रि के समय वायुयान बम्बई में पहुँचा। ज्यों ही हम उतरे, त्यों ही गुप्तचर विभाग के एक बड़े अधिकारी ने आकर मुझसे पूछा—आपका नाम प्रभुदत्त ब्रह्मचारी है ?"

मैंने कहा—"हाँ है तो, कहिये क्या आज्ञा है।"

उसने कहा—बम्बई के कलक्टर साहब आप से भेंट करना चाहते हैं, आप यहीं बैठिये मै उन्हें बुलाये लाता हूँ यह कहकर वह दौड़ा-दौड़ा गया।

हमें जो लेने स्वयं सेवक आये थे, उन्होंने कहा—"महाराज, गाड़ी तैयार है, पन्ढरपुर की गाड़ी छूट जायगी। तुरन्त चलिये।" हम बिना उनकी प्रतीक्षा किये चल दिये रेल में बैठे और अपने ठीक कार्य क्रम के अनुसार पन्ढरपुर पहुँच गये।

इधर मैंने सुना समाचार पत्रों में यह छपा कि गौरक्षा आन्दोलन का एक प्रधान नेता सरकार की आँखों में धूल झोंक कर वायुयान से बम्बई भाग जाने में सफल हो गया।"

यह कितना असत्य प्रचार है, हमारे तो कितने दिनों से वायुयान में स्थान अरक्षित थे। परन्तु निन्दकों से कोई क्या कहे।

सैकड़ों पुलिस के सिपाही हमारे आगे पीछे घूम रहे थे; जैसे कोई राज्यपाल या राष्ट्रपति आता है। हम इतने स्वागत सत्कार का रहस्य ही न समझ सके। नासिक में भी यही दशा, बम्बई में पहुँचे वहा भी यही हाल। सब स्थानों में ऐसी भारी-भारी सभायें हुईं कि उनका विवरण देना व्यर्थ है।

नासिक की सभा में एक मुसलमान मौलवी ने हमारा बड़ा भारी सत्कार किया। हमारे आदमियों ने उनका परिचय दिया-"ये यहाँ की बड़ी मस्जिद के इमाम है।"

मुझसे कर स्पर्श करते हुए उन्होंने कहा—"हुजूर तो हमारे वतन के ही हैं, यहाँ परदेश में आपको पाकर हमें निहायत खुशी हो रही है। मैं भूसी का ही रहने वाला हूँ।"

हमारी भूसी का एक मुसलमान यहाँ, महाराष्ट्र में--नासिक में-इमाम हो। बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसा लगा मानों अपना कोई घर का आत्मीय मिला हो। उन्होंने गौरक्षा के समर्थन में बहुत प्रभाव पूर्ण व्याख्यान दिया। अन्य प्रतिष्ठित मुसलमानों ने भी उनका समर्थन किया।

बम्बई में तो पूछना ही क्या? वहाँ के सुप्रसिद्ध उद्योगपति सेठ गजाधर प्रसाद जी सोमाणी तथा अन्यान्य लोगों ने बड़ी भारी तैयारी कर रखी थी। हम सुप्रसिद्ध गो भक्त उद्योगपति आर्य समाज के नेता वल्लभ जी सूरजी के घर ठहरे थे। दूरभाष से सूचना पाकर नागपुर से संघ के सरसंघचालक श्री गुरुजी गोलवलकर जी भी आ गये। २ दिन हमें बम्बई में रहना

था। एक दिन चौपाटी में, एक दिन शिवाजी पार्क में दो महती सभायें हुई।

बम्बई में ही हमें एक अशुभ समाचार मिला। हमारी तीर्थ यात्रा गाडी को सरकार ने नासिक में भंग कर दिया। पूछने से पता चला कि कई सौ पुलिस वालों ने आकर गाडी को चारों ओर से घेर लिया और फिर पूछा—"ब्रह्मचारी जी कहाँ हैं?"

हमारे रेल के व्यवस्थापक ने कहा—"वे तो महाराष्ट्र में चारों ओर भ्रमण कर रहे हैं। नित्य दैनिक पत्रों में उनके कार्यक्रम छप रहे हैं, लाखों आदमी उनकी सभाओं में जाते हैं। आप हमसे उनका पता पूछते हैं।"

उन्होंने कहा—"अच्छा, अब यहाँ से आगे आपकी गाड़ी नहीं जायगी।"

व्यवस्थापक ने कहा—हम पूरी गाडी का रुपया जमाकर चुके हैं। हमारा इतने दिनों का ठेका हो चुका है। हम अब ७०० आदमियों को बीच मे कहाँ छोड़ें?

उन्होंने कहा—"यह बात आप भारत सरकार से पूछिये। हमें तो जैसी आज्ञा मिली है वैसा करेंगे। सुना है इसी तीर्थ यात्रा गाड़ी में ७०० साधु पिटरौल लिये हुए हैं, वे बम्बई को जला देंगे इसलिये आपकी गाडी यहीं भंग कर दी गयी है। अब आपको न इन्जन मिलेगा न आपकी गाड़ी ही जा सकेगी।"

हमारे व्यवस्थापक बलदेवाचार्य ने कहा—"हमारी गाडी में आप लोग देख लें, एक भी साधु नहीं। सब बूढ़े-बूढ़े स्त्री पुरुष हैं, कहीं भी देख लीजिये। पिटरौल की एक भी बोतल हो तो।"

...उन लोगों ने कहा—"हम यह बात नहीं जानते। यह बात आप भारत सरकार से करें। हमें तो जैसी आज्ञा मिली है वैसा करेंगे।"

यह कहकर हमारी रेल का इन्जन ले लिया। हमारे डिब्बे सब अलग-अलग कर दिये। यात्री सब उतार दिये गये। प्लेट फारम पर जहाँ सब स्त्री पुरुष बैठे थे। उन्हें चारों ओर से घेर कर पुलिस खड़ी हो गयी। स्त्रियाँ रोने लगीं। एक अप्रत्याशित घटना घट गयी।

अब उस परदेश में किया क्या जाय। बलदेवाचार्य रेल वालों के पास गये। रेल के एक बहुत बड़े अधिकारी रतन लाल जी उत्तर प्रदेश के थे, उन्होंने बड़ी सहानुभूति दिखायी और स्पष्ट कह दिया भारत सरकार की आज्ञा से यह सब हुआ है, हम रेल वाले इसमें कुछ नहीं कर सकते। आपकी गाड़ी अब किसी भी प्रकार आगे नहीं जा सकती। हाँ, मैं इतना कर सकता हूँ, आपके सब डिब्बो को अलग-अलग भिन्न-भिन्न गाड़ियों में लगवा कर बम्बई भेज सकता हूँ। दो दिन में आपके सब डिब्बे बम्बई पहुँच सकते है।"

हमारे लोगों ने इस बात को स्वीकार कर लिया। डिब्बे एक-एक दो-दो करके बम्बई के सेन्ट्रल स्टेशन पर पहुँच गये। पुलिस यहाँ भी यात्रियों को घेरे खड़ी थी, स्त्रियाँ रोने लगी चिल्लाने लगी। वहाँ इतने आदमियों को न भोजन की व्यवस्था, न पानी को, न प्रकाश की मानों हमारी गाड़ी के ऊपर शनि की वक्र दृष्टि आ गयी। मैं बम्बई में देखने गया, तो उनकी दशा देखकर भौचक्का रह गया।"

रेल का दुःखद प्रकरण अभी शेष है, जितना स्थान इसके लिये रखा था, वह पूरा हो गया अब आगे का वृत्तान्त पाठक पाठिकायें अगले खंड में पढ़ें।

छप्पय

है पथ अति ही विकट विघन बाधा बहु भारी।
साथी संगी सगे स्वार्थ के सब सहकारी॥
भ्रम्यो जगत में बहुत निकट तैं सबहिं निहारे।
किन्तु सहायक नहीं-मिले सब भये किनारे॥
सब की आशा छोड़ि कें, चरन शरन तुम्हरी गही।
स्वीकारें भगवन् तुरत, बात हिये की प्रभु कही॥

गीता-माहात्म्य

[४]

चतुर्थ अध्याय

गीतातरी जगति दिव्यदृढा मनोहरा,
कैवर्त केशव स्वयं कुशलाप्रमेयः ।
समुत्सुकाये भवपारगन्तुम्
पठन्तु नित्यं च चतुर्थसर्गम् ॥❀

(प्र० द० ब्र०)

छप्पय

चौथो जो अध्याय पुण्यप्रद भगवत् गीता ।
करैं प्रेम तैं नित्य पाठ तिनि नहिँ भवभीता ॥
सत्यतपा मुनि करैं तपस्या इन्द्र डरायो ।
उभय अपसरा भेजि विघ्न तिनि तप करवायो ॥
शाप दयो मुनि कुपित है, दोऊ तरु बदरी बनो ।
दोऊ काशी भईं तरु, पास उभय मोटो तनो ॥

❀ गीता रूपी जो सुदृढ़ दिव्य मनोहर नौका है तथा जिसके मल्लाह अद्वितीय कुशल श्री कृष्ण हैं, यदि तुम उस पर चढ़कर संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिये उत्सुक हो, तो नित्य नियम से चौथे अध्याय का पाठ किया करो ।

यह संसार साधुओं द्वारा ही सुखप्रद बना हुआ है, इस संसार में साधु संत, महात्मा महापुरुष भगवत् भक्त न हों, तो यह संसार रौरव नरक बन जाय। क्योंकि जीव का स्वभाव तो आपाधापी करने का है। मेरा ही पेट भर जाय, विषय भोग की सामग्रियां मुझे ही मिल जायें, लोग मेरा ही आदर करें, मेरी ही बात मान। इस प्रकार मैं और मेरा ने ही संसार में स्वार्थ का बोलबाला बढ़ा रखा है। मैं ही सुखी रहूँ, मैं ही सर्वश्रेष्ठ माना जाऊँ जीव की यह इच्छा स्वाभाविक है। संत महात्मा मैं मेरी से दूर रहते हैं। वे सम्पूर्ण वसुधा को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं। उनका मंत्र है भगवती लक्ष्मी ही हमारी माता है, विष्णु भगवान् ही हमारे पिता हैं, भगवत् भक्त ही हमारे सगे सम्बन्धी बन्धु बान्धव हैं और त्रिभुवन ही हमारा स्वदेश है। वे सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही आत्मा को देखते हैं। जो बात अपने लिये हितकर प्रतीत हो उसका व्यवहार सबके साथ करते है, जो बात अपने को बुरी लगे, उसका व्यवहार दूसरे के साथ नहीं करते। भगवत् भक्त प्राणी मात्र को अपने स्वामी का रूप मानते हैं। केवल अपने को ही प्राणी मात्र का सेवक समझते हैं। वे जो भी करते है, परोपकार की ही दृष्टि से करते है। वे सदा भगवान् के आराधन तथा चिन्तन में निमग्न रहते है। जो जिसके गुणों का स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करता रहेगा, वह उसी के स्वभाव तथा गुणों वाला बन जायगा। साधु महात्मा सदा भगवान् का चिन्तन करते रहते हैं अतः उनका स्वभाव भी भगवान् के ही समान दयामय परोपकार मय बन जाता है। उनमें भी भगवान् के जैसे गुण आ जाते है।

साधु महात्मा सदा घूमते फिरते रहते हैं उनके घूमने फिरने

से संसारी प्राणी पावन बन जाते हैं। वे मुख से चाहें एक भी शब्द न कहें, कुछ भी उपदेश न दें, किन्तु उनके शरीर से जो एक प्रकार की दिव्य गंध निकलती है, उसी से दुखी प्राणी सुखी हो जाते हैं। यदि साधु संत इस पृथ्वी पर विचरण न करते होते, तो इन न चलने वाले वृक्ष पर्वत आदि का कैसे उद्धार होता ? पर्वतों की कंदराओं में बैठकर संत महात्मा भजन करते हैं, इससे उन पर्वतों का भी उद्धार हो जाता है। साधु संत जिन वृक्षों के नीचे बैठकर विश्राम लेते हैं, जिनके नीचे बैठकर जप, तप, पूजा, पाठ, ध्यान धारणा तथा कथा कीर्तन करते हैं, इनसे उन वृक्षों का भी उद्धार हो जाता है। ये वृक्ष भी सुनते हैं। किन्तु कथा कहने को साधु महात्माओं को बुला नहीं सकते। परोपकार की मूर्ति दया के सागर साधु संत स्वयं ही जाकर वृक्ष आदि को कथा कीर्तन सुनाते हैं, जिससे वे भी परमार्थ के पथ की ओर अग्रसर होते हैं।

एकबार भगवान् रामानुजाचार्य जो अपने कुछ शिष्यों के साथ यात्रा कर रहे थे। यात्रा में ही वे किसी वन में एक सघन पीपल के नीचे ठहरे। जब आचार्य स्नानादि नित्य कर्मों से निवृत्त हो गये तब उन्होंने शिष्यों को आज्ञा दी—"प्रपत्ति की सब सामग्री एकत्रित करो।"

जब कोई जिज्ञासु गुरु के शरणापन्न होता है, उनका शिष्यत्व स्वीकार करना चाहता है, तो उसे प्रपत्ति कहते हैं। उसके मन्त्र, तिलक, मुद्रा नाम आदि संस्कार किये जाते हैं। रामानुज संप्रदाय में शंख चक्रादि मुद्रायें लगायी जाती हैं।

आचार्य की ऐसी आज्ञा सुनकर शिष्यों को बड़ा आश्चर्य

हुआ, कि यहाँ घोर जंगल में प्रपत्ति के लिये कोई भी तो व्यक्ति दिखायी नहीं देता। आचार्य भगवान् किसे दीक्षा देंगे। किसके संस्कार करायेंगे।" किन्तु गुरु की आज्ञा सर्वोपरि है, उसके पालन में तर्क वितर्क ननु नच न करनी चाहिये, यही सोचकर उन्होंने शंख, चक्र, चंदन, अक्षत्, रोली, समिधा, हवन, पूजन सामग्री तथा सभी उपयोगी वस्तुएँ यथा क्रम सजाकर रख दी। आचार्य ने उस पीपल के वृक्ष को ही विधिवत् दीक्षा दी। उसके तिलक मुद्रा लगाये, मन्त्र दिया।

दीक्षा समाप्त होते ही सबने बड़े आश्चर्य के साथ देखा, पीपल की पत्तियाँ मुरझाने लगी। वह क्रम-क्रम से सूखता हुआ, सर्वथा सूख गया।

तब शिष्यों ने समझा आचार्य ने पीपल को दीक्षित करके उसे कृतार्थ किया है। ऐसी सामर्थ्य सच्चे सद्गुरु आचार्यों में ही होती है। ये समस्त जीवों के कल्याण के ही हेतु समस्त चेष्टायें करते रहते हैं। भागवतकार कहते हैं—जितने यज्ञ हैं, तप हैं तथा और भी दान, धर्म तीर्थ व्रत है ये सब जीवों को अभय देने की सोलहवीं कला के भी समान नहीं हैं। और जीवों को अभय पद की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब वे भगवान् के शरणापन्न हों, किसी सद्गुरु संत महात्मा के सत्संग का लाभ उन्हें प्राप्त हो। सन्त महात्मा समस्त जीवों पर अहैतुकी कृपा किया करते हैं। अनजान में भी उनका किसी से संग हो जाय, तो उसका भी उद्धार हो जाता है।

छत्रपति शिवाजी के गुरु समर्थ गुरु रामदास जी एक बार अपने शिष्यों सहित शिवाजी के किले की ओर आ रहे थे।

मार्ग में शिष्यों को भूख लगी। समीप ही एक ईख का खेत था। शिष्य लोग खेत में ईख उखाड़-उखाड़ कर चूसने लगे समर्थ चुपचाप बैठे रहे, उन्होंने कुछ भी न कहा। इतने में ही खेत वाला आ गया। किसान ने देखा इन संड-मुसंड साधुओं ने तो मेरी सभी खेती चौपट कर दी है। उसे बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा—"इन सब साधुओं का महंत यही है इसी ने मेरा खेत उजड़वाया है।" यह सोचकर वह क्रोध में भरकर समर्थ को ही मारने लगा। शिष्यों ने छुड़ाना भी चाहा, तो समर्थ ने मना कर दिया। जब वह मार पीट कर चला गया, तो समर्थ शिष्यों सहित शिवाजी के यहाँ पहुँचे। शिवाजी ने समर्थ गुरु का बड़ा भारी आदर सत्कार किया। रात्रि में जब शिवाजी गुरुजी की सेवा के निमित्त आये और उनके श्रीअंगों को दबाने लगे, तब उन्हों देखा सम्पूर्ण शरीर पर मार के नीले-नीले चिन्ह उभड़ रहे हैं। उन्होने अत्यन्त आश्चर्य के साथ दुःख भरे स्वर में पूछा—गुरुदेव! यह किस दुष्ट का कार्य है? आपके श्री अंग में यह चोट किसने पहुँचायी है?"

समर्थ बड़ी देर तक आनाकानी करते रहे, जब शिवाजी माने ही नहीं वे अधिक हठ करने लगे, तब कहा—"अच्छा, तुम यदि मुझसे पूछकर उस व्यक्ति को दण्ड दो, तो मैं उसका नाम बताऊँ?"

शिवाजी ने स्वीकार किया, किसान का नाम ज्ञात होने पर उसे तुरन्त बुलवाया गया। वह शिवाजी के राज्य का ही किसान था। जब उसने देखा, जिन साधु को मैंने मारा है, वे तो छत्रपति महाराज शिवाजी के गुरु हैं, तब तो वह अत्यन्त भयभीत हुआ।

शिवाजी ने उसे गुरु के सम्मुख उपस्थित किया, और आज्ञा चाही—गुरुदेव ! यह किसान उपस्थित है, इसे क्या दण्ड दिया जाय ?"

समर्थ ने कहा—"जो मै कहूँगा, वह देना पड़ेगा ?"

शिवाजी ने कहा—"भला गुरुदेव की आज्ञा का भी कभी उल्लङ्घन हो सकता है ?"

समर्थ ने कहा—"इस पर सब कितना खेत है ?

पूछ कर बताया गया, कि इस पर सौ बीघा खेत है।

समर्थ ने कहा—"यह खेत इसे सदा के लिये दे दिया जाय। इस पर कभी भी लगान न लगे। सदा के लिये माफीनामा लिख दिया जाय।

गुरु की आज्ञा का पालन किया गया, उसका सदा के लिये लगान माफ कर दिया गया। सुनते हैं उसके वंशजों पर वे खेत अभी तक हैं जिन पर लगान नहीं लिया जाता।

जब शत्रुभाव से पूजा न करके मारने पर भी संतों के संग से लाभ होता है, तो जो श्रद्धाभक्ति से उनका सत्संग करते हैं, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् श्रीविष्णु लक्ष्मीजी को श्रीमद्भगवत् गीता के चतुर्थ अध्याय का माहात्म्य बताते हुए कह रहे हैं प्रिये ! अब मैं तुम्हें श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, उसे तुम ध्यानपूर्वक श्रवण करो।

भगवती भागीरथी के पावन तट पर शिवजी के त्रिशूल पर बसी हुई वाराणसी नाम की प्रसिद्ध नगरी है, जो काशी के नाम से विख्यात है। जिसे पहिले आनन्द कानन भी कहते थे। इस पुरी के अधिष्ठातृदेव भगवान् विश्वनाथ हैं, उनके समीप ही भगवती माँ अन्नपूर्णादेवी भी सदा निवास करती हैं।

उसी वाराणसी पुरी में भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर में भरत नाम के एक परम योगनिष्ठ महात्मा निवास करते थे। वे बड़े त्यागी तपस्वी परोपकारी तथा हरिभक्त परायण सन्त थे उनका नित्य का नियम था, कि वे बड़ी सावधानी से अव्यग्र चित्त होकर प्रेमपूर्वक गीताजी के चतुर्थ अध्याय का पाठ किया करते थे। नित्य नियमपूर्वक अर्थ समझकर पाठ करते-करते उन्हें गीता का चतुर्थ अध्याय सिद्ध हो गया था। निरन्तर के पाठ से उनके कल्मष कट गये और उनका अन्तःकरण विशुद्ध विमल बन गया। वे समदर्शी बनकर निर्द्वन्द्व बने विचरने लगे।

एक समय वे देवदर्शनों की इच्छा से, काशी की पंचक्रोशी परिक्रमा के निमित्त नगर की सीमा में परिभ्रमण करने लगे। एक दिन परिभ्रमण करते हुए दोपहर के समय वे कुछ श्रमित से हो गये। विश्राम की इच्छा से वे समीप के ही एकान्त स्थान में बैठ गये। वहाँ दो बड़े ही सुन्दर सघन बेरिया के वृक्ष थे। वे दोनों वृक्ष लगभग ३॥ हाथ के अन्तर पर थे। उन दोनों के तनों में तो पृथ्वी पर ३॥ हाथ का अन्तर था, किन्तु ऊपर जाकर दोनों की शाखायें मिल गयी थीं, इससे उनके नीचे सूर्य का ताप नहीं आता था। महात्माजी ने एक बेरिया के वृक्ष की जड़ में तो अपना सिर रखा और दूसरी की जड़ में अपने पैर फैला दिये।

कुछ देर विश्राम करके महात्माजी तो आगे के लिये चले गये। किन्तु उन बेर के वृक्षों के पत्ते कुम्हिलाने लगे शनैः शनैः वे दोनों वृक्ष सूखने लगे और ५-६ दिन में सर्वथा सूख ही गये। अर्थात् उन दोनों वृक्षों की मृत्यु हो गयी।

कालान्तर में वे दोनों वृक्ष किन्हीं पवित्र ब्राह्मणों के कुलों में कन्या होकर उत्पन्न हुए। वे कन्यायें बड़ी ही सुन्दरी सुशीला तथा गुणवती थीं। जो भी देखता वही उन्हें देखकर प्रसन्न हो जाता। इस प्रकार शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की किरणों के समान बढ़ते-बढ़ते वे सात वर्ष की हो गयीं। एक दिन दैवयोग से परिभ्रमण करते हुए वे महात्मा भरत मुनि उसी गाँव में आ गये, जिसमें वे कन्याय उत्पन्न हुई थीं। कन्याओं ने भरत मुनि को पहिचान कर बड़ी श्रद्धा भक्ति से उनके चरणों में प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर बड़ी दीन वाणी में कहने लगीं—"महात्मन्! आपके ही कृपा प्रसाद से हम बेर के वृक्ष की योनि त्याग कर इस मानव योनि में आयीं हैं। आप बड़े कृपालु है, जिनका चरणस्पर्श आपके श्रीअंग से हो जाता है, उसका उद्धार अवश्यम्भावी है। आप नररूप धारी श्री हरि हैं।"

उन लड़कियों की बात सुनकर भरत मुनि को परम विस्मय हुआ। उन्होंने मधुर वाणी से कहा—"बेटियो! मुझे स्मरण नहीं कि मैने कभी तुम्हारा उद्धार किया हो। मैंने कब और किस साधन से कहाँ तुम्हारा उद्धार किया, इस बात को मुझे बताओ।"

कन्याओं ने कहा—"ब्रह्मन्! हम काशी की सीमा पर-पंच-

क्रोशी मार्ग में–दोनों दो बेर के वृक्ष के रूप में थीं। आप एक बार देवदर्शन करते हुए हमारे समीप आये और हमारे नीचे कुछ देर लेटकर विश्राम किया था। हममें से एक की जड़ में तो आपने अपना सिर रखा था, दूसरी की जड़ में चरण रखे थे। बस, आप परमकृपालु सन्त का स्पर्श पाते ही हम तुरन्त उस स्थावर योनि से छूटकर इस मानव शरीर में आ गयी। आपने हमारे नीचे विश्राम करके गीताजी के चौथे अध्याय का पाठ भी किया था, इससे उस पाठ के प्रभाव से तथा आप जैसे सिद्ध महात्मा के अंगस्पर्श के प्रभाव से हमारी वह योनि छूट गयी।"

भरत मुनि ने पूछा—"पुत्रियो! तुम बड़ी संस्कारी जान पड़ती हो। तुम्हारे रूप तथा सद्गुणों से ऐसा लगता है कि तुम कोई पुण्यात्मा प्राणी रहीं होगी। यदि तुम्हें याद हो, तो मुझे अपने वृक्ष होने का कारण बताओ।"

यह सुनकर उनमें से एक कन्या बोली—"ब्रह्मन्! जीव अपने सुकृत तथा दुष्कृत कर्मों के अनुसार ही उच्च तथा नीच योनियों में आता-जाता रहता है। भगवन्! पहिले हम स्वर्ग की अप्सरायें थीं। हमें अपने रूप तथा सौन्दर्य का बड़ा गर्व था। देवराज इन्द्र भी हमारा बड़ा आदर करते थे और जहाँ कहीं किसी का तप भंग कराना हो, वहाँ वे हमें भेजा करते थे।"

महात्मन्! पुण्यतोया गोदावरी के तट पर छिन्नपाप नाम का एक परम पुण्यप्रद उत्तम तीर्थ है। उसकी पावनता के कारण दूर-दूर से यात्री उसमें स्नान के लिये आया करते थे। उस पावन तीर्थ में ही एक सत्यतपा नाम के तपस्वी महात्मा निवास

करते थे। वे संसारी सभी विषयों से उपराम होकर निरन्तर तपस्या में ही लगे रहते थे। वे ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तापते। चारों ओर अग्नि की धूनियाँ प्रज्वलित करके और पंचमसूर्य की किरणों को अपने सिर पर लेते। वर्षाऋतु में वे वर्षा भर मैदान में बैठकर पूरे वर्षा के जल को अपनी जटाओं में लेते। उनकी जटायें सदा भीगी ही रहतीं। जाड़े के दिनों में शीत जल में खड़े होकर जप करते। सैकड़ों रात्रि में भरकर रखे हुए मिट्टी के घड़ों के जल से स्नान करते। इस प्रकार वे उग्र तपस्या करते हुए वहाँ निवास करते थे। वे तपस्वी महात्मा बाहर भीतर से सदा शुद्ध रहते। इस प्रकार तपस्या करते-करते उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को तथा अन्तःकरण को विशुद्ध बना लिया था। यह भी बात नहीं, कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, केवल तपस्वी ही भर हों। वे महान् विद्वान् थे। सभी शास्त्रों का उन्हें ज्ञान था। उनकी वाणी में ऐसा माधुर्य था, कि जब वे शास्त्रों का प्रवचन करते, तो सहस्रों नर नारी मंत्रमुग्ध की भाँति उनके प्रवचनों को सुनते-सुनते तृप्त नहीं होते थे। वे बड़े ही लोकप्रिय त्यागी, तपस्वी, मधुरभाषी, धैर्यवान् तथा व्यवहार कुशल थे। उनके सद्-गुणों की ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी। यहाँ तक कि ब्रह्माजी भी उनके पास आया-जाया करते थे। और उनसे चिरकाल तक सत्संग करते। वे जीवन्मुक्त महापुरुष के समान अपना समय बिताते थे।

उनकी ऐसी लोकप्रियता तथा तपस्या को देखकर देवराज इन्द्र घबड़ा गये। उन्हें शंका होने लगी कि कहीं ये महर्षि मेरे इन्द्रासन को न ले लें। इनकी ऐसी ही अलौकिक तपस्या निर्विघ्न चलती रही, तो इन्द्रासन प्राप्त कर लेना कोई असम्भव नहीं है।

अतः शीघ्र ही इनकी तपस्या में विघ्न डालना चाहिये।"

ऐसा निश्चय करके देवराज इन्द्र ने हम दोनों अप्सराओं को बुलाया और हमें आज्ञा दी—"अप्सराओ। तुम स्वर्ग की भूषण हो, तुम्हारा रूप सौन्दर्य अनुपम है। मुझे जब-जब भी किसी से भय होता है, तब-तब तुम्ही से सहायता लेता हूँ। देखो, गोदावरी के तट पर जो छिन्नपाप नामक सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है, उसी में सत्यतपा नाम के महर्षि तपस्या कर रहे है उनकी तपस्या महान् उग्र है वे मुझे इन्द्रपद से हटाकर स्वय इन्द्रपद को प्राप्त करना चाहते हैं। वे दिव्य स्वर्गीय सुखों को भोगने की अभिलाषा से ही ऐसा उग्र तप कर रहे हैं। तुम दोनों उनकी तपस्या में विघ्न डालो और उन्हे तपस्या से विरत बना दो।"

देवराज इन्द्र की ऐसी आज्ञा पाकर हे मुनिवर! हम दोनों अन्य अप्सराओं, कामदेव, मलयानिल, वसत तथा गन्धर्वादि को साथ लिये हुए उन मुनि के आश्रम के निकट गयीं।

वसत ऋतु ने चारो ओर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। शीतल, मन्द सुगन्ध लिये मलयानिल बहने लगा। कामदेव अपने ईख के धनुष पर पंचशर ताने मुनिको विचलित करने को उद्यत हो गया। हम दोनो अन्य अप्सराओं के सहयोग से सरस गीतों का गायन करने लगी। गम्भीर स्वर मंद-मंद बजते हुए मृदंग के स्वरों में वीणा के स्वर झकृत होने लगे। वेणु के सुखकर परम मधुरनाद के साथ अन्य वाद्यों के स्वर एक विचित्र ही स्वर लहरी का सृजन करने लगे। हम गा ही नहीं रही थी। ताल, स्वर और लय के साथ विविध भाँति के हाव-भाव कटाक्ष दिखाकर नृत्य भी कर रही थीं। कामोद्दीपक जितनी भी चेष्टायें हैं, हम

सब कर-करके श्रमित हो गयीं, किन्तु उन निर्विकार अन्तःकरण वाले महर्षि के मन पर हमारे काम भाव उद्दीपन करने वाले नृत्य गीतों का मोह जनित उन्मत्त गति का कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। यही नहीं उन जित क्रोध मुनि के मन में कुछ क्रोध का संचार हो गया।

उन्होंने तुरन्त हाथ में गोदावरी का पवित्र जल लेकर हम दोनों को शाप दिया—"तुम दोनों ने मेरे तपोमय पथ को कंटकाकीर्ण बनाने का प्रयास किया है, अतः तुम दोनों गंगा तट पर काँटे वाली बेरिया के वृक्ष बन जाओ।"

ऋषि का ऐसा दारुणशाप सुनकर हमारे तो होश उड़ गये। हमने अत्यन्त शीघ्रता से जाकर महर्षि की चरण बन्दना की, उनकी स्तुति की और विनीत वचनों से उन्हें प्रसन्न करते हुए कहा—"मुनिवर! आप हम पर प्रसन्न हों, स्वामिन्! हम स्वतन्त्र नहीं हैं, पराधीना हैं। हम अपने मन से यहाँ नहीं आई हैं। हमें तो देवराज इन्द्र ने भेजा है। हमने जो भी कुछ किया है, अपने स्वामी इन्द्र की आज्ञा से ही किया है इतने पर भी यदि हमसे कोई जान में अनजान में अपराध हो गया हो, तो उसे अपने दयालु स्वभाव के कारण क्षमा कर दीजिये।"

मुनियों का कोप तो पानी की लकीर के समान होता है। क्षण भर वे कुपित से प्रतीत होते हैं, फिर वैसे ही हो जाते हैं। इसीलिये उन्हें 'क्षणार्धमन्यु' कहते हैं। अप्सराओं की विनय सुनकर भरतमुनि कहने लगे—"देखो, मैंने कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला है, अतः तुम दोनों को काशी के समीप गंगातट पर बेरिया

की वृक्ष तो अवश्य होना पड़ेगा। किन्तु जब गीता के चतुर्थ अध्याय के जापक भरतमुनि जब तुम्हारी छाया में लेटेंगे और गीता के चतुर्थ अध्याय का पाठ करेंगे, तब तुरन्त ही तुम दोनों शाप से मुक्त होकर मर्त्यलोक में जन्मधारण करोगी। वहाँ तुम जातिस्मृरा होगी अर्थात् तुम्हें पूर्व जन्म की सब बातें याद रहेंगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे विप्र कन्यायें महात्मा भरत-मुनि से कह रही हैं-सो, ब्रह्मन् आपने ही हमारे नीचे बैठकर हमें गीता का चतुर्थ अध्याय सुनाकर हमारा उद्धार किया है। हम किन शब्दों में आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें। हम आपकी अत्यन्त ही आभारी हैं, जो आपने हमें स्थावर योनि से छुड़ाकर इस उत्तम योनि में भेजा। आप जैसे दयालु परोकारी मुनि धन्य हैं, जो जीवों के उद्धार में सतत लगे रहते हैं और भगवती गीता का चतुर्थ अध्याय भी धन्य है, जिसके श्रवण मात्र से जड़ भी चैतन्यता लाभ कर सकते हैं। अब हमें विश्वास हो गया कि आप का दर्शन तथा गीता का चतुर्थ अध्याय हमें स्थावर योनि से ही नहीं छुड़ावेगा, किन्तु वह हम दोनों को भयानक संसार सागर से भी उस पार लगा देगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! गीता के चतुर्थ अध्याय की इतनी महिमा सुनकर महामुनि भरत अत्यन्त प्रसन्न हुए। कन्याओं ने बड़ी श्रद्धा भक्ति सहित मुनि के पाद पद्मों में पुनि-पुनि प्रणाम किया और उन्हें अत्यन्त आदर के साथ विदा किया।

मुनि के चले जाने के अनन्तर वे दोनों कन्यायें बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ प्रतिदिन श्रीमद्भगवत् गीता के चतुर्थ अध्याय का पाठ करने करने लगीं। उस पाठ के प्रभाव से उन दोनों का

उद्धार हो गया। उनको परमगति की प्राप्ति हुई। यहाँ तक मैंने गीताजी के चतुर्थ अध्याय का माहात्म्य सुनाया। अब आगे पंचम का भी माहात्म्य सुन लीजिये।

छप्पय

काशीवासी भरत महामुनि इक दिन आये।
उभय बेरिया वृक्ष मध्य लेटे हरषाये॥
करि चौथो अध्याय पाठ तहँ तैं चलि दीन्हे।
भई उभय द्विज सुता एक दिन मुनि तिनि चीन्हे॥
सकल कह्यो वृत्तान्त जब, भरत परम प्रमुदित भये।
पाठ चतुर्थोऽध्याय वर, गीता सुनि बहु तरि गये॥

गीता-माहात्म्य

[५]

गीतायाः पंचमाध्यायं सर्व सौख्य फलप्रदम् ।
ये पठन्ति नरा भक्त्या ते तरन्ति भवाब्धिकम् ॥*

(प्र० द० ब्र०)

छप्पय

अब पंचम अध्याय महातम तुम्हें सुनाऊँ।
पिंगल खल मद्रीय कथा ताकी समुझाऊँ ॥
द्विजपन तजि नित नृत्य करै पर नारी लंपट।
ताकी कुलटा नारि ताहि ताड़ै नित ही शठ ॥
निशि पिंगल कूँ मारिकें, स्वयं मरी शुग्गी भई।
गिद्ध भयो पिंगल अधम, शुकी तासु सम्मुख गई ॥

---

* गीता का पचम अध्याय सभी प्रकार के सुखों को देने वाला है जो पुरुष इसे भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं, वे इस संसार रूप सागर को तर जाते हैं।

जैसा मनुष्य का स्वभाव होता है, उसके गुण उसके प्रत्येक अंग में व्याप्त हो जाते हैं। पुण्यात्माओं की अस्थियाँ भी पावन बन जाती हैं और पापियों के मृतक शरीर के मांस को काक गृद्ध तथा सियार कुत्ता तक नहीं खाते। पाप पुण्य के संस्कार शरीर की सब धातुओं में बिंध जाते हैं। तभी तो पुण्यात्मा प्राणी किसी तनिक से पाप के कारण नरक दर्शन के निमित्त जाते हैं, तो उनके अंग की सुगन्धि के कारण नरक में रहने वाले प्राणी परम प्रमुदित हो जाते हैं। एक स्थान पर एक पुण्यात्मा ऋषि की अस्थियाँ पड़ी हुई थीं। उनके ऊपर से चित्ररथ गन्धर्व अपनी स्त्रियों सहित विमान से जा रहा था। अस्थियों का अनजान में भी अपमान करने के कारण चित्ररथ गन्धर्व नीचा सिर किये हुए विमान से गिर पड़ा। अस्थियों का ऐसा प्रभाव देखकर चित्ररथ परम विस्मित हुआ। फिर उन्हें श्रद्धापूर्वक ले जाकर श्री गंगा जी में प्रवाहित कर आया।

ये सब तो प्राचीन कथायें हैं। आधुनिक काल में भी इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण मिले हैं। समुद्र पार के आंग्ल प्रदेश में एक बड़ा भारी नामी चित्रकार रहता था। उसके चित्रों की दूर-दूर तक ख्याति थी। महान् चित्रकार होने के साथ ही साथ वह परम सदाचारी, सत्यवादी तथा परोपकार परायण व्यक्ति था। किसी दुर्घटना में उसके दायें हाथ का पूरा पंजा कट गया। उसके मित्र एक सुप्रसिद्ध चिकित्सक ने एक तत्काल मृतक पुरुष के हाथ को काटकर उसके हाथ में जोड़ दिया। हाथ जुड़ गया और सब काम ठीक-ठीक करने लगा। यह नया लगा हाथ बोझ उठा लेता, भोजन ठीक-ठीक करा देता, किन्तु यह चित्र नहीं बना सकता था। जब से यह नवीन हाथ लगा, तब से

उसकी एक बड़ी बुरी आदत पड़ गयी। इस चित्रकार की बिन इच्छा के भी यह हाथ समीप के बैठे पुरुष की जेब में से अनेक वस्तुओं को चुरा लेता। दूसरों की जेबों को सफा कर देता।

इससे इस चित्रकार को महान् आत्मग्लानि रहने लगी। वह नहीं चाहता था, फिर भी वह हाथ अपने आप दूसरों की जेबों को सफा करने लगा। अपनी मनोव्यथा को वह दूसरों के सम्मुख व्यक्त करने में भी असमर्थ था। एक दिन उसने अत्यन्त आत्म ग्लानि के कारण आत्महत्या करली। उसके चिकित्सक मित्र ने जब यह वृत्तान्त सुना तो वह दौड़ा-दौड़ा उसके समीप गया। मरते समय अपनी आत्महत्या का कारण बताते हुए उसने अन्तिम पत्र में अपनी सब व्यथा लिख दी।

चिकित्सक ने दूरभाष यन्त्र द्वारा पुलिस से उस व्यक्ति के सम्बन्ध में पूछताछ की जिसका हाथ काटकर इसकी बाँह में लगाया गया था। अनुसन्धान के पश्चात् विदित हुआ कि जिस व्यक्ति का मृतक हाथ काटकर चित्रकार के लगाया गया था, वह एक नामी जेबकतर था। रेल से कटकर उसकी मृत्यु हुई थी।

जब मृतक हाथ में भी जीवित व्यक्ति की आदत आ सकती है, तो जीवित आदमियों के सद्गुण या दुर्गुण आ जाना कौन सी आश्चर्य की बात है। यह जीव संस्कारों के द्वारा प्रेरित होकर कर्म करता है। भाग्यवश किसी भी प्रकार इसे सत्कर्म करने वाले संत का समागम हो जाय, तो बेड़ापार ही है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भगवद् गीता के पंचम अध्याय का महात्म्य सुनाता हूँ। जैसे शिव जी ने पार्वती

जी के पूछने पर तथा विष्णु भगवान् ने लक्ष्मी जी के पूछने पर सुनाया था।

लक्ष्मी जी कहा—"प्राणनाथ ! मैंने आपके श्री मुख से श्री मद्भगवत् गीता के चतुर्थ अध्याय का तो महात्म्य सुन लिया अब पंचम अध्याय के महात्म्य को और सुनने की इच्छा है। कृपा कर आप मुझे और सुना दें।"

तब भगवान् विष्णु जी कहने लगे—' प्रिये ! अब तुम सावधान होकर गीता के पांचवे अध्याय का माहात्म्य श्रवण करो। मद्रदेश में प्राचीन काल में पुरुकुत्सपुर नामक एक समृद्धशाली नगर था। उसमें पिङ्गल नाम का एक कुलीन ब्राह्मण रहता था। उसका कुल परम पवित्र था, उसके पूर्वज प्रख्यात विद्वान वेदपाठी तथा विख्यात वंश के थे। उसके कुल में कोई सदाचार हीन पुरुष नही हुआ था, जिससे उसका वंश परम पावन तथा निष्कलंक माना जाता था। ऐसे कुलीन पावन कुल में यही एक पिंगल दुराचारी तथा पतित पैदा हुआ। इसने कुलागत वेद-शास्त्रों के स्वाध्याय आदि सत्कर्मों का परित्याग करके नाचने गाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। वह भांति-भांति के नृत्य दिखाकर तथा बाजे बजाकर विषयी लोगों का मन विनोद करने लगा। उसने वेश्याओं जैसी वृत्ति अपना ली। नृत्य, गीत तथा विविध वाद्यों में उसने परिश्रम करके बहुत ख्याति प्राप्त करली। कामी स्त्री-पुरुष उसका आदर करने लगे। यह भी उन्हें रिझाने में अपनी कलाकारी का पूरा प्रदर्शन करने लगा।

राज दरबारों में तो नट, भट, चुगलखोर, लंपट, तथा नाचने

गाने बजाने वालों का आदर होता ही इसका भी प्रवेश राज-भवन में हो गया। वह राजा को अपनी कलाओं द्वारा रिझाता और उससे पारितोषिक पाता। द्रव्य के द्वारा उसने खोटे स्वभाव की स्वैरिणी स्त्रियों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया और यह पूरी तरह से कामिनी लंपट बन गया। राजा का प्रियपात्र बनने के लिये यह एकान्त में राजा से दूसरों की बुराई करने लगा। कभी किसी की बुराई करता, कभी किसी से रुपये ठगता।

पिङ्गल ने एक स्त्री को भी रख रखा था। उसका नाम अरुणा था, वह पर पुरुषों से प्रेम करने वाली बड़ी कुटिला थी, उसका जन्म नीच कुल में हुआ था। देखने में वह सुन्दरी थी, किन्तु उसका हृदय अत्यन्त कलुषित था। वह अपने पति की अपेक्षा पर पुरुषों से अत्यधिक प्रेम करती थी। उसके एक प्रेमी ने उससे कहा—"देखो, हमारे तुम्हारे प्रेम के बीच में यह पिंगल ही एक महान् कंटक है। इसे किसी प्रकार मृत्यु के घाट उतारो। जब यह न रहेगा, तो हम दोनों आनन्द के साथ समय यापन करेंगे।"

उसकी बात मानकर एक दिन आधी रात्रि के समय पिंगल की स्त्री अरुणा ने अपने पति को घर के भीतर बन्द करके, उसका सिर धड़ से काट लिया और अपने प्रेमी की सहायता से उसके मृतक शरीर को भूमि में गड़वा दिया। वह पापी मरकर यमराज के यहाँ पहुँचा। यमराज ने उसके पापों के अनुसार उसे नाना नरकों की यातनाओं में पचाया। जब कुछ पाप शेष रह गये तब एक घोर वन में उसे गिद्ध की योनि में डाल दिया। वह गिद्ध बनकर बहुत से पक्षियों की हिंसा करके अपना उदर पोषण किया करता था।

पाप का फल तो अवश्य ही मिलता है। अत्युत्कट पाप पुण्यों का फल तो तीन दिन, तीन सप्ताह तीन महीने तीन पक्ष अथवा तीन वर्ष के अन्दर यहीं मिल जाता है। अपने पति की हत्या करके अरुणा सुखी नहीं हुई। उसके जार प्रेमी तो थोड़े दिनों में उसे छोड़कर चले गये। अब उसे भयंकर भगंदर रोग हो गया। कोई उसके पास भी नहीं फटकता था। अत्यन्त कष्ट के साथ उसने अपने रोगी हुए सुन्दर शरीर का परित्याग कर दिया। उसे भी यमालय में नाना यातनायें भोगनी पड़ीं। अन्त में वह भी उसी वन में जिसमें पिंगल गिद्ध बनकर रहता था उसी में शुकी हुई। शुकी बनकर वह इधर-उधर दाना चुगती हुई घूमा करती थी।

एक दिन वह दाना चुगने के निमित्त जंगल में इधर से उधर दाना चुगती हुई फुदक रही थी, कि गृद्ध की दृष्टि इस पर पड़ी। पूर्वजन्म के वैर के कारण उसने इस शुकी पर प्रहार किया। उसे अपने तीक्ष्ण नखों से फाड़ डाला। वह क्षत विक्षत होकर समीप ही एक पानी से भरी हुई मनुष्य की खोपड़ी में जाकर गिर गयी। अभी वह पूरी तरह मरी नहीं थी, अतः गिद्ध पुनः उसकी ओर झपटा इतने में ही दैवयोग से एक व्याधा वहाँ आ पहुँचा, उसने अपने बाणों से उस गिद्ध को मार डाला। वह भी मरकर उसी पानी भरी खोपड़ी में जाकर गिरा। उस खोपड़ी में शुकी पहिले गिरकर मर चुकी थी, उसी में यह भी गिरकर मर गया। दोनों को यमराज के दूत पाशों में बाँधकर यमलोक ले गये।

ये दोनों अपने पूर्वजन्मों के किये हुए पापों को स्मरण कर करके भयभीत हो रहे थे। पहिले भी ये नरकों की महान्

यातनाओं को भोग चुके थे। ये दोनों यमराज के सम्मुख उपस्थित किये गये।

यमराज ने अपने मुनीम चित्रगुप्त को बुलाकर पूछा—"इनके पाप पुण्यों का लेखा जोखा बताइये।"

चित्रगुप्त ने कहा—"महाराज! इन दोनों के पापों का तो कुछ ठिकाना नहीं, किन्तु एक बड़ी आश्चर्य जनक बात हो गयी?"

यमराज ने पूछा—"वह क्या बात हुई?"

चित्रगुप्त ने कहा—मरते समय ये दोनों ही एक मनुष्य की उस खोपड़ी में गिर गये थे, जिसमें जल भर रहा था। उस खोपड़ी के जल में इन दोनों ने स्थान कर लिये। उस जल के स्पर्श मात्र से ही इनके समस्त पाप क्षीण हो गये।

यमराज ने कहा—"यह कैसे हुआ? वह खोपड़ी किसकी थी?"

चित्रगुप्त ने कहा—"महाराज! वह खोपड़ी वट नाम के एक उत्तम ब्रह्मज्ञानी महात्मा की थी। वे महात्मा भगवती भागरथी के तट पर रहकर सदा तपस्या तथा भगवद् भक्ति में तल्लीन बने रहते थे वे बड़े ही शान्त, दान्त, तितिक्षु, तपस्वी, एकान्त सेवी, अहंता-ममता से शून्य तथा परम वैराग्यवान् थे। वे प्राणिमात्र के सुहृद् थे, किसी से भी कभी द्वेष नहीं करते थे तथा प्रतिदिन नियम से श्रीमद्भगवत् गीता के पंचम अध्याय का प्रेमपूर्वक श्रद्धाभक्ति सहित पाठ किया करते थे। गीता के पंचम अध्याय के के निरन्तर पाठ करने से वे सिद्ध हो गये थे। वह खोपड़ी उन्हीं महात्मा वट की थी! वर्षा के कारण उसमें जल भर गया था। उसी जल के स्पर्श से—उसी में स्नान करने से—इनके अनेक जन्मों

के कलमष कट गये। ये निष्पाप बन गये अब आपकी जैसी आज्ञा हो।"

यमराज ने कहा—"अच्छा तो, इन्हें बड़े सत्कार पूर्वक मनोवांछित पुण्य लोकों में पहुँचा दो।"

यह सुनकर वे दोनों परम चकित हुए। यमराज और चित्रगुप्त की वार्ता इन लोगों ने सुनी नहीं थी। ये तो अपने को अपराधी समझकर यमराज के भय से थर-थर काँप रहे थे। जब यमराज ने इन्हें पुण्य लोकों में भेजने की आज्ञा दी, तब तो इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और ये अत्यन्त ही दीन भाव से धर्मराज जी के समीप गये और उनकी चरण वन्दना करके विनीत भाव से पूछने लगे—"ब्रह्मन्! हम दोनों तो जन्म जन्मान्तरों के पापी है। हमने तो अपने जीवन में जघन्य से जघन्य पाप किये हैं, फिर आप हमें पुण्य लोकों में भेजने की आज्ञा कैसे दे रहे हैं। कहीं भूल तो नहीं हुई?"

यह सुनकर धर्मराज ने कहा—"ना भैया भूल कुछ भी नहीं है। तुम्हारे कोई जन्म जन्मान्तरीय पुण्य उदय हो गये, जो तुम मरते समय परम शांत दान्त महामुनि वट की पानी से भरी मृतक खोपड़ी में जा पड़े। वे महात्मा गीता के पंचम अध्याय का नित्य नियम से पाठ किया करते थे। श्री मद्भगवत् गीता के पंचम अध्याय का जो पाठ करता है अथवा सुनता ही है और सुनकर उसे एकाग्र चित्त से मनन करता है, वह फिर चाहे पहिले महापापी ही क्यों न रहा हो, निरन्तर के पाठ से उसे सनातन ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उन्हीं महर्षि वट के पुण्य प्रभाव से—उन्हीं की खोपड़ी के जल को पाकर तुम दोनों परम पवित्र हो गये हो। अब तुम अपने मनोवांछित लोकों में जाकर आनन्द के साथ दिव्य सुखों का उपभोग करो। श्री मद्भगवत् गीता का

पञ्चम अध्याय धन्य है, जिसके पाठक की खोपड़ी के जल से ... हो जाने पर पापी से पापी भी पुण्य लोकों के भागी ... जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यह मैंने शिव पार्वती और लक्ष्मी नारायण के सम्वादरूप में गीताजी के पञ्चम अध्याय का माहात्म्य आपको सुनाया। अब आगे (अगले खण्ड में) आपको छटे अध्याय का माहात्म्य सुनाऊँगा।

छप्पय

पूर्व वैर तैं गिद्ध शुकी के ऊपर झपट्यो।
तीक्ष्णन खनि तैं मारि खोपड़ी जल में पटक्यो॥
व्याधा मार्‍यो बान गिद्ध मरि गिर्‍यो ताहि में।
दोऊ है निष्पाप गये मरि शुभ लोकनि में॥
पञ्चम शुभ अध्याय जो, वट मुनि जपि पावन भये।
मृतक खोपड़ी तासु जल, परसि शुकी खग तरि गये॥

योगयुक्त पुरुष कर्म करने पर भी उनमें लिप्त नहीं होता

[४]

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, ७, ८ श्लोक)

छप्पय

करत-करत शुभ करम शुद्ध इन्द्रिय मन जाको ।
अन्तःकरन विशुद्ध बन्यो साधन तैं वाको ॥
योगयुक्त वह पुरुष करै करमनि स्वभाव तैं ।
विजितात्मा बनि जाय शुद्ध मनके प्रभाव तैं ॥
सब प्राणिनि परमात्मा, निज आत्मा में जानि कै ।
करम करत त्यागी वही, निज करता नहिं मानि कै ॥

---

* जो योगयुक्त है, विशुद्धात्मा है, जिसने मन और इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसकी आत्मा सम्पूर्ण भूतों में आत्मभूत हो चुकी है, वह कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता ॥७॥

तत्त्ववित् योगी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास-प्रश्वास लेता हुआ भी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ ॥८॥

जब तक प्राणी को सच्चिदानन्दघन परमात्मा का ज्ञान नहीं होता, जब तक चैतन्य का यथार्थ ज्ञान नही होता, तब तक वह अज्ञानी प्राणी अपने को ही कर्ता मानकर इन देह, इन्द्रिय तथा मन आदि जड़ संघात से किये हुए कार्यों को अपना किया हुआ मानने लगता है। इसी अज्ञान के कारण उसे पुनः-पुनः जन्म लेना पड़ता है, पुनः-पुनः मरना पड़ता है। जब जड़ पदार्थों को चैतन्य से पृथक् करके चैतन्यघन का स्वरूप बोध हो जाता है, तब जड़ समूह के किये हुए कार्यों में अहंता नष्ट हो जाती है। फिर इन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले कामों में उसकी तनिक भी आसक्ति नही होती। कर्म होते रहे तो भी ठीक, न हो तो भी ठीक। इन्द्रियों द्वारा स्वभाव सिद्ध कर्म होने पर भी वे कर्म उसके लिये बन्धन का कारण नहीं होते।

जैसा कारण होता है, उसी के अनुरूप कार्य देखने में आता है। मिट्टी कारण है, उससे जो घड़े, सकोरा, कुल्लड़, हंडी आदि बर्तन बनेंगे, सब मृण्मय ही होंगे। ये ही पात्र यदि सुवर्ण से या रजत–चाँदी–से बनाये जायँ, तो आकृति और कार्य क्षमता एक-सी होने पर भी वे सुवर्णमय तथा रजतमय ही कहलायेंगे। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं है।

अनादि काल से संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा तथा निष्काम भाव से–कर्तव्य बुद्धि से की जाने वाली कर्मनिष्ठा ये दो निष्ठायें परम्परा गत चली आ रही हैं। पूर्वजन्म में जिन्होंने कर्म त्याग का अनुष्ठान किया है, उन्हें इस जन्म में आरम्भ से ही सभी कर्म काटने को दौडते है। कर्म करने में उनकी रुचि ही नहीं होती। उनके लिये कर्मज्ञान प्राप्ति का साधन मात्र है। वे तभी तक अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त कर्म करते हैं जब तक कि वे पूर्णत्याग के अधिकारी न बन जायें–अन्तःकरण शुद्ध न हो जाय–अन्तःकरण के

शुद्ध हो जाने पर-त्याग वैराग्य का अधिकार प्राप्त हो जाने पर-वे कर्मों को सर्वथा त्यागकर-दंड, कमण्डलु, कौपीन कंथा धारण करके संन्यासी हो जाते हैं। उनके लिये निष्काम कर्म साधन है ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना साध्य है, किन्तु पूर्वजन्मो के के संस्कार वश जिनका ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करने का सहज स्वभाव बन गया है, उनके लिये ज्ञान साधन मात्र है। वे ज्ञान-पूर्वक भगवत् अर्पित भाव से कर्म करते हैं। जब ज्ञान के द्वारा उन्हे पूर्ण भगवद्भक्ति प्राप्त हो जाती है, तो वे भक्ति के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ निष्काम कर्म-भक्ति-को साध्य माना है वहाँ ज्ञान साधन है। इसलिये वहाँ भक्ति को ही ज्ञानमार्ग से सर्वश्रेष्ठ बताया है—"कर्मयोगो विशिष्य ते" कहा है, और जहाँ निष्काम कर्मयोग या भक्ति को साधन बताया है वहाँ ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहा है "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" ज्ञान के समान पवित्र सर्वश्रेष्ठ-दूसरा नहीं है। ज्ञान हो जाने पर न तो कर्म करते ही रहने का आग्रह है, न कर्म त्याग का ही आग्रह है। पूर्वजन्म के संस्कारानुसार ज्ञान होने पर कर्म करते रहो-तो भी कोई हानि नहीं। त्याग कर संन्यासी बन जाओ तो भी दोष नहीं, किन्तु गीता का प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्म योग या भक्ति ही है। अतः भगवान् अनेक युक्ति से-निष्काम कर्म योग को ही श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा करते है, क्योंकि अर्जुन निष्काम कर्मयोग भक्ति का ही अधिकारी है। उसे ज्ञानपूर्वक ब्रह्मार्पण बुद्धि से जनक आदि राजर्षियों की भाँति निष्काम कर्म योग में ही लगाना है। इसलिये "कर्मणयेव संसिद्धिमास्थितो जनकादयः" कह कहकर जनक जी का आदर्श उपस्थित किया। जनक जी ज्ञानी होने पर भी निष्काम भाव से प्रजा पालन रूप गुरुतर कार्यों में लगे रहे। उनके गुरु पंचशिख महामुनि कर्म

त्यागी संन्यासी ही थे, किन्तु उन्होंने न तो उन्हें कर्ममार्ग-वर्ण
श्रम धर्मयोग-के अनुसार साधन करने की शिक्षा दी और
सांख्य योग-सन्यास धर्म ज्ञानयोग की ही शिक्षा दी। उन्हें
तीसरा मार्ग निष्काम कर्मयोग या ब्रह्मार्पण योग का ही उनके
अधिकारी समझा यह बात स्वयं महाराज जनक ने सुलभा
कही है।

सुलभा एक क्षत्रिय वंश में उत्पन्न योगिनी थी। उसका जन्म
राजर्षि प्रधान के वंश में हुआ था। वह बड़ी विदुषी थी। पूर्व
जन्मों के संस्कारों के कारण उसकी सहजवृत्ति मोक्ष धर्म में थी
पिता उस विदुषी का विवाह करना चाहते थे। सभी पिताओं की
स्वाभाविक इच्छा होती है, मेरी पुत्री को योग्यवर मिले, किन्तु
जैसी सुलभा विदुषी थी, उसके अनुरूप वर नहीं मिला। तब
सुलभा ने विवाह करने का विचार छोड़ कर मोक्ष धर्म की दीक्षा
ली। वह संन्यासिनी बन गयी। योगाभ्यास करते-करते वह योग
विद्या में पारंगत हो गयी। वह योग के प्रभाव से यत्र-तत्र सब
संसार में घूमती रहती थी और साधु संन्यासी महात्माओं का
सत्संग करती रहती थी। मोक्षमार्ग के ज्ञाता बहुत से त्रिदंडी
संन्यासियों से उसने महाराजा जनक की बड़ी प्रशंसा सुनी। सभी
महात्मा कहते थे, महाराज जनक गृहस्थ में रहते हुए भी-राज्य
पाट करते हुए भी हमसे अच्छे हैं। तब सुलभा को स्वाभाविक
जिज्ञासा हुई कि मैं चलकर देखूँ तो सही। राज्यपाट करते हुए
गृहस्थ में रहते हुए-भी जनक राजा धर्मध्वज संन्यासियों से भी
श्रेष्ठ कैसे हैं।

वह योगशक्ति से राजा के यहाँ अत्यंत ही सुन्दर शरीर
धारण करके राजा के यहाँ गयी। महाराज जनक ने उसका बड़ा
भारी सत्कार किया। योग प्रभाव से सुलभा ने राजा की बुद्धि

एकात्मता प्राप्त करली। तब सुलभा के पूछने पर राजा ने अपना परिचय दिया—देवि ! मै पराशर गोत्रीय-सन्यास धर्मावलम्बी महात्मा पंचशिख का शिष्य हूँ। कृपा करके स्वतः ही इधर आ गये थे और वर्षा के चार महीने वे मेरे यहाँ रह गये। उन्होंने ही मुझे मोक्ष धर्म का उपदेश दिया है। उन्होंने मुझे त्रिविध मोक्ष धर्म सुनाकर यह आज्ञा दी है कि तुम गृहस्थ मे ही रहो राज्य से दूर हटने की आवश्यकता नही। सो, देवि ! मैं संसारी विषयों को आसक्ति से रहित होकर परमपद मे स्थित हूँ।

मेरा मोह दूर हो गया है, मैं समस्त संसर्गों का त्याग कर चुका हूं, इसीलिये गृहस्थ में रहते हुए भी मैंने बुद्धि की परम निर्द्वन्द्वता प्राप्त करली है। मेरी दाहिनी भुजा पर कोई चन्दन लेपन करे, बाईं भुजा को कोई बसूले से छीले मै दोनों में ही समभाव से रहता हूँ। दोनों क्रिया करने वालो में मैं न राग करता हूँ न द्वेष। मैंने तुम्हारी तरह संन्यासियों का-सा वेष नहीं बनाया है। मेरी ऐसी दृढ़ धारणा है कि काषाय वस्त्र धारण करना, मस्तक मुड़ा लेना, त्रिदण्ड धारण तथा कमण्डलु ले लेना ये सब संन्यास के चिन्ह मात्र हैं, इन्हें देखकर दूसरे लोग समझ जाते हैं ये संन्यासी है, किन्तु केवल इन चिन्हों द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैंने कोई बाह्यचिन्ह धारण नहीं किया है, फिर भी मै आप्तकाम होकर सदा सुख का अनुभव करता हूँ, मेरी दृष्टि में मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण में कोई भी अन्तर नही। मै आसक्ति रहित होकर राज्यपाट करता हूँ, समस्त राजकाजों को करता रहता हूँ, अतः मेरा अन्य त्रिदंडी संन्यासियो से स्थान विशिष्ट है। "मुक्त सङ्गः स्थितो राज्ये विशिष्टोऽन्यैस्त्रिदण्डिभिः" यही बात भगवान् ने अर्जुन से कही है "तयोस्तु कर्म संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।" कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट

है। इसी का विस्तार करते हुए भगवान् अर्जुन को बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह जिज्ञासा की, किन सद्गुणों के कारण कर्म करते हुए भी निष्काम कर्मयोगी कर्मों में लिप्त नहीं होता, तो भगवान् कहने लगे—"देखो, भैया अर्जुन! निष्काम कर्मयोगी में पहिला गुण तो यह होना चाहिये कि वह योगयुक्त हो।

अर्जुन ने पूछा—योगयुक्त का अर्थ क्या?

भगवान् ने कहा—योगयुक्त का अर्थ है भक्तिमान् अर्थात् जो भी कर्म करे ब्रह्मार्पण बुद्धि से—भगवान् की सेवा समझकर करे। उनका कोई लौकिक फल न चाहे। निषिद्ध कर्म न करे। भगवान् की सेवा के ही लिये शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मों को जो करता है वही योगयुक्त पुरुष है। ऐसा ही पुरुष विशुद्धात्मा कहलाता है।

अर्जुन ने पूछा—विशुद्धात्मा का अर्थ क्या है?

भगवान् ने कहा—यहाँ आत्मा शब्द से अन्तःकरण समझना चाहिये। अर्थात् जिसके अन्तःकरण से तमोगुण रजोगुण निकल गये हों। इन रज तम से मिश्रित सत्त्व भी निकल गया हो। केवल विशुद्ध सत्त्व वाले का नाम ही विशुद्धात्मा है। उसी को विजितात्मा भी कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—विजितात्मा क्या?

भगवान् ने कहा—यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ देह है। जिसने अपनी देह को वश में कर लिया हो, जिसकी देह उसके अधीन हो, स्वयं देह के अधीन न हो। उसी को जितेन्द्रिय भी कहते हैं अर्थात् देह के साथ जिसने समस्त बाह्य इन्द्रियों को जीत लिया हो। जिसकी इन्द्रियाँ उसके अधीन हों। वह इन्द्रियों के अधीन न हो। ऐसा सर्वभूतात्म भूतात्मा पुरुष कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।

अर्जुन ने पूछा—सर्वभूतात्म भूतात्मा किसे कहते है ?

भगवान् ने कहा—हम जो देखते हैं सब पंचभूत निर्मित है। वह जड़ और चैतन्य दो भाँति का है। इसीलिये समस्त स्थावर जगम, जड़ चेतन्यात्मक जगत को सर्वभूत कहते हैं, और आत्म-भूत अपना आपा। ऐसी है आत्मा जिसकी अर्थात् सब भूतों में आत्मवत् भावना करने वाला। सबको. आत्मस्वरूप समझने वाला पुरुष करता हुआ भी सदा अकर्ता बना रहता है। वह कुछ करता ही नहीं।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! वह करता क्यों नहीं, वह तो कानों से सुनता है, स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श करता है, घ्राणेन्द्रिय से सूंघता है, रसनेन्द्रिय से रस का अनुभव करता है, खाता-पीता है, पैरों से चलता है, निद्रा लेता है, श्वास-प्रश्वास लेता है, छोड़ता है, वाणी से बोलता है, मलेन्द्रिय से मल विसर्जन करता है, हाथ से ग्रहण करता है, आँखों के पलकों को खोलता है मीचता है। इतने काम करते हुए भी वह अकर्ता कैसे बना रहता है ?

भगवान् ने कहा—"इतने सब कर्म करते हुए भी तत्त्ववित् पुरुष यह माने कि मै कुछ भी नही करता।"

सूतजी. कहते है—मुनियो ! इस विषय को भगवान् और स्पष्ट रूप मे कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

यही मुक्त अरु भली-भाँति तत्वनि कूँ जानें।
जो अपने को तीन काल नहिँ करता मानें॥
देखत देखे नहीं श्रवन करि सुनत नहीं है।
छूवत छूवै नहीं सूँघि सूँघत हु नहीं है॥
खावत हू खावै नहीं, चलत चलै न सुपास है।
सोवत हू सोवै नहीं, श्वास लेत निश्वास है॥

कर्मयोगी कमलवत निर्लेप रहता है

[५]

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, ९, १० श्लोक)

छप्पय

बोलत बोले नहीं त्याग करि नाहीं त्यागत ।
ग्रहन करत नहिँ लेइ, पलक मींजत नहिँ मींजत ॥
खोले नितई पलक किन्तु करता नहिँ माने ।
बरति रहीं निज अरथ, इन्द्रियनि ऐसो जाने ॥
इन्द्रिय बरतति ईं रहत, निज स्वभाववश नेम में ।
करता इनको मैं नहीं, मगन रहे नित प्रेम में ॥

---

* प्रलाप करता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलक मारता हुआ और खोलता हुआ भी सोचे कि वास्तव मे इन्द्रियाँ अपना-अपना काम कर रही हैं, मैं कुछ भी नही करता हूँ ॥९॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को ब्रह्म मे अर्पण करके आसक्ति को छोड़कर कर्मों को करता है, वह पापों से उसी प्रकार लिप्त नही होता, जैसे जल से कमल निर्वाधमान नही होता ॥१०॥

एक महात्मा थे, वे किसी विषयी के महलों में गये, वहाँ जाकर उन्होंने नाक बन्द कर ली। उस विषयी धनी ने पूछा—"भगवन् ! आपने नाक बन्द क्या कर ली ?"

महात्मा ने कहा—भैया, यहाँ मुझे चारों ओर विषयों की गंध आ रही है।

धनी ने कहा—"महाराज ! यहाँ तो कहीं गन्ध नहीं है। चारों ओर सुगन्धित पुष्प खिल रहे हैं। सुगन्धित अंग राग लगाये मेरी सेविकायें पत्नियाँ घूम रही हैं। सुगन्धित जल का छिड़काव हो रहा है। मुझे तो कहीं गन्ध आती नहीं।

महात्मा ने कहा—"भैया, तुम्हें यहीं रहते-रहते गन्ध सहते-सहते अभ्यास पड़ गया है, इसलिये गन्ध नहीं आती।"

धनी ने पूछा—"अभ्यास से गन्ध कैसे मिट जायगी ?"

महात्मा ने कहा—"अच्छा चलो, मैं तुम्हें इस बात को प्रत्यक्ष करता हूँ।" यह कहकर महात्मा उसे चमारों के मुहल्ले में ले गये। जहाँ सैकड़ों चर्मकार चर्म से जूते बनाते थे। सेठ को वहाँ चमड़े की बड़ी दुर्गन्ध आई। उसने नाक बन्द कर ली और महात्मा से कहा—"महाराज, कहाँ दुर्गन्ध में ले आये ?"

महात्मा ने कई चर्मकारों से पूछा—"क्यों जी यहाँ दुर्गन्ध आ रही है ?"

सबने यही कहा—"महाराज, यहाँ तो किसी भी प्रकार की दुर्गन्ध नहीं।"

तब महात्मा ने धनी सेठ से कहा—सेठजी ! जैसे निरन्तर के अभ्यास से इन चर्मकारों को चर्म की दुर्गन्ध नहीं प्रतीत होती, उसी प्रकार नित्य विषयों में लगे रहने से विषयों में गन्ध नहीं आती। अभ्यास करते-करते आदमी उस बात का ऐसा अभ्यस्त हो जाता है, कि वह उसका सहज कर्म हो जाता है, इन्द्रियों से

संसर्ग होने पर भी उसका भान नहीं होता। बहुत से लोगों की तनिक सी आहट से नींद खुल जाती है, वे ही रेल के समीप रहने लगते है, तो रात्रि में अनेक बार रेल निकल जाती है, उन्हें पता तक नहीं चलता रेल कब निकल गयी।

इसी प्रकार कर्तृत्वाभिमान शून्य होकर जो काम करते हैं, उन्हें पता ही नही रहता हमारे द्वारा कौन-सा कार्य हुआ। सहज स्वभाव से कार्य होते रहते है, उन्हें संकल्प नहीं करना पड़ता। नित्य के अभ्यास से अपनी इन्द्रियों द्वारा ही कौन-सा कार्य हो रहा है इसका भी पता नही चलता।

एक प्रसिद्ध महात्मा अपने गुरुदेव के सम्बन्ध में बता रहे थे, कि वे सब कुछ करते हुए भी अकर्ता ही बने रहते थे, वे एक आश्रम का संचालन करते थे, किन्तु कौन क्या कर रहा है, इस ओर उनका ध्यान नही जाता था उनके आश्रम का एक साधु था, उसे चूरमा खाने की इच्छा हुई। उसने एक माई से कहा—"माई! स्वामी जी को चूरमा खाने की इच्छा है। माई ने तो अपना अहो भाग्य समझा स्वामीजी ने इतनी कृपा की। बहुत सुन्दर चूरमा बनाकर उसने साधु को दे दिया। साधुजी ने ले जाकर उसे खा लिया।

सायकाल सत्संग में माई आई, उसने आकर स्वामी जी से पूछा—"महाराज! चूरमा कैसा बना था?"

स्वामी जी ने पूछा—"कैसा चूरमा?"

माई ने कहा—"अमुक महात्मा ने मुझसे कहा था, कि स्वामी जी की इच्छा चूरमा खाने की है, मैंने उन्हें बनाकर दिया था?"

स्वामी जी ने कहा—"बुलाओ उस साधु को।"

साधुजी को बुलाया गया, स्वामी जी ने पूछा—"तुम इस माई के यहाँ से मेरे नाम से चूरमा लाये थे?"

साधु ने कहा—हाँ, महाराज, लाया था।

स्वामी ने पूछा—"कहाँ गया वह चूरमा ?"

साधु ने कहा—"महाराज, उसे तो मैं खा गया ?"

स्वामी जी पूछा—"क्यों खा गये ? मेरे नाम से क्यों लाये थे ?"

साधु ने कहा—"महाराज, मेरे और आपके नाम में क्या अन्तर। ये सम्पूर्ण सृष्टि ही आपके नाम से खा रही है, तो मैंने चूरमा खा लिया तो क्या बुरा किया ?"

यह सुनकर स्वामी जी हँस पड़े और बोले—"माई ! बहुत बढ़िया चूरमा बना था।"

उन्ही महात्मा की एक और कथा वे कहते थे—एक दिन एक भगत की लड़की उनके पास बैठी थी। भगत जी भी बैठे थे। स्वामी जी शरीर से कुछ मोटे थे। उनकी अपान वायु निकली। उन्हें पता नहीं अपान वायु निकली। समीप में बैठे भगतजी को डाँटने लगे—'तू आता है, लड़की को ले आता है, लड़की यहाँ अपानवायु छोड़ती है।"

यह सुनकर सब लोग हँसने लगे। सब जानते थे स्वामी जी संकल्प रहित ज्ञानी पुरुष हैं।

इसी प्रकार जड़ चेतन का विवेक करते-करते, इस शरीर में कौन-कौन पदार्थ जड़ हैं, कौन चैतन्य है, मै जड़ हूँ या चैतन्य। अपने चैतन्य स्वरूप का बोध होने पर जड़ संहात के कार्यों में कर्तापने का अभिमान रहता ही नहीं। पंचभूत जड़ हैं, इन्द्रियाँ जड़ हैं, अन्तःकरण भी भीतरी इन्द्रियां ही हैं वे भी जड़ ही है। जीव जो चैतन्य है और जड़ के देह के साथ जो इसका सम्बन्ध जुट गया है, इसलिये सब अहंकार के वशीभूत होकर अकर्ता होता हुआ भी अपने को कर्ता मान बैठता है इसीलिये बन्धन में फंस

जाता है, ऐसे ही व्यक्ति के कर्म, बन्धन के कारण होते हैं, वही जब जड समुदाय को पृथक् करके अपने चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है, तब इन्द्रियों से कुछ भी कार्य होते रहे, उन्हें वह अपना किया हुआ नही मानता। जब उन कर्मों को यही समझाता है कि इन्द्रियाँ अपने कार्यों में अर्थों में बरत रही हैं, तो उसके द्वारा किये हुए कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। वह तो संसार मे रहता हुआ भी कर्म करता हुआ भी उनके फलों में सदा निर्लेप बना रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की कि निष्काम कर्मयोगी इन्द्रियों के सब व्यापार करता हुआ भी सभी प्रकार के कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त क्यो नही होता, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान कहते हैं—यह व्यक्ति शरीर से मन से बुद्धि से और इन्द्रियों मे सदा कर्म करता ही रहता है पाच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय ऐसे दश इन्द्रियाँ है। इन दश के दश ही कर्म है। नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण और रसना इन पांच ज्ञानेन्द्रिय के देखना, सुनना, सूंघना और खाना ये पांच कर्म हैं। पाद, वाणी, पायु, उपस्थ और हाथ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ है। गति, प्रलाप, मलमूत्र बिन्दुविसर्ग और ग्रहण इनके व्यापार है। ये तो दश इन्द्रियाँ और उनके दश कर्म हुए। पांच प्राण है भीतर उनके श्वास लेना छोड़ना सिकोड़ना आदि व्यापार है। नागकूर्मादि पाँच उपप्राण हैं उनका पलक खोलना, पलक गिराना आदि पाँच कर्म हैं। निद्रा लेना आदि अन्तःकरण का कार्य है। परमार्थ तत्व को भली भाँति जान लेने वाला योगयुक्त पुरुष इन सब कर्मों को करता हुआ भी सदा अकर्ता ही बना रहता है। वह समझता है ये इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारों में वर्त रही हैं। मैं कर्ता थोड़े हूँ, मैं इन सब व्यापारों से पृथक् हूँ,

में कुछ भी नहीं करता। ऐसा मानने पर-ऐसा दृढ़ संकल्प करने पर-वह निर्लिप्त ही बना रहता है क्योंकि सृष्टि तो संकल्प में ही है। अपने निज विषय सुख को-फल को--इच्छा न हो तो वे कर्म न सुख देते हैं न दुख। मुनीम है, दिन भर अपने स्वामी के कार्यों में व्यस्त रहता है, लाखों रुपये लेता देता है, किन्तु अपने को स्वामी-करने वाला--नहीं मानता। इसीलिये वह हानि लाभ का भागीदार नहीं होता, उसे तो अपने वेतन भर से प्रयोजन है। इसी प्रकार जो अपने शरीर भोग के लिये--इन्द्रियों के सुख के लिये कुछ नहीं करता। फल की इच्छा छोड़कर सब कार्य प्रभु के ही निमित्त करता है। भगवान् की सेवा समझकर ही कर्म करता है। जो करता उसे भगवान् को ही अर्पण कर देता है, ऐसा ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करने वाला भगवत् भक्त संसार में रहता हुआ भी-धर्म शास्त्र के विहित यज्ञ, दान तप आदि कर्मों को करता हुआ भी उसी प्रकार उनमें लिप्त नहीं होता, जैसे कमल जल से उत्पन्न हुआ भी-जल में सदा रहता हुआ भी-जल से लिप्त नहीं होता। एक बूँद भी पानी कमल के पत्ते पर डालो, उसे वह सोखेगा नहीं। सदा उससे निर्लेप-पृथक्-ही बना रहेगा। कमल के पत्ते पर पानी की बूँदें मोती की भाँति पृथक् ही दिखाई देंगी। पानी में रहते हुए भी उससे सर्वथा पृथक्। यही दशा निष्काम कर्मयोगी-भक्त-की भी है।

अर्जुन ने कहा--योगी लोग कर्म क्यों करते हैं? फिर एक से ही कर्मों को करने पर-स्वरूपतः एक समान कर्म होने पर-एक के लिये वे ही कर्म बन्धन के कारण होते हैं, दूसरों को वही कर्म मोक्ष के कारण बन जाते हैं, इसमें कारण क्या है?

सूतजी कहते हैं--मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसे मैं आगे आपसे कहूँगा। यह विषय बहुत ही

सूक्ष्म है, अतः इस विषय को आप सावधानी के साथ, दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।

छप्पय

सबरे करमनि करै बल में अरपन जोगी।
निश्चय मन में करै नहीं हौं करता भोगी॥
करमनि में आसक्ति त्यागिकें करम करतु है।
नहीं जनम फिर लेइ नहीं वह कबहुँ मरतु है॥
कमल सदा जल में बसै, कबहुँ लिप्त होवै नहीं।
करम करत जोगी सतत, वह निरलेप रहै तहीं॥

कर्मयोगी अनासक्त भाव से चित्तशुद्धि के लिये कर्म करते हैं

[६]

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, ११, १२ श्लो०)

छप्पय

आसक्ती के बिना करम कोई नहिँ होवै ।
बिना वेदना कहो कौन जो प्रानी रोवै ॥
आत्मशुद्धि के हेतु करमयोगी करमनि कूँ ।
सांसारिक फल नहीं करम फल के त्यागनि कूँ ॥
तनतैं मनतैं बुद्धितैं, इन्द्रिनितैं केवल करै ।
करमनि में आसक्ति तजि, नहीं कर्म बन्धन परै ॥

---

* योगीजन तन से, मन से, बुद्धि से तथा केवल इन्द्रियों से भी आत्मशुद्धि के लिये, आसक्ति त्यागकर कर्म करते रहते हैं ॥११॥

योगी पुरुष कर्मफल को त्यागकर नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त करता है। वह जानता है, यह नौ द्वार वाला पुर देह है, इसमे रहता हुआ देही न कुछ करता है, न करवाता ही है ॥१२॥

बन्धन का कारण कर्म नहीं कर्म के फलों में आसक्ति ही है। जो अनासक्त भाव से कर्म करता है, अर्थात् कर्मों के फल के प्रति उसे कोई स्पृहा नहीं, ममता नहीं, तो वह कर्म करने पर भी उसके बन्धन में नहीं बंधता। जिसे कर्म के फलों में आसक्ति है, वह मन से कर्म का फल चाहने के कारण बन्धन में बंध जाता है। एक लड़का है, वह क्रीडा कर रहा है, खेल-खेल में उसने आम की गुठली बो दी। खेलने के पश्चात् घर चला गया, भूल भी गया, कल खेल में मैंने गुठली बोई थी, क्योंकि गुठली बोना, उसके फल स्वरूप वृक्ष होना उसके फलों की रक्षा करना, उसके फलों का उपभोग करना यह उसका लक्ष्य ही नहीं था। वह तो खेल रहा था। खेल के पश्चात् क्या होता है इसका उसके मन में कोई विचार ही नहीं। इसलिये उस बीज से उत्पन्न अंकुर, पौधा, वृक्ष, फूल, फल में न उसकी आसक्ति है न स्पृहा है। उसे उस कर्म के फल से न दुःख न सुख, किन्तु जिसकी भूमि में वह लड़का खेल रहा था, उसे अपनी भूमि में आसक्ति थी। वह गुठली अंकुरित होकर पौधा हो गयी। भूमि का स्वामी कहने लगा मेरा वृक्ष है। अब उसकी भाव सम्हाल करने लगा। एकदिन दूसरे की बकरी आकर उसके पत्ते चर गयी, वह उससे लड़ पड़ा, लड़ाई हो गयी, चोट लग गयी। लोगों ने बीच-बिचाव कर दिया। अब उसने पौधे के चारों ओर काँटे लगाये, इस आशा से कि इस पर फल आयेंगे तो मैं खाऊँगा। रात्रि दिन उसकी चिंता करता, उसकी रक्षा में व्यग्र रहता। कालान्तर में उस पर फल आये। वह उसकी रक्षा करने लगा। बड़ी-बड़ी आशायें रखने लगा। कुछ फलों का अचार डालूँगा, कुछ को पकाऊँगा। नित्य उन्हें खाऊँगा। एक दिन वह किसी काम से बाहर गया। पास पड़ोस के लड़कों ने जब एकान्त देखा तो फलों पर मन चल ही गया। एकान्त में

खिले हुए फूलों को देखकर, एकान्त में पके हुए फलों को देखकर, एकान्त में पड़े सुवर्ण या सिक्कों को देखकर और अकेली रूप लावण्यवती युवती को देखकर, घोर संयमी साधक को छोड़कर शेष सभी लोगों का मन तो चलायमान हो ही जाता है। यह दूसरी बात है, कि भय की आशंका से उस पर हाथ न डाले। लड़कों में इतना विवेक नहीं होता, लड़को ने चढ़कर खूब फल तोड़ लिये। इतने में ही वह पेड वाला आ गया। लडके भगने लगे। एक दो को उसने पकड़कर मारा। उनके घर वाले आ गये। दोनों ओर से कहा सुनी हुई फिर लाठी चली। पेड़ वाला घायल हो गया। मर गया। जिस पेड को उसने बोया नहीं, केवल ममता वश मेरा है, मेरा है, कहकर आसक्ति के कारण उसे प्राणों से हाथ धोने पड़े महान कष्ट उठाना पडा। अतः दुःख का कारण कर्म नहीं है, कर्म के फलों के कारण ही आसक्ति होती है, और वह आसक्ति ही दुख का कारण है।

एक कुटी में महात्मा रहते थे। वे विरक्त तथा त्यागी थे। भजन पूजन से जो समय बचता उसमें आमों के वृक्ष लगाते, उन्हें सींचते, पानी देते। उनके पास ही एक दूसरा किसान था, उसने भी आम का बगीचा लगाया। दोनों समान रूप से उनकी रक्षा करते। समान रूप से गोड़ते, समान रूप से एक ही नाले से पानी देते। दोनों में साथ ही फल आ गये। महात्मा का तो नियम था, वे तो वैसे ही मन विनोद को पेड़ लगाते थे, जब उनमें फल आने को होते, तो वे उस बगीचा को छोड़कर चले जाते, दूसरे स्थान पर जाकर इसी प्रकार बगीचा लगाते। इस प्रकार न जाने उन्होंने कितने स्थानों पर कितने बगीचे लगाये, किन्तु उनकी इच्छा न फल खाने की थी, न मेरा नाम हो, इस पुण्य से मुझे स्वर्ग मिले यही इच्छा थी। वे मनोविनोद को समय का सदुपयोग ही

इसलिये वृक्ष लगाते और फल दूसरे लोग खाते थे। इसके विपरीत जिस किसान ने बगीचा लगाया था, फल आने पर उसे रात्रिदिन बगीचा की ही चिन्ता लगी रहती। फलों की रक्षा में व्यग्र रहता, नित्य लोगों से लड़ाई झगड़ा होता, घर परिवार वाले भी उसके शत्रु बन गये। अंत में झगड़ा हुआ मर गया। मर कर आम के फलों का कीड़ा हुआ। बगीचा लगाने का काम दोनों ने समान रूप से किया, श्रम भी समान ही रहा। कार्य भी एकही था, किन्तु एक का फल हुआ दूसरों का सुख और अपनी मन की शांति। किसान का फल हुआ सबसे लड़ाई झगड़ा होना औरों का बुरा बनना और अन्त में दुर्गति प्राप्त करना।

अतः दुःख का कारण आसक्ति है। योगी लोग भी संसारी लोगों की भाँति कर्मों में लगे रहते हैं, किन्तु उनके कर्मों में और संसारी लोगों के कर्मों में अन्तर इतना ही रहता है, कि कर्मयोगी का कर्म परोपकार के लिये लोक संग्रह के लिये आत्म शुद्धि के लिये मुक्ति का कारण होता है और संसारी लोगों का वही कर्म लड़ाई झगड़े के लिये अपने उपभोग की नियत से किया जाता है और का परिणाम यह होता है, कि संसारी बन्धन और दृढ़ होता जाता है। कर्म बन्धनों में अधिकाधिक बँधता जाता है। अतः साधक को आसक्ति का त्यागकर केवल अन्तःकरण की शुद्धि के ही निमित्त कर्मों को करते रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने योगियों के कर्म करने का कारण और एक से ही कर्म के फल विपरीत होने का कारण पूछा, तब भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"अर्जुन! यद्यपि कर्मों से बन्धन होता है, किन्तु वे ही कर्म सांसारिक भोगों की इच्छा से रहित होकर निष्काम भाव से किये जायँ, तो वे बन्धन का कारण न होकर उलटे मुक्ति का कारण बन जाते हैं।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! बिना कामना के तो कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। किसान खेत को जोतता है, बोता है, पानी देता है निराता है, रक्षा करता है, किस लिये ? इसलिये कि उसे खेत पक जाने पर बीज से सैकड़ो गुना अन्न मिलेगा। जब फल की आशा ही न रहेगी, तो वह खेत में इतना परिश्रम क्यों करेगा। बिना प्रयोजन के तो मन्द से मन्द बुद्धि भी किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। हम भोजन बनाते है, तो इस इच्छा से कि इससे हमारी भूख की निवृत्ति होगी। जब फल की इच्छा ही नहीं, किसी प्रकार की कामना ही नही तब तो कर्मों का आरम्भ ही असंभव है। फिर कर्म योगी कर्म क्यों करता है ?

भगवान् ने कहा—कर्म योगी साधक को संसार के भोगों की कामना नहीं, किन्तु जन्म जन्मान्तरों के कर्म संस्कारों से जो अन्तःकरण में मलिनता आ गयी है, उसी मलिन अन्तःकरण को विशुद्ध बनाने के लिये—अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त ही कर्म करते हैं, क्योंकि विष की औषधि विष ही है। कर्म जनित मलिनता निष्काम कर्मों द्वारा ही हो सकती है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! कर्मों के साथ 'निष्काम' विशेषण क्यों लगा देते हैं। यों कहिये, कि कर्म जनित मलिनता कर्म करने से ही दूर होगी।

भगवान् ने कहा—"निष्काम विशेषण इसलिये लगाते हैं कि कर्म सकाम भाव से किये गये, तो वे आगे को अपना बीज और बढ़ावेंगे। कर्म करने से पुराने कर्मों का भोग तो भोगा ही जायगा, साथ ही वह सकाम कर्म आगे के लिये क्रियमाण कर्मों को और उत्पन्न करेगा। जैसे बीज बोया तो उस बीज से तो अंकुर उत्पन्न होगा ही, साथ ही वह बीज अन्य बीजों को भी उत्पन्न करेगा। यदि उस बीज को भूनकर बोओ तो वह अन्य

बीजों को उत्पन्न करने में सक्षम न होगा। इसलिये निष्काम कर्म बीज को भूनने के समान है। कर्मों में वासना न रखकर कर्मों को करो। तो उन जप, यज्ञ, पूजादि कर्मों से अन्तःकरण तो शुद्ध हो जायगा, किन्तु आगे के लिये क्रियमाण कर्म न बनेंगे। इसलिये फल की आशा छोड़कर केवल इन्द्रियों से, केवल देह से, केवल मन से, तथा केवल बुद्धि से कर्म करते रहने पर कर्म बन्धन के कारण न होंगे।

अर्जुन ने पूछा—केवल देह से, केवल मन से, केवल बुद्धि से तथा केवल इन्द्रियों से कर्म कैसे किया जाता है?"

भगवान् ने कहा—जैसे गंगा स्नान को गये। शरीर से गंगा जी में डुबकी लगाली। और सोच लिया मैंने यह स्नान केवल ईश्वर की प्रीति के निमित्त किया है, तो वास्तव में गंगा स्नान का फल तो स्वर्ग होना चाहिये था, किन्तु ब्रह्मार्पण बुद्धि से करने पर उसका फल अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक प्रभु प्राप्ति या मुक्ति ही होगा। इसी प्रकार केवल मन से कोई शुभ संकल्प किया जाय, केवल बुद्धि से ब्रह्मार्पण भाव से निश्चय किया जाय। केवल कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म अथवा ज्ञानरूप कर्म किया जाय, तो उसका फल यही होगा, कि उस भगवत्-प्रीत्यर्थ कर्म से अन्तःकरण विमल बन जायगा। निर्मल मन से भगवत् साक्षात्कार हो जायगा। संसार बन्धन से मुक्ति मिल जायगी।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्म तो एक से ही हैं। करने के साधन भी एक से ही हैं, किन्तु उनके फलों में विषमता क्यों है। उन्हीं कर्मों के करने से एक तो बन्धन में बंध जाता है, दूसरा उन्हीं कर्मों से विमुक्त बन जाता है। इसका क्या कारण है?"

भगवान् ने कहा—इसका कारण है सकामता निष्कामता।

कर्म कोई न अच्छे हैं न बुरे। हम अपनी भावना के अनुसार ही उनमें अच्छेपन बुरेपन का आरोप कर लेते है। कर्म एक-सा ही है। किया भी वह एक प्रकार से ही गया है, किन्तु भाव भेद से उसके फल में भेद हो जाता है। एक दूकान पर दो आदमी बैठे दोनों ही व्यापार में एक समान लगे हैं, एक प्रकार कार्य कर रहे हैं, किन्तु लाभ या हानि होने पर एक तो रोता है, दूसरा न रोता है न हँसता है। रोने वाला तो अपने को स्वामी-स्वतंत्रकर्ता मानकर काम करता है। वह तो फल में आसक्त होकर काम करता है, इसलिये वह हर्ष शोक में लिप्त होकर सुख-दुख उठाता है। दूसरा अपने को स्वतन्त्रकर्ता स्वामी नहीं मानता। अपने को स्वामी का सेवक मानता है। अपने को मुनीम कहता है। कर्तव्य समझकर काम वह लगन से करता है, किन्तु लाभ हो, हानि हो दोनों में उसकी बुद्धि सम है उसे अपने नियत वेतन से प्रयोजन। लाभ हानि का सुख-दुख वह भोगेगा, जो उसका स्वामी होगा। एक नाइन है। उसके एक यजमान के घर लड़का मर गया है, तो वह सब स्त्रियों के साथ खूब चिल्ला-चिल्ला कर रोती है। वहाँ से निवटकर दूसरे यजमान के यहाँ बच्चा हुआ है, तो बधाई के हँस हँसकर गीत गाती है, तीसरे यजमान के यहाँ विवाह है, तो खूब नाचती है, स्वाँग बनाती है, दक्षिणा माँगती है। उसके मन पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं। उसे तो यजमान के यहाँ अपने कर्तव्यों का पालन मात्र करना है। इसी प्रकार जो ईश्वर के ही निमित्त सब कर्मों को करता है, वह उन कर्मों के सुख-दुख में लिप्त नही होता।

कर्मयोगी साधक अपने किये हुए कर्मों से किसी सांसारिक फलों की कामना नही रखता, वह कर्मफल को त्यागकर कर्मों को करता हुआ भी नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त करता है। इसके

विपरीत जो कर्मयोगी नहीं, साधक नहीं। अयुक्त है, सकाम भाव से कर्म करने वाला है। फल की इच्छा रखकर कर्मों में प्रवृत्त होने वाला है, तो वह फलों की अभिलाषा के कारण कर्मों में पहिले से भी अत्यधिक बँध जाता है। दोनों में एक-सा कर्म करने पर भी यही भेद है।

अर्जुन ने पूछा—कर्मयोगी को क्या सोचते हुए कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिये।

सूतजी कहते है—मुनियो! अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् ने जो उत्तर दिया उसका वर्णन मै आगे करूँगा।

छप्पय

अनासक्त आसक्त करम दोऊ समान हैं।
किन्तु भाव को भेद भेद फल में महान हैं॥
योगी करमनि करै नहीं फल तिनिको चाहे।
करै करम आसक्त सकामी सो बँधि जाये॥
दोउनि में अन्तर जिही, करम करैं दोऊ सतत।
एक युक्त है त्यागिफल, करै दूसरो फलहिं हित॥

आत्मा कर्तृत्व अभिमान से शून्य है

[७]

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, १३, १४ श्लोक)

छप्पय

जाने अन्तःकरन करचो वश में अरजुन सुनि ।
पावैं वह सुख सतत वही योगी ज्ञानी मुनि ॥
मन तैं करमनि त्यागि वही संन्यासी सच्चो ।
ऊपर तैं तजि करम करै मन तैं सो कच्चो ॥
नौ द्वारनि की देह में, अनासक्त दुख-सुख नसै ।
करवावै नहिँ करै कछु, द्वन्द रहित पुर में बसै ॥

---

* जितेन्द्रिय पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को मन से त्यागकर सुखपूर्वक रहता है । वह जानता है, यह नौ द्वार वाला पुर है, इसमें रहता हुआ देही न कुछ करता है, न करवाता है ॥१३॥

यह आत्मा प्राणियों के न कर्मों को रचता है, न कर्तापन को और न कर्मफल संयोग को ही बनाता है । यह सब तो स्वभाव से-प्रकृति से-हो रहा है ॥१४॥

हम साधारण लोग विवश होकर–अवश बनकर–कार्यों को करते हैं। सर्वप्रथम तो पूर्व जन्मकृत कर्मों की वासनाओं से आबद्ध होकर हम कर्मों को करते रहते हैं। कोई अहंकार में भरकर यह कहे कि मैं इस काम को तो करूंगा नहीं, इस काम को करूंगा, तो वह मूढ़ है, कर्म तो स्वभाव से–प्रकृति के द्वारा हो रहे हैं। हम प्रारब्ध कर्मों के वशीभूत होकर कर्म करते हैं। इन्द्रियाँ भी हमारे वश में नहीं हैं। जिह्वा भाँति-भाँति के रसों को चखना चाहती है, घ्राण सुगन्धों को सूँघने को उत्सुक है, नेत्र सुन्दर-सुन्दर रूप देखना चाहते हैं। कोई इन्द्रिय अपनी ओर खींचती है, दूसरी अपनी ओर। जैसे किसी व्यक्ति के पांच स्त्रियाँ हों, पांचों ने उसके लिये पृथक्-पृथक् पदार्थ बनाये हों। वह ज्यों ही आंगन में आया, कि एक ने उसका पल्ला पकड़ लिया मेरे घर चलो आज तुम्हें मेरे घर ही भोजन करना पड़ेगा। दूसरी ने उसका हाथ पकड़ लिया। वहाँ कैसे जाओगे, मेरे घर कढ़ी बनी है, वहाँ चलना पड़ेगा। तीसरी ने उसकी चुटिया पकड़ ली वाह जी! अच्छी रही, कल आपने मेरे घर आने का वचन दिया था, मेरे यहाँ चलना ही पड़ेगा। इसी प्रकार पाँचों उसे अपनी-अपनी ओर खींचती हैं। वह विवश बना उस खींचातानी में अपनी फजीहत करा रहा है।

मन अपना पृथक् ही आकाश में किला बना रहा है, मन अन्य कार्यों को करने को विवश कर रहा है। इस प्रकार जिसने अपनी इन्द्रियों को, अन्तःकरण को वश में नहीं कर लिया है, ऐसा अवशी पुरुष अपने को कर्ता मानकर भाँति-भाँति की यातनाओं को भोगता रहता है। कभी किसी के मन की कर देता है, कभी किसी के प्रतिकूल कर देता है। वह भी बेचारा क्या करे वह भी अवश है, विवशता वश उसे ऐसा करना पड़ता है। इसीलिये नानायोनियों में घूमता हुआ भाँति-भाँति के क्लेश उठाता रहता है।

इसके विपरीत जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है, कि आत्मा तो अकर्ता है, असंग है, निर्लेप है। ये जो कार्य हो रहे है, ये सब प्रकृति की प्रेरणा से अपने आप हो रहे है। मैं इन्द्रियो के अधीन नही, किन्तु ये इन्द्रियाँ ही मेरे अधीन है, मैं अन्तःकरण के वशीभूत नहीं, किन्तु मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार मेरे ही अधीन हैं, इन सबको मैं वश में रखूँगा। कर्म इन्द्रियो से होते है, तो होते रहे। उनके दुःख सुख का मैं भोक्ता नही, तो इन्द्रियो और देह के द्वारा किये हुए कर्मों का आत्मा फलभोक्ता नही होता। जैसे कोई कारखाना है, उसमें सैकड़ों आदमी काम कर रहे है, अपने-अपने कामों में सब तत्पर हैं। जब तक कोई व्यक्ति अपने को उस कारखाने का स्वामी समझता है, तब तक हानि लाभ सुख-दुख दोनों का भागी वह स्वामी ही होता है। कारखाना तो चल ही रहा है, कर्मचारी कार्य कर रहें है; किन्तु हानि होने पर अपने को स्वामी समझने वाले को ही दुख होता है, जब कारखाने का स्वामी अपना स्वामित्व त्याग देता है। समस्त अधिकार कर्मचारियों को ही सौंप देता है, वास्तव में वे ही वस्तुओं के उत्पादक है, तो कारखाना तो पूर्ववत् ही चलता है, उत्पादन भी पहिले के ही भाँति होता है, किन्तु वह स्वामी अब सुख से सोता है, उसे कोई चिन्ता नही। हानि लाभ का सुख-दुख कर्मचारियों के संघ को ही होता है। काम सब होते हुए भी वह न अपने को करने वाला मानता है, न कराने वाला। वह काम भी जैसे पहिले करता था, वैसे ही करता भी है, कार्यालय में जैसे पहिले बैठता था वैसे ही बैठता है, कर्मचारियों के प्रश्नों का उत्तर भी वह जैसे पहिले देता था, वैसे देता है। उसने शरीर से कर्म छोड़े नही हैं, किन्तु मन से उसने कर्तृत्वाभिमान को हटा दिया है। इसी प्रकार कर्मयोगी उसी

प्रकार कर्म करता रहता है, जैसे ज्ञान न होने के पूर्व आसक्ति सहित काम किया करता था, अथवा अन्यकर्मासक्त मनुष्य जैसे कार्य करते है। अब जब उसे ज्ञान हो गया है, कि मै कर्ता नही, कर्म तो गुणों के संहात से प्रकृति द्वारा होते रहते हैं, तो वह सब कर्मों का मन से त्यागकर देता है। अब उसे न कर्म करने का आग्रह है न कर्म त्यागने का ही आग्रह है। शरीर से कर्म हो रहे है। वह मन से अपने को करने कराने वाला न मानकर साक्षीरूप से सब कर्मों को होते हुए देख रहा है। जैसे कारखाने के नौ दरवाजे हैं, किसी दरवाजे से सामान जा रहा है, किसी से निकल रहा है। नौ दरवाजे खुले हुए हैं। समय पर कोई दरवाजा बन्द हो जाता है, कोई आठो प्रहर खुला ही रहता है। ज्ञानी पुरुष सामान आ जाय तो उसे हर्ष नहीं, निकल जाय तो उसे विशाद नहीं। वह इन्द्रियों को बाहर भीतर के कर्मचारियों को अपने शासन में रखता हुआ भी अपने को अकर्ता ही अनुभव करता है। इस शरीर रूपी कारखाने में ९ दरवाजे हैं। दो आँख के द्वार, दो नाक के दो कान के। ६ हुए एक मुख का और दो नीचे के मल और मूत्र के। मुख मे कच्चा माल भीतर जाता है। नाक के द्वारों से श्वास प्रश्वास आती जाती है। नेत्रों से प्रकाश निकलता है, कान से शब्द भीतर जाता है। मूत्रेन्द्रिय से मूत्र तथा वीर्य निकलता है, मल द्वार से मल बाहर आता है। वायु जाने के बहुत से छोटे-छोटे झरोखे-रोमकूप हैं, इनसे स्वेद—पसीना—आदि निकलता है। अज्ञानी तो इन कर्मों को अपना किया हुआ मानता है, अतः दुःख उठाता है। ज्ञानी समझता है, ये द्वार तो खुले हुए हैं, समय पर सामान भीतर चला जाता है, समय से अपने आप उदर के यन्त्रों से पक-पककर अपने-अपने स्थानों में बँट जाता है, फालतू निकल जाता है, इसमें मेरा अपना कर्तृत्व क्या है। ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने

पर वह सुख का अनुभव करता है। अपने को कर्ता मानने में ही दुख है और अकर्ता मानने में ही परमानन्द है। इन्द्रियों के वशीभूत होने में ही दुख है और इन्द्रियों का निग्रह करके उन्हें अपने वश में करके रखना यही साधक का लक्ष्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कर्मयोगी को क्या सोचते हुए कर्म करते रहना चाहिये, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! शारीरिक कर्म तो किसी से छूटते ही नहीं। आँख जब तक है, तब तक देखोगे ही, कान जब तक हैं, तब तक सुनोगे ही, नाक जब तक है, तब तक श्वास प्रश्वास लोगे ही, मुख जब तक है, तब तक बोलोगे ही, कुछ न कुछ भोजन करोगे ही। मलमूत्र द्वार जब तक है, तब तक किसी भी समय मल मूत्र विसर्जन करोगे ही, इसलिये शारीरिक कर्म न कभी छूटते हैं न उन्हें छोड़ना ही चाहिये। हाँ मन में जो कर्तापने का अभिमान है, उसे त्यागकर उस कर्तापने से संन्यास लेकर इन्द्रियजित ज्ञानी पुरुष केवल इन्द्रियों द्वारा कर्मों का करता रहे और मन में यह सोच ले कि यह जो शरीर है, यह ९ द्वार वाली एक धर्मशाला है, इसमें मैं सदा के लिये नहीं, कुछ काल के लिये आकर ठहर गया हूँ। इसकी स्वच्छता तो मुझे रखनी ही होगी, झाड़ू बुहारू तो देनी ही पड़ेगी। पर मैं इस धर्मशाला का न बनाने वाला हूँ न स्वामी हूँ, मैं तो पथिक हूँ, संयोग से आकर इसमें ठहर गया हूँ। न मैं कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ। ऐसा सोचकर जो धर्मशाला को स्वच्छ बनाकर रहेगा, वह सुखी रहेगा। जो उसमें व्यर्थ में कर्तापने का झूठा अभिमान कर लेगा, उसे चिन्ता, दुख ग्लानि, वेदना आदि उठानी पड़ेगी।

अर्जुन ने पूछा—इस शरीर रूपी धर्मशाला में रहते हुए क्या

सोचे ? नौकर-चाकर जो पूछकर या बिना पूछे काम कर रहे हैं, उनके साथ कैसा वर्ताव करे ?"

भगवान् ने कहा—"यही सोचता रहे, कि यह जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, यह न कर्मों को करता है, न इसमें कर्तापन ही है। जब कर्मों की रचना ही नहीं करता तो फिर कर्मों के फलों के भोग का तो प्रश्न ही नहीं, क्योंकि फल का भोक्ता तो कर्ता ही होता है। आत्मा अकर्ता है, अभोक्ता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तो फिर ये जो संसार में देहादि निरन्तर कर्म होते रहते है, इन्हें कौन करता है।"

भगवान् ने कहा—ये तो त्रिगुणों के संहात से प्रकृति द्वारा ही कर्म हो रहे हैं। अहंकार वश ही प्राणी अपने को कर्ता मान बैठता है स्वभाव से सब कर्म हो रहे हैं। जगत् का व्यापार चलते रहना यही स्वभाव है इसी को प्रकृति कह लीजिये। शरीर रूपी धर्मशाला में रहते हुए यही समझे कि यहाँ के सब काम नियम से हो रहे हैं। समयानुसार हाँ ना कह दिया करे। जो हो रहा है उसे साक्षी रूप से देखता रहे।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! जब आत्मा कर्ता नहीं, तो जीव मोह में क्यों फँस जाता है, क्यों नाना योनियों में भटकता फिरता है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के ऐसा प्रश्न करने पर जगदाधार सच्चिदानन्द आनन्दघन स्वरूप परमात्मा प्रभु श्री कृष्णचन्द्र जी हँसे और फिर अर्जुन को जो कुछ इसका उत्तर दिया उसे मैं आपसे आगे कहूँगा। आप इस पावन प्रसंग को दत्तचित्त से श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

करता ईश्वर नहीं रहै निरद्वन्द्व निरालो।
सदा रहे निरलेप निरंजन नित्य विचारो॥
करतापन नहिँ करै बनावै करता नाहीं।
करमनि कूँ नहिँ करै फँसै नहिँ करमनि माहीं॥
नहीं करै संयोग फल, करमनि को जो बनि गयो।
सब स्वभाव आधीन है, सब स्वभावतैं है रह्यो॥

अज्ञान से ज्ञान ढक गया है इसी से प्राणियों को मोह हो गया है

[८]

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥❀

(श्री भग० गी० ५ अ० १५, १६ श्लोक)

छप्पय

विभु विश्वंभर ब्रह्म जगत में व्यापि रह्यो है ।
कहैं पुरान महान वेद हू गाइ रह्यो है ॥
पुण्य करम नहिँ लेइँ न उनकूँ प्रभु स्वीकारै ।
ग्रहन पाप नहिँ करैं न पापिनि जगत् निकारै ॥
ज्ञान ढक्यो अज्ञान ने, चकाचौंध सबई भये ।
मोहित अज्ञानी भये, बौरे मूरख बनि गये ॥

❀ वह विभु परमात्मा न तो किसी के पाप को न किसी के सुकृत को ग्रहण करता है । अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढक गया है इसी से जीव मोहित हो जाते हैं ॥१५॥

किन्तु जिनके मन का अज्ञान, ज्ञान के द्वारा नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान उस परब्रह्म को उसी प्रकार प्रकाशित कर देता है जैसे उदय होने पर सूर्य सब पदार्थों को प्रकाशित कर देता है ॥१६॥

शास्त्रों में कौन कर्म करता है, कौन कराता है, इस विषय में भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये गये है। कोई कहते—'सुख-दुख देने वाला कोई दूसरा नहीं। अपना आपा ही अपना मित्र है, अपनी आत्मा ही शत्रु है। "जैसी करनी वैसी भरनी।" कोई कहते है—सब प्रारब्ध के अधीन है। प्रारब्ध के अनुसार जैसा सुख-दुख होने वाला होता है, वैसे ही सब साधन उपस्थित हो जाते हैं। भवितव्यता के आगे किसी का चारा नहीं। जैसा होने वाला होता है, मनुष्य हठपूर्वक-इच्छा न रहने पर भी प्रारब्ध वश वहाँ पहुँचकर किसी अव्यक्त प्रेरणा से कार्य करने लगता है।"

कोई कहते हैं—सब कुछ स्वभाव से ही हो रहा है, जिसकी जैसी प्रकृति होती है—जैसा स्वभाव होता है-उसी के अनुसार अपने आप स्वभावानुकूल कार्य में प्रवृत्त होता है, जब लोग कर्मों के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं। गोप प्रतिवर्ष वर्षा के पश्चात् कार्तिक की पूर्णिमा को इन्द्रयाग किया करते थे, उनका विश्वास था कि मेघों का स्वामी इन्द्र है, यदि इन्द्रकी पूजा करेंगे, तो इन्द्र प्रसन्न होकर अच्छी वर्षा करेगा। जिससे घास तथा अन्न होगा,नदी तालाबों में जल भर जायगा। अन्त को मनुष्य खायेंगे। तृण घास से गौओ का पेट भरेगा, पानी से सबका जीवन निर्वाह होगा। सदा से इन्द्र-को ही पानी दाता मानकर गोप उन्हें पूजते थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जो भी कारण रहा हो इन्द्र की पूजा बन्द करा दी। उन्होंने गोपों को कर्मवाद का उपदेश दिया। अपने बाबानन्दजी से भगवान् ने कहा—"बाबा तुम क्या इन्द्र की पूजा करते हो, इन्द्र पानी कहाँ से लावेगा। इन्द्र जीवन देने वाला कौन होता है, प्राणी तो अपने कर्म के अनुसार-ही उत्पन्न होता है और कर्म के अनुसार ही मर जाता है। सुख, दुख भय, शोक,

मंगल तथा अमंगल सब कर्म के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। मान लो कोई इन्द्र आदि ईश्वर है भी तो वह भी तो कर्मानुसार ही फल देगा। यह थोड़ा ही है कि वह अपनी इच्छा से जिसे जितना चाहे उतना दे दे, यदि वह ऐसी मनमानी घर जानी करता है, तो उसमें विषमता का दोष आ जायगा। उसका ईश्वरपना समाप्त हो जायगा। इसलिये ईश्वर भी कर्मानुसार ही फल देता है। जो कर्म नहीं करते, उसकी सहायता ईश्वर भी नहीं करता। जब सब कर्मानुसार ही हो रहे हैं, तो हमें बेचारे इन्द्र से क्या लेना देना। वे हमारे पूर्वजन्मकृत संसार-प्रारब्ध-को तो बदल ही नहीं सकते। सब कर्मानुसार स्वभाव में-अपनी प्रकृति में-वर्त रहे हैं। कर्मानुसार ही किसी से शत्रुवत् किसी से मित्रवत किसी से उदासीनवत् व्यवहार प्राणी करते हैं। इसलिये कर्म ही प्रधान है। उसे ही चाहे गुरु कहो उसी को ईश्वर कह लो।

नन्दजी ने पूछा—"तब हमें करना क्या चाहिये ? पूजा किसकी करनी चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। जिस वर्ण की जिस कर्म द्वारा आजीविका चलती है, उस वर्ण वालों को उसी की पूजा करनी चाहिये। जैसे ब्राह्मणों को वेद की पूजा करनी चाहिये उसी के अध्ययन-अध्यापन रूप कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। क्षत्रिय को पृथ्वी की पूजा करनी चाहिये उसी का पालन पोषण संरक्षण करना चाहिये। वैश्यों को व्यापार वाणिज्य से आजीविका चलती है उन्हें लक्ष्मी का पूजन करना चाहिये। शूद्रों की सेवा से आजीविका चलती है उन्हें चातुर्वर्ण्य की सेवा रूप पूजा करनी चाहिये। वैश्यों की चार वृत्तियाँ है, खेती, व्यापार, गोरक्षा और व्याज। हम

केवल गोरक्षा ही करते हैं। शेष तीन काम अन्य वैश्य करते हैं। हमारी गौओं को घास, पानी, ईंधन, लकड़ी, फल फूल सब यह गिरिराज गोवर्धन देता है इसलिये इस गोवर्धन पर्वत को ही हम सबको मिलकर पूजा करनी चाहिये।"

यह भगवान् ने निष्काम कर्मयोग न बताकर केवल वर्णाश्रम धर्मानुसार कर्मयोग को ही शिक्षा दी। कर्म को ही श्रेष्ठ सिद्ध किया।

कहीं-कहीं कहा गया है—"सब कर्मों का कराने वाला ईश्वर ही है। ईश्वर जैसा कराना चाहता है, जीव वैसा ही कर्म करता है। जिसे ईश्वर ऊर्ध्वगति देना चाहता है-ऊपर ले जाना चाहता है, उससे शुभ कर्म कराता है। जिसे वह नीचे ले जाना चाहता है उससे अशुभ कर्म कराता है। यह जीव अपने सुख-दुख के भोग में अस्वतन्त्र है। यह अज्ञानी जीव ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक में जाता है।" यहाँ पर सब कर्तृत्व ईश्वर के ही मत्थे मढ़ दिया है। फिर तो जीव का कोई कर्तव्य ही नहीं रह जाता, किन्तु भगवान् ने आगे गीता में ही कहा है—"यद्यपि जीव हृदिस्थ ईश्वर की ही प्रेरणा से कार्य करता है, किन्तु फिर भी जीव में भक्ति करने की-शरण में जाने की-अपनी निजी इच्छा भी है इसलिये परमशान्ति की इच्छा वाले जीवों को भगवान् की ही शरण में जाना चाहिये। शरणागति से ही परमशान्ति संभव है, किन्तु यहाँ भगवान् एक दूसरी बात कहते हैं। जीव अज्ञान के कारण-माया के वशीभूत होकर-अविद्या के कारण-मोह को प्राप्त होता है। अतः अज्ञान को नाश कर दो ज्ञान स्वतः प्रकाशित हो जायगा। ज्ञान के आलोक में तुम्हें कौन वस्तु कहाँ पर है, अपने आप दिखायी देने लग जायगा।

बगीचे में फूल खिल रहे हैं, वे नाना रंगों के हैं, किन्तु वहाँ

अन्धकार है। हमें सब वस्तुएं दिखायी नहीं देती। एक काली-सी धुन्ध ही धुन्ध दृष्टिगोचर हो रही है। जहाँ उस स्थान पर सूर्य का, चन्द्रमा का या अग्नि का प्रकाश फैल गया तो सब फूलों के रंग स्पष्ट दिखायी देने लगेंगे। कौन ग्रहण करने योग्य है कौन त्याज्य है, यह प्रकाश फैलने पर ही देखा जा सकता है। अतः बोध के लिये-आत्मज्ञान के लिये-मोहरूपी अज्ञान के नाश के लिये ज्ञानियों-गुरुओं-आचार्यों की शरण में जाना चाहिये। मुख्य कार्य है अज्ञान का नाश। गौ के गोबर के बने कंडे में अग्नि व्याप्त है, किन्तु उसके ऊपर राख जम गयी है, अग्नि दिखायी नहीं देती। तुमको न दीखने वाली अग्नि को प्रकाशित करने के लिये दूसरे स्थान से अग्नि लाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उस राख को झाड़ दो, उसमें से स्वतः अग्नि-अपने आप-चमकने लगेगी।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कि कर्मों में जीव को कौन प्रवृत्त कराता है। तब इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—अर्जुन! वास्तविक बात तो यह है, ईश्वर को क्या पड़ी है, कि एक से पाप करावे, दूसरे से पुण्य करावे एक को ऊर्ध्वगति दे, दूसरे को अधोगति प्रदान करावे। बहुत से जीव पाप करते हैं, बहुत से जीव पुण्य कर्म करते हैं। भगवान् न तो पाप वालों का पाप लेते हैं, न पुण्य वालों के पुण्य को ही ग्रहण करते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"फिर इस जीव को मोह ही कैसे गया? यह मोह में पड़कर ऐसे-ऐसे कर्मों को करता क्यों है?"

भगवान् ने कहा—अर्जुन! जीव में ज्ञान की ज्योति स्वाभाविक है। तुम चींटी को भी दबाओ तो, अपनी रक्षा के लिये तुम्हें काट लेगी। प्राणिमात्र को भले-बुरे को कुछ न कुछ ज्ञान रहता

ही है। ज्ञान और अज्ञान का जोड़ा है। जीव का जो स्वाभाविक ज्ञान है, वह अज्ञान से ढक जाता है। बस, अज्ञान से ढक जाने से ही जीव मोह में पड़कर अंट-सट काम करने लगता है।

अर्जुन ने पूछा—"इस अज्ञान का निवारण कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—बस, इसी का नाम तो साधन है। इसी को तो पुरुष का अर्थ अर्थात् पुरुषार्थ कहते है। आत्मज्ञान की इच्छा वाले का ही नाम जिज्ञासु है। जीव चार प्रकार के होतेहै। १-नित्य २-मुक्त ३-बद्ध और ४-मुमुक्षु। शास्त्र के उपदेश नित्य जीवों के लिये नहीं हैं मुक्त तो फिर मुक्त ही ठहरे। बद्ध जीवों के लिये भी शास्त्र के उपदेश नही। वे तो बद्ध हैं ही। समस्त उपदेश, समस्त साधन मुमुक्षु जीवों के ही निमित्त हैं। अतः मुमुक्षु पुरुष को अज्ञान के हटाने का प्रबल प्रयत्न करते रहना चाहिये। आत्मज्ञान से अज्ञान का नाश अपने आप हो जायगा। चारों ओर अंधकार व्याप्त है आप जलती हुई मसाल लेकर आओ, तो आपको डंडा मारकर अन्धकार को भगाना नहीं पड़ेगा। अन्धकार वहाँ का वहीं अपने आप-स्वतः ही नष्ट हो जायगा। आप मसाल लेकर कोने-कोने में खोजो, तुम्हें कही भी छिपा हुआ अंधकार दिखायी न देगा। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान होने पर अज्ञान का लोप अपने आप हो जायगा। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष के सम्मुख यह ज्ञान सूर्य के समान आत्मतत्त्व को प्रकाशित कर देगा। उसे अपने स्वरूप का स्वतः ही बोध हो जायगा।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! हम कैसे जाने इसे आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया है। उनकी वृत्ति कैसी हो जाती है, उन आत्मज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में हमें बताने की कृपा करें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन ने जब आत्मज्ञानी पुरुष

के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् ने जैसे आत्मज्ञानी के लक्षण बताये उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

जिनिको यह अज्ञान आतमा तत्व ज्ञान तैं।
है जावै जब नष्ट दूर हो मोह मान तैं॥
है अज्ञान अनादि सिद्ध तिहि ज्ञान भगावै।
है प्रबोध ततकाल नहीं मोहित कहलावै॥
ज्ञान-सूर्य जब उदित है, तम अज्ञान मिटाइकें।
बोध यथार्थ कराइकें, सब कछु देइ दिखाइकें॥

समदर्शी का ही नाम पंडित है

[६]

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, १७, १८ श्लो०)

छप्पय

आत्माई सरवस्व सदा ज्ञानी मानै यह ।
मन कूँ करि तदरूप आतमा में राखै वह ॥
करै बुद्धि तदरूप नहीं कछु अन्य विचारै ।
है जावै तद्विष्ट एक ही ब्रह्म निहारै ॥
ऐसे ज्ञानी पुरुष जो, ब्रह्म परायन अघ रहित ।
निश्चय पावैं परमपद, सतचित आनँद होहिं रत ॥

---

* जिनकी बुद्धि ब्रह्ममय है, जिनका मन तद्रूप है, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, जो तत्परायण हैं, जिन्होंने ज्ञान द्वारा पापों को धो डाला है, ऐसे पुरुष परमगति को प्राप्त होते हैं ॥१७॥

समदर्शी पंडित वही है, जो विद्या विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, हाथी में, कुत्ते में, और कुत्ता खाने वाले श्वपच में एक दृष्टि रखता है ॥१८॥

यह संसार वास्तव में बाँधने वाला नहीं। बन्धन का कारण तो अपना मन है। अपने मन की वृत्ति जैसे स्थान पर लगेगी। मन वैसा ही हो जायगा। मन तो स्वच्छ वस्त्र के सदृश है, उसे जैसे रंग में रंग दोगे वह वैसे ही रंग का दीखने लगेगा। संसार में शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पांच तन्मात्रायें हैं। एक-एक तन्मात्रा एक-एक इन्द्रिय का विषय है। जैसे शब्द है, यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, रूप है, चक्षु इन्द्रिय का विषय है। रस है, रसना इन्द्रिय का विषय है, गन्ध है, घ्राणेन्द्रिय का विषय है। स्पर्श है, यह त्वक् इन्द्रिय का विषय है। संसार विषय वासना युक्त है भगवान् विषय वासनाओं से रहित हैं। मन की वृत्तियाँ यदि संसारी विषयों में आसक्त रहेंगी, तो मन संसारमय हो जायगा। बारम्बार संसार में जन्म लेता रहेगा, मरता रहेगा।

आत्मा शब्द के अनेक अर्थ हैं। शरीर का भी नाम आत्मा है, अन्तःकरण को भी आत्मा कहते हैं और परमात्मा का बोध भी आत्मा शब्द से होता है, यदि देह में आत्मबुद्धि हो गयी है, तो ऐसे देहात्म बुद्धि वाले व्यक्ति को बारम्बार देह ग्रहण करना पड़ेगा, उसे अन्तःकरण चतुष्टय वाले शरीर में बार-बार आना पड़ेगा।

जो जिसका निरन्तर चिन्तन करता रहता है, उसके मन की स्थिति भी उसी में सदा स्थित रहती है। एक आदमी था, वह अनाज तोलने का काम करता था, स्वप्न में भी वह एकाराम दोईराम, तीनहीराम, चार ही राम! ऐसे गिनती गिना करता था, क्योंकि उसे गिनने का अभ्यास था, सोते समय उसकी स्थिति उसी में बनी रहती थी। इसलिये संसार में आसक्त पुरुषों की स्थिति भी संसार में ही सदा बनी रहती है और वे सदा नाना योनियों में इस संसार में आते-जाते रहते हैं। संसारी लोगों की

जिस वस्तु में आसक्ति हो जाती है उस वस्तु को प्राप्त करने का वे सतत प्रयत्न करते रहते हैं। अपनी प्राप्तव्य वस्तु के चिन्तन में वे तदाकार हो जाते हैं। कामी की प्राप्तव्य वस्तु अपने मनोनुकूल कामिनी है; पुत्रार्थी की प्राप्तव्य वस्तु पुत्र है, धनार्थी की प्राप्तव्य वस्तु धन है। यशार्थी की प्राप्तव्य वस्तु यश है। अतः कामिनी, पुत्र, धन और यश ये सब संसारी वस्तुएँ हैं, जिनका मन इन संसारी वस्तुओं में फँस गया; तो उनका संसार बंधन कभी समाप्त नहीं होता। बारबार ये वस्तुएँ प्राप्त होती रहती हैं, बारबार इनका वियोग होता रहता है, फिर उन वस्तुओं की प्राप्ति का प्रयत्न करता रहता है। इसका नाम संसृति है। बारम्बार संसार में आना जाना, जन्म लेना तथा मरना है। ये संसार चक्र अज्ञान के कारण अज्ञानी पुरुषों को ही होता है, किन्तु जिन्होंने ज्ञान की तीक्ष्णधारा से अज्ञान का नाश कर दिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषों को संसार बंधन नहीं होता, क्योंकि उनके अन्तःकरण की वृत्ति संसार में न लग कर परमात्मा में ही लगी रहती है। वे आत्मा शब्द से शरीर तथा अन्तःकरण को ग्रहण न करके परमात्मा को ही आत्मा समझते हैं। उनकी स्थिति संसारी विषयों में न रहकर परमात्मा में ही बनी रहती है। उनकी प्राप्तव्य वस्तु संसारी भोग न होकर एक मात्र परमात्मा ही होते हैं। उनके मन में किसी प्रकार का कल्मष, मल, पाप, ज्वर अथवा अघ नहीं होता। वे निष्पाप यतिजन चरम शरीर वाले होते हैं, अर्थात् यह उनका अन्तिम शरीर होता है। इस शरीर के त्यागने के अनंतर वे फिर शरीर धारण नहीं करते। ज्ञान हो जाने पर प्रारब्धवश जब तक उनका शरीर रहता है, तब तक वे छोटे बड़े ऊँच नीच सभी प्राणियों में उसी परमात्मा का दर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि परमात्म मय बन जाती है, वे सर्वत्र उन्हीं की छटा निहारते

रहते हैं। ऐसे समदर्शी योगी इस विषम संसार में विरले ही होते हैं। उनके दर्शनों से ही कल्मष कर जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् आत्मज्ञानी पुरुष के लक्षण बता रहे है भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! संसारी लोगों में और आत्मज्ञानी पुरुष में आकाश पाताल का, अन्धकार प्रकाश का-सा अन्तर रहता है। संसारी लोगों के अन्तःकरण की वृत्ति संसार में रहती है, ज्ञानी पुरुष के अन्तःकरण की वृत्ति परमात्मा में ही रहती है। संसारी लोग देह को ही आत्मा मानकर कार्य करते है। ज्ञानी पुरुष परमात्मा को ही अपनी आत्मा समझता है। अज्ञानी पुरुषों की स्थिति संसारी विषयों में रहती है, ज्ञानी पुरुष की स्थिति सदा परमात्म तत्त्व में ही बनी रहती है। अज्ञानी पुरुषों की प्राप्तव्य वस्तु संसारी विषय ही है, किन्तु ज्ञानी का प्राप्तव्य स्थान परमात्मा ही है, क्योंकि पाप या कल्मष तो अज्ञान से ही होता है। वे मोक्ष के लिये यत्न करने वाले यति परब्रह्म का ही मनन करने वाले मुनि, ब्रह्म का ही चिंतन करने वाले ब्रह्मण, ज्ञान का ही अनुष्ठान करने वाले ज्ञानी पुरुष फिर शरीर धारण नही करते। शरीर की प्राप्ति तो सकाम कर्मों द्वारा वासनाओं से होती है। अज्ञान के कारण ही हृदय में ग्रन्थि पड़ जाती है। ज्ञान से उनकी वह हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, समाप्त हो जाती है। अज्ञान जनित जो संशय है, वह उन ज्ञानियों का नष्ट हो जाता है वे संशय रहित हो जाते हैं। उनकी संसार चक्र से मुक्ति हो जाती है, वे संसार रूपी चक्र में पुनः नहीं फंसते।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! ज्ञान हो जाने पर फिर ज्ञानी का शरीर नही रहता क्या? ज्ञान होते ही शरीर नष्ट होकर ज्ञानी तुरन्त मुक्त हो जाता है क्या?"

भगवान् ने कहा—देखो, ज्ञान हो जाने पर संचित और क्रियामाण कर्म जल जाते हैं, उनका नाश हो जाता है। हाँ प्रारब्ध कर्मों का अन्त तो शरीर के अन्त होने पर ही होता है। ज्ञान हो जाने पर भी बहुत से ज्ञानी जीवन्मुक्ति अवस्था में चिरकाल तक शरीर धारण करते रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—उनको तो कोई वासना नहीं, इच्छा नहीं, कुछ प्राप्त वस्तु नहीं, फिर उनको शरीर धारण करने की आवश्यकता क्या है?

भगवान् ने कहा—यह सत्य है, उन्हें कोई कर्तव्य नहीं अकर्तव्य नहीं। विधि नहीं, निषेध नहीं। कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं। फिर भी जब तक प्रारब्ध कर्म है तब तक उनके भोग के लिये शरीर रहता ही है।

अर्जुन ने पूछा—प्रारब्ध कर्मों के भोगने को जो कर्म शरीर से होते हैं, उनमें ज्ञानी की आशक्ति नहीं होती क्या? बिना आसक्ति से कर्म कैसे होते होंगे?

भगवान् ने कहा—"ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी को शरीरपने का अभिमान होता ही नहीं। प्रारब्ध के वशीभूत होकर कर्म अपने आप पूर्वकर्मानुसार होते रहते हैं जैसे कुम्हार अपने चाक में डन्डा डालकर उसे बड़े वेग से घुमाता है, कुछ समय के पश्चात् डन्डे को निकाल लेता है, फिर बिना डन्डा घुमाये चाक अपने आप तब तक घूमता रहता है, जब तक वह दुबारा डन्डा न डालकर न घुमावे। दुबारा डंडा न डालेगा तो वह थोड़ी देर तक तो बिना डंडा के ही घूमता रहेगा, अन्त में उसका घूमना अपने आप बन्द हो जायगा। यह प्रारब्ध रूपी डंडा ही इस शरीर रूपी चाक को घुमा रहा है ज्ञान हो जाने पर दुबारा डंडा नहीं लगाया जाता किन्तु जब तक पुराने डंडे का वेग समाप्त

न होगा, तब तक बिना डंडा लगाये भी चाक घूमता ही रहेगा। इसलिये प्रारब्ध कर्मों तक यह शरीर बना ही रहता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"हम कैसे जाने यह जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षण कृपा करके मुझे बता दें।"

भगवान् ने कहा—"देखो, जीवन्मुक्त पुरुष की मोटी पहिचान यह है, कि वह समदर्शी हो जाता है। यह उत्तम है, यह मध्यम है, यह अधम है यह उसकी भेद बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। ज्ञान दृष्टि से वह सब में समान रूप से ब्रह्म का दर्शन करता है।"

संसार में सभी वस्तुओं में जीव है। निर्जीव या जड़ कोई पदार्थ नहीं। हाँ कहीं जीव व्यक्त है, कहीं अव्यक्त है। जो घोर तमोगुणी है, जैसे पर्वत आदि वहाँ जीव-प्राण संचार दीखता नहीं। जहाँ प्राणों का संचार घटना बढ़ना, सूखना हरा होना दीखता है, ऐसे जीव पाषाण आदि से श्रेष्ठ है। जैसे वृक्ष आदि। उन वृक्ष आदि प्राणधारियों से भी हाथी, कुत्ता आदि जो थोड़ा बहुत बुद्धि से काम लेते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। उन बुद्धि जीवियों से भी मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्यों में भी जो ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए हैं वे श्रेष्ठ हैं। उन जाति के ब्राह्मणों से भी वे श्रेष्ठ ब्राह्मण वह है जो विद्वान् है। उन विद्वान ब्राह्मणों में भी सर्वश्रेष्ठ वह ज्ञानी है जो विद्या विनय से सम्पन्न हो। उससे श्रेष्ठ संसार में कोई नहीं।

जीवन्मुक्त पुरुष सबसे श्रेष्ठ विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण में मध्यम जो गौ आदि पशु हैं अधम तमोगुणी जो हाथी, कुत्ता, चांडाल आदि हैं इन में कोई भेद भाव नहीं करता। उन सब में वह भगवान् को ही देखता है। यही जीवन्मुक्त पुरुष की विशेषता है। उसकी विषम दृष्टि समाप्त हो जाती है। शरीर की

क्रिया तो उसकी अपने शरीर संस्कार के समान ही होती है, किन्तु उसकी दृष्टि में से भेद भाव सर्वथा हमाप्त हो जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! स्मृति शास्त्रों में तो सर्वथा भेद ही भरा पड़ा है। अमुक के हाथ का न खाना चाहिये, अपने से छोटे को नमस्कार न करना चाहिये। अपने से बड़ों को देखकर उठना चाहिये। पूज्य की पूजा करनी चाहिये। अपूज्यों की पूजा न करनी चाहिये। सभी वेद शास्त्र उत्तम, मध्यम, नीच का उनसे यथा योग्य व्यवहार का उपदेश करते है, फिर ज्ञानी ऐसा शास्त्र विरुद्ध आचरण क्यों करता है। वह ऊँचों में नीचों में एक सी दृष्टि क्यों रखता है ? क्या शास्त्र की आज्ञा उस पर लागू नहीं होती ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन की इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् जीवन्मुक्त पुरुष के और लक्षणों का जैसे वर्णन करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

ज्ञानी कबहूँ—जीवमात्र में भेद न मानें।
आत्मा एक समान सबनि में व्यापे जानें॥
हाथी गज समान दीर्घ लघु भेद नहीं है।
होवे चाहे श्वान आतमा एक कही है॥
ज्ञानीजन विद्या विनय—युक्त विप्र चण्डाल में।
भेदभाव मानत नहीं, समदर्शी सब काल में॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (१)

(१०)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥*

(श्री० भग० गी० ५ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

जिनिको मन समभाव माहिँ नित होहि अवस्थित ।
देह त्यागिकें नहीं करैं जय जगकूँ जीवित ॥
शोक मोह तैं रहित रहैं सब में प्रभु जानें ।
जीवमात्र में दोष न देखें सब सम्मानें ॥
ब्रह्म सच्चिदानंदघन, सम है अरु निरदोष है ।
रहैं अवस्थित ब्रह्म में, तिनिहिँ आत्मसन्तोष है ॥

---

* जिनका मन समभाव मे स्थित हो गया है । उन्होने इस लोक मे ही संसार को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है । इसलिये समदर्शी ब्रह्म में ही स्थित है ॥१९॥

जो प्रिय को पाकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय को पाकर जिसे उद्वेग नही होता, ऐसा स्थिर बुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म में ही स्थित है ॥२०॥

विषमता ही बन्धन का कारण है, और समता से ही मुक्ति सम्भव है। बिना समभाव हुए मुक्ति सम्भव नहीं। आप जब तक नीचे रहेंगे तब तक आपको भान होगा, कि यह स्त्री है, यह पुरुष है। यह पापी है, यह पुण्यात्मा है। यह शत्रु है, यह मित्र है यह उदासीन है। किन्तु जहाँ आप बहुत ऊँचे पर्वत पर चढ़कर या बहुत ऊँचे उड़ते हुए वायुयान में बैठकर देखेंगे, तो आपका भेद-भाव दूर हो जायगा। वायुयान से नीचे राजपथ पर चलते हुए नर-नारी तुम्हें एक समान ही दृष्टिगोचर होंगे उनमें आप यह भेदभाव नहीं कर सकते कौन स्त्री है कौन पुरुष, कौन परिचित है कौन अपरिचित। कौन शत्रु है, कौन मित्र। सभी आपको समान रूप से सड़क पर रेंगते हुए, चलते हुए छोटे-छोटे जन्तु ही दिखायी देंगे। इसी प्रकार जब जीव माया मोह तथा अविद्या में ग्रसित होकर नीचे स्तर से देखता है, तो उसे जीवों में भेदभाव दिखायी देने लगता है। वही जब ज्ञान प्राप्त करके अविद्या का नाश करके ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त बन जाता है, तो उसका भेदभाव नष्ट हो जाता है, फिर चाहे वह निष्काम भाव से कर्म करता रहे, चाहे सब कर्मों से निर्मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरता रहे उसके ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा न पड़ेगी, वह समदर्शी बन जायगा।

एक ऋषिकुमार ने अपने गुरु से पूछा—महाराज ! हम राजर्षि जनक की बड़ी प्रशंसा सुनते हैं; वे जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी हैं। ब्रह्मज्ञानी होकर वे राजपाट के झमेले में क्यों पड़े रहते हैं। इतने भारी राज्य का शासन करते हुए वे समदर्शी कैसे हो सकते हैं।

गुरु ने कहा—अच्छा, चलो "हम तुम्हें राजर्षि की समता का दर्शन कराते हैं।" यह कहकर दोनों गुरु-शिष्य जनक की राज-धानी की ओर चले। रात्रि हो गयी थी। सब लोग शयन कर रहे

थे। द्वारपालों से ऋषि ने कहा—हमें महाराज से बहुत आवश्यक कार्य है; द्वारपाल जानते थे, ऋषि ब्रह्मज्ञानी हैं महाराज की सभा में आते जाते रहते हैं, ब्रह्मज्ञानियों के लिये राजमहल में कहीं रोक टोक नहीं थी। दोनों भीतर चले गये। अन्तःपुर में जहाँ महाराज राजमहिषी के साथ शैया पर शयन कर रहे थे, वहाँ दोनों पहुँचे। महाराज का अन्तःपुर शयन कक्ष बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित था। रत्नों के प्रकाश से वह कक्ष जगमग जगमग करके प्रकाशित हो रहा था। एक बहुमूल्य शैया पर महाराज अपनी राजमहिषी के साथ शयन कर रहे थे। उनका एक हाथ पलंग के नीचे लटक रहा था, दूसरा हाथ चंदन कुंकुम से चर्चित राजमहिषी के वक्षःस्थल पर विराजमान था। महाराज महिषी के वक्ष को धीरे-धीरे दबा रहे थे। शिष्य ने कहा—"भगवन्! किस विषयी के पास ले आये। यह तो संसारी भोग विलास में रत है, शीघ्र ही यहाँ से चलिये, ऐसा विषयी ब्रह्मज्ञानी भला कैसे हो सकता है।"

ऋषि ने शिष्य से कहा—"थोड़ी देर ठहरो तो सही समीप में जो यह आग जल रही है वहाँ से जलते हुए दो कोयले तो उठा लाओ।" शिष्य ने ऐसा ही किया। दो बड़े-बड़े प्रज्वलित कोयले उठा लाया। एक पात्र में रख कर।

गुरु ने कहा—"राजा के दूसरे पलंग से लटकते हुए हाथ में इन कोयलों को रख दो।"

शिष्य ने गुरु की आज्ञा का पालन किया। जलते हुए कोयले राजा के हाथ पर रख दिये। राजा बिना बाधा के उन कोयलों को भी उसी प्रकार दबाने लगा। तब गुरु ने कहा—राजा के लिये कुंकुमचन्दन से चर्चित राजमहिषी का वक्षःस्थल और प्रज्वलित अग्नि के अंगारे दोनों समान हैं; उनकी दृष्टि में दोनों

में कोई भेद नहीं। इसलिये ये राजर्षि जीवन्मुक्त समदर्शी हैं।

इसी प्रकार जड़ भरतजी को उनके भाइयों ने पके हुए खेत को रखाने के लिये उन्हें मंच पर बिठा दिया था, वही आनन्द से बैठे पक्षियों को देखते रहे। जब वृषल राजा का बलिपशु भाग गया, तो नौकर बलिपशु की खोज में आये और इन्हें बलिदान के लिये ले गये। बिना किसी प्रकार की आपत्ति किये वे उनके साथ चले गये। बलिदान करने वालों ने उन्हें स्नान कराया, लाल नये वस्त्र पहिनाये, बिना आपत्ति के सब कुछ करते गये। वे समझते थे, मेरी बलि होगी, किन्तु वे समदर्शी तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके आगे मिठाई रखी गयी मृत्यु सम्मुख प्रत्यक्ष दिखायी देने पर भी भर पेट मिठाई उड़ाई। जब पुरोहित खड्ग लेकर उनका बलिदान करने लगे तो सिर नीचा कर दिया। किन्तु देवी इतने भारी ब्रह्मज्ञानी के तेज को न सह सकी। इतने समदर्शी की बलि ग्रहण करने की तामसी देवी में शक्ति ही नहीं थी, उसने प्रकट होकर पुरोहित दस्युराज सब को मार दिया। ये महात्मा बिना हर्ष विशाद के वहाँ से चल दिये। जंगलों में विचरने लगे। उसी समय सिन्धु सौवीर देश के राजा की पालकी का कहार बीमार हो गया। कहारों के चौधरी ने इन्हें हृष्ट-पुष्ट देखकर कहारों के साथ इन्हें पालकी में लगा दिया, तो ये कहारों के साथ-साथ पालकी ढोने लगे। कैसी समता है। जीवन्मुक्त पुरुष यह नहीं देखते यह नीच है या ऊँच उनकी दृष्टि तो सभी में सम ही रहती है।

एक परमहंस जी रात्रि में विचरण कर रहे थे। उधर से कुछ चोर चोरी करने जा रहे थे। हृष्ट-पुष्ट परमहंस को देखकर बोले—"तुम कौन हो ?"

परमहंसजी ने कहा—जो तुम हो वही हम हैं।

चोरों ने कहा—तुम यहाँ जंगल में क्यों घूम रहे हो ?

परमहंस बोले—"जैसे तुम घूम रहे हो वैसे ही हम भी घूम रहे हैं।"

चोरों ने कहा—"हम तो चोर हैं, चोरी करने जा रहे हैं, तुम भी हमारे साथ चलोगे ?"

परमहंस ने कहा—"चलो।"

यह कह कर परमहंसजी चोरों के साथ चल दिये। एक गाँव में जाकर एक धनिक के यहाँ सेंद लगायी। "चोर लोग चोरी करने जाते हैं, तो कुछ तो भीतर घुस जाते हैं, एक दो को पहरे पर खड़ाकर जाते हैं, कि कोई शंका वाली बात हो, तो वह भीतर वालों को सचेत कर दे।" इन परमहंस को नया ही चोर समझकर इन्हें पहरे पर खड़ा कर दिया और एक सीटी इनके हाथ में देते हुए चोरों ने कहा—"कोई शंका हो, कोई आता हुआ आदमी दिखायी दे, तो तुम इस सीटी को बजा देना।"

परमहंसजी ने 'बहुत अच्छा" कहकर स्वीकार किया। वे ज्यों ही भीतर घुसे कि परमहंसजी सीटी बजाने लगे। चोर शीघ्रता से सेंद से निकलकर भागे। परमहंसजी भी उनके पीछे-पीछे भागे। दूसरे गाँव में फिर सेंद लगाई उनके घुसते ही परमहंसजी सीटी बजाने लगे। चोर तुरन्त निकल आये। चारों ओर देखकर बोले—"तुम बड़े खराब आदमी हो, न तो कोई आदमी आ रहा है, न कोई हमें देख ही रहा है। न कोई आशंका की बात ही है, फिर तुमने सीटी क्यों बजाई।"

परमहंसजी ने कहा—"भाई, सबका साक्षी, घटघटवासी परमात्मा तो सबके कामों को देख ही रहा है। चोरी जैसा कार्य करोगे तो नरक में नहीं जाओगे। नरक की आशंका तो सबसे बड़ी आशंका है। जिसका धन ले जाना चाहते हो, उसे भी तो

सचेत कर देना चाहिये।

परमहंसजी की इस समदर्शिता का उन चोरों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने चोरी करना सदा के लिये छोड दिया। इसीलिये कहते हैं समदर्शी के लिये सभी सम हैं, सभी बराबर हैं वह भेदभाव से रहित होकर स्वच्छन्द रीति से संसार का व्यवहार करता है, अथवा निर्द्वंद्व होकर पृथ्वी पर विचरण करता रहता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! तत्वदर्शी जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी महापुरुष के सम्बन्ध में बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"पार्थ! जिसका मन सम भाव में स्थित हो गया है उसे शरीर के अन्त होने के अन्तर मुक्ति प्राप्त होगी सो बात नहीं। वह तो इसी लोक में जीता हुआ ही मुक्त है। वह तो संसार पर विजय प्राप्त करके इसी संसार में विजय का झंडा गाड़कर जीते हुए ही मुक्ति रूपी परमानन्द का आस्वादन करता रहता है। उसे मुक्ति की प्रतीक्षा नही करनी पडती। मुक्ति तो उसके पीछे-पीछे हाथ जोड़ती हुई अनुनय विनय करती हुई घूमती रहती है। उसमें संसारी दोष रहते ही नही।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! संसार तो दोषों की खानि है। संसार में सर्वत्र विषमता ही विषमता है। इस विषम संसार में स्थित प्राणी उसके दोषों में लिप्त न हो, यह तो असंभव है। काजर की कोठरी में कैसा भी सुजान पुरुष बच बचकर जाय। कुछ न कुछ कालिख तो उसे लग ही जायगा। इसी प्रकार विषम संसार में स्थित प्राणी समदर्शी कैसे हो सकता है?

भगवान् ने कहा—अरे, अर्जुन जिसने ज्ञान के द्वारा अज्ञान को भगा दिया है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी पुरुष विषम संसार में स्थित न होकर वह तो सदा सर्वदा ब्रह्म में ही स्थित रहता है, उसकी

वृत्ति तो निरन्तर ब्रह्ममयी ही बनी रहती है। ब्रह्म में कोई भी दोष नहीं वह सदा सर्वदा निर्दोष है। ब्रह्म में कोई विषमता नहीं वह सदा सम है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जो निर्दोष सम ब्रह्म में स्थित रहता है उसका विषम संसार बिगाड़ ही क्या सकता है। वह तो जल में कमल के समान सदा निर्लेप ही बना रहता है।

अर्जुन ने पूछा—"उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष की स्थिति कैसी होती है।"

भगवान् ने कहा—"ऐसा ब्रह्मज्ञानी समदर्शी जीवनमुक्त पुरुष इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों को पाकर परम प्रहर्षित नहीं होता, इसके प्रतिकूल इन्द्रियों को अच्छे न लगने वाले विषयों को पाकर उद्विग्न भी नहीं होता। चिन्ताग्रस्त होकर शोकाकुल या दुखी भी नहीं होता। यह उसकी सम बुद्धि की पहिचान है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ऐसी उसमें कौन-सी विशेषता है?"

भगवान् ने कहा—देखो भाई, एक तो उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। अस्थिरता में ही दुःख सुख की अनुभूति होती है। स्थिर बुद्धि वाले सभी घटनाओं में समभाव से बने रहते हैं। दूसरे दुःख का कारण जड़ता या मूढ़ता हैं। मूढ़ता में ही सम्मोह होता है, वह पुरुष मोह से रहित होकर ब्रह्मवित् बन जाता है। मोह के क्षय का ही नाम मोक्ष है, वह सदा सर्वदा, ब्रह्मभाव में ही भावित रहने के कारण ब्रह्म रूप में अवस्थित रहता है। जब उसे संसार से कोई प्रयोजन ही नहीं, तब तो कालिख लगने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अर्जुन ने पूछा—आनन्द का हम नाम ही सुनते हैं। जब तक इसकी अनुभूति जीव को न हो तब तक वह उसके स्वाद से

वंचित ही रह जाता है। ये जो संसारी पदार्थ हैं, इनमें प्रत्यक्ष सुख दिखाई देता है, आत्मज्ञानी इन विषय के सुखों में क्या समझकर उदासीन बना रहता है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् जो ब्रह्मज्ञानियों के और लक्षण बताते हुए इन बातों का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आप से आगे करूंगा। यह विषय बड़ा गूढ़ है, इसे सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर्मुख विचार न करना चाहिये क्योंकि बिना श्रवण, मनन और निदिध्यासन के आत्म साक्षात्कार होता नहीं है।

छप्पय

कौन ब्रह्म में नित्य अवस्थित प्रश्न भयो जब।
ज्ञानी को जो रूप बतावैं कृष्णचन्द्र तब॥
प्रिय पदार्थ कूं पाइ न ज्ञानी हरषित होवै।
होहि नहीं उद्विग्न अप्रिय लखि जो नहिं रोवै॥
ज्ञानी इस्थिर बुद्धि वह, रहै नित्य आनन्द में।
ब्रह्मलीन संशय रहित, थिती सच्चिदानन्द में॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (२)

[११]

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥❀

(श्री भग० गी० ५ अ० २१, २२ श्लोक)

छप्पय

बाह्य विषय में नहीं कबहुँ आसक्ति लखावै ।
अन्तःकरन विशुद्ध बनै ज्ञानी कहलावै ॥
आत्मा में ही रमन करै अति आनँद पावै ।
आत्मज्ञान जिनि भयो तिनहिँ सुख सत्य दिखावै ॥
ब्रह्मयोग तैं युक्त जो, आत्मानन्द निमग्न जन ।
अक्षय सुख पावै वही, होवै तिहि विचलित न मन ॥

❀ बाहर के जो भोग विषय हैं, उनमे जिसका अन्तःकरण आसक्ति रहित है । जो आत्मा मे ही सुख प्राप्त करता है, वह ब्रह्मयोग युक्तात्मा पुरुष अक्षय सुख की अनुभूति करता है ॥२१॥

जितने भी ये इन्द्रिय स्पर्शजन्य सुख भोग हैं, वे सबके सब दुखदायी हैं, अनित्य हैं । हे कौन्तेय ! बुद्धिमान् पुरुष उनमे रमण नहीं करते ॥२२॥

सुखानुभूति स्पर्श के द्वारा ही होती है। अपनी प्रिय वस्तु का जब हमारी इन्द्रियों से स्पर्श होता है, तभी सुख की उपलब्धि होती है। और इन्द्रियों के गोलक तो बंधे हुए हैं। देखना आँखों से ही होगा, सुनना कानों के छिद्रों द्वारा ही होगा, रस का आस्वादन रसना इन्द्रिय से ही होगा। सूंघने का काम नासिका छिद्रों द्वारा ही होगा, किन्तु स्पर्शेन्द्रिय सभी अंगों में व्याप्त है। आप देखते नहीं, फिर भी आपकी पीठ पर कोई चींटी चले, तो स्पर्श के ही द्वारा आपको ज्ञात हो जायगा, जोई जीव पीठ पर चल रहा है, हाथ तुरन्त जाकर उसे हटा देगा। शरीर के अंग चाहे पीठ की ओर हों, या पेट की ओर सभी स्थानों पर स्पर्शेन्द्रिय ही सुख दुःख की अनुभूति करेगी। यहाँ तक कि अन्य इन्द्रियों में भी स्पर्शेन्द्रिय ही अधिक कार्य करती है। विषयों का इन्द्रियों के साथ जब संयोग होता है, तभी अपने आपको दुःख अथवा सुख की अनुभूति होती है। आप कहेंगे, जिन वस्तुओं को हम स्पर्श नहीं करते, उनसे भी दुःख सुख होता है। कोई परम सुन्दर व्यक्ति है, वह हमसे बहुत दूर है, हमारी त्वचा ने उसके शरीर का स्पर्श नहीं किया है, फिर भी उसके सौन्दर्य के कारण हमें सुखानुभूति होती है, यह क्या बात है। तो इसका उत्तर यही है कि स्पर्श के लिये कोई त्वचा का छूना आवश्यक नहीं। आपकी दृष्टि जहाँ तक जा सकती है, उस दृष्टि का जिस-जिस वस्तु से स्पर्श हो सकता है, उस दृष्टि स्पर्श से ही सुख-दुख की प्रतीति होने लगेगी। दूर खड़े अपने सगे सम्बन्धी, शिशु या महिला के शरीर से हमारी दृष्टि का स्पर्श हुआ उसी से सुख-दुख का अनुभव होने लगेगा।

आप कहेंगे कि बहुत सी वस्तु ऐसी है, जिन्हें हमारी स्पर्श नहीं करती, फिर भी उन वस्तुओं से हमें सुख-दुख

है। हम सडक के किनारे-किनारे जा रहे हैं। सड़क के किनारे पर बहुत से बगीचे लगे हैं, उनकी बड़ी ऊँची-ऊँची दीवालें उठी हैं हम देख भी नहीं सकते इनमें किनके वृक्ष हैं, किन्तु रात्रि में जा रहे हैं. रजनी गन्धा की सुगन्धि आ रही है, चित्त प्रसन्न हो जाता है, किसी बगीचे में से गुलाब की, चम्पा की, पारिजात की माधवी की, मालती की, मल्लिका की, माधुरी की सुगन्धि आ रही है चित्त प्रफुल्लित हो जाता है, कड़ी सियार का शरीर सड़ा हुआ पड़ा है, उसके कारण हमें दुःख होता है, नाक बन्द कर लेते हैं कहीं कोई सुन्दर गाना गा रहा है, चित्त झूमने लगता है, यद्यपि गाने वाले को हम देख नहीं सकते। यह क्या बात है।

बात यह है कि पुष्पों की गन्ध का जब आपकी घ्राणेन्द्रिय से स्पर्श होता है तभी आपको सुख होता है। वायु में सड़े प्राणी के शरीर की दुर्गन्धि फैल जाती है, उस दुर्गन्ध युक्त वायु का आपकी घ्राणेन्द्रिय से स्पर्श होता है इसी से दुःख होता है दीवाल के भीतर कोई गा रहा है, चारों ओर से किवाड़ें बन्द हैं किन्तु उसकी वाणी खिड़के छिद्रों से निकल कर वायु में फैल जाती है और उस गायन स्वर का स्पर्श जब तुम्हारी कर्णेन्द्रिय से होता है, तो कान जाकर हृदय से कहता है, तो वह वेदना हृदयस्पर्शी हो जाती है, उसी से हृदय को सुख-दुख की अनुभूति होती है। इसलिये सुख-दुख में विषय और इन्द्रिय का संयोग आवश्यक है। वह स्पर्श चाहे त्वचा से त्वचा का हो, या शब्द का कर्ण से हो, रूप का चक्षु से हो, या गन्ध का घ्राण से हो, या विषयों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से हो तभी सुख-दुख की अनुभूति होगी। वस्तु दो प्रकार की हैं, बाह्यवस्तु और अन्तः की वस्तु। बाहर के जितने शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जन्य विषय हैं, वे सबके सब

बाह्यस्पर्श जन्य वस्तु हैं और अन्तः की वस्तु तो ब्रह्म या आत्मा है। बाहर की जितनी वस्तुयें हैं, वे सबकी सब नाशवान् क्षयिष्णु हैं अन्तर की जो अन्तरात्मा है, वह अविनाशी और नित्य है। जो वस्तु जिससे बनेगी वह उसी के गुणवाली होगी। जैसे मिट्टी के बने घड़े, सकोरे, खिलौने आदि होंगे वे सब मिट्टी के गुणवाले होंगे, मृण्मय कहलायेंगे। सुवर्ण की बनी जितनी वस्तुएं जंजीर, कंकण, अंगूठी, हार आदि होंगे वे सब सुवर्ण के आभूषण और सुवर्ण के गुणवाले, सुवर्ण के मूल्योंवाले होंगे। इसी प्रकार विनाशशील पदार्थों से जो सुख उत्पन्न होगा विनाशी और अनित्य क्षयिष्णु होगा। अविनाशी आत्मा के स्पर्श से जो सुख होगा वह अविनाशी, शाश्वत, सत्य तथा सदा रहने वाला होगा। इसीलिये भगवान् ने आगे कहा है कि यत्न करने वाला योगी "ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंन्तं सुखमश्नुते।" ब्रह्मसंपर्शमश्नुते।" वह ब्रह्म का स्पर्श पाकर अत्यंत सुख का अनुभव करता है। ब्रह्म का स्पर्श तभी प्राप्त होगा, जब मन इन बाह्यस्पर्शों से विरक्त हो जाय। बाह्य-पदार्थों मे संसारी विषय भोगों में सुख बुद्धि न हो।

अब एक प्रश्न और उठता है। ब्रह्म को या आत्मा को तो हमने न कभी देखा है, न उसके स्पर्श का कभी अनुभव किया है। संसारी सुखों को तो न जाने हम कितने जन्मों से अनुभव करते आ रहे है। जन्म जन्मान्तरों के अनुभव हमारे अन्तःकरण में संचित हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि की शिक्षा नहीं देता जन्मान्तरीय संस्कारों से जीव स्वतः ही इनमें अपने आप प्रवृत्त हो जाता है। आत्मसुख का तो जीव ने कभी अनुभव ही नहीं किया, अतः जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो विषय भोगो में ही होगी, उसे आत्मसुख का अनुभव तो असंभव है।

इस पर कहते हैं। आत्मा तो सुखस्वरूप है ही, वह तो शुद्ध

सनातन है ही। शरीर संयोग के कारण और विषयों में राग हो जाने के कारण ही यह अपने स्वरूप को भूल गया है। यथार्थ सुख को न पाकर नकली सुख के पीछे पड गया है। संसारी विषयों में सुख नहीं सुखाभास है, तनिक-तनिक सुख का आभास होता है, भोग की इच्छा प्रबल होने का नाम ही राग है। राग के वशीभूत प्राणी ही विषयों में प्रवृत्त होता है उनका उपभोग करता है। उन पदार्थों में सच्चा सुख तो है नहीं, अतः उन पदार्थों के पाने में-विषयों को प्राप्त करने में-बडा क्लेश उठाना पड़ता है, दूसरों को दुख पहुँचा कर ही विषय सुख प्राप्त होते हैं, इसलिये उनका परिणाम भी दुःखद ही होता है। विषयों को भोगते समय क्षण भर के लिये सुख का आभास होता है, किन्तु अन्त में तो वियोग के कारण दुःख ही होता है। जिसके आदि में भी दुख हो और अन्त भी दुःखदायी हो उसके मध्य में भला सुख कैसे हो सकता है। इसीलिये विषयों के उपभोग से आज तक कोई तृप्त नहीं हुआ, उसके पास चाहे विषयों के उपभोग की कितनी भी प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ क्यों न रही हों। महाराज ययाति विषयों को भोगते-भोगते बूढे हो गये। फिर भी उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं हुई। तब अपने पुत्र की युवावस्था लेकर उसे अपनी वृद्धावस्था देकर फिर संसारी विषयों का सहस्रों वर्षों तक उपभोग किया, फिर भी जब शान्ति प्राप्त नहीं हुई, अपितु काम-वासना और अधिक बढ़ती ही गयी, तब उन्होंने अन्त में यही निष्कर्ष निकाला—"उपभोग से कामवासना तृप्त नहीं होती, किन्तु जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने पर वह अधिकाधिक बढ़ती ही है, वैसे ही उपभोग से कामनायें और प्रज्वलित होती हैं, इसलिये विषयों से उपरत होकर आत्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिये।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषों के लक्षण बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन ! यथार्थ सुख का अनुभव तो जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष ही करता है, बाह्य-विषयों में आसक्त प्राणी तो तन्मात्राओं में ही सुख खोजता रहता है, किन्तु बाहरी विषयों में भला सच्चा सुख कहाँ ?

अर्जुन ने पूछा—"तब सच्चे सुख के लिये साधक को क्या करना चाहिये ?

भगवान् ने कहा—"शब्द, रूप, रस, गन्ध और बाह्यस्पर्श रूपी विषयों में चित्त को आसक्त न होने देना चाहिये। इन विषयों में सदा अनासक्त बने रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"बाह्यविषयों में आसक्ति न रखने से उनमें भोगेच्छा न रखने से क्या होगा ?"

भगवान् ने कहा—तब उसे अनन्त सुख की उपलब्धि होगी। बाह्यविषयों से मुख मोडने वाले पुरुष का ही चित्त समाधियुक्त होता है। उस समाधि द्वारा ही उसकी ब्रह्म में तन्मयता होती है और तभी ब्रह्म का स्पर्श होता है, ब्रह्म साक्षात्कार होता है। जब तक चित्त बाह्यविषयों में आसक्त बना रहेगा, उसे ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो सकता।"

अर्जुन ने पूछा—आत्मा में अक्षय सुख का अनुभव होता कैसे है ?

भगवान् ने कहा—"आत्मा में अक्षयसुख का अनुभव होता है, बाह्यविषयों में जो सुख की भावना है, उनमें जो आसक्ति है उसके छूट जाने पर।"

अर्जुन ने पूछा—"बाह्यविषयों की आसक्ति दूर कैसे और कब होती है ?"

भगवान् ने कहा—"वह आसक्ति तो आत्मसुख का अनुभव

करने से ही दूर होगी। यदि तुम इन्द्रियों को उनका आहार मत दो। निराहार रह जाओ। तो उस समय इन्द्रियों और विषयों का संयोग न होने से विषयों से तो वह बचा रहेगा, किन्तु विषयों में जो एक प्रकार का रस है-अनुराग है, उनके उपभोग की इच्छा है, वह आसक्ति तो बनी ही रहती है। वह आसक्ति तो आत्म-दर्शन से ही दूर होगी।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, यह तो वृक्ष और बीज वाली बात हो गयी। किसी ने पूछा-बीज पहिले हुए या वृक्ष।"

किसी ने कहा—"बीज से ही वृक्ष होता है, अतः पहिले बीज ही हुआ।"

तब दूसरे ने पुनः प्रश्न किया—"बीज भी तो वृक्ष से ही होता है, वृक्ष न हो तो बीज उत्पन्न ही कैसे होगा, अतः बीज से पहिले तो वृक्ष का ही होना सिद्ध होता है।"

इसी प्रकार जैसे वृक्ष और बीज की उत्पत्ति अन्योन्याश्रित है, उसी प्रकार बाह्यविषयों की आसक्ति दूर होने पर आत्मसुख का अनुभव होगा। और आत्मा में अक्षयसुख का अनुभव करने पर विषयों की आसक्ति दूर हो जायगी। तब तो इनमें से एक भी सिद्ध नहीं हो सकता।

इस पर भगवान् ने कहा—"तुम सत्य कहते हो, यद्यपि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। तथापि विषयों के प्रति वैराग्य वृत्ति रखने से और उनमें दोष दृष्टि का अभ्यास करने से शनैः-शनैः अपने आप मन विषयों से उपरत होने लगेगा। विषयों से उपरत हुए मन में आत्मसुख की अनुभूति होने लगेगी।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! विषयों के प्रति आसक्ति तो जन्म जन्मान्तर से चली आ रही है, मन विषयों में आसक्त हो जाता है, और विषय मन में रम जाते हैं विषयों का ध्यान करने से मन

तदाकार हो जाता है, फिर मन को विषयों से हटाया कैसे जाय ?

भगवान् ने कहा—"देखो, मन विषयों में तभी जाता है, जब विषयों में सुख की भावना हो। ये विषय सुख देने वाले हैं, ऐसा निश्चय हो तभी मन जाता है। साधक को सबसे पहिले विषयों में दोष-दृष्टि रखनी चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—दोष-दृष्टि कैसे रखे ?

भगवान् ने कहा—"इस बात का सतत अभ्यास करते रहना चाहिये, इस बात को सदा सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि इन्द्रियों और विषयों के संयोग से जो-जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भोग सुखद न होकर दुखद ही हैं। जैसे किसी अच्छी सुन्दर स्वादिष्ट मिठाई को देखकर मन ललचा गया। मन में यह इच्छा हुई, कि यह मिठाई मुझे खाने को मिल जाय, तो बड़ा आनन्द आवे, बहुत सुख मिले।" यह सोचकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया। प्रयत्न करने में भी बहुत दुःख उठाना पड़ा। किसी प्रकार वह प्राप्त हो गयी, थोड़ी मात्रा में प्राप्त हुई, तो वासना और बढ़ गयी, उसकी प्राप्ति के लिये अनेक दुःख उठाने पड़े। यदि बहुत मात्रा में प्राप्त हो गयी और अधिक खा गये, तो उससे भाँति-भाँति के उदर सम्बन्धी रोग हो गये। नाना क्लेश उठाने पड़े। इसलिये उनके प्राप्त होने के पूर्व भी दुःख और प्राप्त हो जाने के अनन्तर उपभोग के पश्चात् भी दुःख है, तो उपभोग काल में भी कौन-सा सुख मिल सकता है। अतः विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो भोग प्राप्त होते हैं, वे दुःख के ही कारण हैं, क्योंकि वे आद्यन्त है। उनका आदि भी है और अन्त भी है। आरम्भ भी है नाश भी है। जितने नाशवान् पदार्थ हैं, वे सब दुख देने ही वाले होते है। हे कुन्तीनन्दन ! जो विषयवासना में आसक्त पुरुष हैं, वे ही इन विषयों में प्रीति करते हैं। जो बुधजन है, विवेकी पुरुष हैं, पंडित

हैं, विद्वान् हैं, वे इन विषयों में कभी रमण नहीं करते।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! विषयों से मन को सर्वथा उपरम करना बहुत कठिन काम है। मन तो विषयों की ओर बिना प्रयत्न के स्वतः ही दौड़ता रहता है।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! यह जो बाह्यविषयों के प्रति आसक्ति है, अनुराग है यही समस्त अनर्थों की जड़ है, कल्याण-मार्ग का यही एक प्रति पक्षी घोर शत्रु है, यह राग अत्यन्त कष्टमय है, यह साधारण उपायों से दूर होने वाला नहीं। बहुत से लोग बहुत जन्मों तक प्रयत्न करते रहते हैं, तब कहीं जाकर किसी चरम-शरीर में यह रोग दूर होता है। इसीलिये मुमुक्षु को प्रबल प्रयत्न के द्वारा इसे दूर करना चाहिये। शरीर के छूटने के एक क्षण पहिले भी यह विषयानुराग छूट जाय तो समझो वह पुरुष कृतार्थ हो गया, धन्य बन गया। जो इस शत्रु को मारकर उस अक्षय सुख को प्राप्त कर लेते हैं, वास्तव में वे ही सच्चे सुखी हैं। यह एक प्रकार का आवेग है। इसकी निवृत्ति का विधान तुम्हें मैं समझाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवान् इस विषयासक्ति का हटाने का जो उपाय बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जितने जगके भोग विषय इन्द्रिय सँयोगतैं।
सुखकर अतिशय लगें विषय अनुकूल भोगतैं॥
किन्तु होहि सुख नहीं जथारथ दुःख हेतु ये।
होवै इनिको आदि अन्त दुख हैं अनित्य ते॥
नहीं रमन तिनिमें करैं, अरजुन ! ज्ञानीजन कबहुँ।
मिलै भोग त्रिभुवन सकल, विचलित होवैं नहिं तबहुँ॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (३)

[१२]

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥*॥

(श्री भग० गी० ५ अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

एक जनम में जीवन रहते ज्ञान कठिन है ।
जग के भ्रमसम भोग फँस्यो तिनिमें नित मन है ॥
काम क्रोध को वेग प्रबल दुरजय जो भोगी ।
देह त्याग तैं प्रथम सहन में समरथ योगी ॥
उभय वेगवश भये जे, वे ही जग में दुखी हैं ।
जीवित जिनि जे वश किये, वेई योगी सुखी है ॥

---

* जो पुरुष शरीर छोड़ने के पहिले, काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन करने मे समर्थ है, वही वास्तव मे योगी है और वही सुखी है ॥२३॥

जो अपने आप मे सुखानुभूति करता है, जो आत्मा मे आराम वाला है, जो अन्तर्ज्योति है, वह ब्रह्मभूत हुआ योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है ॥२४॥

संसार में बन्धन के हेतु दो ही हैं, कामिनी और कांचन। कामिनी उसे कहते हैं, जो धर्म के विरुद्ध विषय वासना में प्रेरित करे। कांचन उसे कहते हैं जो राजकीय मुद्राङ्कित हो। एक रुपये में इतना सोना चांदी या धन मिलेगा। इसलिये रुपया, सोना, चाँदी आदि धातुएँ सब कांचन या धन के अन्तर्गत है। मुद्रा चाहें सुवर्ण की हो या चाँदी, ताँबा आदि धातु की अथवा चमड़ा कागद की इन सब की कांचन या धन संज्ञा होती है।

लोभ उसे कहते हैं उपभोग की वस्तुओं को अधिकाधिक संग्रह करने की इच्छा। मेरे पास शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और स्पर्श सम्बन्धी जितनी भी वस्तुएँ हैं अधिकाधिक रूप में इकट्ठी हो जायँ। लोभ का कहीं अन्त नहीं। श्रुति कहती है—"संसार के जितने भी खाने पीने या विषयों के उपभोग योग्य पदार्थ हैं उन सब को यदि एक ही व्यक्ति को दे दें तो भी उसकी तृप्ति नहीं हो सकती। लोभ ही समस्त अनर्थों की जड़ है, विषयों के लोभ के कारण ही प्राणी संसार चक्र में फँसता है। लोभ दो प्रकार का है। स्त्री सुख के लोभ को तो 'काम' कहते हैं और द्रव्य के लोभ को 'लोभ' कहते हैं। वैसे समस्त इन्द्रियों के विषय के प्रति जो राग है, आसक्ति है, तृष्णा, अभिलाषा या कामना है उसी की काम संज्ञा है। अतः काम या लोभ दोनों सगे भाई है। काम का एक पुत्र है क्रोध। जब कोई काम वासना में विघ्न डालता है, या उसके चाचा लोभ के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित करता है, तो यह भड़क उठता है। लोभ स्वयं न तो वेगवान है और न स्वयं कुछ करता ही है, वह सामग्रियों को एकत्रित कर देता है। वेगवान् तो काम और क्रोध ही है। वेग उसे कहते हैं, जो अपनी मर्यादा को छोड़कर अमर्यादित होकर चले। साधारण स्थिति में चलने का नाम चाल है। वायु सदा

अपनी मन्थर गति से चलती ही रहती है, जब वह मर्यादा को छोड़कर चले उसे ही आंधी या तीव्र वायु वेग कहते हैं। नदी जब तक मर्यादा मे चलती है, तब तक उसके बहने को प्रवाह कहते हैं। किन्तु जब श्रावण भादों में प्रवाह से ऊपर उठकर दोनों तटों की सीमा का उल्लङ्घन करके वेग से बहने लगती है, तो उसे ही बाढ़ कहते हैं।

जो काम धर्म पूर्वक है, लोक वेद की मर्यादा के अन्तर्गत है, वह धर्म काम कहलाता है, जो क्रोध मर्यादित है, धर्मानुकूल है उसे मन्यु कहते है। किन्तु जब ये दोनों मर्यादा का उल्लङ्घन करके लोक वेद के पथ का परित्याग करके मनमानी घर जानी करने लगते हैं, तभी इन दोनों का नाम वेगवान् काम क्रोध हो जाता है। तभी ये दोनों इन्द्रियों से सांठ गांठ करके, व्यापार में प्रवृत्त होते है और जीव को चौरासी के चक्कर मे डाल कर, घुमाते रहते हैं। इन दोनों का वेग ऐसा असह्य और दुर्धर्ष है बड़े से बड़े लोग भी इनके वेग में बह जाते हैं। कोई इस बात का अभिमान भूल कर भी न करे, कि मैंने काम को जीत लिया।

एक बड़े ही सुन्दर महात्मा थे, उनका स्वरूप अत्यन्त ही आकर्षक था। एक कामिनी वेश्या उनके रूप पर आसक्त हो गयी। उसने अपने हाव भाव कटाक्षों द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना चाहा। किन्तु वे महात्मा विचलित नही हुए। इससे वह उनसे चिड़ गयी। वे जब भी भिक्षा लेने उधर से निकलें तभी वह पूछे—"तुम पुरुष हो या स्त्री ?"

महात्मा इसका कुछ भी उत्तर न दें, केवल हँसकर चले जाय। अब उसको यह आदत ही पड़ गयी। महात्मा को देखते ही उसके मुँह से अपने आप निकल पड़े—"तुम पुरुष हो या स्त्री ?" महात्मा ने कभी भी इसका उत्तर नहीं दिया। एक

दिन महात्मा का अन्तिम समय आ गया। वे शरीर का परित्याग करने ही वाले थे, कि उन्होंने एक आदमी से कहा—"अमुक वेश्या को बुला लाओ।"

महात्मा जी की आज्ञा का पालन किया गया। वेश्या आ गयी, उसने आते पूछा—"बाबा जी! तुम पुरुष हो या स्त्री?"

महात्मा ने गरजकर कहा—"मैं पुरुष हूँ।"

वेश्या यह सुन कर हँस पड़ी और बोली—आप पुरुष हैं, यह तो मैं जानती ही थी, किन्तु आप इतने दिनों से इसका उत्तर क्यों नहीं दिया? आज ही आप ने अपने को नर क्यों बताया?"

महात्मा ने कहा—जो शरीर छूटने के पहिले ही काम के वेग को सहन करने में समर्थ है, वास्तव में वही नर है। जो काम के आकर्षण के सम्मुख आते ही उसके प्रवाह में बह जाय, वह तो कामी नर पशु ही है।

एक दूसरे महात्मा थे, उनकी मूँछें बहुत बड़ी-बड़ी थीं। वे उन्हें मोड़ कर रखते। वे योगी थे।

एक दुर्जन पुरुष था, उसने एक बड़ा अच्छा कुत्ता पाल रखा था, उस कुत्ते की पूछ भी मुड़ी हुई थी। वह पुरुष जब भी आता, तभी पूँछता—"योगी जी! तुम्हारी मूँछ अच्छी कि मेरे कुत्ते की पूँछ अच्छी?"

महात्मा यह सुन कर हँस जाते, और कुछ भी उत्तर न देते। उस दुर्जन का अब नित्य का नियम बन गया। जब भी आता पूछता—"योगी जी! तुम्हारी मूँछ अच्छी या कुत्ते की पूँछ अच्छी?" महात्मा केवल प्रश्न सुन कर मुस्करा देते।

एक दिन योगी का अन्तिम दिन आ गया। योगी जी बड़े लोक प्रिय तथा प्रसिद्ध थे, उनके अन्तिम समय में सहस्रों नर-

नारी आये सभी उदास थे। उसी समय वह दुर्जन अपने कुत्ते को लिये हुए आ गया और आते ही उसने पूछा—"योगी जी! तुम्हारी मूँछ अच्छी या मेरे कुत्ते की पूँछ अच्छी?"

तब गरज कर योगी ने कहा—"तुम्हारे कुत्ते की पूँछ से मेरी मूछें ही अच्छी हैं।"

यह सुन कर वह पुरुष हँस पड़ा और हँसते हुए बोला—"योगी जी! आपकी मूछें तो अच्छे हैं ही, किन्तु आपने यह उत्तर आज ही क्यों दिया, इसके पहिले यह उत्तर क्यों नहीं दिया?"

योगीजी ने कहा—"देखो, भया! आसक्ति रहित होना सदा निःसंग बने रहना यतियों के लिये यही मोक्ष का मार्ग है। संग से आसक्ति से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जो योगी योग में आरूढ़ भी हो जाते हैं, ऐसे योगारूढ़ पुरुष भी संग के कारण नीचे गिर जाते हैं, उनका पतन हो जाता है, योगी से भोगी बन जाते है। अतः जब तक शरीर का पात न हो। तब तक कोई अभिमान न करे कि मैं जितेन्द्रिय योगी हूँ। शरीर के छूटने तक जिसके मन में काम का वेग न उठे उसी की मूछें वास्तव में मूँछ हैं, जो बीच मे ही फिसल गया, उसकी मूँछ तो कुत्ते की पूँछ से भी गई बीती हैं।"

इतना कहकर योगी जी ने अपने यथार्थ योगी होने का परिचय देकर शरीर त्याग कर दिया।

एक दिन एक दिगम्बर महात्मा घोर बन में नदी के किनारे एक पत्थर की चट्टान पर पड़े हुए मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। उसी समय एक राजा वहाँ आ गये। राजा ने देखा यह नंग धड़ंग व्यक्ति एकान्त में अत्यन्त प्रशन्न हुआ सुख से लेटा हुआ है। यह देखकर कुतूहल वश राजा घोड़े से उतर गये उन परमहंसजी

के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके बैठ गये और बोले महात्मा जी ! मैं आप से एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो पूछूं ?

महात्मा जी उठकर बैठ गये और हँसते हुए अत्यंत ही स्नेहमयी वाणी में बोले—"हाँ पूछिये, क्या पूछना चाहते हैं ?"

राजा ने पूछा—"महाराज ! इस संसार में सर्वत्र चिन्ता ही चिन्ता दिखाई देती है। सुख के साधन उतने अधिक नहीं है कि सभी सुखी हो सकें। सुख तो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी विषय पदार्थों से मिलता है। सुन्दर से सुन्दर शब्द सुनने को मिले, सुन्दर से सुन्दर रूप देखने उपभोग करने को मिले। सुन्दर, स्वादिष्ट मनोनुकूल रसीले पदार्थ खाने को मिले, सुन्दर सुगन्धित द्रव्य सूंघने को मिलें। मृदुल सुखद स्पर्श युक्त वस्तुएं उपभोग के लिये मिलें तभी प्राणी सुख का अनुभव करता है। मैं चक्रवर्ती राजा हूँ, यद्यपि मेरे पास विषय भोग की प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ हैं, किन्तु फिर भी उतना सुखी नहीं हूँ। सदा किसी न किसी बात की चिन्ता व्याप्त ही रहती है, किसी न किसी वस्तु का अभाव मुझे बना ही रहता है। आपको देखता हूँ, कि आपके पास विषय सम्बन्धी एक भी वस्तु नहीं। शरीर पर एक फटा वस्त्र नहीं। पानी पीने को पात्र नहीं, भोजन की कोई सामग्री नहीं। फिर भी आप सदा मुस्कराते ही रहते हैं, चिन्ता की रेखा भी आपके मुख पर नहीं, यह क्या बात है ?"

यह सुनकर परमहंस जी बड़े जोर से खिलखिलाकर हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"राजन् ! आप ने मूल ही भूलकर दी।"

राजा ने पूछा—भगवन् ! मूल में भूल कैसी ?"

परमहंस बोले—"आपने सुख का कारण विषयों में अनुराग ही समझ रखा है, यही मूल में भूल है। देखो, विषयों की अधिकता से कोई सुखी नहीं हो सकता। आप अपने को चक्रवर्ती

राजा बता रहे हो, और स्वयं स्वीकार कर रहे हो, कि मुझे सुख नहीं। आप तो इसी लोक के राजा हैं जो इन्द्र देवताओं के राजा त्रिलोकेश हैं, उनके पास तो दिव्य विषयों की प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ है किन्तु वे देवराज भी सुखी कहाँ हैं? किसी महात्मा को तपस्या में निरत देखते हैं किसी राजा को सौ अश्वमेध यज्ञ करते देखते हैं तो उनके पेट में पानी हो जाता है, अत्यन्त दुखी होकर उसके तप को भंग करने की चिन्ता में मग्न हो जाते हैं। सो, राजन्! राजा को सुख नहीं, महाराजा को सुख नही, चक्रवर्ती को सुख नहीं, इन्द्र को भी सुख नहो। वास्तविक सुखी तो वही है जिसने राग का परित्याग कर दिया है। काम वासना पर जिसने विजय प्राप्त कर ली है। इसलिये वीतराग योगी पुरुष ही यथार्थ सुखी है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी काम और क्रोध की प्रबलता को बताते हुए कह रहे हैं—अर्जुन! यह तृष्णा ही वास्तव में दुःख का कारण है।"

अर्जुन ने पूछा—तृष्णा क्या?

भगवान् ने कहा—यही संसारी विषय भोगों को सुख की इच्छा से भोगने की लालसा।

अर्जुन ने पूछा—"यह तृष्णा शांत कैसे हो?"

भगवान् ने कहा—तृष्णा विषय भोगों के भोगने से शांत नहीं होती, तृष्णा का जब तक परित्याग न किया जाय तब तक यथार्थ सुख मिलना असम्भव है।

अर्जुन ने पूछा—"तृष्णा का त्याग कौन कर सकता है। साधारण लोग तो तृष्णा का परित्याग कर नहीं सकते।"

भगवान् ने कहा—तृष्णा का त्याग क्लीव-नपुंसक नहीं कर

सकते। जो तृष्णा का त्याग करदे वही वास्तव में नर है। वही योग युक्त योगी है और वही सुखी है।

अर्जुन ने पूछा—कितने दिनों में तृष्णा का त्याग संभव है?

भगवान् ने कहा—"इसकी अवधि नहीं। जिन्होंने सहस्र जन्मों तक तप, यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म किये हों, उन निष्पाप निर्मल चित्त वाले पुरुषों के निरन्तर प्रयत्न करने पर शरीर त्याग के पूर्व इस तृष्णा की समाप्ति होती है। जो शरीर छूटने से पूर्व ही इस लोक में ही काम और क्रोध से उत्पन्न प्रबल वेग को सह सकने मे समर्थ हो जाता है वही वीतराग विवृष्ण पुरुष योगी है, वही वास्तविक नर है और वही सच्चा सुखी है। बाह्य विषयों में सुख नहीं है। विषय में जिसे तृष्णा है वह भला सुखी कैसे हो सकता है?"

अर्जुन ने पूछा—जो काम और क्रोध के वेग को जीत लेता है, वह संसार बन्धन से मुक्त हो जाता होगा?

भगवान् ने कहा—नहीं वह विमुक्त नहीं हो जाता। मुक्ति मार्ग के पथ की ओर अग्रसर हो जाता है। सुख की ओर चल पड़ता है, उसे काम क्रोध को जीतकर कुछ और भी करना पड़ता है।

अर्जुन ने कहा—उसे और क्या-क्या करना पड़ता है। उसकी जीवन्मुक्तावस्था कब समझी जाती है।

भगवान् ने कहा—सुख स्वरूप तो आत्मा ही है। अनात्म पदार्थों मे रमण करने से, विषयों की अपेक्षा करने से तो दुख ही दुख मिलता है। काम और क्रोध के वेग को सहन करने से उसे सुख तो मिलता है, किन्तु परम सुख अर्थात् ब्रह्म निर्वाण या मुक्ति तो आत्मा में रमण करने से ही मिलती है। जैसे संसारी लोग स्त्री पुत्रादिकों में ही रमण करते हैं, उनके साथ क्रीड़ा

करते हैं, वैसे ही मुमुक्षु आत्मा के साथ क्रीड़ा करता रहे। जैसे संसारी लोग विषयों में ही आराम का अनुभव करते हैं, वैसे ही मुमुक्षु आत्मा में ही जब आनन्द का अनुभव करने लगता है। जैसे संसारी लोग बाहर के सूर्य, चन्द्र और अग्नि की ज्योति में ही पदार्थों को देखते हैं वैसे ही मुमुक्षु भीतर की ज्योति के ही प्रकाश से प्रकाश प्राप्त करता है। वह बाह्य विषयों की अपेक्षा से रहित होकर अपने स्वरूप में ही आनन्दानुभव करता है, वह आत्मरमणी, आत्माराम, अन्तर्ज्योति वाला योगी ही ब्रह्मभूत ब्रह्मरूप परमशान्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

उस ब्रह्म प्राप्त जीवन मुक्त पुरुष के और भी लक्षण हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षणों को बताते हुए मुक्ति के हेतुभूत अन्य साधनों का जैसे वर्णन किया है उसे मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

सुख बाहर जो लखैं अभागे पुरुष अज्ञ ते।
आत्मा ई सुखरूप जानि सुख पाइँ विज्ञ ते॥
अन्तरात्मा माहिँ करैं अनुभव सत सुख को।
आत्मा में ई रमन करैं जहँ लेश न दुख को॥
आत्मा में ई ज्ञान लखि, अन्तर ज्योति बनी रहै।
वह योगी निरवान पद, पाइ ब्रह्म में लीन है॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (४)

[१३]

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥*

(श्री भा० गी० ५ अ० २५, २६ श्लोक)

छप्पय

शान्तभाव कूँ पाइ कौन ज्ञानी जग माहीं ।
भये पाप जिनि नष्ट नहीं कल्मष तन माहीं ॥
जिनिके संशय ज्ञान-ज्योति तैं सब भगि जावैं ।
सब प्रानिनि हित निरत रहैं समभाव लखावैं ॥
जिनिको निश्चल विजित मन, रहैं सदा परमात्म में ।
शांति भावकूँ पाइँ वे, देखैं सबकूँ आत्म में ॥

---

* जिनके कल्मष कट गये हैं, जिनका द्वैधी भाव नष्ट हो गया है, जिनका मन संयम है ऐसे सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत ऋषिगण ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

को काम क्रोध से रहित हैं, जिन्होंने अपने चित्त को वश में कर लिया है, जिन्होंने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे यतियों को सब ओर से ब्रह्म निर्वाण प्राप्त होता है ॥२६॥

ब्रह्मनिर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है। जब तुच्छ अनित्य संसारी कार्यों की सिद्धि के ही लिये मनुष्यों को कितना भारी श्रम करना पड़ता है, तो मोक्ष प्राप्त करना तो जीवन का चरम लक्ष्य है। उसके लिये तो अत्यधिक श्रद्धा, संयम, तप, विश्वास तथा अन्यान्य साधनों की आवश्यकता है, मोक्ष प्राप्ति के अनेक साधन हैं। उनमें से कुछ साधनों का यहाँ उल्लेख करते हैं। कौन पुरुष मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है, इस बात को बताते हुए अधिकारी के कुछ गुण बताते हैं।

(१) मोक्ष का अधिकारी वही हो सकता है। जो निष्पाप क्षीण कल्मष बन गया हो।

(२) जिसके सभी संशयों का नाश हो गया हो।

(३) जिसका मन निश्चल भाव में स्थित हो।

(४) जो सभी भूतों के हित में निरत रहते हों।

(५) जिसने काम और क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली हो।

(६) जिसने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली हो।

(७) जिसने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया हो।

हमें जो यह शरीर प्राप्त हुआ है, यह अनेक जन्मों के संचित कर्मों में से कुछ पुण्य-पाप जनित प्रारब्ध कर्मों को लेकर प्राप्त हुआ है। जब तक हमारे अन्तःकरण स्थित कल्मष न कटेंगे जब तक हम मोक्ष के अधिकारी नही हो सकते। पूर्वजन्मकृत पाप ही रोग बनकर कष्ट देते हैं। रोगी पुरुष मरेगा, तो दूसरे जन्म में भी वह रोग उसके साथ जायगा। अतः सबसे पहिले शरीर का नीरोग होना आवश्यक है। तपस्या से जिसका तन क्षीण हो गया है, जिसकी विषय लोलुपता समाप्त हो गयी है, जिसका शरीर तेजयुक्त हो गया है, जिसकी वाणी में मधुरता आ गयी है और

जिसके शरीर की दुर्गन्ध चली गयी है, समझो उसके पाप क्षीण हो गये है और वह मोक्ष का अधिकारी हो गया है। कल्मष या पाप यज्ञ दान और तपस्या आदि से कटते हैं। सबसे बड़ा तप अनशन है और सबसे बड़ी यज्ञ है मन्त्र जाप। श्रद्धा संयम पूर्वक मन्त्र जाप करने से शनैः शनैः समस्त कल्मष कट जाते हैं। एक महात्मा थे उन्होंने गायत्री मंत्र के २४ अनुष्ठान किये, किन्तु गायत्री का साक्षात्कार नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने संन्यास ले लिया तब गायत्री देवी प्रकट हुईं। महात्मा ने पूछा—"देवि! जब मुझे आवश्यकता थी, तब तो आप प्रकट हुई नही, अब जब मैंने समस्त आवश्कताओं का परित्याग कर दिया है, तब आप प्रकट हुई। अब मैं आप से क्या माँगू ?"

गायत्री ने कहा—"स्वामिन्! उस समय आप मे मेरे दर्शनों की पात्रता नहीं आई थी। मैं तुम्हे दिव्य दृष्टि देती हूँ, तुम देखो।"

दिव्य दृष्टि होने पर महात्मा देखते हैं, २४ बड़ी-बड़ी राख की ढेरियाँ जली पड़ी है एक ढेरी अभी जल रही है। गायत्री माता ने बताया—"ब्रह्मन्! पापों की ये २५ ढेरियाँ आपके परमार्थ पथ में अन्तराय थी। २४ ढेरियाँ तो २४ गायत्री के पुरश्चरणों से जल गयीं। पच्चीसवी संन्यास लेने से जल गयी। अब आप निष्कल्मष पाप रहित हो गये। अब आप मेरे साक्षात्कार के अधिकारी बन गये।"

जो लोग वर्ष ६ महीने ही कोई अनुष्ठान करके अपने को सिद्ध मानने लगते है, यह बड़ी भूल है। यह क्षेत्ररूपी शरीर बड़े प्रयत्नों से-चिरकाल तक निरन्तर श्रद्धा संयम पूर्वक साधनों मे लगे ही रहने से तब कहीं जन्मजन्मान्तर में पुरुष निष्पाप निष्कल्मष हो सकता है। अतः मोक्ष के साधक को समय की

चिन्ता न करनी चाहिये उसे श्रद्धापूर्वक निरन्तर तप, यज्ञ दानादि शुभ कर्मों में लगे ही रहना चाहिये। ऐसा ही यत्नवान् श्रद्धालु साधक मोक्षका अधिकारी बन सकता है।

साधन में संशय होना यह भी बड़ा भारी दोष है। हम जो कर रहे हैं, यह ठीक है या नहीं ऐसा द्वैधी भाव आगे बढ़ने नहीं देता। एक साधक था, वह त्रिकाल सन्ध्या करता था, निरन्तर जप करता रहता था। एक दिन नारदजी उसके पास आये और बोले—"सुनते हो, साधक! तुम्हारा यह साधन भगवान् को स्वीकार नही।"

उसने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"आप कौन हैं, भगवन्! आपको कैसे पता मैं साधन करता हूँ और भगवान् को यह स्वीकार नहीं?"

नारदजी ने कहा—"मै नारद हूँ, अभी-अभी भगवान् के यहाँ से-वैकुण्ठ से-आ रहा हूँ, भगवान् ने मुझसे स्वयं कहा—कि उस साधक का साधन मुझे स्वीकार नहीं।"

यह सुनते ही साधक प्रेम में विह्वल होकर कपड़ा फैलाकर नृत्य करने लगा। नारदजी ने पूछा—"भाई, इसमें प्रसन्नता की कौन-सी बात है, तुम्हें तो दुखित होना चाहिये।

साधक ने कहा—"ब्रह्मन्! आप साक्षात् देवर्षि हैं, आप कभी असत्य भाषण कर ही नहीं सकते। स्वीकार करना न करना यह तो भगवान् की अपनी इच्छा के ऊपर निर्भर है, किन्तु भगवान् को इस बात का पता है, कि मैं साधन कर रहा हूँ यही मेरे लिये बड़ी भारी बात है। भगवान् मेरे सम्बन्ध में जानकारी रखते हैं, इसी से मैं कृतार्थ हो गया। स्वीकारना तो उनकी इच्छा पर है।"

उसकी ऐसी निर्भरता और संशय हीनता से प्रसन्न होकर

भगवान् उसी समय तुरन्त प्रकट हो गये। इसलिये भगवान् पर विश्वास रखते हुए जो अपने सत्य साधन में लगे रहते हैं किसी प्रकार का संशय मन में नहीं लाते वे भी मोक्ष मार्ग के अधिकारी बन जाते हैं।

साधन में मन की निश्चलता भी अत्यावश्यक है। मन इधर-उधर जिसका विचलित हो जाता है वह परम पुरुषार्थ से वंचित होकर विषयों में फँस जाता है, अतः मन को सदा निश्चल भाव से परमात्मा में ही लगाये रहना चाहिये।

एक सबसे भारी परमार्थ पथ के पथिक का लक्षण यह है, कि उसके अन्तःकरण में सदा सर्वदा सम्पूर्ण प्राणियों के हित की ही कामना बनी रहे। धर्मराज युधिष्ठिर को जब नरक के दर्शन कराये गये, तो नारकीय जीवों ने कहा—"आपके शरीर से जो दिव्यगन्ध निकल रही है, इससे हम लोगों को परम सुख मिल रहा है, आप यहाँ से जायें नहीं। धर्मराज ने सोचा—मेरे कारण इतने लोगों का हित साधन हो रहा है, तो मैं यहीं रहूँगा। देवदूत के बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने नरक में ही रहने का निश्चय किया। उनकी इस सर्वभूत हितेरत भावना के कारण उनका पुण्य अक्षय हो गया।

पार्वती ने भी अपनी सम्पूर्ण तपस्या उस बालक के निमित्त समर्पण कर दी थी जिसे मगर खा जाना चाहता था। जब वे पुनः तपस्या करने चलीं, तो शिवजी ने पूछा—"कहाँ जा रही हो।"

पार्वतीजी ने कहा—इस तालाब में एक मगर एक शिशु को खा जाना चाहता था, मुझे उस पर अत्यन्त दया आ गयी। वह मगर किसी प्रकार मानता ही नहीं था। अन्त में इस बात पर वह राजी हुआ कि आप अपनी सम्पूर्ण तपस्या दे दें तो मैं इसे

छोड़ सकता हूँ।" मैंने सम्पूर्ण तपस्या संकल्प करके उस शिशु को छुड़ा लिया। अब मैं तपस्या से हीन हो गयी। पुनः तपस्या अर्जन करने के निमित्त तप करने जा रही हूँ।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् शिव बोले—देवि! वह मगर मैं ही था, तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये मैंने ऐसा किया। उस शिशु पर दया दिखाने से आप की तपस्या क्षीण नहीं हुई वह तो करोड़ों गुनी बढ़कर अक्षय हो गयी। अतः जो समस्त जीवों के हित में लगा रहता है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

एक आचार्य थे। उनके गुरु ने उन्हें मन्त्र दिया और कहा इसका अनुसन्धान करो तुम जन्म, जरा, मृत्यु, भय के दुःख से छूटकर परमानन्द के अधिकारी बन जाओगे। किन्तु देखना इसे किसी दूसरे को मत बताना।

मन्त्र ग्रहण करके आचार्य बड़े प्रसन्न हुए। वे उस मन्त्र की दीक्षा ग्रहण करके आनन्द में भरकर एक विशाल मन्दिर के समीप गये। वहाँ सहस्रों दर्शनार्थी उपस्थित थे। आप मन्दिर के गोपुर के ऊपर चढ़ गये और चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे—"जन्म, जरा, मृत्यु के भय को भगाने वाला परमानन्द को प्राप्त कराने वाला मैं तुम्हें गुप्त मन्त्र सुनाता हूँ। तुम सब लोगों को बुला लाओ।"

यह सुनकर वहाँ सहस्रों नर-नारियों की भीड़ उपस्थित हो गयी। आचार्य ने बिना भेदभाव के मन्त्रराज की व्याख्या की। सबको उसका रहस्य समझाया। अन्य शिष्यों ने जाकर गुरु से कहा—"भगवन्! आपका वह नवीन शिष्य तो मन्त्रराज की व्याख्या गोपुर पर चढ़कर बिना भेदभाव के सबको सुना रहा है।" यह सुनकर गुरु को बड़ा क्रोध आया। शिष्यों को भेजा, उसे तुरन्त मेरे पास बुला लाओ।

गुरु की आज्ञा पाकर हाथ जोड़े हुए आचार्य उनके सम्मुख उपस्थित हुए। क्रोध में भरकर गुरुजी ने कहा—"क्यों रे मैंने तो तुमसे कहा था, इसका उपदेश सबको मत देना यह परम गोपनीय परम रहस्यमय मन्त्र है। तुमने मेरी आज्ञा का उलंघन किया है? तुम सबको उपदेश दे रहे थे?"

आचार्य ने कहा—"हाँ, भगवन्! दे तो रहा था।

गुरु ने पूछा—तुम जानते हो, गुरु आज्ञा उल्लंघन करने का क्या परिणाम होगा?

आचार्य ने कहा—"बताने की कृपा कीजिये।"

गुरु ने कहा—"गुरु आज्ञा उल्लंघन करने पर करोड़ों वर्षों तक रौवरादि नरकों की यातना सहनी पड़ती है।"

आचार्य ने पूछा—"मन्त्रराज सुनने से क्या होता है?"

गुरु ने कहा—"वह तो परम रहस्यमय मन्त्रराज है, उसे जो सुनता है वह जन्म, मृत्यु, जरा दुःखादि से छूटकर परमानन्द का अधिकारी होता है।"

तब आचार्य ने धैर्य के साथ कहा—"तब तो कोई बात नहीं। नरक की यातनायें तो गुरु आज्ञा उल्लंघन करने के कारण अकेले मुझे ही सहनी पड़ेंगी। इन इतने नरनारियों को तो परमानन्द की प्राप्ति हो ही जायगी। इतने लोगों को परमानन्द की प्राप्ति हो, तो मैं अकेला ता सहप नरक यातनाओं को अनन्त काल तक सहता रहूँगा।"

अपने शिष्य की इस सर्वभूत हितेरत भावना को देखकर गुरु का हृदय भर आया, उन्होंने शिष्य का गाढालिंगन करते हुए कहा—सब प्राणियों के हित में तुम्हारी ऐसी उच्च भावना है तो मैं तुम्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि तुम असंख्य जीवों के

उद्धारक तरन-तारन बनोगे। तुम्हारी कीर्ति संसार में अजर-अमर रहेगी वे आचार्य भगवान् रामानुज स्वामी ही थे।"

इसलिये मोक्ष मार्ग के साधक को सदा सर्वदा सभी प्राणियों के हित के कार्यों में ही लगे रहना चाहिये।

काम और क्रोध ये दो शत्रु ऐसे हैं, कि मोक्ष मार्ग के सबसे बड़े निरोधक बाधक और नाशक हैं। अतः काम-क्रोध को वश में करने और मन को निग्रह करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। जो इन साधनों को करते है उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार होता है, वे प्रकृति की परिधि से ऊँचे उठकर परम पुरुषार्थ की सर्वोच्च सीढ़ी पर चढ़ जाते हैं। ये सभी साधन ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करने वालों को अपनाने चाहिये।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जीवन्मुक्ति के अन्य साधनों को बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—हे कुन्तीनन्दन! जो संसारी विषयों में ही आसक्त हैं, वे मोक्षमार्ग की ओर एक पग भी नहीं बढ़ सकते।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! मोक्षमार्ग की ओर कौन से साधक बढ़ सकते है?"

भगवान् ने कहा—"जिनके साधना द्वारा समस्त पाप क्षीण हो गये हों। जो निष्पाप—क्षीणकल्मष—हो चुके हों।"

अर्जुन ने पूछा—और?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जिनकी बुद्धि सूक्ष्म से अति सूक्ष्म हो गयी हो, जो सूक्ष्म वस्तु को ग्रहण करने में समर्थ हों?"

अर्जुन ने पूछा—और?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जो सर्वसंशय शून्य बन गये हों? जिनके हृदय की ग्रंथि खुल गई हो। जिनके शुभाशुभ कर्म क्षीण हो गये हों।

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जिन्होंने अपने मन को एकाग्र कर लिया हो, जिन्होंने बिखरी हुई चित्तवृत्तियों का निरोध कर लिया हो।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जो सदा सर्वदा सभी प्राणियों के हित साधन में संलग्न बने रहते हों। जिनका स्व पर नष्ट हो गया हो, जो सम्पूर्ण वसुधावालों को ही अपना निजी कुटुम्ब समझते हों।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"जिन्होंने काम और क्रोध दोनों बाप बेटा शत्रुओं को अपने वश में कर लिया हो।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग मोक्ष के लिये सतत यत्नवान रहते हों, ऐसे संयत चित्त यतियों द्वारा इस पुण्य पथ का अनुसरण किया जा सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जो जिन्होंने भक्तिभाव द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया हो। जिनको भगवत् साक्षात्कार हो गया, उनके सम्बन्ध में अब कहना ही क्या ? उनको तो कुछ करना शेष रह ही नहीं जाता उनके तो दोनों हाथों में लड्डू हैं। यदि वे जीवित रहते हैं, तो यहाँ परमानन्द सुख का अनुभव करते है, समस्त प्राणियों को सुख पहुँचाते रहते हैं। यदि शरीर त्याग कर देते हैं, तो फिर इस संसार में पुनः नहीं आते, दिव्य सुख का—ब्रह्मनिर्माण का—आनन्द लेते रहते हैं। वे संसारी बन्धनों से सदासर्वदा के लिये विमुक्त बन जाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवान् आपने और तो बहुत से साधन बताये। योगप्राणायाम द्वारा भी ब्रह्म साक्षात्कार होता है, ऐसा मैंने सुना है।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, होता क्यों नहीं अवश्य होता है। उसके सम्बन्ध में भी मैं तुम्हें बताऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब भगवान् प्राण संयम रूप साधन को जैसे अर्जुन के प्रति बतावेंगे उसका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

काम क्रोध तैं रहित जगत हित रत बड़भागी।
विजय चित्त पै करी विषय भोगनिके त्यागी॥
पाइ ब्रह्म निरवान आत्मा में लवलीना।
आत्मानन्द स्वरूप आत्मप्रिय परम प्रवीना॥
ऐसे ज्ञानिनि तैं सतत, विषय जनित दुख दूर है।
चहुँ दिशि ये अनुभव करैं, शान्त ब्रह्म परिपूर्न है॥

प्राणायाम परायण जीवन्मुक्त के लक्षण(५)

(१४)

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥*

(श्रीभा० गी० ५ अ० २७ २८ श्लो०)

छप्पय

जो नहिं मनतैं करै बाह्य विषयनि को चितन।
भीतर जो हैं भरे विषय तिनि करि बाहर तन॥
अन्तःकरन विशुद्ध बने तब ध्यान लगावै।
दो भौंहनि के बीच दीठि कूँ सुदृढ़ बनावै॥
चलत रहत नित नासिका, में ये दोऊ प्रान हैं।
प्रान अपानहु नाम तैं, तिनिकूँ करैं समान हैं॥

---

* बाहर के विषय भोगों को बाहर ही रखकर और चक्षु की दृष्टि को भ्रुकुटि के मध्य में स्थिर करके नासिका में विचरण करने वाले प्राण अपान को सम करके ॥२७॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियों को जीतकर, इच्छा भय और क्रोध से रहित होकर जो मोक्ष परायण मुनि है, वह तो सदा-सर्वदा मुक्त ही है ॥२८॥

ब्रह्माजी सृष्टि के आदि में ऐसा एक सर्वाङ्गीण जीव बनाना चाहते थे, जो साधन करके प्रभु को प्राप्त कर सके। जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँच सके, परम पुरुषार्थ की उपलब्धि कर सके, किन्तु वे यह निर्णय न कर सके कि वह जीव कैसा हो। उन्होंने देवताओं की रचना की, किन्तु वह तो भोग योनि है, फिर पशु, पक्षी, भूत, प्रेत पिसाच, सर्प, बिच्छू आदि की सृष्टि की, किन्तु ब्रह्मा जी इन सभी को रचकर सन्तुष्ट नहीं हुए। फिर अकस्मात् उन्होंने पुरुष की रचना की जो कर्मों के द्वारा नैष्कर्म्यता को प्राप्त करने में समर्थ है, जो साधनों द्वारा साध्य को प्राप्त कर सकता है। इस नर योनि को बनाकर ब्रह्मा जी अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। उससे पहिले जो देवतादि उत्पन्न हुए उन्होंने भी ब्रह्माजी से यही कहा—"सुकृतंवत ते कृतम्" महाराज! आपने यह 'मनुष्य' नाम का जीव तो बहुत ही सुंदर बनाया। आपकी यह कृति अजर अमर रहेगी और यही परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगी।

वास्तव में मनुष्य योनि सर्वाङ्ग योनि है। ब्रह्मा की यह सबसे श्रेष्ठ अन्तिम कृति है। और सब तो भोग योनियाँ हैं। वे सब परमार्थ के लिये स्वतः प्रयत्न करने में समर्थ नहीं। वे तो केवल प्रारब्ध कर्मों के दुख सुख का भोग ही कर सकते हैं। आगे के लिये कर्म नहीं कर सकते। यहाँ तक कि देव योनि भी भोग योनि है। देवता स्वर्ग में रहकर स्वर्गीय सुखों का तो—जब तक उनके पुण्य शेष है, तब तक—उपभोग कर सकते है। किन्तु यज्ञ, जप, दानादि सुकृत कर्म नहीं कर सकते। इन्द्रादिकों को कभी यज्ञादि पुण्य कर्म करने की इच्छा भी होती है, तो उन्हें यहीं मर्त्यलोक में—भूमि पर आकर ही कर सकते है। इसीलिये देवता भी इस मनुष्य योनि को पाने के लिये लालायित बने रहते हैं।

मनुष्य योनि बड़ी दुर्लभ है, वह चौरासी लाख योनियों के

पश्चात् ही प्राप्त होती है। इस मनुष्य योनि को भी पाकर जिसने साधनों द्वारा परम साध्य प्रभु को प्राप्त नहीं किया, उसने तो जीती बाजी को हार के रूप में परिणित कर दिया। इस मनुष्य शरीर को पाकर जिसने संसारी भोग विलास में ही इसे नष्ट कर दिया उसने बहुमूल्य दिव्यमणि को काँच के टुकड़े के बदले बेच दिया। इसलिये मनुष्य शरीर पाकर साधन भजन में ही संलग्न बने रहना चाहिये। मनुष्य का इसीलिये एक नाम साधक भी है।

परमात्मा को प्राप्त करने के विविध साधन हैं, उनमें से प्राणायाम भी एक मुख्य साधन है। प्राणायाम के द्वारा शरीर के भीतर के समस्त मल जलाये जा सकते हैं। तभी साधक निर्मल तथा विगतज्वर-निष्पाप-निष्कल्मष बन सकता है। मनुष्य योनि क्या है, समस्त विश्वब्रह्माण्ड की एक अत्यन्त सूक्ष्म प्रतिकृति मात्र है। जो शरीर में है वही सब विश्व ब्रह्माण्ड में है, जो शरीर में नहीं वह विश्व ब्रह्माण्ड में भी नहीं। इसलिये कहावत है—"जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में भी है।

अब सोचना यह है कि इस शरीर में मल कहाँ से आ गया? यह तो संसार है इसकी स्थिति द्वन्द्व के ऊपर निर्भर है। द्वन्द्व न हो तो संसार भी न हो। पुण्य-पाप, सुकृत-दुष्कृत, अच्छा-बुरा, सुख-दुख, जीवन-मरण इन्हीं का नाम द्वन्द्व है। इन द्वन्द्वों का परस्पर में ऐसा समिश्रण हो गया है, कि हम चाहे कि संसार में से एक ही वस्तु को लें एक को छोड़ दें ऐसा असंभव है। जैसे आप पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों में से चाहें कि हम केवल पृथ्वी ही पृथ्वी या जल ही जल को लें, शेष चार भूतों का स्पर्श ही न करें तो यह असम्भव है। इन पाँचों भूतों का परस्पर में पंचीकरण हो गया है, कोई अपने निजी शुद्ध

रूप में है ही नहीं। पृथ्वी में सौ में से पचास भाग पृथ्वी का है, पचास में जल, तेज, वायु और आकाश इन चारों का मिश्रण है। इसी प्रकार जल में जलीय अंश आधा है आधे में शेष चार भूत हैं। ऐसे ही सब भूतों में समझ लीजिये। हम एक पस जल उठाते हैं, तो समझते हैं,हमने पचभूतों में से केवल जल को ही अजलि में उठाया,किन्तु यह हमारी भूल है। हमारी अंजलि में तो आधा जलीय भाग है और आधे में चारो भूतों का सूक्ष्म भाग है।

ठीक इसी तरह भोजन के जितने पदार्थ हैं उन सबमें पाप और पुण्य सूक्ष्म रूप से व्याप्त हैं। किन्ही पदार्थों में पुण्यांश अधिक है, किन्हीं में पापांश हम जो जीवन के लिये आहार करते हैं, उनके द्वारा प्राणों का पोषण होता है। अर्थात् खाये हुए पदार्थों का प्राणों द्वारा रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र और ओज के रूप में परिणति होती है। इन सबमें भी मल, पाप, कल्मष, अघ या मैल रहता है। हम जो अन्न जल भीतर पेट में ले जाते हैं। उनके उत्तम भाग का तो रस बन जाता है,शेष भाग किट्ट या मल,मूत्र बनकर मूलमूत्र द्वार से निकल जाता है। रस में भी मल रहता है जिसे कच्चा मल या आँव कहते हैं। रस से जो रक्त बनता है उसमें भी मल रहता है इसी प्रकार मांस, मज्जा, अस्थि शुक्र और ओज सबमें मल रहता है। ये मल बहुत सूक्ष्म होते हैं। स्थूल मल तो मल द्वार से निकल जाता है, किन्तु सूक्ष्म मल नाड़ियों में संचित होता रहता है। वह इतना सूक्ष्म होता है, कि उसे किसी साधारण औषधि से किसी साधारण यन्त्र से आप उसे निकाल नही सकते। हमारे शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं। पूरे शरीर में नाड़ियों का जाल बिछा है, वे नाड़ियाँ मलावृत बनी रहती हैं, इसीलिये शरीर को "मलायतनम्" कहा गया है। व्याधियों का घर होने से इसे व्याधि-

मंदिर भी कहते हैं। जब तक शरीर की नाड़ियों में मल है, जब तक देह में व्याधियों का वास है, तब तक परमार्थ साधन संभव नहीं। इन दोषों को निकालकर शरीर को निर्दोष निर्मल बनाकर ही साधन संभव हो सकता है। ये दोष दूर कैसे हों, इसके लिये कहा गया है "प्राणायाम दहेत् दोषान्" प्राणायाम के द्वारा दोषों को जला डालें। योग शास्त्रों में "नाडी शोधन" एक क्रिया है। एक विशेष प्राणायाम द्वारा सभी नाडियों में शुद्ध वायु पहुँचायी जाती है। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ियाँ मल से भर गयीं हैं, अतः उनमें शुद्ध वायु पहुँच नहीं सकती। जब तीव्रगति से विशेष प्राणायाम द्वारा शुद्ध वायु उन नाड़ियों में प्रवेश करेगी, तब उनमें का मल वायु द्वारा आँतो में आ जायगा और वह मल नव छिद्रों द्वारा विशेष, कर मुख और मल द्वार द्वारा बाहर निकलने लगेगा। यह कैसे पता चलेगा कि सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयीं। इसकी मोटी-सी पहिचान यही है कि साधक नाडियो में वायु भरकर जब अपनी शरीर को अधर आकाश मे स्थित करले या वायु में उड़ने की सामर्थ्य प्राप्त करले, तब समझो उसकी सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयीं।

पूर्व जन्म के अशुभ संस्कारों के ही द्वारा जीव दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है, बाह्य विषयों का दास बन जाता है। वासनायें ही इन्द्रियो को अपने-अपने विषयों में लगाकर उनसे उन-उन इन्द्रियों के भोग भुगवाती है। विषयों के उपभोग से मन मलीन हो जाता है। जीव तो वास्तव में शुद्ध है। सिंह के समान बलशाली और स्वतन्त्र है, किन्तु विषयों के चक्कर में पड़ जाने से अपना सिंहत्व भूलकर ग्रामसिंह-अर्थात् कुत्ता-बन गया है।

इन्द्रियाँ तो सभी बड़ी प्रबल हैं, किन्तु इन इन्द्रियों में उपस्थ और जिह्वा ये दो इन्द्रियाँ अत्यधिक प्रबल हैं। इनको जिसने

अपने वश में कर लिया है, वास्तव में वही निर्मल साधक है।

मथुरा जी से जब वृन्दावन जाते हैं, तो मार्ग में एक शिवजी का मन्दिर पड़ता है। उस मन्दिर में शिवलिंग नहीं है। मनुष्य के आकार की शिव जी की एक विशाल मूर्ति है। उसमें शिव जी एक हाथ से तो अपनी जिह्वा इन्द्रिय को पकड़े हुए है और दूसरे हाथ से उपस्थेन्द्रिय को पकड़े हैं। एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा ने जब उनके दर्शन किये तो वे आनन्द में भरकर नृत्य करने लगे। उनके साथी ने पूछा—"स्वामी जी! आप को ऐसी कौन सी प्रसन्नता की वस्तु प्राप्त हो गयी, जिसके कारण आप इतने आनंद में विभोर हो गये?"

स्वामी जी ने कहा—"आज मुझे साधन का रहस्य ज्ञात हो गया।"

साथी ने पूछा—"सो, कैसे?"

महात्मा ने कहा—"साधन में ये दो इन्द्रियाँ ही अत्यन्त बाधक हैं, जो इन दो इन्द्रियों को वश में करके साधन में प्रवृत्त होगा, वहीं सिंह की भाँति निर्भय होकर साधन में बढ़ता जायगा। इन दो इन्द्रियों ने ही इस सिंह रूपी जीव को गृहपाल-कुत्ता-बना दिया है "औपस्थ जैह्व कार्पण्यात् गृह पालायते जनाः" कृपण उसे कहते हैं, जो फल भोगने की इच्छा रखकर कर्म करे। "कृपणा फल हेतवः" इन दो इन्द्रियों के उपभोग ने ही प्राणी को साधनहीन पंगु बना रखा है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम कहलाते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये नियम कहलाते हैं। उपस्थ और जिह्वा के संयम से यम नियमों का अपने आप पालन होता है।

अब साधक साधन में प्रवृत्त होगा, तो उसे किसी सुनियोजित

आसन से बैठना होगा, अतः शास्त्रीय आसनों से बैठने का अभ्यास करे। जब सुस्थिर आसन से बैठ जाय, तो प्राणयाम का अभ्यास करे। पहिले तो जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जन्य बाह्य विषय हैं इन्हें तो बाहर ही रहने दे। फिर प्राणायाम का अभ्यास करे। वही प्राणायाम साधन करने वाला योगी साधक कहलाता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! अब भगवान् अर्जुन से उस जीवन्मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में बताते हुए कहते हैं, जिसने प्राणायाम के द्वारा अपने अन्तःकरण को वश में कर लिया है।

भगवान् कहते है—"अर्जुन! एक मननशील मुनि होते हैं। वे बाह्य कर्मों को महत्व नही देते वे तो मन के द्वारा विचार से ही आत्म साक्षात्कार करके जीवन्मुक्त हो जाते हैं, अर्थात् वे सदा सर्वदा मुक्ति के ही आनन्द का आस्वादन करते रहते है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! वे मुनि क्या साधन करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"वे मुनि शब्दादि बाह्य विषयों को तो बाहर ही रहने देते हैं—अर्थात् उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते।"

अर्जुन ने पूछा—"वे ध्यान जमाते कहाँ हैं?"

भगवान् ने कहा—दोनों नेत्रों के ऊपर जो दोनों भौंयें हैं, उन दोनों भौंहों के ठीक बीच में अपनी दृष्टि को एकाग्र करके मन को वहीं अटकाये रखते हैं। क्योंकि मन को तो कोई आश्रय चाहिये। नासिका में जो प्राण अपान नाम की वायु है, उसे समान करके, अपनी समस्त इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को वश में करके ध्यान मग्न हो जाते हैं। उन्हें ध्यान में ऐसा आनन्द आता है, कि उनके धारणा ध्येय में तदाकार होने से वे समाधि सुख का आस्वादन करते रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—इससे होता क्या है?

भगवान् ने कहा—होता क्या है, सब कुछ हो जाता है। ध्यान की परिपक्वावस्था हो जाने पर संसारी भोगों की समस्त इच्छायें समाप्त हो जाती है। इस प्राणी को जो सर्वत्र मृत्यु का भय बना रहता है। जिस भय के कारण यह सदा सर्वदा शंकित तथा भयभीत बना रहता है, वह भय सर्वथा भग जाता है, साधक निर्भय बन जाता है। जब सब काम वासनायें ही समाप्त हो गयीं तो फिर उसे क्रोध करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। क्रोध करे भी तो किस पर करे और क्यों करे, जब सब में अपनी आत्मा ही दिखाई देने लगती है। ऐसा काम क्रोध से विमुक्त जितेन्द्रिय पुरुष तो सदा सर्वदा मुक्त ही है। उसका चाहे शरीर बना रहे अथवा नष्ट हो जाय, इस विषय में वह कभी सोचता ही नहीं। ऐसा योग साधन में तत्पर हुआ योगी जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! बहुत से योगी ऐसे होते हैं, जो अपने को जीवन्मुक्त भी बताते हैं किन्तु आप परमात्मा का ध्यान नहीं करते। केवल श्वासों का ही व्यायाम करते रहते है, और कहते हैं ईश्वर की क्या आवश्यकता है, ऐसे लोग परिश्रम तो बहुत करते हैं। षटक्रिया में निरत रहते हैं, उन्हें योग की सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती है। आकाश में गमन की भी शक्ति हो जाती है, किन्तु फिर भी हमने ऐसे लोगों का पतन भी होते देखा है, यह क्या बात है, इतने ऊँचे उठकर परमपद के समीप पहुँचकर तो उनका पतन नहीं होना चाहिये।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अर्जुन! वास्तव में वे लोग विमुक्त नहीं हुए हैं वे विमुक्त मानो है। साधनों का फल तो होना ही चाहिये। अणिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्त, प्राकाम्य आदि सिद्धियाँ उन्हें साधनों के द्वारा प्राप्त अवश्य हो जाती हैं, किन्तु

उन्होंने मूल आधार को तो पकड़ा ही नहीं। उन्होंने मेरे चरण कमलों का तो आश्रय लिया ही नहीं। मेरे प्रति उन लोगों ने सद्भावना नहीं रखी। इसी से उनका पतन देखा गया है।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन्। साधक को आप में कैसा भाव रखना चाहिये ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो। जब अर्जुन ने भगवान् से भाव के सम्बन्ध में पूछा, तब उन्होंने इसका जो उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

पुनि इन्द्रिनि वश करै विषय नहिँ भागन देवै।
मनकूँ करि एकाम जीति निज बुद्धिहिँ लेवै॥
मोक्षपरायन गुही कहावै मुनि विज्ञानी।
इन्द्रिय भीतर और बाहरी वश करि ज्ञानी॥
इच्छा द्वेष विहीन वह, क्रोध और भयतैं रहित।
ता योगी कूँ वेदवित, नित्ययुक्त ज्ञानी कहत॥

भगवान् को सुहृद् समझने पर शान्ति मिलती है

[१५]

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

जो हैं ज्ञानी भक्त मोइ यदि सरबसु मानें।
तप अरु यज्ञ अनेक मोइ तिनि भोक्ता जानें॥
सब लोकनि के ईश सबहिँ लोकनि में न्यारे।
तिनि सब कोई एक मोइ वह ईश विचारे॥
सब भूतनि को मोइ यदि, समुझै सच्चो सुहृद जो।
स्वार्थ रहित साधक सतत, पावै सच्ची शान्ति सो॥

बिना ईश्वर को माने हुए भी साधनों द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, किन्तु वे सिद्धियाँ अधिक टिकाऊ नहीं होतीं। क्योंकि कर्मों की कोई दृढ़ता नहीं। कर्म तो प्रभु-प्रीत्यर्थ किये

---

* हे अर्जुन! तुम जब मुझे ही यज्ञ और तप का भोक्ता सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर और सम्पूर्ण प्राणियों का एकमात्र सुहृद् समझ लोगे, तभी शान्ति को प्राप्त कर लोगे ॥२९॥

जायें तभी वे गुणकारी हो सकते हैं। अनासक्ति और भगवत्-विश्वास इन दो आधारों को लेकर जो साधन किये जायेंगे, वे ही परमतत्त्व परमार्थ तक पहुँचाने में समर्थ होंगे। कर्मों द्वारा आप कहीं तक पहुँच जायें वहीं से पतन की सम्भावना है। विदर्भ देश के राजा श्वेत ने अस्सी हजार वर्षों तक घोर तपस्या की, उस तपस्या रूपी पुण्य कर्म के प्रभाव से वे सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक या सत्यलोक तक पहुँच गये। जहाँ न क्षुधा है न पिपासा न वहाँ जरा है न मृत्यु। फिर भी राजा को वहाँ भूख लगने लगी। उसके पूछने पर ब्रह्माजी ने कहा—"जिसने पृथ्वी पर अन्न दान किया होगा उसी को भूख नहीं लगती। तुमने अन्नदान न करके इस शरीर का ही पालन पोषण किया है, वही अमर बना दिया है उसे ही तुम खाओ। १०० वर्ष पश्चात् महर्षि अगस्त्य की कृपा से तुम्हारा उद्धार हो सकेगा।"

सो, केवल कर्मों द्वारा परमसिद्धि प्राप्त करना बहुत कठिन है। संसारी सिद्धियाँ, आकाश में उड़ना, लोक लोकान्तरों में जाना, अनेकों रूप बना लेना, ईशत्व, वशित्व प्राप्त करना ये सब तो सम्भव हैं। किन्तु इन्हें प्राप्त करके तनिक सी भूल के कारण पतन हो जाता है।

मगध के राजा के राज्य में एक योगी रहते थे। उनकी सिद्धि की चारों ओर ख्याति थी राजा भी उनकी प्रशंसा सुन कर उनके समीप गया। उनकी पूजा करके प्रार्थना की। दास के महल को भी अपनी चरण-रज से कृतार्थ करें। राजा की प्रार्थना योगी ने स्वीकार करली। वे आकाश-मार्ग से उड़कर राजा के महल में गये। राजा ने उनका रानियों सहित बड़ा स्वागत-सत्कार किया। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन कराया और प्रार्थना की। इसी प्रकार नित्य दास का आतिथ्य ग्रहण किया करें।

अब तो योगी का नित्य का नियम हो गया। नित्य नियम पूर्वक आकाश मार्ग से उड़कर महल में आते, भोजन करके आकाश मार्ग से ही अपनी कुटी पर लौट आते। राजा के साथ भोजन कराने में एक अत्यन्त ही रूप-लावण्य सम्पन्ना युवती सुन्दरी दासी सहयोग देती। राजा को एक दिन बाहर जाना था, उसने प्रार्थना की—"महाराज ! मुझे किसी बहुत ही आवश्यक कार्य से कुछ दिनों के लिये बाहर जाना है। जब तक मैं न आऊँ यह दासी आपकी सेवा किया करेगी।"

योगी ने इसे स्वीकार किया। राजा की उपस्थिति में तो कोई बात नहीं थी, जब योगी और वह सुन्दरी एकान्त में हुए, तो योगी के मन में विकार उत्पन्न हुआ। उन्होंने कोई शारीरिक क्रिया नहीं की, किन्तु मन में विकार आते ही उनके उड़ने की सिद्धि नष्ट हो गयी। कई बार प्रयत्न करने पर भी जब वे न उड़ सके, तो उन्होंने दम्भ का आश्रय लिया।

बोले—सुन्दरी ! ये प्रजा के लोग मेरे दर्शनों को सदा लालायित बने रहते हैं। आज मेरी इच्छा है, मैं आकाश मार्ग से न जाकर पैदल ही सबको दर्शन देता हुआ जाऊँ।" यह कह कर पैदल ही गये। उनकी आकाश में उड़ने की शक्ति कामिनी की आसक्ति के कारण सदा के लिये नष्ट हो गयी। "आरूढ़यो-गोऽपि निपात्यतेऽधः संगेन योगी, किमुताप्लबुद्धिः" आसक्ति से योगी लोगों का भी अधः पतन हो जाता है, फिर साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या ?

यदि भगवान् का आश्रय लेकर साधन किया जाय, तो वह साधन साधार होता है, भगवान् उसमें सहायता करते हैं। श्रद्धा का अवलम्ब बहुत बड़ा अवलम्ब है। भगवान् के प्रति प्रेम हो और फिर साधन किये जायं, तो उस भगवत्-प्रेम के प्रभाव से ही

साधन के समस्त विघ्न अपने आप दूर हो जायेंगे तथा परम शांति की प्राप्ति हो जायगी।

भगवान् तो नित्य हैं, शाश्वत हैं, सनातन हैं उनके प्रति की हुई श्रद्धा भक्ति तथा प्रेम तो अमरत्व प्रदान करता ही है, यदि सच्चा प्रेम संसार में भी किया जाय, तो वह भी अमरता प्रदान करने में समर्थ होता है।

एक महात्मा थे। एक बार घूमते फिरते वे एक नदी के किनारे आये। उन्होंने प्रेम से भगवान् का नाम लिया। लेते ही नदी के कच्छ-मच्छ मगर नाके सभी इकट्ठे हुए और महात्मा के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने लगे। महात्माजी उन्हें उपदेश देने लगे, वे सब प्रेमपूर्वक महात्मा के उपदेशों को सुनते रहे।

वहीं पास में जंगल में एक भोला-भाला संस्कारी चरवाहा अपने पशुओं को चरा रहा था, जब उसने महात्मा का ऐसा चमत्कार देखा, तो वह आश्चर्य-चकित रह गया। महात्मा जी के प्रति उसकी स्वाभाविक भक्ति उत्पन्न हो गयी। वह महात्माजी के समीप गया और हाथ जोड़कर बोला—"महात्माजी! मैं पवित्र जीवन बिताना चाहता हूँ, इसका मुझे कोई उपाय बतादें। जिससे मेरे कहने पर भी इसी प्रकार जीव जन्तु आ सकें।"

महात्माजी ने पूछा—"तुमने किसी से प्रेम किया है?"

थोड़ी देर चुप रहने के अनन्तर सोचकर उसने कहा—"अभी तक प्रेम तो किसी से किया नहीं।"

महात्मा ने कहा—"तो पहिले कहीं जाकर किसी से प्रेम करो, प्रेम की शिक्षा लेकर तब मेरे पास आना।" इतना सुनते ही वह श्रद्धा विश्वास के साथ वहाँ से प्रेम की शिक्षा लेने चल पड़ा।

अब वह जो मिले, उसी से कहे—"मुझे प्रेम करना सिखा दो।"

सब लोग उसे पागल समझ कर हँस देते। वह आगे बढ़ जाता। एक दिन वह एक गाँव में पहुँचा वहाँ उसे एक बुढ़िया मिली। उसने बुढ़िया से कहा—"माँ! मुझे प्रेम करना सिखा दो।"

बुढ़िया ने कहा—"बेटा! मैं प्रेम क्या जानूँ। प्रेम तो राजाओं के यहाँ होता है, तुम राजमहल में चले जाओ सम्भव है, वहाँ तुम्हें कोई प्रेम सिखाने वाला मिल जाय।"

वह प्रेम का इच्छुक सीधा राजमहल में चला गया। उसे देखते ही रानी तथा राजकुमारियाँ कहने लगीं। यह कहाँ से आ गया? तू यहाँ कैसे चला आया। उसने दीनता से कहा—"मैं प्रेम सीखने के लिये भटक रहा हूँ, एक बुढ़िया ने कहा है, राजमहल में तुम्हें प्रेम सिखाने वाली मिल जायेंगी, इसीलिये मैं यहाँ चला आया हूँ।"

यह सुनकर सभी ठठाका मारकर हँसने लगीं। उनमें एक राजकुमारी बड़ी बुद्धिमती थी, उसने कहा—"मैं तुम्हें प्रेम करना सिखा दूँगी। मेरी बात मानोगे?"

चरवाहे ने कहा—"अवश्य मानूँगा।"

राजकुमारी ने पूछा—"मैं जो कहूँगी उसे करोगे?"

चरवाहे ने कहा—"अवश्य करूँगा।"

राजकुमारी ने कहा—"अच्छा, तो यहाँ कुछ दिन मेरे पास रहो।" यह सुनकर वह वहाँ रहने लगा।"

एक दिन राजकुमारी ने कहा—"प्रेम की सिखायी कुछ दोगे?"

उसने कहा—"मेरे पास जो भी कुछ है, मै सब कुछ देने को तत्पर हूँ।"

राजकुमारी ने कहा—पीछे नटोगे तो नहीं?

उसने कहा—"कभी नहीं।"

राजकुमारी ने कहा—"अच्छा, तुम यहाँ मेरे समीप सो जाओ। देखो, इस छूरे से मै तुम्हारे प्राण लूंगी।"

उसने कहा—"बड़ी प्रसन्नता से ले लीजिये।" और वह अटल विश्वास के साथ सो गया। राजकुमारी ने सचमुच उसके हृदय में छुरी भोंक कर उसकी हत्या करदी। और अपनी दासी से कहा—"इसे एक गड्ढे में डाल कर ऊपर से मिट्टी डाल आओ।"

दासी उसे ले गयी, एक गड्ढे में डाल आई। उसने उसकी जांघ में से थोडा सा मांस का टुकड़ा निकाल लिया और एक कसाई के यहाँ जाकर बोली—"यह एक मोटे भेड़ा का मांस है, मुझे भेड़े का मांस अच्छा नहीं लगता, उसके बदले में इतना ही बकरे का मांस दे दो।"

उसने तराजू में रख कर उसके बराबर बकरे का मांस दे दिया। दासी उसे लेकर ज्यों ही बाहर हुई त्यों ही एक सभ्य पुरुष मांस लेने आ गये। उसने कहा—"इस तराजू के मांस को मुझे दे दो।"

कसाई ने दाम लेकर वह मांस उसे दे दिया। उसकी गृहिणी ने मांस के टुकड़े करके उन्हें उबाला। भाफ लगने से उसका हाथ जल गया और वह चिल्लाने लगी। तब बटलोई में से आवाज आई कि प्रेमी तो छुरी देखकर भी नहीं चिल्लाया, तुम तनिक सी भाफ से ही चिल्लाने लगी।"

निर्जीव बटलोई में से ऐसी वाणी सुनकर गृहिणी बहुत डरी। उसने समझा कोई भूत प्रेत बटलोई में बैठ गया है। उसने घर वालों से कहा। बात की बात में वहाँ भीड़ लग गई। सभी आश्चर्य से इस अनहोनी बात को देखते और चकरा जाते। बात

बढ़ते-बढ़ते राजा के कानों तक पहुँची। कुतूहल वश राजा भी वहाँ स्वयं आये। उन्होंने अपने कानों से बटलोई में से प्रेम की ये बातें सुनीं।

राजा ने भद्र पुरुष से पूछा—"तुम यह मांस कहाँ से लाये ?"

भद्र पुरुष ने कहा—"अन्नदाता ! मैं तो इसे आज ही अमुक वधिक के यहाँ से क्रय करके लाया हूँ।"

राजा उसे साथ लेकर वधिक के समीप गये। उससे उन्होंने पूछा—"तुमने यह मांस किस पशु को काट कर पाया ?"

वधिक ने कहा—"महाराज ! मुझे तो राजमहल की दासी देकर इसके बदले में बकरे का मांस ले गई है।"

राजा कसाई को लेकर महल में आये। सब दासियों को एकत्रित करके वधिक से पूछा—"इनमें से कौन सी दासी तुम्हें मांस दे आई थी ?"

वधिक ने पहिचान कर दासी को बता दिया। राजा ने उससे पूछा—"तुम्हें यह मांस कहाँ मिला ?"

दासी ने कहा—"मुझे तो राजकुमारी ने एक मनुष्य को मारकर गड्ढे में दबाने को कहा था, उसी का थोड़ा मांस काटकर मैं ले गयी थी, उसी के बदले बकरे का मांस लाई।"

राजा दासी को लेकर स्वयं उस गड्ढे में गये। उसके मृतक शरीर को निकाला। जहाँ से मांस काटा गया था, उस स्थान पर वे मांस के टुकड़े यथास्थान जमाये। और राजपुत्री से बोले—"तुम शनैः शनैः इसके सम्पूर्ण शरीर पर हाथ फिराओ और इसके ओठों को अपने ओठों से चूमो।"

राजा की आज्ञा पाकर राजकुमारी ने ऐसा ही किया। सबके देखते-देखते वह चरवाहा जीवित उठ बैठा।

राजा ने पूछा—तुम राज महल में कैसे आये ?

उसने कहा—"अन्नदाता ! मैं प्रेम की शिक्षा लेने आया था।"

राजा ने पूछा—तो अब तुम प्रेम करना सीख गये ?

उसने कहा—"हाँ महाराज ! सीख गया, किन्तु प्रेम का मूल्य बहुत अधिक है।"

राजा ने पूछा—प्रेम का मूल्य क्या है ?

चरवाहे ने कहा—"प्रेम का मूल्य श्रद्धा और विश्वास है।"

यह तो घर है प्रेम को, खाला को घर नाहिं।—
शीश उतारे भुइं धरे, तब पैठे घर माहिं॥

जो अपना सर्वस्व समर्पण करने को तत्पर होगा, वही प्रेम के घर में प्रवेश कर सकेगा। जिसे अपना सुहृद् समझे उसको अपना सर्वस्व सौंप दे। उस पर पूर्ण विश्वास करे कि यह मेरा सदा कल्याण ही करेगा। मेरे साथ कभी अन्याय न करेगा। सदा मेरी मंगल कामना करेगा। तभी उसे परम शांति होगी।"

जब यह चरवाहा उन महात्मा के समीप प्रेम की शिक्षा लेकर गया, तो सब सुनकर महात्मा बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने इसे अपना शिष्य बना लिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! दृढ़ विश्वास ही एक ऐसी महान् शक्ति है, जो सभी साधनों को सुन्दर मधुर बना देती है। इसी का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे है—"अर्जुन ! जब साधक को इस बात का दृढ़ निश्चय हो जाता है, कि हम चाहे, कितने भी यज्ञ करें, कैसे भी घोर से घोर उग्र से उग्र तप करें उन समस्त यज्ञ और तपों का भोक्ता मै वासुदेव ही हूँ। मैं वासुदेव ही इन्द्रलोक, वरुणलोक, यमलोक, कुबेरलोक, चन्द्रलोक तथा समस्त लोकों के ईशों का भी ईश हूँ, मै ही ईश्वरों का ईश्वर महेश्वर हूँ। तथा संसार के समस्त प्राणियों का एक मात्र सुहृद

हूँ। बस इतना ज्ञान हो जाने पर, ऐसा दृढ़ निश्चय होने पर साधक को परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह प्राणायाम योग तो आपने बहुत ही संक्षेप में सुनाया। मैं इसे विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूँ।

भगवान् ने कहा—अर्जुन! यह बड़ा ही गूढ़ तथा महान् विषय है, फिर मैं तुम्हें कुछ विस्तार पूर्वक आगे-छटे अध्याय में-सुनाऊँगा। तुम इसे सावधानी से सुनो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह संक्षेप में कर्म और संन्यास का निरूपण भगवान् ने किया। कर्म करते हुए भी संन्यास कैसे हो सकता है, यह विषय बताया, इस पंचम अध्याय को कहीं "कर्म संन्यास योग" कहीं केवल "सन्यास योग" कहीं "स्वरूप परिज्ञान योग" नाम से कहा गया है अब छटे अध्याय में भगवान् ने जैसे "आत्मसंयम योग" का वर्णन किया है, उसे मैं आगे आपसे कहूँगा।

छप्पय

सर्वात्मा सुखसदन सर्वगत मोकूँ मानें।
करि मो पै विश्वास हितैषी अपनो जानें॥
सुहृद-सुहृद के संग कपट कबहूँ न करैगो।
खोंचि कुपथ तैं तुरत सुपथ में लाइ धरैगो॥
जो मोकूँ सच्चो सुहृद, धरि निज हिय अपनाइगो।
तो निश्चय साधक सरल, परम शांति कूँ पाइगो॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत् गीता उपनिषद जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप में है, उसमे "कर्म संन्यास योग" नाम का पंचम अध्याय

अथ

षष्ठोऽध्यायः

(६)

कर्मों के फल को त्यागने वाला ही संन्यासी है

[१]

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

पुनि बोले भगवान—कौन संन्यासी अर्जुन ।
सुनो, बताऊँ तुम्हें जथारथ तिनिके लच्छन ॥
आश्रय तजिकें करम फलनि को बनि निरमानी ।
करें करम करतव्य बनैं नहिँ कबहूँ मानी ॥
सच्चो संन्यासी वही, योगी अरु विद्वान है ।
अग्नि किया तजि बनहिँ जो, अक्रिय नहीं महान है ॥

---

* श्री भगवान् कहने लगे—जो पुरुष कर्मों के फल के आश्रित नहीं है और कर्तव्य कर्मों को करता रहता है, वही संन्यासी तथा योगी है। केवल अक्रिय और अग्नित्यागी संन्यासी नहीं है ॥१॥

हे अर्जुन जिसे तुम सन्यास कहते हो, उसी को योग समझो। क्योंकि संकल्पों को न त्यागने वाला कोई भी योगी नहीं हो सकता ॥२॥

चतुर्थ अध्याय तक ज्ञान और कर्म दोनों की प्रशंसा सुनकर अर्जुन का रुझान निष्काम कर्मयोग की ओर झुका तब भगवान् से उसने पूछा—"महाराज ! मिली-जुली बात मत करो। मुझे स्पष्ट बताओ कि संन्यास और कर्मयोग इन दोनों में मेरे लिये कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है ? तब भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा—तुम्हारे लिये तो भैया-कर्मयोग ही ठीक पड़ेगा। फिर अर्जुन ने पूछा—"तब संन्यास मार्ग का क्या होगा ?

भगवान् ने कहा—"यह संन्यास मार्ग ही तो है। तुम यज्ञ करो, दान करो, तपस्या करो, भगवान् की भक्ति करो, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, सख्य, आत्मनिवेदन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन अष्टांगयोग ये सबके सब कर्म ही हैं। इन कर्मों को करते हुए भी इनके फल की इच्छा न रखना और मुझे ही इन कर्मों का भोक्ता समझकर मुझे अपना सच्चा सुहृद् समझकर फल को मेरे अर्पण करते रहना यही संन्यास का सच्चा स्वरूप है। इतना बताकर भगवान् ने प्राणायाम की बात छेड़ दी। संक्षेप में प्राणायाम कर्म को भी निष्काम भाव से करने को कहा। अब अर्जुन की जिज्ञासा इस अष्टांगयोग के सम्बन्ध में हुई। क्योंकि विषय को निरूपण करने की प्राचीन परिपाटी ऐसी ही है, कि पहिले संक्षेप में उस विषय को सूत्र रूप से कह देना, यदि उसमें श्रोता की जिज्ञासा देखे तो उसका विस्तार करदे। इसलिये षष्ठ अध्याय में उसका आगे विस्तार करेंगे। अब अर्जुन के मन में एक ही द्विविधा रह गयी। प्राचीन ऋषि-महर्षि कर्म को बन्धन का कारण कहते हैं, उपनिषदें संन्यास की प्रशंसा करती हैं, भगवान् कहते हैं, संन्यास और कर्मयोग दोनों एक से मार्ग हैं, दोनों श्रेयस्कर है, फिर भी इनमें संन्यास से कर्मयोग विशिष्ट है श्रेष्ठ है। तो इससे तो सिद्ध हुआ कर्मयोगी की

अपेक्षा संन्यासी हेय है। हम लोग तो अब तक संन्यासी को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे।"

सर्वान्तर्यामी घट-घट की जानने वाले भगवान् अर्जुन के मनोगत भाव को समझ गये और बिना पूछे अपने ही आप कहने लगे—"अर्जुन! संन्यासी तो सबसे श्रेष्ठ होता ही है।

अर्जुन ने कहा—आप तो पीछे कह आये हैं—"कर्मयोगी विशिष्यत" कर्मयोगी सन्यासी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। तब तो संन्यासी उससे छोटा ही हुआ।

भगवान् ने कहा—"मैं तो संन्यासी को छोटा नहीं बताता। वह तो सर्वश्रेष्ठ है ही।"

अर्जुन ने कहा—कर्म योगी से तो छोटा है ही।" तयोऽस्तु कर्म संन्यासात् कर्म योगी विशिष्यते।" इसका तो मैंने यही अर्थ समझा है, कि जब कर्म योगी और कर्म त्यागी संन्यासी दो हों तो उनमे कर्मयोगी श्रेष्ठ है, संन्यासी उससे छोटा है।"

भगवान् ने कहा—"तुम भली भाँति पूर्ण रीत्या समझे नहीं। कर्मयोगी और कर्म त्यागी संन्यासी में कोई भेद नहीं है। वह निष्काम भाव से कर्म करने वाला निष्काम कर्म योगी भी संन्यासी ही है।

अर्जुन ने कहा—"महाराज, फिर आपने वही संशय वाली दो ओर की बात कह दी। संन्यासी तो वह है, जो काषाय वल्कल वस्त्रों को धारण करे, धातु का स्पर्श न करे, अग्निहोत्र करना छोड़ दे। अग्नि पर अपने लिये अन्न न पकावे। बलिवैश्व-देव यज्ञ न करे। कोई भी कर्म न करे, कर्मों से सदा उदासीन बना रहे। शिखासूत्र का त्याग करदे।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अर्जुन! संन्यास की जो तुम परिभाषा कर रहे हो, इतनी ही परिभाषा नहीं है।

यदि काषाय रंग के वस्त्र पहिनने से ही कोई संन्यासी हो जाता, तो घोड़ों का बहुत-सी भेड़ों का अन्य जन्तुओं का रंग ही लाल होता है, उन्हें तो कोई संन्यासी नहीं कहता। शिखासूत्र तो बहुत यवनादि भी नहीं रखते, वे तो संन्यासी नहीं है। अग्निहोत्र तो पतित भी नहीं करते, उन्हें कोई संन्यासी समझकर नमस्कार नहीं करता। बहुत से पक्षी अपने लिये अन्न नहीं पकाते, जंगल के कंदमूल फलों पर ही निर्वाह करते हैं। बहुत से निर्धन, अपंग आलसी लोग भिक्षा पर ही निर्वाह करते है। वे तो संन्यासी नहीं कहे जाते।"

इस पर अर्जुन की जिज्ञासा हुई कि फिर संन्यासी कौन है ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! सच्चे संन्यासी की व्याख्या करते हुए भगवान् कह रहे हैं—अर्जुन ! जो फल का आश्रय लेकर कर्म करता है, वह तो कर्मी अर्थात् वर्णाश्रमी है। अर्थात् ब्राह्मण को यज्ञ करना ही है। क्षत्रिय है, तो स्वर्ग की कामना से अश्वमेध करे। ये सब आश्रित कर्म हैं। किन्तु कोई आश्रय-फल की इच्छा-न रखकर कर्म करता है कर्म फल अनाश्रित कहलाता है, ऐसा निष्काम कर्म करने वाला व्यक्ति संन्यासी ही है।

अर्जुन ने पूछा—बिना फल की इच्छा के जो भी चाहे कर्म करे। जिस भी भले बुरे कर्म को करना चाहे उसे ही करता रहे तो वह भी संन्यासी है क्या ?

भगवान् ने कहा—नहीं, जो कार्य कर्म है—शास्त्रोक्त कर्म है—उसी को निष्काम भाव से करने वाला व्यक्ति संन्यासी कहलायेगा। और जिसके भीतर तो कामना भरी पड़ी है, ऊपर से काषाय वस्त्र पहिन लिये हैं। घर-घर से भिक्षा माँगते फिरते हैं, कोई पूछता है—बनी बनाई भिक्षा क्यों माँगते हो, तो वे कहते हैं—"संन्यासी को अग्नि छूना निषेध है।" कोई पूछता है—

"यह काठ का कमन्डलु क्यों रखते हो, तो वह कहता है—सन्यासी को धातु का स्पर्श निषेध है। किन्तु बाल वे धातु के उस्तरा से ही बनवाते हैं, जाड़ों में अग्नि से ही तापते है, पेट के भीतर जठराग्नि सदा बनी रहती है। इसलिये केवल अग्नि साध्य श्रौत स्मार्त कर्मों को त्यागने वाला, ऊपर से संन्यासियों जैसा वेष बनाने वाला अकर्मी--आलसी कर्म त्यागी पुरुष कभी सन्यासी कहलाने का अधिकारी नहीं। और ऐसा व्यक्ति योगी भी नहीं हो सकता। योगी तो वह है, जिसकी चित्त की प्रवृत्तियाँ निरुद्ध हो गयी हों। बनावटी संन्यासियों की चित्त की वृत्तियाँ तो बिखरी रहती हैं।

अर्जुन ने पूछा—"तब निष्काम कर्म योगी और सन्यासी में अन्तर क्या रहा।"

भगवान् ने कहा कहा—अन्तर कुछ भी नहीं। जिसे संन्यासी कहते हैं, उसी को योगी या निष्काम कर्म योगी भी कहते हैं। दोनों को मनस्थिति समान ही है। ऊपरी चिह्न या केवल कर्मों का त्याग मात्र यही संन्यास नहीं है। संन्यास का मुख्य सम्बन्ध तो मन के संकल्पों से है। मन में तो फलों के लिये संकल्प मचा है, ऊपर से वेष संन्यासी का बना लिया है, तो ऐसा कोई भी पुरुष न संन्यासी कहलाने का अधिकारी और न योगी ही कहलाने का। संन्यास में और निष्काम कर्मयोग में अणुमात्र भी भेद नहीं। क्योंकि दोनों को ही कर्मफल के संकल्प का त्याग करना पड़ेगा। बिना कर्मफलों के त्याग के कोई योगी या संन्यासी नहीं हो सकता।

अर्जुन ने पूछा—फिर निष्काम कर्मयोग में और संन्यास में अन्तर क्या है?

भगवान् ने कहा—"अन्तर क्या है, कुछ भी अन्तर नहीं है, तनिक निष्ठा का अन्तर है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् कर्मयोगी और संन्यासी में जो भेद है उसे आगे बतायेंगे। आप इस विषय को सावधानी से श्रवण करें।

छप्पय

योग और संन्यास माहिँ कछु अन्तर नाहीं।
जो पद पावें करम योग संन्यासहु माहीं॥
संकल्पनि को त्याग-त्याग ही सत्य बतायो।
मन संकल्प विकल्प करै कर्मनि बिसरायो॥
संकल्पनि त्यागे बिना, भ्रमत-भ्रमत मरि जायगो।
संन्यासी को वेष धरि, त्यागी नहीं कहायगो॥

निष्काम कर्म से अन्तःकरण की शान्ति मिलती है

[२]

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥❀

(श्री भग० गी० ६ अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

योग माहिँ आरूढ़ होन की इच्छा जाकी ।
ताको कारण करम मनन महँ वृत्ति हु ताकी ॥
करत करत पुनि करम होहिँ आरूढ़ ब्रह्मपद ।
शम पुनि ताको हेतु करम में भयो विशारद ॥
योगारूढ़ भयो जबहिँ, सकल शोक दुख कटि गये ।
योगारूढ़ भये बिना, निरभय कोई नहिँ भये ॥

❀ जो मुनि योगारूढ होने का इच्छुक है, उसके लिये तो कर्म शान्ति का कारण कहा गया है, किन्तु वही जब योग मे आरूढ हो जाता है, तो उसके लिये शम ही कारण बताया है ॥३॥

योगारूढ पुरुष उसे कहते हैं, कि जब वह इन इन्द्रियो के भोगो में और कर्मों में आसक्त नही होता है तथा जो सर्वसकल्पों का त्यागी बन जाता है ॥४॥

कर्मयोग, ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग या भक्ति मार्ग कल्याण के ये तीन ही मार्ग हैं। कर्मयोग अर्थात् वर्णाश्रम धर्म में कर्मों का अत्यन्त ही आग्रह है। वर्णाश्रमी चतुर्थ आश्रम संन्यास में भी कर्मों का आग्रह है, किन्तु ज्ञानमार्ग में कर्मों का आग्रह नहीं, वहाँ तो त्याग और तितिक्षा का आग्रह है। कर्मों को जितनी भी शीघ्रता से छोड़ सके उतना ही उत्तम है। ज्ञानमार्ग में जो कर्म किये जाते है, वे केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिये। वहाँ कर्म साध्य नहीं, साध्य तो त्याग, तितिक्षा अर्थात् संन्यास ही है। उसे प्राप्त करने को कर्म साधन मात्र हैं। जसे धान को कूटते हैं, तो वहाँ धान का चूर्ण बनाना लक्ष्य नहीं। लक्ष तो चावल निकालना है, किन्तु बिना धान का चूरा किये उसके भीतर से चावल निकलेगा नही। जिस समय सब चावल निकल आये उस समय भूसी को फेंक देते हैं, उसका फिर कोई प्रयोजन नही। इसी प्रकार ज्ञानमार्गीय लोग अन्तःकरण की शुद्धि पर्यन्त कर्म करते हैं। जहाँ अन्तःकरण शुद्ध हुआ नहीं, कि वे लौकिक वैदिक अग्निहोत्र आदि सभी कर्मों का स्वरूप से त्याग कर देते हैं। किन्तु निष्काम कर्मयोगी या भगवत्भक्त स्वरूपतः कर्मत्याग पर बल नहीं देते। वे तो ज्ञान हो जाने पर भी—अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर भी—कर्म करते रहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है, कि जब अन्तःकरण शुद्ध हो गया, संसारी किसी प्रकार की वासना ही न रही, इन्द्रियों द्वारा विषयों के भोगने की अभिलाषा ही न रही, तो फिर वे कर्म करने में क्यों चिपटे रहते है, उन्हें कर्म करने की फिर आवश्यकता ही क्या रही? इसका उत्तर यही है, कि वे कर्म आनन्द के लिये करते हैं, परमानन्द मग्न होकर करते हैं।

जैसे प्रेम मार्गीय प्रेम की प्राप्ति का प्रेम को ही साधन मानते हैं, प्रेम ही साध्य है, प्रेम ही साधन है। प्रेम की प्राप्ति

के लिये वे साधन रूप से प्रेम को ही करते हैं। जैसे छोटी लड़किया प्रेम सीखने के लिये पहिले गुड्डा-गुड़ियों से खेलती हैं। मेरा गुड्डा बड़ा हो गया, एक गुड़िया के साथ इसका विवाह कर दो। आपस में एक लड़की गुड़िया के घर वाले बनते हैं। गुड्डा वाली लड़की बड़ी धूमधाम से बरात लाती है, विवाह होता है, भोज होता है। गुड़िया की विदायी होती है, सब रोती है, गुड्डा-गुड़िया को लाते हैं, उसके बच्चे होते हैं। उन गुड्डा-गुड़ियों को वे बड़ी ममता से रखती हैं, उनमें उनकी पूरी आसक्ति होती है, सियानी हो जाने पर वह स्वयं गुड़िया बन जाती है। पति रूपी गुड्डा के साथ चली जाती है, उसके भी बाल-बच्चे हो जाते हैं। पहिले वह खेल साधन रूप में था, फिर वही खेल साध्य बन जाता है।

यही बात निष्काम कर्मयोग योग या भक्ति मार्ग में है। पहिले तो शान्ति पाने की लालसा से बिना किसी संसारी कामना के निष्काम भाव से शास्त्र विहित कर्तव्य कर्मों को आग्रह पूर्वक करते हैं। जब निष्काम भाव से—बिना किसी सांसारी फल की कामना के—वे कर्म करते रहते है, तो उन्हें अन्तःकरण की शान्ति प्राप्त हो जाती है, फिर वही अन्तःकरण की शान्ति उन्हें पुनः कर्म में प्रवृत्त करती है। जब वे साधक थे तब तो अन्तःकरण की शांति को साध्य मानकर बिना फल की इच्छा से कर्म करते थे। जब निष्काम कर्मों द्वारा अन्तःकरण की शान्ति मिल गयी, तब अपने अन्तःकरण की शान्ति के निमित्त वे कर्म करते हैं। अब कर्म साध्य हो गया। अतःकरण की शान्ति या राम साधन बन गया।

अब प्रश्न यह उठता है, कि जिसे अन्तःकरण की शान्ति ही मिल गयी, फिर वह शान्ति के लिये कर्म क्यों करेगा। उसके मन

में तो अशान्ति है ही नहीं। अशान्ति तो विषय भोगों की लालसा से होती है। शम को प्राप्त योगारूढ़ पुरुष को तो किसी प्रकार की अशान्ति है ही नहीं। फिर उसका शान्ति को साधन बनाकर कर्म करना सर्वथा व्यर्थ है। जब योग में आरूढ़ पुरुष को कोई अशान्ति है ही नहीं। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—योगारूढ़ पुरुष को भी एक प्रकार की अशान्ति या दुःखानुभूति होती है। उसे भागवतकार "चित्ततोद" कहते हैं। बहुत से जीवन्मुक्त पुरुष सभी प्रकार के दुःखों से विमुक्त बन जाते हैं, किन्तु जब वे संसारी लोगों को अविद्या के जाल में फंसे देखकर–नानाक्लेशों को सहते हुए निहारते हैं, तो दयावश उनके हृदय में एक प्रकार की मीठी-मीठी टीस उत्पन्न हो जाती है। 'हाय' ये जीव भगवत् प्राप्ति के इतने साधनों के रहते हुए भी–परमशान्ति के अनेकों उपायों के विद्यमान रहते हुए भी–मोह ममता वश इतने क्लेश क्यों सह रहे हैं। इसी को "चित्ततोद" कहते हैं। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर वे जीवों के उद्धार हेतु नैष्कर्म्य स्थिति तो प्राप्त होने पर भी कर्म करते हैं, और उन कर्मों को करने से उनका चित्ततोद कम होता है, उन्हें परमशान्ति मिलती है। अतः साधनावस्था में जो अन्तः-करण की शान्ति के निमित्त किये गये थे। अब अन्तःकरण की शान्ति हो जाने पर वे कर्म साधन न रहकर साध्य बन गये। इसीलिये जीवों के कल्याणार्थ वे कर्म करते हुए भी परमशान्ति का अनुभव करते हैं। ऐसे योगारूढ़ पुरुष कारक कहलाते हैं।

कारकों की तो बात छोड़ दो। असाधुओं द्वारा साधुओं को सताये जाने पर स्वयं साक्षात् निर्गुण निराकार भगवान् भी सगुण–साकार बनकर लोकहित की दृष्टि से–धर्म की संस्थापना के निमित्त विविध भाँति के कर्म करते हैं। अतः जैसे भगवान् धर्म संस्थापनार्थ लोककल्याण के लिये नाना योनियों में अवतार

धारण करके कर्म करते हैं, वैसे ही निष्काम कर्मयोगी योगारूढ़-कारक पुरुष भी अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने के अनन्तर-परम शान्ति के प्राप्त होने के पश्चात् भी कर्म करते हुए देखे गये हैं। यही उनमें वर्णाश्रमी कर्मयोगी और ज्ञानमार्गी संन्यासियों से विशेषता है। भगवान् ने अर्जुन को श्रीमद्भगवत्गीता में निष्काम कर्मयोग या भक्तियोग का ही प्रधानता में उपदेश दिया है, इसी लिये योगारूढ़ को अन्तःकरण की शान्ति का कर्म को साध्य बताया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने कहा—"सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति" जो मुझे सम्पूर्ण प्राणियों का सुहृद् समझ लेता है, उसे शान्ति प्राप्त हो जाती है, यह बात कही, तब अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा हुई, कि शान्ति प्राप्त हो जाने पर तो निष्काम कर्मयोगी भगवत्पूजन, यज्ञयागादि दान धर्म आदि शुभ कर्मों को छोड़ देता होगा, तब भगवान् ने कहा—नहीं, निष्काम कर्मयोगी संन्यासी कर्म करता ही रहता है, योगारूढ़ होने पर भी वह कर्म करता रहता है उसके संन्यासी-पने में तनिक भी आँच नहीं आती। इस पर अर्जुन ने पूछा—योगारूढ़ योगी के कर्मों में और साधक के कर्मों में कोई अन्तर होता है?

भगवान् ने कहा—"हाँ, अन्तर हो जाता है। जो मननशील व्यक्ति अन्तःकरण की शुद्धि के लिये निष्काम कर्मयोग में आरूढ़ होना चाहता है, उसके लिये कर्म साधन है। वही जब योगारूढ़ हो जाता है-अन्तःकरण की शान्ति उसे प्राप्त हो जाती है तो वही शम-अर्थात् अन्तःकरण की शान्ति उसके लिये कर्म का कारण बन जाती है।"

अर्जुन ने पूछा—अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर 'शम' कारण कैसे हो जाता है ?

भगवान् ने कहा—"देखो, अशान्ति का कारण है आसक्ति। जब प्राणी इन्द्रियों के जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी भोग हैं उनमें आसक्त हो जाता है, उन्हें प्राप्ति के निमित्त कर्मों में आसक्त हो जाता है, तभी उसे शान्ति होती है।"

अर्जुन ने पूछा—तो क्या योगारूढ़ पुरुष को अशान्ति नहीं होती ?

भगवान् ने कहा—"नहीं, कभी नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—"तब योगारूढ़ पुरुष के लक्षण क्या हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो इन्द्रियों के अर्थों में तथा कर्मों में—करते हुए भी—आसक्त नहीं होता है। वह किसी संकल्प से कर्म नहीं करता। क्योंकि उसने मनसे सभी संकल्पों का—भली-भाँति न्यास—परित्याग कर दिया है। ऐसे ही व्यक्ति को योगारूढ़ कहते हैं। भले ही वह चित्ततोद के कारण—भगवान् की भाँति कर्मों को करता ही रहता है, फिर भी वह संकल्प संन्यासी—निष्कर्म योगी—पुरुष विद्वानों द्वारा योगारूढ़ ही कहा गया है।"

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! ऐसे पुरुष का उद्धार कौन करता है ?

भगवान् ने कहा—सर्वान्तर्यामी आत्मस्वरूप जो मैं सबके घटघट में बैठा हूँ, वही मै ऐसे लोगों का उद्धार करता हूँ। इसके लिये श्रद्धा, भक्ति, दृढ़ता तथा निष्ठा की आवश्यकता है।

अर्जुन ने पूछा—"कैसी निष्ठा चाहिये भगवन् !"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने निष्ठा के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् ने जो उसका उत्तर दिया, उसे मैं आगे आपको बताऊँगा।

छप्पय

इन्द्रिनि के जो भोग वही आसक्ति करावैं।
बढ़ि जावै आसक्ति करम में तब लगि जावैं॥
भोगनि में आसक्ति न होवै करमनि में जब।
अनासक्त बनि गये भये योगी समुझो तब॥
सरब करम संकल्प कूँ, तजि फल आशा जे करहिँ।
ऐसे फल त्यागी पुरुष, योगारूढ़ तिन्हें कहहिँ॥

अपनी आत्मा ही शत्रु तथा मित्र है

[३]

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मनाजितः ॥
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत् ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

सुख दुख अन्य न देहिँ स्वयं ही जगत बनावै ।
करै कामना सहित करम बन्धन बँधि जावै ॥
यह संसार-समुद्र स्वयं उद्धार करावै ।
स्वयं उच्चपद प्राप्त करै नीचे न गिरावै ॥
यह अपनो ही आतमा, स्वयं आपनो मित्र है ।
करै काज अन्याय के, फिर अपनो ही शत्रु है ॥

---

* अपने आप से ही अपना उद्धार करे । अपने आपको नीचा न गिरावे । क्योंकि अपनी आत्मा ही अपना बन्धु है और अपनी आत्मा ही अपना शत्रु है ॥५॥

जिसने अपनी आत्मा से आत्मा को जीत लिया है, वह अपनी आत्मा का आप ही बन्धु है और जिसने अपनी आत्मा से आत्मा को नहीं जीता, वह अपने आप ही शत्रु के समान शत्रुता में बर्ताव करता है ॥६॥

यह जीव चौरासी लाख योनियों में न जाने कबसे भटक रहा है। कुछ लोगों का तो कहना है, भगवान् जिसका उद्धार करना चाहते हैं, उससे शुभ कार्य कराते हैं, जिसका अधः पतन करना चाहते हैं, उससे दुष्कर्म कराते हैं। किन्हीं का कहना है, जैसा प्रारब्ध होता है, वैसे ही कर्म होने लगते हैं। कोई कहते हैं—भाई, प्रारब्ध कहाँ से आया। वह भी तो तुम्हारे कर्मों के द्वारा ही निर्मित हुआ है, अतः कर्म ही प्रधान है। कोई कहते हैं, जिसकी आरम्भ से ही जैसी प्रकृति होती है वह वैसे ही कार्य करने लगता है। कोई कर्ता को सर्वथा कार्य करने में स्वतन्त्र मानते हैं, कोई कहते हैं, कर्ता सर्वथा परतन्त्र है। उसे तो ईश्वर जैसे घुमाता है, वैसे घूमता है, वह तो ईश्वर के हाथ की कठपुतली है।

इनमें से कौन मत ग्राह्य है और कौन अग्राह्य इसे बताना बहुत ही कठिन है, फिर भी अन्य भोग योनि वाले जीव भले ही सर्वथा परतन्त्र हों, किन्तु जो यह साधक पुरुष है, इसे संकल्प करने की कुछ थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता है। यदि ऐसा मानकर न चलें तब तो शास्त्र के सभी उपदेश व्यर्थ हो जायंगे। शास्त्र की विधि निषेध की फिर संगति कैसे बैठेगी? शास्त्र कहता है, यह काम करना चाहिये यह नहीं करना चाहिये भगवान् भी गीता में बार-बार कहते हैं—"जहि शत्रुं महाबाहो" हे विशाल भुजावाले अर्जुन! इस दुष्ट काम को तुम मार डालो।" "तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्यभरतर्षभ" हे भरतकुलभूषण! इसलिये पहिले तुम इन्द्रियों का नियमन-संयम-करो।" 'तस्मादेतत् त्रयंत्यजेत्' इसलिये तुम काम, क्रोध और लोभ इन तीन शत्रुओं को मार डालो।"

यदि साधक मनुष्य सर्वथा कठपुतली ही होता तो इन विधि-

वाक्यों की आवश्यकता ही न होती। इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रारब्ध कर्मों वाली बात तो ठीक ही है, देह प्रारब्ध से ही मिलता है। दुख-सुख भी पूर्वकृत पुण्य-पापों द्वारा ही प्राप्त होते हैं। बुद्धि भी जैसी भवितव्यता होने को होती है वैसी ही बन जाती है। जीव सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। इतना सब होने पर भी संकल्प करने में जीव को कुछ स्वाधीनता अवश्य है। साधकों को ऐसा ही मानकर साधनों में प्रवृत्त होना चाहिये। एक भक्त ने भगवान् से प्रार्थना की—मैं चाहे स्वर्ग में रहूँ या नरक अथवा भूमि पर जैसे भी मेरे कर्म हों, जैसा भी मेरा प्रारब्ध हो। इस विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। मेरी प्रार्थना तो इतनी है, कि मरते समय मुझे आपके चरणारविन्दों का चिन्तन प्राप्त हो जाय।" यहाँ प्रारब्ध कर्मों को मानते हुए भी प्रार्थना करने में अपनी स्वतन्त्रता अनुभव की।

एक भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है जो भक्त आपकी कृपा की निरन्तर प्रतीक्षा करता रहता है, और प्रारब्धवश जो भी सुख-दुख आ जाता है उसे बिना ननुनच के समभाव से भोगता रहता है, और हृदय, वाणी तथा शरीर से नमस्कार करता रहता है, जो जैसा जीवन व्यतीत करता है, वह मुक्ति पद का उत्तराधिकारी बनता है। इसमें प्रारब्ध कर्मों द्वारा सुख-दुख मिलता है इसे मानते हुए भी मन से, वाणी से तथा देह से प्रणाम करने की स्वतन्त्रता स्वीकार की है। जय विजय को जब सनकादि कुमारों ने आसुरी योनि में जाने का शाप दिया तो उन्होंने भी यही प्रार्थना की—"हमें चाहे जैसी आसुरी योनियाँ प्राप्त हों, किन्तु हमारा मन-मधुप निरन्तर भगवान् के चरणारविन्दों के ही मकरन्द पान में मत्त बना रहे, हमें भगवत्-विस्मृति न हो।" इन सभी उद्धरणों से यही प्रतीत होता

है, कि साधक को शुभ-अशुभ संकल्प करने की-या स्तुति प्रार्थना विनय करने की कुछ न कुछ स्वतन्त्रता अवश्य रहती है।

व्याकरण शास्त्र वाले तो कर्ता को सर्वथा स्वतन्त्र मानते ही हैं। कर्म तथा ज्ञानमार्गीय भी साधनावस्था में स्वतन्त्रता मानकर ही साधन करने का कर्म करने का उपदेश देते हैं। यहाँ श्रीमद्भगवत्गीता में भी भगवान् ने अर्जुन को अपने आपको ही अपना शत्रु और अपने आपको ही अपना मित्र बताकर अंत में कहा है, अपने से ही अपना उद्धार करना चाहिये। अर्थात् सदा सर्वदा भगवान् की कृपा पर भरोसा रखकर शुभकर्मों में लगे ही रहना चाहिये। जो कर्तव्य कर्म समझकर सदा साधनों में संलग्न रहता है, उसका अवश्य ही उद्धार हो जाता है। इसलिये कर्तव्य कर्मों से कभी विमुख नहीं होना चाहिये। जो साहस के साथ सदा कर्तव्य कर्मों में लगा रहता है, परमात्मा भी उसी की सहायता करता है। जो निद्रा में, आलस्य में तथा प्रमाद में पड़ा रहता है और यह कहकर कर्तव्य से विमुख हो जाता है, कि जो होना होगा वह हो ही जायगा, हम व्यर्थ में श्रम क्यों करें? ऐसी वृत्ति वाला साधक कभी भी अपनी साध्य-वस्तु को प्राप्त नहीं हो सकता। वह कभी भी अपने गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँच सकता। अतः आत्म उद्धार के निमित्त साधक को कमर कसके, दृढ़ता के साथ कटिबन्ध बाँधकर सुखमय सुन्दर साधनों में सदा लगे ही रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने योगारूढ पुरुष का लक्षण बताते हुए यह कहा कि योगारूढ़ पुरुष सर्व सकल्प संन्यासी होता है, तब अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगारूढ पुरुष इस अनर्थ समुदाय रूप संसार सागर से अपना उद्धार कैसे कर लेता है। इस पर भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन! यह

संसार अगाध समुद्र के समान है। जीव इसमें भटक रहा है, जो इस संसार सागर से उद्धार कर लेता है, इसमें डूब नहीं जाता अपितु उस पार लग जाता है, वही बुद्धिमान है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! इस संसार सागर से पार कैसे हों ?"

भगवान् ने कहा—अपने आपे से ही अपनी आत्मा का स्वयं ही उद्धार करे।

अर्जुन ने पूछा—अपने से अपना उद्धार कैसे होता है ?

भगवान् ने कहा—"देखो, आत्मा शब्द के बहुत अर्थ हैं। यह 'आत्मा' अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। शरीर को भी कहीं-कहीं आत्मा कहा गया है। इन्द्रियों को, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को, जीवात्मा तथा परमात्मा को भी आत्मा कहा गया है। अतः अपनी आत्मा से आत्मा का उद्धार करे, इसका अर्थ यह हुआ कि विवेकयुक्त अन्तःकरण से अपने आपका अर्थात् जीवात्मा का उद्धार करे, उसे संसार सागर में डूबने न दे। यह साधक शरीर ऐसा है, कि चाहे तो अपने को डुबा भी सकता है और चाहे तो उबार भी सकता है। क्योंकि अपना आपा ही अपना बन्धु भी है और शत्रु भी है।"

अर्जुन ने पूछा—"अपना आपा ही अपना शत्रु कैसे है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, यह संसार कार्यकरण का संहात है। जिसने आलस्य के वशीभूत होकर अविवेक से इस संसार को जीता नहीं अर्थात् पार नहीं किया वही मानों अपने आप ही अपना शत्रु है।"

अर्जुन ने पूछा—"अपना आपा ही अपना मित्र किस प्रकार है ?"

भगवान् ने कहा—"जिसने विवेक बुद्धि से, अपनी बुद्धि को

अत्यन्त ही सूक्ष्म बनाकर उसके द्वारा इस कार्यकरण संघात रूप देह को जीत लिया वही आत्मा अपना सगा बन्धु है। संसार की प्रवृत्तियाँ तो उच्छृङ्खल हैं, उन कुप्रवृत्तियों को रोककर—मन को साधन की ओर लगाया है उसी ने अपने बन्धुपने का कार्य किया।

अर्जुन ने पूछा—जितात्मा पुरुष अपना बन्धु किस प्रकार है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् ने जितात्मा अपना बन्धु क्यों है इसे स्पष्ट करते हुए समभाव में स्थित कर्मयोगी का जो लक्षण बताया, उसे मैं आप सबसे आगे कहूँगा। आशा है आप सब ऋषिगण इस अत्यन्त गूढ़ रहस्य को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

कैसे आत्मा शत्रु मित्र है तोइ बताऊँ।
हौं जैसो ई करूँ अन्त में सो बनि जाऊँ॥
जा आत्मा तैं सबहिं इन्द्रि मन जीत्यो जावै।
ग्वा आत्मा को स्वयं आतमा मित्र कहावै॥
जाते जीते नहिं गये, मन अरु इन्द्रिय देह हैं।
जीवात्मा के वे अधम, शत्रु, नहीं संदेह हैं॥

युक्त योगी के लक्षण

[४]

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥❀

(श्री भा० गी० ६ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

जिनिको अंतःकरन शीत अरु उष्ण समाना ।
जो दोउनि में शान्त मान हो वा अपमाना ॥
सरदी गरमी परै रहैं सम भाव अवस्थित ।
मान होहि अपमान न होवैं कबहूँ विचलित ॥
वही जितात्मा शान्त अति, ब्रह्म-भाव में लीन हैं ।
परमात्मा में अवस्थित, ज्ञानी परम प्रवीन हैं ॥

❀ जो जितात्मा है, प्रशान्त है और जिसके भीतर परमात्मा भली प्रकार अवस्थित है, ऐसे पुरुष को शीत और उष्ण, सुख और दुःख तथा मान और अपमान समान हैं ॥६॥

जिसकी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है। जो कूटस्थ ब्रह्म में स्थित है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण समान हैं उसी को युक्तयोगी कहते हैं ॥७॥

सबमें समभाव रखना यही सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर की सर्वश्रेष्ठ आराधना है। यह जगत् क्या है जड़ चेतन का संहात मात्र है। असत्य, अज्ञान, माया, द्वन्द्व तथा सीमित ममता और सत्य, ज्ञान तथा अनन्त का संमिश्रण है। वास्तव में तो एक ही परमात्मा हैं, जो अनेक रूपों में दिखायी दे रहे हैं। प्रकाश ही चैतन्य है, तम या अन्धकार ही जड़ है, जिसमें चैतन्यांश जितनी ही अधिक मात्रा में होगा, उतना ही वहाँ प्रकाश प्रतीत होगा। अज्ञान ने ज्ञान को आवृत कर रखा है, कुहरे ने सूर्य को छिपा रखा है, बादलों के छा जाने से पूर्णिमा के चन्द्रमा की चाँदनी दृष्टिगोचर नहीं होती। हम एक भवन में बैठे हैं, वह भवन चारों ओर से मिट्टी पत्थर की दिवाल से घिरा है। इससे न तो बाहर के लोग हमें ही देख सकते हैं। और न हम ही बाहर वालों को देख सकते हैं। देखने की शक्ति बाहर वालो में भी है और हम भीतर वालों में भी है, किन्तु बीच में दीवाल का अन्तराय जो पड़ गया है। उसकी जड़ता के कारण अप्रकाश बीच में आ गया है। यदि दीवाल न होकर बीच में स्वच्छ काच की दीवाल होती, तो बाहर के लोग हमें भी देख सकते और हम भी बाहर के लोगों को देखने में समर्थ होते। कारण कि शीशा मृत्तिका या पाषाण की दीवाल से अधिक स्वच्छ तथा निर्मल है। निर्मलता के कारण वह दीवाल की भाँति दृष्टि का अवरोधक नहीं बनता।

जड़ और चैतन्य के संमिश्रण के कारण विषमता हो जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के नाम और रूप प्रतीत होने लगते हैं। जैसे सुवर्ण एक ही है, उसके नाना आभूषण बन गये हैं, मृत्तिका एक ही उसके नानाप्रकार के पात्र बन गये हैं, चीनी एक ही है, उसके भिन्न-भिन्न आकृति और भिन्न-भिन्न नाम वाले खिलौने बन गये हैं। जो अज्ञानी हैं, वे देखते हुए भी कि ये सब खिलौने चीनी के

ही हैं, फिर भी उनमें भिन्नता देखते हैं। बच्चे परस्पर में लड़ते हैं-"तुमने मेरा हाथी क्यों ले लिया।" यह घोड़ा तुम्हारा है, यह ऊंट उसका है वास्तव में देखा जाय, तो न हाथी है, न घोड़ा है न ऊंट तथा बछेड़ा है, सब चीनी ही चीनी है। इसलिये विद्वान् लोग योगी लोग सब में समभाव रखते हैं। वे नाम तथा रूप के भुलावे में न आकर सर्वत्र-सभी खिलौनों में एकमात्र चीनी को ही देखते हैं। सम बुद्धि हो जाने पर विषमता नष्ट हो जाती है।

महाराज रन्तिदेव के चरित्र में आता है। कि ४८ दिन के भूखे-प्यासे थे सकुटुम्ब। ४९ वें दिन घड़ा भर के जल, खीर, मालपूआ हलुआ आदि स्वादिष्ट व्यंजन मिले। वे ज्योंही सबको बांटकर खाने बैठे त्योंही एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। बड़े प्रेम से उसे भोजन कराया। बचे अन्न को ज्योंही खाने बैठे कि फिर एक शूद्र आ गया। उसे भी भर पेट भोजन कराया। फिर जो बचा उसे खाने बैठे तो कुत्तों को लिये हुए अघोरी आ गया। उसे भी बिना भेदभाव विषम दृष्टि के बिना, कुत्तों के सहित भोजन कराया। भोजन तो सब समाप्त हो गया। केवल जल बचा था, इतने में एक चांडाल आ गया। वह जल उसे पिला दिया। कैसी भारी समता है, सबमें अपने प्रभु को ही देखना "शुनिचैवश्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।"

एक महात्मा रामेश्वरजी पर जल चढ़ाने गंगोत्री का गंगा-जल ले जा रहे थे। मार्ग में एक अत्यन्त प्यासा गधा मिला। उसी को रामेश्वर समझकर गंगाजल उसे पिल दिया। सर्वान्तर्यामी रामेश्वरजी ने गधे के रूप में ही उसे स्वीकार कर लिया।

एक महात्मा रोटी बना रहे थे—उनकी रोटी को कुत्ता लेकर भागने लगा और वे घृत का पात्र लेकर उसके पीछे दौड़े—"प्रभो! रूखी कैसे खाओगे। तनिक चुपड़ तो लेने दो।" कुत्ते

में भी ईश्वर को देखने वाले सन्त को भगवान् ने उसी रूप में दर्शन दिये।

एक महात्मा ने किसी संत को पारस पत्थर लाकर दिया। उन्होंने उसे यमुनाजी में फेंक दिया। उसने आकर अपना पारस मांगा, तो महात्मा ने कहा—"मैंने तो पत्थरों में पत्थर फेंक दिया।"

यह सुनकर वह लड़ने लगा। पारस पत्थर अन्य पत्थरों के समान कैसे हो सकता है, उससे तो लोहा सुवर्ण बन जाता है। "अन्य पत्थरों से तो लोहा सोना नहीं बन सकता।

महात्मा ने यमुना जी में डुबकी लगा कर बहुत से पत्थर निकाले। वह आदमी जिस पत्थर से लोहा छुवाता वही स्वर्ण हो जाता। सुवर्ण में पाषाण में पारस में ऐसी समदृष्टि देखकर वह आश्चर्य चकित होकर उन महात्मा के शरणापन्न हुआ। समता की सिद्धि में कुछ भी असम्भव नहीं है।

एक महात्मा एक हाथ में मिट्टी लेते दूसरे हाथ में सुवर्ण की एक मुहर लेते और फिर मन से पूछते—"मन! किसमें सोना है, किसमें मिट्टी?" मन में तो भेद भाव होता ही है, भेद भाव को मिटाने को वे दोनों को मिलाकर गङ्गा जी में फेंक देते। ऐसा वे तब तक करते रहे जब तक मन से सुवर्ण और मिट्टी का भेद भाव नहीं गया।

एक भक्त दम्पत्ति वन में लकड़ी लेने जा रहे थे। पति का नाम रांका था। पत्नी पीछे थी पति थोड़े आगे-आगे जा रहे थे। पति को एक सुवर्ण के सिक्कों से भरी थैली दिखाई दी। उनके मन में तो लोभ था नहीं। परन्तु उन्होंने सोचा—"सम्भव है, इन्हें देखकर मेरी पत्नी के मन में लोभ आ जाय, अतः वे उस थैली को धूल से ढकने लगे, कि मेरी पत्नी की दृष्टि इस पर न पड़े।"

इतने में ही उनकी पत्नी समीप आ गयी और बोली—"आप यह क्या कर रहे हैं ?"

पति ने सच-सच बात बता दी। कहा—मेरे मन में यह आया, कि कहीं तुम लोभ वश इसे उठा न लो, इसलिये मिट्टी से इसे ढक रहा था।

पत्नी ने कहा—"मिट्टी को मिट्टी से ही ढकने से क्या लाभ ? वह भी तो एक चमकती हुई पीली मिट्टी ही है।"

प्रसन्न होकर पति ने कहा—देवि ! तुम्हारी समता तो मुझसे भी ऊँची है, मुझे तो सुवर्ण में और मिट्टी में भेद भाव दिखायी दिया, तभी तो उसे ढक रहा था, किन्तु तुम तो दोनों को एक ही समझती हो। अतः तुम मुझसे भी बांका हो। वे दम्पति भक्त रांका बांका नाम से प्रसिद्ध हुए।

इस प्रकार जिन साधकों की समदृष्टि हो गयी है, वे सभी में अपने स्वामी को ही देखते हैं। जो ज्ञान निष्ठा वाले हैं, वे सब को और अपने को भी ब्रह्म रूप में ही मानते है, वे ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता स्वीकार ही नहीं करते। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"।

किन्तु जो भक्त हैं, वे भी सब में अपने भगवान् को देखते हैं। चराचर में अपने ही स्वामी का रूप निहारते हैं, किन्तु एक मात्र अपने को चराचर ब्रह्मरूप भगवान् का दास समझते हैं। केवल अकेला मैं ही सबका दास हूँ और सब चर-अचर, स्थावर-जंगम, जड़-चैतन्य मेरे प्रभु के ही रूप हैं। समस्त जगत् ही सियाराममय है। "केवल मैं ही दासोऽहं, दासोऽहम्" सब का दास हूँ। ज्ञानी उसमें दा को हटा कर सोऽहं-सोऽहं कहते हैं। दोनों की अन्तिम निष्ठा एक ही समभाव की है। अतः जिसे भगवान् की

यथार्थ अराधना करनी हो, सच्ची उपासना करनी हो, उसे सब भूतों में समभाव रखने की चेष्ठा करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब अर्जुन ने युक्तयोगी के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् उसे समझाते हुए कहने लगे—"अर्जुन! जो जितात्मा हो गया है, वास्तव में वही अपने आपका बन्धु है। ऐसा जितात्मा पुरुष निर्द्वंद्व हो जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"निर्द्वंद्व क्या भगवन्!"

भगवान् ने कहा—उसका द्वंधीभाव छूट जाता है वह शीत तथा उष्ण में, सुख और दुःख में अथवा मान तथा अपमान में सदा एक सा ही बना रहता है। शीत लग रहा है तब भी वैसे ही हैं, घोर गर्मी पड़ रही है तब भी ऐसे ही हैं। संसारी लोग जिसे सुख मानते हैं, उसमें भी वे आनन्दमग्न हैं और जिसे सब दुःख कहते हैं उसमें भी दुखी नहीं होते। प्रारब्ध भोग समझकर सुख-दुख दोनों को ही समान भाव से सहन कर लेते हैं। इसी प्रकार मान अपमान में भी उनकी समता नष्ट नहीं होती। उसी प्रशांत-पुरुष का अपना आपा परमात्मा में लगता है अर्थात् उसे मन की एकाग्रता रूपी समाधि में परमात्म स्वरूप का प्रकाश प्रतीत होता है।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे निष्काम कर्मयोगी के अन्तःकरण की स्थिति कैसी होती है?"

भगवान् ने कहा—उसका अन्तःकरण ज्ञान विज्ञान से तृप्त रहता है। उसे किसी भी वस्तु के अभाव का अनुभव नहीं होता। वह अपनी समस्त इन्द्रियों को जीतकर अपने वश में कर लेता है। वह कूट जो ब्रह्म है उसमें सदा स्थित रहता है तथा मिट्टी और कांचन में उसका समभाव हो जाता है। उसका भेदभाव नष्ट हो जाता है। वह सब भूतों में एक आत्मा को ही देखता

पर ही स्थित है। सर्वथा समता का
न है। सबकी मुखाकृति एकसी नहीं
र अवश्य होगा। सबकी आकृति, प्रकृति,
हार, हस्ताक्षर, हाथ की रेखायें समान
स्तुओं में कुछ न कुछ भिन्नता रहती ही
तरह के पुरुष होते हैं, मित्र, शत्रु या
ोग आपका उपकार करने वाले—शुभ-
ेष करने वाले। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो
हैं उन्हें उदासीन कहते हैं। शुभचिन्तकों
द् मित्र और बन्धु बान्धव सम्बन्धी।
जिनका हृदय विशुद्ध हो, जिनका स्वभाव
बन गया हो, जो परोपकार किये बिना
बिना किसी परिचय के बिना किसी
उपकार करें उन्हें सुहृद् कहते है। एक
माता आग लगे घर से भागकर बाहर
ा भीतर रह गया है। उसका साहस नहीं
कर बच्चे को ले आवे। वह रो रही है।
ही कोई दयालु पुरुष आ गये, अपने
ा न करके जलते घर में घुस गये। लड़के
उनका शरीर जल गया था, किन्तु बच्चे
उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई। उनका यह

हा है, कोई सहृदय पुरुष तुरन्त कूद पड़ते
ा हैं। सब उनकी सुहृदता की प्रशंसा

अपनी गाड़ी में बैठकर राजभवन जा

योगी का परम कर्त्तव्य

[५]

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥❀

(श्री० भग० गी० ६ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

चाहें होवै सुहृद सख्यो सम्बन्धी भाई ।
चाहें होवै मित्र आयु जिहि संग बिताई ॥
उदासीन जो होहिं शत्रुता चाहें मानें ।
चाहें द्वेषी होहिं हमें ढोंगी करि जानें ॥
बन्धु होहिं मध्यस्थ वा, धरमात्मा पापी रहें ।
सब में राखै भाव सम, श्रेष्ठ पुरुष तिनिकूं कहें ॥

❀ जिसकी सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुओं में तथा साधुओं और पापियों में समान बुद्धि है, वही विशिष्ट पुरुष है ॥९॥

वही चित्तात्मा योगी आशा रहित और अपरिग्रही बनकर अकेला ही एकान्त में रहकर निरन्तर आत्मा को परमात्मा के ध्यान में लगावे ॥१०॥

यह संसार विषमता पर ही स्थित है। सर्वथा समता का मिलना अत्यन्त ही कठिन है। सबकी मुखाकृति एकसी नहीं होगी, कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होगा। सबकी आकृति, प्रकृति, रहन सहन, भोजन व्यवहार, हस्ताक्षर, हाथ की रेखायें समान नहीं हो सकती। सब वस्तुओं में कुछ न कुछ भिन्नता रहती ही है। संसार में तीन ही तरह के पुरुष होते है, मित्र, शत्रु या उदासीन या तो कुछ लोग आपका उपकार करने वाले–शुभ-चिन्तक होंगे, या आपसे द्वेष करने वाले। कुछ लोग ऐसे होते है, जो न मित्र हैं न शत्रु तटस्थ है उन्हें उदासीन कहते हैं। शुभचिन्तकों के भी तीन भेद हैं। सुहृद् मित्र और बन्धु बान्धव सम्बन्धी। सुहृद् तो उन्हें कहते है–जिनका हृदय विशुद्ध हो, जिनका स्वभाव ही परोपकार करने का बन गया हो, जो परोपकार किये बिना रह ही नहीं सकते। जो बिना किसी परिचय के बिना किसी सम्बन्ध या पूर्व स्नेह के उपकार करे उन्हें सुहृद् कहते हैं। एक घर में आग लग रही है माता आग लगे घर से भागकर बाहर आ गयी है, उसका बच्चा भीतर रह गया है। उसका साहस नहीं होता, जलते घर में घुसकर बच्चे को ले आवे। वह रो रही है। चिल्ला रही है। इतने में ही कोई दयालु पुरुष आ गये, अपने जीवन को कुछ भी चिन्ता न करके जलते घर में घुस गये। लड़के को उठा लाये। यद्यपि उनका शरीर जल गया था, किन्तु बच्चे के जीवित बच आने पर उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई। उनका यह काम सौहार्द्रपूर्ण था।

कोई आदमी डूब रहा है, कोई सहृदय पुरुष तुरन्त कूद पड़ते हैं, बड़े कष्ट से बचा लाते हैं। सब उनकी सुहृदता की प्रशंसा करते हैं।

एक देश के राष्ट्रपति अपनी गाड़ी में बैठकर राजभवन जा

रहे थे, मार्ग में एक सूअर कीचड़ में पड़ा बिलबिला रहा था, राष्ट्रपति पर नहीं रहा गया, वे अपनी गाड़ी खड़ी करके कीचड में घुस गये और उस सूअर को निकाल लाये। फिर कीचड़ में सने हुए वस्त्रों से ही राज्यभवन में गये। लोगों ने जब उनकी बात सुनी, तो सब उनकी प्रशसा करने लगे। उनके उपकारी स्वभाव का बखान करने लगे।

राष्ट्रपति ने कहा—"मैंने न तो कोई परोपकार ही किया है और न कोई प्रशंसा योग्य कार्य ही किया है। मैंने जो किया है अपने स्वार्थ के लिये अपनी शान्ति के निमित्त किया है। उस सूअर को कष्ट से बिलबिलाते देखकर मेरा हृदय भर आया था, चित्त चंचल तथा अशांत हो गया था, अपने चित्त को शान्त करने के निमित्त तथा हृदय की प्रसन्नता को प्राप्त करने के निमित्त मैंने ऐसा किया।"

सुहृद् पुरुष उपकार की भावना न रखकर अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से परोपकार किया करते हैं। परिचित अपरिचित, सम्बन्धी असम्बन्धी सभी का भला करते रहते हैं। उन पर उपकार किये बिना रहा ही नहीं जाता और उपकार करके उसका तनिक भी प्रत्युपकार नहीं चाहते। ऐसे सुहृद् पुरुष संसार में बहुत कम होते हैं।

दूसरे शुभचिन्त मित्र कहलाते हैं। मित्र उन्हें कहते हैं जो जिनसे अपना घनिष्ट प्रेम हो। एक मित्र अपने दूसरे मित्र का जो उपकार करता है वह स्नेहवश करता है। जिनसे उसका स्नेह नही होता, उनके प्रति उसकी परोपकार भावना जागृत नहीं होती। उनका उपकार दयावश न होकर पूर्व स्नेह सम्बन्ध के कारण होता है। जैसे भगवान् ने अपने बाल्यकाल के सहपाठी सुदामा का आदर किया और उसका दरिद्र दूर कर दिया।

तीसरे शुभचिंतक बन्धु बान्धव या सगे सम्बन्धी होते हैं, वे सम्बन्ध के कारण उपकार करते हैं। भाई यह हमारा, भाई है, गांव का है, अपनी जाति का है, मातृकुल का सम्बन्धी है, पितृकुल का सम्बन्धी है, पत्नीकुल का सम्बन्धी है। इस उपकार में छिपी हुई प्रत्युपकार की भी भावना रहती है। आज हम इसका उपकार कर देंगे, तो समय पड़ने पर यह भी हमारा कार्य कर देगा। आड़े समय पर काम आवेगा। इस प्रकार शुभचिन्तकों की ये तीन श्रेणियाँ हैं।

मित्र की भाँति शत्रु भी तीन प्रकार के होते हैं। एक तो वंश परम्परा के शत्रु। हमने उनका कोई अपकार नहीं किया है, किन्तु वंश परम्परा से हमारे कुटुम्ब की इनके कुटुम्ब के साथ बहुत दिनों से पुरानी शत्रुता चली आ रही है अतः ये भी हमसे शत्रुता मानते हैं।

दूसरी अपनी निजी शत्रुता होती है। हमने जान में अनजान में, अपने स्वार्थ के निमित्त कैसे भी किसी का अपकार कर दिया है, या हमसे हो गया है, अपकार चाहे उसी की त्रुटि के कारण हुआ हो, किन्तु वह अपनी त्रुटि का कुछ भी ध्यान न रखकर बदले की भावना से हमारा अपकार करने पर तुल जाता है, वह अपना निजी शत्रु है।

एक ऐसे शत्रु होते हैं, कि आपने उनका कुछ भी अपकार नहीं किया है, आप उन्हें जानते भी नहीं हैं, किन्तु वह ईर्ष्या द्वेष वश अकारण आपका अपकार ही करता रहता है। उसके मन में द्वेष की अग्नि इसीलिये भड़कती रहती है, कि यह मुझसे इतना श्रेष्ठ कैसे हो गया, इसके पास इतना धन कैसे आ गया, इसका भवन ऐसा सुन्दर कैसे बन गया, यह इतना सुंदर भोजन कैसे करता है, इसके पास इतनी भोग की सामग्रियाँ कैसे आ गयी।

ऐसे ईर्ष्यालु दूसरों को बढ़ती देख नहीं सकते। द्वेष करने से उनका अपना कोई प्रयोजन सिद्ध होता ही हो, यह भी बात नहीं। वे अकारण ही बिना अपने किसी स्वार्थ के ईर्ष्यावश द्वेष करते हैं। उनकी गणना भी शत्रुओं में ही है।

शत्रु मित्र के अतिरिक्त एक उदासीन भी होते हैं। किसी से कोई प्रयोजन ही नहीं। वे किसी के दुख-सुख में, वादविवाद में लड़ाई झगड़े में फंसते ही नहीं। तट पर खड़े होकर सबका तमाशा देखते रहते हैं। किसी के काम में पक्ष में या विपक्ष में हस्तक्षेप नहीं करते। वे तटस्थ या उदासीन कहलाते हैं। जैसे बलराम जी न कौरवों की ओर हुए न पांडवों की ओर हुए। दोनों से तटस्थ रहकर युद्ध में न जाकर तीर्थ यात्रा के निमित्त चले गये।

एक उपकारी उदासीन होते हैं। जो पक्षपात शून्य होते हैं। उन्हें किसी पक्ष का कोई आग्रह नहीं। फिर भी दो पक्ष को लड़ता देखकर दोनों के मध्य में खड़े हो जाते हैं। वे दोनों का ही हित चाहते हैं। दोनों से पूछते हैं, बात बताओ क्यों लड रहे हो। लड़ाई का कारण बताओ। फिर हम बता देंगे दोनों में से किसका दोष है। वे पक्षपात नहीं करते। लड़ने वालों में चाहें अपना एक पक्ष वाला सम्बन्धी ही क्यों न हो, यदि उसका अपराध होगा, तो स्पष्ट कह देंगे इसी का अपराध है।

प्रह्लाद जी के पुत्र विरोचन का एक ऋषिकुमार से वाद-विवाद हो गया। विरोचन कहे—"मैं तुमसे बड़ा हूँ" और ऋषि-कुमार कहे—"मै तुमसे बड़ा हूँ।" विवाद यहाँ तक बढ़ गया कि दोनों ने अपने प्राणों का पण लगा दिया। दोनों में शर्त यह लगी, कि जिसका पक्ष ठीक होगा, वह दूसरे का सिर-काट लेगा।

अब किसी ऐसे मध्यस्थ के पास निर्णय कराने चलना चाहिए

जो दोनों में से किसी का पक्षपात न करे। ऋषिकुमार ने कहा—"अच्छा, हम तुम्हारे पिता प्रह्लाद जी को ही मध्यस्थ मानते हैं। दोनों ने सहर्ष प्रह्लाद जी को मध्यस्थ मान लिया दोनों प्रह्लाद जी के समीप गये। दोनों की बात सुनकर मध्यस्त बने प्रह्लाद ने निर्णय दिया—"मैं यह निर्णय देता हूँ, कि विरोचन की अपेक्षा ऋषिकुमार श्रेष्ठ हैं। विरोचन के पिता की अपेक्षा ऋषिकुमार के पिता श्रेष्ठ हैं और विरोचन की माता की अपेक्षा ऋषिकुमार की माता श्रेष्ठा है।"

प्रह्लाद की निष्पक्षता के कारण ऋषिकुमार ने विरोचन को क्षमा कर दिया। उनका सिर धड़ से पृथक् नहीं किया। मध्यस्थ तो भगवान् का प्रतिनिधि होता है। पंच परमेश्वर कहाता है। वह किसी का पक्ष नहीं करता।

इसलिये पुरुष चार प्रकार के हुए। १ शुभचिन्तक, अशुभचिंतक, उदासीन और मध्यस्थ। शास्त्रों में चारों से चार प्रकार के बर्ताव करने की सम्मति दी है। योगशास्त्र वाले कहते है। चार प्रकार के लोग होते हैं। १—सुखी पुरुष, २—दुखी पुरुष, ३—पुण्यात्मा पुरुष, और चौथे पापात्मा पुरुष। साधक को चाहिये कि सुखी पुरुषों के प्रति तो हृदय में मैत्रीभाव रखे। जो अभावग्रस्त दुखी पुरुष है उनके प्रति करुणा के भाव रखे। जो पुण्यात्मा पुरुष हैं उनके प्रति मुदिता के भाव आह्लाद या प्रसन्नता के भाव रखे और जो पापात्मा पुरुष हैं उनकी उपेक्षा कर दे। ये नियम साधक के लिये हैं। किन्तु जो सिद्ध हो गया है, उसके लिये तो सभी में समभाव रखना चाहिये। मननशील मुनि लोग सबमें समभाव रखते हैं। सीताजी ने कहा है—जिनको प्रिय के पाने पर हर्ष नहीं होता, अप्रिय की प्राप्ति में विषाद नहीं होता उन

महात्माओं को मैं नमस्कार करती हूँ। ऐसे महात्मा पुरुष धन्य हैं।"

साधारणतया मुनिगण योगी पुरुष सभी में समभाव रखते हैं। फिर भी "भवन्ति भव्येषु हि पक्षपातः" भव्य पुरुषों के प्रति कुछ न कुछ पक्षपात तो हो ही जाता है। भाई बन्धु और सम्बन्धियों का स्नेहानुबन्ध कुछ ऐसा है, कि कितना भी छोड़ना चाहो कुछ न कुछ तो बना ही रहता है—"स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः" बन्धुओं का जो स्नेह-अनुबन्ध है, उसे छोड़ना मुनियों के लिये भी अत्यन्त कठिन है। किन्तु इस अत्यन्त दुस्त्यज स्नेहानुबन्ध को भी जो छोड़ देते हैं। वे युक्त योगियों से ही श्रेष्ठ हैं। वे समबुद्धि वाले महात्माओं से भी विशिष्ट हैं "समबुद्धिविशिष्यते।" साधारणतया मनुष्य दो ही प्रकार के होते हैं अच्छे या बुरे, साधु या असाधु, पापी या पुण्यात्मा। उच्चकोटि के योगिराजों की दृष्टि में दोनों ही समान हैं। वे साधु में और पापी में कोई भेद नहीं करते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! समबुद्धि वाले युक्त योगियों में भी जो विशिष्ट हैं-सर्वश्रेष्ठ हैं-उनके सम्बन्ध में बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन ! जो योगी सुहृद्, मित्र तथा बन्धु इन शुभचिन्तकों में और स्वार्थी, ईर्ष्यालु, द्वेषी तथा कपटी शत्रुओं में तथा उदासीन और मध्यस्थों में किसी भी प्रकार का भेदभाव मन में नहीं रखता। सभी में जिसका एक ही भाव है। फिर चाहे वह साधु पुरुष हो अथवा भले ही पापी क्यों न हों, सबको एक दृष्टि से देखता है, तो वह समबुद्धि वाले योगियों में भी सर्वश्रेष्ठ योगी है।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो आप बार-बार समबुद्धि योगी का उल्लेख कर रहे हैं। पीछे अत्यन्त संक्षेप में आपने प्राण और

अपान को समान करके नासिका के भीतर ही गतिशील करने का संकेत किया था और इच्छा, भय और क्रोध से विमुक्त योगी को सदा सर्वदा मुक्त बताया था, तो मैं उस योग के ही सम्बन्ध में विस्तार से सुनना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे प्राणायाम योग का विधान बतावें। योगी को कैसे रहना चाहिये, कैसे बर्तना चाहिये, कहां पर योग साधन करना चाहिये, कौन सा आहार करना चाहिये, किसे ग्रहण करना चाहिये, किसका परित्याग करना चाहिये। इन सब बातों को मुझे विस्तार पूर्वक बतावें।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! यह विषय बड़ा गूढ़ है। विस्तार के साथ तो मै सैकड़ों वर्षों में भी बता नहीं सकता। तुम्हारी जिज्ञासा देखकर मैं अत्यन्त संक्षेप में तुम्हें इस विषय को समझाऊँगा। पहिले तुम देश के सम्बन्ध में सुनो। योगी को एकान्त में निवास करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"एकान्त का क्या अर्थ है ? जहां कोई जीव-जन्तु न हो ? जहाँ कोई भी जीव न हो ऐसा स्थान तो स्यात् ही कहीं हो।"

भगवान् ने कहा—"अरे, जीव से अभिप्राय नहीं। पशु, पक्षी, कीट पतंग तो सर्वत्र है ही। किन्तु जहाँ कोई मन तथा वाणी से हमारे साधन में विघ्न डालने वाला न हो। दुर्जन पुरुष जहाँ आस-पास विघ्न न डाल सकें। ऐसे एकान्त स्थान में चाहे अकेली कुटिया हो, देवालय हो, पहाड़ की गुफा हो उसमें रहे। जिसमें कोई यह न कहे कि यह तो मेरा स्थान है, तुम यहाँ कैसे रह गये। यहाँ से भाग जाओ। ऐसे एकान्त स्थान में रहे।"

साधन काल में दूसरों से संपर्क न रखे। एकाकी ही निवास करे। अपने साधन में जो सहायक सेवक हों उन्हें भी अपने से पृथक् ही रखे। और किसी से किसी वस्तु की आशा न रखे।

अर्जुन ने पूछा—"महाराज! आशा न रखेगा तो खायगा क्या?"

भगवान् ने कहा—"खाने को तो भाग्यवश मिल ही जाता है। जो अनन्यभाव से चिन्तन करता है, उसके खाने-पीने की तो मैं स्वयं चिन्ता रखता हूँ। इस धन में मतवाले हुए मदमत्त संसारी जीवों की लल्लो-चप्पो न करे, उनसे कोई आशा न करे। चाहे जितना भी धन किसी के पास क्यों न हो, वह दूसरों की सभी इच्छाओं की पूर्ति कभी नहीं कर सकता। प्रायः सभी प्राणी अभावग्रस्त है, कोई न कोई अभाव सभी को बना रहता है। जो स्वयं अभावग्रस्त हैं, दूसरों की अभिलाषा कैसे पूरी कर सकते हैं। अतः केवल मेरी आशा छोड़कर और किसी भी संसारी पुरुष से आशा न रखे। और सभी प्रकार के परिग्रहों का परित्याग कर दे।"

अर्जुन ने पूछा—महाराज, यदि परिग्रह न करेगा, तो योग साधन में तो घृत भी चाहिये, दूध भी चाहिये। वस्त्र, दंड, कमंडलु, ओढ़ना, बिछौना शरीर निर्वाह के लिये सभी तो आवश्यक होता है।

भगवान् ने कहा—"केवल कम से कम शरीर निर्वाह की वस्तु रखना परिग्रह नहीं। पेट भरने को अपने मित्र सम्बन्धी दे दें या घर-घर से भिक्षा करके ले आवे। निर्वाह मात्र को दूसरे समय को रख भी दे तो यह भी परिग्रह नहीं है। भिक्षा का अन्न तो अमृतान्न है, भिक्षान्न की गणना परिग्रह में नहीं है। केवल शरीर निर्वाह के लिये जो कर्म किया जाय, वह कर्म नहीं, केवल शरीर निर्वाह को अन्न वस्त्र रखें जायें वह भी परिग्रह नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—"आशा और परिग्रह से रहित होकर फिर क्या करे ?"

भगवान् ने कहा—"फिर शरीर और चित्त को वश में रखें।" शरीर में व्याधियाँ बहुत आ जाती हैं, चित्त में विक्षेप बहुत उठते हैं। व्याधि और विक्षेपों से यथाशक्ति बचते रहने की चेष्टा करे। तब सुंदर आसन लगाकर अन्तःकरण को समाधि में स्थित रखना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आपने कहा सुंदर आसन लगाकर समाधि का अभ्यास करे, सो सुंदर आसन कैसे लगावे ? कहाँ लगावे ? आसन की भूमि कैसी हो ? किस पर बैठे आसन में कौन-कौन सी वस्तुएँ हों, कृपा करके इन सब बातों को मुझे समझाइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने जैसे आसन आदि की विधि बताई है, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

योगी रहै इकान्त करै नहिं संग सबनिको।
दस इन्द्रिय मन एक करै संयम नित इनिको॥
वश में राखै देह और की रखै न आशा।
संग्रह कबहुँ न करै रखै प्रभु में विश्वासा॥
संसारिनि की आश तजि, मगन रहै निज आत्म में।
सदा लगावै नेम तैं, आत्मा कूँ परमात्म में॥

योगासन की विधि

[६]

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥*
(श्री भ० गी० ६ अ० ११, १२ श्लोक)

छप्पय

पावन भूमि निहारि करै साधन वा थल में ।
आसन लेइ लगाइ न्हाइ शुभ पावन जल में ॥
कुश को आसन प्रथम गुदगुदो भूमि बिछावै ।
ता ऊपर मृगचरम बिछावै सुख सरसावै ॥
मृगछाला पट तें ढकै, ऊँचो नीचो होहि नहिं ।
सुख तें बैठे करै पुनि, साधन साधक द्वन्द सहिं ॥

---

*शुद्ध पवित्र देश में अपना स्थिर आसन लगावें, पहिले कुश, फिर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछा ले । आसन न तो बहुत ऊँचा हो, और न बहुत नीचा ही हो ॥११॥

उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों को वश में करके आत्म विशुद्धि के निमित्त योगाभ्यास करे ॥१२॥

आत्म शुद्धि के ही निमित्त से किये जाने वाले समस्त निष्काम कर्म निष्काम कर्मयोग के अन्तर्गत हैं। ज्ञानयोग में तो विचार विवेक तितिक्षा, श्रवण मनन और निदिध्यासन की ही प्रधानता रहती है। जो कर्म लोकों की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं, वे कर्मयोग के अन्तर्गत हैं, किन्तु जो कर्म किसी भी इस संसारी भोगों की, तथा परलोक के भोगों की इच्छा के बिना केवल आत्मा शुद्धि के ही निमित्त किये जाते हैं, वे सब निष्काम कर्मयोग के अन्तर्गत हैं। जैसे आप निष्काम भाव से जिस भी वर्ण या आश्रम में हैं, उनके शास्त्रानुमोदित कर्मों को निष्काम भाव से करना। इष्ट कर्म आपूर्त कर्म, यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थव्रत, वापी, कूप, तड़ाग, परोपकार सम्बन्धी समस्त कार्य, भगवान् के मन्दिर बनवाना, कथा, कीर्तन का प्रचार प्रसार, भगवान् की सेवा पूजा परिचर्या के निमित्त समस्त कार्य, योग साधन के लिये विविध आसनों का अभ्यास, भाँति-भाँति के प्राणायामों का अभ्यास, साकार निराकार का ध्यान, किसी भी भाँति की धारणा निर्विकल्प सविकल्प कैसी भी समाधि, तथा अन्यान्य भी शरीर से मन से निष्काम भाव से किये हुए आत्म शुद्धि के निमित्त कार्य सभी निष्काम कर्मयोग कहलाते हैं। ये कर्म साधनावस्था में भी किये जाते हैं और सिद्ध हो जाने पर भी इन्हें छोड़ने की आवश्यकता नहीं, लोकसंग्रह के निमित्त सिद्ध हो जाने पर भी निष्काम कर्मयोगी इन कर्मों को करते ही रहते हैं।

भगवान् ने निष्काम भाव से विविध यज्ञों का वर्णन करके उन्हें अर्जुन को निष्काम भाव से करते रहने का उपदेश दिया। क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध करना भी एक यज्ञ ही है। योगी के लिये योगसाधन करना भी एक यज्ञ ही है। वह प्राणों को प्राणों में

हवन करता है। अर्जुन की जिज्ञासा पर भगवान् फिर से ध्यान-योग का वर्णन करने को उद्यत हुए।

ध्यानयोग में सबसे पहिले देश, काल और पात्रता के सम्बन्ध में विचार करना पड़ता है। सबसे पहिले कैसे स्थान पर ध्यान किया जाय, इसका विचार करना चाहिये। पवित्र या अपवित्र देश का प्रभाव साधन पर बहुत पड़ता है। जो सिद्ध हो गये हैं, या जन्मजात सिद्ध हैं, उनके लिये तो सभी देश समान हो हैं। वे देश, काल तथा पात्रता की परिधि को पार करके ऊंचे उठ गये हैं, किन्तु जो साधक हैं, उन्हें साधनावस्था में देशकाल का विचार अवश्य करना चाहिये।

शास्त्रकारों ने उन देशों को यज्ञसाधन योग्य माना है, जिन देशों में काले मृग स्वच्छंद होकर विचरण करते हों और जहाँ कुशा पैदा होती हों। कुश को सबसे पवित्र माना गया है। इसीलिये साधन में कुशों का बना हुआ आसन आवश्यक है। साधन काल में कुशों के बने मूंठा-ब्रह्मदण्ड-को बायें हाथ में रखने की तथा कुश की बनी पवित्रियों का दोनों हाथों की अनामिका उँगलियों में पहिनने की प्राचीन प्रथा है। देवकार्य तथा पितृकार्य कुशों के बिना सम्पन्न हो नहीं होते हैं। पहिले ऋषि मुनि ब्राह्मण लोग नित्य प्रति वनों में जाकर फल, पुष्प, समिधा तथा नित्य नई कुशा लाया करते थे। आज कुशल शब्द दक्ष, चतुर तथा योग्य पुरुष के अर्थ में व्यवहृत होता है, उसका भी यही तात्पर्य है—"कुशं लातीति कुशलः" अर्थात् जो कुश को लाकर उसे धारण करे वही कुशल है। अच्छे काम कुशा के बिना होते नहीं, जो अच्छे काम करेगा वही कुशों को लावेगा, वही कुशल पुरुष है। इसलिये कुश वाले देश साधन में उपयुक्त माने गये हैं।, जैसे हिमालय, विन्ध्य आदि पर्वतीय देश, गंगा

यमुना आदि परम पवित्र नदियों के देश, जहाँ संत-महात्मा सिद्ध पुरुष रहते हों या पहिले रह चुके हों, ऐसे सिद्ध प्रदेश अथवा जिस पवित्र तीर्थों वाले प्रदेश साधन के लिये श्रेष्ठ माने गये हैं। उन पवित्र देशों में भी ऐसी भूमि पावन मानी गयी है, जो सुन्दर उर्वरा हो, जहाँ पवित्र वृक्ष हों, ऊसर या संस्कारहीन भूमि न हो। जहाँ जाते ही मन प्रसन्न हो जाय। ऐसी भूमि में—जहाँ संत महात्मा साधकों के पवित्र आश्रम हों, समीप में जलाशय हो, पवित्र नदियों का तट हो, देवालय हो, या पर्वतों की गुफा हो ऐसे स्थान में जीवनोपयोगी सभी सुपास देखकर साधन में प्रवृत्त होना चाहिये इसी का वर्णन करते हुए भगवान् ने अर्जुन को आसन लगाने की विधि बताई। जिससे बैठा जाय, या जिस पर बैठा जाय दोनों को ही आसन कहते हैं। जैसे पद्मासन, सिद्धासन, सरलासन आदि चौरासी लाख आसन है, इनको भी आसन कहते हैं और जिस गद्दी, चटाई, वस्त्र तथा चर्म आदि पर बैठकर साधन किया जाय उसे भी आसन कहते हैं। भगवान् ने संक्षेप में दोनों का ही कथन किया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने कैसे आसन पर बैठकर साधन करना चाहिये यह जिज्ञासा की तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! बैठने पर कमर न झुके, रीढ़ की हड्डी सीधी रहे, स्थिरता पूर्वक सीधे बैठे। बैठने में असुविधा न हो, सुखपूर्वक सीधे बैठने को आसन कहते हैं और जिस पर बैठते हैं, उसे भी आसन ही कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—वह बैठने वाला आसन कैसा होना चाहिये। कहाँ लगाना चाहिये?

भगवान् ने कहा—पवित्र देश में आसन लगावे। जहाँ आसन लगाना हो वह भूमि ऊँची नीची न हो। सम हो। उसे

लीप पोत कर, या गङ्गा जल आदि छिड़क कर पहिले से ही शुचि पवित्र बना ले। आसन न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा ही हो गुदगुदा हो, जिस पर बैठने से सुख हो, जो अंगों में गड़ने न लगे। उसके बीच में अन्तराल न हो।

अर्जुन ने पूछा—अन्तराल क्या ?

भगवान् ने कहा—जैसे दुमञ्जला भवन है, तो दूसरी मञ्जिल पर आसन न लगावे। किसी तखत, चौकी के ऊपर आसन न लगावे, उसके नीचे आकाश आ गया। भूमि पर ही आसन लगावे। आसन में मृग चर्म, कुशासन और वस्त्र तीनों का ही उपयोग होना चाहिये ?

अर्जुन ने पूछा—"इनका क्रम कैसे होना चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—"लिपी पुती स्वच्छ भूमि पर सबसे पहिले कुशाओं का आसन बिछाना चाहिये। उसके ऊपर काले मृग का चर्म। ऋषियों ने मृग के चर्म को शुद्ध माना है, जैसे हड्डी के बने शंख को शुद्ध माना है। कस्तूरी मृग का चर्म हो तो और भी सुन्दर। सिंह भी मृगेन्द्र है अतः व्याघ्रचर्म भी बिछाते हैं, किन्तु यह राजस् है, कृष्ण मृगचर्म सात्विक है। खाली मृग चर्म पर बैठना दोष बताया है, अतः मृगचर्म के ऊपर मदुल वस्त्र अवश्य बिछाले। जब भी बैठना हो मृगचर्म पर वस्त्र बिछाकर ही बैठना चाहिये। इस प्रकार कुशासन, मृगचर्म और वस्त्र इन तीनों को क्रमशः बिछाकर उस पर स्थिर आसन से बैठना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे आसन पर बैठकर क्या करना चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—सबसे पहिले तो मन को एकाग्र करे। यह मन स्वभाव से चंचल है। अतः जहाँ तक हो इसे इधर-उधर

भटकने से रोकना चाहिये। फिर चित्त को और इन्द्रियों को संयत करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"चित्त को और इन्द्रियों को संयत कैसे करे ?"

भगवान् ने कहा—आँखों का स्वभाव होता है, तनिक भी पैंछर सुनाई दी उसी ओर जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखते रहना तनिक भी शब्द सुनाई दिया उसी को सुनकर उसके विषय में चिन्तन करना। कोई भी गन्ध आई तो उसी के विषय में मनन करना। उस प्रकार सब ओर से मन तथा इन्द्रियों के व्यापारों से अपने को हटाये रखना चाहिये। फिर चित्त को एकाग्र करके किसी सिद्धि की कामना के निमित्त नहीं, किसी दिव्य लोक की प्राप्ति की इच्छा के निमित्त नहीं। केवल आत्म शुद्धि के अभिप्राय से ही समाधिका अभ्यास करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—आत्मबुद्धि क्या ?

भगवान् कहा—आत्मा तो नित्य, शुद्ध, मुक्त सच्चिदानन्दमय है ही। विषयों के संसर्ग से अन्तःकरण में मलिनता सी आ गयी है। सूक्ष्म दृष्टि से इसी बात का चिन्तन करे कि मुझमें किसी प्रकार का विक्षेप नहीं है। मैं सभी कामनाओं से रहित, समस्त विक्षेपों से परे हूँ। इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूप का विचार करे।

अर्जुन ने पूछा—ऐसा चिन्तन करते समय शरीर को किस प्रकार रखे ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

आसन सुखद लगाइ चित्त साधन में देवै।
मन कूँ करि एकाग्र इन्द्रियनि वश करि लेवै॥
पाँच करम अरु पाँच ज्ञान इन्द्रिय कहलावैं।
अहं बुद्धि मन चित्त भीतरी करन बतावैं॥
इन सब कूँ वश में करै, अन्तःकरन विशुद्धि हित।
करै योग अभ्यास नित, जाइ न कबहूँ भोग चित॥

ध्यान की विधि

[७]

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥*

(श्रीभ० गी० ६ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

काया सिर अरु गरो सीध में सम ई राखै ।
मन बानी वश करै व्यरथ की बात न भाखै ॥
आसन अचल लगाय चित्त इत उत न डुलावै ।
भीतर मनकूँ रोकि दृश्य परपंच भुलावै ॥
दीठि नासिका अग्र में, राखै विचलित होहि नहि ।
दशहु दिशनि देखै नहीं, चित इत उत नहिँ जाइ बहि ॥

---

* अभ्यास के समय शरीर शिर और ग्रीवा को स्थिर और अचल करके बैठे। अपनी नासिका के अग्रभाग की ओर देखता हुआ और किसी दिशा में भी दृष्टि को न जाने दे ॥१३॥

ऐसा प्रशान्तात्मा और मत्परायण पुरुष निर्भय होकर ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित हुआ बड़ी सावधानी के साथ मन को वश में करके मेरे परायण होकर बैठा रहे ॥१४॥

इस शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं, उन सबका सम्बन्ध मूलाधार चक्र से है। जब मूलाधार चक्र शुद्ध रहेगा तभी आगे के चक्रों में कुण्डलिनी शक्ति का—प्राण वायु का—प्रवेश अगले चक्रों में होगा। जो रुग्ण होता है, वह मूलाधार की विकृति के ही कारण होता है। वृद्धावस्था में जो कमर झुक जाती है, उसका कारण भी यही है कि मूलाधार की नाड़ियाँ मल के कारण मोटी हो जाती हैं। वहाँ की कसेरुकाओं की हड्डी उभर कर बड़ी हो जाती है। जिसमे कमर को सीधी-सम-नहीं रख सकते। रीढ की हड्डियों के बीच से जो सुषुम्ना नाडी जाती है, वह सिर से लेकर मूलाधार तक जाती है। मूलाधार चक्र में वह साढ़े तीन वलय लगाकर प्रसुप्त हुई पड़ी रहती है, उसमें प्राणों का संचार नहीं होता। वृद्धावस्था में बहुतों का सिर दुखने लगता है। किसी को नेत्रों से कम दीखने लगता है, कुछ लोग कानों से कम सुनने लगते हैं। अपानवायु-जो एक शरीर को त्यागकर दूसरे में चली जाती है-मूलाधार में ही रहती है। अतः सबसे पहिले मूलाधार की ही शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। मूलाधार का शोधन विविध यौगिक आसनों से होता है। आसनों से नाड़ी शोधन में बहुत सहायता मिलती है। एक आसन से लगातार ६ घंटे बैठा रहे, और सिर, ग्रीवा तथा रीढ़की हड्डी तनी रहें, दोनों घुटने भूमि में सटे रहें और इसमें शरीर को तनिक भी कष्ट न हो। तो समझना चाहिये आसन सिद्धि हो गयी। इस पर स्थिर रहने पर सुखानुभूति होती है, तब ध्यान में मन लगता है। अतः साधन का मूल-आधार आसन ही है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने शरीर को कैसे रखना चाहिये इस बात की जिज्ञासा की तब भगवान् ने कहा—अर्जुन! शरीर के तीन भाग हैं। एक तो पैरों का भाग, जहाँ

आकर, कटिप्रदेश के समीप दोनों पैर निकलते हैं, उस कटि भाग से ग्रीवा तक दूसरा भाग और ग्रीवा से सिर तक तीसरा भाग। सिर सबसे श्रेष्ठ मुख्य भाग है, इसलिये उसे मुख्य भाग या शीर्षभाग कहते हैं। ग्रीवा से कटि तक के भाग को मध्यभाग कहते हैं, आगे के भाग को वक्षोदर और पीछे के भाग को पृष्ठ भाग या पीठ कहते हैं। कटि के नीचे के भाग को अधोभाग कहते है। उस अधोभाग के भी तीन विभाग है। एक तो दोनों चूतड़ों का भाग जहाँ से दोनों पैर निकलते हैं, वहाँ से लेकर घुटनों तक घुटनों से लेकर टखनों तक दूसरा भाग और टखनों से लेकर पंजों तक तीसरा भाग। तो पंजे टखने और घुटने तो पद्मासन, सिद्धासन अथवा स्वस्तिकासनादि आसन लगाने से संयत हो जाते हैं। अब रहा मध्यभाग और शीर्षभाग। इन दोनों को संयम में रखने के लिये पीठ, ग्रीवा और सिर को जब तक सम न रखा जायगा तब तक पूरे शरीर का संयम नहीं हो सकता। शरीर को संयत रखने के लिये आसन मार कर पीठ ग्रीवा और सिर को सम रखना यह समाधि की प्रथम सोपान है। अतः तीनों को सम रखकर सुस्थिर होकर बैठे।

अर्जुन ने पूछा—शरीर का संयम तो हो गया, किन्तु दृष्टि तो बड़ी चंचल होती है, तो क्या आँखों को भी मींच ले।

भगवान् ने कहा—आँखों के मीच लेने में एक दोष है, उससे निद्रा आ जाने की सभावना है, अतः न तो आँखों को पूरी तरह से मींचे ही और न पूरी तरह से खुली ही छोड़ दे। अर्धोन्मीलित दृष्टि रखकर नासिका के अग्रभाग पर ही अपनी दृष्टि जमा दे। और किसी दिशा की ओर न देखे। ऐसे दिशाओं की ओर अवलोकन न करता हुआ स्थिर होकर बैठे रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—बैठकर क्या करता रहे ?

भगवान् ने कहा—"बैठकर ध्यान करना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"ध्यानकर्ता कैसा हो, उसकी योग्यता बतावें।"

भगवान् ने कहा—ध्यान कर्ता को सर्वप्रथम तो प्रशान्तचित्त होना चाहिये। जिसका चित्त अशान्त है, वह ध्यान ही क्या करेगा। अतः चित्त में जो विक्षेपकारक विचार हैं, उन्हें मस्तिष्क से निकाल देना चाहिये। अनित्य संसारी विषय न आज तक किसी के हुए हैं न होंगे। चित्त में विक्षेप के तीन ही कारण है, कामवासना, धनका लोभ और अपने विरुद्ध आचरण करने वालों के प्रति क्रोध। सो तीनों बातों को अनित्य नाशवान् समझकर इनकी चिन्ताओं से चित्त को विमुक्त करके शान्तभाव से ध्यान के लिये बैठना चाहिये।"

दूसरा विक्षेप है, मृत्यु का भय साधक को ऐसा भय आठो पहर लगा रहता है, कि ऐसा कार्य करने से कहीं मेरी मृत्यु न हो जाय। सभी प्राणी सर्वदा मृत्यु के भय से भयभीत बने रहते हैं। साधक को निर्भय रहना चाहिये। उसे दृढ़ विश्वास रखना चाहिके कि जहाँ मृत्यु होने वाली होगी, वहाँ अवश्य ही हो जायगी, उसे कोई टाल नहीं सकता। जहाँ मृत्यु नहीं होने की है, वहाँ कोई लाख प्रयत्न करे, तो भी मृत्यु हो नहीं सकती। जब मृत्यु निश्चित समय पर नियत देश में अवश्यम्भावी है, तो हम फिर सदा भयभीत क्यों बने रहे। अतः साधक को भय को तिलांजलि देकर–निर्भय बनकर साधन में प्रवृत्त होना चाहिये।

तीसरी बात यह है, जब तक साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं करता, तब तक उसे ब्रह्म साक्षात्कार हो नहीं सकता। जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ऋषिगण ब्रह्मचर्य व्रत का

आचरण करते हैं "यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यंचरन्तः" उस व्रत से च्युत न हो। वीर्य की रक्षा करने का ही नाम ब्रह्मचर्य है। वीर्य या विन्दुपात से ही मरण होता है। विन्दु धारण से ही जीवन प्राप्त होता है। जिन कारणों से वीर्य अधोगामी हो, उन कारणो का परित्याग कर देना चाहिये। कामनियों का दर्शन, स्पर्श, आलाप, हँसी-विनोद, एकान्तवार्ता, एकान्तसेवन आदि कामवर्धक चेष्टाओं का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

चौथी बात यह है, कि शरीर की भाँति मन को भी संयम में रखना चाहिये। मन को इधर-उधर स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण नहीं कराते रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! मन तो बड़ा चंचल है। उसको तो जब तक कोई अवलम्बन न हो, तब तक वह इधर-उधर घूमता ही रहेगा। मन निरालम्ब तो ठहर नहीं सकता।"

भगवान् ने कहा—"मन के लिये सबसे बडा अवलम्बन तो मैं ही हूँ, मुझमें चित्त को लगाये रखना चाहिये। मेरी निराकार साकार अनेक मूर्तियाँ हैं, जो भी साधक को अनुकूल पड़े। उसमें चित्त को फँसाये रखना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—आपको क्या समझे?

भगवान् ने कहा—मुझे ही अपना परम पुरुषार्थ समझे। मुझे ही सर्वस्व मानकर ध्यान में प्रवर्त हो, मुझे ही अपना आराध्यदेव, प्राप्ति स्थान, अन्तिम साध्य तथा अन्तिम ध्येय माने। ऐसा होकर योग में युक्त होकर निश्चिन्त, निश्चल, जितेन्द्रिय, श्रद्धावान् होकर ध्यान में बैठे।

अर्जुन ने पूछा—इस प्रकार बैठे हुए साधक को क्या होता है, उसे कौन सी सिद्धि की प्राप्ति होती है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

ब्रह्मचर्य व्रत माहिँ अवस्थित रहै सदाईं।
कबहूँ भय नहिँ करै अभय व्रत रखै सदाईं॥
अन्तःकरन प्रशान्त होहि चंचलता तजि कें।
सावधान नित रहै चित्त तैं मोकूँ भजि कें॥
मोमें चित्त लगाइ कें, मत्पर वह बनि जाइगो।
पावै साधक सुख सतत, सत् योगी कहलाइगो॥

योग द्वारा परम शान्ति की प्राप्ति

[८]

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० १५ श्लोक)

छप्पय

मन कूँ वश जिनि कर्‌यो नियत मानस कहलावें ।
ऐसे योगी सदा चित्त मो माहिँ लगावें ॥
परमानन्द स्वरूप शान्ति कूँ ते नर पावें ।
मेरी है वह शान्ति सरल साधक जन पावें ॥
तैल-धारवत ध्यान करि, जो लौ सतत लगाइँगे ।
कहैं शाश्वती शान्ति जिहि, मम प्रसाद तैं पाइँगे ॥

समस्त साधन शान्ति के ही लिये किये जाते हैं । मनुष्य जो भी कर्म करता है, इसीलिये करता है, कि इस कर्म से मुझे सुख मिले और दुख की निवृत्ति हो । कोई भी व्यक्ति दुख नहीं चाहता । सभी इसीलिये सब व्यापारों को करते हैं, जिससे मेरी चिन्ता दूर हो जाय । कामी समझता है, मेरी इष्ट वस्तु मुझे

---

* इस भाँति अपने आपको योगाभ्यास में लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी मेरी स्थिति रूप परम निर्वाण शान्ति को प्राप्त होता है ॥१५॥

प्राप्त हो जाय, तो मैं सुखी हो जाऊँगा। असत्यवादी जो असत्य भाषण करता है, वह दुख की प्राप्ति की इच्छा से नहीं करता। उसे किसी भोग पदार्थ की इच्छा है, वह सोचता है, यदि मैं सत्य बात कह दूँ, तो लोग मुझ पर क्रुद्ध होंगे मुझे मेरी मनोभिलषित वस्तु प्राप्त न होगी, यदि में असत्य भाषण कर दूँ तो वह वस्तु मुझे मिल जायगी। उस वस्तु के प्राप्त होने पर मुझे सुख मिलेगा। यदि असत्य भाषण से सुख की शान्ति की उसे संभावना न होती, तो वह कभी असत्य भाषण न करता, क्योंकि इस बात को वह भी जानता है, कि असत्य भाषण करना अच्छा नहीं, किन्तु सुख प्राप्ति की लालसा से वह अनुचित साधन को भी अपनाता है।

कामी समझता है, यदि अधर्म करने पर भी मेरी मनचाही कामिनी मिल जाय, जिससे मुझे सुख मिलेगा, तो वह अधर्म का मार्ग भी ग्रहण करने को उद्यत हो जाता है। महाराज दण्डक कुलीन थे, शास्त्रज्ञ थे, फिर भी अपने गुरु शुक्राचार्य की अरजस्का पुत्री को एकान्त अरण्य में पुष्प चुनती देखकर उस पर मुग्ध हो गये। उस कन्या से उन्होंने अनुचित प्रस्ताव किया। कन्या ने कहा—"राजन्! तुम कैसी अधर्म की बात कर रहे हो, मेरे पिता तुम्हारे गुरु हैं। इस सम्बन्ध से मै तुम्हारी बहिन हूँ, बहिन से ऐसा प्रस्ताव करना अधर्म है।"

राजा तो काम में मदान्ध हो गये थे, उन्होंने कहा—"देवि! धर्म हो या अधर्म जब तक मैं तुम्हें प्राप्त न कर लूँगा, तब तक मुझे शान्ति नही मिलेगी।"

शुक्रतनया ने राजा को भय दिखाते हुए कहा—"राजन्! तुम्हें इस अधर्म कार्य का परिणाम भी सोच लेना चाहिये। मेरे पिता परम तपस्वी हैं, वे सर्व समर्थ है, तुम्हारें इस अधर्म कार्य

से वे तुम्हें ही भस्म नहीं कर देंगे, तुम्हारे राज्य पाट को, सेना वाहन, मंत्री सचिवों को तथा समस्त प्रजा को नष्ट कर देंगे।"

दण्डक ने कहा—"देवि ! मैं यह जानता हूँ, तुम्हारे पिता की शक्ति का मुझे पता है, फिर भी यदि एकबार मैं तुम्हारा आलिंगन कर लूँ, तो उस सुख के पीछे मै सब कुछ सहने को उद्यत हूँ।"

कन्या बहुत मना करती रही, किन्तु राजा ने अपने सुख के निमित्त उसके साथ बलात् कार्य किया। उसका परिणाम भी जो होना चाहिये था, वही हुआ। सात दिनों तक तप्त बालू की वर्षा हुई। राजा का धन, जन, सेना, कोष, तथा सम्पूर्ण प्रजा के प्राणी नष्ट हो गये। सम्पूर्ण राज्य दण्डकारण्य हो गया।

इससे यही सिद्ध हुआ कि सभी प्राणी सुख प्राप्ति के लिये और दुःख निवृत्ति के ही निमित्त कर्म करते हैं। किन्तु जैसे कर्म किये जाते हैं, वैसा ही उनका फल मिलता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं। शुभकर्म, अशुभकर्म और शुभाशुभ कर्म।

जो पापमय संसारी पुरुष हैं, वे अशुभ कर्मों में ही लगे रहते हैं, वे आहार, निद्रा और मैथुनादि के अतिरिक्त अन्य किसी सुख को जानते ही नहीं। इन्द्रियों के विषय भोगों में ही वे सुख समझते हैं। अतः जैसे भी प्राप्त हो सकें तैसे विषय सामग्रियों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं। इसका परिणाम दुःख ही है, वे बार-बार जन्म लेते हैं मरते हैं। नरकादि लोकों में तथा यहाँ वे भाँति-भाँति के क्लेशों को सहते है।

दूसरे शुभाशुभ कर्म हैं, वे पुण्य पाप दोनों से मिश्रित रहते हैं। वे कर्म भी कामना मूलक ही होते है। उनमें शुभ हुए तो स्वर्गीय सुख मिल जाते है, अशुभ हुए तो नरकों में भी जाना पड़ता है। मिश्रित कर्म भी परमार्थ में साधक नहीं। तीसरे

धर्मात्मा लोगों के शास्त्र सम्मत शुभ कर्म होते हैं। यदि शुभ कर्म सकाम हुए तो वे स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति कराते हैं, यदि निष्काम भाव से किये गये, तो वे अन्तःकरण की शुद्धि में कारण होते हैं।

समस्त मोक्ष के साधनभूत शुभ कर्मों के करने का कारण एक मात्र अन्तःकरण की शुद्धि ही है। आत्म शुद्धि के निमित्त ही समस्त साधन किये जाते हैं। आत्म शुद्धि के निमित्त किये जाने वाले कर्म सीधे मुक्ति देने वाले नहीं हैं, वे परम्परा से मुक्ति में कारण हैं। जब तक समाधि की प्राप्ति नहीं होती तब तक परम शान्ति नहीं होती। योग दर्शनकार ने समाधि के विषय में बड़े विस्तार से विवेचन किया है। समाधि के वैसे तो उन्होंने कई भेद बताये हैं, किन्तु साधारणतया संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दो भेद मुख्य हैं। उसे सबीज निर्बीज नाम से भी कहा गया है। संप्रज्ञात समाधि में कुछ प्रतिबन्धक भाव शेष रहते हैं। वे प्रतिबन्धक भाव भी जब नष्ट हो जाते हैं, उसी को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

समाधि प्राप्त करने के अनेक उपाय है। प्राचीन काल में ऐसी-ऐसी ओषधियाँ थीं, जिनको खा लेने मात्र से ही समाधि हो जाती थी, बहुत से साधक जन्म से ही बिना किसी साधन के समाधि मग्न हो जाते थे, जैसे पक्षिगण बिना किसी प्रकार का साधन किये जन्म से ही आकाश में उड़ने लगते हैं। कुछ परम्परागत मंत्र ऐसे हैं, कि जिनके जप से ही समाधि सिद्धि हो जाती हैं। बहुत से तपस्या द्वारा भी समाधि लाभ कर लेते हैं। किन्तु योग दर्शनकार ने इसे अन्तिम समाधि न मानकर इसकी संज्ञा 'भव प्रत्यय' बताई है। भव कहते हैं संसार को और प्रत्यय कहते हैं कारण को। अर्थात् ऐसी समाधि वालों को कालान्तर

में पुनः संसार की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि इन्होंने विचार द्वारा आत्मा अनात्मा का विवेक नहीं किया है। यह तो उन्हें भाग्यवश मार्ग में चलते हुए थोड़े से उपाय से प्राप्त हो गयी है। जो विचार विवेक, श्रवण, मनन निदिध्यासन के द्वारा त्याग वैराग्य और तितिक्षा आदि उपायों से समाधि प्राप्त हुई है उसका नाम "उपाय प्रत्यय" कहा गया है। वह श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और एकाग्रता के से समाहित चित्त की प्रज्ञा विवेक द्वारा अभ्यास और वैराग्य से प्राप्त होती है वही उपाय प्रत्यय अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि है। यही चरमस्थिति है। इसे प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ प्राप्त करने को शेष रह नहीं जाता।

यद्यपि हमने इस प्राणायाम योग साधन रूप यज्ञ को निष्काम कर्मयोग के ही अन्तर्गत माना है, क्योंकि निष्काम कर्म रूप साधनों द्वारा ही समाधि की उपलब्धि होती है भागवत में भगवान् ने कहा है—"संसार में जन्त, ओषधि, तपस्या और मंत्रों द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सभी मेरी भक्ति रूपी योग से मिल जाती हैं। किन्तु योग की अन्तिम सीमा मेरे सारूप्य, सालोक्य आदि की प्राप्ति के बिना केवल मुझमें ही चित्त लगाये बिना अन्य किसी भी साधन से प्राप्त नहीं हो सकती।"

साधन तो बहुत हैं, किन्तु इन सब साधनों में श्रद्धा ही मुख्य साधन है। वैसे निष्कामभाव से यज्ञयाग किये जायँ, सदाचारों का पालन किया जाय, शमदम, अहिंसा, दान, धर्म, स्वाध्याय वर्णाश्रम धर्म आदि का पालन किया जाय, ये सब के सब साधन अन्तःकरण की शुद्धि में कारण हैं, मोक्ष को देने वाले हैं, किन्तु इन कर्मों में यदि सकामता आ गयी तो फिर ये संसार को ही देने वाले हो जाते हैं, यदि दंभ से इनका आचरण किया जाय तब तो नरक ही देने वाले होते हैं। अतः इन सब साधनों को प्रभु की

प्रसन्नता के निमित्त ब्रह्मार्पण बुद्धि से-बिना किसी संसारी कामना के करना चाहिये।

इन निष्कामभाव से इन कर्मों द्वारा भगवत् प्राप्ति-आत्म साक्षात्कार-संभव है। परन्तु आचार्यों ने इस योगमार्ग को सर्वश्रेष्ठ मार्ग बताया है। तपस्या आदि से प्राप्त सिद्धियों में विचलित होने की सम्भावना है, किन्तु यह योगमार्ग तो राजपथ है, इसके द्वारा परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने योगयुक्त पुरुष की अन्तिम स्थिति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान कहने लगे—"अर्जुन! ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित प्रशान्तात्मा साधक का जब मन मुझमें ही लग जाता है, तब उस संयतचित्त साधक योगी का चित्त योगयुक्त हो जाता है। अर्थात् वह असंप्रज्ञात समाधि के सुख का पूर्ण रूप से अनुभव करने लगता है। क्योंकि उसका चित्त योगयुक्त हो जाने से सदा सर्वदा मेरे स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। फिर उसका संसार बन्धन सदा के लिये छूट जाता है।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे योगयुक्त पुरुष का मन फिर कभी संसारी पदार्थों में नहीं जाता है क्या?

भगवान् ने कहा—यह संसार तो माया अविद्या के कारण ही बन्धन का हेतु है। जिसकी अविद्या की निवृत्ति हो गयी, उसके लिये फिर संसारी पदार्थ बन्धन के हेतु नहीं होते। उसे फिर किसी प्रकार की चिन्ता अशान्ति तथा स्वरूप च्युति नहीं होती। अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उस योगी को परम शान्ति की प्राप्ति होती है। फिर वह सर्वत्र शान्ति का ही अनुभव करता है, वह शांति साम्राज्य का अधीश्वर बन जाता है। यही योग की पराकाष्ठा है, इसी का नाम परागति है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! आपने योग की परागति की

स्थिति का तो वर्णन कर दिया, अब हम यह जानना चाहते हैं, कि योग साधन में तत्पर साधक का आहार विहार कैसा होना चाहिये। उसे कौन सी वस्तु खानी चाहिये, कौन सी वस्तु न खानी चाहिये। कितना आहार करना चाहिये। कृपा करके उसके आहारादि के नियम और बता दें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब भगवान् अर्जुन की जिज्ञासा पर जैसे योग साधन करने वालों के आहारादि का वर्णन करेंगे, उसे मैं आप सबसे आगे कहूँगा, आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर सुनने की कृपा करेंगे।

छप्पय

यज्ञ आदि शुभ करम करो निष्काम भाव तैं।
शम दम मन अरु करन शुद्ध करि परम चाव तैं॥
जप, तप नित करि वरन आसरम वेद बताये।
दान अहिंसा विविध करो व्रत बिनु फल चाये॥
ब्रह्मार्पणयुत बुद्धि तैं, करम सबहि वर ज्येष्ठ भति।
किन्तु योग पथ समाधी, राजपन्थ है श्रेष्ठ अति॥

योगी के आहार विहार के नियम

[९]

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥❀

(श्री भग० गी० ६ अ० १६, १७ श्लोक)

छप्पय

कैसे होवै सिद्ध योग सो तोइ बताऊँ ।
संयम साधन योग करै ताको है जाऊँ ॥
जो खा जावै बहुत योग तातैं नहिँ होवै ।
खाइ सर्वथा नहीं योग फिरि किहि विधि होवै ॥
करै शयन जो अति अधिक, योग साधना करै कस ।
जो निशि दिन जागतु रहै, साधक नहिँ वह नींद वस ॥

❀ हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वाले को सिद्ध होता है और न सर्वथा निराहार रहने वाले को । तथा न बहुत सोने वाले को और न सर्वथा जागते रहने वाले को ही ॥१६॥

समस्त दुःखों का नाश करने वाला यह योग उन्हीं को सिद्ध होता है, जिनका आहार विहार युक्त है, जिनकी चेष्टा संयमित और जिनका सोना जागना नियमित है ॥१७॥

कर्म मार्ग भक्तिमार्ग (निष्काम कर्म मार्ग) और ज्ञानमार्ग तीन मार्ग सनातन हैं। इनमें कर्म मार्ग अर्थात् वर्णाश्रम धर्ममार्ग केवल कर्मों पर ही आधारित है, ज्ञान हो जाने पर कर्मों को छोड़ना नहीं पड़ता वे स्वतः छूट जाते हैं। भक्ति मार्ग में भी कर्म किये जाते हैं, किन्तु वे किसी संसारी कामना के लिये नहीं। आसक्ति त्यागकर कृष्णार्पण बुद्धि से किये जाते हैं और सिद्धि प्राप्त होने पर भी भक्त या निष्काम कर्मयोगी लोक संग्रह की दृष्टि से भगवत् पूजन रूप कर्मों को करता ही रहता है। ज्ञानमार्ग में भी कर्म किये जाते हैं, किन्तु वे केवल अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त किये जाते है। जहाँ अन्तःकरण शुद्ध हुआ वहाँ हठपूर्वक कर्मों का परित्याग करके ज्ञाननिष्ठ होकर निष्कामभाव से कर्म रहित होकर विचरते रहते हैं। कर्म तीनों ही मार्ग में करने होते हैं, अतः कर्म को छोड़कर दो ही निष्ठायें रहीं। ज्ञाननिष्ठा और भक्ति निष्ठा। ज्ञानी लोग भक्ति का खंडन नहीं करते, किन्तु वे उसे ज्ञान प्राप्ति का साधन मानते है। इसी प्रकार भक्तमार्गीय भी ज्ञान का खंडन नहीं करते। उनका कहना है, जो अज्ञानी है, वह साधन में प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है। अतः ज्ञान प्राप्त करके भक्ति करनी चाहिये। भक्ति मार्गीय ज्ञान को भक्ति का साधनमात्र मानते है। साध्य तो उनके लिये भक्ति ही है।

चाहें कर्म मार्गीय हो, चाहे भक्तिमार्गीय तथा ज्ञानमार्गीय तीनो प्रकार के साधकों को संयम तो करना ही होगा। असयमित व्यक्ति साधन में प्रवृत्त हो ही नही सकता। अपने नित्य नैमित्तिक व्यवहार को सुव्यवस्थित रखना एक नियम में बांधे रहना इसी का नाम संयम है। संयम जीवन में उन्हीं बातों का आवश्यक होता है, जिनके बिना जीवन चल ही न सके। वे बातें ये हैं।

(१) आहार (२) विहार (३) विविध इन्द्रियों की भिन्न-भिन्न चेष्टायें (४) सोना और (५) जागना।

आहार तो उसे कहते हैं, जो बाहर से लाकर वस्तुओं को शरीर में डाला जाय। वह चाहें मुख के द्वारा डाला जाय या अन्य छिद्रों के द्वारा। आहार से शरीर की रक्षा होती है। प्राण वायु शरीर से निकल-निकलकर जीवन को क्षय करती रहती है। इसलिये जीवन की वृद्धि के लिये आहार आवश्यक है। आहार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग से मन पुष्ट होता है। इसलिये आहार का प्रभाव मन पर भी पड़ता है। कहावत है, "जैसा खाय अन्न वैसा बने मन।"

आहार भी तीन प्रकार का होता है, सात्विक, राजस् और तामस, इनका विवरण स्वयं भगवान् सत्रवें अध्याय में बतावेंगे। विस्तार से वहीं इनका विवरण दिया जायगा। यहाँ संक्षेप में ही समझ लेना चाहिये कि सात्विक आहार वह है जो मृदु हो, मन को क्षोभ न करे। कड़वा तीखा न हो राजस् आहार वह है, जो रजोगुण को उत्पन्न करने वाला कड़वा तीखा चरपरा, बहुत मसालों वाला हो, तामस वह है, जो ठंडा, बासी, जूठा, दुर्गंधयुक्त हो। सात्विक आहार से ज्ञान की वृद्धि होती है, राजस् आहार से अधिकाधिक खाने की इच्छा तथा लोभ की वृद्धि होती है, तामस् आहार से निद्रा आलस्य और प्रमाद बढ़ता है।

यदि सात्विक आहार भी हुआ और तुम उसे आवश्यकता से अधिक खा गये, तो वह भी तमोगुण को ही उत्पन्न करेगा। अधिक आहार रोगों की वृद्धि करता है। अधिक आहार से मृत्यु होती है, बहुत कम आहार से शरीर का पोषण नहीं होता। उतना ही भोजन करे जो भली-भाँति पचकर रस रक्तादि के धातुओं के रूप में परिणित होकर सम्पूर्ण शरीर के अंगों को पुष्ट करे।

इसलिये पेट का जो अन्न जल का कोठा है, उसे पूरी तरह आप केवल गरिष्ठ अन्न से ही परिपूर्ण कर दोगे, तो पचते समय प्यास लगेगी। पानी कहाँ समायगा। प्यास में पानी अधिक पी गये तो पक्वाशय को थैली बढ़ेगी। पूरा जीर्ण नहीं हो सकेगा। कुछ आहार अजीर्ण रह जायगा, वह आँव बनकर शरीर में रोगों को उत्पन्न करेगा। अतः उदर में जितना आहार आ सकता हो उसका आधा ही अन्न से भरे। शेष आधे में से आधे को—चौथाई भाग, को जल से पूर्ण करे और चौथाई को वायु संचार के लिये खाली छोड़ दे। मुख से मल द्वार तक के द्वार को महाद्वार कहते हैं। इसमें १८ हाथ की तो आंते ही हैं। तुम इसमें अधिक अन्न लोभवश ठूंस लोगे तो वायु संचार को स्थान न रहेगा। अपान वायु कुपित होकर नाना व्याधियों की सृष्टि करेगी। अतः आहार सन्तुलित नियमित युक्त होना चाहिये।

बहुत कम भी आहार न हो। शरीर के लिये जितने आहार की आवश्यकता है, आपने उससे बहुत ही कम दिया, तो शेष भाग दूषित वायु से परिपूर्ण हो जायगा। इससे वात सम्बन्धी रोग पैदा हो जायेंगे। शरीर का ठीक-ठीक पालन-पोषण न होगा। रस रक्तादि धातुएं आवश्यकता से न्यून बनने लगेगी। शरीर क्षीण हो जायगा। वह साधनादि कार्य करने में असमर्थ हो जायगा। अतः योग साधक को जहां अधिक आहार निषेध है वहाँ उपवास भी निषेध है। समय पर नपा तुला भोजन करे। जिससे पेट हलका रहे पाचन शक्ति ठीक रहे। यह नहीं कि खूब तनकर खाले और खाकर कष्ट के साथ इधर-उधर करवट बदलता रहे। या कम खाने से मन आहार की ही ओर लगा रहे।

इसी प्रकार अपने विहार को चलने फिरने को भी संयत रहे। योगसाधक को विशेष मार्ग चलने का निषेध है। उसे एक स्थान

पर रह कर अधिक से अधिक एक आसन से बैठकर अभ्यास को बढ़ाना चाहिये। विवशता वश पैदल मार्ग चलना ही हो तो एक योजन चार कोश से अधिक न चले। अधिक शीत को सहन न करे। प्रातः स्नान का आग्रह न करे। अधिक ठंडे जल में स्नान न करे। अधिक गर्मी में--धूप में--न निकले। अर्थात् समशीतोष्ण में शरीर का संयमित रखे।

अपनी इन्द्रियों की चेष्टाओं को भी संयमित रखे। व्यर्थ में इधर-उधर न देखे। व्यर्थ की वाणी न बोले, व्यर्थ के शब्दों को न सुने। जिसका स्पर्श शास्त्रों में वर्जित है, उसका स्पर्श न करे। मलमूत्र के वेग को रोके नहीं। काम, क्रोध और लोभ के वेगों को रोके। इस प्रकार अपनी चेष्टाओं को अपने अधीन रखे। इन्द्रियो के अधीन न हो जाय।

अपने और सब कर्मों को भी नियमित करे। नियमित समय पर स्नान, भोजन, पूजा पाठ करे। नित्य नियम से ध्यान धारणादि साधनों को करे। समय पर शौचादि जाय। अपने जीवन को सन्तुलित रखे। व्यर्थ के कर्मों से सदा बचता रहे।

जीवन के लिये निद्रा लेना भी आवश्यक है। अतः नियमित समय पर सो जाय और नियमित समय पर उठ जाय। रात्रि के ३ भाग कर ले। जैसे १२ घन्टे की रात्रि है। तो पहिले भाग और अन्तिम भाग में तो जागकर साधन करे, मध्य भाग में निद्रा ले। जैसे सूर्यास्त ६ बजे होता है और मान लो ६ ही बजे सूर्योदय होता है। तो ६ से १० तक तो इधर जागता रहे। १० बजे सो जाय। फिर उधर २-३ बजे जाग जाय। इस प्रकार निद्रा और जागरण को भी संयमित रखे। योग साधक को ४ घन्टे की निद्रा बहुत है। सर्वसाधारण के लिये ६ घन्टे की।

इस तरह जिसके सभी काम सन्तुलित हैं। संयम पूर्वक किये

गये है, उसे साधन में सुलभता होती है। उसका योग साधन रूपी अभ्यास सुलभता पूर्वक हो सकता है। योग में असयम अनियमितता सबसे बड़ा विघ्न है। योगाचार्यों ने योग के साधक के लिये स्त्री, मार्ग चलना, अग्नि से तापना और उपवास ये चार बातें वर्जित बतायी हैं। यह योग साधन छुरे की धार पर चलने के समान है, कि जहाँ तनिक सी दृष्टि इधर-उधर हुई कि फिर मृत्यु ही है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् साधक के आहार विहार के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहते हैं—अर्जुन योग साधना करने वाले साधक को अपने आहार, विहार, चेष्टा, कर्म और सोने जागने को संयमित रखना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"संयमित कैसे रखे। जिससे योग साधन भली-भाँति हो सके?"

भगवान् ने कहा—देखो, भैया जो अधिक भोजन कर लेता हैं, उससे योग नहीं होता।

अर्जुन ने पूछा—"तोलकर कितना भोजन करे?"

भगवान् ने कहा—"सबकी पाचन शक्ति एक सी नहीं होती। किसी की जठराग्नि तीव्र होती है, किसी की मन्द होती है किसी की सम होती हैं। अपनी जितनी भूख हो, पेट में जितना दाल, भातरोटी साग समा सकता हो, उसका आधा खाय, शेष आधे में से आधे को पानी से भरे चौथाई भाग को वायु निकलने को छोड़ दे।"

अर्जुन ने पूछा—यदि सर्वथा खाय ही नहीं तो कैसा रहे। उपवास को सर्वश्रेष्ठ माना है।

भगवान् ने कहा—जो तपस्या मार्गावलम्बी हैं, उनके लिये ही अनशन सबसे बड़ा तप है, किन्तु इस योग मार्ग में अनशन

सर्वथा निषेध है। जो खायगा ही नहीं, तो योग साधन कैसे करेगा। इसलिये अजीर्ण हो तो लघ्वाहार करे नहीं तो योग साधक जान बूझकर कभी भी अनशन न करे।

अर्जुन ने पूछा—योग साधक सोवे कितना ?

भगवान् ने कहा—जो नियम खाने के सम्बन्ध में है, वही सोने के सम्बन्ध में भी समझो सवेरा हो जाय, ब्रह्म मुहूर्त से पहिले जागकर साधन में लग जाय। सूर्योदय से पूर्व ठन्डे जल में स्नान का आग्रह न करे। गरम जल से चाहे तो स्नान करले। और ऐसा भी न करे कि सर्वथा सोवे ही नहीं। नियमित नीद ले ले।

इस प्रकार जिसका आहार युक्त है, विहार युक्त है, चेष्टायें युक्त है, सोना युक्त है, जागना युक्त है तथा समस्त कर्म युक्त-सतुलित-नियमित-हैं, ऐसे योगसाधन करने वाले साधक का योग सिद्ध होता है, उसके समस्त दुःखों की निवृत्ति हो जाती है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! इस प्रकार संयम पूर्वक साधन करने से साधक की कौन सी संज्ञा होती है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन ऐसे नियत साधन करने वाला साधक जब अपने साधन को बढ़ाता जाता है, बढ़ाता जाता है, तो वही साधक आगे चल कर युक्त योगी कहलाता है।

अर्जुन ने पूछा—युक्त योगी की परिभाषा क्या है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर जैसे भगवान् ने युक्त योगी की परिभाषा बताई है, उसे मै आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

निद्रा और अहार संतुलित नित ही राखै।
बानी संयम रखै विषय--वार्ता नहिँ भाखै॥
करै युक्त आहार विहारहु संयत करि कें।
निद्रा वश में करै समय तें जागै उठि कें॥
करम करै कौशल सहित, जथा जोग्य चेष्टा करै।
तासु योग दुखहर रहत, सो जोगी जग तें तरै॥

युक्त योगी की परिभाषा

[१०]

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० १८, १९ श्लोक०)

छप्पय

कैसे समुझैं योगयुक्त यह संयत साधक ?
जाके मग में क्लेश आदि अब हैं नहिं बाधक ॥
जब यह संयत चित्त आतमा में लगि जावै ।
सब भोगनि इसपृहा रहित साधक बनि जावै ॥
तब समुझो यह है गयो, योगयुक्त साधक सरल ।
विषय-वासना नाश तें, हृदय होहि अतिशय विमल ॥

---

* योगयुक्त पुरुष की यही वास्तविक अवस्था मानी जाती है, जिसमे योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम को प्राप्त हो जाय और जिस दशा मे अपने आप से परमात्मा को देखता हुआ अपने आप में ही सन्तुष्ट हो जाय ॥१९॥

जिस प्रकार वायु रहित स्थान में रखा दीपक चलायमान नही होता है, ठीक उसी प्रकार की उपमा जीते हुए चित्त वाले योगाभ्यास मे लगे योगी की कही गयी है ॥१९॥

एक ही वस्तु है, उसे राग से देखो, तो उसका और ही स्वरूप दीखता है, तथा वैराग्य से देखो उसके विरुद्ध दूसरा ही रूप दीखता है। बहुत-सी युवतियाँ जा रही हैं। कामी युवक रागवश उनका पीछा करता है। समीप जाने पर उसे पता चलता है, ये तो मेरी बहिनें हैं, तुरन्त उसका भाव बदल जाता है। एक गृहस्थी है, वह इधर-उधर से लाकर बड़े परिश्रम से धन एकत्रित करता है, उसे रागपूर्वक यत्न से रखता है। प्राणों की भाँति उसकी रक्षा करता है। कालान्तर में सद्गुरु की कृपा हो गयी, उसे पर वैराग्य हो गया, तो अब उसे वह धन मृत्तिका के समान प्रतीत होता है। धन वही है, किन्तु उसके प्रति भाव परिवर्तन हो गया।

राजा लोग राज्यलक्ष्मी का उपभोग पत्नी के समान करते है। उनको राज्यलक्ष्मी में अत्यन्त स्पृहा रहती है। राज्य श्री की रक्षा के लिये वे कितने लोगों का वध करा देते हैं, कितनों को फाँसी पर लटकवा देते हैं। उनकी हार्दिक इच्छा रहती है, राज्यलक्ष्मी सदा सर्वदा मेरे ही यहाँ बनी रहे, मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाय।

एक महाराजा थे, उन्हें किसी कारण वैराग्य हो गया। राज्यपाट सबको छोड़कर वे वन में चले गये, वहाँ नाना कष्ट उठाकर केवल भिक्षा के सूखे सत्तुओं पर ही निर्वाह करके काल-यापन करने लगे।

राज्यलक्ष्मी ने देखा, कल तक तो अत्यन्त स्पृहा से मेरा उपभोग करते थे, वे ही आज समस्त भोगों से रहित होकर परम कष्ट से समय बिता रहे हैं, तो राज्यलक्ष्मी वस्त्राभूषणों से भली-भाँति सुसज्जित होकर साकार रूप में महाराजा के समीप गयी। और अपने हाव-भाव कटाक्षों द्वारा राजा को अपनी ओर आक-

पित करने के लिये वे इन्हें रिझाने लगीं। तब राजा ने उन्हें पत्नी रूप में नहीं देखा, साक्षात् माता का स्वरूप मानकर कहने लगे—हे माता राज्यलक्ष्मी! अब हम वे स्पृहा वाले नहीं रहे, अब तो हम संसारी भोगों से निस्पृह बन गये हैं। निस्पृह व्यक्तियों के लिये आपका महत्त्व कुछ भी नहीं। इसलिये जो स्पृहावान भोगों में अनुरक्त व्यक्ति हो ऐसे किसी अन्य व्यक्ति को कृतार्थ करो। उसी को जाकर भजो।

राज्यलक्ष्मी ने कहा—"मेरी तो सभी स्पृहा करते हैं। अधिक नही तो उदर पोषण के ही निमित्त मुझे स्वीकार करो।"

तब महाराज ने कहा—"देवि! उदर पोषण को विरक्त पुरुष को क्या चिन्ता पेट तो वन के साग-पात से भी भर सकता है। सो हम तो हरे-हरे ढाक के कोमल पत्ते तोड़ लेते हैं। भिक्षा में जो भी कुछ रूखा-सूखा मिल जाता है, उन्ही पत्तों पर रख कर खा जाते हैं उसी से हमारा निर्वाह हो जाता है। जब हमारे मन से इस लोक तथा स्वर्गादि परलोकों के समस्त भोगों से वैराग्य हो गया, तो वैराग्यवानों की दृष्टि में आपका कुछ भी महत्त्व नही है।"

यही दशा चित्त की है। जब तक चित्त में संसारी भोगों की स्पृहा भरी हुई है तब तक चित्त उसी प्रकार चचल बना रहता है, जिस प्रकार वायु में रखे दीपक की लोय चंचल रहती है। उसी दीपक को ले जाकर किसी निर्वात स्थान में रख दो, तो उसकी लोय शान्त, स्थिर, गम्भीर तथा अचंचल हो जायगी। विषय वासनाओ की कामना ही आँधी है। इस झंझावात के ही कारण चित्त में सर्वथा चंचलता बनी रहती है। यह भी मुझे मिल जाय, इसका भी मैं उपभोग करलूँ। यह भी मेरे पास आ जाय, किन्तु जहाँ विषयों की इच्छा समाप्त हुई। जहाँ दृष्ट तथा

श्रुत भोगों से वैराग्य हुआ, तहाँ चित्त की चंचलता एकदम नष्ट हो जाती है, वह प्रशान्त जल के समान ऊर्मि-लहर रहित बन जाता है। ऐसी स्थिति योग साधन द्वारा ही सम्भव है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! युक्तयोगी की परिभाषा बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन! हत्या की जड़ यह मन ही है। विषय रूपी वायु के बवंडरों के झोंके से यह केला के पत्ते की भाँति चंचल बना रहता है। जिस समय यह चित्त चारों ओर से हटकर आत्मा में ही स्थित हो जाय। समस्त चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जायँ तब समस्त संसारी विषय-फिर चाहें, वे इस लोक के हों या परलोक के-तुच्छ दिखायी देने लगते हैं। विषयों की स्पृहा ही चित्त को चंचल कर देती है। विषयों के भोग की इच्छा ही चित्त की वृत्तियों को बिखेर देती है। जहाँ चित्त विषयों की इच्छा से निवृत्त हुआ नहीं कि वही साधक समाहित हो जाता है, ऐसे ही साधनों द्वारा सिद्ध हुए पुरुष को योगयुक्त कहते हैं।

विषयों में प्रियता जब तक बनी रहती है, तब तक भोगेच्छा के कारण चित्त चंचल ही रहता है, जब विषयों से निस्पृह हो जाय, ये विषय विषवत् प्रतीत होने लगे तब समझना चाहिये इसे पर वैराग्य की प्राप्ति हो गयी। पर वैराग्य ही असम्प्रज्ञात समाधि में मुख्य कारण है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! पर वैराग्य प्राप्त होने पर-विषयों से चित्त के निस्पृह हो जाने पर-चित्त की स्थिति कैसी हो जाती है?

भगवान् ने कहा—उस निरुद्धचित्त योगी के अन्तःकरण की स्थिति ठीक उस दीपक के समान हो जाती है, जिसको वायु के झोंके न लगते हों। कोई दीपक है, जब तक वह प्रबल वायु के

झोंकों के बीच में रखा है, तब तक उसकी लौ स्थिर न रहेगी। कभी इधर होगी, कभी उधर होगी। किन्तु जब उसे उठाकर निर्वात स्थान में ले जाओ। ऐसे स्थान में रख दो जहाँ विषय रूपी वायु के झोंके न लगें तो वह शान्त, गंभीर, सुस्थिर अचंचल, सौम्य तथा एकरस बन जायगा। इसी प्रकार योग-वेत्ताओं ने निरुद्ध हुए चित्त वाले योगी के अन्तःकरण को भी बताया है। उसमें ऊर्मियाँ नहीं उठतीं। लहरें उठकर उसे क्षुब्ध नहीं करतीं।

यह रजोगुण और तमोगुण ही चित्त में चंचलता पैदा करते हैं। जब शुद्ध होते-होते शुद्ध सतोगुण बढ़ जायगा तो स्वस्वरूप को प्रकाशित कर देगा। इसलिये ज्ञान रूप दीपक के द्वारा ही आत्म स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तब योग के साधक को कैसा आनन्द होता है, उस समय उसकी स्थिति कैसी होती है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् के जैसे निरोध समाधि का विस्तार से वर्णन किया है, उसे मैं आपको आगे बताऊँगा।

छप्पय

विजित चित्त की उपमा कातैं देवैं ज्ञानी।
भयो चित्त एकाग्र समुझि लेवैं कस प्रानी॥
वायु रहित घर माहिं रहै इस्थिर दीपक ज्यों।
विचलित होवै नहीं नेंक हू लौ ताकी त्यों॥
परमात्मा के ध्यान में, लगे रहें जोगी सतत।
देवैं उपमा तासु तस, जोग माहिं जो नित निरत॥

योगी आत्मतुष्ट हो जाता है

[११]

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० २०, २१ श्लोक)

छप्पय

ध्यान योग तैं जिननि पूर्णता प्राप्त करी है ।
करचो आत्मसाक्षात्-कार तिनि दशा कही है ॥
करत करत नित जोग चित्त उपराम होहि जब ।
आत्मा द्वारा होहि आत्मसाक्षात लखै तब ॥
विषयनि की वांछा नहीं, रहै आत्म-सन्तुष्ट नित ।
ऐसी इस्थिति जासु तैं, जोग कहै तिहि वेदवित ॥

---

* जिस अवस्था में योगाभ्यास से वश मे किया हुआ चित्त उपराम को प्राप्त हो जाता है, उस दशा मे अपने आप ही परमात्मा को देखता है तथा अपने आप में ही सन्तुष्ट होता है ॥२०॥

जो केवल बुद्धि से ग्राह्य है तथा अतीन्द्रिय है ऐसा जो आत्यन्तिक सुख है, उसको योगी जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित यह यथार्थ तत्त्व से चलायमान नही होता है ॥२१॥

आत्यन्तिक सुख उसे कहते हैं, जिसमें किसी भी प्रकार की चिन्ता न रहे। निश्चिन्त, निर्द्वंद्व, निर्विकार, निश्चल, निरभिमान, निर्भ्रान्त तथा अन्तःकरण निर्लेप हो जाय। जब चित्त में भाँति-भाँति की चिन्तायें व्याप्त हो जाती हैं, तब उनसे तिलमिला कर पुरुष अपने को निस्सहाय दुखी समझने लगता है। दुख का कारण मिथुन या द्वन्द्व ही है। सभी सापेक्ष है। सुख कहो तो दुख वहाँ अपने आप उपस्थित हो जाता है। हानि कहो, तो लाभ बिना कहे आ जाता है। इसी प्रकार संपूर्ण संसार द्वन्द्व पर ही टिका हुआ है। हम द्वन्द्वों में से एक को चाहते हैं, दूसरे को छोड़ देना चाहते हैं यह संभव नहीं। बरफ लोगे तो उसकी साथ शीतलता आ ही जायगी। सुख चाहते हो, तो दुख बिना बुलाये आ जायगा। अभ्यास से आपका अन्तःकरण सुख-दुख दोनों द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाय, यही समाधि सुख है।

अन्तःकरण में विषयों के संयोग से विकार हो ही जाता है, क्योंकि जन्मांतरीय विषय संस्कार व्याप्त हैं, जैसे चन्द्रमा के सम्मुख आते ही चन्द्रकान्ता मणि अपने आप चूने लगती है, उसी प्रकार विषयासक्त मन के सम्मुख विषय समुपस्थित होते ही अन्तःकरण विकृत बन जाता है, अभ्यास से अन्तःकरण ऐसा बन जाय, कि विकार के हेतु भूत विषयों के आने पर भी मन में किसी प्रकार की विकृति न हो, तो समझना चाहिये हमारा योगाभ्यास परिपक्वावस्था में पहुँच चुका है।

चित्त का स्वभाव ही चंचल है, वह तनिक-सी विषय वायु के लगने से ही हिलने लगता है, जब अभ्यास से यह ऐसा दृढ़ हो जाय कि कितनी भी तीक्ष्ण वायु क्यों न चले मन चलायमान न हो, तो समझना हमारा साधन सफलता की सीमा तक पहुँच गया है।

अभिमान ही साधन में सबसे बड़ा विघ्न है। अभिमान के अनेक भेद हैं, और वह नाना वेश बनाकर ऐसी चातुरी से गुप्त रूप से आता है कि अच्छे-अच्छे साधक भी तब तक यह जान नहीं सकते कि अभिमान ने हमारे हृदय पर अधिकार जमा लिया है, जब तक उसका परिणाम प्रकट न हो जाय। कोई अच्छे से अच्छा काम किया और तुम्हारे मन में यह आ गया कि "मेरे अतिरिक्त इसे और कर ही कौन सकता था।" समझो सब किया कराया चौपट हो गया। किसी ने तुम्हारे काम में—साधन-भजन में—विघ्न डाला, विघ्न डालने वाला तुमसे सब प्रकार निर्बल है, तो तुम्हारे मन में जहाँ यह आया कि यह धूर्त एक झापड़ का भी नहीं। मैं चाहूँ तो इसे इसका प्रतिफल चखा सकता हूँ। तो तुम्हारा साधन रूपी गुड़, गोबर बन गया।

साधन करते-करते सिद्धियों का आ जाना स्वाभाविक है, सिद्धियाँ साधन में विघ्न है, साधक की परीक्षा लेने आती हैं, यदि तुम उनके चक्कर में फँस गये, तो समझो तुम योगमार्ग से च्युत हो गये।

भाँति-भाँति की भ्रान्तियाँ अन्तःकरण को क्षुभित बनाती रहती है, उन भ्रान्तियों को धक्का मारकर तुम निभ्रान्त बन गये, तो समझ लो, समाधि सुख का अधिकार आपको प्राप्त हो गया।

इन सब प्रत्यवायों को पार करके इन पर विजय प्राप्त करके आप चिन्ता रहित होकर आत्म सुख का अनुभव करने लगे, तो समझ लो आपने बाजी मार ली।

आप कह सकते है। गाढ़ सुषुप्ति अवस्था में भी कोई चिन्ता नहीं रहती। पेड़ आदि से ऊँचे से गिरने से—मूर्छा आ जाने पर भी चिन्ता से मुक्त हो जाते है या कोई अधिक मात्रा में मादक पदार्थ का सेवन करने पर भी सब चिन्तायें दूर चली जाती हैं।

क्या इसे ब्रह्म सुख नहीं कह सकते। सुषुप्ति अवस्था में तो बड़ा आनन्द आता है, जागकर कहते हैं, आज बड़ी अच्छी नींद आयी। बड़ा आनन्द आया। क्या ब्रह्म-सुख ऐसा ही होता है?

अब ब्रह्म सुख कैसा होता है, इसे तो वही जान सकता है, जिसने उस सुख का अनुभव किया हो, और जिसने ब्रह्म-सुख का अनुभव कर लिया है, वह सफेद कागदों को काले क्यों बनावेगा, किन्तु निद्रा सुख में तथा समाधि सुख में एक बहुत बड़ा अन्तर है।

सुषुप्ति अवस्था में भी सुख तो होता ही है, चिन्ताओं के हट जाने से सुख तो होगा ही किन्तु सुख को अनुभव करने वाली बुद्धि सुषुप्ति अवस्था में लय को प्राप्त हो जाती है। एक नाड़ी होती है उसमें लीन हो जाती है, अतः सोते समय उस सुख की अनुभूति नहीं होती, वह सुख बुद्धि ग्राह्य नहीं है। जब जागते है, बुद्धि उस नाड़ी से निकल आती है, तब वह अनुभव करता है, कि मैं सुखपूर्वक सोया। किन्तु अन्तःकरण का निरोध करने पर जो समाधि होती है, उस निरोध से बुद्धि का लय नहीं होता। वह समाधि सुख बुद्धि ग्राह्य है। इसलिये सुषुप्ति काल में भी सुख होता है, किन्तु वह आत्यन्तिक सुख नहीं है। अल्प सुख है, क्षणिक सुख है। ब्रह्मसुख या आत्यन्तिक सुख तो समाधि के ही द्वारा सम्भव है। उसे प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय ही नहीं। जिनका चित्त समाधि के द्वारा निर्मल-स्वच्छ बन गया है, ऐसी अवस्था में जो आत्मा में सुख होता है। चित्त के आत्मा में संलग्न होने पर जो आनन्दानुभूति होती है, उसका वर्णन वाणी से किया ही नहीं जा सकता, वह तो अनुभव की वस्तु है। किसी गूँगे को बढ़िया घी बूरे का लड्डू खिला दो और उससे पूछो—"कैसा स्वाद है, तो वह क्या बतायेगा।"

गूंगे की बात छोड़ दो गौ का तुरन्त का निकला पीला-पीला घृत किसी बोलने वाले को ही खिलाकर पूछो—"घृत में कैसा स्वाद है?" तो वह वाणी द्वारा घृत के स्वाद को कैसे बता सकता है। अन्तःकरण की समस्त वृत्तियाँ लय न करके उनका निरोध करके समाधि स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, उस अन्तःकरण की निरुद्धावस्था का वर्णन करते हुए भगवान् उसका स्वरूप बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर निरोध समाधि का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन! योग शास्त्रों में बताये हुए उपायों से जिस साधक ने अपने चित्त को रोक लिया है और जहाँ जाकर यह चित्त उपरत हो जाता है, तो योगी अपने आप में ही सन्तुष्ट हो जाता है, वह आत्म तृप्त बन जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—वह योगी वहाँ क्या देखता है? क्या अनुभव करता है?

भगवान् ने कहा—अर्जुन यह सब वाणी का विषय नहीं। वह स्वयं (अपने आप ही) आत्म दर्शन करके आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है। आत्म दर्शन होने पर फिर उसे और कुछ भी देखने को अवशिष्ट नहीं रह जाता।

अर्जुन ने पूछा—"उस आत्म सुख में ऐसी क्या विशेषता है, कि योगी को फिर कुछ और देखने की इच्छा ही नहीं होती। उसी आत्म साक्षात्कार से उसे परम सन्तोष हो जाता है?"

भगवान् ने कहा—"देखो, वह सुख अतीन्द्रिय है। इन्द्रियों द्वारा उसका अनुभव भी नहीं हो सकता और न वाक् इन्द्रिय उसका वर्णन करने में ही समर्थ है। वह सुख निरतिशय है। केवल परम सात्त्विकी-सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि ही उसका अनुभव कर सकती है,

वह बुद्धि ग्राह्य ही है। योगी लोग जिस अवस्था में उनका अनुभव करते हैं, वह अडिग अवस्था है। उस अवस्था में स्थित होने पर फिर वह अपने स्वरूप से विचलित नहीं हो सकता। आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर फिर उसका पतन सम्भव नहीं। फिर उसे यह संसारी भोग बाधा नहीं दे सकते। फिर वह स्वरूपच्युत नहीं हो सकता।

अर्जुन ने पूछा—इस अवस्था का क्या नाम है?

भगवान् ने कहा—उस अवस्था का नाम ही "योग" है।

अर्जुन ने कहा—"उस योग सिद्धावस्था का कुछ और वर्णन कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने अर्जुन के पूछने पर जो सिद्ध-योगावस्था का वर्णन किया है, उसे मैं आगे आपसे कहूँगा।

छप्पय

जातैं होवै प्राप्त अतीन्द्रिय आनन्द अनुपम।
केवल भई विशुद्ध बुद्धि ही पाइ सूक्ष्मतम॥
जाकूँ करिकें प्राप्त करै अनुभव जिहि सुख कूँ।
जग के जितने द्वन्द भुलावै सबई दुख कूँ॥
करै प्राप्त जोगी दशा, होहि नहीं विचलित सतत।
ऐसी इस्थिति जासु तैं, जोग कहैं तिहि वेदवित॥

॥ श्रीहरिः ॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) से प्रकाशित

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित

पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

हिन्दुत्व की रक्षा के निमित्त प्रत्येक हिन्दु के लिये
नित्य अवश्य पालनीय चार नियम

१. *शिखाधारण*—प्रत्येक हिन्दु की सिर पर शिखा अवश्य रखनी चाहिये।

२. *प्रातःस्मरण*—प्रातःकाल उठकर अपनी निष्ठा के अनुसार भगवान् के किन्ही नामो का स्मरण अवश्य करना चाहिये।

३. देवदर्शन—नित्य नियम से आस-पास के किसी देवालय या मन्दिर मे- दिन में एक बार-किसी भी समय देवता को प्रणाम अवश्य करना चाहिये।

४. धर्मग्रन्थ पाठ—किसी भी धार्मिक ग्रथ का एक श्लोक अथवा एक छद ही नित्य नियम से पाठ अवश्य करें अथवा सुने ही।

इससे अधिक जितना भी धार्मिक कृत्य करें, उतना ही उत्तम है।

"अधिकस्याधिकंफलम्"

१. भागवती कथा (१०८ खंडों में)—अब तक ७० खण्ड छप चुके हैं। प्रत्येक खंड की न्योछावर १ रु० ६५ पैसे।

श्रीमद्भागवत को उपलक्ष्य बनाकर इसमे अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रो का सार सरल, सुगम, सरस भाषा में वर्णित हैं। पढते-पढ़ते आपकी तृप्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा अपने आप ही पढने लगेगे। सर्वथा औपन्यासिक शैली मे लिखी है, भाषा इतनी सरल ओज पूर्ण है कि थोड़े पढ़े बालक माताये तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। अध्याय के आरम्भ में एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छप्पय, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका। तदनन्तर प्रतिपादित विषय, दृष्टान्त और सरल कथाओं तथा कथोपकथन के रूप में वर्णित है। अन्त मे एक छप्पय देकर अध्याय की समाप्ति की है। प्रत्येक खड मे १५-२० अध्याय होते हैं, लगभग २५० पृष्ठों का एक खड होता है। प्रत्येक खड का मूल्य १) रुपया ६५ पैसे। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत सी जिला परिषदों के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है। ६८ खडों मे तो श्रीमद्भागवत के आधार पर विवेचन है ६९ वें खंड से गीतावार्ता नाम से श्रीमद्भागवत्-गीता का विवेचन हो रहा है। २०) भेजकर स्थायी ग्राहक बनें। वर्ष के १२ खंड आपको घर बैठे रजिष्ट्री से मिल जाया करेंगे।

६० खंडो में तो कथा भाग समाप्त हो गया है। शेष खडों में से प्रत्येक में किसी एक विषय का विवेचन होता है। सभी खड प्रायः स्वतन्त्र हैं। विद्वानों नेताओं तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हमारा बडा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर बहुत से विद्वानों की सम्मतियाँ पढ़ें यह ग्रन्थ किसी का अक्षरशः अनुवाद नहीं स्वतन्त्र विवेचन है। हम यहाँ ७० वें खड पर केवल एक सम्मति राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ के सर सघचालक श्री गुरुजी की ही देते हैं—

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक
परम पूज्य श्री माधव सदाशिव गोलवलकर
(श्री गुरुजी)
की

भागवती कथा

पर

शुभ-सम्मति

लगभग एक वर्ष पूर्व की बात है। श्री बदरीनारायण क्षेत्र में श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज ने, संकीर्तन भवन का निर्माण कराया था और उसका उद्घाटन मैंने ही करना चाहिए, ऐसी उनकी इच्छा थी। श्री महाराज जी की इच्छा को आदेश मानकर मैंने श्री बदरीनाथ की यात्रा करने का निश्चय किया। सोचा कि वर्षों की उत्कट इच्छा पूर्ण करने के लिए परम कृपालु श्री बदरीनाथ ने ही यह संयोग बनवाया और अपने अन्तरंग भक्त श्री ब्रह्मचारी जी महाराज को मुझे भवन के उद्घाटन करने के हेतु निमन्त्रित करने की प्रेरणा दी होगी। इस कार्यक्रम का निमित्त बनाकर मुझ पर श्री भगवान् ने दया कर, मुझे अपने पास खींचकर ले जाने का मेरे लिए भाग्य का सुयोग प्राप्त कर दिया। अकारण करुणा करने का यह पवित्र खेल, खेल कर मुझपर अपना वरदहस्त मानों रख दिया।

श्री महाराज जी की सन्निधि में यात्रा करने के आनन्द का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। श्री बदरीनाथ पहुँच कर पाँच रात्रि वहाँ भगवद्चरणों में रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ। और श्री महाराज जी के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत के कुछ अंश का विवरण सुनने का असीम सुख प्राप्त कर सका। भगवान् श्री कृष्ण जी के मथुरा चले जाने के कारण, शोक विह्वल गोप गोपियों और विशेष कर नन्द बाबा और यशोदा मैया की भाव विभोर अवस्था का, उनके द्वारा किया हुआ वर्णन पत्थर को भी पिघला देने वाला कारुण्य रस का उत्कट

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यों में)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दों में लिखा है। सैकड़ों सादे चित्र ५-६ बहुरंगे चित्र हैं कपड़े की सुन्दर जिल्द है, लगभग हजार पृष्ठों की पुस्तक का मू० ६ रु० ५० पैसे, पाँच संस्करणों में अब तक २३ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं। बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है।

३. भागवत चरित (सटीक दो भागों में)—अनुवादक—पं० रामानुज पांडेय, बी० ए० विशारद "भागवत चरित व्यास" भागवत चरित की सरल हिन्दी में सुन्दर टीका है प्रथम खंड छप चुका है। जिसमें १२२५ पृष्ठ हैं, मूल्य ८ रुपया। द्वितीय खंड शीघ्र ही छपने वाला है।

४. बद्रीनाथ दर्शन—श्री बद्रीनाथ यात्रा पर यह बड़ा ही खोजपूर्ण ग्रन्थ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातों का तथा समस्त उत्तराखंड के तीर्थों का इसमें वर्णन है। लगभग नवाचार सौ पृष्ठों की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपया। भारत सरकार द्वारा अहिन्दी प्रान्तों के लिये स्वीकृत है।

५. महात्मा कर्ण—महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण का यह अत्यन्त ही रोचक शिक्षाप्रद तथा आलोचनात्मक जीवन-चरित्र है। ३५६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ३ रु० ४५ पैसे।

६. मतवाली मीरा—मीराबाई के दिव्य जीवन की सजीव झाँकी तथा उनके पदों की रोचक भाषा में व्याख्या। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २ रु० ५० पैसे हैं। यह इसका छठा संस्करण है।

७. नाम संकीर्तन महिमा—नाम संकीर्तन के ऊपर जितनी भी शंकायें उठ सकती हैं उनका शास्त्रीय ढङ्ग से युक्तियुक्त विवेचन है। मूल्य ६० पैसे।

८. श्रीशुक (नाटक)—श्रीशुकदेव मुनि के जीवन की दिव्य झाँकी। पृष्ठ सं० १०० मूल्य ६५ पैसे।

९. भागवती कथा की बानगी—भागवती कथा के खंडों के कुछ अध्याय बानगी के रूप में इसमें दिये गये हैं। इसे पढ़कर आप भागवती कथा की शैली समझ सकेंगे। पृष्ठ १०० मू० ३१ पैसे।

१०. शोक शान्ति—अपने प्रिय स्वजनों के परलोक प्रयाण पर सान्त्वना देने वाला मार्मिक पत्र। शोक संतप्तों को संजीवनी बूटी है। पृष्ठ ६४ मूल्य ३१ पैसे। पंचम संस्करण।

११. मेरे महामना मालवीयजी—महामना मालवीयजी के सुखद

संस्मरण। १३५ पृष्ठ की छोटी पुस्तक, मूल्य ३१ पैसे।

१२. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु पुनः हिन्दु बन सकते हैं, इस प्रश्न का शास्त्रीय ढङ्ग से प्रमाणों सहित विवेचन बड़ी ही मार्मिक भाषा मे किया गया है, वर्तमान समय में जब विधर्मी अपनी संख्या बढ़ा रहे हैं यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ ७६ मूल्य ३१ पैसे।

१३. प्रयाग माहात्म्य—तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य पर ३२ पृष्ठ की छोटी सी पुस्तिका, मूल्य २० पैसे।

१४. वृन्दावन माहात्म्य—श्रीवृन्दावन के माहात्म्य पर लघु पुस्तिका। मूल्य १२ पैसे।

१५. राघवेन्द्र चरित (छप्पय छन्दों मे)—श्रीरामचन्द्र जी की कथा के ९ अध्याय भागवत चरित से पृथक् छापे हैं। रामभक्तों को नित्य पाठ के लिये बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ सं० १६० मूल्य ४० पैसे।

१६. प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि इसमें श्लोको सहित बताई है। श्लोकों का भाव दोहाओं मे भी वर्णित है। मूल्य २५ पैसे।

१७. चैतन्य चरितावली—महाप्रभु चैतन्यदेव की जीवनी। प्रथम खण्ड का मूल्य १ रु० ६० पैसे। अन्य खण्ड भी छपने वाले हैं।

१८. भागवत चरित की बानगी—इससे भागवत चरित के पद्यों की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसे।

१९. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) दोनों स्तोत्र है। मूल स्तोत्र भी दिये हैं। मूल्य २० पैसे।

२०. श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरित से यह पद्यों मे श्रीकृष्ण चरित पृथक् छापा गया है। पृष्ठ स० ३५० मूल्य २ रु० ५० पैसे।

२१. गोपालन शिक्षा—गौ कैसे पालनी चाहिये। गौओ की कितनी जाति हैं, गौओं को कैसा आहार देना चाहिये। बीमार होने पर कैसे चिकित्सा की जाय। कौन-कौन देशी दवाएँ दी जायें, इन सब बातों का इसमें विशद वर्णन है। पृष्ठ २०४ मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२२. मुक्तिनाथ दर्शन—नेपाल में सुप्रसिद्ध मुक्तिनाथ तीर्थ है। यात्रा का बहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन है। नेपाल राज्य तथा नेपाल के समस्त तीर्थों का इसमे विपद वर्णन है, मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२३. आलवन्दार स्तोत्र मूल तथा छप्पय छन्दों में अनूदित—

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के महामुनीन्द्र श्रीमत् यामुनाचार्य कृत यह स्तोत्र सर्वमान्य तथा बहुत प्रसिद्ध है। ५ बार में १६५०० छपी है। अमूल्य।

२४. रास पंचाध्यायी—भागवत चरित से रास पचाध्यायी पृथक् छापी गयी है। बिना मूल्य वितरत की जाती है।

२५. गोपी गीत—श्रीमद्भागवत के गोपी गीत का उन्हीं छन्दों में ब्रजभाषा अनुवाद है। वह भी बिना मूल्य वितरित है।

२६. श्रीप्रभु पदावली—श्री ब्रह्मचारीजी के स्फुट पदों का सुन्दर संग्रह है। पृष्ठ सख्या १२२, अमूल्य।

२७. परमसाहसी बालक ध्रुव—१०० पृष्ठ की पुस्तक मूल्य ६० पैसे।

२८. सार्थ छप्पय गीता—गीता के श्लोक एक ओर मूल और अर्थ सहित छापे हैं। उनके सामने अर्थ की छप्पय हैं। सचित्र पुस्तक का मूल्य ३ रु० है।

२९. हनुमत् शतक—नित्य पाठ करने योग्य यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर है। इसमें १०८ छप्पय हैं, सुन्दर हनुमान् जी का एक बहुरंगा तथा २१ सादे चित्र हैं। मूल्य ५० पैसे।

३०. महावीर हनुमान्—श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने श्रीहनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, इसमें २१ अध्याय है। (पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य २) ५० पैसे।

३१. भक्त-चरितावली (दो भागों में)—यदि आप चाहते हैं कि हम भी प्रभु के भक्तों की गाथा पढ़कर, भक्ति में आत्मविभोर होकर, प्रभु की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनों भाग मँगाकर पढ़ें। भक्त-चरितावली भाग (१) पृष्ठ ४४४ मूल्य ४) रु०। भाग (२) पृष्ठ ३०३ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

३२. छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय—श्री भर्तृहरि के नीति, शृंगार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद। पुस्तक बहुत मौजूदी कविता की है। (प्रेस में)।

३३. श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है। अभी छपी है। पृष्ठ ७५ मूल्य ७५ पैसे।

३४. छप्पय विष्णु सहस्र नाम तथा दोहा—भाष्य सहित सहस्र नामों के सहस्र दोहे। शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

मुद्रक—[illegible] शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज (प्रयाग)

भागवत दर्शन

खण्ड ७४

गीतावार्त्ता (६)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:*:संशोधित मूल्य २-०० रुपया

प्रथम संस्करण १००० प्रति] फाल्गुन २०२६ [मू० १.६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्त उपदेश लिखते थे। उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अंग्रेजी में छप चुके हैं। यह छोटी-सी पुस्तक बहुत ही उपादेह है। इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं। इसे हम फिर से छाप रहे हैं। मूल्य लगभग ३० पैसे।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम

(सहस्र दोहा भाष्य सहित)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वद्जनों के हाथों में पहुँची, लोगो ने पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये। पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जी इसी प्रकार 'श्रीविष्णुसहस्र नाम' को भी लिख दीजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के ऊपर एक-एक दोहा भी बना दिया। इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनों बन गये। प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते है उसे कथा मे सुनाते हैं उसका वर्णन इस परिचय सूचना-पत्र में करना असम्भव है। शीघ्र ही छपकर तैयार हो रही है। पत्र लिखकर अपनी प्रति सुरक्षित करालें।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

विषय

अपनी निजी चर्चा

गीता-माहात्म्य १४

१. योग की प्राप्ति ही परम लाभ है २७

२. उपरतचित्त को आत्मस्थ करके और कुछ भी न सोचे ३५

३. यतचित्त योगी को परम शान्ति मिलती है ४१

४. समदर्शी योगी ब्रह्मसंस्पर्श सुख का अनुभव करता है ४७

५. योगी और परम योगी ५४

६. अर्जुन का मन की चंचलता के सम्बन्ध में प्रश्न ६२

७. अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन वश में किया जा सकता है ७७

८. योगभ्रष्ट साधक के सम्बन्ध में अर्जुन का प्रश्न ८५

९. योगभ्रष्ट साधक पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म लेते हैं ९३

१०. पवित्र कुल में जन्म परम पुण्यात्मा पुरुषों का ही होता है ९८

११. साधक को सिद्धि अनेक जन्मों में होती है १०६

१२. योग की महत्ता और भक्तियोग की श्रेष्ठता में उपसंहार ११४

१३. विज्ञान सहित ज्ञान का वर्णन १२४

१४. भगवान् की अपरा प्रकृति १३२

१५. जीवरूपा परा प्रकृति १३९
१६. मैं ही इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हूँ १४५
१७. सबके सार भगवान् ही हैं १५२
१८. समस्त त्रिगुणात्मक भाव भगवान् से ही हैं १६०
१९. प्राणी प्रभु की दुष्पार माया का पार उनकी शरण लेने से ही पा सकता १६६
२०. भगवान् का भजन भक्त ही करते हैं मूढ़ दुष्कृति नहीं १८४
२१. ज्ञानी मेरी आत्मा ही है १९७
२२. सर्वत्र वासुदेव को देखने वाला महात्मा दुर्लभ है २०४
२३. सकामी अन्य देवों के उपासकों की कामना भी भगवान् ही पूरी करते हैं २१०
२४. देवों के भक्त देवों को और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं २१६

अपनी निजी चर्चा

[५]

अहो अमीषां किमकारि शोभनम् ।
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ॥
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे ।
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥❀

(श्रीमद्भाग० ५ स्क० १९ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

धन्य धन्य ते जीव जनम जिनि भारत लीन्हों ।
तिनि बड़ भागिनि पुन्य पूर्व जनमनि का कीन्हों ?
भये जहाँ अवतार कर्‌यो जिनि पावन सब जग ।
गंगा जमुना जहाँ पुन्यप्रद तीरथ पग पग ॥
जो जा धरम सुदेश में, जनमि धरम तैं विमुख हैं ।
ते पापी पामर परम, नीच नारकी अधम हैं ॥

❀ भारतवर्ष में जन्म लेने वालों की प्रशंसा करते हुए देवता कह रहे हैं—अहा ! जिन जीवों ने भारतवर्ष में जन्म लेकर भगवान् मुकुन्द की सेवा के उपयोगी शरीर धारण किया है, उन लोगों ने पूर्वजन्म में ऐसा कौन-सा भारी पुण्यकर्म किया है, अथवा स्वयं श्रीहरि ने उन पर प्रसन्न होकर उन्हें भारत में जन्म लेने का परम सौभाग्य प्रदान किया है, जिस परम सौभाग्य के लिये हम स्वर्गीय देवतागण भी सदा तरसते रहते हैं ।

हमारा यह भारत देश धर्म प्रधान देश है। यहाँ के समस्त समाज ने एक स्वर से धर्म को सर्वोपरि मान लिया था। तभी तो यहाँ के प्रत्येक कार्य में धर्म का संपुट लगा हुआ है। यहाँ के मेला, पर्व, उत्सव, संस्कार, खान पान, व्यवहार, खेल क्रीड़ा, साहित्य, संगीत तथा जीवनोपयोगी प्रत्येक कार्य के साथ धर्म संलग्न है। किसी भी मेला पर्व को ले लीजिये। उसका सम्बन्ध किसी ऋषि, मुनि, संत महात्मा या अवतार से अवश्य होगा। किसी त्योहार वार, व्रत उपवास के साथ कोई धार्मिक कृत्य आवश्य जुटा हुआ होगा। किसी संस्कार के साथ पूजन पाठ दान धर्म का सम्बन्ध अवश्य होगा। भारतीयों का जीवन धर्म के साथ ओत-प्रोत था। हम जो भी करते हैं, धर्म के लिये करते है, प्रभु पूजा के ही निमित्त करते है। इसीलिये हम प्रातः काल उठते ही भगवान् से शैया पर ही प्रार्थना करते हैं—

प्रातः प्रभृत्ति सायान्तं सायान्हात् प्रातरं ततः।
यत् करोमि जगन्नाथः तदेव तव पूजनम्॥

प्रभो! हम प्रातः काल से लेकर सायंकाल पर्यन्त और सायंकाल से लेकर प्रातः काल पर्यन्त जो भी कुछ कार्य करें, वह सब तुम्हारी पूजा के ही निमित्त हो। अन्य मजहबों में तो व्यवहार पृथक् होते हैं, धार्मिक कृत्य पृथक् होते हैं। उनकी उपासना पद्धति पृथक् है व्यवहारिक कार्य पृथक् है। अमुक समय या अमुक वार को प्रार्थना मन्दिर में जाकर सामूहिक प्रार्थना कर ली या कोई धार्मिक विधि कर ली। उसी से उनकी धार्मिक क्रिया सम्पन्न हो गयी, किन्तु हमारे यहाँ तो समस्त कार्य धर्म में ही सम्मिलित हैं। यहाँ तक कि शौच, स्नान, दन्त-धावन, हाथ मलना, जप, तप, पूजा पाठ, आजीविकोपार्जन की

वृत्ति, सोना, उठना, आचमन, विवाह, गर्भाधान, उपनयन समावर्तन सबके सब धर्म के अंग हैं। इसीलिये आज से डेढ़ दो सहस्र वर्ष पूर्व धार्मिक व्यक्ति का अर्थ होता था भारतीय। भारतवर्ष के ही लोग धर्म वाले कहे जाते थे, शेष सब धर्म से रहित या धर्म से अनभिज्ञ वनवासी जंगली माने जाते थे।

भारत के धर्म की प्रशंसा सुनकर दूसरे देशों के बड़े-बड़े शूरवीर यहाँ आते थे और थोड़े ही दिनों में इस देश के जीवन में घुल मिल जाते थे।

हमारे देश की श्रेष्ठता कल कारखानों के कारण, तकनीकी कार्यों के कारण नहीं है। यह देश तो धर्म सदाचार, संस्कृति, योगाभ्यास तथा अन्य आध्यात्मिक कार्यों के कारण संसार का सिरमौर बना हुआ था। बौद्ध धर्म ने तथा वैष्णव धर्म ने ऐसिया भर में ही नहीं योरोप के भी सभी देशों में धर्म का प्रचार प्रसार किया था। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण रूस, अमेरिका तथा अन्यान्य देशों में भूमि के नीचे से निकले मन्दिर, विष्णु तथा बुद्ध की मूर्तियां और हवन कुंड आदि हैं। यदि हमारा देश धर्म प्रधान न होता, तो जैसे अन्य बहुत से देशों की संस्कृतियाँ जातियाँ आचार विचार नष्ट हो गये है, इस देश का भी सर्वस्व नष्ट हो जाता। अब तक जो हिन्दु जाति को इतने वर्षों के पश्चात् भी जीवित रखा है, वह हमारी धार्मिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

समय के प्रभाव से, घटना चक्र से, भाग्य की विडम्बना से अपनी अकर्मण्यता, उदासीनता, परस्पर की फूट के कारण या धर्म में ढोंग आ जाने के कारण हम अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे। विधर्मी तथा विदेशियों के दास बन गये। लगभग डेढ़ हजार वर्ष की दासता के कारण चाहिये तो यह था, कि हम शासकों

की संस्कृति में घुल मिल जाते, किन्तु इस धर्म के आग्रह ने अभी तक हमारा धार्मिक पृथक् अस्तित्व बनाये रखा।

हमें आशा थी, स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर हम पुनः अपनी प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान करेंगे। पुनः चरक, सुश्रुत वाग्भट्ट आदि ग्रन्थों के आधार पर अपनी चिकित्सा पद्धति चालू कर देंगे। काष्ठादि औषधियों से बनी सात्त्विक, सुवर्ण रौप्य, ताम्र, पारा आदि धातुओं से बनी राजस् रसायनों, तथा चीड़फाड़ द्वारा सूची शल्यादि चिकित्सा द्वारा संसार को चकित तथा सुखी बना देंगे। अपने प्राचनी आचार-विचार, खान पान, वर्णाश्रम धर्म, भक्ति, दर्शन वेद वेदाङ्गों द्वारा भारतीयता का प्रचार करेंगे। दस्युधर्मीय विधर्मी लुटेरों द्वारा जो हमारे उपासना गृह नष्ट किये गये है, उन सबका हम पुनः जीर्णोद्धार करेंगे। अपने नष्ट हुए, लुप्त हुए तीर्थों को पुनः जागृत करके हम पुनः संसार में धर्म जगत् गुरु के पद पर प्रतिष्ठित होंगे। हम अवश्य हो सकते थे, जब के स्वराज्य प्राप्त होते ही हम तत्काल इसी दिशा में अपना कार्य आरम्भ कर देते। स्वराज्य होते ही हिन्दु धर्म की मानबिंदु गौ का वध बन्द कर देते। उसी दिन से विदेशी भाषा के स्थान पर कानून से स्वदेशी भाषा का प्रचलन कर देते, भारतीयता की वृद्धि करने वाली समस्त विधियों को चालू कर देते। जैसा कि इजरायल वाले यहूदियों ने किया था। यहूदियों का कोई राष्ट्र नहीं था। उनकी भाषा छिन्न-भिन्न हो गयी थी। यहूदी, विविध देशों में जा बसे थे और उन-उन देशों की भाषा बोलने चालने लगे थे। सब लोग यही समझते थे, कि यहूदियों का तो थोड़े दिनों में नाम निशान ही मिट जायगा। किन्तु भगवान् ने उन पर कृपा की। लड़-झगड़कर उन्होंने अपना एक 'इजरायल' राष्ट्र बना लिया। भिन्न-भिन्न देशों में इतस्ततः बिखरे

हुए यहूदी उस राष्ट्र में आकर बसने लगे। वे कोई अरब दो अरब करोड़ दो करोड़ नहीं थे। सब मिलाकर कुछ लाख की संख्या में थे। आते ही उन्होंने अपनी पुरानी भाषा को राजभाषा घोषित किया। पुराने तीर्थों को अपनाया। पुराने धर्म की प्रतिष्ठा की। हमारे देखते ही देखते। कुल इन्हीं १०।१५ वर्षों में आज वह संसार में एक सबल राष्ट्र के नाम से विख्यात हो गया है। अपने से सख्या में पचास गुने अरब राष्ट्रों के साथ लोहा ले रहा है। स्वेज नहर पर उसने अधिकार जमा लिये। सब मिलकर बीसों अरब राष्ट्र उसके कारण चिंतित हैं। इजरायलियों में आत्म सम्मान जागृत हो गया है। अभी हाल में एक इजरायली नेता ने कहा था—"हमारे पूर्व में अरब हैं, हमारे पश्चिम में अरब हैं, हमारे दक्षिण में अरब है और हमारे उत्तर में अरब हैं। भगवान् उन अरब राज्यों का कल्याण करें, इन शब्दों में कितना आत्म विश्वास तथा दृढ़ता है। हम भी स्वराज्य मिलने के पश्चात् ऐसे शक्तिशाली हो सकते थे, यदि हम अपनी संस्कृति को न छोड़ते। हम अपने को भारतीय बनने में ही गौरव का अनुभवन करते तो। किन्तु हम तो पूरे नक्काल बन गये। हम तो काले होने पर भी अपने को अँगरेज कहलाने में गौरवान्वित होने लगे। हम अपने आचार विचार, वेष भूषा भाषा सभी को तिलाञ्जलि देकर पश्चिमीय सभ्यता का पुजारी बनने में ही गौरव का अनुभव करने लगे। फिर कोई हमें जगत्गुरु क्यों मानने लगा। यदि हम अपने को भारतीय कह कर भारतीय धर्म का प्रचार प्रसार करने में जुट जाते, तो अधिक नहीं तो श्रीलंका, मलेशिया, जावा, सुमात्रा जापान आदि ऐसीयायी देशों को तो अपने में मिला ही सकते थे।

एक पर्यटक ने बताया कि मलेशिया वालों ने जब सुना

कि स्वतन्त्र भारत का भारतीय दूत हमारे देश में आ रहा है, तो वहाँ के लोग बुद्ध भगवान् के देश के राजदूत के स्वागतार्थ भारतीय विधि से एकत्रित हुए। वे फूल माला, अक्षत, धूप, दीप, नारियल लेकर पुरोहितों के साथ वायुयान स्थल पर आये। चौक पूरकर, कलश रखकर बन्दनवार बाँधकर खड़े हुए, कन्यायें माला लेकर खड़ी हुईं। उनका अनुमान था कोई काशी के पंडितों का भाँति संस्कृत का विद्वान् पगड़ी पहिने उतरेगा। हम उस बुद्ध भगवान् के देश के राजदूत का भारतीय ढङ्ग से स्वागत सत्कार करेंगे, किन्तु वायुयान आने पर उनकी आशाओं पर तुषारापात हुआ। वायुयान से कोट बूट-सूट में सुसज्जित, अँगरेजी टोप लगाये, मुख में मोटी चुरट दबाये, दो बड़े-बड़े अंगरेजी कुत्तों को जंजीर हाथ में थामे एक नकली अँगरेज उतर रहा है। वह अँगरेजी ढँग से हाथ मिलाता है। उन लोगो को बड़ा आक्रोश हुआ और दुखी होकर वे जैसे आये थे वैसे ही बिना स्वागत सत्कार किये लौट गये।

ऐसा ही एक प्रसग सैकड़ों देशों का द्विचक्री (साइकिल) पर भ्रमण करने वाले मिश्रीलाल जायसवाल ने मुझे सुनाया था। तब वे जर्मनी में थे। अपनी आँखों देखी बात सुना रहे थे।

जर्मनी वाले अपने को आर्य कहते हैं। सस्कृत भाषा का जितना प्रसार-प्रचार जर्मनी में है, उतना भारत में भी नही। सबसे पहिले वेद जर्मनी में ही छपे। संस्कृत के जितने दुर्लभ ग्रन्थ जर्मनी में हैं उतने स्यात् किसी भी देश में नहीं। वहाँ के संस्कृत के विद्वान मेक्समूलर अपने हस्ताक्षर देवनागरी लिपि में 'मोक्ष-मूलर भट्ट' के नाम से करते थे। संसार में स्यात् वही एक देश है जो आकाशवाणी से प्रतिदिन संस्कृत में अपना कार्यक्रम प्रसारित करता है।

वहाँ लोगों ने जब सुना भारत से कोई राजदूत चतुर्वेदी यहाँ आ रहे हैं, तो उन्हें बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। सहस्रों स्त्री पुरुष उनके सत्कार के लिये वायुयान स्थल पर आये। चार वेदों के प्रतीक चार स्तम्भ बनाये गये। संस्कृत के सभी विद्वान जुटे चार कन्यायें जो संस्कृत में भाषण कर सकती थीं। चार मालायें लेकर खड़ी हुई। उन लोगों की कल्पना थी, चतुर्वेदी जी चारों वेदों के ज्ञाता होंगे, काशी के पंडितों की भाँति पगडी बाँधे, अंगरखी धोती पहिने गले में दुपट्टा डाले आवेंगे। जब उन्होंने देखा चतुर्वेदी जी तो सूटेट बूटेट अपटूडेट नकली अँगरेज बने हल्लो-हल्लो करते हुए अपने टोप को हाथ में लिये उतरे, तो उनका सब उत्साह भंग हो गया। एक विद्वान् ने बढ़कर संस्कृत में कुछ प्रश्न किया। चतुर्वेदी जी ने अँगरेजी में उत्तर दिया—"मैं संस्कृत नहीं जानता।"

तब तो उनको बड़ा आक्रोश हुआ, बिना ही स्वागत् सत्कार किये वे सबके सब लौट गये। उनके निवास के लिये उन्होंने बहुत ही उच्चश्रेणी के विश्रामालय (होटल) में प्रबन्ध किया था, वहाँ भी उन्हें नहीं ले गये। तब मिश्रीलाल जी कहते थे—"हम कुछ भारतीय उन्हें किसी साधारण विश्रामालय में ले गये।" यह परिणाम होता है अपनी भाषा संस्कृति का परित्याग करने वाले देश का। रूस वालों ने भारत की राजदूता के परिचय पत्र को इसीलिये लौटा दिया था कि वह भारतीय भाषा में न होकर अँगरेजी में था। जब हिन्दी में दिया गया तब भी उन्होंने उसमें कई अशुद्धियाँ बताकर शुद्ध करने को लौटा दिया। यह तो है हमारे देश की मनोवृत्ति। अपने धर्म पर अपने तीर्थों पर या तीर्थ यात्रियों पर कोई आपत्ति-विपत्ति आ जाय, तो सरकार के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती, किन्तु पर धर्मियों के सम्मेलनों

में न बुलाने पर भी आग्रह पूर्वक जायेंगे। और वहाँ जाकर महान् तिरस्कार सहेंगे। दो कौड़ी के देशों के सामने जो जन संख्या में हमारे बम्बई कलकत्ता कानपुर की भी बराबर नहीं हैं, उनके द्वारा घोर अपमान सहकर भी पश्चात्ताप न करेंगे। जिस देश का कोई धर्म नहीं, संस्कृति नहीं प्राचीन परम्परा नहीं, कोई भाषा नहीं वह देश क्या उन्नति करेगा। अमेरिका के किसी विद्वान् ने जापान के राजदूत को ट्रांजिस्टर निर्माता देश का राजदूत कहा था। इसे सुनकर वह लज्जित हुआ चुप हो गया। उसने सोचा-हमारी अपनी कोई निजी परम्परा नहीं है। पहिले चीन, जापान, बौद्ध देश थे अब चीन ने तो सर्वथा ही, जापान ने आंशिक रूप से बौद्ध धर्म से अपना हाथ खींच लिया। अरे, मैं तो बहक गया, किस धारा में बह गये। मुझे तो अपनी तीर्थ यात्रा रेल की बात बतानी थी कहाँ मै अमेरिका, चीन, जापान, जर्मनी, रूस इजरायल, रबात और मलेशिया की बातें करने लगा भूल ही गया। पाठक पाठिकायें इस "गंगा जी की गैल में मदार की गीत" वाली लोकोक्ति के लिये क्षमा चाहता हूँ, मै अपने अप्रसंगिक सम्बन्धी शब्दों को वापिस लेता हूँ। हाँ, तो अब हमारी गाड़ी की आगे की चर्चा सुनें।

हाँ, तो तुम्हारा रामजी भला करें। हमारी गाड़ी तो नासिक से नहीं आई, एक-एक दो-दो डिब्बे करके हमारे सभी लगभग ७०० यात्री आ गये। हमारे यात्रियों में अधिकाश वृद्ध स्त्री पुरुष थे। वृद्धावस्था में ही धर्म सूझता है, वृद्धों से सभी लोग घृणा करने लगते हैं। जो स्त्रियाँ कुछ खर प्रकृति की तेज तर्राक लड़ाकू होती हैं, जो बहुओं को बात-बात पर टोकती तथा डाँटती डपटती रहती हैं। बहुएँ चाहती हैं—"यह बुढ़िया दो चार महीने को कहीं टल जाय।" तीर्थ यात्रा का प्रसंग आने पर अपने पतियों से कहकर

उनकी टिकट और मार्ग व्यय का प्रबन्ध करा देती हैं। बहुत-सी बुढ़ियां तो ऐसी थी, जिन्हे बिना लड़े चैन ही नही पड़ता था, भोजन ही नहीं पचता था। बूढ़े प्रायः ऐसे थे जो एक-एक पैसे का हिसाब रखते। रुपये दो रुपये के लिये मूड़फुड़ौअल करते।

गाडी के भंग हो जाने पर अनेक प्रकार की प्रतिक्रियायें हुई। जो शीघ्र लौट जाना चाहते थे, वे हमारे व्यवस्थापक से लड़ते"—हमारे रुपये वापिस करो, हम दूसरी गाड़ी से चले जायंगे।" रुपये तो पहिले ही ३।४ लाख रेलवे वालों ने जमा करा लिये। वे वापिस करें, तो रुपये लौटाये जायँ। कोई रोकड़ बांध कर थोड़े ही आया था।

कुछ लोग जो इस बात से दुखी थे, कि कलकत्ते में केवल गाड़ी दो दिन ही ठहरेगी हम क्या देखेंगे। वे प्रसन्न थे। वे चाहते थे, बम्बई में गाड़ी अधिक दिन ठहरे। वे कहते—"आप हमारी तरफ से तो निश्चिन्त रहें, जब गाड़ी चलेगी तभी चलेंगे आप प्रयत्न करें।"

कुछ लोग बिना ही किराये की वपिसी की माँग किये हुए अपना बोरिया बिस्तरा लेकर अपने-अपने घर लौट गये। कोई सरकार को कोसने लगे। नियम कानून बताने लगे। राजनैतिक दल वाले नेताओं को अपनी दुर्दशा दिखाने को ले आये। कोई समाचार पत्रों के संवाददाताओ को फोटो लेने वालों को बुला लाये। समाचार पत्र वालों ने सरकार के इस रवैया की कड़ी आलोचना की। पत्रों में वृत्त छपने लगे फोटो निकलने लगे।

मुझे बड़ी चिन्ता थी, मुझे गोपाष्टमी से वृन्दावन के अपने गो-लोक में अनशन पर बैठना था, उसमें ५-६ ही दिन शेष रह गये थे, इसी बीच गुजरात का भी दौरा करना था। गाड़ी को तो अभी लगभग एक महीना और घूमना था, बीच में ही यह आफत आ

गयी। हम अपने बन्धु सुप्रसिद्ध उद्योग पति सेठ गजाधर जी सोमाणी के घर गये। वहाँ से रेलवे मंत्री से दूर भास से बातें की। तत्कालीन रेल मंत्री पाटिल जी बंबई के ही हैं। वे बोले—रेल हमने बन्द नहीं की है। गृहमंत्रालय के आदेश से बन्द हुई है। अब उसकी आशा न रखें। फिर सोमाणी जी से बोले—"आप इन जनसंघियों के चक्कर में न पड़े। नहीं आपके लिये अच्छा न होगा।"

हँसकर सोमाणी जी ने कहा—"हमारे लिये अच्छा होगा, कि बुरा यह तो पीछे की बात है। पीछे देखा जायगा। रेल के लिये आप क्या कहते हैं।"

उन्होंने कहा—"हम कुछ नहीं जानते, गृह मंत्री से पूछिये।" इतना कहकर उन्होंने धम्म से यन्त्र मुख को रख दिया।"

सोमाणी जी ने मुझसे कहा—"महाराज, आप अपने कार्यक्रम को भंग न करें, आप मोटरों द्वारा गुजरात का दौरा करके ठीक समय से वृन्दावन न पहुँच जायें, हम लोग यहाँ हैं ही जो हो सकेगा वह करेंगे। नहीं तो यात्रियों को अपने-अपने घर भिजवाने का प्रयत्न करेंगे।"

मैने उनकी बात मान ली और मैं राजकोट, द्वारका आदि होता हुआ गोपाष्टमी से दो दिन पूर्व अहमदाबाद में आ गया। अहमदाबाद में हमारे वायुयान से तीन स्थान देहली के लिये कार्तिक शुक्ला षष्ठी को सुरक्षित थे। सोचा था षष्ठी की रात्रि में देहली पहुँचेंगे। सप्तमी के प्रातः मोटर से वृन्दावन में जाकर अष्टमी से अनशन पर बैठ जायंगे।

अहमदाबाद में परलोकवासी महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानंद जी महाराज के स्थान में ठहरे। वर्तमान महंत स्वामी सदानंद जी महाराज ने अत्यन्त ही स्नेह प्रदर्शित किया। द्वारका

पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य जी भी आ गये थे। शोभा यात्रा निकली, महती सभा हुई पत्रकार सम्मेलन हुआ और प्रसाद पाकर ज्योंही देहली को चलने को उद्यत हुए त्यों ही हमारे स्वयं सेवकों ने मुझे सूचना दी—"महाराज जी, आप देहली न जायं ?"

मैंने कहा—"क्यों, क्या बात है ?"

उन्होंने कहा—"देहली वालों ने अभी-अभी सूचना भेजी है, कि यहां वायुयान स्थल पर पूरी तैयारियाँ हैं, ब्रह्मचारीजी के आते ही उन्हें तुरन्त गिरफ्तार कर लिया जायगा।"

मैंने हँसकर कहा—"तो यह कौन सी बात है, सरकार जहाँ चाहे वहीं गिरफ्तार कर सकती है। "बकरे की माँ कब तक कुशल मना सकती है।"

उन्होंने कहा—"नहीं आप देहली न जाकर जयपुर उतर जायँ और वहीं से मोटर द्वारा वृन्दावन चले जायं।"

मैंने कहा—"वायुयान की टिकटें तो देहली की हैं ?"

वे बोले—"कोई चिन्ता की बात नहीं, आप इन्हीं टिकटों से जयपुर उतर जायें, तो कोई मना थोड़े ही करेगा और फिर हम टिकट बदलवाने का भी प्रयत्न करेंगे।"

हमारे स्वयंसेवकों में अत्यन्त उत्साह था। वे सब कुछ करने को उद्यत थे। कुछ तो हमें लेकर वायुयान स्थल पर गये। कुछ टिकटों की धुनाबुनी में लग गये।

वायुयान के छूटने के कुछ ही समय पूर्व प्रान्त प्रचारक मेरे पास पहुँचे और बोले—"महाराज ! टिकटें जयपुर की बन गयीं। हमने जयपुर सूचना भी दे दी। जयपुर में लोग आपको उतार लेंगे। वे सब प्रबन्ध करेंगे।"

सबसे स्नेहभरित हृदय से विदा लेकर, सबके स्नेह अनुराग

को सँजोये हुए हम वायुयान पर चढ़ गये। जहाँ-जहाँ भी गये, स्वयंसेवकों ने बड़े उत्साह उल्लास और सतर्कता से शोभायात्रा, सभाओं प्रेस सम्मेलनों, गोष्ठियों आदि का प्रबन्ध किया। सभी प्रान्त के स्वयं सेवकों ने मुझे प्रेम में न्हिला दिया। सुदूर प्रदेशों में अपने सगे सम्बन्धी परम आत्मीयजनों की भाँति मेरी देख-रेख करी। मुझे ऐसा लगता था, अब जीवन में इन बन्धुओं का स्नेह पुनः न प्राप्त कर सकूँगा। उन बन्धुओं ने भी अश्रुपूरित लोचनों से मुझे बिदा दी। बात की बात में जयपुर आ गया। भाई हजारीलाल शर्मा के यहाँ ठहरे, पूजा की प्रसाद पाया। प्रेस सवाददाताओं को वक्तव्य दिया। रात्रि के १०-११ बजे एक किराये की मोटर (टैक्सी) से हम वृन्दावन के लिये चल दिये। और गोपाष्टमी से एक दिन पहिले सप्तमी के प्रातः अपने वृन्दावन वंशीवट स्थित संकीर्तन भवन में पहुँच गये। जहाँ पर मेरे साथ अनशन करने के लिये १०।१५ बन्धु भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर ठहरे हुए थे।

पुस्तक का आकार छोटा, कहानी बड़ी तिसपर भी सीमित स्थान। कैसे करूँ, पृथक् ही पुस्तक की आवश्यकता थी, किन्तु भागवत दर्शन, गीतावार्ता लिखने के अतिरिक्त मुझे निजी चर्चा लिखने का अवकाश ही कहाँ। किसी तरह तनिक-तनिक समय निकाल कर जैसे-तैसे एक अध्याय लिख देता हूँ। अब तो अनशन के निकट ही आ गये कल से ही तो अनशन आरम्भ करना है। अब आगे का वृत्तान्त अगले खण्ड में पढ़ें। अब पहिले छटे अध्याय का माहात्म्य सुन लें, तदन्तर गीतावार्ता को पढ़ना प्रारम्भ करदें। यह तो चटनी है, मानसिक भोजन तो गीतावार्ता ही है।

छप्पय

पुन्य भूमि में जनमि कर्‌यो नहिँ धरम पुन्य अति।
फिरे कीर्ति हित व्यरथ नहीं हरिचरन कमल रति॥
संत संग नहिँ कर्‌यो नहीं मद मान भुलायो।
आस्तिक धी तैं तीर्थ न कीये समय बितायो॥
बहुत गई थोरी रही, साथी संगी चलि बसे।
हाय! दिवस यों ही नसे, ठाढ़े हम विस्तर कसे॥

गीता माहात्म्य

[६]

गीताया षष्ठाध्यायं योगं चात्मसुसंयमम् ।
ये पठन्ति नराः भक्त्या तेषा सिद्धि र्न संशयः ॥*

(प्र० द० प्र०)

छप्पय

अब छटवें अध्याय महातम तुम्हें सुनाऊँ।
आतम संयम योग पाठ महिमा बतलाऊँ॥
रैक्व प्रशंसा सुनी जानश्रुति नृप हंसनितैं।
खोजि रैक्व लै आउ कही नृप निज सारथि तैं॥
काशमीर में रैक्व मुनि, मिले मुदित सारथि भयो।
देन सुखद सम्बाद शुभ, सारथि नृप ढिँग चलि दयो॥

जब तक हृदय में विषयों के भोगने की अभिलाषा तथा उन विषयों में सुखानुभूति होती रहती है, तभी तक वह धनिकों की लल्लो-चप्पो करता है, जब प्रारब्ध पर दृढ़ भरोसा हो जाता है और भगवान् के प्रति दृढ़निष्ठा हो जाती है, तब उनकी दृष्टि

---

* श्रीमद्भगवत्गीता का जो आत्मसयम योग नाम वाला छठा अध्याय है, उसे जो मनुष्य पढ़ते हैं उनको सिद्धि प्राप्त हो जाती है, इसमें तनिक भी संशय नही है।

धनिकों और निर्धनों में समान हो जाती है। हम धनिकों की चापलूसी क्यों करते हैं ? इसलिये कि हमारा विश्वास है, कि यदि अपने पास एक धन हो तो सभी विषय-भोगजन्य सामग्रियाँ उपलब्ध की जा सकती हैं। धन से सुन्दर सुगन्धित पदार्थ, खाने के षट्रस नाना भाँति के व्यंजन तथा अन्यान्य भी सभी इन्द्रियों के उपभोग के पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। धनिकों के पास बहुत धन है, सम्भव है वे प्रसन्न होकर हमें धन दे दें, तो हमारे सब काम सरलता से सम्पन्न हो सकते हैं। किन्तु यह उनका भ्रम है, धनिक यदि ऐसे ही मनमानी भाँति से धन लुटाते रहते, तो न जाने कबके वे कंगाल बन गये होते। किसी की प्रशंसा करने से दीन बनकर उनके पीछे लगने से किसी को क्षण-भर को कुछ भले ही मिल जाय, किन्तु उससे स्थायी सुख नहीं शान्ति नहीं। यथार्थ शान्ति तो तभी प्राप्त हो सकती है, जब मन से संसारी भोगों की वासना निकाल दी जाय और धनवानों के प्रति जो मिथ्या आदर के भाव हैं उनके प्रति उदासीन हो जाय। जब तक यह भय बना रहेगा, कि हमारे ऐसे आचरण से कहीं धनिक तथा सत्तारूढ़ व्यक्ति अप्रसन्न न हो जायँ, तब तक मनुष्य यथार्थ निर्भय और सुखी नहीं बन सकता।

एक राजा के मुख्य मन्त्री थे। वे बड़े ही कुशल शासक, विद्वान् तथा उचित कार्य करने वाले राजनीतिज्ञ थे। साथ ही वे बड़े धार्मिक तथा शास्त्रीय ज्ञान में निपुण थे। राजा उनका बड़ा आदर करते थे, वे भी राजा का अत्यधिक सम्मान करते थे।

एक दिन मन्त्री ने राजा से निवेदन किया—"श्रीमान् ! मैंने बहुत दिन राजकाज किये अब मैं परमार्थ चिन्तन करना चाहता हूँ।" राजा ने बहुत प्रकार से उन्हें रोकना चाहा, किन्तु वे रुके नहीं। सब कुछ छोड़कर विरक्त बन गये। वे एक लँगोटी मात्र

लगाते, मिट्टी के खप्पर में जो मिल जाता, उसे ही खा लेते और जंगलों में अकेले पड़े रहते। उनके त्याग, वैराग्य तथा ज्ञान की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। बहुत से लोग उनके दर्शनों को आते, और दर्शन करके अपने को कृतार्थ मानते।

राजा ने भी उनकी प्रशंसा सुनी। वे भी उनके दर्शनों को गये। विरक्त मंत्री ने पहिली भाँति उनका उठकर स्वागत सत्कार नहीं किया। वे जैसे पैर फैलाये बैठे थे वैसे ही बैठे रहे। राजा को बहुत बुरा लगा। राजा तो सबसे सर्वदा सत्कार पाने का अभ्यस्त था। आज अपने ही पुराने भूतपूर्व मंत्री का ऐसा अशिष्ट व्यवहार देखकर वह क्षुब्ध हो गया। उसने ऊपर से हँसते हुए पूछा—"मंत्री जी! यह अशिष्टता आपने कब से सीखी?"

विरक्त मंत्री ने कहा—"श्रीमान्! जब से हमने विषय भोगों से उदासीनता और धनिकों से सुख पाने की इच्छा को मन से निकाल दिया है, तभी से हमने मिथ्या आदर और बनावटी शिष्टाचर को त्याग दिया है।" जिसने संहार से वैराग्य धारण कर लिया है, उसके लिये ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं रह जाता। उसके लिये सभी समान बन जाते हैं। उसकी बुद्धि समत्व में स्थिर हो जाती है।" ऐसी समत्व बुद्धि श्री मद्भगवत् गीता के षष्ठ अध्याय को पढ़कर जो अपने जीवन में उतार लेगा उसी को हो सकती है। इसीलिये भगवान् ने गीता जी के छटे अध्याय में कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःख स योगी परमो मतः॥

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भगवत् गीता के छटे अध्याय का महात्म्य सुनाता हूँ, जिसे शिवजी ने

पार्वती जी को और लक्ष्मी जी के पूछने पर भगवान् विष्णु जी ने सुनाया था।

लक्ष्मी जी ने भगवान् विष्णु से पूछा—"प्राणनाथ ! अब आप मुझे श्री मद्भगवत् गीता के छटे अध्याय का माहात्म्य सुनावें।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—"प्रिये ! गीता का छटा अध्याय आत्म संयम योग है। इसे जो अपने जीवन में धारण कर लेता है, वह आत्मजयी निर्भय तथा परमशान्ति का अधिकारी हो जाता है, उसे किसी भी प्राणी से भय नहीं होता है। वह सभी में समभाव रखता है, उसके लिये विषय विषवत हो जाते हैं। धनी निर्धन राजा तथा प्रजा सबमें वह ब्रह्म भाव का अनुभव करता है। वह संसार में महान् तेजस्वी हो जाता है। इस सम्बन्ध की जो एक प्राचीन कथा है, उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ, उसको तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।

पुण्यतोया भगवती गोदावरी के परम पावन तट पर प्राचीन काल में प्रतिष्ठानपुरी नाम की एक बड़ी ही समृद्धिशालिनी राजधानी थी। एक प्रतिष्ठानपुर तो गंगा यमुना के पवित्र संगम प्रयागराज के पार चन्द्रवंशी राजाओं की राजधानी (झूसी) है। यह दक्षिण की प्रतिष्ठानपुरी (पैठण) है। जहाँ भगवान् पिप्पलेश नाम से विख्यात हैं। प्राचीन काल में उसी राजधानी में जानश्रुति नाम के एक परम धार्मिक राजा राज्य करते थे। महाराज जानश्रुति अपनी प्रजा का पुत्रवत पालन करते थे। उनके राज्य की प्रजा भी उनके प्रति अत्यन्त स्नेह तथा आदर रखती थी।

वे निरन्तर यज्ञयाग आदि सत्कर्मों में ही लगे रहते थे। उनके यज्ञों का धूम सदा स्वर्ग लोक तक छाया रहता था, उस धूम से स्वर्ग के नन्दनवन के कल्पवृक्षों के लाल पल्लव काले पड़

गये थे। मानों उनकी असह्य कीर्ति और यश के सहन न करने के कारण कृष्णवर्ण के बन गये हों। राजा इतना दान करते थे, कि याचक लोग स्वयं दाता बनकर दान देने लगते थे। वे यज्ञों में निरन्तर देवताओं को पुरोडास अर्पण किया करते थे, जिससे देवतागण उनकी राजधानी का परित्याग करके अन्यत्र कहीं जाने की इच्छा ही नहीं करते थे। वे इष्टापूर्त, त्याग तथा दक्षिणा आदि में ही अपने धन का सद्व्यय किया करते थे। प्रजा ईति-भीति से सदा बची रहती थी। इन्द्र उनके राज्य में समय से वर्षा करते। वे प्रजा के कल्याणकारी कार्यों में सदा संलग्न रहते। स्थान-स्थान पर वापी, कूप, तड़ाग खुदवाते। प्याऊ लगवाते, फल वाले वृक्षों के बगीचे लगवाते। धर्मशालायें, पाठ-शालायें तथा देवालयों को बनवाते। उनके यश की ख्याति स्वर्ग तक पहुँच गयी थी। देवतागण उनके धर्म कर्मों से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। देवता जानते थे, राजा विषय भोग सम्बन्धी पदार्थों की–फिर चाहें वे इस लोक के हो या स्वर्ग के–मन से भी इच्छा नहीं करते। अतः देवतागण हंस का रूप धारण करके उनके परमार्थ पथ को परिष्कृत करने के विचार से उनके समीप आये। इन्द्र, वरुण, कुबेरादि कई देवताओं ने सुंदर स्वच्छ उज्वल पंख वाले हंसों का रूप रख लिया था। वे आकाश में साथ ही साथ उड़ते हुए आ रहे थे। वे बड़ी उतावली से प्रति-ष्ठानपुर को ही लक्ष्य बनाकर उड़ते आ रहे थे और परस्पर में वार्तालाप भी करते जाते थे। जब वे प्रतिष्ठानपुर के समीप पहुँचे तो राजा को सुनाते हुए पीछे वाले हंसों ने उन आगे वाले हंसों से कहा जो उनसे कुछ आगे-आगे उड़ रहे थे।

पीछे वाले हंसों ने आगे वाले हंसों का नाम लेकर कहा—"अरे, भद्राश्वादि हंसों! इतनी शीघ्रता से तुम क्यों उड़ रहे

हो ? भाई, शनैः-शनैः उड़ो। साथ-साथ उड़ो। तुम देखते नहीं मार्ग अत्यन्त दुरूह है। क्या तुम्हें विदित नहीं यह महाराज जानश्रुति का राज्य है।"

अगले वाले हंसों ने कहा—तो क्या हुआ ? जानश्रुति राजा से हम कुछ कहते तो नहीं हैं ? न उनकी कुछ हानि ही करते हैं।

पिछले वाले हंसों ने कहा—"हानि न भी करो, तो भी ये राजा परम धर्मात्मा हैं। इनका धवल यश दिग्दिगान्तों में व्याप्त है। सम्मुख तुम देख नहीं रहे हो उन पुण्यमूर्ति महाराज जानश्रुति का तेजःपुञ्ज सम्मुख अत्यन्त ही स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। तुमने तनिक भी अवज्ञा का भाव दिखाया, तो यह तेजपुञ्ज तुम्हें भस्म कर देगा। अतः अत्यन्त शिष्टाचार से आदर प्रदर्शित करते हुए शनैः-शनैः उड़ो।"

यह सुनकर आगे वाले हंस हँस पड़े और बोले—"हमने अभी तक किसी तेजस्वी पुरुष को देखा नहीं है क्या ? इस राजा का थोड़ा सा तेज हमें क्या भस्म करेगा ?"

पीछे वाले हंसों ने पूछा—"तुमने इन धर्मात्मा राजा से बढ़कर दूसरे किसी तेजस्वी पुरुष को देखा हो, तो उसका नाम बताओ ?"

आगे वाले हंसों ने कहा—"हमने तो ब्रह्मवादी महात्मा रैक्व का आध्यात्म सम्बन्धी तेज देखा है। उन महात्मा के तेज के सम्मुख इन राजा का तेज क्या है। यथार्थ तेज तो ब्रह्मवादी रैक्व मुनि का ही है।"

ये सब बातें हंस का रूप रखे हुए देवतागण महाराजा जानश्रुति को सुना-सुना कर कह रहे थे, अपने महल की अटारी पर चढ़े हुए महाराजा उनकी बातों को सुन रहे थे। उनके मन में बड़ा कौतूहल हुआ, कि "ब्रह्मज्ञानी महात्मा रैक्व कौन हैं ? उनका

तेज कैसा है ? अवश्य ही मुझे उन परम तेजस्वी महात्मा के दर्शन करने चाहिये।"

हंस तो इस प्रकार बातें करते-करते उड़ते हुए आगे चले गये। महाराज अपनी अटारी से उतर कर राजसभा में आये। उन्होंने अपने मन्त्री, सचिव तथा सभासदों को बुलाया। हंसों के मुख से सुनी हुई सब बातें कही। फिर अपने सचिव सारथी को बुलाकर उससे बोले—"सूत ! तुम बुद्धिमान हो, व्यवहार में कुशल हो। मैं महात्मा रैक्व का नाम ही जानता हूँ। उसका वासस्थान कहाँ है, वे किस देश को अलंकृत कर रहे हैं, इसे मैं नहीं जानता। तुम सब देशों में जाकर उन ब्रह्मज्ञानी महात्मा का पता लगाकर मुझे सूचना दो। यदि वे यहाँ आ सकें, तो उन्हें साथ ही यहाँ लेते भी आना।"

राजा के उस सारथी सचिव का नाम मह था। राजा के ऐसे स्निग्ध कोमल वचन सुनकर मह अपने रथ पर सवार होकर महात्मा रैक्व को ढूंढ़ने के निमित्त नगर से बाहर निकला। सर्व-प्रथम उसने पूर्व दिशा में मुक्तदायिनी काशीपुरी की यात्रा की, जहाँ भगवान् विश्वनाथ सदा निवास करते हैं, जो पुरी शिवजी के त्रिशूल पर बसी रहने के कारण तीनों लोकों से पृथक् है। काशी में उन्होंने रैक्व मुनि को बहुत खोजा किन्तु जब वे वहाँ नहीं मिले तो मह सारथी ओर पूर्व में बढ़कर गया क्षेत्र में पहुँचे, जहाँ भगवान् गदाधर के चरणचिह्न विद्यमान हैं, समस्त लोकों का उद्धार करने के निमित्त भगवान् गदाधर जहाँ सर्वदा निवास करते हैं। जहाँ पितरों को पिंड देने से वे प्रेतयोनि से विमुक्त बन जाते हैं। जब वहाँ भी रैक्व मुनि का कुछ पता नहीं मिला, तो वह पूर्व के नाना तीर्थों में भ्रमण करता हुआ तथा मुनि का पता लगाता हुआ ब्रजधाम की मथुरापुरी में पहुँचा। जहाँ श्रीहरि

नित्य ही निवास करते हैं और जो सप्तपुरियों में प्रधान पुरी है। जो आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की जन्मभूमि होने के कारण परम पावन है। जहाँ सिद्ध, चारण, गन्धर्व तथा महर्षि-गण नित्य ही निवास करते है। यह पुरी कलकल निनादिनी भगवती कालिन्दी के कमनीय किनारे पर बसी हुई है, जहाँ की शोभा निराली है। यमुनाजी के किनारे यह नगरी अर्ध चन्द्राकार ऊँचे टीले पर बसा हुई है। इसके निकट ही गोवर्धन पर्वत है, जो परम पवित्र होने के कारण भगवत्स्वरूप ही माना जाता है।

जब मथुरा में भी रैक महामुनि का कुछ भी पता नहीं लगा, तो सारथी उत्तर दिशा की ओर चल दिया। वह पश्चिम और उत्तर दिशा के छोटे-मोटे समस्त राजाओं की राजधानियों में होता हुआ पंचनद आदि देशों को देखता हुआ। हिमालय पर्वत के पुण्य प्रदेश में काश्मीर नामक राजधानी में पहुँचा। यह राज्य परम समृद्ध था। यहाँ के नर नारी गौरवर्ण के अत्यन्त ही सुन्दर थे। गगनचुम्बी महलों की पंक्तियों से सुशोभित काश्मीर नगरी ऐसी लग रही थी मानों भगवान् शिव के अट्टहास की छटा छिटक रही हो। शंख के समान, कुन्द पुष्प के समान, तथा हिम के समान श्वेत वर्ण के भवनों से उस नगरी की शोभा अनुपम थी। इस देश में एक परम धार्मिक राजा राज्य करते थे। वे परम ब्रह्मण्य तथा भगवान् शिवजी के भक्त थे। इस देश के ब्राह्मण परम विद्वान् तथा स्वधर्म परायण कर्मनिष्ठ थे। सभी प्रजा के लोग अपने अधिकारानुसार धर्म कार्यों में निरत रहते। चारों ओर ब्राह्मणगण सस्वर वेदों का वहाँ गान करते। अग्नि होत्र के यज्ञ धूम से व्याप्त आकाशमंडल काले रंग का बन गया था। गगन में कालिमा छा गयी थी। इन्द्रदेव वर्षा करके उस

कालिमा को हटाने का सतत प्रयत्न करते रहते, फिर भी आकाश की नीलिमा गयो नहीं थी। यज्ञों का धूम, उनमें गाये जाने सस्वर वेदों का घोष द्विजातियों के द्वारा किये जाने वाले देवार्चन का कोलाहल सर्वत्र व्याप्त था। दूर-दूर से विद्याध्ययन करने के निमित्त ब्रह्मचारी विद्यार्थी यहाँ आकर गुरुकुलों में गुरुजी के निकट शास्त्रों और वेदों का अध्ययन करते।

इस देश के अधिष्ठातृदेव भगवान् श्री शंकर यहाँ माणिक्येश्वर नाम से विख्यात थे। अपने भक्तों को अभिमत वरदान देने को सदा सर्वदा ही प्रस्तुत रहते। इस देश के राजा का नाम माणिक्येश था। वे बड़े ही शूरवीर प्रतापी कुल परम्परा से आये हुए परम कुलीन राजा थे। उन्होंने अपने बाहुबल द्वारा घूम-घूम कर सभी देशों को जीता था। दिग्विजय करके समस्त राजाओं को करद बना लिया था। जब महाराज सम्पूर्ण देशों को जीत कर–दिग्विजय करके–अपनी राजधानी में लौटकर आ गये, तो इसी के उपलक्ष्य में उन्होंने यहाँ शिवजी का पूजन किया था। तभी से शिवजी का नाम माणिक्येश्वर हो गया था।

सूत नगर में घूमते-घूमते भूतभावन भगवान् माणिक्येश्वर शिवजी के मन्दिर में दर्शनार्थ आये। शिवजी के दर्शन करके ज्यों ही वे मन्दिर से बाहर निकले त्यों ही उन्हें छोटी सी गाड़ी पर बैठे एक साधारण से तेजस्वी पुरुष दिखायी दिये। उनका वेश भूषा साधारण था। वे मैले कुचैले कपड़े पहिने एक पेड़ के नीचे गाड़ी में बैठे-बैठे अपने अंगों को खुजला रहे थे। कुतूहल वश सूत ने नगर निवासी नागरिकों के निकट जाकर इस विचित्र व्यक्ति का परिचय पूछा। तब उन्हें विदित हुआ कि इतने दिन से जिन महात्मा की मैं खोज कर रहा हूँ–ये वे ही रैक महामुनि हैं। मुनि का पूर्ण परिचय प्राप्त करके सूत उनके पास गये उनको

साष्टांग प्रणाम करके, बड़ी ही नम्रता से उन्होंने उनसे पूछा—"ब्रह्मन् ! आपका निवास कहाँ है ? आपका शुभ नाम क्या है ? आप यहाँ इतनी भीड़-भाड़ में क्यों ठहरे हैं।"

रैक्कमुनि ने कहा—"सर्वत्र हमारा स्थान है। हम सदा स्वेच्छा से स्वच्छन्द विचरते रहते हैं सब लोग हमें रैक्क कह कर पुकारते हैं।"

सूत ने कहा—ब्रह्मन् ! मै प्रतिष्ठानपुर के जानश्रुति नाम के राजा का सूत हूँ। मेरे स्वामी आपके दर्शनों के निमित्त अत्यन्त ही उत्सुक हैं। यदि आप कृपा करके मेरे स्वामी को प्रतिष्ठानपुर पधार कर दर्शन दें, तो वे कृतार्थ हो जायँगे।

यह सुनकर रैक्कमुनि ने कहा—"सूतजी ! जो त्यागी विरागी हैं, उन्हें धनिकों के द्वार पर जाने के दो ही प्रयोजन हैं, या तो उन्हें मीठा खाने की लालसा हो, या पद, प्रतिष्ठा, पैसा पृथ्वी की आकांक्षा हो। हम तो पूर्णकाम हैं। हमारी समस्त कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं। हमें किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। जब हमें किसी विषय की स्पृहा या इच्छा ही नहीं तो किसी के पास किस लिये जायं ? फिर भी कोई यहाँ आकर हमारी मनोवृत्ति के अनुसार परिचर्या कर सकता है।"

सारथी ने रैक्क का मनोगत भाव जान लिया, वे चुपके से राजा के समीप चल दिये। कुछ ही दिनों में वे महाराज जानश्रुति के निकट प्रतिष्ठानपुर में पहुँच गये। वहाँ जाकर उन्होंने राजा को आदि से अन्त तक सभी समाचार सुना दिये। रैक्क मुनि का पता लग गया, यह जानकर राजा को परम प्रसन्नता हुई। वे परम विस्मित तथा चकित होकर सूत से बारम्बार रैक्क मुनि के ही सम्बन्ध में भाँति-भाँति के प्रश्न करने लगे। जब उनका पूर्णरीत्या समाधान हो गया, तब उनके मन में महा-

मुनि रैक्व की सेवा करने की इच्छा हुई। ऐसे महामुनि की जो भी सेवा की जाय, वही न्यून है। सूत से उन्होंने सुन ही लिया था, वे एक छोटी-सी एक बैल की पुरानी गाड़ी पर बैठे थे। अतः राजा मुनि के लिये एक बहुत ही सुन्दर गाड़ी रैक्व मुनि के लिये ली जिसमें बहुत ही बलवती दो अच्छी जाति की खच्चरियाँ जुती थी। इसके अतिरिक्त मणि माणिक्य तथा मोतियों के सुंदर-सुदर हार सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषण और दूध वाली एक सहस्र गौएँ भी मुनि को अर्पण करने को अपने साथ में लीं। इन सब सामग्रियां के सहित मन्त्री पुरोहित, सचिव सारथियों से घिरे हुए राजा चलकर कुछ ही दिनों में काश्मीर राज्य में पहुँच गये और जहाँ रैक्व मुनि रहते थे, उस स्थान में पहुँचकर गाडी में बैठे हुए अंगों को खुजाते हुए मुनि के दर्शन किये। राजा ने मुनि को देखकर बडी श्रद्धाभक्ति के साथ उन्हें साष्टांग-प्रणाम किया तथा भेंट की समस्त सामग्री मुनि को अर्पण की।

इस पर रैक्व मुनि राजा पर कुछ कुपित हुए और बोले—"राजन्! तुम परमार्थ पथ से अनभिज्ञ हो। तुम विषय सुखों को ही सब कुछ समझते हो, इससे शूद्र हो। तुम मुझे इन नश्वर वस्तुओं का लालच देना चाहते हो? अपनी सुन्दर ऊँची वेग से चलने वाली गाड़ी को, मणिमुक्ताओं के हारों को, वस्त्राभूषणों को तथा गौओं को ले जाओ। मुझे इन वस्तुओं की तनिक भी अभिलाषा नही।"

यह सुनकर महाराज जानश्रुति मुनि के शाप से भयभीत होकर दुखी हुए। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के साथ मुनि के चरण पकड़ लिये और अत्यंत ही विनीत भाव से बोले—"ब्रह्मन्! आपका त्याग वैराग्य धन्य है। संसारी भोगों की स्पृहा न होना ग्रह वृत्ति बड़े भाग्य से पूर्वजन्म के अनेकों सुकृतों से होती है।

महात्मन् ! आप मुझ अज्ञानी पर असन्तुष्ट न हों। मेरे अपराधों को क्षमा करके मुझ पर प्रसन्न हो जायँ और यह बताने की कृपा करें, कि आप में ऐसा अलौकिक त्याग, ऐसा महान् वैराग्य, ऐसी निस्पृहता किस उपासना के कारण आई है। ऐसा अत्यद्भुत माहात्म्य किस मन्त्र के द्वारा प्राप्त हुआ है।

राजा के ऐसे विनीत तथा श्रद्धाभक्ति पूर्ण वचन सुनकर महामुनि रैक्व प्रसन्न हुए। राजा को अधिकारी समझकर वे बोले—"राजन् ! मेरी तो एक ही उपासना है। मैं प्रतिदिन श्रद्धाभक्ति के साथ श्रीमद्भगवत्गीता के छटे अध्याय का प्रेम-पूर्वक पाठ करता हूँ, उसके अर्थों का मनन करता हूँ और उसे अपने जीवन में परिणत करने का सतत प्रयत्न करता हूँ। उसी के प्रभाव से मेरी तेजोराशि देवताओं के लिये भी असह्य है। राजन् ! गीता का छठा अध्याय आत्मसंयम योग है। जिसने आत्मसयम कर लिया उसके लिये त्याग, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति कुछ भी दुर्लभ नहीं।"

यह सुन कर राजा जानश्रुति ने गद्गद कंठ से कहा—"ब्रह्मन् ! गीता के छटे अध्याय का मुझे रहस्य समझा दें। यदि आप मुझे अधिकारी समझते हों तो उसका अभ्यास करा दें।"

भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी से कह रहे हैं—"हे शोभने ! जब राजा जानश्रुति ने महामुनि रैक्व से ऐसी प्रार्थना की तो मुनि ने भी उन्हें उत्तम अधिकारी समझकर गीता के छटे अध्याय का उपदेश किया, विधिवत उन्हें अध्ययन कराया गीता के छटे अध्याय का रहस्य समझकर महाराज जानुश्रुति कृतार्थ हो गये। अन्त में उन्हें मोक्ष की पदवी प्राप्त हुई। मुनि से आज्ञा लेकर वे अपनी राजधानी को चले गये और महामुनि रैक्व भी भगवान् माणिकेश्वर के समीप गीता के छटे अध्याय का पाठ करते हुए

सुखपूर्वक कालयापन करने लगे। जो देवता हंस का रूप रखकर राजा को वरदान देने आये थे, वे भी राजा को कृतार्थ समझकर स्वेच्छापूर्वक अपने-अपने लोकों को चले गये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह मैंने श्रीमद्भगवत्गीता के छटे अध्याय का माहात्म्य आपको सुनाया। जो गीता के छटे अध्याय का नित्य नियम से पाठ करता है, वह भगवान् श्रीविष्णु के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यह मैंने गीता के छटे अध्याय का माहात्म्य आप लोगों को सुनाया, अब आगे मैं सातवें अध्याय का माहात्म्य आपको सुनाऊँगा। आशा है आप इसे सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

सुनि सारथि तैं वृत्त भूप लै भेंट करन धन।
पहुँचे वै कश्मीर रैक ढिंग गये मुदित मन॥
देखि भेंट धन क्रुद्ध भये मुनि नृप घबराये।
पुनि प्रसन्न ह्वै गये सुखद उपदेश सुनाये॥
गीता को अध्याय षट, जानश्रुति कूँ मुनि दयो।
पाठ मनन नित-नित करत, भूप कृतारथ ह्वै गयो॥

योग की प्राप्ति ही परम लाभ है

[१२]

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥*

(श्री भ० गी० ६ अ० २२, २३ श्लोक)

छप्पय

जाहि पाइ कें और लाभ उत्तम नहिँ सूझै ।
जाहि बूझि कें अन्य बात सुंदर नहिँ बूझै ॥
इस्थित जा में रहें दुःख कितने हू आवें ।
चलितचित्त नहिँ होहि अधिक अति विपति सतावें ॥
भारी तें भारी विपति, चित्त एक रस ही रहत ।
ऐसी इस्थिति जासु तें, जोग कहें तिहि वेदवित ॥

---

* जिसके प्राप्त कर लेने पर उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ ही नहीं मानता है और जिस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःखों से भी विचलित नहीं होता है ॥२२॥

उसी अवस्था का नाम योग है, जो दुःख रूपी संसार के संयोग से रहित है । उसी योग को बिना घबड़ाये निश्चयपूर्वक करना चाहिये और उसी को जानना चाहिये ॥२३॥

योग साधन में तीन बात बहुत आवश्यक हैं, पहिली बात तो यह है, कि धैर्य धारण करके दीर्घकाल तक अभ्यास करता ही रहे। साधन करते-करते अधीर न हो। दूसरी बात नित्य नियमपूर्वक साधन करे, साधन में आलस्य प्रमाद न करे। तीसरी बात श्रद्धापूर्वक साधन करे, जो भी साधन करे, उसमें अपनी पूर्ण निष्ठा रखे कि इससे मेरा कार्य अवश्य ही सिद्ध हो जायगा। जो इन तीन बातों को मानकर योग में प्रवृत्त होता है, उसका योग सिद्ध हो ही जाता है।

जो साधक साधन करते-करते अधीर हो जाता है, वह सच्चा साधक नहीं। साधन चाहे जैसा भी कठिन हो, दृढ निश्चय कर ले कि मैं तो इस कार्य को करके ही छोड़ूंगा, चाहे जितना भी समय लग जाय, ऐसे दृढ़ निश्चय करने वाले साधक के लिये भला कौन सा कार्य ऐसा है जो सिद्ध न हो। इस विषय में एक टिटहरी का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है।

एक टिटहरी समुद्र के किनारे रहती थी, उसने समुद्र के किनारे अंडे दिये। वह उन अंडों को नित्य बड़े प्रेम से सेया करती थी। एक दिन टिटहरी तो वन में चुगा चरने गयी, उसी समय समुद्र की एक बड़ी भारी लहर आई, उसमें टिटहरी के सब अंडे समुद्र में चले गये।

लौटकर टिटहरी क्या देखती है कि उसके अंडे वहाँ नहीं हैं। समुद्र की लहरों का चिन्ह बना हुआ था, बहते हुए अंडों के भी निशान बने थे। टिटहरी को यह समझने में देर नहीं हुई कि मेरे अंडों को समुद्र चुरा ले गया है। उसे समुद्र पर बड़ा क्रोध आया। उसने निश्चय कर लिया कि, "जिस समुद्र ने मेरे अंडे चुरा लिये हैं, उसे मैं जलहीन कर दूंगी, उसे सुखा कर ही छोड़ूंगी।"

ऐसा निश्चय करके वह अपनी चोंच में जल भर-भर कर समुद्र से बाहर फेंकने लगी। कुछ ही काल में उसके और भी जाति बन्धु पक्षी आ गये। उन्होंने उसे समझाया, "तू पागलपन मत कर। भला इतना अगम अगाध समुद्र तेरी चोंच के पानी से कैसे खाली हो सकता है?"

उसने सबसे दृढ़ता के स्वर में कह दिया—"देखो, भाई! सब कान खोलकर सुन लो। समुद्र चाहे कैसा भी अगम अगाध अथवा अपार हो, मैं इसे बिना खाली किये विश्राम न लूँगी। मुझे समझाना व्यर्थ है, मैं अपने दृढ़ निश्चय से हट नहीं सकती। आप लोगों को मेरा कार्य अच्छा लगे तो, आप मेरी यथाशक्ति सहायता करो, न अच्छा लगे, तो अपना-अपना मार्ग पकड़ो। मैं किसी को बुलाने तो गयी नहीं। आप लोगों ने सहानुभूति प्रदर्शित की, इसके लिये धन्यवाद है, अब मुझे अपना काम करने दो।" यह कहकर वह फिर से चोंच में पानी भर-भर कर बाहर डालने लगी।

जब पक्षियों ने देखा, यह तो किसी प्रकार मानने वाली नहीं, तो वे सब भी उसकी सहानुभूति में अपनी-अपनी चोंचों में पानी भर-भर कर बाहर डालने लगे। इतने में ही वहाँ नारद मुनि आ गये। नारद मुनि ने जब यह दृश्य देखा तो वे आश्चर्य-चकित हो गये। उन्होंने पक्षियों से पूछा—भाई, क्या कर रहे हो?

पक्षियों ने कहा—"भगवन्! हम समुद्र को सुखाने का प्रयत्न कर रहे हैं।"

नारद जी ने पूछा—समुद्र ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, तुम समुद्र को क्यों सुखाना चाहते हो?

पक्षियों ने कहा—"समुद्र ने हमारे साथी के अंडे चुरा लिये हैं।"

नारद जी ने कहा—"ऐसे तुम कब तक समुद्र को सुखा सकोगे ?"

पक्षियों ने कहा—"भगवन् ! हम तो अपने साथी की सहानुभूति में प्रयत्न कर रहे है। समुद्र कब तक सूख सकेगा, इस बात को तो इसी से पूछिये।"

नारद जी ने उसी टिटहरी से पूछा—"तुम्हारी चोंच में कितना पानी आता है, ऐसे कब तक तुम समुद्र को सुखा सकोगी ?"

टिटहरी ने कहा—"भगवन् ! चोंच में कितना भी कम पानी आवे, समुद्र में से कुछ तो कम होता ही है हम अपने प्रयत्न में निरन्तर लगी रहेंगी। इस जन्म में नहीं दूसरे जन्म में तीसरे जन्म में अनन्त जन्मों तक प्रयत्न करते-करते हम इसे सुखा देंगी। जब तक समुद्र सूखेगा नही तब तक हम विश्राम न लेंगी।"

नारद जी उनके ऐसे दृढ़ निश्चय से अत्यन्त प्रभावित हुए। वे विष्णुलोक में गये, वहाँ गरुडजी से जाकर कहा—"गरुड़जी ! तुम कैसे पक्षिराज हो, तुम्हें तो सब खगेन्द्र कहते हैं। समस्त पक्षी तुम्हारी प्रजा हैं। देखो, पक्षियों के अंडों को समुद्र चुरा ले गया है, वे समुद्र को सुखाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जाकर उनको कुछ सहायता करो।"

यह सुनते ही गरुड़जी तुरन्त वहाँ गये। पक्षियों के ऐसे प्रयत्न तथा दृढ़ निश्चय को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। वे अपने पंखों की वायु से समुद्र को सुखाने का प्रयत्न करने लगे। जिस काम में भगवान् विष्णु के मित्र, सखा तथा वाहन लग जायें, वह ऐसा कौन सा कार्य है जो सिद्ध न हो, यही सोचकर समुद्र भय-

भीत होकर गरुड़जी के समीप प्रकट होकर बोला—"भगवन्! ये उस पक्षी के अंडे है, भूल से मेरी लहरों में बह गये थे, मैंने इन्हे चुराया नहीं। आप प्रसन्न हो जाइये और अब मुझे सुखाने का प्रयास न कीजिये।"

अपने अंडे पाकर टिटहरी प्रसन्न हुई, उसके ऐसे दृढ़ निश्चय की सभी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। सो, दृढ़ निश्चय के सम्मुख असंभव भी संभव हो जाता है।

नित्य नियम से साधन करने पर कैसा भी काम हो, वह एक दिन अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। एक ग्वाला नित्य नियम से शिवजी को भी दो लाठी मारता था। वह नदी के उस पार गौएं चराने जाता था। एक दिन नदी में बाढ़ आ गयी। श्रावण भादों की नदी भयंकर बन गयी। उस दिन वह इसी पार पशु चराता रहा। सायंकाल जब वह भोजन करने बैठा, उसे याद आई—"अरे, आज शिवजी में लाठी तो मारी ही नहीं।" भोजन की थाली को ज्यों का त्यों ही छोड़कर वह प्राणों का पण लगाकर नदी में कूद पड़ा और आधी रात्रि में अत्यन्त परिश्रम करके मन्दिर में पहुँच गया। ज्यों ही उसने दो लट्ठ मारे, त्यों ही शिवजी प्रकट होकर कहने लगे—"मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, वर माँगो।"

उस अहीर ने कहा—"महाराज, मुझे क्या पता था, कि आप लट्ठ मारने से प्रसन्न होते हैं। यह पता होता तो मैं नित्य १०-२० मारता।"

शिवजी ने कहा—"मैं लट्ठ मारने से प्रसन्न नहीं हुआ, तुम्हारे दृढ़निष्ठा से-नियम पालन से-प्रसन्न हुआ हूँ।"

सो नियमित रूप से नित्य-नित्य साधन करने से सिद्धि देर-सवेर किसी न किसी दिन अवश्य प्राप्त होती है।

तीसरी बात श्रद्धा की है, श्रद्धापूर्वक किसी भी कार्य को करते रहो, आपकी श्रद्धा के प्रभाव से त्रुटिपूर्ण कार्य का फल भी सुंदर ही होगा। एक साधक गायत्री का जप करते थे। एक बड़े भारी पंडित जी उनके पास पहुँचे। और बोले—"अरे, भाई, तुम तो अशुद्ध मन्त्रोच्चारण करते हो।"

साधक ने दृढ़ता के साथ कहा—"मैं चाहे अशुद्ध ही जाप करता हूँ, यदि आप शुद्ध जप करते हैं, तो आप और मैं दोनों इस पहाड़ के शिखर को उठावें, देखें कौन उठाता है।" यह कह कर जप करने वाले ने तो पहाड़ का शिखर उठा लिया, उसके रख देने पर पंडितजी ने प्रयत्न किया तो वे उसे नहीं उठा सके। क्योंकि वे शुद्ध अशुद्ध जानते ही भर थे जप नहीं करते थे।

इसलिये समय की कुछ भी परवाह न करके समय को निरवधि मानकर धैर्य के साथ श्रद्धापूर्वक नित्य नियम से जो साधन में प्रवृत्त होता है, वह देर में सवेर मे कभी न कभी अपने कार्य में सफल हो ही जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् इसी बात का उत्तर दे रहे हैं, कि क्या करते हुए कैसा निश्चय करके साधन में प्रवृत्त होना चाहिये।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! श्रद्धाभक्ति और दृढ़ता के साथ योगमार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये। योग की अवस्था ऐसी अनुपम वस्तु है, कि जिसे यह अवस्था प्राप्त हो गयी, उसके लिये प्राप्त करने को और कुछ अवशेष ही नहीं रह जाता। उससे बढ़कर उसके लिये कोई दूसरा लाभ है ही नहीं। उस योगावस्था में साधक स्थित हो जाय, तो फिर उस पर कितना भी भारी से भारी दुःख क्यों न पड़ जाय, उस दुःख के कारण वह अपने पथ

से तनिक भी विचलित नहीं होता। उसका चित्त तनिक भी नहीं घबड़ाता।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! उस अवस्था का क्या नाम है?

भगवान् ने कहा—"भाई, वही तो 'योग' के नाम से विख्यात है। योग की वह अन्तिम निष्ठा है। जिस अवस्था को दुःख संयोग वियोग कहते है। दुःख तो संसार की सभी वस्तुओं में है, उस दुःख संयोग का सर्वथा वियोग हो जाय, उसी को 'योग' जानना चाहिये। उस अवस्था को प्राप्ति के लिये ही प्रयत्नशील होना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! प्रयत्न कैसे करे।"

भगवान् ने कहा—'देखो, भाई! सब साधनों में व्यग्रता ही बड़ा भारी विघ्न है। कोई भी कार्य करे व्यग्रचित्त होकर कभी न करे एक तो यह दृढ़ निश्चय करके कर्म में प्रवृत्त हो कि मैं इस कार्य को कर ही लूंगा और दूसरे अव्यग्रचित्त से अभ्यास करे। मन में निर्विण्णता न आने दे। जो सावधानी से बिना व्याकुलता के कर्म करते हैं, उनकी सफलता में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रहता।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! चित्त तो बड़ा ही चंचल है इस चित्त को कैसे उपरत करे?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने चित्त की उपरति का उपाय पूछा, तो भगवान् ने उसका जो उत्तर दिया उसे मैं आपको आगे बताता हूँ, आशा है आप सब इसे सावधानी से श्रवण करेंगे।"

छप्पय

इन्द्रिनि तैं संयोग सदा विषयनि तैं होवै।
उनतैं होवै दुःख जीव ताही तैं रोवै॥
होवै दुःख-वियोग वही है जोग अवस्था।
कहैं ताहि कूँ जोग मुनिनि की जिही व्यवस्था॥
धैर्य और उत्साह चित, करनो चहिये नित्य नित।
घबरावै उकताइ नहिँ, जोगी ज्ञानी वेदवित॥

उपरतचित्त को आत्मस्थ करके और कुछ भी न सोचे

[१३]

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥*

(श्रीम० गी० ६ अ० २४, २५ श्लो०)

छप्पय

कैसे मनवश करै भई जबईं जिज्ञासा ।
जाते नित-नित धैर्य बढ़ै नहिँ होहि निराशा ॥
मन में नित संकल्प उठै थिर चित्त न होवै ।
सकल कामना भोग त्यागि सच्चो सुख जोवै ॥
त्याग करे निःशेष सब, मनगत सबरे भाव कूँ ।
भली भाँति रोके प्रबल, इनि इन्द्रिय समुदाय कूँ ॥

---

* संकल्प से उत्पन्न सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेष रूप से त्याग कर मन के द्वारा इन्द्रिय समुदाय को सभी ओर से विशेष रूप से वश में करे ॥२४॥

शनैः-शनैः उपरामता को प्राप्त करे, धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके कुछ भी चिन्तन न करे ॥२५॥

मन को संकल्प विकल्पात्मक बताया है। संकल्प तो उसे कहते हैं जिसमें दोष दिखायी ही न दें, जिसे करने के लिये मनमें उत्साह हो। जैसे एक व्यापारी है, उसका संकल्प हुआ अमुक व्यापार करना चाहिये। व्यापार करना चाहिये जिस समय यह संकल्प उठा उस समय यह बात सर्वथा वह भूल ही गया, कि व्यापार में घाटा भी हो जाता है। घाटे की बात याद रहे तब तो संकल्प ही नहीं होता। अब फिर उसमें कब किया जाय। अकेले किया जाय या किसी के साथ मिलकर किया जाय, इस प्रकार की बातें उठने को विकल्प कहते हैं। ठीक यही बात मन के विषयों में संचार करने के सम्बन्ध है। ये संसारी विषय तो अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं, संसार बन्धन को अधिकाधिक दृढ़ करने वाले हैं। ऐसे विषयों को भी भोगने की इच्छा का नाम संकल्प है। संकल्प दो प्रकार की वस्तुओं में हुआ करता है, देखी हुई अनुभव की हुई वस्तुओं में अथवा सुनी हुई वस्तुओं में। हमने प्रयागराज को देखा है, त्रिवेणी में स्नान किया है। फिर मनमें संकल्प हुआ एक बार प्रयागराज चलकर फिर त्रिवेणी में स्नान किया जाय। यह दृष्ट वस्तु का संकल्प है। हम कभी रामेश्वर जी या जगन्नाथ जी गये नहीं हैं, किन्तु लोगों से वहाँ के स्थानों की समुद्रों की लहरों की भगवान् के भोग की बड़ी प्रशंसा सुनी है, तो सुनकर हमारा भी संकल्प हुआ एक बार चलकर देखा जाय। इसी प्रकार लोगों को तैल-फुलैल सुगन्धित पदार्थ लगाये, सुवासित माला पहिने, सुन्दर वाहनों में चढ़े, महिलाओं के साथ हास-परिहास करते देखते हैं, इनमें से किसी विषय का इसके पूर्व अनेक बार उपभोग भी किया है, उन्हें फिर से प्राप्त करने की इच्छा दृष्ट संकल्प है। इसके विपरीत आज तक न हमने स्वर्ग देखा है, न वहाँ मिलने वाला अमृत, अप्सरा, कल्पवृक्ष तथा

अन्यान्य दिव्यभोगों को कभी देखा नहीं, किन्तु शास्त्रों से अथवा बड़े लोगों के मुख से इनकी प्रशंसा सुनी है, तो इन्हें उपभोग की इच्छा श्रुत संकल्प है ये भाँति-भाँति की इच्छायें ही प्राणी को चौरासी के चक्कर में बारम्बार घुमाती रहती हैं। वे बड़भागी लोग हैं, जिनकी समस्त विषयों के उपभोग की कामनायें नष्ट हो गयी हैं।

इन्द्रियाँ तो अपने-अपने विषयों को चाहती ही हैं। कान कहते है, सुमधुर राग सुनने चाहिये कोकिलबैनियों की कूज सुननी चाहिये। जिह्वा कहती हैं सुस्वादु पदार्थों का स्वाद चखना चाहिये। नेत्र कहते हैं शुचि, उज्वल, पवित्र, तथा दर्शनीय वस्तुओं को बारम्बार देखना चाहिये, घ्राण कहती है सुवासित पदार्थों को सूँघना चाहिये। स्पर्शेन्द्रिय कहती है, मृदुल, कोमल, गुदगुदे हृदय को सुख पहुँचाने वाले पदार्थों का स्पर्श करना चाहिये। किन्तु ये इन्द्रियाँ अपने आप कुछ भी करने में समर्थ नहीं। ये तो परमुखापेक्षी है, जब तक मन इनके साथ न हो, तब तक विषय सामग्री सम्मुख होने पर भी इन्द्रियाँ उनका उपभोग नहीं कर सकतीं। आपके सामने से कोई सर्वाङ्गसुंदरी श्यामा निकल गयी। आपकी आँखें खुली भी है, किन्तु आपका मन किसी अन्य वस्तु का चिन्तन कर रहा है, तो आँखों के सम्मुख होने पर भी चक्षु इन्द्रिय उस सौन्दर्य की अनुभूति नहीं कर सकी। इससे सिद्ध हुआ इन्द्रियग्राम मनके अधीन हैं और मन है संकल्प के अधीन। संकल्प न उठे तो मन में उपभोग बुद्धि आ ही नहीं सकती। इसीलिये एक महात्मा ने मन को समझाते हुए कहा था—देख, मन! तू स्वतन्त्र नहीं है, तू तो संकल्प का चेरा है, अतः मैं जब संकल्प ही न करूँगा, तो तू कुछ भी नहीं कर सकेगा, गतिहीन हो जायगा। इसीलिये भगवान्

योग साधक को सर्वप्रथम संकल्प के त्याग की सम्मति देते हैं। मनमें कामनाओं का ज्यों ही संकल्प उठे, कि तुरन्त उस संकल्प का हाथ में जल लेकर श्रीकृष्णार्पण का संकल्प कर देना चाहिये। कामना की जड़ पर ही कुठाराघात कर देना चाहिये। ऐसा साधक ही योगमार्ग में अग्रसर हो सकता है।

साधना में एक सबसे बड़ा विघ्न है, शीघ्रता। साधन में दृढ़ता की तथा आत्मविश्वास और श्रद्धा की आवश्यकता है, आप हथेली पर सरसों जमाना चाहें, तो वह साधना नहीं है। सब कार्य समय से होते हैं। आप आम के पेड़ में क्वार महीने से ही निरन्तर पानी देते रहें पौष माघ में आम के पके फल मिल जायं, तो असम्भव है। आप पेड़ की रेख-देख करें उसे पानी दें किन्तु फल तो समय पर ही आवेंगे। आप आषाढ़ में ही चाहें पानी पड़ते ही अन्य बीजों की भाँति बथुए का भी बीज उग आवे, तो असम्भव है। बथुआ तो कार्तिक में ही जाकर उगेगा। इसलिये शनैः-शनैः अभ्यास को बढ़ाना चाहिये और उसकी सिद्धि को भगवान् पर छोड़ देना चाहिये। तुम्हारा अधिकार कौशल पूर्वक कर्म करते रहने में ही है। फल प्राप्ति को ईश्वराधीन मानना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् योग साधक को योग साधना की विधि बताते हुए कहते हैं—"अर्जुन! समस्त कामनायें संकल्प से ही उठती हैं, इसलिये तुम्हें इन संकल्प से उठने वाली समस्त कामनाओं को त्याग देना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"कामनायें त्याग दें तो शरीर निर्वाह कैसे होगा?"

भगवान् ने कहा—भाई, केवल शरीर निर्वाह मात्र की चेष्टा

करनी चाहिये। भोग बुद्धि की कामनाओं को त्याग कर सब ओर विषयों में दौड़ती हुई इन्द्रियों को मन से रोकना चाहिये। उन्हें संयम में रखना चाहिये। शरीर निर्वाह सम्बन्धी चेष्टा तो हो, किन्तु इन्द्रिय लोलुपता न होने पावे।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! चित्त तो बड़ा चंचल है, यह तो इर-फिर कर विषयों की ही ओर दौड़ता है।

भगवान् ने कहा—"चित्त इतना अधिक चंचल न होता, तो शास्त्रों में इसे वश में करने के इतने अधिक उपाय न बताये जाते। यह चंचल है तभी तो इसे वश में करने की बार-बार युक्तियाँ बतायी जाती हैं। शीघ्रता करने से काम नहीं चलने का। बड़ी धीरता के साथ चित्त को शनैः-शनैः वश में करे।

अर्जुन ने पूछा—"चिन्तन तो चित्त ही करता रहता है, इसे वश में किसके द्वारा करे।"

भगवान् ने कहा—"बुद्धि के द्वारा करे। यह जो सद् असद् विवेकिनी बुद्धि है, जिसे साधनों द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म बना लिया है, उसी सूक्ष्म की हुई निरुद्ध बुद्धि से चित्त को सहज भाव से उपरत करे। उपरत हुएमन को आत्मा में विलोम भाव से स्थित कर दे। फिर कुछ भी चिन्तन न करे। मुझे परमात्मा के अतिरिक्त दूसरे विषय को सोचे ही नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—विलोम भाव क्या?

भगवान् ने कहा—सृष्टि का क्रम ऐसा बताया है, कि विराट् पुरुष से ही यह सृष्टि हुई है। प्रकृति में जब विषमता होती है, उसमें क्षोभ होता है तभी महत्तत्व की उत्पत्ति होती है, उससे अहंकार होता है, फिर बुद्धि, मन, तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ, देवगण तथा पंचमहाभूत होते हैं।

जब विलीन करना होता है, तो महाभूतों को तन्मात्राओं में,

तन्मात्राओं को इन्द्रियों में, इन्द्रियों को मन में मन को बुद्धि में, बुद्धि को महत्तत्व में, महत्तत्व को प्रकृति में और प्रकृति को परम पुरुष में लीन कर देना चाहिये। वही पुरुष अन्तिम सीमा है वही अन्तिम गति है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! चित्त तो समाधि की विरोधी वृत्तियों को पैदा करता है। अर्थात् समाधि की ओर न लगकर विषयों की ओर दौड़ता है, ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विषयों की ओर दौड़ते चित्त को समाधि में कैसे लावे इसका जो उत्तर भगवान् ने दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

क्रम-क्रम तैं अभ्यास करे नहिं होइ भोगरति।
इन्द्रिनि खींचे विषय होहि तबई जग उपरति॥
धैर्ययुक्त बनि मनहिं भाव परमात्म लगावै।
दृढ़ता हिय में धारि चित्त इत उत न चलावै॥
बिखरे मन कूँ एक करि एक तत्व इस्थिर करै।
जग प्रपञ्च बिसराय कै, और न कछु चितन करै॥

यतचित्त योगी को परम शान्ति मिलती है

[१४]

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥❀

(श्री० भग० गी० ६ अ० २६, २७ श्लो०)

छप्पय

सागर सम मन कह्यो तरंगहु उठति निरन्तर ।
सब तरंग निःशेष करै जस मानससरवर ॥
यह मन थिर नहिं रहै बहुत चंचल नित भटकत ।
इन्द्रिय विषयनि संग जाइ जित ई तित अटकत ॥
सब तें जाइ हटाइ कें, आत्मा में ही बस करै ।
ऐसे मन कूँ साधि कें, ब्रह्म-भाव में थिर करै ॥

❀ जिस-जिस पदार्थ मे यह अस्थिर और चंचल मन भटके उसे उधर-उधर से रोककर आत्मा में ही निरुद्ध करे ॥२६॥

उसी योगी को यह उत्तम आनन्द प्राप्त होता है, जिसका मन प्रशान्त हो गया है, जो निष्पाप है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है और जो ब्रह्म के साथ एकीभूत हो गया है ॥२७॥

भगवान् ने पता नहीं क्या सोच कर, किस मसाले से, किस कार्य के लिये इस चित्त को बनाया है। एक वानर को भर पेट सुरा पिला दी जाय, फिर एक साथ सहस्र बिच्छुओं से उसे कटवा दिया जाय, उस समय उसका जो दशा होगी, उससे लाखों गुनी चञ्चलावस्था चित्त की है। एक तो बन्दर स्वभाव से ही चञ्चल होता है, फिर सुरा तो अपने मद से उसे और भी अधिक चंचल कर देगी, तिस पर भी असंख्य बिच्छुओं का विष। ऐसे चञ्चल चित्त की सब ओर बिखरी हुई वृत्तियों का एक स्थान में निरोध करना कितना कठिन है, इसे वही साधक जान सकता है, जिसने चित्त को वश में करने का प्रयत्न किया हो, अभ्यास के लिये उद्यत हुआ हो। बहुत से साधक तो वर्षों तक प्रयत्न करने पर चित्त के स्वरूप को ही नहीं समझ सके हैं। बिल में से जैसे सर्प निकला है, उसे उसी प्रकार बिल में प्रवेश करा देना। यही साधन है। सर्प पहिले बिल से फण को निकालता है, तदनन्तर ग्रीवा को, फिर पेट पीठ को और तब पूँछ को निकाल कर बाहर आ जाता है। तब वह काटने आदि का व्यापार करने लगता है। अब यदि उसे पुनः प्रवेश करना हो, तो मुख से नहीं पूँछ से प्रवेश करना चाहिये। पूछ चली जायगी तब शनैः-शनैः सब शरीर चला जायगा। फिर आप दृढ़ता के साथ पत्थरों से बिल के मुख को बंद कर दो, उसमें घुट कर सर्प मर जायगा, फिर प्रवेश न करेगा। बड़ी बुद्धिमानी से जैसे छोटे बच्चे को बहला-बहला कर उसे रोने से बन्द करके अपने अनुकूल करते हैं, उसी प्रकार चित्त को भी क्रम-क्रम से धीरे-धीरे वश में करना चाहिये।

विराट् पुरुष से प्रकृति के द्वारा यह संसार उत्पन्न हुआ है। प्रकृति कहाँ से टपक पड़ी, यह निर्विकार निरञ्जन, निष्कल,

निर्द्वंद्व ब्रह्म के बीच में कैसे आ गयी, कब से आ गयी, यह चित् है या अचित् जड़ है या चैतन्य इन सब बातों का आज तक यथार्थ उत्तर किसी ने दिया ही नहीं। सभी ने इसे अचिन्त्य, अनिर्वचनीय कह कर छोड़ दिया। उसे जड़ शक्ति रूप से अव्यक्त कहा गया है, स्वयं इसमें कर्तृत्व की सामर्थ्य नहीं है, किन्तु चैतन्यांश पुरुष के सकाश से यह संसार के निर्माण में कारण बन जाती है प्रकृति में जब विकृति या क्षोभ होता है, ऐसे अगम, अगाध, गम्भीर निस्तब्ध सागर में कंकड़ी डालने से वह क्षुब्ध हो उठता है, उसमें लहर पैदा हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रकृति में विषमता होने से चैतन्यांस की प्रेरणा से उनमें लहर उठने लगती हैं। उस प्रथम लहर को सामान्य अहंकार कहते हैं, उसी को महत्तत्त्व कहते हैं। उससे अन्तःकरण अहंकार फिर बुद्धि फिर मन उत्पन्न होता है, तदनन्तर इन्द्रियाँ इसलिये सबसे पहिले इन्द्रियों का संयम करना चाहिये। सर्व प्रथम वाणी का संयम करे। वाणी का संयम जैसे गो बोलती नहीं है। भूख लगा, प्यास लगी, मच्छर काटो, वह संकेत से भले ही प्रकट कर दे। वाणी से व्यक्त शब्दो द्वारा कुछ नही कहती। इसी प्रकार पहिला साधन यह है कि हठ पूर्वक विषयों से इन्द्रियों का संयोग न होने दे।

दूसरी भूमिका अब मन की है, क्योंकि इन्द्रियों से परे बलवान मन है। मन से सब ओर चञ्चल हुई इन्द्रियों को रोके बालक की भाँति विमुग्ध पुरुष-पागलों की भाँति, बालक का तथा पागल का मन काम नही करता। मन से परे बुद्धि है इसलिये मन निरोध के अनन्तर बुद्धि का संयम करे, बुद्धि को विचलित न होने दे यह तीसरी भूमिका है। जैसे तन्द्रा के समय बुद्धि काम नहीं करती। वह विलीन सी हो जाती है। चौथी भूमिका है महत्तत्व, की शून्य हो जाना जैसे गाढ़ सुषुप्ति

अवस्था में बुद्धि सर्वथा विलीन हो जाती है। इसी अवस्था का का नाम असंप्रज्ञात समाधि है। किन्तु तत्वज्ञान के इच्छुक साधक के लिये तो निरोध समाधि की आवश्यता है कारण कि उसी से जीवन्मुक्ति की उपलब्धि सम्भव है, उसी के द्वारा अशेष संक्लेशों का क्षय हो सकेगा। इसीलिये चित्त को बहुत ही यत्नपूर्वक शनैः-शनैः बहलाना पड़ता है।

जब बुद्धि साधन करते-करते अत्यंत सूक्ष्म हो जाय और चित्त पर अपना पूरा अधिकार हो जाय, कि बिना चाहे कोई संकल्प उठे ही नहीं, तो पहिले तो अभ्यास ऐसा करना चाहिये कि किसी विषय की चिन्ता ही न करे निश्चिन्त हो जाय। अनात्म पदार्थों की चिन्ता करेगा तो फिर संसार उपस्थित हो जायगा। आत्मा में वृत्ति निरुद्ध हो जाय तब तो आत्म साक्षात्कार ही हो जायगा। निर्विकल्प समाधि अवस्था ही प्राप्त हो जायगी। तब तो फिर आगे किसी साधन की-प्रयत्न की-आवश्यकता ही नहीं। किन्तु जब तक सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था प्राप्त नहीं हुई है, तब तक आत्म तत्त्व की ओर बड़ी सावधानी से चलना चाहिये। क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि में भी व्युत्थान की-विघ्नों की-सम्भावना रहती है। इसलिये वैराग्य अभ्यास से काम और भोग से विक्षिप्त मन का निग्रह करे। उनका आत्मा में ही निरोध करे।

चित्त का स्वभाव संसारी विषयों में ही लगने का है, जिसका जो स्वभाव पड़ जाता है, वह कठिनता से छूटता है। अतः मन जितनी बार भी विषयाभिमुख हो, उतनी ही बार उसे हटाकर आत्माभिमुख करने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति इन वृत्तियों में से किसी भी वृत्ति से परिणाम को प्राप्त हुए मन का निग्रह करना चाहिये। जैसे सुषुप्ति अवस्था में मन लीन हो जाता है, जाग्रत अवस्था में विक्षिप्त हो जाता है,

ये दोनों ही समाधि में विघ्न है। अतः विक्षेप और लय के अभिमुख चित्त जब-जब हो जाय, तब-तब उसे वहाँ से रोककर परमात्मा में लगाना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति का परम साधन पूछा, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! किसी भी प्रकार यह मन वश में हो जाय, इसकी चंचलता नष्ट हो जाय, यह अनात्म पदार्थों की ओर न जाकर आत्माभिमुख हो जाय, तभी इसे परम शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।"

अर्जुन ने पूछा—यह आत्माभिमुख कैसे हो?

भगवान् ने कहा—"देखो, मन संसारी विषयों की ओर जायगा तो इसे विक्षेप होगा। शरीर मे मल और मन में विक्षेप ये दो साधन में बड़े अन्तराय हैं। शरीर के मल को तो औषधि से सदाचरण से तथा आसनादि से निवृत्त करे, मन के विक्षेप को नित्य के अभ्यास से तथा वैराग्य से दूर करे। मन का लय प्रकृति में होता है, अतः लय न होकर इसका निरोध करे और इसे आत्मा की ही ओर लगावे। जिस-जिस कारण से यह विक्षेप और लय की ओर जाय, समाधि की विरोध वृत्ति को उत्पन्न करे। उस-उस कारण से इसे हटाकर बारम्बार आत्मा की ही ओर अभिमुख करे। क्योंकि परमानन्द तो आत्मा ही में है। आत्मरति आत्मतुष्टि आत्मक्रीड़ा यथार्थ आनन्द है। जब तक यह विषय वन में भटकता रहेगा तब तक अशान्त ही बना रहेगा। बिखरी हुई वृत्तियाँ ही इसकी शांति को भंग कर देती है।"

अर्जुन ने पूछा—"बार-बार विषयों से चित्त हटाने से मन आत्मा की ओर लगेगा कैसे?"

भगवान् ने कहा—"देखो, त्रिगुणों में सबसे अधिक विषयों

की ओर ले जाने वाले रजोगुण तथा तमोगुण ही है। सत्त्वगुण तो ज्ञान की ओर ले जाता है। शुद्ध सतोगुण ही मन को आत्माभिमुख करने में सहायक है। अतः चित्त की चंचलता को मेटकर शान्तचित्त हुआ योगी, रजोगुण और तमोगुण से रहित है, जिसके समस्त कल्मष-पाप-कट गये हैं। तथा जो साधना के प्रभाव से ब्रह्मभूत हो गया है, उसी योगी को उत्तम सुख की प्राप्ति हो सकती है।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसी स्थिति होने पर योगी की दृष्टि कैसी हो जाती है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्मभूत योगी की दृष्टि और उसके सुख के सम्बन्ध में भगवान् आगे बतावेंगे।"

छप्पय

पूर्वजनम अभ्यास हेतु मन भ्रमत सदाई।
नित नित करि अभ्यास तुरत थिर मन है जाई॥
जाको मन अति शांत बशी सब भाँति भयो है।
और रजोगुन शान्त पाप तें रहित भयो है॥
सुही सच्चिदानन्दघन, ब्रह्मभूत बड़ शान्तमति।
जोगी साधनसिद्ध नर, पावै सो आनन्द अति॥

समदर्शी योगी ब्रह्मसंस्पर्श सुख का अनुभव करता है

[१५]

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥*

(श्री भ० गी० ६ अ० २८, २९ श्लोक)

छप्पय

सब पापनि तें रहित भयो निष्कलमष जोगी ।
भूलि न वांछा उठै होहुँ विषयनि को भोगी ॥
आत्मा कूँ परमात्म माहिँ नित नित्य लगावै ।
परस विषय नहिँ करे, ब्रह्म संस्परसहिँ पावै ॥
सुख आत्यन्तिक प्राप्त करि, जग जलनिधि सुख तें तरे ।
आत्म-भाव महँ मगन है, नित आनँद अनुभव करे ॥

---

* इस प्रकार यह निष्पाप योगी अपने आपको योगाभ्यास में लगाता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्म का संस्पर्श प्राप्त करता है, जिससे वह अनन्त आनन्द का अनुभव करता है ॥२८॥

योग से युक्त आत्मावाला समदर्शी योगी अपनी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में और सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा में देखता है ॥२९॥

जीव सुख चाहता है, उसकी समस्त चेष्टायें दुःख की निवृत्ति तथा सुख की उपलब्धि के ही निमित्त हुआ करती है। संसारी विषयों में सुख नहीं है, सुखाभास है। जैसे मरुभूमि में दूर से बालू पर सूर्य की किरण पड़ने से जल की प्रतीति होती है। प्यासा मृग दूर से उसे जल समझ कर उसे प्राप्त करने को दौड़ता है, जितना ही वह दौड़ता है, वह बनावटी जल और दूर दिखायी देने लगता है। इसीलिये उन बालू पर पड़ी किरणों को 'मृग-मरीचिका' कहते हैं। उस मृगमरीचिका से आज तक न किसी की प्यास बुझी है, न आगे बुझेगी ही। इसी प्रकार विषयजन्य सुख मृग मरीचिका के ही सदृश हैं, जीव सुख की आशा से कामिनी काचनादि का संग्रह करता है, किन्तु उनमें वास्तविक सुख को न पाकर उसे निराश ही होना पड़ता है। तनिक सा सुखाभास-सा प्रतीत होता है, किन्तु वह आभास सुख न होकर दुःख का ही हेतु है।

अन्तःकरण के कषाय या कल्मष जब तक कटेंगे नहीं तब तक सच्चे सुख की प्राप्ति असम्भव है। इसलिये निरन्तर अव्यग्र चित्त से श्रद्धा के साथ धैर्यपूर्वक योगाभ्यासादि साधनों में लगे ही रहना चाहिये। साधन करते-करते चिरकाल में कल्मष कट ही जाते हैं। अधर्म से जैसे नरकादि लोकों की प्राप्ति होती है, वैसे ही धर्म से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है, अतः धर्म अधर्म, पुण्य पाप, अच्छा बुरा, सत्य अनृतादि जो द्वन्द्व हैं, ये दोनों ही बन्धन के कारण है, एक बन्धन मूँज की रस्सी का है, दूसरा रेशम की मृदुल डोरी का। चाहे मूँज की रस्सी का अथवा रेशम के लच्छों का कैसा भी बन्धन क्यों न हो है तो बन्धन ही। अतः धर्म के द्वारा अधर्म को छोड़ना चाहिये फिर धर्म को भी छोड़कर

निर्द्वंद्व होकर आत्यन्तिक सुख का अनुभव करने के लिये शास्त्र उपदेश करता है।

जो साधक साधनों में प्रवृत्त होता है, उसके मार्ग में बहुत से अन्तराय या विघ्न आकर रोड़े अटकाते हैं विघ्न तीन प्रकार के होते हैं, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। पंचभूतों द्वारा किये हुए विघ्न आधिभौतिक कहाते हैं, देवता द्वारा किये हुए विघ्न आदिदैविक कहाते हैं और अन्तःकरण द्वारा होने वाले विघ्न आध्यात्मिक विघ्न कहलाते हैं। योग दर्शनकार ने उन अन्तरायों को चित्तविक्षेप के नाम से कहा है। क्योंकि ये चित्त को विक्षुब्ध कर देते हैं। योग कहते हैं चित्त के निरोध को। ये अन्तराय चित्त को निरुद्ध नहीं होने देते, मन को योग से दूर हटा ले जाते हैं। योग के मार्ग में रोड़े अटका देते है। योगदर्शन में इसके ९ प्रकार बताये हैं। १-व्याधि, २-स्त्यान, ३-संशय, ४-प्रमाद, ५-आलस्य, ६-अविरति, ७-भ्रान्ति-दर्शन, ८-अलब्ध-भूमिकत्व, और ९-अनवस्थितत्व। अब अत्यन्त संक्षेप में इनकी परिभाषा भी सुन लीजिये।

१-व्याधि-आधि कहते हैं मानसिक व्यथा को। शरीर में कोई रोग नहीं, किन्तु किसी पाप के कारण मन उद्विग्न है। इसमे वह केवल आधि है, वही मन की उद्विग्नता जब देह में मिथ्या आहार विहार के कारण दोष आमाशय में आकर धातुओं को विषम बना देते हैं, तो उनसे नाना रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उन शारीरिक रोगों का ही नाम विशेष आधि अर्थात् व्याधि है। शरीर रुग्ण होने से मन भी प्रसन्न नहीं रहता। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। इसलिये योग साधना में सबसे पहिले शरीर की स्वस्थता ही कारण है। शरीर में रोग हो जाना-

व्याधिग्रस्त देह बन जाना–यह साधन में पहिला विघ्न या अन्तराय है।

२–स्त्यान–कहते हैं स्फूर्ति के अभाव को। आलस्य में पड़े हैं, कुछ करने की इच्छा नहीं होती। अपने शिक्षक गुरु कहते हैं—"भैया, आसन का अभ्यास करो, प्राणायाम करो। किन्तु सुनकर भी करने को मन नहीं चाहता। जैसे-तैसे अभ्यास करने बैठे और बार-बार प्रयत्न करने पर भी वे आते नहीं। साधन में यह दूसरा सबसे भारी विघ्न है।"

३–संशय–उसे कहते हैं, कि यह काम करना चाहिये या न करना चाहिये। जो संशयात्मा है उसका विनाश निश्चित है। प्रत्येक कार्य की सफलता दृढ़ निश्चय से ही संभव है, जिसे आरंभ में ही संशय है, कि योगसाधना करनी चाहिये या न करनी चाहिये। सफलता मिलेगी, या न मिलेगी, तो ऐसे संशयालु पुरुषों का योग सिद्ध नहीं होता। संशय योग का तीसरा विघ्न है।

४–प्रमाद–उसे कहते हैं, कि अपने साधन की परवाह न करना। हमारे साधन का समय हो गया है, हम प्रमादवश दूसरे कार्यों में लगे हुए। प्रातःकाल अरुणोदय से पूर्व उठकर शौच स्नानादि नित्य कर्मों से निवृत्त होकर साधन में लग जाना चाहिये। हम सूर्योदय तक तान दुपट्टा सो रहे हैं। यह प्रमाद चौथा विघ्न है, प्रमादी पुरुष का साधन सिद्ध होना असम्भव ही है।

५–आलस्य–उसका नाम है, कि शरीर की सब इन्द्रियाँ व्यवस्थित रहने पर भी काम करने की इच्छा न होना। शरीर के भारी पन के कारण कर्मों में प्रवृत्ति न होना। शरीर में तमोगुण बढ़ गया है, या श्लेष्म कफ बढ़ गया है इससे उठने की काम करने की इच्छा नहीं होती। साधारणतया शरीर में कोई व्याधि नहीं

है, फिर भी आलस्य के वशीभूत होकर कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती। यह आलस्य साधन में सबसे बड़ा विघ्न है, क्योंकि आलस्य ही मनुष्यों का सबसे बड़ा अपना घरेलू शत्रु है।

६–अविरति–कहते हैं व्यसन को। किसी एक विषय में चित्त की ऐकान्तिक अभिलाषा का ही नाम व्यसन है। जब तक हमें वह वस्तु न मिल जाय तब तक चित्त उदासीन ही बना रहे। बहुत से भांग पीकर ही साधन में बैठते हैं, बहुतों को विशेष प्रकार का खाद्य या पेय न मिले, तो उनका किसी काम में मन ही नहीं लगता। यह अविरति योग साधन में छटा विघ्न या अन्तराय है।

७–भ्रान्ति दर्शन–उसे कहते हैं, जो बात यथार्थ है उसे अयथार्थ मानना और जो अयथार्थ है उसमें यथार्थता देखना। जैसे किसी मादक वस्तु के सेवन से चित्त में एक प्रकार से उपरामता सी हो जाती है, उसे ही चित्त की एकाग्रता मानकर मादक द्रव्यों के सेवन का पक्ष लेना। अथवा आसनों के अभ्यास से जो शरीर मृदु और हलका हो जाता है, उसे न मानकर आसनों के अभ्यास का निषेध करना। इस प्रकार साधनों में भ्रान्ति का हो जाना या भ्रान्ति देखना यह सातवाँ योग का विघ्न है।

८–अलब्धभूमिकत्व–समाधि की जो भूमिकायें उनको प्राप्त न होना। समाधि में एकाग्रता होना परमावश्यक है, वह एकाग्रता न मिलने पर जो चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त दशा है उनका बना रहना ही अलब्धभूमिका कही गयी है, यह साधन में आठवाँ विघ्न है।

९–अनवस्थितत्व–अनवस्था होना चित्त का एकाग्रता में स्थिर न रहना यह भी बड़ा विघ्न है। मानलो समाधि की भूमि

की प्राप्ति तो किसी प्रकार हो गयी, किन्तु जितना चाहिये उतना उसमें प्रयत्न न किया गया, तो प्रयत्न की शिथिलता के कारण चित्त को अस्थिरता बनी रहना यही अनवस्थितत्व है। ये नौ अन्तराय या विघ्न ही योग से हटाने वाले हैं। साधक को इनका सदा सावधानी से ध्यान रखना चाहिये और इन्हें हटाने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। चित्त को विक्षिप्त बना देने वाली इन वृत्तियो पर विजय प्राप्त करके जो साधन में प्रवृत्त होता है, वही साधक निष्कल्मष या विगतकल्मष बन जाता है।

संसारी पदार्थों में जो अनुकूल स्पर्शजन्य अनुभूति है उसे संसारी सुख कहते है। वही स्पर्श यदि ब्रह्म का प्राप्त हो जाय तो ब्रह्म संस्पर्श कहते है, यह ब्रह्म स्पर्श निर्विकल्प समाधि द्वारा प्राप्त होता है। समाधि के जो दुःख, दौर्मनस्य अङ्गमेजत्व तथा स्वास और प्रश्वास विक्षेप है, उन विक्षेपों को हटाकर त्रिविध तापों से बचकर, संसारी पदार्थों में वैराग्य भावना रखकर, निरन्तर अभ्यास में रत रहने से अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् समाधिनिष्ठ योगी के आत्यन्तिक सुख को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"अर्जुन! जो योगी शास्त्र में बताई हुई विधि के द्वारा निरन्तर मन को समाधि के अभ्यास में लगाये रहता है जो सभी प्रकार के द्वन्द्वों से दूर रहकर अपने लक्ष्य की ही ओर अग्रसर होता रहता है, ऐसा योगी बिना विशेष परिश्रम के अनायास ही अक्षय सुख को प्राप्त कर लेता है। जिस योगी के समस्त कल्मष कट गये हैं, जो ब्रह्म सम्बन्धी अत्यन्त सुख है उसका अनुभव करने लगता है। उसे चारों ओर आनन्द ही आनन्द दृष्टिगोचर होने लगता है। आनन्द के अतिरिक्त उसे कुछ भी दिखायी नहीं देता। उसकी सर्वत्र समबुद्धि हो जाती है।"

अर्जुन ने पूछा—समबुद्धि होने पर ऐसा योगी कैसे देखता है ?

भगवान् ने कहा—योग के निरन्तर के अभ्यास से जिसका चित्त विगतकल्मष, मलरहित निर्मल बन गया है, उसकी दृष्टि सर्वत्र समान बन जाती है। जैसे सुवर्ण के बने नाना आभूषणों में ज्ञानी केवल सुवर्ण को ही देखता है। सुवर्ण के अतिरिक्त उसे और कोई वस्तु दिखायी ही नहीं देती, ऐसे ही योग के द्वारा जिसने अपने समस्त कल्मषों को धो दिया है, ऐसा योगी सब भूतों में अपनी ही आत्मा को देखता है। वह अपने में भी उसी आत्मा को देखता है, और उसे ही सम्पूर्ण भूतों में भी देखता है। उसकी सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जाती है। ऐसा योग युक्तात्मा पुरुष किसी की निन्दा कैसे कर सकता है, उसे मोह भी कैसे हो सकता है। ऐसे समदर्शी के समीप शोक भी भला कैसे फटक सकता है। उसे मेरा साक्षात्कार हो जाता है।

अर्जुन ने पूछा—साक्षात्कार हुए पुरुष का लक्षण क्या है ?

सूतजी कहते है—मुनियो ! जो ब्रह्म में ही वर्तता रहता है ऐसे ब्रह्म साक्षात्कार पुरुष के सम्बन्ध में भगवान् जो बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

सब भूतनि में एक आतमा इस्थित मानैं।
अपनी आत्मा माहिँ सबनि कूँ कलपित जानैं॥
ऐसो जोगी जुक्त भयो आत्मा ही पेखै।
ब्रह्म सच्चिदानन्द सबहिँ प्रानिनि में देखै॥
ऊँच नीच उत्तम अधम, भेदभाव को भाव नहिँ।
समदरसी सबके सुहृद, निरखै आत्मा में सबहिँ॥

—()—

योगी और परम योगी

[१६]

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ३०, ३१,३२ श्लो०)

छप्पय

वासुदेव ही तीनि भुवन में बसैं निरन्तर ।
वासुदेव सब माहिँ बसत हैं भीतर बाहर ॥
अरजुन ! मैं जो वासुदेव तिहि सब थल निरखत ।
सब थल में सरवत्र एक मोई कूँ देखत ॥
हौं ऐसे जोगी निमित, कबहुँ नाश होऊँ नहीं ।
पारथ ! मेरे हू निमित, नाश तासु कबहूँ नहीं ॥

---

* भगवान् कह रहे हैं—जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये भी अदृश्य नहीं होता ॥३०॥

जो योगी एकत्व भाव में स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझे

संसार की स्थिति विसमता में है। सर्वत्र विसमता ही विसमता व्याप्त है। जब गुणों में विसमता होती है, तभी सृष्टि-चक्र भी चलता है, जिस दिन विसमता नष्ट हो जायगी, उसी दिन संसार भी समाप्त हो जायगा। अर्थात् प्रलय हो जायगी। स्त्री और पुरुष एक रंग, रूप, वय, लम्बाई, चौड़ाई और स्वभाव के हों, तो उनके संतति नहीं होती। कुछ विसमता होनी ही चाहिये। सत्व, रज और तम जब ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं, उसी का नाम प्रकृति है, उस समय प्रकृति कुछ कर नहीं सकती, निष्क्रिय बनी रहती है। काल पाकर जब गुणों में क्षोभ होता है तीनों में विसमता आ जाती है, कोई गुण घट जाता है कोई उससे बढ़ चढ जाता है, तो सृष्टि होने लगती है। काल पाकर जब फिर गुणों में साम्यता आ जाती है, पुनः प्रलय हो जाती है। इसी का नाम संसार चक्र है।

प्रलय चार प्रकार की होती है। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक प्रलय। नित्य प्रलय तो सभी प्राणियों में प्रतिपल होती रहती है। कल जिस देवदत्त को देखा था, आज उसके सब परमाणु बदल गये, वह नया हो गया हमारे शरीर के प्रत्येक परमाणु प्रतिपल बदलते रहते हैं, उनकी प्रलय होती रहती है। जलते हुए दीपक की लोय प्रतिपल बदलती रहती है। नदी का प्रवाह प्रतिपल परिवर्तित होता रहता है, जिस जल में एक निमेष

भजता है, वह योगी सब प्रकार से वर्ताव करता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है ॥३१॥

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी ही भाँति सम्पूर्ण भूतों में समभाव देखता है और दूसरों के सुख-दुःख में भी अपनी भाँति वर्तता है, वही परमयोगी माना जाता है ॥३२॥

पूर्व आचमन किया था, उतनी ही देर है, वह जल बदल गया, दूर चला गया। अपरिवर्तित कोई पदार्थ नहीं। सभी प्रतिक्षण बदलते हैं, नये होते रहते हैं, इसी का नाम नित्य प्रलय है।

दूसरा नैमित्तिक प्रलय होती है। एक नियत समय में प्रलय हो जाती है। हमारा एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है। ऐसे ३६० दिनों में देवताओं का एक दिव्य वर्ष होता है। १२ हजार दिव्य वर्षों की एक चौकड़ी (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) होती है। ऐसी चौकड़िया जब सहस्रबार बीत जाती हैं, तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है, उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। ब्रह्माजी का दिन बीत जाने पर वे त्रिलोकी को समेट कर अपने उदर मे रखकर सो जाते हैं, उस समय भूलोक भुवर्लोक और स्वर्गलोक तीनों लोकों की प्रलय हो जाती है, महर्लोक के महर्षि-गण जन लोक में चले जाते है, वह लोक खाली हो जाता है। इस प्रकार महः, जन, तपः और सत्यलोक ये चार लोक बच जाते है। इसी प्रलय का नाम नैमित्तिक प्रलय है, ब्रह्माजी के सोने के निमित्त से यह प्रलय हुई है।

एक ब्रह्मा की आयु उनके वर्षों से १०० वर्ष की होती है। ब्रह्माजी के वर्षों मे जब उनकी आयु पूरी हो जाती है, तो प्रकृति प्रलय कर देती है। उसमें भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः और तपोलोक ये सभी लोक नष्ट हो जाते हैं। चौदहों भुवनों का अस्तित्व दृष्टिगोचर नही होता। प्रकृति सम होकर विश्राम करती है। इसे प्राकृत प्रलय कहते हैं, समय आने पर फिर नये ब्रह्मा होते है, फिर सृष्टि चक्र आरम्भ हो जाता है, अतः यह प्राकृतिक प्रलय भी एक प्रकार से बड़ी नैमित्तिक प्रलय ही है।

चौथी आत्यन्तिक प्रलय है। ज्ञान हो जाने के अनन्तर ज्ञानी के लिये त्रिकाल में भी जगत् रहता ही नही और एक बार जगत्

ज्ञान द्वारा-या भगवत्भक्ति द्वारा विलीन हो गया, तो फिर वह कभी उत्पन्न ही नहीं होता। ज्ञानी की दृष्टि में से विसमता सर्वथा नष्ट हो जाती है, वह अपने चारों ओर आत्मा को ही देखता है। आत्मा के अतिरिक्त उसकी दृष्टि में किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व ही नहीं। वह समत्व में सर्वथा स्थित रहता है। उसकी दृष्टि फिर कभी भी विषम हो नहीं होती। ऐसा ज्ञानी शरीर त्याग देता है, तो शरीर के जिस-जिस भूत के जो-जो परमाणु हैं वे उन-उन परमाणुओं में मिल जाते हैं, वह स्वय आत्मानन्द अमृत सागर में तन्मय हो जाता है। उनमें योगियों में दो प्रकार के होते हैं, एक मुक्त दूसरे जीवन्मुक्त। मुक्त का तो ज्ञान होने के अनन्तर शरीर बन्धन रहता ही नही। वह तो शरीर त्यागकर स्वरूप में निमग्न हो जाते हैं। कुछ योगी 'चित्त तोद' के कारण शरीर से विमुक्त नहीं होते। शरीर को रखे हुए भी मुक्ति के आनन्द का रसास्वादन करते हैं। वे सर्वत्र आत्मौपम्य दृष्टि रखते हैं। जिस बात से अपने शरीर को कष्ट हो, उस कष्ट को वे सभी शरीरों में अनुभव करते हैं। जिस बात से अपने शरीर को सुख मिले, उस सुख को अनुभूति वे सब शरीरों में करते हैं। उनकी अनुभूति जगत् के चराचर प्राणियों में समान होती है, ऐसे योगी परमयोगी, महान्योगी, सर्वोच्चयोगी तथा योगिराज कहलाते है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! समदर्शी योगी के सम्बन्ध में बताते हुए श्रीकृष्णचन्द्रजी अर्जुन से कह रहे है—"हे अर्जुन! जो योगी सवत्र-सभी स्थानों मे मुझ परब्रह्म परमात्मा को ही देखता है, दूसरी वस्तु उसे दिखायी ही नही देती, ऐसा समदर्शी योगी ही वास्तव में योगी है।"

अर्जुन ने पूछा—"वह सर्वत्र तो आपको देखता है, कि अर्थात्

सभी प्राणियों में वह आपकी ही मूर्ति के दर्शन करता है, किन्तु आपको अकेले ही देखे, तो उसे क्या दिखायी देगा ?"

भगवान् ने कहा—मैं इस जगत् में ऐसे व्याप्त हो गया हूँ, जैसे बीज वृक्ष बनकर सम्पूर्ण वृक्ष में व्याप्त हो जाता। है जिस बीज से वृक्ष बना है, उस वृक्ष की जड़ को खोदकर आप देखें तो आपको जड़ में बीज नहीं मिलेगा। बीज ने ही वृक्ष का रूप रख लिया है। बीज ही वृक्ष रूप में परिणित हो गया है।

अर्जुन ने कहा—वह बीज तो वृक्ष का रूप रखकर एक से बहुत बन गया है, उस वृक्ष पर असंख्यों बीज लग गये हैं, उन बीजों में कौन सी दृष्टि रखें ?

भगवान् ने कहा—यही देखे कि इस एक बीज में असंख्यों वृक्ष समाये हुए हैं। एक बीज में अनन्त वृक्षों के दर्शन करे। इसी प्रकार मुझ सर्वनियन्ता में सब सम्पूर्ण विश्व के दर्शन करे।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसी समदृष्टि वाले योगी को दृष्टि से क्या आप ओझल हो जाते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ऐसा योगी मुझसे कभी बिछुड़ता नहीं वह मुझसे अदृश्य नही होता, दूर नही होता और मैं भी उससे कभी दूर नही होता उसके लिये सदा सर्वदा दृश्य ही बना रहता हूँ। अर्थात् उसमें और मुझमें कभी किसी प्रकार का विलगाव नहीं होता।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे योगी, के लिये क्या क्या विधि है, क्या-क्या निषेध है ?"

भगवान् ने कहा—ऐसा योगी विधि निषेध से परे हो जाता है। उसके लिये न कोई विधि है और न कुछ निषिद्ध ही है। क्योंकि विधि निषेध के नियम तो उन लोगों के लिये होते हैं जिनमें कर्तापने का अभिमान हो। अभिमान पूर्वक जो काम

करेगा उसे विहित कर्मों के उत्तम फलों से हर्ष होगा, निषेध कर्मों के निषिद्ध फल से दुःख होगा। उसकी बुद्धि सुख दुःख को ग्रहण करेगी, किन्तु जिनका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट ही हो गया है, उनकी बुद्धि पर सुख दुख का, जय पराजय, का विधि निषेध का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

अर्जुन ने पूछा—"तो क्या ऐसा समदर्शी निरहंकार भाव से किसी की हत्या भी कर सकता है ?"

भगवान् ने कहा—किसी एक का नहीं, यदि वह समस्त चराचर लोकों की भी हत्या कर दे, तो न उसे कुछ दोष लगेगा और न वह उस कर्म में लिप्त ही होगा। सृष्टि के अन्त में रुद्र समस्त जीवों का संहार करते ही है। क्या वे दोष के भागी होते हैं ? नहीं कदापि नहीं। विधि निषेध तो व्यवहार में है। योगी तो ऐसे व्यवहार से बहुत ऊँचा उठ गया है। इसलिये संसार के चर, अचर, स्थावर, जंगम सभी भूतों में जो मैं समभाव से स्थित हूँ। ऐसे मुझे जो योगी एकत्व भावना से निश्चय पूर्वक भजता है, वह योगी फिर चाहे कैसा भी वर्ताव करे। वह ब्रह्म में ही वर्त रहा है। माँ के पेट में बच्चा जो भी करे, वह सभी सह्य है, सभी क्षम्य है। वह इसलिये ब्रह्मभाव भावित योगी जो चाहे सो करें वे विधि निषेध से परे है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! हमने तो बहुत से ज्ञानियों को देखा है वे ज्ञान की पूर्ण स्थिति पर पहुँचकर भी दूसरों के दुःख को देखकर दुखी होते हैं, दूसरों के सुख में सुखी होते हैं। स्वयं आप ही हैं, हमारे दुखों को देखकर बार-बार काम्यवन में दौड़कर आते थे, स्वय दुखी होते थे, हमें ढाँढस बँधाते थे। जब हमारा अभ्युदय होता था, तो परम सुखी होते थे। हमारे लिये

आप सारथी जैसा नीच कार्य कर रहे हैं। ऐसे समदर्शी लोगों में ज्ञान की कुछ कमी रह जाती है क्या ?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—अर्जुन ! तुम कमी की बात कहते हो, वास्तव में जो अपना ही दृष्टान्त रखकर ज्ञान होने पर भी लोगों के साथ वर्ताव करते हैं, वे तो योगियों के भी गुरु महायोगी परमयोगी योगिराज है। वे सुख-दुख की नाप अपने आप से ही करते हैं। जैसे कोई हमें गाली दे, तो वह हमें बुरी लगेगी, अतः हम भी किसी को गाली न दें। हमारी बहिन बेटी को कोई बुरी दृष्टि से देखे, तो हमें बुरा लगेगा, अतः हम भी किसी की बहिन बेटी को कुदृष्टि से न देखे। जैसे कोई हमारी उपयोगी वस्तु को चुरा ले जाय, तो हमें बुरा लगेगा, इसलिये हम भी किसी की वस्तु को न चुरायें। जो अपने को बुरा लगता हो ऐसे वर्ताव को दूसरे से नहीं करते। जो अपने को प्रिय लगता हो ऐसे धर्म पूर्वक व्यवहार को दूसरों के साथ करते हैं, ऐसे योगी सभी योगियों से श्रेष्ठ हैं, वे ही परम योगी माने गये हैं। अर्जुन ! तुम ऐसे ही आत्मौपम्य परमयोगी बन जाओ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब अर्जुन एक बड़ी उपयोगी शंका उठाकर भगवान् से प्रश्न करेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

सर्वभूत में एक भाव तैं समुझै जोगी।
रमै आतमा एक होहि त्यागी वा भोगी॥
ब्रह्म सच्चिदानंद अखण्डहु अलख अगोचर।
वासुदेव ही समुझि भजतु समभाव निरन्तर॥
चाहे जो कारज करै, जैसी इस्थिति में रहै।
मोई में बरते सदा, सब प्रकार मोमें रहै॥

छप्पय

सबमें आत्मा एक होहि दुख सुख हू समई।
इस्तुति सुनि सुख होहि दुखी निंदा तैं सबई॥
जोगी अपनी भाँति सबनि में समता माने।
जैसो दुख सुख मोइ होहि सम सबकूँ जाने॥
जैसे जो सम भाव तैं, बरते सिद्ध समान है।
वास्तव में जोगी गुही, सब तैं परम महान है॥

अर्जुन का मन की चंचलता के सम्बन्ध में प्रश्न

[१७]

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥*

(श्री भग० गी ६ अ० ३३, ३४ श्लोक)

छप्पय

अब फिरि अरजुन कहन लग्यो—हे नाथ! सुनायो।
समता को जो जोग आपुने अबहिं बतायो॥
मधुसूदन! वह जोग नहीं मेरे मन आवै।
जतन करूँ बहु बार तऊ मन में न समावै॥
छिन भरिकूँ मन में धँसै, तुरत फेरि बिसरातु है।
है मन चंचल अति चपल, दृढ़ता नहीं दिखातु है॥

---

* अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! आपने जो यह समत्व भाव से योग कहा है, इसको चंचल चित्त होने के कारण मैं स्थिर स्थिति में होते

अष्टाङ्ग योग जो परम शांति-आत्मतत्व की प्राप्ति का मार्ग है। यह अत्यंत कठिन है। जीवों की स्वभाविकी प्रवृत्ति विषयों की ओर होती हैं। इन्द्रियां हठ पूर्वक विषयों की ही ओर दौड़ती हैं। इन इन्द्रियों को प्रमाथी अर्थात् मथन करने वाली बताया है। ये इन्द्रियां बल पूर्वक मन को अपनी ओर खींच लेती हैं। वैसे तो सभी इन्द्रियां परम प्रबल है, किन्तु इन दस इन्द्रियों में से उपस्थेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ये दो अत्यंत ही प्रबल हैं। रसनेन्द्रिय नित्य नये-नये रसों का आस्वादन करना चाहती है। यह योग मार्ग संसारी मार्ग से विपरीत मार्ग है। इन्द्रियां जो चाहती हों, उनकी बात मत मानों मन जो विषयों की ही ओर दौड़ता है, उसे रोको चित्त की जो विषयाभिमुख वृत्तियां है उन्हें हठ पूर्वक बलात् रोकने का ही नाम योग है। योग के पहिले दूसरे अंग हैं यम और नियम। यमनियमों का पालन किये बिना योग साधन हो नहीं सकता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम कहलाते हैं। शौच संतोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं।

पहिले अहिंसा को ही ले लीजिये। जिह्वा स्वादिष्ट पदार्थों का रसास्वादन करना चाहती है, फिर वे स्वादिष्ट पदार्थ कैसे भी क्यों न हों, कोई भी क्यों न लाया हो। उचित अनुचित किसी भी उपाय से क्यों न लाया गया हो। जिह्वा उसका रसास्वादन चाहती हैं। मांसहारी लोग कहते हैं, जिह्वा के सब रसों में मांस

हुए नहीं देखता हूँ ॥३३॥

क्योंकि हे श्रीकृष्णचन्द्र जी! यह मन बड़ा चंचल है प्रमाथी, दृढ़ और बड़ा बलशाली है। इसे वश में करना मैं वायु की भांति दुष्कर मानता हूँ ॥३४॥

सबसे अधिक स्वादिष्ट पदार्थ है। जो अहिंसा व्रती है, वह दूसरों की हिंसा करके लाये हुए इस अत्यंत गर्हित पदार्थ को क्यों खायगा। वह तो उसका स्पर्श करना भी महापाप समझेगा। फिर हिंसा खाने को ही नहीं होती है। मन से किसी से द्वेष करना, वाणी से किसी को कटु शब्द कहना। शरीर से किसी को आघात पहुँचाना ये सभी हिंसा के अन्तर्गत है। अतः अहिंसा व्रत के पालन में कितनी कठिनाई होती है।

अब दूसरा यम है सत्य। इस असत्य जगत् में पग-पग पर असत्य चलता है। मन से वाणी से तथा कर्म से जान में अनजान में कितना असत्याचरण होता रहता है। हम सत्य का पालन करना भी चाहें, तो हमारे साथी संगी व्यवहारी तथा सगे सम्बन्धी हमें भाँति-भाँति के उपदेश देते रहते है। अरे, भाई साँचाधारी बनने से कैसे काम चलेगा। संसार में तो सत्य असत्य सभी चलता है। इस लिये मनसा वाचा कर्मणा सत्य के आचरण में पग-पग पर कठिनतायें हैं।

तीसरा यम का अंग है अस्तेय, अर्थात् चोरी न करना। किसी की वस्तु को उसकी बिना अनुमति के आँख बचाकर या बलपूर्वक ले लेना इसी को चोरी कहते है। किन्तु चोरी इतनी ही नहीं। किसी से कहने योग बात को भय लोभवश न कहना यह भी वाणी की चोरी है। मन में कुछ और रखना, प्रकट कुछ और करना यह भी मानसिक चोरी है। शारीरिक चोरी तो प्रत्यक्ष चोरी है ही। हम इस संसार में चोरी से कैसे बच सकते हैं। हमारे चारो ओर चोर ही चोर तो बसे हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

किसी राजा के प्रधानमंत्री से दूसरे मन्त्रियों का द्वेष भाव था। वे राजा से प्रधानमंत्री के पीठ पीछे निन्दा किया करते

थे। एक दिन प्रधानमंत्री किसी दूसरे भाव से राज्य की वस्तु को घर ले गया। निन्दकों ने मिलकर राजा से कहा—महाराज, प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता मुख्यमंत्री अमुक वस्तु चुरा ले गये हैं। राजा ने उनके घर जाकर वह वस्तु पकड़ी। प्रधानमंत्री को कारावास में बंद कर दिया। प्राण दंड की आज्ञा सुना दी। मुख्यमंत्री बहुत ही बुद्धिमान था, फांसी देते समय उससे पूछा गया—"तुम्हारी जो अंतिम इच्छा हो कह दो।" उसने कहा—"मैं महाराज से एकान्त में मिलना चाहता हूँ।"

राजा ने उसकी इच्छा पूर्ति की। एकान्त में मंत्री ने कहा—"महाराज, मैं एक बहुत ही गुप्त विद्या जानता हूँ। पेड़ों से मोती पैदा करना। अब तो मैं मर ही रहा हूँ उस विद्या को मरते समय आपको बता देना चाहता हूँ।"

राजा को बड़ा कुतूहल हुआ। महीने भर के लिये उसका प्राण दंड स्थगित कर दिया गया। मन्त्री ने एक खेत तैयार कराया। थालो भर मोती बोने को राजमहल से मंगाये। मोतियों को तो उसने अपने घर भिजवा दिया। रात्रि में चुपके से उसमें जौ बुवा दिये। राजा नित्य देखने आता था, मोती उपजे या नहीं। ५-७ दिन में जौ उपज आये। एक दिन मंत्री ने प्रातः राजा को बुलाया। जौ के अंकुरों पर प्रातःकाल ओस के कण दीख रहे थे। मंत्री ने कहा—"अन्नदाता! मोती तो लग गये।"

राजा ने कहा—"तो इन्हें तोड़िये।"

मंत्री ने कहा—"महाराज! अभी ये मोती बहुत गीले हैं। कुछ दिनों में सूखकर कड़े हो जायेंगे। इन्हें वही उतार सकता है, जिसने कभी चोरी न की हो। मैं तो चोरी करने से इनके उतारने की योग्यता खो चुका हूँ, अब जिसने चोरी न की हो वही उसे उतार सकता है। जिसने एकबार भी जीवन में चोरी

की होगी, वह उतारेगा तो ये पानी बन जायेंगे।" राजा ने सभी मंत्रियों, कर्मचारियों, रानियों से कहा—किन्तु कोई उतारने को तैयार नहीं हुआ।

तब मंत्री ने कहा—"महाराज स्वयं ही क्यों नहीं उतार लेते।"

राजा ने कहा—"अरे, भाई हमने तो न जाने कितने बार भावों की बातों की और भी वस्तुओं की चोरियाँ की है, हम कैसे उतार सकते हैं?"

तब हाथ जोड़कर मुख्य मंत्री ने कहा—"अन्नदाता! जब सभी ने चोरी की है, तो मैंने कौन-सी नयी बात करदी। मुझ अकेले को ही प्राण दंड क्यों दिया जा रहा है। सभी को प्राण दंड दिया जाय।"

राजा मंत्री की बुद्धिमानी से प्रसन्न हुआ उसे क्षमा कर दिया गया। अब बताइये ऐसे संसार में अस्तेय धर्म का हम लोगों के लिये पालन कितना कठिन है।

चौथा यम ब्रह्मचर्य है। प्रत्यक्ष मैथुन न करने को ही ब्रह्मचर्य नहीं कहते। दर्शन, स्पर्श, आलाप, गुह्य, गुह्यभाषण कामुक चेष्टायें, हँसी विनोद आदि जो कामोद्दीपक चेष्टायें है, ऐसे अष्ट-प्रकार के मैथुनों से सदा बचे रहने को ब्रह्मचर्य कहते है। इस संसार में रहते हुए इनसे सर्वथा बचे रहना कैसे दुष्कर कार्य है।

पाँचवा यम अपरिग्रह है। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का न संग्रह करना, न किसी से याचना करना, न मन से संग्रह की इच्छा रखना। इसमें कितने भारी मनोबल की आवश्यकता है। इसी प्रकार शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ये पांच नियम है।

जीव स्वभाव से अशौच प्रिय है। जैसी दशा में जहाँ पर

जो भी कुछ खाद्य पदार्थ मिला पशुओं की भाँति खा लेना जीव का स्वभाव है। भीतर और बाहर की स्वच्छता रखना पवित्रता पूर्वक रहना, इस मलों के थैले रूप अपवित्र शरीर में बडा कठिन है। पग-पग पर तो इसमें अशुचिता है। सर्वत्र तो इसमें दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध भरी है। जब तक प्रबल प्रयत्न पूर्वक समस्त नाड़ियों में से मल न निकाल दिया जाय, तब तक शौच की सिद्धि कैसे संभव है।

दूसरा नियम है संतोष–भगवत् इच्छा से–प्रारब्ध कर्मानुसार जो भी भोग वस्तुएँ प्राप्त हों, उन्हीं में सन्तुष्ट रहने को संतोष कहते हैं। किन्तु जीव का स्वभाव तो इसके विपरीत है। उसे कितना भी मिल जाय, फिर भी मन में तो यह इच्छा बनी ही रहती है, यह भी मिल जाय, वह भी वस्तु आ जाय। यह भी मेरी हो जाय। जिसे संतोषरूपी धन की प्राप्ति हो गयी, उसके लिये सभी दिशायें सुख मय बन जाती हैं। किन्तु संतोष का होना सरल नहीं।

तीसरा नियम तपस्या है। जीव तो शरीर को सुख में रखना चाहता है। तप में तो शरीर को तिलतिल करके पताना पडता है। कितने क्लेशों को सहन करके तपस्या की जाती है, सर्व-साधारण मनुष्य तो तप के नाम से ही भयभीत हो जाते है।

स्वाध्याय चौथा नियम है। वेदों के सूक्तों की, मंत्रों की पुनः-पुनः आवृत्ति का नाम स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अभ्यास भूख प्यास, शीतउष्ण आदि को सहकर अत्यन्त ही कष्ट से किया जाता है।

पांचवा नियम है ईश्वर प्रणिधान। भगवान् पर विश्वास रख कर योग क्षेम की तनिक भी चिन्ता न करना। किन्तु यह जीव तो अपने को ही सबसे बड़ा कर्ता मान बैठा है। जिसे भग-

वान् पर विश्वास हो गया, उसके लिये फिर कर्तव्य शेष ही क्या रह गया।

इन यम नियमों में से एक किसी का भी दृढ़ता से पालन करले तो उसी की मुक्ति हो जाती है। जैसे जीव मात्र की हिंसा से मनसावाचा कर्मणा निवृत्त हो जाय, तो सब प्राणी उसके प्रति स्वाभाविक वैर का त्याग देंगे। प्राणिमात्र में उसकी समबुद्धि हो जायगी। समत्वका ही नाम योग है। इसी प्रकार सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान इनमें से किसी भी एक में पूरी निष्ठा दृढ हो जाय तो आत्म आक्षात्कार हो सकता है। योग दर्शनकार ने तो इन सबको अंगो न मानकर योग के अंग मात्र ही माना है। अष्टांग योग में तीसरा अंग है आसन।

आसन को कोई-कोई प्रथम अंग ही मानते हैं। उनका कहना है, कि यम नियम, तो चाहे कर्म योग हो, ज्ञान योग हो अथवा भक्तियोग हो सभी मे आवश्यक है। यह जो समाधि योग है। यह अष्टाग न होकर षडाङ्ग, अतः आसन से ही योग आरम्भ होता है। आसनों का अभ्यास भी सरल नही। जितनी योनियाँ हैं उतने ही आसन है अर्थात् चौरासी लाख। इनमें भी ८४ आसन मुख्य हैं। उनमें भी पद्म, स्वस्तिक, पीठ, सिंह, कुक्कुट, कुंजर, कूर्म, वज्र, व्याघ्र, अर्धचन्द्र, दण्ड, गरुड़, शूल, खड्ग, मुद्गर, मकर, त्रिपथ, काष्ठ, स्थाणु, हस्तकर्णिका, भीम, वीर, वाराह, मृगवैणिक, क्रौच, अनालिक और सर्व तो भद्र ये सत्ताईस आसन मुख्य है। इनमें से भी पद्मासन, सिद्धासन या पीठासन, स्वस्तिकासन या सुखासन ये तीन आसन मुख्य हैं। साधक इन तीन आसनों में से किसी आसन में बैठकर योगाभ्यास किया करते हैं।

जीव का स्वभाव है, कमर लचाकर बैठना। मूलाधार चक्र से सब नाड़ियाँ शरीर में इधर-उधर गयी है। यदि शरीर तना रहे, तो उसे वृद्धावस्था जन्म कष्ट न झेलना पड़े। आसन बाँधने पर मूलाधार से लेकर ऊपर का सम्पूर्ण शरीर, पीठ, ग्रीवा और सिर तने हुए सम बने रहें। घुटने भूमि से सटे रहें कमर लचने न पावे फिर भी ऐसे बैठे रहने पर ऊब न हो सुख की अनुभूति हो, तभी समझना चाहिये आसन ठीक बना। ऐसे आसन से बिना क्लेश के बिना कमर लचाये दो प्रहर स्थिर बैठा रहे तो समझना चाहिये इसे आसन सिद्ध हो गया। यह योग करने का अधिकारी बन गया। इसीलिये आसन को बाह्य साधन कहा।

अब अष्टांग योग का चौथा अङ्ग है प्राणायाम। प्राणों का आयाम-श्रम या (कसरत) को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम से वात् पित्त और कफ सम्बन्धी जितने दोष हैं वे सब नष्ट हो जाते है। साधारतया पूरक, कुम्भक, और रेचक तीन प्राणायाम के प्रकार हैं। इनके अतिरिक्त भस्त्या, शीतली करणी आदि प्राणायाम के कई भेद हैं, किन्तु इन सबमें पूरक कुम्भक और रेचक ये ही तीन प्रकारान्तर से करनी पड़ती हैं। महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र रूप में योगाङ्गों का जैसा सुदर प्रभावोत्पादक वर्णन किया है, वैसा कहीं भी देखने को नहीं मिला। वैसे तो विष्णुपुराण ६ अंश के ७ वें अध्याय में खांडिक और केशिध्वज के संवाद में, गरुड़पुराण के चौदहवें अध्याय में, मार्कण्डेयपुराण में योग चिकित्सा नाम के ३६ वें अध्याय में, ब्रह्मपुराण के शिव-स्कन्द संवाद रूप यम नियम प्राणायामादि कथन नामक १२ वें अध्याय में तथा लिंगपुराण आदि भिन्न-भिन्न पुराण उपपुराणों में, हठयोग प्रदीपिक, घेरंडसंहिता आदि अनेक योग सम्बन्धी ग्रन्थों में इस विषय का विशद वर्णन किया गया है। किन्तु पातंजलि

भगवान् ने जैसा स्पष्ट और संक्षिप्त प्रांजल भाषा में छोटे-छोटे सूत्रों में इसका वर्णन किया है वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा उपादेय है। प्राणायाम का वर्णन करते हुए वे कहते हैं, आसन के स्थिर होने पर प्राणायाम करना चाहिये। श्वास और प्रश्वास जो प्राण और अपान के द्वारा होते हैं। जिन श्वास प्रश्वास के लिये पुरुष को प्रयत्न नही करना पड़ता है। ये स्वाभाविक ही चलते रहते हैं, उसका एक साथ ही विच्छेद-निरोध हो जाना उसी को प्राणायाम कहते हैं।

वह निरोध कैसे होता है। पूरक उसे कहते हैं जो बाहर की वायु को स्वास नलिका द्वारा भीतर ले जाया जाय। रेचक उस कहते है, जो भीतर की वायु को नासिका द्वारा बाहर फेंक दिया जाय। कुम्भक उसे कहते हैं, न भीतर की वायु को बाहर आने दिया जाय और न बाहर की वायु को भीतर ले जाया जाय। इस प्रकार वाह्य और भीतर के भेद से कुम्भक दो प्रकार का हुआ। जैसे हमने भीतर की वायु को तीव्र गति से बाहर निकाल दिया। वायु निकाल कर वहीं रुका रहे स्वास नहीं ली, तो यह वाह्य कुम्भक हुआ। फिर भीतर की वायु को खूब वेग से जितनी ले जा सकते है, उतनी भीतर ले गये और जैसे-कुम्भ-घड़े-में कोई भर कर उसका मुंह बन्द कर दे, उसकी वस्तु को बाहर न जाने दें ऐसे ही प्रश्वास द्वारा वायु को बाहर न जाने दे कर भीतर ही रोके रखें, इसे अभ्यान्तर या भीतरी कुम्भक कहते हैं। पूरक प्राणाम वाह्य वृत्ति है क्योंकि बाहर की गति का निरोध किया जाता है। इसी प्रकार रेचक भीतरी वृत्ति है, क्योंकि भीतर की वायु बाहर निकाली जाती है। कुम्भक में न भीतर की वायु बाहर आने पाती है, न बाहर की भीतर जाने पाती है; इसलिये इसका नाम स्तम्भवृत्ति है। अर्थात् वायु को

स्तम्भित किया जाता है, रोका जाता है। इस प्रकार पूरक कुम्भ और रेचक यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या के परीक्षा किये जाने पर "दीर्घ सूक्ष्म" संज्ञा वाला होता है।

दीर्घ सूक्ष्म इसका नाम क्यों होता है इसलिये कि देश, काल और संख्या की न्यूनता अधिकता से अभ्यास के द्वारा श्वास सूक्ष्म भी हो जाता है और दीर्घ भी हो जाता है। जैसे सर्वसाधारण का श्वास हृदय से आकर नासिका के छिद्र द्वारा निकल नासाग्र भाग से १२ अंगुल में जाकर समाप्त हो जाता है। फिर १२ अंगुल जाकर पीछे लौटता है और हृदय में समाप्त हो जाता है। बाहर निकलने वाली वायु को श्वास तथा भीतर जाने वाली को प्रश्वास कहते हैं। इसे ही प्राण अपान भी कहते हैं। बिना प्रयत्न के यह श्वास प्रश्वास स्वयं चलती रहती है। सर्वसाधारण की श्वास हृदय देश से निकलती है, क्योंकि हृदय से नीचे के चक्र मन द्वारा रुंधे रहते हैं। अभ्यास करने से नाड़ियों का मल निकलने लगता है, तो श्वास नाभि से अथवा मूल धार स्थान गुदा से निकलने लगती है और बाहर बारह अंगुल के स्थान में चौबीस या छत्तीस अंगुल पर्यन्त जाती है और उसी वेग से यह भीतर भी जाती है। क्योंकि वायु निकलने के स्थान से मूल धार स्थान ३६ अंगुल ही है जब नासिका से श्वास ३६ अंगुल पर्यन्त जाने लगे तब समझो मूलाधार की शुद्धि हो गयी। कुम्भक जितना ही बढ़ता जायगा, उतनी ही भीतर की शुद्धि होती जायगी। जब श्वास प्रश्वास लेने की आवश्यकता ही न रह जाय, केवल कुम्भक से ही काम चल जाय भीतर की वायु भीतर ही विलीन हो जाय, तो समझना चाहिये प्राणायाम सिद्ध हो गया। अष्टांग या षडंगयोग आसन और प्राणायाम बाह्य साधन ही हैं। इनका सम्बन्ध केवल बाह्य शरीर शुद्धि से ही है। जब तक शरीर शुद्ध न होगा, तब तक कोई साधन हो ही नहीं

सकता। क्योंकि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थ में कारण शरीर है। अतः शरीर शुद्धि आसन प्राणायाम द्वारा करके प्रत्याहार द्वारा मन को रोकने का प्रयत्न करे। विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को उन-उन विषयों से रोककर मन के निग्रह के प्रयत्न को प्रत्याहार कहते हैं। मन बार-बार भगेगा। उसे फिर-फिर इधर-इधर से रोक कर लाने का ही नाम प्रत्याहार है। आसन और प्राणायाम बाह्य साधन हैं। धारणा, ध्यान और समाधि अभ्यान्तर साधन हैं। वह प्रत्याहार इन दोनों को मिलाने वाली कड़ी है। जैसे देहली पर रखा दीपक बाहर भी प्रकाश फैलाता है और घर के भीतर भी। इसी प्रकार प्रत्याहार बाह्याभ्यान्तर मिला जुला है।

इस प्रकार अभ्यास करने पर बहुत से विघ्न भी उपस्थित हो जाते है। उन्हें योग का अन्तराय कहते हैं। उनमें आलस्य, रोग व्याधि, प्रमाद, संशय, चित्त की अनावस्थिति, अश्रद्धा, भ्रान्ति तथा त्रिविध दुख आदि मुख्य हैं। इन सब को बड़ी सावधानी से जीत कर तब धारणा होने लगती है। जिस प्रकार प्राणायाम से वात, पित्त तथा कफ सम्बन्धी दोषों का शमन हो जाता है, उसी प्रकार धारणा से जन्म जन्मान्तरों के पापों का शमन हो जाता है। जिसकी 'धारणा' सिद्ध होने लगती है, उसका प्रवेश अन्तर्लोकों में होने लगता है। फिर वह साधक इस लोक में होने वाले संताप दुःख तथा विषय लालसा से ऊपर उठ जाता है। उसका यह स्थूल शरीर भी दिव्य हो जाता है। उसे संसारी विषयों के प्रति लोलुपता नहीं रहती। शरीर में किसी भी प्रकार का रोग नहीं रहता, शरीर अत्यन्त ही मृदु हो जाता है, शरीर में से सुगन्ध आने लगती है। मल मूत्र होता ही नहीं। होता है भी तो अत्यल्प। शरीर कान्तिवान बन जाता है, सर्वथा

मुखमंडल पर प्रसन्नता झलकती रहती है। स्वर बड़ा ही मधुर कोमल बन जाता है, सब लोग स्वाभाविक अनुराग करने लगते हैं, पीठ पीछे लोग प्रशंसा करते है, उससे किसी को भय नहीं लगता, वह भी किसी से डरता नहीं, उसे शीत ऊष्ण की बाधा नही होती। यह सब तो हो जाता है, उसे बाह्य संसार की किसी वस्तु से किसी प्रकार की आशका नही रहती, किन्तु अन्तर्जगत की समस्त सिद्धियाँ उसके सम्मुख आकर उपस्थित हो जाती है। धारणा सिद्ध योगी, पंचभूत आदि सूक्ष्म भूतों में जहाँ भी धारणा कर लेता है, वह सूक्ष्म होने से उसी का रूप हो जाता है। जैसे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पंचतन्मात्रायें है योगी उनमें ही मन को लगा दे तो पत्थर के भीतर ही प्रवेश कर सकता है। शरीर की सिद्धियाँयें अणिमा (सूक्ष्म अणु बन जाना) महिमा (बड़ा बन जाना) लघिमा (सूक्ष्म से सूक्ष्म हो जाना) तीन सिद्धियाँ हैं। प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता, काम वसायिता ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भूख प्यास न लगना, दूर का बात सुन लेना, देख लेना जहाँ चाहें तत्काल पहुँच जाना, इच्छानुरूप स्वरूप बना लेना, परकाय प्रवेश, इच्छानुसार शरीर त्यागने की शक्ति, देवलोक की अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करना, देवताओं के साथ विहार करना, जो संकल्प करे उसी की सिद्धि हो जाना, जिसे जो करने को कह दे वह तत्काल करे। त्रिकाल का ज्ञान, निर्द्वन्द्व हो जाना, पर मन की बात जान लेना, अग्नि जल सूर्य तथा विष की शक्ति को स्तम्भित कर देना आदि सभी सिद्धि धारण सिद्ध योगी के सम्मुख आती है। इन सिद्धियां से एक ही लाभ है, योगी को यह ज्ञान हो जाता है, कि मै यथार्थ योग मार्ग पर चल रहा हूँ। बस, इसके अतिरिक्त इन सिद्धियों से कोई लाभ न उठावें।

यदि इन सिद्धियों के चक्कर फँस गया, तो मानो उसका आगे का मार्ग रुक गया। योग पर आरूढ़ हो जाने पर भी साधक सिद्धियों के चक्कर में फँसकर नीचे गिर जाते हैं। महर्षि सौभरि सिद्धियों के ही चक्कर में तो फँस गये ५० विवाह किये और ५ सहस्र पुत्र उत्पन्न किये। इसलिये सिद्धियों से सदा बचते रहना चाहिये।

धारणा जब किसी एक लक्ष्य में दृढ़ हो जाती है, तो उसी का नाम ध्यान हो जाता है, अर्थात् धारणा की परिपक्वावस्था का ही नाम ध्यान है और ध्यान की परिपक्वावस्था का ही नाम समाधि है। समाधि ही अष्टांगयोग की अन्तिम सीढ़ी है। समाधि में न किसी प्रकार की दुःख की अनुभूति है, न क्षोभ, न उस अवस्था में कोई अंग हिलता डुलता है और न श्वास-प्रश्वास ही लिया या छोड़ा जाता है। समस्त क्लेशों की, समस्त पाप-पुण्य कृत कर्मों की निवृत्ति हो जाती है। समाधिनिष्ठ योगी को न किसी प्रकार का क्लेश दुःख होता न उसे कर्मों का ही बन्धन रहता है। उसके शुभ अशुभ सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं। वह निरतिशय सुख का अनुभव करता है। वह सबको अपनी आत्मा में देखता है और अपनी आत्मा का दर्शन सभी में करता है। वह जब सबमें अपने को ही देखता है तो दूसरों की निन्दा ही क्यों करने लगा। फिर उसे शोक मोह आदि होंगे ही क्यों। उसकी दृष्टि समत्व में स्थित हो जाती है। वह सर्वत्र आत्मोपम्य मानकर सबमें आत्मवत व्यवहार करता है। वही समत्व बुद्धि वाला परम योगी कहलाता है। यह योग अत्यन्त ही कठिनता से—रात्रिदिन के परिश्रम से—प्राप्त करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने समत्व योग का विस्तार से वर्णन किया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम,

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का महत्त्व बताया तब अर्जुन ने कहा—मधुसूदन ! आपने जो समत्व बुद्धि से जिस सम दृष्टि योग का वर्णन किया है मेरा मन स्थिर स्थिति में दिखायी नहीं देता।"

भगवान ने पूछा—क्यों ? क्या बात है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! अपने मन की चंचलता के कारण यह योग मुझे दुरूह दीखता है। हे श्रीकृष्ण ! यह मन बड़ा चंचल है, यह प्रमथनशील है। यह इन्द्रियों को क्षुभित कर देता है। सब इन्द्रियों को प्रमथित कर देता है। और साथ ही यह बड़ा बलवान् है। क्षण भर में कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है।

भगवान् ने कहा—"तो भैया इस मन का निग्रह करो इसे अपने वश में लाओ।"

अर्जुन बोला—"भगवन् ! कहना सरल है, करना अत्यन्त कठिन है। इस मन को रोकना तो मैं ऐसा मानता हूँ, जैसे कोई गठरी में वायु को बाँधकर रोक रखे। वायु को रोकने के सदृश ही इस मन का रोकना बहुत ही दुष्कर है। ऐसी मेरी अपनी मान्यता है। इसे रोकने की मनुष्य की तो अपनी निजी शक्ति है नहीं। हाँ, आपका नाम कृष्ण है अर्थात् भक्तों के पाप आदि दोषों का कर्षण-निवारण-करने में आप समर्थ हैं। आप भक्तों को अपनी ओर स्वतः ही आकर्षण करने में समर्थ हैं। हाँ आप चाहें तो मन तनिक देर में वशीभूत हो सकता है। वैसे हम लोग अपने पुरुषार्थ से इसे वश में करना चाहें, तो असम्भव सा ही दिखायी देता है। अतः इस मन को वश में करने का कोई सरल-सा सुगम-सा साधन बता दीजिये। जिससे यह अत्यन्त दुरूह मन किसी प्रकार वश में किया जा सके।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कृष्ण ! कहाँ तक कहूँ अधिक मन चंचल भारी।
मथनी जैसे दही मथै तस जागति न्यारी॥
है इतनो बलवान पार जाते नहिं पावैं।
बड़े-बड़े बलवान हार जाई तैं खावैं॥
बल तैं निग्रह वायु को, रोकन अतिई कठिन ज्यों।
अति ई चंचल चित्त को, दुष्कर निग्रह नाथ त्यों॥

अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन वश में किया जा सकता है

[१८]

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ३५, ३६ श्लो०)

छप्पय

हँसि बोले भगवान—पते की बात कही तुम।
है मन चंचल बहुत बात स्वीकार करें हम॥
महाबाहु! सन्देह रहित तुम बात कही है।
मन तैं चंचल अन्य नहीं यह बात सही है॥
करै नित्य अभ्यास अति, भोगनि में वैराग्य बड़।
वश में है जावै चपल, अति प्रमाथि यह अज्ञ जड़॥

---

* इस पर श्रीभगवान् कहने लगे—हे महाबाहो! तुम ठीक कह रहे हो, यह मन दुर्निग्रह और चञ्चल है, फिर भी कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा यह वश मे किया जा सकता है ॥३५॥

जो असयमी लोग हैं, उनके द्वारा यह योग दुष्प्राप्य है, किन्तु जो संयमी हैं, प्रयत्नशील हैं, उनके द्वारा उपाय करने से सहज ही वश में किया जा सकता है, ऐसा मेरा मत है ॥३६॥

आलस, राग और असंयम ये ही तीन संसारी बंधन के कारण हैं। मनुष्य पुण्य करना नहीं चाहता किन्तु पुण्य का जो फल सुख है उसे भोगना चाहता है और पाप सदा करता रहता है, किन्तु पाप का जो फल दुख है उसे सहन करना नहीं चाहता। जीव काम करने से कतराता है। वह चाहता है, मैं केवल आलस्य में पड़ा रहूँ सोता रहूँ। शरीर को कष्ट न उठाना पड़े। ऐसे पुरुष परमार्थ पथ के पथिक नहीं बन सकते। वे तो यहीं इसी लोक में पुनः-पुनः जन्मते मरते और दुख उठाते रहेंगे।

संसार में हमें राग ही बाँधकर रखता है। सब से बड़ा राग विषयों के उपयोग का होता है। इन्द्रियों के विषयों में प्राणी इतना अधिक अनुरक्त हो जाता है, कि वह परलोक भी कोई वस्तु है, इसे भूल जाता है। आठों प्रहर वह विषयों को जुटाने की चिंता में ही लगा रहता है।

दूसरा राग इस शरीर में होता है। संसारी लोग अपने शरीर को ही सब कुछ समझते हैं। आत्मा परमात्मा जो भी कुछ है, यह शरीर ही है। अपना शरीर सुखी रहे, इसके लिये भले ही दूसरों को दुखी होना पड़े। प्राणी की आन्तरिक अभिलाषा रहती है, मैं कभी मरूँ नहीं। शरीर के राग में ऐसा तन्मय हो जाता है, कि मृत्यु को भूल ही जाता है। उसे यह सोचने का भी अवकाश नहीं रहता, कि कभी हमें मरना भी है। कोई कहता भी है—"कि लालाजी एक दिन मरना है।" तो वह तुरन्त कहता है—"मरें मेरे शत्रु कहने वाला मरे, मैं क्यों मरूँ।" उसे मृत्यु का नाम सुनने से भी चिड़ है, मृत्यु को वह सदा भुलाये रहता है। जितने भी पाप अनर्थ होते हैं, वे सब मृत्यु को ही भूलकर होते हैं। यदि प्राणी सदा सर्वदा मृत्यु का स्मरण रखे, तो उससे बहुत ही कम पाप होंगे, किन्तु मृत्यु तथा बुढ़ापा को

मनुष्य सदा भुलाये रहता है, इसीलिये कुष्ठी होने पर भी शरीर को प्राणी स्वेच्छा से छोड़ना नहीं चाहता।

तीसरा सब बड़ा राग कुटुम्ब परिवार तथा सुहृद और मित्रों का है। हाय! हमारा वह भाई हमसे बिछुड़ गया। परिवार के लोग चाहे पीड़ा ही पहुँचायें, किन्तु कैसे भी सही, अन्त में हैं तो अपने भाई ही। बन्धुओं का जो सहज स्नेहानुबन्ध है उसका त्यागना मुनियो के लिये भी दुर्लभ है।

चौथा राग स्त्री का पुरुष के प्रति तथा पुरुष का स्त्री के प्रति है। यह राग ऐसा दृढ़ है कि इसकी कोई दूसरी उपमा नहीं ब्रह्माजी ने इस जोड़ा की–मिथुन की–सृष्टि ही मोह बढ़ाने के लिये की है। स्त्री में पुरुष के प्रति और पुरुष में स्त्री के प्रति इतना अधिक राग न होता, तो यह संसार चलता ही नही। दोनों के हृदय में अशरीरी अनंग–बैठकर दोनों के मन को मथता रहता है, इसीलिये काम को मन्मथ कहा गया है।

पांचवा राग समाज का है। यह प्राणी सामाजिक जन्तु है। इसे चहल-पहल चाहिये, हँसी खेल को मन बहलाव को साथी चाहिये। अकेले रहने में इसे ऊब लगती है। इसीलिये कारागारों में जो बन्दी अपराध करते हैं, उन्हें दंड के रूप में एकान्त वास–काल कोठरी–दी जाती है। प्राणी जहाँ रहेगा, वहीं अपनी प्रकृति के अनुरूप समाज बना लेगा। यदि ये पाँच राग छूट जायें। शरीर के प्रतिप्रीति न होकर भगवान् के प्रति प्रेम हो जाय। हृदय में जन्ममरण का भय बना रहे। संसारी बन्धु-बान्धवों के प्रति ममता न हो। हृदय में कामवासना की अग्नि न दहक कर मन मन्मथ के विकार से रहित बना रहे और संसारी समाज के प्रति उदासीनता होकर एकान्त में सुखानुभूति हो

जाय, तो समझो यह व्यक्ति पुण्य परमार्थ पथ का पुनीत पथिक बन गया।

नित्य संयम के साथ अव्यग्रचित्त होकर निरालस्यभाव से परमार्थ साधनों का अभ्यास करता रहे और संसारी विषयों से विरक्त बना रहे ऐसा व्यक्ति अवश्य ही मुक्ति का-भगवद्धाम का अधिकारी बन जायगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने कहा—भगवन्! यह चित्त तो बड़ा ही चंचल है, इसे वश में करना अत्यन्त ही दुष्कर कर्म है, तो इस बात पर भगवान् ने अर्जुन को डाँटा-डपटा नहीं हँसकर उसकी बात का समर्थन करते हुए कहने लगे—हे कौन्तेय! तुम्हारा कथन सत्य है। जैसा तुमने मन को चंचल, प्रमाथी और महाबलवान् बताया है, यह मन ऐसा ही है। इसका निग्रह करना-इसे सर्वथा अपने वश में रखना-बहुत कठिन है। निः सन्देह यह अत्यन्त ही कठिनता से वश में होने वाला जन्तु है। यह काष्ठ की तथा पत्थर आदि जड़ पदार्थों की भाँति एक ही स्थान पर पड़ा रहने वाला नहीं है। चल है, चंचल है, चपल है तथा चारों ओर भागते रहने वाला है। ऐसा होने पर भी यह वश में किया जा सकता है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ऐसा महान् चंचल चित्त कैसे वश में किया जा सकता है? इसे वश में करने के कौन से उपाय हैं?"

भगवान् ने कहा—"इसे वश में करने के दो ही उपाय हैं।"

अर्जुन ने पूछा—वे दो कौन-कौन से उपाय हैं?

भगवान् ने कहा—"एक तो अभ्यास और दूसरा वैराग्य।"

अर्जुन ने पूछा—अभ्यास किसे कहते है?

भगवान् ने कहा—साध्य वस्तु की सिद्धि के निमित्त जो साधन किया जाता है, उस साधन को दीर्घकाल तक निरन्तर,

बिना अकुलाये श्रद्धापूर्वक बार-बार करते रहने का ही नाम अभ्यास है।

अर्जुन ने पूछा—"तो वह अभ्यास सब कुछ छोड़कर हठपूर्वक बिना विश्राम के निरन्तर करता ही रहे ?"

भगवान् ने कहा—"देखो भाई ! यह पथ ऐसा है, इसमें त्वरा करने से—हठ करने से—भी काम न चलेगा। इसमें तो दृढ़निष्ठा की आवश्यकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"दृढ़निष्ठा क्या ?"

भगवान् ने कहा—दृढ़निष्ठा यही कि जो मैंने श्रेय का मार्ग निश्चित कर लिया है, उसे करके ही मानूँगा। उसे धैर्य के साथ, विश्वास के साथ बिना व्यग्र हुए दृढ़तापूर्वक करते रहना चाहिये। मन में यह दृढ़ता रखे, कि अभ्यास के सम्मुख कोई भी कार्य असम्भव नहीं। देखो, सूत को, मूँज को अथवा अन्य तृणों को बटकर बनायी हुई रस्सी कितनी कोमल होती है। पत्थर कितना कठोर होता है, किन्तु बार-बार के अभ्यास से मृदुल रस्सी से भी पत्थर कट जाता है। अभ्यास के सम्मुख कठिन से कठिन कार्य सरल बन सकता है। इसलिये अभ्यास को क्रम-क्रम से बढ़ावे। अभ्यास काल में त्वरा न करे, हठ न करे, समय की चिन्ता न करे, अपने को अजर अमर मानकर ही अभ्यास करे। उसमें अन्तराय न आने दे। यह नहीं कि आज किया, दो दिन के लिये छोड़ दिया और जो साधन करे उसमें श्रद्धा विश्वास रखकर करे, कि मैं इस साधन में अवश्य ही सफल हो जाऊँगा। इस प्रकार के नित्य-नित्य के अभ्यास से चंचल, प्रमस्थिथा दृढ़ और बलवान् मन भी वश में किया जा सकेगा।

अर्जुन ने पूछा—वैराग्य किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—मन किसी रंग में रँगा हुआ हो, उस रंग

को धोकर स्वच्छ बनाने के साधन का नाम वैराग्य है। यह मन विषयों के संसर्ग से देखी हुई अनुभव की हुई तथा सुनी हुई बातों में रँग जाता है। उन्हीं के अनुरूप रंग इस पर चढ़ जाता है। उस रंग को विवेक द्वारा, साधु संग द्वारा, शास्त्रचिन्तन तथा अध्यात्म विद्या की प्राप्ति द्वारा धो डालने का ही नाम वैराग्य है। जिन असत् पदार्थों से मन का लगाव हो गया हो, उसे उनसे दूर हटा लेना ही विषय वितृष्णा या वैराग्य है। एक ओर तो परमार्थ साधनों में सतत जुटा रहे, दूसरी ओर देखे सुने तथा अनुभव किये हुए विषयों से मन को हटाता रहे, तो अभ्यास वैराग्य इन दो उपायों से मन वश में हो सकता है।

अर्जुन ने पूछा—"यदि मन को वश में करने के झंझट को छोड़कर साधन में ही लगा रहे तो कैसा है।"

भगवान् ने कहा—समस्त अनर्थों की जड़ तो यह चंचल मन ही है। मन ही बन्धन तथा मोक्ष में कारण है। जिन्होंने संयम साधनों द्वारा मन को वश में नहीं किया है, जो असंयतात्मा पुरुष हैं, उनको तो योग दुष्प्राप्य है। संयम ही तो मन की एकाग्रता में मूल कारण है। असयमी लोगों का मन एकाग्र हो ही नहीं सकता और जब तक मन एकाग्र नहीं हुआ तब तक सभी साधन व्यर्थ है। अतः प्रबल प्रयत्न पूर्वक मन को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"हम प्रयत्न तो करते है, किन्तु प्रारब्ध कर्म बीच में अन्तराय आ जाते हैं, हमारे प्रयत्नों को सफल नहीं होने देते ऐसी स्थिति में प्रयत्न करना—पुरुषार्थ करना—फिर व्यर्थ सा ही है।"

भगवान् ने कहा—किसी को अपने प्रारब्ध के लेख को पढ़ना तो नहीं आता। जो प्रारब्ध को पढ़ लेता है। भूत, भविष्य और

वर्तमान तीनों की बात जान लेता है, वह तो आप्तकाम त्रिकालज्ञ सिद्ध पुरुष ही है। उसके लिये तो पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता ही नहीं। वह तो जीवन्मुक्त ही है, वह तो प्रारब्धानुसार समस्त शरीर की चेष्टायें करता है। किन्तु जो त्रिकालज्ञ नहीं है। जो पूर्वजन्म के सुकृतों के द्वारा परमार्थ पथ का पथिक बनकर साधन में तत्पर हुआ है। उसे आगे क्या होगा इसका तो पूरा ज्ञान है नहीं। ऐसे साधक को साधन में चाहें जितने विघ्न आवें, उसे निराश नहीं होना चाहिये। वह यही सोचता रहे, इस विघ्न के पश्चात् मेरा मार्ग सुकर हो जायगा। विघ्न मेरा कर ही क्या सकेंगे, कितने भी विघ्न मेरे पथ में आकर रोड़ा अटकावें, मैं उन सबको पार करके अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ता ही जाऊँगा, बढ़ता ही जाऊँगा। ऐसा दृढ़ निश्चयी साधक इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, अगले जन्म में नहीं तो उससे अगले जन्म में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेगा। इस प्रकार साधनों द्वारा अपने मन को वश में करने का प्रयत्न करता हुआ साधक किसी न किसी दिन इस समता योग को प्राप्त कर ही लेगा। महाबाहो! अर्जुन! यही मेरा मत है।

देखो, जिनकी बाहु छोटी हैं, निर्बल हैं अर्थात् जो काम करने में कतराते हैं, आलस्य करते हैं, वे तो समता योग को प्राप्त कर नहीं सकते, किन्तु मेरी बूआ के बेटा अर्जुन! तेरी तो बाहु विशाल हैं, तू तो बड़ी-बड़ी बाहुओं वाला है। तू आलस्य मत कर साहस को न छोड़। निरन्तर पुरुषार्थ करता जा, करता जा। साधन में उत्साह पूर्वक प्रवृत्त हो जा। प्रयत्नशील पुरुष के लिये कुछ भी असंभव नहीं। पुरुषार्थ के सामने प्रारब्ध कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती। पुरुषार्थी सब कुछ कर सकता है, शास्त्र ने जिस कार्य को हेय या त्याज्य कहा है उधर पुरुषार्थ मत करो।

पुरुषार्थ शास्त्रीय कर्मों की ही ओर करो। वासनायें दो प्रकार की होती है, एक शुभ वासनायें दूसरी अशुभ वासनायें। वैसे तो दोनों ही वासनायें त्याज्य हैं, किन्तु शुभ वासनायें परमार्थ की ओर ले जाने वाली हैं। शुभ कार्यों को करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। जैसे यज्ञ, दान, तप आदि। पुरुषार्थ इन्हीं कार्यों के लिये करना चाहिये। इन्हें करते-करते जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, तब इन्हें भी छोड़ देना चाहिये। और जिस बुद्धि से ग्रहण त्याग होता है, अन्त में उसे भी त्याग देना चाहिये। येन-त्यजासितत् त्यज। इसलिये योग की प्राप्ति प्रबल साधनों द्वारा होती है। साधनों में जुटा रहे, समय की ओर न देखे समय तो निरवधि है। इसका आदि नहीं अन्त नहीं। साधक नित्य यही ध्यान रखे मैंने आज ही साधन आरंभ किया है। नित्य नया उत्साह, नित्य नयी, स्फूर्ति नित्य नया पुरुषार्थ, नित्य नयी उमंग नित्य नया मनोबल ये ही सब बातें साधक को सिद्धि की ओर ले जाती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने बार-बार पुरुषार्थ पर बल दिया और प्रयत्न करने वाले साधक द्वारा ही योग प्राप्ति को सहज बताया तब अर्जुन के मन में जो एक शंका हुई, उसे अर्जुन जैसे पूछेगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मन कूँ वश में किये बिना होवै साधन नहिं।
मनमानी जो करै सिद्धि पावै साधक नहिं॥
निश्चित मेरो यही एक है मत तुम मानो।
मन वश कूँ अभ्यास और वैराग्यहि जानो॥
जतनशील नर के नहीं, कठिन जोग को पावनो।
करत-करत अभ्यास के, सहजहि बनै सुहावनो॥

योगभ्रष्ट साधक के सम्बन्ध में अर्जुन का प्रश्न

[१९]

अर्जुनउवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य,योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ३७, ३८, ३९ श्लो०)

छप्पय

अरजुन बोले—प्रभो ! एक शंका मन माहीं ।
कृपा करैं यदि आपु सकल शंका मिटि जाहीं ॥
साधक श्रद्धावान संयमी अधिक नहीं वो ।
अन्तकाल मन चलित भयो गति कौन लहै सो ॥
जोग सिद्धि पाई नहीं, अन्त देह को है गयो ।
साधन को का होयगो, श्रमता को निष्फल भयो ?

---

* इस पर अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! कोई यति तो है नहीं ।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ में कौन बड़ा है, यह प्रश्न सनातन है। प्रारब्ध को श्रेष्ठ मानने वाले कहते हैं—"तुम कितना भी पुरुषार्थ करो, होगा वही जो प्रारब्ध में लिखा होगा। सूर्य चन्द्र कितने तेजस्वी हैं। वे कितना भी पुरुषार्थ करें समय पर राहु उन्हें ग्रस ही लेगा। प्रबल पुरुषार्थ से भी वे उसके ग्रसने को नहीं मेट सकते। हाथी और सर्प बलवान तथा विषधर हैं, फिर भी वे बन्धन में पड़ ही जाते हैं। बड़े-बड़े बुद्धिमान भूखों मरते हैं, मूर्ख लोग राजा बन जाते हैं। इन्द्र के यहाँ किस बात की कमी है। संसार में सबसे नीति निपुण बृहस्पति जी जिनके मन्त्री सबसे श्रेष्ठ वज्र जिनका आयुध, उनकी सेना में अग्नि, वायु, कुबेर ऐसे सैनिक, ऐरावत जैसी सवारी, स्वर्ग जैसा किला और साक्षात् श्री विष्णु जिसके सहायक वामन भगवान जैसे उनके अधीन छोटे इन्द्र इतना सब होने पर भी समय-समय पर असुर उन्हें हराकर स्वर्ग का राज्य छीन लेते हैं। यदि पुरुषार्थ से दुःखों का निवारण हो सकता होता तो रामचन्द्र जी वन-वन में क्यों भटकते रहते, नल जैसे धर्मात्मा राजा पर ऐसी विपत्तियाँ क्यों आतीं। पांडव जैसे देव पुत्र मारे-मारे क्यों फिरते रहते। भीम

योग में जिसका मन भी चञ्चल हो गया है, उसे योग सिद्धि तो प्राप्त होगी नहीं, फिर वह किस गति को प्राप्त होगा ? ॥३७॥

हे महाबाहो ! वह क्या भगवत् प्राप्ति के मार्ग में विमूढ़ बना अप्रतिष्ठित व्यक्ति उभय भ्रष्ट होकर छिन्न-भिन्न बादलों की भाँति नष्ट तो नहीं हो जाता है ? ३८॥

हे कृष्ण ! आप ही मेरे इस संशय को जड़ मूल से नाश करने में समर्थ हैं; क्योंकि आप के अतिरिक्त इस संशय को जड़ मूल से नाश करने वाला और कोई मिलना सम्भव नहीं ॥३९॥

और अर्जुन जैसे बली भाई, गांडीव जैसा धनुष, श्री कृष्ण जैसे सुहृद फिर भी धर्मराज अनेक वर्षों तक दुखी बन कर वनों में कष्ट से निर्वाह करते रहे। इससे यही निष्कर्ष निकला कि पुरुषार्थ व्यर्थ है, सब कुछ प्रारब्ध ही है।

इसके विपरीत पुरुषार्थ वाले कहते हैं—"भाई यह बताओ प्रारब्ध आया कहाँ से ? हमने जो कर्म किये हैं—पुरुषार्थ किया है—उसी का प्रारब्ध बना है। उस प्रारब्ध को भी हम प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा नष्ट कर देंगे। समस्त कार्य उद्यम करने से—पुरुषार्थ करने से—ही सिद्ध होते हैं। बैठे-बैठे मन के मोदक खाते रहो, तो इससे पेट नहीं भरेगा। सिंह भी यदि पुरुषार्थ न करे तो वह भूखा ही मर जायगा। हिरन आ आकर उसके मुख में नहीं घुस जायेंगे कि लो मृगेन्द्र पशुओं के राजा हमें खाकर अपनी भूख बुझालो। जब तक वह हाथ पैर न पटकेगा, तब तक कार्य चलेगा नहीं। समस्त कार्य एक मात्र पुरुषार्थ द्वारा ही सम्पन्न होते है। जो आलसी हैं, कार्य करना नही चाहते वे ही प्रारब्ध की दुहाई देते हैं। प्रारब्ध के भरोसे हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहना नपुंसकों का कार्य है।" इसप्रकार प्रारब्ध वादी और पुरुषार्थ वादी दोनों ही अपने-अपने पक्ष को श्रेष्ठ बताने के तर्क उपस्थित करते हैं। इनमें किसका पक्ष श्रेष्ठ है?

हमारा कथन है, दोनों का ही कथन श्रेष्ठ है। अब आप पूछें कि वृक्ष बड़ा कि बीज बड़ा? हम कहें वृक्ष बड़ा जिससे बीज बनता है, तो आप कहेंगे कि वृक्ष बिना बीज के उत्पन्न ही कैसे होगा। अतः बीज बड़ा। तब हम कहेंगे, बीज बिना वृक्ष के आवेगा कहाँ से ? अतः वृक्ष बड़ा। यह विवाद की बात है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वृक्ष से बीज होता है, और बीज से वृक्ष बनता है। दोनों ही श्रेष्ठ हैं। ठीक यही बात

प्रारब्ध और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में है। पुरुषार्थ से ही प्रारब्ध बनता है और प्रारब्धानुसार ही पुरुषार्थ में प्रवृत्ति होती है। इसलिये जो सिद्ध हो गये हैं, त्रिकालदर्शी बन चुके हैं, उन्हें तो अपने शरीर का, शरीर सम्बन्धी समस्त कर्मों को प्रारब्ध के अधीन छोड़ देना चाहिये और जो त्रिकालज्ञ नहीं हुए हैं अभी साधक ही है, उन्हें पूरी शक्ति से निरालस्य होकर पुरुषार्थ में ही लगे रहना चाहिये। इस बात को नीचे के दृष्टान्त से समझना चाहिये।

एक महात्मा भिक्षा वृत्ति से निर्वाह करते हुए गंगा किनारे निवास करते थे। एक दूसरा महात्मा उनके समीप आया और बोला—महाराज कहाँ जा रहे हो ?

उन संन्यासी महात्मा ने कहा—'गाँव में भिक्षा माँगने जा रहा हूँ।"

आगन्तुक महात्मा ने कहा—मैं बताऊँ आपको आज भिक्षा में क्या मिलेगा ?"

संन्यासी महात्मा ने कहा—"अच्छा, बताओ।"

आगन्तुक महात्मा ने एक कागद पर इतनी रोटी, ऐसी दाल, कढ़ी, गुड़ ऐसी कई वस्तुएँ लिख दीं। महात्माजी भिक्षा लेकर लौटे कुटी में आकर उस सूची से मिलाया, तो सब वस्तुएँ ज्यों की त्यों ही मिल गयीं।"

महात्मा जी ने कहा—"भाई, तुम्हारी सूची तो यथार्थ मिल गयी। अच्छा, कल आना और बताना।" यह सुनकर वह आगन्तुक महात्मा अपने स्थान को चला गया।

वे संन्यासी महात्मा दूसरे दिन नित्यकर्मों से निवृत्त होकर अपनी कुटी में ध्यान करते रहे। अन्त में कई दिन के किसी विवाह में भुने चने रखे थे। उन्होंने उन चनों को चबाया, पानी

पीया और बाहर आकर चौकी पर बैठ गये। कुछ काल के अनन्तर वे महात्मा भी आये। इन संन्यासी महात्मा ने पूछा—बताओ, हमने क्या-क्या किया ? क्या-क्या खाया ?

तब उन्होंने कहा—"आप नित्य कर्म से निवृत्त होकर कुटी में आये। कुछ देर ध्यान किया, फिर थोड़े से चने चबाये। पानी पीकर यहाँ तख्त पर आ बैठे !"

इन स्वामी जी ने पूछा—"भाई, तुम्हारी बात तो सब सत्य है, अच्छा यह बताओ, तुम्हें यह सिद्धि कैसे मिली।"

उन महात्मा ने बताया—मेरा घर में मन नहीं लगता था, मैं घर से भागकर महात्माओं के पास घूमता रहा, किन्तु किसी भी महात्मा में मेरी श्रद्धा नहीं हुई। किसी न किसी में कुछ न कुछ दोष दीखता ही रहा। जब किसी में मेरी श्रद्धा नहीं हुई, तब एक दिन मैंने स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का चित्र देखा। उस पर मेरी श्रद्धा हुई। उसी चित्र को आगे रखकर मैं त्राटक करने लगा। ध्यान करने लगा। ध्यान करते-करते मुझे भूत भविष्य वर्तमान का सब ज्ञान हो गया। अब मैं सबके मन की बात जान लेता हूँ, कहीं भी घटना हो उसे ध्यान से देखने पर प्रत्यक्ष देख लेता हूँ। आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा, मैं पहिले ही लिखकर रख लेता हूँ। मुझे आगे क्या करना पड़ेगा इसका ज्ञान मुझे पहिले ही हो जाता है, इसी से मैं निर्भय होकर विचरता हूँ।

योग दर्शनकार ने भी समाधि सिद्धि के लिये लिखा है "यथाभिमत ध्यानत्वा।" जो तुम्हें अभिमत हो—अच्छा लगे—उसके ध्यान से भी समाधि की सिद्धि हो जाती है। ऐसे लोगों के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे तो पुरुषार्थ के हुए होने वाले और हो रहे फल को प्रत्यक्ष देख ही लेते

हैं, किन्तु जिनमें इतनी सामर्थ्य नहीं है, उन्हें प्रारब्ध के भरोसे न बैठकर पूरी शक्ति से पुरुषार्थ करना चाहिये आप पुरुषार्थ भी तो प्रारब्धानुसार ही करोगे। खोटी स्त्रियों के चरित्र को तथा पुरुष के प्रारब्ध को ब्रह्मा जी भी नहीं जानते, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या? अतः सिद्धों के लिये प्रारब्ध श्रेष्ठ है, और साधकों के लिये पुरुषार्थ श्रेष्ठ है. यह निर्णय हुआ आप दोनों में से जो हों उसे अपने लिये चुनलें।

अब रही पूर्व जन्म की बात। बिना पूर्व जन्म माने इस संसार की विषमता का कोई समाधान ही नहीं। उसी कक्षा को एक छात्र चार वर्ष में उत्तीर्ण नहीं करता, दूसरा उसी अध्यापक का उसी अवस्था का वैसा ही छात्र एक वर्ष में दो तीन-तीन कक्षाओं को उत्तीर्ण कर जाता है। इन सब कारणों से पूर्व जन्म कृत प्रयत्न के माने बिना काम चलेगा नहीं। अतः साधक को यह न समझना चाहिये कि साधन करते-करते हम बीच में ही मर गये, तो हमारा किया कराया साधन व्यर्थ ही जायगा। इसी शंका को अर्जुन भगवान् से पूछते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन ने भगवान् से शंका की—"प्रभो! एक साधक है, वह योग साधन के लिये श्रद्धा पूर्वक प्रयत्न कर रहा है। उसकी श्रद्धा में तो कोई कमी नहीं, किन्तु उसने कुछ काल ही साधन में पुरुषार्थ किया। अल्प प्रयत्न करने के अनन्तर प्रारब्ध वश संयम न होने के कारण वह योग से विचलित हो गया। योग भ्रष्ट बन गया, अथवा बीच में ही उसकी मृत्यु हो गयी तो उसको कौन-सी गति प्राप्त होगी? योग तो उसका सिद्ध हुआ नहीं। किसी अन्य कामना से उसने कर्म किया नहीं, तो क्या उसका प्रयत्न नष्ट हो जायगा?

भगवान् ने कहा—नष्ट होने की क्या बात है ? किया हुआ प्रयत्न तो कभी व्यर्थ जाता नहीं।

अर्जुन ने कहा—"बात यह है, कि प्रयत्न तो वह समाधि के लिये-भगवत् प्राप्ति के लिये कर रहा था, किन्तु बीच में ही ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में विमूढ़ बन गया, मोहग्रस्त हो गया अथवा दूसरे विघ्न आ गये। इससे वह अपने मार्ग में स्थिर नहीं रह सका, तो उसकी फिर कौन गति होगी। यदि उसने किसी कामना के संकल्प से वह कार्य किया होता, तो उसे उस कर्मानुसार स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती। यदि विघ्न न पड़ते-विमूढ़ न बन जाता तो उसे समाधि की प्राप्ति हो जाती। या भगवत् साक्षात्कार हो जाता। मुक्ति मिल जाती। किन्तु सो तो हुआ नहीं। तो क्या वह उभय भ्रष्ट तो नहीं हो जायगा ? न स्वर्ग ही मिला, न मोक्ष ही मिली। वह तो दोनों ओर से ही गया।"

भगवान् ने कहा—"इस बात को तुम किसी दूसरे ज्ञानी से पूछ लेना। अब तुम आगे का प्रसंग सुनो।"

अर्जुन ने कहा—"नहीं भगवन् आपको ही मेरे इस संदेह को दूर करना पड़ेगा। पहिले मेरी शंका को निःशेष हटाकर तभी आगे का प्रसंग चलाइये। आपके अतिरिक्त मुझे इस शंका का समाधान करने वाला, इसे जड़मूल से मेटने वाला कोई अन्य नहीं मिलेगा। अतः आपको ही मेरी इस शंका का समाधान करना पड़ेगा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् ने जिस प्रकार युक्तियों से अर्जुन की इस शंका का जो समाधान किया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

आप लोग इस परम पावन प्रसंग को प्रेम पूर्वक श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

नहीं कामना सहित स्वरग हित करम करे हैं।
करम करे निष्काम सिद्धि नहिँ मिली मरे हैं॥
ताकी का गति होहि स्वरग तो मिलिनों नाहीं।
करम कामना हीन जोग बिचलित है जाहीं॥
उभय भ्रष्ट तो होहि नहिँ, जो साधक निष्काम हैं।
होहि नष्ट धन धनहिँ तजि, माया मिली न राम है॥

कृष्णचन्द्र ! मन माहिँ उठी शंका यह भारी।
संशय होवै नष्ट कृपा यदि होहि तिहारी।
जा संशय के नाश हेतु समरथ तुम स्वामी।
घट घट में नित रहो सर्वगत अन्तरजामी॥
शरन लई तुमरी प्रभो ! सब तें नातो तोरिकें।
संशय छेदन करै को, स्वामी ! तुमकूँ छोरिकें॥

योगभ्रष्ट साधक पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म लेते हैं

[२०]

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ०, ४०, ४१ श्लोक)

छप्पय

कहन लगे भगवान - तात ! तव शंका सुन्दर ।
उभय लोक बनि जायँ करैं जो साधन सुखकर ॥
करैं करम निष्काम लोक परलोक बनावैं ।
भले चाहिँ मरि जायँ नहीं वे दुरगति पावैं ॥
पारथ सोचो तो सही, करै काज कल्यान हित ।
दुरगति तिनिकी होहि कस, मोमें जिनि को लग्यो चित ॥

---

* इस पर श्री भगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुष का तो न इस लोक मे और न परलोक मे ही विनाश होता है । भैया ! तुम निश्चय जानो कल्याण के लिये कार्य करने वाला कोई भी दुर्गति को प्राप्त नही होता ॥४०॥

ऐसा योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यलोकों को प्राप्त होकर वहाँ बहुत वर्षों तक वास करता है । फिर वह पवित्र श्रीमानों के घरों में उत्पन्न होता है ॥४१॥

पूर्व जन्म के जैसे संस्कार होते हैं, वैसा ही प्राणी अपने आप कार्य करने लगता है। पूर्वजन्मों में जीव जो-जो कर्म कर आया है, उन्हीं के संस्कार शेष रह जाने से वह बिना सिखाये ही उन कार्यों को करने लगता है। गौ का बच्चा पैदा होते ही माता के स्तनों को ढूंढ़ने लगता है, उसको यह बात किसने सिखा दी कि माता के स्तनों में कोई ऐसी वस्तु है, जिससे भूख की निवृत्ति हो सकती है। जब उसे स्तन मिल जाते है, तो वह माता के स्तनों में हुड्डु मारने लगता है, उसे यह बात किसने बतायी कि हुड्डु मारने से माता के स्तन में दुग्ध आ जाता है। जब स्तन दुग्ध से भर जाते हैं, तो वह दोनों जबड़ों से उन्हें चुसुर-चुसुर करके दबा कर दूध को मुख में लेता है, फिर मुख में ले जाकर निगलने लगता है। दबाने से दूध का निकलना और उसे गले से नीचे निगलना बछड़े को किसी ने सिखाया नहीं, अपने आप वह पूर्व जन्म के संस्कारों के वशीभूत होकर करता है।

बंदर का बच्चा पैदा होते ही अपनी माता के गले में चिपक जाता है, उसे चिपकना किसने सिखाया ? यही मेरी माँ है, इसके गले में चिपक कर मैं निरापद रहूँगा, ये संस्कार उसके पूर्व जन्म के हैं।

मछली के कछुओं को जल में ही रहना वही सोना कोई सिखाता नहीं। कछुआ की माता अपने अंडों को नदी के तट पर बालू में देती है, और मन से ही उन अंडों को सेती रहती है। उसके मानसिक ध्यान से ही वे अंडे पक जाते हैं, उनमें से अपने आप बच्चे निकल कर अपनी माता से आकर मिल जाते हैं। हमने तो यहाँ तक सुना है, कि कछुआ की माता ने अपने अंडे प्रयाग में दिये। उन्हें बालू में दबाकर वह हरिद्वार चली गयी। वहीं से

मन से उन्हें सेती रहती है। वे अंडे पककर फूट जाते हैं। उनमें से बच्चे निकल कर अपनी माँ को खोजते-खोजते हरिद्वार या जहाँ भी माँ होगी वहीं पहुँच जायंगे और अपनी माता से जाकर मिल जायंगे उन बच्चों को यह ज्ञान कहाँ से हुआ कि हमारी माता अमुक स्थान पर है और यही हमारी माता है। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है। जीव नाना योनियों में घूमता रहता है, उनके संस्कार शेष रह जाते हैं। कुत्ते के बच्चे जल में घुसते ही तैरने लगते हैं। इसी प्रकार जिन्होंने पहिले जन्मों में योग साधना की है और किसी कारण वश उसमें विघ्न आगया है, अथवा बीच में ही शरीरान्त हो गया है, तो उनकी दशा क्या होगी ? क्योंकि यदि सकाम भाव से उन्होंने साधन किया होता तो उनकी वह कामना पूरी हो जाती। साधन उसने निष्काम भाव से किया है, किन्तु वह पूरा हुआ नहीं, अधूरा ही रह गया है, तो वह कर्म न तो संसारी कामना को ही देने वाला होगा, न परलोक में ही उसका कुछ उपयोग होगा।" भगवान् कहते हैं—ऐसी बात नहीं। कैसा भी कर्म हो वह कभी विफल नहीं होता। योगभ्रष्ट होने के दो ही कारण हैं, पहिला तो यह कि साधन करते-करते किसी प्रारब्ध कर्मानुसार भोग वासना उत्पन्न हो जाय, जैसे सौभरि ऋषि को गृहस्थ बनने की वासना हो गयी थी। ध्रुवजी जो पूर्व जन्म में महान् तपस्वी थे, राजपुत्र को देख कर राजपुत्र बनने की वासना हो गयी थी। पहिला विघ्न तो यह हुआ। दूसरा विघ्न यह है कि योग साधन कर रहे हैं, साधना पूरी नहीं बीच में ही मृत्यु हो गयी। तो दोनों की दो गतियाँ होती हैं। जिन्हें बीच में भोगवासना उत्पन्न हो जाती है, वे पहिले तो शुभ कर्मों के फलस्वरूप दिव्य लोकों में जाकर दिव्य भोगों को भोगते हैं। कुछ पुण्य शेष रह जाने पर पवित्र श्रीमानों

के घर में उत्पन्न होते हैं। दूसरे जो साधन को अधूरा छोड़कर मर जाते हैं, वे योगियों के कुल में उत्पन्न होकर अपने शेष साधन को पूरा करते हैं। भोगवासना न होने से वे पुण्यलोकों में नहीं जाते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने योगभ्रष्ट साधक की क्या गति होती है वह उभयभ्रष्ट तो नहीं हो जाता, यह प्रश्न भगवान् से किया, तो भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"हे पार्थ! जो शुभ साधन करते-करते बीच में किसी कारण से योग से भ्रष्ट हो जाते हैं, उनके कर्म का नाश न तो इसी लोक में होता है और न परलोक में ही।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसा क्यों होता है भगवन्।

भगवान् ने कहा—"भाई! वे कोई निषिद्ध कर्म तो कर ही नहीं रहे थे, वे तो शास्त्रानुमोदित शास्त्र के ही अनुसार शुभ कार्य में लगे हुए थे, उत्तम साधन में संलग्न थे। बीच में जीव के स्वभावानुसार प्रारब्धवश भोगेच्छा उत्पन्न हो गयी, तो साधारण आदमी को साधारण भोग मिलते है उत्तम अधिकारी को उत्तम भोग मिलते हैं। जो उत्तम कार्य करने वाला है ऐसे पुरुष की कभी दुर्गति नहीं होती।

अर्जुन ने पूछा—ऐसे लोगों की क्या गति होती है?

भगवान् ने कहा—जिनके मन में भोग वासना का प्रादुर्भाव हो जाता है, ऐसे लोग मरकर पहिले तो पुण्य लोकों में जाकर मन-माने दिव्य भोगों का भोग करते हैं, फिर कुछ पुण्य शेष रह जाने पर भोग वासना होने पर पवित्र श्रीमानों चक्रवर्ती राजाओं जैसे जनक अजात शत्रु आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ वे राजसी भोगों को भी भोगते हैं और योग साधन में भी लगे रहते हैं। इस प्रकार न उनका यह लोक ही बिगड़ता है न पर-

लोक ही। हाँ कुछ समय का अन्तराय अवश्य हो जाता है, सो कोई बात नहीं, काल तो निरवधि है, फिर प्रारब्ध कर्मों का तो बिना भोग के क्षय होता ही नहीं। ध्रुव को ६ महीने की तपस्या से ही भगवान् के दर्शन हो गये। भगवत् साक्षात्कार होने अनन्तर भी प्रारब्ध कर्मानुसार उन्हें ३६ हजार वर्षों तक पृथ्वी पर राज्य करना पड़ा और अब तक भी वे सप्तर्षियों के लोकों से भी ऊपर अपने ध्रुव लोक में पुण्यों का उपभोग कर रहे हैं।

अर्जुन ने पूछा—जिनकी भोग वासनायें प्रादुर्भूत नहीं हुई हैं, किन्तु साधन अधूरा रह गया है, और बीच में ही मृत्यु हो गयी है, उनकी क्या दशा होगी ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् ने उत्तर दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

योग-भ्रष्ट ह्वै जायँ नसै नहिँ इस्मृति तिनकी।
सद्गति होवै अवसि नहीं दुरगति है उनकी॥
तनतैं शुभ अरु अशुभ करम विनु जानें होवैं।
भोगें सुख तैं स्वरग नहीं साधन सब खोवैं॥
जनम लेहिँ शुचि वंश में, श्री माननि के घरनि में।
योग भ्रष्ट उत्तम पुरुष, लगि जावैं शुभ करम में॥

पवित्र कुल में जन्म परम पुण्यात्मा पुरुषों का ही होता है

[२१]

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥*

(श्री० भग० गी० ६ अ० ४२, ४३ श्लो०)

छप्पय

अथवा जोगिनि वंश माहिँ पुनि जनमें साधक ।
जोगभ्रष्ट बनि जायँ जनम नहिँ होवै बाधक ॥
ज्ञानवान विद्वान सदा साधन महँ तत्पर ।
ऐसे कुल में जनमि जोग नित करैं निरन्तर ॥
शुचि श्रीमाननि गेह में, जोगिनि के शुभ वंश में ।
दुरलभ लैनों जनम अति, मेरे ही तिनि अंश में ॥

---

* अथवा ज्ञानियों के कुल मे उत्पन्न होता है । इस संसार मे ऐसे कुलों में जन्म लेना ही बहुत दुर्लभ है ॥४२॥

हे कुरुनन्दन ! वहाँ जन्म लेकर वह पूर्व जन्म में किये हुए साधन के द्वारा सयोगवश पूर्व बुद्धि को प्राप्त करता है । उसी के प्रभाव से वह फिर सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है ॥४३॥

परमार्थ साधन में धैर्य की प्रधानता है। परमार्थ पथ के पथिक को कभी धैर्य को न खोना चाहिये। उसे इस बात का दृढ़ विश्वास रखना चाहिये, कि निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर मैं एक न एक दिन अवश्य ही अपनी साध्य वस्तु को प्राप्त कर लूंगा। साधनों में विघ्नों का आना स्वाभाविक है। जो निम्न-स्तर के लोग होते हैं, वे विघ्नों के भय से साधन को आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम पुरुष आरम्भ तो कर देते हैं, किन्तु विघ्न आने पर साधन को छोड़ देते हैं, किन्तु उत्तम पुरुष वे हैं, कि चाहे जितने भी विघ्न क्यों न आवें, जिस साधन को आरम्भ कर दिया है, उसे कभी छोड़ते नहीं। जन्म-जन्मान्तरों तक उसी साधनमें धैर्य के साथ लगे ही रहते हैं।

साधन में विघ्न प्रायः काम, क्रोध तथा लोभ मोह के ही कारण हुआ करते हैं। राजर्षि भरत उग्र साधन कर रहे थे। अदृष्ट के कारण उनका हिरन के बच्चे में मोह हो गया। दो जन्म और लेने पड़े। हिरन का ध्यान करते-करते शरीर त्यागा इससे हिरन हुए और अन्त में विशुद्ध ब्राह्मण वंश में पैदा हुए। इनके कुल का वर्णन करते हुए बताया गया है, कि ये आङ्गिरस गोत्र में उत्पन्न हुए थे, इनके पिता शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग, सन्तोष तितिक्षा, विनय, विद्या, अनसूया तथा आनन्दादि सभी सद्गुणों से सम्पन्न थे। ऐसे कुल में जन्म बड़े भाग्य से मिलता है।

इन्हें मरकर पुण्यलोकों में भोग भोगने के लिये नहीं जाना पड़ा, और न चक्रवर्ती राजा आदि पवित्र श्रीमानों के ही यहाँ जन्म लेना पड़ा। क्योंकि ये तो पहिले स्वयं ही सम्राट् रह चुके थे। सम्राट् के सुखों को ही तो छोड़ वन में आकर तपस्या करने लगे थे। मृग के शावक का अन्तराय न होता, तो ये निष्काम

कर्मयोग भगवद् आराधना के प्रभाव से-प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म करने से-उसी जन्म में मुक्त हो सकते थे। क्योंकि विवेक वैराग्य त्याग तो इनमें था ही भगवान् के चरणों में श्रद्धाभक्ति भी थी और भोगवासनायें भी निवृत्त हो चुकी थीं। केवल कोई प्रारब्ध कर्म शेष रह गया था, वह हिरन बनकर आ गया, इसलिये उस प्रारब्ध भोग की समाप्ति के लिये इन्हें हिरन बनना पड़ा। फिर भी जातिस्मरण हुए पुरानी सब बातें हिरन शरीर में भी स्मरण रहीं। इन्होंने उस पशु शरीर में भी घोर पश्चात्ताप करके उस प्रारब्ध कर्म का भी नाश कर दिया। तपस्या इस शरीर में भी करते रहे। किसी जीव को हिंसा न हो, इसलिये हरी पत्ती भी न खाकर पेड से अपने आप गिरे सूखे पत्ते खाकर निर्वाह करने लगे। पैदा हुए कालिंजर में (चित्रकूट के समीप) और तपस्या करने भागकर अपनी पुरानी तपस्थली गंडकी के किनारे पुलहाश्रम में पहुँच गये। वहाँ गंडकी में भगवन्नामों का उच्चारण करते हुए शरीर त्याग दिया। बुद्धिमान् योगियों के कुल में जन्म लेकर विमुक्त बन गये।

इसके विपरीत एक बड़े भारी ब्राह्मण तपस्वी वन में तपस्या कर रहे थे, वे महान् तपस्वी थे, दरिद्र ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे, कभी संसारी भोगों को भोगा नहीं। मनोज्ञ सुंदर स्वरूपवान स्त्री पुरुषों से संसर्ग रखा नहीं। निरन्तर तपस्या करते-करते कड़वे कसैले वन के फलों को खाते-खाते समय बिताया। प्रारब्धवश एक समय कोई अत्यंत ही स्वरूपवान, परम कोमल सुशील राजकुमार, बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत हुआ। उन वन में मृगया के निमित्त आ गया। तपस्वी को देखकर उसको बड़ी श्रद्धा हुई। उसने तपस्वी को साष्टांग प्रणाम किया—और अत्यन्त ही नम्रता से हाथ जोड़े खड़ा हो गया। एक तो राजपुत्र और फिर अत्यन्त

ही स्वरूपवान, समस्त सद्गुणों से युक्त वस्त्राभूषणों से अलंकृत ऐसे राजकुमार को देखकर तपस्वी मुग्ध हो गया। सोचने लगा—"हाय ! मैंने अपनी सम्पूर्ण आयु तपस्या में ही बिता दी, मैंने कभी संसारी भोग नहीं भोगे।"

राजकुमार के प्रति उनका चित्त अत्यन्त ही आकर्षित हो गया, उसके संग से वे ही तपस्या के फलस्वरूप दिव्यलोकों के सुख भोगकर अन्त में परम पवित्र महान् श्रीमान सम्राट् उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव बनकर उत्पन्न हुए। पूर्वजन्म की तपस्या के प्रभाव से, जिन भगवान् के दर्शन अनन्त जन्मों में नहीं होते, उनके दर्शन इन्हें केवल ६ महीने में ही हो गये। भगवान् के दर्शन हो जाने पर भी इन्होंने प्रारब्ध कर्मानुसार मुक्तिदाता विष्णु से मुक्ति न माँगकर भोग ही माँगे। अतः ३६ सहस्र वर्ष तक तो उन्होंने पृथ्वी पर राज्य करके यहाँ के सुखों का उपभोग किया और अब सप्तर्षियों से भी ऊपर दिव्य ध्रुवधाम में स्वर्गीय सुखों का उपभोग कर रहे हैं, अन्त में मुक्त हो ही जायँगे।

महाराज बलि स्वर्ग में सर्वस्व दान करने के प्रभाव से महान् दानी तथा सैकड़ों यज्ञ करने वाले सम्राट हुए। पिछले कर्मों के कारण असुर वंश में हुए। असुर होते हुए भी दान, यज्ञ आदि सत्कर्मों के प्रभाव से भगवान् के चरणारविन्दों में इनकी भक्ति हुई, इन्होंने अपना सर्वस्व श्री भगवान् को अर्पण कर दिया, इनकी इन्द्र बनने की वासना थी, अतः आजकल सुतललोक में स्वर्ग से भी अधिक भोगों को वहाँ रहकर भोग रहे हैं। अगले मन्वन्तर में इस इन्द्र के पश्चात् वे ही इन्द्र बनेंगे। इन्द्र बनने की वासना की पूर्ति होने पर ये मुक्त हो जायँगे। सभी इन्द्र मुक्त हो जाते हों, सो बात नहीं। बहुत से इन्द्र तो इन्द्र पद से हटकर चींटा आदि कीट हो जाते हैं।

तपस्या सद्गुण सत्कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाते भगवत्भक्त के मन में पहिले तो संसारी वासना उठती नहीं। प्रारब्ध कर्मानुसार कभी कोई वासना उठ ही आई, तो भगवान् भोग द्वारा उस वासना को निवृत्त करा देते है। महर्षि सौभरि को मीन के संग को देखकर विवाह करने की वासना हो आई। भगवान् ने ५० विवाह कराके इस वासना को समाप्त कर दिया और अन्त में उन पचास पत्नियों सहित मुक्त हो गये।

अजामिल भी पूर्वजन्म में महान् तपस्वी थे, इतनी उग्र तपस्या करते थे, कि हिमवत जल में खड़े-खड़े जप करने से मूर्छित हो गये। किसी ऋषि कन्या ने अपने अंगों में लिपटा कर अग की उष्णता से उन्हें चैतन्य किया किन्तु प्रारब्धवश उन्होंने तपस्या के अभिमान के कारण क्रोध आ गया। उसे शाप दे दिया—"तू वेश्या हो जा।" वह भी तपस्विनी थी हवन करते हाथ जलता देखकर उसने भी शाप दिया—"तू सदाचारी ब्राह्मण होने पर भी मुझ वेश्या के पीछे अपना सर्वस्व त्याग कर मेरे पीछे पीछे फिरेगा।" अजामिल जन्म से ही वेश्यागामी नहीं था। उसके सद्गुणों को बताते हुए यमदूतों ने वर्णन किया है—"यह अजामिल शील, सदाचार सद्गुणों की खान था, ब्रह्मचारी, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, मन्त्रवेत्ता तथा पवित्र था। नित्य गुरु, अग्नि, अतिथि तथा वृद्ध पुरुषों की सेवा किया करता था। अहंकार तो इसे छू भी नहीं गया था। यह सब प्राणियों पर दया करने वाला, उपकारी, विनम्र, वाणी का संयम करने वाला, तथा किसी की असूया करने वाला नहीं था।"

ये सद्गुण उसकी पूर्वजन्मों की तपस्या के फलस्वरूप थे। अभिमानवश जो क्रोध आ गया, वही तपस्या में विघ्न पड़ गया।

पुत्र के मिस भगवान् नारायण के निरन्तर नाम लेने से प्रायश्चित्त हो गया और वह संसार सागर से विमुक्त हो गया।

अतः साधक को बड़ी सावधानी से काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर इन दुर्गुणों से बचकर साधन में लगे ही रहना चाहिये। बहुत सावधानी रखने पर भी प्रारब्धवश ये विघ्न आ ही जायँ तो साधन से विचलित नहीं होना चाहिये। ये साधन कुछ समय का अन्तराय भले ही उपस्थित करदें। साधक का कुछ अनिष्ट नहीं कर सकते।

कुछ साधक तो भोगवासना शेष रहने के कारण योगभ्रष्ट होने पर पुण्यलोकों के भोगों को बहुत दिनों तक भोगने के अनन्तर पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म लेकर फिर जहाँ से साधन छूटा था, वहीं से पुनः आरम्भ कर देते हैं।

दूसरे ऐसे होते हैं, जिन्हें भोगवासना तो हैं नहीं, किसी कारण वश विघ्न हो गया है, तो वे पुण्यलोकों में नहीं जाते, तत्काल बुद्धिमान साधन सम्पन्न योगियों के कुल में उत्पन्न हो जाते हैं, वहाँ जाकर ध्यान, धारणा समाधि में जहाँ से छूटे होंगे, वहाँ से साधन आरम्भ करके मुक्त हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने भोगवासना शेष योग भ्रष्टों की गति का वर्णन पीछे किया, अब अर्जुन को यह बता रहे हैं कि जिनके अन्तःकरण में भोगवासनायें तो हैं नहीं, किसी कारण विशेष से उनके साधन में विघ्न पड़ गया। उनका शरीर छूट गया तो उनकी क्या गति होती है।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन! उन योगभ्रष्टों का जन्म परम पवित्र परम बुद्धिमान योगियों के कुल में होगा।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! परम पवित्र योगी तो निर्धन

होते हैं, इन धनहीनों के यहाँ इतने भारी साधक को क्या सुख मिलता होगा ?"

यह सुनकर भगवान् हंस पड़े और बोले—अर्जुन ! सुख धन में ही है क्या ? धन से संसारी भोग भले ही मिल जायं वैसे धन से दुःख ही दुःख है। धन में १५ दोष हैं। संसार में धन से कोई सुखी नहीं हुआ है, फिर चाहे वह सप्तद्वीपा वसुमती का सम्राट् अथवा तीनों लोकों का स्वामी इन्द्र ही क्यों न हो। जिनके मन में छिपी हुई भोग वासना है, वे तो धनिकों के यहाँ जन्म लेना चाहते हैं, किन्तु जिनकी भोगवासना क्षीण हो गयी है और किसी कारण वश मुक्त नहीं हो सके है, साधन करते-करते बीच में विघ्न आ गये हैं, तो वे तो परम पवित्र महान् बुद्धिमान योगियों के ही कुल में जन्म लेने में अपना अहोभाग्य समझेंगे, क्योंकि ऐसे कुल में जन्म लेना अत्यन्त ही दुर्लभ है। बड़े भाग्य से पूर्व जन्म के महान् सुकृतों से ऐसे कुलों में जन्म मिलता है।"

अर्जुन ने पूछा—,,ऐसे कुलों में जन्म लेने का इतना भारी महत्त्व क्यों है ? वहाँ जन्म लेकर वे क्या करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे कोई मनुष्य किसी ग्रन्थ को पढ़ रहा है। आधा पढ़ते-पढ़ते उसे निद्रा आ गयी, तो दूसरे दिन जाग कर वह ग्रन्थ को फिर से आरम्भ से नहीं पढ़ता। पहिली रात्रि में जहाँ तक पढ़ गया हो, दूसरे दिन उससे आगे ही पढ़ने लगेगा। मृत्यु भी एक प्रकार की निद्रा ही है। इसलिये मृत्यु के पश्चात् दूसरा जन्म लेने पर जहाँ से साधन छोड़ा है, वहाँ से आगे का साधन सम्पादन करने में जुट जायगा।

अर्जुन ने पूछा—ऐसा किस कारण से होता है ?

भगवान् ने कहा—हे कुरुनन्दन ! पूर्व जन्मोपार्जित बुद्धि का

उसे सहारा मिल जाता है। इसीलिये जहाँ तक का मार्ग पूर्व जन्म में तै कर आया है, वहाँ से पुनः यात्रा आरम्भ करके वह सिद्धि की चरम सीमा तक पहुँच जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये वह पुनः नये जन्म में नये उत्साह और नयी उमंग के सहित पुनः मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न शील बन जाता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब भगवान् ने कहा—वह दूसरे जन्म में पुनः अभ्यास ही करने लगता है, तब अर्जुन ने पूछा—दूसरे जन्म में वह सब संसारी लोगों की भाँति संसारी भोगों में ही प्रवृत्त क्यों नहीं होता, वह आरम्भ से ही योग साधन में क्यों प्रवृत्त हो जाता है।" इसका उत्तर जो भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जितनो पढ़ि कें ग्रन्थ राति में ज्यों सो जावैं।
उठे प्रात पुनि आगे के में ध्यान लगावैं॥
त्यों वे साधक पूर्व जन्मकृत साधन सुमिरन।
करैं बुद्धि तैं यादि योग पुनि करैं आचरन॥
करैं जतन फिरि सिद्धि हित, पहिले तैं बढ़िकें अधिक।
साधन में नित ही निरत, ढील करैं नहि वे तनिक॥

साधक को सिद्धि अनेक जन्मों में होती है

[२२]

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥*

(श्रीभ० गी० ६ अ० ४४, ४५ श्लो०)

छप्पय

जैसे बालक स्वतः दूध माता को निगले ।
जैसी खावै वस्तु स्वाँस वैसी ही उगले ॥
पूर्वदेह संस्कार धनी होवै वा जोगी ।
वरवश साधन करै भूलि नहिं होवै भोगी ॥
जोगी की तो बात का, साधक होवै जोग को ।
शब्द ब्रह्म हू तें बढ़ै, जतन ब्रह्म-संयोग को ॥

---

* वह अवश होने पर भी पूर्वाभ्यास के द्वारा परमार्थ साधन की ओर से आकर्षित होता है, क्योंकि योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म को उल्लंघन कर जाता है ॥४४॥

प्रयत्न से अभ्यास करने वाला योगी जो अनेक जन्मों के प्रयत्न से सिद्धि प्राप्त कर चुका है और जो निष्पाप बन गया है । उस साधन के प्रभाव से परम गति को प्राप्त होता है ॥४५॥

यह शरीर क्षेत्र के सदृश है, जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है। इस क्षेत्र को पहिले परमार्थ साधन के योग्य बनाया जाता है। जैसे जिस क्षेत्र में किसान परिश्रम नहीं करता हल नहीं चलाता, उसके कंकण पत्थर, खपड़ा निकाल कर नहीं फेंकता, तब तक उसमें बीज नहीं जमता। जब एक बार अत्यत परिश्रम से खेत को शुद्ध बना लिया जाता है, उसकी सभी अलाइ-बलाइ-सलाइ निकाल कर बारम्बार उसमें हल चलाकर उसे इतना पोला बना लिया जाता है, कि ऊपर से कच्चे घड़े को छोड़ दो, तो कच्चा घड़ा फूटे नहीं। तब समझना चाहिये यह खेत बीज बोने योग्य हो गया। ऐसे बने हुए खेत में अगले वर्ष अधिक श्रम नहीं करना पड़ता। अगले वष उसमें और भी अधिक अच्छी खेती उपजती है। उसकी पैदावार बढ़ती ही जाती है।

यही दशा इस शरीर को है। एक कम चौरासी लाख योनियो में यह जीव भोगों को ही भोगता आ रहा है। परमार्थ के लिये इसने प्रबल प्रयत्न नहीं किये हैं। उन कर्मों के स्वरूप मनुष्य देह में आने पर भी इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, दर्प, अभिमान, दुर्वचन तथा अज्ञान आदि झाड़ झंकार, कटीले वृक्ष पैदा होकर शरीर रूपी क्षेत्र को बीज के अयोग्य बना देते है। जब संयम सदाचार द्वारा अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दया, अलोलुपता, कोमलता, लज्जा, ह्री, श्री आदि सद्गुणा से इस क्षेत्र को परिष्कृत करके योग रूपी बीज बोया जाता है, तब मोक्ष रूपी उत्तम फल लग जाता है। जब तक यह शरीर निष्पाप, निर्मल क्षीण कल्मष न बन जायगा, तब तक परमार्थ साधन होना कठिन है। परमार्थ साधन भी संसार में लोग तीन प्रकार से करते हुए देखे जाते हैं। एक तो वे सच्चे सेवक हैं, जो बिना किसी दिखावट के अपनी इन्द्रियों को

वश में करके संयम सदाचार द्वारा परमार्थ पथ की ओर अग्रसर होते हैं, वे इन्द्रियों और मनको वश में करके कठोर साधना द्वारा परम पद के अधिकारी होते हैं।

दूसरे अजितेन्द्रिय पुरुष भी साधन करते हैं। इन्द्रियाँ वश में न होने के कारण वे साधन तो सब वैसे ही करते हैं, किन्तु उनका साधन खाने-कमाने का एक व्यापार सा बन जाता है, वे भोगेच्छा के कारण इन्हीं लोकों में अटके रह जाते हैं।

तीसरे दम्भी भी साधन करते देखे गये हैं। दम्भ से यज्ञ, दान, जप, तप, पूजा-पाठ आदि सब करते हैं। उनको इन साधनों में श्रद्धा नहीं। किन्तु लोग साधकों का सम्मान करते है उनको द्रव्य देते हैं। बस, वे लोग धन मान सम्मान के निमित्त साधनों की ऊपर से दम्भपूर्वक नकल करके लोगों को रिझाते हैं। जब उनका दम्भ खुल गया, तो उन्हें कुछ भी नहीं प्राप्ति होती। यदि दम्भ न खुला कोई आँख का अंधा, गाँठ का पूरा फँस गया तो उनको धन मानादि की आय हो जाती है। अजितेन्द्रिय पुरुष तो प्रयत्न करने पर सुधर भी सकता है, किन्तु दम्भी का सुधार कठिन है, असम्भव है। उनके ये दम्भ साधन परमार्थ में किसी काम नहीं आते।

जिनका शरीर क्षीण कल्मष-निष्पाप बन गया है, उनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति परमार्थ पथ में हो जाती है, क्योंकि जीव शाश्वती शान्ति के ही लिये इधर-उधर भटकता फिरता है। संसारी विषयों का सेवन भी जीव सुख के निमित्त-शान्ति के ही लिये-करते हैं, किन्तु विषय भोगों में शान्ति कहाँ? वहाँ तो अधिकाधिक अशान्ति ही अशान्ति है। जिसके पाप कट गये हैं, जिसे संसार की निस्सारता का ज्ञान हो चुका है, विवेक वैराग्य द्वारा विषयों से जो उदासीन हो चुका है, ऐसा साधक परमार्थ

के लिये प्रयत्नशील होता है। बीच में प्रारब्ध कर्मानुसार बहुत से विघ्न आते हैं, किन्तु वे विघ्न उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते—उसे परमार्थ पथ से विचलित नहीं कर सकते।

साधन करते-करते यदि भोगवासना उत्पन्न हो गयी, तो कुछ काल वह भले ही साधन से च्युत हो जाय, किन्तु वह तो साधन का सुख अनुभव कर चुका है। परमार्थ फल का रसास्वादन कर चुका है, अतः योगभ्रष्ट होने पर भी उसके अन्तःकरण की स्वाभाविकी प्रवृत्ति परमार्थ की ही ओर होगी। दूसरे जन्मों में वह पश्चात्ताप द्वारा अपने विघ्नों का प्रायश्चित्त करके पुनः जहाँ से छोड़ा है वहीं से साधन आरम्भ कर देगा और देर-सबेर अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच ही जायगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से यह पूछा कि योगभ्रष्ट पुरुष जब श्रीमानों के पवित्र घरों में श्रीसम्पन्न सम्राट आदि होकर जन्म लेते हैं, तो वे अन्य साधारण मनुष्यों की भाँति विषय भोगों में फस क्यों नहीं जाते?" इस पर भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! योगभ्रष्ट पुरुष किसी प्रारब्ध कर्मानुसार योग से विचलित तो अवश्य हो गया है, किन्तु उसका खिंचाव तो परमार्थ की ही ओर बना रहता है। वह न चाहने पर भी परमार्थ की ही ओर बढेगा। क्योंकि वह पहिले ही परमार्थ पथ का अधिकारी बन चुका है। वह सर्वसाधारण पुरुषों की भाँति राज्यादि विषय भोगों की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। दूर क्यों जाते हो? यहीं महाभारत युद्ध में देखलो। दोनों ओर से लड़ने को करोड़ों मनुष्य एकत्रित हुए हैं। सब विजय के उत्सुक हैं, सब विजय के लिये प्रयत्नशील हैं। जो वैतनिक हैं वे अपने वेतन के लोभ से प्राणों तक को निछावर करने को तत्पर हैं। एक तुम हो जो कह रहे हो—"हे गोविन्द! राज्य में क्या रखा है, ये संसारी

भोग किस काम के, स्वजनों की हिंसा करके जीवन से भी क्या लाभ ? इससे तो घर-घर से भिक्षा के टुकड़ों पर ही निर्वाह करना श्रेयस्कर है।" ऐसी तुम्हारी प्रवृत्ति क्यों हुई क्योंकि तुम दैवी सम्पत्ति के अधिकारी हो। योगभ्रष्ट हो, तुम्हारी प्रवृत्ति स्वाभाविक ही परमार्थ की ओर है। युद्धादि जो कर्म तुम कर रहे हो, उन्हें संसारी भोगों की इच्छा से नहीं, स्वधर्म पालन के लिये अपने कर्तव्य को निभाने के लिये कर रहे हो। इसके विपरीत दुर्योधन का एकमात्र उद्देश्य राज्य प्राप्त करना ही है, क्योंकि वह आसुरी प्रकृति का है। जो परमार्थ पथ में बहुत बढ़ चुके हैं, दूसरे तीसरी मंजिलों को पार कर चुके हैं और तब भ्रष्ट हुए हैं, वे तो विघ्नों को पार करके दूसरे तीसरे जन्मों में पार हो ही जायेंगे, किन्तु जो अभी पहिली सीढ़ी पर ही चले थे, वे भी यदि योगभ्रष्ट हो जाते हैं, तो शब्द ब्रह्म को तो वे भी पार कर जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—शब्द ब्रह्म क्या ?

भगवान् ने कहा—ऋक्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ये त्रिगुणात्मक है। इनमें सकाम कर्मों का विशेष रूप से निरूपण है। अमुक वैदिक कर्मों को करोगे, तो अमुक फल मिलेगा। स्वर्ग की कामना से—ब्रह्मरूप वेद के शब्दों का तात्पर्य न समझकर उनकी फलश्रुति में ही फंसे रहने वाले—अर्थात् सकाम कर्मों को ही करते रहने वाले—पुरुष शब्द ब्रह्मवादी कहलाते हैं। वे भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक इन तीनों लोकों से आगे कभी नहीं बढ़ पाते। वेदोक्त सकाम कर्मों में लगे रहने से वे स्वर्ग तक चले आवेंगे, फिर पृथ्वी पर आकर जन्म लेंगे, फिर वेदोक्त यज्ञ यागादि करेंगे फिर स्वर्ग चले जायेंगे इन्हीं तीनों लोकों में आते जाते रहेंगे। क्योंकि उन्होंने वेद वाक्यों का यथार्थ अर्थ तो समझा नहीं।

फलश्रुति से मुग्ध होकर उसके शब्द जाल में ही फँसे रहते हैं। वे महर्लोक जनलोक और तप तथा सत्यलोकों में नहीं जा सकते।

इस योग मार्ग का जो अधिकारी ही बन गया है जिसने शम, दम, त्याग, तितिक्षा आदि सद्गुणों को प्राप्त करके संसारी विषयों से वैराग्य कर लिया है। कौन सी वस्तु नित्य है कौन अनित्य है। कौन उपादेय है कौन हेय है, ऐसा विचार करके परमार्थ पथ में अभी आगे नहीं बढ़ा केवल चलने का दृढ़ निश्चय भर कर लिया है, उसी को योग मार्ग का जिज्ञासु कहते है। ऐसा योग का जिज्ञासु उस शब्द ब्रह्मी से आगे बढ़ जाता है, वह भी महर्लोक जनलोक आदि का क्रम-क्रम से अधिकारी बनता जाता है। जो सदा गृहस्थ में ही रहता है ऐसा गृहस्थी कभी भी त्रिलोकी से आगे नहीं बढ़ता। महर्षि लोग इसका अपवाद हैं। वे गृहस्थ होते हुए भी महर्लोक में पहुँच जाते हैं। क्योंकि वे सकाम कर्मों से ऊपर उठ कर त्याग, विचार विवेक आदि करते रहते हैं। जनलोक में वे लोग जा सकेंगे जिन्होंने कभी भी गृहस्थ धर्म का पालन नहीं किया है, जो ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। गृहस्थ धर्मावलम्बी की उस लोक में गति नहीं। तप लोक में वे ही लोग जा सकेंगे, जिन्होंने गृहस्थ धर्म का परित्याग करके विषयों को विषवत्-वमन किये हुए अन्न की भाँति त्याग कर केवल तपस्या में ही मन लगाते हुए शरीर त्याग किया है। सत्य लोक में वे ही गृह त्यागी, संन्यासी वैरागी जा सकेंगे जिन्होंने विधिवत् सब वर्णाश्रमों को शास्त्रीय विधि से पालन करके-शास्त्र की आज्ञानुसार संन्यास ग्रहण किया है, किन्तु ज्ञान होने से पूर्व ही शरीर छूट गया है, तो वे ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी की वायु पर्यन्त रहकर ब्रह्मा जी के साथ मुक्त हो जायेंगे। योग के जिज्ञासु की गति भिन्न है। योग का जिज्ञासु होने मात्र से ही

वह शब्द ब्रह्मी-से ऊँचा उठ जाता है, उसकी गति को उल्लंघन कर जाता है। भले ही उसे कितने भी जन्म लेने पड़ें उसका पतन नहीं होता। इसलिये योग मार्ग सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। जिसका केवल जिज्ञासा करने वाला ही त्रिलोकी से पार हो जाता है।

अर्जुन ने पूछा—"योग का जिज्ञासु भी यदि शब्द ब्रह्मी की गति से ऊँचा उठ जाता है, तो उसे स्वर्गादि लोकों से ऊँचे महः जनः तप आदि लोकों में जाना पडता है क्या ?"

भगवान् ने कहा—योग का जिज्ञासु अधिकारी इन लोकों की नश्वरता को तो पहिले ही जान चुका है। वह तो योग के विषय में यत्नवान् होता है। जैसे यम नियम आसन का अभ्यास करते-करते शरीर छूट गया, तो दूसरे जन्म में आसन प्राणायाम प्रत्याहार तक प्रयत्न करेगा, फिर शरीर छूट गया, तो फिर धारणा को सिद्ध करेगा। यदि धारणा में भी सिद्धियों के चक्कर में न फंसा तो ध्यान समाधि तक पहुँच जायगा। उसके चाहे जितने भी जन्म हो जायं, वह अपने साधन के परिपाक पर्यन्त प्रयत्न ही करता रहेगा।

अर्जुन ने पूछा—जन्मों का व्यवधान पड़ने से उसके प्रयत्न में शिथिलता तो नहीं आ जायगी ?

भगवान् ने कहा—"तुम शिथिलता की बात कहते हो, जन्मों का व्यवधान होने से तो वह दूसरे जन्मों में उत्तरोत्तर और अधिक उत्साह से यत्न करेगा।"

अर्जुन ने पूछा—उसका इस प्रकार अधिक उत्साहित होने का कारण क्या है ?

भगवान् ने कहा—देखो, भैया, साधक को जो जन्म लेना पड़ता है, वह किसी पूर्व जन्म के पाप का ही परिणाम है, कोई वासना बीच में आकर अन्तराय बन जाती है। इसी से साधन

अधूरा ही छोड़कर फिर जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से पापों के अन्तराय के-नष्ट होने से-पापरूपी मल के धुल जाने से, उसका अन्तःकरण अधिकाधिक स्वच्छ बनता जाता है। अनेक जन्मों के साधन सम्बन्धी संस्कार और योग प्रयत्न रूपी परम पुण्य की वृद्धि होने से उसका उत्साह बढ़ता ही जाता है। फिर एक दिन उसे चरम शरीर-अन्तिम शरीर-प्राप्त हो जाता है। उसमें साधन की पराकाष्ठा करने से-साधनों का पूर्ण परिपाक होने के कारण वह परम गति को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वह अनेक जन्मों में प्रयत्न करने वाला साधक अन्त में परागति को प्राप्त कर लेता है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! तब तो यह योग मार्ग वर्णाश्रम धर्म मार्ग-कर्म मार्ग आदि समस्त मार्गों से श्रेष्ठ है?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह सुनकर भगवान् श्री कृष्ण-चन्द्र जी हंस पड़े और योग मार्ग की श्रेष्ठता को उन्होंने जिस प्रकार सिद्ध किया और योग मार्ग से भी बढ़कर भक्ति मार्ग को जैसे सर्वोच्च बताया उसका वर्णन मैं आगे करूंगा। इसे आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें।

छप्पय

योग-भ्रष्ट की कही पार्थ! गति तो तैं जैसी।
पावैं जैसे सिद्धि कहूँ गति तिनिकी तैसी॥
पाप-रहित निष्काम जोगि महँ जतन करत नित।
जनम अनेकनि धारि करत अभ्यास शुद्ध-चित॥
पावैं वे तत्काल गति, जन्मान्तर सतभाव तैं।
जनम मरन बन्धन छुटै, जोगी जोग प्रभाव तैं॥

योग की महत्ता और भक्तियोग की श्रेष्ठता में उपसंहार

[२३]

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥❀

(श्री म० गी० ६ अ० ४६, ४७ श्लोक)

छप्पय

जोग-मार्ग अति सुखद श्रेष्ठ सब ही साधन तैं।
जोगी उत्तम कह्यो अन्य विषयक साधक तैं॥
सब तपसिनि तैं श्रेष्ठ कह्यो जोगी बलशाली।
सब ज्ञानिनि तैं श्रेष्ठ जोग गति बड़ी निराली॥
कर्मकांडहू तैं अधिक, जोगी को सम्मान है।
जोगी तुम अरजुन बनो, सुखकर सरल विधान है॥

❀ तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है तथा वह ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है। योगी तो कर्मयोगियों से भी श्रेष्ठ है। इससे हे अर्जुन! तू योगी ही बन जा ॥४६॥

सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी है और मुझमें ही जिसकी अन्तरात्मा लगी है तथा श्रद्धापूर्वक मेरा ही भजन करता है, मेरी दृष्टि में वह योगी सभी योगियों से परम श्रेष्ठ है ॥४७॥

परम शान्ति के, मुक्तिलाभ करने के तथा प्रभु प्राप्ति के अनेकों उपाय हैं। भगवान् ने गीताजी में इन साधनों को यज्ञ संज्ञा दी है और उन्होंने द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, अष्टाङ्ग योग यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, व्रतयज्ञ तथा प्राणायाम यज्ञादि अनेक यज्ञों काअर्थात् योग का वर्णन किया है। यज्ञ कहो, पूजा कहो, योग कहो अथवा साधन कहो सब एक ही बात है। बहुत से साधन ऐसे होते हैं, जिनमें ईश्वर पर श्रद्धा करने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे सांख्य के अनुसार तत्त्वज्ञान से मुक्ति बताई गयी है। तत्वों का यथावत् ज्ञान हो जाने से मुक्ति हो जाती हैं, इसमें ईश्वर को चाहें मानों चाहे मत मानों। इसी प्रकार वर्णाश्रम धर्ममार्ग या या कर्म मार्ग है। आप जिस वर्ण के हों, जिस आश्रम में हों, अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार वेद शास्त्रोक्त कर्मों को करते जाओ आपको परमपद की प्राप्ति हो जायगी। अष्टांगयोग में भी ईश्वर के मानने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। योग के अंगों में जो पांच नियम हैं, उनमें एक नियम ईश्वर प्रणिधान अवश्य है, किन्तु आठ अंगों में से एक अंग का भी पंचमभाग है, उसके बिना भी काम चल सकता है। समाधि के कारणों में से "ईश्वर प्रणिधान" को भी एक कारण बताया है, किन्तु वह भी विकल्प से "ईश्वर प्रणिधानात् वा" अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि हो सकती है। सारांश यह हुआ कि समाधि के और भी बहुत उपाय हैं, उनमें एक ईश्वर प्रणिधान भी है। अर्थात् बिना ईश्वर प्रणिधान के भी समाधि हो सकती है। अतः इस मार्ग में भी ईश्वर की श्रद्धा के बिना काम चल सकेगा। इसी प्रकार तप योग में भी ईश्वर श्रद्धा की आवश्यकता नहीं, आप तपस्या करते-करते देहाभ्यास से ऊंचे उठ जाओ। सुख दुख, लाभ अलाभ, जय पराजय आदि द्वन्दों में समबुद्धि वाले बन जाओ। इससे

आपको स्वरूप प्राप्ति अथवा तत्वज्ञान की प्राप्ति हो जायगी। भगवान् ने गीता के छटे अध्याय में अष्टांगयोग पर बहुत अधिक बल दिया। जहाँ दोनों सेनायें युद्ध करने को तैयार खड़ी हैं, उस घोर रणक्षेत्र में भी भगवान् ने अर्जुन को आसन लगाने की, आसन कैसा हो, उस पर क्या-क्या बिछा हो, इन बातों की पूरी विधि बतायी। आहार, विहार का संयम, सोने जागने का प्रकार, संयम की विधि, ध्यान की विधि, प्राणायाम के प्रकार तथा समाधि सुख आदि के विषय में विस्तार से बताया। इन सब बातों का वर्णन यद्यपि किया तो है अत्यन्त संक्षेप में ही, किन्तु इतनी प्रांजल भाषा में किया है, कि योग के बड़े-बड़े ग्रन्थों का सम्पूर्ण सारातिसार आ गया है।

वास्तव में योगमार्ग है भी ऐसा ही। इसमें वर्णाश्रम का विरोध नहीं, किन्तु अपेक्षा भी नहीं। आप किसी भी वर्ण या आश्रम के हों, भले ही अनाश्रमी ही क्यों न हों, योगमार्ग द्वारा परमपद को प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर का विरोध नहीं, फिर भी ईश्वर मानने की योगमार्ग में अपेक्षा नहीं। आप बिना ईश्वर माने भी समाधि सुख का परमशान्ति का आनन्द उठा सकते हैं।

अष्टांगयोग सभी साधनों से सुगम है, सरल है, सर्वसाधन सम्पन्न है। इसमें सीढ़ी प्रति सीढ़ी चढ़ना पड़ता है, और उस-उस सीढ़ी के चढ़ने के अनन्तर जो सिद्धियाँ मिलती जाती हैं, इससे यह भी प्रतीत होता चलता है, कि हम साधनों में आगे बढ़ रहे हैं। यदि कोई सच्चा, कृपालु योग जानने वाला सद्गुरु मिल जाय और उसकी रेख देख में उसकी अधीनता में योग साधन किया जाय, तो परमपद की प्राप्ति निःसन्देह हो ही सकती है। परन्तु ऐसा पथ प्रदर्शक गुरु मिलना ही बड़ा दुर्लभ है और विशेषकर इस घोर कलिकाल में। इसीलिये त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ ऋषि मुनियों ने

कलिकाल में इस योगमार्ग को वर्जित किया है। जैसे कलिकाल में अश्वालम्भ, गवालम्भ, सन्यास, पल पैतृक तथा देवर से सुतोत्पत्ति वर्जित हैं, इस प्रकार आज्ञा के रूप में तो योग वर्जित नहीं है। वर्जित करने में उन्होंने विधि का प्रयोग नहीं किया, किन्तु उसकी कठिनता दुरूहता बतायी है, कि कलिकाल रूपी दावानल ने सभी साधनों को भस्मसात् कर दिया है। इसीलिये कलिकाल में योगी, सिद्ध, ज्ञानी सत्कर्म करने वाले लोग मिलते नहीं। इसीलिये कलियुग में योग तथा तप सिद्ध नहीं होते। कारण इन्द्रियों की वृत्ति अत्यन्त चंचल है, कलियुग पापों का स्थान है * किन्तु पूर्वजन्मों के सुकृतों के कारण किसी की योग में प्रवृत्ति हो जाय और उसे साधन की सभी सुविधायें प्राप्त हो जायें, तो इससे बढ़कर कोई दूसरा सुखकर मार्ग है ही नहीं। बस, इसमें एक ही बड़ा विघ्न है, पग-पग पर प्रत्यक्ष सिद्धियाँ मिलने लगता है। इन सिद्धियों का इतना ही उपयोग साधक करे, कि इन्हें अपनी सिद्धि का सूचक समझकर आगे बढ़ता जाय, तब तो ठीक है, किन्तु कदाचित् सिद्धियों के चक्कर में फँस गया, तो फिर पतन निश्चित है। वैसे सिद्धियाँ बहुत से लोगों को जन्म से ही होती है। पक्षियों को आकाश में उड़ने के लिये कोई साधन नहीं करना पड़ता, मछली, कछुओं को जल में सोने और भीतर रहने के लिये साधन नहीं करना पड़ता इनमें उड़ने की तथा सांस बन्द करके जल में रहने की सिद्धियाँ जन्मजात होती है। इसी प्रकार बहुत से योगभ्रष्ट साधक जन्मजात सिद्ध होते हैं, बहुत

---

* न सिद्धति कलौ योगो न सिद्धति कलौ तपः।
चञ्चलेन्द्रियवृत्तिः स्यात् कलि कल्मषजृम्भणात्।
अल्पायुः स्यात्तथा नृणां क्व हि योगमहोदयः॥
(काशीखंड)

सी औषधियाँ ऐसी होती हैं, जिनसे नवीन शरीर हो जाता है. उनका परों में लेप करने से आदमी आकाश में उड़ सकता है। तपस्या से भी वाक् सिद्धि आदि बहुत सी सिद्धियाँ स्वतः ही आ जाती हैं। मन्त्रों के जप से भी अनेक सिद्धियाँ आ जाती हैं। ये सभी सिद्धियाँ योग मार्ग के द्वारा सरलता से आ जाती है, अतः योगमार्ग में यदि सिद्धियों से बचकर चलता रहे, तो इससे बढ़ कर दूसरा मार्ग नहीं। परन्तु ये सिद्धियाँ इतनी आकर्षक होती हैं और योगमार्ग में ये प्रत्येक अवसर पर ऐसी उपस्थित हो जाती हैं, कि इनसे बचना बड़ा दुर्लभ हो जाता है।

सबसे पहिले तो यम नियमों की ही प्रतिष्ठा से सिद्धियाँ आने लगती है। अहिंसा की प्रतिष्ठा में आस-पास के सिंह-मृग परस्पर मे वैर त्याग देते है। सत्य की प्रतिष्ठा में वाक्सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार सब यमनियमों में सिद्धियाँ आती हैं। आसन प्राणायाम की सिद्धि होने पर शरीर का काया कल्प हो जाता है। सुंदरता ओज तेज बढ़ने लगता है। शरीर से सुगन्ध आने लगती है। मलमूत्र में दुर्गन्ध का नाम नहीं। मल को लोहे ने छुवादो तो सुवर्ण हो जाता है। ऐसे दिव्य शरीर को पुरुष और विशेषकर युवती स्त्रियाँ आलिंगन के लिये अत्यन्त लालायित रहती है। फिर धारणा की सिद्धियों के सम्बन्ध में तो पूछना ही क्या? उसमें तो साधक ईश्वर तुल्य हो जाता है, जो चाहे सो करले। नई सृष्टि करने की तक की सामर्थ्य आ जाती है। उसकी आज्ञा का कोई उलंघन नही कर सकता। जिस लोक में जाना चाहें उसी में जा सकता है, जब तक उनमें रहना चाहे रह सकता है। देवाङ्गनाओं के साथ स्वेच्छा से जैसा चाहें विहार कर सकता है। उसे शाप का भय नही होता, सामर्थ्य अमित हो जाती है। परन्तु इतनी शक्ति सामर्थ्य हो जाने पर भी—योग में आरूढ़ हो जाने पर भी

सिद्धियों के चक्कर में पड़कर योगी पतित हो जाते हैं। हाँ सिद्धियों के चक्कर में न पड़े तो उसका बेड़ा पार ही है। इसलिए भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति को बताया है—माता जी! यदि योगी का चित्त योग के द्वारा प्राप्त मायामयी अणिमादि सिद्धियों में नहीं फँस जाता, क्योंकि ये सिद्धियाँ योग के ही द्वारा प्राप्त हो सकती है। योग के अतिरिक्त इतनी दिव्य सिद्धियाँ अन्य किसी भी साधन से प्राप्त हो नही सकती। उन सिद्धियों के चक्कर में यदि योगी न पड़ जाय, तो उसे मेरा (भगवान् का) वह अविनाशी परमपद प्राप्त हो जाता है, जहाँ मृत्यु की दाल नही गलती जिस योगी को देखकर मृत्यु हँसती नहीं है। अर्थात् वह मृत्यु को तर जाता है।

इस प्रकार योग मार्ग परमश्रेष्ठ होने पर भी इसमें यही एक बड़ी कठिनाई है। यह कठिनाई कैसे दूर की जा सकती है? इसका एक मात्र उपाय यही है कि सब साधनों को ब्रह्मार्पण बुद्धि से करे, जो करे उसे श्री कृष्णार्पण करता चले, अपने में कर्तृत्व का अभिमान न आने दें। भगवान् में श्रद्धा रखकर मन को भगवान् में लगा दें, शरीर से भगवान् को ही प्रणाम करता रहे, संसार के किसी भी प्राणी का भक्त न होकर—भगवान् का ही भक्त बन जाय। जो भी साधन करे भगवत् अर्पण बुद्धि से करे तब तो न वह सिद्धियों के चक्कर में पड़ेगा और न उसका पतन ही होगा।

योगाभ्यास में परिश्रम भक्त और अभक्त का श्रम समान ही है, किन्तु भक्त उस छोटे बालक के समान है, जिसकी रेख-देख माता सदा सर्वदा करती रहती है। पल भर भी उसकी सुरति नहीं विसारती। जो केवल अपने साधन के ही बल पर संसार सागर को पार करना चाहते हैं। वे उस समर्थ बालक के समान

हैं, जिसकी माता विशेष परवाह नहीं करती। माँगने पर भोजन वस्त्र दे देती है। वह समझती है, यह तो समर्थ है, सब अपने पुरुषार्थ से ही पैदा कर लेगा।

इसलिये भगवान् के आश्रय पर रहने वाला, सब कुछ उन्हीं के निमित्त चेष्टा करने वाला योग साधक सबसे श्रेष्ठतम है, ऐसे भगवत् भक्त उत्तम साधक से बढ़कर कोई अन्य साधक नहीं हो सकता।

छटा अध्याय निष्काम कर्म योग अलिंग सन्यास से आरम्भ हुआ था। भगवान् ने संन्यासी वेष को महत्व नहीं दिया—उन्होंने आरम्भ ही यहाँ किया कि कर्मों के फल को न चाहते हुए जो कर्त्तव्य कर्मों को निरन्तर करता रहता है, वास्तव में तो वही संन्यासी है। जो कपड़े रगकर कर्मों को छोड़कर—गृहस्थ के जो अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म हैं उन्हें त्यागकर घर-घर से बनी बनायी रोटी माँगते फिरते हैं। बलिवैश्व देव के चक्कर से बचने को स्वय पाक नहीं करते, ऐसे वेष बनाने वाले तो सट्ट-पट्ट ही है। फिर भगवान् ने योग का अर्थ बताया कि योग का भी अर्थ संन्यास ही है। बिना संन्यास के—कर्म फल के—कोई संन्यासी हो ही नहीं सकता। इस प्रकार अध्याय को आरम्भ करके फिर संयम योग, ध्यान, धारणा सबका वर्णन करके उपसंहार इसी में किया, किन्तु योग तो सबसे श्रेष्ठ है ही, किन्तु भक्ति पूर्वक किया हुआ योग भगवत् अर्पण बुद्धि से किया हुआ योग, निष्काम भाव से किया हुआ कर्म योग सभी साधनों में श्रेष्ठतम है और उसका करने वाला श्रद्धालु भक्त कर्म योगी मेरे मत से युक्ततम है। श्रेष्ठाति श्रेष्ठ है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! योगी की महिमा बताते हुए भगवान् अर्जुन से कहने लगे—अर्जुन! जितने ही तपस्वी हैं।

तपस्या को ही अपना साधन मानते हैं, उन सबसे योगी अधिक है अर्थात श्रेष्ठ है।

अर्जुन ने पूछा—"तपस्वियों मे तो योगी श्रेष्ठ होगा ही। किन्तु ज्ञानियों मे श्रेष्ठ न होगा ?"

भगवान् ने कहा—हो सकता है, ऐसा ही हो, किन्तु मेरे मत से तो ज्ञानियों से भी विशेष योगी को माना गया है।

अर्जुन ने पूछा—वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म करने वाले वर्णाश्रमियों का मार्ग तो निरापद है। वह तो सबसे श्रेष्ठ है ?

भगवान् ने कहा—वह निरापद तो है. किन्तु उसमें प्रतीक्षा बहुत है। यह योग मार्ग निरापद भी है और इसमें किसी वर्णाश्रम की अपेक्षा नहीं। आप जिस वर्ण में हो, जिस आश्रम में हो योगसाधन कर सकते है ?

अर्जुन ने पूछा—मैं गृहस्थ हूँ, क्षत्रिय हूँ, मै योग साधन कर सकता हूँ ?

भगवान् ने कहा—"अवश्यक कर सकते हो। मेरी तो सम्मति यही है, कि तुम योगी ही हो जाओ।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! योगी तो अनेक प्रकार के होते हैं। बहुत से कुन्डलिनी योग करते हैं, बहुत से अष्टांगयोग, बहुत से हठयोग, बहुत से ज्ञान योग, बहुत से भक्तियोग। इन सब योग, करने वाले योगियों में सबसे श्रेष्ठ योगी कौन है ?

यह सुनकर भगवान् हंस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"सच सच बतादूं ?"

अर्जुन ने कहा—महाराज झूठ का क्या काम ? सच-सच ही बता दो।"

भगवान् धीरे से कहा—"देखो, सब योगियों में श्रेष्ठ तो मैं

उसी योगी को समझता हूँ, जिसका चित्त सर्वदा मेरे में ही लगा रहता हो। और एकाग्रचित्त से मेरा ही भजन करता रहता हो।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज! यह तो आप कुछ पक्षपात की बातकर रहें हैं।"

भगवान् ने कहा—बात किसी न किसी पक्ष की ही की जाती है। कोई झूठ का पक्ष लेता है कोई सत्य का पक्ष। कोई दूसरे का पक्ष लेता है कोई अपना पक्ष। मैंने तो सत्य का पक्ष लिया है और किसी दूसरे का नहीं अपना ही पक्ष लिया है जो मेरे पक्ष का है मेरे में पक्ष का है मेरे में ही चित्त लगाता है, मेरा ही भजन करता है, जो भी कुछ करता है, मुझे ही समर्पण करता है, मेरे ही आश्रय में रहता है, मुझे ही अपना सब कुछ समझता है, ऐसे योगी को मैं युक्ततम सर्वश्रेष्ठ योगी समझता हूँ, यही मेरा दृढ़मत है।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब भगवान् अपने आश्रम में रहने वाले, अपने में ही आसक्तचित्त भक्त को श्रेष्ठतम बताया, तब अर्जुन की स्वाभाविकी इच्छा यह होनी थी, कि आपको हम कैसे जाने? अर्जुन की मन की बात जानकर त्रिकालज्ञ भगवान् बिना पूछे ही अपने आप ही जैसे इसका उत्तर सप्तम अध्याय में देंगे उसका वर्णन मै आगे करूंगा इस प्रकार यह अध्यात्म सयम योग नाम का छटा अध्याय समाप्त हुआ।

छप्पय

योगिनि तैं हू बड़े भक्त हैं मद्गत प्रानी।
मोमैं सरवसु सौंपि रहै सुख तैं विज्ञानी॥
श्रद्धा संयम सहित चित्त मो माहिँ लगावै।
ऐसो मेरो भक्त परम पदवी कूँ पावै॥
ऐसो जोगी जो सतत, ध्यान मगन मेरे रहै।
सब जोगिनि तैं श्रेष्ठ है, भक्त युक्ततम श्रुति कहै॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योग शास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद रूप में है उसमें अध्यात्म योग या कर्मयोग नाम का छटा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

श्री पार्थसारथे नमः

गीता-वार्ता

सप्तमोऽध्यायः

(७)

विज्ञान सहित ज्ञान का वर्णन

श्रीभगवानुवाच

[१]

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

बोले श्रीभगवान—पार्थ ! अब युक्ति बताऊँ ।
पावैं मोकूँ तुरत असंशय रहित जताऊँ ॥
मोमें मन आसक्त करै अति योग भक्ति तैं ।
पावै मोइ अनन्य भावयुत योग शक्ति तैं ॥
मैं विभूति भग गुन सहित, सब ऐश्वर्यनि युक्त हूँ ।
आत्मरूप मोकूँ लखै, जो सब बल संयुक्त हूँ ॥

---

* श्री भगवान् ने कहा—हे पार्थ ! मेरे मे आसक्त मन वाला और मेरे परायण तू योगाभ्यास में निरत जिस प्रकार संशय रहित समग्र रूप में मुझे जान सकेगा, अब तू उसे ही मुझसे सुन ॥१॥

मैं तुझसे इस विज्ञान-सहित ज्ञान को पूर्ण रूप से कहूँगा । जिसे जान कर इस लोक में फिर कुछ भी जानने योग्य अवशेष नही रहता है ॥२॥

गीता शास्त्र भक्तिमय है। मनीषियों ने भक्ति के बहुत प्रकार बताये हैं इसमें शरणागत भक्ति सबसे प्रधान है। भगवत्स्वरूप सद्गुरु की शरण में जाने से वे ज्ञान विज्ञान का उपदेश देंगे, जिससे इस संसार रूप सागर से सुखपूर्वक तर सकेंगे। बिना भगवत् शरणापन्न हुए जीव का उद्धार नहीं। जब तक वह लोक धर्मों में फंसा रहेगा, तब तक उसे शाश्वती शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब वह समस्त लोकधर्मों का परित्याग करके एकमात्र भगवान् श्रीश्यामसुंदर जी की शरण में जायगा, तो वह समस्त पापों से सभी प्रकार के शोक मोह आदि से छूट जायगा। यही समस्त गीता का प्रतिपाद्य विषय है। गीता के आदि में भक्ति है "शिष्यस्तेऽहं शाधिमामत्वां प्रपन्नम्" (प्रथम अध्याय) मैं तुम्हारा शिष्य हूँ तुम्हारी शरण में आया हूँ, मुझ शरणागत की रक्षा कीजिये शिक्षा दीजिये। गीता के मध्य में भक्ति "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजीमांनमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः" (नवम अध्याय) तुम अपने मन को एकमात्र मुझ में ही लगा दो। स्पष्ट कहता हूँ तुम मेरे भक्त बन जाओ। तुम्हें पूजन करना हो, तो मेरा ही पूजन करो, प्रणाम भी करना हो, तो मुझे ही करो, अपनी आत्मा को मुझमें ही युक्त कर दो, और मेरे ही परायण हो जाओ। इससे तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। संसार तुमसे पीछे छूट जायगा।"

गीता के अन्त में भी भक्ति है, भक्ति में ही उसका उपसंहार करते हुए भगवान् ने मध्य में नवम अध्याय में कहे हुए इसी वचन को ज्यों का त्यों चतुर्थपाद के तनिक से हेर-फेर से फिर दुहरा दिया है। देखना, याद रखना तुम अपने मन को मेरे में ही लगा देना भला, भूल मत करना मेरे ही भक्त बन जाना, किसी संसारी व्यक्ति के भक्त न होना, पूजन यजन जो भी करना हो मेरा ही

करना,नमस्कार भी मुझे ही करना। मुझी को प्राप्त हो जाओगे। हाथ मारकर कहता हूँ, शपथ पूर्वक कहता हूँ, प्रतिज्ञा करके कहता हूँ क्योंकि तुम मेरे प्यारे-दुलारे शरणापन्न भक्त हो। और इसके अनन्तर सबसे अन्तिम श्लोक में स्पष्ट कह दिया—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकंशरणं व्रज। अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः (१८ वाँ अध्याय ६६ श्लोक) अर्जुन तुम एक काम करो, मेरी सबसे गुह्य महान् रहस्यमय, परमगुप्त बात सुनलो। तुमको सबसे अन्त में सार उपदेश देता हूँ तुम समस्त लोक धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण में आजाओ। मेरे शरणागत हो जाओ। मुझे ही अपना सर्वस्व मानलो। तुम पापों से मत घबराना। मैं महान् सामर्थ्यशाली हूँ, तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा। शोक का पूर्ण रूप से परित्याग कर दो। शोक मत करना भला! शोकरहित निर्भय हो जाना भला!

इस प्रकार गीता के आदि में भक्ति, गीता के मध्य में भक्ति गीता के अन्त में भक्ति। गीता भक्ति सम्बन्धी ग्रन्थ है, गीता का प्रयोजन अर्जुन को शरणागत भक्ति का उपदेश देना है। गीता ज्ञान का महान् अधिकारी परम भक्त अर्जुन! गीता में केवल भक्ति के ही सम्बन्ध की बात कही गयीं हैं। गीता के पद-पद में श्लोक-श्लोक में, शब्द-शब्द में भक्ति ही है। भक्ति के अतिरिक्त उसमें कुछ भी नही है और भक्ति का पर्यायवाची शब्द है, निष्काम कर्मयोग। अर्थात् तुम जो करो, मेरे अर्पण करके करो, जो खाओ मेरे अर्पण करके खाओ। जो यज्ञ करो मुझे अर्पण करदो, जो दान दो मेरे अर्पण करके दो। जो भी तपस्या करो उसे भी मेरे अर्पण दो। सारांश अपने लिये कुछ भी मत करो। निष्काम भाव से मेरे निमित्त करो। मत्परायण हो जाओ। कर्मों में कामना करने से ही इस लोक में या परलोक में बन्धन होता है।

यह ज्ञान पूर्ण रूप से हो जाय कि मैं ही प्राणीमात्र का सुहृद हूँ, तो परमशान्ति मिल सकती है। अतः गीता वक्ता भगवान् नारायण गीता श्रोता नर रूप परमभक्त अर्जुन को समग्र भक्ति का ही उपदेश देते हैं। आप कहेंगे गीता में आप भक्तियोग शरणागत योग समर्पणयोग, प्रपन्नयोग, शाश्वतयोग अथवा निष्काम कर्मयोग ही केवल क्यों बताते हैं। इसमें तो ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टांगयोग सभी का वर्णन है।

बात आपकी ठीक है, सोलह आने ठीक है, सौ पैसे ठीक है। गीता में अनेक योगों का वर्णन है और उन योगों को करने की विधि का भी वर्णन है, किन्तु उन सबको भक्ति के सहित करने की आज्ञा है। आप चाहें जिस योग का आश्रय लें, आपको जो योग अनुकूल पड़े उसी का अभ्यास करें किन्तु उसे निष्काम भाव से श्रद्धाभक्ति से युक्त होकर ब्रह्मार्पण बुद्धि से भक्ति सहित भक्त बनकर भक्तिभाव से करें यही भगवान् का कहना है। भक्ति रहित कर्म किसी काम का नहीं। भक्ति रहित ज्ञान दो कौड़ी का भी नहीं। भक्तिरहित योग नीरस है। मुक्ति तो असुर राक्षसों की भी हो जाती है। भगवान् के हाथ से जो मरता है, वही मुक्त हो जाता है, किन्तु भक्ति को तो भगवान् का अत्यन्त प्यारा भगवत्भक्त ही प्राप्त कर सकता है। भक्त केवल मुक्ति ही नहीं चाहते है वे भक्ति ही चाहते हैं। क्योंकि मुक्ति तो उनके घर की ही है। भक्ति महारानी की भक्ति तो दासी है और ज्ञान वैराग्य दोनों भक्ति के पुत्र हैं, हमारी माँ भक्ति के।

भगवान् ने ज्ञान की प्रशंसा बहुत की है, आवश्यकता से अधिक किन्तु वह ज्ञान कोरा न हो, रूखा न हो, शुष्क सत्तू की भाँति न हो। भगवान् ने कर्म की भी बड़ी प्रशंसा की है, कर्म से ही सिद्धि बतायी है। एक क्षण भी कोई कर्म किये बिना रह

नहीं सकता। यह कहकर कर्म का अनिवार्यत्व सिद्ध किया है, किन्तु वह कर्म अपने लिये न हो, सकाम भाव से न किया गया हो, निष्काम भाव से ब्रह्मार्पण बुद्धि से–प्रभुप्रीत्यर्थ किया हुआ हो। अष्टांग योग को तपस्या, ज्ञान, कर्म सबसे श्रेष्ठ बताया है किन्तु वह योग ईश्वर रहित न हो श्रद्धावान् साधक द्वारा भगवत् गत मानस भगवत्भक्त द्वारा किया गया हो। जो भी साधन बताया है उस सबमें भक्ति का पुट देकर उसकी संज्ञा भक्ति ही कर दी है। जैसे खोये से गोले बनाये हों, चाहे मूंग उड़द की पिट्ठी से, अथवा चने के, गेहूँ के किसी के भी आटे से बने हों, उन्हें चीनी के बक्खर में डुबो दो, अथवा चीनी में सान दो, सराबोर कर दो। तो उन सबकी मिठाई ही संज्ञा हो जायगी। नाम भले ही अलग-अलग रखलो, खोये की मिठाई (खोये के लड्डू पेडा) छेंना की मिठाई रसगुल्ला, चमचम, लवंगलता आदि गेहूँ की मिठाई (लड्डू आदि) बेसन की मिठाई (बेसन के लड्डू नुक्ती आदि) उड़द की मिठाई (बालूसाही आदि) किसी भी मिठाई को खाओ उसमें मिठास अवश्य होगी। इसी प्रकार गीता के ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टांगयोग, तपयोग जितने भी योग है सब भक्तिरूपी चीनी के पाक में पगे हुए हैं। इसलिये अब समत्वज्ञान का जो छटे अध्याय में वर्णन किया है उसी का स्पष्टीकरण करने के लिये भगवान् सप्तम अध्याय में ज्ञान विज्ञान योग का वर्णन करते हैं।

सूनजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने अपने भजन करने वाले को श्रेष्ठतम-युक्ततम-योगी बताया, तो अर्जुन के मन मे स्वाभाविक जिज्ञासा हुई कि भगवान् के किस रूप का भजन करें और चित्त को उनमें लगावें कैसे ?" सर्वज्ञ भगवान् बिना पूछे ही इसका उत्तर देने लगे।

भगवान् ने कहा"—अर्जुन ! दो काम तुम करो ।"

अर्जुन ने पूछा—कौन-कौन से दो काम करूँ प्रभो !

भगवान् ने कहा—"पहिला काम तो तुम यह करो कि मेरे में मन को आसक्त कर दो और दूसरा यह कि योग का अभ्यास करते हुए मेरे ही आश्रय में रहो । अन्य किसी दूसरे का आश्रय सर्वथा त्याग दो ।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! अपने मन को आप में कैसे आसक्त करदें और किस प्रकार सबका आश्रय छोड़कर आपके ही आश्रित रहकर योग करें । इन दोनों ही की युक्ति कृपा करके बता दीजिये ।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, मैं तुम्हें इन दोनों की युक्ति अवश्य बताऊँगा, जिससे तुम पूर्णतया संशय रहित होकर इन विषयों को जान लोगे । अच्छा तो मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनो ।"

अर्जुन ने पूछा—कैसा उपदेश करेंगे प्रभो !

भगवान् ने कहा—"देखो, शास्त्रों द्वारा या आचार्यों द्वारा जो तत्त्व का बोध होता है, उसे ज्ञान कहते हैं । और वही ज्ञान जब विचार की परिपक्वता से निष्पन्न हो जाता है, वही ज्ञान जब अपने अनुभव में आकर अपने जीवन में परिणित हो जाता है, उसी स्वतः अनुभूत ज्ञान को विज्ञान कहते हैं । इसलिये मैं तुम्हें शास्त्रीय ढंग से भी समझाऊँगा और अपनी अनुभूति द्वारा जो मैंने स्वतः निष्कर्ष निकाला है उसे भी समझाऊँगा । अतः विज्ञान सहित ज्ञान का अधूरा नहीं पूर्णतया उपदेश करूँगा ।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! संसार में अनन्त शास्त्र हैं, बहुत सी विद्यायें हैं, आप किन-किन की जानकारी मुझे करावेंगे ।"

भगवान् ने कहा—जैसे मिट्टी के अनेक नाम अनेक रूप वाले बहुत पात्र हैं । एक मिट्टी का स्वरूप ज्ञान हो जाने से सभी का

बोध हो जायगा। चीनी के बने अनेक नामों के अनेक रूपों के अनेक खिलौने हैं। चीनी का यथार्थ ज्ञान होने से सबका बोध हो जायगा। इसी प्रकार विज्ञान सहित मैं तुमको एक ऐसे ज्ञान का उपदेश करूंगा, जिसे जान लेने पर तुम फिर सब कुछ जान जाओगे, फिर संसार में जानने योग्य कोई दूसरा पदार्थ शेष ही न रहेगा।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! आपके इस विज्ञान सहित ज्ञान को जानने वाले तो बहुत से लोग होंगे?

यह सुनकर भगवान् खिलखिला कर हंस पड़े और हंसते हुए बोले—"अर्जुन! क्या बात कर रहे हो। यह ज्ञान सरल नहीं। टेढ़ी खीर है। समझना जान लेना तो बहुत दूर की बात है, इस ज्ञान को जान लेने की अभिलाषा करने वाले व्यक्ति भी दुर्लभ हैं। इस ज्ञान का फल साधारण न होकर महान् है। इसे तो वही पूर्णरीत्या जान सकता है, जिस पर मेरी पूर्ण कृपा हो। तुम मेरे परम कृपापात्रों में से एक हो, इसीलिये मैं तुमको सब खोलकर यथार्थ बात बता रहा हूं। वैसे इस विषय के जिज्ञासुओं का ही मिलना दुर्लभ है, इस ज्ञान की सिद्धि के लिये कोई विरला ही यत्नवान होता है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! अनुमानतः कितने सर्व साधारण लोगों में से इसका एक जिज्ञासु होता होगा? क्या एक प्रतिशत लोग जिज्ञासु होते होंगे?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने कितने लोगों में से एक जिज्ञासु होता है, यह प्रश्न किया, तो भगवान् ने इसका जो उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

अरजुन ! तोकूँ तत्त्व ज्ञान को सार सुनाऊँ।
केवल ज्ञानहि नहीं सहित विज्ञान बताऊँ॥
जाकूँ पूरन जानि जगत में सुख अति पावै।
मिटैं सकल भ्रम मोह फेरि नहि आवै जावै॥
जाइ जानिकें रहै नहिं, फिरि कछु जानन जोग है।
सब सारनि को सार यह, अति रहस्यमय जोग है॥

भगवान की अपरा प्रकृति

[२]

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

सब नहिँ जानें जोग भाग्यशाली ही जानें।
जग के भोग अनित्य सार साधन ही मानें॥
सहस जननि में करै जतन साधन हित कोई।
साधक साधन करै भक्ति भाजन है जोई॥
उन असंख्य साधकनि में, भाग्यवान कोई सरल।
जाने मोकूँ तत्त्व तैं, रूप जथारथ भक्त भल॥

ब्रह्माजी ने इन्द्रियों के गोलकों को बाहर की ही ओर बनाया

---

* सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक ही सिद्धि के लिये यत्न करता है, उन यत्न करने वाले सिद्धों में से कोई ही मुझे तत्त्वतः जानता है ॥३॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस भाँति यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है ॥४॥

है अतः ये बाहर की ही वस्तुओं को देखती हैं। इन इन्द्रियों में भीतर देखने की शक्ति है, किन्तु वह शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है, उसका उपयोग कोई विरला ही साधक कर सकता है। आँखें बाहर के ही घट पट आदि पदार्थों को देख सकती हैं, क्योंकि ये बाहर की ही ओर खुलती हैं। कोई इन आँखों को बन्द करके भीतर देखने की चेष्टा करें तो उसकी अन्तर्ज्योति हो जायगी वह भीतर की ज्योति का दर्शन कर सकेगा। इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय को बाहर की ओर से हटाकर भीतर की ओर ले जाय तो उसे अनहदनाद सुनायी पड़ेगा, घ्राणेन्द्रिय को बाहर जाने से रोक कर भीतर की ओर ले जायँ, तो उसे अपने शरीर में ही दिव्य गन्ध आने लगेगी। रसना सम्बन्धी बाहरी स्वादों का संयम करके भीतर के रस का आस्वादन करने लगे, तो उसे दिव्य स्वाद की अनुभूति होने लगेगी। बाह्य स्पर्शों में आसक्त न होकर भीतर के सुख का अनुभव करने लगे, तो उसे ब्रह्म संस्पर्श सुख का अनुभव होने लगेगा। किन्तु यह अन्तर्वृत्ति तभी हो सकती है, जब बाह्य वृत्ति से सर्वथा उपराम हो जाय। बाहर की ओर वृत्ति ही न जाने दे। तभी अभ्यान्तर वृत्ति होती है। यह जीव जब से जगदाधार से बिछुड़ा है, तब से यह बाह्य विषयों का उपभोग करता रहा है। इसीलिये इसकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति विषयों में ही है। किसी भी योनि में जायगा, वहीं आहार, निद्रा और मैथुन की खोज करने लगेगा। बाह्य विषयों में यह ऐसा अभ्यस्त हो गया है; कि इसके अतिरिक्त कोई दूसरे भी विषय हैं, इसका इसे ज्ञान ही नहीं।

इस संसार में दो प्रकार के जीव प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। नित्य और मुक्त जीवों का दर्शन तो किसी भाग्यशाली को ही होता है, नहीं तो संसार में बद्ध और मुमुक्षु, दो ही प्रकार के

जीव दृष्टि गोचर होते हैं। बद्ध जीव तो प्रकृति के भोगों में बँधे हुये एक योनि से दूसरी योनि में आते जाते रहते हैं। कोई बहुत भाग्य शाली हुए तो स्वर्ग तक पहुँच जाते हैं। पुण्य क्षीण होने पर पुनः अन्य योनियों में भटकते रहते हैं।

इन बद्ध जीवों में से कभी कोई जिज्ञासु अथवा मुमुक्षु भी दृष्टिगोचर हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक पर्वत में मणि नहीं होती प्रत्येक हाथी के मस्तक में मुक्ता नहीं होती और न प्रत्येक वन में चन्दन का वृक्ष ही होता है जैसे किसी विरले पर्वत से ही मणि निकलती है, किसी विरले ही हाथी के मस्तक में गज-मुक्ता होता है, किसी विरले ही वन में चन्दन का वृक्ष होता है। उसी प्रकार किसी विरले ही ग्राम, नगर, प्रदेश अथवा देश में मुमुक्षु पुरुष होते हैं।

धन, पद, प्रतिष्ठा, सौंदर्य आदि वस्तुएँ ये सब संसार में अधिकाधिक बाँधने वाली ही हैं। आप यह न समझे कि कोई बड़ा भारी धनी है, तो वह मुमुक्षु भी होगा। कोई संसार के बड़े भारी पद पर प्रतिष्ठित हो गया, तो वह मुमुक्षु भी होगा। इन्द्र पद पर भी कभी-कभी बद्धजीव भी प्रतिष्ठित हो जाता है। मुमुक्षु तो सभी में मिल जाते हैं। मुमुक्षु कुल, जाति, वर्ण, धनी, निर्धन, किसी की अपेक्षा नहीं करते। वे सब में सर्वत्र, सदा मिल जाते हैं, किन्तु होते हैं बहुत कम निन्यानवे सहस्र नौसौ निन्यानवे में से कोई एक मुमुक्षु होता है।

मुमुक्षु की पहिचान यही है, कि उसे संसारी विषय विषवत् प्रतीत हों। विषय भोग उसे काटने को दौड़ते हुए से दिखायी दें। जिसके मन में सदा यही ऊहापोह होती रहती है, कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कौन मेरी माता है, कौन मेरे पिता हैं, इस संसार में मेरे आने का प्रयोजन क्या है। ये अनित्य

संसारी क्षणभंगुर भोग मुझे तृप्त कैसे कर सकेंगे। मुझे शाश्वती शांति कैसे मिल सकेगी। मैं इस संसार जाल से कैसे मुक्त हो सकूँगा। इस संसार सागर से मुझे कौन उस पार लगावेगा? ये प्रश्न जिसके हृदय में निरन्तर उठते रहें। संसारी विषय भोग जिसे कड़वे लगे, समझो यह मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष की इच्छा वाला जीव है-बद्ध जीव नहीं है। ऐसे मुमुक्षु को कोई भाग्यवश सद्गुरु मिल जायँ और वह मुक्ति के लिये सिद्धि के लिये प्रयत्नशील हो जाय, ऐसे प्रयत्नशील मुमुक्षु तो और भी दुर्लभ हैं। जो सिद्धि के लिये प्रयत्न करे वह भी सिद्ध होहै। जैसे विद्या के लिये प्रयत्न करने वाला विद्यार्थी कहलाता है उसे ही सिद्धि के लिये प्रयत्न करने वाला सिद्धार्थी सिद्ध होता है। इन सिद्धों में से भी जो वास्तव में सिद्ध हो गया हो, जिसे पर वस्तु का तत्त्वतः परिज्ञान हो गया हो, ऐसे जीवन मुक्त तत्त्व ज्ञानी महापुरुषों का तो मिलना ही दुर्लभ है। ऐसे लोगों का दर्शन बड़े भाग्यशाली मुमुक्षुओं को ही होता है। बद्ध जीव तो उसे पहिचान ही नहीं सकते।

यह तत्त्वज्ञान कैसे हो? जब इस दृश्य प्रपञ्च का रहस्य हमारी बुद्धि में आ जाय। हमें आठ प्रहर चौसट घड़ी यह संसार ही दिखायी देता है। इस संसार में है क्या? दो ही वस्तुएँ हमें दृष्टिगोचर होती हैं। एक जड़ दूसरी चैतन्य। एक चर दूसरी अचर, एक स्थावर दूसरी जंगम। एक प्रकृति दूसरा जीव। पहिले प्रकृति को ही समझना चाहिये तब जीव के सम्बन्ध में समझा जा सकता है। जिसे प्रकृति का ही यथार्थ बोध नहीं, उसे तत्त्व ज्ञान कैसे होगा, अतः सर्वप्रथम प्रकृति का परिचय भगवान् अपने परम भक्त अर्जुन को कराते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन ने जब जिज्ञासा की, कि

भगवन् ! कितने मनुष्यों में खोजने पर मुमुक्षु या जिज्ञासु मिल सकता है, तब भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! दस बीसों में नहीं, सौ दो सौ में भी नहीं सहस्रों में कोई विरला ही मुक्ति के लिये सिद्धि के लिए-भगवत् प्राप्ति के लिये-प्रयत्न करता है। संसार में वह भी बड़ा भाग्यशाली है. क्योंकि जैव धर्म का तो विषयों कीओर बढ़ना ही है। वह जैव धर्म को लाँघकर उससे ऊँचा उठ कर परमार्थ की ओर प्रयत्न शील हो रहा है अतः यत्न करने वाले को हम सिद्ध महा पुरुष ही कहेंगे।"

अर्जुन ने कहा— 'ही क्यों लगाते हैं भगवन् ! उसे पूरा सिद्ध क्यों नहीं कहते ?

भगवान् ने कहा—जो जिस कक्षा में पढ़ता है उस कक्षा वाला विद्यार्थी कहाता अवश्य है। किन्तु जब वह उस कक्षा में उत्तीर्ण हो जाय तभी उसे प्रमाण पत्र मिलेगा।

अर्जुन ने कहा—जो पढ़ रहा है, उत्तीर्ण हो ही जायगा।

भगवान् ने कहा—नहीं, यह बात नहीं। सभी पढ़ने वाले उत्तीर्ण ही हो जायँ, सो बात नहीं, बहुत से पढ़ते-पढ़ते अनुत्तीर्ण भी हो जाते है। पूर्णरीत्या-सर्वप्रथम-उत्तीर्ण होने वाले कुछ ही विद्यार्थी होते हैं। इसी प्रकार प्रयत्न करने वाले सिद्धों में से कोई ही मुझे तत्त्वतः जानता है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! मै कैसा हूँ ?

भगवान् ने कहा—अरे, तेरे विषय में क्या पूछना है, तू तो मेरा अत्यन्त प्रिय है, परम जिज्ञासु है। यथार्थ मुमुक्षु है।

अर्जुन ने कहा—तब भगवान् ! मुझे प्रकृति पुरुष तत्त्व का जड़ चैतन्य के स्वरूप का ज्ञान कराइये।

भगवान् ने कहा—अच्छा सुनो, पहिले मैं तुम्हें स्थूल प्रकृति

का ही ज्ञान कराता है। देखो, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश, मन और अहंकार ये मेरी अपरा प्रकृति हैं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! ये जो हमें पृथ्वी जलादि पंचभूत दिखायी दे रहे है ये ही आप की अपरा प्रकृति हैं क्या!

भगवान् ने कहा—"नहीं भैया! तुम्हें जो ये सामने पंचभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ दिखायी देती हैं, ये तो प्रकृति की विकृति हैं। ये तो प्रकृति के "विकार" हैं।"

अर्जुन ने पूछा—तो उपरोक्त पृथ्वी, जलादि क्या है?

भगवान् ने कहा—ये पंचभूतो के सूक्ष्मावस्थारूप गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये तन्मात्रायें हैं। सांख्यमत से पहिले प्रकृति से महत्तत्व हुआ और महत्तत्व से अहंतत्व यहाँ तक तो प्रकृति अपने स्वरूप में रही। फिर अहंतत्व सात्विक, राजस् तामस् तीन प्रकार का हुआ। सात्विक से इन्द्रियों के अधिष्ठातृरूप देवता हुए। राजस् से इन्द्रियों और तामस् से पंच महाभूत। इस प्रकार गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, मूलप्रकृति, महत्तत्व और अहंतत्त्व ये आठ तो प्रकृति और पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन और पंचभूत ये १६ 'विकार' इस प्रकार १६ और ८ मिलकर २४ तत्त्वों की संख्या सांख्य मत से है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! आपने इस अष्टधा प्रकृति का अपरा प्रकृति या भिन्ना प्रकृति विशेषण दिया। इससे प्रतीत होता है, कोई आपकी पराप्रकृति भी होगी?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न को सुनकर भगवान् ने कहा—हाँ, मेरी एक पराप्रकृति भी है।" अब भगवान् जैसे अर्जुन को पराप्रकृति का उपदेश करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मेरी द्वै हैं प्रकृति परा अपरा कहलावें।
ये दोऊ मिलि प्रकृति चराचर विश्व बनावें॥
पंचभूत सब कहे भूमि जल और अगिनि ये।
वायु और आकाश व्याप्त हैं जड़ चेतन ये॥
अहंकार मन, बुद्धि इनि, तीनहु देउ मिलाय जब।
पाँच तीन मिलि आठ हैं, अपरा प्रकृति कहाहिँ सब॥

जीवरूपा परा प्रकृति

[३]

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० ५, ६ श्लोक)

छप्पय

आठ भाँति की प्रकृति कहें जड़ अपरा ज्ञानी ।
जितनी है जड़ सृष्टि इनहिँ की संज्ञा जानी ॥
महाबाहु ! तुम सुनो दूसरी परा प्रकृति है ।
है अपरा तैं भिन्न सबनि की यह ही गति है ॥
जाकी संज्ञा जीव है, जाके बिनु जड़ बनि जरें ।
संज्ञा चेतन प्रकृति हू, जा द्वारा किरिया करें ॥

यह दृश्य जगत प्रकृति और पुरुष के संयोग से चल रहा है ।

---

* यह अष्टधा तो मेरी अपरा प्रकृति है । हे महाबाहो ! इसके अतिरिक्त मेरी एक जीवरूपा दूसरी परा प्रकृति है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है । ऐसा तू जान ॥५॥

ये सम्पूर्ण प्राणी इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होते हैं ऐसा तुम समझो । और मैं इस सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति और प्रलय स्वरूप हूँ ॥६॥

भगवान् ने इस संसार में अट्ठाईस ही तत्त्व बताये हैं। (१) मूल प्रकृति, (२) पुरुष, (३) महत्तत्त्व, (४) अहंकार, (५) शब्द, (६) रूप, (७) रस, (८) गंध, (९) स्पर्श, (१०) श्रोत्र, (११) चक्षु (१२) रसना, (१३) घ्राण, (१४) त्वक्, (१५) वाक्, (१६) पाणि, (१७) पाद, (१८) गुद, (१९) शिश्न, (२०) मन, (२१) पृथ्वी, (२२) जल, (२३) तेज, (२४) वायु, (२५) आकाश, (२६) सत्व, (२७) रज, (२८) और तम। अब इनमें से किसी तत्त्व को कोई किसी अन्य तत्त्व में अन्तर्युक्त कर देते हैं, कोई बहुत से तत्त्वों को एक ही कर देते हैं। भगवान् इनमें एक पुरुषोत्तम या ईश्वर को और बढ़ाकर २९ मानते हैं। सांख्य वाले २५ ही तत्त्व मानते हैं। (८ तो प्रकृति-मूल प्रकृति, पांच तन्मात्र, मन अहंकार और महत्तत्व और ये ८ हो गये। दस इन्द्रियां, पंच महाभूत और एक मन १६ विकार ८ और १६ मिलकर २४ हो गये। पच्चीसवां पुरुष) योगदर्शनकार इन पच्चीसों में एक ईश्वर को और बढ़ाकर २६ तत्त्व मानते हैं। जो लोग ईश्वर को इसमें सम्मिलित नहीं करते किन्तु प्रकृति के अतिरिक्त सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों को पृथक् गिनते हैं, उनकी दृष्टि में २५ सांख्य कथित और ३ गुण इस प्रकार अट्ठाईस हो जाते हैं।

कुछ लोग कहते हैं। भाई विस्तार क्यों करते हो, यथार्थ तत्त्व तो ७ ही हैं। पंच महाभूत, छटा जीव और सातवां परमात्मा। उनके मत में पंचमहाभूतों में ही उनकी ५ तन्मात्रायें १० बाह्य इन्द्रियां ४ अन्तः करण सब आ गये। कोई ईश्वर जीव दो को भिन्न न मानकर पंच-महाभूत और छटा परमात्मा कुल ६ ही तत्त्व मानते हैं। जो लोग चार ही तत्त्व मानते हैं उनका कथन है आत्मा से पृथ्वी, जल और तेज इनकी उत्पत्ति होती है। उसी से संसार की रचना होती है। वायु और आकाश दीखते नहीं इसलिये

उनका समावेश वे तीनों भूतों में ही कर लेते हैं।

कुछ लोग सत्रह ही तत्व मानते हैं वे कहते हैं आत्मा से मन और फिर उसी से पंचभूत, पांच तन्मात्रायें और पांच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार पांचतिया १५ और आत्मा तथा मन सब मिलाकर १७ हो जाते हैं। जो सोलह मानते हैं वे आत्मा में ही मनका समावेश कर लेते हैं। जो लोग १३ तत्व मानते हैं वे पंचभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय और मन, जीवात्मा तथा परमात्मा ऐसे १३ ही तत्त्व मानते हैं। जो लोग ग्यारह तत्व मानते हैं वे पंचभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय और एक आत्मा इस प्रकार ११ में ही सबका समावेश कर लेते हैं। जो लोग ९ ही तत्व मानते हैं वे पंचमहाभूत मन, बुद्धि और अहंकार इस प्रकार ९ में ही सबका निर्वाह कर लेते हैं। इस प्रकार कितने भी मानो प्रकृति और पुरुष के संयोग से यह संसार चल रहा है। गीताकार आठ ही को अपरा प्रकृति कह कर जीवात्मा को परा प्रकृति कहते हैं। अर्थात् वे जीव को भी प्रकृति में ही सम्मिलित करते हैं। अपरा प्रकृति तो निकृष्ट अथवा जड़ प्रकृति और जीव को चैतन्य प्रकृति।

अब सोचना यह है कि जीव क्या है? जीव कभी शरीर के बिना रह नहीं सकता। शरीर है जड़। इसलिये चैतन्यांश युक्त शरीर का ही नाम जीव है। शरीर दो प्रकार के होते हैं। एक सूक्ष्म शरीर दूसरा स्थूल शरीर स्थूल शरीर तो मरणधर्मा होता है। अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है। सूक्ष्म शरीर मरता नहीं। अतः जीवात्मा का वास सूक्ष्म शरीर में ही है। उसी शरीर के द्वारा वह दूसरी योनियों में जाया आया करता है। सूक्ष्म शरीर में करण, प्राण और चैतन्यांश ये तीन ही वस्तु रहती हैं। अर्थात् करण प्राणों के सहित चैतन्यांश स्थूल शरीर को छोड़कर अन्य शरीरों में जाता रहता है। पंचभूतों से निर्मित स्थूल शरीर ऐसा

ही जैसे सर्प की पुरानी केंचुली। पुरानी केंचुली का परित्याग करने पर सर्प मर नहीं जाता। उसे छोड़कर वह नई केंचली से जीता है। इसी प्रकार जीवात्मा स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर से अन्य योनियों में कालयापन करता है। स्थूल सूक्ष्म शरीर के अतिरिक्त एक कारण शरीर भी होता है। जिसके कारण जीव को नानायोनियों में विवश होकर जाना पड़ता है। उस कारण शरीर में धर्म, अधर्म कर्म ही होते हैं। उन्हें पुण्य और पाप कर्म कह लो। यह शरीर सूक्ष्म शरीर से भिन्न नहीं होता। क्योंकि केवल धर्म-अधर्म और पुण्य पाप में जीव रहेगा कैसे ? इसलिये कारण शरीर का समावेश सूक्ष्म शरीर में ही है। मृत्यु पांच भौतिक शरीर की ही होती हैं और वह भी केवल पृथ्वी पर ही। इसीलिये पृथ्वी को मर्त्यलोक कहते हैं। भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्यादि लोकों के जीवों के शरीर सूक्ष्म होते हैं, अतः वे मरते नहीं पुण्य अथवा पापों का भोग हो जाने पर वे ढकेल दिये जाते हैं। सूक्ष्म शरीर के अनेकों भेद हैं। एक स्वप्न शरीर है। स्वप्न में हमारा स्थूल शरीर शैया पर पड़ा रहता है, स्वप्न शरीर से हम सुख-दुख का स्वप्न में अनुभव करते हैं। एक यातना शरीर होता है, नरकादि में उसी शरीर से यातना भोगते हैं। यमदूत शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर करके यातना देते हैं, किन्तु वह शरीर मरता नहीं, कारण कि मरणधर्मा शरीर तो स्थूल ही है। एक अति वाहिक शरीर होता है। भूत प्रेतादिकों का शरीर भी सूक्ष्म ही होता है। ये सब शरीर सूक्ष्म शरीर के ही अन्तर्गत हैं।

पंचप्राण, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकार इन अठारह तत्व से बने शरीर को सूक्ष्म शरीर कहते हैं, जीव इसी शरीर से दूसरी योनियों में जाता है। बहुत से लोग इनमें

पंचतन्मात्राओं को और धर्माधर्म, पापपुण्य रूप कर्मों को भी सूक्ष्म शरीर में जोड़ देते हैं। पाप पुण्य ये अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं। बुद्धि में इनका समावेश कर लेते हैं। पंच प्राणों का समावेश इन्द्रियों में कर लेते हैं। करण शब्द इन्द्रिय वाचक है। बाहर के १० इन्द्रियाँ बाह्य करण और भीतर की ३ या ४ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्तःकरण अर्थात् भीतर की इन्द्रियाँ हैं। कुल लोग चित्त का समावेश मन में कर लेते हैं। बुद्धि का समावेश महत्तत्व में कर लेते है। कुछ भी क्यों न हो। जीवात्मा जब स्थूल शरीर को छोडकर अन्य शरीर में सूक्ष्म शरीर से जाता है, तो प्राण (पांच) करण (१३) और स्वयं चैतन्यांश जीव के सहित जाता है। भगवान् ने पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन तथा चैतन्यांश जीव इन सात को ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने को बताया है, इसका वर्णन भगवान् आगे पुरुषोत्तम योग में स्वयं करेंगे।

वैसे सांख्यवाले प्रकृति को पृथक् मानते है और पुरुष को पृथक् किन्तु यहाँ भगवान् ने विलक्षण बात कही। जीव की भी उन्होंने प्रकृति ही संज्ञा दे दी। प्रकृति स्त्री लिंग है। पुरुष पुलिंग है। जब भगवान् ने जीव को भी स्त्री लिंग ही कह दिया, तो रसिका चार्यों का यह सिद्धान्त यथार्थ जँचता है, कि जीव मात्र स्त्री है, पुरुष तो एक मात्र श्यामसुन्दर श्रीनन्दनन्दन ही हैं। जीव मात्र उनके भोगने योग्य हैं, भोक्ता तो वे ही अकेले हैं।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब अर्जुन ने परा प्रकृति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! हे महाबाहो! मैंने अपनी अपरा प्रकृति का वर्णन तो तुम से कर ही दिया इससे भिन्न जो जीव रूपा मेरी परा प्रकृति है उसके सम्बन्ध में मैं तुमसे कहता हूँ, उसे तुम सावधानी के साथ सुनो।"

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! आपकी यह परा प्रकृति क्या कार्य करती है ? कहाँ रहती है ?

भगवान् ने हँसकर कहा—"अर्जुन मेरी इस जीवरूपा परा प्रकृति ने ही तो इस सम्पूर्ण संसार को धारण कर रखा है। संसार सर्वत्र जीवरूपा प्रकृति से ही तो व्याप्त है। जगत् में परमाणु भर ऐसा स्थान नहीं, जहाँ मेरी यह जीव रूपा प्रकृति न हो।

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! आप इस जगत् की रचना किसके द्वारा करते है ?

भगवान् ने कहा—"मै अपनी परा प्रकृति रूपी जीवरूपा प्रकृति से सम्पूर्ण भूतों की रचना करता हूँ। इन सबका कारण मेरी जीवरूपा प्रकृति ही है। तुम इस बात को निश्चय करके जानो। इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति तथा प्रलय का एक मात्र मैं ही उत्पत्ति का स्थान हूँ, इस बात को तुम ध्रुव सत्य मानो।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! आप इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण कैसे हैं ? और किस प्रकार यह सम्पूर्ण ससार आप में आबद्ध है ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् जो इस प्रश्न का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

दोऊ प्रकृति मिलाय जगत चर अचर बनाऊँ।
जड़ चेतन जब मिलहिँ तबहिँ सब नाच नचाऊँ॥
ये जड़ चेतन जीव प्रकृति करता नहिँ होवै।
करता सबको एक चराचर जामें सोवै॥
जग को हौं ही प्रभव हूँ, मैं ही सब जग कूँ करूँ।
कारन सबको मूल मैं, अन्त समय हौं ही हरूँ॥

मैं ही इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हूँ

[४]

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

सुनहु धनञ्जय ! बात रहस की तुमहिँ बताऊँ ।
मोतैं पटतर नहीं परम हौं ही कहलाऊँ ॥
भिन्न न मोतैं कछू परम कारन नहिँ दूसर ।
सोई तैं जग होहि मिलै मोमैं जब अवसर ॥
भिन्न-भिन्न मनिका यथा, एक सूत्र-आबद्ध ज्यों ।
हौं ही सबमें सूत्रवत, गुँथे चराचर जीव त्यों ॥

---

* हे धनंजय ! मुझसे अतिरिक्त दूसरी वस्तु किञ्चित् भी नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् मुझमे ही गुँथा हुआ है, जैसे डोरा (सूत्र) मे माला की मणियाँ गुँथी रहती हैं ॥७॥

हे कौन्तेय ! जल मे रस मैं ही हूँ, और सूर्य, चन्द्रमा में मैं ही प्रभा हूँ । सर्ववेदों में प्रणव, आकाश मे शब्द और पुरुषो में पौरुष भी मैं ही हूँ ॥८॥

सार वस्तु एक होती है, उसी का ही विस्तार हो जाने से नाम, रूपों के कारण भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं। जैसे बीज है। उस एक ही बीज में वृक्ष, पत्ता, शाखा, फल, फूल सभी सूक्ष्म रूप में छिपे हुए हैं। वट का कोई बीज है, देखने में वह अत्यन्त ही छोटा होता है, किन्तु उस छोटे बीज में एक ही नहीं अनन्त वृक्ष, उन अनन्त वृक्षों की अनन्त शाखायें, अनन्त पत्ते, तथा अनन्त फल छिपे हुए हैं। जब वह भूमि में अंकुरित होकर बढ़ने लगता है, तब बीज छिप जाता है, बीज ही वृक्ष रूप में परिणित हो जाता है, फिर बीज को खोजो तो नीचे न मिलेगा, किन्तु उस एक बीज के अनन्त बीज बन जायेंगे उन अनन्त बीजों में से प्रत्येक बीज में अनन्त वृक्ष पैदा करने की शक्ति है। बीज में यद्यपि अंकुर, शाखा, पत्ते, फूल, फल सभी छिपे हैं, किन्तु दीखते नहीं।

एक पंडित जी थे, आकार में कुछ लम्बे थे, उनकी पहिली पत्नी का देहान्त हो गया। जैसे-तैसे साँठ-गाँठ जोड़-जाड़ कर एक गाँव में एक छोटी सी कन्या से उन्होंने दूसरा विवाह कर लिये। दूसरी व्याहता की अवस्था १२-१३ वर्ष की थी, पंडित जी की २५-३० वर्ष की। उस बालिका को पत्नी बनाकर उसे विदा कराके अपने गाँव की ओर चल दिये। मार्ग में एक नदी पड़ी। नदी में पानी कमर से ऊपर था, वेग भी था। पंडितजी तो पार हो जाते, वे तैरना भी जानते थे, किन्तु नई बहू कैसे पार हो। नौका वहाँ कोई थी नहीं। अन्त में पंडितजी ने अपनी नव विवाहिता वधू को कंधे पर बिठाकर नदी पार करने का निश्चय किया। बहू को कंधे पर चढ़ाकर नदी को पार कर ही रहे थे, कि वहाँ और भी बहुत से नदी पार करने वाले यात्री आ गये।

उन यात्रियों में से एक ने पूछा—"पंडितजी ! आपकी यह लड़की है क्या ?".

पंडितजी ने कहा—"लड़की लड़के पत्नी सब इसी के अन्तर्गत हैं।".

यात्री समझ गया, दूसरा नया विवाह करके लाये हैं, पत्नी है। इसी के उदर से लड़की, लड़के पैदा हो जायँगे। इसलिये सब कुछ यही है। पत्नी न होगी, तो न लडके होंगे न लड़की। इसी प्रकार इस संसार के मूल कारण भगवान् हैं। उन्हीं से इस सम्पूर्ण चराचर की उत्पत्ति है। इस जगत् में से भगवान् को पृथक् कर दो, तो फिर जगत् का अस्तित्व ही न रह जायगा। आभूषणों का मूल कारण सुवर्ण है, सुवर्ण को आभूषणों से पृथक् कर दो तो आभूषणों का अस्तित्व ही न रहेगा। सुवर्ण और आभूषणों का ऐसा सम्बन्ध है, कि आभूषणों के नाम रूप तो सुवर्ण से पृथक् किये भी जा सकते है, किन्तु सुवर्ण को आभूषणों से किसी कारण से भी पृथक् नही किया जा सकता। आप चाहें कि आभूषण तो ज्यों के त्यों बने रहे, किन्तु उनमें से सुवर्णादि धातु-जिनसे आभूषण बने हैं उन्हें-उनसे निकाल ले जायँ, तो असम्भव है। कारण कि आभूषणों के बनने से पहिले सुवर्ण ही था। आभूषण बनने पर जब सुवर्ण को पुनः पूर्व रूप में लाना चाहोगे, तो आभूषण अपने आप विलीन हो जायँगे। नाम रूप तो भगवान् के ही आश्रय पर टिके हुए हैं। भगवान् न रहेंगे तो नाम रूप भी न रहेंगे।

माला का आधार सूत्र ही है, जब मणियों को एक सूत्र में पिरो दिया जायगा, तभी उसकी माला संज्ञा होगी। माला बनने पर सूत्र दिखायी नहीं देता, वह छिपा ही रहता है, दिखायी मणियाँ ही देती हैं, किन्तु वह सूत्र हटा लिया जाय, तो माला का

भी अस्तित्व न रहेगा। क्योंकि मणियाँ तो उसी में पिरोयी हुई हैं। इसी प्रकार यह संसार भगवान् के ही द्वारा दिखायी दे रहा है। संसार में जितनी भी चेष्टायें दिखायी देती हैं। इन चेष्टाओं को प्रकृति क्या कर सकती है, प्रकृति तो स्वयं ही जड़ा है, जब तक चैतन्य सूत्रधार उसमें चेष्टा उत्पन्न न करेगा, तब तक वह कुछ कर ही नहीं सकती।

एक कठपुतली का नृत्य होता है। काष्ठ की बनी भाँति-भाँति की कठपुतलियाँ होती हैं। वे विविध प्रकार कलायें दिखाती हैं भाँति-भाँति के नृत्य करती हैं, लड़ती हैं झगड़ती हैं। उन्हें भीतर बैठा हुआ एक सूत्रधार नचाता रहता है, उनकी डोरियाँ सूत्रधार के हाथ में रहती है। वह सूत्रधार अपने को सबके सम्मुख प्रकाशित नहीं करता। वह योगमाया के परदे में छिपा बैठा रहता है। पुतलियाँ नाचती हुई सबको प्रत्यक्ष दिखायी देती हैं। जो अज्ञ पुरुष हैं, वे तो यही समझते हैं, कि पुतलियाँ स्वयं ही नाच रही हैं, किन्तु जो इस रहस्य को जानते हैं, विशेषज्ञ हैं, वे सूत्रों के सहारे से सूत्रधार के समीप तक पहुँच जाते है, तब सूत्रधार हँसकर उन्हें अपने गले में लगा लेता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह जिज्ञासा की कि आप सम्पूर्ण संसार में कैसे व्याप्त हैं, तब भगवान् ने कहा—हे धनंजय! तुम पराजय से तो सदा दूर रहते हो। पराजय तो तुम्हारे पास भी नहीं फटक सकती। आपका तो एकमात्र धनंजय ही है, अतः मै तुम को संसार को विजय करने का भी एक गुप्त मन्त्र बताये देता हूँ। जिसे जानकर तुम निर्भय हो जाओगे, इस संसार में रहते हुए भी इसे देखते हुए भी इसके चक्कर में न फँसोगे।

तब अर्जुन ने कहा—"हाँ भगवन् ! उस मंत्र को मुझे अवश्य बता दें।"

भगवान् ने कहा—देखो, इस दृश्य प्रपञ्च में मेरे अतिरिक्त और कोई वस्तु परमार्थतः सत्य नहीं है। एक मात्र सत्य मैं ही हूँ।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! सम्पूर्ण जगत में आप ही हैं, तो आप हमें दिखायी तो देते नहीं। संसार में तो हमें ये ही घट-पट दिखायी देते हैं।"

भगवान् ने कहा—'अरे, भैया ! मै योग माया के परदे के भीतर छिपा बैठा रहता हूँ, इसी से दिखायी नहीं देता। वैसे मैं ही इस संसार को सुनियन्त्रित किये हुए हूँ। जैसे माला के मनिका ही दिखायी देते है, किन्तु वे मनिका जिसमें पुरोये हुए हैं। जो माला का आधार है, वह सूत्र दीखता तो नहीं। उस सूत को माला से पृथक् कर दो, तो फिर क्या माला का अस्तित्व रह जायगा ?"

अर्जुन ने कहा—"सूत्र के बिना तो माला का अस्तित्व सम्भव ही नही। आप इस प्रपञ्च रूप जगत की मणियों में सूत्र रूप से कैसे रहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"पहिले सृष्टि के आदि में जल ही था, जल को ही मुझ भगवान् ने सर्वप्रथम बनाया और उसी में रहने के कारण मेरा नाम नारायण है। उस जल में जो रस है, वह रस रूप में मैं ही हूँ। क्या तुम जल से रस को पृथक् कर सकते हो ?"

अर्जुन ने कहा—यह असम्भव है, यदि रस ही न रहेगा, तो उसको जल संज्ञा हो ही नहीं सकती।

भगवान् ने कहा—हाँ यही बात है, जल में घुसते ही, सब प्रसन्न हो जाते हैं, हँसने लगते हैं। जल को स्पर्श करके, पीकर

सब आनन्दित होते हैं, क्यों कि रस सभी को प्रिय है। रस को पाकर सब आनन्दित होते हैं। वह रस मेरा ही स्वरूप है, मैं रस रूप हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"सूर्य और चन्द्रमा जो सब को प्रकाशित करते हैं, उनमें आप किस रूप से रहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"सूर्य चन्द्र प्रकाशित थोड़े ही करते हैं! उनमें जो प्रभा है, उस प्रभा के ही कारण सब प्रकाशित होते है। अतः सूर्य चन्द्र में जो प्रभा है, वह मेरा ही स्वरूप है। मैं इन दोनों में प्रभा रूप से रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—वेदों में आप किस रूप से रहते हैं।

भगवान् ने कहा—जैसे बीज का ही विस्तार बनकर वृक्ष हो जाता है, इसी प्रकार मैं ही वेद बन गया हूँ। सबसे पहिले एकाक्षर ही वेद था। प्रणव से ही वेदत्रयी का विकास हुआ है। आदि वेद एक मात्र प्रणव-ओंकार-ही है। अतः वेदों में जो प्रणव है, वह मेरा ही स्वरूप है।"

अर्जुन ने पूछा—"आकाश में प्रभो! आप किस रूप से रहते है?"

भगवान् ने कहा—आकाश का गुण शब्द है। आकाश के बिना शब्द हो ही नहीं सकता। अतः आकाश में मैं शब्द स्वरूप से रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"हम जैसे पुरुषों में आप किस रूप से रहते हैं।"

भगवान् ने कहा—इस शरीर रूप पुर में रहने से जीव को पुरुष कहते हैं। जिसमें पौरुष हो वह पुरुष है। अर्जुन! तुम में तो अत्यधिक पुरुषार्थ है, किन्तु तुम याद रखो, वह पुरुषार्थ तुम्हारा

नहीं मेरा है क्योंकि मनुष्यों में पुरुषत्व रूप से मैं ही रहता हूँ। मैं सभी में इसी प्रकार व्याप्त हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आप पृथ्वी में किस रूप से रहते हैं ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब इसका तथा अन्य प्रश्नों का उत्तर जो भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सब थल में जो नीर मोइ तिनि में रस जानों।
होवै इष्ट प्रकाश मोइ रवि शशि तुम मानों॥
ऋक, यजु साम अथर्व सबनि में प्रणव कहाऊँ।
श्रवन करौ जो शब्द सतत आकाश लखाऊँ॥
जगत पदारथ सबनि में, रहूँ सदा बनि तत्व हौं।
हे कौन्तेय ! कहूँ कहा, पुरुषनि में पुरुषत्व हौं॥

सबके सार भगवान् ही हैं

[५]

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ०, ९, १० श्लोक)

छप्पय

पृथिवी में हौं पुण्य गन्ध जग करूँ सुगन्धित ।
भूमि गन्ध कूँ सूँघि चराचर होवें प्रमुदित ॥
अग्नि माहिँ जो तेज जगत में देइ दिखाई ।
विश्व चराचर माँहि कहें जीवन जिहि भाई ॥
हौं ही जीवन तेज हूँ, तपसिनि में तपरूप हूँ ।
सब वस्तुनि को सार हौं, सब भूपनि को भूप हूँ ॥

---

* पृथ्वी मे पवित्र गन्ध और अग्नि मे तेज मैं ही हूँ । समस्त प्राणियों मे जीवन और तपस्वियों मे तप भी मैं ही हूँ ॥९॥

हे पार्थ ! समस्त प्राणियों का सनातन बीज तू मुझे ही जान । बुद्धिमानो की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं ही हूँ ॥१०॥

-चक्षु से हमें पदार्थ दिखायी देते है, उन पदार्थों में जो सार है, वह छिपा ही रहता है, वह बुद्धि आदि इन्द्रियों द्वारा अनुमानादि से सिद्ध होता है। हमें यह दृश्य जगत् तो दृष्टिगोचर हो रहा है, किन्तु इसके सार भूत जो भगवान् हैं वे दिखायी नहीं देते। उन्हें तो कोई सूक्ष्म दर्शी संत महात्मा ही अपनी सूक्ष्माति सूक्ष्म बुद्धि द्वारा साक्षात्कर सकते हैं। हमें अपनी स्थूल दृष्टि से-चर्मचक्षुओं द्वारा-तो यह दृश्य प्रपञ्च ही दिखायी दे रहा है। संख्या करने वाले महर्षियों ने संसार के समस्त पदार्थों का द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात में ही समावेश कर लिया है। द्रव्य तो हमें जो दिखायी देते हैं, वे ही हैं। सांख्य वाले ९ द्रव्य मानते है। पंच महाभूत, काल, दिशा, आत्मा और मन। इनमें दीखते हैं पृथ्वी, जल और तेज ही। शेष सब अनुमान से जाने जाते है।

गुण चौबीस बताये है रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख-दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। इनमें से रूप तो आँखों से दिखायी देता है, अन्य सब बुद्धि आदि इन्द्रियों द्वारा अनुभूत है। इसी प्रकार कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये पदार्थ भी चक्षु द्वारा दिखायी नहीं देते हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि भगवान् को देखने के लिये दृष्टि भी दिव्य चाहिये। दिव्य दृष्टि से ही भगवान् देखे जा सकते हैं और दिव्य दृष्टि अपने आप किसी साधन से नहीं मिलती। भगवान् ही कृपा करके दिव्य दृष्टि दें तो वे देखे जा सकते हैं। अर्जुन इतने दिन भगवान् के साथ रहे किन्तु उनके यथार्थ रूप के वे दर्शन न कर सके, जब भगवान्

ने स्वयं ही कृपा करके उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करदी तब उनके विराट् रूप के वे दर्शन कर सके।

हम को जल तो दिखायी देता है, किन्तु उसका रस स्वाद दिखायी नहीं देता। रस तभी जाना जायगा, जब उसका संयोग रसनेन्द्रिय के साथ हो जाय। जब जिह्वा पर जल रखा जाय तब हम अनुभव कर सकते हैं, कि यह जल खारा है या मीठा। सूर्य चन्द्रमा को तो हम देखते हैं, किन्तु उसकी प्रभा को हम देख नहीं सकते। प्रभा का हम अनुमान ही करते हैं। हम आकाश को नहीं देख सकते। जब शब्द होता है, तो श्रवणेन्द्रिय द्वारा आकाश के अस्तित्व को मानते हैं। पुरुष को तो हम चर्म चक्षुओं से देखते हैं। किन्तु उसके कार्यों को देखकर उसके पौरुष का अनुमान लगाते हैं। पौरुष दिखायी नहीं देता। पृथ्वी को तो हम देखते हैं, किन्तु गन्धवती पृथ्वी है, उस पृथ्वी की गन्ध का अनुमान घ्राणेन्द्रिय से लगाते हैं। अग्नि को तो हम देखते हैं, किन्तु इस अग्नि में तेज (उष्णत्व) कहाँ छिपा है इसका अनुमान हम त्वक् इन्द्रिय ही द्वारा करते हैं। हम प्राणियों को तो देखते हैं, किन्तु इनमें जीवन किस स्थान में छिपा है, यह हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। जब उन्हें श्वास प्रश्वास लेते अन्य कार्य करते देखते हैं, तब अनुमान लगाते हैं कि ये जीवनधारी हैं। इनमें जीवन है। हम तपस्वी को तो प्रत्यक्ष देखते हैं, किन्तु उसके भीतर तप कहाँ बैठा हुआ है, वह तप आँखों से दिखायी नहीं देता। जब वे असाधारण कार्य करते हैं, जैसे गर्मी में पंचाग्नि तापना, शीत में नगे रहना आदि-आदि कार्य करते दिखायी देते हैं, तब हम अनुमान लगाते हैं, कि ये तपस्वी पुरुष होंगे। कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि जो गुण है उनका विशेष धर्म है, वही भगवान् का स्वरूप है। भगवान् स्थूल नहीं सूक्ष्मातिसूक्ष्म

हैं। वैसे वे किसी बन्धन में किसी नियम में किसी विधि निषेध में बँधे हुए नहीं हैं। वे सर्व बन्धन मुक्त हैं। वे स्थूल कभी हो ही न सकते हों, उनमें स्थूल होने की सामर्थ्य ही न हो सो भी बात नहीं। वे स्थूल से स्थूल हो सकते हैं और सूक्ष्म से सूक्ष्म भी। महान् से महान् बन सकते हैं और छोटे से छोटे भी। वे पैर लगाकर भी चल सकते हैं और बिना पैरों के भी सबसे अधिक दौड़ सकते हैं। वे इस विश्व के बीज है। जैसे बीज ही वृक्ष के अणुपरमाणु में सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी बीज वृक्ष में पृथक् भी लग जाता है। इसी प्रकार इस जगत् में जैसे कपड़े में धागा ही धागा है। इसी प्रकार जगत् के ताने में भी और बाने में भी वे ही श्रीहरि विराजमान है। वस्त्र बन जाने पर कोई उसे तागा नही कहता। वस्त्र कहते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् जगत रूप में परिणत हो जाते हैं, तो उसे सब लोग संसार या जगत् ही कहते है। साधारण लोग कपड़े को तो देखते हैं, किन्तु यह नहीं जानते इसमें नाम और रूप को छोड़कर वस्त्रपना कुछ भी नहीं है। विशुद्ध सूत ही सूत है। इसके लिये विचार चाहिये, विवेक चाहिये सूक्ष्म बुद्धि चाहिये। भगवान् वस्तुओं में किस रूप से छिपे बैठे रहते हैं, इसे उनके अतिरिक्त दूसरा कोई बता भी नहीं सकता। सबको वे बताते भी नही। जिसे वे प्रियरूप से वरणकर लेते हैं, उसी के सम्मुख विवरण प्रस्तुत करते है, उसी को अपना स्वरूप बताते हैं। उसी से कहते हैं, हम अमुक स्थान में अमुक नाम से निवास करते हैं। अर्जुन-नर-उनका चिर सखा है। सदा का साथी है उसी को भगवान् अपना परिचय दे रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—भगवन्!

आप पृथ्वी में किस रूप से रहते हैं ? तब भगवान् ने कहा—"पृथ्वी में मैं पवित्र गन्ध रूप से रहता हूँ ।"

अर्जुन ने कहा—गन्ध के साथ पुण्य-विकार शून्य-विशेषण क्यों लगाते है ?

भगवान् ने कहा—देखो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच भूतों में जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये तन्मात्रायें हैं । ये स्वाभाविक रूप से पुण्यमय हैं अपवित्रता तो अधर्म के संसर्ग से हो जाती है, वह स्वाभाविक नहीं । मैं स्वभावतः पावन हूँ, पुण्यमय हूँ, अतः पृथ्वी में पुण्यमय गन्ध के ही रूप में रहा करता हूँ ।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! अग्नि में आप किस रूप से निवास करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अग्नि में मै तेज रूप से रहता हूँ । अग्नि अपने तेज से सबको जलाने की सामर्थ्य रखती है । वह अंधकार को नाश करके प्रकाश फैला देती है अपने तेज द्वारा ही । तेज भी चार प्रकार का होता है । एक तो भौम तेज जैसे अग्नि में । दूसरा जल में भी तेज होता है । जल के सहारे-सहारे कितने भी अन्धकार में चले जाओ तुम माग न भूलोगे । आकाश में जो बिजली चमकती है यह जल का ही तेज है । समुद्र में वही अग्नि बड़वानल रूप में रहती है जल से विद्युत पैदा करके उससे नाना कार्य किये जाते हैं । तीसरा पेट में रहने वाली जठराग्नि का भी तेज है, वह खाये हुए सभी पदार्थों को पचा जाती है । चौथा तेज सुवर्ण आदि खान से उत्पन्न होने वाली धातुओं में होता है । इसलिये अग्नि में जो उष्ण स्पर्श सहित शुक्ल प्रकाशमय तेज है वह मेरा ही स्वरूप है । समुद्र में वड़वा नल रूप में तथा आकाश में विद्युत के रूप में जो दिव्य जलीय तेज है वह मेरा

ही रूप है। प्राणियों के उदरों में जठराग्नि रूप से प्राण अपान द्वारा खाये हुए अन्न को पचाने वाला वैश्वानर का तेज है। वह मेरा ही स्वरूप है। और सुवर्णादि धातुओं में जो चमक रूप 'आकरज' तेज है वह भी मेरी ही चमक है। मैं सब में तेज रूप से रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—सब चराचर प्राणियों में आप किस रूप से रहते हैं ?

भगवान् ने कहा—समस्त चराचर प्राणियों में सभी भूतों में-मैं जीवन रूप से रहता हूँ।

अर्जुन ने कहा—"पाषाणादि जो जड़ हैं, जो निर्जीव हैं, उनमें आप नहीं रहते हैं क्या ?"

भगवान् ने कहा—"निर्जीव तो कोई है ही नहीं। पाषाण आदि में भी जीव है। उनमें भी मैं जीवन रूप से ही रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर पाषाणादि को जड़ क्यों कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अपेक्षाकृत जड़ हैं। जैसे किसी पंडित के ५ पुत्र हैं। ४ तो विद्वान है एक पढ़ता नहीं तो पंडित जी कह देते हैं। चार लड़के तो ठीक हैं। ये पाचवाँ सर्वथा जड़ है। तात्पर्य इतना ही कि इसमें बुद्धि का विकास अन्यों की अपेक्षा कम है। जड़त्व अपेक्षाकृत है। वास्तव में तो चैतन्य से उत्पन्न हुए इस सम्पूर्ण संसार के सभी पदार्थ चैतन्य ही हैं। जिसमें जीवन नहीं ऐसा कोई पदार्थ ही नही। जिसमें बुद्धि का प्रकाश अधिक हो गया, वह अधिक चैतन्य कहा गया। जिसमें बुद्धि का प्रकाश न्यून से न्यून है, उसको जड़ संज्ञा हो गयी। जैसे एक काँच का बना घर है। उसमें बैठकर काम करें तो भीतर वाले लोगों को बाहर के लोग भी देख सकते हैं। दूसरा मकान ईंट चूने से बना है, उसके भीतर काम करने वालों को बाहर के

लोग नहीं देख सकते। यद्यपि दोनों ही भवन पार्थिव पदार्थों से बने हैं। काँच भी पृथ्वी है, किन्तु काँच में तेज अधिक है, इसलिये वह श्रेष्ठ पार्थिव पदार्थ है। उसमें पारदर्शीपन है। ईंट चूना में तेज ग्रहण करने की शक्ति बहुत ही न्यून है अतः वह उसकी अपेक्षा कनिष्ट है। इसी प्रकार जड़ता चैतन्यता बुद्धि के प्रकाश के कारण है। जिसमें जितनी ही अधिक बुद्धि की विमलता निर्मलता तथा प्रकाश है वह उतना ही अधिक चैतन्य है। इस लिये समस्त प्राणियों में जीवन मैं ही हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"तपस्वियों में आप किस रूप से रहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"पुरुष तो सभी एक से ही होते हैं। किसी गुण के विशेष होने से उनमें विशेषता आ जाती है। जैसे विद्या अधिक हुई तो उसे विद्वान् कहते हैं। धन अधिक हुआ तो उसे धनवान् कहते हैं। ज्ञान अधिक हुआ तो ज्ञानवान् कहते हैं। इसी प्रकार जिनमें तप अधिक हुआ वे तपस्वी कहाते हैं। जिस तप रूपी गुण के कारण वे तपस्वी कहलाते हैं, वह तप मेरा ही रूप है। मैं तपस्वियों में तप रूप से रहता हूँ। मैं सब भूतों के उनके उन-उन गुणों द्वारा अनुस्यूत हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आम का वृक्ष का आम के बीज द्वारा अनुस्यूत है। पुत्र पिता के वीर्य द्वारा अनुस्यूत है। प्राणि मात्र अपने-अपने बीजों द्वारा एकीभूत हो रहे हैं। आप कहते हैं सब मुझमें अनुस्यूत हैं इसे बताइये वे अपने बीजों में अनुस्यूत हैं या आप में?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—अरे, बाबा! सब का सनातन बीज तो मैं ही हूँ। इस संसार रूपी वृक्ष का आदि बीज तुम मुझे ही जानो। हे पार्थ! जिस बुद्धि तत्व द्वारा जड़

चेतन का भेद-भाव होता है, जिस बुद्धि द्वारा लोग बुद्धिमान कहलाते हैं, उन बुद्धिमानों की बुद्धि भी मुझे ही जानो।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! तेजस्वियों में आप किस रूप से रहते हैं?"

भगवान् ने कहा—तुम्हें कहाँ तक गिनाऊँ? तेजस्वियों में जो तेज है, वह तेज मेरा ही रूप है। मैं ही तेज रूप में उनके शरीर में निवास करता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—बलवानों में आप किस रूप से रहते हैं?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् जो इस विषय का उपसंहार करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

होवैं जितने जीव जगत में अंडज पिंडज।
चर होवैं वा अचर होहिँ उद्भिज वा स्वेदज॥
सब को हौं ही बीज सनातन नित अविनाशी।
होहि न मेरो नाश करम फल माहिँ उदासी॥
बुद्धिमान जितने पुरुष, तिनि सब में हौं बुद्धि हूँ।
सब तेजस्विनि तेज हौं, अति शुद्धनि में शुद्ध हूँ॥

समस्त त्रिगुणात्म भाव भगवान् से ही हैं

[६]

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥*
(श्रीभ० गी० ७ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

बलवाननि में कहैं मोइ बल भरतरिषभ सुनि ।
जिहि में नहिं आसक्ति कामना रहित कह्यो मुनि ॥
जितनी हैं सामर्थ्य सकल समरथ पुरुषनि में ।
सबमें मोकूँ जानि लगाओ मन मम मन में ॥
काम सबनि व्याकुल करे, धरम अधर्म स्वरूप है ।
होहि धरम अनुकूल तो, वह मेरो ई रूप है ॥

---

* हे भरतवंशावतंस ! मैं ही कामराग से वर्जित बलवानों का बल हूँ, प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध काम भी मैं ही हूँ ॥११॥

जो भी सत्त्वगुण से, रजोगुण से तथा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न हुआ जान । उनमें मैं तो नहीं हूँ परन्तु मुझमें वे ही हैं ॥१२॥

भगवान् तो सर्वत्र हैं, अणु परमाणु कोई भी तिलभर भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ भगवान् न हों। उनके बिना किसी पदार्थ की सत्ता ही नहीं। काल स्वरूप वे ही प्रभु हैं। जगदुत्पत्ति के समय वे ही संकल्प, इच्छा या काम स्वरूप हो जाते हैं। पालन के समय वे ही रक्षक पालक तथा जीवनदाता बन जाते हैं। संहार के समय वे ही संहर्ता रुद्र तथा काल बन जाते है। जैसे मकड़ी अपने उदर से ही सूत्र निकाल कर जाला बनाती है। जब तक इच्छा होती है उसमें क्रीड़ा करती रहती है, जब इच्छा होती है उसे निगल जाती है। जाला उस मकड़ी से भिन्न नहीं मकड़ी से जाला है, किन्तु जाला से मकड़ी नहीं। मकड़ी जाला को बना सकती है, वह जाले का तन्तु यद्यपि मकड़ी से भिन्न नहीं उसी के अंग से—उदर से—उत्पन्न हुआ है, किन्तु उदर से उत्पन्न होने पर जाला मकड़ी की रचना नहीं कर सकता। मकड़ी ही जब चाहे जाला बना सकती है, जब चाहे उसे निगल सकती है।

जल से परिपूर्ण अगम अगाध समुद्र है। कोई बता नहीं सकता समुद्र में कितना जल है। उस जल से तरंगें उत्पन्न होती हैं। तरंगें समुद्र की ही हैं। समुद्र का जल न हो तो तरंगें भी न होंगी। जब, समुद्र शान्त निस्तरंग स्तब्ध हो जाता है, तो उसमें तरंग भी नहीं दृष्टिगोचर होतीं, किन्तु जब चाहें समुद्र में तरंग उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिये समुद्र में तो तरंग हैं। किन्तु तरंग में समुद्र नहीं। सब कोई समुद्र को तरंगें तो कहते हैं, किन्तु यह कोई नहीं कहता कि तरंग में समुद्र है। इसी प्रकार संसार के समस्त भाव भगवान् से ही होते हैं। भगवान् में तो वे भाव हैं, किन्तु भावों में भगवान् हों, यह बात नहीं है।

भगवान् सर्व पदार्थों में विशुद्ध सार रूप में बैठे रहते हैं गुण

रूप में, विभूति रूप में भगवान् पदार्थों में जाने जाते हैं। जैसे कामदेव है। वह भी एक देव ही है यज्ञयागों में कामदेव की पूजा होती है। सभी प्राणियों में कामदेव रहते हैं, किन्तु वह काम विशुद्ध हो, धर्म का विरोधी न हो। धर्मानुकूल काम मे ही भगवान् का निवास है। अधर्म युक्त काम में वे नहीं रहते। यह बात उपासना के निमित्त कही गई है। भगवान् की विभूतियों को उपासना करे, तो उनके विशुद्ध रूप की ही उपासना करे। अशुद्ध रूप की साधक उपासना करेगा, तो वह साधन से च्युत होकर पतित हो जायगा। इसलिये साधना सदा सर्वदा शुद्ध रूप की-धार्मिक रूप की ही की जाती है। यों तत्त्व से देखो, तो भगवान् तो धर्म-अधर्म सभी में व्याप्त हैं। धर्म उनके वक्षःस्थल से उत्पन्न हुआ है, अधर्म पृष्ठभाग से। धर्म-अधर्म दोनों ही भगवान् से उत्पन्न होने के कारण दोनो सगे भाई ही हैं। भगवान् ही सबकी उत्पत्ति के एकमात्र स्थान हैं। भगवान् के अतिरिक्त कुछ भी अणुमात्र भी नहीं है। भगवान् एक रूप से तो भोग बन जाते हैं, दूसरे रूप से भोक्ता बनकर उसका उपभोग करते हैं। एक रूप से तो हवि बन जाते हैं, दूसरे रूप से देवता बनकर उस यज्ञ भाग को स्वीकार करते हैं। भोग और भोक्ता ही हों सो बात नही। अर्पण, हवि, अग्नि, होता, ऋत्विज्, पुरोहित, यजमान यजमानी सब वे ही हैं, क्योंकि उनसे अतिरिक्त कुछ है हीं नहीं। फिर भी साधक उनकी उत्तम दिव्य विभूतियों की ही उपासना करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—कि आप बलवानों में किस रूप में रहते हैं? तब भगवान् ने कहा—बलवानों में मैं कामराग विवर्जित बल के रूप से रहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—कामराग विवर्जित विशेषण क्यों लगाया महाराज?

भगवान् ने कहा—काम कहते हैं कामना को-स्पृहा या वासना-को और राग कहते हैं रंग को क्रोध को भी। जिस बल में परपीड़न की भावना है, स्वार्थ सिद्धि या विषयोपभोग की स्पृहा है तथा अत्यन्त अनुरक्ति के कारण क्रोध या रोष है, वह बल तो खलों का बल है। विद्या, धन और बल ये विशुद्ध होते हैं तभी मेरी विभूति के रूप ज्ञान, श्री और पौरुष के रूप में होते है। इसलिये साधुपुरुष बलवानों का जो कामराग से वर्जित बल है, वही मेरा रूप है।

अर्जुन ने पूछा—"पहिले आप चराचर में जीवन को अपना रूप बता चुके हे अब मैं यह पूछता हूँ जीवनधारी भूतों में आप किस रूप से रहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जिसके हृदय में काम न हो, किन्तु काम दो प्रकार का होता है, एक धर्म विरुद्ध दूसरा धर्म अविरुद्ध। सो मै धर्म से अविरुद्ध काम रूप से प्राणियों के हृदयों में रहता हूँ। हे भरतर्षभ! तुम अब अधिक प्रश्न मत करो अधिक बात बढ़ाने से कोई प्रयोजन नहीं। संसार में जितने भाव है, सब मुझसे ही हैं। मैं ही उन सबका जनक हूँ।"

अर्जुन ने कहा—पहिले तो आप कामराग विवर्जित, धर्माविरुद्ध, पवित्र आदि विशेषण लगाकर बताते थे अब आप कहते हैं, संसार के सभी भाव मुझसे ही है, यह क्या बात है?

भगवान् ने कहा—प्रकृति भी मेरी ही है, मेरी ही इच्छा से वह जगत् की सृष्टि करती है। त्रिगुणों की उत्पत्ति भी मेरी ही इच्छा से होती है। जिससे शम, दम, तप ज्ञान आदि वृत्तियाँ होती है वह सत्त्वगुण मुझसे ही होता है। जिस रजोगुण अहंकार, दर्प हर्षादि भाव उत्पन्न होते हैं, उस रजोगुण का जनक

भी मैं ही हूँ। जिस तमोगुण से शोक मोहादि वृत्तियाँ उत्पन्न होती है, वह भी मुझसे पृथक् नही। कहने का भाव यही कि जो भी भाव हैं, फिर वे चाहें सात्विक हों, राजस् हों अथवा तामस ही क्यों न हों उन सबकी उत्पत्ति तुम मुझसे ही जानो। वे सब मेरे ही अन्तर्गत है। सबके सब मुझमें ही हैं।

अर्जुन ने पूछा—जब सब आप में ही हैं, आप भी उनके भीतर बैठे रहते होंगे ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन कैसा ऊट पटांग प्रश्न कर रहे हो ? अरे, समुद्र में तरग होती हैं, किन्तु तरगों में तो समुद्र नहीं बैठा रहता। मकड़ी से जाला उत्पन्न होता, किन्तु जाला तो मकड़ी नहीं है। इसलिये वे सात्विक, राजस् और तामस् भाव मुझमें तो हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! यह तो आपने विचित्र बात कह दी। हिम से उत्पन्न जल उसी के गुण वाला होगा। आप तो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त निर्लेप और निर्द्वन्द्व है। आप से जो यह जगत् होगा, तो आपके ही गुण वाला होना चाहिये। फिर ये जीव माया के चक्कर में पडकर, नाना क्लेशों को क्यों सहते रहते हैं ? सबकी उत्पत्ति आप से ही हैं, तो जीव को मोह क्यों होता है ? चौरासी के चक्कर में क्यों भटकता रहता है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जितने सात्त्विक भाव होहिँ मोई तें प्रकटित।
राजस जितने रजोगुनी मोई तें विकसित॥
कह्यो तमोगुन अधम किन्तु मोई तें होवैं।
मेरे बिनु नहिँ होहिँ सबहिँ मेरो मुख जोवैं॥
किन्तु वास्तविक बात यह, रहूँ न मैं इनमें कबहुँ।
वे मोमें होवैं नहीं, मेरे ही भासैं तबहुँ॥

प्राणी प्रभु की दुष्पार माया का पार उनकी शरण लेने से ही पा सकता है

[७]

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

कोई मोहित होहिँ सात्विक भावनि माहीं ।
कोई राजस माहिँ तमोगुण कामनि माहीं ॥
तीनिहु गुनके भाव विश्व में व्याप्त सकल हैं ।
इनिमें फँसि कें जीव कालवश सब मोहित हैं ॥
यह तिरगुन मोहित जगत, गुन कामनि मानत सही ।
तीनि गुनिन तें परे जो, मो अव्यय जानत नहीं ॥

---

* यह समस्त जगत् तीनों प्रकार के गुणों के कार्यरूप भाव से मोहित हो रहा है, इन तीनो गुणों से परे मुझ अविनाशी को लोग नही जानते हैं ॥१३॥

इसलिये लोग नही जानते कि मेरी यह गुणमयी दैवीमाया बड़ी दुस्तर है। जो लोग मेरा ही निरन्तर भजन करते रहते हैं, वे ही इस माया को तर जाते हैं ॥१४॥

भगवान् ने यह तीनों गुन वाली तीन लर की रस्सी ऐसी सुदृढ़ बना दी है, कि इस रस्सी के बन्धन को तोडकर कोई विरला ही बन्धन मुक्त-स्वतन्त्र-हो सकता है। संसार रूपी समुद्र को पार कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं था, यदि बीच में यह देवी माया अन्तराय न हो जाती तो। इस माया के बीच में आ जाने से संसार रूपी समुद्र को पार करना कठिन हो गया है। माया का अपना कोई रूप नहीं। यह बहुरूप धारण करने वाली है। जो दिखायी तो दे किन्तु वह उसका यथार्थ रूप न हो वही माया है। लोक में नाना रूप बनाकर बहुरूपिया आते हैं। वे अनेक रूप रखकर मनुष्यों को रिझाते हैं उनसे पारतोषिक पाते हैं। वे स्त्री नहीं हैं, फिर भी सर्वथा स्त्री का-सा वेष बनाकर आपको भ्रम में डाल देंगे। वे राजकर्मचारी नहीं हैं, किन्तु राजकर्मचारी का ऐसा वेष बनाकर आवेंगे, कि आप सहसा पहिचान नही सकेंगे, कि यह राजकर्मचारी नहीं है। इसी प्रकार यह ठगिनी माया विविध वेश बनाकर जीवों को संसार चक्र में भ्रमाती रहती है। प्राणी इसका यथार्थ रूप न समझकर इसके चक्कर में आ जाते हैं और चौरासी लाख योनियों में घूमते रहते हैं।

पुराणों में माया के सम्बन्ध के अनेकों आख्यान हैं। उन आख्यानों को पढ़ने से यही लगता है, कि माया ही सभी को घुमा रही है। सात्विकी प्रकृति वालों को सात्विक भाव से घुमाती है राजसी प्रकृति वालों को राजस भाव से और तामसी प्रकृति वालों को तमोगुण के भावों से घुमा रही है। जो इस माया के चक्कर में न पड़कर इसके स्वामी महेश या माधेश की शरण में चला जाता है वही संसार समुद्र से पार हो जाता है।

एक बार मार्कंडेयजी के तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवान् नर नारायण ने उन्हें दर्शन दिया और प्रसन्न होकर उनसे वर

माँगने को कहा। मुनि ने कहा—"प्रभो! मै आपकी माया का दर्शन करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है तुम्हें माया, का दर्शन हो जायगा।" यह कहकर भगवान् तो अन्तर्धान हो गये। मुनिवर माया का ही चिंतन करते हुए अपनी कुटिया पर बैठे रहे। उसी समय आकाश में बड़ी गड़गड़ान-तड़तडान हुई। बादल घिर आये। महान् वर्षा होने लगी। समुद्र उमड़ आया। मुनि घबड़ाये, कुटी में घुस गये। पानी ने पीछा नहीं छोड़ा कुटिया, पहाड़, पेड तथा सभी वस्तुएँ जल मग्न हो गयीं। ऋषिवर जल में तैरने लगे। जल में कभी मछली, कभी मगर आ जाते। सातों समुद्र एक हो गये। ऋषि तैरते-तैरते कहाँ चले गये कुछ पता नहीं। लाखों वर्षों तक जल में तैरते रहे। लाखों करोड़ों वर्ष के पश्चात् प्रयागराज में आ गये। प्रलय के समय चराचर विश्व की सभी वस्तुएँ तो जल मग्न हो जाती हैं, किन्तु प्रयागराज का अक्षयवट नहीं डूबता। क्योंकि वह तो अक्षय—अर्थात् नाश रहित ही—ठहरा। उस वृक्ष को देखकर मुनि के प्राणों में प्राण आये। वृक्ष के पत्ते हरे कोमल थे, लाल-लाल फल भी लग रहे थे। मुनि को भूख भी लग रही थी। उस पेड़ की ओर बढ़े तो एक पत्ता दोने के आकार का बना था। उस वट के पत्र के पुट पर एक अत्यन्त ही मनोहर शिशु क्रीड़ाकर रहा था। अपने पैर के अँगूठे को हाथ से पकड़कर मुख में देकर चुसुर-चुसुर चूस रहा था। उसे देखते ही मुनि की समस्त व्यथा भूख प्यास मिट गयी। यह इस प्रलय जल में शिशु कहाँ से आ गया। इससे पूछें तो सही यह सोचकर वे ज्यों ही आगे सरके त्यों ही उसकी स्वाँस के साथ उसके पेट के भीतर घुस गये। पेट में क्या देखते हैं, विश्वब्रह्मांड की सभी वस्तुएँ हैं। हिमालय पर्वत तथा उनकी कुटी भी है।

देखकर चकित रह गये। बच्चे ने फिर साँस छोड़ी कि तुरन्त फिर बाहर अगाध अपार जल में आ गये। फिर प्रश्वास के साथ भीतर घुस गये। फिर वही दृश्य। ऐसे अनेकों बार भीतर बाहर गये। अबके प्रेम में विह्वल होकर शिशु को आलिंगन करने दौड़े, त्योंही वह शिशु, वह वृक्ष, वह प्रलय का जल सब विलुप्त हो गया। मुनि ने आँख फाड़कर देखा न जल, न वट, और न वह शिशु। सब खेल समाप्त। मुनि समझ गये बिना प्रलयकाल भी जो यह प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया, यही भगवान् की माया है। लाखों करोड़ों वर्ष जल मे तैरते बीता था, आँख खोलकर देखा तो आधी घड़ी भी नहीं हुई। यही मायेश की माया है।

ऐसा ही एक प्रसंग नारदजी के सम्बन्ध में आता है। नारदजी ने भी भगवान् से उनकी माया देखने की इच्छा की। भगवान् साधु वेष से उनकी कुटी पर आये और नारदजी को साथ लेकर गंगातट पर आये। साधुजी तीर पर खड़े रहे। नारदजी ने कहा—"मैं स्नान करके मध्यान्ह सन्ध्या कर लूँ।"

साधु ने कहा—"मैं यहाँ किनारे ही बैठा हूँ आप स्नान सन्ध्या से निवृत्त हो लें।"

नारदजी गंगाजी के जल में उतरे। अघमर्षण मन्त्र को पानी में डुबकी लगाकर जल में डूबे ही डूबे तीन बार पढ़ना पड़ता है। नारदजी तीन बार अघमर्षण मन्त्र जपने को ज्यों ही जल में डूबे त्यों ही वे अपने को देखते हैं मैं तो एक अत्यन्त ही सुन्दरी षोडशी नारी बन गया हूँ। स्त्रियों के समस्त चिन्ह उनके शरीर में उभर आये। भीतर ही भीतर उन्हें यह ज्ञान तो है, कि मैं नारद हूँ किन्तु इतनी सुन्दरी स्त्री का शरीर कैसे हो गया, कुछ निर्णय ही न कर सके। नदी तट पर खड़े हुए चारों ओर चकित-

चकित दृष्टि से देख ही रहे थे, कि घोड़े पर चढ़कर वहाँ एक राजकुमार आ गया। एकान्त में अनुपम सुन्दरी श्यामा नारी को देख कर राजकुमार उसे अपने साथ घोड़े पर चढ़ाकर घर ले गये। उसके साथ विवाह कर लिया। १२ लड़के १२ लड़कियाँ हो गयीं। वे सब लड़की लड़के बड़े हो गये, सब लड़कियों के और लड़कों के विवाह हो गये। उन सबके भी बहुत से पुत्र पौत्र हो गये। अब रानी बने नारदजी बूढ़ी डुकरिया हो गये। मर गयीं। बेटा, नाती, पन्ती, धीय, धेवते सब मिलकर उन्हें नदी तट पर ले गये। उनको चिता में रखकर फूंक दिया। धू-धू करके चिता जलने लगी। तभी नारदजी तीन बार अघमर्षण मन्त्र पढ़कर पानी से ऊपर उछले। उन्हें स्मरण था, मैं स्त्री हो गया था, मेरे नाती पन्ती संतो हो गये थे। मैं मर गयी थीं, मुझे जलाने लोग लाये थे। अब मैं जल से बाहर कैसे आ गयी। सामने देखते हैं सैकड़ों आदमी नदी तट पर खड़े हैं, एक चिता जल रही है, उसमें एक शव जल रहा है। अपने पुत्र पौत्रों को भी वे पहिचान गये। इस दृश्य को देखकर वे परम विस्मित हुए तभी किनारे पर बैठे साधु बोले—मुनिवर! क्या आश्चर्य चकित होकर देख रहे हो, प्रतीत होता है, कोई बहु पुत्र पौत्रों वाली भाग्यशालिनी रानी मर गयी है, उसके परिवार के लोग उसे जला रहे हैं। यह तो संसार की माया है।

अब नारदजी को स्मरण हुआ, मैंने भगवान् से माया दर्शन की प्रार्थना की थी, हों न हों ये भगवान् ही हैं। यही सोचकर वे दौड़कर मुनि के चरणों में पड़ गये। तब भगवान् ने अपने साक्षात् चतुर्भुज रूप से उन्हें दर्शन दिये और कहा—"मुनिवर! यही मेरी माया है, जो मेरी शरण में आ जाता है, उसका मेरी माया कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती।" इस प्रकार माया के

सम्बन्ध की अनेक कथायें हैं। विस्तार भय से हम यहाँ उनका उल्लेख नहीं करते।

भगवान् की मोहिनी माया के तीन रूप हैं। एक तो मोहन मोहिनी, दूसरा जगन्मोहिनी और तीसरा पुरुषमोहिनी। मोहन मोहिनी माया तो वह है, जो भगवान् को भी मोहकर उन्हें अपने वश में करले। स्ववशो भगवान् भी अपनी उस मोहन मोहिनी माया के वशीभूत होकर उसके संकेत पर नाचते रहते हैं। उस मोहन मोहिनी माया का ही नाम आह्लादिनी शक्ति है। भगवान् के ही आह्लाद को लेकर वह शक्ति भगवान् को अपने वश में कर लेती है और उन्हें अपने साथ नाच नचाने को रास रचाने को विवश करती है। भगवान् उसके वशीभूत होकर नृत्य करते हैं, बाँसुरी बजाते हैं, उसे रिझाते हैं और उसे रिझाकर परम आह्लादित होते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है, कि भगवान् क्या आह्लाद से शून्य हैं, जो आह्लाद पाने के लिये आह्लादिनी शक्ति के वशीभूत होकर उसके संकेत से नाचते हैं, गाते हैं उसे रिझाते हैं। क्या भगवान् आह्लाद रहित हैं।

भगवान् आह्लाद रहित नहीं हैं, किन्तु रमण एकाकी नहीं होता। 'एकाकी न रमते' रमण के लिये युगल चाहिये, युग्म, मिथुन जोड़ा दो चाहिये। सो भगवान् अपने आह्लाद से स्वयं रसानुभूति नहीं कर सकते। रमण के लिये रसवृद्धि के लिये वे ही एक से बहुत हो जाते हैं। "एकोऽहं बहुस्याम:" वे ही प्रिय प्रियतमा बन जाते हैं। अपने ही बिम्बप्रतिबिम्ब के रूप में दो बनकर क्रीड़ा करते हैं। वियोग में विह्वल होते हैं। आह्लाद की याचना करते हैं, तब आह्लादिनी शक्ति उन्हें आह्लाद प्रदान करती है।

आप कहोगे जो आह्लाद का जनक है वह दूसरों से याचना क्यों करेगा ? अजी, यही तो क्रीडा है, यही तो लीला है यही तो मायेश की माया है। जैसे हिम-बरफ-की एक सुंदरी मूर्ति बना दो। उसके हाथ, पैर, आंख, नाक सम्पूर्ण अंग हिम के ही हैं वह सजीव होकर कहे—मुझे बड़ी प्यास लगी है, शीतल से शीतल जल मुझे पिला दो, अब बताइये बरफ की मूर्ति को शीतल से से शीतल जल कहाँ से पिलाया जा सकता है। मिश्री की एक मूर्ति बनाई। वह सजीव होकर कहे-"मुझे मीठी से मीठी वस्तु खिलादो।" कहाँ से मीठा लाओगे। इसी प्रकार आह्लाद के जनक मायेश भी आह्लाद की याचना करते हैं। उन्हें आह्लाद का दान उन्हीं की शक्ति उन्हीं के आह्लाद को देती है इस बात को इस कथा से समझिये।

श्रीकृष्ण नित्य प्रति गैया चराने वृन्दावन में जाया करते थे। माता उन्हें प्रातः स्नानादि कराकर काजर लगाकर, श्रृङ्गार करके मुकुट पहिना कर, लकुटी देकर, कलेवा कराके, आरती उतार कर प्रेम के साथ गौओं के पीछे विदा करती थी। कुछ दूर तक वे श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे भी जातीं, जब श्रीकृष्ण वन में दृष्टि से ओझल हो जाते तब लौट आतीं और सायंकाल उनके आने की बाट जोहती रहती।

एक दिन माता के हृदय में अपने मुनमुना से श्यामसुंदर के प्रति अत्यन्त ही आह्लाद-हेज-उत्पन्न हुआ। माँ ने सोचा-आज श्यामसुन्दर को खूब सजाऊँगी। उन्होने उबटन लगाकर सुगंधित जल से मल-मल कर श्यामसुंदर को खूब स्नान कराया। शरीर में अंगराग लगाया। केशर कस्तूरी गोरोचन का तिलक खोर लगाया। मोटा-मोटा काजर लगाया। भाल के कोने पर पैर के तलुओं में दिठौना लगाया। अतलस की गोटादार अँगरखी पहि-

नाई पीताम्बर पहिनाया, अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण पहिना कर सजाया। केशर मिश्री मिला हुआ अधौटा दूध पिलाया। फिर ध्यान आया वन में जायगा कोई भूत-प्रेत बाधा न दे, इसलिये थोड़ी सी राख उन्हें चटाई। सुंदर से सुन्दर हीरा मोतियों से जटित मोर मुकुट पहिनाया। रंग बिरंगी लकुटी उनके हाथ में दी। कमर में बंधे दुपट्टा में मुरली, नरसिंहा खोंस दिया। मुख में सुगन्धित पान देकर आरती करके उन्हें कसकर छाती से चिपटा कर मुख चूमकर विदा किया।

आज श्यामसुंदर की प्रसन्नता का क्या ठिकाना था, हृदय में से आह्लाद उफना पडता था, उनके रोम-रोम से आह्लाद फूट रहा था। जैसे किसी कटोरे में ऊपर तक दूध भर दो, तो तनिक सी ठेस लगते ही वह बाहर छलकने लगता है, इसी प्रकार श्रीकृष्ण का आह्लाद आज छल-छल करके छलक रहा था। वह छोटे कृष्ण के छोटे हृदय में समाता ही नहीं था। श्रीकृष्ण उछाह में भरे यमुना तट की ओर दौड़े जा रहे थे। माता विदा करके लौट गयी थी। श्रीकृष्ण उमंग में भरे आह्लाद को छलकाते हुए बिखेरते हुए अपनी धुनि में चले जा रहे थे।

भगवान् के समस्त वस्त्र, आभूषण, अंग, उपांग, भाव सभी वस्तुएँ चिन्मय होती हैं। जड़ता का तो वहाँ प्रवेश ही नहीं। इसीलिये भगवान् का आह्लाद भी चिन्मय ही था। कृष्ण छोटे आह्लाद अत्यधिक वे आह्लाद को सम्हाल न सके, वह गली कूचे, डगर, बगर, पौरी, आँगन, बन, उपवन, कुञ्ज निकुञ्ज सभी में बिखरने लगा और उसे क्रोध भी आ गया। आह्लाद ने सोचा—"ऐसे छोटे हृदय वाले कृष्ण के पास अब मैं नहीं रहूँगा।" यह सोचकर आह्लाद श्रीकृष्ण हृदय से निकल कर भागा।

आप ही सोचिये जिसके हृदय से आह्लाद निकल जाय,

उसकी कैसी विचित्र दशा होगी। जब आह्लाद निकलकर भागा, तब श्रीकृष्ण ने उसे डाँटते हुए कहा—"अरे, अरे, कहाँ भागा जाता है, तनिक खड़ा तो रह।" किन्तु वह कब सुनने वाला था, वह मूट्ठी बाँधकर भागा श्रीकृष्ण भी कम खिलाड़ी नहीं थे। नटवर ही ठहरे, ये भी पीताम्बर को कसकर फेंट बाँधकर उसके पीछे पकड़ने को भागे। आगे-आगे आह्लाद और पीछे-पीछे श्रीकृष्ण। कभी-कभी तो श्रीकृष्ण उसके निकट ही पहुँच जायं, किन्तु वह फिर पूरे वेग से भाग खड़ा हो। इस प्रकार दोनों भागते हुए यमुना के तट वंशीवट के निकट पहुँच गये। अबके कृष्ण ने ऐसी दौड़ लगायी कि एक हाथ और बढ़ादें, कि वह झट पकड़ में आ जाय। आह्लाद ने जब देखा कि अब तो मैं पकड़ में आ ही जाऊँगा, कहीं छिप जाऊँ। छिपने को कोई समीप में स्थान नहीं था। श्रीकृष्ण सिर पर ही सवार थे। आह्लाद ने इधर-उधर देखा तो क्या देखता है, यमुनाजी के तट पर एक छोटी सी—भोरी सी—कनकलता के सदृश अत्यन्त ही सुन्दरी मनोरमा गोरी सी छोहरी बैठी सुवर्ण कलश को हाथ में लिये हुए पानी भर रही है। आह्लाद ने अन्यत्र कहीं छिपने को आश्रय न देखकर उसी छोहरी के हृदय में जाकर छिप गया। अब श्रीकृष्ण सिटपिटा गये। कोई छोहरा होता तो उसे पकड़कर धर दबाते। किन्तु छोहरी से हाथ कैसे लगावें, और वह छोहरी भी एकदम अपरिचिता। खड़े हो गये। विवशता के स्वर में रिरियाते हुए बोले—"ऐजी ऐजी! आप कौन हैं?"

लड़की ने अपना सिर ऊपर उठाया। देखा एक अत्यन्त सुघर मनोहर वस्त्राभूषणों से सजा हुआ मोर मुकुट धारण किये हुए कृष्ण वर्ण का छोहरा विवशता के भाव से दीन बना उससे प्रश्न कर रहा है। लड़की को दया आ गयी, उसने पूछा—तुम

क्या चाहते हो ? वाणी में मिश्री सी घोलते हुए श्याम सुन्दर ने कहा—"मै आपका परिचय जानना चाहता हूँ।"

लड़की कुछ सहमी फिर पंचम स्वर में वीणा विनिन्दित वाणी में भाव विह्वल होकर बोली—"मै बरसाने के राजा वृषभानु जी की पुत्री हूँ, मेरा नाम राधा है ?"

मानों श्रीकृष्ण के कानों में किसी ने अमृत उड़ेल दिया हो, सहसा वे बोल उठे—"राधा ! राधा !! राधा !!! राधा आप ही हो ?"

लड़की सकपका गयी शरमा गयी, सिर नीचा करके बोली—"क्यों तुम मेरा नाम कैसे जानते हो ? तुम कौन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ?"

अब श्यामसुंदर की बारी थी। उनका हृदय वेग से धड़कने लगे। दोनों हाथों से उन्होंने कसकर हृदय को थामा और अत्यंत ही मधुर वाणी में बोले—"वृषभानुनन्दिनी कीर्ति कुमारी का सुनाम कौन अभागा न जानता होगा। उनकी सुदरता की तो सम्पूर्ण व्रज भर में चर्चा है। मैं नन्द जी का लडका हूँ, यशोदा मेरी मैया है, मुझे सब लोग कृष्ण-कृष्ण कहते हैं।"

इस दो अक्षर के नाम को सुनते ही राधाजी चौंक पड़ी—"कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण तुम्हारा ही नाम है। कृष्ण चोर तुम ही हो।"

राधाजी कहते तो कह गयीं, किन्तु पीछे उन्हें बड़ा भारी पश्चात्ताप हुआ। मेरे मुख से यह कैसा शब्द निकल गया। पहिली ही भेंट ऐसा अनर्थ। किसी को चोर कहदो, तो उसे कितना दुःख होगा। लज्जा के कारण उनका मुखमण्डल लाल हो गया, वे भय विह्वला-सी नीचे की ओर निहारने लगीं।

अब कृष्ण को कुछ साहस हुआ, वे बोले—"राजा की बेटी

को यह बात शोभा नहीं देती। मैंने आपकी कौन-सी वस्तु चुरायी है ?"

अब राधा जी क्या कहतीं-सोचने लगी, चोर तो ये अवश्य ही है, आते ही इन्होंने मेरा मन ही चुरा लिया। रात में नहीं दिन में चुराया, छिपकर नहीं सबके सामने चुराया, मारधाड़ करके नहीं हँसते-हँसते चुराया। किन्तु सत्य बात को भी अप्रिय होने पर न कहना चाहिये, यही सोचकर वे बोलीं—"मुझे क्षमा कर दीजिये, मैंने तो ऐसा सुना था, अनायास मेरे मुख से यह निकल गया। आग लगे ऐसे मुख मे।"

अब तो रंग में भंग होना चाहती है। राधाजी अत्यधिक लजा गयी हैं, उनकी लज्जा को दूर करने के लिये श्यामसुंदर शीघ्रता के साथ बोले—"नहीं-नहीं, क्षमा की कोई बात नहीं। आपने जो सुना है वह सत्य ही है। मैं किसी के रुपये पैसे नहीं चुराता, वस्त्राभूषण भी नहीं चुराता मुझे गोरस चोरी की आदत पड़ गयी है। चोरी का माखन मुझे बहुत ही स्वादिष्ट लगता है, इसलिये कभी-कभी गोरस चुरा लेता हूँ। सो भी किसी दूसरे का नहीं अपना जहाँ समझता हूँ वहीं से चुराता हूँ।"

राधाजी मन ही मन प्रसन्न हुई। श्री कृष्ण के प्रत्येक शब्द में अपनापन था, इससे उनका कुछ साहस बढ़ा और बोलीं—"तो आप मुझसे क्या चाहते हैं, मेरे पास तो गोरस है नहीं, मेरी किस वस्तु पर आपकी ताक है ?"

यह सुनकर श्याम सुन्दर मुस्कराये और बोले—"अजी, मुझे सर्वथा चोर ही मत समझो मैं आपकी सोने की गगरी नहीं चुराऊँगा। मेरी एक वस्तु खो गयी है, मै उसी को खोज में हूँ। आपके पास हो तो दे दो।"

अब राधाजी का साहस और बढ़ा वे बनावटी क्रोध की मुद्रा

में बोलीं—"संसार सभी को अपना जैसा ही समझता है। तुम स्वयं चोर हो, और मुझे भी चोर समझकर चोरी लगा रहे हो ?"

शीघ्रता के साथ श्रीकृष्ण बोले—"नहीं-नहीं जी, आप तो कुपित हो गयीं। मेरा अभिप्राय यह नहीं था, कि आपने मेरी वस्तु चुरायी है। मेरे देखते-देखते वह आपके हृदय में घुस गयी है ?"

क्रोध की मात्रा और दुगुनी करके लड़की बोली—"तो क्या आप मेरे हृदय को खोलकर उसकी तलाशी लेना चाहते हो ?"

सकपका गये श्रीकृष्ण वे बोले—"नहीं-नहीं, मेरी ऐसी इच्छा नहीं। भला मैं ऐसा दुस्साहस कर सकता हूँ। मेरा निवेदन इतना ही है कि मेरा आह्लाद जो आपके पास है उसे मुझे लौटा दें।"

अब उनका पारा चढ़ता ही जाता था, वे बोली—तुम्हारे घर हम चोरी करने नहीं गये थे, यमुना तट पर यदि हमें कोई वस्तु पड़ी मिल जाय, तो वह हमारी है। "पाई चीज कमाई। धरि कोठे पर पर खाई, टका देउ छुड़वाई।" इतना कहा—और वे तनिक मुस्करायी, सुवर्ण कल-सी यमुना जल से भरी श्री कृष्ण को सींग दिखाकर, वेणी हिलाते हुए राधिका जी वहाँ से गगरी सिर पर रख कर बरसाने की ओर चल दी।

श्रीकृष्ण सर्वस्वलुटे व्यापारी की भाँति जूआ में सर्वस्व-हारे जुहारी की भाँति, मणि विहीन सर्प की भाँति वहाँ चिन्ता मग्न कुछ देर खड़े रहे, फिर पालतू हिरन की भाँति राधा जी के पीछे-पीछे चलने लगे। जाते-जाते राधा जी कनखियों से देखती भी जातीं थीं कि ये पीछे आ रहे हैं या नहीं। इसलिये फिर अपने आह्लाद को दूसरे के हृदय में छिपा देखकर उसे पाने की इच्छा से श्रीकृष्ण राधाजी के पीछे-पीछे फिरने लगे। जब वे महल में घुस गयीं, तो श्रीकृष्ण दिन-रात महलों का ही चक्कर लगाने

लगे। किसलिये ? आह्लादिनी शक्ति से आह्लाद पाने की इच्छा से। उस आह्लाद का रसास्वादन करने के ही निमित्त श्रीकृष्ण भाँति-भाँति की माया-छद्मलीला-करने लगे। छद्मलीला माया ही है। श्रीकृष्ण अपना रूप छिपाकर राधा जी के दर्शनों को बारबार जाते हैं। क्योंकि मोहन के मन को आह्लादिनी शक्ति मोहिनी राधा ने मोह लिया है। इस मोहन मोहिनी माया के विषय में या तो स्वयं मोहिनी ही जानती है या स्यात् मोहन भी जानते हों, जीव की तो वहाँ पहुँच ही नहीं। जीव पर तो जब कृपा हो जाय, तो वह दर्शनों का अधिकारी हो सकता है।

दूसरी जगन्मोहिनी माया है। यह माया भगवान् की सन्निधि में ही कुछ कर सकती है। उसे जड़ भी कैसे कहें, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् को नचा रही है। चैतन्य भी कैसे कहें, क्योंकि चैतन्यांश जीव इसके साथ नाचते हैं। जड़ चैतन्य मिली-जुली कहें तो वह भी नहीं बनता। बस, यह जैसी है, तैसी ही है, कुछ कहते नहीं बनता। ऐसे ही सट्ट पट्ट है। इसके सम्बन्ध में कुछ कहना हो फँस जाना है। अतः इसकी ओर ध्यान न देकर इसके स्वामी मायावी मायेश की ही शरण में जाना चाहिये।

तीसरी पुरुष मोहिनी माया है, यह भी ब्रह्मा जी ने स्वयं ही निर्मित की है। निर्मित क्या की है, वे स्वयं ही आधे रूप से बन गये हैं। जब ब्रह्मा जी ने देखा मानसिक सृष्टि बहुत प्रयत्न करने पर भी बढ़ती नहीं। मानसिक पुत्रों से जब सृष्टि बढ़ाने को कहते हैं, तो वे ऐकान्तिक भाव से टका-सा उत्तर दे देते हैं—"क्या होगा सृष्टि बढ़ाने से ?"

ब्रह्माजी कहते हैं—"अरे, भाई, तुम सब ही विरक्त हो जाओगे, तो काम कैसे चलेगा। संसार चक्र कैसे चलेगा ?"

वे उत्तर देते हैं—"न चले संसार चक्र, हमने संसार चक्र

चलाने का कोई ठेका थोड़े ही ले रखा है। न चले तो और भी अच्छा। जीव व्यर्थ ही चौरासी के चक्कर में घूमेंगे।"

तब ब्रह्माजी बड़े हताश हुए अत्यधिक निराश हुए। परम चिन्तित हुए। सोचने लगे—"अब क्या होगा? सृष्टि की वृद्धि कैसे होगी? भगवान् ही रक्षा करेंगे, तभी काम चलेगा। भगवान् ही इस संसार चक्र चलाने की कोई वस्तु भेजेंगे। वे ही मुझे बुद्धियोग प्रदान करेंगे।"

जब ब्रह्मा जी सच्चे भाव से भगवान् की शरण में सृष्टि चक्र चलाने की कामना से गये, तब वांछा कल्पतरु भगवान् ने उनकी कामना पूरी कर दी। ब्रह्माजी के शरीर के दो भाग हो गये। वाम भाग से कामिनी नारी और दायें से नर। यह नर को मोहने वाली-संसार चक्र को चलाने वाली-यह नारी ही पुरुष मोहिनी माया है। इसीलिये भगवान् कपिलदेव मोक्ष की इच्छा वाली अपनी माताजी से कह रहे है—"माताजी! तुम मेरी इस स्त्री रूपिणी माया का बल तो देखो, जो दिग्विजयी वीर बड़ी-बड़ी अपार चतुरंगिणी सेना द्वारा परास्त नहीं होते, उन वीरों को मेरी यह स्त्री रूपिणी माया अपने भृकुटि विलास मात्र से पदाक्रान्त कर देती हैं पैरों से कुचल देती है।"

जिस कार्य को किसी भी प्रकार से होने की सम्भावना न हो, वह काम मोहिनी माया के द्वारा हो सकता है। समुद्र मन्थन के समय जब भगवान् धन्वन्तरि अमृत का कलश लेकर निकले, तब असुरगण उनके हाथ से अमृत का कलश बलपूर्वक छीन कर भग गये। असुरों के बल का अनुमान आप इसी से लगा सकते हैं, कि साक्षात् भगवान् के अवतार धन्वन्तरि के हाथों से-जो एक नहीं दो नहीं पूरे चारों हाथ वाले थे, उनसे-अमृत

छीनकर भग गये। देवता निराशा के गर्त में गिरकर भगवान् की ओर निराशा भरी दृष्टि से टुम्म-टुम्म निहारने लगे।"

भगवान् उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर दया के वशीभूत होकर हंस पड़े और बोले—"अरे, देवताओं! ऐसे निराश क्यों हो रहे हो?"

देवताओं ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"अजी, महाराज! निराशा की तो बात ही है। जिस अमृत को लेकर चतुर्भुज भगवान् धन्वन्तरि निकले, जिसकी रक्षा आप अजित रूप मन्वन्तरावतार भगवान् कर रहे हों, उस अमृत को इन्द्र, वरुण, कुबेर यम आदि प्रबल प्रचन्ड पुरुषार्थ वाले देवताओं के देखते-देखते असुर छीन ले जायं? जैसे यमराज के हाथ में गये हुए प्राणी को कोई लौटाने में समर्थ नहीं वैसे ही असुरों के हाथ में गये अमृत को लौटा लाना अब असम्भव है?"

भगवान् ने कहा—तुम चिन्तित मत होओ। मैं असुरों के हाथ से अमृत को छीन लाऊंगा।

देवताओं ने कहा—"महाराज, कैसे छीन लाओगे। आपका अवतार रूप कछुआ नीचे से देख रहा था, साक्षात् धन्वन्तरि अवतार भगवान् जिसे ले आये थे। अजित रूप से आप भी मन्वन्तरावतार रूप में हमारे सम्मुख खड़े थे। जब इन सबसे अमृत की रक्षा न हो सकी तो अब आप इस असम्भव कार्य को सम्भव कैसे कर सकेंगे? कैसे इन रण दुर्मद असुरों के हाथ में गये हुए अमृत को लौटा सकोगे?"

तब भगवान् ने हंसकर कहा—"अरे, देवताओं! तुम अधीर क्यों हो रहे हो, चिन्ता को छोड़ो, तुम असुरों से भयभीत न हो, वे चाहे कितने बली क्यों न हों, उन्हें मैं ऐसा लटका दिखाऊंगा कि वे बिना ननुनच किये अपने आप मुझे अमृत सौंप देंगे।"

देवताओं ने आश्चर्य के साथ कहा—रहने भी दीजिये भगवन्! आपके सामने ही तो आपके ३-३ अवतार रूप देखते रह गये और वे अमृत छीनकर भग गये। अब वे कैसे हाथ में आये हुए अमृत को दे सकते हैं।

हँसते हुए भगवान् बोले—"देखो भाई, मेरा कछुआ अवतार भी पुरुष था, धन्वन्तरावतार भी पुरुष था और मेरा अजितावतार भी पुरुष था वे तीनों अवतार भी जिस काम को न कर सके, उस काम को मैं माया से एक चौथा मोहिनी अवतार लेकर करा लूँगा। नत्थ पहिन कर, सैन चलाकर, आँखें मटका कर, मीठी बोली बोलकर उनमें परस्पर में फूट डलवा दूँगा। वे अपने आप मेरे हाथ जोड़ेंगे, पैरो पड़ेंगे और अमृत को सौंप देंगे।" यह मेरी पुरुष मोहिनी माया ऐसी ही प्रबल है। इस प्रकार मोहन मोहिनी माया से तो गोलोकादि दिव्य लोकों में सत्यसनातन अनादि क्रीडायें हो रही हैं। जगन्मोहिनी माया से विश्व चल रहा है और पुरुष मोहिनी माया से पुरुष चौरासी के चक्कर में घूम रहा है, इसीलिये कपिल भगवान् ने अपनी माता जी देवहूति से कहा है—"माता जी! जो पुरुष योग के परम पद पर आरूढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवा के प्रभाव से आत्मा अनात्मा का विवेक हो गया हो, उसे मेरी योषित् रूप माया का कभी संग न करना चाहिये। क्योंकि यह दुरत्यया माया है। दैव विनिर्मित जो यह मेरी योषित रूपा माया है वह शनैः-शनैः सेवादि के मिस से समीप आती है। उसे तुम तिनकों के ढके कूप के समान अपनी मृत्यु ही समझो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह पूछा—"आप के स्वरूप भूत जगत को संसारीपन की प्राप्ति कैसे होती है।"

तब भगवान् कहने लगे—'अर्जुन ! ये जगत के जीव त्रिगुणमय भावों से विमोहित बन जाते हैं। इसीलिये ये चक्कर में फँस जाते हैं।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आप तो जगत् से भिन्न हैं, यह जीव जो आपका अंश भूत है वह भी जगत से भिन्न है। आप तो जगत् के अधिष्ठान भूत हैं, अविनाशी हैं। फिर जीव क्यों फँस जाता है ?"

भगवान् ने कहा—भाई, यही तो माया है, जीव मेरे सत् स्वरूप को भूल जाता है, माया के वशीभूत होकर अपने को बद्ध मानने लगता है।

अर्जुन ने कहा—माया क्या वस्तु है भगवन् ! जिसके वशीभूत होकर जीव अन्धा होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है। यह माया कहाँ से बीच में आकर टपक पडी ? यह माया किसकी है ?

हँसकर भगवान् बोले—"अर्जुन ! मुझसे अतिरिक्त जब कुछ है ही नहीं तो माया किसी दूसरे की निर्मित हो ही कैसे सकती है। यह माया भी मेरी ही है। यह भी दैव निर्मित दैवी माया ही है।"

अर्जुन ने पूछा—इस माया का स्वरूप क्या है ?

भगवान् बोले—"और चाहे जो पूछ लो। माया का स्वरूप मत पूछो। कुछ स्वरूप हो तो बताऊँ। कोई कहते हैं यह लक्ष्मी रूपा है, कोई कहते न होने पर जो होती सी प्रतीत हो, कोई कहते हैं जड़ है इसलिये मैं इसका निरूपण नहीं कर सकता। बस, इतना ही समझ लो कि इसका पार पाना अत्यन्त कठिन है। वह 'दुरत्यया' है।

अर्जुन ने कहा—जब आप इसे कठिनता से पार की जाने

योग्य बता रहे हैं, तब तो कोई जीव इस माया को पार ही न कर सकता होगा ?"

भगवान् ने कहा—नहीं, ऐसी बात तो नहीं है, कुछ लोग इसे पार भी कर जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे पुरुष कौन हैं ? उनमें क्या विशेषता है ?"

भगवान् ने कहा—"जो मेरे प्रपन्न हो जाते हैं, मेरी ही शरण में आ जाते हैं, मेरे ही भक्त बन जाते हैं, वे भक्तिवान् पुरुष ही मेरी माया को पार कर सकते हैं। जो मेरी शरण में नहीं आया। प्रपन्न नहीं हुआ, भक्त नहीं बना, वह कदापि मेरी माया को पार नहीं कर सकता।"

अर्जुन ने कहा—तब तो भगवन् ! माया को तरने का बड़ा सरल उपाय है। सब लोग आपकी शरण क्यों नहीं लेते ? क्यों इस असार संसार सागर में इधर से उधर भटकते फिरते हैं। सब अनर्थों की मूलभूता इस माया को आपकी शरण में जाकर जीव नाश क्यों नहीं कर देते ? आपके सब भक्त क्यों नहीं बन जाते ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

त्रिगुनमयी मेरी यह माया दुस्तर अतिशय।
बड़ी अलौकिक अद्भुत अनुपम जीवनि दुरजय॥
ऐसी है यह प्रबल जीव जीतै फिरि कैसे ?
उत्तम एक उपाय बताऊँ वश है जैसे ?
सरल भाव सब समय में, मेरो ई सुमिरन करै।
भजै प्रेम तैं मोइ नित, माया कूँ सुख तैं तरै।

भगवान् का भजन भक्त ही करते हैं, मूढ़ दुष्कृति नहीं

[८]

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥*

(श्री० भग० गी० ७ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

किन्तु मोई नहिँ भजैं-भजैं माया कूँ दुरजन ।
माया द्वारा हर्‌यो गयो है ज्ञान-परमधन ॥
जिनिको क्रूर स्वभाव आसुरी वृत्ति कही है ।
ते पामर अति नीच नीचता व्यापि रही है ॥
ऐसे अधम स्वभाव के, ध्यान करें नहिँ प्रेम तैं ।
विषयी भोग-विलास-रत, भजैं नहीं नित नेम तैं ॥

---

* मुझे दुष्कृति नराधम मूढ पुरुष नहीं भजते, क्योंकि उनका ज्ञान माया के द्वारा हरण किया गया है और उन्होंने आसुरी भाव का आश्रय ले रखा है ॥१५॥

हे अर्जुन ! मुझे चार प्रकार के ही सुकृति लोग भजते हैं । हे भरतर्षभ ! उनके नाम आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी हैं ॥१६॥

गीताशास्त्र भगवद् भक्ति को प्रभु प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन मानता है। वह भक्ति केवल बनावटी भक्ति–केवल झाँझ मजीरा बजाने ही वाली न हो। वह कर्ममय हो, पूजामय हो, दानधर्मादि कर्मों से संयुक्त हो। वे कर्म भी किसी लौकिक भोगों की प्राप्ति के निमित्त न हों। निष्काम भाव से–ब्रह्मार्पण बुद्धि से एकमात्र प्रभु को पूजा के ही निमित्त हों, ऐसे प्रपन्न भक्त ही संसारी माया को पार करके प्रभु को प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि मोक्ष को सभी शास्त्र परम पुरुषार्थ मानते हैं। संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करने का ही नाम जिज्ञासा है। जो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो इसकी जिज्ञासा रखते हैं, वे ही जिज्ञासु या मुमुक्षु हैं। मुक्त तो भक्त अभक्त दोनों ही हो सकते हैं। सांख्य की प्रक्रिया में ईश्वर की आवश्यकता नहीं। तत्त्व ज्ञान हो जाने पर सांख्य वादी मुक्ति मानते हैं, वहाँ भगवान् की ही मान्यता नहीं तो उनकी अनन्य भक्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। बहुत से असुर भी भगवान् से वैर करके मुक्त हो गये हैं। नारद जी का तो यहाँ तक कहना है कि मन जितना अधिक वैर भाव में एकाग्र होता है, उतना भक्ति योग से एकाग्र नहीं होता, ऐसी मेरी सुदृढ़ा मति है। वे भगवान् से वैर करने वालों की गणना भी भक्तों में ही करते हैं। एक प्रेम भाव से भजने वाले ये भगवान् को वैर भाव से भजने वाले हैं। भक्त तो ये किसी न किसी प्रकार हैं ही। क्योंकि संसारी लोगों से वैर भाव न करके भगवान् से वैर करते हैं। भगवान् से वैर का ही सही, कोई न कोई सम्बन्ध तो हुआ ही। सांख्यादि के द्वारा तत्त्वज्ञान करके जो मुक्त हुए हैं, उनकी अपेक्षा ये वैर भाव करके मुक्त होने वाले ज्ञानी असुर श्रेष्ठ ही हैं। किन्तु जो भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझकर उनसे अत्यन्त प्रेम करके जो भगवान् को भजते हैं उनके प्रपन्न होते हैं, गीता के

मत में वे सर्वश्रेष्ठ जिज्ञासु हैं। गीताकार बारम्बार प्रपत्ति पर शरणागति पर प्रेमाभक्ति पर बल देते हैं। ये 'यथा मां प्रपद्यन्ते" जो जैसे मेरे प्रपन्न होता है। "मामेव ये प्रपद्यन्ते" जो मेरे प्रपन्न हो जाता है, वह माया से तर जाता है। शरणागति कह लो, प्रपत्ति कहलो, प्रेमाभक्ति कहलो चाहें निष्काम कर्मयोग कह लो, सब एक ही बात है। वही अस्सी वही चार बीसी।

ससार में बद्धजीव और मुमुक्षु जीव दो ही प्रकार के जीव हैं। मुक्त जीव और नित्य जीव सब किसी को दृष्टिगोचर नहीं होते। बद्ध जीव दुष्कृति हैं, क्योंकि उन्होंने पूर्व जन्मों में दुष्कृति कर्म-पाप कर्म किये हैं। वे मूढ़ है, इसलिये कि उन्हें परमार्थ का ज्ञान नहीं है, वे दो ही काम करते हैं अन्न को मिट्टी से उत्पन्न करते हैं, उत्पन्न किये हुए अन्न को पुनः मिट्टी बना देते हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि लौकिक कर्मों के अतिरिक्त और कुछ वे जानते नहीं। ऐसे जीव यदि नर शरीर में हैं तो उनकी अधम जीव संज्ञा है। वे भगवान् के प्रपन्न नहीं होते, उनकी शरण में नही जाते, प्रभु से प्रेम नहीं करते। सबके सच्चे सुहृद प्रभु से वे हतभागी लोग प्रेम क्यों नहीं करते? इसलिये नहीं करते, कि उनके पीछे एक पिशाचिनी ठगिनी लूटने वाली कुलटा लग गयी है। वह उसके सबसे अधिक मूल्यवान ज्ञानरूपी धन को हरण कर लेती है। जिसके पास धन नहीं रहेगा, वह पाप में प्रवृत्त न होगा, तो अपनी लौकिक इच्छा पूर्ति के लिये और करेगा ही क्या? बद्धजीव इसी श्रेणी में हैं।

अब दूसरे जिज्ञासु हैं। उन जिज्ञासुओं का अन्तःकरण सर्वथा टोंचता रहता है, क्या मैं संसार में उपस्थ तथा जिह्वा के वशीभूत ही होने के लिये आया हूँ। ये जो सामने पंचभूत दीखते हैं ये ही तत्त्व हैं या उनसे भी परे कोई यथार्थ तत्त्व है। इसी ऊहापोह में

पड़े वे विचार मग्न रहते हैं, अतः विचारक कहलाते हैं। ये जिज्ञासु विचारक भी दो प्रकार के होते हैं, एक भक्ति मार्ग के पथिक दूसरे केवल विचार माग के पथिक। विचार मार्ग वाले तत्वों का विचार करते रहते हैं। ससार से विरक्त हो जाते हैं। तत्वज्ञान को श्रवण करते हैं, फिर उसका मनन और निदिध्यासन करते हुए तत्वदर्शी होकर मुक्त हो जाते है वे अपनी जिज्ञासा बुभुक्षा को शान्त करके तृप्त हो जाते हैं। उनकी तृप्ति हो जाती है, फिर चाहें वह तृप्ति सूखे सत्तुओं से ही क्यों न हुई हो। फिर उन्हें कोई इच्छा नहीं होती।

दूसरे जिज्ञासु भक्ति मार्ग के होते हैं। वे बिना तर्क-वितर्क किये पहिले एक महान् शक्ति ईश्वर को स्वीकार कर लेते हैं। पहिले विचारक तो जो बात तर्क की कसौटी पर उनके मतानुसार ठीक उतरे उसे ही मानने वाले थे। ये भक्त बिना तर्क के ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं, उनका कथन है, जो अचिन्त्यभाव हैं, वे तर्क से सिद्ध हो ही नहीं सकते उनके प्रति तो श्रद्धा ही रखने से काम चलेगा। वे ईश्वर का अस्तित्व पूर्व जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप, बिना वाद विवाद के ही मान लेते है।

उन भक्तों में भी कुछ आसुरी प्रकृति के होते हैं असुर उसे कहते हैं, जो प्राण को जीवन को ही सर्वस्व समझते हैं। हम जीते रहें कभी मर नहीं यही असुरों का भाव रहता है। किन्तु ईश्वर का एक नियम है जिसे पैदा करते हैं, उसे मारते भी अवश्य हैं। असुर सोचते हैं, यह सबको मारने वाला विष्णु मुझे भी मार डालेगा, अतः उस भगवान् का अस्तित्व तो मानते हैं, किन्तु उसे प्राणों का हरण करने वाला अपना शत्रु मानते हैं। भगवान् उदार है. वे सोचते हैं, चलो कैसे भी सही इन्होंने मुझे मान तो लिया, मेरे साथ सम्बन्ध तो स्थापित कर ही लिया,

इसलिये वे अपने नियम को तो निभा लेते हैं, औरों से मरवायेंगे तो इन्हें पुनः जन्म लेना पड़ेगा। अतः उन वैर भाव वाले–मृत्यु से डरने वाले–असुर भक्तों को मार कर तो अपना नियम पूरा कर लेते हैं और मुक्ति देकर अपनी उदारता का परिचय देते हैं।

दूसरे प्रेम भाव से भजने वाले जिज्ञासु भक्त हैं। वे ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, सर्वान्तर्यामी, समस्त गुणों की खानि, सबसे सुन्दर, सबसे श्रेष्ठ मानते हैं। उनका विश्वास है, कि भगवान् जो चाहें सो कर सकते हैं। ऐसे जिज्ञासुओं के भी चार प्रकार हैं।

पहिले जिज्ञासु तो अर्थार्थी हैं—पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण उनकी अर्थ में आसक्ति है अर्थ की आसक्ति तो संसार के सभी बद्धजीवों में है, फिर उनमें और बद्धजीवों में अन्तर ही क्या रहा। आसक्ति के अनुसार तो उनमें और बद्धजीवों में अन्तर नहीं है, किन्तु अर्थ की प्राप्ति में अन्तर है। भक्त में और बद्धजीव में अन्तर इतना ही है कि बद्धजीव तो मैं मेरा मानता है। मैं अमुक हूँ और अमुक-अमुक वस्तु मेरी है। इसमें घर द्वार कुटुम्ब परिवार सब कुछ आ गया। भक्त मानता है तू तेरा। अर्थात् मेरे स्वामी तू ही सर्वस्व है। जगत् में जो भी कुछ है तेरा ही है। मैं स्वयं भी तेरा ही हूँ। मेरा अपना कुछ नहीं।

जब अर्थार्थी भक्त ने सब भगवान् का ही समझा है, तो फिर अर्थ की याचना क्यों करता है? इसलिये करता है, पूर्व जन्मों के संस्कारवश उसकी अर्थ में आसक्ति है, वह अर्थ प्राप्त करके ठाठ-बाठ से प्रभु की पूजा करना चाहता है। संसारी बद्ध प्राणी भी ठाठ-बाठ चाहता है, किन्तु वह याचना संसारी लोगों से करता है। धन से दुर्मद हुए धनिकों के पीछे धन पाने की लालसा से जैसे कुत्ता रोटी के टुकड़े के लिये पूँछ हिलाता हुआ दीनता के

साथ स्वामी के पीछे घूमता है, ऐसे ही वह धनिकों के पीछे कृपण बनकर घूमता रहता है। इसके विपरीत जिज्ञासु भक्त अर्थ याचना इन संसारी धन दुर्मदों से नहीं करता। वह तो अपने प्रभु पर भरोसा रखता है। यह संसारी लोगों से धन चाहने वाला कितना कृपण है, क्योंकि धनी कृपण ही होते हैं, वह कृपणों से धन पाना चाहता है। भूतों से पूत पाने की इच्छा रखता है। जिज्ञासु भक्त कृपणों से याचना नहीं करता। सबसे अधिक उदार श्रीप्रभु से ही जो इच्छा होती है, वह माँगता है। अतः उदार से माँगने के कारण वह भी उदार है। अतः पहिला सुकृति उदार जिज्ञासु भक्त अर्थार्थी है। पुराणों में ऐसे बहुत से अर्थार्थी भक्त आये हैं। उनमें सुग्रीव, विभीषण, उपमन्यु तथा ध्रुव आदि के नाम लिये जाते हैं। सुग्रीव ने अपनी स्त्री तथा राज्य पाने की इच्छा से श्रीराम की शरण ली। विभीषण ने राज्य पाने की इच्छा से श्रीराम की भक्ति की, उपमन्यु ने दूध पाने की इच्छा से शंकर भगवान् की सेवा की और ध्रुव ने राज्य पाने की लालसा से विष्णु की प्रपत्ति की।

दूसरे भक्त होते हैं आर्त। आर्त अर्थात् दुखी। कोई दुःख, व्याधि, पीडा किसी के द्वारा दी जा रही हो, तो उसकी निवृत्ति के लिये भगवान् से पुकार करना। संसारी लोगों को दुःख पड़ता है, तो सगे सम्बन्धियों की शरण लेते हैं, किसी उदार दयालु धनिक की, बलवान् की, सत्ता सम्पन्न मनुष्य की शरण में जाते हैं। किन्तु आर्त जिज्ञासु भक्त सब का आश्रय छोड़कर भगवान् से ही अपनी विपत्ति को मिटाने की प्रार्थना करते हैं। हे प्रभो! यह दुष्ट मुझे मार रहा है, आकर मेरी रक्षा करो। यह रोग मुझे पीड़ा दे रहा है आकर मेरी पीड़ा हरो। यह भूख मुझे व्याकुल कर रही है, आकर मेरी भूख को मिटाओ। आर्त भक्त की

पुकार सुनकर भगवान् अनेक रूपों में आकर उनके दुखों को मिटाते हैं ऐसी भक्तमालादि ग्रन्थों में अगणित भक्तों की गायायें प्रसिद्ध है। पुराणों में भी जरासन्ध की कैद में पड़े राजा, भौमासुर की कैद में पड़ी राज कन्यायें, इन्द्र के कोप से दुखित हुए व्रजवासी, वन में भूखे गोप, ग्राह से पकडा गज तथा द्यूत सभा में वस्त्र खींचे जाने पर द्रौपदी। इनकी कथायें प्रसिद्ध ही हैं।

जरासंध उस समय का चक्रवर्ती राजा था। बीस सहस्र राजाओं को उसने अपने कारावास में बन्द कर रखा था। सोचा था उन्हें पशुपतिनाथ की बलि चढ़ाऊँगा। उन्होंने आर्त भाव से भगवान् की प्रार्थना की। प्रभु ने जरासंध को मरवा कर उन्हें कारागार से मुक्त करके उनके दुःख को दूर किया।

इसी प्रकार भौमासुर ने सोलह सहस्र एक सौ कन्याओं को बन्दी बना रखा था। वह बीस सहस्र होने पर उनसे विवाह करना चाहता था। उन्होंने आर्त होकर भगवान् की दासी बनने की इच्छा की। भगवान् भौमासुर की पुरी में गये। उसे मारकर सबको बन्धनमुक्त ही नहीं किया उन्हें अपनी शरण में रखकर अपनी दासी बना लिया।

इन्द्र की पूजा न होने पर क्रुद्ध होकर उसने व्रज को डुबाने की इच्छा से प्रबल वर्षा की। व्रजवासी आर्त होकर भगवान् की शरण में गये। भगवान् ने सात दिनों तक गोवर्धन को धारण करके समस्त व्रजवासी गोप गोपियों और गौओं के दुःख को दूर किया।

व्रजवासी ग्वाल बाल दूसरी दिशा में गौएँ चराने ले गये थे। मध्यान्ह में भोजन नहीं आया। सभी ग्वाल भूख से आकर दुखी होकर छटपटाने लगे। आर्त भाव से वे भगवान् की शरण में

गये। भगवान् ने यज्ञपत्नियों को प्रेरित करके भोज्य पदार्थ मँगाकर सब ग्वाल बालों को तृप्त किया।

पानी पीने को आये गजराज के पैर को महान बलशाली ग्राह ने पकड़ लिया। पुत्र पत्नी परिवार वाले सब छोड़कर भग गये। तब गजराज ने आर्त भाव से भगवान् को पुकारा। तुरन्त भगवान् ने आकर नक्र के वक्र को काट कर गजराज की रक्षा की।

द्रौपदी को दुस्साशनादि दुष्ट भरी सभा में नग्न करना चाहते थे। जब द्रौपदी ने देखा मेरे पाँचों पति समस्त सभासद भी मेरी लाज नहीं बचा सकते तब उसने आर्त भाव से भागवान् श्याम-सुन्दर को पुकारा। उसके आर्त वचन को सुनते ही भगवान् ने तुरन्त सभा में आकर वस्त्रावतार धारण करके द्रौपदी की लाज बचायी।

इस प्रकार ये दूसरे भक्त विपत्ति पड़ने पर भगवान की ही शरण में जाकर उसने दुःख निवारण की प्रार्थना करते हैं और भगवान उनकी रक्षा करते हैं।

तीसरे जिज्ञासु भक्त होते हैं—उन्हें संसार के किसी पदार्थ की इच्छा नहीं होती, किन्तु संसार उन्हें दुःखमय प्रतीत होता है, इससे पार जाने की इच्छा वे रखते हैं। कोई उन्हें पथ प्रदर्शन दिखायी नहीं देता, तब भगवान् से वे प्रार्थना करते हैं। तो भगवान् गुरु रूप से या प्रत्यक्ष आकर उनकी जिज्ञासा को पूर्ण करते हैं। भक्तों के ऐसे अनेकों उदाहरण है, कि भगवान् ने किसी के द्वारा उन्हें उपदेश दिलाकर उनकी जिज्ञासा पूरी की। पुराणों में महाराज परीक्षित, मुचुकुन्द, राजा जनक, राजा बहुलाश्व और श्रुतदेव ब्राह्मण तथा अर्जुन राजा सत्यव्रत और उद्धवादि की कथायें सर्व विदित हैं।

महाराज परीक्षित विप्र शाप से शापित होकर, गङ्गा तट पर मोक्ष की जिज्ञासा से आकर बैठ गये थे। भगवान् ने शुक रूप से स्वयं पधार कर उनकी जिज्ञासा को शांत किया।

महाराज मुचुकुन्द जिज्ञासु थे, फिर भी देवताओं के वरदान से गुफा में सो रहे थे। भगवान् ने उनके द्वारा कालयवन को मरवा कर अन्त में उन्हें दर्शन देकर ज्ञान का उपदेश दिया। और अगले जन्म में ब्राह्मण बना कर फिर संसार से विमुक्त बना दिया।

राजा जनक बड़े भारी जिज्ञासु थे उनकी जिज्ञासा को अष्टावक्रादि गुरु रूप में आकार शान्त किया। उन्हें मोक्ष मार्ग का अधिकारी बना दिया।

मिथिला के राजा बहुलाश्व तथा वहीं के श्रुतदेव ब्राह्मण दोनों ही जिज्ञासु थे भगवान् के भक्त थे। भगवान् ने मिथिला में पधार कर दोनों के ही घरों में दो रूप बनाकर एक साथ प्रवेश करके दोनों को ही प्रसन्न किया और उन्हें तत्त्व का उपदेश करके अपनी भक्ति करने का उपदेश दिया।

अर्जुन की जिज्ञासा पर तो भगवान् ने बीच रणाङ्गण में १८ अध्याय के गीता का उपदेश करके उसे निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त किया।

इसी प्रकार मौसलकाण्ड समाप्त होने पर उद्धवजी की जिज्ञासा को मिटाकर उन्हे तपस्या के निमित्त तथा जगत् में भगवत् भक्ति के प्रचार निमित्त भगवान् ने उन्हें बदरिकाश्रम भेजा।

प्रलयकाल उपस्थिति होने पर राजा सत्यव्रत की जिज्ञासा मिटाने को भगवान् ने मत्स्य रूप धारण करके गुरुभाव से उन्हें मत्स्य पुराण का उपदेश देकर उनकी जिज्ञासा मिटायी।

वास्तव में सबसे श्रेष्ठ गुरु जगत्गुरु भगवान् ही है। वे ही जिज्ञासुओं को अनेक-रूप रखकर या प्रत्यक्ष होकर ज्ञानोपदेश देते हैं। जिज्ञासु भक्तों के दर्शनों से भी पाप कटते हैं।

चौथे ज्ञानी भक्त होते हैं। एक तो अव्यक्त ज्ञानी होते हैं, दूसरे भक्त ज्ञानी। ब्रह्म का ज्ञान तो हो गया, अब उन्हें किसी साधना की आवश्यकता नहीं। कुछ जानने को शेष नहीं रह गया है फिर भी भगवत्भक्ति का रसास्वादन लेने के निमित्त वह भगवान् की निष्काम भाव से पूजा करता है, कीर्तन करता है, प्रेम में विह्वल होकर रोता है, हँसता है। अपने प्रेम प्रभाव से त्रिभुवन को पावन करता है। सर्वत्र प्रेम का प्रसार करता है। उसे कोई कामना नहीं। आप्तकाम है, कोई राग नहीं, वीतराग है, कोई बन्धन नहीं, समस्त संसारी बन्धनों से निर्मुक्त हैं फिर भी भगवान् का भजन करने, भजन का रस चखने दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुरादि किसी रस का आश्रय लेकर भगवान् की श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन तथा आत्मनिवेदनादि भक्तियों को करता है। ऐसे ज्ञानवान भक्तों के दर्शन से त्रिभुवन कृतार्थ होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने जिज्ञासा की कि 'सब लोग आपका भजन क्यों नहीं करते' तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मुझे तो मेरे भक्त ही भजते हैं। जो मूढ़ है, वे मुझे कैसे भज सकते हैं?"

अर्जुन ने पूछा—"मूढ़ किसे कहते हैं भगवन्।"

भगवान् ने कहा—जिन्हें यह विवेक न हो, कि कौन से कार्य करने से अर्थ सिद्ध होगा, कौन से कार्य करने से अनर्थ होगा। बस, शिश्नोदर परायण होकर सदा विषयों ही की चिन्ता में मग्न रहें वे ही मूढ़ हैं।

अर्जुन ने पूछा—"उन्हें मूढ़ता क्यों प्राप्त होती है प्रभो !"

भगवान् ने कहा—भैया, दुष्कृतों-पापों-के कारण ही उन्हें मूढ़ता प्राप्त होती है। सहस्रों जन्मों में जिन्होंने तपस्या, यज्ञ, दान धर्मादि पुण्यकर्म किये हैं, उन्हें तो भगवत् भक्ति की प्राप्ति होती है और जो जन्म-जन्मान्तरों से हिंसा, परद्रोह, परनिंदा आदि दुष्कृत कर्म करते आये हैं उन्हें मूढ़ता की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! यह मनुष्य जन्म तो पुण्यों से ही प्राप्त होता है। इस पुण्य शरीर को भी पाकर वे पाप क्यों करते हैं ?

भगवान् ने कहा—वे नर अवश्य हैं मनुष्य शरीर उन्हें अवश्य प्राप्त हुआ है। किन्तु नराधम है। अधम पुरुष हैं।

अर्जुन ने कहा—वेद शास्त्रों के वचन प्रमाण हैं, सन्त महात्मो की वाणी प्रमाण हैं, ऋषि मुनियों के अनुभव प्रमाण हैं, फिर भी वे मूढ़ तथा नराधम क्यों बने रहते हैं ?

भगवान् ने कहा—"भैया, उनके सद् असद् विवेक के ज्ञान को माया ने हर लिया है। इससे वे आसुरभाव को प्राप्त हो गये हैं। केवल प्राणों के पोषण में ही लगे रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! जो आसुरभाव को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे लोग कौन है ?"

भगवान् ने कहा—वे नराधम नहीं, वे तो मेरे भक्त हैं।

अर्जुन ने पूछा—"आपके भक्त भगवन् ! के प्रकार के होते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"मेरे भक्त चार प्रकार के होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कौन-कौन से ?"

भगवान् ने कहा—हे भरतर्षभ ! उन चारों के नाम सुनो।

पहिले आर्त भक्त, दूसरे, जिज्ञासु भक्त, तीसरे अर्थार्थी भक्त और चौथे ज्ञानी भक्त।

अर्जुन ने कहा—आर्तभक्त के क्या लक्षण है ?

भगवान् ने कहा—"जो किसी दुख से दुखी होकर उस दुःख को मिटाने की मुझसे ही प्रार्थना करे।"

अर्जुन ने पूछा—जिज्ञासु भक्त किसे कहते है ?

भगवान् ने कहा—जिसके मन में यह जिज्ञासा जाग्रत हो, कि जगत क्या है, जीव क्या है, मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, मेरा जनक कौन है, इत्यादि-इत्यादि जगत् से परे की जिज्ञासा वाला।

अर्जुन ने पूछा—अर्थार्थी किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—"किसी अर्थ की इच्छा से मेरा भजन करे। यह वस्तु भगवान् मुझे दे दो।"

अर्जुन ने पूछा—ज्ञानी भक्त किसे कहते है ?

भगवान् ने कहा—"जिसे न तो संसारी पदार्थ की इच्छा ही हो, न जिसे किसी प्रकार के दुःख का ही अनुभव होता हो और न जिसे किसी प्रकार की जिज्ञासा ही शेष रह गयी हो। जो आप्त काम हो, फिर भी भक्ति का रस चखने, भक्ति सम्बन्धी कार्यों में निरत रहता हो। जिन कामों से भक्ति बढ़े, भक्ति का प्रचार प्रसार हो, भक्तों के चरितों का अनुकरण, अनुसरण लोग करें, निष्कामभाव से ऐसे कार्यों में सदा रत रहता हो।"

अर्जुन ने पूछा—ये अर्थार्थी तो स्वार्थी भक्त हैं, आर्त डरपोक भक्त है, जिज्ञासु निरीह भक्त है, ज्ञानी बहुरूपिया भक्त हैं, कि सब कुछ जान लेने पर भी भक्ति के कार्य करते रहते हैं।

भगवान् ने कहा—"ना भैया, ऐसा मत कहो, ये सभी सुकृति है, सभी पुण्यवान् हैं। स्वार्थ सिद्ध के लिये संसारी पुरुषों के सम्मुख तो दीनता नहीं दिखाते। मुझे ही अपना सर्वस्व समझकर

मुझी से मांगते हैं मुझसे मांगना-मांगना नहीं कहाता। आर्तभक्त संसार में न किसी से डरते हैं न किसी से आशा रखते हैं दुख पड़ने पर मुझे ही तो पुकारते हैं। मुझे पुकारने में कोई भय नहीं। जिज्ञासु भी संसारी लोगों से संसारी पदार्थ की जिज्ञासा नहीं करते अतः वे महान् सुकृति हैं। ज्ञानी भक्तों को तुम बहुरूपिया बताते हो, सो वे हैं तो मेरे ही भक्त, मैं भी तो बहुरूपिया ही हूँ। मैं भी तो मायावी ही हूँ, मैं भी तो मत्स्य, कच्छ, वराह, नृसिंह, रामकृष्णादि अनेक रूप बनाता हूँ। "इसलिये भैया, किसी को छोटा बड़ा मत कहो। चारों सुकृति हैं, चारों उदार हैं।"

अर्जुन ने पूछा—फिर भी भगवन्! इन चारों में उन्नीस बीस का तो कुछ अन्तर होगा ही। इनमें जो सबसे श्रेष्ठ हों, उनका नाम मुझे बता दीजिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न को सुनकर भगवान् हँस पड़े। अब भगवान् जैसे अर्जुन के इस प्रश्न का जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

चार तरह के लोग भजें मोकूँ सुनि अरजुन।
प्रथम भक्त हैं आर्त करें दुख में जो सुमिरन॥
अरथार्थी हैं द्वितीय भोग हित हरि पद पकरें।
तीसर हैं जिज्ञासु तत्त्व जानन हित सुमिरें॥
चौथे वे ज्ञानी कहे, नहिं भोगनि में जाइ मन।
चारिहु सुकृती जन कहे, लेवैं मेरी ही शरन॥

ज्ञानी मेरी आत्मा ही है

[६]

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥❀

(श्री भ० गी० ७ अ० १७, १८ श्लोक)

छप्पय

सुकृती चारिहु जदपि, सोइ ज्ञानी अति प्यारो ।
नित्ययुक्त बनि रहै न समुझै निज कूँ न्यारो ॥
एकनिष्ठ सो भक्त अन्य कूँ कबहुँ भजहिं नहि ।
सब तैं उत्तम श्रेष्ठ भोग रति नहिं द्वन्दनि सहि ॥
ज्ञानी मोकूं प्रिय अधिक, समुझै मोकूं तत्त्व तैं ।
हौं वाकूं प्रियतम लगूं, चलित होहि नहिं इष्ट तैं ॥

❀ इन चारों में नित्ययुक्त और एक भक्ति होने से ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ और मुझे वह ज्ञानी अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥

ये चारों ही बड़े उदार हैं, किन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, वह युक्तात्मा ज्ञानी मेरे में ही अनुत्तमा गति से अवस्थित है, ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥१८॥

आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकार के भक्त होते हैं। इनमें तीन में सकामता है, एक ज्ञानी निष्काम भक्त है। जिज्ञासु भक्त मध्य का है, न वह सर्वथा सकामी ही है न सर्वथा निष्कामी हा। सकामी दो ही हैं। एक आर्त दूसरा अर्थार्थी। भगवान् को तो चारों ही मानते हैं। भगवान् सर्वसमर्थ है, वे सब कुछ कर सकते हैं, उनके यहाँ किसी वस्तु का अभाव नहीं। ऐसी धारणा सबकी है, किन्तु आर्त और अर्थार्थी पूर्वजन्मों के कर्मानुसार संसारी विषयों में आसक्त है। आर्त भक्त धन के अभाव से पारवारिक कलह से, आधि-व्याधि आदि दुःखों से जब ऊब जाता है, तो वह उस दुःख से छुटकारा पाने के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है; उनकी शरण में जाता है। वह अपने दुःखों का नाश भी चाहता है और भगवान् को भी चाहता है। अर्थार्थी में और आर्त में कोई विशेष अन्तर नहीं। कुछ अन्तर है। आर्त-दुखी-तो दोनों हैं, किन्तु आर्त जो भी दुःख पड़ता है शारीरिक हो, मानसिक हो, आधिभौतिक हो, आधिदैविक हो, अथवा आध्यात्मिक हो, सबके लिये भगवान् से प्रार्थना करेगा, किन्तु अर्थार्थी भक्त समझता है, कि लोक में मेरा अपमान क्यों हो रहा है, लोग मेरी वस्तु को बलात् अपनी क्यों बना लेते हैं इसलिये कि मैं अर्थहीन हूँ। यदि मेरे पास धन होता तो सब लोग मेरा सम्मान करते, मेरी आज्ञा का पालन करते, मेरी वस्तु को लेने का साहस न करते। सब अनर्थों की जड़ अर्थ का न होना ही है। अतः वह भगवान् से और किसी की याचना न करके अर्थ की याचना करता है। उसे भगवान् तो प्रिय हैं ही साथ ही अर्थ भी प्रिय है। आर्त को भी संसारी सुख और भगवान् प्रिय थे। इस प्रकार इनकी प्रियता दो स्थानों में बँट गयी, वे एक भक्ति वाले न होकर दो में भक्ति करने वाले हुए।

अब रहे जिज्ञासु। जिज्ञासु यद्यपि संसारी भोगों से ऊबकर एकमात्र भगवान् के ही सम्बन्ध में जिज्ञासा रखता है। न तो वह भगवान् से अर्थ चाहता है और न दुःखों को मेटने की ही प्रार्थना करता है, वह तो यही चाहता है, मै इस संसार बन्धन से कैसे छूटूं। अपने को संसार में बंधा हुआ अनुभव करता है। बंधा हुआ अनुभव न करता तो मोक्ष की जिज्ञासा ही क्यों करता? फिर भी आर्त और अर्थार्थी से श्रेष्ठ है, क्योंकि इसका मन एक ओर लगा है, वह संसारी भोग न चाह कर भगवान् को ही चाहता है। फिर भी है, तो कच्चा ही, जिज्ञासा करते-करते सम्भव है अर्थ की कामना हो जाय या दुःख मे घबरा कर आर्त होकर–भगवान् से दुःख निवृत्ति के लिये प्रार्थना करने लगे। यदि ऐसा हो गया तो वह विशुद्ध जिज्ञासु भक्त न रहकर आर्त अथवा अर्थार्थी भी हो सकता है। अतः यह एकभक्ति वाला अनन्य भक्त है, इसमें संदेह है। इसका मन आधा तो संसार की ओर फंसा है और पूरा भगवान् की ओर इसलिये इसका प्रेम दो स्थानों में न बंटकर डेढ़ स्थानों में बंटा हुआ है। यद्यपि अभी इसे कोई संसारी कामना नहीं, किन्तु जब तक पूर्णज्ञानी न बन जाय तब तक कामना हो जाने की सम्भावना है। वैसे इस समय यह आर्त और अर्थार्थी से एक सीढ़ी ऊपर है। क्योंकि आर्त और अर्थार्थी दोनों ही जब तक जिज्ञासु न बनेंगे तब तक ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी पर नहीं चढ़ेंगे। अतः तारतम्य लगाना ही हो तो यों लगाइये। आर्त की अपेक्षा अर्थार्थी श्रेष्ठ है। क्योंकि आर्त को तो जो भी कष्ट होता है, उसी के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है, किन्तु अर्थार्थी एक अर्थ की कामना करता है, क्योंकि वह जानता है "सर्वगुणाः कांचनमाश्रयन्ति।" जग में सबतें बड़ो रुपैया, नहिं भैया नहिं मैया" और अर्थार्थी से बड़ा

जिज्ञासु है। क्योंकि जिज्ञासु संसारी सम्बन्धों से संसारी भोगों से, संसारी दुःखों से ही ऊबकर तो परमार्थ की जिज्ञासा करने लगा है। कोई पूर्वजन्म का संयोग संस्कार जाग उठे और उसके मनमें पुनः कामना उत्पन्न हो जाय, यह दूसरी बात है। कामना उत्पन्न होने पर भी उसका जिज्ञासुपन नष्ट नहीं होने का। जैसे अजामिल के मनमें शान्त दान्त सदाचारी होने पर भी वेश्या के प्रति कामना उत्पन्न हो गयी। प्रारब्ध संस्कार समाप्त होने पर उसे साधु संग हुआ पुत्र का नाम नारायण रखा। पुत्र के नाम के मिस से भगवन्नाम उच्चारण के प्रभाव से उसे विष्णु दूतों का दर्शन हुआ, उसकी जिज्ञासा पुनः जागृत हुई, वह सर्वस्व त्याग कर जिज्ञासु होकर हरिद्वार चला गया, वहाँ योग का अभ्यास करने से उसकी बुद्धि त्रिगुणमयी प्रकृति से ऊपर उठकर भगवान् के स्वरूप में स्थित हो गयी। वह जिज्ञासु से ज्ञानी बन गया और भगवत् पार्षदों के साथ लक्ष्मीपति भगवान् के निवास स्थान वैकुण्ठ को चला गया।

इससे सिद्ध यही हुआ कि आर्त और अर्थार्थी से बढ़कर जिज्ञासु है, क्योंकि दोनों को आगे पीछे जिज्ञासु बनना ही पड़ेगा। किन्तु आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु इन तीनो से ही श्रेष्ठ ज्ञानी भक्त है, क्योंकि ज्ञानी को न तो कोई आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक आर्ति ही रह गयी है, न उसे इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी किसी अर्थ की ही अपेक्षा है। वह ब्रह्मलोक पर्यन्त भोगों को तुच्छ समझता है। उसकी तो एकमात्र भक्ति भगवान् में ही रह गयी है। वह अनन्य भक्त बन गया है। उसे भगवान् के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उसकी सब स्थानों से ममता सिमिट कर एकमात्र भगवान् में ही हो गयी है। उसके रोम-रोम में भगवान् समा गये हैं। भगवान्

उनके प्राणाधार बन गये हैं। उनके प्रियतम सर्वस्व श्यामसुन्दर ही हो गये हैं। जो भगवान् से इतना अधिक स्नेह करेगा, उससे भगवान् भी सबसे अधिक प्रेम करेंगे। अतः ऐसा ज्ञानी भक्त भगवान् को भी प्राणों से भी अधिक प्यारा लगता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा, कि महाराज यह सत्य है, कि आपको आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चारों ही भक्त प्रिय हैं, फिर भी इनमें कुछ उन्नीस बीस का अन्तर होगा ही, तब भगवान् ने कहा— अर्जुन! इन चारों में से ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है, वह मुझे औरों की अपेक्षा अधिक प्यारा है।"

अर्जुन ने पूछा—ज्ञानी भक्त में ऐसी क्या विशेषता है महाराज!

भगवान् ने कहा—वह सदा सर्वदा मुझ में ही मिला रहता है। मेरी ही धारणा करता है, मेरा ही ध्यान करता है और मेरे ही लिये समाधिमग्न बना रहता है। उसका मन मेरे में ही लगा रहता है।

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी भी तो एकनिष्ठ होकर आप की ही पुकार करते हैं। उनकी भी तो केवल आप पर ही निष्ठा होती है।"

भगवान् ने कहा—वे भी मुझमें ही युक्त रहते हैं, सच्चे मन से मेरी ही पुकार करते हैं किन्तु उनकी भक्ति दुःख निवारण तथा अर्थ और जिज्ञासा में भी तो बँटी रहती है। ज्ञानी तो एकमात्र मुझे ही सब कुछ समझता है अतः एक भक्ति होने के कारण इन तीनों से विशिष्ट है, उत्तम है, श्रेष्ठ है।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! एक भक्ति हो, या दो भक्ति, भक्ति तो आप में सब की है ही।

भगवान् ने कहा—"तुम ठीक कहते हो, भक्ति तो सब की न होती तो सब की भक्ति संज्ञा ही क्यों होती ? किन्तु किसी मिठाई में मीठा अधिक रहने से वह अधिक मीठी मिठाई कहलाती है,किसी में कम मीठा होने से कम मीठी कहलाती है। इसी प्रकार उन ज्ञानी भक्तों में मेरे प्रति प्रियत्व अधिक है। उनका सब प्रेम मुझी में लगा रहता है। वे सोलहू आने पूरा प्रेम मुझसे करते हैं।"

अर्जुन ने कहा—वे चाहें सोलह आने करें चाहें आठ आने। आपको तो सबसे बराबर प्रेम करना चाहिये। माता-पिता के लिये सभी सन्तानें समान होती हैं, चाहें वे उनसे न्यून स्नेह करें या अधिक।

भगवान् ने कहा—नहीं, ऐसी बात नही है। गुण के कारण स्नेह भी न्यून और अधिक होता है। मेरी तो प्रतिज्ञा है, जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसको उसी भाव से भजता हूँ। जब ज्ञानी भक्त अपना सर्वस्व त्याग कर पशु, पत्नी, घर,पुत्र, परिवार, प्रियजन, धन, प्राण, इसलोक तथा परलोक सभी की ममता छोड़कर एक मात्र मुझे ही पूर्णरीत्या अपना प्रियतम परम श्रेष्ठ समझता है। मुझसे ही पूर्णरीत्या प्रेम करता है, तो मैं भी उससे पूर्णरीत्या प्रेम करता हूँ। वह भी मुझे सबसे अधिक प्रिय है। यदि मै ऐसा न करूँ तो मुझमें कृतघ्नीपने का दोष आ जायगा।

अर्जुन ने कहा—तब तो भगवन् ! ऐसा लगता है, कि आप ज्ञानियों से ही अत्यधिक स्नेह करते हैं। उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं।"

हँसकर भगवान् बोले—नहीं, भाई, ऐसी बात नहीं है। ये चारों ही प्रकार के भक्त श्रेष्ठ हैं, उदार हैं। देखो, उदार न होते

तो ये संसार की आशा छोड़कर एकमात्र मेरी ही शरण में क्यों आते। अतः जैसे राजा को पुत्र, पौत्र, भाई बन्धु सभी प्यारे हैं, सभी का भरण पोषण करते हैं, सभी का दुःख-सुख पूछते हैं, सभी की खोज खबर लेते हैं, किन्तु पत्नी तो उनकी अर्धाङ्गिनी ही है। उससे जैसी अनन्यता का सम्बन्ध है वैसा किसी दूसरे प्रिय से प्रियतम से भी नहीं हो सकता। पत्नी तो उसका आधा अंग है, उसी का स्वरूप है। वह उसका पूर्णरीत्या उपभोग करता है, वह भी उसका पूर्णरीत्या उपभोग करती है। इसी प्रकार ज्ञानी भक्त तो मेरी आत्मा ही है। उसमें और अपने में मैं कोई भेद-भाव नहीं मानता। क्योंकि उसका चित्त पूर्णरीत्या मुझमें ही समाहित है। और वे मुझे ही अपनी सर्वश्रेष्ठ गति समझते हैं मुझमें ही मति लगाये रहते हैं, मुझसे ही रति करते हैं। अतः वे मुझे ही गति, मति, रति और सब कुछ समझते हैं। वे मेरे अतिरिक्त न कोई दूसरा फल चाहते हैं न अन्य कोई गति ही। इसलिये औरों की अपेक्षा वे मुझे विशेष प्रिय हैं।

अर्जुन ने पूछा—आपका यह ज्ञानी भक्त ऐसा अनन्य कैसे हो गया? इसकी ऐसी सुदृढ़ एकनिष्ठ मति किस साधन से हो गयी?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो उत्तर भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

वैसे सबहिँ उदार रखैं नहिँ जगतैं आसा।
इष्ट-पूर्ति हित जाइँ नहीं धनिकनि के पासा॥
ज्ञानी तोऊ कह्यो रूप मेरो ही भाई।
ग्याने तन मन बुद्धि मोइ मैं सतत लगाई॥
अति उत्तम मेरी कही, गति अनुत्तमा अति सुखद।
युक्तात्मा तामें रमत, है यह मेरो मत विषद॥

सर्वत्र वासुदेव को देखने वाला महात्मा दुर्लभ है

[१०]

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

चौरासी को चक्र भ्रमैं जामें सब प्रानी ।
बहु जन्मनि के अन्त मोइ पावै नर ज्ञानी ॥
भेद भाव नहिँ रहै भाव सबमें सम मानें ।
वासुदेव ई बसत सबहिं थल ऐसो जानें ॥
वासुदेव सबकूँ समुझि, भजें भेद भ्रम भगि गये ।
ज्ञानी योग्य महातमा, जगमें अति दुरलभ भये ॥

---

* बहुत जन्मों के पश्चात् ज्ञानवान् पुरुष जो सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मुझे भजता है, ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥१९॥

अपनी प्रकृति से प्रेरित हुए प्राणी, भिन्न-भिन्न भोगों की भावना से जिनका ज्ञान हर लिया गया है वे लोग, उन-उन नियमों को धारण करके अन्य देवताओं को भजते हैं ॥२०॥

दो प्रकार के जीव होते हैं, एक ऊर्ध्वगामी दूसरे अधःगामी। अधः गामी जीव वे होते हैं, जिन्हें पाप कर्म पाप दिखायी ही नहीं देता। दिन भर सहस्रों मछलियों को पशु-पक्षियों को मारने पर भी जिन्हें तनिक भी ग्लानि नहीं होती, अपितु हर्ष ही होता है, आज मैंने इतना पैसा पैदा कर लिया। सहस्रों अबलाओं, विधवाओं कुमारी कन्याओं तथा परदाराओं का बलात् शीलभंग करने पर—उनका सतीत्व नष्ट करने पर जिन्हें रंचक भी क्षोभ नहीं होता, परधन अपहरण करके जो प्रसन्न होते हैं उल्लास में भर जाते हैं, ऐसे हिंसक, चोर, जार, लबार प्राणी अधः गामी हैं। वे मरकर घोर नरकों में जायंगे, वहाँ सहस्रों लाखों वर्षों तक नरकों की यातना भोगने के अनन्तर कुछ पाप शेष रहने पर यहाँ पृथ्वी पर कुत्ता, बिल्ली, कीड़े मकोड़े चील, गीध, गीदड़ आदि पाप योनियों में उत्पन्न होंगे और पाप कर्मों में निरत होंगे!

दूसरे ऊर्ध्वगामी जीव होते हैं, जिनकी स्वाभाविकी रुचि, सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र चिंतन, ज्ञान, वैराग्य, विनय, शील, साहस, उत्साह, आस्तिकता तथा निरहङ्कार आदि सद्गुणों में होती है। जिनका स्वभाव ही जीवों का उपकार करने का होता है, दुखियों को देखकर जिनके मन में अपने आप दया उत्पन्न होती है। ऐसे सज्जन पुरुष सदा सत्कर्मों में ही लगे रहते है। दान धर्म, परोपकारादि कर्मों को वे अपने स्वभाव के अनुसार बिना सिखाये ही करते रहते हैं। जो थोड़ा-थोड़ा ही क्यों न सही, परोपकार करते ही रहते थे। समय बचाकर कुछ ही क्षण सही धर्म चर्चा सत्संग करते हैं। उनके वे थोड़े-थोड़े सत्कर्म भी उन्हें पतन से बचाते रहते हैं। उनका अधःपतन नहीं

होता, वे नीचे नहीं गिरते। शनैः-शनैः ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं। एक जन्म की अपेक्षा दूसरे जन्म में दूसरे जन्म की अपेक्षा तीसरे जन्म में बढ़ते ही जाते है, जैसे मैत्रेय मुनि भगवान् व्यासजी की कृपा से कीड़े से बढ़ते-बढ़ते ब्रह्मर्षि हो गये। उत्तरोत्तर उनके सद्गुण बढ़ते ही गये और एक की अपेक्षा दूसरी और दूसरी की अपेक्षा तीसरी इस प्रकार क्रम-क्रम से उच्चयोनियों में जन्म लेते-लेते अन्त में परमज्ञानी मैत्रेय मुनि हो गये।

इस प्रकार प्रत्येक जन्म में थोड़ा-थोडा पुण्य करने से प्राणी उन्नति के शिखर तक पहुँच जाता है। यों वास्तव में देखा जाय, तो प्राणी अपने अल्प पुण्यों से, क्षुद्र सत्कर्मों से उन गुणार्णव गुणों की खान प्रभु को रिझा ही कैसे सकता है? फिर भी सत्कर्मों का–पुण्य कार्यों का–फल सुन्दर ही होता है। सत्कर्म करते-करते किसी भी जन्म में भगवान् का ज्ञान हो जायगा। वह ज्ञानी पुरुष अन्त में भगवान् को प्राप्त कर सकेगा। इससे प्रभु प्राप्ति की इच्छा वाले साधक को सदा सर्वदा सद्कर्मों में लगे रहना चाहिये। सद्गुणों को प्राप्त करने का–उनकी वृद्धि का–सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। सत्कर्मों के करते-करते सब में समता की बुद्धि हो जायगी। जहाँ सब में भगवान् दिखायी देने लगे। वहीं समझो बेड़ा पार है। सबमें समता हो जाना यह पूर्व जन्मकृत पुण्यों का ही परम फल है।

एक बालक था, उसकी माता ने कहा—"बेटा! मुझे औषधि के लिये अमुक वृक्ष की छाल ला दे।"

माता की आज्ञा से बालक कुल्हाड़ी लेकर पेड़ के समीप गया और कुल्हाड़ी से छाल उतार कर ले आया, अपनी माता को उसे दे दिया।

उसके कुछ दिन पश्चात् माता ने देखा, उसका लड़का

कुल्हाड़ी से अपने पैर की खाल उतार रहा है। माता ने कहा—"अरे, बेटा! यह क्या कर रहा है, कहीं पैर को काटकर उसकी खाल उधेड़ते हैं? इससे घाव हो जायगा, पैर पक जायगा।"

बालक ने कहा—"माँ तुमने उस दिन अमुक पेड़ की खाल उतारने मुझे भेजा था, मैं अपने पैर की खाल उतारकर यह देख रहा हूँ, कि खाल उतारने से पेड को कितना कष्ट हुआ होगा?"

यह सुनकर माता आश्चर्य चकित रह गयी। पेड़ के कष्ट को अनुभव करने को अपनी खाल उतारना यह कितनी भारी समता है। माता ने कहा—"बेटा! आगे चलकर तू बडा भारी संत होगा। बालकपन से ही तेरी वृक्ष में और मनुष्य में सम बुद्धि है।" ये ही बालक आगे चलकर के बड़े भारी महात्मा हुए। ऐसी समता एक जन्म के शुभ संस्कारों से नहीं होती, अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों से होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह पूछा कि ज्ञानी किस साधन से ऐसे संस्कारों वाला बनता है, तब भगवान् ने कहा—अर्जुन! ज्ञान एक जन्म के संस्कार से नहीं होता है। अनेक जन्मों के पुण्यों का संचय होते-होते ज्ञान की प्राप्ति होती है। बहुत जन्मों के पश्चात् मुमुक्षु को ज्ञान लाभ होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर भी जो भक्त हो जाय, मेरा भजन करने वाला हो जाय, तब तो वह मेरा प्रपन्न भक्त मेरा अत्यन्त ही प्रिय पात्र बन जाता है।

अर्जुन ने पूछा—"जो आपका प्रपन्न ज्ञानवान् भक्त है, उसके लक्षण क्या हैं?"

भगवान् ने कहा—"उस मेरे प्रपन्न भक्त की दृष्टि वासुदेवमय

बन जाती है। वह चर में अचर में सर्वत्र वासुदेव को ही देखता है। उसे मुझ वासुदेव के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं देता है।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसे सर्वत्र वासुदेव को ही देखने वाले-वासुदेवमयी दृष्टि वाले-आपके प्रपन्न ज्ञानी भक्त बहुत से होंगे ?

भगवान् ने कहा—"कैसी बात करते हो अर्जुन ! जिनको वासुदेव के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं देता, ऐसे महात्मा ज्ञानी भक्त संसार में बड़े दुर्लभ है। उनके दर्शन तो किसी भाग्य-शाली को ही हुआ करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! एक बात मुझे पूछनी है। आपके आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चार भक्तों में से ज्ञानी भक्त तो दुर्लभ हैं, किन्तु शेष तीन कैसे हैं ?"

भगवान् ने कहा—भाई, बारबार तो बता चुके ये तीनों भी भक्त हैं, श्रेष्ठ हैं उदार है तथा सुकृति है, क्योंकि वे मेरा ही तो भजन करते हैं, किसी दूसरे का तो नहीं।

अर्जुन ने पूछा—अच्छा भगवन् ! जो आपका भजन न करके दुःख नाश के लिये या अर्थ प्राप्ति के लिये अन्य दूसरे देवताओं का भजन करते हैं उनमें और आपके आर्त तथा अर्थार्थी भक्तों में क्या अन्तर है ? इनमें कौन श्रेष्ठ है ?

भगवान् ने कहा—उनमें मेरे ही आर्त तथा अर्थार्थी भक्त श्रेष्ठ हैं।

अर्जुन ने कहा—जब यही बात है तो और आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी आपके सभी भक्त आपकी भक्ति का आश्रय लेकर अनायास ही संसार सागर को तर जाते हैं, मोक्ष मार्ग के अधिकारी बन जाते हैं, तो फिर प्राणी आपका ही भजन न करके अन्य क्षुद्र भूत पिचासादि देवताओं की उपासना

क्यों करते है ? अपनी इष्टसिद्धि के निमित्ति आपका ही भजन न करके अन्य क्षुद्र देवों की शरण में क्यों जाते है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! वे अपनी पूर्ववासना के वशीभूत होकर ऐसा करते हैं। उनके मन में बड़ी-बड़ी कामनाएँ उठती हैं। वे उन कामनाओं की प्राप्ति के लिये मेरी शरण में न आकर क्षुद्र देवताओं की शरण में जाते है। वे अन्य देव मोक्ष देने में तो असमर्थ हैं। ये सकामी भक्त समझते हैं, अन्य देवताओं के यहाँ हमारा कार्य शीघ्र से शीघ्र सिद्ध हो जायगा। उन कामनाओं की प्रबलता के कारण उनका अन्तःकरण क्षुद्र बन जाता है। उन कामनाओं के वशीभूत होकर वे लोग अपनी प्रकृति के अधीन होकर, जो उन्हें जैसा नियम बता देता है, उस नियम का आश्रय लेकर मेरा भजन न करके अन्य देवताओं का ही स्वार्थ सिद्धि के निमित्त भजन करते है।

अर्जुन ने पूछा—दूसरे देवताओं की स्वार्थ सिद्धि के निमित्त जो श्रद्धा भक्ति से पूजा करते हैं, उनका फल क्या होता है ?

सूतजी कहते है—मुनियो ! इसका उत्तर जो भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

पूरे ज्ञानी नहीं भोग की इच्छा मन में।
भोग कामना भिन्न उठैं जगके विषयन में॥
हरयो गयो तिनि ज्ञान कामना सिद्ध होन हित।
निज स्वभाव अनुसार भ्रमत नित प्रति वे इत उत॥
भिन्न-भिन्न देवनि शरन, जामें पूजा तिनि करें।
होहि कामना सिद्धि जस, धारन उन नियमनि करें॥

सकामी अन्य देवों के उपासकों की कामना भी भगवान् ही पूरी करते हैं

[११]

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥*

(श्री० भग० गी० ७ अ० २१, २२ श्लोक)

छप्पय

जिनि-जिनि देवनि पूजि प्रेम तैं शीश नवावैं ।
जिनकूँ अपनो इष्ट समुझि हिरदे में लावैं ॥
श्रद्धा जिनि प्रति करैं गन्ध फल फूल चढ़ावैं ।
इनहीं तैं मम होहि कामना सिद्ध बतावैं ॥
भक्त भावना के सरिस, हौं हू तस भावहिँ भरूँ ।
श्रद्धा जाकी होहि जस, ताई में इस्थिर करूँ ॥

---

* जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप का श्रद्धा से अर्चन करना चाहता है, उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर कर देता हूँ ॥२१॥

यह सम्पूर्ण जगत् वासुदेवमय है। भगवान् वासुदेव ही अनेक रूपों में क्रीडा कर रहे हैं रमण कर रहे हैं। सबको घुमा रहे हैं, सबको नचा रहे है। जिन्होंने इस रहस्य को समझ लिया है, इस ज्ञान का पूर्णरीत्या साक्षात्कार कर लिया है, फिर वह संसारी मोह में नहीं पड़ता। यह विश्वास हो जाय, कि एक ही देव विविध प्राणियों के रूप में वर्त रहे हैं। फलों के दाता वे ही हैं और भोक्ता भी वे ही हैं और भोज्य पदार्थ भी वे ही हैं ऐसा ज्ञान हो जाय, तो उस ज्ञानी भक्त का तो संसार चक्र सदा के लिये छूट ही जायगा। भगवान् ने उच्च तथा नीच नाना भाँति की योनियाँ बनायीं हैं, उन सब में तारतम्य रूप से अपनी शक्ति का भी संचार उन्होने किया है। पाषाण आदि जड़ कहलाने वालों में ज्ञान शक्ति अत्यल्प है, कीड़े मकोड़ों में उससे अधिक इसी प्रकार देवता, यक्ष, गन्धर्व, गुह्यक आदि, देव योनियों में मनुष्यादि से भी अधिक सामर्थ्य है। पूर्वजन्म की विविध वासनाओं के वशीभूत होकर प्राणी इस बात को भूल जाता है, कि समस्त सिद्धियों के एकमात्र स्रोत श्रीहरि ही हैं। देवताओं में भी वे ही शक्ति का संचार करते हैं। देवताओं द्वारा भी जो सिद्धि प्रदान की जाती है, उसे भी भगवान् ही देते हैं क्योंकि समस्त शक्ति के आदि स्रोत तो श्याम सुन्दर ही है। छोटी सिद्धि चाहने वाले छोटे देवताओं की उपासना से उन छोटी कामनाओं को प्राप्त करते हैं। पूर्व जन्म की वासनायें जब इस जन्म में उदित होती हैं, तब साधारण श्रेणी के लोग मारण, मोहन,

---

वह भक्त उसी श्रद्धा से युक्त होकर उसके आराधन में तत्पर रहता है और उसी देवता से ही मेरे द्वारा विधान किये हुए इच्छित भोगों को प्राप्त करता है ॥२२॥

उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन तथा आकर्षणादि सिद्धियों की कामना होने के कारण, उन-उन सिद्धियों के लिये प्रयत्न करते हैं। वे सर्वान्तर्यामी जगदाधार सच्चिदानन्दघन भगवान् वासुदेव की उपासना तो करते नहीं। यदि इन सिद्धियों के निमित्त ही अन्य क्षुद्र देवों की शरण में न जाकर भगवान् की ही शरण में जाते, तो वे भगवान् के अर्थार्थी भक्त कहलाते, किन्तु उनका हृदय विशाल न होने से—क्षुद्र हृदय होने के कारण—वे अपनी इष्टसिद्धि के लिये अन्य देवताओं का ही आश्रय ग्रहण करते है। उनके अन्तःकरण में उन कामनाओं की सिद्धि के लिये अत्यन्त आसक्ति हो जाती है। वे चाहते हैं, यह सिद्धि मुझे शीघ्राति शीघ्र मिल जाय, इसलिये वैसे ही लोग उन्हें विविध सिद्धियों का शीघ्राति शीघ्र लाभ पहुँचाने के लोभ से अन्य देवों की पूजा करने का उपदेश देते है। उन कामनाओं की अत्यन्त आसक्ति के कारण वह अन्य देवताओं की उपासना में श्रद्धा भक्ति तथा लगन के साथ निरत हो जाता है। भगवान् न तो उनकी श्रद्धा को विफल होने देते हैं, और न उनकी लगन के साथ किये हुए परिश्रम को ही निष्फल होने देते हैं। वे जिस-जिस संसारी क्षुद्र कामना से जिस-जिस देवता की उपासना करते हैं, उसी देवता के द्वारा उनकी कामनाओं की पूर्ति करा देते हैं। जैसा देवता होगा वैसा ही फल देगा। बहुत से लोग कर्ण पिचास को सिद्ध कर लेते हैं। दूसरे लोगों की बातों को कर्ण पिसाच उसके कान में आकर कह जाता है। इसी प्रकार क्षुद्र देवताओं से क्षुद्र सिद्धियाँ ही मिलती हैं और वे भी भगवान् की ही कृपा से उन देवताओं द्वारा प्राप्त होती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—अन्य देवताओं की उपासना करने वालों को क्या सिद्धियाँ नहीं मिलतीं?

तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! पूर्व वासनाओं के वशीभूत होने से हृदय में बहुत-सी सांसारिक कामनायें उत्पन्न हो जाती हैं। उन बहुत-सी कामनाओं के कारण अन्तःकरण उन्हीं के अनुसार हो जाता है। उनकी प्रकृति ही ऐसी बन जाती है कि उन सिद्धियों के अतिरिक्त दूसरी बात उन्हें अच्छी ही नहीं लगती। अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अधीन हुए वे लोग जैसा किसी ने उन्हें उन सिद्धियों के प्राप्त करने के नियम बताये हों, उन नियमों का आश्रय लेकर उन्हीं देवताओं का निरन्तर भजन पूजन करते रहते हैं, उन्हीं के मंत्रों का जप अनुष्ठान करते रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"तब तो भगवन् ! वे लोग आपसे सदा के लिये विमुख ही हो जायँगे, क्योंकि वे आपका भजन तो करते नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, मैं तो सर्वान्तर्यामी हूँ। वे लोग जिस-जिस देवता का श्रद्धा के साथ भजन पूजन जप आदि करते हैं, मैं उन लोगों को उसी देवता विषयक श्रद्धा में आरूढ़ कर देता हूँ। मेरी ही शक्ति द्वारा वे उस देवता में श्रद्धा को स्थिर रखते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आप उसकी श्रद्धा उसी देवता में स्थिर क्यों कर देते हैं, अपनी ओर उसे क्यों नहीं लगाते ?"

भगवान् ने कहा—"भाई, मैं सर्वात्मा हूँ, जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं उसे उसी भाव से फल देता हूँ। उसकी देवता में श्रद्धा है तो मैं उसे देव भक्त ही बना देता हूँ, वह उसी देवता की आराधना में तत्पर हो जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर उसकी कामना उस देवता द्वारा पूरी होती है या नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"पूरी होती क्यों नहीं है, उसकी श्रद्धा

भक्ति से की हुई आराधना को मैं उसी देवता के द्वारा स्वीकृत करता हूँ और उसी के द्वारा उसकी कामनाओं की पूर्ति भी करता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"उन देवताओं के द्वारा जो आप उनकी कामनाओं की पूर्ति कराते हैं, उनमें और आप द्वारा जो पूर्ति की जाती है उनमें कुछ अन्तर है या नहीं ?"

भगवान् ने कहा—हाँ उनमें कुछ अन्तर होता है।

अर्जुन ने पूछा—"क्या अन्तर होता है।"

भगवान् ने कहा—देखो, वैसे तो मैं सर्वात्मा हूँ, सब मेरे ही द्वारा होता है, हो रहा है और होता रहेगा, किन्तु उपासक के विवेक, अविवेक, ज्ञान-अज्ञान, पात्रता और अपात्रता, क्षुद्रता और महत्ता के कारण फल में अन्तर पड़ जाता है। वर्षा का जल समान भाव से सर्वत्र गिरता है, किन्तु नदी में पड़ने से वह पेय हो जाता है, समुद्र में पड़ने से अपेय हो जाता है। महान् के द्वारा दी हुई वस्तु की महत्ता अधिक होती है, उसी को कोई क्षुद्र पुरुष दे-दे तो उसकी महत्ता न्यून हो जाती है।

अर्जुन ने पूछा—उन सकामी अन्य देवोपासकों को कैसे फल की प्राप्ति होती है और उनकी गति कैसी होती है ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है, आप सब इस पावन प्रसंग को समाहित चित्त से श्रवण करने की महती कृपा करेंगे।

छप्पय

निज श्रद्धा अनुसार पूजि देवहिँ सुख पावैं।
जो मन इच्छा होहि तिनिहिँ कूँ जाइ सुनावैं॥
तिनि की श्रद्धा नहीं करूँ हौं विचलित कबहूँ।
पूजैं यद्यपि भेद भाव तैं देउँ सुफल हूँ॥
मम विधान के ही सरिस, देवनि के ढिँग जाइँगे।
सुखी होहिँ श्रद्धालुजन, मनवांछित फल पाइँगे॥

देवों के भक्त देवों को और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं

[१२]

अन्वत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥*

(श्रीमभ० गी० ७अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

देवनि श्रद्धा सहित पूजिकें का फल पायौ ।
नाशवान ये भोग इनहिं में चित्त लगायौ ॥
अल्पबुद्धि के पुरुष भोग हित देवनि पूजैं ।
मोकूँ यह फल मिलै रात दिन तामें जूझैं ॥
देवनि के पूजक सबहिं, देवनि कूँ ही पाइँगे ।
जो हैं मेरे भक्त सो, प्राप्त मोइ है जाइँगे ॥

---

* उन अल्प बुद्धिवालो का फल नाशवान् है । देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

मुझ अव्यक्त को बुद्धिहीन पुरुष, व्यक्ति की भाँति मानते हैं, वास्तव में मैं अविनाशी हूँ, वे मेरे परम भाव को तत्त्व से नहीं जानते ॥२४॥

जितना बड़ा पात्र होगा, उसमें पानी भी उतना ही आवेगा, उसे चाहें गङ्गाजी में डुबोओ, समुद्र में डुबोओ अथवा तालाब, बापी, कूप में डुबोओ। सर्वत्र समान ही जल आवेगा। इसी प्रकार जिसका जितना बड़ा हृदय होगा, उसके इष्ट भी वैसे ही होंगे। जो लोग आहार, निद्रा मैथुनादि ग्राम्य सुखों को ही सब कुछ समझते हैं, वे अपने इष्टों से भी इन्हीं वस्तुओं की याचना करते हैं। "हे देव! हमारा शरीर सुखी रहे, बहुत दिन जीते रहें, विवाह हो जाय, बच्चे हो जायँ, बच्चों का भी विवाह हो जाय, उनके भी बच्चे हो जायँ, दूध पूत से घर भरा रहे। हमारे शत्रुओं का नाश हो जाय। रोटी कपड़ा की कभी कमी न हो।" इन्हीं संसारी वस्तुओं की याचना करते रहते हैं। स्त्री कहती है—जन्म जन्मान्तरों में मुझे बराबर ये ही पति मिलते रहें, पति कहता है, मुझे सदा यही पत्नी मिलती रहे। कोई बहुत बड़े हृदय के हुए तो इन्हीं आहार मैथुनादि भोगों को ही दिव्य रूप में चाहते हैं। हमें उपभोग को स्वर्ग की अप्सरायें मिलें। चढ़ने को बैल गाड़ी, घोड़ा गाड़ी नहीं। स्वर्गीय दिव्य विमान मिले। पीने को दूध नहीं दिव्य अमृत तथा सुधा मिले।

भोग्य पदार्थ चाहें इस मर्त्यलोक के हों चाहे स्वर्गलोक के, सभी अन्तवन्त हैं, नाशवान् है, क्षयिष्णु हैं। प्राणी इन नाशवान क्षयिष्णु भोगों के पीछे सदा पागल बना रहता है। इतना बुद्धिमान् ज्ञानवान् मनुष्य अविनाशी भगवान् को न चाहकर नाशवान् भोगों को ही चाहता है। क्यों चाहता है? इसलिये कि उसकी बुद्धि रूप पात्र छोटा है। अल्प है। अल्प बुद्धि वाले, मन्द बुद्धि वाले जीव उस अविनाशी सच्चिदानन्द अव्यक्त ब्रह्म को धारण करने में सर्वथा असमर्थ हैं, अतः अन्य अल्प देवों की उपासना करते हैं। वे अल्प वस्तु ही दे सकते हैं।—

एक महात्मा थे, वे शौच से बचे जल को एक शमी (छोंकरा) के वृक्ष पर डाल दिया करते थे। उस वृक्ष पर एक भूत रहता था। भूत प्रेत पाप योनियाँ हैं, किन्तु स्थूल शरीर की न होकर सूक्ष्म शरीर की होती है। शीघ्र गमन तथा पर मन की बात जानने की उनमें शक्ति होती हैं। इसीलिये साधारण लोग भूत प्रेतों को सिद्ध करके संसारी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। इन पाप योनि के भूत प्रेतों का आहार भी विष्टा मूत्र, शौच से अवशिष्ठ जल आदि अशुद्ध वस्तुओं का ही होता है। इन्हें भी प्राप्त करके ये प्रसन्न होते हैं। मांस, मदिरा, शव की वस्तुएं ये ही इन्हें प्रिय हैं।

हाँ तो, नित्य शौचोच्छिष्ट जल पाकर उस पेड़ पर रहनेवाला भूत उन महात्मा पर प्रसन्न हो गया। एक दिन प्रत्यक्ष प्रकट हो कर उसने कहा—"महात्मन्! आप पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ, आप मुझसे कोई वर माँग लीजिये।"

महात्मा ने कहा—"भाई, हमें संसारी किसी वस्तु की तो आवश्यकता नहीं। हमें तो भगवान् राघवेन्द्र कौशल किशोर के दर्शनों की अभिलाषा है। तुम करा सकते हो, तो हमें भगवान् के दर्शन करा दो।"

भूत ने कहा—"महात्मन्! यह प्रेत योनि पापयोनि है, अधम योनि है। हममें इतनी ही सामर्थ्य होती, तो हम इस अधम योनि में अब तक क्यों पड़े रहते। इसीलिये भगवत् दर्शन कराना तो हमारी शक्ति के बाहर की बात है। हाँ हम आपको एक उपाय बता सकते हैं।"

महात्मा ने कहा—"उपाय ही बता दो। उसी उपाय को करेंगे।"

भूत ने कहा—अमुक स्थान पर जो राम कथा नित्य होती

है, उसमें वेष बदल कर नित्य नियम से श्री हनुमान् जी आते हैं। क्योंकि हनुमान् जी ने भगवान् श्री कौशल किशोर राघवेन्द्र प्रभु से यह वरदान प्राप्त कर रखा है, जहाँ-जहाँ भी पृथ्वी भर में राम कथा होती हो, वहाँ-वहाँ मैं उतने ही रूप रखकर कथा श्रवण कर सकूँ। सो, इस कथा में वे कुष्टी के रूप में आकर कथा सुनते हैं। आप उनकी शरण में जाओ, तो वे आपको भगवत् दर्शन करा सकते हैं।

महात्मा ने पूछा—कथा में यदि कई कुष्टी हुए तो हनुमान् जी की पहिचान क्या है?

भूत ने कहा—"जो कोढ़ी हाथ जोड़े, प्रेम भरित हृदय से, नेत्रों द्वारा प्रेमाश्रु बहाते हुए तन्मय होकर कथा सुन रहा हो, समझ लें वे ही श्री हनुमान् जी हैं।"

भूत द्वारा हनुमान् जी का पता पाकर वे महात्मा उनके शरणापन्न हुए और हनुमान् जी की कृपा से उन्हें भगवत् साक्षात्कार हुआ। इस प्रकार भूतप्रेतादि भी प्रसन्न होकर कुछ परमार्थ पथ का उपाय बता सकते हैं यदि वे सौम्य हुए तो। वैसे ऐसी योनियाँ क्षुद्र होती हैं और क्षुद्र ही पदार्थों को दे भी सकती है।

एक संसारी पुरुष था। उसे एक अच्छा घोड़ा पाने की अभिलाषा थी। इसी कामना से उसने शीतला देवी की श्रद्धा भक्ति से उपासना की। शीतला देवी उसकी भक्ति से प्रसन्न हुईं। प्रकट होकर वर माँगने को कहा। उसने कहा—"महारानी जी! मुझे एक घोड़ा दे दीजिये।"

शीतला देवी ने कहा—"भैया, मैं स्वयं तो गधे पर चढ़ती हूँ (शीतला देवी का वाहन गधा ही है।) जब मैं स्वयं ही गधे पर

चढ़ती हूँ। तो तुझे घोड़ा कहाँ से दूँ? कोई और ऐसी वस्तु माँग जिसे मैं दे सकूँ।"

कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि इन देवों की शक्ति परिमित होती है, उनके पूजकों को भी परिमित ही फल मिलता है। भगवान् की शक्ति अपरिमित है, अतः उनके भक्त चाहें आर्त हों, चाहें जिज्ञासु हों अथवा अर्थार्थी हों उन्हें फल भी अपरिमित मिलता है। ध्रुव जी ने राज्य पाने की इच्छा से तपस्या की, किन्तु उन्हें मिला ध्रुवलोक का राज्य। उपमन्यु ने दुग्ध की इच्छा से शिवाराधन किया, उन्हें पूरा क्षीर का सागर ही मिल गया और अजर अमर शरीर। श्रीकृष्ण ने एक पुत्र पाने की इच्छा से शिवाराधन किया था उन्हें मिले १६१००० पुत्र। इसलिये सर्वश्रेष्ठ यही बात है, कि भगवान् की ही शरण लेनी चाहिये। इन संसारी भोगों की प्राप्ति के लिये जितना प्रबल प्रयत्न किया जाता है, रात्रि-रात्रि भर स्मशान में जागकर शव की छाती पर बैठकर चिता पर चावल पकाकर तथा और भी ऐसे ही अशुचि साधन करके जो क्षुद्र देवों की पूजा करते हैं, इतने ही परिश्रम से प्रभु उपासना की जाय तो संसार सागर से सदा के लिये पार हो जाय।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् के भक्तों के और अन्य देवों के भक्तों के फलों में क्या अन्तर होता है, यह प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—अर्जुन! अन्य क्षुद्र देवों के मन्दबुद्धि उपासकों को मन्द ही फल की प्राप्ति होती है। तथा महान् ब्रह्म के महान् उपासकों को महान् फल की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने पूछा—मन्द फल किसे कहते हैं?

भगवान् ने कहा—जो नाशवान् फल हैं, वे सभी मन्द फल

कहलाते हैं। ब्रह्म के उपासकों को ही अविनाशी फल की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने पूछा—फिर वे लोग क्षुद्र देवताओं की उपासना करके क्षुद्र फलों की ही ओर क्यों बढ़ते हैं।

भगवान् ने कहा—तुम्हें कई बार तो बता चुके हैं। सद्वस्तु का विवेक न होने के कारण वे अन्य देवों की उपासना करके उतना ही नियमित फल पाते हैं। मेरे भक्त विवेक वैराग्य करके सबको छोड़कर मुझ महान् को ही भजते हैं इसमें पूर्व जन्म के संस्कार ही प्रधान कारण हैं। अबकी में जो अन्न डालोगे उसी अन्न का आटा निकलेगा। जिस देवता की उपासना करोगे उसी को प्राप्त होगे। भूत प्रेतों की उपासना करोगे तो अन्त में भूत प्रेत बनना पड़ेगा। पितरों की उपासना से पितर, देवताओं की उपासना से देवता, यक्षों की उपासना से यक्ष और गन्धर्वों की उपासना से गन्धर्व बनना पड़ेगा। जिस देवता का पूजन करना होता है, पहिले अंगन्यास करन्यास करके उसी का ध्यान करना पड़ता है, उसी का रूप बनना पड़ता है। उस देवता का मन्त्र ही उसकी मूर्ति है। मन्त्र में देवता, ऋषि और छन्द तीन बातें होती हैं। तब उसका विनियोग होता है। मन्त्र के ऋषि को सिर पर धारण करते है, छन्द को मुख में और देवता को हृदय में। जिस-जिस देवता को हृदय में धारण करोगे, उसी-उसी का रूप साधक को होना पड़ेगा।

अर्जुन ने पूछा—"आपके भक्तों की क्या गति होगी? वे किसे प्राप्त होंगे?"

भगवान् ने कहा—यही नियम मेरे भक्तों के सम्बन्ध में भी है। देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरी उपासना करने वाले मुझे प्राप्त होते हैं।

अर्जुन ने पूछा—उपासना में श्रम तो समान ही होता है और आपकी उपासना से फल क्षुद्र न होकर महान् होता है, तो आपकी ही उपासना करनी चाहिये।

भगवान् ने कहा—चाहिये तो अवश्य, किन्तु करें तब तो? वे बुद्धिहीन पुरुष तो मेरे यथार्थ रूप से ही परिचित नहीं। वास्तव में तो मैं अव्यक्त हूँ, व्यक्तित्व से रहित हूँ, वे मूढ़ मुझमें व्यक्तित्व का आरोप कर लेते हैं?

अर्जुन ने पूछा—आप अव्यक्त में वे व्यक्तित्व का आरोप क्यों कर लेते हैं।

भगवान् ने कहा—वे महान्बुद्धि वाले नहीं। क्षुद्रबुद्धि होने के कारण वे मुझमें भी क्षुद्रता सीमितपन का आरोप कर लेते हैं। वे मेरे परम भाव को नहीं जानते। वे यह नहीं जान सकते कि मै ही अव्यक्त हूँ, मैं ही सबसे श्रेष्ठतम हूँ, मै ही अविनाशी तथा सर्वोत्तम हूँ। इसे यदि वे जान जायँ, तो अपनी क्षुद्रता छोड़कर मुझ महान् की ही उपासना करने लगें।

अर्जुन ने पूछा—इन क्षुद्र बुद्धि मनुष्यों को आप सर्वान्तर्यामी अव्यक्त से व्यक्तरूप में प्रकट होने वाले भगवान् में मनुष्यबुद्धि क्यों हो जाती है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रश्न का उत्तर भगवान् आगे देंगे।

छप्पय

हौं नितई अव्यक्त अनुत्तम अज अविनासी।
सुखस्वरूप स्वच्छन्द सर्वप्रिय, सुख की रासी॥
मूरख मोकूँ व्यक्त समुझिकें मानुष मानें।
मन इन्द्रिनि तैं करूँ काज ऐसो वे जानें॥
मन इन्द्रिन तैं परे हौं, नित्य सच्चिदानन्द घन।
नित्य अजन्मा एक रस, नहीं रूप रँग नहिं बरन॥

[इसके आगे की कथा अगले अंक में पढ़िये!]

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

(पंचम संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्ष का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३५६ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ३.४५ मात्र है, शीघ्र मँगाइये, नूतन संस्करण छप गया है। डाकव्यय अलग।

मतवाली मीरा

(पंचम संस्करण)

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा? उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है। ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढङ्ग से आलोचना की है, इसमें भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्त्व का मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई

के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन, बेटियों, माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते-पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढङ्ग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २.५० रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये रंगीन चित्र बड़ा ही कला पूर्ण है। डाकव्यय अलग।

नई प्रकाशित पुस्तक

श्री हनुमत्-शतक

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

हनुमान् चालीसा की भाँति नित्य पाठ करने के लिये यह "हनुमत-शतक" है, इसमें हनुमान जी के जीवन सम्बन्धी १०८ छप्पय हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक कवि डाक्टर रामकुमार जी वर्मा ने तीन छप्पय में इसकी भूमिका लिखी है। हनुमान् जी के भक्तों के लिये नित्य पाठ की यह बहुत ही उपयोगी पुस्तिका है। अब तक इसके दो संस्करण छप चुके हैं। पुस्तक के आदि में श्री हनुमान् जी का बहुत ही भव्य भावमय बहुरंगा चित्र है। मध्य में २१ छोटे चित्र (लाइन ब्लाक) है। मुख पृष्ठ पर हनुमान् जी का सुन्दर आत्रिमयाचित्र है। सुन्दर छपाई वाली इस पुस्तक की न्योछावर

—व्यवस्थापक

श्री रासबिहारी जी

भागवत दर्शन

खण्ड ७५

गीतावार्त्ता (७)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण १००० प्रति] वैशाख पूर्णिमा २०२७ [मू० १.६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्ति उपदेश लिखते थे। उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अंग्रेजी में छप चुके हैं। यह छोटी-सी पुस्तक बहुत ही उपादेह है। इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं। इसे हम फिर से छाप रहे हैं। मूल्य लगभग ३० पैसे।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम

(सहस्र दोहा भाष्य सहित)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वद्जनो के हाथों में पहुँची, लोगो ने पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये। पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जी इसी प्रकार 'श्रीविष्णुसहस्र नाम' को भी लिख दीजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के ऊपर एक-एक दोहा भी बना दिया। इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनों बन गये। प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते है उसे कथा मे सुनाते हैं उसका वर्णन इस परिचय सूचना-पत्र में करना असम्भव है। शीघ्र ही छपकर तैयार हो रहा है। पत्र लिखकर अपनी प्रति सुरक्षित करालें।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

विषय

अपनी निजी चर्चा

गीता-माहात्म्य (७) १४

गीता-माहात्म्य (८) २२

१. भगवान् अव्यक्त तथा सर्वज्ञ है ३०

२. दृढ़व्रती पुण्यात्मा ही निर्द्वन्द्व होकर भगवान् का भजन करते हैं ३६

३. दृढ़ निश्चयी भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ४१

४. अर्जुन के सात प्रश्न ४६

५. अर्जुन के ६ प्रश्नों का उत्तर ५२

६. अर्जुन के अन्तिम सातवें प्रश्न का उत्तर ६२

७. इसलिये भगवत् स्मरण भी करो और युद्ध भी करो ६७

८. मरणकाल में प्राण त्यागने की विधि ७५

९. प्रयाणकाल में किस पद का उच्चारण करे ८६

१०. प्रणव उच्चारण करते हुए देह त्याग करे ९१

११. भगवान् को प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता ९७

१२. ब्रह्माजी की रात्रि तथा दिन का परिमाण १०७

१३. सब नष्ट होने पर भी सनातन ब्रह्मलोक नष्ट नहीं होता ११६

१४. परमधाम और उसकी प्राप्ति का उपाय १२२

१५. देवयान मार्ग १२९
१६. पुनरावृति पितृयान-मार्ग १३६
१७. सर्वश्रेष्ठ योगमार्ग का फल १४१
१८. राजविद्या राजगुह्य योग १४७
१९. श्रद्धावान् ही अव्यक्त ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त कर सकता है १६५
२०. भगवान् का योग ऐश्वर्य विलक्षण है १७०
२१. भगवान् अपनी प्रकृति के आश्रय से जगत् रचना करते है १७६
२२. भगवान् उदासीन भाव से कर्म करते हैं १८२
२३. भगवत् अवतारों की निन्दा करने वाले आसुरी स्वभाव के हैं १८९
२४. दैवी सम्पत्ति वाले महात्मा भगवान् का ही भजन करते हैं १९६
२५. उपासक सभी रूपों में भगवान् की ही उपासना करते हैं २०४
२६. सर्वरूपों में भगवान् ही हैं २१०
२७. त्रैविद्या के सकाम उपासकों की गति २१८

अपनी निजी चर्चा

[६]

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो-
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्ग ॥*

(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

भटकि भटकि भव माहिँ शरन चरननि की आयो ।
शरनागत अपनाइँ वेद अरु शास्त्रनि गायो ॥
मोकूँ लेवै शरन स्वयं नहिँ आइ सकुङ्गो ।
अघमति कूँ अपनाउ कौन मुख आइ कहुङ्गो ॥
संतसंग भगवत कथा, करत सतत सेवन रहूँ ।
तो अपनाओगे अवसि, जिह आशा लैकें लिखूँ ॥

---

* हे नृसिंह प्रभो ! आप ही मेरे पर देव हैं परमाराध्य हैं । आप ही परम प्रिय हैं, आप ही मेरे एक मात्र सुहृद् हैं । मैं रागादि प्राकृत गुणों से मुक्त बनकर इस संसार की विपत्तियों को, अवश्य ही सुगमता के साथ पार कर जाऊँगा, यदि ब्रह्माजी द्वारा गायी हुई आपकी लीला कथाओं का गान करता रहूँगा और आपके चरणारविन्दाश्रित परमभक्त परमहंस महात्माओं का संग मिलता रहे तो ।

कुछ भी न किया जाय, यह सबसे श्रेष्ठ है। सहज भाव में अवस्थित रहे। कोई संकल्प नहीं विकल्प नहीं। दुःख नहीं सुख नहीं। कोई कर्तव्य नहीं अकर्तव्य नहीं, गृहण नहीं त्याग नहीं। अपना नहीं पराया नहीं। शरीर रहे तो रहे जाय तो जाय, इसकी चिन्ता नहीं। इच्छा नहीं द्वेष नहीं स्वाँस प्रश्वास आती जाती हैं आओ जाओ, न आवें जायें मत आओ जाओ। भाग्यवश ऐसी सहजावृत्ति हो जाय, तो ऐसे सहज समाधिनिष्ठ ज्ञानयोगि को कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। वह तो जीवन्मुक्त ही है। करने का संकल्प ही हत्या की जड़ है। यही संस्कारों को बनाता है यही बार-बार जन्माता और मराता है। परन्तु प्राणी कुछ किये बिना रह नहीं सकता मन को संकल्प विकल्प वाला कहा ही है। जब तक मन है, संकल्प विकल्प उठेगा ही। संकल्प होने से कर्मों में प्रवृत्ति होगी ही। इसलिये बिना कुछ किये नहीं रहा जाय, तो चित्त की नाना विषयों में बिखरी हुई वृत्तियों के निरोध का प्रयत्न करे। उन कार्यों को ही करे, जिनके द्वारा आत्मतत्व का बोध हो, श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में भक्ति हो।

किन्तु इन कार्यों को सब नहीं कर सकते। हम जो कुछ खाते पीते हैं उनमें पुण्य पाप दोनों का अंश रहता है। प्रायः सब शरीरों में पाप का ही अंश अधिक होता है। नर-नारियों की जैसी वासनायें होंगी, गर्भस्थ बालक के वैसे ही संस्कार बनेंगे। भाव दूषित, कर्म दूषित, संग दूषित अन्न जल से दूषित ही मन बनेगा। "जैसा खाय अन्न वैसा बने मन।" दूषित मन में दूषित ही भाव उठेंगे। दूषित भाव मे होने से परमार्थ सम्बन्धी साधनों में मन ही न लगेगा। जिनके शुभ कर्म करते करते पाप क्षीण हो गये हों, ऐसे निष्पाप, क्षीण पाप पुरुषों से परमार्थ सम्बन्धी कार्य

हो सकते हैं, उन्हीं के हृदय में भगवत्भक्ति भाव उत्पन्न हो सकते हैं।

यदि चित्त वृत्ति के निरोध के ध्यान धारण आदि कार्य न हो सकें अथवा श्रवण, कीर्तन प्रभु पूजनादि विशुद्ध भक्ति के कार्य न हो सकें तो इस जनता को ही जनार्दन मानकर इसकी सेवा के ही निमित्त संसारी लोगों की भाँति दौड़ धूप के कार्य करता रहे। क्योंकि स्थूल मन स्थूल कार्यों में ही लगता है, सब लोग स्थूल कार्यों को कर ही रहे हैं। ईंट पत्थर जोड़ना, बाल-बच्चों के लिये रोटी जुटाना, दौड़ धूप करना। इनको सिखाना नहीं पड़ता। इनकी ही भाँति स्थूल कार्यों में लग जाय, किन्तु सब लोग अपने लिये इन कामों को करते हैं, साधक दूसरों के लिये करे संसारी लोग स्वार्थ बुद्धि से कार्य करते हैं, साधक परोपकार बुद्धि से कार्य करे। यह भी परमार्थ सम्बन्धी साधन है, परन्तु इसमें एक बड़ी भारी कठिनाई है। परोपकार करते-करते अहंभाव आ जाता है। यह मैंने किया, मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई इस कार्य को कर ही नहीं सकता था। मेरे द्वारा कितने बड़े-बड़े कार्य हो रहे हैं। ऐसे भाव आते ही सब गुड़ गोबर हो जाता है। फिर वह परमार्थ न रहकर स्वार्थ हो जाता है। ये सब संस्थोपजीवी बन्धु पहिले तो परमार्थ भाव से ही प्रवृत्त होते हैं। फिर कार्य करते-करते पूर्व जन्मों के संस्कार वश अहंता आ जाती है, उन कार्यों में राग हो हो जाता है, तो उनके विरोध करने वालों से द्वेष होने लगता है। फिर वह परमार्थ साधन न रहकर स्वार्थ साधन बन जाता है। अतः परोपकार सम्बन्धी कार्यों में भी पग-पग पर बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। सदा सावधान रहना यही साधना का मूलमंत्र है। जो साधन करते समय सदा सचेष्ट सावधान रहते हैं वे ही इस संसार सागर को पार कर जाते हैं। जो असावधानी

करते हैं, ऊँचे चढ़कर भी पतित हो जाते हैं। फिर उन्हें दम्भ पाखंड का आश्रय लेना पड़ता है।

अमुक आदमी दम्भी है, पापी है, ढोंगी है यह कहना भी सबसे बड़ी मूर्खता है। स्वेच्छा से कोई दम्भ, पाप, पाखंड या ढोंग थोड़े ही करता है। परिस्थितियाँ उसे ऐसा करने को विवश कर देती हैं। आलोचना करने वाले भी यदि उनकी जैसी परिस्थिति में होते, तो उन्हे भी वैसा ही करने को विवश होना पड़ता। पूर्व जन्मकृत कर्म वैसा करने को विवश कर देते हैं। यथार्थ में प्राणी दैवाधीन है, कर्म ही उससे विवश होकर कराते हैं। प्रारब्ध कर्म ही उसे बलात् पुण्य पापों में प्रेरित कर रहे हैं। एक मात्र भगवान् की ही शरण में जाय, उन्हीं से रो रोकर प्रार्थना करे। प्रभो! मुझे अपनी शरण में ले लो। मैं स्वयं आपकी शरण में भी नहीं जा सकता जब आप कृपा करेंगे तब ही आपकी शरण में भी आ सकूँगा।"

हाँ तो गीतावार्ता सुनने के पूर्व अपनी निजी चर्चा की चटपटी चटनी चाट कर तब मानसिक आहार का भोजन कीजिये। अपनी तीर्थ यात्रा गाड़ी को छोड़कर मोटरों से दौड़ धूप करके, सब तीर्थों को समाप्त करके गोपाष्टमी से होने वाले अपने अनशन के लिये गोपाष्टमी से एक दिन पहिले हम अपने वृन्दावन स्थित इस पार से वंशीवट संकीर्तन भवन आश्रम में आ गये। अनशन तो उस पार के राधारानी क्षेत्र के गोलोक आश्रम में करना है। अतः गोलोक जाने के पूर्व पाठकों का तीर्थ यात्रा गाड़ी का क्या हुआ इसे सुनाकर तब आगे चलेंगे।

मैं तीर्थयात्रा गाड़ी को बम्बई छोड़ आया था। अब उसे गाड़ी न कहकर बिखरे डिब्बे ही करना चाहिये। नासिक से एक-एक डिब्बा दूसरी गाड़ियों में जोड़कर सब डिब्बे बम्बई पहुँचाये गये

थे। कुछ यात्री तो रेल की आशा छोड़कर अपने घर लौट गये। कुछ लोग इस आशा से कि संभव है कभी गाड़ी चल ही पड़े। वहीं स्टेशन पर पड़े रहे। पुलिस उन्हें घेरे रहती थी। समाचार पत्रों में मैं पढ़ता रहता था, यात्रियों को जल का कष्ट है, प्रकाश का कष्ट है अमुक लोग यात्रियों को देखने आये। सब लोग हमारे रेल के व्यवस्थापक स्वामी बलदेवाचार्य पर अत्यन्त असन्तुष्ट थे, उन्हें सभी खरी खोटी सुनाते थे। सब की बातों से ऊबकर वे देहली चले गये, कि अधिकारियों से मिलकर गाडी के चलाने का कोई उपाय निकाला जाय। देहली रेल के कर्मचारियों ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया। अब इस सम्बन्ध में कुछ भी होने का नहीं। केन्द्र के गृह विभाग की आज्ञा से गाड़ी भंग की गयी है, हम लोग कुछ भी नहीं कर सकते।"

भगवान् जब जैसा कराना चाहते हैं, तब तैसा ही बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं। हमने अपनी गाड़ी में एक डिब्बा उपासना गृह पृथक् बना रखा था। उसमें चौबीसों घन्टे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस महामंत्र का गाजे बाजे के साथ अखंड कीर्तन होता रहता था। कीर्तन करने वाली मंडली नेपाल के भक्तवर पं० कवि प्रसाद जी गौतम की थी, उनके भाई पं० ज्योति प्रसाद गौतम, उनके पुत्र पं० अनन्त गौतम तथा और भी १०-१५ भक्त थे। वे बडी लगन के साथ समस्त तीर्थों में कीर्तन की धूम मचाते थे। कीर्तन करने वालों को बिना शुल्क के ले गये थे। कुछ नेपाली भक्त टिकट लेकर भी यात्रा में गये थे। देहली में बलदेवाचार्य के मन में विचार आया कि क्यों न नेपाल के राजदूत से इस

को कहें। विचार आते ही उन्होंने दूरभाष यन्त्र (टेलीफोन) से नेपाल के राजदूत से संपर्क स्थापित किया। संयोग की बात देखिये दूरभाष पर स्वयं नेपाल के राजदूत ही बोले - क्या बात है ?

बलदेवाचार्य ने कहा--"बम्बई स्टेशन पर २५-३० नेपाल के नागरिक बड़े कष्ट में हैं ?"

राजदूत ने पूछा—"उन्हें कष्ट कौन दे रहा है।"

बलदेवाचार्य ने कहा—कोई कष्ट दे नहीं रहा है, ऐसे-ऐसे तीर्थयात्रा गाड़ी गयी थी। सरकार ने उसे भंग कर दिया है। सभी यात्री दुःख पा रहे हैं।

राजदूत ने पूछा—"गाड़ी क्यो भङ्ग कर दी है।"

बलदेवाचार्य ने कहा--"इसका तो पता नहीं क्यों कर दी है।"

राजदूत --तो हम किससे सम्पर्क स्थापित करें किससे कहें ? रेलवालों से पूछें ?

बलदेवाचार्य ने कहा—इसे तो आप ही जानिये। रेलवाले तो कहते है हमारे वश की बात नही।

बड़ककर राजदूत बोला—"अच्छा ठीक है, मै अभी प्रधान मन्त्री के पास जाता हूँ।"

इसके पश्चात् क्या हुआ। राजदूत गये या नहीं, उन्होंने किससे क्या बातें कीं ? कौन सा मन्त्र पढ़ दिया। आधे ही घंटे में आकाश वृत्तयन्त्र (वाइरलेस) से बम्बई के अधिकारियों को समाचार गया। आध घंटे में ही इंजन आ गया, हमारी रेल बन गयी और घंटे दो घंटे में ही हमारी गाड़ी बम्बई स्टेशन से चल पड़ी। मैं वृन्दावन में था, बलदेवाचार्य देहली में थे, हमारी गाड़ी द्वारका की ओर दौड़ रही थी। मेरे अनशन के १५ या २० वें दिन गाड़ी घूम-घाम कर वृन्दावन आ गयी। देहली में जाकर वह

समाप्त हो गयी। इस प्रकार तीर्थयात्रा विशेष गाड़ी का अध्याय यहाँ आकर समाप्त हुआ, अब अनशन का अध्याय आरम्भ होता है।

मैंने समाचार पत्रों द्वारा सभी गोरक्षार्थ अनशन करनेवालों का आह्वान किया किया था। ५०-६० आदमियों ने आने का वचन भी दिया था। किन्तु १४-१५ आदमी के लगभग अनशन करने आये थे। आने वाले तो बहुत थे, किन्तु कार्य कठिन था, जीवन-मरण का प्रश्न था। अतः बहुतों ने समय पर मना कर दिया। बहुत से आये ही नहीं थे।

गोलोक में क्वार तक तो पानी ही भरा रहा। जब बाढ़ उतर गयी। यमुना जी कम हो गयी, तब वहाँ अनशन करने वालों के लिये तथा सेवक और दर्शनार्थियों के लिये फूंस की कुटियायें तैयार कराई। मेरी मिट्टी की कच्ची कुटी जल में डूब कर ढह गयी थी। उसी गीली भूमि में गीले गारे से चारों ओर की दिवालें उठाकर उस पर फूंस का छप्पर डाला गया था। उसकी दीवाले गीली थीं उन्हें सूखने को ३-४ महीने चाहिये नीचे भूमि से भी उसमें पानी रिसता था। दो बड़े-बड़े पक्के मकान पहिले ही बने हुए थे। जाड़ा न लगे इसलिये अन्य सभी अनशन कारियों को पुआल बिछवाकर ऊपर से गद्दे डालकर पक्के मकानों में रखा। मेरे ही लिये अलग कच्ची कुटी बनी थी।

सप्तमी को हम सभी वहाँ पहुँचे। दर्शनार्थियों की भीड़ थी। सप्तमी को वहाँ प्रसाद बना। कल से तो अनशन ही है, अतः वहाँ एक प्रकार का उत्सव ही हो गया। दर्शनार्थियों का दिन भर तांता लगा रहा। सबने अपना-अपना स्थान ग्रहण कर लिया। मेरी कुटिया अभी तक तैयार नहीं थी। चारों दिवाल गीली मिट्टी की नीचे से पानी रिस रहा है, कुटिया क्या थी हिमालय

की हिमनिर्मित शिलाओं की एक बहुत ही ठंडी गुफा-सी बन गयी। अभी लिहसाई लिपाई शेष थी। दिन भर दौड़ धूप करके सायकाल तक लिपाई लिहसाई हुई। उसे सुखाने के लिये नीचे के पानी को सोखने के लिये उसमें गरम बालू बिछायी गयी। रात्रि भर कंडों की आग सुलगायी गयी। निश्चय यह हुआ कि कल ही इस कुटी में प्रवेश होगा।

पास में ही पुराना स्नान घर था। उसकी जमीन तो सीमेंट की पक्की थी। झोंपड़ी फूंस की थी। सप्तमी की रात्रि में उसी में रहने का निश्चय हुआ। बड़ी उत्सुकता थी पूरे देश भर में, वृन्दावन के तो बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर अनशन की बात थी। सायंकाल सब लोग खा पीकर रात्रि के १०-११ बजे तक जागते रहे। १२ बजे के लगभग सब सोये। मैं तखत पर पड़ा ही था, सोया नहीं था, तभी रामराज ने आकर कहा—पुलिस आ गयी है, उसने समस्त आश्रम को घेर लिया है। तब तक ही एक राज पत्रक राज्यधिकारी पुलिस प्रधान के मेरी कुटिया में आ गया। और बहुत ही नम्रता के साथ कहा—"आपका वारन्ट है, इसी समय आपको चलना होगा।"

मैं तो इसके लिये उद्यत ही बैठा था, मैंने कहा—"मैं चलने को तत्पर हूँ। स्नान करके मैं गौ पूजन कर लूँ।"

उन्होंने कहा—"हाँ, कर लीजिये, किन्तु शीघ्रता कीजिये।"

इतने में ही सब आश्रमवासी जुट आये मैंने स्नान करके गौ पूजन किया और अपने आप जाकर गाड़ी में बैठ गया। भगवान् के पूजन का सब सामान यमुना जल इतना साथ ले लिया। सभी ने वाष्प पूरित लोचनों से विदाई दी। हमारी गाड़ी बहुत से पुलिस जनों से घिरी हुई चल पड़ी, वह माट, राया आदि होते हुए लगभग चार बजे मथुरा कारावास पर पहुँच गयी। मुझे

कारावास में भीतर करके राज्य कर्मचारी चले गये मैं श्रीकृष्ण जन्म भूमि में पहुँच गया।

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी के माता-पिता कंस की जेल में बंद थे, जेल में ही श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् का जन्म हुआ। अतः हम सब लोग जेल को श्रीकृष्ण जन्म भूमि ही कहा करते थे। कहीं की जेल क्यों न हो यही कहते थे हम कृष्ण जन्म भूमि से छूट कर आये हैं। जेल पहिले बड़ी भयंकर लगती थी। जेल का नाम सुनते ही लोग कांप जाते थे। कारावास जाना कोई भी नहीं चाहता था। जो अपराधी होते थे, वे ही कारावास में जाते थे। लोग उनको बहुत ही हेय दृष्टि से देखते थे। पहिले जेलों में यातनायें भी कठोर से कठोर दी जाती थीं, किन्तु सन् २१ के असहयोग आन्दोलन से कारवासों की दशा में परिवर्तन हुआ। उनमें अपराधी ही न जाकर देशभक्त बड़े से बड़े लोग जाने लगे। राजनैतिक कार्यों से जेल जाना अत्यन्त ही गौरव की बात हो गयी। देश के लिये जेल जाने वालों की सर्वत्र प्रतिष्ठा होने लगे। फिर जेल जेल न रहकर खेल बन गये। राजनैतिक बन्दियों को यातना न देकर उन्हें सभी प्रकार की सुविधायें दी जाने लगीं। पहिले जो हमारे मन में जेलों का बड़ा भारी भय और आतंक था, वह जेल जाने से नष्ट हो गया। एक बार जेल हो आने से फिर जेल का भय भग जाता है। मैंने तो जेलों में जितनी सुविधायें पायीं हैं उतनी सुविधायें कभी घर में नहीं पायीं। मैं न जाने अब तक कितनी जेलों में रह चुका हूँ।

सन् २१ के असहयोग आन्दोलन में पहिले पहिल बुलन्द शहर जेल में रहा। फिर बरेली केन्द्रीत जेल में, फिर फैजाबाद जिला जेल में तदनन्तर ५ महीने लखनऊ जिला में विशेष श्रेणी (स्पेशल क्लास) में रहा। सन् २१ में चार जेलों में रहा।

सन् ३१ के सत्याग्रह आन्दोलन में दो बार प्रयाग जिला जेल (मलाका) में रहा, फिर बहराइच में। इसके अनन्तर स्वराज्य होने पर रामलीला के मामले में मलाका जेल में इस प्रकार मलाका जेल में तीन बार रहा।

तीसरी बार स्वराज्य हो जाने पर गौ रक्षा के लिये लखनऊ जेल में भी गया। किन्तु उसमें रहा नहीं। उन दिनों बाबू संपूर्णानन्द जी मुख्य मन्त्री थे। उनसे मेरा अत्यन्त सौहार्द्र का सम्बन्ध था। उन्होंने कह रखा था-ब्रह्मचारी जी को और लाला हरदेव जी को मत पकड़ना। अतः हम बार-बार सत्याग्रह करते। पुलिस वाले समें पकड़ कर जेल तक ले तो जाते। जेल के भीतर और लोगों को तो रख लेते। मुझे निकाल दिया करते।

इसके पश्चात् गोरक्षा के ही सम्बन्ध में पटना जेल में रहना पड़ा। जब गोरक्षा का कानून बिहार प्रान्त में बन गया, तो हमें छोड़ दिया।

अब के छटवीं बार श्रीकृष्ण जन्म भूमि में आये। अब तक तो अन्य जेलो को ही कृष्ण जन्म भूमि कहा करते थे, अब के साक्षात् श्री कृष्ण की जन्म भूमि मथुरा जेल में ही आ गये। ३०-४० वर्ष प्रयाग में रहने पर भी नैनी केन्द्रीय जेल नहीं देखी थी सो वह भी अब के दो दिन रहकर देख ली इस प्रकार ६ बार में ११ जेल तो अब तक देख लीं। अब पता नहीं आगे क्या होता है। यह संसार भी एक प्रकार की जेल ही है जीव विवश बना बिना इच्छा के भी भोगों को भोग रहा है।

मथुरा जेल के सभी अधिकारियों ने मेरे साथ अत्यन्त ही शिष्ट व्यवहार किया मैं तो ६ बार में ११ जेलों में रहा, किन्तु कभी भी किसी भी कर्मचारी ने मेरे साथ अशिष्ट व्यवहार नहीं किया। इसका कारण यही था कि सन् २१ को छोड़कर जब भी मैं जेल

गया मौन व्रत की ही दशा में गया। मौनी, फलाहारी साधु होने के नाते सभी आदर की दृष्टि से देखते। कैसे भी सही उनके भी तो हृदय है, वे भी तो भारतीय हैं, उन्हें भी तो धर्म के प्रति-आस्था है। वे यह भी जानते हैं, कि ये किसी चोरी डकैती के अपराध में जेल नहीं आये। देश भक्ति के लिये धर्म की रक्षा के लिये आये हैं, अतः इन्हें जितनी ही सुविधायें हम दे सकें उतना ही पुण्य होगा। बाहर के लोग तो समझते हैं, ब्रह्मचारी जी जेल में रहकर बड़ी विपत्तियाँ सह रहे हैं, कष्ट पा रहे हैं, किन्तु यथार्थ बात ऐसी है, कि जितनी सुविधा निश्चिन्ता मुझे जेलों में रहती है उतनी बाहर नहीं।

जेल में एक तो दर्शनार्थी व्यर्थ तंग करने वाले नहीं आ सकते। रहने को एकान्त स्थान मिलता है। सेवा करने को मनमाने सेवक नित्य स्वास्थ्य की परीक्षा के लिये चिकित्सक जिले का सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक (सिविल सर्जन) नित्य आता है। इसी प्रकार मथुरा जेल में भी मुझे सब सुविधायें थी। गोपाष्टमी से अनशन तो जेल में आते ही आरम्भ हो गया था। अतः भोजन का तो प्रश्न ही नहीं। यमुना जल रामजी तथा दूसरे बन्धु नित्य जेल के फाटक पर पहुँचा जाते थे। पूजा करने को तुलसी फूल जेल में पर्याप्त मिलते थे। सेवा करने को सेवक मिले थे। निवास स्थान को लीप पोतकर स्वच्छ सुन्दर बना लिया था। दिन में कोई न कोई बड़ा छोटा नेता, आश्रम का आदमी, केन्द्रीय सरकार या स्थानीय अधिकारियों की अनुमति से मिल ही जाते थे। आरंभ में तो मिलने पर कड़ा प्रतिबन्ध था। पीछे ढीला पड़ गया। समाचार पत्र भी मिल जाते थे। बाहर क्या हो रहा है, इसका कुछ आभास हो मिलता था।

मैं प्रातः उठकर स्नानादि से निवृत्त होकर पूजा पर बैठ जाता

दिन भर पूजा ही करना तो था, दूसरा काम ही नहीं। भोजन न करने से प्यास भी नहीं लगती थी। हठपूर्वक यमुनाजल पी लेता, फिर उसे कुञ्जलिनी क्रिया द्वारा बाहर निकाल देता। भोजन की याद ही नहीं आती थी। मै जब कुञ्जलिनी क्रिया करता जेल का चिकित्सक (डाक्टर) वहाँ उपस्थित रहता। वह बहुत आश्चर्य करता, कि आप कुछ खाते भी नहीं। पानी को पीकर सब निकाल देते हैं जीते कैसे हैं ? इसे भगवान् ही जानता है।

तीसरे दिन मुझे अंगरेजी भाषा में एक अभियोग पत्र दिया गया। मैने उसे यह कहकर लौटा दिया कि मुझे हिन्दी में अभियोग पत्र मिलना चाहिये।

हमारे संघ के कुछ कलहोपजीवी (वकील) बन्धु आये। उन्होंने बताया हमने प्रयाग के उच्चन्यायालय से निवेदन किया है, कि आपकी गिरफ्तारी अवैध है। सम्भव है आपको न्यायाधीश प्रयाग उच्चन्यायालय में बुलावें।

जेल में सरकारी अधिकारियों के प्रेषित कुछ बन्धु भी आये, कुछ नेता भी आये, आना तो सभी चाहते थे, किन्तु सब लोग जेल के द्वार से ही सम्मान करके लौट जाते जिनकी स्थानीय अधिकारियों तथा केन्द्रीय मन्त्रियों तक पहुँच थी, वे उनकी अनुमति लेकर मिलने आते। मथुरा जेल में बड़े ही सुखसे अनशन के दिन कटने लगे। अब उन दिनों की याद आती है, तो हृदय में एक प्रकार की मीठी-मीठी हूक उठने लगती है।

स्थान समाप्त हो गया। अब अगले खण्ड में मथुरा से जैसे प्रयाग के उच्चन्यायालय में गये और वहाँ जाकर जैसे हमारी कारावास से मुक्ति हुई। इस प्रसंग को आगे पढ़ें।

छप्पय

जग है कारावास जीव कैदी बनि भटकै।
विषय भोग जित मिलैं तितहि यह प्रानी अटकै॥
नहीं मिलैं इत मीत सबहिँ साथी स्वारथ के।
विषय बचन नित कहैं कहैं नहिँ परमारथ के॥
निरखत नित पथ थकि गयो, पर्‌यो फंद में हौं अबहिँ।
मुक्त करोगे कब प्रभो! चकित-चकित निरखूँ तुमहिँ॥

गीता-माहात्म्य

[७]

गीतायाःसप्तमाध्यायं भक्ति मुक्ति प्रदायकम् ।
पठित्वा श्रुत्वा चैव मृताअपितरन्ति च ॥*

(प्र० द० ग्र०)

छप्पय

गीता को अध्याय सातमों सब सुखकारी ।
मृतकनि हू करि पार होहि तिनिको भय हारी ॥
नगर पाटलीपुत्र तहाँ द्विज शङ्क करण खल ।
बहु धन करि व्योपार धरयो धरती में ज्यों मल ॥
अहि करयो सो मरि गयो, भयो सर्व धन लोभतें ।
सुतनि स्वप्न दै कहयो-इक, पुत्र गयो तहँ क्रोधतें ॥

धन यदि धर्म कार्यों में लग जाय, तब तो उसका होना सार्थक है । नहीं तो जैसे सुरापानादि अन्य व्यसन हैं उसी प्रकार धन संग्रह करना एक व्यसन है । जिन लोगों को धन एकत्रित करने का व्यसन लग जाता है, वे समाज को, बन्धु बान्धवों को, पुत्र पौत्रों को भी आवश्यकता पड़ने पर धन नहीं देते । यहाँ

---

* गीता का सप्तम अध्याय भक्ति तथा मुक्ति देने वाला है इसके पढ़ने से तथा सुनने से जीवित तो तरते हैं, मृतक पुरुष भी इससे तर जाते हैं ।

तक कि अपनी स्त्री के लिये तथा अपने शरीर के लिये भी व्यय नहीं करते। जोड़-जोड़ कर रखते जाते हैं, अन्त में यक्ष बनकर या सर्प बनकर उस पर बैठकर फिर भी उसे किसी के काम में आने नहीं देते। भगवान् ने धन दिया हो, तो यथेष्ट दान दे। धर्मशाला, पाठशाला, गोशाला बनवावे। अन्न क्षेत्र लगवावे वापी, कूप, तड़ाग, बाग बगीचा आदि बनवावे। जिन कामों से दूसरों को का भला हो, परोपकार हो, दुखियों के दुख दूर हो, दीन अनाथों का भला हो, यही धन की शोभा है। न स्वय खाया, न दूसरों को खिलाया, निर्दयी होकर धन को जोडते गये अन्त में बिना किसी को बताये मर गये। मरते समय भी उसी में चित्त फँसा रहा, तो मरकर सर्प बनकर उसी धन पर बैठे रहना पड़ता है।

एक संन्यासी जी थे। गृह त्याग देने पर भी उनको धन संग्रह करने का व्यसन था। उनके भक्त जो कुछ चढ़ा जाते वे उसे एकत्रित करके सुवर्ण मुद्रा बनवा लेते। उन सुवर्ण मुद्राओं को वे एक कमण्डलु में रखकर जहाँ रहते थे वहाँ गाढ़ते जाते थे। एक दिन उनकी मृत्यु हो गयी।

थोड़े दिनों पश्चात् लोगों ने देखा एक सर्प वहाँ आता है और वहाँ आकर अपना फण पटकता रहता है। लोगों ने उस स्थान को खोदा तो वहाँ सुवर्ण मुद्राओं से भरा कमण्डलु निकाला। इतने गृहत्यागी विद्वान् संन्यासी की भी धन के व्यसन के कारण ऐसी दुर्गति हुई, फिर जो रात्रि दिन धन कमाने में ही लगे रहते हैं, उसे धर्म कार्यों में व्यय नहीं करते, उनकी क्या दुर्दशा होती होगी, इसे तो भगवान् ही जानता है। जो धन न अपने ही लिये सुखदायी सिद्ध हुआ और न अपने सुहृद जनों

तथा परिवार वालों के ही काम आया। वह तो केवल दुःख का ही हेतु होता है।

एक व्यक्ति था। वह भीख मांगता था। धन पैदा करने के दो ही उपाय है या तो व्यापार या भिक्षा। व्यापार मे तो लोग धन कमाते ही हैं, किन्तु भिक्षा मांग-मांगकर भी लोग लाखों रुपये एकत्रित कर लेते हैं। उस भिक्षुक ने भी भीख मांग-मांग कर सुवर्ण की चार ईंटें बनवायी। उन ईंटों को उसने कहीं जंगल में जाकर गाड़ दिया। सब की आंखें बचाकर वह नित्य ही उन ईंटों को देख आता था। किसी चोर ने बात ताड़ ली। वह चुपके-चुपके उसके पीछे चला गया। जब वह ईंटों को देखकर लौट आया, तब चोर ने चारों सुवर्ण की ईंटें तो निकाल लीं, उनके स्थान पर चार मिट्टी की पक्की ईंट गाड़ दीं।

दूसरे दिन जब वह उन ईंटों को देखने गया, तो वहां सुवर्ण की ईंट नहीं थी। मिट्टी की पक्की ईंटें थीं। यह देखकर वह दहाड मारकर रोने लगा। इतने में ही एक महात्मा आ गये। उन्होंने रोने का कारण पूछा। भिक्षुक ने सब बात बता दी।

महात्मा ने पूछा—वे ईंटें तुम्हें नित्य कुछ खाने को देतीं थीं क्या ?

भिक्षुक ने कहा—नही, महाराज ! जड़ ईंटें खाने का क्या देंगी ?"

महात्मा ने पूछा—तो क्या देती थीं ? अन्न, वस्त्र, वाहन, फल फूल कुछ तो देती होंगी। तुम्हारे वे किस उपयोग में आती थीं। जिनके लिये तुम इतने दुखी हो रहे हो ?"

भिक्षुक ने कहा—"देती तो कुछ नहीं थीं। किसी उपयोग में भी नहीं आती थीं। नित्य प्रति देख लेते थे।"

महात्मा ने कहा—जब केवल देखने के ही काम में आती थीं, तब तो जैसे सुवर्ण की देखीं वैसे ही ये देखीं। इन्हें ही देख कर सन्तोष कर लिया करो।"

बात यह है, कि कृपणों का धन केवल देखने को ही होता है, कुछ अपने काम में नहीं आता। कोई शारीरिक सुख भी नहीं देता, नष्ट होने पर दुःख का कारण बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भागवत् के सातवें अध्याय का महात्म्य सुनाता हूँ, जिसे पार्वती जी के पूछने पर शिवजी ने तथा लक्ष्मीजी के पूछने पर भगवान् विष्णु ने सुनाया था।

पूर्व दिशा में एक पाटलिपुत्र नाम का अत्यन्त ही समृद्ध शाली नगर था। उसमें बहुत से धनिक व्यापारी निवास करते थे। उसी नगर में शङ्कुकर्ण नाम का एक ब्राह्मण रहता था। यह नामका ही ब्राह्मण था। ब्राह्मण पने के जो सद्गुण होते हैं, वे उसमें एक नहीं थे। उसने वैश्य वृत्ति का आश्रय ले रखा था। वह भाँति-भाँति की वस्तुओं का व्यापार किया करता था। व्यापार करके उसने बहुत सा धन कमाया, किन्तु उस धन से वह न तो देवताओं का पूजन ही करता और न पितरों का श्राद्ध तर्पण ही। कोई अतिथि उसके द्वार पर आ जाते तो भोजन कराना तो पृथक् रहा वाणी से भी उनका सत्कार न करता था। परोपकार में एक पैसा भी व्यय न करता। हाँ जिन राजाओं और राज कर्मचारियों से उसका कार्य सधता, उनका वह बड़े ठाठ बाठ से सत्कार करता। उनके लिये अच्छे-अच्छे पदार्थ बनवा-बनवाकर उन्हें भोज देता। उसकी मान्यता थी कि राजकर्मचारियों को एक पैसे का खिलायेंगे, तो उनके द्वारा दश पैसे का लाभ उठायेंगे। यह भोज भी उसके व्यापार का ही एक अंग था।

उसी नगर में एक बड़े ही त्यागी, तपस्वी सुशील गुणी दूसरे ब्राह्मण थे। वे बड़े संयमी थे। नित्य नियम से वे गीता जी के सातवें आध्याय का पाठ किया करते, किसी का परिग्रह ग्रहण न करते तथा आचार-विचार से रहते थे। ब्राह्मण के नाते वे शङ्कु कर्ण से कहा करते—अरे, क्यों व्यर्थ में पाप बटोर रहा है। कुछ दान धर्म कर जिससे परलोक बने। पूरे गीता का पाठ न कर सके तो कम से कम सातवें अध्याय का तो पाठ किया ही कर, किन्तु इसे गीता पाठ का अवकाश कहाँ था। इसे तो हर समय पैसा-पैसा बस पैसा चाहिये। माई न भैया, सबसे बड़ा रुपैया" यही इसका मूल मन्त्र था।

तीन विवाह तो इसके हो चुके थे। उनसे इसके कई पुत्र पौत्र भी थे, फिर भी इसकी इच्छा चौथा विवाह करने की हुई। अतः पैसे के बल पर एक चौथा विवाह तै कर लिया। अपने पुत्र पौत्रों बन्धु बान्धवों के साथ यह चौथा विवाह करने जा रहा था। मार्ग में एक स्थान पर ठहरे। अँधेरी रात्रि थी। रात्रि में यह थका हुआ सो रहा था, कि सहसा किसी सर्प ने आकर इसकी बाँह में काट लिया। इसके बन्धु बान्धवों ने झाड़ने फूंकने वालों को विष उतारने वालों को तथा बहुत से चिकित्सकों को बुलाया किन्तु कोई इसे बचा नहीं सका। अन्त में इसके प्राण पखेरू शरीर रूपी पिंजड़े का परित्याग करके उड़ गये। मर कर वह प्रेत हुआ। बहुत दिनों तक वह प्रेत योनि में भटकता रहा। इसका चित्त तो भूमि में गड़े धन में आसक्त था, अन्त में इसने सर्प योनि में जन्म लिया। चित्त तो इसका धन में ही लगा हुआ था; अतः धन पर जाकर बैठ गया कि इस धन का कोई और उपभोग न कर सके।

सर्प योनि में इसे बहुत कष्ट होता था, एक दिन स्वप्न में

अपने पुत्रों से कहा—"मैं सर्प योनि में अत्यन्त क्लेश सह रहा हूँ, किसी प्रकार मेरा उद्धार करो।"

प्रातःकाल सभी ने परस्पर में स्वप्न की बात सुनायी। उन पुत्रों में से उसका एक मँझला पुत्र था जिसका नाम शिव था। उसने सोचा—"जैसे भी हो तैसे पिताजी का सर्प योनि से उद्धार करना चाहिये।" यही सोचकर वह कुदाल हाथ में लेकर चला। उसे यद्यपि गड़े धन का स्थान मालूम नहीं था, तथापि चिन्हों के द्वारा खोजता-खोजता उस स्थान पर पहुँच गया। वहाँ उसने एक सर्प के रहने की बाँबी देखी। शिव कुदाल से उस बाँबी को खोदने लगा। उसने थोड़ी ही दूर खोदा होगा, कि उसे एक बड़ा ही भयंकर सर्प वहाँ दिखायी दिया। अपने घर को किसी के द्वारा खोदा जाते देखकर सर्प अत्यन्त कुपित हुआ, वह फुँफकार छोड़ते हुए बोला—अरे, दुष्ट! तू कौन है? किसने तुझे भेजा है, तू मेरे घर को क्यों खोद रहा है?

तब हाथ जोड़ कर शिव ने कहा—'पिता जी! मैं आपका पुत्र शिव हूँ, रात्रि में हम सब भाइयों को स्वप्न हुआ था, उसी स्वप्न के अनुसार मैं तो कुतूहलवश यहाँ आया हूँ, कि आपका गाड़ा हुआ सुवर्ण मिल जाय।"

सर्प ने कहा—"यदि मेरा सच्चा पुत्र है तो मुझे सर्प योनि से छूड़ा दे। इस योनि में मैं अत्यन्त कष्ट पा रहा हूँ।"

शिव ने पूछा—"पिताजी! आपका उद्धार कैसे होगा? कहें तो हम आपके लिये गया में जाकर श्राद्ध कर आवें?"

सर्प ने कहा—"भैया! इस धन के लोभ से ही मुझे सर्प योनि में जन्म लेना पड़ा है। मेरा पाप ऐसा है कि वह गया श्राद्ध तथा जप, तप, दान धर्म से मिटने वाला नहीं।"

शिव ने पूछा—"तो पिताजी! जिस कार्य से आपका उद्धार

हो, उसे ही मुझे बताइये। आप जो बतावेंगे हम वही कार्य करेंगे।"

पुत्र के ऐसे पूछने पर उसे अपने सम्बन्धी ब्राह्मण की बात याद आ गयी, जो उसे सदा गीता के सातवें अध्याय का पाठ करने का उपदेश दिया करते थे। अतः वह बोला—"बेटा शिव! तुम सब भाई मिल कर एक काम करो। मेरा श्राद्ध कर्म बहुत ही धूम-धाम से करो। श्री मद्भागवत् गीता के सातवें अध्याय का निरन्तर पाठ करने वाले उन ब्राह्मण को बुलाकर मेरे श्राद्ध के दिन सातवें अध्याय के पाठ करने वाले ब्राह्मण को श्राद्धा पूर्वक भोजन कराओ। और जितने भी वेदपाठी वेदज्ञ ब्राह्मण मिल सकें उन्हें भी श्राद्धा पूर्वक भोजन कराओ, शक्ति के अनुसार खूब दान दक्षिणा दो। ऐसा करने से मेरा उद्धार होगा।"

पिता की ऐसी आज्ञा पाकर शिव अपने भाइयों के समीप गया, उसने पिता की कही हुई सब बातें अपने भाइयों से कही। सब ने मिलकर मन्त्रणा की। वे सब भी पिता की उद्धार चाहते थे। अतः सभी ने बड़े उत्साह के साथ पिता का श्राद्ध किया। बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मण एकत्रित किये। उन सबसे श्री मद्भागवत् गीता के सातवें अध्याय का पाठ कराया। जो ब्राह्मण नित्य गीता जी के सातवें अध्याय का पाठ करते थे, उनकी सबसे अधिक सेवा की। सबको वित्त शाठ्य त्याग कर यथेष्ठ दान दक्षिणा दी। पिता जी ने जितना बताया था उससे कई गुना अधिक श्राद्ध कर्म में दान किया। ऐसा करने से उनके पिता सर्प योनि त्याग कर दिव्य रूप धारण करके देवता बन गये। वे अपने पुत्रों पर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और गड़े हुए धन को सब पुत्रों में बराबर-बराबर बाँट दिया। धन करोड़ों की संख्या में

था, वे सभी पुत्र सदाचारी थे, अतः उन्होंने अपने पिता की भाँति उस धन को जोड़ा नहीं। उसे दान धर्म तथा शुभ कर्मों में व्यय कर दिया। पिता के नाम से धर्मशाला बनवा दी। बहुत से वापी, कूप, तड़ाग खुदवा दिये, बाग बगीचा लगवा दिये। देव मन्दिरों का निर्माण करा दिया। बहुत से अन्नक्षेत्र खुलवा दिये। सदावर्त लगवा दिया।

वे सब लड़के श्रीमद्भागवत् गीता के सातवें अध्याय के पाठ का फल प्रत्यक्ष देख चुके थे, अतः उन्हें उस पर बड़ा विश्वास हो गया। वे नियमित रूप से नित्य प्रति अत्यन्त श्रद्धा भक्ति के सहित सातवें अध्याय का पाठ किया करते थे। परस्पर में उसी की चर्चा किया करते, विद्वानों से इसी के सम्बन्ध में पूछा करते थे। श्रद्धा भक्ति के साथ ऐसा करने से उन सब की सद्गति हो गयी। वे सबके सब मुक्ति पद के अधिकारी बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में श्रीमद्भागवत् गीता के सप्तम अध्याय का महात्म्य आपसे कहा। अब आगे आप आठवें अध्याय के महात्म्य को और सुनें।"

छप्पय

कहै सर्प तू कौन स्वप्न सुत बात बताई।
तबहि सर्प ने कही देहु अहि योनि छुड़ाई॥
गीता को अध्याय सातवों पढ़े विप्र जो।
ताकूँ देउ जिमाइ श्राद्ध दिन पाठ करै सो॥
दान धरम अरु पाठ मिलि, द्विज पुत्रनि सब कछु करयो।
सुनि महात्म्य सप्तम सुखद, प्रेम सहित तिनि हिय भरयो॥

गीता माहात्म्य

[८]

किंतद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० १ श्लो०)

छप्पय

अष्टम जो अध्याय पढ़ै गीता को नित प्रति ।
आधो अथवा एक पढ़त इश्लोक होहि गति ॥
आमर्दकपुर माहिँ भावशर्मा द्विज खल मति ।
ताड़ी पीवै नीच चोर निंदित वेश्या पति ॥
ताड़ी पी मरि ताड़ बनि, खड़ो वृक्ष वन सघन जहँ ।
बलराक्छस नारि संग, सघन छाँह लखि बसहि तहँ ॥

व्याकरण शास्त्र का सिद्धान्त है एक शब्द वा भी स्वर से वर्ण से भली भाँति शुद्ध-शुद्ध उच्चारण किया जाय, तो वह शब्द इस लोक में तथा परलोक में समस्त कामनाओं को देने वाला होता है। सिद्ध मन्त्र का प्रयोग जानकर करो या अनजान में उसका सुफल अवश्य होगा। एक राजकुमार किसी ऋषि के आश्रम में रहता था। उसकी माता विपत्ति पड़ने पर मन्त्री के साथ भागकर

---

* हे पुरुषोत्तम ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं ? और अधिदैव किसका नाम है ?

ऋषियों की शरण में रहने लगी थी। आश्रम के लड़के मन्त्री को चिढ़ाने के लिये उसे 'क्लीव' कहा करते थे। राजकुमार भी उनकी देखा देखी कहने लगा। उस पर क्लीव तो आया नहीं क्लीं क्लीं कहने लगा। क्लीं भगवती सरस्वती देवीजी का बीज मन्त्र है। इससे देवीजी प्रसन्न हो गयीं और उसके सब कार्यों में सहायक बनीं। यद्यपि राजकुमार ने मन्त्र भाव से उसका उच्चारण नहीं किया था, फिर भी शब्द का प्रभाव तो होना ही चाहिये था।

अजामिल ने अपने पुत्र नारायण को मरते समय पुकारा था, तो भी भगवान् नारायण के दूत नामका साम्य होने से उसकी रक्षा के निमित्त आ गये और अजामिल को यमदूतों के पास से छुड़ा लिया।

किसी को अनजान में स्वभाव वश ही "साला" कह दो। यद्यपि आपने गाली की भावना से इस शब्द को नहीं कहा स्वभाव वश अभ्यास के कारण मुख से निकल गया, फिर भी सुनने वाला कुपित हो जायगा, आपका खोपड़ी फोड़ने को तैयार हो जायगा। शब्द का प्रभाव ही ऐसा है।

नागों का नियम होता है, कि जब तक उनसे कोई काटने को न कहे, तब तक वे काटते नहीं। कर्कोटक नाग राजा नल को काटकर कुरूप करना चाहता था, जिससे राजा कलियुग के अत्याचारों से बच सके। कर्कोटक राजा को काटकर उनका उपकार करना चाहता था, किन्तु जब तक राजा काटने को न कहें वह अपने नियमानुसार उन्हें काट नहीं सकता था। इसके लिये उसने एक उपाय सोचा। राजा से कहा आप एक से लेकर गिनती गिनते जाइये और पैर बढ़ाते जाइये। राजा ने एक-एक पग पर एक-एक गिनती गिननी आरम्भ की। एक, दो, तीन,

चार, पाँच, छै, सात, आठ, नौ और जहाँ राजा ने 'दश' कहा वहीं कर्कोटक ने राजा नल को काट लिया।

संस्कृत में 'दश' शब्द का अर्थ दश गिनती भी होता है और 'दश' का अर्थ काटो भी होता है। कर्कोटक ने यही अर्थ लगा लिया कि राजा कह रहा है, मुझे काट लो। यद्यपि राजा ने तो गिनती गिनी थी। मुझे काट लो इस भाव से 'दश' नहीं कहा था। फिर भी शब्द का प्रभाव तो होता ही है। शब्द का प्रभाव महान् होता है। इसीलिये शब्द का उच्चारण बड़ी सावधानी से करना चाहिए। अशुद्ध अमंगल शब्दों का भूल में भी उच्चारण न करना चाहिये। सदा मंगलमय शब्दों का, शुभ शब्दों का, कल्याणकारी शब्दों का ही उच्चारण करना चाहिये। जिनके मुख से भूल से भी अमंगलमय कल्याणकारी शब्द निकल जाते है, उनका भी मगल ही होता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मै आपको श्रीमद्भगवद्गीता के अष्टम अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जिसे पार्वतीजी के पूछने पर शिवजी ने तथा लक्ष्मी जी के पूछने पर विष्णु भगवान् ने सुनाया था।

दक्षिण देश आमर्दक नाम का एक सुप्रसिद्ध समृद्धशाली नगर था। उसी नगर में भाव शर्मा नाम का एक ब्राह्मण निवास करता था। वह केवल जन्म का ही ब्राह्मण था। उसके समस्त कार्य नीचातिनीच पुरुषों के जैसे थे उसने एक कुलटा वेश्या स्त्री को अपने घर में रख रखा था। उसे ही वह अपनी पत्नी कहता था। वह अभक्ष्य पदार्थों का पान करता था अपेय पादर्थों का पान करता था तथा अगम्या स्त्रियों के साथ गमन करता था। उससे कोई भी दुष्कर्म ऐसा बचा नहीं था, जिसे वह करता न हो सुरापान करके वह जूआ खेलता था। जूए मे जो उसे धन मिल जाता,

उससे वह मांस मदिरा का सेवन करता, परस्त्रीगमन करता। यदि हार जाता तो धन के लिये चोरी करता किसी की वस्तु को उठा लाता, किसी के बालक को धन के लोभ से चुरा कर छिपा देता, फिर उससे मनमाना धन लेकर लौटाता रहता। इस प्रकार वह सदा पाप कर्मों में ही लगा रहता।

एक दिन मदिरा पीने वालों की गोष्ठी हुई। एक से व्यसन वाले जब बहुत से एकत्रित होते हैं, तो सभी अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते हैं। उन पियक्कड़ों में बाजी लगी, देखें कौन सबसे अधिक ताड़ी पीता है। यह भावशर्मा नीच तो था ही प्याले के ऊपर प्याले चढ़ाने लगा। इतनी अधिक ताड़ी पी गया, कि वह उसे पचा न सका। अजीर्ण हो जाने से उसे अत्यन्त ही कष्ट हुआ और उसी कष्ट में उसकी मृत्यु भी हो गयी।

मरते समय प्राणी के मनमे जैसी भावना होती है, वैसा ही उसे अगले जन्म में शरीर मिलता है। भावशर्मा ने ताड़ के नीचे बैठकर ताड़ी पीते-पीते ही शरीर का परित्याग किया था। अतः ताड़ का ध्यान करने से अन्त में वह भी बड़ा भारी सघन ताड़ का ही वृक्ष बना। घोर जगल में ताड़ बना हुआ, वह अपने दिन काटने लगा।

भावशर्मा जिस वन में ताड़ बनकर खड़ा था। उसी के समीप एक दूसरा नगर था। उस नगर में कुशीबल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। कुशीबल वेदशास्त्रों का ज्ञाता था। सभी शास्त्रों का उसने विधिवत अध्ययन किया था और वह ब्राह्मणों के सदाचार का भी पालन करता था। उसकी स्त्री का नाम कुमति था। उसका जैसा नाम था, वैसे ही उसमें दुर्गुण भी थे, वह अत्यन्त खोटे विचारों वाली थी। वह अपने पति को अधिकाधिक धन लाने को प्रेरित किया करती थी। दान लेना ब्राह्मण के

लिये आवश्यक नहीं है। जो दान प्रतिग्रह से ब्राह्मण बचा रहता है, वही महान् होता है। दान के बिना कार्य न चले तो अन्नदान, गोदान, भूमिदान आदि ही निर्वाह भर के लिये लेवे। निन्दित दान कुदानों को–जैसे कालपुरुष का दान, भैंस का दान, घोड़े का दान या गंगा किनारे दान–इन्हें कभी न ले। जो ऐसे दानों को लेता है, वह उन कुदानों के प्रभाव से कितना भी भारी विद्वान् क्यों न हो उसे ब्रह्मराक्षस आदि निन्दित योनियों में जन्म लेना पड़ता है।

कुशीवल ब्राह्मण यद्यपि ब्राह्मण वेद वेदाङ्गों का ज्ञाता था, फिर भी अपनी स्त्री की प्रेरणा से कालपुरुष का, भैंस, घोड़ा तथा लोहा आदि अन्य बुरे दानों को भी स्त्री के साथ लेने लगा। अन्त में उसे ग्राह्य अग्राह्य का विवेक ही न रहा। जो भी उसे जो भी वस्तु दान मे दे देता उसी को ग्रहण कर लेता। उस दान की वस्तुओं में से दूसरे ब्राह्मणों को भी कुछ नहीं देता। सबके सबको अपने ही उपयोग में ले लेता। अन्त में वे दोनों मरकर ब्रह्म-राक्षस हुए।

ब्रह्मराक्षसों को अपनी पुरानी विद्या भी स्मरण रहती है, वे धारा प्रवाह रूप से संस्कृत बोल सकते हैं। विद्वानों के प्रश्नो का भी उत्तर दे सकते है। वे दोनों पति-पत्नी ब्रह्मराक्षस बनकर उसी ताड़ वृक्ष की सघन छाया मे रहने लगे जो मरकर भावशर्मा ताड़वृक्ष बना था। भूख-प्यास से पीड़ित होकर दोनो इधर-उधर भटकते, नाना कष्टों को पाते तथा अपने पूर्वकृत पापों का स्मरण करके अत्यन्त ही दुःख के साथ समय बिताने लगे।

एक दिन इस ताड़ की सघन छाया में ब्रह्मराक्षस बने ये दोनों पति-पत्नी बैठे थे। पत्नी ने अत्यन्त दुखित मन से अपने पति से पूछा—"नाथ! इन दुःखों का कभी अन्त भी होगा कि

नहीं ? इस अधम ब्रह्मराक्षस योनि से किसी प्रकार छुटकारा भी होगा कि नहीं ? कैसे हमारी इन दुःखों से इस अधमयोनि से मुक्ति हो सकती है ?"

तब ब्रह्मराक्षस बने उस ब्राह्मण ने कहा—"देवि ! ब्रह्मविद्या के उपदेश के बिना, अध्यात्म तत्त्व के ज्ञान के बिना तथा कर्म-विधि के परिज्ञान के बिना इन संकटों से छूटना असंभव है। जब तक ब्रह्म का, अध्यात्म का और कर्म का ज्ञान न हो तब तक मुक्ति नहीं।"

यह सुनकर उसकी स्त्री ने संस्कृत में पूछा—"किं तद्ब्रह्म ? किमध्यात्मं ? किं कर्म ? पुरुषोत्तम !" अर्थात् हे पुरुषों में श्रेष्ठ ! ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है और कर्म क्या है ?"

उसके मुखमें "किं तद्ब्रह्म किमध्यामं किं कर्म पुरुषोत्तम" यह आधा श्लोक स्वतः ही प्रश्न के रूप में निकल पड़ा। किन्तु इस आधे श्लोक की शब्द शक्ति तो देखिये। इस आधे श्लोक को सुनते ही वह ताड़ का इतना भारी वृक्ष तड़तड़ा कर नीचे गिर गया और उसमें से एक दिव्य पुरुष निकल पड़ा।

ब्रह्मराक्षस ने पूछा—"भाई ! तुम कौन हो ?"

उसने कहा—ब्रह्मन् ! मैं भावशर्मा नाम का एक अत्यन्त ही नीच ब्राह्मण था। अपने दुष्कर्मों के कारण मुझे यह ताड़ वृक्ष की अधम योनि प्राप्त हुई। आपकी पत्नी ने जो यह मन्त्र पढ़ा उसी के प्रभाव से मेरी यह अधम योनि छूट गयी और मैं दिव्यपुरुष बन गया। अब मैं इसी मन्त्र का निरन्तर जप किया करूँगा।"

वास्तव में यह श्रीमद्भगवत्गीता के आठवें अध्याय का आधा श्लोक था। उसी के प्रभाव से भावशर्मा की वृक्षयोनि छूट गयी और वह निष्पाप होकर इसी मन्त्र का जप करने लगा।

इधर वृक्ष के पतन के साथ ही आकाश से दिव्य

आया और वे दोनों पति-पत्नी ब्रह्मराक्षस के शरीर को त्यागकर दिव्यरूप धारण करके उस विमान पर चढ़कर स्वर्ग के लिये चले गये।

भावशर्मा का शरीर दिव्य तथा निष्पाप हो गया था। उसे अपने पूर्वजन्मकृत कर्मों पर बड़ा भारी पश्चात्ताप हुआ। वह उस आठवें अध्याय के आधे चरण का जप करते-करते मुक्तदायिनी काशीपुरी में चला गया और वहाँ जाकर उसने घोर तपस्या आरम्भ करदी। उसकी ऐसी तपस्या से क्षीरसागर में—अपनी ससुराल में—सुख से सोते हुए श्रीविष्णु भगवान् बड़ी व्यग्रता के साथ उठकर बैठ गये।

अपने प्राणनाथ को शेषशैया से सहसा उठते देखकर उनकी अर्धाङ्गिनी भगवती लक्ष्मीजी ने पूछा—प्राणनाथ! आप असमय में सहसा क्यों उठकर बैठ गये? आपका व्यग्रता के साथ उठकर चारों ओर चकित-चकित दृष्टि से देखने का कारण क्या है?"

भगवान् ने कहा—देवि! भगवान् भूतनाथ की मुक्तिप्रदायिनी काशीपुरी में एक ब्राह्मण भक्तिभाव से परिपूर्ण होकर अत्यन्त ही कठोर तपस्या कर रहा है। वह जितेन्द्रिय बनकर इन्द्रियों को विषयों से रोककर गीता के आठवें अध्याय के केवल आधे श्लोक का निरन्तर जप कर रहा है, मैं उसी की तपस्या का फल देने के लिये व्यग्र हो उठा हूँ।"

लक्ष्मीजी ने कहा—तो भगवन्! इसमें व्यग्र होने की क्या बात है। उस जितेन्द्रिय तपस्वी जापक को आप कौन-सा फल देंगे?"

भगवान् ने कहा—मैं उसे सब कुछ देने को तैयार हूँ। मैं उसे अकेले को ही नहीं, उसके वंश में जितने भी लोग नरक में पड़े

दुःख भोग रहे है, उन सबको अपने वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करा-ऊँगा मुक्ति पद का तो वह उत्तराधकारी ही है।"

लक्ष्मीजी से ऐसा कहकर भगवान् विष्णु स्वयं उस ब्राह्मण के समीप गये। उसे अपने स्वयं साक्षात् दर्शन दिये उसे संसार बन्धनों से सदा के लिये विमुक्त बनाकर कुटुम्ब सहित अपना दिव्यधाम प्रदान किया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह मैंने श्रीमद्भगवत्गीता के आठवें अध्याय के आधे श्लोक का माहात्म्य कहा। जब आधे श्लोक के जप से भावशर्मा सपरिवार तर गया, तो जो पूरे आठवें अध्याय का श्रद्धाभक्ति के सहित जितेन्द्रिय होकर पारायण करेंगे, उनकी सद्गति मे तो, सन्देह करने की कोई बात ही नहीं। पाठ पूजन में निष्ठा ही प्रधान है, विशुद्ध भाव से सच्ची निष्ठा से जो पाठ करते हैं, वे फिर लौटकर संसार में नहीं आते। यह आठवें अध्याय की महिमा है, अब गीता के नवमें अध्याय का माहात्म्य मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

पत्नी पूछे—प्रभो! छुटैं कब अधम योनि तैं।
विप्र कहै—अध्यात्म, ब्रह्म अरु करम ज्ञान तैं॥
ब्रह्म कहा? अध्यात्म-कहा अरु करम बताओ।
गीता को सुनि मन्त्र ताड़ गिरि विप्र बनायो॥
सुनि आधे श्लोक कूँ, ब्रह्मराक्छस ताड़ तरु।
भई सुगति तीनोंनि की, संग कुटुम परिवार अरु॥

भगवान् अव्यक्त तथा सर्वज्ञ है

[१३]

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० २५, २६ श्लोक).

छप्पय

सबकूँ दीखतु नाहिं योगमाया में छिपिकें ।
घूंघट मारे रहूँ प्रबल माया के पटमें ॥
नहीं सोहुँ प्रत्यक्ष न सम्मुख सबके आऊँ ।
दब्यो ढक्यो सो रहूँ अङ्ग अपने न दिखाऊँ ॥
जनम मरन तैं रहित अज, अविनाशी नहिं मानते ।
जनम लेउँ फिरि-फिरि मरूँ, मूरख ऐसो जानते ॥

---

* मैं सबके सम्मुख प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि मैं अपनी योग माया से छिपा रहता हूँ । ये मूढ लोग मुझ अज अव्यय को तत्त्व से जानते नहीं ॥२५॥

हे अर्जुन ! भूत भविष्यत और वर्तमान में हुए और होने वाले सब भूतों को मैं ही जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई भी संसारी जन नहीं जानता ॥२६॥

श्री भगवान् के स्वधाम पधारने पर जब बद्रीनाथ जाते हुए विदुर जी की उद्धव जी से भेंट हुई थी, तब विदुर जी के कुशल पूछने पर उद्धव जी ने बड़े कष्ट के साथ विलख कर विदुर जी से कहा था—विदुर जी ! आप किनको कुशल पूछ रहे हैं। जो समस्त कुशलों के एक मात्र आलय है, वे श्री श्याम सुन्दर जी तो स्वधाम पधार गये। मुझे श्री भगवान् के सम्बन्ध में तो कुछ कहना नहीं हैं। वे सब समर्थ है, जो करते हैं सब उचित ही करते है। मुझे तो दुःख इन संसारी लोगों के लिये है और सब लोगो की अपेक्षा इन हतभागी यादवो के लिये और भी दुःख है जो निरन्तर साथ रहने पर भी श्री श्याम सुन्दर जी के स्वरूप को तत्त्वतः पहिचान हो न सके। समुद्र में से ही अमृतमय चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है, जिस समय चन्द्रमा समुद्र में रहता था, तब समुद्र मे रहने वाली मछलियाँ चन्द्रमा को भी एक चमकीला मत्स्य ही समझती थी। वे सोचती थी, यह चन्द्रमा भी हमारी जाति का एक मत्स्य जन्तु है। हम से इसमे कुछ तेज अधिक है नहीं तो हम और ये एक ही जाति के है। इसी प्रकार भगवान् यादवों के बीच में रहे। यादव सब उनके लौकिक अलौकिक कृत्यों को प्रत्यक्ष देखते थे। तो भी उन समस्त विश्व के एकमात्र आश्रय सर्वान्तर्यामी श्री कृष्ण को वे एक यादव ही समझते थे। वे सोचते थे—"इनमे हम से कुछ बल पराक्रम अधिक है, किन्तु हैं तो ये हमारे ही भाई बन्धु। वे सब भगवान् की जगन्मोहिनी माया से विमोहित हो गये थे। भगवान् उनके साथ रहते हुए भी उनेसे तत्त्वतः छिपे ही रहे।

वैसे भगवान् ने अपना महान ऐश्वर्य प्रकट न किया हो, सो बात नहीं। कंस के कारागार में चतुर्भुज रूप से शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए प्रकट हुए। अपनी योगमाया को

मथुरा भेजकर आप गोकुल में जा विराजे। अभी ६ दिन के भी पूरे नहीं हुए थे,कि ६ कोस लम्बी चौड़ी पूतना को मार डाला शकटासुर, तृणावर्तादि असुरों को मार गिराया। यमलार्जुन का उद्धार किया, ब्रह्माजी जब बछड़ों और ग्वाल वालों को हर ले गये, तब आपने उतने ही रूप धारण करके गोपियों और गौओं को सुखी बना कर प्रेम दान दिया। कलिया नाग को नाथ कर नागरिकों को सुखी बनाया। प्रलम्ब, बक, अघ, धेनुकादि प्रबल असुरों का संहार किया। सात दिनों तक कनिष्टिका उंगली पर इतने भारी गोवर्धन पर्वत को धारण किये रहे। इन्द्र का मान मर्दन किया, वरुण लोक से नन्द जी को ले आये। कुबेर के दूत शखचूड़ का उद्धार किया। यमलोक में स्वयं जाकर मृतक गुरु पुत्र को लाकर अपने गुरु को दिया। इस प्रकार असंख्यों अलौकिक अतिमानुषी लीलायें कीं किन्तु फिर भी हतभागी लोग भगवान् को तत्त्वतः नहीं जान सके। क्योंकि भगवान् जो भी कुछ लीला करते है, योगमाया के पट से अपने मुख को ढककर करते हैं। नई बहू की भांति घूंघट मारे-मारे ही सब काम करते हैं। नई बहु वैसे सब खाती पीती है, किन्तु पुरुषों को पता नहीं चलता कब खा लेती है, कब नहा लेती है इसी प्रकार भगवान् योगमाया के परदे से छिप-छिपकर सब कार्य करते हैं। मूर्खों की बात दो जाने दो अच्छे-अच्छे ऋषि महर्षि, ब्रह्मादिक देव भी उनकी लीलाओं से मोहित होकर उलटा सीधा कार्य करने लगते हैं। योगमाया भी मेरी चेरी ही है, मेरे संकल्प के वशीभूत रहने वाली है। उसकी साड़ी में छिपकर मैं चाहें जो भी करूं, लोग मेरे यथार्थ रूप से अपरिचित ही बने रहते हैं। मैं सबके सम्मुख प्रकट नहीं होना चाहता। सब मुझे चाहते भी नहीं। संसारी प्राणी मुझसे प्रेम न करके मेरी माया से प्रेम करते है,

मुझे न चाहकर मेरी माया को चाहते हैं। मेरी लीलाओं से मोहित न होकर माया विमोहित बने रहते हैं। माया देवी ने सब के अन्तः करण में ऐसा परदा डाल रखा है, कि प्राणी सब कुछ देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता है, आँखें रहते हुए भी अन्धा बना रहता है। जैसे रंगमंच पर झीने परदे में छिपा सूत्र धार तो सभी दर्शकों को देख लेता है, किन्तु उसे केवल उसके कृपा पात्रों के अतिरिक्त अन्य दर्शक देख ही नहीं पाते। भगवान् भी सूत्र-धार हैं, नटनागर हैं, मायावी है। जब लोक में सर्व साधारण बाजीगर की माया का ही संसारी लोग पार नहीं पा सकते, तब भगवान् की माया का पार प्राणी उनकी कृपा बिना कैसे पा सकता है। अतः भगवान् अपने कृपा पात्र भक्तों के सम्मुख तो प्रकट हो जाते हैं, अन्य लोगों के सम्मुख योगमाया का घूँघट मारकर घूँघट को तिकोना करके घूँघट की ओट में से माया की चोट करते हुए लोगों को लोट-पोट करते रहते हैं। अपने आप तो वे सब कुछ जानते हैं, किन्तु संसारी लोगों को अनजान बनाये रहते हैं. यही मायावी की माया है, महान् बाजी-गर का रहस्यमय खेल है। इसी खेल को देखने को लोगों में ठेलम ठेल मची रहती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की, कि आपका इतना भारी वैभव, अलौकिक कर्म, इतना ऐश्वर्य देखते हुए भी अविवेकी पुरुष ही सही उनकी माया से मोहित क्यों हो जाते हैं? आपको तथा आपके अन्य अवतारों को अज्ञ लोग साधारण जीव क्यों समझने लगते हैं? इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन मैं घूँघट मारे-मारे ही सब कार्य करता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज! कहाँ घूँघट मारे रहते हो, हमने तो आपको कभी घूँघट मारे देखा नहीं। सदा मुँह खोले

ही सब कार्य करते हो। मेरे रथ को क्या आप घूंघट मारकर हांक रहे हो ?

भगवान् ने कहा—'भाई अर्जुन ! तुम बात को समझे नहीं। यह वस्त्र का घूंघट नहीं। अपनी योगमाया का घूंघट मारे रहता हूँ, इसीलिये सर्वसाधारण के सम्मुख प्रकट नहीं होता। योगमाया का घूंघट न मारे रहता होता, तो क्या मुझसे सूतों के करने योग्य निन्द्य कार्य को कराते ? मुझसे रथ हंकवाते।"

अर्जुन ने कहा—आप मेरा रथ हांक रहे हैं, यह तो आपकी मेरे ऊपर अनुग्रह है, कृपा है। किन्तु मूढ़ पुरुष भ्रम में क्यों पड़ जाते हैं ?

भगवान् ने कहा—"मैं ही अपने संकल्प द्वारा योगमाया को प्रेरित कर देता हूँ, इससे योगमाया से समावृत होने के कारण मूढ़ लोग मुझे तत्त्वतः पहिचान नहीं सकते। जिसे मैं अपना ज्ञान कराना चाहता हूँ, ऐसे भक्त के सम्मुख प्रकट भी हो जाता हूँ। इससे पूर्व तुम ही मेरे यथार्थ रूप को कब जानते थे। तुम मुझे अपने मामा का पुत्र, सखा, सुहृद् तथा सम्बन्धी ही मानकर प्रेम करते थे। अब मेरी कृपा से ही तुम मेरे शरणापन्न हुए और मेरे यथार्थ रूप को समझने में समर्थ हुए।"

अर्जुन ने पूछा—"आपकी योगमाया क्या कार्य करती है।"

भगवान् ने कहा—"मेरी योगमाया यथार्थ वस्तु को ढक लेती है और जो नहीं है, उसे प्रकाशित कर देती है।" इसलिये संसारी लोग मेरे यथार्थ रूप को नहीं पहिचान सकते। मैंने अब तक क्या किया है, क्या कर रहा हूँ और आगे क्या करना चाहता हूँ, इन बातों को माया मोहित प्राणी नहीं जान सकते ?"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! संसारी लोग न जानें, आप तो सब जानते ही होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"मेरे सर्वज्ञ होने में तो कोई सन्देह नहीं। अब तक क्या हो चुका है इन सब बातों को मैं भली-भाँति जानता हूँ, अब हो क्या रहा है, यह भी मेरी बुद्धि के बाहर की बात नहीं है। और आगे क्या-क्या होने वाला है इन भविष्य की घटनाओं को मैं उसी प्रकार देख रहा हूँ, जिस प्रकार हाथ पर रखे आँवले को मनुष्य चारों ओर से देखने में समर्थ होता है। मैं सभी प्राणियों के भूत, भविष्य और वर्तमान कर्मों को तथा जन्मों को जानता हूँ, किन्तु मुझे, मेरे जनाये बिना कोई नहीं जानता। जब प्राणी यथार्थ रूप से मेरे तत्त्व से ही अपरिचित है तो वह मेरा भजन कैसे करेगा, इसीलिये संसारी लोग मुझसे विमुख बने रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—ये प्राणी अविवेक को क्यों प्राप्त होते हैं ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जो कछु पूरब भये तिनहिँ हौं पूरन जानूँ।
जो जग में है रहे तिनहिँ हौं निश्चय जानूँ॥
जो भविष्य में भूत होहिंगे तिनकी गति सब।
ज्ञान मोइ है सबहिँ भये हैं हुइहैं जो अब॥
यद्यपि हौं जानूँ सबनि, मोइ न जानें अन्यजन।
जाकूँ देउँ जनाइ हौं, सो जानें होवैं शरन॥—

दृढ़व्रती पुण्यात्मा ही निर्द्वन्द्व होकर भगवान् का भजन करते हैं

[१४]

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० २७, २८ श्लोक)

छप्पय

जगके प्रानी सबहिँ मोह माया में भटके ।
कामनि में फँसि जायँ रहें भोगनि में अटके ॥
इच्छा द्वेषनि भरे भ्रमैं नित आवैं जामें ।
विषयनि में फँसि मरैं जगत सुख दुःख उठामें ॥
द्वन्द्व रूप यह मोह है, सुख दुख अरु जीवन मरन ।
प्रात अज्ञता कूँ करत, लेहिँ नहीं मेरी शरन ॥

---

* हे भारत ! हे परतप ! इच्छा द्वेष से उत्पन्न तथा द्वन्द्वरूपी मोह से संसार में सभी प्राणी संमोह को प्राप्त हो रहे हैं ॥२७॥

किन्तु जिन पुरुषों के पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे द्वन्द्व मोह से निर्मुक्त पुण्य कर्म करने वाले दृढ़व्रती मुझे ही भजते हैं ॥२८॥

स्थूल शरीर की प्राप्ति स्थूलता के ही कारण होती है। स्थूल शरीर की इन्द्रियों के द्वार बाहर की ही ओर होते हैं, अतः स्थूल शरीर की इन्द्रियाँ प्रायः संसारी भोगों की ही ओर जाती हैं। इन्द्रियाँ जब बाह्य पदार्थों की ओर जाती हैं, तो उन पदार्थों को भोगने की इच्छा होती है। भोग पदार्थ तो सीमित होते हैं, प्राणियों की भोगेच्छायें निस्सीम होती हैं। भोगों का कहीं भी अन्त नहीं, जितना ही विषयों का उपभोग करोगे, भोगेच्छा उतनी ही अधिक बढ़ती जायगी। लाभ से सदा लोभ बढ़ता ही जाता है। वस्तु एक है, उसके उपभोग के इच्छावाले पुरुष अनेक हैं। सभी चाहते हैं, इसका उपभोग मैं ही करूँ, दूसरा कोई इसका उपभोग न करने पावे। दूसरा कहता है—"तुम कैसे करोगे, मैं करूँगा।"

जब एक वस्तु को प्राप्त करनेवाले अनेक हो जाते हैं और सभी उसका भोग अकेले करना चाहते हैं, तो उनमें परस्पर द्वेष हो जाता है। द्वेष उन लोगों के प्रति होता है, जो हमारी अभिलसित वस्तु का निर्बाध रूप से यथेष्ट उपभोग करते हैं। जैसे हम चाहते हैं, कि हम अच्छे भवनों में रहें, अच्छे भोग पदार्थों का उपभोग करें, अच्छे वाहनों पर चढ़ें, किन्तु भाग्यवश हम उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते, तो जो लोग इन पदार्थों का निर्बाध रूप से उपभोग करते हैं, वे चाहें हमारा कुछ भले ही अनिष्ट न करें, किन्तु ऐसे धनिकों के प्रति अधार्मिक निर्धनों का स्वाभाविक द्वेष हो जाता है। वे द्वेष के वशीभूत होकर न्याय की दुहाई देने लगते हैं। वे कहते हैं—"यह कहाँ का न्याय है, कि एक आदमी भूखा मरता रहे, दूसरा गुलछर्रा उड़ावे। एक आदमी धन के लिये लालायित रहे, दूसरा धन को पानी की भाँति बहावे, अतः

धनिकों को लूट लो, इन्हें मार दो। सबमे समता स्थापित करो। सबको एक समान वस्तु प्राप्त होनी चाहिये।"

कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि ये सब बातें वे द्वेष वश कहते हैं और द्वेष होता है विषयभोगों की प्राप्ति के लिये। हम भी धनिकों की भाँति जीवन बिताना चाहते हैं, जब हमारी इच्छा की पूर्ति नहीं होती और दूसरे उनका उपभोग करते हैं, तो स्वाभाविक रूप मे उनके प्रति ईर्ष्या द्वेष होने लगता है। जब हमें अपनी अभिलषित वस्तु प्रबल इच्छा होने पर भी प्राप्त नहीं होती, तो दुःख होता है। कोई इच्छा क्षणिक रूप से पूर्ण भी हो जाती है तो क्षणिक सुख भी प्राप्त हो जाता है। समस्त इच्छाओं की कभी पूर्ति होना सम्भव ही नहीं। अतः प्राणी इच्छा दुःखो के बोझ से दबकर मोह के गर्त में गिर पड़ता है, वह सम्भ्रमित हुआ इधर उधर भ्रमण करता रहता है। क्यों भ्रमता है? इसलिये कि उसे सुख-दुख का, ज्ञान-अज्ञान का, सत्य-असत्य का, विवेक नहीं रहता। प्राणी द्वन्द्व रूपी दो पाटों की चक्की के बीच मे पड़ा हुआ पिसता रहता है।

अब प्रश्न होता है कि सभी सम्मोहित होकर द्वन्द्वों के पाटों के बीच में पिसते रहते हैं, तो भगवान् का भजन करने वाले भक्त फिर हो ही नही सकते। फिर भक्तों की जो आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार संज्ञायें तो सब व्यर्थ हैं, इस पर कहते हैं, ऐसी बात नहीं है। स्थूल देह में यद्यपि पापकर्माओं की सख्या अधिक है। प्रायः पाप प्रधान पुरुष ही विषय भोगों में संलग्न रहते हैं। जो जन्मजन्मान्तरों से तपस्या, यज्ञ, दान, धर्म आदि सत्कर्मों को करते आ रहे हैं और अनेक जन्मो के पुण्यों के कारण जो सुकृति बन चुके हैं, उनकी प्रवृत्ति विषय भोगों की ओर विशेष न होकर भगवान् के भजन की ओर विशेष रूप से होती

है। संसारी लोग तो संसारी भोगों की इच्छाओं के वशीभूत होकर द्वेष का आश्रय लेकर इधर-उधर अनिश्चित रूप से फिरते रहते हैं किन्तु ये सुकृति पुण्यात्मा पुरुष दृढ़व्रती बनकर निरंतर भगवत् भजन में ही लगे रहते हैं, जिससे वे विवेक वैराग्य द्वारा मनुष्य जीवन के यथार्थ लक्ष्य को जान लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने यह पूछा कि प्राणी अविवेक को क्यों प्राप्त होते हैं तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! देखो, दो प्रकार की इच्छायें उत्पन्न हुआ करती हैं, एक अनुकूल दूसरी प्रतिकूल। सभी यही चाहते हैं मुझे सदा सुख ही मिले दुःख न मिले। अनुकूल वेदना को सुख कहते हैं, प्रतिकूल वेदना को दुख। अनुकूल के प्रति सदिच्छा होती है, प्रतिकूल के प्रति द्वेष होता है। सुख-दुख, राग-द्वेष, शीत-उष्ण इन्हीं सब का नाम द्वन्द्व है। इन द्वन्द्वो के कारण ही स्थूल देह की उत्पत्ति होती है। तभी प्राणी अपने को सुखी दुखी अनुभव करने लगता है। सुख दुःखादि द्वन्द्व जनित मोह से ही अविवेक प्राप्त होता है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! जब सभी स्थूल शरीरों की उत्पत्ति द्वन्द्वों के ही कारण है और उन्हीं से संमोह होता है, तो मुझे भी द्वन्द्व संमोहक शत्रु दबा कर मोह में फँसा लेगा ?

इस पर भगवान् ने कहा—हे परंतप ! तुम उच्च कुल में उत्पन्न हुए हो, तुम सुकृति हो, जन्म जन्मान्तरों के तपस्वी हो तुम्हें द्वन्द्व मोह संज्ञक शत्रु दबाने में समर्थ नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो ! प्राणी मात्र में चाहें थोडी ही मात्रा में क्यों न हों, इच्छा द्वेष तो सभी में होता है। तो क्या सभी आपके भजन के अयोग्य हैं ?"

भगवान् ने कहा—जो लोग राग द्वेष के सदा अधीन रह

कर व्याकुल बने रहते हैं, वे भजन के योग्य मानव शरीर पाकर भी--साधक देह पा लेने पर भी--मुझ परमेश्वर से दूर ही रहते हैं, मेरा भजन नहीं करते। किन्तु जो राग द्वेष से रहित है, वे तो मेरा भजन करते ही हैं।"

अर्जुन ने पूछा—स्थूल मानव शरीर पाकर भी कुछ लोग राग द्वेष से रहित भी हो सकते है ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ कुछ लाखों में एक आध ऐसे भी पुरुष होते है, जो राग द्वेष से रहित होते हैं। उनका प्रभु प्राप्ति के निमित्त सुदृढ़ संकल्प होता है, वे संसारी भोगों में न फँसकर निरन्तर भगवत् भजन में ही सलग्न रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—ऐसे सौभाग्यशाली महानुभाव कैसे होते हैं ?

भगवान् ने कहा—जिनके पापों का अन्त हो गया है। जो निष्कल्मष, विगत ज्वर, निष्पाप हो चुके हैं। जन्म जन्मान्तरों से पुण्य कर्म करते-करते जिनके पापों का अन्त हो गया हैं। वे ही सुकृति पुरुष द्वन्द्व जनित मोह से सदा सर्वथा विमुक्त होकर मेरा भजन करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! आपके ये दृढ़व्रती भक्त चाहते क्या हैं और उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जिननि अनेकनि जनम करे जप तप मख अरचन।
पुन्यवान ते पुरुष लगे शुभ करमनि तिनि मन॥
तिनिके होवैं छीन पाप निष्कल्मष होवैं।
राग रंग नहिं फँसैं न वे फिरि दुख में रोवैं॥
राग द्वेष द्वन्द्वनि रहित, मोहमुक्त दृढ़ निश्चयी।
भजहिं भक्त सब भाँति तें, मोइ पाइ होवैं जयी॥

दृढ़निश्चयी भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं

[१५]

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० २९, ३० श्लोक)

छप्पय

जो होवै मम शरन मोइ निज सरबसु समुझत ।
जरा मरन छुटि जाय जतन करि हैं जाके हित ॥
पाइ ब्रह्म ते पुरुष जाइ निश्चय करि जानों ।
वे ई ज्ञानी भक्त शिरोमनि मम प्रिय मानों ॥
वे ई जानत करमकूँ, जानें सब अध्यात्म कूँ ।
जानें वे ई ब्रह्मकूँ, आत्म और परमात्म कूँ ॥

---

* जरा मरण से छूटने के इच्छुक जो मेरी शरण में आकर इनसे छूटने के लिये प्रयत्नशील हैं, वे ही उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा संपूर्ण कर्मों को जानते हैं ॥२९॥

जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, वे युक्त चित्तवाले अन्तकाल में मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥३०॥

यह शरीर पाप पुण्यों द्वारा निर्मित है। पाप न्यून हों, पुण्य पुञ्ज अधिक हों, तो प्राणियों की प्रभु के पाद पद्मों में प्रीति होती जाती है, पुण्य न्यून हो पाप की प्रबलता अधिक हो, तो संसारी भोगों की इच्छा तथा प्राणियों के प्रति राग द्वेष बढ़ने लगता है। पुण्य कर्मों से प्राणियों का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। मन में देवोपासना की इच्छा दृढ़ता से आने लगती है, तब समझना चाहिये हमारे पापों का क्षय होने वाला है। भोगेच्छा पापों का फल है। भोगों से रोगों की वृद्धि होती है, रोग या ज्वर भी पाप का ही नाम है। जैसे अग्नि सुवर्ण के मल को जला कर उसे निर्मल बना देती है, अग्नि के ताप से उसके समस्त मल जल जाते हैं, उसी प्रकार पुण्य कर्म रूपी तपस्या से मनुष्य मल रहित विशुद्ध बन जाता है, ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषों को ही भगवत् भजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उन्हें ही ज्ञान के प्रति जिज्ञासा होती है उपासना द्वारा ज्यों-ज्यों अन्तःकरण दोष रहित बनता जाता है त्यों-त्यों उसकी भक्ति और बढ़ती जाती है।

महर्षि अत्रि की पुत्री अपाला को कुष्ट रोग हो गया था, उसके पति ने भी उसका परित्याग कर दिया था, वह अपने पिता के आश्रम में आकर रहने लगी। उसने अनुभव किया— "यह मेरे पूर्व जन्म कृत पापों का ही फल है, अतः मैं इसे इन्द्र की उपासना द्वारा मेंट दूँगी।" यही सोचकर उसने तन्मयता के साथ इन्द्र की उपासना की इससे उसका कुष्ट दूर हो गया। उसका शरीर सूर्य की प्रभा के समान दिव्य हो गया।

उसने कुष्ट निवृत्ति के ही निमित्त इन्द्र की उपासना की थी, भगवान् ने इन्द्र के रूप से उसकी वह इच्छा पूर्ति कर दी। यदि संसार की किसी भी इच्छा से अन्य किसी देव की उपासना

न करके, केवल कर्तव्य बुद्धि से- निष्काम भाव से-केवल भगवान् की ही उपासना की जाय, तो भगवान् के समग्र रूप का परिज्ञान हो जायगा। शारीरिक तथा मानसिक रोग जो आधि व्याधि के नाम से प्रसिद्ध हैं, ये सब तो भगवत् शरण में जाने पर अपने आप ही नष्ट हो जाते है।

सबसे बड़े रोग तो जरा और मरण है। शरीर प्रत्येक स्वांस पर जर्जरित होता जाता है। उसका भान हमें तब होता है, जब इन्द्रियां अपने-अपने कार्य करने में सर्वथा असमर्थ हो जाती है। जरावस्था सहसा कहीं से आ नहीं जाती। वह तो प्रतिक्षण आगे बढ़ती जाती है। जैसे सरसों का एक बड़ा भारी ढेर पड़ा है, उसमे से एक मुठ्ठी सरसों निकाल लो तो उस ढेर में पता भी न चलेगा कि इसमें से निकाली भी या नही। किन्तु एक ही मुठ्ठी निकलने से उसमें कुछ न कुछ न्यूनता तो अवश्य ही हुई। इसी प्रकार नित्य एक-एक मुठ्ठी निकालते रहो, तो एक दिन वह आवेगा, कि ढेर का अस्तित्व ही न रहेगा। इसी प्रकार जरावस्था हमारे शरीर को खाने के लिये नित्य ही आगे बढ़ती रहती है। नित्य प्रति शनैः-शनैः बढ़ते-बढ़ते एक दिन वह आ जाता है, कि इस शरीर का अन्त हो जाता है। मृत्यु हो जाती है। फिर जन्म लेना पड़ता है। फिर जरा आती है, फिर मृत्यु होती है इस प्रकार यह चौरासी का चक्कर चलता ही रहता है। इस चक्र से छुटकारा तभी हो सकता है, जब भगवान् की शरण ली जाय। भगवान् की शरण लेने पर समस्त आधि व्याधियां जरा मरण सब की समाप्ति हो जाती है। मृत्यु के सिर पर पैर रखकर प्राणी वैकुण्ठ धाम को हरि भगवान् के परम पद को प्राप्त कर लेता है। भगवान् की शरण लेने पर तो कोई कमी रहती ही नहीं। क्यों कि भगवान् समग्र हैं, परिपूर्ण

हैं उनका उपासक भी परिपूर्ण ही बन जाता है। जो जिसका उपासक होता है, वह उसी के गुणों वाला हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह जिज्ञासा की, कि भगवत् भक्तों को कौन सी गति प्राप्त होती है, वे क्या चाहते हैं, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन मेरे भक्त जरा मरण के चक्कर से छूटना चाहते हैं?"

अर्जुन ने पूछा—"जरा मरण से छूटने के लिये आपके भक्त कौन सा उपाय करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"वे एक मात्र मेरी ही शरण में आकर चौरासी के चक्कर से छुटने का प्रयत्न करते हैं।" मेरी छत्र छाया में आ जाने पर उनकी समस्त संसारी अधि व्याधियां अपने आप समाप्त हो जाती हैं। वे मेरी भक्ति द्वारा सभी दुखों से विमुक्त बन जाते हैं। वे मेरे भक्त मेरे ब्रह्म स्वरूप को जान जाते हैं। वे सम्पूर्ण अध्यात्म्य तत्त्व के वेत्ता बन जाते हैं। कर्मों के समस्त रहस्य को भी वे समझ जाते हैं। वे अधिभूत को भी भली-भांति समझ जाते हैं। वे अधिदैव रहस्य से भी अवगत हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि वे मेरे समग्र स्वरूप के ज्ञाता बन जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—आपके इस समग्र रूप का जानना तो अत्यन्त ही कठिन है।

भगवान् ने कहा—"हां, कठिन तो है ही। अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों के ही फल स्वरूप मुझे जानने की जिज्ञासा होती है। अभ्यास करते-करते हृदय निर्मल बनता जाता है। अन्तः-करण विशुद्ध हो जाने पर उसमें मेरा प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है। जब पुरुष का अन्तिम-चरम शरीर-ज्ञानी के रूप में होता है, तब फिर इस जरा मरण के चक्कर से छूट जाता है।

फिर उसका जन्म नहीं होता। मेरे अनन्य भक्त ज्ञानी का शरीर अन्तिम शरीर है। भले ही पूर्वावस्था या मध्यमावस्था या वृद्धावस्था तक समग्र ज्ञान न हो, किन्तु मृत्यु के एक क्षण पूर्व ही यह दिव्य ज्ञान जिसे हो जाय, तो उसने भी मुझे पूर्ण रीत्या जान लिया है। ऐसे अन्त समय में भी बोध हो जाने वाले पुरुष का पुनः आवागमन नहीं होता।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने जब ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ इन शब्दों का प्रयोग किया और प्रयाण काल में भी जानने वाले को सिद्धि प्राप्ति का उल्लेख किया, तो अर्जुन ने इन सबके सम्बन्ध में जैसे जिज्ञासा की, भगवान् से जैसे सात प्रश्न किये इनका वर्णन मैं अगले अध्याय में आगे करूँगा। इस सातवें ज्ञान योग अथवा ज्ञान विज्ञान योग नायक अध्याय में भगवत् भक्ति की महत्ता बतायी है, उसी का विस्तार के साथ वर्णन आगे किया जायगा। आशा है आप इस प्रसंग को बड़ी सावधानी के साथ दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।

छप्पय

यह सब दृश्य प्रपञ्च सकल अधिभूत कहावैं।
कमलासन जग रचैं तिनहिं अधिदेव बतावैं॥
अन्तरयामी ब्रह्म सकल घट-घट के बासी।
वेई हैं अधियज्ञ अनामय अज अविनासी॥
इन तीनिहु के सहित जो, मोकूँ जानत युक्त चित।
अन्त काल में जो भजैं, जानैं मोकूँ ब्रह्मवित॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योग शास्त्र है, जो श्री कृष्ण और अर्जुन के सम्वाद के रूप में है, उसमें 'ज्ञानविज्ञान योग' नाम का सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

अथ

अष्टमोऽध्यायः

(८)

अर्जुन के सात प्रश्न

[१]

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

अरजुन बोले—प्रभो ! आपु तो हैं पुरुषोत्तम ।
पूछूँ कछु हौं प्रश्न जिनहिँ समझूँ सरवोत्तम ॥
ब्रह्म कौन कूँ कहैं आपु मोकूँ बतलावें ।
कौन कह्यो 'अध्यात्म' ताहि स्वामी समुझावें ॥
करम कौन कूँ कहत हैं, कौन कह्यो अधिभूत है ।
काकूँ अधिदैवत कहत, सब तुमरी करतूत है ॥

---

* हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं और अधिदैव किसका नाम है ॥१॥

हे मधुसूदन ! यहाँ पर अधियज्ञ क्या है और शरीर में वह कैसे है ? तथा नियतात्मा पुरुषों द्वारा आप अन्त में कैसे जाने जाते हैं ॥२॥

साधारणतया जो आँखों से–प्रत्यक्ष–दीखता है। उस विषय में तो सभी एकमत है। पृथ्वी है, जल है, सूर्य चन्द्रमा हैं। ये सभी आँखवालों को दीखते है। वायु प्रत्यक्ष नही दीखती, उसका अनुमान लगाते हैं। यद्यपि उसका साक्षात्कार नेत्र इन्द्रिय द्वारा नहीं होता, फिर भी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। आकाश का अनुमान शब्द द्वारा श्रोत्रिय द्वारा होता है। इस प्रकार पंचभूतों को किसी न किसी रूप में प्रायः सभी मानते हैं। इनका साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा होता है। किन्तु जो अतीन्द्रिय है, जहाँ इन्द्रियों की तो बात ही क्या मन तथा बुद्धि की भी पहुँच नहीं, शास्त्रों में उसी के सम्बन्ध में मतभेद हैं। नाना ऋषियो के आत्मा के सम्बन्ध में नाना मत हैं, क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय है। वह नेत्रों का विषय नहीं, अन्य इन्द्रियों द्वारा वह अनुमान से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। कोई भी प्रमाण उसे सिद्ध करने में समर्थ नहीं। कहो शास्त्र ही प्रमाण है, तो शास्त्र एक नहीं अनेक शास्त्र हैं। आप कहोगे आर्ष प्रमाण मान लो। ऋषियों के वचन आर्ष कहे जाते हैं, तो ऋषि भी अनेक हैं। उनमें से कोई कहता है, ब्रह्म है कोई कहता है, ब्रह्म नही है। इनमें से किसकी बात मानें। शास्त्रों में जो भी कुछ वाद विवाद का मुख्य विषय है, वह ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा तथा भगवान् के ही विषय में है। समस्त शास्त्र इसे सिद्ध करने में अपना पुरुषार्थ दिखा रहे हैं। जो कहते हैं ब्रह्म है, वे उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में नाना तर्क उठाकर भाँति-भाँति के प्रमाण देकर उसके अस्तित्व को सिद्ध करने में लगे हुए हैं।

जो कहते हैं नहीं है, वे नाना युक्तियों से, भाँति-भाँति के तर्कों से उसके नास्तित्व का प्रतिपादन कर रहे हैं। कौन की बात सत्य है कौन की बात असत्य है इसे तो यदि ब्रह्म नाम का कोई होगा,

तो वही जानता होगा। किन्तु एक बात अवश्य है, बिना अस्तित्व के नाम या संज्ञा होती नहीं। ब्रह्म न होता तो वह वाद विवाद का विषय न बनता। एक फल है, उसे देखकर एक आदमी कहता है—यह आम है। दूसरा कहता है यह आम नहीं है। इनमें नहीं कहने वाला भी आम का अस्तित्व मानता है। जो कहता 'नहीं-है' वह नहीं के साथ अस्तित्व मानता है। जो कहता है—'हैं' वह बिना नही के अस्तित्व मानता है। यह जिसका संकेत किया जा रहा है वह भले ही आम न हो, किन्तु 'आम' नाम के किसी फल का आस्तित्व 'नहीं है' कहने वाला भी स्वीकार करता है।

वस्तु तो वह है, किन्तु ऐसी वस्तु है जिसे इन्द्रियाँ मन के सहित खोज कर लौट आती हैं, मनके सहित इन्द्रियाँ उसका पता नहीं पा सकतीं। इस पर नास्तिक कहता है जिसका पता न इन्द्रियाँ ही पाती हैं और न मन तथा बुद्धि जिसके सम्बन्ध में कहने में समर्थ हैं, ऐसी वस्तु का हम अस्तित्व ही नही मानते। मत मानों अस्तित्व। तुमसे कहता कौन है, कि अस्तित्व मानों, जब नही है तो तुम उसके अस्तित्व के अभाव को सिद्ध करने के लिये इतने व्यग्र क्यों बने रहते हो। उसके होने के भंडाफोर करने के लिये इतने तर्कों को क्यों देते हो। तुम उसका अस्तित्व मिटाने को व्यग्र हो, इसी से सिद्ध होता है, कि तुम ऊपर से नहीं है नहीं कह रहे हो। तुम्हारे भीतर उसका अस्तित्व विद्यमान है, किन्तु तुम अपनी मान्यता के अनुसार आस्तिक कहलाने में अपना अपमान समझते हो। उसी निर्बलता को छिपाने को तुम बार-बार कहते हो नहीं है नही है। इसमें मान्यता ही प्रधान है। मान्यता होती है अपनी श्रद्धा के अनुसार मान्यता को तर्क द्वारा कोई सिद्ध नही कर सकता।

इससे सिद्ध हुआ संसार में दो मान्यता के पुरुष होते हैं,

क्योंकि मतभेद भी सनातन ही है। सृष्टि के समस्त वाद विवाद मतभेद पर अवलम्बित हैं। मतभेद न हो, तब तो कोई विवाद ही नहीं। एक मान्यता वाले तो कहते हैं ब्रह्म नहीं है। अब क्यों नहीं है, कैसा नहीं है इस विषय में उन लोगों में भी बहुत से अवान्तर भेद हैं, जो इस बात को सिद्ध करते हैं, कि ब्रह्म नहीं है, उन ग्रन्थों को नास्तिक दर्शन या नास्तिक शास्त्र कहते हैं।

जिनकी मान्यता है, आत्मा है, उनके ग्रन्थों को आस्तिक दर्शन या आस्तिक शास्त्र कहते हैं। वह है, ऐसा ही है, ऐसा नहीं है, कोई कहता है द्वैत है, कोई कहता है, अद्वैत है, कोई कहता है विशिष्ट अद्वैत है, कोई कहता है शुद्ध अद्वैत है, कोई कहता है द्वैत अद्वैत है, कोई कहता अचिन्त्य अद्वैत है, इस प्रकार अस्तित्व मानने वालों में भी बहुत से अवान्तर भेद हैं। किन्तु आस्तिक लोग नाना युक्तियों से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। वह आत्मा का अस्तित्व मानकर ही अपना कथन आरम्भ करते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने पिछले अध्याय में ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और अन्त समय में ब्रह्मज्ञान इन शब्दों का प्रयोग किया, तब अर्जुन को प्रश्न उठाने का सूत्र मिल गया। उन्हीं के आधार पर उन्होंने सात प्रश्न किये।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपके कथन के सम्बन्ध में आपसे मैं कुछ पूछना चाहता हूँ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"भाई, इतनी देर से तो तुझे समझा रहा हूँ, फिर भी तुम पूछना चाहते हो, अपने आप ही विचार विवेक द्वारा तुम अपनी शंका का समाधान क्यों नहीं कर लेते?"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! मेरी बुद्धि अल्प है आप महान् है।

मैं नर हूँ आप नारायण हैं। मैं पुरुष हूँ आप पुरुषोत्तम हैं। पुरुष को जो शंका होगी वह पुरुषोत्तम से ही पूछेगा।"

हँसते हुए भगवान् बोले—"अच्छा पूछो क्या-क्या पूछते हो?"

अर्जुन ने कहा—"हे पुरुषोत्तम! एक नहीं मेरे सात-सात प्रश्न हैं। सबका आपको उत्तर देना पड़ेगा।"

भगवान् ने कहा—"सात नहीं सात सौ प्रश्न पूछो। मैं सब का उत्तर दूँगा।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! मेरा पहिला प्रश्न तो यह है, जिस ब्रह्म का आप बार-बार प्रयोग करते हैं, वह ब्रह्म है क्या?

भगवान् ने कहा—"अच्छा पहिला प्रश्न हो गया, दूसरा बताओ?"

अर्जुन ने कहा—"अध्यात्म शब्द को भी आप बहुत कहते हैं, उस अध्यात्म का यथार्थ तत्त्व मुझे समझाइये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा तीसरा प्रश्न क्या है?"

अर्जुन ने कहा—तीसरा प्रश्न यह है कि हत्या की जड़ यह कर्म ही है। आप आरम्भ से ही मुझे कर्म करने पर बल दे रहे हैं। इस कर्म का यथार्थ मर्म समझा दीजिये।

भगवान् ने कहा—अच्छा चौथा प्रश्न क्या है?

अर्जुन ने कहा—"और अधिभूत का अर्थ बता दें?" अधिभूत किसे कहते हैं?

भगवान् ने कहा—पांचवाँ?

अर्जुन बोले—पांचवाँ यह बतावें कि जिसको अधिदैवत कहते हैं, वह किस भाव में प्रयुक्त होता है?

भगवान् ने कहा—छटवाँ प्रश्न क्या है?

अर्जुन ने कहा—आप तो भगवन्! मधुसूदन हैं न? महान्

उपद्रव करने वाले ब्रह्माजी को भी डराने वाले मधुकैटव को आपने मारकर ब्रह्माजी को निर्भय बना दिया इसी प्रकार मुझे भी निर्भय बना दें। आपने अधियज्ञ का भी प्रयोग किया है। अधियज्ञ का अभिप्राय यज्ञ के अधिष्ठाता परमात्मा से है क्या ? इस देह में ही वह अधियज्ञ रहता है या इस देह के बाहर ? यदि इस देह में ही है तो वह कौन है और उसका चिन्तन कैसे करें।

भगवान् ने कहा—सातवें प्रश्न को भी बता दे।

अर्जुन ने कहा—"अंतिम सातवां प्रश्न मेरा यही है, समस्त आस्तिक शास्त्र इसी बात को कहते हैं कि अन्तिम समय-मरण काल में-केवल आपको ही पुरुष द्वारा कैसे जानना चाहिये। सो हे प्रभो ! मरते समय एकाग्र हुए पुरुषों को आपको कैसे जानना चाहिये ?"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! अर्जुन के इन सातों प्रश्नों का भगवान् जैसे उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

काकूँ तुमने कह्यो फेरि अधियज्ञ गुसाईं।
कैसे यह अधियज्ञ रहै या तन के माहीं॥
सूत्र रूप में कहे शब्द परिभाषिक स्वामी।
करिकें सब इसपष्ट बताओ अन्तरजामी॥
हे मधुसूदन पुरुषको, अन्त समय जब आतु हैं।
नियतात्मा नर उननि तैं, कैसे जान्यो जातु है॥

अर्जुन के ६ प्रश्नों का उत्तर

[२]

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

बोले पुनि भगवान—ब्रह्म अक्षर तुम मानो ।
जो क्षर होवै नहीं परम अक्षर तिहि जानो ॥
जाको नाम स्वभाव जीवऊ ताहि कहत हैं ।
प्रानिनि में ही बसै देह में नित्य रहत हैं ॥
सब भूतनि के भाव कूँ, करैं विसर्ग बतावते ।
ताकी संज्ञा करम है, करता बनि करवावते ॥

---

* भगवान् ने कहा—परम अक्षर ही ब्रह्म है, स्वभाव ही अध्यात्म कहा गया है । भूतों के भावों को उत्पन्न करने वाला विसर्ग-त्याग-की ही कर्म संज्ञा है ॥३॥

क्षरभाव ही अधिभूत है और पुरुष अधिदैव है । देहधारियों में हे प्यारे ! मैं ही अधियज्ञ हूँ ॥४॥

हमारे समस्त वेदशास्त्र ब्रह्म की ही जिज्ञासा से भरे पड़े हैं। युग दोष के कारण अब तो प्रायः सभी लोग अध्यात्मवाद से तथा धर्म से पराङ्मुख से हो गये है। अब व्यक्तिगत रूप से कोई अध्यात्मचिन्तन और धर्माचरण भले ही करले। सामूहिक रूप में सामाजिक रूप में अब अध्यात्म जिज्ञासा प्रायः नहीं रही। अब तो पैसा और प्रतिष्ठा के ही लिये प्रयत्न किया जाता है। अधिकांश नर-नारी शिश्नोदर परायण हो गये हैं। चर्चा के विषय यौन सम्बन्ध और रसना के स्वाद ये ही रह गये हैं। प्राचीन काल का वर्ण और आश्रम धर्म भी छिन्न-भिन्न प्रायः हो गया है।

पहिले जब इस देश में वर्ण और आश्रम धर्म की प्रतिष्ठा थी, तब ब्राह्मणों का एकमात्र कर्म अध्ययन अध्यापन ही था। वे यज्ञ, दान तपस्या द्वारा अपने अन्तःकरण को शरीर को निर्मल बनाकर वेदशास्त्रों के अध्ययन अध्यापन में ही निरन्तर तल्लीन रहते। उस समय के क्षत्रिय शासक ऐसे अध्ययनशील वेदज्ञ ब्राह्मणों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते। क्षत्रिय राजागण भी वेदों में पारंगत होते। वे भी अध्यात्म विद्या में अत्यन्त रुचि रखते। उस समय की महिलायें भी ब्रह्मवादिनी हुआ करती थीं। उस समय सर्वत्र अध्यात्म विद्या का बोलबाला था। राजागण यज्ञ-यागादि धार्मिक कृत्यों में ही अपने धन का व्यय करते। बड़े-बड़े यज्ञ होते, उनमें दूर-दूर के ज्ञानी ऋषि महर्षि आते। शास्त्रों की चर्चा होती। परस्पर में शास्त्रार्थ करते। राजा लोग इन विषयों में अत्यन्त रस लेते। उन दिनों सबसे बड़ा धन गोधन ही माना जाता था। जिसे जितनी ही अधिक गौएं दी जाती थीं, उसे उतना ही अधिक सम्मानित समझा जाता था। बहुत से जनक अजातशत्रु आदि राजा तो इतने भारी ब्रह्मवेत्ता थे, कि अच्छे-अच्छे ब्राह्मण उनसे उपदेश लेने आते थे। उनकी सभाओं में सदा

अध्यात्म चर्चा ही चला करती थी। भगवान् व्यास जी ने अपने जन्मजात ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ पुत्र शुकदेव को भी शिक्षा ग्रहण करने जनकजी के ही समीप भेजा था। उन दिनों मिथिला के महाराजा जनक की ज्ञानियों में अत्यधिक ख्याति थी, वे ब्रह्मवेत्ताओं का बहुत अधिक सम्मान किया करते थे। उनके ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी वेदशास्त्रों में अनेक प्रसंग हैं, यहाँ हम केवल एक प्रसंग देकर यह बतावगे कि उस समय ब्रह्मविद्या का कितना भारी महत्त्व था और पुरुष ही नहीं नारियाँ भी इस विषय में परम पारंगता थीं।

एक बार महाराज जनक ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया। देश देशान्तरों के बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मण उस यज्ञ में बुलाये गये थे। दूर-दूर से ऋषि, महर्षि, राजर्षि ब्रह्मर्षि उस यज्ञ में पधारे थे। इतने भारी वेदज्ञ ब्राह्मणों के समूह को देखकर विद्या व्यासंगी, सत्संग प्रिय ब्रह्मज्ञानी राजाजनक परम प्रमुदित हुए। वे यह जानना चाहते थे, इन सब ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ तात्विक विवेचन करने वाला कौन है। जिसे मैं अधिक से अधिक सम्मानित कर सकूँ। इसके लिये उन्होंने एक उपाय सोचा।

यह पहिले ही बताया जा चुका है, कि उस समय गौ को ही सर्वश्रेष्ठ सम्मानित धन माना जाता था। अतः राजा ने दश सहस्र सुंदर दुधारू सवत्सा सीधी गौएँ मँगवाई। उनके सींगों में दश दशपाद सुवर्ण बँधवा दिया। और सब ब्राह्मणों से हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—"आप लोगों में से जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, वह इन गौओं को ले जाय।" सहस्रों लाखों ब्रह्मवेत्ता वेदज्ञ श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ वहाँ ब्राह्मण थे, किन्तु अपने को स्वयं सर्वश्रेष्ठ कौन कहे। कोई कहे भी तो सहस्रों विद्वान् उससे एक साथ शास्त्रार्थ करने को उद्यत हो जाते। सभी उससे द्वेष करने लगते, कि यह हमें अपने से छोटा समझता है। अतः

किसी ने ऐसा साहस नहीं किया। जब सब चुप हो गये, गौएं के लिये किसी ने हाथ नहीं बढ़ाया, तब ब्रह्म ज्ञानी महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने बड़ी ही नम्रता से अपने शिष्य से कहा—"वत्स ! इन सब गौओं को अपने आश्रम पर हांक ले चलो।"

अब तो क्या था, मानों किसी ने बर्र के छत्तों में हाथ डाल दिया हो। जो अपने को वेदज्ञ ज्ञानी मानते थे, उन सबने अपना बहुत अपमान समझा। महर्षि को पहिले तो कुपित कराने की चेष्टा करने लगे।

यज्ञ के जो प्रधान होता थे पहिले उन्होंने ही कहा—क्यों जी ! तुम अपने को इन सब में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता मानते हो ?

अत्यन्त ही नम्रता के साथ महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"ब्रह्मवेत्ताओं की तो हम चरण धूलि हैं, उन्हें तो हम सिर से प्रणाम करते हैं। कोई गौओं को नहीं ले रहा था, हमें गौओं की आवश्यकता थी, इसीलिये लिये जाते हैं।"

ऋषिका ऐसा सौम्य सरल मृदु उत्तर सुनकर सभी स्तब्ध रह गये। अब शास्त्रार्थ छिड़ा। अनेकों वेदज्ञों ने अनेक प्रश्न किये। ऋषि ने सभी का समाधान किया। उन विद्वानों में महर्षि वचक्नु की पुत्री गार्गी भी थी। उसने भी ब्रह्मर्षि से पूछा। उसने स्थूल से ही प्रश्न उठाया। उसने कहा—ये जितने पार्थिव पदार्थ हैं, वे सब पृथ्वी का आश्रय लेकर अवस्थित हैं। पृथ्वी जल में ओत-प्रोत है। जल किसमें ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—जल तेज में ओत-प्रोत है।

गार्गी ने पूछा—तेज किसमें प्रतिष्ठित है ?

या०—तेज वायु में प्रतिष्ठित है।

गा०—वायु किसमें प्रतिष्ठित है।

या०—वायु आकाश में।

गा०—आकाश किसमें ?
या०—आकाश अन्तरिक्ष में।
गा०—अन्तरिक्ष किसमें ?
या०—अन्तरिक्ष गन्धर्व लोक में।
गा०—गन्धर्वलोक किसमें ?
या०—आदित्यलोक में।
गा०—आदित्यलोक किसमें ?
या०—चन्द्रलोक में।
गा०—चन्द्रलोक किसमें ?
या०—चन्द्रलोक नक्षत्रलोक में।
गा०—नक्षत्रलोक किसमें ?
या०—देवलोक में।
गा०—देवलोक किसमें ?
या०—इन्द्रलोक में।
गा०—इन्द्रलोक किसमें ओत प्रोत है ?
या०—प्रजापतिलोक में।
गा०—प्रजापतिलोक किसमें ?
या०—ब्रह्मलोक में।
गा०—ब्रह्मलोक किसमें ओत प्रोत है ?

अब तो याज्ञवल्क्यजी को कुछ रोष आ गया, वे बोले—"देखो गार्गी ! अति प्रश्न नहीं किया जाता। सबकी अवस्थिति ब्रह्म पर्यन्त ही है। सबका कहीं भी तो अवसान होगा। इससे आगे तुम प्रश्न करोगी, तो तुम्हारा मस्तक धड़ से पृथक् हो जायगा।"

गार्गी यह सुनकर चुप हो गयी। फिर उसने पूछा अच्छा एक बात और बता दें-अक्षर तत्त्व किसे कहते हैं ?

इस पर महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"गार्गी ! तुमने जिस

अक्षर के सम्बन्ध में मुझसे पूछा है, उसे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण गण अस्थूल और अनणु-अर्थात् अणु से भी रहित-कहते हैं इसी अक्षर के शासन में सूर्य, चन्द्र तथा आकाशादि टिके हैं। यही सबका द्रष्टा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा नहीं।" इस प्रकार याज्ञवल्क्य जी ने अक्षर तत्त्व का भली भाँति निरूपण करके गार्गी को सन्तुष्ट किया इस पर गार्गी ने तथा अन्य सभी विद्वानों ने याज्ञवल्क्य जी का लोहा मान लिया उन्हें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता स्वीकार कर लिया।

श्रेष्ठ पुरुष स्थूल-हलके-प्रश्न नहीं किया करते वे आत्मा परमात्मा के निरूपण में ही अपने समय को बिताते हैं। अर्जुन ने भी भगवान् से सर्वप्रथम अक्षर ब्रह्म के ही सम्बन्ध में प्रश्न किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से सात प्रश्न किये, तो भगवान् ने जिस क्रम से अर्जुन ने प्रश्न किये थे उसी क्रम से उत्तर देने को उद्यत हुए।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन सात प्रश्नों में से तुम्हारा पहिला प्रश्न कौन-सा है?"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! मेरा पहिला प्रश्न यह है कि ब्रह्म क्या है?

भगवान् ने कहा—परम् अक्षर का ही नाम ब्रह्म है?

अर्जुन ने पूछा—अ-क्षर क्या है?

भगवान् ने कहा—जिसका क्षर न हो नाश न हो। जिसे प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी उपकरण की आवश्यकता न हो जो परम आनन्द स्वरूप हो। जिसकी सत्ता हो, जो जड न होकर चैतन्य स्वरूप हो जो आनन्दघन हो। जिसके प्रकाश से ही सभी प्रकाशित होते हों। जिसकी सत्ता से ही सभी सत्तावान् हों।

जिसके आनन्द, से ही समस्त चराचर आनन्दित होते हो। जो किसी के भी द्वारा नाश न हो सकता हो। जिसका कभी जन्म न हो। वही अज, अविनाशी, कूटस्थ, सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा ब्रह्म है।"

अर्जुन—उसकी उत्पत्ति किसके द्वारा हुई?

हँसकर भगवान् ने कहा—"यह तुम्हारा प्रश्न असंगत है। जब हम बार-बार कह चुके हैं, वह अजन्मा है, अनादि है स्वतः प्रकाशित है। जो सबका जनक होने पर भी कर्तृत्व से पृथक् है। उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न व्यर्थ है। वह सबका स्वामी सर्गगत सच्चिदानन्द स्वरूप है।"

अर्जुन कहा—"अच्छा, भगवन्! मैं समझ गया जो अक्षर है वही ब्रह्म है। अब मेरा दूसरा प्रश्न है अध्यात्म किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—स्वभाव को ही अध्यात्म कहा जाता है।

अर्जुन ने पूछा—स्वभाव क्या?

भगवान् ने कहा—स्व-का अर्थ है अपना भाव का अर्थ है रूप अर्थात् ब्रह्म का जो अपना स्वरूप है, जिसे जीव भी कहते हैं अधिआत्म अर्थात् अध्यात्म है। यह जीव ही देह में अधिष्ठित होकर अपने को भोक्ता मानकर नाना भोगों को भोगता सा प्रतीत होता है। यहाँ अध्यात्म से शरीर, इन्द्रिय आदि का तात्पर्य नहीं है। सूक्ष्म शरीर से युक्त जो चैतन्यांश है उसी से यहाँ अभिप्राय है।

अर्जुन ने पूछा—आप मेरे तीसरे प्रश्न का उत्तर दें। कर्म किसे कहते हैं?

भगवान् ने कहा—जो किया जाय वही कर्म है।

अर्जुन ने कहा—किया क्या जाय? और किसके लिये किया जाय?

भगवान् ने कहा—"विसर्ग अर्थात् त्याग के ही निमित्त जो किया जाय, वास्तव में वही कर्म है। जैसे यज्ञ है, यज्ञ में आदि से अन्त तक जितना कार्य किया जायगा सब त्याग की ही भावना से किया जायगा। हवनीय पदार्थों का घृत का, समिधा आदि का अग्नि में त्याग किया जायगा। ऋत्विक्, होता, उद्गाता, ब्रह्मा आचार्यादि जितने यज्ञ कराने वाले है उनके लिये दक्षिणा के लिये द्रव्य का त्याग किया जायगा। ब्राह्मणादि तथा अन्य सभी जीवों के लिये अन्न का त्याग किया जायगा। इसी प्रकार दान भी कर्म है, दान में अपनी कहाने वाली वस्तु संकल्प पूर्वक दूसरे के निमित्त त्याग की जाती है। तपस्या भी कर्म है, इसमें अपनी समस्त सुख सुविधाओं का त्याग किया जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"इस त्याग रूप कर्म से होता क्या है?"

भगवान् ने कहा—भैया, इस त्याग रूप कर्म द्वारा ही तो स्थावर जंगम प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है।

अर्जुन ने पूछा—त्याग रूप कर्म से प्राणियो की उत्पत्ति वृद्धि कैसे होती है?

भगवान् ने कहा—मानव यज्ञ करता है। विधिवत् किया हुआ हवन—उसकी दी हुई आहुति—सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से जीवों की उत्पत्ति होती है, अन्न पैदा होता है, अन्न से प्राणियों की तृप्ति वृद्धि होती है। इस प्रकार विसर्ग अर्थात् त्याग से भूतों का भाव—उत्पत्ति तथा उद्भव—वृद्धि होती है।

अर्जुन ने पूछा—अधिभूत किसे कहते हैं?

भगवान् ने कहा—जैसे अक्षर को ब्रह्म कहा है, वैसे ही क्षर भाव को अधिभूत कहा गया है।

अर्जुन ने पूछा—क्षरभाव क्या?

भगवान् ने कहा—"जो क्षरित होता रहता हो, विनाश को प्राप्त होता हो। वही क्षर कहलाता है। जैसे शरीर है, पैदा होते ही यह क्षरित विनाश की ओर बढ़ने लगता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज वायु आकाश ये सबके सब अधिभूत है। इनसे निर्मित सब पदार्थ आधिभौतिक कहे जाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"अधिदैवत किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो आरम्भ में पुरुषाकार में उत्पन्न हुआ है समस्त देवगण जिसके अंग हैं, उसी की पुरुष संज्ञा है और उसे ही हिरण्यगर्भ, प्रजापति, सूत्रात्मा, अज, क तथा ब्रह्मा के नाम से पुकारते हैं। उसी की अधिदैव संज्ञा है।"

अर्जुन ने पूछा—फिर अधियज्ञ किसे कहते हैं ?

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! अब अधियज्ञ के लिये भी तुम्हें बताना पड़ेगा क्या ? प्यारे मित्र ! इस देह में मै ही अधियज्ञ हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—आप अधियज्ञ कैसे हैं, और किस रूप से देह में निवास करते हैं ?

भगवान् ने कहा—यज्ञ कहो विष्णु कहो, वासुदेव कहो, कृष्ण कहो, भगवान् कहो परमात्मा कहो, सब मेरे ही नाम हैं। यज्ञादिक शुभ कर्म पुरुष ही कर सकता है अतः पुरुष ही यज्ञ है, वही यज्ञ पुरुष कहलाता है, पुरुष ही यज्ञ का विस्तार करता है; उसी ने यज्ञ कर्म को विस्तृत बनाया है। इसलिये यज्ञ पुरुष रूप में तुम मुझको ही जानो।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! मरते समय-प्रयाणकाल में-एकाग्रचित्त हुए पुरुषों को आपको किस प्रकार जानना चाहिये ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसका जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जो होवै उतपन्न नाश जाको है जावै।
भूतनि तैं जो बन्यो वही अधिभूत कहावै॥
कहैं ताहि अधिदैव हिरण्मय पुरुष पुरानो।
सूत्रात्मा हू कहैं प्रजापति जाकूँ जानो॥
सब देहनि में बसत हूँ, बासुदेव मोतैं कहैं।
ताही कूँ अधियज्ञ सब, अन्तरयामी कहत हैं॥

अर्जुन के अन्तिम सातवें प्रश्न का उत्तर

[३]

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

मेरो सुमिरन मोइ प्रेम तें प्राप्त करावै ।
चिन्तन मेरो सतत अन्त में मोइ मिलावै ॥
देह त्याग के समय काल जब अन्तिम आवै ।
मेरी करिकें यादि अन्त में मम पद पावै ॥
अरजुन ! संशय मति करौ, निश्चय जाकूँ जानि तू ।
पावैगो ध्रुव परम पद, अन्तिम करिकें मानि तू ॥

---

* अन्तकाल मे जो पुरुष मेरा ही स्मरण करता हुआ अपने शरीर का परित्याग करता है, वह पुरुष मेरे ही भाव को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नही है ॥५॥

हे कौन्तेय ! अन्त काल में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ प्राणी शरीर त्यागता है, वह उसी-उसी भाव को प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव मे भावित रहा है ॥६॥

समस्त शास्त्रों का यही मत है, कि "अन्ते या मतिः सा गतिः" अन्त में जैसी मति रहती है, वैसी ही गति होती है। अतः अन्त समय मंगलमय होना चाहिये, अन्त में भगवान् का ही स्मरण चिन्तन करना चाहिये। शास्त्र ज्ञान अन्त समय को ही बनाने के निमित्त है। आपने वर्ष भर परिश्रम किया और अंत में जब परीक्षा का समय आया तो आप सो गये किसी प्रकार प्रश्न पत्र न लिख सके, लिखे भी तो अशुद्ध लिखे, तो आपका वर्ष भर का श्रम व्यर्थ गया। इसलिये समस्त प्रयत्न अन्तकाल के ही निमित्त होते हैं। एक कोई बड़ा भवन है, उसमें एक ही द्वार है। आपकी आंखों में पट्टी बांधकर आपसे कह दिया गया है, तुम बाहर निकल जाओ। तुम दीवार के सहारे-सहारे हाथ से टटोलते हुए चल रहे हो। जब द्वार समीप आ गया, तो आप सिर खुजाने लगे या हाथ से और कार्य करने लगे। दिवाल को टटोलना तो छोड़ दिया। पैर बढ़ाते गये। द्वार निकल गया। फिर आपने दिवाल का सहारा ले लिया तो फिर आपको भवन का पूरा चक्कर लगाना पड़ेगा। द्वार पर आकर चूक गये सो चूक ही गये। इसी प्रकार हम इस संसार में नेत्रों पर पट्टी बांधे यात्राकर रहे हैं। पता नहीं मृत्यु किस समय आ जाय, अतः दिवाल को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। खुजली हो भी तो जहाँ के तहाँ खड़े होकर खुजली मिटाकर तब दिवाल के सहारे से ही चलना चाहिये। एक क्षण को भी दिवाल का सहारा न छूटे। पता नहीं कब द्वार आ जाय। इस पर जो सदा सर्वदा भगवन्नाम का भगवत् रूप का भगवान् की लीलाओं का भगवद्धामों का निरन्तर सहारा ले कर चलते हैं वे द्वार आ जाने पर—मृत्युकाल आ जाने पर—उससे पार हो जाते हैं। देहरूपी भवन से—संसाररूपी कारावास से-बाहर हो जाते हैं। समस्त प्रयत्न अन्त समय को बनाने के ही

निमित्त होते हैं। आप चाहे जैसे बोलते हों किन्तु ध्वनि संचय यन्त्र (टाइप रिकार्ड) के सम्मुख जैसे बोलोगे, ठीक वैसी ही ध्वनि आवेगी। छायाचित्र यन्त्र (केमरा) के सम्मुख अन्त में जैसी आप की आकृति होगी वैसा ही चित्र आ जायगा। अन्तकाल में जैसा स्मरण पुरुष करता है वैसी ही उसकी गति होती है। पुरन्जन स्त्री की चिंता करते-करते मरा था अतः विदर्भ देश के राजा की राजकुमारी के रूप में उत्पन्न हुआ। जीवन भर हम जैसी भावना करते रहते हैं अन्त समय वैसे ही भाव आ जाते हैं। आप जीवन भर पाप करते रहो और अन्त समय में चाहो, भगवत् स्मरण हो जाय, तो असम्भव है। आप जीवन भर भगवान् का स्मरण करो। अन्त समय में कफ वात पित्त से कंठ अवरुद्ध हो जाय। और आप भगवत् स्मरण करने में असमर्थ हो जायँ, तो भगवान् कहते हैं—"उस समय भक्त के बदले मैं स्मरण करता हूँ और उसे संसार सागर से पार करता हूँ।"

भरत जी ने जीवन भर भगवत् स्मरण किया, किन्तु प्रारब्ध वश उनकी अन्त समय में मृग-शावक में आसक्ति हो गयी। मरते समय भी मृग का ही ध्यान करते-करते प्राणों का परित्याग किया, अतः उन्हें मृग बनना पड़ा। तो क्या उनका सब भजन निष्फल गया? ऐसी बात नहीं है, कल्याण कृत कर्म कभी निष्फल नहीं जाता। मृग योनि में भी वे तपस्या करते हुए भगवत् चिन्तन करते रहे। मृग शरीर में भी मरते समय स्पष्ट भगवन्नामों का उच्चारण करते हुए गंडकी के जल में शरीर परित्याग किया, सो ब्राह्मण वंश में जड़ भरत होकर उत्पन्न हुए और फिर मुक्त हो गये। अन्त समय में मृग में आसक्ति होने से केवल एक जन्म अधिक लेना पड़ा। इसलिये मुमुक्षु को निरन्तर भगवत् चिन्तन और स्मरण में ही समय बिताना चाहिये।

पता नहीं मृत्यु किस समय आ जाय। क्योंकि मृत्यु कह कर नहीं आती। अकस्मात् बिना सूचना दिये ही सहसा आ धमकती है, और फिर किसकी बात सुनती नहीं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने अपना यह सातवाँ प्रश्न किया कि प्राण त्यागते समय आपको किस प्रकार जानें तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन ! अन्तकाल में जो मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है।"

अर्जुन पूछा—"आपको ही क्यों प्राप्त करता है ?"

भगवान् ने कहा—"भाई, किसी भी पत्रालय में तुम अमुक आदमी का पता लिखकर पत्र डाल दो, तो वह पते वाले व्यक्ति के ही पास पहुँचेगा। इसलिये जो मेरे जिस रूप का राम, कृष्ण, नृसिंह, वामन सगुण अथवा निर्गुण का ध्यान करेगा, उसी को प्राप्त हो जायगा। इसमें तुम तनिक भी सन्देह मत करो। यह निश्चित ध्रुव सिद्धान्त है।"

अर्जुन ने पूछा—"आपका स्मरण करने वाला तो आपको प्राप्त होता है, यह बात संशय रहित है, किन्तु मरते समय आपका ध्यान न करके किसी दूसरी वस्तु का ध्यान करता हुआ मरे, तो उसकी क्या गति होगी ?"

भगवान् ने कहा—तुम को बता तो दिया, मरने के समय पुरुष जिस-जिस भाव से भावित रहेगा, उसी-उसी वस्तु को प्राप्त होगा। जैसे देवता की भावना करेगा, देवलोक को प्राप्त करके देवता बन जायगा। पितरों की भावना करेगा पितर बन जायगा। भूतों की भावना करेगा, तो भूत लोग आकर उसे अपने लोक में ले जाकर भूतों में सम्मिलित कर लेंगे। परिवार के लोगों का चिन्तन करते हुए मरेगा, तो परिवार में ही बालक

बनकर उत्पन्न होगा। वृक्ष में मन अटक गया उसमें आसक्ति हो गयी तो वृक्ष बनेगा। कहीं धन गाड़ दिया तो धन में आसक्ति हो गयी, तो धन का रक्षक सर्प या यक्ष बनकर उसकी रक्षा करेगा। सारांश यह है, कि अन्त समय में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागेगा उसे उसी भाव की प्राप्ति होगी।

अर्जुन ने पूछा—ऐसा क्यों होता है ?

भगवान् ने कहा—यह पुरुष भावमय ही है। मनुष्य जीवन भर जिस भाव का चिन्तन करता रहता है, अन्त में उसे स्मरण भी उसी का आता है।

अर्जुन ने कहा—"तब तो भगवान्! जीवन में अनेकों वस्तुओं से सम्बन्ध होता है, अनेक लोगों की संगति होती है। पता नहीं मरते समय किसका स्मरण हो जाय, किसकी ओर चित्त चला जाय। यदि संसारी लोगों का स्मरण हुआ, संसारी लोगों के प्रति चित्त चला गया, तब तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये, जिससे मरते समय संसारी लोगों में मन न जाय ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

देह भाव वश मिलै भावना जैसी जाकी।
मिलै देह तस ताहि भावना तैसी ताकी॥
अन्त काल में जिनि-जिनि भावनि सुमिरन करिकें।
तिनि-तिनि के अनुरूप प्राप्त होवै नर मरिकें॥
जैसी जाकी मति बनै, तैसी ताकी होहि गति।
सदा भाव भावित रहै, वही अन्त में बनै मति॥

इसलिये भगवत् स्मरण भी करो और युद्ध भी करो

[४]

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानु चिन्तयन् ॥❀

(श्री० भग० गी० ८ अ० ७,८ श्लो०)

छप्पय

नरको सुमिरन करै अन्त में नर ही होवै ।
तैसौ देखे स्वप्न यादि करिकें जो सोवै ॥
तातैं सबई समय करो सुमिरन ई मेरो ।
मेरो सुमिरन करै होहि जो हित अति तेरो ॥
मेरो सुमिरन युद्ध अरु, संग करो रन में प्रबिसि ।
मोमें मन धी अरपि कें, प्राप्त होहि मोकूँ अबसि ॥

❀ इसलिये तू सभी काल में मुझे ही स्मरण कर साथ ही युद्ध भी कर । ऐसा करने पर मेरे ही अर्पित करदी है मन और बुद्धि ऐसा होकर तू मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं ॥७॥

हे पार्थ ! जो पुरुष अन्य ओर न जाने वाले चित्त से अभ्यास योग से युक्त होकर निरन्तर मेरा ही चिन्तन करता है, वह मुझ परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है ॥८॥

अन्तःकरण का स्वभाव है, कुछ न कुछ स्मरण करते रहना। अब जिस वस्तु का स्मरण करते हैं, उस समय मन तन्मय हो जाता है, उसी का स्मरण बना रहता है। एक महात्मा थे, स्वाँस-स्वाँस पर वे राम-राम रटते थे, एक बार उन्हें हलुआ खाने की इच्छा हुई। मन को बहुत समझाया माना ही नहीं तो उन्होंने बड़े श्रम से परिश्रम करके पैसा जुटाये हलुआ बनाया मिट्टी मिला कर मन को खाने को कहा। कंठ में न जाय, तो उसे बल पूर्वक ठूँसते। कहते—"भगवान् का स्मरण छोड़कर हलुए का स्मरण करता है।" फिर उनका मन उधर गया ही नहीं।

जो सर्वदा भगवत् स्मरण करते रहते हैं। उन्हें फिर भगवान् के अतिरिक्त कुछ अच्छा ही नही लगता। राजा जनक से महर्षि हरि ने सर्वश्रेष्ठ भगवत् भक्त के लक्षण बताते हुए कहा है—कि जिससे कोई कहे कि हम तुम्हें त्रिभुवन की राज्यलक्ष्मी दे देंगे आप आधे क्षण या आधे पल को भगवान् के स्मरण से हट जाइये, तो इतना भारी प्रलोभन पाने पर भी जो भगवान् के चरण कमलों की स्मृति आधे क्षण या आधे पल को भी दूर होना नहीं चाहता। जो निरन्तर भगवत् चरणारविन्दों की सन्निधि में रह कर भगवत् स्मरण में संलग्न बना रहता है। त्रिभुवन की राज्य लक्ष्मी को तो वह ठुकरा देता है; किन्तु आधे पल को भी भगवत् स्मृति का तार नहीं तोड़ता वास्तव में वही पुरुष भगवत् भक्त वैष्णवों में अग्रगण्य तथा सर्वश्रेष्ठ भगवत् भक्त है।"

भगवत् भक्त चाहता है, मरते समय मेरा मन मधुप भगवत् चरणार विन्दों के रस पान में ही संलग्न रहे, मरते समय मेरी जिह्वा सुमधुर भगवन्नामों का ही गान करती रहे, मरते समय मेरा चित्त चकोर माखन चोर की माधुरी का ही रसास्वादन करता रहे क्योंकि मरते समय उपासक जिस भाव में भावित

रहेगा देह त्यागने के अनन्तर उसी भाव को प्राप्त होगा। मरते समय वही बात स्मरण आवेगी जिसका जीवन भर अभ्यास किया हो। अतः मुमुक्षु को एक पल क्षण ऐसा नहीं बिताना चाहिये कि जो भगवत् स्मरण के रहित हो। तभी मरण समय में उसे भगवत् स्मृति रह सकती है।

एक संस्कृत पाठशाला थी, गंगाजी के किनारे कच्छपतीर्थ में। वहाँ पर एक मौनी महात्मा रहा करते थे। वे हर समय मुख से राम-राम उच्चारण किया करते थे। नाम उच्चारण करते-करते उन्हें ऐसा अभ्यास हो गया था, कि सुप्तावस्था में भी उन्हें नाम स्मरण होता रहता था। केवल शौच जाते समय वे अपनी जिह्वा को दाँतों से दबा लेते थे, जिससे शौच के समय-अशुद्धावस्था में-मुख से भगवन्नाम न निकले।

एक दिन एक छोटे विद्यार्थी ने पूछा—"बाबा! आप प्रत्येक समय रामनाम क्यों लेते रहते हैं?"

उन्होंने नाम लेते-लेते ही लिखकर बताया कि—"प्रत्येक समय इसीलिये भगवन्नामोच्चारण करते रहते हैं, जिससे मरते समय नाम का उच्चारण करते हुए मरें।"

उस लड़के ने कहा—"बाबा! शौच होते समय ही मर गये तब क्या होगा?"

मौनी महाराज ने अपने दोनों कान पकड़े उसके उपदेश को धारण किया और अब वे शौच के समय भी भगवन्नाम का स्मरण करते रहते थे। मृत्यु कहकर तो आती नहीं। पता नहीं, किस समय आ जाय, अतः प्रत्येक समय भगवत् स्मरण करते रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—ऐसा कौन सा उपाय करना चाहिये, जिससे अन्त समय में आपका ही स्मरण

हो, तो इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! पुरुष जिसका निरन्तर स्मरण करता रहता है, मन उसी में तन्मय हो जाता है, अतः मन को मेरा स्मरणमय बना ले।"

अर्जुन ने पूछा—"आपके स्मरणमय मन कैसे बन सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"यदि खाते, पीते, सोते, जागते, उठते, बैठते चलते, फिरते सभी समय निरन्तर मेरा ही स्मरण प्राणी करता रहे, तो उसका चित्त 'मच्चित्त' हो जायगा, उसका मन मन्मय हो जायगा। ऐसे व्यक्ति को मरण समय भी मेरा ही स्मरण होवेगा। अतः सब समय तू मेरा ही स्मरण करता रह यही अंत समय में मेरा स्मरण होने का एकमात्र उपाय है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! यह उपाय तो बहुत ही कठिन है। निरन्तर भला आपका स्मरण कैसे संभव है। शरीर तो वासनामय है। चित्त तो चंचल है। कितनी भी साधना करो। चित्त कभी न कभी तो चंचल हो ही जाता है। केवल स्मरण ही करते रहना तो हो नहीं सकता। जैसे केवल सत्तू नहीं फांके जा सकते, उसके साथ नमक मीठा कुछ भी तो लगाव-उपसेवन-चाहिये अतः आपके स्मरण के साथ-साथ कोई ऐसा भी कार्य बताइये जिससे वह कार्य भी होता रहे, आपका स्मरण भी होता रहे।"

भगवान् ने कहा—"सब समय तुम निरन्तर मेरा स्मरण भी करते रहो और युद्ध भी करते रहो।"

यह सुनकर अर्जुन हंस पड़े और बोले—'यह महाराज ! आपने अच्छा कार्य बताया। अब तो युद्ध का समय है, अब तो यह हो सकता है, कि मुख से आपके नामों का स्मरण करता रहूँ, मन से आपकी त्रिभंगललित छटा का स्मरण करता रहूँ और हाथ में धनुष बाण लेकर युद्ध करता रहूँ, किन्तु प्रत्येक समय तो युद्ध नहीं

किया जाता। कभी-कभी मन में काम के भी भाव जागृत हो जाते हैं।"

भगवान् ने कहा—"काम के भाव जागृत हो जायं तो तब भी मेरा स्मरण न छोड़ो और काम के साथ युद्ध भी करते रहो।"

अर्जुन ने कहा—"कभी क्रोध भी आ जाता है ?"

भगवान् ने कहा—"क्रोध भी तो शत्रु ही है, मेरा स्मरण करते हुए उससे भी लड़ते रहो।"

अर्जुन ने कहा—"कभी लोभ पीड़ा देता है, कभी मोह हो जाता है, कभी मद आ जाता है कभी मत्सर उपद्रव करता है, उस समय क्या करें ?"

भगवान् ने कहा—"अब तुम्हें बार-बार क्या बतावें ये सभी शत्रु हैं, अपने स्मरण को चालू रखते हुए इनके साथ युद्ध करते रहो।"

अर्जुन ने कहा—"यह तो ठीक है, किन्तु जब तक शरीर है, तब तक कर्तव्य से भी विमुख नहीं हुआ जाता। बच्चे का विवाह है, कन्या की सगाई है, नित्य नैमित्तिक कर्म है। यज्ञ है, दान है, व्रत हैं, कृषि है, गोरक्षा है, व्यापार है। अध्ययन अध्यापन ये भी तो सब शरीर के साथ लगे हैं। कर्तव्य का पालन तो करना ही पड़ता है।"

भगवान् ने कहा—तुम्हें कर्तव्य पालन से रोक कौन रहा है ? मैं तो आरम्भ से ही तुमको कर्तव्य पालन के लिये प्रेरित कर रहा हूं। बारम्बार मैंने यही कहा है उठकर खड़े हो जाओ, युद्ध करो, युद्ध से हटो मत, कर्तव्य समझकर करो। दुख-सुख की हानि-लाभ की जय-पराजय की चिन्ता मत करो। अपना कर्तव्य पालन करो किन्तु मेरे चिन्तन के सहित। मेरा चिन्तन-अनुस्मरण-मुख्य कार्य है, युद्ध करना-वर्णाश्रम धर्म का पालन

करना-गौण है। अर्थात् वर्णाश्रम धर्म पालन करना इसीलिये है कि सतत मेरा स्मरण बना रहे। जैसे रोटी, भात मुख्य भोजन है पेट भरने के साधन हैं। दाल साग उसका उपसेचन है, लगाव है। जब तक दाल न हो, साग न हो, चटनी न हो तब तक रोटी भात तृप्तिपूर्वक खाये ही नहीं जा सकते। भात रोटी के लिये जैसे दाल, साग, चटनी, नमक मीठा आवश्यक है, इसी प्रकार मेरे चिन्तन के लिये युद्ध करना आवश्यक है। युद्ध न करोगे, तो ये काम क्रोधादि शत्रु तुम्हारे स्मरण में विघ्न उपस्थित करेंगे। अतः स्वधर्म पालन रूपी कर्तव्य को पालन करते हुए निरन्तर मेरा स्मरण करते रहो। मेरा स्मरण ही मुख्य कार्य है, उसी की सिद्धि निमित्त युद्ध करना पडता है, कर्तव्य कर्मों के साथ जूझना पडता है। समझ गये मेरी बात को ?

अर्जुन ने कहा—"हाँ, भगवन् समझ गया। आपका अभिप्राय यही कि मन और बुद्धि को तो आपमें अर्पण करदें और कर्तव्य कर्मों को कर्मेन्द्रियों द्वारा करते रहें।"

प्रसन्न होकर भगवान् बोले—तुम्हारा बेटा जिवे। हाँ, यही मेरा अभिप्राय है, कि तुम यदि सतत मेरा स्मरण करते हुए युद्ध रूपी कर्तव्यों का भी पालन करते रहोगे तो अन्त में निःसंदेह मुझे ही प्राप्त कर सकोगे। क्योंकि बन्ध मोक्ष का कारण तो मन ही है न ? तुमने अपने मन को अपनी बुद्धि को—समस्त अन्तःकरण को—तो मेरे अर्पण कर ही दिया है। अतः कर्तव्य कर्मों से अन्तःकरण की वासनायें मिट जायेंगी। निर्वासना हुआ अन्तःकरण मुझे ही प्राप्त हो जायगा। इसमें तुम तनिक भी संशय मत करना। यह असंशय बात है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! आपने मेरे सातों प्रश्नों का उत्तर दे दिया। मैं समझ गया ब्रह्म रूप में भी आप ही हैं, अधि-आत्मा

रूप में भी आपही हैं, कर्म भी आपका ही स्वरूप है। अधि-भूत रूप में भी आप ही विस्तृत हैं। अधि-दैव रूप में भी आपही करते कराते हैं। अधि-यज्ञ रूप भी आपका ही नाम है। अब यह और बतादें कि मृत्यु के समय आपका चिन्तन करने से किस फल की प्राप्ति होगी।

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई, मैं बता तो चुका हूँ, जिस भाव को चिन्तन करते हुए पुरुष शरीर का त्याग करता है, उसी भाव को वह प्राप्त होता है। तो हे पार्थ! मेरा अनुचिन्तन करने से से मुझ दिव्य परमपुरुष को ही पुरुष प्राप्त होता है। किन्तु उसमें एक शर्त है।"

अर्जुन ने पूछा—वह कौन सी शर्त है?

भगवान् ने कहा—मेरा अनुचिन्तन करने वाला मुझ दिव्य परम पुरुष को अवश्य प्राप्त करेगा यदि उसका चित्त किसी अन्य विषय में न गया तो।

अर्जुन ने पूछा—चित्त अन्य विषय में न जाय इसका भी उपाय तो आपको ही बताना पड़ेगा।

भगवान् ने कहा—हाँ, उपाय भी बताता हूँ। निरन्तर के अभ्यास करने से विषयों से वैराग्य करने से, जो निरुद्ध हुए मन की एकाग्रता रूप समाधि प्राप्त होगी। उस समाधि के कारण चित्त अन्य विषयों की ओर नहीं जायगा।

अर्जुन ने पूछा—"आप प्रभो! अपने उस प्राप्तव्य स्वरूप का कुछ विस्तार से वर्णन करें।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अन्तकाल में अभ्यासयोग समाधि से भगवान् का स्मरण करते हुए जिस भगवत्स्वरूप को प्राप्त होते है उसका जैसे भगवान् ने वर्णन किया है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

योग और अभ्यासयुक्त चित हैकें प्रानी।
इत उत चित्त न जाइ करै नहिं जो मनमानी॥
भटकन मन नहिं देइ करै चिन्तन नित मेरो।
होवै ध्रुव कल्यान फँसै मन मोंमें तेरो॥
जो कोई ऐसो करै, शान्त चित्त चिन्तन करत।
परम प्रकाश स्वरूप जो, दिव्य पुरुष तैं सो मिलत॥

मरण काल में प्राण त्यागने की विधि

[५]

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
प्रयाण काले मनसा चलेन भक्त्यायुक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् सतंपरं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० ९, १० श्लोक)

छप्पय

जो मोकूँ सरबज्ञ समुझि नित-नित हिय चितत ।
पुरुष पुरान महान नियन्ता सबके समुझत ॥
सूक्षम तैं हू सूक्ष्म थूल तैं थूल कहाऊँ ।
धारन पोषन करूँ नहीं करता कहलाऊँ ॥
हौं अचिन्त्य रति सम बरन, दूर अविद्या तैं रहूँ ।
शुद्ध सच्चिदानंद घन, करि सुमिरन पुनि-पुनि कहूँ ॥

---

* जो पुरुष कवि, पुराण, सर्वनियन्ता, अत्यन्त ही सूक्ष्म, सबके धारण करने वाले, आदित्य वर्ण वाले, अविद्या से परे तथा अचिन्त्य रूप वाले मेरा स्मरण करते हैं ॥९॥

वह भक्तिमान् पुरुष अन्तकाल में योग बल द्वारा अचल मन से भ्रूकुटी के मध्य भाग में प्राण को भली भाँति स्थापित करके मेरा स्मरण करता हुआ मुझ दिव्य स्वरूप पुरुष को प्राप्त होता है ॥१०॥

संसार में सब कुछ अभ्यास से सीखना सरल है, किन्तु मरना सीखना कठिन कार्य है, जिसने मरना सीख लिया उसने सब कुछ सीख लिया लोग बताते हैं, मृत्यु काल में जब शरीर से प्राण निकलते हैं, तो उस समय प्राणी को अत्यधिक कष्ट होता है। जैसे सहस्र-सहस्र बिच्छू एक साथ काट लें उनका जितना कष्ट होता है, उससे भी अधिक कष्ट तब होता है, उससे भी अधिक कष्ट तब होता है जब सम्पूर्ण शरीर से प्राण खिंचते है। अपान-वायु गुदा में रहती है, जब वही विकृत होती है, तो समान वायु सन्तुलन खो देती है तभी प्राण निकल जाते हैं। इस शरीर में नाक के दो, आँख के दो, कानों के दो और एक मुख का ऐसे सात छिद्र ऊपर के मल और मूत्र त्यागने के दो नीचे के ऐसे नौ द्वार होते हैं। एक सिर में भी द्वार होता है, उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। जब छोटा बच्चा पैदा होता है, तो उसके सिर में एक बहुत ही कोमल स्थान रहता है, वह लुपलुप करता रहता है, वह इतना कोमल होता है कि अंगूठे से दबाओ तो फूट जाय। शनैः शनैः जब शरीर में मल का सचय होने लगता है तो वह स्थान मलावृत्त होने से कड़ा पड़ जाता है। उसी को ब्रह्मरन्ध्र या दशम द्वार कहते हैं। जो पापी पुरुष होते हैं, उनका प्राण तो मल द्वार से या मूत्र द्वार से निकलता है। जो साधारण होते हैं, उनका प्राण ऊपर के सात द्वारों में से किसी एक से निकल जाता है, किन्तु योगियों का प्राण ब्रह्माण्ड को भेदकर दशम द्वार से निकलता है। नाड़ी शुद्धि की क्रिया से जब समस्त नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, शरीर मल रहित-निर्मल-बन जाता है, तब वह द्वार खुल जाता है, तनिक बल लगाने से खोपड़ी फट जाती है, प्राण निकल जाते हैं। साधारण लोगों के लिये यह सम्भव नहीं, जिन्होंने अनेक जन्मों में कुन्डलिनी योग का अभ्यास किया है,

उन्हों के लिये सम्भव है। हमारे सम्पूर्ण शरीर में ७२ हजार नाड़ियां हैं, उनमें से ३ सर्व प्रधान हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्ना। (चन्द्रनाड़ी) इडानासिका के बायीं ओर पिंगला (सूर्य नाड़ी) दायीं ओर है, सुषुम्ना मध्य में है। हमारी जो रीढ़ की टेढी हड्डियों का समूह है टेढ़ा होने से उसका नाम वक्र नाल है। उसके भीतर से एक अत्यन्त ही सूक्ष्म नाडी गई है। वह इतना सूक्ष्म है कि किसी भी के द्वारा मानव दृष्टि गोचर नहीं हो सकता। कमल की डडी का तोड़ों उसमे जो कमल नाल तन्तु बहुत ही सूक्ष्म होते है, उसका भी सहस्रवां भाग-इतना सूक्ष्म वह नाड़ी होती है, वह मस्तिष्क से गुदापर्यन्त है। उसी नाड़ी में कमल के आकार के ६ चक्र बन गये हैं। उन्हें योग की परिभाषा मे षट चक्र कहते हैं। रीढ़ की अन्तिम नोंक गुदा में ही है। समस्त नाड़ियों का जाल वहीं एकत्रित होता है। रीढ़ की जो कसेरुकायें हैं, उन्हीं के रन्ध्रों से नाड़ियां निकल कर सम्पूर्ण शरीर में छायी हुई है। गुदा में मूल आधार रहने से उस प्रथम चक्र को मूलाधार चक्र कहते हैं। जिन लोगों ने योगबल से इन चक्रों का साक्षात्कार किया है, उन योगिराजों ने इनका बड़ा विशद वर्णन किया है। उनके रंगरूप वर्ण, शक्ति, शिव, पत्र आदि का ऐसा वर्णन किया है मानों उन्होंने इन सबको प्रत्यक्ष देखा हो। षट्चक्रों का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है-पहिला मूलाधार चक्र हैं, वह त्रिकोण है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये ही तीन कोंण है। इस चक्र के बीच में स्वयम्भू नाम की शिवलिंग है, जो कोटि सूर्यों के सदृश प्रभा वाला है। यह चार पत्रों वाला कमलाकार है। उन चार पत्रों वं, श, षं, सं, ये चार वर्ण हैं। इसकी आभा हेमवर्ण के सदृश है, स्वयंभू लिंग शिखाकार है। इसी लिंग में ३॥ वलय

लपेटा लगाकर अपनी पूंछ को मुख में दाबे हुए कुंडलिनी शक्ति सुषुप्तावस्था में अवस्थित है।

इससे ऊपर स्वाधिष्ठान चक्र है, ये ६ दल वाला हीरा की प्रभा वाला चक्र है, इनके ६ पत्रों में बं, भं, मं, यं, रं, लं ये वर्ण हैं। यहाँ परंलिङ्ग अवस्थित है।

मूलाधार तो गुदा प्रदेश हैं, स्वाधिष्ठान नाभि और गुदा के बीच में है, तीसरा मणि पूरक चक्र नाभि प्रदेश में अवस्थित है। मेघ और विद्युत् की आभा वाला बड़ा तेजस्वी चक्र है। मणि के समान उससे भिन्न वर्ण वाला होने से इसे मणि पूरक कहते हैं। इसमें दस दल या पत्र है। उन दश पत्रों में डं, ढं, णं, तं, थं, दं, ध, नं, प, फं ये दश वर्ण हैं। इसके अधिष्ठातृ देव शिव हैं।

नाभि से ऊपर हृदय में अनाहद चक्र है। उदय हुए आदित्य के सदृश इसकी आभा है। यह द्वादश दल वाला चक्र है। इसके १२ पत्रों में कं, ख, गं, घ, ङं, च, छ, जं, झं, ञं, टं, और ठं ये बारह वर्ण हैं। इसके मध्य मे वरण नामक लिंग है। सहस्रों सूर्यों के सदृश उसकी प्रभा है। शब्द ब्रह्ममय होने से अनाहत शब्द यही से होता है।

इससे ऊपर पांचवा कंठ में विशुद्ध चक्र है। इसमें सोलह पत्र हैं। यह षोडश दल वाला चक्र धूम्रवर्ण का बहुत प्रभा वाला है। यह जीव को हंस रूप के दर्शन से विशुद्धि करता है इसलिये इसे विशुद्ध चक्र कहते हैं इसके सोलह दलों में अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, लॄं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः ये षोडस स्वर हैं।

इससे ऊपर दोनों भौंहों के मध्य में आज्ञा चक्र है। यह दो दल वाला चक्र है। इसके दोनों दलों में क्षं, और ञं ये दो वर्ण

हैं। यहीं गुरु की आज्ञा से जीव का उद्धार होता है। इससे ऊपर सहस्रार चक्र है। उसी में होकर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा जीव कल्याणत्व को प्राप्त होता है।

साधन द्वारा मूलाधार में प्रसुप्त पड़ी कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करना होता है। जाग्रत हुई कुंडलिनी शक्ति सुषुम्ना के अवरुद्ध मार्ग को खोल देती है उसी मार्ग द्वारा अपने चक्र के मातृ अक्षरों को अधिष्ठातृ देव को वहाँ की शक्ति को अपने में विलीन करती हुई गुदा के मूलाधार चक्र से चलकर लिंग के मणिपूरक चक्र मे आती है। वहाँ के अधिष्ठातृ देव शक्ति वर्ण अक्षरों को भी लीन करती हुई नाभि के मणि पूरक चक्र में आती है, उसी प्रकार वहाँ से भी लीन करती हुई हृदय के अनाहद चक्र में आती है, अनाहद से फिर कंठ के विशुद्ध चक्र में तब दोनों भौंहों के मध्य वाले आज्ञा चक्र में आती है। उसके पश्चात सहस्रार चक्र में ब्रह्म साक्षात्कार होता है, जीव कृत-कृत्य हो जाता।

प्राण त्यागते समय बड़ी सावधानी से मूलाधार से वायु को उठाकर क्रम-क्रम से कंठ तक लाना चाहिये। कंठ में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है, क्योंकि कंठ से ही ऊपर सात द्वार है। तनिक सी असावधानी होने पर न जाने किस द्वार से प्राण निकल जायँ। अतः बहुत सावधानी से शनैः-शनैः दोनों भौंहों के बीच आज्ञा चक्र में प्राणों को लाना चाहिये। आज्ञा चक्र में आ जाने से फिर किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता समस्त प्रयत्न प्राणों को आज्ञा चक्र तक लाने के ही लिये हैं। यही योगियों के प्राण त्याग की प्रक्रिया है।

महारानी सतीजी ने दक्ष के यज्ञ में इसी प्रक्रिया से अपने

प्राणों का परित्याग किया था। श्रीमद्भागवत में उसका वर्णन इस प्रकार है—

सतीजी ने जब प्राण त्याग का निश्चय कर लिया, तो पहिले तो उन्होंने वाणी का संयम करके मौन धारण कर लिया। वे उत्तर दिशा में (जिधर कैलास में उनके पति शिवजी थे) भूमि पर बैठ गयीं। (प्राण त्यागते समय शरीर और भूमि के बीच अन्तराल न रहना चाहिये ऊपरी मन्जिल पर या खाट अथवा तख्त पर शरीर न छोड़े) फिर उन्होंने आचमन किया। तदन्तर (मंगल सूचक) पीला वस्त्र ओढ़कर दोनों नेत्र बन्द कर लिये (बाहरी वस्तुओं से दृष्टि हटाली) फिर आसन मार कर प्राण त्यागने को उद्यत हो गयी। पहिले उन्होंने आसन को स्थिर किया फिर प्राणायाम के द्वारा प्राण और अपान को एक रूप करके (गुदा के मूलाधार मे प्राणों को लिंग के स्वाधिष्ठान चक्र में होती हुई नाभि के मणि पूरक चक्र में लायीं) फिर उसे नाभि के मणि पूरक चक्र में स्थित किया। फिर उदान वायु को नाभि चक्र से ऊपर उठाकर शनैः-शनैः बुद्धि के साथ हृदय में स्थापित किया। इसके अनन्तर अनिन्दिता सतीजी उस हृदय स्थित प्राण वायु को कंठ मार्ग से दोनों भृकुटियें के बीच में ले गयी। जब प्राण भृकुटियों के बीच में पहुँच गये तब महान् पुरुषों द्वारा भी पूजित शंकरजी ने सतीजी के जिस शरीर को प्रेम और आदर के सहित अपनी गोदी बिठाया था। उसी परम पावन शरीर को शंकर जी के अपमान करने के कारण दक्ष पर--कुपित होकर, उसे त्यागने की इच्छा से महामनस्विनी सती जी ने अपने सम्पूर्ण अंगों में वायु और अग्नि की धारणा की। उस समय वे केवल अपने प्राण नाथ जगद्गुरु भगवान् सदा शिव के चरण कमल मकरन्द का ही चिन्तन कर रही थीं। उन्हीं

का प्रेम पूर्वक चिन्तन करते-करते उन्होंने संसार के सभी भावों को भुला दिया, उन्हें केवल अपने पति के चरणारविन्दों के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता था। इस चिन्तन से वे सर्वथा दोष रहित अभिमान से मुक्त हो गयीं। तदन्तर उनका शरीर तुरन्त योग की अग्नि से जलकर भस्म हो गया।

ज्ञान से--भगवद् पादारविन्दों के ध्यान से जिनके समस्त कल्मष दग्ध हो गये हैं, ऐसे भगवद् भक्तों को ही इस प्रकार सावधानी के साथ हँसते-हँसते मृत्यु सम्भव है। वे बिना किसी प्रकार के विकार के इस शरीर को ऐसे ही छोड़ देते हैं, जैसे समृद्धशाली पुरुष जीर्ण वस्त्र को हँसते-हँसते उतार कर फेंक देते हैं। उसके परित्याग में उन्हें भी तनिक भी कष्ट नहीं होता, अपितु प्रसन्नता ही होती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने उन प्राप्तव्य पुरुष के सम्बन्ध में विशेष जानने की जिज्ञासा की, तब भगवान् ने अपने कुछ महत्व पूर्ण विशेषण बताते हुए कहा—अर्जुन! वह निरन्तर चिन्तनीय प्राप्तव्य पुरुष कवि है।

अर्जुन ने पूछा—कवि का क्या अभिप्राय है भगवन्?

भगवान् ने कहा—कवि कहते हैं, क्रान्तिकारी को। जहाँ न पहुँचे रवि। वहाँ पहुँचे कवि। अतः सर्वज्ञ का नाम कवि है, जो भूत भविष्य और वर्तमान की सभी बातों को जानता हो। जिससे कोई बात छिपी न हो। कवि भी कोई नया नहीं, जो पुराण पुरुष है।

अर्जुन ने पूछा—कितना पुराना है वह?

हँसकर भगवान् ने कहा—पुराने से तुम बुड्ढा मत समझ लेना। जो सबसे प्राचीन है, जिसका न कभी आदि है न अन्त। जो कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसे काल में कैसे बाँध

सकते हैं। काल तो उसके पश्चात् हुआ है। अतः वह कालातीत परम पुराण पुरुषोत्तम हैं। साथ ही वह अनुशासिता अर्थात् जगत नियन्ता भी है।

अर्जुन ने पूछा—अनुशासिता किसे कहते हैं प्रभो ?

भगवान् ने कहा—समस्त जगत पर अनुशासन करने वाले, ससार को अपनी इच्छानुसार ले जाने वाले तथा विश्व को अपने नियन्तत्रण में रखने वाले को अनुशासिता कहते हैं। वह कवि, पुराण तथा अनुशासिता होने के साथ अणोरणीयांस भी है।

अर्जुन ने पूछा—अणोरणीयांस किसे कहते हैं, अच्युत ?

भगवान् ने कहा—संसार में जो भी सबसे छोटी वस्तु हो, उससे भी अत्यन्त छोटा हो। संसार अणु में सबसे छोटा भाग है, उस अणु से भी अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है उससे भी जो सूक्ष्म हो। उनका भी उपादान कारण हो। ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने पर भी जो सबका धाता हो।

अर्जुन ने पूछा—सब का धाता होने का क्या अभिप्राय है, सर्वेश्वर ?

भगवान् ने कहा—संसार में जितने भी कर्म हैं तथा उन कर्मों के जितने फल हैं, उन सब कर्म फलों को देने वाले। किस कर्म का कौन सा फल किसे कब देना चाहिये इन सब बातों का विभाग करने वाले। अभिमत फलदाता होने के साथ ही, वह अचिन्त्य रूप है।

अर्जुन ने पूछा—"अचिन्त्य रूप का अर्थ क्या है, अनादि-निधन !"

भगवान् ने कहा—जिसके रूप का चिंतन न किया जा सकता हो। अर्जुन ! सोचो तो सही जिसकी महिमा अपरिमित है,

जिसके वैभव का वारापार नहीं। उसका चिंतन यह परिमित प्राणी कर ही कैसे सकता है ? ऐसा होने के साथ ही साथ वह आदित्य वर्ण वाला है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् जो अवर्ण है उसकी उपमा आदित्य से कैसे दी जा सकती है ?"

हँसकर भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! यह उपमा तो उपलक्षण मात्र है। उपमा सर्वाङ्गीण नहीं ली जाती। वह तो एक देशीय होती है। यहाँ आदित्य वर्ण कहने से केवल प्रकाश की बहुलता बताने से हैं। अर्थात् जैसे सूर्य ही समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है। सूर्य न हो तो किसी वस्तु की संज्ञा ही नहीं की जा सकती। इसी प्रकार वह समस्त विश्व ब्रह्माण्ड का एक मात्र प्रकाशक है। इसलिये उसे तमस परस्तात् कहा है।"

अर्जुन ने पूछा—उसे तमसपरस्तात् क्यों कहा गया है, जनार्दन !

भगवान् ने कहा है, जो महान् प्रकाशवान् होगा वह तम से-अन्धकार से, अज्ञान से परे होगा ही। मोह भय अन्धकार उसके सम्मुख टिक नहीं सकेगा। ऐसे परम प्रकाश पुरुष का जो निरन्तर चिन्तन करेगा, वह साधक उसी को प्राप्त होगा।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे प्रकाशमय स्वरूप का चिन्तन कैसे करें और उसके चिन्तन में अधिक प्रयत्न की अपेक्षा कब होती है इसे कृपाकर मुझे बता दें।"

भगवान् ने कहा—मरते समय ही ऐसे चिन्तन में अत्यन्त सावधानी रखने की आवश्यकता है।

अर्जुन ने पूछा—मरण काल में कैसे चिन्तन करना चाहिये ?

भगवान् ने कहा—"मरण काल में यदि पुरुष भक्तियुक्त न हुआ तो सब गड़बड़ घुटाला हो जायगा। भगवत्-भक्ति का एक

मात्र फल यही है, कि मृत्यु समय भगवत् स्मृति बनी रहे। जो जीवन भर मेरा सतत स्मरण करता रहा होगा उसे ही मरण समय में मेरा स्मरण हो सकता है। इसलिये अविचल चित्त से, इधर-उधर अन्य किसी में चलायमान न होने वाले मन से मेरे प्रकाशमय स्वरूप का चिंतन करे।"

अर्जुन ने पूछा—"मरण समय कैसे और किस स्थान में मन को स्थिर करके चिंतन करे ?"

भगवान् ने कहा—देखो, सूर्य की किरणों में से एक परम प्रकाशमय किरण के साथ मूलाधार में, स्थित कुंडलिनी शक्ति का सम्बन्ध है। साधारणतया वह कुंडलिनी शक्ति प्रसुप्ता वस्था में पड़ी रहती है। गुदा, लिंग, नाभि, हृदय कंठ और दोनों भौंहों के मध्य में षट् चक्र इतने प्रकाशमय हैं कि कोई भी प्रकाश उनके सम्मुख ठहर नही सकता। किन्तु जीव अज्ञान अन्धकार के कारण—मोह रूपी तम के कारण उनके महान् प्रकाश का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसीलिये वे कमल अधोमुख हुए अवस्थित रहते हैं। जब योग के साधनों द्वारा ध्यानयोग से कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत किया जाता है, तब वे कमल ऊर्ध्वमुखी होने लगते हैं। उनमें महान् शक्ति का निवास है। कोटिसूर्यों के समान उन चक्रों की प्रभा है। उन सबके तेज को पान करती हुई कुंडलिनी शक्ति मूलाधार (गुदा) से चलकर स्वाधिष्ठान (लिंग) में आती है इसी क्रम से नाभि, हृदय, कंठ में होती हुई जब दोनों भौंहों के बीच में आ जाती है, तब वहाँ अत्यन्त ही सावधानी बरतने की आवश्यकता रहती है चित्त भी चंचल न होने पावे भक्ति में तनिक भी कमी न हो मरण काल में जो एक प्रकार का भय होता है, वह भय समीप भी फटकने न पावे। यह कब होगा, जब योग का बल परिपूर्ण बना

रहेगा। ऐसी दशा में मृत्यु काल में दोनों भौंहों के बीच में प्राण को स्थिर करके, अविचल भाव से केवल जो मुझ परम प्रकाश-मय दिव्य पुरुष का ही चिन्तन करते हुए प्राणों का परित्याग करेगा, वह निश्चय रूप से मुझे ही प्राप्त होगा।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! साधक को किस पद का अनुस्मरण करते हुए कैसी धारणा करते हुए प्राणों का परित्याग करना चाहिये ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने जिस पद तथा जिस धारणा का उपदेश दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

ऐसे साधन करै भक्तियुत साधन सज्जन।
सद्गति पावै अन्तकाल में करिकें सुमिरन॥
भ्रुकुटि मध्य में प्रथम प्रानकूँ थापित करिकें।
धारि योगबल सहित अचल आपन मन करिकें॥
ऐसे मम सुमिरन करत, हरत सकल भयभीत जो।
दिव्यरूप परमात्म हौं, परम पुरुष मय होय सो॥

प्रयाणकाल में किस पद का उच्चारण करे

[६]

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयोवीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं संग्रहेणप्रवक्ष्ये ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

जाइ परमपद कहें वेदविद पंडित ज्ञानी ।
जाकूँ अक्षर कहत अमर अविनाशी ध्यानी ॥
जामें करें प्रवेश वीतरागी संन्यासी ।
ब्रह्मचर्य जिहि हेतु धरें ममचारि उदासी ॥
ता पदकूँ संक्षेप में, अरजुन ! हौं तोतें कहूँ ।
तू मेरो प्रिय भक्त है, तेरे हित सब कुछ सहूँ ॥

---

* वेदवित् पुरुष जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिगण जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसे पाने की इच्छा वाले जिसके लिये ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, ॥११॥

इन्द्रियों के सब द्वारों का संयम करके, मनको हृदय में स्थिर करके मस्तक में अपने प्राण को स्थापित करके, योगधारणा में स्थित होकर—॥१२॥

उपासना में संयम का बड़ा माहात्म्य है। योग में तो धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों के एकत्रीकरण को संयम बताया है, किन्तु उपासना में संयम नियमन को कहते हैं। किसी भी वस्तु को सीमा से अधिक न बढ़ने दे। सबको मर्यादा में ही रखने का नाम संयम है। इन्द्रियों का स्वभाव स्वच्छन्दगामी होने का है। वे अपने ऊपर अंकुश नहीं चाहती। जिह्वा नहीं चाहती हमें कोई इच्छानुसार खाने से, इच्छानुसार बोलने से रोके। जिह्वा उदर की परवाह नहीं करती इस स्वादिष्ट पदार्थ को पेट पचा सकेगा या नहीं जिह्वा इसकी चिन्ता नही करती। उसे तो रस लेने से काम। वह इच्छानुसार रस लेते ही रहना चाहती है। कौन सी बात कब बोलनी चाहिये, वाणी इसकी भी परवाह नहीं करती। इसी प्रकार आँखों को कौन सी वस्तु देखनी चाहिये, कौन-सी नहीं देखनी चाहिये इस पर वह प्रतिबन्ध नहीं चाहती। किन्तु इन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। ये अपनी मर्यादा में ही रहकर व्यवहार करें। इन्हें अपनी सीमा से आगे न बढ़ने दे इसी का नाम संयम है। यदि शरीर के नौ द्वारों को संयम में न रखेंगे, तो न जाने प्राण किस द्वार से निकल जायँ। अधोमार्ग से प्राण निकले तो अधोगति होगी, मध्य के द्वारों से निकले तो स्वर्गादि मध्यगति मिलेगी और सबसे ऊपर के दशम द्वार से निकले तो सदा के लिये संसार सागर से मुक्त हो जायगा। अतः इन्द्रियों को संयम में रखना अत्यावश्यक है।

वैसे तो सभी इन्द्रियाँ प्रबल हैं, किन्तु उपस्थेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय ये तीन अत्यन्त ही प्रबल हैं। क्योंकि इनका सम्बन्ध क्रमशः वीर्य, प्राण और मन से हैं। शरीर में ये ही प्रधान हैं। साधना में प्राणों का ब्रह्मचर्य का और मनका इन तीनों का ही संयम करना पड़ता है। इन तीनों का परस्पर में अन्योन्या-

श्रित सम्बन्ध है। प्राण के रुकने पर मन और वीर्य रुक जाते हैं, इसी प्रकार मनके निरोध होने से ब्रह्मचर्य तथा प्राणों का निरोध हो जाता है। ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर प्राण मन स्वतः ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं। अतः इन्द्रिय संयम सर्वप्रथम अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है। इन्द्रियों के संयम से ही मन तथाबुद्धि का संयत होना संयम है। अन्तकाल में इन्द्रियाँ यदि संयत हो गयीं तो प्राणों के संयमित करने में बड़ी भारी सहायता मिलती है। मनको हृदय में ही रखकर प्राणों को ब्रह्मांड के मार्ग द्वारा निकाल दे तो फिर जन्ममरण के चक्कर में नहीं पड़ता। इसी का उपदेश भगवान् ने विस्तार से दिया है, क्योंकि यही सर्व प्रधान गीता का विषय है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने अन्तकाल में किस पद का स्मरण करना चाहिये यह पूछा, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं—अर्जुन! मैं तुम्हें उस पद का उपदेश करता हूँ, जिसका अन्त में उच्चारण करते हुए जो प्राणों का परित्याग करता है, तो उसे परमगति की प्राप्ति होती है। वेदों के जानने वाले विद्वान् पंडित उस पद को अक्षर कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—अक्षर क्या महाराज? अक्षर तो स्वर व्यञ्जनों को कहते हैं?

भगवान् ने कहा—यहाँ स्वर व्यञ्जन जो अक्षर कहलाते हैं, उनसे तात्पर्य नहीं है। वेद का जो आदि है। जिसके बिना वेद का वेदत्व ही नहीं होता। समस्त वेद जिस एक ही अक्षर से निकले हैं, उस अक्षर से यहाँ अभिप्राय है वेद में वेदवेत्ताओं ने उसी अक्षर का निरूपण किया है और राग रहित यतिगण त्यागी तपस्वी जिस पद में प्रवेश करते हैं तथा ब्रह्मचारीगण उसी पद की प्राप्ति करने के लिये महान् दीर्घव्रत-ब्रह्मचर्य व्रत का पालन

करते हैं उसी पद को मै तुमसे कहूँगा। सो भी बहुत संक्षेप में कहूँगा, क्योंकि उसका विस्तार ही तो समस्त वेदों में है।

अर्जुन ने पूछा—"उस अक्षर ब्रह्मपद का उच्चारण किस विधि से करना चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—"पहिले तुम उसके उच्चारण की विधि ही समझ लो। पहिले तो विशुद्ध आसन बिछाकर योग के आसन से बैठ जाय, फिर इन्द्रियों के जितने द्वार हैं, उन द्वारों को रोक ले।"

अर्जुन ने कहा—इन्द्रिय द्वार तो खुले हुए हैं, उन्हें रोके किस प्रकार ?

भगवान् ने कहा—आसन लगाकर मूल बन्द बाँध ले। गुदा को ऊपर की ओर संकुचित करके गुदा द्वार को दृढ़ता से ऐड़ी द्वारा रोक ले। ऐड़ी के द्वारा गुदा का द्वार रोकने से नीचे के दोनों द्वार अवरुद्ध हो जाते है। फिर उड्यान बन्ध बाँधकर समान का संयम करे। जालंधर बन्ध बाँधने से जितने नाड़ी जाल हैं वे सब स्वतः बंध जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के सभी द्वारों को संयमन करके मन को हृदय प्रदेश में रोक रखे। मन का स्थान ही हृदय है उसे उसी के घर में बन्दी बना दे। फिर अपने प्राणों को मस्तक में दोनों भौंहों के मध्य में स्थिर करे।

अर्जुन ने पूछा—"प्राणों को बार-बार दोनों भौंहों के मध्य में स्थिर करने को क्यों कहा जाता है।"

भगवान् ने कहा—दोनों भौंहों के मध्यभाग से उस ब्रह्मरन्ध्र का संबंध है। प्राण यदि दोनों भौंहों के बीच में निरुद्ध हो जायँगे, तो फिर उनके अधोगामी होने का भय नहीं रहेगा। वहाँ से वह सीधा ब्रह्मरन्ध्र में होकर निकल जायगा। वहीं पर योगधारणा करने की आवश्यकता है।

अर्जुन ने पूछा—"योगधारणा किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—योगधारणा समाधि का नाम है। ध्यान और धारणा को दृढ करने पर जो आत्मविषयिणी समाधि रूपा धारणा है उसी में स्थित हो जाना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—उस योगधारणा रूपी समाधि अवस्था में किस शब्द का उच्चारण करे और किसका स्मरण करे, कृपा कर इसे बताने का अनुग्रह और कीजिये। क्योंकि वाणी का तो निरोध ही हो चुका है, जो भी उच्चारण होगा, वह आन्तरिक ही उच्चारण होगा, जो भी स्मरण होगा वह भी आन्तरिक ही स्मरण होगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अन्त में किस पद का उच्चारण करे और किसका स्मरण करे। इसका जो उत्तर भगवान् देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

कैसे सो पद मिलै ताहिकी युक्ति बताऊँ।
अन्त समय का सुमिर तजै तन ताहि सुनाऊँ॥
जितने इन्द्रिय द्वार देह में नौ छिद्रनिकूँ।
सब द्वारनिकूँ रोकि हृदय में रोकै मनकूँ॥
जीतें मनतें प्रानकूँ, मस्तक में धारन करै।
योगधारना में पुरुष, मेरो ई सुमिरन करै॥

प्रणव उच्चारण करते हुए देह त्याग करे

[७]

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमांगतिम् ॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥*
(श्री भग० गी० ८ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

'ओम्' मन्त्र है ब्रह्म प्रनव एकाक्षर अनुपम ।
उच्चारन पुनि करै करै सुमिरन मम उत्तम ॥
विषयनितैं मन रोकि ध्यान मेरो ही धारै ।
बोले बात न अन्य प्रनव केवल उच्चारै ॥
जा विधि तैं जे तनु तजैं, ते नहिं पुनि जग आइँगे ।
परम भाग्यशाली पुरुष, परमागति कूँ पाइँगे ॥

---

* जो 'ओम्' इस एकाक्षर ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ, मेरा स्मरण करता हुआ, देह को त्याग कर परलोक प्रयाण करता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है ॥१३॥

हे पार्थ ! जो अनन्यचित्त वाला होकर नित्य ही निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी के लिये मैं सुलभ हूँ ॥१४॥

यह संसार चक्र अनादि काल से चल रहा है। एक ब्रह्मा अपनी आयु के सौ वर्ष पूरे करके चले जाते हैं, पुनः दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं। अब तक कितने ब्रह्मा आ गये, इनकी कोई गणना नहीं। कितने ब्रह्मा और आवेंगे इसकी भी कोई गणना नहीं। ब्रह्माजी का एक दिन होता है, त्रिलोकी की प्रलय हो जाती है। ब्रह्माजी त्रिलोक को अपने उदरस्थ करके सो जाते हैं, रात्रि समाप्त होने पर ब्रह्माजी उठते ही इस त्रिलोकी को पुनः प्रकट करके अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं। इसी को कल्पान्त प्रलय और कल्पादि सृष्टि चक्र कहते हैं।

महा प्रलय के पश्चात् जब दूसरे ब्रह्मा आते हैं, तो उन्हें पूर्व सृष्टि का स्मरण नहीं रहता। वे सृष्टि कैसे करें की हुई सृष्टि वृद्धि को कैसे प्राप्त हो इसका ज्ञान सम्पादन करने के निमित्त भगवान् की आज्ञा से तप करते हैं। वे सृष्टि के ज्ञान को सम्पादन करने के निमित्त अपने चित्त को एकाग्र करते हैं। समस्त चित्त की बिखरी वृत्तियों का निरोध करते हैं। तप करते-करते जब उन परमेष्टी ब्रह्माजी का मन समाहित हो जाता है तो उनके हृदयाकाश से कण्ठ तथा तालु आदि के सङ्घर्ष से रहित एक अव्यक्त विलक्षण नाद उत्पन्न होता है। उसे अनाहत नाद कहते हैं। जैसे किसी घंटे को बलपूर्वक बजा दो। तो बजाने के पश्चात् जो एक प्रकार का कुछ देर तक नाद गूँजता रहता है उसी के सदृश वह नाद होता है। अथवा एकाग्रचित्त करके दोनों कानों को भली प्रकार कसकर बन्द कर लो। तो कानों के बन्द करने पर जो शब्द सुनायी दे, वही अनाहत नाद है। जो योगीनाद की उपासना करते हैं, वे अपने चित्त की समस्त वृत्तियों को इसी नाद में लीन कर देते हैं। उस अनाहत नाद की उपासना के प्रभाव से अन्तःकरण के अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव जो

द्रव्य, क्रिया और कारक रूप मल है उसे नष्ट करके निर्मल बन जाते हैं। फिर ऐसे विशुद्ध अन्तः करण वाले योगियों का न कभी जन्म होता है और न उनकी कभी मृत्यु होती है, वे जन्म-मृत्यु रूप संसार चक्र से पार हो जाते हैं। वे मोक्षरूप परमगति को प्राप्त होते हैं।

वह अनाहत नाद शब्द तथा अर्थ से रहित होता है। उसमें न तो कोई स्वर व्यक्त होता है न व्यंजन। शब्द तो तभी उत्पन्न होगा जब कंठ, मूर्धा, जिह्वा, ओठ आदि स्थानों को वायु आहत करे। उसमें ठोकर दे। सो तो इस नाद में होता नहीं यह तो स्वर वर्ण बिन्दु आदि के बिना ही ब्रह्माजी को सुनायी दिया। अब उसी अनाहत नाद से शब्द की सृष्टि होती है। पहिले जब शब्द होगा तभी नाम की संज्ञा होगी। तभी रूप दिखायी देगा। अतः सर्वप्रथम तीन मात्राओं वाला एक शब्द उत्पन्न हुआ। उसका नाम प्रणव हुआ। क्योंकि उसी आदि शब्द से ब्रह्माजी ने अपने इष्टदेव की स्तुति की। उसमें "अकार" उकार और मकार ये तीन मात्रायें थी और उसका आकार चतुर्लाकार था ॐ। उसी का नाम ओंकार हुआ। उसके मन्त्रादि, प्रणव, सत्य, बिन्दु शक्ति, त्रिदैवत, सर्वजीवोत्पादक, पंचदेव, ध्रुव, त्रिक, सावित्रीत्रिशिख, ब्रह्म, त्रिगुण, गुणबीजक, आदि बीज, वेदसार, वेद, बीज, आदि अनेक नाम है।

आदि में यही त्रिमात्रा वाला शब्द हुआ। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति इसी से हुई है। तीनों गुणों की, तीनों वृत्तियों की तीनों वेदों की तीनों लोकों की, तीनों व्याहृतियों की तीनों देवों आदि की जितनी भी त्रिगुणात्मिका सृष्टि है, इसी अकार उकार तथा मकार रूप प्रणव से सम्भव है, इसी प्रणव की शक्ति से ही अब तक जो प्रकृति अव्यक्त रूप में अवस्थित थी,

त्रिगुणों में क्षोभ होने के कारण वही अव्यक्त प्रकृतिव्यक्त रूप में प्रकट हो जाती है। यह ओंकार या प्रणव स्वयं अनादि है अव्यक्त है। यह ब्रह्म का वाचक है, ब्रह्मस्वरूप ही है इसीलिये इसे प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं। यह स्वयं ही प्रकाश स्वरूप है। भगवान् का यह मुख्य नाम है, उनका अवबोधक वाचक है। यही ओंकार भगवान् के हृदयाकाश में प्रकट होकर वेदारूपा वाणी को अभिव्यक्त करता है। यही सम्पूर्ण वेदों का, उपनिषदों का तथा मन्त्रों का सनातन बीज है। यही ओंकार अन्तस्थ: ऊष्म, स्वर, स्पर्श, ह्रस्व, दीर्घ आदि जितने अक्षर समाम्नाय या वर्णमाला के अक्षर हैं सबका आदि बीज यही है। इसी का विस्तार चतुर्मुख ब्रह्माजी के चारों मुखों से होने के कारण ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदों की उत्पत्ति हुई।

अत: यह ओंकार ब्रह्म का वाचक है। अमूर्त भगवान् की यह मूर्ति है प्रतिमा के सदृश है। ब्रह्म स्वरूप है। इसी को एकाक्षर ब्रह्म भी कहते हैं। प्राणों को दोनों भौहों के बीच में स्थिर करके जो इस अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए प्राणों का परित्याग करता है वह साधक परम गति को प्राप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने उस पद के और फल के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तो भगवान् ने कहा—अर्जुन! वह पद एकाक्षर ब्रह्म ओंकार है इस पद का उच्चारण करते हुए और मेरा अविच्छन्न भाव से निरन्तर स्मरण करते हुए जो देह का परि त्याग करता है, उसका फल यही होता है, कि वह परमपद को प्राप्त होता है। जो गति सर्वोत्कृष्टा है जिसे परमागति कहते हैं उस साधक को वही गति प्राप्त होती है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! जो इतनी उत्कृष्ट योग धारणा न

कर सकता हो, किन्तु श्रद्धा पूर्वक निरन्तर आपका ही चिन्तन करता रहता हो उसकी क्या गति होगी।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मुझे पाना बड़ा दुर्लभ है, मैं साधारण उपायों से अल्प साधनों से मिलने वाला नहीं।"

अर्जुन ने कहा—यही तो मेरा प्रश्न है। आप इन सर्वसाधारण बद्ध प्राणियों के लिये बहुत दुर्लभ है, किन्तु जो भक्त हैं, उन पर तो कुछ विशेष कृपा होनी ही चाहिये।

भगवान् ने कहा—"नाम मात्र के भक्तों के लिये मैं दुर्लभ ही हूँ, जो मेरा निष्कपट अनन्य भक्त है उसके लिये सब प्राणियों के लिये दुर्लभ होने पर भी केवल उसके लिये सुलभ हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"जिस अनन्य भक्त के लिये आप दुर्लभ होने पर भी सुलभ हो जाते हैं, उस भक्त का लक्षण कृपा करके बता दें।"

भगवान् ने कहा—पहली बात तो उसमें यह होनी चाहिये कि उसका चित्त मुझे छोड़कर संसार की अन्य किसी वस्तु में फँसा नहीं रहना चाहिये। आठों प्रहर मुझमें ही जिसका चित्त लगा रहे। और जो मुझे नित्य नित्य निरन्तर ही स्मरण करता रहे। समय की काल की परवाह न करे, कि इतने दिन तो स्मरण करते हुये हो गये, भगवान् के अभी दर्शन भी नहीं हुए। काल तो अनादि है मेरा स्वरूप ही है, जितने ही दिन स्मरण हो उतने ही दिन अच्छा है। निरन्तर मेरा स्मरण अव्यग्र भाव से करे और मन में अश्रद्धा को न आने दे। सत्कार पूर्वक श्रद्धा सहित भक्ति भाव से मेरा ही चिन्तन, मनन, भजन स्मरण करता रहे। ऐसे सर्वदा समाहित चित्त भक्ति योगी के लिये मैं दुर्लभ होने पर भी सुगमता से मिल सकता हूँ। भले ही उसके प्राण

आज्ञा चक्र में आवें या न आवें। भले ही उसके प्राण ब्रह्म रन्ध्र से निकले या न निकलें। भले ही उसका कंठ बात पित्त कफ से रुँध जाने के कारण शब्द न भी निकले। प्रारब्ध कर्म समाप्त होने पर उसके प्राण निकलेंगे तो उसके स्थान पर मैं उसका स्मरण करूँगा। जीवन भर जिसने अनन्य भाव से मेरा सतत स्मरण किया है उसके लिये मैं सुलभ हो जाता हूँ। किन्तु हो अनन्य भाव से निरन्तर स्मरण करने वाला भक्त। वह मेरा भक्त भी मुझे ही प्राप्त कर लेता है।

अर्जुन ने पूछा—"जो ब्रह्म रन्ध्र द्वारा दशवें द्वार से योग धारणा द्वारा शरीर त्यागते हैं उनकी तो परमागति प्राप्त होती ही है किन्तु जो आपके अनन्य भक्त हैं, उनका फिर इस संसार में जन्म होता है या नहीं ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इसका उत्तर जो भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मोकूँ दुर्लभ कहूँ नहीं मैं दुरलभ सबकूँ।
मोमें चित्त अनन्य करै तजि देवै जग कूँ॥
नित्य निरन्तर करै सदा ही मेरो सुमिरन।
होहि विस्मरन नहीं कबहुँ वातें एकहु छिन॥
ऐसे जोगी के लिये, सदा सरबदा सुलभ हूँ।
सहज भाव तें प्राप्य हूँ, सब भूतनि को सुहृद हूँ॥

भगवान् को प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता

[८]

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥❀

(श्री भग० गी० ८ अ० १५, १६ श्लोक)

छप्पय

दुःखालय यह जगत दुखी जग के सब प्रानी ।
छिनभंगुर हू कहैं सकल जोगीजन ज्ञानी ॥
पुनि-पुनि लैकें जनम फेरि पुनि पुनि ही मरनो ।
जन्म मरन छुटि जाय जतन सोई ध्रुव करनो ॥
परम सिद्धि कूँ पाइकें, होहिँ महात्मा सन्त वे ।
जनम मरन तैं छूटिकें, मोकूँ पावैं अन्त वे ॥

❀ जो महात्मा हैं और जो सिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं, वे मेरे को प्राप्त करके इस क्षण भगुर और दुःख स्थान रूप पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते ॥१५॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् फिर नहीं लौटा लाने वाले हैं, किन्तु कौन्तेय ! मुझे प्राप्त होकर फिर पुनर्जन्म नहीं होता ॥१६॥

यह जगत् दुःखालय है और यह शरीर मलायतन-अर्थात्-मलका महल-है। कौन भला आदमी चाहेगा कि हम मल के निर्मित घर में रहकर दुःखों के प्रदेश रूपी नरक नगर में निवास करें। न चाहने पर भी विवश होकर प्राणियों को रहना ही पड़ता है। रहते रहते उस मल के महल में भी आसक्ति हो जाती है। कोई नहीं चाहता हमें कारावास में रहकर कष्ट सहन करने पड़ें। किन्तु जिन्हें बार-बार कारावास जाना पड़ता है, उन्हें कारावास गये बिना बाहर अच्छा ही नहीं लगता कारावास में लोह के तसला और कटोरी ये दो पात्र मिलते हैं। बार-बार कारावास में आने वाला पुराना बन्दी जब अवधि पूर्ण होने पर छूटने लगता है, तब अपने साथी बन्दियों को चेतावनी दे जाता है, देखना मेरे तसला कटोरी किसी अन्य को न दें, मै शीघ्र ही आ जाऊंगा। दुःखालय होने पर भी बार-बार आने से उनकी कारावास में आसक्ति हो जाती है। यद्यपि वहाँ सुख नहीं, किन्तु विवशता है। इसी प्रकार प्राणी संसार में दुख ही दुख पाता है, फिर भी संसार को छोड़ना नहीं चाहता। वास्तव में देखा जाय, तो संसार में दुख ही दुःख है। स्वयं दुखी होता है, दूसरों को दुख देता रहता है।

गर्भ में आते ही दुःख आरम्भ हो जाता है। गर्भ में आना ही सबसे बड़ा दुःख है। गर्भाशय मल और मूत्राशय के समीप ही होता है। मल और मूत्र के समीप ९ महीने ऐसे कारावास में रहना पड़ता है, जहाँ न शुद्ध वायु जाती है और न शुद्ध पानी तथा प्रकाश। उलटा लटका रहना पड़ता है! सातवें महीने में गर्भस्थ बालक बाहर निकलने का प्रयत्न करता है, किन्तु निकल नहीं सकता। निकलने के श्रम के कारण वह मूर्छित हो जाता है, उसकी यह मूर्छा ६० दिन में छूटती है। माता की नाड़ी से उसकी नाभि में जो एक नाल होता है वह नाल जुटा रहता है। उसी

नाल द्वारा-मुंह द्वारा नहीं-माता जो भी कुछ खाती पीती है, उसका रस उसके पेट में जाता है, उसी से दुःख पूर्वकजीव उस काल कोठरी में भी जोता रहता है। माता यदि नमक मिरच आदि तीक्ष्ण पदार्थ खाती है, तो वे उसके कोमल शरीर में चुभते हैं। माता यदि मिट्टी, खपड़ा ऐसी बुरी वस्तु खाती है, तो वे भी उसके शरीर में सट जाते है। माता श्रम करती है, तो उसे कष्ट होता है। रोती है, शोक करती है, तो गर्भस्थ बालक को भी पीड़ा होती है। गर्भ में जब बालक होता है तो माता को भी निरन्तर कष्ट ही देता रहता है। माता का जी मिचलता रहता है उसे उबकाई आती हैं, पेट भारी हो जाता है, चलने फिरने उठने बठने में कष्ट होता है। भाँति-भाँति के उपद्रव होते हैं। स्वयं भी कष्ट भोगता है, माता को भी कष्ट देता है। पैदा होने का कष्ट तो हे भगवान्! न जाने माता कैसे सहन कर लेती है। यह स्वयं भी अत्यन्त कष्ट से निकलता है, कोई-कोई मातायें तो प्रसव वेदना से ही मर जाती है। कोई बच्चा पेट मे ही मर जाता है, कोई किसी प्रकार निकलता ही नही। माता का पेट काटकर निकालना पड़ता है। पैदा होते ही रोने लगता है, धाइ कण्ठ में उँगली डाल देती है, नाक में सलाका डालकर छींक लिवाती है। कोई नया अतिथि आवे और आते ही छींका हो, रोने लगे तो छींकना रुदन दोनों ही अशुभ है। जब पैदा होते ही असकुन हो गया तो फिर जीवन में सुख कैसे मिल सकेगा। जीवन भर कष्ट ही कष्ट सहना पड़ेगा। पैदा होते ही रोग आने लगते हैं, अब के कोई ग्रह पीड़ा पहुँचा रही है, अब के माता निकल आयी, खाँसी हो गयी, अजीर्ण हो गया। बोल तो सकता नहीं। उसे लग रही है भूख, रोता है दूध के लिये, माता उसे कड़वी घुट्टी पिला देती है। मच्छर काट रहे हैं, कह सकता नहीं। माता समझती है बच्चा

भूखा है, दूध पिला देती है। शरीर में खुजली उठी है स्वयं खुजला नहीं सकता। माता उसे वस्त्र से ढक देती है। शैया पर ही मलमूत्र त्याग देता है। मलमूत्र में लिहसरा रहता है, माता को भी कष्ट देता है, स्वयं भी कष्ट पाता है। किसी प्रकार सेड़ शीतला भूत प्रेत पिशाच पूज पाजकर चार पांच वर्ष का हुआ तो, पढ़ने का दु.ख। अध्यापक याद न होने पर ताड़ना देता है, वहाँ से भाग कर घर आता है, घर पर माता पिता ताड़ना देते हैं। सोचता है यह पढ़ना बडा कष्टप्रद है। मर जाऊँगा पढ़ूंगा नहीं। मरने का प्रयत्न करता है, किन्तु मरा नहीं जाता। किसी प्रकार राम राम करके १६, १७ वर्ष में कुछ पढ़ जाता है, अब विवाह करने की इच्छा होती है। यह दूसरी लड़की से विवाह करना चाहता है। माता पिता दूसरे स्थान पर पक्की करते हैं। इस खीचातानी में सम्पूर्ण समय चिन्ता में दुख में ही बीतता है। लड़की काली हुई कुरूपा हुई तो भी दुःख। सुन्दरी हुई स्वरूपवती हुई तो बुरे लोगों से लड़ाई करनी पड़ती है जैसे तैसे रो गाकर विवाह हुआ। विवाह क्या हुआ आपत्तियो का पहाड़ अपने सिर लाद लिया। कुछ दिन नये विवाह का चाव रहता है, फिर खटपट लड़ाई झगडा जो आरम्भ हुआ, वह मरने पर ही समाप्त होता है। विवाह एक ऐसा मोहक फन है कि जो खाता है वह पछताता है जो नहीं खाता है, वह भी पछताता है।

एक गृहत्यागी परमहंस महात्मा थे। एकान्त रहकर भगवान् का भजन करते थे। दिन में एक बार १०।५ घरों से जाकर मधूकरी माँग लाते थे। नदी तट पर जाकर भिक्षा करली। अंजलि से पानी पी लिया। न ऊधो का लेना न माधव का देना। आनन्द से भजन करते हुए समय बिता रहे थे।

एक दिन वे भिक्षा करने गये। गाँव में बड़ा धूम धड़ाका हो

रहा था। बहुत से बाजे बज रहे हैं, स्त्रियाँ ढोलक पर गा गाकर नाच रही हैं, बहुत से लोग भोजन कर रहे हैं, कुछ आ रहे हैं कुछ जा रहे हैं। महात्मा ने पूछा—"भाई, आज यहाँ क्या है? किस बात की धूम-धाम है?"

लोगों ने बताया—"महाराज! विवाह है, उसी की प्रसन्नता में यह सब कुछ हो रहा है।"

महात्मा का कभी विवाह नहीं हुआ था बालकपन से ही साधु बन गये थे। उनकी इच्छा हुई, "देखें तो सही विवाह में क्या होता है। अच्छी वस्तु हुई तो हम भी कर लेंगे।"

उन्होंने पूछा—विवाह में क्या होता है?

लोगों ने बताया—दूल्हा मोहर बाँधकर बारात सजाकर दुलहिन के घर जाता है फिर उनका विवाह हो जाता है।

महात्मा ने पूछा—"विवाह दुलहा का होता है या दुलहिन का?"

लोगों ने बताया दोनों का ही साथ होता है। विवाह हो जाने पर दोनों साथ ही रहते हैं साथ ही खाते-पीते सोते-बैठते हैं। दोनों सुख-दुख में साझीदार होते हैं।

महात्मा ने पूछा—बारात कब जायगी, कहाँ जायगी? कब विवाह होगा?

लोगों ने कहा—"अभी बारात निकल रही है। समीप के ही गाँव में जायगी। आज आधी रात में विवाह होगा।"

महात्मा ने सोचा चलो बारात में चलकर देखें तो सही कैसे विवाह होता है, यह सोचकर वे बारात के साथ-साथ चल दिये। बारात को कन्यापक्ष वालों ने अगवानी की, मीठा शरबत पिलाया, द्वार की पूजा हुई, फिर रात्रि में भाँवर पड़ी। महात्मा सब बड़े ध्यान से देखते रहे। स्त्री पुरुषों में विवाह के समय बड़ा

उत्साह था। जब भाँवर पड़ गयीं। दुलहा दुलहिन सुंदर वस्त्र-भूषणों से सुसज्जित भीतर चले गये, तो महात्माजी भी लौट आये। आज दिन भर कुछ खाया भी नहीं था, इतनी दूर पैदल आये, विवाह की भीड़-भाड़ में किसी ने उनको भोजन के लिये नहीं पूछा। समीप ही एक कूआ था। उस कूए के चबूतरे पर आकर पड़ गये। पड़ते ही निद्रा आ गयी। दिन भर जो देखा था उसके संस्कार मन में थे। स्वप्न में उन्होंने देखा उनका भी विवाह हो रहा है, बारात चढ़ गयी, विवाह हो गया। बहू आ गयी। वे बहू के पास सो रहे थे। बहू ने कहा तनिक आगे सरक जाओ। सोते ही सोते वे आगे सरके तो धड़ाम से कूए में गिर पड़े। सब लोग जाग ही रहे थे, धड़ाम का शब्द सुनकर लोग कूए के पास एकत्रित हो गये। कोई भीतर घुसा, जैसे-तैसे उन्हें बाहर निकाला लोगों ने पूछा—महात्माजी! क्या हुआ चोट लगने से महात्मा का सिर फट गया था सम्पूर्ण शरीर रक्त से सन गया था। जब कुछ चेत आया, तब फिर लोगों ने पूछा—"महात्माजी क्या हुआ?"

महात्माजी ने दोनों कान पकड़कर कहा—भैया, हुआ क्या? मैं केवल विवाह देखने को आया था। जब विवाह देखने मात्र से यह दुर्दशा है, तब जो विवाह करते होंगे उनकी न जानें क्या दुर्दशा होती होगी। मैं तो किसी तरह से आप लोगों की कृपा से कूए से बाहर निकल भी आया, किन्तु जो विवाह कर लेते होंगे, वे तो सदा के लिये दुःखालय रूप इस अन्धकूप में सदा के लिये गिर जाते होंगे।

यथार्थ में गृहस्थाश्रम चिन्ता का समुद्र ही है। आज नमक नहीं, आज आटा नहीं, आज तेल नहीं, लकड़ी नहीं। स्त्री पृथक् दुखी होकर कहती है—कैसे से मेरा पाला पड़ गया है। काजर नहीं, बेंदी नहीं, तेल नहीं, अङ्गराग नहीं। मेरी साड़ी मैली हो

गयी है, लँहगा फट गया है, जूड़ा नहीं कङ्घी नहीं। जूता लाओ, चूड़ी लाओ, बस जब देखो तब लाओ ही लाओ। लड़की लड़के हो गये, तो बात-बात पर रोने लगते हैं. हम पर यह नहीं वह नहीं हम पढ़ने न जायँगे, घर से भाग जायँगे रोटी न खायँगे। एक विपत्ति हो तो गिनावें। गृहस्थी में नित नई विपत्ति। एक का कुछ प्रबन्ध किया, दश चिन्तायें और सिर पर चढ़ गयीं।

लड़की विवाह योग्य हो गयी है, उसको वर ढूँढ़ो। घर वर अच्छा हो। जाते हैं जहाँ घर अच्छा है वर अच्छा नहीं वर अच्छा है. घर अच्छा नहीं। दोनों अच्छे हैं तो दहेज बहुत माँगते हैं। लडका पढ़ता ही नहीं, पढ़ गया तो नौकरी नहीं मिलती, नौकरी मिल गयी तो विवाह की चिन्ता। लड़का कुछ और चाहता है, माता पिता कुछ और। बहू आते ही माता पिता से अलग हो जाती है।

घर का बैल बीमार है, घोडी बूढ़ी हो गयी है, कोई वाहन नहीं, गाड़ी टूट गयी है, गगरी फूट गयी है, बहू रूठ गयी है। नौकरानी धान कूट नहीं गयी है। कल से बकरी छूट गयी है। खेत की मकई लुट गयी है। एक बात हो, एक चिन्ता हो तो उसे गिनावो आज अमुक सम्बन्धी मर गया है, उसके क्रिया कर्म में जाओ। आज अमुक बच्चा बीमार है। युवा पुत्र मर गया है। पारसाल जिस कन्या का विवाह किया था वह विधवा हो गयी है। स्त्री को राजक्ष्मा हो गया है। बहू के पेट में फोड़ा है। घर में अन्न खाने को थोड़ा है। जिधर देखो, उधर चिन्ता जहाँ देखो वहाँ कष्ट, जिसमें हाथ डालो वहीं दुख। ऐसे दुःखमय संसार में सुख कहाँ, शान्ति कहाँ इसीलिये मनीषी लोग पुनर्जन्म नहीं चाहते इस संसार में बार-बार जन्मना मरना नहीं चाहते। यदि आप विषयों का सेवन करोगे तो न चाहने पर भी यह संसार ही पुनः पुनः प्राप्त

होगा, यदि आप भगवान् को चाहते हो तो भगवान् मिल जायेंगे। जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा सर्वदा के लिये छुट जाओगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह पूछा कि आपके जो अनन्य भक्त हैं, उनका पुनर्जन्म होता है या नहीं।" इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! तुम्हें मैं पहिले कई बार बता चुका। अन्त में जिसकी जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है। तुम सोचो तो सही मैं नित्य शुद्ध मुक्त हूँ। ऐसे मुझ शुद्ध-बुद्ध मुक्त परम पुरुष को प्राप्त होकर फिर मेरे अनन्य भक्त महात्मा पुरुष इस दुःख रूप संसार में क्यों आवेंगे?"

अर्जुन ने पूछा—तब उनकी कौन-सी गति होगी?

भगवान् ने कहा—"उनकी जैसी भावना होगी, वैसा ही पद उन्हें प्राप्त होगा। वे इस अनित्य नाशवान् जगत में फिर जन्म न लेकर संसार चक्र से सदा के लिये विमुक्त बन जायेंगे और मुझे ही प्राप्त हो जायेंगे।"

अर्जुन ने पूछा—उन अनन्य भक्त महात्माओं को किस लोक की प्राप्ति होगी?

भगवान् ने कहा—पहिले तुम लोकों की ही बात समझ लो। नीचे के सात लोक ऊपर के सात लोक तथा पृथ्वी के सात द्वीप ९ वर्षों में से भारतवर्ष को छोड़कर सब भोगलोक हैं। इन लोकों में प्राणी कर्म नहीं करते भोगों को भोगने के लिये जाते हैं। कर्म करने की भूमि तो केवल भारतवर्ष ही है। साधारणतया ऊपर के लोक पुण्यलोक हैं, उनमें पुण्यात्मा पुरुष पुण्य भोगने जाते हैं। दक्षिण दिशा में नरकलोक हैं। पापी लोग वहाँ पापों का फल भोगने जाते हैं। जो गृहस्थ धर्मावलम्बी पुण्यात्मा पुरुष हैं, वे स्वर्गलोक तक ही जाते हैं। सकाम कर्मों का फल स्वर्गलोक तक ही है। जो निष्काम कर्मावलम्बी ब्रह्मार्पण भाव से फल की इच्छा न रखकर

कर्तव्य कर्म करने वाले भगवत्भक्त या ज्ञानी हैं। उनकी साधना अपूर्ण होने पर यदि वे महर्लोक, जनलोक, तपलोक या सत्यलोक में चले जाते हैं, तो फिर उनका पृथ्वी पर जन्म नहीं होता। उनकी साधना को ब्रह्माजी इन दिव्यलोकों में पूरी करते हुए कल्पान्त में उन्हें विमुक्त बना देते हैं।

कुछ ऐसे उत्कृष्ट कर्म हैं जैसे यज्ञ, दान, तपस्या जिन्हें सकाम भाव से भी करे तो स्वर्ग को अतिक्रमण करके ब्रह्मलोक तक पहुँचा सकते हैं। महाराज वाहु दान के प्रभाव से ब्रह्मलोक में पहुँच गये थे। किन्तु सकाम कर्मों के प्रभाव से भले ही ब्रह्मलोक तक ही क्यों न पहुँच जायँ उन लोकों के सुखों का उपभोग करके पुण्यक्षीण होने पर फिर भूलोक में जन्म लेना ही पड़ेगा। सकाम सत्कर्मों द्वारा प्राप्त ये ब्रह्मलोक पर्यन्त लोक पुनरावर्ती है। इन लोकों में जाकर भी फिर चाहें जितने दिन में सही, लौटना अवश्य पड़ेगा, किन्तु हे कुन्तीनन्दन! हे महावाहु अर्जुन! जिसने मुझे प्राप्त कर लिया है उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह जन्म मरण के चक्कर से सदा के लिये विमुक्त बन जाता है।

अर्जुन ने पूछा—ब्रह्मलोक तो सर्वोत्कृष्ट लोक है, वहाँ जाकर प्राणी क्यों लौट आता है।

भगवान् ने कहा—चाहें ब्रह्माजी का ही लोक सही है तो वह काल से परिच्छिन्न ही। उसकी भी कुछ अवधि है। ब्रह्माजी की भी कुछ नियत आयु है। उनके भी दिवसों तथा रात्रियों की संख्या है। ब्रह्माजी के वर्ष दिव्य वर्ष कहलाते है। उनके दिनों से उनका वर्ष भी ३६० दिन रात्रि का होता है।

अर्जुन ने पूछा—ब्रह्माजी का दिन कितना बड़ा होता है तथा उनकी रात्रि कितनी बड़ी होती है?

सूतजी कहते है—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान्ने

जो ब्रह्माजी के दिनमान का काल बताया उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

ब्रह्मलोक परिअन्त लोक पुनरावर्ती सब।
कछु जावैं करि ज्ञान कछुक अति करम करैं तब॥
ज्ञानी ब्रह्मा संग ब्रह्म में लीन होत हैं।
शुभ करमनि करि पाइँ फेरि तिनि जनम होत हैं॥
अरजुन! ये सब कालकृत, पुनरजनम छुटवत नहीं।
मोइ पाइ फिरि जगत में, मरत नहीं आवत नहीं॥

ब्रह्माजी की रात्रि तथा दिन का परिमाण

[६]

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

हमरो जो है बरष देवतनि दिन वह जानों ।
ऐसे दिन तैं साठि तीन सौ बरसहु मानों ॥
ऐसे बारह सहस बरष की चतुरयुगी है ।
चतुरयुगी जो सहस रात उतनी हु कही है ॥
ब्रह्मा जीवैं बरस शत, दिव्य आयु उनकी कही ।
जो जानें जा मरम कूँ, काल तत्त्ववेत्ता वही ॥

---

* एक सहस्र चौकड़ी वाला ब्रह्मा का एक दिन होता है, और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है । जो इसे तत्त्व से जानते हैं वे ही वास्तव में दिनरात्रि को जानने वाले हैं ॥१७॥

अव्यक्त ब्रह्मा से सम्पूर्ण व्यक्ति उनके दिन होने पर उत्पन्न होते हैं, उनकी रात्रि आने पर उन्हीं अव्यक्त संज्ञा वाले ब्रह्माजी में लय हो जाते हैं ॥१८॥

किसी को दिखायी न देने वाले भगवान् काल रूप में क्रीड़ा कर रहे हैं। भगवान् ने जब अर्जुन को अपने विराट् रूप के दर्शन कराये, तब अर्जुन भयभीत होकर पूछने लगे—भगवन्! आप कौन हैं?

भगवान् ने कहा—मैं काल हूँ।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! यहाँ क्यों आये हैं?

भगवान् ने कहा—"मैं समस्त लोक का क्षय करने के लिये यहाँ आया हूँ।"

भगवान् के अनेक रूप हैं, उनमें उन विष्णु का एक काल रूप भी है। उन सर्वश्रेष्ठ भगवान् परब्रह्म का प्रभाव अत्यन्त ही अद्भुत है। जगत के जितने भी चर अचर पदार्थ हैं, इन पदार्थों में जो भाँति-भाँति की विचित्रता है, भाँति-भाँति के जो रूप दृष्टिगोचर होते हैं, इन नाना विचित्रताओं का जो हेतुभूत स्वरूप विशेष है उसी का नाम काल है। जब तक काल की सत्ता न हो, तब तक प्रकृति पुरुष कुछ कर ही नहीं सकते। ये दोनों काल भगवान् के ही रूप हैं। जब ये जगत रूप कर्म में प्रवृत्त होते हैं तब प्रकृति पुरुष काल रूप हो जाते हैं। जब सृष्टि से भिन्न अवस्था में होते है तो काल पृथक् से प्रतीत होते हैं। जितने प्रकार के कर्म हैं, इन कर्मों का मूल अदृष्ट भी काल ही है। काल बड़ा भयावह है। ब्रह्मादिदेव भी इससे सदा भयभीत रहते हैं। यह बड़ी कठोर प्रकृति वाला है, गिनने वालों में यह सर्वश्रेष्ठ गिनने वाला है। इसकी गणना में कभी भी किंचित् मात्र भी त्रुटि नही पड़ती। यह सर्वगत है, सबमें व्याप्त है; सबका आश्रय होकर सभी प्राणियों में अनुप्रविष्ट रहता है। यही सबका संहार भी करता है। यही ब्रह्मादि देवों का नियामक है जैसे किसान बैलों की नाक में रस्सी डालकर उन्हें अपनी इच्छानुसार घुमाता रहता है इसी

प्रकार ये कालरूप भगवान् ब्रह्मादि के समस्त देवों को अपनी इच्छानुसार घुमाते रहते हैं। इनकी आज्ञा का कोई उल्लङ्घन करने में समर्थ नहीं। ये सभी शासकों के सर्वश्रेष्ठ शासक हैं। ये ही यज्ञादि कर्मों के फल के दाता हैं। ये समदर्शी हैं, किसी से लगाव-लपेट नहीं। किसी के साथ पक्षपात नहीं। इनका न कोई शत्रु है न मित्र, न सगा है न सम्बन्धी। इनकी दृष्टि में सभी समान हैं। इनमें एक बड़ी भारी विशेषता है, ये कभी सोते नहीं सदा सर्वदा जागते रहते हैं। सबका ठीक-ठीक हिसाब रखते हैं। ये सभी प्राणियों पर आक्रमण करते हैं। जो भी जन्मा है, उसी का ये संहार कर देते हैं, किसी का भी शील संकोच नहीं करते। हाँ जो संसारी विषय भोगों से सर्वदा विरक्त होकर निरन्तर भगवान् का ही चिन्तन करते रहते हैं, उन लोगों को इनसे कुछ भी भय नहीं होता। शेष सब प्राणी तो इन्हीं काल भगवान् के भय से भयभीत हुए अपने-अपने कार्यों में संलग्न बने रहते हैं। इनमें ही कल्प, युग, वर्ष, महीना, पक्ष, दिन तथा रात्रि आदि की कल्पना होती है। स्वयं तो ये अनन्त हैं। इनका कभी अन्त नहीं होता फिर भी ये अन्तक कहलाते हैं। सबका अंत ये ही काल भगवान् करते हैं। अंतक जो यमराज हैं उनका भी ये अंत कर देते हैं। एक ब्रह्मा के पश्चात् दूसरे ब्रह्मा को भी ये ही बदल देते हैं। जगत् के रचयिता भी ये ही हैं, ये ही जनक के द्वारा सुतों की उत्पत्ति कराते हैं। प्रकृति के जो २४ तत्त्व हैं, उन समस्त तत्त्वों का नियामककाल ही है। वास्तव में प्रकृति के इन गुणों में जो गति उत्पन्न होती है वह काल के ही द्वारा होती है। ये काल भगवान् प्राणियों के भीतर तो जीव रूप से रहते हैं और बाहर मृत्यु रूप से रहते हैं। सब कुछ खेलमाल इन काल देवता का ही है।

कुछ लोग इन्हीं काल भगवान् को परमाणु पीठर या पीलु भी कहते हैं। परमाणु उसका नाम है जिसके किसी भी प्रकार मे विभाग न हो सकें जैसे पृथ्वी आदि कार्य वर्ग हैं, उनका जो सूक्ष्म से सूक्ष्म सूक्ष्मतम अंश है और वह किसी भी कार्य रूप में प्राप्त नहीं हुआ है और जिसका अन्य परमाणुओं से संयोग भी नहीं हुआ है, यही काल की सूक्ष्मावस्था है। वह जब स्थूलता का रूप धारण करता है, तब सृष्टि रचना में कारण होता है। वही परमाणु जब स्थूल रूप धारण करता है तो उसे स्थूल परमाणु कहलो। अब उसकी स्थूलता कैसे बढ़ती है इसी को बताते हैं।

दो परमाणु जब मिल जायंगे, तब उनकी "अणु" संज्ञा हो जायगी। अणु तथा परमाणु किसी भी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होते। तीन अणु मिलने पर "त्रसरेणु" कहलाता है। हाँ, यह त्रसरेणु दृष्टिगोचर होने लगता है। किसी छोटे से झरोखे से सूर्य की किरण आती है, उसके प्रकाश में जो बहुत छोटे-छोटे प्रकाश बिन्दु से छोटे-छोटे कण उड़ते से दीखते हैं वही त्रिसरेणु हैं। ऐसे तीन त्रसरेणुओं को पार करने में सूर्य को जितना काल लगता है, उस काल का नाम त्रुटि है। वास्तव में काल की गणना 'त्रुटि' से ही आरम्भ होती है। सौ त्रुटियों का एक 'वेध' होता है। तीन वेध का एक 'लव' होता है और तीन लव का एक 'निमेष' कहलाता है। पलक भांजने में जितना समय लगता है, उसी का नाम निमेष है। तीन निमेष का एक 'क्षण' होता है। पांच क्षण की एक 'काष्ठा' होती है। पन्द्रह काष्ठा की एक 'लघु' होती है। १५ लघु की एक नाड़िका (दण्ड) कहलाती है। दो नाड़िका का एक "मुहूर्त" कहलाता है। ६ या ७ नाड़िका का एक 'प्रहर' कहलाता है। इसे याम भी कहते हैं। चार प्रहर का दिन और चार

प्रहर की रात्रि अर्थात् एकदिन रात्रि में ८ प्रहर या ६४ घटिके होते हैं।

प्राचीन काल में समय को नापने के लिये यन्त्र नहीं थे। छाया से या जल से समय को नापते थे। जल से नापने की विधि यह थी, कि एक मिट्टी की नाद में पानी भर के रख देते थे। उसमें एक छोटा-सा छिद्र करके कटोरी डाल देते थे। जितनी देर में वह कटोरी जल में डूब जाय उस समय को एक नाड़िका मानते थे। उस कटोरी का और उसके छिद्र का भी एक प्रमाण होता था। जैसे वह कटोरी ६ पल तांबे की बनी हुई हो वह इतनी चौड़ी बनी हो जिसमें एक प्रस्थ (या पस) जल समा जाय। चार मासे को चार अंगुल लम्बी पैनी सलाका बनाकर उस पात्र के बीचोंबीच छिद्र कर दे। उस छिद्र युक्त पात्र को पानी से भरी नाद में डाल दो। उस छोटे से छिद्र से शनैः शनैः जल आ आ कर वह कटोरी भर जायगी, पानी में डूब जायगी। समझो एक दण्ड या नाडिका हो गयी। दो नाडिका का एक मुहूर्त होता है। आठ प्रहर का एक दिन रात्रि पन्द्रह दिन रात्रि का एक 'पक्ष'। दो पक्ष का एक 'मास' दो मास की एक 'ऋतु'। छै मास का एक 'अयन' जो दक्षिणायन और उत्तरायण दो होते हैं। दोनों अयन मिलकर एक मनुष्यों का एक 'वर्ष' कहलाता है। इस प्रकार १२ महीनों का मानववर्ष है। साधारणया मनुष्यों की परमायुकलि में १०० वर्ष की मानी गयी है। यह तो मनुष्यों की काल गणना हुई।

अब मानवलोक से ऊपर के जो लोक है उनकी काल गणना दूसरे प्रकार से है। मनुष्यों के जो ६-६ महीने के उत्तरायण और दक्षिणायन दो अयन हैं। वे पितरों के दिन रात्रि के समान है। अर्थात् हमारे ६ महीने और पितरों का एक दिन बराबर है।

हमारा एक वर्ष देवताओं के एक दिन के बराबर होता है। ऐसे देवताओं के दिनों से ३६० दिन का उनका एक वर्ष होता है। अर्थात् हमारे ३६० वर्ष देवताओं का एक वर्ष। देवताओं के वर्ष को दिव्य वर्ष कहते हैं। देवताओं के वर्षों से ४ हजार दिव्य वर्षों का सत्ययुग होता है। ३ सहस्र दिव्य वर्षों का त्रेता, दो सहस्र दिव्य वर्षों का द्वापर और एक सहस्र दिव्य वर्षों का कलियुग होता है। किन्तु एक युग के बीतने पर दूसरा युग तुरन्त ही नहीं आ जाता है उन दोनों के बीच के समय को सन्धि, सन्ध्यांश काल कहते है। मान लो कलियुग समाप्त हो गया तो सौ दिव्य वर्षों तक उसको सन्धि का अंश और चलेगा तब सत्ययुग लगेगा। तब भी शुद्ध सत्ययुग न लगेगा। ४०० दिव्य वर्षों तक सन्धिकाल चलेगा। तब शुद्ध सत्ययुग आवेगा। जितने सहस्र वर्ष का जो युग होता है, उतने सौ वर्षों का उनका सन्धिकाल और उतने ही काल का सन्ध्यांश काल उसमें और जोड़ना पड़ता है। जैसे सत्ययुग ४ सहस्र दिव्य वर्षों का है तो ४ सौ दिव्य वर्ष सन्धि के और ४ सौ दिव्य वर्ष सन्ध्यांश के उसमें और जोड़ने पड़ेंगे। इस प्रकार सत्ययुग चार सहस्र ८ सौ दिव्य वर्षों का (हमारे वर्षों से १७२८००० वर्षों का) हुआ। त्रेतायुग सन्धि सन्ध्यांस जोड़कर ३६०० दिव्य वर्षों का (हमारे वर्षों से १२९६००० वर्षों का) हुआ। द्वापर युग २४०० दिव्य वर्षों का (हमारे वर्षों से ८६४००० वर्षों का) हुआ और कलियुग १२०० वर्षों का (हमारे वर्षों से ४३२००० वर्षों का) हुआ। चारों युग मिलाकर दिव्य वर्षों से १२ हजार वर्षों के हुए (हमारे वर्षों से चारों युग ४३२०००० वर्षों के हुए) इन चारों युगो को एक चौकड़ी कहते हैं। ऐसी चौकड़ियाँ जब एक सहस्र बार बीत जायँ तो वह ब्रह्माजी का एक दिन होता है। इतनी ही बड़ी उनकी

रात्रि होती है। दिन बीतने पर जब रात्रि आने का काल होता है, तो ब्रह्माजी इस त्रिलोकी के चराचर जीवों को अपने में समेटकर सो जाते हैं। जब दिन होने का समय होता है, तो जैसे व्यापारी अपने दुकान के भीतर रखे हुए सामान का प्रातः होते ही बाहर पसार देता है उसी प्रकार ब्रह्माजी भी इस त्रिलोकी के पसारे को फिर से पसार कर बैठ जाते हैं। रात्रि का समय होने पर फिर अपने में लीन करके सो जाते हैं। ऐसे दिन रात्रि जब ३६० बार व्यतीत हो जाते है, तो ब्रह्माजी का एक वर्ष होता है। ऐसे अपने वर्षों से एक ब्रह्मा १०० वर्ष तक रहते है। ब्रह्माजी के सौ वर्षों के पश्चात् महाप्रलय होती है। उनके कल्प अर्थात् दिन में तो भू, भुव और स्व ये तीन ही लोक नष्ट होते थे। महाप्रलय में ब्रह्म-लोक पर्यन्त सातों लोक नष्ट हो जाते हैं। इसके अनन्तर दूसरे ब्रह्मा आते हैं, वे फिर से नयी सृष्टि करते हैं। यह क्रम कब से चल रहा है, कब तक चलता रहेगा, इसे कोई कह नहीं सकता। अनादि काल से चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा बस, इतना ही कहा जा सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने ब्रह्माजी के दिन का और उनकी रात्रि के समय के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब भगवान् ने कहा—अर्जुन! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये चारों युग जब सहस्र बार बीत जाते हैं, तब ब्रह्माजी का एक दिन होता।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! ब्रह्माजी का दिन तो बहुत बड़ा होता है। उनकी रात्रि कितनी बड़ी होती होगी?

भगवान् ने कहा—"बड़ापन छोटापन अवस्थानुसार होता है। तुम्हें ब्रह्माजी का दिन बहुत बड़ा लगता है। ऐसे भी बहुत से जीव

हैं, जिनके मनुष्यों के एक दिन में सैकड़ों जन्म हो जाते हैं। सहस्रों बार मर जाते हैं, पैदा हो जाते हैं। उन्हें मनुष्यों का दिन बहुत बडा लगता होगा। ब्रह्माजी सबसे बड़े हैं इसलिये उनका दिन भी सबसे बड़ा है। जितना बडा उनका दिन होता है, उतनी बड़ी उनकी रात्रि भी होती है।"

अर्जुन ने कहा—महाराज ! बड़ा अद्भुत व्यापार है। ब्रह्माजी इतने दिनों में घबड़ा नहीं जाते होंगे। इतने समय सोते-सोते ऊब नही जाते होंगे ?

भगवान् ने कहा—यही तो मनुष्य की अल्पज्ञता है। वास्तव में गूलर का कीड़ा गूलर के भीतर के आकाश को ही विश्व ब्रह्माड माने बैठा है। कुए में रहने वाला मेढ़क कुए के जल को ही संसार भर का जल मानता है। यदि गूलर का कीड़ा, कुए का मेढ़क बाहर आकर देखे तो उसे उन्हें पता चलेगा, कितना भारी आकाश है, कितना विस्तृत समुद्र है। जो अपनी क्षुद्र परिधि में ही रहते हैं, उनकी दृष्टि संकुचित हो जाती है। वे विस्तृत विचार नही कर सकते। मनुष्यों ने ८ प्रहर चौंसठ घड़ी की क्षुद्र सीमा को ही दिन रात्रि मान लिया है, इसलिये वे वास्तविक दिन रात्रि का परिणाम जानने में असमर्थ हैं। जिन्होंने मेरी कृपा से अपनी दृष्टि को विस्तृत बना लिया है वस्तुतः वे लोग ही दिन तथा रात्रि के परिणाम को जानने वाले हैं।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! यह ब्रह्माजी के दिन रात्रि का क्रम कब तक चलता रहता है ?

भगवान् ने कहा—यह प्रश्न बार-बार मत करो। अव्यक्त प्रजापति जो ब्रह्मा हैं। उनका दिन होने पर ये सब चराचर जीव व्यक्त हो जाते है। उनके जागने पर सब प्रसुप्त जीव जाग जाते हैं पूर्व कर्मानुसार शरीर एवं विषय रूप जो समस्त भोग

भूमियाँ हैं वे प्रकट हो जाती हैं सब अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न व्यापारों में लग जाते हैं। जब उनकी रात्रि आ जाती है, ब्रह्माजी की सुषुप्ति रूपा निशा हो जाती है तो सबके सब उन्हीं अव्यक्त रूप प्रजापति में लीन हो जाते हैं। यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। निर्बाध रूप से सृष्टि का क्रम ऐसे ही चला आ रहा है, ऐसे ही चलता रहेगा।

अर्जुन ने पूछा—ये जीव क्या स्वेच्छा से जन्मते मरते हैं? जब ब्रह्माजी भी अपनी आयु के दिन पूरा करके चले जाते हैं, तो उस समय कोई बचता भी है क्या?

सूतजी कहते हैं—मुनियो। इसका उत्तर जो भगवान् देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

दिन भरि करिकें काम राति में ब्रह्मा सोवैं।
सकल चराचर जगत लीन तिनि तन में होवैं॥
पुनि जब होवै दिवस तुरत ब्रह्मा जी जागैं।
है जावैं सब जीव काम अपने में लागैं॥
होहिं व्यक्त अव्यक्त तैं, दिन में सब है जात हैं।
ब्रह्म-राति आवै जबहिं, तब उनिमें सो जात हैं॥

सब नष्ट होने पर भी सनातन ब्रह्मलोक नष्ट नहीं होता

[१०]

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

एक नहीं ये सकल जीव ऐसे ही होवैं।
दिन में भोगैं भोग राति में सुखतैं सोवैं ॥
सकल भूत समुदाय जगै फिरि पुनि-पुनि होवै।
दिन में करमनि करै राति में पुनि-पुनि सोवै ॥
कबतैं यह चक्कर चल्यो, कब तक जानैं चलैगो।
मेरी जब होवै कृपा, तब यह चक्कर छुटैगो ॥

---

* हे पार्थ ! ये समस्त प्राणी अवश होकर दिन मे बार-बार उत्पन्न हो-होकर रात्रि आने पर ब्रह्माजी के शरीर मे लय हो जाते हैं, दिन आने पर फिर प्रकट हो जाते हैं ॥१९॥

किन्तु उस अव्यक्त ब्रह्मा से भी परे एक अन्य जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह सब प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है ॥२०॥

ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त जितने व्यक्तित्व रखने वाले प्राणी हैं, वे सबके सब नश्वर हैं। मरणशील हैं। आद्यन्त वाले हैं। जब जीव प्राकृत पदार्थों में रमता है, तो वह उसी के सदृश हो जाता है। जो जिसका सेवन करता है, उसी के गुण वाला हो जाता है। सुरा पीने वाला सुरापी कहलाता है, मद्य में जो मादकता है वही मादकता मद्यपी में आ जाती है।

जब जीव प्राकृत पदार्थों का सेवन उपभोग करने लगता है, तो उनमें उसकी आसक्ति हो जाती है। यह आसक्ति ही बारम्बार जन्म और मरण कराती है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष ये पंच क्लेश कहलाते हैं, इन क्लेशों के ही कारण संसार में पुनः पुनः पैदा होना होता है जो पैदा हुआ है उसका नाश अवश्य होगा। जिसकी मृत्यु हुई है, उसका जन्म भी अवश्यम्भावी है। अतः माया, प्रकृति अथवा अविद्या के चक्कर में पड़ा प्राणी अवश होकर जन्मता मरता रहता है। यह बात नहीं है, कि ब्रह्माजी की रात्रि हो जाने पर-चराचर के प्रलय हो जाने पर-उसका नाश हो जाता हो। उसका नाश नही होता अदर्शन हो जाता है। जैसे थोड़े जल वाले तालाब मे मेढ़क रहते हैं। उस तालाब का जल वर्षात् के पश्चात् सूखने लगता है। फाल्गुन चैत्र में उसमें कीच ही कीच शेष रह जाती है। वैशाख ज्येष्ठ में कीच भी सूख जाती है। उसी कीच में मेढ़क भी सूख जाते हैं। देखने वाले समझते हैं मेढ़क मर गये। किन्तु जब आषाढ़ श्रावण में वर्षा होती है, तालाब में पानी भर जाता है सूखी कीच गीली हो जाती है, तो उसके भीतर दबे हुए मेढ़क फिर निकल-निकल कर टर्र-टर्र करने लगते हैं। कीच के सूखने पर वास्तव में वे मरे नहीं थे। कीच में वे सो गये थे। जल के अभाव में

प्रसुप्त से बनकर अदृश्य हो गये थे। जल रूपी जीवन को प्राप्त होकर पुनः पूर्ववत् कर्म करने लगे। कोई कुम्भकार है। दिन में मिट्टी लाकर उसने उसे भिगोया, उसके पिंड बनाये पिंडो को चाक पर चढ़ाया। १०-२० बर्तन बनाये भी तभी तक रात्रि हो गयी वह सम्पूर्ण सामग्री को बन्द करके सो गया। प्रातःकाल जागते ही जितनी मिट्टी चाक पर चढ़ी थी फिर उस अवशेष मिट्टी से पात्र बनाने लगता है। रात्रि के पश्चात् वह पुनः नई मिट्टी लेने नही जाता नये लौंदा नहीं बनाता। नया चाक नहीं लाता नया काटने वाला डोरा नही निर्माण करता। कल की छूटी समस्त सामग्री का ज्यों का त्योंही उपयोग करने लगता है। इसी प्रकार समस्त जीव जो-जो कार्य करते रहते हैं, ब्रह्मा जी की रात्रि आने पर अपने-अपने कार्यों को अधूरा छोड़कर-विवश होकर ब्रह्माजी के शरीर में लीन हो जाते हैं। जब दिन होने पर उठकर ब्रह्माजी जगत् प्रपञ्च कार्यों में लग जाते हैं, तो समस्त जीव अपने पूर्व कृत कर्मों के अनुसार, जहाँ से उन्होंने पहिले कल्प में कर्म छोड़ा था, वहीं से पुनः आरम्भ कर देते हैं। फिर संचित कर्मों में से प्रारब्ध कर्म लेकर जन्मते हैं, क्रियमाण कर्मों द्वारा संचित कर्मों की वृद्धि करते हैं, फिर प्रारब्ध को लेकर पैदा होते हैं, इस प्रकार संसार के भोगों को भोगते हुए भी सचित कर्मों की वृद्धि करते रहते हैं। तृण से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी नाशवान् हैं, मरणशील हैं आद्यन्तवन्त हैं। बस, एक ही सनातनभाव ऐसा है जो समस्त जीवों के नाश होने पर भी उसका नाश नही होता। उसे, नित्य, सनातन, अज, अमर, परात्पर, परमात्मा, ब्रह्म तथा भगवान् आदि नामों से पुकारते हैं। वास्तव में वह नाम तथा रूप से रहित है। उसी की शरण में जाने से प्राणी जन्म मरण के चक्कर से छूट

सकता है। इसके अतिरिक्त इस संसार चक्र से छूटने का अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने पूछा—जीव अवश होकर क्यो घूमता रहता है। ब्रह्माजी की आयु पूर्ण होने पर महाप्रलय के अनन्तर कोई बचता भी है, तो इनका उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! ये समस्त प्राणी–ये समस्त–भूतग्राम–विवश होकर प्रकट होते रहते हैं, नष्ट होते रहते है। रात्रि में दिखायी देता है, भूतों का ग्राम बसा है, उसमे भाँति-भाँति के प्रकाश दिखायी देते हैं। कुछ क्षण में वह भूतों का ग्राम लुप्त हो जाता है, कुछ भी दिखायी नहीं देता। फिर भूत क्रीड़ा करते, नृत्य करते दिखायी देते हैं। इसी प्रकार गन्धर्व नगर दिखायी देते हैं, फिर अदृश्य हो जाते हैं। यह संसार भी गंधर्व नगर के सदृश ही है। जहाँ प्रजापति ब्रह्माजी की रात्रि हुई नही, कि सबके सब जीव उनमें लीन हो जाते हैं। जहाँ उनका दिन हुआ कि फिर सबके सब उत्पन्न होकर विविध व्यापारों में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी का नाम संसार चक्र है। वैसे ब्रह्मा जी की रात्रि में जब प्रलयाग्नि की लपटें उठती हैं, तो उनमे भू, भुव और स्व ये तीन लोक ही नष्ट होते हैं। शेष लोक ज्यों के त्योंही बचे रह जाते हैं क्योंकि स्वर्ग के ऊपर के लोक अविनाशी लोक हैं। प्रलयकाल की अग्नि की लपटें स्वर्ग लोक तक को भस्म कर देती है। उसकी ऊष्मा लपटें महर्लोक तक पहुँच जाती हैं यद्यपि महर्लोक उन लपटों मे जलता नहीं, तथापि उसमें ऊष्मा व्याप्त हो जाती है उसकी ऊष्मा से घबराकर महर्लोक के निवासी लोग जनलोक में चले जाते हैं। ब्रह्माजी का दिन हो जाने पर वे जनलोक से उतरकर पुनः अपने महर्लोक में आ जाते हैं। जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक के जीवों पर इस

प्रलयाग्नि की लपटों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु जब एक ब्रह्मा अपनी आयु के १०० वर्ष पूरे कर लेते हैं, तब महा-प्रलय होती है। उस महाप्रलय में तो ब्रह्मलोक पर्यन्त जलकर भस्मसात् हो जाते हैं। इसीलिये यह बात बार-बार कही है, कि ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं। ब्रह्मलोक जाकर भी जीव पुनः संसार में लौट सकते है, किन्तु एक ऐसा स्थान है जिसे प्राप्त करके प्राणी पुनः संसार में नही लौटता। फिर न उसका जन्म होता है और न उसकी मृत्यु ही होती है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! वह अपुनारावृत्ति वाला ऐसा कौन-सा स्थान है?

भगवान् ने कहा—"वह मेरा धाम है।"

अर्जुन ने पूछा—"ब्रह्मलोक जब नष्ट हो जाता है, तब भी आपका धाम नष्ट नहीं होता क्या?"

भगवान् ने कहा—देखो, ब्रह्मा को हिरण्य गर्भ या अव्यक्त कहते हैं। उनके जितने भाव हैं-उनकी जितनी कृतियाँ हैं-वे सभी नाशवान् हैं, चाहें जितनों दिनों में भी हो, एक न एक दिन उन सबका नाशवान अवश्य हो जायगा, किन्तु उस अव्यक्त से भिन्न भी एक दूसरा भाव है। उसे सनातन अव्यक्त भाव कहते हैं। वह सनातन अव्यक्त इन्द्रियादि का अविषय है, वह इन्द्रियगोचर नही। वही एक ऐसा सनातन भाव है कि चाहें संसार के समस्त भूत नष्ट हो जायँ, ब्रह्माजी भी बदल जायँ, ब्रह्मलोक पर्यन्त सब नष्ट हो जायँ, किन्तु उस अविनाशी भाव का कभी भी नाश नही होता।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! आप के उस परमधाम का स्वरूप क्या है कृपा करके उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष बतावें और आपका वह परमधाम कैसे प्राप्त हो सकता है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

ब्रह्मा को जो सूक्ष्म देह अव्यक्त कहावै।
ग्वाई तैं जग होहि फेरि ग्वामें सो जावै॥
जो अव्यक्त महान परे ताहू तैं जो है।
वही सनातन भाव परम अव्यक्त कह्यो है॥
सकल भूत नसि जायँ परि, नाश न होवै जासु को।
परम दिव्य पर प्रकृति तैं, नाम अजन्मा तासु को॥

परमधाम और उसकी प्राप्ति का उपाय

[११]

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥*
(श्री भग० गी० ८ अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

क्षर होवै नहिँ तासु तबहिँ अक्षर कहलावै ।
होहि नहीं वह व्यक्त परम अव्यक्त कहावै ॥
परमागति तिहि कहें अन्तमें वह ही गति है ।
पावैं ताहि महान विमल जिनि अति ही मति है ॥
जाहि पाइ लौटत नहीं, जगतैं नहिँ कछु काम है ।
कहैं सनातन परागति, वही परम मम धाम है ॥

---

* जिसे अव्यक्त अक्षर ऐसा कहते हैं, उसी का नाम परमागति है। जिसे प्राप्त करके लौटते, नही, वही मेरा परमधाम है ॥२१॥

हे पार्थ ! वही परम पुरुष भक्ति से प्राप्त करने योग्य है, जिसके अन्तर्गत समस्त भूत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ॥२२॥

भगवान् सनातन हैं, उन भगवान् का धाम भी सनातन है और भगवान् एकमात्र अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। यही समस्त गीता का सार सिद्धान्त है। भगवान् ही काल स्वरूप हैं। यज्ञ भी उन्ही का रूप है। वे भगवान् ही माया के के आश्रय से काल, देश, क्रिया, कर्ता, उपकरण, कर्म, मन्त्र, द्रव्य, और फल इन रूपों में परिणित हो जाते हैं। भगवान् के अतिरिक्त जो किसी अन्य को कर्ता मान लेते हैं, भगवान् के अतिरिक्त जो किसी अन्य फल की आकांक्षा कर लेते है, भगवत् धाम के अतिरिक्त जो अन्य किसी स्थान को अपना प्राप्तव्य स्थान मान लेते हैं, समझो वे भगवान् की माया के चक्कर में फंस गये हैं। एकमात्र सनातन परब्रह्म परमात्मा ही भजनीय हैं। एक मात्र भगवत्धाम ही प्राप्तव्य स्थान है और वे अखिलात्मा अनादि निधन अच्युत अनन्य भक्ति ही द्वारा प्राप्त हो सकते हैं।

बहुत से लोग कहते हैं, ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई साधन ही नही और सब साधन तो परम्परागत हैं। मुक्ति का साक्षात् साधन तो ज्ञान ही है। बात तो सत्य ही है। यह मायिक पदार्थ अज्ञानकृत है। ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का नाश हो हो सकता है। अज्ञानी की मुक्ति संभव ही नही। मोक्ष का साक्षात् साधन ज्ञान ही है। किन्तु ज्ञानी भी दो प्रकार के दृष्टि-गोचर होते हैं। एक सरसज्ञानी दूसरे नीरस ज्ञानी। लड्डू दो प्रकार के होते हैं, एक तो भुने सत्तुओं में तनिक-सी गुड़ की चासनी मिलाकर उनके लड्डू बांध दिये। दूसरे उन्ही गेहुँओं की की सूजी बनाकर उसे घी में भूनकर बराबर का घी बूरा मेवा मिष्टान्न मिलाकर उसके लड्डू बना दिये। दूर से देखने में वे एक से ही प्रतीत होंगे। नाम भी दोनों का लड्डू ही है। आकृति भी दोनों की गोल-गोल ही है, किन्तु रस में-स्वाद में-अन्तर

है। फल में भी विशेष अन्तर नहीं। भूख लगने पर पेट भी दोनों से ही भर सकता है, किन्तु रसास्वादन में बहुत भारी भेद है। सूखे सत्तू के गुड़ की चासनी से घृत के बिना बने लड्डू सूखकर पत्थर हो जायँगे। उनके तोड़ने के लिये दो पत्थर खोजने पड़ेंगे। दाँतों से तोड़ोगे तो दाँत टूट जायँगे। निगलने में महान् कष्ट, बिना पानी की सहायता के निगले ही नहीं जा सकते। यदि खाने वाला बिना दाँत का बूढ़ा वेदान्ती हुआ, तब तो एक नई विपत्ति ही आ जायगी। वह तो उन पत्थर सदृश लड्डुओं को खा ही नहीं सकता उसे तोड़-तोड़कर चूर्ण बनाना पड़ेगा। उन्हें पानी में भिगोकर अवलेह के सदृश करना पड़ेगा तब कहीं खा नहीं सकेगा। चाट सकेगा। पेट तो भर ही जायगा।

अब दूसरे सूजी के बराबर घी बूरे से बने लड्डुओं की कथा सुन लीजिये। उनका नाम सुनते ही मुख में अपने आप पानी भर आयेगा, बाहर से पानी लाने की आवश्यकता नहीं। चाहे दाँतों वाला दान्ती भगत हो अथवा बिना दाँतों वाला वेदान्ती बूढ़ा हो। उन लड्डुओं के लिये दाँतों की आवश्यकता नहीं। पत्थर खोजने का प्रयोजन नहीं। फोड़ने में श्रम नहीं। वह तो कोमल ओठों से ही फूट जायगा। और फूटते ही अमृत का स्रोत मुख में भर देगा। उसमें जो स्वाद आता है, उसे सूखे सत्तू फाँकने वाले या मूली मिर्चा के साथ बल पूर्वक मुख में ठूँसने वाले क्या जानें।

इसलिये ज्ञान चाहे कितना भी निर्मल क्यों न हो, भले ही वह मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् साधन ही क्यों न हो यदि उस ज्ञान में भक्ति का सम्पुट नहीं दिया गया है। बराबर का घृत और बूरा नहीं मिलाया गया है, तो वह ज्ञान उतना अधिक शोभा

नहीं पाता। ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साधन अवश्य है, किन्तु सरस ज्ञान हो, भक्ति संयुक्त हो।

अब रही कर्म की बात। कुछ लोगों का कहना है, वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्म ही है। वेदों में कर्मकांड का ही विस्तार है, अतः कर्म से ही जनकादि राजर्षियों को सिद्धि प्राप्त हुई है, अतः मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन कर्म ही है।

हम इस बात को भी असत्य नहीं मानते कर्मों द्वारा ही संसिद्धि होती है, किन्तु कर्म भी दो प्रकार के हैं, एक सकाम दूसरे निष्काम। सकाम कर्म तो ऐसे हैं जैसे साधारण श्वान एक टुकड़े के लिये स्वामी के पीछे-पीछे पूंछ हिलाता हुआ दांत निपोरता हुआ घूमता है। वह बार-बार लेटकर उदर दिखाकर याचना करता है। तब कहीं स्वामी की ओर से उसे एक टुकड़ा मिलता है। इसके विपरीत राजा के यहाँ एक मदोन्मत्त स्वच्छ शुभ्र रंग का गजराज है। हस्तिप उसके लिये ५-५ सेर के रोट बना कर लाता है, उसके सम्मुख रखता है, वह रोटों को देखकर मुख फेर लेता है। हस्तिप उसकी अनुनय विनय करता है, बार-बार उससे खाने की प्रार्थना करता है। तब कहीं जाकर बहुत चिरौरी करने पर वह अनिच्छा पूर्वक उस इतने भारी आहार को खाता है।

भोजन दोनों को ही मिला। किन्तु श्वान को माँगने पर, स्वामी के सम्मुख दीन होकर याचना करने पर परिमित मिला। गजराज को बिना माँगे, बल पूर्वक आदर से देने पर अपरमित यथेष्ठ मिला। दोनों के स्वामी एक ही हैं। दोनों की बुभुक्षा भी एक सी है किन्तु सकामता और निष्कामता के कारण फल में विभिन्नता हो जाती है।

इसी प्रकार जो कर्म सकाम भाव से कितने भी विधि विधान

से ठाट बाट से किये जायँ, उनका फल सीमित ही क्षुद्र है। उनसे परम पुरुषार्थ की पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो कर्म निष्काम भाव से ब्रह्मार्पण बुद्धि से भगवत् सेवा भाव से किये गये हों वे कर्म मङ्गल स्वरूप, दुखों को दूर करने वाले भगवान् के धाम को पहुँचाने वाले होते हैं।

अब बहुत से लोग सकाम भाव से वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हैं, सकाम भाव से घोर तपस्या करते है, सकाम भाव से वेदों का अध्ययन करते हैं, सकाम भाव से यज्ञ यागादि करते हैं, तो ये कर्म तो निष्फल तो नहीं होते। कर्मों का फल तो अवश्य मिलेगा ही। उनसे संसार में यश होगा, संसारी वैभव बढ़ेगा। जब तक संसार में तुम्हारा नाम रहेगा, तब तक तुम्हें स्वर्ग में रहकर दिव्य भोग भोगने को मिलेगें। यही सकाम-वर्णाश्रम धर्म, तप, दान तथा यज्ञादि का फल है। किन्तु ये ही कर्म भगवत् अर्पण बुद्धि से, निष्काम भाव से-प्रभु प्रसन्नार्थ बुद्धि से किये जायँ। भगवान् के गुणानुवादों का भक्ति भाव से श्रवण किया जाय, उनके नामों का, उनके अलौकिक दिव्य कर्मों का, उनकी दिव्य लीलाओं का श्रवण, गायन, कीर्तन, मनन तथा अनुकरण किया जाय तो ये कर्म भगवान् श्री वासुदेव के चरणारविन्दों में अविचल स्मृति प्रदान करते हैं वह भगवान् के पाद पद्मों की परम पावन स्मृति समस्त सांसारिक पाप तापों का विनाश कर देती है। यह भक्ति साधन भी है और साध्य है। भगवत् नाम, गुण, लीला श्रवण कीर्तन रूपा भक्ति के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि भी हो जाती है और भगवान् की जो परम साध्यारूपा भक्ति है वह भी प्राप्त हो जाती है। इसी भक्ति द्वारा पर वैराग्य से युक्त भगवान् के स्वरूप का ज्ञान तथा

विज्ञान की भी प्राप्ति होती है। अतः एक मात्र अनन्य भक्ति द्वारा ही परम पूरुष प्रभु की प्राप्ति हो सकती हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन ने जब अव्यक्त अक्षर के परब्रह्म के परम धाम की, उन्हें प्राप्त करने के उपाय की जिज्ञासा की तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! समस्त भूतों के नष्ट होने पर भी जो नष्ट नहीं होता वही सर्वोत्कृष्ट अव्यक्त, अक्षर मेरा स्वरूप है। श्रुति स्मृतियों में उसी को परमागति के नाम से बार-बार कहा गया है। इस परमा गति को प्राप्त कर लेना ही जीव का परम पुरुषार्थ है। और समस्त स्थानों से तो जाकर लौटना पड़ता है, किन्तु इस परमागति को प्राप्त होकर फिर इस संसार चक्र में लौटना नहीं पड़ता।

अर्जुन ने कहा—"आपका परम धाम इससे कितनी दूर है ?"

भगवान् ने कहा—दूर का प्रश्न ही नहीं जिस गति को प्राप्त करके फिर लौटना नहीं पड़ता, वही तो मेरा परम धाम है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आपके इस परमधाम को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?"

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! मेरा यह परमधाम एक मात्र अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति के अतिरिक्त मेरे धाम की प्राप्ति का सरल सरस सुगम सुन्दर अन्य कोई साधन ही नहीं।

अर्जुन ने पूछा—"फिर इस दृश्य प्रपञ्च का क्या होगा ?"

भगवान् ने कहा—फिर वही बात, अरे भाई अनन्य भक्ति का अर्थ ही यह कि मेरे अतिरिक्त तुम अन्य किसी के सम्बन्ध में सोचो ही नहीं। सबसे परम पुरुष तो मैं ही हूँ। मुझे प्राप्त कर लिया। मानों सब को प्राप्त कर लिया। ये समस्त भूत मुझ

परम पुरुष के भीतर भी विद्यमान हैं। और बाहर भी विद्यमान हैं। जितना भी यह दृश्य प्रपञ्च है। सब मुझ परम पुरुष द्वारा व्याप्त किया हुआ है। निखिल जागतिक प्रपञ्च मुझमें ही व्याप्त है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो आपकी सगुण रूप से उपासना करने वाले पुरुष आपके उस पुनरावर्ती परमधाम को किस मार्ग द्वारा जाते हैं। कृपया उस मार्ग के सम्बन्ध में मुझे बताने की कृपा करें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अन्तर गत जिहि रहें विश्व के प्रानी सबई।
रहे सदा चैतन्य चेतना आवै तबई॥
सकल जगत परिपूर्ण रहैं सत्ता जब जाकी।
जाकी सत्ता बिना कहौ गति होवै काकी॥
यह ही पारथ ! पर पुरुष, एक मात्र जग जाप्य है।
सरल सुगम साधन सरस, भक्ति अनन्यहि प्राप्य है॥

देवयान मार्ग

[१२]

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥❀

(श्री० भग० गी० ८ अ० २३,२४ श्लो०)

छप्पय

कौन काल में गये योगिजन लौटत नाहीं ।
कौन काल में गये लौटि आवैं जग माहीं ॥
शंका मन जब भई तबहिं बोले नँदनन्दन ।
दुष्ट-निकंदन भक्तनि-चंदन मुनिमन-रंजन ॥
कहूँ कौन लौटत नहीं, हे भरतरषभ ! तोइ अब ।
को आवै पुनि लौटि जग, काल बताऊँ अबहिँ सब ॥

❀ हे भरतर्षभ ! किस काल मे परलोक गया योगी लौट कर आता है और किस काल में गया लौटकर नहीं आता, उन दोनों कालों को मैं कहता हूँ ॥२३॥

ज्योतिर्मय अग्नि, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छे महीने, इन सबके अभिमानी देवताओं के मार्ग मे मरकर गये ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं फिर लौटकर नही आते ॥२४॥

योग की साधना करने वालों की दो गति हैं। एक तो सद्यः मुक्ति दूसरी क्रम मुक्ति। इन दोनो के ही द्वारा परमधाम को प्राप्त पुरुष की पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् उन्हें पुनः लौटकर संसार चक्र में आना नही पड़ता। किन्तु जो सकाम कर्मों द्वारा पुण्यलोकों को प्राप्त होते है, उन्हें तो पुण्यक्षय हो जाने के अनंतर लौट कर इस संसार में पुनः आना ही पड़ता है।

योग साधना भी दो प्रकार की होती है, सबीज तथा निर्बीज सकार उपासना निराकार उपासना अथवा सगुण उपासना तथा निर्गुण उपासना। निर्गुण उपासना बहुत क्लेशकर है, क्योंकि देहवान् पुरुषों के शरीर, उनकी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण सभी तो व्यक्त को ही ग्रहण करने वाले हैं। अतः सगुण उपासना सरल है, सरस है सभी के उपयोगी है। भगवान् के अवतारों में से जो भी सगुण साकार स्वरूप अपने अनुकूल पड़े, उसी का ध्यान करना चाहिये।

ध्यान कैसे करना चाहिये इसका शास्त्रों में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। जो साधक सगुण ब्रह्म की, सविशेष ब्रह्म की उपासना करना चाहे, उसे भगवान् की किसी भी मनोनुकूल मूर्ति का आलम्बन ग्रहण करना चाहिये। ऐसे साधक को पहिले तो अपनी शक्ति के अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार स्वधर्म का पालन करना चाहिये। बहुत हाय हाय न करे, प्रारब्धानुसार जो भी कुछ सहजभाव से प्राप्त हो जाय, उसी मे सन्तुष्ट रहकर साधन में प्रवृत्त हो जाय। यह साधना बिना श्रद्धाभक्ति के, बिना सत्संग के, बिना साधु-संत भगवत् भक्तों की सेवा के सिद्ध नहीं होती। अतः आत्मज्ञानियों के चरणों की शरण लेनी चाहिये, सदा सत्संग में ही समय बिताना चाहिये। खोटे पुरुषों का, इन्द्रियाराम मनुष्यों का, संसारी लोगों का कभी

भूलकर भी संग न करना चाहिये। धर्म का आचरण सदा करते रहना चाहिये, अधर्म कार्यों से सदा बचते रहना चाहिये। भोजन में बहुत ही सावधानी बरतनी चाहिये। भावदुष्ट दृष्टिदुष्ट, दुष्टाता से उपार्जित, दुर्जन पुरुषों का लाया हुआ अन्न न खाना चाहिये। परिमित थोड़ा सात्विक आहार करना चाहिये। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष तप, स्वाध्याय और ईश्वर विश्वास आदि जो यम नियम हैं, उनका यथा शक्ति यथा सामर्थ्य पालन करते हुए आसनों का अभ्यास करना चाहिये। आसनों के अभ्यास के बिना स्थिरता नहीं आती है। फिर प्राणायाम का अभ्यास करे। प्राणायाम से जितने भी वात, पित्त, कफ जन्य दोष हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। जितना बढ़ा सके कुंभक को बढ़ाने का प्रयत्न करता रहे। श्वास प्रश्वास बाहर भीतर आना जाना बन्द हो जाय। भीतर की वायु भीतर ही लीन हो जाय। तब मन के सहित प्राणों को किसी एक देश में स्थिर करना चाहिये। चित्त जब सब ओर से हट जाय, तब अपनी मनोनुकूल मूर्ति का नख से लेकर शिखापर्यन्त ध्यान करना चाहिये। भगवान् के उसी सगुण साकार रूप का चिंतन करते रहना चाहिये। इस पर भगवान् का चिंतन करते-करते शरीर में से आसक्ति सर्वथा छूट जाती है। पूर्वजन्मों के संस्कार के अधीन यह शरीर जब तक प्रारब्ध के भोग शेष हैं, तब तक बना रहता है। उच्चस्थिति में प्राप्त साधक की शरीर में तथा शरीर से सम्बन्धित स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब परिवार, घर द्वार आदि में अहंता ममता नहीं रहती। समय आने पर शरीर अपने आप छूट जाता है। ऐसे साधक का जीवात्मा क्रमशः अनेक लोकों को पार करता हुआ अन्त में भगवान् के परमधाम को प्राप्त होता है, जहाँ जाने पर फिर इस संसार में लौटना नहीं पड़ता। इस मार्ग का नाम

देवयान है, क्योंकि ऐसे पुरुषों को भिन्न-भिन्न कालाभिमानी देवता ले जाते हैं।

जैसे किसी यन्त्र को किसी पहाड के स्थान को ले जाना है, और वह यन्त्र समुद्र पार के देशों से लाया जाने वाला है, तो पहिले कुली लोग उसे जलयान पर चढा कर इस पार करा देंगे। फिर वायुयान द्वारा एक अन्य स्थान पर लाया जायगा। पुनः वाष्पयान द्वारा पर्वत की तलहटी तक लाया जायगा। फिर वहाँ से उसे खच्चर घोडों पर लादकर पहाड पर ले जाया जायगा, तदनन्तर कुली उसे उठाकर गन्तव्य स्थान की ओर ले जायेंगे।

ऐसे ही पहिले राजाओं के पत्र भी जाते थे। बहुत वेग से चलने वाले ऊँटों पर लादकर वे पत्र एक स्थान पर पहुँचाये जाते थे, वहाँ घोड़े तैयार रहते थे, वे उन्हें अन्य स्थानों पर पहुँचाते। वहाँ-वेग से चलने वाले पुरुष चलकर उन्हें गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देते थे।

पहाड़ी यात्रा भी ऐसे ही होती थी। किसी देश की सीमा तक यात्रियों को घोड़े पहुँचाया करते थे। वे दूसरे राज्य की सीमा में प्रवेश नहीं कर सकते थे। उस राज्य के बैल उन्हें दूसरे पडाव तक पहुँचाते थे। इसी प्रकार एक राज्य से दूसरे राज्य के और दूसरे राज्य से तीसरे राज्य तक के पड़ाव पर पहुँचते हुए कुछ काल मे यात्री अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचते थे।

यही क्रम देवयान और पितृयान द्वारा जाने वाले साधकों का है। पहिले देवयान का ही वर्णन किया जाता है। शरीर त्यागने पर उसे अग्नि और ज्योति के अभिमानी देवता जिन्हें अर्चि अभिमानी देवता भी कहा गया है, पहिले वे उसे आदर पूर्वक ले जाते हैं। जितने भी संसार में पद के अर्थ द्योतक पदार्थ हैं, उन सब पदार्थों के भिन्न-भिन्न अभिमानी देवता होते हैं। इनका

शरीर दिव्य होता है। एक भवन बना तुरन्त उसका एक अभिमानी देवता बन जायगा। इसी प्रकार प्रकाश का अभिमानी देवता उसे ऊपर के लोकों में वहाँ तक ले जायगा, जहाँ तक उसके जाने की सीमा है। अपनी सीमा पर पहुँचने पर अर्चि अभिमानी देवता रुक जायगा, वहाँ दिवसाभिमानी देवता तयार बैठा होगा उसे वह अपनी परिधि तक पहुँचा देगा, वहाँ शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता प्रतीक्षाकर रहा होगा, दिवसाभिमानी देवता से वह लेकर उसे मासाभिमानी देवता की सीमा तक पहुँचा देगा। वहाँ से उत्तरायण मासाभिमानी देवता ले जाकर उसे वर्षाभिमानी देवता के समीप तक पहुँचा देंगे। संवत्सराभिमानी देवता उसे आदित्यलोकाभिमानी देवता तक पहुँचा देंगे, आदित्याभिमानी देवता उसे चन्द्रलोकाभिमानी देवता की सीमा तक पहुँचायेंगे। इसी प्रकार क्रम से विद्युत् लोकाभिमानी देवता के समीप पहुँच जायँगे। फिर क्रमशः देव, वरुण, इन्द्र, प्रजापति आदि लोकों के के देवता उसे ब्रह्मलोक तक ले जाते हैं। वहाँ से एक दिव्य अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्मलोक ले जाता है। वहाँ से वे लोग अपने इष्टदेव के लोक में चले जाते हैं। इसी मार्ग का नाम देवयान है। इस मार्ग से जाने वाले फिर कभी इस लोक में लौटते नहीं।

जिन्होंने सकाम पुण्य कर्मों के शुभ अनुष्ठान किये हैं, वे पितृयान मार्ग से जाते हैं वे उनको भी क्रमशः धूमाभिमानी देवता, रात्रि अभिमानी देवता, कृष्णपक्ष अभिमानी देवता, दक्षिणायन अभिमानी देवता, पितृलोकाभिमानी देवता, आकाशाभिमानी देवता तथा चन्द्रमा अभिमानी देवता उन्हें चन्द्रलोक तक ले जाते है। वहाँ पर जिन लोगों ने यज्ञ याग, वापी कूप, तड़ाग, बगीचा, तथा विविध प्रकार के दान-पुण्य आदि सकाम कर्म किये हैं, उनके फलों को भोगते हैं। पुण्य क्षय होने पर वे लोग पुनः

संसार में लौट आते हैं। इस प्रकार देवयान और पितृयान ये दो मार्ग सनातन है। सकाम कर्म करने वाले तो पुण्य भोगों के अनन्तर पुनः संसार में जन्म लेते हैं और निष्काम भाव से ब्रह्मार्पण बुद्धि से लोक संग्रह के निमित्त प्रभु पूजा सम्बन्धी कर्म करने वाले कभी लौटते नही। पूर्ण ज्ञानी तो कहीं आते जाते ही नही। यही उनका आत्मा सर्वान्तर्यामी जगदाधार ब्रह्म मे विलीन हो जाता है।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब अर्जुन ने देवयान मार्ग की जिज्ञासा की तो भगवान् ने कहा—अर्जुन! तुमने जो मुझसे देवयान और पितृयान मार्गों के सम्बन्ध म पूछा, उसका मैं तुमसे वर्णन करूंगा। देखो, काल तो एक है, अविच्छिन्न है। इसके तो टुकड़े होते नही फिर भी व्यवहार मे इसके तो घटी, पल, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर आदि भेद हो जाते हैं। जैसे आकाश एक है, फिर भी व्यावहार में घटाकाश, मठाकाश, उदराकाश आदि अनक भेद हो जाते हैं। भेद होने पर उन-उन कालाभिमानी देवताओ की अपनी व्यावहारिक सीमायें भी होती है। हे भरत श्रेष्ठ! जिस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग मे जो योग साधना वाले साधक योगी जाते है, उनका वर्णन मैं तुमसे करूंगा। वे दो मार्ग हैं। एक से जाने वाले साधक तो, फिर संसार में लौटकर आते नही। और दूसरे पितृमार्ग वाले उस-उस कालाभिमानी देवता द्वारा ले जाये जाने पर फिर लौट कर संसार में जन्म लेते है। मै तुमसे दोनों ही मार्गों को बताता हूँ। उनमे से पहिले किसका वर्णन करूं?

अर्जुन ने कहा—प्रभो! पहिले अपुनरावृत्ति वाले देवयान मार्ग का ही वर्णन कीजिये।

भगवान् ने कहा—जो साधक सगुण साकार ब्रह्म की उपासना

करते हैं, वे क्रमशः अग्निज्योति–अभिमानी, दिवसाभिमानी, शुक्ल पक्षाभिमानी और उत्तरायण के छै महीनों के अभिमानी देवताओं के द्वारा ले जाये जाने पर क्रमशः ब्रह्मलोक में प्राप्त होते हैं। ये मैंने संक्षेप में कह दिये। इसके बीच में और भी बहुत से लोक पालों के लोक पड़ते है, उन सबको देखते हुए, उन सबका आनन्द लेते हुए वे अन्त में ब्रह्मलोक में पहुँच जाते है। वहाँ से फिर ब्रह्माजी उन्हें उनके योग्य स्थानों में पहुँचा देते है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह तो देवयान का वर्णन हुआ। अब कृपा करके पुनरावृत्ति वाले पितृयान का भी वर्णन कीजिये।"

भगवान् ने कहा—पुनरावृत्ति वाले पितृयान से तुम्हें क्या प्रयोजन? उसके सम्बन्ध में तुम क्यों पूछ रहे हो?

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! दोनों ही पक्षों का ज्ञान कर लेना चाहिये, जिससे भूल न हो। उनमें से जो श्रेष्ठ प्रतीत हो, उसी का अनुसरण करना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—अच्छी बात है, अब मैं तुमसे पितृयान मार्ग का भी वर्णन करता हूँ, उसे तुम सावधानी के साथ श्रवण करो।

छप्पय

जो नहिँ लौटत जगत प्रथम गति तिनहिँ बतावें।
ज्योतिर्मय मग जायँ अगिनि के देव पठावें॥
अभिमानी दिन–देव फेरि तिनिकूँ लै जावैं।
शुक्लपक्ष सुर फेरि उत्तरायन सुर आवैं॥
क्रम-क्रम तैं लै जात हैं, सुर अभिमानी सबनि के।
फिरि लौटत ये हैं नहीं, पद पावैं ते ब्रह्म के॥

पुनरावृत्ति पितृयान-मार्ग

[१३]

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिं मन्ययावर्तते पुनः ॥*

(श्री भग गी० ८ अ० २५, २६ श्लो०)

छप्पय

जे पुनि आवैं लौटि तिनहु की गति बतलावैं।
शुभ भोगनि कूँ भोगि लौटि कें जग में आवैं॥
उन्हें प्रथम लै जायँ धूम अभिमानी सुरगन।
कृष्णपक्ष के फेरि निशासुर अभिमानी जन॥
सुरवर दक्षिण अयन के, चन्द्रज्योति लैजाँत हैं।
शुभ करमनि फल भोगिकें, पुनि जग में आजाँत हैं॥

---

* धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छै महीने, इनके अभिमानी देवताओं के मार्ग में मरकर गये योगी चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर लौट आते हैं ॥२५॥

संसार में शुक्ल मार्ग और कृष्ण मार्ग ये दो ही मार्ग सनातन माने गये हैं। एक के द्वारा गया हुआ लौटकर नहीं आता, दूसरे के द्वारा गया हुआ संसार में पुनः लौटकर आता है ॥२६॥

योग मार्ग के रहस्य को जान लेने पर फिर साधक मोह में में नहीं पड़ता। यह जो संसार चक्र है अनादिकाल से चल रहा है, इसका कहीं आदि नहीं, अन्त नहीं। काल अनादि है, काल की कहीं परिसमाप्ति नहीं। काल की गतियां भी अनादि हैं, बन्ध और मोक्ष भी अनादि हैं। ज्ञान भी अनादि है और माया कहो अविद्या कहो प्रकृति यह भी अनादि ही है। जीव तो अनादि है ही, भेद भाव भी अनादि है और भ्रम भी अनादि है। ये सब पदार्थ तभी तक अनादि हैं जब तक एक अद्वय तत्त्व का पूर्ण बोध नहीं होता। पूर्ण बोध हो जाने पर सबका अनादित्व एक में ही विलीन हो जाता है। वास्तविक जो एक है, जिसकी सत्ता के सम्मुख दुसरी सत्ता टिक नहीं सकती। जिसके चतन्य के प्रभाव में जड़ता रह नहीं सकती, जिसके आनन्द के सम्मुख दूसरा आनन्द टिक नहीं सकता। उस अलौकिक अद्भुत वस्तु को पा लेने पर फिर अन्य किसी पदार्थ को पाने की आकांक्षा ही नही रहती। उसी के पाने के लिये शास्त्रों का आश्रय लेना पड़ता है, साधनों का सहारा लेना पड़ता है। विद्या अविद्या दोनों को ही जान लेना पड़ता है। दोनो के जाने बिना ज्ञान अधूरा ही रहता है। अतः प्रकाश का भी परिचय प्राप्त करो, अन्धकार के विषय में भी जानकारी करो। अग्नि को भी जान लो और धूम को भी पहिचान लो। दिन के सम्बन्ध मे भी समझ लो, रात्रि का भी परिचय प्राप्त करो। शुक्ल पक्ष को भी जान लो। कृष्ण पक्ष को भी समझ लो। उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों से ही परिचय प्राप्त कर लो। तभी तुम्हारा ज्ञान पूर्ण होगा, तभी तुम समग्रता के संबंध मे समझ सकोगे। अतः अपुनारावृत्ति वाले देवयान मार्ग के साथ पुनरावृत्ति वाले पितृयान को भी जान लेना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो। जब भगवान् ने अपुनरावृत्ति वाले देवयान का वर्णन कर दिया, तब अर्जुन ने पुनरावृत्ति वाले पितृयान की जिज्ञासा की इस पर भगवान् कहने लगे—अर्जुन! तुमने उचित ही प्रश्न किया योगी को दोनों ही मार्गों का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये। दोनों का ज्ञान प्राप्त किये बिना ज्ञान अधूरा ही रहता है। जिन लोगों ने सकाम भाव से शास्त्र विहित शुभ कर्म किये है। उनको देह त्याग के अनन्तर सर्वप्रथम धूमाभिमानी देवता ले जाते है, जब उनकी सीमा समाप्त हो जाती है, तब रात्रि के अभिमानी देवता उन्हें पक्षाभिमानी देवताओं के समीप पहुँचा देते है। जैसे पितृयान मार्ग वालों को शुक्लपक्षाभिमानी देवता ले गये थे वैसे ही इन पितृयान मार्ग वालों को कृष्णपक्षाभिमानी देवता ले जाते हैं, तदनंतर उन्हें जैसे उत्तरायणाभिमानी देवता ले गये थे ऐसे ही इन्हें दक्षिणायनाभिमानी देवता ले जाते हैं। अब यहाँ से इनका मार्ग बदलता है।

अर्जुन ने पूछा—तो क्या भगवन्! जैसे देवयान मार्ग वालों को उत्तरायणाभिमानी देवता सम्वत्सराभिमानी देवताओं के समीप तक पहुँचाते हैं, वैसे ही इन पितृयान मार्ग वालों को दक्षिणायणाभिमानी देवता सवत्सराभिमानी देवताओं के समीप नहीं पहुँचाते?

भगवान् ने कहा—दोनों के अब तक तो दो दो अभिमानी देवता पृथक्-पृथक् थे जैसे अग्नि और धूम, दिन और रात्रि, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन। वर्षाभिमानी देवता एक ही हैं, अतः देवयान मार्ग के सदृश पितृयान वालों को संवत्सराभिमानी देवताओं के समीप न ले जाकर पितृलोक अभिमानी देवताओं के पास पहुँचाते हैं। पितृलोक से

आकाशलोक को आकाश लोकाभिमानी देवता उन्हें चन्द्रलोक में पहुँचा देते हैं। वहाँ जाकर ये अपने सुकृत कर्मों के भोगों को तब तक भोगते हैं, जब तक उनके शुभ कर्मों के पुण्य शेष नहीं हो जाते। जब पुण्य कर्मों के भोग शेष प्रायः हो जाते हैं, तो जिस मार्ग से ये गये हैं, उसी मार्ग से पुनः इस संसार में लौट आते हैं।

अर्जुन ने पूछा—वे लौटते कैसे हैं? भगवान् ने कहा—उनका कोई स्थूल शरीर तो होता नहीं उनका तो अत्यन्त सूक्ष्म कारण शरीर होता है। चन्द्रादि पुण्य लोकों मे वे आकाश में लौट आते हैं आकाश में जल रूप होकर वर्षा की बिन्दुओं के साथ ओषधियों में आ जाते हैं। ओषधियों को प्राणी खाते हैं। उनमे वीर्य बनकर माता के गर्भ में आते हैं। गर्भ से पुनः जन्म लेते हैं। फिर यज्ञ, दान, तपादि सुकृत कर्म करके, पुनः सकामता के संकल्प से पुण्य लोकों में जाते हैं। इस प्रकार कर्म दोनों के एक से होने पर भी सकामता और निष्कामता के कारण एक लौट आते हैं दूसरे नहीं लौटते।

अर्जुन ने पूछा—"इन दोनों मार्गों में से पहिले कौन मार्ग प्रकट हुआ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—अरे, भाई! पहिले पीछे का प्रश्न मत करो। यह संसार अनादि है। दृश्यप्रपंच के सम्बन्ध में कोई भी नहीं कह सकता यह कब से हुआ। जब संसार अनादि है, तो देवयान मार्ग या शुक्ल मार्ग तथा पितृयान मार्ग या कृष्ण मार्ग इन दोनों मार्गों की गतियाँ भी अनादि ही हैं। इनमें से एक मार्ग से अर्थात् पितृयान मार्ग से जाने वालों की अपुनरावृति होती है अर्थात् वे लौटकर फिर संसार में नहीं आते। दूसरे पितृयान मार्ग से जाने वाले लौट आते हैं।

अर्जुन ने पूछा—इन दोनों मार्गों के परिचय का फल क्या होता है। इन दोनों मार्गों के ज्ञान का माहात्म्य बतावें।

सूतजी कहते हैं—मुनियों! इन दोनों के विज्ञान की स्तुति करते हुए इस विषय का भगवान् ने जैसे उपसंहार किया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

शुक्लपक्ष अरु कृष्णपक्ष गति न्यारी न्यारी।
पितृयान अरु देवयान मारग अति भारी॥
दोऊ गति हैं शुद्ध सनातन सुख सरसावनि।
एक पाइ नहिँ लौटि एक तैं होवै आवनि॥
शुक्ल कृष्ण गति सनातन, भेद भावना में कह्यो।
ब्रह्मलीन है जात इक, एक फेरि जग में रह्यो॥

सर्वश्रेष्ठ योगमार्ग का फल

[१४]

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० २७, २८ श्लोक)

छप्पय

गति दोउनिकूँ जानि होहिँ मोहित नहिँ जोगी।
कछु इच्छा जिनि रही भोगि शुभ लौटें भोगी॥
जो जानत यह तत्त्व न मन में दुख सुख पावै।
सबमें करि सम बुद्धि चित्त मोई में लावै॥
अरजुन! तुम सम बुद्धि करि, योगयुक्त है जग तरो।
सर्व काल में सब समय, जोगी बनि साधन करो॥

---

* हे पार्थ! इन दोनो मार्गों को जानकर कोई भी योगी मोह को प्राप्त नहीं होता, इसलिये तू सब काल में योगयुक्त होकर रह॥२७॥

वेद पाठ से, यज्ञों से, तपस्याओं से, दानों से जो फल प्राप्त होते हैं, उन फलों को भी योगी इस रहस्य को तत्त्व से जानकर उल्लघन कर जाता है और सनातन परम स्थान को प्राप्त होता है॥२८॥

सनातन मोक्ष प्राप्ति के दो ही मार्ग हैं। कर्ममार्ग और ज्ञान मार्ग। दोनों ही निःश्रेयस्कर हैं। दोनों से ही सिद्धि अर्थात् ससार से मुक्ति प्राप्त होती है। कर्ममार्ग ४ प्रकार का है। स्वर्ग प्राप्त करने की कामना से सकाम कर्ममार्ग, वर्णाश्रम विहित कर्ममार्ग और केवल अपने अन्तःकरण की बिखरी वृत्तियों को योग द्वारा निरोध करना योग कर्ममार्ग तथा चौथा कर्ममार्ग यह है कि ब्रह्मार्पण बुद्धि से-निष्काम भाव से-इन कर्मों को करते हुए अपने ध्येय तक पहुँचना।

सकाम कर्मों में और वर्णाश्रम विहित कर्मों में तथा निष्काम कर्मों में-जिसका नाम भक्तिमार्ग भी है, इनमें वेद पाठ यज्ञ, तपस्या, तथा दान ये शुभ कर्म परमावश्यक हैं। जो स्वर्ग की कामना से शुभ कर्म करते है, उन्हें वेदाध्यन, यज्ञ, तप तथा दानादि शुभ कर्म करने आवश्यक हैं, क्योंकि इन पुण्य कर्मों से उन्हें स्वर्गादि पुण्य लोको की प्राप्ति होती है। सकाम होने से उनको फिर लौटना पड़ता है। इन्हीं वेद, यज्ञ, तप और दानादि कर्मों को स्वधर्म पालन बुद्धि से वर्णाश्रम धर्म पालन रूप कर्तव्य भावना से करने पर क्रमशः ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञान से मुक्ति होती है। इन्ही कर्मों को प्रभु पूजा समझकर भक्ति भाव से करते रहने पर प्रभु प्रसन्न होकर अपना परमधाम प्रदान करते हैं। किन्तु इन कर्मों के बिना किये भी केवल यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप कर्मों को करते हुए सनातन परम स्थान की प्राप्ति हो जाती है। ये चार तोकर्म के अन्तर्गत मार्ग है। इन चारों से हो मुक्ति होती है, किन्तु जो सकाम वेद, यज्ञ, तप और दान है वे लोग स्वर्ग प्राप्ति को मुक्ति ही मानते है भगवान् ने उसे मुक्ति नहीं माना है और उसकी निन्दा की है।

दूसरा ज्ञानमार्ग है, ज्ञानमार्ग में अव्यक्त, निर्गुण, निराकार, निर्विशेष ब्रह्म की उपासना की जाती है। उसमें कर्मों को ही बन्धन का कारण माना जाता है। इसलिये अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त कर्म करने पड़ें तो विवशता है, किन्तु वाह्य कर्म जब भी जितने भी शीघ्र छोड़े जा सकें उन्हें छोड़ना चाहिये। सर्व कर्म परित्याग से ज्ञान होगा और ज्ञान से मुक्ति। सर्व कर्म त्याग का ही नाम संन्यास है, इसलिये ज्ञानमार्ग को त्यागमार्ग या संन्यास मार्ग भी कहते हैं। ज्ञान मार्ग वाला संन्यास दूसरा है और वर्णाश्रम विहित सन्यास दूसरा है। ज्ञान मार्ग वाले सन्यास में कोई वर्ण का या आश्रम का नियम नहीं। जब भी त्याग भावना परिपक्व हो जाय, तभी सर्वस्व त्याग कर विना किसी वाह्य चिन्हों के बिना किसी विधि निषेध के ज्ञान मार्ग का अवलम्बन कर ले। वर्णाश्रम धर्म वाले संन्यास के नियम हैं, उनमें विधि निषेध भी है। उस सन्यास को वर्णाश्रम धर्म का विधिवत् पालन करने वाला केवल ब्राह्मण ही ले सकता है। इस संन्यास का अधिकार ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं है।

भगवान् का जो निष्काम कर्म योग है, उसका पालन सकाम कर्म वाले तो कर नहीं सकते। क्योंकि वे तो सभी कर्मों को कामना पूर्वक ही करते है, शेष कर्म मार्गी ज्ञानमार्गी दोनों ही समान भाव से कर सकते हैं। आप भले ही वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हैं, करते रहिये, जिस वर्ण में हों, जिस आश्रम मे हों वहीं निष्काम भाव से सब कर्मों को प्रभु की पूजा समझ कर करते रहो आप संन्यासी ही हैं सभी वर्ण वाले सभी आश्रम वाले जहाँ हों, वहीं से परम पद को प्राप्त कर लोगे। आप ज्ञान मार्गावलम्बी हैं तो भक्ति पूर्वक सगुण ब्रह्म का श्रवण, मनन, निदिध्यासन कीजिये। जो गति अव्यक्त अक्षर, निर्विवेश,

निर्गुण वाले त्यागी को मिलेगी वही गति आपको भक्ति पूर्वक सगुण उपासना से मिल जायगी। अतः भगवान् का निष्काम कर्मयोग भक्ति मूलक कर्म मार्ग भी है और भक्ति मूलक ज्ञान मार्ग भी है और भक्ति मूलक योग मार्ग भी है। भगवान् ने जो देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग दो मार्गों का वर्णन किया यह सकाम कर्म परक तथा निष्काम कर्म परक साधकों के मार्ग हैं। योग मार्ग वाले साधक केवल योग साधन द्वारा इन दोनों मार्गों का फल बिना वेद, यज्ञ दान तपस्या के ही प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् भक्ति पूर्वक योग करने से विमुक्त बन जाते हैं। इसी विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् इस योग मार्ग की प्रशंसा कर रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पितृयान और देवयान दोनों मार्गों को जान लेने की तथा उनके फल की जिज्ञासा की तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! देखो, इन दोनों मार्गों के रहस्य को भली-भाँति जान लेना चाहिये।"

अर्जुन ने कहा—जिस मार्ग को जाना ही नहीं, उसके कोश गिनने से क्या लाभ? हमें पितृयान मार्ग से जाना ही नहीं, तो उसे क्यों जानें?

भगवान् ने कहा—ऐसा नहीं। विद्या को जानने के लिये अविद्या का स्वरूप जान लेना भी आवश्यक है। यह करना चाहिये, इसे जानने के पूर्व यह जान लेना परमावश्यक है कि कौन-सा काम न करना चाहिये। विधि और निषेध दोनों का ही ज्ञान आवश्यक है। इसीलिये जो इन देवयान पितृयान दोनों मार्गों को जान लेता है, वह योगी फिर मोह में नहीं पड़ता।

अर्जुन ने पूछा—योग क्या?

भगवान् ने कहा—"सदा सावधान रहे, कि मन संसारी विषयों में न जाय, मुझमें ही मन के लगे रहने को योग कहते हैं। इसलिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम्हारा श्रेय हो कल्याण हो, उस उपाय को बताये देता हूँ, तुम सदासर्वदा योग युक्त बने रहो। केवल योग साधना द्वारा ही तुम्हें बिना बाह्य कर्म किये कर्मों का फल मिल जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—सो कैसे प्रभो!

भगवान् ने कहा—वेद पढ़ने शिष्य जायगा तो, समितपाणि होकर, गुरु की, अग्नि की उपासना करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वेदाध्यन करेगा। यज्ञों में जितना सामग्रियाँ आवश्यक हैं, उन्हें जुटा कर मन्त्र पूर्वक आहुति देने से यज्ञ सम्पन्न होगा, तपस्या में भाँति-भाँति के उपायों से शरीर को तपाना पड़ेगा। दान में अपनी कहलाने वाली विविध वस्तुओं में से अपनापन हटाकर उन्हें सुयोग्य पात्र को देना पड़ेगा। ये सब भी कर्तव्य कर्म समझकर, स्वधर्म पालन मानकर निष्काम भाव से करने पर परमधाम की-मुक्ति की-प्राप्ति होगी। किन्तु ध्यान निष्ठ योगी। इस योग के रहस्य को जानकर योगानुष्ठान करते हुए इन सब साधनों का अनुक्रमण कर जाता है। इन सब के फल का योग द्वारा ही सरलता से प्राप्त कर लता। वह सबके आद्य कारण ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है। इसलिये योग मार्ग श्रेष्ठ मार्ग है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने अष्टम अध्याय में अक्षर ब्रह्म योग का वर्णन किया। अब नवमें अध्याय में जैसे राजविद्या राजगुह्ययोग का वर्णन करेंगे, उस विषय का मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

जोगी जाकूँ जानि वेद पढ़िवे फल पावै।
यज्ञनि को फल पाइ कृतारथ सो है जावै॥
दान यज्ञ तप सकल पुण्यप्रद पुन्य करम हैं।
तिनि सब तैं बढ़ि जाय समुझि कें योग मरम हैं॥
जोगी तैं बढ़िकें नहीं, जग में कोई नर बृहद।
जोगी ई या जगत में, पाइ सनातन परम पद॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत् गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद के रूप में है उसमे "अक्षर ब्रह्म योग" नाम का आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

श्री पार्थसारथे नमः

गीता-वार्ता

नवमोऽध्यायः

(९)

राजविद्या राजगुह्ययोग

[१]

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

फेरि कहें भगवान—पार्थ ! तेरी सुन्दर मति ।
ताई तें शुभ कह्यो ज्ञान यह गोपनीय अति ॥
निंदा तें नित दूर रहत दोषनि नहि देखत ।
तुमहिं करत उपदेश होहि मेरो हिय हरषित ॥
कहूँ ज्ञान-विज्ञान के, सहित गुह्य अति ज्ञान कूँ ।
मुक्त होहि संसार तें, तजै तुरत अज्ञान कूँ ॥

---

* श्री भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! तुम अनिन्दक हो, इसलिये इस गुह्यतम ज्ञान को विज्ञान सहित तुम्हारे प्रति कहूँगा, जिसे जानकर तुम संसार से विमुक्त बन जाओगे ॥१॥

श्री मद्भागवत् गीता जी का नववाँ अध्याय अत्यन्त ही महत्व का है, क्योंकि यहाँ गीता प्रायः आधी होने को आई है, इसलिये पिछले वक्तव्य का उपसंहार करके आगे सिद्धान्त की बात कहेंगे। इस बात को बार-बार बताया जा चुका है, कि संसार में प्रभु प्राप्ति के दो ही मार्ग हैं, एक कर्म मार्ग दूसरा ज्ञान मार्ग। कर्म मार्ग के चार भेद हैं। सकाम कर्म मार्ग, निष्काम कर्म मार्ग, योग कर्म मार्ग, वर्णाश्रम धर्म कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग भी दो प्रकार का है केवल निर्गुण निराकार ब्रह्म के ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करना तथा सगुण निर्गुण परिपूर्ण ब्रह्म ज्ञान के द्वारा भगवत् लोकों को प्राप्त करना। भगवान् कर्म मार्ग को भी स्वीकार करते हैं, और ज्ञान मार्ग को भी किन्तु एक बीच का विलक्षण मार्ग बताते हैं, जो पहिले था, बीच में लुप्त हो गया था, वह है भक्ति मार्ग। इसी को निष्काम कर्म मार्ग ब्रह्मार्पण मार्ग भी कहते हैं। निर्गुण निराकार ज्ञान मार्ग में तो कर्मों को ही बन्धन का कारण मानकर उनके सर्वात्म भाव से त्याग पर अत्यधिक बल दिया गया है और सकाम कर्म मार्ग में कर्मों के निरन्तर करते ही रहने का अत्यधिक आग्रह है। भगवान् ने मध्य मार्ग अपनाया है। वे इस बात को स्वीकार करते हैं, कि कर्म बन्धन के कारण हैं, किन्तु कब ? जब ते फल की इच्छा से सकाम भाव से किये जायें। कटहल को काटो उसका चेंप लगेगा तो खुजली होगी ही, किन्तु हाथ में तैलादि की चिकनायी लगाकर काटो तो खुजली न होगी। इसी प्रकार जो कर्म बन्धन

यह अव्यय ज्ञान धर्म युक्त और बहुत ही सुखकर है, यह राजगुह्य तथा राजविद्या है। प्रत्यक्ष फल देने वाला अत्यन्त ही पवित्र एवं उत्तम है ॥२॥

के कारण हैं, उन्हें ही बिना किसी संसारी फल की इच्छा के बिना-निष्काम भाव से-प्रभु प्रीत्यर्थ ब्रह्मार्पण बुद्धि से करो तो वे बन्धन के कारण न होकर मोक्ष देने वाले ही होंगे। इसी प्रकार सगुण निर्गुण, साकार निराकार दोनों ही भगवान् के रूपों को मान कर भक्ति भाव से सगुण साकार ब्रह्म में अपना तन मन धन सर्वस्व समर्पण करके उन्हीं में निरन्तर मन लगाये रहो, तो ऐसे भक्ति युक्त ज्ञान से भी वही गति प्राप्त हो जायगी। इसलिये भगवान् ने समस्त गीता मे दो ही बातों पर स्थान-स्थान पर बल दिया है। पहिली बात तो यह शास्त्र विहित कर्तव्य कर्मों को त्यागने का आग्रह मत करो। दूसरी बात कि तुम जो भी कुछ कर्म करो सबको मेरे अर्पण कर दो मेरी ही शरण में सर्वभाव से आ जाओ। सम्पूर्ण गीता में इन दो बातों को भाँति-भाँति से अनेक साधनों को बताते हुए अन्त में इन्हीं दो बातों को मिलाते हुए उनको परिसमाप्ति की है।

गीता को यज्ञ, दान, तप, जप आदि कर्म मान्य है, वह ब्रह्मार्पण धर्म का समर्थन करती है, अष्टांग योग को मानती है, किन्तु उसकी टेक है निष्काम कर्म और सर्व कर्म समर्पण शरणागति। जैसे गीत में एक तो टेक होती है शेष बहुत से अन्तरा कहलाते हैं। अन्तराओं में विविध विषयों का वर्णन होता है, किन्तु प्रत्येक अन्तरा के अन्त में टेक वही एक लगायी जाती है। पूरे पद में चाहें जितने अन्तरा हों। सब की टेक एक ही रहेगी। अतः यज्ञ हो, दान हो, धर्म हो, तप हो, जप हो, वर्णाश्रम धर्म हो, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा ध्यान समाधि कोई भी साधन क्यों न हो। भगवान् सब के अन्त में कह देते हैं, इन कर्मों को निष्काम भाव से करो

और मेरे अर्पण कर दो। यही भगवान् का कर्म और ज्ञान का विलक्षण समन्वय मार्ग है। यही ज्ञान और कर्म से अपूर्व तीसरा भक्ति मार्ग है। आदि से अन्त तक भगवान् के कथन का यही सार है।

भगवान् के विषय विवेचन की एक विलक्षण परम्परा है। वे पहिले उस विषय को समझाते हैं, उसका विवेचन करते हैं, फिर अन्त में "इसलिये ऐसा करो" ऐसा विधि वाक्य देकर अपनी सम्मति जताते हैं। आज्ञा देते हैं। लोटलकार का प्रयोग करते हैं। अठारह अध्यायों में कम से कम १८ बार तो ऐसी आज्ञा भगवान् ने प्रदान की ही है। विषय विवेचन तो वे अन्य शास्त्रों के अनुसार हा करते है, किन्तु अन्त में अपनी सम्मति बताकर अपना मत प्रकट करते हुए अर्जुन को ऐसा करने की आज्ञा देते है। उन सब आज्ञाओं मे दो ही बातें रहेंगी शास्त्र-विहित निष्कामभाव से फल की इच्छा के बिना कर्म करो। और सब कुछ मुझे समर्पण करके मेरी शरण में आ जाओ। आइये पूरे गीता पर विहंगम दृष्टि डाल लें। तब आप हमारे कथन को यथार्थ के सम्बन्ध में समझ जायेंगे।

पहिला अध्याय तो भूमिका मात्र है। वह तो पूरा का पूरा संजय का कहा हुआ है। श्रीकृष्ण और अर्जुन को-श्रोता और वक्ता को-सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। जिज्ञासु अर्जुन जो अब तक रथ में खड़ा होकर दोनों सेनाओं को देख रहा था। उसमें लड़ने वाले अपने सगे सम्बन्धियों और गुरुजनों को देखकर-उनका वध पाप कर्म समझकर--अपने कर्तव्य कर्म से-वर्ण धर्म पराङ्मुख होकर शोकसंविग्न चित्त से रथ में बैठ गया।

अब दूसरे अध्याय से श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद चलता है। भगवान् ने पूछा-क्यों नहीं लड़ते?

अर्जुन ने कहा—गुरुजनों को मारकर मैं पाप नहीं करूँगा भीख माँगकर खा लूँगा। राज्य की मुझे इच्छा नहीं।

भगवान् ने कहा—अरे, कौन किसे मारता है, आत्मा तो नित्य अविनाशी अप्रेय है। ये सब शरीर स्वतः ही नाशवान है इसीलिये मैं आज्ञा देता हूँ फल की इच्छा छोड़कर युद्ध करो।[१]

आदि का दूसरा अध्याय और अन्त का अठारहवाँ अध्याय यह गीता भर में दो सब से बड़े अध्याय हैं। इन्हीं तत्व का विशेष विवेचन है। इन दोनों में कई बार तस्मात् कहा है। अर्थात् सिद्धान्त बताकर आज्ञा दी है ऐसा करो। फिर उसी बात को दुबारा दुहराते हुए कहते हैं—'शरीर तो मरणशील है ही। वह तो मरेगा ही। आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य है। इसीलिये कहता हूँ आत्मा के ऐसे स्वरूप को जान कर तुम शोक करना तुरन्त छोड़ दो।'[२]

फिर कहते हैं, कैसे भी समझ लो भैया तुम्हें सोच करने के लिये स्थान ही नहीं है। अर्जुन ने कहा—"मैं आत्मा को नित्य नहीं मानता। मैं तो इसे शरीर की ही भाँति मरने जीने वाला मानता हूँ। शरीर मर जायगा आत्मा भी मर जायगी। फिर मैं द्रोण भीष्म जैसे गुरु जनों का सोच क्यों न करूँ?" भगवान् ने कहा—अच्छा यही सही। जब पैदा होने वाले की मृत्यु निश्चित

---

१. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥
(श्री भग० गी० २ अ० १८ श्लोक)

२. अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥
(श्री भग० गी० २ अ० २५ श्लो०)

है और मरने वाले का जन्म भी निश्चित है। इसलिये भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। शोक को छोड़ दो।[३]

जब अर्जुन ने कहा—महाराज, रट लगा रहे हो शोक छोड़ दे शोक छोड़ दे। कैसे शोक छोड़ दूं। मान लो मैं ही मर गया तो ?

भगवान् ने कहा तब तो तेरे दोनों हाथों में लड्डू हैं। जीत गया तो स्वधर्म पालन हो जायगा। क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए राज्य करोगे। युद्ध करते-करते मर गये तो स्वर्ग में वीरों की गति पाओगे इसलिये मैं कहता हूँ आज्ञा देता हूँ तुम युद्ध का निश्चय करलो। युद्ध के लिये बहादुर भैया उठकर खड़े हो जाओ।[४]

अर्जुन ने कहा—कैसे भी सही जनार्दन! किसी को मार देना पाप ही है। मुझसे पाप क्यों कराते हो ?

इस पर भगवान् कहते हैं—तुम समत्व बुद्धि रखकर सुख दुख, लाभ अलाभ, जय पराजय को एकसा मानकर कर्तव्य बुद्धि से लड़ाई करो पाप नही लगेगा। समत्व बुद्धि वाला पुण्य पाप दोनों का छोड़ देता है। इसलिये मैं तुमसे कहता हूँ, आज्ञा

---

३. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥
(२-२७)

४. हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
(२-३७)

देता हूँ उसी समत्व बुद्धियोग के लिये प्रयत्न करो। याद रखो "कर्मों को कुशलता पूर्वक करने का ही नाम योग है।"[५]

इस पर अर्जुन ने कहा– समत्व तो महाराज, योग है, मैं योग करूँगा। प्राणायाम करूँगा, किसी की हिंसा न करूँगा। कर्म छोड़ दूँगा, सूखे पत्ते खाकर निर्वाह कर लूँगा। क्यों मुझे हिंसा करने की युद्ध करने की आज्ञा दे रहे हो?

इस पर भगवान् ने अर्जुन को पुचकार कर ज्ञान और कर्म की दोनों निष्ठाओं का युक्तियुक्त वर्णन करने के अनन्तर फिर आज्ञा दी–तुम मेरी बात मान लो। फल की आसक्ति छोड़कर, कर्तव्य कर्मों का आचरण करो। आसक्ति छोड़कर कर्म करने वाला मोक्ष प्राप्त कर सकता है, अतः कर्तव्य का कर्म करो।[६]

अर्जुन ने पूछा–ठीक है कर्तव्य कर्मों का निष्काम भाव से आचरण तो उत्तम है, किन्तु बिना इच्छा के पाप कैसे हो जाता है।

भगवान् ने कहा—यह सब कामवासना से पाप होते हैं। जिसकी इन्द्रियाँ मन बुद्धि वश में है उससे पाप न होगा। इसलिये मैं आज्ञा देता हूँ तुम पहिले अपनी इन्द्रियों को वश में करो फिर युद्ध करके पापी काम को मार डालो।[७]

---

५. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
(२–५०)

६. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(३–१९)

७. तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।

फिर भगवान् ने अपनी भगवत्ता बताकर यह कहा कि यह निष्काम कर्म योग नया नहीं है, काल पाकर नष्ट हो गया है निष्काम भाव से तुम काम करो तुमसे पहिले भी जनकादि राजर्षियों ने ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म किये हैं।[८]

देखो, ब्रह्म को ही सब कुछ समझकर ब्रह्मार्पण बुद्धि से यज्ञ करो, तप करो, योग करो, प्राणायाम साधो चाहे जो साधन करो। सब कुछ करके तुम उसे मुझ ब्रह्म को अर्पण कर दो। अज्ञान जन्य संशय को ज्ञान रूप खड्ग से काटकर निष्काम कर्म योग का आचरण करो इसलिये मैं आज्ञा देता हूँ उठकर खड़े हो जाओ कर्तव्य पालन करो।[९]

पंचम अध्याय में कर्म और ज्ञान का विवेचन बहुत ही शान्त भाव से किया है, इसलिये इसमें केवल सिद्धान्त बताया है। किसी बात पर बल देकर 'इसलिये ऐसा करो' ऐसी आज्ञा नहीं दी।

छटे अध्याय में फिर उसी निष्काम कर्मयोग पर बल दिया है। वेष बनाने वाले सन्यासियों की निन्दा की है। निष्काम

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
(३-४१)

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।
(३-४३)

८. कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥
(४-१५)

९. तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
(४-४२)

कर्म योगी को ही यथार्थ संन्यासी बताते हुए यहाँ बल देकर फिर कहा है, "इसलिये अर्जुन ! योगी बन जाओ।"[१०] पहिले कहा था, 'मामनुस्मर युद्धयच' मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो। योग साधना भी काम क्रोधादि शत्रुओं के साथ युद्ध ही है। योगी भी युद्ध ही करता है।

सप्तम में भी ज्ञान विज्ञान का गम्भीरता से सिद्धान्त रूप में वर्णन है, अतः इसमें भी प्रत्यक्ष रूप से कोई आज्ञा सूचक वचन नहीं। अब आठवें में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और प्रयाणकाल में ज्ञातव्य विषय ये ७ प्रश्न अर्जुन ने किये हैं। इन सातों का ही उत्तर दिया है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा है—"देखो, तुम अपने मन को बुद्धि को मेरे अर्पण कर दोगे तो निःसंदेह तुम मुझे ही प्राप्त कर लोगे। इसलिये तुम दो ही काम करो सब समय मेरा ही स्मरण करते रहो और साथ ही कर्तव्य कर्मों से भागो नहीं। कर्मों को त्यागने का आग्रह भी मत करो। युद्ध भी करते रहो।" गीता में सबसे महत्त्व पूर्ण बल देकर अपना यथार्थ सिद्धान्त बताते हुए भगवान् ने यही सर्वोपरि आज्ञा अर्जुन को प्रत्यक्षरूप से दी है।[११]

इसी को फिर-फिर आगे दुहराया है "इसलिये हे अर्जुन ! सभी समय में तुम योगयुक्त ही बने रहो।"[१२]

---

१०. तस्माद्योगी भवार्जुन।
(६-४६)

११. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८-७)

१२. तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।
(८-२७)

इसके अनन्तर भगवान् ने राजविद्या राजगुह्य योग बताया। यहाँ राज विद्या और राजगुह्य से राजाओं की विद्या तथा राजाओं द्वारा भी जो छिपाने योग्य रहस्यमयी विद्या है, ऐसा अर्थ न करना चाहिये। यहाँ इनका अर्थ है जो सब विद्याओं की राजा है। समस्त गुप्त रखने वाली विद्याओं से भी गुप्त विद्या अर्थात् परम गुप्त विद्या यही अर्थ है यहाँ राज शब्द को पीछे होना चाहिये किन्तु यहाँ 'राजदन्त' की भाँति राज का पूर्व निपात है। अब बड़ी उत्सुकता होती है कि ऐसी रहस्यमय विद्या कौन सी है। भगवान् ने कहा 'अनित्यमसुखं लोक मिमं प्राप्यभजस्व मांम्'। देखो, यह शरीर तो क्षण भंगुर है, और दुःखों का घर है दुःख निलय है। ऐसे शरीर को जो अनित्य है इसके द्वारा मुझ नित्य को प्राप्त करलो। मेरा भजन करो।[१३] कितनी रहस्य की बात है।

तब अर्जुन ने पूछा – भजन कैसे करें?

इस पर भगवान् गरजकर आदेश देते हैं। अपने मन को मेरे मन में मिला दो, दूसरों के भक्त न बनकर मेरे भक्त बन जाओ। मुझी को नमस्कार करो अर्थात् सब प्रकार से मेरी ही शरण में आ जाओ। इसमे होगा क्या? जब तुम्हारा चित्त सब प्रकार से मुझमें ही लग जायगा, तो तुम मुझे ही प्राप्त कर लोगे। बस यही राजगुह्ययोग है।

दशवें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का परिचय कराया है। अर्जुन की जिज्ञासा पर ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप

---

१३. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९–३४)

दर्शन कराया है। इन दोनों में प्रत्यक्ष कोई आज्ञा नहीं दी। बारहवाँ अध्याय गीता का प्राण है। दस-ग्यारह में अपनी महत्ता बताकर बारहवें में सार सिद्धान्त बताते हैं। इसलिये इस अध्याय का नाम ही भक्तियोग है। फिर भगवान् अपनी पुरानी टेक पर आ जाते हैं। अपने अन्तरा को नहीं भूलते फिर मन्मना भववाली बात को दुहराते हुए कहते हैं—"अर्जुन! अपने मन को मेरे में ही स्थिर करदो, अपनी बुद्धि को मेरे में ही मिला दो। इससे क्या होगा? कि फिर तुम्हें संसार में इधर-उधर-अन्य लोकों म-भटकना नही पड़ेगा। सदा सर्वदा मेरे में ही निवास करोगे। इस बात में रत्ती भर भी सन्देह नहीं।"[१४]

तेरहवें अध्याय में भी क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का प्रकृति पुरुष के सिद्धान्तों का ही विवेचन किया है, प्रत्यक्ष आज्ञा रूप में एक शब्द भी नहीं कहा। चौदहवें में भी तीनों गुणों का परिचय कराया है, सिद्धान्त कथन किया है; पन्द्रहवें में अपना पुरुषोत्तम योग बताया है, इसलिये इसमे भा प्रत्यक्ष आज्ञा नहीं दी। सोलहवें में भी दवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का सारगर्भ उपदेश ही है। सिद्धान्त की बात है, किन्तु अंत में जाकर तेरह, चौदह, पन्द्रह और सोलह इन चारों अध्यायों का सार सिद्धान्त बताकर अंत मे आज्ञा के रूप में कहा है—देखो, अर्जुन तुम्हारे साधन की कसौटी शास्त्र ही है। कौन-सा कर्म करना चाहिये कौन-सा कर्म नहीं करना चाहिये इसमें प्रमाण शास्त्र ही हैं—"इसलिये भैया, शास्त्र ही बता सकते है कौन कर्तव्य है कौन अकर्तव्य है। कौन कर्म ग्राह्य

---

१४. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(१२-८)

है कौन अग्राह्य हैं। इसलिये शास्त्रीय विधान को जानकर तुम्हें कर्म करने चाहिये।"[१५]

सत्रहवें में भी भगवान् ने सिद्धान्त का ही विवेचन किया है श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप तथा दानादि के सात्विक राजस् और तामस भेदों को बताया है इसलिये इसमें भी आज्ञापरक कोई वचन नहीं। अठारहवाँ अध्याय अन्तिम अध्याय है। इसी में अपने सिद्धान्त का उपसंहार किया है। इस बात को पुनः स्मरण कर लो। भगवान् के इस गीत के दो ही अन्तरा हैं दो ही टेक हैं, उसी का बार-बार उल्लेख करते हैं उसी पर पुनः पुनः बल देते हैं। एक तो यह कि तुम कर्म त्याग का आग्रह मत करो। दूसरे जो भी करो बिना फल की इच्छा के निष्काम भाव से मेरी प्रसन्नता के निमित्त करो और सबको मेरे अर्पण करदो। इसी को अठारहवें में कई बार आज्ञा दी है। पहिले भगवान् ने सबसे भ्रामक जो 'संन्यास' शब्द है उसका तत्वतः विवेचन किया है फिर अपना निश्चित सुदृढ़ सिद्धान्त बताया है, ये जो रंगे कपड़े पहिनकर शास्त्रीय कर्मों को छोड़कर, धर्म के प्रतीक शिखा सूत्र को त्यागकर भीख माँगते हुए इधर उधर फिरते हैं। पूर्ण ज्ञान न होने के कारण जो ज्ञानाभिमानी बने अग्नि होत्रादि से दूर रहते हैं, वे संन्यासी नहीं है। तब सन्यासी कौन हैं महाराज? अर्जुन ने जब पूछा तो भगवान् ने कहा—अनाश्रित होकर जो कर्तव्य कर्मों को करता रहता है, वही संन्यासी है। केवल कर्मों को छोड़ने वाला, केवल अग्निहोत्र का परित्याग करने वाला

१५- तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६-२४)

ही संन्यासी नहीं। अर्जुन ने कहा—महाराज विहित कर्म करने पर आप बार-बार इतना बल क्यों देते हैं? भगवान् ने कहा—भाई, इसलिये बल देता हूँ, कि शरीर धारी पुरुषों द्वारा सर्वथा कर्मों का त्याग असंभव है। अतः कर्मों के त्याग का ही आग्रह न करना चाहिये वास्तव में बन्धन का कारण कर्म नहीं, कर्मों का फल चाहना यही बन्धन का हेतु है, अतः वास्तव में त्यागी यथार्थ संन्यासी वही कहा जाता है जो कर्मों के फलों का त्याग कर देता है। फिर भगवान् ने फल के प्रकार के हैं यह बताया। अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव के सम्बन्ध में बताकर ज्ञान, कर्म, कर्ता के सम्बन्ध में बताया। फिर बुद्धि आदि के विषय की वर्णाश्रम धर्म की चर्चा करते हुए अपने यथार्थ विषय भक्ति पर आ गये और कहा मुझे भक्ति के ही द्वारा समग्र रूप मे जाना जा सकता है। ऐसा बताकर अपना सारातिसार सिद्धान्त बताते हैं—"देखो, मेरा एकमात्र आश्रय ले लो, फिर कर्मों को करते रहो। चित्त से समस्त कर्मों को मुझमें अर्पण करदो। मेरे ही परायण हो जाओ। समत्व बुद्धिरूप योग का आश्रय लेकर सब समय निरन्तर मेरे में ही अपने चित्त को लगाने वाले बन जाओ। "मच्चित्तः सततंभव" प्रत्यक्ष आज्ञा है। फिर आगे डरा भी दिया है। देखो, सावधान रहना। यदि तुम मेरे में चित्त लगा कर काम करोगे तो मेरी कृपा से सम्पूर्ण दुःखों से पार हो जाओगे। यदि अहंकार के वशीभूत होकर मेरी बात नहीं सुनोगे, तो स्मरण रखो तुम्हारा विनाश हो जायगा। बार-बार जन्मते मरते रहोगे।[१६]

---

१६. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

आगे सार सिद्धान्त पर आ गये। अठारह अध्यायों में जो कुछ कहा है उसका निचोड़ बताते हुए आज्ञा कर रहे हैं—अर्जुन! ईश्वर ही सबके हृदय में बैठकर सबको नचा रहा है। इसलिये भैया! मैं आज्ञा देता हूँ तुमसे दृढ़ता से कहता हूँ, उस ईश्वर की ही शरण में जाओ। आधेपद्धे नहीं सम्पूर्ण भाव से उनकी शरण में जाओ। मेरे प्यारे भैया! उन्हीं ईश्वर का आश्रय लो, उन्हीं की कृपा से तुम परमशान्ति को–नित्यपद को–प्राप्त कर लोगे।[१७]

बस, गीता का सार सिद्धान्त समाप्त हुआ। गीताकार को जो कुछ कहना था, इसी में उसने सब कुछ कह दिया। ईश्वर की शरण में जाओ, जो कुछ करो उन्हें अर्पण कर दो।" अब एक ही प्रश्न शेष रहा, वह ईश्वर कौन है, वह हमारे समर्पण को स्वीकार करेगा भी या नहीं।

इस पर भगवान् दृढ़ता के साथ कहते है—"अर्जुन तुम चिंता छोड़ दो, मेरे पर विश्वास करो मैं दृढ़ता से कहता हूँ, वह ईश्वर मैं ही हूँ। तुम सभी धर्मों को छोड़कर–एकमात्र मेरी ही शरण में आ जाओ। तुम शरणागत हो जाओ, प्रपन्न बन जाओ मैं तुम्हें समस्त पापों से निश्चय ही मुक्त कर दूँगा। तुम तनिक भी

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥
(१८–५७–५८)

१७. तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८–६२)

शोच मत करो। निर्भय निश्चिन्त हो जाओ।"[१८] बस, गीता समाप्त हुई। यही गीता का राजविद्या और राजगुह्ययोग है। उसी का वर्णन नवमें अध्याय में होगा। नवमें अध्याय की भूमिका की भूमिका समाप्त हुई अब प्रकृति विषय पर आ जाइये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने अर्जुन को योग की शिक्षा दी और उसे सर्वश्रेष्ठ साधन बताया, तो इससे भी बढ़कर एक रहस्यमय साधन बताने को अपने ही आप कहने लगे—"अर्जुन! तुम मुझे बहुत प्यारे लगते हो। तुमको मै एक अत्यन्त रहस्यमय विद्या बताऊँगा। वह सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है। सभी विद्याओं की राजा है।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! आपकी कृपा है, मुझ अधम में में तो ऐसा कोई गुण है नहीं, जो आपके कृपा प्रसाद का भाजन बन सकूँ।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तुममें एक ऐसा बढ़िया गुण है, जो साधारण जीवों में होता नही।"

अत्यन्त विनीत भाव से अर्जुन ने कहा—प्रभो! मुझे तो अपने में ऐसा कोई गुण दिखायी देता नहीं। आप सर्वज्ञ हैं, अब आप से मैं कैसे कहूँ।

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया! साधारण जीव का यह सहज धर्म है, वह अपने से बड़ा किसी को समझता नहीं। वह धन से प्रभाव से, तपादि से किसी से अत्यन्त प्रभावित होकर किसी की प्रशंसा भले ही कर दे, किन्तु साधारणतया जीव अपनी

---

१८. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी० १८ अ० ६६)

तो प्रशंसा करना चाहेगा दूसरों की प्रशंसा नहीं करेगा। यहीं तक नहीं। दूसरों के गुणों में भी लोग दोष निकाला करते हैं। अकारण दूसरों की आलोचना किया करते हैं, जिससे कुछ लेना देना नहीं उसकी असूया निन्दा करते रहते हैं। जो दूसरों की निन्दा करने से सदा बचा रहता है, दूसरों के गुणों में दोष देखने का जिसका स्वभाव नहीं। वही पुरुष मोक्षमार्ग का अधिकारी हो सकता है। तुममें यह असूया-निन्दा न करने का गुण है। अतः दूसरों के गुणों में दोष दृष्टि न करने वाले तुमसे मैं इस गुह्य-ज्ञान को कहूँगा।

अर्जुन ने पूछा—कैसा ज्ञान कहेंगे, भगवन्!

भगवान् ने कहा—भैया! साधारण ज्ञान नहीं विज्ञान सहित यह गुह्यज्ञान तुमसे कहूँगा। इस ज्ञान से तुमको ब्रह्म का-मेरे स्वरूप का-साक्षात् अनुभव हो जायगा।

अर्जुन ने पूछा—इस ज्ञान से क्या हो जायगा प्रभो!

भगवान् ने कहा—सब कुछ हो जायगा। इसे जानकर तुम संसार सागर से पार हो जाओगे। समस्त दुःखों से अशुभों से विमुक्त बन जाओगे।

"क्या नाम है इस विज्ञान सहित ज्ञान का, भगवन्!" अर्जुन ने सहज भाव से प्रश्न किया।

भगवान् ने कहा—"इसका नाम है राजविद्या अर्थात् विद्याओं का राजा।"

अर्जुन ने पूछा—और भी कोई नाम हैं?

भगवान् ने कहा—हाँ इसी को राजगुह्य भी कहते हैं।

अर्जुन—"कैसा विज्ञान है यह स्वामिन्?"

भगवान् ने कहा—परम पवित्र ज्ञान है।

अर्जुन—और?

भगवान्—सर्वोत्तम ज्ञान है।

अर्जुन—और ?

भगवान्—यह ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है, प्रमाण और फलरूप से प्रत्यक्ष ज्ञान है।

अर्जुन—और ?

भगवान् ने कहा—सहस्र-सहस्र जन्मों में, जिन्होंने तप, यज्ञ दानादि पुण्य कर्म किये हैं, उन निष्कल्मष, क्षीण पाप पुरुषों के द्वारा ही जानने योग्य है। जन्मजन्मान्तर के संचित कर्मों का ही फलस्वरूप है। साधारण पुण्य वालों को यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान को तोआप क्लोशोधिकतर बता चुके हैं, क्या यह ज्ञान अत्यन्त कष्ट साध्य है ?

भगवान् ने कहा—नहीं भैया! यह मेरा गुह्य ज्ञान सुख पूर्वक सरलता से किया जाने वाला है, अत्यन्त ही सुगम है।

अर्जुन ने कहा—सरलता से प्राप्त वस्तु कुछ हलकी होती है।

भगवान् ने कहा—इसके सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं। यह अत्यन्त सुगम होने के साथ ही अव्यय है, अविनाशी फल देने वाला है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह तो बड़ी अद्भुत वस्तु आप बतावेंगे। औषधि भी और स्वादिष्ट तथा मीठी भी। ऐसी सर्वश्रेष्ठ वस्तु को तो सभी ग्रहण कर सकते होंगे। तब तो सभी लोग इसे प्राप्त कर विमुक्त बन जायेंगे। यह संसार खाली ही हो जायगा।"

भगवान् ने कहा—अर्जुन ऐसी बात नहीं है। संसार खाली होने वाला नहीं है इसमें तो आवागमन लगा ही रहेगा। सभी इस गुह्यज्ञान के अधिकारी नहीं होते। जो अनधिकारी हैं, वे तो संसार में आते जाते ही रहेंगे। मरते रहेंगे जन्म लेते रहेंगे।

अर्जुन ने पूछा—इस गुह्यज्ञान के अनधिकारी कौन हैं प्रभो ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

गुह्यराज यह ज्ञान राजविद्या कहलावै।
अति ई पावन सुखद सकल अघमूल नसावै॥
जातैं उत्तम नहीं दूसरो ज्ञान सुपावन।
फल देवै प्रत्यक्ष सहज अति मुनि मन भावन॥
धरम युक्त साधन करै, अविनाशी अति सुगम है।
करैं करम विपरीत जे, तिनि कूँ अति ई अगम है॥

श्रद्धावान् ही अव्यक्त ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त कर सकता है

[२]

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥❀

(श्री भ० गी० ९ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

जे श्रद्धायुत करें पाइँ प्रत्यक्ष धरम फल ।
श्रद्धा तैं नहिँ करैं करम सब तिनिके निष्फल ॥
श्रद्धा रहित न पाइँ पुरुष जो हैं अज्ञानी ।
श्रद्धा कारन मुख्य बतावें ऋषि मुनि ज्ञानी ॥
मृत्यु रूप संसार के, चक्कर में भ्रमिबो करें ।
जनम मरन कूँ प्राप्त है, मरें फेरि जनम्यो करें ॥

❀ हे परंतप ! श्रद्धालु पुरुष इस गुह्यतम धर्म में श्रद्धा न करके मुझे बिना प्राप्त किये मृत्यु रूपी संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं ॥३॥

यह सम्पूर्ण जगत मुझ अव्यक्त मूर्ति वाले ब्रह्म से परिपूर्ण है तथा सम्पूर्ण प्राणी मेरे ही भीतर हैं, किन्तु मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ ॥४॥

यह प्राणी श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, उसे वैसा ही फल भी मिल जाता है। सभी जानते हैं, मूर्ति पत्थर की होती हैं, किन्तु श्रद्धालु भक्त उसी में भगवान् का साक्षात् करते हैं। नारी जाति सभी एक सी है, किन्तु जिसमें मातृभावना हो गयी है। मातृवत श्रद्धा हो गयी है, उसमें भोग बुद्धि की कल्पना ही नहीं होती है। एक ही वस्तु है, श्रद्धाभेद से उसके भिन्न-भिन्न रूपदि देते हैं, और श्रद्धा के अनुसार उनके फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

एक महात्मा थे, वे गंगा किनारे रहते थे। एक उनका शिष्य था, वह उनके उपदेश से नित्य ही गंगाजी के जल पर पैरों के द्वारा चलकर इधर आ जाता था। एक दूसरा भी शिष्य था, वह पार नहीं जा सकता था। एक बार दूसरे शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! मुझे भी ऐसा मन्त्र बता दें जिससे मैं भी गंगाजी के जल पर इस पार से उस पार चला जाया करूँ।"

गुरूजी ने एक मन्त्र लिखकर उसके हाथ में बाँध दिया और कह दिया—"अब तू निर्भय होकर जल के ऊपर चला जा।"

गुरूजी के वचनों पर विश्वास करके वह यथार्थ में पानी के ऊपर चला गया। जब वह उस पार पहुँचने ही वाला था, तब उसे जिज्ञासा हुई, देखें तो सही इसमें कौन-सा मन्त्र है।" यह विचार कर उसने हाथ में बँधा मन्त्र खोला। उसमें केवल "राम" लिखा था। उसने आश्चर्य के साथ कहा—"अरे, बस, इस छोटे-से ही मन्त्र में ऐसी शक्ति है। राम राम तो सभी कहते रहते हैं, वे लोग तो पार नहीं जा सकते।"

बस, इतना सोचना था, कि वह जल में डूब गया और मर गया। तभी तो कहा—

राम राम सब कोइ कहत, ठग ठाकुर अरु चोर।
बिना प्रेम रीझत नहीं, नटवर नन्द किशोर॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने इस गुह्यज्ञान के अधिकारी के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् ने कहा—अर्जुन! तुम बड़े बलवान् हो। तुम अपने बाहरी कौरवादि शत्रुओं को तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर भीतरी शत्रुओं को भी दमन करने में समर्थ हो। मैं तुमसे रहस्य की बात कहता हूँ। मेरे इस गुह्यज्ञान को श्रद्धावान् पुरुष ही धारण करके संसार सागर से पार हो सकते हैं। श्रद्धालु साधक ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! यदि आप के इस आत्म ज्ञान रूप धर्म में जिन्हें श्रद्धा न हो, उनकी कौन गति होगी?

भगवान् ने कहा—ये अश्रद्धावान् पुरुष इस धर्म में श्रद्धा न रखने के कारण मुझे प्राप्त न करके भटकते रहते है?

अर्जुन ने पूछा—कहा भटकते रहते है भगवन्!

भगवान् ने कहा—मृत्यु रूप संसार मार्ग में भटकते रहते हैं। अर्थात् जन्म मरण की परम्परा में प्राप्त होकर उच्च तथा नीच योनियों में बार-बार जन्मते रहते हैं बार-बार मरते रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—कैसा है वह आपका गुह्यज्ञान स्वामिन्?

भगवान् ने कहा—"मेरे स्वरूप का यथार्थ ज्ञान जिससे हो जाय, वही यह गुह्यज्ञान है।"

अर्जुन ने पूछा—कैसा है आपका यथार्थ स्वरूप?

भगवान् ने कहा—"मैं अव्यक्त हूँ मुझ अव्यक्त रूप परमतत्त्व में यह सम्पूर्ण व्यक्त जगत व्याप्त है। ये समस्त प्राणी मेरे में स्थित हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"जैसे वृक्ष में बीज व्याप्त है और बीज में सम्पूर्ण वृक्ष व्याप्त है। इसी प्रकार जब सब भूत आप में स्थित है, तो आप भी उनमें स्थित होंगे।"

भगवान् ने कहा—"सो बात नहीं। सब भूत मेरे में अवस्थित अवश्य हैं, किन्तु मै उन सबसे सर्वथा पृथक् हूँ, जैसे गन्ध वायु में व्याप्त है, किन्तु वायु गन्ध से सर्वथा पृथक् है। जैसे वायु आकाश में व्याप्त है, किन्तु आकाश वायु से सर्वथा निर्लेप है। जैसे कमल की जड़ में नाल में फूल में, पत्तों में जल व्याप्त है, किन्तु जल कमल से सर्वथा पृथक् है। कमल का तो जल के बिना अस्तित्व ही नहीं रह सकता। किन्तु जल कमल के बिना भी ज्यों का त्यों ही बना रहेगा। कहीं कोई वस्तु सड़ रही है उसकी दुर्गंध फैल रही है, लोग कहते हैं, वायु बडी दुर्गन्ध युक्त है। वास्तव में वह दुर्गन्ध वायु में नहीं है। वायु चलता रहता है, फिर वायु से दुर्गन्ध प्रतीत नहीं होती। आगे सुगन्धित पुष्प खिल रहे हैं, लोग कहते हैं, कैसी सुगन्धित वायु है, किन्तु आगे चलकर वायु में सुगन्धि भी नहीं रहती। जैसे वायु दुर्गन्ध सुगन्ध से सदा अलिप्त है ऐसे ही मै अव्यक्त इस चराचर जगत् से सर्वदा निर्लिप्त हूँ। मुझमें सब स्थित होने पर भी मैं इनमें स्थित नहीं हूँ।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! यह तो बड़ा चमत्कार है, आप में तो समस्त भूत अवस्थित हैं, किन्तु आप उनसे असंबद्ध कैसे रह सकते हैं?

भगवान् ने कहा—"यही तो मेरा ईश्वरीय प्रभाव है। यही तो मेरे योग का ऐश्वर्य है।"

अर्जुन ने कहा—कैसा है आपका योग ऐश्वर्य?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् जैसे अपना योग ऐश्वर्य को बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

पृथ्वी, जल, आकाश, वायु अरु तेज, देवगन।
इन्द्रिय तिनके विषय अहं चित और बुद्धि मन॥
दृश्य चराचर जगत प्राप्त यह मोमें सब है।
मूरति मम अव्यक्त व्यक्त जाते प्रकटित है॥
मेरे अन्तरगत सबहिँ, भूत व्यापि मों महँ रहत।
किन्तु वास्तविक बात यह, मैं उन सब में नहिं रहत॥

भगवान् विरुद्ध धर्माश्रयी हैं, वे नियमातीत हैं। संसारी व्यवहार, संसारी नियम बन्धन से परे हैं। विरुद्ध धर्माश्रयी उसे कहते हैं, जो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हो। जैसे जल और अग्नि तथा अन्धकार और प्रकाश। जहाँ जल रहेगा वहाँ अग्नि न रहेगी, जहाँ प्रकाश है वहाँ अंधकार टिक ही नहीं सकता। किन्तु भगवान् में दो विरुद्ध धर्म वाले भी एक साथ रह सकते हैं। जैसे वे सबसे छोटे भी हैं, और सबसे बड़े भी हैं। वे सगुण भी हैं निर्गुण भी हैं वे साकार भी हैं निराकर भी है। इसलिये भगवान् के सम्बन्ध में कोई नियम लागू नहीं हो सकता। वे नियम, विधान, विधि, निषेध आदि सबसे परे हैं। भगवान् तो अनादि हैं ये नियम विधान तो पीछे बने है और नाशवान् होने से कालान्तर में नष्ट भी हो जायँगे, किन्तु भगवान् अनादि हैं, उनका आदि नहीं अन्त नहीं, उत्पत्ति नहीं निधन नहीं, जरा नहीं मृत्यु नही भय नही। वे तो परात्पर हैं। जो सबसे परे प्रकृति है, उस प्रकृति से तथा पुरुष से भी परे हैं। वे पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम कहना भी तो उपलक्षण मात्र है। जो किसी से उत्तम होता है, वह किसी से निकृष्ट भी होता होगा, किन्तु भगवान् तो उत्तम मध्यम, उच्च नीच तथा छोटे बड़े सबसे परे हैं। उन भगवान् के सम्बन्ध में आज तक कोई भी यह नहीं कह सका है, कि वे इतने ही है और ऐसे ही हैं। भगवान् के सम्बन्ध में जैसा लोग कहते हैं, वे वैसे हैं भी और नही भी है। प्राचीन लोग इस सम्बन्ध में एक कथा कहते हैं।

एक बार एक कमलनयन सम्मेलन हुआ। कमलनयन अंधों को कहते हैं। नाम तो रखा कमलनयन आँखें दोनों फूटी हुई। कमलनयन लोग बैठकर किसी बात पर चर्चा कर रहे थे। उसी समय किसी ने कहा हाथी आया है, हाथी खड़ा है।

उन कमल नयनों ने आज तक कभी हाथी देखा ही नहीं था। सभी जन्मान्ध थे। देखा किसी ने कुछ भी नहीं था, सभी हाथ से स्पर्श करके सबके सम्बन्ध में अनुमान से व्यवहार चलाते थे। सबने कहा—एक बार सभी जाकर अपनी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श करके अपना-अपना अनुभव बताओ कि हाथी कैसा है। यह सुनकर उनमें से एक कमलनयन गये, उन्होंने हाथी के पैर का ऊपर से नीचे तक स्पर्श किया। उन्होंने निश्चय कर लिया हाथी खम्भा की भाँति है। अब दूसरे गये, उन्होंने हाथी के बड़े कान का ही स्पर्श किया। उसे चारों ओर से स्पर्श करके निश्चय कर लिया-हाथी सूप जैसा है। तीसरे गये उन्होंने हाथी की सूंड़ को ही स्पर्श किया। उन्होंने निश्चय किया-हाथी तुरही जैसा है। चौथे गये उन्होंने हाथी के बड़े-बड़े दांतों का ही किया। उन्होंने कहा—हाथी बड़े खूंटा के समान है। पाँचवें गये और पीछे से जाकर पूंछ को स्पर्श किया उन्होंने निश्चय कर लिया-हाथी रस्सी के सदृश है। छटे गये तो हाथी वाले ने पूछा—कमलनयनजी ! क्या चाहते हो ?"

उन्होंने कहा—"हम हाथी देखना चाहते हैं।" यह सुनकर हाथी वाले ने एक सीढ़ी लगाकर उन्हें हाथी की पीठ पर चढ़ा दिया। पीठकर चढ़कर उन्होने चारों ओर हाथ फेर कर निश्चय किया कि हाथी भीत के समान है इस पर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार निश्चय करके वे फिर सब एक स्थान में एकत्रित हुए और अपना-अपना अनुभव सुनाने को कहा।

एक ने कहा—हाथी तो खम्भा के समान है। दूसरा बोला—तुम मूर्ख हो, हाथी खम्भे के समान नहीं है, वह सूप के समान है। तीसरे ने कहा—अरे भाई, क्यों झूठ बोलते हो। हाथी न खम्भे के समान न सूप के समान वह तो तुरही के समान है। चौथे ने

कहा—बकवाद मत करो मैं अच्छी तरह देखकर आया हूँ हाथी खूंटा के समान है। पांचवें ने कहा—तुम लोग तो गप्प मारते हो, मैं प्रत्यक्ष देखकर आया हूँ, हाथी रस्सी के समान है। इस पर छटे बोले—तुम सब झूठे हो। प्रतीत होता है, तुम लोग हाथी के स्थान पर अन्य-अन्य वस्तुओं पर हाथ फेर कर चले आये होगे। मुझे तो हाथी वाले ने स्वयं उसके ऊपर चढ़ाया था, वह तो एक बड़े भारी बिठौरा के समान। भारी भीत के समान होता है। अब वे लोग लगे आपस में लड़ने। नहीं हमने स्वयं देखा है, ऐसा नहीं ऐसा है।

उन सबकी बातों को एक यथार्थ आँखों वाला सुन रहा था। उसने कहा—अरे, भाई लड़ते क्यों हो? या तो आप सब ही सत्य बोल रहे हो, या सभी झूठ बोल रहे हो। वास्तव में आप जैसा कह रहे हैं वह एक देश में वैसा है भी और समग्र देश में उनसे भिन्न भी है। इस प्रकार भगवान् के सम्बन्ध में जितने अनुमान लगाये जाते हैं, वे एक देशीय होने से सत्य भी है और सार्वदेशिक अनुभव न होने से असत्य भी हैं। इसलिये भगवान् कभी कह देते हैं मैं इन सब भूतों में हूँ ये सब भूत मेरे में हैं। फिर कभी कह देते हैं मैं न तो इन भूतों में हूँ न ये भूत मुझमें ही हैं। इसलिये अस्ति भी वे ही हैं नास्ति भी वे ही हैं। यह सब उनकी अद्भुत, अचिन्त्य, अलौकिक, विलक्षण योगमाया योग ऐश्वर्य की ही विलक्षणता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् अपना योग ऐश्वर्य बताते हुए कहते हैं—अर्जुन! मैंने जो पीछे कहा है, कि यह सम्पूर्ण जगत्, ये सम्पूर्ण भूत, ये सभी चराचर प्राणी मेरे में ही व्याप्त हैं, सब भूत मुझमें ही स्थित हैं, सो यह भी

बात नहीं है। वास्तविक बात तो यह है, कि ये भूत मेरे में स्थित नहीं हैं।

अर्जुन ने कहा—"महाराज, एक बार तो आप कहते हो 'मया-ततमिदं सर्वम्' मुझमें ही यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, फिर कहते हो 'न च मत्स्थानि भूतानि' ये भूत मेरे में स्थित नहीं है। ये दोनों विरुद्ध बातें कैसे सम्भव हो सकती है?"

भगवान् ने कहा—"इसलिये संभव हो सकती हैं, कि मैं विरुद्ध धर्माश्रयी हूँ। इस जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण हूँ। यही तो मेरा विचित्र योग है, यही तो मेरा अद्भुत ऐश्वर्य है। अर्जुन! तुम मेरे इस अद्भुत योग प्रभाव को देखो। देखो, मैं उपादान कारण होने से सम्पूर्ण भूतों का भरणपोषण करता हूँ। सबका जनक होने से सबकी उत्पत्ति भी मैं ही करता हूँ। किन्तु वास्तविक बात यह है कि मेरी आत्मा उनसे सम्बद्ध नहीं है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आप सबके जनक हो, सबका भरणपोषण करते हो। सब आपके आश्रय से अवस्थित हैं फिर भी आप इनसे असम्बद्ध कैसे रह सकते हैं?"

भगवान् ने कहा—रह क्यों नहीं सकता। लोक में ही तुम देखो। ये जो महान् वायु है, वह सर्वगत है, चलनशील है, सदा सर्वदा चलती ही रहती है। यह रहती कहाँ है?

अर्जुन ने कहा—वायु तो आकाश में व्याप्त रहती है।

भगवान् ने कहा—यथार्थ बात तुमने कही। अच्छा बताओ आकाश वायु से लिप्त है?

अर्जुन ने कहा—आकाश तो सर्वथा निर्लिप्त है।

भगवान् ने कहा—इसी प्रकार सब भूत यद्यपि मुझमें मेरे आश्रय में रहते हैं किन्तु मैं इनसे असम्बद्ध रहता हूँ, इन सबसे सर्वथा निर्लिप्त रहता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—कल्प के अन्त में जब सब भूतों की प्रलय हो जाती है तब ये सब रहते कहाँ हैं ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

वायु सदा आकाश माहिँ ही निवसत है नित।
ताही तैं उत्पन्न वास करि विचरत है नित॥
वायु रहै आकाश नहीं आकाश वायु महँ।
मोतैं होवैं भूत रहैं नहिँ निवसूँ तिनि महँ॥
वायु होहि आकाश तैं, आकाशहिँ इस्थिर रहत।
ऐसे मोतैं भूत है, मोई में नितप्रति वसत॥

भगवान् अपनी प्रकृति के आश्रय से जगत् रचना करते हैं

[४]

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

मेरी जो है प्रकृति चराचर तातैं होवैं ।
होहिँ कल्प को अन्त सबहि मोई में सोवैं ॥
कल्प अन्त में विश्व प्रकृति मम लीन कहावै ।
ज्यों को त्यों प्रारब्ध भोगवश पुनि बनि जावै ॥
जनम मरन को चक्र यह, चलत रहत संसार मैं ।
पुनि-पुनि जनमत पुनि मरत, सार नहीं हूँ सार मैं ॥

---

* हे कुन्तीनन्दन ! कल्प के अन्त मे सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि मे उनको मैं पुनः उत्पन्न करता हूँ ॥७॥

अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर प्रकृति के वश से परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को मैं पुनः पुनः रचता हूँ ॥८॥

कोई वस्तु नई नहीं, किसी नाम रूप का सर्वथा नाश नहीं। चीनी है, उसके अनेक प्रकार के खिलौने बना दिये। फिर उन सब भिन्न-भिन्न नाम रूप वाले खिलौनों को भट्टी पर चढ़ा दिया। फिर उसके खिलौने बना दिये। नाम वही, रूप वही पदार्थ वही। पहिले खिलौनों का नवीनी करण हो गया। नवीनीकरण का ही नाम कल्प है। शरीर है, दिन भर कार्य करते-करते थक गया। रात्रि में सो गये। सोने से समस्त थकावट उतर गयी। नयी स्फूर्ति, नया बल नया उत्साह आ गया। एक प्रकार से कल की अपेक्षा आज नवीनता आ गयी।

शरीर है, समय पाकर वृद्ध हो गया, शरीर में झुर्रिया पड़ गयीं, बाल सफेद हो गये, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो गयी। आयुर्वेद के अनुसार शास्त्रोक्त विधि से रसायन का सेवन किया। शरीर के भीतर एकत्रित मल निकल गया। पुरानी त्वचा गल कर नई त्वचा आ गयी। नाड़ियों में जो ग्रन्थियाँ मल के एकत्रित होने से पड़ गयीं थी। वे मल के निकल जाने से गांठें गल गयी। उन्हीं के कारण शरीर में झुर्रियाँ थी। वे मिट गयी। मल शुद्ध हो जाने से सफेद बाल और पुराने दांत गिर गये, उनके स्थान में सुन्दर नये दांत, काले बाल पैदा हो गये। इसी का नाम काया कल्प है, शरीर का नवीनी करण है।

तीर्थराज प्रयाग में कल्पवास माघ मकर के समय एक महीने तक किया जाता है। गंगा यमुना की परम पावन बालुका में कुटिया बनाकर महीने भर वहीं वास करते हैं। त्रिकाल स्नान करते हैं। जप, तप, पूजन, पाठ, दान, धर्म, हवनादि सत्कर्म करते है। मकर की संक्रान्ति बीत जाने पर यात्री अपने-अपने घर चले जाते वर्षात् में गंगा जमुना बढ़कर कल्पवास की भूमि को डुबो देती हैं। पुरानी बालू को वहा ले जाती हैं। नई बालू

वहाँ बिछा देती हैं। वही उस स्थान का कल्प हो गया, नवीनीकरण हो गया। दूसरे वर्ष उस कल्प की हुई भूमि पर पुनः माघ का मेला लग जाता है। प्रति वर्ष कुटियों के स्थानों में कुछ थोड़ा बहुत हेर फेर हो जाता है। पहिले व्यवस्थापक का शिविर गंगा पट्टी में था, अबके यमुना पट्टी में लग गया। पहिले बाजार हनुमत् पथ की ओर था, अबके त्रिवेणी पथ पर लग गया। तनिक से हेर फेर को छोड़कर मेला सदा उसी प्रकार लगता है। वही गंगा यमुना की बालू। इसी का नाम कल्पवास है।

ठीक यही बात इस जगत् के सम्बन्ध में भी है। ब्रह्माजी के एक दिन को कल्प कहते हैं। चारों युग जब एक सहस्र बार व्यतीत हो जाते हैं, तब ब्रह्माजी का एकदिन हो जाता है। तब ब्रह्माजी इस सम्पूर्ण चराचर त्रिलोक को अपने भीतर समेट कर उसी प्रकार सो जाते हैं, जैसे पर चूनिया अपनी दुकान का समस्त माल भीतर बन्द करके सो जाता है। उस समय कोई बन्द की हुई दुकान को देखता है, तो यही समझेगा। इस दुकान में कुछ भी नहीं है। किन्तु प्रातःकाल होते ही। दुकानदार अपनी दुकान के भीतर रखे हुए समस्त सामान को बाहर निकाल-निकालकर सजा देता है। उनको धूलि झाड़कर, उनको फिर से नया बना देता हैं। कल जो सामान बिक गया था, कम हो गया था, उसे फिर लाकर पूरा कर देता है। नित्य ही वह दुकान लगाता है, रात्रि में सामान भीतर रखकर दुकान को बढ़ाकर सो जाता है, जब तक जीवित रहता है नित्य ही ऐसे दुकान लगाकर बैठता है। बूढ़ा होकर मर जाता है, तो उसका लड़का या कोई भी जो उसका स्थानापन्न होता है, वह उसी प्रकार दुकान लगाता है।

ऐसे ही ब्रह्माजी भी एक संसार रूपी दुकान के दुकानदार

उनकी रात्रि होती है, तब वे सब भूतों को अपने में समेट कर सो जाते हैं। प्रातः उठकर फिर सृष्टि को रच देते हैं।

अर्जुन ने पूछा—दूसरे दिन की सृष्टि में कुछ नवीनता होती होगी ?

भगवान् ने कहा—नवीनता आवे कहाँ से। वही जल है, वही अन्न है, वही दाल, भात, मसाला है। आज भोजन करके सो गये। कल फिर वही भोजन वही जल। नवीनता आवे कहाँ से। जैसे हम एक से ही पदार्थों को नित्य खाते हैं, वैसे ही ब्रह्मा जी यथापूर्व इस ससार की कल्पना कर देते हैं।

अर्जुन ने कहा—यह होता किसके द्वारा है ?

भगवान् ने कहा—मेरी प्रकृति के द्वारा होता है।

अर्जुन ने पूछा—"प्रकृति क्या ?"

भगवान् ने कहा—प्रकृति माने स्वभाव। मेरा स्वभाव ही कुछ न कुछ खटर पटर करते रहने का है। बच्चे जैसे मिट्टी के खिलौने बनाकर खेलते रहते हैं ऐसे ही मैं इन समस्त भूतों के साथ क्रीड़ा करता रहता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—महाराज, आप बच्चे तो नहीं हैं ?

हँसकर भगवान् ने कहा—मैं बच्चा हूँ भी नहीं भी हूँ, न मैं बच्चा हूँ, न युवा हूँ, न बूढ़ा हूँ। तो भी मैं ही बच्चा बन जाता हूँ, मैं ही युवक बन जाता हूँ मैं ही हाथ में लाठी लेकर बूढे का अभिनय करता हूँ। कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—क्या वे सदा के लिये लीन हो जाते हैं ?

भगवान् ने कहा—अरे, भाई, सदा के लिये कौन लीन होता है, जहाँ ब्राह्मी निशा समाप्त हुई। दिन हुआ कि फिर मैं सबकी रचना कर देता हूँ।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! क्यों इस व्यर्थ के व्यापार को करते रहते हो ?

भगवान् ने कहा—तुमको बार-बार तो बता चुका, जिसका जैसा स्वभाव पड़ जाता है, फिर उसका छूटना कठिन पड़ जाता है। मैं स्वभाव के द्वारा अपनी ही प्रकृति को अङ्गीकार करके इस खेल को करता रहता हूँ। यह भूत समुदाय भी कर्मों के अधीन होकर परतन्त्र की भाँति बार-बार उत्पन्न होते रहते हैं बार-बार विलीन होते रहते हैं। मैं भी बार-बार प्रलय करता हूँ पुनः रचना कर देता हूँ। यह मेरा खेल निरन्तर चलता ही रहता है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! कर्म तो बन्धन के कारण होते हैं। आप इतने भारी प्रपञ्च को पैदा करते रहते हैं, नष्ट करते रहते हैं, तब तो कुछ न कुछ बन्धन तो आपको होता ही होगा ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जैसो जाको करम ताहि तस तन मिलि जावै।
भोग न आत्मा करै करम ही भोग करावै॥
स्वीकारूँ निज प्रकृति काज ग्वातें करवाऊँ।
विवश प्रकृतिवश जीव तिनहिँ जग माहिँ भ्रमाऊँ॥
वाहन मेरी प्रकृति है, ताही पर चढ़िकें फिरूँ।
भ्रमैं करमवश भूत तिनि, बार-बार रचना करूँ॥

भगवान् उदासीन भाव से कर्म करते हैं

[५]

न च मां तानि कर्माणि निबन्धन्ति धनजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥❀

(श्री भग० गी० ९ अ० ९, १० श्लोक)

छप्पय

तुमहुँ करम वश फिरहु प्रश्न यह तुमतैं स्वामी ।
तुमकूँ बाँधें करम करौ बनि अन्तरजामी ॥
अरे धनंजय ! उन करमनि आसक्ति रहित हूँ ।
उदासीन के सरिस सदा उनमें इस्थित हूँ ॥
जीव बँध्यो उन करम तैं, मैं तो उनतैं बिलग हूँ ।
रहूँ सदा निरलेप नित, नहिँ हौं तिनिमें बँधत हूँ ॥

❀ हे धनञ्जय ! उन कर्मों मे अनासक्त और उदासीनवत् स्थित रहने से मुझे वे कर्म बाँधते नही है ॥९॥

हे कौन्तेय ! मेरी अध्यक्षता मे यह प्रकृति इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है । इस हेतु से यह संसार चक्र घूमता रहता है ॥१०॥

बन्धन का कारण कर्म नहीं है। आसक्ति ही बन्धन का कारण है। फल की इच्छा से आसक्ति सहित किया हुआ कर्म ही बाँधता है। निष्कामभाव से उदासीन रहकर बिना आसक्ति के जो कर्म किया जाता है, उससे किसी प्रकार का बन्धन संभव नहीं। कर्म न कोई बुरा है न अच्छा कर्म जिस भाव से किया जायगा, उसी भाव मे सुख दुख पुण्य पाप होगा। किसी का धन छीन लेना पाप कर्म है। डाकू लोग बल पूर्वक लोगों के यहाँ से धन छीन लाते हैं, इसमे उन्हें पाप लगता है, नरकों में जाना पड़ता है। किन्तु अर्जुन का नाम एक धनञ्जय भी है, वे धर्मराज के राजसूय यज्ञ के लिये सहस्रों राजाओं को जीतकर उनसे बलपूर्वक धन छीन लाये थे। वे डाकुओं की भाँति अपनी सुख सुविधा के निमित्त धन छीनकर नहीं लाये थे, वे यज्ञ रूप महान् पुण्यप्रद कार्य के लिये बलपूर्वक धन छीनकर लाये थे, इसलिये उन्हें पाप न लगकर और पुण्य ही लगा। उनकी निंदा न होकर सर्वत्र प्रशंसा ही हुई। धनञ्जय नाम उनके गौरव का द्योतक था।

एक महात्मा थे, उनके यहाँ एक शिष्य शिक्षा पाता था। शिष्य जब अध्यात्म विद्या में पारगत हो गया, तब स्नातक होकर अपने घर चला गया। विवाह करके गृहस्थी के कार्य करने लगा। दयालु गुरु ने एक दिन सोचा—चलो, गृहस्थी होने के अनन्तर अपने शिष्य की परीक्षा तो करें, उसे मेरा सिखाया ज्ञान स्मरण है या भूल गया। यह सोचकर वे वेष बदलकर भोजन के समय शिष्य के द्वार पर पहुँचे। गृहस्थाश्रम को स्वीकार करने का एकमात्र प्रयोजन इतना ही है, कि इसके द्वारा देवता, पितर तथा अतिथियों का सत्कार हो सके। प्राचीन प्रथा थी, कि भोजन बन जाने पर गृहस्वामी द्वार पर खड़ा होकर मुहूर्त अतिथि की प्रतीक्षा करता। उस समय जो भी कोई भोजन की इच्छा से यात्रा करते

हुए अतिथि आ जाता उसकी भगवत् बुद्धि से पूजा करता, और जो भी कुछ पाक बना रहता, उससे उसे भोजन कराता। जिस दिन कोई योग्य ज्ञानवृद्ध अतिथि आ जाता उस दिन गृहस्वामी अपना परम सौभाग्य समझता।

उन ब्राह्मण ने भी देखा आज भोजन के समय मेरे द्वार पर एक वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध महर्षि आ गये हैं, उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। भगवत् बुद्धि से उनका पूजन किया और तृप्ति पूर्वक उन्हें भोजन कराया।

भोजन के अनन्तर उनके लिये सुखकर शैया बिछा दी। वृद्ध ब्राह्मण उस पर लेट गये। गृहस्वामी शनैः शनैः उनके पैर दबाने लगे। पैर दबाते-दबाते गृहस्वामी ने पूछा—भगवन्! भोजन तो स्वादिष्ट था न, उसे खाकर आपकी तृप्ति तो हो गयी?

महर्षि ने कहा—कैसा भोजन?

गृहस्वामी ने कहा—यही दाल भात रोटी।

महर्षि ने कहा—फिर इन्हें खाया किसने।

गृहस्वामी ने कहा—आपने ही तो खाया था।

महर्षि ने कहा—मैंने तो खाया ही नहीं, जब मैंने खाया ही नहीं तो, तृप्ति का प्रश्न व्यर्थ है।

गृहस्वामी ने कहा—महाराज अभी-अभी तो आपने खाया है, खाकर आपने डकार भी ली। आप पहिले भूखे थे, खाकर तृप्ति का अनुभव किया।

महर्षि ने कहा—तुम बार-बार कह रहे हो तुमने ऐसा किया, तुमने खाया। यह 'तुम' क्या? किसको खाया? किसने खाया?

इस शरीर में जड़ और चैतन्य दो पदार्थ है। शरीर तो जड़ है। अन्न जड़ है, पृथ्वी का विकार है, देह जड़ है, यह भी पृथ्वी का विकार है। जितना भी यह चराचर भूत है, सब पृथ्वी से पैदा

हुआ है। जिनको तुम दाल, भात, रोटी कहते हो, वे सब पृथ्वी से उत्पन्न हुए है, पृथ्वी में ही अन्त में मिल जायेंगे। शरीर भी पार्थिव है। पार्थिव शरीर में एक जठराग्नि है, प्राण हैं, प्राणों को खाने-पीने की आवश्यकता होती है, पार्थिव पदार्थों को ही उदर में डाल लेते हैं। जैसे कोई मिट्टी का बना घर है, उसे दूसरी गंगाजी की चिकनी मिट्टी ही लाकर लहेपते हैं, मिट्टी और गोबर से लीप देते हैं, तो क्या वह मिट्टी गृहस्वामी को लग जाती है। घर का चैतन्य स्वामी तो घर से सर्वथा पृथक् है। घर के टूटने पर भी गृहस्वामी तो टूटता नहीं। घर के नष्ट होने पर भी गृह स्वामी तो बना ही रहता है। इसी प्रकार इस देहरूप गृह के स्वामी चैतन्य आत्मा का अन्न पान से क्या सम्बन्ध ? आत्म तो खाता पीता नहीं। वह अतृप्त भी नहीं। वह स्वतः तृप्त है। उसकी दाल भात रोटी से तृप्ति क्या होगी ? उसकी देह में आसक्ति नहीं। दोनों का भिन्न भिन्न स्वभाव है। देह जड है, आत्मा चैतन्य है। देह नाशवान् है,आत्मा अविनाशी है। देह का जन्म होता है मरण होता है, आत्मा जन्म मरण से सर्वदा रहित है। फिर किसने खाया और किसने खिलाया। कौन पहिले अतृप्त था और अब कौन तृप्त हो गया ?

गृहस्वामी ने कहा—भगवन् ! ऐसा दिव्य ज्ञान तो मेरे गुरु के अतिरिक्त किसी को नहीं था। आप मेरे गुरुदेव तो नहीं हैं ?

हँसकर महर्षि ने कहा—"हाँ, मैं तुम्हारा गुरु ही हूँ, तुम्हें उपदेश करने ही आया था, कि तुम आसक्ति से रहित होकर अपने को कर्ता न मानकर निष्काम भाव से ही कर्म करते रहो। तुम समझो गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं तुम उदासीन भाव से अपने को केवल साक्षी समझकर इस कर्मचक्र को देखते रहो। जितने

कर्म हैं, सब प्रकृति द्वारा हो रहे हैं। जो अहंकार से विमूढ़ बन गये हैं, वे अपने को कर्ता मान बैठे हैं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—आप इस जगत् को उत्पन्न करते हैं और फिर इसका संहार करते हैं इस प्रकार बारम्बार इन्हीं व्यापारों को करते रहते हैं, तो ये कर्म आपके लिये बन्धन का कारण तो नहीं होते?

इस पर भगवान् ने कहा—"हे धनञ्जय! तुम भी तो धर्मराज के राजसूय यज्ञ के लिये राजाओं से बलपूर्वक धन छीन कर लाये थे। क्या तुमको उस धन छीनने से पाप लगा?"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! मुझे पाप क्यों लगता। मेरी भावना तो शुद्ध थी, पुण्य कर्म के लिये धन लाया था, इससे पाप न लगकर मुझे पुण्य ही लगा। आप भी उसी कारण बड़े गौरव से मुझे धनञ्जय कहकर सम्बोधित कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा—तुमने पुण्य भावना से कर्म किया तुम्हें पुण्य लगा। मैं पाप पुण्य दोनों से रहित होकर कर्म करता हूँ इसलिये वे कर्म मुझको बाँधते नहीं।

अर्जुन ने कहा—कर्म मात्र ही बन्धन का हेतु हैं, तब ऐसे भारी-भारी स्थिति प्रलय रूप कर्म आपको बाँधते क्यों नहीं।

भगवान् ने कहा—दो पंडित पक्ष विपक्ष लेकर शास्त्रार्थ कर रहे हैं। दोनों की ही विजय में आसक्ति है। दोनों ही विजय चाहते हैं। एक पराजित हो जाता है, तो उसे आसक्ति के कारण दुःख होता है, दूसरा विजयी हो जाता है विजय में आसक्ति के कारण उसे हर्ष होता है। किन्तु जो जय विजय दोनों से ही उदासीन है, उसे न हर्ष होता है न विषाद। मैं उदासीन के समान स्थित होकर सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्मों को करता रहता हूँ, इसलिये आसक्ति न होने के कारण मेरे लिये ये कर्म बन्धन के हेतु नहीं हैं।

अर्जुन ने कहा—आप उदासीन की भाँति स्थिर रहते हैं यह ठीक है, किन्तु उदासीन जो रहता है, वह कर्ता कभी नहीं होता। उदासीन तो निष्क्रिय होकर केवल साक्षी रूप से देखता रहता है। करने वाले दूसरे होते हैं। जैसे घर में दीपक जल रहा है, उसके प्रकाश में पाप या पुण्य कर्म करने वाले दूसरे होते हैं। दीपक तो केवल प्रकाश देता रहता है, वह बिना कुछ किये साक्षी बनकर अवस्थित रहता है, कोई पाप करता है, तो दीपक मना नहीं करता। पुण्य कर्म करता है, तो उसकी प्रशंसा नहीं करता। कर्ता और उदासीन दोनों एक साथ नहीं हो सकते ?

भगवान् ने कहा—हे कौन्तेय ! तुम यथार्थ कहते हो। वास्तव में मै कुछ भी नहीं करता। मै तो दीपक की भाँति केवल साक्षी मात्र हूँ। मेरे प्रकाश से प्रकाशित प्रकृति ही इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। यदि मैं करता होता तो मै तो सदा एक रस अपरिवर्तन शील हूँ। मेरा रचा हुआ संसार होता तो यह भी अपरिवर्तनशील होता है। क्योंकि मेरी प्रकृति परिवर्तनशील है, इसके द्वारा रचा होने से यह जगत् भी परिवर्तनशील है। यह जगत् अनेक प्रकार से परिवर्तित होता रहता है। मैं तो केवल अध्यक्ष मात्र हूँ। सभा की कार्यवाही कार्यकारिणी के निश्चयानुसार होती रहती है। मैं ता उच्चासन पर बैठा हुआ उसका अवलोकन मात्र करता रहता हूँ।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! आप तो निर्गुण निराकार हैं, फिर भी आप सगुण साकार रूप रख कर भाँति-भाँति के कर्म करते हुए से दिखायी देते हैं। जरासंध शिशुपाल कंसादि आपके कर्मों की निन्दा भी करते हैं। जब आप सर्व समर्थ हैं तो वे लोग आपकी निन्दा क्यों करते हैं ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रश्न का जो उत्तर भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा ।

छप्पय

यदि तुम करता नहीं करौ फिरि कैसे जग कूँ ।
करता बिनु जड़ करै पार वाहन कस मग कूँ ॥
अरजुन भैया ! सुनो, प्रकृति अध्यक्ष कहाऊँ ।
मेरो पाइ सकाश ताहि तैं जगत रचाऊँ ॥
मेरे ई आधार तैं, प्रकृति चराचर जग करत ।
करमनि कूँ आगे किये, जगत-चक्र घूमत रहत ॥

भगवत् अवतारों की निन्दा करने वाले आसुरी स्वभाव के हैं

(६)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

(श्री भग० गी० ९ अ० ११, १२ श्लोक)

छप्पय

मूढ़ न जानें मरम मोइ मानुस ई मानें ।
परम भाव नहिं जानि कृष्ण यादव यह जानें ॥
मैं हूँ सर्वाधार सर्वव्यापी जगस्वामी ।
करता धरता और न हरता समुझें कामी ॥
सब भूतनि को महेश्वर, मूढ़ करैं अपमान नित ।
जीव जगत उद्धार हित, आयौ नरतनु धारि इत ॥

---

* मनुष्य शरीर धारण करने वाले मुझ परमात्मा को लोग तुच्छ समझते हैं, वे मेरे सर्वभूत महेश्वर रूप भाव को मूढ होने के कारण जानते नहीं ॥११॥

वे अज्ञानीजन व्यर्थ की आशा करने वाले तथा व्यर्थ कर्म करने वाले होते हैं, क्योंकि वे मेरी मोहिनी राक्षसी और आसुरी प्रकृति का आश्रय लिये हुए हैं ॥१२॥

मानव जैसी प्रकृति का होता है, वैसी ही बात सोचता है। साधारण मनुष्य भगवान् को भी अपने ही समान सांसारी नियमों में बांधना चाहते हैं। जो नियम संसारी लोगों के लिये हैं, उन्हें भगवान् पर भी लागू करना चाहते हैं। बहुत से लोग कहा करते हैं—"भगवान् तो निर्गुण निराकार हैं, वे सगुण साकार कैसे हो सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म का अवतार सम्भव नहीं। भगवान् मानुषी शरीर कभी धारण कर ही नहीं सकते। जो शरीरधारी है, वह भगवान् हो ही नहीं सकता।"

वे भगवान् को भी अपने नियमों में आबद्ध करना चाहते हैं। वे भोले बन्धु इस बात को समझ ही नही सकते कि भगवान् विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। वे निर्गुण निराकार भी हैं, सगुण साकार भी हैं, वे अशरीरी भी हैं और शरीरधारी भी है वे पुरुष भी बन जाते हैं और स्त्री रूप रख कर असुर प्रकृति वालों को मोह मे भी डाल सकते है।"

कुछ लोग कहते हैं—"यह तो नियम विरुद्ध है। सर्वसमर्थ का यह अर्थ नहीं कि भगवान् धर्म विरुद्ध कार्य करें। चोरी, जारी तथा मिथ्या आदि धर्म विरुद्ध कार्यों को करें।" बात यह है, कि जो भगवान् को सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं शक्य" नही मानते वे ही ऐसी बातें करते हैं। भगवान् धर्म अधर्म, पुण्य पाप के बन्धनों से परे हैं। उनके लिये न कोई धर्म है न अधर्म न उनके लिये पुण्य है न पाप। वे स्वेच्छाचार से भी ऊपर हैं। रही, चोरी, जारी तथा मिथ्यापने की बात सो ये कर्म मनुष्यों के लिये दोषयुक्त हैं। भगवान् की चोरी लीला तो जीवों को और अधिक सुख देने वाली होती है। ऐसा न होता तो भगवान् की माखन चोरी लीला को सुन

कर भगवत् भक्त परम प्रमुदित क्यों होते ? ब्रजाङ्गनाओं के साथ की हुई रासलीला को सुनकर भागवत् जन प्रेम में विह्वल होकर अश्रु क्यों बहाते। जालंधर की पत्नी वृन्दा के साथ की हुई लीला को सुनकर भाव मग्न क्यों होते ?

महाभारत के समय भगवान् ने जो-जो मिथ्याचार की लीलाएँ की हैं, उन्हें यदि कोई साधारण मनुष्य करता तो वह सबसे बड़ा झूठा गिना जाता। क्या भीष्म पितामह का वध अन्याय पूर्वक नहीं हुआ ? क्या द्रोणाचार्य की मृत्यु के लिये भीम ने धर्मराज युधिष्ठिर तक ने असत्य भाषण श्रीकृष्ण की अनुमति से नहीं किया ? क्या विपत्ति में पड़े वीरवर कर्ण के ऊपर अन्याय पूर्वक प्रहार श्रीकृष्ण की ही आज्ञा से अर्जुन ने नहीं किया ? ये सब काम सांसारिक दृष्टि से धर्म के विरुद्ध थे, किन्तु श्रीकृष्ण धर्म अधर्म दोनों से परे हैं। उनकी आज्ञा परम धर्म है।

तभी तो भगवान् शुकदेव जी ने राजा परीक्षित् से रास क्रीड़ा प्रसंग में स्पष्ट कहा था—राजन् ! ईश्वर कभी-कभी धर्म का उलङ्घन करते हुए देखे गये है। किन्तु उन कार्यों से उन तेजस्वी पुरुषों को कोई दोष नहीं होता। समर्थ्यवान पुरुष अहंकारहीन होते हैं, शुभ कर्मों के करने में उनका कोई सांसारिक स्वार्थ नहीं होता, और अशुभ कर्म करने में कोई अनर्थ नहीं होता। वे स्वार्थ और अनर्थ से ऊपर उठे होते हैं। यह बात तो उन सिद्धों के सम्बन्ध में है जो अभिमान शून्य है या सूर्य अग्नि आदि सामर्थ्यवान हैं। जब ये ही पुण्य पाप से नहीं बँधते तो सर्व समर्थ, सबके स्वामी सर्वेश्वर भगवान् को तो पुण्य पाप लग ही कैसे सकता है। भगवान् जीवों पर कृपा करने के लिये ही अपने को मनुष्य रूप में प्रकट करते हैं और ऐसी-ऐसी लीलायें करते

हैं जिन्हें सुन कर दैवी सम्पत्ति के जीव भगवत् परायण हों।

जो दैवी सम्पत्तिके जीव हैं, वे तो भगवान् की प्रत्येक लीला में परम सुख की अनुभूति करते हैं, किन्तु जो आसुरी सम्पत्ति के जीव हैं, वे तो मानव रूपधारी भगवान् का अनादर करते है। इसीलिये उद्धवजी ने विदुरजी से कहा था—"विदुर जी! यह मनुष्य लोक बड़ा भाग्यहीन है। इनमें भी यादव तो और भी अधिक हत भागी हैं, जिनके साथ श्रीकृष्ण निरन्तर रहे, फिर भी उन अभागियों ने भगवान् को पहिचाना नहीं। वे श्रीकृष्ण को भी अपने ही समान साधारण यादव ही मानते थे।"

भगवान् की यही तो भगवत्ता है, सदा समीप रहने वाले भी उनकी योगमाया के प्रभाव से उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं पहिचान सकते। दन्तवक्र, शिशुपाल, जरासन्धादि उनकी निरन्तर निन्दा ही किया करते थे। सत्यभामा के पिता सत्राजित् ने प्रत्यक्ष ही श्रीकृष्ण को स्यमन्तकमणि की चोरी लगा दी थी। उसी ने चोरी नहीं लगायी थी। यादवों के घर की स्त्रियाँ अपने बच्चों से कहने लगीं थीं—"देखना, सुवर्ण के आभूषण पहिनकर बाहर मत जाना, आजकल श्रीकृष्ण का मन सोने को देखकर विचलित हो जाता है।"

अब बताइये उन सर्वान्तर्यामी प्रभु के लिये क्या सोना या मिट्टी। फिर भी उनके अनन्य भक्त अक्रूरजी मणि को छिपाकर भाग गये। इसी से समझा जाता है, कि भगवान् जब मानुष रूप में आते हैं, तो किसी भाग्यशाली व्यक्ति की ही उन पर श्रद्धा होती है। भाग्यहीनों के तो साथ ही रहते हैं, फिर भी वे उन्हें पहिचानते नहीं।

दुर्योधन की राजसभा में भगवान् ने अपना विराट् रूप

दिखाया। जिसे देखकर अर्जुन चकित हो गया था भावविभोर हो गया था। भगवान् के उस रूप को देखकर भीष्मपितामह, धृतराष्ट्रादि तो गद्गद होकर उनकी स्तुति करने लगे, किन्तु आसुरी राक्षसी प्रकृति वाले दुर्योधन पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह भगवान् की खिल्लियाँ उड़ाते हुए कहने लगा—"श्रीकृष्ण यह बाजीगरी विद्या मुझे क्यों दिखा रहा है। ऐसे बाजीगरों के खेल मैंने बहुत देखें हैं।"

इससे यही सिद्ध हुआ कि भगवान् को अवतार धारण करने पर भी सब लोग नहीं समझ सकते। उनको तो उनके वे ही कृपापात्र दैवी सम्पत्ति सम्पन्न परम भक्त जान सकते हैं जिन्हें वे ही जनाना चाहते हों।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कि भगवन्! जब आप मानुसी शरीर धारण करते हैं, तो कुछ लोग आपकी निन्दा क्यों करते हैं?

इस पर भगवान् ने कहा—"अर्जुन! सब लोग मेरी निन्दा या अनादर नहीं करते, कुछ ही ऐसे लोग होते हैं जो मेरा अनादर करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसे कौन पुरुष होते हैं भगवन्!

भगवान् ने कहा—वे वही लोग होते हैं जो मेरे पारमार्थिक स्वरूप को नहीं जानते।

अर्जुन ने पूछा—पूर्ण प्रकाश वाले आपके स्वरूप को वे क्यों नहीं पहिचानते?

भगवान् ने कहा—अविवेक ने उनके अन्तःकरण को मलिन कर रखा है। उनमें यह विवेक करने की क्षमता नहीं होती कि सम्पूर्ण भूतों का जो एकमात्र महेश्वर मैं हूँ, मैंने ही मानुषी

शरीर धारण कर रखा है। रहस्य'को बिना जाने ही वे मेरा अनादर किया करते हैं। वे मेरे परमभाव को नहीं जानते।

अर्जुन ने पूछा—ऐसे निन्दकों की क्या गति होती होगी, प्रभो ?

भगवान् ने कहा—"वे लोग जिस आशा को लेकर मेरी अवहेलना करते हैं, उनकी वह आशा पूर्ण नहीं होती क्योंकि समस्त आशाओं का एकमात्र केन्द्र तो मैं ही हूँ।"

अर्जुन ने कहा—वे कर्मों को ही सब कुछ मानकर कर्म करते रहते हैं, उनके कर्म तो सफल हो जाते होंगे ?

भगवान् ने कहा—"कर्म कैसे सफल होंगे, समस्त कर्मों का एकमात्र फलदाता तो मैं ही हूँ। इसीलिये वे जो भी कर्म करते हैं, वे सब कर्म व्यर्थ के निष्फल कर्म होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—उनका कर्म सम्बन्धी ज्ञान तो उत्तम ही होगा ?

भगवान् ने कहा—मुझे परित्याग करके जो ज्ञान है वह दूषित ज्ञान है। अतः उनका ज्ञान भी निर्दोष नहीं। उसे ज्ञान कहना व्यर्थ है, वह तो अज्ञान ही है। विवेक और विज्ञान से रहित वे लोग मोहपाश में बँधे रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—मोह पाश में वे क्यों बँधे रहते हैं ?

भगवान् ने कहा—उनका स्वभाव ही ऐसा होता है, वे मोह में आबद्ध करने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति का सदा आश्रय लिये रहते हैं। इसीलिये पारलौकिक फल तथा साधनों से शून्य रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! ये राक्षसी आसुरी तथा मोहिनी प्रकृति वाले तो शोचनीय हैं, अब कृपा करके यह बताइये कि अशोचनीय पुरुष कौन हैं ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मूढ़नि को नहिँ दोष प्रकृति वश जड़ बनि जावें।
आशा तिनि की व्यरथ मोघ आशा कहलावें॥
मोघ करम अति अज्ञ व्यरथ के करम करत हैं।
चित्त रहै विक्षित ज्ञान निज व्यरथ करत हैं॥
मेरी माया मोहिनी, के वश में बनि बकत हैं।
योनि राक्षसी आसुरी, में ही वे नित भ्रमत हैं॥

दैवी सम्पत्ति वाले महात्मा भगवान् का ही भजन करते हैं

[७]

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥*

(श्री भा० गी० ९ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

कुन्तीनन्दन ! किन्तु प्रकृति दैवी के प्रानी ।
जो हैं मेरे भक्त तपस्वी ज्ञानी ध्यानी ॥
वे महातमा श्रेष्ठ रूप मेरो सत मानें ।
मोइ सनातन शुद्ध भूत-भावन करि जानें ॥
सबके कारन सर्वगत, अव्यय अज सब गुन रहित ।
जानि मोइ नित प्रति भजत, है अनन्य अति प्रेम चित ॥

---

* किन्तु हे पार्थ ! जो दैवी प्रकृति का आश्रय करने वाले महात्मा हैं, वे मुझे ही सम्पूर्ण भूतो का आदि कारण तथा अव्यय जानकर अनन्य भाव से मेरा ही भजन करते हैं ॥१३॥

वे दृढ़व्रती निरन्तर मेरा कीर्तन करते रहते हैं। मेरी प्राप्ति के

अध्याय के आरम्भ में राजविद्या और राजगुह्ययोग बताने की भगवान् ने प्रतिज्ञा की। वह राजगुह्य योग और कुछ नहीं है दृढ़व्रती होकर निरन्तर भगवान् के नामों का भगवान् के गुणों का कीर्तन करते रहना ही है। अब तक इसी बात की भूमिका थी, अब उसी राजविद्या योग का विषय विवेचन आरम्भ करते है।

संसार में दो ही सम्पत्ति हैं, एक दैवी सम्पत्ति दूसरी आसुरी सम्पत्ति। दैवी सम्पत्ति से संसारी बन्धनो मे मुक्ति होती है और आसुरी सम्पत्ति से संसार बन्धन और दृढ़ होता है, इस विषय का विवेचन भगवान् आगे विस्तार से करेंगे। अब दृढव्रत पर विचार करना चाहिये। दृढ़व्रत को ही महाव्रत भी कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि ये व्रत हैं। जब ये ही व्रत जाति, देश, काल और अवसर की सीमा से अमर्यादित हो जाते हैं, अर्थात् सभी देशों में, सभी जाति में, सभी काल में तथा सभी अवसरों पर इनका दृढ़ता के साथ पालन किया जाय, तो वे सार्वभौम व्रत महाव्रत कहलाते हैं। जैसे जाति से ब्राह्मण की हिंसा न करूंगा, ब्राह्मण की वस्तु न चुराऊंगा, ब्राह्मण से झूठ न बोलूंगा, ब्राह्मणी के साथ गमन न करूंगा। ब्राह्मण की वस्तु न संग्रह करूंगा। यह जाति गत अहिंसादि व्रत हैं। देशगत जैसे तीर्थ स्थानों में हिंसा न करूंगा, तीर्थ स्थानों में असत्य भाषण न करूंगा आदि-आदि यह देशगत व्रत है। कालगत जैसे अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति तथा व्यतीपात तिथियों में हिंसा न करूंगा, असत्य भाषण न करूंगा, यह कालगत व्रत है। अवसर गत जैसे यज्ञादि विशेष अवसरों को छोडकर अहिंसादि का पालन

हेतु यत्न करते हुए मेरे को नमस्कार करते हैं। नित्ययुक्त होकर भक्ति पूर्वक मेरी उपासना करते हैं ॥१४॥

करूंगा। इसी का नाम अवसरकृत व्रत है। जिस व्रत में देश, काल, जाति, अवसर की सीमा की मर्यादा न हो। जो सभी प्रकार के अपवादों से रहित होकर सामान्य रूप से सदा सर्वदा पालन करते हुए इन नियमों को साधता रहे वही दृढ़व्रती है।

दृढ़व्रती महात्मा किसी विशेष जाति में किसी विशेष देश में, किसी विशेषकाल में नहीं होते। वे तो सभी कालों में सभी जातियों में और सभी देशों में उत्पन्न होते हैं। उच्च जाति में जन्म ले लेना, उच्चपद प्राप्त कर लेना, कोई विशेष विद्या को प्राप्त कर लेना, किसी विषय में विशेषज्ञ बन जाना ये ही सब गुण भगवान् को प्राप्त करने में पर्याप्त नहीं होते हैं। भगवान् तो केवल निर्मल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। भक्ति के अतिरिक्त जितने गुण हैं वे सब तो बिडम्बनामात्र नीचता और श्रेष्ठता, महात्मापन और अमहात्मापन जातिगत नहीं होता। वह तो भक्तिगत दैवी सम्पत्ति के द्वारा जाना जाता है। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

एक राजा की हथेली में बाल उत्पन्न हो गया। राजा ने विद्वान् ब्राह्मणों को ज्योतिषियों को बुलाकर पूछा—"और तो किसी को हथेली में बाल नहीं होता, मेरी हथेली में यह बाल कैसे उत्पन्न हो गया? यह शुभ है या अशुभ?

ज्योतिषियों ने कहा—महाराज, यह तो अशुभ लक्षण है।

राजा ने पूछा—यह बाल कैसे जाय? इसका कोई उपाय बताइये।

विद्वानो ने कहा—महाराज, किसी नीच व्यक्ति के हाथ का छूआ हुआ भोजन करलें तो यह बाल चला जायगा।"

उन राजा के राज्य में एक बड़ा ही भगवत् भक्त दैवी सम्पत्ति युक्त सदाचारी शूद्र रहता था। राजा ने उससे कहा—मैं कल तुम्हारे यहाँ भोजन करूंगा।"

शूद्र के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। आठों लोकपाल जिसके शरीर में निवास करते हैं, जो भगवान् की विभूति ही माने जाते हैं, वे मेरे यहाँ कल भोजन करेंगे। उसने अपनी पुरानी झोंपड़ी में आग लगा दी। कहीं से नया फूंस नये बास बल्ली मँगाकर नूतन झोंपड़ी बनाई। गौ के गोबर से अत्यन्त ही पवित्रता से उसे लीपा। मिट्टी के पुराने बर्तन फेंक दिये। नूतन बर्तन ले आया भोजन बनाने के बर्तन भी नूतन लाया अपनी पत्नी के पुराने वस्त्र फिकवा दिये। नूतन शुभ्र स्वच्छ पवित्र वस्त्र स्वयं भी पहिने पत्नी को भी पहिनाये। बड़ी ही पवित्रता से गंगा जल लाकर पाक तैयार किया। भगवान् का भोग लगाया। हरी-हरी मंजरी डालकर प्रसाद बनाया। हरे हरे ढाक के पत्तों की स्वच्छ पत्तल बनाकर उसमें राजा को परोसा। नये कुशासन पर राजा को बिठाया। नये मिट्टी के बर्तन में गंगा जल भर कर आगे रखा। राजा ने बड़ी रुचि से प्रसन्नता पूर्वक प्रसाद पाया। बड़े भक्ति भाव से शूद्र सपत्नीक उनकी सेवा में संलग्न रहा।

खा पीकर राजा चला गया, किन्तु उसकी हथेली का बाल नहीं गया। तब उसने अपने प्रधान मंत्री से जो विद्वान भी था ब्राह्मण भी था उससे कहा—"मंत्री जी! विद्वानों ने नीच के हाथ के भोजन करने से बाल के चले जाने की बात बताई थी, किन्तु नीच के यहाँ मैंने भोजन भी कर लिया, फिर भी मेरे हाथ का बाल नहीं गया।

मंत्री ने कहा—राजन्! अपराध क्षमा हो, कोई नीच जाति में ही उत्पन्न होने से नीच नहीं हो जाता, जिनके हाथ का आपने भोजन किया है वे तो छोटी जाति में उत्पन्न होने पर भी देवी सम्पत्तियुक्त महात्मा हैं, चलिये मैं आपको नीच बताता हूँ।"

मंत्री की बात सुनकर राजा उनके साथ गये। एक किसान

खेत जोत रहा था। दोपहर हो गया था, बैल बहुत निर्बल थे, वे थक गये थे। भूखे प्यासे थे वे चल नहीं रहे थे। किसान उन्हें बार-म्बार निर्दयता से मार रहा था, लोहे की कील उनके शरीर में चुभो रहा था। वे रक्त से लथपथ थे, उसके दोनों हाथ भी बैलों के रक्त में सने थे। फिर भी वह बैलों को मार-मार कर खेत को जोत रहा था। इतने में ही उसकी स्त्री रोटी लेकर आ गयी और बोली दोपहर तो हो गया, बैलों को छोड़ दो रोटी खालो।"

उसने कहा—आज इतना खेत मुझे जोतना ही है, मैं आज दिन भर जोतूंगा। मैं जोतता रहूँगा, तू मुझे चलते-चलते रोटी खिलाती जा। उसकी स्त्री की गोद में बच्चा था, वह गोद में बच्चा लिये हुए हल हाँकते हुए अपने पति के साथ-साथ उसे खिलाती हुई चल रही थी। वह बैलों के रक्त से रंगे हाथों से ही रोटी खाता हुआ बैलों को मारता हुआ चल रहा था।

मंत्री ने कहा—महाराज, यह है नीच इससे रोटी मांग कर खा लो।"

राजा साधारण मनुष्य के वेष में थे उन्होंने किसान से कहा—भाई, हमें थोड़ी रोटी दे दो।"

उसने क्रोध में भरकर कहा—तुम पैदा करके रख गये थे। संडे-मुसंडे घूम रहे हो। मिहनत मजूरी क्यों नहीं करते। जाओ यहाँ रोटी नहीं है। दूसरे स्थान में मांगो।"

मंत्री ने कहा—महाराज, इसी की रोटी खाने से आपकी हथेली का बाल जागया। आप थोड़ी देर ठहरे रहे। इतने में ही उसकी स्त्री की गोदी में पड़े बच्चे ने शौच कर दिया स्त्री उसे सम्हालने लगी। ग्रास उसके हाथ से छूटकर भूमि पर गिर गया। मंत्री ने कहा—"महाराज, शीघ्रता से उठाकर इसे खालो। राजा ने ऐसा ही किया। उस ग्रास को झट से उठाया, पट से

मुख में रखा और चट से चबाया और सट से निगल गये। उसके खाते ही राजा का बाल तुरन्त चला गया।

मंत्री ने कहा—"महाराज, नीचता और ऊँचता का मुख्य कारण तो सद्गुण तथा दुर्गुण ही हैं। जाति, देश, काल, समय ये तो गौण कारण हैं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने आसुरी राक्षसी मोहिनी प्रकृति के अधीन पुरुषों को शोचनीय बताया तो अर्जुन ने पूछा—भगवन् वे लोग तो शोचनीय हैं, किन्तु अशोचनीय कौन हैं?

भगवान् ने कहा—"महात्मागण ही अशोचनीय हैं। वे ही एक मात्र समस्त पुरुषार्थों के पात्र हैं।"

अर्जुन ने पूछा—महात्मा किसे कहते हैं महात्मा के लक्षण क्या हैं?

भगवान् ने कहा—जो आसुरी सम्पत्ति के विरुद्ध दैवी सम्पत्ति सम्पन्न हों।

अर्जुन ने पूछा—दैवी सम्पत्ति किसे कहते है?

भगवान् ने कहा—दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का विस्तार से वर्णन तो मैं आगे करूँगा। यहाँ तुम इतना ही समझ लो कि जिनका चित्त मेरे अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में किसी भी दूसरी ओर न जाता हो और जो मुझे ही समस्त भूतों का एक मात्र कारण तथा अविनाशी मानते हों। वे दैवी सम्पत्ति सम्पन्न महात्मा है वे ही बडभागी दैवी प्रकृति का आश्रय ग्रहण करके निरन्तर मेरा ही भजन करते रहते हैं। ऐसा स्वभाव अनेकों जन्मों के शुभकर्मों का फल है।

अर्जुन ने पूछा—"कुछ काल तो भगवन् आपका भजन कर लें

और कुछ काल संसारी विषयों का भी चिन्तन कर ले तो काम नहीं चलेगा क्या ?"

भगवान् ने कहा—नहीं, कभी नहीं। परस्पर विरुद्ध दो कार्य एक साथ नहीं हो सकते हैं। आप चाहो कि हँसते भी रहें और गालो को भी फुलाये रहें यह असंभव है। मेरे नाम तथा गुणों का कीर्तन सतत होना चाहिये। अखड भाव से कीर्तन होते रहना चाहिये। संतत स्मरण करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—आपका सतत कीर्तन किस प्रकार करना चाहिये ?

भगवान् ने कहा—दृढ़व्रती बनकर मेरा सतत कीर्तन करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—दृढ़व्रती किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—जो दृढ़तापूर्वक अपने व्रतों का पालन करता हो, वही दृढ़व्रती कहलाता है। जो ढीलम ढाल होते हैं तनिक मे प्रलोभन के वशीभूत होकर जो अपने व्रत से विचलित हो जाते हैं, उनके द्वारा मेरा सतत कीर्तन असंभव है। इसलिये जो महात्मा दृढ़ नियमों को धारण करके मेरे यथार्थ स्वरूप को जानने का प्रबल प्रयत्न करते हैं वे ही दृढ़व्रती महात्मा कहलाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा— वे नियमों का दृढ़ता के साथ पालन करते हुए और क्या करत है ?

भगवान् ने कहा—ऐसे महात्मा अभिमान को अपने पास फटकने नही देते। ऐसा अभिमान नहीं करते हैं कि हम जिस प्रकार कठोरता से नियम पालन करते है, ऐसे दूसरा कोई नहीं कर सकता। वे पूजा उपासना, कीर्तनादि कम करते हुए प्रतिक्षण उसे मुझे समर्पित करते रहते हैं। वे बार-बार कहते हैं "इदं न मम"

यह कार्य मैंने प्रभु के प्रीत्यार्थ प्रभु की ही प्रेरणा तथा कृपा से किया, अतः इसे प्रभु के ही पादपद्मों में समर्पित करता हूँ।" इस प्रकार वे बार-बार विनय तथा भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते रहते हैं और सर्वथा निरभिमानी बनकर मेरी उपासना करते रहते हैं? ऐसे भक्त प्रवर महात्मा ही दैवी सम्पत्ति सम्पन्न बड़भागी होते हैं।

अर्जुन ने पूछा—सतत कीर्तन, निरन्तर नमस्कार, दृढ़ता-पूर्वक नियमों को धारण करते हुए आपकी उपासना करना इस अनन्याश्रयी भक्ति के अतिरिक्त भी कोई आपको पाने का साधन है?

भगवान् ने कहा—है क्यों नहीं, अनेक साधन है। समस्त साधनों का सार यही है, कि येन केन प्रकारेण मन को मेरे में लगा दे। इस अनन्याश्रयी भक्ति के अतिरिक्त जो और साधन हैं उन्हें भी मैं तुमसे बताता हूँ।

सूतजी कहते है—मुनियो! अनन्य भक्ति के अतिरिक्त जो साधन भगवान् बतावेंगे उनका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

वे अति दृढ़व्रत भक्त प्रेम में विह्वल है कें।
करें कीरतन नाम गुननि को गद्गद हैकें॥
कैसे हू हरि मिलैं सतत वे जतन करत हैं।
भूमि लोटिकें भक्ति सहित नित प्रति प्रनमत हैं॥
त्रिभुवन पावन रूप मम, ध्यान हिये में नित धरत।
मम उपासना प्रेम तैं, अति अनन्य हैकें करत॥

उपासक सभी रूपों में भगवान् की ही उपासना करते हैं

[८]

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाऽऽज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० १५, १६ श्लोक)

छप्पय

ये तो मेरे भक्त भक्ति तैं मोकूँ ध्यावैं ।
ज्ञानी हैं जो भक्त ज्ञान-मख करिकें पावैं ॥
मेरो करिकें भजन मोइ में चित्त लगावैं ।
नित उपासना करैं ज्ञान तैं ज्ञानी ध्यावैं ॥
मोइ विश्वतोमुख समुझि, पृथक भाव पूजन करैं ।
अपर भाव एकत्व करि, ध्यान सदा मेरो धरैं ॥

---

* कुछ लोग मुझ विश्वतोमुख ब्रह्म को ज्ञान यज्ञ से एकत्व भाव द्वारा पूजते हैं, दूसरे लोग पृथक् भाव रखकर पूजते हैं, तथा अनेक लोग अनेक भाव से मेरी उपासना करते हैं ॥१५॥

मैं ही क्रतु (श्रौतकर्म) हूँ, मैं ही यज्ञ (स्मार्तकर्म) हूँ मैं ही स्वधा, औषधि, मन्त्र, घृत, अग्नि तथा हवन क्रिया हूँ ॥१६॥

सुख स्वरूप एक मात्र श्री भगवान् ही है। समस्त प्राणी सुख प्राप्ति के लिये ही सदा सर्वदा साधन करते रहते हैं। इससे सिद्ध हुआ सभी जो कुछ कर रहे हैं, सुख स्वरूप सर्वेश्वर की ही प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं, किन्तु उनका साधन अज्ञानता पूर्वक है, अविधि युक्त हैं। विधि पूर्वक तो यही है, कि चाहे अभेद भाव से अथवा भेद भाव से संसारी सुखों से पराङ्मुख होकर उन सर्वेश्वर का ही एकमात्र भजन करना चाहिये।

भजन के तीन ही प्रकार हैं। एक तो अभेद भाव भजन होता है, इसे अहंग्रह उपासना कहते है। सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह जो दृश्य प्रपञ्च दृष्टि गोचर हो रहा है, यह मिथ्या है, भ्रम द्वारा कल्पित है, इससे मन हटाकर एकमात्र सच्चिदानन्द घन ब्रह्म का ही श्रवण, मनन निदिध्यासन करते रहना चाहिये।

दूसरे प्रकार की उपासना द्वैत भाव से होती है। ब्रह्म और जीव दो हैं। जीव यद्यपि ब्रह्म का अंश है, फिर भी उसकी पृथक् सत्ता है। ब्रह्म सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है। ब्रह्म अंशी है, जीव उसका अंश है। जीव कभी ब्रह्म नही हो सकता। ब्रह्म स्वामी है जीव दास है। ब्रह्म सेव्य है, जीव सेवक है। जो जीव ब्रह्म की उपासना न करके जगद् की–विषय भोगों की–उपासना करता है वह बद्ध जीव है, जो जीव संसार की उपासना छोड़कर एकमात्र भगवान् की उपासना करता है, वह मुक्त जीव है। मुक्त जीव आवागमन से रहित हो जाता है, संसारी बन्धनों से विमुक्त हो जाता है, वह सदा सर्वदा अपने इष्ट के लोक में रह कर उन्हीं की उपासना में तत्पर रहता है।

तीसरे वे उपासक हैं, जो विभिन्न देवी देवताओं की सकाम

भाव से पूजा करते हैं। यद्यपि वे भी प्रकारान्तर से सर्वान्तर्यामी प्रभु की ही उपासना करते हैं, किन्तु वे सीमित रूप में उन्हीं देवताओं को पूजते हैं अतः उन्हीं-उन्हीं देवताओं के नश्वर लोकों को प्राप्त होते रहते हैं।

एक साधक किन्हीं महात्मा के समीप गया और उनसे पूछा—भगवन् प्रभु प्राप्ति का साधन बतावें।" उन्होंने कहा—"बताने वाले में और पूछने वाले में भेद बुद्धि मत कर। यही सोच ले मैं ही कर्ता हूँ मैं ही वक्ता हूँ। मैं ही गुरु हूँ मैं ही शिष्य हूँ। मेरे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।"

साधक ने कहा—"भगवन्! ऐसा तो मैं नहीं कर सकता।"

तब महात्मा ने कहा—"अच्छा तो जिसे तू श्रेष्ठ समझता है, उसी पर अपने को छोड़ दे। सर्वात्म भाव से उन्हीं की शरण में जा। उनके भजन के अतिरिक्त दूसरा कोई कार्य न कर।"

साधक ने कहा—"यह भी मेरे लिये कठिन पड़ेगा। मैं सब कुछ छोड़कर आठ पहर चौसठ घड़ी केवल उन्हीं का भजन करने में असमर्थ हूँ।"

तब महात्मा ने कहा—"अच्छा, तो सब कर्म करते हुए यही कर कि मैं प्रभु के लिये ही कर्म कर रहा हूँ। खेती करो तो सोचो—मैं प्रभु को भोग लगाने के लिये अन्न पैदा कर रहा हूँ। दूसरों की सेवा में संलग्न हो, तो यही समझो जिसकी सेवा कर रहा हूँ, वह भी भगवत् स्वरूप है। सेवा करते हुए भी सेवकपने का कर्तापने का अभिमान न होने पावे।"

ये ही तीन मार्ग ज्ञान मार्ग, उपासना मार्ग या निष्काम कर्म मार्ग है। वैदिक भक्ति को उपासना कहते हैं पौराणिकी

भक्ति का नाम भक्ति है। निष्काम भाव से किये जाने से उसे निष्काम कर्म मार्ग भी कहते है।

वर्णाश्रम धर्म विहित अपनी निष्ठा और अधिकारानुसार कर्तव्य समझ कर जो कर्म किये जाते हैं, उसी का नाम कर्म मार्ग है।

एक स्वर्ग की कामना से भी यज्ञ यागादि शुभ कर्म किये जाते हैं, यह पुनरावृत्ति मार्ग है। इस मार्ग में बार-बार संसार में आना जाना लगा रहता है। ज्ञान मार्ग उपासना या भक्ति मार्ग तथा कर्म मार्ग वालों का संसार बन्धन छूट जाता है, वे पुनः नहीं आते। यह अपुनरावृत्ति मार्ग कहाता है।

सूतजी कहते हैं - मुनियो ! जब अर्जुन ने पूछा-कि आपकी अहैतुकी अनन्य भक्ति जिसे आपने राजविद्या और राजगुह्य बताया है। उसके अतिरिक्त भी कोई आपकी प्राप्ति का अन्य साधन है क्या ?

इस पर भगवान् ने कहा—"अर्जुन मुझे प्राप्त करने के और भी बहुत से साधन हैं। कुछ पुरुष ज्ञान यज्ञ के द्वारा भी मेरा पूजन करते हैं। कुछ लोग भेद रूप से मेरी उपासना करते हैं, कुछ लोग अनेक प्रकार के देवताओं के रूप से मेरी उपासना करते हैं। कारण यह है कि मेरा कोई एक रूप तो निश्चित नहीं। मैं संसारी लोगों की भाँति किसी एक रूप में आबद्ध नहीं हूँ, मैं सर्वरूप हूँ। सभी मेरे ही रूप हैं। जब सभी मेरे रूप हैं, देवता भी मेरे ही रूप हुए, इसलिये जो देवता रूप से मेरी उपासना करते हैं वे भी मेरी ही उपासना करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! आप अपने को विश्वरूप-सर्वरूपमय बता रहे हैं, सो कैसे ? यज्ञ करने वाले याज्ञिक तो आपको

इन्द्र रूप में, विष्णु रूप में या अन्य देवों के रूप में मानकर हवि प्रदान करते हैं।

भगवान् ने कहा—यज्ञीय हवि को मैं देव रूप से अपने मुख अग्नि द्वारा अवश्य ग्रहण करता हूँ, किन्तु देवता ही मेरा रूप नहीं। यज्ञ तथा यज्ञ के सम्पूर्ण सम्भार मेरे ही रूप हैं। यज्ञ दो प्रकार के होते हैं।

अर्जुन ने पूछा—दो प्रकार के यज्ञ कौन-कौन से होते हैं ?

भगवान् ने कहा—एक क्रतु दूसरा यज्ञ। श्रौत यज्ञ क्रतु कहाते हैं जैसे अश्वमेधादि बड़े-बड़े यज्ञ। और यज्ञ शब्द से यहाँ देव पूजा, सगति करण दान जपादि जो भी शुभ कर्म है उनका ग्रहण करना चाहिये। जैसे बलि वैश्य देव--पच यज्ञदार्श, पौर्णिमा, चातुर्मास्यादि कर्म इनका उल्लेख पहिले हो चुका है, वे सभी जप देव पूजादि कर्म यज्ञ के अन्तर्गत हैं। अर्थात् सब प्रकार के यज्ञ मेरे ही रूप हैं।

अर्जुन ने पूछा—"केवल देवताओं के निमित्त किया हुआ ही यजन आपका रूप है ?"

भगवान् ने कहा—ऐसी बात नहीं है। अग्नि की पत्नि स्वाहा है और पितरों की स्वधा है। स्वाहा कहकर जो हवि अग्नि में दी जाती है, उसे तो देव गण ग्रहण करते हैं। और स्वधा कहकर जो अन्न जल दिया जाता है उसे पितर ग्रहण करते हैं। अतः क्रतु तथा यज्ञों में प्रयुक्त स्वाहा भी मेरा स्वरूप है और उसी प्रकार स्वधा भी मेरा ही स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—केवल देवताओं और पितरों के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ तथा तर्पण श्राद्ध ही आपके रूप हैं ?

भगवान् ने कहा—अरे, भाई मैं कह तो चुका मैं सर्व रूप हूँ। यज्ञ श्राद्ध तो मेरा रूप हैं ही। उनमें प्रयुक्त समस्त औष-

धियाँ भी मेरा ही स्वरूप हैं। औषधि उसका नाम है जो फल आने पर पक जाय, जैसे धान हैं, जो हैं, तिल है तथा समस्त पैदा होकर पकने वाली जड़ी बूटी औषधि कहलाती है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो औषधि न हो। वे सभी मेरा ही रूप हैं। जिन मन्त्रों से आहुतियाँ दी जाती हैं, वे वेदादि मन्त्र सब मेरे ही रूप हैं। जिस घृत से आहुतियाँ दी जाती हैं जो घृत पृथ्वी का अमृत माना जाता है वह भी मेरा ही स्वरूप है। जिस अग्नि में आहुति हवन की जाती है वह अग्नि भी मेरा ही रूप है। सारांश यह है कि क्रिया, कारक तथा फल सभी मेरे ही रूप हैं मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! "यज्ञोवैवृष्णुः" यज्ञ ही विष्णु है, इस न्याय से यज्ञ तो आपका रूप है और भी संसारी सम्बन्ध आपके रूप हैं क्या?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका जो उत्तर भगवान् देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अरजुन! मख तुम करौ सबनि में मोकूँ मानौं।
क्रतु अरु यज्ञ स्वरूप उभय मेरे ही जानौं॥
पितरनि की हौं स्वधा सुरनि की स्वाहा मैं हूँ।
औषधि मेरो रूप मन्त्र श्रुति के हू मैं हूँ॥
घृत मख को मैं ही बन्यो, अगिनि कह्यो मम रूप है।
हवन किया ही हौं बनूँ, मेरो सकल स्वरूप है॥

सर्वरूपों में भगवान् ही हैं

[९]

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० १७, १८, १९ श्लो०)

छप्पय

धारन जगकूँ करूँ तबहिँ कहलाऊँ धाता ।
मोतें ही जग होहि कहें सब मोतें माता ॥
पालन तें हूँ पिता पितामह हौं कहलाऊँ ।
जग कूँ ब्रह्मा रचैं उनहिँ को पिता कहाऊँ ॥
हौं ही जानन जोग्य हूँ, मैं ही हूँ पावन प्रणव ।
मैं ही ऋग, यजु, साम हूँ, वेद अपर हौं ही अथर्व ॥

---

* इस जगत् का मैं धाता, माता, पिता, पितामह हूँ, एक मात्र जानने योग्य मैं ही हूँ, पवित्र ओंकार, ऋक्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूँ ॥१७॥

जीव दुख की अनुभूति कब करता है? जब वह अपने को स्वतंत्र कर्ता मान बैठता है। जड संसार में सुख कहाँ? संसार में जो यत् किंचित सुख की अनुभूति होती है, वह आत्मा के सुख की छाया ही है। सुख स्वरूप तो आत्मा ही है। आत्मा सुख का जहाँ आभास पड़ जाय जहाँ भी आत्मीयता हो जाय, वही सुख प्रतीत होने लगता है। एक गाँव में पास पडोस में १०-२० लडके हैं, सब एक साथ उठते बैठते हैं खेलते कूदते हैं। उनमें से किसी एक लडके से देवदत्त की मित्रता हो जाती है। यद्यपि उससे सुंदर, उससे गुणी, उससे कलाकार और भी हैं, किन्तु उनके प्रति अपनापन नहीं, सौहार्द्र नहीं, आत्मीयता नही इसीलिये उसे छोड़कर अन्य किसी के संग में सुखानुभूति नहीं होती। उसे देखकर ही हृदय की कलियाँ खिल जाती हैं, इच्छा होती है उसे आँखो में बिठालें हृदय में छिपा लें। यह जो इतना सुख प्रतीत होता है, वह उसके हाड मांस के शरीर से नहीं। उसमें जो आत्मीयता है, अपनापन है उसी का सुख है। कोई भी वस्तु न गुणवाली है न गुणहीन। किन्तु जिसके प्रति आत्मीयता हो जाती है अपनापन हो जाता है, प्रेम हो जाता है, वह चाहे दूसरों की दृष्टि में बुरी ही क्यों न हो उसे प्यारी लगती है। जैसे प्याज है, जो उसे नहीं खाते हैं, उन्हें उसकी ओर देखने से भी घृणा है, किन्तु

मैं ही इस संसार की गति हूँ। भर्ता प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, सबका आधार, निधान और अव्यय बीज मैं ही हूँ ॥१८॥

हे अर्जुन! मैं ही सूर्य बनकर तपता हूँ। वर्षा को आकर्षण करता हूँ, पानी को बरसाता हूँ और मैं ही अमृत तथा मृत्यु, सत् और असत् हूँ ॥१९॥

जो उसका सेवन करते हैं, जिनका उसके प्रति लगाव है उन्हें उसके बिना भोजन ही रुचिकर नहीं होता।

एक राजकुमार था, वह एक साधारण लड़की से प्रेम करने लगा। इसकी सर्वत्र काना फूंसी होने लगी। राजकुमार की छिपे-छिपे निन्दा होने लगी।

एक दिन राजकुमार के एक मित्र ने कहा—राजकुमार! वह लड़की तो कुलीन भी नहीं है, उसमें कोई गुण भी नहीं। रगरूप की भी वह काली है, तुम क्या सोचकर उससे प्रेम करते हो। उस काली कुरूपा को छोड़ा, एक बहुत ही सुंदरी सद्कुलोद्भवा राजकुमारी है उससे विवाह करलो।"

राजकुमार ने कहा—मित्र! तुमने जो मुझे शिक्षा दी उसके लिये धन्यवाद है। किन्तु जिसे तुम काली कुरूपा कह रहे हो, उसे तुमने अपनी आंखो से देखा है। मुझ राजकुमार की आंखों से तुम देखते तो तुम्हें संसार में उससे बढ़कर कोई सुंदरी दिखायी ही न देती।"

वास्तविक बात यही है, अपनी-अपनी भावनायें भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। अपनी अन्तरात्मा जिस वस्तु को अच्छा मानले वही अच्छा जिसे बुरा मानले वही बुरा।

शिवजी की प्राप्ति के निमित्त तपस्या करती हुई पार्वतीजी से सप्तर्षियों ने कहा—"शैलराजपुत्री! तुम तो भोली हो, तुममें विवेक की कमी है। शिवजी में तुमने कौन-सा गुण देखा है, जिसके कारण तुम उनसे विवाह करना चाहती हो? हमें तो शिवजी में सब अवगुण ही अवगुण दिखायी देते हैं। वे दिगम्बर रहते हैं। वस्त्र नहीं पहिनते। आभूषण भी उनके शरीर में नहीं। वस्त्र के नाम पर उनके सम्पूर्ण शरीर में भस्म लिपटी रहती है। वह भस्म भी यज्ञ की पवित्र भस्म नहीं। स्मशान

की शव की चिता की महा अपवित्र भस्मी होती है। आभूषणों के स्थान में उनके सभी अंगों में सर्प लिपटे रहते हैं। हाँ एक माला वे अवश्य पहिने रहते हैं, वह भी पवित्र तुलसी की नहीं। नरमुंडों की माला रहती है। उनके साथी देखो महातामसी भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, भैरवी, चामुंडा और न जाने कौन-कौन विकृत वेष वाले होते हैं। उनका भोजन भी विचित्र है। आक, धतूरा, और हालाहल विष। वेष उनका परम विकृत। पांच मुख मर्कट जैसे लोचन डमरू बजाकर, बाघम्बर फैलाकर स्मशान में तांडव नृत्य करते रहते है। वे रसिक भी नहीं। नीरस हैं। कामदेव को उन्होंने क्रोध में भरकर क्षार कर दिया है। ऐसे विषयों से सर्वथा उदासीन शिव से विवाह करके तुम क्या सुख पाओगी। अतः हमारी बात मानो, अपना हठ छोड़ दो। समस्त गुणों की एक मात्र खान, परम स्वरूपवान् अलंकार प्रिय, वस्त्राभूषणों से सर्वथा सुसज्जित रहने वाले समस्त सद्गुणों के आलय, भक्तवत्सल, परम रसिक, सबके मनको मोहने वाले श्री विष्णु के साथ तुम विवाह कर लो।"

इस पर पार्वतीजी ने कहा—"मुनियो! मैं आपकी बातों का प्रतिवाद नहीं करती। मैं माने लेती हूँ, महादेवजी में भले ही समस्त अवगुण भरे हों, और भगवान् विष्णु भले ही समस्त गुणों की खान होंगे फिर भी मेरी अन्तरात्मा तो शिवजी को ही चाहती है मेरी आत्मीयता कैलाश वासी भगवान् भोले बाबा के ही प्रति हो गयी है। वे ही मेरे सर्वस्व हैं, अतः मैं तो एक मात्र शिवजी को ही वरण करूंगी। उनके प्राप्त न होने पर तब तक जन्म लेती रहूँगी जब तक वे मुझे प्राप्त नहीं होंगे।"

वास्तव में अन्य कोई प्रिय नहीं, सबसे प्रिय आत्मा ही है। जिसमें आत्मीयता हो जाती है वही प्रिय लगने लगता है

बात महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कही थी—"मैत्रेयी ! एक मात्र आत्मा है सबसे प्रिय परम धन है। आत्मा की प्रियता के कारण ही धन, जन आदि प्रिय प्रतीत होते हैं। आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। ये समस्त देवता, समस्त प्राणी जो भी कुछ दृश्य प्रपञ्च है सब आत्मा ही है। समस्त वेद, पुराण, उपनिषद श्लोक, सूत्र विवरण समस्त विद्यायें परमात्मा की निःश्वास हैं।"

इस प्रकार आत्मज्ञान होने पर प्राणी निर्भय तथा दुःख रहित बन जाता है। सबसे अधिक भय प्राणियों को मृत्यु का होता है। रुद्रगीत में "मृत्यवे दुःखहाय च" कहकर दुख देने वाले मृत्यु को भी भगवान का रूप ही बताया है। जो व्यक्ति मृत्य को भी आत्मरूप मानेगा उसे दुःखानुभूति हो ही कैसे सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् अपनी सर्वरूपता बताते हुए कह रहे हैं—अर्जुन यज्ञ तथा उसके संभार ही मेरे रूप नहीं है। संसारी सभी सम्बन्धों में मै ही हूँ। इस जगत् का उत्पन्न करने वाला पालन करने वाला पिता भी मैं ही हूँ। यही नहीं कि पुरुष रूप से पिता ही हूँ। स्त्री रूप में जन्म देने वाली माता भी मै ही हूँ। पालन पोषण करने वाला धाता भी मै ही हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—संसार में जो पिता होता है उसका पिता दूसरा होता है, उसका भी पिता दूसरा होता है। जैसे पिता, पितामह, प्रपितामह वृद्ध प्रपितामह आदि-आदि तो आपकी भी ऐसी परम्परा है क्या ?

भगवान् ने कहा—समस्त परम्पराओं का जनक मैं ही हूँ। मैं ही पिता, मैं ही पितामह, मैं ही प्रपितामह तथा वृद्ध प्रपितामह हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं। संसार में जो भी जानने योग्य वस्तु है। सबमें ही हूँ, पवित्र ओंकार जो वेदों का

बीज है, मैं ही हूँ, शुद्धि के हेतु जो पावन कर्म हैं, वे भी मेरे ही रूप हैं। जिस ऋक्वेद के अक्षर पद नियत हैं वह मेरा ही स्वरूप है। जिसके पद गाये जाते हैं वह गायन करने वाला सामवेद भी मैं ही हूँ, जिसके पद अक्षर नियत नहीं होते वह यजुर्वेद भी मैं ही हूँ, और वेदत्रयी के ही अन्तर्गत जो चौथा अथर्ववेद है वह भी मै ही हूँ।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! इस जगत् की सृष्टि तो ब्रह्मा करते है। ब्रह्मा, विश्वकर्मा, धर्म, महत्तत्व और अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति ये ही जगत् की गति बताये गये हैं? क्या ये सब आपसे भिन्न हैं?

भगवान् ने कहा—नहीं, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है सबकी गति मै ही हूँ। मैं ही समस्त कर्मों का फल दाता हूँ, मैं ही जगत् का भरणपोषण कर्ता हूँ। मै ही साक्षी हूँ, मै समस्त प्राणियों के शुभाशुभ का द्रष्टा हूँ। प्रभु भी मैं ही हूँ। स्वामी मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नही। सबका निवास-भोग स्थान भी मैं ही हूँ। सबकी एक मात्र शरण मैं हूँ, जहाँ जाकर दुःख शीर्ण होते हैं वह शरण मेरा ही स्वरूप ह, और शरणागतों का दुःख दूर करने वाला प्राणिमात्र का सच्चा सुहृद् मैं ही हूँ। जब पुरुष को यह दृढ़ निश्चय हो जाय, कि समस्त भूतों का एक मात्र सुहृद् मैं ही हूँ, तो उसे परमशान्ति की प्राप्ति हो जाती है। अतः अर्जुन चराचर का सुहृद मुझे ही समझो मैं किसी से भी प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं रखता। उपकार करने का मेरा सहज स्वभाव है।

मैं सबकी उत्पत्ति का एक मात्र स्थान प्रभव हूँ, मै ही सबके विनाश का एक मात्र कारण प्रलय हूँ। मैं ही सब स्थिति हूँ, सबके ठहरने का स्थान और सभी सूक्ष्मरूप वस्तुओं का अधिकरण प्रलय स्थान हूँ। सबकी निधि कोष-निधान भी मै ही हूँ। मैं ही

सबकी उत्पत्ति कारण अव्यय-कभी भी नाश न होने वाला बीज हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—सब कुछ तो आप ही हैं। जिन सूर्य की उपासना करते हैं, वे सूर्य भी आपका ही स्वरूप होगे ?

भगवान् ने कहा—हाँ, अर्जुन ! तुम यथार्थ कहते हो। सूर्य रूप से जगत् में मैं ही तपता हूँ। मेरा ही नाम जल को चुराने वाला भास्कर है। मैं ही समुद्र, तालाब, नदी, कूप तथा समस्त प्राणियों के शरीरों से जल चुरा चुराकर एकत्रित करता हूँ और फिर उस चुराये हुए-आकर्षण किये हुए-जल को बरसाता हूँ। मैं ही अमृत हूँ और मृत्यु भी मेरा ही स्वरूप है। अर्जुन ! सत् भी मेरा रूप है और असत् भी मेरा ही स्वरूप है। अब तुम्हें अधिक कहाँ तक गिनाऊँ। बस, यही समझलो कि जो भी कुछ स्थावर जंगम, चर, अचर दृश्यमान, अदृश्यमान पदार्थ हैं, वे मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं हैं।

अतः मुझ सर्वात्मा पुराण पुरुष की अपने-अपने अधिकारानुसार मेरी ही उपासना करनी करनी चाहिये। सबका एक मात्र उपास्य देव मैं ही सर्वान्तर्यामी प्रभु हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! यह तो सत्य है कि सब रूपों में आप ही है। आपकी उपासना चाहें भेदभाव से करे चाहें अभेद भाव से अथवा सर्व भाव से उनका तो संसार से आवागमन छूट ही जायगा। उनका संसार में पुनर्जन्म न होगा। वह जन्ममरण से रहित हो जायँगे। किन्तु जो सकामी हैं, सकाम भाव से अपनी कामना की पूर्ति के निमित्त ही वेदत्रयी द्वारा कर्म करते हैं, उनकी कौन-सी गति होती है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो

भगवान् उत्तर देंगे जो सकाम कर्मियों को भगवान् गति बतावेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

हौं ही सबको परम धाम अरु पोषण कर्ता।
प्रभु मोई कूँ जानि शुभाशुभ दृष्टा हर्ता॥
मोमें करें निवास शरन सबकूँ हौं देऊँ।
सच्चो सुहृद कहाइ प्रभव सब जगको मैंऊँ॥
मोई तैं होवै प्रलय, इस्थिति को आधार हूँ।
जगनिधान अव्यय परम, आदि बीज ओंकार हूँ॥

हौं ही सूरज बनूँ सकल संसार तपाऊँ।
हौं ही बनिके वाष्प खींचि कें जलकूँ लाऊँ॥
रंग बिरंगे मेघ बनूँ पानी बरसाऊँ।
बनूँ अमृत सब सार जगत कूँ प्याइ जिवाऊँ॥
हौं ही बनिकें मृत्यु हू, प्राणिनि कूँ मारत रहत।
हौं ही सत अरु असत हूँ, सब कछु मोई कूँ कहत॥

त्रैविद्या के सकाम उपासकों की गति

[१०]

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० २०, २१ श्लो०)

छप्पय

तीनिहु वेदनि माहिँ करम के शुभ विधान जो।
तिनिकूँ विधिवत करें यज्ञ में सोमपान जो॥
पाप रहित ते पुरुष यज्ञ तैं मोकूँ पूजत।
पुन्य करम करि जायँ स्वरग में सुख तैं निवसत॥
निज पुन्यनि भोगें तहाँ, रहैं स्वरग में सुख सहित।
दिव्य विमाननि महँ बसत, दिव्य भोग भोगत रहत॥

---

* वेद की त्रैविद्या के अनुसार कर्म, कर्ता सोमरस पानकर्ता पाप रहित पुरुष मुझे यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग को चाहते हैं, वे पावन इन्द्रलोक को प्राप्त करके उस देवलोक में दिव्य भोगों को भोगते रहते हैं॥२०॥

वे उस विशाल स्वर्गलोक के सुख को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं। वहाँ वेदत्रयी कथित कर्मों की

संसार में कर्म ही प्रधान है, जो जैसा कर्म करेगा। वह वैसा ही भरेगा। प्राणियों का जन्म कर्मों के ही अनुसार होता है जैसे जिसके कर्म होते हैं वैसी उसको योनि प्राप्त होती है। भगवान् समदर्शी हैं, वे न किसी को दुःख देते हैं न सुख प्राणियों को जो सुख दुःख की प्राप्ति होती है, सब पूर्व कृत कर्मों के ही द्वारा होती है। शुभ कर्म करने पर सुख मिलता है, अशुभ कर्म करने से दुःख प्राप्त होता है। भगवान् सबको बिना पक्षपात के कर्मों के अनुसार सुख दुःख देते हैं। प्रारब्ध भी पूर्व कर्मों के ही अनुसार बनती है। प्राणी जो कर्म करते हैं, वे समस्त कर्म संचित होते रहते है। उन संचित कर्मों में से एक जन्म के जो भोग प्रदान किये जाते हैं उन्हीं कर्मों का नाम प्रारब्ध है। कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता। पशु-पक्षी तथा अज्ञानी मनुष्य बिना विचारे स्वभाव के वशीभूत होकर कर्म करते रहते हैं। जो साधक हैं, बुद्धिमान हैं शास्त्रज्ञ हैं वे विचार, विवेक, प्रज्ञा तथा वैराग्य आदि के अनुसार सोच समझ कर कर्म करते हैं। ज्ञानी हो अज्ञानी हो, मूर्ख हो पंडित हो। पशु, पक्षी, स्वदेज, उद्भिज, अन्डज तथा पिन्डज कोई भी प्राणी क्यों न हो कर्म किये बिना कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता है। यह संसार ही कर्म क्षेत्र है। कर्ममय ही संसार है।

कर्म दो प्रकार के है शुभ कर्म और अशुभ कर्म। उन्हें ही पुण्यकर्म और पाप कर्म कहते हैं। पाप कर्मों से नरकों की प्राप्ति होती है। दुःख क्लेश सहन करने पड़ते हैं। पापी लोगों को नरक की घोर यातनायें सहनी पड़ती हैं। अतः शास्त्र ने पाप

शरण जाते हैं, फिर वे काम-कामी पुरुष बारम्बार आते जाते रहते हैं ॥२१॥

कर्मों को निषेध बताया है। शास्त्र पाप कर्म करने को नहीं कहते। पाप कर्मों से अशुभ कर्मों से सदा बचते रहना चाहिये। इसी का उपदेश सब शास्त्र देते हैं। पाप कर्म अकर्तव्य है। कर्तव्य कर्म तो शुभ ही हैं। शास्त्र सदा शुभ कर्म करते रहने का उपदेश देते हैं।

शुभ कर्म भी चार प्रकार से किये जाते हैं एक तो यज्ञ, दान तपस्यादि कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त किये जाते हैं। दूसरे वर्णाश्रम विहित कर्म कर्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं। तीसरे भक्ति सम्बन्धी कर्म निष्काम भाव से प्रभु की पूजा के निमित्त बिना फल की इच्छा से किये जाते हैं और चौथे शुभ कर्म सकाम भाव से स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति के निमित्त किये जाते हैं। शुभ कर्म सभी एक से ही हैं, वे एक प्रकार से ही किये जाते हैं, कर्ता भी उन्हें एक समान ही करते हैं किन्तु भावना के अनुसार उनके फलों में भेद हो जाता है। यज्ञ के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, वास्तव में वे ही कर्म हैं यज्ञ के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं, वे तो बन्धन के कारण होते हैं।

ऋक्, यजु, और साम ये तीन वेद हैं। इन तीनों को वेद-त्रयी कहते है। वेदों में कर्मों का ही विधान है। समस्त वेद यज्ञ कर्मों का ही प्रतिपादन करते हैं। वे कर्म स्वर्ग प्राप्ति की कामना से किये जाते हैं, तो उनसे दिव्य स्वर्ग लोकों की प्राप्ति होती है। इन्द्रादि दिव्य लोक क्षयिष्णु है, कलपान्त में इन लोकों का क्षय हो जाता है, अतः क्षयिष्णु लोकों की प्राप्ति की भावना से जो कर्म किये जाते हैं, उन कर्मों का फल भी क्षयिष्णु होता है। वे लोक सीमित हैं अतः उन लोकों की कामना से जो कर्म किये जायंगे, उनके फल भी सीमित होंगे। सीमित समय तक स्वर्ग के दिव्य सुखों को भोगते हुए जब भोगों

से पुण्यों का क्षय हो जायगा, तो उन पुण्यात्मा पुरुषों को स्वर्ग से ढकेल दिया जायगा। फिर उनका जन्म पुण्यात्मा कर्म कांडो वेदज्ञों के यहाँ ही होगा। पूर्व स्मावानुसार वे पुनः शुभ कर्म करेंगे, उनके प्रभाव से पुनः स्वर्ग जायेंगे फिर पुण्य क्षीण होने पर यहाँ जन्म लेंगे। उनका आवागमन ऐसे ही बार-बार होता रहेगा।

इन सकाम कर्मों को करने वाले गृहस्थी ही होते हैं, क्योंकि ये कर्म विना पत्नी के सम्पन्न होते ही नहीं। पत्नी शब्द का अर्थ ही है, जिसके साथ यज्ञ यागादि किये जायें। ऐसे कर्म-कांडी न कभी बन में जाते हैं और न संन्यास ग्रहण करते हैं, क्योंकि वे तो काम कामी होते हैं।

दूसरे लोग इन्हीं कर्मों को स्वर्ग की कामना के निमित्त नहीं, कर्तव्य समझकर वर्णाश्रम विहित पद्धति से करते है। जिस-जिस वर्ण के, जिस-जिस आश्रम के जो कर्म बताये है, उन्हें कर्तव्य बुद्धि से दृढ़ता के साथ वे करते रहते हैं। वे एक वर्ण से दूसरे वर्ण को एक आश्रम से दूसरे आश्रम को प्राप्त होते हैं। स्वर्ग का सुख ये लोग भी भोगते हैं। ये काम कामी नहीं होते हैं। कर्तव्य पालन कामी होते हैं। अतः वे क्षयिष्णु स्वर्ग से भी अधिक टिकाऊ, मह, जन, तप और सत्य लोको को भी प्राप्त करते हैं। क्योंकि कल्पान्त में भू, भुव और स्वर्ग इन तीनों लोकों की प्रलय हो जाती है। मह, जन, तप और सत्य ये लोक बच जाते हैं, अतः स्वर्ग की अपेक्षा ये लोक नित्य माने जाते हैं। फिर भी ब्रह्माजी के वर्षों से १०० वर्ष व्यातीत होने पर एक ब्रह्मा के बदलने पर ये लोक भी नष्ट हो जाते हैं, अतः ये सनातन लोक नहीं कहे जाते। ब्रह्मलोक पर्यन्त पुनरावर्ती लोक हैं। अतः वर्णाश्रम धर्म विहित कर्मों के करने से स्वर्गीय सुखों को

भोगकर फिर एक से बढ़ कर दूसरे श्रेष्ठ वर्ण में क्रम से जन्म लेना पड़ता है। और अन्तिम ब्राह्मण वर्ण में अन्तिम आश्रम संन्यास ग्रहण करने पर ज्ञान हो जाने पर पुनरावर्ती नहीं होती। वर्णाश्रम धर्म मार्ग क्रम मार्ग है, इसमें ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार है और ज्ञाननिष्ठ संन्यासी की ही मुक्ति सम्भव है। अतः यह अपुनावृत्ति मार्ग है। इसका विशेष वर्णन स्मृति ग्रन्थों में है इसे स्मार्त धर्म भी कहते हैं।

तीसरे इन्हीं कर्मों को निष्काम भाव से भगवत् पूजा समझ कर करने पर ये ही कर्म उपासना कहलाते हैं। वैदिक भाषा में इसे उपासना कहते हैं, पौराणिकी भाषा में इसी का नाम भक्ति मार्ग है। भक्ति मार्ग में जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें निष्काम भाव से करते हैं। केवल प्रभु प्रीति की कामना रहती है। मेरे इस काम से प्रभु प्रसन्न हों, हमें अपनी भक्ति प्रदान करें। इन कर्मों में वर्ण, आश्रम, स्त्री या पुरुष किसी का आग्रह नहीं। यह निष्काम कर्म योग अथवा भक्ति मार्ग के अधिकारी सभी वर्ण, सभी आश्रम सभी लिंग के पुरुषों का अधिकार है। इस मार्ग में संन्यास का कोई आग्रह नहीं। जैसे वर्णाश्रम धर्म का आग्रह है ब्राह्मण ही संन्यास ले सकता है और संन्यासी की ही मुक्ति हो सकती है। संन्यासी को सर्व कर्मों का परित्याग करना ही चाहिये। ऐसे आग्रह इस मार्ग में नहीं। ब्रह्मचारी भी भक्ति या निष्काम कर्म द्वारा संसार सागर से पार हो सकता है और गृहस्थी वानप्रस्थी अथवा संन्यासी को भी वही गति प्राप्त हो सकती है। शूद्र भी भक्ति द्वारा तर सकता है और उसी प्रकार वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, अन्त्यज अथवा उनकी नारियाँ भी इस पथ का अनुसरण कर सकती है। यह भी अपुनरावृत्ति मार्ग है, इसका विशेष वर्णन पांच रात्रादि दिव्य

तन्त्रों में श्रीमद्भागवत, श्री मद्भगवत् गीता तथा अन्यान्य पुराणों में विशेष रूप से है।

चौथे इन्हीं कर्मों को अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त तब तक किया जाता है, जब तक पूर्ण ज्ञान न हो। हमारे शरीर में मल भरा है, शरीर मलायतन है, मन में भाँति-भाँति के विक्षेप हैं, बुद्धि के ऊपर अविद्या का आवरण है। इस कारण हमारा अन्तःकरण दूषित हो रहा है। उस पर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ है। इस अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त वेद विहित शुभ कर्म करने चाहिये। जब शुभ कर्म करते-करते अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, तब कर्मों से निवृत्त हो जाना चाहिये। प्रव्रज्या धारण कर लेनी चाहिये कर्मों का संन्यास करके अभेद भाव से ब्रह्म चिंतन में ही लीन हो जाना चाहिये। इस ज्ञान मार्ग में भी वर्ण और आश्रम की अपेक्षा नहीं। अन्तःकरण जिसका भी शुद्ध हो जाय, वह चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी हो। सभी की मुक्ति हो जायगी। अन्तःकरण शुद्ध होने पर ब्रह्म कहीं दूसरे स्थान से आ नहीं जाता। जैसे कोई शीशा है, बहुत दिनों तक बाहर रहने पर उस पर धूलि जम गयी है, उसमें मुख दिखायी नहीं देता। आप पवित्र वस्त्र से शनैः शनैः उसकी धूलि को हटा दो। निर्मल वस्त्र से उसे पोंछ दो आपको अपना प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष दिखायी देने लगेगा। उसमें प्रतिबिम्ब तो पहिले से ही था, किन्तु धूलि जमने से समल होने से दिखायी नहीं देता था। धूलि हट जाने पर निर्मल हो जाने पर वह दिखायी देने लगा। इसी प्रकार आत्मा तो सर्वत्र व्याप्त है। हमारे हृदय देश में भी विराजमान है। अन्तःकरण के मलीन हो जाने पर वह दीखता नहीं। शुभ कर्मों के प्रभाव से जब उसका मल दूर हो जायगा। रागरूप धूलि पुँछ जायगी। मोह का आवरण हट जायगा ब्रह्म साक्षात्कार हो

जायगा। यह भी अपुनरावृत्ति मार्ग है। उपनिषदों में ब्रह्म सूत्रादि में इसका विवेचन है।

इस प्रकार, स्वर्ग कामना से किये हुए त्रैविद्य कर्म, वर्णाश्रम विहित कर्तव्य भावना से किये हुए कर्म, निष्काम भाव से प्रभु प्रीत्यर्थ किये जाने वाले भक्ति भावना से कर्म और अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त किये जाने वाले ब्रह्म ज्ञान के निमित्त कर्म ये चार प्रकार के कर्म है। इनमें पहिला काम कामियों द्वारा स्वर्ग की कामना से किये जाने वाला कर्म पुनरावृत्ति मार्ग है। शेष तीनों प्रकार के कर्म अपुनावृत्ति मार्ग के कर्म हैं। शुभ होने पर भी, वेद विहित होने पर भी कामों की कामना से किये जाने वाले स्वर्गादि पुण्यलोकों को देने वाले कर्मों की भगवान् निन्दा करते हैं, क्योंकि वे भले ही शुभ कर्म क्यों न हों, भले ही वेदों ने उनका विधान किया हो, किन्तु वे जन्ममरण के चक्कर से तो नहीं छुड़ा सकते। ये कर्म फिर-फिर संसार को ही देने वाले हैं। भगवान् इसीलिये इन कर्मों को परमश्रेष्ठ–सर्वोत्तम–नहीं बताते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन ने जब त्रैविद्या उपासक सकाम कर्मियों की गति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् ने कहा—अर्जुन ! चाहे भेद भाव से निष्काम कर्मों को करो, चाहे अभेद भाव से अथवा अन्य अनेक प्रकार से। निष्काम कर्मों का परिणाम तो जन्म मृत्यु के बन्धन को सदा के लिये छुड़वा देना ही है। चाहें क्रम से मुक्ति हो अथवा सद्य मुक्ति हो, संसार सागर से निष्काम कर्म करने वाले पार हो ही जाते हैं, किन्तु जो अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के निमित्त सकाम वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, उनका अन्तःकरण तो विशुद्ध होता नहीं, कामनाओं के कारण उसमें मल, विक्षेप और आवरण बना ही रहता है, वे जन्ममरण के चक्कर से छुटकारा नहीं पा सकते।

वे बारम्बार मरते और जीते रहते हैं। जन्मना और मरना अपने आप में ही दुःखमय कर्म हैं, अतः उनका दुःख से छुटकारा नहीं होता।

अर्जुन ने कहा—प्रभो वेद का वचन है, सोमपान करके हम निष्पाप बन जायेंगे, तो फिर वे दुखी क्यों रहते हैं। दुःख तो पाप का परिणाम है, जो निष्पाप है, उन्हें तो सुख की प्राप्ति होनी चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—सुख भी अपेक्षा कृत होता है। सोमपान से अवश्य वे निष्पाप होते हैं, किन्तु उनके पुण्यों की तो वृद्धि होती है। जो वेदत्रयी का अनुसरण करते हैं, और वेद विहित सोमयज्ञों में सोमरस का पान करते हैं, उनके पाप कटते हैं पुण्य बढ़ते हैं। पुण्यों का फल स्वर्गीय सुख है। उन्हें यज्ञों के परिणाम स्वरूप स्वर्ग को प्राप्ति होती है। स्वर्गलोक स्वयं अपने आप में क्षयिष्णु है, अतः उनका सुख भी क्षणिष्णु है।

अर्जुन ने पूछा—वे लोग स्वर्ग में कब तक निवास करते है ?

भगवान् ने कहा—मायिक सुख सीमित होते हैं। जैसा जिसका पुण्य होगा, जितने दिन के उनके भोग होंगे, उतने ही दिनों तक वे स्वर्ग में रहेंगे। क्षयिष्णु पदार्थों की एक नियत मर्यादा रहती है। स्वर्ग में कोई नये पुण्य कर्म तो कर नहीं सकते। क्योंकि स्वर्ग कर्म भूमि नही है, भोग भूमि है, वहाँ तो जो पृथ्वी पर अर्जन किया है, उसका व्यय ही करना होता है। आगे के लिये अर्जन तो किया न जाय, केवल व्यय ही करते रहो, तो कुबेर का कोष भी एक दिन चुक जाता है। इसलिये वेदत्रयी के अनुसार उन्होंने जो यज्ञों के द्वारा यजन किया है, उस यजन से जो पुण्य अर्जित किया है; उन पुण्यों के प्रभाव के योग्य दिव्य

भोगों को भोगते रहते हैं, अप्सराओं के साथ विहार करते रहते हैं स्वर्गीय अमृत का पान करते रहते हैं।

उन विस्तृत स्वर्गीय भोगों के भोग से उनके पुण्य क्षय होते रहते हैं। जब उनके पुण्य क्षीण प्रायः हो जाते हैं, तो वे वहाँ से ढकेल दिये जाते हैं। मृत्यु तो केवल पृथ्वी पर ही होती है इसलिये पृथ्वी को मर्त्यलोक कहा है। अन्य लोकों में मृत्यु नहीं होती। वहाँ से वे ढकेल दिये जाते हैं, उन्हें स्वर्ग से च्युत कर दिया जाता है। स्वर्ग से च्युत होने पर पुनः इस मनुष्य लोक में मर्त्यलोक में आना पड़ता है। यहाँ आकर उन्हें पुनः गर्भ में रहना पड़ता है। गर्भवास के दुःखों को उठाना पड़ता है। वे काम कामी होने के कारण, शुभ कर्मों के कारण उत्तम कुल में जन्म लेते हैं, और वे त्रैधर्म्य-होता अध्वर्यु और उद्गाता-इन तीनों के धर्म के योग्य ज्योतिष्टोमादि कर्मों में पुनः प्रवृत्त हो जाते हैं। ऋक्, यजु तथा सामवेदानुसार शुभ कर्म करके पुनः स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वे पुनः स्वर्ग जाते हैं पुनः लौटकर मर्त्यलोक में आते हैं। जब तक वे निष्काम नहीं होते। सकाम कर्मों को करते रहते हैं, तब तक बारम्बार आते-जाते रहते हैं जन्म लेते और मरते रहते हैं। वे लोग यहाँ रहकर जो यज्ञ कर्म करते हैं, उन यज्ञीय संभारों को जुटाते रहते हैं तथा उनकी तत्परता से रक्षा करते हैं, क्योंकि यज्ञीय पदार्थों को जुटावें नहीं और एकत्रित किये हुओं की तत्परता से रक्षा न करें तो आगे कर्म कैसे हों, अतः उन्हें संग्रह करना पड़ता है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! जो काम कामी नहीं हैं। किसी संसारी कामना की पूर्ति के निमित्त यज्ञयागादि शुभ कर्मों को करते नहीं। केवल अनन्य भाव से आपके ही निमित्त समस्त क्रियायें करते हैं। केवल अनन्य भाव से आपका ही चिन्तन करते

रहते हैं। उन्हें भी तो जीवन निर्वाह के लिये सामग्रियों की आवश्यकता रहती है, जब वे आठों प्रहर आपके ही चिन्तन में लगे रहेंगे, कर्म भी करेंगे, तो सब निष्काम भाव से करेंगे। ऐसे लोगों का जीवन निर्वाह कैसे हो, उनकी रक्षा कौन करेगा ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

अति विशाल है स्वरगलोक पापी नहिं जावें।
पुन्यवान फल भोगि पुन्य क्षय पै पुनि आवें॥
करें कामना सहित सविधि मख स्वरग सिधारें।
क्षय जब होवै पुन्य यज्ञ करि फेरि पधारें॥
त्रयी वेद अनुसरण करि, पुनि-पुनि आवत जात हैं।
करम कामनावश करत, भोग भोगि हरपात हैं॥

इसके आगे की कथा अगले अङ्क में पढ़िये !

छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय

श्री भर्तृहरि के नीति, शृङ्गार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद।

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही, अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित सा होता जा रहा है। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि श्री महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक की पुस्तक प्रेस में पहुँच गई है शीघ्र ही आपको प्राप्त होगी

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि

भागवत दर्शन

खण्ड ७६

गीतावार्त्ता (८)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण
१००० प्रति

गंगादशहरा
२०२७

संशोधित मूल्य २-०० रुपया
मू० १.६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्त उपदेश लिखते थे। उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अंग्रेजी में छप चुके हैं। यह छोटी-सी पुस्तक बहुत ही उपादेय है। इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं। इसे हम फिर से छाप रहे हैं। मूल्य लगभग ३० पैसे।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम

(सहस्र दोहा भाष्य सहित)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वद्जनों के हाथों में पहुँची, लोगो ने पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये। पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जी इसी प्रकार 'श्रीविष्णुसहस्र नाम' को भी लिख दीजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के ऊपर एक-एक दोहा भी बना दिया। इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनों बन गये। प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते है उसे कथा मे सुनाते हैं उसका वर्णन इस परिचय सूचना-पत्र में करना असम्भव है। शीघ्र ही छपकर तैयार हो रही है। पत्र लिखकर 'अपनी प्रति सुरक्षित करालें।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
अपनी निजी-चर्चा	१
गीता-माहात्म्य	१५
१. अनन्य चिन्तक का योगक्षेम प्रभु स्वयं चलाते हैं	२५
२. जो जिस देव का यजन करता है, वह उसी देव को प्राप्त होता है	३६
३. भगवान् भक्ति में अर्पण की हुई छोटी वस्तु भी स्वीकार कर लेते हैं	४३
४. भक्ति पूर्वक भजन करने वाले मेरे आत्मीय ही हैं	५६
५. अनन्य भाव से भजने वाले के पूर्व कृत दोष नहीं देखे जाते	६३
६. भगवत् शरण में आने वाले सभी परम शान्ति प्राप्त कर सकते हैं	६९
७ राजविद्या राजगुह्य योग का रहस्य	८१
८. भगवान् ही सब की उत्पत्ति के आदि कारण हैं	९२
९. प्राणियों के विभिन्न भाव भगवान् से ही होते हैं	१०१
१०. विभूतियोग माहात्म्य	१०८
११. भक्तजन भगवत् भक्ति से सुखी होते हैं	११८
१२. भक्तों के अज्ञान को भगवान् स्वयं ही कृपा करके नाश कर देते हैं	१२२
१३. विभूतियोग के सम्बन्ध में प्रश्न (१)	१२९
१४. विभूतियोग के सम्बन्ध में प्रश्न (२)	१३३

१५. विभूतियोग के सम्बन्ध में प्रश्न (३) १४१
१६. भगवत् विभूतियाँ (१) १४६
१७. भगवत् विभूतियाँ (२) १५४
१८. भगवत् विभूतियाँ (३) १५९
१९. भगवत् विभूतियाँ (४) १६५
२०. भगवत् विभूतियाँ (५) १७२
२१. भगवत् विभूतियाँ (६) १७७
२२. भगवत् विभूतियाँ (७) १८३
२३. भगवत् विभूतियाँ (८) १९०
२४. भगवत् विभूतियाँ (९) १९८
२५. भगवत् विभूतियाँ (१०) २०६
२६. भगवत् विभूतियों का उपसंहार २११
२७. समष्टि रूप कह कर विभूतियोग की समाप्ति २१६

अपनी निजी-चर्चा

[७]

ईशाभिसृष्टं क्वचरन्महेऽङ्ग
दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथ—
श्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमाना ॥*

(श्री भग० ५ स्क० १ अ०, १५ श्लो०)

छप्पय

यह जीवन भव-तरी आपु केवट हो स्वामी ।
जित चाहो लै जाउ सरबथा हम अनुगामी ॥
सुख दुःख जो कछु भाग्य माँहि तिहि हरषि सहिहैं ।
'ऐसो मति प्रभु ! करो' भूलि कें नाहिँ कहिहैं ॥
इतनी विनती परि प्रभो, पद पदुमनि आश्रित रहैं ।
कृपा दृष्टि की वृष्टि करि, दीन जानि जोहत रहैं ॥

---

* हमारे गुण कर्मों के अनुकूल परमात्मा ने हमें जिन-जिन योनियों में डाल दिया है, उन्हीं-उन्हीं को स्वीकार करके, उन्हीं की, की हुई व्यवस्था के अनुसार हम सब सुख या दुःखों को भोगते रहते हैं। हमें कुछ पता नहीं चलता आगे क्या होगा, हम तो जैसे किसी अन्धे को आँख वाला लकड़ी पकड़ जहाँ ले जाता है वहीं जाना पड़ता है उसी प्रकार हम प्रभु की इच्छानुसार अनुसरण करते हैं।

यह जीव पूर्वजन्मों के क्रमानुसार न जाने
सागर में भटक रहा है। यदि भटकते-भटकते इ
भक्तों का, सन्त पुरुषों का संग मिल जाय, भग
में मन रम जाय, तो इसका भटकना रुक जाय
प्रारब्ध कर्म सचय कर्मों को गठरी इसे न
योनियों में घुमाती रहेगी।

लोग कहते तो हैं, कि हम कर्म करने में
चाहें सो कर, हम ही स्वग बना सकते हैं नरक
सकते हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं, किन्तु य
है। हम प्रारब्ध कर्मों में इतने आबद्ध हैं उस
बंधे हुए हैं कि उसको परिधि में ही रहकर
अधीन रहकर उसी की इच्छा के अनुसार काय
हमें पिछले जन्मों को याद रहती है, कि हमने
क्या किया और न आगे का ही स्मरण है क्य
यह एक प्रकार से अच्छा ही है। यदि हमें
सब घटनायें स्मरण रहें और आगे होने व
सम्बन्ध में भी जानकारी रहे तब तो हम उ
याद कर-करके ही महान चिन्ता में मग्न बने र

उस दिन छतरपुर से एक लड़की आयी थी
थी, हमारे यहाँ एक लड़की है, उसे अपने ती
बातें याद हैं। उसकी अवस्था १९-२० वर्ष क
पास है। वह बताती थी, पहिले जन्म में अ
मेरे चार लड़के थे। अन्तिम लड़का हुआ तब
हुआ। वह कष्ट मुझे अभी तक स्मरण है
वह सब बातें बताती थी, किसी ने ध्यान नहीं
स्मरण करके रोने लगी, तब उसे घरवाले वह

तब से इस भव-
से कभी भगवत्
वत् कथा कीर्तन
ता। नही तो ये
जाने किन-किन

स्वतन्त्र हैं जो
का निर्माण कर
ह कथन मात्र ही
शृंगला में इतने
उस देव के ही
करते हैं। न तो
पिछले जन्मों में
-क्या करना है।
पिछले जन्म का
लो घटनाओं के
सब बातों को
हेंगे।
। वह बता रही
न जन्मों की सब
ी है। एम० ए०
क स्थान में थी,
मुझे महान कष्ट
बालकपन से ही
दिया। जब बहुत
ं ले गये। उसने

अपने पति को, पुत्रों को, पुत्र बधुओं को जाते ही पहचान लिया बहुत सी गुप्त बातें बतायी, गढ़ी हुई वस्तुएं बतायी। मरकर फिर वह आसाम में एक ब्राह्मण की पुत्री हुई। वहाँ ८-९ वर्ष की थी तभी एक मोटर दुर्घटना में उसका देहान्त हो गया तो छतरपुर में जन्मी। इस प्रकार वह तीनों जन्म की बातें बताती है, तीनों परिवार वालों से उसका मोह है। अपने तीनों जन्मों के माता पिताओं के प्रति उसकी ममता है, अब विवाह हो जायगा तो एक नया सम्बन्ध हो जायगा। भविष्य का उसे ज्ञान हो जाय, तो उसकी भी चिन्ता रहेगी। यह विस्मृति बनाकर भगवान् ने जीवों को बहुत सी चिन्ताओं से मुक्त कर दिया। जीव को सब जन्मों की सब घटनायें याद रहती तो वह कितना चिन्तित रहता। भविष्य का भी ज्ञान रहता तो, भविष्य की घटनाओं को सोच-सोचकर मर जाता। अब जब हमें न तो बीते हुए जन्मों की याद है, न भविष्य में क्या होगा, इसी का पता है, फिर भी इस जन्म की बीती बातों के विषय मे विचार करते रहते हैं। भविष्य के मनसूबे बनाते रहते हैं। बिना जड़ पेंदी के भविष्य के किले बनाते रहते हैं, गन्धर्व नगरों का निर्माण करते रहते हैं। चाहे भविष्य का कुछ भी आभास हमें न हो फिर भी हम भविष्य की सोचे बिना रह नहीं सकते। भविष्य के विषय में धुना बुनी करते ही रहते है।

मथुरा कारावास में मैं सोचता था—यदि गोहत्या बन्द न हुई, तो मैं मथुरा की जेल मे मर जाऊँगा। अथवा सरकार से कोई समझौता हो गया तो छूट जाऊँगा। भविष्य के विषय में भाँति-भाँति के विचार उठते, फिर अपने मन को समझा लेता, जो होना होगा, वह हो जायगा, व्यर्थ की बातों के सोचने से क्या लाभ? चित्त को भगवान् में लगाओ। अब तो अन्तिम

उपस्थित थे। पहिले तो उन्होंने अनेकों यन्त्रों द्वारा मेरे स्वास्थ्य की परीक्षा की। फिर मुझे बड़ी सावधानी से रुग्णीय सुख शैया (स्टेचर) पर लिटा कर ले गये। वे बड़ी सावधानी बरत रहे थे। शरीर हिलने न पावे, तनिक भी भूमि का स्पर्श न हो।" मुझे हँसी आ रही थी। सम्पूर्ण मार्ग में उछलता कूदता व्याख्यान देता हुआ आ रहा था। यहाँ ये कहते है हाथ न हिलने पावे। अस्तु अत्यन्त ही सावधानी के सहित वे मुझे नैनी केन्द्रिय कारावास में ले गये। यद्यपि मैं प्रयाग में कई बार राजनैतिक अन्दोलनों में पकड़ा गया, किन्तु मुझे यहाँ सदा मलाका जेल में ही रखा गया। जो उन दिनों प्रयाग की जिला जेल थी, और अब वहाँ बड़ा चिकित्सालय (अस्पताल) बन गया है। नैनी जेल में मैं कभी नहीं रखा गया। आज वहाँ भी आ गया। अधिकारियों ने मुझे उसी कक्ष मे रखा जहाँ पहिले महामना मदन-मोहन मालवीय जी को रखा गया। मथुरा के अधिकारी तो बहुत डरते थे, कि 'कोई नियम विरुद्ध कार्य न हो जाय' हमारी शिकायत न हो। यहाँ के अधिकारी तो सब जानते थे, मुझे ऐसा लगा, अपने घर में आ गया हूँ। रात्रि में आनन्द से शयन किया।

प्रातः काल नित्यकर्म पूजा पाठ से निवृत्त होने पर मुझे बड़ी ही सावधानी तत्परता और आराम के सहित उच्चन्यायालय के कक्ष मे ले जाया गया। यद्यपि यहाँ प्रयाग में मैं ४०-४५ वर्ष से हूँ किन्तु कभी उच्चन्यायालय के कक्ष नहीं देखे थे। कभी उच्चन्यायालय जाने का काम नहीं पड़ा था। कभी-कभी इच्छा होती, एक दिन चल कर देखूँ, वहाँ कैसे न्याय नाटक होता है, सो भगवान् ने स्वयं ही मुझे अभियुक्त बना कर यह इच्छा पूरी कर दी। यह नाटक दिखा दिया।

उच्च न्यायालय में बड़ा गम्भीर वातावरण था। बहुत से नर-नारी उस दृश्य को देखने आना चाहते थे। प्रयाग तो मेरा घर ही था, यहाँ का बच्चा-बच्चा मुझसे परिचित था। सहस्रों बच्चे मेरे सामने पढ़-पढ़कर उच्चन्यायालय के अधिवक्ता (एडवोकेट) हुए हैं। सैकड़ों मेरे परम भक्त स्नेही हैं। प्रान्त भर की कलह से उपजीविका करने वाले कलहोपजीवी अधिवक्ताओं का यह प्रधान अड्डा है न्यायालय के उच्चाधिकारियों ने मेरे बैठने का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध कर रखा था। बहुत सुन्दर-सी मंच बनाकर उस पर गद्दा तकियों का प्रबन्ध था। उच्चन्यायालय में चाहें राष्ट्रपति ही क्यों न जाय, उसे खड़े होकर अपना वक्तव्य देना पड़ता है। मेरे दोनों न्याय मूर्तियों ने मुझसे कहलाया कि—ब्रह्मचारी जी चाहें तो बैठकर वक्तव्य दे सकते हैं या लेट कर उनको खड़ा होने की कोई आवश्यकता नहीं।" किन्तु मैंने न्यायालय का सम्मान करने के लिये जो भी वक्तव्य दिया-खड़े होकर ही दिया और न्यायाधीशों के आने पर भी मैं उनके सम्मान में खड़ा हो जाता था। यद्यपि वे ऐसा करने को बार-बार मना करते थे, किन्तु मैंने कहा—"नहीं मुझे न्यायालय का और न्यायाधीशों का सम्मान करना ही चाहिये।"

ऐसा लगता था, कि उसी दिन सभी न्यायालयों का कार्य छोड़कर समस्त अधिवक्ता यहीं आ गये थे। सैकड़ों सहस्रों छोटे, बड़े, बड़े से बड़े वकील उस अभियोग को देखने उसमें सहयोग देने आ गये थे। मैं पहिले अनुमान भी नहीं कर सकता था कि वकील लोग अपने अभियुक्तों को छुड़ाने के लिये कितना भारी परिश्रम करते हैं। कितने साधन, तर्क उन्हें जुटाने पड़ते हैं। रज्जू भैया ने, चौधरी वीरेन्द्र सिंहजी ने तथा हमारे समस्त सहयोगी बन्धुओं ने इस अभियोग में कितना परिश्रम किया।

हमारे कुञ्जरू जी, खरेंजी, भार्गव जी, मिश्र जी तथा जिनका नाम धाम मैं नहीं जानता उन्होंने रात्रि-रात्रि भर जाग कर, कितने प्रमाण जुटाये, कितनी श्रेणियाँ निर्माण की। सरकारी वकील पं० कन्हैयालाल जी मिश्र भी अपने परिचित बन्धु तथा भक्तों में से थे, किन्तु उनकी विवशता मैं उनके मुख पर पढ़ रहा था। वे ऊँचा मुख कर कभी मेरी ओर ताके नहीं। उन्हें कितना दुष्कर कर्म करना पड़ रहा था। जिनके प्रति हमारा अगाध आदर है, उनके विरुद्ध अभियोग सिद्ध करना कितना कठिन कार्य है, किन्तु कर्तव्य पालन में सब कुछ करना पड़ता है। सब दर्शकों अधिवक्ताओं को उस इतने बड़े न्याय भवन में स्थान ही नहीं था। लौह टोपधारी सैनिक बाहर से लोगों को रोक रहे थे, किन्तु वकीलों को अधिवक्ताओं को उनके सगे सम्बन्धियों को कौन रोक सकता था। जो लोग किसी सम्बन्ध से भीतर जा सके वे भीतर गये, नहीं सहस्रों नर-नारी बाहर ही खड़े-खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे।

न्यायाधीशों ने जब देखा वकीलों की, सुप्रतिष्ठित दर्शकों की भीड़ अत्यधिक है, तो उन्होंने आज्ञा दी। न्याय कार्य श्रेष्ठतम न्यायाधीश (चीफ जस्टिस) के न्याय कक्ष में होगा। तब तुरन्त वहाँ प्रबन्ध किया गया। यद्यपि वह भवन बहुत बड़ा था, फिर भी उसमें तिल रखने को स्थान शेष न रहा। बहुत से लोग वहाँ भी बाहर खड़े रहे।

हमारी ओर से प्रयाग के सुप्रसिद्ध अधिवक्ता खरेंजी बोलते थे और सरकार की ओर से महाधिवक्ता पं० कन्हैयालाल जी मिश्र तथा उनके अनेक सहयोगी बन्धु।

सबसे पहिले हमारे वकील ने यह ही नियमापत्ति उठायी, कि इनको किस अभियोग में पकड़ा गया और अभियोग पत्र

तीन दिन के अन्दर क्यों नहीं दिया गया। मैं पहिले समझता था, सरकार जिसे चाहे जितने दिन तक इच्छानुसार पकड़ सकती है, जब तक चाहे कारावास में रख सकती है। तीसरे या किन्तु चौथे दिन एक अभियोग पत्र मुझे दिखाया अवश्य गया था, मैंने यह कहकर उसे लेने से मना कर दिया कि मुझे हिन्दी में अभियोग पत्र दिया जाय। किन्तु हिन्दी जैसी पिछड़ी तिरस्कृत भाषा में अभियोग पत्र कौन तैयार करे।"

मैं तो वहाँ की कार्य प्रणाली देखकर चकित रह गया। सरकार की ओर से कहा गया—"ब्रह्मचारी जी ने अमुक तिथि को वृन्दावन में एक ऐसा सार्वजनिक सभा में भाषण दिया, जिससे देश में बलवा हो सकता था, इसी अभियोग में हमने इन्हें पकडा है।

किन्तु उस तिथि को मैं वृन्दावन में था ही नहीं। उस तिथि को तो मैं अहमदाबाद में था। वहाँ मेरा बडा भारी जुलूश निकला। शारदा पीठ के शंकराचार्य जी के सभापतित्व में बडी भारी सभा हुई। प्रेस प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। उस दिन रात्रि के वायुयान से मैं देहली आने वाला था, किन्तु हमारे देहली के बन्धुओं ने दूरभास पर हमारे लोगों से कहा—देहली में उतरते ही ब्रह्मचारी जी को वायुयान स्थल पर ही पकड़ लिया जायगा, अतः उन्हें जयपुर ही उतार लो। हमारे साथियों ने देहली के वायुयान के टिकट बदलवा कर जयपुर के कराये। रात्रि में हम जयपुर उतरे। वहाँ कार्यकर्ताओं की सभा हुई, प्रेस प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। मेरा प्रेस वक्तव्य वहाँ के समाचार पत्रों मे छपा। फिर हम रात्रि में ११-१२ बजे एक किराये की मोटर से वृन्दावन को चले। दूसरे दिन प्रातः वृन्दावन पहुँचे। उस तिथि को तो वृन्दावन मे हमारी उपस्थिति

किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती थी। हमारे वकीलों ने बड़ी ही युक्तियों से इस बात का खण्डन किया कि सरकारी सूचना मन गढ़न्त है। उन्होंने उस दिन के हमारी शोभा यात्रा के समाचार पत्रों में प्रकाशित सब चित्र, समाचार, पत्र प्रतिनिधि सम्मेलन में दिये समस्त वक्तव्य हमारी वायुयान की जयपुर वाली सभी टिकटें, किराये की गाड़ी का नम्बर, जयपुर के समाचार, प्रेस वक्तव्य सभी न्यायालय में उपस्थित किये। मुझे आश्चर्य हो रहा था, इतनी सब सामग्री चौधरी वीरेन्द्र सिंह जी ने कहाँ से एकत्रित कर ली थी और इतने अल्प समय में।

सरकारी महाधिवक्ता बारबार दूरभाष यन्त्र से मथुरा के जिलाधीश से पूछें—भाई, किस आधार पर तुम कहते हो उस दिन उन्होंने वृन्दावन में भाषण किया जिलाधीश कहे—हमारे गुप्तचर दीवान (सी० आई डी० के हेडकानिस्टेबिल) ने उन्हे जीप में बैठे देखा था। सरकारी सभी यन्त्र इस बात को सिद्ध करने में संलग्न थे कि उस तिथि को मेरी उपस्थिति वृन्दावन में सिद्ध कर दी जाय। जयपुर में हमारा वायुयान सायकाल पहुँचा था। सरकारी लोगों ने वायुयान की समय सारिणी में यह पता लगाया कि जयपुर से उस समय कोई वायुयान आगरा आता हो तो हम यह सिद्ध कर दें कि जयपुर से उतर कर मैं आगरे के वायुयान में बैठ गये। आगरे से वृन्दावन मोटर से घन्टे भर का मार्ग है। रात्रि के बारह बजे भी पहुँचना सिद्ध हो जाय, तो बात बन जाय। दूरभाष और आकाशीय समाचार द्वारा जयपुर से पता लगाया गया। जिनके यहाँ मैं ठहरा था वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के स्वामी, पं० हजारीलाल जी शर्मा का वक्तव्य लिया गया, किन्तु बात कोई बनी नहीं। जयपुर से प्रातःकाल तक कोई वायुयान आगरे नहीं आता था। जयपुर रात्रि में उतरकर किसी भी

वाहन द्वारा हम उस दिन वृन्दावन नहीं पहुँच सकते थे।

जब किसी भी प्रकार सरकारी अधिवक्ता अपनी बात को दो दिन के पूर्व प्रयत्न से सिद्ध कहने में समर्थ न हुए, तो दूसरे दिन सायकाल, मे उन्होंने प्रान्तीय सरकार को सम्मति दी, इस अभियोग को तुरन्त लौटा लो, ब्रह्मचारी जी को तुरन्त छोड़ दो।"

मुझे दोनों ओर के वाद विवाद में बड़ा आनन्द आ रहा था। ऐसा भव्य नाटक मैंने जीवन में पहिले पहिल देखा था। न्यायाधीशों की वह गम्भीर मुद्रा, तथा अधिवक्ताओं की जो हास्यरस से संपुटित एक दूसरे को चिढ़ाने वाली युक्तियाँ उस गम्भीर वातावरण में भी सरसता बिखेर रही थी।

मै गोरक्षा अभियान समिति का अध्यक्ष था हमारे १० लाख के जुलूस पर सरकार की ओर से गोलियाँ चलायी गयी थीं। बहुत स आदमी मारे गये। किसी प्रसग मे हमारे वकील खरे साहब ने कहा—"यह सब काम गुंडो का था।"

न्यायाधीश ने कहा—"गुंडो का काम? तब उन लोगों को गुंडा अधिनियम के अनुसार पकडा क्यों नहीं गया?"

खरे साहब ने बनावटी गम्भीरता के स्वर में कहा—"श्रीमान! वे पकड़े कैसे जाते। वे साधारण गुन्डे नहीं थे। कांग्रेसी गुन्डे थे।"

"कांग्रेसी गुन्डे" शब्द को सुनते ही वहाँ उपस्थित सभी वकील, दर्शक ठठाका मारकर हँस पड़े। न्यायाधीश भी अपनी हँसी को न रोक सके। न हँसने वालों में हमारे सरकारी महाधिक्ता मिश्र जी ही एक थे।

मै आश्चर्य कर रहा था, कि ये वकील लोग इतने बड़े न्यायालय में भी ऐसी कड़ी-कड़ी बातें कैसे कह जाते हैं और इन पर कुछ अभियोग भी नहीं लगाया जाता।

दो दिन मुझे न्यायालय में उपस्थित होना पड़ा।

तीसरे दिन प्रातः ८-९ बजे कारावास के अधिकारियों ने मुझे सूचना दी कि "सरकार ने प्रमाण के अभाव में आप पर से अभियोग उठा लिया है। आपको मुक्त कर दिया गया है। आप जहाँ चाहें वहाँ आपको पहुँचा दें।"

मैंने कहा—"एक बार मैं पुनः उच्चन्यायालय के न्याय भवन में जाना चाहता हूँ।"

अधिकारियों ने मुझे उच्चन्यायालय में पहुँचा दिया। वहाँ मेरे अपने परम सहयोगी श्री गजाधर प्रसाद भार्गव आदि बन्धु मेरे पास आये और बोले—"आप पर से मुकदमा तो उठा लिया गया। अब न्यायालय में आपको आने की कोई आवश्यकता नहीं।"

मैंने कहा—"न्यायाधीशों के सम्मुख मैं एक वक्तव्य देना चाहता हूँ।"

मेरे सहयोगी बन्धुओं ने कहा—"जब आप पर से मुकदमा उठा ही लिया गया, तो नियमानुसार अब आपको वक्तव्य देने का अधिकार नहीं।"

मैंने कहा—"न्यायाधीशों से मेरी ओर से आप निवेदन कर दें कि मैं एक वक्तव्य देना चाहता हूँ। यदि वे स्वीकार न करेंगे, तो मैं लौटकर अपने झूसी आश्रम में चला जाऊँगा।"

मेरे सहयोगियों ने न्यायाधीशों से निवेदन किया, उन्होंने आज्ञा दी—"हाँ, ब्रह्मचारी जी को बुलाइये।" मैं देख रहा था, न्यायाधीश इस अभियोग में आन्तरिक रस ले रहे थे।

मुझे क्रोध आ रहा था, कि सरकारी लोगों ने अकारण मुझे परेशान किया और क्रोध, इस बात पर भी आ रहा था, कि जब झूठा मुकदमा बनाना ही था, तो बना भी न सके। अतः न्याय

भवन में जाकर न्यायाधीशों की अनुमति से समस्त अधिवक्ताओं के सम्मुख मैंने एक अत्यन्त ही कड़ा वक्तव्य दिया। मैंने कहा— मुझे सब जानते हैं, मैं यथाशक्ति झूठ नहीं बोलता, मैं कभी किसी को हिंसा के लिये नहीं उभाड़ता, लगभग ४० वर्ष से मैंने मौन व्रत धारण किया है। मैं इतने दिनों से देश का कार्य कर रहा हूँ, कई बार जेल गया हूँ किन्तु कभी भी मेरे ऊपर लोगों को भड़काने का बलवा कराने का अभियोग नहीं लगाया गया। किन्तु आज अनशन के पूर्व मेरे ऊपर बलवा कराने का अभियोग लगाकर मुझे झूठ-मूठ पकड़ा गया है। अभियोग सिद्ध न होने पर मुझे छोड़ दिया गया है। यह तो ऐसे ही हुआ किसी के सिर पर जूती मारकर फिर उससे कह दिया जाय, भूल से जूती मार दी, अब तुम प्रसन्नता पूर्वक अपने घर चले जाओ। जब मुझ जैसे साधक सुप्रसिद्ध व्यक्ति के प्रति सरकार का ऐसा व्यवहार है, जिसकी वैधानिक रक्षा के लिये सहस्रों वकील अधिवक्ता तत्पर हैं, तो उन बेचारे असहाय, निर्बल साधनहीन साधारण लोगों के ऊपर तो मनमाने अभियोग चलाये जाते होंगे। क्योंकि वे अपने बचाव के लिये वकील नहीं कर सकते। द्रव्य व्यय नहीं कर सकते। इस प्रकार आक्रोश के शब्दों में मैं लगभग आधे घन्टे बोलता रहा। न्यायाधीश चुपचाप शांत भाव से मेरे वक्तव्य को सुनते रहे। उन्होंने बीच में एक शब्द भी न कहा, न मुझे टोका ही।"

इसी प्रकार मैं वक्तव्य देकर तुरन्त वहाँ से चल दिया। सरकारी अधिवक्ता सभारे वकील पर बड़े क्रुद्ध हुए और बोले— "जब हमने प्रातः ७ बजे ही अभियोग उठा लिया था, तो इन्हें फिर न्यायालय के सम्मुख क्यों उपस्थित किया ?

हमारे वकील ने द्विगुणित क्रोध प्रदर्शित करते हुए कहा— "हमें क्या पता था, कि आपने अभियोग उठा लिया, आपने कोई

लिखित सूचना तो हमें दी नहीं। १० बजे जब हम न्यायालय में आये तब हमें पता चला। तब ब्रह्मचारी जी अपना वक्तव्य दे रहे थे।"

नहला पर देहला लगा देखकर बेचारे चुप हो गये। मैं अपने भूमी के आश्रम में आ गया।

जब यह मामला समाप्त हो गया, तो एक दिन सरकारी महाधिवक्ता हमारे वकील के पास गये और बोले—"भाई, अब तो जो होना था, सो हो गया। अब ठीक-ठीक बता दो। हमारा मथुरा का जिलाधीश तो दृढ़ता के साथ कहता है, उस दिन ब्रह्मचारी जी को हमारे आदमियों ने वृन्दावन में देखा था। उनके व्याख्यान की प्रतिलिपि है। और आप लोग कहते हो, कि वे उस दिन अहमदाबाद में थे। तुम लोगों ने सिद्ध भी कर दिया अब यह बता दो, यथार्थ बात क्या है ?"

हँसकर हमारे वकील ने कहा—"यथार्थ बात यह है, कि हमारे ब्रह्मचारी जी में ऐसी सामार्थ्य है, कि वे एक समय में अहमदाबाद भी रह सकते हैं और वृन्दावन भी रह सकते है।"

यह सुनकर वे हँस पड़े और बोले—"तुम लोग तो ऐसे ही झूठी बात बनाया करते हो।"

जब यह बात मुझसे लोगों ने बतायी, तो मैंने कहा—"दाढ़ियों की वृन्दावन में कमी नहीं। कोई दीवान ने और भूरी दाढ़ी देखी होगी।" पीछे मुझे पता चला, जिस कर्मचारी के नाम से यह वक्तव्य तैयार कराया गया था उसे नौकरी से निकाल दिया गया। मुझे बड़ा दुःख हुआ, कि मेरे कारण एक व्यक्ति को रोटी मारी गयी।

अब आगे जैसे गोलोक में जाकर अनशन के दिवस बीतें यह

कहानी आगे के खंडों में पढ़िये। इतना ही स्थान था, वह पूरा हो गया।

छप्पय

मेरे न्यायाधीश ! न्याय मेरो करि देओ।
जो मैं पापी अधम दंड जो चाहो देवो॥
दीनबन्धु तव नाम दीन अब कहँ खोजोगे।
मो सम को है दीन दया करि कब जोहोगे॥
दीनबन्धु तुम सम नहीं, तुम हो प्रभु ! असरन सरन।
तुरवाओ सम्बन्ध सब, देओ निज चरननि शरन॥

गीता-माहात्म्य

[६]

श्रीकृष्णगान गीतकं सुदिव्य नवाध्मायकम् ।
समस्त पापनाशकं कुदान कष्टहारकम् ॥
विपत्ति विघ्नदारकं भवाब्धिशीघ्र तारकम् ।
पठन्तु भो सुधीजना सुभुक्ति मुक्तिदायकम् ॥❀

(प्र० द० ब्र०)

छप्पय

अब नवमें अध्याय महातम सुनहु सुधीजन ।
माधव द्विज इक यज्ञ करचो आये पण्डितगन ॥
बकरा बलि जब करें कहे अज का फल जाते ।
पढा नवम अध्याय करो भव तरिहो ताते ॥
मम पतिनी सुत हित निमित, बलि अज कीयो हौं दयो ।
शाप तासु जननी दयो, ताहि तें हौं अज भयो ॥

❀ श्री कृष्ण भगवान् का गाया हुआ जो श्रीमद्भगवत् गीता है, उसका जो सुन्दर नवमां अध्याय है, वह समस्त पापों को नाश करने वाला है, कुदान लेने से जो कष्ट होते हैं उनको हरण करने वाला है, विघ्न विपत्तियों को नाश करने वाला है संसार सागर से शीघ्र तारने वाला है, हे बुद्धिमान पुरुषो ! भुक्ति और मुक्ति देने वाले उस अध्याय को नित्य पढ़ा करो ।

यज्ञ यागों में जो यह पशु बलि की प्रथा है, वह पहिले नहीं थी। अज की बलि देनी चाहिये यही वेद का वचन है। अब 'अज' शब्द के ही सम्बन्ध में वाद विवाद उठा। ऋषि गण तो कहते थे, कि 'अज' का अर्थ बीज है। किसी भी बीज को भून दो तो वह पुनः पैदा न होगा। धान में से बीज को पृथक् कर दो, तो वह पुनः पैदा न होगा। अतः अज माने चावल, अन्न या बीज है।

इसके विपरीत देवता कहते थे, अज का प्रत्यक्ष अर्थ बकरा है, अतः यज्ञों में बकरे की बलि देनी चाहिये। दोनों में बहुत बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। दोनों ने कहा—"किसी मध्यस्थ से इसका निर्णय कराना चाहिये।

उन दिनों एक धर्मात्मा राजा उपरिचर वसु थे। तपस्या के प्रभाव से उन्हें एक विमान प्राप्त था, वह ऊपर उड़ता था, राजा ऊपर ही ऊपर आकाश में घूमते थे अत. उनका नाम 'उपरिचर' प्रसिद्ध हो गया। उनके धर्मात्मा होने का दोनों को ही विश्वास था अतः दोनों ने ही उन्हें मध्यस्थ स्वीकार कर लिया। दोनों ने कहा—राजन्! आप बिना पक्षपात के बता दो 'अज' शब्द का अर्थ क्या है?

वास्तव में तो अज शब्द का अर्थ बीज ही था, किन्तु राजा ने देवताओं के प्रभाव में आकर उनका पक्षपात किया। कह दिया—अज का अर्थ तो बकरा ही है। ऋषियों ने उन्हें शाप दिया—आज से तुम्हारी गति आकाश में उड़ने की न रहेगी। तुम पृथ्वी पर ही चला करोगे। तभी से यज्ञ यागों में बकरे की बलि देने की प्रथा प्रचलित हो गयी इस पशु बलि की प्रथा की प्रशंसा पंडितों ने नहीं की है।

महाराज प्राचीनबर्हि बड़े ही प्रसिद्ध कर्म कांडी थे।

उन्होंने यज्ञों का ऐसा तांता लगा दिया कि समस्त पृथ्वी को यज्ञ की कुशाओं से ढाँक दिया। नारद जी ने सोचा—ऐसा धर्मात्मा राजा क्या इन हिंसामय कर्मों में ही फँसा रहेगा। दया के सागर, परोपकार परायण, पर दुःख कातर देवर्षि नारद जी राजा प्राचीनवर्हि के पास गये और बोले—राजन् ! तुम सदा कर्म कांड में फँसे रहोगे क्या ?

राजा ने कहा—"स्वामिन् ! क्या करूँ, मेरी बुद्धि तो सकाम कर्मों में ही फँसी हुई है। इन कर्मों के अतिरिक्त भी कोई कल्याण का मार्ग है उसे मैं नही जानता। मेरे कर्म कांडो आचार्यों ने तो मुझे यज्ञ याग बलि पशु स्वर्ग सुख इन्हीं बातों का उपदेश दिया है। इसीलिये यज्ञ करता हूँ, यज्ञों में पशु बलि देता हूँ।"

नारद जी ने अपने योग बल से आकाश में उन सब पशुओं को बुला लिया, जिनका बलिदान राजा ने यज्ञों में दिया था। फिर राजा से कहने लगे—"राजन् ! तनिक ऊपर आकाश में तो देखो, ये कौन जन्तु दिखायी दे रहे हैं ?

राजा ने देखा—बड़े-बड़े भैंसा, बकरा आदि पशु क्रुद्ध हुए खड़े हैं, वे अपने तीखे सींगों से किसी को मारने के लिये उद्यत हैं।

राजा ने पूछा—देवर्षे नारद जी ! ये पशु कौन है ?

हँसकर नारद जी ने कहा—राजन् ! यज्ञों में जिनका तुमने निर्दयता पूर्वक बध किया है। जिनकी तुमने बलि दी है ये वे ही पशु हैं।

राजा ने पूछा—ब्रह्मन् ये इतने कुपित क्यों हो रहे हैं ?

नारद जी ने कहा—राजन् ! किसी को भी कैसे भी तुम अस्त्र-शस्त्रों द्वारा काटोगे, किसी की हिंसा करोगे, तो उसे कष्ट

नही होगा क्या ? तुमने जो इनका बलिदान किया है, दुःख दिया है, उन्हीं दुःखों को स्मरण करके ये अत्यन्त कुपित हो रहे हैं।

राजा ने भयभीत होकर पूछा—ब्राह्मन् ! ये चाहते क्या हैं ?

नारद जी ने कहा—"राजन् ! ये तुमसे बदला लेना चाहते हैं। जैसे तुमने इन्हें मारा है, ऐसे ही ये अपने तीखे-तीखे सींगों से तुम्हारे उदर को विदीर्ण करना चाहते हैं। ये इसी प्रतीक्षा में बैठे हैं कि तुम मरकर जब परलोक जाओगे तब ये तुमसे अपना बदला लेंगे।"

राजा ने भयभीत होकर परम जिज्ञासा के साथ पूछा—ब्रह्मन् ! इनसे बचने का उपाय क्या है ?

इस पर नारद जी ने राजा को पुरंजनोपाख्यान सुनाया और आत्म तत्त्व का उपदेश दिया।

बात यह है कि ये सकाम कर्म स्वर्गादि लोकों को ही प्राप्त कराने वाले हैं। इन हिंसा प्रधान सकाम कर्मों से परम शांति की प्राप्ति नही होती और विशेष कर कलिकाल में तो ऐसे हिंसात्मक यज्ञ निषेध हैं। सबसे बड़ा यज्ञ तो जप यज्ञ है, किसी भी मन्त्र का श्रद्धा भक्ति के साथ निरन्तर जप करता रहे तो उसे सिद्धि प्राप्त हो जायगी। गीता जी के सात सौ श्लोक मन्त्र रूप ही हैं जिनमें से जिस किसी भी अध्याय पर अपनी श्रद्धा हो उसका निरन्तर जप करता रहे। माला लेकर गिनता रहे आज मैंने कितने पाठ किये। तो ऐसे श्रद्धा भक्ति पूर्वक मन्त्र जप करने वाले को परम सिद्धि निश्चित रूप से प्राप्त हो सकती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब मैं आपको नवमें अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जिसे शिवजी ने पार्वती को और विष्णु भगवान् ने लक्ष्मी जी को सुनाया था।

परम पावन जल वाली भगवती नर्मदा नदी के पावन तट पर माहिष्मती नाम की एक अत्यन्त ही प्राचीन नगरी है। उसमें चातुर्वर्ण के लोग निवास करते थे। प्राचीन काल में माधव नाम का एक कर्मकांडी ब्राह्मण उस नगरी में रहता था। वह वेद वेदाङ्गों का ज्ञाता था। अतिथियों का भक्त था। दूर-दूर तक उसकी ख्याति थी। जहाँ भी कहीं यज्ञ याग होते उनमें वह अवश्य बुलाया जाता था। इस प्रकार उसने यज्ञ याग कराके दान पुण्य लेकर बहुत सा धन एकत्रित किया।

एक बार उसने सोचा—मैं दूसरों को तो यज्ञ कराता हूँ। स्वयं यज्ञ नहीं करता मेरा यह इतना धन किस काम आवेगा। धन की सार्थकता तो दान यज्ञ में ही है जो धन दान धर्म यज्ञादि में व्यय होता है वही सुकृत में लगता है। यही सोचकर उसने एक महान् यज्ञ का आरम्भ किया।

पशुबलि वाला ही यज्ञ वह कराया करता था, अतः उसने अपने यज्ञ में भी बलि देने को एक अच्छा सा हृष्ट पुष्ट बकरा मँगाया। शास्त्रीय विधि से नियमानुसार उसकी पूजा करायी, शुद्धि करायी। ज्योंही उसका बलिदान करने को उद्यत हुए, त्योंही उसने मनुष्य की वाणी में हँसते हुए कहना आरम्भ कर किया—ब्राह्मण देवता! इन हिंसा प्रधान बहुत से यज्ञों से क्या लाभ? इनसे जन्म मरण का चक्कर तो छूटता नहीं। परम शांति का प्राप्ति तो होती नहीं उलटे ये यज्ञ बार-बार मृत्यु के कारण होते हैं।

बकरे के मुख से मनुष्य वाणी में ऐसी बात सुनकर सभी समुपस्थित याज्ञिक तथा यजमान आदि चकित हो गये। ब्राह्मण ने परम आश्चर्य के साथ हाथ जोड़ कर बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ

पूछा—महाभाग ! आप बड़ा दिव्य उपदेश कर रहे हैं। आप पूर्वजन्म में कौन थे ?

बकरे ने कहा—"पूर्वजन्म में मै भी ब्राह्मण ही था। मै भी आपकी ही भाँति सत्कुलोद्भव यशस्वी था। मैंने भी वेद और वेदाङ्गों का विधिवत् अध्यन किया था।"

यजमान ने पूछा—"फिर आपको यह बकरे की योनि कैसे प्राप्त हुई ?"

बकरा बोला—मेरी धर्मपत्नी भी कर्मकाण्ड में श्रद्धा रखने वाली थी। मेरे एक पुत्र था। एक बार मेरा पुत्र रोगग्रस्त हो गया। मेरी पत्नी ने कहा—"प्राणनाथ। मैने भगवती दुर्गादेवी की मनौती मानी है कि मेरा पुत्र अच्छा हो जाय, तो देवीजी में तुम्हें एक बकरे की बलि दूंगी। सो मुझे कहीं से एक बकरा ला दीजिये।"

अपनी पत्नी के कहने पर मैने एक बकरी का बच्चा लाकर उसे दिया। भगवती चण्डिका देवी के मंदिर में जब बकरे का बलिदान हो रहा था, उसी समय कहीं से उस बकरे की माता बकरी भी वहाँ आ गयी। अपने बच्चे का बलिदान देखकर कुपित हुई बकरी ने मुझे शाप दिया—"तू मेरे बच्चे की बलि देना चाहता है, अतः जा तू भी बकरा होगा और तुझे भी ब्राह्मण लोग बलिदान के लिये ले जायंगे।"

सो ब्रह्मन ! उस बकरी के शाप से ही मै बकरा बन गया हूँ। यद्यपि मेरा जन्म पशु योनि में हुआ, फिर भी पूर्वजन्मों के सुकृतों के कारण मुझे पूर्वजन्म की सब बातें याद है। इसलिये ब्रह्मन् ! आप इतने भारी विद्वान् होकर इन हिंसामय कर्मों में क्यों लगे हुए है। आप मेरी दशा से ही शिक्षा ग्रहण करलें।

यजमान ब्राह्मण ने हाथ जोड़कर पूछा—"तब हम क्या करें परम शान्ति के लिये कौन-सा उपाय करें ?"

बकरे ने कहा—"ब्रह्मन्-स्वाध्याययज्ञ करें, जिसे जप यज्ञ भी कहते हैं।"

यजमान ने पूछा—किसका स्वाध्याय करें। कौन से मन्त्र का जप करें ?

बकरे ने कहा—इस सम्बन्ध में मैं आपको एक कहानी सुनना चाहता हूँ, उसी में आपके प्रश्नों का उत्तर आ जायगा। आपकी आज्ञा हो तो कहानी सुनाऊँ ?

यजमान तथा अन्यान्य हवन करने वाले ब्राह्मणों ने कहा—"हाँ-हाँ अवश्य सुनाइये हम उसे बडी श्रद्धा भक्ति के साथ सुनने को उत्सुक हैं।"

बकरे ने कहा—विप्रवर ! कुरुक्षेत्र नाम का एक बहुत ही पवित्र धर्मक्षेत्र या पुण्यक्षेत्र है। उसमें एक चन्द्र शर्मा नाम का सूर्यवंशी राजा राज्य करता था। वहाँ पर जब-जब भी सूर्य ग्रहण लगता है, तब-तब लाखों की संख्या में धर्मप्राण प्रजाजन स्नान करने आते हैं। एकबार सूर्य ग्रहण का मेला लगा। वहाँ कालपुरुष के दान का बड़ा महात्म्य है। कालपुरुष के दान को सब ब्राह्मण नहीं लेते। क्योंकि उस दान को पचाना अत्यन्त ही कठिन है। जो अधम ब्राह्मण होते हैं वे ही ऐसे कुदानों को लेते है। राजा बड़े प्रभावशाली थे। उनके राज्य में एक वेद वेदाङ्गों का पारगामी बड़ा ही तपस्वी ब्राह्मण था। राजा ने जिस किसी प्रकार उसे कालपुरुष का दान लेने को मना लिया। राजा उस ब्राह्मण को लेकर अपने पुरोहित के साथ तीर्थ में स्नान करने गये। तीर्थ स्नान करके उसने पवित्र दो वस्त्र धारण किये, श्वेत चंदन लगाया, सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्म से निवृत्त होकर,

प्रसन्नता पूर्वक अपने स्थान पर लौट आये और आकर उस ब्राह्मण को उन्होंने कालपुरुष का दान किया।

दान ग्रहण करते ही एक अद्भुत चमत्कार हुआ। उस काल पुरुष के हृदय से पाप रूपी चांडाल के रूप में एक पुरुष और निन्दा के रूप में एक चाण्डाली स्त्री उत्पन्न हुई। वे दोनों लाल-लाल आँखें किये हुए उस ब्राह्मण के शरीर में प्रवेश करने लगे।

कालपुरुष के दान से पाप तथा निन्दा करने के जितने कल्मष हैं व हट जाते हैं और वे पाप दान ग्रहण करने वाले के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। दान ग्रहण करने वाला उन पापों के कारण काला पड जाता है।

ब्राह्मण उन दोनों को अपनी ओर आते हुए देखकर तनिक भी विचलित नहीं हुए, क्योंकि वे श्रीमद्भगवत् गीता के नवमें अध्याय का निरन्तर पाठ करते रहते थे, निरन्तर के पाठ से भगवान् वासुदेव उनके हृदय में सदावास करते थे। इससे वे ब्राह्मण निर्भय बने हुए थे। जब वे पाप और निन्दा रूप चांडाल चांडाली उनके समीप ही आ गये, तब गीता के नवमें अध्याय के अक्षरों से सहसा शख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी विष्णु दूत प्रकट हो गये। उन विष्णु दूतों ने उन चांडाल चांडाली को मार भगाया इसलिये वे दोनो ब्राह्मण के शरीर में प्रवेश नहीं कर सके।

इस घटना को राजा प्रत्यक्ष देख रहे थे। उन्होंने ब्राह्मण से पूछा—विप्रवर! ये जो छाया की भाँति दो स्त्री पुरुष दिखायी दिये ये कौन थे?

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! यह जो काला-काला पुरुष था यह तो पाप था यह चांडाल रूप में प्रकट हुआ था। दूसरी जो स्त्री

थी वह निन्दा की साक्षात् मूर्ति थी। ये मेरे शरीर में प्रवेश करना चाहते थे।

राजा ने पूछा—फिर इन्होंने प्रवेश क्यों नहीं किया? ये डर कर भग क्यों गये?

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! भगवान् विष्णु के दूतों ने उन्हें भगा दिया।

राजा ने पूछा—भगवान् विष्णु के दूत कहाँ से आ गये?

ब्राह्मण ने कहा—मै जिन मन्त्रों का जप कर रहा हूँ, उन्हीं मन्त्रों के अक्षरों से मेरे हृदय में निवास करने वाले भगवान् जनार्दन की आज्ञा से विष्णुदूत प्रकट हो गये और उन्होंने उन दोनों को मारकर भगा दिया।

राजा ने पूछा—ब्रह्मन्! आप किन मन्त्रों का जप कर रहे थे?

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! मै निरन्तर श्रीमद्भगवत् गीता के नवमें अध्याय के मन्त्रों का जप करता रहता हूँ? नवमें अध्याय के निरन्तर पाठ से मेरे हृदय में भगवान् वासुदेव निवास करते है। उनकी कृपा से मेरे समस्त संकट दूर हो जाते हैं। मुझे कोई भी विघ्न बाधा नही पहुँचा सकते। यद्यपि आपके आग्रह से मैने घोर प्रतिग्रह-काल पुरुष का दान-ग्रहण किया था, किन्तु उस घोर पाप से भी मुझे गीता के नवम अध्याय के पाठ ने बचा लिया।

राजा ने कहा—ब्रह्मन्। उस नवम अध्याय को मुझे भी पढ़ा दीजिये।

बकरा कह रहा है—सो ब्राह्मणो! राजा की प्रार्थना पर ब्राह्मण ने राजा को विधिवत अर्थ सहित नवम अध्याय को पढ़ाया। श्रद्धा भक्ति के साथ नवम अध्याय के पठन पाठन से

दोनों को ही परम शान्ति की प्राप्ति हुई और वे मोक्ष के अधिकारी बन गये। इसलिये इन हिंसामय कर्मों को छोड़ो। गीताजी के अध्ययन मनन पाठ तथा जप मे चित्त लगाओ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! बकरे की बात सुनकर ब्राह्मण उस पशुबलि से विरत हो गये तथा निरन्तर नवम अध्याय के पाठ, अध्ययन मनन से मुक्ति के अधिकारी बन गये।

यह मैंने श्रीमद्भगवत् गीता के नवम अध्याय का महात्म्य सुनाया अब आगे दशम अध्याय का माहात्म्य सुनाऊँगा।

छप्पय

तजि हिंसामय करम करो गीता पारायन।
चन्द्र नृपति कुरुक्षेत्र करै परजा को पालन॥
काल पुरुष को दान महन में दीयो द्विजकूँ।
अघ हिंसा द्विज देह चले तबई प्रविसन कूँ॥
पाठक नवमाध्याय द्विज, परसि सकै नहिं ताहि तैं।
नृप हू ने तिनि तैं पढ्यो, भये मुक्त स्वाध्याय तैं॥

अनन्य चिन्तक का योगक्षेम प्रभु स्वयं चलाते हैं

[११]

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धायाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(श्री भ० गी० ९ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

जो अनन्य ह्वै करैं पार्थ ! चिन्तन मेरो नित ।
और न आशा करैं लगावें मोई महँ चित ॥
प्रभु उपासना करैं प्रेम तैं मम पद ध्यावें ।
मोइ समुझि सरवस्व करें कीर्तन गुन गावें ॥
नित्य निरन्तर चिन्तकनि, ध्यान रखूँ तिनको सतत ।
मैं अपने ही हाथ तैं, योग क्षेम उनको करत ॥

---

* किन्तु जो भक्तजन अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य ही मुझमे युक्त पुरुषो का योग क्षेम मैं स्वय ही वहन करता हूँ ॥२२॥

हे कौन्तेय ! जो भक्त श्रद्धा से युक्त होकर अन्य देवता का भी पूजन करते हैं, वे भी मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वह उनकी पूजा अविधिपूर्वक है ॥२३॥

संसार के सभी व्यापार गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार हो रहे हैं। ये तीनों बातें प्रकृति में ही है। सत्व, रज तथा तम ये तीनों गुण प्रकृति से ही है गुणमयी प्रकृति ही होती है। कर्म भी प्रकृति की प्रेरणा से होते है, स्वभाव तो प्रकृति का नाम ही है। स्वभाव कहो, प्रकृति कहो, देव कहो सब एक ही बात है। दो वस्तु हैं एक अन्य दूसरी निज। हम संसारी लोग निज पर भरोसा नही रखते अन्य पर रखते हैं। हम यही आशा रखते है, दूसरों के द्वारा ही हमारे कार्य की सिद्धि होगी। पुरोहित सोचता है यजमान द्वारा मेरा जीवन निर्वाह होता है अतः वह यजमान को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता है। व्यापारी समझता है, मेरा निर्वाह ग्राहकों के अधीन है, अतः वह ग्राहकों का विशेष ध्यान रखता है। पत्नी समझती है, मेरा भरण पोषण पति करता है, अतः वह पति की सेवा सुश्रूषा करती है। सभी अपने निर्वाह के लिये दूसरों पर अवलम्बित रहते हैं। निर्वाह में दो काम होते हैं एक योग और दूसरा क्षेम। योग तो वह कहाता है जो वस्तु हमें प्राप्त नही है, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना। जसे काम चलाने को-यज्ञादि कर्म करने को-हम पर द्रव्य नही है, तो विविध प्रयत्न करके धन जुटाने को योग कहते हैं। और क्षेम प्राप्त वस्तु की रक्षा हो उसका नाम है। जैसे हमारे पास जो द्रव्य जुट गया है उसे कोई दूसरा न ले जाय। इसकी चिंता करना, अन्य लोगों द्वारा रक्षा कराना।

जो ससारी लोग हैं, वे योग के लिये और क्षेम के लिये भी परावलम्बी होते हैं दूसरों की सहायता चाहते हैं, गुण कर्म, स्वभावानुसार प्रयत्न करते हैं। उनकी यह चिंता बनी रहती है, कि आज का तो हमारा काम चल गया, आज का निर्वाह तो हो गया, कल का काम कैसे चलेगा। बस यह कल की चिंता ही उन्हें

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिये प्रेरित करती है। इसी के लिये वे अन्य पुरुषों का चिंतन करते हैं, अन्य पुरुषों से आशा रखते हैं।

किन्तु जो अन्य के उपासक न होकर निज के उपासक हैं, अन्यों पर भरोसा न रख कर अपने पर ही भरोसा रखते हैं, वे कल की चिंता नहीं करते। ऐसे कल की चिंता न करने वालों को को ही अनन्योपासक कहते है।

आप कहेंगे, कि यदि कल की चिंता न करें, तो काम कैसे चलेगा, ? जीवन निर्वाह कैसे होगा ? तो हम पूछते हैं— क्या जीवन निर्वाह तुम्हारी चिंता के ही द्वारा होता है, तुम्हारे प्रयत्नों द्वारा ही अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति होती है यदि अपनी चिंता से ही सब वस्तुएं प्राप्त होती हों, तो संसार में कोई निर्धन दृष्टि गोचर न होता, कोई भी रोगग्रस्त न होता, कोई भी निन्दित न होता। क्योंकि निर्धन होना, रोगी बने रहना, निन्दित होना संसार में कोई नहीं चाहता। बहुत चाहने पर भी सभी धनवान नही हो जाते, सभी सर्वदा निरोगी नही होते, सभी की कीर्ति नहीं फैलती। किन्तु करें क्या हम प्रकृति के अधीन हैं विवश होकर हमें अन्यों का आश्रय लेना पड़ता है। अन्यों का चिंतन करना पड़ता है। यह प्राणी सामाजिक है दूसरों की सहायता से ही समझता है, हमारा योग क्षेम चलेगा। इसलिये विवश होकर अन्यों की शरण लेनी पड़ती है।

इसके विरुद्ध कुछ ऐसे भक्त हैं, जिन्हें अपने प्रभु पर विश्वास है, उनकी दृढ़ धारणा है, कि हमारे निर्वाह का—हमारे योग क्षेम का—ठेका तो हमारे श्यामसुंदर ने ले रखा है। जब वे ही हमारी सब प्रकार से चिंता करते हैं, तो फिर हमें अन्यों की चिंता न

करके अपने प्रभु की ही अनन्य भाव से चिंतना करनी चाहिये। हम अन्यों द्वारा योग क्षेम की आशा रखें तो यह हमारा व्यभिचार है, अपचार है। हमारी कल की चिंता आगे की चिंता जो अपने हैं वे ही करेंगे। आदमी अशांत कब होता है? जब जिनसे आशा रखता है और वे उसकी आशा की पूर्ति नहीं करते, तब उसके मन में अशांति होती है। किन्तु जिन पर हमारा दृढ विश्वास है और हमें पूरा भरोसा है वे हमारे सच्चे सुहृद् हैं सुहृद् उन्हें कहते हैं जो हमसे प्रत्युपकार की तनिक भी आशा न रखकर निरन्तर हमारे उपकार में संलग्न रहते हैं तब आदमी निश्चिन्त हो जाता है। उसे परम शान्ति की प्राप्ति होती है। जब हमारे जीवन का भार अपने सुहृद ने सम्हाल लिया है, वही हमारी छोटी से छोटी बात की चिंता रखता है, तो हमें तो अपनी सभी चिंतायें उन्हें ही समर्पित करके निश्चिन्त होकर उन्हीं पर निर्भर रहना चाहिये एक मात्र उन्हीं सच्चे सुहृद् का चिंतन करना चाहिये उन्हीं से प्रेम करना चाहिये।

प्रकृति जड है, अतः वह दूसरों के द्वारा कराती है, जड़ वाष्प यन्त्र (इंजन) है उसे जब तक दूसरा चलावेगा नहीं तब तक चलेगा नहीं। किन्तु माता तो चैतन्य है, माँ जहाँ चाहे बच्चे को स्वतः गोद में ले जाती है। बच्चे को स्वयं खिलाती पिलाती भी है और उसका मलमूत्र भी उठाती है। इसी प्रकार अनन्याश्रयी भक्त के जीवन संभारों को स्वयं भगवान् अपने सिर पर ढोकर लाते हैं। इसीलिये अनन्य भक्त कल की चिंता नहीं करते कल के लिये संग्रह नहीं करते, क्योंकि उनके सच्चे सुहृद् तो भार वहन करने को सदा सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं।

एक बड़े भगवत् भक्त सद्गृहस्थ संत थे। वे भी भगवान् के अनन्य उपासक थे और वैसी ही उनकी गृहिणी भी थी। प्रारब्ध

वश-बिना याचना के-जो कुछ प्राप्त हो जाता उसी से वे अपना निर्वाह चलाते। वे कल की चिंता करके व्याकुल नहीं होते थे। नित्य नियम से गीताजी का पाठ किया करते थे।

जब वे नवम अध्याय के २२ वें इस श्लोक को पढ़ते—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

तब उन्हें एक प्रकार का धक्का लगता। धक्का इसलिये नहीं लगता, कि उन्हें विश्वास न हो कि भगवान् योगक्षेम नहीं चलाते। यह तो उन्हें विश्वास था कि भगवान् अपने भक्तों का निर्वाह करते हैं। किन्तु उन्हें आपत्ति थी 'वहामि' धातु पर। वह धातु का अर्थ है 'सिर पर ढोकर लाना' वहन करना अर्थात् सिर पर ढोना। वे सोचते—व्यासजी ने 'वहामि' धातु देकर भूल की है, यह तो बहुत भारी पड़ गया। भगवान् भक्तों की सामग्री को अपने सिर पर ढोकर क्यों लावेंगे। वे किसी के द्वारा पहुँचा देते होंगे। सबका निर्वाह करते है अतः वहामि के स्थान में करोमि कर देना ठीक है। भाव तो एक ही है।

पहिले पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं। कोई अशुद्धशब्द भूल से लिख जाता तो उस पर 'हरताल' फेर देते। पाठ करते समय जिन शब्दों पर हरताल फिरी रहती उसे अपठनीय शब्द माना जाता था। अतः पंडितजी ने 'वहाम्यहम्' पर पीली हरताल फेर दी और उसके ऊपर लेखनी से 'करोम्यहम्' पाठ लिख दिया। अब वे पाठ करते समय 'योगक्षेमं करोम्यम्' यही पाठ करते थे।

एक दिन ऐसा संयोग हुआ कि घर में एक अन्न का दाना भी नहीं था। उनकी अयाचक वृत्ति थी। अयाचक वृत्ति को अमृत

वृत्ति कहा गया है। 'अमृतंयदयाचकम्' बिना माँगे जो स्वतः प्राप्त हो जाय, वह अयाचक वृत्ति है।

पंडितानी ने कहा—"महाराज, आज घर में अन्न का एक दाना भी नहीं। भगवान् का भोग किसका लगेगा ?"

पंडितजी ने सरल भाव से कहा—"भगवान् की इच्छा आज उपवास करने की होगी, तुम चिंता क्यों करती हो, जब हमने अपनी समस्त चिंतायें भगवान् को अर्पित कर रखी हैं, तो हमारा चिंता करना व्यर्थ है।"

ऐसा कह कर पंडितजी मध्यान्ह स्नान करने गंगा तट पर चले गये।

इतने में ही एक १०-११ वर्ष का बड़ा ही सुन्दर बालक अपने सिर पर आटा, दाल, चावल, चीनी, सूजी घृत का बड़ा भारी गट्ठर लादे पंडित के घर आया। उसने द्वार पर से ही जोर से पुकारा, "माताजी माताजी यह लीजिये।"

पंडितानी बाहर आईं। देखा एक अत्यन्त ही सुकुमार परम कोमल, महान् रूपवान् सुशील कुमार बड़ा गट्ठर सिर पर लादे खड़ा है। दूर से इतना बोझ लादने के कारण वह हांप रहा था, मुखमंडल पर पसीने की बूंदें झलक रहीं थीं।

पंडितानी के हृदय में वात्सल्य उमड़ पड़ा। उन्होंने अत्यन्त ममता के स्वर में स्नेह पूर्वक पूछा—"बेटा, तुम कौन हो, इस गठरी में क्या लाये हो, किसने भेजा है ?"

बालक ने कहा—"माँ जी ! मेरा नाम श्याम है, इसमें भोजन की सामग्री है, पंडितजी ने भेजी है, आज हलुआ पूड़ी कचौरी बनाओ।"

ब्राह्मणी ने प्रभु द्वारा भेजा मानकर बिना याचना के प्राप्त इस अन्न को उससे लेते हुए कहा—बेटा, तुम छोटे हो, गठरी

भारी है, सिर पर लादकर लाये हो, थक गये होगे, पंडितजी तुम्हें कहाँ मिल गये।

बच्चे ने कहा—"नहीं माँ मैं थका नहीं। मेरा तो गठरी ढोने का काम ही है, मैं तो सदा भार वहन करता ही रहता हूँ। पंडितजी गङ्गा किनारे हैं।"

गठरी लेते समय ब्राह्मणी ने देखा बच्चे के होठ पर हरताल लग रही है। ब्राह्मणी ने कहा—"हाय, बेटा, तुम इतने सुकुमार हो, तुम्हारे ओठों पर यह हरताल किसने पोत दी है?"

बालक ने कहा—माताजी! पंडितजी ने मेरे ओठों पर हरताल पोत दी है।

ब्राह्मणी ने दुखित मन मे कहा—"यह भी कोई बात हुई, पंडितजी को क्या सूझी जो इतने भोले भाले सरल सुकुमार बच्चे के ओठों पर हरताल पोत दी? बैठो, भैया। पानी पीकर जाना।"

बालक बोला—"नहीं, माताजी! मुझे और भी कई स्थानों में भार वहन करना है, तुम पंडितजी से ही पूछना, क्यो उन्होंने मेरे मुख पर हरताल पोत दी है?"

इतना कह कर बालक चला गया। नित्य कर्म मे निवृत्त होकर पंडित घर लौटे। देखा कि हलुआ बन गया है, पंडितानी छुन्न-छुन्न करके पूड़ियाँ छान रही है।

पंडितजी ने पूछा—"देवि! यह सब सामग्री कहाँ से आई?"

पंडितानी ने कहा—"आपने ही तो भेजी है।"

पंडितजी ने कहा—मैं तो गङ्गा स्नान करने गया था, मैंने तो नहीं भेजी?

पंडितानी ने कहा—"इतनी ही देर में भूल गये। भेजी कैसे नहीं, अभी-अभी वह बच्चा सिर पर गठरी लादकर दे गया था।

इतने सुन्दर सुकुमार बच्चे के सिर पर तुमने इतना भारी भार लाद दिया ? और तुम्हें सूझी क्या कि उस इतने कोमल बच्चे के ओठों पर हरताल पोत दी ?"

पंडितजी ने कहा—"तुम क्या पहेली सी बूझ रही हो, मैंने तो किसी बच्चे के सिर पर गठरी नहीं लादी, न ओठों पर हरताल ही लगाई।"

पंडितानी ने कहा—"लगायी कैसे नहीं। वह लड़का झूठ बोलने वाला नहीं। बड़ा सरल सुशील लड़का था, वह स्वयं कह रहा था, पंडितजी ने मेरे मुख पर हरताल फेर दी है।"

पंडितजी उपासक थे, भक्त थे तुरन्त उन्हें वह श्लोक याद आ गया वे सोचने लगे—सचमुच भगवान् अनन्य चिंतन करने वालों के समस्त योगक्षेम का भार अपने सिर पर वहन करते हैं। गीता के शब्द जो भगवान् श्रीमुख से निसृत हैं, उन पर हरताल फेरकर मानों मैंने भगवान् के मुख पर ही हरताल फेर दी। गीता का अक्षर-अक्षर सत्य है, वह स्वयं साक्षात् पद्मनाभ भगवान् के मुख कमल द्वारा निसृत है, जो उनमें शंका करके उन पर हरताल लगाता है, मानों उसने भगवान् के मुख कमल में ही हरताल लगायी।"

यह सोचकर ब्राह्मण रोने लगे और बोले—देवि ! तुम ही धन्य हो, तुम्हारी ही भक्ति यथार्थ भक्ति है, तुम्हें स्वयं साक्षात् पद्मनाभ भगवान् के दर्शन हो गये, मैं अभागा तो उनके दर्शनों से भी वंचित रह गया।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने यह प्रश्न किया आपके निष्काम भक्त जब अहर्निश आपके ही चिन्तन में लगे रहते हैं, तो उनका योगक्षेम कैसे चलता है ? इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन जो अन्य किसी धनिक का, सगे सम्बन्धियों का

गुणवान् का अपने निर्वाह के लिये चिन्तन नहीं करते, केवल मेरे ही आश्रित रहते हैं, अनन्य भाव से मेरा ही चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें मै भी योगक्षेम की चिन्ता से सदा के लिये मुक्त कर देता हूँ। जो वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं है, उसे मै अपने सिर पर ढोकर उनके सम्मुख उपस्थित कर देता हूँ और जो वस्तु उनके जीवन के लिये परमावश्यक है, उसकी रक्षा का भार भी मैं अपने सिर पर ले लेता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! आप इतना कष्ट क्यों करते है, अपने सिर पर ढोकर क्यों लाते हैं, किसी सेवक को कहकर उसके द्वारा पहुँचा क्यों नही देते ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन! तुम कैसी बात कर रहे हो, माता क्या बच्चे की नाक पोंछने को नौकर रखती है, वह स्वयं ही बच्चे की नाक पोंछती है, स्वयं उसका मलमूत्र उठाती है। गौ अपने बच्चे के शरीर में लगे हुए मल को जिह्वा से चाट-चाट कर उसे निर्मल बनाती है, स्वयं अपने स्तनों का दूध पिलाती है। इसी का नाम वात्सल्य है। मैं वात्सल्यरस के वशीभूत होकर ऐसा करता हूँ। ऐसा करने से मुझे तनिक भी कष्ट नही होता, प्रत्युत महान् सुख होता है क्योंकि वे लोग तो मेरे ध्यान मे युक्त रहते हैं निरन्तर आदरपूर्वक मेरे ही ध्यान में निमग्न रहते हैं। जब वे मेरे प्रति इतनी अधिक भक्ति रखते हैं, तो मै कृतघ्न तो हूँ नही। कृतज्ञ हूँ, कारुणिक हूँ, अतः उन पुरुषों के योगक्षेम का निर्वाह मैं स्वयं ही करता हूँ। क्योंकि उन्हें मेरी प्रीति के अतिरिक्त कोई सांसारिक कामना तो हैं नहीं। वे घर, द्वार, कुटुम्ब परिवार यहाँ तक कि अपनी देह की भी चिन्ता नहीं करते। अतः उनकी समस्त चिन्तायें मैं करता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा प्रभो! कृपा कर यह बतावें, जो

दूसरे देवताओं के भक्त हैं, जो वसु, रुद्र तथा इन्द्र आदित्य आदि अन्य देवताओं का भजन करते हैं, उनकी क्या गति होगी ?"

भगवान् ने कहा—"जो जिस देवता की उपासना करेगा, उसे उसी देवता की प्राप्ति होगी।"

अर्जुन ने कहा—क्यों भगवन् ! समस्त देवताओं के देव तो आप ही है। संसार में आपके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु है ही नहीं। जब आपके अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं, तो वे चाहे जिस देवता की उपासना करें वह तो आपकी ही उपासना हुई। फिर अन्य देवों के उपासकों का आवागमन क्यों नहीं छूटता और जो अनन्य भाव से आपकी उपासना करते हैं उनका संसार बंधन क्यों छूट जाता है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! तुम यथार्थ कह रहे हो। वास्तविक बात तो यही है कि मेरे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। किसी भी देवता की उपासना करो, वह मिलती तो मुझे ही है। तुम कहीं भी जल डाल दो, इर-फिर कर वह पहुँच समुद्र में ही जायगा। फिर भी गंगाजी में डालने से वह सीधा समुद्र में ही चला जायगा। पत्थर की चट्टान पर डालने से पहिले वह वाष्प बनकर आकाश में जायगा, सूर्य की किरणों द्वारा वाष्प बनकर बादल बनेगा, फिर बरसेगा, तब कहीं छोटी नदी, नाले, कूप तालाब आदि में होकर तब महानदी में जायगा, फिर समुद्र में पहुँचेगा। इसी प्रकार जो अन्य देवताओं के भक्त भी उन देवताओं का प्रेमपूर्वक यजन करते हैं, यद्यपि वे भी करते तो मेरा ही यजन हैं; किन्तु वह यजन विधिपूर्वक न होकर अविधि पूर्वक है।

अर्जुन ने पूछा—अविधिपूर्वक कैसे है प्रभो ?

भगवान् ने कहा—वे अज्ञानी हैं, उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि जिस देवता का पूजन वे कर रहे हैं, वह मेरा ही स्वरूप है।

जैसे इन्द्र मेरे ही बाहु हैं, सूर्य चन्द्र मेरे ही दोनों नेत्र है। यदि इस भावना से वे यजन करें तो वह मेरा सविधि पूजन होगा, सीधा मुझे ही मिलेगा, उनका आवागमन छूट जायगा। किन्तु वे लोग ऐसी भावना तो रखते नहीं। वे लोग अपने-अपने देवताओं को स्वतन्त्र ईश्वर मानते हैं अतः देवोपासक देवताओं को प्राप्त होंगे और भूतोपासक भूतों को प्राप्त होंगे।

अर्जुन ने पूछा—फिर किस भाव से आपकी उपासना करें जिससे आपको ही प्राप्त हो सकें ?

सूतजी कहते है—मुनियो! इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मोकूँ तजिकें अन्य देव को ध्यान धरें जो।
श्रद्धा भक्ति समेत तिनहिँ गुनगान करें जो॥
ऐसे भक्त सकाम दूसरे देवनि पूजत।
इष्ट सिद्धि के निमित उनहिँ वे सरबसु समझत॥
मोई कूँ वेऊ भजत, परि पूजन उनको अविधि।
कुन्तीसुत! मम भक्त तू, करि पूजन मेरो सविधि॥

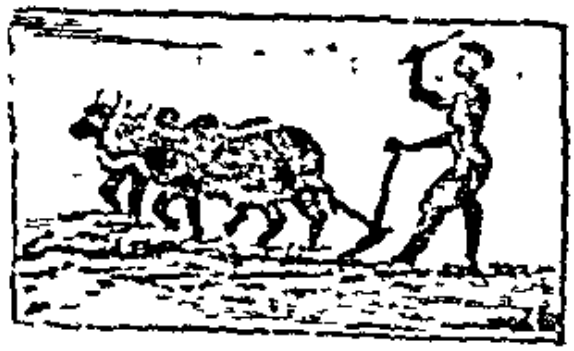

जो जिस देव का यजन करता है, वह उसी देव को प्राप्त होता है

[१२]

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥
यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० २४, २५ श्लोक)

छप्पय

अरजुन भैया ! समुझि यज्ञ को भोक्ता मैं हूँ ।
सब यज्ञनि को करता-धरता-भरता मैं हूँ ॥
मोकूँ प्रभु सब कहें सबहिँ मोई तैं पावैं ।
मेरी दीन्ही वस्तु सबहिँ प्रभुदत्त कहावैं ॥
किन्तु न समुझत अज्ञ नर, करम तत्त्व लखि नहिँ करें ।
ताई तैं पुनि-पुनि गिरें, पुनि जनमें अरु पुनि मरें ॥

---

* क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का एक मात्र भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ, किन्तु वे मुझे तत्त्व से जानते नहीं इसी से गिर जाते हैं ॥२४॥

देव-पूजक देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितृ पूजक पितरों को । जो भूत पूजक हैं वे भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे पूजक मुझे प्राप्त होते हैं ॥२५॥

वेद का एक वचन है–उसकी जो जिस प्रकार आराधना करता है उसके लिये वह वैसा ही हो जाता है (तं यथा यथोपासतेतदेव भवति) एक नव वधू है, नई ही नई घर में आई है। आते ही उसने सबसे परिचय कर लिया। यह पति है, यह देवर है, यह जेठ है, यह ससुर है। उसके भाई भी आ गये हैं। भाई उसे बहिन मानता है, देवर उसे भोजाई मानता है, ससुर उसे बहू मानता है पति उसे पत्नी मानता है। जिसकी जैसी भावना है, जिसने उसमें जैसा भाव बना लिया है, वह उनसे उसी भाव से व्यवहार करती है। उसके प्रत्येक व्यवहार से लोग समझ लेते है, यह भाई के प्रति व्यवहार है, यह देवर के उपयोगी व्यवहार है, यह पति के अनुकूल व्यवहार है। आँखें उसकी वे ही दो हैं, किन्तु दृष्टि से सब समझ लेंगे, यह भाई बहिन ही दृष्टि है, यह भोजाई की दृष्टि है यह पत्नी की दृष्टि है।

यह जगत भावना के ही ऊपर अवस्थित है। शरीर सभी पंचभूतों के ही बने हुए हैं। काम सभी एक से ही हैं, व्यवहार सब एक से ही चल रहे हैं, कामों में कोई छोटा बडा नहीं। अक्षरों में कोई प्रिय अप्रिय नही किन्तु उन अक्षरों के भावों में अन्तर है। कोई किसी को बहिन की गाली दे, तो लोग मरने मारने को तैयार हो जाते हैं, किन्तु वही व्यक्ति अपनी ससुराल में जाता है, तो गाँव भर के युवक उसे बहिन की बड़े बूढ़े दूसरी गालियाँ देते हैं, उनका वह बुरा नही मानता। हँसकर रह जाता है। जिन गालियों के लिये वह अन्य स्थानों में मरने मारने को तैयार हो जाता था, उन्ही गालियों को जब ससुराल में सुनता है, तो उनसे सुख होता है, आन्तरिक प्रसन्नता होती है। अतः एक ही काम है, उसे उसी प्रकार सविधि किया जाय, अर्थात् ज्ञान पूर्वक किया जाय तो उसका फल दूसरा होगा और

उसी को अविधि पूर्वक किया जाय अर्थात् अज्ञान पूर्वक किया जाय तो उसका फल दूसरा होगा। आटा, घृत और शक्कर तीन वस्तु है उन्हें युक्ति पूर्वक पकाया जाय तो दूसरी वस्तु बनेगी, अयुक्ति पूर्वक पकाया जाय तो दूसरी वस्तु बन जायगी। आटे को घृत मे मन्द-मन्द अग्नि से पहिले भूना जाय, जब वह भुनते भुनते लाल हो जाय, भुनने की सुगन्धि आ जाय, तब उसमें विधि पूर्वक शक्कर की चासनी छोड़ी जाय और मन्द-मन्द अग्नि से पानी को सुखाया जाय, जब पानी सूख जाय घृत पृथक् सा होने लगे तब उसमें मेवा डालकर रख दिया जाय तो सुन्दर सयावू-हलुआ-बन जायगा। उसी आटे को पहिले पानी में पका कर उसमे घृत चीनी मिला दी जाय, तो लपसी बन जायगी। इससे भी अधिक अज्ञान पूर्वक बनाई जाय तो उसमे गुठले पड़ जायेंगे, आटा कच्चा रह जायगा। लाभ के स्थान में हानि करेगा। वस्तुएं एक सी है, अग्नि में दोनो ने पकाया है, किन्तु पकाने-पकाने में अन्तर है। विधि के कारण ही फल में-परिणाम मे अन्तर हो जाता है। इसी प्रकार भगवान् एक हैं। वे ही सब रूपों में व्याप्त हैं, वे ही अनेक रूपो से सबकी पूजाओं को ग्रहण करते हैं, किन्तु वह पूजा सविधि की जाय तो साक्षात् भगवान् को प्राप्त हो जायेंगे और वही पूजा अविधि की जाय, भगवान् को सर्वान्तर्यामी न मानकर सीमित बुद्धि मे की जाय, तो उसका परिणाम भी सीमित ही होगा। जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी भावना के अनुसार वैसा ही उसका फल होता है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अविधि पूर्वक उपासना कैसी होती है और उसके फल में भिन्नता कैसे हो जाती है, इसी बात को और स्पष्ट करते हुए अर्जुन की शंका का समाधान करते

हुए भगवान् कहते हैं—अर्जुन ! जितने भी वैदिक तांत्रिक तथा मिश्रित यज्ञयाग हैं उनका एक मात्र भोक्ता मैं ही हूँ ।"

अर्जुन ने पूछा—यज्ञों में तो भगवन् ! विभिन्न देवताओं को विभिन्न नामों से बलि दी जाती है, जिस देवता का नाम लेकर जिसके निमित्त बलि दी जाती है, उसे वही देवता भोजन करता होगा । आप सबके भोक्ता कैसे हैं ?

भगवान् ने कहा—"श्रौत स्मार्त्त तथा अन्यान्य यज्ञों में जिन-जिन देवताओं का नाम लेकर बलि दी जाती है, वे सभी देवता मेरे ही स्वरूप हैं । मैं अधियज्ञ हूँ अर्थात् मैं समस्त यज्ञों का समस्त देवताओं का स्वामी हूँ । देवता मेरे ही अंश हैं । राजा की सेना किसी देश को जीतकर उसका जो वार्षिक कर लावेगी, वह लाने वालों का न होकर राजा का ही होगा । राजा ही उसका स्वामी होगा । किन्तु जो राजसेवक को अविधि पूर्वक उत्कोच में-रिश्वत में-धन दे देगा, तो वह राजा के पास न जाकर उस राजपुरुष का ही हो जायगा । यदि वही धन उसी राजकर्मचारी को विधिपूर्वक राजमुद्राङ्कित प्रमाण पत्र लेकर राजा के निमित्त दिया जाय, तो कर्मचारी को देने पर भी वह समस्त धनराजा को ही प्राप्त होगा । क्रिया सब एक ही हैं केवल विधि का-भाव का-अन्तर होने से परिणाम में अन्तर हो जाता है । इसी प्रकार मैं सब यज्ञों का भोक्ता हूँ, उनका प्रभु-स्वामी भी हूँ, किन्तु मुझे यथार्थ रूप से न जानकर वे उन देवताओं को ही भोक्ता प्रभु मानकर उनके ही लिये बलि प्रदान करते हैं । वे मेरे यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ रहकर अत्यन्त श्रम के सहित यज्ञयागादि करते हैं, अतः वे मुझे सर्वान्तर्यामी-सबके स्वामी-को सर्वस्व समर्पण न करके उन सीमित देवों को ही समर्पण करते हैं, इस कारण वे धूमादि मार्ग से अर्थात् पुनरावृत्ति मार्ग

मे स्वर्गादि देवताओं के लोकों में जाकर सीमित कर्मों का सीमित पुण्य समाप्त हो जाने पर वहाँ से च्युत कर दिये जाते हैं ढकेल दिये जाते हैं। इसके विपरीत जो उन देवताओं को मेरा ही रूप मानकर-मुझ अंगी के उन्हें अंग समझकर-यजन करते हैं-सब कुछ मुझे ही अर्पण करते हैं-वे अर्चिरादि मार्ग से-अर्थात् अपुनरावृत्ति मार्ग से सीधे ब्रह्मलोक को चले जाते हैं। वहाँ ब्रह्माजी उनके अवशिष्ट ज्ञान को-अधूरे ज्ञान को-पूरा कर देते हैं, तो उनका ब्रह्मलोक का भी भोग समाप्त हो जाता है, फिर वे इस मर्त्यलोक में लौटकर नहीं आते। वे संसारी बन्धनों से विमुक्त होकर परमशान्ति को-अर्थात् मोक्ष को-प्राप्त हो जाते हैं। कर्म दोनों का एक सा ही है, किन्तु सविधि पूर्वक और अविधि पूर्वक किया हुआ इतना ही दोनों में भेद है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! तब तो देव पूजकों का यज्ञ याग में किया हुआ इतना परिश्रम व्यर्थ ही हुआ। उन्हें बारा-बार जन्म लेना पड़ता है मरना पड़ता है। ससार में आना जाना पड़ता है।"

भगवान् ने कहा—भाई, वे चाहते ही यह हैं। जैसा वे चाहते हैं, वैसा उन्हें फल मिलता है। कर्मों का फल व्यर्थ तो कभी जाता नही। जसी उनकी भावना होती है, जैसी उनकी वासनामय उपासना होती है, वैसा ही उन्हें फल भी मिलता है। जो सात्विक वासना वाले हैं, सात्विक देवों की उपासन करते हैं, वे देवव्रती उपासक उन-उन देवताओं के स्वरूप होकर उन उन देवताओं के लोकों को प्राप्त हो जाते हैं।

जो रजोगुणी साधक हैं, वे सात्विक देवो को पूजा में उतनी रुचि नही रखते वे पितरों का पूजन विशेष रूप से करते है, वे पितरो के निमित्त व्रत करने वाले गृही साधक श्राद्ध तर्पणादि

कार्यों को अत्यन्त श्रद्धा के साथ करते हैं, पितृ कार्यों में सदा संलग्न रहते हैं, वे अग्निष्वात्तादि पितरों के लोकों को प्राप्त करके पितृ रूप बन जाते हैं, अपने वंश की वृद्धि चाहते रहते हैं।

जो तमोगुणी स्वभाव के होते है, वे भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, विनायक, वटुक, भैरव डाकिनी, साकिनी मातृकागण आदि की उपासना करते है, तो उनमे श्रद्धा रखने के कारण उनके लोकों को प्राप्त होते है। क्योंकि इन देवता, पितर तथा भूतादि की शक्ति सीमित होती है, अतः इनके लोक भी सीमित पुण्य वाले क्षयिष्णु होते हैं अतः जब तक भोगों की अवधि रहती है तब तक अपने इष्ट देवों के लोकों में रहते हुए वहाँ के भोगों को भोगते हैं। भोग समाप्त होने पर पुनः इस लोक में आ जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! जो आप सर्वान्तर्यामी सर्वभूत-हितेरत की उपासना करते है। उनकी क्या गति होती है?

भगवान् ने कहा—इस बात को तो मैं अनेकों बार बता चुका हूँ, फिर भी बताता हूँ जो मेरे ही निमित्त यजन पूजन करते है समस्त देवताओं में मेरा ही रूप देखते हैं वे अन्त में मुझे ही प्राप्त करते हैं। मैं असीम हूँ अच्युत हूँ, अतः वे मेरे असीम लोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ से कभी च्युत नही होना पड़ता। जहाँ से कभी कोई बलात् ढकेला नहीं जाता। कर्म सब के एक से हैं भावना के अनुसार भेद हो जाता है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! ये सात्विक राजस और तामस यज्ञ बहुत विधि विधान से बहुत सी सामग्रियों के द्वारा बड़े विस्तार से किये जाते हैं, फिर भी इन कर्मों के द्वारा जो लोक प्राप्त होते हैं, वे क्षयिष्णु ही होते हैं इतना वैभव, इतना विधान,

इतना विस्तार इन कर्मों के लिये जब किया जाता है तो आपके निर्गुण पूजन के लिये तो इनमे भी बढ़कर वैभव, विधान और विस्तार की आवश्यकता होती होगी। उसके लिये तो विपुल सामग्रियों को जुटाना पड़ता होगा ?"

सूतजी कहते है—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

साधक देवनि पूजि देवतनि ही ढिंग जावें।
पूजें जा-जा देव रूप ताके बनि जावें॥
पितरनि कूँ नित पूजि होहिं पितरनि कूं प्रापत।
भूत प्रेत कूँ पूजि भूत बनिके सिर आवत॥
जो जाको सुमिरन करै, अन्त समय तिहि पात है।
मेरो जो पूजन करै, मेरोई बनि जात है॥

भगवान् भक्ति से अर्पण की हुई छोटी वस्तु भी स्वीकार कर लेते हैं

[१३]

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥*

(श्री भा० गी० ९ अ० २६, २७ श्लो०)

छप्पय

मेरी पूजा सुगम भक्त जो मम ढिँग आवै ।
भक्ति सहित सिर नाइ प्रेमतैं कछू चढ़ावै ॥
अरपै यदि वह पत्र प्रेमतैं वाकूँ पाऊँ ।
जल, फल, पत्ता, फूल, देइ ताई कूँ खाऊँ ॥
जल फल को भूखो नहीं, मैं हूँ भूखो प्रेम को ।
सगुन रूप धरि खाऊँ हौं, दास नहीं हौं नेम को ॥

---

* पत्र, पुष्प, फल तथा जल जो भी कोई मुझे भक्ति पूर्वक देता है, उस विशुद्ध भक्त के भक्ति से दिये हुए उपहार को मैं खा लेता हूँ ॥२६॥

हे कौन्तेय ! तू जो भी कुछ करे, जो भी कुछ खाये, जो हवन करे, जो दान दे तथा तपस्या करे, इन समस्त कर्मों को मेरे अर्पण कर दे ॥२७॥

एक कहावत है। शालग्राम भगवान् की पूजा में क्या श्रम है "धोकर पी जाना, दिखाकर खा लेना।" समर्पण का यह कैसा सुन्दर सिद्धान्त है। धोकर पीने से तात्पर्य है, बिना चरणामृत लिये मुख मे कुछ भी मत डालो। और गंगा जल को छोड़ कर अन्य जल को मत पियो। आप कहोगे-कि जो गंगा जी के किनारे वास करते है, उनके लिये तो गंगा जल पान करना, गगा जल पीने का नियम करना सुगम है, किन्तु जो गंगा जी से बहुत दूर हैं, जहाँ गंगा जल की एक बूंद भी कठिनता से जीवन में प्राप्त होती है, वे गंगा जल पान का नियम कैसे कर सकते है?

बात यह है, पूर्वकृत सुकृतों के कारण जिन्हें गंगाजी के तट पर रहने का सुयोग प्राप्त हो गया है, उनके भाग्य के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, उन्हें तो गगा जल पान का नियम करना ही चाहिये, किन्तु जो गंगाजी से दूर बसे हैं, जिन्हें साक्षात् ब्रह्म द्रव गंगा जल नित्य प्राप्त नहीं हो सकता। उन्हें शालग्राम के स्नान का चरणामृत ही नित्य पान करना चाहिये। क्योंकि गंगा जी "विष्णुपादाब्जसभूता" बताई गई हैं। अर्थात् भगवान् के चरणारविन्दों का धोवन मात्र है। भगवान् वामन का चरण जब त्रिलोकी को नापते हुए ब्रह्मलोक में पहुँचा, तो ब्रह्माजी ने उस चरण पर तुलसी अर्पित की और अपने कमंडलु के जल से उसका प्रक्षालन किया। वही तुलसी मिश्रित और चरण की रेणु मिश्रित जल ही गंगा जल हुआ। बदरीवन में वही भगवत् चरणों की सन्निधि से निसृत अलकनन्दा गङ्गा है। अतः शालग्राम के स्नान का जल और तुलसी मिश्रित जल गंगा जल के ही सदृश है। जहाँ साक्षात् गंगाजल प्राप्त न हो, वहाँ जल में तुलसी डाल कर भगवान् को समर्पित करके ही जल पीना चाहिये।

इसी प्रकार दिखाकर खाने का तात्पर्य यह है कि तुम्हें जो

भी कुछ खाना हो, भगवान् को दिखाकर भोग लगाकर खाओ। भगवान् सत्व प्रधान हैं, अतः सात्विकी ही वस्तु भगवान् का भक्त खायगा। उसी का भोग लगावेगा। तात्पर्य इतना ही है कि अनिवेदित वस्तु कुछ भी मुख में मत डालो।

इस पर आप पूछ सकते हैं, कि जो लोग मांस खाते हैं, वे भगवान् को मांस भोग लगाकर खायें तो क्या दोष? इसका उत्तर यही है, सत्त्वप्रधान प्रकृति वाले भक्तों को राजस् तामस पदार्थों में रुचि ही न होगी। राजस् तामस प्रकृति के पुरुष राजस् तामस्, रुद्र, भैरव, चण्डी आदि देवों की उपासना करेंगे और उन राजस् तामस् देवों को ये पदार्थ अर्पण किये जाते हैं और वे खाते भी हैं, किन्तु सत्त्वप्रधान विष्णु के भक्त वैष्णव लोग तो पत्र, पुष्प फल तथा सात्विक अन्नों को ही खाते हैं, उसी का भोग लगाकर भगवत् प्रसाद को पाते हैं। कहावत है, जो जैसा अन्न खाता है उसका देवता भी वैसा ही अन्न खाने वाला होता है। अतः सात्विक भक्त मांसादि न स्वयं भक्षण करते हैं न उनका भगवान् को भोग ही लगाते हैं।

अब प्रश्न यह होता है, मानलो कोई तमोगुणी प्रकृति का पुरुष है, मांस भक्षण उसकी सहज प्रकृति है, किन्तु वह भक्त है सत्त्व प्रधान विष्णु का, तो वह भगवान् को मांस मदिरा का भोग लगावे कि नहीं?

इसका उत्तर यह है, कि यदि कोई सौभाग्यशाली तमोगुण स्वभाव का भक्त है और संयोग से किसी कारणवश भगवान् विष्णु में भक्ति हो गयी है, तो वह अपनी स्वाभाविकी प्रकृति के कारण, भगवान् को मांस मदिरा का ही भोग लगावेगा, किन्तु भगवान् कृपा करके या तो उसे उन पदार्थों से घृणा करा देंगे या स्वयं मना कर देंगे, कि भाई तुम ऐसी वस्तुएँ मुझे भोग न लगाया

करो। इस विषय के दो दृष्टान्त यहाँ दिये जाते हैं, इसी से बात स्पष्ट हो जायगी कि सत्त्वप्रधान विष्णु अपने तामस भक्तों को भी तामस पदार्थों से अरुचि करा देते हैं।

अवधपुरी में परम सीतारामोपासक एक संत थे। उनके समीप एक भक्त आया उसे सुरा पीने का व्यसन था। वह बहुत चाहता था, किसी प्रकार यह व्यसन छूट जाय। किन्तु लगा हुआ व्यसन और विशेषकर चिरकालीन व्यसन बहुत ही कठिनता से से छूटता है, उसका छूटना असंभव सा ही लगता है। बिना भगवत् कृपा के वह छूटता नहीं। उस भक्त ने संत के चरणों में प्रार्थना की—"भगवन् मेरा यह व्यसन कैसे छूटे ?

संत ने कहा—"तुम मेरे सम्मुख हाथ में सरयूजी का जल लेकर प्रतिज्ञा करो कि बिना भगवान् का भोग लगाये मै सुरापान न करूँगा।"

उसने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्या मदिरा का भी भगवान् को भोग लग सकता है ?"

संत ने कहा—"लग क्यों नहीं सकता। जो हम खाते पीते हैं, उसी को भगवान् के अर्पण करते हैं। तुम भगवान् की पूजा करके जमीन को गोबर से लीप कर, भगवान् का भोग लगाकर उसमें तुलसीदल डालकर पीया करो।"

संत की आज्ञा से उन्होंने प्रतिज्ञा करली। अब वे पूजा करके भूमि को लीपकर भगवान् का भोग लगाकर तुलसी डालकर सुरा का पान करते। उन्हें नित्य ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर राज्य-काज से जाना पड़ता था। ऐसा नियम हो जाने से पहिले जो वे मद्यपियों की गोष्ठी में बैठकर यथेष्ट पान करते थे, वह तो छूट ही गयी। राजकीय भोजों में कहाँ शालग्राम ले जायँ, कहाँ चौका लगावें कैसे भोग लगावें। इसलिये वहाँ उन्हें कहना पडता, मैं

पीता नहीं हूँ। अब जब पान करने की हुड़क लगे, तब स्नान करो चौका लगाओ भोग लगाओ इतने झंझट कौन करे। एक दिन वे भोग लगा रहे थे उन्होंने सोचा—इस सुरा के कारण मुझे असत्यभाषण करना पड़ता है और ऐसी निकृष्ट वस्तु को भगवान् का भोग लगाता हूँ, मुझे धिक्कार है, अब आज से मैं कभी मद्य पान न करूँगा। इस प्रकार भगवत् कृपा से इतने दिन का इतना भारी व्यसन उसका एक क्षण मे छूट गया।

दूसरा उदाहरण है, घंटाकर्ण का। घंटाकर्ण एक रुद्रदेव का उपासक पिशाच था। वह शिवजी का अनन्योपासक तथा विष्णु का द्रोही था। वह 'शिव' नाम के अतिरिक्त दूसरा नाम सुनना भी नहीं चाहता था। वह अपने कानों में बड़े-बड़े घंटे बाँधे रहता था, जिससे उसके कानों में विष्णु का नाम न पड़े। वह नर मांस खाता मनुष्यों का रुधिर पान करता उन्हीं वस्तुओं का भगवान् को भोग लगाता। अपने बन्धु-बान्धवों और परिवार वालों के साथ ताडव-नृत्य करके शिवजी को प्रसन्न करता। उसकी अनन्य भक्ति से भगवान् भोलेनाथ प्रसन्न हुए और प्रकट होकर उससे वर माँगने को कहा। उसने मुक्ति का वर माँगा।

मुक्ति के दाता भगवान् शिवजी ने सोचा—अभी इस पिशाच के हृदय में मेरे और विष्णु के प्रति भेदबुद्धि है। जब तक भेदबुद्धि है, तब तक यह मुक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः पहिले इसे विष्णु और शिव में एकात्मता का बोध कराना चाहिये।" यही सोचकर भगवान् भोलेनाथ बोले—"भैया! घण्टाकर्णः तुम धन, वैभव, ऐश्वर्य स्वर्ग और चाहे जो मांग लो। मुक्ति देने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, मुक्तिदाता तो एकमात्र श्रीहरि विष्णु ही हैं। उन्हीं की शरण जाने से मुक्ति मिल सकती है।"

यह सुनकर घण्टाकर्ण रोने लगा, उसने कहा—प्रभो! बड़ी

भूल हुई, मैं तो आपको ही मुक्तिदाता समझता था। विष्णु का तो मैं नाम भी नहीं सुनता था। वे मुक्तिदाता हैं, तो अब मेरी क्या गति होगी ?

शिवजी ने कहा—तुम भगवान् विष्णु की ही शरण में जाओ, तभी मुक्ति मिल सकती है ?

घण्टाकर्ण ने कहा—"मैंने तो उनसे द्रोह किया है ? वे मुझे क्यों अपनायेंगे ? विष्णु मुझे कहाँ पर कैसे मिलेंगे ?"

शिवजी ने कहा—"विष्णु करुणा के सागर है, वे भक्तवत्सल हैं, एक बार भी जो इनकी शरण में जाता है, उसे भी वे अपना लेते हैं। आजकल वे द्वारका मे अवतरित हुए हैं, तुम द्वारका उनकी शरण में जाओ।"

यह सुनकर घंटाकर्ण अपने भाई बन्धुओं के साथ रोता हुआ उच्च स्वर से भगवान् के हरे कृष्ण गोविन्द नारायण नामों को लेता हुआ द्वारका पहुँचा। उसके साथी सैकड़ो पिशाच कुत्ते मार्ग में मनुष्यों को मारकर उनके मांस को खाते, उनकी आंतों की मालाओं को पहिनते और जीवों की हत्या करते। द्वारका में जाकर पता चला कि श्रीकृष्ण तो पुत्र प्राप्ति की इच्छा से शिव जी की आराधना करने बद्रीनाथ में गये हैं। तब यह भी अपने साथियों के सहित बद्रीनाथ पहुँचा। वहाँ इसके साथियों ने, कुत्तों ने बड़ा उपद्रव मचाया। बहुत से पुरुषों की हत्या की उस शान्त स्थान को अशान्त बना दिया। वहाँ रोता-रोता मुक्तिदाता श्री कृष्ण के नामों का कीर्तन कर रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण समाधि में मग्न थे, जब उसकी वाणी सुनी तो उससे रोने का कारण पूछा। उसने आदि से अंत तक सब कथा सुनाकर कहा—मैं भगवान् विष्णु श्रीकृष्ण की शरण में आया हूँ। हे मनुष्य ! तुम अपना काम करो, मै तो श्रीकृष्ण भगवान् का ध्यान करूँगा।

यह कहकर उसने आँतों की मालायें उतार दी। अलकनन्दा के तट पर समाधि मग्न हो गया। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् ने ध्यान में उसे चतुर्भुज रूप से दर्शन दिये। वह समाधि में ऐसा मग्न हुआ कि उसका ध्यान टूटता ही नही था। तब भगवान् ने अन्तःकरण से अपने रूप को अन्तर्हित कर लिया तब उसने आँखें खोलीं। बाहर क्या देखता है साक्षात् श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप से खडे हैं। तब तो वह गद्गद कंठ से भगवान् के नामों का उच्चारण करने लगा। उनके चरणों में मूर्छित होकर गिर गया। तब भगवान् ने उसे सान्त्वना दी।

रोते-रोते उसने कहा—"प्रभो! मेरे अपराधों को क्षमा करो, मै तो कभी आपके नामों को सुनता भी नहीं था। शिवजी ने मुझे बताया। मै तो आपके लिये कोई समुचित उपहार भी नही लाया। हम पिशाचों को मांस बहुत प्रिय है, इसलिये मैं आपके लिये बहुत ही पवित्र वेदज्ञ ब्राह्मणो को मारकर उनका मांस आपकी भेंट के लिये लाया हूँ, इसे आप कृपाकर स्वीकार करें। यह कहकर उसने मारे हुए ब्राह्मणो की चमडी उधेडकर उनके मांस को गंगाजी में धोकर भगवान् के अर्पण किया। उनकी आँतों की मालायें भगवान् को चढ़ाई।"

तब भगवान् ने कहा - "देखो, भैया! मास बहुत बुरी वस्तु है। तिस पर भी नरमांस और उसमें भी वे वेदज्ञ ब्राह्मण का मांस। मैं ऐसी वस्तुओं मे प्रसन्न नहीं होता। आज से तुम मांस खाना छोड दो। जब तक यह इन्द्र है तब तक तुम यहीं निवास करो। फिर तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।" बद्रीनाथ मन्दिर में अभी तक घंटाकर्ण की मूर्ति है, उसकी पूजा होती है। तामस भक्त होने पर भी वह भगवान् विष्णु का कृपा पात्र बना और भगवान् ने कृपा करके उसे तामस आहार से विरत बना दिया। इसलिये

जो भी सात्त्विक आहार करे, जो भी सात्त्विक पेय पीवे उसे भगवान् के अर्पण करके ही अपने उपयोग में लावे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने निष्काम कर्मों की भक्ति की दुरूहता के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो भगवान् ने कहा—अर्जुन जैसे सकाम कर्मों के लिये द्रव्य, विधान तथा वैभव की प्रचुरता की आवश्यकता होती है वैसी भक्ति मार्ग में इनकी विशेष आवश्यकता नहीं। वहाँ वाह्य संभारों की महत्ता नहीं, वहाँ तो हृदय की स्वच्छता, प्रेम भक्ति तथा स्नेह पर विशेष बल दिया जाता है। इसीलिये भक्ति मार्ग सुकर है। अभक्त यदि मेरी पूजा बड़े वैभव के साथ करता है, तो भी अहंकार के कारण मैं उसे स्वीकार नही करता। और मेरा भक्त यदि श्रद्धा भक्ति के साथ अणुमात्र भी वस्तु मुझे अर्पण करता है, तो मैं उसे अत्यन्त आह्लाद के सहित स्वीकार कर लेता हूँ। एक तुलसी का दल, एक चुल्लू जल भी मुझे कोई भक्ति पूर्वक देता है, तो मै उसकी श्रद्धा भक्ति में बँधकर उसका क्रीत दास बन जाता हूँ। मेरी भक्ति भावना की पूजा में यदि पूजा की सामग्री न भी प्राप्त हो, तो जो भी पत्र पुष्प, फल अथवा जल ही प्राप्त हो उसी से मेरी पूजा करके भक्त संसार बन्धन से छूट जाता है। तुलसी तो मेरी प्रिया ही है, तुलसीदल अर्पण करने से तो मैं प्रसन्न हो ही जाता हूँ, किन्तु द्रौपदी ने तो मुझे सागपत्र ही अर्पण किया था। सागपत्र भी अमनिया-अछूता-तत्काल लाया हुआ नहीं था। वह पकाते समय बटलोई में चिपक गया था। जूठा पात्र मलने पर भी वह छूटा नहीं था। ऐसा पकाया हुआ जूठा साग पत्र खाकर ही मै विश्वात्मा उससे तृप्त हो गया था। मेरे साथ सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड का पेट भर गया था। द्रौपदी ने प्रत्यक्ष पत्र भी अर्पण नहीं किया था जिस पात्र में वह जूठा पत्र चिपका

था उस पात्र को ही मेरे सम्मुख निवेदित किया था। पत्र को तो स्वयं मैंने अपने नखों से खुरचकर अपने हाथ पर रखकर खाया था। इसलिये खाया था कि मेरी परम भक्ता द्रौपदी के द्वारा दिया गया था। वह दुर्वासा ब्राह्मण के शाप से दुखित थी। मैंने पत्र खाकर उसके दुःख को दूर किया। पत्र तो खाने की वस्तु है, मुझे तो मेरा भक्त यदि कोई फूल भी देता है, तो उस फूल को सूंघने के स्थान में मैं खा लेता हूँ।

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! फूल खाया तो नहीं जाता, वह तो सूंघा जाता है।"

भगवान् ने कहा—खाया कैसे नहीं जाता गोभी का फूल लोग खाते ही है मधूक (महुए) के फूल को भी खाते हैं। पाटिल (गुलाब) के फूल को भी खाते हैं। किन्तु मुझे तो कोई चम्पा, चमेली, जूही, मालती, माधवी, माधुरी तथा किसी का भी कैसा भी कोई फूल दे दे तो मैं उसे सूंघने के स्थान में खा ही जाता हूँ, क्योंकि वह मेरे भक्त द्वारा लाया गया है। वास्तव में मैं फूल का भूखा नहीं प्रेम का भूखा हूँ। ग्राह ने जब गज को पकड़ लिया, तो सहस्रों वर्ष लड़ते-लड़ते गज निर्बल हो गया। निर्बल अवस्था में आर्त होकर—सूंड़ में एक कमल पुष्प लेकर मुझे स्मरण किया मैं तुरन्त वहाँ पहुँचा उसके दिये हुए फूल को मैं खा गया और अन्त में ग्राह को मार कर अपने भक्त गज का ही उद्धार नहीं किया, अपितु भक्त का द्वेष से भी पैर पकड़ने वाले ग्राह का भी उद्धार किया। इस प्रकार सूंघने वाले पुष्प को तो मैं खा ही लेता हूँ, यदि कोई मुझे फल अर्पण करे, तो उन भक्त के दिये फलों को तो मैं तुरन्त ही खा जाता हूँ।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! फल तो द्रव्य द्वारा प्राप्त होते हैं,

आपके भक्त पर द्रव्य न हो, तो वह आपके लिये पत्र, पुष्प तथा फल कहाँ से लावे ?"

भगवान् ने कहा—'अर्जुन ! प्राचीन प्रथा ऐसी थी कि वनों पर और नादियों पर किसी राजा का अधिकार नहीं होता था। वनों में से जो चाहे वही पत्र, पुष्प, फल तथा ईंधन तोड़ लावे। कोई उसे रोकता नही था। फल कभी विकते नही थे, दूध, पूत, तथा फल मूलादि का वेचना पाप माना जाता था। अतः पत्र, पुष्प तथा फल सभी को विना धन व्यय किये, सहज में ही सर्वत्र अमूल्य मिल जाते थे। मान लो पत्र, पुष्प, फल न भी मिलें, तो गंगा जल पर–अन्य नदी कूपो के जल पर–तो कोई प्रतिबन्ध है नहीं, मुझे कोई भक्ति पूर्वक केवल जल ही अर्पण कर द तो मैं उस भक्ति पूर्वक समर्पण किये हुए जल को भी खा लेता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! जल तो पिया जाता है, खाये तो अन्य, फलादि जाते है, जल को आप खाते कैसे हैं।

भगवान् ने कहा—यह मैं जानता हूँ जल खाया नही जाता पीया जाता है, खाने की वस्तु तो रोटी दाल, सत्तू, दही चिउरा तथा फल हैं। देखो, सुदामा मेरे लिये विना दही के चिउरा लाया था, किन्तु लाया था, भक्ति पूर्वक मैं उन सूखे चिउरा को ही फांक गया। स्वाद के साथ खा गया। शबरी जंगली फल चाख-चाखकर जूठे हाथों से लायी थी। मैंने जूठे कूठे का तनिक भी विचार नही किया। वे फल तुरन्त के है या सूखे बासी इस ओर भी नहीं देखा। मैंने तो उसके हृदय की श्रद्धा, भक्ति प्रेम, उत्कट अभिलाषा तथा हार्दिक स्नेह को ही देखा अतः उन फलों को प्रेम पूर्वक खा गया। विदुरजी की स्त्री ने तो मुझे केले के छिलके हो दिये थे, किन्तु दिये थे प्रेम पूर्वक, मैं छिलकों को भी खा गया। इसी प्रकार किसी पर अन्न फल देने को नहीं है, थोड़ा

सा जल ही है तो जल को पीवें तो पल भर में गट्ट से पी जायें, भक्त को दुःख होगा, हाय ! मुझ पर देने को कुछ भी नही है। अतः मैं उस भक्त की प्रसन्नता के निमित्त शीघ्रता से जल को पी नहीं जाता। किन्तु शनैः शनैः जैसे चटनी को चाट चाटकर खाते है वैसे ही मैं उस भक्त के जल को बड़ी रुचि के साथ बिन्दु-बिन्दु करके दाँतों से चबा चबाकर खाता हूँ। इसलिये ऐसा करता हूँ कि मेरा विशुद्ध चित्त वाला भक्त प्रसन्न हो जाय। इसलिये जो सकाम होकर बड़े परिश्रम से बहुत सी सामग्रियों से अन्य देवों की उपासना करके भी जन्ममृत्यु के चक्कर से छुटकारा नहीं पाते, उनको चाहिये निष्काम भाव से मेरी भक्ति में तन्मय हो जायें। सबसे श्रेष्ठ समर्पण भक्ति है।

अर्जुन ने पूछा—"सर्पमण भक्ति कैसी होती है, उसकी विधि बताइये।"

भगवान् ने कहा—उसकी विधि फिधि कुछ भी नहीं है। तुम जो भी कुछ कर्म करो करने के अनन्तर उसे मेरे अर्पण कर दो। यह कम श्री कृष्ण के अर्पण है, मेरा इसमें कुछ नहीं है। सच्चे हृदय से मुझे अर्पण किया हुआ शुभाशुभ कर्म मुझे ही प्राप्त हो जाता है, कर्ता को उसका पुण्य पाप नहीं लगता।

अर्जुन ने कहा—कर्म में तो भोजन भी है, भोजन तो प्रत्यक्ष मुख में डाल कर खाया जाता है, उसे आपके अर्पण कैसे करें।

भगवान् ने कहा—भोजन करते समय यह ध्यान करे कि अन्न तो ब्रह्मा है, इसमें जो रस है, वह विष्णु है, खाने वाला महेश्वर है अर्थात् तीनों क्रिया में मेरे ही तीन रूपों द्वारा हो रही हैं, तो उस अन्न को मानों मैं ही खा रहा हूँ। खाकर यह

कहे वैश्वा नर रूप श्री कृष्ण जो उदर मे बैठे हैं, यह अन्न उन्हीं को समर्पित है, अतः ऐसे समर्पित अन्न का दोष भोक्ता को न लगकर उसके फल को मैं ही भोगता हूँ। ऐसी ही भावना हवन करते समय रखे।

अर्जुन ने कहा—"हवन को आपके अर्पण कैसे करे ?"

भगवान् ने कहा-हवन करते समय यही भावना रखे, हवि भी ब्रह्म है अर्पण भी ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म हवन कर्म भी ब्रह्म है तब वह हवन मुझे ही प्राप्त हो जायगा। हवन करक श्रद्धा भक्ति पूर्वक कहे 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु" यह हवन कर्म श्रीकृष्ण के निमित्त है इसमे मेरा कुछ नहीं। इस भावना से किया हुआ हवन निर्गुण निष्काम कर्म है। ऐसी भावना से हवन करने वाले भक्त का पुनरागमन नहीं होता। इसी प्रकार दान भी करे तो यह न सोचे मैं दान कर रहा हूँ। द्रव्य भी भगवान् का है, जिसे दान दिया जा रहा है वह भी भगवत् स्वरूप है भगवान् को ही समर्पण कर रहा हूँ। कन्यादान करना हो, तो कन्या को तो साक्षात् लक्ष्मी समझे, वर को मेरा स्वरूप समझकर यह कहे "लक्ष्मी रूपा इस वस्त्रालंकारों से सुसज्जित कन्या को विष्णु स्वरूप वर को समर्पण कर रहा हूँ तो इस प्रकार का दान ससार बन्धन से सदा के लिये छुड़ाने वाला होता है। कोई तपस्वी है। तपस्या कर रहा है। तप का फल स्वर्ग है। जो जितनी ही उग्र तपस्या करेगा, परलोक में उसे उतने ही पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी, किन्तु जो तपस्या को मेरे अर्पण करता है उसे क्षयिष्णु पुण्यलोक प्राप्त न होकर मेरा सनातन शाश्वत लोक प्राप्त होता है, अतः अर्जुन तुम जो भी भोजन, हवन, पूजन, यजन, दान, धर्म, जप, तप, तथा कर्म करो सबको मेरे अर्पण कर दो।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसा करने से क्या होगा ?

सूतजी कहते हैं – मुनियो ! इसका जो उत्तर भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।

छप्पय

कुन्तीनन्दन ! करै करम जो मोइ अरपि करि ।
जो-जो खावै अन्न प्रथम मेरे सम्मुख धरि ॥
प्रेम सहित करि हवन किन्तु मोकूँ करि अरपन ।
देवै जो-जो दान करै पितरति को तरपन ॥
चाहैं जप तप यज्ञ करि, करै तीर्थ आदिक धरम ।
मो अनन्त कूँ अरपि कैं, अन्तरहित होवैं करम ॥

भक्ति पूर्वक भजन करने वाले मेरे आत्मीय ही हैं

[१४]

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० २८, २९ श्लो०)

छप्पय

शुभ करमनि सुख मिलै पुन्य योनिनि में जावैं ।
अशुभ करम तैं दुष्ट योनि नरकनि कूँ पावैं ॥
होवै जब संन्यास योग तैं जो युक्तात्मा ।
नहीं शुभाशुभ करम फलनि भोगे सुमहात्मा ॥
अरजुन सब करमनि अरपि, बन्धन तैं छुटि जायगो ।
करमबन्ध तैं मुक्त है, मोई में मिलि जायगो ॥

---

*इस प्रकार करने से संन्यास योगयुक्त तू शुभाशुभ कर्म बन्धनों से छूट जायगा और मेरे को प्राप्त हो जायगा ॥२८॥

मैं सब प्राणियों में समभाव से प्राप्त हूँ, मेरा न कोई प्रिय है न अप्रिय । किन्तु जो मेरा भक्ति पूर्वक भजन करते हैं वे मेरे में हैं और मैं उनमें हूँ ॥२९॥

भगवान् के अनेक रूप हैं। एक तो भगवान् का सर्वान्तर्यामी भी रूप हैं। वे समान भाव से सभी प्राणियों में प्राप्त हैं। वे न किसी को सुख देते हैं न दुःख। जिसके जैसे कर्म होते हैं उनके कर्मानुसार वैसा ही फल प्रदान करते हैं। दूसरा भगवान् का अवतार रूप है। भगवान् अवतार तब धारण करते हैं जब पृथ्वी पर अधर्म बहुत बढ जाता है दुष्कृति लोग सुकृति सज्जनों को क्लेश देते हैं,। तब भगवान् अधर्म के ह्रास के लिये और धर्म की स्थापना के लिये अवतार धारण करते हैं, उस समय वे साधु पुरुषों का तो परित्राण करते हैं, उनकी रक्षा करते हैं और दुष्कृत कर्म करने वाले दुष्टों को दण्ड देते हैं, वह उनका धर्म रूप हैं।

तीसरे भगवान् अपने भक्त के ही निमित्त अवतरित होते हैं, जैसे प्रह्लाद के लिये नृसिंह रूप में, ध्रुव के लिये विष्णु रूप में गज के लिये हरि रूप में इन अवतारों में भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं यह भगवान् का भक्त वत्सल रूप है।

एक भगवान् का कारुणिक रूप है, जब बहुत से भक्त करुणा वश भगवान् को पुकारते हैं, उनके साथ हास परिहास तथा परम माधुर्य मयी क्रीड़ा करना चाहते हैं, तो भगवान् अपनी लीला के विस्तार के हेतु अपने परिकर के जनों पर करुणा करके अवतरित होते हैं। भगवान् के निज जन सम्बन्ध मानकर भगवान् के साथ रसास्वादन करते हैं। कोई तो भगवान् को स्वामी मानकर अपने को सेवक समझ कर सदा उनकी सेवा में संलग्न रहते हैं। कोई उन्हें अपना पुत्र मानकर वात्सल्य भाव से लाड़ लड़ाते हैं, प्यार करते हैं, पुचकारते हैं आवश्यकता पड़ने पर ताड़ना भी करते हैं, वहाँ ऐश्वर्य की गन्ध भी नहीं।

कोई उन्हें अपना सच्चा सखा समझ कर उनसे कुस्ती लड़ते हैं, उन्हें उठाकर पटक देते है, चड्डी लेते हैं और हृदय से हृदय सटाकर प्रेम प्रदर्शित करते हैं। कोई उन्हें पति मानकर अपने को उनकी प्रेयसी, दासी सेविका, किंकरी मानकर मधुर रस की अभि व्यक्ति करती है। भगवान् में जो जैसी भावना रखते हैं। भगवान् उनकी भावनानुसार वैसे ही बन जाते हैं।

सर्वान्तर्यामी भगवान् सब प्राणियों के प्रति समान व्यवहार करते है। उनके लिये न ता कोई द्वेष का पात्र है न विशेष प्रेम का ही पात्र। जिसका जैसा अन्त.करण होता है उसमें वैसे ही रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं। जैसे दर्पण स्वच्छ होगा तो प्रतिबिम्ब स्वच्छ दिखायी देगा, दर्पण मलिन है, तो प्रतिबिम्ब भी मलिन ही दिखायी देगा। जैसे सूर्य दपण में स्पष्ट दिखायी देता है इसलिये कि वह स्वच्छ है, किन्तु दीवाल में से दिखायी न देगा क्योंकि दिवाल मे पारदर्शक शक्ति नही है, वह मलिन है। काच में स्पष्ट दिखायी देते हैं तथा मिट्टी की भीत में नही दीखते इसमे सूर्य में पक्षपात की कल्पना तो नही की जा सकती।

कल्पवृक्ष सबके लिये समान है, जो उसकी छाया में चला जाय, इच्छानुसार वस्तु माँगले। कल्पवृक्ष से जो माँगोगे वही वस्तु वह दे देगा, किन्तु जो उसके नीचे जाकर मागता ही नहीं, उसको वह कुछ भी नहीं देता। इससे उसमें पक्षपात का आरोप तो नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार जो भगवान् की शरण में जाते हैं उन शरणागतों का भगवान् दुःख दूर कर देते हैं, किन्तु जो भगवान् की शरण जाते ही नही उनका भजन नहीं करते, पूजन, अर्चन, बन्दन, सख्य तथा आत्मा निवेदन नहीं करते, भगवान् भी उनके प्रति तटस्थ बने रहते हैं। सर्वान्तर्यामी

तो कर्मानुसार अन्तःकरण की शुद्धि के अनुसार फल देंगे। किन्तु जो भगवान् के ऐकान्तिक भक्त हैं, अनन्योपासक है, सम्बन्ध लगाकर व्यवहार करने वाले है, उनके साथ तो भगवान् का घर का सा खुला व्यवहार है। मैं तुम्हारा हूँ मेरा घर तुम्हारा है, हममें तुममें कोई भेद भाव नहीं। भगवान् की उनके साथ परम ऐकान्तिक आत्मीयता है। जैसे राजा जब सिंहासन पर बैठता है, सबके साथ समान व्यवहार करता है, राजसभा में अपराधी के रूप में उसका पुत्र भी आता है, तो उसे भी अन्य अपराधियों की भाँति दण्ड देता है। किन्तु जहाँ वह राजसभा छोड़कर घर के भीतर आ गया, तो फिर घर में तो वह घर का एक सदस्य बन जाता है। पत्नी के साथ एन्कात में विशेष प्रकार की आत्मीयता दिखावेगा। पुत्र के मुख को दूसरे भाव से चूमेगा। भाई से अन्य प्रकार से प्यार करेगा। परिवार के सभी सम्बन्धियों के प्रति प्रजाजनों की भाँति नहीं एक विशेष प्रकार की आत्मीयता प्रदर्शित करेगा।

भगवान् ने तीर्थराज प्रयाग को समस्त तीर्थों राजा बना दिया, अयोध्या, मथुरा, मायापुरी काशी, कांची, द्वारका तथा उज्जैनी इन सप्त पुरियों को उनकी रानी बनाया। सदा समीप रहने के कारण काशी को पटरानी का पद दिया। जितने भी सवा तीन करोड़ तीर्थ हैं, वे सब तीर्थराज के अधीन में रहते हैं, पुष्कर उनके राजपुरोहित हैं। अक्षयवट उनका राजछत्र है, गंगा यमुना काले और सफेद चँवर हैं, समस्त तीर्थ आ आकर उनकी सेवा में उपस्थित होते हैं।

एक बार तीर्थराज ने अपने अधीनस्थ सभी तीर्थों को बुलाया। समस्त तीर्थ अपने राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके उपस्थित हो गये। केवल वृन्दावन नहीं आये।

तब तो तीर्थराज भगवान् नन्दनन्दन राधारमण के समीप गये और बोले—प्रभो ! आपने ही मुझे समस्त तीर्थों का राजा बनाया है। मेरी आज्ञा की जो अवहेलना करता है मानों आपकी ही अवहेलना करता है। मेरी आज्ञा से अन्य सब तीर्थ तो आ गये वृन्दावन नहीं आये।

भगवान् ने कहा—"भाई, मैंने तुम्हे समस्त तीर्थों का राजा बनाया है। अपने अन्त.पुर का तो राजा नही बनाया है। मेरे अन्त:पुर की रानी तो राधारानी है। क्या तुम मेरी घर वाली को भी अपने अधीन करना चाहते हो। वृन्दावन तो मेरा निजी अन्त:पुर है।"

इसी प्रकार सर्वान्तर्यामी भगवान् समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के जीवों में कोई भेद भाव नही करते सबके साथ समान व्यवहार करते हैं, किन्तु जो उनके ऐकान्तिक भक्त हैं वे सर्वसाधारणों में नहीं आते। वे तो उनके परिवाहिक सम्बन्धी है, घर के आदमी हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने समर्पण भक्ति का उपदेश दिया, तब अर्जुन ने पूछा—इस प्रकार की समर्पण भक्ति का फल क्या होगा ? तो इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन ! इस प्रकार समर्पण भक्ति द्वारा न तुम्हें शुभ कर्म का फल पुण्य मिलेगा। और न अशुभ कर्म का फल पाप ही लगेगा। तुम शुभ अशुभ फल वाले कर्मों के बन्धन से सदा के लिये विमुक्त बन जाओगे। क्योंकि तुम तो समस्त शुभाशुभ कर्मों को सदा सर्वदा मेरे अर्पण करते ही रहोगे, इससे तुम्हारा चित्त विशुद्ध बन जायगा। न उसमें शुभ कर्मों की वासनायें रहेंगी और न अशुभ कर्मों की। इस समर्पण योग द्वारा तुम शुद्ध चित्त वाले हो जाओगे। फिर मुक्ति के लिये तुम्हें मरण काल की प्रतीक्षा

न करनी पड़ेगी। तुम जीवित रहते हुए ही मुक्ति सुख का अनुभव करोगे। जीवन्मुक्तावस्था में ही मुझे प्राप्त हो जाओगे।" समर्पण भक्ति वाले भक्त संन्यास योगयुक्तात्मा कहलाते हैं। उनका संसार से कोई सम्बन्ध ही नही रह जाता।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! इसमे तो ऐसा ही सिद्ध हुआ कि आप भक्तों के प्रति पक्षपात करते है और अभक्तों के प्रति कृपा नही करते। तब तो आप में रागद्वेष पने का दोष आरोपित हो जायगा। पक्षपात करने का दोष लग जायगा। जो पक्षपात करता है वह कैसा ईश्वर?"

भगवान् ने कहा—मेरी दृष्टि में तो सब समान ही हैं। मैं रागद्वेष तथा पक्षपात से सर्वदा रहित हूँ। मेरा न कोई प्रिय पात्र है न द्वेष पात्र। मैं सबके साथ समान न्याय करता हूँ। फिर भंया! भक्ति की बात कुछ दूसरी ही है?

अर्जुन ने कहा—"जब आप समदर्शी है सबके साथ समान व्यवहार करने वाले हैं, पक्षपात से शून्य है रागद्वेष से रहित हैं, तब भक्ति की बात दूसरी है, यह बात क्यों कहते है?"

भगवान् ने कहा—अर्जुन! कर्तव्य बात दूसरी है, अपनापन दूसरी बात है। एक न्यायाधीश है। न्याय के आसन पर जब बठा है उस समय अपराधी बनकर पुत्र आवेगा तो उसे दंड देगा। पद से पृथक् होकर वह अपने पुत्र को छुड़ाने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि अब आत्मीयता के सम्बन्ध की बात है। इसी प्रकार जो मुझे भक्तिभाव पूर्वक भजते है व तो मेरे अपने ही हैं और मैं उनमें हूँ। उनका सगा सम्बन्धी आत्मीय निज जन हूँ।

अर्जुन ने पूछा—आपके जो कुलीन शुद्ध सदाचारी उच्च वशोद्भूत भक्त होते होगे उन्ही के प्रति ऐसा पक्षपात करते होंगे? दुराचारियों के साथ तो ऐसा कभी न करते होंगे?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा ।

छप्पय

सब भूतनि सम भाव रूप तैं निवसूँ अरजुन ।
चाहैं होवै सुजन भले ही होवै दुरजन ॥
अप्रिय मेरो नहीं जगत में कोई भाई ।
सम्बन्धी प्रिय नहीं न ममता मन में आई ॥
किन्तु प्रेम तैं जो भजत, मोकूँ तिनिको बनत हूँ ।
मोई में वे नित रहत, हौं उनही में बसत हूँ ॥

अनन्य भाव से भजने वाले के पूर्व कृत दोष नहीं देखे जाते

[१५]

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ०, ३०, ३१ श्लो०)

छप्पय

चाहें होवै बड़ो दुराचारी हू पापी ।
अतिशय अघरम करत जगत जीवनि संतापी ॥
यदि सोऊ तजि पाप भजे मोकूँ अनन्य है ।
त्यागे अघरम सकल जगत में रहै धन्य है ॥
साधु परम ताही गनो, सम्यक बुद्धि बनाइकें ।
ताको निश्चय रहूँ अब, गोविँद के गुन गाइकें ॥

---

* चाहे कोई अत्यन्त दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्य भाव से भजता है, तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि वह भले प्रकार निश्चित मतवाला है ॥३०॥

ऐसा पुरुष अति शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती

वर्णाश्रम धर्म में कुलात, वर्णगत तथा आश्रमगत सदाचार को अत्यन्त ही महत्त्व दिया जाता है। यदि कोई शूद्र होकर कर्म ब्राह्मण के करता है, तो वह पतित हो जाता है, क्योंकि वहाँ तो अपने-अपने धर्म में निरत पुरुष ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। यदि अपना कुलागत कार्य सदोष भी हो तो उसका परित्याग न करना चाहिये। वहाँ स्वधर्म पालन पर अत्यधिक बल दिया गया है, किन्तु भक्ति मार्ग में कुलागत जाति तथा वर्णगत सदाचार का उतना महत्त्व नहीं, यहाँ तो अनन्यता पर बल दिया गया है। अनन्य भाव से कोई भी भक्ति पूर्वक भजन करेगा, तो उसे ससद्धि प्राप्त हो जायगी। भक्ति मार्ग का तो सिद्धान्त है "जाति पाँति पूछे न कोय, हरि को भजे सो हरि को होय।" भक्ति मार्ग में तो लगन देखी जाती है। सभी अवस्थाओं में-सभी स्थानों में जो निरन्तर अनन्य भाव से भगवान् का ही चिन्तन करते हैं, वे पहिले चाहे कितने भी पतित रहे हों, चाहें छोटी से छोटी जाति में उत्पन्न हुए हों अनन्य स्मरण से उनके समस्त दोष मिट जाते हैं, भगवत् भजन के कारण वे साधु बन जाते हैं, ऐसे ही हीन जाति में उत्पन्न अनन्यो पासकों को लक्ष्य करके भगवान् ने कहा है—कोई चारों वेदों का ज्ञाता हो, किन्तु मेरा भक्त न हो तो वह मुझे उतना प्रिय नहीं है जितना कि मेरी भक्ति करने वाला श्वपच मुझे प्रिय है। मेरे उस अनन्य भक्त श्वपच को देना चाहिये, वही ग्राह्य है और वह उसी प्रकार पूज्य है जैसे मैं पूज्य हूँ।

बात यह है, कि किसी ने प्रकृतिवश पहिले पाप किये हो, पीछे उसे अपने पापों का पश्चात्ताप हुआ, वह सब कुछ छोड़कर निरन्तर भगवान् के नाम संकीर्तन में निमग्न हो गया, अनन्य

शान्ति को प्राप्त होता है। हे कौन्तेय! तू प्रतिज्ञा पूर्वक जान कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता ॥३१॥

भाव से भगवान् का भजन करने लग गया, तो उस निरन्तर के नाम कीर्तन के प्रभाव से उसके समस्त पाप नष्ट हो जायँगे, चाहे इसके पूर्व उससे ब्रह्महत्या, पितृहत्या, गोहत्या, मातृहत्या, आचार्य हत्या जैसे अत्यन्त दुष्कर्म हो क्यों न बन पड़े हों, किन्तु जहाँ उसे अपने पापों के प्रति पश्चात्ताप हुआ और वह सब कुछ छोड़कर निरन्तर प्रभु के स्मरण में लग गया। सतत कीर्तन में निमग्न हो गया, तो चाहे वह चाडाल ही क्यों न रहा हो, चाहे वह अधम जाति पुल्कश जाति में हो क्यों न उत्पन्न हुआ हो। भगवान् के सतत कीर्तन में ऐसा प्रभाव है, कि वह पवित्र बन जाता है, समस्त पापों से छूट जाता है, किन्तु वह भजन होना चाहिये अनन्य भाव से। छल, कपट, दम्भ तथा लोभ लालच से रहित होकर सच्चे हृदय से विशुद्ध अन्तःकरण से होना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—आपके जो आत्मीय निजी भक्त हैं वे सब सदाचारी, कुलीन और उच्च-वंश वाले ही होते होंगे?" इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन मेरा भक्त कुलीन हो, उच्चकुलोत्पन्न हो, सदाचारी हो और साथ ही मुझमें अनन्य प्रेम रखता हो, तब तो कहना ही क्या है। किन्तु मैं कुलीनता सदाचार को ही मुख्य मानकर अधम जाति के तथा दुराचारी भक्तों से घृणा करता होऊँ, सो बात नहीं है। यदि पहिले कोई बड़ा भारी नामी दुराचारी भी रह चुका है, किन्तु अन्त में वह दुराचार को त्यागकर मेरा अनन्य भाव से भजन करने लग गया है, तो अब उसे दुराचारी मत समझो।

अर्जुन ने पूछा—तब उसे क्या माने?

भगवान् ने कहा—अब उसे साधु ही समझना चाहिये और साधु के ही समान उसका सम्मान भी करना चाहिये?

अर्जुन ने पूछा—"जिसने पूर्वकाल में बड़े-बड़े पाप किये हैं, उसे साधु कैसे माना जा सकता है?"

भगवान् ने कहा—भूत की बातें तो भूत के गर्भ में विलीन हो गयीं। अब देखना यह है, कि अब जो उसने निश्चय कर लिया है, वह निश्चय कैसा है। देखो, अजामिल ने दुराचार करने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी थी। संसार में जितने भी बड़े से बड़े पाप कहे जाते हैं, वे सभी उसने किये थे। किन्तु भाग्यवश उसे साधु संग मिल गया, उसने अपने पूर्वकृत पापों के लिये पश्चाताप किया, और उसने दृढ़निश्चय कर लिया कि अब मैं ऐसे पाप कभी न करूँगा। ऐसा दृढ़निश्चय करके वह भगवती भगीरथी के तट पर हरिद्वार चला गया, वहाँ उसने अनन्य उपासना द्वारा परमसिद्धि को प्राप्त कर लिया। तो ऐसे आदमी को साधु न समझोगे, तो और क्या समझोगे। अन्त में जो उसने दृढ़ निश्चय कर लिया, वास्तव में उसका वही निश्चय सर्वोत्तम है। अजामिल ने उसी समय निरन्तर भगवत् भजन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। इसी प्रकार जो भी पातकी ऐसा निश्चय कर लेगा, उसकी दुर्गति कभी न होगी।

अर्जुन ने पूछा—उसकी क्या गति होगी?

भगवान् ने कहा—उसकी सुगति होगी। तत्काल ही वह धर्मात्मा बन जायगा। भक्त लोग उसके पावन निश्चय की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगेंगे। उसे शाश्वती शांति प्राप्त हो जायगी। इसलिये अर्जुन! तुम प्रतिज्ञा करो, कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! मुझसे आप प्रतिज्ञा क्यों कराते हैं। भक्त तो वह आपका ही है, अतः प्रतिज्ञा आपको करनी चाहिये।"

हँस कर भगवान् बोले—"अर्जुन ! तुम ठीक कहते हो। प्रतिज्ञा करनी तो मुझे ही चाहिये। किन्तु मैं कुछ ऐसा ढोला ढाला हूँ, कि भक्तों की प्रतिज्ञा के सम्मुख मैं अपनी प्रतिज्ञा भूल जाता हूँ। देखो, मैंने प्रतिज्ञा की थी, कि रण में मैं अस्त्र शस्त्र नहीं उठाऊँगा और भीष्मपितामह ने प्रतिज्ञा की थी, मैं श्यामसुंदर से अस्त्र अवश्य उठवाऊँगा। उस समय मैं अपनी प्रतिज्ञा भूल गया। भीष्म की ही प्रतिज्ञा पूरी हुई। तुमने जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा की थी, कि आज सूर्यास्त तक जयद्रथ को न मार सका, तो मै जीवित जल जाऊँगा। सूर्यअस्त हो चुका था, तुम चिता जलाकर अपने शरीर को भस्म करने को उद्यत थे। तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण करने को मैंने पुनः सूर्य के दर्शन करा दिये तुमने जयद्रथ को मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

तुमने द्वारका में ब्राह्मण से प्रतिज्ञा की थी मैं तुम्हारे मृत पुत्र की रक्षा करूँगा। किन्तु तुम मृत पुत्र की रक्षा न कर सके। अपनी प्रतिज्ञा भंग होते देखकर तुम चिता जलाकर उसमें जलना चाहते थे। तब मैं रथ में तुम्हें बिठाकर लोकालोक पर्वत के भी आगे भूमा पुरुष के समीप ले गया और वहाँ से ब्राह्मण के पुत्रों को लाकर तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। अतः मेरी प्रतिज्ञा मे तो कभी गड़बड़ भी हो जाती है किन्तु मेरे भक्तों की प्रतिज्ञा सदा पूरी ही होती है। इसलिये मै तुमसे आग्रह कर रहा हूँ कि तुम प्रतिज्ञा करो, मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।"

अर्जुन ने कहा—आपकी आज्ञा से मै प्रतिज्ञा तो कर लेता हूँ, किन्तु कोई आपका भक्त है वह पूर्व अभ्यासानुसार प्रारब्धवश दुराचरण को तो त्याग नहीं सका है, किन्तु आपकी भक्ति में तल्लीन हो गया है, उसकी क्या गति होगी ? अजामिल तो पहिले स्वकर्मनिष्ठ, शान्त दान्त संयमी सदाचारी ब्राह्मण था।

आगन्तुक दोष के कारण वह पतित हो गया। प्रायश्चित्त तथा पश्चाताप करके तपस्या के प्रभाव से परम गति को प्राप्त हो गया। किन्तु जो जन्म से ही पाप योनि में प्रकट हुए हैं, जो स्वाभाविक दोष से दूषित पुरुष हैं, उनका उद्धार होगा कि नहीं। ऐसे पापयोनि पुरुषों की क्या गति होगी ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन ने पापयोनियों की गति के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया, उनका भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

निश्चय ऐसो करो ताहि धरमात्मा जानो।
भयो शीघ्र अति शुद्ध भाव ऐसो तुम मानो॥
जैसे तम भगि जात उजारो जब ही आवै॥
भक्ति करूँ भगवान, करै निश्चय बनि जावै॥
कुन्तीसुत ! निश्चय समुझि, नाश भक्त को हो नहीं।
अघनाशक मम नाम तैं, पाप रहि सकै है कहीं ?

भगवत् शरण में आने वाले सभी परम शान्ति प्राप्त कर सकते हैं

[१६]

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० ३२, ३३ श्लोक)

छप्पय

मेरो आश्रय लेइ पाप योनिनि के प्रानी ।
होवें चाहे नारि इन्द्रहत्या जिनि मानी ॥
अथवा होवे वैश्य अरथहित व्यग्र रहें नित ।
होवैं चाहें शूद्र रहें नित कामनि महँ रत ॥
वे हू मेरी शरन में, आवेंगे सुख पाइँगे ।
परमगति कूँ प्राप्त करि, जा जग तें तरि जाइंगे ॥

---

* हे पार्थ ! मेरी शरण में जो भी आ जाता है, वही परमगति को प्राप्त होता है, फिर वे चाहे, पाप योनिवाले, स्त्री, शूद्र तथा वैश्य भी क्यों न हों ॥३२ ।

[illegible] राजर्षिगण हों, [illegible] और सुख रहित इस [illegible] ॥३३॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों की द्विज संज्ञा है। तीनों को ही वेदाध्ययन का, दान करने का और यज्ञ करने का अधिकार है। वर्णाश्रम धर्म में परम्परागत वृत्ति पर बहुत बल दिया है। प्राचीन काल में बड़ापन और छोटापन वृत्ति के ही ऊपर अवलम्बित होता था। ऐसी वृत्ति हीन वृत्ति मानी जाती थी, जिसके कारण हिंसा प्रश्रय मिले। जिस कर्म में हिंसा का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संसर्ग हो, वह वृत्ति हीन वृत्ति मानी जाती थी, और उस वृत्ति के अपनाने वाले हीन जाति के समझे जाते थे। अब जैसे महापात्र हैं, यद्यपि वे ब्राह्मणवर्ण के हैं, किन्तु मृतक का दान लेते हैं, सूतकों में भी दान ले लेते हैं, उनकी वृत्ति मृतकों से-शवों द्वारा-होती है अतः ब्राह्मण होते हुए भी वे अस्पर्श समझे जाते थे। ज्योतिषी हैं ब्राह्मण वर्ण के हैं, किन्तु वे नवग्रहों का दान लेते हैं, भविष्य बताकर जीविका चलाते हैं, पापग्रहों का दान लेने से वे हेय माने गये हैं। इसी प्रकार वैद्य भिषक् प्रायः ब्राह्मण ही होते थे, किन्तु उनकी वृत्ति रोगियों से है, आतुरों से आजीविका है, अतः देवता पितर कार्यों में उन्हें अनधिकारी माना गया है, उनके यहाँ भोजन करना निषेध है, उनके अन्न को फोड़े में से जो मवाद निकलता है वैसा-पूयान्न-बताया है।

क्षत्रियों में भी जो अवर्णाश्रमी प्रजा पर शासन करते थे, अवर्णाश्रम देश-कीकट देशों-के राजा होते थे, वे क्षत्रियाधम माने जाते थे। उत्तम कुल के राजा ऐसे राजाओं से सम्बन्ध नहीं करते थे।

इसी प्रकार वैश्यों की वृत्ति कृषि, गोरक्षा, व्यापार और ब्याज लेना चार प्रकार की बतायी गयी थी। खेती करने में-हल चलाने में असंख्यों जीवों की हिंसा होती इसीलिये खेती को

"प्रमृत" मरी से भी मरी वृत्ति बताया है। व्यापार में भी रसों का व्यापार (जैसे गुड़, घृत, तैलादिका व्यापार, चर्म का व्यापार, सुराका व्यापार, मांस का व्यापार) पकाये हुए अन्न (दाल, भात, रोटी, पूड़ी, हलुआ) का व्यापार ये निषेध है। अतः इनका व्यापार करने वाली जातियाँ पृथक् बन गयीं। ब्याज लेना बहुत ही कठोर कार्य माना जाता था, अतः इसे भी करने वाली जातियाँ बन गयी। गौ का पालन तो पुण्य कार्य है, किन्तु गौ से प्राप्त गव्य (दूध, दही, घृतादि रसों) को बेचना निषेध माना जाता था, अतः गोपालक या ग्वालों की भी वेश्यों से पृथक् जाति बन गयी। तेल भी रस है अतः उसका व्यापार करने वाली तैली जाति पृथक् हो गयी। सुरा का व्यापार भी व्यापार ही है, किन्तु जो वेश्य इसका व्यापार करते थे ध्वजी (कलवार आदि) जाति बन गयीं। इन निषिद्ध व्यापार करने वाले–रस बेचने वालों–को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं रहा। ये द्विजत्व से वंचित हो गये। पूर्वकाल में वर्णाश्रमियों में वेदाध्ययन के अधिकारी वे ही द्विज माने जाते थे जो शास्त्र में निषिद्ध कार्यों से आजीविका न चलाते हों और जिनके यहाँ पुनर्विवाह की प्रथा न हो। पत्नी उसे कहते हैं, जिसके साथ बैठकर यज्ञ किया जाय। वह अपने ही वर्ण की होती थी, शास्त्रीय विधि से कन्यावस्था में जिसका अपने वर्ण के वर से विवाह हुआ हो। उच्च-वर्ण के लोग अपने से दूसरे वर्ण की स्त्रियों को भी रखते थे, किन्तु उनका देवता तथा पितृ कार्यों में न तो अधिकार होता था, न वे पाक कर सकती थी, न उनकी संतानें उस वर्ण की ही मानी जाती थीं। जो द्विज होकर नियोग, धरेजा बैठाना करते थे, वे द्विजों में पतित हो जाते थे। वेद बहिष्कृत समझे जाते थे। शूद्रों में भी जो द्विजातियों की सेवा के अतिरिक्त शास्त्रों

में जिन कार्यों को हीन बताया गया है, उन्हें अपनाने वाले अन्त्यज कहलाते थे, जैसे कुत्ता के मांस को खाने वाले–जीवों को–मछलियों को मारकर उन्हें बेचकर आजीविका चलाने वाले, शवों को ढो कर उनकी वस्तुओं को लेने वाले श्वपच चांडाल आदि कहलाते थे। इनके अतिरिक्त जो वनों में रहते थे, वैदिक कर्म नहीं जानते थे, जिनमें वर्णाश्रम धर्म का प्रचलन नहीं था वे अवर्णाश्रमी कहलाते थे। इनका भी वैदिक यज्ञ यागों में अधिकार नहीं था। एक आध ऐसे यज्ञ थे जिनका अधिकार निषाद स्थापतियों को दिया गया था।

वैसे तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों की ही द्विज संज्ञा है तीनो को ही वेदों का अधिकार होने से पुण्य योनि कहा गया है। किन्तु करद वर्णों को अकरद वर्णों से हीन माना गया है। ब्राह्मण सदा से अकरद रहे हैं। कोई भी धर्मात्मा क्षत्रिय राजा कभी भी ब्राह्मणों से कर नहीं लेता था। रावण आदि कुछ दुष्ट राजाओं ने ब्राह्मणों से कर माँगा सो वह उनके विनाश का ही कारण बना। सामान्यतया ब्राह्मण कर मुक्त होते थे। क्षत्रिय लोग तो कर ग्रहीता ही थे। वे प्रजाओं से (प्रजाओं में ब्राह्मण सम्मिलित नहीं थे) कर लेते थे। अतः वे भी अकरद थे। अब कर देने वाली दो ही जातियां रह गयीं। एक वैश्य दूसरे शूद्र। शूद्रों के पास कर देने को धन नहीं था, अतः वे सेवा रूप से कर देते थे। कर दाताओं में सबसे श्रेष्ठ वैश्य ही थे। उन्हीं के पास व्यापार, कृषि, गोरक्षा और ब्याज से प्राप्त धन था। इसलिये वे कर दाताओं में श्रेष्ठ कहलाते थे। इसीलिये वैश्यों का नाम श्रेष्ठ, सेठ, श्रेष्ठी, सेठी, चेट्टी, सेट्टी आदि प्रसिद्ध हुआ।

इसीलिये जहां-जहां द्विज का प्रयोग आता है वहां प्रायः

(ब्रह्म क्षत्रञ्च रक्षताम्) ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनों का ही विशेषता से आता है। जैसे ब्रह्म क्षत्र साथ-साथ आता है। उसी प्रकार कर देने वाले वैश्य शूद्र का भी प्रयोग साथ-साथ होता है। जहाँ शूद्र वैश्य का प्रयोग साथ-साथ हो वहाँ कर देने वाले, यही अर्थ समझना चाहिये। जहाँ ब्रह्म क्षत्र का प्रयोग हो, वहाँ अकरद समझना चाहिये। अकरदों से करद पहिले छोटे माने जाते थे। तभी तो जब ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन द्रौपदी को स्वयवर से ले गया तब राजा द्रुपद ने अपने पुत्र से शंका करते हुए कहा था—पता नहीं यह द्रौपदी को ले जाने वाला अज्ञात कुल का व्यक्ति कौन था। कहीं किसी शूद्र ने अथवा नीच जाति के पुरुष द्वारा उच्च जाति की स्त्री से उत्पन्न (वर्ण संकर)मनुष्य ने या कर देने वाले करद वैश्य ने तो मेरी पुत्री का प्राप्त नहीं कर लिया ? और इस प्रकार उन्होंने मेरे सिर पर अपना कीचड़ से सना पाँव तो नहीं रख दिया ? माला के समान सुकुमारी और हृदय पर धारण करने योग्य मेरी लाडली पुत्री श्मसान के समान अपवित्र किसी पुरुष के हाथों में तो नहीं पड़ गयी ? क्या द्रौपदी को पाने वाला मनुष्य अपने वर्ण (क्षत्रिय वर्ण) का ही कोई श्रेष्ठ पुरुष है ? बेटा ! मेरी कृष्णा का स्पर्श कर किसी निम्न वर्ण वाले मनुष्य ने आज मेरे मस्तक पर अपना बायाँ पैर तो नहीं रख दिया ?" इस वर्णन से यह सिद्ध होता है, कि क्षत्रिय अपनी कन्याओं का विवाह अपने से उच्च वर्ण वाले ब्राह्मणों से तो कर देते थे, किन्तु अपने से नीच वर्ण के वैश्य, शूद्र अथवा संकर जाति (सूतादि) से नहीं करते थे, क्योंकि ये करद थे। अतः जहाँ भी कहीं वैश्य का उल्लेख शूद्र के साथ आवे वहाँ कर देने वाले यही अर्थ करना चाहिये।

स्त्री को भी वेद की अनधिकारिणी बताया है। पत्नी को नहीं। स्त्री में और पत्नी में भेद है। स्त्री शब्द से तो स्त्रीलिङ्ग वाली सभी प्राणियों की स्त्रियों को समझना चाहिये। यह सामान्य शब्द है। पत्नी विशेष शब्द है। पत्नी उसे कहते हैं। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन द्विजातियों के घर में उनकी जाति की पत्नी से उत्पन्न हुई हो। और अपनी जाति वाले वर से शास्त्रीय नियमों के साथ जिसका विवाह हुआ हो उसका पृथक् आस्तित्व नहीं रह जाता। जिस पुरुष के साथ वह विवाही जाती है उसकी वह अर्धाङ्गिनी हो जाती है, अर्थात् उसके धर्म कर्म पुण्य आदि का आधा फल उसे स्वतः मिल जाता है, वह विवाह में यज्ञों में वेद मन्त्रों का उच्चारण करने की सुनने की अधिकारिणी होती है। वही पुरुष अपनी जाति की या अन्य जाति की और भी स्त्रियों को रख लेता है, तो वे पत्नी नहीं होती। उपपत्नी, भोगपत्नी, रखैली दासी सेविका आदि उसके नाम होते हैं। धर्म पत्नी के लिये न पृथक् कर्म का विधान है और न पृथक् धर्मों का। पति के कर्म ही उसके कर्म हैं और पति का धर्म ही उसका धर्म है और पति की गति ही उसकी गति है। जो धर्म पत्नित्व से हीन है वह सामान्य स्त्री है। सामान्य स्त्रियों को वेद की अधिकारिणी नहीं माना गया है, उनकी सन्तानें भी वेदबाह्य मानी जाती हैं। द्रौपदी जी को जब पांडव जूए में हार गये और वे नियमानुसार कौरवों की दासी बन गयीं, तो उस दशा में वे धर्म पत्नी नहीं रहीं, रहीं-क्षत्राणी भी नहीं रहीं-उनके पुत्र प्रतिविन्ध्य भी नियमानुसार दासी पुत्र ही माने जाते-वे क्षत्रित्व से वंचित हो जाते। तभी तो उन्होंने अपने ससुर धृतराष्ट्र से सर्व प्रथम यही वर मांगा कि मेरा पुत्र दासी पुत्र न कहलावे। पांडवों को छोड़कर वे अब किसी दूसरे की पत्नी

भी नहीं बन सकती थी। जहाँ भी रहतीं उनकी दासी संज्ञा होती। इसलिये यद्यपि पत्नी होती तो स्त्री ही है, किन्तु उसकी सर्व साधारण स्त्रियों से भिन्नता है। स्त्री के भी दो रूप हैं, एक कामिनी स्वैरिणी वेश्या बहु भर्तृका और दूसरी किसी की नारी उप पत्नी। जिसका सम्बन्ध एक पुरुष से है, किन्तु उसे यज्ञ में अधिकार नहीं है वह उसकी नारी या उप पत्नी है। जिसका सम्बन्ध एक से न होकर बहुतों से है वह कामिनी पुंश्चली बहु-भर्तृका तथा पण्य स्त्री है। शास्त्रों में जहाँ-जहाँ भी स्त्रियों की निन्दा के वचन आते हैं वहाँ ऐसी ही कामिनियों स्वच्छन्द गामिनियों के सम्बन्ध में हैं, स्त्रियों के कानों में श्रुति के वचन न पड़ने चाहिये ऐसे वचन हैं वहाँ ये वचन सामान्य स्त्रियों के सम्बन्ध में ही हैं, वे वेद की अनधिकारिणी हैं, किन्तु जो द्विजातियों की पत्नियाँ हैं, वे तो यज्ञशाला में बैठकर वेद मन्त्र सुनती हैं, वैदिक कर्मों को करती रहती हैं, वेद मन्त्रों का उच्चारण करती हैं। उनकी तो गति मति समस्त सिद्धियाँ अपने पति के साथ बँधी हैं, वे पति की गति की अधिकारिणी हैं। इसलिये वर्णाश्रमधर्म में वैदिक कर्म काण्डों के अनधिकारी इतने हैं—एक तो सामान्य स्त्री (द्विजपत्नी नहीं) दूसरे कर देने वाले शास्त्र अविहित व्यापार करने वाले वैश्य तथा सेवा परायण करद शूद्र तथा वर्ण संकर और नाम मात्र के संस्कारों से हीन द्विज तथा दुराचारी, पाप-योनि वाले। वर्णाश्रम धर्म में ये मोक्ष के अनधिकारी माने जाते हैं। ये स्वर्ग तक जा सकते हैं, स्वर्ग से आगे नहीं जा सकते। ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों त्रैलोक्य का अतिक्रमण करके महः जन तप तथा सत्यलोक तक जा सकते हैं, मुक्ति के अधिकारी बन सकते हैं।

भक्ति मार्ग में यही विशेषता है, कि उसमें वर्ण, आश्रम,

कुलाचार, पूर्वकृत दुराचार आदि का कोई बन्धन नहीं। अनन्य भाव से भजन करने वाला, चाहे वेदज्ञ ब्राह्मण हो, शूद्र चांडाल स्त्री ही क्यों न हो, सबकी समान गति होगी। सभी परमगति प्राप्त करने के अधिकारी बन सकते हैं। नहीं तो गज, गीध, निषाद, शबरी पिंगला वेश्या, विदुर, सञ्जय, समाधि वैश्य, इन सबको सद्गति कैसे मिलती? भक्ति द्वारा ही ये सबके सब कृतार्थ हो गये। ब्राह्मण ही नहीं असुर, राक्षस वानर तक भक्ति से तर जाते हैं वृत्रासुर, प्रह्लाद, हनुमान, जाम्बवान, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा दासी, व्रज की अहीरिनी ये सब भगवान् में भक्ति करके ही धन्य-धन्य हो गये। अतः भक्ति महाराणी सार्वभौम हैं। वे सबको समान भाव से तारने में समर्थ हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कि जो स्वाभाविक दोष से दूषित हैं, जो जन्म से ही हीन जाति हीन, वर्ण में उत्पन्न हुए हैं, उनका उद्धार होगा या नहीं।" इसका उत्तर देते हुए, भगवान् कह रहे हैं—"देखो, अर्जुन मेरा जिसने अनन्य भाव से आश्रय ले लिया, वह चाहे पाप योनि में ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, मनुष्य ही, नहीं चाहे पशु पक्षी योनि में ही पैदा हुआ हो, उसका उद्धार हो जायगा। देखो, गरुड़ जी का स्वाभाविक भोजन सर्प है, वे मांस भोजी हैं, फिर भी वे मेरे अनन्य उपासक हैं, गरुड़ जी को जाने दो, जटायु गीध तो मृतकों का मांस खाने वाला था। पक्षियों में सबसे नीच गीध ही माना जाता है; गीध जिस घर पर बैठ ही जाय, उसका पुनः संस्कार कराना पड़ता है। पक्षियों में काक को सबसे अधिक धूर्त बताया गया है, किन्तु भुसुन्डी काक ही थे। अनन्य उपासना के कारण ये परमगति को प्राप्त हुए।

स्त्रियों को भी वेदाध्यन करने का अधिकार नहीं। स्त्री, शूद्र, द्विजबन्धु इनको श्रुति सुनने का अधिकार नहीं। यज्ञ पत्नियाँ स्त्रियाँ होने पर भी इसका अपवाद हैं। यज्ञ पत्नियों की बात जाने दो। कुब्जा तो किसी की पत्नी नहीं थी दासी थी उसने मुझे अपना चन्दन और तन मन सभी कुछ अर्पित कर दिया था। इसी प्रकार वन में रहने वाली आभीर जाति की गोपिकाओं ने भी मेरी अनन्य भाव से उपासना की थी। शबरी तो अवर्णाश्रमी शबर जाति की थी, मेरा अनन्य भाव से भजन करके तर गयी।

इसी प्रकार शूद्रों को भी वेदाध्ययन का अधिकार नहीं, फिर भी विदुर, सजय आदि मेरी भक्ति के ही कारण तर गये।

जो करद वैश्य हैं, निरन्तर धन अर्जन के ही चक्कर में पड़े रहते हैं। उस जाति के भी बहुत से लोग मेरी अनन्य भक्ति से कृतार्थ हो गये। इनमें समाधि वैश्य, तुलाधार वश्य, धर्म-व्याध ऐसे हैं, जो स्वधर्म का पालन करते हुए भी अनन्य भाव से भक्ति करने के कारण कृतार्थ हो गये। बड़े-बड़े ब्राह्मण इनके यहाँ शिक्षा ग्रहण करने जाते थे। इनके अतिरिक्त जो अन्य अनेक प्रकार के पापयोनि वाले पुरुष थे, वे सब भी मेरा आश्रय लेकर परम गति को प्राप्त हो गये।

अर्जुन ने कहा—क्या प्रभो! भगवद्भक्ति के अधिकारी पाप-योनि वाले, नीच पुरुष स्त्रियाँ, वैश्य, तथा शूद आदि ही हैं?

भगवान् ने कहा—नहीं, नहीं भगवत् भक्ति में सभी का समान अधिकार है। मैंने तो यह कहा—कि वर्णाश्रम धर्म जिन्हें स्वर्ग से ऊपर जाने का अधिकार ही नहीं देता, वे आगन्तुक दोष से दूषित तथा स्वाभाविक दोष से दूषित पुरुष भी मेरे भजन से परम गति के अधिकारी बन जाते हैं। यदि मेरी भक्ति

करने वाले सदाचारी, उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले ब्राह्मण हों, ऋषियों के सदृश आचरण करने वाले क्षत्रिय हों, तो उसके सम्बन्ध में, तो कहना ही क्या ? एक तो गङ्गाजल फिर कोरे घड़े में सुवासित करके रखा गया हो, गर्मी के दिनों में वेग की तृषा लगने पर किसी को पीने को मिल जाय, तो उसके लोक परलोक दोनों ही बन जायंगे। वेदज्ञ ब्राह्मण हो, धर्मात्मा क्षत्रिय हो और साथ ही मेरी भक्ति से युक्त हो, तो वह तो सोने में सुगन्ध के समान है। इसलिये भाग्यवश जिसे यह उत्तम शरीर प्राप्त हुआ उसे लाभ का सौदा करना चाहिये, समय को चूकना नहीं चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! लाभप्रद उत्तम सौदा कौन सा है ?"

भगवान् ने कहा—देखो, चौरासी लाख योनियों में घूमते-घूमते यह मनुष्य शरीर मिला है। इसमें भी यदि सदाचार सम्पन्न उत्तम वंश में जन्म हो गया तब तो कहना ही क्या। ऐसा सुयोग प्राप्त होने पर उत्तम सौदा करने से चूकना नहीं चाहिये। उत्तम सौदा उसे कहते हैं, बहुत ही साधारण मूल्य की वस्तु देकर सर्वोत्तम मूल्य वाली वस्तु को ले लेना। जैसे कांच के टुकड़े के बदले में बहुमूल्यमणि को प्राप्त कर लेना यदि वास्तविक रूप से देखा जाय, तो यह मानव शरीर पानी के बुलबुले के समान है, पता नहीं कब नष्ट हो जाय, इसकी नित्यता में किसी को विश्वास नहीं। विश्वास की बात भी नहीं यह अनित्य है ही। अनित्य होने के साथ ही असुखकर भी है। यह शरीर दुःख बहुल है, व्याधियों का घर है, मल का आयतन है। गर्भवास से लेकर मृत्यु पर्यन्त इसमें दुःख ही दुःख है। नाना प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ, भाँति-भाँति की मानसिक

आधियाँ नित्य ही आ आकर इसे जर्जरित बनाती रहती हैं। ऐसे अनित्य और असुखकर शरीर से नित्य और सुखकर मेरी भक्ति द्वारा मुझे प्राप्त कर ले, तो इससे बढ़कर लाभप्रद सौदा दूसरा कौन हो सकता है। जीवन क्षणभंगुर है आगे मनुष्य शरीर मिला या न मिला। ऐसे सुयोग को पाकर भी जो तनिक से द्रव्य के लिये असत्य बोलते रहते हैं, पर निंदा करते रहते हैं, दूसरों को ठगने की चेष्टा करते रहते हैं ऐसे पुरुषों से अभागी दूसरा कौन होगा। अतः परमलाभ प्रद सौदा यही है कि अनित्य और सुख हीन लोक-मनुष्य शरीर-को पाकर निरन्तर मुझे ही भजता रहे। मेरे ही भजन सुमिरन में तल्लीन रहे। यह सबसे श्रेष्ठ शिक्षा है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! आपने आरम्भ में कहा था मैं तुम्हें परम पवित्र परमोत्तम प्रत्यक्ष फल देने वाला, जिसका कभी नाश नहीं होता ऐसा राजविद्या राजगुह्ययोग बताऊँगा, सो वह राजगुह्ययोग कौन-सा है।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—अरे, अर्जुन! तू अभी समझा ही नहीं। तबसे मैं तुझे राजगुह्य राजविद्यायोग ही तो बता रहा हूँ। अनन्य भाव से मेरा भजन करना यही राजविद्या राजगुह्ययोग है। इसी को निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग, समर्पणयोग, अनन्ययोग, अथवा शरणागत योग कहते हैं। इस मानव शरीर को पाकर इस राजगुह्ययोग द्वारा इसे सुफल बना लो, यदि इस समय चूक गये तो यह कांचन जैसी देह निष्फल हो जायगी। यदि तुम आहार, निद्रा मैथुनादि लोक धर्मों में ही निरत रहे और भजन में चित्त न दिया, तो समझो तुम विजय के सन्निकट पहुँचकर भी बाजी को हार गये।

अर्जुन ने कहा—हाँ, भगवान्! तबसे आप अनन्य भक्ति पर,

भगवत् भजन पर ही अत्यन्त बल दे रहे थे, वह भजन कैसे किया जाय, राजविद्या राजगुह्ययोग का सारातिसार बता दीजिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जब तरि जावें वैश्य और शूद्रादिक नारी।
कहनो उनको कहा पुन्यकारी जो भारी॥
मेरी लेकें शरन विप्र अति पुन्यशील नर।
राज ऋषिनि में भये, भक्तकुल-कमल-दिवाकर॥
अरे, मनुज तनु पाइकें, जग भोगनि कूँ तुरत तजि।
सबहिं दिशनि में सब समय, सदा सर्वदा मोइ भजि॥

राजविद्या राजगुह्ययोग का रहस्य

[१७]

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥❀
(श्री भ० गी० ९ अ०, ३४ श्लो०)

छप्पय

मोई में मन राखि न इत उत चित्त डुलाओ ।
मेरोई बनि भक्त विषय में मन मति लाओ ॥
मेरोई करि भजन यज्ञ मेरो स्वरूप है ।
मोकूँ करो प्रणाम हमारो जगत रूप है ॥
मेरे ई बनि परायन, आत्मा मोमें युक्त करि ।
प्राप्त होहि मोकूँ अवसि, नित मेरो ई ध्यान धरि ॥

यह जीव अपने को भगवान् से भिन्न मानकर अपने मन को इधर-उधर दौड़ाता रहता है। यह प्राणी भगवान् का भक्त न बनकर धन का भक्त, लोभ का भक्त, वासनाओं का भक्त काम का भक्त, स्त्री का भक्त-संसारी लोगों का भक्त और न जानें

❀ तू मेरे मन वाला हो, मेरा ही भक्त बन, मेरा ही भजन पूजन कर। मुझे ही नमस्कार कर, इस प्रकार तू मत्परायण होकर मुझमें अपने को एकी भाव कर देगा, तो मुझे प्राप्त हो जायगा ॥३४॥

किन-किन अनात्म वस्तुओं का भक्त बना रहता है। भगवान् का पूजन न करके न जाने लोभ के वशीभूत होकर किन-किन क्षुद्र देवताओ का पूजन करता डोलता है। भगवान् को नमस्कार न करके लोभ तथा मोह के वशीभूत होकर किन-किन के पैर पूजता डोलता है। वास्तव में भगवान् पूजा के भूखे नही। उनकी पूजा के लिये विपुल धन, विपुल सामग्रियों की आवश्यकता नहीं। भगवान् तो भाव के भूखे है। जब पुरुष की सर्वत्र भगवत् भावना सुदृढ़ हो जाती है, उसे सबमें भगवान् दीखने लगते है, तभी उसे परम पद की प्राप्ति हो जाती है। जब तक मन में भेद भाव है, यह बड़ा है यह छोटा है यह राजा है यह रंक है, ऐसे भाव हृदय में अवस्थित हैं, तब तक भगवत् साक्षात्कार होना कठिन है। भगवान् तो सर्वगत हैं। भगवान् बृहती पूजा से उतने सन्तुष्ट नहीं होते, जितने सबमें ब्रह्म का दर्शन करने वाले से प्रसन्न होते हैं।

चोल देश के राजा बड़े धर्मात्मा थे। भगवान् की बड़े वैभव के साथ महती पूजा किया करते थे। उन्हीं के राज्य में विष्णु दास नाम के एक अकिंचन ब्राह्मण निवास करते थे। वे भगवान् की केवल तुलसी दल से चुल्लू भर जल से पूजा किया करते थे। उन्होंने अपने को सर्वात्मभाव से भगवान् को अर्पण कर रखा था।

एक दिन चोल राज ने भगवान् को बहुमूल्य मणिमुक्ताओं से अलंकृत किया। उसी समय विष्णुदास ने आकर भगवान् के श्रीविग्रह पर मंजरी सहित तुलसी दल अर्पण किये।

चोलराज ने कहा—विष्णुदास! भगवान् को मणिमुक्ताओं से कैसी दिव्य शोभा हो रही है, तुम तुलसी डाल-डालकर उनकी शोभा को क्यों बिगाड़ रहे हो?

विष्णुदास ने कहा—"राजन् ! भगवान् तो भाव के भूखे हैं। जिसने सब कुछ भगवान् को अर्पण कर रखा है, भगवान् उसी पर प्रसन्न होते हैं। जिसका सर्वत्र भगवत् भाव नहीं है, उसकी पूजा से भगवान् उतने सन्तुष्ट नहीं होते।"

चोलराज को अपने धन वैभव का अपना महती पूजा का—महान् कर्मकांड का कुछ अभिमान था, उन्होंने कहा—"तुम अकिंचन ब्राह्मण होकर मेरी पूजा से स्पर्धा रखते हो, देखना है पहिले तुम्हें भगवत् साक्षात्कार होता है, कि मुझे।"

इतना कहकर राजा ने भगवान् के दर्शनों के निमित्त बड़े भक्तिभाव से बहुत सा धन व्यय करके विष्णु याग प्रारम्भ किया। महर्षि मुद्गल उस विष्णुयाग के आचार्य बनाये गये, ताम्रपर्णी नदी के किनारे बड़े-बड़े वेदज्ञ ब्राह्मण विधि पूर्वक यज्ञ कराने लगे। राजा बड़ी भक्ति से भगवान् का यज्ञ द्वारा पूजन करते।

इधर विष्णुदास अनन्य भाव से वहीं अनन्त शयन तीर्थ में भगवान् की सन्निधि में निरन्तर भगवत् भक्ति में लीन रहने लगे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी, कि जब तक भगवान् के साक्षात् दर्शन न होंगे, तब तक अनन्त शयन क्षेत्र को न छोड़ूँगा। वे एक बार जो भी कुछ अयाचित वृत्ति से रूखा सूखा प्राप्त होता, उसी का प्रसाद बनाकर भगवान् को निवेदित करके भगवत् प्रसाद को पाते और निरन्तर भगवान के अनन्य चिंतन में निमग्न रहते।

एक दिन प्रसाद बनाकर ज्यों ही भीतर कुछ वस्तु लेने गये त्योंही कोई आकर उनकी बनी बनायी रसोई को उठा ले गया। अब दुबारा कौन झंझट करे। भगवान् को तुलसीदल अर्पण करके भजन में निमग्न हो गये। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ

लगातार सात दिनों तक ऐसा ही हुआ। कौन चोरी कर ले जाता है, उन्हें कुछ पता ही नहीं चलता था। तनिक आँखें बन्द हुईं कि रसोई का पता नहीं चलता। बिना भगवान् को भोग लगाये वे कुछ खाते नहीं थे। दुबारा बनाने में समय लगता। भजन में विघ्न होता, अतः वे सात दिनों तक बिना खाये निराहार रहकर भजन करते रहे।

सातवें दिन उन्हें बड़ा कौतूहल हुआ, बना बनाई रसोई को उठा कौन ले जाता है। आज वे अत्यन्त ही सावधान रहे, चित्त को तनिक भी इधर-उधर न जाने दिया। रसोई बनाकर छिपकर वे देखते रहे कौन इसे उठा ले जाता है। उसी समय वे क्या देखते हैं, कि एक क्षीणकाय काला कलूटा चांडाल आया और बनी बनाई रोटियों को लेकर भाग चला। विष्णुदास घृत का बर्तन लिये हुए उनके पीछे-पीछे दौड़े और कहते जाते थे—"प्रभो! रूखी कैसे खाओगे तनिक घृत से चुपड़ने तो दो।" यह कह कर वे चांडाल का पीछा करने लगे। कुछ दूर जाकर चांडाल मूर्छित होकर गिर पड़ा। विष्णुदास अपने वस्त्र से उनकी वायु करने लगे।

कुछ देर के अनन्तर ब्राह्मण क्या देखते हैं चांडाल तो वहाँ नहीं है उसके स्थान में शंख चक्रधारी भगवान् विष्णु वहाँ हंसते हुए वरदमुद्रा में खड़े हैं और विष्णुदास से वर माँगने को कह रहे हैं।"

प्रेम में विह्वल हुए विष्णुदास भगवान् के चरणों में मूर्छित हुए पड़े थे। भगवान् ने उन्हें अपना स्वरूप प्रदान किया और दिव्य विमान में बिठाकर अपने वैकुण्ठलोक को ले गये।

इधर चोलराज का भी यज्ञ पूर्ण होने को आ गया था, उन्होंने दिव्यविमान में विष्णुदास को वैकुंठ जाते हुए देख लिया

था। अतः उन्होंने आचार्य से कहा—महर्षि ! यज्ञ समाप्त करो। मैंने सर्वसमर्पण नहीं किया. यह कह कर वे यज्ञकुंड में कूद पड़े। तुरन्त भगवान् प्रकट हो गये। विष्णुदास पुण्यशील और चोल-राज सुशील नाम के भगवान् विष्णु के नित्य पार्षद बन गये।

इस कथा से यही सिद्ध हुआ कि भगवान् सर्वसमर्पण चाहते हैं और सबमें भगवत् दृष्टि चाहते हैं। जो भगवान् को सर्वस्व-समर्पण नहीं करता और जिसकी विषम दृष्टि है उसे भगवत् साक्षात्कार नहीं होता। अपने मन को जब तक सर्वात्मभाव से भगवान् मे मिला न दोगे तब तक भगवत् साक्षात्कार कैसे होगा। एक अत्यन्त ही परपुरुष में आसक्ता कामिनी थी। वह काम से अत्यन्त संतप्त होकर शरीर की सुधि-बुधि खोये अँधेरी रात्रि में अपने जारपति से मिलने जा रही थी। मार्ग में एक महात्मा भजन कर रहे थे। उनके ऊपर पैर रखकर वह चली गयी। महात्मा को बड़ा क्रोध आया उसके दो डंडे मार दिये। वह उन्मादावस्था में चली ही गयी। जब वह अपने जारपति मे मिलकर उसी मार्ग से फिर लौटी तो महात्मा ने कहा—तू बड़ी दुष्टा है, मेरे शरीर पर पैर रखकर चली गयी थी ?"

उसने विनीत भाव से कहा—"महात्मन् ! मुझे पता नहीं मैने कब आपके शरीर पर पैर रखे ?"

महात्मा ने कहा—"क्यों झूठ बोलती है, मै भजन में मग्न था, तू पगली सी जा रही थी तेरे पैर मेरे शरीर पर पड़े। मैंने तुझमें दो डडे भी मारे थे।"

तब उसने कहा—"स्वामीजी ! मैं शपथ खाती हूँ, मुझे कुछ भी पता नहीं। मेरा मन तो मेरे जारपति में निमग्न था, किन्तु आप कैसा भजन कर रहे थे, भजन करते हुए भी आपका मन सब धुना-बुनी कर रहा था। आप से तो मेरा ही भजन उत्तम

रहा जो मार खाने पर भी मुझे पता न चला। आप तन्म
होकर भजन किया कीजिये।"

भजन करने वाले का मन जब तक जिसका भजन किय
जाता है, उसके मन में मिले नही, तन्मय न हो, तब तक व
भजन नहीं कहलाता। जिसका भजन करे उसी का भक्त बने
इसका यह अर्थ नही कि दूसरों से द्वेष करे, भाव यह है, कि
सबमें अपने इष्ट के ही दर्शन करे। एक महात्मा थे, उनका शिष्य
दूसरे स्थान पर रहता था, वह नित्य अपने गुरु को भोजन ले
जाता था। एक दिन भोजन लेकर वह अपने गुरुजी के यहाँ जा
रहा था। मार्ग में एक कुष्टी मिला। उसने कहा, "मुझे भोजन
करा दो।"

शिष्य ने तुरन्त बड़ी श्रद्धा से उसे सभी भोजन करा दिया।
जब वह सन्तुष्ट होकर चला गया, तो वह गुरुजी के समीप गया।
गुरुजी ने पूछा—"क्यों आज भोजन नही लाये ?"

शिष्य ने कहा—"महाराज, लाता कैसे आप तो वहीं पहुँच
गये थे, अभी तो मैंने आपको भोजन कराया था।"

उसकी ऐसी निष्ठा देखकर समर्थ सद्गुरु बड़े प्रसन्न हुए और
बोले—"वास्तव में मैं ही कुष्ठी के रूप से तुम्हारी परीक्षा करने
गया था, कि तुम्हारी भक्ति मुझमें एकाङ्गी तो नही है। तुम
सबमें मेरे ही रूप का दर्शन करते हो या नही।"

वास्तव में भक्त संसार भर में केवल अपने को ही सेवक,
शेष सभी चर अचर को अपने भगवान् का ही रूप समझता
है। इसलिये तन्मनस्क होने के साथ भक्त भी होना चाहिये।
और भगवान् को ही नमस्कार करनी चाहिये। भगवान् को
ही नमस्कार करने का अर्थ है, कि हाड़ चाम के बने शरीर
को नमस्कार न करे शरीर के भीतर जो आत्मरूप में भगवान् बैठे

हैं, उन्हें ही लक्ष्य करके सभी को श्रद्धा से नमस्कार करे। जब पार्वतीजी ने भगवान् शंकर से कहा—कि "आप मेरे पिताजी दक्षजी को उठकर नमस्कार ही कर लेते तो आपका क्या बिगड़ जाता ?" इस पर भगवान् शंकर ने कहा—"देवि ! बड़े लोगों के आने पर खड़े होकर नम्रता पूर्वक उनके सम्मुख आ जाना, विनीत बन जाना, प्रणाम करना आदि क्रियायें जो लोक के व्यवहार में परस्पर की जाती है, उनको सज्जन लोग सुन्दर ढंग से करते है अर्थात् वे सभी का आदर सत्कार करते हैं। वह आदर अन्तर्यामी रूप से सबके अन्तःकरणों में स्थित परमपुरुष वासुदेव को प्रणामादि करते हैं, देहाभिमानी पुरुष को वह प्रणामादि नहीं की जाती। विशुद्ध अन्तःकरण का ही नाम वसुदेव है, क्योंकि उसी में भगवान् वासुदेव का अपरोक्ष अनुभव होता है। उस शुद्धचित्त में स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेव को ही मैं नमस्कार किया करता हूँ।"

बात यह है, कि भगवान् वासुदेव तो सभी के अन्तःकरण में बसते हैं, अतः भगवत् बुद्धि से सबको नमस्कार करना चाहिये। उसमें भेदभाव न करे। कुत्ता, चांडाल, गौ, गदहा सभी में भगवान् को समझकर पहिले तो अभ्यास के लिये प्रत्यक्ष साष्टांग करे। जब अभ्यास हो जाय, सबमें भगवत् भावना होने लगे तब केवल मन से ही इन्हें प्रणाम कर ले। साधु वैष्णवों को ही भगवत् स्वरूप समझकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

जब दो वैष्णव परस्पर में मिलते हैं और एक दूसरे को प्रणाम करते हैं, तो वे शरीर को प्रणाम नहीं करते सर्वान्तर्यामी भगवान् को ही प्रणाम करते हैं।

एक वैष्णव इधर से आ रहा है, दूसरा उधर से आ रहा है, दोनों ने ही परस्पर एक दूसरे को साष्टाङ्ग प्रणाम किया तो

दोनों के बीच में आकर भगवान् खड़े हो जाते हैं, दोनों के प्रणामों को वही नन्द नन्दन भगवान् वासुदेव स्वीकार कर लेते है।

एक वैष्णव थे, उन्होंने दूसरे वैष्णव को अपने मन्दिर का द्वार अपने मन्दिर के सम्मुख नहीं बनाने दिया। सर्वोच्च न्यायालय में अभियोग चला। जो द्वार बनाना चाहते थे, उनकी पराजय हो गयी, जो द्वार बनाने को मना करते थे, उनकी विजय हो गयी।

एक दिन मना करने वाले महात्मा भिक्षा करने जा रहे थे, मार्ग में उन्हें एक वृद्ध वेषधारी वैष्णव मिले। इनका स्वभाव था, जिस वैष्णव को भी देखते उसी को प्रणाम करते थे। उन वृद्ध वैष्णव को भी उन्होंने प्रणाम किया।

वृद्ध वैष्णवों ने क्रोध में भरकर कहा—"बनता है वैष्णव और दूसरे वैष्णवों का अपमान करता है।" इतना कहकर वे वृद्ध शीघ्रता के साथ वहाँ से चले गये।

इन वैष्णव ने सोचा—"मैंने किस वैष्णव का अपमान किया है, भूल में किस वैष्णव का अपराध मुझसे बन गया है।" सोचते-सोचते उन्हें स्मरण हो आया। अमुक श्रेष्ठी वैष्णव का मुझसे अपराध बन गया है। वह भी भगवान् का मन्दिर ही तो बनवा रहे थे, मैंने अभिमान में भरकर उसे रोक दिया। इसका प्रायश्चित यही है, कि उनके घर जाकर उन्हें साष्टांग प्रणाम करूँ, दीन बनकर उनके घर से टुकड़े की भिक्षा मागूँ।" ऐसा निश्चय करके वे उन वैष्णव के घर की ओर चले। किसी वृद्ध वैष्णव ने जाकर उन श्रेष्ठी वैष्णव से कह दिया—"सेठजी! आपके घर अमुक वैष्णव भिक्षा माँगने आ रहे है।"

यह सुनकर श्रेष्ठी वैष्णव का प्रसन्नता का ठिकाना नहीं

रहा। वे दौड़े-दौड़े अपनी पत्नी के समीप गये और बोले—'सुनती है, आज हमारे भाग खुल गये, अमुक महात्मा हमारे यहाँ भिक्षा माँगने आ रहे है, ऐसे माँगने वाले सुयोग पात्र कहाँ मिलेंगे तेरे पास जो कुछ हो, सब उन्हें भिक्षा में दे दे।"

वैष्णव पत्नी ने अपने हीरा, मोती, सुवर्ण चाँदी के आभूषण, सुवर्ण मुद्रायें, सुवर्ण के थालों में सजाकर सेवकों के हाथों में थालों को रख दिया और पति पत्नी हाथ जोड़े द्वार पर आकर खडे हो गये।

उन वैष्णव ने जब दूर से देखा—श्रेष्ठी दम्पति हाथ जोड़े द्वार पर स्वागत के लिये खडे हैं, तो उन्होंने दूर से ही भूमि में लोटकर वैष्णव दम्पति को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। विरक्त वैष्णव को साष्टाङ्ग करते देखकर श्रेष्ठी वैष्णव रोते-रोते दौड़े और कहने लगे—प्रभो! मुझ दीन हीन गृहस्थी पर ऐसा पाप क्यों चढ़ा रहे हैं। मुझ अकिञ्चन को नरक में न ढकेलिये। यह कहते-कहते इन्होंने भी भूमि में लोटकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। इसी समय न जाने कहाँ से वे ही वृद्ध वैष्णव इन दोनों के बीच में आकर खड़े हो गये और दोनों की ओर दोनों भुजा उठाकर बोले—"बस, भाई हो गया हो गया। दोनों का प्रायश्चित हो गया।"

दोनों वैष्णवों ने नमस्कार तो परस्पर में किया, किन्तु उसे स्वीकार सर्वान्तर्यामी भगवान् ने किया। अतः जिसको भी नमस्कार करे भगवत् बुद्धि से करे मानों मैं भगवान् को ही नमस्कार कर रहा हूँ।

सूतजी कहदे हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने राजविद्या राजगुह्य योग का सारातिसार के सम्बन्ध में प्रश्न करके यह पूछा कि भजन कैसे करना चाहिये, तो इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन!

भजन की सर्व श्रेष्ठ प्रक्रिया यही है, कि अपने मन को मेरे मन में मिला दो। और मेरे भक्त बन जाओ।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! माता, पिता, आचार्य, अतिथि सभी में तो मन लगाना पड़ता है, सभी को तो भक्ति करनी पड़ती है, सर्वात्म भाव से आप में ही मन लगावें आपके ही भक्त बनें यह कैसे हो सकता?

भगवान् ने कहा—माता, पिता, आचार्य अतिथि तथा प्राणी मात्र में मेरे ही सम्बन्ध से भक्ति करो, मेरे ही सम्बन्ध से उनसे सम्बन्ध रखो। जैसे पतिव्रता स्त्री है, वह सेवा तो सास, ससुर, जेष्ठ, देवर सभी की करती है, किन्तु पत्नी केवल पति की ही कहाती है, पति के सम्बन्ध से ही अन्य सम्बन्धियों की सेवा करती है। ऐसे ही मन से मुझे ही सबमें देखो, मेरे ही भक्त बनो। सास ससुर की सेवा करने पर भी कहलावेगी तो वह पति की ही अर्धाङ्गिनी। तुम जो भी दान धर्म, हवन पूजन करो, सब मेरे ही निमित्त करो, नमस्कार करना हो तो मेरे ही निमित्त, मुझको ही सबके अन्तःकरण में व्याप्त समझ कर करो।

अर्जुन ने कहा—इससे क्या होगा?

भगवान् ने कहा—होगा क्या? इस प्रकार जब तुम मेरी ही शरण में आ जाओगे, अन्य किसी की शरण न जाकर मेरे में ही अपने चित्त को लगाकर मत्परायण हो जाओगे, तो मुझे ही प्राप्त कर लोगे। इस असार संसार से सदा सर्वदा के लिये पार हो जाओगे।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! आपने अपने को समस्त चराचर में व्याप्त बताया है, और कहीं-कहीं बीच-बीच में अपनी विभूतियों का भी उल्लेख किया है, तो सब रूपों में आपका ध्यान कैसे करें।

भगवान् ने कहा—मैं आरम्भ से बार-बार अपने प्रभाव का अपनी विशिष्ट विभूतियों का वर्णन करता आ रहा हूँ, अब यदि तुम उनका विस्तार से ही वर्णन सुनाना चाहते हो, तो तुम्हारी भक्ति के कारण फिर भी मै उन्हें विस्तार से कहूँगा।"

सूतजी कहते है—मुनियो ! जब अर्जुन ने भगवान् के सम्बन्ध में विशेष रूप से जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा की तो भगवान् ने जैसे अर्जुन को बिना ही प्रश्न के अपने प्रभाव को जताया, उसका वर्णन मै आगे-अगले अध्याय में-करूँगा। आप सब दत्तचित्त मे सावधानी के सहित श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

करें नृपति की भक्ति राजसेवक कहलावें।
करें भरन तन करम किन्तु चित्त उतहि लगावें॥
सती सबनि की करै प्रेम तैं सेवा सब ई।
परि चित पति में रखै, करै तन अरपन उत ई॥
सबहिँ समुझि प्रभु-दत्त ही, सब ई को आदर करै।
परि मन, वच अरु करम सब, अरपि प्रभुहि भव जल तरै॥

ॐ तत्सत् : इस प्रकार श्री मद्भगवत् गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप मे हैं, उसमे "राजविद्या राजगुह्ययोग" नामका नवां अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

अथ

दशमोऽध्यायः

(१०)

भगवान् ही सब की उत्पत्ति के आदि कारण है

[१]

श्री भगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणुमे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

बोले श्रीभगवान—और हू बात बताऊँ ॥
फिरि हू अपनो परम रहसमय बचन सुनाऊँ ॥
अति प्रभावयुत है मेरो उपदेश निरालो ।
महाबाहु ! सुनि लेउ रुचे तो वाकूँ पालो ॥
तू मेरो प्रिय भक्त है, ताही तें तोतें कहूँ ।
भक्तवछल मोतें कहत, हौं भक्तनि के वश रहूँ ॥

---

* श्रीभगवान् ने कहा—हे महाबाहो ! तू मेरे श्रेष्ठ वचन को सुन । मैं फिर से तेरे प्रति कहता हूँ । तू मुझसे अत्यंत प्रेम रखता है, अतः तेरे हित की इच्छा से तेरे प्रति कहता हूँ ॥१॥

अर्जुन की सर्वप्रथम भेंट श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् से द्रौपदी के स्वयंवर में कुम्हार के घर में हुई। वहाँ भगवान् ने धर्मराज युधिष्ठिर के पैर छूते हुए उन्हें अपना परिचय दिया—"मैं वसुदेव का पुत्र वासुदेव हूँ।" यह कहकर भीम को भी प्रणाम किया और अर्जुन को बराबर का समझकर छाती से चिपटा लिया। अर्जुन ने उसी समय अनुभव किया ये ही मेरे सच्चे सुहृद हैं। एक तो सोना और फिर उसमें सुगन्ध। एक तो मेरे मामा के पुत्र सगे सम्बन्धी फिर सच्चे सुहृद्। स्नेह बढ़ता गया, बढ़ता गया बढ़ता ही गया। यहाँ तक एक हो गये विहार, शैया, आसन भोजन वस्त्र में कोई भेदभाव ही नहीं रहा।

महाभारत का समय आया, बलरामजी दुर्योधन से आन्तरिक स्नेह करते थे, वे उसकी ओर से लड़ना भी चाहते थे, किन्तु श्रीकृष्ण और पांडवों के अत्यन्त स्नेह को देखकर वे किसी ओर न हुए तटस्थ होकर तीर्थयात्रा को निकल पड़े। बड़ा भाई तटस्थ हो गया, तो श्रीकृष्ण ने भी लड़ना उचित नहीं समझा। भाई लड़ते भी तो भी ये लड़ाई नहीं करते। क्योंकि ये कर्ता नहीं सम्पूर्ण भूतों के साक्षी मात्र हैं। अर्जुन से कहा—"मैं लड़ूँगा नहीं, तुम्हें सम्मति दूँगा।"

अर्जुन ने कहा—"लड़ना मत मेरा रथ तो हाँक दोगे, तुम सारथ्य विद्या में सर्वश्रेष्ठ हो?"

भगवान् तनिक भी हिचके नहीं, कि सारथी का काम हलका है। वर्णसंकर सूतों की वृत्ति है, मित्रता में छुटाई बड़ाई का ध्यान

मेरी उत्पत्ति को न तो देवता ही जानते हैं और न महर्षि ही। क्योंकि देवताओं और महर्षियों का मैं ही तो सब प्रकार से आदि कारण हूँ। (इनकी उत्पत्ति मेरे से ही हुई है) ॥२॥

नहीं रखा जाता। श्रीकृष्ण इस निम्न कार्य को करने सहर्ष तैयार हो गये। युद्धारम्भ हुआ। दोनों सेनायें आमने सामने आ डटी। रथी जैसे सारथी को आज्ञा देता है वैसे ही अर्जुन ने अपने सगे सम्बन्धी सुहृद् सखा सारथी श्रीकृष्ण से कहा—हे अच्युत! दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ खड़ा कर दीजिये।

(१ अ० २१ श्लोक)

आज्ञाकारी सारथी ने अपने श्रेष्ठ रथी की आज्ञा का पालन किया। लड़ने के लिये समस्त सगे सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन को मोह हुआ। युद्ध करने से स्पष्ट शब्दों में उससे मना-कर दिया। अब सारथी ने अपने बूआ के पुत्र पर अपना अधिकार जमाकर उसे युद्ध करने के लिये समझाया लौकिक युक्तियाँ दीं। अर्जुन तो पंडित था उसने शास्त्रीय युक्तियाँ देकर अपने कथन का समर्थन किया, किन्तु श्रीकृष्ण उससे भी बड़े पंडित थे, अतः उन्होंने परम मीठे शब्दों में अपनापन दिखाते हुए कुछ मीठी चुटकी लेते हुए कुछ खिल्लियाँ उड़ाते हुए उसके समस्त तर्कों का शास्त्रीय ढङ्ग से समुचित उत्तर दिया।

अब अर्जुन को अपने मामा के पुत्र का अपने सच्चे सखा की बुद्धि का लोहा मानना पड़ा। अब उसका सख्य समाप्त हुआ। श्रीकृष्ण में आदर बुद्धि हुई। अपनी हठ में ढिलाई आई और उनमें सखा भाव न रहकर गुरुभाव हो गया। उसने कहा—मुझे तो मोह सा हो गया है अब आप मुझे एक निश्चित बात बता दो। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ, आप मेरे गुरु हो, मैं आपका शिष्य हूँ। (२ अ० ७ श्लोक)।

ये गुरु भी सच्चे ही गुरु निकले ये अर्जुन के ही गुरु नहीं थे जगत् गुरु थे। अतः इन्होंने जैसे पहिले अर्जुन का सखा, साला, सारथी तथा संगी बनने से मना नहीं किया वैसा ही गुरु बनने से

भी पीछे नहीं हटे। गुरु के आसन पर आसीन होकर अपने भूले भटके शिष्य को शास्त्रीय ढङ्ग से उपदेश करने लगे। आत्मा की अमरता बताई, शरीरों की अनित्यता समझाई। ज्ञानयोग का रहस्य बताया, कर्म का महत्व समझाया।

कोई निर्णय स्वयं न देकर दोनों पक्ष अर्जुन के सम्मुख प्रस्तुत कर दिये। तीसरे अध्याय के अन्त तक गुरु शिष्य सम्वाद है। पहिले, दूसरे और तीसरे अध्यायों में भगवान् ने भूलकर भी अपनी भगवत्ता का उल्लेख नहो किया। तीसरे अध्याय के अन्त में जो एक गुरु अपने शिष्य को जैसे आज्ञा देता है वैसे स्पष्ट कह दिया—हे महाबाहो! आत्मा को बुद्धि से परे जानकर, मन का संयम करके सुनिश्चित बुद्धि से इस दुर्जय कामरूप शत्रु को मार डालो। (३ अ० ४३ श्लो०)।

अब चौथे अध्याय में कृपा के सागर, करुणा के निधान भगवान् ने स्वयं ही अपने स्वरूप को बताया। जब तक भगवान् स्वयं न बतावेंगे, तब तक अल्पज्ञ जीव समझ ही कैसे सकता है। सर्वप्रथम अपने को भगवान् बताकर अहं शब्द का प्रयोग चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में ही किया है। यह जो ज्ञान और कर्म से विलक्षण तीसरा भक्तियोग है इसका उपदेश मैंने बहुत पहिले सूर्य को किया था। (४ अ० १ श्लो०)।

इतना सुनते ही अर्जुन चौंक पड़ा—"अरे, महाराज! कहाँ की बात कह रहे हो? सूर्य कब हुए और आप कब हुए। कैसी आश्चर्य जनक बातें कह रहे हो?"

भगवान् को तो अपने सच्चे भक्त के सम्मुख अपनी भगवत्ता प्रकट करनी ही थी, अतः बोले—अर्जुन! सच्ची बात बताऊँ। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बनाने वाला मैं ही हूँ, सब कुछ करते हुए भी मैं कर्मों में बंधता नहीं। जो मेरे इस स्वरूप को जान लेता

है, वह भी कर्म करता हुआ बँधता नहीं है (४ अ० १३, १४ श्लो०) अर्जुन की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उसने सोचा जिन्हें मैं सुहृद, सखा, सम्बन्धी सारथी तथा गुरु समझता था, वे तो सर्वेश्वर निकले। अब तो मेरे समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जायंगे उसने कहा—"प्रभो! यह मोह कैसे दूर हो?" भगवान् बोले तुम जब समस्त भूतों को अपने में तथा मुझमें भी समान रूप से देखोगे, तब तुम्हें यह मोह होगा ही नहीं (४ अ० ३५ श्लो०) तब भगवान् ने अध्यात्म तत्त्व का बहुत ही सजीव उपदेश देते हुए अन्त में कह दिया। देखो, यज्ञ और समस्त तपों का भोक्ता मैं ही हूँ, समस्त लोकों का महेश्वर भी मैं ही हूँ और सम्पूर्ण चराचर प्राणियों का सच्चा सुहृद भी मैं ही हूँ। जो मेरे ऐसे सच्चे स्वरूप को जान लेता है, उसे ही परम शांति की प्राप्ति होती है। (५ अ० २९ श्लो०) यहाँ भगवान् अधिक खुल पड़े। अब तो भगवान् स्पष्ट रूप से निष्काम कर्म-योग की शिक्षा देने लगे। अब अहं का प्रयोग वे अधिक करने लगे। बोले—देखो, जो मुझ ईश्वर को सर्वत्र देखता है और सबको मुझ ईश्वर में देखता है उसके लिये मैं कभी नाश नहीं होता और मेरे लिये उसका नाश नहीं होता। जो मुझे एकत्वभाव से भजता है, वह योगी मुझमें ही वर्तता है। अतः सबसे बड़ा योगी वही है जिसका चित्त मुझमे ही लगा रहता है। (६ अ० ३०, ३१ ४७)।

सातवें अध्याय में तो भगवान् पूरे खुल गये हैं अहंकी झड़िया लगा दी हैं। अपने आप आरम्भ मे ही, मुझे कैसे जानोगे लो तुम्हें बताता हूँ, ऐसा ज्ञान विज्ञान बताऊँगा कि तुम भी याद करोगे, जिसे जानकर फिर कुछ जानने को रह ही न जायगा। कोई विरला ही मुझे तत्वतः जानता है जलों में रस, सूर्य चन्द्र में

प्रभा, वेदों में प्रणव आकाश में शब्द पुरुषों में पुरुषत्व, पृथ्वी में गन्ध, अग्नि में तेज, जीवों में जीवन, तपस्वियों में तप, समस्त भूतों में आदि बीज धीमानों में धी, तेजस्वियों में तेज, बलवानों में बल, धर्माविरुद्ध काम हूँ कहाँ तक बताऊँ समस्त त्रिगुणभाव मुझसे ही होते हैं। दुरत्ययमाया मेरी शरण में ही आने से छूट सकती है, मूढ़ मुझे पा नहीं सकते, चतुर्विध सुकृतिगण मुझे ही भजते हैं। ज्ञानी मेरी आत्मा है, सबमें मुझ वासुदेव को देखने वाला महात्मा दुर्लभ है, जो जैसी श्रद्धा करता है, उसी में मैं उसकी श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ। सब कामनाओं को मुझसे ही प्राप्त करते हैं, योगमाया में छिपा रहने से मैं सबको दिखायी नहीं देता। मैं सबको जानता हूँ मुझे कोई नहीं जानता, दृढ़व्रती सुकृति ही मेरा भजन करते हैं, मेरा आश्रय लेने वाले मुझे जानते हैं, एकाग्रचित्त वाले मरणकाल में भी मुझे जान लेते हैं। (७ अ० १, २, ३, ८, १०, ११, १२, १४, १५, १६, १८, १९, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २८, २९, ३०)।

इस प्रकार सातवें अध्याय में भगवान् पूर्ण रूप से खुले हैं। अष्टम अध्याय में जब अर्जुन ने ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव अधियज्ञ आदि के प्रश्न किये तब भगवान् ने निर्भय होकर स्पष्ट कहा इस देह में मैं ही अधियज्ञ हूँ, जो अन्तकाल में मेरा स्मरण करके मरेगा वह मुझे ही प्राप्त होगा। इसलिये मेरा सर्वदा स्मरण करते रहो और युद्ध भी करते रहो। मुझे प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं होता। और सब लौटने वाले हैं मुझे प्राप्त करने वाला नहीं लौटता। मेरे धाम से कोई लौटता नहीं। इस प्रकार भगवान् ने अपना नाम, गाँव, धाम, काम, विश्राम आदि सभी का पूरा परिचय करा दिया।

अब क्या बात है अब तो भगवान् अपने भक्तों के ऊपर दुर

हो गये। नवम में तो अपना हृदय ही निकाल कर रख दिया। गुह्यातिगुह्यतम रहस्य बता दिया। भक्ति का सार समझा दिया। अर्जुन, विचारो प्रकृति क्या बना सकती है। उसका अध्यक्ष पति तो मैं ही हूँ। मूर्ख लोग मुझ मानुष तन धारी महेश्वर का अनादर करते हैं। वे मूर्ख भले ही बकते रहें। महात्मा लोग तो मेरा भजन करते ही हैं। वे मुझे नमस्कार करते हैं, मेरा कीर्तन करते हैं। मैं ही क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषधि, मन्त्र, घृत, अग्नि सामग्री हूँ मैं ही जगत का पिता, पितामह, धाता, वेद, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, शरण, निवास, सुहृद, अव्यय बीज सब कुछ हूँ। मैं वर्षा करता हूँ, अमृत, मृत्यु सब मैं ही हूँ। भक्तों का योग क्षेम मैं वहन करता हूँ, किसी का भजन करो मुझे ही प्राप्त होगा। मैं ही सब यज्ञों का स्वामी तथा भोक्ता हूँ। मेरे पूजक मुझे ही प्राप्त करते हैं, मुझे श्रद्धा से जो भी कुछ भक्त देता है उसे खा लेता हूँ, तुम सब कुछ मेरे अर्पण करो। मुझे सर्वस्व अर्पण करके जीवन्मुक्त बन जाओगे। भक्ति से भजन करने वाले मेरे हैं, मैं उनका हूँ। कैसा भी पुरुष मेरा अनन्य भजन करे वह पवित्र ही है इसलिये मेरे मन वाले हो, मेरे भक्त बन जाओ, यज्ञ मेरे लिये करो नमस्कार मुझे ही करो।

(१० अ० १० से ३४ श्लोक)

इस प्रकार जब अर्जुन पर अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् ने अहं-अहं की झड़ी लगा दी। सभी को अपनी विभूति बता दी। अब अर्जुन को सहज ही जिज्ञासा हुई। संसार में तो बहुत सी वस्तुएँ हैं। भगवान् अन्तर्यामी रूप से तो सब में रहते हैं, किन्तु वे विशेष रूप से अपनी किन-किन विशिष्ट विभूतियों में रहते हैं। अर्जुन पूछना ही चाहते थे, किन्तु दया के सागर श्याम सुन्दर ने तो आज अपनी कृपा का द्वार खोल ही दिया है,

वे अर्जुन पर इतने दयालु हो गये हैं, अपने ज्ञान के प्रति उनका इतना अनुराग है, कि उसकी प्रशंसा करते-करते थकते ही नहीं। गुह्यातिगुह्य राजविद्या राजगुह्य योग का उपदेश करके वे रुके नहीं। अर्जुन को प्रश्न करने का अवसर ही नहीं दिया। वे अर्जुन से कहते ही चले गये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के मन में भगवान् के प्रभाव को जानने की जब विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो, भगवान् अर्जुन के बिना ही पूछे कहते चले गये। भगवान् बोले—"अर्जुन! तुम्हारी तृप्ति हुई? और भी मेरे वचनों को सुनना चाहते हो क्या?"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! ऐसा कौन अभागा होगा, जो आपके वचनों को न सुनना चाहेगा।"

भगवान् ने कहा—अर्जुन तुम्हारी भुजायें बड़ी-बड़ी हैं, विशाल हैं, आजानुलम्बित हैं अतः हे महाबाहो! मैं बार-बार पीछे अपना प्रभाव बता आया हूँ, फिर भी और भी तुम मेरा यह श्रेष्ठ वचन सुनो।

अर्जुन ने विनीति भाव से कहा—स्वामिन्! इस अकिञ्चन दास पर आपकी इतनी अजस्र अनुकम्पा किस कारण से है?

भगवान् ने कहा—भैया, अर्जुन! तुम मुझसे स्नेह रखते हो, तुम मेरे प्रति प्रीति युक्त बने हुए हो। अतः स्नेह के वशीभूत होकर ही मैं तुमसे पुनः-पुनः कहता हूँ, जो अपने स्नेह भाजन हैं, दया के पात्र हैं। उनकी हित कामना होना स्वभाविक है। अतः तुम्हारे हित के निमित्त इसलिये कह रहा हूँ, कि तुम्हारा कल्याण हो, मंगल हो।

अर्जुन ने कहा कैसा है आपका प्रभाव दीनबन्धो!

भगवान् ने कहा—"तुम मेरे प्रभाव के सम्बन्ध में क्या पूछते

हो। बड़े-बड़े महर्षि गण भी, बड़े-बड़े देवता गण भी मेरे यथार्थ प्रभाव को नहीं जानते।"

अर्जुन ने पूछा—महर्षि तो त्रिकालज्ञ होते हैं, देवता तो सर्वज्ञ होते हैं, वे आपके प्रभाव को क्यों नहीं जानते ?"

भगवान् ने कहा—कैसे भी सर्वज्ञ हों, कैसे भी त्रिकालज्ञ हों, मेरे यथार्थ प्रभाव से तो वे भी अनभिज्ञ ही हैं। क्योंकि सभी प्रकार से मैं ही समस्त देवताओं का सभी महर्षियों का आदि कारण हूँ। ये सब मुझसे पीछे ही उत्पन्न हुए हैं। तब तुम्हीं बताओ। नानी के विवाह का बात धेवतो कैसे जान सकती है ?

अर्जुन ने कहा—जब आपके प्रभाव को जाने बिना अज्ञान अन्धकार दूर नहीं हो सकता, तो कोई भी तो आपके प्रभाव को जानता होगा ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इसका जो उत्तर भगवान् देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मम प्रभाव कूँ नहीं आज तक जानत कोई।
प्रकटित कैसे होहुँ रहस जानत नहिँ सोई॥
अजर अमर सुर होहिँ प्रभाव मेरो नहिँ जानें।
ऋषि महर्षि सरवज्ञ न जानें कबि यह मानें॥
जानें कैसें ये सबहिँ, सुर महर्षि मेरो मरम।
हौं महर्षि अरु सुरनि को, कह्यो आदिकारन परम॥

प्राणियों के विभिन्न भाव भगवान् से ही होते हैं

[२]

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढ़ः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ३, ४, ५, श्लोक)

छप्पय

जनम रहित अज मोइ अजनमा जो करि मानें ।
कारन सबको आदि ज्ञान तैं जो पहिचानें ॥
भूत चराचर माहिँ एकई हौं महान हौं ।
सब लोकनि को ईश सर्वगत ज्ञानवान हौं ॥
जो यह जानत तत्त्व तैं, वही जथारथ तत्त्ववित ।
सब पापनि तैं मुक्त है, पाइ परम पद सो तुरत ॥

---

*जो मुझ अज अनादि लोक महेश्वर को भली भाँति जानता है, वह सब प्राणियों में ज्ञानवान् है, वह सभी पापों से छूट जाता है ॥३॥

जीव भगवान् को भूलकर ही पापकर्मों में प्रवृत्त होता है। हम लोग जो अपने को आस्तिक-ईश्वर को मानने वाला-कहते हैं, वे ईश्वर को या तो हृदय से मानते ही नहीं। यदि मानते भी है तो एकदेशीय। ईश्वर मन्दिर में बैठा है, या क्षीरसागर में शयन कर रहा है, या अमुक तीर्थ स्थान पर है। यदि हम उन्हें समस्त लोक का एकमात्र सबसे श्रेष्ठ ईश्वर, प्रभु, स्वामी मान लें। तो फिर पापकर्मों में हमारी प्रवृत्ति ही न हो, हमारा संसार के प्रति सम्मोह हो गया है। यह घर मेरा है, यह बाग, बगीचा, वापी, कूप तड़ाग मेरे हैं यह स्त्री, बच्चे, सगे सम्बन्धी परिवार वाले मेरे हैं। इस सम्मोह के कारण ही हम पापकर्मों में प्रवृत्त होते हैं। सबसे पहिले तो यह दृढ़ धारणा हो जाय कि जगत् के एकमात्र आदि कारण भगवान् ही हैं, दूसरी यह धारणा स्थिर हो जाय, कि भगवान् साधारण जीवों की भांति जन्म नहीं लेते। वे जन्म मरण आदि विकारों से रहित हैं और तीसरी धारणा यह हो जाय, कि वे सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा तथा सर्वलोक महेश्वर हैं जहाँ यह धारणायें दृढ़ हुईं नहीं कि वहाँ मोह का क्षय हुआ नहीं। मोह के क्षय का ही नाम मोक्ष है। ऐसा प्राणी पाप पुण्य, सुख दुख आदि द्वन्द्वों से छूटकर निर्द्वन्द्व, निर्मुक्त हो जाता है। धारणा यही बनी रहे, कि संसार के सभी भाव भगवान् से ही हो रहे हैं। अच्छा बुरा खोटा खरा सब उन्हीं द्वारा संचालित है।

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति और प्रलय तथा भय और अभय ॥४॥

अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश अपयश आदि जो प्राणियों के नाना भाव होते हैं, वे सब मेरे से ही होते हैं ॥५॥

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने भगवान् के प्रभाव के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् कहते लगे—अर्जुन ! ये देवता, ऋषि, मुनि, प्रजापति, इन्द्र, मनु आदि सब मुझसे ही मेरे पश्चात् हुए हैं, सबका आदि कारण तो मै ही हूँ ये सब तो मेरे विकारभूत है, भला ये मेरे पूर्ण प्रभाव को क्या जान सकते हैं। जो मेरी ही कृपा से सबके आदि कारण मुझ अनादि पुराण पुरुष को तत्त्व से जान लेता है और यह उसकी दृढ़ धारणा हो जाती कि मै कभी न जन्म लेने वाला अज हूँ। समस्त चराचर प्राणियों का सबसे बड़ा ईश्वर हूँ, वह पुरुष समस्त प्राणियो में सम्मोह से रहित बन जाता है। जो सम्मोह से रहित हो जाता है, उसे भला पाप पुण्य कैसे स्पर्श कर सकते है। वह गुणातीत हो जाता है। जितने भी जगत् के सुख दुःखादि भाव हैं, उनका बीज मै ही हूँ, मैं ही उनका आदि कारण हूँ। बुद्धि की जो इतनी प्रशंसा है वह बुद्धि मुझसे ही होती है।

अर्जुन ने पूछा—बुद्धि के जनक कैसे हैं आप ?

भगवान् ने कहा—"बुद्धि एक भीतर की इन्द्रिय वृत्ति है। जो सूक्ष्म वस्तुएँ होती हैं उनका जो वृत्ति विवेचन करे उसी का नाम बुद्धि है, जब प्रकृति, महत्तत्व आदि का स्वामी मै हूँ, तो इनसे पीछे की वृत्ति है। अतः बुद्धि तथा अबुद्धि दोनों ही मुझमे हुई हैं। ज्ञान भी मुझसे ही होता है।"

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान क्या है प्रभो ?

भगवान् ने कहा—यह आत्मतत्त्व है, यह अनात्मतत्त्व है। इसको भली भाँति जान लेना ही ज्ञान है। आत्मा और अनात्मा के विवेक से रहित होना ही अज्ञान है। ये सब भाव मुझसे ही हैं। असम्मोह भी मुझसे ही है।

अर्जुन ने पूछा—असम्मोह क्या ?

भगवान् ने कहा—देखो, यह करने योग्य कार्य हैं, यह जानने योग्य विषय है ऐसे जब प्रसंग उपस्थित हो जायें, वहाँ पर चित्त में हड़बड़ाहट न हो घबरावे नहीं किन्तु विवेक के साथ जो करने योग्य हो उसे ही करे, किसी प्रलोभन में फँसकर न करे इसी का नाम असम्मोह है। यह भाव भी मुझसे ही है, और जो ज्ञातव्य तथा कर्तव्य के विषय में मोह को प्राप्त हो जाना है वह भी मेरे से ही होता है। तुम्हें जो सम्मोह हुआ था वह भी मेरे ही द्वारा किया गया था। इसी प्रकार क्षमा भाव भी मेरे से ही होता है।

अर्जुन ने पूछा—क्षमा किसे कहते हैं भगवन्!

भगवान् ने कहा—दूसरों के द्वारा दुःख दिये जाने पर—उसके प्रतीकार करने में समर्थ होने पर भी प्रतीकार करने की भावना मन में न उठे और निर्विकार बना रहे क्रोध न करे। गाली देने वाले या मारने वाले का मन से कल्याण ही चाहे इसी का नाम क्षमा है। इसके विपरीत गाली देने पर या अन्य कष्ट देने पर देने वाले के प्रति क्रोध करना उसे ताड़ना देना अक्षमा है ये दोनों ही भाव मेरे से ही है। सत्य भी मेरा ही भाव है।

अर्जुन ने पूछा—"सत्य क्या है प्रभो!"

भगवान् ने कहा—यथार्थ कथन को सत्य कहते हैं। जैसे कोई भी घटना हो गयी, हम उसे प्रत्यक्ष रूप से सुदृढ़ प्रमाणों द्वारा जैसा कुछ जानते हैं, उसे बिना कुछ नमक मिरच लगाये ज्यों का त्यों कह दें उसी का नाम सत्य भाषण है, इसके विपरीत घटना तो कुछ और है और हम कहें उसे विपरीत रूप में यह असत्य है। ये भाव भी मुझसे ही होते है। शम और दम भी मुझसे ही है।

अर्जुन ने पूछा—शम दम क्या होते हैं प्रभो?

भगवान् ने कहा—शम कहते हैं मन, बुद्धि, चित्त और अहं-

कार जो भीतर की इन्द्रिया हैं उनका शमन करना अर्थात् अन्तः-करण को शान्त रखना। इसी प्रकार वाह्य इन्द्रियों को उनके तद्तद् विषयों को हटाना—अपनी इन्द्रियों का दमन करने को दम कहते हैं। इसके विपरीत जो अशम और अदम है वे सब मेरे से ही हुए भाव है। सुख दुःख भी मेरे ही भाव है।

अर्जुन ने कहा—सुख दुख की क्या व्याख्या है ?

भगवान् ने कहा—सुख दुख तो संसार में प्रसिद्ध ही है। जो अपनी इन्द्रियों के अनुकूल हो उसे सुख कहते हैं। धर्म करने से ही सदा सुख मिलता है। सुख का मूल कारण धर्म ही है। इसी प्रकार अधर्म का कारण दुःख है। दुःख कोई नही चाहता क्योंकि वह इन्द्रियों के प्रतिकूल वेदना है। सुख दुःख दोनों मुझसे ही होते हैं, इसी प्रकार भव और भाव भी मुझसे ही है।

अर्जुन ने पूछा—भव भाव किसे कहते है ?

भगवान् ने कहा—भव कहते है उत्पत्ति को। भाव कहते हैं सत्ता को अर्थात् उत्पत्ति अभाव जो भी कुछ हैं मेरे ही द्वारा हैं। भय और अभय भी मेरे से ही है।

अर्जुन ने पूछा—भय और अभय क्या ?

भगवान् ने कहा—भय माने डर अभय माने निडर। कोई किसी को त्रास देता है, उससे आदमी भयभीत हो जाता है। एक सब को त्रास रहित निर्भय बना देता है, इसका नाम अभय है। दुष्टों को भयभीत भी मै ही करता हूँ और अपने भक्तों को सन्तों को अभय प्रदान भी मैं ही करता हूँ। प्राणीमात्र मे निर्भय बना देता हूँ। कहाँ तक गिनाऊँ अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अपयश और भाँति-भाँति के अनुकूल प्रतिकूल सभी भाव मेरे से ही होते हैं।

अर्जुन ने कहा—"प्रभो ! आप तो एक साथ ही कह गये। इनका अर्थ भी मुझे समझाइये।"

भगवान् ने कहा—ये भाव तो लोक में बहुत ही प्रसिद्ध हैं, इनकी व्याख्या क्या करूं। किसी को हिंसा न करना प्राणी मात्र को पीडा न पहुँचाना इसी का नाम अहिंसा है। सबमें समान भाव से एक ही आत्मा के दर्शन करना, किसी में विषम व्यवहार न करना राग द्वेष से रहित होकर सबको समान समझने का अर्थ समता है। जो मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहना, बहुत हाय-हाय न करना, यदृच्छा लाभ से सन्तोष रखने को तुष्टि कहते हैं। शास्त्रीय मार्ग से शरीर तथा इन्द्रियों को तपाना तप कहलाता है। जैसे व्रत, अनशन आदि हैं। जो अपनी वस्तु है, न्याय द्वारा उपर्जित की गई है उसे देश काल और पात्र देख कर दूसरों को दे देना। उसमें से अपनेपन को हटा लेने का नाम ही दान है। हमने कोई लोकोपकारी पवित्र कार्य किया उसके द्वारा जो जनता में प्रसिद्धि हो जाती है उसी को यश कहते हैं। इसके विपरीत अधर्म कार्य करने से जो लोक मे निन्दा फैल जाती है, सभी लोग जिसे धिक्कारते है उसी का नाम अयश है।

ये समस्त भाव अपने-अपने कारणों के सहित मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं। धर्म भी मुझसे ही उत्पन्न हुआ है और अधर्म भी मुझी से हुआ है। धर्म मेरे हृदय से उत्पन्न है और अधर्म पृष्ठ भाग से। मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा है ही नहीं, सभी की उत्पत्ति का एक मात्र कारण तो मैं ही हूं। इसीलिये मैं इस सम्पूर्ण लोक का, चराचर विश्व का, स्थावर जंगम का एक मात्र स्वामी लोकाध्यक्ष, लोक महेश्वर हूँ। मुझसे पर तर कुछ भी नहीं है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! ये समस्त भाव ही आप से उत्पन्न

हुए हैं यह बात तो मैंने जान ली। अब कृपा करके यह बतावें, जिन प्रजापतियों ने इस सम्पूर्ण जगत को प्राणियों से पूरित कर दिया है। वे प्रजापति सब अपने मन से स्वतः ही सन्तानें पैदा कर लेते हैं क्या? इन्द्र मनु, प्रजापति सप्तर्षि जो ये होते रहते हैं और बदलते रहते हैं ये किनकी प्रेरणा से होते हैं?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने जैसे इस प्रश्न का उत्तर दिया है उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

प्रानिनि में जो भाव होहिँ मोई तैं सबई।
कौन-कौन से भाव गिनाऊँ तोकूँ अबई॥
करैं जाइ नहिँ करैं 'बुद्धि' निरनय कारक सो।
'ज्ञान' जथारथ बोध न मोहित 'असम्मोह' सो॥
अपराधी हू पै दया, 'क्षमा' कहैं 'सत' जथारथ।
'शम' इन्द्रिय निग्रह कह्यो, 'दम' मनवश के है अरथ॥

(५)

'सुख' 'दुख' 'भय' अरु 'अभय' सबहिँ इस्पष्ट कहावें।
'भव' उत्पत्ति 'अभाव' प्रलय ताकूँ बतलावें॥
'समता' और 'अहिंसा' हू अरु 'तोष' पुष्टि है।
'यश' 'अपयश' अरु 'दान' तपस्या तननि पुष्टि है॥
अवरोधी अरु विरोधी, मोई तैं सब भाव हैं।
मोई तैं उत्पत्ति है, मोमें भाव अभाव हैं॥

विभूति योग माहात्म्य

[३]

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ६, ७ श्लोक)

छप्पय

अत्रि अङ्गिरा पुलह पुलस्त्यहु क्रतु मरीचि जिनि ।
सप्तम कहे वसिष्ठ जिहीं 'सप्तर्षि' कहे मुनि ॥
ये सब सात महर्षि सनातन सनक सनन्दन ।
चौथे सनतकुमार आदि मनु होहिँ पुरातन ॥
मेरे भावहिँ तैं भयो, जिननि करी यह प्रजा सब ।
उपजैं मन संकल्प तैं, ये ही जग की ध्वजा सब ॥

---

* सप्तर्षिगण, पूर्वउत्पन्न चारो सनकादि तथा समस्त मनु ये सब मेरे मे भाव रखने वाले हैं, मेरे ही मानसिक सकल्प से होते हैं। संसार मे इन्ही से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है ॥६॥

मेरे इस विभूतयोग को जो तत्त्व से जानता है, वह निश्चय योग द्वारा मेरे मे ही युक्त हो जाता है, इसमें संशय नही ॥७॥

यह जगत् अनादि है। अब तक कितने ब्रह्मा, कितने विष्णु, कितने रुद्र हो गये हैं, इसकी कोई गणना नहीं। कितने ब्रह्माण्ड हैं, उनमें कितने त्रिदेव हैं इइको भी कोई गणना नही। यह संसार चक्र कब ले चल रहा है किसी को इसका पता नहीं, कब तक चलेगा इसको भी कोई गणना नहीं। फिर भी सृष्टि क्रम समझने को एक श्रृंखला बताते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के लिये एक ब्रह्मा महाविष्णु से उत्पन्न होते हैं। वे ब्रह्मा ही पूरे ब्रह्माण्ड को जीवों से भर देते हैं। समस्त जीवों के जनक ब्रह्माजी ही हैं। ब्रह्माजी कभी भगवान् के कान से उत्पन्न होते है, कभी हृदय से, कभी नाभि के कमल से। एक ब्रह्मा सौ वर्ष तक रहते है, फिर महाप्रलय हो जाती है। महाप्रलय के पश्चात् दूसरे ब्रह्मा आते हैं। सहस्र चतुर्युगी का ब्रह्माजी का एक दिन होता है उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। दिन में ब्रह्माजी सृष्टि का कार्य करते है, रात्रि में विश्राम करते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन में भू भुव और स्वर्ग तीनों लोकों की प्रलय हो जाती हैं। प्रलयाग्नि तीनों लोको को भस्म कर देती है। उसकी उष्णता महर्लोक में भी पहुँच जाती है। इससे वह लोक नष्ट तो होता नही। वहाँ के निवासी जनलोक में चले जाते हैं। अतः प्रलय में जन, तप और सत्य ये ही तीनों लोक बच जाते हैं। महाप्रलय मे पूरे के पूरे ब्रह्माण्ड की प्रलय हो जाती है। यह चक्र अनादि काल से चल रहा है अनन्त काल तक चलता रहेगा।

इस पाद्मकल्प के ब्रह्मा का जन्म भगवान् की नाभि कमल से हुआ। नये ब्रह्मा आते हैं तो सृष्टि कैसे करनी चाहिये इस विषय में विमोहित हो जाते हैं। भगवत् कृपा से फिर उन्हें सृष्टि करने की युक्ति सूझती है। हाँ तो हम इस ब्रह्मांड के आदि सत्य-युग में सर्वप्रथम सृष्टि कैसे हुई इसे ही बताते है। सबसे पहिले

भगवान् ने दश प्रकार की सृष्टि की उन्हें ही दश विधि सर्ग कहते हैं। उनमें ६ प्रकार की प्राकृत सृष्टि है और चार प्रकार की वैकृत सृष्टि है। अभी तक सृष्टि करने को ही ओर ब्रह्माजी का लक्ष्य था। सृष्टि के संहारकर्ता रुद्र का अभी मन में सकल्प भी नही किया था अतः। रुद्र के पूर्व की सृष्टि तब तक बनी रहती है जब तक ब्रह्माजी रहते हैं। पहिले ६ प्राकृत सर्गों को समझलें। जब प्रकृति में विकृति आती है, सब से पहिली सृष्टि है महत्तत्व की। दूसरी है अहकार की तीसरी भूतों की चौथी इन्द्रियों की, पांचवी इन्द्रियों की अधिष्ठातृ देवों की और छटी है अविद्या की। क्योंकि अविद्या के बिना सृष्टि होती ही नही, इन ६ को प्राकृत सृष्टि कहते है। अब इस प्रकृति से जो विकृतियाँ होती हैं वैसी चार प्रकार की सृष्टि है। पहिली सृष्टि वृक्षों की। सृष्टि में सबसे पहिले वृक्ष होते हैं। वे ६ प्रकार के हैं दूसरी सृष्टि पशु-पक्षियों की गाय भैंस घोड़ा बकरी पक्षी सर्प ये २८ प्रकार के होते हैं। तीसरी सृष्टि मनुष्यों की चौथी सृष्टि देवताओं की। इस प्रकार ब्रह्माजी ने दश प्रकार की सृष्टि की रचना की। (१) प्रकृति, (२) महत्तत्व, (३) अहंकार, (४) शब्द, (५) रूप, (६) रस, (७) गंध, (८) स्पर्श, ये आठ प्रकृतियाँ और (१०) इद्रियाँ ग्यारहवाँ मन पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश पचभूत इन २४ तत्त्वों से बना यह ब्रह्माण्ड है। ऐसे असंख्यों ब्रह्माण्ड जिन श्रीहरि के शरीर से निकलते रहते हैं और विलीन होते रहते हैं उन महाविष्णु जगन्नियन्ता कारणों के कारण प्रभु के पादपद्मों में नमस्कार है।

सृष्टि अज्ञान मे होती है। अज्ञान के बिना लौकिकी सृष्टि नहीं। अत; सर्वप्रथम भगवान् ने तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र जिन्हें योग दर्शन के शब्दों में अविद्या,

अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष कहते हैं ये रचीं। इस अविद्या की सृष्टि से ब्रह्माजी सुखी नहीं हुए। फिर पवित्र होकर तपस्या करके दूसरी कौमार सृष्टि की। सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार किन्तु पहिले घोर तामस यह घोर सात्विक। दोनों ही आगे की सृष्टि चलाने में असमर्थ। इन कुमारों से कहा—सृष्टि बढ़ाओ। किन्तु इनको कोई अस्पृहा ही नहीं थी। तब ब्रह्माजी को क्रोध आ गया। तभी उनकी दोनों भौहों के मध्य से ये रुद्र उत्पन्न हुए। मानो संहार का सूत्रपात हो गया। इनसे भी सृष्टि करने को कहा। इन्होंने अपने ही समान भूत प्रेत पिशाच पैदा किये। ये सृष्टि को बढ़ाने वाले न होकर खाने वाले हुए अतः ब्रह्माजी ने इन्हें सृष्टि करने से रोक दिया। तप करने को कहा। सृष्टि को बढ़ते न देखकर ब्रह्माजी को बड़ी चिन्ता हुई। स्वस्थ चित्त होकर उन्होंने मध्य मार्ग अपनाया। न पूरे रजोगुणी न पूरे सत्त्वगुणी रजमिश्रित सत्त्व से १० पुत्र उत्पन्न किये। उस समय तक स्त्री की तो सृष्टि हुई नहीं थी। सब संकल्प सृष्टि थी। जैसे ब्रह्माजी भगवान् के शरीर से उत्पन्न हुए थे, वैसे ही उन्होंने अपने शरीर से दश पुत्र पैदा किये। अपनी गोद से (१) नारदजी को, अँगुठे से (२) दक्ष को, प्राण से (३) वसिष्ठजी को त्वचा से (४) भृगुजी को, कर से (५) क्रतु को नाभि से (६) पुलहजी को, कानों से (७) पुलस्त्यजी को, मुख से (८) अङ्गिराजी को, नेत्रों से (९) अत्रिजी को मन से और (१०) मरीचि को और अपनी छाया से कर्दम मुनि को उत्पन्न किया। ये ग्यारह ऋषि मानसिक हैं। और भी बहुत से पुत्र ब्रह्माजी ने मन से पैदा किये। परन्तु ये मन से उत्पन्न महर्षि मनन प्रधान हुए इन्होंने ब्रह्माजी के सृष्टि वृद्धि कार्य में कुछ भी सहयोग नहीं दिया। तब ब्रह्माजी बड़े चिंतित हुए सृष्टि कैसे बढ़े। सृष्टि की

चिंता करते-करते उनके शरीर के दो भाग हो गये। एक शतरूपा दूसरे मनु संसार में सबसे पहिली नारी शतरूपा ही है। इन मनु भगवान् से ही सर्वप्रथम मैथुनी सृष्टि आरम्भ हुई। मनु और शतरूपा के संसर्ग से (१) आकूति (२) देवहूति और (३) प्रसूति ये तीन कन्यायें तथा प्रियव्रत और उत्तानपाद ये दो पुत्र हुए। संपूर्ण संसार को उत्पन्न करने वाली आकूति, देवहूति और प्रसूति ये ही हैं इन्हीं से यह संसार स्त्री पुत्रों से परिपूर्ण हो हो गया। हाँ तो मनुपुत्री देवहूति का विवाह कर्दम महर्षि से हुआ। महर्षि कर्दम से देवहूति के गर्भ से ९ कन्यायें हुई। भगवान् ब्रह्मा के १० पुत्र थे। उनमें से नारद किसी भी प्रकार विवाह करने को तैयार न हुए। शेष जो (१) मरीचि, (२) अत्रि, (३) अङ्गिरा (४) पुलस्त्य (५) पुलह (६) क्रतु (७) भृगु, (८) वसिष्ठ, और (९) अथर्वा को कर्दम महर्षि की (१) कला (२) अनसूया (३) श्रद्धा, (४) हविर्भू (५) गति (६) क्रिया (७) ख्याति (८) अरुन्धती (९) और शांति ये क्रमशः विवाह दीं। इनमें से ब्रह्माजी (१) मरीचि (२) अङ्गिरा (३) अत्रि (४) पुलस्त्य (५) पुलह (६) क्रतु और (७) वसिष्ठ इन सातों को सप्तर्षि बनाकर महर्षि की उपाधि दी। ये महर्षि स्वाध्याय तपस्या तथा अग्निहोत्र से सम्पन्न होते हैं गृहस्थी होते हैं प्रजा की वृद्धि हो इसीलिये ये दार ग्रहण करते हैं तथा अग्नि की आराधना करते हैं। वैसे गृहस्थी लोग भू, भुव और स्वर्ग लोक से आगे नहीं बढ़ सकते। और जन, तप तथा सत्यलोक ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी इन दाररहित तीन आश्रम वालों के ही लिये है। फिर भी ये महर्षिगण स्वर्ग से भी ऊपर के लोक महर्लोक में निवास करते हैं और प्रलय काल में जनलोक तक चले जाते हैं।

प्रत्येक कल्प में मनु, इन्द्र, मनुपुत्र, सप्तर्षि, मन्वन्तरावतार, और

मन्वन्तर के देवगण ये ६ प्रत्येक मन्वन्तर में बदल जाते हैं। सबसे आदि सर्ग में मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ये सात सप्तर्षि थे। सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार ये इन सबसे भी–मैथुनी सृष्टि से–बहुत पहिले उत्पन्न हुए थे। स्वायम्भुवमनु तो मैथुनी सृष्टि के आदि पुरुष ही थे। ब्रह्माजी के एक दिन मे १४ मनु बदल जाते हैं। कैसा है यह सृष्टि चक्र। जब इस सृष्टि पर हम विचार करते हैं, तो हमारे ब्रह्मांड का स्थान गूलर के वृक्ष पर लगे हुए करोड़ों गूलर के फलों में से एक गूलर के समान है। और उस गूलर में हमारी स्थिति एक भिनगे के समान भी नहीं। ब्रह्मांड में जम्बूदीप का क्या स्थान, जम्बूदीप में भी भारतवर्ष का क्या स्थान, भारतवर्ष में भी भी प्रयाग जनपद का क्या स्थान। प्रयाग जनपद में भी इस छोटे से प्रतिष्ठानपुर का क्या स्थान। उसमें भी असंख्यों जीवों में से इस क्षुद्र जीव का क्या स्थान? इतना क्षुद्र होने पर भी यह जीव कितना अहंकर में भरा रहता है। अपने को क्या लगता है। कैसे निस्तार करोगे प्रभो! कैसे अपनाओगे? कैसे अहंकार को चूर्ण करोगे?

सूतजी कहते है—सुनियो! जब अर्जुन ने सप्तर्षि, इन्द्र प्रजापति आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् ने कहा—अर्जुन! जितने भी ये विश्व के कर्ता कहलाते है, वे सब मेरे ही संकल्प से उत्पन्न होते है। आदि में जो महर्षि हुए, सप्तर्षि हुए सनक, सनन्दन, सनातन और सनत कुमार ये चार कुमार हुए, जितने मन्वन्तरों के मनु हुए, ये सब मेरे ही भाव से–मेरे ही संकल्प से होते हैं। मैं ही सब का आदि बीज हूँ।

अर्जुन ने कहा—भगवन् आपकी विभूतियाँ तो बड़ी विलक्षण हैं और असंख्य हैं। जीव इन्हें कैसे जान सकता है, यह

प्राणी कितने नीचे स्तर पर खड़ा है, वहाँ से आपकी महत्ता को यह कैसे समझ सकता है ?

भगवान् ने कहा—भैया ! यही तो बात है, मेरी विभूतियों की जानकारी कोई सहज बात नहीं। प्रयत्न तो बहुत लोग करते हैं, किन्तु उन्हें तत्त्वतः तो कोई विरला ही जानता है। सबसे आवश्यक जानना तो यही है, मेरी विभूतियों को जिन्होंने जान लिया उन्होंने सब कुछ जान लिया।

अर्जुन ने पूछा—आपकी विभूतियों को जो तत्त्वतः जान लेता है, उसकी क्या गति होती है ?

भगवान् ने कहा—उसको सबसे उत्तम अन्तिम गति होती है। जो मेरे परम ऐश्वर्य को भली-भाँति जान लेता है, वह निश्चल योग से युक्त हो जाता है। फिर उसे कोई भी भाव किसी भी प्रकार से विचलित करने में समर्थ नहीं होता इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है।

अर्जुन ने पूछा—"कैसा है आपके विभूति योग का ज्ञान स्वामिन् ! किस प्रकार उससे निश्चल योग की प्राप्ति होती है कृपा करके इसे मुझे बता दीजिये। क्योंकि आपके अतिरिक्त इसका सर्वोत्तम उपदेष्टा मुझे मिल ही नहीं सकता है।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अरजुन ! जिनिकूँ भाव-तत्त्व ऋषि मनु बतलावें ।
ये ही मुख्य विभूति देव अरु द्रव्य कहावें ॥
मेरी सकल विभूति तत्त्व तैं जो जन जानें ।
मोई तैं उत्पन्न होहिँ निश्चय करि मानें ॥
योग शक्ति मम तत्त्व तैं, जानि होहिँ शंका रहित ।
जामें कछु संशय नहीं, पाइ योग अविचल सतत ॥

भक्तजन भगवद् भक्ति से सुखी होते हैं

[४]

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ८, ९ श्लो०)

छप्पय

भीतर बाहिर आदि अन्त को ज्ञाता मैं हूँ ।
करता धरता और विधाता ज्ञाता मैं हूँ ॥
मैं ई सबको प्रभव जगत मोतें ई उपजत ।
सब कूँ रह्यो चलाय पाइ संकेतहिँ नाचत ॥
श्रद्धा भक्ति समेत सब, मम गुन गावत बुध सतत ।
वासुदेव मोकूँ समुझि, भक्ति भाव तें वे भजत ॥

---

* मैं ही सब प्राणियों का उत्पत्ति स्थान हूँ, मुझसे ही यह जगत प्रवर्तित होता है । इस प्रकार मानकर श्रद्धा भक्ति भाव से युक्त होकर बुद्धिमान जन मेरा ही भजन करते हैं ॥८॥

जिनका चित्त मुझमें ही लगा है; जिनके प्राण मुझमें लगे हैं, वे पुरुष परस्पर में प्रबोध करते हुए, नित्य ही मेरे ही सम्बन्ध में कथन करते रहते हैं । मुझमें ही सन्तुष्ट रहते हैं, और मुझमें ही सदा रमे रहते हैं ॥९॥

जिसको जिस वस्तु का भारी व्यसन हो जाता है, वह उसी के सम्बन्ध की बात करता है, उसी की परस्पर में चर्चा करता है। और कोई माँगने को कहता है, तो उसी के सम्बन्ध की वस्तु माँगता है।

एक महात्मा थे, उनकी पत्नी बड़ी साध्वी पतिपरायणा पतिव्रता थी, उन महात्मा के बहुत से भक्त थे, वे चाहते थे माता जी हमें कोइ सेवा करने का अवसर दें। जैसे ही त्यागी निस्पृह महात्मा थे, वैसी ही उनकी पत्नी भी थी।

एक दिन एक बहुत बड़े धनिक व्यापारी ने आकर महात्मा की पत्नी से कहा—"माता जी ! मेरे योग्य कोई सेवा बताइये।"

उन महात्मा को धूम्र पान का अभ्यास हो गया था। उनकी पत्नी ने कहा—"भैया, क्या सेवा बताऊं, मुझे तो किसी वस्तु की आवश्यकता है नहीं।"

धनिक ने कहा—"नही, माता जी ! आज कुछ तो सेवा बता ही दें।"

वैसे महात्मा निष्किञ्चन थे। कुछ भी उनके पास संग्रह नहीं था। निष्किञ्चन भगवत् भक्त एक दिन के भोजन के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का संग्रह करना ही नहीं चाहते। जब धनिक ने बहुत आग्रह किया तो सन्त पत्नी ने कहा—"अच्छा तो कल दो पैसा की सुरती लेते आना।"

कल के लिये तमाखू नहीं था, इतने बड़े धनिक से दो पैसे की सुरती माँगना उसका भी अपमान है और अपना तो भोलापन है ही, किन्तु जिसे जिस वस्तु का व्यसन लग जाता है, उसे उसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु सूझती ही नहीं है।

महाराज पृथु भगवान् के अंशावतार ही थे। निरन्तर भगवद् भक्ति में तल्लीन रहते थे। उन्हें भगवद् गुणानुवाद श्रवण करने

को मिल जायँ, तो इससे बढ़कर प्रिय वस्तु उनके लिये कोई और नहीं थी। उनकी प्रगाढ़ भक्ति से प्रसन्न होकर परम पिता परमात्मा उनके सम्मुख प्रकट हुए और बोले—"राजन्! तुम्हारे सद्गुणों ने तथा सुंदर स्वभाव ने मुझे वश में कर लिया है, अतः तुम्हारी जो इच्छा हो, तुम जो भी चाहते हो, अच्छी से अच्छी वस्तु मुझसे माँग लो। मेरी प्रसन्नता प्राप्त करना सहज नहीं। मैं उन्हीं पर प्रसन्न होता हूँ, जिनके चित्त में समता होती है। तुम्हारी समस्त प्राणियों में समबुद्धि है, अतः मुझसे इच्छित वर माँग लो।"

इस पर पृथु ने कहा—"भगवन्! यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो मुझे मोक्ष तक की इच्छा नहीं है, मुझे तो आप यही वर दीजिये, कि मुझे आपके गुणानुवाद सुनने को दश सहस्र कान प्रदान कीजिये, जिनमें मैं आपकी ललित लीलाओं को निरन्तर सुनता ही रहूँ।"

भगवद्भक्तों को भगवत् कथा श्रवण का सत्संग का अत्यधिक व्यसन होता है, वे सत्संग के बिना भगवत् कथा के बिना रह ही नहीं सकते, भले ही भोजन के बिना रह भी जायँ, तभी तो भगवान् कपिलदेव जी ने अपनी माता देवहूति जी से कहा था—"माँ! मेरी चरण सेवा में प्रीति रखने वाले और मेरी ही प्रसन्नता के निमित्त सम्पूर्ण कार्य करने वाले, कितने ही बड़भागी भक्त जब परस्पर में मिलते हैं, तब प्रेम पूर्वक हठ पूर्वक मेरे ही पराक्रमों की आपस में चर्चा करते हैं। वे मेरे साथ एकी भाव की भी इच्छा नहीं रखते। माता जी! वे भगवद्भक्त अरुण नयन एवं मनोहर मुखारविन्द वाले मेरे परम सुंदर और वरदायक दिव्य रूपों की झाकी करते हैं, उनसे सम्भाषण करते हैं।"

भगवत् भक्तों की सम्पत्ति भगवत् गुण श्रवण, भगवत्

सम्बन्धी गुणों का गान, भगवत् सेवा पूजा और भगवत् भावों का प्रचार प्रसार ही है। इसी लिये बुद्धिमान् जन भगवत् भजन के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करते ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने विभूति योग के ज्ञान के द्वारा निश्चल योग की प्राप्ति कैसे होती है ऐसी जिज्ञासा की तब भगवान् ने कहा—अर्जुन! मैं तुम्हें बार-बार बता ही चुका हूँ, फिर भी बताता हूँ, आगे भी उसी को दुहराता रहूँगा। देखो मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का एकमात्र कारण हूँ। मैं ही इस जगत का पालन करता हूँ, और अन्त में संहार भी मैं ही करता हूँ। मुझे सर्वज्ञ सर्वशक्तिवान् से प्रेरित हुआ ही सम्पूर्ण जगत् अपनी मर्यादा में अवस्थित रहता है। सभी कारणों का आदि कारण मैं ही हूँ। ऐसा जानकर ही जो तत्त्वदर्शी हैं, ज्ञानी हैं भगवद् भक्त सन्त महात्मा है, वे बड़े भक्ति भाव से मेरा ही भजन करते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! वे भगवत् भक्त किस प्रकार आपका भजन करते हैं, कृपा करके इस विषय को स्पष्ट करके समझा दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"देखो, मेरे भक्तों का चित्त मुझमें ही लगा रहता है, उनका चित्त इत उत चलायमान नहीं होता। संसारी विषयों में फंसता नहीं। तथा उनकी इन्द्रियाँ तथा प्राणादि सब मेरे में ही लगे रहते हैं। वे देखते हैं, तो मेरे स्वरूपों को ही देखते हैं, सुनते हैं तो मेरे गुणानुवादों को ही सुनते हैं। उन्होंने अपना समस्त जीवन मेरे निमित्त अर्पण कर रखा है समस्त इन्द्रियों के व्यापार मेरे ही निमित्त उपसंहृत कर रखे हैं। मेरे भजन के अतिरिक्त उनके जीवन का अन्य कोई लक्ष्य ही नहीं रह गया है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! आपके ऐसे अनन्य भक्त कहीं अन्यत्र जाते भी न होंगे, किसी से बातें भी न करते होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"जाते क्यों नहीं, परन्तु वहीं जाते हैं जहाँ भगवत् भाव हो, जहाँ भगवत् चर्चा का सुयोग हो वे भगवत्भक्तों की सभाओं में भी जाते हैं, लोगों से बातें भी करते हैं। व्याख्यान, प्रवचन, कथोपकथन तथा उपन्यास भी करते है, किन्तु करते हैं भगवत् सम्बन्धी ही प्रवचन। संसार के सम्बन्ध की बातें नहीं करते। वे विद्वन्मंडलों में श्रुतिस्मृतियों की युक्तियाँ दे देकर मेरे ही विषय का बोधन करते हैं मेरी ही महिमा का गान करते हैं। जब उनसे जिज्ञासु गण प्रश्न करते है, तब उनसे मेरे ही सम्बन्ध का कथनोपकथन करते है। किसी को उपदेश देना हुआ, तो मेरे ही सम्बन्ध का उपदेश देते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—इसका परिणाम क्या होता है ? ऐसा करने से उनकी स्थिति कैसी हो जाती है ?

भगवान् ने कहा—देखो, ऐसा करने से उनकी अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो जाती है, वे अनुभव करते हैं, कि हमने अपने जीवन को भगवत्मय बना लिया तो मानों हमने सब कुछ कर लिया। संसार में सन्तोष ही को परम सुख बताया है। जिन्हें सन्तोष नहीं है उन्हें संसार की सम्पूर्ण सम्पत्ति प्राप्त हो जाय, तो भी उन्हें सुख नहीं होता। संसार के जितने भी भोग हैं, सब एक ही पुरुष को दे दिये जायँ, तो भी उन सबसे उसकी तुष्टि न होगी। संसार भरके कामजनित सभी सुख तथा स्वर्गीय सभी सुख असंतोषी को मिल जायँ, तो भी वह सुखी न होगा, किन्तु सन्तोषी पुरुष केवल जल से ही सुखी हो जायगा। जिसकी जितनी ही तृष्णा कम होगी वह उतना ही अधिक सुखी होगा और जिसकी जितनी ही अधिक तृष्णा बढ़ी-चढ़ी होगी वह उतना ही अधिक दुखी

होगा। भगवत् भक्त तृष्णा क्षय होने से परम सन्तुष्ट हो जाता है और मुझमे ही रमण करता है, मेरे में ही विहार करता है, वह निरन्तर सन्तोष और सुख का अपनी आत्मा में अनुभव करता रहता है। असन्तुष्ट द्विज नष्ट हो जाता है। सन्तोष सर्व समृद्धि से भी बढ़कर सुख प्रदान करता है। अतः मच्चित्त, मद्गतप्राण, ममगुण कथनकर्ता, मेरे सम्बन्ध का उपदेष्टा सन्तोष सुख में रमण करता है अर्थात् सन्तोष की अनुभूति करता है।

अर्जुन ने पूछा—ऐसे अनन्य भक्त को आप भी तो कुछ देते होगे प्रभो ?

सूतजी कहते है—मुनियो ! इसका जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

मिलिकें सबई भक्त चित्त मो माहिँ लगावें।
मद्गत ह्वैकें प्रान परस्पर सुनें सुनावें॥
भक्ति भाव तें भरे पुलकि तनु जल नैननि में।
गावैं गुन मम नित्य भाव भरि मन सैननि में॥
मेरे ई सम्बन्ध में, पढ़े, लिखें बोलें कहें।
सबई अति सन्तुष्ट ह्वै, रमन करत मोमें रहें॥

भक्तों के अज्ञान को भगवान् स्वयं ही कृपा करके नाश कर देते हैं

[५]

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० १०, ११ श्लोक)

छप्पय

सतत चित्त उन भक्तियुक्त भक्तनि कूँ भैया ।
जो मेरो नित ध्यान धरत सब गुननि गवैया ॥
मोई तैं नित प्रीति करें मोई कूँ चाहें ।
मेरो लेकें नाम करें कीर्तन गुन गायें ॥
भक्तियुक्त तिनि नरनि कूँ, देउँ ज्ञान अपनो सतत ।
बुद्धियोग तैं मोइ वे, पाइँ सतत सम रखहिँ चित ॥

---

* उन नित्य युक्त प्रीति पूर्वक भजने वाले भक्तो को मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥१०॥

उन भक्तो पर अनुग्रह करने के लिये ही उनके अन्तकरण मे स्थित अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञान रूप दीपक द्वारा मैं नाश कर देता हूँ ॥११॥

सर्वान्तर्यामी जगन्नियन्ता प्रभु तो एक सच्चे न्यायाधीश के समान धर्म परायण सच्चे व्योपारी के समान हैं। जो न्याय की बात हुई बिना वादी प्रतिवादी के, बिना ग्राहक के प्रति पक्षपात के कर दी। ये बर्ताव वे अंडज, जरायुज, स्वेदज तथा उद्भिज सभी जीवों के साथ करते हैं। किन्तु सर्वसाधारण ग्राहक या वादी प्रतिवादियों के साथ अपना कोई सगा सम्बन्धी या सुहृद् आ गया तो न्याय के सिंहासन पर या व्यापारी की गद्दी पर बैठ कर बर्ताव तो उससे भी वैसा ही करेंगे, किन्तु गद्दी से उतर कर अपनेपन के कारण उस पर विशेष कृपा करगे। उसके प्रति आत्मीयता अधिक सम्बन्ध होने के कारण उस पर विशेष अनुग्रह करेंगे, क्योंकि बन्धुओं के प्रति जो स्नेहानुबन्ध है उसे छोड़ देना मुनियों के लिये भी दुर्लभ है, फिर करुणावरुणालय, दयानिधान, करुणा की खान भगवान् के लिये तो और भी दुर्लभ है। यह बात निम्न दृष्टान्त से भली भाँति बुद्धिगम्य हो सकेगी।

जगन्नाथपुरी में एक महात्मा थे। व भगवान् की अनन्य भाव से सेवा किया करते थे। बिना किसी ससारी वस्तु की कामना के निष्कामभाव से भगवान् को ही चाहते थे। वे अहैतुकी भक्ति में सदा लीन रहते थे। जो कुछ चाहता है, भगवान् उसके प्रति निश्चिन्त रहते हैं, क्योंकि वह जो चाहता है, भगवान् तुरन्त उसे दे रहे है, क्योंकि न तो भगवान् के यहाँ किसी वस्तु की कमी है न वे कृपण ही हैं। हमने किसी से किसी वस्तु की इच्छा की, उस पर वह वस्तु है नहीं, कहीं से लाकर दे भी नही सकता तो वह संकोच में पड़ जाता है। अथवा जिसके पास वस्तुएं तो बहुत भरी पड़ी हैं, किन्तु वह महाकृपण है, दातृत्वशक्ति उसमें नहीं है, उससे कितना भी प्रेमी सगा सम्बन्धी मांगे वह दे नही सकता। भगवान् में ये दोनों बात

नहीं। वे सर्वसम्पत्ति सम्पन्न हैं, उनके महान् भण्डार में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चारों पदार्थ अगणित संख्या में भरे पड़े हैं और वे उदार इतने हैं, कि वस्तुओं की तो बात ही क्या अपनी आत्मा को भी देने में नहीं हिचकते। अतः चाहे आर्तभक्त हो, जिज्ञासु हो, अर्थार्थी अथवा ज्ञानी भी क्यों न हो उनसे वे निश्चिन्त रहते है। आर्तभक्त है तो तुरन्त उसके दुख को दूर कर देते हैं, जिज्ञासु है, ता उसकी जिज्ञासा की पूर्ति कर देते हैं अर्थार्थी है तो वह जो अर्थ चाहता है, उससे भी अधिक अर्थ प्रदान कर देते है, यदि वह ज्ञानी है तो उसे मुक्ति दे देते हैं, किन्तु सदा चिंतित तो वे उस भक्त के लिये रहते हैं, जो न तो दुःख दूर कराना चाहता है. न वह किसी प्रकार के अर्थ के लिये लोलुप है और न उसे चार प्रकार की मुक्तियों में से किसी प्रकार की मुक्ति की ही इच्छा है। वह भगवान् से सिवाय उनके कुछ चाहता ही नहीं। वह चाहे कुछ न चाहे किन्तु भगवान् तो चाहते हैं इसे किसी प्रकार का कष्ट न हो, असुविधा न हो, इसीलिये वे उस भक्त के सदा पीछे-पीछे घूमते रहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि जब यह मुझसे ही कुछ नहीं मांगता तो संसारी लोगों से तो मांगेगा ही क्या ? ऐसा न हो, कि मेरी तनिक सी असावधानी से भूखा न रह जाय। अतः भगवान् उस निष्किंचन निरपेक्ष अनन्य भक्त को पल भर को भी भूलते नहीं। उसे क्षणभर को विसराते नहीं।

हाँ, तो वे भक्त अपने चित्त को सदासर्वदा भगवान् में ही लगाये रहते थे, उनके जीवन के सभी व्यापार भगवान् के ही निमित्त थे, वे निरन्तर भगवान् का ही गुणगान करते रहते, भगवान् के ही गीत गाकर सबको सुनाते रहते। विरक्त वे ऐसे थे, कि किसी वस्तु का संग्रह नहीं करते। भगवान् का प्रसाद जो

स्वतः दैवेच्छा से प्राप्त हो गया उसे ही पाकर अहर्निशि भगवत् भजन में तल्लीन रहते। केवल एक कौपीन ही पहिने रहते थे। एक बार उनको अतीसार की बीमारी हुई। बार-बार शौच जाते। शौच होकर आये हैं, फिर इच्छा हुई फिर गये। अन्त में इतने अशक्त हो गये, कि उनकी कौपीन में ही बार-बार शौच हो जाता। वे समुद्र के किनारे जाकर पड गये।

उसी समय एक लड़का आया। बार-बार उनकी कौपीन को धो देता। नई कौपीन पहिना देता। वह कई दिनों तक ऐसा करता रहा। इन्हे जब चेत हुआ बार-बार बच्चे को लंगोटी धोने में संलग्न देखा, तो पूछा—भैया, तुम कौन हो ?"

बालक ने कहा—"मैं जगन्नाथ हूँ।"

यह सुनकर भक्त रो पड़ा और बोला—"प्रभो ! आप मेरे ऊपर पाप क्यों चढ़ा रहे हैं। हाय ! ऐसा नीच कार्य आपके अनुरूप है ?"

भगवान् बोले—"भैया, क्या करूँ, तुम्हारा दुःख मुझसे देखा नही जाता, तुम्हारी सेवा किये बिना मुझसे रहा नही जाता।"

भक्त ने कहा—"जब यही बात है, तो स्वामिन् आप तो सर्व समर्थ हैं, कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सब कुछ कर सकते हैं। आप मेरे रोग को ही अच्छा कर देते। मेरी लंगोटी क्यों धो रहे हैं ?"

भगवान् ने कहा—भक्त, तुम यथार्थ कहते हो, मैं सब कुछ करने को समर्थ हूँ। परन्तु तुम निष्काम भक्तों के सम्मुख मेरी कुछ चलती ही नहीं। तुम यदि कभी स्वप्न में भी चाहते कि भगवान् मेरा रोग अच्छा कर दें, तो मैं तुरन्त अच्छा कर देता। किन्तु तुम तो कहते हो "यद् भाव्य तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्" मेरे प्रारब्ध में जो भी कुछ हो वह होता रहे। प्रारब्ध मेंटने की मैं प्रार्थना नही करता। तो प्रारब्ध के भोग तो अपना

काम करेंगे ही। प्रारब्ध के भोग अपना काम करते रहें और मैं अपना काम करता रहूँ। मैं भक्तों के दुःखों को देख नहीं सकता। उनकी सेवा करने से मुझे परम सुख मिलता है। अतः सर्वान्तर्यामी भगवान् सर्वसाधारणों के साथ समान व्यवहार करते हैं, किन्तु भक्तों के भगवान् तो अपने अनन्याश्रित निष्किंचन निष्काम भक्तों के ऊपर विशेष कृपा करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कि जो आपके तद्गत प्राण अनन्य भक्त हैं, उन्हें आप क्या देते हैं, तो भगवान् ने कहा—' उन्हें मैं बुद्धियोग देता है।"

अर्जुन ने कहा—"बुद्धियोग ही क्यों देते हैं और कुछ क्यों नहीं देते?"

भगवान् ने कहा—"और वे कुछ मुझसे माँगते ही नहीं। वे निरन्तर दिन रात्रि मेरे ध्यान में निमग्न रहते हैं। वे घर द्वार, कुटुम्ब परिवार किसी की भी चिंता नहीं करते। वे न इस लोक के सुखों को चाहते हैं और न परलोक के दिव्य सुखों को ही चाहते हैं यहाँ तक कि वे मोक्ष भी नही चाहते। केवल सतत मेरा ही ध्यान करते रहते हैं और प्रेम पूर्वक मेरा ही भजन करते रहते हैं। वे लेन देन याचना प्रत्याचना से सर्वथा दूर रहते हैं। जब वे कुछ नही चाहते तो मैं उन्हें बिना माँगे, अपनी ओर से ही बुद्धि-योग दे देता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"उस बुद्धियोग से क्या होता है?"

भगवान् ने कहा—उस बुद्धियोग द्वारा वे मुझको ही प्राप्त कर लेते हैं जैसी कि उनकी आन्तरिक अभिलाषा है।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! आप तो परब्रह्म है, परंधाम हैं। आपको तो ज्ञान के ही द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान के बिना मुक्ति हो ही नही सकती। उन आपके अनन्य भक्तों ने

षटसम्पत्ति सम्पन्न होकर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन किया नहीं। महावाक्यों का यथाथ मर्म समझा नहीं। बिना उन्हें समझे अज्ञान दूर हो नही सकता। अज्ञान दूर हुए बिना ज्ञान हो नहीं सकता और बिना ज्ञान के मुक्ति सभव नही। केवल अनन्य भक्ति द्वारा आपको वे कैसे प्राप्त कर सकते हैं। ससार सागर से सदा के लिये वे मुक्त कैसे हो सकते हैं ?"

भगवान् ने कहा—देखा, मेरी अनन्य भक्ति करने वाले को अन्य किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं।

अर्जुन ने कहा—"साधन की आवश्यकता भले ही न हो, किन्तु उनके हृदय का अज्ञान अन्धकार दूर कैसे होगा ?

भगवान् ने कहा—"वे जो मद्चित्त मद्गत प्राण होकर प्रीति पूर्वक मेरा निरन्तर भजन करते रहते हैं, वह कृतज्ञ मैं फिर उनके किस काम आऊँगा ? मेरा भी तो उनके प्रति कुछ कर्तव्य हैं। मैं उनके ऊपर अनुकम्पा करके उनके हृदय में स्थित अज्ञानरूप अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञानरूप दीपक के द्वारा नाश कर देता हूँ। उन भक्तों को अपनी ओर से कोई अन्य साधन नहीं करना पड़ता। उन्होंने तो अपना समस्त उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर छोड़ रखा है। तब फिर मैं उनके हृदय में अज्ञानरूप शत्रु को कैसे रहने दूँगा। मैं शत्रु को भगाने का कोई प्रयत्न नहीं करता। जहाँ घोर अन्धकार हो, उस अन्धकार को भगाने के लिये लाठी डंडा से उस खदेड़ना नहीं पड़ता। आप और कुछ भी मत करो। आग जला दो। प्रकाश कर दो। प्रकाश आते ही अन्धकार अपने आप चला जायगा। उसे भगाने को पृथक् प्रयत्न न करना पड़ेगा। यह काम मैं स्वयं करता हूँ। भक्तों को तो पता भी नहीं चलता। यह प्रकाशमय प्रज्वलित दीप कहाँ से आ गया, इसे कौन रख गया। इसलिये मेरे विभूतियोग का तत्त्वत जानने

वाला निश्चल भक्तियोग के द्वारा मुझमें ही स्थित होता है। मेरी अनन्य भक्ति की महिमा अपार है।"

सूतजी कहते हैं—जब भगवान् ने बार-बार विभूतियोग की अत्यधिक प्रशंसा की, तो अर्जुन को विभूतियोग के सम्बन्ध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। अब जैसे अर्जुन विभूतियोग के सम्बन्ध में विस्तार से प्रश्न करेंगे और भगवान् से उसे विस्तार पूर्वक बताने की प्रार्थना करेंगे, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

उनि पै किरपा करूँ उनहिं सब सीख सिखाऊँ।
तिनिके अन्तःकरन माहिं बसि बात बताऊँ।
हिय को तम अज्ञान ताहि हौं मारि भगाऊँ।
तिनिको तम नसि जाय ज्ञान की ज्योति जराऊँ॥
तत्त्वज्ञान ही दीप है, पुनि विवेक-बाती धरूँ।
करूँ प्रकाशित प्रेम तें, ता दीपक तें तम हरूँ॥

विभूतियोग के सम्बन्ध में प्रश्न (१)

[६]

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥*

(श्री भग० गी० १० अ०, १२, १३ श्लो०)

छप्पय

अरजुन कहिबे लगे—आपु अज परब्रह्म प्रभु ।
परमधाम विख्यात परम पावन जगपति विभु ॥
पुरुष पुरातन परमेश्वर परतत्त्व परावर ।
आदिदेव अखिलेश सनातन परम प्रभाकर ॥
सरब, सरबगत सरबमय, सबके सदा अधार हैं ।
पुरुषोत्तम परमातमा, निराकार साकार हैं ॥

---

* इस पर अर्जुन ने कहा—आप परब्रह्म हैं, परमधाम तथा परम पवित्र हैं, शाश्वतपुरुष, दिव्य, आदिदेव, अज तथा विभु हैं ॥१२॥

सम्पूर्ण ऋषिगण, नारादादि देवर्षिगण, असित, देवल, व्यास और आप स्वयं भी अपने को पूर्वोक्त विशेषण वाला बताते हैं ॥१३॥

हमें किसी विषय में जिज्ञासा तब होती है, जब उसकी प्रशंसा सुनते हैं किसी की महिमा सुनकर, माहात्म्य श्रवण करके यह जानने की इच्छा होती है, कि वह वास्तव में है क्या? कोई व्यक्ति है, उसके गुणों की उसके भक्ति भाव की, उसकी विद्वत्ता की जब हम निरन्तर प्रशंसा सुनते है, तो उसके दर्शनों की उसके सत्संग की मन में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। किसी देश की, किसी स्थान की, किसी तीर्थादि पावन स्थल की महिमा श्रवण करते हैं, तो उसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी की प्रत्यक्ष जाकर देखने की अभिलाषा होती है। इसी प्रकार किसी पुण्य पर्व का माहात्म्य श्रवण करते हैं, तो उस पर्व पर विशेष दान पुण्य का विधान है उसे करने को मन में स्वाभाविक उमंग उठती है।

भगवान् ने जब बारम्बार अपने विभूतियोग की प्रशंसा की और यह भाव व्यक्त किया। कि यह सब मुझसे ही उत्पन्न होता हैं, मुझसे परतर कुछ भी नहीं है, तब अर्जुन की जिज्ञासा होना स्वाभाविकी ही थी। इसीलिये अर्जुन ने इस विषय का प्रश्न विस्तार के साथ किया।

सूतजी कहते है, मुनियो! विभूतियोग की अत्यन्त प्रशंसा सुनकर अर्जुन के मन में विभूतियोग के रहस्य को जानने की विशेष जिज्ञासा हुई। अपने आप स्वय अपने श्रीमुख से मक्तकंठ होकर जिसकी महिमा गाते-गाते थकते नहीं, वह विभूतियोग वास्तव में है, क्या? अर्जुन ने इसे अत्युक्ति नहीं समझा और न श्रीभगवान् के प्रति अपना अविश्वास ही प्रकट किया। भगवान् के प्रति पूर्ण आस्था रखते हुए उन्होंने पूछना आरम्भ किया।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! आप परब्रह्म हैं, परमधाम हैं। अर्थात् सबके एकमात्र आश्रय हैं। सबको प्रकाश प्रदान करने वाले हैं। आपकी पवित्रता के सम्बन्ध में भी सन्देह नहीं। स्वयं

तो आप परम पावन हैं ही, जो आपके सम्पर्क में आ जाते हैं, उन्हें भी आप पावन बना देते हैं।

यह बात मैं अपनी ओर से ही नहीं कह रहा हूँ, किन्तु जो ज्ञानी हैं, जिन्होंने समस्त शास्त्रों को श्रद्धा सहित श्रवण किया है, जो सत्यपरायण हैं, जिनका अन्तःकरण निरन्तर की तपस्या के कारण पवित्र बन गया है, ऐसे स्वयं प्रभव ऋषिगण भी आपकी इसी प्रकार प्रशंसा करते हैं। उनमें देवर्षि नारद सर्वप्रधान हैं यद्यपि वे देवर्षि सभी लोकों में बिना रोक टोक के विचरण करते रहते हैं, उनकी अव्याहत गति है, फिर भी देवताओं के लोकों में विशेष निवास करने के कारण वे देवर्षि कहाते हैं, जो त्रिकालज्ञ हैं, सत्यवादी हैं, जीवों को भगवत् सम्मुख करने का जो सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। जो संसार बन्धन से सर्वथा विमुक्त हैं, फिर भी दया के वशीभूत होकर, जीवों के ऊपर करुणा करके इस संसार से सम्बन्धित बने रहते हैं, दूसरों पर अनुग्रह करने को जो व्यग्र तथा कातर बने रहते हैं, जिन्होंने हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु को–जिनके गर्भ में श्रीप्रह्लादजी थे, उन्हें इन्द्र से छुड़वाया था तथा उसे अपनी कुटिया में रखा, उसे इच्छा प्रसव का वर देकर उसके गर्भस्थ पुत्र प्रह्लाद को लक्ष्य करके गर्भ में ही भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया था, जो गंधर्वयोनि में, तथा दासी पुत्र की योनियों में जाकर भी पुनःनारदत्व को प्राप्त हुए। उन मन्त्रों के द्रष्टा, विविध शास्त्रों के रचयिता, भक्ति के आचार्य नारदजी ने भी आपकी ऐसी ही प्रशंसा की है। उनके अतिरिक्त भी चिरजीवी मार्कंडेय मुनि है अङ्गिरा, पुलह पुलस्त्यादि ऋषि हैं, वे सब भी एक स्वर से आपकी महिमा का गान करते है।

महर्षि कश्यप के जो वत्सर और असित पुत्र है तथा असित के पुत्र देवल हैं ये महान् तपस्वी शिव भक्ति परायण वेद शास्त्रों

में परम प्रवीण हैं, वे भी आपकी महिमा का गान करते हैं। इनके अतिरिक्त भगवान् वसिष्ठ के प्रपौत्र शक्ति के पौत्र तथा पराशरजी के पुत्र, सर्व विद्याविशारद समस्त वेदों का व्यास करने वाले, पुराणों की रचना करने वाले सत्यवती नंदन भगवान् श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासजी ने भी आपको शाश्वत अर्थात् सदा सर्वदा एक रूप में रहने वाले, परमाकाश में, निज स्वरूप में अवस्थित रहने वाले सर्वप्रपञ्चातीत, सबके कारण सबके आदि पुरुष, स्वयं प्रकाश स्वरूप, कभी भी कर्मवश होकर जन्म न लेने वाले, सर्वगत सर्वान्तर्यामी पुरुष, शाश्वत, दिव्य, आदि देव, अज तथा विभु बताया है।

इन सबकी बात छोड़ दें। ऐसा भी हो सकता है, कि इन महर्षियों ने तो स्तुति वचनों में आपका वर्णन बढ़ा चढ़ाकर कर दिया हो, किन्तु आप तो स्वयं ही बारम्बार अपनी महिमा का वर्णन करते हुए अपने श्रीमुख से इन सब बातों का समर्थन कर रहे हैं, अपनी महिमा का बखान स्वयं कर रहे हैं। अतः इस सम्बन्ध की मुझे विशेष जिज्ञासा है।

भगवान् ने कहा—"क्या जिज्ञासा है भाई! क्या तुम्हें मेरे कथन में कुछ अत्युक्ति दिखायी देती है?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस सम्बन्ध में अर्जुन और जो जिज्ञासा करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मुँह देखी नहिँ कहूँ आपु सब जगके कर्ता।
भयो ज्ञान अब प्रभो! आपु ही धरता भर्ता॥
अपनी महिमा स्वयं आपुने मोइ बताई।
वेद शास्त्र इतिहास पुराननिनें हू गाई॥
कहें सकल ऋषिदेव ऋषि, नारद अरु श्रीव्यास हैं।
मुनि देवल अरु असित ऋषि, आदि जगत इतिहास हैं॥

विभूति योग के सम्बन्ध में प्रश्न (२)

[७]

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवान्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥
स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० १४, १५ श्लोक)

छप्पय

मोइ दयो उपदेश कृपा करि तुमने स्वामी ।
हौं तो भयो विमूढ़ मोह ममता अनुगामी ॥
केशव ! जो कछु कह्यो आपुने मेरे प्रति है ।
मानूँ ताकूँ सत्य अल्पमति मेरी अति है ॥
भगवन् ! तुमरो तत्त्व नहिँ, जानत दानव सुर तथा ।
सुर ऋषि जब जानत नहिँ, फिरि पुरुषनिकी का कथा ॥

---

* हे केशव ! आप जो भी मुझसे कहते हैं, उस सबको मैं सत्य ही मानता हूँ । हे भगवन् ! देवता भी आपके व्यक्तित्व को नहीं जानते । फिर दानव कैसे जान सकते हैं ॥१४॥

हे भूतभावन विभो ! हे भूतों के स्वामिन् ! हे देवाधिदेव ! हे जगत् पते ! हे पुरुषोत्तम ! आप ही अपने आपको जनाते हैं (अन्य कोई नहीं) ॥१५॥

एक बार देवर्षि नारद धर्मराज युधिष्ठर के महलों में पधारे। धर्मराज ने उनका विधिवत् स्वागत सत्कार किया। जब नारद जी पथ की थकान मिटा कर स्वस्थ चित्त होकर बैठ गये, तब धर्मराज ने उनसे पूछा—"ब्रह्मन्! भगवान् तो समदर्शी हैं उनके लिये तो जैसे हो देव वैसे ही दैत्य फिर वे देवताओं का पक्ष लेकर असुरों का वध क्यों किया करते हैं? उनसे प्राकृत पुरुषों की भांति द्वेष भाव क्यों रखते हैं?"

धर्मराज को ऐसी गम्भीर तथा मार्मिक शंका सुनकर देवर्षि नारद हँसने लगे और फिर उनसे हँसते हुए बोले—राजन्! आप सत्य कहते हैं। वास्तव में भगवान् के लिये न कोई प्रिय है न अप्रिय। उनका न कोई शत्रु है न मित्र सब के प्रति उनका समान भाव है। देखो, निन्दा स्तुति आदि ये सब शरीर के प्रति होते हैं, आत्मा तो निन्दा, स्तुति, सत्कार तथा तिरष्कार सबसे परे हैं। भगवान् तो सबका कल्याण ही करते हैं। उन्हें जो जिस भाव से भजता है, उसे उसी भाव से वे फल देते हैं, जो श्रद्धा, भक्ति, प्रेम भाव से, तथा सम्बन्ध से उन्हें भजते हैं, उनको उसी रूप से वे फल देते है। जो उन्हें शत्रु भाव से भजते हैं, उन्हें मारकर मुक्ति देते हैं। उनके सम्मुख कैसे भी कोई आ जाय, किसी भाव से भी उनका स्मरण करे, मुक्ति वे अपने शत्रुओं को भी देते हैं और राजन्! जैसी तन्मयता वैर करने से होती है वैसी तन्मयता भक्ति करने से भी नही होती। अब देखो, प्रह्लाद जी ने अनन्य भक्ति करके प्रभु का प्रसाद प्राप्त किया, किन्तु उसके पिता हिरण्यकशिपु ने तो भगवान् से घोर शत्रुता करके, उनके हाथ से मरकर भी सुदुर्लभ पद मुक्ति को प्राप्त कर लिया। यह कहकर नारद जी ने धर्मराज के पूछने पर पूरा प्रह्लाद चरित्र सुना दिया। प्रह्लाद जी की अनन्य भक्ति का

बड़ा ही सजीव वर्णन किया।

इस पर धर्मराज ने पश्चात्ताप प्रकट करते हुए कहा—"भगवन्! महाभाग प्रह्लाद जी ही बड़े भारी भाग्यशाली है, जिन्हें नृसिंह भगवान् की ऐसी अहैतुकी कृपा प्राप्त हो गयी। वे ही भाग्यवान् हैं। हम तो अभागे हैं जो उन परात्पर प्रभु की कृपा का कुछ भी अंश प्राप्त न कर सके।"

इस पर नारद जी ने प्रेम में विह्वल होकर गद्गद वाणी में कहा—"धर्मराज! आप अपने सम्बन्ध में कुछ न कहें। आप कितने भारी भाग्यशाली हैं, संसार में इसका अनुमान कोई लगा ही नहीं सकता। आप तो संसार में सबसे श्रेष्ठ भाग्यशाली हैं, क्योंकि तुम्हारे घर में तो स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा नराकृति धारण करके गुप्त रूप से निवास करते हैं।"

धर्मराज ने आश्चर्य चकित होकर कहा—"भगवन्! मेरे घर में मनुष्य का रूप बनाकर परब्रह्म निवास करते हैं, मुझ हतभागी को तो आज तक उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ नहीं।"

नारदजी ने कहा—"अच्छा, यह बताओ कि जो इतने भारी ऋषि मुनि ज्ञानी ध्यानी महात्मा पुरुष जो नित्य ही तुम्हारे घर का चक्कर लगाया करते हैं। हम जो बार-बार दौड़-दौड़कर हस्तिनापुर में आते रहते हैं, इसका क्या कारण है?"

धर्मराज ने कहा—"भगवन्! यह तो सन्त महात्माओं आप जैसे ऋषि महर्षियों की मुझ क्षुद्र दास पर अहैतुकी कृपा है जो मुझ दीनहीन मतिमलीन पर कृपा करते रहते हैं, मुझे अपनी सेवा का सुयोग प्रदान करते रहते हैं, आप लोग मुझ गृहस्थ धर्म में फँसे मतिमन्द पर अनुग्रह करने मुझे आशीर्वाद प्रदान

करने को इतना कष्ट करते हैं।"

नारद जी ने कहा—"राजन ! यह तो है ही, किन्तु इतनी ही बात नहीं हैं। उनका भी अपना स्वार्थ रहता है। यहाँ आकर आपके घर में गूढ़ रूप से छिपे हुए मनुष्य वेष बनाये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का उन्हें दर्शन हो जाता है। उनके दर्शनों के लोभ मे ही ये झुन्ड के झुन्ड देवर्षि राजर्षि तथा महर्षि-गण आपके घर के चारों ओर उसी प्रकार मँडराते रहते हैं, जैसे खिले हुए कमलों के मधु के लोभ के कारण उसके चारों ओर मधुकर मँडराते रहते हैं।

धर्मराज ने कहा—"तो प्रभो ! मुझे उनके दर्शन क्यों नहीं होते ?"

नारद जी ने कहा—"राजन ! उनके दर्शन सब किसी को नहीं होते। बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, योगी, यती, संन्यासी, ब्रह्म-चारी, मनस्वी तपस्वीगण निरन्तर जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं, किन्तु माया के लेश से रहित परम शांत परमानन्दानुभव स्वरूप परब्रह्म को पा नहीं सकते। वे आपके यज्ञ में पैर धोने का काम करते हैं, जूठी पत्तलें उठाते हैं। दास की भाँति तुम्हारे पीछे-पीछे घूमते हैं, तुमसे आज्ञा प्राप्त करने को हाथ जोड़े नीचे कन्धा झुकाये विनीति भाव से तुम्हारे सम्मुख खड़े रहते हैं।"

धर्मराज ने आश्चर्य के साथ कहा—"मुझे तो उस परब्रह्म परमात्मा के दर्शन हुए नहीं। हुए भी होंगे, तो मैं मायाबद्ध जीव उन्हें पहिचान न सका हूँगा ?"

नारद जी ने कहा—राजन् ! जिसने योगमाया के परदे से अपना मुख छिपा रखा है, अथवा जो बहुरूपिया नाना प्रकार के दूसरे-दूसरे रूप रख कर तुम्हारे सामने आता है, उस बहु-रूपिये को आप पहिचान भी कैसे सकते हो ?

धर्मराज ने पूछा—ऐसा बहुरूपिया कौन है, वह कौन-कौन से रूपों को रख कर राज सभा में आता है।

नारद जी ने कहा—वह श्याम रंग का बहुरूपिया है। वह कभी तो तुम्हारा प्यारा बन जाता है, कभी हितैषी बनकर सम्मुख आता है और तुम्हारे हित की चिन्ता करता रहता है। कभी तुम्हारे मामा वासुदेव जी का पुत्र बनकर आपके पैर छूता है। कभी आप सबके सम्मुख उसकी पूजा करने लगते हो और सिंहासन पर बिठाकर उसके चरणों को प्रक्षालन करने लगते हो, तो वह अपने चरणों को निर्भीक होकर धुलाने लगता है। सहर्ष तुम्हारी पूजा को स्वीकार करता है। कभी जब आप उसे डाँट कर आज्ञा देते हो, तो मस्तक झुकाकर बड़ी श्रद्धा से आपकी आज्ञा का तत्परता के साथ पालन करने लगता है। जब कभी आप उससे किसी बात की सम्मति लेने लगते हो तो, वह गुरु की भाँति-आचार्य की भाँति-आप को यथार्थ सम्मति भी देता है। वे परब्रह्म परमात्मा और कोई नहीं हैं, ये आपके भाई अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण ही हैं।

धर्मराज युधिष्ठर ने पूछा—क्या श्री कृष्ण परब्रह्म हैं? ईश्वर है?

नारद जी ने कहा—"ईश्वर ही नहीं, ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। शंकर, ब्रह्मा, इन्द्रादि लोकपाल भी अपनी सम्पूर्ण बुद्धि लगाकर इनके न यथार्थ रूप को जान सकते हैं और न इनकी महिमा का वर्णन ही कर सकते हैं। फिर हम जैसे लोगों की तो बात ही क्या है। हम किस खेत की बथुआ हैं। हम लोग तो केवल मौन होकर भक्ति भाव और संयम के सहित उनकी पूजा ही कर सकते हैं। राजन्! आज परब्रह्म परमात्मा को तुमने प्रसन्न कर रखा है, वह तुम्हारे अधीन हो गया है। तुम उनसे

हमारी शिफारिस कर दो। उनसे कह दो कि वे भक्त वत्सल भगवान् हम पर प्रसन्न हो जायें।"

महाराज धर्मराज युधिष्ठिर को जब यह ज्ञात हुआ कि श्री कृष्ण स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। वे प्रेम विह्वल होकर मन ही मन भगवान् श्री कृष्ण की पूजा करने लगे, व ध्यान मग्न होकर उनके स्वरूप का चिन्तन करने लगे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने अर्जुन से कहा—अर्जुन! तुम्हें मेरे कथन में मेरी महती महिमा के सम्बन्ध में कुछ अत्युक्ति दिखायी पड़ती है क्या?" इस पर अर्जुन कहने लगे—"नही, भगवन्! आप मुझसे जो भी कुछ कह रहे हैं, उसे सोलह आने सत्य मानता हूँ। रुपये के सौ पैसों में से एक पैसा भी मुझे अविश्वास नही है। आप तो केशव हैं अर्थात् क, अ, ईश ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र इन तीनों शक्तियों से सम्पन्न हैं। सर्वज्ञ हैं, सर्वान्तर्यामी हैं आप ने जो यह कहा कि मेरे प्रभाव को मनुष्यों की तो बात ही क्या देव गण तथा ऋषि महर्षि गण भी नहीं जानते, सो यह बात सर्वथा सत्य है। इस पर मैं पूर्ण विश्वास करता हूँ। क्योंकि आप संसार में जितने भी ऐश्वर्य हैं, धर्म का जो सार भौम समग्र रूप है संसार में जितने प्रकार के यश है भाँति-भाँति की जो समग्र श्री अथवा शोभा है, विश्व ब्रह्माण्ड का जो समग्र ज्ञान है तथा जितना भी समस्त वैराग्य इन सभी से आप युक्त है। इन सब का नाम भग है, इसीलिये आप भगवान् कहलाते हैं। कोई कितना भी ज्ञानवान् क्यों न हो, वह भले ही देवता हो दानव हो ऋषि महर्षि कोई भी क्यों न हो आपके समग्र प्रभाव को भली भाँति जान ही नही सकता।

तब आप पूछेंगे, कि जब ये कोई नहीं जानते, तो कोई भी

तो मेरे प्रभाव को जानता होगा ? तो इसका उत्तर यही है कि आपके प्रभाव को आप ही स्वयं जानने में भले ही समर्थ हों। इसलिये आप पुरुष नहीं पुरुषोत्तम है। सब पुरुषों में श्रेष्ठ हैं प्रकृति से तो आप परे हैं ही पुरुष से भी परे हैं या पुरुष से-नर से-भी उत्तम नारायण पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम होने के साथ आप भूत भावन भी हैं।

जिनने भी भूत हैं, उन सब के उत्पन्न करने वाले पिता हैं। जो भूतों से निर्मित पुरुष हैं वे भला आप पुरुषोत्तम को पूर्ण रीत्या कैसे पहिचान सकते हैं, क्योंकि आप भूतो के जनक हैं, पिता, हैं पालक, उत्पादक तथा पैदा करने वाले हैं। भूत भावन होने के साथ ही आप भूतेश भी हैं। अर्थात् पैदा करके छोड़ देते हो सो भी बात नही।

आप इन सब भूतों के अपने नियन्तृण में रखते हैं। आप उत्पादक होने के साथ ही साथ सर्वभूत नियन्ता भी हैं इसलिये भूतेश पुरुषोत्तम हैं। भूतेश होते हुए भी देव देव हैं।

संसार में सबके स्वामी होते हैं जैसे नरों के स्वामी नर देव, राजा पृथ्वी के स्वामी, ब्राह्मण भूदेव। देवताओं के स्वामी सुरेश किन्तु संसार भर में जितने भी देव है स्वामी हैं उन सबके आप देव हैं सबके स्वामी है इसीलिये आप देव देव पुरुषोत्तम हैं। देव देव होने के साथ आप सम्पूर्ण जगत् के पति अर्थात् जगत्पति भी हैं।

आपको ही इस बात का ज्ञान है, कि कौन से कार्य से जगत् का हित होगा और कौन से कार्य से जगत् का अहित होगा। ज्ञान स्वरूप जो वेद हैं उसके प्रणयन कर्ता भी आप ही हैं। इस जगत् को आप पहिले उत्पन्न करते हो और फिर उत्पन्न किये हुए का पालन भी आप ही करते हो और जब इच्छा

होती है, तब जगत् का संहार भी आप ही कर देते हो। स्वामी उसी को कहते हैं, जो अपनी वस्तु का इच्छानुसार उपयोग कर सके। उसे कोई रोकने टोकने वाला उससे श्रेष्ठ उसके सिर पर न हो। इस चराचर जगत् के आप एकमात्र सच्चे सम्राट हो। कोई भी आपके कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसलिये आप पुरुषोत्तम होने के साथ ही साथ जगत् पति हैं। इस प्रकार आप ही सबके जनक हैं, सबके पूजनीय गुरु-आचार्य हैं और सबके राजा हैं। अतः आपकी विभूतियों के सम्बन्ध में प्रश्न करें भी तो किससे करें आपके अतिरिक्त कोई आपकी विभूतियों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी रखता होता, तो हम उसी के समीप जाकर प्रश्न करते, उसी से जानकारी प्राप्त करते, किन्तु अपनी विभूतियों के एकमात्र ज्ञाता आपही हैं। आपही अपनी विभूतियों से सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त किये हुए है अतः आप से ही प्रश्न करने से कार्य सिद्धि हो सकता है।

भगवान् ने कहा—अच्छा, तुम मेरी विभूतियों के सम्बन्ध में क्या-क्या जानकारी करना चाहते हो, इस बात को स्पष्ट-खुला-सा करो। जो तुम मुझसे पूछोगे उसे मैं तुम्हें बताऊंगा।

सूतजी कहते हैं-मुनियो। भगवान् की विभूतियों के सम्बन्ध में अर्जुन और भी जो स्पष्टता से पूछेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

कैसे जाने तुम्हें मनुज तो क्रोधी कामी।
तुम हो गुनतें रहित जगतपति सब जग स्वामी॥
जानें नहिं सुर असुर भोग में लिप्त रहत नित।
तुम देवनि के देव भूतभावन भूतनिपति॥
हे पुरुषोत्तम! जगत्पति, सदा सर्वदा तुम रहत।
जानत अपने आपकूं, स्वयं प्रकाशित नित रहत॥

विभूतियोग के सम्बन्ध में प्रश्न (३)

[८]

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥*

(श्री भा० गी० १० अ० १६, १७, १८ श्लो०)

छप्पय

कैसे जगकूँ व्याप्त करौ निवसत सब थल में ।
कहँ कहँ कैसो रूप धारि निवसो थल जल में ॥
हे स्वामी ! तुम सकल विभूतिनि के ही द्वारा ।
जाने जाओ देव ! करो जग को उद्धारा ॥
दिव्य विभूतिनि को प्रभो, मोतें अब बरनन करो ।
का बनि कहँ कहँ वसत हो, मेरी यह शंका हरो ॥

---

* हे प्रभो ! अपनी उन दिव्य विभूतियों को केवल आप ही सम्पूर्णता से कहने में समर्थ हैं, जिन विभूतियों से इन सभी लोकों को व्याप्त करके आप स्थित हैं ॥१६॥

भगवान् के समस्त सद्गुणों को, भगवान् के महान् प्रभाव को, भगवान् के यथार्थ तत्त्व को उनके परम रहस्य को वेद, शास्त्र ऋषि मुनि कोई भी पूर्णता के साथ जान नहीं सकता। जब कोई जान ही नहीं सकता तो ऐसे विचित्र विषय के प्रश्न करना व्यर्थ ही है? भले ही कोई न जान सकता हो, फिर भी मनुष्य प्रश्न किये बिना रह नहीं सकता। आज तक आकाश का किसी ने अन्त नहीं पाया, फिर भी वायुयान द्वारा, यहाँ तक कि पक्षी अपने पखों के ही द्वारा आकाश का पार पाने को उड़ते हैं और जिसकी जितनी शक्ति होती है, उतने ऊपर तक उड़ते हैं। वेद भी जिसका पार नहीं पा सकते, उन्होंने भी जिसका वर्णन 'नेति-नेति' कहकर ही किया है उसके सम्बन्ध में शिष्य गण अपने गुरुओं से प्रश्न करते ही आ रहे हैं और आगे भी प्रश्न करते ही रहेंगे। यद्यपि उनकी समग्र महिमा को योग और विभूतियों को वे ऋषि महर्षि समग्रता के साथ जानते नहीं, भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई पूर्णरीत्या जानने में समर्थ भी नहीं। फिर भी शिष्यगण उनसे प्रश्न पूछते हैं, यदि भाग्य वश किसी को गुरु रूप में स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही मिल जायँ, तो फिर शिष्य उनसे तो उनकी समस्त विभूतियों की जानकारी प्राप्त करना ही चाहेगा। इसी-लिये अर्जुन बार-बार भगवत् विभूतियों के सम्बन्ध में प्रश्न

हे योगेश्वर! मैं किस भाँति आपका ही चिंतन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! मेरे द्वारा किस-किस भावों में आप चिंतन करने योग्य हैं ॥१७॥

हे जनार्दन! आप अपनी योगशक्ति और पुनः विभूति को भी विस्तार से कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥१८॥

करते हैं। सातवें और नवमें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन कर दिया था, किन्तु इतने से ही अर्जुन की तृप्ति नहीं हुई। वह फिरसे भगवान् की विभूतियों के सम्बन्ध में जानने को समुत्सुक हो उठा।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अर्जुन से अपने प्रश्नों को खुलासा करने को कहा, तब अपने प्रश्नों को स्पष्ट करते हुए अर्जुन कहने लगे—"भगवन्! जिन-जिन विभूतियों से आप इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित है, उन विभूतियों का वर्णन करें।"

भगवान् ने कहा— उनका वर्णन तो भैया, मै प्रसंगवश कई बार कर चुका हूँ।"

अर्जुन ने कहा—आपने कहीं-कहीं प्रसंगानुसार वर्णन किया अवश्य है, किन्तु वह वर्णन संक्षेप में किया है मै उन्ही को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ अतः अब उनका वर्णन पूर्णतया करें। और लोगों के लिए पूर्णतया वर्णन करना असंभव है, इसलिये मैं आप से ही इसके लिये अत्यंत आग्रह कर रहा हूँ।

भगवान् ने कहा—तुम किस अभिप्राय से पूछ रहे हो?

अर्जुन ने कहा—मै इस अभिप्राय से पूछ रहा हूँ कि आपने बार-बार इस बात पर बल दिया है, कि तुम सदा सर्वदा मेरा ही चिन्तन किया करो। आप की आज्ञानुसार यदि मै सर्वदा आपका चिन्तन करूँ, तो आप को किस भाँति जान सकूँगा। प्रथम तो मुझे अपनी जानने की विधि बताइये। संसार में पदार्थ तो बहुत है। उन सब जड़ चेतन, चर अचर पदार्थों में से किनका चिन्तन मुझे करना चाहिये। आप निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्ति सम्पन्न हैं। स्थूल बुद्धि देवादि के लिये भी आपका जानना अशक्य है ऐसे आप को हे "भगवन्! किन-किन भावों में चिन्तन करूँ।"

भगवान् ने कहा—तो तुम क्या केवल मेरी विभूतियों को ही जानना चाहते हो ?

अर्जुन ने कहा—संक्षेप में तो आपने अपनी विभूतियों का वर्णन कई बार किया है, किन्तु मैं उन्हें फिर से विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूँ और विभूतियों के साथ ही आपके योग के सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ। आप सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं तथा अतिशय ऐश्वर्य से युक्त है। "आप की विभूति किन में प्रकाशित होती है। इसका कृपा करके विस्तार पूर्वक वर्णन करें।"

भगवान् ने कहा—एक ही प्रश्न को बार-बार क्यों पूछ रहे हो ? इनसे तुम्हारी तृप्ति क्यों नहीं होती ?

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! भला, अमृत पान से किसी की तृप्ति होती है। इन संसारी पदार्थों में ही देखिये। नित्य उन्हीं पदार्थों को खाते हैं, उन रसों का आस्वादन करते हैं। उसी जल को नित्य पीते हैं, स्त्री पुरुष प्रसंग नित्य ही करते हैं, जब इन संसारी विषयों के नित्य भोग से ही तृप्ति नहीं होती, तो आपके वचन तो अमृतमय हैं। उनसे भला तृप्ति कैसे हो सकती है। आप के मुखकमल से निसृत वचनामृत का जितना ही पान करता हूँ, उतनी ही मेरी अभिलाषा उसके पान करने की ओर बढ़ती है। अतः यद्यपि आप पहिले इन विषयों को सुना चुके हैं फिर भी मुझे विस्तार के साथ सुनाइये।

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने बार-बार फिर से भगवान् के योग तथा विभूति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो कृपा के सागर भगवन् श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को डाँटा फटकारा नहीं। बड़ी प्रसन्नता के साथ बड़े उल्लास के साथ वे अपनी दिव्य विभूतियों के सम्बन्ध में कहने को उद्यत हो गये। अब भगवान्

अर्जुन से जैसे अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करेंगे। उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

योगेश्वर हैं आपु योग के प्रथम प्रवर्तक।
साधन जगके सकल सबनिके करता कारक॥
कैसे चिन्तन करूँ सतत कैसे यह जानूँ।
बनि विभूति तुम रहत जगत में कैसे मानूँ॥
किन-किन भावनि तैं प्रभो! कैसे हौं चिन्तन करूँ।
भगवन! तुमरी भक्ति लहि, किनि भावनि हिय में धरूँ॥

(०)

वैसे तुमने योग-शक्ति हे प्रभो! बताई।
निज विभूति हू नाथ! आपुने कहूँ जताई॥
किन्तु जनार्दन! आपु तनिक विस्तार बतावें।
योग विभूति बताइ मोइ फिरि तैं समुझावें॥
बार-बार मैंने सुनी, तृप्ति न होवै नाथ मम।
उत्कंठा उर में बढ़ति, शान्त करो हे नरोत्तम॥

भवगत् विभूतियाँ (१)

[६]

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

हँसि बोले भगवान—सुनो, अरजुन मम बानी ।
कुरुकुल में तुम श्रेष्ठ वीरवर योद्धा ज्ञानी ॥
मेरी विशद विभूति तिनहिँ ऋषि मुनि नित गावें ।
शेष शारदा थकें वेदहू पार न पावें ॥
कछु प्रधान तोतें कहूँ, नहिँ विभूति मम अन्त है ।
मैं अनन्त तातें जगत, सबरो शोभावन्त है ॥

---

* हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छी बात है, अब मैं तेरे प्रति अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से ही कहता हूँ । विस्तार करूँ तो मेरी विभूतियों का अन्त नहीं ॥१९॥

हे गुडाकेश ! सर्वभूतों के हृदय में स्थित आत्मा मैं ही हूँ । सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ॥२०॥

जो यह समझते हैं, कि यह जगत् ऐसे ही स्वभावानुसार बिना लगाम के घोड़े की भांति इच्छानुसार दौड रहा है। ऐसा समझने वाले अज्ञ हैं। यह संसार बड़े सुव्यवस्थित ढंग से चल रहा है। इसकी मर्यादा ऐसी बँधी हुई है, कि इसे विचलित करने की किसी मे सामर्थ्य ही नहीं। यह ऐसा परिपूर्ण सुव्यवस्थित मर्यादित नाटक है, कि इसके सूत्रधार ने सभी अभिनय भिन्न-भिन्न सुयोग्य पात्रों को बांट रखे हैं। वे पात्र ऐसे सिखाये पढ़ाये तथा दीक्षित हैं, कि अपने-अपने कामों में तनिक भी त्रुटि नहीं करते। सृष्टि करके सबको स्वतन्त्र छोड़ नहीं दिया है, कि जिसके जो मन में आवे वो सो ही करने लगे। एक के ऊपर एक अधिकारी बना दिये हैं। समय का सुव्यवस्थित विभाग कर दिया गया है। उन विभागों के संचालक, अध्यक्ष, पदाधिकारी सब नियुक्त कर दिये गये हैं। किस प्रधान-अधिकारी के नीचे के सहकारी अधिकारी हैं, इसकी व्यवस्था पहिले से ही है। एक सर्वनियन्ता सर्वश्रेष्ठ, सर्वान्तर्यामी, सर्वाध्यक्ष अधिकारी है, उसका नाम अपनी-अपनी मान्यता तथा रुचि के अनुसार कुछ भी रखलो, क्योंकि वह नाम रूप से रहित है। कोई उसे महाशक्ति कहते हैं, महेश्वर, कोई महादित्य, कोई महाविग्रहर तथा कोई उन्हें महाविष्णु के नाम से पुकारते हैं।

उन महाविष्णु की स्वास प्रश्वास बिना प्रयत्न के स्वाभाविक चलती रहती है। वे यद्यपि कार्य करते से दीखते हैं, किन्तु वास्तव में वे कर्तृत्वाभिमान शून्य हैं। अतः उन्हें करते हुए भी कर्मों का बन्धन नहीं होता। उनके प्रत्येक स्वास में अनन्त ब्रह्मांड उनके उत्पादक, पालक और संहारक अनंत ब्रह्मा, विष्णु और महेश, पैदा होते रहते हैं और प्रत्येक प्रश्वास में ये

सब विलीन होते रहते हैं। जैसे वे महाविष्णु भगवान् अनंत हैं वैसे ही उनके समस्त कार्य भी अनंत हैं। ब्रह्मांड भी अनन्त हैं उनके त्रिदेव भी अनन्त हैं। सभी ब्रह्मांड प्रायः एक से ही हैं। सभी का शासन प्रायः एक सा ही हो रहा है। जैसे एक बड़ी हांडी में बहुत से चावल पक रहे हैं, हमें यह जानना हो कि चावल पके या नहीं, तो प्रत्येक चावल को हंडी से निकाल कर उसे अंगुली अंगूठे से दबाकर नहीं देखा जाता। एक चावल की स्थिति समझ लेने पर शेष सभी चावलों की स्थिति का बोध हो जाता है। इसी प्रकार एक ब्रह्माण्ड का ज्ञान होने पर सभी ब्रह्माण्डों का ज्ञान हो जाता है।

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ब्रह्माजी ही बनाते हैं। विष्णु इसका पालन पोषण रक्षण करते हैं और अन्त में रुद्र इसका संहार करते हैं। पहिले सृष्टि करने में अकेले ब्रह्माजी ही प्रवृत्त हुए जब उन्होंने देखा अकेले से काम न चलेगा, तो ब्रह्माजी ने अपने सहायक रूप में सात महर्षियों की उत्पत्ति की इन सबको प्रजाओं का पति बनाया, इसलिये ये सप्त प्रजापति कहलाये। ब्रह्माजी ही सृष्टि करते हैं अतः इनका एक नाम "क" भी है। क शब्द ब्रह्माजी का भी वाचक है और प्रजापतियों का भी वाचक है। अतः मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ये 'सप्त ब्रह्मा' भी कहलाते हैं। इन सातों के अध्यक्ष ब्रह्माजी हैं। जब सृष्टि हो गयी उसका कार्य चलने लगा, तब उस कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिये भगवान् प्रजापति ने सब वर्गों के व्यक्तियों में से श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पुरुष छांटकर उन-उन वर्गों के अध्यक्ष या राजा बना दिये। जैसे समस्त प्रजापतियों का दक्ष को राजा बना दिया, ग्रह, नक्षत्र तथा तारों का राजा चन्द्रमा को बनाया। अङ्गिरसों का वृह-

स्पतिजी को, भृगुवंशियों का शुक्राचार्य को, आदित्यों का विष्णु को, वसुओं का पावक को, दैत्यों का प्रह्लाद जी को, मरुतों का इन्द्र को, साध्यों का नारायण को समस्त रुद्रों का शंकर को, जलचर जीवों का तथा जल का वरुण को, यक्ष राक्षसों का कुबेर को भूत प्रेत पिशाचों का शूलपाणि रुद्र को, नदियों का समुन्द्र को, गन्धर्वों का चित्ररथ को घोड़ों का उच्चैश्रवा को, समस्त पशुओं का सिंह को, चतुष्पादों का सांड़को, पक्षियों का गरुड को, सर्प विच्छू आदि का शेषनाग को, नागों का साधारण सर्पों का वासुकी को, पर्वतों का हिमालय को, दानवों का विप्रचित्ति को, पितरों का वैवस्वत को, सागरों का तथा नदी मेघों का पर्यजन्य को, अप्सराओं का कामदेव को, ऋतु, मास, पक्ष दिनादि का संवत्सर को, वैवस्वत मनु को समस्त मनुष्यों का राजा बनाया। फिर मनु के पुत्र और उनके भी पुत्र पौत्र इस समस्त वसुन्धरा के राजा हुए।

इसी प्रकार महाप्रलय, कल्प, वत्सर, मास, पक्ष, दिन, मुहूर्त, कला काष्ठा आदि काल के विभाग किये। एक कल्प के संचालन के लिये मनु के पुत्र, कल्प के देवगण, इन्द्र, सप्तर्षि तथा एक मन्वन्तरावतार ये ६ नियुक्त किये। एक कल्प तक ये ६ शासन करते हैं। कल्प के बदलने पर ये ६ भी बदल जाते हैं।

जगत् के संचालन के लिये धर्म तथा अधर्म दोनों को ही उत्पन्न किया। सत्ययुग में धर्म की लोगों में स्वाभाविक रुचि रहती है। कलियुग में अधर्म में स्वाभाविक रुचि रहती है। इस पर लोग पूछते हैं, कि जब कलियुग में अधर्म का ही प्रचार होना है। तो लोग धर्म-धर्म क्यों चिल्लाते हैं, "उन्हें तो युगानुसार अधर्म का ही प्रचार करना चाहिये।" इसका उत्तर यही है, अधर्म का तो

कलियुग में स्वाभाविक ही प्रसार हो जाता है उसके प्रचार की आवश्यकता नहीं। जब तक घोर कलियुग न आ जायगा तब तक शुद्ध सत्ययुग आ ही नहीं सकता। सत्ययुग लाने को घोर कलियुग का सर्वत्र अधर्म का पसार अत्यावश्यक है। किन्तु जैसे किसी भारी पत्थर को नीचे गिराने के लिये सब लोग जिधर गिरेगा उसी ओर नहीं लग जाते। कुछ लोग गिराने का संतुलन ठीक रखने के लिये कि एक साथ ही गिरकर किसी के ऊपर न गिर जाय कुछ लोग उसे विपरीत दिशा में खींचते रहते हैं, जिससे शनैः शनैः गिरे, इसी लिये भगवान् कलियुग में भी कुछ लोगों को धर्म प्रचार के लिये नियुक्त कर देते है जिससे संतुलित रूप से कलियुग का अन्त हो। वे धर्म प्रचारक भगवान् की विभूति ही है। भगवान् की आज्ञा से ही वे समय-समय पर प्रकटित होकर लोगों को धर्म का पथ दिखाते हैं। अधर्म की एक साथ बढ़ी हुई बाढ़ को रोकते हैं। वेग से बढ़ते हुए अधर्म को कुछ काल के लिये रोक थाम करते है। भगवत् विभूतियों द्वारा ही, बल, पुरुषार्थ, क्रिया, पराक्रम, आदि प्रदर्शित होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने बार-बार भगवान् से अपनी दिव्य विभूतियों का विस्तार के साथ वर्णन करने का आग्रह किया, तब भगवान् ने प्रसन्नता पूर्वक कहा—ठीक है, अच्छी बात है, जैसी तुम्हारी इच्छा है वैसा ही मैं करूँगा। तुमने जो मेरी अपनी दिव्य विभूतियों के सम्बन्ध में वर्णन करने को कहा है, मैं उनका वर्णन करूँगा। किन्तु सब विभूतियों का वर्णन नहीं कर सकता। जो प्रधान-प्रधान हैं, उन्हीं दिव्य विभूतियों में से कुछ का वर्णन करूँगा।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! मैं तो सब विभूतियों का वर्णन

सुनना चाहता हूँ। आप संक्षेप में प्रधान-प्रधान दिव्य विभूतियों का ही वर्णन क्यों करना चाहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—हे कुरुकुल मे श्रेष्ठ पुरुष! तुम समझ बूझकर भी ऐसी बातें कर रहे हो। देखो, जिससे जिस वस्तु की उत्पत्ति है, वह उसी के गुण वाली होती है। जैसे मिट्टी से जितने भी वर्तन बनगे सब मृण्मय ही होंगे। अतः मुझ अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर की विभूतियाँ भी अनन्त ही होंगी। जब कोई मेरी महिमा का ही अन्त नहीं पा सकता तब मेरी विभूतियों का कोई अन्त कैसे पा सकता है ? मेरी विभूतियों के विस्तार का तो कहीं अन्त है ही नही, फिर महान विस्तार कर ही कैसे सकता है। सक्षेप में अपनी दिव्य मुख्य- मुख्य विभूतियों को बतलाता हूँ।

अर्जुन ने कहा—"अच्छी बात है प्रधान-प्रधान का ही वर्णन कीजिये।"

भगवान् ने कहा—देखो, तुमने निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली है। तमोगुण को उत्पन्न करने वाली यह निद्रा ही है। जिसने भूख को, निद्रा को अपने वश में कर लिया है, वह सच्चा साधक है। वह दिव्य उपदेश ग्रहण करने का अधिकारी है। अनाधिकारी इस दिव्य ज्ञान को कभी ग्रहण ही नहीं कर सकता। अतः सुनो, समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित जो आत्मा है, वह आत्मा मेरी ही विभूति है। आत्म सत्ता से मैं ही सब भूतों के हृदय में अवस्थित हूँ। 'चेतना' रूप से मैं ही सबका जीवन दाता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—जब आप ही जीवन दाता हैं। तो फिर प्राणी मरते क्यों हैं, आप तो अविनाशी अजर-अमर हैं।

भगवान् ने कहा—"देखो, आत्मा तो कभी मरता नहीं। घर के नष्ट हो जाने से ही घर वाला नष्ट नहीं होता। जिसने घर बनाया है, वह उसकी रक्षा करता है, लीपता पोतता है स्वच्छता रखता है। आवश्यकता होने पर जीर्ण होने पर या अन्य किसी कारण से वही उसका अन्त भी कर देता है। इसी प्रकार मैं ही भूतों का आदि ब्रह्मा हूँ। भूतों का पालक मध्य में रहने वाला विष्णु हूँ और सबका अन्त करने वाला अन्तक काल स्वरूप रुद्र हूँ। मैं ही सबका आदि, मध्य और अन्त हूँ। तुम ध्यान करने के निमित्त ही तो मेरी विभूतियों के सम्बन्ध में पूछ रहे हो न ? इसलिये जब किसी चेतन वर्ग की उत्पत्ति होती मेरा ही ध्यान करो, जब किसी की सुदृढ़ स्थिति देखो, तब भी उसमें मेरा ही ध्यान करो और जब किसी का अन्त देखो उसका विनाश होते देखो तब भी मेरा ही ध्यान करो। मैं उत्पत्ति कारक हूँ, सब का पालन कर्ता हूँ और दुःख रूपी मृत्यु को देने वाला भी मैं ही हूँ। जितने उत्पादक वर्ग है सभी मेरी विभूति हैं। जितने भी पालन करने वाले हैं मेरी विभूति हैं। जितने संहर्ता है विश्वब्रह्माण्ड के नाश में सहायक हैं, सभी मेरी विभूति हैं। माता पिता मेरी विभूति हैं। राजा, पालक, अन्नदाता, विद्यादाता मेरी विभूति हैं। काल, यम, मृत्यु सब मेरी ही विभूति हैं। इन सब में तुम मेरा ध्यान करो।"

अर्जुन ने कहा—आपने सब भूतों में स्थित अपनी विभूतियाँ तो बता दीं। अब आदित्य, ज्योति, मरुत्, नक्षत्र, वेद, देव, इन्द्रिय और चेतना में आपकी विभूति का ध्यान कैसे करें, यह बताइये ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इन प्रश्नों का जो भगवान् ने उत्तर दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा आप सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

मेरे बिनु जग नाहिँ जगत को बीज कहाऊँ।
मैं सदैव ही रहूँ नहीं कहुँ जाऊँ आऊँ॥
अरजुन ! तू है गुड़ाकेश निद्रा हू जीती।
मैं जानूँ सब बात होहिँगी ह्वै रहिँ बीती॥
सब भूतनि हिय आतमा, बनिकें हौं निवसत सतत।
आदि मध्य अरु अन्त हौं, सब भूतनि में हौं बसत॥

भगवत् विभूतियाँ (२)

[१०]

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

बारह जो आदित्य अदिति के पुत्र कहावें ।
तिनि सबमें हौ विष्णु मोइ प्रानी सब ध्यावें ॥
ज्योतिनि में हौं सूर्य सुनहरी किरननिवारो ।
उनंचास जो मरुत मोइ मारीचि विचारो ॥
सत्ताइस नक्षत्र हैं, असुनी भरनी आदि जो ।
तिनि सब में हौं चन्द्रमा, है विभूति मम पार्थ सो ॥

---

* बारह आदित्यो मे मैं विष्णु हूँ, ज्योति वालो मे अंशुमान् सूर्य भी मैं ही हूँ, वायुओ मे मरीचि वायु और नक्षत्रों मे शशि मैं ही हूँ ॥२१॥

मैं वेदो मे सामवेद हूँ, देवताओ मे वासव—इन्द्र—हूँ । इन्द्रियों में मैं मन हूँ और प्राणियो में जो चेतना है, वह भी मैं ही हूँ ॥२२॥

पुराणों का जब हम अध्ययन करते हैं, तब उन सबमें सर्वप्रथम सृष्टि का ही वर्णन मिलता है। पुराण किसे कहते हैं, इसका उत्तर देते हुए कहा है पुराण के दश लक्षण है—जिनमें इन दश बातों का वर्णन हो उसे पुराण कहते है। ये दश बातें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय हैं। सब शास्त्रों का एक मात्र लक्ष्य आश्रय या मुक्ति ही है। मुक्ति का तात्पर्य यथार्थ रूप में निश्चय करने के ही निमित्त सर्ग, विसर्गादि नौ लक्षणों का वर्णन है।

बार-बार सृष्टि का वर्णन करने से क्या अभिप्राय है ? सृष्टि का ही विशद् वर्णन सम्पूर्ण शास्त्र क्यों करते है ? इसलिये करते हैं, कि इन्द्रियों के गोलक तो बाहर की ही ओर होते है, वह बाहरी वस्तुओं को ही देखने की क्षमता रखती है। जो इन्द्रियातीत तत्त्व है उसे इन्द्रियों द्वारा कैसे देखा जा सकता है, अतः इन्द्रियों द्वारा जो स्थूल पदार्थ देखे जा सकते हैं, पहिले उन्ही में भगवत् बुद्धि करो। उनमें भगवत् बुद्धि करते-करते इन्द्रियातीत तक-बुद्धि से भी जो परे तत्त्व है उस तक-पहुँच जाओगे।

जब पहिले ही पहिल भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया, तो सर्वप्रथम उन्होंने सब प्राणियों के अन्तःकरण में अवस्थित आत्मा का ही वर्णन किया।

इस पर अर्जुन ने कहा—"प्रभो ! आत्मा तो इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नही होती। मन के सहित समस्त इन्द्रियाँ जिस आत्मा को बिना ही देखे लौट आती हैं, ऐसी आत्मा आपकी विभूति अवश्य होगी, किन्तु उसे देखना, हम जैसे अज्ञों के लिये कठिन है, अतः आप अपनी ऐसी दिव्य विभूतियों का वर्णन करें, जिनको हम देखकर उनका ध्यान कर सकें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने वाह्य ध्यान करने

के निमित्त आदित्य, ज्योति आदि में अपनी विभूति बताने की प्रार्थना की तब भगवान् कहने लगे—अर्जुन! देखो, यह दृश्य चराचर सृष्टि भगवान् ब्रह्माजी के मानस पुत्र भगवान् कश्यप से ही हुई है। कश्यपजी की अदिति, दिति, दनु, काष्टा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि ये १३ पत्नियाँ थीं। इन्हीं से भिन्न-भिन्न जाति के जीव उत्पन्न हुए। उनकी सबसे बड़ी पत्नी अदिति थी, जिनसे धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु या वामन ये बारह पुत्र हुए। यद्यपि वामन या विष्णु सबसे छोटे थे। इन्द्र के पद में भी छोटे होने से उपेन्द्र कहाते हैं। इन्द्र के सहायक है। इतना सब होने पर भी समस्त अदिति के पुत्र आदित्यों में विष्णु अथवा वामन ही मेरी मुख्य विभूति हैं। वे ही सब आदित्यों में श्रेष्ठ हैं।"

अर्जुन ने पूछा—ज्योतिष्मान् जितने हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—सूर्य, चन्द्र, तारागण, नक्षत्र, विद्युत, अग्नि आदि जितने भी प्रकाश प्रदान करने वाले हैं, उनमें मरीचि माली सुनहरी किरणों वाले सूर्य मेरी विभूति हैं। सूर्यनारायण ही ध्यान करने योग्य हैं।

अर्जुन ने पूछा—ये जो उनंचास मरुद्गण हैं, इनमें आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—मरुतों में मरीचि नाम का तेज है वह मेरा ही स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—जितने नक्षत्र हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—आकाश में जितने ग्रह, नक्षण तारागण आदि दिखायी देते हैं इनमें चन्द्रमा मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—ये जो चारों वेद हैं, इनमें आप की विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—वेद तो मेरी निःश्वास से ही उत्पन्न हुए हैं। वेद तो सभी पावन हैं प्रधान हैं, फिर भी गान की मधुरता के कारण जो अत्यन्त रमणीय है, जिसमें बहुत ही दिव्य-दिव्य स्तुतियाँ हैं, जिनका सस्वर गान करने से हृदय प्रफुल्लित हो उठता है, ऐसा सामवेद समस्त वेदों में मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"देवताओं में आप की विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—"समस्त देवताओं के राजा देवेन्द्र हैं। ये वरुण, कुवेर, यमादि समस्त देवताओ के अधिपति हैं, इनके सिंहासन पर बैठे रहने पर समस्त देवगण, ऋषिगण तथा उपदेव गण इनकी खड़े होकर स्तुति करते हैं, इसी कारण करते हैं, कि ये मेरी विशिष्ट विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा –मन सहित जो ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, इनमें आपकी विभूति कौन हैं ?

भगवान् ने कहा—इन्द्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तः इन्द्रिय अर्थात् अन्तःकरण। ये सभी इन्द्रयाँ बिना मन की प्रेरणा के कुछ भी नहीं कर सकतीं। चक्षु रूप को तभी देखने में समर्थ होती हैं, जब उनके साथ मन हो। इसी प्रकार सब इन्द्रियों को समझना चाहिये। अतः इन्द्रियों में मन मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—इन समस्त चेतन भूतों में आप की विभूति कौन है ?

भगवान् ने कहा—इन सभी चेतन प्राणियों में चेतना है, जीवन

है वह मेरी विभूति है। सम्पूर्ण प्राणधारियों में जो दुःख सुख का अनुभव कराने वाली बुद्धि की वृत्तिरूप चेतना है वही मेरी भूतों की चेतना सबकी सम्राज्ञी है। चेतना के बिना चेतन्यों का अस्तित्व ही नहीं।

अर्जुन ने पूछा—एकादश रुद्रों में आप की विभूति कौन है ?

सूत जी कहते हैं—मुनियो और अन्य विभूतियों का वर्णन जैसे भगवान् ने किया है, उन सबको मै आगे कहूँगा।

छप्पय

ऋक, यजु, साम, अथर्व चारि ये वेद बताये।
हौं तिनि सब में साम वेदविद् श्रेष्ठ जताये॥
जितने हैं सब देव स्वरग के सकल निवासी।
तिनि सबमें हौं इन्द्र बज्रधारी अरिनासी॥
दश इन्द्रिय जो देह में, तिनिमें मैं ही मन कह्यो।
भूतनि में बनि चेतना, मैं ही सब देहनि रह्यो॥

भगवत् विभूतियाँ (३)

[११]

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० २३, २४, श्लोक)

छप्पय

त्र्यंबक, हर, बहुरूप, वृषाकपि अरु अपराजित ।
शम्भु, वृषाकपि, शर्व, कपरदी, कपली, रैवत ॥
ग्यारहवें मृग व्याध कह्यो रुद्रनि में शङ्कर ।
यक्ष राक्षसनि माहिँ धनेश हु हौं कुबेर वर ॥
आठ वसुनि में अगिनि हौं, संज्ञा मेरी ई कही ।
हौं सुमेरु परवतनि में, यह विभूति मेरी कही ॥

---

* रुद्रों मे मैं शकर हूँ, यक्ष राक्षसों मे कुबेर, वसुओ मे पावक और शिखर वालो मे सुमेरु पर्वत मैं ही हूँ ॥ ३॥

हे पार्थ ! पुरोहितों मे मुख्य पुरोहित बृहस्पति मुझे ही जानो । सेनापतियो मे स्कन्द और तलाबो मे सागर मैं ही हूँ ॥२४॥

बद्ध, मुक्त, मुमुक्षु और नित्य चार प्रकार के जीवों में नित्य जीव ही अधिकारी पद पर नियुक्त किये जाते हैं। इनमें से किसी की आयु ब्रह्मा की आयु के समान, किन्हीं की आयु ब्रह्मा जी से भी बड़ी तथा किन्हीं-किन्हीं की आयु, एक परार्ध, एक मन्वन्तर या कल्प की होती है। अधिकार से निवृत्त हो जाने पर ये नित्य जीव महर्लोक में या जन लोक में निवास करते हैं। इन अधिकारी जीवों का भी भूमि पर प्राकट्य होता है। जैसे वसिष्ठ जी हैं तो ब्रह्मा जी के पुत्र किन्तु फिर मित्रावरुण के वीर्य से पैदा हो गये। जब तक इनकी आयु की सीमा रहती है, तब तक ये अधिकारारूढ़ रहते हैं। यदि ये ज्ञानी हुए तो ब्रह्मा जी के साथ ये मुक्त हो जाते हैं। ज्ञानी न हुए तो इनका पुनः जन्म होता है। जैसे दक्ष यद्यपि प्रजापतियों के राजा थे, फिर भी शिव जी का अपमान करने के कारण नन्दीश्वर ने उन्हें शाप दे दिया—"दक्ष अज्ञानी ही रहे, यह मोक्ष ज्ञान से वंचित रहे, अतः पहिले तो दक्ष ब्राह्मण थे, फिर प्रचेताओं के द्वारा वार्क्षी में फिर से उत्पन्न हुए वहाँ इनका नाम दक्ष ही पड़ा।"

ये अधिकारारूढ़ नित्य पुरुषों का वास्तविक स्थान तो महर्लोक तथा जन, तप लोक है। जब ये अधिकारारूढ़ हो जाते हैं, तो अपने अधिकार के लोक में एक रूप से आ जाते हैं। जैसे स्वारोचिष मन्वन्तर में बृहस्पति जी सप्तर्षियों मे थे, तो वे सप्तर्षि लोक में रहते थे। जब उस पद से हट गये, तो पुनः महर्लोक में चले गये। जब अङ्गिरा के पुत्र बनकर प्रकट हुए तो देवताओं के पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित होकर स्वर्ग में निवास करने लगे।

जब श्री रामचन्द्र जी रावण को मार कर अयोध्या पुरी में राज्य करने लगे, तब उनसे भेंट करने बहुत से ऋषि महर्षिगण पधारे। उनके नामों में वसिष्ठ जी का भी नाम है। वसिष्ठ जी

तो उनके पुरोहित ही थे, उन महर्षियों के साथ आने वाले वसिष्ठ जी सप्तर्षि लोक में रहने वाले वसिष्ठ जी होंगे। वसिष्ठ जी एक रूप से तो यहाँ रघुवंश के पुरोहित रूप में रहते होंगे, एक रूप से सप्तर्षि लोक में सप्तर्षि पद पर प्रतिष्ठित होंगे। ये अधिकारारूढ़ पुरुष एक प्रकार से भगवान् ही है, विष्णु का जो पालन रूप कार्य है उसमें योगदान देते हैं। अतः जो-जो भी नित्य जीव अधिकारारूढ़ हैं, वे सब भगवत् विभूति ही हैं। उनमें भी जो सर्वश्रेष्ठ हैं वे भगवान् की विशेष दिव्य विभूतियाँ हैं। यहाँ उन्हीं अपनी कुछ दिव्य विभूतियों का वर्णन भगवान् करते हैं।

सूत जी कहते है—मुनियो ! जब अर्जुन ने आगे की विभूतियों के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—अर्जुन ! एकादश रुद्र हैं। जिनके नाम हर, बहुरूप, त्र्यंबक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली है। इन सब में शम्भू-शङ्कर-भोले नाथ इनके राजा हैं, अध्यक्ष हैं। ये मेरी विशेष दिव्य विभूति हैं। मेरी विभूतियों में ये ही शंङ्कर ध्यान करने योग्य है।"

इस पर अर्जुन ने पूछा—यक्ष राक्षसों में आपकी विभूति कौन है ?

भगवान् ने कहा—उत्तर दिशा में ही विशेष कर यक्ष राक्षसों का निवास है। ब्रह्माजी के दश मानसिक पुत्रों में से पुलह और पुलस्त्य जो गंडकी के तट पर उत्तराखंड में हिमालय पर निवास करते थे। इनमें से पुलस्त्य जी का विवाह कर्दम मुनि की पुत्री हविर्भू के साथ हुआ। हविर्भू के गर्भ से पुलस्त्य जी के विश्रवा नाम के परम तपस्वी ज्ञानी पुत्र हुए। महर्षि विश्रवा का विवाह भरद्वाज जी की पुत्री वर वर्णिनी से हुआ। वर वर्णिनी के गर्भ से विश्रवा जी के एक पीली आँखों वाला पुत्र हुआ, वह वैश्रवण कुबेर हुए। महर्षि विश्रवा की एक राक्षसी पत्नी भी थी।

राक्षसों से विश्रवा जी का घरेलू सम्बन्ध हो गया था, अतः उनकी राक्षसी उप पत्नी कैकसी से रावण कुंभकरणादि पुत्र हुए। तब तक ब्रह्माजी ने तीन ही दिशाओं में लोकपालों की नियुक्तियाँ की थी। चौथी उत्तर दिशा खाली थी, ब्रह्माजी उस दिशा में एक लोकपाल नियुक्त करने की बात सोच रहे थे, किन्तु उन्हें इस पद के अनुरूप कोई उत्तम पुरुष मिल नहीं रहा था। यक्ष राक्षस बहुत धनिक थे। धन का कोष भी ब्रह्माजी ने इसी दिशा में बनाया था। कुबेर जी ने बड़ी घोर तपस्या की। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी इनके सम्मुख प्रकट हो गये। इन्होंने विधिवत ब्रह्माजी की पूजा की। इनकी पूजा को शास्त्रीय विधि से स्वीकार करके ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर इनसे वर माँगने को कहा।

तब इन्होंने हाथ जोड़कर विनती की—"प्रभो! यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं, तो मुझे लोकपाल बना दीजिये।"

तब ब्रह्मा जी ने कहा—"मैं भी यही सोच रहा हूँ। उत्तर दिशा लोकपाल से रहित है। तुम यक्ष राक्षसों के अधिपति बन जाओ। तुम धनाधीश होगे। समस्त धन के तुम ही आधीश्वर समझे जाओगे। यक्ष राक्षसों के अधिपति होने के साथ तुम वित्तेश कहाओगे। तभी से कुबेरजी उत्तर दिशा के लोकपाल हो गये, ये यक्ष राक्षसों तथा सभी प्रकार के धनों के स्वामी हैं। ये मेरी दिव्य विभूति हैं। उत्तर दिशा में इन्हीं की पूजा करनी चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—अष्ट वसुओं में आपकी विभूति, कौन से वसु है?

भगवान् ने कहा—"धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल,

प्रत्यूष और प्रभास ये ही अष्ट वसु कहलाते हैं, इनमें अनल-अर्थात् पावक मेरी विभूति हैं। यही ध्यान करने योग्य हैं।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! शिखर वाले पर्वतों में आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—देखो, पहाड़ तो बहुत हैं, हिमालय सबसे बड़ा पहाड़ है। यह पूरे भरत खंड में व्याप्त है, बहुत दूर तक यह समुद्र में भी है। समुद्र पार के जितने छोटे बड़े द्वीप हैं, सबमें हिमालय की ही शाखायें है। किन्तु हिमालय पृथ्वी तक ही सीमित है। सुमेरु पर्वत त्रिलोकी में व्याप्त है। इसकी आठों दिशाओं में आठों लोकपालों की आठ पुरियाँ हैं। बीच के शिखर पर स्वर्ग से भी ऊपर ब्रह्माजी की एक पुरी है, जहाँ ब्रह्माजी कभी-कभी आकर अपनी सभा लगाते हैं, यह सुमेरु पर्वत सर्व साधारण की दृष्टि से अगोचर है। पापी पुरुष इसका दर्शन नहीं कर सकता। यह त्रैलोक्य को घेरे हुए दिव्य सुवर्ण का पर्वत है, इसमें अमूल्य धन रत्नों का भंडार है। शिखर वालों में से यह मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—पुरोहितों में आप की विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—जैसे देवताओं के स्वामी इन्द्र हैं वैसे ही पुरोहितों के स्वामी अध्यक्ष या राजा देव पुरोहित बृहस्पति जी है। ये बड़े ज्ञानी तथा नीति विद्या विशारद है। इनके भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों तथा कल्पों में भिन्न-भिन्न जन्म हुए हैं। ये पुरोहितों के अग्रणी होने के कारण मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—सेनापतियों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—पहिले देवताओं की सेना का कोई योग्य सेनापति नहीं था। सेना की जय पराजय सेनापति के ही ऊपर निर्भर करती है। योग्य सेनापति न होने से देवताओं को बार-बार पराजय होती थी, असुर आ आकर स्वर्ग पर अपना अधि-

एक बड़ी भारी नहर है, उसमें गंगाजी का अथाह जल निरन्तर बहता रहता है। उसी नहर में से सैकड़ों सहस्रों उप-नहर बम्बा निकले हैं, उनमें से भी नालियाँ निकली हैं। वे नालियाँ खेतों में जाती हैं, खेतों में भी बहुत से बरहा बने हैं, उन बरहाओं द्वारा पानी खेत की क्यारियों में जाता है, उन क्यारियों में अन्न उपजता है। उसी अन्न को खाकर प्राणी जीते हैं। इसी प्रकार यह समस्त सृष्टि भगवान् से ही उत्पन्न होती है। यह सृष्टि प्रवाह नित्य है। इनमें से जो भगवत् विभूतियाँ निकलती हैं, वे भी भगवत् सदृश हैं। वे भी भगवान् ही कहलाते हैं। भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य ये दस ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं। ये महान् हैं। जो अपरिमेय हों, जो सर्वत्र पंचभूतों के सदृश व्याप्त रहकर भी एक शरीर से प्रत्यक्ष सामने प्रकट हो जायँ वे ही महान् हैं। वास्तव में तो एकमात्र भगवान् ही महान् हैं। जो उन महत् पुरुष का एकमात्र अवलम्बन करते हैं वे ही महान्त कहलाते हैं। ऐसे महान्त ब्रह्म तक पहुँचे महर्षि कहलाते हैं। अर्थात् जो ऋषियों में भी महान् ऋषि हैं। वे महर्षि के नाम से पुकारे जाते हैं। महर्षि अनन्त हैं, जिनमें से ये दश प्रधान है, उन दशों में भी भृगुजी सर्व प्रधान हैं। भृगुवंश की ऐसी धाक रही है, कि इस वंश में उत्पन्न होने वाले अपने को सबसे अधिक गौरवशाली मानते रहे हैं। शुक्राचार्य जी भृगुवंशी ही थे, तभी तो शुक्राचार्य के यजमान दानवेन्द्र वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने भूल से शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी के जब वस्त्र पहिन लिये तब देवयानी ने क्रोध में भरकर कहा था—"जिन ब्राह्मणों ने अपने तपोबल से इस संसार की सृष्टि की है, जो परमपुरुष परमात्मा के मुख हैं, जो अपने हृदय में निरन्तर ज्योतिर्मय परमात्मा को धारण किये

रहते हैं। और जिन्होंने सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण के लिये वैदिक मर्यादा का निर्देश किया है, बड़े-बड़े लोकपाल तथा देवराज इन्द्र-ब्रह्मा आदि भी जिनके चरणों की वन्दना और सेवा करते हैं—और तो क्या, लक्ष्मीजी के एकमात्र आश्रय परमपावन विश्वात्मा भगवान् भी जिनकी वन्दना और स्तुति करते है, उन्हीं ब्राह्मणों में हम सबसे श्रेष्ठ भृगुवंशी हैं। और इस शर्मिष्ठा का पिता पहिले तो असुर जाति का है, फिर हमारे पिताजी का शिष्य है। इस पर भी इस दुष्टा ने जैसे शूद्र वेद पढ़ ले वैसे ही हमारे कपड़ों को पहिन लिया है।"

देवयानी के इस कथन में ब्राह्मणों का कितना गौरव निहित है और ब्राह्मणों में भी भृगुवंशीय ब्राह्मणों का। भृगुजी बड़े ही निर्भीक तथा महान् तपस्वी थे। इन्होंने अपनी पुत्री "श्री" का विवाह भगवान् विष्णु के साथ किया था। इन्होंने ही श्रीविष्णु को पृथ्वी पर दशावतार लेने का शाप दिया था। इन्होंने ही भगवान् विष्णु के हृदय में लात मारी थी, जिसके चिह्न को "भृगुलता" के नाम से अब तक भगवान् विष्णु धारण करते हैं। अनेक मन्वन्तरों में ये सप्तर्षियों के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इनके वंशज बहुत से महर्षि गोत्र प्रवर्तक हुए हैं। इन्होंने ही अग्नि को सर्वभक्षी होने का शाप दिया था। इनके पुत्र च्यवन हुए। च्यवन के शुनक हुए और उनके पुत्र ही अठासी सहस्र ऊर्ध्वरेता ऋषियों के अग्रणी शौनक महर्षि हुए। अतः महर्षि भृगु समस्त महर्षियों में तथा भगवान् की दिव्य विभूतियों में से एक हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अपनी अग्रिम विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं—"अर्जुन महर्षियों में भृगु महर्षि मेरी विभूति हैं।"

अर्जुन ने—"पूछा—"प्रभो! शब्दों में कौन शब्द आपकी विभूति है।"

भगवान् ने कहा—"शब्द का अर्थ जिससे प्रकट हो उसे गिरा अर्थात् वाणी कहते हैं। उन सब शब्दों में जो एकाक्षर मन्त्र हैं, जिसे ओंकार अथवा प्रणव भी कहते हैं, जो सभी वेदों का सार है। प्राचीनकाल में एकमात्र ओंकार ही वेद था। उसी का विस्तार होकर ऋक् यजु, साम और अथर्व ये चार वेद बन गये। वेद रूपी वृक्ष का बीज प्रणव ही है। समस्त गिराओं में ओंकार मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—यज्ञों में कौन-सा यज्ञ आपकी विभूति है?

भगवान् ने कहा—"यज्ञ तो सभी श्रेष्ठ हैं। यज्ञ मेरा रूप ही है, अन्य यज्ञों में एक त्रुटि है, कि उन यज्ञों में किसी न किसी प्रकार से जीव हिंसा की सम्भावना रहती है। यज्ञीय संभार जुटाने में, उनकी विधियों को पूर्ण करने में हिंसा हो ही जाती है। यद्यपि शास्त्रीय वचन है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। यज्ञादि वैदिक कर्मों में जो आवश्यक हिंसा होती है, उसकी संज्ञा हिंसा नहीं है। उस हिंसा में विशेष दोष नहीं होता।" विशेष दोष भले ही न हो। फिर भी हिंसा तो हिंसा ही है। जिस यज्ञ में तनिक भी हिंसा न हो वह जप यज्ञ है। मन्त्रों का विधि विहित चाहे स्पष्ट उच्चारण करके, चाहें होठ हिलाकर उपांशु जप हो अथवा मानसिक जप हो ये जप उत्तरोत्तर एक से एक श्रेष्ठ माने गये हैं। जप करने से मन्त्रसिद्धि होती है। अर्थ की भावना करते हुए मन्त्र जप से परमसिद्धि प्राप्त होती है। ब्राह्मण और चाहे कुछ करे अथवा न करे वेदों की माता जो गायत्री है उसका जप जो निरंतर करता है, वह अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है। अतः जप यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ है, मेरी दिव्य विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—"जो चलते नहीं, अचल हैं, स्थिर हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—नहीं चलने वाले दो ही हैं, एक पर्वत दूसरे वृक्ष। पर्वतों के पहिले तो पंख हुआ करते थे, वे उडते थे। जिस नगर पर बैठ जाते थे, उस नगर को नष्ट कर देते थे। इससे प्रजाजनों को बड़ा कष्ट होता था। प्रजा के लोगों ने देवेन्द्र से प्रार्थना की। देवेन्द्र ने अपने वज्र से इन सबके पंख काट दिये। हिमालय का पुत्र मैनाक पंख कटने के भय से समुद्र में जा छिपा इसलिये उसके पंख बच गये। वह अभी तक समुद्र में छिपा हुआ है। अन्वेषकों ने अब सिद्ध कर दिया है, समुद्र के भीतर भी विशाल पर्वत हैं, ये सब पर्वत हिमालय के ही पुत्र है। पंख कट जाने से सभी पर्वत स्थिर रहने वाले स्थावर हो गये। उन सब स्थावर पर्वतों के राजा हिमालय हैं हिमालय मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"आपने पर्वत और वृक्ष दो को अचल-स्थावर, नग बताया। न गच्छतीति नग। जो चलें फिरें नहीं। तो स्थावरों में तो आप की विभूति हिमालय है और वृक्षों में आपका विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—समस्त वृक्षों में अश्वत्थ-पीपल-मेरी विभूति हैं। अश्वत्थ के मूल में विष्णु का निवास है, तने में केशव, शाखाओं में नारायण, पत्तों में हरि भगवान् और फलो में समस्त देवताओं के सहित अच्युत भगवान् निवास करते है। यह वृक्ष साक्षात् विष्णु स्वरूप है। महात्मा गण इसके मूल की सदा श्रद्धा से सेवा करते हैं। इसका आश्रय कामनाओं को देने वाला तथा गुणों की वृद्धि करने वाला है। प्राणियों के सहस्त्रों पापों का नाश

करने वाला है। यह वृक्ष वासुदेव वृक्ष मेरा स्वरूप ही है अतः वृक्षों में यह मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"महर्षियों में तो भृगुजी आपकी विभूति हैं, देवर्षियों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—देवर्षियों में नारदजी मेरी विभूति हैं। यह ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, उनकी गोदी से उत्पन्न हुए हैं। यह ऊर्ध्व रेता ब्रह्मचारी त्यागी विरागी तथा गृही धर्म से विरत हैं। समस्त सद्विद्याओं के प्रवर्तक परम भगवत् भक्त और जीवों को भगवत् सम्मुख करने वाले हैं। इसी लिये मेरी दिव्य विभूतियों में से एक हैं।

अर्जुन ने पूछा—गन्धर्व जो उपदेव हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं?

भगवान् ने कहा—"गन्धर्वों में चित्ररथ गन्धर्व जो समस्त गन्धर्वों का राजा है, वह मेरी विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—सिद्धों में आप की विभूति कौन है।

भगवान् ने कहा—जितने ये देव, सिद्ध गन्धर्व, किंनर, किंपुरुषादि देव उपदेव है। इनमें दो प्रकार के होते हैं। एक तो देव या उपदेव योनि वाले नित्य देव। उनकी उत्पत्ति इसी योनि में होती है इसलिये ये उस जाति नित्य देव, नित्य पितर, नित्य गंधर्व या नित्य सिद्ध कहाते हैं। दूसरे मनुष्य योनि से पुण्य कर्म करके केवल भोग भोगने के लिये देव योनि में जाते हैं वे मर्त्य देव या उपदेव कहलाते हैं। जो नित्य सिद्ध हैं, उनमें कपिल मुनि मेरी दिव्य विभूति हैं। मेरे ज्ञान के वे अवतार ही हैं। ये ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म, वैराग्यादि सद्गुणों से सम्पन्न तथा सूक्ष्म तथा स्थूल सभी सिद्धियों के अधिपति हैं मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—घोड़ों में आपकी विभूति कौन हैं?

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! अब भगवान् जैसे अपनी अन्य विभूतियो का वर्णन करेंगे, उन्हें मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

जाकी जड़ में विष्णु सकल शाखनि नारायन।
नित केशव इस्कन्ध रहें श्रीहरि सब पत्तनि॥
सब देवनि के सहित बसहिँ फल में श्रीअच्युत।
वही वृक्ष अश्वत्थ रूप मम बसूँ सुरनियुत॥
हौं पीपर सब नगनि में, देवर्षिनि नारद गुनी।
गन्धर्वनि में चित्ररथ, सिद्धिनि में कपिलहु मुनी॥

भगवत् विभूतियाँ (५)

[१३]

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकि ॥*

(श्री भा० गी० १० अ० २७, २८ श्लो०)।

छप्पय

मन्थन कर्यो समुद्र अमृत हित रत्नहु निकसे ।
तिनिमें उच्चैश्रवा अश्व लखि सबई हरसे ॥
वे ही उच्चैश्रवा रूप तुम मेरो मानों ।
ऐरावत मम रूप सबहिं हाथिनि में जानों ॥
जो भू को शासन करैं, चित्त रखें नित धरम में ।
रंजन परजा को करैं, राजा हूँ हौं नरनि में ॥

---

* घोडाओ मे अमृत से उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा घोड़ा मुझे ही जानो, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यो मे राजा मैं ही हूँ ॥२७॥

मैं आयुधों मे वज्र हूँ, धेनुओं मे कामधेनु, पैदा करने वालों में प्रजन कन्दर्प तथा सर्पों में वासुकि नाग मैं ही हूँ ॥२८॥

इस संसार रूप समुद्र को भगवान् के अतिरिक्त कोई दूसरा मन्थन नहीं कर सकता। इस ससार में विष तथा अमृत दोनों ही मिले जुले हैं। विष को कोई पीना नहीं चाहता मनुष्य हो चाहें देव, विष से सब दूर ही रहना चाहते है, किन्तु जो देवाधि देव महादेव हैं, वे लोक कल्याण के निमित्त परोपकार के लिये, दूसरो का दुःख दूर करने के लिये विष का भी पान कर लेते हैं। अमृत निकालने का जो प्रयत्न करते है, तो सर्वप्रथम विष ही निकलता है। विष के पश्चात् रत्न निकलते हैं, अमृत निकलता है। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि तुम चाहें अमृत निकालने का कितना ही उद्योग करो। अमृत उद्योग से निकल आवेगा, किन्तु अमृत का पान करके अमर वही बन सकेगा जो एक मात्र भगवान् के ही आश्रय रहेगा। उद्योग आप चाहें जितना करो जब तक भगवान् की शरण न गहोगे, तब तक तुम्हारा उद्योग अहंकार को ही बढ़ाने वाला होगा।

वास्तव में भगवान् की कृपा के बिना कोई अमृत निकालने का उद्योग कर नहीं सकता। भगवत् कृपा के बिना साधन जुटा नहीं सकता। भगवान् के सहयोग के बिना कोई मंथन क्रिया कर नहीं सकता। भगवान् के सहयोग के बिना समस्त साधन जुट जाने पर भी मंथन कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। भगवान् ने जब बुद्धियोग दिया तभी देवता असुरों के समीप गये। एकता हुई अब मंथन की सामग्री जुटाई गयी। सामग्री भी भगवत् विभूति हों तभी काम चलेगा। रस्सी के स्थान पर भगवत् विभूति वासुकी नाग भगवत् कृपा से लाये गये। मथने वाली रई के स्थान पर भगवद् विभूति मन्दराचल लाये गये। जब देवता तथा असुर लाने में असमर्थ हो गये, तो भगवान् अपनी विभूति गरुड़ जी की पीठ पर ले आये। जब देवता

असुर मथने को उद्यत हुए तो वे मथ ही न सके। तब भगवान् उन सब देवता असुरों के शरीर में प्रविष्ट हो गये। अजित रूप रखकर उनके साथ मथने भी लगे। मन्दराचल नीचे पाताल में न चला जाय, इसलिये उसे कछुआ बन कर अपनी पीठ पर धारण किये रहे। पर्वत ऊपर न उड़ जाय, इसलिये एक रूप धारण करके उसके ऊपर बैठे रहे। अमृत के पश्चात् जो कामधेनु, उच्चैश्रवा, ऐरावत, कोस्तुभमणि, कल्पवृक्ष, अप्सरायें, पांचजन्य, शार्ङ्गधनु, शंख, चन्द्रमा, लक्ष्मी, वारुणी तथा अमृत आदि रत्न निकले। ये सबके सब भगवान् की विभूति हैं। भगवान् जिसके लिये सम्मति दे, स्वयं साधन जुटावें, स्वयं पुरापार्थ करके प्रयत्न कर, तो उनसे उनकी विभूतियां ही निकलेंगी। अमृत को लेकर भी वे स्वयं ही अपनी एक विभूति धन्वन्तरि के रूप से प्रकट हुए। असुर जब बल पूर्वक अमृत को छीन ले गये, तो अपनी एक विभूति मोहनी द्वारा सी उसकी रक्षा की और अपनी विभूति अपने शरणापन्न भक्त देवताओं को ही उसे पिला भी दिया। अतः भगवान् समस्त खेल अपनी विभूतियों के माध्यम से किया करते हैं। समुद्र के मथन स्वरूप जो चतुर्दश रत्न हुए वे सब की सब भगवान् का दिव्य विभूतियां ही हैं। समुद्र मथन में विष के पश्चात् कामधेनु गौ हुई फिर उच्चैःश्रवा घोड़ा वह भी भगवत् विभूति रूप में उत्पन्न हुआ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने घोड़ों में विभूति कौन है यह जिज्ञासा की, तो भगवान् कहने लगे—अर्जुन! अमृत मन्थन के अवसर पर विष के पश्चात् सर्व प्रथम तो कामधेनु गौएं उत्पन्न हुईं। कामधेनु भी गौओं में मेरी दिव्य विभूति ही हैं। प्रत्येक शुभ कार्य में गौ दान किया जाता है,

अतः इन कामधेनु गौओं को ब्राह्मणों के अर्पण कर दिया गया। इसके पश्चात् चन्द्रमा के समान स्वच्छ शुभ्र वर्ण का उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा उत्पन्न हुआ। यह घोड़ा क्या है, मेरा ही स्वरूप है, मेरी ही दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"हाथियों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—"समुद्र मन्थन के अवसर पर उच्चैःश्रवा के पश्चात् ऐरावत हाथी उत्पन्न हुआ। वह भी हिम के सदृश स्वच्छ शुभ्र वर्ण का था उसके चार बड़े-बड़े दाँत थे। वह ऐरावत भी मेरा ही रूप है। मेरी ही दिव्य विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—"मनुष्यों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—मनुष्यों में जो राजा है। शोभा तथा श्री सम्पन्न हैं। जो साधारण प्रजा को अपनी इच्छानुसार चला सकते हैं। अपने संकेत पर नचा सकते हैं। जो उनसे कर ले सकते हैं। प्रजाओं की दस्युओं से रक्षा कर सकते हैं। प्रजा के स्नेह भाजन बन सकते है। बहुमत जिनके पक्ष में हैं ऐसे विशिष्ट व्यक्ति मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—आयुधों में आप कौन हैं ?

भगवान् ने कहा—आयुधों में तो मैं दधीचि मुनि की अस्थियों से निर्मित इन्द्र का वज्र हूँ। इससे श्रेष्ठ दूसरा कोई आयुध या अस्त्र नहीं है अतः यह मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—धेनुओं में आप की विभूति कौन हैं ?

भगवान् ने कहा—बता तो दिया। समुद्र मन्थन के समय समुद्र से निकली कामधेनु मेरी गौओं में दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—सन्तानोत्पत्ति में जो कारण हैं, उनमें आप की विभूति कौन हैं ?

भगवान् ने कहा—धर्म से अवरुद्ध जो काम है, वही काम देव या कन्दर्प मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"सर्पों में आपकी विभूति कौन हैं।"

भगवान् ने कहा—वही वासुकी नाग सर्पों में मेरी विभूति है, जिसे रस्सी बनाकर मन्दराचल की रई बनाकर समुद्र मथा गया था। समुद्र मन्थन मेरी विभूतियों के अतिरिक्त अन्य किसी से हो हो नहीं सकता।

अर्जुन ने पूछा—सर्पों में तो आप वासुकी हैं, किन्तु नागों में आपकी विभूति कौन हैं ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आगे की भगवान् की विभूतियों का वर्णन मैं आगे के प्रकरण में करूँगा।

छप्पय

सब शस्त्रनि में वज्र विज्ञजन मोइ बतावें।
है अति ही दुरधरस नाकपति जाइ चलावें॥
सब धेनुनि में सुघर कामधुक् धेनु कहाऊँ।
सब प्रानिनि कूँ परम पुन्यप्रद पयहु पिवाऊँ॥
जग की उतपति के निमित, कामदेव मम रूप है।
हौं सरपनि में वासुकी, जो सब सरपनि भूप है॥

भगवत् विभूतियाँ (६)

[१४]

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० २९, ३० श्लोक)

छप्पय

सहस फननि तें सतत प्रेमयुत मम गुन गावें।
सब नागनि तें श्रेष्ठ शेष वे ई कहलावें॥
शेष हमारे रूप जिते जलचर जग माहीं।
तिनि सब में हीं वरुन रहूँ पच्छिम दिशि माहीं॥
सब पितरनि में अर्यमा, मेरो कह्यो स्वरूप है।
शासन करता हैं जगत, तिनि में मम यम रूप है॥

जिन शेष की सुंदर सुखद शैया पर श्याम सुंदर सदा सुख से

---

* मैं नागों में अनन्त नाम का नाग हूँ, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा और शासन करने वालों में यम मैं ही हूँ ॥२९॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गणना करने वालों में काल, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ ॥३०॥

शयन करते हैं। वे शेष भगवान् से पृथक् नहीं। भगवत् स्वरूप हैं। उनकी महिमा का कहीं अन्त नहीं है, अतः वे अनन्त कहाते हैं। ये जगत् में प्रलय के अनन्तर जो कुछ अवशिष्ट रह जाते हैं, शेष बच जाते हैं वे ही ये विश्वरूप, देवरूप, नागराज, सहस्र फणों वाले भगवान् की तामसी मूर्ति शेषनाग जी हैं। ये समस्त नदी नद तथा पर्वत और वृक्षों सहित इस पृथ्वी को अपने सिर पर धारण किये रहते हैं। इतनी भारी पृथ्वी को तथा भूतों को धारण करने में इन्हें तनिक भी प्रयास नहीं होता, इन्हें बोझ भी प्रतीत नहीं होता, ऐसा लगता है, मानों मेरे सिर पर कोई सरसों का दाना रखा हो। ये भगवान् के अभिन्न रूप ही है, उनकी मूर्ति ही हैं, फिर भी ये भगवान् के अनन्य भक्त हैं। अपने सहस्र मुखों से, दो सहस्र जिह्वाओं से निरन्तर भगवान् के नामों का ही उच्चारण करते रहते हैं। ये नामानुरागियों में सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् की सेवा में सदा सर्वदा तत्पर रहते हैं। जब भगवान् क्षीरसागर में शयन करते हैं, तब ये शेषजी शैया बनकर उनकी सेवा करते हैं। जब भगवान् भवन में निवास करते है, तो ये शेष जी भवन बन जाते हैं। जब भगवान् विराजमान होते हैं तो उनके नीचे शेषासन के रूप में आसन बनकर परिचर्या करते हैं। जब भगवान् पधारते हैं, तो ये ही शेष भगवान् चरण पादुका का रूप धारण कर लेते है। भगवान् की सेवा के लिये वस्त्र, बिछौना तकिया सब कुछ बन जाते हैं। जब भगवान् सिंहासनारूढ़ होते है, तो शेषजी आतपत्र छत्र बनकर भगवान् के श्रीअंग की छाया करते हैं। वसुदेवजी जब भगवान् को आधी रात्रि में वर्षा के समय गोकुल लेजा रहे थे, तब इन शेषजी ने ही छत्र बनकर उनकी वर्षा से रक्षा की। ये भगवान् के अभिन्न रूप है, इसीलिये इनकी शेष संज्ञा है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन ! सर्पों की ही एक जाति नाग् होती है। ये बिना कहे किसी को काटते नहीं। उन नागों के राजा सहस्र फण वाले शेष नाग हैं, वे अनन्त नाग मेरी विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"जलचर जीवों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—समस्त जलचरों के राजा लोकपाल वरुण हैं, ये पश्चिम दिशा के लोकपाल हैं और मेरे अनन्य भक्त हैं, अतः मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"पितरों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—"पितर दो प्रकार के होते हैं। एक साग्निक दूसरे निरग्निक कुछ पितृगण नित्य होते हैं, जैसे कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और वर्हिषद्। इन सब पितरों के राजा अर्यमा हैं, अतः पितरों में ये मेरी दिव्य विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—"धर्म तथा अधर्म का निर्णय करने वालों में तथा निग्रह और अनुग्रह करने वालों में आप कौन हैं। ऐसे न्याय-कर्त्ताओं में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—देखो, प्राणी मात्र के धर्माधर्म का निर्णय करने वालों में यमराज जो सर्वश्रेष्ठ हैं। ये दक्षिण दिशा के लोक-पाल है। विवस्वान् सूर्य के पुत्र हैं तथा यमुनाजी के बड़े भाई हैं। ये ही यमराज है और ये ही धर्मराज भी कहलाते है। पापी तथा पुण्यात्मा अपनी भावना के अनुसार इनके सौम्य तथा रौद्र रूप का दर्शन करते है। पुण्यात्माओं को ये परमशान्त तथा सौम्य दिखायी देते हैं तथा पापियों को ये ही, अरुण नयन, भयंकर मूर्ति, क्रोध से दाँत कटकटाते बिजली की भाँति जिह्वा को लपलपाते हाथ में कालदण्ड लिये हुए दिखायी देते हैं। ये किसी के साथ पक्ष-

पात नहीं करते। न किसी से राग न द्वेष। धर्म की तराजू में तोल कर पाप पुण्य का फल देते हैं। इसी लिये वे मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"दैत्यों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—दैत्यों के राजा तो हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष थे, ये बड़े पापी तथा दुष्ट थे। अतः हिरण्याक्ष तो मैंने शूकरावतार रख कर और हिरण्यकशिपु को नृसिंहावतार धारण करके मार दिया। हिरण्यकशिपु के ह्लाद, संह्लाद, अनुह्लाद और प्रह्लाद ये चार पुत्र हुए, वैसे प्रह्लाद जी अवस्था में तो सबसे छोटे थे, किन्तु गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। हिरण्यकशिपु को मार कर मैंने प्रह्लादजी के सद्गुणों से तथा उनकी अहैतुकी भक्ति से रीझकर उन्हें ही समस्त दैत्य दानवों का राजा बना दिया था। अतः दैत्यों में वे ही मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"संसार में जितने गणना करने वाले गणक हैं, उनमें आप की विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—गणना करने वाले गणकों में मैं काल हूँ। काल यमराज के मंत्री हैं। वे सभी प्राणियों की आयु का लेखा-जोखा रखते हैं। किसे कितने दिन तक जीना है, कब किसे मरना है, यह सब यमराज के महामंत्री की बही में लिखा रहता है। जिस समय जिस प्राणी के आयु के वर्षों की गणना पूरी हो जाती है, ये तुरन्त अपने सहकारी मंत्री मृत्यु को सूचना दे देते हैं। मृत्यु उस प्राणी को पकड़ कर यमराज के पास उपस्थित कर देता है। काल देव किसी का पक्षपात नहीं करते। इनकी गणना में त्रुटि-मात्र-पल भर की भी त्रुटि कभी नहीं रहती। अतः गणना करने वालों में ये कालदेव मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"पशुओं में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—जितने पशु है मृग हैं उनमें परम साहसी, तेजस्वी, बलवान् तथा दक्ष जो मृगराज सिंह है, वह मेरी विभूति हैं। इसीलिये जो पुरुषों में श्रेष्ठ होता है उसे पुरुष सिंह कहते हैं। मृगों का इन्द्र अर्थात् राजा होने से सिंह मृगेन्द्र कहलाता है, वह मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"पक्षियो में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—पक्षियों में विनतानंदन कश्यपजी के पुत्र गरुड जी मेरे परम प्रिय है। बालखिल्यो के तपोमय संकल्प से ये कश्यपत्नी विनता के गर्भ से उत्पन्न हुए। बालखिल्य तो इन्द्र के स्थान में दूसरा इन्द्र ही उत्पन्न करना चाहते थे, किन्तु ब्रह्माजी के कहने पर ये पक्षियों के इन्द्र खगेन्द्र हुए। इनकी सामर्थ्य अमित है। युद्ध में इन्होने मुझ विष्णु को भी सन्तुष्ट किया था। इसीलिये मैंने इन्हें ध्वजा में रखा। इसीलिये मेरा नाम गरुडध्वज है। जब इन्होंने मुझे युद्ध में सन्तुष्ट कर दिया, तो मैने इनसे वर माँगने को कहा।

तब इन्होने कहा—"मैं आप से पराजित थोडे ही हुआ हूँ, मैं तो जीता हूँ अतः आप ही मुझसे वर माँगिये।"

तब मैंने इनसे अपना वाहन तथा मित्र बनने का वर माँगा। तभी से ये मेरे दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, चाँदनी वेदमय व्यजन बन गये। मैं इनकी पीठ पर चढ़ता हूँ। ये मुझसे अनन्य होने के कारण मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"संसार में जितने पावन बनाने वाले हैं, पवित्र करने वाले हैं, उनमें आपकी विभूति कौन हैं ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब भगवान् जैसे अपनी अग्रिम विभूतियों को कहेंगे, उनका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

मेरे जो अति भक्त मुकुटमनि असुर कुलनि में।
मम प्रह्लाद स्वरूप कह्यो सबई दैत्यानि में॥
जितने हैं जगगणक काल तिनिमें कहलाऊँ।
सबकी गणना करूँ सबनि परलोक पठाऊँ॥
बन के जितने जीव हैं, दिखूँ सिंह मृगराज हूँ।
वैनतेय मम रूप है, सब पक्षिनि खगराज हूँ॥

भगवत् विभूतियाँ (७)

[१५]

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्याविद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥*

(श्री० भग० गी० १० अ० ३१, ३२ श्लो०)

छप्पय

अनिल अनल जल जगत माँहि पावन निरमल अति ।
तिनि सबमें हौं पवन करूँ पावन जग नित प्रति ॥
शूरवीर जो करैं शस्त्र धारन रक्षा हित ।
तिनि सबमें है राम रूप मेरो सुंदर अति ॥
जलमें जितनी मीन हैं, तिनिमें मैं ई मकर हूँ ।
नदियनि में भागीरथी, पाप हरन नित निरत हूँ ॥

---

* मैं पवित्र करने वालों मे पवन हूँ, शस्त्रधारियो में राम, मत्स्यों मे मकर और नदियों मे गङ्गा जी मैं ही हूँ ॥३१॥

हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ, विद्याओं मे अध्याम विद्या और वाद विवाद मे वाद मैं ही हूं ॥३२॥

यह शरीर स्वभाव से ही अशुद्ध है। हड्डी को अशुद्ध माना है, उसी हड्डी के ढांचे के ऊपर यह शरीर निर्मित है। नस, नाड़ी आतें, मांस, रक्त, चर्म, नख, रोम, बाल ये सब के सब अशुद्ध है, ये ही सब शरीर के आधार हैं। मल, मूत्र ये महा अशुद्ध हैं, ये ही शरीर मे सदा भरे रहते हैं। शरीर के नव द्वारों से लाखों रोम कूपों से सदा मल ही निकलता रहता है। इस शरीर की अशुद्धि शास्त्रकारों ने मिट्टी, जल, अग्नि तथा वायु के द्वारा बतायी है। समय से भी पदार्थों की शुद्धि होती है। अन्न है, लकड़ी, हड्डी, सूत, मधु, नमक, तेल, घृत, आदि रस, सुवर्ण, पारा आदि तेजस् पदार्थ, चर्म की बनी वस्तुएँ तथा मिट्टी के बने वर्तन। इन सब की शुद्धि काल, वायु अग्नि, मिट्टी तथा जल से होती है। कुछ पदार्थ ऐसे होते है, कि समय पाकर अपने आप पवित्र बन जाते हैं। जैसे पृथ्वी को किसी ने मल मूत्र द्वारा अशुद्ध कर दिया। कुछ समय के पश्चात् वह वायु लगते-लगते अपने आप शुद्ध हो जायगी। कोई धातु का वर्तन है, वह अशुद्ध पदार्थों से, अस्पर्शों के स्पर्श से या अन्य किसी कारण से अशुद्ध हो गया, तो उसे अग्नि में तपा लो, शुद्ध हो जायगा। मिट्टी का कुल्लड़ है, किसी ने पानी पीकर उच्छिष्ट करके अशुद्ध कर दिया, उसे फिर से जल से धोकर अग्नि में पका लो पवित्र हो जायगा। कोई लोटा आदि धातु का पात्र है, उसे शौच को ले गये, तो मिट्टी से मलकर पानी से धोने से पवित्र हो जायगा। सुवर्ण तथा चांदी के वर्तन हैं, उच्छिष्ट हो गये, तो उन्हें केवल जल से ही धो दो तो पवित्र हो जायेंगे। इस प्रकार बाहरी पदार्थों की शुद्धि में देश, काल, मिट्टी, जल, अग्नि तथा वायु ये कारण हैं। चित्त की शुद्धि के लिये स्नान, दान, तपस्यादि कारण हैं।

यद्यपि शुद्धि अनेक पदार्थों से होती हैं किन्तु पवित्र करने वालों में वायु की प्रधानता है। बाहरी पदार्थ वायु के लगे बिना शुद्ध नहीं होते। अन्तःकरण भी प्रणायाम के बिना शुद्ध नहीं होता। प्राणायाम को सबसे श्रेष्ठ बल बताया गया है। समस्त संसार को वायु ही पवित्र कर रहे हैं। वायु ही जीवन प्रदान कर रहे हैं। शरीरों में प्राण रूप से बाहरी संसार में पवन अथवा वायु रूप से ये पदार्थों को पावन बना रहे हैं। अतः ये जीवनधारी भी हैं और परम पावन भी हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—"अर्जुन! संसार में जितने भी पवित्र करने वाले पदार्थ हैं, उन सब में वायु देव मैं ही हूँ, वे मेरी दिव्य पावन विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"शस्त्र धारियों में सर्व श्रेष्ठ शस्त्रधारी कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—शस्त्रधारियों में दशरथ नन्दन श्रीराम मैं ही हूँ। शस्त्रधारियों का जहाँ चिन्तन करना हो, वहाँ धनुष धारी श्री रामचन्द्र जी का ही चिन्तन करना चाहिये। राम रूप से मैंने ही तो राक्षसों का वध किया था। यद्यपि राम साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, फिर भी शस्त्रधारियों में मेरी परम दिव्य विभूति के रूप में भी हैं श्रीराम का बाण अमोघ है, वे न तो दो बात बोलते हैं और न शत्रु संहार के समय दूसरा बाण धनुष पर चढ़ाते हैं। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उनका बाण चढ़ता है, वह बाण उस उद्देश्य को पूर्ण करके ही लौटता है। इसीलिये जो वस्तु अव्यर्थ-अमोघ-होती है। उसे राम बाण कहते है। जैसे अमुक औषधि उस रोग की राम बाण औषधि है। अर्थात् उस औषधि से वह रोग अवश्य चला ही जायगा।

श्रीराम का वाण अमोघ होने से वे समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ हैं।

अर्जुन ने पूछा—"जलचर मछलियों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—जलचर मत्स्यों में मगर ही मेरा स्वरूप है। वही जलचर जीवो में सर्व श्रेष्ठ प्रभावशाली जीव है अतः मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"वेग से बहने वाली नदियों में आपकी विभूति कौन-सी नदी हैं ?"

भगवान् ने कहा—नदियों में गङ्गाजी मेरा स्वरूप है। स्वरूप क्या हैं मैं स्वय ही पिघल कर द्रव हो गया हूँ, अतः गङ्गाजी का एक नाम ब्रह्मद्रव भी है। शिवजी के मुख से अपनी महिमा का गान सुनकर मेरा हृदय ही द्रवित नही हुआ शरीर भी द्रवित हो गया। उसी ब्रह्मद्रव को ब्रह्माजी ने अपने दिव्य कमन्डलु में धारण किया। जब वामन रूप से ब्राह्माण्ड को नापते हुए मेरा चरण ब्रह्मलोक पहुँचा, तो उसी कमन्डलु के जल से उन्होंने मेरी पाद पूजा की। जिसे परम पवन मानकर शिवजी ने अपने सिर पर धारण किया। वे ही त्रैलोक्य को पावन करने वाली मेरी दिव्य विभूति श्री गङ्गाजी संसार की समस्त सरिताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं।

अर्जुन ने पूछा—"चेतन प्राणियों में तो जीवन आपकी विभूति हैं, अचेतनों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—समस्त सृष्टियों में जो अचेतन पदार्थ हैं, उनका आदि मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और विनाश रूप से मे ही अवस्थित हूँ। समस्त जड़ चेतन

सृष्टि का आदि मध्य अन्त रूप जो काल है वह मेरा ही स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—"जितनी विद्यायें हैं, उनमें कौन-सी विद्या आपका रूप है ?"

भगवान् ने कहा—लोक में विद्या तो बहुत सी बतायी जाती हैं, किन्तु जो मोक्ष की हेतु भूता अध्यात्म विद्या है, वही वास्तविक विद्या है। जो संसार सागर से सदा के लिये विमुक्त बना देने वाली विद्या है, वह यही अध्यात्म विद्या है। इसी के द्वारा मेरा साक्षात्कार हो सकता है, अज्ञान अंधकार का सदा के लिये नाश हो सकता है। अतः अध्यात्म विद्या ही मेरी विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"विवाद करने वालों से सम्बन्धित कथा भेदों में आपकी विभूति कौन है।"

भगवान् ने कहा—मनिषियों ने जल्प, वितण्डा और वाद ये तीन वाद विवाद करने वाले कथा भेद बताये है। शास्त्रार्थ करने वाले इन तीनों का आश्रय लेकर ही परस्पर में विवाद करते है।

जल्प तो उसे कहते हैं, कि अपने पक्ष का मन्डन करने के निमित्त तथा प्रतिवादी के पक्ष का खन्डन करने के निमित्त उचित अनुचित जो चाहें हथकन्डे अपनावें। हमने चाहे उचित या अनुचित जो भी पक्ष ले लिया है उसे युक्तियों तर्कों द्वारा सत्य सिद्ध करने के प्रयत्न को जल्प कहते हैं।

वितन्डा उसे कहते हैं, कि अपना पक्ष भले ही सिद्ध न हो, किन्तु दूसरे के पक्ष का खन्डन हो जाय। यहाँ सत्य निर्णय उद्देश्य न होकर विपक्षी को कैसे भी परास्त करदे यही उद्देश्य रहता है। जल्प में तो स्वपक्ष समर्थन परपक्ष विध्वंसन द्वारा अपनी विजय की ही चेष्टा होती है। छल, जाति, निग्रह स्थान

द्वारा पर पक्ष को दूषित करते हैं। छल तो उसे कहते हैं, कि किसी वाक्य का पद में प्रयोग तो दूसरे अभिप्राय से किया गया है, किन्तु उसका कोई युक्तियों द्वारा विलक्षण अर्थ करके प्रतिपक्ष के अर्थ में दोष सिद्ध करना अर्थ का अनर्थ कर डालना।

जाति उसे कहते हैं—कि अपने पास भी जिस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं है, प्रति पक्षी से ऐसी बात पूछकर उसे निरुत्तर कर देना।

निग्रह स्थान वह कहलाता है, जो वादी के पराजय का कारण हो। इसके प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञसंन्यासादि अनेक भेद हैं। वितन्डा और जल्प दोनों में ही ये सब हथकन्डे बरते जाते हैं।

वाद उसे कहते हैं, जिसमें शुद्ध भावना से तत्वनिर्णय के उद्देश्य से शास्त्रीय वचनों से बिना छल कपट के कथोपकथन या प्रश्नोत्तर किये जाते हैं। यह कथोपकथन या प्रश्नोत्तर अपनी विजय के उद्देश्य से या दूसरे को पराजित करने के उद्देश्य से नहीं होता। यथार्थ तत्व क्या है इसका निर्णय ही इस कथोपकथन का एकमात्र उद्देश्य होता है। ऐसे प्रश्नोत्तर तत्व जिज्ञासु वीतराग दो सहपाठियों में अथवा गुरु शिष्य में ही होते है। एक अपनी शंका को प्रकट करता है; दूसरा उसका युक्तियुक्त प्रमाण और तर्कों द्वारा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनयन और निगमन इन पांच अवयवों द्वारा उसका उत्तर देता है। अन्त में जो कुछ शंका रह जाती है उसका भी समाधान करते हैं। इस प्रकार उत्तर प्रत्युत्तरों द्वारा जो तत्व निर्णय होता है। उसी का नाम 'वाद' है। विवाद करने वालों से सम्बन्धित कथा भेदों में 'वाद' ही मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"समस्त अक्षरों में आपकी विभूति कौन-सा अक्षर है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! आगे की विभूतियों का वर्णन भगवान् जो करेंगे उन्हें मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जब-जब जग की सृष्टि होहिँ हौं आदि कहाऊँ।
होवै पालन जबहिँ मध्य तबई कहलाऊँ॥
प्रलय काल जब होहि अन्त मेरो स्वरूप है।
आदि अन्त मम रूप जगत तो अन्ध-कूप है॥
विद्या हौं अध्यात्म हूँ, सब विधनि में मुकुटमनि।
सबई वाद-विवाद में, तत्ववाद तू मोइ गनि॥

भगवत् विभूतियाँ (८)

[१६]

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ३३, ३४ श्लो०)

छप्पय

जितने अक्षर कहे जगत में जो क्षर नाहीं ।
अक्षर एक अकार समुझि तिनि सबके माहीं ॥
प्रकरन एक समास कह्यो व्याकरन माहिँ जो ।
सब समास मैं द्वन्द रूप मेरो ही शुभ सो ॥
हौं ही अक्षय काल हूँ, महाकाल मोकूँ कहत ।
धाता मेरो रूप है, जाके मुख सब दिशि रहत ॥

---

* अक्षरों में मैं अकार हूँ, समासों में द्वन्द समास, क्षयशील कालों में अक्षयकाल तथा कर्मफल दाताओं में सब ओर मुख वाला धाता मैं ही हूँ ॥३३॥

मैं संहारकर्ताओं में सर्वहर मृत्यु हूँ, भावी कल्याणों में उत्कर्ष तथा स्त्रियों में, कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं ही हूँ ॥३४॥

वाणी द्वारा जो शब्द व्यक्त किये जाते हैं, उन सब में अकार की ही प्रधानता है। वर्ण दो प्रकार के होते हैं, स्वर और व्यंजन। व्यंजन सब हलन्त होते हैं। जैसे 'क्' क का उच्चारण हम तभी कर सकेंगे जब इसमें अकारादि स्वर संयुक्त हो। क् में 'अ' संयुक्त करो तब 'क' होगा। इस प्रकार स्वरों के बिना व्यंजनों का उच्चारण नहीं होता। अब स्वरों में सर्व प्रथम "अकार" है। इसी अकार की प्रधानता समस्त स्वरों में है। जैसे अकार को दुगुना कर दो तो, अ+अ=आ हो जायगा। 'अ' में छोटी ि की मात्रा लगा दो 'अि' बन जायगी 'अ' में बड़ी ई की मात्रा लगा दो तो "अी" बन जायगी। अ में उ की मात्रा लगा दो "अु" बन जायगा। इसी प्रकार सभी स्वरों में समझ लेना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ। अकार से रहित किसी स्वर का उच्चारण नहीं है और स्वर बिना किसी व्यंजन का उच्चारण नहीं। अर्थात् स्वर और व्यंजनों में अकार ही व्याप्त है। वह अकार क्या है। एकाक्षर कोष में "अकारो वासुदेवश्च" अकार का अर्थ है भगवान् वासुदेव। जैसे समस्त भूतों में भगवान् व्याप्त हैं, उसी प्रकार समस्त अक्षरों में अकार व्याप्त हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपनी विभूतियों का आगे वर्णन करते हुए भगवान् कह रहे है—"अर्जुन! मै समस्त अक्षरों में अकार हूँ। अक्षरों में "अकार" मेरी दिव्य विभूति है।"

अर्जुन ने पूछा—"समासों में आप कौन से समास हैं?"

भगवान् ने कहा—समास शब्द का अर्थ है, 'संक्षेप'। लंबे अनेकों वाक्यों को संक्षेप में मिला कर कहने का नाम समास है। व्याकरण के अनुसार समास पांच प्रकार के होते हैं। १—अव्ययी भाव समास, २—तत्पुरुष समास, ३—बहुव्रीहि समास, ४—द्वन्द समास और ५—कर्मधारय समास। कर्म धारय का एक भेद है

द्विगु। स्वयं कर्मधारय समास भी तत्पुरुष का भेद ही है। यदि कर्मधारय और द्विगु को तत्पुरुष के अन्तर्गत मान लें तो समास चार ही प्रकार के होते हैं।

१—पहिला समास है अव्ययी भाव—जैसे अधि हरि शब्द है। यहाँ अधि' अव्यय है हरि शब्द है। हरि के सम्मुख अधि-लाये। समास करके अधिहरि हो गया। इसका अर्थ हुआ "हरि में' अधि और हरि पूर्व पद और उत्तर पद दो हैं, तो अव्ययी भाव समास में प्रायः पूर्वपद के अर्थ की ही प्रधानता होती है। बिना समास के हरी होता। किन्तु अधिहरि में अधि की प्राधान्यता है।

दूसरा समास है—तत्पुरुष—तत्पुरुष समास के दो पदों में से उत्तर पद की ही प्रायः प्रधानता होती हैं। जैसे 'लक्ष्मीपति' इसमें लक्ष्मी और पति दो शब्द हैं, किन्तु प्रधानता पति की होगी, अर्थात् लक्ष्मी के पति विष्णु।

३—तीसरा समास है बहुव्रीहि—जैसे पीताम्बर इसमें पीत का और अर्थ है अम्बर का और अर्थ है, दोनों मिलाकर किसी तीसरे का ही बोध कराता है। इसमें पूर्व पद उत्तर पद इन दोनों पदों मे से किसी की प्रधानता नहीं है। दोनों से पृथक् अन्य श्री कृष्ण की प्रधानता है।

चौथा समास है कर्मधारय और कर्मधारय का एक भेद है द्विगु। ये दोनों तत्पुरुष समास के ही अन्तर्गत हैं। इसमें भी प्रायः उत्तर पद की प्रधानता होती है।

पाँचवा द्वन्द्व समास है—जैसे राम कृष्ण। इसमें दो पद है दोनों की ही प्रधानता है। द्वन्द्व समास में जितने भी पद होंगे वे न तो अपने अर्थ को खोवेंगे और न अपने नाम को। सब पदों का अपने अर्थ का अपना पृथक् अस्तित्व रहेगा। स्वरूपतः भले ही शब्द न

भी रहे किन्तु जो अब शेष रहेगा वही उसके अर्थ को कहता रहेगा।

इस प्रकार एक द्वन्द्व समास ही ऐसा समास है जो और-और करके सब का समाहार करके सब के अर्थ को स्पष्ट रखता है। अतः समस्त समासों में द्वन्द्व समास मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"गणना करने वालों में तो आप काल हैं, किन्तु जिसके द्वारा काल की गणना की जाती है, उनमें आपका स्वरूप क्या है ?"

भगवान् ने कहा—पल, घडी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, दिव्य-वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प पूर्वार्ध परार्ध, तथा ब्रह्माजी की आयु ये सब समय की गणना करने वाले कहलाते हैं, ये सब क्षय होने वाले समय वाचक काल हैं।

दूसरा काल प्राकृतिक काल है, प्रकृति जब तक महाप्रलय के अनन्तर साम्यवस्था में रहती है वह प्रकृतिका काल है। यह भी क्षय होने वाला काल है। इनसे परे जो नित्य, शाश्वत, काल है जिसका नाम "ज्ञः" भी है जो विज्ञानानन्द धन परमेश्वर है, वह अक्षय काल मेरा ही स्वरूप है। मैं ही काल रूप से नित्य रहता हूँ, मेरा कभी क्षय नहीं होता। अतः क्षयशील समस्त कालों में अक्षय काल मेरी दिव्य विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"कर्म फल देने वालों में आप की विभूति कौन है ?"

भगवान् ने कहा—जिसका सभी ओर मुख है। जितने मुख हैं, सब जिसके मुख हैं। जो सब ओर से सबकी समस्त क्रियाओं को देखने में समर्थ है, ऐसा विधाता-ईश्वर-मै कर्म फल देने वाले यमराज आदि सबसे श्रेष्ठ धाता हूँ। विराटरूप से मैं ही सबके कर्मफलो को देता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"सबका नाश करने वालों में आपका रूप कौन-सा है ?"

भगवान् ने कहा—"सर्वहरों में मृत्यु मेरा ही रूप है। दुःख देने वाला मृत्यु मेरी ही दिव्य विभूति है। किसी कल्प में मृत्यु स्त्री रूप में काय करती है, किसी कल्प में मृत्यु को पुरुष रूप में बताया है। पहिले प्राणी मरते नहीं थे। सृष्टि बढ़ाने के चक्कर मे ब्रह्माजी जीवों के मारने की व्यवस्था ही न कर सके। जब मानसिक सृष्टि न रहकर मैथुनी सृष्टि होने लगी और सृष्टि आवश्यकता स अधिक बढ़ने लगी। तब ब्रह्माजी को सृष्टि में सतुलन रखने के लिये जीवो को मारने की भी आवश्यकता प्रतीत होन लगी। वे इस चिंता में थे, कि कोई योग्य व्यक्ति मिल जाय, तो उसे इस कार्य के लिये नियुक्त करूँ। उन्हीं दिनों मृत्यु शर्मा नाम के ब्राह्मण घोर तपस्या कर रहे थे, ब्रह्माजी उसकी घोर तपस्या से प्रसन्न होकर उसके समीप गये और कहा—"भद्र ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न होकर मैंने तुम्हें उप-लोकपाल का पद प्रदान किया है।"

मृत्यु शर्मा ने पूछा—"मुझे किस लोकपाल का सहकारी रहना पड़ेगा ? कौन-सा कार्य करना पड़ेगा ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"दक्षिण दिशा के यमराज के अधीन तुम्हें रहना पड़ेगा। प्राणियों को मारमार कर काल की अनुमति से लाना पड़ेगा।"

मृत्यु ने कहा—"प्रभो ! यह कठिन कार्य मुझसे न होगा। सभी मुझे कोसेंगे बुरा भला कहेंगे। मैं तो तपस्या ही करूँगा।" यह कहकर वह पुनः तपस्या करने लगा। ब्रह्माजी तीन बार उनके पास आये और पदग्रहण का आग्रह करने लगे। तीसरी बार ब्राह्मण रोने लगा। उसके अश्रुओं को ब्रह्माजी ने अपनी अंजलि

में ले लिया। जिनसे असंख्यों रोगों की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजी ने कहा—तुम्हें कोई बुरा भला न कहेगा, सभी इन रोगों को कोसेंगे, कि अमुक रोग से मर गया। तुम्हें कोई बुरा न कहेगा। उस दिन से मृत्यु सबको मार कर लाने लगे, किन्तु दोष सभी लोग रोगों को ही देते हैं। अमुक रोग न होता तो वे मरते नहीं। वास्तव में तो सबको मारने वाले मृत्यु ही हैं और वे मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"भावी उत्कर्षों में आप का स्वरूप कौन-सा है।"

भगवान् कहा—उद्भवों में उत्पत्ति स्थान अर्थात् उन्नति मेरा ही स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—"स्त्रियों में आपकी विभूति कौन-कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—स्त्रियों में कीर्ति, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा की अधिष्ठातृ देवी मेरी ही दिव्य विभूतियाँ हैं।

कीर्ति उसका नाम है—जिसकी सत्कर्म करने से सर्वत्र प्रशंसा होती है, सभी दिशाओं में जिसके शुभ कर्मों की प्रशंसा होने से ख्याति हो जाती है। ऐसे विख्यात पुरुष ही कीर्तिवान् कहलाते हैं। कीर्ति भी एक मेरी विभूति है।

'श्री' शोभा का नाम है। भिन्न-भिन्न श्रेणियों के पुरुषों की श्री भी भिन्न-भिन्न होती है। धर्म, अर्थ, काम की पूर्ति, शरीर की शोभा कान्ति का नाम भी श्री है। उनके मुख मण्डल पर श्री झलक रही है। अमुक स्थान में बड़ी श्री आ गयी है। वे व्यक्ति बड़े श्रीसम्पन्न हैं। ब्राह्मणों में यह श्री ब्राह्मीश्री कहलाती है। राजाओं में यही श्री राज्यश्री क्षात्रश्री के नाम से प्रसिद्ध है वैश्यों में यही श्री लक्ष्मी के रूप में कही जाती है। शूद्रों में यही श्री सेवा रूप से प्रकट होती है। यह श्री भृगु की पुत्री और विष्णु पत्नी है।

वाक् की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती है। ये विद्या के रूप में प्रकट

होती हैं। वाणी का ये भूषण हैं। सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति हैं। ये ब्रह्मा जी की पत्नी हैं।

स्मृति-चिरकाल के अनुभव किये हुए अर्थ को पुनः प्रकाशित कर देने वाली शक्ति को स्मृति कहते हैं। यह मनु पुत्री प्रसूति की कन्या हैं अङ्गिरा की पत्नी है।

मेधा—अनेकों ग्रन्थों के तात्पर्य को धारण करने की शक्ति का नाम मेधा है। किसी भाग्यशाली पर ही मेधादेवी की कृपा होती है। ये भी मनुपुत्री हैं। और धर्म की पत्नी हैं।

धृति—धैर्य का नाम है। आपत्ति-विपत्ति में शरीर तथा मन के थकित हो जाने पर भी शरीर तथा इन्द्रियों के समूह को विचलित न होने देने वाली शक्ति का नाम धृति है। ये भी मनु पुत्री हैं और धर्म की पत्नी हैं।

क्षमा—कोई अपराध भी कर दे और उसके प्रतीकार की शक्ति होने पर भी उसके प्रति क्रोध न करने का नाम क्षमा है। हर्ष का प्रसंग हो अथवा विषाद का दोनों में निर्विकार बने रहना, यही क्षमा का स्वरूप है। ये मनु की पुत्री और पुलह महर्षि की पत्नी हैं। ये सब धर्म आदि की पत्नियाँ लोक मातायें हैं। इन गुणों को जो धारण करते हैं वे भी संसार में आदर के भाजन बन जाते हैं। जिनमें इन सद्गुणों का कुछ भी अंश आ जाता है, वे विश्ववन्दित बन जाते हैं। इसीलिये इन गुणों की ये अधिष्ठातृ देवियाँ समस्त स्त्रियों में श्रेष्ठ हैं, वन्दनीय हैं तथा मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"वेदों में तो सामवेद को आपने अपनी विभूति बताया, किन्तु गायन करने वाली विशेषगतियों में बृहत्-साम स्तुति में आपका स्वरूप क्या है ?"

सूतजी कहते हैं-"मुनियो! इसके आगे की विभूतियों का भगवान् जो वर्णन करेंगे उन्हें मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

मृत्यु जगत में जातें जग को नाश कराऊँ।
नाम मृत्यु मम सबनि पकरि यम सदन पठाऊँ॥
करें जगत उत्पन्न तिनन्नि उत्पत्ति हेतु हौं।
भव-जल तारन हेतु सुदृढ़ अति सुखद सेतु हौं॥
नारिनि में जो कीर्ति श्री, बानी, मेधा, धृति, क्षमा।
इत्यिति सद्गुन रहहिँ जो, मैं ही तिनिमें हूँ सदा॥

भगवत् विभूतियाँ (९)

[१७]

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ३५, ३६ श्लोक)

छप्पय

गायन करिबे जोग्य गीत जो हैं जग माहीं ।
तिनि सबमें हौं बृहत् साम बहु गायक नाहीं ॥
छन्दनि में अति श्रेष्ठ कही गायत्री माता ।
मेरोई वह रूप द्विजनि की त्राता दाता ॥
मासनि में जो श्रेष्ठ अति, मार्गशीर्ष हौं ही कह्यो ।
ऋतुवसन्त मम रूप जो, भूप सबहिँ ऋतु को भयो ॥

---

* गायन करने वालो मे मैं बृहत्साम हूँ, छन्दों मे गायत्री, महीनों मे मार्गशीर्ष और ऋतुओ में बसन्त ऋतु मैं ही हूँ ॥३५॥

जितने छलने वाले काम हैं, उनमे मैं जूए का खेल मैं ही हूँ, तेजस्वियों मे तेज, जीतने वालों मे, जय, व्यवसायियों मे व्यवसाय और सात्विकभाव वालो में सत्त्व में ही हूँ ॥३६॥

प्राचीन काल में यज्ञ यागादि शुभ कर्मों में जो गान होता था, उसमें सामगान की ही प्रधानता थी। सामगान को यदि स्वर और लय के साथ किया जाय, और गान करने वाले का स्वर भी मधुर हो, तो वातावरण में एक विचित्र प्रकार की सरसता तथा मधुरता छा जाती है। सब वेदों में सामवेद को इसीलिये श्रेष्ठ बताया है कि वह ताल और लय के साथ गाया जाता है, उस समय भी सामगान करने वाले बहुत कम मिलते थे और अब तो उनका अभाव सा-हो गया है। सामवेद की ऋचाओं में भिन्न-भिन्न गतियाँ होती है। उन गति विशेषों में जो "त्वामिद्धि हवामहे" इस ऋचा में आरूढ़ गति विशेष है। इस गति का नाम 'बृहत्साम' है। यहाँ बृहत्साम से बड़ा सामवेद यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये। बृहत् साम का अर्थ हुआ सामवेद की ऋचाओं की जो गति हैं उनमें से आरूढ़ गति।

अतिरात्र यज्ञ में इन्द्र की सर्वेश्वर रूप से जो स्तुति की जाती है, उसे पृष्ठ स्तोत्र कहते हैं। यह पृष्ठ स्तोत्र आरूढ़ गति में ही गाया जाता है। यह स्तोत्र अन्य ऋचाओं से श्रेष्ठ माना गया है, इसीलिये भगवान् ने आरूढ गति विशेष-अर्थात् बृहत्साम को सब ऋचाओं से उत्तम मानकर अपनी विशेष विभूति बताया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अपनी विभूतियों का आगे वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—अर्जुन! सामों की ऋचाओं में बृहत्साम रूप गति विशेष मैं ही हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"छन्दों में आपकी विभूति कौन सी छन्द है।"

भगवान् ने कहा—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति त्रिष्टुप् और जगती ये सात वैदिक छन्द हैं। इन छन्दों में अक्षर

और पाद नियत रहते हैं। किस छन्द में कितने अक्षर रहेंगे के पाद की यह छन्द होगी। एक बार ये सब छन्द सोम लेने के लिये पारी-पारी से गयीं। पहिले सभी छन्द चार-चार अक्षरों वाली होती थीं। तब सबसे पहिले जगती छन्द सोम के अभिमुख होकर सोम लाने को गयी। वह सोम लाने में समर्थ नहीं हुई, उलटे वह अपने तीन अक्षरों को भी खोकर लौट आयी। वह एकाक्षरी छन्द रह गयी। इसके अनन्तर त्रिष्टुप् छन्द सोम के अभिमुख होकर सोम लाने गयी, उसे भी सोम की प्राप्ति नहीं हुई वह अपने एक अक्षर को खो कर चली आयी, तभी से त्रिष्टुप छन्द तीन अक्षरों वाली हुई। तदन्तर गायत्री छन्द सोम के अभिमुख होकर सोम लाने को गयी। वह सोम भी ले आयी और जगती तथा त्रिष्टुप के गंवाये हुए चार अक्षओं को भी ले आयी। चार अक्षर तो उसके पहिले ही थे, चार अक्षर सोम के साथ जीत कर लायी। तभी से गायत्री छन्द आठ अक्षरों वाली हो गयी। गायत्री के आठ-आठ अक्षरों के तीन पाद हैं। गायत्री वेदों की माता है। जो समस्त वेदों का अध्ययन करने में असमर्थ हो, उसे कम से कम गायत्री की उपासना तो अवश्य ही करनी चाहिये, क्योंकि गायत्री सभी वेदों की सार भूता है। जितने भी अवतारी पुरुष हुए हैं, गायत्री का उपासना सभी ने की है। गायत्री द्विजातियों की माता है। द्विजातियों का एक जन्म तो माता के गर्भ से होता है, दूसरा जन्म तब होता है, जब उन्हें गायत्री मन्त्र की दीक्षा मिलती है। तभी उनकी 'द्विज' संज्ञा होती है अतः गायित्री द्विजातियों के दूसरे जन्म की कारण भूता माता है। गायत्री की उपासना प्रातः मध्यान्ह तथा सायं तीनों सवनों में अर्थात् तीनों कालों में करनी चाहिये। त्रिलोकी में गायत्री से बढ़ कर पावन बनाने

वाली अन्य कोई वस्तु है ही नहीं।

नित्य प्रति नियम से प्रणव तथा तीनों व्याहृतियों सहित गायत्री मन्त्र का जाप द्विजातियों को अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि गायत्री से बढ़कर पापों का शोधन करने वाला दूसरा पदार्थ कोई है ही नही। समस्त तीर्थों में गङ्गा जी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं स्वयंही द्रव रूप होकर गङ्गा बन गया हूँ। समस्त देवों में मैं ही विष्णु सर्व श्रेष्ठ देवता हूँ, क्योंकि सभी देवता मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं और समस्त मन्त्रों में गायत्री मन्त्र ही सर्व श्रेष्ठ मन्त्र है, वह वेदों की, द्विजों की सोम की तथा समस्त विश्व ब्रह्मांड की माता है। भवसागर में डूबते हुओं का गायत्री माता करावलम्ब देकर अपने हाथ का सहारा देकर उबार लेती है। अतः समस्त छन्दों में गायत्री छन्द मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन पूछा—"समस्त महीनों में कौन सा महीना आपकी विभूति है?"

भगवान् ने कहा—समस्त महीनों में मार्गशीर्ष ही मेरा ही स्वरूप है। मार्गशीर्ष मास समशीतोष्ण है, न उसमें गर्मी रहती है न विशेष जाड़ा। कातिकी अनाज जैसे धान, बाजरा, ज्वार, मूँग, उड़द आदि नवीन अन्न भी उसी महीने मे होते है। किसी-किसी के मत में यह नव वर्ष का भी आरम्भिक मास है। इसी मास में व्रज की कुमारियों ने कात्यायनी देवी का व्रत किया था। इसी महीने में स्त्रियाँ परमपावन पुसवन व्रत करती है। नवीन अन्न होने से चित्त प्रसन्न होता है। इस मास में एक विशेषता और है। सभी बीज भूमि में पड़े रहते हैं, वे आषाढ़ में ज्योंही पानी बरसता है, सब उग आते हैं। एक बथुआ ही ऐसा साग है, जो आषाढ़ में कितना भी पानी बरसे नही उगता। श्रावण

में भी नहीं, भाद्र पद, तथा क्वार में भी नहीं। जब दीपावली हो जाती है। मार्गशीर्ष महीने का आगमन होता है, तब मार्गशीर्ष का स्वागत करने के लिये यह उगता है। वथुआ उदर के समस्त विकारों के लिये, नेत्र की ज्योति के लिये रामवाण औषधि है। तभी तो इसका नाम शाक-राज अर्थात् सभी शाकों का राजा है। इसे राज-शाक भी कहते हैं अर्थात् राजाओं का शाक है। यह रेचक, हृद्य, नीरोग तथा ज्योति दाता है। और सब हरे साग तो नेत्र के लिये अहितकर हैं केवल जीवन्ती, मूल्याक्षी, मेघनाद (चौलाई) पुनर्नवा (सांठ) और वथुआ ये पाँच शाक ही नेत्र की ज्योति बढ़ाने वाले हैं। वथुआ का साग मार्गशीर्ष का भूषण है और संवत् सरका भूषण मार्गशीर्ष मास है। इसीलिये सब महीनों में यह मेरी दिव्य विभूति हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"सभी ऋतुओं में आपकी विभूति कौन सी ऋतु है?"

भगवान् ने कहा—सभी ऋतुओं में कुसुमाकर वसन्त ऋतु ही मेरी विभूति है। वसन्त ऋतु बड़ी सुहावनी होती है। इसमें सभी वृक्षों में नवीन-नवीन कोपल निकल आते हैं। आमों में बौर आ जाता है, कोकिलकी कमनीय कूज सुनाई देने लगती है, सभी पुष्प खिल जाते हैं। ब्राह्मणों का उपनयन वसन्त ऋतु में होता है। ज्योतिष् नाम का यज्ञ वसन्त में ही आरम्भ किया जाता है। अधिक गर्मी पड़ने से पूर्व जो वसन्त की शोभा है, वह अपूर्व है। इसीलिये कुसुमाकर—पुष्पों की खान वसन्त को मेरी विभूति बताया है।

अर्जुन ने पूछा—"आपकी विभूतियाँ सब सात्त्विक ही हैं क्या? सब उपकारी ही हैं क्या?"

भगवान् ने कहा—उपकारी अपकारी का यहाँ प्रश्न नहीं।

यहाँ तो मैं अपनी सात्त्विकी, राजसी तामसी तीनों प्रकार की विभूतियों का विशिष्टता का वर्णन कर रहा हूँ। देखो, पशुओं में सिंह मेरी विभूति हैं, जलचरों में मकर मेरी विभूति है, वासुकी नाग सर्पों में मेरी विभूति हैं, ये सब जीवों को खा जाने वाले मार देने वाले हैं। शंकरजी मेरी विभूति हैं जो चराचर का प्रलय कर देने वाले हैं, अग्नि मेरी विभूति जो सबको भस्म कर देने वाले हैं। इस प्रकार चाहे सात्त्विक भाव वाले हो, राजस् अथवा तामस् भाव वाले औरों से जो विशिष्ट है, वे सब मेरी विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"जो दूसरों को छल करने वाली क्रिया हैं, उनमें आपकी विभूति कौन-सी क्रिया है?"

भगवान् ने कहा—छल करने वाली क्रियाओं में द्यूत-जूआ-क्रिया मेरी विभूति है। और क्रियाओं में तो धोखा देकर दूसरों को रुलाकर विवश करके छला जाता है, किन्तु जूए में तो हँसते-हँसते स्वेच्छा पूर्वक, उत्साह के साथ सबके देखते-देखते प्रसन्नता से छल किया जाता है। जूआ के कारण ही तो तुम लोगों को वनवास करना पड़ा। जूए के परिणाम स्वरूप ही तो यह महाभारत युद्ध हो रहा है। अतः द्यूत भी मेरा राजस् तामस् स्वरूप है विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"तेजस्वियों में आपका रूप कौन है?"

भगवान् ने कहा—"तेजस्वियों में तेज ही मेरी विभूति हैं। जो जितना ही अधिक तेजस्वी होगा, उतनी ही बड़ी मेरी विभूति मानी जायगी।"

अर्जुन ने पूछा—"जीतने वालों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान् ने कहा—जीतने वालों में जय ही मेरी विभूति है। जिस समय जिसकी विजय हो जाय, उस समय वही मेरी विभूति

है। जब मुझे तामस भावों का प्रचार-प्रसार करना पड़ता है, तब मैं यक्ष राक्षसादि तामस शरीर में प्रवेश कर जाता हूँ, उनको बढ़ावा देता हूँ. उनकी विजय करा देता हूँ, उस समय वे ही विजयी मेरी विभूति हो जाते हैं। कभी राजसों में कभी सात्त्विकों में समयानुसार प्रवेश करके उन्हें विजित बना देता हूँ। अत. विजय मेरी विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"व्यवसायियों में आपकी विभूति कौन है ?"

भगवान् ने कहा—"विशुद्ध व्यवसाय स्वयं ही मेरी विभूति हैं। जिसके फल में कभी चूक नहीं पड़ती, जो सदा अव्यर्थ उद्यम है उसी का नाम व्यवसाय है। ऐसा अव्यर्थ उद्यम मेरी विशिष्ट शक्ति है।"

अर्जुन ने पूछा—"सात्त्विकों में आपकी विभूति कौन हैं ?"

भगवान् ने कहा—स्वयं सत्त्वगुण ही मेरी विभूति है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य रूप जो सत्त्व है, उसका जो कार्य सत्त्वगुण है, वह मेरी विशिष्ट शक्ति है।

अर्जुन पूछा—"वृष्णिवंशीय यादवों में आपकी विभूति कौन हैं। आप स्वयं तो समस्त विभूतियों के अधिष्ठान ही हैं। फिर वृष्णियों में भी तो आपकी कोई विशिष्ट विभूति होगी ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने स्वयं ही भगवान् से उनके वंश के विभूतिवान् पुरुष के सम्बन्ध में प्रश्न कर दिया, तो भगवान् यह सुनकर मुस्करा गये। अब जैसे वे अपनी आत्मिक विभूतियों का वर्णन करेंगे, उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

छल करिवे के साधन तिनि में जूआ मैं हूँ।
तेजस्विनि में तेज, तेज को धर्ता मैं हूँ॥
नानाविधि तैं विजय करन जो-जो जहँ जावें।
तिनि सबमें ही विजय वेदवित मोइ बतावें॥
निश्चय जो जन करत हैं, उनको हौं निश्चय प्रबल।
सात्विक जन जितने जगत, सत्त्व रूप तिनिहौं सबल॥

भगवत् विभूतियाँ (१०)

[१८]

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥❀

(श्री भग० गी० १० अ० ३७, ३८ श्लोक)

छप्पय

वृष्णिवंश–अवतंस वृष्णिकुल–कमल–दिवाकर ।
वासुदेव तिनि माहिँ कह्यो हौं सब गुन आकर ॥
पांडुवंश–मनिमुकुट अग्रणी तिनिके माहीं ॥
मेरो पार्थ स्वरूप रूप औरनि को नाहीं ॥
मुनिनि माहिँ हौं व्यास हूँ, कर्‌यो ज्ञान उच्छिष्ट जिनि ।
कविनि माहिँ उशना कवी, कहें शुक्र आचार्य तिनि ॥

❀ मैं वृष्णी वंशियो मे वासुदेव हूँ, पांडवो में अर्जुन, मुनियो मे व्यास और कवियो मे शुक्राचार्य मैं ही हूँ ॥३७॥

मैं दमन करने वालों मे दण्ड हूँ, जीतने वालो मे नीति, गुप्त रखने वालों मे मौन और ज्ञानियो का ज्ञान मैं ही हूँ ॥३८॥

अंश और अंशी में कोई भेद नहीं है। चाहे सुवर्ण का सुमेरु पर्वत हो या चावल भर सुवर्ण हो, दोनों की ही सुवर्ण संज्ञा है। चाहे गोमुख से गंगा सागर तक बहने वाला गंगाजल हो अथवा एक छोटे पात्र में लाया गंगाजल हो, दोनों ही गंगाजल कहायेंगे और दोनों मे ही पाप काटने की समान शक्ति है। अंश अंशी में मिलकर जब चाहे एक रूप हो सकता है, जब चाहें तब पुनः अंशी से पृथक् होकर उसी के गुण कर्म स्वभाव वाला पृथक् हो सकता है।

इसी प्रकार भगवान् सर्वव्यापक हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, इस सम्पूर्ण जगत् को वे एक अंश से व्याप्त करके स्थित हैं। इसीलिये जहाँ वे अपनी विभूतियो का वर्णन करते है, वहाँ स्वयं साक्षात् परब्रह्म स्वरूप अपने आपको भी विभूति रूप से ध्यान करने के निमित्त अपनी दिव्य विभूतियों में से एक विभूति बताते हैं। अर्थात् वे स्वयं समस्त विभूतियों से विभूषित परिपूर्ण विभूतिवान् है, फिर भी इस रूप में अपनी एक विशिष्ट विभूति ही बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने वृष्णिवश में आपकी विभूति कौन है, यह प्रश्न किया, तब हँसते हुए भगवान् ने कहा—अर्जुन ! वृष्णिवंश में तो मेरी विभूति वसुदेव जी के पुत्र वासुदेव है।

अर्जुन ने कहा—"वासुदेव तो भगवन् ! मुझे शिक्षा देने वाले, मेरे रथ को हाँकने वाले आप ही हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, वासुदेव मै ही हूँ, मै स्वयं भी अपनी एक विभूति हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने वृष्णिवश में अपने को ही अपनी विभूति बताया, तब अर्जुन के मन में जिज्ञासा

हुई, कि हमारे पाडुवंश में हम पांडवों में भगवान् की विभूति कौन हो सकते हैं। हमारे ज्येष्ठ श्रेष्ठ भाई धर्मावतार युधिष्ठिर ही हम सब में विभूति होंगे। यह सोचकर वे पूछने लगे—"भगवन्! हम पाण्डवों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—"यह भी भला कुछ पूछने की बात है, जब वृष्णीवंश में मैं तुम्हारा सखा वासुदेव विभूति हूँ, तो पांडवों में तुम धनञ्जय मेरी विभूति हो। इसके पूर्व हम तुम दोनों सगे भाई नर और नारायण नाम के ऋषि थे। इस प्रकार जो तुम हो वही मै भी हूँ, तुममें और मुझमें अणु मात्र भी भेदभाव नहीं। कुछ भी अन्तर नही। तुम विभूति तो जो हो सो हो ही तुम तो साक्षात् मेरे स्वरूप ही हो।"

तब अर्जुन ने पूछा—"समस्त मुनियों में आपकी विभूति कौन से मुनि है?"

भगवान् ने कहा—मननशील मुनियों में श्री कृष्णद्वैपायन व्यासजी ही मेरी विभूति हैं। इन्होंने समस्त ज्ञान को उच्छिष्ट कर दिया। यह संसार भर का सम्पूर्ण ज्ञान व्यासोच्छिष्ट कहा जाता है कोई भी कवि, कोई भी आविष्कारक कोई भी ज्ञानी ऐसी कोई नवीन बात नहीं कह सकता जिसका किसी न किसी रूप में व्यासजी ने वर्णन न किया हो। इन्होंने ही समस्त वेदों का व्यास अर्थात् विभाग किया हैं, महाभारत जिसे पंचमवेद भी कहते हैं, उसकी रचना भी इन्होंने ही की है। समस्त पुराणों का प्रणयन संकलन इन्होंने किया है। ये ज्ञान के अवतार हैं, मेरे स्वरूप ही हैं तथा मेरी परम दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"कवियों में आपकी विभूति कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—महर्षि भृगु के पुत्र, दैत्य दानवों के गुरु, परमनीतिज्ञ शुक्राचार्य ही कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। ये

समस्त विद्याओं के विशारद हैं शिव जी की आराधना करके इन्होंने मृत संजीवनी विद्या प्राप्त की थी। इन्हीं को कवि या काव्य भी कहते हैं। ये मेरी दिव्य विभूति हैं।

अर्जुन ने पूछा—"दमन करने वालों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान् ने कहा—दमन करने वालों में जो दमन की शक्ति है। निग्रह करने की, अजितेन्द्रियों को सन्मार्ग पर लाने की, तथा उत्पथ प्रवृत्ति को रोकने की सामर्थ्य है, वही दमनशक्ति अर्थात् दण्ड मैं ही हूँ वही मेरी विभूति है।

अर्जुन ने पूछा—"विजय चाहने वालों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान् ने कहा—विजय चाहने वालों में नीति मेरी विभूति है। जिस न्यायपूर्वक नीति से विजय प्राप्त हो वह नीति मेरा स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—"गुप्त रखने वाले भावों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान् ने कहा—गोपनीय वस्तुओं में मौन भाव ही मेरी विभूति है। जो मौन है उसके भावों को लोग कठिनता से समझ सकते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञानवानों में आपकी विभूति कौन है?"

भगवान ने कहा—ज्ञानवानों में तो ज्ञान ही मेरी विभूति है। इस संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, अतः ज्ञान मेरी सर्वश्रेष्ठ विभूति हैं।

अर्जुन ने कहा—बस, भगवन्! जब ज्ञान को ही आपने अपनी विभूति बता दिया तो फिर कुछ पूछना भी शेष नहीं रहा। मैं सोचता हूँ चराचर जगत में ऐसी कोई भी वस्तु न होगी जो

आपसे रहित हो। सबमें कुछ न कुछ विभूति आपकी विद्यमान होंगी ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब भगवान् जैसे अपनी विभूतियों का उपसंहार करेंगे। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

सब दमननि में दण्ड कहाऊँ अरजुन प्यारे।
होवैं सबको दमन शक्ति मम एक सहारे॥
नीति सहित जग जीति जगत में जयी कहाऊँ।
जामें जो जय होय नीति हौं वही कहाऊँ॥
गुह्यनि में अति गुह्य जो, मौन भाव मम रूप है।
ज्ञाननि में अति श्रेष्ठ जो, मेरो ज्ञान स्वरूप है॥

भगवत् विभूतियों का उपसंहार

[१९]

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥❀

(श्री भग० गी० १० अ० ३९, ४०, श्लोक)

छप्पय

अरजुन ! तू यों समुझि जगत में जो कछु दीसत ।
चर होवै वा अचर जगत के सकल पदारथ ॥
सब भूतनि को आदि बीज मोकूँ ई जानों ।
अरजुन ! मेरी बात सत्य करिकें तुम मानों ॥
थावर जंगम चर अचर, जग में जितने भूत हैं ।
कोई मोतैं रहित नहिं, सब मोमें अनुसूत हैं ॥

भगवान् जैसे अनंत हैं, वैसे ही उनकी विभूतियाँ भी अनंत हैं। इन विभूतियों के वर्णन करने का तात्पर्य इतना ही, कि जैसे हंडी के असंख्यों चावलों में से कुछ चावल निकाल कर यह ज्ञान

❀ हे अर्जुन ! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह मैं ही हूँ। चराचर मे ऐसा कोई प्राणी नही है, जो मेरे से रहित हो ॥३९॥

हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियो का अन्त नही। यह जो मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार बताया है, यह तो बहुत ही संक्षेप से कहा है ॥४०॥

हो जाय कि पके या नहीं। इसीलिये भगवान् ने बहुत ही संक्षेप में अपनी कुछ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विभूतियों के नाम गिना दिये। श्रीमद्भगवत् गीता जी की ही भाँति श्रीमद्भागवत् में भी भगवान् ने उद्धवजी के पूछने पर अपनी कुछ विभूतियों का वर्णन किया है। अपनी विभूतियों के बताने के पूर्व भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने वहाँ यह स्पष्ट कर दिया है, "कि जिस समय कुरुक्षेत्र में कौरव पाडवा का युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय शत्रुओं से युद्ध के लिये तत्पर अर्जुन ने मुझसे इसी प्रकार का प्रश्न पूछा था। अर्जुन के मन में ऐसी धारणा हो गयी थी, कि कुटुम्बियों को मारना, और वह भी राज्य के निमित्त बहुत ही निन्दनीय अधम कार्य है, साधारण पुरुषों के समान वह यह सोच रहा था, कि मै मारने वाला हूं और ये मरने वाले हैं। यह सोचकर वह युद्ध से उपरत हो गया। तब मैने रणभूमि में अनेकों युक्तियाँ देकर वीर शिरोमणि अर्जुन को बोध कराया। उसी समय अर्जुन ने भी मुझ से अपनी विभूतियों के सम्बन्ध में ऐसे ही प्रश्न किया था जैसे तुम कर रहे हो।"

इतना कह कर भगवान् ने गीता की ही भाँति अपनी कुछ मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन किया। उस वर्णन में और इस भागवत के वर्णन में कुछ साधरण सा अंतर है। उसका होना स्वाभाविक ही है। भागवत से और गीता की विभूतियों से मिलान करने पर वह अंतर स्पष्ट हो जायगा। जैसे गीता में भी प्राणियों में भगवान् ने अपने को आत्मा बताया है और भागवत में भी। गीता में ज्योति वालों में केवल सूर्य को बताया है भागवत में अग्नि, सूर्य चन्द्रमा तीनों को बताया है। गीता में, वेदों में साम-वेद को तथा भागवत् में वेदों में हिरण्यगर्भ को बताया है गीता में इन्द्रियों में मन को और भागवत में कठिनाई से जीतने वालों में

मन को। गीता में रुद्रों में शंकर को और भागवत में नीललोहित को, शंकर का ही ही नाम है। गीता में पुरोहितों में बृहस्पति बताये हैं, भागवत में वसिष्ठ को, भागवत में बृहस्पति जी को वेदज्ञों में विभूति बताया है।

गीता में आयुधों में वज्र बताया है और भागवत में धनुष को। गीता में गन्धर्वों में चित्ररथ को भागवत में विश्वावसु को। गीता में पवित्र करने वालों में केवल वायु को बताया। भागवत में अग्नि, सूर्य, जल, वाणी और आत्मा को। गीता में शस्त्र धारियों में राम को बताया भागवत में धनुर्धारी त्रिपुरारी को। गीता में नारियो में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा को बताया, भागवत में स्त्रियो में शतरूपा को गीता में वृष्णिवंशियों में वासुदेव को तथा भागवत में विशिष्ट भगवानों में वासुदेव को। गीता में पांडवों में अर्जुन को बताया भागवत में वीरों में अर्जुन को। और सब विभूतियाँ ज्यों की त्यों हैं। भागवत में गीता से कुछ अधिक विभूतियों का वर्णन है। जैसे गतिशील पदार्थों में गति, गुणों में मूलभूता प्रकृति पदार्थों में गुण, गुणियों में सूत्रात्मा, सूक्ष्म वस्तुओं में जीव प्रजापतियों में दक्ष, औषधियों में सोमरस, धातुओं मे सुवर्ण, आश्रमों में संन्यास, वर्णों में ब्राह्मण, धान्यों में जौ, सन्मार्ग प्रवर्तकों में ब्रह्मा, व्रतों में अहिंसा, अष्टाङ्ग योगों में समाधि, विजयेच्छुओं में मंत्रबल, कौशलो में आत्म अनात्म कौशल, ख्याति वादियों में विकल्प, पुरुषों में स्वायं भुव-मनु, मुनीश्वरों में नारायण, ब्रह्मचारियों में सनत् कुमार, धर्मों में संन्यासधर्म, अभयों में आत्मानुसंधान, स्त्री और पुरुष दोनों में प्रजापति, युगों में सत्युग, विवेकियों में देवल और असित, प्रेमी भक्तों में उद्धव किंपुरुषों में हनुमान, विद्याधरों में सुदर्शन, रत्नों में पद्मराग, सुंदर वस्तुओं में कमल, तृणों में कुशा, हविष्यों में

गोघृत, व्यापारियों में लक्ष्मी, बलियों में उत्साह तथा पराक्रम, सात्वत जो वैष्णव हैं उनकी जो परम पूज्य वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा इन नव मूर्तियों में आदि मूर्ति वासुदेव, अप्सराओं में ब्रह्माजी की सभा की पूर्वचित्ति, पर्वतों में स्थिरता, पृथ्वी में गंध, जल में रस, आकाश में शब्द, पैरों में चलन शक्ति, वाणी, में बोलने की शक्ति, पायु में मलत्याग की शक्ति, हाथों में पकड़ने की शक्ति, उपस्थ मे आनन्दोपभोग की शक्ति, त्वचा में स्पर्श शक्ति नेत्रों में देखने की शक्ति, रसना में रसास्वादन की शक्ति, कानों में सुनने की शक्ति, समस्त इन्द्रियों में इन्दिय शक्ति। पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहंकार, महत्तत्व, पंचतन्मात्रा, जीव, अव्यक्त, प्रकृति, सत्व, रज तम इनमे परे रहने वाला ब्रह्म मैं ही हूँ।

अन्त में भगवान् ने कह दिया है, मे ही सबकी एक मात्र आत्मा हूँ। मेरे अतिरिक्त कोई भी पदार्थ, कहीं भी विद्यमान नहीं है। यदि मैं चाहूँ तो समस्त परमाणुओं की तो गणना कर सकता हूँ, किन्तु अपनी समस्त विभूतियों की गणना मे स्वयं भी करने में समर्थ नहीं हूँ।

उद्धव से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! तुम सोचो तो सही जब मेरे रचे कोटि-कोटि असंख्यों ब्रह्माण्डों की भी गणना नही हो सकती तब फिर मेरी विभूतियों की गणना तो हो ही कैसे सकती है। बस, तुम संक्षेप में इतने मे ही समझ जाओ कि संसार में जितने भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और ज्ञान विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हैं, वे सब मेरे ही अंश हैं।"

इस प्रकार भगवान् ने अपनी विभूतियों को अगणित-असंख्य-कभी भी गणना करने के अयोग्य बताया। उसी बात का उपसंहार करते हुए भगवान् गीता जी में कह रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् अपनी विभूतियों का उप संहार करते हुए कह रहे हैं—"अर्जुन ! तुमसे अब अधिक क्या कहूं, तुम इतने में ही समझ जाओ कि समस्त चराचर भूतों का जो बीज कहलाता है, वह सबका एक मात्र बीज मैं ही हूँ। चाहे जंगम हो या स्थावर हो, चर हो अचर हो, जड हो या चैतन्य संसार की ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो मुझसे रहित हो। यह जो दृष्य प्रपञ्च में जो भी कुछ देखा, सुना या अनुमान किया जा सकता है वह सब मेरा ही कार्य है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आपकी विभूतियों के श्रवण में तो बडा आनन्द आता है, कुछ विभूतियों का वर्णन और करें।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अर्जुन ! कहाँ तक वर्णन करें। मेरी दिव्य विभूतियों का तो कहीं अंत नहीं अवसान नहीं, समाप्ति नहीं, इयत्ता नहीं। यह वर्णन भी मैंने बहुत ही संक्षेप में संकेत रूप से अंशतः ही किया है।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा तो हमें कोई ऐसी परिभाषा बता दीजिये। जिसके द्वारा हम आपकी विभूतियों को पहिचान सकें।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् अपनी विभूतियों की संक्षिप्त परिभाषा बताकर जैसे इस विभूति योग की परि समाप्ति करेंगे उसे मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

पूछी सकल विभूति कहाँ तक तुमहिं सुनाऊँ।
मेरी अनंत विभूति कहीं सचु बात बताऊँ॥
एक एक करि तोइ सुनाऊँ सकल विभूती।
होहि अंत त्यों नहीं द्रौपदी साड़ी सूती॥
ये तो अति संक्षेप में, कछु विभूति अपनी कहीं।
इनि सबकूँ हे परंतप, पूरी तुम समुझो नहीं॥

समष्टि रूप कहकर विभूतियोग की समाप्ति

[२०]

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥*

(श्री भग० गी० १० अ० ४१, ४२ श्लो०)

छप्पय

समुझो मेरी बात सार को सार सुनाऊँ।
सबको जो गुरु मन्त्र ताहि फिरि तैं बतलाऊँ॥
जिनिकूँ देखो अति विभूतियुत पावन प्रानी।
सब ऐश्वर्य समेत कान्तियुत मनहर बानी॥
शक्तियुक्त अति शौर्ययुत, तुम्हें जगत में जो दिखत।
तेज अंश अभिव्यक्ति मम, विज्ञ रूप तिनि मम लखत॥

---

* तुम इतना ही समझो कि जो-जो भी विभूतिवान्, श्रीमान्, शक्तियुक्त वस्तुएँ हैं, वे सब मेरे ही तेज अंश से सम्भव हैं ॥४१॥

अथवा हे अर्जुन! अत्याधिक जानने से क्या लाभ बस, इतना ही समझो, इस सम्पूर्ण जगत् को मैं अपने एक ही अंश से धारण करके स्थित हूँ ॥४२॥

यह सम्पूर्ण जगत एक अद्वय परमब्रह्म परमात्मा की ऐश्वर्य भति है। भगवान् समस्त चराचर में व्याप्त हैं। तृण से लेकर ब्रह्मापर्यन्त कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो ब्रह्म से रहित हो। सर्वान्तर्यामी रूप से भगवान् सबमें व्याप्त हैं, किन्तु जहाँ पर सद्गुण विशेष रूप से प्रकट हों, वहाँ समझना चाहिये भगवान् का प्रकाश विशेष रूप से है। तीनों गुणों में से किसी भी गुण की जहाँ विशेष उपलब्धि हो उसे ही विभूतिवान् समझना चाहिये। सद्गुणों में से जैसे सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, वीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमला, निर्भयता, स्थिरता, विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, आस्तिकता, कीर्ति गौरव, निरहंकारिता, आत्माभिमान आदि और भी सद्गुण हैं, जिनमें इन गुणों में से किसी एक गुण की विशेषता हो वही विभूतिवान् पुरुष है।

ये जो अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व तथा कामावशायिता जो अष्ट सिद्धियाँ हैं इनमें से एक भी सिद्धि जिसमें आ जाय वह भी विभूतिवान् पुरुष है।

षडैश्वर्यों में से कोई भी ऐश्वर्य की जिसमें अधिकता हो जाय वह ऐश्वर्यवान् पुरुष भी भगवान् की विशेष विभूति है। राज्यश्री, ब्राह्मीश्री, लक्ष्मी, सम्पत्ति शोभा इनमें से किसी से युक्त पुरुष हो वह विभूतिवान् कहलायेगा।

किसी भी योनि में किसी भी वर्ग में जो विशिष्ट व्यक्ति हैं, वे विभूतिवान् माने जाते हैं। जैसे ब्राह्मणों में कोई परम तपस्वी, तेजस्वी, शीलवान्, सदाचार सम्पन्न विद्वान् है। ब्राह्मी श्री से सम्पन्न है। वह ब्राह्मणों की विभूति हैं।

क्षत्रिय हैं उनमें जो तेजस्वी प्रभावशाली, दक्ष शूरवीर तथा निर्भीक है, प्रजावत्सल है, संग्राम से डरने वाला नहीं है। वह क्षत्रियों की विभूति है।

वैश्य हैं, उनमें जो दानधर्म परायण, परमभाग्यशाली, धनिक सदाचारी परोपकार परायण है वह वैश्य वंशावतंस वैश्यों की विभूति है।

शूद्रों में जो विनम्र, आज्ञाकारी, सेवा परायण, सुशील, सदाचारी वयोवृद्ध, उचित अनुचित का विचार करके कार्य करने वाला हो तो, वह शूद्रों की विभूति है।

साड़ों में जो अधिक हृष्ट पुष्ट, बली, बड़े ककुद् वाला, वीर्यवान् तथा पराक्रम शाली है, वह साँड़ों की विभूति है।

स्त्रियों में जो सती साध्वी, पति परायणा, सबके साथ उचित वर्ताव करने वाली धर्मशीला सदाचार सम्पन्ना है वह स्त्रियों में विभूति है।

इसी प्रकार सभी वर्गों में, सभी वर्णों में, सभी आश्रमों में, सभी योनियों में, सभी स्थावर जंगमों में जो विशिष्ट श्री सम्पन्न हों उन सब को भगवान् की विशेष विभूति ही मानना चाहिये। और तो क्या चराचर विश्व में भगवत् बुद्धि करनी चाहिये यही विभूति योग का अन्तिम लक्ष्य है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने विभूति समझने का एक सार सिद्धान्त पूछा, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन तुम्हें मैं अपनी विभूति समझने की एक सरल विधि बताता हूँ, जो संसार में जिसे भी तुम ऐश्वर्यशाली श्रीसम्पन्न, लक्ष्मीवान् श्रीमान् शोभा सम्पन्न कान्तियुक्त तेजस्वी, पराक्रमी, शक्तिशाली बलवान्, आभासम्पन्न तथा विशिष्ट गुणयुक्त देखो, उन सब को

मेरी ही विभूति युक्त समझ लो। जहाँ-जहाँ तुम कोई विशेषता देखो वहाँ-वहाँ जान लो उसमें मेरे तेज का विशेष अंश है।

अर्जुन ने पूछा—"जैसे भगवन्! आपने इतनी विभूतियाँ बतायी हैं, वैसे ही कुछ ऐश्वर्य युक्त, लक्ष्मीसम्पन्न, शोभा और कान्तिमय अपनी कुछ अतिशय प्रभावशाली शक्तियों के सम्बन्ध में और बतावें? उनके कुछ नाम और गिनावें।"

भगवान् ने हंसकर कहा—अर्जुन! इन सब बातों के बहुत जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन सधेगा?

अर्जुन ने कहा—"मैं उनके द्वारा विशिष्ट-विशिष्ट वस्तुओं में आपके दर्शन करने की चेष्टा करूँगा।"

भगवान् ने कहा—मेरा दर्शन ही करना चाहते हो तो अपनी दृष्टि को परिच्छिन्न बनाने से काम न चलेगा। उससे विशेष लाभ न होगा। मुझे तुम सर्वत्र देखने की चेष्टा करो। मेरे अतिरिक्त चराचर में तुम अन्य किसी को सत्य समझो ही नहीं। देखो, जो यह दृश्य प्रपञ्च देखा अथवा सुना जाता है, यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मांड मेरे एक देश मात्र में अवस्थित है। ये चराचर सम्पूर्ण भूत मेरे एक पाद में-चार में से एक भाग में-अवस्थित है मेरे अमृतमय तीन पाद तो द्युलोक में हैं इसलिये तुम मेरी अवयव रूपा विभूतियों को विशेष सुनकर क्या करोगे। तुम तो समष्टि रूप में मुझे समझने का प्रयत्न करो। सब मैं ही मैं हूँ। मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी ज्ञान को स्थिर करो।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने अपने को व्यष्टि रूप में न देखकर विराट रूप में देखने को कहा, तो अर्जुन ने भगवान् का प्रत्यक्ष विराटरूप देखने की जिज्ञासा की। अब जैसे

अर्जुन ने विराट रूप दिखाने को भगवान् से प्रार्थना की है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

बहुत कहाँ तक कहूँ बात कब तलक बढ़ाऊँ।
निज भूपति के गीत कहाँ तक गाइ सुनाऊँ॥
अरजुन! इतनो जानि अनत मति चित्त चलावै।
बात बितन्डा बढ़ै तऊ तू समझि न पावै॥
मैं सबरे या जगत निज, योग शक्ति इक अंश तैं
धारन करि निरलेप बनि, पृथक रहूँ सब वंश तैं।

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्री मद्भगवत् गीता उपनिषद्
ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन
के सम्वाद रूप में हैं, उसमें "विभूति योग"
नामका दशवाँ अध्याय
समाप्त हुआ ॥१०॥

[इसके आगे की कथा अगले अङ्क में पढ़िये]

अर्जुन को विश्वरूप दर्शन

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ७७

गीतावार्त्ता (९)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक :

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सङ्कीर्तन-भवन

प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:*:—

प्रथम संस्करण २००० प्रति] [illegible] २०२७ [मू० १.६५ पै०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवतचरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६) ५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ८) है। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती हैं सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

विषय-सूची

विषय

अपनी निजी-चर्चा

गीता-माहात्म्य (१०) २१

गीता-माहात्म्य (११) ३२

१. अर्जुन की विश्वरूप दर्शन की प्रार्थना (१) ५०

२. अर्जुन की विश्वरूप दर्शन की प्रार्थना (२) ५७

३. भगवान् द्वारा अर्जुन को अपने विराट्रूप का संक्षिप्त परिचय ६२

४. अर्जुन को विराट्रूप देखने को दिव्यदृष्टि प्रदान ६७

५. विश्वरूप दर्शन (१) ७५

६. विश्वरूप दर्शन (२) ८१

७. अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (१) ८६

८. अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (२) ९१

९. अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (३) ९५

१०. अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (४) १००

११. अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (५) १०४

१२. अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (६) ११०

१३. अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (७) ११५

१४. हे प्रभो ! आप हैं कौन ? १२२

विषय पृ० सं०

१५. श्री विश्वरूप भगवान् द्वारा आत्म परिचय १३०
१६. काल स्वरूप विराट् भगवान् का परिचय पाकर अर्जुन की प्रणति १३७
१७. अर्जुन द्वारा नमस्कार स्तुति १४४
१८. अर्जुन द्वारा स्तुति और बारम्बार नमस्कार १५०
१९. अर्जुन द्वारा क्षमा याचना १५८
२०. प्रभो ! आप मेरे अपराधों को सहन करें १६६
२१. अर्जुन द्वारा विश्वरूप उपसंहार की प्रार्थना १७५
२२. भगवान् द्वारा विश्वरूप दर्शन की महिमा १८३
२३. अर्जुन को पुनः चतुर्भुज वासुदेवरूप के दर्शन १८९
२४. अर्जुन भगवान् के चतुर्भुज रूप के दर्शनों से स्वस्थ हुए १९५
२५. भगवान् द्वारा पुनः विश्वरूप दर्शन माहात्म्य कथन २०१
२६. तत्वज्ञ भक्त ही भक्ति द्वारा भगवान् को प्राप्त कर सकता है २१२

अपनी निजी-चर्चा

[८]

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे।
नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च ॥*
(श्री भाग० ४ स्क० २४ अ० ४१ श्लोक)

छप्पय

सब रूपनि में करत कलित क्रीड़ा बनवारी।
करवावें वे करम भुगावें फल लघु भारी॥
कबहूँ सुख बनि जाइँ कबहुँ दुख बनिकें आवें।
जीवन बनि प्रकटाइँ मृत्यु कबहूँ बनि जावें॥
वेई सुख दाता बनें, दुख दाता बनि जात हैं।
तिनि प्रभु पद बन्दन करूँ, जो बहु नाच नचात हैं॥

जीव यदि सब स्थितियों में भगवान् की ही इच्छा का अनुभव करे, तो वह दुःख, चिन्ता, भय तथा शोकादि से सदा के लिये छूट जायगा। हम दुखी इसीलिये होते हैं। कि कर्मों में अपना

---

* पितर तथा देव स्वरूप प्रभु को नमस्कार है, कर्मस्वरूप को नमस्कार है, प्रवृति मार्ग स्वरूप को नमस्कार है, निवृत्ति मार्गरूप प्रभु को नमस्कार, अधर्म के परिपाक स्वरूप भगवान् को नमस्कार है, मृत्यु रूप भगवान् को नमस्कार है और दुःख देने वाले भगवान् को नमस्कार है।

कर्तृत्व स्थापित कर लेते हैं। हमारी यह दृढ़ धारणा हो जाय, कि जो कुछ कर रहे हैं भगवान् ही कर रहे हैं। भगवान् अनेकों रूपों को रख कर सम्मुख आते हैं। कभी वे संत रूप में आते हैं, कभी सिंह बनकर आते हैं। कभी सुख बनकर तो कभी दुख बनकर। कभी स्वस्थ बनकर तो कभी रोग बनकर। सारांश यही कि विविध रूपों में वे ही क्रीड़ा कर रहे हैं। सब रूपों में केवल उनको ही देखने का अभ्यास हो जाय, तो उस साधक को जगत् ब्रह्ममय दीखने लगेगा। वह दुख-सुख के बन्धनों से छूटकर कृतार्थ हो जायगा।

हाँ तो प्रयाग उच्च न्यायालय ने मुझे मुक्त कर दिया। देहली में सत्याग्रह हो रहा था, नित्य ही सत्याग्रही जत्थे जाते थे, पकड़े जाते थे। मेरे जेल जाते ही कुछ कार्य कर्ताओं में भी पद प्रतिष्ठा के लिये वाद-विवाद चल पड़ा था, जो कि स्वाभाविक ही था, अधिकारियों की ओर से कुछ समझौते का भी संकेत मिला था। इन सब बातों की जानकारी के लिये यहाँ से मैंने देहली होकर ही श्री वृन्दावन जाने का निश्चय किया। बिना किसी को मार्ग में सूचना दिये हम देहली को रेल से चल पड़े। सरकार की ओर से जिस-जिस स्टेशन पर रेल खड़ी होती थी, उस-उस स्टेशन पर पुलिस का प्रबन्ध था, हम अनशन की दशा में ही देहली स्टेशन पर पहुँचे। वहाँ पर बहुत से भाई उपस्थित थे। सरकार की ओर से बड़ी सतर्कता बरती जा रही थी। जो भी गौ माता की जय बोलता उसे ही पकड़ लिया जाता था। दो दिन मैं देहली में स्वर्गीय लाला सूरज-नारायण जी के घर पर रहा। वहाँ आकर प्रायः सभी कार्यकर्ता मिले। श्री गोलवलकर जी गुरु जी भी मिले। जनसंघ के महामंत्री स्वर्गीय दीनदयाल उपाध्याय और अटल जी भी मिले। मैंने गुरु जी के ही सम्मुख इन दोनों से

कहा—"भाई, तुम लोग कुछ करते नहीं हो। कुछ इसमें बल लगाओ।"

उन्होंने कहा—"महाराज जी, आजकल तो हम सब चुनाव में लगे हैं। हमारी तो प्रार्थना है, कि अब अनशन स्थगित कर दें। चुनाव के पश्चात् आप जो कहेंगे वह हम करेंगे।"

मैंने हँसते हुए कहा—"तुम लोगों को खिला-खिलाकर इसीलिये मोटा किया है क्या कि समय पड़ने पर तुम कुछ भी न करो।"

यह सुनकर सभी लोग हँस पड़े। मैंने गुरु जी से कहा—"आप भी अनशन छोड़ने को कहते हो क्या ?

उन्होंने कहा—मैं अभी तो नहीं कहता, किन्तु अवसर आने पर मैं भी अवश्य कहूँगा।"

मैंने अधिकारियों की मनोवृत्तिका भी पता लगाया उनकी भी मनोवृत्ति में कोई विशेष परिवर्तन का आभास प्रतीत नहीं हुआ। कार्यकर्ताओं में गोरक्षा की अपेक्षा चुनाव सम्बन्ध में विशेष अभिरुचि दृष्टिगोचर हुई, क्योंकि चुनाव में कुछ ही दिन शेष थे। कोई बात बनती न देखकर मैं मोटर द्वारा वृन्दावन आ गया।

जिस दिन मैं अपने वृन्दावन के उस पार के गोलोक से पकड़ लिया गया था, उसके दूसरे ही दिन मेरे अन्य अनशन करने वाले साथी उस पार से इस पार के वंशीवट संकीर्तन भवन आश्रम में आ गये थे और यही सबके सब श्री वंशीवट विहारी गिरिधारी के मंदिर के सम्मुख अनशन कर रहे थे। उनके अनशन को १०-१५ दिन हो गये थे। मेरे आते ही सभी प्रेमी बन्धु जुट आये। मैंने तो गोलोक में ही प्राण परित्याग का निश्चय कर लिया था, अतः सायंकाल को ही मैं गोलोक

चला गया। मेरे साथ ही अन्य जो १०-१२ अनशनकारी थे, वे भी इधर ही चले आये प्रबन्धक, सेवक, रक्षक पहरेदार सभी गोलोक में आ गये। एक महामहोत्सव सा ही हो गया।

देश भर के लोग सहानुभूति प्रकट करने आते, पूरे देश में हम लोगों की प्राण रक्षा के लिये स्थान-स्थान पर जप, पूजा, पाठ, यज्ञ अनुष्ठान हो रहे थे, ऐसी सूचनायें नित्य आतीं।

यद्यपि हम लोग अनशन कर रहे थे, किन्तु कार्यकर्ता और दर्शनार्थी तो वहाँ प्रचुर संख्या में रहते ही थे, नित्य अनेकों नर-नारी आते-जाते थे। अतः गोलोक में एक मेला-सा लगा रहता। भंडारा बन रहा है, लोग खा रहे हैं। गौओं का मनों दूध होता था, दिन भर चाय बनती रहती जो आता उसका चाय से सत्कार किया जाता।

उन दिनों गोलोक में मूलियाँ इतनी हुईं कि उनकी कोई सीमा नहीं। ३-३-४-४ सेर की-एक मूली। खाने वाले कहते इतनी मीठी मूलियाँ थीं कि गरी के कच्चे गोले का सा स्वाद आता था। बढ़ाइयों भरकर साग बनता जिसके हाथ में देखो उसी के हाथ में मूली। जितनी खाई गयी उतनी खाली, न खायी गयी फेंक दी। बहुत से लोग तो मूली ही खाने को आते थे।

ठीक सख्या तो याद नही। अनशनकारी लगभग १०-१२ थे और सब तो पक्की कुटियों में रहते। उनके नीचे मोटे-मोटे पुआलों के गद्दे बिछे रहते। आरंभ में तो ओढ़ने का कष्ट रहा। पीछे जब लोगों को पता चला तो कृपालु भक्तों ने सैकड़ों कंबल, रजाइयाँ, गद्दे भिजवा दिये।

मैं तो अपनी नव निर्मित कच्ची कुटी में ही रहता। वह तत्-काल गीले गारे से बनी थी। महीनों यमुनाजी का पानी भरा रहा था, अतः नीचे से भी पानी निकलता था। एक प्रकार से

मेरी कुटिया बरफ की गुफा ही थी। उस कुटिया में चौबीसों घंटे अखंड भागवत् चरित का पाठ होता रहता। अखंड धूनी जलती रहती। उस छोटी कुटिया में ८-८ १०-१० आदमी रात्रि में रहते। मेरी सेवा में जो दो चार लडके रहते उनमें से कोई मेरे तखत के नीचे सोता कोई कहीं गुड़-मुडी मारे पडा रहता। मुझसे अधिक परिश्रम तो लड़कों का था। मै तो चुप-चाप पड़ा रहता ये लड़के तो दिन भर भाग-दौड़ का कार्य करते, रात्रि में जागते थे। कैसे थे वे दिवस, अब उनकी स्मृति आती है तो हृदय में मीठी-मीठी हूक उठती है। दिन में मेरा तख्त धूप में डाल दिया जाता, मै दिन भर धूप में पडा रहता। दिन भर दर्शनार्थियों का तांता लगा रहता।

जैसा कि अनशन वाले करते हैं, गरम जल में नींबू का रस और पानी मिलाकर पीते हैं। हमारे सभी साथी ऐसा ही गरम जल पीते थे। मैने नीबू नमक पड़ा गरम जल भी लेना स्वीकार नही किया। एक मेरे साथी पाहूजा भी गरम जल नही लेते थे। हम दो को छोड़कर सब गरम किया हुआ नीबू नमक का जल पीते थे उनके लिये जल तैयार करना उन्हें उठाना बिठाना न्हिलाना घुमाना आदि सब कार्य भक्त लोग बड़ी तत्परता से करते।

कुछ न खाने से मुझे प्यास बिलकुल नहीं लगती थी। जाड़े के दिन, बरफ की कुटी में निवास, इस कारण पानी पीने की इच्छा ही न होती थी। गोलोक में वृन्दावन से बहुत अधिक जाडा पडता था। क्योंकि वह यमुनाजी के गर्भ में है और यमुनाजी वहाँ से अभी-अभी हटी थीं। सामान्य दिनों में भी वैशाख ज्येष्ठ में वहाँ रजाई ओड़कर सोना पड़ता है। बिना प्यास के मै पानी पी जाता, वह तनिक भी देर पेट में नहीं रहने पाता, तुरन्त वमन करके मै पानी को निकाल देता।

पैरों में झुझुन वात पहिले ही से थी, फिर कच्ची भीगी कुटी में सोने से रग-रग में जाड़ा व्याप गया था, दिन भर धूप में पड़े रहने पर भी जाड़ा नही जाता था। कुटिया के भीतर लकड़ी कंडे जलते रहते और बाहर कोयलों की सिगड़ी जलती रहती।

कुछ न खाने से शौच तो होता ही नही था, फिर भी दोनों समय शौच जाता था, कभी-कभी एक दो गाँठ निकल भी जाती। शौचालय में जाता तो वहाँ भी कोयलों की जलती हुई सिगड़ी ले जाता। शरीर अत्यंत कृश हो गया था, फिर भी साहस करके दूर शौचालय में चला जाता। मरने का तो निश्चय कर ही लिया था, अतः शरीर के प्रति तनिक भी ममता नही रह गयी थी। इसी प्रतीक्षा में था, कि कब शरीर छूट जाय।

रात्रि में निद्रा बहुत कम आती थी, शरीर में पीड़ा भी रहती थी, किन्तु कभी भी भूल कर भी मै अपनी व्यथा को व्यक्त न होने देता। हर समय हंसता रहता। सैकड़ों नर-नारी जो प्रतिक्षण मेरा मुख जोहते रहते उनके सम्मुख मैं अपनी व्यथा कैसे व्यक्त करूं। यह प्रतिष्ठा ऐसी बुरी वस्तु है, कि इसकी रक्षा के लिये अपने भावों का गोपन करना ही पड़ता है।

एक मंडलेश्वर थे। गुजरात के किसी बड़े नगर में बड़े आदमी के घर में ऊपर की मंजिल में ठहरे हुए थे। नित्य दूसरे स्थान पर प्रवचन करने जाया करते थे। एक दिन प्रवचन करने को दूसरी मंजिल से नीचे उतर रहे थे, पैर फिसल गया। नीचे गिर पड़े कूल्हे की हड्डी टूट गयी। हड्डी टूटने पर महान कष्ट होता है, किन्तु भक्तों के सम्मुख प्रकट करते हैं, तो प्रतिष्ठा जाती है। उस कष्ट को सहन करके मोटर में बैठ गये। जाकर सभा में प्रवचन किया। फिर अस्पताल गये। हड्डी जुड़ने में दो महीने लगे। दो

महीने तक अस्पताल में पड़े रहे। प्रतिष्ठित हो जाने पर सबका ध्यान रखना पड़ता है।

मनुष्य जब तक किसी बात पर दृढ़ रहता है तब तक उसे कोई असुविधा नहीं प्रतीत होती। जहाँ उसकी दृढ़ता में तनिक भी ढिलाई आई नहीं कि असुविधा ही असुविधा दिखायी देती है। जो आदमी दिन में चार बार खाता है, वह यदि निर्जला एकादशी को प्रतीज्ञा कर लेता है, कि आज न मैं कुछ खाऊँगा और न जल ही पीऊँगा, तो उसकी दृढ़ता के कारण उसे न भूख लगती है और न प्यास ही। जहाँ तनिक सी शिथिलता आ गयी, तो सोचते है—थोड़ा सा दूध पी लेने में क्या हानि है।

दूध पीने बैठते है, तो फिर थोड़ा-सा नहीं पिया जाता। यही तो मनुष्य की दुर्बलता है। एक दिन मैं शौचालय में गया। सामने दहकते हुए कोयलों की अंगीठी रखी थी, मै अपने को सम्हाल न सका, अंगीठी में ही गिर गया। कई स्थानो में जल गया, किन्तु मैने किसी से इस बात को बताया ही नहीं। शरीर में रक्त तो था ही नहीं अतः घाव शीघ्र ही सूख गये।

तेंतीस या चौंतीस दिन हो गये। शरीर अत्यत निर्बल हो गया था, पानी की एक बूंद भी पेट में नहीं रह सकती थी, शरीर की नस-नस में सरदी बैठ गयी थी। रात्रि में नींद क्षण भर को भी नही आती। तीन रात्रियाँ मैंने निरंतर जागकर किस प्रकार बितायीं, इसे भगवान् के और मेरे अतिरिक्त कोई तीसरा आज तक नही जान सका है। मैं अपनी व्यथा को किसी पर प्रकट करता हूँ, तो ये लड़के क्या कहेंगे।

अब मुझे ठीक-ठीक तो याद नहीं है, मेरे अनशन का ३५ वाँ या ३६ वाँ दिन था। तीन चार दिन से क्षण भर को निद्रा नहीं आती थी। रात्रि भर क्या-क्या सोचता रहता था, उन विचारों को

लिखने बैठूँ, तो एक बड़ा भारी पोथा बन जाय। राधेश्याम मेरे पास ही सोता था। समीप ही भागवत चरित का अखंड पाठ होता रहता था, पाठ सुनते-सुनते ही पूरी रात्रि व्यतीत हो जाती।

रात्रि के बारह बजे होंगे, हृदय में अत्यन्त ही व्यथा होने लगी। जब व्यथा असह्य हो गयी, तो मैंने राधेश्याम को जगाया। और धीरे से कहा—मेरा सिर फटा जा रहा है, उसने मेरे सिर को गोदी में रखा और शनैः शनैः दबाने लगा। मुझे प्रतीत हुआ मृत्यु आ गयी।

मैंने मरते हुए आदमियों को देखा है, मेरे एक साथी थे, जगत्प्रकाश ब्रह्मचारी। झूसी आश्रम की समस्त देखभाल वे ही किया करते थे। मृत्यु के समय मैं उनके पास ही बैठा रहा। मेरी गोदी में सिर रखकर ही उन्होंने प्राणों का परित्याग किया था। आयुर्वेद के पठन का मुझे चिरकाल से व्यसन है। ३००-४०० आयुर्वेद के ग्रन्थ मेरे पास है। मैं निरन्तर उनकी हाथ की तथा पैरों की नाड़ियों को देखता रहा। सबसे पहिले उनके पैर निर्जीव हुए। परों में से प्राण निकले, फिर जघा निर्जीव हुई; फिर उदर तब, उनकी आँखें फट गयी। हंसा उड़ गया।

मुझे भी अनुभव हुआ, अब मृत्यु समीप आ गयी। पैरों को देखा, वे बरफ की भाँति ठंडे पड़ गये थे। वे निर्जीव हो गये थे, अपने आप मैं हिला-डुला नहीं सकता था। मैं चाहता था, रात्रि में मेरी मृत्यु न हो। बार-बार पूछता, अब कै बजे हैं, कै बजे हैं। मैं सोचता था। उषाकाल भी हो जाय, चार बजे भी मृत्यु हो, तो अच्छा है। शनैः शनैः १-२-३ और चार बज गये। लोग जागने लगे, इधर-उधर टहलने लगे। पैर तो निर्जीव हो ही गये थे, घुटनों तक निर्जीवता आ गयी। तब मैंने सबको जगाने को कहा। सब दौड़े-दौड़े मेरे पास आये। भगवान् का सिंहासन

मेरे तखते से सटा ही था। उसके सामने पूजा का छोटा सा कच्चा चबूतरा था। मैंने कहा—गौ के गोबर से चबूतरे को लीपो। तुरन्त चबूतरा लीपा गया। मैंने कहा—इस पर पुआलका गद्दा कुशा का आसन बिछाओ। आसन बिछ जाने पर मैंने कहा—मुझे कुशाओं के आसन पर लिटा दो।" तुरन्त दो तीन लड़कों ने लिटा दिया। भगवान् शालग्राम को मैंने छाती पर रखा। तुलसी की माला धारण की फिर सोचा—मेरे मन में कोई वासना तो नही है, किसी वस्तु में ममता तो नहीं है। अन्तःकरण को टटोला। कोई इच्छा प्रतीत न हुई। तब मैंने कहा—सबको बुला लो। "सुनते ही सब लाग आ गये। कुटिया छोटी थी, आदमी बहुत। अभी अंधेरा था। मैंने कहा—गौ माता को लाओ।" तुरन्त काली गौ लाई गयी आते ही उसने गोबर किया मूत्र किया। यह तो शुभ लक्षण है।

बहुत सी बच्चियाँ बच्चे रोने लगे, मैंने कहा—"देखो, कोई रोना मत, सब आकर एक-एक करके प्रणाम कर जाओ और भगवान् के नामों का कीर्तन करो।" सबने बल पूर्वक आँसुओं को रोका। रोते-रोते सब कीर्तन करने लगे।

मैं सोच रहा था, घुटनों तक तो शरीर निर्जीव हो ही गया है, सूर्य निकलते-निकलते शरीर समाप्त हो जायगा। अभी सूर्य निकला भी नहीं था, कि मथुरा तथा वृन्दावन से नर-नारियों की भीड़ आनी आरम्भ हो गयी मुझे आश्चर्य हो रहा था, कि इतनी ही देर में मथुरा तक यह बात कैसे पहुँच गयी। अभी तो इस कुटी के बाहर भी लोगों को पता नहीं चला।

इस विषय में छत्रपति शिवाजी की एक कथा है। छत्रपति शिवजी को उनके पुत्र शंभाजी के सहित औरंगजेब ने अपने

देहली के किले में वन्दी बना लिया। वहाँ उनको समस्त सुविधायें थीं। जो चाहें सो करें, किन्तु बाहर नहीं जा सकते।

एक दिन कोई बड़ा पर्व आया। छत्रपति ने औरंगजेब से अनुमति माँगी, कि "आज मै कुछ दान पुण्य करना चाहता हूँ, ब्राह्मणों को भिक्षुकों को दीन-दुखियों को मिठाई बाँटना चाहता हूँ।"

औरगजेब ने कहा—"चाहें जितना दान धर्म कीजिये चाहें जितनी मिठाई बाँटिये।"

उसने मिठाइयाँ मँगाने का प्रबन्ध कर दिया। बड़े-बड़े टोकनों में मिठाइयाँ आने लगी। सैकड़ों सहस्रों ब्राह्मण, भिक्षुक, दीन दरिद्री लेने आने लगे। सेना का कड़ा पहरा था। आने-जाने वालों पर सैनिकों की कठोर दृष्टि थी।

मिठाई बांटते-बांटते सायंकाल हो गया। सायंकाल के समय छत्रपति शिवाजी और सभाजी ने अपनी-अपनी शैयाओ पर दो-दो लम्बे-लम्बे तकिया रखकर उन पर ऐसे चादरें उढ़ा दीं मानों दोनों सो रहे है और दोनों बाप बेटे मिठाइयों की एक-एक टोकनी में बैठकर बाहर निकल गये। पहरे वाले तो दिन भर मिठाइयो के टोकरों को आते-जाते देख ही रहे थे, अतः किसी ने संदेह नही किया।

योजना पहिले से ही बनी हुई थी। एक नौका तैयार खड़ी थी, उसमें रखकर टोकने यमुना के पार पहुँचाये। नौका को पारितोषिक देकर विदा किया। वहाँ दो बहुत ही वेगशाली कसे-कसाये घोड़े खड़े थे। बाप बेटे घोड़ों पर चढ़कर भाग निकले। रात्रि भर चलते रहे। प्रातः काल अभी सूर्योदय नहीं हुआ था। अरुणोदय काल था। बाप बेटाओं ने देखा कुछ स्त्रियाँ कूए पर पानी भर रही हैं, वे आपस में बातें कर रही थीं—

"अरी बहिना ! छत्रपति शिवाजी तो औरंगजेब के कारावास से से निकल कर भाग गये।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ शंभाजी ने पूछा—"पिताजी ! हम लोग रात्रि भर घोड़ों को दौड़ाते हुए चले हैं। अब तक ५०-६० कोश चले आये होंगे। अभी तक तो देहली के किले में भी किसी को हमारे भागने का समाचार विदित न हुआ होगा, इन स्त्रियों को हमारे भागने का पता कैसे चल गया ?"

तब शिवाजी ने कहा—"भैया ! हम जो भागने का विचार कर रहे थे, वह विचार वायुमंडल में व्याप्त हो गया। वायु उसे उड़ाकर यहां तक ले आयी। वायु मंडल ही विचारों को प्रसारित करता है।"

इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मुझे दृष्टि गोचर हुआ। मथुरा वृन्दावन में हल्ला हो गया, ब्रह्मचारी जी की मृत्यु हो गयी। और सूर्योदय के पूर्व ही लोगों का तांता लग गया।

सूर्योदय हो गया, किन्तु मेरे शरीर की शून्यता घुटनों से ऊपर न बढ़ी। घुटनों तक तो शरीर को कोई काट दे तो भी पता नहीं चलता। घुटनों से ऊपर सम्पूर्ण शरीर में जीवन था, मैं आदमियों को पहिचानता था, हंस-हंसकर बातें करता था। किन्तु उस समय तो मुझे अनुभव नहीं हुआ, अब अनुभव करता हूँ, कि इस अनशन का मेरे मस्तिष्क के ऊपर विपरीत प्रभाव पड़ा मस्तिष्क निर्बल बन गया, मैं अपने विचारों का सन्तुलन खो बैठा। मस्तिष्क में बड़े-बड़े विचार उठने लगे। अब तक तो मरने की ही बात सोचता रहता था। मृत्यु के स्वागत के लिये प्रस्तुत रहता। अब मस्तिष्क में अन्य ही भाव उठने लगे।

जीवन में इतना सोचने का समय पहिली ही वार मिला। नही तो वाल्य काल से अब तक मेरा सम्पूर्ण जीवन सघर्षमय ही व्यातीत हुआ। जिस बात की भी धुनि लग जाय उसी के पीछे हाथ धोकर पड़ जाना यही मेरा अब तक कार्य रहा है। कभी मैं विना कुछ किये, विना व्यस्त रहे बैठा हूँ, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता। कभी ऐसा बीमार भी नही पड़ता कि चारपाई पर पड़ना पड़े। ये ही दिन ऐसे थे, जिनमें निष्क्रिय होकर चुपचाप पड़ा रहना पड़ता था। अब तक तो यही धुनि थी, कि जैसे हो तैसे, गोरक्षा हो, समस्त देश में अविलम्ब कानून से गोरक्षा हो जाय। अब सोचने लगा। मान लो कानून वन भी गया, तो सरकार मन से कानून तो बनावेगी नही दवाव से बनावेगी। उसमें कोई न कोई ऐसा छेद रख देगी, कि गोहत्या ज्यों की त्यों होती रहेगी। संविधान बनते समय राजेन्द्र बाबू तथा टन्डन जी आदि की हार्दिक इच्छा थी, कि स्वराज प्राप्ति के पहिले दिन ही गो हत्या बन्दी का कानून वन जाय, किन्तु नेहरू जी नहीं माने। संविधान ने गोहत्या बन्दी कानून को स्वीकार किया और हमें आशा थी, कि वर्ष दो वर्ष में देश से सदा के लिये गो हत्या बन्द हो जायगी। सभी यही सोचते थे। मध्य प्रदेश ने तो स्वराज होने के पश्चात् तुरन्त ही समस्त गोवंश की हत्या पर प्रतिवन्ध लगा दिया था।

हमारे कान तो तव खड़े हुए जब नेहरू जी ने कहा—"संविधान की मंशा सम्पूर्ण गोवंश के वध पर प्रतिवन्ध लगाने की नहीं है। वह तो उपयोगी पशुओं का वध रोकता है। उसे भी भारत सरकार नही बनावेगी। प्रान्तीय सरकारें चाहे तो कानून वना सकती हैं।"

जब हमने यह सोचा कि चलो, प्रत्येक प्रांत में सत्याग्रह

करेंगे। मंत्रीगण प्रायः सर्वत्र हिन्दू हैं, हिन्दू कोई कैसा भी क्यों न हो गोहत्या के विरोध में न जायगा। यही सोचकर हमने लखनऊ में सत्याग्रह किया और वहाँ भी मध्य प्रान्त की भाँति गो बछड़ा, बछड़ी, बैल साँड़ समस्त गो वंश के वध पर प्रतिबन्ध का कानून पास हो गया, तब तो नेहरू जी बड़े नाराज हो गये। तत्कालीन मुख्यमन्त्री स्वर्गीय बाबू सम्पूर्णानन्द जी की उन्होंने कानून बनाने पर बड़ी आलोचना की।

जब हमने बिहार में सत्याग्रह किया और वहाँ भी तुरन्त कानून बनाकर हमें कारावास से मुक्त कर दिया, तो हमने समझा यहाँ भी मध्य प्रदेश उत्तर प्रदेश की भाँति कानून बना होगा। किन्तु हमें पीछे पता चला वह तो भारत सरकार के दबाव से बहुत ही लँगड़ा कानून बना। उसमें गो हत्यारे पर मुकदमा पुलिस न चलावेगी, दूसरे लोग चाहें तो चला सकते हैं।

फिर कसाइयों से सर्वोच्च न्यायाल में अपील करा दी। सर्वोच्चन्यायालय ने निर्णय दिया संविधान के अनुसार गो बछड़े बछड़ियों पर प्रान्तीय सरकारें प्रतिबन्ध लगा सकती हैं, किन्तु अनुपयोगी बैलों और सांड़ों पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकतीं। उनका वध तो चालू रहेगा।" लीजिये साहब सब गुड़ गोबर हो गया हमारे यहाँ कहावत है "बिना इच्छा के मार पीट कर महरे मर बिठा भी दो तो होकरा तो नहीं दिवा लोगे।"

जब वर्तमान सरकार हृदय से गोबध के पक्ष में है, तो कानून बन जाने पर भी इसका पालन भी तो सरकार ही करावेगी। आज शारदा विवाह विधि रहने पर भी करोड़ों छोटी अवस्था के लड़के लड़कियों के खुल्लमखुल्ला विवाह हो रहे हैं।

सरकार न चाहेगी, वह उदासीन बनी रहेगी, तो केवल कानून बनने से भी हमारा प्रयोजन तो सिद्ध न होगा।

रही जनता की बात। आज से २५-३० वर्ष पूर्व तो एक भी हिन्दू ऐसा नहीं था जो गो वध का समर्थन कर सके। एक बार किसी ने पं० मोती लाल नेहरू जी से पूछा था—आप मांस तो खाते ही हैं। गोमांस खाने में क्या हानि, क्या आप गो मांस खा सकते हैं ?"

उन्होंने उत्तर दिया था—"मैं गो मांस तो खा नहीं सकता। हाँ जो गो मांस खाते हैं, उनके मांस को खा सकता हूँ।"

इस उत्तर में कितनी वेदना है, गो के प्रति कितना अटूट आदर है। मेरे सामने ही संसार भर का एक भी हिन्दू ऐसा नहीं था जो गोमांस से घृणा न करता हो किसी ने कह दिया—पं० जवाहर लाल नेहरू विदेशों में गो मांस खाते हैं। इस बात का हमारे किसी कार्य कर्ता ने सार्वजनिक सभा में उल्लेख कर दिया। जब हमारे गो हत्या निरोध समिति का शिष्ट मण्डल प्रयाग के आनन्द भवन में पं० जवाहर लाल नेहरू जी से मिलने गया, तब उन्होंने छूटते ही यह बात कही; कि आप लोग तो इस बात का प्रचार करते हैं, कि मैं गो मांस खाता हूँ।"

इस पर रज्जू भैया ने कहा—हम तो प्रचार नहीं करते कि आप खाते हैं। हाँ कुछ लोग संदेह करते हैं सो आप नहीं खाते तो इसका खंडन कर दें।

इससे भी यही प्रतीत होता था, कि नेहरूजी भी गो मांस खाने के पक्ष में तब खुलकर नहीं कहते थे। किन्तु आज वह भावना लुप्त हो गयी। बहुत से हिन्दु नामधारी साम्यवादी 'कम्यूनिष्ट' खुल्लम खुल्ला लोक सभा में स्पष्ट कहने का साहस करते हैं, हम गो मांस खाते हैं, जिसे जो करना हो करले। मुसल-

मानों को प्रसन्न करने को जो हिन्दु नहीं भी खाते, वे खाने का समर्थन करते हैं। एक प्रकार से अधिकांश लोगों की गो मांस के प्रति जैसी कठोर घृणा थी, वह अब प्रायः जाती रही। पहिले गो गुहार के नाम से कोई भी पुकार कर देता लाखों हिन्दु सब काम छोड़कर मरने मारने को तैयार हो जाते थे। सैकड़ों स्थानों पर गो के नाम से झगडे हुए। अनेकों लोगों को फांसिया, काला पानी और आजन्म कैद की सजायें हुई। हमारे यहां भूसी में गो के नाम से बड़ा भारी दंगा हुआ। बहुत से आदमी मारे गये। बहुतों को फांसी हुई जो मालवीयजी ने पूरी शक्ति लगाकर लाखों रूपये व्यय करके छुड़वाये बटारपुर आदि सैकड़ों स्थानों में ऐसे दंगे हुए। अब सर्वसाधारण में भी वैसी भावना नहीं रही। कोई गो वध कर रहा हो, तो आंख बचाकर निकल जाते हैं। सोचते हैं कौन झगडों में पडे।

ये जो धनिक व्यपारी है, ये पहिले गो रक्षा के प्रबल पक्ष पाती थे। गो के लिये सर्वस्व बलिदान करने को उद्यत रहते थे। अब धनिकों में भी वैसी भावना नहीं रही। हिन्दु धनिक गो बध करने वाले कसाइयों को व्याज पर रुपया देते है। अपने शीत गृहो में गो मांस रखते हैं। गर्भवती गो के पेट को चीर कर गर्भस्थ बच्चे के कोमल चर्म के गोसल्लों का, जीवित गो के चर्म का, उन चर्म से बने जूते, बैग चप्पल आदि का व्यापार करते हैं, और हम जब गो रक्षा समिति के लिये चंदा मांगने जाते हैं, तो हमें भी सौ पचास रुपये दे देते हैं। ऐसी भावना वाले धनिक व्यापारियों के बल पर गो रक्षा कैसे हो सकती है?

पहिले जनता अपनी रुचि से, धार्मिक और आर्थिक भावना से प्रेरित होकर गौओं का पालन करती थी। गो हमारे जीवन की रीढ़ थी। गो के बिना पहिले हमारा कोई काम चलता ही

नहीं था। जीवनोपयोगी इतने कामों के लिये गौ की आवश्यकता होती थी (१) धार्मिक कार्यों के लिये। जात कर्म संस्कार से लेकर मृतक संस्कार तक सभी में गौदान होता था। गौदान के बिना कोई धार्मिक कार्य सम्पन्न ही नहीं होता था। पंचामृत के बिना पूजा ही नहीं होती थी। आज प्रायः सभी संस्कार नष्ट हो गये। पूजा को भी लकीर पीटी जाती है। गो दान कौन करता है। कोई-कोई करते भी हैं तो सवा रुपया, सवापांच आना या पांच पैसा देकर ही गौदान की परम्परा को निभा लेते हैं। अतः धार्मिक कार्य भी गौ के बिना चल जाते हैं।

(२) दूसरे आयुर्वेद औषधियो के लिये गौ की अत्यंत आवश्यकता होती थी, क्यों कि वैद्यक के सिद्धान्तनुसार घृत का अर्थ गौघृत, दूध से केवल गौ दूध और दधि से केवल गौ का ही दधि लिया जाता है। गोबर और गो मूत्र का भी औषधियों में बहुत उपयोग है। अब लोग आयुर्वेदीय औषधियों के स्थान में ऐलोपेथिक औषधियों से काम चलाने लगे हैं, जिसमें गौ की इन वस्तुओं की आवश्यकता नहीं। अतः चिकित्सा का काम भी गौ के बिना चल ही रहा है।

(३) तीसरे पहिले गौ के घृत, दूध, दही, खोआ, रबड़ी तथा अन्यान्य खाने की मिठाईयों के लिये आवश्यकता होती थी। अब घृत के लिये तो धनिक व्यापारियों ने इतनी भारी-भारी करोड़ों रुपयों की भैंसे बना रखी हैं जो न घास भूसा खाती हैं न दाना चारा दूध के स्थान पर वे निरंतर घृत ही उगलती रहती है। अतः गौ घृत की आवश्यकता को डालडा पूरा कर रहा है। दूध दही भी बनावटी चल गया है। उसकी पूर्ति सूखे चूर्ण से बनी चाय कर रही है। अतः भोजन सामग्री भी गौ के बिना चल सकती है।

(४) गौ की चौथी आवश्यकता बैलों के लिये होती थी। बैलों से (१) खेत जोते जाते थे (२) पुरवट से पानी निकाला जाता था (३) बैलों की गाड़ियाँ सवारी तथा माल ढोने के काम में आती थी। (४) बैलों से ही अन्नों की दायँ चलायी जाती थी। अब खेत जोतने को ट्रैक्टर आ गये। पानी निकालने को ट्यूबेल लग गये। सवारी और माल ढोने को मोटर, ट्रक, ठेले, बसें हो गयी। दायँ चलाने अन्न निकालने को भाँति-भाँति की मशीने हो गयी। बैलो के बिना भी खेती हो सकती है हो रही है, अब तो कुछ थोड़े बहुत बैल दिखायी भी देते हैं। हमारी सरकार जिस तेजी से किसानों के यहाँ मशीनीकरण का प्रचार प्रसार कर रही है, यदि ऐसा ही प्रचार बना रहा तो बैल देखने को भी न मिलेगा।

(५) पाँचवे गौ बैलों को आवश्यकता खाद के लिये होती थी। चाहें कैसी भी अनुपयोगी गाय अथवा बैल हों वे सब गोबर की खाद तो देते ही थे। आज उसकी भी आवश्यकता नहीं। सर्वत्र अरबों रुपये लगाकर रासायनिक खाद बनाने के कारखाने लग रहे हैं, किसानों को हठपूर्वक वही खाद दी जा रही है, बताते हैं इससे उत्पादन दुगुना चौगुना दशगुना बढ़ जाता है। लोग तो सर्व प्रथम लाभ देखते हैं अतः गौ की खाद के बिना भी काम चल ही जाता है, चल ही रहा है।

जब ऐसी बात है, तो किसान गौ क्यों रखने लगा। वह तो वही काम करता है, जिससे उसे अधिक लाभ हो। अतः उसने गौओं को रखना बन्द कर दिया है। अधिक से अधिक दूध के लिये वह भैंस पालता है। गौ का आश्रय तो किसान ही था। कृषि और गोरक्षा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जब किसान ने ही गौ को अपने यहाँ से निकाल दिया तो वह कहाँ रहेगी

हाँ अब गौ की एक आवश्यकता रही। अक्षत चावल से पूजा करने की। सो पूजा करने वाले भी कितने हैं। जो हैं भी वे अक्षत ही छोड़ना जानते हैं उसके आगे घास डालना नहीं चाहते मैंने सुना ३० गौएं कटने कलकत्ते जा रही हैं। मैं जाकर उन्हें कसाइयों से जैसे बना तैसे छुड़ा लाया। उन दिनों यमुना किनारे गौ घाट पर हमारा उत्सव चल रहा था। मैं सोचता था, मैंने बड़ा भारी पराक्रम किया है गो भक्त जनता सुनेगी तो मेरी प्रशंसा करेगी हमारे उत्सवों में सहस्र-सहस्र नर नारी आते हैं एक-एक पैसा भी देंगे तो सहस्रों रुपये हो जायेंगे। मुट्ठी-मुट्ठी भर भी घास भूसा देंगे तो इनका पेट भर जायगा। पुरुषोत्तममास का महीने भर का उत्सव है, महीने भर यहीं रखेंगे। कैसी सुन्दर-सुन्दर गौएं हैं।"

ऐ महाराज! आप सत्य मानिये प्रातःकाल मैंने देखा त्रिवेणी स्नान करके स्त्रियाँ आवें घंटे में से तनिक जल फेंक दें। चार अक्षत चढ़ा दे तीन दिन यही दशा रही। किसी ने एक मुट्ठी घास लाकर नहीं दी। सब यही कहते—"ब्रह्मचारीजी ने बड़ा अच्छा काम किया, छुड़ा लाये, नहीं तो कट जातीं। बड़ा पुण्य का काम है।" पर उस पुण्य में वे सम्मिलित होना नहीं चाहती थीं गौएं बड़ी सुन्दर-सुन्दर दुधारू युवती थीं, बहुत सी गर्भवती थी। एक तो जिस दिन लाये उसी दिन व्याइ पड़ी। उसका नाम हमने रखा वत्सला। चार अक्षतों से गौ के दिन जीवित रहती। तब मैं उन्हें झूसी आश्रम में ले आया, जहाँ किसी प्रकार उनका पालन करते रहे। ऐसे पूजा करने वाले गौओं को कसाइयों के हाथों से कैसे बचा सकते हैं।

हमारी वर्तमान सरकार आँख मींचकर पश्चिमीय देशों का अनुकरण कर रही है। उसकी समस्त पंचवर्षीय योजना गौ के

विरुद्ध हैं। वह सब काम बिजली और यन्त्रों से ही करा कर देश को समृद्धशाली बनाने का स्वप्न देख रही है। अरबों खरबों रुपये ऋण ले लेकर स्थान-स्थान से भीख माँग-माँग कर यह देश पर ऋण लाद रही है। इसके यहाँ गौ का कोई स्थान ही नहीं ? धर्म का कोई स्थान ही नहीं। इस सरकार से हम गोरक्षा की आशा कैसे कर सकते हैं ?

हम मर भी जायें, तो सरकार के कानों में जूं भी न रेंगेगी। श्री श्यामा प्रसाद मुकर्जी मर गये कुछ नहीं हुआ। अनशन के भय से प्रान्तों को तो पृथक् कर सकती है, किन्तु अनशन के भय से यह सरकार गोहत्या बन्द कर दे यह कठिन है। क्योंकि इसकी समस्त कार्य प्रणाली वैचारिक शक्ति, कार्य पद्धति विशुद्ध पाश्चात्य ढंग की है। जिन देशों से यह दबी है, जिनकी ऋणिया है, उनमें से एक भी देश गोरक्षा के कानून बनाने के विरुद्ध है, उनके भय से भला यह कानून बनावेगी ? हमारे मरने से उन्हें प्रसन्नता ही होगी।

ऐसे अनेकों विचार मेरे मस्तिष्क में घूमने लगे। मेरा पागलपन बढ़ गया था। विचारों में संतुलन रहा नहीं था। प्रधान मंत्री तथा गृह मंत्री ने कई संदेशवाहक मेरे पास भेजे। उनमें से किसी में भी गोहत्या बन्दी का तनिक भी संकेत नहीं था, किसी प्रकार का आश्वासन नहीं था। बार-बार यही सन्देश आता। "पहिले अनशन समाप्त करो, तब विचार करेंगे।" यह तो थी सरकार की नीति अब हमारे साथी हमारे घर के लोग अपने को गोरक्षा आंदोलन का नेता समझने वालों का क्या विचार था और उस पर मेरी पागलपने में क्या प्रक्रिया थी इसका वर्णन आगे के अंक में करूंगा।

उस समय मैं जिस विषय पर भी सोचता उसी पर सोचता

ही जाता था। उनमें परस्पर में क्या सम्बन्ध है, यह मुझे ध्यान नहीं रहता।

उपनिषद में एक कथा है, शिष्य ने गुरु से पूछा—"ब्रह्म क्या है ?"

गुरु ने कहा—"तुम इतने दिन भोजन मत करो।"

शिष्य ने नियत समय तक अन्न त्याग दिया। अन्न त्यागने का सबसे प्रथम मस्तिष्क पर ही प्रभाव पड़ता है। लंबे अनशन में भी जिसका मस्तिष्क ठीक रहे, वह अतिमानुष महापुरुष ही होगा।

गुरु ने पूछा—"अमुक वेद की अमुक ऋचा का अर्थ बताओ।"

शिष्य ने कहा—गुरुजी मै तो सब कुछ भूल गया। मेरा मस्तिष्क काम नही करता।

तब गुरु ने कहा—"अन्नं वै ब्रह्म" अन्न ही ब्रह्म है।

सो अनशन में मेरा भी मस्तिष्क गड़बड़ा गया था। उसी का यह परिणाम है, कि आज उस प्रसङ्ग को लिखते समय भी मै भूल गया कि आवश्यकता से अधिक "भागवती कथा" का स्थान मैने तुच्छ अपनी निजी वार्ता में घेर लिया। अब विशेष पागल पन की बातें अगले अंक में।

छप्पय

पागल देउ बनाय जगत तैं नातो तोरूँ।
जग के नाते सकल एक तुमई तैं जोरूँ॥
त्यागी वेष बनाय नहीं तब पद पकरे हैं।
मान प्रतिष्ठा हेतु दंभ, छल, कपट करे हैं॥
अब अपनाओ अखिल पति, देखे जग के लोग सब।
अपनी धुनि में मस्त सब, लगे मोइ धुनि नाथ! तव॥

गीता-माहात्म्य

[१०]

दशम अध्याय

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥*
(श्री भाग० ११ स्क० १४ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

गीता को अध्याय दशम है योग विभूती ।
ताकी महिमा सुनी भक्ति अरु मोक्ष प्रसूती ॥
काशी में द्विज धीर-बुद्धि हर प्रिय विज्ञानी ।
भये विप्र अज हंस स्वयं शिव कही कहानी ॥
कृष्ण हंस-मम पद कमल, धरयो कथा अपनी कही ।
लांघी कमलिनि भयोसित, कमलिनि यों बोलति भई ॥

यह जीव संसार के पदार्थों में अनुरक्त बना रहता है, जो संसारी विषयों में आसक्त हैं, उन्हीं पुरुषों का नित्य संग भी करता है। जैसी संगति में रहेगा वैसी ही बात सीखेगा। विष-

---

* जो निरपेक्ष है, मननशील है, शान्त है, निर्वैर तथा समदर्शी है, उस महात्मा के पीछे-पीछे मैं इसलिये फिरता रहता हूँ, कि उसके चरणों की धूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।

यियों का संग करेगा, तो वहाँ दिन-रात्रि विषयों की ही चर्चा होती रहेगी। जैसी चर्चा निरन्तर सुनेगा मन भी उसी के अनुसार हो जायगा। मन तो श्वेत वस्त्र के सदृश है, उस पर जैसा रंग चढ़ाओगे वैसा ही रंग चढ़ेगा। विषयियों के संग में रहने से मन विषयासक्त बन जायगा संतों के संग करने से अच्छी-अच्छी परमार्थ की बातें सुनने को मिलेंगी, उन्हें सुनते-सुनते सुनने वाले का मन भी परमार्थमय बन जायगा। इसलिये जिन्हें इस संसार-सागर से पार जाने की इच्छा हो, उन्हें दो काम करने चाहिये। पहिला काम तो यह कि उसे सदा सज्जन पुरुषों का ही संग करना चाहियेऔर दूसरा काम यह है, कि चाहे मन लगे न लगे भगवान् की कथाओं को सुनते ही रहना चाहिये जो धर्मशास्त्रों की कथा सुनने के लोलुप बन जाते हैं, उन्हे बहुत से तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नही रहती। गगा यमुना, सरस्वती तथा समस्त तीर्थ वहीं आ जाते हैं, जहाँ भगवान् की कथा होती है। वायु पुराण के माघ माहत्म्य में इस सम्बन्ध की एक कथा आती है। प्राचीन काल में बृहत्तपा नाम के एक मुनि थे। वे गंगाजी से दो कोस की दूरी पर सत्यव्रत नाम के ग्राम में बास करते थे, उन्होंने अंधे महर्षि दीर्घतमा को सौ वर्ष पर्यन्त कथा सुनायी थी। उनकी कथा सुनने पुण्यधामा ब्राह्मण भी आते थे। उन्हें कथा सुनने का ऐसा व्यसन लग गया कि दो कोस पर गंगाजी रहने पर भी कभी गंगा स्नान के लिये नहीं गये। शीघ्रता से तीनों काल की सन्ध्या कर लेते और केवल तीनों काल १०-१० बार गायत्री जप कर लेते। शेष सभी समय कथा सुनते रहते। जो उनके द्वार पर अतिथि आ जाते उनका भी वे श्रद्धा से स्वागत सत्कार करते। दो ही काम वे करते। भागवती कथा श्रवण और अतिथि सत्कार।

एक दिन दो महात्मा पधारे। पुण्यधामा मुनि ने उनका यथोचित आतिथ्य किया। जब परस्पर में चर्चा चली तब उन महात्माओं ने पूछा—"गंगाजी यहाँ से कितनी दूर हैं?"

पुण्यधामा मुनि ने कहा—"महाराज, ऐसा सुनते हैं यहाँ से दो कोस पूर्व में गंगाजी हैं, मैं तो कभी गया नहीं।"

यह सुनकर वे महात्मा बड़े क्रुद्ध हुए और बोले—"तू बड़ा नीच है, इतनी समीप गंगाजी होने पर भी तू स्नान को नहीं जाता। जा हम तेरे यहाँ नहीं रहेंगे।" ऐसे क्रुद्ध होकर वे महात्मा गंगा तट पर चले आये, किन्तु उन्होंने देखा गंगाजी में एक बूंद भी जल नहीं है। वे गंगोत्री से गंगा सागर पर्यन्त घूमे किन्तु उन्हें गंगा जल के दर्शन नहीं हुए। काशी में आकार उन्होंने रो-रो कर विनीत भाव से गंगा जल के दर्शन न होने का कारण जानना चाहा। तब गंगाजी स्वयं साक्षात् अपने स्वरूप से प्रकट हुई और बोलीं—"देखो, तुमने कथा प्रेमी पुण्यधामा मुनि का अपमान किया है, यह उसी का परिणाम है। देखो जिसका सम्पूर्ण समय हरि कथा श्रवण मनन में बीतता है, उसकी पादरेणु के लिये तो बड़े-बड़े तीर्थ अभिलाषा करते हैं। मैं स्वयं उन महात्मा की चरण धूलि के लिये लालायित रहती हूँ। आप उन मुनि के समीप जाकर क्षमा प्रार्थना करो।"

गंगाजी की आज्ञा से वे महात्मा उन पुण्यधामा मुनि के समीप गये और जब उनसे क्षमा याचना करली, तब उन्हें गंगा-जल के दर्शन हुए। सो, जो भागवत, गीता तथा अन्यान्य धर्म-शास्त्रों के स्वाध्याय में संलग्न रहता है, उसके पीछे-पीछे तो भगवान् फिरते रहते हैं। ऐसे महात्मा का समस्त उत्तरदायित्व भगवान् अपने सिर के ऊपर ले लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भगवद्

गीता के दशम अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ। जिसे भगवान् विष्णु ने अपनी प्रियतमा लक्ष्मी को तथा शिवजी ने अपनी प्राणप्रिया पार्वती जी को सुनाया था।

पार्वतीजी के पूछने पर शिवजी ने कहा—प्रिये! मै तुम्हें अब श्रीमद्भगवत् गीताजी के दशम अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ। यह बहुत ही अद्भुत माहात्म्य है।

मुक्तिप्रदा काशीपुरी में शान्त दान्त तितिक्षु सर्वशास्त्र पारंगत धीरबुद्धि नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसने तपस्या द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में कर रखा था। वह बाल ब्रह्मचारी सत्य परायण तथा परम भगवत् भक्त था। उसका अन्तःकरण निर्मल था, वह अपने मन को सदा भगवान् में ही लगाये रहता और आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया करता था। उसे अपने शरीर की सुधि-बुधि भी नही रहती। अतः मै सदा सर्वदा प्रेम के वशीभूत होकर उसके पीछे-पीछे चला करता था। मैं सब प्रकार से उसकी सार सम्हाल रखता। उसके योगक्षेम का निरन्तर ध्यान रखता। उसके प्रति मेरी ऐसी आसक्ति देखकर मेरे गणों में जो श्रेष्ठ पार्षद भृङ्गिरिटि है उसने पूछा—"प्रभो! इस धीरबुद्धि ब्राह्मण में ऐसी कौन-सी विशेषता है, जो आप इसका इतना ध्यान रखते है। सदा इसके पीछे-पीछे चलते है, निरन्तर इसकी सार सम्हाल करते रहते हैं। बड़े-बड़े योगी महर्षि लाखों वर्षों तक घोर तपस्या करते है, फिर भी वे आपके दर्शन तक नहीं प्राप्त कर सकते। इस ब्राह्मण ने ऐसा कौन-सा जप, तप, यज्ञानुष्ठान तथा पुण्य कर्म किया है कि आप पग-पग पर इसे अपने हाथ का सहारा देते रहते हैं?"

यह सुनकर करुणा के सागर शिव जी गम्भीर हो गये और बड़ी ही स्नेहयुक्त वाणी में बोले—भृङ्गिरिटि का तुमने यह बहुत

ही सुन्दर प्रश्न किया। तुम मेरे पार्षदों में श्रेष्ठ हो, अतः मैं तुम्हें इस प्रश्न का उत्तर दूंगा। मैं इस ब्राह्मण के प्रेम के वशीभूत होकर इसके पीछे दौड़-दौड़कर जो इसे सदा सर्वदा हाथ का सहारा देता रहता हूँ, इस विषय का एक बड़ा ही दिव्य इतिहास है, उसे तुम दत्त चित्त होकर श्रवण करो।

मेरा कैलास पर्वत सदा हरा भरा बना रहता है, वहाँ बारहों महीने बसंत का जैसा समय रहता है। वहाँ सदा ही सबको सुख देने वाली शीतल, मंद सुगन्धित वायु बहती रहती है। मेरे वट के पार्श्व भाग में पुन्नाग नाम का वन है। जिसमें पुन्नाग के पुष्प सदा फूलते रहते है। एक दिन मै एक वृक्ष के सहारे सुंदर वेदी पर बैठा हुआ था, उसी समय वहाँ बड़े बेग की आँधी आयी, वृक्ष हिलने लगे, शाखायें टूटने लगी, बिजली चमकने लगी, रिमझिम-रिमझिम करके बूंदे पड़ने लगीं। उसी समय एक भयंकर शब्द हुआ। और एक कृष्ण वर्ण का विशाल पक्षी आकाश से उतर कर मेरे चरणों के समीप गिर पड़ा और एक कमल उसने मेरे चरणों में समर्पित किया। तदनन्तर उसने बड़े ही कोमल स्वर में स्पष्ट अक्षरों मे मेरी दिव्य स्तुति की।

उसकी दिव्य स्तुति सुनकर मैं परम प्रसन्न हुआ, मैंने पूछा—'पक्षिराज! तुम कौन हो? मुझसे तुम क्या चाहते हो? देखने में तो तुम्हारी आकृति दिव्य हंस के सदृश है, किन्तु तुम्हारा वर्ण काला कैसे हो गया है, किस अपराध से तुम हंस होकर कृष्णता को प्राप्त हुए हो? यदि कोई न कहने योग्य बात न हो तो मुझे तुम इसका कारण बताओ?"

मेरी बात सुनकर हंस कहने लगा—"प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घट की जानने वाले हैं। आपसे कोई अविदित नहीं है। आप भूत, भविष्य तथा वर्तमान की

घटनाओं से परिचित हैं फिर भी जब आप मुझसे पूछ ही रहे हैं तो आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके मै अपना समस्त वृत्तान्त बताता हूँ। आप मुझे ब्रह्माजी का वाहन श्वेत हंस ही जानें।

मैंने पूछा—हे पक्षी! ब्रह्माजी के दिव्य हंस होकर भी तुम्हारी यह दुर्दशा किस कारण हुई?

हंस बोला—"प्रभो! उसी घटना को तो मै बता रहा हूँ।" एक दिन मैं उड़ते-उड़ते पृथ्वी पर आ गया। पृथ्वी पर समृद्ध शाली एक सौराष्ट्र प्रदेश है। उस प्रदेश में एक बड़ा ही सुंदर स्वच्छ सलिल वाला शोभायमान सरोवर है। उसमें कमल लहलहा रहे थे, श्वेत मृणालों मे वह व्याप्त था, मैं उस सरोवर में उतरा। श्वेतमृणालों के ग्रास लेकर मैं शीघ्रता के साथ पुनः आकाश में उड़ने लगा। किन्तु अधिक उड़ न सका, उडते-उड़ते मैं धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा और संज्ञाशून्य बन गया। कुछ काल में चेतना होने पर मुझे बडा आश्चर्य हुआ कि किस कारण मेरी गति अवरुद्ध हो गयी, क्यों मै उडते-उडते भूमि पर गिर पडा। जब मैंने अपने शरीर को ओर देखा तो मैं आश्चर्य चकित रह गया, जो मेरा सुंदर शरीर कर्पूर के सदृश स्वच्छ सुघड तथा श्वेत था वह कृष्ण वर्ण का बन गया था। मैं इस परिवर्तन का कोई कारण समझ ही न सका। चारों ओर चकित-चकित दृष्टि से मैं देखने लगा। उसी समय सरोवर में से एक वीणा विनिन्दित् सुमधुर शब्द सुनायी पड़ा। कमलों के मध्य में से कोई नारी सुलभ कोमल मधुर वाणी कह रही थी—"हंस! तुम विस्मित मत होओ। मेरे समीप आओ, मैं तुम्हारे कृष्ण वर्ण बनने का तथा आकाश से गिरने का कारण सुनाती हूँ, मेरी बात को सावधानी के साथ श्रवण करो।"

कमल कोष के मध्य से ऐसा कमनीय कोमल शब्द सुनकर

में विस्मित हुआ और उन कमलों के समीप गया। वहाँ मैं क्या देखता हूँ कि पाँच कमलों के मध्य में एक मनमोहिनी कमलिनी खिल रही है और वह वाणी उसी कमलिनी में से आ रही है। मैंने उस कमलिनी को प्रणाम किया, उसकी प्रदक्षिणा की और हाथ जोड कर कहा—"इस कमलिनी की जो अधिष्ठातृ देवी हों, वे मुझे गिरने का तथा कृष्ण वर्ण होने का कारण बतावें।"

तब उस कमलिनी ने ही कहना आरंभ किया—"पक्षिराज! कल हंस! मैं जो कुछ कहती हूँ उसे तुम सावधानी के साथ सुनो। मै तुम्हें अपने तीन जन्मो की कहानी सुनाती हूँ। इस जन्म से तीसरे जन्म मे मै एक ब्राह्मण कन्या थी, मेरा नाम था सरोजवादना। पिता ने मेरा विवाह एक सदाचारी कर्तव्य परायण किसी विप्र-कुमार से कर दिया। मैं पातिव्रत का पालन करते हुए सदा पति सेवा में निरत रहती। किन्तु मेरा एक सारिका (मैना) में अत्यन्त ही अनुराग हो गया। मैं सदा उस सारिका को पढ़ाया करती, उसे खिलाती पिलाती तथा उसके साथ खेलती रहती। मेरे पति को यह अच्छा नहीं लगता। उन्होंने कई बार मना भी किया, किन्तु मुझे वह सारिका इतनी प्यारी थी, कि मैं उसे छोड़ न सकी। इससे पति सेवा में विलम्ब भी हो जाता। एक दिन इस बात से कुपित होकर मेरे समर्थ पति ने मुझे शाप दिया, कि तेरी सारिका में अत्यधिक आसक्ति है, अतः जा तू भी सारिका हो जा।"

समर्थ पति का शाप फली भूत हुआ, मैं दूसरे जन्म में सारिका हो गयी। किन्तु मैने सदाचार का पालन किया था, इस कारण ब्रह्मवादी ब्राह्मणों के परिवार में मुझे आश्रय मिला। किसी परम सुशीला सदाचार सम्पन्ना मुनि कन्या ने मेरा पालन पोषण किया।

वह मुनि कन्या मुझे अत्यधिक प्यार करती और प्रेम पूर्वक शास्त्रीय श्लोक पढ़ाती रहती। जिन ब्राह्मण के घर में मैं थी वे नित्य नियम से श्रीमद्भगवत्गीता के दशम अध्याय विभूति योग का पाठ किया करते। पाठ सुनते-सुनते मुझे भी दशम अध्याय कंठस्थ हो गया और मैं भी निरंतर उसका पाठ करती रहती। एक दिन में कितने पाठ हो जाते मुझे पता ही नहीं चलता। उस पाठ से मुझे भी सुख मिलता और मेरे मुख से जो भी सुनते वे भी परम प्रमुदित होते।

समयानुसार मेरी मृत्यु हुई। श्रीमद्भगवद् गीता के दशम अध्याय के श्रवण तथा पाठ के कारण स्वर्ग में जाकर मैं परम सुन्दरी अप्सरा बनी। वहाँ मेरा नाम पद्मावती पड़ा और पद्मा की प्यारी सखी हो गयी। अब मैं स्वर्ग में स्वर्गीय सुखों का उपयोग करती, स्वर्ग के नन्दनादि उपवनों में स्वच्छन्द विचरती, तथा विमानों पर चढ़कर यथेच्छ विहार करती।

एक दिन विमान में चढ़कर मैं घूम रही थी, घूमते-घूमते इस सरोवर के निकट आयी। पद्मों से भरे इस कांच के सदृश स्वच्छ जल वाले सरोवर को देखकर मेरी इच्छा इसमें क्रीड़ा करने की हुई। मैंने अपने समस्त वस्त्र उतार दिये और नग्न होकर कमलों के मध्य में जल में विहार करने लगी।

मैं स्वच्छन्द होकर विहार कर ही रही थी, कि इतने ही में महाक्रोधी दुर्वासा मुनि वहाँ आ पहुँचे। मैं जानती थी ये महा-मुनि महाक्रोधी हैं, जल में नग्न होकर क्रीड़ा करते देखकर अवश्य ही ये मुझे शाप देंगे। अतः मैंने स्वयं ही कमलिनी का रूप धारण कर लिया मेरे दोनों पैर दो सुन्दर कमल बन गये दोनों हाथ भी दो कमल हो गये। शेष अंगों के सहित मेरा मुख कमलिनी बन गया। इस प्रकार इच्छारूप धारिणी अप्सरा मैं

कमलों के बीच छिप गयी। किन्तु दुर्वासा मुनि तो शाप की पोटली सिर पर लादे घूमते ही रहते हैं, वे बिना शाप दिये किसी को छोड़ते ही नहीं। उनकी पैनी दृष्टि से मैं बच नहीं सकी। उन्होंने मुझे नग्नावस्था में भी देख लिया था और अब जब मैं कमलिनी बनकर कमलों के बीच में छिप गयी, थी, तब भी उन्होंने देख लिया। अतः क्रोध में भरकर उन्होंने मुझे शाप दिया—"दुष्टे! तू मेरी अवहेलना करती है, जा सौ वर्ष पर्यन्त तू इसी रूप से इस सरोवर में पड़ी रह।" ऐसा शाप देकर मुनि चले गये। मैं कमलिनी के रूप में तो हो गयी, किन्तु मेरी वाक्शक्ति नष्ट नहीं हुई। क्योंकि मैंने सारिका जन्म में श्रीमद्भगवत्गीता के दशमाध्याय का निरन्तर पाठ किया था। अब भी मैं बराबर उसी का मनन करती रहती हूँ आप मुझे लाँघकर जा रहे थे, इसीलिये आप गगन से गिर पड़े और इसी पाप से आपका वर्ण काला हो गया। संयोग की ही बात है, आज ही मेरे शाप का अन्त होने वाला है, आज ही मुझे पूरे सौ वर्ष यहाँ सरोवर में रहते हुए हो गये। आज ही मैं आपके सामने अपने अप्सरा रूप को प्राप्त होऊँगी। आज मैं सर्वप्रथम तुमसे ही बोली हूँ। जब मैं इस मध्यम कमल द्वारा तुमसे बोलने लगी, उस समय मेरे मुख से निकली सुगन्धि को सूँघकर साठ सहस्र भौंरे स्वर्ग को प्राप्त हो गये। तुम्हें भूमि पर गिरा देखकर मेरे हृदय में करुणा उत्पन्न हो गयी। करुणा के वशीभूत होकर ही मैंने तुमसे बातें की। अब तुम मुझे से श्रीमद्भगवत् गीता के दशवें अध्याय को और सुनलो। उसे सुनते ही तुम मुक्ति के अधिकारी बन जाओगे।"

हंस शिवजी से कह रहा है—सो, प्रभो! उसी समय कमलों के बीच में से निकल कर वह अप्सरा प्रकट हुई। उसने विधिवत्

दशम अध्याय का पाठ किया, मुझे सुनाया। वह तो पाठ करते ही तुरन्त मुक्त हो गयी। मैं उस सरोवर से कमल लाकर आपके चरणों की शरण में आ गया हूँ। अब आप मेरी रक्षा करें, मुझ शरणागत के ऊपर आप अपनी कृपा दृष्टि की सदा वृष्टि करते रहें। इतना कहकर उस हंस ने वहीं मेरे चरणों की सन्निधि में अपना शरीर त्याग दिया।

भगवान् भोलेनाथ शिवशंकर जी अपने परम प्रिय पार्षद भृङ्गिरिटि से कह रहे हैं—"सो, वत्स! वही हंस यहाँ काशी में आकर घोरबुद्धि नाम से उत्तम ब्राह्मण हुआ। बाल्यकाल से इसके मुख से सदा सर्वदा श्रीमद्भगवत् गीता के दशवें अध्याय का उच्चारण होता रहता था। और यह निरन्तर दशवें अध्याय के श्लोकों का अर्थ चिंतन करता रहता था। निरन्तर के अर्थ चिन्तन का यह परिणाम हुआ कि इसे शंख चक्र गदा पद्मधारी भगवान् वासुदेव का निरन्तर दर्शन होता रहता। यह अपने पाठ और स्मरण के कारण इतना पावन बन गया है, कि जिसके ऊपर भी इसकी स्नेह भरी दृष्टि पड़ जाती है, वह कैसा भी पातकी क्यों न हो परम पावन बन जाता है। पूर्वजन्मकृत पुण्य पाठ के प्रभाव से यह प्राणियों के लिये परम पावन प्रेममय बन गया है। यह भगवत् ध्यान में इतना निमग्न रहता है कि इसे अपने शरीर की सुधि-बुधि नहीं रहती। इसीलिये जब यह मार्ग में चलने लगता है, तो मैं इसे अपने हाथ का सहारा देता रहता हूँ, सदा सावधानी के साथ इसके पीछे-पीछे चलता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"सुनियो! इस प्रकार भगवान् शिव ने पार्वतीजी के पूछने पर अपना भृङ्गिरिटि का जो काशी में हुआ सम्वाद था, उसे सुनाया। चाहें नर हो या नारी जो इस श्रीमद्-भगवत् गीता के दशम अध्याय का प्रेम पूर्वक पाठ करेगा और

इसके श्लोकों का अर्थ चिन्तन करेगा, उसे सभी आश्रमों के पालन करने का फल मिल जायगा। वह संसार सागर से सदा के लिये पार हो जायगा। यह मैंने दशवें अध्याय का माहात्म्य सुनाया अब ग्यारहवें विश्वरूप दर्शनयोग नाम के अध्याय का माहात्म्य आगे सुनाऊँगा।

छप्पय

हती सती पति शाप पाइ हौं मैंना द्विज घर।
गीता दशमध्याय याद करि पहुँची सुरपुर॥
बनी अपसरा नग्न न्हात लखि शाप दयो मुनि।
बनी कमलिनी आज शाप को अन्त भयो पुनि॥
कह्यो हंस तैं भव तरो, पाठ दशम यदि नित करें।
धीर बुद्धि वह द्विज भयो, नित शिव जिनि पीछे फिरें॥

गीता-माहात्म्य

[११]

अश्वमेध सहस्राणि वाजपेय शतानि च ।
शरणागतसंत्राणकलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
दीनस्योपेक्षणं कृत्वा भीतस्य च शरीरिणः ।
पुण्यवानपि कालेन कुम्भीपाके सपच्यते ॥*

(पद्म पु० उ० ख० १८१ अ ८२, ८४ श्लो०)

छप्पय

गीता के अध्याय ग्यारवें को महात्म्य सुनि ।
मेघङ्कर इक नगर प्रणीता सरिता तट मुनि ॥
तामें विप्र सुनन्द पढ़ै एकादश नित प्रति ।
तीरथ-हित इक नगर गयो शालामहँ इस्थिति ॥
तामें इक राक्षस रहत, पथिकनिकूँ भक्षे सतत ।
खाये तिनि ये विप्र नहिँ, ग्रामपाल पूछत चकित ॥

---

* सहस्रों अश्वमेध यज्ञ, सैकड़ो वाजपेय यज्ञों के फल मिलकर भी शरणागत रक्षण के पुन्य की सोलही कला के सदृश भी नही हैं। जो जो समर्थ होकर भी भयभीत तथा दीन बने जीव की उपेक्षा करता है, वह भले ही पुण्यवान् भी पुरुष क्यो न हो काल आने पर वह कुम्भी-पाकादि नरको में पकाया जाता है।

शास्त्रकारों ने कहा है। कोई वेदज्ञ ब्राह्मण है, उसने विधि पूर्वक समस्त वेदों का अध्ययन किया है। केवल अध्ययन ही नहीं किया है। वेदों के पढ़ने का जो समदर्शी होना फल है, वह भी उसने प्राप्त कर लिया है। अर्थात् वह सभी में एक आत्मा जानकर सबके साथ समान व्यवहार करता है। उसके चित्त की वृत्ति भी शान्त हो गयी है। इतना सब होने पर भी किसी का दुख दूर करने की सामर्थ्य रहने पर भी दीनों की उपेक्षा करता है, अपने सामने कोई असमर्थ दीन को भयभीत कर रहा है और उस शरण आये हुए प्राणी की जो रक्षा नहीं करता उसका ब्रह्म तेज उसी प्रकार चू जाता है, जिस प्रकार किसी घड़े में थोड़ा-सा भी छिद्र होता है, तो उसका जल चू जाता है। सामर्थ्य होने पर दीन-दुखियों की उपेक्षा करके अपने काम में लगे रहना, यह कोई प्रभु की आराधना नहीं।

शंकरजी के पास देवता गण कालकूट विष से दुखी होकर उनकी शरण में गये और उनसे विषपान करने की प्रार्थना करने लगे, इस पर सतीजी बड़ी कुपित हुईं। उन्हें बड़ा बुरा लगा, कि स्वार्थी देवतागण "मेरे प्राणनाथ को विष पिलाना चाहते हैं।" मैं इन्हें विष नहीं पीने दूंगी।

आशुतोष भगवान् भोलानाथ सतीजी के अभिप्राय को समझ कर उनको समझाते हुए कहने लगे—"प्रिये! देखो तो सही, इन देवता और असुरों के ऊपर इस समय कैसा महान् संकट आया हुआ है। समुद्र मंथन करते समय सर्व प्रथम कालकूट विष ही निकला है। इससे ये सभी बड़े भयभीत हैं, सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची है। सब रक्षा के लिये मेरी शरण में आये हुए हैं। ये सब कालकूट विष से संत्रस्त होकर अपने-अपने प्राण बचाने को उत्सुक हैं।"

सतीजी ने कहा—"दुखी हैं, तो हम क्या करें। दूसरों की आफत को अपने सिर ले लें, यह भी कोई बात हुई ?"

शिवजी बोले—"देखो, देवि ! तुम समझती नहीं। लोग सामर्थ्यवानों की शरण में अपने दुख दूर कराने को आते हैं। भय से भीत हुए प्राणी समर्थों का ही आश्रय लेते हैं। दुखी पुरुष अपने दुख दूर कराने को जिसकी शरण में आया हो और उसमें उस दुःख को दूर करने की यथार्थ में सामर्थ्य भी तो उसके जीवन की सफलता इसी में है कि वह शक्ति रहते हुए दीन दुखियों का दुख दूर करे। उनकी रक्षा करें।"

सतीजी ने कहा—"यह भी कोई बात हुई दूसरों के लिये अपने प्राण गँवा दे।"

शिवजी ने कहा—"परोपकारियों की यही तो विशेषता है, वे इन क्षणभंगुर प्राणों की भी बलि देकर दूसरों के दुःखों को दूर किया करते हैं। जो समर्थ होकर भी शरणागतों की उपेक्षा करते हैं, उन्हें पाप लगता है। ये संसारी प्राणी तो स्वार्थ परायण होते ही है। ये तो मोह की माया में फँस कर विमोहित हो ही रहे हैं परस्पर में एक दूसरे से वैर बाँध कर लड़ते ही रहते है। ऐसे लोगों पर जो कृपा करते हैं, उनके ऊपर करुणा करते हैं, उनके दुःख को दूर करते हैं, उनके इस कृत्य से सर्वान्तर्यामी भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। जिस पर भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, उस पर चराचर जगत् प्रसन्न है, मैं भी उस पर प्रसन्न हो जाता हूँ।"

सतीजी ने पूछा—"तब आप की इच्छा क्या है ? आप करना क्या चाहते हैं।"

भगवान् भोलानाथ ने कहा—"कल्याणी ! इसलिये मैं इन शरणागत दीनों के दुख दूर करने के निमित्त अभी-अभी इसी

क्षण चलकर हलाहल विष का पान करूँगा। जिससे मेरी इस समस्त प्रजा का दुख दूर हो, सबका परम कल्याण हो।"

तब सतीजी ने भी अपनी सहमति प्रकट कर दी और शिवजी ने विषपान करके प्रजा के दुख को दूर कर दिया। देवता असुर तथा समस्त प्राणियों को निर्भय बना दिया।

इस पर प्रश्न होता है, शिवजी अपना भजन पूजन छोड़कर विषपान जैसे साधारण कार्य को क्यों करने लगे? इससे इतनी देर भगवत् अराधना तो छूट गयी?

इस पर परमहंस चक्र चूड़ामणि भगवान शुकदेवजी कहते हैं—"देखो, जो परोपकारी पुण्य पुरुष होते हैं, वे प्रायः करके प्राणियों का दुख दूर करने के निमित्त स्वयं ही दुख झेला करते हैं। दूसरों के दुःखों को अपने ऊपर लेते हैं। इससे उनकी आराधना में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जप, तप, यज्ञ यागादि तो भगवान् की आराधना हैं ही। किन्तु परोपकार के निमित्त दूसरों की पीडा दूर करने के निमित्त स्वयं पीड़ा सह लेना यह भगवान् की आराधना नही परमाराधना है। उत्कृष्ट आराधना है। क्योंकि वे भगवान् तो अखिलात्मा हैं, सबके हृदय में समान रूप से निवास करते हैं। अतः दुखी पुरुष की सेवा करने का अर्थ हुआ सर्वान्तर्यामी की आराधना करना। दया से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है। परोपकार से बढ़कर कोई पुण्य कार्य नहीं है। इसी बात का उपदेश गीता जी के ग्यारहवें अध्याय के माहात्म्य से मिलता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भगवत् गीता के ग्यारहवें अध्याय का माहात्म्य उसी प्रकार सुनाऊँगा, जिस प्रकार श्री विष्णु भगवान् ने लक्ष्मी जी को और श्री शिवजी ने पार्वती जी को सुनाया था। पार्वती जी के पूछने पर शिवजी ने कहा—"देवि! श्रीमद्भगवत् के एकादश अध्याय

के महात्म्य की अनन्त कथायें हैं। इस अध्याय का नाम ही विश्वरूप दर्शन योग है। उन अनन्त कथाओं में से एक कथा मैं तुम्हें सुनाता हूँ। तुम उसे दत्त चित्त होकर श्रवण करो।

प्राचीन काल में परमपावन पुण्यतोया प्रणीता सरिता के तट पर मेघङ्कर नाम का परम पावन अत्यन्त विख्यात् समृद्धशाली एक नगर था। उसकी शोभा का क्या कहना। वह पुरी अपने विशाल वैभव और स्वर्ग की श्री को भी फीकी बनाने वाली अपनी समृद्धि के कारण विश्व में विख्यात थी। क्यों न हो उसमें शार्ङ्गपाणि भगवान् विष्णु का एक भव्य मन्दिर था। जिसमें भगवान् जगदीश्वर नित्य ही निवास करते थे। उनका गौरवपूर्ण श्रीविग्रह भगवती कमला देवी के कमनीय कटाक्षों द्वारा नित्य ही पूजित होता था। उस मन्दिर में त्रिविक्रम भगवान् श्रीवत्स चिन्ह से युक्त, असंख्य मणिमय भूषणों से मंडित, पीताम्बरधारी, बनवारी वामन विराजमान थे। विद्युत की आभा को तिरष्कृत करने वाली श्रीविग्रह की शोभा के दर्शन से दर्शनार्थी नर-नारी अपने को कृतार्थ मानते थे।

वह परम पावन तीर्थस्थली थी। भगवान् के दिव्य देश के अतिरिक्त मेखला नाम का एक महान् तीर्थ भी उस नगरी में विद्यमान था। जिसमें स्नान करने से स्नान करने वालों को वैकुण्ठ लोक की प्राप्ति हो जाती थी। वहीं पर नृसिंह भगवान् विघ्न विनाशक भगवान् गणपति आदि देवों के भी मन्दिर थे, जिनके दर्शनो से समस्त विघ्न दूर हो जाते थे ऐसे परम पावन, मुनिमन भावन, सकल पाप नशावन मेघङ्कर नामक नगर में एक ब्रह्मचर्यव्रत परायण, वेदादि शास्त्रों के गायन में परम प्रवीण, शान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, अहंता ममता से शून्य सुनन्द नाम के ब्राह्मण निवास करते थे।

उनका नित्य का नियम था, कि वे शार्ङ्गपाणि भगवान् वासुदेवजी के मन्दिर में बैठकर निरन्तर श्रीमद्भगवत् गीता के ग्यारवें अध्याय का पाठ किया करते थे। गीता के ग्यारहवें अध्याय का निरन्तर ध्यान पूर्वक अर्थ का अनुसन्धान करते हुए पाठ करते रहना ही उनका जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ तथा अनुष्ठान था। निष्ठा पूर्वक नित्य के निरन्तर पाठ मे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया था, उन्हें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी। ब्रह्मानन्द-संदोह से सर्वश्रेष्ठ ज्ञानमयी समधि की स्थिति उन्हें प्राप्त थी। उनका मन निश्चल हो गया। विशेष क्या कहें वे जीवन्मुक्त महापुरुष परम सिद्धि को प्राप्त करके कृतकृत्य हो गये थे। उनके हृदय की ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो गयी थी, उनके समस्त संशय नाश हो गये थे और वे कर्मबन्धन से विमुक्त बन गये थे। उन्हें कोई कर्तव्य कर्म शेष नहीं रहा था।

एक बार जब बृहस्पति सिंह राशि पर अवस्थित हुए, जिस समय गोदावरी का बड़ा पर्व होता है, बडा भारी मेला लगता है, उसी समय उन्होंने गोदावरी नदी के तटवर्ती समस्त तीर्थों की यात्रा आरम्भ की। वे गोदावरी के किनारे-किनारे विरज-तीर्थ, तारातीर्थ, कपिला संगम, अष्टतीर्थ, कपिलाद्वार, नृसिंहवन, अम्बिकापुरी तथा करस्थानपुर आदि-आदि पुण्य क्षेत्रों में, मनोहर सरिता संगमों में स्नान ध्यान पूजा पाठ करते हुए विवाह मण्डप नामक नगर में पहुँचे। और भी बहुत से तीर्थ यात्री उनके संग हो गये। समस्त तीर्थ यात्रियों को रात्रि भर ठहरने के लिये उन्होंने बहुतों से ठहरने का स्थान माँगा, किन्तु किसी ने भी उन्हें अपने घर में ठहरने का स्थान नहीं दिया। तब वे उस ग्राम के मुखिया के समीप गये। मुखिया ने उन्हें एक

बहुत बडी धर्मशाला दिखाते हुए कहा—"आप सब लोग इसी मे ठहर जाइये।"

ब्राह्मण ने देखा धर्मशाला बहुत बडी है, किन्तु श्री हीन है, वह देखने में भयकर दिखायी दे रही है। उसमें विशेष यात्री भी नही है। इनको एक रात्रि ही तो ठहरना था, थके हुए भी थे अत: विशेष विचार न करके साथियों सहित उसमें ठहर गये।

प्रात:काल जब उनकी निद्रा टूटी, तो क्या देखते है, वे रात्रि मे जहाँ सोये थे वहाँ नही है। उन्हें किसी ने बिस्तर सहित उठाकर ज्यो का त्यो धर्मशाला के बाहर सुला दिया है। वे चकित-चकित दृष्टि से चारों ओर निहारने लगे। न तो उन्हें कोई अपना एक भी साथी दिखायी दिया और न उनकी कोई वस्तु भी। वे धर्मशाला मे गये तो वहाँ भी कोई नही था। वे कुछ समझ ही न सके कि यह क्या रहस्य है। उसी समय उनको सामने से आता हुआ वही ग्रामपाल (मुखिया) दिखायी दिया। इनको सकुशल जीवित देखकर मुखिया परम विस्मित हुआ। आते ही वह उनके पैरों पर गिर पड़ा और अत्यन्त ही दीन वाणी मे गद्गद कठ से कहने लगा—'विप्रवर! आप कोई सिद्ध महापुरुष हो, परम सौभाग्यशाली महापुरुष हो। आप साधारण मनुष्य नही आप लोकोत्तर अति मानुष महात्मा हो। आपने कोई महान् सिद्धि प्राप्त करली है। ऐसा सन्त तो मैंने देखा नही। कृपा करके आप कुछ दिन इस ग्राम को कृतार्थ करें, मुझे अपनी सेवा का सुअवसर प्रदान करें। मैं आपकी सब प्रकार सेवा करूँगा।"

ब्राह्मण ने पूछा—"मेरे साथी कहाँ चले गये, मैं धर्मशाला के बाहर कैसे आ गया?"

ग्रामपाल ने कहा—'ब्रह्मन्! आपके साथी चले गये होंगे।

अभी आप मुझसे सब बात न पूछें। कुछ दिन मुझे सेवा का सुअवसर प्रदान करें।"

दयालु ब्राह्मण ने उस ग्रामपाल की प्रार्थना स्वीकार कर ली और वे बड़े आनंद के साथ ग्रामपाल के यहाँ रहने लगे। ग्राम-पाल भी अत्यंत भक्ति भाव के साथ, तन, मन तथा धन से उनकी सब प्रकार की सेवा सुश्रूषा करने लगा। इस प्रकार वहाँ रहते हुए सुनन्द ब्राह्मण को अभी ७-८ दिन ही हुए थे, कि एक विचित्र घटना घटित हो गयी।

एक दिन महामुनि सुनंद प्रातःकाल स्नान करके अपने स्थान पर आये ही थे, कि उनके पास रोता हुआ ग्रामपाल आया। वह अत्यन्त ही दुखी था, उसके दोनों नेत्रों से झर-झर आँसू बह रहे थे, आते ही वह सुनन्द जी के पैरों पर गिर पड़ा और ढाह मार कर रोने लगा।

सुनन्दजी ने अत्यंत ही प्रेम से बल पूर्वक उसे उठाया और शांत्वना देते हुए उससे पूछने लगे—"ग्रामपाल! तुम रोते क्यों हो, तुमको कौन-सा दुख है? तुम अपनी विपत्ति का कारण मुझे बताओ। उसे सुनकर मैं उसे हटाने की शक्ति भर चेष्टा करूँगा।"

ग्रामपाल ने कहा—"भगवन्! मेरे पुत्र को राक्षस ने चबा लिया। मेरा पुत्र बड़ा ही सुशील गुणवान् तथा भक्तिमान था।"

सुनन्दजी ने पूछा—"कौन राक्षस? कैसे उसने तुम्हारे पुत्र को चबा लिया, मुझे सब बात भली प्रकार से बताओ।"

ग्रामपाल ने कहा—"महाराज! एक राक्षस है उसी ने मेरे पुत्र को खा लिया है।"

ब्राह्मण ने पूछा—"वह राक्षस कहाँ रहता है? और तुम्हारे पुत्र को उसने क्यों खा लिया है?"

ग्रामपाल ने कहा—"ब्रह्मन् ! अब मैं आप से सच्ची-सच्ची बात बताये देता हूँ। अब तक तो मैं आप से उस बात को छिपाये हुए था। हमारे इस ग्राम में एक बड़ा भारी राक्षस रहता था। वह जब चाहता तभी किसी के भी घर में घुसकर उस घर के पुरुषों को खा जाता। इससे पूरा ग्राम सदा सर्वदा भय-भीत बना रहता, कि न जाने आज किसके घर के आदमी को खा जाय। तब हम सब लोगों ने मिलकर सम्मति की कि राक्षस से संधि कर लेनी चाहिये। यह सोचकर हम सब ग्रामवासी मिलकर उस राक्षस के समीप गये। उस राक्षस ने पूछा—"तुम सब मिलकर मेरे पास क्यों आये हो ? तुम मुझसे क्या प्रार्थना करना चाहते हो ?"

तब ग्राम वासियों ने कहा—"राक्षसराज ! आप हमें इतना दुःख क्यों देते है ?"

गरज कर राक्षस ने कहा—"मै क्या दुःख देता हूँ, अपने पेट भरने का सभी उपाय करते हैं, क्या मै भूखा रहूँ ?"

ग्रामवासियों ने कहा—"भूखे क्यों रहेंगे ? हम आपके भोजन की व्यवस्था करेंगे। ऐसे आप जिसके चाहे घर में घुस जाते है, इससे सभी भय-भीत बने रहते है। एक भोजन का निश्चित नियम बना लो।"

राक्षस ने कहा—"तुम ही मिलकर नियम बनालो, जिससे मेरा पेट भर जाया करे। फिर मै ऐसे किसी के घर न जाऊँगा।"

तब ग्रामवासियों ने कहा—"राक्षसराज ! यह धर्मशाला है, इसमे नित्य ही बाहर के यात्री आकर ठहरते हैं। जब यात्री सो जाया करे तो आप उनको खा जाया करना। ग्रामवासियों पर कभी प्रहार न करना। उन्हें मत खाना।"

राक्षस ने यह बात स्वीकर कर ली। तब से बहार का जो भी यात्री आता, ग्राम वाले उसे अपने यहाँ न ठहरा कर धर्मशाला में

भेज देते, रात्रि में राक्षस उन सब को खा जाता इस प्रकार गाँव के लोग निर्भय होकर रहने लगे।

ग्रामपाल सुनन्द ब्राह्मण से कह रहा है—"सो, ब्रह्मन्! हम ग्राम वासी यात्रियों का बलिदान कराकर अपने को सुरक्षित समझे बैठे थे। आप भी अपने साथियों सहित जब इस ग्राम में आये थे, तो किसी ग्राम वासी ने आपको अपने घर में नहीं ठहराया था। तब मैने ही आपको साथियों सहित इस धर्मशाला में ठहरने को कहा था। रात्रि में सोते हुए आप के सब साथियों को तो राक्षस खा गया था। आपको न जाने वह क्यों नहीं खा सका। आप को उसने केवल धर्मशाला के बाहर कर दिया। यह एक अभूत पूर्व अद्भुत घटना थी। आज तक ऐसा कभी नही हुआ। इसी से मुझे आप पर परम श्रद्धा हो गयी। मैं समझ गया आप कोई मंत्र-तंत्र जानते हैं, आप में कोई महान् सिद्धि है जो नर भक्षी ने भी आपको छोड दिया।"

सुनन्द ब्राह्मण ने पूछा—"जब राक्षस से तुम्हारा समझौता हो गया था, कि ग्राम के किसी आदमी को न खायगा, तो उसने आज तुम्हारे पुत्र को क्यों खा लिया?"

ग्रामपाल ने कहा—"हाँ, उसी बात को तो मैं सुना रहा हूँ। कल मेरे पुत्र का एक मित्र आया हुआ था। हमने नियमानुसार उस पुत्र के मित्र को भी उसी धर्मशाला में सुला दिया। मेरे पुत्र की उस लड़के के साथ प्रगाढ़ मैत्री थी, वह उसे अत्यन्त प्यार करता था, इसलिये मुझसे बिना कहे मेरा पुत्र भी धर्मशाला में चला गया और अन्य यात्रियों के साथ उस राक्षस ने मेरे पुत्र को भी खा लिया।"

इस समाचार को सुनते ही मैं तुरन्त आज प्रातःकाल उस राक्षस के पास गया और क्रोध में भरकर मैंने पूछा—"राक्षस!

जब हमने तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध कर दिया था; तो तुमने यह नियम के विरुद्ध बात क्यों की? मेरे पुत्र को तुम क्यो खा गये।"

इस पर उस राक्षस ने कहा—"ग्रामपाल जी! आप क्रोध न कर। मेरी बात पहिले सुन ल। सच कहता हूँ, मैंने जान बूझकर तुम्हारे पुत्र को नही खाया। अन्य यात्रियो के साथ वह भी भूल में मेरे मुख में चला गया। मेरा आहार बन गया। अब मैं एक उपाय बताता हूँ जिससे मेरे पेट में गया हुआ तुम्हारा पुत्र सुरक्षित रह सके।"

मैंने राक्षस स पूछा—"वह उपाय कौन सा है? तुम मुझे शीघ्र बता दो, मैं उसे अवश्य करूँगा।"

राक्षस ने कहा—"उपाय तो स्वय विधाता ने ही पहिले से निश्चित कर दिया है। इससे तुम्हारा पुत्र भी बच जायगा और मेरी भी इस राक्षस योनि से मुक्ति हो जायगी।"

ग्रामपाल कह रहा है—"ब्रह्मन्! जब मैंने उससे उपाय बताने का आग्रह किया, तो राक्षस ने कहा—"ग्रामपाल जी! जो ब्राह्मण निरन्तर गीता के ग्यारहवें अध्याय का पाठ करते हों, उनके द्वारा मेरा भी उद्धार हो जायगा और मेरे द्वारा मारे हुए समस्त प्राणियों का भी पुनः जीवन प्राप्त हो जायगा। एक ब्राह्मण यहाँ धर्मशाला में आया था, उसके तेज के प्रभाव से मैं उन्हें खा नहीं सका। मैंने केवल उन्हें धर्मशाला के बाहर कर दिया था, उनके सभी साथियों को मैं खा गया था। मैंने सुना है, वे विप्रवर अभी तक इसी ग्राम मे निवास करते हैं, तुम उनके पास जाओ। उनसे प्रार्थना करो। वे गीता के ग्यारहवें अध्याय के मन्त्रो स सात बार अभिमन्त्रित करके मेरे ऊपर उस अभिमन्त्रित किये जल के छींटे दें, तो मैं अवश्य शाप से मुक्त

हो जाऊँगा और तुम्हारा पुत्र तथा अन्य जितने भी जीवों को मैंने खाया है, उन सब की सद्गति हो जायगी। सो कृपा करके आप मेरे साथ चलें।"

यह सुनकर द्विजवर सुनन्द जी ने ग्रामपाल को सान्त्वना देते हुए कहा—'ग्रामपाल जी! आप चिन्ता न करें, आप शीघ्र ही मुझे उस राक्षस के पास ले चलें। किन्तु यह बतावें कि वह किस पाप के कारण राक्षस बना है।"

सुनन्द ब्राह्मण के पूछने पर ग्रामपाल ने बताया। ब्रह्मन्! मैं जानता हूँ यह व्यक्ति कैसे राक्षस बना। पहिले यह व्यक्ति हमारे इसी ग्राम का रहने वाला था। जन्म से तो वह ब्राह्मण था, किन्तु विशेष पढ़ा लिखा नहीं था। कृषि कर्म करके जीवन निर्वाह करता था। एक दिन वह अपने खेतों पर अगहनी अन्न की क्यारियों की रक्षा कर रहा था। उसके खेतों के ही समीप एक मार्ग था। उससे यात्री आया जाया करते थे। एक दिन कोई अकेला यात्री आ रहा था, इस किसान के खेत के समीप ही एक सघन वृक्ष की छाया में वह यात्री बैठ गया। उसी समय एक बड़ा भारी गीध आया। उस गिद्ध ने आते ही उस यात्री पर प्रहार किया और उसे नोंच-नोंचकर खा गया। दूर से कोई महात्मा देख रहे थे। वे उसकी रक्षा के लिये दौड़े आये। जब तक महात्मा वहाँ पहुँचे, तब तक गिद्ध उस यात्री को खा कर आकाश में उड़ गया। वहाँ उसकी कुछ हड्डियाँ ही पड़ी शेष रह गयीं। महात्मा जी का हृदय दया से भर रहा था। उन्होंने देखा यह कृषक समीप ही था, इसने यात्री की कुछ भी सहायता नहीं की, इस बात से उन दयालु महात्मा को बड़ा क्रोध आ गया। उन्होंने उस किसान को डाँटते हुए कहा—"नीच! तेरे सम्मुख इतना भारी कांड हो गया, ऐसी भीषण दुर्घटना हो

गई किन्तु तैंने उस यात्री की तनिक भी सहायता नहीं की। यह काम तैंने मनुष्यों को खाने वाले राक्षसों जैसा किया है, अतः जा तू मनुष्यों को खाने वाला राक्षस बन जा।

किसान ने दीनता से कहा—"ब्रह्मन्! मैं यहाँ उपस्थित तो अवश्य था, किन्तु मेरी दृष्टि तो निरन्तर क्षेत्र की रक्षा में ही लगी हुई थी, अतः मैं गिद्ध के द्वारा खाते हुए इस यात्री को देख नहीं सका। महात्मन्! आपने मुझे पुरुषों का खाने वाला राक्षस बनने का शाप दिया है। अतः मैं यह जानना चाहता हूँ, कि मनुष्य किन-किन पापों के कारण राक्षस जैसी अधम योनियों में जाते हैं?"

उस किसान के नम्रता पूर्वक ऐसा उत्तर देने से उन महात्मा का क्रोध शान्त हो गया था, उन्होंने कहा—"देखो, यह मानव जीवन तो परोपकार के ही लिये है। जो परोपकार न करके निरन्तर पेट पालने की ही चिन्ता में लगा रहता है, उसका जीवन तो नष्ट प्रायः ही है। मनुष्य को जहाँ तक हो स्वयं कष्ट सह कर भी दूसरों के कष्टों को दूर करना चाहिये दूसरों को दुःख देने वाले प्राणी जैसे चोर हैं, सिंह व्याघ्रादि हैं, सर्प, शत्रु, अग्नि, विष, जल, गीध, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, बेताल आदि हिंसक क्रूर प्राणी हैं, इनके द्वारा किसी को त्रास हो रहा हो और अपने में इनसे बचाने की शक्ति हो, तो पूरी शक्ति के द्वारा सताये जाने वाले व्यक्ति की रक्षा करनी चाहिये। जो शक्ति रहते स्वार्थवश इनकी रक्षा नहीं करता, उनकी उपेक्षा कर देता है, तो उन देखने वालों को भी उनके वध का पाप लगता है। उन्हें इस पाप के कारण नरक में जाना पड़ता है।"

कोई भी दुःख में क्यों न फँसा हो, उसकी यथा शक्ति यथा सामर्थ्य रक्षा करनी चाहिये। मानलो कोई ब्राह्मण है या अन्य

व्यक्ति है, चोर उसे लूट रहे हैं, कष्ट दे रहे हैं तो उसकी जैसे बन सके रक्षा करनी चाहिये। वन में भेड़िया, सिंह, गीदड़ या कोई अन्य हिंसक जन्तु किसी को मार रहा हो और समर्थ होने पर भी जो उसकी रक्षा नहीं करता उसे पाप लगता है, मरकर उसे नाना नरकों की यातना सहनी पड़ती है और अंत में उसे भेड़िया की योनि में ही जन्म लेना पड़ता है।

किसान ने पूछा—"भगवन्! जो दीनों की रक्षा करते हैं, परोपकार के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं, उनकी क्या गति होती है?"

महात्मा ने कहा—"देखो, भैया, जो हमसे दूसरों के द्वारा मारे जाने पर सहायता की याचना करता है हिंसक जन्तुओं द्वारा क्लेशित होने पर चिल्लाता है, सहायता की पुकार करता है। ऐसे लोगों की जो सहायता करते हैं, उन्हें परमगति की प्राप्ति होती है। गौओं की रक्षा करते-करते जो मर जाते हैं, हिंसक जन्तुओं से सताये जाने वालों की रक्षा करते-करते जो अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देते है, उन्हें योगियों से भी बढ़कर गति प्राप्त होती है। शरणागतों की रक्षा करना यह बड़ा ही पुण्यप्रद कार्य है, इसकी समता सहस्रों अश्वमेध यज्ञ सैकड़ों वाजपेय यज्ञ भी नहीं कर सकते। इसके विपरीत जो सामर्थ्य रहते हुए भी दीन हीन शरणागतों की उपेक्षा करता है, वह कुम्भीपाकादि नरकों में पचाया जाता है। तुमने समीप रहते हुए भी इस यात्री की रक्षा नहीं की, इससे तुम्हें राक्षस बनना पड़ेगा। तुम कहते हो, मैंने देखा नहीं। तो इससे तुम्हारा दोष कम हुआ। किन्तु मैंने कभी हँसी में भी असत्य भाषण नहीं किया, अतः तुम्हें राक्षस तो होना ही पड़ेगा, किन्तु एक सदाचारी तपस्वी ब्राह्मण की कृपा से तुम्हारा शीघ्र ही इस योनि से उद्धार हो जायगा।"

किसान ने पूछा—"भगवन्! मेरा उद्धार कब होगा, और किस ब्राह्मण के द्वारा होगा इसका भी समय बता दें।"

तब उन महात्मा ने कहा—"थोड़े ही दिनों में तुम्हारे इस गाँव में श्रीमद्भगवत् गीता के विश्वरूप दर्शन योग नाम के ग्यारवें अध्याय का निरन्तर पाठ करने वाला एक ब्राह्मण आवेगा। वह गीता के मंत्रों से अभिमंत्रित करके उस जल के तुम्हारे ऊपर छींटा देगा, तभी तुम्हारा उद्धार हो जायगा।" यह कह कर वे महात्मा तो चले गये। वह किसान राक्षस होकर इस गाँव में रहने लगा और धर्मशाला में आये हुए यात्रियों को खाकर अपने उदर की पूर्ति करने लगा। आपके आने से उसे अपने उद्धार की आशा बंध गयी है अतः "आप शीघ्र ही वहाँ चलकर उस राक्षस का उद्धार करें और उसके उदर में गये मेरे पुत्र की रक्षा करें।"

ग्रामपाल के ऐसा कहने पर दया के सागर उन ब्राह्मण का हृदय दया से द्रवित हो गया। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, तुम उस राक्षस के समीप मुझे ले चलो। मुझसे जो भी बन पड़ेगा वह सब कुछ करूंगा।" ऐसा कहकर वे विप्रवर ग्रामपाल को साथ लिये हुए उस राक्षस के समीप पहुँचे। उन्होंने विश्वरूप दर्शनयोग नामक गीता के ग्यारहवें अध्याय से अभिमंत्रित करके सात बार उस जल को राक्षस के मस्तक पर डाला। उस जल के पड़ते ही, उसने राक्षस का शरीर त्याग दिया और वह शंख, चक्र, गदा, और पद्मधारी चतुर्भुज दिव्य पुरुष बन गया। वह पीताम्बर पहिने था, उसके गले में पंचरंगी माला पड़ी थी दिव्य भूषणों से उसके समस्त अंग विभूषित थे। यही नहीं कि वह अकेला ही देवता बन गया हो, आज तक उसने जितने लोगों को खाया था, वे सबके सब चतुर्भुज हो गये थे। सबकी कान्ति एक-

सी थी सभी के अंग मणिमय दिव्य आभूषणों से विभूषित थे।

तब ग्रामपाल ने देवता बने राक्षस से कहा—"राक्षसराज इन इतने चतुर्भुजधारी दिव्य पुरुषो में मेरा पुत्र कौन-सा है।"

इस पर राक्षस ने कहा—"ये जो दिव्य विमान में आरूढ़ हैं, जिनके शरीर की दिव्य कान्ति तमाल के समान शोभा पा रही है जो अपने चारों हाथो में शंख, चक्र, गदा, और पद्म धारण किये हुए हैं, जिनके अंगो की कान्ति दिव्य आभूषणों से परम शोभा पा रही है, जो मन्द-मन्द मुस्करा रहे है जिनके कानों में मणिमय कमनीय कुन्डल शोभा पा रहे है, जिनके गोल-मोल कपोलों की आभा कुन्डलों के कारण विद्युत के समान चमक रही है, जिनके कमल के समान नयन विकसित हो रहे हैं, देवत्व को प्राप्त इन्हीं महापुरुष को अपना पुत्र समझें।"

तब ग्रामपाल ने उसके समीप जाकर कहा—"बेटा! तुम्हारी माँ परम दुखित हो रही है मै भी तुम्हारे वियोग रूपी दुःख सागर में निमग्न हो रहा हूँ, तुम घर चलकर सबको सान्त्वना दो। अपने दर्शनों से सभी को सुखी बनाओ।"

यह सुनकर देवत्व को प्राप्त उसका पुत्र बोला—"ग्रामपाल! यह तो संसार चक्र है, पता नहीं, कै बार तुम मेरे पुत्र हुए और मै कै बार तुम्हारा पुत्र हुआ। यह पिता पुत्र तथा भाई बन्धु का नाता शरीर सम्बन्ध मे होता है। जब तक शरीर है तभी तक ममत्व है। अब मैंने उस मानव शरीर को त्याग कर इस दिव्य देह को प्राप्त कर लिया है। अब मेरे लिये पुराने सम्बन्ध पुराने शरीर के साथ ही नष्ट हो गये। ये संसारी सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं, नाशवान हैं अनित्य हैं। जो इन्हे नित्य तथा सत्य समझते हैं वे ही संसारी बन्धनो के चक्कर मे पड़कर पिसते रहते हैं। इन परम कृपालु ब्राह्मण देव की कृपा से इस क्रूर कर्मा राक्षस का

भी उद्धार हुआ और साथ ही हम लोगों का भी उद्धार हो गया। यह सब श्रीमद्भगवत् गीता के ग्यारहवें अध्याय के पाठ का चमत्कार है। साक्षात् परब्रह्म स्वरूप श्री कृष्ण चन्द्रजी ने इसका उपदेश अपने प्रिय भक्त अर्जुन को दिया था। इसके कारण न जाने कितने जीवों का कल्याण हुआ है, हो रहा है और आगे होता रहेगा। साधुओं का संग सभी को प्राप्त नहीं होता। किसी भाग्यशाली को ही अनेक जन्मों के पुण्य स्वरूप सत्संग की प्राप्ति होती है।"

ये महात्मा सुनन्दजी परमधन्य हैं, मंगल स्वरूप हैं। ये निरंतर श्रीमद्भगवत् गीता के एकादश अध्याय का पाठ करते रहते हैं। इससे समस्त सिद्धियाँ इनके चरणों में लोटी रहती हैं। इनकी सिद्धि का प्रत्यक्ष चमत्कार तो आपने देख ही लिया। अब आप इन्हीं से गीता के ग्यारहवें अध्याय का अर्थ सहित अध्ययन कीजिये और उसी के द्वारा संसार सागर को बात की बात में अनायास ही तर जाओगे। यह मोक्ष की परम रसायन है, समस्त आधि-व्याधियों को नाश करने का सर्वोत्कृष्ट साधन है, यह सर्वोत्तम सरल सरस सर्वोपयोगी सुगम साधन है।"

इतना कह कर वे सब के सब दिव्य विमानों में बैठकर विष्णु लोक को चले गये। उनके चले जाने पर ग्रामपाल ने इन सुनन्द ब्राह्मण से विधि पूर्वक गीता के एकादश अध्याय का अध्ययन किया, मनन किया। उसके प्रभाव से सुनन्द ब्राह्मण और ग्रामपाल को विष्णु लोक की प्राप्ति हुई।"

महादेवजी पार्वती जी कह रहे हैं—"देवि, यही एक छोटी सी गीता के ग्यारहवें अध्याय की माहात्म्य कथा है। ऐसी अनेकों कथायें हैं, इनके श्रवण मात्र से ही असंख्यों पातकों का नाश हो जाता है। यह मैंने ग्यारहवें अध्याय का महात्म्य सुनाया। अब

आगे बारहवें अध्याय का माहात्म्य कहूँगा। आशा है तुम इसे दत्त चित्त होकर श्रवण करोगी।

छप्पय

ग्राम पाल ने कही—गृद्ध इक पथिकहिँ खायो।
खावत देखत कृषक न ताकूँ आइ बचायो॥
शाप संत तिहि दयो—राक्छस ह्वै नर खावै।
गीता एकादशी जपत द्विज शाप छुड़ावै॥
जप अभिमन्त्रित विप्र को, पर्यो पथिक जीवित भये।
राक्षस के हू सहित सब, भये चतुरभुज तरि गये॥

अथ

एकादशोऽध्यायः

(११)

अर्जुन की विश्वरूप दर्शन की प्रार्थना (१)

[१]

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥*

(श्री भग० गी० ११ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

सुनि विभूति अरु गुह्यज्ञान अरजुन अति विस्मित ।
बोले गद्गद गिरा पकरि हरि चरन मुदित चित ॥
बड़ी अनुग्रह करी ज्ञान अतिगुह्य सुनायो ।
कहें जाइ अध्यात्म मुनिनि के मन जो भायो ॥
गोपनीय अति ज्ञान को, प्रभो ! दयो उपदेश अति ।
भयो नाश अज्ञान मम, लगी चरन तव सहज मति ॥

---

* अर्जुन ने कहा—हे भगवन् ! आपने जो परम गोपनीय अध्यात्म विषयक वचन मेरे ऊपर अनुग्रह करके कहे, उनसे मेरा मोह नष्ट हो गया ॥१॥

क्योंकि हे कमल नयन ! मैंने आपसे प्राणियों की उत्पत्ति विनाश के सम्बन्ध में विस्तार से सुना तथा आपके अविनाशी प्रभाव के सम्बन्ध में भी सुना ॥२॥

इस बात को हम प्रसंगानुसार बार-बार याद दिलाते रहे हैं और आगे भी समय-समय पर दिलाते रहेंगे कि इस लोक में दो निष्ठायें हैं। कर्मयोगियों अर्थात् वर्णाश्रमियों को कर्ममार्ग—अपने-अपने वर्ण आश्रम के अनुसार कर्म करते हुए मुक्ति प्राप्त करना। इस कर्ममार्ग में भी दो भेद हैं मतभेद कर्म में नहीं है। मुक्ति के स्वरूप में है, वेदवाद में रत—वैदिक कर्मों को ही यावज्जीवन करते रहने का आग्रह करने वाले मीमांसक लोग स्वर्ग प्राप्ति को ही मुक्ति मानते हैं। यावज्जीवन यज्ञ यागादि शुभ कर्म करते रहो, अक्षय स्वर्ग सुख भोगते रहो फिर आओगे भी तो परम पवित्र श्रीमानों के घर में या योगियों के कुल में आओगे, वहाँ पुनः शुभ कर्म करके स्वर्ग लाभ करोगे। ये लोग वानप्रस्थ संन्यास की आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु कर्ममार्गी वर्णाश्रमी कर्म करते-करते संन्यास तक पहुँचकर ब्रह्मलोक से भी परे—अष्टावरणों को भेदकर मुक्ति का स्वरूप मानते हैं, उसमें पुनरागमन नहीं होता। एक तो यह कर्ममार्ग दूसरा ज्ञानमार्ग उसमें वर्ण आश्रम का विरोध नहीं। साथ ही वह आवश्यक भी नहीं। इसमें संन्यास अर्थात् त्याग ही मुख्य है। जिस समय भी वैराग्य हो जाय, उस समय तुम चाहे जिस वर्ण के हो जिस आश्रम के हो, वहीं से छोड़कर चले जाओ निष्काम—कर्म रहित बन जाओ। कर्म निष्ठा और ज्ञान निष्ठा ये दोनों सनातन मार्ग हैं, परम प्राचीन हैं। समस्त गीता में भगवान् ने इन दोनों मार्गों से विलक्षण, दोनों का समन्वयात्मक एक तीसरा मध्यम मार्ग बताया है, उसे निष्काम कर्ममार्ग या भक्तिमार्ग कहते हैं। कर्म-मार्ग और ज्ञानमार्ग का कहीं विरोध नहीं। अपने-अपने स्थान पर दोनों ठीक हैं। उन उनके अधिकारी उन-उन निष्ठाओं के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं अपने अन्तिम ध्येय तक पहुँच

सकते हैं। किन्तु सर्व साधारण के लिये भगवान् निष्काम कर्म-योग को सर्वोपयोगी सर्वसाधारण के अनुकूल मानकर बार-बार इसी पर बल देते हैं।

गीता का प्रथम अध्याय तो सैन्यावलोकन अध्याय है। अर्जुन को मोह हो जाने से इसे मोह योग भी कह सकते हैं। अर्थात् जिसे ससार से विषाद न होगा अपने को मोहग्रस्त न समझेगा वह भक्तिमार्ग का अधिकारी ही नहीं।

दूसरा अध्याय है, गुरुवरण योग। ससार से जब विराग हो जाय तो मोह-ममता दूर करने को किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर कहना चाहिये (शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्) जैसा कि अर्जुन ने किया था। श्रीकृष्ण के शरणा-पन्न हुआ था।

अब तीसरा अध्याय है, उपदेश ग्रहण योग गुरु के सम्मुख जाकर उनसे विनम्रता से प्रश्न करें उनके उपदेशों को ग्रहण करे।

फिर चौथा अध्याय है, गुरु परब्रह्मयोग। गुरु में और परब्रह्म में भेद न माने। दयालु गुरु अपने आप कृपा करके अपनी भगवत्ता प्रकट कर देते हैं। उन पर विश्वास करे। यहाँ आकर शिष्य का पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है। अब सब गुरु रूप भगवान् के ही ऊपर सब कुछ निर्भर है। जब गुरुदेव ने स्वयं अपने श्रीमुख से कह दिया (अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया) 'मैं अज अविनाशी होकर भी जीवों पर कृपा करके योगमाया द्वारा शरीर धारण करता हूँ।' जब उन्होंने हमें वरण कर लिया, हम शरणापन्न हो गये, तब हम सब कर्तव्यों से छूट गये। अब भगवान् जो करावें वह हम करेंगे।

अब पाँचवें में अर्जुन ने यह जिज्ञासा की कि ये जो दो कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग हैं इनमें से मैं किस मार्ग को ग्रहण करूं। पहिले तो अर्जुन युद्ध छोड़कर-सर्वस्व त्याग कर-भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करके अपने आप संन्यास मार्ग को अच्छा मानकर उसी का अनुसरण करने को उद्यत हो गया था (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके) भगवान् ने कहा—नहीं, तुम संन्यास निष्ठा के अधिकारी नहीं हो। तुम्हारे लिये कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। (तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते)।

तब अर्जुन ने कहा—कर्मयोग अर्थात् वर्णाश्रम में तो ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं। ज्ञान बिना संन्यास के होता नहीं। संन्यास का अधिकारी वर्णाश्रम धर्मानुसार केवल ब्राह्मण ही है। मैं ब्राह्मण नहीं क्षत्रिय हूँ मेरी मुक्ति हो नहीं सकती। स्वजनों के वध से पाप लगेगा मैं नरक में जाऊँगा। तब कर्मयोग को आप मेरे लिये श्रेष्ठ क्यों बता रहे हैं? बस पञ्चम अध्याय से ही भगवान् ने ज्ञान कर्म के मध्यम मार्ग निष्काम कर्मयोग जो एक तीसरा विलक्षण मार्ग है उसे उपदेश दिया। भगवान् ने कहा—तुम निष्काम भाव से कर्म करो। जो करो उसे ब्रह्म के अर्पण करते जाओ। आसक्ति को छोड़कर फल की इच्छा न रखते हुए ब्रह्म के लिये-प्रभु की प्राप्ति के लिये-कर्म करो। ऐसा करने से तुम जहाँ हो वहीं मुक्त हो जाओगे। पाप पुण्य तुम्हें स्पर्श भी न करेगा। ब्रह्मण्याध्याय कर्माणि सङ्गत्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा)।

अर्जुन ने पुनः शंका की चाहें वर्णाश्रम मार्ग या कर्म-मार्ग हो, अथवा ज्ञान मार्ग। संन्यास की आवश्यकता तो दोनों में ही है। वर्णाश्रम धर्म में आदि वर्ण में ही सही संन्यास लेना ही पड़ता है, ज्ञानमार्ग में तो संन्यास ही मुख्य है। मैं

निष्काम भाव से वर्णाश्रम विहित कर्म तो करता रहूँगा, किन्तु फिर सन्यास का क्या होगा ?

तब छटे अध्याय में भगवान् ने संन्यास का यथार्थ रहस्य बताया कि कपड़े रंगने वाला अग्नि को न छूने वाला कर्म रहित बन जाने वाला ही सन्यासी नही है। यथार्थ संन्यासी तो वही है जो कर्मों के फल के आश्रित न रहकर कर्तव्य कर्मों को करता जाय। जो निष्काम कर्मयोग का अर्थात् भक्ति मार्ग का अनुसरण करता है वही भक्त संन्यासी है। वही चाहें किसी भी वर्ण का किसी भी आश्रम का हो, कैसा भी उसका वेष हो। यह कहकर भगवान् ने मन को रोकने के निष्काम होने के साधन बताये अतः छटा अध्याय है साधन योग।

सातवें में भगवान् ने अपने आप समग्र भक्ति योग का वर्णन किया। अर्थात् ज्ञान विज्ञान सहित समग्र भाव से मुझ अध्यात्म रूप ब्रह्म की शरण में कैसे जा सकते हो।

आठवें में अर्जुन ने अध्यात्म का प्रश्न किया तब भगवान् ने परम अक्षर अध्यात्म तत्व का इसमें वर्णन किया। तब फिर नौवें अध्याय मे गुह्य अध्यात्म अर्थात् राजविद्या राजगुह्य योग कहा।

इतना कहकर दशवें अध्याय में भगवान् ने कहा—"बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, दम, शम, दुःख, सुख, भय, और उत्पत्ति प्रलय मैं ही हूँ।" जब अर्जुन ने भगवत् विभूतियों की जिज्ञासा की तब भगवान् ने कहा—(सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन) अर्जुन मैं ही समस्त सृष्टि का आदि मध्य और अन्त हूँ और विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूँ। अन्त में इस सबका माहात्म्य बताकर कह दिया "मैं इस सम्पूर्ण जगत् में अपने एक अंश से अवस्थित हूँ।" अर्थात् ये सब मेरा ही विराट् स्वरूप

है। तब अर्जुन को भगवान् के विराट् स्वरूप को देखने की इच्छा हुई। छटे अध्याय तक तो कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग का ही निर्णय हुआ। सातवें में अपना समग्र ज्ञान विज्ञान सहित भक्ति योग बताया।

अब अर्जुन को दृढ़ विश्वास हो गया। भगवान् ही विश्व के एकमात्र कर्ता धर्ता हर्ता विधाता तथा नियामक है। आठ, नौ और दस इन तीन अध्याओं में (१) अध्यात्म (२) राजविद्या राजगुह्य योग (३) जीवों की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय का कारण तथा (४) अपना अक्षय माहात्म्य अर्थात् दिव्य विभूतियों का वर्णन किया। फिर अर्जुन ने विराट्रूप दर्शन की जिज्ञासा करते हुए प्रार्थना की।

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! जब भगवान् ने अपने एक अंश से ही सम्पूर्ण संसार में प्रविष्ट बताया अर्थात् विराट्-रूप में केवल अपने ही आप को कहा तब अर्जुन ने कहा— "भगवन्! आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की मैं आपका अत्यन्त ही आभारी हूँ।"

भगवान् ने कहा—"मैने कौन सी कृपा की? आभार प्रदर्शन करने योग्य तो कोई बात नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"है क्यों नहीं प्रभो! आपने मुझे अध्यात्म योग का रहस्य समझाया। जो अत्यंत ही गुह्य योग है, गुह्यराज योग है। आप के इन वचनों से मेरा मोह दूर हो गया। जिस मोह के वशी भूत होकर मैं युद्ध से हट रहा था।"

गुह्य अध्यात्म योग के-साथ ही आपने अपना अव्यय-अक्षय-माहात्म्य भी बता दिया। आपने मुझे यह दृढ़ निश्चय करा दिया कि विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के एक मात्र कारण आप ही हैं। ये सब बातें मैंने बहुत ही ध्यान पूर्वक सुनी परन्तु—

भगवान् ने कहा—"परन्तु क्या ? तुम अपना आन्तरिक अभिप्राय कहो। परन्तु कहने का तुम्हारा तात्पर्य क्या है ? तुम और क्या जानना चाहते हो। जब तुम्हारा मोह दूर हो गया, तो फिर मेरे वचनों को मानों युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ। निष्काम कर्म में दो ही क्रियायें की जाती है। मेरा सतत स्मरण और निष्काम भाव से कर्तव्य का पालन। इन दोनों को करने लगो।"

अर्जुन ने कहा—"मुझे तो आपके वचनो पर पूरा विश्वास हो गया। मुझे यह भी दृढ़ निश्चय हो गया, कि आप ही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय के एक मात्र कारण हैं। आप की आज्ञा पालन में ही मेरा कल्याण निहित है। फिर भी मेरा एक कुतूहल है। मेरी एक जिज्ञासा है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसके आगे जैसे अर्जुन भगवान् से अपने विश्वरूप दर्शन की प्रार्थना करेंगे। उसका वर्णन मै आगे करूंगा।"

छप्पय

अर्जुन बोले फेरि विनययुत विह्वल बानी।
कमलनयन ! मुख कमल कही महिमा सो जानी॥
जैसे होवैं प्रलय सबहिं भूतनि की भव में।
हों जैसे उत्पन्न सकल जा जीव जगत में॥
उतपति थिति अरु प्रलय को, मरम कह्यो तुमने प्रभो।
अविनाशी महिमा सुनी, और कछू पूछूं विभो॥

अर्जुन की विश्वरूप दर्शन की प्रार्थना (२)

[२]

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥❀

(श्रीभा० गी० ११ अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

महिमा निज जो कही सत्य मैंने सब मानी ।
हैं पुरुषोत्तम आपु मृषा नहिँ तुमरी बानी ॥
हे परमेश्वर ! आपु सकल सद्गुन की खानी ।
हे अपार ऐश्वर्य रहें जग माहिँ अमानी ॥
तेजयुक्त बलवीर्ययुत, प्रभु ऐश्वर्य अनूप है ।
लखन चहूँ प्रत्यक्ष हौं, जो विराट तव रूप है ॥

❀ हे परमेश्वर ! आपने अपने आपको जैसा बताया है, आप यथार्थ में वैसे ही हैं, हे पुरुषोत्तम ! अब मैं आपके ऐश्वर्ययुक्त रूप को देखना चाहता हूँ ॥३॥

हे प्रभो ! यदि आप ऐसा मानते हो कि यह इसके देखने का अधिकारी है, तो हे योगेश्वर ! आप अपने अविनाशी स्वरूप को मुझे दिखाइये ॥४॥

शास्त्र वचनों में तथा गुरु वाक्यों में श्रद्धा रखना यह भक्ति का प्रथम लक्षण है। समर्थ सद्गुरु में श्रद्धा हो जाय, तो फिर सब कुछ हो जाता है। कुछ लोग अपने आप तो कुछ साधन भजन करना नहीं चाहते। अपने को सुपात्र बनाने का प्रयत्न तो करते नहीं। चाहते यह है, कि बिना ही भूख के, बिना कुछ प्रयत्न किये, हमें बनी बनायी सुंदर रसोई मिल जाय, फिर बिना भूख के-अजीर्ण में-खाने से भले ही पेट बिगड जाय, किन्तु बना बनाया खाने के लिये स्वादिष्ट भोजन मिल जाय। ऐसे आलसी लोग कुछ उन्नति नहीं कर सकते। सद्गुरु अधिकारी देखकर ही-उसकी योग्यतानुसार साधन बताते हैं और उसकी योग्यता देखकर ही उनके सम्मुख अपना ऐश्वर्य प्रकट करते है।

एक अनधिकारी साधक किसी गुरु के पास गया। जाते ही गुरु ने उसे कुछ नाम जाप का साधन बताया। उसने कहा—"साधन आदि तो मैं पीछे करूंगा, पहिले आप कोई चमत्कार दिखाइये।"

जो गुरु को बाजीगर मानकर पहिले ही चमत्कार देखना चाहते हैं। वे अज्ञ हैं ऐसे भूले भटके बन्धु परमार्थ पथ की ओर अग्रसर नहीं हो सकते।

यह पुरुष श्रद्धामय है। अपनी श्रद्धा ही विश्वास के कारण मूर्तिमती बनकर हमारी इच्छानुसार रूप दिखाती है। अधिकारी को ही रहस्य की गुप्त बातें बतायी जाती हैं। जो अधिकारी है नहीं और गुप्त से गुप्त रहस्यमय रूप देखने की इच्छा करता है, यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। सद्गुरु उसके सम्मुख अपना रूप प्रकट कर भी दें तो उसे उस पर विश्वास ही न होगा।

कौरव सभा में जब भगवान् दूत बन कर गये थे, तब अनधिकारी दुर्योधन के सम्मुख भी उन्होंने अपना विराटरूप

दिखाया था। भगवान् जानते थे, यह अश्रद्धालु है, इस पर मेरे विराट्रूप का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वहाँ जो उन्होंने अपना विराट्रूप दिखाया था, वह महाराज धृतराष्ट्र भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य विदुरजी, बाह्लीक, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विकर्ण तथा युयुत्सु आदि धार्मिक व्यक्तियों के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त तथा संसार को यह दर्शाने के निमित्त कि मैंने मेल मिलाप कराने में अपनी ओर से साम, दान, दण्ड, भेद आदि सभी उपाय कर लिये। फिर भी यह नीच दुर्योधन युद्ध के ही लिये अड़ा हुआ है। उस सभा में विराट्रूप दिखाकर महाराज धृतराष्ट्र पर भगवान् ने अपनी परम कृपा प्रदर्शित की धृतराष्ट्र तो अन्धे थे, वे देखने में असमर्थ थे, अतः भगवान् ने उन्हें दो दिव्य नेत्र प्रदान किये और भगवान् के विराट्रूप के दर्शन करके अपने को कृतार्थ समझा।

अनधिकारी दुर्योधन तो अहंकारी था, वह अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझता था, ऐसे अनधिकारी पर उस भगवान् के विराट्रूप का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने शकुनि पुत्र उलूक के हाथों भगवान् के पास संदेश भेजा था, कि कृष्ण! तुमने हमारी सभा में जो अपना मायावी विकट रूप बना लिया था, उसे पुनः उसी रूप में प्रकट करके अर्जुन के सहित मुझ पर आक्रमण करो। इन्द्रजाल, माया तथा भयानक कृत्या ये युद्ध में अस्त्र शास्त्रों से सुसज्जित शूरवीरों के क्रोध और भी बढ़ा देती हैं। योद्धा उन्हें देखकर सिंहनाद करते हैं। इन मायाओं को तुमही जानते हो, सो बात नहीं। हम भी माया से आकाश में उड़ सकते हैं, अन्तरिक्ष में जाने की सामर्थ्य रखते हैं। हम रसातल फोड़कर नीचे के लोकों में जा सकते हैं। इन्द्रलोक तक में प्रवेश कर सकते हैं। इतना ही नहीं हम अपनी देह में असंख्यों रूप प्रकट कर सकते

हैं, किन्तु इन मायावी प्रदर्शनों से न तो अपने अभीष्ट की ही सिद्धि हो सकती है न शत्रु ही भयभीत हो सकता है।"

दुर्योधन ने भगवान् के इस दिव्य विराट्रूप को इन्द्रजाल तथा माया का रूप ही माना क्योंकि वह अनधिकारी था, केवल धृतराष्ट्र ही सच्चे अधिकारी थे, अतः अन्धे होने पर भी उन्हें भगवान् के विराट्रूप के प्रत्यक्ष दर्शन हो सके। अर्जुन ने भगवान् से यही प्रार्थना की, कि यदि आप मुझे विराट्रूप दिखाने का अधिकारी समझते हो, तब तो मुझे वह अपना विराट्रूप दिखा दीजिये। यदि मैं उसे देखने का अनधिकारी हों तो आप मुझे उस रूप को न दिखाइये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् से अपना दिव्य विराट् रूप दिखाने के लिये प्रार्थना करते हुए अर्जुन कह रहे हैं—हे परमेश्वर! आपने जो अपने को समस्त जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का एकमात्र कारण बताया। और आपने जो अपना इतना महान् माहात्म्य वर्णन किया वास्तव में वह सब वैसा है। आपके वचनों पर मुझे पूर्ण विश्वास है। उसमें अविश्वास की गन्ध तक नहीं। तो भी मेरी एक बड़ी उत्कट अभिलाषा है?

भगवान् ने पूछा—"वह कौन-सी अभिलाषा अवशेष रह गयी?"

अर्जुन ने कहा—"वह अभिलाषा यही है, कि मैं आपके उस दिव्य विराट्रूप का दर्शन करना चाहता हूँ। मैं आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, और तेज सम्पन्न उस दिव्य अद्भुत रूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। मेरी उसे देखने की बड़ी आन्तरिक इच्छा है।"

भगवान् ने कहा—"तो यह मेरे लिये कौन-सी बड़ी बात है, इतने संकोच के साथ क्यों कह रहे हो?"

अर्जुन ने कहा—"नहीं, प्रभो! आपके लिये तो कुछ भी बड़ी

बात नहीं है। आप तो निमिष मात्र में जो चाहें सो कर सकते हैं। आप सर्व समर्थ हैं। संकोच आप के सामर्थ्य की ओर से नहीं है, मुझे तो अपने अधिकारीपने के सम्बन्ध में संकोच हो रहा है। पता नहीं मैं उस दिव्य अप्रकृत विराट्रूप के देखने का अधिकारी हूँ भी कि नहीं। इसीलिये संकोच के सहित प्रार्थना कर रहा हूँ।"

भगवान् ने कहा—"अरे, अर्जुन! तुम कैसी बातें कर रहे हो, तुम भी अधिकारी न होगे, तो और कौन होगा?"

अर्जुन ने कहा—"हे योगेश्वर! हे समस्त सिद्धियों और योग के एक मात्र स्वामी! यदि आप मुझे अधिकारी समझते हैं, तो आप उस अपने अविनाशी तथा अव्यय स्वरूप को मुझे दिखाइये। यहीं दिखाइये। अभी दिखाइये।"

भगवान् ने कहा—"मैं तुम्हें अभी यहीं तत्काल इसी समय अपने उस स्वरूप को दिखाता हूँ, लो देखो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब जैसे भगवान् अपने ही शरीर में अर्जुन को जिन-जिन रूपों को देखने को कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

प्रभो! तुम्हारो रूप अलौकिक दिव्य कहावै।
है वह अलख अपार न कोई देखन पावै॥
दरसन इच्छा मोइ पात्र यदि मोकूँ जानें।
है यह देखन जोग्य नाथ! यदि ऐसो मानें॥
तो अविनाशी रूप वह, मोकूँ नाथ दिखाइ दें।
वा विराट शुभ रूप की, झाँकी मोइ कराइ दें॥

भगवान् द्वारा अर्जुन को अपने विराट् रूप का संक्षिप्त परिचय

[३]

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥*

(श्री भाग० गी० ११ अ० ५, ६ श्लोक)

छप्पय

मन्द-मन्द मुसिकाय मदनमोहन मदहारी ।
पारथ तैं पुनि कहैं बचन अतिई सुखकारी ॥
तू ही तो है पात्र अरे, अरजुन ! लखि अनुपम ।
रूप अलौकिक निखिल बरन के अद्भुत उत्तम ॥
नाना आकृति के अखिल, शत सहस्र संख्या संगुन ।
सावधान ह्वैकें निरखि, रंग रूप नाना बरन ॥

---

* इस पर भगवान् ने कहा—हे पार्थ ! तू मेरे सैकड़ों सहस्रों प्रकार के, भाँति-भाँति के, नानावर्णों, विविध आकृतियों वाले दिव्य रूपों को देख ॥५॥

हे भारत ! तुम द्वादशादित्यों को, अष्टवसुओं को, एकादश रुद्रों को,

जब किसी अद्भुत वस्तु को दिखाना होता है, तो दिखाने के पूर्व उसका परिचय करा देना अत्यन्त आवश्यक होता है। देखने के पहिले यदि उसके सम्बन्ध की सभी वस्तुओं से परिचय हो जाय, तो देखने समझने में अत्यन्त सुविधा हो जाती है, क्योंकि देखते समय तो वस्तुओं को देखते-देखते तन्मयता हो जाती है, बिना परिचय पाये यदि वस्तु को देखें भी, तो उसे पहिचान नहीं सकते। जैसे जहाँ चीकू फल नहीं होता, वहाँ यदि फलों के सहित उसे रख भी दें, तो अपरिचित व्यक्ति देखते हुए भी उसके लिये बिना देखे के समान हैं। यदि देखने के पूर्व उसे फलों के प्रकरण में बता दिया जाय, कि एक सुरंगी रंग का आलू के सदृश फल होता है, वह मायापुरी की ओर उत्पन्न होता है, खाने में बहुत मीठा होता है, तो अपरिचित व्यक्ति भी फलों में रखे उस फल को तुरन्त पहिचान लेगा।

हमें किसी अन्य देश, प्रदेश, प्रान्त अथवा जनपद में जाना है, जाने से पूर्व मानचित्र में उसके मार्गों से परिचित हो जायें, तो बहुत ही सुविधा होती है। इसी प्रकार इस विश्व ब्रह्माण्ड में अगणित वस्तुएँ है, उन सबका संक्षिप्त दिग्दर्शन इस मानव शरीर में पिण्ड में करा दिया गया है। इसीलिये कहावत है 'जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में भी है। इस संसार में पहिले प्रजापतियों से देवसृष्टि हुई, तब मनु, कश्यपादि से अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज आदि चराचर की सृष्टि हुई। माता-पिता, प्रजापति, ब्रह्मा आदि ये सब सृष्टि में कारण हैं, किन्तु सबके आदि कारण वे विराट् भगवान् हैं, अतः समस्त चराचर विश्व भगवान्

दोनों अश्विनी कुमारों को, उनचास मरुतों को मेरे शरीर में देखो तथा बहुत से पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को भी देखो।

के ही अंगों में निहित है, इसलिये वे विराट् कहलाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से विराट्-रूप दिखाने की प्रार्थना की, तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! बहुत अच्छी बात है, मैं तुम्हें अभी इसी समय अपने शरीर में विश्व ब्रह्माण्ड के दर्शन करता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! विराट्रूप देखकर सम्भव है, मैं हक्का-बक्का हो जाऊँ, समझ भी न सकूँ कि क्या देख रहा हूँ, कृपा करके विराट्रूप दिखाने के पूर्व मुझे बता तो दीजिये आप के शरीर में मैं क्या-क्या देखूँगा?"

भगवान् ने कहा—"दक्ष प्रजापति ब्रह्माजी के पुत्र थे। ब्रह्माजी की आज्ञा से इन्होंने प्रजा की वृद्धि के लिये ११ सहस्र पुत्र उत्पन्न किये और वे सबके सब नारदजी के उपदेश से गृहत्यागी बाबाजी बन गये। तब उन्होंने ब्रह्माजी की सम्मति से अब के ६० कन्यायें उत्पन्न की। उन्हीं की सन्तानों से यह समस्त ब्रह्माण्ड भर गया। उन साठों में से १० धर्म को, तेरह कश्यप को, सत्ताईस चन्द्रमा को, भूत, अंगिरा, कृशाश्व इन तीनों को दो-दो और शेष चार तार्क्ष्य को दी।

इनमें से अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि ये तेरह कश्यप मुनि की पत्नी हुईं। इन्हीं से देवता, पशु, पक्षी, अप्सरा, सर्प, बिच्छू, वृक्ष, लता, वनस्पतियाँ, राक्षस, गन्धर्व, घोड़े, गधे, दानव, असुर आदि सभी जीव उत्पन्न हुए। अतः जिसे अपना गोत्र याद न हो, वह अपना कश्यप गोत्र बता दे। क्योंकि सभी कश्यप की ही सन्तानें हैं। महर्षि कश्यप की सबसे बड़ी पत्नी अदिति के गर्भ से धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा, और वामन विष्णु ये बारह

पुत्र हुए। ये ही द्वादशादित्य हैं इन सब आदित्यों को तुम मेरे शरीर में देखोगे।

आदित्यों के अतिरिक्त धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूप, और प्रभास ये आठ वसु हैं इन समस्त वसुओं को भी तुम एक साथ मेरी देह में अवलोकन करोगे।

हर, बहुरूप, त्र्यंबक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपालि ये एकादश रुद्र कहाते हैं। इन सबको भी तुम मेरे विराट्रूप में प्रत्यक्ष देखोगे। दोनों अश्विनी कुमार जो सूर्य के पुत्र हैं, समस्त देवताओं के वैद्य हैं, जो महा-ज्ञानी, सफल चिकित्सक हैं, उन्हें भी तुम मेरे शरीर में देखोगे।

सत्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित् सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश् ये उनंचासे मरुत हैं। इन सब मरुतों को भी तुम मेरे शरीर में देखोगे।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! और क्या-क्या मैं आपके शरीर में देखूँगा, उन सबकी सूची कृपा करके मुझे सुना दीजिये।"

इस पर हँसते हुए भगवान् बोले—हे भरतवंशावतंस अर्जुन! मेरे गिने हुए परिमित रूप हों, तो उनकी सूची भी तुम्हें सुना दूँ। मेरे तो बहुत से-अनेकों-असंख्यों रूप हैं। तुमने जिन रूपों को न तो आज तक देखा है और न उनके सम्बन्ध में कभी सुना ही होगा। तुमने क्या किसी ने भी उन रूपों को आज तक न देखा होगा। वे सबके सब रूप अत्यन्त ही अद्भुत हैं, जो

आश्चर्यमय हैं। समस्त आश्चर्यों की खानि हैं, जिन्हें देखकर तुम आश्चर्य चकित हो जाओगे।

अर्जुन ने कहा—"उनकी जातियाँ तथा वर्णों की संख्या तो बता ही दें।"

भगवान् ने कहा—"हे पार्थ! मेरे दिव्य रूपों की कोई निश्चित जातियाँ नहीं। वर्णों की भी कोई संख्या नहीं। मेरे नाना प्रकार के-विविध भाँति के-असंख्यों जातियाँ वाले, अगणित वर्णों वाले अनेकों आकार वाले सैकड़ों, सहस्रों असंख्यों रूप हैं। उन सबकी मैं भी गणना करने में असमर्थ हूँ, उन सबको तुम मेरे इस विराट्रूप में देखोगे।"

अर्जुन! तुम परम विस्मित हो जाओगे इसलिये मैं इतना ही कह देना पर्याप्त समझता हूँ, कि संसार में जो भी कुछ है उस सबको मेरे इस विराट्रूप में तुम प्रत्यक्ष दर्शन कर सकोगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने अत्यन्त संक्षेप में जो उन्हें दिखाना था, उसका संकेत अर्जुन को किया। अब इस अद्भुत रूप को देखने के लिये जैसे भगवान् ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की उसका वर्णन मैं आप सबके सम्मुख करूँगा। आशा है आप इस प्रसंग को समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

भरतवंश-अवतंस! रूप तुम मेरो देखो।
है विराट यह रूप सबहिँ कूँ जामें पेखो॥
जो बारह आदित्य रुद्र एकादश दुरधर।
सबरे वसु जो आठ मरुद्गन उनंचासवर॥
दोऊ भाई अश्विनी, वैद्य कुमारनि देह मम।
लखि विराट प्रानी सकल, जो न सुने देखे प्रथम॥

अर्जुन को विराट्रूप देखने को दिव्यदृष्टि प्रदान

[४]

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥*

(श्री भा० गी० ११, अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

इत उत भटकत रहत रूप सब नहीं दिखावैं ।
है अनन्त मम रूप वेद हू पार न पावैं ॥
विश्व चराचर सकल जीव प्रानिनि कूँ पेखो ।
सबकूँ ही इक ठौंव देह मेरी में देखो ॥
थावर जंगम जगत सब, लोक चतुरदश भूतगन ।
जो तुम चाहो देखनो, अरजुन ! देखो ममहिं तन ॥

---

* हे गुडाकेश ! आज तुम इस मेरे शरीर में एक ही स्थान में चराचर सम्पूर्ण जगत् को देखो और भी जो देखना चाहो सब इसी देह में देख लो ॥७॥

किन्तु तुम मेरे इस विराट्रूप को इन प्राकृत चक्षुओं से देखने में समर्थ नहीं हो, अतः मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ, जिसके द्वारा तुम मेरे ऐश्वर्य और योग शक्ति को देख सकोगे ॥८॥

स्थूल नेत्र स्थूल वस्तुओं को वह भी सीमित रूप की ही वस्तुओं को देखने में समर्थ हैं। कुछ ऐसे सूक्ष्म कीटाणु हैं, जो खुली आँख से भी नहीं दिखायी देते। वे अणु वीक्षण यन्त्र द्वारा ही देखे जा सकते हैं। प्राकृत पदार्थ प्राकृत साधनों से देखे जा सकते हैं। समय और सामर्थ्य के ऊपर भी निर्भर करता है। नयी दृष्टि वाले बालक या किशोर अपनी आखो से जितनी दूर की वस्तुओं को देख सकते है, वृद्धावस्था को पुरानी आँखें उतनी दूर की वस्तु को नही देख सकती। समय के ऊपर भी निर्भर है। सतयुग, त्रेता अथवा द्वापर के लोग जितना पुरुषार्थ कर सकते थे, उतना कलियुगी पुरुष कभी नहीं कर सकते।

ऐसी प्रसिद्धि है, कि द्रोण पुत्र अश्वत्थामा अजर अमर हैं। महाभारत युद्ध में कौरवों की ओर से अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये ही तीन बच गये थे। मृत्युस्थल पर पड़े दुर्योधन ने अश्वत्थामा को अपना अंतिम सेनापति बनाया था, इसने रात्रि में सोते हुए पांडवों की अवशिष्ट सेना को, द्रुपद्रपुत्रो तथा द्रौपदी के पुत्रों को अधर्म पूर्वक मार डाला था। तब अर्जुन जाकर इन्हें जीवित पकड़ लाये थे। ब्राह्मण अवध्य होता है यह सोचकर इनके मस्तक में जो प्राकृत मणि थी, उसे निकाल कर इन्हें जीवित ही छोड़ दिया था। प्राकृत मणि सर्प के, गज के, मकर के मेढ़क के सियार के और किसी किसी मनुष्य के सिर में भी होती है। अश्वत्थामा के मस्तक मे प्राकृत मणि थी। अर्जुन ने जब खड्ग से उस मणि को निकाल लिया, तो इनके मस्तक में एक घाव हो गया था, सुनते हैं, वह घाव उनके मस्तक में अभी तक है। वे गंगाजी के किनारे-किनारे अलक्षित भाव से अभी तक घूमते रहते हैं किसी-किसी भाग्यशाली को अब भी उनके दर्शन हो जाते हैं। अमुक व्यक्ति को अश्वत्थामा जी के दर्शन हुए और उनसे यह वर प्राप्त

किया, ऐसी अनेकों गाथायें लोक में प्रचलति हैं, उनमें कौन-सी सत्य हैं, कौन-सी बनावटी हैं, इसका निर्णय तो वे ही कर सकते हैं, जो त्रिकालदर्शी हो, उन बहुत-सी गाथाओं में से तीन गाथायें हम यहाँ देते हैं। उनको हमने केवल सुना ही है। सत्या-सत्य की बात तो भगवान् ही जानें।

(१)

गंगा के किनारे अनूपशहर एक बहुत ही सुंदर बुलन्दशहर जनपद में स्थान है, वहाँ एक पहाड़ी वैद्य परिवार अभी तक अवस्थित है। अनूप शहर के पन्त वैद्यों की ख्याति उन दिनों उस प्रान्त में बहुत थी। उसी वंश के एक सुप्रसिद्ध वैद्य ने बताया था, कि हमारा परिवार इतना प्रसिद्ध अश्वत्थामा जी के वरदान के ही कारण हुआ।

उन्होंने बताया—"हमारे एक पूर्वज बहुत ही प्रातःकाल गंगा स्नान को गये। वहाँ उन्हें गंगा किनारे एक बहुत ही लंबे चौड़े बलिष्ट पुरुष दिखायी दिये उन्हें देखकर वैद्यजी चकित रह गये। किन्तु उन्होंने देखा, उस व्यक्ति के मस्तक पर घाव है।" वैद्यजी तो वैद्य ही ठहरे उन्होंने उनसे पूछा—"यह आपके मस्तक पर घाव कैसे हो गया है।"

उन्होंने कहा—"ऐसे ही लड़ाई झगड़े में हो गया है।"

वैद्यजी ने कहा—"तो आप इस पर भृंगराज की पुलटिस बाँधिये।"

अश्वत्थामा जी ने कहा—"बाँधी थी, कुछ लाभ नहीं हुआ।"

तब वैद्यजी ने और भी बीसों ओषधियाँ बतायीं। सभी में उन्होंने यही कह दिया—"बाँधी थीं कोई लाभ नहीं हुआ।"

वैद्यजी उपासक थे, भगवत् भक्त थे, उन्हें तुरंत स्मरण हो

आया, ये तो कोई दिव्य पुरुष हैं। उनसे पूछा—"महानुभाव! आप चिरजीवी द्रोण पुत्र अश्वत्थामा तो नहीं हैं?"

हँसकर अश्वत्थामा जी ने कहा—"हाँ, मैं, अश्वत्थामा ही हूँ, अप्राकृत घाव, प्राकृत औषधियों से अच्छा नहीं हो सकता। मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। तुम आज से सिद्धहस्त वैद्य हो जाओगे। तुम जिसकी भी चिकित्सा करोगे, वही अच्छा हो जायगा। तुम्हारी वंश परम्परा में भी ख्यातिनामा वैद्य होते रहेंगे। इस बात को ढाई सौ तीन सौ वर्ष हो गये तब से हमारी वंश परम्परा में एक न एक ख्यातनाम वैद्य होता ही चला आ रहा है।

(२)

दूसरी कथा विन्ध्याचल की हमने सुनी थी। विन्ध्याचल भगवती विन्ध्यवासिनी देवी का काशी प्रयाग के मध्य में सुप्रसिद्ध क्षेत्र है। उसमें एक बड़ा भारी नामी मल्ल था, दूर-दूर तक उसकी ख्याति थी। कभी-कभी अश्वत्थामाजी भगवती का दर्शन करने विन्ध्याचल आते हैं।

एक दिन वह मल्ल रात्रि में दो तीन बजे गंगा स्नान को गया। वहाँ गंगाजी में अश्वत्थामाजी स्नान कर रहे थे। उनके ऐसे लंबे-चौड़े डील-डौल वाले शरीर को देखकर मल्ल भयभीत हो गया, उसने उन्हें कोई भूत समझा। तब हँसते हुए अश्वत्थामा जी ने कहा—"भयभीत मत होओ। मैं भूत प्रेत नहीं। मैं तो महाभारत वाला अश्वत्थामा हूँ।"

मल्ल को बड़ा हर्ष हुआ। उसने उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उन्हें अनुकूल देखकर हाथ जोड़कर बोला—"महाराज! मुझे भी दिव्य अस्त्र चलाना सिखा दो।"

अश्वत्थामा जी ने कहा—"भैया, दिव्य अस्त्रशस्त्रों को सीखने के लिये देह भी दिव्य चाहिये। तुम उन्हें नहीं सीख सकते।"

इस मल्ल को तो अपने बल का, शारीरिक शक्ति का बड़ा अभिमान था, अतः इसने बहुत आग्रह किया, नहीं भगवन् ! एक आध अस्त्र तो दिखा ही दो।"

तब अश्वत्थामा जी ने कहा—"अच्छा, किनारे पर मेरा धनुष रखा है, उसे उठा लाओ।"

वह दौड़ा-दौड़ा गया। उसने धनुष को उठाना चाहा, किन्तु वह अपने स्थान से टस से मस भी नहीं हुआ। इसने अपना पूरा बल सम्पूर्ण शक्ति लगा दी, किन्तु धनुष हिला तक नहीं। तब हँसकर अश्वत्थामाजी ने कहा—"जब तुम धनुष को उठा ही नहीं सकते, तो अस्त्र-शस्त्र क्या सीखोगे। जाओ, तुम इधर के नामी मल्ल होगे, दूर-दूर तक तुम्हारी ख्याति होगी, तुम्हें कोई परास्त न कर सकेगा।"

(३)

तीसरी कहानी उस सम्भल गाँव की है, जहाँ भगवान् का कल्कि अवतार होने वाला है। वहाँ पर प्रातः काल किसी वेदज्ञ ब्राह्मण को अश्वत्थामा जी के दर्शन हुए। उनकी विद्वत्ता और वेद पाठ से अश्वत्थामा जी बड़े प्रसन्न हुए और उनसे कुछ वर माँगने को कहा।

ब्राह्मण ने कहा—"हमने महाभारत में पढ़ा है, आप ब्रह्मास्त्र के ज्ञाता हैं, मुझे ब्रह्मास्त्र सिखा दीजिये।"

हँसते हुए अश्वत्थामा जी ने कहा—देखो, भैया, वह समय और था, वे व्यक्ति और थे। सब कोई ब्रह्मास्त्र नहीं सीख सकता। उसके लिये पात्रता की आवश्यकता है। कम से कम दश सहस्र हाथियों का बल जिसके शरीर में हो। सद्गुण सम्पन्न, सदाचारी हो, वही इसके सीखने का अधिकारी हो सकता है। कलिकाल में इन दिव्य अस्त्रों को सीखना असम्भव है।

. .ब्राह्मण अत्यन्त ही हठ करने लगा। मुझे सिखा ही दो। तब उन्होंने एक छोटा सा धनुष बनाया। एक नीम की सींक को मन्त्र से अभिमन्त्रित करके उसे दिया कि इसे बाण पर पूरी शक्ति से चढ़ाओ।

वह ज्यों ही उसे बाण पर रख कर खींचने लगा, त्यों ही उसका शरीर आकाश में उड़ने लगा। अश्वत्थामा जी ने उसे पैर पकड़ कर नीचे खींचा, उसके हाथ से धनुष छीन लिया। और बोले—"जब तुम सींक को ही खींचने पर पृथ्वी छोड़ गये, तो ब्रह्मास्त्र क्या सीखोगे। देखो, दिव्य अस्त्रों के लिये दिव्य शरीर दिव्य शक्ति दिव्य सामर्थ्य चाहिये। कलियुगी जीवों में वह सामार्थ्य कहाँ है।

इन कथाओं के कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि अप्राकृत रूप को प्राकृत आँखें देख नहीं सकती। उसी प्रकार भगवान् के दिव्य विराट्रूप दर्शन के लिये दिव्य दृष्टि चाहिये। दिव्य दृष्टि उसी को प्राप्त हो सकती है, जिसे कृपा करके श्याम सुन्दर प्रदान कर दें। अपने सच्चे सखा सुहृद, मित्र तथा शिष्य अर्जुन को दया करके भगवान् ने दिव्य दृष्टि प्रदान की थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपना विराट्रूप दिखाने के पूर्व उसका परिचय कराते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—हे गुडाकेश! तुम मेरे विराट्रूप के देखने के अधिकारी हो। क्योंकि तुमने निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली है। भूख और नींद ये ही दो ऐसी व्याधियाँ हैं जो प्राणी को दिव्यता से हटाती हैं। तुमने निद्रा को जीत लिया है अतः तुम मेरे विराट्रूप को देख सकोगे। तुम मेरे उस दिव्य रूप को देखोगे, जिसे सर्व साधारण लोग कभी देख नहीं सकते। तुम अभी यहीं मेरे इसी शरीर में ही स्थावर जङ्गम समस्त चराचर जगत् को बात की

बात में देख लोगे, जिसे सहस्र कोटि वर्षों तक घूमते रहने पर भी तुम नहीं देख सकते। तुम संसार के सुख दुख, जय पराजय समस्त बीती हुई वर्तमान तथा होने वाली घटनाओं को भी मेरे शरीर में देख सकोगे। इस मेरे विराट्रूप के देखने से तुम्हारे समस्त संशय मिट जायँगे। फिर तुम्हारे लिये देखने को कुछ भी अवशेष न रह जायगा।

अर्जुन ने कहा—"मैं अपने को सबसे बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ, जो आपने मुझे विश्वरूप दर्शन का अधिकारी समझा। मैं आपकी कृपा का भाजन बन सका।"

भगवान् कहा—"अधिकारी तो तुम हो ही, किन्तु एक ही तुममें त्रुटि है?"

अर्जुन ने पूछा—"वह कौन-सी त्रुटि है, स्वामिन्?"

भगवान् ने कहा—"त्रुटि यह है, कि मेरा विराट्रूप तो दिव्य अप्राकृत हैं और तुम्हारी आँखें प्राकृत है। दृष्टि साधारण है। इस साधारण दृष्टि द्वारा मेरे असाधारण रूप को देखने में समर्थ न हो सकोगे।"

अर्जुन ने कहा—"यह त्रुटि तो सबसे बड़ी त्रुटि है। जब मैं अपनी दृष्टि से देख न सकूँगा, तो आपका विराट्रूप दिखाना व्यर्थ ही हो जायगा।"

भगवान् ने कहा—"व्यर्थ कैसे हो जायगा जी! अपने दिव्य विराट्रूप को देखने के लिये मैं तुम्हें दृष्टि भी दिव्य ही दिये देता हूँ। जिससे तुम मेरे अप्राकृतिक दिव्य विराट्रूप के उसके द्वारा दर्शन करने में समर्थ हो सको।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! जो कृपालु आटा दाल देता है, वही उसे बनाने को चार कन्डा भी दे देता है। आप जब दिव्य रूप कृपा करके दिखावेंगे तो दिव्य दृष्टि भी देंगे ही।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार दिव्य दृष्टि देने की प्रतिज्ञा करके भगवान् ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर जैसे रूप का दर्शन कराया, उसका वर्णन जैसे संजय ने धृतराष्ट्र से किया, उसको मैं आप सब को आगे बताऊँगा।"

छप्पय

मेरो प्राकृत रूप नहीं अप्राकृत अरजुन।
तेरे प्राकृत नेत्र न इनितैं समरथ देखन॥
दिव्य चक्षु हौं देउं उनहिं तैं देखि सकोगे।
दिव्य दृष्टि तैं देखि फेरि रनतैं न भगेगो॥
पारथ ! तू अब सम्हरि जा, दिव्य रूप दिखलाउँगो।
ईश्वरीय शक्ती सहित, दरशन तोइ कराऊँगो॥

विश्वरूप दर्शन (१)

[५]

सजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥*

(श्री भग० गी० ११ अ० ९, १०, ११ श्लोक)

छप्पय

कौरव कुल के अधिप सुनत धृतराष्ट्र सुबानी ।
फेरि भयो का सूत ! बताओ तुम अति ज्ञानी ॥
संजय बोले—भूप ! सुनाऊँ कथा अगारी ।
निज विराट् ज्यों रूप दिखाये श्री बनवारी ॥
महायोग ईश्वर परम—रूप विराट बनायकें ।
लगे दिखावन पार्थ कूँ, निज ऐश्वर्य दिखायकें ॥

---

* राजा धृतराष्ट्र से सजय कह रहे हैं—राजन् ! ऐसा कहकर महायोगेश्वर श्रीहरि ने अर्जुन को अपना परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखाया ॥९॥

भगवान् का रूप व्यष्टि भी है और समष्टि भी है। उसमें समस्त संसार के चराचर जीव व्याप्त हैं, उनका पृथक् अस्तित्व नहीं। जैसे कोई साधु है, उसकी बड़ी-बड़ी जटायें ऐंड़ी तक लम्बी है। उन्हें वह एकत्रित करके बांध लेता है, तो सबको वह मस्तक पर एक जटा ही देखती है, किन्तु उसमें कुल बुलाते असंख्यों जूएँ हैं उन्हें तो वही देख सकता है, जिसे साधु दिखाना चाहे। इसी प्रकार समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के स्थावर जंगम जीव भगवान् के रोम कूपों में विहार कर रहे है। विश्वरूप भगवान् अपने इस रूप को सबको नहीं दिखाते। अर्जुन जैसे अपने किसी अंतरङ्ग भक्त को ही दिखाते हैं।

कौरव सभा में जब भगवान् धर्मराज के दूत बनकर गये थे, तब दुर्योधन ने सोचा—"पांडवों से यदि श्रीकृष्ण को पृथक् कर दिया जाय, तो फिर पांडवों का युद्ध करने का साहस ही न होगा! क्यों न मै श्रीकृष्ण को यहीं बन्दी बना लूं। अब अच्छा अवसर है।"

श्रीकृष्ण को उसकी दुर्भावना का पता चल गया, वे तो सर्वान्तर्यामी हैं, अतः उन्होंने कौरव सभा में भी अपना विराट्रूप दिखाया था। कौरव सभा में विराट्रूप दिखाने के अनेकों कारण थे। न तो दुर्योधन ने उनसे विराट्रूप दिखाने की प्रार्थना ही की थी, न भगवान् विराट्रूप दिखाकर उसे अपना भक्त हो

वह ऐसा स्वरूप था, जिसमें अनेक मुख और नयन थे, अनेक अद्भुत दर्शनवाले, अनेक दिव्य भूषणों से युक्त, अनेक दिव्य शस्त्रो से उद्यत ॥१ ॥

अनेक दिव्य मालाओं और वस्त्रो को धारण किये हुए, दिव्य गन्ध और अनुलेप से अनुलिप्त, सर्व आश्चर्यमय, अनन्त विराट् स्वरूप उन विराट् भगवान् को देखा ॥११॥

बनाना चाहते थे। वे तो महाभारत कराना ही चाहते थे साथ ही अपने को निर्दोष भी सिद्ध करना चाहते थे। अतः विराट्रूप दिखाने में उनके मुख्य कारण ये थे।

(१) धृतराष्ट्र (२) द्रोणाचार्य (३) भीष्म पितामह (४) विदुरजी (५) संजय तथा (६) तपोधन समस्त महर्षिगण विश्वरूप देखने के अधिकारी थे, उन पर कृपा करके विश्वरूप दिखाया। भगवान् ने इन लोगों को उनकी प्राकृत आँखों में ही दिव्य दृष्टि दे दी। धृतराष्ट्र के प्राकृत आँखें नहीं थीं, उनकी प्रार्थना पर भगवान् ने उन्हें उस समय विश्वरूप दर्शन करने को दो नेत्र दे दिये। उन नेत्रों में दिव्य दृष्टि भी दे दी। अतः अन्धे होने पर भी वे भगवान् का दर्शन कर सके। शेष राजाओं की दिव्य दृष्टि न होने से उन्होंने अपने भय के कारण नेत्र बन्द कर लिये अतः वे भगवान् का दर्शन न कर सके।

(२) विराट्रूप दिखाकर भगवान् ने लोक में यह प्रकट किया, कि युद्ध बन्द कराने के मैं सभी उपाय कर चुका। फिर भी दुष्ट दुर्योधन माना नहीं।

(३) तीसरा कारण यह कि भगवान् ने दिखा दिया जो दिव्य वस्तु पात्र को महान् प्रतीत होती है, वही अपात्र को तुच्छ लगती है, उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(४) चौथा यह कि अभिमानी के सम्मुख भगवान् भी आ जायँ तो वह उनसे भी नहीं दबता। यद्यपि भगवान् ने दुर्योधन को दिव्य दृष्टि नहीं दी थी, फिर भी उसने आँखें बन्द नहीं कीं। उसने भगवान् के विराट्रूप के दर्शन किये, किन्तु उस पर उस दर्शन का उलटा ही प्रभाव पड़ा। उसने उसे इन्द्रजाल तथा माया ही माना। दिव्य दृष्टि के बिना तो कोई भगवान् का दर्शन कर नहीं सकता। अतः भगवान् ने उसे अभिमान बढ़ाने वाली दृष्टि

दी। जिससे उसकी भक्ति न बढ़कर अभिमान की ही वृद्धि हुई।

कौरव सभा के विराट्रूप में और गीता वाले विराट्रूप में अंतर है। गीता में तो अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान् ने अपना विश्वरूप दिखाया उसमें भगवान् ने अपना काल रूप दिखाया। अनेक रूपों को चबाते हुए निगलते हुए संहार करते हुए सबको भस्म करते हुए दिखाये। कौरव सभा में यह दिखाया कि न तो मैं अकेला ही हूँ और न पांडव मुझसे पृथक् ही है, मैं सर्व रूप हूँ। पांडव यहाँ भी मेरे साथ हैं। विश्व ब्रह्माण्ड मेरे साथ है। इसीलिये कौरव सभा में भगवान् ने पहिले खिलखिला कर उच्च स्वर से अट्टहास किया। तब उनके शरीर में ब्रह्मा, रुद्र तथा समस्त देव दिखायी देने लगे। समस्त लोकपाल उनकी बाहुओं में स्थित थे। मुख से अग्नि की लपटें निकल रही थीं। आदित्य, साध्य, वसु, अश्विनी कुमार, इन्द्र, मरुद्गण, विश्वेदेवा यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस तथा विभिन्न अंगों से समस्त देव उपदेव प्रकट हो गये।

उनकी दोनों भुजाओं से बलराम और अर्जुन का प्रादुर्भाव हुआ। भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव ये उनके पृष्ठ भाग में दीखने लगे। हाथों में प्रद्युम्न, तथा अंधक और वृष्णिवंशी वीर दिखाई देने लगे। भगवान् की उठी हुई भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, शक्ति, शार्ङ्गधनुष, हल और नन्दक नामक खड्ग ये आयुध देदीप्यमान रूप से दृष्टिगोचर होने लगे। उनके नेत्रों से नासिका छिद्रों से और दोनों कानों से भयंकर अग्नि की लपटें जो धूम से संयुक्त थीं चारों ओर निकलती हुई दिखायी देने लगी इस प्रकार का वह भयंकर विराट्रूप था।

अब अर्जुन ने कैसा रूप देखा, इसका वर्णन संजय ने धृतराष्ट्र से इस प्रकार किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने अर्जुन को विराट्रूप दिखाना आरम्भ किया, तो उसका वर्णन करते हुए संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं—राजन् ! भगवान् ने जब अर्जुन को दिव्य दृष्टि दे दी तब महायोगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अर्जुन से कहा—'अर्जुन ! तू मेरे दिव्य रूप को देखा।" बस, इतना कहते ही उन्होंने उसको अपना दिव्य ईश्वरीय रूप दिखाना प्रारंभ कर दिया। वह रूप कैसा था—उसके अनेकों मुख थे। भगवान् के श्री अंग में असंख्यों मुख ही मुख दिखायी देने लगे। उन मुखों में असंख्यों नेत्र चमक रहे थे। उन नयनों में अनेकों भाव प्रकट हो रहे थे, असंख्यों विस्मयो का दर्शन हो रहा था। भगवान् के अगणित अङ्ग दृष्टिगोचर हो रहे थे। उनमें भाँति-भाँति के असख्यों दिव्य आभूषण धारण किये हुए थे। वे असंख्यों हाथ अगणित दिव्य अस्त्र शस्त्रों मे सुसज्जित थे। भगवान् के अनेकों अङ्गों में असंख्यो दिव्य मालायें सुशोभित हो रही थी। उन दिव्य मालाओं की दिव्य गन्ध दशों दिशाओं में फैल रही थी। अङ्गो में जो अनुपम आभूषण थे, वे सबके सब दिव्य थे। अप्राकृतिक धातुओ से निर्मित थे। उन अङ्गों में अद्भुत अनुपम अनुलेपन लगे हुए थे। अङ्गो की कान्ति अद्भुत थी, अनुपमेय थी सर्वाश्चर्यमयी थी, विविध चित्र विचित्रताओं मे संयुक्त थी। उन दिव्य रूप भगवान् की छटा अद्भुत थी। उन अनन्त महा प्रभु की अभा अप्रमेय थी। उन मुकुन्द की देह में सब ओर अगणित आनन थे। वे सर्वतोमुख थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार संजयजी, महाराज धृतराष्ट्र के प्रति भगवान् के विश्वरूप का वर्णन कर रहे हैं, अब आगे उनकी आभा आदि का जैसे वर्णन करेंगे, उसको मै आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

देखे अरजुन मुख अनेक नयननियुत अद्भुत।
भाँति-भाँति के दिव्य भूषनिन सकल सुसज्जित॥
करनि माँहि अति दिव्य अस्त्र शस्त्रनि कूँ धारें।
दिव्य गन्ध अनुलेप लगाये वस्त्र सम्हारें॥
अति अद्भुत आचारजयुत सीमा रहित असीम हैं।
दशहु दिशनि महँ मुख अखिल, देव अनन्त प्रवीन हैं॥

गलमहँ माला दिव्य सलौनी सरल सुगन्धित।
सबहिँ तननि अनुलेप लगाये श्रीहरि प्रमुदित॥
कोई आवत जाइ कोइ काऊ कूँ खावै।
कोई जावै दौरि लौटि कोई इत आवै॥
सुने न देखे जो चरित, सो सबई आचरज युत।
वे विराट भगवान की, देहनि में घूमत मुदित॥

विश्वरूप दर्शन (२)

[६]

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥*

(श्री भग० गी० ११ अ० १२, १३, १४ श्लो०)

छप्पय

दम-दम दमकत दशहु दिशनि में तेज अनुपम ।
दिव्य तेज अति प्रबल प्रकाशित नभ में उत्तम ॥
उपमा कातें करें विश्वप्रभु देह दिखावत ।
चकाचौंध है दीठि तेज सब ओर प्रकाशित ॥
नभ में एकहि संग में, उदित होहिं रवि सहस ज्यों ।
ग्वाऊ तें अगनित अधिक, विश्वरूप की प्रभा त्यों ॥

---

* मानो आकाश में सहस्रों सूर्य एक साथ ही उदय हो गये हों। उनका जैसा प्रकाश होता हो, वह प्रकाश भी उस विराट् भगवान् के प्रकाश के समान कदाचित् ही हो सके ॥१२॥

साहित्य शास्त्र में उपमा का बड़ा महत्त्व है जो कवि जितनी ही सुंदर जितनी ही अधिक उपमायें दे सकता है उतना ही बड़ा कवि माना जाता है। उपमा प्रायः एक देशीय होती है। और सादृश्य में दी जाती है। जैसे 'चन्द्रमुखी' यह मुख को चन्द्रमा के साथ उपमा दी गयी है। मुख में चन्द्रमा के सम्पूर्ण गुण नहीं है। समता इतनी ही है, कि जैसे शरद का पूर्ण चन्द्र कान्तिवान सुंदर होता है, उसे देखकर सभी को प्रसन्नता होती है वैसे ही इस नायिका के मनहर कान्तिवान मुख को देख कर सब प्रसन्न होते है। इसी प्रकार नयनों को कमल से, खंजन पक्षी के मृगी के नयनों से उपमा दी जाती है।

उपमेय वस्तु के कुछ भी सदृश वस्तु हो तो उससे उपमा दी जाती है, किन्तु जब उपमेय के समान दूसरी कोई वस्तु ही न हो तो उसी को उससे ही उपमा दी जाती है, उसे अन्वयालङ्कार कहते हैं। जैसे आदि कवि वाल्मीकि जी ने राम रावण के युद्ध की उपमा दी है। उन्होंने कहा है—आकाश, आकाश के ही सदृश है समुद्र, समुद्र के ही तुल्य है, उसी प्रकार राम रावण का युद्ध राम और रावण के युद्ध के ही सदृश है। अर्थात् दोनों का युद्ध अनुपमेय है, उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। किसी भी पदार्थ से समानता नहीं हो सकती।

अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को उन देवाधिदेव विराट् भगवान् के शरीर में एक ही स्थान पर देखा ॥१३॥

तदनन्तर विस्मय से आविष्ट हुआ, जिसका देह प्रेम से रोमाञ्चित हो गया है, वह अर्जुन उन देवाधिदेव को शिर से प्रणाम करके दोनों हाथों को अञ्जलि बांधे हुए कहने लगा ॥१४॥

कुछ कवि अनुपमेय को असम्भावित रूप से उपमा देते हैं। माघ कवि ने श्री कृष्णचन्द्र जी के वक्षःस्थल पर क्रीड़ा करते हुए दो हीरों की उपमा देते हुए कहा है जैसे आकाश में गङ्गाजी के दो प्रवाह अठखेलियां कर रहे हों। एक तो आकाश में गङ्गाजी के प्रवाह की अठखेली ही असम्भव है फिर एक नहीं दो दो। जिस प्रकार हीरों की गङ्गा प्रवाह से उपमा देकर उनकी अनुपमेयता व्यक्त की है उसी प्रकार आकाश में एक साथ सहस्रों असंख्यों सूर्य का उदित होना असम्भव है। असंभव मान लो किसी प्रकार सम्भव भी हो जाय तो भी कवि का कहना है, कि भगवान् की आभा उन समस्त सम्मिलित असंख्यों सूर्यों के सदृश हो भी सकेगी कि नहीं इसमें भी संदेह है। ऐसा कहकर कवि ने अभूतोपमा अतिशयोक्ति की उत्प्रेक्षा की है। अर्थात् यह उपमा भी पूरी नहीं सम्भव नहीं। भगवान् की दीप्ति निरुपम है अनुपमेय है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! संजय जी भगवान् के विराट् रूप के सम्बन्ध में बताते हुए कह रहे हैं—"राजन! उन विराट् भगवान् की असम्भावित अनुपम उपमा की तुलना किससे की जा सकती है। यदि अन्तरिक्ष में अगणित असंख्यों सूर्य समूह एक साथ ही उदित हो जायें तो उन सब की मिलकर जो प्रभा होगी उस प्रभा के सदृश उन महात्मा की प्रभा थी। फिर अपने आप ही सन्देह प्रकट करते हुए कहते हैं—सम्भव है उन असंख्यों सूर्यों की सम्मिलित प्रभा भी उनकी प्रभा की बराबरी सम्भवतया न कर सके। अर्थात् उन विराट भगवान् की दिव्य प्रभा अनुपमेय है। अभूतोपरूपा है, उनकी उस समय की प्रभा की बराबरी किसी से की ही नहीं जा सकती। जैसे आकाश,

आकाश के ही सदृश है, समुद्र, समुद्र के ही सदृश है, उसी प्रकार भगवान् विराट् की प्रभा उन्हीं की प्रभा के सदृश थी।

संजय कह रहे हैं—"राजन्! अर्जुन से भगवान् ने कहा था, तुम यहीं पर मेरे इसी शरीर में सम्पूर्ण स्थावर, जङ्गम चराचर जगत् को देखोगे। उसी बात को सत्य करते हुए भगवान् ने अपने उसी शरीर में देवता, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, मनुष्यादि सम्पूर्ण जगत को एक ही स्थान में स्थित, अनेक प्रकार से प्रविभक्त उसी क्षण दिखाया। अर्जुन परम विस्मित भाव से यह सब देख रहा था भगवान् ने स्वयं ही कृपा करके अर्जुन को अधिकारी समझ कर अपना विराट् रूप दिखाया था, और उन्होंने बिना माँगे कृपा के वशीभूत होकर उसे देखने को दिव्य दृष्टि भी प्रदान की थी, इससे अर्जुन उस विराट् रूप को देखकर जैसे कौरव सभा में अन्य राजाओं ने भयभीत होकर आखें बन्द कर ली थीं, वैसे अर्जुन ने भय से आँखें बन्द नहीं की। वे उस अद्भुत आश्चर्यमय रूप को देखकर तनिक भी विचलित नहीं हुए। मैं अर्जुन हूँ और ये विराट्रूप दिखाने वाले मेरे सच्चे सुहृद, सम्बन्धी सारथी, गुरु और परब्रह्म श्री कृष्णचन्द्र जी हैं इन बातो को भी भूले नहीं। वह हड़बड़ाये भी नहीं। वहीं अपने स्थान पर डटे रहे। अत्यन्त विस्मित होकर उस अत्यद्भुत रूप के दर्शन करते रहे। प्रेम के कारण उनका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो रहा था। उन्होने उन विश्व रूप भगवान् को शिर झुकाकर साष्टांग प्रणाम किया, फिर दोनों हाथों की अञ्जलि बाँध कर परम भावातिरेक के सहित उनकी स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब अर्जुन जैसे विश्व रूप विराट् भगवान् की भक्ति सहित स्तुति करेंगे, उस प्रसंग को,

मैं आपसे आगे कहूँगा। आशा है आप इस पावन प्रसंग को प्रेम पूर्वक श्रवण करने की कृपा करेंगे।

छप्पय

पांडुपुत्र ने लखे विभाजित जीव चराचर।
देव मनुज पशु पक्षी भूत अरु लोक परावर॥
सब लोकनि के भोग दिव्य अरु अधम भाव के।
पुनि सब निरखे मिले जुले फिरि अथक भाव के॥
पांडुपुत्र अरजुन लखे, इस्थित एकहिँ गेह महँ।
देव-देव उन देवकी-नन्दन की ही देह महँ॥

चकित-चकित ह्वै पार्थ कृष्ण की देह निहारैं।
तामें लखि ब्रह्माण्ड करूँ का सोचि विचारैं॥
अतिई विस्मित भयो रोम तनके सब पुलकित।
लखि प्रकाशमय देह प्रेम हिय माहीं प्रकटित॥
श्रद्धा भक्ति समेत अति, देव-देव के गहि चरन।
करि प्रनाम सिर तें हरषि, हाथ जोरि बोल्यो बचन॥

अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (१)

[७]

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥*

(श्री भ० गी० ११ अ० १५, १६ श्लोक)

छप्पय

देव ! तिहारी देह माँहि, सब जगकूँ देखूँ ।
जाई में ब्रह्माण्ड विश्व सबरे कूँ पेखूँ ॥
देव कोटि तैंतीस निहारूँ सब भूतनि कूँ ।
जो जग पालैं रचैं करैं लय लखूँ सबनि कूँ ॥
कमलासन ब्रह्मा सहित, महादेव ऋषिगन सकल ।
सबहिँ जाति के जो सरप, निरखूँ सबकूँ एक थल ॥

---

* अर्जुन स्तुति करते हुए कह रहे हैं—हे देव ! आपके शरीर में मैं सम्पूर्ण देवों को, तथा विशेष भूत समुदाय को, कमल पर बैठे ब्रह्माजी को, शिवजी तथा सभी ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देख

अनन्त महाप्रभु के सम्बन्ध में जो भी कुछ कहा जाय वह सब अपर्याप्त है, क्योंकि कथन जो होगा वह तो अन्तवन्त होगा। एक जिह्वा वाले मनुष्य की तो बात ही क्या है। तीन सिर वाले विश्वरूप, चार सिर वाले ब्रह्मा, पाँच सिर वाले रुद्र, छै सिर वाले सोम कार्तिकेय, दश सिर वाले दशानन तथा सहस्र सिर वाले शेषनाग भी उनकी महिमा को पूर्णरीत्या गान करने में असमर्थ हैं। भगवान् को कोई बडी जाति वाला, बड़े धन वैभव वाला, बड़ी विद्या बुद्धि वाला, बड़ी तपस्या वाला देखना चाहे तो नहीं देख सकता। भगवान् को तो वही देख सकता जिस पर वे कृपा करें, जिसे वे अनुग्रह करके अपना रूप दिखाना चाहें। माता यशोदा छड़ी लेकर हाथ में रस्सी लेकर बाँधने को चली। उन्होंने विचारा नहीं, जो समस्त बन्धनों से रहित हैं वह भला बँध कैसे सकता है, जिसे बड़े-बड़े नाग, देव दैत्य, लोकपाल अपने भावों से नहीं बाँध सकते वह रस्सी से कैसे बँध सकता है। जिससे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि सब भयभीत होकर अपने-अपने कार्यों में लगे हुए हैं, उसे यह तनिक सी छड़ी क्या भयभीत कर सकती है, जिसे पवन, गरुड़ आदि महावेगवान् पकड़ने में असमर्थ हैं उसे व्रज की गोपी कैसे पकड़ सकती है। इन सब बातों का विचार न करके माता रस्सी लेकर छड़ी घुमाती हुई अपने भारी भरकम सीमित शरीर से कृष्ण को पकड़ने को, उन्हें बाँधने को दौड़ी। श्रीकृष्ण भी दौड़े।

रहा हूँ ॥१५॥

हे विश्वेश्वर! आपको मैं अनेक हाथ, उदर और नेत्रों वाला तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देख रहा हूँ। हे विश्वरूप! आपके अन्त, मध्य और आदि को मैं नहीं देखता हूँ ॥१६॥

अब सोचिये जो अनन्त है, सर्वत्र परिपूर्ण है, व्याप्त है, वह कहाँ दौड़ेगा और दौड़कर जायगा भी कहाँ ? जाना तो वहाँ होता है जहाँ पहिले से न हों, श्रीकृष्ण तो जहाँ जाओ वहाँ पहिले से ही डटे बैठे हैं। अतः वे अपने घर में दौड़े और दौड़ते भी कहाँ ? माता का शरीर तो स्थूल था। अतः वे थक गयीं श्रीकृष्ण स्थूलता कृशता से परे है, अतः वे थके नहीं। परन्तु माता को थकी देख कर द्रवित हो गये। कृपा के अधीन हो गये। "कृपयासोत्बन्धने" माता के प्रयत्न से नहीं बँधे। माता के पुरुषार्थ द्वारा नहीं पकड़े गये। प्रेम के भी बन्धन में नहीं बँधे। साधारण रस्सी से ही बँध गये। क्यो बँध गये ? क्योंकि वे कृपा के सागर हैं, कृपालु हैं। कृपा ने कहा—अजी बँध जाओ। कृपा की बात वे टाल नहीं सकते थे, अतः कृपा के कहने से बँध गये। क्योंकि वे परम कृपामय जो ठहरे।

इसी प्रकार भगवान् ने कृपा करके अर्जुन को अपना दिव्य विश्व विराट्रूप दिखाया। भगवान् के इस अभूतपूर्व रूप को देखकर अर्जुन परम विस्मित होकर उनकी स्तुति करने लगा। और करता ही क्या, स्तुति ही एक आधार है। अपनी स्तुति संसार में सभी को अच्छी लगती है। जो वस्तु अपने को अच्छी लगती है उसी को जीव भगवान् को प्रदान करता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने भगवान् का विराट्रूप देखा, तो वह विश्वरूप भगवान् की स्तुति करते हुए कहने लगा—"भगवन् ! आपको अब तक लोग अलख अगोचर कहा करते थे। आपको सभी इन्द्रियों का अविषय बताते थे, किन्तु आज तो मैं प्रत्यक्ष अपनी इन्हीं आँखों से आपको देख रहा हूँ। आप कहेंगे भौतिक चक्षुओं से भौतिक पदार्थ ही देखे जा सकते हैं, तो हे देव ! मैं तो आपके दिव्य रूप के दर्शन कर

रहा हूँ। आप कह सकते हैं कहीं अन्यत्र तुम मेरे दिव्यरूप को देख रहे होगे, किसी इन्द्रियातीत दिव्यलोक में यह सब देख रहे होगे। सो बात भी नहीं मैं तो आपके इसी श्रीकृष्ण देह में आपके दिव्यरूप की झाँकी कर रहा हूँ। मुझे किसी अन्य दिव्य-लोक में जाना नही पड़ा इसी आपके शरीर में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और इस ब्रह्माण्ड के मुख्य-मुख्य अधिपति, मुख्य-मुख्य देवताओं को भी प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। स्थावर जंगम, चर-अचर, अनेक आश्रयों वाले भूत संघों को देख रहा हूँ। मैं साक्षात् भगवान् विष्णु को भी आपके शरीर में देख रहा हूँ। मैं यह भी देख रहा हूँ कि उनकी नाभि से एक दिव्य कमल निकला हुआ है, उस पर आसन लगाये भगवान् पद्म संभव कमलासन ब्रह्माजी विराजमान हैं। मैं शिवजी को भी देख रहा हूँ, जो संसार के संहार मे सर्वथा समर्थ हैं। समस्त ऋषियों को भी देख रहा हूँ, समस्त दिव्य-दिव्य उरग अर्थात् सर्पों को भी देख रहा हूँ। आपके इस सीमित शरीर में तो अनन्त असीम संसार दीख रहा है।

प्रभो! हे विःवेश्वर! हे विश्वरूप! मैं आश्चर्य चकित होकर, हक्का-बक्का सा होकर परम घबराहट के साथ आपके उस रूप का दर्शन कर रहा हूँ, जिसमें चारों ओर असंख्यों बाहु ही बाहु हैं। अनन्त उदर ही उदर है, अगणित आनन ही आनन हैं। अनगिनती नेत्र ही नेत्र दिखायी देते हैं। आपके रूप का कहीं अन्त नहीं, कहीं अवसान नहीं, कहीं परिसमाप्ति नहीं। चारों ओर देखता ही चला जा रहा हूँ, कहीं उसका अन्त ही नहीं पा रहा हूँ, फिर लौटकर आदि की खोज करता हूँ, तो इसका कहीं आदि का भी पता नहीं चलता। जिसके आदि अन्त का ही पता नहीं उसके मध्य का तो पता चल ही कैसे सकता है? अतः मैं

तो कुछ समझ ही नहीं पा रहा हूँ। कहाँ से देखूँ, कहाँ तक देखूँ, कहाँ पहुँच कर विश्राम करूँ। जिधर देखता हूँ, जिधर दृष्टि दौड़ाता हूँ, उधर आपही आप दृष्टिगोचर होते हैं। चित्र विचित्र भाँति के आपके रूप दिखायी दे रहे हैं, मुझे सर्वत्र आप की ही आभा दिखायी दे रही है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! परम विस्मित होकर सर्वत्र भगवान् को ही देखकर अर्जुन जो और विश्वरूप भगवान् की स्तुति करेंगे उसका वर्णन मैं आपसे आगे करूँगा।

छप्पय

हे विश्वेश्वर! विश्वरूप महँ भाँति-भाँति के।
थावर जंगम जीव चराचर विविध जातिके॥
सबकी बाहु अनेक उदर अति अगनित दीखत।
अनगिनतिनि मुख नयन चहूँदिशि होत प्रकाशित॥
निरखूँ रूप अनन्त इत, उपमा जाकी जग नहीं।
आदि अन्त अरु मध्य नहिं, विश्वरूप दीसत कहीं॥

अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (२)

[८]

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥*

(श्री भग० गी० ११, अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

प्रभो ! निहारूँ तुम्हें मुकुटयुत गदा सहित कर ।
लिये सुदरसन चक्र प्रकाशित तेजपुंज वर ॥
जैसे अगिनि अनन्त प्रज्वलित होहिँ एक थल ।
सूर्य-ज्योति के सरिस प्रकाशित प्रभु प्रचंड तल ॥
अप्रमेय द्युति आपु की, प्रभा न कोई करि सके ।
तुमरे बिनु जा जगत की, जरनि नाथ ! को हरि सके ॥

---

* आपको किरीट, गदा और चक्रधारी देख रहा हूँ, सब ओर से प्रकाशमान तेज के राशि, प्रज्वलित अग्नि सूर्य के समान, ज्योतियुक्त दुर्निरीक्ष्य और सब ओर से अप्रमेय देखता हूँ ॥१७॥

मेरा ऐसा मत है, कि आप ही परम अक्षर हैं, आप ही जानने योग्य हैं, आप ही इस जगत् के परमाश्रय हैं, आप ही अनादि धर्म के रक्षक हैं और आप ही अव्यय तथा सनातन पुरुष हैं ॥१८॥

अनन्त विश्वरूप भगवान् किसी भी रूप में क्यों न हों अपने किरीट को नहीं भूलते। क्योंकि वे सब के मुकुटमणि हैं। केवल वामन रूप रखकर जब गये तब तो उनके माथे पर मुकुट नहीं था, क्योंकि वेष ही भिखारी का बनाया था। मंगन को कंगन की क्या आवश्यकता? जो मांगिता है वह मुकुट बांधकर भीख माँगने जा ही कैसे सकता है। नहीं तो ये मुकुट बाँधे बिना रहते नहीं। रामरूप में वनवासी बनकर बन-बन विचरते रहे, तब भी सोने का न सही जटाओं का ही मुकुट बना लिया था। जब व्रज में गौओं के चराने वाले गोपाल बने थे, तब रत्नजटित मुकुट न सही, मोर की पुच्छ का ही मुकुट बना कर पहिनते थे, तभी तो इनका नाम मोर मुकुटधारी, पड़ गया था। अक्रूरजी को भी जब जमुना के भीतर भगवान् के दर्शन हुए तो वहाँ भी भगवान् किरीट धारी ही थे। यहाँ जब भगवान् ने अर्जुन को अपना विराट्रूप दिखाया, तो उन विश्वरूप भगवान् के मस्तक पर भी दम-दम करके मुकुट दमक रहा था।

सूतजी कहते हैं मुनियो! विश्वरूप भगवान् की स्तुति करते हुए अर्जुन कह रहे हैं—"हे प्रभो! आप दुर्निरीक्ष हैं, आप को कोई चाहे कि इन प्राकृत भौतिक नेत्रों से देख ले सो असंभव है, आप तो दिव्यदृष्टि द्वारा ही देखे जा सकते हैं। आपने कृपा करके मुझे दिव्यदृष्टि प्रदान कर दी है इसीलिये मैं आपके सर्वतः दीप्तिशाली-चारों ओर से प्रकाशपुंज तेजोराशि वाले, परम देदीप्यमान स्वरूप के दर्शन कर रहा हूँ। आप अनेक रूपों में होते हुए भी माथे पर मनोहर मुकुट धारण किये हुए हैं। हाथों में शंख, चक्र तथा गदा और पद्म को धारण किये हुए हैं। असंख्यों अग्नियाँ, असंख्यों सूर्यों की दीप्ति एकत्रित हो जायँ उन सबकी कान्ति के समान आपकी कान्ति-द्युति है। वह द्युति भी वास्तव

में आपको दिव्य कान्ति की बराबरी नहीं कर सकती आपकी कान्ति अप्रमेय है उसकी कोई प्रमा नही, बराबरी नहीं समता नहीं। आप समस्त तेजो की राशि हैं। संसार में जितने भी तेजस्वी हैं, उन सबका तेज आपके ही तेजपुञ्ज से प्रादुर्भूत हुआ है।

आप अ-क्षर हैं, अर्थात् जिसका कभी क्षर-नाश-नहीं हो सकता। आप परम है-महान् है, परमब्रह्म हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं, सम्पूर्ण विश्व में समान रूप मे छाये हुए हैं। मोक्ष की इच्छा वालों के लिये इस असार संसार से सदा के लिये पार जाने वालों के एक मात्र आप ही वेदितव्य हैं, जानने योग्य अविनाशी परब्रह्म हैं। आप ही इस चराचर विश्व के–स्थावर जंगम रूप ब्रह्माण्ड के-एकमात्र परम निधान हैं, अर्थात् आश्रय हैं, यह संपूर्ण जगत् आप में ही निहित है, उसके परम प्रकृष्ट निधान-कारण-आप ही हैं।

आप अव्यय हैं, आपका कभी सम्पूर्ण व्यय नहीं होता। संसार के सभी पदार्थों का कभी न कभी व्यय हो जाता है–अंत हो जाता है, सभी पदार्थ चुक जाते हैं, किन्तु आप कभी चुकते नहीं। क्योंकि आप सदा सर्वदा परिपूर्ण हैं। आप में से चाहें जितना निकालें फिर भी आप परिपूर्ण ही बने रहेंगे। आप में चाहें जितना जोड़ दें, किन्तु आप में कोई वृद्धि न होगी क्योंकि आप न्यूनता अधिकता से परे अव्यय हैं।

यह भी बात नही कि आप आज हैं कल नहीं हैं। आज परिपूर्ण है, कालान्तर में न्यूनता आ जाय, ऐसा भी नही आप शाश्वत हैं और जो धर्म शाश्वत है नित्य है वेद प्रतिपादित है, उस धर्म के आप रक्षक हैं। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, आप तब-तब भाँति-भाँति के शरीर धारण करके उसकी रक्षा करते हैं।

आप सनातन हैं, ऐसी बात नहीं कि आप बीच में ही कभी उत्पन्न हुए हों और कभी आप का अन्त भी हो जाय, ऐसा भी

नहीं। आप आदि अन्त तथा मध्य से रहित त्रिकाल बाधित सनातन है।

आप ये जो नाना प्रकार की पुरियाँ हैं अगणित असंख्यों जो देह हैं उनमें आप सोते रहते हैं, अर्थात् संसार का कोई भी ऐसा स्थावर जंगम चर अचर शरीर नहीं है, जिसमें अन्तर्यामी रूप से आप विद्यमान न हों। उस पदार्थ की सत्ता संभव नहीं, जिसमें आप न हो। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् के रक्षक, पालक, पोषक, उत्पादक, संहर्ता तथा पालन कर्ता हैं। मैं आपके इस रूप के, आप की ही अनुकम्पा से प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! भगवान् विश्वरूप के दर्शनों से जो अर्जुन के हृदय में परम आह्लाद, विस्मय, आश्चर्य और आनंद हो रहा है, उसके कारण वह उनकी स्तुति करते हुए थकता नहीं, वह भगवान् के जिस रूप को, जिस भाव को ही देखता है उसी को लक्ष्य करके स्तुति करते लगता है। अब आगे जैसे अनादि अनन्त वीर्य युक्त उनके रूप की स्तुति करेगा उसे मैं आप से आगे कहूँगा। यह स्तुति प्रसंग भावमय है अतः आप इसे भाव विभोर होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

तुम ही अक्षर प्रभो! ब्रह्म अति परम कहावें।
तुम ही जानन योग्य सबहिँ कूँ ज्ञान सिखावें॥
हो परमात्मा परब्रह्म पर पुरुष सनातन।
आश्रय जग के आप परम पद दाता पावन॥
जा अनादि शुभ धरम के, रक्षक अविनाशी सतत।
सत्य सनातन सकलमय, है मेरो निश्चिन्त मत॥

अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (३)

[६]

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥*

(श्री भग० गी० ११, अ० १६, २० श्लो०)

छप्पय

देखूँ तुम कूँ आदि मध्य अरु अन्त रहित हौ ।
जग में जितने वीर्य लखूँ तिनि सकल सहित हौ ॥
जित-जित निरखूँ उतहिँ बाहु अति अनँत अपारा ।
रवि शशि दोऊ नयन प्रकाशित जग संहारा ॥
दीप्त हुतासन के सरिस, अगनित मुख अति प्रज्वलित ।
अपने दुर्धर तेज तैं, जगत होत है अति तपित ॥

---

* हे प्रभो ! आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित अनन्त वीर्य-युक्त, अनन्त बाहुवाला, सूर्य, चन्द्र नेत्र वाला, प्रज्वलित अग्नि के सदृश, अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए देख रहा हूँ ॥१६॥

हे महात्मन् ! स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य का यह आकाश तथा

भगवान् निर्विकार हैं। उनकी उत्पत्ति नहीं, वृद्धि नहीं, क्षय नहीं परिणाम नहीं और विनाश भी नहीं। वे सदा सर्वदा एक रस रहने वाले हैं। जिसका आदि होगा उसी का अन्त होगा। भगवान् का न आदि है और न अन्त वे अनादि अनन्त हैं। आदि और अन्त के बीच को मध्य कहते हैं, तो जिसका आदि अन्त ही नहीं उसके मध्य की कल्पना तो पागलों का प्रलाप मात्र है।

भगवान् का एक सौम्य, मनहर, सुहावना सुंदर रूप है। दूसरा भयानक, डरावना, संहारक काल रूप है। वास्तव में तो दोनों ही सुखद मंगलमय और कल्याणप्रद रूप है। शिव की कोई लीला अशिव नहीं, कल्याणकारी की कोई क्रीडा अकल्याण कारक नहीं। उनके सभी रूप मंगलमय हैं, वे जो भी कुछ करते हैं संसार के कल्याण के ही लिये करते हैं। उनकी प्रत्येक चेष्टा में जनहित नियत है। वे जो भी करते हैं सब शुभ ही करते हैं। यदि शरीर में खाये हुए अन्न को मल बनाकर वे मलद्वार, द्वारा बाहर न निकालें, तो शरीर यात्रा असंभव हो जाय, यदि अपनी उत्पन्न की हुई प्रजा का वे रुद्र बनकर संहार न करें तो शरीरों की स्थिति कैसे हो सकती है। अतः जैसे उनकी उत्पत्ति क्रिया मंगल-प्रद है, उसी प्रकार संहार क्रिया भी आनन्ददायक माननी चाहिये, किन्तु हममें इतना ही जैव धर्म है, कि हम जन्म को तो सुख प्रद मानते हैं उत्पत्ति के समय तो हर्षित होते हैं। किन्तु सम्मुख काल आ जाता है, तब हम सब भयभीत होकर रुदन करने लगते हैं। त्रस्त होकर दुःख प्रकट करने लगते हैं। वास्तव में देखा जाय, तो उन्हीं महात्मा का वह सौम्य रूप है और उन्हीं

सम्पूर्ण दिशायें तुम्हारे द्वारा ही प्राप्त हैं, तुम्हारे इस अद्भुत और उग्र-रूप को देखकर तीनों लोक परम व्यथित हो रहे हैं ॥२०॥

का विराटरूप तथा कालरूप। हमारा कोई सुहृद सम्बन्धी अथवा पिता है, जब वह वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर आता है, तो हमें अच्छा लगता है, वही जब अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर युद्ध के लिये प्रस्थान करता है, तो शत्रु भले ही उसके रूप से भयभीत हों, हमें तो उससे कोई भय न होना चाहिये, क्योंकि हम उसके सुहृद हैं सम्बन्धी हैं पुत्र हैं। यही अंतर भगवान् के सौम्य रूप तथा विराट्रूप में है। विराट्रूप कालरूप है, संहार रूप है, वह प्राणियों को निगलता हुआ उनका विनाश करता हुआ दिखायी देता है। विनाश भी नवीनी करण है। मृत्यु नव जन्म के हो लिए होती है। अतः भगवान् के विश्वरूप से भयभीत न होना चाहिये, किन्तु त्रिलोकी के जीव भगवान् के उस कालरूप से भयभीत हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! विश्वरूप भगवान् की स्तुति करते हुए अर्जुन कह रहे हैं—"भगवन्! मैंने बहुत प्रयत्न किया, पूरी सामर्थ्य लगाकर खोज की, किन्तु मुझे आपका कहीं आदि ही दिखायी नहीं दिया। इससे मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, कि आप अनादि हैं। फिर मैंने आप का अन्त जानना चाहा। पूरा प्रयत्न करने पर भी आपका कहीं अन्त ही दिखायी नहीं दिया। आदि अन्त के अभाव में मध्य का मिलना तो मृग तृष्णा के सदृश ही ठहरा। इससे मैं यही समझता हूँ, कि आप अनंत है। आप की समस्त वस्तुएँ; ही अनंत हैं। आपका वीर्य-पराक्रम-पुरुषार्थ तथा प्रभाव भी अनन्त है। आपके मुख्य शरीर में दो, चार या आठ ही बाहु नहीं हैं आप तो अनन्त बाहुओं वाले मुझे दृष्टि गोचर हो रहे हैं। इस आप के विश्वरूप में जो प्रधान मुख है, उसमें नेत्र के स्थान में सूर्य और चन्द्रमा ये दायें-बायें दोनों नेत्र दिखायी दे रहे हैं।

इस मुख्य शरीर में जिसमें सूर्य चन्द्र दो नेत्र हैं, उसके मुख से मूर्तिमान प्रज्वलित अग्नि निकल रही है। उसकी बड़ी-बड़ी लपटें संसार भर में व्याप्त हैं। आप अपने दुर्धर्ष तेज से इस समस्त विश्वब्रह्माण्ड को तपाते हुए से-संतप्त करते हुए से-प्रतीत हो रहे है।

यह आप का विराट्रूप एक ही स्थान में नही-केवल पृथ्वी पर ही हो, सो भी बात नहीं। स्वर्गलोक और पृथ्वी लोक के जो मध्य का भाग है। जिसे भुवर्लोक अथवा अन्तरिक्ष लोक कहते हैं-वह सम्पूर्ण आपके तेज से व्याप्त हो रहा है। जितनी ये दशों दिशायें हैं ये सबकी सब आपके एक मात्र तेज द्वारा ही व्याप्त हैं, आपके द्वारा अच्छादित है। आपके इस अति अद्भुत, अनुपम, अप्रमेय दुर्धर तथा विस्मयापन्न अत्यंत तेजस्वी, परम उग्ररूप को देखकर त्रिलोकी के समस्त जीव प्रव्यथित हो रहे हैं, भयभीत तथा शोक मग्न हो रहे हैं। हे महात्मन्! आप तो सदा सर्वदा साधुओं का परित्राण करते रहते हैं, निष्कृतियों का विनाश करते रहते हैं। आप भयभीतों को अभय प्रदान करने वाले हैं, अतः आपके इस उग्र विशाल विराट्रूप के कारण जो त्रिलोकी के जीव भयभीत हो रहे हैं, उनके भय को दूर कीजिये उन्हें अभय प्रदान कीजिये। आप अपने इस डरावने भयावने रूप का उप संहार करलें, इसे समेट कर सबको भय रहित-निर्भय-बना दें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! स्तुति करते-करते अर्जुन स्वयं भी भयभीत हो गये हैं, अतः उस लोक संहारक रूप का वर्णन करते हुए आगे जो स्तुति करेंगे, उसका वर्णन मैं आपसे करूँगा। आशा है आप उसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।

छप्पय

यह जो पृथिवी स्वरग आपुतैं परिपूरन है।
इन दोउनि के बीच बितानित सबरो नभ है॥
जे जो दशहू दिशा आपु बिनु नहीं दिखावें।
बिना आपु के नाथ! पदारथ नहीं लखावें॥
रूप उग्र अद्भुत निरखि, शत्रु होहिँ वा मीत हैं।
तीन लोक हे महात्मन्! सबई अति भयभीत हैं॥

अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (४)

[१०]

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति,
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥*

(श्री भग० गी० ११ अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

जे जो सगरे देव आपु में ही घुसि जावें।
सकल भये भयभीत आपुको ई गुन गावें॥
डरि-डरि कें तव नाम लेहिँ गुन गाइ सुनावें।
सब महर्षि अरु सिद्ध स्वस्ति कहि तुमहिँ मनावें॥
अपनी अपनी बुद्धि तैं, सबई इस्तुति करत हैं।
अति पुष्कल इस्त्रोत्र रचि, प्रेम सहित प्रभु पढ़त हैं॥

---

* ये सम्पूर्ण देव समूह तुम्हारे में प्रवेश कर रहे हैं, कोई भयभीत

यह सम्पूर्ण जगत् एक सुव्यवस्थित नियम के द्वारा चल रहा है। इस मर्त्यलोक में ही विशेष कर अव्यवस्था हो जाती है, नहीं तो ऊपर के ६ लोकों में तथा नीचे के सात लोकों में बंधी बंधायी व्यवस्था ही चल रही है। दिन के पश्चात् रात्रि होती है। देश भेद से दिन-रात्रि के समय में भले ही अन्तर पड जाय, किन्तु दिन के पश्चात् रात्रि, रात्रि के पश्चात् दिन ७ दिन का एक सप्ताह, १५ दिन का पक्ष, दो पक्ष का मास, चार-चार या दो-दो मास की ऋतुएं। ६ या ३ ऋतुओं का वर्ष ३६० वर्ष का एक दिव्य वर्ष, बारह सौ दिव्य वर्षों की एक चौकड़ी, ७१ चौकडियो का एक मन्वन्तर, १४ मन्वन्तरों का ब्रह्माजी का एकदिन, ब्रह्माजी के दिनों मे ३६० दिनों का ब्राह्म वर्ष और एक ब्रह्मा की आयु १०० वर्ष इस काल मे असंख्यों पदाधिकारी नियुक्त किये जाते है। ब्रह्मा, प्रत्येक मन्वन्तर में मनु, मनुपुत्र, मन्वन्तर के देवता, इन्द्र, मन्वन्तरावतार, ये बदलते रहते है। देव, उपदेव, जैसे यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किंपुरुष, विद्याधर, नाग, अप्सरा, किन्नर, गुह्यक, रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, अश्विनीकुमार मरुद्गण, पितृगण सिद्धगण आदि-आदि। इन सभी को भगवान् समय-समय पर उत्पन्न करते हैं। सब देव उपदेव तथा लोकों में उनके अध्यक्ष बनाते हैं उन अध्यक्षों को भगवान् ही चुनते हैं। वे भगवान् की ही आज्ञा से सब कार्य करते हैं। भगवान् के भय से ही सब अपने-अपने

हुए करबद्ध प्रार्थना कर रहे हैं, महर्षि और सिद्धों के संघ स्वस्ति-स्वस्ति कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रों द्वारा तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं॥२१॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेवा, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर तथा सिद्धों के संघ ये सभी विस्मित होकर आपको देख रहे हैं॥२२॥

कार्यों में लगे रहते हैं। वायु उनके भय से ही बहती है, मेघ उनके भय से ही वर्षा करते हैं। चराचर विश्व उनकी ही आज्ञा से चल रहा है। भगवान् की भृकुटि तनिक भी टेढ़ी हुई कि ये समस्त अधिकारी लोकपाल तथा चराचर जीव थर-थर कांपने लगते हैं। कलियुगी राजा जैसे बलवीर्य, ओज तेज से जब रहित हो जाते हैं, तब प्रजाजन उनका आदर नहीं करते। भगवान् तो समरस है सर्वशक्ति सम्पन्न है, उनका बलवीर्य ओज, तेज ऐश्वर्य, यश, प्रभाव कभी घटता नहीं। अतः समस्त देव, उपदेव अधिकारी उनके मुख की ओर जोहते रहते हैं। अर्जुन को भगवान् ने असमय में विराट्रूप दिखा दिया। वह भी भावी युद्ध का विनाशकारी दृश्य। उस दृश्य को देखकर सबको कुतूहल हुआ, कि न जाने भगवान् क्या करना चाहते हैं। असमय में प्रलय तो नहीं हो जायगी। महर्षि गण स्वस्ति-स्वस्ति-कल्याण हो, मंगल हो, कोई अघटित घटना न घट जाय, इस प्रकार मंगल वचन उच्चारण करने लगे। अर्जुन अपनी स्तुति में उन्हीं सब देव उपदेवों की स्थिति का वर्णन कर रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! आगे अर्जुन स्तुति करते हुए कहने लगे—प्रभो! आपकी आज्ञा से बहुत से देवता, असुर, राक्षस भूभार उतारने को राजाओं के रूप में क्षत्रियों तथा सैनिकों के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए है! अब वे समस्त सुर तथा असुर संघ आपके ही शरीर में मुझे घुसते हुए दिखायी दे रहे हैं। कोई युद्ध करते-करते मर कर आपके शरीर में घुस रहे हैं, कोई-कोई भयभीत होकर भाग रहे हैं कोई दोनों हाथों की अंजलि बांधे स्तुति विनय कर रहे हैं। सबका कल्याण चाहने वाले ब्रह्मर्षि, महर्षि, राजर्षि तथा सिद्धों के संघ स्वस्ति-स्वस्ति कहकर कल्याण कामना करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। बहुत से ऋषि

महर्षि बड़ी-बड़ी परिपूर्ण अर्थ वाली स्तुतियों द्वारा, आपके प्रबल पराक्रम तथा महान् उत्कर्ष का वर्णन करते हुए सुमधुर वाणियों से आपकी स्तुति कर कर रहे है।

एकादश रुद्र, द्वादशादित्य, अष्टवसु साध्यगण, विश्वेदेवा गण, दोनों अश्विनी कुमार, एक कम पचास मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व यक्ष, राक्षस, सिद्धगण सबके सब आपको देखते हुए मुझे दिखायी दे रहे है। आपके शरीर में सभी प्रवेश करते तथा, निकलते हुए दृष्टिगोचर हो रहे है। ये सभी के सभी सोच रहे हैं, आज क्या होने वाला है, आज क्या असमय में अभी प्रलय हो जायगी। सभी परम विस्मित बने चकित-चकित दृष्टि से आपको देख रहे है। वे समझ ही नहीं रहे हैं, कि यह कोई लौकिक चमत्कार विशेष है, या भगवान् की भक्त वत्सलता है। तीनों लोकों के जीव परम दुखित व्यथित, पीड़ित होकर आपको निहार रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब अर्जुन जी भगवान् के उस विराट्रूप की जिसकी स्तुति कर चुके हैं उन्ही के अनेकों हाथों पैरों का वर्णन करते हुए जो स्तुति करेंगे, उसका वर्णन मै आपसे आगे करूँगा। आशा है आप समाहित चित्त से इस पुण्य प्रद प्रसंग को सुनेंगे।

छप्पय

एकादश सब रुद्र और आदित्य बारहौं।
वसुगन जो हैं आठ इनहिं तव तनमें निरखौं॥
विश्वेदेव सुसाध्य सबहिं प्रभु कूँ ही पेखें।
कुमर अश्विनी मरुत् पितरगन तुमकूँ देखें॥
यक्ष राकछस मिलि सकल, गायक जो गन्धर्व सब।
अति विस्मित अरु चकित है, नाथ! निहारें रूप तव॥

अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (५)

[११]

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥
नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥❀

(श्री भ० गी० ११ अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

महाबाहु ! विकराल रूप तव अति अद्भुत हैं ।
आनन अधिक असंख्य नेत्र अगनित चमकत हैं ॥
संख्या हाथनि नाहिँ असंखनि जाँघ लखावें ।
चरन उदर बहुसंख्य बहुत-सी दाढ़ दिखावें ॥
अति विकराल कराल सब, रूप निरखि सब डरि रहे ।
हौं हू व्याकुल अति भयो, नाथ ! होश मम उड़ि रहे ॥

❀ हे महाबाहो ! तुम्हारे जिस शरीर में बहुत से मुख, नेत्र, हाथ-पैर, जंघा तथा उदर हैं । बड़ी-बड़ी विकराल दाढ़ें हैं, ऐसे महान् रूप को देखकर सभी लोक व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ॥२३॥

यह सृष्टि चक्र महान् है। इस सृष्टि चक्र को समझ लेने का अर्थ है, भगवान् को समझ लेना। विराट् भगवान् के शरीर में ये समस्त ब्रह्माण्ड की वस्तुएँ प्रत्यक्ष दिखायी देती हैं। हम समुद्र को ऊपर से देखते हैं, उसका नीला-नीला जल हमें बड़ा ही भला दिखायी देता है, इच्छा होती है, इसे बैठे-बैठे देखते ही रहें। किन्तु ऊपर-ऊपर से जो हम समुद्र को देखते हैं, वही समुद्र का रूप नहीं है। किसी यन्त्र विशेष से यदि हम समुद्र का सम्पूर्ण रूप देखने में समर्थ हो जायें तो हम उसके उस भयंकर रूप को देख कर भयभीत हो जायेंगे। समुद्र के भीतर बड़े-बड़े पर्वत हैं, नाना भाँति के पौधे हैं, घास है, योजनों लम्बे जलजन्तु हैं। सैकड़ों हाथियों को निगल जायें ऐसे जीव हैं, सर्प हैं, असंख्यों प्रकार की मछलियाँ विविध भाँति के विषैले जीव हैं। नाना भाँति के रत्न हैं। समुद्र का यथार्थ रूप वही है। इसी प्रकार भगवान् जब, रामकृष्ण वामन आदि मनोहर रूप रखकर हमारे सामने आते हैं तो हमें कितने मधुर लगते हैं। इच्छा होती है इन्हें आँखों में बिठा लें, हृदय में विराजमान करलें। महाराज बलि बटुवामन के छोटे से, नन्हे से, सुन्दर से रूप को देखकर विमुग्ध हो गये। उनकी स्त्री रत्नावली तो बच्चे के सौन्दर्य पर निछावर हो गयी। लड़की तो इतनी आसक्त हुई कि उन्हें अपना पुत्र बनाकर स्तन पिलाने की इच्छा करने लगी। इसीलिये उसे पूतना बनना पड़ा और श्रीकृष्ण ने उसका स्तनपान करके उसे माता के सदृश गति

हे विष्णो! गगनस्पर्शी, देदीप्यमान अनेक वर्णों वाला जो आपका रूप है, जिसमे फटा हुआ मुख, देदीप्यमान् विशाल नेत्र हैं, ऐसे आपको देखकर मैं भयभीत हो गया हूँ, मेरा धैर्य छूट गया है, मुझे शान्ति प्राप्त नहीं हो रही है ॥२४॥

दी। राजा बलि बटु वामन के ऊपरी रूप को ही देखकर मुग्ध हो गये थे। जब उन्होंने उनका त्रिविक्रमरूप देखा और दो डगों में ही विश्व ब्रह्मांड को नाप लिया तब तो वह चकित हो गया।

यह जो देव सर्ग, मानुष सर्ग, पशु पक्षी अंडज पिंडज सर्ग, उद्भिज आदि सर्ग है ये सब चौरासी लाख योनियों के अन्तर्गत है। दक्ष प्रजापति की जो ६० कन्यायें है त्रैलोक्य के समस्त जीव इन्हीं से हुए है। इन साठ कन्याओं के वंश से ही यह सम्पूर्ण जगत् भर गया है।

देवताओं के ही बहुत से भेद है। साधारणतया देव सर्ग आठ प्रकार का होता है। (–एक देवगण स्वर्ग में जितने भी नित्य रहने वाले देवता है वे सब देवता कहलाते है इनके अतिरिक्त पितर भी उपदेव होने से देवसर्ग में ही आते हैं। कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और वर्हिषद ये पितरों के सात गण हैं। ये उष्ण अन्न का भोजन करते हैं, इसलिये इन्हें उष्मप भी कहते हैं। इसी प्रकार तीसरे असुरों की भी देवसर्ग में गणना है ये असंख्य हैं और दिति के पुत्र हैं। चौथे गन्धर्व अप्सरा यह एक ही सर्ग है, पांचवें यक्ष राक्षस ये भी बहुत हैं। छटे सिद्ध, चारण, विद्याधर सातवें भूत, प्रेत पिशाच, और आठवें किन्नर, किंपुरुष, अश्व मुख आदि हैं। इन्हीं के अन्तर्गत आदित्य, वसु, साध्य विश्वे देवा, अश्विनी कुमार, उन्नचास मरुत आदि सबकी गणना है।

जब भगवान् अवतार लेकर मनोहर रूप रखकर अवनि पर अवतरित होते हैं, तब हमें इनके शरीर में ये सब दिखायी नहीं देते। जब इनके विराट्रूप को कोई-कोई भाग्यशाली देख पाता है, तो उसे ये सब देव उपदेव, मनुष्य, पशु-पक्षी, सरीसृप,

वृक्षलता गुल्म प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। यह रूप नित्य देखने का नहीं है। यह तो कुतूहल वश देखने का है।

जब कोई विलक्षण वस्तु, अश्रुत पदार्थ, नये पदार्थ की बात सुनते हैं, तो हमारे मन में उसे देखने का कौतूहल होता है। एक बार देख लेने पर उत्सुकता समाप्त हो जाती है। भयंकर विलक्षण वस्तु अधिक काल तक नहीं देखी जाती। उत्सुकता समाप्त हो जाने पर फिर उसे देखकर भय हो जाता है। जैसे दाल, भात, रोटी, साग तो हम जीवन भर खाते रहें तो नहीं ऊबते। हलुआ, रबड़ी आदि गरिष्ठ पदार्थ एक दो दिन खाकर ही ऊब जाते हैं। फिर इच्छा होती है, वह सादा भोजन मिले। उत्सुकता अधिक काल नहीं रहती। विलक्षण वस्तु को देख कर उत्सुकता समाप्त हो जाती है।

अर्जुन ने जब तक भगवान् का विराट्रूप नही देखा था, तब तक उसे देखने को वह अत्यन्त ही उत्सुक था। जब उसने विराट् रूप को देखा और उस रूप के सामने ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, उनचास मरुत्, दोनों आश्विनी कुमार, बारह साध्य देवता, दस विश्वेदेवा आदि परम प्रबल कहलाने वाले थर-थर काँप रहे है तो अर्जुन उस रूप को देखकर भयभीत हो गया। उसकी उत्सुकता समाप्त हो गयी। कौतूहल मिट गया। उसका स्थान भय ने ले लिया। कहाँ तो श्रीकृष्ण का कितना सौम्यरूप, और कहा यह भयंकर विराट्रूप। सब देव उपदेवों को थर-थर काँपते देखकर अर्जुन भी भय के कारण काँपने लगा। काँपते-काँपते ही वह आगे स्तुति करने लगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! आगे स्तुति करते हुए अर्जुन कह रहे हैं—"प्रभो! आपके इस अत्यद्भुत, विचित्र, अलौकिक अभूत पूर्व विराट्रूप को देखकर ये तीनों लोकों के जीव

भयभीत हो रहे हैं. देव गण चकित-चकित दृष्टि से आपके इस रूप को निहार रहे हैं। समस्त प्रजा के जन व्यथित हो रहे हैं।

हे महाबाहो हे स्वामिन्! आप के इस विराट् स्वरूप में इतने मुख हैं, कि इनकी गणना किसी भी प्रकार से की ही नही जा सकती। इस रूप में उदर इतने हैं, कि किधर आदि है किधर अन्त है इसका पता नहीं चलता। चारों ओर उदर ही उदर दृष्टि गोचर हो रहे हैं। उन भयंकर मुखों में चन्द्र सूर्य के सदृश असंख्यों नयन दिखाई दे रहे हैं। पैरों की कोई सख्या नहीं, बाहुओं की गणना नहीं, जंघाओं की कोई सीमा नहीं। चरणों की गिनती नहीं, मुखों में बड़ी-बड़ी विकराल भयंकर दाढ़ें दिखायी दे रही है। इन सब असंख्य अङ्गों वाले आपके विराट् रूप से चराचर समस्त प्राणी प्रव्यथित हो रहे हैं। घबरा रहे हैं। व्यथा का अनुभव कर रहे हैं। उनकी बात जाने दो, सदा सर्वदा आपके समीप ही रहने वाला हूँ ऐसा मैं भी परम व्यथित हो रहा हूँ. मुझसे भी आपका यह असह्य रूप देखा नहीं जा रहा है। यह तो अच्छे-अच्छे धैर्यवानों के भी धैर्य को छुड़ाने वाला रूप है। इसकी भयानकता का कहाँ तक वर्णन करूँ?

ऊँचाई में देखता हूँ, तो आपके अनन्त सिर गगन चुम्बी हैं, आकाश को स्पर्श कर रहे हैं। मुखों को देखता हूँ, तो उनकी लम्बाई चौड़ाई की कोई सीमा नही। उनके तेज का कोई वारा-पार नहीं। वे अनेक रंगों के हैं, कोई लाल है, कोई सफेद है, हैं कोई नीले, पीले, हरे, बैंजती, गुलाबी तथा सुर्मई आदि अनेकों रङ्ग के हैं। उनके विशाल नेत्र दम-दम दमक कर अन्धकार का विनाश कर रहे हैं। आपके वे असंख्यों मुख फटे हुए हैं, जिससे उनकी भयंकरता और बढ़ गयी है।

इन अगणित रूप, अगणित फटे हुए मुखों को देखकर समस्त लोकों के जीव घबड़ा रहे हैं, थर-थर कांप रहे हैं। मेरा अन्तःकरण भी इस अद्भुत रूप को देखकर परम व्यथित हो रहा है। मैं बहुत चाहता हूँ, धैर्य पूर्वक आपके दर्शन करता रहूँ किन्तु धैर्य धारण करने में मैं असमर्थ हूँ, मेरा चित्त परम अशान्त हो रहा है। हे विष्णो: मैं अपना कल्याण नहीं देख रहा हूँ, मुझे शान्ति का अनुभव नहीं हो रहा है ?

भगवान् के उन मुखों में से एक मुख ने कहा—क्यों बात क्या है ? क्यों इतने भयभीत हो रहे हो ?

सूतजी कहते है—मुनियो ! अर्जुन यह सुन कर भयभीत होता हुआ पुनः विनती अथवा प्रलाप करता हुआ जैसे कहने लगा उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

नभ तक फैल्यो यह विशाल तव मुख बनवारी।
है अति ई दैदीप्यमान आनन अति भारी॥
अति विशाल प्रभु नेत्र दिशनि में दम-दम दमकें।
चकाचौंध करि देइँ चाव तें चम-चम चमकें॥
अन्तरातमा अति व्यथित, थर-थर काँपहुँ हौं सतत।
मन धीरज नहिँ धरि सकौं, शान्ति न पाऊँ हौं चकित॥

अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (६)

[१२]

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥*

(श्री भ० गी० ११ अ० २५, २६ श्लो०)

छप्पय

अति बिकराल कराल दाढ़ तीखी खूँटा सम।
प्रलयानल सम ज्वलित अमितमुख हियफाटत मम ॥
कौन दिशा का ओर ? ज्ञान यह नाथ ! भुलायो।
होवै दुख-सुख नहीं, निरखि चक्कर-सो आयो ॥
सब देवनि के अधिपती, जगनिवास जगपति दयति।
प्रभु प्रसन्न ह्वै जायँ अब, मोइ लखै करुना सहित ॥

---

* हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो जायँ। इस समय मैं तुम्हारे विकराल दाढ़ों वाले, कालानल के सदृश मुख को देखकर दिशाओं को नहीं जानता और सुखी भी नहीं हो रहा हूँ ॥२५॥

धृतराष्ट्र के ये सभी पुत्र राजाओं के समुदाय सहित भीष्म, द्रोण

कोई व्यक्ति जब अपने निवास स्थान के घर को छोड़कर दूसरे घर में जाना चाहता है, तो सबको तो नहीं, जो उसके निकटस्थ पुरुष होते हैं, उन्हें आभास मिल जाता है, कि यह इस घर को छोड़ना चाहता है जिस घर में जाना चाहता है, उसमें पहिले से ही वह अधिक आने जाने लगता है। शनैः शनैः वहाँ आवश्यक सामान भी पहुँचाने लग जाता है, कभी-कभी रात्रि में भी वहीं रह जाता है। इन्हीं सब कारणों से समीपस्थ पुरुषों को पूर्वाभास हो जाता है। उसका शरीर अभी तक भले ही पूर्व भवन में रहता है, किन्तु मन से तो वह नये भवन में एक प्रकार से रहने ही लगा है।

इसी प्रकार दैवी प्रकोप होने को होते है तो इनका आभास पशु पक्षियों को पहिले से ही मिल जाता है। वर्षा होने को होती है, तो वर्षा होने के पूर्व ही चींटियाँ अपने-अपने अंडों को लेकर दूसरे स्थान पर जाने लगती है। आँधी आने को होती है, तो उसके पूर्व ही पक्षी अपने घोंसलों में छिप जाते हैं। भूचाल होने को होती है तो पशु-पक्षी पहिले से ही सचेत हो जाते हैं। मरने वाले व्यक्ति के महीनों पहिले कई असगुन ऐसे होते है, जिनसे जाना जा सकता है, कि इसकी मृत्यु सन्निकट है, जैसे ध्रुवतारा का दिखायी न देना, नाक का टेढ़ा हो जाना, छाया में छिद्र दिखायी देना दुस्स्वप्नों का दिखायी देना आदि-आदि।

बात यह है कि भगवान् क्या करना चाहते हैं, इसका संकल्प उनके मन में पूर्व ही आ जाता है, वे अमोघ संकल्प हैं उनका संकल्प कभी मोघ-अर्थात् विफल-व्यर्थ नहीं होता। इसीलिये तो

और इस कर्ण सहित तथा हमारे पक्ष के भी मुख्य-मुख्य योद्धा, आपके शरीर में प्रवेश कर रहे हैं ॥२६॥

भगवान् ने अर्जुन से कहा था—"ये जो भीष्म, द्रोण जयद्रथ, कर्ण तथा और भी जितने अन्यान्य वीर हैं, इन सबको तो मैं अपने संकल्प से पहिले ही मार चुका हूँ। अर्थात् इनके मारने का संकल्प तो मै पहिले ही कर चुका हूँ। मेरा संकल्प कभी व्यर्थ तो होता नही। मै जो सोच लेता हूँ, वह होकर ही रहता है, अतः तुम इन भीष्म द्रोणादिक वीरों को मृतक ही समझो। तुम तो इन मरे हुओं को मार कर श्रेय प्राप्त करलो। केवल निमित्त मात्र बन जाओ। एक बात और भी स्मरण रखना तुम चाहें ऐं करो चाहे चें करो, जिन्हें मारने का मै तुम्हें निमित्त बना चुका हूँ, वे तुम्हें मारने ही पड़ेंगे। यदि अहंकार के वशीभूत होकर तुम हठ करोगे, कि मैं लड़ूंगा नहीं, अपने सगे सम्बन्धियों को मारूंगा नहीं, तो तुम्हारा यह व्यवसाय मिथ्या है। प्रकृति तुम्हें विवश कर देगी। बरबस तुम्हें इनको मारना ही पड़ेगा।" इस प्रकार भगवान् किस किसको मारना चाहते हैं। विश्वरूप में अर्जुन को उन्होंने इस बात को प्रत्यक्ष करके दर्शा दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने अर्जुन से कहा था—जिस बात को तुम देखना चाहते हो, कि किसकी विजय होगी, किसकी पराजय होगी, कौन मरेगा कौन जीवेगा। इन समस्त बातों को तुम प्रत्यक्ष मेरे इस विराट्रूप में तुम स्पष्ट देख सकोगे। भविष्य का चित्र मैं तुम्हें अपने विश्वरूप में दिखाता हूँ, और भी जो तुम भूत, भविष्य अथवा वर्तमान की बातें देखना चाहोगे सब मेरे इस रूप में देखोगे।" उसी को सत्य करते हुए भगवान् अर्जुन को अपने विराट्रूप में यह सब दिखा रहे हैं। उसे देखते हुए परम-भय से भयभीत हुए अर्जुन भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपके विकराल भयंकर खुले

हुए मुख बड़ी-बड़ी दाढ़ों के कारण अत्यन्त ही भयङ्कर दिखायी दे रहे हैं। मुख क्या है मानों कालाग्नि की लपटें निकलने के बड़े बड़े भयङ्कर कर विवर हैं। जिनमें से दहकती हुई, दिशाओं को जलाती हुई लपटें निकल-निकलकर विश्व का संहार कर देना चाहती हों। इस रूप को देखकर मैं तो हक्का-बक्का हो गया हूँ। मैं कहाँ खड़ा हूँ, पूर्व किधर है, उत्तर, दक्षिण, पश्चिम किधर है, इसका मुझे ज्ञान ही नहीं हो रहा है। मेरी बुद्धि चकरा गयी है, मैं हतप्रभ हो गया हूँ। मेरा चित्त बारम्बार अशान्त हो रहा है। बहुत विचारने पर भी मुझे शान्ति प्राप्त नहीं हो रही है। प्रभो! आप क्रोध करने वाले—इस संहारक रूप को छिपा लें। मुझ पर प्रसन्न हो जायँ। हे देवेश! आप तो समस्त देवों के एक मात्र स्वामी हैं, सबके शासनकर्ता, अधीश्वर हो। हे जगन्निवास! समस्त जगत् के चराचर जीव आप में ही निवास कर रहे हैं। सबके आधार आप ही हो। मुझ भयभीत को अभय प्रदान कीजिये। मुझ अशान्त को शान्ति प्रदान करते हुए मुझ पर परम प्रसन्न हो जायँ।

मैं आपके इस विराट्रूप में विलक्षण-विलक्षण बातें देख रहा हूँ। भविष्य का सभी दृश्य चलचित्रों की भाँति मुझे स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है। होने वाली सभी बातें मुझे दीख पड़ रही हैं। युयुत्सु को छोड़कर धृतराष्ट्र के समस्त पुत्र अपने पक्ष के राजाओं सहित मुझे आपकी भयङ्कर दाढ़ों के नीचे पिसते हुए दिखायी दे रहे हैं। यह बात नहीं कि निर्बल बीर ही पिस रहे हों। जो भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, सूत्र पुत्र कर्ण अजेय माने जाते हैं, जिन्हें जीतने का साहस देवता भी नहीं कर सकते ये सबके सब शीघ्रता के साथ आपकी दाढ़ों के नीचे दबते हुए चूर्ण होते हुए आप में प्रवेश कर रहे हैं।

सब शत्रु पक्ष के ही वीर पिस रहे हों सो भी बात नहीं, हमारे पक्ष के भी धृष्टद्युम्नादि वीर भी आपकी दाढ़ों के नीचे पिसते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। मैं जिसे देखता हूँ, वही विवश होकर अपने आप, आपके मुख में घुसा जा रहा है, आपकी दाढे यन्त्र के समान निरन्तर चल रही हैं, जैसे कोई चक्की रही हो। उसमें दोनों ओर के वीरवर निरन्तर पिसते ही जा रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भयभीत हुआ अर्जुन भगवान् के विकराल मुख में वीरगण कैसे पिस रहे हैं, इसका वर्णन करते हुए अर्जुन जो और स्तुति करेगा, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

देखि रह्यो हे प्रभो! पुत्र धृतराष्ट्र सकल शत।
आये रनके हेतु नृपति ये सबई अगनित॥
पूज्य पितामह भीष्म द्रोण गुरुवर आचारज।
दानवीर ये कर्ण करे जिनि दुष्कर कारज॥
राजा पक्ष विपक्ष के, शूरधीर योद्धा अमित।
प्रविशत तव तन में प्रभो, सारथि अरु वाहन सहित॥

अर्जुन द्वारा विश्वरूप भगवान् की स्तुति (७)

[१३]

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनन्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गै ॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेग ॥

(श्री भग० गी० ११ अ० २०, २८ २९ श्लो०)

छप्पय

तुम्हरो भीषन विपद भयंकर मुख अति भययुत ।
दौरे सबई जायँ स्वयं नहिँ अन्य बुलावत ॥
पैनी तीखन दाढ़ जाइँ जिनिमें जे प्रानी ।
तिनि कूँ चूरन करत न लाओ मन में ग्लानी ॥
सबहिँ चबावत स्वाद तैं, भूखो ज्यों चरबन चबै ।
कोई पूरो पिस गयो, कोई दाँतनि तर दबै ॥

---

* बिकराल दाढ़ों वाले आपके भयानक मुख में ये सब वेगयुक्त हुए प्रवेश कर रहे हैं। बहुत से चूर्ण हो गये हैं शिर जिनके, ऐसे आपके

महाराज प्रियव्रत को समझाते हुए ब्रह्माजी ने कहा—"प्रियव्रत ये सभी प्राणी प्रभु की प्रेरणा से ही समस्त चेष्टायें कर रहे हैं। तुम समझते होगे कि सृष्टि करने में मैं स्वतन्त्र हूँ, ऐसी बात नहीं हैं मैं तो एक मात्र उन सर्वान्तर्यामी प्रभु की आज्ञा से उन्हीं की प्रेरणा से सृष्टि रच रहा हूँ। महादेव जी उन्ही की आज्ञा से सहार कार्य करते हैं, मनु उन्ही की प्रेरणा से प्रजा पालन में प्रवृत्त होते हैं। नारद जी भी उन्हीं की इच्छा से गृहस्थ धर्म को न स्वीकार करके इधर-उधर घूमते रहते हैं। कोई चाहे कि हम तपस्या करके विभु के विधान को बिगाड़ दे तो उसका व्यवसाय व्यर्थ है। कोई चाहे कि विद्याबल, योग बल, बुद्धि बल, अथ बल अथवा धर्म की शक्ति से उनके संकल्प को अन्यथा कर दे तो असम्भव है। जितने जीव हैं सब अवश होकर, उन प्रभु की प्रेरणा से जैसे नथा हुआ बैल स्वामी की प्रेरणा से बोझ ढोना आदि कर्मों को करता है ऐसे ही प्राणी सब अपने-अपने गुण कर्मों के अनुसार प्रवृत्त हो रहे है।"

देखने में तो ये बातें अटपटी सी ही लगती हैं, यह मानव प्राणी अपने को स्वतन्त्र कर्ता माने बैठा है। किन्तु वास्तव में देखा जाय, तो इसकी स्वतन्त्रता क्या है। सोचता है कुछ हो

दातो मे लगे हुए दिखायी देते हैं ॥२७॥

जैसे नदियों के जल प्रवाह समुद्र के ही सम्मुख दौड़ते हैं, उसी भाँति ये मनुष्य लोक के वीरगण आप के प्रज्वलित हुए मुखों मे प्रवेश करते हैं ॥२८॥

जैसे पतङ्ग प्रदीप्त अग्नि में नष्ट होने के लिये अत्यन्त वेग से प्रवेश करते हैं, उसी भाँति ये सब लोग भी नष्ट होने के निमित्त तुम्हारे मुखो मे अत्यन्त वेग से प्रवेश कर रहे हैं ॥२९॥

जाता है कुछ। करना चाहता है कुछ हो जाता कुछ। हाथी जान बूझ कर गड्ढे में नहीं गिरता वह काठ की हाथिनी को सच्ची हथिनी समझ कर उससे संगम सुख प्राप्त करने दौड़ता है, किन्तु वहाँ जाकर वह गड्ढे में गिरकर पकड़ा जाता है। मछली जो बंसी की डोरी मे लगी गोली को स्वाद के लिये निगल जाती है, किन्तु वह उसके गले में हिटक जाती है, उस की मृत्यु का कारण बन जाती है। पक्षी जाल को तो देखते नहीं उसमें बिखरे हुए अन्न के दानों को देखते हैं, भूख मिटाने के लोभ से उन्हें चुगने को उद्यत हो जाते हैं, पैर फँस जाने से वधिक बहेलिया के वशवर्ती बन जाते हैं। हिरन व्याधिनि की वीणा की सुमधुर ध्वनि को सुनकर विमुग्ध बन जाते हैं। अपने आपे को भूलकर तन्मय हो जाते हैं। उसी अवस्था में व्याध उन्हें मार देता है। पतंगा दीपक की लुभावनी लोप को देखकर उसे आलिंगन करने दौड़ता है, जल भुनकर भस्म हो जाता है। ये सब तो बुद्धि हीन माने जाते हैं यह जो मनुष्य नाम का जन्तु है जो अपने को समस्त बुद्धि का स्वामी समझता है सब जीवों से अधिक अपने को बुद्धिमान लगाता है, यह भी तो विवश होकर विषयों में प्रवृत्त होता है। देखता हुआ भी नहीं देखता। सब जानते हैं, विषय भोगों से आज तक कोई तृप्त नहीं हुआ। फिर भी उन्हीं के लिये दौड़ता रहता है। काल रूप प्रभु जीवों को पासे बनाकर क्रीडा कर रहे हैं। पासे स्वयं कुछ कर नहीं सकते। फेंकने वाला जिधर चाहे उधर फेंक दे।

एक दिन लक्ष्मीजी ने पूछा—"प्रभो! आप प्राणियों का संहार कैसे करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"मैं काल रूप से प्राणियों का संहार करता हूँ।"

लक्ष्मीजी ने पूछा—"तो मनुष्य प्राणी तो स्वतन्त्र है, वह अपने पुरुषार्थ से बच क्यों नहीं जाता ?"

भगवान् ने कहा—"मैं ऐसे रूप से जाता हूँ कि लोग मुझे देखते हुए भी पहचान नहीं सकते।"

लक्ष्मीजी ने कहा—"मुझे दिखाइये कैसे आप जाते हैं।"

भगवान् ने कहा—"मैं अपनी एक छाया छोड़े जाता हूँ, जिधर यह मेरी छाया जाय, उसी ओर तुम चलती रहना और दृश्य देखती रहना।" यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

लक्ष्मी जी एक नदी के किनारे खड़ी हो गयी। देखा एक मनुष्यों से भरी नौका जा रही है, नदी की तीक्ष्ण धारा के बीच में जब नौका पड़कर डगमगाने लगी। तभी उसमें एक सर्प चढ़ आया। सर्प को देखते ही सब भयभीत होकर एक ओर हो गये। नौका डूब गयी। सब मर गये।

लक्ष्मी जी आगे बढ़ी। दो सिपाही सगे भाई-भाई जा रहे थे, दोनों कारे थे। एक स्त्री मिली। बड़े भाई ने कहा—मैं इससे विवाह करूँगा। छोटे ने कहा— मैं इससे विवाह करूँगा। दोनों आपस में लड़ने लगे। दोनों पर अस्त्र थे, दोनों कट कर मर गये।

लक्ष्मी जी आगे बढ़ी एक पर्वत की कँगार पर पेड़ था, उस पर सुंदर फूल खिल रहा था। एक बच्चा उस फूल को देखकर मुग्ध हो गया, वह लोभ संवरण नहीं कर सका। फूल तोड़ने गया, नीचे गिर गया और मर गया।

लक्ष्मी जी आगे बढ़ी। कुछ स्त्रियाँ नहा रही थीं। उन्हें एक बड़ी सी मछली दिखायी दी, वह उसे पकड़ने दौड़ी तो डूबने लगी, दूसरी ने उसे बचाने को हाथ बढ़ाया उसका हाथ

दूसरी ने दूसरी का हाथ तीसरी ने पकड़ा। सब तीक्ष्ण प्रवाह में बह गयीं। मर गयीं।

कुछ देर पश्चात् भगवान् प्रकट हुए और बोले—तुम कुछ समझीं ?

लक्ष्मी जी ने कहा—"मैं तो कुछ नही समझीं।"

भगवान् ने कहा—"नौका में सर्प रूप से मैं ही चढ़ा था, दो भाइयों के बीच में स्त्री रूप में मैं ही था, उस बच्चे को मारने को फूल का रूप मैंने ही बना लिया था। स्त्रियों को जो मछली दिखायी दी थी, वह मैंने ही बना लिया था। इसी प्रकार कहीं रोग बनकर, कहीं विष बनकर, कही अग्नि, जल, सर्प, बिजली तथा अनिष्ट बनकर मैं ही जीवों को मारता रहता हूँ। सर्वहरा मृत्यु मेरा ही रूप है। "मृत्यवेदुःखदाय च" दुःख देने वाला मृत्यु है। मृत्यु से प्राणी कितना भी बचे। जब जहाँ पर जिसके द्वारा मृत्यु होने वाली होती है अवश्य हो जाती है। कोई कितना बचने का प्रयत्न करे, वह बच सकता ही नही। समस्त प्राणी विवश होकर मेरे विधान के अनुसार कार्य कर रहे हैं इसलिये सदा सर्वदा मेरा स्मरण करते हुए जिसका जो कर्तव्य कर्म हो उसे कुशलता पूर्वक करते ही रहना चाहिये। करते भी रहना क्या चाहिये मैं उससे वैसे करा ही लेता हूँ।"

सिद्धान्त की बात यही है, हम देव की प्रेरणावश कार्य कर रहे हैं, हमें यह कर्म चक्र दिखायी नहीं देता, हम आंख मूंदकर करते जाते हैं करते जाते हैं। अर्जुन की भाँति भगवान् का कोई कृपा पात्र होता है, तो भगवान् उसे इस कर्म तन्त्र को इस विराट वैभव को प्रत्यक्ष दिखा भी देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने भगवान् को बड़ी बड़ी दाढ़ी वाले, जीभ लपलपाते हुए, प्राणियों को चबाते हुए

असंख्यों मुख देखे, तो वे भय के कारण घबराते हुए स्तुति करते हुए कहने लगे—"भगवन् ! आपके ये मुख क्या हैं, शीशा गरम करने की असख्यो भट्टियों के समान हैं। कैसी भी आकृति की वस्तुयें आ जायँ उन सब को ये स्वाहा करती जाती हैं। जितने भी प्राणी हैं, सभी बड़े वेग से आते हैं और बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले आपके मुख में बड़े वेग के साथ घुस जाते हैं। उनमें से कुछ का चूर्ण हो जाता है, कुछ दाढ़ों के चक्कियों के बीच में पड़कर पूरे पिस जाते हैं, कुछ अधपिसे रह जाते हैं। कुछ की खोपड़ियाँ चूर्ण हो जाती हैं। कुछ दाँतो में अटक जाती हैं। यह बात भी नहीं कि यह संहारक क्रिया कुछ काल होकर बन्द हो जाय, यह व्यापार तो अनवरत हो रहा है। बिना व्यवधान के चल रहा है। इसकी सीमा नहीं, परिधि नहीं इयत्ता नही, इति श्री नही।

जैसे समुद्र गा नदियाँ चारों ओर से बिना बुलाये ही समुद्र की ओर बड़े वेग से, बिना विश्राम लिये दौड़ी चली जा रही हो, उसी प्रकार ये मर्त्य लोक के समस्त वीर बिना बुलाये हो आपके मुखों की ओर दौड़े चले आ रहे हैं और इन परम प्रज्वलित विकराल मुखों में अपने आप ही बिना विचारे, किसी अव्यक्त प्रेरणा के वशीभूत होकर घुसते हुए चले जा रहे हैं।

यह बात भी नही, कि ये सब अन्धे हों; इन सब वीरों के बडी-बड़ी आँखें हैं, यह भी बात नहीं कि आपके अग्नि की बडी-बड़ी लपटों वाले प्रज्वलित मुख इन्हें दिखायी न देते हों। ये इनमें उठती हुई लपटों को उसी प्रकार देख रहे हैं जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि की लोय को पतगे देखते हैं, किन्तु देखते हुए भी वे पतंगे बिना भविष्य का विचार किये हुए बड़े वेग से अग्नि की ज्वाला में घुसकर अपने शरीर को नष्ट कर देते हैं, उसी

प्रकार ये वीर भी तीव्र वेग से आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं और नष्ट हो रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार अर्जुन ने समस्त पृथ्वी के वीरों को तथा अन्यान्य जीवों को निगलते हुए विराट् भगवान् की स्तुति की, अब उनका असह्य तेज कैसा है, उसका जैसा वर्णन करेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

ज्यों नदियनि को वेग वेगतैं दौरयौ जावै।
भगत समुन्दर ओर न उनकूं उदधि बुलावै॥
लेइँ नहीं विश्राम सतत अति चलत वेग तें।
जल में करैं प्रवेश होहिँ स्वाहा सनेह तें॥
वैसे ही नर लोक के, बीर तुम्हारे मुख प्रविसि।
पिसे जात सब बीरवर, भये बिबस आवत अवसि॥

ज्यों प्रदीप्त प्रज्वलित अगिनि में प्रविसि पतङ्गा।
होइ मोहवश छार करत मूरख सब अङ्गा॥
त्यों ही ये सब बीर आपुके मुख में आवैं।
बिना बुलाये वेग सहित इतई आ जावैं॥
सबई अपने नाशहित, आवैं दौरे वेगयुत।
आवत ही पिसि जायँ सब, चलत रहत कारज सतत॥

हे प्रभो ! आप हैं कौन ?

[१४]

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥*
(श्री भग० गी० ११ अ०, ३०, ३१ श्लो०)

छप्पय

लपलपात तव जीभ मुदित ह्वै ओठनि चाटत ।
सब लोकनि ग्रासि लेइ आपुको मुख जब फाटत ॥
होहि न कबहूँ शान्त जरै मुख नाथ तिहारो ।
मानो मुख तें अबहिं सकल लोकनि संहारो ॥
हे विष्णो ! अति उग्र तव, मुख फाटत ममहित फटत ।
मनहुँ चराचर जगत कूँ, तेज ताप तें तुम तपत ॥

---

* हे विष्णो ! आप सब ओर से अपने प्रज्वलित मुखों से समस्त

भगवान् अपने दर्शन देकर अपने निजी आश्रित भक्तों को सद्गुणों की शिक्षा देते हैं। भगवान् भविष्य की बात प्रकट करके भक्तों को यह पूछने को विवश कर देते हैं, कि आप भविष्य वक्ता है कौन ? तब भगवान् हँसकर-अपने यथार्थ रूप में भक्त के सम्मुख प्रकट हो जाते हैं, भगवान् के दर्शन पाकर भक्त कृतकृत्य हो जाता है, भगवान् भक्त की मनोकामना पूर्ण करते हैं, इस सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है।

नरोत्तम नाम का परम विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण था। तपस्या करते-करते उसे बहुत-सी सिद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। उसके वस्त्र आकाश में निराधार सूखने लगे। इससे उसे अपनी तपस्या का बड़ा अभिमान हो गया। उसके अभिमान को दूर करने के लिये भगवान् ने किसी प्रकार उसे परम सदाचारी तुलाधार वैश्य के यहाँ शिक्षा लेने भेजा। तुलाधार वैश्य साधारण वेष में रहता था, कभी झूठ नहीं बोलता था, ठीक तोलता था। उसके यहाँ भगवान् सदा निवास करते थे। तुलाधार के घर भगवान् को देखकर नरोत्तम ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने भगवान् से पूछा—भगवन् ! आपके दर्शन तो योगियों को भी परम दुर्लभ हैं। आप इस साधारण तुलाधार के घर में क्यों रहते है ?

लोकों को खाते हुए, ओठों को चाट रहे हैं। आपका यह अत्यन्त उग्र प्रकाश समस्त जगत् को तेज पुंज के द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥३०॥

मुझे बतावें तो सही कि उग्ररूप वाले आप हैं कौन ? हे देववर ! आपको बार-बार प्रणाम है। आप प्रसन्न हो जायें, आपको मैं यथार्थ रूप से जानना चाहता हूँ। आप करना क्या चाहते हैं, इसे मैं जानता नहीं ॥३१॥

भगवान् ने कहा—"यह तुलाधार साधारण नहीं है। वैश्य जाति में उत्पन्न हुआ तो इससे क्या हुआ इसमें सत्य, समता, अपरिग्रह तथा वैराग्य आदि ऐसे महान् गुण है, जिन पर रीझ कर मै इसके यहाँ सदा रहता हूँ। जो यथा प्राप्त वस्तुओं में ही सन्तुष्ट रहता है, जो दूसरे की वस्तु को अन्याय पूर्वक लेना नहीं चाहता, जो परिग्रह से दूर रहता है, सदा सत्य वचन बोलता है, ऐसा पुरुष चाहे जिस जाति का हो, मै उस पर प्रसन्न होता हूँ और उसे अपना लोक प्रदान करता हूँ। उसे संसार से सदा के लिये विमुक्त बना देता हूँ। इस विषय का मै तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ—

भगवान् विष्णु नरोत्तम ब्राह्मण से कह रहे है—विप्रवर! एक बड़ा ही सद्गुण सम्पन्न शूद्र जाति का भक्त था। वह कभी कल के लिये संग्रह नहीं करता। वन में अपने आप उत्पन्न होने वाले सागपात को लाकर खेतों से कटने के पश्चात् पड़े हुए शिलों को अन्न के दानों को-बीनकर उसी से निर्वाह करता। उसके पास दो फटे पुराने वस्त्र थे, उन्हीं से वह अपना निर्वाह करता, दूसरों की समृद्धि अथवा सम्पत्ति को देखकर जलता नही था। किसी भी संसारी वस्तु में वह लोभ नहीं करता। वह जो मिल जाता उसी में परम सन्तुष्ट रहता।

भगवान् कह रहे है—"सो द्विजवर! एकबार मैंने उसके अलोभ की परीक्षा लेनी चाही। क्योंकि लोभ ही समस्त पापों का बाप है। मै सुंदर दो वस्त्र नदी किनारे जहाँ वह नहा रहा था, रखकर छिप गया। उस शूद्र ने वस्त्रों को देखा चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, कहीं कोई मनुष्य नही। उसने सोचा—अब तक तो ये वस्त्र नहीं थे, अभी-अभी कहाँ से आ गये। प्रतीत होता

है, कोई भूल गया है। यह सोचकर वह उन वस्त्रों को वहीं छोड़ कर अपने घर चला गया।

मैंने सोचा—"साधारण वस्त्रों पर इसका मन न गया होगा। अब के इसे भारी प्रलोभन दूं।" यह सोचकर मैंने गूलर के फलों में बहुत-सा सुवर्ण भर-भर कर डाल दिया। जब यह फल बीनने गया और उन फलों को भारी देखा, तो उसे संदेह हुआ। अवश्य ही कुछ दाल में काला है। यदि लोभवश मैं इन फलों के भीतर भरे सुवर्ण को ग्रहण कर लेता हूँ, तो इनके पीछे अलोभ की वृत्ति—"अपरिग्रह की प्रतिज्ञा नष्ट हो जायगी।" यह सोचकर वह सुवर्ण भरे गूलरों को बिना हाथ लगाये वहीं छोड़कर चला गया। उसने फिरकर भी उन गूलरों की ओर नहीं देखा। उसने सोचा इस तुच्छ सुवर्ण के लोभ से मैं अपने लिये नरक का द्वार प्रशस्त क्यों करूं ?"

भगवान् कह रहे हैं—विप्रवर ! जब मैंने देखा, यह महान् संयमी, अपरिग्रही त्यागी विरागी शूद्र सुवर्ण के लोभ में नहीं फंसा तो मैंने भविष्य वक्ता क्षपणक का वेष बना लिया और मैं लोगों को भूत भविष्य वर्तमान की बातें बताने लगा। कुछ ही काल में मेरी सर्वत्र ख्याति हो गयी। झुन्ड के झुन्ड नरनारी अपना भविष्य पूछने मेरे समीप आने लगे।

उस शूद्र की स्त्री भी मेरे पास अपना भाग्य दिखाने आयी। मैंने उसका हाथ देखकर कहा—"तेरे पास कुछ नहीं है। तुझे सब वस्तुओं का अभाव रहता है, यह सब तेरे पति की मूर्खता के ही कारण होता है, आज तेरे पति को बहुत-सा धन मिला था। किन्तु उसने मूर्खतावश उस धन का परित्याग कर दिया। तू अभी अपने घर जा और अपने पति से उस धन को ग्रहण करने का आग्रह कर।"

इस बात को सुनकर शूद्रपत्नी अपने घर गयी और भविष्य वक्ता क्षपणक की सब बातें कह सुनायीं और धन लाने का आग्रह करने लगीं।"

शूद्र ने कहा—"तू उस क्षपणक के पास मुझे ले चल।"

तब वह अपने पति को साथ लेकर उस क्षपणक के पास गयी। मेरे पास आकर उस शूद्र ने पूछा—क्यों ज्योतिषी जी आप मेरी पत्नी को क्यों बहका रहे हो ?

क्षपणक रूपधारी मैं बोला—क्या तुमको आज धन प्राप्त नहीं हुआ था ?

शूद्र ने कहा—"हाँ हुआ था ?"

क्षपणक—तो फिर तुमने उसे ग्रहण क्यों नहीं किया ? गूलरों में भरे उस सुवर्ण को छोड़कर तुम चले क्यों आये ?

शूद्र ने कहा—"मुझे धन की इच्छा ही नहीं।"

क्षपणक—क्यों इच्छा नहीं, धनके अभाव में तुम मारे-मारे फिर रहे हो। तुम्हारी यह स्त्री इतना दुख पा रही है। अब भी वह धन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है, उसे ग्रहण करके तुम निष्कंटक भोग भोगो। दान पुण्य शुभ कर्म करो। अपने बन्धु-बन्धुओं में प्रतिष्ठा प्राप्त करो।

शूद्र ने कहा—"आप मुझे बहकाइये नहीं। धन तो पाप का मूल है। पन्द्रह दोष तो धन आते ही आ जाते हैं।"

क्षपणक ने कहा—सब गुण धन में ही रहते हैं, जिसके पास धन है, उसी के मित्र हैं उसी से भाई बन्धु कुटुम्ब परिवार के लोग प्रेम करते हैं, निर्धन व्यक्ति को कोई बात भी नहीं पूछता। शरीर रोगी हो जाय, धन न हो तो महान् कष्ट होता है।

शूद्र ने कहा—ये सब अभाव, कष्ट धन के कष्ट के सहस्रांश भी नहीं। धन के लोभ का जो महान् कष्ट है उसे धनिक ही

जानते हैं मैं परधन को मिट्टी, पराई स्त्री को माता के समान समझता हूँ। धन के त्याग में जितना सुख और सन्तोष है, वह उसके ग्रहण करने में नहीं है।

भगवान् कह रहे हैं—"विप्रवर ! शूद्र के इतना कहते ही आकाश से दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी, दिव्य दुंदुभियाँ बजने लगीं, गन्धर्व गान करने लगे। तुरन्त आकाश से एक दिव्य विमान उतरा और उसमें बैठे देवता कहने लगे—"धर्मात्मन् ! तुमने अपने अपरिग्रह के प्रभाव से सनातन सत्यलोक को जीत लिया है। आप अनन्त काल तक वहाँ सत्यलोक के सुखों को भोगो।"

शूद्र ने देवताओं से कहा—"यह क्षपणक कौन है ? इसमें ऐसी भाषण शक्ति कैसे आ गयी। इसे ऐसा ज्ञान कैसे प्राप्त हो गया ? इसकी चेष्टाओं से मुझे संदेह हो रहा है। ये विष्णु तो नहीं ? धर्म तो नहीं ? क्षपणक जी ! आपही सच-सच बताओ आप हो कौन ?"

तब हँसकर मैंने कहा—"मैं विष्णु ही हूँ, मैं तुम्हें बोध कराने यहाँ आया था। अब तुम सपरिवार विमान पर बैठकर सनातन सत्य में जाओ।"

जिस प्रकार शूद्र को भगवान् ने परीक्षा लेने के अनन्तर विलक्षण दर्शन दिये, उसी प्रकार भगवान् ने अर्जुन को भी अपने विराट्रूप के दर्शन कराये। जिस प्रकार शूद्र ने क्षपणक बने भगवान् से पूछा—कि आप हो कौन ? इसी प्रकार अर्जुन ने भी जिज्ञासा की कि उग्ररूप वाले आप हो कौन ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने युद्ध के लिये उद्यत राजाओं को भगवान् के मुख में पिसते हुए-चूर्ण होते हुए-देखा और यह भी देखा कि भगवान् का महान् दिव्य तेज असह्य है। वे ऐसे लग रहे हैं मानों समस्त संसार का संहार कर देंगे, सबको

अपनी दाढ़ों तले दबा कर चूर्ण कर देंगे, निगल जायेंगे तो उनके तेज की प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए अर्जुन कह रहे हैं—"आप इन सम्पूर्ण प्राणियों को चबा-चबा कर निगल रहे हैं। फिर लप लपाती जिह्वाओं से अपने ओठों को चाट रहे हैं। पता नहीं आपको क्या स्वाद आ रहा है। ये जितने भी पक्ष विपक्ष के वीर हैं, सभी आप का ग्रास बन रहे हैं। अपने परम प्रज्वलित भयंकर मुखों द्वारा सभी को लीले चले जा रहे हैं।

आपने इस समग्र जगत् को अपने व्यापनशील तेज से आच्छादित कर लिया है, संसार को व्याप्त कर लिया है। इस कारण से आप की तीव्र प्रभा सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में सन्ताप उत्पन्न कर रही है। अग्नि के समान आप की असह्यदीप्ति सबको जला रही है। मै यह निर्णय ही नहीं कर पा रहा हूँ, कि आप हैं कौन ? हे देवाधिदेव ! हे देववर ! आप मुझे अपना पूरा परिचय प्रदान कीजिये। आप ऐसे उग्ररूप वाले हो कौन ? मै आप का दास हूँ, सेवक हूँ, कृपापात्र हूँ, यदि आप मुझे बताने का अधिकारी मानते हो, तो कृपा करके अपने सम्बन्ध में कुछ संकेत करें। हे स्वामिन् ! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। अंजलि को परमामुद्रा कहा है देववर अंजलि से शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं। मै अंजलि बांधे हुए विनीत भाव से आप को प्रणाम करता हूँ। आप मुझ दीन हीन पर प्रसन्न हो जायें।

आप कहोगे, कि तुम तो मुझे पहिले से ही जानते हो, तुम्हारी इच्छा पर ही तो मैंने तुम्हें अपना विराट्रूप दिखाया है। बात तो सत्य ही है। आप भगवान् हैं, पुरुषोत्तम हैं, इतना तो मैं पहिले से ही जानता हूँ, किन्तु अब मै आपको विशेष रूप से जानना चाहता हूँ। आपके विराट्रूप से ही इतना तो पता चल ही गया, कि आप जगत के एक मात्र आदि कारण हैं-आद्य

हैं-आपने इस समय में ऐसा भयंकर उग्ररूप किस हेतु से धारण कर रखा है मै आपकी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं कर सका हूँ। आप कृपा करके अपने स्वरूप का परिचय करा दे और किस प्रवृत्ति के लिये पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं, आप करना क्या चाहते हैं, इसे भी बता दे।"

सूतजी कहते हैं, मुनियो ! अर्जुन की ऐसी घबराहट को देखकर विश्वरूप धारण किये हुए श्री श्यामसुंदरजी हंस पड़े। अब अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए, भगवान् ने जैसे अपना परिचय दिया, जैसे अपने सम्बन्ध में तथा अपनी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में बताया, उसका वर्णन मै आगे करूँगा। आशा है आप शान्त भाव से दत्तचित्त होकर इस प्रभु-प्रदत्त परिचय के सम्बन्ध में सुनने की कृपा करेंगे।

छप्पय

कौन देव हैं आपु दया नहिँ नेंक दिखावें।
जो आवत तव ओर तुरत ताई कूँ खावें॥
हे देवनि के देव ! दया जीवनि पै कीजे।
प्रभु प्रसन्न ह्वै जायँ हमें शुभआशिष दीजे॥
जानन चाहत आपु कूँ, तव चरननि वन्दन करैं।
तव प्रवृत्त समुझत न हम, परिचय दै संशय हरैं॥

श्री विश्वरूप भगवान् द्वारा आत्मपरिचय

[१५]

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्वराज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥*

(श्री भा० गी० ११ अ० ३२, ३३ श्लो०)

छप्पय

तब विराट भगवान् कहें-अरजुन! यह मानों।
मैं कालनि को काल मोइ कालहिँ करि जानों॥
इन लोकनि को नाश करन हौं इत ही आयो।
भक्षन सब कूँ करन भयंकर रूप बनायो॥
तू हू यदि मारै नहीं, तौ ये सब मरि जायँगे।
काल गाल में घुसे सब, कैसे ये बचि जायँगे॥

---

* भगवान् ने कहा—मैं काल हूँ, लोकों का क्षय करने वाला हूँ। इन सब लोकों का क्षय करने के निमित्त प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रति पक्षियों में अवस्थित जो योधागण हैं, वे सब—तुम युद्ध भी न करो, तो तुम्हारे बिना भी बच नहीं सकते ॥३२॥

हे सव्यसाची! इसलिये तू उठकर खड़ा हो जा। तू तो केवल

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर इतना ही है, कि ज्ञानी तो समझता है, जितने भी कार्य हैं सब पूर्व नियोजित प्रकृति के द्वारा हो रहे हैं। जो अहंकार विमूढ़ात्मा अज्ञानी है, वह यही सोचता है, करने वाला मैं ही हूँ। जो अपने को कर्ता समझेगा उसको उस कर्म के अच्छे बुरे फल का भोक्ता भी बनना पड़ेगा। जो होने वाला होता है, उसके अनुरूप ही परिस्थितियाँ बन जाती हैं। दैवेच्छा को अन्यथा करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं। महाराज परीक्षित् की पत्नी इरावती को उसके बाल्यकाल में ही एक त्रिकालज्ञ ऋषि ने बता दिया था, कि तुम्हारा पति एक दिन दक्षिण दिशा को जायगा, वहाँ भूख प्यास से पीड़ित होकर एक ऋषि आश्रम पर पहुँचेगा, वहाँ पानी माँगेगा। ऋषि समाधि अवस्था में होने के कारण सुनेंगे नहीं, तब राजा को वहाँ मरा हुआ सर्प दिखायी देगा, वह उसे ऋषि के कंठ में डालकर चला आवेगा, वही उसकी मृत्यु का कारण बनेगा।

अतः रानी कभी भी आखेट के लिये महाराज परीक्षित् को दक्षिण दिशा को नहीं जाने देती थी, किन्तु भावी को कौन टाल सकता है, नियत समय पर न चाहते हुए भी यह सब हुआ और महाराज परीक्षित् की उसी कारण से मृत्यु हुई।

मृत्यु स्वयं मृत्यु के पद पर आना नहीं चाहते थे, ब्रह्माजी से तीन बार उन्होंने यह पद स्वीकार करने को मना कर दिया। किन्तु विधि के विधान को मेंट कौन सकता है, ब्रह्माजी ने उन्हें बनाया ही इसीलिये था, अतः उन्हें अनिच्छा पूर्वक ही यह पद

निमित्त मात्र हो जा, ये सब तो पहिले ही मेरे द्वारा मारे गये हैं। इन मृतक शत्रुओं को जीतकर यश कमा ले और इस समृद्धशाली राज्य का उपभोग कर ॥३३॥

स्वीकार करना पड़ा और उस पद पर प्रतिष्ठित होकर वे अब तक कार्य कर रहे है।

करते कराते तो सब भगवान् ही है, जीवों को तो वे निमित्त बना लेते हैं। नहीं तो आठों वसुओं के अंश से उत्पन्न, देवताओं के लिये भी अजेय, परशुराम जी को भी जीतने वाले, स्वेच्छा मृत्यु वाले भीष्मपितामह को शिखंडी मार दें। विधि का ऐसा ही विधान था।

जो भगवान् को करना होता है, उसकी रूपरेखा तो पहिले से ही बनी रहती है, जो अज्ञानी है इस रहस्य को नहीं समझते वे ही घटनाओं को देखकर अकस्मात् या सहसा हुई मानते हैं। अकस्मात् कोई घटना होती ही नहीं। सब पूर्वनियोजित हैं। दिव्यदृष्टि वाले ही उन्हें देख सकते हैं।

बरबरीक का सिर काटकर जब भगवान् ने उसके सिर को एक शमी वृक्ष पर टांग दिया, और उसकी इच्छा के अनुसार युद्ध देखने की उसे दिव्यदृष्टि दे दी, तो वह कटे सिर से ही समस्त युद्ध को देखता रहा।

युद्ध के अंत मे जब पांडवों को लेकर भगवान् उसके पास पहुँचे और उससे पूछा—"किसने कितना पुरुषार्थ किया ? किसने अधिक से अधिक सैनिकों का संहार किया ?" तब उसने कहा—"न तो मैंने भीम को मारते देखा, न अर्जुन के ही बाण से कोई मरा, न भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य किसी को मार सके। मैं तो समस्त रणभूमि में एक काल पुरुष को खड्ग लिये हुए घूमते देखता रहा। वही दोनों ओर के सैनिकों का संहार कर रहा था। उसी के द्वारा भीष्म, द्रोण, कर्ण शल्य, धृतराष्ट्र के सौ पुत्र तथा समस्त सैनिक मारे गये। और वह काल पुरुष ये ही श्रीकृष्ण चन्द्र जी थे।"

बरबरीक की बात सत्य ही थी। श्रीकृष्ण ने ही काल रूप से सबको मरवाया। श्रीकृष्ण न चाहते तो महाभारत युद्ध होता ही नहीं। उनकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। ऊपर से दिखाने को उन्होंने यही प्रकट किया मैं युद्ध के सर्वथा विरुद्ध हूँ। लोक दिखावे को उन्होंने सन्धि कराने के पूरे प्रयत्न किये दुर्योधन को भाँति-भाँति से समझाया। किन्तु दुर्योधन के हृदय में बैठकर भी तो वे ही उसे युद्ध के लिये प्रेरित कर रहे थे। इसीलिये दुर्योधन ने कहा भी था—"हे हृषीकेश! मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। मैं अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु उसमें निवृत्त नहीं हो सकता। हे सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरक प्रभो! आप ने मुझे जिस काम में नियुक्त कर रखा है, मैं अवश होकर उसी काम को कर रहा हूँ।"

महाभारत के लिये भगवान् ने काल रूप रख लिया था और उसी रूप से सबका संहार भी करा दिया। इसीलिये अर्जुन के पूछने पर भगवान् आत्मपरिचय देते हुए अपने को काल रूप में बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो जब भगवान् के विश्वरूप को देखकर अर्जुन भयभीत हो गया और उसकी आँखों के सम्मुख चकचौंध छा गया, तब उसने गद्-गद कंठ से अस्खलित वाणी द्वारा पूछा—भगवन्! आप कौन हो?"

भगवान् ने कहा—"मैं काल हूँ काल?"

अर्जुन ने पूछा—"आप करना क्या चाहते हैं? आपकी प्रवृत्ति के विषय में मैं जानना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"मैं यहाँ पर रणभूमि में लोकों का संहार करने में प्रवृत्त हुआ हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"क्यों संहार करना चाहते हैं प्रभो?"

भगवान् ने कहा—"मुझे भूख लगी है। भूख में सभी आहार करना चाहते हैं। ये सब सैनिक भी मेरे आहार हैं-भक्षण करने के पदार्थ हैं। इन्हें खाकर मैं अपनी भूख बुझाने के लिये यहाँ आया हूँ। मेरी समस्त चेष्टायें इन सबको खा जाने की है। भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य और तुम्हारी तथा कौरवों की सेना में जितने भी वीर सैनिक है उन सबको मैं मार डालूँगा।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! जब आप स्वयं ही इन्हें मारना चाहते है, तो फिर मुझसे युद्ध करने का आग्रह क्यों कर रहे हैं। आप इन्हें मार डालिये।"

भगवान् ने कहा—"मै तुम्हारे ही द्वारा इन्हे मरवाना चाहता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"यह भी कोई बात हुई, मान न मान मैं तेरा महमान। मै मारना न चाहूँ तो?"

भगवान् ने कहा—"तुम भले ही न मारना चाहो, फिर भी ये बचने वाले नहीं हैं। प्रत्येक दशा में इन्हें मरना ही है। जितने ये प्रतिपक्षियों के सैनिक हैं और तुम्हारे पक्ष में भी जिनका काल आ गया है, जो यहाँ मरने के लिये स्वयं ही आ आकर उपस्थित हो गये हैं। वे तुम्हारे युद्ध न करने पर भी जीवित नहीं रह सकते।"

अर्जुन ने कहा—"नहीं महाराज, बड़ा जघन्य कार्य है, मैं तो इस युद्ध से विरत होकर बैठे रहना ही चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"यह वचन क्षत्रियोचित नहीं है। क्षत्रिय तो संग्राम का महामहोत्सव मानता है। युद्ध की भेरी बजते ही उसके अंग प्रत्यंग फड़कने लगते हैं। तुम्हें यह अवसर अनायास ही प्राप्त हो गया है, अतः न तो तुम लेटो ही न बैठो ही उठकर खड़े हो जाओ।"

अर्जुन ने कहा—"खड़ा होकर मैं करूंगा ही क्या ? भगवन् !"

भगवान् ने कहा—"खड़े होकर शूरवीर क्षत्रिय की भांति धर्म युद्ध करो।"

अर्जुन ने पूछा—"धर्म युद्ध से होगा क्या ?"

भगवान् ने कहा—"युद्ध से विजय प्राप्त होगी। विजय से तीनों लोकों में यश की प्राप्ति होगी।"

अर्जुन ने कहा—"कोरे यश को लेकर क्या करेंगे ? उसे ओढ़ेंगे या बिछावेंगे।"

भगवान् ने कहा—"महत् पुरुषों का मान ही धन है। कीर्ति ही उनके लिये प्रशंसनीय गुण है। फिर तुम्हें तो यश के साथ समृद्धशाली राज्य की प्राप्ति हो जायगी।"

अर्जुन ने पूछा—"तो क्या देवता असुरों द्वारा भी कभी न जीते जाने वाले भीष्म, द्रोण, कर्ण और जयद्रथादि वीरों को मैं मार भी सकूंगा क्या ?"

भगवान् ने कहा—"कैसी पागलों की-सी बातें कर रहे हो। अरे, मार क्या सकोगे, ये तो पहिले से ही मर गये हैं। मौत के मुख में गये हुए ये निर्जीवास्था में हो अस्त्र-शस्त्र लिये खड़े है।"

अर्जुन ने पूछा—"इन सबको मार किसने डाला ?"

भगवान् ने कहा—"और इन्हे मार ही कौन सकता है। किसमें इतनी सामर्थ्य है मैंने ही इन्हें मार डाला है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! जब आप इन्हें मार ही चुके है, तो मरे को क्या मारना ? पिसे को क्या पीसना। मृत्यु तो इन्हें आपने प्रदान कर ही दी है।"

भगवान् ने कहा—"इनको तो मैंने मृत्यु प्रदान कर ही दी, किन्तु तुम्हें भी एक वस्तु प्रदान करना चाहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"मुझे क्या वस्तु प्रदान करेंगे प्रभो !"

भगवान् ने कहा—"तुम्हें मैं विजय प्रदान करना चाहता हूँ। वैसे धन भाग्य से ही मिलता है, किन्तु व्यापार को उसका निमित्त बना देते हैं। मृत्यु काल आने पर ही होती है, किन्तु विष, अग्नि, सर्प, तथा रोगादि को मृत्यु का कारण बना देते हैं। इसलिये तुम्हें मैं इनकी मृत्यु का निमित्त मात्र बना देना चाहता हूँ, जिससे तुम्हें विजयश्री प्राप्त हो ?"

अर्जुन ने कहा—"और भी तो बहुत से वीर है, उनमें से किसी को भी आप विजयश्री प्रदान कर सकते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"तुममें विशेषता है, तुम मेरे सुहृद हो सखा हो भक्त हो अनुरक्त हो। फिर तुममें एक ऐसी भारी विशेषता है, जो किसी अन्य वीर में दुर्लभ है। तुम दोनों हाथों से दायें बायें से समान रूप से बाण चला सकते हो। ऐसा दूसरा कोई कर ही नहीं सकता बायें हाथ से भी तुम बाणों का संधान करने में समर्थ हो। अतः तुम निमित्त मात्र बनकर विजयश्री का वरण करो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इतने पर भी भगवान् नाम ले-ले कर कह रहे हैं, मैं इन्हें मार चुका हूँ। इन सब के मारने के लिये भगवान् जैसे अर्जुन को पुनः प्रेरित करेंगे उस पुण्य प्रसंग को मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

तातैं अब उठि वीर ! सुयश जग में ध्रुव लै तू।
इन शत्रुनि कूँ मारि सबहिं सुहृदनि सुख दै तू॥
विजय मिलैगी सब समृद्धियुत राज्यहिं पावै।
इन मृतकनिकूँ मारि पार्थ ! काहे घबरावै॥
शूरवीर सैनिक सकल, मैंने मारे प्रथम महि।
निमित मात्र अरजुन बनो, मन में लाओ ग्लानि नहि॥

कालस्वरूप विराट् भगवान् का परिचय पाकर अर्जुन की प्रणति

[१६]

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥❀

(श्रीभ० गी० ११ अ० ३४, ३५ श्लोक)

छप्पय

द्रोन करन अरु भीष्म इनहिँ तू जीवित समुझत ।
अरे मृतक सब बने मृतक इनि च्यौं नहिँ मारत ॥
जितने भारी वीर जयद्रथ करन सुयोधन ।
मेरे द्वारा मरे प्रथम ही सुनि लै अरजुन ॥
निश्चय तेरी विजय है, निरभय है तू बीरवर ।
भय मति करि गहि शस्त्र कर, पारथ ! तू अब युद्ध कर ॥

❀ देख, द्रोण, भीष्म, जयद्रथ कर्ण तथा और भी जो ये वीरवर हैं, ये सबके सब मेरे द्वारा मारे गये हैं, इन मृतकों को मार डाल, डरे मत। युद्ध कर, तू अवश्य ही इन वैरियों को जीतेगा ॥३४॥

महाभारत के समय जब संजय ने धृष्टद्युम्न के द्वारा द्रोणाचार्य की मृत्यु की बात सुनाई तो उनके लिये शोक करते हुए महाराज धृतराष्ट्र कहने लगे—संजय ! जो द्रोणाचार्य शत्रुओं के लिये सदा दुर्जय थे, जो समस्त अस्त्र शस्त्रों मे पारंगत थे, जो मर्यादा में रहने वाले थे, जो जितेन्द्रिय तथा दिव्य अस्त्रों के धारण करने वाले थे, ऐसे वीराग्रगण्य क्षात्र और ब्राह्मीश्री से युक्त आचार्य द्रोण द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा कैसे मारे गये ? इससे मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि पुरुषार्थ की अपेक्षा दैव ही प्रबल है।

द्रोणाचार्य समस्त अस्त्र शस्त्रों के महान् पंडित थे, वे वीरवेष से मंडित थे, उनके घोड़े बलवान् थे, रथ सुदृढ़ थे। जो राजकुमारों द्वारा परम पूजित थे। वे सभी शस्त्रधारी योधाओं के गुरु थे, जो शत्रु संतापी, खल निग्रही, धर्म रक्षक, शुक्र और बृहस्पति के सदृश नीतिज्ञ, सर्वत्र विजयी, कौरवों के रक्षक और शुभ चिंतक थे। वे अपने ही एक साधारण शिष्य राज कुमार के हाथो मारे गये, इससे तो यही सिद्ध होता है दैव ही बलवान् है पुरुषार्थ तो अनर्थ का हेतु है। संजय ! मुझे यह बात बताओ कि जो द्रोण सिंह के समान पराक्रमी, महान् उदार, लज्जाशील, किसी से भी जीते न जाने वाले थे। उन दुर्धर्ष वीर को समर भूमि में सम्पूर्ण राजाओं के देखते-देखते धृष्टद्युम्न ने कैसे मार डाला। हाय ! उनकी मृत्यु सुनकर मेरी छाती भी नही फटती, मैं मर भी नहीं जाता।

महाराज धृतराष्ट्र से संजय कह रहे हैं—"भगवान् केशव के इन वचनों को सुनकर, हाथ जोड़े हुए, थर-थर काँपता हुआ नमस्कार करके, भयभीत अर्जुन बारम्बार प्रणाम करके, भगवान् श्रीकृष्ण से गद्गद वाणी में बोला। ३५॥

ऐसा ही विलाप महाराज धृतराष्ट्र ने भीष्मपितामह तथा कर्ण की मृत्यु के समय किया था। पितामह की मृत्यु का सम्वाद सुनकर उन्होंने कहा था—"जो भीष्म अजेय थे, समस्त पृथ्वी को २१ बार क्षत्रिय शून्य बना देने वाले परम यशस्वी परशुरामजी को भी जिन्होंने युद्ध में जीत लिया था, जिन्हें देवता असुर सब मिलकर भी जीत नहीं सकते थे, जो वसुओं के अवतार थे, बाल ब्रह्मचारी और इच्छा मृत्यु वाले थे, उनको शिखण्डी के द्वारा परास्त होना पड़ा। इसमें एक मात्र दैव ही कारण है कर्ण के मरने पर भी उन्होंने इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किये।

वास्तव में देखा जाय, तो उस समय संसार में द्रोण, भीष्म, कर्ण तथा जयद्रथादि महान् शूरवीरों को जीतने वाला कोई नहीं था। जिस समय भीष्म पितामह ने अपने पक्ष के वीरों का दुर्योधन को परिचय कराया था, उस समय ऐसा लगता था, कि इन दुर्जय वीरों को जीतने वाला पांडवों की सेना में एक भी वीर नहीं है, सभी दिव्यास्त्रों के ज्ञाता थे, सभी अक्षोणि सेनाओं के स्वामी थे, सभी ने तपस्या के द्वारा बड़े-बड़े वर प्राप्त किये थे। जयद्रथ के पिता वृद्धक्षत्र ने यह वर प्राप्त किया था, कि समर भूमि में जो मेरे पुत्र का मस्तक पृथ्वी पर गिरायेगा, उसका शिर भी तत्काल भूमि पर गिर जायगा। स्वयं जयद्रथ ने भी शिवजी की आराधना करके दिव्यास्त्रों की प्राप्ति की थी। कर्ण की वीरता का क्या कहना, वे तो त्रैलोक्य को प्रकाशित करने वाले भगवान् सूर्यनारायण के कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न और सुपुत्र थे, जो ज्ञान में, दान में, सम्मान में, सुशीलता, सज्जनता, कृतज्ञता आदि गुणों में अपने ही समान थे। जिनकी बराबरी करने वाला उस संसार में दूसरा नहीं था। वे भी मारे गये।

कृपाचार्य अजर-अमर हैं, उन्हें कोई मार ही नहीं सकता

था। अश्वत्थामा तीनों लोक को प्रलय करने में समर्थ थे, जो अजर-अमर हैं, इसी प्रकार भूरिश्रवा, स्वयं दुर्योधन उसके सौ भाई भी महान् योद्धा थे। शल्य के समान शूरवीर योद्धा पांडव सेना में कौन था ? जब इन सबको भी हम युद्ध में मरते हुए, परास्त होते हुए देखते हैं, तो इसी परिणाम पर पहुँचते हैं, कि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को मार नहीं सकता। कालदेव ही भाँति-भाँति के रूप बनाकर क्रीड़ा कर रहे है। जिसका काल आ जाता है, वह पहिले से ही मृतक प्रायः बन जाता है। मृत्यु को तो वरदान प्राप्त है अतः वह मारने का कलंक अपने ऊपर नहीं आने देता, किसी को निमित्त बनाकर मरवाता है। काल रूप भगवान् जिसे मारना होता है, उसे पहिले से ही मृतकवत् बना देते हैं। जैसे किसी पत्थर की शिला को फोड़ना है, तो बहुत से आदमी उसमें घनों द्वारा चोट लगाते हैं, किन्तु वह शिला फूटती नहीं। क्यों नहीं फूटती इसलिये कि उसका श्रेय देव किसी दूसरे को ही देना चाहते हैं। तो क्या इन लोगों ने जो इतनी चोटें लगायी वे सब व्यर्थ ही हो गयीं ? नही, व्यर्थ नहीं हुई उन चोटों से वह शिला निर्बल बन गयी, फूटने के योग्य बन गयी। अब जिसे उसका श्रेय देना होता है, भगवान् जिसे यश देना चाहते हैं, वे आकर एक चोट मारता है, शिला फट से फूट जाती है। सब लोग धन्य-धन्य कहने लगते हैं। उसकी प्रशंसा करने लगते हैं वास्तव में तो वह शिला पहिले से चोट लगते-लगते फूट-सी गयी थी, किन्तु पहिले चोट करने वालों के भाग्य में श्रेय नही था। भगवान् को जिसे श्रेय देना था उसी के हाथों फुड़वाकर उसे निमित्त बना दिया। इसी बात को भगवान् अर्जुन को बार-बार समझा रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आत्म परिचय देते हुए विराट्

वेषधारी भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—खड़े होकर युद्ध करो शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त करो।" अर्जुन ने जब शंका की कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथादि इतने भारी-भारी महारथियों को मैं कैसे जीतूंगा। इन्हें मैं कैसे मार सकूंगा। तो भगवान् कहते हैं—तुम्हें मारना नहीं पड़ेगा। इन्हें मैं पहिले ही मार चुका हूँ, तुम तो इन मृतकों में केवल धक्का देकर यश प्राप्त कर लो। अर्जुन ने जब कुछ बड़े-बड़े योद्धाओं के नाम गिनाकर उन्हें अजेय और अजरामर बताया तब भगवान् कहने लगे—"तू किन-किन से विशेष डरता है?"

अर्जुन ने कहा—"सबसे अधिक तो मैं अपने सर्व समर्थ आचार्य द्रोण से डरता हूँ। कोई भी अमोघ अस्त्र ऐसा नहीं है, जिसे ये जानते न हों। हम सब के ये गुरु हैं। भगवान् परशुराम ने अपनी समस्त अस्त्र विद्या इन्हें सिखा दी है। इन्हें भला कोई रण में जीत सकता है? इन्हें कोई मार सकता है?"

भगवान् ने कहा—"अच्छा और?"

अर्जुन ने कहा—"भीष्म पितामह को ही ले लो। ये भगवती भागीरथी गङ्गा जी के पुत्र हैं, बाल ब्रह्मचारी हैं। अपने गुरु परशुराम जी को भी परास्त करने वाले हैं। अपनी इच्छा के बिना ये कभी मर ही नहीं सकते। इन्हें मारने की सामर्थ्य किसमें है?"

भगवान् ने कहा—'अच्छा और?"

अर्जुन ने कहा—"इन वृद्धक्षत्र के पुत्र जयद्रथ को ही देखो। जो इनके सिर को काटने का साहस करेगा, उसका सिर अपने आप ही कट कर गिर जायगा। इनके सिर को कौन काट सकता है?"

भगवान् ने कहा—"अच्छा और?"

अर्जुन ने कहा—"इन सूत पुत्र कर्ण को ही देखो, संसार में इनके समान शूरवीर कोई दूसरा है क्या ? समस्त महाभारत के एक मात्र कारण ये ही वीर हैं। दुर्योधन इन्हीं के बल बूते पर फूला-फूला फिर रहा है। इनको मारना तो मृत्यु के मारने के सदृश है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, और ?"

खीजकर अर्जुन ने कहा—"और महाराज कहाँ तक गिनाऊँ, एक, दो, दश, बीस, लाख दो लाख हों, तो उनके नाम भी गिनाऊँ। असंख्यों योद्धा हैं, एक से एक बढ़कर हैं। इन सबको मैं कैसे मार सकूँगा ?"

भगवान् ने कहा—"तुम बार-बार भूल जाते हो, मैं कई बार तो कह चुका, इन सबको तो मैं कालरूप से पहिले ही निर्बल बना चुका हूँ। इन्हें तो मैं मार चुका हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"मार चुके हो, तो मुझसे फिर बार-बार मारने को क्यों कह रहे हो ?"

भगवान् ने कहा—"मैं मारने को थोड़े ही कह रहा हूँ, एक धक्का देकर गिराने को कह रहा हूँ। केवल एक ही धक्का दे दो। इनके मूल को तो मैं काट चुका हूँ। एक धक्का लगते ही धराशायी हो जायंगे।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, मुझे तो इन इतने बड़े-बड़े महारथियों को छूने में भी भय लगता है।"

भगवान् ने कहा—"मेरी बात मानो भी तो सही भय से व्यथित मत होओ। "भय को छोड़ दो।"

अर्जुन ने पूछा—भय छोड़कर क्या करूँ ?"

भगवान् ने कहा—"युद्ध करो।"

अर्जुन ने कहा—"युद्ध तो भगवन् ! जूआ है। इसमें कभी

जय भी होती है, कभी पराजय भी। मैं पराजित ही हो गया तो ?"

भगवान् ने कहा—"तुम घबराओ मत, मेरी वाणी पर विश्वास करो। मैं कहता हूँ और दृढ़ता के साथ कहता हूँ—तुम युद्ध में अपने प्रतिपक्षियों शत्रुओं को अवश्य ही जीत लोगे।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब संजय ने यह सब समाचार धृतराष्ट्र को सुनाया, तो धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा—संजय! अर्जुन श्रीकृष्ण की ये बातें सुनकर फिर क्या करते भये? इस पर संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—"राजन्! श्री कृष्णचन्द्र भगवान् की दृढ़ता के साथ कही हुई ऐसी बातें सुनकर बैठे से खड़ा हो गया। उसका सम्पूर्ण शरीर थर-थर काँप रहा था उसके दोनों हाथ जुड़े हुए थे। उसने एक बार श्रद्धाभक्ति से श्रीकृष्णचन्द्र जी को प्रणाम किया। दो बार प्रणाम किया। बारम्बार प्रणाम किया। फिर प्रणाम कर लेने के अनन्तर गद्गद कंठ से भगवान् की पुनः स्तुति करने लगा।"

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियो! अब जिस प्रकार अर्जुन ने पुनः भगवान् की स्तुति की इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

संजय कहिबे लगे—सुनी अरजुन हरि बानी।
सब बिधान बनि गये प्रथम अबही यह जानी॥
ह्वै कें अति भयभीत किरीटी अरजुन काँपत।
पुनि-पुनि करै प्रनाम चरन में भय तें हाँपत॥
सब तन रोमाञ्चित भयो, थर-थर काँपत व्यथित मन।
गद्गद बानी तें तबहिं, लग्यो सभय इस्तुति करन॥

—★—

अर्जुन ने कहा—"इन सूत पुत्र कर्ण को ही देखो, संसार में इनके समान शूरवीर कोई दूसरा है क्या ? समस्त महाभारत के एक मात्र कारण ये ही वीर हैं। दुर्योधन इन्हीं के बल बूते पर फूला-फूला फिर रहा है। इनको मारना तो मृत्यु के मारने के सदृश है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, और ?"

खीजकर अर्जुन ने कहा—"और महाराज कहाँ तक गिनाऊँ, एक, दो, दश, बीस, लाख दो लाख हों, तो उनके नाम भी गिनाऊँ। असंख्यों योद्धा हैं, एक से एक बढ़कर हैं। इन सबको मैं कैसे मार सकूँगा ?"

भगवान् ने कहा—"तुम बार-बार भूल जाते हो, मैं कई बार तो कह चुका, इन सबको तो मैं कालरूप से पहिले ही निर्बल बना चुका हूँ। इन्हें तो मैं मार चुका हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"मार चुके हो, तो मुझसे फिर बार-बार मारने को क्यों कह रहे हो ?"

भगवान् ने कहा—"मैं मारने को थोड़े ही कह रहा हूँ, एक धक्का देकर गिराने को कह रहा हूँ। केवल एक ही धक्का दे दो। इनके मूल को तो मैं काट चुका हूँ। एक धक्का लगते ही धराशायी हो जायंगे।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, मुझे तो इन इतने बड़े-बड़े महारथियों को छूने में भी भय लगता है।"

भगवान् ने कहा—"मेरी बात मानो भी तो सही भय से व्यथित मत होओ। "भय को छोड़ दो।"

अर्जुन ने पूछा—भय छोड़कर क्या करूँ ?"

भगवान् ने कहा—"युद्ध करो।"

अर्जुन ने कहा—"युद्ध तो भगवन् ! जूआ है। इसमें कभी

जय भी होती है, कभी पराजय भी। मैं पराजित ही हो गया तो ?"

भगवान् ने कहा—"तुम घबराओ मत, मेरी वाणी पर विश्वास करो। मैं कहता हूँ और दृढ़ता के साथ कहता हूँ—तुम युद्ध में अपने प्रतिपक्षियों शत्रुओं को अवश्य ही जीत लोगे।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब संजय ने यह सब समाचार धृतराष्ट्र को सुनाया, तो धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा—संजय! अर्जुन श्रीकृष्ण की ये बातें सुनकर फिर क्या करते भये ? इस पर संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—"राजन्! श्री कृष्णचन्द्र भगवान् की दृढ़ता के साथ कही हुई ऐसी बातें सुनकर बैठे से खड़ा हो गया। उसका सम्पूर्ण शरीर थर-थर काँप रहा था उसके दोनों हाथ जुड़े हुए थे। उसने एक बार श्रद्धाभक्ति से श्रीकृष्णचन्द्र जी को प्रणाम किया। दो बार प्रणाम किया। बारम्बार प्रणाम किया। फिर प्रणाम कर लेने के अनन्तर गद्गद कंठ से भगवान् की पुनः स्तुति करने लगा।"

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियो! अब जिस प्रकार अर्जुन ने पुनः भगवान् की स्तुति की इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

संजय कहिबे लगे—सुनी अरजुन हरि बानी।
सब बिधान बनि गये प्रथम अबही यह जानी॥
है कें अति भयभीत किरीटी अरजुन काँपत।
पुनि-पुनि करै प्रनाम चरन में भय तैं हाँपत॥
सब तन रोमाञ्चित भयो, थर-थर काँपत व्यथित मन।
गद्गद बानी तैं तबहिं, लग्यो समय इस्तुति करन॥

—★—

अर्जुन द्वारा नमस्कार स्तुति (१)

[१७]

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥*

(श्री भग० गी० ११ अ० ३६, ३७ श्लोक)

छप्पय

अरजुन इस्तुति करें—नाथ! यह रूप दिखायौ।
अति दुरधर दुरधरष भयंकर वेष बनायौ॥
प्रभु कीर्तन तैं जगत प्रहरषित अति ई स्वामी।
होवै हिय अनुराग जगत्पति अन्तरयामी॥
राक्षस अति भयभीत है, भागत सबई दिशनि महँ।
नमन करैं सब सिद्धगन, कौतूहल इन मननि महँ॥

---

* अर्जुन ने कहा—हे हृषीकेश! आपकी कीर्ति से सपूर्ण जगत प्रमुदित और अनुरजित होता है, यह उचित ही है। राक्षसगण भयभीत हुए सभी दिशाओं मे दौड रहे हैं और सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं ॥३६॥

हे महात्मन्! आप ब्रह्माजी के भी आदिकर्ता हैं, आप सबसे बड़े

ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जितनी भी स्थावर जंगम सृष्टि है, सब प्रभु द्वारा विनिर्मित है। जीव भगवान् की भगवत्ता को भूलकर भटक रहा है। अपने ही अन्तःकरण में स्थित उनको बाहर खोज रहा है। भगवान् की महत्ता जब स्मरण नहीं रहती, तभी जीव अपने को स्वतंत्रकर्ता मानने लगता है। जब उन्हीं की कृपा से जीव को भगवान् की महत्ता का बोध हो जाता है, वे ही कृपा करके अपना यथार्थ रूप दिखा देते हैं, तब प्रणत होकर स्तुति करने लगता है, क्षमा प्रार्थना करने लगता है, अपने अपराधों के लिये क्षमा याचना करने लगता है।

इस कृष्णावतार में भगवान् ने साधारण जीवों के ही नहीं इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम जैसे लोकपालों के गर्व को भी खर्व किया। इन्द्र को अभिमान हो गया था मैं ही एकमात्र तीनों लोकों का अधीश्वर हूँ, मेरी ही पूजा होनी चाहिये। भगवान् ने उसके मद को चूर्ण करने के निमित्त नंदादि गोपों से उनकी वार्षिकी पूजा बंद कराके उसके स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा करायी और स्वयं गोवर्धन बनकर गोपों को दर्शन दिये। इस पर कुपित होकर इन्द्र ने प्रलयंकारी वर्षा करके समस्त ब्रजवासियों को उनके गोधन सहित डुबाना चाहा, तो भगवान् ने गोवर्धन पर्वत को ही सात दिन तक धारण करके सबकी रक्षा की। तब इन्द्र भगवान् के महत्त्व को समझ गये। उन्होंने आकर भगवान् की स्तुति की प्रणाम किया और अपने अपराधों के लिये क्षमा याचना की।

हैं फिर हे अनन्त! वे लोग आपको नमस्कार क्यों नहीं करेंगे? हे देवेश! जो सत् और असत् उससे भी परे अक्षर ब्रह्म है, हे जगन्निवास वह ब्रह्म आपही हैं ॥३७॥

इसी प्रकार वरुण के दूतों द्वारा नन्दजी को वरुण लोक में ले जाने पर वरुण लोक जाकर अपनी महत्ता दिखायी। यमराज के यहाँ से इतने दिन पश्चात् भी गुरु पुत्र को लाकर अपनी भगवत्ता प्रकट की। कितना भी बड़ा जीव क्यों न हो, कितने भी भारी पद पर प्रतिष्ठित क्यों न हो, समय पाकर वह भगवान् की भगवत्ता को भूल ही जाता है, फिर भगवान् ही कृपा करके अपनी महत्ता दिखाकर उसे विशुद्ध मार्ग पर--सुपथ पर--लाते है। औरों की बात जाने दीजिये जो ब्रह्माजी तीनों देवों में से एक देव हैं। समस्त चराचर विश्व के रचयिता हैं वे भी कभी-कभी उनकी महिमा को भूल--से जाते हैं।

जब भगवान् वन में ग्वाल बालों के साथ बन भोजन कर रहे थे, गाँव के गँवार ग्वारियों के हाथों से जूठे पदार्थ खा रहे थे, तब ब्रह्माजी को भ्रम हुआ यह कैसा ब्रह्म है, जो ग्वारियों का जूठा खा रहा है। अतः इसकी परीक्षा लेनी चाहिये। यही सोचकर पहिले समस्त बछड़ों को फिर उनके साथी सब ग्वाल बालों को वे चुरा ले गये। भगवान् ने सर्वथा वैसे ही ग्वाल बाल और बनाकर वर्ष भर स्वयं ही बछड़े बनकर चरे और ग्वालबाल होकर उन्हें चराया। वास्तव में तो चारा, चरने वाले और चराने वाले वे ही हैं। जब ब्रह्माजी को एक वर्ष पश्चात् भगवान् की महिमा का पता चला तो उन्होंने स्तुति करते हुए कहा था—कहाँ तो साढ़े तीन हाथ--सप्त विलस्त--का मै एक साधारण जीव और कहाँ आप जिनके प्रत्येक रोम में अगणित ब्रह्माण्ड और उन अगणित ब्रह्माण्डों में अगणित ब्रह्मा, विष्णु महेश हैं। मैं आपकी महिमा को भला समझ ही कैसे सकता हूँ। ब्रज में कुछ कथावाचक कहा करते हैं, कि ब्रह्माजी जब ग्वाल बालकों को भी छिपाकर श्रीकृष्ण को देखने आये कि देखें अब श्रीकृष्ण क्या

करते हैं, तो उन्होंने उधर से जाते असंख्यों ऊँट देखे। उनकी पीठों पर बड़ी-बड़ी तीन-तीन पेटियाँ लदी हुईं थीं ऊँट वालों से उन्होंने पूछा—भैया, इन ऊँटों में क्या लदा हुआ जा रहा है?"

ऊँट वालों ने कहा—"इन पेटियों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश लाद कर भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डों में भेजे जा रहे हैं। पहिले ये दूसरे दूसरे ब्रह्माण्डों के अधिपति थे, अब इनका स्थानान्तरण हो गया है। बदली करके अन्यत्र भेजे जा रहे हैं।"

ब्रह्माजी को विश्वास नहीं हुआ। ऊँट बिठाकर जो उन्होंने पेटियों को देखा, तो किसी में चार मुख वाले, किसी में आठ मुख, १६-३२-शत सहस्र मुख वाले ब्रह्मा बैठे हैं। ब्रह्माजी का सब ब्रह्मापने का अभिमान चूर हो गया। फिर उन्होंने भगवान् को बारंबार प्रणाम की, भाँति-भाँति की स्तुति की और अपने अपराध के लिये क्षमा याचना की। जीव का एक मात्र पुरुषार्थ यही है, कि वह बारंबार भगवान् को प्रणाम करे, फिर उठे फिर प्रणाम करे, साष्टांग प्रणाम करे। हृदय से वाणी से, शरीर से निरंतर प्रणाम ही करता रहे। प्रणाम ही प्रभु की प्राप्ति का परमोत्कृष्ट सर्वसुलभ साधन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के भयंकर विश्वरूप को देखकर गद्गद कंठ से स्तुति करते हुए अर्जुन कहने लगे—"हे भगवन्! आप ही समस्त इन्द्रियों को उनके अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त कराने वाले हो। हे प्रभो! आपकी जो परम प्रबलतम कीर्ति है, आपके नामों का, गुणों का तथा कर्मों का जो कमनीय कीर्तन होता है, उसे सुनकर राक्षसों को छोड़कर सभी प्राणी परम प्रमुदित हो रहे हैं। केवल मैं ही प्रहर्षित नहीं हो रहा हूँ। सम्पूर्ण चराचर जगत् हर्षित हो रहा है तथा आप के प्रति अनुरक्त हो रहा है। सो, ऐसा होना ही चाहिये। आप इसी योग्य हैं।

जितने राक्षसेतर जीव हैं वे तो परम प्रमुदित हो रहे हैं, महोत्सव मना रहे हैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट कर रहे हैं, आपको नमस्कार प्रणाम कर रहे हैं, किन्तु राक्षसगण भय के कारण भयभीत बने दशों दिशाओं में छिपने के लिये भागे जा रहे हैं। इन देवद्रोहियों को तो भागना ही चाहिये । इनका भागना उचित ही है ।"

इनके अतिरिक्त जो कपिलादि सिद्धों का समूह है, वह आप को भाँति-भाँति से नमस्कार कर रहा है। ये सब सिद्ध गण श्रद्धा भक्ति से प्रणाम कर रहे हैं, कोई साष्टाङ्ग कर रहे है कोई पंचाङ्ग कर रहे हैं कोई दण्डवत भूमि में ही पड़े आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

प्रभो ! संसार में आप ही तो एक प्रणम्य हैं । क्यों ? इसलिये कि आप उदारता की श्रेष्ठ मूर्ति हैं, परमोदार हैं, महात्मा हैं, अतः हे महात्मन् ! आपको जो वे प्रणाम कर रहे हैं, तो कुछ अनुचित नहीं कर रहे हैं। उन्हें आपको प्रणाम करना ही चाहिये ।

हे स्वामिन् ! आप सभी परिच्छेदों से शून्य हैं । आपका कहीं अंत नहीं । अतः हे अनन्त आप को नमस्कार क्यों नहीं की जाय ?

हे देवाधि देव ! संसार में हिरण्य गर्भ से लेकर जितने भी देवगण हैं उन सब के आप ही एक मात्र नियन्ता हैं। जब हे देवेश ! आप सबके स्वामी हैं, तो स्वामी को तो सेवकों द्वारा प्रणाम करना ही चाहिये ।

हे जगदाधार ! समस्त जीवों के आप ही एक मात्र निवास स्थल हैं, आप ही सबके आश्रय हैं, अतः हे जगन्निवास आप सभी के प्रणम्य हैं आप सबके जन्म देने वाले हैं । सब आप से ही उत्पन्न

होते हैं। सबका नियंत्रण भी आप ही करते हैं, ब्रह्मादि सभी देवों को उपदेश भी आप ही देते हैं। सबको उत्पन्न करने वाले जो प्रजापति ब्रह्मा कहलाते हैं आप उन ब्रह्माजी के भी जनक हैं, पिता हैं, वे भी आप से ही उत्पन्न हुए हैं अतः आप उनसे गुरुतर हैं, गरीयस हैं, श्रेष्ठतम हैं। इसलिये आपको प्रणाम करना ही चाहिये।

हे अनन्त प्रभो! आप व्यक्त अव्यक्त तथा इनसे परे भी हैं। आप सत् और असत् इन दोनों के मूल कारण हैं। आप से परे कुछ नहीं, आपसे श्रेष्ठ कोई नहीं। इसलिये सिद्धादि देव गण जो आपको नमस्कार कर रहे है, सम्मुख प्रणत हो रहे हैं, वे उचित ही कर रहे हैं। जब आप सबके प्रणम्य हैं तो ये लोग आप को प्रणाम क्यों नहीं करेंगे। आप एक ही प्रणाम के अधिकारी नहीं। जीव को तो निरंतर आपको प्रणाम करते ही रहना चाहिये। वेद के समस्त मंत्र केवल आपको प्रणाम ही करते हैं। आप ही परम प्रणम्य हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार अर्जुन भगवान् को प्रणम्य बताकर अब जैसे उनको अनन्त प्रणाम करेंगे। उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

नमन करैं क्यों नहीं आपु तो ब्रह्म जनक हो।
सबके करता आदि महात्मा महामहत हो॥
हे अनन्त! देवेश! जगतमय जगनिवास तुम।
सबई तैं अति श्रेष्ठ सगुन साकार सर्व तुम॥
अज अक्षर अव्यक्त अरु, ब्रह्मा हू के बाप हो।
ब्रह्म सच्चिदानन्दघन, सब कछु स्वामी आप हो॥

अर्जुन द्वारा स्तुति और बारम्बार नमस्कार

[१८]

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥*

(श्री भ० गी० ११ अ० ३८, ३९, ४० श्लोक)

छप्पय

आदि देव हैं आपु सनातन पुरुष पुरातन।
आश्रय जगके एक करो पावननि सुपावन॥
तुम्हें जथारथ नहीं नाथ! कोई हू जानें।
जानो सबकूँ तुमहिँ जगत सब तुमकूँ मानें॥
तुम ई जानन जोग्य हो, परम धरम हैं आपु विभु।
जगत व्याप्त तुम तैं सकल, आपु अनन्त स्वरूप प्रभु॥

---

* तुम आदि देव हो, पुराण पुरुष हो, तुम ही इस जगत् के परमाश्रय हो जानने योग्य तुम ही हो, तुम ही जानने वाले भी हो, तुम ही

जिसके प्रति हृदय में भक्ति उमड़ आती है, उसके ऊपर सर्वस्व निछावर करने की लालसा उत्कट हो सकती है। भक्ति तो वहीं होगी, जहाँ भगवत् बुद्धि हो। भगवान् में और भक्त में कोई अन्तर नहीं होता, अतः भक्ति भगवान् में उनके भक्तों में तदीयों में ही होती हैं। भक्ति का उद्रेक अन्तःकरण में जब उमडता है, तो कुछ देने की इच्छा होती है। देने के लिये चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हैं, जिस वस्तु पर भी दृष्टि जाती है उसी के सम्बन्ध में सोचते हैं—"यह तो भगवान् की ही दी हुई है, इसे भगवान् को क्या दें। फिर भगवान् सर्वगुणालय, समस्त सद्गुणों के एक मात्र निवास स्थान, उनको यह संसारी क्या अर्पण करें, उन लक्ष्मीपति के यह अनुकूल नहीं। जब कोई भी वस्तु उनके अर्पण करने के उपयुक्त दृष्टिगोचर नहीं होती, तो भक्त भक्ति के भाव में भावित होकर अन्त में बारंबार नमस्कार ही करने लगता है, क्योंकि हृदय से वाणी से तथा शरीर से नमस्कार करने के अतिरिक्त उसके पास कुछ है ही नहीं। अतः वह आगे से, पीछे से, अगल से, बगल से तथा सभी ओर से सतत

परमधाम हो। हे अनन्तरूप ! यह जगत आप से ही व्याप्त है ॥३८॥

तुम ही वायु हो, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, पितामह ब्रह्मा, ब्रह्मा के भी पिता-प्रपितामह-विष्णु-आप ही हो, तुम्हारे लिये सहस्रों बार नमस्कार है, आपके लिये फिर से बारम्बार नमस्कार है, नमस्कार है ॥३९॥

हे अनन्त वीर्य भगवन् ! आपके लिये आगे से नमस्कार है, पीछे से भी नमस्कार है। हे सर्वात्मन् ! आपके लिये चारों ओर से नमस्कार है, आप अमित विक्रम वाले हैं आप इस जगत् को व्याप्त किये हैं। इसी से आप सर्व स्वरूप हैं ॥४०॥

नमस्कार ही नमस्कार करता है। अपने देवता को प्रसन्न करने के लिये उसके पास नमस्कार करने के अतिरिक्त अपना कुछ भी नहीं है।

रुक्मिणी ने अपना संदेश लेकर अपने कुल गुरु-पुरोहित को भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र के पास भेजा था। रुक्मिणीजी प्रतिपल भगवान् के सन्देश को पाने के लिये अत्यन्त व्यग्रता के साथ प्रतीक्षा कर रही थी। कुल गुरु, भगवान् का सन्देश ही नहीं लाया अपितु स्वयं साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र को ही अपने साथ लिवा लाया। पुरोहित ने कैसा अद्भुत अनुपमेय कार्य किया है, इस के बदले मे इसे कौन-सी अत्यंत प्रिय वस्तु अर्पण करूँ किन्तु बहुत विचारने पर भी रुक्मिणीजी को इसके अनुरूप कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हुई। अन्त में कुछ भी न देखकर साश्रुनयनों से हाथ जोड़कर रुक्मिणीजी ने ब्राह्मण को केवल नमस्कार ही किया। (न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा।)

इसीलिये अंजलि बाँधकर नमस्कार करना। इस मुद्रा को समस्त मुद्राओं में श्रेष्ठ मुद्रा-परमामुद्रा-कहा है। इस महामुद्रा से देवता शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं। जब भक्ति का उद्रेक चरम सीमा पर पहुँच जाता है, अपनी मर्यादा को उल्लङ्घन करके अमर्यादित बन जाता है, तब चारों ओर से बारंबार नमस्कार करने के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं। (वन्दते जनान्)

एक राजा थे, उनके कुल पुरोहित राज्य छोड कर वृन्दावन वास करने लगे। वृन्दावन में ही बस गये। राजा उनको लेने आये। अत्यन्त आग्रह किया साथ चलने को। राजपुरोहित एक बड़े महात्मा की शरण में गये राजा की हठ जताई, अपनी वृन्दावन न छोड़ने की इच्छा बतायी। महात्मा ने कहा—"राजा

सभी लोकपालों का अंश होता है, अतः उसकी बात मान लो उसके साथ चले जाओ।"

अब क्या करते। वृन्दावन तो स्वयं साक्षात् श्री वृन्दावन विहारी का श्री विग्रह ही है, उसे छोड़ने में कितना कष्ट होगा। उन्होंने रोते रोते राजा से कहा—"राजन्! आपका अत्यन्त आग्रह ही है, तो मैं आपके साथ चलूँगा ही। किन्तु चलते समय मैं वृन्दावन के लतापताओं से, यहाँ के जीव-जन्तुओं से, व्रजवासियों विदाई तो ले लूँ। सबसे नमस्कार तो करता चलूँ।"

राजा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"आपकी जब तक इच्छा हो। तब तक सबसे मिल भेंट लीजिये, सबको नमस्कार प्रणाम कर लीजिये। मैं भी तब तक यहाँ रह कर वृन्दावन वास का आनन्द ले लूँ।"

अब राजपुरोहित जी प्रातः उठते वृन्दावन की परिक्रमा में जाते। मार्ग में कुत्ता, बिल्ली, चूहा, गदहा, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्षलता जो भी सामने पड़ता उसे १०८ साष्टाङ्ग प्रणाम करते उसका आलिंगन करते बार-बार नमस्कार प्रणाम करते और रोते-रोते कहते आप कृपा करना अब मेरा वृन्दावन छूट रहा है। इस प्रकार उन्हें प्रणाम करते-करते महीनों बीत गये।

एक दिन मन्दिर से जूठी पत्तल लाती हुई उन्हें मेहतरानी दिखायी दी। भगवान् का महाप्रसाद पाकर जो भक्त लोग पत्तलों पर उच्छिष्ट छोड़ देते हैं, उसे मेहतरानी उठा लाती है। कपड़े से ढके हुए वह उन उच्छिष्ट पदार्थों को लिये जा रही थी। इन्होंने पूछा—"क्या लिये जा रही हो।"

उसने कहा—"महाप्रसाद है।"

आप बोले—"अहा, महाप्रसाद है, महाप्रसाद के दर्शन कराना। उसने कपड़ा हटा दिया। वृन्दावन के मंदिरों में भगवान्

के भोग में नित्य ही कढ़ी और खीर अवश्य बनती है। इन्होंने कढ़ी में के एक पकौड़ी निकाल कर मुख में डाल ली। महाप्रसाद को १०८ बार नमस्कार किया और उस मेहतरानी को १०८ बार साष्टाङ्ग प्रणाम किया।"

राजा साथ ही थे। उन्होंने जब यह दृश्य देखा, तो वे हक्के-बक्के रह गये। मेरा पुरोहित तो पागल हो गया है।

उसने कहा—"महाराज, आपको वृन्दावन त्यागने में बड़ा कष्ट हो रहा है, अतः आप यहीं रहिये। तब उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए यह पद गाया—"एक पकौडी सब जग जीत्यो।"

मैं कहता हूँ, महाराज, पकौड़ी ने सब जग को नहीं जीता है, अपितु 'करत प्रणाम सकल जग जीत्यो।'

सबको ब्रह्म बुद्धि से बारंबार नमस्कार करने से ही भगवत् साक्षात्कार होता है। भगवान् को आगे से, पीछे से, ऊपर से, नीचे से, सर्वत्र से बारंबार नमस्कार करो। नमस्कार करते ही रहो, करते ही रहो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन पुनः स्तुति करते हुए भगवान् को बारबार प्रणाम करने लगा।" भक्ति के उद्रेक में स्तुति करते हुए वह कहने लगा—"प्रभो! यह सृष्टि देव निर्मित है। और इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के एकमात्र कारण आप देवाधि देव ही हो, अतः आप आदिदेव हैं। आप इस अपनी रची हुई विविध भाँति की देहों में-पुरियों में-खटिया बिछा कर सोते रहते हो पुरियों में शयन करने वाले होने से अथवा रिक्त स्थानों को पूरित करने वाले होने से आपको लोग पुरुष इस नाम से पुकारते हैं।"

हे पुराण पुरुष! बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों को भी आपके आदि

का पता नहीं। आप कब से हैं इसे कोई नहीं जानता। बहुत पुराने होने से आप पुराण नाम से प्रसिद्ध हैं।

हे सर्वालय! चराचर विश्व के आश्रय स्थान आप ही हैं। जब प्रलय काल में तीनों लोक नष्ट हो जाते हैं, तब समस्त जीव आप में ही आश्रय पाते हैं, आप में ही विलीन हो जाते हैं, जिसमें सब कुछ समा जाय उसे निधान कहते हैं, आप इस जगत् के लय स्थान होने से विश्व के परमनिधान हैं।

ऐसी भी बात नहीं, कि आपकी अपरिचर्यावस्था में जीव आकर आपके भीतर विश्राम करते हों। आप तो सबको जानते हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्ववेत्ता है। जितने जीव हैं, उन सबके इतिहास को आप जानने वाले हैं।

आप भगवन्! वेत्ता ही नहीं ज्ञान का जो विषय है जिसे वेद्य विषय कहते हैं वह वेद्य भी आप ही हैं।

हे शाश्वत! हे स्वामिन्! जहाँ जाकर जीव फिर लौट कर इस संसार में नहीं आता; वह परमधाम भी आप ही हैं।

हे अनन्त रूप प्रभो! यह जो समस्त कार्य वर्ग विश्व है वह आपके ही द्वारा व्याप्त है आप इस समस्त विश्व को अपने से ही ढके हुए हैं। आपकी सत्ता के कारण ही यह स्थित है।

हे सर्व रूप स्वामिन्! आप अनेक रूपों में प्रकट हो रहे हो। वायु बनकर आप ही चल रहे हो, प्राणियों को जीवन प्रदान कर रहे हो। यमराज बनकर आप ही सब का शासन कर रहे हो, जीवों को उनके पाप पुण्यों के अनुसार सुख दुःख भुगवा रहे हो। आप ही अग्नि बनकर सबको जला रहे हो, सबको जिला रहे हो, सबको खिला रहे हो और खिलाये हुए को वैश्वानर होकर पचा रहे हो आप ही वरुण बनकर जल के जीवों का आधिपत्य कर रहे हो, पश्चिम दिशा का लोकपालत्व कर रहे हो।

आप ही चन्द्रमा बनकर औषधियों में अमृत सिंचन कर रहे हो, सब को जीवन दान दे रहे हो। ब्राह्मणों को वेद पढ़ा कर रक्षा कर रहे हो।

आप ही इस समस्त प्रजा को उत्पन्न करके उसके पति बनकर प्रजापति रूप में विराजमान हो रहे हो। अपने मरीचादि पुत्रों से सृष्टि को उत्पन्न कराके पितामह कहलाते हो।

आप ही सब के पितामह-ब्रह्माजी को उत्पन्न कर, उनके भी पिता अर्थात् हम समस्त प्रजा के लोगों के प्रपितामह बन गये हो।

जब आप एक रूप में नहीं रहते। एक के बहुत बन जाते है, तो आपको नमस्कार भी कैसे करें। आप अनन्त को अनन्त बार ही नमस्कार भी करना चाहिये। अतः नमस्कार है भगवन्! प्रभो! हमारे नमस्ते स्वीकार करिये। आपको एक बार, सैकड़ों बार सहस्रों बार नमस्कार है।

नमस्कार करके रुकना नहीं। रुककर करें भी तो क्या करें। नमस्कार करते रहना ही आपकी प्राप्ति का एकमात्र साधन है अतः फिर-फिर नमस्कार है। नमो नारायणाय। नमो भगवते-वासुदेवाय। नमः संकर्षणाय च। नमस्ते भगवन्! गोविन्दाय नमो नमः नमस्ते सिते ते जगत्कारणाय।

प्रभो! आपको सामने से नमस्कार है। पहिले आपको नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है। समस्त दिशाओं में स्थित आप को नमस्कार है। अनन्तवीर्य शाली अमित विक्रमशाली आपको नमस्कार है। प्रभो! आप सर्व रूप हैं, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् को आप व्याप्त किये हुए बैठे हैं अतः मेरा बारंबार नमस्कार स्वीकार कीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार अर्जुनजी भक्ति के कारण अत्यन्त विह्वल होकर भगवान् को नमस्कार करते हुए

अर्जुन द्वारा क्षमा याचना

[१९]

संजय उवाच

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥*

(श्री भग० गी० ११ अ० ४१, ४२ श्लोक)

छप्पय

सखा समुझि के नाथ ! अवज्ञा अधिक करीं हैं ।
महिमा जाने बिना व्यरथ की बात बकीं है ॥
बिना मान सम्मान करे सम्बोधन अनुचित ।
हे यादव ! हे सखा ! कृष्ण ! हे स्वामी अच्युत ॥
जो कछु कह्यो प्रमाद वश, समुझी नहिं महिमा विभो ।
क्षमा करें करुना अयन ! विश्वम्भर पालक प्रभो ॥

---

* हे कृष्ण ! अब तक मैं आपको अपना सखा ही मानता था, ऐसा मानकर ही मैंने जो हठ पूर्वक आपको, हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखा ! इस प्रकार कहा, यह सब मैंने प्रेम से या प्रमाद से तुम्हारी महिमा को न जानते हुए ही कहा था ॥४१॥

हे अच्युत ! मैंने आपसे विहार, शय्या, आसन और भोजन मे हँसी

जो हमसे ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं, वय में, वीर्य में, वैभव में तथा सभी बातों में उत्तम हैं, वे यदि वेष बदलकर–अपने को छिपाकर–हमारे पास रहने लगें–हमारी क्षुद्र सेवा करने लगें–हमारे अधीन रहकर, दास बनकर अपने को छिपाये रहें, तो हम उनके साथ साधारण सेवकों के ही समान वर्ताव करेंगे। पीछे हमें पता चल जाय, कि ये हमारे सेवक नहीं ये तो हमारे स्वामी बनने योग्य हैं, तो हमें कितना पश्चात्ताप होगा। उस समय क्षमा याचना के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रायश्चित्त ही नहीं। उस समय मन में कैसा पश्चात्ताप होता है हाय! हमने अज्ञान में–बिना इनका महत्त्व जाने कैसे-कैसी अनुचित बातें इनसे कह दीं।

महाराज नल जब जूए में अपना सर्वस्व हार गये और इनके भाई ने इन्हें राजधानी से एक वस्त्र में सपत्नीक निकाल दिया तो ये वनों में भटकते रहे। कलियुग ने इन्हें बहुत कष्ट दिया। इनको इनकी पत्नी दमयन्ती से पृथक् करा दिया। इनका रूप कुरूप कर दिया। ये अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ सारथी का काम करते हुए रथ चलाने की नौकरी करने लगे। कहाँ तो इतने जगत् प्रसिद्ध प्रतिष्ठित राजा नल और कहाँ सारथी का अत्यन्त हीन कार्य। किन्तु वे विपत्ति के दिन काटने को अपने को छिपाये हुए सब करते रहे, सब मानापमान सहते रहे। अन्त में जब महाराज ऋतुपर्ण को पता चला ये तो महाराजा नल हैं, तब उन्होंने उनसे अपने अनुचित व्यवहार के लिये बहुत-बहुत क्षमा याचना की। महाराज नल ने भी कृतज्ञता

के लिये जो भी कुछ कहा हो, अथवा एकान्त मे, या सबके समक्ष आपका अपमान किया हो, उन सबके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ, भगवन्! आप अप्रमेय हैं ॥४२॥

प्रकट करते हुए कहा—"महाराज, आपने मेरा बड़ा आदर किया, मुझे कोई भी कष्ट नहीं हुआ। अपने घर के समान रहा।"

इधर महारानी दमयन्ती पति वियोग के कारण रोती चिल्लाती, भूलती भटकती यात्रियों के साथ किसी प्रकार चलती-चलती अपनी मौसी-चेदिदेश की राजधानी में पहुँच गयी। वहाँ उसने अपने को सैरन्ध्री (नायिनि) बताया। राजमाता ने अपनी पुत्री सुनन्दा की दासी के रूप में इन्हें रखा। महारानी दमयन्ती बहुत दिनों तक दासी का कार्य करती रही। पीछे जब राजमाता का तथा सुनन्दा को पता चला कि यह तो विदर्भराज की पुत्री महाराज नलकी पत्नी दमयन्ती है, तो उन्होंने उससे बार-बार क्षमा याचना की।

इसी प्रकार जब द्रौपदी सहित पाँचों पांडव, महाराज विराट् के यहाँ अपने को छिपाकर–वेष बदलकर–अज्ञातवास के वर्ष को पूरा करने के निमित्त नौकरी करने लगे। तब राजा के घर वाले तथा स्वयं राजा भी उनसे सेवकों जैसा ही बर्ताव करते। धर्मराज तो राजा के सभासद ब्राह्मण बनकर रहने लगे। भीम रसोया बनकर भोजन बनवाने का काम करने लगे। अर्जुन नपुंसक बृहन्नला का वेष बनाकर राजकुमारियों को गाना नाचना सिखाने लगे। सहदेव गोपाल बनकर तथा नकुल अश्वपाल बनकर उनकी गोशाला तथा अश्वशाला में नौकरी करने लगे। द्रौपदी विराट् महाराज की राजरानी सुदेष्णा के महलों में सैरन्ध्री (नायिनि) बनकर सेवा करने लगी। पीछे जब महाराज विराट् को उनका परिचय प्राप्त हुआ, तो उन्होंने पांडवों से बहुत-बहुत क्षमा याचना की। महारानी सुदेष्णा तो बहुत ही अधिक लज्जित हुई कि मैंने त्रैलोक्य वंदिता, अयोनिजा, द्रुपदराज पुत्री के साथ मैंने दासी का सा बर्ताव किया।

इन सब घटनाओं से यही शिक्षा मिलती है, कि सभी को भगवान् का ही रूप समझकर–प्राणीमात्र में भगवत् बुद्धि करके–सभी का सदासर्वदा आदर करना चाहिये। कभी भी किसी का भूलकर भी अपमान न करना चाहिये। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। प्राणी भूल जाता है, जैव धर्म है, जीव का भूल जाना नैसर्गिक स्वभाव है। इसीलिये इसे बारम्बार पश्चात्ताप करना पड़ता है, क्षमायाचना करनी पड़ती है। पश्चात्ताप करना, क्षमा-याचना करना यह भी परमार्थ का एक सर्वश्रेष्ठ साधन है। कृपा के सागर दयालु प्रभु क्षमा याचना करने पर जीव को क्षमा कर देते हैं। वे यदि क्षमा न कर दें तो जीव का उद्धार हो ही नहीं सकता। जीव तो सहस्र-सहस्र अपराधों का भाजन ही है। इसे एक मात्र भगवान् की कृपा का ही सहारा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के अलौकिक अदृष्ट पूर्व, अद्भुत, अचिन्त्य, दिव्य प्रभाव को देखकर अर्जुन का हृदय भर रहा था। उनका हृदय उन्हें बारंबार कचोट रहा था, उन्हें आत्मग्लानि हो रही थी, महान् पश्चात्ताप हो रहा था। उसी आत्मग्लानि के आवेश में वे भगवान् से क्षमा याचना करने लगे।"

वे बोले—"भगवन्! आप मेरे अपराधों को क्षमा कर दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"कोई अपराध हुआ हो तो क्षमा भी कर दें। तुमने क्या अपराध किया है?"

अर्जुन ने कहा—"मैं आपको अब तक अपना सखा मानता रहा था।"

भगवान् ने कहा—"मैं तो प्राणी मात्र का सखा हूँ, सखा मानना तो कोई अपराध नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"सखा मानना भले ही अपराध न हो, किन्तु मैं तो अब तक अपने को आप से श्रेष्ठ समझता रहा था। अपने उत्कर्ष को प्रकट करने के निमित्त कभी-कभी तिरस्कृत करने वाले जैसे वचन कह देता था। आपका तिरस्कार कर बैठता था। बड़ों को हुंकृत त्वंकृत करके बोलना उनका अशस्त्र-वध ही शास्त्रकारों ने बताया है। मैं ऐसे ही आपको तिरस्कार सूचक शब्दों में सम्बोधन कर बैठता था।"

भगवान् ने कहा—"तुम कभी मेरा तिरस्कार तो नहीं करते थे। कौन-से ऐसे सम्बोधन कहे। जिनके कारण तुम्हें ऐसा पश्चात्ताप हो रहा है?"

अर्जुन ने कहा—'बड़े लोगों का आधा नाम लेना ही उनका तिरस्कार है। उनके आगे पीछे सम्मान सूचक श्री या जी न लगाना भी उनका तिरस्कार ही है। मुझे कहना चाहिये था हे यादवेन्द्र जी किन्तु मैं ऐसा न कहकर कभी-कभी कह देता था। हे यादव! तुम ऐसा काम कर लाओ। मुझे कहना चाहिये था भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी, सो मैं ऐसा न कहकर, कभी-कभी कह देता था—"हे कृष्ण! मेरे रथ को जोत लाओ। मुझे कहना चाहिये था—हे प्राणाधार! हे अशरण शरण! हे प्राणी मात्र के एक मात्र सुहृद! सो ऐसा न कहकर कभी कह देता था—"हे सखे! चलो घूम आवें।"

भगवान् ने कहा—"तो इससे मेरा बिगड़ ही क्या गया?"

अर्जुन ने कहा—"आपका तो कुछ नहीं बिगड़ा। मेरा ही सब कुछ बिगड़ गया। यह सब हुआ अज्ञान के ही कारण। अब तक मैं आपकी ऐसी महिमा से अपरिचित था। आपकी महती महिमा को जानता नहीं था।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! तुमने तो ये सब बातें प्रेम

भक्तवत्सल श्याम

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ७८

गीतावार्त्ता (१०)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सङ्कीर्तन-भवन

प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:* संशोधित मूल्य २ ० रुपया

प्रथम संस्करण १००० प्रति] श्रावण २०२७ [मू० १.६५ पै०

मुद्रक—चंद्रीधर शर्मा; भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय

अपनी निजी चर्चा ... १

गीता महात्म्य (१२) ... २२

१—सगुण निर्गुण उपासकों में श्रेष्ठ कौन? सगुणोपासक ही सर्वश्रेष्ठ साधक है ... ३२

२—निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले भी मुझे ही प्राप्त करते हैं ... ३७

३—अव्यक्तोपासना अधिक क्लेशकर है ... ४५

४—भक्तों के उद्धारक भगवान् होते हैं ... ५१

५—भगवत् प्राप्ति के उपाय ... ५६

६—भगवत् प्राप्ति के सरलतम उपाय ... ६१

७—कर्मफल त्याग से ही शांति प्राप्त होती है ... ६८

८—भगवद्भक्तों के लक्षण (१) ... ७५

९—भगवद्भक्तों के लक्षण (२) ... ८३

१०—भगवद्भक्तों के लक्षण (३) ... ९२

११—भगवद्भक्तों के लक्षण (४) ... ९९

१२—क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार ... १०५

१३—क्षेत्र क्षेत्रज्ञ निरूपण प्रतिज्ञा ... ११२

१४—क्षेत्र परिचय ... ११६

१५—ज्ञान प्राप्ति की योग्यता के साधन (१) १२५
१६—ज्ञान प्राप्ति की योग्यता के साधन (२) १३४
१७—ज्ञेय परिचय (१) १४१
१८—ज्ञेय परिचय (२) १४८
१९—ज्ञेय परिचय (३) १५३
२०—प्रकृति पुरुष विवेचन १५९
२१—प्रकृति पुरुष और परपुरुष १६४
२२—प्रकृति पुरुष ज्ञान का फल और उसके जानने के साधन १६९
२३—परमेश्वर को देखना ही यथार्थ देखना है १७६
२४—परमेश्वर दर्शन का फल १८०
२५—एकत्व दर्शन का फल १८४
२६—आत्मा असंग होने के कारण शरीर के कर्मों में लिप्त नहीं १९०

अपनी निजी चर्चा

[९]

मास्मिन् महाराज कृथाः स्मचिन्तां
निशामयास्मद्वच आदृतात्मा ॥
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुम्,
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम् ॥

(श्री भाग० ४ स्क० १९ अ० ३४, श्लोक)

छप्पय

दैव न चाहै जाइ ताइ चाहै जो करनो।
मौति न चाहै जाइ फेरि हू चाहै मरनो॥
नहीं मरिहैं कबहुँ, दुरामह अधिक करिहैं।
क्रोध माहिं भरि जाइँ मोह मद माहिं फसिहैं॥
निन्दा इस्तुति त्यागि भय, मान अमान समान लखि।
प्रभु की सुख दुख देनि हैं, करै काज हिय श्याम रखि॥

महाराज पृथु ने जो अश्वमेध यज्ञ करने का संकल्प किया था, किन्तु इन्द्र के बार-बार विघ्न डालने पर उनका संकल्प पूरा नहीं हुआ था, इससे महाराज दुखित हुए। इस पर—उन्हें समझाते हुए ब्रह्माजी कहने लगे—"हे महाराज! आप का यह अनुष्ठान पूरा नहीं हुआ, निर्विघ्न-समाप्त नहीं हुआ, इस विषय में आपको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। हम जो कहते हैं उसे आदर पूर्वक स्वीकार करो! देखो, जो

कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान् मोहित हो जाते हैं। जिस बात की एक स्थान पर निंदा की जाती है, उसी बात की दूसरे स्थान पर दूसरे ऋषि प्रशंसा करते है। गीता में भगवान् ने बार-बार इस बात पर बल दिया है, कि क्षत्रिय के लिये धर्म युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई श्रेयस्कर कार्य ही नही। युद्ध के अवसर को क्षत्रिय के लिये छोड़ना अधर्म है, शत्रु के सम्मुख रण से भागना पाप है, किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र अपनी मथुरा पुरी को कालिय यवन मे घिरी देखकर रण को छोडकर भाग ही गये। जरासंध की सेना के भय से अपनी जन्म भूमि को ही छोड़कर समुद्र में जा बसे। पिता की उचित अनुचित कैसी भी आज्ञा हो उसका पालन करना धर्म है, यही समझकर भगवान् परशुराम जी ने अपनी जननी का-सगी माता का-सिर काट लिया। इसके विपरीत प्रह्लादजी ने पग-पग पर पिता की आज्ञा का उलङ्घन किया और फिर भी वे दोषी नहीं ठहराये गये। प्रातःस्मरणीय परम पुण्यवान् भागवतों में उनकी सबसे प्रथम गणना की गयी है। गुरु की आज्ञा का पालन अनुचित उचित का बिना विचार किये करना चाहिये यह सिद्धान्त है, किन्तु महाराज बलि ने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन ही किया। इस प्रकार देश, काल तथा पात्र के अनुसार यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इस समय में, इस देश में इसके द्वारा कौन-सा काय उचित है कौन-सा अनुचित।

जब भगवान् वाराह हिरण्याक्ष से लडने लगे तब उन्होंने

मनुष्य विधाता के द्वारा बिगाड़े हुए कार्य को बनाने का आग्रह करता है, उसे पूरा करने का दुराग्रह करता है, उसका मन अत्यन्त क्रोध मे भर कर भयकर मोह मे फँस जाता है।

हिरण्याक्ष से कहा—"जो अपनी की हुई प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता वह असभ्य है।" (यः स्वां प्रतिज्ञां नाति पिपर्त्यसभ्यः)

इसके विपरीत ब्रह्माजी महाराज पृथु से कहते हैं—"राजन्! तुमने सौ अश्वमेध करने की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु इन्द्र इसमें वारम्बार विघ्न डाल रहा है। इससे होगा क्या, आप सौ पूरा करने का आग्रह करेंगे, देवता अधिक दुराग्रही होते हैं, वह उसमें पाखण्ड का प्रचार करेगा। जनता पाखंडों की ओर अधिक खिचती है, अतः इससे पाखंडों का प्रचार होगा। अतः आप सौ यज्ञों के पूरा करने का आग्रह छोड़ दें। इन्द्र के ही मन की बात होने दें। जिस संकल्प से पाखंड धर्म का प्रचार होता हो, उसे बन्द करदे उसे पूरा होने का आग्रह न करे।"

इस प्रकार जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आ जाते हैं, जहाँ दो विरोधी धर्म आकर मनुष्य को किंकर्तव्य विमूढ़ बना देते है। ऐसे समय क्या करना चाहिये क्या न करना चाहिये इस विषय में शास्त्रकारों ने चार बातें बतायी है। जब कभी ऐसी परिस्थिति आ जाय तो देश, काल तथा पात्र का विचार करते हुए पहिले तो यह सोचे इस विषय में वेद क्या कहता है, फिर ऋषियो ने ऐसे समय में स्मृतियों में क्या आज्ञा दी है। जैसी परिस्थिति हमारे सम्मुख है, ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर सदाचारी ऋषियों ने आप्त पुरुषों ने कौन-सा मार्ग अपनाया था। बड़े लोगों ने ऐसी परिस्थिति में क्या किया था; जब ये तीनों मिल जायं तो फिर देखे हमारा विशुद्ध अन्तरात्मा क्या कहता है, अन्तरात्मा की क्या पुकार है।

३६ दिन के विशुद्ध अनशन के समय मेरे सम्मुख भी यही स्थित आ गयी थी। अनशन के पूर्व मैंने अपनी जानकारी में किसी प्रकार के दंभ से यह संकल्प नहीं किया था। मैं मरना ही

चाहता था, यह दूसरी बात है, कि उसमें गौ माता के प्रति प्रेम कितना था और गौ रक्षा का श्रेय लूटने की भावना कितनी थी। दौड़ धूप में और तूफानी दौरे में रात्रि-दिन कार्य व्यस्त रहने में इसका निर्णय करना कठिन था। किन्तु अब तो कोई कार्य नहीं था, अब तो चौबीसो घंटे पड़े-पड़े सोचने का ही काम था। जब से यह अनशन अनुष्ठान आरम्भ हुआ था तब से जप, यज्ञ, अखण्ड कीर्तन, भागवत का अखंड पाठ आदि धार्मिक कृत्य होते ही रहते थे इनके बिना मेरा मन ही नहीं लग सकता था, मैं रह ही नहीं सकता था। देश भर में मेरे स्नेही, शुभचिंतक आत्मीय बन्धु थे उनकी भी दृष्टि मेरे ऊपर लगी थी, निरन्तर बहुत से बन्धु मुझे देखने दूर-दूर से आते। सदा एक प्रकार का मेला-सा ही लगा रहता। जो साधनों के अभाव से या अन्य किसी विवशता से यहाँ नहीं आ सकते थे, वे जहाँ थे, वहीं से जप, अनुष्ठान द्वारा अपनी मेरे प्रति मंगल कामना प्रेषित करते रहते थे। मेरा चिंतन चलता रहता। जिस दिन तक मृत्यु समीप नहीं आई थी, उस दिन तक तो मरने का निश्चय ही था। किन्तु घुंटनों तक शरीर शून्य होकर भी मृत्यु नहीं आयी, तब मेरा चिंतन विपरीत दशा में हो गया।

मैं सोचने लगा—"मानलो शून्यता घुंटनों से ऊपर न बढ़ी और जैसी दशा मेरी अब है वैसी ही और कुछ दिन रह गयी, तो सरकारी आदमी मुझे निश्चय ही अस्पताल में ले जायेंगे। अस्पतालों के वातावरण से मुझे बड़ा भय लगता है। वहाँ जो कीटाणु मारने को-स्वच्छता के लिये जिस चूर्ण (पाउडर) का छिड़काव होता है, उससे जो निवास स्थल धोये जाते हैं, उसकी उत्कट गंध मुझे बहुत ही बुरी तथा दुःखद लगती है। किसी को देखने इन आधुनिक चिकित्सालयों (अस्पतालों) में मुझे विवश

होकर जाना पड़ता है, तो उस दुर्गन्धि से मुझे महान् क्लेश होता है। मच्छड़ मारने की जो औषधि छिड़की जाती है, जो कूओं के कीड़े मारने को जल में डाली जाती है उसकी गंध भी मुझे अत्यंत व्यथित करती है। और तो और स्त्री पुरुष अपने शरीरों में जो भस्मी (पाउडर) रमाते हैं, उससे भी मुझे बड़ी घृणा है। अनशन के दिनों में तो मेरी घ्राण शक्ति इतनी प्रबल हो गयी थी कि भस्मी रमाये (पाउडर लगाये) कोई भी स्त्री पुरुष दूर भी आता, तो मै व्यथित हो उठता, इसलिये ऐसे किसी व्यक्ति को मै अपने पास नहीं आने देता था। अन्त में तो मैने सरकारी आदमियों से कहकर प्रहरी लगा दिये थे, कि कोई मेरे समीप न आने पावे खिड़की से ही मुझे देख लें।"

सरकारी चिकित्सक मेरी रेख देख को नित्य आते। मेरे एक दो साथियों को ऐसी दशा में वे उठाकर ले भी गये थे। सरकारी आदमियों ने बार-बार कहा भी था, हम किसी भी दशा में ब्रह्मचारीजी को मरने न देंगे। अस्पताल की गाड़ी बार-बार मेरे यहाँ आती। मैं सोचने लगा—अब मैं पैरों से चल तो सकूँगा नहीं। जब घुटनों तक ये शून्य हो गये हैं, तब चिकित्सक इन्हें इतना काट देंगे, नली से मेरे मुख में दूध पहुँचावेंगे। सुइयों द्वारा फलशर्करा (ग्लूकोस) पहुँचावेंगे। हाय! मैं उस दुर्गति को कैसे सहूँगा। सबसे अधिक व्यथित तो मुझे दुर्गन्धयुत चूर्ण की वह स्मृति कर रही थी। न जाने कैसे मेरी घ्राणशक्ति उस अनशन से ऐसी उत्कट हो गयी थी इस विषय की मुझे एक कहानी स्मरण हो आयी।

व्रज में हमारे महाबन का ही एक छोटा-सा जाट राजा था। उसकी घ्राण शक्ति ऐसी थी, कि वह तनिक भी दुर्गन्ध को सहन नहीं कर सकता था। इसका शौचालय नित्य इत्र से धोया जाता

था। उसका महल बहुत अधिक स्वच्छ रखा जाता था, कहीं भी किसी प्रकार की गंध न आने पावे इसका सभी सेवक सर्वदा बड़ी तत्परता से ध्यान रखते।

जब अंगरेजों का दिल्ली दरबार लगा तो उन्हें भी बुलवाया गया। दिल्ली की सड़कों को बहुत ही सावधानी से स्वच्छ किया गया। सैकड़ों छिड़काव करने वाले (भिस्ती या सक्के) चर्म थैलों (मशकों) से छिड़काव कर रहे थे। हमारे ये राजा साहब गये तो इन्होंने वहाँ नाक बन्द कर ली। लोगों ने पूछा—"महाराज, क्या हुआ ?"

राजा ने कहा—'दुर्गन्ध आ रही है।"

लोगों ने पूछा—"यहाँ तो इतनी स्वच्छता है दुर्गन्ध किस वस्तु की आ रही है ?"

राजा ने कहा—"अंडी के तेल की दुर्गन्ध आ रही है।"

लोगों ने बहुत पता लगवाया। पता लगाते-लगाते यह पता चला कि जिन चर्म थैलों (मशकों) से छिड़काव हो रहा था, वे एक दिन पूर्व अंडी के तेल से चुपड़ी गयीं थी।

उनकी इतनी भारी घ्राणशक्ति से एक अधिकारी अंगरेज को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने परीक्षा के लिये उनके सामने से मल भरी हुई टोकनियाँ निकलवायी उसी समय उनकी मृत्यु हो गयी।

मेरी घ्राणशक्ति उतनी तो तीव्रतम नहीं हुई थी, किन्तु तीव्रतर अवश्य हो गयी थी। एकदिन मेरे अत्यन्त प्रेमी एक महामंडलेश्वर मुझसे मिलने गये थे। उन्होंने साबुन से स्नान करके भस्मी लगायी होगी वे मेरे पास जितनी देर बैठे रहे, मुझे बड़ी व्यथा होती रही। इसलिये मेरे साथी मेरे रक्षक बड़ी सावधानी बरतते थे, किसी को भी भस्मी रमाये मेरे पास नहीं आने देते। रात्रि

में अस्पताल वाले मुझे उठा न ले जायँ, इसके लिये रात्रि में बहुत से स्वयं सेवक आकर मेरे चारों ओर सोते और पहरा देते थे।

मेरा चिंतन निरन्तर हो रहा था, मृत्यु मुझे प्रत्यक्ष अपने चारों ओर मंडराती हुई दिखायी देती थी। मुझे बार-बार यह सुनायी देता 'जीवन्नरो भद्र शतानि पश्यति' यदि मनुष्य जीवित बना रहे, तो संभव है सैकड़ों मंगलों के देखने का उसे सुअवसर प्राप्त हो जाय। यह मेरा भ्रम था, या मैं मृत्यु से भयभीत हो गया था, कुछ निर्णय ही नहीं कर पा रहा था।

मैंने मन्थन से ऐसा समझा गौ माता के प्रति मेरा जो प्रेम है सो तो है ही। मुझे श्रेय की भूख अधिक है। मैं चाहता हूँ मर कर भी मैं अमर हो जाऊँ। गौरक्षकों में मेरा ही प्रधान नाम हो। सब लोग यही कहें उन्हीं के कारण गो हत्या बन्द हुई।

यह श्रेय की भूख ऐसी उत्कट होती है, कि प्राणी को कहाँ से कहाँ ले जाती है। अरे इस इतने बड़े संसार में किसकी गणना है। लोग कहते हैं—अमुक काम करने से वे इतिहास में अमर हो जायँगे। इतिहास किसे अमर करता है, जीव का मिथ्याभिमान ही है। हमारे इस आंदोलन में श्रेय का अभिलाषी मैं अकेला ही नहीं था, मेरे और स्नेही बन्धु थे। वे चाहते थे हमें श्रेय प्राप्त हो, किन्तु श्रेय उसी को प्राप्त होता है, जिसे भगवान् श्रेय देना चाहें नहीं तो श्रेय के लिये संसार में कौन लालायित नहीं होता। श्रेय की चाह सभी को है। जो श्रेय नहीं चाहते निःस्वार्थ भाव से सेवा करते हैं, उन महात्माओं को मैं शिर से प्रणाम करता हूँ।

जब श्रेय की ही बात चल पड़ी तो मुझे एक बात याद आ गयी। यह उन दिनों की बात है, जब हम मथुरा में सत्याग्रह करने वाले थे और हमें सफलता मिल चुकी थी। लखनऊ में या

तो कर चुके थे या करने वाले थे। गो हत्या निरोध समिति की ख्याति बढ़ गयी थी। मैं वृन्दावन में रामदास शास्त्री के यहाँ चार सम्प्रदाय में ठहरा हुआ था। तभी बम्बई के एक सुप्रसिद्ध उद्योगपति मुझसे मिलने आये। उन दिनों वे गोरक्षादि ऐसे धार्मिक कार्यों में सक्रिय भाग ले रहे थे। एक धार्मिक नेता के प्रति उनकी तब अनन्य श्रद्धा थी। मुझसे उन्होंने कहा—"महाराज, हम चाहते हैं, सब मिल कर कार्य करें।"

मैंने कहा—"सेठजी! इसमें दो मत होने की कौन-सी बात है। आप जैसा कहेंगे वैसा हम करेंगे।"

वे बोले—"अच्छा गो हत्या निरोध समिति के आप तो जैसे हैं, वैसे ही अध्यक्ष बने रहें मंत्री लाला हरदेव सहाय जी हैं ही एक अमुक को और बना लें। और प्रधान संरक्षक उन (धार्मिक नेता) को बना दें।"

मैंने कहा—"बहुत अच्छा, ऐसा ही करेंगे।"

सेठजी बोले—"एक बात और करनी पड़ेगी।"

मैंने पूछा—"वह कौन सी?"

वे बोले—"स्वयं सेवकों के जो बिल्ले बनाये जायेंगे, जिसे प्रत्येक स्वयं सेवक अपनी छाती पर लटकाये रहेगा उसमें अमुक व्यक्ति का चित्र रहेगा। उनके चित्र वाले बिल्ले लगाना अनिवार्य होगा।"

मैंने कहा—"सेठजी, यह बात तो आपने बहुत ही बढ़िया कही। उनका चित्र अवश्य रहना चाहिये, किन्तु मेरा एक सुझाव और है?"

वे बोले—"कौन-सा सुझाव?"

मैंने कहा—"हमारे साथ तो आर्यसमाजी भी हैं। आर्यसमाजियों का कहना है, कि गोरक्षा आंदोलन के आदि प्रवर्तक

स्वामी दयानन्दजी सरस्वती हैं, अतः उनका आग्रह होगा कि एक स्वामी जी का भी चित्र होना चाहिये। कुछ लोग मालवीय जी को आंदोलन प्रवर्तक मानते हैं अतः उनका भी चित्र रहना चाहिये। कुछ लोग हासानन्द जी को मानते हैं, जो गोहत्या बन्द कराने को अपने साथ तारकूल रखते और नेताओं के मुख पर तारकूल पोत देते थे। श्री चित्तरंजनदास, महामहना मालवीय तक के मुख उन्होंने काले किये थे उनका भी चित्र रखना आवश्यक है। ये संघ वाले कहते हैं, हमने गौरक्षा के समर्थन में इतने अधिक हस्ताक्षर संग्रह कराये कि संसार में आज तक किसी भी धार्मिक प्रश्न पर इतने हस्ताक्षर संग्रह नहीं हुए, अतः वे भी डा० हेडगेवार और श्री गुरुजी गोलवलकर के चित्रों का आग्रह करेंगे। लाला हरदेव सहाय के चित्र की भी कुछ लोग माँग कर सकते हैं और सेठजी अनुचित न समझें तो मैंने भी कुछ न कुछ काम किया है आप उचित समझे तो मेरा भी चित्र बिल्ले में रहना चाहिये।"

मेरी बात सुनकर सब लोग हँस पड़े। सेठजी कुछ भी नहीं बोले, उन्होंने चुपचाप अपनी छड़ी उठायी और दूर से ही मुझे हाथ जोड़ कर अपनी गाड़ी में जा बैठे।"

सो श्रेय का भूत मेरे ही सिर पर सवार नहीं था। मेरे और भी भाई थे। परन्तु मै अपनी निजी चर्चा ही लिख रहा हूँ, इसलिये उनके सम्बन्ध में कुछ भी न कहूँगा।

कुछ लोग चाहते थे। इस चढ़े हुए तवे पर चुनाव की रोटी सेककर इस सरकार पर अपना अधिकार जमा लें। मै इसके सर्वथा विरुद्ध था, किन्तु मैं तो मृत्यु शैया पर मरणासन्न पड़ा था, अपना विरोध कैसे प्रकट करूँ। कुछ लोग पद के लिये वाद-

विवाद कर रहे थे। जाने दो इस अप्रिय प्रसंग को यहाँ क्यों छेड़ा जाय।

अत्यन्त संघर्षण के अन्त में मैंने यह निश्चय किया कि अब मरने के संकल्प को मुझे त्याग देना चाहिये। यह निश्चय मैंने मृत्यु से डर कर किया या और किसी कारण से किया इस विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता, किन्तु यह दृढ निश्चय कर लिया कि अब मरना नहीं है।

फिर मेरे मन में विचार आये। बड़ी अपकीर्ति होगी, लोग थूकेंगे, कहेंगे, बड़े गोरक्षक बनते थे, करोली गोरक्षा, मरना सुगम नहीं है। गोरक्षा किये बिना मैं कैसे लोगों को मुख दिखाऊँगा। मैंने जो प्रतिज्ञा की थी कि या तो गौ ही बचेगी या मेरी मृत्यु ही होगी। गौओं का वध होते हुए जीना मरने से भी बुरा है। परन्तु इन विचारों से मेरे निश्चय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सोचा—अब जो भी कुछ होगा, सब सहेंगे, अब प्राणों की रक्षा करेंगे।

दूसरे दिन भारतवर्ष भर के समाचार पत्रों में मेरी गम्भीर स्थिति का समाचार छपा। देश विदेश से सहस्रों पुरुष देखने दौड़ पड़े। अस्पताल की गाड़ी भी आ गयी। जिलाधिकारी भी आ गये देहली आदि से मेरे स्नेही बन्धु भी आ गये। अब मेरे शुभचिन्तकों ने मेरा योगीक में रहना निरापद नहीं समझा। वे मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध उस पार वृन्दावन स्थित हमारे संकीर्तन भवन में ले गये। अधिकारी गण गाड़ी लेकर साथ-साथ थे। स्यात् उनकी इच्छा मुझे चिकित्सा के निमित्त मथुरा जिला चिकित्सालय में भी ले जाने की रही होगी, किन्तु इतनी भीड़-भाड़ के सम्मुख उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त नहीं होने दी मैं इस पार वंशीवट संकीर्तन भवन के अपने निवास स्थान में आ गया।

मेरे सभी स्नेही बन्धु नहीं चाहते थे, मै मर जाऊँ, वे, सब प्रकार से मुझे जीवित देखना चाहते थे। इस अनशन में ही मुझे पता चला लोगों की कितनी मेरे ऊपर कृपा है, कितने लोग मेरे लिये व्यथित, चिंतित और उद्विग्न हैं। हमारी एक माताजी ने भरे हुए कण्ठ से मुझसे कहा—"महाराज! मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करोगे? आप अपने प्राणों की रक्षा करें गौ की रक्षा तो हो ही जायगी। थोड़ा फलों का रस पी लीजिये।" मै स्वयं भी निश्चय कर चुका था, माता के कहने पर मैंने रस ले लिया। किन्तु मुझे शरीर की सुधि-बुधि नहीं थी। मृत्यु मेरे चारों ओर मंडरा रही थी। मुझे कितना कष्ट है, इसे मै व्यक्त नहीं कर रहा था। ऐसा लगता था; मृत्यु कब आ जाय। घुंटनों तक पैर शून्य हो गये थे, मस्तिष्क फटा जा रहा था, नींद का नाम नहीं, मैने किसी से कहा भी नहीं। कहूँगा तो सैकडों डाक्टर वैद्य आवेंगे। अपनी-अपनी औषधि बतावेंगे, जिसकी न करो वही बुरा मानेगा। एक अंगरेज ने अपने भारत भ्रमण का सार लिखा था—"भारत में प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ न कुछ चर्चा कर सकता है और प्रत्येक को कुछ औषधियाँ याद है। आप किसी भी बीमारी को लेकर चौराहे पर बैठ जाइये। जो आवेगा वही उसकी एक दो औषधि बता जायगा।"

मैं अपनी प्रकृति को, अपने रोग को, उसके निदान को, उसकी चिकित्सा को स्वयं जानता था। मैं स्वयं थोड़ी बहुत वैद्यक जानता हूँ, कम से कम ३०-४० वर्ष से अपनी चिकित्सा अपने आप करता आ रहा हूँ। उन माता ने एक अच्छे अनुभवी वैद्य को मेरे पास रख दिया। उन माँ के वे वैद्यजी अत्यन्त भक्त हैं, वयोवृद्ध तथा अनुभव वृद्ध हैं, वे रात्रि में मेरे पास रहते। उन्होंने राई भर मकरध्वज, सितोपलादि चूर्ण मुझे शहद में दे दिया।

३५-३६ दिन का अनशन, पेट में पानी की एक बूंद भी नहीं टिकी थी, कैसी भी औषधि जाती वही विष का काम करती, किन्तु इसके लिये बड़ी सावधानी बरतनी थी।

मेरी मरणासन्न दशा सुनकर तुरन्त उसी दिन बम्बई कलकत्ता आदि से बहुत से बन्धु आ गये। संघ के गुरुजी भी तुरन्त उसी दिन पहुँच गये। मैंने उनसे कहा—"अब तो मैंने अनशन समाप्त करने का निश्चय कर लिया है।"

उन्होंने कहा—"समाप्त तो करना ही है। किन्तु अभी २-४ दिन और ठहर जायें सबसे सम्मति कर लें।"

मैंने कहा—'मेरी दशा अत्यन्त सोचनीय है, मैं किसी डाक्टर या अन्य वैद्य की चिकित्सा तो कराऊँगा नहीं। अब मैं ठंडा जल न पीकर गरम नमक नीबू का जल पिया करूंगा, औषधि लूंगा, चाहें आधी रत्ती ही लूं, पैरों में मालिश कराऊँगा।"

उन्होंने कहा—"हाँ, औषधि लेने में क्या हानि है।"

तुरन्त मैंने यमुना जल गरम कराया एक सेर का जलते-जलते पाव भर रह गया। उसमें नमक नीबू मिलाकर वह जल पीया। वह गरम जल पच गया। उसने आहार का भी काम किया। पहिले जिन्हें मोतीझरा (टाइफाइड) हो जाता था उन्हें चौथाई औटाया हुआ जल ही दिया जाता था। वह आहार का ही काम देता था। वैद्य लोग ८०-८० दिन का उपवास कराते थे। मैंने भी ऐसा ही जल लेना आरंभ किया। शून्य हुए पैरों पर कायफल की निरन्तर मालिश करायी। अगहन पौष का महीना था, उस वर्ष एक तो वैसे ही जाड़ा कड़ाके का पड़ रहा था, दूसरे मैं ३५-३६ दिनों तक उस बरफ की भाँति गीली कुटिया में सोया था नस-नस में सरदी भर गयी थी। चौबीसो घंटे अग्नि मेरे कमरे में जलती रहती। और निरन्तर अजमाइन का

धूंआ मे कराता रहता। दिन भर में लगभग आधा सेर तीन पाव अजमाइन थोड़ी-थोड़ी कर जल जाती। जैसे प्राचीन काल में किसी प्रसूतिका के प्रसव गृह में धूनी आदि उपकरण किये जाते वैसा ही मेरा निवास स्थान हो गया था। सिकाई, निरन्तर की मालिश, औषधि से मुझे कुछ आराम मिला चेतना आई। रात्रि के ३ बजे मेरे पैरों की शून्यता में कुछ अन्तर पड़ा। थोड़ी सी निद्रा भी आई, घबराहट कम हुई। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि तीन दिन जो मृत्यु छाया की भाँति मुझे घेरे हुए थी, वह लौटकर चली गयी। मेरे समीप ही जो सूरज रतन मोहता सोये हुए थे, मैंने कहा—"भैया! अब तो मृत्यु लौट गयी, अब मै मरूंगा नहीं।"

मेरी दशा सुनकर बहुत से समाचार पत्रों के संवाददाता आते। मथुरा से तुरंत 'अमर उजाला' 'सैनिक' के सम्पादक आ गये। मुझसे उन्होने पूछा—"आप कब अनशन समाप्त करेंगे?" मैंने कहा—"अब तो अनशन समाप्त सा ही है, जब मैं औषधि लेने लगा तो अब अनशन क्या रहा? मेरे साथी मेरी समिति के सदस्यों से सम्मति करने देहली गये हैं।"

दूसरे दिन उन्होंने बड़े अक्षरों में छाप दिया, ब्रह्मचारीजी का अनशन समाप्त ही हो रहा है। समिति के लोग इस पर गंभीरता से विचार कर रहे हैं।

जो आता उसी से मैं ऐसी बातें कह देता। "मैं स्वयं तो अपने को चैतन्य समझता किन्तु कभी-कभी अचेतन हो जाता और जो मुख में आता वही बोल जाता।" यह बात मेरे साथियों को बड़ी असह्य लगी।

उन्होने कहा—"महाराज, आप एक सप्ताह के लिये काष्ठ

मौन हो जाइये। न बोलिये, न लिखिये, न समाचार पत्र पत्रिकायें चिट्ठी पत्री, तार पढ़िये। चुपचाप पड़े रहिये।"

मैंने सब की बात मान ली। सात दिनों तक न मैं किसी से बोला, न लिखा न पत्र तार तथा समाचार पत्र ही देखे। मुझे पता ही नहीं संसार में क्या हो रहा है।

कुछ लोगों ने कहा भी—थोड़ा फल रस-सार (ग्लूकोस) ले लिया करें, किन्तु मैने उसे स्वीकार किया नहीं। मैंने आज तक उसे कभी लिया ही नहीं। नमक नीबू पड़े गरम यमुना जल ने मेरे प्राणों की रक्षा की। यमुना जल एक तो वैसे ही भारी होता है, फिर सेर का पाव भर जलाते-जलाते रह जाय नमक और नीबू का रस पड़ जाय, तो वह जल सामान्यतया बहुत ही हलका आहार हो जाता है। सभी राजनैतिक अनशन करने वाले ऐसा जल लेते है, मेरे साथी भी लेते थे मैंने ही इतने दिनों नहीं लिया। ठंडा जल पचता ही नही था, यह जल पचने लगा। वैद्य जी बहुत ही न्यून मात्रा में दूसरे तीसरे दिन औषधि देते, उसके अनुपान के रूप में थोड़ा अनार का रस। अजमाइन की धूनी ने रामबाण का काम किया। नस-नस में व्याप्त सरदी को उसने शनै-शनैः निकाल दिया।

--अब यही बात रह गयी, कि निद्रा नहीं आती थी। पूरी रात्रि जाग कर काटनी पड़ती थी। भाईजी हनुमान प्रसाद जी पोद्दारजी ने जब मेरी ऐसी दशा सुनी तो उन्होंने निद्रा लाने की तुरन्त एक औषधि भेजी, रज्जू भैया ने भी जब सुना तो वे भी लखनऊ से बहुत खोजकर निद्रा आने की औषधि लाये। परन्तु मैंने उन दोनों में से एक को भी नहीं खाया।

मैंने अनिद्रा की औषधि के सम्बन्ध में एक कहावी सुनी थी। हमारे इटावे जिले में एक बड़े ही निस्पृही त्यागी पुराने समय

के वैद्य थे। वे रोगियों को औषधि तो देते थे, किन्तु किसी से एक पैसा भी नहीं लेते थे। ऐसे त्यागी निस्पृही वैद्यों के हाथों में यश होता है, वे जिस रोगी पर भी हाथ डाल देते हैं, वह अच्छा होता है। ऐसे लोगों को धन की प्राप्ति चाहे न हो, उनकी कीर्ति चारों ओर फैल जाती है। उन वैद्यजी की भी कीर्ति चारों ओर फैली हुई थी।

एक बार वे वैद्यजी श्रावण में अमरनाथ की यात्रा को गये। अमरनाथजी के दर्शन उन दिनों वर्ष में एक दिन रक्षाबंधन के ही दिन होते थे। सब यात्री पैदल जाते थे, राज्य की ओर से समस्त यात्रियों के भोजनादि का सब प्रबंध होता था। जो न करना चाहे उसकी बात दूसरी है। ये वैद्यजी भी पैदल-पैदल यात्रा को गये। हिमनिर्मित अमरनाथजी के दर्शन करके श्रीनगर में लौट कर आ गये। उन दिनों कश्मीर के महाराजा को अनिद्रा रोग हो गया था। ३-४ दिनों से उन्हें तनिक भी निद्रा नहीं आयी थी बड़े-बड़े आधुनिक अंगरेज चिकित्सक (सिविल सर्जन) आते, भाँति-भाँति की औषधियाँ देते, किन्तु कोई भी महाराज को सुलाने में समर्थ नहीं था।

वैद्यजी ने भी सुना। वे साधारण देहाती से थे, एक मैली अंगरखी, मैली धोती पहिने, पगड़ी बाँधे कंधे पर खुरजी लटकाये हुए थे। खुरजी में लोटा डोरी कुछ भोजन का सामान, एक धोती एक अंगरखी कुछ औषधियाँ लिये रहते थे। महाराज की ऐसी दशा सुनकर उन्हें दया आ गयी। उन्होंने महाराज को देखने की इच्छा की। तुरंत यह समाचार महारानी को मिला। स्त्रियाँ तो बड़ी श्रद्धालु होती हैं, फिर भारतीय स्त्रियाँ अपने पति के जीवन के लिये सब कुछ कर सकती हैं। महारानी ने समाचार सुनते ही तुरंत वैद्यजी को बुलवाया। ये खुरजी कंधे पर

लटकाये हुए पहुँच गये महारानी ने उठकर उनका सत्कार किया, प्रणाम की और बैठने को कुरसी दी। संकेत से वैद्यजी ने पूछा—"मैं महाराज की नाड़ी देख सकता हूँ।"

रानी ने स्वीकृति दे दी। महाराज करवट के बल पड़े थे, पीठ वैद्यजी की ओर थी, उसी दशा में धीरे से वैद्यजी ने उनकी नाड़ी देखनी चाही ज्यों ही उन्होंने हाथ पकड़ा, महाराज ने इस ओर करवट बदला। अपने सम्मुख कुरसी पर एक मैले कपड़े पहिने देहाती जैसे व्यक्ति को देखा, तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। तुरन्त उन्होंने हाथ खींच लिया। वैद्यजी उनके अभिप्राय को समझ गये, महाराज के दिन अच्छे थे, वैद्यजी क्रुद्ध नहीं हुए उन्होंने महारानी से कहा—"महारानी जी! महाराज जब मुझे छूने से ही घृणा करते हैं, तो मेरी औषधि तो खाने ही क्यों लगे।" किन्तु मैं एक औषधि देता हूँ, उसे आप बत्ती में लपेट कर घी का दीपक जलाकर महाराज के सम्मुख रख दें, उन्हें दीपक की लौ की ओर देखते रहने को कहें—"भगवान् ने चाहा तो निद्रा आ जायगी।" ऐसा कह कर औषधि देकर वैद्यजी चले गये। रानी ने तुरन्त वैसा ही किया। महाराज से प्रार्थना की आप इस दीपक की ओर देखते रहें। राजा देखते रहे। देखते-देखते उन्हें निद्रा आ गयी और पूरे ६ घन्टे तक सोते रहे।

छै घन्टे पश्चात् जब उनकी निद्रा भङ्ग हुई, तब उन्होंने देखा हाथ जोड़े हुए महारानी गद्गद कंठ से भगवान् की स्तुति कर रही हैं।

उठते ही महाराज ने पूछा—"वह देहाती कौन-था, कहाँ चला गया। उसे मेरे पास बुलाओ।"

रानी का हृदय भरा हुआ था। वह कृतज्ञता के बोझ से दबी हुई थी। राजा की ऐसी बात सुनकर उन्होंने प्रेम के कोप

मुझे ज्ञान नहीं था। मैंने कपूर लगवाकर अपने सामने रात्रि भर घी का दीपक जलवाया। दो तीन दिनों के पश्चात् मुझे निद्रा आने लगी।

उन दिनों मेरी विचित्र दशा हो गयी थी, जिस विषय पर सोचता था उस विषय पर सोचता ही रहता था। जो धुनि मुझे चढ जाती उसी के पीछे पागल हो जाता। निरन्तर उसी के पक्ष विपक्ष में सोचता रहता।

संघ के गुरुजी से न जाने क्यों मेरा अत्यधिक अनुराग है, इस जन्म में तो मेरा, उनका ऐसा कभी विशेष संपर्क हुआ नहीं। पूर्व जन्म का कोई सम्बन्ध है, जन्मान्तरीय संस्कार है। उन दिनों इनके प्रति मेरा प्रेम पराकाष्ठा का उमड़ पड़ा था। उनके ही सम्बन्ध में सोचता रहता। किसी व्यक्ति ने किसी सार्वजनिक सभा मे उनके प्रति कुछ अपशब्द कह दिये थे। उस समय उनकी ऐसी तीव्र प्रतिक्रिया हुई, कि मैं उस व्यक्ति को गाली देने लगा। मेरा पागलपन पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

रज्जू भैया के विषय में मैं क्या कहूँ, वे तो अपने आत्मीय ही हैं. अनशन के अतिम्म दिनों में उन्होंने कितना अत्यधिक श्रम किया वे सब कहने की बात नहीं, कहने से उन बातों का महत्त्व घट जाता है। वे मुझे बार-बार समझावें, डांटे भी—"महाराज जी आप यह क्या कर रहे हैं। चालीस वर्ष तक मौन रहकर किसी के लिये गाली निकाल रहे हैं, कोई सुनेगा तो क्या कहेगा।" मैं तुरन्त अपने कान पकड़ता, जीभ दातों से काटता। अपना दोष स्वीकार करता। किन्तु अन्त में वे ही शब्द फिर निकल जाते।

उन दिनो दान करने की मेरी वृत्ति इतनी विकसित हो गयी थी, कि सोचता था क्या दे डालूँ क्या दान करा दूँ। औदार्य वृत्ति

जाग्रत हो गयी थी। सोचता था, इस अवसर पर कम से कम सवा लाख रुपये का दान तो हो ही जाय। मेरा जो भी समर्थ परिचित आता, उसी से कुछ न कुछ दान कराने को कहता। कोई तो पागलपन समझ कर टाल जाते। कोई शक्ति अनुसार दान के लिये दे भी जाते। इच्छा होती थी, दिन भर कुछ न कुछ बटता रहे, दिन भर लोग खाते पीते रहें, मनों चना भिगोकर छुंकवा कर दिन भर बटवाता जितनी ही वस्तुएं बंटती उतनी ही मुझे प्रसन्नता होती। भंडार में मैंने कहला रखा था, पुलिस हों, गुप्तचर हों, दर्शक हों जो भी कोई आजाय, सबको भोजन कराओ, सबको चाय पिलाओ। सवालाख तो नहीं, फिर भी मेरे कृपालु स्नेही बन्धुओं ने मेरी मंगल कामना के निमित्त मुक्तहस्त होकर द्रव्य दिया। तभी तो ७२ दिनों तक यह महोत्सव धूमधाम से चलता रहा।

मुझे तो मौन कर दिया, किन्तु हमारे साथी अनशन समाप्ति में एक मत होते ही नहीं थे। अधिकांश लोगों की सम्मति थी इसे अभी और चलाया जाय। जिससे जनता में जागृति बनी रहे।

मेरे निवास स्थान पर समिति के समस्त प्रतिष्ठित-प्रतिष्ठित सदस्यों नेताओं की बैठक हुई। उसमें भी प्रस्ताव रखा गया, "अब अनशन समाप्त कर दिया जाय।"

इस पर एक सज्जन बोले—"यह तो बड़ी अपयश की बात होगी। कौन इसे अपने ऊपर लेगा?"

इस पर गुरुजी गोलवलकरजी ने कहा—"इस अपयश को मैं अपने सिर पर लेने को तैयार हूं। मुझे किसी से मत (वोट) की भीख तो मांगनी ही नहीं है। मैं स्थान-स्थान पर कहता फिरूंगा, मैंने अनशन समाप्त कराया है। आप लोग भी कह दिया करें—'इस दाढ़ी वाले ने ही ऐसा किया है।" किन्तु बा

कुछ बनी नहीं। दो एक को छोड़कर सभी की सम्मति यही रही अनशन चलाया जाय।

मुझे बडी आन्तरिक ग्लानि हो रही थी, मै कर रहा हूँ कुछ, लोगों पर प्रकट कुछ और ही करता हूँ, यह तो दभ है, छल है, कपट है, विश्वासघात है। औषधि लेने से, नमक नीबू का गरम जल लेने से मेरे स्वास्थ्य में कोई अन्तर नहीं पड़ा था, फिर भी यह विषम परिस्थिति थी।

जिस दिन मेरे साथी अहूजा का देहान्त हुआ उस दिन मुझे बड़ी पीड़ा हुई। मैने सोचा—देखो, मैने उसे तो मरने दिया, अपने आपको बचा लिया। किन्तु मैं विवश था, अपने साथियों सहयोगियों से ऐसे समय विद्रोह करना मुझे अच्छा न लगा।

जब मैंने देखा, कुछ लोग २-२-४-४ दिन करके इस स्थिति को चुनाव तक खींच ले जाने की सोच रहे हैं, तब मै अब अधिक दिन अपने को इस विषम परिस्थिति में नही रख सका। मैंने घोषणा कर दी। मैं अमुक तिथि को अनशन समाप्त कर दूंगा। तब तो सब विवश हो गये। निश्चित तिथि को बड़ा भारी समारोह हुआ पत्रकार, चित्रकार, समिति के सदस्य, दर्शक तथा समस्त शुभ चिंतकों के सम्मुख मैने गौ का दूध लेकर इस स्थिति का अंत कर दिया।

बात तो कहने के लिये बहुत-सी हैं, इतिहास तो बहुत बड़ा है, किन्तु मै यहाँ इतिहास लिखने नहीं बैठा हूँ, मुझे तो अपनी वास्तविक स्थिति बतानी थी। मेरा हृदय मुझे तभी से निरंतर कचोटता रहता था, कि मुझे अपनी यथार्थ परिस्थिति सब पर प्रकट कर देनी चाहिये। एक उर्दू के कवि ने कहा है—

दोस्त मेरा मुंह न देखें उनको ग़र मालूम हो।
उनसे क्या कहता रहा और आप क्या करता रहा॥

जब कोई कहता है महाराजजी ने ७२ दिन अनशन किया है, तो मुझे आन्तरिक पीड़ा होती है। वास्तविक बात यह है कि ३५ या ३६ दिन तो मेरा विशुद्ध धार्मिक अनशन रहा। शेष ३६ दिन कहने को तो वह अनशन ही था, शास्त्रीय दृष्टि से भी नीबू के रस सहित जल लेने और औषधि लेने से अनशन में कोई अन्तर नहीं, किन्तु मैं उसे वास्तविक अनशन न कहकर ३६ दिन के अनशन को राजनैतिक अनशन ही कहूँगा। वह भी मैंने स्वेच्छा से नहीं परेच्छा से किया। अपने साथियों, सहयोगियों, मित्रों के आग्रह से सहयोग से किया। मैं चाहता तो ३६ वें दिन ही इसकी घोषणा कर सकता था, किन्तु मैं अपने सहयोगियों के सहसा विरुद्ध जाने में हिचकता था। अतः मेरा सभी बन्धुओं से यही अनुरोध है, कि मुझे पूरा अनशनकारी न मानकर आधा ही अनशनकारी मानें।

बस, अब यहीं पर मैं अपनी इस अपनी निजी चर्चा को समाप्त करता हूँ।

छप्पय

जब लिखवायौ प्रभो ! तबहिं लिखिकें जतलायौ।
जैसो जो कछु करयो नाथ ! तैसो बतलायौ॥
पाप पुन्य जो भयो क्षमा करि सेवक मानो।
अन्तरजामी देव ! आपु घट-घट की जानो॥
भटक्यो अब तक बहुत हूँ, अब तो अपनाओ विभो !
मेरे तो सरबसु तुमहिं, जैसो हूँ तुमरो प्रभो॥

गीता-माहात्म्य

[१२]

गीतायाः द्वादशोऽध्यायः सर्व सिद्धिकर स्मृतः ।
ये पठन्ति सदा प्रेम्णा, तेषां कश्चिन्न दुर्लभः ॥ ❀
(प्र० द० अ०)

छप्पय

अब द्वादश अध्याय महातम गीता को सुनि ।
कोल्हापुर शुभ नगर देवि थल बसत एक मुनि ॥
नित द्वादश अध्याय पाठ करि होवैं हरषित ।
पाठ करन तें शक्ति बढ़ी तिनिकी अद्भुत अति ॥
आयो राजकुमार इक, दरशन देवी के करे ।
करि प्रनाम इस्तुति करी, नेह नीर नयननि भरे ॥

देवताओं को परोक्ष प्रिय कहा गया है । वे स्वयं वरदान बहुत कम देते है, किसी न किसी अपने भक्त को वे निमित्त बना कर वर देते हैं । भक्तों में जो शक्ति है वह भी उन्हीं की दी हुई है, किन्तु भगवान् अपनी प्रतिष्ठा से उतने प्रसन्न नहीं होते, जितने प्रसन्न अपने भक्तों की प्रतिष्ठा से होते हैं । करते-कराते सब

❀ गीता का बारहवां अध्याय सभी सिद्धियों को देने वाला कहा गया है । जो पुरुष सदा इसे प्रेम से पढ़ेंगे उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है ।

भगवान् ही हैं, किन्तु भक्तों को निमित्त बना लेते हैं। जिससे लोग कहें अमुक भगवद् भक्त ने ऐसा अद्भुत कार्य किया। भगवान् ने यही बात अर्जुन से महाभारत युद्ध के समय कही थी—"देखो, अर्जुन! भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य वीरों को मैं मन से पहिले ही मार चुका हूँ, अब तुम इन मरे हुओं को मार कर यश उपार्जित करो। भगवान् अपने भक्तों के हित की बात पहिले ही सोच लेते हैं। भगवान् जानते थे जरासंध जीता रहेगा, तो पांडवों का यश चारों ओर न फैलेगा—वे राजसूय जैसा महान् यज्ञ नहीं कर सकेंगे, अतः उन्होंने भीम द्वारा उसे मरवा दिया। इसी प्रकार वे जानते थे एकलव्य यदि जीता रहेगा, तो उसे कोई जीत न सकेगा, अतः द्रोणाचार्य के द्वारा उसका अंगूठा कटवा दिया और फिर भी उसका वध स्वयं कर दिया। भीष्म-पितामह के पास पांडवों को ले गये और उनसे प्रार्थना की—"ये धर्मराज गद्दी पर नहीं बैठते इनको धर्म का उपदेश करो।" जब भीष्मपितामह ने कहा—"आप ही उपदेश क्यों नहीं करते।" तब भगवान् ने कहा—"मैं उपदेश कर सकता हूँ, किन्तु मुझे अपने भक्तों का यश सुनकर आन्तरिक प्रसन्नता होती है। जब लोग धर्म के विषय में आपके शब्दों को प्रमाण मान कर उद्धृत करेंगे, कि इस विषय में भीष्मपितामह का ऐसा मत है, तो मुझे प्रसन्नता होगी। मैं अपनी शक्ति देकर ही भक्तों के यश को बढ़ाया करता हूँ। वास्तव में राजा का सेवक राजा के ही पान को लगा कर राजा को अर्पण करता है। राजा उसकी प्रशंसा करता है। पिता पुत्र को द्रव्य देता है, जब पुत्र उससे कोई शुभ कर्म करता है, तो और लोगों के साथ पिता भी उसके शुभ कर्म की प्रशंसा करता है। यदि पिता-पुत्र को द्रव्य न देता तो असमर्थ पुत्र उस शुभ कर्म को कर ही नहीं सकता था। फिर भी पुत्र के यश को सुनकर

प्रसन्न होने वाला पिता उसे यशस्वी बनाने में उसके गौरव की वृद्धि में स्वयं सहयोग देता है। समस्त शक्तियों को देने वाली तो जगज्जननी भगवती महालक्ष्मी ही हैं, किन्तु वे स्वयं वर न देकर अपने आश्रित भक्तों से ही वर दिलाती है।

भगवती लक्ष्मी जी के पूछने पर जैसे भगवान् विष्णु ने और पार्वती जी के पूछने पर जैसे शिवजी ने गीताजी के द्वादश अध्याय का महात्म्य कहा था उसे आप लोग ध्यान पूर्वक सुनें। महाराष्ट्र प्रदेश में कोल्हापुर नामक एक बड़ा ही समृद्धशाली पावन नगर है। प्राचीन काल में वहाँ बड़े-बड़े सिद्ध महात्मा निवास करते थे। उसे दक्षिण की काशी भी कहते हैं। दक्षिण का वह सुसिद्धतीर्थ है। जैसे पूर्व में पितरों के लिये गया है वैसे ही दक्षिण में यह रुद्र गया है। यहाँ आकर लोग अपने पितरों का श्राद्ध करते हैं। देश में भगवती की जो ५१ पीठें हैं, उनमें से कोल्हापुर भी भगवती पराशक्ति लक्ष्मी जी का प्रधान पीठ है। वहाँ शिव मंदिरों की भरमार है। यह पुराण प्रसिद्ध तीर्थ सम्पूर्ण भोगों को तथा मोक्ष को प्रदान करने वाला है। भगवती पराशक्ति लक्ष्मी जी की सेवा के निमित्त उनके सान्निध्य में और भी बहुत से देवगण उस पावन क्षेत्र में निवास करते हैं। पराशक्ति भगवती महालक्ष्मी के दर्शनार्थ वहाँ दूर-दूर से यात्री आते ही रहते हैं।

एक दिन किसी राज्य का राजकुमार देवी के दर्शनों के लिये उस पुण्य क्षेत्र में आया। राजकुमार अत्यन्त ही सुन्दर था। तपाये हुए सुवर्ण के समान उसके शरीर का वर्ण था। वह देखने में अत्यन्त ही मनोहर प्रतीत होता था। कमल के समान विकसित बड़े-बड़े उसके नेत्र थे। शङ्ख के सदृश शोभायमान सुंदर उसकी ग्रीवा थी, दोनों कन्धे तथा मांसल भरे हुए थे। उसका वक्षःस्थल

विशाल तथा चौड़ा था। उसकी आजानु लम्बी-लम्बी भुजाय थे। उसके मुख मण्डल पर स्वाभाविक मुस्कान हर समय छिटकी रहती। उसकी चाल मत्तगयन्त के सदृश थी। देखने वाले उसके रूप को देखते के देखते ही रह जाते थे।

उसके नगर में प्रवेश करते ही लोग उसको उत्सुकता के साथ देखने लगे। नगर में आकर उसने विशाल भवनों, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं तथा दीर्घ गोपुरों वाले विशाल मन्दिरों को देखा। सर्वप्रथम वह मणिकण्ठ तीर्थ में गया, वहाँ उसने विधि पूर्वक स्नान किया, सन्ध्या वन्दन नित्य कर्मों से निवृत्त होकर अपने पितरों का तर्पण किया। इन सब कार्यों से निवृत्त होकर वह देवेश्वरी महालक्ष्मी जी के दर्शनों के लिये अत्यन्त उत्कंठित होकर उनके मंदिर की ओर चला। मंदिर में पहुँच कर उसने भक्ति भाव पूर्वक भगवती को साष्टांग प्रणाम किया। देवी जी की शोभा अनुपम थी। राज कुमार भक्ति भाव भरित हृदय से देवी जी की स्तुति करने लगा। राजकुमार ने कहा—

छप्पय

[१]

जिनि जननी के हिये भरी है दया अपारा।
मनवांछित फल देहिं करैं भक्तनि उद्धारा॥
देहिं कामना सकल जगत की जननी जो हैं।
जिनि तें लै अज शक्ति रचैं जग देवी सो हैं॥
जगपालन अच्युत करत, रुद्र करैं संहार हैं।
सर्व शक्ति सम्पन्न जो, तिनि पद पदुम प्रनाम हैं॥

[२]

पराशक्ति हे मातु ! योगिजन तव पद ध्यावें ।
कमले ! कमलालये ! सकल इन्द्रिनि उपजावें ॥
मनकूं पैदा करें करें संकल्प सकल जो ।
तुम ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया की शक्ति निखिल सो ॥
निष्कल, निरमल, निरामय, परम ज्ञान की रूपिनी ।
नित्य निरंजनि देवि तुम, अनरहित सु स्वरूपिनी ॥

[३]

तुम आलंबन हीन चराचरमय जग करत्री ।
उतपति थिति अरु प्रलय करो जग भरत्री हरत्री ॥
महिमा तुमरी कौन करि सकै वरनन जननी ।
षट चक्रनि कूं भेदि थान बारह विहारिनी ॥
बिन्दु, नाद, ध्वनि अनाहद, कला सकल जिनि रूप हैं ।
पुनि-पुनि पद वन्दन करूं, जिनि अति दिव्य स्वरूप हैं ॥

[४]

चन्द्र वदन तै मातु अमृत की राशि बहाओ ।
पश्यन्ती अरु परा, मध्यमा तुमहिं कहाओ ॥
तुमहिं बैखरी बनो जगत रक्षा हित माता ।
धारो रूप अनेक सकल जग की माँ त्राता ॥
तुमहिं वैष्णवी शक्ति हो, ब्राह्मी माहेश्वरि तुमहिं ।
लक्ष्मी, ऐन्द्री, चण्डिका, कौमारी तुमई सबहिं ॥

[५]

हो नरसिंही देवि महालक्ष्मी प्रभु-प्यारी ।
सावित्री हो चन्द्र—कला जग की उजियारी ॥
तुमहिं रोहिनी मातु अम्बिके ! किरपा कीजे ।
आयो तुमरी शरन कृपा करि दरशन दीजे ॥

भक्त मनोरथ पूर्ण हित, कल्पलता सम मातु तुम।
करो कृपा करुनामयी, आये तुमरी शरन हम॥

इस प्रकार स्तुति करते-करते राजकुमार आत्मविभोर बन गया। उसके कमल सदृश नयनों से झर-झर प्रेमाश्रु बह रहे थे, उसकी वाणी स्खलित हो रही थी। शरीर में सभी सात्त्विक भावों का उदय हो रहा था। हृदय से की हुई स्तुति से भगवती महालक्ष्मी प्रसन्न हो गयीं। वे राजकुमार की मनोकामना पूर्ण करने के निमित्त उसके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट हो गयीं। अपना साक्षात् स्वरूप धारण करके भगवती कहने लगीं—"राजकुमार! मै तुम्हारी स्तुति से अत्यंत ही सन्तुष्ट हूँ। तुम अपनी इच्छानुसार मुझसे जो भी चाहो वर माँग लो। मैं तुम्हारी इच्छा को पूर्ण करूँगी।"

माँ की ऐसी श्रुत मधुर कानों में अमृत घोलने वाली वाणी सुनकर राजकुमार के हर्ष का ठिकाना नही रहा। उसने बड़ी ही संयत वाणी में कहना आरंभ किया। माँ! मै एक संकट में पड़ा हुआ राजकुमार हूँ। मेरे पिता महाराज बृहद्रथ एक बड़े ही प्रतापशाली भूपति थे। उन्होंने एक अश्वमेध यज्ञ आरंभ किया था। पृथ्वी की दिग्विजय के लिये उन्होंने यज्ञीय अश्व छोड़ा था। यज्ञ अभी अधूरा ही था तभी तक दैव योग से उनकी किसी रोग से मृत्यु हो गयी। तभी समूची पृथ्वी की परिक्रमा करके घोड़ा भी लौट आया। सेवकों ने उस यज्ञीय अश्व को यज्ञ शाला के समीप गढ़े हुए यूप से बाँध दिया था। न जाने किसने रात्रि के समय उस यज्ञीय अश्व की रस्सी काट कर उसे कहीं अन्यत्र भगा दिया। मैंने अश्व को खोजने के लिये चारों ओर सैनिक भेजे, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी वह अश्व नहीं मिला। जब तक अश्व नहीं मिलता, तब तक यज्ञ पूरा नहीं हो सकता। जब तक

यज्ञ पूरा न हो, तब तक पिता के मृतक शरीर के दाहादि कर्म भी नहीं किये जा सकते। अतः मैं अपने पिता के मृतक शरीर को तेल द्रोणी में रख कर, ऋत्विजों से आज्ञा लेकर आपकी शरण में आया हूँ। माँ! आप दयामयी हैं, भक्तवत्सला हैं, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मेरे यज्ञ का अश्व मुझे मिल जाय और मेरे पिता का यज्ञ पूरा हो जाय। पुत्र वही है जो पिता के ऋण से उऋण हो सके। हे जगज्जननी माँ! आप वही कार्य करें जिससे मैं अपने दिवंगत पिता की अभिलाषा को पूर्ण कर सकूँ।" इतना कहते-कहते राजकुमार फूट-फूट कर रुदन करने लगा।

राजकुमार की करुणामयी विनय सुनकर जगज्जननी माँ भगवती महालक्ष्मी दयार्द्र हो उठीं और बोलीं—बेटा! मेरे मंदिर के द्वार पर सिद्ध समाधि नाम के एक तपस्वी ब्राह्मण हैं। तुम उनकी शरण में जाओ। वहाँ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो जायगा।

राजकुमार ने कहा—"जननी! मैं तो आपकी ही शरण में आया हूँ।"

भगवती महालक्ष्मी ने कहा—"अरे, भैया तुम जाओ भी तो सही वे मेरी ही आज्ञा से तुम्हारे सब कार्य पूर्ण करेंगे। करूँगी तो मैं ही सब किन्तु मैं अपने उत्तम भक्त को निमित्त बनाकर सबके मनोरथों को पूर्ण किया करती हूँ।"

महालक्ष्मी की आज्ञा से राजकुमार सिद्ध समाधि नाम के मुनि की शरण में गये। महामुनि उस समय ध्यान में बैठे थे। राजकुमार ने उनके समीप जाकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर चुपचाप उनके सम्मुख खड़े हो गये। थोड़ी देर के पश्चात् महामुनि सिद्ध समाधि ने राजकुमार की ओर

अभयदाता भगवान्

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ७९

गीतावार्त्ता (११)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

सङ्कीर्तन-भवन

प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण] आश्विन
१००० प्रति २०२७

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्त उपदेश लिखते थे। उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अंग्रेजी में छप चुके हैं। यह छोटी-सी पुस्तक बहुत ही उपादेय है। इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं। इसे हम फिर से छाप रहे हैं। मूल्य लगभग ३० पैसे।

व्यवस्थापक:

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
गीता-माहात्म्य	१
गीता-माहात्म्य	११
१. परमोत्तम ज्ञान	१९
२. प्रकृति योनि मे भगवान् गर्भाधान करते हैं	२४
३ तीनों गुण और सत्व का बन्धन	२९
४. रज और तम प्राणियों को कैसे बाँधते हैं ?	३३
५. कौन- सा गुण देही को किस कार्य में लगाता है ?	३९
६. गुणों की अभिवृद्धि के लक्षण	४६
७. अन्तकाल मे बढे हुए भिन्न-भिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न फल	५६
८. त्रिगुणों का फल तथा उनकी गतियाँ	६३
९. गुणातीत और उसके लक्षण	६९
१०. अर्जुन का गुणातीत के लक्षण सम्बन्धी प्रश्न और भगवान् का उत्तर	७४
११. गुणातीत के आचरण	८१
१२. गुणातीत होने के उपाय	८८
१३. अव्यय-अश्वत्थ वृक्ष	९८
१४. इस संसार रूप उलटे अश्वत्थ को असंग शस्त्र से काट दो	१०५
१५. शरणागत पुरुष के लक्षण तथा अविनाशी पद	११२
१६ जीव किस प्रकार शरीर से आता जाता है	१२०

१७. जीव को आते जाते केवल ज्ञान नेत्रों वाले ही देखते हैं १२५
१८. संघमें भगवान् का ही तेज प्रकाशित हो रहा है १३१
१९. भगवान् ही पचाने वाले और सब कुछ हैं १४४
२०. क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम १४९
२१. पुरुषोत्तम योग और उसके ज्ञाता की महिमा १५५
२२. दैवी सम्पदा के लक्षण (१) १६२
२३. दैवी सम्पदा के लक्षण (२) १७६
२४. दैवी सम्पदा के लक्षण (३) २०२

गीता-माहात्म्य

[१३]

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥❀

(श्री भग० गी० ९ अ० ३० ३२ श्लोक)

छप्पय

मेरो आश्रय लेइँ पाप योनिनि के प्रानी ।
होवें चाहे नारि इन्द्र हत्या जिनि मानी ॥
अथवा होवै वैश्य अरथहित व्यग्र रहै नित ।
होवैं चाहें शूद्र रहें नित कामनि महँ रत ॥
वे हू मेरी शरन में, आवेंगे सुख पाइँगे ।
परमागति कूँ प्राप्तकरि, जा जगतैं तरि जाइँगे ॥

❀ चाहे कोई भले ही अत्यन्त दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्य भाव से भजता है, तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि वह भली प्रकार निश्चित मत वाला है ॥३०॥

हे पार्थ ! मेरी शरण में जो भी आ जाते हैं, वे ही परमगति को प्राप्त होते हैं, फिर वे चाहे पाप योनि वाले, स्त्री, शूद्र तथा वैश्य भी क्यों न हों ॥३२॥

यह जीव न जाने कब से इस चौरासी लाख योनियों के चक्कर मे घूम रहा है। किस जन्म में कौन-से पाप पुण्य उदय हो जायें, कुछ पता नहीं चलता। भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण से पूछा—'भगवन्! एक छोटा-सा काटा पैर में लग जाता है, तो उसी मे कितना कष्ट होता है, मेरे शरीर में तो नख से शिख तक बाण छिदे है। बाणों की शैया पर ही मैं पड़ा हूँ। सौ जन्मों की तो मुझे स्मृति है, उनमें तो मैंने कोई पाप किया नहीं। फिर यह किस पाप का परिणाम है?"

भगवान् ने कहा—"१०३ वें जन्म का स्मरण करो।"

भीष्म पितामह ने कहा—"हाँ, स्मरण आ गया, एक पतंगा की पाखों में बाल्यकाल की चपलता के कारण मैंने छोटे-छोटे कांटे छेद कर उसे छोड दिया था, उसी का यह परिणाम है।" कैसी विचित्र बात है, १०२ जन्मों में उस पाप का परिपाक नहीं हुआ। १०३ जन्मों के पश्चात् हुआ।

कभी-कभी कीट योनि में भी पुण्यों का उदय हो जाता है। महामुनि मैत्रेय बहुत पहले किसी जन्म में कीड़ा थे, भाग्यवश पूर्व जन्म के किसी पुण्य के उदय होने के कारण कीट योनि में भी उन्हें भगवान् वेदव्यास जी के दर्शन हो गये उनके उपदेश से रथ के पहिये के नीचे दबकर उन्होंने प्राण छोड़ दिये और फिर वे क्रमशः कौआ, सियार, साही, गोहा, मृग, पक्षी, चांडाल और शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय आदि योनियों में होते-होते अन्त में कुपारु और मित्रा के पुत्र महामुनि मैत्रेय हो गये। कीट योनि में उन्होंने कौन-सा पुण्य किया था, भाग्यवश व्यास जी मिल गये और वे प्रत्येक योनि में जा-जा कर उन्हे उपदेश दे-देकर महामुनि की योनि तक पहुँचा गये।

वेश्या को भाग्यवश तोता मिल गया। उसे राम नाम पढ़ाते—

पढ़ाते ही तर गयी। एक डाकू को भाग्यवश सप्तर्षि मिल गये। उनके दर्शन न जाने किस जन्म के पुण्यों से हुए। उसका परिणाम यह हुआ कि वे डाकू से बाल्मीक ऋषि बन गये।

शबर जाति में उत्पन्ना शबरी के जन्मांतर के पुण्यों का उदय हो गया, कि विवाह के मंगलमय दिवस में घर द्वार छोड़कर मतंग मुनि की शरण में आ गयी और उन्ही की कृपा से श्रीराम जी के उसे दर्शन हो गये और श्री राम ने बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी विद्वान, वृद्ध, ऋषि मुनियों को छोड़कर उसका आतिथ्य ग्रहण किया। पुराणों में ऐसी असंख्यों आख्यायिकायें भरी पड़ी हैं, जिन से पता चलता है, कि कभी-कभी घोर पापियों का भी किसी जन्म का पुण्य उदय हो जाता है, कि उन्हें भगवत् भक्तों का संग हो जाता है और उनके द्वारा उनकी मुक्ति हो जाती है, इसके विपरीत कभी महान् पुण्यात्माओं का भी किसी पूर्व जन्म का पाप उदय हो जाता है, जिसके कारण उन्हें अकारण कलंक लग जाता है, राज रोग हो जाता है पाप कर्मों में प्रवृत्ति हो जाती है। जीव स्ववश नहीं वह प्रारब्ध के अधीन होकर अवश बना भोगों को भोग रहा है। भगवान् जब कभी कृपा करते हैं, तब जीव का उद्धार हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मै आपको गीताजी के तेरहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जिसे शिव ने पार्वती जी से और भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी जी को सुनाया था।

लक्ष्मी जी ने भगवान् से पूछा—"प्राणनाथ! मैने श्रीमद्-भगवत् गीता के बारह अध्यायों का माहात्म्य तो आपके श्रीमुख से श्रवण किया। अब मेरी इच्छा तेरहवें अध्याय के माहात्म्य सुनने की है, यदि कृपा करके आप मुझे तेरहवें अध्याय का माहात्म्य सुना तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।

भगवान् ने कहा—"देवि ! श्रीमद्भगवत् गीता के तेरहवें अध्याय का नाम "क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग है।" यह बड़ा ही विलक्षण अध्याय है इसका माहात्म्य भी अत्यन्त ही उपादेय है। इस अध्याय के पठन-पाठन तथा श्रवण करने से ही अक्षय फल की प्राप्ति होती है। इस अध्याय को ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री अथवा पुरुष कोई भी श्रद्धा भक्ति के साथ सुनेगा, उसी को परम पद की प्राप्ति हो सकती है। इस सम्बन्ध में जो एक इतिहास है उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ, उसके श्रवण मात्र से ही पता चल जायगा, कि तेरहवें अध्याय के श्रद्धाभक्ति पूर्वक सुनने से ही पापी से पापी जीव का भी उद्धार हो सकता है।

लक्ष्मीजी से भगवान् विष्णु कह रहे हैं—"देवि दक्षिण दिशा में तुंगा और भद्रा नाम की दो नदियाँ है। उन दोनों का एक स्थान में संगम होता है। जब तक पृथक्-पृथक् बहती थीं, तब तक तो इनका दोनों का नाम पृथक्-पृथक् ही था। जब ये दोनों मिलकर–एक होकर–समुद्र की ओर जाने लगी तो इन दोनो का सम्मिलित नाम तुंग भद्रा हो गया। तुंग भद्रा नदी परम पावन है। इसी सरिद् प्रवरा तुंग भद्रा क किनारे हरिहर पुर नाम का एक बहुत रमणीय, सुंदर, मनमोहक परम पावन पुर था। उसमें हरिहर नाम से साक्षात् शिवजी ही विराजमान थे। इससे यह परम प्रसिद्ध शैव क्षेत्र था। उसी नगर में हरिदीक्षित नाम का एक श्रोत्रिय ब्राह्मण निवास करता था।

अच्छी स्त्री, अच्छी संतान, अच्छा सेवक अच्छे पशु ये सभी भाग्य से ही प्राप्त होते हैं। हरिदीक्षित ब्राह्मण इस अर्थ में भाग्य-हीन ही था, उसे जो स्त्री मिली वह बहुत दुराचारिणी थी, वह सदा काम से संतप्त रहती। पति के प्रति उसका तनिक भी अनुराग नहीं था, पति का संस्पर्श उसे भाता नही था। उसने अपने

पति से कभी भी पत्नीपने का व्यवहार नहीं किया। वह काम वासना से विकल होकर सदा सर्वदा परपुरुषों से ही संसर्ग करती। वैसे वे ब्राह्मण उसके पति बड़े श्रोत्रिय थे, सदा तपस्या और स्वाध्याय में संलग्न रहते। वे वेदो के पारगामी थे, वेदों के पठन-पाठन तथा स्वाध्याय में ही उनका सम्पूर्ण समय व्यतीत होता। किन्तु उनकी स्त्री अत्यन्त व्यभिचारिणी थी। उसका नाम तो कुछ और रहा होगा, किन्तु उसके कुकृत्यों के कारण सब उसे दुराचारा-दुराचारा कहकर पुकारते थे। और वास्तव में वह दुराचारिणी थी भी।

पति से कुवाच्य बोलना, उससे सदा लड़ाई झगड़ा तकरार करना उसका नित्य का काम था। उसको कामज्वर इतना व्याप्त रहता कि कामोन्मत्त होकर निरन्तर चरित्र भ्रष्ट व्यभिचारी कामी पुरुषों के साथ रमण किया करती थी।

उसने बन में झाड़ी जङ्गलों में अपने लिये एक ऐकान्तिक संकेत स्थान बना रखा था। वहाँ व्यभिचारी पुरुषों को बुलाया करती और अपनी वासना की पूर्ति किया करती। एक दिन वह काम वासना से अत्यन्त ही पीड़ित होकर कामोन्मत्ता बनी अपने सांकेतिक स्थान में पहुँची। जिस कामी जार पुरुष को उसने बुलाया था, वह किसी कारण से वहाँ पहुँचा नहीं। वह अत्यन्त व्याकुलता से उसकी प्रतीक्षा करने लगी। वह काम वासना से इतनी सन्तप्त थी, कि वह चारों ओर उन्मत्त की भाँति घूमने लगी। उसने सोचा—इस समय कोई भी कैसा भी पुरुष मुझे मिल जाय, उसी के द्वारा मैं अपनी वासना की पूर्ति कर लूँ, किन्तु उसके दुर्भाग्य से उस समय घोर वन में अर्धरात्रि के समय उसे वहाँ कोई भी पुरुष दिखायी नहीं दिया। अब तो वह व्याकुल होकर कुञ्ज के भीतर पड़ी-पड़ी छटपटाने लगी।

मैं एक ब्राह्मण कुमार था। दक्षिण दिशा में मलापहा नदी के तट पर मुनि पर्णा नाम की नगरी में मेरा जन्म हुआ था। वह नगरी परम पवित्र थी, उसमें पञ्चलिङ्ग नामके शिवजी का एक भव्य मन्दिर था, साक्षात् शकर भगवान् उसमें निवास करते।

मैं नाम मात्र का ही ब्राह्मण था। कर्म कांड के कुछ मन्त्र याद करके मैं धन की अभिलाषा से यात्रियों को ठगा करता था। नदी के किनारे अकेला बैठा रहता था कोई भी यज्ञ कराने आवे। फिर चाहें वह यज्ञ का अधिकारी हो या न हो, धन के लालच से मैं उसे दम्भ यज्ञ कराता। कोई भी अधिकारी अनाधिकारी मुझे भोजन करा दे उसी के अन्न को मैं प्रेम पूर्वक खा लेता। मेरा शरीर हृष्ट पुष्ट था। कोई भिखारियों को कुछ बाँटने आता तो मैं बल पूर्वक भिखारियों को हटाकर उन्हें गालियाँ देकर भीतर घुस जाता, बाँटने वाला मुझे दे या न दे बल पूर्वक उसकी वस्तुओं को छीन लेता, और उन्हें भक्षण कर जाता मैं जो वेद पाठ करता उसके फल को भी धन लेकर बेच देता। जब न्याय से अन्याय से धन न मिलता तो किसी से ऋण के नाम से ही धन ले लेता और फिर उसे कभी भी नहीं देता। इस प्रकार युवावस्था में शारीरिक बल के प्रभाव से मैंने लोगों को बहुत ठगा। शरीर को बलशाली और पुष्ट बनाया। कालान्तर में मैं बूढ़ा हो गया। वृद्धावस्था के समस्त चिन्ह मेरे शरीर में व्याप्त हो गये। सम्पूर्ण शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयी। बाल सभी सफेद हो गये, दाँत गिर गये, नेत्रों की ज्योति जाती रही, कानों से कम सुनायी देने लगा। इतना सब होने पर भी मेरी धन की लिप्सा कम नही हुई। दान लेने की प्रवृत्ति में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा। मैं त्योहार पर्व आने पर हाथ में कुशा लेकर लठिया टेकते-टेकते नदी के किनारे जाता और जैसे भी झूठ बोल कर

दम्भ करके लोगों को जितना ठग सकता उतना ठगता।

एक बार मैं कुछ धूर्त ब्राह्मणों के यहाँ माँगने के निमित्त गया। उन्होंने कुछ दिया लिया तो नहीं किसी कुत्ते ने उसी समय मेरे ऊपर प्रहार किया और मुझे काट लिया। मैं मूर्छित होकर भूमि पर गिर गया। और कुछ ही क्षणों में मर गया। इसके अनन्तर मुझे यह भयावनी व्याघ्र योनि प्राप्त हुई। तब से इसी घोर अरण्य मे निवास करता हूँ। किसी पूर्व जन्म के पुण्य के कारण मुझे अपनी पिछले जन्म की सब बातें स्मरण हैं। मैंने कैसे कुपात्रों से दान लिया। तीर्थ में अभक्ष पदार्थों को खाया। कैसे दूसरों को पीड़ा दी। इन सभी बातों को स्मरण करके मैं दुखी रहता हूँ। अब मैं धर्मात्मा, सदाचारी, महात्मा, साधु सन्तो को तथा सती साध्वी पति परायणा नारियों को नहीं खाता। जो पापी है, दुष्ट तथा दुराचारी पुरुष हैं, अथवा कुलटा व्यभिचारिणी, पर पुरुषरता स्त्रियाँ हैं उन्हें ही मार कर खाता हूँ, उन्हें ही अपना आहार बनाता हूँ। तू व्यभिचारिणी है, कुलटा है अतः तुझे खाकर आज मैं अपनी भूख को मिटाऊँगा। आज तू अवश्य ही मेरा आहार बनेगी।"

यह कहकर व्याघ्र ने उसकी देह के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और उसके मांस को खाकर अपनी भूख शांत की। इधर व्याघ्र तो वन में चला गया। इस स्त्री को यम के दूत पकड़ कर ले गये। इसके पापों के अनुसार इसे नाना नरकों में विविध भाँति की यातनायें दी। कभी उसे रौरव नरक में पचाते रहे कभी दहनानन नरक में डालकर भयंकर यातना देते रहे।

कई मन्वन्तरों तक नरकों की अग्नि में पचते-पचते जब इसके पाप कुछ कम हुए तो इस महापापिनी को इस पृथ्वी पर भेज दिया। यहाँ चांडाल योनि में उसका जन्म हुआ। ज्यों ही इसे

युवावस्था प्राप्त हुई, तो पूर्व जन्मों के संस्कार वश इस चांडाल योनि मे भी यह व्यभिचारिणी हो गयी। निरन्तर व्यभिचार कराने से इसे राजयक्ष्मा रोग हो गया, फिर सम्पूर्ण शरीर में कुष्ट हो गया।

भाग्यवश भीख मांगती हुई यह पुनः अपने पूर्व निवास स्थान तुंगभद्रा के तट पर हरिहर पुर में आ गयी। वहाँ शिव जी के मन्दिर के समीप ही जम्भका देवी के नाम मे पार्वती जी का मन्दिर था उस मन्दिर के बाहर पड़ी रहती। दया करके कोई यात्री इसे कुछ दे देता, तो उसी को खाकर यह अपना निर्वाह करती। उसी मन्दिर में एक वासुदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा ही सुशील सदाचारी तथा संयमी था। वह नित्य नियम से देवी जी के सम्मुख श्री मद्भगवत् गीता के "क्षेत्र क्षेत्रज्ञ योग" नामके तेरहवें अध्याय का पाठ किया करता था। यह कोढ़िनि उसके पाठ को सदा प्रेम से सुना करती और सुन-सुनकर परम प्रमुदित होती। निरन्तर के पाठ श्रवण करने से उसके समस्त कल्मष कट गये और वह चांडाल शरीर से मुक्त होकर दिव्य शरीर धारण करके स्वर्ग लोक में चली गयी।

भगवान् लक्ष्मी जी से कह रहे हैं—देवि! ऐसा है यह गीता जी का तेरहवां अध्याय यह मैंने तुमसे तेरहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाया। अब चौदहवें अध्याय का माहात्म्य आगे सुनाऊँगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह तेरहवें अध्याय का माहात्म्य हुआ अब आपकी आज्ञा होगी तो मैं चौदहवें अध्याय का भी माहात्म्य सुनाऊँगा।

छप्पय

चाहे होवै बड़ो दुराचारी हू पापी।
अतिशय अधरम करत जगत जीवनि संतापी॥
यदि सोऊ तजि पाप भजे मोकूँ अनन्य ह्वै।
त्यागे अधरम सकल जगत में रहे धन्य ह्वै॥
साधु परम ताही गनो, सम्यक बुद्धि बनाइकें।
ताको निश्चय रहूँ अब, गोविँद के गुन गाइकें॥

गीता-माहात्म्य

[१४]

गीताचतुर्दशोऽध्यायः स्वर्गसोपानसंज्ञकः ।
पादपाठकपंकेन अज्ञोऽपि स्वर्गतिं लभेत् ॥*

(प्र० द० व्र०)

छप्पय

अब गीता अध्याय चौदहवें को महात्म सुनि ।
वन में बसि तिहि पाठ करें नित वत्स महामुनि ॥
तिनि को हो इक शिष्य पाठ सो करै सदाँ ई ।
धोये तानें पैर कीच थल भई तहाँ ई ॥
नृप कुतिया ता में गिरि, शशक संग दोऊ मरे ।
दोऊ सुरपुर कूँ गये, दिव्य रूप धारन करे ॥

सब अंगों में सभी देवता बस गये । पैरों में कोई देवता नहीं बसा । भगवान् विष्णु को आने में कुछ देर हुई देवताओं से पूछा—"हम कहाँ बसें ?"

देवताओं ने कहा—"भगवन् ! अब तो सभी अंगों में भिन्न-

---

* गीता का चौदहवाँ अध्याय स्वर्ग की सोपान ही है । उसके पाठ करने वाले पाठक के धोये जल की कीच से अज्ञ पशुओं ने भी स्वर्ग लाभ किया ।

भिन्न देवताओं ने अधिकार जमा लिया। अब तो आपके लिये कोई अंग अवशेष रहा ही नहीं।"

भगवान् ने कहा—"कोई भी अंग तो शेष रहा होगा?"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! समस्त उत्तमाङ्गों में भिन्न-भिन्न देवता आकर बैठ गये। अब सबसे निकृष्ट चरण ही रहे, जहाँ अभी तक कोई नहीं बैठा। केवल वही शरीर का सबसे अधम अंग अवशिष्ट है।"

भगवान् ने कहा—"हमारे लिये ऊँच नीच कुछ भी नहीं। हमारे लिये सभी अंग समान हैं। हम चरणों में ही रहा करेंगे।" तब से चरणों के अधिष्ठातृ देव विष्णु ही हो गये। इसीलिये छोटे लोग बड़ों के चरणों का स्पर्श करते हैं। प्रणाम करते समय कोई मस्तक नहीं छूता सब चरणों को छूते हैं। चरणों की धूलि को उठाकर ही मस्तक पर लगाते हैं। और की बात जाने दो। स्वयं साक्षात् भगवान् भी भक्तों के पीछे-पीछे इसी लोभ से फिरते रहते हैं, कि भक्तों की चरण धूलि उड़-उड़कर मेरे मस्तक पर पड़ जाय, तो मैं परम पावन बन जाऊँ।"

चरणों की बड़ी भारी महिमा है, धर्मराज के राजसूय यज्ञ में और सब ने तो बड़ी-बड़ी सेवायें लीं, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र जी ने यज्ञ में समागत ऋषि मुनि तथा ब्राह्मणों के चरण धोने की ही सेवा ली। इसी से उन्होंने अपने को कृतार्थ माना।

पवित्र पुरुषों के पादोदक को भी परम पावन माना है। शास्त्रों में कहा है—"जिस घर में भगवद्भक्त, परमपावन ब्राह्मणों के चरण धोने से कीच न हुई हो, जिस घर में स्वाहा-स्वाहा शब्द से हवन और स्वधा शब्द से पितरों का श्राद्ध तर्पण न हुआ हो उस घर को स्मशान के सदृश समझना चाहिये। गृहस्थ धर्म की सार्थकता इसी में है, कि घर में पधारे अतिथियों के

चरण धोने से वहाँ कीच हो, जहाँ अतिथि, देवता तथा पितर तृप्ति का अनुभव करें।

गङ्गाजी इतनी पवित्र क्यों मानी गयी हैं ? इसलिये कि वे भगवान् विष्णु के चरणों का धोवन है। उनका पादोदक है। वे लोग धन्य है, जो नित्य ही विष्णु पादोदक तथा विप्र पादोदक को सिर पर चढ़ाते हैं। जो पवित्र, शांत, दांत, तेजस्वी, तपस्वी, अनुष्ठानरत, वेदपाठी, कर्मकांडी, धर्मशास्त्रों का नित्य नियम से पारायण करने वाले हैं। उनके पादोदक पान से, उनके पाद धोवन की पंक को अंगों में लगाने से पापी से पापी पुरुष भी सुरपुर के अधिकारी बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं आपको श्रीमद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाऊँगा, जिसे भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी को तथा शिवजी ने पार्वतीजी को सुनाया था।"

भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी से कहने लगे—"प्रिये ! अब तुम श्रीमद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय का माहात्म्य श्रवण करो।

महाराष्ट्र प्रदेश में प्रत्युदक नाम का एक महान् नगर था। उसी नगर में एक केशव नाम का ब्राह्मण निवास करता था, वह नाम का ही ब्राह्मण था, उससे कोई भी कुकर्म नहीं बचा था, जिसे वह न करता हो। वह कपटपूर्ण व्यवहार करने वाले पुरुषों में अग्रणी था। जैसा वह कपटी था, भाग्यवश उसे वैसी ही दुराचारिणी स्वच्छन्दगामिनी पापिनी पत्नी मिली थी। वह नित्य ही पाप कर्मों में रत रहती। उसका नाम विलोभना था।

यदि गृहस्थी को अपने अनुरूप सती साध्वी सदाचारिणी आज्ञानुवर्तिनी पत्नी मिल जाय, तो फिर स्वर्ग कहीं अन्यत्र नहीं है सती का घर ही स्वर्ग से बढ़कर बन जाता है। और जिसकी स्त्री कुलटा दुराचारिणी स्वच्छन्दगामिनी तथा कटुभाषिणी हो

और पति भी दम्भी क्रोधी तथा कपटी हो, तो वह घर नरक से भी बढ़कर दुखदायी है। वहाँ नित्य ही कलह का साम्राज्य छाया रहता है। केशव का घर भी कलह का आलय बना हुआ था। पति पत्नी में नित्य ही कलह होती, बात-बात पर लड़ाई होती। एक दिन केशव ने क्रोध में भर कर अपनी स्त्री को इतना मारा कि मारते-मारते उसके प्राण ही ले लिये। उसे मृतक बना दिया। वह मर कर कुतिया बनी। उसके किसी जन्म के कुछ पुण्य शेष थे, अतः वह कुतिया भी किसी दरिद्री की नहीं बनी राजा की कुतिया बनी, जहाँ उसे खाने पीने का कोई कष्ट नहीं था। वह राजा तथा राजपुत्रों के साथ आखेट में जाया करती थी।

कालान्तर में केशव भी मरा और मर कर वह एक घोर अरण्य में शशक–खरगोश–बना। वहाँ वह स्वच्छन्द होकर विचरता और झाड़ियों में रहता।

ब्राह्मण पत्नी विलोभना सिंहलद्वीप के राजा वेताल के यहाँ कुतिया हुई। सिंहलद्वीपाधि पति महाराज वेताल, सिंह के समान पराक्रमी समस्त कलाओं के भंडार तथा अपनी प्रजा का धर्म पूर्वक पालन करने वाले थे। एक दिन वे अरण्य में आखेट करने के लिये अपने भृत्य, आमात्य तथा राजकुमारों को साथ लेकर तथा दो कुतियों को भी संग लेकर बहुत दूर बन में गये। वे बन में पशु पक्षियों की खोज कर रहे थे, कि किसी झाड़ी में से एक शशक निकल कर भागा। राजा ने अपनी दोनों कुतियों को शशक के पीछे दौड़ाया। किन्तु शशक भी बड़ा बलवान् था, वह किसी भी प्रकार कुतियों के हाथ नहीं आया। शशक इतनी शीघ्रता से दौड़ रहा था, मानों आकाश में उड़ रहा हो। दौड़ते-दौड़ते वह एक ऋषि आश्रम के निकट पहुँच गया। बीच में यद्यपि वह एक गड्ढे में गिर गया था, किन्तु तुरन्त ही उठकर फिर

दौड़ने लगा, कुतिया उसे पकड़ न सकीं। अब जब वह ऋषि आश्रम के संनिकट आ गया, तो उसका चित्त प्रफुल्लित हो उठा। ऋषि आश्रम का वातावरण परम शांत था, वहाँ स्वाभाविक वैर वाले जीव भी प्रेम पूर्वक हिल मिल कर रहते थे। हरिन वहाँ स्वच्छन्दता पूर्वक इधर से उधर निर्भय होकर घूम रहे थे। बहुत मृग शावक वृक्षों के नीचे बैठे आँखें बन्द करके जुगार कर रहे थे। कुछ हरिण वृद्ध ऋषियों की पीठ में अपना मस्तक रगड़ कर अपनी खुजली मिटा रहे थे, बंदर अपनी चंचलता का सर्वथा त्याग करके शांत भाव से वृक्षों पर बैठे थे, वे अपने आप टूट-टूट कर गिरे पके हुए आमों के तथा नारियल के फलों को खा रहे थे। सिंह शावक अपनी स्वाभाविक शत्रुता का परित्याग करके हाथियों के बच्चों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। मयूर सर्पों से प्यार कर रहे थे, सर्प भी निर्भय होकर उनकी पाँखों में घुसकर शयन कर रहे थे। वह महामुनि वत्स का रमणीक आश्रम था। वत्स मुनि निरन्तर श्रीमद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय का श्रद्धा के साथ प्रेम पूर्वक पाठ किया करते और अपने शिष्यों को भी पाठ करने को प्रेरित करते रहते।

महामुनि का एक परम संयमी प्रधान शिष्य था। वह भी गुरु की भाँति निरंतर पाठ किया करता। उसकी कुटिया के पास ही एक स्थान था जहाँ ऋषि शिष्य अपने पैरों को धोया करता था। निरंतर के पैर धोने से वहाँ कीच हो गयी थी। उस शशक का पीछा एक कुतिया कर रही थी। शशक भागता हुआ उस मुनि के पैर धोने के स्थान में आ गया। वह अत्यन्त थक गया था, अतः मूर्छित होकर उस कीच में गिर पड़ा। कुछ काल तक तो वह जीवित रहा फिर तुरन्त मर गया। उसी समय दौड़ती हुई कुतिया भी वहाँ आ गयी, उसके शरीर में भी कीचड़ लग-

गयी और वह भी वहाँ आकर मर गयी।

राजा बेताल भी पीछे-पीछे घोड़ा दौड़ाता हुआ आ रहा था। उसने शशक तथा कुतिया को कीचड़ में मरा हुआ देखा। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसने देखा शशक उस कीच के स्पर्श मात्र से दिव्य रूप धारण करके दिव्य विमान पर चढ़कर स्वर्ग की ओर जा रहा है, और वह कुतिया भी दिव्य देवाङ्गना का रूप धारण करके दूसरे विमान में बैठी हुई जा रही है।

समीप ही वत्स मुनि के शिष्य बैठे थे वे बैठे-बैठे कुतिया और शशक को देखकर हँस रहे थे। राजा ने जाकर मुनि शिष्य के चरणों में प्रणाम किया और पूछा—"ब्रह्मन्! यह परम शांति तपोमय पुण्यप्रद किस मुनि का आश्रम है? यहाँ इतनी शांति क्यों है, मैं देखता हूँ, यहाँ के पशु-पक्षी स्वाभाविक वैर छोड़कर प्रेम पूर्वक एक साथ रह रहे हैं। यह मेरी कुतिया मर कर देवांगना बनकर किस पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग जा रही है, और यह शशक भी किस पुण्य प्रताप से देवरूप रख कर दिव्य विमान में बैठकर स्वर्ग जा रहा है और आप इन दोनों को देखकर हँस क्यों रहे हैं?"

राजा के ऐसा पूछने पर ऋषि शिष्य ने कहा— 'राजन्! यह मेरे गुरुदेव महामुनि वत्स का आश्रम है, उनकी तपस्या के प्रभाव से ही यहाँ इतनी अधिक शान्ति है, वे महामुनि नित्य नियम से निरन्तर श्री मद्भगवत गीता के चौदहवें अध्याय का पाठ करते रहते हैं। इसी के प्रभाव से यहाँ के पशु-पक्षी अपना स्वाभाविक वैर भाव भूलकर एक साथ प्रेम से क्रीड़ा करते हैं। मैं उनका शिष्य हूँ, मैं भी गुरु आज्ञा से निरन्तर श्री मद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय का जप करता रहता हूँ। इस स्थान पर मैं पैर धोया करता हूँ, इसी से यहाँ कीच हो गयी

है। यह आपकी कुतिया पूर्व जन्म में केशव ब्राह्मण की पत्नी थी। दोनों में परस्पर में बड़ा भारी द्वेष था। उस द्वेषवश ही केशव ने इसकी हत्या कर दी। अतः यह कुतिया हुई। केशव ही शशक बना। दोनों ही संयोगवश मेरे पैरों के जल की कीच में आकर मरे। आश्रम के शान्त वातावरण के प्रभाव से दोनों ने ही परस्पर में वैर भाव भुला दिया। और मैं गीताजी के चौदहवें अध्याय का निरन्तर जप करता हूँ, अतः मेरे चरणों की कीच के स्पर्श के प्रभाव से दोनों ही स्वर्ग के अधिकारी बन गये। यह सब श्री मद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय के माहात्म्य का ही चमत्कार है।"

भगवान् कह रहे हैं—"सो, लक्ष्मी जी! शिष्य के मुख से श्रीमद्भगवत् गीता के चौदहवें अध्याय का माहात्म्य सुनकर राजा परमविस्मित हुआ उसने महामुनि वत्स के समीप जाकर चौदहवें अध्याय को विधिवत् पढ़ा और उसने भी नित्य नियम से उसका पाठ आरम्भ कर दिया इसके प्रभाव से राजा को भी परमगति की प्राप्ति हुई। यह मैंने चौदहवें अध्याय का माहात्म्य तुमसे कहा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यह चौदहवें अध्याय का माहात्म्य आपसे जैसे भगवान् विष्णुजी ने लक्ष्मी जी से तथा श्री शिवजी ने पार्वतीजी से कहा वैसे आपके सम्मुख कह दिया। अब आप सावधानी के साथ पंद्रहवें अध्याय के पुरुषोत्तम योग का माहात्म्य मुझसे और श्रवण करें।

छप्पय

राजा पूछी बात वत्स मुनि शिष्य बताई।
ये पति पतिनी, रहे वैर इत गयो भुलाई॥
करूँ पाठ अध्याय चौदवों गुरु आयसु तैं।
पाद पंक इस्पर्श तरे दोऊ ताही तैं॥
सुनि प्रमुदित राजा भये, पाठ नियम तिनने कर्‍यो।
ताही के परभाव तैं, गोखुरवत यह भव तर्‍यो॥

अथ

चतुर्दशोऽध्याय

(१४)

परमोत्तम ज्ञान

[१]

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥*

(श्री भ० गी० १४ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

पुनि बोले भगवान—पार्थ ! तू मेरो प्यारो ।
होवै कैसे सृष्टि गुननि गुन न्यारो-न्यारो ॥
अति उत्तम यह ज्ञान सबहिँ ज्ञाननि तैं उत्तम ।
परमज्ञान पुनि कहूँ मुक्ति साधन अति अनुपम ॥
जाकूँ मुनि जन जानिकें, मुक्त जगत तैं वे भये ।
सब जगके परपंच तजि, परम सिद्ध वे बनि गये ॥

---

* फिर श्रीभगवान् कहने लगे—"अर्जुन मैं फिर भी तुमसे ज्ञानों में उत्तम ज्ञान परमज्ञान को कहूँगा, जिसे जानकर सब मुनि गण संसार से विमुक्त बनकर परम सिद्धि को प्राप्त होते है ॥१॥"

इस ज्ञान को प्राप्त करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए सृष्टि के आरम्भ में न तो उत्पन्न होते हैं और न प्रलय में व्यथित ही होते हैं ॥२॥

एक महात्मा थे, उन्होंने अपने एक जिज्ञासु भक्त को एक औषधि देकर कहा—"इस औषधि को खाना, साथ ही चावल मत खाना, रोटी ही खाना, क्योंकि रोटी ही अमृत है।"

जिज्ञासु ने ऐसा ही किया औषधि से उन्हें लाभ हुआ। फिर दूसरी बार वे रुग्ण हुए, तब महात्मा ने दूसरी औषधि देकर कहा—"देखो, रोटी मत खाना, केवल चावल खाना, चावल ही अमृत है।"

जिज्ञासु के मन में शंका हुई—"महात्माजी कभी तो रोटी को अमृत बताते हैं कभी चावल को। इनमें से अमृत कौन सा है।" तब आप ही आप उनके अन्तःकरण में समाधान हो गया—वास्तव में अन्न ही अमृत है, जो खाया जाय उसे अन्न कहते हैं (अत्तीति अन्नम्) खाने वाली सभी वस्तुएं अमृत हैं। देश काल तथा पात्र के भेद से उनमें कोई वस्तु कभी अमृत का काम करती है, वही परिस्थिति वश विष बन जाती है।

इसी प्रकार ज्ञान तो मोक्षप्रद है ही। बिना ज्ञान के मुक्ति संभव नहीं, किन्तु देश काल और पात्र भेद से कोई ज्ञान का साधन किसी के अनुकूल पड़ता है वही परिस्थिति के अनुसार किसी को प्रतिकूल पड़ जाता है। जिस ज्ञान का—जिस साधन का—वर्णन करना हो पहिले जिज्ञासा बढ़ाने के लिये—रुचि उत्पन्न करने के निमित्त—उनकी यथेष्ट प्रशंसा करे, उसके माहात्म्य का वर्णन करे। माहात्म्य सुनने से उस विषय में सहज अनुराग हो जाता है और फिर उसे जानने सुनने की उत्कट इच्छा होने लगती है, अतः तीनों गुणों के सम्बन्ध में बताने के पूर्व भगवान् पहिले इस ज्ञानी की प्रशंसा करते हैं। उसका माहात्म्य बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने उन तीनों गुणों के सम्बन्ध में जानना चाहा, जिनके संग के कारण जीव को सत्

असत् योनियों में उत्पन्न होना पड़ता है तो उसने जिज्ञासा की—"भगवन् ! ये गुण कौन-कौन से हैं, उन गुणों के लक्षण क्या हैं और वे प्राणियों को कैसे बाँधते हैं। फिर इन गुणों से छुटकारा कैसे पाया जा सकता है, जीव कैसे गुणातीत बन सकता है ?"

इस पर भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! तुमने यह बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। गुणों का ज्ञान और उन गुणों के बन्धनों से निर्मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेना वास्तव में यही तो ज्ञान है, यही समस्त ज्ञान के साधनों में सर्वोत्तम परमज्ञान-साधन है। वैसे तो मैं तुमसे पीछे गुणों के सम्बन्ध में बता चुका हूँ, किन्तु आगे पीछे का सम्बन्ध जुटाने के निमित्त-पुनः स्मरण दिलाने के लिये मैं इस विषय को फिर से तुमसे कहता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! कैसा है यह ज्ञान ?"

भगवान् ने कहा—"जो मैं तुमसे ज्ञान का साधन कहूँगा, वह ज्ञान के समस्त साधनों में से सर्वोत्तम ज्ञान साधन है।"

अर्जुन ने पूछा—"उसे जान लेने से क्या होगा ? इसके जान लेने का फल क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"उसे जान लेने पर मुक्ति मिल जाती है, परम पद की प्राप्ति हो जाती है।"

अर्जुन ने कहा—"इस ज्ञान साधन के द्वारा किसी को मुक्ति मिली भी है ?"

भगवान् ने कहा—"एक ने नहीं अनेकों ने सभी ने इसी से मुक्ति प्राप्त की है, जितने भी मुनि जन मुक्त हुए हैं उन सब मुनियों ने इसी को जानकर उत्तम सिद्धि-अर्थात् मुक्ति प्राप्त की है।"

अर्जुन ने पूछा—"उसका स्वरूप क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, जीवो को जन्म के समय बहुत कष्ट सहना पडता है, मृत्यु काल में भी असह्य वेदना होती है। जब सृष्टि काल आरंभ होता है, तब सभी जीव जो कल्प के अन्त में ब्रह्माजी की रात्रि के समय ब्रह्माजी के शरीर में लीन हो गये थे, वे पुनः उत्पन्न हो होकर अपने-अपने कर्मों को भोगने में पुनः उद्यत हो जाते हैं, सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न होकर कष्ट भोगते हैं। प्रलय काल में भी जीवों को बडी व्यथा होती है। प्रलय काल में पहिले तो अनेकों वर्षों तक वृष्टि होती है, समस्त जीव जल-मग्न हो जाते हैं, सातों समुद्र एक हो जाते हैं, फिर सूर्य उग्रताप से तपते हैं सब जल को सोख लेते है, फिर भयंकर वायु चलती है, इस प्रकार प्रलयकाल में भी जीवों को महान् व्यथा होती है। नित्य ही सर्ग और प्रलय है। जन्म लेना सर्ग है, मृत्यु प्रलय है। जन्म मृत्यु अज्ञान के कारण होती है। जो इस ज्ञान का आश्रय ले लेते हैं, वे मेरे साधर्म्य को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे मैं जन्म मृत्यु से रहित हूँ, वैसे ही वे मेरे शरणापन्न जीव जन्म मृत्यु से रहित बन जाते है। वे सर्ग होने पर उत्पन्न नही होते और प्रलयकाल में व्यथित नही होते।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! सभी जीव प्रकृति पुरुष के संयोग से होते हैं पुरुष के वीर्य को स्त्री अपने गर्भाशय में धारण करती है, तब शिशु का जन्म होता है, यहाँ समस्त भूतों की उत्पत्ति में गर्भ का आधान कौन करता है और गर्भाशय कौन है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तोइ देउँ जो ज्ञान चड़ोई सुखकर सुंदर।
जाको आश्रय लेत मिटै चौरासी चक्कर॥
जिनने धारन करयो ज्ञान यह अद्भुत अनुपम।
मम स्वरूप कूँ प्राप्त भये साधक बहु उत्तम॥
सृष्टि आदि में फेरि वे, नहीं जनम धारन करैं।
प्रलयकाल में व्यथित नहिँ, बनि विमुक्त जगतै तरैं॥

प्रकृति योनि में भगवान् गर्भाधान करते हैं

[२]

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥*

(श्री भग० गी० १४ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

भारत ! जो है महत् ब्रह्म सो प्रकृति कहावै ।
वही जगत को मूल योनि भूतनि कहलावै ॥
वही गरभ इस्थान गरभ मैं करि इस्थापन ।
सब चेतन समुदाय वीर्य मेरो अति पावन ॥
जड़ चेतन संयोग तैं, जीव चराचर होहिँ सब ।
हौं सबको साक्षी सदा, जग माता-पितु सुनहु अब ॥

---

* हे अर्जुन ! मेरी जो महत् ब्रह्म रूपा प्रकृति है, वह गर्भस्थली है, उसमें मैं गर्भ को स्थापन करता हूँ, उससे सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥३॥

हे कौन्तेय ! सब योनियों में जो मूर्तियाँ बनती हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी प्रकृति योनि है, मैं बीज स्थापित करने वाला पिता हूँ ॥४॥

यह संसार की सृष्टि द्वैत के बिना संभव नहीं। दो मिलकर ही सृष्टि होती है। रज और वीर्य का जब पात्र में आधान होता है, तभी गर्भ की वृद्धि होती है। जगत् की जितनी भी ८४ लाख योनियाँ हैं, उनमें तभी वृद्धि होगी जब उनमें स्वामी वीर्य का आधान करेगा। गर्भ की स्थापना करेगा। जब तक मैथुनी सृष्टि आरम्भ नहीं हुई थी, उसके पूर्व संकल्पीय सृष्टि थी। ऋषि संकल्प करते थे, कि हमारे पुत्र हो, तुरन्त संकल्प करते ही पुत्र हो जाता था। किन्तु इस संकल्पीय सृष्टि में आकर्षण नहीं था, मोह ममता तथा वासना नहीं थी। इसीलिये ब्रह्माजी की इच्छानुसार सृष्टि की वृद्धि नहीं हुई। तब तो ब्रह्मदेव चिंतित हुए, तब उन्होंने नारी की रचना की, जिससे सृष्टि की वृद्धि हुई। स्त्री और पुरुष इन दोनों को—मिथुन—जोड़ा कहते हैं। योनि आधार है वीर्य आधेय है। जैसे घृत को पात्र दोना आदि में रखते है। दोनों में प्रमुखता तो वीर्य की ही है, इसीलिये न्यायालयों में, हाटों में, बाटों में सर्वत्र यही पूछा जाता है—"तुम्हारा क्या नाम है? तुम्हारे पिता का क्या नाम है? माता का नाम कोई नहीं पूछता। यही बात आकाश वाणी ने भी कही थी।

महाराज दुष्यन्त ने महर्षि कण्व के आश्रम में महर्षि की अनुपस्थिति में उनकी पालिता पुत्री शकुन्तला से गान्धर्व विधि से विवाह करके वहीं वन में उसके गर्भाधान किया था। राजा के चले आने के पश्चात् कालान्तर में शकुन्तला ने एक पुत्र रत्न को उत्पन्न किया। जो विश्वविख्यात चक्रवर्ती महाराजा भरत हुए। जिनके नाम से इस देश का नाम भरत खण्ड हुआ।

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का पाणिग्रहण करके विदा होते समय उसे आश्वासन दिया था, कि शीघ्र ही मैं तुम्हें बुलाने को सेना सहित अपने मंत्री को भेजूँगा, किन्तु बहुत दिनों तक राजा

ने कोई खोज खबर ही नहीं ली, कोई संदेश तक नहीं भेजा, तब महर्षि कण्व ने अपने शिष्यों के साथ पुत्र सहित शकुन्तला को महाराजा दुष्यन्त के यहाँ भेज दिया।

भरी सभा में जब शकुन्तला ने राजा से कहा—"मेरे साथ आपने कण्वाश्रम में गान्धर्व विवाह किया था, मैं आपकी धर्म पत्नी हूँ, यह आपके वीर्य से उत्पन्न आपका पुत्र है, इसे आप ग्रहण करें।" इस पर राजा ने स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया कि मैं तुम्हें जानता तक नहीं। तुम असत्य बोल रही हो, न जाने तुम किसके पुत्र को लाकर मेरा पुत्र बता रही हो। उस समय सबको सुनाई देने वाली आकाशवाणी हुई। उस वाणी का कोई वक्ता नहीं दीखता था, वाणी आकाश से आ रही थी और सबको सुनाई दे रही थी, आकाशवाणी ने कहा—"पुत्र उत्पन्न करने में माता तो केवल लुहार की धौंकनी के समान है। वास्तव में पुत्र तो पिता का ही होता है। क्योंकि स्वयं पिता ही अपने आप पुत्र बनकर प्रकट होता है। इसलिये राजन्! तुम शकुन्तला का अपमान मत करो। इस अपने पुत्र का भरण पोषण करो। वंश की वृद्धि करने वाला सत् पुत्र अपने पिता को नरक से उबार लेता है। शकुन्तला का कहना सर्वथा सत्य है। तुमने इस गर्भ का आधान किया है।"

वास्तव में माता का गर्भाशय तो एक थैली मात्र है, उसमें जो गर्भ धारण कराता है, वीर्य स्थापित करता है, उस पिता की ही प्राधान्यता है। वही पालक उत्पादक तथा जनक कहलाता है। इस जगत् को भगवान् ही उत्पन्न करते हैं इसीलिये वे परम पालक सबके उत्पादक स्थावर जंगम के जनक तथा जगत् पिता कहलाते हैं। प्रकृति में वे ही गर्भ स्थापित करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने समस्त भूतों की

उत्पत्ति में कारण कौन है, ऐसी जिज्ञासा की तो भगवान् ने कहा—"उत्पत्ति तो माता और पिता दोनों के संयोग से होती है।"

इस पर अर्जुन ने पूछा—"इस जगत् के पिता कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—"इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का एकमात्र पिता तो मैं ही हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"आपके गर्भ स्थापन का स्थान भी तो कोई होगा?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, अवश्य, गर्भस्थापन स्थान के बिना गर्भाधान कैसे हो सकता है। जिसे प्रकृति कहते है, कोई उसे महान् भी कहते हैं, जो महत् ब्रह्म के नाम से भी कही जाती है वही मेरा गर्भ स्थापन का स्थान-योनि-है। उसी में मैं गर्भ स्थापित करता हूँ।"

अर्जुने ने पूछा—"उससे उत्पन्न कौन होता है?"

भगवान् ने कहा—"हे भारत! उसी गर्भ के द्वारा समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"उस वीर्य से मनुष्यों की ही उत्पत्ति होती है, या अन्य योनियों वाले जीवो की भी?"

भगवान् ने कहा—"तुम संसार में जितनी भी मूर्तियों को देख रहे हो, सुन रहे हो। समस्त योनियों में जितने भी संस्थान हैं, आकृतियाँ हैं-उनकी योनि महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति ही है। और उस प्रकृति के गर्भस्थापन स्थान में केवल मे अकेला ही वीर्य स्थापन करने वाला पिता हूँ। देवता, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप, वृक्ष, लता गुल्म जितने भी जरायुज, अण्डज, स्वेदज उद्भिज आदि आकृतियाँ हैं, संस्थान हैं, शरीर हैं उनकी माता तो प्रकृति, महतब्रह्म है। और बीज प्रदाता पिता मैं

परमेश्वर हूँ। इन दोनों के संयोग से ही स्थावर, जंगम, चर, अचर, जड, चैतन्य सभी की उत्पत्ति है। इन समस्त जीवों को तीनो गुण ही जकड़े हुए है। इसी मे ये जीव बंधे रहते हैं, माया के जाल से मुक्त नहीं होती। प्रकृति के तीनों गुण ही बंधन का कारण हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ये तीनों गुण जीवों को कैसे बांधे रहते हैं। इन गुणों में प्राणी का संग किस प्रकार हो जाता है ये जीव को किस कारण से फंसाते है, उन गुणों के नाम और उनके कार्य मुझे बताइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गुणों के सम्बन्ध में इतने प्रश्न करने पर श्रीभगवान् क्रमशः इन सभी प्रश्नों का जैसे उत्तर देंगे, पहिले गुणों का नाम बताकर, फिर जिस प्रकार ये गुण जीवों को बांधते है उनका वर्णन जैसे भगवान् करेंगे, उस कथा प्रसंग को मैं आगे वर्णन करूंगा, आशा है आप एकाग्रचित्त करके इस गूढ़ ज्ञानमय प्रसंग को प्रेम पूर्वक सुनने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जग में नाना मूर्ति प्रकृति तिनकी है माता।
प्रकृति कौन, को पुरुष, जथारथ जानें ज्ञाता॥
सब योनिनि में भिन्न भिन्न आकृति तनुधारी।
प्रकृति माहिं उत्पन्न होहिं जननी तिनि प्यारी॥
महद्योनि ता प्रकृति में, बीरज थापन करि बसत।
माता वह तो पिता हौं, वीर्य प्रदाता सब कहत॥

तीनों गुण और सत्त्व का बन्धन

[३]

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥❀

(श्री भ० गी० १४ अ०, ५,६ श्लो०)

छप्पय

देहनि में जो जीव आतमा चेतन देही।
बन्धन तें वह रहित जथारथ है नहिं गेही ॥
अव्यय ताको रूप बाँधि ताकूँ गुन लेवै।
प्रकृति पुत्र गुन तीनि संग ताको कर लेवै ॥
तीनिहु रज, तम, सत्व जा, बाँधत देही देह में।
ममता तब फिरि करतु है, सुत दारा अरु गेह में ॥

❀ हे महाबाहो ! सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, ये ही गुण अविनाशी देही को देह में बाँधते हैं ॥५॥

हे अनघ ! इनमें से सत्त्वगुण प्रकाशक तथा निर्दोष है। मल रहित होने के कारण सुख की आसक्ति और ज्ञान की आसक्ति से बाँधता है ॥६॥

तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। जब काल क्रम से गुण साम्य न रहकर असाम्य बन जाते हैं, तब वे गुण पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, प्रकृति में विकृति होने पर ही गुण अपना काय करने लगते हैं। गुण कहते हैं रज्जु को, डोरी को। रस्सी का काम होता है, बाँधना। बन्धन रस्सी से ही होता है। जैसी रस्सी होगी वैसा ही बन्धन भी होगा। यदि रस्सी रेशम की है, तो उसका बन्धन मृदु सुख स्पर्श वाला तथा सरल होगा। यदि रस्सी सूत की है, तो उसका बन्धन रेशम की अपेक्षा कठोर दृढ़ तथा कर्कश होगा। उसका स्पर्श दुख मिश्रित सुखद होगा उसमें अपेक्षा कृत कठोरता होगी और यदि रस्सी मूँज की काँस की अथवा दाम की हुई, तो उसका बन्धन अत्यन्त कठिन दुखद और परम दृढ़ होगा। बन्धन चाहे रेशम का हो, सूत का हो अथवा मूँज का हो, बन्धन तो बन्धन ही है। इसीलिये साधकों के समस्त प्रयत्न गुणातीत होने के ही निमित्त होते हैं। गुण तो बन्धन के ही कारण हैं। अतः इन गुणों से परिचित होना अत्यावश्यक है, कौन-सा गुण किस प्रकार बाँधता है, गुणातीत होने के लिये इसे समझना अनिवार्य है। इसीलिये भगवान् ने गुणत्रय विभाग योग का वर्णन किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने गुणों के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये, तब भगवान् क्रमशः सबका उत्तर देते हुए सर्वप्रथम गुणों का परिचय कराते हैं—भगवान् ने कहा—"हे महाबाहो! जिनकी बाहुएं छोटी होती हैं, दुर्बल होती हैं, वे बन्धन को तोड़ नहीं सकते, किन्तु तुम तो विशाल और बलवान् बाहुओं वाले हो, तुम्हारे लिये बन्धन क्या कर सकता है। तुम तो अव्यय हो देह नहीं, देही हो ये सब गुण तुम्हारा क्या बिगाड़ सकते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! सब गुण कौन-कौन से हैं ?"

भगवान् ने कहा—"गुण तीन हैं, उनके नाम सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये ही हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"क्या ये गुण पुरुष से उत्पन्न होते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं भैया, पुरुष तो अव्यय है, अनादि और निर्गुण है, शरीर में भले ही रहता भी है, फिर भी वह अक्रिय बना रहता है। ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होने वाले है।"

अर्जुन ने पूछा—"इन गुणों का कार्य कौन-सा है ?"

भगवान् ने कहा—"हे महाबाहो ! इन गुणों का काम बांधना है। ये गुण ही निर्विकार देही को देह में बांध देते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"निर्विकार देही को ये गुण शरीर में कैसे बांध लेते हैं।"

भगवान् ने कहा—"यह देह तो प्रकृति का कार्य भूत और इन्द्रियों का संघात मात्र है। भ्रम वश निर्विकार होने पर भी अपने को विकारवान्-सा अनुभव करने लगता है, गुणों के कारण ही अपने को बन्धनयुक्त अनुभव करने लगता है।"

अर्जुन ने पूछा—"कौन-सा गुण किस संग के द्वारा देही को बांधता है ?"

भगवान् ने कहा—"तीनों गुणों में सत्त्व गुण उत्तम है, रजोगुण मध्यम है और तमोगुण अधम है। सर्व प्रथम सत्त्व गुण को ही ले लीजिये। इन तीनों गुणों में सत्त्व गुण अधिक निर्मल है। निर्मल होने के कारण इसका बन्धन सुखद होता है और ज्ञानमय तथा प्रकाशमय होता है। आमय अर्थात् दुखद न होकर सुख की अभिव्यक्ति करने वाला होता है। यह सत्त्व गुण जीव को बांधता तो अवश्य है, किन्तु अन्धकारमय नहीं बना

देता प्रकाशमय बन्धन है और सुखद बन्धन है। सुख और ज्ञान के संग से बाँधता है। तमोगुण के कारण जो अन्धकार का आवरण छा जाता है, उस अवरण को हटाने वाला प्रकाश प्रदान करने वाला है। यह ज्ञान को ढकता नहीं चैतन्य को प्रकाशित कर देता है, इसी कारण सत्त्व गुण को श्रेष्ठ कहा गया है। हे निष्पाप ! तुम तो पाप रहित हो, अनघ हो।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आपने जो रजोगुण को मध्यम बताया वह देही को किस प्रकार बाँधता है ? और तमोगुण जो अधम गुण है, वह किस प्रकार बाँधता है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् अब जैसे रजोगुण और तमोगुण के सम्बन्ध में बतावेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

प्रकृति पुत्र ये तीनि अधम कोई है उत्तम।
बाँधे निज-निज रूप अधम उत्तम अरु मध्यम॥
इनि तीननि महँ सत्त्व परम निरमल प्रकाशमय।
अधिक न रहै विकार स्वच्छ अति सुघर अनामय॥
वह बाँधत सुख संग तैं, कोमल रेशम रज्जु तैं।
अरजुन ! तू निष्पाप है, और ज्ञानके संग तैं।

रज और तम प्राणियों को कैसे बाँधते हैं?

[४]

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥*

(श्री० भा० गी० १४ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

श्रेष्ठ सतोगुन कह्यो रजोगुन छोटो भाई ।
वैसो निरमल नहीं करै बन्धन चतुराई ॥
राग रूप रज कह्यो चित्त कूँ अति रँगि देवै ।
तृष्णा अरु आसक्ति बाँधि तिनितैं वह लेवै ॥
कुन्तीनन्दन ! रजोगुन, बाँधत जीवहिं शक्ति तैं ।
बन्धन ताको सुदृढ़ अति, करमनि की आसक्ति तैं ॥

---

* हे कौन्तेय ! रजोगुण को तुम रागरूप तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न समझो । वह देही को कर्म संग से बाँधता है ॥७॥

हे भारत ! सभी प्राणियों को मोहित करने वाला तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो । वह प्रमाद, निद्रा, और आलस्य से बाँधता है ॥८॥

यह संसार रूप एक नदी है, इसमें जल रूप यह जीव है। जीव स्थिर है शान्त है, अगमनशील है। जब जल में गुण रूप प्रवाह आ जाता है, तो जल गतिशील हो जाता है, चलने लगता है, बहने लगता है, उसमें क्रिया होने लगती है। तालाब मे जहाँ प्रवाह नही वहाँ वह शान्त गम्भीर स्थिर बना रहता है। गुणो का प्रवाह ही जल में गति प्रदान करता है। सत्त्व गुण में और तमोगुण मे गति नही। सत्त्व को और तम की ऊपर से देखने मे गति एक सी ही है। सत्त्वगुण सम्पन्न व्यक्ति भी बिना कर्म किये शान्त बैठा रहेगा और तमोगुणी भी कर्मों में विशेष रत नही रहेगा, ऊपर से देखने में दोनो में कोई अन्तर प्रतीत न होगा, किन्तु सत्त्वगुण वाला ज्ञान के कारण प्रकाश के कारण मल रहित होने से शान्त गम्भीर तथा स्थिर रहेगा। तमोगुणी अज्ञान के कारण, मल के कारण आलस्य में प्रमाद में अथवा निद्रा में निमग्न होने से निष्क्रिय बना बैठा रहेगा। इन दोनों का विशेष कार्य रत होने का स्वभाव नही।

कर्मों में विशेष प्रवृत्ति तो रजोगुण द्वारा ही होती है, इसीलिये सत्त्वगुण के अधिष्ठातृ विष्णु सृष्टि रचना में प्रवृत्त नहीं होते और तमोगुण के अधिष्ठातृ देव रुद्र भी सृष्टि रचना में मन नही लगाते। ये जो रजोगुण के अधिष्ठातृ देव ब्रह्मा हैं, इन्हें ही सृष्टि की रात्रि-दिन चिन्ता लगी रहती है, कैसे सृष्टि बढ़े, कैसे ससार चक्र चलता रहे, वे रात्रि दिन इसी के लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं। रज कहते हैं राग को। जिसके द्वारा अकर्ता पुरुष विषयों के रंग में रंग कर वासना युक्त बन जाय, उसे विषयों के भोग की स्पृहा उत्पन्न हो जाय। ससार को प्रवाहित करने वाला रजोगुण ही है। इसीलिये साधक को सर्व प्रथम तो आलस्य प्रमाद और निद्रा आदि तमोगुणी प्रवृत्तियों पर

विजय प्राप्त करके सत्कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिये और फिर सत्कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी उनके फल की आशा न रखना चाहिये। कर्म करना कोई बुरा नहीं है, केवल कर्म करना ही बन्धन का कारण नहीं है। प्राणी बंधता तो तब है जब कर्म करके उसके फल की स्पृहा हो। कर्म फल में आसक्ति होने से उस विषय में मन अनुरञ्जित हो जाता है। फल की इच्छा या स्पृहा ही दृढ़तर रज्जु को तैयार करती है। उसी में प्राणी बँध जाता है। अतः भगवत् भक्ति के निमित्त किये हुए कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। जो भी कुछ कर्म करे उसे भगवत् अर्पण कर दे। उन कर्मों को प्रभु प्रीत्यर्थ ही करे। भगवान् के निमित्त जो कर्म होते हैं उनके फल को भगवान् भोगते हैं वे संसारी कामना-इच्छा-अथवा स्पृहा नहीं उत्पन्न करते, वे राजोगुण के भी कर्म नहीं कहाते। वे कर्म तो निर्गुण कर्म हैं, क्योंकि निर्गुण परमात्मा के निमित्त किये गये हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने 'रजोगुण और तमोगुण पुरुष को किस प्रकार बांधता है' यह प्रश्न किया, तो उसका उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे—'हे कुन्ती तनय ! रजोगुण को तुम रागात्मक जानो।"

अर्जुन ने पूछा—"रागात्मक क्या ?"

भगवान् ने कहा—"रागात्मक माने रँगा जाना अर्थात् जिस के द्वारा पुरुष विषयों में रँगा जाय उसे राग कहते हैं। उसी का नाम स्पृहा है। काम, इच्छा, गर्व ये भी राग के ही नाम हैं। इसकी संतानें हैं एक तृष्णा और दूसरी आसंग।"

अर्जुन ने पूछा—"तृष्णा किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो वस्तु हमारे पास नहीं है या कम है उसे प्राप्त करना अधिकाधिक बढ़ाने की इच्छा करने को तृष्णा

कहते हैं। यह तृष्णा अधिकाधिक बढ़ने वाली होती है, यह कभी वृद्धा नही होती, सदा तरुणी बनी रहती है। दूसरी सन्तान है आसङ्ग।"

अर्जुन ने पूछा—"आसङ्ग किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"जो वस्तुएँ प्राप्त हो गयी हैं वे हमारे ही पास सुरक्षित रहें, उन्हें कोई दूसरा लेने न पावे। इस प्रकार प्राप्त वस्तु के संरक्षण की इच्छा को आसङ्ग कहते हैं। इस प्रकार रजोगुण से तृष्णा और आसङ्ग ये दो उत्पन्न होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा— 'रजोगुण बाँधता कैसे है?"

भगवान् ने कहा—कर्मों में प्रवृत्ति का कारण रजोगुण ही है। अतः रजोगुण से जब विषयों में आसक्ति हो जाती है, तो विषय भोगों को संग्रह करने की इच्छा होती है आस-पास दूसरे भी विषयासक्त पुरुष हैं, तो यह आशंका मन में बनी ही रहती है, कि ऐसा न हो मेरी उपभोग की वस्तुओं को कोई दूसरा ले जाय, अतः दूसरों से सचेत रहना पड़ता है। जिसे मैंने पुरुषार्थ से पैदा किया है, उसका उपभोग भी मैं ही करूँ। इस प्रकार कर्मों में संग या आसक्ति बढ़ जाती है। सदा कुछ न कुछ करते रहो और उनके फलों को भोगते रहो ऐसा अभिनिवेष हो जाना ही बंधना है। कर्मों की आसक्ति ही रजोगुण का बन्धन है। मैं कर्मों का कर्ता और फल का भोक्ता हूँ इसी प्रकार के अहंकार से रजोगुण बाँध लेता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तीसरा तमोगुण कैसे बाँधता है।"

भगवान् ने कहा—जैसे सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है रजोगुण से विषयों में लोभ बढ़ता है उसी प्रकार तम से मोह बढ़ता है। ये तमोगुण अज्ञान जनित है। यह तमोगुण ही

समस्त प्राणियों को मोहित करने वाला है। इसके भी तीन सन्तानें हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुण की तीन सन्तानें कौन-कौन सी हैं ?"

भगवान् ने कहा—"तमोगुण की सन्तानों का नाम है निद्रा, आलस्य और प्रमाद।"

अर्जुन ने पूछा—"निद्रा क्या ?"

भगवान् ने कहा—सत्त्वगुण से प्रकाश होता है, सद् असद् का विवेक होता है ज्ञान होता है, रजोगुण कर्मों में प्रवृत्त करता है। निद्रा में न तो ज्ञान तथा विवेक रहता है और न कर्मों में प्रवृत्ति ही होती है। मन घोर अज्ञान में लीन हो जाता है इसी अज्ञान जन्य सुषुप्ति का नाम निद्रा है।"

अर्जुन ने पूछा—"आलस्य किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"कर्मों में प्रवृत्त न होने की इच्छा को आलस्य कहते हैं। कर्तव्य कर्मों में प्रवृत्त न होकर असमर्थ बने पड़े रहने का नाम आलस्य है। यह रजोगुण का कार्य जो प्रवृत्ति है, उसका विरोधी है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रमाद किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जिससे विवेक और प्रकाश न होकर अविवेक और अन्धकार हो उसका नाम प्रमाद है। सन्ध्या-वन्दन नित्य नैमित्तिक कार्य करते है, प्रमादवश उनका स्मरण हो न करना अन्धकार में पड़े-पड़े असमर्थ की भांति समय बिताते रहना यही प्रमाद है, यह प्रमाद सत्त्वगुण के जो ज्ञान और प्रकाश गुण हैं उनका विरोधी होता है। इस प्रकार तमोगुण निद्रा आलस्य और प्रमाद रूपी अपनी सन्तानों द्वारा सत्त्वगुण

तथा रजोगुण दोनों के कार्यों का विरोधी होता हुआ प्राणियों को अज्ञान रूपी रस्सी से बाँध लेता है।"

अर्जुन ने पूछा—"ये गुण प्राणियों को किस-किस कार्य में लगाते है, और सब गुण साथ ही कार्य करते हैं या एक दूसरे को दबाकर अपना कार्य करते हैं ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् जैसे उसके प्रश्न का उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय.

तम है तीसर पुत्र क्रूर अति ही अज्ञानी।
बाँधे जीवनि बहुत बड़ो मूरख अभिमानी॥
अभिमानी जो देह तिनहिँ अति मोहित करिकें।
पैदा यह अज्ञान भाव तैं होवै घिरिकें॥
रस्सी जाकी तीनि हैं, बाँधत जीवहिँ तिनहिँ तैं।
भारत ! पहिले नींद तैं, आलस और प्रमाद तैं॥

कौन सा गुण देही को किस कार्य में लगाता है ?

[५]

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥*

(श्री. भा० गी० १४ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

तीनिहु गुन के काज तीनि ही वेद बताये ।
निज स्वभाव अनुकूल काज करि पुरुष फँसाये ॥
बढ़ि जावै गुन सत्त्व पार्थ ! तो सुख उपजावै ।
है जावै आधिक्य रजोगुन करम करावै ॥
बढ़ै तमोगुन तुरत ही, सब ज्ञानहिं ढकि लेत है ।
बदले में वह पुरुष कूँ, नित प्रमाद कूँ देत है ॥

---

* हे भारत ! सत्त्वगुण सुख मे प्रवृत्त करता है, रजोगुण कर्म मे लगाता है और तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद में प्रेरित करता है ॥९॥

हे भारत रजोगुण, तमोगुण को अच्छादित करके सत्त्व की वृद्धि करता है, तथा रजोगुण सत्त्व को दबा कर तमोगुण को बढ़ाता है । इसी प्रकार तम और सत्त्व को दबाकर रजोगुण बढ़ता है ॥१०॥

जैसे शरीर में वात, पित्त और कफ तीनों ही सदा रहकर जब शरीर की रक्षा करते हैं। तब ये गुण कहाते हैं और ये ही जब प्रकुपित हो जाते हैं, तो इनकी दोष संज्ञा हो जाती है, वैसे ही शरीर धारण के लिये सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण आवश्यक हैं, किन्तु जब दो गुणों को दबाकर एक गुण प्रबल हो जाता है, तो शरीर में उसी की प्राधान्यता मानी जाती है, उस समय प्राणी उसी गुण के वशीभूत होकर उसी गुण के समान कार्य करने लगता है। ऐसा कोई शरीर नहीं जिसमें सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण न हों। देश, काल, पात्र तथा अन्यान्य परिस्थियों के अनुसार गुण घटते-बढ़ते रहते हैं।

कोई तो जन्मजात सत्त्वगुण वाले, रजोगुणी अथवा तमोगुणी प्रकृति के होते हैं। सत्त्वगुण प्रधान पुरुषों के शरीर में रजोगुण तथा तमोगुण न रहता हो, सो भी बात नहीं। सब शरीरों में सर्वदा तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं, किन्तु जिस गुण का प्राधान्य रहेगा, उसी गुण वाला वह व्यक्ति कहलाता है। तमोगुणी सदा तमोगुण ही प्रधान बना रहे सो भी बात नहीं, देश, काल, पात्र, आहार तथा परिस्थितियों के कारण विपर्यय भी हो जाते हैं।

जैसे कोई घोर तमोगुणी या रजोगुणी है, किसी पुण्य पवित्र देश में साधु सन्तों के स्थान में चला जायगा, तो उस देश की पवित्रता का पावनता का उस पर प्रभाव पड़ेगा। उसके सत्त्व की वहाँ देश के प्रभाव से वृद्धि होगी, रज तम दब जायेंगे।

इसी प्रकार प्रातःकाल में प्रायः चित्त की वृत्ति सत्त्व प्रधान रहती है, मध्यान्ह में रजोगुण प्रधान और सायकाल में तमोगुण प्रधान हो जाती है। इसी प्रकार विशेष-विशेष पर्वों पर विशेष-विशेष व्रतों के काल में गुण विपर्यय हो जाते हैं।

संग के प्रभाव से भी प्रकृति में परिवर्तन हो जाता है। कोई तमोगुणी या रजोगुणी पुरुष है। किसी साधु संत महात्मा का संग हो गया, उसका रज तम दब जाता है सत्त्व का उदय हो जाता है।

गुणों का प्रभाव अन्न के कारण भी बदल जाता है। जैसा खाय अन्न वैसा बने मन। शुद्ध सात्त्विक न्यायोपार्जित बने अन्न से, भगवत् प्रसादी अन्न से बुद्धि सात्त्विकी हो जाती है, रज प्रधान अन्न भोजन से रजोगुणी तथा तमोगुणी अन्न खाने से बुद्धि तमोगुणी बन जाती है। इस विषय के अनन्त उदाहरण हैं।

एक बड़े सत्त्वगुण प्रधान महात्मा थे। वे एक धनिक के यहाँ जाया आया करते थे। वह धनिक अन्न की तस्करी करता था। राज्य के अधिकारियों से मिलकर उन्हें उत्कोच-घूस-देकर अन्न चुरा लाता इससे उसे लाखों की आय होती थी। एक दिन उसके यहाँ चोरी के चावलों की खीर बनी। उन महात्मा ने भी वह खायी। इससे उनकी लोभ वृत्ति जागृत हुई। लोगों की आँख बचाकर दश सहस्र रुपये चुरा लाये। लाकर अपनी कुटिया में रख दिये।

इधर धनिक के यहाँ रुपयों की ढुढ़ाई हुई। सेवक भृत्य तथा अन्यान्य लोगों पर सन्देह हुआ। सेवकों को डराया धमकाया जाने लगा। महात्माजी पर तो किसी का सन्देह ही नहीं था।

प्रातःकाल जब वह चोरी का अन्न शौच मार्ग से निकल गया। शौच स्नान से निवृत्त होकर उषःकाल-अमृत काल-में जब वे भगवान् के भजन में बैठे तो सत्त्वगुण की वृद्धि के कारण उनकी बुद्धि शुद्ध हुई। वे सोचने लगे—हाय ! मैंने कैसा अनर्थ किया ! उस धनिक के घर के लोग मेरे ऊपर कितना विश्वास रखते हैं। मैंने उनके साथ कैसा विश्वासघात किया। मैं निष्किंचन

विरक्त साधु, मैं इन रुपयों को लेकर क्या करूंगा, धन तो प्रायः अनर्थ का ही कारण होता है, चोरी का यथार्थ अपराधी मैं हूँ, वहाँ सेवकों भृत्यों आदि को दंड दिया जा रहा होगा।

इन विचारों के आते ही, वे भजन से उठ पड़े रुपये लेकर सीधे सेठ के समीप पहुँचे। वहाँ सेवकों पर मार पड रही थी। महात्माजी ने कहा—"अरे, भाई इन निरपराध सेवकों को क्यों मारते हो, मुझे मारो यथार्थ चोर तो मैं हूँ,' यह कहकर उन्होंने पूरे रुपये सेठ को दे दिये।"

सेठ ने कहा—"स्वामीजी हम तो आपको बहुत दिनों से जानते हैं, आप तो महान् त्यागी, निर्लोभी निश्किञ्चन और सत्व गुण प्रधान हैं। आप ऐसा कार्य कदापि नहीं कर सकते।"

महात्मा ने कहा—"मैंने आज तक तो जीवन में ऐसा कार्य कभी किया नहीं। कल आपके यहाँ भोजन करने के पश्चात् मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। प्रतीत होता है, उस अन्न में ही कोई दोष होगा।"

सेठ ने स्वीकार किया, वह अन्न चोरी का था। इस प्रकार अन्न दोष के कारण भी वृत्ति बदल जाती है। गुण विपर्यय हो जाते हैं।

एक महात्मा भजनानंदी सत्व प्रधान थे, इन्द्र सैनिक का वेष बदल कर उनके यहाँ एक खड्ग रख गये। न्यास हरण के दोष के कारण वे उसे सदा पास रखते। निरन्तर शस्त्र के संग से उनकी वृत्ति रजोगुणी हो गयी वे हिंसक बन गये।

स्थान का भी प्रभाव बहुत शीघ्र पड़ता है, वहाँ के व्याप्त प्रबल परमाणु प्राणी की वृत्ति को बदल देते हैं। एक बहुत ही सात्विक प्रकृति के गृहस्थ थे। उन्होंने एक भवन क्रय किया। वे जब उस भवन में जाते तो उनकी बकरा काटने मांस खाने की

इच्छा होती। भवन के बाहर आने पर उन्हें पश्चाताप होता। पीछे जब उन्होंने पता लगाया, तो पता चला पहिले यहाँ वध-शाला थी। बकरे काटे जाते थे। उसके परमाणु अब भी वहाँ के वायुमंडल में व्याप्त थे। इसी से उसमें जाते ही उनकी वृत्ति बदल जाती।

इस प्रकार सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों के प्रवाह निरन्तर पुरुष की वृत्ति को बदलते रहते हैं। जिस गुण का जो कार्य होता है, पुरुष उस गुण के अधीन होकर वैसा ही कार्य करने लगता है, वैसी ही उस समय उसके चित्त की वृत्ति बन जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने तीनों गुणों के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा की, तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! इन तीनों ही गुणों का अपना-अपना स्वाभाविक व्यापार है। जैसे कार्य करोगे उनमें उस गुण की अधिकता रहेगी। जैसे भोगों की इच्छा है, उनकी प्राप्ति के लिये पुरुष दुःख सहकर अथक परिश्रम कर रहा है। किसी कारणवश उसके अन्तःकरण में रज और तम को दबाकर सत्त्वगुण की अभिवृद्धि हो गयी, तो उन दुःखद कर्मों से विरक्ति हो जायगी। हृदय में एक स्वाभाविक शांति का अनुभव होने लगेगा। क्योंकि सत्त्वगुण का स्वभाव देहियों को सुख में संलग्न करने का है।

अर्जुन ने पूछा—"जिस प्रकार बढ़ा हुआ सत्त्वगुण जीव को सुख में लगाता है, उसी प्रकार बढ़ा हुआ रजोगुण किसमें लगाता है ?"

भगवान् ने कहा—"रजोगुण की अभिवृद्धि होने पर भोगों को भोगने की तथा लोभ की इच्छा होती है। भोगों को प्राप्त

करने के लिये कर्म करने पड़ते हैं, अतः बढ़ा हुआ रजोगुण कर्मों के करने में प्रवृत्त करता है।"

अर्जुन ने पूछा—"सत्त्व तो सुख में और रज कर्मों में लगाता है, बढ़ा हुआ तमोगुण प्राणियों को किसमें लगाता है?"

भगवान् ने कहा—"तमोगुण, ज्ञान, प्रकाश तथा कर्मों का द्वेषी है, अतः वह ज्ञान को ढक कर प्राणियों को प्रमाद में प्रवृत्त कराता है। जिसे जानना चाहिये उसे जानने नहीं देता। जो करना चाहिये उसे करने नहीं देता। निद्रा आलस्य और प्रमाद की ओर प्रेरित करता है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! गुण तो तीनों ही पुरुष के शरीर में है। क्योंकि यह शरीर ही त्रिगुणमय है, फिर इसमें कभी सत्त्व का, कभी रज का और कभी तम का उत्कर्ष कैसे हो जाता है?"

भगवान् ने कहा—"ये तीनों गुण साम्यावस्था में कभी नहीं रहते। साम्यावस्था में होने से तो सृष्टि ही समाप्त हो जायगी। सब गुण मूल प्रकृति में मिल जायेंगे। ये गुण एक दूसरे को दबाकर ही उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। निर्धनों को ही दबाकर धनिक बड़े धनिक बनते हैं। कभी कोई गुण बढ़ जाता है, कभी कोई। जब एक गुण बढ़ जाता है, तो दूसरे दो निर्बल बन जाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"यही तो मैं पूछता हूं। किस गुण को दबा कर कौन-सा गुण प्रबल बन जाता है?"

भगवान् ने कहा—"जैसे सत्त्वगुण उत्कर्ष को प्राप्त कब होगा; जब रजोगुण और तमो को दबाकर—उन्हें निर्बल बनाकर अपना प्राधान्य स्थापित कर लेगा। उस समय देही-पुरुष को चारों ओर प्रकाश दिखायी देने लगेगा, ज्ञान की वृद्धि होने लगेगी और सुखानुभूति होने लगेगी।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुण का उत्कर्ष कब होगा ?"

भगवान् ने कहा—"इसी प्रकार जब रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण की अभिवृद्धि होगी, तब पुरुष न कर्मों में प्रवृत्त होगा न जानने की जिज्ञासा होगी। निद्रा, आलस्य और प्रमाद के वशीभूत होकर पड़ा रहेगा।

अर्जुन ने पूछा—"रजोगुण का उत्कर्ष कब होगा ?"

भगवान् ने कहा—"वही सिद्धान्त रजोगुण में भी लगालो। जब सत्त्वगुण और तमोगुण दोनों को दबाकर रजोगुण की अभिवृद्धि हो जायगी। तब इसे मार उसे दबा, यह कर, वह कर इस प्रकार कर्मों के करने में अधिकाधिक प्रवृत्ति बढ़ेगी।"

अर्जुन ने पूछा—"हम कैसे जाने कि इस समय कौन से गुण की वृद्धि हो रही है। तीनों गुणों की अभिवृद्धि के कृपा करके लक्षण बता दीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर अब भगवान् जसे तीनो गुणों की वृद्धि के लक्षण बतावेंगे, उस कथा प्रसंग को मे आगे वर्णन करूंगा।"

छप्पय

तीनिहु गुन नित रहैं किन्तु जब द्वै घटि जामें।
बढ़ि जावै तब एक गुनी नर सो कहलामें॥
रज तम गुन दबि जायँ सत्व गुन तब बढ़ि जावै।
ऐसेई तम सत्व घटैं तब रज अधिकावै॥
जाई कम तै सत्वगुन, और रजोगुन दबत हैं।
तब बढ़ि जावै तमोगुन, त्रिगुन घटत अरु बढ़त हैं॥

गुणों की अभिवृद्धि के लक्षण

[६]

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥*

(श्री भग० गी० १४ अ० ११, १२, १३ श्लोक)

छप्पय

कैसे जानें कौन बढ़ि रह्यो गुन अब हमरो ।
का का लक्षन तासु मिटाओ संशय संगरो ॥
होवै जब परकाश देह में भीतर बाहर ।
छिटकै मुख पै कान्ति लगै सबई जग सुखकर ॥
होहि मुदित अन्तःकरन, ज्ञान विवेक बढ़ै सतत ।
तब जानो अब देह में, सत्त्व सुखद घर गुन बढ़त ॥

---

* जब शरीर के सभी द्वारों में प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न हो, तब ऐसा जानो कि सत्त्वगुण बढ़ रहा है ॥११॥

हे अर्जुन ! जब लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, मन चांचल्य और

समस्त प्राणी तीनों गुणो के अधीन हैं, तीनों गुणों की प्रेरणा से ही हम समस्त कार्यों को करते हैं। गुणों की प्रेरणा न हो, तो कोई सृष्टि का कार्य ही न हो। सब कुछ रुक जाय। संसारी लोगो के समस्त कार्य त्रिगुण वृत्ति ही द्वारा संचालित होते हैं। सबका अन्तर्यामी जो शरीर को अधिष्ठान बनाकर घट-घट में बैठा हुआ है, वह जैसे स्वप्न का साक्षी रहता है, वैसे ही गुणों का भी साक्षी रहता है। वह जानता है, इस समय जीव किस गुण के अधीन होकर कार्य कर रहा है, किन्तु जानते हुए भी हम उस समय उसे रोकने में समर्थ नहीं हो सकते। जैसे सोते समय सुषुप्ति अवस्था का साक्षी प्राज्ञ अनुभव करता है मै सुख पूर्वक सो रहा हूँ, स्वप्नावस्था का साक्षी तैजस् अनुभव करता है, मै स्वप्न देख रहा हूँ। जागने पर कहते है, आज तो बड़ी ही गहरी मीठी नीद आयी, आज तो मैंने विचित्र स्वप्न देखा। किन्तु सोते समय या स्वप्नावस्था में उस समय का साक्षी जीव कुछ कर नही सकता। जो साक्षी होता है, वह अभियोग में भाग नहीं ले सकता। इसी प्रकार जब जैसे गुण की वृत्ति हो जाती है उसका साक्षी तो अन्तःकरण स्थित जीवात्मा रहता है और वह अनुभव भी करता है कि इस समय अमुक गुण बढ़ रहा है, किन्तु उस समय वह वैसी ही वृत्ति के अधीन हो जाता है, पीछे गुण विपर्यय होने पर भले ही उसके लिये पश्चात्ताप करे।

सत्त्वगुण की वृद्धि की मोटी पहिचान प्रकाश और ज्ञान है। सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर विषय वासनाओं से विराग होने

भोगलालसा ये सब बढ़ी दिखायी दें, तो समझो रजोगुण बढा है ॥१२॥

हे कुरुनन्दन ! जब अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह ये सब उत्पन्न हों, तो समझो तमोगुण बढ गया है ॥१३॥

लगता है, सभी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण की वृत्तियाँ सात्त्विक भाव में अपना ठीक-ठीक कार्य करने लगती हैं, किसी वस्तु को अनुचित मार्ग से लेने की इच्छा नहीं उत्पन्न होती। परोपकार करने की भावना उत्पन्न होती है जो वस्तु अपने पास है, उसमें दूसरों की सहायता करने का मन होता है। किसी के प्रति क्रोध के भाव नहीं आते। सबसे मधुर भाषण करने का मन होता है, अपने अपकार करने वाले के प्रति भी द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते। संसार की सभी घटनायें सुखद प्रतीत होती हैं, चित्त में प्रसन्नता अथवा आह्लाद उत्पन्न हो जाता है। ये भावनायें तथा और भी ज्ञानमय प्रकाशमय भावनायें उठने लगें, तब समझो सत्त्वगुण की वृद्धि हो रही है।

रजोगुण में विषयों के प्रति लोभ और कर्म करने की उत्कट अभिलाषा इन दो भावों की प्रबलता रहती है। मेरा भवन सुंदर से सुंदर हो, उसमें सुख की सभी सामग्रियाँ समुपस्थित हों। सुंदर शैया, सुखद अनुपम आसन, चित्र विचित्र प्रकार के वस्त्र, सुन्दर से सुन्दर आभूषण, ठाट बाट हो। भोजन सुन्दर हो, बहु प्रकार का हो, उससे तड़क-भड़क नमकीन चरपरा विशेष हो, अनेक प्रकार के साग, मांस आदि हों, सर्वत्र आज्ञा पालक भृत्य हों, जितना भी धन प्राप्त होता है, उससे अधिकाधिक धन की अभिलाषा बढ़ती रहे। इसे यक्षवित्त कहते हैं। यक्षवित्त की एक कहानी है।

एक राज सेवक था, वह सात्त्विकी प्रकृति का था। उसे जो भी वेतन मिलता, उससे वह परम सात्त्विकता से जीवन व्यतीत करता। उसमें से लोगों को यथा शक्ति दान भी देता, परोपकार भी करता और धार्मिक कार्यों में भी व्यतीत करता। इस प्रकार

उसका जीवन सात्त्विक ढंग से बड़े आनन्द के साथ व्यतीत हो रहा था।

एक दिन वह घोर वन में चला गया। वहाँ एक यक्ष चिल्ला रहा था, ये ६ सुवर्ण से भरे हुए पात्र हैं, इन्हें जो चाहे सो ले जाय। इसके मन में लोभ हुआ कि इन्हें ले चलो किसी अच्छे काम में लग जायेंगे। "इस भावना से वह छः सुवर्ण पात्रों को यक्ष से ले आया। घर में आकर उसने वे छः पात्र रख दिये। ५ पात्र तो भरे हुए थे। एक आधा था। अब उनके मन में यह बात आई, कि यह पात्र भी किसी प्रकार भर जाय, तो हमारे पास ६ भरे हुए सुवर्ण पात्र हो जायँ।"

लाभ से तो लोभ बढ़ता ही है। उसकी स्त्री ने भी उसकी बात का अनुमोदन किया। अब दोनों ने मिलकर सोचा—"यह घड़ा कैसे भरे।" स्त्री ने कहा—"भोजन में कम से कम व्यय किया करेंगे। और आप जो लोगों की सहायता कर देते हैं, बहुत साधन देवता, पितर, ऋषि, अतिथि, भाई बन्धु कुटुम्बियों के नाम से जो व्यय कर देते हैं, उसे बन्द करके उससे बचे धन को भी इसी में भरते चलो। थोड़े दिनों में यह पात्र भर जायगा।"

अब तो ऐसा ही किया जाने लगा। पहिले जो रोटी, दाल, साग, फल फूल, दूध, दही सहित सुंदर भोजन बनता था। वह बन्द हुआ। सूखी रोटी, नमक से या सूखी दाल से खाने लगे। पूजा पाठ, श्राद्ध, तर्पण, दान धर्म सब बन्द। जो कुछ बचे उसे 'घर गुल्लक में' किन्तु वह गुल्लक ऐसी थी, कि भरती ही नहीं थी। कितना भी उसमें डालते चलो उसकी पूर्ति ही नहीं होती थी। जब वह रिक्त पात्र बहुत प्रयत्न करने पर भी न भरा तो उसने राजा से प्रार्थना की—मेरा वेतन बढ़ा दिया जाय। राजा उसके सात्त्विक भाव से दान, धर्म, पूजा पाठ से प्रभावित थे। उसका वेतन

दुगुना कर दिया। फिर भी वह पात्र खाली ही रहा, भरा ही नहीं। तब उसने राजा से पुनः वेतन बढ़ाने की प्रार्थना की। राजा को अब संदेह हुआ। उसने पूछा—"तुम्हारा वेतन दुगुना तो कर दिया, अब तुम वेतन बढ़वा कर क्या करोगे, ऐसी कौन-सी आवश्यकता आ गयी।"

तब उसने कहा—"महाराज, मेरा एक सुवर्ण पात्र है उसे भरना है। मैंने सब कटौती करके उसे भरना चाहा परन्तु वह भरता ही नहीं। न जाने उसमें कितना वित्त समावेगा।"

राजा ने कहा—"वह एक पात्र नहीं ६ पात्र थे।"

सेवक ने कहा—"अन्नदाता! आप सत्य कह रहे है ६ पात्र ही हैं। ५ तो भरे हुए हैं। एक खाली है उसे भरने को हम ने खाना पीना, पूजा पाठ धर्म मे व्यय होने वाला सब धन बन्द कर दिया फिर भी वह भरता नही। इसी को भरने के लिये मै आप से बार-बार वेतन वृद्धि की प्रार्थना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"वे ६ घड़े तुम्हें वन में मिले होंगे। यह यक्ष का वित्त है। जब मैं वन में गया था, तब उस यक्ष ने मुझे भी इस धन को लेने को कहा था, किन्तु यक्ष का धन समझकर मैने उसे नहीं लिया। अब तुम उसे तुरन्त जाकर लौटा आओ। नहीं तुम्हारी दुर्गति होगी। पांच इन्द्रियों के स्वामी इस छठे मन रूपी पात्र में चाहें जितना धन डालते जाओ चाहें सम्पूर्ण संसार की विषयभोग की सामग्रियों को डाल दो। यह भरने का नहीं। तुम इस यक्ष वित्त को तुरन्त जाकर लौटा आओ। इसी में कल्याण है।"

--राजा की आज्ञा मानकर वह सेवक तुरन्त छैऊ सुवर्ण पात्रों को वन में जाकर यक्ष को लौटा आया। फिर उसका भोजन सुंदर बनने लगा। देवता, ऋषि, पितर तथा अतिथियों का सत्कार

होने लगा। धर्म कर्म में व्यय होने लगा। यह यक्ष वित्त क्या है? लोभ ही है। इसीलिये भागवतकार ने कहा है—

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः॥

जो देवता, पितर, ऋषि, अन्य प्राणियों, जाति भाई कुटुम्बियों तथा और भी अतिथि आदि भागीदारों को बिना खिलाये उनका भाग बिना निकाले—जो अकेला खा जाता है, उस यक्ष-वित्त वाले पुरुष का अधः पात होता है, उसकी अधोगति हो जाती है। लोभ तथा तृष्णा ऐसा पात्र है, कि यह कभी भरता ही नहीं।

तमोगुण में काम करने की इच्छा और आलस्य में पड़े रहना इसकी प्रधानता रहती है।

दो आलसी एक आम के बगीचे में सो रहे थे। उधर से एक घुड़सवार निकला। उनमें से एक आलसी ने उसे पुकारा। घोड़ा वाला समीप आ गया, तो उसने बोला—'आप घोड़े से नीचे उतर कर मेरी एक बात सुन लीजिये।"

घोड़ा वाला भला मानुष था, उतर पड़ा और पूछा—"कहो क्या बात है।"

उस आलसी ने कहा—"वह जो पास में पका आम पड़ा है, उसे मेरे मुख में निचोड़ दीजिये।"

हँसकर घोड़े वाले ने कहा—"अरे, भाई! तुम तो बड़े आलसी हो, तुमसे पास में पड़ा आम उठाकर चूसा भी नहीं जाता।"

यह सुनकर दूसरा आलसी बोल उठा—"अजी, पूछो मत महाराज! यह बड़ा ही आलसी है। कल एक पका आम मेरे मुख में गिर गया। उसका रस मैं चूस गया। मेरे सब मुख पर

रस लग गया। रात्रि भर मेरे मुख को कुत्ता चाटता रहा। मैं इससे बार-बार कहता—"तनिक कुत्ते को भगा दो, सो महाराज! यह उठा ही नहीं। कुत्ता चाटता ही रहा।"

उस घुड़सवार ने हँसकर कहा—"तुम तो इसके भी गुरु निकले।"

अकर्मण्यता और आलस्य में पड़े रहना यही तमोगुण का लक्षण है। यही तीनों गुणों की विशेषता है। भगवान् ने इसी का वर्णन अर्जुन से किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने तीनों गुणों के पृथक्-पृथक् लक्षण पूछे, तो भगवान् ने कहा—"जब जो गुण बढ़ जाता है तो उसी के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा, जब सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, तब कौन-कौन से लक्षण प्रकट होते है?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! यह शरीर भोग भवन है। जीवात्मा इसी में भोगों को भोगा करता है। जिस समय सभी इन्द्रियों में-जो विषय भोगों की उपलब्धि के साधन हैं उनमें-प्रकाश उत्पन्न हो जाय। अर्थात् विषय भोगों की अनित्यता प्रकट होने लगे। यह अनुभव होने लगे कि ये विषय भोग क्षणभंगुर हैं नाशवान् हैं अनित्य है। ऐसे ज्ञान होने पर मन में प्रसन्नता हो, सरल, सादा, धार्मिक जीवन बिताने की इच्छा उठे। तभी जानना चाहिये कि अब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है।"

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, रजोगुण की वृद्धि में कौन-कौन से लक्षण प्रकट होते हैं?"

भगवान् ने कहा—"रजोगुण की वृद्धि में सबसे पहले तो लोभ उत्पन्न होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"लोभ क्या?"

भगवान् ने कहा—"अधिकाधिक भोगों की-कभी भी तृप्ति न होने की-इच्छा को लोभ कहते है। जितना प्राप्त हो जाय, उससे अधिक की ओर इच्छा उत्पन्न हो जाय उसी का नाम लोभ है। फिर कर्म करने में प्रवृत्ति होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रवृत्ति किसे कहते है?"

भगवान् ने कहा—"सतत प्रयत्न करते रहने की इच्छा का ही नाम प्रवृत्ति है। इस काम को ऐसे करने पर यह फल मिल जायगा। यों करने पर इसमें अधिक लाभ हो जायगा। ऐसी ऊहापोह निरतर मन में उठती रहें यही प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति के साथ ही साथ उन-उन कर्मों को आरभ भी करदे।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्मों के आरंभ का अर्थ क्या?"

भगवान् ने कहा—"जैसे सुंदर भवन बनाने की प्रवृत्ति हुई, तो तुरंत ईंटा, पत्थर, चूना आदि जुटाना। जैसे हो तैसे उचित अनुचित उपायों से भावना बन जाय, वैसे ही कार्यों को आरंभ कर देना यही कर्मारंभ कहाता है। कार्यारभ के साथ ही अशम बढ़ जाय।"

अर्जुन ने पूछा—"अशम किसे कहते हैं।"

भगवान् कहा—"अशम कहते है इच्छाओं को शमन-दमन-न करने को जैसे भवन बनाने को कार्यारंभ कर दिया। अभी भवन बना भी नहीं है फिर भी सोचने लगते हैं, भवन बनते ही एक सुंदर तालाब और बनवाऊँगा, उसमें कमल लगवाऊँगा, उसके सामने एक बगीचा लगवाऊँगा। इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरा दूसरे के पश्चात् तीसरा ऐसे संकल्प करते ही जाना। संकल्पों का प्रवाह रुके नहीं अविच्छिन्न रूप मे चलता ही रहे इसी का नाम अशम है। अशम के पश्चात् स्पृहा होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"स्पृहा का क्या लक्षण है?"

भगवान् ने कहा—"बलवती कामना का ही नाम स्पृहा है, जैसे हमने भवन बनाया, उसके सामने एक वाटिका बनाने की इच्छा है, उसमें किसी का घर बाधक है। उस घर को साम, दान, दंड भेद किसी भी प्रकार से छुड़िया लेने का ही नाम स्पृहा है। किसी पर कोई अच्छी वस्तु देखी, किसी पर थोड़ा या बहुत धन देखा, उसे येन केन प्रकारेण अपना बना लेने की कामना को स्पृहा कहते हैं। लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरंभ, अशम और स्पृहा रजोगुण की वृद्धि हो जाने पर ये सब लक्षण प्रकट हो जाते हैं। ये जब बढ़ने लगें तब समझो रजोगुण बढ़ गया है।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुण की वृद्धि के कौन-कौन से लक्षण हैं?"

भगवान् ने कहा—"कोई कितना भी उपदेश करे वह मन में बैठे ही नहीं। अंतःकरण में अन्धकार का ही साम्राज्य बना रहे, काम करने में प्रवृत्ति ही न हो, कोई काम करने को कहे भी तो नाना बहाने बनाकर टालम टूल कर जाय, प्रमाद में पड़ा रहे। मोहग्रस्त बना रहे कोई काम लाभ का है, उसमें अपनी हानि अनुभव करे यही मोह है, मोहग्रस्त होकर तान दुपट्टा सोता रहे। अपने हित का ध्यान न रखे ये ही सब लक्षण तमोगुण की वृद्धि के हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ये तीनों गुण तो सदा प्राणियों के शरीरों में रहते ही हैं। कोई विरले ही त्रिगुणातीत होते हैं। वे तो मृत्यु को जीत लेते हैं, अमर बन जाते हैं किन्तु जो त्रिगुणातीत नहीं हुए हैं। तीनों गुणों के प्रवाह में ही बह रहे हैं, मरते समय यदि उनका सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है, तो उनकी कौन सी गति होगी? यदि मरते समय रजोगुण या तमोगुण की वृद्धि

है, तो उनकी कौन-सी गति होगी। कृपया मरण समय में बढ़े हुए गुणों का फल बता दीजिये।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

ऐसे ही जब बढ़ै रजोगुन अपने तन में।
अति ई होहि अशान्ति मचै गड़बड़ अति मनमें॥
होहि चित्त में लोभ विषय सुख सब मिलि जावें।
अरजुन! होइ प्रवृत्ति जतन करि द्रव्य कमावें॥
करम कामना सहित सब, स्वार्थ भाव आरम्भ जब।
विषय वासना प्रबल हों, बढ़्यो रजोगुन जानि तब॥

बढ़ै तमोगुन तबहिँ जबहिँ तम मनमें आवे।
अन्तःकरन मलीन प्रकाश न करन दिखावै॥
जो अपने करतव्य प्रवृत्ति नहिँ करमनि होवै।
आलस में ई पर्‌यो रहै या निसिदिन सोवै॥
होहि मलिनता मोहवश, आलस और प्रमाद अति।
बढ़्यो तमोगुन समुझ तब, होइ न कुरुनंदनसुमति॥

अन्तकाल में बढ़े हुए भिन्न-भिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न फल

[७]

सदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥❀

(श्री० भग० गी० १४ अ० १४, १५ श्लोक)

छप्पय

तीनिहु गुन के माहिँ बढ़ै गुन जो प्रचन्ड अति ।
मृत्यु समय जो प्रबल होहि गुन सो अन्तिम गति ॥
वृद्धि सत्व गुन होहि मरै जबई जिह प्रानी ।
होवैं सद्गति तासु नहीं दुरगति जिइ जानी ॥
शुभ करमनि करता विमल, जिनि लोकनि में जात हैं ।
दिव्य स्वरग आदिक परम, लोकनि पाइ सिहात हैं ॥

❀ जब जीवात्मा सत्त्व की वृद्धि मे मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह उन निर्मल लोको को प्राप्त होता है, जिनमे उत्तम कर्म करने वाले पुरुष जाते हैं ॥१४॥

और यदि रजोगुण की वृद्धि के समय मरे तो कर्मासक्त पुरुषों मे पैदा होता है और तमोगुण की वृद्धि मे मृत्यु को प्राप्त हो, तो मूढ़ योनियों मे उत्पन्न होता हैं ॥१५॥

समस्त त्रिलोकी के जीव अपने-अपने गुणों के अनुसार कर्म करके ऊँची, नीची और मध्यम योनियों को प्राप्त करते हैं। भुवर्लोक के ऊपर अनेक लोक है। प्राणी जब तक गुणों के अधीन रहकर कर्म करता रहेगा, तब तक त्रिलोकी में ही भटकता रहेगा। जन्मता रहेगा, मरता रहेगा। ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक क्षयिष्णु पुनरावर्ती हैं। सत्त्वगुण प्रधान व्यक्ति तपस्या, दान, धर्म, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, ब्रह्मचर्य पालन, इन्द्रिय दमन, मन की स्थिरता, सत्य, शौच, आस्तिकता, सन्तोष, स्वाध्याय, प्राणायामादि शुभ कर्मों में सदा लगे रहते हैं। भूल से उन से यदि कोई रजोगुणी, तमोगुणी अथवा पाप कर्म कभी बन जाता है, तो कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत करके उसका प्रायश्चित करते हैं। ऐसे पुरुषों का मरते समय सत्त्वगुण ही बढता है, अतः ऐसे पुण्य कर्म कर्ता सदा पुण्य लोकों में हो जाते हैं।

सात्त्विक शुभ कर्म करने वाले व्यक्तिके पुण्यों के लोक बनते रहते हैं। सत्त्वप्रधान पुण्यात्मा लोग उन्हीं लोकों में जाकर सुखों का उपभोग करते हैं। क्योंकि सत्त्वगुण का परिणाम सुख ही है।

श्री रामजी ने शिव धनुष को भंग करके सीता जी को प्राप्त किया। विवाह करके जब वे अयोध्या को जाने लगे, तभी मार्ग में परशुराम जी मिले वे शिव धनुष भंग के कारण अत्यन्त ही कुपित हो रहे थे, श्री रामचन्द्र जी से बडी देर तक वाद-विवाद होता रहा। अन्त में परशुराम जी ने कहा—"शिवजी के धनुष के ही सदृश मेरे पास एक वैष्णव धनुष और है, यदि तुम उसे चढ़ा दोगे तो मैं तुम्हारा लोहा मान जाऊँगा।" यह कहकर परशुराम ने उन्हें वह धनुष दिया, श्री रामचन्द्रजी ने सहज भाव से उस धनुष पर बाण चढ़ा दिया। परशुराम जी नतमस्तक

हुए श्रीराम का उन्होंने भगवत् बुद्धि से अभिवादन किया। तब रामचन्द्र जी ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरा धनुष पर बाण चढ़ाना कभी व्यर्थ नहीं जाता। राम का बाण निरर्थक नहीं जाता। आप ब्राह्मण हैं, अतः मैं आपका वध तो करूंगा नहीं। अब यह बताइये कि इस बाण द्वारा मैं आपको चलने की शक्ति को नष्ट कर दूँ। अथवा आपके पुण्योपार्जित लोकों को नष्ट कर दूँ।

परशुराम जी ने कहा—'राघव ! मैंने समस्त पृथ्वी को अपने पुरुषार्थ से जीतकर अन्त में इसे कश्यप जी को दान कर दिया था। दान करते समय मैंने प्रतिज्ञा की थी, कि मैं तुम्हारी पृथ्वी पर रात्रि में नहीं रहूँगा। अतः मुझे महेन्द्र पर्वत पर जाना है, इसलिये आप मेरी गति को तो अवरुद्ध करें नहीं। इस बाण से मेरे पुण्योपार्जित लोकों को ही नष्ट कर दीजिये।" भगवान् ने ऐसा ही किया। इस प्रकार पुण्य कर्म करने वाले सत्त्व प्रधान पुरुष मर कर स्वोपार्जित पुण्यलोकों को ही प्राप्त करते हैं।

जो राजस् प्रकृति के पुरुष हैं, वे सदा कर्मों में ही आसक्त बने रहते हैं, अतः अपने सुकृतों को स्वर्गादि लोकों में भोगकर अन्त में इसी कर्म भूमि में जन्म लेकर पुनः कर्मों में ही निमग्न हो जाते हैं। कर्म चाहें शुभ हों या अशुभ वे सब रजोगुण द्वारा ही होते हैं और उनका फल भी रजोगुण प्रधान होता है। हाँ भगवत् सेवा बुद्धि से-निष्काम भाव से-फल की आशा न रखकर जो कर्म किये जाते हैं, वे भले ही रजोगुण की ही प्रेरणा से किये गये हों, उनका फल रजोगुण प्रधान नहीं होता। भगवान् तो निर्गुण हैं, अतः उनके निमित्त किये हुए कर्म भी निर्गुण ही होते हैं, वे जन्म मृत्यु के चक्कर में डालने वाले न होकर सदा के लिये उनसे छुटकारा दिलाने वाले होते हैं।

इसी प्रकार तमोगुणी कर्म करने वाले लोग मरकर त्रिलोकी के अन्तर्गत दक्षिण दिशा में पृथ्वी के नीचे और जल के ऊपर घोर अन्धकारमय नरकादि असुर्या नाम के जो लोक है उन लोकों में वे जाते हैं, वहाँ नाना यातनायें भोगकर अन्त में शूकर कूकरादि पशु योनियों में या मूढ़ योनियो में उत्पन्न होते हैं।

सत्वगुण प्रधान कर्मों का फल सुख है, तमोगुणी कर्मों का फल दुःख है और रजोगुण प्रधान कर्मों का फल मिला जुला होता है। यह बात सदा स्मरण रखने की है कि ऐसा कोई पुरुष न होगा, जिससे सदा पाप ही पाप कर्म होते रहे हों, या पुण्य ही पुण्य कर्म होते रहे हों। जान में अनजान में सभी से कुछ न कुछ पाप कर्म या पुण्य कर्म बन जाते हैं। क्योंकि सृष्टि त्रिगुणात्मक है। जीव तीन गुणों के अधीन है। जितना जिसका पुण्य होता है, यदि वह स्वर्ग जाने योग्य हुआ तो स्वर्ग में जाकर भोगता है, सामान्य पुण्य हुआ तो उसका यही पृथ्वी पर सामान्य योनियों में हो कर लेगा। जैसे कुत्ता पाप योनियों में है, किन्तु कोई-कोई बड़े-बड़े आदमियो के कुत्ते ऐसे सुखों को भोगते हैं, जिनकी प्राप्ति सामान्य लोगों को दुर्लभ है। यह उनके पुण्यो का ही फल है।

सामान्य नियम यह है कि उत्तम कर्म करने वाले सत्व प्रकृति के पुरुष शुभ कर्मों के कारण मरकर उत्तम लोकों में जाते हैं, जब तक उनके पुण्यों का क्षय नही होता तब तक वे वहाँ के सुखों को भोगते रहते हैं। पुण्यों का क्षय होने पर वे पुनः पृथ्वी पर कुछ पुण्य शेष रह जाने के कारण उत्तम कुल में उत्पन्न हो जाते हैं।

जो पाप कर्म करने वाले तमोगुणी हैं, वे मरकर नरकादि लोकों में जाकर वहाँ की यातनाओं को भोगते हैं। कुछ पाप शेष होने पर वे नरकादि से निकलकर यहाँ सूकर कूकर अथवा

अन्य मूढ़ योनियों में जन्म लेते हैं।

जो रजोगुणी कर्म करने वाले मिले जुले गुणों वाले होते हैं, वे नरक स्वर्ग न जाकर तत्काल फिर यहीं दूसरी योनियों में कभी-उत्पन्न हो जाते है। कभी कुछ लोगों की आत्मा आकाश में विचरण करती रहती है, वह बिना गर्भवास किये ही दूसरे मृत शरीरों में प्रविष्ट हो जाती है। मरते समय जिसकी जैसी मति होती है, जिस गुण का प्राबल्य होता है, उसकी वैसी ही गति होती है उसी गुण के समान उसे लोकों की योनियो की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने मरण के समय बढे हुए गुणों के फल के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन जीवन भर मनुष्य जैसे कर्मों का निरन्तर अभ्यास करता रहेगा। जिन गुणों में लिप्त रहेगा, प्रायः मरते समय वे ही गुण उसके वृद्धि को प्राप्त हो जायंगे और उन्हीं गुणों के अनुसार उसकी गति होगी।"

अर्जुन ने पूछा—"मान लो, मरते समय किसी के शरीर में सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है। तो उसे किन लोको की प्राप्ति होगी?"

भगवान् ने कहा—"मरते समय सत्त्वगुण की अभिवृद्धि उन्हीं लोगों के शरीर में होगी, जिन्होंने जीवन भर शास्त्र विहित सात्विक कर्म किये हैं। ऐसे लोगों को दिव्य प्रकाशमय उत्तम निर्मल स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होगी। वे लोग मल अर्थात् दोषों से रहित होंगे। जिनमें दुःख का नाम भी न होगा, सुख ही सुख चारों ओर प्रतीत होगा।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा, मरते समय जिसका रजोगुण बढ़ जाय, उसकी क्या गति होगी? उसका जन्म किन लोगों के मध्य में होगा?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्मासक्त पुरुष हैं, जो लोभ के वशीभूत होकर फल की इच्छा से सदा सर्वदा कर्मों में ही जुटे रहते हैं, जो निष्काम होने की बात सोचते भी नहीं। ऐसे पुरुषों का मृत्यु के अनन्तर उन्हीं कर्मासक्त मनुष्यों के मध्य में जन्म होता है, जो सदा सर्वदा कर्मों में ही प्रवृत्त रहते हैं। अर्थात् उनका जन्म मनुष्य योनि में होता है, जो प्रायः राजस् प्रकृति के होने के कारण सदा सर्वदा फल की इच्छा से कर्मों को ही करते रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"मरते समय जिनके शरीर में तमोगुण की ही अभिवृद्धि हो जाती है, उनकी कौन सी गति होती है ?"

भगवान् ने कहा—"जो कामचोर हैं, सदा कर्म करने से जी चुराते रहते हैं जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद प्रिय हैं ऐसे ही लोगों की मरणकाल में तमोगुण की अभिवृद्धि होती है। वे मरकर मूढ़ योनियों में उत्पन्न होते हैं कूकर सूकरादि पशु योनियों में पैदा होते हैं जिनका एकमात्र लक्ष्य आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि ही है। वे भले ही मनुष्य योनि में भी उत्पन्न हो जायँ, किन्तु जिन मनुष्यों का लक्ष्य केवल खा-पीकर सो जाना मैथुनादि कर्मों में ही समय बिताना हो, तो वे भी एक प्रकार के मूढ़ योनि वाले पशु ही हैं। पशु शब्द का अर्थ जीव हैं। ससार में ऐसे असंख्यों बद्ध प्राणी हैं जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य आहार निद्रा भय और मैथुनादि सुख ही हैं। वे तमोगुणी पुरुष बार-बार संसार में जन्मते और मरते रहते हैं। ये ही अन्तकाल में तीनों गुणों की वृद्धि में होने वाली गतियाँ हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् इन तीनों गुणों के सम्बन्ध में मुझे और कुछ विस्तार से बतावें। इस प्रकार फल भेद होने का

कारण क्या है, इन गुणों के कारण ऊँची नीची गतियाँ कैसे प्राप्त होती हैं ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् इन गुणों के सम्बन्ध में और जो विशेष स्पष्टीकरण करेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

वृद्धि रजोगुन होहि मृत्यु पुनि होवै जबई।
करमनि की आसक्ति रहे मन में अति तबई॥
करम संगि जो मनुज योनि ताई में आवै।
पुनि-पुनि करिकें करम अन्त में फिरि मरि जावै॥
वृद्धि तमोगुन में मरै, मूढ़-योनि पावै तुरत।
जड़ पसु पक्षी कीट बनि, अन्धकार में बसहि नित॥

त्रिगुणों का फल तथा उनकी गतियाँ

[८]

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ ❀

(श्री० भग० गी० १४ अ० १६, १७, १८, श्लो०)

छप्पय

जा गुन मन आसक्त करम तस भाव सँजोवै ।
गुन जैसोई होहि तासु फल तैसो होवै ॥
सात्विक गुन अति श्रेष्ठ करम करि सुख उपजावै ।
ज्ञान और वैराग्य करम फल निरमल पावै ॥
दुःख रजोगुन करम को, फल दुःखहि वेदनि कह्यो ।
तमको फल अज्ञान है, यों फल गुन तीननि कह्यो ॥

❀ सात्विक कर्मों का सात्विक निर्मल फल होता है, रजोगुण का फल दुःख है और तमोगुण का फल है अज्ञान ॥१६॥

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान ये सब उत्पन्न होते हैं ॥१७॥

कारण के अनुरूप कार्य होता है। कारण मृत्तिका है। उसके कार्य हैं घट, करवा, सकोरा, नाद आदि। इस प्रकार जैसा गुण होगा उसी के अनुरूप उसका कार्य होगा–फल निकलेगा। सात्त्विक गुण के जितने भी कार्य होंगे, वे सब सात्त्विकी कार्य ही होंगे। सात्त्विकी कार्यों का फल भी उस गुण के अनुरूप ही होगा। सात्त्विक गुण श्रेष्ठ है, उत्तम है, निर्मल है, प्रकाश युक्त है, ज्येष्ठ है तो उसके कार्य भी सुखद होंगे। चीनी के जितने खिलौने हैं, चाहे वह सौम्य गौ के आकर का हो, अथवा सूकर, कूकर, चूहा, सर्प किसी के आकार का किसी के नाम वाला क्यों न हो, जिह्वा पर रखने पर सभी का स्वाद एक सा मीठा सुखद होगा। क्योंकि उनका कारण मीठी चीनी है।

इसी प्रकार रजोगुण मध्यमगुण है, वह कर्म प्रधान है, लोभ उसकी प्रकृति है अतृप्ति उसका हेतु है उससे जो भी कर्म होंगे वे सब चित्त को चंचल बनाने वाले, अशांति को बढ़ाने वाले, संसारी स्वार्थ को साधने वाले तथा परिणाम में दुःख देने वाले होंगे। जैसे सुवर्ण के बने आभूषण कैसे भी हों, उन्हें देखकर चोरों का लालचियों का ठगों का मन विचलित हो ही जायगा। वे चाहें जौमाला के आकार के बने हों, कर्णपुष्प के आकार के या मछली के आकार के कुंडल हों। उन सबमें निहित सुवर्ण पर ही लालचा की दृष्टि जायगी। कारण ही उसे दिखायी देगा, कार्य का उसकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं।

इसी प्रकार तमोगुण के सभी कार्य तमोगुणी ही होंगे।

सत्त्वगुण में स्थित पुरुष ऊर्ध्व लोकों मे जाते हैं तथा रजोगुणी मध्य में रहते हैं। जघन्यगुण वृत्ति वाले तामसी लोग अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥१८॥

उनका फल भी अज्ञता, मूर्खता तथा अन्धकार ही होगा। तमोगुणी पुरुष जहाँ तक होगा कामों से बचना ही चाहेगा, यदि कार्य करेगा भी तो घोर तमोगुणी कार्यों को ही करेगा। जैसे हिंसा, व्यभिचार, अखाद्य पदार्थों का खाना, अपेय पदार्थों का पान, अगम्या गमन, धर्म कर्म में प्रमाद, कर्तव्य कर्मों के प्रति उदासीनता, अश्रद्धा तथा आलस्य। दिन में रात्रि में सोते ही रहना। ये ही तमोगुणी कार्य उसके द्वारा होंगे। क्योंकि तमोगुण सबसे निकृष्ट अधम गुण है। योनियों में उत्तम योनि देवयोनि है, मध्यम योनि मानव योनि है, पशु-पक्षी सरीसृपादि की अधम योनियाँ हैं। उत्तम योनियों में उत्तमगुण सत्त्व गुण वाले प्राणी जाते हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त ऊर्ध्व लोकों को वे अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से जीत लेते हैं।

मिले-जुले गुणों वाला मध्यमगुण रजोगुण है। अतः उन्हें मध्य लोक इस पृथ्वी लोक की प्राप्ति होती है। कर्मप्रधान मनुष्य योनि मिलती है। यह मध्य का मार्ग है पृथ्वी पर से ही मनुष्य साधन करके उत्तम लोकों को भी प्राप्त कर सकता है, अधम कर्म करके नीचे भी जा सकता है, उसका अधःपात भी हो सकता है। रजोगुण के द्वारा मध्य का मध्य में भी रह सकता है और गुणातीत होकर ससार सागर से विमुक्त भी बन सकता है। मनुष्य योनि मध्य मार्ग है चौराया है। यहाँ से देव भी बन सकता है दैत्य भी बन सकता है, बीच में भी लटका रह सकता है और अपवर्ग को भी प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार यह तीनों गुणों का खेल हो रहा है ये ही तीन गुण प्राणियों को नचा रहे हैं, घुमा रहे हैं और जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में झुला रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—' मुनियो! तीनों गुणों के कारण ऊँचो-

नीची गतियाँ कैसे प्राप्त होती हैं, जब अर्जुन ने यह प्रश्न किया, तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! मुनियों ने इन गुणों का विपद रूप में विवेचन किया है। उत्तम, मध्यम और अधम योनियों में किस-किस गुण के प्रभाव से कैसे-कैसे जाया जाता है, इसकी विशेषरूप से व्याख्या की है। सत्त्वगुण प्रधान, मुख्य तथा उत्तमगुण है। रजोगुण मध्यम, बीच का तथा सामान्य गुण है। तमोगुण, निकृष्ट, अधम तथा सबसे अन्धकारमय गुण है। इनके अनुरूप ही फल होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"सबसे श्रेष्ठ जो सत्त्वगुण है उस कर्म का फल क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"सात्त्विक प्रकृति सुकृति पुरुषों की होती है। जो धर्मात्मा पुरुष होते हैं वे ही सत्त्व प्रधान होते हैं। महर्षियों का कथन है कि सत्त्वगुण का फल मल से रहित निर्मल होता है, उसका परिणाम सुख देने वाला हुआ करता है।"

अर्जुन ने पूछा—"रजोगुण जो मध्यम गुण है उसका कर्म फल क्या है।"

भगवान् ने कहा—"रजोगुण का फल दुःख है। रजोगुण से जो सुख होता है वह भी दुःख मिश्रित ही सुख होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुण जो सबसे निकृष्ट गुण है उसका फल क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"तामस प्रकृति अधर्म के कारण होती है, उसका फल अज्ञान अर्थात् अविवेक ही है। तामसी गुण वालों को यह विवेक नहीं रहता कि कौन-सा कर्म कर्तव्य है कौन-सा अकर्तव्य। वे परमार्थ से वंचित रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसा होता क्यों है ? इसमें हेतु क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"सत्त्वगुण प्रकाश-प्रधान है, अतः इसके

कार्य भी प्रकाशमय ज्ञानमय होते हैं, प्रकाश का परिणाम तो सुख होना ही चाहिये। रजोगुण भोगेच्छाओं पर निर्भर है। भोगेच्छायें कभी पूर्ण नहीं होतीं जितने भोग मिलते जाते हैं उतनी ही इच्छाय बढ़ती जाती है। भोगेच्छाओं की पूर्ति असंभव है। इसी का नाम लोभ है। लोभ से दुःख होगा ही। इसी प्रकार तमोगुण अज्ञानमय है। उससे प्रमाद मोह होता है जो अज्ञान जनक है। अतः तामस गुण अधिकाधिक बन्धन कारक है।"

अर्जुन ने पूछा—'सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के द्वारा कौन-कौन सी गतियाँ प्राप्त होती है ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे ये उत्तम, मध्यम और अधम गुण हैं, वैसे ही इनके द्वारा उत्तम, मध्यम और अधम लोकों की प्राप्ति होती है। सत्त्वगुण मे स्थित पुरुष जो शास्त्रानुसार कार्य करते है, प्रकाशमय मार्ग से चलते है वे सत्यलोक पर्यन्त उत्तम पुण्यलोकों में जाते हैं। जैसा उनका ज्ञान होगे जैसे कर्म होगे उन्ही के अनुरूप देवताओं तपस्वियों, महर्षियों, व्रतियो तथा ज्ञानियों के लोकों को प्राप्त होते हैं।'

जो राजस प्रकृति के हैं, रजोगुणी हैं, पुण्य पाप से मिश्रित इस भूलोक को प्राप्त होते है मनुष्य योनि को पाते हैं, वे न ऊपर के देवताओं के लोकों को जाते हैं और न तमोगुणी नीचे के लोकों को ही प्राप्त करते हैं। इस भारतवर्ष की कर्म भूमि में उत्पन्न होकर पाप-पुण्य मिश्रित कर्मों को करते रहते हैं।"

जो जघन्य गुण वृत्ति वाले अर्थात् तमोगुणी ही तामस प्रकृति के हैं। वे अन्धकारमय, अज्ञानमय नीचे के लोकों को प्राप्त होते हैं यही तीनों गुणों की गतियाँ हैं।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! यह गुण प्रवाह तो नित्य है,

इसमें पड़ा प्राणी तो इन्हीं के प्रवाह में बहता रहेगा, इनसे बचने का कोई उपाय नहीं है क्या ? यदि कोई इनसे बच जाय, त्रिगुणातीत हो जाय, तो उसकी स्थिति कैसी होती है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जैसे उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

तीनि गुननि तैं होहि कहा सो सुनि लै अरजुन।
पृथक पृथक उत्पन्न होहि जैसो होवै गुन॥
ज्ञान सत्त्व तैं होहि उजारो भीतर बाहर।
लोभ रजोगुन होहि लगै संग्रह अति सुखकर॥
होहि तमोगुन तैं अधिक, मोह प्रमाद डरावनो।
होहि मोहवश करम रत, अति अज्ञान भयावनो॥

पुरुष सतोगुन रहै उच्च लोकनि कूँ जावै।
जहँ प्रकाश नित रहै स्वरग के सुख सब पावै॥
रहै रजोगुन माहिं मध्य लोकनि में जनमैं।
पाइ मनुज तन रहै निरत फलयुत करमनि में॥
तमोगुनी तम करम तैं, पाइ अधोगति दुख सहै।
अधम योनि में जनम लै, पुनि रौरव नरकनि रहै॥

गुणातीत और उसके लक्षण

[९]

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ ❀

(श्री भग० गी० १४ अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

भव के कारन त्रिगुन त्रिगुन ई नाच नचावैं ।
तिनि वश ह्वै कैं जीव अवर वर करम करावैं ॥
द्रष्टा निश्चय करै गुननि तजि करता नाहीं ।
गुन करवावै करम प्रकृति में बसहिँ सदा हीं ॥
इनि तीनिहु गुनतैं परे, जाने मोकूँ तत्त्व तैं ।
प्राप्त होहि मम रूप कूँ, पृथक होहि जग वस्तु तैं ॥

❀ जिस काल मे दृष्टा गुणो से अन्य किसी को कर्ता नही देखता है और अपने को गुणों से परे गुणातीत समझता है, तो वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥१९॥

जो पुरुष इन देह से समुद्भव तीनों गुणो को पार करके जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखो से विमुक्त बन जाता है—गुणातीत हो जाता है—तब वह अमृत तत्त्व को प्राप्त हो जाता है ॥२०॥

संसार बन्धन का कारण भाव ही है। जीव का जैसा भाव होगा वैसा ही वह अपने को अनुभव करने लगेगा। पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश, पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां, पाँच तन्मात्रायें, पचप्राण, तीन गुण अन्तःकरण चतुष्टय इनके संहात से बना यह शरीर है। ये सब जड़ हैं, अतः इनमें क्रिया शक्ति नहीं। जब चैतन्यांश जीव या पुरुष इनका ईक्षण करता है, देखता है तब इनमें क्रियाशक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस चैतन्य के देखने मात्र से ही तीनों गुणों के अनुसार इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करने लग जाती हैं, अन्तःकरण अपना कार्य करता है और प्राण अपना कार्य करते हैं। गुणों की प्रेरणा न हो तो, कोई भी घटक अपना कार्य न करे। चैतन्य तो द्रष्टा मात्र है, साक्षी है, उसके देखते ही रहने से उसके प्रकाश प्रदान करने से ही यह शरीर गुणों के अनुसार वर्तता रहता है। इस संघात संचालन में गुणों के द्वारा ही सब कार्य होते हैं। जीव तो तटस्थ भाव से ज्ञान का प्रकाश देता है, उसकी उपस्थिति में उसी की छत्रछाया में तीनों गुण अपनी धुना पुनी करते रहते हैं जीवात्मा अपने को केवल साक्षी ही न समझकर कर्ता भोक्ता भी अपने को मानने लगता है तभी गड़बड़ी मच जाती है।

क्या गड़बड़ी मच जाती है? यही गड़बड़ी हो जाती है, कि जो अपने को कर्ता मानेगा वही उसके फल के भोगने का भी अधिकारी होगा। जो अपने निमित्त पेड़ लगावेगा। अपने में पेड़ लगाने वाले अभिमान का आरोप करेगा, तो फल लगने पर उनके भोगने का भी अपने को स्वत्वाधिकारी मानेगा। यदि पेड़ लगाते समय ही वह समझे, यह मैं भगवान् के लिये कर रहा हूँ। मैं तो तटस्थ हूँ, निमित्त मात्र हूँ। प्रकृति से बीज उत्पन्न हो गया है, भूतों के संयोग से वह बीज अंकुरित, पुष्पित, फल वाला हो

गया है, तो जैसे प्रकृति ने इसे उत्पन्न किया है, तो जिसके लिये-अपने पति परमेश्वर के लिये-उसने उपजाया है, तो परमेश्वर ही उसके फल को भोगे। मुझसे क्या प्रयोजन ? मैं तो निमित्त मात्र था और मुझे निमित्त भी उन्हीं परमात्मा ने बनाया। अतः इस संघात से इस देह रूपी वृक्ष से और इसके फलों से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं। तो ऐसा भाव रखने वाला जीव इस देह रूपी फलों का भोक्ता न होगा।

इस देह रूपी वृक्ष में चार फल लगते हैं। उनका नाम है जन्म, मृत्यु, जरा और दुःख। जो पुरुष अपने को कर्मों का कर्ता मानेगा, तो उसे इन कर्मों का फल भी भोगना ही पड़ेगा। कोई शरीर ऐसा नहीं जिसका किसी न किसी प्रकार जन्म न हुआ हो, जिसकी किसी न किसी कारण से मृत्यु न हुई हो, जिसको किसी न किसी प्रकार से वृद्धावस्था ने न घेरा हो और जिसे किसी न किसी प्रकार से अधिव्याधियों ने दुखित न किया हो। ये जन्म, जरा, मृत्यु और दुःख शरीर रूप वृक्ष के पके फल है, इन्हें त्रिगुणों ने पैदा किया है। जो चैतन्यांश जीवात्मा गुणों को उत्पन्न करने वाला न मानकर अपने को ही कर्ता मान लेता है, तब तो जन्म, मृत्यु, और दुःख रूप जो फल हैं उन्हें खाना ही पड़ेगा। जन्म में भी दुःख है, मृत्यु में भी दुःख है, वृद्धावस्था में तो दुःख ही दुःख है इनके अतिरिक्त मानसिक पीडाओं को आधि कहते हैं, शरीर सम्बन्धी ज्वरादिक रोग सम्बन्धी पीडाओं को व्याधि कहते है। इनसे भी भाँति-भाँति के दुःख उठाने पड़ते हैं। ये दुःख उन्हीं को होते हैं जो तीनों गुणों को भूलकर अपने को ही कर्ता माने बैठे हैं। जिस समय भाव बदल जाय, अपने को कर्ता भोक्ता न मानकर केवल साक्षी, द्रष्टा तथा तटस्थ ही अनुभव करने लगे तो गुण तो गुणों में वर्तते ही रहेंगे। इसका

कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान दूर हो जायगा फिर वह चैतन्यांश जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधियों से अपने को पृथक् करके भगवद् भाव को प्राप्त हो जायगा। उसका बद्ध जीव भाव दूर हो जायगा।

सूतजी कहते है—'मुनियो! जब अर्जुन ने त्रिगुणों से अतीत होने का उपाय और त्रिगुणातीत के लक्षणों का प्रश्न किया, तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मिथ्या अहंकार विष है। और स्वरूप का ज्ञान अमृत है। प्राणी विष खायगा तो मृत्यु के अधीन हो जायगा और अमृत पान करेगा, तो अजरामर बन जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"विष क्या है अमृत क्या है?"

भगवान ने कहा—"चैतन्य तो साक्षी मात्र है। शरीरों में क्रियायें तो गुणो द्वारा हो रही हैं। इन क्रियाओं को गुणों द्वारा होती हुई न मानकर इन्हें अपने द्वारा की हुई जीव मानने लगता है, तब मानों उसने विषपान कर लिये। विषपान करने वाले की मृत्यु हो जायगी। जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी ध्रुव है। जो जन्म मृत्यु के चक्कर में फँसा उसे जरा, आधिव्याधियों का सामना करना ही पड़ेगा। किन्तु जो पुरुष तीनो गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी कर्ता नही देखता। और अपने गुणों से परे मानता है, तो उसका बद्ध जीवपना छूट जाता है। वह मेरे भाव से भावित हो जाता है यही उसका अमृत पान है।"

अर्जुन ने पूछा—'अमृत पान कर लेने पर उसकी स्थिति कैसी हो जाती है?"

भगवान् ने कहा—"भाई, अज्ञान ही विषपान है, ज्ञान ही अमृत पान है। जिस समय पुरुष को यह ज्ञान हो जाय, कि ये तीनों गुण ही देह को उत्पन्न करते हैं। देह की उत्पत्ति के बीज

भूत ये ही तीन गुण हैं। मैं इन तीनों गुणों से सर्वथा पृथक् हूँ। ऐसा ज्ञान होने पर यह क्षेत्रज्ञ देही जीव तीनों गुणों से पार चला जाता है। इन तीनों का अतिक्रमण कर जाता है इन्हें लाँघ जाता है, त्रिगुणों का उल्लङ्घन कर जाता है। जब तीनों गुणों से पार चला गया, तो जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधियाँ तो इस त्रिगुणात्मक देह रूपी वृक्ष के विष मय फल हैं इनका भोक्ता न होकर ज्ञानामृत के पान का अधिकारी बन जाता है। दुःखों से सदा के लिये विमुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है, परमानन्द में निमग्न हो जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह सुना कि त्रिगुणातीत होने पर इस शरीर में ही जीव अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है, वह अजरामर हो जाता है, तब तो उसे बड़ा हर्ष हुआ। अब उसके मन में अनेक प्रकार के प्रश्न उठने लगे। उन प्रश्नों को वे जैसे भगवान् से पूछेंगे, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गुनके कारन होहि फेरि उत्पत्ति देह की।
चिन्ता गुनवश करै पुत्र, धन, दार गेह की॥
होवै त्रिगुनातीत करै उल्लङ्घन इनि को।
तब होवै निश्चिन्त दास नहिं इनि विषयनि को॥
तब फिरि त्रिगुनातीत नर, जनम मृत्यु छुटि जाइगो।
जरा दुःख सब भाँति के, मिटै अमृत पद पाइगो॥

—:※:—

अर्जुन का गुणातीत के लक्षण सम्बन्धी प्रश्न और भगवान् का उत्तर

[१०]

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥

श्री भगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥*

(श्री० भग० गी० १४ अ० २१, २२ श्लोक)

छप्पय

अरजुन पूछन लग्यो—प्रभो! हम कैसे मानें।
यह है त्रिगुनातीत कौन लक्षन तें जानें॥
कैसी वाकी रहन सहन निष्ठा कस ताकी।
करै आचरन मुक्त दशा होवै कस ग्याकी॥
सब सँग कैसे रहत यह, कैसो है आचार तस।
इन तीनहु गुन लाँघि कै, होवै त्रिगुनातीत कस॥

---

* अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! इन तीनों गुणों से अतीत पुरुष किन लक्षणों से युक्त होता है? उसका आचार कैसा होता है? वह प्राणी

बाहरी चिन्हों से ज्ञानी अज्ञानी साधु असाधु नहीं जाने जाते। भीतरी गुणों द्वारा ही यह समझा जाता है, कि यह साधु है या असाधु। कभी-कभी असाधु पुरुष भी ऐसा बाह्य वेष बना लेते हैं, कि उनके चक्कर में अच्छे-अच्छे लोग आ जाते हैं। हनुमानजी लक्ष्मणजी के लिये संजीवनी बूटी लेने जा रहे थे। उनके मार्ग में विघ्न करने कालनेमि असुर साधु का वेष बनाकर बैठ गया। हनुमान्जी बाह्य वेष देखकर पहिले तो उसके चक्कर में आ गये, किन्तु जब मछली बनी अप्सरा ने उन्हें उसका यथार्थ रूप बता दिया, तब उसकी पोल खुल गयी। हनुमान्जी ने उस दंभी साधु को-कपट वेषधारी असुर को-यमराज का द्वार दिखा दिया।

इसी प्रकार रावण ने भी कपट संन्यासी का वेष बनाकर सीताजी के द्वार पर भिक्षा माँगी। भोली भाली राजकुमारी उसके बाह्य रूप को देखकर उसका आतिथ्य करने को विवश हो गयीं। धर्मभीरु होने के कारण उसकी बातों में आ गयीं। उसने साधु के दंभवेष से अनुचित लाभ उठाया सीताजी को हर ले गया, अन्त में वह श्रीरामचन्द्रजी के हाथों सकुटुम्ब मारा गया।

राहु ने भी असुर होकर देवताओं का-सा बनावटी वेष बना लिया था। मोहिनी बने साक्षात् भगवान् ने भी उसे देवता ही समझा। जब सूर्य चन्द्र ने उसका परिचय दे दिया तो अमृत

किन उपायों द्वारा इन तीनों गुणों से अतीत हो सकता है ? ॥२१॥

भगवान् ने कहा—"हे पांडव ! प्रकाश और प्रवृत्त तथा मोह ये जिसमें न हों, जो कर्मों में प्रवृत्त होने पर न तो बुरा समझता है और न निवृत्त होने की आकांक्षा रखता है, जो दोनों में सम-भाव रखता है।" (वही गुणातीत है) ॥२२॥

पान कर लेने पर भी भगवान् ने उसके सर को धड से पृथक् कर दिया।

इस प्रकार वाह्यवेष क्षण भर को भले ही भ्रम में डाल दें, वास्तव में साधुता तो हृदय की वस्तु है, वह वाह्य चिन्हों से प्रकट न होकर भीतरी गुणों द्वारा ही आंकी जाती है। इसीलिये कहा है यम और नियमों में से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन यमों का तो नित्य निरन्तर पालन करना चाहिये और शौच संतोष, तप, स्वाध्य और ईश्वर प्रणिधान इन नियमों का आवश्यकता होने पर भगवत् परायण होकर जैसी परिस्थिति हो, वैसे ही समयानुसार पालन करना चाहिये। क्योंकि यम भीतरी गुण हैं इनका पालन विवेकी सत्य परायण साधु ही कर सकते हैं और नियम तो बाहरी गुण हैं, इनका पालन तो दिखावटी भी-दम्भ के लिये असाधु पुरुष भी कर सकते हैं। इसीलिये जहाँ भी कहीं स्थितप्रज्ञ के, भगवत् भक्त के तथा त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण पूछे गये हैं, वहाँ भगवान् ने यह कहीं नहीं बताया है ज्ञानी पुरुष ऐसे वस्त्र पहिनता है, ऐसा चंदन लगाता है, ऐसी कंठी माला पहिनता है, जहाँ भी ज्ञानी, भक्त तथा त्रिगुणातीत के लक्षण बताये हैं वहाँ भीतरी गुणों पर ही बल दिया है, उसकी अन्तर्वृत्ति कैसी होती है, उसका विवेक, वैराग्य, शम, दम उपरति आदि अन्तर्गुण कैसे होते हैं। जब भगवान् ने तीनों गुणों के लक्षण बताकर इन गुणों से ऊपर उठने को अर्जुन से कहा, तब अर्जुन को यह जिज्ञासा हुई कि त्रिगुणों से ऊपर उठे हुए त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण क्या हैं। क्योंकि वास्तविक बात तो यह है कि चाहें पृथ्वी में हों या अन्तरिक्ष अथवा स्वर्ग में, मनुष्य योनि हो या देवयोनि इनमें कोई भी ऐसा व्यक्ति न मिलेगा जो प्रकृति के

सत्त्व, रज और तमोगुण इन तीनों गुणों से रहित हो। सभी तीनों गुणों के अन्तर्गत ही है फिर भी भगवान् ने उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ये गुणों के तीन विभाग कर दिये है। पहिले निकृष्ट और मध्यम तमोगुण तथा रजोगुण का परित्याग कर नित्य सत्त्व गुण में स्थित रहे, फिर अंत में सत्त्व का भी परित्याग कर दे, क्योंकि कैसा भी सही–उत्तम ही सही–सत्त्व भी बन्धन का ही कारण है, वह भी तो अन्ततोगत्वा रज्जु ही है, अतः सत्त्व को भी त्यागकर गुणातीत हो जाय। जैसे अधर्म का त्याग करके धर्म का आचरण करो। असत्य का त्याग करके सत्य का आचरण करो। फिर धर्म अधर्म, सत्य असत्य दोनो का त्याग करदो। दोनों का त्याग कर देने पर जिस बुद्धि से दोनों का त्याग किया उसे भी त्याग दो। धर्म और सत्य तो साधन मात्र हैं साध्य तो त्याग स्वरूप भगवान् ही हैं। इसी प्रकार तमोगुण रजोगुण को त्याग कर सत्त्व को इसलिये ग्रहण करते हैं, कि वह भगवत् मार्ग में तम और रज के समान बाधक न होकर साधक है, किन्तु सत्त्वस्थ होना जीवन का लक्ष्य तो नहीं है। लक्ष्य तो गुणातीत होना है और इस शरीर में ही इस जीवन में ही गुणातीत हुआ जा सकता है, इसीलिये अर्जुन ने गुणातीत के सम्बन्ध में तीन प्रश्न किये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अर्जुन ने गुणातीत पुरुष के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा भगवान् के सम्मुख प्रकट की। अर्जुन ने कहा—"प्रभो आप सोचेंगे तो सही कि यह एक ही बात को बार बार पूछता है, आप यद्यपि स्थितप्रज्ञ के भगवत् भक्तों के लक्षण बता चुके हैं, फिर भी मेरी बुद्धि स्थूल है, मैं भूल जाता हूं, यद्यपि मैं स्थूल बुद्धि वाला हूँ फिर भी आपका भक्त हूँ, आपमें अनुरक्त हूँ, आप भक्तवत्सल है आपको अपने भक्त का

दुःख दूर करना चाहिये आप प्रभु हैं, समर्थ हैं, गुणातीत पुरुष के सम्बन्ध में मेरे कुछ प्रश्न हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, हाँ, कहो। मैं तुम्हारी सभी शंकाओं का समाधान करूँगा। एक ही प्रश्न का तुम्हारे पूछने पर बार-बार उत्तर दूँगा। पूछो, तुम क्या पूछना चाहते हो?"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! मेरा पहिला प्रश्न तो यह है कि जो गुणातीत पुरुष है जो इन तीनों गुणों को पार कर गया है उसके लक्षण क्या है, हम किन लक्षणों से यह समझें कि यह गुणातीत है।

दूसरा मेरा प्रश्न यह है, कि जो गुणातीत हो जाता है, उसका आचार व्यवहार कैसा होता है? वह स्वच्छन्द यथेच्छाचारी हो जाता है या उसके भी कुछ अपने नियम हैं। उसके आचरण कैसे होते है।

तीसरा मेरा प्रश्न यह है, कि गुणातीत होने का उपाय क्या है, किस प्रकार किन साधनों द्वारा पुरुष इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके गुणातीत बन सकता है?

ये ही तीन प्रश्न है मेरे प्रभो! यदि आप कृपा करके मेरे इन तीनों प्रश्नों का उत्तर दे देंगे, तो मै अत्यन्त ही प्रमुदित हूँगा।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"अरे मेरे फूफा पांडु के पुत्र! तुमने ये बहुत ही सुंदर प्रश्न किये। मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ। देखो, द्वन्द्व या द्वैत ही बन्धन का कारण है। राग भी सम्बन्ध का कारण है, और द्वेष भी। हमें किस वस्तु में राग है, किससे द्वेष है इसका साक्षी हमारा अन्तःकरण ही है। अपने अतिरिक्त इसे दूसरा कोई समझ ही नहीं सकता है। स्वयं ही अन्तर्वृत्ति होने पर अनुभव कर सकता है। अतः तीनों गुणा

के प्रति न राग हो न द्वेष हो समता वृत्ति रहे यही गुणातीत का लक्षण है।"

अर्जुन ने पूछा—"तीनों गुणों में समभाव कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, सत्त्वगुण का कार्य है, इन्द्रियों में सब ओर से प्रकाश लाना, रजोगुण का कार्य है, कर्मों में प्रवृत्ति करना और तमोगुण का कार्य है, मोह उत्पन्न करना। बाह्यकरण और अन्तःकरण मे जब प्रकाश हो जाय, तब समझना चाहिये सत्त्वगुण उदय हो गया। यह सात्त्विक पुरुष है। जब कर्मों में निरतर प्रवृत्ति ही बनी रहे, लोभ, प्रवृत्ति, अशान्ति तथा स्पृहा घेरे रहें तब समझे, रजोगुण उदय हो गया। यह पुरुष रजोगुणी है, और जब मोह घेरे रहे, निद्रा, आलस्य और प्रमाद का आधिक्य हो जाय तो समझे तमोगुण बढ़ रहा है, यह मनुष्य तमोगुणी है, किन्तु जिस समय तीनों गुणों के जो कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह हैं, इनके आने पर जिसके अन्तःकरण में न तो इनके जाग्रत होने पर दुःख बुद्धि से द्वेष ही उत्पन्न होता है और न इनके निवृत्त हो जाने पर सुख बुद्धि से राग ही होता है। न तो उसे इनके आने पर कष्ट ही होता है न मोह में राग में फंसकर सुख बुद्धि से इनकी आकांक्षा ही करता है अर्थात् तीनों गुणों की प्रकाश प्रवृत्ति और मोह की प्रवृत्तियों में जो समभाव से स्थित रहता है, वही गुणातीत है।"

अर्जुन ने पूछा—"गुणातीत के और भी जो लक्षण हों, उन्हें भी कृपा करके बतावें।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! अब भगवान् गुणातीतों के और भी जो लक्षण बतावेंगे उनका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

बोले श्रीभगवान्-सुनाऊँ लक्षन अबई।
गुनातीत है जाइ वृत्ति कैसी हो तबई॥
सत्त्व रजोगुन कार्य तमोगुन के जितने गुन।
सत्त्व प्रकाश प्रवृत्ति रजोगुन मोह तमोगुन॥
आजावें यदि स्वतः जे, तो न द्वेष मनमें धरे।
नहिँ आवें इच्छा न अस, गुनातीत कारज करे॥

त्रिगुणातीत के आचरण

[११]

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥*

(श्री भ गी० १४ अ०, २३, २४ श्लो०)

छप्पय

है जावै हो जाय नहीं होवै तो नाहीं।
उदासीनवत रहै सबहिँ करमनि के माहीं॥
बिचलित नहिँ करि सकै गुननि के कारज जेते।
बरति रहे गुन गुननि जगत में गुन हैं तेते॥
सदा सच्चिदानन्द महँ, मगन रहै इस्थित रहत।
बिचलित होवै कबहुँ नहिँ, गुनातीत ताकूँ कहत॥

---

* जो उदासीन की तरह रहता है, जिसे गुण विचलित नहीं कर सकते, गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं, जो ऐसा मानता है। जो स्वरूप में स्थित रहता है, चलायमान नहीं होता है। २३॥

जो सुख दुख में सम है तथा स्वरूप में स्थित है, जिसको मिट्टी, पत्थर, सोना समान है, जो धीर है, जो प्रिय अप्रिय में समान है तथा जिसे निन्दा स्तुति बराबर है॥२४॥

गुण तो गुणों में सदा वर्तते ही रहेंगे। संसार में निन्दा करने वाले प्रशंसा करने वाले भी सदा बने ही रहेंगे। इन गुणों के रहते हुए भी जो इनमें समभाव से स्थित रहे वही गुणातीत है। अर्थात् गुण अपना काम करते रहें, हम उनसे तटस्थ होकर अपना काम करते रहें, यही गुणातीत के लक्षण हैं।

एक देश भक्त को फांसी की सजा हुई जिस दिन फांसी लगने वाली थी, उस दिन फांसी लगने के घन्टे भर पूर्व वे व्यायाम कर रहे थे। उनके एक साथी ने पूछा—"भाई, घन्टे भर पश्चात् तो तुम्हें फांसी लगने वाली है, फिर भी तुम नित्य नियमानुसार समय पर बिना घबराहट के व्यायाम कर रहे हो, यह क्या बात है?"

उसने कहा—"भाई, जब फांसी अपने ठीक समय पर लगेगी, वह समय पर अपना काम करेगी, तो मैं अपने काम को क्यों छोड़ूं। मैं भी जब तक समय है, उसका नियमानुसार उपयोग करूं। जैसे जीवन में और काम है, वैसे ही फांसी भी है, इसमें घबराने की कौन-सी बात है।" मृत्यु को भी साधारण सी दैनिक घटना समझना यही गुणातीत के लक्षण हैं।

एक जहाज समुद्र में डूब रहा था। उसके मुख्य अधिकारी ने दुर्घटना की घंटी बजायी। सब लोग एकत्रित हुए। सब ने साथ ही अन्तिम प्रार्थना की। सब लोग भय से थर-थर कांप रहे थे, कोई रो रहे थे, कोई चिल्ला रहे थे, कोई घर द्वार, कुटुम्ब परिवार की चिन्ता में मग्न थे, किन्तु मुख्याधिकारी बैठा-बैठा अपनी घड़ी में चाभी दे रहा था।

एक ने पूछा—"श्रीमान्! एक क्षण पश्चात् जो जहाज डूब ही जायगा। आप व्यर्थ घड़ी में चाभी क्यों दे रहे हैं?"

अधिकारी ने कहा—"इतने बजकर इतने मिनट पर नित्य

चाभी देने का मेरा नियम है, जब तक जीवित हूँ नियम का दृढ़ता से पालन करूँगा। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, सभी की मृत्यु किसी न किसी दिन अवश्य होगी। जो अवश्यम्भावी वस्तु है, उसकी चिन्ता करने से क्या लाभ हम तो उसके स्वागत के लिये समुपस्थित हैं।"

एक महात्मा थे वे गृहस्थी थे, किन्तु घर से बाहर एक कोठरी में रहते थे। एक बार उनका पौत्र नया विवाह करके अपनी स्त्री के सहित उन्हें प्रणाम करने आया। वे मुस्करा दिये। एक ने पूछा—"बाबा अब तो आपको प्रसन्नता होगी कुछ दिनों में आप प्रपौत्र का मुख देख सकेंगे।"

इस पर वे बोले—"नित्य विवाह होते हैं नित्य पुत्र पौत्र होते हैं नित्य की साधारण सी घटना है, इसमें प्रसन्नता की कौन सी बात।"

वे घर के किसी काम में न तो सहयोग देते न किसी से घर के सम्बन्ध में कुछ पूछते। समय पर भोजन आ जाता कर लेते ध्यान में मग्न रहते। घर वाले भी इतने डरते थे कि उनसे सुख दुख की कोई बात नहीं कहते।

छोटे पुत्र की बहू अपने बच्चे को लेकर नित्य प्रणाम करने आती। वे देखते भी नहीं थे। एक दिन वह अकेली ही प्रणाम करने आई और फूट-फूटकर रोने लगी।

उन्होंने रोने का कारण पूछा—"उसने तो कुछ नहीं बताया दूसरे ने कहा—"इसका छोटा बच्चा मर गया है।"

तब वे सहज भाव से बोले—"उसका इतने ही दिनों का संस्कार रहा होगा। अपना समय पूरा करके चला गया। इसमें रोने की क्या बात है सभी को वहीं जाना है। जाकर भगवान् का नाम लो।"

विवाह में और मृत्यु में जिसके अन्तःकरण की स्थिति समान रहे वही गुणातीत पुरुष है।

एक महात्मा थे, वे अपनी साधना के समय में एक हाथ में सुवर्ण की एक गिन्नी लेते दूसरे में मिट्टी लेते। फिर मन से पूछते—"मन ! बता किस मुट्ठी में सुवर्ण है, किसमें मिट्टी है।"

मन तो बता ही देता इसमें सुवर्ण है, इसमें मिट्टी है। तब आप कहते—अरे, मन तेरा अभी भेद-भाव नहीं गया। देख दोनों ही में मिट्टी है और वे मिट्टी तथा गिन्नी दोनों को मिला कर गङ्गा में फेंक देते। वे तब तक ऐसा करते रहे जब तक दोनों में समभाव नहीं हुआ।

एक भक्त दम्पति लकड़ी बीनने वन में जा रहे थे पति आगे थे, पत्नी पीछे थी। आगे चलते-चलते उन्हें एक सुवर्ण मुद्राओं से भरी गठरी मिली। उनके मन में आया इन सुवर्ण मुद्राओं को कोई भूल गया है ऐसा न हो, इन्हें देखकर मेरी पत्नी का मन विचलित हो जाय, अतः वे उसके ऊपर मिट्टी डालने लगे। इतने में ही स्त्री भी आ गयी, उसने पूछा— 'प्राणनाथ ! आप यह क्या कर रहे हैं ?" तब उन्होंने सत्य-सत्य बात बता दी।

यह सुनकर पत्नी ने हँसते हुए कहा—'प्राणनाथ ! अभी तक आपका विषम भाव नहीं गया। सुवर्ण भी पीली मिट्टी ही है और जिस बालू से आप इसे ढक रहे हैं, वह भी सफेद मिट्टी ही है। मिट्टी के ऊपर मिट्टी डालने से लाभ ही क्या है ?"

उन भक्त का नाम राँका भक्त था। वे बोले—"तू तो मुझ से भी बाँका निकली। अतः वे समदर्शी भक्त राँका बाँका के नाम से प्रसिद्ध हुए। गुणातीत सुवर्ण, चाँदी, लोहा, ताँबा, लाल पीली मिट्टी सभी को मृत्तिका ही मानता है।"

एक परमहंस थे। निश्चिंत रहते, बिना मांगे जो भी प्रारब्धवश मिल जाता उसी में प्रसन्न रहते। उनका शरीर हृष्ट पुष्ट तथा चिकना था। एक दिन गङ्गा किनारे वे बालू में निश्चिन्त पड़े थे। कुछ पशु चराने को चरवाहे आ गये। महात्मा की मोटी-मोटी चिकनी जाँघों को देखकर आपस में बोले—"इस बाबा की जाँघें कितनी चिकनी मोटी हैं, लाओ इन पर अठारह गोटी खेलें। यह कहकर वे चाकू से उनकी जङ्घा पर लकीर करने लगे। लकीर करते समय रक्त बहने लगा। उसी समय कोई बुद्धिमान पुरुष आ गया। उसने चरवाहों को डाँट फटकार कर भगाया। भीगे कपड़े से रक्त पोंछा और कहा—भगवन्! इन मूर्खों ने आपको बहुत कष्ट पहुँचाया आप यहीं रहें मैं नगर में जाकर औषधि ले आऊँ।"

परमहंस जी ने कहा—"अरे, कष्ट किस बात का? वे नित्य पृथ्वी पर १८ गोटी खेलते थे, यह शरीर भी तो पार्थिव ही है। इसमें हानि ही क्या हुई? औषधि भी पार्थिव है। उसे लेने क्यों जाते हो। पृथ्वी तो यहाँ भी है। मिट्टी पर मिट्टी डाल दो।"

ऐसी स्थिति जब हो जाय तभी समझना चाहिये हम गुणों की परिधि को पार करके त्रिगुणातीत हो गये। त्रिगुणातीत पुरुषों के आचार ऐसे ही होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से ये तीन प्रश्न किये कि (१) गुणातीत के लक्षण क्या हैं? (२) उस का आचार वर्ताव कैसा होता है। और (३) गुणातीत कैसे हुआ जा सकता है। तब पहिले तो उन्होंने गुणातीत के लक्षण बताये अब दूसरे इस प्रश्न का कि गुणातीत का वर्ताव कैसा होता है, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"अर्जुन! गुणातीत सभी द्वन्द्वों में उदासीन रहता है। दुख हो चाहे सुख हो, हानि हो या लाभ

हो, जीवन हो या मरण हो सबमें उसके अन्तःकरण की वृति सम रहती है। वह उदासीन के समान वर्ताव करता है। वह गुणों के धर्मों द्वारा चलायमान नही होता। सुख में फूल कर कुप्पा नही होता, दुख में दुखी होकर विचलित नही होता। वह सोचता है—'गुण ही गुण में वर्त रहे हैं ये जो घटनायें घटित हो रही है, गुणों के द्वारा ही हो रही है, मैं तो तटस्थ हूँ, इनसे मेरा क्या प्रयोजन ? यह सोचकर सुख पाने को या दुख की निवृत्ति के लिये किसी भी प्रकार की चेष्टा नही करता है। सबमे समभाव से वर्तता है, यही गुणातीत का आचार है।"

अर्जुन ने पूछा—"समरूप से वह कैसे वर्तता है ?"

भगवान् ने कहा—"सुख आ जाय तो भी तैसा दुख आ जाय तो भी तैसा। उसकी दृष्टि में सुख और दुःख में कोई भेद-भाव नहीं होता। वह सोचता है गुणों का कार्य है वे अपने-अपने कार्यों को करते रहे। मेरा इसमे क्या बनता बिगड़ता है। यही सोचकर वह सदा सर्वदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। अपने स्वरूप से कभी विचलित नही होता।"

उसकी दृष्टि मे पृथ्वी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण सभी समान है। उसे कोई घटना न प्रिय है न अप्रिय। मनोनुकूल होने से उसे हर्ष नहीं, मन के प्रतिकूल होने पर भी उसे कोई विषाद नही। प्रिय अप्रिय में उसका अन्तःकरण सम रहता है। विकारों के हेतु समुपस्थित होने पर भी उसके मन में किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। वह सर्वदा धैर्यवान् बना रहता है। कोई स्तुति करता है तो उसे हर्ष नही होता निन्दा करने वाले पर क्रुद्ध नही होता। वह निन्दा और स्तुति में समान रहता है। ऐसा ही गुणातीत पुरुष का आचार है, ऐसी ही उसकी रहनी सहनी है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! गुणातीत का आपने लक्षण समभाव रखने वाला बताया। वह तुल्य भाव रखकर कैसे आचरण करता है इसे और बताकर मेरे तीसरे प्रश्न का भी उत्तर दें कि किस प्रकार त्रिगुणातीत हुआ जाय। त्रिगुणातीत होने का मुख्य उपाय क्या है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् जैसे इस तीसरे प्रश्न का उत्तर देकर इस विषय का उपसंहार करेंगे। उसका वर्णन मैं आपसे आगे करूँगा।"

छप्पय

दुख सुख में समभाव निरन्तर आत्मा इस्थित।
मिट्टी पत्थर कनक सबनि कूँ समई समुझत॥
ज्ञानवान अति विज्ञ सरस सबई को प्यारो।
प्रिय अप्रिय सम मानि जगत तें करें किनारो।
धैर्यवान् सब कछु सहै, निन्दा इस्तुति सम रहत।
समदरसी जग पुरुष जो, गुनातीत उनकूँ कहत॥

गुणातीत होने के उपाय

[१२]

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥*

(श्री भग० गी० १४ अ० २५, २६, २७ श्लो०)

छप्पय

करैं भले ही मान कमल माला पहिनावैं ।
करैं चाहिँ अपमान बचन कटु आइ सुनावैं ॥
दोउनि में सम रहै मित्र अरु शत्रु पक्ष महँ ।
निन्दा इस्तुति एक पक्ष हो वा विपक्ष महँ ॥
करै नहीं संकल्प तैं, करमनि कूँ आरम्भ जो ।
कर्तापन तैं रहित जो, गुनातीत है पुरुष सो ॥

---

* जो मान अपमान में समान है, शत्रु मित्र दोनो पक्ष जिसे बराबर है, जिसने सभी आरम्भो को त्याग दिया है, वही पुरुष गुणातीत कहलाता है ॥२५॥

और जो अव्यभिचारी भक्तियोग से मुझे ही निरन्तर भजता है,

तीनों गुण तीनों लोकों को देने वाले हैं। मरते समय सत्त्व प्रधान हो तो उसे स्वर्गादि श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति हुआ करती है, रजोगुण प्रधान पुरुष मनुष्य लोक अर्थात् पृथ्वी पर ही जन्म लेते हैं और तमोगुण प्रधान पुरुष नरकादि लोकों को प्राप्त होते है, किन्तु जो इन त्रिगुणों से अतीत हो गये हैं, तीनों गुणों को लाँघ गये हैं, जिन्होंने अपने जीवन काल मे ही-शरीर के रहते हुए ही-मान अपमान, शत्रु-मित्र आदि मे समभाव कर लिया है, ऐसे पुरुष न तो स्वर्ग जाते हैं न नरक जाते है और न मनुष्य लोक मे ही जन्म लेते हैं, ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषों को तो भगवान् वासुदेव की ही प्राप्ति होती है, वे तो भगवान् को ही प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि भगवान् निर्गुण हैं, गुणातीत हैं, सत्त्व, रज और तम इन तीनों से परे हैं।

अब जो अर्जुन का तीसरा प्रश्न है, कि गुणातीत हुआ कैसे जाय, गुणातीत होने का साधन क्या है ?—इसी पर विचार करना है। यही इस गुणत्रय विभाग योग का अन्तिम सार है। यही इस अध्याय का नवनीत है।

यह तो सिद्धान्त की बात है, जो जैसी श्रद्धा करेगा वह वैसा ही हो जायगा। सात्विक श्रद्धावाला सत्त्वगुण सम्पन्न होगा। रजोगुणी श्रद्धा वाला रजोगुणी स्वभाव का होगा और तमोगुणी श्रद्धा वाला तमोगुणी प्रकृति का होगा। जो निर्गुण श्रीकृष्ण भगवान् में श्रद्धा भक्ति करने वाला होगा, वही गुणातीत

इन तीनो गुणो को लाँघकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है, वही गुणातीत है ॥२६॥

मैं अव्यय अमृत ब्रह्म की, शाश्वत धर्म की और एकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा हूँ ॥२७॥

बन सकेगा। अतः गुणातीत बनने का एक मात्र उपाय है अव्यभिचारिणी भक्ति। गीता शास्त्र वर्णाश्रम धर्म अर्थात् कर्मयोग का समर्थन करता है। कर्मयोग के द्वारा भी मुक्ति हो सकती है। सकाम कर्मयोग जिसका एकमात्र लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति ही है और जिसके द्वारा बार-बार जन्मना और मरना पड़ता है, उस सकाम कर्मयोग की गीताशास्त्र निन्दा करता है, किन्तु कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों की स्तुति करता है, दोनों को ही मोक्ष का साधन मानता है, किन्तु उसका विशेष बल निष्काम कर्मयोग अर्थात् भक्तियोग पर ही है। भक्तियोग को वह कर्म और ज्ञान के बीच का मध्यमार्ग मानकर उसी पर बारम्बार बल देता है, उस भक्तिमार्ग को ही उन्होंने युक्ततम सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपयोगी, सरस सुगम साधन बताया है। बारहवें अध्याय में उसका विशेष रूप से स्वरूप बताया है, कि भक्तियोग उसी को कहते हैं। जो सभी कर्म भगवत् अर्पण बुद्धि से किये जायँ, भगवान् के ही निमित्त किये जायँ। भगवान् गुणों से परे हैं; उनके निमित्त किये हुए कर्म भी गुणों से परे होंगे। अतः जिन्हें गुणातीत होना हो, वे जो भी कार्य करें उन्हें भगवान् के ही निमित्त करें तभी वे गुणातीत की पदवी को प्राप्त हो सकेंगे।

श्रीमद्भागवत श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य ही है। बिना श्रीमद्भागवत के पढ़े गीता समझी ही नहीं जा सकती। भागवत में भी भगवान् ने उद्धवजी से विपद रूप से तीनों गुणों की वृत्तियों का वर्णन किया है। वहाँ तीनों गुणों के स्वभाव कार्य और वृत्तियों का वर्णन करते-करते निर्गुण होने की भी साथ-साथ विधि बताते गये हैं। जैसे भगवान् ने कहा—"देखो उद्धव! जब अपने धर्म का आचरण मुझे समर्पित करके अथवा निष्काम भाव से जो कर्म किया जाता है तो वह सात्विक कर्म है, जो

फल की कामना से किया जाता है, वह रजोगुणी कर्म है और जो कर्म दूसरों को दुःख देने अथवा दिखावटीपन से किया जाता है, वह तामसिक कर्म है, किन्तु मेरे ही निमित्त जो कर्म किया जाता है, वह निर्गुण कर्म है, अर्थात् गुणातीत होने वाले को समस्त कार्य केवल भगवत् परिचर्या के ही निमित्त करने चाहिये।"

शुद्ध आत्मा का ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है, आत्मा को कर्ताभोक्ता समझना राजस ज्ञान है, शरीर को ही आत्मा समझना तामसिक ज्ञान है, किन्तु इन तीनों से विलक्षण भगवत् स्वरूप का वास्तविक ज्ञान ही निर्गुण ज्ञान है। इसलिये गुणातीत बनने वाले को ब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान उपलब्ध करना चाहिये।

वन का वास सात्त्विक निवास है, गाँवों में निवास करना राजस है। जहाँ जूआ होता हो और भी निकृष्ट कर्म होते हैं ऐसे स्थान में रहना तामसिक निवास है। किन्तु भगवान् के दिव्य देशों में भगवन्मन्दिरों में उपासनागृहों में निवास निर्गुण निवास है, जिसे गुणों से पार जाने की अभिलाषा हो, उसे सदा सर्वदा उपासना मन्दिर भगवत् निकेतनों में निवास करना चाहिये।

अनासक्त भाव से जो कर्म कर्ता है, वह सात्त्विक कर्ता है, रागान्ध होकर कर्म करने वाला राजसिक कर्ता और पूर्वापर का बिचार बिना किये कर्म करने वाला तामसिक कर्ता है, किन्तु जो पुरुष केवल मेरी ही शरण में रहकर, किसी भी प्रकार के अहंकार के बिना कर्म कर्ता है वही निर्गुणकर्ता है। अतः गुणातीत बनने के इच्छुक को निरहंकार होकर भगवत् प्रपत्ति पूर्वक केवल भगवत् कैङ्कर्य, भगवत् पूजा अर्चा सम्बन्धी कर्मों को करना चाहिए।

आत्मज्ञान विषयक श्रद्धा सात्त्विक श्रद्धा है, कर्म विषयक श्रद्धा राजस श्रद्धा और जो श्रद्धा अधर्म में होती है वह तामस श्रद्धा है, किन्तु जो श्रद्धा मेरी सेवा, पूजा अर्चना, वन्दना में होती है वह निर्गुण श्रद्धा है। अतः गुणों से पार जाने वालों को मेरी सेवा में ही सतत श्रद्धा करनी चाहिये।

जो भोजन सीदा सादा, आरोग्यदायक, अनायास प्राप्त पवित्र हो, वह भोजन सात्त्विक भोजन है, जो रसनेन्द्रिय को रुचिकर, स्वाद की दृष्टि से युक्त हो वह भोजन राजस भोजन है और जो खट्टा चरपरा दुखदायी अपवित्र भोजन हो वह तामस भोजन है, किन्तु जो भगवत् प्रसाद है, भगवान् का नैवेद्य है वह निर्गुण है। अतः सदा सर्वदा भगवत् प्रसाद को ही गुणातीत बनने को पाना चाहिये।

आत्मचिन्तन अथवा अन्तर्मुखता से जो सुख प्राप्त होता है वह सात्त्विक सुख है, बहिर्मुखता से विषयों से जो सुख प्राप्त हो वह राजस सुख है तथा दीनता से अथवा अज्ञानता से प्राप्त होने वाला सुख तामस सुख है, किन्तु जो सुख भगवान् से भगवत् चिन्तन से प्राप्त हो वह अप्राकृत और गुणातीत है, इसलिये सच्चा सुख प्राप्त करने की इच्छा वाले गुणातीत को सदा सर्वदा भगवत् चिन्तन ही करते रहना चाहिये।

इन सबका सार यही हुआ कि गुणातीत होने का एक मात्र उपाय यही है, सदासर्वदा भगवान् वासुदेव की परम प्रेम रूपा अव्यभिचारिणी भक्ति ही में लीन रहना चाहिये। समस्त चेष्टायें उन्हीं के निमित्त करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने गुणातीत के लक्षण और गुणों का अतिक्रमण किन साधनों द्वारा हो सकता है, यह पूछा तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! द्वन्दों की चिंता ही

गुणों के प्रवाह में बहा ले जाती है। जो निर्द्वन्द्व हो गया वही मानों तीनों गुणा का अतिक्रमण कर गया। उसके आचरणों से ही जाना जा सकता है, कि वह गुणातीत है।"

अर्जुन ने पूछा—"किस प्रकार के आचरणों से जाना जा सकता है?"

भगवान् ने कहा—"उसका किसी ने सम्मान किया, पूजा की माला चदनादि अर्पण किया दूसरे ने गाली दी, बुरा भला कहा, अपमान किया, तो दोनों ही दशा में जो सम रहे मान में तथा अपमान में जिसके चित्त की वृत्ति समान रहे। जिसके लिये सम्मान, सत्कार, आदर, स्तुति प्रशंसा और अपमान, तिरस्कार अनादर, निन्दा तथा बुराई दोनों ही एक सी लगे। जो सम्मान मे प्रसन्न तथा अपमान से खिन्न न हो, तो समझो यह गुणातीत है।"

अर्जुन ने पूछा—"मानापमान को समान समझने वाले गुणातीत के शत्रु मित्र तो रहते ही होंगे, उनके प्रति उसके कैसे भाव रहते हैं?"

भगवान् कहा—"शरीर रहते सभी के शत्रु मित्र बने ही रहते हैं, किन्तु गुणातीत पुरुष शत्रु तथा मित्र दोनों पक्षों में समभाव रखता है। यह नहीं कि शत्रु का निग्रह करने का भाव रखे या मित्र पर विशेष अनुग्रह करे। वह न मित्र के प्रति राग करता है न शत्रु से द्वेष भाव ही रखता है। उसकी अपनी दृष्टि में दोनों ही बराबर रहते हैं।"

जो किसी भी कर्म की कामना मन में रखकर आरंभ नहीं करता। वह वृक्षारोपण करते समय यह नही सोचता—यह संकल्प नहीं करता कि इस पर जो फल आवेंगे उनका मैं उपभोग करूंगा। जिसका कोई भी काम फल की इच्छा से—अपने सुख के

लिये अपनी जीवन सुविधा के निमित्त नहीं होता। उसी को ज्ञानी पुरुष गुणातीत कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"गुणातीत होने का साधन क्या है?"

भगवान् ने कहा—"गुणातीत होने का एक मात्र साधन है मुझ परमात्मा के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति करना।"

अर्जुन ने पूछा—"अव्यभिचारिणी भक्ति क्या होती है?"

भगवान् ने कहा—"जो धर्म के अनुसार अर्धाङ्गिनी है, धर्मपत्नी है, पतिपरायणा सती है, वह अपने प्राणपति से प्रेम न करके पर पुरुष से पति के समान सम्बन्ध रखती है, वह व्यभिचारिणी कहलाती है। मेरे भक्त का कर्तव्य है वह अपने अन्तःकरण को मुझमें ही लगा दे, मेरी ही अनन्य भक्ति करे मुझे ही सर्वत्र मानकर मेरे ही निमित्त नमस्कार करे अर्थात् जो भी करे मेरे ही लिये करे। वह तो मेरा अनन्य भक्त है किन्तु जो मेरे ऊपर विश्वास न करके दूसरों की शरण में जाता है, दूसरों से सुख की आशा रखता है, वह सच्चा भक्त नहीं व्यभिचार सम्पन्न भक्त है। वह गुणातीत नहीं बन सकता। किन्तु जो अव्यभिचार भक्तियोग के द्वारा एक मात्र मेरा ही भजन पूजन, अर्चन, वन्दनादि करता है, वही पुरुष सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों को भली प्रकार से उल्लङ्घन करके सच्चिदानंदघन ब्रह्म को प्राप्त होने की योग्यता प्राप्त कर लेने का अधिकारी बन जाता है। अर्थात् उसे भगवत् प्राप्ति हो जाती है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! 'ब्रह्म भूयाय कल्पते' आपने कहा। ज्ञान मार्ग वाले ब्रह्मभाव निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति को कहते हैं। सगुणोपासक उपासना द्वारा आपके सगुण साकार स्वरूप की प्राप्ति-आपके लोक की प्राप्ति-को कहते हैं। आप भी कभी तो कहते हैं वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, कभी कहते हैं-

'वह अमृतत्वाय कल्पते' वह अमर हो जाता है, कभी कहते मुझ अव्यय में मिल जाता है, कभी अक्षय सुख, कभी आत्यंतिक सुख, कभी ऐकान्तिक सुख कहते है और कभी कहते हैं वह मुझे ही (अर्थात् सगुण साकार श्रीकृष्ण स्वरूप को) प्राप्त होता है। ये सब सगुण निर्गुण, ब्रह्म, अमृत एक ही वस्तु हैं या पृथक्-पृथक् भाव हैं ?"

अर्जुन के इस प्रश्न को सुनकर हँसते हुए भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! जल कहो, नीर कहो, वारि कहो, पय कहो, पानी कहो इन सभी शब्दों की प्रतिष्ठा कहने वाले, उस पदार्थ में है जिसका स्पर्श शीतल हो, जो जिह्वा के अग्र भाग पर रखने से मीठा लगे, जिसे पीने मे तृप्ति हो, जो जीवनदाता हो और जो सभी शरीरों में, नदियों में तालाबों में, समुद्रों में और कूपादि जलाशयों में भरा रहता हो। उसे किसी भी नाम से पुकारो वस्तु एक ही है। एक में ही ये सब भाव प्रतिष्ठित हैं। इसी प्रकार मै ही आत्मा हूँ, मै ही पुरुष हूँ, मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ। अमृत मेरा ही नाम है, क्योंकि मे विनाश रहित हूँ। अव्यय मेरा ही नाम है, क्योंकि मेरा कभी व्यय नही होता मैं विपरिणाम रहित हूँ। सनातन या शाश्वत भी मै ही हूँ, क्योंकि अपक्षय से रहित हूँ। धर्मरूप भी मेरा ही है; क्योंकि सब मुझे ही धारण करते हैं या सभी का धारण स्थान मै ही हूँ, निष्ठारूप धर्म से ही साधक मुझे प्राप्त करते हैं। सुख स्वरूप भी मैं ही हूँ, क्योंकि शाश्वत सुख परमानंद रूप मैं ही हूँ वह सुख इन्द्रिय अथवा इन्द्रियो के विषयों द्वारा मिलने वाला न होकर ऐकान्तिक सुख है अव्यभिचारी सुख है। इसलिये मुझ ब्रह्म में ही इन सब भावों की, इन सब सम्बोधनों की इन सब नामों की प्रतिष्ठा है। जो वास्तविक पारमार्थिक तत्त्व है, जिसकी प्राप्त के लिये समस्त प्रयत्न किये जाते हैं, वह एक-

मेरा परमतत्त्व मैं ही हूँ। मुझे जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है। मैं इस संसार को रचने वाले तीनों गुणों से अतीत हूँ। सबका पर्यवसान मुझमें ही होता है, मैं ही पुरुषोत्तम हूँ, मुझे जो पुरुषोत्तम जानकर भजता है वास्तव में वही मेरा भजन करता है।"

अर्जुन ने पूछा—"आप पुरुषोत्तम का भजन कैसे करें?"

भगवान् ने कहा—"इस संसार रूप वृक्ष को कुठार से काटकर ही मुझ पुरुषोत्तम को प्राणी प्राप्त कर सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"इस संसार का कैसा स्वरूप है? और इसे काटकर आप पुरुषोत्तम को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? कृपा करके इसका वर्णन आप मुझसे करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् जैसे पुरुषोत्तम योग का वर्णन करेंगे, उसको मैं आप से अगले पुरुषोत्तम योग नाम के अध्याय में कहूँगा।"

छप्पय

भक्तियोग तैं मोइ निरन्तर निसिदिन गावै।
अव्यभिचारी भक्ति मोइ तजि अन्य न ध्यावै॥
सेवा मेरी करै पत्र जल सुफल चढ़ावै।
मो में तन्मय रहै अन्त में मोकूं पावै॥
भली भाँति तीनहु गुननि, लाँघि सच्चिदानन्दघन।
ब्रह्म प्राप्त होवै अवसि, अरजुन! तू तो भक्त बन॥

सबको आश्रय पार्थ ! एक मोई कूँ जानो ।
अविनाशी परब्रह्म व्याप्त मोई कूँ मानो ॥
मेरो अम्रृत रूप पान करि अमर होहिँ नर ।
नित्य धरम आनंद एक रस अतिई सुखकर ॥
जो अखण्ड ब्रह्माण्ड में, छाई रह्यो आनन्दघन ।
आश्रय मोई कूँ समुझि, अरजुन ! मोमें रखहु मन ॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप में हैं, उसमें "गुणत्रय-विभाग योग" नाम का चौदवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

अथ

॥ पञ्चदशोऽध्यायः ॥

(१५)

अव्यय-अश्वत्थ वृक्ष

[१]

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा, गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि, कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥*

(श्री भग० गी० १५ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

पुनि बोले भगवान—जगत पीपर को तरु है ।
और तरुनि जड़ अधः तासु की जड़ ऊपर है ॥
शाखा नीचे चलें विलक्षण पेड़ कहावै ।
पत्ता जाके वेद चारि ई पत्र लगावै ॥
श्रुति इस्मृति अव्यय कहत, ऐसो यह संसार तरु ।
जो जाकूँ जाने सविधि, जानत सब वह विज्ञवरु ॥

---

* एक अव्यय अश्वत्थ वृक्ष है, जिसका मूल ऊपर है, शाखायें नीचे हैं, वेद ही इसके पत्ते हैं, जो इसे जानता है, वास्तव में वही वेदवित् है ॥१॥

उस वृक्ष की शाखायें गुणों के जल से बढ़ती हैं, विषय ही उसके

कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। जैसा कार्य होगा, वैसा ही उसका आदि कारण होगा। वृक्ष को देखकर बीज का अनुमान किया जाता है कि वृक्ष है, तो अवश्य ही इसका बीज भी रहा होगा, किन्तु बीज दृष्टिगोचर नहीं होता, वह भूमि में छिपा रहता है और बीज जब अंकुरित होकर वृक्ष बन जाता है तो तुम फिर बीज को लाख खोजो, बीज दिखायी ही न देगा। बीज ही तो वृक्ष बन गया है, वही तो सर्वान्तर्यामी रूप से वृक्ष की रग-रग में व्याप्त हो गया है। जिस बीज से वृक्ष बना था, यद्यपि वह बीज दीखता नहीं, किन्तु वृक्ष उसी बीज का प्रतीक है। बीज और वृक्ष में तादात्म्य भाव हो गया है, दोनों का अभेद सम्बन्ध हो गया है, फिर भी वृक्ष के नीचे बीज न लग कर उसके ऊपर फल लगते हैं, उन फलों में एक बीज के अनेक बन गये हैं और उन प्रत्येक बीज में वृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति है। एक बीज के जो करोड़ों बीज बने हैं, उन करोड़ों बीजों में एक आदि बीज की शक्ति बंटी नहीं है कि एक बीज से जो करोड़ बीज बने हैं वे वृक्ष का करोड़वाँ भाग ही उत्पन्न करने में समर्थ हों। उस एक बीज की पूरी शक्ति करोड़ों बीजों में पूर्ण रूप से विद्यमान है। प्रत्येक बीज वैसा ही एक वृक्ष उत्पन्न करने में समर्थ है और प्रत्येक पेड़ वैसे ही करोड़ों बीजों को उत्पन्न कर सकता है, फिर वे करोड़ों बीजों में से प्रत्येक बीज वैसा ही वृक्ष बनाने की सामर्थ्य रखता है। उसकी शक्ति बंटती नहीं, घटती नहीं क्योंकि वह पूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लो तो भी वह पूर्ण ही अवशेष रह जायगा। वह ब्रह्मरूप बीज परिपूर्ण है। वह पूर्ण को ही

कोंपल हैं, ये शाखायें ऊपर-नीचे फैली हैं, कर्मों के अनुसार बांधने वाली जड़ें हैं ॥२॥

पैदा करेगा और उसका पूर्णत्व कभी घटेगा ही नहीं। पूर्ण का पूर्ण ही बना रहेगा।

यह संसार भी एक सनातन पीपल का वृक्ष है। इस वृक्ष के आदि बीज भगवान् ही हैं। भगवान् ही वृक्ष रूप में हो गये हैं। जैसे वृक्ष हो जाने पर वह बीज वृक्ष के परमाणु-परमाणु में व्याप्त हो जाता है, वैसे ही भगवान् इस जगत् रूप वृक्ष के अणु परमाणु में व्याप्त हो रहे हैं। यह बीज सनातन है और इसमें निहित वृक्ष भी सनातन है। यह वृक्ष दीखता है, इसलिये इसका अश्वत्थ-छेदन भी किया जाता है, किन्तु दृश्य वृक्ष के छेदन से वृक्षत्व का तो नाश हो नहीं सकता। वृक्ष तो बीज में सदा सर्वदा निहित रहेगा ही। इसीलिये यह वृक्ष अश्वत्थ है—श्व कहते हैं आने वाले दिन को जिसे 'कल' कहते हैं। यह ऐसा वृक्ष है, कि इसके संबंध में यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि यह कल रहेगा भी या नहीं। इसकी स्थिति कल तक रहेगी भी या नहीं। फिर भी यह अनादि है सनातन है अव्यय है।

इस संसार रूप वृक्ष में और हमारे पृथ्वी के वृक्ष में एक बड़ा भारी अन्तर है। हमारे यहाँ के वृक्षों की जड़ तो नीचे पृथ्वी में रहती है, जैसे मनुष्य अपना आहार ऊपर से मुख में खाकर नीचे ले जाता है, किन्तु वृक्ष अपना भोजन नीचे जड़ से खाकर ऊपर डाली पत्तों में ले जाते हैं, इसीलिये वे 'अर्वाक्स्रोत' कहलाते हैं, क्योंकि इन वृक्षों की जड़ें नीचे होती हैं और आहार को नीचे से ऊपर ले जाते हैं। किन्तु इस संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष की जड़ें ऊपर हैं और शाखायें नीचे हैं। जैसे पृथ्वी के वृक्ष पृथ्वी के नीचे से ऊपर की ओर आते हैं, यह संसार वृक्ष ऊपर से नीचे की ओर आता है।

वृक्ष में तो शाखायें तथा पत्ते होते हैं, तो इस संसार रूप

अश्वत्थ वृक्ष में शाखायें क्या हैं? तो इसमें आठ प्रकृतियाँ ही इसकी आठ शाखायें हैं वेद ही इसके पत्ते हैं, क्योंकि वेद त्रैगुण्य हैं। सत्त्व, रज, और तम इन तीनों गुणों का वर्णन वेद में है। इसलिये "त्रैगुण्यविषयावेदाः" कहे जाते हैं।

वृक्ष में तो पक्षी अपने-अपने नीड़ खोतले बना लेते हैं, तो इस संसार रूपी वृक्ष में भी ब्रह्मादि देवों ने सत्यलोक, तपलोक, जनलोक, महर्लोक, स्वर्गलोक तथा भुवर्लोक और भूलोक ये ऐसे बहुत से नीड़ बना रखे हैं।

श्रुति में इस वृक्ष का रूपक ऐसे बताया है—अव्यक्त इसका मूल है उसी से इस वृक्ष की उत्पत्ति है। उसी के अनुग्रह से दृढ़ होने के कारण यह परिवर्धित हुआ है। बुद्धि इसका तना है उसी से छोटी बड़ी बहुत सी शाखायें उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों के जो गोलक छिद्र हैं, वे ही इसके कोटर-नीड़ या खोतले हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये ही इसकी विविध शाखायें हैं। इन्द्रियों के विषय ही इसके पत्ते हैं। धर्म और अधर्म इस वृक्ष के सुन्दर पुष्प हैं। सुख और दुख ये इस वृक्ष के फल हैं। सभी जीवों का जीवन का आश्रय बनाने योग्य—आजीव्य—है। इसका नाम ब्रह्मवृक्ष है—पीपल को वासुदेव वृक्ष कहते हैं—यह कभी पैदा नहीं हुआ। इसका आदि नहीं अनादि है सनातन है। यह ब्रह्मवन है। ब्रह्म इसमें कुछ कार्य नहीं करता—पक्षिवत निवास करता है।

इस वृक्ष का ज्ञानरूपी सुदृढ़ खड्ग से—बड़ी तरवारि से—समूल काटकर आत्मगति को प्राप्त करें, उस आत्मगति को प्राप्त करे जिसे प्राप्त कर लेने पर फिर इस संसार में लौटना न पड़े।

भगवान् ने त्रिगुणातीत होने के लिये—तीनों गुणों का अतिक्रमण करने के लिये—अव्यभिचारिणी भक्ति को ही साधन बताया। और फिर स्पष्ट बता दिया कि मैं अविनाशी, अविकारी, नित्य,

धर्म स्वरूप सुख स्वरूप, शाश्वत ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। यह बात कही, तब अर्जुन के मन में यह बात आई, कि एक ओर तो भगवान् अपने को मायातीत, निर्गुण, निराकर, अज अव्यक्त बताते हैं। दूसरी ओर सगुण साकार रूप में मुझे कर्तव्य पालन का उपदेश कर रहे हैं, मेरे ही समान पुरुष रूप धारण किये हुए हैं, तो इनका वह पुरुषोत्तम रूप है क्या और इस संसार से इन परब्रह्म स्वरूप भगवान् का सम्बन्ध कैसा है। अर्जुन की इस जिज्ञासा को शान्त करने के ही निमित्त भगवान् ने पुरुषोत्तम योग का वर्णन किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने संसार के सम्बन्ध में और पुरुषोत्तम भगवान् के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तब भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! यह संसार पीपल वृक्ष के समान है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! पीपल का वृक्ष तो बीज से होता है, उसका मूल नीचे पृथ्वी में होता है।"

भगवान् ने कहा—"यह संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष उलटा है। इसका मूल मैं परब्रह्म परमात्मा ऊपर रहने वाला हूँ अतः इसका मूल-अर्थात् मैं ऊर्ध्व हूँ अतः यह ऊर्ध्वमूल वाला है।"

अर्जुन ने पूछा—"जब इसकी जड़ें ऊपर हैं तो शाखायें किधर जायेंगी?"

भगवान् ने कहा—"जब जड़ें ऊपर हैं, तो शाखायें नीचे की ही ओर जायेंगी।"

अर्जुन ने पूछा—"कैसा है इसका स्वरूप?"

भगवान् ने कहा—"आज है-कल नहीं है इसीलिये इसका नाम अ-श्व-त्थ है।"

अर्जुन ने पूछा—"तो क्या यह नाशवान् है?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, नहीं, यह तो अव्यय है अर्थात् अविनाशी है, सनातन है, नित्य है।"

अर्जुन ने पूछा—"इस पेड़ के पत्ते क्या हैं?"

भगवान् ने कहा—"त्रैगुण्य विषय वाले वेद ही इसके पुनीत पत्ते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"वेदवेत्ता पुरुष तो नैस्त्रैगुण्य होते हैं। यह तो आप त्रिगुणात्मक संसार का वर्णन कर रहे हैं?"

भगवान् ने कहा—"जो लोग वेद के यथार्थ मर्म को नहीं जानते वे ही त्रिगुणों के चक्कर में फँसकर जनमते और मरते रहते हैं, किन्तु जो इस तत्त्व को भली भाँति जान लेता है, वास्तव में वही वेद के तात्पर्य को भली भाँति जानता है वेदवेत्ताओं ने इस संसार रूप वृक्ष के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के रूपकों का वर्णन किया है। कुछ आचार्य दूसरी ही भाँति कल्पना करते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"उस कल्पना को भी कृपा करके सुना दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"देखो, कुछ आचार्य कहते हैं। यह संसार रूप वृक्ष है। इसकी शाखायें नीचे ही नहीं, नीचे ऊपर दोनों ही ओर फैली हुई हैं। फिर ये शाखायें सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के द्वारा नीचे, मध्य में और ऊपर सभी ओर फैली हुई हैं। तीनों गुण रूप-जल के द्वारा सींच-सींच कर ये बढ़ाई गयी हैं। फिर इनमें शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श-रूप लाल-लाल सुंदर-सुंदर प्रवाल पत्ते निकल आये हैं। इस मनुष्य लोक में परिणाम में धर्म और अधर्म रूप कर्मों में प्रवृत्त कराने वाली वासनायें, इसकी जड़ें हैं जो नीचे ऊपर दोनों ओर फैली हुई हैं। ये कर्मानुबन्धिनी मूलें ही जीवों से इस मनुष्य लोक में शुभाशुभ कर्मों को कराती हैं। इस प्रकार के संसार वृक्ष की

की भी आचार्यगण कल्पना करते हैं। इसकी जड़ें बढ़ती ही जाती हैं, ज्यों-ज्यों जड़ें बढ़ती हैं यह और भी विस्तार को प्राप्त होता जाता है। जब तक यह वृक्ष रहेगा तब तक तीनों गुणों के बीच में ही भटकना पड़ेगा।"

अर्जुन ने ने पूछा—"तब करें क्या ?"

भगवान् ने कहा—"यही करो कि इस वृक्ष को जड़मूल से काटकर फेंक दो, इसकी ओट में बैठे परब्रह्म को प्राप्त कर लो।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! यह संसार वृक्ष किस अस्त्र से काटा जा सकता है ? और फिर कैसे उस परमपद को प्राप्त किया जा सकता है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

गुन तीनिहु जल कहें बढ़ै शाखा जिहि पाई।
कोपल कहत प्रवाल रूप तिहि विषय बताई॥
जितनी जग में योनि सबहिं शाखा कहलावै।
देव मनुज अरु असुर उपर नीचे फहलावै॥
मनुज लोक में करम तैं बाँधन बारी जड़ अमित।
मैं-मेरी अरु बासना, ऊपर नीचे सब जमत॥

इस संसार रूप उलटे अश्वत्थ को असंग शस्त्र से काट दो

[२]

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥*

(श्री भग० गी० १५ अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

जा तरुवर को रूप नहीं देखन में आयो।
जैसे जो यह सुन्यो बिचारी तो नहिं पायो ॥
जाको आदि न अन्त वेदवित यही बतायो।
भली भाँति नहिं कही प्रतिष्ठा जगत कहायो ॥
जाकी अति दृढ़ मूल है, मैं मेरी जग वासना।
काटो शस्त्र असङ्ग तें, जातें सुख की आस ना ॥

---

* इसका रूप यहाँ वैसा पाया नहीं जाता। इसका न आदि है न अन्त तथा न इसकी संप्रतिष्ठा है। इसलिये इस दृढ़ मूल वाले अश्वत्थ को दृढ़ता के साथ असङ्ग-शस्त्र से काटकर—॥३॥

इसके उपरान्त उस परमपद को ढूढना चाहिये, जिस पद को प्राप्त

समुद्र सर्व तीर्थमय है, परम पवित्र है, किन्तु जब देवताओं को मार-मारकर असुर समुद्र के भीतर जाकर छिप जाते और उसके आश्रय से अवद्धय बन जाते, तब भगवान् की सम्मति से देवताओं ने अगस्त मुनि से प्रार्थना की। अगस्त मुनि समुद्र को सोख गये, देवताओं ने उन्हें मारकर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लिया। उलटा काम करने वालों को-उलटे काम करने वालों को सहायता देने वालों को-दन्ड देना ही चाहिये।

महर्षि भृगु की पत्नी बड़ी प्रभावशालिनी थी, असुरगण देवताओं को मारकर भृगु पत्नी के यहाँ छिप जाते। भृगु पत्नी उन आततायियों को आश्रय देती थी, देवता वहाँ जा नहीं सकते थे, अतः देवगण परम चिन्तित हुए, वे भगवान् विष्णु की शरण में गये। स्त्री को यद्यपि अवध्या बतलाया है, जिस स्त्री के कारण अपना अनिष्ट हो, जो हमें अपने इष्ट की प्राप्ति में विघ्न स्वरूपा प्रतीत हो, उसे मार देना शास्त्र सम्मत है। यही सोचकर भगवान् विष्णु ने भृगु पत्नी का वध कर दिया।

❀ ❀ ❀

विश्वामित्रजी के यज्ञ में ताड़का सदा विघ्न करती थी, यज्ञ-रूप विष्णु की प्राप्ति में वह अन्तराय थी। विश्वामित्र जी अयोध्या जाकर श्री रामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी को ले आये और उसी मार्ग से आश्रम को चले जिस मार्ग में ताड़का रहती थी। वह राक्षसी ऋषि को तथा राम लक्ष्मण को खाने को दौड़ी।

करके फिर इस संसार में लौटते नहीं हैं। और जिससे यह पुरातन प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष की मैं शरण हूँ ॥४॥

विश्वामित्रजी ने कहा—"राम तुम इस आततायिनी राक्षसी को मार डालो।"

राम ने कहा—"भगवन्! स्त्री को तो अवध्या बतलाया है, सर्व प्रथम तो मैंने मार धाड़ आरम्भ की है। पहिले ही पहिले स्त्री पर शस्त्र चलाने को क्यों कह रहे हो। अवध्या का वध क्यों करा रहे हो?"

विश्वामित्र ने कहा—"यह उलटी खोपड़ी की स्त्री है। यह हमारी इष्ट प्राप्ति में विघ्न स्वरूपा है। ऐसी स्त्री को मार देने में कोई दोष नहीं, तुम मेरी आज्ञा से इसे मार डालो।" श्रीराम जी ने गुरु आज्ञा का पालन किया। अवध्या अबला का वध कर दिया।

❀ ❀ ❀

रुधिरासना राक्षसी पूतना उलटा काम करने वाली थी। माता तो बालकों की रक्षा करती हैं, वह राक्षसी माता का रूप रखकर बालकों का वध करती थी। माता तो बच्चों को दूध पिलाती हैं, वह दुष्टा माता का पवित्र रूप बनाकर बालकों को विषपान कराती थी। धर्म का उलटा आचरण करती थी। वही राक्षसी ब्रज के बच्चों को मारती हुई माता बनकर श्रीकृष्ण के समीप भी आ गयी और उन्हें झट से उठाकर पट से विष लपेटे स्तनों से पय पिलाने लगी।

भगवान् ने कहा—"यह उलटा आचरण करने वाली है, उलटी खोपड़ी की है, इस की जड़ को ही समूल से नष्ट कर दो, इसका विष फैलता हुआ अनर्थ ही करेगा, अतः इसे आठ रूपी अस्त्र से काट दो। मार दो। भगवान् ने ऐसा ही किया उसके मरते ही चारों ओर आह्लाद छा गया। स्त्री अवध्या होने पर

भी उलटी होने के कारण भगवान् ने उसका वध कर डाला। इन सभी कथाओं से यही सिद्ध होता है, कि जो उलटे आचरण करने वाला हो, जो इष्ट प्राप्ति में अन्तराय हो, विघ्न हो, उस का जड़ मूल से छेदन कर देने में कोई दोष नहीं।

अश्वत्थ वृक्ष- पीपल का तरुवर-वासुदेव वृक्ष है, अवध्य है, इसे काटना नहीं चाहिये। किन्तु जो उलटा अश्वत्थ हो, जिस की जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे हों, और जो आद्यपुरुष की प्राप्ति में विघ्न स्वरूप हो, उसे असङ्ग रूपी शस्त्र से काट डालने में कोई हानि नहीं। उसे काट कर उससे परे जो परमपद है, उसका अन्वेषण करना चाहिये। जिससे जीव की अनादि प्रवृत्ति ही समाप्त हो जाय।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन ने संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष के काटने का उपाय पूछा तो भगवान् कहने लगे— अर्जुन! यह संसार रूप अव्यय-उलटी जड़ों वाला वृक्ष है। यह अनर्थ की जड़ है।"

अर्जुन ने पूछा—"यह उलटा वृक्ष कैसे और कहाँ से पैदा हो गया?"

भगवान् ने कहा—"यह पैदा तो मुझ परमेश्वर से ही हुआ है। मेरे ही द्वारा इसका विस्तार भी हुआ है।"

अर्जुन ने पूछा—"इस वृक्ष के विषय में कुछ विवरण तो बताइये। इसके रूप रङ्ग के सम्बन्ध में कुछ कहिये।

भगवान् ने कहा—"इसका कोई रूप नहीं, रङ्ग नहीं, वर्ण नहीं। जैसा यह है इस जगत में वैसा इसका रूप दिखायी नहीं देता फिर रूप के सम्बन्ध ने तुमसे कैसे कहें।"

अर्जुन ने कहा—"इसका आदि क्या है?"

भगवान् ने कहा—"इसके आदि का भी पता नहीं अन्त का

भी पता नहीं और जब आदि अन्त का ही पता नहीं तो मध्य का तो पता लगेगा ही कैसे ?"

अर्जुन ने कहा—"जिसका आदि अन्त ही नहीं तो फिर उसका अस्तित्व ही न होगा ?"

भगवान् ने कहा—सो भी बात नहीं, इसकी जड़ें अत्यन्त गहरी चली गयीं हैं। सुदृढ़ता के साथ जम गयीं हैं। ये अहंता और ममता तथा संसारी विषय वासनायें ही उसकी सुदृढ़ जड़ें हैं।"

अर्जुन ने कहा—"जब इसकी जड़ें इतनी सुदृढ़ हैं, इतनी बलवती और भीतर तक जम गयीं हैं, तो इसे काटा कैसे जा सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"सुदृढ़ जड़ों वाले इस अनादि वृक्ष को सुदृढ़ शस्त्र द्वारा ही काटा जा सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"वह सुदृढ़ शस्त्र कौन-सा है ?"

भगवान् ने कहा—"इच्छा, स्पृहा, लालच, वासना, काम तथा सङ्ग आसक्ति ये सब प्रायः पर्यायवाची शब्द ही हैं। आसक्ति का उलटा अनासक्ति है। सङ्ग का विपर्यय असङ्ग है। अर्थात् अनासक्ति अथवा असङ्ग रूप सुदृढ़ शस्त्र द्वारा इसे अव्यय अश्वत्थ को काटा जा सकता है। अर्थात् विवेक वैराग्य तथा पुनः पुनः के सुदृढ़ अभ्यास द्वारा यह संसार वृक्ष कट सकता है। इसे काटकर तब फिर कार्य आरम्भ करे।"

अर्जुन ने पूछा—"काटकर क्या कार्य आरम्भ करे ?"

भगवान् ने कहा—"फिर उस पद की खोज आरम्भ करे, जिस पद पर पहुँच कर प्राणी पुनः इस जन्म-मरणशील जगत् में लौटकर नहीं आता।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर वह पद प्राप्त कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—"उसकी प्राप्ति का एक ही सरल सुगम उपाय है। उस परब्रह्म परमात्मा की शरण में चला जाय, जिससे इस संसार रूप वृक्ष की अनादि प्रवृत्ति हुई है। जिसने बनाया है, वही इसके बिगाड़ने का-नाश का-उपाय भी जानता है, अतः सर्व भाव से उन्ही की शरण में जाने से इस संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष का समूल नाश हो जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"उसकी शरण मे कैसे जाय ?"

भगवान् ने कहा—"अहंता और ममता ही बन्धन है। 'यह मेरा है' इतना कहते ही बंध गया। 'इदं न मम' यह मेरा नहीं है इतना कहते ही बन्धन मुक्त हो गया। इदं न मम इदं न मम ही आगे चलकर नमो नमः, नमो नमः हो जाता है, अर्थात् मै उसी आदि पुरुष को नमस्कार करता हूँ। आद्यं पुरुषं प्रपद्ये; मैं उन नारायण की शरण में हूँ, मैं प्रपन्न हूँ, भक्त हूँ, शरणागत हूँ। इस प्रकार उनकी शरण जाने से यह वृक्ष भी कट जायगा और जहाँ जाकर जीव फिर लौटता नही वह पद भी प्राप्त हो जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"जो पुरुष उस पद को प्राप्त करते हैं उनके लक्षण क्या हैं, कैसे पुरुष उस पद को प्राप्त करते और वह अविनाशी पद है कैसा ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इन दोनों प्रश्नों का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पहिले करि वैराग्य काटि जड़ जग-पीपर की।
फेरि खोज करि भली-भाँति परपद ईश्वर की॥
करि जा पद कूँ प्राप्त फेरि जग नहीं पधारें।
जाते जा संसार पुरातन तरु विस्तारें॥
आदि पुरुष जो जगतपति, ताई की हौं शरन हूँ।
यों मोकूँ सुमिरन करै, हौं अशरन की शरन हूँ॥

शरणागत पुरुष के लक्षण तथा अविनाशी पद

[३]

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥*
(श्री० भा० गी० १५ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

जिनिमें नाहीं मान मोह जो निरहंकारी ।
सङ्ग दोष जिनि जीति लियो जो दृढ़ व्रतधारी ॥
जिनकी हैं अध्यात्म भाव में नित्य इस्थिती ।
जिनिकी है गई सबहिं कामननि की हू इति श्री ॥
सुख दुख संज्ञक द्वन्दनिहिं, पुरुष विमुक्त रहैं सतत ।
ते ज्ञानी पावैं परम, पद अविनाशी हू तुरत ॥

---

* जो निर्मान मोह हैं, जिन्होंने सङ्ग दोष जीत लिया है । जो अध्यात्म में नित्य स्थित हैं, जिनकी कामना निवृत्त हो गयी हैं । जो

सम्मान की इच्छा तभी होती है, जब आदमी अपने को कुछ समझने लगता है। अपने को औरों की अपेक्षा बड़ा मानने के कई कारण हैं। सबसे प्रथम कारण तो है उत्तम कुल में जन्म है। विवाद का मुख कारण ऊँच-नीच की भावना है। हम इतने ऊँचे हैं, यह हमसे सब प्रकार से नीचा है, फिर भी हमारा सम्मान नहीं करता, हमारी बराबरी करने का साहस करता है। समझो कलह का बीज बो गया। देवयानी शुक्राचार्य की लड़की थी, शर्मिष्ठा असुरराज वृषपर्वा की पुत्री थी। शुक्राचार्य राजा के पुरोहित थे, वृषपर्वा राजा थे। पुरोहित को तो यह अभिमान था, कि मैं उत्तम कुल का ब्राह्मण हूँ, राजा का गुरु हूँ मैं उससे श्रेष्ठ हूँ। राजा को यह अभिमान था मैं शासक हूँ, सब मेरे अधीन हैं, ब्राह्मण होने से ही क्या हुआ, हैं तो ये हमारे आश्रिता ही। दोनों के भावों का दोनों की संतानों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य ही है। प्रायः लोग अपने भावों को छिपाये रहते हैं, ऊपर से काम चलाने को हाँ हूँ करके बात को टालते रहते हैं। उन्माद में या क्रोध में भीतर के आन्तरिक भाव प्रकट हो जाते हैं।

वृषपर्वा पुत्री शर्मिष्ठा को अभिमान था मैं राजकुमारी हूँ, पुरोहित पुत्री तो हमारी वृत्ति पर पलने वाली है, देवयानी को अभिमान था मेरे पिता वृषपर्वा के गुरु हैं, मैं गुरु पुत्री हूँ, मेरा

सुख-दुःख रूप द्वन्द्वों से विमुक्त हैं, ऐसे ज्ञानी जन ही उस अव्यय पद को प्राप्त होते हैं ॥५॥

उस परमपद को सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता और न चन्द्रमा तथा अग्नि ही। जहाँ जाकर फिर लौटते नहीं, वही मेरा परमधाम है ॥६॥

सबको सम्मान करना चाहिये। दोनों अपने भावों को छिपाये ऊपर से शिष्टाचार वर्तती रहती थीं। एक दिन दोनों नंगी सरोवर में नहा रही थीं। यौवन का उन्माद था, एकान्त की मस्ती थी, स्वतन्त्रता में अल्हड़पन आ ही जाता है, शीघ्रता में शर्मिष्ठा ने देवयानी के वस्त्रों को पहिन लिया। इस पर देवयानी को अत्यन्त क्रोध आ गया। क्रोध में जातीयता का अभिमान उभर आया। उसने क्रोध में भरकर कहा—"यह हमारी दासी के समान है, हमसे छोटी है, हम इसके पूजनीय वन्दनीय हैं। इसी के क्या, इसके बाप के पूजनीय हैं। मैं उस वंश की बेटी हूँ, जिन्होंने साक्षात् विष्णु के वक्षस्थल में लात मारी थी। इस दुष्टा का ऐसा साहस। हमारे वस्त्रों का स्पर्श कर ले। अब मैं क्या पहिनूंगी। इस नीचा के पहिने वस्त्र तो मैं पहिन नहीं सकती।"

इधर तो कुल का अभिमान उभर आया। उधर धन, वैभव, अधिकार, तथा सौन्दर्य का अभिमान था। उसने भी क्रोध में भरकर न कहने योग्य बातें कह डालीं—"अरे, भिखारिनि! बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बना। कौए और कुत्तों की भाँति तू अन्न के लिये हमारे घर के चक्कर लगाती रहती है। हम एक दिन अन्न न दें तो तू भूखी मर जायगी।"

बस, दोनों ओर के अभिमान—"बड़प्पन के कारण कलह हो गयी। राजपुत्री शर्मिष्ठा ने गुरुपुत्री को कूएं में धकेल दिया। पीछे अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये ऊपरी मन से उनसे क्षमा मांग ली उसकी दासी बनकर देवयानी के ससुराल में भी गयी। किन्तु राजपुत्री का अभिमान और राजकुमारी का भाग्य उसके साथ रहा। दासी बनकर गयी, रानी बन गयी। देवयानी ने

बहुत चिल्ल-पों मचाई किन्तु राज्य का अधिकारी शर्मिष्ठा का ही पुत्र हुआ।

अतः कलह का कारण अभिमान ही है और अभिमान के बहुत से कारण है उत्तम कुल में जन्म का अभिमान, शुभ कर्मों के करने का अभिमान, युवावस्था का अभिमान, सौन्दर्य का अभिमान, विद्या का अभिमान, ऐश्वर्य अधिकार का अभिमान, धन, जन, बल आदि का अभिमान। ये अभिमान ही जन्म और मरण के चक्कर में डालकर घुमाते रहते हैं। अतः जिन्हें यह इच्छा हो, कि हमारा पुनः जन्म न हो हम आवागमन के चक्कर से सदा के लिये छूट जायँ उन्हें सर्वप्रथम सभी प्रकार के अभिमानों का परित्याग करना होगा। मान की भाँति मोह भी बन्धन का कारण है, मोह होता है, संसारी विषयों में। यह मुझे मिल जाय, यह अविवेक से होता है।

संसार में संग-आसक्ति-का दोष लग जाता है। अच्छे बुरे जिसमें भी हमारी आसक्ति हो जायगी वैसे ही हम बन जायँगे। जैसी आसक्ति होगी वैसी ही योनि प्राप्त होगी, वैसा ही जन्म लेना पड़ेगा। अतः संसार से सदा के लिये मुक्त बनना हो तो सबसे आसक्ति छोड़े। इतने ज्ञानी, ध्यानी तेजस्वी तपस्वी राजर्षि जड़ भरत को भजन करते दयावश ही सही, हिरन में आसक्ति हो गयी। उन्हें इसी कारण हिरन बनना पड़ा। इसलिये निर्द्वन्द्व होकर परमपद को पाने का प्रबल प्रयत्न करने वाला ही उस अक्षय अविनाशी अव्यय पद को प्राप्त कर सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने शरणागत पुरुष के लक्षणों की जिज्ञासा की" तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मेरा अव्यय परमपद अत्यन्त ही कठिन है, उसे सभी लोग प्राप्त नहीं कर सकते। मूढ़ लोगों के लिये तो यह पद अत्यन्त ही दुर्लभ

है। जो लोग विद्वान् हैं, महान् आत्मदर्शी तत्त्ववेत्ता हैं, जिनमें मूढ़ता का अभाव है, ऐसे ज्ञानी जन ही इस पद को प्राप्त कर सकते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"यही तो मेरा प्रश्न है, मूढ़ता से रहित ज्ञानी जनों के लक्षण क्या हैं, हम कैसे जाने ये ज्ञानी हैं।"

भगवान् ने कहा—"जो मूढ़ता से रहित ज्ञानी पुरुष होते हैं वे मोह और मान से सर्वथा रहित होते हैं। उनमें अभिमान, मिथ्याहंकार, गर्व, स्तम्भ आदि नहीं होता। जन्म, कर्म, वय, रूप, विद्या, ऐश्वर्य, धन, जन, बल आदि को पाकर भी जिसे स्तम्भ-मद-मान, गर्व न हो समझो उन पर मेरी परम अनुग्रह है, वे मेरे परमपद के पाने के अधिकारी हैं। जो अहंकार और अविवेक से रहित हों और जिन्होंने सङ्ग के दोषों को जीत लिया हो।"

अर्जुन ने पूछा—"सङ्ग दोष को जीतने का अभिप्राय क्या है?"

भगवान् ने कहा—"जैसा संग होगा, जैसी आसक्ति होगी, वैसा ही संस्कार बनेगा, संस्कारानुसार ही अगला जन्म मिलेगा। किन्तु जो प्रिय को पाकर उसमे राग नहीं करते, अप्रिय के प्रति जिन्हें द्वेष नहीं। जो राग द्वेष में समभाव से रहते हुए सदा सर्वदा निःसंग बने रहते हैं, वे ही परमपद के अधिकारी होते हैं। वे नित्य ही अध्यात्म में स्थित रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"अध्यात्म में स्थिति होने का अभिप्राय क्या है?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया! अध्यात्म तो मैं ही हूँ, जो सदा सर्वदा मेरे ही सम्बन्ध में कथन करते रहते हैं, मुझमें सन्तुष्ट रहते हैं, मुझमें ही रमण करते हैं वे ही अध्यात्म नित्या कहाते हैं, वे काम वासनाओं से सदा विनिवर्तित रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"विनिवृत्तकामा का क्या अर्थ है ?"

भगवान् ने कहा—"कामना कहते हैं, वासनाओं को जिनकी अशेष रूप से विषय भोगों की लालसा निवृत्त हो गयी हो। जिनमें विवेक वैराग्य सदा जागृत रहता हो ऐसे सुखदुःखादि द्वन्दों से विमुक्त पुरुष ही उस अव्यय पद को प्राप्त कर सकते हैं वे ही परमधाम में पहुँचने के अधिकारी हो सकते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! जहाँ जाकर फिर ज्ञानी पुरुष लौटता नहीं आपके उस परमधाम का स्वरूप क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"वह मेरा परमधाम दिव्य है, परमप्रकाशमय है, आवागमन से रहित है।"

अर्जुन ने पूछा—"क्या भगवन् ! वहाँ एक की अपेक्षा अनेकों सूर्य हैं ? क्योंकि प्रकाश तो, या तो सूर्य में है, या चन्द्रमा तथा अग्नि, जल में है ? तो क्या वहाँ बहुत से सूर्य चन्द्र होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"इस त्रिलोकी में रहने वाले सूर्य, चन्द्र और अग्नि के ही प्रकाश को जानते हैं। वहाँ का प्रकाश दिव्य है। वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँच सकता और न वहाँ चन्द्रमा तथा तारागण ही प्रकाशित होते हैं। जब वहाँ सूर्य, चन्द्र, तथा तारा नक्षत्रों की ही गति नहीं है, तो फिर अग्नि तो प्रकाशित हो ही कैसे सकती है। वह स्वयं प्रकाश, ज्योतिस्वरूप अपनी ही आभा से आभासित होने वाला दिव्य लोक है उसी के प्रकाश से यह जगत् प्रकाशित हो रहा है। जो जिसका प्रकाश्य होता है, वह भला अपने प्रकाशक को प्रकाशित कैसे कर सकता है। वहाँ जो चला गया, वह फिर वहाँ से लौटता नहीं।"

वहाँ गया हुआ फिर लौटता नहीं यह कहना भी एक प्रकार से उपचार मात्र ही है, वास्तव में तो वह ऐसा धाम है, जिसमें आना और जाना दोनों ही नहीं बनते। वहाँ तो जीव का वास्त-

विक यथार्थ निवास का स्थान है। भ्रमवश अज्ञानवश मोह के कारण यह अपने को अन्य स्थान में अनुभव करता है। इसका स्थान तो सदानन्द, परमानंद, शान्त, शाश्वत, सप्तशिव परमपद ही है। जहाँ जीव मिथ्या मान मद आसक्ति द्वन्द्वादि दोषों से निवृत्त हुआ नहीं कि फिर उसे कहीं आना जाना नहीं पड़ता, अपने यथार्थ रूप का अपने यथार्थ धाम का वह अनुभव करने लगता है। किसी के गले में मणियों का हार है, उसे भ्रम हो गया है, मेरा हार खो गया है, वह चारों ओर खोजता फिरता है। कोई आदमी पूछता है—"आप इतने व्यस्त क्यों है क्या खोज रहे हैं?"

वह कहता है—"मेरे कंठ का मणियों का हार खो गया है उसे ही ढूंढता फिर रहा हूँ।"

उस पूछने वाले ने कहा—"हार तो आपके कंठ में है; तनिक कपड़े से ढका है, यह देखो।" वह हार को दिखा देता है हार को पाकर उसे प्रसन्नता होती है। वास्तव में हार कहीं चला थोड़े ही गया था, वह तो जहाँ का तहाँ ही स्थित था। केवल उसका ज्ञान करा दिया। ज्ञान होने पर वह कहीं से आ भी नहीं गया। यदि गया होता, तो आता, वह तो जहाँ का तहाँ बैठा था। भ्रमवश ही खोया था, भ्रमवश ही कहते हैं मेरा खोया हुआ हार पुनः प्राप्त हो गया। इसी प्रकार परमपद को कहीं दूर देश में जाना नहीं पड़ता। जीव अपने स्वरूप को अपने यथार्थ स्थान को प्राप्त करके उसका अनुभव करके सुखी हो जाता है। जीव जो अपने को अब तक सुखी दुखी अनुभव करता था, अब वह द्वन्द्वों से रहित होकर निरतिशय सुख को प्राप्त हो जाता है जीव का आवागमन सदा के लिये छूट जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—'यह जीव है क्या? इसका स्वरूप क्या है? और यह एक शरीर से दूसरे शरीरों में जाता कैसे है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मै आगे करूंगा ।"

छप्पय

परमधाम मम नित्य परमपद जो कहलावै ।
संग दोष तैं रहित पुरुष ज्ञानी जहँ जावै ॥
जामें गयो मनुष्य लौटि जग फेरि न आवै ।
जाकूँ सूरज नहीं प्रकाशित करिबे पावै ॥
जहाँ प्रकाश न चन्द्र को, नहीं अगिनि की पहुँच जहँ ।
स्वयं प्रकाशित परमपद, भक्तिमान जन रहत तहँ ॥

जीव किस प्रकार शरीर से आता जाता है

[४]

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥*

(श्री भग० गी० १५ अ ७, ८ श्लो०)

छप्पय

जहाँ जीव नित रहै जीव को लोक कहावै ।
जहँ नित सोवै पुरुष देह तन जो कहलावै ॥
वाको स्वामी जीव अंश मम नित्य सनातन ।
वही प्रकृति में पैठ करै मन इन्द्रिनि करषन ॥
दश इन्द्रिय अरु ग्यारवों, मन ये सबई जड़ कहे ।
इनहिं घुमावत जीव नित, वही हमारो अंश है ॥

प्रकृति और पुरुष के संयोग से यह सृष्टि होती है। मूल

---

* इस जीव लोक मे यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है । प्रकृति में स्थित हुई मन-सहित पांचो इन्द्रियों को आकर्षण करता है । ७॥

जीवात्मा उसी प्रकार पहिले शरीर को त्यागकर मन इन्द्रियो को ग्रहण करके दूसरे शरीर को प्राप्त होता है । जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को दूसरे स्थान मे ले जाती है ॥८॥

प्रकृति में जब क्षोभ या विकार होता है, तो उससे महत्तत्व होता है, जिसे बुद्धितत्त्व भी कहते हैं। उससे अहंकार होता है और सूक्ष्म पंच महाभूतों की अर्थात् शब्द, रूप, रस गंध और स्पर्श की—उत्पत्ति होती है। मूल प्रकृति एक है, आप पूछोगे, कि वह किसकी विकृति है, वह किससे पैदा हुई, तो दार्शनिक लोग कहते हैं, वह किसी की विकृति नहीं। वह अनादि है, अव्यक्त है। उससे जो सात विकृतियाँ हुईं वे प्रकृति की विकृति कहाती हैं इसलिये एक प्रकृति और सात प्रकृति विकृति मिलकर अष्ट प्रकृति कहलाती हैं। इन प्रकृति की विकृति की १६ विकृतियाँ विकार और हैं वे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पंच स्थूल महाभूत और एक मन ये १६ विकृति हैं। अतः १+७+१६ इस प्रकार २४ तत्त्व है। दश इन्द्रियों और ग्यारहवें मन की उत्पत्ति अहंकार द्वारा हुई है, पंच सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राओं से पंच स्थूलभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की उत्पत्ति हुई है। ये सब मूल प्रकृति के २४ परिवार हैं। यह सम्पूर्ण परिवार क्षेत्र कहलाता है, इस क्षेत्र में न जाने कहाँ से एक किसान आ जाता है, वह किसान भी विलक्षण है, वह कुछ करता धरता नहीं। केवल देखता है, पता नहीं उसकी आँखों में कैसा जादू है, कि उसे देखते ही प्रकृति नाचने लगती है, अपना जाल बिछाने लगती है। पुरुष साक्षी रूप से उसे देखता रहता है। अब वह प्रकृति अपना पसारा फैलाती है। स्वयं उसमें कुछ करने की सामर्थ्य नहीं वह लुंज पुंज जड़ा है, किन्तु पुरुष के सान्निध्य से उसमें क्रिया आ जाती है, नाना प्रकार की सृष्टि होने लगती है। समष्टि का अभिमानी पुरुष है वही जब देहों में व्यष्टि रूप से अहंकार करने लगता है तो उसकी जीव संज्ञा हो जाती है। वह जीव क्या है। पंचभूत मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकार और महत्तत्व पंच प्राण और चैतन्यांश इन सब के मिले जुले संहात

का ही नाम जीव है। जब प्रकृति पुरुष के संयोग से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करती है तभी नाना प्रकार के जीव कर्म भोगों के निमित्त उत्पन्न होते हैं। यह संसार प्रवाह अनादि है, कोई यह कहने में समर्थ नहीं कि पहिले-पहिले जीव को अहंकार कैसे हुआ। यह अनादि परम्परा कब से चल रही है, इसे भगवान् ही जाने, कब तक चलेगी, इसे भी उनके अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता। जीव अविद्या के कारण एक योनि से दूसरी योनि में मन इन्द्रियादि के सहित जाता आता रहता है। पहिला शरीर ज्यों का त्यों पड़ा रहता है, उसमें से जीव इन्द्रियों अन्तःकरण और तन्मात्रा तथा प्राणों को लेकर ऐसे उड़ जाता है, जैसे वायु पुष्प से गन्ध लेकर उड़ जाती है। अविद्या के कारण जीव अपने यथार्थ चैतन्य स्वरूप को भूलकर संसार के मिथ्या पदार्थों में धन, पुत्र, कलत्रादि में मोह करने लगता है, उन्हीं को अपना स्वरूप मानने लगता है और अपने को दुखी सुखी अनुभव करता है। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा भगवद्भक्ति के द्वारा अपनी यथार्थ महिमा को जानने लगता है; तो यह अविद्या, माया तिरोहित हो जाती है, उसे स्वरूप ज्ञान हो जाता है। जीव कोई जड़ पदार्थ नहीं, बद्ध नहीं, गुणों में बंधा हुआ नहीं, कर्मों में आसक्त नहीं वह तो चतन्यघन आनन्द और चित् स्वरूप श्रीहरि का अंश ही है। यह भी शुद्ध; बुद्ध और सनातन है। किन्तु माया में बद्ध होकर एक योनि से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में परिभ्रमण करता रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने जीव के सम्बन्ध में जिज्ञासा की और यह जानना चाहा, कि यह एक शरीर से दूसरे शरीरों में कैसे आता जाता है, तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन!—यह जीव कहीं अन्यत्र से थोड़े ही आया है। यह मेरा

ही अंश है। जैसा मैं सनातन हूँ, वैसा ही यह मेरा अंश जीव भी सनातन है। मेरा अंश बँट गया है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आप में से बँट कैसे गया? आप तो अविभाज्य हैं।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, यह बात तो सत्य है, कि मैं अविभाज्य हूँ। आकाश के सदृश परिपूर्ण हूँ। मेरा विभाग नहीं हो सकता। फिर भी जैसे आकाश में घटाकाश, मठाकाश के रूप में आकाश, महाकाश से भिन्न-सा प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार मैं सम्पूर्ण चराचर भूतों में विभक्त-सा प्रतीत होता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"विभक्त से होकर क्या अकेले ही आप दूसरी योनियों में चले जाते हैं?"

भगवान् ने कहा—"सो भी बात नहीं मैं इस त्रिगुणमयी प्रकृति के सहारे, इस माया में स्थित होकर मन और पंच ज्ञानेन्द्रियों के सहित एक शरीर से दूसरे शरीर में चला जाता हूँ। जब तक शरीर मे जीव संज्ञा है, तब तक पंचप्राण दश इन्द्रियाँ और अंतःकरण के सहित ही रहता है। जहाँ भी जीव जायगा इन्हें साथ ही लेकर रहेगा। जैसे जीवात्मा ने एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में जाने की इच्छा की तो वह अन्तःकरण तथा इन्द्रियो को साथ लेकर ही जायगा। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन बुद्धि और अहंकार तथा पंचप्राण ये इसका साथ छोड़ते नहीं। इन्ही के कारण तो चैतन्यांश की जीव संज्ञा है।"

अर्जुन ने पूछा—"स्थूल शरीर तो यहाँ पड़ा ही रह जाता है, उसमें आँख, कान मुँह नाक, हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ भी ज्यों की त्यों बनी ही रहती हैं।"

भगवान् ने कहा—"जिन्हें, तुम आँख, कान, घ्राणादि कह रहे हो, ये इन्द्रियों के गोलक हैं। इन्द्रियों के रहने के स्थान

झरोखे हैं। इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म रूप से इनमें रहती हैं। जिन्हें तुम चमकती आँखें समझ रहे हो; वास्तव में वे चक्षु इन्द्रिय की गोलक हैं इसमें की सूक्ष्म इन्द्रिय शक्ति तो जीव के साथ चली जाती है, तभी यह निर्जीव-व्यर्थ बन जाती है। जैसे पुष्प है उसकी सुगंध को वायु ले जाकर दूसरे स्थान पर छोड़ देती है। ऊपर से देखने पर कोई यह नहीं कह सकता, वायु इसमें से किसी वस्तु को लेकर भग गयी। इसी प्रकार वायु जैसे गन्ध को चुरके से उड़ा ले जाती है उसी प्रकार जीव भीतर बाहर, कर्म तथा ज्ञान की इन्द्रियों को प्राणों को लेकर दूसरी देह में जाता है। जाते समय पहिली देह को छोड़ जाता है और इन वस्तुओं के साथ दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। क्योंकि वह ईश्वर है देह का स्वामी है, क्षेत्रज्ञ है।"

अर्जुन ने पूछा—"इन वस्तुओं को संग ले भी जाता है और उसे कोई देख भी नहीं सकता यह क्या बात है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जब तजि एक शरीर जीव अन्यनि में जावै।
तब अपने ई संग इन्द्रियनि मन लै जावै॥
करमनि के अनुसार तहाँ भोगनि कूँ भोगत।
देह पुरी में शयन करै सो पुरुष कहावत॥
वायु गन्ध थल जब तजहिं, गन्ध संग लै जात है।
तैसे देही तन तजै, करनहु संग लगात है॥

जीव को आते जाते केवल ज्ञान नेत्रों वाले ही देखते हैं

[५]

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥*

(श्री भा० गी० १५ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

सब विषयनि कूँ जीव स्वयं ई भोगत नाहीं ।
आश्रय करननि करै करै उपयोग सदाहीं ॥
जैसो सुननो चहे श्रोत्र तँ वह सुनि लेगो ।
देखन चाहे वस्तु चक्षु तँ वह लखि लेगो ॥
रस चखिबो चाहै जबहिं, रसना तँ रस लेइगो ।
परस सूँघनो जब चहै, त्वचा नाक तँ खाइगो ॥

---

* यह जीवात्मा श्रोत, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके इनसे द्वारा विषयों का सेवन करता है ॥९॥

इस शरीर छोड़ते को, शरीर में रहते को, भोग भोगते को और गुणों में रहते को अज्ञानी जन नहीं देखते । ज्ञान-चक्षु से केवल ज्ञानी पुरुष देखते हैं ॥१०॥

जब जीव का प्रकृति के गुणों के साथ सम्बन्ध हो जाता है तो वह प्रकृतिस्थ पुरुष कहलाता है। वैसे पुरुष तो निःसंग है वह न कर्ता है न भोक्ता है। फिर भी प्रकृति के संसर्ग के कारण प्रकृति जन्य उपकरणों द्वारा और प्रकृति से ही उत्पन्न भोगों को भोगता हुआ प्रतीत होता है, उसे कर्तृत्व का मिथ्याभिमान हो जाता है, उस मिथ्याभिमान के ही कारण उसे छोटी-बड़ी ऊँची-नीची योनियों में जन्म लेना पड़ता है। जो पुरुष प्रकृति के मंडल को पार कर गये हैं, प्राकृत गुणों से ऊपर उठ गये हैं, वे न तो अपने को कर्ता ही मानते हैं और न उनमें भोक्तृत्वपने का ही अभिमान रहता है। प्रकृति के संसर्ग से ही नित्य मुक्त शुद्ध पुरुष अपने को बद्ध मानने लगता है, भोगों की वासनायें ही उसे जन्म मृत्यु के चक्कर में घुमाती फिरती हैं।

वास्तव में ध्यान पूर्वक देखा जाय, तो भोग कौन करता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, पाँच कर्मेन्द्रिय हैं एक मन है, और भोगने के विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच हैं। कान अच्छे-अच्छे शब्दों को सुनना चाहते हैं। आँखें अच्छे-अच्छे सुंदर सुरूपों को देखना चाहती हैं। रसना-जिह्वा-सुंदर स्वादिष्ट रसों को चखना चाहती है। घ्राणेन्द्रिय सुंदर सुगंधित पदार्थों को सूंघना चाहती है। त्वचा इन्द्रिय सुंदर, मृदुल गुदगुदी सुखद वस्तुओं का स्पर्श चाहती है। इन्द्रियाँ भोक्ता हैं, और विषय भोजन हैं। वास्तव में देखा जाय तो इन्द्रियाँ भोक्ता नहीं हैं, वे तो भोग की उपकरण मात्र हैं। यदि मन न हो तो इन्द्रियों में भोगने की सामर्थ्य ही न रहेगी। हमारा मन यदि कहीं अन्यत्र है, चक्षु इन्द्रिय से उसका संयोग नहीं है, तो आँखें खुली रहने पर भी-देखते हुए भी-हम देख नहीं सकते। इससे सिद्ध हुआ कि आँखें जो सुरूप कुरूप को देखतीं हैं, वे मन के सहयोग से ही देखती

हैं। या यों कहना चाहिये कि मन ही चक्षुओं के द्वारा देखता है। अकेली आँखों में देखने की क्षमता नहीं। इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिये। मन भी स्वयं नहीं देख सकता। मन तो जड़ है वह बेचारा क्या देखेगा। जब तक जीवात्मा उसको अनुमति न देगा। बहुत से लोग कहते हैं जल का यन्त्र पानी निकाल रहा है। गमन का यन्त्र दौड रहा है। यन्त्र में स्वयं पानी निकालने की या दौड़ने की शक्ति नहीं, जब तक कि उसे कोई चैतन्य चलावे नहीं, घुमावे नहीं। बिना चैतन्य के जड में क्रिया होना संभव नहीं।

माया अविद्या अथवा प्रकृति तब तक कुछ भी करने में समर्थ नहीं जब तक जीवात्मा मिथ्या ज्ञान के वशीभूत होकर अपने को कर्ता न मान ले। जब उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व मिथ्यारोप हो जाता है तब वही बद्ध जीव कहलाता है और वही मन, इन्द्रियों तथा प्राणों के द्वारा प्रकृतिजन्य भोगों का सेवन करता है। यद्यपि वह रहता शरीर में ही है; शरीर में वह न रहे, तो शारीरिक एक भी क्रिया संभव नहीं। किन्तु शरीर में रहते हुए भी अज्ञानीजन न तो उसी जीवात्मा को देख सकते हैं और न उसके भोग के उपकरणों–मन, प्राणों तथा इन्द्रियों को–ही देख सकते हैं। हाँ, तत्त्वज्ञानी विवेकी पुरुष इन चर्म चक्षुओं से नहीं–ज्ञान चक्षुओं से अवश्य इन सब को देख लेते हैं–अर्थात् अनुभव कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पुरुष और प्रकृति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, जीव और माया, क्षर और अक्षर इनका प्रसंग जब छिड़ गया तो भगवान् ने कहा—"मैं इन दोनों से परे हूँ। मैं न पुरुष हूँ न प्रकृति हूँ, इन दोनों का स्वामी; इन दोनों से विलक्षण पुरुषोत्तम हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"जब आप भगवान्! पुरुषोत्तम हो, ब्रह्म हो, ईश्वर हो, परमात्मा हो कुछ करते धरते नहीं। खाते पीते नहीं, तो विषयों का भोग कौन करता है वस्तुओं का स्वाद कौन लेता है?"

भगवान् ने कहा—"जीवात्मा विषयों का भोग करता है?"

अर्जुन ने पूछा—"जीवात्मा को तो हमने भोग करते देखा नहीं। भोग तो शरीर द्वारा शरीरों में रहने वाली इन्द्रियों द्वारा होता है, भूख प्राणों को लगती है, जब भोज्य पदार्थ खा लेते हैं, तब तृप्ति हो जाती है स्वाद चखने की इच्छा रसना को होती है। स्वादिष्ट पदार्थ खा लेते हैं रसना तृप्त हो जाती है, मन में आता है, अमुक स्थान में चलें। वहाँ जाकर मन संतुष्ट हो जाता है, तो हम समझते हैं, विषयों का भोग मन, इन्द्रियाँ तथा प्राण करते हैं।"

भगवान् ने कहा—"प्राण, मन तथा इन्द्रियाँ उपकरण हैं, उनके द्वारा भोगता तो जीव ही है। मार्ग को पुरुष पार करता है, किन्तु किसी वाहन द्वारा करता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा कानों द्वारा आँखों द्वारा, स्पर्शेन्द्रिय द्वारा, जिह्वा द्वारा, नासिका द्वारा तथा मन के द्वारा स्वयं ही विषयों का भोग करता है।"

जब एक शरीर को छोड़ कर जीव दूसरे शरीर में जाता है तब भी इन्द्रियों और अन्तःकरण तथा प्राणों को साथ लेकर उस शरीर को छोड़ता है। जब दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, तब इनको साथ लेकर ही प्रवेश करता है। जब शरीर में स्थित रहता है तब इनको साथ लेकर ही स्थित रहता है, जब विषयों का भोग करता है, तब भी इनके ही द्वारा भोगों को भोगता है। कभी इसका सत्त्वगुण बढ़ जाता है कभी रजोगुण कभी तमोगुण। रहता है सदा गुणों से ही संयुक्त।

अर्जुन ने पूछा—"यह शरीर तो हमें दिखायी देता है। इसके चर्म, रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्रादि सभी वस्तुएं दीखती है, किन्तु यह जीवात्मा नहीं दिखायी देता। यह जब शरीर का परित्याग करता है, तो छिपकर नहीं जाता सबके सामने शरीर त्याग कर जाता है, फिर भी यह दीखता क्यों नहीं है?"

भगवान् ने कहा—"अज्ञानी जीवों की आंखों पर अज्ञान का पर्दा पड़ गया है, जड़ता का जाला छा गया है। जिन आंखों में जाला छा जाता है, वे दूसरों को तो बड़ी-बड़ी दिखायी देती हैं, किन्तु वे आंखें स्वयं देखने में समर्थ नहीं होती। उनकी देखने की शक्ति विलुप्त हो जाती है। किन्तु कोई तत्त्वदर्शी विशेषज्ञ ज्ञान-रूपी अंजन लगाकर उस जाले को काट दे तो उसे दिखायी देने लगता है। इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष तो इस जीवात्मा को आते-जाते शरीर में रहते और विषयों को भोगते हुए भी देखने में असमर्थ होते हैं, किन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिनका अज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे पुरुष—इन चर्म चक्षुओं से नहीं—ज्ञान चक्षुओं से देख सकते हैं। वे ही तत्त्वज्ञान द्वारा जीवों की उच्चावच गतियों को जान सकते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञानीपुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा इसे कैसे देखते हैं?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर भगवान् देकर अपनी दिव्य विभूतियों का जैसे वर्णन करेंगे, उस प्रसंग को मैं आपसे आगे वर्णन करूंगा, आशा है आप उसे समाहित चित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

देखत-देखत जीव एक तन तजिकें जावै।
देखत-देखत एक देह तैं दूसरि आवै॥
इस्थित है कें देह गुननि के भोगनि भोगे।
आश्रय इन्द्रिनि करै विषय सुख साज सँजोगे॥
फिरि हू अज्ञानी पुरुष, जानत याकूं हैं नहीं।
ज्ञान रूप जिनि नेत्र हैं, पहिचानत ज्ञानी वहीं॥

सबमें भगवान् का ही तेज प्रकाशित हो रहा है

[६]

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥*

(श्री भग० गी० १५ अ० ११, १२, १३ श्लो०)

छप्पय

करैं नित्य जो जतन योगिजन वे ई जानैं ।
इस्थित हियमें रहै ताहि वे ई पहिचानैं ॥
होवै अन्तःकरन शुद्ध तब जानत जोगी ।
ताहू पै अभ्यास करै नहिं विषयनि भोगी ॥
योगी जो अभ्यासवश, आत्म-तत्त्व कूँ जानते ।
करैं भले अभ्यास हू, अज्ञ न ताहि पिचानते ॥

---

* योगी पुरुष अपने आप में स्थित इस आत्मा को प्रयत्न पूर्वक देखते हैं, और अशुद्ध चित्त वाले अज्ञानी, प्रयत्न करने पर भी इसे नहीं

जीवात्मा इस शरीर में ही रहता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है, वह हृदयकमल में निवास करता है। योगिजन उसका साक्षात्कार करते हैं। उपासना करते-करते जिनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, ऐसे सदाचारी संयमी उपासक ही जीव का साक्षात् दर्शन कर सकते हैं। किन्तु जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है, वे अशुद्ध अन्तःकरण वाले कितना भी प्रयत्न करें आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते। वे जीव को देख नहीं सकते।

जीवात्मा या परमात्मा का दर्शन इन चर्मचक्षुओं से नहीं होता, वे तो ज्ञान के दिव्यचक्षुओं से दिव्य दृष्टि से देखे जा सकते हैं।

जो धोती मैली है, कोयलों के मल जमने से वह अत्यन्त काली हो गयी है, उस पर यदि आप लाल, पीला, हरा रंग चढ़ाना चाहें तो कभी न चढ़ेगा। यदि आप उस पर रंग चढ़ाना चाहते हैं, तो पहिले ही उस रंग में डुबोने का प्रयत्न न कीजिये। पहिले उसे रेह का मिट्टी से सज्जी से बार-बार धोइये। निचोड़ कर उसके मल को निकाल दीजिये पुनः सज्जी लगाइये पुनः पछारिये धोइये, निचोड़िये। इन क्रियाओं को तब तक करते रहिये जब तक वह स्वच्छ-मलरहित-निर्मल-विशुद्ध न बन जाय। जब

देख सकते ॥११॥

जो तेज सूर्य में स्थित होकर अखिल जगत् को उद्भासित करता है और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्नि में स्थित है, उसे तुम यही समझो कि यह मेरा ही तेज है ॥१२॥

मैं ही पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपने ओज से सभी चराचर प्राणियों को धारण करता हूँ, रस स्वरूप चन्द्रमा बनकर सभी ओषधियों को पुष्ट करता हूँ ॥१३॥

निर्मल वस्त्र हो गया, फिर उस पर जो रंग चढ़ाओगे वही चढ़ जायगा। जब तक मल उसके प्रत्येक सूत्र में व्याप्त है तब तक तक उस पर दूसरा रंग चढ़ना असंभव है।

इसी प्रकार जिन्होंने शौच, संतोष, तप स्वाध्यायादि द्वारा उपासना मार्गों से अन्तःकरण को विशुद्ध नहीं बना लिया, तब कत वे लाख मन्त्र जप करें, कितना भी वेद शास्त्र का पारायण करें उन्हें सिद्धि न होगी विद्या, धन और शक्ति ये अच्छी वस्तुयें है, किन्तु शुद्ध अन्तःकरण वालों की विद्या ही ज्ञानदायिनी होगी। शुद्ध अन्तःकरण वालों का ही धन परोपकार, दान, पुण्य तथा यज्ञादि शुभ कार्यों में व्यय होगा। शुद्ध अन्तःकरण वालों की शक्ति ही दूसरे के संरक्षण करने में लगेगी। इसके विपरीत अशुद्ध अन्तःकरण वालों को भाग्यवश विद्या आ भी गयी तो उसका उपयोग वे वाद विवादों में ही करेंगे। ऐसे पुरुषों पर धन यदि आ गया तो उसको दुराचार, व्यभिचार, मादकद्रव्य पानादि कार्यों में ही व्यय करेंगे। ऐसे अशुद्ध अन्तःकरण वाले यदि शक्तिशाली भी हो जायँ तो उनकी शक्ति परपीड़न में ही व्यय होगी।

मौन, ब्रह्मचर्यव्रत, वेदाध्यन, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्म-पालन, शास्त्रीय व्याख्या, एकान्तवास, मन्त्र, जप तथा अष्टाङ्ग योग की अंतिम स्थिति समाधि ये सब कार्य मोक्ष देने वाले हैं किन्तु ये शुद्ध साधन उन्हीं को मुक्ति देने में समर्थ होंगे; जिन्होंने अपने अन्तःकरण को इन्द्रियों को संयम द्वारा विशुद्ध बना लिया है, किन्तु जो अजितेन्द्रिय हैं, मलिन अन्तःकरण वाले हैं उनके लिये ये ही शुभ साधन खाना पीना चलाने के साधन बन जाते हैं; जीवन निर्वाह की वृत्ति व्यापार—धार्म—बन जाते है। अतः समस्त साधनों के लिये अन्तःकरण की शुद्धि

अन्तःकरण की शुद्धि एक जन्म में नहीं होती, वह संशुद्धि अनेक जन्मों तक सावधानी से संयम पूर्वक साधना करने से आती है। जिन्होंने बहुत जन्मों तक तपस्या, यज्ञ, दान, धर्मादि शुभ कर्म किये हैं। निरन्तर शुभ कर्म करते-करते जिनके पाप क्षीण हो गये हैं अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, ऐसे क्षीणपाप पुरुषों का जन्म पवित्र कुल में, धार्मिक श्रीमानों के कुल में अथवा योगियों के कुल में होता है। ऐसे उपासक धार्मिक पावन कुल में जन्म बड़े भाग्यशालियों का होता है। वंश परम्परा का प्रभाव जीवन में अवश्य होता है। जिन्होंने जन्मान्तरों में साधना की की होगी, उन्हीं का जन्म विशुद्ध कुल में होगा और वे बाल्यकाल से ही संयम सदाचार पूर्वक उपासना में प्रवृत्त हो जायंगे और उनको जीवन के साथी भी वैसे ही पावन पुरुष मिलेंगे। ऐसे ध्यान, धारणा करने वाले शुद्ध अन्तःकरण के पुरुष ही आते जाते जीव को ज्ञान दृष्टि से देख सकते हैं। यह बात इस दृष्टान्त से सिद्ध हो जायगी।

मद्र देश के एक अश्वपति नाम के राजा थे। वे गायत्री देवी के परम उपासक थे। भक्त चार प्रकार के होते हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। दुःख निवृत्ति के लिये भक्ति करने वाले, मोक्ष की जिज्ञासा से भक्ति करने वाले, ज्ञाननिष्ठ होकर भगवान् की भक्ति करने वाले और किसी कामना विशेष से-अपनी कामना की पूर्ति के निमित्त-भक्ति करने वाले। सो राजा अर्थार्थी भक्त थे। राजा के कोई सन्तान नहीं थी। इसीलिये राजा ने कामना से पवित्रता पूर्वक गायत्री देवी का अनुष्ठान किया। वैसे राजा बड़े धर्मात्मा थे। वे ब्राह्मणों के भक्त, सत्यव्रत, जितेन्द्रिय, याज्ञिक, दाता, चतुर, सर्वप्रिय, क्षमावान्, प्राणिमात्र के हितैषी, शान्त दान्त तथा तितिक्षु थे। वे मिताहार रहकर ब्रह्मचर्य व्रत

को धारण करके सावित्री देवी की उपासना करते और एक सहस्र गायत्री मन्त्र से हवन करके सायंकाल में एकवार मिताहार करते। इस प्रकार १८ वर्षों तक वे सावित्री देवी की उपासना करते रहे।

उनकी उपासना से गायत्री देवी प्रसन्न हुई राजा को प्रत्यक्ष दर्शन देकर वर माँगने को कहा। राजा ने कहा—"माँ मैंने वंश वृद्धि के लिये आपकी उपासना की है। मुझे वंश बढ़ाने वाले पुत्र दीजिये।"

सावित्री देवी ने कहा—"जाओ तुम्हारे कुल की कीर्ति बढ़ाने वाली एक कन्या होगी।"

राजा ने कहा—"माँ! कन्या तो दूसरे कुल की श्री वृद्धि करने वाली होती है। मुझे तो पुत्र की अभिलाषा है।"

भगवती गायत्री ने कहा—"वह कन्या साधारण नहीं होगी। उसी के द्वारा उभय कुल की वृद्धि होगी और दोनों कुल की कीर्ति संसार में व्याप्त हो जायगी।"

भगवती जगन्माता सावित्री का वर सत्य हुआ। कमल नयनी सौन्दर्य की साकार मूर्ति, समस्त सद्गुणों की खानि सावित्री देवी के ही अंश से राजा के एक पुत्री हुई। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उसका नाम सावित्री रखा। जैसे शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की किरणें बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही राजकुमारी सावित्री सोलह वर्ष की हो गयी।

उन दिनों की ऐसी प्रथा थी, कि वर पक्ष के लोग स्वयं कन्या के पिता के समीप कन्या की याचना करने आते थे। किन्तु सावित्री की याचना करने महाराज अश्वपति के समीप कोई याचक नहीं आया। तब राजा ने कन्या से कहा—"पुत्रि! मेरे पास कोई याचक आया नहीं। स्वयंवर करने में कलह के

बना रहती है, अतः तू स्वयं ही जाकर अपने योग्य वर की खोज कर ला।" यह कहकर राजा ने मन्त्री पुरोहित साथ कर दिये कुछ सेवक सैनिकों के सहित सुता को विदा कर दिया।

सावित्री तो बड़ी सदाचारिणी, सुशीला, साध्वी धर्म परायणा थी, अतः उसने राजधानियों में राजकुमारों की खोज न करके तपोवनों के शांतवातावरण में रहने वाले तपस्वियों में वर की खोज की। जहाँ तपस्या में निरत ब्रह्मर्षिगण तथा बहुत राजर्षिगण निवास करते थे।

उसी तपोवन में शाल्व-देश के द्युमत्सेन नाम के एक राजर्षि तपस्या करते थे, उनका राज्य शत्रुओं ने छीन लिया था, उनके चित्राश्व नाम का पुत्र था अतः राजर्षि स्वयं अन्धे हो गये थे, कुमार छोटा था अतः वे पत्नी पुत्र के सहित वनवास करते थे। पुत्र भी १८ वर्ष का हो गया था। वह सुन्दरता में अनुपम था। वह शूरवीर, जितेन्द्रिय, धर्म-परायण, सत्यवादी, सुशील, उदार, दानी, प्रियभाषी, तथा प्रियदर्शन था। सावित्री ने उसे ही अपना पति वरण कर लिया। मन ही मन में उसे पति रूप में वरण करके वह चुपचाप पिता के समीप लौट आयी।

जिस समय सावित्री लौटकर अपनी राजधानी में आयी उस समय उनके पिता महाराज अश्वपति नारद जी से बातें कर रहे थे। पुत्री ने दोनों को प्रणाम किया। नारद जी ने पूछा—"यह बच्ची किसकी पुत्री है?"

महाराज ने कहा—"भगवन्! यह आपकी ही बच्ची है।"

नारदजी ने पूछा—"बच्ची तो विवाह योग्य है, अभी तक आपने इसका विवाह नहीं किया?"

"राजा ने कहा—"भगवन्! इसी की मुझे चिंता है, इसीलिये मैंने इसे मंत्री पुरोहित के सहित भेजा था। अब यही बतावेगी

इसने किस राजकुमार को वरण किया। बेटी! बता दें तैंने किस राजकुमार को अपने योग्य समझा?"

लजाते हुए राजकुमारी ने कहा—"पिताजी! मैंने शाल्वाधिपति राजर्षि द्युमत्सेन के पुत्र राजकुमार चित्राश्व को अपने योग्य समझा है।"

राजा ने नारदजी से पूछा—"भगवन्! आप तो इन राजर्षि को जानते ही होंगे?"

नारदजी ने कहा—"हाँ, मैं इन राजर्षि को भली भाँति जानता हूँ। बड़े सदाचारी यशस्वी तपस्वी हैं। ये अंधे हो गये थे। इनका पुत्र छोटा था। शत्रुओं ने इनका राज्य छीन लिया है, ये राज्यपाट से विहीन होकर वन में तपस्या करते हैं। इनका लड़का सर्वसद्गुण संपन्न है। इसे अश्वों से बड़ा प्रेम है, अश्वोंके चित्र बनाया करता है इसीलिये उसका नाम चित्राश्व है। वास्तव में तो उसको गुणालय कहना चाहिये, क्योंकि कोई भी सद्गुण ऐसा नहीं जो उसमें न हो। उसके माता-पिता सदा सत्य भाषण करते हैं, अतः यह भी सदा सत्य भाषण करता है अतः वनवासी ऋषियों ने उसका नाम सत्यवान् रख दिया है। सत्यवान् गुणों की खानि है, आपकी पुत्री भी अनुपम सुंदरी तथा परम गुणवती है, जोड़ी तो सर्वथा अनुकूल ही है, किन्तु एक बहुत बुरी बात है।"

राजा ने पूछा—"वह कौन-सी बुरी बात है?"

नारदजी ने कहा—"वह राजकुमार अल्पायु है, आज से ठीक एक वर्ष पश्चात् वह मर जायगा। अतः राजकुमारी को उसे छोड़कर किसी दूसरे राजकुमार का वरण करना चाहिये।"

राजा ने तथा नारदजी ने कन्या को बहुत समझाया, किन्तु वह मानी ही नहीं। उसने कहा—"पिताजी! एक वस्तु का दान

एक ही बार होता है, कन्या दान एक बार ही होता है, पिता की सम्पत्ति का पत्री डालकर बँटवारा एक ही बार होता है। मैंने जिसे एक बार पति वरण कर लिया है, उसे मै छोड़ नहीं सकती।"

राजा अश्वपति जी ने नारदजी की सम्मति मे सावित्री का विवाह सत्यवान् के साथ कर दिया। अंधे राजा द्युमत्सेन अपनी सर्व सद्गुण सम्पन्ना वधू को पाकर सपत्नीक बड़े ही प्रसन्न हुए। सावित्री अपने राज्य भ्रष्ट सास ससुर की सदा सेवा में सन्नद्ध रहती। अपने पातिव्रत के प्रभाव स उसने पति को, सास, ससुर को अपने वश में कर लिया था। वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते।

नारदजी का बताया हुआ समय आया, तो सावित्री ने तीन दिन बिना कुछ खाये पीये तीन दिन का निराहार व्रत किया। चौथे दिन—जो सत्यवान् की मृत्यु का दिवस था—वह अपने सास ससुर और पति की अनुमति से सत्यवान् के साथ फल फूल और कुश समिधा लेने वन में गयी। फल फूल एक टोकरी में भरकर जब वह समिधा काटने लगे, तब उसके सिर में बड़े जोरों की की पीड़ा हुई। सावित्री समझ गयी, उसे शीघ्र ही उतार लिया। वट की छाया में वह अपने पति के सिर को गोदी में रखकर शनः शनैः दबाने लगी। तभी उसने देखा हाथ में पाश लिये एक काला पुरुष आ रहा है। वैसे देवता साधारण लोगो को दीखते नहीं। किन्तु सावित्री सती, साध्वी, तपस्विनी तथा समस्त सद्-गुण सम्पन्ना थी। उसे यमराज के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। उसने पूछा—"हे देव! आप मनुष्य तो हैं नहीं कौन है?"

यमराज ने कहा—"मै यम हूँ, तुम्हारे पति का समय पूरा हो गया है मैं उसे लेने आया हूँ।"

सावित्री ने कहा—"देव ! मैंने तो ऐसा सुना है, जिनकी मृत्यु सन्निकट होती है उन्हें आपके दूत लेने आते हैं। आपने अपने यमदूतों को न भेजकर स्वयं ही कष्ट क्यों किया ?"

यमराज ने कहा—"देवि तुम्हारा पति साधारण मनुष्य नहीं। यह सत्य है, सर्व साधारण मनुष्यों को मेरे दूत ही लेने आते हैं, किन्तु सत्यवान् धर्मात्मा, सर्व सद्गुण सपन्न तथा परम रूपवान् है, इसलिये इसे लेने मैं स्वयं ही आया हूँ। तेरा और इसका इतने ही दिन का संयोग था, अतः अब तू मुझे इसे ले जाने दे।"

सावित्री ने कहा—' आप सर्वसमथ हैं जो चाहे सो करें।"

वैसे जीवात्मा किसी को आते जाते दिखायी नहीं देता, किन्तु सावित्री तो परम साधिका पतिव्रता थी, उसने प्रत्यक्ष देखा—यमराज ने सत्यवान् के शरीर से अंगुष्ठमात्र पुरुष को बल पूर्वक निकाला और उसे अपनी पाश में बांध लिया। उस अंगुष्ठमात्र पुरुष के निकलते ही सत्वान् का शरीर निष्प्राण हो गया, उसकी श्वास प्रश्वास बंद हो गयी, उसकी आभा मंद पड़ गयी, शरीर क्रिया शून्य हो गया, अब तक जो परम सुंदर प्रतीत होता था, वह अब भयावह लगने लगा।

इस प्रकार सावित्री ने जीवात्मा को अंगुष्ठ के समान अपनी दिव्य दृष्टि से प्रत्यक्ष देखा था किन्तु अशुद्ध चित्त वाले सर्वसाधारण अविवेकी पुरुष प्रयत्न करने पर भी इसे नहीं देख पाते।

सावित्री अपने पातिव्रत के प्रभाव से अपने मधुर वचनों द्वारा यमराज से अपने पति को ही नहीं छुड़ा लायी अपितु उसने अपने पिता के लिये सौ पुत्र, अपने लिये सत्यवान् के औरस से सौ पुत्र, अपने ससुर की आँखों की प्राप्ति तथा राज्यप्राप्ति के वर भी प्राप्त कर लिये। यह तो पातिव्रत का माहात्म्य था, किन्तु अपनी

ध्यानादि साधना द्वारा उसने जीवात्मा को भी अपनी दिव्यदृष्टि से देख लिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने यह जिज्ञासा की ज्ञाननेत्र वाले उसे किस प्रकार देखते हैं" तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! देखो योगिजन इस आत्मा का ध्यान धारणा समाधि द्वारा साक्षात्कार करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कहाँ साक्षात्कार करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"कहीं बाहर देखने थोड़े ही जाते हैं, वे तो अपने अन्तःकरण में ही स्थित आत्मा का अपने आप में ही साक्षात्कार करते हैं। वह साक्षात्कार प्रबल साधनों द्वारा होता है, यम नियमों का पालन करते हैं, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार द्वारा शरीर तथा मन को शुद्ध करके समाधि द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"जो भी चाहे प्रयत्न करके आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"सब के वश का यह काम नहीं है, केवल प्रयत्न करने से ही काम नहीं चलने का। सबसे पहिले तो अन्तःकरण की शुद्धि की अत्यंत आवश्यकता है। जो अकृतोपासक हैं, जिन्होंने यज्ञ, दान तपादि से अपने अन्तःकरण का शोधन नहीं किया है, ऐसे मलिन चित्त वाले विवेक शून्य, अकृतात्मा पुरुष यत्न करने पर भी, इसे देखने में समर्थ नहीं हो सकते। वह पद ऐसा ही है, उसे सूर्यादि अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं कर सकते।"

अर्जुन ने कहा—"संसार में जितना सूर्य, चन्द्र, तारागण तथा अग्नि आदि में प्रकाश है, वह प्रकाश कहाँ से आता है ?"

भगवान् ने कहा—"प्रकाशवानों में जो भी प्रकाश है, वह सब

मेरा ही प्रकाश है। मेरी विभूतियों से ही यह जगत् विभूतिवान् प्रतीत होता है।"

अर्जुन ने कहा—"विभूतियोग के प्रसङ्ग में तथा अन्य प्रसङ्गों में भी आप ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है, फिर भी मैं आपकी कुछ अन्य विभूतियों के सम्बन्ध में सुनना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! यह बात तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है, वे विभूतियाँ अनन्त हैं। फिर भी मै तुमसे अपनी कुछ विभूतियों का वर्णन करता हूँ। देखो, सूर्य के तेज से ही यह चराचर त्रैलोक्य जगत् प्रकाशित होता है, तथा सूर्य के अदर्शन काल में चन्द्रमा तथा अग्नि द्वारा प्रकाशित होता है यह जो सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि में सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करने वाला तेज है, उसे तू मेरा ही तेज जान। मैं तेज ही नहीं, सबको धारण करने वाला तथा पोषण करने वाला भी हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"धारण पोषण करने वाले आप कैसे हैं?"

भगवान् ने कहा—"समस्त भूतों को पृथ्वी धारण किये हुए है। इस मृण्मय जड़ पृथ्वी में ऐसा सामर्थ्य कहाँ है, जो सबको धारण कर सके। मै ही इस पृथ्वी में प्रवेश करके देवता रूप से समस्त प्राणियों को धारण किये हुए हूँ। मैं ओज तेज तथा बल से इसमें प्रवेश करके इसको सुदृढ़ न बनाऊँ, तो यह मृत्तिका तो जल में ही घुल कर बैठ जाय। क्योंकि समस्त पृथ्वी जल पर ही स्थित है, पृथ्वी को जहाँ भी खोदो, वहीं जल ही जल दिखायी देगा। जल में यदि न घुले तो सूख कर इधर-उधर छिन्न-भिन्न हो जाय। मैं इस पृथ्वी में प्रवेश करके इसे मर्यादित रखता हूँ,

इसे समस्त प्राणियों के रहने योग्य बनाये रखता हूँ। यह जो पृथ्वी की धारणा शक्ति है, यह मेरी ही शक्ति है।"

अर्जुन ने पूछा—"पोषण आप किस प्रकार करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"समस्त प्राणी अन्न द्वारा ही पोषित होते हैं। अन्न ओषधियों द्वारा प्राप्त होता है। जो भी पदार्थ खाये जायँ उन सबकी अन्न संज्ञा है। जो भी खाया जाता है, सब ओषधियों द्वारा प्राप्त होता है। ओषधि उसे कहते हैं जो पृथ्वी में अंकुरित होकर पत्र, पुष्प और फलवती होकर पक कर विनष्ट हो जाय। इसमें वृक्ष, लता, तृण, वीरुध, वनस्पति सभी बीज से अंकुरित होने वाली वृक्ष जाति के पौधे आ गये। ये पौधे पैदा कैसे होते हैं? पहिले पृथ्वी में बीज बोया जाता है, जल से सींचा जाता है, किन्तु जब तक चन्द्रमा अपनी किरणों द्वारा अमृत रूप रस से उन्हें आप्यायन न कर दे उनका सिंचन न कर दे तब तक पुष्ट करने की शक्ति तथा सुस्वादुपना नहीं आता। चन्द्रमा में जो सोमरूप रस है, जिसके द्वारा वे ओषधियों को रस देकर उनका पोषण करते हैं वह रसमय सोम मैं ही हूँ। चन्द्रमा में जो सोम स्वरूप पोषण करने वाला अमृत है, वह मेरी ही विभूति है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अपनी विभूतियों का और जो भी वर्णन करेंगे, उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

जग में तीनिहिँ करैं प्रकाशित वस्तुनि सगरी।
सूर्य, चन्द्र अरु अगिनि दिखावत बन घर नगरी॥
करैं प्रकाशित जगत सूर्य में ह्वैकें इस्थित।
जानो मेरो तेज मोइ तौं होहिं प्रकाशित॥
ऐसे ही जो चन्द्र में, और तेज जो अगिनि में।
अरजुन! तू यह जानि लै, तेज हमारो सबनि में॥

जीव चराचर जड़ चेतन हैं जगमें जेते।
धारन पृथिवी करै रहे इस्थित भू तेते॥
पृथिवी में नहिं शक्ति प्रविशि हौं ही पृथिवी में।
धारन सबकूँ करूँ सदा ई बसि भूमी में॥
हौं ही शशि महँ रस-अमृत, बनिकें सब सिचन करहुँ।
जगमें जितनी औषधी, पुष्ट सबनि नित नित करहुँ॥

भगवान् ही पचाने वाले और सब कुछ हैं

[७]

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥*

(श्री० भग० गी० १५ अ० १४, १५ श्लोक)

छप्पय

हौं ही बसिकै जठर माहिँ सब अन्न पचाऊँ ।
हौं वैश्वानर प्रान अपानहु सहित कहाऊँ ॥
सब देहनि में रहूँ ऊष्णता तहँ पहुँचाऊँ ।
जाते जीवै जीव अगिनि आधार कहाऊँ ॥
भक्ष्य भोज्य अरु चोष्य जो, लेह्य चारि विधि वस्तु सब ।
तिनिको हौं पाचन करूँ, कहैं मोइ जठराग्नि सब ॥

---

* मैं ही वैश्वानर-जठराग्नि बनकर सभी प्राणियों के शरीर का आश्रय लेकर प्राण अपान से युक्त हुआ चारों प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ॥१४।

मैं ही सभी के हृदय मे संनिविष्ट हूँ । मुझी से स्मृति, ज्ञान और अपोहन होते हैं तथा सभी वेदों मे वेद्य वस्तु मैं ही हूँ ॥१५॥

हम लोग जो ईख से रस बनाकर उस रस को पकाकर राब, गुड़, शक्कर, बूरा, चीनी, खांड़ और मिश्री आदि मधुर पदार्थ बनाते हैं, उसके लिये कितने उपकरणों की आवश्यकता होती है। आग जलाने को भट्टी, ईंधन, अग्नि, कढाई आदि छोटे बड़े बहुत से पात्र छानने को छन्ना, चलाने को कड़छी, मैल निकालने को पृथक् पात्र और न जाने क्या-क्या डालने को चलाने को, सुखाने को गूंदने को सामग्रियां चाहिये तब कहीं जाकर ये वस्तुएं बनती हैं, किन्तु पेट में न जाने कौन-सा देवता बैठा है, कि उसमें जो पदार्थ खाया जाता है उस खाये हुए पदार्थ को पकाकर पेट में ही उसका रस, रक्त, मेद, मांस, मज्जा, अस्थि, वीर्य और ओज इन वस्तुओं को कौन बना देता है। हाथी का भले ही बड़ा उदर हो या चीटी का छोटा उदर सभी में ये वस्तुएं पककर बन जाती हैं, भीतर कोई कढ़ाई करछुल या पात्र भी दिखायी नहीं देते। जलती हुई अग्नि भी दिखायी नहीं देती जिस पर पकाकर रस रक्तादि धातुएं बनाई जायें। उदर में जलती हुई अग्नि में, माता के गर्भ में–उदर के भीतर–बहुत दिनों तक बच्चा वास करता है, वह जलता नहीं। उलटे उस अग्नि के समीप ही उसका पालन पोषण होता है। कैसी विचित्र बात है, एक ओर तो भट्टी जल रही है, उसी के समीप कोमल निरीह शिशु का पोषण पालन होता है, उस अग्नि से वह सूखता नहीं जलता नहीं। भट्टी की अग्नि कभी बुझती नहीं उसमें क्रमशः सात धातुएं पकती रहती है। भट्टी रात्रि-दिन जलती रहती है।

यह भट्टी किसी कारीगर की कृति नहीं वह स्वयं ही अग्नि बनकर बड़ी युक्ति से खाये हुए अन्नों को पकाकर भीतर जाते ही दो भाग कर देता है, एक को रस कहते हैं, दूसरे को किट्ट

या मल। मल को मल स्थान में भेजकर रस को पकाकर उसके भी दो भाग कर देता है, एक शुद्ध रस दूसरा मल। शुद्ध रस को पकाकर उसके भी दो भाग कर देता है, एक रक्त दूसरा मल। रक्त को पकाकर दो भाग कर देता है, एक मांस दूसरा मल। मांस को भी पकाकर उसके दो भाग कर देता है. एक मल दूसरा मेद। मेद को भी पकाकर उसके दो भाग कर देता है एक मल दूसरा मज्जा। मज्जा को भी पकाकर उसके दो भाग कर देता है एक हड्डी दूसरा मल। हड्डी को भी पकाकर एक शुक्र या वीर्य शेष उसका मल। निर्मल वीर्य को पकाकर उसका ओज बना देती है। इस क्रिया को कौन करता है? जठराग्नि करती है। जठर में जलते हुए वैश्वानर करते हैं। ये वैश्वानर कौन हैं? ये साक्षात् भगवान् है। भगवान् ही सबके उदरों में बैठकर प्राणियों को जीवन दान देते रहते है। इतना परिश्रम करने पर भी भगवान् को कोई कष्ट नहीं, कोई मोह ममता तथा बन्धन नहीं। वे निर्मल निर्लेप, सुख दुःख से परे अकर्ता बनकर हँसते रहते हैं। कैसी है उनकी लीला। कैसी है उनकी अपरम्पार माया।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से अपनी और विभूतियों के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् ने कहा—अर्जुन! सब प्राणियों के उदर में वैश्वानर-जठराग्नि-भी मेरी विभूति है। मैं जठराग्नि का रूप रखकर समस्त प्राणियों के शरीर मे निवास करता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"वहाँ आप क्या काम करते हैं भगवन्?"

भगवान् ने कहा—"वहाँ मैं प्राणियों द्वारा खाये हुए चार प्रकार के अन्नों को पकाया करता हूँ। पाचक का कार्य करता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"चार प्रकार के अन्न कौन-कौन से हैं, और आप उन्हें कैसे पचाते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो दांतों से काटकर चबाये जायें, चबाकर निगले जायें, उन्हें भक्ष्य अन्न कहते हैं। जैसे रोटी, मालपूआ चना चबेना आदि कड़े पदार्थ। इनमें चना चबेना चर्व्य हैं, शेष भक्ष्य। चर्व्य और भक्ष्य एक ही बात है। दूसरे पदार्थ भोज्य कहलाते हैं। उनमें दांतों को बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ता केवल जिह्वा से विलोकर निगल जाते हैं। जैसे कढ़ी भात, हलुआ आदि। तीसरे पदार्थ लेह्य कहलाते हैं। जो जीभ से चाटे जाते हैं, जैसे चटनी, सौंठ, गुड़ की राब, तथा विविध भाँति के अवलेह आदि।"

चौथे पदार्थ हैं चोष्य-जो दाँतों से दबाकर उसके रस-रस को तो निगल जायें। छूँछ को उगल दें। जैसे ईख, आम, अनन्नास, सन्तरे, मीठी खट्टे नीबू आदि। इन चार प्रकार के अन्नों को प्राणी मुख के द्वारा खाकर उदर में पहुँचाते हैं। उदर में मैं वैश्वानर का रूप रखकर बैठा रहता हूँ। पक्वाशय की भट्टी में प्राण और अपान के द्वारा जठराग्नि को प्रदीप्त करके उन चार प्रकार के अन्नों को मैं ही पचाता हूँ। अन्न भोज्य है और वैश्वानर अग्नि ही पचाकर उसका भोजन कर लेता हूँ। अतः उदरस्थ वैश्वानर मेरी विभूति है। विभूति क्या हैं सब मैं ही मैं हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"आप ही आप कैसे हैं, भगवन् ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, मैं ही सबके हृदय में विराजमान होकर सब कार्यों को करा रहा हूँ। देखो, बहुत दिन देखी सुनी घटना विस्मृत हो जाती है, आदमी भूल जाता है, फिर प्रसंग आने पर पुनः उसकी 'स्मृति' हो उठती है। वह स्मृति कहाँ से

आती है ? वह मुझसे ही आती है, मैं ही स्मरण कराता हूँ। वस्तुओं का यथार्थज्ञान भी मैं ही कराता हूँ। और ऊहा पोह द्वारा–तर्क वितर्क करके–दोनों का नाश भी मेरे ही द्वारा होता है। अर्थात् स्मृति, ज्ञान तथा अपोहन ये मुझसे ही होते हैं।"

समस्त वेदों में अनेक देव, उपदेवादिकों का वर्णन है, किन्तु वास्तव में एक मात्र मैं ही वेद्य हूँ–जानने योग्य हूँ–। वेदान्त का कर्ता भी मैं ही हूँ और यथार्थ रूप से वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ। मेरे द्वारा ही यह समस्त प्रपञ्च सचालित हो रहा है।

अर्जुन ने कहा–"भगवन् पहिले आपने प्रकृति पुरुष रूप से वर्णन किया फिर क्षेत्र क्षेत्रज्ञ रूप से वर्णन किया, फिर जीव और जगत के रूप से वर्णन किया। इस विषय को आप मुझे स्पष्ट रूप से समझाइये वैसे तो आप सर्वरूप है, सभी आपसे हुआ है, किन्तु वास्तव में प्रकृति पुरुष, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ, जीव जगत् इसमें कौन आपका व्यवहारिक रूप है औरकौन-सा पारमार्थिक ?"

सूतजी कहते हैं –"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

हौं ही घट-घट रहूँ कहें सब अन्तरजामी।
प्राननि में नित वास करूँ प्राननि को स्वामी॥
मोई तैं सब ज्ञान और इस्मृति हैं मोतैं।
दूरी ऊहापोह होहि सु अपोहन मोतैं॥
हौं ही जानन जोग्य हूँ, सब वेदन तैं एक मैं।
कर्ता हौं वेदान्त को, वेदनि ज्ञाता एक मैं॥

क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम

[८]

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥*

(श्री भग० गी० १५ अ० १६, १७, १८ श्लो०)

छप्पय

जग में द्वै ई पुरुष तीसरो कोई नाई ।
नाशवान है एक द्वितिय अविनासी भाई ॥
क्षर अक्षर हू कहें पुरुष को भेद बतावें ।
क्षर है जावे नष्ट नहीं अक्षर नसि जावें ॥
सब भूतनि के देह जो, नाशवान ते सब कहे ।
अविनाशी जीवातमा, अक्षर बनिकें यह रहे ॥

---

* इस लोक मे क्षर और अक्षर ये दो ही पुरुष हैं । सम्पूर्ण प्राणी तो नाशवान् हैं तथा कूटस्थ ब्रह्म को अक्षर कहा जाता है ॥१६॥

इन दोनों से परे उत्तम पुरुष अन्य ही है । जो तीनो लोकों में प्रवेश करके लोकों का भरण-पोषण करता है, उसे अव्यय, ईश्वर, पर-

गीता शास्त्र में स्थान-स्थान में जीव और जगत् के भिन्न-भिन्न नाम आये हैं। कहीं तो जीव को पुरुष और जगत् को प्रकृति कहा है। कहीं प्रकृति शब्द के ही दो भेद कर दिये हैं, परा और अपरा। परा प्रकृति तो जगत् है, अपरा प्रकृति की जीव संज्ञा है। यहाँ जीव को भी प्रकृति के समान स्त्री लिंग ही बता दिया है।

कहीं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के नाम से और कहीं क्षर और अक्षर के नाम से जीव और जगत् को कहा है। किन्तु इन दोनों से एक विलक्षण पुरुष है, जो इन दोनों से उत्तम है। वह प्रकृति से भी परे है और पुरुषों से भी उत्तम है, इसीलिये उसकी पुरुषोत्तम संज्ञा है। उस पुरुषोत्तम को ही ब्रह्म कहो, परमात्मा कहो, भगवान् कहो, अव्यय अविनाशी, ईश्वर तथा परमेश्वर आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

श्रुति ने इसका एक रूपक बाँधा है। जगत् रूपी एक बहु-शाखा तथा जड़ों वाला अश्वत्थ-पीपल-का एक वृक्ष है। उसकी जड़ें सर्वत्र व्याप्त हैं। यह अनादि वृक्ष है। इस वृक्ष पर दो सुन्दर-सुन्दर पंखों वाले पक्षी बैठे हुए हैं। दोनों एक से ही हैं। अंश अंशी भले ही हों किन्तु उनकी चेतन्यता में समानता है। एक से होने पर भी दोनों में एक बड़ा अन्तर है। इनमें से एक पक्षी तो पीपल के जो पिप्पली नाम के स्वादिष्ट फल हैं उन्हें खाता है, किन्तु दूसरा पक्षी इतने स्वादिष्ट फलों के मध्य में बैठा हुआ भी खाता नहीं है। केवल साक्षी मात्र बनकर उनको निहारता रहता है, वह स्वाद नहीं चखता देखता रहता है।

मात्मा इन नामों से कहा जाता है ॥१७॥

जिससे मैं क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये मैं लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥१८॥

इसका परिणाम यह होता है, कि फल खाने वाला पक्षी स्वादु फलों के लोभ से दीन बन जाता है। मोह में पड़ जाता है, फलों के स्वाद के कारण मोहित हो जाता। जो किसी पर मोहित होगा उसे शोकाकुल बनना ही पड़ेगा। जब वह अपने विलक्षण साथी की महिमा को देखता है, उसकी निस्पृहता, उदासीनता आदि गुणों का ध्यान करता है, तो शोक से रहित हो जाता है। उसका समस्त शोक मोह नाश हो जाता है। अभी तक तो वह फल खाने वाला पक्षी अपने से इस न खाने वाले पक्षी में असमानता का अनुभव करता था। क्योंकि वह तो कर्ता भोक्ता अपने को माने बैठा था। यह कर्तापने और भोक्तापने से अपने को विरत किये हुए था। यह फल खाने वाला मोहित हुआ शोचमग्न था, यह माया मोह से रहित सर्वथा शोकशून्य बना हुआ है। अतः जिस समय यहाँ कर्ता भोक्ता बना पक्षी इस सुवर्ण वर्ण वाले साक्षी दृष्टि पक्षी को देखता है, जो ब्रह्माजी के भी उत्पत्ति का स्थान है और जो इस जगत्रूपी अश्वत्थ वृक्ष का भी कर्ता है; तो उसके ध्यान मात्र से ही यह जो अब तक शोक मोह में डूबा था, पाप पुण्य दोनों ही मलों को त्याग कर निर्मल बन जाता है फिर वह कर्ता भोक्तापने के अभिमान को छोड़कर उस सुवर्ण वर्ण के पक्षी की परम साम्यता को प्राप्त हो जाता है। वह अपने को भी उसके समान ही अनुभव करने लगता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने प्रकृति पुरुष, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ तथा परा अपरा प्रकृति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करनी चाही, तो भगवान् ने कहा—"देखो, अर्जुन! इस संसार में दो ही पुरुष हैं।"

अर्जुन ने कहा—"पुरुष किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"इस शरीर रूप पुर में जो शयन करते हों, तान दुपट्टा सोते रहते हों, वे ही पुरुष हैं। इस शरीर में दो ही तत्त्व हैं एक नाशवान् दूसरा अविनाशी जो शरीर के नाश होने पर-मरने पर-भी नाश नहीं होता, मरता नहीं। नाशवान् का नाम क्षर है और अविनाशी का नाम अक्षर है।"

अर्जुन ने कहा—"क्षर कौन सा है अक्षर कौन सा है?"

भगवान् ने कहा—"समस्त प्राणियों के जो पांच भौतिक शरीर हैं, उन्हीं को क्षर संज्ञा है, किन्तु जो इसमें कूटस्थ जीवात्मा विराजमान है, वह अविनाशी है, यह शरीरों के नाश होने पर भी नाश नहीं होता।"

अर्जुन ने कहा—"क्षर तो यह दृष्य जगत् है अक्षर जीवात्मा है। ये ही दो हैं या इनसे परे भी कोई तत्त्व है?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, इनसे भी परे इनसे भी उत्तम, इन दोनों से भी विलक्षण एक तीसरा पुरुष भी है। वह पुरुष उत्तम है अतः उसकी पुरुष संज्ञा न होकर 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वह जीवात्मा न कहाकर जीव से परम-महान-होने के कारण परमात्मा कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"यह परमात्मा करता क्या है?"

भगवान् ने कहा—"परमात्मा कर्ता धर्ता कुछ भी नहीं, वह तो अन्तर्यामी रूप से तीनों लोकों में प्रवेश कर जाता है, इसी से समस्त प्राणियों का-सभी भूतों का-धारण पोषण होता रहता है। इसीलिये यह परमात्मा ही ईश्वर के नाम से विख्यात है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! पुरुषोत्तम का अर्थ क्या हुआ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, पुरुषोत्तम कोई दूसरा नहीं। मेरा ही नाम पुरुषोत्तम है, मुझे ही लोग-पुरुषोत्तम नाम से

पुकारते हैं। क्यों पुकारते हैं ? इसलिये कि यह जो क्षर-नाशवान् जगत्-है। यह जड है इसकी जड़ वर्ग संज्ञा है। मैं इस जड़ जगत् से सर्वथा अतीत हूँ। और जो यह मेरा चैतन्यांश जीव है, जो मेरे ही समान अविनाशी है, किन्तु माया मोह के संसर्ग के कारण-माया में स्थित रहने के कारण-मैं इस पुरुष से भी उत्तम हूँ। अतः क्षर से अतीत और अक्षर पुरुष से उत्तम होने के कारण ही मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रथित हूँ-प्रसिद्ध हूँ-। सब लोग इसी कारण से पुरुषोत्तम नाम से मुझे पुकारते हैं। वास्तव में तो मैं नाम रूप से सर्वथा सर्व काल में पृथक् ही बना रहता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! यह तो आपने पुरुषोत्तम नाम की बहुत ही विलक्षण व्याख्या सुनायी। अब मैं यह जानना चाहता हूँ, सब लोग तो आपकी महिमा को जान नहीं सकते। जो भाग्य-शाली निष्पाप पुरुष आपके पुरुषोत्तम नाम की महिमा को जान जाते हैं, उन महाभाग पुण्यश्लोक पुरुषों की महिमा तथा उनके लक्षणों को मैं और आपके श्रीमुख से श्रवण करना चाहता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् पुरुषोत्तमज्ञ पुरुष की महिमा तथा उसके लक्षणों को बतावेंगे, उसे बताकर फिर इस प्रसंग की जैसे परिसमाप्ति करेंगे उसे मैं आप सब को आगे बताऊँगा।"

छप्पय

क्षर अक्षर तैं परे पुरुष इक उत्तम भाई।
पुरुषोत्तम परब्रह्म निरन्जन नित कहलाई॥
सब लोकनि में प्रविसि सबनि कूँ जीवन देवै।
नहिँ भोगे फल करम नहीं कछु देवै लेवै॥
जावै नहिँ आवै कहूँ, साक्षी बनि निरखत रहत।
वाही कूँ परमातमा, वेद विज्ञ ईश्वर कहत॥

पुरुषोत्तम ज्यौं नाम परयो सो तोइ बताऊँ।
पुरुषोत्तम को भेद सबिधि पारथ! जतलाऊँ॥
क्षर तैं तो हूँ परे नाश नहिँ होवै मेरो।
अक्षर जो हैं जीव जानि मेरो वह चेरो॥
दोऊ क्षर अक्षर सदा, जे अधीन मेरे रहें।
तातैं लोकहु वेद में, पुरुषोत्तम मोकूँ कहें॥

पुरुषोत्तमयोग और उसके ज्ञाता की महिमा

[९]

यो मामेवसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥*

(श्री० भ० गी० १५ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

नाशवान क्षर कह्यो अंश अक्षर कहलावै ।
मैं हूँ अंशी एक वेद उत्तम बतलावै ॥
जो नहिं होवै मूढ़ कहैं ताकूँ नर ज्ञानी ।
ताही ने यह तत्त्व बात निश्चय करि मानी ॥
मोकूँ पुरुषोत्तम समुझि, विज्ञ नहीं संशय करत ।
परमेश्वर अजरूप तैं, वे नित मोई कूं भजत ॥

---

* हे भारत ! इस भाँति जो विज्ञ पुरुष मुझे पुरुषोत्तम रूप में जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सर्वभाव से मुझे ही भजता है ॥१९॥
हे निष्पाप भारत ! इस प्रकार मैंने तुझसे यह गुह्यातिगुह्य शास्त्र कहा । इसे जानकर बुद्धिमान पुरुष कृत-कृत्य हो जाता है ॥२०॥

मनुष्य जीवन का एकमात्र फल यही है कि भगवान् की सर्व-भाव से शरण ग्रहण कर ले। इसके लिये सत्पुरुषों का संग अत्यंत आवश्यक है। सत्पुरुषों की–भगवत् भक्तों की–मोटी पहिचान यही है, कि उनके यहां नित्य नियम से हरि कथा होती हो और जिनके समस्त कार्य भगवान् के ही निमित्त होते हों। जिन्होंने इस बात का दृढ़ निश्चय कर लिया है, कि इस असार संसार में भगवान् का भजन ही सार है और सभी निस्सार है, ऐसे पुरुष भगवान् के भजन को छोड़कर अन्य किसी कार्य में मन कैसे लगावेंगे। किसी भी निबन्ध में चार बात देखी जाती हैं। विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी। यह प्रबन्ध किस विषय में है। इस विषय के कथन का उद्देश्य–प्रयोजन–क्या है? किन-किन सम्बन्धों से यह विषय सिद्ध होता है। और इस विषय के अधिकारी कौन हैं?

श्रीमद्भगवत्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में विषय तो है पुरुषोत्तम योग। भगवान् से योग कैसे हो। प्रयोजन यह है भगवान् की शरण में जाना। शरण में कैसे जाया जाय। तो सबसे पहिले शरणागत में विघ्न हैं, संसाररूप उलटी जड़ वाला अश्वत्थ वृक्ष। सबसे पहिले तो असंग शास्त्र से इसे काट दो। "असङ्ग शस्त्रेण दृढेन छित्वा" काटकर करें क्या? इस संसार वृक्ष को काटकर उन आद्यपुरुष–पुरुषोत्तम–की शरण में जाओ। उनकी शरण में कैसे जायें? तो कहते हैं निर्मान निर्मोह होकर, संग-जनित दोषों को जीतकर, विषय भोगों से दूर रहकर, निरन्तर भगवत् चिंतन में तत्पर होकर उनका चिंतन करो। इससे होगा क्या? अव्ययपद को प्राप्त कर लोगे। इसके अधिकारी कौन हैं? जो भगवान् को सम्पूर्ण भाव से भजता है। अर्थात् अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्व सच्चिदानन्द स्वामी को समर्पित करके

एकनिष्ठ होकर उन्हीं का भजन निरन्तर करता है। जो सर्वतो भाव से प्रभु के प्रपन्न हो गया है। ऐसा प्रपन्न पुरुष--मोह ममता का परित्याग करने वाला भगवत् भक्त पुरुष--ही भगवान् की महिमा का वर्णन कर सकता है।

दक्षिण में एक दक्षिण मथुरा है, जो मदुरा के नाम से विख्यात है। पूर्वकाल में वहां बलदेव नाम के राजा राज्य करते थे। वे बड़े ही न्यायकारी तथा प्रजावत्सल भूपति थे। वे प्रजा के लोगों के कष्टों को जानने के लिये रात्रि में वेष बदलकर घूमा करते थे। और घूम-घूमकर कौन दुखी है, कौन सुखी है, कौन कष्ट में है, किसे कौन दुख दे रहा है, इसकी जानकारी करते और फिर उनके दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करते।

एक दिन राजा ने रात्रि में देखा एक वृक्ष के नीचे एक ब्राह्मण बैठा है। एकान्त-निर्जन स्थान में अकेले ब्राह्मण को देखकर राजा ने उनसे पूछा—"द्विजवर! आप यहां अकेले क्यों बैठे हैं?"

ब्राह्मण ने कहा—"भाई, मैं गंगा स्नान के निमित्त जा रहा हूँ। यहां रात्रि हो गयी। रात्रि बिताने को इस वृक्ष के नीचे ठहर गया। प्रातः यहां से अपने गन्तव्य स्थान को चला जाऊँगा।"

राजा ने कहा—'ब्रह्मन्! आपकी बातों से पता चलता है, है, आप ज्ञानी पुरुष हैं, आप अपने अनुभव की कुछ बातें मुझे बताइये।"

इस पर ब्राह्मण ने कहा—'देखो, भैया--मैंने तो यही अनुभव किया है, कि आठ महीने मन लगाकर परिश्रम करें, जिससे वर्षा ऋतु के चार महीने सुख पूर्वक बिता सके। युवावस्था में इतना अर्जन करले कि वृद्धावस्था को आनन्द पूर्वक बिता सके, और इस लोक में भजन ध्यान करके इतनी कमाई करले कि परलोक में सुख पूर्वक रह सकें।"

राजा की आँखें खुल गयीं। राजा पर सच्चे तथा त्यागी ब्राह्मण के इन शब्दों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। अब वे रात्रि दिन सज्जन पुरुषों का संग किया करते। भगवान् की कथा सुनते संत महात्माओं का सत्संग करते। उनसे अपनी शंकाओं का समाधान करते।

एक समय उन्होंने सभी सम्प्रदाय के बड़े-बड़े विद्वानों का एक बड़ा भारी बृहद् सम्मेलन किया। उस सम्मेलन में बहुत बड़े-बड़े विद्वान् शास्त्रज्ञ तत्त्वमर्मज्ञ पंडित एकत्रित हुए। राजा पर महान् आलवार संत विष्णुचित्त के उपदेश का अत्यन्त ही प्रभाव पड़ा। श्रीविष्णुचित्त स्वामी ने कहा था—"भगवान् श्रीमन्नारायण ही इस सम्पूर्ण सृष्टि के निर्माता, पालक और अन्त में संहार कर्ता हैं। वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही सर्वोपरि हैं। उन्हीं के पादपद्मों में सर्वतोभाव से अपना जीवन समर्पित कर देना चाहिये। यही कल्याण का एकमात्र सर्व सुलभ साधन है। वे श्रीमन्नारायण ही हमारे रक्षक हैं। वे ही पृथ्वी पर समय-समय पर अवतरित होकर साधुओं का परित्राण और दुष्टों का दमन तथा धर्म का संस्थापन किया करते हैं। इस असार संसार से सदा के लिये छूटने के निमित्त दृढ़ विश्वास के साथ अपना सर्वस्व उन्हें ही समर्पित करके निरन्तर उन्हीं की आराधना में निमग्न रहना चाहिये और उन्हीं के सुमधुर लोक पावन नामों का जप करना चाहिये तथा उन्हीं के गुणों को निरन्तर श्रवण करना चाहिये।"

राजा इनके उपदेश से कृतार्थ हो गये। ये संत राजा की सभा में स्वतः किसी कामना से नहीं आये थे। भगवान् के आदेश से ही इनका यहाँ आना हुआ था। बात यह थी, कि बाल्यकाल से ही इनका भगवान् के चरणारविन्दों में अनुराग था। जब इनका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया, तो भगवत् प्रेरणा से ही इन्होंने

अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्व भगवान् के चरणों में अर्पित कर दिया। जब ये कुछ बड़े हुए तो इन्होंने एक अच्छी भूमि में बगीचा लगाया और भगवान् के लिये पुष्प पैदा करने लगे। पुष्पों की सेवा सर्वथा निष्काम सेवा है। भोग में तो प्रसाद पाने की कामना हो भी जाती है, किन्तु पुष्प सेवा तो निष्काम सेवा है। अतः ये भगवान् की चंदन पुष्प की सेवा किया करते और निरन्तर भगवान् के नामों का कीर्तन किया करते।

एक दिन रात्रि में इन्हें भगवान् ने स्वप्न दिया विष्णुचित्त! "देखो, तुम मदुरा जाकर वहाँ के धर्मात्मा राजा बलदेव की सभा में उसे मेरे प्रेम का मेरी भक्ति का उपदेश करो। तुम वहाँ मेरी सविशेष उपासना की महिमा बताओ।"

स्वप्न में ही विष्णुचित्त स्वामी ने कहा—"प्रभो! आपकी आज्ञा तो सर्वथा स्वीकार है, किन्तु मुझे शास्त्रों का तो यत्किंचित् भी ज्ञान नहीं। मैं उपदेश क्या करूँगा। फिर भी आपकी आज्ञा ही है तो मैं पंडितों की सभा मे जाऊँगा। आपके चरणारविन्दों को हृदय में स्थापित करके आप जो कहलायेंगे, वह कहूँगा, आप जो वाक्य बुलवायेंगे वह बोलूँगा।"

प्रातःकाल होते ही भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके वे मदुरा गये और वहाँ भगवान् के आदेश से जो उपदेश किया, उससे सभी चमत्कृत हुए। राजा ने उनके उपदेश को ही मानकर उन्हें आचार्य रूप मे वरण किया। भगवत् आज्ञा से जो कार्य करते हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व सर्वेश्वर को समर्पित कर रखा है, जो मोह ममता से रहित हैं, ऐसे ही पुरुष सर्वविद् कहलाते हैं, वे ही भगवान् को सम्पूर्ण भाव से भजते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पुरुषोत्तमज्ञ पुरुष की महिमा के सम्बन्ध में भगवान् से जिज्ञासा की, तब भगवान्

कहने लगे—"अर्जुन! मेरे तुम पुरुषोत्तम रूप के सम्बन्ध में तो सुन ही चुके हो। जो मेरे लोक वेद विश्रुत पुरुषोत्तम रूप को जानता है, जो मोह से हीन है वही वास्तव में सर्वविद् है। क्योंकि सर्वरूप मेरा ही है। 'ऐसा सर्वविद् ही मेरा सर्व योग से-सम्पूर्ण भाव से-भजन करता है। उसी का भजन यथार्थ भजन है। मूढ़ पुरुष तो मुझे साधारण मनुष्य ही समझते हैं। जो मेरे यथार्थ रूप को जान लेते हैं, उन्हीं के हृदय में अव्यभिचारिणी प्रेमलक्षणा भक्ति उदित होती है। ऐसा अनन्यचिंतक ब्रह्मत्व प्राप्ति का अधिकारी है। जो लोग असंमूढ है सर्वविद् है वे ही मुझे सर्वतो भावेन भजते हैं। यही पुरुषोत्तम योग का सार है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! यह बद्ध जीव कृतार्थ कब होता है?"

भगवान् ने कहा—"अब तक मैंने जीव के कृतार्थ होने के ही तो सब उपाय बताये हैं। देखो, तुम अधिकारी हो, क्षीण पाप हो अनघ हो, निष्पाप हो। अतः भैया! मैंने तुम्हें इसीलिये यह पुरुषोत्तम योग सुना दिया, यह ज्ञान ऐसा वैसा साधारण ज्ञान नहीं है, यह परम गुह्य-गुह्यतम ज्ञान है। इस शास्त्र के श्रवण के सभी अधिकारी नहीं हैं, तुम्हें निष्पाप सच्चा अधिकारी समझकर ही मैंने यह गुह्य शास्त्र सुनाया है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! इस गुह्यतम ज्ञान के जानने से क्या होता है?"

भगवान् ने कहा—'इसके जानने से मनुष्य वास्तविक बुद्धिमान् बन जाता है; इसके जाने बिना जो बुद्धिमान होने का अभिमान करते हैं, वे तो अभिमानी ही हैं। इसे जानकर ही वास्तविक ज्ञानी होता है, जिसने मुझे वास्तविकता से जान लिया, उसके लिये फिर कोई कर्तव्य अवशेष नहीं रहता। वह कृतकृत्य हो

जाता है। जीवन का जो यथार्थ फल है वह उसे मिल जाता है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! लोक में दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति दो बहुत प्रसिद्ध हैं। बहुत से पुरुष दैवी सम्पत्ति के होते हैं। वे जन्मजात दैवी सम्पत्ति सम्पन्न होते हैं। बहुत से पैदा होते ही आसुरी सम्पत्ति वाले कहलाते हैं। अतः मुझे दैवी और आसुरी सम्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार से समझा दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! यह दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति सम्बन्धी विषय भी बड़ा गूढ़ है। विस्तार के साथ तो इसे सुनाना कठिन है, फिर भी मैं इस विषय को संक्षेप में तुम्हें सुनाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् जैसे दैवी और आसुरी सम्पत्ति के सम्बन्ध में अर्जुन को बतावेंगे, उस कथा प्रसंग को मैं आगे अगले दैवासुर सम्पद् विभाग योग नामक अध्याय में सुनाऊँगा। आशा है आप इस प्रसंग को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

गुह्य ज्ञान यह कह्यो पार्थ! अति सुन्दर तोतें।
उभय जगत सम्पत्ति जानि लै आगे मोतें॥
अरजुन! तू निष्पाप ज्ञान यह गोपनीय अति।
तेरे प्रति ही कह्यो भक्त तू सरल विमल मति॥
जा रहस्यमय ज्ञान कूँ, बुद्धिमान नर जानिकें।
होहिं कृतारथ विज्ञजन, पुरुषोत्तम मम मानिकें॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत्गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप में है, उसमें "पुरुषोत्तम योग" नाम का पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥

अथ

षोडशोऽध्यायः

(१६)

दैवी सम्पदा के लक्षण (१)

[१]

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० १ श्लोक)

छप्पय

पुनि बोले भगवान—कहूँ दैवी सम्पति अब ।
दैवी आसुरि जानि मिटैं तेरे संशय सब ॥
भय नहिं कबहूँ करत सत्त्व संशुद्धि कहावै ।
तत्त्व-ज्ञान के हेतु योग इस्थिति करवावै ॥
दान करै इन्द्रिय दमन, रहै यज्ञ में नित निरत ।
जप तप शुभ करमनि करै, रहै सदा ई सरल चित ॥

---

* श्री भगवान् कहने लगे—"अभय, सत्त्व संशुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और सरलता ॥१॥" (ये दैवी सम्पद के गुण हैं)

पिछले अध्याय के पुरुषोत्तमयोग के अन्त में भगवान् ने कहा—"मैंने तुमसे अत्यन्त गुप्त परम रहस्यमय यह शास्त्रीय योग कहा इसे तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है।" अब प्रश्न यह है, कि तत्त्व से जानने का अर्थ क्या? जानकारी दो प्रकार की होती है। एक तो उदारता सौम्यता पूर्वक अच्छी जानकारी दूसरी स्वार्थमय बुरी जानकारी। जैसे कोई सुन्दर सांड़ है, वह किसी के खेत में चर रहा है, तो जो उदार हैं, सौम्य हैं, वे पहिले तो सोचेंगे, चरते हुए पानी पीते हुए गो-वंश को हटाना नहीं चाहिये। फिर उसे हटाने का प्रयत्न करें और उन सांड़ पर क्रोध करके फुफकार छोड़े तो वे उसकी फुफकार को देखकर हंस दें। उसकी-लाल-लाल आंखें उठे हुए कान, सीधे किये सींग और सुडोल शरीर तथा हिलते हुए कुकुम को देखकर मुग्ध हो जायं। मन में सोचे कैसा अच्छा सांड़ है, बड़ी उच्च जाति का है। किसी उत्तम श्रेणी की श्रेष्ठ गौ का बच्चा है।"

दूसरे वे लोग हैं, जो खेत में चरते सौम्य सांड़ को स्वार्थ के वशीभूत होकर—अपनी तनिक सी हानि के कारण—उसके शरीर को भालों से छेद देते हैं, जब वह क्रुद्ध होता है—तो कहते हैं, कैसा दुष्ट है बड़ा नीच है। उसकी निन्दा करते हैं। उसको गाली देते हैं। यह स्वार्थमय बुरी जानकारी है।

सब लोग अपने स्वभाव से विवश होकर कार्य कर रहे हैं। अच्छे लोग स्वभाव से अच्छा आचरण करते हैं, बुरे लोग अपने बुरे स्वभाव के कारण अच्छी वस्तु में भी दोष देखते हैं। किसी-किसी में जन्मजात सद्गुण होते हैं। किसी में जन्मजात दुर्गुण होते हैं। देवता और असुर एक ही प्रजापति कश्यप के पुत्र हैं किन्तु देवताओं में स्वभाव से सुन्दर गुण हैं, असुरों को जन्म

जात आसुरी प्रकृति हैं। असुरों में भी बहुत से जन्मजात भक्त होते हैं जैसे प्रह्लादजी, किन्तु ये अपवाद स्वरूप हैं फिर भी थोड़ी बहुत असुरता रह ही जाती है। रावण से जब कहा गया—आपको स्त्रियों की क्या कमी है सीता जी को लौटा दो, रामजी से क्षमा माँग लो। रामजी इतने उदार हैं, कि क्षमा माँगने पर—नम्रता दिखाने पर—वे तुम्हें क्षमा कर देंगे। चुप चाप सीताजी को लेकर लौट जायेंगे।"

रावण ने कहा—"सूखे बाँस की भाँति भले ही मेरे बीच से दो टुकड़े हो जायँ, मैं नवूँगा नहीं, किसी के सम्मुख मस्तक न झुकाऊँगा।"

पूछा गया—"मस्तक क्यों न झुकाओगे ?"

रावण ने कहा—"यह मेरा स्वभाविक जन्मजात सहज दोष है।"

कहा गया—"सहज दोष को बदल दो, नवना सीख लो।"

रावण ने कहा—"स्वभाव दुरतिक्रम है, स्वभाव प्रायः बदला नहीं जा सकता।"

इसीलिये संसार में अच्छे और बुरे दो स्वभाव हैं, उन्हें दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा कहते हैं। दैवी सम्पदा वाले पुरुष अपने स्वभावानुसार अच्छे गुणों को धारण करते हैं। आसुरी सम्पदा वाले स्वभाव वश आसुरी कार्य में संलग्न रहते हैं। इसीलिये भगवान् ने दैवी और आसुरी दोनों सम्पदाओं का अर्जुन को परिचय कराया। भगवान् ने यह कभी नहीं कहा—कि कभी भी किसी को आसुरी सम्पदा को ग्रहण न करना चाहिये और आसुरी सम्पदा का परित्याग करके सभी को दैवी सम्पदा को ही ग्रहण करना चाहिये। वह उन्होंने इसलिये नहीं कहा—कि सभी अपने-अपने स्वभावों से विवश हैं। विवश होकर ही प्राणी

क्रोध या दया धर्म करते हैं। अतः भगवान् ने केवल दैवी सम्पदा का परिचय करा देना ही उचित समझा दैवी गुणों का बखान करके अन्त में कह दिया—जो लोग दैवी सम्पदा को लेकर जन्म लेते हैं उन पुरुषों के ये लक्षण हैं, और आसुरी सम्पदा के अवगुणों को बताकर अन्त में कह दिया जो लोग आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए हैं उनके लक्षण ये हैं।

एक तटस्थ व्यक्ति की भाँति दोनों के लक्षण बताकर अन्त में दोनोंका फल बता दिया। दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये है और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये है।

यह सुनकर अर्जुन घबड़ा गये। उन्होंने सोचा—जब ये गुण जन्म जात हैं, सहज स्वभाव से होते हैं, तो पता नहीं मैं दैवी सम्पदा वाला हूँ या आसुरी सम्पदा वाला। भगवान् उसकी व्यग्रता को समझ गये और और हँसते हुए बोले—"अरे, अर्जुन! तू शोक मत कर तू तो दैवी सम्पदा प्राप्त पुरुष है। तेरा जन्म तो दैवी सम्पद् को साथ लिये हुए ही हुआ है।"

इसीलिये भगवान् ने दैवी और आसुरी सम्पदाओं का बिना टीका टिप्पणी किये हुए नाम भर गिना दिये हैं, क्योंकि लोक में गुण अवगुण सर्व साधारण में प्रसिद्ध हैं, सभी इनके गुण दोषों से उनके लक्षणों से प्रायः परिचित हैं। अब संक्षेप में पहिले दैवी सम्पदा सम्बन्धी गुणों पर ही विचार करें। दैवी सम्पदा सम्बन्धी गुणों में सर्व प्रथम तो गुण है 'अभय'।

आदमी को भय कब होता है, जब उसे किसी पर विश्वास नहीं होता। शास्त्र के वचनों पर, गुरु के उपदेशों पर, आत्मा पर, परमात्मा पर, अविश्वास होने पर, प्राण को पग-पग पर भय बना रहता है। सबसे बड़ा तो मृत्यु का भय है, ऐसा न हो इस काम के करने से मैं मर न जाऊँ। फिर अपमान का, अप्रतिष्ठा

का भय। ऐसा करने से लोग मेरा अपमान न कर दें। फिर सैकड़ों प्रकार के भय आ जाते हैं, परिवार के भरण पोषण का भय, रोगों का भय, राज दण्ड का भय, निर्धनता का भय, चोरो का भय, नष्ट होने का भय। शोक के सहस्रों स्थान हैं और इसी प्रकार भय के भी सैकड़ों स्थान हैं, मूर्खों को अशास्त्रज्ञों को ये भय प्रतिक्षण भयभीत करते रहते है, किन्तु पंडित का ये भय कुछ भी नही बिगाड़ सकते वह सदा निर्भय बना रहता है। सबसे अभय प्राप्त कर लेता है।

इससे सिद्ध हुआ कि शास्त्रों के बचनों पर, गुरु के उपदेशों पर विश्वास करके जो उसी के अनुसार आचरण करता है, उसे किसी का भी भय नही रहता। जैसे शास्त्र ने कहा राम नाम जपने वाले को किसी का भी भय नहीं करना चाहिये। क्योंकि राम नाम सभी दुखों को एकमात्र औषधि है। ऐसा जिसे दृढ़ विश्वास है। उसे चाहे जल में डुबा दो, अग्नि में जला दो, हलाहल विष पिला दो फिर, भी वह अपने निश्चय पर दृढ़ बना रहेगा। वह निर्भय होकर राम नाम का जप करता रहेगा। किसी भी भय के कारण वह नाम जप को नही छोड़ेगा। इसमें प्रह्लाद जी का उदाहरण जगत् प्रसिद्ध है। उसके पिता हिरण्यकाशिपु ने उसे पहाड़ से गिराया, हलाहल विष पिलाया, मदोन्मत्त हाथियों से रुँदवाया, सर्पों से कटवाया, अग्नि में जलाया, किन्तु वे तनिक भी भयभीत नहीं हुए अपने निश्चय पर निर्भर होकर डटे रहे।

जैसे शास्त्रों में कहा है, प्रारब्ध भोग कहीं भी चले जाओ अवश्य ही प्राप्त होंगे। प्रारब्ध को दव भी अन्यथा नहीं कर सकता। इस पर दृढ़ रहने वाला पुरुष निर्भय होकर कहीं भी चला जायगा। उसका विश्वास है, कि समय से पहिले मृत्यु आ

नहीं सकती। मृत्यु आने पर उसे कोई रोक नहीं सकता। जो वस्तु प्राप्तव्य है मेरे प्रारब्ध में है वह मुझे अवश्य प्राप्त हो जायगी। जो मेरे प्रारब्ध में नहीं है, वह प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसे निश्चय वाला पुरुष किसी भी काल में किसी भी देश में किसी भी व्यक्ति से भयभीत नहीं होता। वह सदा अभय बना रहता है। भगवान् पर, शास्त्र के बचनों पर दृढ़ विश्वास करके बिना सन्देह के निर्भय होकर अपने कर्तव्य कर्मों को करते रहने का नाम अभय है।

यह प्राणी सबसे अधिक भयभीत तो मृत्यु से रहता है, मृत्यु का भय इसे प्रतिक्षण लगा रहता है, मरना कोई नहीं चाहता। ब्रह्मलोक तक पतन का भय है। निर्भय स्थान तो भगवान् के चरणारविन्द ही हैं, जिन भगवत् भक्तों का भगवान् के अरुण वरण चरणारविन्दों के मकरन्द की सुगन्ध पर पूर्ण विश्वास है, वही अभय रह सकता है। अतः अविश्वाशी को ही भय होता है, विश्वासी सदा अभय बना रहता है।

दूसरा दैवी सम्पदा का गुण है सत्त्वसंशुद्धि। सत्त्व कहते हैं—मन, बुद्धि, चित्त, तथा अहंकार वाले अन्तःकरण को। निर्मल अन्तःकरण—विशुद्ध अन्तःकरण—ही सत्त्वसंशुद्धि है। रागद्वेष, हर्ष शोक, मिथ्याभिमानादि ये अन्तःकरण के दोष हैं, दोष रहित अन्तःकरण की पहिचान यही है, कि उसमें छल कपट बनावटीपन नहीं रहता। जो बात जैसी है, उसे बिना बढ़ाये घटाये सरलता से जो कह दे समझो यह शुद्ध अन्तःकरण का व्यक्ति है। प्रायः सात्त्विक प्रकृति के पुरुषों के बालक छल कपट रहित होते हैं। उन्हें जो पूछो सत्य-सत्य बता देते हैं।

उपनिषद् पुराणों में ऐसे सरलचित्त शुद्ध अन्तःकरण के पुरुषों के बहुत दृष्टान्त हैं। प्राचीनकाल में बालक स्वयं गुरुकुलों

में आचार्य के समीप पढ़ने जाया करते थे, उसे 'उपनयन' गुरु के समीप गमन कहते थे, उसमें आज की भाँति तड़क भड़क औपचारिकता नहीं होती थी। छात्र आचार्य के चरणों में जाते थे, श्रद्धा भक्ति पूर्वक प्रणाम करते। गुरुदेव उनसे समिधा मंगाते। हवन कराते गायत्री का उपदेश करते और सदाचार की व्यवहारिक शिक्षा देते। पहिले कक्षा लगाकर, लिखा पढ़ाकर शिक्षा नहीं दी जाती थी, आचार्य उन्हें कोई सेवा बताते छात्र उस सेवा को श्रद्धा पूर्वक करते। स्थान-स्थान पर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, त्यागी, तपस्वी, वीतराग आचार्य निवास करते। जो दश सहस्र छात्रों की पढ़ाई तथा भोजन की व्यवस्था करते वे आचार्य कुलपति कहाते। शेष आचार्य कहाते।

ऐसे ही एक आचार्य हारिद्रुम गौतम थे। उनके समीप एक छोटा-सा बालक आया। उसने आचार्य के चरणों में प्रणाम करके कहा—"भगवन्! मैं ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए, आपकी सन्निधि में निवास करके सेवा करना चाहता हूँ। आप मुझे अपना अन्तेवासी बनाने का अनुग्रह कीजिये।"

आचार्य ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ पूछा—"वत्स मैं तुम्हें अवश्य अपना अन्तेवासी बनाऊँगा तुम्हारा गोत्र क्या है?"

बालक ने कहा—"भगवन्! जब मैं घर से चला था तब मैंने अपनी माता से पूछा था माता जी! मैं ब्रह्मचारी बनकर गुरु गृह में निवास करना चाहता हूँ। मैं ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये गुरुकुल जाना चाहता हूँ वहाँ यदि आचार्य मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे, तो मैं क्या बताऊँगा?"

इस पर मेरी माँ ने कहा था—"वत्स! मैं युवावस्था में परिचारिणी थी, आगत अतिथि अभ्यागतों की सेवा में सदा संलग्न रहती। उसी समय तेरा जन्म हुआ था। मैं तेरे पिता का

गोत्र नहीं जानती केवल इतना ही जानती हूँ, तेरा नाम सत्य काम है, और मेरा नाम जबाला है।" अब आप जैसा उचित समझें।"

निष्कपट भाव से सरलता पूर्वक माता की कही बात को ज्यों का त्यों कहने पर आचार्य परम प्रसन्न हुए, उन्होंने कहा—"वत्स ! तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो, ब्राह्मण के अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस प्रकार सत्य बात को सरलता से नहीं कह सकता। तुम सत्त्वसंशुद्धि—शुद्ध अंतःकरण वाले बालक हो। मैं तुम्हें अवश्य अपना शिष्य बनाऊँगा। तुम समिधा ले आओ।"

कुछ लोग अपने दोषों को छिपाने को असत्य बात कह देते हैं, कुछ वाक्छल भावछल करते हैं। होंगे निर्धन अपनी मान प्रतिष्ठा के लिये अपने को धनी बतावेंगे। थोड़े पढे लिखे अपने को विद्वान् सिद्ध करेंगे। किन्तु जो शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं वे बात को छिपाना जानते ही नहीं।

जब शृंगी ऋषि के पिता महर्षि विभांडक ने अपने पुत्र से उसकी उदासी का कारण जानना चाहा तो बालक ने जो कुछ हुआ था सब ज्यों का त्यों बता दिया। वह छिपाना असत्य बोलना जानता ही नहीं था। उसके अन्तःकरण में छल कपट, राग द्वेष का लेश भी नहीं था। ऐसा अंतःकरण जिसका हो समझना चाहिये कि यह दैवीसम्पदा के गुणों से युक्त व्यक्ति है। ऐसे अंतःकरण वाले व्यक्ति परवञ्चन, माया और मिथ्या से सर्वथा पृथक् रहते हैं। किन्हीं भी असद् उपायों से दूसरों को अपने वश में करके उन्हें ठग लेने को अपना स्वार्थ सिद्ध करने को परवञ्चना कहते हैं। जैसे जो स्वयं ज्ञानी तो है नहीं, किन्तु मिथ्या बकवाद करके भोले भाले लोगों को फुसलाकर जो उन्हें शिष्य

बना लेते हैं और उनके धन का अपहरण करके अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं वे परवंचक कहलाते हैं।

माया उसे कहते हैं, कि हृदय में तो अन्य भाव है, किन्तु बाहर से दूसरा ही भाव प्रदर्शित करते हैं। जैसे हृदय में तो उससे धन ठगने की भावना है, किन्तु ऊपर से अपने को त्यागी विरागी, वीतरागी सिद्ध करते हैं, ऐसे पुरुष मायावी कहलाते हैं।

मिथ्या-अयथार्थ भाषण को कहते हैं। देखा तो कुछ और है, प्रकट कुछ और ही कर रहे हैं इसी का नाम असत्य भी है। सत्त्वसंशुद्धि-विशुद्ध अन्तःकरण-में ये सब बातें नहीं होतीं।

दैवी सम्पदा का तीसरा गुण है "ज्ञानयोग व्यवस्थिति।" ज्ञान कहते हैं, शास्त्रों के द्वारा तत्त्व वस्तु को यथार्थ रूप से समझ लेने को। योग उसका नाम है कि शास्त्रों द्वारा या गुरु मुख से सुने हुए ज्ञान को चित्त की एकाग्रता द्वारा उसे अपने अनुभव में ले आना। केवल शास्त्रीय ज्ञान हो जाय, किन्तु उसे अपने अनुभव में न लाव तो ऐसे ज्ञान से लाभ ही क्या? ज्ञान को अपने अनुभव में लाकर भी यदि उसमें सर्वथा अवस्थिति न हुई। उसमें पूर्ण निष्ठा न हुई, तो वह ज्ञान भी व्यर्थ और वह योग या अनुभव भी व्यर्थ। अतः शास्त्रों द्वारा ज्ञान भी प्राप्त किया हो, उसका जीवन में अनुभव भी किया हो और में अपनी पूर्ण निष्ठा भी हो उसी का नाम "ज्ञान योग व्यवस्थिति" है। यह दैवीसम्पदा का तीसरा गुण है।

दैवी सम्पदा का चौथा गुण है दान। जिन वस्तुओं में अपनापन हो, उन वस्तुओं से अपनापन मेंट कर उसे किसी सुपात्र को श्रद्धा पूर्वक दे देने का नाम दान है। जिस वस्तु को एक बार किसी को दान कर दिया, फिर गृहीता उसका जैसा चाहे उपयोग करे, उसमें अपना स्वत्व न रखे। यही दान का यथार्थ अर्थ है।

एक त्यागी महात्मा को किसी ने ले जाकर एक लोकी समर्पित की। लोकी का साग वे महात्मा कहाँ बनाते। उन्होंने समीप में बैठे एक दूसरे ब्राह्मण बालक को उसे दे दिया।

इस पर लोकी दाता ने कहा—"महाराज! मै तो इसे आपके लिये लाया था, आप इसे खाते तो मुझे प्रसन्नता होती।"

महात्मा ने उसे लोकी को लौटाते हुए कहा—"तुमने पूर्णरूप से इस लोकी को मुझे नहीं दिया था, इसमें तुमने अपना कुछ स्वत्व रख लिया था। अपना स्वत्व रख कर दी हुई वस्तु दान नही कहाती। जिसमें अपना तनिक भी स्वत्व न रहे वही यथार्थ दान है। जब तुमने जिस वस्तु को हमें दे दिया उस पर से अपना स्वत्व हटा लिया, तो वह वस्तु हमारी हो गयी। हमारी वस्तु है, अब हम उसका जैसे चाहें उपभोग करें। जिसे चाहें दे दें। तुम्हें दुःख मानने का क्या अधिकार है।"

अतः निस्वार्थ भाव से, दान करना चाहिये इस भावना से; किसी प्रत्युपकार की भावना न रखकर सुपात्र को दी हुई वस्तु को दान कहते हैं।

दैवी सम्पदा का पाँचवाँ सद्गुण है दम। दम बाह्य इन्द्रियों के दमन को कहते हैं। ये इन्द्रियाँ बाहर की वस्तुओं के लिये दौड़ती रहती हैं, क्योंकि ब्रह्माजी ने इन्द्रियों के गोलक बाहर की ओर बनाये है, अतः इन्द्रियाँ बाहर की ही ओर विशेष रूप से देखा करती हैं। उन इन्द्रियों को शास्त्र विरुद्ध आचरणों से बलपूर्वक रोकना ही दम है जैसे कोई सद्गृहस्थ है, उसे ऋतुकाल में ही गमन करना चाहिये ऋतुकाल के अतिरिक्त अन्यकाल में गमन न करे। अपनी ही भार्या में गमन करे, अन्य में नहीं। ऋतुकाल को व्यर्थ न जाने दे। इस प्रकार इन्द्रियों को मर्यादा के भीतर रखकर नियत कर्मों को करना दम कहलाता है।

दैवी सम्पदा का छठा गुण है यज्ञ। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ श्रौत यज्ञ होते हैं जैसे नित्य का अग्निहोत्र, अमावास्या के दिन पितरों के निमित्त किया जाने वाला दर्श यज्ञ, पूर्णिमा को देवताओं के निमित्त किया जाने वाला यज्ञ पौर्णमास यज्ञ, कुछ स्मार्त यज्ञ होते है-जैसे देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ और ब्रह्म यज्ञ। इनके अतिरिक्त पशुयज्ञ, सोमयज्ञ, अश्वमेध, गोमेध, नरमेध, राजसूय, सर्वजित् आदि अनेक प्रकार के यज्ञ हैं। दैवीसम्पदा में तो नित्य नैमित्तिक यज्ञों का ही विशेष रूप से ग्रहण करना चाहिये, वैसे सभी सात्त्विक यज्ञों को सत्त्वगुण प्रधान पुरुष ही करेंगे।

दैवीसम्पदा का सातवां गुण है स्वाध्याय। स्वाध्याय वेदाध्ययन और मंत्र जप को कहते हैं। ब्रह्मचारियों के लिये वेदाध्ययन ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। गायत्री आदि मन्त्रों का जप भी स्वाध्याय में ही सम्मिलित है। महाभारत में एक कथा आती है, एक महात्मा निरंतर गायत्री का ही जप करते रहते थे। उनके जप यज्ञ से गायत्री देवी सन्तुष्ट हुईं और प्रत्यक्ष होकर उन्हें दर्शन देकर बोलीं—"तुम मुझसे जो चाहो सो वर माँग लो।"

महात्माने कहा—"माँ! यदि मुझ पर तुम प्रसन्न हो, तो ऐसा आशीर्वाद दो, कि आपके जप में मेरी अधिकाधिक निष्ठा हो, और मैं कुछ भी नहीं चाहता।"

मंत्र जप करने वाला संसारी भोगों की इच्छा न करें, और न इष्टदेव से संसारी भोगों की याचना ही करे। मंत्र का निरन्तर जप होता रहे, इससे बढ़कर और इस संसार में दूसरी प्रसन्नता की वस्तु है ही क्या?"

दैवी सम्पदा का आठवाँ गुण है तप। इन्द्रियों को तपाने का नाम तप है। तप तीन प्रकार का बताया है कायिक, वाचिक तथा

मानसिक। इसका वर्णन तो आगे आवेगा। यहाँ तपस्या का अर्थ तो शरीर को तपाने से ही है। तपस्या अनेक प्रकार की होती है। सबसे प्रबल तो रसना और उपस्थेन्द्रिय ही हैं। इनके वेग को रोकना ही महान् तप है, अतः ब्रह्मचर्य पालन को तथा अनशन को महान् तप माना गया है। तपस्या तो अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार सभी को करनी चाहिये किन्तु वानप्रस्थियों का यह विशेष धर्म है। कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत, एकादशी आदि पुण्य तिथियों का व्रत यह भी तप ही है। वैसे एक ही समय भोजन करना, दूसरे समय के लिये कुछ भी बचाकर न रखना न दूसरे समय की चिंता करना यह भी तप है। सूर्य अथवा चन्द्रमा की किरण पीकर ही रहना, बिना अग्नि पर पकाये कच्चे अन्न को पत्थर पर कूटकर खाना, केवल पेड़ के गिरे पत्तों को ही खाकर उन्हीं से जीवन निर्वाह करना, पत्थर पर न कूट करके केवल दाँतों से ही ऊखल का काम लेना, अर्थात् केवल दाँतों से ही कच्चा अन्न चबा लेना, कण्ठ तक पानी में डूबकर जप आदि करते रहना, बिना शैया के केवल भूमि पर ही बिना बिछौना के ही पड़कर समय बिता देना, गद्दा, तकिया, चटाई कुछ भी न रखना, एक क्षण को भी व्यर्थ न गँवाना, सभी समय शुभ कर्मों में संलग्न बने रहना, केवल जल पीकर ही जीवन व्यतीत करना, वायुपान करके ही निर्वाह करना, चाहे वर्षा हो, गर्मी हो अथवा जाड़ा हो सभी समयों में खुले मैदान में रहना सोना, अथवा वेदी पर ही बैठे बैठे सो लेना, निरन्तर पर्वतों के ऊपर ही रहना, वहीं शयन करना, सदा गीले कपड़े पहिने रहना, निरन्तर मंत्र का जप ही करते रहना, पंचाग्नि तापना अर्थात् अपने चारों ओर अग्नि जलाकर और ऊपर से सूर्य का ताप सहन करके धूनी तापना, मन और इन्द्रियों को वश में करने के विविध उपाय

करते रहना, निरन्तर परमात्मा तत्त्व के विचार में संलग्न बने रहना। इस प्रकार शरीर को तपाने वाले अन्तःकरण को शुद्ध बनाने वाले अनेकों प्रकार के तप हैं।

दैवी सम्पदा का नववाँ गुण है आर्जव, आर्जव कहते हैं कुटिलता न करने को अर्थात् सरलता सीधापन। जो अधिकारी श्रद्धालु भक्तों से दुराव करता है, छिपाता है, वह कुटिल है जो भी सत्य बात हो, उसे बिना नमक मिरच लगाये सरलता के साथ प्रकट कर देने का ही नाम आर्जव है। ये तथा आगे कहे जाने वाले अन्य गुण भाग्यशालियों को पूर्वजन्म के संस्कारानुसार जन्म जात होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् ने अर्जुन के बिना ही पूछे, करुणा करके अपनी भक्तवत्सलता का परिचय देते हुए दैवी सम्पदा तथा आसुरी सम्पदा का वर्णन करना आरंभ कर दिया।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! अब मैं तुम्हें दैवी सम्पद् तथा आसुरी सम्पद् का विवरण सुनाऊँगा।"

अर्जुन ने कहा—"सुनाइये महाराज!"

भगवान् ने कहा—"पहिले दैवी सम्पदा को ही श्रवण करो।"

अर्जुन ने पूछा—दैवी सम्पद् कै प्रकार की है?"

भगवान् ने कहा—"दैवी सम्पदा प्राप्त पुरुषों के लक्षण तो अनन्त हैं। उनमें छब्बीस मुख्य हैं। उनके नाम तुम्हें सुनाता हूँ। पहिला लक्षण तो है अभय। जो किसी से भयभीत न हो सदा निर्भय बना रहे समझो यह दैवी सम्पदा वाला व्यक्ति है।"

दूसरा गुण है—"सत्त्व संशुद्धि! अर्थात् अन्तःकरण का स्वच्छ, विमल, निर्मल होना।"

तीसरा गुण है—"ज्ञान के अनुभव की व्यवस्थिति करना अर्थात् ज्ञान निष्ठा।"

चौथा गुण है—"दान देने में प्रवृत्ति होना दातृत्व शक्ति की अधिकता।"

पाँचवाँ गुण है—"इन्द्रियों का दमन करना।"

छटा गुण है—"यज्ञ यागों में मन लगाये रहना।"

सातवाँ गुण है—"सदा स्वाध्याय में ही समय व्यतीत करना।"

आठवाँ गुण है—"तपस्या में संलग्न रहना। तप करने में हर्ष होना।"

नववाँ गुण है—"आर्जवता, सरलता का होना।"

सूतजी कहते हैं—"दैवी सम्पद् के और गुणों का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अभय होत विश्वास करै जो शास्त्र वचनमहँ।
अन्तःकरन विशुद्ध पूर्वकृत करम उदयतहँ॥
ज्ञाननिष्ठ वैराग्य विवेकहु तैं है जावै।
दान, यज्ञ, दम शक्ति भाग्य तैं ही नर पावै॥
वेदाध्ययनहु भक्त जप, विविध भाँति के तप कहे।
आर्जव करनानि सरलता, दैवी सम्पद् गुन लहे॥

दैवी सम्पदा के लक्षण (२)

[२]

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥*
(श्री० भग० गी० १६ अ० २ श्लोक)

छप्पय

मन बानी तैं नहीं करै हिंसा प्रानिनि की ।
बोलै नित ई सत्य टेव तजि क्रोध करन की ॥
भीतर बाहर त्याग शान्ति नित चुगुली नाहीं ।
सब प्राननि पै दया न लोलुपता मन माहीं ॥
अति कोमलता चित्त में, अनुचित काजनि लाज नित ।
चंचलता कूँ देइ तजि, व्यरथ बात नहिँ देइ चित ॥

दैवी सम्पदा के श्रीमद्भगवत् गीता में २६ लक्षण बताये हैं, इनमें से ९ सद्गुणों का वर्णन तो प्रथम श्लोक में कर दिया और ग्यारह सद्गुणों का वर्णन द्वितीय श्लोक में इस प्रकार नौ और ग्यारह वाम लक्षणों का वर्णन हुआ । जिनमें से ९ के सम्बन्ध में

---

* अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, अपिशुनता, सब भूतों पर दया, अलोलुपता, कोमलता, लज्जा और अचपलता—॥२॥ (ये दैवी सम्पद् के गुण हैं)

तो पहिले कह चुके अब दशवें से बीसवें तक के सम्बन्ध में बहुत ही संक्षेप में यहाँ विचार करेंगे।

दैवी सम्पदा का दशवाँ लक्षण है—"अहिंसा। जो प्राणी जीना चाहता है, उसके जीने के साधनों को दूभर कर देने का नाम हिंसा है। जैसे मछलियाँ जल में रहकर बिना किसी को कष्ट दिये जल के ही पदार्थों से अपना जीवन निर्वाह करती हैं, पशु पक्षी बन में रहकर वृक्षों पर वास करके बिना किसी को कष्ट दिये हुए अपना जीवन बिताते हैं, उनके जीवन को ले लेना, उनकी वृत्ति का छेदन कर देना। यह हिंसा है। हिंसा प्राणी तीन कारणों से करता है, वैर का बदला लेने के निमित्त, जीवन निर्वाह या जिह्वा स्वाद के निमित्त, अथवा मनोरंजन आदि अन्य स्वार्थों की सिद्धि के निमित्त। हिंसा केवल शस्त्र से या अन्य किसी उपाय से मार डालने को ही नहीं कहते हैं। हिंसा मन से भी होती है बचनों से भी होती है और क्रिया द्वारा भी होती है। मन से किसी का अनिष्ट सोचना यह मानसिक हिंसा है। बचनों द्वारा किसी को बुरा कहना, उसे वाक् बाणों से वेध देना यह वाचिक हिंसा है। कर्म द्वारा किसी को पीडा पहुँचाना, उसके प्राण ले लेना कर्मणा हिंसा है। जो मानसिक, वाचिक तथा कर्म द्वारा तीनो प्रकार की हिंसाओं से बचा रहता है,किसी भी प्राणी की वृत्ति के छेदन में मनसा, वाचा कर्मणा कारण नही बनता है, जो अहिंसक वृत्ति से अन्न, कंद, मूल फलों द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करता है, वही अहिंसक है। अहिंसा की सूक्ष्मता में जाओ तब तो स्वास लेना भी हिंसा है। प्रत्येक जीव का जीवन किसी जीव के ही द्वारा चलता है, यों तो कोई भी प्राणी कभी भी बिना हिंसा किये बच नहीं सकता। किन्तु यहाँ साधारणतया इतना ही अर्थ है कि किसी भी सचर प्राणी को मन से, वचन से तथा

कर्म से पीड़ा न पहुँचावें। जो इस प्रकार सभी प्राणियों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करके उन्हें अभय प्रदान कर देते हैं, ऐसे अहिंसा वादियों के समीप में रहने वाले जीव जन्तु भी अपने स्वाभाविक वैर भाव को त्यागकर परस्पर में प्रेम करने लगते है। प्राचीन-काल में अहिंसक ऋषियों के आश्रमों में सिंह और बकरी एक घाट पर पानी पीते थे। मोर और सर्प साथ-साथ खेलते थे। जीवन में यदि अहिंसा आ जाय, तो प्राणी सर्व ओर से निर्भय बन जाय। हमें भय दूसरे प्राणियों से तभी होता है, जब हमारे मन में उनके प्रति छिपे हुए हिंसा के भाव हों। जिसने सब में अपनी ही आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, वह क्यों किसी से द्वेष करेगा, क्यों किसी की हिंसा करेगा। अतः दैवी सम्पदा वाले हिंसा से रहित अहिंसक होते है।"

दैवी सम्पदा का ग्यारवां लक्षण है—"सत्य। सर्वत्र समदर्शन करना ही सत्य है। समदर्शन उसे कहते हैं सभी में एक ही आत्मा को देखना हम असत्य भाषण तभी करते हैं, जब दूसरों को अपने से भिन्न अनुभव करते हैं। मनुष्य लौकिक स्वार्थ सिद्धि के ही निमित्त असत्य भाषण करता है। हम जितना धन चाहते हैं, उतना धन सत्य बोलने से नहीं मिल रहा है, हम जितनी प्रतिष्ठा चाहते हैं, वह सत्य बोलने से संभव नहीं, हम अपने परिवार को जितना सुखी रखना चाहते हैं, उतना सत्य बोलकर नहीं रख सकते, तब हम असत्य का आश्रय लेते हैं यही पाप है। यही आसुरी सम्पदा है। सत्य में बड़ी सामर्थ्य है, जो सत्य को नहीं छोड़ते, उनकी रक्षा सदा सत्य ही करता है। शास्त्र पुराणों में सत्य पालन करने वालों की अनेकों आख्यायिकायें हैं। महाराज हरिश्चन्द्र ने सत्य की रक्षा के निमित्त कितने-कितने कष्ट सहे। वे अपने राज्य से भ्रष्ट हुए, पुत्र और पत्नी से पृथक् हुए। उनके

सामने उनकी पत्नी तथा प्राणों से प्यारा अबोध परम सुकुमार राज कुमार बेचा गया। स्वयं आप भी चांडाल श्वपच के द्वारा क्रय किये गये। वहाँ कितनी-कितनी विपत्तियाँ आईं। पुत्र की मृत्यु हुई। महारानी उसी घाट पर पुत्र का दाह करने आईं जहाँ महाराज भंगी के चाकर बनकर मृतकों से कर लेते थे। रानी से भी कर माँगा। सोचिये ये कितनी भारी विपत्तियाँ हैं, किन्तु महाराज हरिश्चन्द्र ने सत्य की रक्षा के लिये इन सभी दुःखों को अव्यग्र भाव से सहन किया। इस लोक में सत्य पालन से भले ही कष्ट हुआ हो, किन्तु परलोक में तो उन्हें अनन्त सुख मिला। वे परमशान्ति के अधिकारी बने। सत्यव्रती को जो दुःख होते हैं, वे हम साधारण आदमियों को दुःख प्रतीत होते हैं। सत्य पालन की जो एक दृढ़ता है, उस दृढ़ता के कारण उन्हें आन्तरिक बड़ी शान्ति प्राप्त होती है। सत्य स्वरूप भगवान् का उन्हें सदा स्मरण बना रहता है। भगवान् को भूल जाना ही सबसे बड़ी विपत्ति है और सत्य स्वरूप भगवान् का सदा स्मरण बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है, यही परमशांति है। अतः दैवी सम्पद् सम्पन्न पुरुष सदा सर्वदा सत्य का अनुसरण करते हैं, वे सत्य का ही सतत आश्रय ग्रहण करते हैं।

दैवी सम्पद् का बारहवाँ सद्गुण है—अक्रोध। क्रोध ही पाप का मूल है। क्रोध काम का छोटा भाई है, कहीं-कहीं इसे काम का पुत्र भी बताया है और कहीं इसे अधर्म का प्रपौत्र दम्भ का पौत्र और लोभ का पुत्र बताया है। कल्प भेद से सभी सत्य हैं। भावार्थ इतना ही है, कि क्रोध सदा काम के पश्चात् होता है, जिस वस्तु की हम कामना करते हैं, वह कामना पूरी नहीं होती, तो क्रोध आता है और क्रोध ही पाप का मूल है। क्रोध को आश्रयदाहक कहते हैं। जैसे अग्नि जिस स्थान में लगेगी, जहाँ

से पैदा होगी, पहिले उसे जलाकर तब आगे बढ़ेगी। इसी प्रकार क्रोध जिस स्थान में पैदा होगा उसे जलाकर तब आगे बढ़ेगा। संसार में जितने भी अनर्थ हुए हैं। सब क्रोध के ही कारण हुए हैं। जैसे वन में दो बांसों की रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है, सब से पहिले तो उसी वंश को निर्मूल करती है, जहाँ लगती है फिर फैलता-फैलती सम्पूर्ण वन में फैल जाती है और वन के सभी वृक्षों को जला डालती है। कौरव और पांडवों के वंश में यह क्रोध की अग्नि लगी। फैलते फैलते वह पृथ्वी भर के समस्त क्षत्रियों में फैल गयी। कौरवों की ओर ग्यारह अक्षौहिणी सेना और पांडवों की ओर सात अक्षौहिणी सेना एकत्रित हो गयी। दोनों वंश तो नष्ट हो ही गये। पृथ्वी भर के सभी राजा नष्ट हो गये। इस क्रोध रूपी रणाग्नि में जलकर भस्म हो गये। १८ अक्षौहिणी सेना में दोनों ओर के कुल नौ पुरुष बचे। ६ पांडवों की ओर से और ३ कौरवों की ओर से। शेष सभी स्वाहा हो गये। ऐसा कहते है, उस समय पृथ्वी भर के क्षत्रियों में स्त्रियों बहुत वृद्धों और छोटे-छोटे बालकों को छोडकर एक भी युवा पुरुष नहीं बचा था। यह सब क्रोध का परिणाम था। ऐसे क्रोध से जहाँ तक हो बचे रहने का ही नाम अक्रोध है। अक्रोध से सभी अनर्थों से बचा जा सकता है। अतः दैवी सम्पत् का क्रोध न करना यह मुख्य लक्षण है। किसी को कभी भूल से क्रोध वश कटु वचन कह दिया गाली आदि कुवाच्य कह दिये या किसी को पीट दिया तो तुरन्त उसी क्षण अपनी भूल समझ कर जो क्षमा याचना कर लेते हैं, उसी समय उसे शान्त कर देते हैं, क्रोध की अग्नि को आगे फैलने नहीं देते यही अक्रोध का मुख्य लक्षण है, क्योंकि क्रोध से क्रोध और बढ़ता है।

दैवी सम्पद् का तेरहवां लक्षण है—त्याग। यहाँ त्याग से

दान का तात्पर्य नहीं, दान तो पहिले आ चुका है। यहाँ त्याग का अर्थ है कर्म फलों का त्याग। अर्थात् कर्म करते हुए भी उनका फल न चाहना अपने में जो कर्तापने का अभिमान आ जाय उस अहं वृत्ति को त्यागना। त्याग सन्यास का भी नाम है वे बड़े त्यागी है। उन्होंने सर्वस्व त्याग दिया है, किन्तु गीता शास्त्र ऐसे त्याग को यथार्थ त्याग नहीं मानता। वह कर्मों के त्याग के विरुद्ध है। विरुद्ध क्या है वह सिद्धान्त की बात बताता है कि एक क्षण भी ऐसा नही है, कि आदमी बिना कुछ किये रह सके। कर्म करना प्राणियों का सहज धर्म है स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः भगवान् का कहना है, जो शुभ कर्म हो, जो अन्तःकरण को विशुद्ध बनाने में सहायक हों, जो मनुष्यों को पावन बनाते हों, ऐसे पवित्र कर्मों को निष्काम भाव से–बिना फल की इच्छा से–करता रहे। कर्मों का नहीं कर्मों के फलों के त्यागने का ही नाम यथार्थ में त्याग है। जो कर्म करे, उसे कृष्णार्पण कर दे। जो अपने लिये कुछ भी न करता हो। सब कुछ ब्रह्मार्पण बुद्धि से करता हो, वही त्याग के यथार्थ रहस्य को जानने वाला है।

दैवी सम्पदा का चौदहवाँ सद्गुण है—शान्ति। प्राणी अशान्त कब होता है, जब उसे संसारी चिन्तायें आकर घेर लेती हैं। तब उस अन्तःकरण की प्रसन्नता चली जाती है। मुख की मुस्कान समाप्त हो जाती है, हृदय में एक प्रकार की विचित्र सी हलचल होने लगती है। चित्त में एक प्रकार का विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। यह प्राणी सदा दुखी चिन्तित होना नहीं चाहता वह शान्ति का इच्छुक बना रहता है। जब प्रयत्न करने पर भी संसारी विषयों की चिन्तायें त्रस्त करने लगती हैं तब प्राणी विवश होकर मादक द्रव्यों का सेवन करने लगता है, उससे आन्तरिक शान्ति तो नहीं होती, किन्तु विचारक शक्ति नष्ट हो

जाती है, बुद्धि पर परदा पड़ जाता है। स्मृति का ह्रास हो जाता है। यह स्वाभाविक शान्ति नहीं है, यह तो वैसे ही है जैसे प्रज्वलित अग्नि के ऊपर राख आ जाती है। राख से ढकी अग्नि दूर से बुझी हुई सी ही दिखायी देती है, किन्तु राख के हटा देने पर वह पुनः ज्यों की त्यों प्रज्वलित हो उठती है। मादक द्रव्यों मे मद के कारण स्मृति ढक जाती है, जहाँ मद कम हुआ पुनः चिन्तायें घेर लेती हैं, पुनः चित्त अशान्त हो जाता है।

संसारी भोगों को जो महत्त्व न दे, जो अहंता ममता से दूर रहे उसी का जीवन शान्तिमय बीतता है दूसरों के वैभव को देखकर, अपने समीप भोग सामग्रियों का अभाव देखकर प्रयत्न करने पर, भी सफलता न होने पर अपने समीप के भोग पदार्थों के नष्ट होने पर ही अशान्ति होती है। जो इन बातों से रहित हैं उन्हीं का जीवन शान्तिमय है, सुखमय है।

एक शिष्य ने किसी त्यागी विरागी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाकर पूछा—"भगवन्! मुझे कोई ऐसा सरल सुगम उपाय बता दें, जिसमे मुझे शाश्वती शान्ति की प्राप्ति हो सके।"

महात्मा ने पूछा—"शाश्वती शांति क्यों चाहते हो?"

शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! शाश्वती शान्ति के बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।"

महात्मा ने कहा—"तब तुम किसी ऐसे आदमी का माँगकर अँगरखा पहिन लो जो अपने को सबसे अधिक सुखी मानता हो।"

शिष्य ने कहा—"यह कौन-सी बड़ी बात है। ये निर्धन लोग ही अपने को दुखी मानते हैं। धनिकों के समीप तो सभी सुख के साधन समुपस्थित हैं, इतना बड़ा संसार है, इसमे इतने बड़े-बड़े धनिक हैं, उनमें कोई भी तो अपने को सबसे अधिक सुखी मानता

ही होगा, उसी से अंगरखा माँगकर पहिन लूँगा, मैं शाश्वती शान्ति को प्राप्त कर लूंगा।" यह सोचकर वह धनिकों के समीप जाने लगा। जिसके पास भी जाता, वही कह देता—"अरे, हम सबसे सुखी कहाँ हमें तो बहुत-सी चिन्ताय लगी रहती हैं। हमसे सुखी तो अमुक है।" तब वह उसके समीप जाता, वह किसी दूसरे का नाम बता देता। इस प्रकार वह वर्षों इधर से उधर भटकता रहा। धनिको के समीप, विद्वानों के समीप, राजाओं के समीप, वैभवशालियों के समीप, सत्ताधारियों के समीप सभी के समीप गया, किन्तु सबसे अधिक सुखी अपने को किसी ने भी नहीं बताया। तब तो वह निराश हो गया। एक बड़े भारी विद्वान् के समीप गया। और जाकर उसने उनसे पूछा—"क्या संसार मे सबसे सुखी कोई है ही नही ? यदि आपकी दृष्टि में कोई सबसे सुखी व्यक्ति हो, तो मुझे बताइये ?

विद्वान ने कहा—"जो संसारी भोगो में लिप्त है, वासना तृष्णा से अभिभूत हैं, ऐसे विषयों के चाहने वालो मे पूर्ण सुखी तुम्हें कहाँ मिलेंगे। देखो, अमुक वृक्ष के नीचे एक नगे महात्मा बैठे हैं, उनसे जाकर पूछो।"

विद्वान् की बात मानकर वह साधक उनके बताये हुए वृक्ष के समीप पहुँचा वहाँ एक नंगे महात्मा बिना कुछ बिछाये भूमि पर बैठे थे। एक जीर्ण शीर्ण मलिल वस्त्र से उन्होंने अपना मुख ढंक रखा था।

साधक ने जाकर पूछा—"महात्मा जी ! क्या आप संसार में सबसे अधिक सुखी हैं ?"

महात्मा ने गरजकर कहा—"हाँ, मैं संसार में सबसे अधिक सुखी हूँ।"

"साधक ने कहा—"तो कृपा करके आप अपना अँगरखा मुझे दे दीजिये।"

महात्मा ने कहा—"अँगरखा लेकर क्या करोगे ? अँगरखा क्यों पहिनना चाहते हो ?"

साधक ने कहा—"मेरे गुरु ने कहा है, जो सबसे अधिक सुखी हो, उसका अँगरखा पहिन लेने पर शाश्वती शांति मिल जायगी। शाश्वती शान्ति के ही निमित्त मैं अँगरखा पहिनना चाहता हूँ।"

महात्मा ने कहा—"भैया, तुम देखते नहीं, हो, मैं तो स्वयं नंगा हूँ, मेरे पास तुम्हें देने को अपना कहलाने वाला अँगरखा है ही कहाँ ?"

साधक समझ गया, अँगरखा माने विषय भोग। जिसने विषय भोगों का अँगरखा पहिन रखा है, उसे तो विषयों के भोग से और अधिकाधिक तृष्णा बढ़ेगी। जितनी ही विषयों की उपलब्धि होती है, उतना ही अधिक लोभ, और बढ़ता जाता है, जिसकी जितनी ही अधिक बढ़ी हुई तृष्णा है, वह उतना ही अधिक दुःखी है, दरिद्री है, और जिसने तृष्णा का परित्याग कर दिया है, विषय भोगों से उपरत हो गया है, वह उतना ही अधिक सुखी है।"

जब साधक ने यह समझ लिया, तब महात्माजी ने अपने मुख का वस्त्र हटा दिया। साधक के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अरे, ये तो मेरे गुरुदेव ही हैं। उसने उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा—"गुरुदेव ! यह तो बहुत छोटी-सी बात थी, आपने इसे मुझे पहिले ही क्यों नहीं बता दिया, इतने समय तक भटकाया क्यों ?"

महात्मा ने कहा—"वत्स ! पहिले मैं बताता तो बात तुम्हारी बुद्धि में बैठती नहीं। जब तुमने धक्के खाकर सब स्थानों में

घूमकर व्यावहारिक दृष्टि से अनुभव कर लिया, कि वास्तव में धन में, भोग वस्तुओं के संग्रह में सुख नहीं। त्याग के अनन्तर ही शांति है, तब तुम्हारा यह ज्ञान दृढ़ हो गया। बिना अनुभव किये, केवल सुनने मात्र से ही अनुभूति नहीं होती संसारी विषयों के चिन्तन का अभाव हो जाने पर ही अन्तःकरण में मुदिता-प्रसन्नता-आती है उसी प्रसन्नता का नाम शांति है। शान्ति के बिना सुख नही आनन्द नहीं, प्रसन्नता नहीं, तुष्टि नहीं पुष्टि नही।

एक साधक था। वह अपने युवावस्था में सुख के साधन जुटाने को अनेक प्रकार के विधान बनाया करता था। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये सुख प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने सुख के साधनों की एक सूची बनायी।

उसमें सर्व प्रथम सुंदर स्वास्थ्य को स्थान दिया क्योंकि सुंदर स्वास्थ्य ही न होगा, तो सुख का उपभोग कौन करेगा। फिर सुयश को दूसरा स्थान दिया। जिसकी कीर्ति है वही सुखी है। फिर सुदृढ़ शक्ति को तीसरा स्थान दिया। जो बलहीन है शक्ति सम्पन्न नहीं है उसे सुख कैसे मिल सकता है, सबसे बढ़कर उसने सम्पत्ति को स्थान दिया। सम्पत्ति के बिना सुख मिल ही नहीं सकता। अतः वह सम्पत्ति के लिये, स्वास्थ्य के लिये, सुयश और शक्ति संचय के लिये घोर प्रयत्न करने लगा। सम्पत्ति उसने पैदा की, किन्तु उतनी से संतोष नहीं हुआ। जितनी ही सम्पत्ति बढ़ती जाती असंतोष भी उतना ही बढ़ता जाता। जिस सुख की उसने कल्पना की थी, वह उसे और भी अत्यधिक दूर प्रतीत होने लगा। तब वह एक महात्मा के समीप गया, और जाकर कहा—"भगवन्! मेरे उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो रही है?"

महात्मा ने पूछा—"क्या उद्देश्य है तुम्हारा।"

युवक ने कहा—"सुख की प्राप्ति ही मेरा उद्देश्य है ?"

महात्मा ने पूछा—"अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये तुमने क्या विधान बनाया है ? क्या-क्या साधन सोचे हैं ?"

युवक ने कहा—"सम्पत्ति एकत्रित करना, स्वास्थ्य बनाना, सुयश प्राप्त करना और शक्ति संचय करना।"

महात्मा ने कहा—"सुख प्राप्ति के साधन तो तुमने सुंदर-सुंदर सोचे है, किन्तु इनमें एक त्रुटि रह गयी है ?"

युवक ने पूछा—"वह कौन-सी त्रुटि रह गयी है, भगवन् !"

महात्मा ने कहा—"तुमने इसमें अन्तःकरण की शान्ति को सम्मिलित किया ही नहीं। बिना अन्तःकरण की शान्ति प्राप्त किये ये सबके सब व्यर्थ हैं। अन्तःकरण में लोभ से, तृष्णा से आसक्ति के कारण विक्षेप है, अशान्ति है तो संपत्ति, स्वास्थ्य, सुयश तथा शक्ति सब निरर्थक हैं। अतः अन्तःकरण की शान्ति ही सुख की जननी है और शान्ति प्राप्त होती है त्याग से। अहंता ममता के अभाव से।"

'एक धर्मात्मा धनिक थे, उनके यहाँ बहुत-सा धन पूर्वजों का गड़ा हुआ था। चोरों को पता चल गया, वे उसे निकाल ले गये। अपार धन था। कुछ लोग धनिक के यहाँ सहानुभूति प्रकट करने आने लगे।

एक ने आकर कहा—"सेठजी ! बड़े दुःख की बात है, आपका इतना धन चला गया।"

सेठजी ने बड़े धैर्य से कहा—"चला कहाँ गया, किसी न किसी के काम में ही आया होगा। यहाँ भूमि में व्यर्थ गड़ा हुआ था। इसी का नाम आन्तरिक शान्ति है। धन के आने जाने में हर्ष विषाद नहीं। धन का तो स्वभाव ही है आने जाने का। उसके जाने पर हम अपनी अन्तःकरण की शांति को भंग क्यों होने

दें। अतः अन्तःकरण की उपरति-विक्षेप रहित अवस्था-का ही नाम शांति है।"

दैवीसम्पद् का पन्द्रहवाँ लक्षण है—अपैशुन। पिशुनता कहते है चुगली को। दूसरों की झूठी सच्ची बातों को व्यर्थ ही अन्य लोगों से जाकर भिड़ा देना, दूसरों की निन्दा बुराई करना यही पिशुनता है। जो लोग पिशुनता प्रिय होते हैं, वे शुभ कर्म करने वालों से जलते रहते हैं, किसी का उत्कर्ष देखते हैं, तो जलते हैं, किसी की प्रशंसा हो रही हो, तो उसमें भी दोष निकालते हैं। स्वार्थवश या बिना प्रयोजन के दूसरों की बातों को इधर-उधर नमक मिर्च लगाकर कहना यही पिशुन-चुगली करने वालों का कार्य होता है।

दक्षिण देश में एक महान् आचार्य हो गये हैं वे श्रीरंगम् में भगवान् रंगनाथ की सन्निधि में रहते थे। उनके बहुत से शिष्य भी उनके पास में निवास करते थे। एक शिष्य आचार्य की हृदय से सेवा किया करते थे। वे सब समय आचार्य की सेवा में ही सन्नद्ध रहते। सेवा एक ऐसा सद्गुण है, कि इसके द्वारा जड़ को भी वश में किया जा सकता है, फिर जो दयालु हैं, कृतज्ञ हैं, उनकी तो बात ही क्या। आचार्य का उनके प्रति अत्यधिक अनुराग था। अन्य शिष्य जो सेवा में विशेष रुचि तो रखते नहीं थे, किन्तु आचार्य के प्रियपात्र बनने को समुत्सुक रहते, वे लोग इनसे मन ही मन द्वेष रखते थे। उनमें एक अत्यन्त ही पिशुनता वृत्ति वाला था। वह उस सेवक शिष्य की आचार्य से झूठी सच्ची इधर उधर की चुगली किया करता। आचार्य इन बातों पर ध्यान ही न देते। उस सच्चे सरल सेवक को पता भी नहीं था, कि यह मुझसे भीतर ही भीतर द्वेष रखता है, वे तो सीधे सरल निष्कपट थे, उन्हें अपने काम से काम, दूसरे हमारे सम्बन्ध में

क्या सोचते हैं, इसकी चिंता उन्हें नहीं थी, किन्तु वह पिशुन वृत्ति वाला सदा यही सन्देह किया करता था, कि न जाने यह मेरी आचार्य से क्या-क्या चुगली किया करता होगा। इसीलिये यह बात का बतंगड बनाकर आचार्य से इनकी शिकायत किया करता था। आचार्य सरलता से कह देते—"अरे, तुम समझते नहीं वह बडा सरल सुशील सेवा परायण है। पवित्र पुरुष है।" इससे इसको और भी दुख होता, यह उस सेवक शिष्य के छिद्र खोजा करता।

एकदिन सेवक शिष्य आचार्य के लिये गीले कपडों से पूजा के लिये स्वच्छता पूर्वक तांबे के घड़े में कावेरी नदी से जल ला रहे थे। मार्ग में वह पिशुन वृत्ति वाला उनका गुरुभाई बिना जल लिये लघुशंका कर रहा था शौच तथा लघुशंका को बिना जल लिये जाना वैष्णव नियमों के विरुद्ध है। लघुशंका करते हुए उसने जल ले जाते हुए अपने सेवक गुरुभाई को देख लिया था, अतः उसकी आकृति बिगड़ गयी, वह भयभीत-सा हो गया और सोचने लगा-"यह जाकर अवश्य ही मेरी आचार्य से शिकायत करेगा कि मैं बिना पानी लिये लघुशंका कर रहा था। सबके सम्मुख मुझ पर डाँट पड़ेगी। मुझे बडा लज्जित होना पड़ेगा।"

उसके मनोभाव को ये सेवक शिष्य ताड़ गये। उसके संकोच को मिटाने के लिये ये कंधे पर पूजा के जल को रखे-रखे ही खड़े होकर लघुशंका करने लगे। इससे उसे बडा संतोष हुआ कि चलो मैं बैठकर तो कर रहा हूँ, ये तो खड़े होकर कर रहे हैं, सो भी आचार्य के पूजा के जल घडा को लेकर।

वह शीघ्रता से उठा, और इनके पहुँचने के पूर्व ही आचार्य के समीप जाकर चुगली करने लगा—देखिये, भगवन्! आप उनकी बड़ी प्रशंसा किया करते हैं, कि वे बड़े सुशील हैं आचार

विचार से रहते हैं। मैंने आज अपनी आँखों से आपके पूजा के जल घड़ा को लिये हुए खड़े-खड़े उन्हें लघुशंका करते देखा है।"

आचार्य को उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह ऐसा तो कभी कर नहीं सकता। फिर भी उससे बोले—"अच्छा, ऐसी बात है, तो मैं उसे दण्ड दूँगा।"

इधर जब यह पिशुनवृत्ति वाला चला आया तो वे पुनः लौटकर कावेरी गये। पुनः स्नान किया घड़े को कई बार मिट्टी से मला और गीले कपड़ों से जल घड़े को लेकर आचार्य के समीप आये। आचार्य ने पूछा—"क्यों भाई, तुम पूजा के जल घड़े को लादे हुए खड़े-खड़े लघुशंका कर रहे थे?"

उन्होंने नम्रता के साथ कहा—"भगवन्! मैं तो पशु हूँ। भगवान् रङ्गनाथ जी का पूजा का जल हाथी की पीठ पर रख कर आता है। (बड़े-बड़े मन्दिरों में भगवान् की पूजा के लिये नित्य हाथी पर लादकर समीप की नदी या अन्य जलाशयों से गाजे बाजे के साथ जल लाया जाता है। आगे-आगे बाजे वाले बाजा बजाते चलते हैं, पीछे जल घड़ा को लादे हाथी चलता है। हाथी चलते-चलते मार्ग में दीर्घशंका लघुशंका भी करता चलता है। इसी को लक्ष्य करके सेवक शिष्य कह रहे हैं) हाथी लघुशंका करता है, तो पानी तो नहीं ले जाता, वह तो चलते-चलते करता जाता है। मैं भी जल ढोने वाला नरपशु हूँ, जब रङ्गनाथजी उस पशु के अपराध को पशु समझकर क्षमाकर देते हैं, तो आप भी मुझे पामर पशु समझ कर क्षमा कर दें।"

उनके इस उत्तर से आचार्य बहुत ही प्रसन्न हुए और अपने अन्य शिष्यों से बोले—"देखो, इस व्यक्ति ने तो आकर कैसी पिशुनता की। किन्तु इसने अपनी सरलता के कारण कैसा अपैशुनता का परिचय दिया। दूसरों के दोष न देखकर—दूसरों की

बुराई न करके– अपने को ही दोषी स्वीकार कर लिया। इसी का नाम अपैशुनता है।

दैवीसम्पद् का सोलहवाँ लक्षण है—प्राणियों के प्रति दया का भाव। दया कहते हैं सभी प्राणियों के दुखों को देखकर द्रवित हो जाना तथा उनके दुःख दूर करने की चेष्टा करना। इसमें महाराज रन्ति देव का दृष्टान्त अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। चन्द्रवंश में महाराज संकृति के गुरु और रन्तिदेव दो पुत्र हुए। उनमें रन्तिदेव महान तपस्वी तथा वीतराग थे। उन्होंने अयाचित्त –आकाश–वृत्ति धारण कर रखी थी। बिना याचना किये अपने आप जो भी कुछ आ जाय, उसी से निर्वाह करना किसी से जल की भी याचना न करना। ये सपरिवार रहते थे। वे न तो कल के लिये कुछ संग्रह करते थे न किसी प्रकार का परिग्रहण ही लेते थे। किसी भी वस्तु में इन्हें ममत्व नहीं था। धैर्यशाली तो ऐसे थे, कि चाहे जितनी भी विपत्तियाँ पड़ें, ये किसी से कुछ कहते ही नहीं थे।

एक बार ऐसा हुआ कि ४८ दिनों तक इनके पास कुछ भी नहीं आया। ये बिना अन्न जल के भगवान् के भरोसे बैठे रहे। उनंचासवें दिन कहीं से दैवेच्छा से घृत, खीरा हलुआ तथा स्वादिष्ट पदार्थ एक घड़ा जल मिला। भगवान् को अर्पण करके परिवार के साथ ज्यों ही प्रसाद पाने बैठे, त्यों ही एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। उसे तृप्ति पूर्वक भोजन कराया। फिर एक शूद्र भूखा आ गया। ये तो सभी को भगवत् स्वरूप समझते थे। अतः उसे भी तृप्त करके भोजन कराया। फिर एक अघोरी कई कुत्तों को साथ लेकर आ गया। उन सबकी भी तृप्ति की। अब अन्न तो बचा नहीं। थोड़ा सा जल बचा था। उसे बाँट कर ज्यों ही पीना चाहते थे, कि उसी समय एक अत्यन्त ही प्यासा

चांडाल आ गया। उसने कहा—"मुझे जल न मिला, तो मैं अभी मर जाऊँगा।" दयावश इन्होंने अपना सब जल उसे पिला दिया। सभी अन्न जल सब को श्रद्धा पूर्वक दिया। सभी को भगवत् बुद्धि से प्रणाम किया और भगवान् से यही प्रार्थना की—"मुझे सिद्धियाँ नहीं चाहिये, मुझे भोग तथा मोक्ष की भी इच्छा नहीं। मैं तो यही चाहता हूँ, कि समस्त प्राणियों के दुःख क्लेश मैं ही सहन करूँ। सब का दुःख मुझे मिल जाय। सभी प्राणी सुखी हो जायँ।" दया का ऐसा दिव्य दृष्टान्त संसार में और कहाँ मिल सकता है।

दैवीसम्पद् का सत्रहवाँ लक्षण है—अलोलुपता। संसारी सभी लोग विषयों का सेवन करते हैं, उन्हें विषयों को भोगते देख कर हमारी भी इच्छा उन्हें भोगने की हो जाती है, एक बार विषयों का भोग करने पर बार-बार भोगने की उत्कट भावना होना इसी का नाम विषय लोलुपता है। विषयों के भोग से वासना शान्त नहीं होती अपितु और उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, इस बात को समझ कर विषय-भोगों से उपरति होने का ही नाम अलोलुपता है। विषयों की सन्निधि में भी उनसे निर्विकार बने रहना। उनमें दोष दृष्टि करके उन्हें ग्रहण न करना यही अलोलुपता के लक्षण हैं।

एक नवयुवक छात्र थे। घर का तो उन्होंने परित्याग कर दिया था, किन्तु मन में विषयों के प्रतिलोलुपता छिपी हुई थी। वे विद्याध्ययन करने गुरुकुल में आचार्य के समीप आये। वे बड़े भारी राजा के राजपुरोहित के पुत्र थे। आचार्य ने उनके भोजन का प्रबन्ध एक बहुत बड़े धनी नगरसेठ के यहाँ कर दिया। नगरसेठ के सेवक सेविकायें उन्हें नित्य बड़े

आदर सत्कार से भोजन करा देते। वे भोजन करके आचार्य के यहाँ चले जाते।

नगर सेठ की एक सेविका बहुत ही सुन्दरी थी। विद्यार्थी के भोजन आदि की वही व्यवस्था करती। नित्य के संसर्ग से विद्यार्थी की उस सेविका से आसक्ति हो गयी। वे परस्पर में एक दूसरे को चाहने लगे। प्रेम में परस्पर में वस्तुओं का आदान-प्रदान स्वाभाविक है। प्रेमी के यहाँ खाना उसे खिलाना, मन की रहस्यमय बातें कहना और उससे रहस्यमय बातें पूछना। उपहार देना और उसके दिये हुए उपहार को लेना। ये प्रीति के ६ लक्षण हैं। उस सेविका ने वसन्तोत्सव निकट आने पर विद्यार्थी से सुन्दर वस्त्र तथा आभूषणों की याचना की।

उन दिनों विद्यार्थी धन नहीं रखते थे, वे निष्किञ्चन हुआ करते थे। घर-घर से भिक्षा माँगकर गुरु को दे देते थे। गुरु उस में से जो उठाकर दे दे उसी पर निर्वाह किया करते थे, फिर विद्यार्थी घर-घर भिक्षा न करके समर्थ पुरुषों के घरों में अथवा अन्नक्षेत्रों में भोजन पाने लगे। यह विद्यार्थी भी निष्किञ्चन था, आचार्य ने इसके भोजन का प्रबन्ध नगरसेठ के यहाँ कर दिया। विद्यार्थी धर्म के विरुद्ध यह काम लोलुप बन गया। जब इसकी प्रेमिका ने वस्त्र और भूषणों की याचना की, तो इसने कहा—"मेरे पास देने को क्या रखा है, मैं तुम्हें वस्त्र आभूषण कहाँ से दे सकता हूँ?"

सेविका ने कहा—"इस देश श्रावस्ती का जो राजा है, उसका प्रतिदिन का नियम है, कि प्रातःकाल जो सर्व प्रथम उन्हें अभिवादन करता है, उसे वे दो माशे सुवर्ण प्रदान करते हैं। तुम ब्राह्मण हो, विद्यार्थी हो, प्रयत्न करोगे, तो तुम्हें मिल सकेगा। उसी से मेरे लिये वस्त्र आभूषण बनवा देना।"

उसने स्वीकार किया, रात्रि भर उसे नींद नहीं आई, अभी कुछ रात्रि शेष थी, उसने सोचा—ऐसा न हो कोई मुझसे पहिले पहुँच जाय, मैं पिछड़ जाऊँ। अतः वह रात्रि में ही राजा के शयन कक्ष में प्रविष्ट होने की चेष्टा करने लगा, राजसेवकों ने उसे चोर समझ कर पकड़ा और राजा के सम्मुख उपस्थित किया राजा ने विद्यार्थी को ऊपर से नीचे तक देखा। देखने में राजा को वह बड़ा सौम्य, कुलीन सदाचारी तथा सरल जान पड़ा। राजा ने पूछा—"क्यों, भाई! तुम चोर हो?"

विद्यार्थी ने कहा—"नहीं महाराज! मैं चोर नहीं हूँ।"

राजा ने पूछा—"तुम कौन हो, क्या करते हो?"

विद्यार्थी ने कहा—"कौशाम्बी के महाराजा के राजपुरोहित का पुत्र हूँ।"

राजा ने पूछा—"यहाँ श्रावस्ती नगरी में क्यों आये हो?"

विद्यार्थी ने कहा—"यहाँ मैं आचार्य इन्द्र दत्त की सन्निधि में अध्ययन करने आया हूँ, विद्यार्थी हूँ।"

राजा ने पूछा—"इतनी रात्रि में मेरे शयन कक्ष में प्रवेश करने की चेष्टा तुमने क्यों की?"

विद्यार्थी ने कहा—"आचार्य ने मेरी भिक्षा का प्रबन्ध यहाँ के नगरसेठ के यहाँ कर रखा है। वहाँ पर जो हमें भोजन परोसती है, उस सेविका से मेरा प्रेम हो गया है, उसने वसन्तोत्सव समीप आने पर मुझसे वस्त्राभूषणों की याचना की और उसी ने मुझे उपाय भी बता दिया कि श्रावस्ती महाराज को जो प्रातः सब प्रथम अभिवादन करता है, उसे वे दो मासे सुवर्ण प्रदान करते हैं, इसीलिये मैं आपको सर्व प्रथम अभिवादन करने और दो मासा सुवर्ण पाने की अभिलाषा से आया हूँ।"

महाराज उसकी सरलता सौम्यता, निष्कपटता तथा भोले

पन मुग्ध हो गये। प्रसन्न होकर बोले—"मैं तुम्हारी सरलता और निष्कपटता पर प्रसन्न हूँ, तुम जो चाहो सो माँग लो, तुम जो भी माँगोगे, वही मैं तुम्हें प्रदान करूँगा।"

विद्यार्थी को स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी, कि महाराज मुझ पर इतने प्रसन्न हो जायेंगे। क्षण भर तो वह सोचता रहा, फिर बोला—"अन्नदाता! मुझे एक दिन का अवसर दें, मै सोचकर माँगूगा।"

राजा ने कहा—"अच्छा, कल इसी समय सोचकर आना।"

एक दिन का समय मिलने पर वह अपने स्थान पर आया। आज वह भिक्षा करने नगरसेठ के घर नहीं गया। सोचता रहा राजा से क्या माँगूं? जब राजा प्रसन्न ही हुआ है, तो दो मासे सुवर्ण क्या माँगूं दो सौ सुवर्ण मुद्राएं माँग लूं। फिर सोचा-सौ दो सौ में क्या होगा, वे समाप्त हो जायेंगी, रहने को एक महल माँग लूं। फिर सोचा--महल कुछ खाने को तो देगा ही नहीं, १०-२० गाँव माँग लूँ। फिर सोचा—"दश बीस गाँवों से क्या होगा, १००-२०० गाँव माँग लूँ। इस प्रकार वह दिन भर सोचता ही रहा। जितना ही माँगने को सोचता उतनी ही तृष्णा और बढ़ जाती। जितनी ही वस्तुओं का संग्रह सोचता उतनी ही वस्तुओं का अभाव उसे और भी अधिक खटकता। दूसरे दिन जब वह महाराज के सम्मुख उपस्थित हुआ, तो महाराज ने पूछा—"कहो, क्या माँगना चाहते हो?"

विद्यार्थी ने कहा—"महाराज, आप अपना पूरा राज्य मुझे दे दीजिये। मुझे श्रावस्ती का राजा बना दीजिये।"

श्रावस्ती नरेश के कोई सन्तान नहीं थीं, वे बहुत दिनों से अपना कोई उत्तराधिकारी बनाने की बात सोच रहे थे, उन्हें राज्य पाट से अत्यत वैराग्य हो गया था, आज जब ब्राह्मण

कुमार ने उनसे राज्य की याचना की तो उन्हें अत्यधिक हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—"विप्रकुमार! तुमने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया। मै विषयों की लोलुपता में फंसा हुआ था, तृष्णा-रूपी सर्पिणी के पाश में आबद्ध था, इन विषय वासनाओं के भोग का कहीं अन्त नहीं। उपभोग करने से वासनायें शान्त नहीं होती, विषय लोलुपता और बढ़ती ही जाती है, नित्य नयी वासनायें उठती ही जाती है। मै इतना विषयासक्त हो गया था, कि बार-बार इन्हें छोडकर तपस्या करने जाना चाहता था, किन्तु विषयों की लोलुपता के कारण जा न सका। आज भगवान् ने स्वय ही मुझे छुड़ा दिया। तुम्हारे जैसा कुलीन सुशील सरल उत्तराधिकारी मुझे और कौन मिलेगा। अतः आज ही तुम मेरा राज्य ले लो, और मुझे वन जाने की छुट्टी दे दो।"

विद्यार्थी ने कहा—"महाराज! मुझे एक दिन का अवकाश और दीजिये। कल फिर इसी समय मै आऊँगा।"

राजा ने एक दिन का अवकाश दे दिया। अब विद्यार्थी सोचने लगा—"विषयों में यदि सुख होता, तो इतने बड़े राजा इन इतने भारी विषय सुखों को छोडकर वन में क्यों जाना चाहते। विषयों को जितना ही भोगते जाओ विषय लोलुपता उतनी ही बढ़ती जाती है, मैं विद्यार्थी था, कितना सुखी था, कोई चिंता नही, संग्रह नहीं, परिग्रह नहीं। भिक्षा कर ली पढ़ते रहे। जब से मेरे मन में कामना हुई विषयों की लोलुपता बढ़ी। स्त्री से राग हुआ, तो उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न आरंभ हुआ। याचना जैसी नीच वृत्ति स्वीकार की। अभी यथेष्ठ भोग वस्तुएं मैंने ग्रहण नहीं कीं, केवल मिलने की आशा से ही इतनी तृष्णा बढ़ी कि हजार पांच सौ सुवर्ण मुद्राओं से भी शांत न हुई, राजा से पूरा राज्य ही मांग बैठा। राज्य पाकर भी यह विषय लोलुपता समाप्त नहीं

होने की। अतः विषयों से यथाशक्ति बचे रहना ही श्रेयस्कर है।"

यही सोचकर वह राजा के पास दूसरे दिन पुनः गया। राजा ने कहा—"द्विजकुमार! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हारा मंगल हो, आओ, तुम्हारा मैं राज्यसिंहासन पर अभिषेक करा दूँ। और फिर मैं निश्चित होकर तपस्या में मन लगाऊँ।"

विद्यार्थी ने कहा—"राजन्! तपस्या करना तो ब्राह्मण का धर्म है, मैं विषय लोलुपता में फँसकर अपने धर्म से च्युत हो गया था। आपके त्याग विराग और राज्य की निस्पृहता ने मुझे पुनः सावधान कर दिया। विषय लोलुपता ही विष है, विषयों से निस्पृह होना ही अमृत है, आप अपने राज्य को अपने ही पास रखिये अब मुझे दो मासे सुवर्ण भी न चाहिये। जिसके लिये मैं सुवर्ण चाहता था, उसके प्रति मेरी विषय लोलुपता अब समाप्त हो गयी। जो विषयों के प्रति अलोलुप है, जो विषयों की सन्निधि में भी इन्द्रियों को अपने वश में किये हुए हैं, उसको राज्य पाट की या अन्य किसी विषय सामग्री की आवश्यकता ही क्या है।" यह कहकर विद्यार्थी बिना कुछ लिये ही चला गया उस दिन से उसने नगरसेठ के यहाँ भिक्षा करना छोड़ दिया। घर-घर से मधुकरी लाकर गुरु को अर्पण कर देता, गुरु जो उसमें से दे देते उसी पर जीवन निर्वाह करता। विषयों में अनासक्त होना ही आलोलुपता है।

दैवीसम्पद् का अठारहवाँ लक्षण है—"मृदुता। मृदुता कहते हैं, कोमलता को। अपना पुत्र है, शिष्य है, वह न करने योग्य कार्यों को भी करने का आग्रह करता है, तो उस पर क्रोध न करके उसे मीठे शब्दों में पुचकार कर सरलता के साथ समझा देने को ही मृदुता कहते हैं। मन में, वचन में तथा व्यवहार में

कहीं भी कठोरता न आने पावे इसी का नाम मृदुता है।"

उत्तङ्क नाम के एक मुनि थे मारवाड़ प्रदेश में वे तपस्या करते थे। महाभारत युद्ध समाप्त करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी द्वारका जा रहे थे, मार्ग में उन्हें मुनि को कृतार्थ करना था, उनके पास जाकर भगवान् ने कहा—"मुनिवर! हमें प्यास लगी है, पानी पिलाइये।"

मुनि ने पूछा—"श्रीकृष्ण चन्द्र दुर्योधन के यहाँ सन्धि करने आये थे, उस विषय में क्या हुआ?"

भगवान् ने कहा—"वह सन्धि हो नहीं सकी। दुर्योधन माना नहीं।"

मुनि पूछा—"फिर क्या हुआ?"

भगवान् ने कहा—"फिर कौरव पांडवों का महाभारत युद्ध हुआ। दोनों ओर की अठारह अक्षोहिणी सेना विनष्ट हो गयी। समस्त कौरवों के वंश का नाश हो गया।"

मुनि ने पूछा—"श्रीकृष्ण कहाँ चले गये थे?"

भगवान् ने कहा—"मैं ही तो श्रीकृष्ण हूँ मेरी बात कौरवों ने मानी नहीं।"

मुनि ने कहा—"वासुदेव! तुम सर्व समर्थ हो, तुम चाहते तो सन्धि हो सकती थी, तुमने जान बूझकर कौरवों के वंश का नाश कराया है, अतः मुझे तुम पर क्रोध आरहा है, मैं तुम्हें शाप देता हूँ, जैसे तुमने कौरवों के वंश का नाश कराया है वैसे ही तुम्हारे वंश का भी नाश हो जाय।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"मुनिवर! मैं आप के इस शाप को सहर्ष सिर से धारण करता हूँ। किन्तु भगवन्! क्रोध तपस्या में सबसे बड़ा विघ्न है। आपने क्रोध करके अपने तप को क्षीण कर दिया। मैं चाहूँ, तो आपके शाप के बदले में आपको भी शाप

दे सकता हूँ। किन्तु मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं तो तुम्हें वरदान ही दूँगा। तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो।

भगवान् की ऐसी मृदुल कोमल वाणी सुनकर मुनि का क्रोध शांत हो गया। उन्होंने श्रीकृष्ण का अभिनंदन करके उनसे यह वर माँगा—"भगवन्! यहाँ जल का बड़ा अभाव है, आप ऐसा वर दीजिये कि हमारे यहाँ जल की कमी न रहे।"

भगवान् ने कहा—"मुनिवर! आप जहाँ भी जल की इच्छा करेंगे, वहीं से जल का स्रोत निकल पड़ेगा और मेघों का एक समूह आपके नाम से ही विख्यात हो जायगा। उसी दिन से एक समूह मेघों का नाम मुनि के नाम से उत्तङ्कमेघ प्रसिद्ध हो गया। जो कभी-कभी मारवाड़ भूमि में अभी उत्तङ्कमेघ नाम से वर्षा करते रहते हैं।"

अपकारी के प्रति भी मन, वचन और कर्म से कठोरता त्याग कर कोमल हो जाना उनके प्रति भी प्रीति युक्त वर्ताव करने को मार्दव, अक्रूरता अथवा कोमलता कहते हैं।

दैवीसम्पद् का उन्नीसवाँ लक्षण है—"ह्री"। ह्री कहते हैं लोक लज्जा को। मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है विषयों की ओर जाने की। किन्तु जो लोक लज्जा के कारण विषयों की ओर जाने से मन को रोक लेती है उसी का नाम ह्री है।

एक बड़े सम्मानित सेठ का पुत्र था, उसका किसी अकुलीन कुमारी से स्नेह हो गया। दोनों ने निश्चय किया हम इस नगर को छोड़कर भाग चलेंगे। निश्चय तो कर लिया, किन्तु पीछे श्रेष्ठि कुमार ने सोचा—"इस अकुलीन स्त्री के साथ मुझे कोई मेरा परिचित व्यक्ति मिल गया, तो मैं मारे लज्जा के पृथ्वी में गड़ जाऊँगा। मेरे माता पिता जब सुनेंगे तो उन्हें मेरे इस दुष्कृत्य पर कितनी लज्जा आवेगी। मेरे कुल में कितनी अप-

कीर्ति होगी। यही सोचकर वह एकान्त में धीरे से उसके पास गया और बोला—"ऐसा करना मेरे कुल में कलंक लगाना है। मैं किसी को मुख दिखाने योग्य न रहूँगा। आज से मेरा तुम्हारा कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा।"

बहुत से पापों से तो मनुष्य लोक लाज के ही कारण बच जाता है। जो निर्लज्ज हो जाते हैं, वे सभी प्रकार के पाप कर सकते हैं। अतः ह्री लोकलाज भी बड़ा भारी गुण है।

दैवीसम्पद् का बीसवाँ लक्षण है—अचपलता। चपलता कहते हैं चंचलता को। बहुत से मनुष्य बिना बात बकते ही रहते हैं, कोई पूछे न पूछे कुछ न कुछ कहते ही रहेंगे। व्यर्थ के कार्यों को बिना प्रयोजन के करते रहेंगे। और कुछ नहीं तो हाथ में जो तिनका आ जाय उसे ही तोड़ते रहेंगे। बहुत से अंगों को हिलाते रहेंगे।

मृत्यु की पुत्री सुनीथा बड़ी चंचल प्रकृति की लड़की थी। वह वन में जो भी कोई मुनि मिल जाय, उसे ही बिना कारण के कोड़ों से मारने लगती। एक ऋषि कुमार वन में तपस्या करते थे, वह नित्य प्रति उसे जाकर बिना कारण के मारती। ऋषिकुमार ने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह मानी ही नहीं। अतः उन्होंने शाप दिया—"दुष्टे! तू अकारण मुझे मारती है, जा तेरे दुष्ट पुत्र पैदा होगा।" इसी सुनीथा के गर्भ से बड़ा दुष्ट वेन पुत्र हुआ। इसलिये चंचलता बहुत बड़ा दोष है। जिनमें यह चंचलता न हो मृदुता सरलता आर्जवता हो वही अचापल गुण वाला कहलाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन के पूछने पर कहा—'अर्जुन! मैंने दैवीसम्पदा के नौ लक्षण तो तुमसे कह दिये। अब दशवा लक्षण है अहिंसा—मनसा वाचा कर्मणा किसी जीव को हिंसा न करना।"

ग्यारहवाँ लक्षण है—सत्य। जो जैसा देखा हो उसे मधुरता के साथ सरलता के साथ ज्यों का त्यों कह देना। उसमें मीन मेख न लगाना।

बारहवाँ लक्षण है—अक्रोध। किसी पर किसी भी कारण से मन से, वचन से तथा शरीर के अन्य व्यवहारों से क्रोध न करना।

तेरहवाँ लक्षण है—त्याग। सब वस्तुओं को ईश्वर प्रदत्त समझकर उपयोग में लाना। अन्य की अधिकृत वस्तु पर मन न चलाना।

चौदहवाँ लक्षण है—शान्ति। सदा प्रसन्न रहना। मन से, वचन से तथा कर्म से किसी भी बात की चिन्ता न करके शान्त भाव से आचरण करना।

पन्द्रहवाँ लक्षण है—अपैशुन। किसी की भी किसी से चुगलई न करना। इधर की बात को उधर जाकर न भिड़ाना।

सोलहवाँ लक्षण है—दया। सभी जीवों को भगवान् का पुत्र और अपना भाई समझकर उनके दुख को अपना ही दुख समझकर उसे मिटाने की चेष्टा करना।

सत्रहवाँ लक्षण है—अलोलुपता। विषयों के प्रति लालच न करना, विषय होने पर भी उनके प्रति अनासक्त बने रहना।

अठारहवाँ लक्षण है—मार्दव। किसी के भी प्रति क्रूरता का व्यवहार न करना।

उन्नीसवाँ लक्षण है—ह्री। बुरे कामों से लोक लज्जावश ही सही सदा बचते रहना।

बीसवाँ लक्षण है—अचापल। मन से वचन से कर्म से किसी भी प्रकार की चपलता न करना। इन्द्रिय मन और शरीर को वश में रखना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! ये मैंने भगवान् द्वारा कहे हुए

दैवीसम्पदा के बीस लक्षणों का वर्णन किया। अब शेष ६ लक्षणों को आपसे आगे कहूँगा। आशा है आप इन्हें दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

नहीं जीव को हनन "अहिंसा" "सत्य" यथारथ।
"त्याग" फलाशारहित "शान्ति" मन विषयनि उपरति॥
"अपैशुन" नहिं करै कलह की बातनि इत उत।
"दया" दुखिनि पै नेह 'अलोलुपता" सब जानत॥
"मार्दव" है अति मृदुलता, लोकलाज कूँ 'ह्री' कहत॥
चंचलता तैं रहित जो, "अचापल" ताकूँ भनत॥

दैवी सम्पदा के लक्षण (३)

(३)

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥*

(श्री भ० गी० १६ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

तेजस्वी नित रहै क्षमा हिरदे में धारै।
धीरज धारन करै शौच तैं तन मन झारै॥
द्रोह न कबहूँ करै मान अति करै न भारत।
दुख में दुखी न होहि कबहुँ नहिं होवै आरत॥
ये सब गुन जामें रहैं, समझो वे हैं शुद्ध नर।
दैवी सम्पति में भये, अरजुन! तुम पावन प्रवर॥

दैवी सम्पदा के २६ लक्षणों में से ९ लक्षण प्रथम श्लोक में ११ लक्षण द्वितीय श्लोक में बताये गये। शेष ६ लक्षण इस तृतीय श्लोक में बताकर दैवीसम्पदा को प्राप्त पुरुषों के लक्षण पूरे किये गये हैं। बीस लक्षणों तक का वर्णन तो पिछले प्रकरण

---

* तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और बहुत मान-सम्मान की इच्छा न करना। हे अर्जुन! ये ही दैवीसम्पदा को प्राप्त पुरुषों के लक्षण हैं॥३॥

में हो चुका अब इक्कीसवें सद्गुण से आगे का वर्णन किया जाता है।

दैवीसम्पद् का इक्कीसवाँ सद्गुण है—तेज। कुछ लोग क्रोध को ही तेज समझने लगते हैं, वास्तव में क्रोध तो आसुरी सम्पदा है और वह एक दुर्गुण है। तेज कहते हैं श्रेष्ठ पुरुषों के उस प्रभाव को जिसके कारण दूसरे लोग धर्षित हो जाते हैं। जिसके कारण साधारण लोगों को उनके सम्मुख इधर-उधर की व्यर्थ बातें बनाने का, उनकी आज्ञा उल्लङ्घन न करने का, उनकी ओर देखने का साहस नहीं होता।

श्री रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी को आज्ञा दी, जाओ वन में सीता जी को छोड़ आओ। हमारी आज्ञा मानो, कारण मत पूछो। लक्ष्मण जी ने उनकी इस कठोर आज्ञा का चुपचाप पालन किया। वे सीता जी को चुपके से वाल्मीकि आश्रम के समीप छोड़ आये। और माता जानकी से कह दिया—'माँ! यहाँ से थोड़ी दूर पर भगवान् वाल्मीकि का आश्रम है, उसी में रहकर अपनी विपत्ति के दिनों को बिताओ।"

लक्ष्मण जी को आज्ञा थी, सीता जी को वन में छोड़ कर लौटकर हमें सम्वाद दो।" लक्ष्मण जी ने इतना ही कहा—"हाँ, मैं सीता जी को वन में छोड़ आया।" वाल्मीकि आश्रम में ही भगवती जानकी ने दो पुत्र रत्नों को प्रसव किया। संयोग की बात उस दिन शत्रुहन जी भी वाल्मीक आश्रम पर उपस्थित थे और वे सीता माता को प्रणाम करने भी गये। उनका आशीर्वाद भी ग्रहण किया।

अश्वमेध यज्ञ के समय लव कुश ने श्री रामचन्द्र जी के अश्वमेध के यज्ञीय घोड़ा को भी पकड़ा, उनसे शत्रुघ्न की भरत जी के पुत्र की लड़ाई भी हुई, अङ्गद और हनुमान ने जानकी जी

का दर्शन भी किया। किन्तु श्री रामचन्द्र जी के तेज के सम्मुख इनमें से किसी का भी साहस नहीं हुआ कि श्री रामचन्द्र जी से सीता जी की चर्चा भी करते। श्री रामचन्द्र जी को तो सीता जी का पता तब चला जब लव और कुश ने वाल्मीक रचित समस्त रामायण सुना दी। तब उन्होंने पूछा—"क्या सीता अभी जीवित है? कहाँ है?"

तब लोगों ने बताया—"प्रभो! जगज्जननी निर्दोषा हैं, गङ्गाजल सदृश के पवित्र हैं, वे भगवान् वाल्मीकि के आश्रम पर हैं।"

फिर लक्ष्मण जी को ही आज्ञा हुई—"सीता जी को बुला लाओ।"

दूसरा कोई होता, तो कह देता, किसी दूसरे को भेज दीजिये मुझसे यह पाप न होगा, पहिले कहा छोड आओ, अब कहते हो बुला लाओ। किन्तु श्री राम के तेज के सम्मुख ऐसा कहने का साहस किसका था, लक्ष्मण जी चुपचाप रथ लेकर चले गये।

जगज्जननी का भी तेज कुछ कम नहीं था। श्री रामचन्द्र जी की आज्ञा पाकर भी उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"लक्ष्मण! अब मुझे लज्जित करने को महाराज क्यों बुला रहे हैं। मैं कभी राजपरिषद् में ऐसे गयी नहीं। श्रीराम के सम्मुख भरी सभा में मैं अपराधिना बनकर उनके सम्मुख कैसे जाऊँगी। राजा राम का अब मुझसे प्रयोजन ही क्या है, स्त्री की आवश्यकता सन्तान के ही निमित्त होती है, सो सन्तान मेरे हो ही चुकी। श्रीराम उन दोनों बच्चों को शुद्ध समझें तो अपने पास रखें। मैं तो यहीं वन में तपस्वियों का-सा जीवन बिताते हुए शरीर का अन्त कर दूँगी। महाराज से मेरा यही सन्देश कह देना।"

लक्ष्मण जी माता के तेज के सम्मुख इतने घर्षित हो गये थे, कि उनका साहस एक शब्द भी अपनी ओर से कहने का नहीं हुआ। लौट कर श्रीराम को माता का ज्यों का त्यों सन्देश सुना दिया।

तेजस्वी राम इस उत्तर से तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"सौमित्र! तुम पुनः सीता के पास जाओ। और कहो सीते! तुम्हारी मैं एकमात्र गति हूँ, तुम्हें यहाँ आना ही पड़ेगा। अपनी निर्दोषिता को भरी सभा में अपराधिनी की भाँति खड़े होकर सिद्ध करना ही होगा।"

लक्ष्मण पुनः चुपचाप लौटकर गये। सीता जी ने पति का सन्देश सुना कैसी भी तेजस्विनी थीं, फिर भी पत्नी ही थीं पतिव्रता के धर्म को स्मरण करके अपराधिनी की भाँति सभा में गयीं। आज श्रीराम उनके प्राणनाथ पति नहीं थे, आज वे कठोर शासक थे, उन्होंने सिंहासन पर बैठे हुए सीता जी को देखा तक नहीं। सब के सामने अपराधियों के कठघरे में सीता को खड़ी होने की आज्ञा हुई। आज वाल्मीकि ऋषि के रूप में नहीं साक्षी के रूप में उपस्थित हुए। श्री रामचन्द्र न्याय सिंहासन पर बैठे रहे। महर्षि खड़े होकर साक्षी देते रहे। जानकी के साथ घोर अन्याय हो रहा था। सब जानते थे जानकी जी गङ्गा जल के सदृश पवित्र हैं, श्रीरामचन्द्रजी भी जानते थे किन्तु जानते थे सीता के प्राणाधार राम। यह कठोर शासक निर्दयी राम, जो सिंहासन पर बैठा था, वह जानकर भी अनजान बना हुआ था। उस समय अन्तःपुर की स्त्रियाँ ढाह मार कर रो रही थीं, प्रजा हाय हाय! चिल्ला रही थी। दूसरा कोई तेजहीन राजा होता तो प्रजा विप्लव कर देती, किन्तु श्रीराम के तेज के सम्मुख किसी का चूँ तक करने का साहस नहीं हुआ। तेजस्वी पुरुष प्रसन्न

सत्यता, न्याय-प्रियता, पक्षपात-रहित होने के कारण ऐसे बन जाते हैं, कि किसी को उनके तेज के सामने बोलने तर्क का साहस नहीं होता। जिसको भी वे जो भी आज्ञा दे देते हैं, उसे तत्काल उनकी आज्ञा का पालन करना ही पड़ता है।

एक यवन सेना का सेनापति था। अत्यन्त ही तेजस्वी था। युद्ध में जब शत्रु सेनायें लड़ने आतीं, तो वह प्रतिपक्ष की अपने शत्रु की सेना को आज्ञा देता—"आपस में ही लड़ने लगो।" तो शत्रु सेना उसकी आज्ञा से आपस में परस्पर में लड़कर मर जातीं उसकी आज्ञा में इतना तेज होता, कि उसका प्रतिवाद करने का किसी का साहस ही नहीं होता।

पंचनद के एक महाराजा बड़े तेजस्वी थे, वे एक आँख से काने थे। एक सेवक बीसों वर्ष से उनकी निजी सेवा में रहता था। एक विदेशी ने उनके निजी सेवक से पूछा—"भाई हमने सुना है तुम्हारे महाराजा एक आँख से काने हैं?"

उसने उत्तर दिया—"मुझे तो इस बात का पता नहीं कि वे काने हैं या दो आँखों वाले, काले हैं या गोरे। उनका इतना भारी तेज है, कि आज तक उनके मुख की ओर देखने का मुझे कभी साहस ही नहीं हुआ।"

तेजस्वी पुरुषों के सम्मुख न कोई बोल ही सकता है, न कोई अपने पाप को उनके सम्मुख छिपा सकता है। तेज के कारण उनकी आज्ञा अप्रहति होती है।

दैवी सम्पद् का बाईसवाँ लक्षण है, क्षमा। जिसने अपना अपराध किया हो और अपने में उसे दंड देने की सामर्थ्य भी हो, फिर भी दंड न देकर उसके अपराध की ओर ध्यान न देना इसी का नाम क्षमा है। ब्राह्मणों में यही विशेषता थी कि वे अपराधी को भी दंड नहीं देते थे। जब महर्षि जमदग्नि के आश्रम से हैहय

वंशी राजा सहस्रार्जुन बल पूर्वक उनकी कामधेनु को हाँक ले गया तब भी महर्षि ने उनका प्रतिरोध नहीं किया। उनके पुत्र क्रोधी परशुरामजी ने जब यह बात सुनी तो वे फरसा लेकर राजधानी में गये। राजा को मारकर गौ को छुड़ा लाये। तब महर्षि ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा—"हाय! हाय! परशुराम! तुमने यह क्या किया। तुम वीर हो तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि तुम किसी की हत्या कर डालो। देखो हम ब्राह्मण है, हमें जो सबसे श्रेष्ठ पूजनीय पद प्राप्त हुआ है वह क्षमा के ही कारण हुआ है। क्षमा ही हम लोगो का परम भूषण है। औरों की बात जाने दो, लोक पितामह ब्रह्मा को भी क्षमा गुण के ही कारण ब्रह्मपद प्राप्त हुआ है। ब्राह्मण जो सूर्य के समान सर्वत्र चमकते रहते हैं, इसका एक मात्र कारण उनका क्षमा गुण ही है। श्रीभगवान् भी क्षमागुण वालों पर शीघ्र प्रसन्न होते हैं अतः जाओ तीर्थ यात्रा करके अपने पाप का प्रायश्चित्त करो।

महर्षि शमीक के पुत्र शृंगी ने भी जब पिता के गले में मृतक सर्प डालने वाले महाराज परीक्षित् को शाप दे दिया, तब ऋषि ने राजा के अपराध की ओर तो तनिक भी ध्यान नहीं दिया, उलटे अपने पुत्र को डाँटते हुए कहा—"तू बड़ा मूर्ख है। राजा ने भूख प्यास के कारण कुछ कर भी दिया, तो तुझे क्षमा कर देना चाहिये।"

क्षमा सबसे भारी गुण है, जो अपराधी को क्षमा नहीं कर सकता, उसमें त्रुटि है, वह सब में भगवान् को देखने का अभ्यासी नहीं। जो प्राणी मात्र में भगवान् के दर्शन करता है, उसकी दृष्टि में कोई अपराधी है ही नही। जब कोई अपराधी नहीं है तो किसको बुरा कहे, किसे दंड दे।

महाराष्ट्र के एक महात्मा गोदावरी स्नान करके आ रहे थे,

एक दुष्ट पुरुष ने उन पर थूक दिया। वे पुनः स्नान करने चले गये। ऐसे उसने १०८ बार थूका और वे बार-बार उत्साह पूर्वक स्नान करने चले जाते। अंत में दुष्ट की बुद्धि शुद्ध हुई। उसने उनके चरणों में पड़कर क्षमा याचना की।

तब महात्मा ने कहा—"अरे इसमें क्षमा की क्या बात है, तुमने तो हम पर बड़ा उपकार किया १०८ बार गंगा स्नान का फल प्राप्त करा दिया। वैसे हम एक बार स्नान करके ही चले जाते।" यही क्षमा का सच्चा स्वरूप है।

रीवाँ राज्य के एक महाराजा थे, वे लगभग सौ वर्ष के हो गये थे। उनके राजकुमार भी ७०-८० वर्ष के हो गये। पिता को मरते न देखकर राज्य पाने के लोभ से उसने पिता के रसोइये से मिल कर दूध में उन्हें विष दिला दिया। रसोइये ने भगवान् का भोग लगाकर ज्यों ही दूध का पात्र महाराजा के हाथ में दिया, त्यों ही उसका सत्य जाग उठा। उसने महाराज को रोकते हुए कहा—"अन्नदाता! इस दूध को न पियें?"

महाराज ने पूछा—"क्यों?"

रसोइये ने कहा—"महाराज! मैंने इसमें महाराज कुमार के कहने से विष मिला दिया है?"

महाराज ने पूछा—"तुमने भगवान् का भोग लगा दिया था?"
रसोइये ने कहा—"हाँ, महाराज! भोग तो लगा दिया था।"

महाराज ने कहा—"जब भगवान् ने इसे पी लिया है, तो इस भोग का मैं कैसे परित्याग कर सकता हूँ।" यह कह कर वे पूरे दूध को पी गये। फिर राजकुमार को बुलाकर हँसते हुए बोले—"अरे, तुमने हमसे क्यों नहीं कहा, कि हमें राजा बना दो। यह तो तुम मेरे ऊपर कृपा करके मेरा भार हलका कर देते। लो, आज से तुम राजा हुए।"

उसी दिन उन्हें राजगद्दी देकर वे चित्रकूट में तपस्या करने चले गये। क्षमा का ऐसा दृष्टान्त इस युग में और कहाँ मिलेगा।

दैवी सम्पदा का तेईसवाँ लक्षण है—धृति। धृति धैर्य का नाम है, इसकी विशेष परीक्षा विपत्ति में होती है। कितनी भी आपत्ति सिर पर पड़ जायँ, किन्तु इन विपत्तियों के कारण तनिक भी विचलित न होने का ही नाम धृति है। इस विषय में महाराज शिवि का दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। जो धैर्यवान पुरुष हैं, वे किसी फल की आकांक्षा से ऐसे दुष्कर धर्म का पालन नहीं करते उनका स्वभाव ही होता है, कि भारी से भारी विपत्ति पड़ने पर भी विचलित नहीं होना।

महाभारत का एक आख्यान है, एक बार अष्टक, प्रतर्दन, वसुमना और शिवि ये चारों भाई रथ पर चढ़ कर स्वर्ग जा रहे थे। मार्ग में उन्हें नारदजी मिल गये चारों ने नारदजी से प्रार्थना की आप भी हमारे साथ इस रथ पर बैठ जाइये। नारदजी तो घुमक्कड़ ही ठहरे उन्हें इसमें क्या आपत्ति होनी थी। वे भी रथ में बैठ गये। जब नारदजी रथ पर बैठ गये तब बात चलाने को एक राजा ने पूछा—"भगवन्! हम चारों अक्षय स्वर्ग को जा रहे हैं—हममें से सर्व प्रथम पुण्य किसका क्षीण होगा। कौन सबसे पहिले पृथ्वी पर ढकेला जायगा। तब नारदजी ने अष्टक का नाम बताया इसलिये कि यह अपनी प्रशंसा अपने मुख से करता है।"

इस पर तीनों ने पूछा—"हम तीनों में से कौन पहिले पृथ्वी पर आवेगा, तब नारदजी ने कहा—तुम में से पहिले प्रतर्दन का पुण्य क्षीण होगा, क्योंकि यह दान तो करता है, किन्तु पूर्ण श्रद्धा के साथ नहीं संकोच के साथ विवशता पूर्वक देता है। देने वालों को कठोर वचन कह कर देता है।"

तब दोनों में से एक ने पूछा—"हम दोनों में से कौन पहिले

स्वर्ग से च्युत होगा। तब नारदजी ने वसुमना का नाम लिया। इसलिये कि यह दान देता तो है मधुर वचन भी बोलता है, किन्तु कभी-कभी कहकर भी नहीं देता। मीठी बातें कहकर टरका देता है।"

अब रह गये शिवि तब एक ने पूछा—"अच्छा, मान लो महाराज शिवि और आप दोनों स्वर्ग में जायें, तो आप दोनों में से कौन पहिले पृथ्वी पर आवेगा, किसका पुण्य पहिले क्षीण होगा ?"

इस पर नारदजी ने कहा—"हम दोनों में से मेरा ही पहिले पुण्य क्षीण होगा, मै महाराज शिवि की बराबरी किसी प्रकार भी नहीं कर सकता। इनके समान धृतियुक्त-धैर्य वाला पुरुष मिलना अत्यन्त कठिन है।"

एकबार महाराज शिवि के समीप एक ब्राह्मण ने आकर कहा—"राजन् ! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे खाने को भोजन दीजिये।"

शिवि ने कहा—"ब्रह्मन् आप आज्ञा करें, आप क्या भोजन करेंगे ?"

ब्राह्मण ने कहा—"मैं तो अघोरी हूँ, मांस भक्षण करूँगा।"

शिवि ने कहा—"आप जिसका मांस खावें उसी का मांस मैं मंगा दूँ ?"

ब्राह्मण ने कहा—"मै तो नर का मांस खाऊँगा। वह भी राजकुल का हो, सो भी अविवाहित। यदि आप अपने पुत्र बृहद्-गर्भ का मांस पकाकर मुझे खिलावें तो मैं खा सकता हूँ।"

राजा ने कहा—"आप यहीं विराजिये मैं अभी लाता हूँ।"

ऐसा कह कर महाराज शिवि गये। उन्होंने अपने पुत्र को मार कर उसका मांस पकाकर उसे एक थाल में रखा और उस थाल को वस्त्र से ढककर, स्वयं अपने सिर पर रखकर ब्राह्मण के

समीप गये। किन्तु वह ब्राह्मण वहाँ मिला नहीं, वे ब्राह्मण को खोजने चले, तभी एक व्यक्ति ने आकर महाराज से कहा—"महाराज। वह ब्राह्मण तो दुखित होकर भूख के कारण कोप में भर कर आपके महलों को, धनागार को, शस्त्रागार, अश्वशाला आदि में आग लगा रहा है।"

इतना सुनकर भी महाराज शिवि विचलित नहीं हुए, उन्होंने न तो कोप किया और न दुःख ही। धैर्य धारण किये हुए ब्राह्मण के समीप गये और बड़ी ही नम्रता के साथ बोले—"ब्रह्मन्! मेरे अपराध को क्षमा करें, मुझे आने में देर हो गयी। अब भोजन तैयार है, आप इसे ग्रहण करें। ब्राह्मण यह सुन कर कुछ देर तो चुप रहा। पुनः क्रोध में भरकर बोला—"इसे तू ही खाले।" राजा ने वस्त्र उठाकर ज्यों ही ब्राह्मण की आज्ञा का पालन करना चाहा, त्योंही ब्राह्मण ने राजा का हाथ पकड़ लिया और कहा—"राजन्! आपकी धीरता को धन्य है, आप महान् सहनशील है, क्रोध को आपने क्षमा द्वारा जीत लिया है, घोर विपत्तियों में भी आप घबडाते नहीं।"

ब्राह्मण राजा के सद्गुणों की प्रशंसा कर ही रहे थे, कि राजा को सामने से वस्त्रालंकारो से सुसज्जित हँसता हुआ अपना वही पुत्र आता हुआ दिखायी दिया जिसका मांस वे लाये थे। वे ब्राह्मण भी और कोई नहीं थे। साक्षात् ब्रह्माजी ही थे जो राजा के धैर्य की परीक्षा लेने आये थे।

राजा ने महान् दुष्कर कर्म किया था। ऐसा दुष्कर कर्म कोई कर नहीं सकता था। इस पर राजा के मंत्रियों ने पूछा—"महाराज! आपने किस कामना से ऐसा दुष्कर्म किया? क्या आप यश प्राप्ति की इच्छा से ऐसा कार्य किया करते हैं?"

राजा शिवि ने उत्तर दिया—'मैं जो दान देता हूँ, वह यश

ऐश्वर्य तथा स्वर्गादि लोकों की कामना से नहीं देता। दान देना धर्म है, इस प्रथा को पूर्ववर्ती पुण्यात्मा पुरुषों ने प्रचलित किया है इसलिये मुझे भी इसका प्रेमपूर्वक पालन करना चाहिये, यही सोचकर मैं दान देता हूँ। पूर्व पुरुषों के प्रचरित पुण्य पथ पर पुरुषों को चलना चाहिये, इसी भावना से मैं निष्काम भाव से दान धर्म करता हूँ।"

नारदजी कह रहे हैं—"सो राजकुमारो! शिवि के सदृश मैं निष्काम भाव से कर्म करने वाला क्रोध रहित, क्षमावान धैर्यशाली नहीं हो सकता। धृति का यह एक अद्भुत उदाहरण है।"

दैवीसम्पद् का चौबीसवाँ लक्षण है—शौच। शौच कहते हैं बाहर भीतर की पवित्रता को। बाहर की पवित्रता तो मिट्टी जल से होती है, यहाँ शौच से अभिप्राय भीतरी शुद्धि से ही है। भीतरी शुद्धि शुद्ध आहार से होती है। जैसा अन्न खाया जायगा वैसा ही मन बनेगा, अतः शुद्धता से प्राप्त किया, शुद्धता से बनाया हुआ, शुद्ध व्यक्तियों द्वारा लाया हुआ आहार ही करना चाहिये। द्रव्यदुष्ट, भावदुष्ट, दृष्टिदुष्ट, व्यक्तिदुष्ट आहार नहीं करना चाहिये। अन्न का दोष अन्तःकरण पर तत्काल पड़ता है। भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य और शल्य तीनों ही के समीप पांडव युद्ध के पूर्व प्रणाम करने गये थे, तीनों ने ही एक ही बात कही—"यह पुरुष अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं। हमने दुर्योधन का अन्न खाया है। इसी से अधर्म पक्ष समझकर भी उसकी ओर से लड़ रहे हैं" भीतर का शौच आहार शुद्धि द्वारा होता है।

दैवीसम्पद् का पच्चीसवाँ लक्षण है—अद्रोह। द्रोह कहते हैं शत्रुता के कारण अपकार करने को। जो शत्रुतावश अपकार भी करने वाला हो, उसके साथ भी द्रोह न करके प्रेमपूर्वक वर्ताव करने को अद्रोह कहते हैं।

एक महाराजा थे। उनके चार छोटे भाई थे। महाराज ने अपने चारों छोटे-छोटे भाइयों को तो चारों दिशाओं में राज्य दे रखे थे, स्वयं चक्रवर्ती बनकर सब की सम्हाल करते थे। उनका एक पुरोहित था, वह उनसे जलता था। उसने चारों छोटे भाइयों को बहकाकर उन्हें उलटी सीधी बातें समझाकर बड़े चक्रवर्ती भाई को मारने को चार कृत्यायें छोड़ीं। किन्तु वे ऐसे धर्मात्मा थे, कि वे चारों कृत्यायें उनके तेज के कारण उनके समीप जा न सकीं। उलटी लौटकर उन भाइयों को और पुरोहित को ही मार डाला। जब यह समाचार चक्रवर्ती महाराजा ने सुना तो वे भाइयों के पास गये भगवान् से प्रार्थना करके पुरोहित के सहित उन्हें जीवित कराया। उनका बड़ा आदर किया। पुरोहित से तनिक भी द्रोह न करके उनका सम्मान किया। उनकी इसी अद्रोह वृत्ति के कारण कृत्या उनका कुछ भी अनिष्ट न कर सकीं और अपने भाइयों को भी जीवित कर लिया।

दैवीसम्पद् का छब्बीसवाँ लक्षण है—न अतिमानता। अर्थात् अधिक मान सम्मान की इच्छा न करना। मान सम्मान की इच्छा होना यह स्वाभाविक है, जैव धर्म है, किन्तु मान सम्मान के पीछे पागल बने रहना। पग-पग पर इस बात का ध्यान रखना यहाँ हमारा मान क्यों नहीं हुआ। यहाँ हमारा अपमान न हो जाय, यह मूर्खता है। बहुत से लोग अपना सिंहासन अपने साथ बाँधे फिरते है, बहुत से लोग कोई भूल से उनसे तनिक ऊपर बैठ गया, तो वे जल भुनकर भस्म हो जाते हैं, यह आसुरी प्रकृति है। अरे, काहे का मान काहे का अपमान। शरीर तो जड है, पांच भौतिक है, मलायतन है, इसका क्या मान। आत्मा नित्य है; मान अपमान से रहित हैं। आत्मा का कोई अपमान कर ही नहीं सकता। फिर सम्मान के पीछे पागल बने रहना मूर्खता

नहीं तो और क्या है। अतः दैवी सम्पद् सम्पन्न पुरुष मान के लिये विशेष अधीर नहीं रहते। मान मिले तो अच्छा न मिले तो उससे भी अच्छा। इस प्रकार ये छब्बीस लक्षण दैवीसम्पदा प्राप्त पुरुषों में स्वाभाविक होते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने कहा—"अर्जुन बीस लक्षण तो दैवीसम्पदा के मैंने तुम्हें बता ही दिये। अब इक्कीसवाँ लक्षण है—स्वाभाविक तेज।"

बाईसवाँ लक्षण है—"अपराधी के प्रति भी क्रुद्ध न होना, उसके अपराधों को सरलता पूर्वक क्षमा कर देना।"

तेईसवाँ लक्षण है—"धृति। अर्थात् विपत्ति में भी दुःखों को देखकर अन्तःकरण की वृत्ति को विचलित न होने देना। अपने संतुलन को नष्ट न होने देना।"

चौबीसवाँ लक्षण है—"शौच। अन्तःकरण जिन कारणों से पवित्र रहे, तथा बाहरी इन्द्रियाँ भी जिन वस्तुओं से पवित्र रहें, उन्हीं साधनों को सावधानी के साथ सतत करते रहना।"

पच्चीसवाँ लक्षण है—"अद्रोह। जो अपने साथ अभद्र व्यवहार करे बुरा बर्ताव करे, उसके प्रति भी द्वेष के भाव न रखना। उसके साथ भी स्नेह का बर्ताव करना।"

छब्बीसवाँ लक्षण है—"नातिमानिता। अपने में पूज्यपने का दर्प न रखना। कोई सम्मान न करे तो उस पर क्रोध न करना। मान अपमान को समान समझना।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ये दैवीसम्पद के गुण कैसे आवें?"

भगवान् ने कहा—"ये सब सम्पदायें पूर्व जन्म के शुभ कर्मों द्वारा जन्मजात स्वाभाविक ही हुआ करती हैं। पूर्व वासनाओं के ही अनुसार विद्या तथा कर्म प्रकट हो जाया करते हैं। जिन्होंने पूर्व जन्मों में जप, तप, यज्ञ, यागादि पुण्य कर्म किये हैं, वे पुण्यात्मा

योनियों में उत्पन्न होकर पुण्यवान् पुरुष होते हैं। जिन्होंने पूर्व जन्मों में क्रूर कर्म किये हैं, वे पाप कर्म करने वाले पापी होते हैं। अतः ये दैवीसम्पदायें शरीरारम्भ के ही समय से हो जाती हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवान्! आप ने दैवीसम्पदाओं का तो वर्णन कर दिया। अब कृपा करके आसुरीसम्पदाओं का वर्णन और कर दें। जो लोग आसुरीसम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए हैं, उन पुरुषों के लक्षण क्या है?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! आसुरीसम्पदा का तो बड़ा विस्तार है, जितने भी क्रूर कर्म है सब आसुरीसम्पदा के अन्तर्गत ही हैं। उनका विस्तार न करके मै केवल ६ में ही समस्त आसुरीसम्पद् के लक्षणों को अन्तर्भुक् कर दूंगा। उन ६ में पूरी आसुरीसम्पदाओं का समावेश हो जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"वे ६ लक्षण कौन-कौन से हैं?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् जैसे आसुरी सम्पदा के लक्षणों का वर्णन करेंगे, उस प्रसंग को मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

अज्ञानि वश नहिँ होइ वही गुन "तेज" कहावै।
अपराधी अपराध "क्षमा" करि मन नहिँ लावै॥
"धृति" धीरज कूँ कहैं न विचलित दुख में होवै।
"शौच" शुद्धता कहत उभय इन्द्रिनि मल धोवै॥
अरि हू के प्रति सरलता, द्रोहरहित "अद्रोह" है।
"नातिमानिता" भाव सम, छब्बिस गुन दैवी कहै॥

[इसके आगे की कथा अगले अंक में पढ़िये]

—:❀:—

छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय

श्री भर्तृहरि के नीति, शृङ्गार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद।

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही, अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित सा होता जा रहा है। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि श्री महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान् एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की पुस्तक प्रेस में पहुँच गई है शीघ्र ही आपको प्राप्त होगी।

मुरली मनोहर

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८०

गीतावार्त्ता (१२)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रथम सस्करण १००० प्रति] कातिक पूर्णिमा २०२७ [मू० १.६५ पै०

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

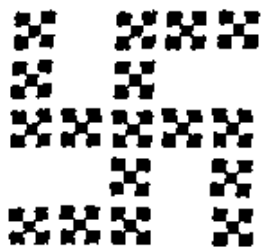

● मुद्रक :
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

	विषय	
	गीता माहात्म्य १५	१
	गीता माहात्म्य १६	१०
१	आसुरी सम्पदा के लक्षण	२०
२	दैवी सृष्टि और आसुरी सृष्टि	३८
३	आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो का स्वभाव (१)	४७
४	आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो का स्वभाव (२)	५५
५	आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो का स्वभाव (३)	६१
६	आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो का स्वभाव (४)	६८
७	आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो का स्वभाव (५)	७५
८	आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो का स्वभाव (६)	८३
९	आसुरी प्रकृति वाले पुरुषा का स्वभाव (७)	९०
१०	आसुरी प्रकृति के पुरुषो की अधोगति	९७
११	नरक के तीन द्वार	१०३
१२	कर्तव्याकर्तव्य मे शास्त्र ही प्रमाण है	११२
१३	त्रिविधा-श्रद्धा	११८
१४	श्रद्धा अन्त करणानुरूप होती है	१२४
१५	दम्भ अहकारयुक्त तपादि करने वाले आसुरी प्रकृति के हैं	१३२

१६ आहारादि के सात्त्विकादि भेद १४२
१७. राजस और तामस आहार १४८
१८. त्रिविध यज्ञ १५५
१९. शारीरिक-तप १६३
२०. वाचिक-तप १६९
२१. मानसिक-तप १७९
२२. सात्त्विक त्रिविध तप १८६
२३. राजस और तामस त्रिविध तप १९२
२४ सात्त्विक दान १९७
२५ राजस और तामस दान २०५
२६ यज्ञादि मे सर्व दोष निवृत्यर्थ ॐ तत्सत् का प्रयोग करे २१२
२७ ओंकार का महत्त्व २१७
२८ तत् और सत् का महत्त्व २२२
२९ सद् असद् विवेचन २२७

॥ श्री हरिः ॥

व्यवस्थापक का वक्तव्य

भागवती कथा (गीता वार्ता) के पाठकों से निवेदन !

भागवती कथा के अन्तर्गत जो यह गीतावार्ता निकल रही है। यह भागवती कथा के ६९ खण्ड से आरम्भ हुई है और इस ८० वें खंड में इसके १२ खंड समाप्त हो गये। पूज्यपाद श्री महाराजजी १०–१५ वर्ष तक गोरक्षा आन्दोलन मे सक्रिय कार्य करते रहे अतः ६८ वें खंड से प्रकाशन बंद हो गया था। अब लगभग सवा वर्ष से पुनः खंडो का प्रकाशन आरम्भ हुआ। आरम्भ होते समय अत्यन्त कठिनाइयाँ थी। वृन्दावन का जो संकीतन प्रेस था, उसे भी यहीं उठा लाये, वहाँ लगभग डेढ़ वर्ष से ज्यो का त्यों बन्द पड़ा है। यहाँ के प्रेस पर आश्रम पर भी ऋण हो गया था और सब कार्य अस्त व्यस्त हो गये थे। भागवती कथा के बहुत से पिछले खंड भी समाप्त हो गये थे। किन्तु भगवत् कृपा के अधार पर तथा अपने कृपालु सहयोगियो के सहयोग के सहारे कार्य आरम्भ कर दिया। अब हम प्रायः प्रतिमास एक तो नया खंड निकालते हैं, एक पिछले समाप्त हुए पुराने खंडों में से निकालते हैं और एक कोई छोटी-मोटी भागवती कथा के अतिरिक्त पुस्तक निकालते हैं। इतना सब होने पर भी अभी तक हम पुस्तकों की निकासी का, बिक्री का कोई प्रबन्ध नहीं कर सकें, पुस्तकें छपती रहें उनकी बिक्री न हो तो आगे कैसे निकल सकती हैं। पहिले भागवती कथा के एक हजार से ऊपर ग्राहक थे। बीच में प्रकाशन बंद होने से सब टूट गये। कुछ पुराने लोग परलोक

पधार गये, कुछ सरकारी नौकर इधर-उधर अस्त व्यस्त हो गये। पुरानी सरकारें जो पुस्तकें लेती थीं—जैसे उत्तर प्रदेश सरकार प्रत्येक खंड की ३००-३०० प्रति लेती थी, बिहार सरकार प्रति खंड की १८०-१८० प्रति लेती थी, उन सबने लेना बन्द कर दिया। अब नये ग्राहक अब तक कुल २०० के लगभग बने हैं २०) मे उन्हें डाक व्यय सहित १२ खंड हम देते हैं। यदि २०-२० रु० देने वाले दो हजार ग्राहक हो जायँ तो भागवती कथा अपने पैरो खड़ी हो जाय। वैसे प्रयत्न करने पर दो हजार ग्राहक बनना कोई कठिन नहीं हैं, किन्तु हमारी ही त्रुटि है, हमारी ओर से ग्राहक बढ़ाने के जो प्रयत्न है उनमे से एक भी प्रयत्न नहीं है। न हमारे ऐजेंट है, न कहीं विज्ञापन है, न समालोचना न बिक्री का प्रबन्ध अपनी ओर से कोई उद्योग ही नहीं, इस ओर ध्यान दे, कोई योग्य व्यक्ति ही नहीं।

हिन्दी में ऐसे उदार सहयोगियो का ही अभाव है। तेलगु भाषा मे भागवती कथा के ६० खंड छप गये है। ४० खंड पहिले छप चुके थे। एक व्यक्ति ने भागवती कथा पढ़ी। अनुवादक से पूछा—इतनी आकर्षक मनोरंजक शिक्षाप्रद पुस्तक के आगे के खंड क्यो नहीं छप रहे हैं। अनुवादक श्री तरमया ने कहा—अर्थ के अभाव से नहीं छप रहे हैं। उन्होने तुरन्त दस हजार रुपये दिये जिससे आगे के खड छप गये। इसका नाम गुण ग्राहकता है।

हमने ५००) ५००) के संरक्षक बनाने की योजना बनायी। कि जो महानुभाव ५००) देकर संरक्षक बन जायँगे। उन्हें भागवती कथा के सब पिछले खंड, आगे प्रकाशित होने वाले खंड तथा संकीर्तन भवन से प्रकाशित अन्य समस्त ग्रन्थ उनके सम्मानार्थ

बिना मूल्य प्रदान किये जायँगे। सो ऐसे सरक्षक भी अब तक १५-१६ ही बने हैं।

अब हम सब पाठको से तो क्या कहे। सब लोग करते नही। पढ लेते हैं और इसी में अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं। अत सब कर सके तब तो बहुत ही उत्तम, नहीं तो जो बन्धु समर्थ हो, व भागवता कथा के प्रचार प्रसार में सहयोग दें।

वे इस प्रकार सहयोग दे सकते हैं।

१. अपने इष्ट मित्रो को भागवती कथा के ग्राहक बनावें। उनसे २०) वर्ष भर के भिजवावें। कम से कम ५-५ ग्राहक सभी बनावें अधिक जितने भी बना सकें बनावें अधिकस्य अधिक फलम्।

२ अपने यहाँ जो विक्रेता हो, उनसे सकीर्तन भवन की पुस्तकें विक्रयार्थ मँगवाने को कहें।

३. जिनकी पुस्तकालयो मे पहुँच हो, वे विद्यालयो के लिये तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों को भागवती कथा मँगावें।

४. जो समर्थ हो वे ५००) रुपये भेजकर आजीवन सदस्य बन जायँ।

५. जो समर्थ हों अपने द्रव्य से भागवती कथा के पूरे खडों को योग्य व्यक्तियों को अथवा पुस्तकालया को दान दें।

६. पुत्री के विवाह म दहेज के साथ एक भागवती कथा का सेट भी बच्ची को प्रदान करें। इस प्रकार ध्यान देने पर पाठक इसके प्रचार प्रसार मे सहयोग दें।

जो भाई (गीता वार्ता) के ६९ वें खड से ग्राहक बने हैं उनकी न्योछावर इस ८० वें खड मे समाप्त हो गयी है। वे ७९-८० खडो को पाते ही २०) मनीआर्डर से तुरत भेज दें। ऐसा न हो वी० पी० उनके पास जाय और

पधार गये, कुछ सरकारी नौकर इधर-उधर अस्त व्यस्त हो गये। पुरानी सरकारें जो पुस्तकें लेती थीं-जैसे उत्तर प्रदेश सरकार प्रत्येक खंड की ३००-३०० प्रति लेती थी, बिहार सरकार प्रति खंड की १८०-१८० प्रति लेती थी, उन सबने लेना बन्द कर दिया। अब नये ग्राहक अब तक कुल २०० के लगभग बने हैं २०) में उन्हें डाक व्यय सहित १२ खंड हम देते हैं। यदि २०-२० रु० देने वाले दो हजार ग्राहक हो जायें तो भागवती कथा अपने पैरों खड़ी हो जाय। वैसे प्रयत्न करने पर दो हजार ग्राहक बनना कोई कठिन नहीं हैं, किन्तु हमारी ही त्रुटि है, हमारी ओर से ग्राहक बढ़ाने के जो प्रयत्न हैं उनमें से एक भी प्रयत्न नहीं है। न हमारे ऐजेंट हैं, न कहीं विज्ञापन है, न समालोचना न बिक्री का प्रबन्ध अपनी ओर से कोई उद्योग ही नहीं, इस ओर ध्यान दे, कोई योग्य व्यक्ति ही नहीं।

हिन्दी में ऐसे उदार सहयोगियों का ही अभाव है। तेलगु भाषा में भागवती कथा के ६० खंड छप गये हैं। ४० खंड पहिले छप चुके थे। एक व्यक्ति ने भागवती कथा पढ़ी। अनुवादक से पूछा—इतनी आकर्षक मनोरंजक शिक्षाप्रद पुस्तक के आगे के खंड क्यों नहीं छप रहे हैं। अनुवादक श्री तरमया ने कहा—अर्थ के अभाव से नहीं छप रहे हैं। उन्होंने तुरन्त दस हजार रुपये दिये जिससे आगे के खंड छप गये। इसका नाम गुण ग्राहकता है।

हमने ५००) ५००) के संरक्षक बनाने की योजना बनायी। कि जो महानुभाव ५००) देकर संरक्षक बन जायेंगे। उन्हें भागवती कथा के सब पिछले खंड, आगे प्रकाशित होने वाले खंड तथा संकीर्तन भवन से प्रकाशित अन्य समस्त ग्रन्थ उनके सम्मानार्थ

बिना मूल्य प्रदान किये जायँगे। सो ऐसे संरक्षक भी अब तक १५-१६ ही बने हैं।

अब हम सब पाठकों से तो क्या कहें। सब लोग करते नहीं। पढ़ लेते हैं और इसी में अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं। अतः सब कर सकें तब तो बहुत ही उत्तम, नहीं तो जो बन्धु समर्थ हों, वे भागवती कथा के प्रचार प्रसार में सहयोग दें।

वे इस प्रकार सहयोग दे सकते हैं।

१. अपने इष्ट मित्रों को भागवती कथा के ग्राहक बनावें। उनसे २०) वर्ष भर के भिजवावें। कम से कम ५-५ ग्राहक सभी बनावें अधिक जितने भी बना सकें बनावें अधिकस्य अधिकं फलम्।

२. अपने यहाँ जो विक्रेता हों, उनसे संकीर्तन भवन को पुस्तकें विक्रयार्थ मँगवाने को कहें।

३. जिनकी पुस्तकालयों में पहुँच हो, वे विद्यालयों के लिये तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों को भागवती कथा मँगावें।

४. जो समर्थ हो वे ५००) रुपये भेजकर आजीवन सदस्य बन जायँ।

५. जो समर्थ हो अपने द्रव्य से भागवती कथा के पूरे खंडों को योग्य व्यक्तियों को अथवा पुस्तकालयों को दान दें।

६. पुत्री के विवाह में दहेज के साथ एक भागवती कथा का सेट भी बन्नी को प्रदान करें। इस प्रकार ध्यान देने पर पाठक इसके प्रचार प्रसार में सहयोग दें।

जो भाई (गीता वार्ता) के ६९ वें खंड से ग्राहक बने हैं उनकी न्योछावर इस ८० वें खंड में समाप्त हो गयी है। वे ७९-८० खंडों को पाते ही २०) मनीआर्डर से तुरंत भेज दें। ऐसा न हो वी० पी० उनके पास जाय और

लौट जाय इससे आश्रम को बड़ी हानि होगी। अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

जो बन्धु किसी कारण से आगे को ग्राहक न रहना चाहें वे एक पत्र लिखकर हमें अवश्य-अवश्य सूचित कर दें।

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) } विनीत—
व्यवस्थापक

गीता माहात्म्य

[१५]

पुरुषोत्तम योगस्य पाठं कुर्वन्ति ये नराः।
श्लोकार्धं श्लोकपाद वा श्रुत्वा स्वर्गमवाप्यते ॥❀

(प्र० द० ब्र०)

छप्पय

पन्द्रहवें अध्याय माहिं श्रीभगवत गीता।
शुभ पुरुषोत्तम योग सुनत छूटत भवभीता॥
नृप कृपान-नरसिंह देश शुभ-गौड़ जनेश्वर।
सचिव सरभमेरु ड दुष्ट मरि अश्व भयो वर॥
व्यापारी तैं करयो क्रय, चढ़ि अखेट हित नृप गये।
लिख्यो अर्ध इश्लोक तहँ, गीता नृप बाचत भये॥

आर्षग्रन्थो के श्रवण का भी बडा माहात्म्य है। यदि श्रवण का माहात्म्य न होता, तो इन वृक्षादि का उद्धार कैसे होता। वृक्ष तो कहीं सत्संग करने जा नहीं सकते। बोलकर अपने भावो

❀ जो पुरुष श्रीमद्भगवत् गीता के पुरुषोत्तम योग नाम वाले पन्द्रहवें अध्याय का पाठ करेंगे। पूरे अध्याय न सही आधे श्लोक अथवा एक पाद का ही पाठ करेंगे, पाठ न करें केवल श्रवण मात्र से ही वे देवलोक को प्राप्त कर लेंगे।

को व्यक्त नही कर सकते। उनकी छाया में संत महात्मा बैठकर स्तोत्र आदि का पाठ करते हैं, भगवन्नामो का कीर्तन करते हैं, उन्हे सुनकर ही उनका उद्धार हो जाता है। यमलार्जुन वृक्षो का उद्धार भगवान् श्रीकृष्ण के स्पर्श मात्र से ही हो गया।

एक बडा भारी बट का वृक्ष था, उसके नीचे किसी विरक्त वैष्णव ने बैठकर श्रीमद्भागवत का पारायण किया। उस वृक्ष ने भी भागवती संहिता का श्रवण किया और उसके सुनते ही वह वृक्ष योनि से मुक्त हो गया।

एक आचार्य ने एक अश्वत्थ वृक्ष को वैष्णवी दीक्षा दी। दीक्षा प्राप्त करते ही–मंत्र श्रवण करते ही–वृक्ष तुरन्त सूख गया। वृक्ष योनि का परित्याग करके दिव्य देह धारण करके स्वर्ग चला गया।

इन वेद शास्त्रों के मंत्रों में ऐसी शक्ति होती है, कि इनका अर्थ चाहे समझे चाहे न समझे सुनने से ही पाप क्षय हो जाते हैं "श्रुतंहरति पापानि" अर्थ समझकर माहात्म्य ज्ञान पूर्वक पाठ करे, तब तो अति उत्तम ही है, सोने में सुगन्ध के सदृश है, किन्तु माहात्म्य न भी जानता हो, अर्थ का ज्ञान भले ही न हो, केवल श्रवण मात्र से ही पुण्य मिलता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मै आपको श्रीमद्भगवत् गीता के पन्द्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जिसे शिवजी ने पार्वतीजी को तथा भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी को सुनाया था।"

भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी से कहने लगे—"प्रिये! अब मैं तुम्हें गीता के उस पन्द्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जो पुरुषोत्तम-योग के नाम से विख्यात है। वास्तव में जो पुरुष इस अध्याय का निरन्तर पाठ करता है, यह सभी पुरुषो में उत्तम

बन जाता है। पाठ न भी कर सके केवल सुने ही तब भी पुरुष पुण्यात्मा बन जाता है। पूरा न सुन सके एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा चौथाई श्लोक ही सुने तो भी उसे अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन इतिहास है, उसे मैं तुम्हे सुनाता हूँ।"

भारतवर्ष के ब्रह्मावर्त प्रदेश मे गौड देश के नाम से एक परम पावन देश है। पहिले इस देश मे गुड अधिक होता था, इसीलिये यह गौड देश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्राचीनकाल मे इसी देश मे कृपाण-नरसिंह नाम के एक राजा राज्य करते थे। वे बडे ही यशस्वी शूरवीर तथा विख्यात योद्धा थे। उनकी कृपाण की धार से रण मे देवगण भी परास्त हो जाते थे। उनका एक सरभमेरुण्ड नाम का विख्यात सेनापति था। वह शस्त्र तथा शास्त्र की सभी कलाओ मे परम निपुण था। उसके भुजदडा के प्रचड प्रबल प्रहार से बडे-बडे शूरवीर थर्रा जाते थे। राजा की समस्त सेना उसके वश मे थी। आज्ञानुवर्तिनी सेना को वह जसी भी आज्ञा देता, उसी का समस्त सैनिक पालन करते।

एक बार उसके मन मे पाप आया-"कि समस्त सेना तो मेरे अधीन है ही। मै क्यो नही राजा को तथा राजपुत्रो का मार कर इस राज्य का अधीश्वर बन जाऊँ। मै ही सिंहासन पर बैठ कर सम्पूर्ण प्रजा का पालन करूँ।" वह मन ही मन राजा बनने का मसूबा बना रहा था, किन्तु विधिना को यह स्वीकार नही था। एक दिन उसको विषूचिका (हैजे) का रोग हुआ और कुछ ही काल में वह प्रचण्ड काल का कवल बन गया। उसकी मृत्यु हो गयी। राजा को उसकी अकस्मात् मृत्यु पर बडा दुःख हुआ।

गौडेश्वर महाराज नरसिंह देव के राज्य मे ही एक घोडो का व्यापारी वैश्य पुत्र था। वह सिंधु देश के विख्यात घोडो को

सिन्धु देश से क्रय करके लाता और उन्हे भिन्न-भिन्न राजधानियो मे बेचकर धनोपार्जन किया करता। एक बार वह घोडा क्रय करने सिन्धु देश मे गया। वहाँ उसने एक बहुत ही सुदर सर्व सुलक्षण सम्पन्न परम सुदर घोडे को देखा उस घोड़े का उदर सुदर और सटा हुआ था, वह चलने मे बडा वेगशाली तथा परम तेजस्वी था। वह श्रेष्ठि पुत्र तो अश्वविद्या मे निपुण था। उसने सर्वलक्षण लक्षण्य उस सुन्दर घोडे को देखा तो वह उस पर मुग्ध हो गया। उसने सोचा—'जैसे हो तैसे इस घोडे को लेकर मै अपने राजा को दूँ। हमारे राजा बडे गुण ग्राही हैं, इस घोडे को पाकर वे मुझ पर परम प्रसन्न होगे और मुझे मुँह माँगा पारितोषिक दगे। इससे मुझे धन भी मिलेगा और राजा का प्रीति भाजन भी बन सकूँगा।" यही सब सोचकर उसने घोडे के स्वामी से बातें की। पहिले तो वह उसे बेचने को सहमत ही न हुआ, किन्तु जब इसने बहुत आग्रह किया, तो उसने उसका बहुत अधिक मूल्य माँगा। उस घोडे के स्वामी को उसका मुँह माँगा धन देकर श्रेष्ठि पुत्र ने उस परम तेजस्वी घोडे को क्रय कर लिया और बडी सावधानी के साथ अपनी नगरी तक ले आया।

वह उस घोडे को लेकर राजा के महल मे गया। उसने द्वार-पाल से कहा—"महाराजा से निवेदन करो, मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ।"

वह नगर का नामी धनिक था। श्रेष्ठिपुत्र को राजा जानते थे। जब द्वारपाल ने श्रेष्ठि पुत्र के आगमन की सूचना दी और उसका सदेश सुनाया, तब राजा ने पूछा—"श्रेष्ठि पुत्र केवल दर्शन करना ही चाहते हैं, या उनका कोई काम भी है?",

द्वारपाल ने आकर श्रेष्ठिपुत्र को राजा की आज्ञा सुना दी।

तब श्रेष्ठि पुत्र ने कहा—"महाराज से निवेदन करो मैं उनके निमित्त सिन्धु देश से एक रत्न लाया हूँ।"

द्वारपाल ने राजा से निवेदन किया, तब राजा ने श्रेष्ठिपुत्र को बुलवाया। राजा ने पूछा—"कहो, भाई अब के तो तुम बहुत दिनो मे आये। सिन्धु देश से हमारे लिये कौन-सा रत्न लाये हो।"

सादर अभिवादन करके श्रेष्ठिपुत्र ने कहा—'अन्नदाता! मैं सिन्धु देश से महाराज के ही निमित्त सर्व शुभ लक्षण सम्पन्न सर्वोत्तम अश्व लाया हूँ। वह इस लोक का ही नही तीनो लोको का रत्न है, ऐसा घोडा मिलना बडा ही दुर्लभ है। मैं बहुत भारी मूल्य देकर बडी कठिनाई से उसे लाया हूँ।"

राजा तो गुणग्राही थे। इस समाचार को सुनकर वे परम प्रसन्न हुए। उन्होने कहा—"अच्छा, उस अश्व को मेरे समीप लाओ।"

'जो आज्ञा' कहकर श्रेष्ठिपुत्र बाहर गया और घोडे सहित पुनः महाराज के सम्मुख समुपस्थित हुआ। अश्व को देखकर राजा परम विस्मित हुए, वह उच्चैश्रवा के सदृश प्रतीत होता था, उसके सौंदर्य के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या था, मानो वह सुदरता का आलय ही था, समस्त शुभ लक्षणो का सागर ही था। राजा ने शालिवाहन शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानो को बुलाकर घोडे को दिखाया। सभी ने उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की, उस घोडे की सुदरता को देखकर शालिवाहन शास्त्रियो द्वारा उसके शुभ लक्षणो की प्रशसा सुनकर महाराज को अपार आनद हुआ। वे, आनन्द मे मग्न होकर वैश्यपुत्र की प्रशसा करने लगे और उसने, जितना भी मूल्य माँगा उतना तो उसे दिया ही। पारितोषिक के रूप मे और भी अतिरिक्त धन उसे दिया।

घोडे को जो देखता वही प्रसन्न हो जाता; सब लोग उसकी प्रशसा करते हुए अघाते नहीं थे। एक दिन राजा उस पर चढकर मंत्री सैनिको सहित अरण्य मे मृगया के निमित्त गये। राजा ने वन मे एक मृगो का झुंड देखा, उसके पीछे उन्होने अपना घोडा दौडाया। मृग भी चौकडियाँ मारकर वायु मे उडने मे लगे। घोडा भी उनके पीछे वायु वेग से दौडने लगा। सेवक सैनिक तथा सचिवा के घोडे उस घोडे के वेग को कैसे पा सकते थे, वे सब पिछड गये। राजा अकेले पड गये। सघन वन मे लताओ के झुडो मे मृग विलीन हो गये। अत्यन्त परिश्रम तथा धूप के कारण राजा क्लात हो गये थे। प्यास के कारण उनका कठ सूख रहा था। अब राजा ने मृगो का पीछा करना तो छोड दिया, वे जल के अन्वेषण मे इधर-उधर परिभ्रमण करने लगे। आगे उन्हे एक चट्टान दिखायी दिया। राजा घोडे पर से उतरे घोडे को तो एक वृक्ष से बाँध दिया। वे स्वय ही चट्टान पर चढने लगे।

राजा कुछ दूर ही गये होगे कि उन्हे एक छोटा सा भोज पत्र दिखायी दिया। राजा ने भोजपत्र को उठाया। उस पर कुछ लिखा था। राजा उच्च स्वर से उस पर लिखे शब्दो को पढने लगे—उस पर श्रीमद्भगवत् गीता के पन्द्रहवे अध्याय का यह आधा श्लोक लिखा था—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्" राजा के मुख से इस आधे श्लोक को सुनते ही घोडा धडाम से धरणी पर गिरा और तुरन्त ही मर गया। राजा ने देखा अश्व शरीर परित्याग करके उसका 'जीवात्मा दिव्य रूप धारण करके सुदर दिव्य विमान पर चढकर देव लोक को चला गया।

राजा को घोडा की सद्गति देखकर परम आश्चर्य हुआ। वे उस चट्टान पर चढ गये। वहाँ से उन्हे एक परम रम्य ऋषि

आश्रम दिखायी दिया। जिसमे अग्निहोत्र के हवन का धूम उठ रहा है, जिसमे से दिव्य सुगध आ रही है। आश्रम की शोभा अपूर्व थी। वह कदली खड मडित था। स्थान-स्थान पर स्फल कदली स्तम्भ शोभा पा रहे हैं। कदली के पत्ते हिल-हिल कर मानो अपने हाथो को हिला-हिला कर पथिको को अपने समीप बुला रहे हैं। वहाँ नागकेशर, आम, जामुन तथा नारिकेलि के वृक्ष लहरा रहे है। ऐसे सुदर स्वच्छ सुखद आश्रम को देखकर राजा का मन परम प्रमुदित हुआ वे आश्रम के भीतर चले गये। वहाँ उन्होने बहुत से व्रत सदाचार का पालन करने वाले वेदवेत्ता मुनियो को देखा। जो तपस्या के तेज से जाज्वल्यमान थे। राजा ने उन ब्राह्मणो के पाद पद्मो मे प्रणाम किया। ब्राह्मणो ने भी राजा का अभिनदन किया। स्वागत करके उनकी कुशल पूछी।

राजा ने उनका आतिथ्य स्वीकार करके हाथ जोडकर कहा—"हे तत्त्वदर्शी ब्राह्मणो! मैं आप से एक बात पूछना चाहता हूँ। आपकी आज्ञा हो तो पूछूं?"

राजा की बात सुनकर उन ब्राह्मणो मे जो एक परम शान्त दान्त तेजस्वी, तपस्वी मन्त्र वेत्ता, त्रिकालदर्शी मुनि श्रेष्ठ विष्णु शर्मा नाम के द्विजवर थे, उन्होने कहा—"राजन्! आप जो पूछना चाहे प्रसन्नता पूर्वक पूछे।"

राजा ने कहा—'ब्रह्मन्! मैं मृगया के निमित्त अरण्य मे आया था, मै अपने सगी साथियो से बिछुड गया। प्यास के कारण मै जल का अन्वेषण करते हुए यहाँ आया। घोडे को बाँधकर मै चट्टान पर चढा कि मेरा घोडा मर गया। अत्यत वेग से दौडने स हृदय फटने से घोडे का मर जाना कोई आश्चर्य की बात नही, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है, कि वह दिव्यरूप करके दिव्य विमान पर बैठकर दिव्यलोक को चला गया

किस कारण हुआ ? किस पुण्य प्रभाव से उसकी सद्गति हुई ?"

राजा की बात सुनकर विष्णु शर्मा बोले—"राजन् ! तुम्हारे यहाँ पहिले कोई 'सरभ मेरुण्ड" नाम का सेनापति था ?

राजा ने कहा—'हाँ, भगवन् ! मेरे यहाँ इस नाम का एक परम पराक्रमी वीराग्रगण्य सेनापति अवश्य था।"

विष्णु शर्मा बोले—"बस, राजन् वह तुम्हारा सेनापति ही मर कर यह घोडा हुआ था।"

राजा ने पूछा—"उस सेनापति को किस पाप के कारण यह घोड़े की अधम योनि प्राप्त हुई ?"

ब्राह्मण ने कहा—"राजन् ! यह दुर्बुद्धि आपका पुत्रों सहित वध करके स्वय ही राजा बनना चाहता था। ऐसी इसकी दुरभिसन्धि थी। किन्तु इसका मनोरथ सफल नही हुआ, बीच मे ही विषूचिका रोग से इसकी मृत्यु हो गयी और इसी पाप से यह सिन्धु देश मे घोडा हुआ। पूर्वजन्मो के संस्कार वश यह पुन आपकी सेवा मे आ गया।"

राजा ने पूछा—"फिर किस पुण्य के प्रभाव से इसकी सद्गति हुई ?"

विष्णु शर्मा ने कहा—"राजन् ! भोजपत्र के टुकड़े पर श्रीमद्भगवत् गीता के पन्द्रहवें अध्याय के आधे श्लोक को आपने इसके सामने पढ दिया। उसी के श्रवण मात्र से-उसी के पुण्य प्रताप से-इसकी सद्गति हो गयी।"

गीता के आधे श्लोक का ऐसा माहात्म्य सुनकर राजा परम विस्मित हुए। इतने मे घोड़े के पद चिन्हो से खोजते-खोजते राजा के सेवक सचिव सैनिक उस स्थान पर आ पहुँचे। राजा सभी आश्रम वासियों को प्रणाम करके उस भोजपत्र को साथ लेकर अपनी नगरी मे आये। वे बार-बार उस श्लोकार्ध को बाँचते

और मन मे परम प्रमुदित होते। घोड़े की सद्गति का स्मरण करके उनके नेत्र हर्ष से खिल उठते। अब उन्हे राज्य-पाट सुख वैभव कुछ भी अच्छा नही लगता था। अन्त मे वे अपने ज्येष्ठ पुत्र सिंहबल को राज्य देकर–उसे राज्य सिंहासन पर विधिवत अभिषिक्त करके मुनियो द्वारा सेवित उसी आश्रम मे आकर तपस्या करने लगे। वे निरन्तर पन्द्रहवें अध्याय का पाठ जप करते रहते। उसी के सम्बन्ध मे मुनियो से चर्चा करते। निरन्तर के जप से उनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया और उन्हे परमपद की प्राप्ति हुई। वे मोक्ष के अधिकारी बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आप से भगवान् द्वारा कहा हुआ गीताजी के पन्द्रहवें अध्याय का महात्म्य सुनाया अब आगे आपको सोलहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाऊँगा।"

छप्पय

सुनि आधो इश्लोक स्वरग कूँ अश्व सिधारयो।
चकित नृपति मुनि निकट अश्व को पुन्य विचारयो॥
पन्द्रहवें अध्याय महातम मुनिनि बतायो।
ऐसी महिमा सनी नृपति मन अति हरषायो॥
राज्य पुत्र कूँ सौंपि कें, पन्द्रहवें को जप करयो।
ताके नित के पाठ तें, भूपति भव सागर तरयो॥

गीता माहात्म्य

[१६]

गीतायाः षोडशोऽध्यायः तेन संपत् पृथक् कृतम् ।
अभयं सत्त्वसंशुद्धिःसिद्धिर्भवति पाठतः ॥❀
(प्र० द० ब०)

छप्पय

सोलवों अध्याय जपै जो गीता नित प्रति ।
होवै सब तैं अभय होहि सरवत्र तासु गति ॥
हाथी अति उनमत्त सबनि अति ई डरवावै ।
गीता जापक विप्र तासु ढिंग निरभय जावै ॥
खड्वाहु सौराष्ट्रपति, विस्मित है द्विज ढिंग गये ।
बहु सेवा सतकार करि, अभय हेतु पूछत भये ॥

जो स्वय किसी को उद्वेग नही पहुँचाता और सदा सर्वदा शुभ कार्यों मे सलग्न रहता है वह स्वय निर्भय हो जाता है। जैसे अपने भीतर के ही दोष रोग बनकर बाहर प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने ही भीतर का भय दूसरो से हमे भयभीत बना देता है। जिसने स्वय पाप नही किया है, जो सदा

❀ गीताजी का जो सोलहवाँ अध्याय है, जिसके द्वारा दैवी सपद् और आसुरी सम्पद् पृथक्-पृथक् बताई है। उसके पाठ से अभय और सत्त्व संसिद्धि की सिद्धि होती है।

शुभ कर्म करता है, वह मनुष्यों की तो बात ही क्या यमराज से भी नही डरता। मृत्यु उसे मार नही सकती, काल उसका कवल नही कर सकता। इस सम्बन्ध की महाभारत मे एक बड़ी ही सुन्दर शिक्षाप्रद कथा है।

महर्षि अरिष्टनेमि का एक बहुत ही शान्त ब्राह्मी सम्पत्ति से युक्त आश्रम था। उसमे रहकर वे सदाचार का पालन करते हुए, अपनी इन्द्रियो को तथा मन को वश मे करके तपस्या किया करते थे। उनका एक परम शान्त, दान्त सुशील स्वाध्याय निरत पुत्र था। वह ब्रह्मचर्य व्रत का भली भाँति पालन करते हुए गुरु, अग्नि अतिथि सेवा मे सदा सलग्न रहता। एक दिन वह मृग चर्म ओढकर आरण्य मे फल, पुष्प, समिधा तथा कुश लेन गया। वह पुष्प तथा फलो का झुक-कर चयन कर रहा था। उसी समय है हय नरेश का एक पर-पुरञ्जय नाम का राजकुमार वन मे आखेट करने आया था। राजकुमार न वृक्षों की आड़ मे से देखा कोई मृग शनैः-शनैः टहल रहा है। वास्तव मे वह मृग नही था। मृग चम ओढे हुए ऋषि पुत्र ही पुष्प चयन कर रहा था। राजकुमार ने मृग समझकर उसके बाण मार दिया। मृतक मृग के शरीर को लेने के निमित्त जब राजकुमार उसके समीप पहुंचा, तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। यह तो मेरे द्वारा महान् अनर्थ हो गया। मृग के भ्रम मे मैंने तो ऋषि पुत्र को मार दिया। मुझसे ब्रह्म हत्या हो गई।

राजकुमार परपुरञ्जय अपने द्वारा ब्रह्महत्या हुई मानकर परम दुखी हुए। वे बहुत ही पश्चात्ताप करते हुए अपनी राज-धानी मे पहुँचे और अपने पिता से सभी समाचार यथावत बता दिये। अपन पुत्र द्वारा ब्रह्महत्या हुई जानकर हैहय नरेश को

भी महान दुःख हुआ। उन्होंने अपने पुत्र से कहा—"वन मे चल कर मुझे वह स्थान दिखा दो। जहाँ वह विप्रकुमार मारा गया। यह सुनकर राजकुमार राजा को उस स्थान पर ले गया। राजा ने देखा, एक युवक ऋषि कुमार का मृतक शरीर वहाँ पडा है।

राजा ने जब भली-भाँति समझ लिया कि विप्र पुत्र मर गया है, तब वे इस बात की खोज में चले कि यह ऋषि कुमार किनका पुत्र है इनके माता-पिता को तो सूचना देनी चाहिये। फिर चाहे वे हमे कैसा भी दारुण शाप दे दें।

राजकुमार सहित राजा खोजते-खोजते महर्षि अरिष्टनेमा के आश्रम मे पहुँचे। अपने आश्रम मे राजकुमार और राजा को आया देखकर महर्षि अरिष्टनेमा बड़े प्रसन्न हुए और उनका स्वागत सत्कार करते हुए कहने लगे—"राजन्! पधारो, आप का स्वागत है। आप हमारे सम्माननीय अतिथि हैं। शास्त्रो मे लिखा है, अपने यहाँ अपने से श्रेष्ठ अतिथि आवे तो उसे विशेष अर्घ्य प्रदान करना चाहिये। उसके अतिरिक्त राजा राज-पुत्र, जामाता ये छोटे होने पर भी अर्घ्य के अधिकारी हैं। अतः आप मेरे द्वारा प्रदत्त अर्घ्य को ग्रहण करें।" यह कहकर मुनि ने अपने शिष्यों से गन्ध, अक्षत, पुष्प, दूर्वा दुग्धादि अर्घ्य का समान लाने की आज्ञा दी।

महर्षि के बार-बार बैठने को कहने पर भी वे दोनो पिता पुत्र मुनि के दिये आसनो पर बैठे नहीं। वे सिर नीचा किये उदास भाव से हाथ जोड़े हुए खडे ही रहे और अत्यन्त ही विनीत वाणी में बोले—"ब्रह्मन्! हम आपके द्वारा सत्कार पाने के पात्र नहीं हैं।"

महर्षि ने कहा—"राजा और राजपुत्र सर्वथा सत्कार के पात्र होते हैं।"

राजा ने कहा—"हाँ, भगवन्! प्राचीन सदाचार तो ऐसा ही है, किन्तु हम अपनी पात्रता खो बैठे हैं। हमारे द्वारा ब्रह्म हत्या हुई है। इस कारण हम ब्रह्म हत्यारे हैं।"

ऋषि ने पूछा—"तुम लोग तो धर्मात्मा हो, तुम्हारे द्वारा यह घोर पाप कैसे हुआ।"

राजा ने कहा—"भगवन्! भूल मे भ्रमःद्वारा ऐसा महापाप हो गया। मेरा यह पुत्र वन मे आखेट के निमित्त आया था। एक ऋषि पुत्र मृग चम ओढे झुककर फल पुष्प चुन रहा था, मेरे पुत्र ने उसे मृग समझा। वृक्षो की ओट मे पूरा शरीर तो दीखा नही। भ्रम वश उसने वाण चला दिया। समीप मे जाकर देखा, तो वह ऋषि का मृतक शरीर था, अब हम यही पता लगाते फिरते हैं, जि वे ऋषिकुमार किनके पुत्र थे। पता लग जाय, तो हम उनके माता-पिता से क्षमा याचना करें और उन्हे सूचना द दें। वे जो भी शाप दें उसे अङ्गीकार करें।"

महर्षि ने कहा—"अच्छा, उस ऋषि पुत्र के मृतक शरीर को यहाँ ले आओ।"

वे दोनो उस शरीर को लेने गये। किन्तु वहाँ वह मृतक शरीर था ही नही। अब तो उन्हें और भी भारी पश्चात्ताप हुआ। अपनी असावधानी से वे लज्जित हुए।

तत् पश्चात् वे दोनो पुन महर्षि के समीप आये और अपनी असावधानी के कारण वे और भी अधिक दुखित तथा लज्जित हुए। ऋषि ने जब उन्हें बहुत दुखित देखा, तब उन्होने कुटिया मे बैठे अपने पुत्र को बुलाया। पिता के बुलाने पर हाथ जोड़े हुए पुत्र, महर्षि के सम्मुख आकर खडा हो गया। तब महर्षि ने राजकुमार से पूछा—"राजकुमार! क्या तुम इसे पहिचानते हो? इसी को तुमने मारा था न?"

राजकुमार ने कहा—"हाँ, महात्मन् ! मैं ही मैं। इन्हीं को मैंने अनजान अपने बाण का लक्ष्य बनाकर मार डाला था। किन्तु ये जीवित कैसे हो गये ? यह आपकी तपस्या का प्रभाव है अथवा इन्हीं में कोई अलौकिक शक्ति है ?"

जब राजा तथा राजपुत्र को परम विस्मित देखा तब ऋषि कहने लगे—"देखो, हमने अभय मन्त्र की दीक्षा ले रखी है। हम कभी किसी से भय नहीं खाते। मनुष्यों की तो बात ही क्या हम मृत्यु से भी नहीं डरते।"

राजा ने पूछा—"आप सबसे अभय क्यों रहते हैं। आपकी इस इतनी बड़ी निर्भयता का कारण क्या है ?"

महर्षि ने कहा—"राजन् ! भय तो पाप से होता है। हम पाप से सदा दूर रहते हैं। मृत्यु से भी हम क्यों नहीं डरते इसमें इतने कारण हैं—

छप्पय

(१)

बोलें नहीं असत्य सत्य ही नित प्रति भाखें।
धरम आचरन करें दया नित हिय में राखें॥
विप्र और विद्वान बड़े जो हमसे ज्ञानी।
गुन ही तिनिके प्रकट करें जो सतत अमानी॥
नहिं तिनिके अवगुन लखें, शुद्ध आचरन नित करें।
निज करतब पालन करें, फेरि मृत्यु तें क्यों डरें॥

(२)

जो भोजन के समय अतिथि अभ्यागत आवें।
तिनिकूँ श्रद्धा सहित प्रथम ही बैठि जिमावें॥

निज आश्रित नर नारि भरन पोषन करि तिनिको।
पहिले तिनकूँ तृप्त करें आदर अति उनको॥
शान्त जितेन्द्रिय नित रहै, छिमा रिपुनि हू कूँ करें।
शील वृत्ति धारन करें, फेरि मृत्यु तें क्यों डरें॥

(३)

तीरथ यात्रा करें शक्ति भरि दान धरम करि।
जो अति पावन देश गङ्गतट बसहिं ध्यान धरि॥
जो निरबल खल अधम भूलि तिनि संग करें नहिं।
तेजस्वी सतपुरुष तिनहिं संग रहैं कष्ट सहि॥
धरम ग्रन्थ स्वाधाय करि, पाठ मन्त्र जप नित करें।
प्रभु के शरणागत रहै, फेरि मृत्यु तें क्यों डरें॥

राजन्! इन्हीं कारणों से हमें मृत्यु मारने में समर्थ नहीं। इसीसे हम सदा सर्वदा सबसे निर्भय बने रहते हैं।

महर्षि की बात सुनकर हैहय नृपति परम विस्मित हुए उन्होंने महर्षि का आतिथ्य ग्रहण किया और ऋषि द्वारा आश्वासन पाकर उनसे आज्ञा लेकर अपनी राजधानी को चले गये। जिनके हृदय में दैवी सम्पत्ति है वे किसी से भी नहीं डरते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको सोलहवें अध्याय के उस माहात्म्य को सुनाऊँगा जिसे भगवान् शिव ने पार्वती जी को और भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी जी को सुनाया था।"

भगवान् विष्णु ने कहा—"प्रिये! अब तुम श्रीमद्भगवत् गीता के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य श्रवण करो। गुर्जर प्रदेश में सौराष्ट्र नाम की एक नगरी थी, उसमें द्वितीय इन्द्र के सदृश परम प्रतापी खड्गबाहु नाम के राजा राज्य करते थे। वे शूरवीर कृतज्ञ तथा परम वैभव शाली थे। उनके रथ वाली

हाथियो की, घोडों की तथा पैदलो की चतुरङ्गिनी सेना थी। महाराज को हाथी बहुत प्रिय थे। वे सुन्दर-सुन्दर हाथी रखते थे। उन हाथियो मे से एक हाथी परम पराक्रमी था, वह युवा वस्था सम्पन्न जब हुआ तब उसके गडस्थलो से निरन्तर मद चूता रहता था। महाराज ने उसका नाम 'अरिमर्दन' रख रखा था। किसी समय वह अत्यन्त ही मदोन्मत्त हो गया। हस्तिप उसे चारो ओर से बडी-बडी जञ्जीरो मे बाँधकर रखते किन्तु वह जञ्जीरो को योही तोड डालता। वह अपने रहने के स्थान को अपने मस्तक से योही तोड डालता। एक दिन वह साकलो को तोडकर, दरवाजे को चकनाचूर करके अपने स्थान से निकल भागा। हस्तिपगण दूसरे हाथियो पर चढ़कर उसके ऊपर भालो की वर्षा कर रहे थे, किन्तु वह निर्भय होकर भागा जा रहा था, किसी का साहस ही न होता था, कि उसके सम्मुख जायें।

सेवको ने महाराज को सूचना दी। वह अरिमर्दन हाथी राजा को अत्यत ही प्रिय था, राजा स्वय हाथियो को वश मे करने की विद्या मे निपुण थे अत. वे राजपुत्रो के सहित वहाँ आये। हाथी ऐसा उन्मत्त हो रहा था, कि बडे-बडे कुशल हस्तिप भी उसके सम्मुख जाने का साहस नही कर रहे थे। राजा ने हाथी को बहुत पुचकारा, भाँति-भाँति से उसकी उनुहार की, उसे मनाया, किन्तु हाथी ने राजा की ओर ध्यान ही नही दिया।

नगर निवासी स्त्री पुरुष सब काम छोडकर दूर खडे हाथी की उन्मत्तता को देख रहे थे। मातायें अपने बच्चो को हाथी के समीप जाने के लिये मना कर रही थीं। सभी भयभीत हो रहे थे। उसी समय एक ब्राह्मण सरोवर से स्नान करके उसी मार्ग से लौटकर अपने घर जा रहा था।

लोगो ने चिल्लाकर कहा—"पडितजी! पडितजी! उधर नही

जाइयेगा, उधर एक मदोन्मत्त हाथी छूट गया है, वह बड़ा अनर्थ कर रहा है।"

ब्राह्मण देवता गीता के सोलहवें अध्याय का निरंतर पाठ करते रहते थे। उस समय भी वे "अभय सत्त्व संशुद्धिः" इन्हीं मंत्रो का पाठ कर रहे थे। लोगो के अत्यधिक मना करने पर भी वे उनकी बातो को अनसुनी करके उसी मार्ग से हाथी के समीप ही होकर निकले। राजा आश्चर्यचकित होकर ब्राह्मण की निर्भयता को देख रहे थे। ब्राह्मण निर्भय होकर हाथी के समीप खड़े हो गये; उन्होंने अपने हाथ से हाथी को उसके चूते हुए मद को छुआ। हाथी कुछ भी नही बोला वह कुत्ते के बच्चे की भाँति चुपचाप सिर नीचा किये हुए खड़ा रहा। ब्राह्मण उसे छूकर पाठ करते हुए निर्भय होकर आगे बढ़ गये।

राजा पर ब्राह्मण के इस अलौकिक कार्य का बड़ा प्रभाव पडा। वे चकित-चकित दृष्टि से अपनी आँखों को फाड़-फाड़कर ब्राह्मण को देख रहे थे। उन्होने एक सेवक द्वारा बड़े सत्कार से ब्राह्मण को अपने समीप बुलाया। और स्वयं वाहन से उतर कर श्रद्धा भक्तिपूर्वक ब्राह्मण के समीप गये। उन्हे प्रणाम करके राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! आप ऐसा कौन-सा मंत्र, तन्त्र, जादू टोना जानते हैं जो निर्भय होकर मदोन्मत्त हाथी के सम्मुख चले गये और हाथी ने भी आपको कुछ भी क्षति नही पहुँचायी, वह भीगी बिल्ली की भाँति चुपचाप खड़ा रहा।"

इस पर ब्राह्मण ने कहा—"राजन्! मैं मन्त्र, तंत्र, जादू टोना तथा वशीकरण आदि कुछ नहीं जानता। मैं तो नित्य नियम से निरन्तर श्रीमद्भगवत् गीता के सोलहवें अध्याय का पाठ करता रहता हूँ, उसी पाठ के कारण मुझे निर्भयता की सिद्धि-प्राप्त हो

गयी है। मैं न तो किसी को भय पहुँचाता हूँ और न स्वयं ही किसी से भयभीत होता हूँ।"

ब्राह्मण की बात सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे हाथी का कौतूहल छोड़कर ब्राह्मण को साथ लेकर अपने महल में चले आये। उन्होंने ब्राह्मण से प्रार्थना की—"ब्रह्मन्! मुझे भी कृपा करके श्रीमद्भगवत् गीता के सोलहवें अध्याय की दीक्षा दीजिये।"

राजा की प्रार्थना पर ब्राह्मण ने राजा को विधिवत् सोलहवें अध्याय की दीक्षा दी। उसका अर्थ समझाया। राजा ने श्रद्धा भक्ति सहित ब्राह्मण की शिक्षा को धारण किया। एक लक्ष्य सुवर्ण मुद्रा उन्होंने दक्षिणा स्वरूप भेंट करके ब्राह्मण को सन्तुष्ट किया। और निरन्तर गीता के श्लोकों का पाठ करने लगे। पाठ करते-करते उन्हें स्वयं ही अभयता की सिद्धि प्राप्त हो गयी।

एक दिन उन्होंने कुतूहलवश हस्तियों को बुलाकर कहा—"आज उस अरिमर्दन मदोन्मत्त हाथी को बाहर निकालो, मैं उसका स्पर्श करूँगा।" हस्तियों ने राजा को ऐसा करने से रोका किन्तु वे माने ही नहीं। राजा की आज्ञा से हाथी छोड़ा गया। राजा निर्भय होकर उसके समीप गये वहाँ जाकर राजा ने उसे पुचकारा उसके गण्डस्थल का उसके चूते हुए मद का स्पर्श किया, किन्तु हाथी कुछ भी नहीं बोला।

इस प्रकार अभय मन्त्र से ही दीक्षित राजा हाथी को निर्भय होकर छूकर उसी प्रकार लौट आये जैसे पुण्यात्मा पुरुष मृत्यु के के मुख से छूट आते हैं और साधु पुरुष खल के चक्कर से छूटकर लौट आते हैं। राजा की इस निभयता का समस्त प्रजा पर बड़ा प्रभाव पड़ा, वे सब राजा को साधुवाद देने लगे, उनकी निर्भयता की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

निरन्तर के सोलहवें अध्याय के पाठ से राजा को विषय भोग, ऐश्वर्य सुख तथा राज-पाठ से विराग हो गया। वे अपने बड़े राजकुमार को राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त करके स्वयं निरन्तर गीताजी के सोलहवें अध्याय का पाठ करते हुए परम गति को प्राप्त हुए।"

सूतजी कह रहे है—"मुनियो! यह मैने आप से भगवान् विष्णु तथा शिवजी के मुख से कहा हुआ गीताजी के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाया। अब आप सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य आगे सुनेंगे।"

छप्पय

कहें विप्र—"हौं पाठ करूँ दैवासुर संपद।
सोलहवों अध्याय कह्यो गीता को सुखप्रद॥
राजा दीक्षा लयी स्वयं हाथी ढिंग आये।
अभय भये करि पाठ, सबनि के हिय हरषाये॥
राज पुत्र कूँ सौंपिकें, सतत पाठ में लगि गये।
अभय भये सब ओर तें, भूप मुक्त जगतें भये॥

आसुरी सम्पदा के लक्षण

[४]

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥*
(श्री भा० गी० १६ अ० ४, श्लो०)

छप्पय

पारथ ! अब हौं कहूँ आसुरी सम्पति तोतैं ।
तिनकूँ तू लै समुझि यथाविधि लक्षन मोतैं ॥
जो हैं जैसे नहीं दम्भ करि श्रेष्ठ जतावैं ।
करैं दरप अभिमान क्रोध करि परुष सुनावैं ॥
अति कठोरता करहिँ नित, अज्ञानहु डूबे रहत ।
पैदा जे जन आसुरी, सम्पद में नित ई निरत ॥

यह संसार द्वन्द्व-जोड़े-के कारण चल रहा है। द्वन्द्व न होतो संसार की स्थिति न रहे। सुख दुख, पाप पुण्य, जय पराजय, लाभ हानि, जीवन मरण, यश अपयश आदि-आदि जितने भी द्वन्द्व हैं सब सापेक्ष हैं। एक दूसरे से जुटे हुए हैं। जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्य होगी। जन्म के साथ ही साथ मृत्यु पैदा

---

* हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर वचन और अज्ञान ये आसुरी सम्पदा में प्राप्त हुए पुरुषों को होते हैं ॥४॥

होती है। एक भद्र पुरुष किसी समारोह मे मिले। पहिले भद्र पुरुष ने शिष्टाचार के नाते दूसरे से पूछा— 'कहो जी, क्या हाल चाल है, अच्छे तो हो ?"

दूसरे भद्र पुरुष ने उत्तर दिया—"शनै शनै मर रहा हूँ। मृत्यु की ओर बढ रहा हूँ।"

पहिले ने घबराकर पूछा—"क्यो क्या बात है, कोई बीमारी हो गयी क्या ?"

दूसरे ने कहा—"मृत्यु की बीमारी तो उसी दिन पैदा हो गयी, जिस दिन मैं जन्मा था। जिस दिन से जन्म लिया है, उसी दिन से मृत्यु की ओर बढ रहा हूँ।"

बात यह है, कि द्वन्द्व साथ ही साथ रहते हैं। पता नहीं किसका पलडा कब भारी पड जाय। इसी प्रकार धर्म और अधर्म ये भी द्वन्द्व हैं, परस्पर मे सापेक्ष हैं। धर्म ज्येष्ठ श्रेष्ठ भाई है, अधर्म कनिष्ठ और निकृष्ट भाई है। धर्म भगवान् के हृदय से उत्पन्न हुआ है अधर्म पृष्ठ भाग से। धर्म बडा है इसलिये इसकी तेरह पत्नियाँ हैं और बहुत बडा परिवार है। धर्म की तेरह पत्नियो के नाम श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति हैं। इनमे से श्रद्धा का सुत शुभ, मैत्री का प्रसाद, दया का अभय, शान्ति का सुख, तुष्टि का मोद, पुष्टि का अहकार, क्रिया का योग, उन्नति का दर्प, बुद्धि का अर्थ, मेधा का पुत्र स्मृति, तितिक्षा का क्षेम, ह्री (लज्जा) का प्रश्रय (विनय) और मूर्ति के पुत्र नर तथा नारायण हुए यह तो धर्म का परिवार है, धर्म के परिवार का ही सक्षिप्त नाम दैवी सम्पदा है। सत्ययुग मे धर्म चार पाद से रहता है। त्रेता मे तीन पाद धर्म एक पाद अधर्म, द्वापर मे दो पाद धर्म दो पाद अधर्म, कलियुग मे ३ पाद अधर्म और एक पाद धर्म। इस हिसाब से

चारो युगो मे धर्म १० भाग रहता है और अधर्म ६ भाग रहता है। १६ आन मे १० आने धर्म रहता है ६ आने अधर्म। छोटा और खोटा होन से इसकी पत्नी भी एक है और अधर्म होन से ये सगे भाई बहिन ही परस्पर मे विवाह कर लेत है। अधर्म भी धर्म की भाँति भगवान् ब्रह्मा का ही पुत्र है। उसकी एक ही स्त्री है उसका नाम है मृषा (असत्य) इन दानो स दम्भ और माया नाम से एक पुत्र और एक पुत्री हुए। इन दोनो ने परस्पर मे विवाह कर लिया। उनस भी लाभ नाम का पुत्र और निकृति (शठना) कन्या दो सन्तानें हुई। इन्होने भी आपस मे विवाह कर लिया उनसे क्रोध और हिंसा दो सन्तानें हुई। वे ही वहू दुल्हा बन गये। उनसे कलि (झगडा) और दुरुक्ति (गाली) ये दो हुए। इन्होने भी विवाह करके भय नामक पुत्र और मृत्यु पुत्री पैदा की। फिर इन दोनो स यातना और नरक ये हुए। यह अधर्म की सतानें हैं। इसी परिवार का सक्षिप्त सस्करण आसुरी सम्पद् है। इस धर्म और अधर्म के परिवार का वर्णन इसलिये कर दिया कि दैवसम्पदा और आसुरी सम्पदा मे पूरे परिवार का तो वर्णन है नही। इन दोनो कुलो के जो मुख्य-मुख्य व्यक्ति हैं उन्ही का उल्लेख है। अतः पाठको को इनकी वशावली जानने मे असुविधा न हो अतः इनकी वशपरम्परा का-इनकी पूरी पीढियो का-परिचय करा दिया। अब अधर्म का जो संक्षिप्त सस्कार असुरी सम्पद् है उसका विवरण सुनिये।

आसुरी सम्पदा के बहुत प्रसिद्ध पुरुष हैं दम्भ। ये देवताजी बडे बलवान है इनका प्रवेश सवत्र है। मठो मे मन्दिरो में, सुधारको में धर्माचार्यों में, राजद्वार में, वेश्याओ मे यहाँ तक कि ब्रह्मलोक तक मे इन दम्भराज का प्रवेश है। मान के लिये, बडाई के लिये, पूजा प्रतिष्ठा के लिये, धन पैदा करने को ये त्रिविध

रूप रख लेते हैं। जो पढ़ा लिखा नहीं है इन दम्भदेव की कृपा से वह पंडित विख्यात हो जाता है। जो अधर्म की मूर्ति हैं इन दम्भदेव की कृपा से धर्म की ध्वजा फहराते हुए धर्म ध्वजी बन जाते हैं। जो महापतित व्यभिचारी हैं वे इन दम्भ देवता की कृपा से आचार्य बनकर सुवर्ण सिंहासनों को सुशोभित करने लगते हैं। कुट्टिनी व्यभिचारिणी, सती साध्वी अभिनेत्री बनकर जनता को उपदेश करने लगती है। दम्भी लोगों का कलियुग में तो साम्राज्य ही हो जाता है। बड़े बड़े ऊंचे आसनों पर पाखंडी दुराचारी पापाचारी बैठकर इन दम्भदेव की सहायता से शिष्य समूह एकत्रित कर लेते हैं कुछ दलाल लोगों को फंसा फंसाकर उन धर्म ध्वजियों से कान फुंकाते हैं अपना उल्लू सीधा करते हैं। उन्हें ठगने के लिये भांति भांति के ढोंग रचते हैं, कहीं वृक्षारोपण के नाम से, कहीं गृहदान धर्मशाला, पाठशाला, गोशाला के नाम से उनसे ठगते हैं। बड़ी बड़ी सभायें करते हैं। उनमें दान का वे धर्मध्वजी महत्त्व बताते हैं। श्रोताओं में उनके छिपे हुए दलाल बैठे रहते हैं। दान धर्म का महत्त्व बताकर फिर वे धर्मध्वजी आचार्य दान देने की घोषणा करते हैं। उनके धनिक वेष में छिपे हुए दलाल सर्वप्रथम उठकर भारी रकम की घोषणा कर देते हैं। उनकी देखा देखी अन्य धनिक भी दान देने लगते हैं। इस दम्भदेव की कृपा से उनका व्यापार चलने लगता है।

दम्भदेव वेष बनाना इतना सुंदर जानते हैं, कि अच्छे अच्छे इनके चक्कर में फंस जाते हैं। दम्भदेव के सम्बन्ध की एक बहुत ही प्रसिद्ध पौराणिक कथा है।

ये दम्भदेव अधर्मजी के सुपुत्र हैं अधर्म-ब्रह्मा के पुत्र हैं अतः ब्रह्माजी इनके बाबा हुए। यद्यपि ये गृहस्थी हैं-इन्होंने अपनी सगी बहिन माया से विवाह कर लिया है। इनके एक नहीं दो-

दो पिता हैं। अधर्म के तो ये औरस पुत्र है नि.स्सन्ता निर्ऋति (लोकपाल नैऋत दिशा के) ने इन्हे गोद ले रखा है। इनके लोभ और निकृति (शठता) दो सन्तानें भी हैं। किन्तु फिर भी ये ब्रह्मचारी बने रहते हैं। वेष ऐसा बढिया बनाते हैं, कि ब्रह्मा बाबा को भी चक्कर मे डाल देते हैं।

एक दिन इन्होने अपनी बडी-बडी ऐडी तक लम्बी जटाओ में भस्म लगाई। माथे पर भस्मी का त्रिपुंड धारण किया। गले मे बडे-बड़े रुद्राक्षो की माला, हाथ मे कुशाओ का ब्रह्मदड, उंगलियो मे कुशाओ की पवित्री। सिर पर कानों में, बाजुओ मे, यज्ञोपवीत के स्थान में रुद्राक्ष धारण किये, काले मृग चर्म को ओढा एक मृग चर्म को मूंज की मेखला और लँगोटी के ऊपर लपेटा, खडाऊँ पहिनकर, ओठो को हिलाते हुए, एक हाथ मे जल भरा कमडलु थामे दड कमंडलु लिये ब्रह्माजी को सभा की ओर चल दिये।

इनकी गति तो सर्वत्र है, कही भी इनकी रोक टोक नही। ये चलते-चलते ब्रह्माजी की सभा मे पहुँच गये। ब्रह्माजी की सभा लगी हुई थी, उसमे बड़े-बड ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि, देवता, यक्ष, गन्धर्व, गुह्यक, नाग, नदी, वृक्ष, पर्वत आदि के अधिष्ठातृ देव बैठे हुए थे। सभा खचाखच भरी हुई थी। ये दम्भदेव ब्रह्मचारी खडाऊंओ को खटखटाते हुए ब्रह्माजी की सभा मे पहुँचे। सभी ऋषि महर्षि इनका ऐसा अद्भुत रूप देखकर भौचक्के हो गये। सभी इन्हे कोई महर्षि समझकर उठकर खडे हो गये। इन्होने हाथ उठाकर सबको आशीर्वाद दिया। ब्रह्माजी की आज्ञा से और सब तो अपने-अपने आसनो पर बठ गये, किन्तु ये दम्भदेव खड़े ही रह गये।

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया, तुम भी बैठ जाओ।"

आप गरजकर बोले—"बाबा मैं कहाँ बैठूं ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया ! इतने आसन खाली पडे हैं, उनमे से किसी पर बैठ जाओ।"

तब आप बोले—"बाबा मैं पवित्र पुरुष हूँ, किसी के बैठे हुए अपवित्र आसन पर नहीं बैठता।"

कहावत है, मूल से प्यारी ब्याज होती है, पुत्र से प्यारा पौत्र होता है। ब्रह्माजी ने कहा—'अच्छा आसनो पर नही बैठते, तो आओ मेरी गोदी मे बैठ जाओ।"

यह सुनकर दम्भदेव ने झोली मे से कुशा निकाली कुशाओं को कमण्डलु के जल मे डुबोकर ब्रह्माजी की गोद को छिडकते हुए मन्त्र पढने लगे—'अपवित्र: पवित्रोवा"

यह देखकर ब्रह्माजी हँस पडे और बोले—"वाह बेटा ! बहुत दिनो तक जियो ! कलियुग मे तुम्हारा बोल बाला हो। जो गोद त्रैलोक्य को पावन करने वाली है, उस गोद को भी तुम पवित्र कर रहे हो। इससे बढकर और दम्भ क्या होगा ?"

जब ऋषि महर्षियों को पता चला कि यह तो तपस्वी का वेष बनाये दम्भ है तो वे सबके सब खिलखिला कर हँस पडे और बोले—'तुम तो भैया अपने बाप अधर्म से भी बढकर हुए। इसलिये अधर्म के पुत्र दम्भजी आसुरी सम्पद् के पहिले गुण या दुगुण हैं।

आसुरी सम्पद् का दूसरा लक्षण है—"दर्प। दर्प कहो स्तम्भ कहो, घमन्ड कहो सब एक ही बात है, अच्छे कुल का दर्प, अच्छे कर्म करने का दर्प, युवावस्था का दर्प, सुन्दर रूप का दर्प, विद्या का दर्प, ऐश्वर्य का दर्प तथा धन सम्पत्ति अधिकारादि का दर्प इन दर्पों के कारण मनुष्य अन्य पुरुषो को तुच्छ समझने लगता है।"

अच्छे कुल मे उत्पन्न होने वाला चाहे साधारण ज्ञानी ही क्यों न हो, सत्कुल मे उत्पन्न होने के कारण वह अपने से छोटे कुल में उत्पन्न होने वालो को हेय ही समझता है, फिर वे चाहे इससे कितने भी बड़े ज्ञानी क्यो न हो। परमार्थ पथ मे ऐसा दर्प बडा भारी विघ्न है। इसी दर्प को मिटाने के लिये भगवान् वेद व्यास ने अपने जन्मजात महाज्ञानी पुत्र शुकदेवजी को अपने क्षत्रिय शिष्य महाराज जनक के यहाँ ज्ञानोपदेश लेने के लिये जनकपुर भेजा था।

पिता की आज्ञा मे वे जनकपुर गये। द्वारपालो ने उन्हे भीतर नही जाने दिया। वे द्वार पर ही बिना खाये-पीये खड़े रहे। तनिक भी न उन्होने क्रोध किया न अपना अपमान ही समझा। इसी प्रकार कई स्थानो मे कई दिनो तक रोकने के अनन्तर कई प्रकार की परीक्षायें लेने के अनन्तर महाराज जनक ने उनसे साक्षात्कार किया। उनका आदर किया, उच्च सिंहासन पर बिठाया और कहा—'आप मे सब गुण है। आप दप रहित हैं। आप मे इतनी ही त्रुटि है कि पूर्ण ज्ञानी होने पर भी आप अपने को ज्ञानी नही समझते।"

शुभ कर्मों का भी बडा भारी अभिमान होता है महाभारत मे एक ब्राह्मण कुमार की कथा आती है, जो अपने माता-पिता की सेवा छोडकर तपस्या करने चला गया। तपस्या करते-करते उसका इतना प्रभाव बढ गया कि पेड पर उपद्रव करते पक्षी उसके क्रोध से देखने पर मर कर गिर पडे। उसे बडा अभिमान—दर्प—हो गया। जिसे एक पतिव्रता ने एक मास विकेना धर्म व्याध ने शान्त करके उसे उपदेश दिया।

अवस्था का भी बडा दर्प होता है, अवस्था के दर्प के ही कारण वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने अपने पुरोहित शुक्राचार्य

की पुत्री को कूए मे ढकेल दिया था और फिर यह विवाद बढता ही गया।

रूप के अभिमान के कारण ससार मे कैसे-कैसे अनर्थ हुए हैं। सौन्दर्य का दर्प ऐसा दर्प है कि इसके कारण सौतो मे परस्पर कलह हुई हैं। कैकेयी को अपने सौन्दर्य का गर्व था—ध्रुव की विमाता सुरुचि के सौन्दर्य के दर्प के ही कारण ध्रुवजी को वन मे जाना पडा।

विद्या के दर्प के ही कारण एक विद्वान् दूसरे विद्वान को शास्त्रार्थ मे ललकारते हैं और परस्पर मे न कहने योग्य बातें कहते हैं। इसके अनेको उदाहरण हैं।

ऐश्वर्य का दर्प तो सबसे अधिक होता है। महाभारत में एक कथा है, कि कुरुवशी महाराज सुहोत्र महर्षियो से मिलकर लौट रहे थे। मार्ग मे उन्हे उशीनर के पुत्र महाराज शिवि रथ पर सामने से मिल गये। मार्ग मे दोनो अपने को श्रेष्ठ समझकर खड़े हो गये। ये समझते थे मैं श्रेष्ठ हूँ अत. शिवि को मुझे मार्ग देना चाहिये। महाराज शिवि समझते थे मैं श्रेष्ट हूँ सुहोत्र को मुझे मार्ग देना चाहिये।

दोनो अपने-अपने ऐश्वर्य के दर्प के कारण एक दूसरे का मार्ग रोके खडे थे। इतने मे ही वहाँ दैवयोग से देवर्षि नारदजी आ गये।

नारदजी ने पूछा—'भाई तुम दोनो राजा एक दूसरे का मार्ग रोके क्यो खड़े हो।" दोनो ने कहा—'हम श्रेष्ठ है, हमारे लिये इन्हें मार्ग देना चाहिये।"

इस पर नारदजी ने महाराज सुहोत्र से कहा—"राजन्! जब निष्ठुर स्वभाव वाले के साथ कोमल स्वभाव वाले की और असज्जन के साथ सज्जन की मैत्री होती हुई देखी जाती है, तब

एक सज्जन के साथ दूसरे सज्जन का सुहृद्भाव क्यो न हो ? अतः अपने प्रति जो व्यवहार किया गया हो, उससे सौगुना अच्छा व्यवहार अपने साथी के साथ करना चाहिये। देवता तक यह निर्णय नही कर सकते, कि सदाचार क्या है। मैं निर्णय देता हूँ, कि महाराज शिवि चरित्र में तुम्हारी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। हे सुहोत्र ! साधु वही है, जो कुछ देकर दुष्ट को, सत्य बोलकर असत्य भाषण करने वाले को, क्षमा के द्वारा निष्ठुर को और सद् व्यवहार द्वारा असज्जन को अपने वश मे कर लेता है। राजन् ! आप दोनो धर्मात्मा हो, ऐश्वर्यशाली हो, उदार हो, तथापि जो वास्तव मे सच्चा उदार होगा वह अपना दर्प छोड़कर दूसरे को मार्ग दे देगा। इस समय इसी व्यवहार से श्रेष्ठता तथा उदारता की परीक्षा हो जायगी।"

नारदजी के ऐसा कहने पर महाराज सुहोत्र ने अपना हठ छोड दिया। उन्होने महाराज शिवि का सम्मान किया, उनकी परिक्रमा की और उनको प्रणाम करके उनके लिये मार्ग छोड़ दिया। वास्तव में सम्माननीय वही है, जो दूसरों को सम्मान देता है। क्योंकि गृहीता की अपेक्षा दाता श्रेष्ठ कहा गया है।

धन आदि का दर्प तो दुर्योधन का प्रसिद्ध ही है। दर्प के ही कारण उसने भीष्म, द्रोण, विदुर अपने पिता धृतराष्ट्र तथा स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान् की सीख नही मानी, पाडवो का राज्य नहीं लौटाया इसीलिये सम्पूर्ण कुल सहित मारा गया। यही दशा रावण की हुई। दर्प के ही कारण वह सीताजी को हर ले गया। फिर सबने समझाया, संधि करलो, सीताजी को लौटा दो, उसने नहीं माना अपने दर्प के ही कारण कुल सहित मारा गया।

आसुरी सम्पदा का तीसरा लक्षण है—"अति मान या अभि-

मान। जब मनुष्य अपने को ही सब कुछ समझने लगता है और सभी को तुच्छ समझकर उनका अपमान करने लगता है, तो समझना चाहिये इसकी वृत्ति आसुरी हो गयी है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण देवता और असुर ही हैं।

वैसे देवता और असुर सगे भाई-भाई ही हैं। एक ही प्रजापति भगवान् कश्यप के पुत्र हैं। पिता दोनों के एक हैं, केवल माताय दिति और अदिति पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु असुर अतिमान या अभिमान के कारण अपने को ही श्रेष्ठ समझने लगे। देवता अपने को भगवान् के अधीन मानने लगे। भगवान् के शरणागत होने के कारण देवताओं की विजय हुई, उन्हे पीने को अमृत मिला। अतिमान के कारण असुरो ने क्लेश भी सहे परिश्रम भी किया फिर भी उन्हे पीने को अमृत नही मिला और उन्हे पराभव को भी प्राप्त होना पडा। इसलिये कभी अत्यत मान या अभिमान न करना चाहिये। अभिमान पराभव को देने वाला होता है।

दैवी सम्पदा का चौथा लक्षण है—"क्रोध। क्रोध कहते हैं अन्त करण को जलने वाली वृत्ति को। क्रोध जब हृदय मे आता है तब चेहरा विकृत हो जाता है, आखें लाल हो जाती हैं, ओठ फरकने लगते हैं, शरीर काँपने लगता है। अन्त करण मे एक प्रकार का सम्मोह हो जाता है, स्मृति प्राय नष्ट हो जाती है, मुख मे जो भी अट-सट आता है उसे ही बकने लगता है। हाथ मे जो भी पड जाता है उसी से प्रहार करने लगता है। अपने पराये का विवेक नही रह जाता। क्रोध उस अग्नि के सदृश होता है, जो पहिले-पहिल जहाँ लगती है, उसे जलाकर आगे बढती है।

क्रोध मे एक और विशेषता है, क्रोध-क्रोध से बढ़ता है, क्रोध करने वाले के सम्मुख कोई दूसरा क्रोध करने वाला न हो तो वह

अपने आप शांत हो जाता है इस विषय में एक पौराणिक कथा बहुत प्रसिद्ध है।

एक बार श्रीकृष्ण, बलदेवजी, सात्यकी तीनों कहीं जा रहे थे। जाते-जाते मार्ग मे उन्हें एक सघन वन मिला। वहाँ सूर्यास्त हो चुका था। आस पास कोई ग्राम नही था। आगे का मार्ग निरापद नही था। अतः तीनो ने निश्चय किया कि रात्रि इसी वन में किसी सघन वृक्ष के नीचे बितायी जाय।"

निश्चय के अनुसार तीनो एक सघन वट वृक्ष की छाया में पहुँचे। वन बडा ही भयंकर था। भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस तथा हिंस्र पशुओ का भय था। निश्चय यह हुआ कि रात्रि के तीन प्रहरों मे दो-दो आदमी तो सो लिया करें। बारी-बारी से तीनों एक-एक प्रहर जागकर पहिरा दें। इस निश्चयानुसार श्रीकृष्ण-चन्द्रजी और बलरामजी तो सो गये। सात्यकी जी जागकर पहरा देते रहे।

जब राम और कृष्ण भली प्रकार सो गये तब एक भयंकर राक्षस आया। उसने सात्यकी जी से कहा—"देखो, भाई ये जो दोनो सो रहे हैं, इनको मैं खा जाऊँगा, तुम्हे छोड दूँगा, तुम मुझे इनको खा लेने दो।"

सात्यकी जी ने कहा—"दुष्ट! तू हममें फूट डालना चाहता है, या पहिले मुझसे तो लड ले। यह कह कर सात्यकी जी क्रोध करके उससे लडने लगे। ये दाँत किटिकिटा कर जितना ही उस पर प्रहार करते, वह राक्षस उतना ही बढ़ता जाता। एक प्रहर तक घनघोर युद्ध हुआ। एक प्रहर के पश्चात् वह राक्षस चला गया। सात्यकी जी ने देखा, बलरामजी उठकर पहरा देने के लिये तैयार हैं। सात्यकीजी बिना कुछ बताये चुपचाप जाकर सो गये। जब सात्यकी भी सो गये, तब वह राक्षस पुनः आया।

उसने बलदेव जी के सम्मुख भी यही प्रस्ताव रखा। भला बलदेव जी इस प्रस्ताव को कब मानने वाले थे, उन्होंने अपना हल मूसल सम्हाला और क्रोध मे भरकर उससे युद्ध करने लगे। बलदेवजी क्रोध करके जितना ही उस पर प्रहार करते वह उतना ही बढता जाता। एक प्रहर तक दोनो का घनघोर युद्ध हुआ। एक प्रहर पश्चात् राक्षस चला गया। तब श्रीकृष्ण उठकर बैठ गये। बलदेवजी ने सोचा—'राक्षस तो चला ही गया है, व्यर्थ मे श्रीकृष्ण को क्यो बतावें, अतः वे भगवान् को बिना कुछ बताये चुप चाप जाकर सो गये।

उनके सो जाने के पश्चात् वह राक्षस पुनः श्रीकृष्ण के समीप आया और बोला—"इन दोनो को मुझे खा लेने दो, तुमको मैं छोड दूंगा।"

यह सुनकर श्रीकृष्ण खिला खिलाकर हंस पडे और बोले—"राक्षसराज! भला यह भी संभव है क्या? मैं अपने साथियों के साथ विश्वास घात कैसे कर सकता हूँ?"

राक्षस ने कहा—'यदि तुम मेरी बात नही मानते हो, तो आओ मुझसे लडो।"

हंसते हुए भगवान् बोले—"अजी! आप की और हमारी लडाई भला शोभा देती है, आप इतने बड़े हो, मैं इतना छोटा हूँ।"

राक्षस ने कहा—"छोटे बडे की बात नहीं। तुमको मुझसे लड़ना पडेगा, तुम नही लडोगे तो मैं पहिले प्रहार करता हूँ।"

भगवान् ने हंसते हुए कहा—'ऐसा मत कीजिये राक्षसराज! हमारी आपकी क्या लडाई।"

राक्षस ने श्रीकृष्णचन्द्र पर प्रहार किया भगवान् हंस पड़े और बोले—वाह! आप तो बड़े बलवान् हैं। अब लीजिये मैं भी

पकड़ता हूँ। इस प्रकार भगवान् हंसते हुए उसके प्रहारो का प्रतिकार करते रहे और खिल-खिलाकर हंसते हुए उसकी प्रशसा भी करते जाते, भगवान् जितना ही हंसते जितनी ही उसकी प्रशसा करते वह उतना ही छोटा होता जाता। तीसरे प्रहर तक वह इतना छोटा हो गया कि भगवान् ने उसे अपने पीताम्बर के एक कोने में गाठ देकर बाँध लिया। तब तक बलरामजी और सात्यकी भी जाग पड़े। तीनो तैयार होकर पुनः चलने लगे। मार्ग मे सात्यकी जी ने कहा—"रात्रि मे एक राक्षस आया था, उसने प्रहर भर तक मुझसे बडा भारी युद्ध किया। मैं क्रोध करके उस पर जितना ही प्रहार करता वह उतना ही बढता जाता था।"

इस पर बलदेवजी बोल उठे—"भैया, तुम ठीक कहते हो, वह राक्षस मेरे पास भी आया था। वह बडा भारी बलवान् था मैं हल मूसल से जितना ही क्रोध करके उस पर प्रहार करता वह दुष्ट उतना ही बढता जाता। वह बहुत भारी बडा था।"

तब श्रीकृष्ण ने कहा—'वह राक्षस मेरे भी पास आया था। किन्तु मैंने उस पर क्रोध नही किया, मैं तो हंसता रहा। मैं जितना ही हंसता, वह उतना ही छोटा होता जाता था। अन्त मे वह इतना छोटा हो गया, कि मैंने अपने पीताम्बर की कोर मे उसे गाठ मे बाँध लिया।" यह कहकर श्रीकृष्ण ने अपने पीताम्बर की कोर मे बँधी गाठ खोलकर उसे दिखा दिया। वह चोटी से भी बहुत छोटा था।

बलदेवजी ने पूछा—"यह इतना छोटा कैसे हो गया। मैं तो जितना ही क्रोध करके इस पर प्रहार करता था, यह उतना ही बढता जाता था।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—"भैया! यह राक्षस और कोई

नहीं है, यह क्रोध ही है। क्रोध के सम्मुख तुम जितना ही क्रोध करोगे, वह उतना ही बढ़ता जायगा। और जितना ही अक्रोध करोगे, हँसते रहोगे, उतना ही यह छोटा बनता जायगा। मैंने प्रसन्नता प्रकट करके हँस-हँसकर – इसे इतना छोटा बना दिया है।"

वास्तव मे क्रोध, क्रोध से ही बढ़ा करता है, क्रोधी के सम्मुख क्रोध न करे तो वह अपने आप शांत हो जायगा। प्रज्वलित अग्नि के सामने जितना अधिक ईंधन रखोगे उतनी ही अधिक वह प्रज्वलित होती जायगी। ईंधन के अभाव मे वह शान्त हो जायगी। अत जिन्हे क्रोध को न बढाना हो वे क्रोधी के सम्मुख क्रोध न करें शान्त बने रहे तो क्रोधी का भी क्रोध शान्त हो जायगा। क्रोध न करना अक्रोध दैवी सम्पत्ति है और क्रोध करना आसुरी सम्पद् है।

आसुरी सम्पदा का पाँचवाँ लक्षण है–पारुष्य। पारुष्य कहते हैं कठोर वचन को। किसी के मुख पर ही कडवी बातें कहना, गाली बक देना यही कठोरता है। यही पारुष्य का लक्षण है। पारुष्य क्रोध रूपी जलती अग्नि मे वायु का काम करता है। जलती अग्नि वायु लगने से और अधिक प्रज्वलित होती है। समस्त अनर्थ पारुष्य भाषण से ही होते हैं।

द्रोणाचार्य पाचाल नरेश द्रुपद को अपना सहपाठी, गुरुभाई तथा बाल्यकाल का मित्र समझकर उससे एक गौ माँगने की इच्छा से आये थे। उन्होने यही कहलाया–राजा से कहो उनके मित्र द्रोण उनसे मिलने आये हैं। इतना सुनकर भी द्रुपद पहिले तो मिले ही नही जब द्रुपद के ढिंग जाकर द्रोणाचार्य ने कहा— "राजन्! आपने मुझे पहिचाना? मैं आपका सहपाठी मित्र द्रोण हूँ, आपका प्रिय सखा हूँ, आपसे भेंट करने यहाँ आया हूँ।"

इतना सुनते ही ऐश्वर्य के मद मे मदमाते हुए राजा द्रुपद महामुनि द्रोणाचार्य से परुष वचन बोले। सम्मान योग्य ब्राह्मण का तिरस्कार करते हुए उनसे ये कठिन वचन कहे—"अरे ब्राह्मण! तेरी बुद्धि संस्कार हीन है। इसीलिये तू अट को सट बातें बक रहा है। तुझ दरिद्र ब्राह्मण को मुझे मित्र कहते लज्जा भी नही आती? हे मन्द बुद्धि भिक्षुक ब्राह्मण! तू इतना भी नही समझ सकता कि एक ऐश्वर्य सम्पन्न राजा की और एक श्री हीन निर्धन दरिद्र भिक्षुक साधारण ब्राह्मण की मित्रता किस प्रकार हो सकती है? मान लो कभी किसी कारण वश मैत्री हो भी जाय, तो वह समय पाकर नष्ट हो जाती है। पहिले हम और तू एक ही दशा मे थे, तभी मेरी तेरी मैत्री हो गयी थी। किन्तु अब वह मित्रता पुरानी पड़ गयी। अब वे बातें अतीत के गर्भ मे विस्मृति के रूप में परिणित हो चुकी। ऐसी मित्रतायें चिरस्थाई नही हुआ करती। वे तो उसी अवसर की होती हैं। ऐसी विस्मृतियाँ चिरकाल के वियोग होने से या क्रोध के कारण नष्ट भ्रष्ट हो जाया करती हैं। अब तू उन पुरानी बातों को सर्वथा भुला दे। बालपन मे जो साधारण बालकों मे मित्रता हो जाती है वह तो खेलने कूदने के कारण होती है मैत्री और विवाह सम्बन्ध तो समान मे हुआ करते हैं। मूर्ख और विद्वान का, धनी और दरिद्री की तथा शूरवीर और भीरु की कहां मित्रता हो सकती है? तू ही सोच निर्धन दरिद्री पुरुष की राजा से कैसी मित्रता हो सकती है। अतः सावधान, अब कहीं भी कहीं अब कभी हमारी अपनी मित्रता की बात मुख से भी मत निकालना।

एक अपने बाल-काल के सहपाठी से ऐसे कठोर वचन कहना कितना अनुचित है। दरिद्र होने से ही कोई हेय, थोड़े

ही हो जाता है। दरिद्री सुदामा का षडैश्वर्य सम्पन्न श्रीकृष्ण चन्द्र जी ने कैसा आदर किया था। कैसे मधुर वचनो से उनका स्वागत सत्कार किया था। राजा द्रुपद भले ही द्रोणाचार्य को कुछ न देते, किन्तु उनसे ऐसे परुष वचन तो न बोलते। उनके इस पारुष्य व्यवहार, का ही यह परिणाम हुआ कि द्वेष की जड गहरी पड गयी। द्रोणाचार्य ने इस द्वेष का बदला लेने के लिये ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध राजकुमारो को उनके घर पर जाकर पढाया उन लडको से ही द्रुपद को पकडवाकर मँगवाया, उसका आधा राज्य छीन लिया। राजा द्रुपद ने भी द्रोणाचार्य से बदला लेने के लिये अभिचार यज्ञ कराया। द्रोणाचार्य का वध कराने तथा कौरव पाडव कुल का नाश कराने धृष्टद्युम्न और द्रौपदी को उत्पन्न कराया। माना इन पारुष्य बचनो से ही महाभारत का नीव पड गया। अत पारुष्य वचन, पारुष्य व्यवहार विनाश के कारण हैं। आसुरी सम्पद् के लक्षण हैं।

दैवी सम्पदा का छठा लक्षण है—अज्ञान। यह कर्तव्य है यह अकर्तव्य है इस प्रकार के विवेक का नाम ज्ञान है। इसका जिस मे अभाव हो उस वृत्ति का नाम है अज्ञान। अज्ञान से जो कार्य किये जाते हैं उसका परिणाम दु खद ही होता है। अज्ञान के वशीभूत होकर ही जड समुद्र ने टिटहरी के अडाआ को हर लिया था। इस पर टिटहरी ने समुद्र को खाली करने का निश्चय कर लिया। वह चोच मे भर भर कर समुद्र के पानी को बाहर फेकने लगा। नारदजी द्वारा गरुडजी को यह बात मालूम हुई। गरुडजी तो पक्षियो के राजा ही ठहरे। वे भी उनकी सहायता करने लगे। तब अगस्त मुनि आये। सम्पूर्ण जल को पी गये। समुद्र ने अडे दे दिये। तब कही जाकर अगस्त जी ने मूत्रेन्द्रिय के द्वार से समुद्र का पानी निकालकर उसे भर दिया। इसी कारण

तभी से समुद्र का जल खारी हो गया। समुद्र के अज्ञान के कारण ही ऐसा हुआ।

ये ६ तो आसुरी सम्पदा के मुख्य लक्षण हैं। इनके अतिरिक्त दैवी सम्पदा के विपरीत जितने भी दुर्गुण हैं। उनको भी आसुरी सम्पदा के अन्तर्गत मानना चाहिये। जैसे भय, अन्तःकरण की अशुद्धि, अज्ञान मे निष्ठा, कृपणता, इन्द्रियों को वश में न रखना, यज्ञ न करना, तप, स्वाध्याय न करना, क्रूरता, हिंसा, असत्य, संग्रह, अशान्ति, चुगली करना, अदया लोलुपता, कठोरता, निर्लज्जता, चञ्चलता, तेज हीनता अक्षमा, अधीरता, अशौच, वैर भाव रखना तथा सम्मान लोलुपता आदि-आदि ये भी सभी आसुरी सम्पदायें है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने दैवी सम्पदा के लक्षण तो आपको बता दिये अब भगवान् ने आसुरी सम्पदा के जो लक्षण बताये उन्हें आपको और सुनाता हूँ। भगवान् ने अर्जुन से कहा—"हे पार्थ! जो पुरुष आसुरी सम्पद् मे उत्पन्न हुए हैं उनके लक्षण ये हैं।"

जो आसुरी सम्पदा वाले होते हैं। उनमें दम्भ बहुत होता है। अधार्मिक होते हुए भी धर्म की ध्वजा उठाकर अपने को धार्मिक प्रकट करना यही दम्भ है।

दूसरे उनमे दर्प अथवा गर्व बहुत होता है। गर्व मे भरकर दूसरों का सदा तिरस्कार करते रहते हैं।

तीसरा अतिमान या अभिमान है। आवश्यकता से अधिक मान सम्मान की उत्कट इच्छा।

चौथा उनमें क्रोध बहुत होता है, अपकार करने वालों को देखकर या धनियों गुणियों को देखकर जो अकारण ही अन्तः-करण में एक प्रकार की जलन होती है उसी का नाम क्रोध है।

पांचवां पारुष्य उनमे बहुत होता है। किसी के मुख पर ही कठोर से कठोर बचन कह देंगे।

छटे वे बडे अज्ञानी होते हैं उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नही रहता। इनके अतिरिक्त दैवी सम्पदा के विपरीत जितने दुर्गुण हैं। वे सब भी आसुरी सम्पदा वालो मे होते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! दैवी सम्पदा का फल क्या है? और आसुरी सम्पदा का फल क्या है? और कृपा करके यह भी बता दीजिये कि मैं दैवी सम्पदा मे उत्पन्न पुरुष हूं अथवा आसुरी सम्पदा वाला हूं?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

'दम्भ' धरमधुज लिये अधरमी धरम सिखावै।
'दर्प' गरब कूं कहत तिरसकृत गुनिनि करावै॥
करै 'अधिक 'अभिमान' फिरै बनिके अतिमानी।
करै 'क्रोध' हिय जरै सबहि जी दुरगुन खानी॥
कटु भाषन मुह पै करै, वही बचन 'पारुष्य' है।
कही वृत्ति 'अज्ञान' यह, नहिं करतव को ज्ञान है॥

दैवी सृष्टि और आसुरी सृष्टि

[५]

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

दैवी सम्पद माहिँ भये जो पैदा प्रानी ।
तिनि की निश्चय मुक्ति कहैं ऐसे नर ज्ञानी ॥
जो पैदा जन भये आसुरी सम्पद माहीं ।
बन्धन तिनि जग होहि मुक्ति तिनिकी है नाहीं ॥
अरजुन ! तू मति सोच करि मुक्ति होयगी तव अवसि ।
दैवी सम्पद में भयो, दैवी ही में तू प्रविसि ॥

---

* हे पाण्डव ! दैवी सम्पदा तो मुक्ति के निमित्त है और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये माना गया है । तुम तो दैवी सम्पदा वाले हो । इसलिये शोच मत करो ॥५॥

हे पार्थ ! इस लोक में प्राणियों के स्वभाव दो भाँति के होते हैं, एक दैव दूसरे असुर । दैवी सम्पदा वालों का स्वभाव पीछे मैंने विस्तार से कहा है, अब आसुरी सम्पदा वालों का स्वभाव सुनो ॥६॥

संसार में दो ही प्रकार हैं, अच्छा बुरा, धर्म अधर्म सुख दुख, नर्क स्वर्ग। वास्तविकता दो ही मे आ जाती है, फिर मिश्रित करके चाहे जितने भेद कर लो। इस मनुष्य लोक में दो ही प्रकार के मनुष्य देखने मे आते हैं, एक स्वर्गीय पुरुष दूसरे नारकीय पुरुष। कुछ लोग तो स्वर्ग सुखों का उपभोग करके कुछ पुण्य शेष रहने पर मनुष्य लोक में आते हैं कुछ लोग नरको की यातना झेलकर कुछ पाप शेष रहने पर पृथ्वी पर आते है वे नारकीय पुरुष कहाते हैं। किसी के माथे पर तो लिखा नही रहता, यह स्वर्गीय जीव है, यह नारकीय जीव है। स्वाभाव को देखकर ही अनुमान लगाया जाता है, कि यह स्वर्गीय है या नारकीय।

शास्त्रकारो ने स्वर्ग से लौटकर पृथ्वी पर आने वाले जीवों के चार चिह्न बताये हैं, जिनमे ये चार लक्षण दिखाई दें उन्हे स्वर्गीय पुरुष समझना चाहिये। पहिला लक्षण तो है दान प्रसग। दान देने मे जिनकी स्वाभाविक रुचि हो दान देते-देते जिनकी तृप्ति ही न होती हो। दान देने मे जिन्हे हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव होता हो। इस प्रसग मे महाराज शिवि, महाराज रन्तिदेव, महाराज हरिश्चन्द्र, महाराज रघु, दानवीर कर्ण आदि अनेको राजर्षियो का नाम लिया जा सकता है, महर्षि दधीचि, मुनिवर यवक्रीत आदि अनेको ऋषियो की गाथा प्रसिद्ध है। दान का अनत माहात्म्य है दान की महिमा वस्तुओ के बाहुल्य से नहीं होती दाता की भावना के अनुसार होती है, इस विषय मे महाभारत का यह आख्यान बहुत प्रसिद्ध है। महाराज धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय महायज्ञ मे लाखो करोडो ब्राह्मणों ने भोजन किया, अगणित द्रव्या का दान दिया गया। ब्राह्मणो के पैर धुलाते-धुलाते वहाँ बडी भारी कीच हो गयी थी।

धर्मराज युधिष्ठिर ने एक दिन देखा उस कीच में एक न्योला लोट लगा रहा है, उसका आधा शरीर सुवर्ण का था, आधा साधारण न्योले के सदृश था। इधर से उधर कीच मे लोटता फिरता है।

धर्मराज ने भगवान् से पूछा—"प्रभो! यह न्योला कीच में इस प्रकार क्यों लोट रहा है और इसका आधा शरीर सुवर्ण का क्यो है?"

भगवान् ने कहा—"राजन्! आप इस न्योले को बुलाकर इसी से इसका कारण पूछिये।"

तब धर्मराज ने न्योले को बुलाकर पूछा—"भाई, तुम इस कीच मे क्यो लोट रहे हो?, और तुम्हारा आधा शरीर सुवर्ण का क्यो है?"

इस पर न्योले ने कहा—"धर्मावतार! जिस वन मे, मैं रहता था वहाँ एक ब्राह्मण सपरिवार निवास करते थे। वे पन्द्रह दिन का अन्न संग्रह करके लाते। उसके सत्तू बनाकर उसी से निर्वाह करते। एक दिन वे पन्द्रह दिन के लिये सत्तू बनाकर लाये। ज्यों ही खाने के लिये बैठे त्यो ही एक अतिथि आ गया। उसे इन्होने बडी श्रद्धा भक्ति से भोजन कराया। अतिथि ब्राह्मण उनके सब के सब सत्तू खा गये। इन्होने अत्यत प्रीति पूर्वक उन सत्तुओ का दान किया, उन्हे भक्ति भाव मे खिलाकर नम्रता पूर्वक उनके हाथ धुलाये। हाथ धुलाने से जो थोडी सी कीच हो गयी, उसमे मैं गर्मी के कारण जाकर लोट गया। कीच थोडी थी मेरे आधे ही अग मे लगी। जितने अग मे कीच लगी, उतना अग मेरा सुवर्ण का हो गया। तब मुझे बडा आश्चर्य हुआ। किसी मुनि ने बताया—"यह सात्विक दान का फल है, कि ब्राह्मण के हाथ धुलाने के जल की, कीच से तुम्हारा आधा अग सुवर्ण का हो

गया। सो-रीमन् ! तब से मैं इसी ताड़ मे रहता था, कि कोई धर्मात्मा बहुत से अतिथि अभ्यागत ब्राह्मणों को अन्न दान दें, भोजन करावे और उनके हाथ पैर धोने मे जो कीच हो, उसमे मै जाकर लोटूं तो मेरा शेष शरीर भी सुवर्ण का हो जाय। जब मैंने सुना धर्मराज महान् राजसूय यज्ञ कर रहे हैं और उसमे लाखों करोडो ब्राह्मणों अतिथि अभ्यागतों को इच्छानुसार यथेष्ठ अन्नदान दिया जायगा। असख्यो पुरुषों को भोजन कराया जायगा। तब मैं यहाँ आया। और इसी आशा से लोट लगा रहा हूं, कि मेरा शेष शरीर सुवर्ण का हो जाय, किन्तु मेरी आशा निराशा मे परिणित हो गयी। मेरा आधा शरीर ज्यो का त्यो ही रह गया, वह सुवर्ण का नही हुआ।"

इस पर धर्मराज मे भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी से पूछा—"भगवन् ! यह क्या बात है, हमारे यहाँ इतना अन्न दान हुआ फिर भी इसका आधा शरीर सुवर्ण का नही हुआ। और ब्राह्मण के तनिक से सत्तू दान पर ही उस अतिथि के हाथ धोने की कीच से इसका शरीर सुवर्ण का क्यो हो गया ?'

इस पर भगवान् ने कहा—"राजन् ! हमारे इस यज्ञ मे न तो ऐसा कोइ सच्चा अतिथि ही आया—सभी अभिमान में भरकर आये थे, और न हम लोगो ने उस सत्तू दानी ब्राह्मण की भाँति श्रद्धा भक्ति से दिया। अतः आपके इस अगणित द्रव्य वाले यज्ञ से उस ब्राह्मण का सत्तू दान यज्ञ श्रेष्ठ है। अतः दान की महत्ता दाता की हार्दिक भावना के अनुसार मानी जाती है।"

स्वर्गीय पुरुषों का दूसरा लक्षण है—"मधुरवाणी। बहुत से लोग ऐसा बोलते हैं, मानो उनके मुख से फूल झड रहे हों। वे कठोर वचन कहना मानो जानते ही न हो। यह ऊँपरी शृंगार अच्छे वस्त्र-आभूषण मनुष्य की उतनी शोभा नही बढाते।

जितनी शोभा मधुर वाणी से बढती है। मीठी वाणी दूसरे के कानों मे अमृत घोल देती है, किन्तु मधुर वाणी सभी नहीं बोल सकते। उन्ही की मीठी वाणी होती है, जो सीधे स्वर्ग से यहाँ आये हुए हैं।"

स्वर्गीय पुरुषों का तीसरा लक्षण है—"देवताओ के पूजन में अनुराग होना। देवताओ के पूजन में भाग्यशाली पुरुषो को ही अनुराग होता है। देवता, ऋषि और पितरो के प्रति श्रद्धा पुण्यात्मा पुरुषो मे ही होती है। अर्जुन शिवजी की आराधना के प्रभाव से ही सशरीर स्वर्ग चले गये। उन्हे किरात के वेष मे शिवजी ने स्वय ही आकर दर्शन दिया था, पहिले तो उन्होंने शिवजी को साधारण किरात ही समझा अतः उनसे बहुत देर तक युद्ध करते रहे। जब देखा मैं इस किरात को हटा ही नही सकता, तो पुनः शिवजी का अर्चन करने लगे। उनके आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। वे जो पुष्प, विल्वपत्र, माला आदि शिव लिंग पर चढाते वह किरात के ऊपर चढ जाता। तब तो वे समझ गये, जिनका मैं पूजन कर रहा हूँ, ये वे ही किरात वेषधारी शिव हैं। मेरी अर्चना को कृतार्थ करने पधारे हैं, वे उनके चरणो मे पड गये। शिवजी ने उन्हे साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृतार्थ किया। अतः देव पूजन में प्रेम, देवार्चन मे निष्ठा सभी को नहीं होती, जो स्वर्गीय प्राणी हैं उन्ही की निष्ठा होती है।"

स्वर्गीय पुरुषो का चौथा लक्षण है—"ब्राह्मणो को तृप्त करने की, उनको प्रसन्न करने की भावना। जो नारकीय जीव है, वे तो कहते हैं जो रक्त, मांस हड्डी हमारे शरीर मे है, वही ब्राह्मण के शरीर मे है; फिर हम ब्राह्मण को क्यो खिलावें अपने ही शरीर को पुष्ट क्यों न करें। ये ही आसुरी भाव है। असुर उन्ही को कहते हैं, जो अपने प्राणो के पोषण पालन मे ही प्रसन्नता का अनुभव करते

हैं। जो श्रेष्ठ ब्राह्मणों को प्रणाम करके, उनके प्रति हार्दिक प्रेम प्रकट करके, उनको भोजनादि से सन्तुष्ट करते हैं, वे परमपद के अधिकारी हो जाते हैं। इस विषय के अनेकों उदाहरण शास्त्र पुराणों में भरे पड़े हैं। प्रणाम करके मार्कंडेयजी ने दीर्घ आयु प्राप्त की। द्रोण ब्राह्मण की पत्नी ने अपने स्तन काटकर अन्न लाकर सपरिवार ब्राह्मण को तृप्त किया। इसके फल स्वरूप उन्हें प्रत्यक्ष भगवान् ने दर्शन दिया। द्रोण ब्राह्मण ही नन्द हुए। उनकी पत्नी धरा ही यशोदा मैया हुई, जिनके स्तनों का यशोदा-नन्दन नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रजी ने पान किया। इस प्रकार जिनमें दान मधुरवाणी, देवार्चन श्रद्धा और ब्राह्मणपर्ण भावना हो वे स्वर्गीय पुरुष है।

अब जो नरक से लौटे हुए पुरुष हैं उनके शरीर में ६ चिन्ह शेष रह जाते हैं। जिनके शरीर में ये ६ चिन्ह दृष्टिगोचर हों, उन्हें समझना चाहिये ये सीधे नरक से लौटकर आये हैं।

उन छै चिन्हों में से पहिला चिन्ह है—"अत्यन्त क्रोध। जो अत्यन्त क्रोधी हों बात बात पर क्रोध से काँपने लगें। क्रोध में भर कर दूसरों पर प्रहार करने लगें दूसरों की हत्या तक कर डालें उन्हें नारकीय जीव समझना चाहिये।"

नारकीय जीवों का दूसरा लक्षण है—"कटुवचन बोलना। साधारण रूप से भी बोलें तो ऐसा लगे मानो विष उगल रहे हों। जो मीठा बोलना जानते ही न हों।"

नारकीय जीवों का तीसरा लक्षण है—'मन की दरिद्रता। जो अत्यन्त ही कृपण हों, दूसरों को देने में जिनके हाथ काँपने लगें दान देते हुए जिन्हें वेदना हो, जो मन के अत्यन्त ही कृपण, संग्रही, लोभी लालची दरिद्री हों। ये पापियों के लक्षण है, नारकीय जीवों के चिन्ह है।"

नारकीय जीवों का चौथा लक्षण है—"अपने स्वजनों से बन्धुओं से सदा वैर भाव रखना। जैसे दुर्योधन रखता था। वह साक्षात् कलियुग का अवतार ही था।"

नारकीय जीवों का पांचवां लक्षण है—"नीच लोगों का साथ करना। नीच पुरुषों के ही साथ उठना बैठना, उन्हीं से सलाह सम्मति लेना, उन्हीं के सहयोग से काम करना।"

नारकीय जीवों का छठा लक्षण है—"हीन कुल वाले नीच, चोर, जार, ठग, अधर्मी पापी लोगों की सेवा करना। जो जैसी प्रकृति का पुरुष होगा, वह वैसी ही प्रकृति के पुरुषों की सेवा सुश्रुषा करेगा। जो स्वयं नारकीय होगा, अपने से बड़े प्रभावशाली नारकीय की ही सेवा करेंगे। छोटे डाकू बड़े डाकुओं की सेवा करते हैं, उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। छोटे पापी बड़े पापियों का ही अनुसरण करते हैं।"

जिस प्रकार स्वर्गीय और नारकीय पुरुषों की पहिचान है उसी प्रकार दैवीसम्पदा को प्राप्त पुरुषों की और आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुषों के पृथक्-पृथक् लक्षण हैं। जिनमें से भगवान् ने दैवीसम्पदा प्राप्त पुरुषों के लक्षण तो कहीं स्थितप्रज्ञ पुरुष के नाम से, कहीं भक्तों के लक्षण कहकर, कहीं ज्ञानी के लक्षण बताकर, कहीं गुणातीत की परिभाषा बताकर अनेकों बार वर्णन किया, किन्तु आसुरी सम्पदा वालों का कहीं विशेष विस्तार से वर्णन नहीं किया। उसी का वर्णन करने की भूमिका बांधते हुए भगवान् कहने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर अब भगवान् दोनों सम्पदाओं का फल बताते हुए कहते हैं—"हे पाण्डु के पुत्र अर्जुन! दैवीसम्पद् मोक्ष के लिये होती है। और आसुरी सम्पद् बन्धन के लिये।"

अर्जुन पूछा—"दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये कैसे होती है भगवन्।"

भगवन् ने कहा—"जैसे तुम ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र वर्ण में हो। अथवा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम मे हो। अथवा इन वर्णाश्रमो से अतीत हो, वर्णाश्रम रहित हो। तो जो भी तुम्हारे वर्ण, आश्रम, कुल का परम्परागत आचार व्यवहार मर्यादा हो उसे निष्काम भाव से प्रभु प्रीत्यर्थ करते चलो वही मुक्ति का साधन है। वही कल्याणकारी पथ है। इसके विपरीत तुम वर्ण, आश्रम, कुल मर्यादा को छोडकर सकाम भाव से मनमानी क्रिया करने लगो, अहकार के वशीभूत होकर राजस् तामस कार्यो मे प्रवृत्त हो जाओ, यही आसुरी प्रकृति है इससे संसारी बन्धन और दृढतर होता जायगा।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह तो ठीक ही है, अपनी स्थिति अपने को स्वय प्रतीत नहीं होती। गुरुजन ही उसकी स्थिति देखकर उसका लक्षण बताते हैं। कृपा करके मुझे बताइये। मै दैवीसम्पदा वाला हूँ या आसुरी सम्पदा प्राप्त हूँ। मुझे इसी बात का सोच हो रहा है, कि कहीं मैं आसुरी सम्पदा के वशीभूत होकर ही आप से युद्ध न करने का हठ तो नही कर रहा हूँ।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले अरे, अर्जुन! तू सोच मत कर, चिंता को छोड़ दे तू तो दैवीसम्पदा को प्राप्त पुरुष है। तेरे द्वारा अब तक दैवी सम्पदा के ही कार्य होते आये हैं और आगे भी होते रहेंगे। तू क्या पाण्डु के सभी पुत्र तेरे सभी भाई दैवी सम्पदा युक्त हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपने दूसरे अध्याय मे जो स्थितप्रज्ञों के लक्षण बताये; बारहवें अध्याय मे जो भक्तों के लक्षण बताये, तेरहवें अध्याय में जो ज्ञानियों के लक्षण बताये, चौदहवें

अध्याय में जो गुणातीतों के लक्षण बताये वे सब लक्षण, सोलहवें अध्याय में जो देवीसम्पदा के लक्षण हैं, उनसे प्रायः मिलते जुलते ही हैं। अतः इस विषय का तो आपने विस्तार से वर्णन किया, किन्तु आसुरी सम्पदा के केवल ६ लक्षण ही बताकर इसे समाप्त कर दिया। कृपा करके इस पर भी कुछ अधिक प्रकाश डालने की कृपा करें।"

यह सुनकर हंसते हुए भगवान् कहने लगे—"देखो भैया! इस लोक मे दो ही तो सम्पदायें है। एक दैवी सम्पद् दूसरी आसुरी सम्पद्। मानवीय सृष्टि मे ये दो ही चलती है। तुम ठीक कहते हो, मैने दैवी सम्पदा का ही विस्तार से वर्णन किया। यही आवश्यक भी था। क्योंकि ग्रहण करने योग्य दैवी सम्पद् ही है। ग्राह्य होने से ही मैने इसका बार-बार वर्णन किया। अब तुम कहते हो तो तुम्हारे कहने से हे पार्थ! मैं आसुरी सम्पदा का भी वर्णन करूंगा। हेय होने के कारण त्यागने के लिये इसका परिचय प्राप्त कर लेना भी अत्यावश्यक है। अतः अब तुम आसुरी सृष्टि का मुझसे वर्णन श्रवण करो। उसे भी मै तुमको सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् आसुरी सृष्टि वालो का वर्णन करेंगे, उस प्रसग को मै आगे वर्णन करूंगा, उसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

यह मानव समुदाय सम्पदा द्वै में विभजित।
एक आसुरी माहिँ दूसरे दैवी सम्पत॥
दैवी सम्पद कही तोइ विस्तार सहित सब।
पुनि आसुरि संपत्ति सुनो पारथ! मोतें अब॥
दैवी सम्पत में भये, जितने जन, सब श्रेष्ठ हैं।
भये आसुरी में प्रकट, सबई पुरुष कनिष्ट हैं॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (१)

[६]

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ - ७ श्लो०)

छप्पय

कौन जगत में प्रवृति कौन निरवृत्ति कहाई ।
मुख्य बात है यही वेद ऋषि मुनिनि बताई ॥
पुरुष आसुरी प्रकृति प्रवृति निरवृत्ति न जानें ।
ताई तें वे बाहर भीतर शौच न मानें ॥
उनमें नहिं आचार है, नहीं श्रेष्ठ आचरन जिनि ।
करें सत्य भाषन न वे, है असत्य व्यवहार तिनि ॥

भिन्न-भिन्न शास्त्रो मे प्रमाण भी भिन्न-भिन्न माने हैं, कोई तो एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है कोई अनुमान सहित दो मानते हैं, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण मानते हैं, कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द इन चार को ही प्रमाण मानते हैं, कोई इनमे अर्थापत्ति को मिलाकर पाँच मानते

---

* आसुरी प्रकृति वाले पुरुष प्रवृत्ति तथा निवृत्ति नही जानते । उनमे न तो शौच ही होता है और न आचार ही । उनमे सत्य भी नही होता ॥७॥

हैं, कोई अनुपलब्धि को मिलाकर ६ मानते है, कोई सम्भव को मिलाकर सात मानते कोई ऐतेह्य इतिहास को मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार प्रमाणो के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत है। प्रत्यक्ष को तो सभी प्रमाण मानते है। अनुमान और उपमान को भी प्रायः कुछ लोगो को छोडकर सब स्वीकार कर लगे। शब्द तथा आर्षादि प्रमाणो क सम्बन्ध मे ही मतभेद है। वेदादि शास्त्रो में यह बात लिखी है, इसे माननी ही चाहिये। अमुक ऋषि ने ऐसा कहा है इसे मानना ही चाहिये। ऐसी हमारी सनातन लौकिक परम्परा है मानना ही चाहिये। इतिहास के हमारे अमुक महापुरुष ने ऐसा आचारण किया था, इसे प्रमाण स्वरूप मानना ही चाहिये। इन्ही बातो में आस्तिक और नास्तिको मे मतभेद है। आस्तिक उसे कहते हैं जो वेदादि शास्त्रों को प्रमाण माने। नास्तिक उसे कहते हैं, जो वेदादि शास्त्रो की निन्दा करे। ईश्वर को एक बार भले ही मत मानो वह नास्तिक नही कहाविगा। जैसे सांख्य वाले वैशेषिक वाले ईश्वर को नही मानते फिर भी वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। नास्तिक वही है जो वेद निन्दक है शब्द को शास्त्र को जो प्रमाण नही मानता।

शास्त्र हमें यह शिक्षा देता है, यह प्रवृत्ति है यह निवृत्ति है। यह कर्म श्रेयस्कर है, यह अश्रेयस्कर है। इस कर्म के करने से कल्याण होगा, इसके करने से अकल्याण होगा। यह धर्म है यह अधर्म है। शास्त्रानुकूल आचरण करना यही आस्तिकता है। शास्त्र की आज्ञाओ को न मानकर मनमाना आचरण करना यही नास्तिकता है। आस्तिक भाव ही दैवी सम्पदायें हैं, नास्तिक भाव ही आसुरी सम्पदायें हैं। जो लोग आस्तिक हैं, शास्त्रों के अनुशासन को मानकर चलते हैं। शास्त्रो ने जिन कामो को लोक परलोक में

कल्याणकारी बताया है, इन्ही कामों को जो श्रद्धा विश्वास के साथ करते हैं, ऐसे दैवी स्वभाव वाले पुरुषों के लक्षण तो कई बार बता चुके हैं। अब जो आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो द्वारा किये हुए त्यागने योग्य उपेक्षणीय कर्म हैं, जिनको विशेष रूप से आसुरी प्रकृति वाले पुरुष किया करते हैं। उन्ही को भगवान् बताते हैं। उन नास्तिक स्वभाव वाले पुरुषो मे श्रद्धा का अभाव रहता है, वे मनमानी घरजानी किया करते हैं। वे शास्त्रों के वचनो पर विश्वास नही करते उनमे पवित्रता, आचार विचार तथा सत्य का सर्वथा अभाव ही रहता है। ऐसी आसुरी सम्पदा के पुरुष सर्वथा नास्तिक ही हो, सो भी बात नही वेद शास्त्रों के ज्ञाता भी यदि आचार विचार पवित्रता से हीन हो, तो उन्हे भी आसुरी प्रकृति वाला पुरुष समझना चाहिये। यह इस घटना से प्रकट होता है।

पांचाल नरेश महाराज द्रुपद को जब द्रोणाचार्य की आज्ञा से कौरव-पांडव बांधकर ले गये, और द्रोणाचार्य ने उससे उसका आधा राज्य लेकर उसे अपमानित करके छोड़ दिया, तब उसने भी क्रोध मे भरकर द्रोणाचार्य से बदला लेने का, उन्हे मरवा डालने का निश्चय कर लिया। युद्ध मे तो द्रुपद उन महाबली आचार्य द्रोण को हरा नही सकते थे, इसलिये द्रुपद ने अभिचार यज्ञ द्वारा द्रोणाचार्य को मरवाने की बात सोची। वे एक ऐसे आचर्य की खोज मे वन-वन भटकते फिरे जो ऐसा अभिचार यज्ञ करा दे, जिससे द्रोणाचार्य की मृत्यु हो सके। किन्तु किसी भी वेदज्ञ ब्राह्मण ने ऐसा यज्ञ कराना स्वीकार नही किया जिसके परिणाम स्वरूप एक वेदज्ञ शस्त्र-शास्त्रज्ञ ब्राह्मण का वध हो सके। सभी ने राजा द्रुपद के इस नीच कार्य के प्रति [illegible] प्रकट की। राजा अत्यन्त ही चिंतित होकर इ[illegible]

उपयाज ने कहा—' राजन् वे मना नही करेंगे वे तुम्हे अवश्य यज्ञ करा देंगे।"

राजा ने पूछा—"क्या कारण है ?"

उपयाज ने कहा—"मेरे भाई आचार-विचार हीन हैं, उन्हें पवित्रता अपवित्रता का विचार नही। वे लोभी भी हैं। इतनी विपुल दक्षिणा के लोभ से वे अवश्य इस क्रूर कार्य को करा देंगे।"

राजा ने पूछा—"महाराज ! आपको कैसे पता ?"

उपयाज ने कहा—"एक दिन हम और वे बन में जा रहे थे, वे आगे-आगे थे, मैं उनके पीछे था, मार्ग मे एक फल पड़ा मिला। मेरे भाई ने लोभवश वह फल तुरन्त उठा लिया। उन्होने इस बात का विचार नही किया, कि यह भूमि पवित्र है या अपवित्र, यह फल पावन है या अपावन, यह ग्राह्य है या अग्राह्य, यह विहित है या अविहित। तभी मैंने निश्चय कर लिया कि इन्हे अपावन वस्तु ग्रहण करने मे कोई आपत्ति नही होगी। जब सामान्य वस्तु पर उनका ऐसा लालच था, तब इतनी भारी दक्षिणा के लाभ से तो वे तुम्हे अभिचार यज्ञ अवश्य ही करा देगें।

राजा ने कहा—"वह ता कोई सयोग बन गया होगा ?"

उपयाज ने कहा—"सयोग की बात नही। मेरे भाई की यह प्रकृति ही है। जब हम दोनो भाई गुरुकुल मे पढते थे, उन दिनो भी वे दूसरो का उच्छिष्ट बड़े प्रेम से खा लेते थे। उनको किसी का उच्छिष्ट खाने मे तनिक भी ग्लानि नही होती थी। यही नही दूसरो का उच्छिष्ट खाते-खाते वे उसकी प्रशंसा भी करते जाते थे। इन सब बातो को स्मरण करके मैं कहता हूँ वे तुम्हारा काम अवश्य करा देंगे।"

फिरने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने एक वेदज्ञ ब्राह्मणों से भरा हुआ आश्रम देखा। उसमें सहस्रों वेदज्ञ ब्राह्मण थे। याज और उपयाज दो बड़े ही तेजस्वी ब्राह्मण थे। उनमें छोटा भाई उपयाज परम तेजस्वी था। राजा उसी की सेवा करने लगे। जब राजा ने देखा सेवा से उपयाज मुनि प्रसन्न हो गये। तब उन्होंने मुनि से अपना अभिप्राय कहा—"ब्रह्मन्! मैं एक ऐसा यज्ञ कराना चाहता हूँ, जिसके द्वारा द्रोण को मारने वाला मेरे पुत्र हो। आप ऐसा यज्ञ करा देंगे तो मैं आपको दश करोड़ गौएँ दूँगा और भी आप जो माँगेंगे वह दूँगा।"

धर्मात्मा उपयाज ने कहा—"राजन्! मुझसे ऐसे क्रूर कर्म की आप आशा न रखें। मैं ऐसा अभिचार यज्ञ कभी भी न कराऊँगा।"

राजा मुनि का उत्तर सुनकर दुखी हुए, किन्तु निराश न हुए, वे बड़ी श्रद्धाभक्ति से एक वर्ष पर्यन्त मुनि की तत्परता से सेवा करते रहे। एक वर्ष पश्चात् राजा ने पुनः मुनि के पैर दबाते-दबाते वही प्रस्ताव किया। सेवा से कठोर से कठोर आदमी भी पिघल जाता है। सेवा से आदमी कैसा भी क्यों न हो वश में हो ही जाता है। सेवा के साथ लालच भी हो। उन दिनों गौएँ ही परमधन मानी जाती थीं। राजा के प्रस्ताव पर उपयाज मुनि ने कहा—"राजन्! मुझसे आप इस क्रूर कर्म की तनिक भी आशा न रखें। मैं ऐसा द्रोणघाती अभिचार यज्ञ कभी नहीं करा सकता। हाँ, मैं तुम्हें एक उपाय बता सकता हूँ।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! उपाय ही बताइये।"

उपयाज ने कहा—"मेरे एक ज्येष्ठ भाई हैं याज। वे आपकी इच्छानुसार ऐसा यज्ञ करा देंगे।"

राजा द्रुपद ने कहा—"ब्रह्मन्! वे भी मना कर दें तब?"

उपयाज ने कहा—' राजन् वे मना नही करेंगे वे तुम्हे अवश्य यज्ञ करा देंगे।"

राजा ने पूछा—"क्या कारण है ?"

उपयाज ने कहा—"मेरे भाई आचार-विचार हीन हैं, उन्हें पवित्रता अपवित्रता का विचार नही। वे लोभी भी हैं। इतनी विपुल दक्षिणा के लोभ से वे अवश्य इस क्रूर कार्य को करा देंगे।"

राजा ने पूछा—"महाराज ! आपको कैसे पता ?"

उपयाज ने कहा—"एक दिन हम और वे बन में जा रहे थे, वे आगे-आगे थे, मैं उनके पीछे था, मार्ग मे एक फल पडा मिला। मेरे भाई ने लोभवश वह फल तुरन्त उठा लिया। उन्होने इस बात का विचार नही किया, कि यह भूमि पवित्र है या अपवित्र, यह फल पावन है या अपावन, यह ग्राह्य है या अग्राह्य, यह विहित है या अविहित। तभी मैंने निश्चय कर लिया कि इन्हे अपावन वस्तु ग्रहण करने मे कोई आपत्ति नही होगी। जब सामान्य वस्तु पर उनका ऐसा लालच था, तब इतनी भारी दक्षिणा के लाभ से तो वे तुम्हे अभिचार यज्ञ अवश्य ही करा देगें।

राजा ने कहा—"वह तो कोई सयोग बन गया होगा ?"

उपयाज ने कहा—"सयोग की बात नही। मेरे भाई की यह प्रकृति ही है। जब हम दोनो भाई गुरुकुल मे पढते थे, उन दिनो भी वे दूसरो का उच्छिष्ट बड़े प्रेम से खा लेते थे। उनको किसी का उच्छिष्ट खाने मे तनिक भी ग्लानि नही होती थी। यही नही दूसरो का उच्छिष्ट खाते-खाते वे उसकी प्रशंसा भी करते जाते थे। इन सब बातो को स्मरण करके मैं कहता हूँ वे तुम्हारा काम अवश्य करा देंगे।"

राजा द्रुपद को याज की ये बातें सुनकर मन ही मन उनके प्रति बड़ी ग्लानि हुई। वे सोचने लगे ऐसे आचार विचार हीन पवित्रता से रहित ब्राह्मण के पास कैसे जाऊँ, किन्तु स्वार्थ बड़ा क्रूर होता है वे याज के पास गये। याज ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। यज्ञ कराया उसी यज्ञ कुण्ड से द्रोणाचार्य का वध करने धृष्टद्युम्न और पचाली द्रौपदी की उत्पत्ति हुई।

यद्यपि याज ब्राह्मण थे, वेदज्ञ थे, कर्म काडी थे फिर भी आचार विचारहीन पवित्रता से रहित लोभी होने के कारण आसुरी प्रकृति के ही थे। उनकी गणना आसुरी प्रकृति के पुरुषो मे ही की जायगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् आसुरी प्रकृति के पुरुषो के लक्षण बताते हैं। भगवान् ने कहा—"अर्जुन! आसुरी सम्पदा वाले प्रवृत्ति और निवृति को नही जानते।"

अर्जुन ने पूछा—'प्रवृत्ति और निवृत्ति क्या है?"

भगवान् ने कहा—'धर्म और अधर्म के प्रतिपादक जो शास्त्र हैं उन शास्त्रो मे जिसे कल्याणकारी कर्तव्य बताया है, वह तो प्रवृत्ति है और जिसे अकल्याणकारी अकर्तव्य कहा है उन कर्मो से दूर रहना, बचे रहना इसे ही निवृति कहते हैं। आसुरी प्रकृति वाले पुरुष इन बातो का विचार नहीं करते। उनके जो मन मे आता है, जो भी उन्हे अच्छा प्रतीत होता है उसे ही करने लगते हैं। उनमे भीतर बाहर का शौच भी नही रहता।"

अर्जुन ने पूछा— शौच क्या?'

भगवान् ने कहा—"स्नान की पवित्रता, भोजन की पवित्रता वस्त्रादि अन्य वस्तुओ की पवित्रता यही बाह्य शौच है। अन्त-

करण की पवित्रता यह भीतरी शौच है। वे आसुरी प्रकृति वाले स्नान करते हैं तो पवित्रता के लिये नही, शरीर को सजाने के लिये। जहाँ तहाँ जैसा भी अपवित्र उच्छिष्ट तामसं भोजन मिल जाता है, बिना बिचारे जूता वस्त्र पहिने सबके साथ खाने लगते हैं। मन मे द्वेष भाव कपट रखते हैं। यही शौच हीनता है। वे लोग आचार हीन भी होते है।"

अर्जुन नें पूछा—"आचार हीनता क्या ?"

भगवान् ने कहा—' मनु आदि स्मृतिकारो ने जिन आचार विचारो का निरूपण किया है। जिन्हें करने को आज्ञा की है उन आचारो का पालन न करना ही आचार हीनता है। आसुरी सम्पदा वाले आचार हीन होने के साथ ही सत्य व्यवहार भी नही रखते।"

अर्जुन ने पूछा—' सत्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—' प्रिय हितकर और यथार्थ वचन को ही सत्य कहा गया है। बात यथाथ भी हो किन्तु उसे इस ढंग से कहे कि अप्रिय भी न लगे और सुनने वाला अधिक उत्तेजित भी न हो। आसुरी सम्पदा वाले कडवा वचन बोलते हैं, जो अहित-कर तथा यथार्थ नही होता।"

अर्जुन ने पूछा—"आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के और भी लक्षण बताइये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् आसुरी सम्पदा वाले पुरुषो के और भी लक्षण बतावेंगे, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

वेद विहित जो धरम वही तो 'प्रवृति' कहावै।
यह नहिं करिवे जोग्य करम निरवृत्ति कहावै॥
तन मन को शुचि भाव 'शौच' मुनि भाखैं ताकूं।
शास्त्र विहित व्योहार कहें 'आचार' हु वाकूं॥
'सत्य' जथारथ बात कूं, वेद शास्त्र सबई कहैं।
जो हैं आसुरि प्रकृतिजन, ये सब तिनि में नहिं रहैं॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (२)

[७]

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥*

(श्री० भ० गी० १६ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

जो हैं आसुरि प्रकृति बात वे बहुत बनावें ।
अंटसंट अति बकें निराश्रय जगत बतावें ॥
हैं जग आश्रय रहित सत्य नहिं असत कहावें ।
ईश्वर को नहिं काम अनीश्वर प्रकृति चलावें ॥
पुरुष नारि संयोग तें, होवें जग उत्पन्न सब ।
कारन जाको काम है, करें फेरि क्यों भक्ति तब ? ॥

अनादि काल से ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद ये दो वाद चले आ रहे हैं। ईश्वरवादी कहते हैं। सब वस्तुओं का कारण होता है, जैसे घट का कारण मृत्तिका, पट का कारण सूत इसी प्रकार इस चराचर जगत् का कारण भी कोई होना चाहिये,

---

* उनमें असत्य और अनीश्वर वाद होता है। वे कहते हैं यह जगत् निराश्रय है, स्वयं ही परस्पर के संयोग से होता है। इसका उद्देश्य काम भोग ही है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

क्योंकि कारण के बिना कार्य दृष्टिगोचर होता ही नहीं। यह जगत् भी एक कार्य ही है। कार्य रूप जगत् प्रत्यक्ष है, इसका कारण कोई अवश्य होगा। जैसे वृक्ष को देखकर हम अनुमान लगाते हैं, कि यहाँ वृक्ष है तो इसका बीज अवश्य रहा होगा, क्योंकि बीज के बिना वृक्ष हो ही नही सकता। अत इस ससार रूप वृक्ष का जो बीज है कार्य रूप जगत् का जो कारण है वही ईश्वर है। इससे सिद्ध हुआ ईश्वर+अस्ति ईश्वर है।

जब ईश्वर है तो जीव का कर्तव्य क्या है? उसका चरम लक्ष्य अन्तिम उद्देश्य क्या है। तब कहना पड़ेगा, सभी जीव चाहते हैं मुझे सुख हो, दु ख न हो। अत दु ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति-अत्यत आनद की उपलब्धि-यही जीव का चरम उद्देश्य है, अतिम लक्ष्य है। ऐसी आनद को ब्रह्म कहते है। ब्रह्म ज्ञान होने पर जीव मुक्त हो जाता है, वह जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है। बिना ज्ञान के मुक्ति होती नही। अज्ञानी जीव बार-बार जन्मता और मरता रहता है। इस जगत् के एक मात्र कारण ईश्वर हैं उन्हें प्राप्त किये बिना जन्म मरण से छुटकारा नहीं। इसी का नाम ईश्वर वाद या आस्तिक वाद है।

अब दूसरे नास्तिक या अनीश्वरवादी होते हैं। उनका कहना है, ईश्वर वीश्वर की कोई आवश्यकता नही। परलोक आदि की कल्पना स्वार्थी लोगो ने की है। तीनों वेदो के कर्ता धूत, भोड और निशाचर लोग है। मूर्खो को ठगने के लिये-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये-कुछ स्वार्थी लोगो ने ईश्वर, परलोक, मुक्ति आदि शब्दों की कल्पना कर ली है। अपना अर्थ साधन करना इस जगत् म यही मुख्य उद्देश्य है। अपना स्वार्थ क्या है खाना पीना और काम वासना की तृप्ति करना। ये काय जिस प्रकार सब सर्व वे ही कार्य करने चाहिय। हमे जो य पृथ्वी, जल, तेज,

वायु और आकाश पंचभूत प्रतीत होते हैं, जब ये परस्पर में मिल जाते हैं, तो जीव या आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न हो जाता है। जैसे गोबर और मूत्र को मिलाकर रख दो अपने आप बिच्छू हो जायेंगे। उसमें ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के परस्पर संयोग से रज और वीर्य के एकत्रित हो जाने से शरीर बन जाता है उसमें जीव उत्पन्न हो जाता है। जब शरीर नष्ट हो जाता है, तब वह जीव भी नष्ट हो जाता है। भस्मीभूत देह का पुनर्जन्म नहीं होता। देह नष्ट हुआ आत्मा भी नष्ट हो गयी। जीव का मुख्य उद्देश्य है काम वासना की तृप्ति। जब तक शरीर जीवित रहे तब तक सभी संसार के भोगों को जैसे बने तैसे भोगना चाहिये। यदि घर में घृत न हो तो ऋण लेकर या जैसे मिले तैसे घृत लाकर मालपूए पूंडी बना-बनाकर खा खाकर शरीर को पुष्ट करना चाहिये। इस चिंता को छोड़ देना चाहिये कि हम किसी का ऋण ले लेंगे और न देंगे तो परलोक में हमें उसे जाकर चुकाना पड़ेगा। यह मूर्खों की कल्पना है। परलोक नाम की कोई वस्तु ही नहीं, तो वहाँ जाकर चुकाना कैसे पड़ेगा? फिर वह हो भी तो वहाँ जायगा कौन देह के नष्ट होने पर आत्मा भी नष्ट हो जायगा। देह के जलने पर आत्मा भी जल जायगा। इसलिये ईश्वर, आत्मा, परलोक, शास्त्राज्ञा आदि के झमेले में न पड़कर मौज करो, आनंद लूटो, संसारी सुखों का उपभोग करो। संसार में जो भी वस्तुएँ हैं वे सब हमारे उपयोग के ही निमित्त हैं। हम ही इन सब वस्तुओं के भोक्ता हैं।

इस मत के प्रवर्तक चार्वाक आदि मुनि हैं। पहिले इन नास्तिक विचारकों के भी बहुत से ग्रन्थ रहे होंगे, कालक्रम से उनके स्वतंत्र विषद ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं होते। हमारे आस्तिक

गन्थो मे कही-कही खडन के लिये उनके उद्धरण मिलते हैं। उपनिषदो मे भी कहा है (अस्त्येके नायमस्ति तथैके) कोई कहते हैं ईश्वर है, कोई कहते हैं नही है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या काड मे दशरथजी के एक मत्री जाबालि ने भी ऐसा ही उपदेश श्रीरामचन्द्रजी को दिया था–उसने कहा—"राम! तुम किस चक्कर मे पडे हो। पिता की आज्ञा, पिता की आज्ञा रट रहे हो। कौन पिता कौन माता। राजवीर्य के सम्बन्ध से मनुष्य पैदा होता है। मर गया सो गया। जब तक जीओ सुख से जीओ। मरने पर श्राद्धादि सब ढोग है। मरे हुए को यहाँ खिलाने पर यदि मिल जाय तो, परदेश जाने वाला भोजन क्यो ले जाय। यही ब्राह्मण को उसके बदले का खिला देंगे। अत जो कुछ है इसी लोक का सुख है। अत भरत के कहने से अयोध्या लौट चलो। खाओ पीयो मौज करो।"

जावालि की यह बात सुनकर श्रीरामजी ने कहा—"आपका यह उपदेश स्वेच्छाचारी बनाने वाला, धर्म मे विप्लव मचाने वाला मर्यादा को भग करने वाला नास्तिको का है, मैं अपने पिता की निदा करता हूँ, जिन्होने आप जैसे नास्तिक को अपना याजक बनाया।"

ऐसा ही उपदेश कणिक नामक एक नास्तिक ने महाराज धृतराष्ट्र को दिया था। ये लोग ईश्वर परलोक आदि किसी को नहीं मानते जिसमे कामोपभोग की प्राप्ति हो यही इन नास्तिको के जीवन का चरम लक्ष्य है। भगवान् ऐसे लोगो की निन्दा करते हैं। इनके विचारों को आसुरी सम्पदा के विचार बता कर इनसे दूर रहने का उपदेश करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के स्वाभाव का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन के पूछने पर आगे

कहते हैं—'अर्जुन ! ये आसुरी प्रकृति के लोग इस जगत् को अनीश्वर कहते हैं। अर्थात् इस जगत् की रचना मे ईश्वर की कोई आवश्यकता नही। यह जो वेद शास्त्र पुराण ईश्वर का डिंडिम घोष करते हैं यह सब असत्य है, झूठा है स्वार्थ परक है। ये जो धर्म अधर्म, पाप पुण्य आदि की मर्यादा बांधते है वह भी प्रतिष्ठा के योग्य नही है। अप्रतिष्ठित है। इस धर्माधर्म की व्यवस्था को कभी नही मानना चाहिये। यह जो शास्त्रकार परलोक का भय दिखाते हैं और कहते हैं परलोक मे जाकर तुम्हें पापो का तथा पुण्यो का फल भोगना पडेगा यह सब सफेद झूठ है। परलोक नामकी कोई वस्तु नहीं। पाप पुण्य नाम की किसी वस्तु का अस्तित्व ही नही। शरीर के नष्ट होने पर जीवात्मा भी नष्ट हो जाता है। अतः ईश्वर और परलोक मनाना पागलपन है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! जब आसुरी सम्पदा वाले नास्तिक लोग ईश्वर का अस्तित्व ही मानेंगे, तो कारण के बिना तो कार्य की उत्पत्ति होती ही नही, फिर ये जगत् का कारण किसे मानते होगे ?

भागवान् ने कहा—"ये नास्तिक लोग जगत् का कारण मानने की आवश्यकता ही नही समझते। इनका कहना है यह जगत् तो दो वस्तुओ के सयोग से स्वत. ही हो जाता है जैसे पुरुष और स्त्री दोनो मे मन में काम वासना उत्पन्न हुई। उस काम वासना से प्रेरित होकर दोनो का सयोग हो गया। उससे ही जीव उत्पन्न हो गया। शरीर बन गया। वे काम को ही जगत् का कारण मानते हैं। जब यह काम से ही उत्पन्न हुआ है, तो कामोपभोग ही इसका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये। शरीर के नष्ट होने पर जीव या चेतना भी नष्ट हो जाती है। अत. जब तक जीवे, यथेष्ट कामो का उपभोग

करता रहे। उनके मत मे जीव का चरम लक्ष्य भोगो की प्राप्ति ही है। भोगो की प्राप्ति के अतिरिक्त इसका हेतु और कुछ भी नही है। ये जो आस्तिक लोग मानते हैं, इससे इस वस्तु की उत्पत्ति हुई, इससे उसकी उत्पति हुई। पहिले मूल प्रकृति है, फिर विकृति हुई। आकाश हुआ आकाश से वायु वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी। ये सब व्यर्थ की बातें हैं। ये संसार की सब वस्तुयें स्वतः अपने आप हो गयी। काम के अतिरिक्त दूसरी कोई परम्परा नही। सबका हेतु एक मात्र काम है। ये आसुरी प्रकृति वाले काम को सर्वोपरि मानते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे आसुरी प्रकृति के पुरुषो को तो इस ससार मे उत्पन्न ही नही होना चाहिये। ये ईश्वर को भी नहीं मानते, परलोक को भी नही मानते, काम को ही सब कुछ समझते हैं, तो इनके उत्पन्न होने का प्रयोजन ही क्या है?"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ईश्वर बिनु जग भयो नहीं सम्बन्ध जतावें।
असुर प्रकृति के पुरुष काम कूँ हेतु बतावें॥
नहीं प्रतिष्ठा जासु असत है सकल शास्त्र भ्रम।
ईश्वर, धर्म, अधर्म लोक, परलोक व्यरथ श्रम॥
तातें है निश्चिन्त सब, खाओ पीओ सुख करो।
काम वासना पूर्ण करि, जंस तस प्रिय उदरहिं भरो॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (३)

[८]

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥*

(श्री भा० गी० १६ अ० ९, १० श्लोक)

छप्पय

ऐसे ये अज्ञान भाव में भावित प्रानी ।
अवलम्बन अज्ञान करें मूरख अज्ञानी ॥
नष्टात्मा मतिमन्द अल्प धी पर-अपकारी ।
उनितै राखैं द्वेष होहिं जे पर-उपकारी ॥
बुद्धि रहै तिनिकी मलिन, करैं करम वे क्रूर अति ।
भलो होहि तिनतै न कछु, करैं सदा जग को अहित ॥

---

* इस सिद्धान्त को मानकर ये नष्टात्मा अल्पबुद्धि अहितकारी उग्रकर्म करने वाले केवल जगत् का उत्पादाश करने को ही उदय होते हैं ॥९॥

वे दम्भी और अभिमानी पुरुष दुष्पूर काम का आश्रय लेकर, मोह द्वारा असत् सिद्धान्तों को ग्रहण करके अशुचि आचरणों से युक्त हुए लोक-व्यवहार करते हैं ॥१०॥

जहाँ काम है वहाँ राम नही रहते, जहाँ राम हैं वहाँ काम की दाल नही गलती। काम मे और राम मे परस्पर बैर है। राम की उपासना मे प्रेम है, त्याग है, अपनापन हैं, सरलता है, शुचिता है। इसके विपरीत काम की उपासना मे द्वेष है, अतृप्ति है, घृणा है, दम्भ है, मान, मत्सर मद तथा अपवित्रता है। ऐसा यह काम लोगो की बुद्धि को विपरीत करता है।

राम अपने पिता के, माता के भाइयो और परिजन पुरजनो के साथ रहते थे, सब उन्हे प्राणो से भी अधिक प्यार करते थे, राजीव लोचन राम सभी के नयनो के तारे थे, वे जगत् के उजियारे थे, सबके रखवारे थे। विश्वामित्र मुनि के निकट कामी असुर आते उनके कार्यो मे विघ्न डालते। इसलिये विघ्न डालते कि उनके मन मे भी कामना थी। कामना वाले को ही काम आकर सताता है, जो अभिमान वश स्वय ही अपने पुरुषार्थ से काम को भगाना चाहता है, उसके काम मे काम आकर विघ्न डालता ही है। जो अपने पुरुषार्थ का अभिमान त्यागकर रामको लाकर अपने यहाँ बिठा लेता है तो राम उसकी रक्षा करते हैं। राम को देखकर काम और कामलोलुप असुर भाग जाते हैं। विश्वामित्र मुनि जब तक अपने अभिमान से प्रयत्न करते रहे, तब तक कही काम का भाई क्रोध आ गया, उसके वशीभूत होकर वसिष्ठजी के पुत्रो को मार डाला त्रिशकु का अविहित यज्ञ कराने, काम का भाई अहंकार आ गया, वही काम ने मेनका भेज दी उससे शकुन्तला हो गयी, वही घृताची आ गयी। जब उन्होने अपना अभिमान छोडकर राम को लाकर उन्हें अपनी रक्षा का भार सौंप दिया वहाँ सब काम पूर्ण हो गये। कामलोलुप असुर भी भाग गये यज्ञ भी पूर्ण हो गया। राम तो शक्तिशाली पहिले ही

से थे, उनकी शक्ति प्रत्यक्ष प्रकट हो गयी। उनकी शक्ति के प्रभाव से सभी भाई शक्तिवान् बन गये।

काम पुरुषो मे ही घुसकर अनर्थ करता हो सो बात नही, वह स्त्रियों का भी सर्वनाश करता है। वह कुब्जा के और कैकेयी के हृदय मे घुस गया। राम ने सोचा मेरे घर मे काम का प्रवेश हो गया है, अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा। क्योंकि राम और काम सग-संग नही रह सकत। राम काम के कारण कानन मे चले गये। वहाँ राम को शक्तिहीन करने कामी रावण दम्भ, मान, मद और कपट का आश्रय लेकर उनकी शक्ति को हर ले गया। शक्ति को क्या ले जा सकता था, शक्ति की छाया को ले गया। राम ने वंश सहित, जाकर उसका नाश कर दिया। काम ऐसे ही क्रूर कार्य कराया करता है।

अब प्रश्न यह है, कि जो काम ऐसे ऐसे क्रूर कार्य कराता है, उसकी उत्पत्ति ही विधाता ने क्यो की ?

विधाता ने काम की उत्पत्ति इसलिये की कि प्रकृति का नियम है, जो उत्पन्न होगा उसका नाश अवश्य होगा। जन्म और मृत्यु का सनातन सग है। मृत्यु होती है प्रमाद से। प्रमाद काम का भाई ही है, अत. कामलोलुप आसुरी प्रकृति के पुरुषो की उत्पत्ति जगत् के नाश के लिये ही होती है। यदि अधर्म और उसकी सतानें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर आदि न होत तो जगत् का नाश कैसे होता, राम उत्पन्न ही क्यो होते। राम तो धर्म की सस्थापना के लिये और काम रहित साधु पुरुषो के सरक्षण के लिये उत्पन्न होते हैं। जब अधर्म ही न होगा, तो धर्म की सस्थापना का प्रश्न ही नही उठता। सस्थापना तो उसी की, की जाती है,जो न हो या दुर्बल पड गया हो। और काम रहित साधुओ का सरक्षण तभी समव है, जब उन्हे कामलोलुप असुर आ आकर

नष्ट दें। जब अधर्म बढेगा तभी तो जगत् का नाश होगा। जगत् की रक्षा के लिये ही राम प्रकट होंगे। अतः इन असुरों का, आसुरी प्रकृति के जीवों का जन्म जगत् के अहित के लिये तथा साधु पुरुषों को भगवान् पर विश्वास बढ़ाने के ही निमित्त होता है।

जिन साधु पुरुषों का अंतिम उद्देश्य राम की प्राप्ति है, उनका जीवन शान्तिप्रद सुख और निरापद होता है, जिन असुरों के जीवन का एकमात्र उद्देश्य काम ही है वहाँ लूट पाट, चोरी, हिंसा, दम्भ, छल कपट इन्हीं सबका बोल बाला होता है। भरत राम के प्रिय थे अतः देवराज भी जिस समृद्धि को तरसते थे ऐसे समृद्धिशाली राज्य की ओर, कामोपभोग की इतनी सामग्रियों की ओर, पिता द्वारा प्राप्त होने पर भी उनकी ओर आँख उठाकर नहीं देखा, क्योंकि उनके जीवन का लक्ष्य राम की प्राप्ति था। वे राम से प्रेम करते थे।

इसके विपरीत जो काम प्रिय है, काम की प्राप्ति ही जिनके जीवन का लक्ष्य है, फिर वह चाहें त्रिलोकेश इन्द्र ही क्यों न हो उसे सदा दूसरों से भय बना रहता है, उसे ब्रह्महत्या, पितृ हत्या, भ्रातृहत्या तक करने में संकोच नहीं होता। देवराज इन्द्र से लेकर यवन राजाओं तक काम भोग ही जीवन का लक्ष्य है उनके जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालिये। राज्य के लिये किसी ने पिता का वध करके राज्य ग्रहण किया, किन्हीं ने भाइयों का वध किया। उनका समस्त जीवन अशान्ति ही में बीता। उनके द्वारा जगत् का अहित ही हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—"इन आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का जन्म ही क्यों हुआ?" तब भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहने लगे—"अर्जुन! इन आसुरी प्रकृति

वाले पुरुषो का–धर्म के शत्रुओं का–जन्म जगत् के नाश के लिये ही होता है ।"

अर्जुन ने कहा—"जगत् के नाश की क्या आवश्यता है ?"

भगवान् ने कहा—"यह तो सनातन नियम है जो उत्पन्न होगा, उसका नाश भी अवश्य होगा । जब यह जगत् उत्पन्न होता है तो उसका विनाश भी आवश्यक है । इन आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के कृत्यो से ही जगत् का विनाश होता है ।"

अर्जुन ने पूछा—"ये जगत् के विनाश के हेतु भूत ऐसे कौन-कौन से कार्य करते हैं ।"

भगवान् ने कहा—"बात यह है, कि ये आसुरी प्रकृति के पुरुष परमेश्वर, परलोक, शास्त्र, वेदादि को तो मानते नही । कामोपभोग को ही परम पुरुषार्थ मानते है अतः इस दृष्टि का आश्रय लेकर ये परलोक सम्बन्धी जितने यज्ञ, दान, तपादि साधन हैं, उन साधनो से तो पतित हो जाते हैं । इनकी बुद्धि विशाल तो होती नही, क्योंकि काम भोग तो अल्प सुख है, ब्रह्म-सुख महान् सुख है । अल्प मे शाति सुख होता नही । काम को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानने के कारण इनकी बुद्धि अल्प हो जाती है । फिर ये काम प्राप्ति के लिये हिंसा, व्यभिचार, लूट पाट आदि उग्र कार्यो को करते रहते है । इस प्रकार इनके समस्त कार्य ससार के अहित के ही निमित्त होते हैं । मर कर भी ये क्रूर कर्मा प्राणियो को क्लेश पहुँचाने वाले सिंह व्याघ्र, सर्प, बिच्छू आदि क्रूर कर्मा होते हैं । फिर कदाचित् मनुष्य योनि मे भी आते हैं तो जन्म से ही क्रूर कर्मों मे इनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है ।"

अर्जुन ने पूछा—"मनुष्य योनि मे प्राणियों का अहित किस प्रकार कर सकते हैं ।"

भगवान् ने कहा—"देखो, इनका मुख्य उद्देश्य होता है, कामोपभोग। ये काम की वासनाये इतनी दुष्पूर है, कि इनकी कभी शांति होती ही नही इनका जितना ही उपभोग करो उतनी ही इच्छाये और बढती ही जाती हैं। जब इच्छानुसार काम सामग्रियाँ प्राप्त नही होतीं तो दम्भ का आश्रय लेते है। विद्वान नही हैं फिर भी अपने को विद्वान् प्रकट करते हैं। महात्मा नही है फिर भी दूसरो को ठगने के लिये अपने को महात्मा प्रकट करते हैं। इसी का नाम दम्भ है। इससे अभिमान बढता है अपने को औरो से श्रेष्ठ समझने लगते हैं। इससे मद हो जाता है। मद मे मदमाते बनकर औरो का तिरस्कार करने लगते है। अज्ञान-वश मिथ्या सिद्धान्तो को ग्रहण करके उनका प्रचार प्रसार करते है, शास्त्र विरुद्ध आचरण करते हैं। मोहवश असद् बातो का आग्रह करते हैं। वे व्रत अनुष्ठान से रहित होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"इन आसुरी प्रकृति वालो का कोई तो व्रत होता ही होगा।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, इन लोगो का एक ही व्रत होता है अशुचि रहना। स्मशान मे क्षुद्र देवताओ की उपासना करते हैं। मृतको का मास, सुरा का सेवन करते हैं। जहाँ तहाँ खा लेते हैं, इन्हें उच्छिष्ट अनुच्छिष्ट का कोई विचार नहीं होता। ये काम भोग जैसे अधिकाधिक प्राप्त हो सकें, इसी के लिय प्रयत्नशील रहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अभी भगवान् आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के स्वभाव के सम्बन्ध मे और भी बहुत सी बातें बतावेंगे, उन सबको मैं क्रमश आप सबको बताऊँगा, इन सबके बताने का एक मात्र हेतु यही है, कि दैवी प्रकृति के साधको को इन बातो से सदा बचते ही रहना चाहिये। फूँक-फूँककर पैर

रखना चाहिये, कि कहीं अज्ञान में भी आसुरी सम्पद् की कोई बात हमारे जीवन मे न आने पावे।"

छप्पय

करैं सदा ही दम्भ साधु को वेष बनावें।
मद में बनि उन्मत्त मान हित वे मरि जावें॥
करें कामना व्यरथ नहीं जो पूरी होवैं।
गहि मिथ्या सिद्धान्त आयु सब व्यरथहिं खोवैं॥
जिनि को व्रत ही है अशुचि, सकल आचरन भ्रष्ट हैं।
विचरत सब संसार में, सदाचार तें नष्ट हैं॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (४)

[६]

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

चिन्ता में नित मग्न अन्त जिनको नहिँ होवैं ।
रहैं मृत्यु परियन्त दुसित चिन्तित नितरोवैं ॥
भोगें भोगनि सतत होहि नहिँ तृप्ति कबहुँ तिन ।
भोगनि कूँ ही सार समुझि सेवत हैं निशि दिन ॥
इन्द्रिनि के जो विषय हैं, वे मिलि जावैं तो मुदित ।
है सुख इतनो ई जगत, निश्चय यह मानत सतत ।

---

* वे प्रलय पर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओं में डूबे हुए तथा कामोपभोगों में ही लिप्त रहते हैं। वे मानते हैं संसारी भोग ही सब कुछ हैं ॥११॥

सैकड़ों आशाओं की पाश से बँधे हुए वे काम, क्रोध में परायण केवल विषय भोगों की पूर्ति के ही निमित्त अन्याय से धनादिकों को संचित करने की चेष्टा करते हैं ॥१२॥

कितना भी बड़ा गड्ढा हो, प्रयत्न करने पर समय पाकर वह भी पाटा जा सकता है, उत्कट प्रयत्न करने पर अगाध अपार कहा जाने वाला समुद्र भी शोषा जा सकता है, किन्तु यह तृष्णा-रूपी महान् गढहा कभी भी नही पाटा जा सकता। यह तृष्णा-रूपी सागर के पार आज तक कोई भोगी नही जा सका। कामो-पभोग की तृष्णा ऐसी है जिसकी पूर्ति कभी होती नही।

एक आदमी अत्यन्त ही दुखी था। उसको ससार मे कोई भी सुख नही था, खाने को कभी भरपेट अन्न नही मिलता था। एक बार यमराज से उसकी भेंट हो गयी। यमराज ने कहा—"अरे, तू यहाँ इतने क्लेश क्यों उठा रहा है, मेरे साथ मेरे लोक में चल, वहाँ इन सब चिंताओं से छुटकारा पा जायगा।"—

उस आदमी ने कहा—"यमराज! मुझे आपके लोक में चलने में कोई आपत्ति नही, किन्तु मैं उस सुख का अनुभव करना चाहता हूँ, कि लोग दोनों समय पेटभर के अन्न खाकर किस प्रकार सुख की नीद सोते है।"

यमराज ने कहा—"अच्छी बात है, कल से तुम्हें दोनों समय सुन्दर स्वादिष्ट पेट भर के भोजन मिला करेगा।"

यह कहकर यमराज चले गये। थोड़े दिनों के पश्चात् यमराज पुनः आये उन्होने कहा—"अब तो तुम्हे अनुभव हो गया, कि दोनों समय पेट भर के अन्न खाकर सोने मे क्या आनन्द है, अब तो तुम इस सुख का उपभोग कर चुके, अब मेरे लोक को मेरे साथ चलो।"

तब उसने कहा—"दोनो समय पेट भर कर भोजन तो मिल जाता है, किन्तु दूसरो के द्वार पर अपमान पूर्वक मिलता है, अब मेरी दो इच्छायें और हैं।

यमराज ने पूछा—"वे दो इच्छायें कौन-कौन सी हो हैं?"

उसने कहा—"मुझे अपने ही घर पर सम्मान पूर्वक भर पेट भोजन मिले।'

यमराज ने कहा—"अच्छा ऐसा ही होगा।"

यह कह कर यमराज चले गये। कुछ दिन पश्चात् पुनः यमराज ने चलने को कहा, तब उसने कहा—"बस, अब मेरी चार इच्छायें और हैं। घर तो बन गया। परन्तु घर वाली के बिना घर कैसा "न गृह गृहमित्याहु गृहिणी गृहमुच्यते।" घर की सार्थकता तो घर वाली से है। अतः मुझे घर वाली मिल जाय। वह सुन्दरी हो सुशीला हो, मेरी आज्ञाकारिणी हो और घर के कामों मे दक्ष हो।" यमराज ने कहा अच्छा ऐसा ही होगा।

कुछ दिन पश्चात् पुनः यमराज आये उन्होंने कहा—"भाई अब तो सब कुछ सुख पा लिया गृहस्थ सुख का अनुभव कर लिया, अब तो चलो।"

उसने कहा—"मैं चलने को तैयार हूँ, केवल आठ इच्छायें मेरी और हैं। (१) व्याह का फल संतानें हैं, अतः मेरे १० लड़के १० लडकियाँ हो जायें। (२) वे सभी सुन्दर सुशील हो (३) उनके निर्वाह के लिये यथेष्ट धन हो। (४) मेरा शरीर निर्बल होने लगा है उसमें यथेष्ट बल आ जाय (५) आजकल मुझे पेट का रोग हो गया है, वह दूर हो जाय, (६) घर मे कोई वाहन नहीं है एक घोड़ा हो जाय। (७) एक आदमी ने घर के ऊपर एक अभियोग चला दिया है उसमे मेरी जीत हो जाय। (८) एक मेरा शत्रु हो गया है वह नष्ट हो जाय।"

यमराज ने कहा—"अच्छा ऐसा ही होगा।"

कुछ दिन पश्चात् फिर यमराज आये और बोले—"अब तो सब कुछ देख सुन लिये समस्त कामोपभोगो का सुख लूट लिया अब तो चलो।"

तब वह निराश होकर बोला—"अजी, महाराज अब चलने का अवसर कहाँ है ? लड़कियों के विवाह की चिंता आठों प्रहर लगी रहती है, लड़के भी अभी कुमारे हैं। छोटे लडके पढे नहीं। बड़े मूर्ख निकल गये, वे नित्य लडाई करते हैं। एक के स्थान पर सैकडो राज द्वार में अभियोग चल रहे हैं। घोड़ी बीमार हो गयी है, गौ ब्याई थी, उसकी बछिया मर गई है, एक अन्न का व्यापार किया था, उसमे घाटा हो गया है। शरीर में एक नही अनेको व्याधियां उत्पन्न हो गयी हैं। भोजन पचता नही, नीद आती नही, खासी की प्रबलता है, बिना हाथ टेके उठ नही सकता, कमर झुक गयी है, बाल सब सफेद हो गये हैं। जो मित्र थे, वे शत्रु बन गये हैं, संसार में कृतज्ञता तो रही ही नही। जीवनभर जिनके साथ उपकार किया वे ही मारने को घूम रहे हैं। लड़का लड़की लाजी-लाजी कहकर लालाजी-लालाजी पुकारती हैं। जीवन भर देते रहो, एक दिन न दो तो पिछला किया कराया सब स्वाहा। जो आता है कोइ न कोई स्वार्थ लेकर ही आता है, निस्वार्थ कोई दिखाई ही नही देता। इतनी चिंतायें घेरे रहती हैं कि मन सदा सर्वदा अशान्त बना रहता है। पहिले धन नही था, धन की चिन्ता लगी रहती थी, जब धन आ गया तो उसे बढाने की सर्वदा चिंता लगी रहती है, बढे हुए धन की रक्षा की चिन्ता रात्रि दिन सताती रहती है। कही राजा को पता चल गया तो राजकर न लगा दे, अतः धन को गुप्त रखने की चिन्ता, कही चोर न ले जाय उसकी चिन्ता, कही आग न लग जाय उसकी चिन्ता, तन की, मन की, धन की, स्वजन परिजनों की, स्त्री, पुत्र, पुत्री परिवार की, भूमि बाग बगीचा की, वाहन पशु पक्षियो की, बलवान् शत्रुओ की, नीच पुरुष निन्दको की, सगे सम्बन्धियो की न जाने कितनी अगणित

चिन्तायें रात्रि दिन व्यग्र बनाये रहती है ये चिन्ताये उत्तरोत्तर बढती ही जाती हैं, इनसे छुटकारा पाने का कोई उपाय नही। "महाराज, मुझे आपके साथ चलने का अभी तनिक भी अवकाश नही, मुझे क्षमाकर दीजिये।" जब चिन्ताये कम हो जायंगी, मेरी सभी इच्छाये पूर्ण हो जायंगी, तब आपके साथ चलने की बात पर निश्चिन्त होकर विचार करूंगा।"

यमराज ने कहा—'ये चिन्ताये कभी भी कम न होगी, अपितु उत्तरोत्तर बढती ही जायंगी। चाहें जितने भोगो को भोगते जाओ इच्छाये कभी पूर्ण नही होने की, भोगेच्छाओ का कभी अन्त नही। आशाये कभी पूरी नही होने की। धन से कभी भी तृप्ति नही होने को। और मेरे साथ जाने को आप स्वेच्छा से कभी भी तैयार न होगे। पहिले तो कहते थे, अब चलूंगा, तब चलूंगा। अब कहते हो, समस्त इच्छाओ की पूर्ति होने के अनन्तर भी चलूंगा नही। इस विषय पर विचार करूंगा। सो, तुम इच्छा से नही चलते हो, तो मैं तुम्हे बलात् अपने साथ लिय जाता हूँ। चिन्ताये तो अपरिमित हैं इनका अन्त नही। लो, मैं तुम्हे बल पूर्वक लिये जाता हूँ।" ऐसा कह कर यमराज उसे अनन्त आशाओ और भोगेच्छाओ के साथ ही ले गये। ये आशाये और भोग वासनाये ही उसे वार-वार जन्म लेने और मरने के लिये विवश करती है, जहाँ यह भांति-भांति की यातनाओ को उठाता रहता है फिर भी यह कामो उनसे उपराम नही होता। पुन-पुन जन्म लेता है, मरता है, और नाना यातनाओ को झेलता है।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के स्वभाव का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से आगे कह रहे हैं—"अर्जुन! ये आसुरी प्रकृति के पुरुष अनन्त चिन्ताओ में

सदा निमग्न बने रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ये सब की सब चिन्तायें इस प्राणी की कभी पूरी भी होती हैं?"

भगवान् ने कहा—"ये अपरिमित चिन्तायें मरण पर्यन्त भी कभी पूरी नही होती। ये आसुरी प्रकृति के पुरुष अनन्त चिन्ताओ मे ही घुल घुलकर अन्त मे इनको साथ लिये हुए ही मर जाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ये इतनी चिन्तायें क्यो किया करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"इसलिये करते हैं, कि ये इन संसारी दीखने वाले विषय भोगो को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। वे कहते हैं, संसारी सुख ही वास्तविक सुख है। यही सर्वस्व है यही सब कुछ है। शरीर का अन्त हो जाने पर फिर कोई भोक्ता ही न रहेगा।"

अर्जुन ने कहा—"जो लोग विषयो का उपभोग करते हैं उनकी इच्छा बढ जाय, तो एक बात भी है, किन्तु जिन्होने बहुत से काम भोगों का उपभोग भी नही किया है, वे दुखी क्यों रहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"जो विषयों का उपभोग करते हैं उनको अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती जाती है, उनकी अपार तृष्णा की पूर्ति नही होती अतः वे तो इसलिये दुखी होती हैं और जिन लोगों ने बहुत से भोग भोगे नही हैं, दूसरों को उन्हें भोगते हुए देखते हैं, तो उनके मन में भी उन्हें भोगने की आशा जागृत हो जाती है, वह आशा ही उनके लिये दुःख की फसरी बन जाती है, एक प्रकार का आशा का पाश रूप जाल बन जाता है, उस जाल मे जकड़े हुए आशा रूप पाश में फँसे हुए वे छटपटाते रहते हैं। जब उनकी कामना की पूर्ति नही होती तो उनके हृदय में क्रोध उत्पन्न हो

जाता है। वह तो हमसे छोटा होने पर भी उतने भोग्य पदार्थों का उपभोग कर रहा है, हम इनसे वंचित क्यों रहें। सोचते-सोचते उसकी बुद्धि में यह बात आती है, कि उसके पास धन-अधिक है। हम भी धन क्यों न एकत्रित करें। उसने धन अन्याय से एकत्रित किया है, अतः मैं भी अन्याय से ही धन राशियों को एकत्रित करने का प्रयत्न करूँ।" अतः वह अन्याय से धन एकत्रित करने का प्रयत्न करता है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ये काम क्रोध परायण कामी पुरुष क्या सोचते रहते होंगे। धन की तृष्णा से अभिभूत ये पुरुष क्या विचारते रहते होंगे। कैसे-कैसे मनो राज्यों की कल्पना करते रहते होंगे?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् अब उस मनो राज्य का वर्णन करेंगे जिसकी कल्पना आसुरी प्रकृति के पुरुष करते रहते हैं।"

छप्पय

आशा-फँसरि अमित बँधे तिनि में अज्ञानी।
मोई कूँ सब बिषय मिलैं मन में यह ठानी॥
चिन्ता कामनि करैं काम कूँ सब कछु मानें।
क्रोध परायन होहिँ शत्रु सबई कूँ जानें॥
विषय भोग भोगनि निमित, करैं अर्थ अन्याय तैं।
चेष्टा संग्रह करन की, दूर रहैं नित न्याय तैं॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (५)

[१०]

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥*

(श्री भा० गी० १६ अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

साच यह मिलि गयो आज धन मोकूँ भाई ।
अबकें करूँ प्रयत्न बहुत-सो फिरि मिलि जाई ॥
आज मनोरथ पूर्ण भया यह वस्तु मिली अब ।
यह मिलि जावै काल्हि होहि इच्छा पूरी तब ॥
इतनो धन मम पास है, अब हू, कछु इच्छा रही ।
इतनो कलि ह्वै जाइगो, आयु सकल सोधत गई ॥

---

* वे सोचते रहते हैं—ये मैंने आज उपलब्ध कर लिया । इस मनोरथ को कल प्राप्त करूँगा । यह धन तो मेरे पास है और फिर होवेगा ॥१३॥

यह शत्रु तो मैंने मार डाला अब दूसरों को भी मार डालूँ ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ ॥१४॥

एक तो स्वप्न होता है, एक माया होती है, और एक मनोरथ होता है। इन तीनो मे वस्तुएं नही होती, किन्तु प्रत्यक्ष की भांति अनुभव होता है। जाग्रत और सुषुप्ति के बीच की एक अवस्था होती है। उसमे न तो मनुष्य खूब प्रगाढावस्था मे सोता ही रहता है न जागता ही रहता है। कुछ सोता हुआ कुछ जागता-सा रहता है उसी अवस्था का नाम स्वप्नावस्था है। उसमे आदमी सोता तो रहता है प्रयाग मे, और उसे दृश्य बम्बई कलकत्ते के दीखते हैं। कभी राजा बन जाता है, उसे हाथी, घोडा, ऊंट, बछेडा, रथ बाहन सब प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं। अपने को भोग भोगता हुआ देखता है। कोई मारता है, दन्ड देता है, तो दुख होता है चदन, इत्र, माला बनिता की प्राप्ति मे हर्ष और सुख का अनुभव प्रत्यक्ष की भांति करता है, किन्तु वास्तव मे जिन वस्तुओ को वह देखता है, वे सब मिथ्या हैं, उनका अस्तित्व नही। आंख खुलने पर वही अपने को शैया पर पडा पाता है।

मायावी पुरुष जो वस्तु नही है, उसे ही माया से प्रकट करके प्रत्यक्ष दिखा देत है, आम का समय नही है, आम बनाकर दिखादेंगे चखादेंगे, रुपया नही है, रुपये मंगा देंगे, ढेर लगा देंगे। यदि उन पर ढेर रुपये होते तो वे एक पैसा क्यो मांगते फिरते। इसलिये माया से जो वे वस्तुएं दिखाते हैं, सब असत् हैं।

एक मनो राज्य होता है, एकान्त मे बैठकर मन के लड्डू खाता रहता है मन के रथ पर चढकर नाना भांति के मनोरथ करता रहता है, मैं यह करूंगा, वह करूंगा। एक लडका एक सेर दूध एक हाडी मे बेचने जा रहा था, वह सोचता जाता था, यह दूध बिक जायगा, तो चार आने के आम मोल लूंगा। उन्हे गांव मे जाकर बेच आऊंगा। चार आने के आठ आने हो जायंगे। आठ आने की जामुन खरीदूंगा। उन्हे बेचूंगा तो एक रुपया हो जायगा।

एक रुपये का गुड खरीदूंगा। उसे बेचकर दो रुपये की मिठाई खरीदूंगा। पेडे रखकर थाल मे ले जाऊंगा। इतने में ही एक कुत्ता आया। उसे देखकर वह भगा। दूध का वर्तन सिर से गिरा फूट गया। वह रोने लगा मेरे सब पेडे नष्ट हो गये।

एक बुद्धिमान आदमी ने उसके रोने का कारण पूछा तो उसने पेडो की बात बताई।

आदमी ने कहा—"यहाँ तो एक भी पेडा नही। दूध फैला हुआ है।"

लडके ने अपने मनोरथो की बातें बताई तब उस आदमी ने कहा—"वे मनोरथ के पेडा मिथ्या थे, उनके लिये मत रो। आंख बंद करके फिर चाहे जितने ऐसे पेडो की कल्पना कर सकता है।"

मन के रथ पर चढकर भ्रमण करने वाले बड़ी-बडी कल्पनायें करने लगते है। यह हो जायगा तो मैं यह कर डालूंगा वह कर डालूंगा। इस प्रकार वे मन के मोदक खाते रहते हैं। आसुरी प्रकृति के पुरुष ही मिथ्या मनोरथों को बहुत करते हैं।

कालनेमि जो असुर था, उसे देवासुर सग्राम मे भगवान् विष्णु ने मार डाला था, उसका जीवात्मा आकाश मे भ्रमण कर रहा था। एक समय मथुरा नरेश महाराज उग्रसेन की पत्नी अपने पिता के यहाँ स्वेच्छा से सखियो सहित विचर रही थी। उसी समय गोमिल नाम का एक मायावी असुर काम के वशीभूत होकर वहाँ आया। वह उसके सौदर्य को देखकर आसक्त हो गया। उसने माया से महाराज उग्रसेन का रूप बनाकर उससे संगम किया उसी समय कालनेमि का जीवात्मा उसके उदर मे प्रवेश कर गया। उसी से कंस पैदा हुआ। कस पूर्वजन्म मे कालनेमि नाम का असुर ही था। अतः वह भी आसुरी प्रकृति

के पुरुषों के समान मिथ्या मनोरथ किया करता था। जब अपने पिता को बलपूर्वक गद्दी से हटाकर उन्हें कारावास में डालकर स्वयं राजा बन गया और माथुर तथा शूरसेन देशों पर शासन करने लगा, तब एक दिन नारदजी आये। उन्होंने सब बता दिया नन्द के यहाँ जो बलराम और कृष्ण पल रहे, वे नन्द के पुत्र न होकर वसुदेवजी के पुत्र हैं, तेरे काल हैं, तब उसने अक्रूरजी को बुलाकर उनसे अपने मनोरथों की गाथा सुनाई।

बड़े प्रेम से अक्रूरजी को बुलाकर कंस ने स्वार्थवश अपना समस्त बनावटी प्रेम उनके ऊपर उंडेल दिया। बड़े ही स्नेह से उनके हाथ को अपने हाथ में लेकर उसे धीरे-धीरे प्यार से दबाते हुए कहने लगा—हे दानपते अक्रूरजी! आप दानियों में श्रेष्ठ हैं परम उदार हैं। आपकी बुद्धि का क्या कहना है आप तो बुद्धिमानों में अग्रगण्य हैं, मेरे तो आप सम्बन्ध में, बुद्धि से, गुणों से सब प्रकार से परम आदरणीय हैं। आपसे मेरा एक बहुत बड़ा काम है, आप उसे कर दें तो आपकी बड़ी कृपा हो।

अक्रूरजी ने कहा—"राजन्! ऐसा कौन-सा कार्य है, मेरे करने योग्य होगा, तो उसे मैं अवश्य कर दूँगा।"

कंस ने कहा—"वह कार्य आपके ही करने योग्य है, आपके अतिरिक्त दूसरा कोई उसे कर ही नहीं सकता। बात यह है, मित्रों से ही अपने मन का दुख सुख कहा जा सकता है। मैं देखता हूँ भोजवंशी और वृष्णिवंशी यादवों में आप से बढ़कर मेरी भलाई करने वाला दूसरा कोई और है ही नहीं। जिस काम को मैं कराना चाहता हूँ, वह काम बहुत बड़ा है यद्यपि मैं बहुत सामर्थ्यशाली हूँ, किन्तु जैसे इन्द्र समर्थ होने पर भी विष्णु की सहायता बिना कुछ भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार मैं भी आपकी सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकता।"

अक्रूरजी ने कहा—"पहिले कार्य तो बताइये मुझे करना क्या होगा ?"

कंस ने कहा—"यह बहुत गुप्त बात है, किसी के सम्मुख प्रकट करने की नही। आप नन्दजी के व्रज मे जायें, वहाँ पर राम और कृष्ण नाम के वसुदेवजी के दो पुत्र रहते है, उन्हे किसी भी प्रकार फुसलाकर यहाँ ले आओ। मेरा अपना निजी रथ लेते जाओ, उसी पर बिठाकर उन्हे जसे बने तैसे ले आओ।"

अक्रूरजी ने पूछा—'क्या करोगे, उन दोनो बालको का ?"

कस ने धीरे स उनके कान मे कहा—"देवताओ ने विष्णु से सम्मति करके उन्हे मेरी मृत्यु का कारण निश्चित किया है। अतः यज्ञ देखने के बहाने स नन्दादि समस्त गोपो सहित उन्हे यहाँ ले आओ।"

अक्रूर ने पूछा—"यहाँ बुलाकर उनका क्या करोगे ?"

कस ने चारो ओर शकित दृष्टि से देखकर शनैः-शनैः कहना आरम्भ किया—मै उन्हे यहाँ बुलवाकर मरवा डालूँगा। मैने उनकी मृत्यु के बडे-बडे विधान बना रखे हैं पहिले तो उन्हे कुवलयापीड हाथी मे ही मरवा डालूँगा। यदि हाथी से कदाचित बच गये, तो मेरे बडे-बडे मुष्टिक चाणूर, शल तोपल आदि नामी-नामी मल्ल हैं, उनके द्वारा मरवा डालूँगा। उनके मरते ही हमारी चाँदी ही चाँदी है। उनके मरते ही वसुदेव तथा दूसरे उनके सम्बन्धी शोकाकुल होकर आपसे आप ही मर जायँगे। न मरेंगे तो मैं उन्हें अपने हाथो मे मार डालूँगा। मेरा बूढा बाप भी मुझसे बडा द्वेष रखता है, वह भीतर ही भीतर मेरे शत्रुओ से मिला रहता है, उसे भी मै मार डालूँगा। बस, ये ही सब हमारे बीच मे कटक है। जहाँ ये मरे कि फिर हमारी तुम्हारी आनन्द से छना घुटा करेगा। फिर हमारा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

संसार में सबसे श्रेष्ठ शूरवीर जरासंध तो मेरे सगे ससुर ही हैं, उनसे तो कोई भय की बात ही नहीं। द्विविद वानरराज मेरा मित्र है, शम्बरासुर, बाणासुर, नरकासुर से सब मेरे सुहृद् ही हैं, इन सबकी सहायता से मैं निष्कंटक पृथ्वी का एक छत्र राजा बन जाऊँगा, और तुम्हें ही अपना सच्चा सहायक बनाऊँगा। आपको अपना परम हितैषी समझकर ही मैंने अपनी समस्त गुप्त योजनायें आपको बतादी हैं। वहाँ इन बातों को प्रकट करने की आवश्यकता नहीं। उन्हें तो आप यज्ञ दिखाने के बहाने ही लिवा लाव। यहाँ आने पर अपनी समस्त योजनाओं को सफल कर लेंगे।"

इस पर अक्रूरजी ने इतना ही कहा—"राजन्! आपने-अपने मन से जो सोचा होगा अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक ही सोचा होगा। यह मनुष्य बड़े-बड़े मनोरथों के पुल बाँधता रहता है। परन्तु उसे दैवेच्छा—प्रारब्ध भोगों—का पता नहीं रहता कि दैव क्या करना चाहता है। कभी तो मनुष्य का सोचा सत्य हो जाता है, कभी मनोरथ, मनोरथ ही रह जाते हैं, समस्त योजनायें असफलता के गर्त में गिर जाती है। जो भी हो मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ही।"

बात यह है, कि ये आसुरी प्रकृति के पुरुष रात्रि दिन मनोरथों पर मनोरथ करते ही रहते हैं। मन के मोदक खाते ही रहते हैं। दैव इनके मनोरथों को विफल बनाते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् आसुरी प्रकृति के पुरुष क्या सोचते रहते हैं, उसका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! ये आसुरी प्रकृति के क्रूर पुरुष रात्रि दिन यही सोचते रहते हैं—"आज मैंने अपने प्रबल पुरुषार्थ से यह धन तो प्राप्त कर लिया। इसे पाने की दूसरे की

सामर्थ्य नहीं थी, मैंने अपनी बुद्धि से सोचकर ऐसे अमोघ उपाय किये कि वह धनराशि मुझे मिल ही गयी। अब मेरे मन पर अमुक धन और चढ़ा है, उसे प्राप्त कर लूँ तो मेरा मन सन्तुष्ट हो जाय। उसे भी मैं अपने बुद्धिबल से अवश्य ही प्राप्त कर लूँगा। यह धन तो आ ही गया, यह तो मेरा हो ही गया, अब उसकी ही कसर और है सो उसे भी निश्चय ही मै प्राप्त कर लूँगा। परन्तु एक बात है, मेरे मनोरथो मे अमुक आदमी विघ्न डालता था, उसे तो मैंने मृत्यु के घाट उतार दिया। अब वे कुछ लोग और रह गये हैं, वे मेरे कार्यो मे रोडा अटकाते हैं। वे मेरी सफलता के पथ के कंटक बने हुए हैं। उनको भी मारकर–उन्हें भी मृत्यु के घाट उतारकर–अपने पथ को निष्कटक बना लूँगा। मेरा विरोध करके कोई जीवित बच जाय, यह असभव है। सबको मार गिराऊँगा, सभी को यमपुरी का द्वार दिखाऊँगा। तुम पूछ सकते हो, कि आप इतने सब प्रबल प्रतापी शत्रुओ को एक साथ कैसे मार सकते हो?" तो तुम मेरी ओर से निश्चिन्त रहो। अभी तुम मेरे प्रबल पराक्रम और असहनीय तेज के सम्बन्ध में अपरिचित हो। देखो, मै ईश्वर हूँ, सर्व सामर्थ्यवान् हूँ, मेरे समान कौन हो सकता है, मैं उसे हाथो से मसल दूँगा, पत्थर पर पटक कर चकनाचूर कर दूँगा, पैरो तले रौंद दूँगा, तब देखना मेरे ठाठ, वह मेरे सामने किस खेत का बथुआ है, वह किस खेत की मूली है, मै समस्त भोग सामग्रियो से सम्पन्न हूँ, मेरे मनोरथ सिद्ध हो चुके हैं, मैं पुत्र पौत्र भृत्य आमत्यो से सम्पन्न हूँ। मैं ओजस्वी तेजस्वी साहसी तथा बलवान हूँ। मैं स्वस्थ हूँ, नीरोग हूँ, सुखी हूँ समस्त साधनो से सम्पन्न हूँ, मेरी बराबरी कर ही कौन सकता है।"

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! ये आसुरी प्रकृति के पुरुष और

भी जो अभिमान में भर कर पागलों का-सा प्रलाप करते रहते हैं, उसका वर्णन जो भगवान् और करेंगे उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

मारयो मैंने शत्रु दुष्ट यह अति अभिमानी।
कछु शत्रु है शेष कालिह उनहू को जानी॥
मोतें नहिं अब बचें कालिह मारुँगो उनकूँ।
ईश्वर हूँ हौं बड़ो बात है विदित न तिनिकूँ॥
भोगी हूँ हौं अति प्रबल, सिद्ध और धनवान हूँ।
कौन सुखी है मम सरिस, हौं अतिई बलवान हूँ॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (६)

[११]

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ १५, १६ श्लो०)

छप्पय

बड़ो धनी अति धनिक कौन मम सम धनवारो।
मेरो बड़ो कुटुम्ब बहुत मैं हूँ जनवारो॥
को है मेरे सरिस दान दुखियान को दुङ्गो।
आ जावै धन बहुत यज्ञ इक विपद करुङ्गो॥
करि आमोद प्रमोद बहु, होवै हरषित मन हियो।
मोहित है अज्ञान मह, जिनि ऐसो निश्चय कियो॥

---

* मैं धनाढ्य हूँ, परिवार वाला हूँ, मेरे समान दूसरा हो ही कौन सकता है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, हर्षित हूँगा। इस प्रकार वे आसुरी प्रकृति वाले, अज्ञान से विमोहित रहते हैं ॥१५॥

भाँति-भाँति के भ्रमित चित्त वाले वे मोह रूप जाल मे फँसे हुए तथा काम भोगो मे आसक्त हुए, अत्यन्त अपवित्र नरको म जाकर गिरते हैं ॥१६॥

यह अहंकार इतना बलवान् है, कि जिस काम के करने से भी प्रतिष्ठा की सम्भावना हो, अहकारी पुरुष उसे ही करने को उद्यत हो जाते हैं। जहाँ आस्तिक बनने से प्रतिष्ठा होती हो, वहाँ ये बड़े भारी आस्तिक ईश्वर भक्त बन जायेंगे। जहाँ नास्तिक बनने से प्रतिष्ठा होती हो, वहाँ वे सबसे बड़े नास्तिक बन जायेंगे। जहाँ मर्यादा मे रहने से प्रतिष्ठा होती हो, वहाँ नहा धोकर तिलक छापे लगाकर रेशमी वस्त्र पहिनकर मर्यादा के साथ भोजन करेंगे। जहाँ स्वेच्छाचरिता, आचार भ्रष्टपने से बडा बनने का अवसर हो, वहाँ ये अपने को प्रथम श्रेणी का स्वेच्छाचारी सिद्ध कर देंगे। जहाँ यज्ञ यागादि करने से बडप्पन प्राप्त होता हो, वहाँ धन को पानी की भाँति बहाकर बड़े-बड़े दम्भ यज्ञो की रचना करने मे भी चूकेंगे नही। फिर चाहे उन्हे यज्ञ यागादि मे तनिक भी श्रद्धा न रही हो।

नारद जी ने जब धमराज युधिष्ठिर से कहा, कि राजन्! मैं स्वर्ग मे गया था, वहाँ तुम्हारे पिता पांडु मुझे मिले थे। देवराज इन्द्र के समीप उनकी बराबर केवल महाराज हरिश्चन्द्र ही बठे थे, और सब लोग सभासदों की भाँति नीचे बैठे थे।

धर्मराज ने पूछा—"महाराज हरिश्चन्द्र को ही ऐसा गौरव किस कारण मिला।"

नारद जी ने कहा—"राजन्! उन्होंने समस्त पृथ्वी को अपने वश में करके राजसूय नाम का महान यज्ञ किया था। चलते समय तुम्हारे पिता पाडु ने मुझसे कहा था—"हे ऋषि-श्रेष्ठ! आप मेरे ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर से कह दें कि, अपने भाइयों की सहायता से समस्त पृथ्वी को जीत कर वे राजसूय यज्ञ अवश्य करें, जिससे हमे भी स्वर्ग मे हरिश्चन्द्र के समान इन्द्र के बराबर बैठने का सम्मान प्राप्त हो सके।"

पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके धर्मराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। उन्होने मान सम्मान के लोभ से, किसी के प्रतिद्वेष भाव रखकर अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करने के लिये अहकार पूर्वक यज्ञ का निश्चय नही किया था। उन्होने तो परम सात्विक भाव से पिता की आज्ञा मानकर, भगवान् की पूजा करने के भाव से, आस्तिक बुद्धि से, अहकार रहित होकर विनीत भाव से यज्ञ किया था। अपने प्रस्तावित यज्ञ के सम्बन्ध मे भगवान् श्री कृष्ण से आज्ञा लेते हुए उन्होने आँखो मे आँसू भरकर अत्यन्त नम्रता से कहा—'हे गोविन्द! मैं आपके परम पावन विभूति स्वरूप जो देवता हैं। जसे सूर्य चन्द्र आपके चक्षु है, धर्म आपके वक्ष स्थल हैं, इन आपके अग भूत देवताओ का राजसूय नामक सर्व श्रेष्ठ यज्ञ द्वारा पूजन करना चाहता हूँ, यदि आप कृपा कर दें तभी मेरा यह सकल्प पूरा हो सकता है।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! आप इतने समृद्धशाली महान यज्ञ का आयोजन किस लिये करना चाहते हैं?"

धर्मराज ने कहा—'प्रभो! आपके गौरव को प्रख्यात करने के ही निमित्त मैं यह यज्ञ करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"इससे मेरा गौरव कैसे बढेगा?"

धर्मराज बोले—"हे कमलनाभ! कुछ लोग तो ऐसे हैं जो आपके पाद पद्मो की पावन पादुकाओं को प्रेम पूर्वक सिर पर चढ़ाते रहते हैं, उन पादुकाओ की प्रेम पूर्वक पूजा करते हैं, उनका ध्यान करते हैं, उनकी स्तुति करते हैं। इन कारणो से उनके समस्त अमङ्गल नष्ट हो जाते हैं, क्योकि आपकी पावन पादुकायें समस्त अमङ्गलो को नष्ट करने वाली हैं। उनकी उपासना करने वाले पवित्रात्मा पुरुष ही होते हैं। वे जन्म मरण

के चक्कर से विमुक्त बन जाते हैं वे मुक्ति के अधिकारी तो हो ही जाते है, कदाचित् यदि उन्हें ससारी विषय भोगो की भी अभिलाषा हो जाती है तो वे भी उन्हें पर्याप्त मात्रा मे मिल जाते हैं। वे दैवी सम्पद् के पुरुष होते हैं।"

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो आपके पाद पद्मो की पूजा नही करते। नेरणार विन्दो की शरण ग्रहण नही करते, उन्हें मुक्ति मिलने की तो बात ही पृथक् रही। ससारी भोग भी पूर्णरीत्या प्राप्त नही होते।"

सम आपके चरणो के दास हैं, आपके अकिंचन सेवक हैं, जब हमारे द्वारा ऐसा महान यज्ञ होगा तो ससारी लोग आपके चरण कमलो की सेवा का प्रभाव, उनका चमत्कार देख-देखकर मुग्ध होगे। तब लोग समझ जायेंगे, कि आपके चरण कमलों का भजन करने वालो का ऐसा प्रभाव है। आपकी दृष्टि मे तो सभी समान हैं। आपका न कोई शत्रु है न मित्र। फिर भी जैसे कल्प वृक्ष की जो शरण लेता है उसी के सब मनोरथ पूर्ण होते है। अत हम आपकी शरण मे हैं। आपके शरणागतों द्वारा ऐसा महान कार्य होगा, तो आपका ही गौरव बढेगा। आपकी ही महिमा का विस्तार होगा, जनता मे आस्तिक भाव बढेगा।

कितना महान् उद्देश्य हैं, कितनी विनम्रता है। कितनी भगवत् परायणता है कितनी प्रभु पाद पद्मो की निर्भरता है।

इसी का यह कारण था, कि धर्मराज का यज्ञ अद्वितीय हुआ। जिसमे स्वय भगवान् वासुदेव ने अतिथि अभ्यागत और ब्राह्मणो के पैर पखारने की सेवा सम्पन्न की। धर्मराज ने दुर्योधन का मान बढाने को राजा लोग जो भेंट लेकर आये थे, उन्हें ग्रहण करने का गौरव उसे प्रदान किया। देश विदेशों के

राजागण इतनी भेटें लाये थे, कि दुर्योधन लेते लेते थक गया। पाडवो का इतना भारी सम्मान, प्रभाव, यश तथा प्रतिष्ठा देखकर वह जल भुनकर भस्म हो गया उससे उनका इतना भारी सम्मान सहन न हुआ उसे जूडी आ गयी। उसने जाकर अत्यन्त दुखित होकर अपने पिता धृतराष्ट्र से कहा—'पिताजी! पाडवो के राजसूय यज्ञ मे इतनी भेटें आयी कि मैं लेते लेते थक गया। उनकी धन सम्पत्ति की कोई सीमा ही नही थी। बडे-बडे प्रतापी राजा भेंट लिये हुए हाथ जोडे दासो की भाँति द्वार पर खडे रहते थे, किन्हीं-किन्ही को दो दो तीन-तीन दिनो तक भेट देने का अवकाश नही मिलता था। ऐसा यज्ञ न मैंने आज तक कभी देखा न सुना। इतनी धन, सम्पति भी मैंने आज तक कभी नही देखी थी। उसे देखकर मैं तो ईर्ष्या के कारण जल भुन गया।"

धृतराष्ट्र ने कहा—'दुखी होने की क्या बात है तुम भी ऐसा ही राजसूय यज्ञकर डालो।"

यह सुनकर उसने अहकार मे भरकर वैसा ही एक यज्ञ करने का सकल्प किया। बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मणो को बुलाकर उनसे राजसूय यज्ञ कराने को कहा।

ब्राह्मणो ने कहा—"राजन्! आपके कुल मे आपके ज्येष्ठ श्रेष्ठ भाई धर्मराज युधिष्ठिर अभी विद्यमान् हैं, उनके रहते हुए आप राजसूय यज्ञ नही कर सकते। क्योकि कुल मे सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ एक ही व्यक्ति इस महान् यज्ञ को कर सकता है। अत आप राजसूय यज्ञ न करके उसके समान ही अमुक यज्ञ को करें।"

ब्राह्मणो के कहने पर आसुरी सम्पद् वाले अभिमानी दुर्योधन ने अहकार में भरकर वह यज्ञ कराया तो अवश्य, किन्तु

उसका महत्त्व धर्मराज के राजसूय यज्ञ के समान नहीं था। वह दम्भ यज्ञ था, ईर्ष्या के वशीभूत होकर, अहंकार में भरकर कीर्ति, यश तथा प्रसिद्धि प्रतिष्ठा के उद्देश्य से किया गया था। आसुरी सम्पदा वाले पुरुष यदि किसी शुभ कार्य को भी करते हैं, तो वह ईर्ष्या, द्वेष अहङ्कार के कारण तामस ही बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों के स्वभाव का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से आगे कह रहे हैं—"अर्जुन ! आसुरी प्रकृति वाले पुरुष बड़े गर्व से अहंकार पूर्वक कहा करते हैं—"अजी, वह दो कौडी का निर्धन मनुष्य भला मेरी बराबरी क्या कर सकता है, मैं धनवान् हूँ अभिजनवान्-कुलीन हूँ। वह जाने कहाँ का अकुलीन नीच मनुष्य आ गया है मेरे बराबर कौन हो सकता है। सबसे श्रेष्ठ तो मैं ही हूँ।"

मैंने सुना है, उसने बड़ा भारी यज्ञ किया है। वह क्या यज्ञ कर सकता है, मैं एक यज्ञ करने वाला हूँ, उसमें मेरा ठाट बाट देखना। उस यज्ञ के द्वारा सबको नीचा न दिखा दिया तो मेरा नाम बदल कर रख देना। ऐसा यज्ञ करूँगा, कि दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। जो मेरे प्रशंसक आवेंगे, जो मेरी स्तुति करेंगे, मेरी बड़ाई करेंगे, उन्हें यथेष्ट दान दूँगा। उन्हें प्रसन्न कर दूँगा। वहाँ यज्ञ में बहुत से गाने वाले, बजाने वाले तथा नाचने वाले पुरुष तथा नाचने वाली नर्तकियाँ आवेंगी, उनकी कलाकारियों को देख-देखकर मैं मुदित हूँगा, प्रसन्न हूँगा। प्रहर्ष को प्राप्त हूँगा।"

इस प्रकार वे आसुरी प्रकृति वाले अज्ञानी, अज्ञान से विमोहित बने भाँति-भाँति की बकवाद करते रहते हैं।

उन पुरुषो का चित्त भ्रमित बना रहता है, वे भ्रान्त होकर मोह रूपी जाल मे जैसे मछली फँसी रहती है वैसे वे फसे रहते हैं। क्योंकि यह कार्य हितकर है यह अहितकर है, इस बात का विवेक तो उन्हें रहता ही नही। वे जैसे मछली जाल मे फँसकर तडफती रहती है। वैसे ही ये तडपते रहत हैं ये काम और भोग जो समस्त अनर्थों के साधन हैं उनमे आसक्त बने रहते हैं। इसी कारण ये लोग अत्यन्त ही अपवित्र-विष्ठा मूत्र, कफ, राध, रक्त से भरे नरको मे गिरकर अनन्त काल तक भाँति-भाँति की यन्त्रणाओ को सहते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! भगवान् अभी और आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के स्वभाव का वर्णन करेगे उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

वे अति मूरख अज्ञ भ्रमित चित इत-उत डोलत।
मोहजाल में फँसे अट की सट हु बोलत॥
विषयनि में आसक्त रहें विषयनि हित तरफत।
विषय मोह मिल जाइँ निरन्तर यह ई सोचत॥
विषयी कामा सक्त वे, विषयनि में फँसि जायँगे।
अशुचि अधिक अपवित्र जो तिनि नरकनि महँ जायँगे॥

आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव (७)

[१२]

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥*

(श्री भा० गी० १६ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

देखें जगमें यज्ञ करैं, जो कीरति पावैं।
इत-उत जावैं यज्ञ हेतु बहु द्रव्य कमावैं॥
दम्भ-यज्ञ वे करें आत्म संभावित मानी।
दान मान हित देइँ व्यरथ के वे हैं दानी॥
नाम यज्ञतैं यजन करि, तोऊ सुख पावैं नहीं।
करैं शास्त्र विधि तैं रहित, सुख मख अस देवैं कहीं?

---

* वे अपने आपको प्रतिष्ठित मानने वाले, धन और मान के मद से मदान्ध, अभिमानी अपने नाम के लिये अविधि पूर्वक दम्भ-से यजन करते हैं ॥१७॥

अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध से युक्त पर निन्दक पुरुष, अपने तथा पराये शरीरों में सर्वत्र स्थित मुझ परमात्मा से ही द्वेष करते हैं ॥१८॥

एक ही कार्य, भाव भेद से भिन्न भिन्न फल वाला होता है। श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में आता है आत्मदेव ब्राह्मण के धुन्धुकारी और गोकर्ण दो पुत्र थे धुन्धुकारी तो अपने दुष्टकर्मों से प्रेत हो गया, गोकर्ण महान् पंडित हुआ। धुन्धुकारी ने गोकर्ण के आने पर रो-रोकर अपने प्रेत होने का कारण बताया और प्रेतत्व से छुड़ाने की प्रार्थना की।

गोकर्ण ने सूर्य देव से ही अपने भाई के उद्धार का उपाय पूछा, तब सूर्यदेव ने श्रीमद्भागवत सप्ताह से उद्धार बताया। गोकर्ण ने स्वयं ही श्रीमद्भागवत का सप्ताह विधि पूर्वक कहा-प्रेत को भी सात पोर वाले बाँस में बंद करके रखा। प्रतिदिन एक पोर फटती जाती थी। सातवें दिन वैकुंठ से एक विमान आया, उसमें बैठकर धुन्धुकारी वैकुंठ में चला गया। कथा श्रवण करने वाले सहस्रों श्रोता थे, किन्तु अकेले धुन्धुकारी के ही लिये विमान आया देखकर गोकर्ण ने विष्णु पार्षदों से पूछा—"क्यों जी! भगवान् के दरबार में भी पक्षपात होता है क्या? यहाँ तो इतने श्रोता थे, सभी शुद्ध चित्त के थे किन्तु सबके लिये विमान तो आया नहीं। अकेले धुन्धुकारी के ही लिये क्यों आया? सप्ताह तो सभी ने समान रूप से श्रवण किया था?

इस पर भगवान् के पार्षदों ने जो उत्तर दिया वह अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण था उन्होंने कहा— देखिये, गोकर्ण जी! एक समान सप्ताह श्रवण करने पर भी भाव भेद से फल में भी भेद हो जाया करता है। यह सर्वथा सत्य है कि सबने साथ ही साथ भागवत शास्त्र का श्रवण किया, किन्तु इस प्रेत ने जितनी लगन से सुने हुए का मनन किया, उतना मनन अन्य श्रोताओं ने नहीं किया। एक साथ मंत्र का भजन करने वालों में भी भाव भेद से फल में भेद हो ही जाया करता है। इस प्रेत ने सात दिनों तक निराहार

रहकर अत्यत श्रद्धा से श्रवण किये हुए विषय का लगन के साथ मनन और निदिध्यासन भी किया। आपके श्रोताओ में बहुत से ऐसे थे जो इस कान से सुनते उस कान से निकाल देते। जो ज्ञान सुदृढ नही होता, वह सुना न सुना बराबर हो जाता है। व्यर्थ हो जाता है, निष्फल बन जाता है, इसी प्रकार श्रवण, सम्यक् प्रकार से ध्यान देने से, मंत्र का जप सन्देह से तथा चित्त के इधर-उधर भटकते रहने से फल हीन हो जाता है।

जैसे वैष्णव से रहित देश व्यर्थ है, उसी प्रकार श्राद्ध में अपात्र को कराया भोजन व्यर्थ है, जैसे अश्रोत्रिय को दिया हुआ दान, और सदाचार से हीन कुल व्यर्थ है उसी प्रकार बिना श्रद्धा से श्रवण किया हुआ ज्ञान व्यर्थ है। फल मे भेद, भावना के ही कारण हुआ करता है।"

जैसे यज्ञ है, शुभ कर्म है, मोक्ष तक को देने वाला है, उसी यज्ञ को अहकार के वशीभूत होकर आप धूर्त पुरुषों से करावें, किसी शास्त्र वेत्ता को न बुलावें, तो वे धूर्त तो मनमानी करेंगे। अपनी मनमानी घरजानी करने लगेंगे। उस यज्ञ में स्वेच्छाचारिता बढ जायगी। वे दंभी पुरुष या तो मंत्र बोलेंगे ही नही, बोलेंगे भी तो अंट के संट अशुद्ध बोलेंगे, यजमान भी अहंकार में भरा हुआ, नम्रता से शून्य अपने-को ही सर्वश्रेष्ठ समझता हुआ इधर से उधर अपना ऐश्वर्य जताता हुआ फिरेगा। ऐसे अविधि यज्ञ दम्भ यज्ञ कहाते हैं, इनसे परलोक की प्राप्ति तो पृथक् रही। इस लोक मे भी क्षण भर की वाहवाही के अतिरिक्त उसका कोई फल नहीं होता। इसलिये दैवी सम्पद् वाले पुरुष यज्ञ याग दान, धर्मादि शुभ कार्यों को श्रद्धा पूर्वक, विनम्र भाव से अहंकार रहित होकर, शास्त्रीय विधि के सहित करते हैं, तो उन्हें इस लोक में भी सुख मिलता है और उनका परलोक भी बनता है, किन्तु आसुरी

सम्पत्ति वाले अभिमान मे भरकर, धनमान, मद से सयुक्त होकर इन्ही कार्यो को करने से विनष्ट होते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो के स्वभाव का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! ये आसुरी सम्पद् वाले पुरुष अपने को ही स्वय सर्वश्रेष्ठ तथा पूज्य मानते हैं, वे कहते हैं हम तो सर्वगुण सम्पन्न है, हमसे कौन-सी बात अविदित है हम सब कुछ जानते हैं। उनमे नम्रता तो नाम मात्र को भी नही होती, जैसे मद्यपी सदा मद मे उन्मत्त बना रहता है, वैसे ही ये लोग धन और मान के मद मे चूर बने रहते हैं, वे दूसरे पूज्य पुरुषो को भी अपने सम्मुख हेय समझने लगते हैं। कोई उनसे कहे भी कि अमुक विषय को उनसे पूछ लो, तो वे तुरन्त कहने लगते हैं—"अजी, वे क्या जानते हैं, वे क्या मेरे सदृश ज्ञाता हैं, इस विषय का तो मैं ही विशेषज्ञ हूँ। इसी कारण कोई साधु पुरुष उनके समीप नही आता। उसे धूर्त, मिथ्यावादी, उनकी हां मे हां मिलाने वाले लोभी लालची पुरुष घेरे रहते हैं, उन्ही के सहारे ऐसे लोग विधि विधान से हीन अविधि के यज्ञो को करते रहते हैं। वे यज्ञ क्या हैं, नाम मात्र के यज्ञ हैं। कोई तो कहते हैं—हमारा यह यज्ञ भगवन्नाम यज्ञ है कोई कहते हैं, हमारा यह यज्ञ हरिहरात्मक नाम का यज्ञ है, कोई कहते हैं हमारा यह यज्ञ सोमयज्ञ वाजपेय यज्ञ है। ये यज्ञ केवल नाम के ही यज्ञ होते है इनमे यज्ञो का यथार्थ कार्य नही होता। इनके करने कराने वाले भी नाम मात्र के ही द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, दीक्षित, वाजपेयी आदि होते है, इनको विधिवत वेदो का ज्ञान नही होता। ऐसे सभी अविधि पूर्वक किये हुए यज्ञ आसुरी सम्पद् वालों के तामस यज्ञ होते हैं। इनको नाम मात्र का यज्ञ या दम्भ यज्ञ भी कह सकते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! वैसे भी सही, ये लोग शुभ कर्मों को तो करते ही हैं। न सही परलोक में फल, इस लोक में तो उनका यश ऐश्वर्य बढ़ता ही होगा ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, उनका न बहिरंग साधन ही सिद्ध होता है और न ज्ञान वैराग्य तथा भगवद् भक्ति रूप अंतरङ्ग साधन ही। ये नराधम तो उभय भ्रष्ट हो जाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"इसका क्या कारण है ?"

भगवान् ने कहा—"इन अहंकारी दम्भी पुरुषों में दुर्गुण आ जाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कौन-कौन से दुर्गुण आ जाते हैं।"

भगवान् ने कहा—"सबसे बड़ा दुर्गुण तो अहंकार है। वैसे अहंभाव तो सभी में है, किन्तु जो गुण अपने में नहीं हैं या न्यून हैं, उनका अपने में आरोप करके सदा अपने को ही सब कुछ समझना दूसरों को कुछ न समझना, यही अहंकार का लक्षण है, यह इन लोगों में विपुल मात्रा में होता है।"

दूसरा दुर्गुण होता है—'बल का। वैसे बल तीन प्रकार का होता है, शरीर के बल को बल, इन्द्रियों के बल को सह और मनोबल को ओज कहते हैं। यदि बल से दूसरों का रक्षण हो, तो वह बल तो गुण है, किन्तु जो बल परपीड़ा में प्रयुक्त होता है, वह दुर्गुण है। आसुरी प्रकृति वालों का बल परपीड़न के ही काम में लिया जाता है।"

तीसरा दुर्गुण है—"दर्प। दर्प कहते हैं डींग हाँकने को। अपने प्रभाव को श्रेष्ठ मानकर दूसरों का तिरस्कार करते रहना। दर्प में भरकर चाहे आचार्य, गुरुजन राजा तथा और भी श्रेष्ठ पुरुष हों, उन्हें न कहने योग्य बातें कह जाना। चित्त के इसी विशेष दोष का नाम दर्प है।"

चौथा दुर्गुण है-"काम। काम वैसे समस्त वासनाओं को कहते हैं, किन्तु यहाँ काम से दुराचार को ही समझना चाहिये। संसारी विषय भोगों को अन्याय पूर्वक प्राप्त करने की अभिलाषा।

पाँचवा दुर्गुण है-"क्रोध, अपनी मन चीती बात न होने पर जो हृदय की जलन होती है और वह बाहर भभक उठती है, उसी को क्रोध कहते है। उसमें विद्वेष वश दूसरो का अनिष्ट करने की भावना उत्पन्न हो जाती है इन दुर्गुणों के अतिरिक्त दम्भ, छल, कपट, लोभ, मोह, मत्सर, आदि अनेको और भी दुर्गुण आते हैं और सबसे बड़ा दोष तो आसुरी सम्पद् वाले पुरुषो में अभ्यसूयकपने का होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"अभ्यसूयक का तात्पर्य क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"असूया निन्दा का नाम है। वे दूसरो के गुणों में सदा दोष ही देखते रहते हैं। उन गुणों को भी दोष बता कर उनकी निन्दा करते रहते हैं। वे संत महात्माओं को गुरुजनों को ढोंगी बताते हैं, उनकी शिक्षाओं की खिल्लियाँ उड़ाते हैं। अर्जुन ! जानते ही हो, मैं अन्तर्यामी रूप से सबके घट-घट में विराजमान हूँ। समस्त प्राणियों के देहों में और उन आसुरी प्रकृति के निन्दकों के देहों में भी मे विराजमान हूँ। वे जब दूसरों से द्वेष करते हैं, तो मानो मुझसे ही द्वेष करते है, अपना अनिष्ट करते हैं, तो मानो मेरा ही अनिष्ट करते है, अतः ऐसे लोग आत्महा हैं, आत्मघाती हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! ऐसे अपने से तथा दूसरो से द्वेष करने वाले आत्मघाती पुरुषों को आप उनके क्रूर कर्मों का क्या प्रतिफल देते हैं, उन्हे आप कैसी योनियों मे डालते है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान्

आसुरी प्रकृति के पुरुषो को जो प्रतिफल देते हैं, उसे जो उन्होंने स्वयं बताया है, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

अहंकार में चूर न अपुसम औरहिं समुझें।
बल अरु दर्प अधीन बिना बातहिं के उरझें॥
करें कामना कठिन कबहुँ पूरी नहिं होवैं।
तो फिरि करिकें क्रोध अपनपो अपनो खोवैं॥
परनिन्दा में निरत नित, अपनी आत्मा कूँ हनें।
इस्थित निज पर देह में, करें द्वेष द्वेषी बने॥

आसुरी प्रकृति के पुरुषों की अधोगति

(१३)

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनिजन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

जामें लागे अगिनि ताहि कूँ प्रथम जरावै ।
जा मन में है द्वेष ताहि तमयुक्त बनावै ॥
जीवनि तैं जो द्वेष करें द्वेषी बनि जावैं ।
नरकनि में वे परें आसुरी योनिनि पावैं ॥
जहँ जनमें तहँ द्वेषवश, तहँ सबतैं द्वेषहि करें ।
नीच नराधम पातकी, बार-बार जनमें मरें ॥

जीवों की दो ही गतियाँ हैं, एक ऊर्ध्वगति दूसरी अधोगति । जो ऊर्ध्वगति वाले जीव हैं, वे उत्तरोत्तर एक से एक उत्तम गति

---

* मैं ऐसे क्रूर स्वभाव वाले, द्वेषी, पापी, क्रूरकर्मा नराधमों को संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ ॥१९॥

हे कौन्तेय ! वे मूढ़ पुरुष प्रत्येक जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए मेरे को प्राप्त न करके अत्यंत नीच गति को ही प्राप्त होते हैं ॥२०॥

को प्राप्त होते रहते है। किसी के शापवश या अन्यान्य किसी कारण से उनका पतन भी हो जाता है, तो कुछ काल को उनकी गति अवरुद्ध हो जाती है। जैसे नारदजी को शाप वश गन्धर्व योनि में और शूद्र योनि में जन्म लेना पडा, अन्त में वे पुनः नारद ही बन गये। जड भरतजी को मृग के मोह के कारण एक मृग शरीर और धारण करना पडा, नही तो ब्राह्मण शरीर धारण करके मुक्त हो जाते। यदि किसी महापुरुष की या भगवान् के अवतार की कृपा हो जाय, तो अधम योनि वाले जीवों का भी उद्धार हो जाता है जैसे कीट योनि के प्राप्त जीव अन्त में मैत्रेय मुनि हो गये। यह भगवान् वेदव्यास की कृपा से हुआ। कीट योनि के अनतर वे जिस-जिस योनि में जाते, वही कृपा करके व्यासजी पहुँच जाते और उन्हें उपदेश दे आते।

बहुत से रजोगुणी तमोगुणी वाले जीव भी भगवत् कृपा से परमपद के अधिकारी बन जाते है बहुत से स्त्री, शूद्र, वैश्य तथा अन्यान्य अधम योनि वाले पुरुष भी भगवत् संग से तर जाते हैं। उनमें वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध शूद्र, कुब्जा दासी, व्रज की अनपढ़ ग्वालिनी, याज्ञिकों की पत्नियाँ ये सभी केवल भगवत् कृपा से ही तर गये हैं। ये अपने सुकृत कर्मों द्वारा नहीं तरे। साधारणतया ऊर्ध्वगति वाले पुरुष होते हैं, वे दैवी गुणों का आश्रय लेकर क्रम-क्रम से बढ़ते जाते हैं। पुण्य कर्मों के करने से उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वे स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं, कुछ पुण्यशेष रहने पर यहाँ पृथ्वी पर उच्च कुलों में जन्म लेते हैं, फिर और भी श्रेष्ठ लोकों मे जाते है, इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते अंत में मुक्त हो जाते हैं। यह सर्व साधारण जीवों के लिये है। भगवत् कृपा,

जीव तो अनुग्रह सृष्टि के होते हैं। ये तो अपवाद स्वरूप हैं।

दूसरे अधोगति वाले जीव हैं। उनका उत्तरोत्तर अधःपात ही होता जाता है। जैसे किसी अधोगामी जीव का जन्म किसी कारण विशेष से उत्तम ब्राह्मण वंश में हो गया, तो वह आसुरी प्रकृति के अनुसार यहाँ क्रूर कर्म ही करेगा, उन क्रूर कर्मों के कारण मरकर उसे घोर नरकों की यातनायें सहन करनी पड़ेंगी। कुछ पाप शेष रह जाने पर यहाँ पृथ्वी पर वह चाडाल आदि नीच योनियों में जन्म लेगा, वहाँ भी पूर्व संस्कारों के अनुसार पाप कर्मों में ही प्रवृत्त होगा, फिर उसे नरकों में जाना पड़ेगा, फिर सिंह, व्याघ्र, सर्प, मर्कट, कूकर, सूकरादि योनियों में प्रकट होगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर उसका अधः पतन ही होता जायगा।

इन दोनों गतियों का ही नाम संसार चक्र है। असंख्यों जीव इन्हीं के कारण जन्म और मृत्यु के चक्कर में फँसकर चौरासी लाख योनियों में घूमते रहते हैं। विशुद्ध वर्णाश्रम मार्ग कर्म मार्ग है, उस स्वधर्म का पालन करते रहो, कर्म करते-करते निष्कर्म होकर मुक्त हो जाओगे। जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा न जाने कितनी योनियों में घूमते-घूमते न जाने कब परम पद का अधिकारी बन सकेगा। उस मार्ग में तो बिना ब्राह्मण के सन्यास का अधिकारी ही नहीं, संयास के बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं।

इसीलिये आचार्यों ने भक्ति मार्ग को, शरणागत पन्थ को अपनाया है। इसमें अपना कोई पुरुषार्थ नहीं, जीव का अपना कोई कर्तव्य नहीं। सर्वात्मभाव से भगवान् की शरण में हो जाओ। विश्वास करो भगवान् कृपा के सागर हैं, करुणा के आलय हैं, शरणागत प्रतिपालक हैं, भक्त वाञ्छा कल्पतरु हैं, प्रपन्न-

पारिजात हैं, निरंतर उन्हीं की कृपा की प्रतीक्षा करते रहो। कृपा की प्रतीक्षा करते रहना ही परम पुरुषार्थ है। इसमें ज्ञान की वैराग्य की अपेक्षा नहीं। वर्ण का, आश्रम का बन्धन नहीं। भगवान् की जिस पर कृपा हो गयी, वह चाहे किसी भी वर्ण का हो किसी भी आश्रम का हो, किसी भी योनि में जन्मा हो, संस्कार वाला हो संस्कार हीन हो स्त्री हो या पुरुष हो, जहाँ भगवत् कृपा पात्र बना, जहाँ उस पर अनुग्रह रूप कृपा की दृष्टि की वृष्टि हो गयी, मानो उसका बेड़ा पार हो गया। उसका चौरासी का चक्कर सदा के लिये छूट गया।

नहीं तो जो अधोगामी जीव हैं, भगवत् विश्वास से हीन हैं, अपने को ही सब कुछ समझकर सदा सर्वदा धनमान के मद में डूबे रहते हैं, उनको तो नरकों में निरन्तर दुर्गति होती रहती है, वे बार-बार नरकों में जाते रहते हैं और बार-बार जन्म जरा मृत्यु की चक्की में पिसते रहते हैं। उनके दुःखों का अन्त नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों की कौन-सी गति होती है।" यह जिज्ञासा की, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते—"अर्जुन! जिन्हें मेरी कृपा पर मेरी अनुकम्पा तथा शरणागत वत्सलता पर विश्वास नहीं। जो मुझसे द्वेष करते हैं, मुझसे ही नहीं मेरे आश्रय पर रहने वाले साधु संत तथा भक्तजनों से द्वेष करते हैं, उन्हें मैं उनकी क्रूर तथा अधम भावना के अनुसार क्रूर एवं अधम-अशुभ-कर्म करने वालों को यहाँ नीच योनियों में फेंक देता हूँ। उन नीच योनियों में वे नरक के मार्ग को प्रशस्त करते वाले पाप कर्म करते रहते हैं। इस कारण उन्हें नरकादि लोकों की प्राप्ति होती है वहाँ से यदि वे लौटते हैं, तो उन्हें मैं पुनः आसुरी योनियों में पटक देता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—'ये जो सूकर, कूकर कीट, पतग, सिंह व्याघ्र, सर्पादि आसुरी योनियाँ हैं उनमे कब तक उनको गिराते रहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"उन्हे तब तक गिराता रहता हूँ जब तक उन्हें पुन पुरुष योनि प्राप्त न हो जाय। वे निरन्तर सहस्रो लक्षो बार इन अधम योनियो मे जन्मते मरते रहते हैं। यदि मनुष्य योनि पाकर उन्होंने पुन दैवी सम्पद् को ग्रहण न किया, तो पुन वे चौरासी के चक्कर मे पड जाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—'क्या प्रभो ! वे फिर आपको प्राप्त नहीं कर सकते ?"।

भगवान् ने कहा—'मुझसे और मेरे भक्तो से तो वे सदा द्वेष ही रखते हैं अत वे मूर्ख, क्रूर अधम नीच, निर्लज्ज पुरुष आसुरी योनियों को ही प्राप्त होते रहते है मुझे प्राप्त नही होत। वे अधोगति वाली योनियो मे ही घूमा करते हैं।'

अर्जुन ने कहा—'प्रभो ! आप तो अधम उधारन हैं, पतित पावन हैं, ऐसे लोगों पर भी तो आपकी कृपा होनी ही चाहिये वे भले ही आपसे द्वेष करते रहे, आपको तो उन पर कुछ कृपा करनी ही चाहिय।"

भगवान् ने कहा—'ऐसे लोग मानव जैसी पवित्र योनि के भी पाने के अधिकारी नही होत। मै उन पर कृपा करके ही तो मानव जैसी सुदुर्लभ मुक्ति के द्वारभूत पावन योनि को देता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"क्या मानव शरीर पाकर आसुरी सम्पद् वालों का भी उद्धार हो सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, हो सकता है, किन्तु तभी तक हो सकता है जब तक मानव शरीर को त्यागकर नरक के कारण क्रूर

योनियों में न जायें, यदि क्रूर योनियों में पड़ गये तो उन्हें पुनः चौरासी के चक्कर में घूमना पड़ेगा।"

अर्जुन ने पूछा—'मानव शरीर में क्या करने से-कौन-सी बातें छोड़ने से-उन्हें नरक का द्वार न देखना पड़ेगा। मानव शरीर पाकर कैसे चिरकाल से आसुरी योनियों में भ्रमण करने वाला जीव दैवी सम्पद् का अधिकारी बन सकेगा? कृपा करके इसे मुझे बताइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने मानव शरीर में नरक न जाने वाली बातों को त्यागने की बात पूछी, तो भगवान् ने इसका जो उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

उत्तम योनि न पाइँ आसुरी योनिनि जावैं।
जगतैं कीयो द्वेष जगत कूँ ही पुनि पावैं॥
मोकूँ पावैं नहीं सदा इत-उत-ही भटकैं।
जनम-जनम में योनि आसुरिनि में ई अटकैं॥
कम-कम तैं अति नीच गति, पावैं पतनोन्मुख रहैं।
नरकनि में गितई पचैं, पतित सबहिं तिनि कूं कहैं॥

नरक के तीन द्वार

[१४]

त्रिविधं नरकस्येद द्वार नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥*

(श्री भग० गी० १६ अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

नरक भवन अति विषद द्वार हैं तीनि तहाँ के ।
आत्मनाश कर देइँ नारकी जीव वहाँ के ॥
प्रथम काम है द्वार दूसरो क्रोध बतायो ।
तीसर है अति प्रबल लोभ जिनि नाम धरायो ॥
जो चाहत हैं ऊर्ध्वगति, होहि न हमरी अधोगति ।
तो त्यागें इनि तीनि कूँ, राखैं अपनी विमल मति ॥

---

* तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं, वे आत्मनाशक हैं, उनका नाम काम, क्रोध और लोभ है। इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिये ॥२१॥

हे अर्जुन ! जो इन तीनो नरक के द्वारो से विमुक्त हो गया है, वही पुरुष अपने श्रेय का आचरण करता है। इसीसे वह परम गति को प्राप्त हो जाता है ॥२२॥

आसुरी सम्पदा के अनेक भेद है, इसमें अनन्त दुर्गुण हैं। जीव इन सबका परित्याग कैसे कर सकता है। यदि सबका परित्याग न कर सके, तब तो आसुरी प्रकृति वाले पुरुषो का कभी उद्धार सम्भव ही नही। इस पर कहते हैं कि चाहें लाखों जन्मों तक आसुरी योनियो मे जीव भटकता-भटकता भगवत् कृपा से कदाचित् मानव योनि में आ जाय, और समस्त आसुरी दुर्गुणो का परित्याग न भी कर सकें, केवल तीन ही दुर्गुणो को त्याग दे तो भी उसका उद्धार हो जायगा, क्योकि नरक नगर के ये ही तीन प्रवेश द्वार हैं, वे तीन दुर्गुण हैं काम, क्रोध तथा लोभ।

काम कहते हैं इन्द्रियो के विषयों के उपभोग करने की इच्छा को। पाँच इन्द्रियाँ हैं कान, आँख रसना, घ्राण और त्वचा। इनके पाँच ही विषय हैं शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श। जो इन विषयो मे अत्यन्त आसक्त हो जाता है, उसका अधःपात निश्चित है। जैसे हरिण है, इसे सुदर शब्द श्रवण करने का व्यसन है, अतः बहेलिया क्या करते हैं। हरिण के सम्मुख सुदर स्वरयुक्त वीणा बजाते हैं, वह वीणा के शब्द मे आसक्त होकर मन्त्र मुग्ध बना उसे सुनने लगता है, उसी दशा में वधिक बाण मारकर उसके प्राणो को हर लेते हैं, यह तो शब्द विषय में अत्यन्त आसक्ति का परिणाम है।

पतंग रूप पर आसक्त होने वाला है, वह दीपक की जो लोय है उसके रूप पर आसक्त होकर उसे आलिंगन करने दौडता है, उसे आलिंगन तो क्या करेगा, स्वय ही उसकी आग मे जलकर भस्म हो जाता है, यह रूपासक्ति का प्रतिफल है।

भौंरा जो है, वह कमल की गन्ध मे आसक्त हो जाता है, उस गध का आस्वादन करते-करते ऐसा उन्मत्त हो जाता है, कि उसे यह भी पता नहीं रहता, कि कब सूर्य उदय हुआ, कब

अस्त हुआ। सूर्यास्त के समय कमल बन्द हो जाता है, वह रात्रि भर उसी मे कैद हुआ पड़ा रहता है। यह गन्ध मे आसक्त प्राणी की दुर्दशा है।

मछली बहुत ही रसना की चटोरी होती है। मछली फँसाने वाले काँटे मे तनिक-सा मास का टुकडा लगाकर जल मे डाल देते है वह रस के लोभ से उस मास के टुकडे को निगल जाती है। काँटा उसके कठ मे हिटक जाता है, वह बंध जाती है और अन्त में अपने प्राणो मे भी हाथ धो बैठती है, यह रसना मे आसक्त प्राणी के लोभ का प्रतिफल है।

हाथी बडा कामी होता है, उसे हथिनी का स्पर्श अत्यन्त सुखकर लगता है। इसीलिये हाथी पकडने वाले एक बनावटी काठ की हथिनी गड्ढे को पाटकर उस पर रख देते है। मदोन्मत्त हाथी हथिनी के स्पर्श के लोभ से उसके ऊपर झपटता है, तो गड्ढे मे गिरकर बन्दी बन जाता है, सदा-सदा के लिये अपनी स्वतन्त्रता को खो देता है। स्पर्श मे आसक्त प्राणी की यही दुर्दशा होती है, उसकी स्वतन्त्रता सदा-सदा के लिये छिन जाती है।

ये दुर्दशा तो एक एक विषय मे आसक्त प्राणियो की है। ससार के पदार्थों में किसी पदार्थ का शब्द प्रिय है, किसी का रूप प्रिय है, कोई रसना के लिये सुखद है, किसी की गन्ध मोहक है, किसी का स्पर्श आकर्षक है। स्त्री मे ये पाँचो ही काम विषय एक साथ विद्यमान हैं इसीलिये स्त्री का नाम कामिनी है। जो विषयासक्त प्राणी कामिनी के चक्कर मे फँस जाते हैं, उनका ससार से उद्धार होना कठिन है। अत मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष को काम का परित्याग करना चाहिये। अर्थात् जिसके साथ धर्मपूर्वक विधिवत् विवाह हुआ हो, उस अपनी धर्म पत्नी को छोडकर अन्य स्त्रियों का कभी मन से भी चिंतन न करना चाहिये। जो पर नारी का

स्पर्श करता है, वह कामी है, वह तो जानबूझकर नरक के द्वार को अपने लिये खोल रहा है।

नरक का दूसरा द्वार है-क्रोध। क्रोध की बार-बार व्याख्या हो चुकी है। अपनी इच्छा की पूर्ति न होने पर अथवा लालच, ईर्ष्या द्वेष के कारण हृदय में जो एक प्रकार की जलन होती है और वह जलन भभक कर प्रकट होकर उग्र रूप रख लेती है, वही क्रोध है। वैसे क्रोध काम का ही भाई है, किन्तु उसका शत्रु भी है क्रोध आने पर काम शांत हो जाता है और कितना भी आदमी क्रोध मे भरा हो काम सामग्री सम्मुख उपस्थित हो जाने पर क्रोध शांत हो जाता है। शिवजी ने काम को भस्म कर दिया था, किन्तु क्रोध की सहायता से। नारायण ऋषि ने बिना क्रोध की सहायता के हँसते हँसते ही काम पर विजय प्राप्त करली थी। क्रोध यह परमार्थ मे सबसे बड़ा विघ्न है।

नरक का तीसरा द्वार है-लोभ। लोभ सदा लाभ से बढ़ता है, अतः परमार्थ के पथिक को किसी बात की इच्छा न करनी चाहिये। इन संसारी इच्छाओं का कहीं अन्त नहीं। एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी इस प्रकार ये इच्छायें अनन्त विराट्रूप रख लेती है फिर भी पूर्ण नहीं होती। इसका उदाहरण भगवान् ने वामन अवतार लेकर प्रत्यक्ष दिखा दिया है।

बलि ने यज्ञ मे आये हुए नन्हे से वामन वटु से कहा—वटुवामन! क्या माँगने आये हो?"

वामन ने कहा—"तुम मुझे मंगता समझते हो क्या? मैं कुछ नहीं माँगता।"

बलि ने कहा—"धनिक के द्वार पर जाना ही इच्छा का द्योतक है। तुम्हारी जो भी इच्छा हो वही माँग लो।"

वटु ने कहा—"मुझे कोई भी इच्छा नहीं।

बलि ने कहा—"संसार में ऐसा कोई व्यक्ति ही नहीं जिसकी कुछ न कुछ इच्छा न हो। जब हमें किसी वस्तु का अभाव खटकता है, तभी धनिकों का द्वार खटखटाया जाता है। तुम्हें जो अभाव हो वही मुझसे माँग लो।"

वामन ने कहा—'मेरे पास मूँज की मेखला है मृग चर्म है, जल से भरा कमण्डलु है, दंड है वर्षा धूप निवारणार्थ छत्री है पैरों में पादुकायें हैं, हाथ में ब्रह्म दंड है, भिक्षा माँग कर निर्वाह करता हूँ, ब्रह्मचारी की सभी आवश्यक सामग्रियाँ मेरे पास है अब अभाव का क्या काम ?"

बलि ने कहा—"वामन बहुत बनो नहीं। संकोच मत करो। कोई अभाव तो तुम्हें अवश्य है। नहीं तुम मेरे यहाँ आते ही नहीं।"

वामन बोले—'वैसे ही यज्ञ देखने चला आया था, कुछ माँगने की इच्छा से नहीं। मार्ग में आते-आते एक तनिक सी इच्छा उत्पन्न हो गयी, एक नन्हा सा अभाव खटकने लगा।"

यह सुनकर महाराज बलि हँस पड़े और बोले—"वामन! तनिक-सा अभाव ही विराट बन जाता है नन्ही सी आशा का बीज ही विराट वट वृक्ष हो जाता है। अपने अभाव को कह दो। अपनी इच्छा को व्यक्त कर दो संकोच का काम नहीं।"

वामन बोला—"मैं मार्ग में आ रहा था। एक आदमी की तिदरी में बैठकर आसन लगाकर सन्ध्या करने लगा।"

बलि ने कहा—"फिर क्या हुआ ?"

वामन ने कहा—"तभी तक गृहपति आ गया, उसने क्रोध करके कहा—" अरे बमन्टा ! कहाँ आकर बैठ गया। निकल मेरे स्थान से। यह स्थान क्या तेरे बाप का है ?"

बलि ने पूछा—"फिर क्या हुआ ?"

वामन बोले—"मैं अपने दंड-कमण्डलु उठाकर वहाँ से चला तो आया, किन्तु मेरे मन मे यह बात आई कि सभी का कोई न कोई स्थान है जहाँ जाऊँगा, वही से ऐसे तिरस्कार सहित भगाया जाऊँगा। अतः अपनी भी एक छोटी सी कुटिया बन जाती तो अच्छा था।"

बलि हँसे और बोले—"वामन छोटी कुटी से काम न चलेगा तुम्हे कहो तो बडी सी कोठी बनवा दूँ। या मेरे इतने भारी महलो को ले लो।"

वामन चमक उठे और बोले—"राजन्! क्या आपने मुझे लोभी वामन समझ रखा है। मुझे बडी कोठी नही चाहिये। जिसमे मेरा आसन भर लग सके केवल तीन डग, एक धनुष के बराबर साढे तीन हाथ भूमि चाहिये।"

बलि ने कहा—३॥ हाथ मे ही तो समस्त इच्छायें भरी हैं। ब्रह्माजी भी अपने हाथो से ३॥ हाथ ही हैं। अपना-अपना नाप सभी का एक सा नही होता। कुछ अधिक माँग लो।"

वामन बोले—"महाराज! फिर वही बात। क्या मैं लोभी हूँ। जितनी मेरी आवश्यकता है उतना ही माँगूगा। अधिक ले कर क्या करूँगा ?"

बलि ने कहा—'अभी तो आप लोभी नही हो, क्योंकि अभी आप को कुछ लाभ ही नही हुआ है। लोभ तो लाभ से बढता है, जहाँ मैं आपको दे दूँगा, वहाँ, आपका लोभ बढने लगेगा। अच्छा, लोभ नहीं है तो आप तीन पैर पृथ्वी ही चाहते हैं न? मैं किसी लम्बे आदमी के पैरों से नपवाये देता हूँ आपके नन्हें-नन्हें पैर हैं उसमें भूमि कम आवेगी। लम्बे आदमी के पैरों से अधिक आ जायगी।"

इस पर वामन क्रुद्ध हो उठे—"राजन्! मेरी हँसी उडाते हो, बार-बार मुझे लोभी समझते हो। अधिक भूमि लेकर मैं क्या करूँगा। मैं तो तीन पैर से एक सुई बराबर भी अधिक न लूँगा। और अपने ही पैरो से नापूँगा।'

बलि हँसे और बोले—'बामन! तुम क्या ससार के सभी प्राणी सब को अपनी ही दृष्टि से अपने ही परो से नापते है। किन्तु तुम बहुत छोटे हो नापते समय तनिक पैरो को बढा-बढा कर नापना।"

इस बार बामन को भी हँसी आ गयी और बोले—'राजन्! नापूँगा तो मैं अपने ही पैरो से नापने लगूँ तब देखना पैर कितने बढते हैं। पति प्राप्त करने पर ही पत्नी के पैर भारी-भारी होते हैं।"

बामन की इच्छा तो पहिले छोटी ही थी। सकल्प का जल हाथ मे लेते ही लोभ से वे बढकर विराट् हो गये। दो पैरो में ही पूरे ब्रह्माण्ड को नाप डाला। फिर भी इच्छा पूरी नही हुई। हो कहाँ से? लोभी की कभी इच्छा पूरी होती ही नही। अत्यन्त लोभ का ही कारण है, कि बामन बलि के द्वार पर बँध गये। अब तक बँधे हुए हैं। हाथ मे छरी लेकर द्वारपाल बने पहरा देते हैं।

इससे भगवान् ने यही शिक्षा दी लोभ लाभ से बढता है। समस्त इच्छाओ की पूर्ति कभी होती नही। जीव लालच वश ही बंध जाता है। अत' कभी लोभ नही करना नही चाहिये। लोभ पाप कर मूल। इन तीनो नरक के द्वार रूप दुर्गुणों मे प्राणी बच जाय जो वह परागति पाने का अधिकारी बन सकता है। श्रेय माग का पथिक हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कौन सी

बातें छोड़ने से प्राणियों को नरक का द्वार न देखना पड़ेगा ?" इस पर भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! नरक के तीन ही द्वार हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कौन-कौन से ?"

भगवान् ने कहा—"अपना नाश करने वाले, नरक में पहुँचा देने वाले काम, क्रोध और लोभ ये ही तीन नरक के द्वार हैं। इसलिये इन तीनो का ही परित्याग कर देना चाहिये और इस मानव शरीर मे ही मृत्यु के पहिले-पहिले इन्हें छोड़ देना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसा पण क्यों लगाते हो ? अन्य योनियों मे या नरकों मे ही जाकर इन्हे छोड देंगे ?"

भगवान् ने कहा—"अन्य सभी योनियाँ तो भोग योनियाँ हैं, उनमें कर्म करने की स्वतन्त्रता ही नही। उनमें तो केवल प्रारब्ध भोग ही भोगे जा सकते हैं। स्वर्ग तथा नरक ये स्थान भी भोग स्थान हैं वहाँ साधनादि कर्म नही किये जाते। कर्म भूमि तो यही है। साधक योनि तो मनुष्य योनि है। जो काम क्रोध के वेगों को इस लोक में ही मृत्यु के पहिले पहिल जीतने मे समर्थ होता है, वही योग युक्त है, वही सुखी है और वही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। यहो पर नरक रूप रोग की चिकित्सा हो सकती है। अन्य लोको में न औषधि है और न औषधालय ही हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"काम, क्रोध और लोभ इन तीनो का त्याग क्यों करना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"कह तो दिया ये नरक के द्वार हैं जिन्हें नरको में जाना हो वे इनका आचरण करें क्योंकि ये तमोगुण के खुले द्वार है।"

अर्जुन ने पूछा—"इनके त्याग करने से क्या होगा ?"

भगवान् ने कहा—"इनको त्यागने वाला पुरुष अपने कल्याण के पथ को प्रसस्त करता है, जिसके द्वारा वह परम गति को प्राप्त कर लेता है। वह परम पुरुषार्थ का अधिकारी बन जाता है। उसका नरक का द्वार बन्द हो जाता है। वह एक विशुद्ध नियम मे बंध जाता है।'

अर्जुन ने पूछा—'नियम मे कैसे बंध जाता है ?'

भगवान् ने कहा—"काम, क्रोध और लोभ के वशीभूत हुआ पुरुष स्वेच्छा कामी होता है। कामी पुरुष अपने काम की पूर्ति के लिये उचित अनुचित सभी उपायो को करता है क्रोधी पुरुष का कोई प्रिय नहीं होता। वह सभी का घात कर सकता है। लोभी पुरुष से कोई भी पाप छूटा नही रह सकता। ये तीनो काम स्वेच्छा चारिता को बढाते हैं। जो इन तीनो से विमुक्त हो जाते हैं, वे एक प्रामाणिक बन्धन मे बंध जाते हैं उन्हे बोध हो जाता है, यह कार्य कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है इसे करना चाहिये, इसे न करना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान किससे होता है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मै आगे करूंगा।"

छप्पय

कुन्तीनन्दन ! काम क्रोध अरु लोभ शत्रु जे।
नरक द्वार हैं बड़े अधोगति दाता हैं ते॥
इनि तें जो हैं मुक्त करें कल्यान आचरन।
अन्तःकरन विशुद्ध बनै निरमल होवै मन॥
ऐसे जो हैं शुद्ध नर, अवसि परम पद पाइँगे।
सुख पावै ससार में, मोई में मिल जाइँगे।

कर्तव्या कर्तव्य में शास्त्र ही प्रमाण है

(१५)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ *

(श्री भग० गी० १६ अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

शास्त्रनि की विधि त्यागि करैं अपनी मनमानी ।
विधि आचरन न करैं अधम अतिई अज्ञानी ॥
काम निरत ते पुरुष जगत दुख अधिक उठाईं ।
करैं सिद्धि हित जतन सिद्धि परि पावत नाईं ॥
जग ई में भटकत रहत, नित्य नई पावैं व्यथा ।
कैसे होवै परागति, सुख की तो पुनि का कथा ॥

---

* जो पुरुष शास्त्र विधि का परित्याग करके स्वेच्छापूर्वक वर्तता है । वह न तो सिद्धि को ही प्राप्त करता है और न परमगति तथा सुख को ही प्राप्त कर सकता है ॥२३॥

इससे तुम्हारे लिये इस संसार में कार्य अकार्य के विषय में शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर शास्त्रीय विधान से कर्म करने चाहिये ॥२४॥

जो धर्म प्रधान पुरुषो पर धर्म पूर्वक धार्मिक शासन करे उसे शास्त्र कहते हैं। शास्त्र मे दो बातें होती हैं, विधि और निषेध। शास्त्र आज्ञा देता है ये-ये कार्य कर्तव्य हैं ये ये अकर्तव्य अर्थात् निषेध है। इन इन कार्यों मे प्रवृत्ति होनी चाहिये इन इन कर्मों से निवृत्ति होनी चाहिये। वेदादि समस्त शास्त्रो का उद्देश्य ससारी प्रवृत्ति से निवृत्त होना-अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होना ही है। वह किन-किन कार्यों से प्राप्त हो सकती है और कौन-कौन से कार्य इसमे अन्तराय हैं, विघ्न हैं, शास्त्र इन्ही सब बातो का अनुशासन करता है। शास्त्र के वचनो पर अविश्वास न करना चाहिये। उन पर अमर्यादित तर्क वितर्क भी न करनी चाहिये। वैसे हमारे यहाँ तर्क शास्त्र भी है, किन्तु उनकी भी एक मर्यादा है उनकी भी सीमा है अर्थात् जो तर्क वेद के विरुद्ध न हो, वही तर्क नियमित है। जहाँ किसी ने वेद का प्रमाण दे दिया वहाँ तर्क समाप्त हो गयी। अतः तर्क शास्त्र भी दो प्रकार का होता है, एक आस्तिक तर्क शास्त्र, एक नास्तिक तर्क शास्त्र। एक मर्यादित दूसरा अमर्यादित, एक सीमाबद्ध दूसरा निस्सीम उच्छृंखित। वेद वचनो पर विश्वास ही आस्तिकता है, वेदो पर विश्वास न रखना इसी का नाम नास्तिकता है। सभी बातें तर्क से ही सिद्ध नही हो सकतीं। जो अचिन्त्य भाव है वे तर्कों द्वारा सिद्ध नही किये जा सकते।

अब जैसे शास्त्र कहता है, "गोमूत्र परम पवित्र है।" वादी तर्क करेगा कि क्यो पवित्र है? तो प्रतिवादी कहेगा-गौ सीधी होती है, वह उपकारी पशु है केवल घास आदि से निर्वाह करती है हिंसा नही करती इत्यादि-इत्यादि" तब वादी कहेगा—"ये सब गुण तो भैंस मे भी होते हैं, भैंस का भी मूत्र पवित्र मानना चाहिये।"

वादी कहेगा—"गौ का मूत्र बड़ी कठिनता से मिलता है, इससे पवित्र है।"

प्रतिवादी कहेगा—"सबसे कठिनता से तो सिंहिनी का मूत्र मिलता है, उससे पवित्र मानना चाहिये।"

इस प्रकार गोमूत्र की पवित्रता पर आप कितने भी तर्क करो, उनका कुछ न कुछ उत्तर हो सकता है।

आस्तिकों का कहना इतना ही है—कि शास्त्र में गौ के मूत्र को पवित्र माना है इसलिये शास्त्र वचनों पर विश्वास करके हम उसे पवित्र मानते हैं। यह अचिन्त्य भाव है, तर्कों द्वारा इसकी पवित्रता सिद्ध नहीं की जा सकती।

वास्तविक बात यह है, कि शास्त्रों पर श्रद्धा करना आस्तिकता का एक चिह्न है। शास्त्र जिनके द्वारा संकलित किये गये हैं। शास्त्रीय ज्ञान सर्वप्रथम जिनके विशुद्ध अन्तःकरण में उद्भासित हुआ है, वे ऋषि मुनि त्रिकालज्ञ होते हैं। उनके द्वारा अनुभूत तथ्य कल्याणकारी ही होगा, भले ही तर्कों द्वारा हम उसकी उपादेयता सिद्ध न कर सकें, किन्तु शास्त्र में ऐसा वचन है, उसकी सत्यता का यही सबसे बड़ा प्रमाण है। अतः जहाँ कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय करना हो, वहाँ शास्त्र को ही मुख्य प्रमाण मानना चाहिये। सबमें मुख्य प्रमाण वेद है, वेद द्वारा सिद्ध हो जाय तो फिर स्मृतियों से उसे मिलाना चाहिये। स्मृतियों में मिल जाय, तो फिर यह देखना चाहिये कि ऐसी स्थिति में सज्जन पुरुषों का आचार क्या रहा है, और जब तीनों मिल जायँ तो अपने विशुद्ध अन्तःकरण की प्रवृत्ति से उसका मिलान करना चाहिये। यही सनातन पथ है, यही सनातन धर्म है। जो शास्त्र को न मानकर मनमानी करते हैं, उन्हें आन्तरिक शांति प्राप्त नहीं होती।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब अर्जुन ने कर्तव्य और

अकर्तव्य का ज्ञान किससे होता है, यह प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—"अर्जुन कर्तव्याकर्तव्य मे प्रमाण तो शास्त्र ही है।"

अर्जुन ने पूछा—"शास्त्र से अभिप्राय क्या है ?'

भगवान् ने कहा—"जो अर्थ अर्थ का बोध करावे, जो अनुशासन करे। हमे यह काम करना चाहिये यह न करना चाहिये इसकी शिक्षा दें वही शास्त्र है।"

अर्जुन ने पूछा—"जो शास्त्र को न मानकर अपनी इच्छानुसार वर्ताव करते हैं, उनकी क्या गति होती है ?"

भगवान् ने कहा—'जो पुरुष शास्त्र विधि का परित्याग करके-उसे न मानकर अपनी इच्छानुसार मनमानी घरजानी करते है, स्वेच्छाचरण करते हैं, उनको किसी प्रकार की लौकिकी सिद्धि प्राप्त नही हो सकती।"

अर्जुन ने कहा—"लौकिकी सिद्धि प्राप्त न हो, परमगति तो मिल जाती होगी ?"

भगवान् ने कहा—"स्वेच्छाचरण करने वाले को जब लौकिकी सिद्धि ही नही मिलती, तो फिर उन्हे परमगति कैसे प्राप्त हो सकती है, वे उससे वंचित ही रह जाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"न सही परमगति, उन्हे इस लोक मे सुख की प्राप्ति तो हो ही जाती होगी।"

भगवान् ने कहा—"देखो, अर्जुन ! ये सारी भोग अधिकाधिक अशांति को ही बढाने वाले होते हैं। जो अशांत हैं उसे सुख कहाँ। अतः शास्त्रविधि त्यागकर वर्तने वाले को आन्तरिक सुख की भी प्राप्ति नहीं हो सकती।"

अर्जुन ने कहा—"तब भगवन् ! मुझे क्या करना चाहिये। मेरा क्या कर्तव्य है ?"

भगवान् ने कहा—"भाई, मैं बार-बार तो तुम्हें बता चुका।

उसी बात को पुनः दुहराता हूँ तुम्हारे लिये कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था मे शास्त्र ही प्रमाण है। इसलिये यह शास्त्र विधि से विहित कर्म है, यह शास्त्र द्वारा अविहित कर्म है इसे भली भाँति जानकर तुम्हें जो तुम्हारे लिये नियत कर्म है, जो तुम्हारा कर्तव्य कर्म है उसे ही निष्काम भाव से प्रभु प्रीत्यर्थ करो।"

सूत जी कहते हैं—'मुनियो! इस प्रकार भगवान् वासुदेव ने दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद् का वर्णन करके यह बात बता दी कि दैवी सम्पद्--ग्राह्य है और आसुरी सम्पद् त्याज्य है। दैवी सम्पदा वाले जो भी कार्य करते हैं, वे शास्त्रानुकूल करते हैं और आसुरी सम्पदा वाले मनमानी करते हैं। अतः कल्याण के इच्छुक को मनमानी नहीं करनी चाहिये। शास्त्र सम्मत वर्ताव ही करना चाहिये।"

अब अर्जुन श्रद्धा के सम्बन्ध में जो प्रश्न करेंगे और भगवान् उसका श्रद्धा के भेद बताकर विस्तार के साथ जो उसका वर्णन करेंगे, उसे अगले श्रद्धात्रय विभाग योग नामक अध्याय में भगवान् जैसे बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह दैवासुर सम्पद् विभाग योग नामक अध्याय यहाँ समाप्त हुआ।

छप्पय

तातें अरजुन! बात मानि मेरी तू भाई।
शास्त्र सभनि के नेत्र देइ उन बिनु न दिसाई॥
का है जग करतव्य कौन करिबो नहिं कारज।
करै अनारज काहि कौन सो है पथ आरज?

सबमें शास्त्र प्रमाण हैं, पारथ जाकूँ हिये धरि।
जो जग है करतब करम, शास्त्र विधी तैं ताहि करि॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत्गीता उपनिषद् जो
ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन
के सम्वाद रूप म है, उसम "दैवासुर सम्पद्
विभाग योग" नाम का सोलहवाँ अध्याय
समाप्त हुआ ॥१६॥

॥ अथ ॥

सप्तदशोऽध्याय

(१७)

त्रिविधा-श्रद्धा

[१]

अर्जुनउवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहोरजस्तमः ॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥*

(श्री म० गी० १७ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

अरजुन पूछन लगे—शास्त्र विधि नाथ ! बताई ।
सुनिकें प्रभु के बचन एक शंका मन आई ॥
जो विधि शास्त्रनि त्यागि करें श्रद्धा तैं अरचन ।
होवे देवनि भक्ति करें नित नियमित पूजन ।
उनिकी इस्थिति कौन-सी, है सात्विक या राजसी ।
नाथ ! मोर संशय हरैं, है अथवा वह तामसी ॥

---

* इस पर अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! जो पुरुष शास्त्र की विधि

श्रद्धामय ही पुरुष होता है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसका फल भी वैसा ही होता है। एक महात्मा पर्यटन करते हुए एक नगर मे पहुँचे। उनको भोजन कराने के लिये एक लुहार मक्का की मोटी मोटी दो रोटी लाया। उसी समय उस गाँव का भूमिधर भी अच्छे-अच्छे पकवान बनवाकर लाया। महात्मा ने उन दोनों मे से लुहार की रोटी लेकर भगवान् को अर्पण करके खाली। नियमानुसार उनमे से एक टुकडा श्वान आदि अन्य जीवो को छोड दिया।

इस पर वह भूमिधर बडा क्रुद्ध हुआ। उसने महात्माजी से पूछा—"क्यों महात्मा जी! मै इतने सुदर-सुदर पदार्थ आपके लिये लाया था, आपने मेरे लाये इतने सुन्दर पदार्थों का तिरस्कार करके इस निर्धन लुहार की लायी हुई रोटियो को क्यो खाया?"

यह सुनकर महात्मा हँसे और बोले—'देखो, भाई हम साधु हैं, हम रक्त का भोजन नही करते।" दूध का भोजन करते हैं।"

उसने कहा—"रक्त यहाँ कहाँ है, मै तो पूडी हलुआ, खीर आदि लाया हूँ।"

तब महात्मा ने उस लुहार की रोटिया मे से बचे टुकडे को एक हाथ मे लिया, दूसरे हाथ मे उस भूमिधर के लाये हलुआ खीर का कुछ अश लिया। दोनो को हाथो से मसलने लगे। तो लुहार का रोटियो के टुकडे से तो दूध की बिन्दुए गिरने लगीं

को छोडकर केवल श्रद्धा से समन्वित होकर यजन करते हैं, उनकी निष्ठा क्या है? सात्त्विकी है, राजसी अथवा तामसी है? ॥१॥

इस पर श्रीभगवान् ने कहा—'देखो, मनुष्यो की वह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उन तीनो के सम्बन्ध मे मुझसे सुनो ॥२॥"

और भूमिधर के अन्न से रक्त की बिन्दुएँ गिरने लगीं। तब महात्मा ने कहा—"देखो, इस लुहार का अन्न है तो रूखा सूखा किन्तु इसमें दो गुण है, एक तो यह अत्यन्त श्रद्धा और दीनता से लाया हुआ है, दूसरे यह परिश्रम से उपार्जित अन्न है। इसलिये इसमें से दूध के बिन्दु निकले। तुम्हारे अन्न में दो दोष हैं, एक तो यह अहंकार पूर्वक लाया हुआ है और दूसरे यह अन्न निर्धनों का रक्त चूस कर अन्याय से उपार्जित किया हुआ है।" यह सुनकर भूमिधर लज्जित हुआ।

इस कथा से दो बातें सिद्ध हुईं। जो अन्न न्याय से परिश्रम पूर्वक अर्जित भी हो और श्रद्धा पूर्वक लाया गया हो, वह सात्त्विक अन्न है। दूसरे जो अन्याय से दूसरों को क्लेश पहुँचाकर अर्जित किया गया हो और अहंकार पूर्वक लाया गया हो वह तामस अन्न है, किन्तु एक शंका इसमें रह ही गयी। एक अन्न है वह न्याय से परिश्रम पूर्वक उपार्जित तो है अर्थात् अन्न तो विशुद्ध है, किन्तु वह श्रद्धा पूर्वक नहीं लाया गया, उसकी कौन-सी संज्ञा होगी? इसके विपरीत अन्न तो अन्यायोपार्जित अशुद्ध है, किन्तु लाने वाला उसे अत्यन्त श्रद्धा से लाया है उसकी कौन-सी संज्ञा होगी?

ऐसी ही शंका अर्जुन को हुई। दैवासुर सम्पद् विभाग योग में भगवान् ने दैवी सम्पदाओं का तथा आसुरी सम्पदाओं का वर्णन किया। अन्त में कह दिया यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इसमें शास्त्र ही प्रमाण है। जो शास्त्र विधि से श्रद्धा पूर्वक कार्य करते हैं वे दैवी सम्पदा वाले पुरुष हैं, जो शास्त्र विधि का परित्याग करके अश्रद्धा पूर्वक कार्य करते हैं, वे आसुरी प्रकृति के पुरुष हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त भी दो प्रकार के पुरुष बन जाते हैं। एक तो ऐसे जो शास्त्र की बाह्य विधियों का तो भली भाँति पालन करते हैं, किन्तु उनमें श्रद्धा का अभाव है। जैसे दक्ष

यज्ञ। दूसरे वे होते हैं जिनमे करने की श्रद्धा तो पूरी है, किन्तु शास्त्रीय विधियो का पूर्णरीत्या पालन नही किया किया गया जैसे त्रिशंकु का यज्ञ। राजा त्रिशकु के अपराध के कारण गुरु वसिष्ठजी ने उसका परित्यागकर दिया था। फिर भी वह श्रद्धापूर्वक यज्ञ करना चाहता था, वह दीन होकर यज्ञ कराने के लिये श्रद्धापूर्वक गुरु की शरण मे गया। गुरु ने कहा—"तुम चाडालता को प्राप्त हो चुके हो, शास्त्रीय आज्ञानुसार तुम यज्ञ करने के अधिकारी नहीं हो। इस पर वह बडा दुखी हुआ। उन दिनो विश्वामित्र और वसिष्ठ मे ब्राह्मणपने को लेकर बडी लाग डांट चल रही थी। विश्वामित्रजी कहते थे मै भी तपस्या करता हूँ, मुझे ब्राह्मण कहो। वसिष्ठजी कहते थे—'तुम में ब्राह्मणो जैसे क्षमा आदि गुण ही नही, हम तुम्हे ब्राह्मण नहीं कहते। इस पर क्रुद्ध होकर विश्वामित्रजी ने वसिष्ठ जी के पुत्रों को मार डाला और प्रतिस्पर्धा मे भरकर त्रिशकु मे कहा—"वसिष्ठ यज्ञ नही कराते हैं, तो मैं तुम्हे यज्ञ कराऊंगा और तुम्हे सशरीर स्वर्ग पठाऊंगा।" ऐसा कहकर वे उस यज्ञ कराने लगे। यज्ञ मे उन्होने वसिष्ठजी को भी बुलाया। वसिष्ठ जी ने कह दिया—'जिस यज्ञ का कराने वाला आचार्य क्षत्रिय हो और करने वाला चाडाल हो, यह यज्ञ अशास्त्रीय है हम ऐसे यज्ञ मे नही जाते।

त्रिशकु की श्रद्धा मे कोई कमी नही थी किन्तु उसमे शास्त्रीय विधियों का यथावत् पालन नही हुआ था, तो वह यज्ञ दैव यज्ञ भी नही। क्योकि शास्त्रीय विधियो का उल्लङ्घन हुआ और आसुरी भी नहीं कह सकते क्योकि वह श्रद्धा पूर्वक किया गया था, तो अर्जुन की शंका यही है, कि शास्त्र विधि को छोडकर श्रद्धा पूर्वक किये हुए ऐसे यज्ञ को किस श्रेणी मे रखा जाय?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब अर्जुन ने एक नूतन शंका की।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! अर्जुन ने नई शंका क्या की ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! अर्जुन ने भगवान् से पूछा—"प्रभो ! कृपा करके आप यह बतावें कि जो लोग श्रद्धा पूर्वक देवपूजन, यज्ञ यागादि कर्मों को तो करते हैं, किन्तु शास्त्र विधि का आलस्य के कारण, परिस्थिति के कारण तथा अज्ञता के कारण पालन नहीं कर सकते। तो उनकी निष्ठा को-उनकी स्थिति को आप-किस श्रेणी में रखेंगे ? उनकी निष्ठा को सात्त्विकी निष्ठा कहेंगे या राजसी निष्ठा कहेंगे अथवा उसे तामसी निष्ठा के अन्तर्गत रखेंगे ?"

अर्जुन के इस गम्भीर प्रश्न को सुनकर भगवान् गंभीर हो गये। उन्होंने झट से इसका उत्तर नहीं दे दिया कि उनकी निष्ठा मिली जुली मानी जायगी। शास्त्र विधि को छोड दिया है, इसलिये तामसी हुई, श्रद्धा के साथ किया गया है, इसलिये सात्त्विकी निष्ठा हुई। ऐसे भगवान् ने स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। भगवान् ने कहा—"भाई, सबसे पहिले उसकी श्रद्धा की परीक्षा करनी होगी।"

अर्जुन ने कहा—"श्रद्धा की परीक्षा कैसे होती है भगवन् !"

भगवान् ने कहा—'हे भरतवंशावतंस ! सभी प्राणियों की श्रद्धा उनके सत्त्व के अनुरूप हुआ करती है।"

अर्जुन ने पूछा—"सत्त्व के अनुरूप कैसे ?"

भगवान् ने कहा—'प्राणिमात्र की श्रद्धा उसके स्वभानुकूल ही हुआ करती है। जिसका जैसा अन्तःकरण होता है, उसकी श्रद्धा भी वैसे ही होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"तो क्या श्रद्धा के भी भेद हैं क्या ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ श्रद्धा भी एक न होकर कई प्रकार की होती है ?"

अर्जुन ने पूछा—"कैसे प्रकार की श्रद्धा होती है ?"

भगवान् ने कहा—"देह धारियों की स्वभावानुसार प्रकट हुई श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। सात्त्विकी श्रद्धा, राजसी श्रद्धा और तामसी श्रद्धा।"

अर्जुन ने कहा—"कृपा करके इन तीनों के लक्षण बताइये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, इस विषय को मैं तुम्हें बताता हूँ, उसे तुम श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् त्रिविधा श्रद्धा के सम्बन्ध में जो आगे बतावेंगे, उसे आप सब श्रद्धा पूर्वक ही सुनने की कृपा कीजिये।"

छप्पय

बोले श्रीभगवान्—पार्थ! विस्तार बताऊँ।
श्रद्धा कै विधि होइ तोइ सबई समझाऊँ॥
श्रद्धा के द्वै भेद शास्त्रजा अरु स्वभावजा।
जो स्वभावजा होहि तीनि विधि तू सब सुनिजा॥
कही तीनि परकार की, वही सात्त्विकी राजसी।
श्रद्धा-श्रद्धा भेद है, होहि वही पुनि तामसी॥

श्रद्धा अन्तःकरणानुरूप होती है

(२)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥*

(श्री भा० गी० १७ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

जैसो होवै पुरुष तासु श्रद्धा होवै तस।
होवै अन्तःकरन जासु श्रद्धा होवै जस॥
सनई के अनुरूप सबनि की श्रद्धा होवै।
श्रद्धामय यह पुरुष देव श्रद्धा तें जोवै॥
जैसी श्रद्धा जासु की, वह वैसो ही स्वयं नर।
सात्त्विक, राजस, तामसी, श्रद्धा के अनुरूप कर॥

एक ही वस्तु है पात्र भेद से उसका गुण भिन्न भिन्न हो जाता

---

* हे भारत! सभी को श्रद्धा उसके अन्त करण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला होता है, वह स्वयं भी वैसा ही होता है॥३॥

सात्त्विक पुरुष देवताओं का यजन करते हैं, राजसी पुरुष यक्ष राक्षसों का तथा तामसी लोग प्रेत भूतगणों को पूजते हैं। ४॥

है, एक ही उपदेश है, पात्र भेद से उसे भिन्न-भिन्न अधिकारी भिन्न-भिन्न रूपा में ग्रहण करते हैं। पात्रभेद से वस्तुओ का स्वरूप भिन्न हो जाता है। जैसे वर्षा का जल है वह यदि नदी या कूप मे पडता है, तब तो मीठा पेय बन जाता है, वही समुद्र में पडने से खारा हो जाता है। विद्या, धन और शक्ति तीनो ही सुन्दर गुण हैं, किन्तु साधु पुरुष के समीप ये गुण हो, तभी इनकी सुन्दरता है। साधु पुरुषो पर विद्या हो, तो उसके द्वारा वे ज्ञानार्जन करेंगे। धन हो, तो उसे दान कार्यों मे व्यय करेंगे। शक्ति हो, तो उससे दीन दुखियो का संरक्षण करेंगे। इसके विपरीत ये ही दिव्य गुण खल पुरुषो के पास आ जायँ। तो वे खल लोग विद्या का उपयोग विवाद के लिये, धन का उपयोग मत्सर मद के लिये और शक्ति का उपयोग पर पीडन के लिये करेंगे। पात्र भेद से इन गुणो के फल मे भी भेद हो जाता है।

बृहदारण्यकोनिषद् मे एक कथा आती है। एक बार देवताओ ने सोचा—'लोक पितामह ब्रह्मा हमारे पूज्य हैं श्रेष्ठ हैं, चलो उनसे कुछ उपदेश ग्रहण करें। देवताओ के अभिप्राय को जानकर मनुष्यो ने सोचा—हमको भी पितामह से उपदेश ग्रहण करने चलना चाहिये। तब असुरों ने परस्पर मे सम्मति की—पितामह, देवता तथा मनुष्यों के ही पितामह थोड़े ही हैं, वे तो हमारे भी पितामह हैं, सबके पितामह हैं, अतः उपदेश ग्रहण करने मे हम किसी से पीछे क्यों रहें। अतः वे भी उनसे उपदेश ग्रहण करने चले।

पहिले यह नियम नही था, कि तुरन्त पहुँचे प्रवचन सुना—उपदेश श्रवण करके तुरन्त चल दिये। गुरुजन जाते ही उपदेश देने नही लगते थे। चिरकाल तक उनके समीप निवास करो, उनकी श्रद्धा पूर्वक सेवा करो, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए

यम नियम पूर्वक उनके निकट निवास करो, तब यहीं चिरकाल मे गुरुजन उपदेश दिया करते थे। अतः देव, असुर तथा मनुष्यों ने नियमानुसार ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए लोक पितामह की सेवा सुश्रुषा की। उनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा जी ने सर्व प्रथम देवताओ से ही पूछा—"कहो तुम क्या चाहते हो ?"

देवताओ ने कहा—"भगवन् ! हम उपदेश ग्रहण करने के निमित्त आपकी सेवा मे समुपस्थित हुए हैं, हमे हमारे अनुरूप उपदेश दीजिये।"

ब्रह्माजी ने बहुत बडा उपदेश न देकर केवल कह दिया—"द"।

देवताओ ने उसे शिरोधार्य किया और वे प्रसन्न हुए उन्होंने उस "द" का अपने अन्तःकरण के अनुरूप अर्थ निकाल लिया। वे सदा स्वर्ग मे निवास करते हैं। वहाँ भोगो की भरमार रहती है वहाँ जरावस्था व्यापती नही, देवताओ की कभी मृत्यु होती नही। पुण्य क्षीण होने पर भोग समाप्त होने पर वे मरते नही, नीचे ढकेल दिये जाते है। जब तक स्वर्ग मे रहते हैं। सदा इन्द्रिय भोगो मे ही सलग्न रहते हैं। उनके शरीर स दुर्गन्ध नही आती, पसीना नहीं निकलता सदा मल रहित युवा बने रहते हैं, ऐसी ही युवती अप्सरायें उनकी सेवा मे सन्नद्ध रहती है भोगो मे ही सतत आसक्त रहने के कारण इन्द्रियो के दमन का उन्हे अवसर ही प्राप्त नही होता है। अतः लोक पितामह के द' का अर्थ उन्होने अपन अन्तःकरण मे दमन लगाया।

ब्रह्माजी ने पूछा—'देवताओ ! मेरे उपदेश का तुम अभिप्राय समझ गये न ?"

देवताओ ने कहा— 'हाँ, भगवन् ! समझ गये।"

ब्रह्माजी ने कहा—"क्या अभिप्राय समझे ?"

देवताओं ने कहा—"भगवन् ! आपने हम लोगों को जो सदा सर्वदा इन्द्रिय भोगो मे ही फंसे रहते हैं ऐसे विलासियो को "द" कहकर दमन का उपदेश दिया है। आपने यही आज्ञा की है कि सदा सर्वदा इन्द्रियो का दमन किया करो।'

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"साधु-साधु ! तुमने मेरे उपदेश का यथार्थ मर्म समझा वास्तव मे 'द' कहने से मेरा अभिप्राय दमन ही था, जाओ सावधानी के साथ मेरे उपदेश के अनुरूप आचरण करना भला ! इसी मे तुम्हारा मङ्गल होगा।"

देवताओ के चले जाने के पश्चात् मनुष्यो ने सोचा—'हम साथ ही साथ आये थे देवता तो उपदेश ग्रहण करके चले गये। अब हमें भी भगवान् प्रजापति से उपदेश के लिये प्रार्थना करनी चाहये। यही सोचकर वे विनम्रता से ब्रह्माजी की सेवा मे समुपस्थित हुए और हाथ जोड़कर बोले—'प्रभो ! हमे भी कुछ उपदेश करें।"

मनुष्यो की प्रार्थना पर भी भगवान् प्रजापति ने उनके सम्मुख लम्बा भाषाण नही किया बहुत बडा प्रवचन नही झाडा वही एक शब्द 'द' कह दिया।

मनुष्यो ने अपनी अन्त.करण की प्रवृत्ति के अनुसार 'द' का अर्थ लगाया, उन्होने सोचा—हम मनुष्य लोग कर्मयोनि के प्राणी हैं और सकाम करने वाले प्राय. लोभी ही हुआ करते हैं। हम मनुष्यो मे लोभ की प्रावृत्ति होना स्वाभाविक है। अर्थ सग्रह करने मे हो सदा लगे रहते है। हमे लोभाभिभूत देखकर पितामह ने 'द' कहकर दान करने का उपदेश दिया है। यह हम लोगो के लिये बहुत बडा उपदेश है। यह सोचकर वे परम प्रमुदित हुए।

ब्रह्माजी ने पूछा—"मनुष्यो ! तुम मेरे उपदेश का अभिप्राय समझ गये न ?"

मनुष्यो ने कहा—"हाँ, भगवन् ! समझ गये।"

ब्रह्माजी ने पूछा — क्या समझे ?"

मनुष्यो ने कहा—"आपने भगवन् ! हम अर्थलोलुप सग्रह प्रिय मनु यो को दान का उपदेश दिया है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हसे और बोले—"तुमने मेरे उपदेश का यथाथ मम समझा है। तुम यही करना सदा दान देने मे ही मन का लगाये रहना इससे तुम्हारा कल्याण होगा। जीवन मङ्गल मय बन जायगा। जाओ अपने-अपने स्थानो को।"

देवता और मनुष्यो के चले जाने के अनन्तर असुरो ने सोचा— हम ही पिछड़ गये। अब हमको भी पितामह के समीप जाकर उपदेश ग्रहण करना चाहिये।" यही सोचकर वे प्रजापति की सेवा मे श्रद्धा पूर्वक समुपस्थित होकर बोले—"प्रभो ! हमें भी कुछ उपदेश देने की कृपा करें।"

ब्रह्माजी ने उनको भी वही एक 'द' शब्द का ही उपदेश दिया। इससे असुरगण बड़े हर्षित हुए।

असुरो ने सोचा—"हम स्वभावतः हिंसा वृत्ति वाले हैं। हिंसा मे हमारी नैसर्गिकी प्रवृत्ति है, अतः प्रजापति न हमे 'द' का उपदश दकर 'दया' करने का आज्ञा दी है। जिससे हम क्रोध तथा हिंसा पर विजय प्राप्त कर लें।"

ब्रह्माजी ने पूछा—'कहो भाई असुरो ! मेरे उपदश का तुम लोगो न अभिप्राय समझ लिया न ?"

असुरो ने कहा—"हाँ, भगवन् ! समझ लिया।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"क्या समझे ?"

असुरो ने कहा—'आपने प्रभो ! हम क्रोध हिंसा प्रिय

असुरों को 'द' कहकर प्राणी मात्र पर "दया" करने का उपदेश दिया है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"असुरो ! तुमने उपदेश का यथार्थ अर्थ समझा है। तुम्हारा कल्याण दया करने से ही होगा। तुम सबसे द्वेष भाव छोड़कर जीव मात्र पर दया करना। इसी में तुम्हारा भला है। तुम्हारा कल्याण हो तुम अब अपने-अपने स्थानों को जा सकते हो।"

अब विचार कीजिये। उपदेश करने वाले एक ही ब्रह्माजी और तीनों को ही एक-सा एक ही 'द' शब्द का उपदेश दिया, किन्तु उस एक ही 'द' को पूर्व जन्मों की वासना रूप श्रद्धा की विचित्रता से, तीनों ने अपने-अपने अन्तःकरण के अनुरूप अधिकार भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ लगा लिये। श्रद्धा तीनों में एक सी ही थी। ब्रह्माजी ने उपदेश भी एक सा ही दिया किन्तु अपनी-अपनी सत्त्वानुरूपा श्रद्धा के कारण उस उपदेश के रूप भिन्न-भिन्न हो गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! त्रिविधा श्रद्धा के सम्बन्ध में अर्जुन को बताते हुए भगवान् कहने लगे—अर्जुन ! सभी प्राणियों की श्रद्धा उसके अन्तःकरण के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, अतः यह कहना कठिन है, कि जो शास्त्र की विधि का परित्याग करके श्रद्धा पूर्वक यजन करते हैं, उनकी निष्ठा एक ही प्रकार की होगी। पहिले तो सोचना यह पड़ेगा कि इसने शास्त्र की विधि का परित्याग किस भाव से किया। एक तो जो शास्त्र को न मानकर शास्त्र विधि का त्याग करने वाले हैं, दूसरे अज्ञान वश त्याग करने वाले हैं, तीसरे परिस्थितियों से विवश होकर शास्त्रज्ञ पुरुष न मिलने से शास्त्र विधि का ज्ञान न रखकर श्रद्धा पूर्वक जैसी अन्तःकरण की प्रवृत्ति हुई वैसा ही यजन पूजन

कर दिया। इस प्रकार करने वाले की स्थिति के ऊपर निष्ठा निर्भर करती है। दूसरे उन पात्र को देखकर भी श्रद्धा का अनुमान किया जा सकता है। कर्ता सात्त्विक अन्तःकरण वाला है अथवा राजस या तामस प्रवृत्ति का है। इन दोनों ही बातों को देखकर उसकी निष्ठा के सम्बन्ध में तुम्हें स्वतः ही निर्णय करना होगा।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसा भेद क्यों हो जाता है?"

भगवान् ने कहा—"यह कर्माधिकारी पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है। उसी के अनुरूप वह पुरुष भी वही है। अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा वाला सात्त्विक पुरुष राजसी श्रद्धा वाला राजस पुरुष और तामसी श्रद्धा वाला तामस पुरुष।"

अर्जुन ने पूछा—"हम किसी के यजन पूजन को देखकर कैसे जाने कि यह सात्त्विक यजन करने वाला है यह राजस यजन करने वाला है और यह तामस यजन करने वाला है। जब हमें पता लग जाय कि यह कर्ता सात्त्विक है यह राजस या तामस तो फिर उसी के अनुरूप उसकी सात्त्विकी राजसी और तामसी श्रद्धा का भी अनुमान हो सकता है।"

भगवान ने कहा—"देखो यजन याजन की विधि से, यजन की सामग्री से और मुख्यतया यजन करने वाले के इष्ट देवता से उसके सात्त्विक, राजस और तामसपने का अनुमान लगाया जा सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"इष्टदेवता से सात्त्विक राजस और तामस कर्ता की पहिचान क्या है?"

भगवान् ने कहा—"देखो, जो सात्त्विक प्रकृति के पुरुष हैं, वे सात्त्विक देवताओं का पूजन किया करते हैं। जो राजस प्रकृति के पुरुष होते हैं, वे राजसी यक्ष राक्षसों का पूजन करते

हैं और तामसी प्रकृति के पुरुष भूत, प्रेत पिशाचों की पूजा करते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय विधि से रहित श्रद्धा पूर्वक यजन करने वालों की निष्ठा तीन प्रकार की है, एक तो सात्त्विक प्रकृति के दूसरे राजसी या तामसी प्रकृति के। कोई-कोई तो पूर्व जन्म के पुण्य के प्रभाव से अपनी पूर्ण श्रद्धा के कारण राजस तामसपने का परित्याग करके सात्त्विक बन जाते हैं। कुछ सात्त्विक प्रकृतिक से यजन करके महापुरुषों का संग पाकर शास्त्रीय विधि को अपना लेते हैं, वे कल्याण के भागी बन जाते हैं, किन्तु जो दुराग्रहण पूर्वक शास्त्रीय विधि का द्वेषवश पालन ही न करके अशास्त्रीय विधि से यजन पूजन या तपस्यादि करते हैं, तो ऐसे रजोगुणी तमोगुणी पुरुषों का अध.पात ही होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे पुरुष कैसे होते हैं और उनका अधःपात किस प्रकार होता है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

होवै सात्विक पुरुष सात्विकी श्रद्धा ताकी।
सात्विक देवनि पूजि होहि ममता अति वाकी॥
राजस श्रद्धा युक्त यक्ष अरु राक्षस पूजे।
यक्ष राक्षस छोड़ि और समुझै नहिं दूजे॥
जो हैं तामस प्रकृति के, तामस ही पूजा करें।
भूत प्रेत नित पूजि कें, तिनि ही कूँ हिय में धरें॥

—०—

दम्भ अहंकारयुक्त तपादि करने वाले आसुरी प्रकृति के हैं

[३]

अशास्त्र विहित घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥*

(श्री भा० गी० १७ अ० ५,६ श्लोक)

छप्पय

निज स्वभाव अनुसार करैं श्रद्धा सुख पावैं ।
किन्तु न श्रद्धा जिनहिं तपैं तिनि गति बतलावैं ॥
रहित शास्त्र विधि करैं घोर तप नित मनमानों ।
देहिं देह कूं क्लेश तपस्वी दम्भी जानों ॥
करैं कामना सहित वे, अहकार संयुक्त चित ।
दम्भ और आसक्ति बल, रहैं सदा अभिमान युत ॥

---

* जो पुरुष शास्त्रविधि से रहित घोर तप को तपते हैं और अभिमान तथा दम्भ से युक्त होकर, काम राग तथा बल से सम्पन्न होकर—॥५॥ शरीर में स्थित, भूत समुदायरूप तथा सबके अन्तःकरण में स्थित मुझे सुखाते हैं—कृश करते हैं—उन अज्ञानियों को तुम आसुरी प्रकृति के समझो ॥६॥

शास्त्रकारो ने व्रत उपवास, तपादि के नियम बताये हैं। जो अनियमित अशास्त्रीय व्रत, उपवास तपादि करता है, वह दोषी माना जाता है, क्योंकि कार्य और अकार्य के सम्बन्ध मे शास्त्र ही प्रधान रूप से प्रमाण है। भक्ति मार्ग मे तप, व्रत, ज्ञान, वैराग्य की प्रधानता नही। वहाँ तो भक्ति की, भगवत् आराधना की प्रधानता है। सेवा ही वहाँ प्रधान मानी जाती है। एक बार श्रीकृष्ण का सारथी दारुक भगवान् को पखा झल रहा था, भगवान् के कोटि कंदर्प के रूप को भी लज्जित करने वाले स्वरूप को देखते-देखते उसे भाव समाधि लग गयी। पंखा हाथ से गिर गया, और वे भाव समाधि मे विभोर होकर गिर गये। कुछ काल के पश्चात् उनकी समाधि का व्युत्थान हुआ। शनैः-शनैः उन्हें शरीर की सुधि बुधि होने लगी। उन्होने देखा पंखा नीचे पडा है, भगवान् उनकी दशा देखकर मंद-मद मुस्करा रहे हैं। ऐसी उच्चकोटि की समाधि अवस्था प्राप्त करके दारुक को परम प्रसन्नता होनी चाहिये थी, किन्तु उन्हे समाधि से प्रसन्नता न होकर महान् दुःख हुआ। वे बार-बार अपनी समाधि को धिक्कारने लगे। जो समाधि भगवत् सेवा से वंचित कर दे उस समाधि को धिक्कार है। सेवा के सम्मुख समाधि का महत्त्व ही क्या है? इसी प्रकार भक्ति मार्ग का अनुगामी व्रत, उपवास, कठिन तप आदि को महत्त्व नही देते। वे तो आठो प्रहर भगवान् की सेवा, पूजा, उपासना, कैंकर्य, अर्चना, वन्दना आदि में ही तल्लीन रहना चाहते हैं। इस तन्मयता को वे लाख तपस्याओं से श्रेष्ठ समझते, क्योकि भक्ति मार्ग मे भजन, पूजन भावभक्ति की ही प्रधानता है।

इसके विरुद्ध वर्णाश्रम धर्म मे कर्तव्य कर्म की प्रधानता है। क्षत्रिय अपने प्रजापालन रूप कर्म का परित्याग करके वह यदि

त्याग का संन्यास का दम्भ करता है, तो वह इतना उच्च धर्म करने पर भी पाप ही करता है। वैसे शास्त्रों में बताये व्रत उपवासादि तप सर्वश्रेष्ठ है। अनशन–भोजन न करना–यह सर्वश्रेष्ठ तप है, इसके बराबर दूसरा कोई तप ही नही। किन्तु यह तपस्या दम्भ तथा अहंकार से रहित होनी चाहिये। और तपस्या का पात्र भी योग्य होना चाहिये। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार तपस्या के भी अधिकारी सब नही हो सकते। तपस्या करने वाला दम्भ, अहकार से वर्जित, विशुद्ध वंश वाला कुलीन सत्धर्म परायण व्यक्ति ही होना चाहिये। अपात्र के द्वारा गृहीत उत्तम वस्तु भी दुर्गुणी हो जाती है। जैसे शस्त्र है सुपात्र के समीप रहेगा, तो वह अपनी तथा दूसरो की रक्षा कर सकेगा, उसी शस्त्र को किसी अज्ञ बालक के हाथ में दे दो तो वह उससे अपनी नाक ही काट लेगा, अंग भग कर लेगा। इसीलिये वर्णाश्रम धर्मानुसार सत्ययुग मे एकमात्र केवल ब्राह्मणो को ही शास्त्र विहित तपस्या का अधिकार था, शेष तीन वर्ण के लोग अपने अपने कर्तव्यों का तत्परता से पालन करते रहे। दम्भ और अहकार से वर्जित तपस्या के ही प्रभाव से ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माने जाने लगे। ब्राह्मणो की सर्वश्रेष्ठता देखकर कुछ लोगो के मन मे ईर्ष्या-जागृत होने लगी—"ब्राह्मणो मे ही ऐसी कौन-सी विशेषता है, जो रक्त, मास अस्थि आदि उनके शरीर में है, वे ही हमारे शरीर मे भी है, फिर वे श्रेष्ठ क्यो ? हम कनिष्ट क्यो ? हम भी तपस्या करके श्रेष्ठत्व को प्राप्त करेगे। सत्ययुग मे विशुद्ध धर्म ही धर्म था, वहाँ अधर्म का नाम भी नही था। ब्राह्मणों का श्रेष्ठत्व केवल तप के ही कारण था। जब कुछ लोगो के मन मे ईर्ष्या आ गयी तो धर्म के एक पाद का ह्रास हो गया। सत्ययुग में धर्म तप, के शौच, दया और सत्य ये चार पाद

थे। ईर्ष्या के कारण तप बंट गया कम हो गया। उसे क्षत्रियों ने भी धारण कर लिया। इसलिये धर्म के तीन पाद ही सुरक्षित रहने से वह युग त्रेता के नाम से विख्यात हो गया। जब ब्राह्मण क्षत्रिय दोनो ही तप करने लगे तब दोनो मे कोई अन्तर ही नही रह गया। समान हो गये, तब वेदज्ञ ऋषियो ने मनु आदि धर्म प्रवतको ने सर्वलोक सम्मत चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की स्थापना की। तपस्या मे तो ब्राह्मण क्षत्रिय समान हो गय। शौच (पवित्रता) सबधी भेद कर दिये। ब्राह्मणो को इतने बार शौच के अनन्तर हाथ धोने चाहिये। क्षत्रिय को इतने बार। शौच सम्बन्धी भेद देखकर कुछ लोगो को पुन ईर्ष्या हुई तो उन लोगो ने भी तपस्या को अपनाया और तपस्वियो जसा-आचार व्यवहार करने लगे। तब धर्म के तप और शौच दो पादो मे ह्रास होने से द्वापर युग हुआ। उसमे तपस्या शौच समान होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य भी तपस्या मे प्रवृत्त होन लगे। तब फिर कुछ लोगो को ईर्ष्या हुई। इससे वे भी तप, शौच, के साथ दया को अपनाने से तीन पैरो मे ह्रास होने के कारण कलियुग आ गया। कलियुग में तो एक मात्र सत्य ही शेष रहा। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी समान हो गये। सभी तपस्या करने लगे, सभी शौच और दया का दम्भ करने लगे। एकमात्र सत्य के ही सहारे कलियुग धर्म जीवित है अन्त मे सत्य भी जब नष्ट हो जायगा, तब भगवान् का कल्कि अवतार होगा, पुन चतुष्पाद धर्म की स्थापना हो जायगी।

ईर्ष्या से ही अधम बढता है। अधर्म के ही भाई दम्भ और अहंकार है। तप मे दम्भ, शौच मे दम्भ, दया मे दम्भ और सत्य में भी दम्भ। दम्भ यह अधर्म का पुत्र है, इसने सर्वत्र अपना अधिकार जमा रखा है। जब सत्ययुग था तब एक वर्ण तपस्या

राजा राम के महल के द्वार पर धरना दिया। रामजी घबरा गये। उसी समय आठ महर्षि दैव सयोग से आ गये। श्री राम ने उनके सम्मुख अपना अभियोग रखा है। उन्होन कहा— यथार्थ मे यह बालक राजा राम के ही पाप से मरा है। उनके राज्य का कोई शूद्र अपने सेवारूप स्वधर्म को छोड कर तपस्या रूप परधर्म का दम्भ अहकार से युक्त होकर पालन कर रहा है। राम को उसे निवारण करना चाहिये।

श्रीराम न तुरन्त पुष्पक विमान मंगया, घोडे रथादि पर चढ कर जाते तो देर लगती। बच्चे के मृतक शरीर के सड जाने का भी भय था, उसे सुगन्धित तेल म भरी नौका म रखकर रामजी पुष्पक विमान से–वायुयान से–अधर्म कहाँ हो रहा है, खोजते-खोजते गये। दक्षिण दिशा मे उन्होने देखा एक पेड पर एक तपस्वी उलटा लटक कर नीचे मुख किये घोर तप कर रहा है। भगवान् ने उसकी तपस्या मे दम्भ अहकार के लक्षण देखे। उसके समीप जाकर पूछा— हे तपस्वी आप किस फल की अभिलाषा से ऐसा उग्र तप कर रहे है, आप पहिले कौन सा-कार्य करते थे। किस वर्ण धर्म का पालन करते थे ?"

उस तपस्वी ने कहा— राजन् ! मैं तपस्या द्वारा इसी मानव शरीर से देवलोक पर विजय प्राप्त करके देवता बनना चाहता हूँ। मैं सशरीर स्वर्ग जाने के लिये घोर तप कर रहा हूँ। मैं शूद्र वर्ण का हूँ, नाम मेरा शबूक है।"

श्रीराम जी ने कहा—"तुम युग धर्म, वर्ण धर्म के विरुद्ध काम कर रहे हो, अपने कर्तव्य से च्युत होकर भयावह परधर्म को अपना रहे हो। तुम शास्त्रीय विधि के विरुद्ध–देश काल के विधान के प्रतिकूल आचरण कर रहे हो अत. वध के योग्य हो। मैं राजा हूँ, मेरा कर्तव्य है विधि विपरीत आचरण करने

वालो को दंड दूं। अतः तुम्हे कठोर से कठोर प्राण दंड देता हूँ। यह कहकर श्रीराम ने अपने कर्तव्य का तत्परता से पालन किया। वही तुरन्त उसका वध कर दिया। राजा के दृढता पूर्वक कर्तव्य पालन रूप धर्म के कारण ब्राह्मण बालक तुरन्त जीवित हो उठा। अतः राजा का कर्तव्य है, वह प्रजा मे आसुरी प्रवृत्ति बढने न दे। आसुरी निश्चय वालो को तुरन्त कठोर से कठोर दन्ड दे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से यह पूछा कि राजस तामस स्वभाव के-आसुरी प्रकृति के-पुरुषो का पतन कैसे होना है, तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! जो पुरुष शास्त्र मे कहे हुए नियमों के विरुद्ध शास्त्रीय नियमो की अवहेलना करके मैं बहुत श्रेष्ठ हूँ इस अभिमान मे भरकर, स्वय धार्मिक न होने पर भी दम्भ के कारण अपने को धार्मिक प्रकट करने के निमित्त, घोर तपस्या करते हैं वे आसुरी प्रकृति हैं"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! तपस्या कोई बुरी वस्तु तो है नही। तपस्या तो शुभ कर्म ही है वह चाहे अहंकार और दम्भ पूर्वक ही क्यो न हो, तपस्या का फल तो उन्हे मिलना ही चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"देखो भैया! फल तो भावना के अनुरूप ही मिलता है। जसी जिसकी भावना होती है वैसा उसे फल मिलता है। वे तपस्या को कर्तव्य समझकर निष्काम भाव से तो करते नही। वे तो काम और बल से सम्पन्न होकर काम भोगो की तृप्ति के निमित्त करते हैं। विषयो की अभिलाषा ही उनके तप का उद्देश्य है। अतः अपनी कामना के प्रति जो उनकी आसक्ति है, उस आसक्ति के कारण उस कार्य मे जिनका अत्यन्त

अभिनिवेश हो गया है, उसके कारण वे गर्व में भरकर बल पूर्वक कहते हैं मैं तपस्या द्वारा इस कार्य को अवश्य ही सिद्ध कर लूंगा। ऐसा निश्चय करके घोर से घोर तपस्या करते हैं। कोई शरीर को जला देते हैं, कोई शरीर के अङ्गों को काट-काट कर उनका हवन कर देते हैं। वे आसुरी प्रकृति के है।'

अर्जुन ने कहा—'वे आसुर क्यो हैं?"

भगवान् ने कहा—"जो प्राणों में ही रमण करे, विषय भोगों को ही सब कुछ समझे, इस शरीर को ही अजर-अमर रखने का प्रयत्न करे। वही असुर है। ये लोग घोर तपस्या करके अन्त में यही वर मांगते है मेरा शरीर अजर-अमर रहे इसकी भोग भोगने की शक्ति कभी नष्ट न हो। इसी के निमित्त इतने घोर कष्ट उठाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"स्वय ही तो कष्ट उठाते हैं, किसी दूसरे को तो कष्ट नही देते?"

भगवान् ने कहा—"दूसरो को कष्ट क्यो नही देते। देखो, इस शरीर मे पृथ्वी, जल, तेज वायु आकाश ये पचभूत हैं। इन्द्रियाँ है, इन्द्रियो के अधिष्ठातृ देवता है, अन्तः शरीर में भोक्ता रूप से मुझको जो बुद्धि मन तथा इन्द्रियो को साक्षी रूप मैं हूँ इन सब का वे कष्ट पहुँचाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—'भूतो को कष्ट कैसे पहुँचाते हैं?"

भगवान् ने कहा—अरे भाई, शरीर को जला देना, उसे कृश बना देना। यह भूतो को कष्ट है। शास्त्र रूप मे जो मैं हूँ, मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन करना यह मुझको कष्ट पहुँचाना है। ऐसे पुरुषो को तुम असुर ही समझो।"

अर्जुन ने पूछा—"तब ये जो तपस्वी लोग तपस्या करके

शरीर कृश बनाते हैं। वे सब ही भूत ग्रामों को तथा शरीर में स्थित आपको दुखी ही करते होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"शास्त्र विहित तपस्या करने वाले, निष्काम भाव से दम्भ और अहंकार से रहित तपस्या करने वाले सौम्य और मृदु तपस्वी है, उनका शरीर कितना भी कृश क्यों न हो जावे वे न भूतों को क्लेश देते हैं न मुझे। यही नहीं ऐसे तपस्वियों से तो मैं प्रसन्न रहता हूँ। किन्तु दम्भी अहंकारी शास्त्र विरोधी तप करने वालों से तो मुझे महान् क्लेश होता है। उन असुरों को तो मैं नरक में डालता हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"वे असुर न होकर मनुष्य हों तो ?"

भगवान् ने कहा—"असुर से असुर योनि वाले ही नहीं। जो असुरों जैसे काम करते हों, वे भले ही मनुष्य क्यों न हों, उन्हें तुम असुर ही समझो। जिन्होंने असुरपने के कामों को अपनाने का निश्चय कर लिया है वे मनुष्य शरीर वाले होकर असुर ही कहे जायेंगे। उन्हें तुम आसुरी निश्चय वाले ही समझो। वे राजस तामस प्रकृति वाले ही होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"सात्त्विक राजस और तामस प्रकृति वालों की पहिचान क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"जिनका आहार विहार, तप यज्ञादि कर्म सात्त्विक हों वे सात्त्विक, राजस हों वे राजस और तामस हों वे तामसी कहलाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"तो कृपा करके आहारादि सात्त्विक राजस तामस कैसे होते हैं, इनके लक्षण मुझे बता दीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर जैसे भगवान् आहारादि के सात्त्वाकादि लक्षण बतायेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।"

छप्पय

रहै भूत समुदाय सतत इन्द्रिनि के माहीं।
इन्द्रिय तन में रहैं देह भौतिक बतलाईं॥
तप कर तन कृश करै मोइ हू कृश करि देवै।
अन्तःकरन निवास जीव मोकूँ दुख देवै॥
दम्भी हैं वे तपस्वी, अज्ञानी आसुर प्रकृति।
-ऐसे आसुर भाव के, तप तैं नहिं होवै सुगति॥

आहारादि के सात्त्विकादि भेद

[४]

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥
आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

(श्री भग० गी० १७ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

सबके तीनि प्रकार तीनि तैं जगत बन्यो है ।
ऐसे ही आहार तीनि विधि विज्ञ भन्यो है ॥
अपनी-अपनी प्रकृति रूप प्रिय त्रिविध पदारथ ।
करम त्रिविध सब कहैं कहूँ सब तोइ जथारथ ॥
यज्ञ त्रिविध, तप त्रिविध है, त्रिविध दान हू कहे मुनि ।
थक-पृथक तोतैं कहूँ, इनि सब को तू भेद सुनि ॥

---

* सभी का भोजन भी तीन ही प्रकार का प्रिय होता है और उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान भी तीन ही प्रकार के होते हैं, उन सबके भेदों को सुनो ॥७॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख तथा प्रीति को बढ़ाने वाला, रसीला, चिकना, स्थिर हृदयग्राही आहार सात्त्विकी पुरुषों को प्रिय है ॥८॥

इस प्राकृत जगत् मे सभी वस्तुएं त्रिगुणात्मक हैं। क्योंकि प्रकृति के सत्त्व, रज और तम तीन ही गुण हैं। तीनो जब क्रम से समता को प्राप्त हो जाते हैं, तभी वह मूल प्रकृति हो जाती है, जहां विषमता हुई वही विकृति आ जाती है, विकृति का ही नाम संसार है। जिस वस्तु से जिसका निर्माण होता है, वह निर्मित वस्तु उसी के गुण वाली होती है। जैसे मृत्तिका से जितने भी नामरूप वाले बर्तन होंगे वे सभी मृण्मय कहलायेंगे। इसी प्रकार सत्त्व, रज और तममयी प्रकृति द्वारा जितने भी दृश्य पदार्थ होंगे वे सब त्रिगुणात्मक ही होंगे। भूर्लोक भुवर्लोक और स्वर्लोक मे ऐसा कोई नही जो इन तीनो गुणो से रहित हो। इन तीनो गुणो के चक्र का ही नाम संसार चक्र है। इन तीनों गुणो के चिन्हो को ही देखकर यह कहा जा सकता है, कि यह सात्त्विक है, यह राजस है, यह तामस है मनुष्यो मे ही नही समस्त जड चेतनो मे ये भेद होते हैं। बहुत-सी औषधियां सात्त्विक होती हैं बहुत सी राजस होती है और बहुत सी तामस होती हैं। जो व्यक्ति जैसे गुण के होने वाले होते हैं उनको वैसे ही उपकरण वाले साधन भी मिल जाते हैं।

हम जैसा आहार करेंगे, वैसी ही हमारी प्रकृति भी बन जायगी। आहार का परिपाक होकर वैसी ही रसरक्तादि धातुएं बन जायंगी। शरीर मे भी तीन ही गुण हैं, वात, पित्त और कफ। जब ये तीनो गुण साम्यावस्था मे रहते हैं तभी ये गुण कहाते हैं तभी प्राणी नीरोग रहते हैं जब ये गुण न्यूनाधिक हो जाते हैं तभी इनको दोष संज्ञा हो जाती है त्रिदोषो के कारण ही रोग होते है। कफ प्रकुपित हो जाता है, बढ जाता है तो पित्त और वायु न्यून हो जाते हैं। पित्त बढ जाता है तो कफ तथा वायु न्यून हो जाती है, वात बढ जाती तो कफ और पित्त

न्यून हो जाता है। इनकी चिकित्सा भी विपरीत गुणों द्वारा होती है। जैसे शरीरस्थ वात है। वह स्वभावतः रूक्ष होती है, लघु अर्थात् हलकी होती है शीत स्वभाव से होती है गतिमान्, विशद, खर स्वभाव की होती है। यदि वात बढ जाय, तो इसके विपरीत गुन वाले पदार्थों का सेवन करना चाहिये। जैसे वात खर (खुरदरी) होती है चिकने स्नेहयुक्त पदार्थ खाने चाहिये, शीतल होती है अतः वात प्रकृति वालो को गर्म पदार्थों का सेवन करना चाहिये। अर्थात् पित्त के जो स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर, कटु जो लक्षण हैं उनसे वात शांत होगी। यदि पित्त बढा हुआ है तो पित्त गर्म होता है अग्नि स्वरूप है अम्ल और कटु रस वाला है वह स्निग्ध, शीत, मृदु, आदि पदार्थों से शात होगा।

कफ भारी, शीत, मृदु, चिकना, मीठा स्थिर और लसदार विच्छल होता है, वह, हलके उष्ण, तीक्ष्ण, रूखे, कडवे आदि पदार्थों से उसका शमन होता है। कफ प्रकृति के पुरुष सात्विक होते हैं, पित्त प्रकृति के पुरुष राजस होते हैं और वात प्रकृति के पुरुष तामस होते हैं। कफ प्रकृति वाले प्रायः गोरे होते हैं, पित्त प्रकृति के गेहुँए रंग के और वात प्रकृति के पुरुष काले वर्ण के होते हैं। कफ मीठे पदार्थों से जैसे गुड चीनी, फल आदि से, चिकने पदार्थों से जैसे दूध, दही, घृत, मीठे साग भाजी से, तथा गेहूँ आदि से बढता है, इससे विपरीत से शमन होता है, पित्त खट्टे, चरपरे गरम तथा कडवे पदार्थों से बढता है, मीठे, शीतल से शमन होता है, वात रूखे चना चबेना, ठंडे, बासी, से बढता है। स्निग्ध, उष्ण, मधुर मे शमन होता है। मन के रोग रजोगुण और तमोगुण द्वारा होते हैं। सत्त्वगुण से मानसिक रोग नहीं होते। आयुर्वेद शास्त्र ने सत्त्वगुण को निर्दोष माना है। सत्त्वगुण

को निर्दोष न मानें तो मोक्ष सम्भव ही नहीं। जिस प्रकृति का पुरुष होता है, उसी अपनी प्रकृति के अनुसार आहार करता है, उसी के अनुसार यज्ञ करता है, उसी के अनुसार व्रत, अनुष्ठान तपस्यादि करता है और उसी अपनी प्रकृति के अनुसार ही दान धर्म करता है। सात्त्विक प्रकृति के पुरुषों का दान भी सात्त्विक होता है, राजस प्रकृति के पुरुष दान करते हैं तो उनका दान भी राजस होता है और तामस प्रकृति के लोगो का दान भी तामसी होता है, उसी प्रकार भोजन में भी समझो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन ने कहा—"भगवन् मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण भी बनता है। अतः पहिले आप हमें आहारादि के सम्बन्ध मे बता दें।"

भगवान् ने कहा—"देखो, अर्जुन! जैसी प्रकृति का पुरुष होता है; उसी के अनुसार उसका आहार होता है। तीन प्रकृति के पुरुष होते हैं अतः आहार भी तीन ही प्रकार का होता है इसी प्रकार यज्ञ, तप और दानादि के भी तुम तीन-तीन ही प्रकार समझ लो।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! मुझे आहारादि के कृपा करके भेद बता दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है सुनो। पहिले किसके भेद बताऊँ?"

अर्जुन ने कहा—'पहिले आहारो का ही भेद बता दीजिये। सात्त्विक प्रकृति के लोगों को कौन-सा आहार प्रिय है तथा राजस तामस प्रकृति वालों को कैसा आहार प्रिय है।"

भगवान् ने कहा—"पहिले सात्त्विक प्रकृति वाले पुरुषों को प्रिय आहार के ही सम्बन्ध में सुनो। जिनके तीनों गुण वान,

पित्त और कफ साम्यावस्था को प्राप्त हो, अर्थात् शरीर मे निरोग हो, तो सात्त्विक प्रकृति वालो को रसीले पदार्थ जैसे रसगुल्ला है, गुलाब जामुन है, जलेबी हैं जिनमे लबालब मीठा रस भरा हो वे पदार्थ प्रिय लगते है। साथ ही चिकने पदार्थ उनको प्रिय होते हैं, जस हलुआ है, मालपूये हैं, खीर है। जो पदार्थ शरीर मे रस रक्तादि सातो धातुओ को बनाकर चिरकाल तक स्थिर भाव से रहने वाले हो, जैसे बादाम का हलुआ है, आँवले का मुरब्बा है। जो पदार्थ विशुद्ध हो, पवित्र हो, सुगंधियुक्त हो, सडे गले न हो टटके ताजी हो, जो हृदय को सुखकर हो। ऐसे पदार्थ चाहे दाल भात की भाँति खाने वाले हो, चबेना की भाँति चबाकर खाने वाले हो। आम की भाँति चूस-चूस कर खाने वाले हो, चटनी की भाँति चाट-चाट कर स्वाद ले लेकर खाने वाले हो अथवा पतली खीर की भाँति, दुध लपसी की भाँति बादाम की खीर की भाँति पीकर खाये जाने वाले हो, ऐसे पदार्थ सत्त्वप्रकृति के पुरुषो को परमप्रिय होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—'ऐसे पदार्थ उन्हे प्रिय क्यो लगते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ये सभी मधुर पवित्र पदार्थ आयु को बढाने वाले होते हैं, धैर्य को बढाते है, देह की शक्ति को सामर्थ्य को बल को बढाते हैं तथा आरोग्य वर्धक होते हैं व्याधियो की नियमित परिमित खाने से वृद्धि नही करते। भोजन कर लेने पर मन मे बडा आह्लाद होता है, सुख होता है, भोजन करते समय प्रसन्नता होती है, इन पवित्र पदार्थों के अवलोकन से चित्त मे प्रसन्नता होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"राजसी प्रकृति के पुरुषो को कैसा आहार प्रिय होता है, कृपा करके इसको भी बताइये।"

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो ! अब भगवान् जैसे राजसी प्रकृति के प्रिय आहार का वर्णन करेंगे उसे मै आगे कहूँगा।"

छप्पय

अब सात्विक आहार कहूँ जो सात्विक जन प्रिय।
भोजन होहि विशुद्ध सुखद शुचि अतिई प्रिय हिय॥
आयु वृद्धि बल बढ़ै ओज सह नित्य बढ़ावै।
प्रीति बढ़ावत हृदय इन्द्रियनि सुख पहुँचावै॥
सरस होहि इस्थिर रहै, चिकनो अति मन भावनो।
करत लीक-सी जाइ हिय, अति ई सुख सरसावनो॥

राजस और तामस आहार

[५]

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ *

(श्री भग० गी० १७ अ० ९, १० श्लो०)

छप्पय

राजस सुनु आहार पुरुष राजस प्रिय जो है ।
कड़वो खावै खूब लौन अति खट्टो सो है ॥
खावै गरमागरम सुरसि सबरो मुख जावै ।
तीखे रूखे बहुत स्वाद तैं तिनि कूँ खावैं ॥
भोजन अतिई विदाही, दाह और चिन्ता करहिँ ।
दुख शोक अरु रोग नित उदर राजसी इनि भरहिँ ॥

---

*कड़वा, खट्टा, नमकीन, अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और विदाही तथा दुःख, शोक और रोगों को बढ़ाने वाला आहार, राजसी पुरुषों को प्रिय है ॥९॥

ठंडा, नीरस, गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट, अपवित्र-भोजन, तामसी प्रकृति के पुरुषों को प्रिय है ॥१०॥

रोगो के तीन स्थान हो सकते है। आत्मा मन और शरीर। आत्मा तो निर्विकार है इसीलिये आत्मा मे तो रोग सम्भव ही नही। अब बचे दो स्थान मन और शरीर। मानसिक रोगो को आधि कहते हैं और शारीरिक रोगो को व्याधि कहते हैं। मानसिक रोग सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण द्वारा हो सकते हैं। आयुर्वेद के मत से सत्त्वगुण निर्दोष है अत सत्त्वगुण मे दोष नही होता मानसिक रोगो के कारण रजोगुण और तमोगुण ये ही दो गुण है। बहुत मे रोग मानसिक होते हैं, बहुत से शारीरिक। बहुत से शारीरिक मानसिक दोनो ही। जसे कुष्ठ है वह शारीरिक रोग ही है, चर्म से बढते-बढते अस्थि तक पहुँच जाता है। मानसिक रोग जैसे काम का वेग यह मन से ही उठना है। प्राय सभी रोगो का प्रभाव शरीर मन दोनो पर ही पडता है, मानसिक रोग का भी प्रभाव शरीर पर पडता है, और शारीरिक रोग का प्रभाव भी मन पर पडे बिना नही रहता। किन्तु यहाँ इतना ही देखना है कि पहिले पहिल मन से उत्पन्न होकर पीछे जिसका प्रभाव शरीर पर पडा हो उसे मानसिक रोग कहते हैं, काम वासना सकल्प द्वारा मन मे ही प्रथम उत्पन्न होती है इसीलिये काम को मन्मथ मनोज मनसिज आदि कहते हैं, पीछे यह शरीर को भी व्यथित कर डालता है। दद्रु, खुजली, आदि कुष्ठ रोग पहिले पहिल शरीर में उत्पन्न होते हैं। पीछे इनका प्रभाव मन पर भी पडता है। इन रोगो के कारण मानसिक क्लेश भी होता है। कुछ रोग मन और शरीर मे साथ ही उत्पन्न होते हैं। जैसे उन्माद सन्यासादि। ये शरीर तथा मन मे साथ ही साथ होते हैं। उन्माद रोग मे मन तथा शरीर दोनो वश मे नहीं रहते। सन्यास रोग मे शरीर तथा मन दोनो ही शिथिल निष्कर्म बन जाते हैं।

मानसिक रोगो की सज्ञा आधि है और शारीरिक रोगो की सज्ञा व्याधि है। मानसिक रोग तो ईश्वरोपासना तथा रजोगुण तमोगुण के प्रभाव को घटाने से शान्त हो जाते हैं।

शारीरिक रोग दो प्रकार के होते हैं। एक निज, दूसरे आगन्तुक। निज रोग उन्हे कहते हैं, जो वात, पित्त और कफ द्वारा निज शरीर मे स्वत ही उत्पन्न हो जायं। जैसे ज्वर आदि ज्वर कहो बाहर से नही आता। मिथ्या आहार और मिथ्या विहार से वात पित्त कफ ये दोष आमाशय मे आकर प्रकुपित हो जाते हैं। दोषो के प्रकुपित हो जाने से सम्पूर्ण शरीर पर उसका बुरा प्रभाव पडता है उसी का नाम निज रोग अथवा धातुज रोग कहते हैं, आगन्तुक रोग उसे कहते हैं, जो बाहर से आकर शरीर की धातुओ का विकृत कर दे। जैसे बाहर से कोई भूत पिशाच आकर शरीर मे प्रवेश कर जाय। कोई बैल भैंसा आदि शरीर मे सीग घुसा दे। सिंह, व्याघ्र, रीछ आदि शरीर को पजा नख दात स आकर क्षत विक्षत कर दे। कोई अस्त्र शस्त्र से प्रहार कर दे। शरीर को घायल बना दे। कोई बाहरी वस्तु लगाकर शरीर को विकृत कर द। ये आगन्तुक रोग है।

आगन्तुक रोग बाहर स आकर शरीर को क्षति पहुँचाते हैं फिर उनके प्रहार से शारीरिक धातुये प्रकुपित होती है। निज रोग वात पित्त कुपित होने से त्वचा तथा रस रक्तादि धातुओ को, वस्ति, हृदय और मूर्धादि मर्मों को, हड्डियो के जोडो को और नस नाडियो को तथा आतो मे जो भीतर आमाशय पक्वाशय आदि है उनको प्रभावित करते हैं। बस इसी कारण शरीर मे असख्यो नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

समस्त निजी रोग उदर स ही उत्पन्न होते हैं। जैसे हम अन्न, जल, वायु और अग्नि चार वस्तुओ को खाते पीते हैं।

अन्न उसे कहते हैं जो खाया जाय। दूध, फल, गेहूँ चना जो भी खाया जाय जिससे प्राण तृप्त हो भूख शान्त हो उसे अन्न कहते हैं। जल को हम प्रत्यक्ष पीते ही हैं। वायु अन्न जल के साथ अथवा स्वास के साथ भीतर जाती है। अग्नि को प्रत्यक्ष नही खाते। गरमागरम दाल भात, साग भाजी खाते उनके साथ गरमी भी भीतर चली जाती है, गरम वायु के साथ अग्नि जाती है। एक जठराग्नि पेट मे सदा अड्डा जमाये बैठी ही रहती है। पेट मे जाकर जो भीतरी वायु बनकर शरीर मे दौडती रहती है, उसे वात कहते हैं, अग्नि जो भीतर पचाती है, रस मे अम्लादि मिलती है, शरीर को गर्मी पहुँचाती है, उस अग्नि के अश को पित्त कहते हैं। नाना रूपो मे मीठा जल जाकर जो मधुरता स्निग्धता पैदा करके शरीर की धातुओ को चिकना रखता है उसे कफ या श्लेष्म कहते हैं। शरीर को अरोग्य बनाने वाले तथा कुपित होने पर नाना रोगो को उत्पन्न करने वाले ये वात, पित्त और कफ ही है। ये बनते हैं आहार से अतः शरीर की आयु बढाना, उसमें धर्य को बढाना बल, बुद्धि आरोग्य को प्रदान करके सुखी बनना, तथा रोगो को उत्पन्न करके शरीर को चिंता-ग्रस्त बनाकर दुखी बनाना ये सब कार्य आहार द्वारा ही होते हैं। इसलिये नियमित सात्त्विक आहार बल वीर्य को बढाकर सुख प्रदान करता है शरीर को निरोग रखता है। अब राजस आहार क्या करता है। इसका वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने सात्त्विकी लोगो के प्रिय आहार का वर्णन कर दिया तब, तब अर्जुन को राजसी और तामसी प्रकृति के पुरुषों को कैसा आहार प्रिय है। इसकी जिज्ञासा हुई। इस पर भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! अब मैं राजसी प्रकृति के पुरुषों के आहार का वर्णन करता हूँ।

वसे शरीर को आरोग्य रखने की दृष्टि से मधुर, कटु खट्टे नमकीन चरपरे और कषाय इन छै प्रकार के रसो का किसी न किसी प्रकार सेवन करना ही चाहिये। ये छै प्रकार के रस कम अधिक मात्रा मे उदर मे जाना ही चाहिये। यह बात नही कि सात्त्विक प्रकृति वाले सदा सर्वदा मीठे ही पदार्थों को खाते रहे नमकीन खट्टे चरपरे कडवे आदि पदार्थों को छूवें ही नही। इनको भी खाना चाहिये किन्तु न्यून मात्रा मे मधुर रस वाले पदार्थ उन्हे प्रिय लगते हैं। इनकी अपेक्षा उन्हे वे अधिक मात्रा मे सेवन करते है। किन्तु जो राजसी प्रकृति के पुरुष हैं उन्हे बहुत कडवे पदार्थ प्रिय है जैसे अधिक मात्रा मे पिसी हुई लाल मिरचें। उनके पदार्थों मे जब तक अधिक मात्रा मे मिरचें न डाली जायें उन्हे स्वाद ही न आवेगा। अधिक खट्टे पदार्थ, जैसे अधिक मात्रा मे कच्चे आमो की कच्ची इमली आदि की खटाई। उन्ही की चटनी, उन्हो का रस। अधिक मात्रा मे नमकीन पदार्थों का सेवन उन्हे सब पदार्थ बहुत गरमा गरम चाहिये, दूध पीवेंगे, तो बहुत अधिक गरम रोटी खावेंगे तो तुरन्त चूल्हे मे से निकाली हुई। सिरका आदि तीखे पदार्थ जैसे कागनी है चना चबेना हैं, अत्यन्त दाहक जो तालु आदि मे दाह उत्पन्न कर दे। जैसे अधिक मात्रा मे राई आदि। ये पदार्थ उन्हे अत्यन्त प्रिय हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"इनमे दोष क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"अत्यन्त कडवे, अत्यन्त नमकीन अत्यन्त गरम, अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त दाह कारक और अत्यन्त रूखे ये पदार्थ अन्त मे दुख देने वाले, चिन्ता को उत्पन्न करने वाले तथा रोगो उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसीलिये रजोगुण प्रधान

पुरुष प्रायः सदा रोगी ही बने रहते हैं और उन्हे वृद्धावस्था भी शीघ्र ही आ जाती है।"

अर्जुन ने पूछा—"तामसी प्रकृति के पुरुषो को कौन सा आहार प्रिय होता है ?"

भगवान् ने कहा—"उन्हे कडवा, खट्टा, नमकीन, तीखा, रूखा, दाहक और मीठे पदार्थ तो प्रिय हैं ही, किन्तु उन्हे गरम पदार्थ विशेष प्रिय नही लगते। उन्हे पके अधपके का विचार नही होता। मास अडादि मे भी घृणा नही होती। उन्हे ठन्डा, सूखा, कई दिन का सडा जैसे मदिरा सिरका आदि हैं अधिक प्रिय हैं। बासी पदार्थ उन्ह अच्छे लगते हैं सडा मास जिसमें से दुर्गन्ध आ रही हो काजी के बड़े, सड़े अचार मछली ऐसे कई दिन के बासा पदार्थ प्रिय लगते हैं। उन्हे उच्छिष्ट अनुच्छिष्ट तथा पवित्र अपवित्र का भी कोई विचार नही। किसी का भी खाया हुआ हो उसे भी खा लेते हैं, किसी के साथ ही एक पात्र मे खा लेते हैं कहाँ बैठकर खा रहे हैं। किनके साथ खा रहे हैं, क्या पहिन कर खा रहे हैं, कैसी वस्तुओ को खा रहे हैं इसका कोई आचार विचार नही। जो आ जाय वही स्वाहा। यह तामसी लोगो के आचार हैं, ऐसा नीरस, बासी, दुर्गन्धयुक्त उच्छिष्ट तथा अपवित्र भोजन तामसी लोगो को प्रिय होता है। जब राजसी आहार ही दु.ख शोक और रोगो को उत्पन्न करने वाला होता है। तब यह तामसी नीरस अपवित्र दुर्गन्ध युक्त सडा आहार इनको क्यो न उत्पन्न करेगा, अब इस बात को अर्जुन ! स्पष्ट क्यों कहलाते हो। बस, जो है सोई है। गोविन्दाय नमो नमः।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आपने त्रिविध आहार का तो वर्णन कर दिया। अब कृपया त्रिविध यज्ञो के लक्षण और बता दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आगे जैसे भगवान् त्रिविध यज्ञों का वर्णन करेंगे उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

जो हैं तामस पुरुष तिनहिँ भोजन बतलाऊँ।
तामस भोजन दुखद ताहि अरजुन समझाऊँ॥
अति ठंडो रस रहित स्वाद तैं तामस खावैं।
बासी अति दुर्गन्ध युक्त तामस बतलावैं॥
जूठो कूठो अति अशुचि, जहाँ मिलै तहँ खात है।
तामसजन प्रिय भोज्य है, तामस खाइ सिहात हौं॥

त्रिविध यज्ञ

[६]

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय सात्त्विकः ॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥*

(श्री भग० गी० १७ अ ११, १२, १३ श्लो०)

छप्पय

कै प्रकार के यज्ञ होयँ अब तुम्हें सुनाऊँ।
तीनि भाँति के यज्ञ प्रथम सात्त्विक बतलाऊँ॥
फल की इच्छा बिना करै जो यज्ञ सुहावन।
करै शास्त्र विधि सहित करै मख अति मनभावन॥
करै सदा करतव्य धी, समाधान मन कूँ सतत।
सात्त्विक जन निज प्रकृति बस, रहैं यज्ञ-सात्त्विक निरत॥

---

* जो यज्ञ विधिवत किया हो, कर्तव्य बुद्धि से किया हो, फल की इच्छा न रखने वालों द्वारा किया गया हो, मन का समाधान करके किया गया हो, वह सात्त्विकी यज्ञ है ॥११॥

यज् धातु देव पूजा, सगतिकरण, दान, यज्ञादि कई अर्थों मे प्रयुक्त होनी है। साधारणतया जिसमे हवि दी जाय उसे यज्ञ कहते है। हू धातु से हवन बनता है। हवन यज्ञ का प्राय. एक ही अर्थ है। (१) सव, (२) अध्वर, (३), याग, (४) सप्तनन्तु, (५) मख (६) क्रतु, (७) इष्टि, (८) इष्ट, (९) वितान, (१०) म-यु (११) आहव, (१२) मवन, (१३) हव, (१४) अभिषव, (१५) होम (१६) हवन (१७) मह ये सब शब्द यज्ञ के ही वाचक है। यज्ञो के अनेक भेद हैं। समस्त वेद यज्ञमय ही हैं। साधारण-तया यज्ञ का अर्थ है देवताओ के लिये द्रव्य का त्याग करना। वे यज्ञ दो प्रकार के होते हैं, यज्ञ और होम। जिसमे खडे होकर हवन करते है और अन्त मे वषट्कार का प्रयोग होता है, उनकी याग सज्ञा है और जिनमे बैठकर हवन किया जाता है और अन्त मे स्वाहा का प्रयोग होता है तथा जो याज्या और पुरोनुवाक्य से रहित होते हैं उसे होम कहते हैं। वैसे गीता मे पीछे द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, तथा स्वाध्यायादि अनेक यज्ञो का वर्णन किया जा चुका है। कही ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और पितृ-यज्ञ ये पांच यज्ञ बताये हैं शिवपुराण मे कर्मयज्ञ, तपोयज्ञ, जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ और ज्ञानयज्ञ इस प्रकार पांच यज्ञ बताये गये हैं। इनमे ध्यानयज्ञ और ज्ञानयज्ञ की सबसे अधिक प्रशसा की है। उनका कहना है कि और यज्ञा मे कुछ न कुछ हिंसा होती ही है, ध्यान

हे भरत श्रेष्ठ! जो यज्ञ, फल के उद्देश्य से अथवा दम्भार्थ किया गया हो, उस यज्ञ को तुम राजस समझो ॥१२।

जो यज्ञ विधि विहीन हो, जिसमे अन्नदान न किया गया हो, जो बिना दक्षिणा के बिना मत्रो के किया गया हो, श्रद्धा से रहित उस यज्ञ को तासस कहते हैं ॥१३॥

(विष्णु भगवान्)

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८१

गीतावार्त्ता (१३)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृत वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

संशोधित मूल्य २-०-रुपया

प्रथम सस्करण
१००० प्रति] माघ २०२७ [मु० १ ६५ पै०

प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

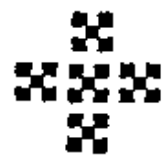

● मुद्रक
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
सस्मरण	१
गीता माहात्म्य (१७)	११
१. अर्जुन का त्याग और सन्यास के अर्थ के सम्बन्ध मे प्रश्न	१९
२. त्याग और सन्यास शब्दो का वास्तविक अर्थ	३५
३. त्याग सन्यास के सम्बन्ध मे विभिन्न मत	४७
४. भगवान् का निश्चय मत यह है शुभ कर्मों को अनासक्त होकर करता ही रहे	५०
५. त्रिविध त्याग	५८
६. कर्मों के फल का त्यागी ही यथार्थ त्यागी है	६४
७. कर्मों का त्रिविध फल	७७
८. सांख्य मतानुसार कर्मों की सिद्धि के पाँच हेतु	८७
९. आत्मा अकर्ता है	८९
१०. अनहङ्कृत भाव वाला कर्म बन्धन से बँधता नहीं	९६
११. कर्म प्रेरणा और कर्म सग्रह	१०७
१२. सात्त्विक ज्ञान	११०
१३. राजस और तामस ज्ञान	११७
१४. त्रिविध कर्म	१२३

१५. त्रिविध कर्ता १३०
१६. सात्त्विकी बुद्धि १४०
१७. राजसी और तामसी बुद्धि १४७
१८. त्रिविध धृति १६६
१९. सात्त्विक सुख १७३
२०. राजस और तामस सुख १८२

संस्मरण

[१]

प्रियसखि विपद्दण्डव्रातप्रतापपरम्पराति-
परिचपले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः ॥
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्--
भ्रमयति नो मनो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥*

(श्री भर्तृहरि, वै० श० ६८ श्लो०)

छप्पय

धृष्ट कुलाल समान नचावत दुष्ट विधाता।
प्रिय सखि! विपति समूह दंड फेरत विख्याता॥
चिन्ता चक्र चलाइ मृत्तिका पिंड बनावै।
लौंदा मनहिं लगाइ घुमावै मन हरषावै॥
दुरगति हमरी है गई, अघ घट कब तक पकैगी?
जाने वह खल विधाता, अब आगे का करैगो??

---

* हे प्रियसखि! यह विधाता धृष्ट कुम्हार के समान है। चिन्ता रूप अपने चक्र पर मिट्टी के पिंड बना-बनाकर मनरूपी लौंदा को विपत्तियों के समूह रूप जो डंडा है, उस डंडे से परम्परानुसार घुमा रहा है। अब पता नहीं आगे क्या होगा? इस लौंदे से विधाता न जाने आगे कौन सा बर्तन बनावेगा?

मेरे परिचित स्नेही बन्धु कहते हैं—"महाराज ! अपना एक जीवन चरित्र लिख दो। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई लिख नहीं सकता।"

मैं कहता हूँ, चरित्र तो चरित्रवानों के लिखे जाते हैं। जो जिस किसी प्रकार जीवन बिता रहे हैं, कालक्षेप कर रहे हैं, उनका क्या जीवन चरित्र ? उनका तो एक मात्र यही चरित्र है।

सुबह होता है, शाम होती है।
जिन्दगी यों ही, तमाम होती है॥

जिनका जीवन खाने-पीने, पहनने, ओढ़ने तथा शरीर के पालन पोषण में ही व्यतीत होता है, उनका तो जीवन सामान्य है, एक कवि ने कहा है—

पैदा हुए पढ़ने गये, कालिज गये।
नौकर हुए पेंसिन हुई फिरि मर गये॥

ऐसे लोगों के जीवन चरित्र से न जनता को ही लाभ हुआ न तुम्हारा ही कोई काम हो सका। अतः जो विशुद्ध चरित्र वाले परोपकारी हो, जिन्होंने सेवा करके समाज का कल्याण किया हो, उनके जीवन से आगे की पीढ़ी के लोग-लाभ उठा सकते हैं। उनका जीवन चरित्र लिखना सार्थक है। हम जैसे अहरे गहरे पचकल्यानियों का जीवन ही क्या ? और जीवन का चरित वृत्त ही क्या ? वैसे चरित्रवानों के चरित्र वृत्त से बड़ी प्रेरणा मिलती है, महाभारत, रामायण तथा पुराण सब महत् पुरुषों के चरित्र-वृत्त ही तो हैं।

कुछ बन्धुओं ने कहा—"अच्छा, क्रमबद्ध चरित्र न सही, अपने जीवन के सुखद संस्मरण ही लिख दो।" तब मैंने कहा—देखो, भाई भर्तृहरि जी ने कहा है—

आयुर्वर्षशत नृणा परिमित रात्रौ तदर्धं गतम् ।
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरे बालत्व वृद्धत्वयोः ॥
शेष व्याधिवियोगदु खसहित सेवादिभिर्नीयते ।
जीवे वारितरगचचलतरे सौख्य कुतः प्राणिनाम् ॥
(श्री भर्तृहरि वै०श० १०७ श्लोक)

वैसे आजकल सौ सवा सौ वर्ष के कोई विरले ही स्त्री पुरुष होते हैं। प्राय ६ वर्ष के हो गये तो बहुत हुए कोई कोई ८० तक भी पहुँच जाते हैं। अच्छा मान लो मनुष्यों की आयु १०० वर्ष की ही मान ली जाय, तो उसमे से ५० वर्ष तो रात्रि के सोने में ही चले गये। अब शेष रह गये ५० वर्ष। ५० वर्षों को तीन भागो में बाँट दो। उनमे से १७ वर्ष बालकपने मे बीत गये १७ वर्ष वृद्धपने मे १७ वर्ष तक कोई विशेष काम नहीं होता, खेल कूदने मे या पढने लिखने में बीत जाते हैं वृद्धावस्था मे भी कुछ काम नहीं होता। वात कुपित हो जाती है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है, धातुएँ क्षीण हो जाती हैं। उत्साह कम हो जाता है, तनिक श्रम करने पर थकावट आ जाती है। वृद्ध पुरुष तो अपनी आयु के दिन खास खासकर लाठिया के सहारे पूरे करते हैं। भूख लगती नहीं। मन नाना वस्तुओ को खाने को चलता है। जठराग्नि कार्य नहीं करती। सगे सम्बन्धी बूढे से विरक्त हो जाते हैं, उससे बातें करना भी अच्छा नहीं समझते, कुछ काम कर नहीं सकते। ऐसे बेकाम बूढो को व्यर्थ खाने को कौन दे। कोई भाग्य शाली पुण्यात्मा ही धर्म समझ कर वृद्धो की सेवा कर सकते है, नहीं तो—

सींग घिसे अरु खुर घिसे, पीठ बोझ नहिँ लेइ ।
ऐसे बूढे बैल कूँ, कौन बाँधि भुस देइ ॥

इसलिये बुढापे का समय भी व्यर्थ है। अब केवल युवावस्था

के १७ वर्ष शेष रह गये, उसमें युवावस्था का अहंकार, गधापचीसी का मद, नित्य ही नई नई चिंतायें, नित्य नये-नये रोग, अपने सगी साथियों, सगे सम्बन्धियों, मित्र सुहृदों के वियोग का दुख, व्यापार में घाटे, राजद्वार के अभियोग मामले, लोगों द्वारा की जाने वाली निंदा का दुःख, यदि दुर्भाग्य से किसी की नौकरी करनी पड़ी, तो उच्च अधिकारियों की धौंस, चिनौतियाँ और नौकरी छूटने का भय, संसार में क्षण-क्षण पर पल पल पर दुःख ही दुःख तो भरा पड़ा है। भर्तृहरि पूछते हैं इस चंचल तरंग वाले जल के सदृश जीवन में प्राणियों को सुख कहाँ? आनंद कहाँ? मधुरता कहाँ? "सर्वं दुःख मय जगत्" जगत तो दुःखालयम्-अशाश्वतम् है। इसमें दुःख ही दुःख है, फिर मधुर स्मृतियाँ कहाँ से लिखूँ? वादी कहता है—"महाराज, जगत् दुःखालय होगा जिसके लिये होगा। आपको तो हमने दुखी देखा नहीं। लोग दुखी होते हैं, बालबच्चों के लिये, कुटुम्ब परिवार के लिये, पैसा के लिये, प्रतिष्ठा के लिये, कनक के लिये, कामिनी के लिये, कीर्ति के लिये। रोग जनित शोक मोह और चिंता के लिये। आप तो इन सब से रहित हैं। घर द्वार, कुटुम्ब परिवार से रहित हैं प्रतिष्ठा भी पर्याप्त है, धन की चिंता नहीं। कभी किसी विशेष रोग से ग्रसित हमने आपको देखा सुना नहीं। फिर आपको दुःख किस बात का? आपका जीवन तो सुखमय ही है, आनन्द और उल्लासमय ही है। वह उल्लास किस कारण से है, इसी के संस्मरण लिख दो।"

मैं कहता हूँ—"दूर के ढोल ही सुहावने लगते हैं। पहाड़ दूर से ही सुन्दर लगता है। उसके भीतर घुसो तो कंकड़ पत्थर, काँटेदार वृक्ष, काँटेदार झाड़ियाँ, विषधर जीव ये ही मिलेंगे, अतः दुःख का कारण वस्तुएँ नहीं, दुःख कारण तो मन है।

मन प्रसन्न है, तो सभी वस्तुएँ सुखद हैं, मन अप्रसन्न है, चिंताग्रस्त है, तो सर्वत्र दुःख ही दुःख है। शरीरधारी कोई भी सर्वथा सुखी नहीं। सभी को कुछ न कुछ दुःख है, सभी को कोई न कोई चिन्ता घेरे ही रहती है।

तब वादी कहता है—"अच्छा, भाई! सब दुःखी ही सही, तो दुःखद संस्मरण ही लिख दो। चलो, दुःखद पढ़कर ही संतोष करेंगे।"

मैं कहता हूँ—"दुःख का तो सभी अनुभव कर ही रहे हैं, उनका संस्मरण लिखकर और दुःख को क्यों बढ़ाया जाय?"

वादी कहता—"नहीं महाराज, दुःखद संस्मरण पढ़ने से भी एक प्रकार की आत्मतुष्टि होती है। दुःखद संस्मरण पढ़कर सुख न होता, तो रामायण महाभारतादि को कौन पढ़ता? इनमें दुःखों का ही तो वर्णन है। श्री रामचन्द्रजी ने जब तक दुःख सहे तभी तक तो उनकी कथा है। वनगमन तक ही तो रामायण है, वन से लौटकर तो श्री रामचन्द्रजी ने ग्यारह सहस्रों वर्ष तक राज्य किया। उसका कुछ भी वर्णन नहीं। पाण्डवों पर जब विपत्ति पड़ी तभी तक की कथा तो महाभारत में है। महाभारत युद्ध के पश्चात् ३५ वर्षों तक पाण्डवों ने राज्य किया, उसकी कोई कथा नहीं। करुण रस तो दुःख में ही प्रकट होता है। जो करुणरस रसराज है, समस्त रसों में शिरोमणि है। अतः आप दुःखों का ही संस्मरण दिलाकर हमें करुणरस का आस्वादन कराइये।"

मेरा कहना है—"सभी लोग करुणरस की सरिता बहाने की कला में प्रवीण नहीं होते। यह तो भगवत् प्रदत्त एक शक्ति होती है। किसी भाग्यशाली को यह विद्या प्राप्त होती है, जो पाठकों के नेत्रों से गंगा जमुना की दो धारायें बलात् बहा सकें।

वे करुणरस के अवतार भगवान् वाल्मीक ही धन्य हैं, जिन्होंने करुणरस की अमर धारा बहा दी जिसमें अवगाहन करके कितने जीव कृतार्थ हो गये, कितने कृतार्थ हो रहे हैं और कितने आगे होते रहेंगे ? उन भगवन् वाल्मीक के चरणकमल की धूलि के कण को मै सिरसा वदन करता हूँ।"

वादी कहता है—'देखिये, समान शीलो मे ही सौख्य होता है। हिरन हिरन, के ही साथ सतुष्ट रहते हैं, गौएँ गौओं के ही साथ सुख पाती हैं। हम साधारण जीव अपने समान के लोगो के इतिवृत्त से ही तुष्ट रहते हैं। थोडा ही बहुत सही साधन तो आपने किया ही है। साधको का सग भी किया है। साधनो मे क्या-क्या विघ्न आते है, इसका भी कुछ न कुछ अनुभव आपको अवश्य ही हुआ ही होगा। उन बातों को सुनकर ही हमे प्रेरणा प्राप्त होगी। आप न लिखते होते, वीतराग सत महात्माओं की तरह ससार से विरक्त होकर घोर एकान्त में श्रवण, मनन निदिध्यासन करते होते, तब तो हमे आपसे कुछ कहने का साहस ही न होता। जब आप लोगो को सग्रह करते हैं। सफेद कागदो को काले करते रहते हैं, तो एक अध्याय सस्मरण भी सही। पुराने लोग ऐसे त्यागी तितुक्षु, दानी सयमी आदि सद्गुणों वाले हो गये हैं, उनकी बातें पुरानी हैं। जो हमारे सामने हैं, जो हमारी ही भाँति दुर्बलताओ से भरे हैं, किन्तु उन्हे त्यागने के लिये प्रयत्न शील हैं, उनके अनुभवो का हम साधारण साधको पर विशेष प्रभाव पडता है। भागवत, गीता, तथा उपनिषदो की आप व्याख्या करते हैं, अच्छा ही करते हैं, उनसे लाभ ही होता है, किन्तु सत्य समझिये हम तो पुस्तक हाथ मे आते ही सर्व प्रथम आपकी भूमिका को ही पढ़ने को व्यग्र हो उठते हैं। उसमें आपकी अपनी निजी अनुभूति

होती हैं। जिस खंड में आपकी भूमिका नहीं होती, वह खंड हमे फीका-फीका-सा लगता है। पिछले सब खण्डों मे आपने अपनी "निजी चर्चा लिखी उसे हमने बड़े चाव से पढ़ा। खंड आते ही सर्व प्रथम उसे ही पढ़ जाते थे। अब इधर ७९ और ८० खंडों में आपने कुछ भी नहीं लिखा यह हमे ही नहीं हमारे सदृश अन्य सभी पाठक पाठिकाओं को बहुत ही बुरा लगा, अतः आप बुरा बावरा जो भी चाहो, एक अध्याय भूमिका के रूप में अवश्य लिखा करो।"

मेरा कथन है—"आप का कथन तो सत्य है, भूमिका लिखने में मुझे कोई आपत्ति नहीं, किन्तु अपने सम्बन्ध मे कितना भी सम्हाल कर लिखो किसी न किसी प्रकार ये भाव आ ही जाते हैं—"मैंने ऐसा किया, मैंने अपने विपक्षियों को इस सफाई से पछाड़ा कि वे चकित रह गये। मेरी सामर्थ्य तो आप देखें, मेरे पास कितनी भोग सामिग्रियाँ हैं, वे बड़े सिद्ध बनते थे, मैंने उनसे ऐसी बात कह दी, कि उनकी सब सिटिल्ली गुम हो गयी अपनी सभी सिद्धाई को भूल गये। वे महाशय बड़े बलवान् बनते थे। एक झपट्टा में मैंने उनकी हेकड़ी भुला दी। वे लोग मेरी बराबरी क्या कर सकते हैं। तनिक-तनिक सी वस्तु माँगते फिरते हैं, मैं तो किसी के पास जाता नहीं। जिसका लाख बार स्वार्थ हो, मेरे पास आये मैंने ऐसा यज्ञ किया, ऐसे-ऐसे दान दिये, ऐसी ऐसी आनंद की यात्रायें की इत्यादि-इत्यादि।" ये अहंकार जन्य भाव आ ही जाते हैं। इसलिये जहाँ तक हो अपने सम्बन्ध की चर्चा कम से कम करनी चाहिये। न की जाय तो सर्वोत्तम है।"

वादी कहता है—"यह आप सत्य कह रहे हैं अपने सम्बन्ध की बात कहने पर कुछ न कुछ अहंकार के भाव अवश्य ही

आ जाते हैं। बड़े-बड़े लोगों के लेखों में आ जाते हैं। यह स्वाभाविक है किया क्या जाय, अवश्यम्भावी है किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं है, कि इस भय के कारण रणमंच का परित्याग करके पलायन किया जाय-भाग जाया जाय गुदड़ी ओढ़ोगे, तो उसमें जूएँ पड़ ही जायेंगे। जूँओं के भय से कोई गुदड़ी ओढ़ देना थोड़े ही छोड़ देता है। जूँएँ पड़ जायँ और दिखायी दें जायँ तो उन्हें बीन-बीन कर बाहर फेंक दो। अवश्यम्भावी बात से बचना भी चाहो तो कैसे बच सकते हो? सजगता इसी बात में है, कि जो दोष दिखायी दे जायँ, उन्हें थूक दो, बाहर निकाल कर फेंक दो। इस विषय में कहो तो एक दृष्टान्त सुना दूँ?"

सुना दो, दृष्टान्त भी।

गोवर्धन पर्वत अब नाम मात्र को ही रह गया है। आधा तो राधाकुण्ड की ओर का भूमि में विलीन हो गया। आधा जतीपुरा पूँछरी के लौंठा की ओर का कुछ अवशिष्ट है। उस पर्वत के ऊपर 'गोवर्धन' नाम का ही एक गाँव बसा हुआ है। बीच गोवर्धन पर्वत के ऊपर से एक पक्की सड़क आती है। इधर पूर्व की ओर तो वह मथुरा जाती है। पश्चिम की ओर एक सड़क तो सीधी जरसाने नन्दगाँव होती हुई कोसी में जाकर देहली वाली सड़क में मिल जाती है। एक पक्की सड़क जतीपुरा को जाती है एक कामवन को। राधाकुण्ड का जहाँ से सड़क फटती है, वहीं पास में वनों का अड्डा है। चारों ओर से वनों आकर वहाँ खड़ी होती हैं। एक महात्मा वनों के रहने के स्थान पर खड़े थे। प्रतीत होता था, वे मथुरा जाने को उद्यत थे। उसी समय एक वन आई। उस वन में से एक बहुत ही सुन्दरी नवयुवती उतरी। वह इतनी अधिक सुन्दरी थी, कि सहसा उसकी ओर

सभी टकटकी लगाकर देखते रहे। उन महात्मा ने ऐसी सुन्दर इतनी रूप लावण्य युक्त सुन्दरी स्यात् पहिले कभी देखी भी न होगी। वे उसी को एकटक निहारते के निहारते ही रह गये। सहसा उस बस में से एक आदमी उतरा, महात्माजी के पास आकर खड़ा हो गया। देखने में वह मुसलमान सा प्रतीत होता था। उसने हँसते हुए कहा—"महात्माजी! क्या देख रहे हो?"

महात्मा ने कहा—"इस देवी के सौन्दर्य को देख रहा हूँ।"

उस व्यक्ति ने कहा—"क्या करोगे, इसे देखकर?"

महात्मा ने कहा—"मन मानता नहीं, विवश सा हो गया हूँ।"

उसने कहा—"इसका परिचय दे दूँ?"

महात्मा ने कहा—"हाँ दे दो। बड़ी कृपा होगी।"

उस आदमी ने कहा—"एक अंगरेज वेश्या थी, बड़ी ही सुन्दरी। उसका सम्बन्ध मेरे एक मित्र मुसलान युवक से हो गया। वह भी ऐसे ही आवारा था। देखने में सुन्दर था। पैसा वाला था। दोनों का मन मिल गया। उसी वेश्या से यह पैदा हुई है। वर्ण सकरता में सौंदर्य अधिक होता ही है।"

इतना सुनना था, कि महात्माजी ने बड़ी घृणा के साथ वहीं थूका और चन्द्र सरोवर वाली सड़क पर बड़े वेग से चले गये। प्रतीत होता था, वे चन्द्र सरोवर के आस पास किसी कुटी में रहते होंगे।"

सो, महाराज! ये अहंकार युक्त वचन तभी तक निकलते हैं, जब तक हम इनका यथार्थ रहस्य नहीं जानते। नहीं तो करने कराने वाले तो सब वे ही श्री हरि हैं। उन्हीं की प्रेरणा से संसार का समस्त कार्य हो रहा है। वे संसार में ऐसे व्याप्त हैं, जैसे माला के दानों के भीतर सूत। ऊपर से दाने ही दाने दीखते हैं, जिनमें ये दाने पिरोये हुए हैं, वह सूत दिखायी नहीं

देता। बुद्धिमान लोग अनुमान से जान लेते हैं। माला का आधार सूत है। सूत न रहे तो माला का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। इसी प्रकार करने कराने वाले वे कारे कृष्ण ही हैं। हम तो केवल निमित्त मात्र हैं। अतः आप अपने को निमित्त मानकर ही लिखिये, लिखते-लिखते अहंभाव आ जाय, तो थूक कर आगे बढ़िये, फिर लिखिये। साधना ही सही।"

मैंने कहा—"तुम यथार्थ कह रहे हो, अच्छा अगले मास से प्रयत्न करूँगा।"

उसने कहा—"प्रयत्न करूँगा, यह मत कहो, यह कहो लिखूँगा।"

मैंने कहा—"अब भविष्य की बात निश्चित रूप से कैसे कह दूँ? यमराज जी से मेरी मित्रता होती तो उनसे पूछकर निश्चित भी कह देता। फिर भी आप कहते हो, तो कहे देता हूँ, लिखूँगा।"

उसने कहा—"अच्छा नमस्कार।"

मैंने कहा—"नमस्कार।"

उसने कहा—"अब कब?"

मैंने कहा—"अगले खण्ड से।"

छप्पय

आयु प्रथम ई नियत शतायू पुरुष कहावै।
आधी निद्रा माहिं पचासहि पुनि बचि जावै॥
जरा बाल्य में जाय शेष पचीस रहावै।
आधि - व्याधि - दुख - शोक - रोग परसेवा जावै॥
जल तरंगवत अति चपल, जग चचल हु असार है।
इत उत सुख हित भ्रमत नर, दुःख निचय संसार है॥

(छप्पय भर्तृहरि शतक)

मार्गशीर्ष शु० १३-२०२७ वि०
संकीर्तनभवन, झूसी (प्रयाग)

विनीत
प्रभुदत्त

गीता माहात्म्य

(१७)

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥
य न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्याय संन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥*

(श्री० भाग० ११ स्क० १२ अ० ८,९ श्लो०)

छप्पय

सड़ग वाहु-सुत-भृत्य लगायो पण चढ़ि गज ।
दीयो गज ने फेंकि मर्‌यो गज भयो देह तजि ॥
सिंहल में गज भयो भूप सौराष्ट्र पठायो ।
तिनि करि कवि कूँ दान देश मालवहिँ बिकायो ॥
ज्वर पीड़ित हाथी भयो, करी चिकित्सा बहु नृपाते ।
नहीं भयो गज ज्वर रहित, व्यापी चिंता नृपहिँ अति ॥

---

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी कह रहे हैं—उद्धव ! केवल मुझमे प्रेम भाव रखने वाली जो गोपियाँ, गैयाँ वृक्ष और हरिन हाथी सर्पादि तथा अन्य मूढ बुद्धि वाली जीव योनियाँ हैं उन सब ने सिद्धि पाली है । बडे बडे बलशील साधक जिस मुझे योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, व्याख्या, स्वाध्याय और सन्यासादि साधनों द्वारा प्राप्त नही कर सकते उसी मुझको सत्सङ्ग के द्वारा अत्यन्त सुलभता से प्राप्त कर लेते हैं ।

यह जीव भाग्यवश जगत् में नाना योनियों में भटकता रहता है। जिस योनि में भी जाता है, वहीं दुख पाता है। न जाने जीवों के कितने जन्मों के संस्कार कब जाकर कहाँ उदित हो जाते हैं। हम कभी-कभी ऐसे अपरिचित स्थान पर चले जाते है, जहाँ इस जीवन में पहिले कभी गये नहीं हैं, किन्तु वहाँ के सभी स्थान, वृक्ष, लता, पर्वत सब परिचित से प्रतीत होने लगते हैं, इससे अनुमान होता है, पूर्वजन्म में कभी यहाँ हम रहे होंगे।

कभी-कभी कोई ऐसा अपरिचित पुरुष मिल जाता है, जिसे देखते ही हमारा अनुराग उसके प्रति फूट पड़ता है, क्षण भर में ही वह आत्मीय पुराना परिचित सा प्रतीत होने लगता है, इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पूर्व जन्मों में हमारा कोई सगा सम्बन्धी सुहृद् रहा होगा। बहुत से ऐसे स्थान हैं, जहाँ हम जाना भी नहीं चाहते किन्तु प्रारब्ध कर्म हटात् हमें वहाँ ले जाते हैं। कैसे-कैसे जीवों के पूर्वकृत संस्कार होते हैं।

पशु पक्षी भले ही बोलते न हो, संस्कारों का प्रभाव तो उन पर भी पड़ता ही है। सत्सङ्ग किसी भी योनि में मिल जाय, वही कल्याण प्रद होता है। इच्छा न रहने पर भी जो अच्छे संस्कार इन्द्रिय गोचर हो जाते हैं। सुनने की इच्छा न होने पर भी कानों में कोई अच्छी बात पड़ जाती है, तो कभी न कभी समय आने पर वह भी काम में आ ही जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने श्री मद्भगवत् गीता के १६ वें अध्याय का यह महात्म्य सुनाया था, जिसे भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी जी से और शिवजी ने पार्वती जी से कहा था। उसमें बताया था कि सौराष्ट्र देश के राजा खड्गबाहु, बड़े हाथियों के

प्रेमी थे,-उनका एक मदमत्त हाथी बिगड़ गया, किसी को समीप हो नहीं आने देता था। श्रीमद्भगवत् गीता के सोलवें अध्याय का पाठ करने वाले ब्राह्मण जो "अभय सत्वसंशुद्धि आदि श्लोकों का निरन्तर पाठ करते रहते थे। वे निर्भय होकर मदमत्त हाथी के समीप चले गये। हाथी ने उनसे कुछ नहीं कहा, इस चमत्कार से प्रभावित होकर राजा ने भी ब्राह्मण से सोलहवाँ अध्याय पढकर निर्भयता प्राप्त कर ली वे भी मदोन्मत्त हाथी के समीप गये उसे छूआ और कुछ नहीं हुआ। अन्त में राजा खड्गबाहु अपने पुत्र को राज्य देकर तपस्या करने वन में चल गये। राज्य सिंहासन पर उनके ज्येष्ठ पुत्र बैठे। उन नये सौराष्ट्र नरेश का एक भृत्य था, उसका नाम दुःशासन था। वह देखा देखी योग साधने वाला था। उसने सबके साथ दर्शकों में खड़े होकर सोलवें अध्याय के पाठ करने वाले ब्राह्मण को, तथा राजा को निर्भय होकर मदोन्मत्त हाथी के समीप जाते देखा था। उसने सोचा—जब श्रीमद्भगवत् गीता के सोलहवें अध्याय का तो इतना माहात्म है, तो न जाने सत्रहवें अध्याय का कितना माहात्म्य होगा। यही सोचकर उसने निर्भयता की शिक्षा ली। एक दिन बहुत से माण्डलिक राजकुमार एकत्रित हुए थे। बातों ही बातों में मदोन्मत्त हाथी की बात छिड गयी। सब कहने लगे। इस मत्त हाथी के समीप कोई जा भी नहीं सकता। सोलहवें अध्याय के पाठ के प्रभाव से महाराज खड्गबाहु इसके समीप निर्भय होकर गये थे। वे तपस्या करने अपने पुत्र को राज्य देकर वन में चले गये। अब कोई ऐसा नहीं जो इस मदोन्मत्त हाथी के समीप जा सके।

इस पर वह दुःशासन बोला—"आप हाथी के समीप

जाने की बात कहते हैं, मैं इस मतवाले हाथी के ऊपर चढ़ सकता हूँ।"

मंडलीक राजकुमारों ने कहा—"अच्छी बात है, यदि तुम इस हाथी पर चढ़ जाओ तो इतना द्रव्य हम तुम्हें देंगे।"

यह सुनकर वह बड़े गर्व में भर कर किसी प्रकार हाथी की पीठ पर चढ़ गया। इससे उसका अभिमान और बढ़ा और वह हाथी के प्रति उच्च स्वर से कठोर-कठोर शब्दों का प्रयोग करने लगा—

लोगों ने कहा भी—"अरे, भाई! हाथी को ऐसे कठोर वचन मत कहो।"

इस पर दुःशासन कहने लगा—"यह हाथी मेरा क्या कर सकता है। मैं इसे अभी वश में किये लेता हूँ।"

इन बातों को सुनकर हाथी को अत्यन्त क्रोध आ गया। वह मदोन्मत्त तो था ही दुःशासन के कठोर वचनों को सुनकर क्रोध में अंधा हो गया और वह उछलने लगा। इससे दुःशासन का पैर फिसल गया और वह धड़ाम से धरणी पर गिर पड़ा। गिरते ही वह विमूर्छित बन गया। वह मृत प्रायः हो गया था, कुछ-कुछ उच्छ्वास ले रहा था, हाथी ने उसे अपनी सूंड़ से उठाकर ऊपर उछाल दिया, अतः ऊपर से गिरते ही उसके प्राणों का अन्त हो गया। सब के देखते-देखते वह प्राण हीन होकर भूमि में लोटने लगा।

कहावत है, "अंतेयामतिः सा गतिः" अन्त में जैसी मति होती है, जिसमें भी मन की वृत्ति लगी रहती है, वैसी ही योनि प्राप्त होती है। इसकी चित्त की वृत्ति हाथी में लगी थी, अतः इसे हाथी की ही योनि प्राप्त हुई।

वह सिंहलद्वीप के वनों में जाकर हाथी हुआ। वहाँ से राज

कर्मचारी उसे पकड कर ले आये। बहुत दिनों तक यह सिंहल द्वीप के महाराजा की गजशाला मे रहा। यह देखने में सुन्दर था तथा चलने मे भी वेगशाली था।

सिंहलद्वीप के राजा की खडगबाहु के पुत्र से बडी मित्रता थी, अत. अपने मित्र की प्रसन्नता के निमित्त उपहार में सिंहल नरेश ने इसे सौराष्ट्र नरेश के समीप जल मार्ग से पहुँचा दिया। महाराज खडगबाहु की भाँति ये उनके पुत्र भी हाथियों के बडे प्रेमी थे। सिंहल नरेश के इस उपहार को पाकर वे परम प्रमुदित हुए और इस हाथी को बडे प्रेम से अपनी गजशाला मे रखा।

पहिले राजागण बडे गुणग्राही हुआ करते थे। राज परिषद् में कोई कवि उनकी प्रशसा मे कोई पद्य सुना देता था, तो उसे वे यथेष्ट पुरस्कार दिया करते थे। इन राजा की परिषद मे भी एक दिन कोई विद्वान् कवि आया। उसने राजा की प्रशंसा मे एक बहुत ही प्रशसनीय पद्य पढा। उसे सुनकर राजा परम प्रमुदित हुए और उन्होंने प्रसन्न होकर कवि को पारितोषिक रूप में वही हाथी दिया, जिसे सिंहलद्वीप के राजा ने उसे उपहार स्वरूप भेजा था। कवि प्रसन्न होकर हाथी को लेकर राजा का जय जयकार करता हुआ अपने निवास स्थान को चला गया।

कवि निर्धन था, वह हाथी का पालन पोषण करने मे असमर्थ था, अतः उसने सौ सुवर्ण मुद्राओं में उसे मालव नरेश के हाथों बेच दिया। अब वह मालव नरेश की गजशाला की शोभा बढाने लगा।

एक बार उसे ज्वर आया और ऐसा असाध्य ज्वर आया, कि कोई भी औषधि उस पर प्रभाव नहीं डाल सकी। जब हस्तिप सब औषधि करके थकित हो गये और हाथी का ज्वर नहीं गया, तब हस्तिपों ने राजा से जाकर कहा—"अन्नदाता! आपका

हाथी असाध्य रोग से पीड़ित है। हम उसे स्वस्थ करने के नाना उपाय कर चुके, किन्तु वह स्वस्थ ही नहीं होता, अब, आपकी जैसी आज्ञा हो वही किया जाय।"

हस्तिपों की बात सुनकर राजा बहुत से चिकित्सकों और सचिवों के सहित हाथी के समीप गये। हाथी ज्वर जनित वेदना से तड़प रहा था, चिकित्सकों ने उसे निरोग करने के उपाय करने चाहे, किन्तु हाथी को राजा के दर्शन होते ही पूर्व जन्म की सब बातें स्मरण हो आईं उसे यह भी स्मरण हो आया, कि मैं पहिले दुःशासन था, हाथी द्वारा मारे जाने पर ही मुझे यह हाथी योनि प्राप्त हुई और इससे उद्धार भी गीता पाठ करने वाले किसी महात्मा द्वारा ही होगा। अतः वह सबको आश्चर्य में डालने वाली, मानवी भाषा में कहने लगा—"राजन्! आप व्यर्थ श्रम क्यों करते हैं, मुझे इन संसारी औषधियों से लाभ न होगा। मेरा उद्धार जिस औषधि से होगा उसे मैं जानता हूँ।"

राजा ने कहा—"गजराज! बताओ तुम किस औषधि से अच्छे होगे?"

हाथी ने कहा—"महाराज! आप किन्हीं ऐसे ब्राह्मण को बुलाइये जो गीता के सत्रहवें अध्याय का नित्य नियम से सतत पाठ करते हों। वे यदि गीता मंत्र से अभि-मन्त्रित करके जल मेरे ऊपर छिड़क दें तो मेरा उद्धार हो जायगा। अन्य किसी भी उपाय से मैं अच्छा होने वाला नहीं।"

यह सुनकर राजा ने अपनी राजधानी में ढुँढ़वाया। खोज करने पर ऐसा एक ब्राह्मण मिल ही गया, जो गीता के सत्रवें अध्याय का सतत पाठ किया करता था। राजा ने बड़े सत्कार-पूर्वक उसे बुलाया और उसे सभी वृत्तान्त बताया। सब सुनकर ब्राह्मण ने गंगा जल को गीता मंत्र से अभिमंत्रित करके ज्योंही

उसके ऊपर छिड़का त्योंही वह गज योनि से छूटकर दिव्य देह धारण करके दिव्य विमान पर आरूढ होकर दिव्य लोकों को जाने लगा। इस चमत्कार को देखकर परम चकित होकर राजा ने उससे पूछा—"महानुभाव! आप पूर्व जन्म में कौन थे और यह इन्द्र के समान दिव्य देह आपको किस पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई?"

तब उसने कहा—"राजन्! मैं पूर्व जन्म में सौराष्ट्र नरेश का एक साधारण भृत्य था। मैंने श्रीमद्भगवत् गीता के सोलवें अध्याय के पाठ का चमत्कार अपनी आँखों देखा था। तब मन में सोचा था, जब सोलवें अध्याय के पाठ से प्राणी निर्भय बन सकता है, तो न जाने सत्रहवें अध्याय के पाठ में क्या चमत्कार होगा, इसीलिये गज योनि में भी मैंने सत्रहवें अध्याय का चमत्कार देखना चाहा, सो आपके सामने प्रत्यक्ष ही है। अतः अब मैं श्रीमद्भगवत् गीता के सत्रहवें अध्याय द्वारा अभिमन्त्रित जल के प्रभाव से दिव्य लोकों में जा रहा हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर गज दिव्य विमान में बैठकर दिव्य लोकों को चला गया। मालव नरेश भी गीता के सत्रहवें अध्याय के माहात्म्य को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने उस ब्राह्मण से श्रद्धा सहित गीता के सत्रहवें अध्याय का विधिवत् अध्ययन किया और निरन्तर के पाठ से वे भी संसार सागर से सदा के लिये मुक्त हो गये। यह मैंने सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाया अब अंतिम अठारहवें अध्याय का माहात्म्य आपको आगे सुनाऊँगा। जिसे भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी जी को और शिवजी ने पार्वती जी को सुनाया था।

छप्पय

मानव स्वर गज कहे—न औषधि ममदुख टारैं।
सत्रहवों अध्याय पाठ द्विज ताहि निवारैं॥
राजा सोई करयो मंत्र पढि द्विज छिरक्यो जल।
तजि गजतन सो तुरत दिव्य तन प्रकट्यो निरमल।
कह्यो सकल वृत्तान्त निज, राजा सुनि प्रमुदित भये।
पढि सत्रह अध्याय वे, मुक्त जगत तैं ह्वै गये॥

अथ

अष्टादशोऽध्यायः

(१८)

अर्जुन का त्याग और संन्यास के अर्थ के सम्बन्ध में प्रश्न

[१]

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० १, श्लोक)

छप्पय

अरजुन बोलै—नाथ ! त्याग संन्यास शब्द जो ।
तिनिमें का है भेद बतावें वासुदेव सो ॥
इनि दोउनि को तत्व केशिसूदन ! समुझावें ।
पृथक-पृथक इनि अरथ महाबाहो ! बतलावें ॥
केशी नामक असुर के, तुम हो मारनहार हरि ।
त्याग और संन्यास को, अरथ बतावें कृपा करि ॥

---

* अर्जुन ने कहा—"हे महाबाहो ! मैं सन्यास का तत्व जानना चाहता हूँ, हे हृषीकेश ! साथ ही त्याग के तत्व को भी बतावें । हे केशिनिषूदन । इन दोनों के तत्व को मैं पृथक्-पृथक् ही जानना चाहता हूँ ॥

कोई कोई शब्द किसी के अर्थ में रूढ़ हो जाता है। जैसे पंकज शब्द है। इसका अर्थ है पंक-कीच-से जो उत्पन्न हो वह पंकज। कीच से तो सिवार नाम की एक घास पैदा होती है, जोंक नाम का एक कीड़ा भी कीच से पैदा होता है, कमल भी कीच से होता है, किन्तु पंकज शब्द इन अर्थों में व्यवहृत नहीं होता। वह तो एकमात्र कमल के अर्थ में रूढ़ि बन गया है। पंकज कहते ही कमल हमारे हृदय पटल पर छा जाता है। कोई-कोई शब्द प्रतीकात्मक भी रूढ़ हो जाता है। जैसे भ्रातृव्य शब्द है। भ्रातृव्य भाई के लड़के को भतीजे को कहते हैं। वह हमारे पितृव्य धन का अधिकारी है। अधिकार में प्रायः कलह होती ही है, जिससे कलह होती है उससे शत्रुता बँध ही जाती है। इसी प्रतीक के कारण 'भ्रातृव्य, शब्द का अर्थ शत्रु हो जाता है। इसी प्रकार 'संन्यासी' शब्द को सुनते ही हमारे सम्मुख दाढ़ी मूँछ मूँड मुड़ाये, गेरुए कपड़े पहिने हाथ में दर्याफ्ती नारियल का पात्र लिये एक ऐसे व्यक्ति का चित्र आ जाता है, जो शिखा, सूत्र, सन्ध्या वंदन, देव, ऋषि तथा पितृ कर्मों से रहित हो और हाथ से भोजन न बनाकर यत्र-तत्र-सर्वत्र खा लेता हो। वास्तव में संन्यास और संन्यासी का यह अभिप्राय नहीं।

धर्म शास्त्रों के अनुसार 'संन्यास' वर्णाश्रम धर्म के चार आश्रमों में से एक अंतिम आश्रम है। जब पुत्र के भी पुत्र हो जायँ और संसारी भोगों से वितृष्णा हो जाय, तो वन में जाकर वास करे, अर्थात् घर के सब झंझट छोड़कर वन के कंदमूलों पर निर्वाह करता हुआ। शास्त्रीय विधि से घोर तप में निरत हो जाय। शीतोष्ण सहन करे, किसी से याचना न करे, ब्रह्मचर्य से रहे, सदा शरीर को तपाने में-विविध प्रकार के तपों में-निरत रहे, इतने पर भी अग्निहोत्र आदि नित्य नैमित्तिक कर्मों को न छोड़े।

जब समझे वैराग्य दृढ़ हो गया। तितिक्षा की शक्ति पूरी आ गयी। बाहर की अग्नियो को भीतर की अग्नियो मे आरोपित करके निरग्नि बन जाय, ऐसे त्यागी को फिर अग्निहोत्रादि कर्मों की आवश्यकता नहीं। वह समस्त काम्य कर्मों का परित्याग करके सन्यासी त्यागी बन जाय।

सन्यासी तीन प्रकार के बताये हैं, एक ज्ञान संन्यासी, दूसरे वेद सन्यासी और तीसरे कर्म संन्यासी। जो समस्त इस लोक की तथा स्वर्गादि परलोक के सुखो की आसक्ति से रहित होकर निर्द्वन्द्व तथा निष्परिग्रह बनकर निरन्तर ही आत्मज्ञान में निमग्न रहे, वह ज्ञान संन्यासी है।

जो केवल वेद के ही अभ्यास में निरन्तर निरत रहता है, जिसको किसी प्रकार की संसारी वस्तुओं की आशा नहीं है, जो किसी भी वस्तु का परिग्रह-सग्रह नहीं करता जो अपनी इन्द्रियों को वश मे करके जितेन्द्रिय होकर वेद के अध्ययन मे लगा रहता है उस मुमुक्षु को वेद सन्यासी कहते है।

जो बाहर की आहवनीयादि अग्नियो का आत्मसात् कर लेता है अर्थात् बाह्य अग्नियों को भीतर की अग्नि मे आरोपित कर लेता है। जो समस्त कार्यों को ब्रह्मार्पण बुद्धि से करता है, वह महायज्ञ परायण संन्यासी कर्म संन्यासी होता है। इन तीनो मे ज्ञानी श्रेष्ठ है।

संन्यासियो के चार प्रकार बताये हैं (१) हंस (२) परम हंस (३) कुटीचक और (४) बहूदक। जो सबसे स्नेह छोडकर अपने ग्राम के ही समीप कुटी बनाकर रहे वह कुटीचक है, जो अपने उज्वल चरित्र द्वारा निरन्तर ब्रह्म विचार में मग्न रहे वह हंस है। जो सब कुछ परित्याग करके ज्ञान में ही निमग्न रहे वह परमहंस है। जो एक जगह स्थिर न रहे। निरन्तर घूमता ही रहे, अनेकों

घाटों का पानी पीता फिरे वह बहूदक है। इस प्रकार चतुर्थाश्रमी सन्यासियों के भेद हैं।

आजकल जो यह निर्मूल-सी धारणा बन गयी है, कि सन्यासी को शिखासूत्रों का परित्याग कर ही देना चाहिये। यह केवल भ्रम मात्र है। सन्यासी के पर्यायवाची शब्द चतुर्थाश्रमी, पाराशरी, मस्करी, परिव्राट्, कर्म्मन्दी, श्रमण, भिक्षु, इत्यादि। आजकल सन्यासी शब्द तो शिखासूत्र त्यागी के अर्थ में तथा श्रमण शब्द जैनी साधुओं के अर्थ में और भिक्षु शब्द बौद्ध साधुओं के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं। वास्तव में वह चाहें शिखा सूत्र धारी हो या शिखा सूत्र त्यागी हो, काषायवस्त्र पहिने हो, या लाल अथवा स्वच्छ वस्त्रों से सन्यास में कोई अन्तर नहीं पडता। सन्यास में सद्गुणों पर विशेष कर त्याग और वैराग्य पर ही विशेष बल दिया है। जो जितना ही अधिक त्यागी विरागी, निस्परिग्रही होगा वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ सन्यासी समझा जायगा। सन्यासी को समबुद्धि होना चाहिये उसका आचार शुद्ध हो, काम, क्रोध लोभ मोहादि से रहित हो किसी वस्तु का संग्रह न करे। कौपीन, आच्छादन दंड और कमंडलु बहुत ही आवश्यक सामग्रियों का केवल शरीर निर्वाहार्थ रखे। मौनी, ब्रह्मचारी, सदाचारी, मानापमान में तुल्य, हिंसा माया से रहित, शान्त, दान्त, तितिक्षु, अपरिग्रही, एकान्तवासी रहे। सदा एक का अन्न न खाय इत्यादि बहुत से गुण बताये हैं। सन्यासी के लिये चार प्रकार के ही पात्र बताये हैं। या तो लोहे का कमंडल रखे, या काष्ठ का बना अथवा मृत्तिका का यदि मिल जाय तो मोटे बाँस का पात्र बना ले। पहिले ये पात्र सर्वत्र सहज में बिना मूल्य मिल जाते थे। आजकल जो सन्यासी जल दरियायी बड़ नारियल का पात्र लोहे की टोंटी लगाकर, ऊपर

से चांदी आदि मढ़कर कमंडलु रखते हैं यह सब अशास्त्रीय हैं इस प्रकार शास्त्रो मे यतियों के संन्यासियो के बहुत कठोर-कठोर नियम बताये हैं। संन्यास आश्रम सबसे कठोर है। उसके नियमो का पालन बहुत कठोर हैं। संन्यासी को न्यस्त दंड बताया है। अर्थात् अपने साथ कोई कितना भी अपकार करे उसे दंड नहीं देना चाहिये। पहिले दंड लोग बॉस के दडे से देते थे। अतः दंड धारण-दंड का ही प्रतीक है। कोई एक दंड कोई तीन दंड प्रतीकरूप मे धारण करते थे। तीन दंड दैहिक, वाचिक और मानसिक बताये हैं। किन्तु केवल संन्यासी का वेप बना लेना, केवल संन्यासी के वाह्यचिन्हो को-दंड कमंडलु आदि-को धारण कर लेना यह सन्यास नही है। इसकी वेद शास्त्रो ने बड़ी निन्दा की है। केवल लिंगों को अपना लेना, बाहरी चिन्ह बना लेना धर्म में कारण नहीं। वासों को पकड़ लेने मात्र से कोई यति नहीं हो सकता।

वास्तव में तो संन्यास धर्म का सम्बन्ध चिन्हो से न होकर अन्तःकरण से है, जिसका अन्तःकरण पवित्र हो गया है, वह कहीं भी रहे, कैसे भी वेप मे रहे वह यति संन्यासी ही है, और जिसने बाहरी वेप तो बहुत ही भव्य बना लिया है। चिन्ह तो सब सन्यासियों के धारण कर रखे हैं, किन्तु उसका अतःकरण शुद्ध नहीं हुआ है, न उसे शुद्ध करने का कोई प्रबल प्रयत्न ही कर रहा है, तो उसे कभी त्यागी विरागी सन्यासी नहीं कह सकते। इसलिये त्याग क्या है, संन्यास क्या है, इसके रहस्य को भली भाँति समझ लेना चाहिये। सन्यास का अर्थ है, सब कुछ छोड़कर-समस्त कर्मों का परित्याग करके-तत्वचितन मे ही मन को लगाना। जिसने संन्यास ले लिया, उसके लिये कोई कर्तव्य कर्म शेप नहीं रह जाता, न उसके लिये कोई अकर्तव्य ही

होते, जो सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से ऊपर उठ गया, निस्त्रैगुण्य हो गया, उसके लिये विधि निषेध, कर्तव्य अकर्तव्य, धर्म अधर्म कुछ भी नहीं रह जाता। जिसका शरीर में से अहंभाव मिट गया, बुद्धि जिसकी सत् असत् विवेक से भी ऊपर पहुँच गयी। स्वभावानुसार अच्छा बुरा कैसा भी कार्य हो जाय, बुद्धि पर उसके अच्छेपने का बुरेपने का तनिक भी प्रभाव न पड़ता हो, वह जो भी कुछ करे वही सब उचित ही है, उसे किसी भी कर्म में दोष नहीं लगता, क्योंकि वह तो दोष गुण दोनों से परे हैं।

गीता शास्त्र एक विलक्षण मार्ग का प्रतिपादन करता है। इस बात को हम पिछले अनेक प्रकरणों में बार-बार बता चुके हैं, कि गीता के समय दो ही मार्ग प्रचलित थे, एक तो सांख्य-मार्ग–अर्थात् ज्ञानमार्ग दूसरा योगमार्ग–वर्णाश्रम धर्म मार्ग–या कर्म मार्ग। ज्ञानमार्ग में तो वर्ण धर्म गौण है, वहाँ ज्ञान की प्राधान्यता है। वर्णधर्म का पालन तभी तक विहित है, जब तक अन्तःकरण की शुद्धि न हुई हो–पूर्व जन्म के कषाय नष्ट न हुए हों। कर्मों को विषयों से वैराग्य के निमित्त करने चाहिये। वहाँ कर्मों के करने में तात्पर्य नहीं है। वैराग्य वृद्धि में तात्पर्य है। जिस क्षण जहाँ पर ही–जिस वर्ण में जिस आश्रम में–जब भी वैराग्य हो जाय। वह चाहे ब्रह्मचर्य अवस्था में गुरु गृह में हो जाय, या अपने निज के घर में गृहस्थाश्रम में हो जाय, अथवा वानप्रस्थावस्था में वन में हो जाय, उसी समय समस्त कर्मों को छोड़कर संन्यास ले ले, वर्ण का, आश्रम का कुछ भी विचार न करे।

वर्णाश्रम धर्म में वर्ण और आश्रम दोनों में श्रेष्ठता अश्रेष्ठता का विचार है। उसमें शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय तीनों को सन्यास

का अधिकार नहीं। आश्रमों मे नियम है, एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाय, कभी अनाश्रमी न रहे। ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थाश्रम मे जाय, गृहस्थाश्रम से, वानप्रस्थाश्रम में और वानप्रस्थाश्रम से संन्यासाश्रम मे जाय। अन्यथा न करे। यदि अन्यथा करता है अर्थात् संन्यास से गृहस्थाश्रम मे आता है या वानप्रस्थाश्रम से गृहस्थी हो जाता है तो उसे आरूढ़ पतितपने का दोष लगता है। किन्तु संन्यास उसमे भी अंतिम लक्ष्य है। वर्णाश्रम की परि समाप्ति भी संन्यास में ही है। जैसे सांख्य या *ज्ञान मार्ग का लक्ष्य त्याग अथवा संन्यास है उसी प्रकार कर्म* मार्ग या योग मार्ग की परि समाप्ति भी संन्यास या त्याग मे ही है।

किन्तु भगवान् ने समस्त गीता में निष्काम कर्म योग या भक्ति योग पर ही बल दिया है। उन्होंने ज्ञान मार्ग या वर्णाश्रम धर्म कर्म मार्ग का कहीं खंडन नहीं किया। दोनों मे किसी को छोटा बड़ा नहीं बताया। कह दिया जो स्थान सांख्य वालों को अर्थात् ज्ञान मार्ग वालो को प्राप्त होता है, वही स्थान वर्णाश्रम-धर्म वाले कर्म योगियों को भी प्राप्त होता है। जो सांख्य मार्ग के और कर्म मार्ग के दोनो के लक्ष्य को एक देखता है, वास्तव मे वही देखता है, किन्तु भगवान् का पक्ष यह है कि तुम जहाँ भी हो निष्काम भाव से वहीं रह कर प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करते रहो। स्थान-स्थान मे इसी बात पर आदि से अन्त तक भगवान् बल देते रहे है। अर्जुन ने यह सोचा—कि मैं अपने सगे सम्बन्धियो को मार कर जो राज्य प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा हूँ, यह पाप कर रहा हूँ। इसलिये मुझे युद्ध से उपरत हो जाना चाहिये। भगवान् से उसने यही कहा—"मैं युद्ध न करूँगा।"

भगवान् ने पूछा—"क्यों नहीं करोगे, महाशयजी !"

अर्जुन ने कहा—"मैं रुधिर से सने भोगों को भोगना नहीं चाहता।"

भगवान् ने कहा—"रुधिर से सने भोग कहाँ हैं जी !"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, भीष्म, द्रोण, कृपादि गुरु जनों को मार कर जो भोग भोगे जायेंगे वे रक्त से रञ्जित ही तो होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"भाई, विवशता है, तुमने जन्म ही ऐसे वर्ण में लिया है, जहाँ कर्तव्य बुद्धि से सगे भाई से भाई को, पिता से पुत्र को लडना ही पडता है। क्षत्रिय का धर्म ही यह है।"

अर्जुन ने कहा—"मैं ऐसे घोर क्रूर धर्म का पालन नहीं करना चाहता।"

भगवान् ने कहा—"वर्णाश्रम धर्म मे तो अपने अपने वर्ण के अनुसार कर्म करके उसी से आजीविका चलानी चाहिये। अपना जो पैतृक धन्धा हो उसे कभी छोडना नहीं चाहिये। अपने धर्म मे मर जाना भी श्रेयस्कर है, पराया धर्म भयावह है। क्षत्रिय का कर्म, धर्म युद्ध करना है। अतः तुम्हे वह स्वतः ही प्राप्त हो रहा है। शत्रुओं को मार कर प्रजा पालन रूपी धर्म का पालन करके उसी के द्वारा अपनी आजीविका चलाओ। युद्ध न करोगे, तो शत्रु तुम्हारा राज्य न देंगे। तुम भूखों मर जाओगे ?"

अर्जुन ने कहा—"भूखों क्यों मर जायेंगे ? जब हम लाक्षागृह से भागे थे, उस समय बारह वर्षों तक छिपकर रहे थे, तब भूखों थोड़े ही मर गये थे। जैसे उस समय भिक्षा माँग कर पेट भर लेते थे, वसे ही अब भी भीख से पेट भर लेंगे।"

भगवान् ने कहा—"उस समय की बात दूसरी थी, उस समय तुम लोगों का विवाह नहीं हुआ था, एक प्रकार से तुम सब भाई ब्रह्मचारी थे, अतः ब्रह्मचारी का चाहे वह ब्राह्मण वर्ण का हो, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण का हो—"भिक्षा माँगना धर्म है। यद्यपि तुम लोग ब्रह्मचारियों की भाँति गुरुकुल में वास नहीं करते थे, तथापि आपत्ति मे थे। आपद् धर्म मे क्षत्रिय के लिये विधान है। (चरेत्वा विप्ररूपेण) आपत्ति काल में क्षत्रिय ब्राह्मण का वेष बनाकर भिक्षावृत्ति कर सकता है। किन्तु वह तभी तक इस वृत्ति से निर्वाह करने का अधिकारी है जब तक उसकी आपत्ति दूर न हो। आपत्ति दूर हो जाने पर भी जो आपद् धर्म वाली वृत्ति का पालन करता है पतित हो जाता है। (कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्हेण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा)

उस समय तुम सब भाई आपत्ति मे थे, आपत्ति में ब्राह्मण-वृत्ति स्वीकार कर लेना क्षत्रिय का दोष नहीं। जब आप सब भाइयों का विवाह हो गया। महाराज द्रुपद जैसे बलवान् क्षत्रिय से सम्बन्ध हो गया, तब तुम लोग आपत्ति से मुक्त हो गये। इसलिये तब आप लोग भिक्षा माँगने के अनधिकारी हो गये। आप लोगों ने धृतराष्ट्र से अपना धर्म पालन करने के लिये राज्य की याचना की। गृहस्थी क्षत्रिय अनापद् में भिक्षा पर निर्वाह करता है, तो पाप करता है इसलिये आप इन्द्रप्रस्थ मे अपनी राजधानी बनाकर प्रजा पालन रूप धर्म करके अपना निर्वाह करने लगे। अब न तो आप पर आपत्ति ही है न भिक्षा पर निर्वाह करने वाले आप ब्रह्मचारी अथवा सन्यासी ही हो, फिर भिक्षा पर निर्वाह कैसे कर सकते हो?

अर्जुन ने कहा—"ब्रह्मचारी तो हम रहे नहीं सन्यास का हमे अधिकार नहीं, तो वानप्रस्थ होने का तो अधिकार है। जैसे

बारह वर्षों तक हम कन्दमूल फलों पर निर्वाह करते रहे या जैसे अज्ञात वर्ष में एक वर्ष तक नौकरी करके निर्वाह करते रहे वैसे निर्वाह करेंगे।"

भगवान् ने कहा—'देखो, क्षत्रिय तभी वानप्रस्थ में जा सकता है, जब उसे विषयों का भोग करते करते पूर्ण विराग हो गया हो। पुत्र राज्य करने का अधिकारी हो गया हो। तब सब की अनुमति लेकर वन में जाकर कन्द मूल फल खाते हुए निरंतर तप में निरत हो सकता है। सो, तुम्हें अभी विषय भोगों से राज्यपाट से पूर्ण विराग तो हुआ नहीं। पुत्र अभी राज्य के योग्य नहीं राज्य की अभिलाषा अभी मन में है ही। ऐसी दशा में वन में जाकर निर्वाह करने लगो तो कायर कहलाओगे। बारह वर्ष वन में रह कर एक वर्ष नौकरी करके जो तुमने निर्वाह किया वह भी आपद् धर्म था। अब वह तेरह वर्ष वनवास करने की प्रतिज्ञा रूपी आपत्ति तो टल गयी। अब तुम वानप्रस्थी नहीं हो जो वन के कंदमूल फलों पर निर्वाह करो। रही बात नौकरी की सो क्षत्रिय को नौकरी करना सर्वथा निषेध है। (चरेत् वा विप्ररूपेण न स्ववृत्त्या कथञ्चन) हाँ सांख्य योग अर्थात् ज्ञान हो जाने पर ज्ञान मार्गी क्षत्रिय सन्यासी हो सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तो उस वर्णाश्रमी सन्यासी में और सांख्य योग के अनुसार बने सन्यासी में कोई अन्तर है क्या?"

भगवान् ने कहा—"कुछ भी अन्तर नहीं दोनों को एक ही पद प्राप्त होगा।"

अर्जुन ने कहा—'तब मैं सांख्यमार्ग वाला सन्यासी बनकर ही भिक्षा पर निर्वाह कर लूँगा।"

भगवान् ने कहा—"सांख्य योग वाले सन्यास को क्या तुमने

गुड़ का पूआ समझ रखा है, उसमें भैया जी ! बड़ा क्लेश होता है। क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ताव्यक्तचेतसाम् ।" उसका निर्वाह आपसे नहीं होने का ?"

तब अर्जुन घबड़ा गया। उसने हाथ जोड़कर पैरों में पड़कर कहा—"तब मैं क्या करूँ, मैं तो धर्म के विषय में समूढ़ चित्त वाला बन गया अब मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में हूँ, मेरा जिसमें कल्याण हो, वह उपदेश मुझे दीजिये। मेरे धर्म का भी पालन हो जाय और गुरुजनों के वध का पाप भी मुझे न लगे। ऐसा कोई मार्ग मुझे बताइये।"

भगवान् ने कहा—"मध्यमार्ग को ग्रहण करो।"

अर्जुन ने पूछा—"मध्य मार्ग क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो बहुत उच्चकोटि के विशाल बुद्धि के क्षीण पाप वाले उत्तम अधिकारी हैं, उनके लिये तो सांख्य मार्गया या ज्ञानमार्ग है और जो निम्न श्रेणी के अधिकारी है, उनके लिये क्रम मार्ग या कर्म मार्ग है क्रम-क्रम से शूद्र धर्म का पालन करते हुए दूसरे जन्म में वैश्य होना। वैश्य धर्म का पालन करते हुए दूसरे जन्म में क्षत्रिय होना। क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए दूसरे जन्म में ब्राह्मण होना ब्राह्मण धर्म का पालन करते हुए अंत में सर्वस्व त्याग कर संन्यासी हो जाना। और संन्यास द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेना। यह क्रममार्ग सर्वसाधारण के उपयुक्त कर्म मार्ग है। चाहे सांख्य मार्ग हो चाहें कर्म मार्ग हो संन्यास त्याग दोनों में परमावश्यक है।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर मध्यमार्ग कौन सा रहा ?"

भगवान् ने कहा—"यह तीसरा मार्ग है, इसका नाम भक्ति मार्ग है, इसे निष्काम कर्म मार्ग ब्रह्मार्पण मार्ग, प्रपन्न मार्ग अथवा शरणागत मार्ग है।"

अर्जुन ने पूछा—"इसमें क्या करना होता है ?"

भगवान् ने कहा—"इसमे फल की इच्छा से कर्म नहीं किया जाता। मन मे कोई कामना रखकर फल की आशा से कर्म नहीं किया जाता। जहाँ हो जिस वर्ण, जिस आश्रम मे हो वही सुख और दुःख को, लाभ और अलाभ की ओर दृष्टि न रखकर दोनों को सम मानकर निष्काम भाव से जो सप्राप्त कर्तव्य को भगवदर्पण बुद्धि से किया जाता है, वह प्रभु की ही पूजा है। तुम इसी बुद्धि से–मेरी आज्ञा मानकर मुझे अर्पण करते हुए युद्ध करो। ऐसे भाव से युद्ध करने पर फिर चाहे तुम सैकड़ों भीष्म, कर्ण और कृपादि गुरुजनों को मार दो तुम्हें कुछ भी पाप न लगेगा। बस, इसी सिद्धान्त को भगवान् ने पिछले सभी अध्यायो में बल दे देकर समझाया। अर्जुन ने बीच-बीच मे जो-जो शकायें की उनका भी यथोचित उत्तर दिया। इस प्रकार समझाने बुझाने में सत्रह अध्याय समाप्त हो गये। अर्जुन भली प्रकार समझ गये, कि सांख्य योग और कर्म योग इन दोनो मार्गों से भिन्न एक निष्काम कर्म योग मार्ग भी है, उसमें समस्त कर्तव्य कर्मों का बिना त्याग किये हुए निरन्तर भगवान् का स्मरण करते हुए, सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करने की बुद्धि से करते रहने पर कोई दोष न लगेगा। बिना सर्व कर्मों के त्याग के संन्यासी का वेष बिना बनाये ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

जब सांख्य मार्ग अर्थात् ज्ञान मार्ग में भी सन्यास और त्याग परमावश्यक है और वर्णाश्रमधर्म कर्म मार्ग मे भी संन्यास और त्याग अत्यावश्यक है, तो इस तीसरे मार्ग निष्काम कर्म मार्ग या भक्ति मार्ग मे भी संन्यास या त्याग आवश्यक है या नहीं। एक ही यह शंका अर्जुन के मन में शेष रह गयी। अब उपसंहार रूप मे अर्जुन इस शका को पूछ कर भी 'करिष्येवचनं

तब' तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा। यह कहेंगे। अतः यह अठारहवाँ अध्याय निर्णयात्मक अध्याय है। समस्त गीता का सार सिद्धान्त इसमें बता दिया है, इसीलिये इस अध्याय का महत्व अत्यधिक है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन को जिज्ञासा हुई कि ज्ञान मार्ग मे तो समस्त कर्म त्याग के निमित्त संन्यासी बनने के लिये ही किये जाते हैं। बिना सन्यास के–त्याग–के ज्ञान नही और बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं।

इधर वर्णाश्रम कर्म योग का भी अन्तिम आश्रम संन्यास ही है। सब कुछ त्यागकर मुक्ति प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील हो जाओ दोनों मार्ग त्याग सन्यास प्रधान है। अब अर्जुन के पूछने का अभिप्राय यह है, कि इह तीसरे मध्य मार्ग भक्ति-मार्ग या निष्काम कर्म योग मार्ग मे भी सन्यासी बनना अत्यावश्यक है या नहीं। इसे भी निष्काम कर्म करते करते अन्त में कर्मों से सन्यास ले लेना चाहिये या नहीं। इसी शंका को व्यक्त करते हुए अर्जुन ने कहा –"भगवन्! आपकी बड़ी-बडी विशाल बाहुएँ हैं। जहाँ मन भी नहीं पहुँचता, वहाँ तक आपकी बाहुएँ फैली रहती हैं। अतः अब मुझे युद्ध से कोई भय नहीं।"

भगवान् ने कहा—"अपना अभिप्राय कहो।"

अर्जुन ने कहा—"हे महाबाहो! आप समस्त इन्द्रियों के नियन्ता हैं, उनके स्वामी हैं। कोई भी इन्द्रिय आपकी आज्ञा के विरुद्ध अनुसरण नहीं कर सकती।"

भगवान् ने कहा—"फिर वही बात, अरे बाबा तुम कहना क्या चाहते हो।"

अत्यन्य ही स्नेह सिक्त वाणी मे प्यार के साथ–अत्मीयता

के अनुराग भरे शब्दों में-अर्जुन ने कहा -"हे महाबाहो! हे हृषीकेश !! आपने व्रज में एक केशी नाम के असुर को मारा था, वह कंस का भेजा हुआ था। उसके भय से समस्त व्रजवासी काँप रहे थे, उस अधर्म बन्धु ने घोड़े का रूप बना लिया था। वैसे तो उसके काम, क्रोध, लोभ और मोह रूप चार पैर थे किन्तु दो को पृथ्वी पर टिकाकर काम क्रोध रूप दो पैरों से ही दुलत्ती झाड़ रहा था। आप तो महाबाहु ही ठहरे। आपने अपनी विशाल भुजा उसके मुँह में बढ़ा दी। वह फैली तो पहिले से ही थी, आपने उसके मुख में उसे फुला दिया। वह मर गया। उसका शरीर फूट की भाँति फट गया। आपने न कोई अस्त्र चलाया न शस्त्र सहज में ही शत्रु को नष्ट कर दिया ?

भगवान् ने कहा—"फिर वही गोल माल बात। अरे, बाबा! मैंने केशि का निपूदन कर दिया। उसे मार दिया। अच्छा किया, अब तुम अपना अभिप्राय कहो।"

अर्जुन ने कहा—"उस विशाल बाहु को प्रेमपूर्वक मेरे सिर पर रख दो, मेरी समस्त इन्द्रियों को अपनी सेवा में लगालो। केशि रूप जो संशय नाम का एक असुर है उसका नाश कर दो।"

भगवान् ने कहा—"अपने सशय को व्यक्त करो। तुम्हें कौन सा सशय है।"

अर्जुन ने कहा—"मैं सन्यास शब्द का और त्याग शब्द का पृथक् पृथक् तत्त्व जानना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"देखो, सं और नि दो उपसर्ग हैं अस् धातु से क्तः प्रत्यय होकर सन्यास शब्द बना है। इसका अर्थ है भली प्रकार जिसने न्यास किया हो वह सन्यास जिसमें हो (सन्यासोऽस्यास्तीति सः सन्यासी) वही सन्यासी है। उसका अर्थ है चतुर्थाश्रमी।"

इसी प्रकार त्यज धातु से घञ् प्रत्यय करने से त्याग शब्द बनता है। इसका अर्थ है, त्यागना छोडना, दे देना।

यह सुनकर अर्जुन हँस पड़ा। और बोला—"भगवन्! आपकी कृपा से इन शब्दों का अर्थ तो मैं भी जानता हूँ। मेरे पूछन का अभिप्राय इतना ही है कि साख्य मार्ग मे और कर्म मार्ग मे दोनो मे सन्यास और त्याग पर ही सबसे अधिक बल दिया गया है और इन दोनों को आपने निःश्रेयस्कर कहा है। किन्तु आपने बार-बार कर्म करते रहने पर ही बल दिया है। कहीं कहा है मेरा स्मरण करते रहो साथ ही युद्ध भी करते रहो (मामनुस्मर युध्य च) कहीं पर कहा है, आत्म परायण पुरुष को कर्म बन्धन के कारण नहीं हैं। आत्मवन्त न कर्माणि निबध्नन्ति) कहीं कहा है नव द्वार वाले देह मे रहता देही तो कुछ करता ही नहीं (नव द्वारे पुरे देही नेव कुर्वन्नमारयन्) कहीं आप कहते है—जो कर्मों के फलों का त्याग करके कार्य कर्मों को करता ही रहता है, वही सन्यासी है (अनाश्रितः कर्म फल कार्यं कर्म करोति यः स सन्यासी) कहीं आप कहते हैं मुझमें सम्पूर्ण कर्मों को अर्पण करके निराशी और निर्मम होकर युद्ध करते रहो (निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व) तो इन बातों से तो यही सिद्ध होता है कि कर्मों का प्रत्यक्षतः त्याग आपको अभीष्ट नहीं। साख्य योग वालों के सन्यास का अर्थ तो समझ में आ गया वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी कर्म योग के सन्यास का भी तत्त्व हम समझ गये, किन्तु आपके निष्काम कर्म योग या भक्ति योग मार्ग मे सन्यास तथा त्याग का अर्थ क्या? दोनों का एक ही अर्थ है। इसे मुझे पृथक् करके तत्त्व से समझा दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् निष्काम कर्म योग या भक्ति योग मार्ग के अनुसार जो सन्यास

का अथवा त्याग का जो अर्थ होता है, उसे जैसे बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सांख्य मार्ग में त्याग और सन्यास एक है।
कर्म मार्ग में विप्र लेइँ सन्यास टेक है॥
बिनु वैराग्य न त्याग, त्याग सन्यास कहावै।
सन्यासी बिनु बने मोक्ष नहिँ प्रानी पावै॥
करैं करम निष्काम जे, प्रभु पूजा ही निमित करि।
तहाँ त्याग सन्यास को, तत्त्व बतावें मोइ हरि॥

त्याग और संन्यास शब्दों का वास्तविक अर्थ

[२]

श्री भगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥*

(श्री भ० गी० १८ अ० २ श्लो०)

छप्पय

सुनि बोले भगवान—त्याग को अरथ बताऊँ।
कहें काहि संन्यास जथारथ मरम जताऊँ॥
कछुक वेदविद कहें—काम्य करमनि को तजिबो।
है वहई संन्यास कामना के बिनु करिबो॥
सब करमनि फल त्याग कूँ, त्याग कहें कछु विचक्षन।
त्याग और संन्यास के, कहे विविध विधि सुलक्षन॥

त्याग कहो सन्यास कहो, त्यागी विरागी कहो संन्यासी कहो, इनका अर्थ एक ही है। न्यास शब्द का अर्थ भी त्यागना

---

* इस पर भगवान् बोले—"काम्य कर्मों के त्याग को ही विज्ञ पुरुष 'सन्यास' के नाम से जानते हैं, वे ही विलक्षण पुरुष सर्व कर्मों के फलों के त्याग को 'त्याग' कहते हैं ॥२॥"

ही है, भली प्रकार त्याग वृत्ति को धारण करके जो वर्ताव करे वही त्यागी है। साधारणतया त्यागी और संन्यासी शब्दों का अर्थ यही लगाया जाता रहा है, कि जो घर, द्वार, कुटुम्ब परिवार सगे सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, पत्नी, सभी से सम्बन्ध छोड़कर सभी का त्याग करके निर्द्वन्द्व होकर विचरण करे। शरीर निर्वाह के लिये चाहे तो घर-घर से मधुकरी माँग ले, चाहे तो इस मधुकरी कर्म को भी छोड़ दे। शरीर यात्रा को प्रारब्ध पर छोड़कर निरन्तर ब्रह्म ध्यान मे ही निमग्न रहे।

हमारे देश मे त्याग वैराग्य का सबसे अधिक महत्त्व था। जो जितना ही बड़ा त्यागी विरागी होता था, वह उतना ही अधिक पूजनीय माना जाता था। समस्त वर्णों मे ब्राह्मण श्रेष्ठ क्यों माना जाता था, इसलिये कि वह त्याग की प्रति मूर्ति होता था, वह कभी किसी वस्तु का परिग्रह नहीं करता था। ब्राह्मण की चार वृत्ति-आजीविका की साधन भूता—कही गयी हैं। कृच्छ वृत्ति, अमृत वृत्ति, मृत वृत्ति और प्रमृत वृत्ति। कृच्छ वृत्ति तो यह हैं, कि जैसे पक्षी नित्य दाना चुग-चुगकर निर्वाह करता है, उसी प्रकार उंञ्छ वृत्ति करके इधर-उधर पड़े दाने को बीनकर उन्हीं से जीवन निर्वाह करे। दूसरे दिन को कुछ भी न रखे। यह ब्राह्मण की सर्वश्रेष्ठ वृत्ति है। उससे नीची वृत्ति यह है। एक घड़ा भरकर पन्द्रह दिन का अन्न संग्रह कर ले। ये दो तो कृच्छ वृत्ति हुई। दूसरी वृत्ति है अमृत वृत्ति। अर्थात् कहीं भी किसी से माँगने न जाय। दैवयोग से जो भी आयाचित जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी मे निर्वाह करे। न प्राप्त हो, तो भूखा रह जाय। तीसरी मृत वृत्ति है। झोली लेकर घर-घर से नित्य जाकर भिक्षा माँग लाये। उसी से निर्वाह करे दूसरे दिन के लिये अन्न संग्रह न करे। चौथी प्रमृत वृत्ति यह है कि खेती करके ६ महीने

के निर्वाह योग्य अन्न रख ले, जब नया अन्न आ जाय, तो पुराने अन्न का परित्याग कर दे, दान दे दे। चारों वृत्तियों में संग्रह निषेध है। ६ महीने का अन्न संचय करना सबसे निकृष्ट वृत्ति है। दूसरे वर्ण वाले चाहें जितना संग्रह कर ले। त्याग के कारण ही सभी वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ थे।

इसी प्रकार आश्रमों में संन्यास आश्रम इसीलिये सर्वश्रेष्ठ माना जाता था, कि संन्यासी पर अपनी कहलाने वाली कोई वस्तु रहती ही न थी। शरीर निर्वाह के लिये उसे अधिक से अधिक कौपीन, कटिवस्त्र, कंथा, दन्ड, कमंडलु, डोरी बस, इतनी ही वस्तुएँ रखने का अधिकार था, वह एक का अन्न नहीं खा सकता था। घर-घर से उसे मधुकरी माँगनी पडती थीं। वर्षा के चार महीनों को छोड़कर वह कहीं एक स्थान पर रह नहीं सकता था, पैर से भी युवती स्त्री का स्पर्श नहीं कर सकता था। किसी प्रकार के विषयों का उपभोग नहीं कर सकता था स्वादु अन्न की इच्छा नहीं कर सकता था शरीर को वह फोड़ा के समान समझता था, जैसे फोड़े को पकाने के लिये उस पर आटे की पुलिटिस रखी जाती है। उसी प्रकार इस शरीर के प्रारब्ध समाप्त होने तक भिक्षान्न से उसका पोषण करता था, जैसे फोड़े पर वस्त्र की पट्टी बाँधी जाती है, उसी प्रकार वह कंथा, कौपीन, कटिवस्त्रादि का उपयोग करता था, सन्यासियों में भी जो जितने ही अधिक त्यागी, परमहंस, अवधूत, दिगम्बर होते, वे उतने ही अधिक श्रेष्ठ माने जाते। जो कौपीन तक का भी परित्याग करके दिगम्बर रहते, किसी से कुछ भी नहीं माँगते, ऋषभदेव जी की भाँति अजगर वृत्ति धारण करके निस्पृह हो जाते वे संन्यासियों में सर्वोत्कृष्ट त्यागी अपरिग्रही माने जाते थे। कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि चाहें पुरुष किसी वर्ण का हो,

किसी आश्रम का हो, उसका श्रेष्ठत्व इसके त्याग वैराग्य में ही था। आर्य धर्मशास्त्रों में त्याग की सबसे बढ़कर महिमा है। उपनिषदों में तो कहा गया है न तो कर्मों के द्वारा, न सन्तानों के द्वारा और न धन के द्वारा अमृतत्व-अर्थात् मोक्ष-की प्राप्ति हो सकती है। केवल एक मात्र त्याग के ही द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। शुभ कर्म, अच्छी सन्तान सत् धन इनके द्वारा पुण्य कर्म हो सकते हैं, पुण्य कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि हो सकती है शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान हो सकता है। फिर ज्ञान के द्वारा मुक्ति हो सकती है। इस प्रकार कर्म, सन्तान तथा धन परम्परा मुक्ति में कारण भले ही हो, प्रत्यक्ष-सीधे-कारण नहीं है, किन्तु त्याग तो मुक्ति में प्रत्यक्ष कारण है। मोह के क्षय का-त्याग का-ही नाम तो मोक्ष है। इसी लिये मुण्डकोपनिषद में कहा गया है—"वेदान्त विज्ञान के द्वारा जिन्होंने अर्थ का सुनिश्चय कर लिया है, ऐसे यतिगण जिनका संन्यास योग द्वारा चित्त शुद्ध हो गया है वे सभी परात काल में ब्रह्मलोक में जाकर परामृत स्वरूप होकर संसार बन्धन से छूट जायँगे।"

इन सब वचनों का एक मात्र सार यही है कि त्याग के बिना-सर्व कर्म सन्यास के बिना-अन्तिम जो परम पुरुषार्थ मुक्ति है, उसकी प्राप्ति हो नहीं सकती। इसीलिये सांख्य मार्ग वालों का अर्थात् ज्ञान मार्गियों का लक्ष्य सर्व कर्म संन्यास ही है और वर्णाश्रम धर्मी अर्थात् कर्म मार्गियों की भी अन्तिम सीढ़ी संन्यास ही है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र इन दोनों मार्गों से विलक्षण एक मध्यम मार्ग-निष्काम कर्म योग-अथवा भक्ति योग बता रहे हैं। उसमें सन्यास का क्या स्वरूप होगा। इसीलिये वे सन्यास और त्याग का तत्त्व पूछ रहे हैं संन्यास और त्याग किस धातु

से किस प्रत्यय से बने हैं, इन शब्दों का धात्वर्थ क्या हैं, यह उनके प्रश्न का अभिप्राय नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब निष्काम कर्मयोग के अनुसार अर्जुन ने भगवान् से 'संन्यास' तथा त्याग का अर्थ पूछा तो भगवान् ने कहा—"देखो, तुम्हारे दो प्रश्न हे, तुम संन्यास का और त्याग का दोनो का पृथक् पृथक् अर्थ पूछ रहे हो। सो, सुनो। जो कवि हैं ज्ञानी पुरुष हैं, वे काम्य कर्मों के परित्याग को-छोड़ने को-संन्यास कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"काम्य कर्म क्या?"

भगवान् ने कहा—"देखो, कर्म चार प्रकार के होते हैं। (१) नित्य कर्म, जैसे संन्ध्या-वंदन, तर्पणादि। (२) दूसरे नैमित्तिक कर्म, निमित्त आने पर जैसे सूर्य-चन्द्रग्रहण लगने पर, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, चातुर्मास्य तथा अन्यान्य पर्व आने पर उनके निमित्त किये जाने वाले कर्म। (३) काम्य कर्म, जैसे पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ करना, स्वर्ग की कामना से अश्वमेधादि यज्ञों को करना। जो फल की कामना से किये जाने वाले यज्ञ, दान तथा तपादि शुभ कर्म। (४) भगवत् सेवा सम्बन्धी कर्म—जैसे भगवान् के निमित्त तुलसी, पुष्पादि संग्रह करना, माला बनाना, नैवेद्यादि बनाना, जो भी कार्य भगवत् सेवा सम्बन्ध के लिये, किये गये हो। ये ही चार प्रकार के किये जाने योग्य कर्म है।"

अर्जुन ने कहा - "एक निषिद्ध भी तो कर्म हैं?"

भगवान् ने कहा—"यहाँ करने योग्य कर्म तो चार ही हैं। निषिद्ध कर्म तो त्याज्य हैं, उन्हे तो सभी को त्यागना चाहिये। इसीलिये जो कर्म किये जाते हैं, वे नित्य, नैमित्तिक, काम्य और भगवदीय कर्म। तो स्त्री, धन सन्तान तथा स्वर्गादि

लोकों को लक्ष्य करके इनकी प्राप्ति की कामना के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें छोड़कर शेष तीनों प्रकारों के कर्मों को निष्काम भाव से करता रहे। इससे सिद्ध हुआ कि काम्य कर्मों के न्यास-अर्थात् त्याग-को ही संन्यास कहते हैं।

अर्जुन ने कहा—"जैसे काम्य कर्मों को त्याग देते हैं, वैसे ही नित्य, नैमित्तिक और भगवत् सम्बन्धी कार्यों को क्यों न त्याग दें?"

भगवान् ने कहा—"नित्य नैमित्तिक कर्मों को यदि भगवत् प्रीत्यर्थ निष्काम भाव से करता रहे, तो इसमें हानि ही क्या है। भगवान् के निमित्त तो कर्म करने ही चाहिये ये कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। भगवान् के प्रीतिभाजन बनने की कामना-कामना नहीं कहलाती। कामना तो स्त्री, धन, पुत्र परिवार तथा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति की इच्छा को कहते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"काम्य कर्मों के त्याग का नाम तो संन्यास हुआ। अब त्याग का तत्त्व और समझा दें?"

भगवान् ने कहा—"समस्त कर्मों के फल के त्याग को विचार कुशल पुरुष त्याग कहते हैं। अर्थात् जो भी कर्म करे उसका फल न चाहे, कर्तव्य बुद्धि से करता रहे यही त्याग है। फल का त्याग ही त्याग कहलाता है, वैसे कर्मों का त्याग तो सम्भव ही नहीं। स्वाँस लेना, पलक मारना, पैरों को उठाना धरना, हाथों से वस्तुओं को पकड़ना, उछालना उठाना, तोड़ना जोड़ना ये सब के सब कर्म ही हैं। अतः कर्मों का त्याग तो सम्भव ही नहीं। त्याग कर्मों के फलों का ही होता है।"

अर्जुन ने कहा—"तो क्या समस्त मनीषी पुरुषों का, समस्त बुद्धिमान् जनों का, इस विषय में एक ही मत है कि सभी कर्मों के फल का ही नाम 'त्याग' है।

भगवान् ने कहा—"नहीं, सबका एक मत नहीं है। इस विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

अर्जुन ने कहा—"तब उन भिन्न-भिन्न विचार वाले विद्वानों के मतों को भी मुझे बताइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् त्याग के सम्बन्ध में जैसे भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों को बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा!"

छप्पय

नित्त और नैमित्त काम्य श्री हरि पूजन हित।
कहे चारि विधि करम करैं प्रानी दैकें चित॥
करैं कामना हेतु काम्य सो करम कहावै।
उनि करमानि कूँ त्यागि शेष सब करैं करावै॥
किन्तु करैं निष्काम है ताहि कहैं सन्यास बुध।
सरब करम फल त्यागिबो, यही त्याग हैं परम शुध॥

त्याग संन्यास के सम्बन्ध में विभिन्न मत

[३]

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥❀

(श्री भग० गी० १८ अ० ३,४ श्लो०)

छप्पय

कछुक मनीषी कहैं—दोषयुत सकल करम हैं ।
त्याग सबनि को करै वेद को जिही मरम हैं ॥
शुभ होवैं वा अशुभ मात्र सब करम दोष युत ।
तातैं तजि सब करम, होहि निष्करम वेदवित ॥
कछुक कहत जो कामयुत, त्यागे उनि जो भोग्य हैं ।
यज्ञ दान तप शुभ करम, कबहुँ न त्यागन जोग्य हैं ॥

❀ कुछ मनीषी ऐसा भी कहते हैं, समस्त कर्म ही दोष युक्त हैं, इसलिये कर्ममात्र का ही त्यागना चाहिये । दूसरा का मत है यज्ञ, दान और तपादि जो कर्म हैं, उनका त्याग नहीं करना चाहिये ॥३॥

हे भरतसत्तम ! इन दोनों पक्षों में मेरा अपना जो निश्चय है तुम उसे भी सुन लो हे पुरुष सिंह ! देखो त्याग भी तीन ही प्रकार का बताया गया है ॥४॥

दो प्रकार के संन्यासी होते हैं, एक ज्ञान मार्गीय दूसरे कर्म मार्गीय। ज्ञान मार्गी सन्यासी के लिये कोई नियम नहीं है, कब सन्यास ले। जिस समय भी विराग हो जाय उसी समय सर्वस्व त्याग कर अनिकेत अलिंग होकर विचरे किसी प्रकार का सग्रह न करे। जैसे शुकदेव जी, दत्तात्रेय, जडभरत, वामदेवादि सन्यासी गण। इन लोगो को न देव ऋण लागू होता है, न ऋषि ऋण और न पितृ ऋण। ये लोग समस्त कर्तव्य अकर्तव्य से परे होते हैं। किसी भी सकाम या निष्काम कर्म को सकल्प-पूर्वक नही करते। इन्द्रियाँ इन्द्रियों के कार्यों में स्वभावानुसार वर्तती रहती हैं, उनमे इनकी अहकृति नहीं होती।

दूसरे सन्यासी कर्म मार्गीय होते हैं। उन लोगों का सिद्धान्त है। जो भी पुरुष उत्पन्न होता है, उसके शिर पर तीन ऋण होते हैं, ऋषि ऋण, पितृ ऋण और देव ऋण। इन तीनों से जो बिना उऋण हुए मर जाता है, उसका पतन होता है। अतः ऋषियो के ऋण से तो वेदों का अध्ययन अध्यापन करके उऋण हुआ जाता है। ऋषियो ने कितने कष्ट सह-सहकर कितना घोर तप करके वेदों की ऋचाओं का साक्षात्कार किया। वेदो के मत्रों को देखा, उनका प्राकट्य किया। इसीलिये किया कि लोग वेदों को पढ़ेगे पढ़ायेंगे, एक वैदिक परम्परा अक्षुण्ण बनी रहेगी। इस परम्परा का जो अनादर करते हैं, वे ऋषियों के कोपभाजन होते हैं। अतः वेदो का वेदाङ्गो का अध्ययन अध्यापन करके ऋषियों का ऋण चुकाया जा सकता है।

देवगण कृपा करके जल वर्षाते है। हमारी इन्द्रियो का संचालन करते हैं। वे रोटी दाल भात नहीं खाते। वे यज्ञीय धूम को सूँघकर तृप्त होते हैं। उनका मुख अग्नि है, अग्नि के मुख से

ही देवगण खाते है। अतः नित्य, नैमित्तिक तथा पशुयज्ञ, सोम-यज्ञादि करके उनके ऋण से उऋण हुआ जा सकता है।

ऋषि तथा, देवताओं के ऋणी होने के साथ ही हम अपने पितरों के भी ऋणी हैं। हमारे पिता को यदि हमारे पितामह पैदा न करते, तो हमारा शरीर कैसे पैदा हो सकता था। हमारा जो शरीर है, वह हमारे पिता, पितामह, प्रपितामह वृद्ध प्रपितामह आदि पितरों की धरोहर है। जैसे हमारे वृद्ध प्रपितामह धरोहर रूप में हमारे प्रपितामह के शरीर को छोड़ गये। यदि हमारे प्रपितामह, हमारे पितामह के शरीर को न पैदा करते, तो हमारी वंश परम्परा कैसे चलती। जैसे हमारे वृद्ध प्रपितामह हमारे प्रपितामह को छोड़ गये और हमारे प्रपितामह, पितामह को, पितामह हमारे पिता को छोड़ गये और पिता हमें छोड़ गये इसी प्रकार हमें भी अपने पुत्र और पौत्रों को छोड़ना चाहिये, नहीं तो हम पितरों के ऋणी रहेंगे, उनके कोपभाजन बनेंगे, पितरों को जल दान पिंड दान कौन देगा। अतः प्रत्येक गृहस्थी का कर्तव्य है वह पुत्र पैदा आवश्यक करे। जो अपुत्री है उस की गति नहीं। अतः ब्रह्मचर्य में ऋषि ऋण से, गृहस्थ में देव ऋण तथा पितृ ऋण से उऋण होकर, वन में जाय। अथवा संन्यास ले ले। समस्त कर्मों का त्याग कर दे। क्रम-क्रम से वैराग्य को तितिक्षा को बढ़ाता जाय और उसी प्रकार त्याग की मात्रा में भी वृद्धि करता जाय।

जैसे प्रथम तो कुटीचक सन्यासी बने। जब पुत्र के भी पुत्र हो जाय और ऋषि, देव तथा पितृ ऋणों से उऋण हो जाय, तो ग्राम के ही समीप कुटी बनाकर रहे, मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहे। उसके पुत्र पौत्र बनी बनाई भिक्षा दे जायें उसी पर निर्वाह करे। किसी से याचना न करे। भिक्षा

सूत्र धारण किये रहे। मिताहार करे। केवल शरीर निर्वाह के हेतु आठ ग्रास ही नित्य खाय। गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि महर्षिगण ऐसे ही कुटीचक संन्यासी हैं।

बहूदक वे सन्यासी कहलाते हैं, जो घर के लोगों से भिक्षा का भी सम्बन्ध नहीं रखते। कायिक वाचिक तथा मानसिक प्रतीक रूप से त्रिदंड धारण करके शिखा, यज्ञोपवीत को धारण किये हुए दंड कमंडलु कौपीन कथा सहित जो लोग मांस मदिरा का सेवन न करते हों, ऐसे सदाचार परायण सद् गृहस्थों के यहाँ से भिक्षा माँगकर अष्ट ग्रास, नित्य खाते हुए, पृथ्वी का परिभ्रमण करते रहते हैं। केवल मोक्ष प्राप्ति के ही लिये सदा सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं।

हंस वे सन्यासी कहलाते हैं जो एक स्थान पर निवास नहीं करते। छोटे ग्राम मे एक रात्रि, बडे नगर मे पाँच रात्रि, तीर्थ क्षेत्र मे सात रात्रि और वर्षा के चारमासो को छोडकर जो कहीं अधिक निवास नहीं करते। जो निरन्तर चान्द्रायणादि व्रत ही करते रहते हैं। नित्य आठ ग्रास खाना सम चान्द्रायण व्रत ही है।

चौथे जो परमहंस सन्यासी हैं, वे भी भिक्षा माँगकर केवल आठ ग्रास ही खाते हैं। वे भले ही कौपीन पहिने हों या दिगंबर ही रहें। रहने को वे वृक्ष के नीचे, शून्य गृहों में, स्मशान में, देव मंदिर, वन की घास फूँस की कुटी में, कुंभकार के अवा के समीप, यज्ञशाला, नदी तट, पहाडों की गुफा, या कहीं भी निर्जन स्थानों में पडे रहें। उनमें बहुत से शिखा सूत्र को धारण किये रहते हैं, बहुत से उनके बंधन में बँधे नहीं रहते। जैसे जड भरत जी परमहंस ही थे, फिर भी शिखा सूत्र धारण किये रहते थे। इन परमहंसों में बृहस्पति जी के भाई संवर्तक मुनि, महर्षि

आरुणि, श्वेतकेतु, जड़ भरत, दत्तात्रेय शुक, वामदेव, हारीतक आदि बहुत से महर्षि हो गये हैं। ये सब के सब सर्व कर्म त्यागी थे। इस प्रकार ज्ञान संन्यासी तथा कर्म संन्यासी अत में दोनों ही सभी कर्मों का परित्याग करके ही सन्यासी कहलाते थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी गीता मे एक तीसरे संन्यासी को बताते है, जो समस्त काम्य कर्मों का तो परित्याग कर दे, किन्तु निष्काम भाव से—लोक संग्रह के निमित्त—प्रभु पूजा समझ कर कर्मों के त्याग का आग्रह करे नहीं, उनके फलों का सर्वथा त्याग कर दे। वे स्वरूपतः कर्मों के त्याग पर बल नहीं देते। ऐसा संन्यासी निष्काम भाव से कर्म करता हुआ भी संन्यासी ही समझा जायगा, उसे कर्मों के करने का कुछ भी दोष न लगेगा। जैसे महाराज जनक ऐसे ही निष्काम कर्म योगी सन्यासी थे। राज्य पाट के समस्त कार्य करते हुए भी वे उनमे सदा निर्लिप्त रहते।

एक बार महाराज जनक समस्त राज्य काज छोड़कर सन्यासी बन गये। वे भिक्षा पर निर्वाह करने लगे। वृक्ष के नीचे या शून्य घरों मे रहते, किसी प्रकार का संग्रह नहीं करते। तब राज्य मे बड़ी गड़बड़ी हो गयी, चारों ओर अराजकता फैल गयी। तब उनकी रानी ने जाकर उन्हे समझाया। महाराज! यह भी तो अज्ञान ही है कि यह मेरा घर है यह पराया घर है। भिक्षा लेने तो आप गृहस्थियों के घरों मे जाते ही हो। मेरे घर से भिक्षा लेने मे क्या हानि है। शून्य घरों मे तो रहते ही हो। मेरे महलों मे रहो तो वे भी तो घर ही है। कोई सन्यासी का वेष बना लेने, से भिक्षा माँगने से, काषाय धारण मात्र से ही तो सन्यासी नहीं बन जाता। उद्देश्य तो मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष ज्ञान से होते हैं। वेष से नहीं।"

इन सब बातों का अनुमोदन महाराज जनक के गुरु ने भी किया, उन्होंने बताया राजन तीन मार्ग हैं। ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और निष्काम कर्मयोग मार्ग, आप इस तीसरे ही मार्ग का अनुसरण करो। महाभारत में इस मार्ग का विशद वर्णन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—क्या त्याग और सन्यास के सम्बन्ध में सभी मनीषियों का एक ही मत है या उनमें कुछ मतभेद भी है। यदि मतभेद है तो उसे मुझे बताइये। इस पर भगवान् ने कहा—"देखो, अर्जुन! कुछ मनीषियों का मत तो यह है, समस्त कर्म दोषमय हैं। कोई ऐसा कर्म नहीं जिसमें कुछ न कुछ दोष लगा हुआ न हो, जैसे कहीं भी किसी में भी अग्नि प्रकट करो, अग्नि के साथ धूँआ अवश्य ही होगा। कर्म मात्र दोषमय हैं। अतः उनका कहना है, कि सभी कर्मों को स्वरूपत छोड़ ही देना चाहिए। कैसे भी कर्म करो वे किसी न किसी रूप में बन्धन का कारण होंगे ही। इसलिये जैसे अन्तःकरण के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सरादि का त्याग करना ही चाहिये उसी प्रकार समस्त लौकिक पारलौकिक कर्मों का त्यागकर देना चाहिये।"

दूसरे मनीषियों का मत यह है, कि भाई, निषिद्ध कर्म हैं जैसे असत्यभाषण, चोरी कर्म, द्यूतकर्म, व्यभिचार कर्म इन कर्मों को तो अवश्य छोड़ देना चाहिये। किन्तु जो कर्म अन्तःकरण की शुद्धि में कारण हों, उन कर्मों का कभी भी परित्याग न करना चाहिये। जैसे यज्ञयागादि करना, दान देना, तप करना आदि आदि। ये तो शुभ कर्म हैं, इनसे तो प्रजा में धर्मभाव जागृत होते हैं।

अर्जुन ने कहा—"आपने भिन्न भिन्न ऋषियों के ये दो मत

बताय इनमें से आपको कौन सा मत अभीष्ट है। आपका इस विषय में क्या मत है? आप इन दोनों में से किस मत से सहमत हैं?"

भगवान् ने कहा—"मेरा अपना भी यही मत है, कि काम्य कर्मों का तो परित्याग करना चाहिये, किन्तु जो कर्म जीवों को पावन बनाने वाले हैं उन यज्ञ, दान और तपादि पवित्र कर्मों का परित्याग न करना चाहिये।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह तो मतभेद बना ही रहा। आप एक बात निश्चय करके बता दें।"

भगवान ने कहा—"अच्छा, तुम त्याग के सम्बन्ध में मेरा दृढ निश्चय मत जानना चाहते हो, तो देखो, मैं तुम्हें इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार के साथ बताना चाहता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"हाँ भगवन्! यह विषय बहुत आवश्यक है और गम्भीर है इन तनिक विस्तार के साथ बतावें।"

भगवान् ने कहा—"पीछे में तुम्हें आहार, यज्ञ, दान तथा तप के तीन तीन भेद बता चुका हूँ, उसी प्रकार हे पुरुष सिंह! त्याग भी तीन प्रकार का बताया गया है।"

अर्जुन ने कहा—"मैं प्रकार नहीं पूछ रहा हूँ। प्रकारों को तो आप पीछे बतावें। अब तो आप यही बतावें कि सर्व कर्मों का स्वरूपतः त्याग आपके मत में श्रेष्ठ है या यज्ञ, दान, और तपादि पवित्र कर्मों को करते रहना सर्वश्रेष्ठ है। गोलमाल न बताइये अपना इस विषय में निश्चित मत बताकर तब तीन प्रकार के त्यागों की व्याख्या कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर अब भगवान् इस विषय में जो अपना निश्चित मत है, उसे जैसे बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

तुमरो का सिद्धान्त बताओ नाथ ! कृपा करि ।
मम निश्चित सिद्धान्त बताऊँ बोले श्रीहरि ॥
भरतवंश-अवतंस ! पार्थ ! मम निश्चित बानी ।
त्याग अरथ सुनि लेउ बात ध्रुव मेने जानी ॥
पुरुष सिंह ! जो त्याग है, तीनि भांति को सो कह्यो ।
सात्विक, राजस, तामसिक, गुन भेदनि बहु विधि भयो ॥

भगवान् का निश्चय मत यह है शुभ कर्मों को अनासक्त होकर करता ही रहे

(४)

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ *

(श्री० भग० गी० १८ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

निश्चित मत मम जिहि काम्य करमनि तैं भागै ।
यज्ञ दान तप करम कबहुँ इनकूँ नहिँ त्यागै ॥
करतव हैं जे करम नहीं कछु हानि करन में ।
शुभ करमनि शुभ होहि सहायक दोष हरन में ॥
यज्ञ दान तप करम सब, विज्ञ मनीसी जननि कूँ ।
मेंटे मनके मलनि कूँ, पावन करि पावननि कूँ ॥

---

* यज्ञ, दान और तप ये जो कर्म हैं, इनका त्याग न करे । यही नहीं इन्हें तो करना ही चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये कर्म तो विज्ञ पुरुषों को पावन बनाने वाले हैं । ५॥

इन कर्मों को तो फल तथा आसक्ति का परित्याग करके करना ही चाहिये । हे पार्थ ! यह मेरा निश्चित मत है और यही मत उत्तम भी है ॥६ ।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं, एक स्वाभाविक प्रवृत्ति वाले कर्म दूसरे लोक के अपकारी और तीसरे लोकोपकारी कर्म। स्वाभाविक प्रवृति वाले तो वे कर्म हैं, जो बिना सिखाये जीव स्वाभाविक रूप से करने लगता है। जैसे स्वादिष्ट भोजन, मादक द्रव्यों का सेवन और मैथुनादि। ये कर्म ससार बन्धन को बढाने वाले हैं। बार-बार जन्म और मृत्यु के क्लेशों को देने वाले हैं, अतः इनसे जितना ही दूर रहा जाय उतना ही उत्तम है। सर्वथा दूर न रह सके, तो इन्हें एक मर्यादा के भीतर करे और उस करने का भी लक्ष्य इनका परित्याग ही हो जैसे मास-भक्षण में किसी का राग है, और उसका प्रयत्न करने पर भी त्याग सम्भव न हो, तो केवल यज्ञ में ही उसका उपयोग करे। यज्ञ के अतिरिक्त कभी भी न करे। यदि पान ही करना हो तो सौत्रामणि आदि यज्ञों में करे। जहाँ तक हो सूँघकर ही विधि को पूरा कर दे। मैथुन का सर्वथा त्याग न कर सकता हो, तो विवाह कर ले। एक पत्नीव्रत धारण करे, अपनी पत्नी में भी केवल ऋतुकाल में ही गमन करे। इस विधि को परिसंख्या विधि कहते हैं। इन कार्यों को परिसंख्या पूर्वक मर्यादा में रह कर करे, अमर्यादित रूप से इन कर्मों को न करे और करते समय भी सोच ले कि मुझे इनका अन्त में परित्याग करना है। इन कर्मों के करने में स्वाभाविक प्रवृत्ति का संकोच है।

दूसरे लोक के अपकारी कर्म—जैसे हिंसा करना, चोरी करना, व्यभिचार करना तथा दूसरों को सन्ताप देकर, दीन बनकर दूसरों से याचना करके, तथा अपने तथा पराये शरीरों को पीड़ा देकर विषय भोगों के लिये सामग्री एकत्रित करना। इन कर्मों से जगत का अपकार होता है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, उनके जीवन की इच्छा के विरुद्ध उन्हें मार देना वैसा भारी पाप है। सभी

लोग चाहते हैं हमारी बहिन बेटी, मातायें सदाचारिणी रहें। वे पर पुरुष से सम्बन्ध न रखें। उनकी इच्छा को हनन करके आप परस्त्री से ससर्ग रखते हैं, तो लोक का बडा अपकार करते हैं। सभी चाहते हैं हमे कोई सताप न पहुँचावे, गाली न दे। दीनता न धारण करनी पडे। आप उनकी इच्छा के विरुद्ध दूसरों को सन्ताप पहुँचाते हैं, गाली देते हैं, उन्हे दीन बनाने को विवश करते हैं, तो ससार का अपकार करते हैं। ऐसे लोको के अपकारी कर्मों को सदा त्याग देना चाहिये।

तीसरे कुछ ऐसे कर्म होते हैं, जिनसे लोक का उपकार ही होता है। जैसे यज्ञकर्म है। अग्नि में पवित्र वस्तुओ को हवन करने का ही नाम यज्ञ है। हम यज्ञ आरम्भ करते हैं, तो आरम्भ करते समय ही कितने श्रमजीवियों का उपकार होता है। भूमि एक सी करने में, ईंट लाने मे मडप आच्छादन करने में, भूमि को लीपने-पोतने बनाने मे कितने श्रमजीवियों को कार्य मिलता है। कितनों की आजीविका चलती है। अन्न पानी एकत्रित करने में, करई, कसोरा, पत्तल, ईंधनादि लाने में कितने लोगो की उदर पूर्ति होती है। यह तो श्रमजीवियों का उपकार हुआ। फिर जो बुद्धि जीवी हैं, वेदपाठी है, उन्हें वेद पाठ का सुअवसर मिलता है, उन्हें दान दक्षिणा की उपलब्धि होती है। इस प्रकार बुद्धि जीवियों का भी उसके द्वारा उपकार होता है। लोगों को पठन-पाठन के प्रति उत्साह मिलता है।

आप एक सेर घृत को यदि स्वय खालें, तो उससे कुछ तो आपका मेद बल बढ जायगा। कुछ बिष्ठा बन जायगी। उससे आपके ही शरीर का थोडा बहुत लाभ होगा। उसी घृत को आप मन्त्रों द्वारा अग्नि में हवन कर दें, तो उससे देवताओं की तृप्ति होगी। उसकी जो सुगन्धि फैलेगी, उससे वातावरण शुद्ध होगा,

जिसकी नासिका में भी वह सुगन्धि जायगी वही प्रसन्न तथा प्रफुल्लित हो जायगा। उस यज्ञ धूम से कितने लोगों का मनःप्रसाद होगा। यह कितना भारी लोक का उपकार है।

अन्न बहुल को ही यज्ञ कहते है जिसमे यथेष्ट अन्नदान दिया जाय, किसी को भी विमुख न लौटाया जाय। भूखों को भर पेट स्वादिष्ट अन्न खाने को दिया जाय। यज्ञ के द्वारा कितने जीवों की उदर पूर्ति होगी। इन कारणों से यज्ञ लोकोपकारी कार्य है। यह पावन कर्म अन्तःकरण को विमल बनाने वाला है, इसमें लोकों का उपकार ही उपकार है। यज्ञ शब्द के अन्तर्गत ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ, कर्मयज्ञ, तपयज्ञ, जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ तथा ज्ञानयज्ञादि अनेक यज्ञों का समावेश हो जाता है। किन्तु यहाँ यज्ञ शब्द से अग्नि में जो होम किया जाता है उसी से तात्पर्य है और यह परम पावन कर्म है।

इसी प्रकार दान भी बहुत लोकोपकारी कर्म है। देवता ब्राह्मण तथा मान्य व्यक्तियों को-सुपात्रों को-जो श्रद्धा से वस्तु दी जाती है उसे ही दान कहते हैं जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता है, उसे वह वस्तु दे देना वह भी दान है। जैसे कोई रोगी है उसे औषधि की आवश्यकता है, तो कैसा भी रोगी हो, उसे उसके रोग की औषधि दे देना औषधि दान ही है। उसमें पात्र अपात्र का विचार न करे। रोगी होना ही उसकी पात्रता है। कोई भूखा है, वह किसी भी जातिवर्ण आश्रम का क्यों न हो, बिना विचारे उसे भोजन करा देना अन्नदान। भूखा होना ही भोजन दान में पात्रता है।

कोई प्यासा है, वह चाहे कोई भी क्यों न हो जीव मात्र को प्यास लगने पर जल पिलाना जल का दान है। पिपासित होना ही जलदान की पात्रता है। कोई पढ़ना चाहता है और उसमें

पठन-पाठन की योग्यता है, तो उसे उसकी योग्यतानुसार विद्या पढ़ा देना ही विद्यादान है। इसी प्रकार सबके लिये समझना चाहिये।

दान कर्म से लोगों का उपकार होता है। अर्थियों को आवश्यक वस्तुएँ मिल जाती हैं। जीवों को प्रसन्नता होती है। दानदाता जिन वस्तुओं का दान देता है उन्हें लाने ले जाने में पैदा करने मे अन्य लोगो को आजीविका चलती है, अतः दान कर्म पवित्र कर्म है।

दान की ही भाँति तप भी है। यद्यपि तप को एक ही व्यक्ति करता है, किन्तु उसका प्रभाव प्राणिमात्र पर पड़ता है। जैसे ध्रुवजी ने तपस्या की थी। उन्होंने अंत में स्वाँस लेना भी बन्द कर दिया था, इससे समस्त जीवों को स्वाँस लेने में अवरोध होने लगा। तब भगवान् ने उसे अभीष्ट वर देकर तप से निवृत्त किया। जिस देश मे तपस्वी ब्राह्मण निवास करते हैं, वह पूरा का पूरा देश पावन बन जाता है। संसार मे ऐसा कोई भी कार्य नहीं जो तप द्वारा सिद्ध न हो सकता हो, पार्वती जी ने तप द्वारा ही शिवजी को प्राप्त कर लिया। ब्रह्माजी तप द्वारा ही सृष्टि करने में समर्थ हो सके। भगवान् विष्णु तप के ही द्वारा लोकों का पालन करते हैं। जिस देश में तपस्वियों का अभाव होता है, वही देश, विलासी स्वार्थ परायण, पर पीड़क, दुराचाररत तथा भौतिक वादी बन जाता है, अतः तप से बढ़कर परम पावन कर्म कोई नहीं।

इतना होने पर भी इन कर्मों में एक ही दोष है। वैसे तो ये कर्म पावन हैं, मोक्ष को देने वाले हैं, किन्तु ये कर्म यदि फल की आशा मे, आसक्ति पूर्वक सकाम भाव से किये जायँ, तो इनका महत्त्व सीमित हो जाता है। फिर ये अनन्तता को प्राप्त

नहीं होते। जैसे यज्ञ हैं, निष्काम भाव से किसी भी सांसारी फल की आशा न रख कर प्रभु प्रीत्यर्थ किये जायँ, तो लोक का उपकार होगा। और कर्ता को मोक्ष की प्राप्ति होगी।

इसी प्रकार दान है। वह ग्रहों की शांति के लिये, रोग निवृत्ति के लिये अथवा स्वर्ग में भोगों की प्राप्ति के लिये किया जाय, तो फिर वह सकाम दान सीमित फल देने वाला हो गया। यदि वही दान निष्काम भाव से भगवत् प्रीत्यर्थ किया जाय तो उसका फल अनन्त होगा और उस निष्काम दान से मोक्ष की प्राप्ति होगी।

यही बात तप के सम्बन्ध में है, सकाम तप होगा, तो उससे अन्य जीवों का विशेष उपकार न होगा, आपका यदि वह तप सनिधि हो गया, तो आपको केवल सकल्पित वस्तु की ही प्राप्ति हो जायगी। यदि वही तप निष्काम भाव से परमात्मा की प्रीति के निमित्त किया जाय तो सोने में सुगन्ध है। अतः कर्म तो ये सभी बड़े पावन हैं, सकाम निष्काम कैसे भी करो शुभ ही फल देंगे। यदि निष्काम भाव से ये पावन कर्म किये जायँ, तो कर्म जनित दोष तो लगने का ही नहीं। उलटे विश्व का इन कर्मों से कल्याण ही होगा। अतः जो लोग त्याग की झोंक में इन पावन कर्मों के भी त्याग का आग्रह करते हैं, वे भोले हैं। भगवान् कहते हैं भाई, जब तक शरीर है, तब तक कुछ न कुछ काम तो होता ही रहेगा। अतः स्पृहा, इच्छा, कामना, सङ्ग का परित्याग करके इन पावन कर्मों को करते ही रहें तो इनके करने से कर्म-बन्धन नहीं हो सकता। ऐसी मेरी निश्चिता मति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने शुभ कर्मों का भी स्वरूपतः त्याग और शुभ कर्मों के फल मात्र का त्याग इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन है और भगवान् का इस विषय में निश्चित

मत क्या है, यह बात पूछी तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तुम यदि इस विषय में मेरा ही मत पूछते हो, तो मैं तो कहता हूँ चाहे कितना भी ज्ञान हो गया हो, कितना भी विषयों से वैराग्य हो गया हो, यज्ञदान और तपादि जो परम पावन लोकोपकारी शुभ कर्म हैं, इन्हें तो कभी छोड़ना ही न चाहिये।"

अर्जुन ने कहा—"संन्यास ले ले तो भी इन कर्मों को करता ही रहे?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अरे, संन्यास कहीं हाट में बिकता थोड़े ही है, जो उसे लेले-क्रय कर ले। संन्यास तो एक अन्तःकरण की वृत्ति है। मन की एक स्थिति है। संन्यास लेने पर भी भिक्षा माँगना, मलमूत्र विसर्जन करना, निद्रा लेना, क्षौर कराना, दंडकमंडलु को स्वच्छ रखना आदि कर्म करते ही हो तो आसक्ति छोड़कर ये यज्ञ दान तपादि शुभ कर्म किये जायँ तो आपत्ति क्या है। इन कर्मों को तो करना ही चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—'क्यों करना चाहिये? इन कर्मों के प्रति आपका इतना आग्रह क्यों है?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई आग्रह नहीं है। एक व्यवहार की बात कहता हूँ यज्ञ, दान, तपादि पवित्र कर्म बुद्धिमान पुरुषों को भी पवित्र करने वाले हैं।"

अर्जुन ने कहा—"करना ही चाहिये, यह तो विधि वचन हो गया। संन्यासी तो विधि निषेध दोनों से परे है। वह जैसे निषिद्ध कर्मों के करने से दोषी होता है वैसे ही विधि विहित कर्मों के करने से भी उसे बन्धन होता है।"

भगवान् ने कहा—"बन्धन का कारण कर्म नहीं हुआ करते। बन्धन का कारण तो आसक्ति है, फलकी इच्छा है, किसी प्रकार की कामना रखकर कर्म करने से बन्धन होता है। इसलिये

भैया ! यज्ञ, दान तप कर्मों को फलों की इच्छा को त्यागकर तथा आसक्ति का परित्याग करके करते रहना चाहिये। इन कर्मों को छोडने का आग्रह न करे। करता ही रहे। यही मेरा निश्चित मत है। और मेरे मतानुसार यह मत सर्वोत्तम है सर्व श्रेष्ठ है।"

अर्जुन ने कहा—"तब यह तो निश्चय हो गया कि आपके मत से आसक्ति को छोड़कर तथा फलेच्छा को छोड़कर शुभ कर्मों को करते ही रहना चाहिये। अब आपने जो त्याग के तीन प्रकार के भेद बताये थे उन्हें और समझा दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब अर्जुन के पूछने पर भगवान् जैसे त्याग के त्रिविध भेद बतावेंगे, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ये जो मैंने करम बताये अति ई पावन।
यज्ञ दान तप तथा अन्य पावन मन भावन॥
करै सदा निष्काम भाव तैं फल सब तजि कें।
करै नहीं आसक्ति नाम मेरे कूँ भजि कें॥
त्यागो सबई करम कूँ, अज्ञनि की यह भ्रान्ति है।
त्यागि करम फल शुभ करो मम निश्चित सिद्धान्त है॥

त्रिविध त्याग

[५]

नियतस्य तु सन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेश भयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजस त्याग नैव त्याग फल लभेत् ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियत क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्ग त्यक्त्वा फल चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ०, ७ ८ ९ श्लो०)

छप्पय

सोचो तो तुम पार्थ ! नियत करमनि को त्यागन ।
हठ पूर्वक तुम तजो होहिगो कैसे पालन ॥
तातैं जो हैं नियत रूप तैं तिनहिँ न त्यागो ।
तिनिमें नहिँ आसक्ति करो विषयनि तैं भागो ॥
नियत करम को मोह तैं, अज्ञानी नर जो तजहिँ ।
तिनिको तामस त्याग है, वे न मुक्ति पदवी लहहिँ ॥

---

* नियत कर्म का त्याग करना उचित नहीं, उसका मोह से जो त्याग करते हैं, उस त्याग को तामस त्याग कहा गया है ॥७॥

जो कर्म किया जाता है, वह दुःख स्वरूप है, ऐसा मानकर काय-क्लेश भय से जो कर्म को त्याग देता है वह त्याग राजस है, पुण्य

त्याग बड़ा शुद्ध गुण है, यदि जितेन्द्रिय होकर निष्काम भाव से वैराग्य पूर्वक त्याग किया जाय, तो वह मोक्ष का कारण है। यह सिद्धान्त है वैराग्य के बिना त्याग टिकाऊ नहीं होता। यद्यपि त्याग से ज्ञान होता है और ज्ञान से मुक्ति होती है, त्याग मुक्ति का हेतु अवश्य है, किन्तु वह पात्र भेद से फल में भी भेद कर देता है। अच्छी वस्तु भी यदि कुपात्र के संसर्ग में आ जाय, तो उसका फल विपरीत हो जाता है। जैसे घृत है, घृत को पृथ्वी का अमृत बताया है "आज्यं वै अमृतम्" किन्तु उसी घृत को ताँबे के पात्र में रख दो, तो विषवत् बन जायगा, अमृत भी पात्र के कारण विष बन जाता है। वस्तुएँ तो एक सी ही होती हैं। पात्र भेद से उनकी संज्ञा भिन्न हो जाती हैं। जैसे देवी भगवती तो एक ही है। यदि उनका पूजा तामस प्रकृति के पुरुष तामसी विधि से भैंसा या नरबलि देकर सुरा मांसादि से पूजन करे, तो वह देवी भी तामसी देवी कहावेंगी। इसी प्रकार राजसी प्रकृति के पुरुष अजा, आशवादि वस्तुओं से पूजा अर्चा करें, तो देवी भी राजसी देवी कहलाने लगेगी, उन्हीं भगवती देवी का पूजन सत्त्व प्रधान पुरुष सात्त्विकी विधि से करें तो देवी भी सात्त्विकी ही कहलावेंगी। सात्त्विक प्रकृति के लोग उनकी पूजा पुष्प फलों का बलि देकर सात्त्विक ढंग से करते हैं। यही बात त्याग के सम्बन्ध में है। त्याग तो एक ही है, किन्तु सात्त्विक

इस त्याग को करके भी त्याग का जो फल है उसको प्राप्त नहीं कर सकता ॥८॥

हे अर्जुन! करना ही चाहिये, ऐसा जान कर आसक्ति और फल को त्याग कर जो नियतकर्म किया जाता है उसको सात्त्विक त्याग माना गया है ॥९॥

प्रकृति का पुरुष त्याग करेगा, तो उसका त्याग सात्त्विक कहावेगा। राजसी प्रकृति वालो का राजस् त्याग और तामसी प्रकृति वालो का तामस त्याग कहलावेगा। उसी बात को बताते हुए भगवान् त्रिविध त्याग का वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने त्रिविध त्याग के सम्बन्ध मे प्रश्न किया।" तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! प्रत्येक वर्ण के लिये प्रत्येक आश्रम के लिये कुछ कर्म नियत कर दिये गये हैं। जैसे द्विजो के लिये वेदाध्यन, अग्निहोत्र और दान देना ये नियत कर्म हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और सन्यासी के लिये यम नियमों का पालन करना नियत कर्म है। परिस्थिति वश इन नियमों मे कुछ हेर फेर किया जाता है। जेसे ब्रह्मचर्य व्रत ही है। सब प्रकार के मैथुन के त्याग का ही नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सन्यासी के लिये ऐसा ही ब्रह्मचर्य नियत है, किन्तु गृहस्थी के लिये कुछ छूट है। गृहस्थी यदि अपनी ही धर्म पत्नी मे ऋतु काल मे ही गमन करता है, तो उसके ब्रह्मचर्य मे कोई अन्तर नहीं पडता है। गृहस्थ के लिये ऐसा ही ब्रह्मचर्य नियत है। इसीलिये मैंने पहिले ही तुमको उपदेश दिया था कि तू क्षत्रिय है, अत अपने वर्ण के अनुसार जो तेरा नियत कर्म है, उसे तो करता ही रह। कारण यह है कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करते रहना कहीं अधिक श्रेष्ठ है। जसे वश परम्परा से कोई शालग्राम की पूजा अथवा किसी अन्य अर्चा विग्रह की पूजा करता है। या बाल्य-काल से ही गुरु आज्ञा से कोई अर्चा विग्रह की पूजा कर रहा है। अत में उसे वैराग्य हो गया। वह कर्मों को बन्धन का कारण समझकर छोडना चाहता है, तो उसे शालग्राम पूजन, मत्र जाप, धार्मिक ग्रन्थों का नियमित पाठ, इन कर्मों को न छोड़े। जो

सकाम कर्म हैं, उनको छोड दे। जैसे ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग मे सन्यास लेने पर नियत कर्मों का भी स्वरूपतः त्याग कर देते हैं। वेसे मेरे मत में अर्थात् निष्काम कर्म योग–भागवत धर्म–मे नियत कर्मों का त्याग अभीष्ट नहीं। भागवत धर्म मे तो आप जिस वर्ण में, जिस आश्रम मे जहाँ भी हो, जिस वेप-भूपा मे हो, उसी मे रहकर केवल काम्य कर्मों का परित्याग करके फल की आशा न करके निष्काम भाव से नियत कर्मों को करते हुए भी आप सन्यास के फल को वहीं प्राप्त कर लोगे। आपको क्रम-क्रम से उच्च वर्णों में उच्च आश्रमों में जाने की आवश्यकता नहीं। यदि आप गृहस्थ धर्म में बिना विघ्न बाधा के निष्काम भाव से नियत कर्मों को करते हुए रह सकते हैं, तो वहाँ रहकर भी आप सिद्धि प्राप्त कर सकते हो। गृहस्थ में विघ्न बाधायें हो, तो पारिवारिक लोगो का सङ्ग छोडकर मत्पर होकर, मदीय भक्त बनकर मेरे पूजन अर्चन जप अनुष्ठानादि कर्मों को फल की आशा न रखते हुए कालयापन करो। नियत कर्मों को आलस्यवश त्यागो नहीं। उनके त्यागने से आलस्य प्रमाद बढ़ेगा। जो नियत कर्मों का मोह वश परित्याग करके अपने को त्यागी घोषित कर देते हैं। उनका वह त्याग तमोगुणी त्याग है। ऐसे मोह से त्याग करने वाले पुरुप तामस त्यागी कहलाते हैं।

अर्जुन ने कहा—"नियत कर्मों का मोह से त्याग करने वाले तो तामस त्यागी हुए अउ राजस त्यागी कौन होते हैं, राजस त्याग का लक्षण बताइये।

भगवान् ने कहा—"घर में कोई अपना प्रिय स्वजन मर गया, व्यापार में घाटा पड़ गया, परिवार के लोगों से पटी नहीं, धन सम्पत्ति नष्ट हो गयी तब सोचा—अरे, जितने ये नित्य नैमित्तिक नियत कर्म हैं, सब दुःखदायक है। इनके करने के

निमित्त बहुत संभार एकत्रित करने पडते हैं, व्रत, उपवास, दान आदि करने पडते हैं। छोडों इन कर्मों के झंझटो को निष्कर्म होकर कर्मों का त्याग करके बाबाजी बन जाओ। वहाँ बनी बनायी भिक्षा की रोटियाँ मिल जायँगी। काया को क्लेश भी न होगा। खाया और पड़े रहे। इस प्रकार जो कर्मों को दुःख रूप समझ कर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों को छोड बैठता है। नियत कर्मों को नहीं करता। वह कर्ता राजसी त्यागी है। उसका वह त्याग राजस त्याग कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"कैसे भी सही, तामस हो या राजस त्याग तो त्याग ही है। त्याग की शास्त्रो मे बडी महिमा गायी है, ऐसे लोगो को त्याग का कुछ भी फल तो प्राप्त होता होगा?"

भगवान् ने कहा—"नही, ऐसे त्याग का न इस लोक मे और न परलोक मे ही कुछ भी फल नहीं। ये त्याग मोह तथा आलस्य के कारण किये गये हैं, अतः निष्फल है। फल की बात तो छोड दो, ऐसे त्यागों से और दोष लगता है।"

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, सात्त्विक त्याग का क्या लक्षण है?"

भगवान ने कहा—"जो सात्त्विक प्रकृति के पुरुष होते हैं, वे वेद शास्त्रों के वचनों पर, गुरुवाक्यो पर विश्वास करते हैं। वे नित्य नैमित्तिक कर्मों को शास्त्राज्ञा मानकर करते ही रहते हैं। वे सोचते हैं—"शास्त्रों ने जो कर्तव्य कर्म हमारे लिये नियत कर दिये हैं, उन्हे हमें करना ही चाहिये। यद्यपि समस्त कर्म बधन के ही कारण हैं, किन्तु बधन के कारण कब हैं? जब फल की आशा से आसक्ति पूर्वक किये जायँ तब। इस आशा से कर्म करे कि इस कर्म से हमें इस लोक में पुत्र पौत्र, धनादि की प्राप्ति हो, परलोक में स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति हो। अतः अत्यन्त

आसक्ति के सहित प्रबल कामना से किये जायँ तब तो ये बन्धन का कारण होते ही हैं। यदि ये ही कर्म अनासक्त भाव से फल तथा सङ्ग को त्याग कर किये जायँ तो वह करने वाला सात्त्विक त्यागी है और उसका यह त्याग भी सात्त्विक त्याग माना गया है।"

अर्जुन ने कहा -"आपने तामस, राजस और सात्त्विक तीनों ही प्रकार के त्याग के लक्षण बता दिये। अब कृपा करके यह बताइये कि यथार्थ में त्यागी का लक्षण क्या है। आपके मत से स्वरूपतः कर्मों का त्याग करना चाहिये या यज्ञ, दानादि नियत कर्मों के फल को ही त्याग कर निष्काम भाव से कर्मों को करते ही रहना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान उत्तर देंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

करम करत नित रहत दुःख तिनमें अति पावैं।
फल अनुकूल न होहि विकलतातें घबरावैं॥
साचें सबई दुःख रूप हैं करम जगत कें।
तजिकें इनिकूँ चलो बचिकें काय क्लेश तें॥
ऐसो राजस त्याग है, पंडित जन सब मिलि कहैं।
त्याग नहीं यह करम भय, नहीं त्याग को फल लहैं।
नियत करम नित करें समुझि अपनो नित करतव।
करनो ही है करम यही शास्त्रनि को मनतव॥
शास्त्र विहित ही करम करै फलकूँ नहिं चाहै।
उनमें तजि आसक्ति कृपनता मन नहिं लायै॥
एसो सात्त्विक त्याग है, फल आसक्ती तें रहित।
करो करम करतव्य लखि मेरे सुमिरन के सहित॥

कर्मों के फल का त्यागी ही यथार्थ त्यागी है

[६]

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥❀

(श्री भग० गी० १८ अ० १०, ११ श्लो०)

छप्पय

जाकी सम है बुद्धि कुशल अकुशलेतर माहीं ।
सुख दुख जय अरु विजय हरष अरु शोकहु नाहीं ॥
अकुशल तैं नहिं द्वेष कुशल आसक्त नहीं हैं ।
है नहिं द्वेषी भाव विषमता नहीं कहीं है ॥
शुद्ध सत्त्वगुन युक्त नर, संशय रहित अमान है ।
बुद्धिमान त्यागी सरल, नहीं त्याग अभिमान है ॥

❀ अकुशल कर्म से जो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्मों में जो आसक्त नहीं होता, वही सत्त्वगुण से समाविष्ट पुरुष संशय रहित मेधावी है ॥१०॥

कोई भी देहधारी पुरुष सर्वथा कर्मों को त्यागने में शक्य नहीं है । वास्तविक में जो पुरुष कर्म-फल त्यागी है, वही वास्तविक त्यागी है । ऐसा कहते हैं ॥११॥

कर्म बन्धन के कारण हैं यह तो सर्वसमस्त सिद्धान्त है। क्योंकि कर्मों का फल तो भोगो द्वारा ही समाप्त होता है। कर्म करोगे, तो उनके फलो को भोगने के लिये जन्म लेना ही पडेगा। जन्म लोगे तो पुनः कर्म करने ही पडेंगे। पुन. कर्म करोगे, तो पुनः जन्म लेना पडेगा। अतः कर्म करने से जन्म और मृत्यु की शृंखला कभी टूटने की नहीं। अतः समस्त कर्मों का परित्याग करके निष्कर्म होकर त्यागी सन्यासी विरागी बनकर प्रारब्ध कर्मों को भोगता हुआ ब्रह्मचिंतन म समय बिताने। जब भी विराग उत्पन्न हो जाय तभी सब कुछ त्याग कर सन्यासी बन जाय, यह सारयमत-अर्थात् ज्ञानमार्गीय पुरुषों का सिद्धान्त है।

किन्तु कर्ममार्गीय अर्थात् वर्णाश्रम धर्मावलम्बी पुरुषो का कहना है भाई, सन्यास की जो तुम प्रशसा कर रहे हो, वह हमे मान्य है। किन्तु सन्यास गुड का पूआ तो है नहीं, कि जो चाहे वही मूड मुडाकर कथरी चीवर ओढकर काषाय पीत वस्त्र पहिन कर, भिक्षापात्र हाथ मे लेकर त्यागी विरागी, भिक्षु अर्थात् सन्यासी बन जाय।

यह शरीर तो प्रारब्ध कर्मों के भोग के निमित्त बना है, प्रारब्ध कर्मों का भोग के बिना क्षय सम्भव नहा। अतः सन्यास की योग्यता प्राप्त करने के निमित्त वर्ण तथा आश्रम के अनुसार कर्म करने ही चाहिये। जिन्हे ब्रह्मचर्य व्रत का अधिकार है, वे ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए गुरुकुल मे वास करे, फिर दारग्रहण करके गृहस्थ धर्म का पालन करे। इस जन्म में विराग हो जाय और अपना अधिकार हो तो वानप्रस्थी होकर वानप्रस्थ-धर्म का पालन करे। वहाँ अपने मे योग्यता समझे, तो वानप्रस्थ से सन्यासी हो जाय, शास्त्रों मे जो सन्यासी के कर्म बताये हैं उन कर्मों को करता-करता अन्त मे कर्माकर्म से रहित

होकर समदर्शी परमहंस हो जाय। यह कर्ममार्ग वालों का कथन है।

ज्ञान मार्गी इतनी प्रतीक्षा के पक्ष में नहीं हैं। उनका कथन है, काल तो सिर पर मँडरा रहा है, तुम देव ऋण, पितृ ऋण तथा ऋषि ऋणों के चुकाने के चक्कर में फँसे रहोगे, तो ये ऋण कभी चुकने के नहीं। अतः इसी क्षण सर्वत्यागी विरागी, वीतरागी बन जाओ।

महाभारत के शान्ति पर्व में इस विषय पर पिता और पुत्र का एक बहुत ही सुन्दर उपाख्यान है। कोई एक वेदों का ज्ञाता वेदाध्ययनशील ब्राह्मण था। उसका एक मोक्ष धर्मपरायण स्वाध्यायरत पुत्र था। पुत्र का नाम था मेधावी। वह मेधावी यथा नाम तथा गुण वाला था। एक दिन मेधावी ने अपने पिता के समीप जाकर पूछा—"पिताजी! मनुष्यों की आयु अत्यल्प है, उसमे बड़े-बड़े विघ्न हैं। आयु शीघ्र ही बीत जाती है, मनुष्य ऐसी दशा मे क्या करे?"

पिता ने कहा—"देवऋण, पितृऋण तथा ऋषि ऋणों के उद्धार के लिये वेदाध्यन, पुत्रोत्पत्ति तथा अग्निहोत्रादि कर्मों को करके वानप्रस्थी बने, पुनः संन्यास धारण करके ईश्वराराधन करे।"

मेधावी ने कहा—"पिताजी! आप तो बड़े धैर्यशाली पुरुषों की-सी बातें कह रहे हैं। चारों ओर से काल तो सिर पर मँडरा रहा है, वह प्राणियों की आयु को हरता जा रहा है। इतना सब करने का अवसर कहाँ है?"

पिता ने पूछा—"काल ने किसे घेर रखा है, किसका कौन संहार कर रहा है? कौन आगे बढ़ा चला आ रहा है?"

पुत्र ने कहा—"यह सर्वभक्षी काल ही सबको घेरे हुए है यही

प्राणियों का संहार करता है, जो क्षण बीत गया वह चला गया, जो रात्रि व्यतीत हो गयी वह लौटकर नहीं आती। काल बड़ा बली है। जैसे मेढ़ा ऋतुमती भेड़ की खोज में जाता है, भेड़िया आकर उसे खा जाता है, इसी प्रकार यह जीव विषयों की खोज में इधर से उधर भटकता रहता है, उसी समय काल आकर उसे चट कर जाता है। इसलिये 'काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब। छिन मे परले होइगी, फेरि करेगो कब्ब ?' इन पुत्र, पशु, परिवार, परिजनादि में अनुराग न करना चाहिये। गृहस्थ धर्म में सुख मानना काल के मुख मे रहते हुए अपने को सुखी समझने के समान है।

पिता ने कहा—"तो क्या वन मे जाकर वास करे ?"

पुत्र ने कहा—"वन मे भी वे ही बन्धन हैं। वन में रहना भी उसी प्रकार है जैसे बहुत सी गौओं को बाँधकर बाड़े मे रखना।"

पिता ने कहा—"तब रहे कहाँ क्या करे ?"

पुत्र ने कहा—"जहाँ भी रहे इन्द्रियो का दमन करता रहे, सत्य का आचरण करे। सत्य के द्वारा ही काल को जीता जा सकता है। अमृत, मोक्ष और मृत्यु ये तीनों इस शरीर मे ही हैं। मोह करना मानो मृत्यु का आलिंगन करना है। ब्रह्मज्ञान में मन लगाना मानो अमृतत्व को प्राप्त करना, मोक्ष मार्ग की ओर बढना। अतः हिंसा का परित्याग करके काम-क्रोध को जीते, सुख-दुख मे सम रहे। ऐसे कार्यों को करे जिससे दूसरों को सुख हो। प्रणव का जप, स्नान, शौच, गुरु सेवा आदि कर्म यज्ञों को करता रहे। हिंसा प्रधान यज्ञो का परित्याग कर दे। वाणी, मन, तप, दान और सत्य को ब्रह्मस्वरूप बना ले। अर्थात् समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पण बुद्धि से करे। ज्ञान के समान नेत्र

नहीं, सत्य के सदृश तप नहीं, अनुराग के समान दुःख नहीं और त्याग के समान सुख नहीं। किसी की सन्तान किसी का उद्धार नहीं कर सकती। अपना आप ही अपना शत्रु मित्र है। अपनी आत्मा से ही अपना उद्धार करे। एकान्तवास, सब में सम बुद्धि रखना, सत्य भाषण, सदाचरण, चित्त की स्थिरता, मनसा, वाचा कर्मणा अहिंसक बने रहना, सरलता, समस्त कर्मों से उपरति ये ब्राह्मण के धन है। जब एक दिन मर ही जाना है, तो संसारी बन्धनों में क्यों बँधे, सब का परित्याग कर दे।"

वेदज्ञ ब्राह्मण के पुत्र मेधावी ने जो बातें कहीं हैं, वे सब सत्य हैं, समबुद्धि रखना। कुशल अकुशल में समभाव बनाये रखना सर्वमान्य सिद्धान्त है। कर्म मार्गी उसे क्रमशः करने के पक्षपाती हैं, ज्ञान मार्गी तुरन्त सर्व कर्मों को स्वरूपतः त्यागने के पक्षपाती हैं, किन्तु निष्काम कर्म मार्गी भागवत धर्म के उपासक कर्मों के त्याग का आग्रह नहीं करते। उनका कथन है कि बंधन के कारण कर्म नहीं हैं, कर्मों में जो आसक्ति है, कर्मों के फल की जो कामना है, ये ही बंधन का कारण है। अतः सच्चा त्यागी वही है जो अनासक्त होकर सर्व कर्मों के फल का त्याग करता हुआ निष्काम भाव से कर्मों को करता रहे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से वास्तविक त्यागी का लक्षण पूछा, तो भगवान् इसका उत्तर देते हुए अर्जुन से कहने लगे—"देखो, भया! जो शुद्ध सत्त्वगुण युक्त पुरुष है, वास्तव में वही त्यागी है।"

अर्जुन ने पूछा—"शुद्ध सत्त्वगुण युक्त पुरुष के लक्षण क्या हैं?"

भगवान् ने कहा—"जो शुद्ध सत्त्वगुण युक्त पुरुष है, वह

अकुशल कर्मों से तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्मों मे आसक्त नहीं होता।"

अर्जुन ने पूछा—"अकुशल कर्मों से द्वेष नहीं करता। इसका क्या तात्पर्य है ?"

भगवान् ने कहा—"कोई हिंसादि बुरा कार्य कर रहा है। मना करने पर भी मानता नहीं, तो हृदय से उससे द्वेष न करे। यही चाहे भगवान् इसकी बुद्धि को शुद्ध कर दें।" एक महात्मा थे उन्होंने एक मल्लाह को मछली मारते देखा, उन्होंने कहा—"अरे, भैया ! तुम जीव हिंसा क्यों कर रहे हो ?"

उसने महात्मा की बात सुनी ही नहीं। महात्मा ने फिर पूछा। उसने कहा—"जा, जा बड़ा उपदेश देने वाला बना है। अच्छा मार रहे हैं तुझे क्या प्रयोजन ?"

यह सुनकर महात्मा ने सोचा—"अधम संस्कार का जीव है। वे बिना क्रोध किये चुपचाप चले गये। ऐसे भाव को ही अकुशल कर्मों में द्वेष न करना कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कुशल कर्मों मे आसक्ति करना किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे दया है, परोपकार है यज्ञादि शुभ कर्म हैं, इन्हें कर्तव्य बुद्धि से करे उनमें अत्यन्त आसक्त न हो जाय। जैसे जड भरत जी ने दया करके पानी में बहते हुए मृग बालक को निकाल लिया, यह तो उन्होंने उचित किया, कुशल कर्म किया। उन्हें उसे साथ नहीं लाना चाहिये था, वहीं छोड आना चाहिये। वहाँ रहता तो भेडिया खा जाते। उसे बड़ा किया तो, बड़ा करके तुरत उसे छोड देना था। उसमे अत्यन्त आसक्ति करने से वह कुशल कर्म भी दोष युक्त बन गया। उन्हें उसके परिणाम स्वरूप स्वय मृग की योनि में जाना पड़ा। यह कुशल

कर्म में सज्जित होने का–अत्यन्त आसक्ति करने का–दुष्परिणाम है।"

दूसरे शुद्ध सत्त्व युक्त पुरुष को संशय रहित होना चाहिये। अर्थात् कर्म करते समय ऐसा संशय न करे कि मैं यह उचित कर रहा हूँ या अनुचित। उसे मेधावी होना चाहिये। मेधावी कहते हैं बुद्धिमान को। और उसे त्यागी भी होना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"त्यागी किसे कहते हैं ?"

भगवान ने कहा—"जो कर्म करते हुए भी उन सभी कर्मों के फलों की आकांक्षा न करे। कर्मों के फल को त्यागने वाले को ही त्यागी कहा गया है।"

अर्जुन ने पूछा—"जो सभी कर्मों को स्वरूपतः त्याग देते हैं, क्या वे त्यागी नहीं हैं ?"

भगवान् कहा—"त्यागी क्यों नहीं है, वे भी त्यागी ही हैं, किन्तु अर्जुन ! सोचो तो सही। जिसने शरीर धारण किया है, क्या ऐसा देहधारी पुरुष सर्वथा कर्मों का त्याग कर सकता है ? बिना कर्म किये कोई भी प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा सभी प्राणी अवश होकर कर्मों को करते ही रहते हैं। यह शरीर ही प्रारब्ध कर्मों के अनुसार बना है। मनुष्य करना भी न चाहे तो प्रारब्ध कर्म उससे हठात् कर्म कराते ही हैं। कर्म न करे तो शरीर यात्रा ही नहीं चल सकती। शरीर यात्रा चलाने के लिये कर्म करने ही पड़ते हैं। अतः सर्वथा कर्मों के त्याग के हठ को तो दे छोड़, हाँ उनके फलों में आसक्ति न रखे। जो कर्मों के फलों का त्यागी है वास्तव में वही सच्चा त्यागी है। और जो भिक्षा लाने के कर्म को करता है, और भी शरीर सम्बन्धी अनेकों कर्मों को करता है। और अपने को त्यागी कहता है, तो यह तो फिर

गोविन्दाय नमोनमः ही है। ठीक है, उससे भी द्वेष न करे। वह जो कर रहा है अपनी बुद्धि से ठीक ही कर रहा है। किन्तु हमारे मत से तो कर्मों के फलों का त्यागने वाला ही त्यागी है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! कर्मों के फलों को जो त्याग कर कर्म करता है, वह तो श्रेष्ठ त्यागी है ही, किन्तु एक मेरी इस विषय मे शका है।"

भगवान् ने कहा—"क्या शंका है, उसे भी बता दो।"

अर्जुन ने कहा—"शका मेरी यह है। कि कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसका कुछ न कुछ फल न होता हो। चाहे फल की इच्छा न भी हो, फिर भी कर्म तो उसके द्वारा होता ही है। जैसे अनिच्छा पूर्वक ही भूल से ही खेत मे बीज पड गया, तो चाहे हमारी इच्छा उसे उपजाने की नहीं थी, फिर भी खेत में पड़ने से वह उपज ही आयेगा। इसी प्रकार फलाशा के बिना भी किये हुए कर्म का फल तो कुछ न कुछ होगा ही। जब कर्मों का फल मिलेगा ही तो संसार बधन होगा ही। फिर निष्काम कर्म से संसार बधन छूटेगा कैसे? परम पद की प्राप्ति उन निष्काम कर्मों से कैसे हो सकेगी?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अरजुन! सोचो नेक करम त्यागी कस प्रानी।
श्वास प्रश्वासहु करम तजि सकैहु नहिं ज्ञानी॥
देहवान जो पुरुष सबहि करमनि त्यागे कम।
शक्य नहीं है त्याग पूर्णता तैं होवे अम॥
है यथार्थ त्यागी वही, करै करम फल त्याग जो।
हठ तैं नहिं त्यागे कबहुँ, शुभ जप तप अरु याग जो॥

कर्मों का त्रिविध फल

[७]

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥*

(श्री भ० गी० १८ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

जो न करमफल त्याग करें तिनि मिलहि करम फल ।
फलके तीनि प्रकार प्रथम तो इष्ट विमल फल ॥
दूसर कह्या अनिष्ट समल जाकूँ बतलावैं ।
तीसर फल है मिले जुले जो मिश्र कहावैं ॥
मरिकें ये ध्रुव फल मिलहिँ, जो न करम फल तजत हैं ।
सन्यासी तजि फल करम, फल तिनिकूँ नहिँ लगत हैं ॥

कर्मों की गति बड़ी गहन है। क्या कर्म है क्या अकर्म है, इस विषय में बड़े बड़े विद्वान् चक्कर खा जाते हैं, अतः कर्मों की गति को पहले समझ लेना चाहिये।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित तो वे कर्म कहलाते हैं, जो हमने अपने पिछले अनेकों जन्मों

---

* अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित तीन प्रकार कर्मों का फल मरने के पश्चात् होता है, किन्तु यह अत्यागी पुरुषों का ही होता है, सन्यासियों का कभी नहीं होता ॥१२॥

मे किये हैं। एक जन्म मे मनुष्य अपने समस्त कर्मों का फल नहीं भोग सकता। कर्म बिना फल भोगे नष्ट नहीं होते, वे संचित—एकत्रित—होते रहते हैं। कर्मों का एक बृहद् कोष इकट्ठा होता रहता है वही जन्मान्तरों में किये हुए कर्मों का कोष संचित कर्म कहलाते हैं। उस संचित कोष मे से एक जन्म के भोग के लिये जो कर्म निश्चित कर दिये जाते हैं, वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। मनुष्य उन प्रारब्ध कर्मों के अनुसार ही समस्त व्यापारों को करता है। प्रारब्ध कर्मों का बिना भोग के क्षय होता नहीं। अतः चाहे ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, मुक्त हो अथवा बद्ध, नित्य हो अथवा मुमुक्षु प्रारब्ध कर्मों का भोग तो सभी को भोगना पड़ेगा। सब प्राणी प्रारब्ध कर्मों के ही अनुसार बर्ताव करते हैं।

अब तीसरा कर्म है क्रियमाण, इस जन्म मे जो करोगे, उसका फल संचित मे जुड़ता जायगा। सचित कोष को बढ़ाने वाले कर्मों को क्रियमाण कहते हैं।

अब शंका यह होती है, कि जब हम इस जन्म में जो कर्म करते हैं, प्रारब्ध की प्रेरणा से ही करते हैं। आयु, करने वाले कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँच बातें पैदा होने से पूर्व ही निश्चित हो जाती है। जब हम सब कर्म प्रारब्धानुसार ही कर रहे हैं, उनके करने के लिये हम अवश हैं, तो फिर क्रियमाण कर्म कैसे होंगे। क्रियमाण तो तब होंगे जब हम कर्म करने में स्वतन्त्र हो, जो हमारे मन में आवे सो करें। तब तो हम दोषी हो सकते हैं। स्वेच्छा से किये हुए हमारे कर्म भले या बुरे अथवा मिले-जुले मिश्रित कहलाये जा सकते हैं। जब हम सब तो प्रारब्ध की प्रेरणा से करते हैं—"फिर क्रियमाण कर्मों की उत्पत्ति कैसे होती है। उनका निर्माण किस प्रकार होता है?"।

शंका बड़ी सुन्दर है, इसका रहस्य खुल जाने पर ही कर्मों की गति समझी जा सकती है। यह मानव प्राणी सर्वथा परतंत्र भी नहीं और सर्वथा स्वतंत्र भी नहीं। स्वतंत्र तो इसलिये नहीं कि यह प्रारब्ध के भोगों से बँधा है। न जाने इसने कितनी योनियों में कितने अच्छे, बुरे, मिश्रित कर्म किये हैं। उन सब कर्मों के फलों की एक पोटरी इसके साथ बँधी हुई है। उस पोटरी में बँधे हुए असंख्य कर्मों का ही नाम संचित कर्म है। उन कर्मों का हिसाब एक दैव नाम का सर्वज्ञ व्यक्ति बड़ी सावधानी से रखता है, उसके गणित में कभी भूल चूक होती ही नहीं। उस गठरी में से एक जन्म के भोगों को निकालकर देव पैदा होने के पूर्व ही माता के पेट में ही दे आता है। जैसे कोई दूर की यात्रा को जाता हो, तो उसे हुण्डी दे दी जाती हैं। मार्ग में वह भुनाता न करता जाय, अपना काम चलाता जाय। इसी इप्रकार बालक जब पेट में रहता है तभी दैव जन्म के पूर्व आने वाले पूरे जन्म की पाँच हुण्डियां उसे सौंप देता है।

पहिली हुंडी में तो यह लिखा रहता है, कि यह आनेवाला जन्म कितने समय का है। अर्थात् इसकी आयु ८० वर्ष ५ महीने २५ दिन ७ घड़ी, ६ पल की है। तो इससे न पल भर आयु घट सकती है न आधा पल बढ़ ही सकती है। उतना समय समाप्त होते ही उसकी जीवन लीला समाप्त हो जायगी।

दूसरी हुण्डी में कर्मों की तालिका रहती है। यह अपनी सम्पूर्ण आयु में ये-ये कर्म करेगा। उन नियत कर्मों को छोड़कर इच्छा रहने पर भी दूसरे कर्मों को नहीं कर सकता।

तीसरी हुण्डी में धनों की तालिका लिखी रहती है। जीवन भर में इसे इतने भवन, इतनी गौएँ, घोड़े हाथी आदि पशु, इतना अन्न, इतनी पत्नियाँ, इतने दास दासी, सेवक, इतना द्रव्य

मिलेगा। इसके अतिरिक्त कितना भी प्रयत्न करो एक कौड़ी अधिक न मिलेगी।

चौथी हुण्डी में विद्याओं की तालिका रहती है। शिल्प विद्या इतनी आवेंगी, ठग विद्या इतनी करेगा। इतनी श्रेणी तक शिक्षा ग्रहण करेगा। उससे अधिक एक अक्षर नहीं पढ़ सकता।

पाँचवी हुण्डी में इस बात का निर्णय लिखा रहेगा, कि जब इसकी आयु समाप्त हो जायगी, तब अमुक स्थान पर, अमुक के सम्मुख, अमुक रोग से, अथवा अग्नि द्वारा, जल द्वारा, सर्पादि विषधरों द्वारा, शस्त्र से, वृक्ष से गिर कर, विष खाकर भूत प्रेतादि द्वारा अथवा सिंह व्याघ्रादि द्वारा इसकी मृत्यु होगी। उसमे भी किसी प्रकार का हेर फेर नहीं हो सकता। यही प्रारब्ध कर्मों की परिभाषा है। प्रारब्ध कर्मों का भोगों द्वारा ही क्षय होता है। दूसरा कोई विकल्प ही नहीं।

अब क्रियमाण कर्मों को समझो। हम बता चुके हैं पुरुष कर्म करने मे भोग भोगने मे तो प्रारब्ध के अधीन है, किन्तु आसक्ति करने न करने में मनुष्य स्वतंत्र है, इतनी भी स्वतंत्रता न हो, तो वैयाकरणों ने जो कर्ता को स्वतंत्र माना है, यह व्यर्थ हो जायगा। अतः प्रारब्ध कर्मों को वह आसक्ति सहित भी भोग सकता है, अनासक्त भाव से प्रारब्ध कर्मों का भोग समझकर भी भोग सकता है। जैसे हमे प्रारब्धानुसार पाँच फल खाने को प्राप्त हो गये। उन फलों का उपभोग तो हमें प्रारब्धानुसार करना ही पड़ेगा। उन्हे खाते समय हम सोच लें ये फल तो हमे प्रारब्धानुसार मिले हैं, अतः अनासक्त भाव से प्रारब्ध भोग समझ कर खा जायें, उनके स्वाद में आसक्त न हों, फिर ये ही मिल जायँ, ऐसी इच्छा न करे, पुनः पाने का प्रयत्न न करें तो उनके भोग से क्रियमाण कर्म न बनेंगे। केवल प्रारब्ध समाप्त

हो जायगा। आगे कर्म न बनकर सचय कर्मों का कोप न बढेगा। यदि हम उन्हें खाते समय उनके स्वाद मे, उनके रग रूप में आसक्त हो जायँ, पुनः पाने की इच्छा करें तो वह आसक्ति ही क्रियमाण कर्मों को उत्पन्न करेगी। ये ही कर्म सचय कर्मों की पुटली मे सम्मिलित कर लिये जायँगे। इस बात को इस दृष्टान्त से समझिये।

जैसे एक राजपुत्र है, उसके पिता ने बहुत सी पैतृक सम्पत्ति जो परम्परा से उसके कोप में बढती चली आई है। किसी स्थान मे अपने पुत्र के नाम सचित कर दी। और यह नियमकर दिया कि प्रतिमास निर्वाह के लिये राजकुमार को एक सहस्र मुद्रायें मिला करेंगी। ता मास की प्रथम तिथि को उसे एक सहस्र मुद्रा मिल जाती हैं। उससे न एक पैसा अधिक मिलता है, न एक छदाम कम। एक महीने भर उसे उसी द्रव्य से निर्वाह करना पडेगा। यदि वह उसे मासिक व्यय समझ कर महीने के तीस दिनों मे पूर्ण व्यय कर देता है, तो दूसरे महीने पुनः उतने ही मिल जायँगे, उसके सचित कोप मे कोई वृद्धि न होगी। यदि उसने पूरे एक सहस्र को व्यय नहीं किया दो सौ रुपये बचाकर सचित कोप मे पुन जमा कर दिये, तो मिलेगा तो उसे नियत द्रव्य ही किन्तु उसके सचित कोप में उतनी वृद्धि और हो जायगी।

कभी ऐसा हुआ कि जिसके पास सचित कोप रखा है, उसने एक महीने के लिये तो द्रव्य दे दिया, फिर उसका दिवाला निकल गया, तो आपका सचित समस्त धन नष्ट हो जायगा, आप उसके यहाँ बचा कर जमा भी नहीं कर सकते। महीने भर को जो तुम्हे मिल गया है, उसे तो तुम्हें किसी प्रकार व्यय करना ही पड़ेगा।

इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर संचित और क्रियमाण कर्म तो नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्मों का भोग तो शरीर रहते-रहते मृत्यु पर्यन्त ज्ञानी पुरुष को भी करना ही पड़ता है, किन्तु वह उन कर्मों मे आसक्त नहीं होता। अनासक्त भाव से भोगता है। (मुक्तोऽपितावत् विभ्रियात् स्वदेह मारब्धमश्नन् अभिमान शून्यः) जब तक आसक्ति है तब तक अच्छे कर्मों का अच्छा, बुरे कर्मों का बुरा, मिले-जुले मिश्रित कर्मों का मिला-जुला फल मरकर दूसरे जन्मों मे भोगना ही पड़ेगा।

अब शंका यह होती है, कि मरकर ही शुभाशुभ मिश्रित कर्मों का फल क्यों भोगना पड़ेगा। इसी जन्म मे क्यों नही भोगना पड़ता ?

बात यह है, इस जन्म मे भोगने को तो आपको संचित कर्मों मे से निकालकर प्रारब्ध कर्म दे ही दिये गये। भोग के फल सदा संचित कोष से ही निकालकर दिये जाते है, अतः इस जन्म में किये हुए कर्म संचित कर्मों में जाकर सम्मिलित होंगे, और उनका फल मरने के पश्चात् दूसरे जन्मों में ही भोगना पड़ेगा, किन्तु इस नियम मे भी कुछ अपवाद हैं। अति उत्कट कोई पुण्य पाप हो, तो इसी जन्म मे संचित में मिलकर तुरंत नये प्रारब्ध को बनाकर इसी जन्म में उसका फल मिल जाता है। जैसे इस जन्म मे पुत्रेष्टि यज्ञ किया, तो कर्म का फल तुरंत संचित मे मिल गया। और उस नवीन कर्म को नवीन प्रारब्ध बनाकर इसी जन्म के प्रारब्ध कर्मों मे जोड़ दिया तो इस जन्म के किये हुए कर्म का इसी जन्म मे फल मिल गया। यह नियम नहीं अपवाद है। साधारण नियम तो यही है, कि अच्छे बुरे तथा मिश्रित कर्मों का फल मरने के पश्चात् दूसरे जन्मों में ही मिलता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। जब अर्जुन ने यह शंका की कि केवल कर्मों के फलों का त्याग करने से ही मनुष्य त्यागी कैसे हो सकता है, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! पहिले तो तुम इस बात को जान लो कि बन्धन का कारण कर्म हैं, या कर्मों के फलों में आसक्ति है। इसलिये पहिले कर्म के प्रकार के होते हैं, इस बात को जान लेना चाहिये।

अर्जुन ने कहा—"पहिले यही बतावें कि कर्म के प्रकार के होते हैं?"

भगवान् ने कहा—"कर्म तीन प्रकार के होते हैं। एक अनिष्ट कर्म अर्थात् बुरे कर्म, निकृष्ट कर्म, दूसरे इष्ट कर्म अर्थात् अच्छे कर्म, उत्तम कर्म, तीसरे मिश्रित कर्म अर्थात् कुछ अच्छे कुछ बुरे दोनों मिले जुले।"

अर्जुन ने पूछा—"इन तीनों प्रकार के कर्मों के फल कै प्रकार के होते हैं?"

भगवान् ने कहा—"जैसे कर्म होते हैं, उनके अनुरूप ही उनके फल भी होते हैं। जैसे अनिष्ट कर्मों का अनिष्ट फल, इष्ट कर्मों का इष्ट फल और मिश्रित कर्मों का मिश्रित फल। इस प्रकार के कर्मों का फल भी तीन ही प्रकार का होता है। जैसे किसी ने चोरी, व्यभिचार तथा अन्यान्य अधर्म निकृष्ट कार्य किये, तो मरने पर इन बुरे अनिष्ट कर्मों के फल स्वरूप उसे नरकों का दुःख भोगना पड़ेगा और फिर इस पृथ्वी पर शूकर कूकरादि अधम योनियों में आकर नाना प्रकार की यातनायें सहनी पड़ेगी यह तो अनिष्ट कर्मों का अनिष्ट कर्म फल हुआ।"

अब जिन्होंने जप, तप, तीर्थ, यज्ञादि इष्ट कर्म किये हैं, उन कर्मों के फल स्वरूप उन्हें स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी, वहाँ चिरकाल तक स्वर्गीय सुखों का उपभोग करके अंत में वे

यहाँ पृथ्वी पर आकर सत् कुल में उत्पन्न होंगे। यही इष्ट कर्मों का इष्ट फल हुआ।

जिनका कुछ पुण्य भी है, कुछ पाप भी है, उनसे बुरे कर्म भी बन गये हैं और तीर्थ, व्रत, जप तपादि कुछ अच्छे कर्म भी हुए हैं, वे स्वर्ग नरक कहीं न जाकर पुनः पुनः पृथ्वी पर जन्म लेते रहते हैं, पुनः पुनः मरते रहते हैं। यहाँ पर कभी सुख भोगते हैं, कभी रोग, शोकादि के कारण क्लेश भी उठाते है। यही मिश्रित कर्मों का मिश्रित फल है।

अर्जुन ने पूछा—"क्या सभी पुरुषों को इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित कर्म करने वालों को उनके इष्ट अनिष्ट और मिश्रित फल भोगने ही पडे गे ?"

भगवान ने कहा—"यह तो सिद्धान्त की ही बात है। जो कर्तृत्व अभिमान पूर्वक कैसे भी कर्म क्यों न करे शुभ कर्मों का शुभ फल तथा अशुभ कर्मों का अशुभ फल और शुभाशुभ कर्मों का मिश्रित फल अवश्य ही भोगना पडेगा। हाँ जो सन्यासी है, त्यागी है उसे किसी भी प्रकार के कर्मों का फल नहीं भोगना पडता। यह तो अत्यागियों को—राग से कर्म करने वालों को—कर्मासक्त पुरुषों को ही फल भोगना पडता है।"

अर्जुन ने पूछा—"सन्यासी किसे कहते हैं ?"

भगवान ने कहा—"अनेकों बार तो मैं बता चुका हूँ, ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग में सन्यासी का अर्थ है, जिसने स्वरूपतः सभी कर्मों का परित्याग कर दिया हो, किन्तु भागवत धर्म में निष्काम कर्म योग मार्ग में तो सन्यासी का अर्थ यह है कि जो कर्मों के फलों को न चाहता हुआ अनाश्रित होकर कर्तव्य कर्मों को करता रहता है, वही त्यागी है, वही सन्यासी है। इस भाव को मैंने बार-बार व्यक्त किया है। क्योंकि कर्मों के न करने मात्र

से ही कोई मनुष्य निष्कर्मता को प्राप्त नहीं हो सकता है। और यह भी बात नहीं है, कि सर्व कर्मों को छोड़ देने मात्र से ही कोई त्यागी विरागी सिद्ध हो जाता हो। वास्तव में जो पुरुष मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से कर्मों को करता रहता है, वास्तव में वही श्रेष्ठ है, वही वास्तविक सन्यासी है।

अर्जुन! तुम इस बात को स्वयं विचार कर लो। कर्म विचारे क्या अनिष्ट कर सकते हैं। अनिष्ट का कारण तो अहंता और ममता ही है। जो योगयुक्त हो गया है, जिसका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, जिसकी आत्मा सर्व भूतों मे आत्मभूत हो चुकी है, वह कर्मों को करता हुआ भी उनमे लिप्त नहीं होता। अतः मेरे मत मे तो जो कर्म करते हुए भी उनका फल नहीं चाहता जो कर्तव्य कर्मों को स्वरूपतः त्यागने का आग्रह नहीं करता उन्हे कर्तव्य बुद्धि से अनासक्त होकर करता ही रहता है वही सन्यासी है।

अर्जुन ने पूछा—"जो लोग अग्नि को नहीं छूते और स्वरूपतः सभी कर्मों को त्याग कर अक्रिय बन जाते हैं, वे संन्यासी नहीं हैं क्या ?"

भगवान् ने कहा—"पूर्णज्ञान होने पर ऋषभदेवजी की भाँति जो हो जायँ, उनकी बात तो छोड़ दो। जो केवल अग्नि को न छूने का बहाना करके अक्रिय बन जाते हैं, वे तो फिर गोविन्दाय नमो नमः ही हैं।"

मैंने जिन अनासक्त भाव से कर्म न करने वाले संन्यासियों के सम्बन्ध में बताया, उनको इष्ट, अनिष्ट तथा मिश्रित किसी भी कर्म का फल नहीं मिलता। क्योंकि वे तो पहिले से ही कर्मों के फलों से पराङ्मुख बन चुके हैं।

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, यह तो मैं समझ गया, कर्मों का फल उन्हीं लोगों को मिलता है जो फल चाहते हैं। जो फल की आकांक्षा ही नहीं रखते वे कर्म करते हुए भी किसी प्रकार के बंधन में नहीं बंधते। अब सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि किन-किन कारणों से होती है। कर्मों के जो हेतु हों, उनको पहिले मुझे बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर जैसे भगवान् सांख्य सिद्धान्त के अनुसार कर्मों के पाँच हेतुओं का वर्णन करेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

सन्यासी है वहा करम फल आश्रित नाहीं।
फल में होहि न लिप्त रहै करमनि के माहीं॥
करै करम करतव्य न आग्रह करम तजन को।
एकहि आग्रह रखे भक्ति भगवान् भजन को॥
ऐसे संन्यासी करम—बन्धन में नहिँ परत हैं।
नहिँ जनमें वे करमवश, नहिँ कबहूँ वे मरत हैं॥

सांख्य मतानुसार कर्मों की सिद्धि के पाँच हेतु

[८]

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥
अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० १३ १४ श्लो०)

छप्पय

कैसे होवैं करम सिद्धि तिनि हेतु बतावें ।
करमनि को हो अन्त सबनिके नाम गिनावें ॥
महाबाहु ! हैं हेतु पोंच जिनि सिद्धि मिलत हैं ।
करमनि को करि अन्त सुसाधक सिद्ध बनत हे ॥
साख्यशास्त्र महँ जो कहे, तिनिकूँ सुनि अरजुन ! अबहिँ ।
जिनि पोंचनि सम्बन्ध तैं, बनहिँ करम कारन सबहिँ ॥

---

* हे महाबाहो ! साख्य सिद्धान्त मे सब कर्मों की सिद्धि के लिये पाँच कारण बताये गये हैं, उन्हें तुम मेरे से सुनो ॥१३॥

अधिष्ठान, कर्ता, पृथक् पृथक् करण, विविध भाँति की पृथक्-पृथक् चेष्टायें और पाँचवाँ हेतु दैव है ॥१४॥

मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग हैं। (१) ज्ञान मार्ग अथवा सांख्य मार्ग जिसे निवृत्ति धर्म भी कहते हैं। (२) दूसरा कर्म मार्ग या वर्णाश्रम धर्म मार्ग है जो प्रवृत्ति द्वारा निवृत्ति तक पहुँचाने वाला है। (३) भक्ति मार्ग जो प्रवृत्ति परक निवृत्ति मार्ग है जिसे निष्काम कर्म मार्ग भी कहते हैं। सांख्य मार्ग मे और कर्म मार्ग के उद्देश्यों मे कोई अन्तर नहीं। जो स्थान साख्य वालो को प्राप्त होता है, वही योग मार्ग अर्थात् कर्म मार्ग वालों को प्राप्त होता है। तीसरा जो मध्य मार्ग है। सांख्य या ज्ञान मार्ग मे विचार वैराग्य करते हुए कर्मों को त्याग करके अंतिम लक्ष्य तक पहुँचना है। कर्म मार्ग में शास्त्रीय कर्मों को करते-करते क्रमशः कर्मों द्वारा ही निष्कर्म होकर अंतिम लक्ष्य तक पहुँचना है, किन्तु निष्काम कर्म योग या भक्ति मार्ग में कर्मों के त्याग का आग्रह कभी भी नहीं करना है। वेद विहित समस्त कर्मो को अत तक करने रहने पर भी कभी उन कर्मों के लौकिक फल की इच्छा न करना। वहाँ कर्मों के त्याग का आग्रह नहीं। कामना या फल के त्याग पर ही बल दिया गया है।

सभी मार्गों मे भीतर बाहर की शुद्धि, तपस्या, प्राणियो के प्रति दया तथा यम नियमादि व्रतों का पालन समान रूप से स्वीकार किये गये हैं। केवल उनकी पद्धतियों में ही मतभेद है। ज्ञानियों का विशेष बल आरम्भ से ही त्याग पर रहता है, वे कर्मों का आदर नहीं करते। कर्म वे केवल अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त स्वीकार करते हैं। जहाँ वैराग्य हुआ कि फिर जहाँ बैठे हैं वहीं से कर्मों का त्याग करके त्यागी संन्यासी बन जाते हैं।

कर्म मार्गीय कर्मों का आग्रह करते हैं, कर्मों के करने से ही सिद्धि प्राप्त मानते हैं, किन्तु वे भी अन्त मे सर्व कर्म त्याग को योग्यता प्राप्त होने पर स्वीकार करते हैं भक्ति मार्ग वाले या

निष्काम कर्म योगी कर्म त्याग का आग्रह नहीं करते। वे तो अपना सम्पूर्ण बल कामना स्पृहा–आसक्ति–और फलेच्छा के त्याग पर ही देते हैं। सांख्य मार्ग या ज्ञान मार्ग की पद्धतियाँ भी भिन्न भिन्न हैं, उनके भी कई भेद हैं। इसी प्रकार कर्म मार्गियों में भी कई भेद है। कुछ लोग तो मीमांसा वाले स्वर्ग से ऊपर बढते ही नहीं वे कर्मों का अर्थ सकाम कर्म ही मानते हैं। स्वर्ग में जाओ वहाँ के भोगो को भोगो, पुनः पृथ्वी पर शुभ कर्म करके स्वर्ग जाओ। भगवान् ने ऐसे लोगों का निंदा की है। इसी प्रकार भक्ति मार्ग के भी अनेकों भेद हैं, किन्तु सब का तात्पर्य एक ही है, कि जो भी कर्म करो प्रभु की प्रीति के ही निमित्त करो।

अब जब अर्जुन ने कर्मों के हेतु के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो पहिले भगवान् सांख्य मार्ग अर्थात् ज्ञान मार्ग के अनुसार इसका वर्णन करेंगे, फिर वर्णाश्रम धर्म का निरूपण करेंगे, तब अन्त में निष्काम कर्म योग का रहस्य समझावेंगे। और ग्रन्थ की परिसमाप्ति निष्काम कर्म योग, भक्ति योग अथवा शरणागत योग में करेंगे।

भगवान् ज्ञान योग, कर्म योग और भक्ति योग तीनों को ही पात्र भेद से उचित मानते हैं। मीमांसकों के सकाम कर्म मार्ग को छोडकर उन्होंने किसी भी मार्ग को हेय या निंदनीय नहीं बताया। ज्ञान मार्ग की प्रशंसा की है, वर्णाश्रम धर्म मार्ग के पालन को उत्तम बताया है, किन्तु उनका अत्यन्त बल शरणागति मार्ग ब्रह्मार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म योग अथवा भक्ति मार्ग पर ही है। इसी से आरम्भ किया है बीच बीच में इसी पर बारबार बल दिया है और अन्त में इसी को कहकर ग्रन्थ का उपसंहार किया है। अब आप सांख्य सिद्धान्तानुसार कर्मों की सिद्धि के पाँच हेतुओं पर विचार करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने सम्पूर्ण कर्मों के कारणों के सम्बन्ध में पूछा।" तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! नित्य कर्म, नैमित्तिककर्म, काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म आदि जितने भी कर्म किये जाते हैं, उनकी सिद्धि के पाँच ही कारण हैं। उनको मुझसे सम्यक् प्रकार से जान लो।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! वे पाँच कारण कौन-कौन से हैं ? और आप यह भी बता दें कि यह मत आप ज्ञान मार्ग के अनुसार, या कर्म मार्ग के अनुसार अथवा भक्ति मार्ग के सिद्धान्तानुसार बता रहे हैं ?"

भगवान् ने कहा—"हे महाबाहो ! यह सिद्धात मैं उस सांख्य मार्ग या ज्ञान मार्ग के सिद्धान्तानुसार बता रहा हूँ, जिसमें कर्मों का अन्त कर देना माना गया है। वे पाँच कारण ये हैं। (१) अधिष्ठान, (२) कर्ता, (३) भिन्न-भिन्न प्रकार के करण, (४) तथा नाना प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टायें, (५) और पाँचवाँ हेतु है दैव।"

अर्जुन ने पूछा—"अधिष्ठान किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जिसमें रहकर कर्म किये जायँ उस स्थान का नाम अधिष्ठान है। अधिष्ठीयतेऽत्र अधिष्ठानम्। नगर को भी अधिष्ठान कहते हैं। क्षेत्र का भी नाम अधिष्ठान है यहाँ अधिष्ठान से शरीर का ही तात्पर्य है, जिसके द्वारा इच्छा, द्वेष सुख-दुख तथा चेतना की अभिव्यक्ति होती है।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्ता का तात्पर्य क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्मों को करने वाला है उसी का नाम कर्ता है। अहंकार से विमूढात्मा है वही अपने को कर्ता मान बैठा है (अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते) यह ज्ञान शक्ति प्रधान शुद्ध पंचभूतों का जो कार्य रूप अहकार है। वही

अपने को कर्मों का कर्ता माने बैठा है। अतः पहिला हेतु देह दूसरा अहंकार।

अर्जुन ने पूछा—'पृथक पृथक् करणों से यहाँ तात्पर्य क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"जिसके द्वारा कार्य सपादित किया जाता हो उसे करण कहते हैं। जैसे यज्ञादि में स्रुक् स्रुवा आदि पात्रों से यज्ञ कार्य सपादन किया जाता है वे यज्ञ के करण उपकरण हैं। उसी प्रकार कर्ता जिनके द्वारा कार्य करता है उन्हें करण कहते हैं। इन्द्रियों का ही दूसरा नाम करण है। वे करण दो प्रकार के होते हैं। बाह्यकरण और अन्त.करण। बाह्यकरण तो पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाता हैं। भीतर की इन्द्रियाँ अर्थात् अन्त करण मन, बुद्धि चित्त और अहंकार को कहते हैं। अहंकार को तो कर्ता में ही पृथक् गिना दिया। चित्त और मन को सांख्य वाले पृथक् नहीं मानते। अतः दस बाह्य इन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि इन बारह का नाम करण है।"

अर्जुन ने पूछा—"पृथक् पृथक् विविध चेष्टाओं से तात्पर्य क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"चेष्टा कहते हैं इन्द्रियों के विविध व्यापारों को। जैसे पैरों की चेष्टा है एक स्थान से दूसरे स्थानों पर जाना। हाथों की चेष्टा है उठाना, धरना ऊपर नीचे दाये बाये करना, खुजलाना आदि। आँखों की चेष्टा है, खोलना, मींचना, देखना इसी प्रकार सभी बाह्य इन्द्रियों की चेष्टायें समझ लेनी चाहिये। मन की चेष्टा है संकल्प विकल्प करना। बुद्धि की चेष्टा है निश्चय करना। इस प्रकार भिन्न भिन्न इन्द्रियों की भिन्न भिन्न चेष्टायें हुआ करती हैं। ये पृथक् पृथक् चेष्टायें भी कर्मों की सिद्धि में हेतु बताई गयी हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"अधिष्ठान, कर्ता, करण और चेष्टायें ये चार कारण तो जान लिये अब पचम हेतु जो दैव बताया, उस दैव से अभिप्राय क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"संचित कर्मों मे से एक जन्म के लिये नियत आये हुए कर्मों को दैव कहते हैं। उन्हे कोई देख नहीं सकता इसलिये उनको अदृष्ट भी कहते हैं। जन्मान्तरीय संस्कार या भाग्य भी इसी का नाम है। शरीर के आरंभ होते ही जो अपना कार्य करने लगे इसीलिये उस दैव को ही प्रारब्ध भी कहते हैं। और उन कर्मों का बिना भोग किये किसी प्रकार क्षय नहीं होता। यह दैव कर्मों की सिद्धि मे पाँचवा हेतु है। दैव से पंच भूत तथा इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवो को भी लिया जा सकता है। जैसे अधिष्ठान यह शरीर है। शरीर पार्थिव है, तो इस शरीर की अधिष्ठातृ देवी पृथ्वी है। अहकार के अधिष्ठातृ देव रुद्र हैं। इन्द्रियो मे कानो की अधिष्ठातृ देव दिशाये हैं। त्वचा के वायु, चक्षु के सूर्य, रसना के प्रचेता और घ्राण के अश्विनी कुमार अधिष्ठातृ देव है। इसी प्रकार वाणी के अग्नि, हाथों के इन्द्र, पैरों के उपेन्द्र, गुदा के मित्र और उपस्थ के प्रजापति अधिष्ठातृ देव हैं। मनके अधिष्ठातृ देव चन्द्रमा और बुद्धि के बृहस्पति हैं। पंच प्राणों मे से प्राण के सद्योजात, अपान के वामदेव, उदान के अघोर, समान के तत्पुरुष और व्यान के ईशान अधिष्ठातृ देव हैं। ये अधिष्ठातृ देव इन्द्रियादिको के अनुग्राहक हैं ये भी एक प्रकार से कर्मों की सिद्धि मे हेतु हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! उचित अनुचित कैसे भी कर्म हो, ये ही सब कर्मों के हेतु होते हैं क्या ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् इनकी हेतुता के सम्बन्ध में जो बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

'अधिष्ठान' है प्रथम देह कारज सब ग्वाते।
'कर्ता' दूसर हेतु करै कारज सब जाते॥
तीसर हैं ये 'करन' बाह्य अन्तः कहलावें।
चेष्टा जो हैं पृथक् विविध चौथी बतलावें॥
'दैव' हेतु पंचम कह्यो, जिहि अदृष्टहू सब कहत।
सुखद साँख्य सिद्धान्त तैं, हेतु पाँच पंडित भनत॥

आत्मा अकर्ता है

[९]

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥*

(श्री भग० गी० १ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

नरनारी जो करहिँ हेतु ये पाँच कहावैं ।
चाहैं मनतें करम करो वा तनहिँ लगावैं ॥
वा बानी तैं बको पाँच बिनु कछू न होवैं ।
तन मन बानी करम सबहिँ इनि ही कँ जोवैं ॥
करो शास्त्र अनुकूल वा, करो चाहिँ प्रतिकूल तुम ।
कारन ये ही पाँच हैं, सत्य बचन जिह कहहिँ हम ॥

---

* शरीर से, वाणी से और मन से न्याय्य वा विपरीत जो भी कर्म मनुष्य प्रारम्भ करता है, उसके ये पाँच कारण हैं ॥१५॥

ऐसा होने पर भी जो केवल आत्मा को ही कर्ता देखता है, वह अशुद्ध मति होने के कारण दुर्मति है । उसका देखना यथार्थ देखना नहीं ॥१६॥

यह जगत त्रितमय है। तीन का संयोग न हो तो जगत चले ही नहीं। तीन मे एक शुद्ध जड़ है दूसरा शुद्ध चैतन्य है। तीसरा जड़ चैतन्य मिला जुला-सा है। शुद्ध चैतन्य आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अनादि, केवल, असङ्ग सत्य, चिन्मय, आनन्दमय तथा अकर्ता और अभोक्ता है। प्रकृति तो जड़ ही है, वह स्वतः कुछ भी करने मे समर्थ नहीं जब तक कोई चैतन्य उसे चलाने वाला न हो। जड़ के साथ शुद्ध चैतन्य का नहीं चैतन्यांश का जब संयोग होता है, तभी संसार चक्र चलता है, तभी कर्ता-भोक्तापने का उसमे अध्यारोप किया जाता है। जैसे दूध है, जल है दोनों पृथक्-पृथक् है। दोनो का रंग रूप आकृति प्रकृति एक सी नहीं पृथक्-पृथक् है, किन्तु जब जल मे दूध मिला दिया जाता है, तभी भ्रम हो जाता है, उसे शुद्ध दूध भी नहीं कह सकते और जल भी नहीं कह सकते। पानी चाहे जितना भी अधिक हो दूध का अंश मिल जाने से उसके रंग मे श्वेतता आ ही जायगी। भ्रम वश लोग उसे दूध समझने ही लगेंगे। इसी प्रकार अधिष्ठान (देह) करण (भीतर बाहर की इन्द्रियाँ) विविध चेष्टायें (इन्द्रियों के नाना कार्य) और दैव (संचित कर्मों में से एक जन्म के भोगने योग प्रारब्ध कर्म) ये चार तो प्रकृति के कार्य होने से शुद्ध जड़ हैं। ये चारों भले ही मिल जायँ, तो भी स्वतः कुछ भी करने में समर्थ नहीं। जब तक कि कोई करवाने वाला चैतन्य कर्ता न हो। आत्मा तो परमप्रकाशक, अद्वितीय, सत्तास्फूर्ति रूप, परमानन्द स्वरूप, उदासीन तथा अकर्ता है। जब यही आत्मा इन अधिष्ठान, करण, विविध चेष्टाओं, और दैव के साथ अपने कुछ अंश से मिल जाता है—चैतन्यांश अर्थात् जीव रूप से तभी उसकी कर्ता संज्ञा हो जाती है। अर्थात् केवल जो आत्मा है अर्थात् इन चारों के संसर्ग से रहित जो शुद्ध चैतन्य है, वह तो कर्ता है नहीं, किन्तु

इन चारो से ससर्गित आत्मा ही कर्ता है। अर्थात् जड और चेतन्य की मिलकर जब सविद कार्य कारिणी परिषद् बन जाती है, तभी ससार का कार्य होने लगता है। किन्तु ज्ञानमार्ग वाले इस बात को नहीं मानते। उनका कथन है, कि जल और दूध का परस्पर मे मिल जाना सम्भव है, क्योंकि वे एक धर्मीय है। लोहा और दूध तो परस्पर मे मिल नहीं सकते। क्योंकि दोनों का साधर्म्य नहीं है। दोनो पृथक् पृथक् स्वभाव वाले हैं। इसलिये जड और चेतन्य का मिलना असम्भव है। आप कहो कि अविद्या के कारण ऐसा हो जाता होगा, तो अविद्या के कारण मेल मे तो प्रधानता अविद्या की ही हुई। अविद्या जनित कर्तृत्व वाला कुछ कर ही कैसे सकता है।

तब प्रश्न होता है, जड तो कुछ भी करने मे समर्थ नहीं। और आत्मा असग है, वह कर्तृत्व भोक्तृत्व से सर्वथा रहित है, तो फिर यह ससार चक्र चल कैसे रहा है। इसका उत्तर देते हुए कहते है, वास्तव मे आत्मा तो कर्ता है ही नहीं किन्तु अहकार के कारण ही विमूढात्मा पुरुष अपने को व्यर्थ मे ही कर्ता मान बठता है। आत्मा तो जड प्रकृति मे मिलता नहीं किन्तु प्रतिबिम्बित होने के कारण अविद्यावश उसमे कर्तापने का आरोप कर लिया जाता है।

जैसे छोटे बडे, भिन्न भिन्न रग वाले पात्रों मे जल भरा हुआ है, जल भिन्न है, सूर्य भिन्न है, उन दोनो का एकत्रीकरण असम्भव है, किन्तु जल मे सूर्य का प्रतिबिम्ब पडता है। वायु लगने से जल हिलता है, उसके साथ ही वह प्रतिबिम्बित सूर्य भी हिलता डुलता सा प्रतीत होने लगता है। पात्र भेद से प्रतिबिंब भी भिन्न भिन्न रूपों म भिन्न भिन्न क्रियायें करता-सा दिखायी देगा। वास्तविक सूर्य न क्रिया करता है न हिलता डुलता है। इसी

प्रकार जो अकृत बुद्धि हैं मूर्ख हैं, जिन्होंने श्रेष्ठ पुरुषों का संग नहीं किया है, आचार्य चरणों में बैठकर ज्ञानकी उपलब्धि नहीं की है, वे ही आत्मा मे कर्तापने का आरोप करते हैं।

इस प्रकार कर्म के जो (१) अधिष्ठान (२) कर्ता (३) करण (४) चेष्टायें और (५) दैव ये पाँच हेतु बताये हैं। इनमे चार तो प्रकृति के कार्य हैं ही। अब अपने को जो कर्ता समझता है, वह तो कर्मों के बंधनों में बँधकर चौरासी के चक्कर में अविद्या के घेरे मे घूमता रहता है। जो अपने को कर्ता समझता ही नहीं। वह यही मानता है, कि यह जो भी कुछ हो रहा है, सब प्रकृति का ही खेल है। आत्मा तो अकर्ता है। ब्रह्म प्राप्ति मे यही भ्रांति बाधक है, कि प्रकृति के किये हुए भिन्न-भिन्न कार्यों को अपना ही किया हुआ समझना। जब अपने को शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूप मानकर प्रकृति मे होने वाले कार्यों को, प्रकृति जन्य व्यापार मान ले। और समस्त भूतो के पृथक-पृथक् भावों को एक में ही स्थित देखें। समझे यह प्रकृति को ही विस्तार हो रहा है। आत्मा तो सर्वथा अकर्ता है, वास्तव में वही ज्ञानी पुरुष है, फिर वह कर्मों को कर्ता हुआ भी अकर्ता ही बना रहता है। कर्म जन्य भले बुरे फल उसको नहीं लगते। वह कर्मों के फलों से सदा अलिप्त बना रहता है।

सूतजी कहते हैं– मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् पुनः इन पाँचों को कर्म मे हेतु बता कर आत्मा को कर्तृत्व से पृथक् बताते हुए कह रहे हैं—"अर्जुन ! शास्त्रों मे शारीरिक वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के कर्म प्रसिद्ध हैं।"

अर्जुन ने पूछा - "शारीरिक कर्म किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो शरीर मे इन्द्रियों द्वारा किये हुए

कर्म हैं, उन्हें शारीरिक कर्म कहते हैं जैसे चलना फिरना, छूना उठाना धरना, देखना, सुनना आदि-आदि।

अर्जुन ने पूछा—"वाचिक कर्म किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्म वाणी द्वारा बोलकर किये जायँ। सत्य बोलना, असत्य बोलना, प्रेम से बोलना, क्रोध में भर कर बोलना गाली देना आदि।"

अर्जुन ने पूछा—"वाणी भी तो एक इन्द्रिय ही है वाचिक कर्मों को शारीरिक कर्मों से पृथक् क्यों बताया गया ?"

भगवान् ने कहा—"बात यह है, कि एक मनुष्य शरीर ही ऐसा है, जिसे कर्मों का पुण्य और पाप लगता है। मनुष्य शरीर द्वारा ही क्रियमाण कर्म होते हैं। यही कर्मयोनि है। शेष समस्त योनियाँ भोगयोनियाँ हैं, अन्य योनियों मे मनुष्य पिछले कर्मों के भोगो को ही भोग सकता है। पृथ्वी की जितनी भी योनियाँ हैं, उन सब मे मनुष्य ही ऐसा है जिसका सिर ऊँचा हैं, जो हँस सकता है, जिसके बाल सफेद होते हैं। मनुष्य की भाँति किसी योनि वाले का सिर ठीक ऊँचा नहीं। मनुष्य का बालक भी मुस्कराता है, हँसता है, अवस्था आने पर मनुष्य के ही बाल सफेद होते हैं अन्य पशु पक्षियो के नहीं। अन्य इन्द्रियाँ अपने कामो को स्वयं करती हैं दूसरे उन्हें करती हुई देख सकते हैं, एक वाणी ही ऐसी इन्द्रिय है, जिसके काम को अंधा भी समझ सकता है, यह बोल कर अपने भावों को असंख्यो लोगों पर—मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवों पर व्यक्त करती है। अतः अन्य इन्द्रियों के कर्मों से इसके कर्म को पृथक् कर दिया। कर्मों में कोई व्यक्ति प्रवृत्त होता है, तो वह या तो शरीर से या वाणी से या मन से अथवा तीनो से प्रवृत्त होता है। जैसे हम किसी बोझा से लदी गाड़ी को ठेल रहे हैं, तो पैरों से चलते हैं

हाथों से बल लगाते हैं, ठेलने मे मन बुद्धि का प्रयोग करते हैं और वाणी से बताते जाते हैं। कर्म करते समय, वाणी की विशेषता होती है, अतः वाणी को अन्य इन्द्रियों के कर्म से पृथक् बताया गया है। प्रवृत्तियाँ शारीरिक वाचिक तथा मानसिक तीन ही प्रकार की मानी है। ये प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक तो न्याय्य दूसरी विपरीत।

अर्जुन ने पूछा—"न्याय्य प्रवृत्ति किसे कहते ?"

भगवान् ने कहा—"न्याय्य कर्म तो वे कहलाते हैं, जिनकी शास्त्रों मे आज्ञा है। जैसे धर्म का आचारण करना, सत्य बोलना, मन से शिव सकल्प करना इत्यादि-इत्यादि।"

अर्जुन ने पूछा—"विपरीत कर्म किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"शास्त्रविरुद्ध कर्म करना जैसे अधर्म का आचरण करना, असत्य भाषण करना। मन से दूसरों का अनिष्ट चिंतन करना इत्यादि-इत्यादि। इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टायें तथा दैव ये ही कारण हैं। इन पाँचों मे से एक भी न हों, तो कर्मों की सिद्धि नहीं हो सकती।"

अर्जुन ने पूछा—"अधिष्ठान, करण, चेष्टायें और दैव ये तो सब प्रकृति के कार्य हैं, प्रकृति है जड। चेतन्य के बिना जड स्वय कुछ करने मे समर्थ नहीं, चैतन्यघन एक आत्मा ही है। अत आत्मा ही कर्ता होगा ? जब आत्मा इनके साथ मिल जाता होगा, तब दुख-सुख भोगता होगा ? आत्मा को ही पुण्य पाप लगता होगा ?"

भगवान ने कहा—"नहीं, आत्मा कर्तृत्व से सर्वथा पृथक् है। जो केवल स्वरूप आत्मा को कर्ता मानता है, वह विवेक शून्य मलिन बुद्धि वाला अज्ञानी यथार्थ समझता ही नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—"जब चैतन्य आत्मा कर्ता नहीं तब कर्ता कौन है ?"

भगवान् ने कहा—"कर्ता चैतन्य नहीं। चैतन्य की सत्ता से चैतन्य के प्रतिबिम्ब के प्रकाश मे अहंकार विमूढ़ात्मा ही अपने को कर्ता मान बैठा है। यही अज्ञान है। कोई सिंह शावक है, अज्ञानवश अपने को शशक मान बैठा है, जब बोध हो गया, तो उसमे से शशक निकल नहीं गया, सिंह कहीं से आ नहीं गया, केवल भ्रम मिट जाने से वह शशकत्व के अहंकार से विमुक्त हो गया। इसी प्रकार जीवत्व का कर्तृत्व का अभिमान मिट जाने पर कर्म करते रहने पर भी उसे पुण्य पाप नहीं लगता। आत्मा कर्ता न पहिले था, न है, न होगा। वह तो सर्वथा विशुद्ध तथा निर्विकार है, उसके छाया रूप किसी अंश के द्वारा अज्ञानवश कर्तृत्व का आरोप हो गया था। ज्ञान हो जाने पर वह भी समाप्त हो गया। फिर वह सुख-दुःख, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सत्य असत्य सबसे परे हो जाता है। निरहंकृत हो जाने पर कर्म तथा कर्मों के फल उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते।"

अर्जुन ने पूछा—"जिसने आत्मा के यथार्थ रूप को समझ लिया है और अपने को कर्तापने से पृथक् जान लिया है, उसकी स्थिति कैसी होती है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

इनि पाँचनि में कह्यो एक कर्ता तिहि जानो।
आत्मा कर्ता नहीं अहयुत जीवहिं मानो॥
जो आत्मा है शुद्ध ताहि करता करि मानत।
तिनिकी बुद्धि अशुद्ध अज्ञ वे कछु नहिं जानत॥
पांच हेतु जो सांख्य में, अधिष्ठान आदिक कहे।
आत्मा तो निरलेप है, कर्ता बनि कस फल सहे॥

अनहंकृत भाव वाला कर्मबन्धन से बँधता नहीं

[१०]

यस्य नाहँकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

अहभाव तैं रहित जीव जबई है जावै ।
करै फेरि सब कछू नहीं फल करमनि पावै ॥
जाके अन्तःकरन न करतापन अभिमाना ।
बुद्धि न होवै लिप्त करै वह करमनि नाना ॥
वह चाहे करवाल गहि, सब लोकनि मारत फिरत ।
मारन हारो है नहीं, और पाप में नहिं बँधत ॥

बन्धन का कारण कर्म नहीं। कर्मों में जो कर्तापने का अभिमान करके उस कर्म के फलों मे जो आसक्ति है वही बन्धन का कारण है। वास्तव में बन्धन का कारण अहंकृति ही है। अतः तीन प्रकार के जो अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित कर्म हैं,

---

* जिस पुरुष को मैं कर्ता हूँ, ऐसा भाव नहीं है और कर्मों में जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती। वह यदि सम्पूर्ण लोकों को मार भी डाले, तो वास्तव मे वह न मारता है और न उसके पाप से बँधता है।

उनका फल अत्यागियों को-अहं बुद्धि वालों को-ही भोगना पड़ता है। जो त्यागी हैं, संन्यासी हैं, जिनमे अहंकृति भाव नहीं है, ऐसे पुरुषों को कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता। बड़े-बड़े नगरों की नगर पालिका की सीमा में मल-मूत्र त्यागने के एक नियत स्थान होते हैं। उन स्थानों के अतिरिक्त सार्वजनिक स्थानों में मल-मूत्र त्यागने वाला दंडनीय माना जाता है, किन्तु यह विधान बुद्धि से विचार करके काम करने वाले मनुष्यों पर ही लागू होता है। पशु पक्षियों के ऊपर यह नियम लागू नहीं होता। मनुष्यों मे भी अबोध शिशुओं पर लागू नहीं होता, पागलों पर भी लागू नही होता, क्योंकि वे बुद्धि से विचार कर काम करने की सामर्थ नहीं रखते। मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त, जड, अबोध ये विचार पूर्वक कार्य नहीं करते। इसी प्रकार जो अहकार से शून्य है जिसे निश्चय हो गया है, सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जा रहे हैं। वह समझता है-गुण गुणों मे वर्त रहे हैं, मैं तो आत्मस्वरूप हूँ। आत्मा कर्ता नहीं। वह असंग है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा कार्य कारण से रहित है। यह असंग है, साक्षी, चेता, केवल और गुणों से रहित है। वह प्राण तथा मन से रहित शुद्ध अक्षर है। पर से भी परे है। आत्मा अजन्मा महान् और नित्य है। यह, अज, अच्युत, शाश्वत तथा पुरातन है। यह कालपीन, क्रिया हीन, शान्त, निर्मल और निर्लेप है। यह अविकार्य तथा प्राकृत गुणों से परे है।

एक पत्रालय का अधिकारी है, उसके पास सहस्रों पत्र आते हैं, सैकड़ों धनादेश आते हैं। उनमे उसकी कोई आसक्ति नहीं। उसे इस बात का ज्ञान है, कि ये जो पत्र तथा धनादेश हैं, इनमे मेरा कुछ नहीं है। केवल मेरे द्वारा ये वितरण के निमित्त आते हैं। अतः उनके आने पर उसे कोई हर्ष नहीं। वितरण हो जाने

पर उसे विषाद नहीं, क्योंकि हाथ में आने पर भी उनमें उसकी कोई आसक्ति नहीं। अपनेपन का भाव नहीं। अपना मानकर उनमे भोग बुद्धि भी नहीं। अतः हाथ में आने पर भी वह उनके बन्धनो से सदा अलिप्त बना रहा है।

टकसाल मे अरबो खरबो रुपये बनते हैं, किन्तु बनाने वाले को उनसे क्या प्रयोजन ? रुपये चाहे जितने बन जायँ, उसे तो नियत वेतन ही मिलेगा। उनमें उसका अपनापन नहीं, आसक्ति नहीं वह तो केवल बनाने वाला है, उनके फल भोक्ता दूसरे हैं। उनके नष्ट हो जाने पर उसे हर्ष विषाद उतनी ही मात्रा मे होगा, जितनी मात्रा मे उसका अहंभाव है। यदि अहंभाव तनिक भी नहीं है, तो समस्त टकसाल के नष्ट हो जाने पर भी उसे न हर्ष होगा न विषाद।

इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध कर्मों का भोग समझकर अभिमान शून्य होकर कर्मों को करता रहता है, उन कर्मों के फलों की तनिक भी इच्छा उसके मन में नही है। अतः कर्मों को कर्ता हुआ भी वह अकर्ता ही है, अहंकार से रहित होकर वह जो भी करता है, उसका पुण्य पाप उसे नहीं लगता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब अर्जुन ने अहंकृति हीन पुरुष की स्थिति के सम्बन्ध मे प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—देखो, अर्जुन ! अहकार दो प्रकार का होता है, एक सामान्य अहंकार दूसरा विशेष अहंकार। पुराणों मे जहाँ सृष्टि का वर्णन आता है, वहाँ प्रकृति से महत्तत्व और महत्तत्व से अहंकार उत्पन्न हुआ। वह अहंकार सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का बताया है। सात्त्विक अहंकार से मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव उत्पन्न हुए। राजस अहंकार से दश इन्द्रियाँ

उत्पन्न हुई और तामस अहंकार से सूक्ष्म पंच भूतों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अहंकार से ही सबकी उत्पत्ति हुई।"

वेदान्त के मत में अन्तःकरण की अहंकार एक वृत्ति है। मन बुद्धि, चित्त और अहंकार इनको अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं। वास्तव में अन्तःकरण तो एक ही है। उसकी वृत्ति चार हैं। अन्तःकरण में जब संकल्प विकल्प होता है किसी विषय का मनन करने लगता है, तो अन्तःकरण की उस वृत्ति का नाम मन हो जाता है। वही अन्तःकरण जब किसी बात को अपने बोध को निश्चय कर लेता है तो उसी को 'बुद्धि' कहने लगते हैं। वही अन्तःकरण, जब चिन्ता करने लगता है तो उसकी वह वृत्ति चित्त कहलाती है और वही अन्तःकरण जब मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ संन्यासी हूँ, करने वाला हूँ ऐसा अभिमान करने लगता है, तब उसी अन्तःकरण की वृत्ति का नाम अहंकार है।

सामान्य अहंकार तो उसे कहते हैं जिससे इस शरीर की क्रियायें चल रही हैं, बिना अहंकार के श्वास प्रश्वास भी नहीं ली जा सकती, पलक भी नहीं गिराये उठाये जा सकते। हाथ पैर भी नहीं हिलाये डुलाये जा सकते। यह सामान्य अहंकार तो जब तक प्रारब्ध कर्म हैं, जब तक शरीर है तब तक आवश्यक है। यह अभिमान कुछ अनिष्ट नहीं करता।

एक विशेष अहंकार है, जिसे मद, स्मय, अवलेप दर्प गर्व अथवा अभिमान कहते हैं। यह अभिमान ही बन्धन का हेतु है। शरीरादि वस्तुओं में जो ममतापने का मिथ्याज्ञान है इसी के कारण पुरुष अपने को कर्ता भोक्ता मानकर नाना योनियों में कर्मों के फलों को भोगता रहता है। जिस समय यह ज्ञान हो जाय कि शुद्ध चैतन्य आत्मा कर्तापने से सर्वथा विमुक्त है, वह तो केवल साक्षी मात्र है, उस समय समस्त शारीरिक क्रियायें

होते रहने पर भी पुरुष कर्ता पने के बंधन मे नहीं बँधता, उसे अच्छे बुरे तथा मिश्रित कर्मों का तनिक भी फल भोगना नहीं पडता।

अर्जुन ने पूछा—"जिसे पूर्ण ज्ञान हो गया है, जिसका कर्ता पने का अभिमान नष्ट हो गया और जिसकी बुद्धि कर्मों में लिप्त नहीं होती, यदि वह दान, धर्म, यज्ञ आदि करे, तो उनका कुछ पुण्य उसे मिलेगा कि नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"यह तुम्हारा प्रश्न ही अनुचित है, जो धर्म अधर्म, पुण्य पाप, अच्छा बुरा इन सब में समान हो गया है, जिसे कर्तृत्व अभिमान नहीं, कर्मों के फलों की इच्छा नहीं, उसे पुण्य कैसे लग सकता है ?"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा मान लो, ऐसा ज्ञानी किसी की हत्या कर दे, तो उसे हत्या का पाप लगेगा नहीं ?"

भगवान् ने कहा—"फिर वही बात, अरे भाई एक आदमी की हत्या नहीं, ऐसा अनहंकृति वाला पुरुष शस्त्र लेकर सम्पूर्ण लोक के जीवों का भी वध कर दे, तो न वह वास्तव में मारता है न वह पाप से बँधता है। मारता तो इसलिये नहीं है, कि वह मारने की क्रिया बिना किसी संकल्प के-बिना किसी अहंकार के-करता है और बँधता इसलिये नहीं कि उसके अन्तःकरण में किसी करके फल की आकांक्षा नहीं। जब वह पाप पुण्य से परे है, तो बँधेगा किस प्रकार ? क्योंकि वह तो आत्मरूप हो चुका है। आत्मा पाप पुण्य से न घटता है न बढता है। आत्मा न किसी को मारता है न किसी द्वारा मारा जाता है। अतः वह पाप पुण्य से भी रहित है। वास्तविक बात यह है, कि जिसे पूर्ण ज्ञान हो चुका है, वह किसी के मारने में प्रवृत्त ही न होगा, किन्तु कृष्ट कल्पना के आधार पर यह असंभव बात संभव भी

हो जाय, तो भी उसे जैसे शुभ कर्म का फल पुण्य नहीं मिलता, उसी प्रकार अशुभ कर्म का फल पाप भी न लगेगा। अर्थात् वह सदा सर्वदा अलिप्त बना रहेगा। आत्मा का देह के द्वारा, वाणी के द्वारा तथा अन्तःकरण के द्वारा किये हुए कर्मों से कोई भी सम्बन्ध नहीं।"

अर्जुन ने पूछा - "कर्मों के पाँच हेतु तो जान लिये और यह भी जान लिया कि आत्मा अकर्ता तथा अभोक्ता है। अब कर्मों के अङ्ग प्रत्यङ्गों को मुझे भली भाँति समझाइये। अर्थात् जितने कर्म होते हैं किन किन की प्रेरणा से होते हैं और क्रिया के आश्रय कौन कौन हैं। मुझे कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह का रहस्य बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने आरम्भ मे ही कह दिया था कि मैं सांख्य मार्ग के अनुसार कर्मों का हेतु बताता हूँ, इसलिये जो यह कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह का प्रतिपादन भगवान् आगे करेंगे, उसे सांख्य मत के अनुसार ही समझना चाहिये। अर्जुन के प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

आत्मा है निरलेप मरै नहिं काहू मारै।
करम करै कछु नाहिं उबारै नहिं सहारै॥
फल की इच्छा नाहिं करम तैं लिप्त होइ कस?
पाप पुन्य तैं रहित न होवै दुख सुख जस तस।
अहंकृती बिनु करम जो, भुनै बीज के सरिस है।
बोओ ताकूँ खेत में, नहिं अकुर नहिं फलहि है॥

कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रह

[११]

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥❀

(श्री भ० गी० १८ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

कर्म प्रेरणा और संग्रहहु करम सुनहु अब।
इन दोउनि कूँ समुझि मिटै अरजुन! संशय सब॥
करम चोदना तीनि भाँति की मुनिनि बताई।
ज्ञान ज्ञेय द्वै कहे परिज्ञाता हू भाई॥
कह्यो करम संग्रह त्रिविध, तिनहिँ सुनहु अरजुन सविधि।
करम करन कर्ता कहे, बने करम इनितैं विविध॥

कर्ता के द्वारा जो-जो क्रियायें होती हैं, उनके आश्रय क्या हैं और कर्म करने में प्रेरणा किनके द्वारा मिलती है। इन बातों का पता लग जाय, तो कर्मों का रहस्य भली-भाँति समझा जा सकता है। हम जो भी क्रिया करते हैं वह कर्म सिद्धि के लिये करते हैं। अतः क्रियायें दो प्रकार की होती हैं कर्म सहित क्रियायें और कर्म रहित क्रियायें। जिन क्रियाओं में कर्म पृथक् से नहीं जोड़ना

कर्म के प्रेरक ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये तीन हैं। कर्मों के संग्राहक कर्ता, करण और कर्म ये तीन हैं ॥१८॥

पडता क्रिया में ही कर्म सम्मिलित रहता है वे सकर्मक क्रियायें कहलाती हैं। इसलिये सकर्मक धातु से कर्म कर्ता मे लकार का प्रयोग होता है और अकर्मक धातु से भाव और कर्ता में होता है। व्यापार को क्रिया कहते हैं, फल के आश्रय को कर्म कहते हैं। उस व्यापार को करने वाले का नाम कर्ता है। जिस क्रिया में फल और व्यापार भिन्न भिन्न हों उसे सकर्म कहते हैं, जैसे देवदत्त भात पकाता है। इसमें पकाना तो देवदत्त का काम है और जो पक रहा है वह भात का काम है। अतः यह सकर्मक क्रिया हुई।

जिसका फल और व्यापार एक ही आश्रय में हो उसे अकर्मक कहते हैं, जैसे विष्णुमित्र सोता है। यहाँ सोने का फल जो विश्राम सुख है और सोने की क्रिया जो आखें बन्द करके पड रहना है वह एक ही कर्ता विष्णुमित्र में हैं अतः यह धातु अकर्म है। जिस क्रिया में आकाक्षा हो उसे सकर्मक कहते हैं। जैसे पढता है, खाता है, पीता है। इनमें यह आकाक्षा रहेगी क्या पढता है ? वेद, शास्त्र इतिहास आदि। क्या खाता है, लड्डू, पेडा, रोटी, भात आदि। क्यापीता है जल, दूध, शरबत आदि अतः यह धातु सकर्म है। जिसमे आकाक्षा न हो वह अकर्म है। जैसे जागता है, हँसता है, रोता है, इसमें आकाक्षा नहीं है कर्म की। क्रिया के साथ ही व्यापार फल जुडा हुआ है। अतः यह धातु अकर्मक है।

प्रत्येक क्रिया के सपादन के लिये ८ आठ उपकरण आवश्यक होते हैं। (१) कर्ता, (२) कर्म, (३) करण, (४) सम्प्रदान, (५) अपादान, (६) सम्बन्ध, (७) अधिकरण और (८) सम्बोधन। सम्बोधन तो कर्ता को बुलाने के ही काम में आता है, अतः उसे तो कर्ता के अन्तर्गत ही मानना चाहिये। अब कर्ता किसे कहते हैं। कर्ता के अतिरिक्त ये जो शेष ६ हैं उन सबकी कारक सज्ञा ही माननी चाहिये। कर्ता अन्य कारकों से अप्रयोज्य है। दूसरे कारक इससे

क्रिया की निष्पत्ति नहीं करा सकते किन्तु यह कर्ता समस्त कारकों का प्रयोजक है। अर्थात् इस कर्ता को जो भी क्रिया करानी होती हैं, इन कारकों की सहायता से ही कराता है। ये कर्ता चित् और अचित् दोनों की ही ग्रन्थि रूप है। चैतन्याश के विना जड कर्ता कुछ करने मे समर्थ ही नहीं हो सकता।

कर्म—कर्म उसे कहते हैं जिसे कर्ता करना चाहता है समस्त कारकों मे कर्म ही कर्ता के अधिक सन्निकट है। (यत् क्रियते तत् कर्म) कर्ता को जो अधिक अभीष्ट हो वह कर्म है। चाहे बनाना हो, उत्पन करना, सस्कारादि करना हो वह कर्म है।

करण—जिसके द्वारा कार्य सम्पादन होता है उसे करण कहते है। जैसे रामजी ने वाण के द्वारा वाली को मारा। मारने मे वाण साधक हुआ अतः वाण करण हुआ। जो क्रिया की निष्पत्ति मे कारण है जैसे सॉखी से धान्य को उलट पलटरहे हैं। उलटते पलटते तो हाथों से हैं किन्तु हाथ मे जो एक लडकी का यन्त्र ले रखा है, वही कारण है अतः यहाँ लकडी की सॉखी ही करण है।

सम्प्रदान—सम्प्रदान उसे कहते है, जिसके लिये क्रिया की जाती है। (सम्यक् प्रकारेण दानम्सम्प्रदानम्) जैसे ब्राह्मण के लिये धन दो। यहाँ जिस ब्राह्मण के लिये कर्ता दान दे वह सम्प्रदान है। जैसे श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है। आचार्य के लिये नमस्कार है।

अपादान—अपादान उसे कहते हैं कि एक वस्तु से दूसरी वस्तु विलग हो। जैसे पेड से पत्ता गिरता है। यह अपादान ग्यारह अर्थों मे प्रयुक्त होता है। १—पृथक् होने मे, डरने में, निन्दा मे, पराजय में, प्रमाद मे, आदान में, उत्पन्न होने मे, रक्षा करने मे, विश्राम या विराम मे, विद्यादि धारण कराने मे और

निवारण कराने में जैसे पृथक् होने में पेड़ से पत्ता गिरता है। डरने में-सिंह से डरता है। निन्दा मे-धीर पुरुष पाप से घृणा करते हैं। पराजय में-हाथी सिंह से पराजित होता है। प्रमाद मे-नीच पुरुष धर्म से प्रमाद करता है। आदान में-ब्राह्मण राजा से धन लेता है। पैदा होने मे-पिता से पुत्र पैदा होता है। रक्षा मे-गोप सिंह से गौ की रक्षा करता है। विराम मे-ब्राह्मण जप से विराम लेता है। विद्यादि धारण करने में-शिष्य गुरु से विद्या धारण करता है। और वारण में-जौ के खेत से गौ को निवारण करता है। तात्पर्य यह है कि जिससे वस्तु का विश्लेश हो उसे अपादान कहते हैं।

सम्बन्ध—सम्बन्ध उसे कहते हैं, जिस कर्ता से जो सम्बन्धित हो। जैसे राजपुरुष जो पुरुष राजा से सम्बन्धित हो वह राज पुरुष कहलावेगा। रामदास—जो रामचन्द्र जी का दास हो।

अधिकरण—अधिकरण उसे कहते हैं जो कर्ता का आधार हो। वह चार प्रकार से व्यक्त किया जाता है। एक तो समीपता मे दूसरे आश्लेष मे, तीसरे विषय में और चौथे व्याप्ति मे। जैसे सामीप्य मे गंगाजी में गोओं के रहने का स्थान है। यहाँ गगाजी मे कहने से तात्पर्य गगाजी के बीच मे नहीं गगाजी के समीप तट से हैं। आजकल मैं यमुनाजी मे रमण कर रहा हूँ। इसका अर्थ हुआ यमुना किनारे आनन्द ले रहा हूँ। आश्लेष मे-जैसे स्वर्ग मे देवता रहते है, वन मे विहार कर रहा हूँ। इसमे देवता स्वर्ग में सटे हुए हैं उसमे मिले हुए हैं। वन के बीच मे ही रमण कर रहा हूँ।

विषय में—जैसे ये पडितजी शास्त्र में निपुण हैं। यह नायक केलिकला मे निपुण है। यहाँ कला और शास्त्र विषय हैं उसमें कर्ता निपुण है।

इस प्रकार क्रिया के निष्पन्न करने में एक कर्ता और ६ कारकों की आवश्यकता होती है। भगवान् ने इनमें से कर्ता, कर्म और करण तीन ही कर्म सग्रह बताये हैं। तीन को बताकर इति कह दिया है, अत' इति शब्द से सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इन तीनों को भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार क्रिया की निष्पत्ति मे कर्ता सहित ७ तो यह कारक कारण हैं। और ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये कर्म की प्रेरणा के भेद हैं। इनकी प्रेरणा से कर्मों का सग्रह होता है अर्थात् कर्म निष्पादित होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने कर्म प्रेरणा और कर्म सग्रह के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब भगवान् ने कहा—अर्जुन अनेक बार प्रसग आने पर मैं बता चुका हूँ, कि यह जगत् त्रिगुणात्मक है। सब कार्य त्रिपुटी के द्वारा ही हो रहा है।"

अर्जुन ने पूछा—"त्रिपुटी क्या?"

भगवान् ने कहा—"एक कर्ता दूसरा कर्म तीसरे उसके करण। जैसे कुम्भकार तो कर्ता है, उसका कर्म है बर्तनों का निर्माण और बर्तन बनाने के साधन मृत्तिका, चाक, डडा, सूत, जल आदि उपकरण हैं। ऐसे ही सभी म तीन-तीन पुट लगा देने से त्रिपुटी हो जाती है। अब तुम कर्म प्रेरणा के सम्बन्ध में पूछ रहे हो, तो कर्म करने की प्रेरणा पहिले अन्त करण में उठती है। उसमें भी तीन ही होते हैं ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय। ये तीन कर्मों की प्रेरणा म कारण है।"

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञाता किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्ता है, वह सहसा आँख मींचकर काम नहीं करने लगता। किसी भी काम करने के पूर्व जो उस कार्य के सम्बन्ध में विचार करने वाला है, उसी का नाम ज्ञाता या परिज्ञाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञान क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जिस वस्तु को ज्ञाता को बनाना है, प्रकाश करना है, उस क्रिया के ज्ञान को अन्तःकरण में भली भाँति समझ लेना ही ज्ञान है।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर ज्ञेय क्या रहा ?"

भगवान् ने कहा—"जिस कर्म को करना है वह कर्म ही ज्ञेय है। जैसे एक चित्रकार है, उसे गणेशजी का एक चित्र निर्माण करना है, तो ऐसा तो है नहीं कि वह तुरन्त तूलिका उठावे और मूर्ति का निर्माण कर दे। पहिले वह कैसी मूर्ति बनानी है, इसके विषय में विचार करेगा। तो विचार करने वाला तो ज्ञाता हुआ उस मूर्ति का आश्रय अर्थात् अन्तःकरण मे होने वाली परिकल्पना का भोक्ता। किस-किस प्रकार मूर्ति का निर्माण होगा, इस विषय के परिज्ञान का नाम ही ज्ञान है। मूर्ति ऐसी और इस प्रकार की होगी यह ज्ञेय हुआ। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये तीनो ही अन्तः करण सम्बन्धी क्रियायें हैं। अतः ये तीन प्रकार की कर्म प्रेरणायें कहलाती हैं। जब कर्म प्रेरणा द्वारा कर्म करने का निश्चय हो जाता है तब कर्म संग्रह किया जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्म संग्रह क्या ?"

भगवान् ने कहा—"ज्ञाता द्वारा अन्तःकरण मे ज्ञेय ज्ञान का पूर्ण निश्चय हो जाने पर बाह्य इन्द्रियों द्वारा जो उसे मूर्त रूप दिये जाने का कार्य है वही कर्म संग्रह कहलाता है। जैसे अन्तः करण में उस ज्ञाता ने विचार पूर्वक एक मनोमयी मूर्ति बना ली। उस मूर्ति को भींत पर, वस्त्र पर या कागद पर मूर्त रूप देने की जो त्रिपुटी है वही कर्म संग्रह है। मूर्ति को बनाने वाला ज्ञाता ही जब बाह्य इन्द्रियों द्वारा उसे मूर्त रूप देने को उद्यत होता है, तो उसी की कर्ता संज्ञा होती है। अब मूर्ति को बनाने के जो

साधन हैं, वे करण कहलाते हैं। जैसे भींत, वस्त्र या कागद जिस पर मूर्ति बनाई जायगी, जिसके द्वारा बनाई जायगी वे कूँची आदि जिससे बनाई जायगी, वे रंग और उनके पात्र आदि। जिससे पोंछी जायगी, वे वस्त्र आदि ये सभी उपकरण, करण कहलायँगे। जब मूर्ति बनकर तैयार हो गयी तो वह मूर्ति ही कर्म है। इस प्रकार कर्ता, कर्म और करण यही त्रिपुटी कर्म संग्रह कहलावेगी। उस कर्ता का बनाने का-निर्माण करने का-प्रकट करने का-सुसंस्कृत करने का-मुख्य लक्ष्य श्री गणेशजी की मूर्ति का ही था। कर्ता को जो क्रिया परम अभीष्ट हो वही कर्म है। और उसके निर्माण मे जो सहायक हों वे सभी करण हैं। इससे सिद्ध हुआ अन्तःकरण की जो कर्म करने की क्रियायें हैं वे कर्म प्रेरणा हैं और उन प्रेरित कर्मों को मूर्त रूप देने की समस्त बाह्य तथा भीतर की इन्द्रियों की जो क्रियायें वे ही कर्म संग्रह हैं।

अर्जुन ने कहा—"इस कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह के बताने मे तात्पर्य क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"यहाँ इन दोनों के बताने का तात्पर्य इतना ही है, कि जिस अन्तः करण से कर्मों को करने की प्रेरणायें मिलती हैं, वह अन्तःकरण भी अनात्मा है और जिन इन्द्रियों और अन्य उपकरणों द्वारा कर्म सम्पन्न होता है वे समस्त साधन भी अनात्मा है, अतः आत्मा अकर्ता है, ये गुण गुणों में स्वतः वर्त रहे हैं। जड और चैतन्यांश की ग्रन्थि रूप जो यह विमूढ़ात्मा जीव है वह व्यर्थ में ही अपने को कर्ता माने बैठा है, जब तक यह अपने को कर्ता मानता रहेगा, तब तक पुण्य-पाप इसे लगेंगे। दुख सुख भोगता रहेगा। जब इसका अहंकृत भाव नष्ट हो जायगा, कर्मों मे इसकी बुद्धि लिपायमान न होगी, उस समय कर्मों को करने पर भी उसे उनका कुछ भी दोष न लगेगा।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! आपने ज्ञान, ज्ञेय, और परिज्ञाता तथा करण, कर्म और कर्ता ये दो त्रिपुटी कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह की बतायीं। जैसे आपने सबके सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन प्रकार के भेद बताये, वैसे इनमें भी तीन-तीन प्रकार के भेद होते हैं क्या?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, इन दोनों त्रिपुटियों अर्थात् छेओं के भी तीन-तीन भेद हैं। इन्हें मैं तुम्हारे ज्ञान के लिये बताऊँगा। किन्तु संक्षेप करके बताऊँगा।"

अर्जुन कहा—"संक्षेप करके कैसे बतावेंगे भगवन्।"

भगवान् ने कहा—"देखो जो कर्ता है वही परिज्ञाता भी है। अतः ज्ञाता और कर्ता में कोई भेदभाव नहीं। इसी प्रकार जो ज्ञेय है वही करण हो जाता है, अतः ज्ञेय में और करण में कोई भेद नहीं। अतः पहिली त्रिपुटी में से ज्ञान को लेकर और दूसरी त्रिपुटी में से कर्म और कर्ता को लेकर इस प्रकार तीनों के ही, मैं सात्त्विक, राजस और तामस भेद बताऊँगा। इन तीनों के अन्तर्गत छेऊ आ जायँगे।"

छप्पय

विषय प्रकाशन किया 'ज्ञान' वहई कहलावै।
जाको होवै ज्ञान 'ज्ञेय' वह करम कहावै।
आश्रय जाको करम परिज्ञाता' तिहि जानो।
होवै साधक क्रिया-माहिं तिनि 'करन' हि मानो॥
जिनिकूं कर्ता करन हित, उद्यत सोई 'करम' है।
करै काज "कर्ता" वही, छऊ करम के मरम हैं॥

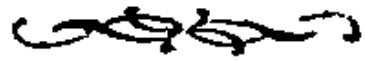

सात्त्विक ज्ञान

[१२]

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुण भेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् । *

(श्री भग० गी० १८ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

करता के हू तीनि भेद पंडित समुझावैं ।
सात्त्विक राजस और तामसिक विज्ञ बतावैं ॥
ऐसे ही गुण भेद कर्म हू त्रिविध बताये ।
ज्ञान भेद हू तीनि ,सत्त्व रज तमस कहाये ॥
करै शास्त्र जो गुननि की, संख्या तिनि निरनय सुनहु ।
कहूँ सबनि के भेद कूँ, सावधान ह्वै चित धरहु ॥

---

* साख्य शास्त्र मे गुणो के भेद स ज्ञान, कर्म और कर्ता के भी तीन प्रकार कहे गये हैं, उन तीनो के प्रकारो को भी मुझसे यथावत् सुनो ॥१९॥

जिस ज्ञान के द्वारा समस्त भूतों मे पृथक्-पृथक् एक ही अव्यय भाव को अविभक्त रूप मे देखता है। उस ज्ञान को तुम सात्त्विक ज्ञान जानो ॥२०॥

जो जानने वाला है वह ज्ञाता है, जिस वस्तु को जानता है वह ज्ञेय है और जिस वृत्ति विशेष के द्वारा ज्ञेय वस्तु का निश्चय करता है उसे ज्ञान कहते हैं। वास्तविक ज्ञाता वही है, जो अपनी आत्मा को ही सम्पूर्ण भूतों मे देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा मे देखता है। यहाँ देखने वाला ज्ञाता हुआ। आत्मा ज्ञेय हुआ और सर्व भूतों मे एक ही आत्मा व्याप्त है यह जो वृत्ति है यही ज्ञान है।

सम्पूर्ण भूत नाशवान हैं, आद्यन्तवन्त हैं। आज हैं कल नहीं हैं। इन नष्ट होने वाले समस्त भूतों म एक ही आत्मा को देखने वाला ज्ञाता है। आत्मा ज्ञेय है और जिस वृत्ति से नष्ट होते हुए सम्पूर्ण भूतो मे एक ही आत्मा को अनुभव की जाती है, वही वृत्ति ज्ञान है। ज्ञेय जो वस्तु है उसका व्यय नहीं होता और सब वस्तुएँ घटती बढती रहती हैं। ससार मे ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके विभाग टुकडे न होते हो। इन्द्रियो द्वारा जो भी दिखायी देता है, सबके किसी न किसी प्रकार विभाग हो सकते हैं, वे कई भागो मे बाँटे जा सकते है। जिसके विभाग हो सकते हैं, वह नष्ट भी हो सकती है। जिस वस्तु के न तो विभाग हो सकते हो और न जो नष्ट हो सकती हो, वही अविनाशी अव्यय तथा अविभक्त वस्तु है वही ज्ञेय है। वही जानने योग्य है, जो वृत्ति इस ज्ञेय के तत्त्व को जानती है उसी का नाम ज्ञान है। जब तक वह वृत्ति जागृत न होगी तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति ही पुरुष का अतिम ध्येय है। यही पुरुष का परम पुरुषार्थ है। वह ज्ञान के बिना सभव नहीं। कुछ बाल बुद्धि वाले भोले पुरुष कहा करते हैं—हमे मुक्ति नहीं चाहिये हमे तो श्री हरि के चरणों मे अव्यभिचारिणी भक्ति चाहिये। मुक्ति तो भुक्ति की भाँति पिचाशी है, जब तक भुक्ति की भाँति मुक्ति की

भी स्पृहा हृदय में हो तब तक अहैतु की भक्ति नहीं मिल सकती।

ऐसे कहने वाले दुधमुहे बाल बुद्धि वाले भोले बच्चे यह नहीं समझते कि मुक्ति तो संसारी विषयों को भोगने की इच्छा को कहते हैं, संसारी भोग प्रत्यक्ष पदार्थ हैं। मुक्ति कोई पदार्थ तो नहीं मुक्ति तो एक स्थिति का नाम है, जब तक जीव को वह स्थिति प्राप्त नहीं होती तब तक तो वह संसारी विषयों में बँधा हुआ है। बँधे हुए जीव को भक्ति का आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है। जब तक जीव संसारी बन्धनों से मुक्त न होगा, तब तक उसे शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द घन आनन्द परब्रह्म परमात्मा श्री भगवान् का सुख कैसे प्राप्त हो सकता है। आप चाहे सांख्य मतावलम्बी हो, चाहे वर्णाश्रम रूप कर्मावलम्बी हों, अथवा सर्व कर्मार्पण रूप निष्काम कर्म कर्ता भक्ति मार्गावलम्बी हो, सर्व प्रथम संसारी बन्धनों से विमुक्त तो बनना ही होगा, मुक्ति तो प्राप्त करनी ही होगी। मुक्ति की स्पृहा को स्पृहा नहीं कहते, जैसे भगवत् सम्बन्धी जो कर्म है वे कर्म नहीं कहलाते। इसी प्रकार कोई भी मार्ग हो ज्ञान तो उसमें आवश्यक ही है। अज्ञानी को भगवत प्राप्ति या मुक्ति कैसे हो सकती है। अतः मुक्ति के नाम से ही डर जाना, ज्ञान के नाम से ही भयभीत हो जाना यह भक्तों का लक्षण नहीं। अज्ञों का लक्षण है।

आप कहेंगे भागवदादि भक्ति शास्त्रों में तो बार-बार कहा है, "इन्द्रियों की सत्त्वमूर्ति श्री हरि के प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति ही अहैतुकी भक्ति है, यह मुक्ति से भी बढ़ कर है।" "भगवान् की चरण सेवा में प्रीति रखने वाले भगवान् की ही प्रसन्नता के निमित्त समस्त कार्य करने वाले कितने ही बड़भागी भक्त, जो परस्पर में मिलकर प्रेम पूर्वक भगवत् पराक्रमों की चर्चा किया करते हैं, वे सायुज्य मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते।"

"जो निष्काम भक्त हैं उन्हें यदि भगवत् सेवा छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य पाँच प्रकार की मुक्ति भी दी जाय, तो वे मेरी सेवा छोड़कर मोक्ष को भी नहीं अपनाते।" इन सब वचनों में मुक्ति की अवहेलना की गयी है, मुक्ति के सम्मुख भक्ति को श्रेष्ठ बताया गया है।"

वास्तव मे ध्यान पूर्वक देखा जाय, तो इन वाक्यों में न तो कहीं मुक्ति की अवहेलना है और न उसकी निंदा ही है। इसमें केवल भक्ति मार्ग की प्रशंसा है। जैसे आज जो हमने दूध पिया उसके सम्मुख अमृत भी तुच्छ है। इस वाक्य मे अमृत को सर्वश्रेष्ठ स्वादिष्ट उपयोगी पेय तो मान ही लिया गया है, कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आज के दूध का स्वाद सर्वोत्तम था। इसी प्रकार जीव का चर्म लक्ष्य तो संसारी बंधनों से मुक्ति ही है। मुक्त हो जाने पर जीव को सबसे अधिक सुख मिलता है। उस सुख से भी बढ़कर सुख भक्त को भगवत् भक्ति में मिलता है। यह 'मुक्ति नहीं चाहते।' इस वचन का तात्पर्य इतना ही है, कि मुक्ति जो सर्वश्रेष्ठ अंतिम प्राप्य स्थिति है, भक्त को उससे भी अधिक आनन्द होता है। यही बात ज्ञान के सम्बन्ध मे है। ज्ञान एक सर्वोत्तम मार्ग है, अपने स्थान पर यह उत्कृष्ट है। भक्त के लिये भक्ति मार्ग सर्वोत्कृष्ट है। तीनों मार्गों का लक्ष्य एक ही है। अतः जो लोग गुणों की पदार्थों की संख्या करते हैं, जो संसार के समस्त पदार्थों को सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेदों में बाँटते रहते हैं, वे सांख्य मार्गावलम्बी ज्ञान को भी सात्त्विक ज्ञान, राजस ज्ञान और तामस ज्ञान इन तीन भेदो मे बताते हैं। ज्ञेय जो आत्मा है वह तो अभेद है उसमें तो सात्त्विक, राजस और तामस भेद संभव

ही नहीं। हाँ, उस ज्ञेय को जानने वाली जो वृत्ति-ज्ञान-है उसके भेदों को सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने कर्म प्रेरणा और कर्म संग्रह की त्रिपुटियों के सात्त्विक राजस और तामस भेदों के संबन्ध मे प्रश्न किया, तो भगवान् ६ में से ज्ञान, कर्म और कर्ता इन तीनो के ही संक्षेप में त्रिविधि भेद बताते हुए कहने लगे—"अर्जुन! जिन कापिल दर्शन आदि शास्त्रो मे गुणों की सख्या की गयी है, उन शास्त्रो मे गुण भेद से ज्ञान, कर्म और कर्ता इन सबकी तीन-तीन संज्ञायें की गयी हैं। अर्थात् सात्त्विक ज्ञान, राजस ज्ञान और तामस ज्ञान। सात्त्विक कर्म राजस कर्म और तामस कर्म। सात्त्विक कर्ता, राजस कर्ता और तामस कर्ता। उन सबके लक्षण मैं तुम्हे सुनाता हूँ, तुम उन्हें मुझसे यथावत् श्रवण करो।"

अर्जुन ने कहा—"हाँ, महाराज! मैं इस विषय को आपके श्री मुखारविन्द से भली भाँति श्रवण करूँगा। कृपा करके पहिले आप मुझे सात्त्विक ज्ञान के ही सम्बन्ध मे सुनावें।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! अच्छी बात है पहिले तुम सात्त्विक ज्ञान के ही सम्बन्ध में सुनो। देखो, जिस वृत्ति द्वारा पुरुष समस्त उत्पन्न होने वाले चर, अचर, स्थावर जंगम भूतों मे अव्यय अविभक्त आत्मा को भिन्न-भिन्न रूपों से एक ही देखता है वही ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है, ऐसा तुम जान लो।"

अर्जुन ने पूछा—"अव्यय क्या?"

भगवान् ने कहा—"जो उत्पन्न होता है, उसमे कुछ न कुछ वृद्धि अथवा क्षय होता ही है। कितना भी भारी कोष क्यों न हो, उसमे से व्यय करते रहोगे, तो किसी न किसी दिन वह अवश्य चुक जायगा। उसमें से जितना निकालोगे, उतना वह न्यून हो

जायगा। किन्तु आत्मा इतना परिपूर्ण है, कि उसमें से आप भले ही पूर्ण निकाल लीजिये फिर भी परिपूर्ण ही अवशेष रह जायगा। उसमें से कभी व्यय होता ही नहीं। इसीलिये आत्मा अव्यय है। वह उत्पत्ति विनाशादि से रहित है समस्त मायिक विकारों से शून्य है। वह इन चर्म चक्षुओं से-बाह्य इन्द्रियों से-देखा नहीं जा सकता। इसलिये उसे व्यवहार में संकेत रूप से अव्यय कहते हैं। वास्तव में तो वह संज्ञा शून्य है।"

अर्जुन ने पूछा—"अविभक्त किसे कहते हैं ?"

भगवान ने कहा—"जो कहीं बटा हुआ न हो। ऐसा नहीं कि यहाँ है वहाँ नहीं है। वहाँ न्यून है, यहाँ अधिक है। वह सर्वत्र परिपूर्ण रूप से विद्यमान है। उसे प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं प्रकाश, आनंद स्वरूप, परमार्थ सत्ता स्वरूप अविभक्त भाव से-समान रूप से व्याप्त है। जिस अन्तःकरण के परिणाम के द्वारा पुरुष सब में अव्यय भाव के ज्ञान द्वारा उसका साक्षात्कार करता है उस ज्ञान को तुम सात्त्विक ज्ञान जानो।" ऐसा ज्ञान यह जो दृश्य मिथ्या प्रपंच है, उसका बाध करता है। यही यथार्थ ज्ञान है।

अर्जुन ने कहा—"सात्त्विक ज्ञान के सम्बन्ध में तो मैंने सुना, अब कृपा करके मुझे राजस और तामस ज्ञान के सम्बन्ध में और बतावें।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! वास्तव में संसार के अच्छेद का कारण तो सात्त्विक ज्ञान ही है। राजस और तामस ज्ञान तो लौकिक ज्ञान हैं। फिर भी तुम पूछते हो तो प्रसंगानुसार तुम्हें राजस और तामस ज्ञान के लक्षण भी बताऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवान् जैसे राजस, तामस ज्ञान के लक्षण बतावेंगे उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पहिले सात्त्विक ज्ञान कहूँ अब तेरे पाहीं।
है जावें यह ज्ञान सबहिँ भूतनि के माहीं॥
अविनाशी समभाव रहै इस्थित सब घट में।
होवैं भिन्न प्रतीत आतमा एक सबनि में॥
साख्य ज्ञान तैं पृथकता, मिटै होहि समभाव जब।
समुझो सात्त्विक ज्ञान यह ज्ञाता कूँ है जाय जब॥

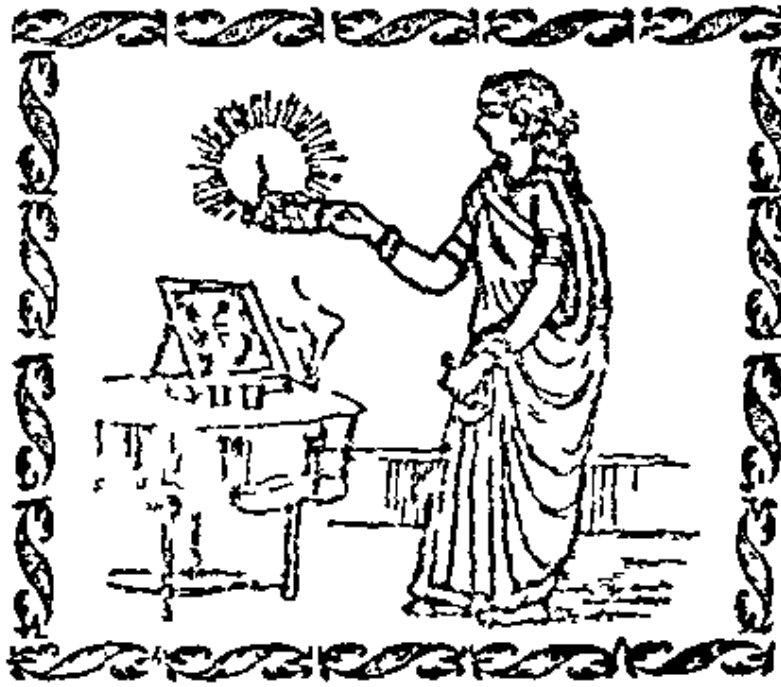

राजस और तामस ज्ञान

[१३]

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥*

(श्री० भग० गी० १८ अ० २१,२२ श्लो०)

छप्पय

अब तू राजस ज्ञान समुझिलै अपने मन में ।
राजस ज्ञानी भिन्न भाव देखै भूतनि में ॥
जितने भिन्न शरीर आतमा उतनी माने ।
आकृति और स्वभाव भेदतैं भिन्न बखाने ॥
ऐसो राजस ज्ञान है, अरजुन तू सब समुझिलै ।
नाम मात्र को ज्ञान यह, ज्ञाता राजस जानिलै ॥

---

* जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण भूतो मे पृथक्-पृथक अनेक भावो को पृथक् रूप मे जानता है, उस ज्ञान को राजस ज्ञान जानो ॥२१॥

और जो ज्ञान एक कार्य रूप शरीर मे ही पूर्णता के समान आसक्त है, वह अहैतुक तत्त्वार्थ से रहित अल्प ज्ञान है, उसे ही तामस ज्ञान कहते हैं ॥२२।

जगत् त्रिगुणात्मक है, तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो तीनों गुणों से रहित हो। इन तीनों गुणों में से सत्त्वगुण से ज्ञान होता है और ज्ञान से ही मुक्ति होती है। निरतिशय सुख तो मोक्ष ही है वह सुख सत्त्व से ही सभव है। सत्त्व बन्धन से मुक्त करता है, सत्त्व प्रधान भगवान् विष्णु हैं। सत्त्वगुण प्रधान मन में जो भाव उठते हैं, उन्हीं का नाम सात्त्विक भाव है। भक्तिमार्ग में भी जो भगवत भक्ति होने पर सर्वोत्कृष्ट (१) स्वेद, (२) स्तम्भ, (३) रोमाञ्च, (४) स्वर भग, (५) वेपथु, (६) वेवर्ण, (७) अश्रु और (८) प्रलय ये आठ भाव उठते हैं, उन्हें भी सात्त्विक भाव कहते हैं। इसलिये श्रीमद्-भगवत्गीता में त्रिगुणों में से सत्त्वगुण की सर्वत्र प्रशसा की गयी है। सात्त्विक देव, सात्त्विक यज्ञ, सात्त्विक तप, सात्त्विकदान, सात्त्विक त्याग, सात्त्विक कर्म, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक धृति, सात्त्विक सुख, सात्त्विक आहार, सात्त्विक कर्ता तथा सात्त्विक ज्ञान इन सभी को सर्वश्रेष्ठ बताया है। इसलिये सत्त्वगुण ऊपर उठाने वाला ऊपर के लोकों को ले जाने वाला तथा ससार बधन से मुक्त करने वाला है, अतः श्रेयस्कामी को सदा सर्वदा सात्त्विक भावों का ही आश्रय लेना चाहिये। राजस और तामस भाव कैसे भी हों, ये बन्धन के हेतु हैं। रजोगुण कर्म में प्रवृत्त कराता है और कर्म बन्धन के कारण है। रजोगुण में एक बडा दोष है उससे लोभ की अभिवृद्धि होती है। यह भी वस्तु मेरी हो जाय यह भी मेरे अधीन हो जाय, यही भावना रजोगुण में होती है। रजोगुण तो काल पाकर सत्त्वगुण में परिवर्तित हो सकता है, किन्तु तमोगुण तो चौपट ही कर देता है, वह तो घोर अधकार में लेजाकर पटक देता है।

रजोगुण में कर्मारम्भ में प्रवृत्ति होती है। धैर्य का अभाव

रहता है, सत्कार का अभाव और परिग्रह करने की इच्छा। निरन्तर विषयों के उपभोग की उत्कट अभिलाषा और फल को सम्मुख रखकर कर्मों का अनुष्ठान करने की प्रवृत्ति हुआ करती है रजोगुण में सब से उत्कट अभिलाषा अत्यधिक ख्याति प्राप्त करने की हुआ करती है। हमारी बात न जाने पावे चाहे हमारी सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट हो जाय, अपनी बात रखने को सम्पूर्ण धन सम्पत्ति को रजोगुणी पुरुष स्वाहा कर देते हैं। दुर्योधन से पांडवों ने केवल निर्वाह के निमित्त पाँच ही गाँव तो माँगे थे, वे दुर्योधन के अधीन रहने को भी उद्यत थे। किन्तु अपनी बात रखने के लिये उसने लडाई करने को ११ अक्षोहिणी सेना इकट्ठी कर ली। भीष्म पिता जब शर शैया पर पड गये तब उन्होंने कहा था –"मुझ बूढे की बलि देकर भी अब तुम सब भाई सन्धि कर लो, हिल-मिलकर रहो। किन्तु दुर्योधन ने पितामह की बात नहीं मानी और तब तक लडता रहा जब तक ३ को छोडकर उसके समस्त सैनिक नष्ट नहीं हो गये। रजोगुण की प्रबलता का इससे बढकर दृष्टान्त और कहाँ मिलेगा ? राजसी पुरुषों की भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन गतियाँ होती हैं। जो उत्तम राजसी पुरुष होते हैं वे मरकर देव, उपदेव जैसे गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, अप्सरा आदि होते हैं। मध्यम राजसी पुरुष मरकर पृथ्वी के राजा, क्षत्रिय, वाद-विवाद के युद्ध में प्रमुख प्रवक्ता, राजाओं के पुरोहित होते हैं। और निकृष्ट राजसी पुरुष सिपाही, नट, मल्ल तथा जुआड़ी आदि हुआ करते हैं। इन सबकी कर्मों में अत्यन्त आसक्ति रहती है, ये लोग, धैर्य धारण नहीं कर सकते, अपने प्रण पर अडने वाले, संसारी भोगों को भोगने के इच्छुक तथा शारीरिक बल के अभिमानी होते हैं। इसीलिये भगवान् ने जहाँ गीता में राजस आहार, राजस कर्ता, राजस यज्ञ, राजस तप,

राजस दान, राजस त्याग, राजस कर्म, राजस बुद्धि, राजस धृति, राजस सुख और राजस ज्ञान आदि का वर्णन किया है, वहाँ इन्ही कर्म, फलाशा तथा भोगादि प्रवृत्ति प्रधान रजो गुणी पुरुषों को बताया है।

तमोगुणी तो सबसे निकृष्ट है। तमोगुण मे निद्रा, आलस्य और प्रमाद की प्राधान्यता रहती है। कार्य करने की प्रवृत्ति न्यून होती है। सत्त्वगुणी और तमोगुणी दोनो ही देखने में निष्क्रिय एक से प्रतीत होते हैं, किन्तु सत्त्वगुण प्रधान पुरुष की ज्ञानालोक के कारण कर्मों मे प्रवृत्ति नहीं होती और तमोगुणी की आलस्य और प्रमाद के कारण प्रवृत्ति नही होती। इसीलिये तामसी पुरुष जो आहार, विहार, तप, यज्ञ, दान तथा ज्ञानादि सम्पादन करेगा, उन सब मे निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा याचना की प्राधान्यता होगी। भगवान् का बार-बार सात्त्विक, राजस और तामस प्रकरणों पर बल देने का तात्पर्य यही है, कि सात्त्विक भावों का ही सेवन करना चाहिये राजस और तामस इनका त्याग करना चाहिये। राजस तामस यज्ञ यागों को छोडना चाहिये। जो काम राजस तामस प्रधान हो उनका भी परित्याग कर देना चाहिये। जैसे पुरोहिताई, याजन, देवता के द्वारा आजीविका करना, घर-घर से चंदा लगाकर ग्राम भर को यज्ञ कराना, भगवान् के सेवापराधो को करना, नामापराधों को करना, कुपात्र से प्रतिग्रह लेना, अभिचार कर्म करना कराना, पशुओं की जीव हिंसा करना, महापातक, पातक, उपपातकों को करना, लोभ, मोह, अहंकार, काम, क्रोध, मद आदि करना। इनके अतिरिक्त अति पाप, क्षुद्रपाप तथा अनुपाप आदि करना ये सभी राजस तथा तामस कार्य हैं। श्रेयस्कामी पुरुषों को इनसे सदा दूर रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने राजस और तामस ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! जिस ज्ञान के द्वारा पुरुष जितने जीव हैं, उन सब में पृथक् पृथक् आत्मा को मानता है। अर्थात् हाथी की आत्मा पृथक् है, चींटी की आत्मा पृथक् है। इसी प्रकार पशु, पक्षी, कीट, पतंग मनुष्य, यक्ष, राक्षस, देवता, गन्धर्व, गुह्यक चारण, भूत, प्रेत, पिशाच सभी की आत्मा को पृथक्-पृथक् मानकर उनमें नाना भावों की परि कल्पना करता है। भिन्न-भिन्न आकृति प्रकृति वाले जीवों में भिन्न-भिन्न आत्माओं का अनुभव करता है। उस ज्ञान को ही तू राजस ज्ञान समझ ले।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर भगवन्! तामस ज्ञान किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"तामस ज्ञान कोई ज्ञान नहीं, उसे तो अज्ञान ही कहना चाहिये। जिस ज्ञान के द्वारा शरीर को ही आत्मा समझकर–उसी को सर्वस्व मानकर उसी में परम आसक्त हो जाता है। शरीर के सुख को ही सुख मानता है, शरीर के दुख को ही दुख मानकर रोने लग जाता है। एक ही आत्मा सब में व्याप रहा है, इस सिद्धान्त को न मानकर शरीर में ही सम्पूर्ण के सदृश आसक्त रहता है। वह समझता है मैंने इस शरीर में या कहीं भी जो आत्मा को मान लिया है, इससे परे कोई भी कहीं भी आत्मतत्त्व नहीं। ऐसी जो बिना युक्ति के–परमार्थ वस्तु के अवलम्ब से शून्य तुच्छ ज्ञान है, अल्पमत है वही तामस है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! ज्ञान की ही भाँति कर्म के भी आपने सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद बताये, कृपा करके उनके भी लक्षण मुझे समझा दें?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवान् अर्जुन के पूछने पर कर्मों के जैसे त्रिविध भेद बतायेंगे उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।

छप्पय

अब जो तामस ज्ञान कहूँ लक्षन सुनु भारत।
प्रकृति कार्य जो देह आतमा ताकूँ मानत॥
वाहा में सब भाँति रहें आसक्त अज्ञ जन।
बिना हेतु अति अल्प अरथ तैं रहित बिलच्छन॥
ज्ञान नहीं अज्ञान है, फिरि हू तामस ज्ञान है।
तामस ज्ञानी तिनि कहे, यह उनको सम्मान है॥

त्रिविध कर्म

[१४]

नियत सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायास तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अनुबन्ध क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते । *

(श्री भ० गी० १८ अ० २३, २४ २५ श्लो०)

छप्पय

करमनिके हू तीनि भेद जो प्रथम बताये ।
पहिले सात्त्विक करम सुनहु जो शास्त्रनि गाये ॥
नियत करम नित करै सग तैं रहित सतत है ।
तनिक नहीं आसक्ति राग अरु द्वेष रहित है ॥
करतापन अभिमान बिनु, फल की इच्छा बिनु करै ।
कह्यो करम सात्त्विक वही, ता करिकें जग तैं तरै ॥

---

* जो कर्म कर्तव्य बुद्धि से आसक्ति रहित, फल की इच्छा बिना, बिना राग द्वेष के किया गया हो, उसे सात्त्विक कर्म करते हैं ॥२३॥

और जो कर्म बहुत ही परश्रिम से किया गया हो तथा फल की

जिस प्रकार ज्ञान के तीन प्रकार बताये, उसी प्रकार कर्म के भी प्रकार समझने चाहिये। कर्म कहते किसे हैं? (यत् क्रियते तत्कर्मः) कर्ता द्वारा अन्य उपकरणों से जो किया जाय वही कर्म है। कर्म चार प्रकार से होते हैं (१) निर्वत्य, (२) विकार्य्य, (३) प्राप्य, (४) अनीप्सित। निर्वत्य—कर्म वह कहलाता है, जिसे करके कर्ता उस कर्म से निवृत्य हो जाय। जैसे माता पुत्र को जनती है। जनने के पश्चात् वह उस कर्म से निवृत्त होकर दूसरा कर्म करने लगती है। जैसे कुम्भकार घट को बनाता है। जो घड़ा बन गया, उस घड़ा के बन जाने पर उस कर्म से निवृत्त होकर कर्मान्तर मे लग जाता है। यह तो निवृत्य कर्म हुआ।

अब दूसरा कर्म है विकार्य्य। विकार्य्य—कर्म उसे कहते हैं जिसमें उस कर्म का रूपान्तर हो जाय या नष्ट हो जाय। वह विकार्य कर्म भी दो प्रकार का होता है एक तो वह जो अपनी प्रकृति से नष्ट ही हो जाय जैसे अग्नि काष्ठ को भस्म-सात करती है। यहाँ अग्नि ने काष्ठ रूप कर्म को जड़मूल से नाश ही कर दिया काष्ठ का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। इस कर्म को कहेंगे 'प्रकृति उच्छेदक, दूसरे में कर्म को जड़ मूल से नाश न करके उसमें परिवर्तन कर देता है, उसका नाम रूप बदल देता है। जैसे सुवर्णकार सुवर्ण को कुण्डल बनाता है। यहाँ कर्ता सुवर्णकार ने कर्मरूप जो सुवर्ण है उसे कुण्डल के रूप में केवल

इच्छा से, अहंकार युक्त कर्ता द्वारा किया गया हो, उसे राजस कर्म कहते हैं ॥२४॥

जो कर्म परिणाम, हानि हिंसा और अपने पौरुष को बिना विचारे केवल मोह से ही आरम्भ किया गया हो, वह तामस कर्म कहलाता है ॥२५॥

परिवर्तित कर दिया इसलिये कहेंगे "प्रकृति गुणान्तरधायक" इस प्रकार पहिला निवृत्यं कर्म दूसरा विकार्य कर्म, विकार्य कर्म के भी 'प्रकृति उच्छेदक' और प्रकृति गुणान्तरधायक दो भेद हुए।

अब तीसरा कर्म है प्राप्य। प्राप्यकर्म—उसे कहते हैं जहाँ जाना हो वहाँ प्राप्त होते हुए फिर उस कर्म को करे। जैसे देवदत्त ग्राम को जाता है चन्द्रमा को देखता है। यहाँ देवदत्त जो कर्ता है वह चन्द्ररूप कर्म को ग्राम जाते-जाते देखता है।

इसी प्रकार चौथा कर्म है अनीप्सित। अनीप्सित कर्म—वह कर्म कहलाता है जो निन्दित वस्तु है उसका त्याग कर देना। जैसे विष्णुमित्र पाप को छोड़ता है। यहाँ विष्णुमित्र जो कर्ता है, उसे पाप कर्म अच्छा नहीं लगा इसीलिये उसने उस कर्म का परित्याग कर दिया।

कर्म सदा देह से, वाणी से तथा अन्तःकरण से किये जाते हैं। वे कर्म तीन प्रकार के होते हैं सात्त्विक कर्म, राजस कर्म और तामस कर्म अब उनके लक्षण श्रवण करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने ज्ञान की ही भाँति कर्म के भी सात्त्विक, राजस और तामस भेदो के लक्षण पूछे तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! कर्म भी तीन ही प्रकार के होते हैं, उनमे से पहले मै तुम्हे सात्त्विक कर्मों के लक्षण बताता हूँ। देखो, जो कर्म फलेच्छा शून्य पुरुष द्वारा किया गया हो अर्थात् जिसे कर्तापने का अभिमान न हो, जो कर्म नियत हो सङ्ग रहित तथा राग द्वेष से रहित होकर किया गया हो, उसी कर्म को सात्त्विक कर्म कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"नियत किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"नियत कहते है संयमित को। कर्म पाँच प्रकार के होते हैं १-नित्य कर्म, २-नैमित्तिक कर्म, ३-प्रायश्चित्त

कर्म ४–काम्य कर्म और ५–निषिद्ध कर्म। इनमें से शास्त्र विधि से संयमित नित्य नैमित्तिक कर्म ही नियत कर्म हैं। अर्थात् शास्त्र ने जिन कर्मों को करने योग्य बताया है उन्हीं कर्मों को करे, काम्य और निषिद्ध जिन कर्मों का शास्त्र में निषेध है उन कर्मों को न करे।"

अर्जुन ने पूछा—"संग रहित का क्या तात्पर्य है।"

भगवान् ने कहा—"संग कहते हैं आसक्ति को अनुराग को। संग दोष से अच्छे-अच्छे योगारूढ़ पुरुष भी पतित हो जाते हैं, अतः कर्मों को आसक्ति पूर्वक न करे, केवल कर्तव्य समझकर करे। कर्मों में राग द्वेष नहीं होना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"राग द्वेष से रहित कर्म का क्या लक्षण है?"

भगवान् ने कहा – "राग कहते हैं, रँगने को जिसके अनुराग में अन्तःकरण रँग जाता है तो प्रत्येक समय उसी की स्मृति हृदय पटल पर उभरी रहती है, उसी का चिन्तन होता रहता है। इसी प्रकार जिससे द्वेष हो जाता है, शत्रुता हो जाती है, वैर बँध जाता है, विरोध अथवा विद्वेष हो जाता है, वह भी सदा चित्त पर चढ़ा रहता है। जो अपने अनुकूल हो अपना अत्यन्त प्रिय हो, उसके प्रति राग हो जाता है और जो अपने प्रतिकूल हो अपनी प्रकृति के विरुद्ध हो, उससे द्वेष हो जाता है। राग और द्वेष दोनों ही वर्जनीय है, इसलिये किसी भी कर्म में न विशेष राग करे, न किसी से द्वेष ही करे। केवल यह हमारा कर्तव्य कर्म है यही समझ कर कर्म करने चाहिये तथा कर्मों को फल की इच्छा सम्मुख रख कर नहीं करना चाहिये। फलप्रेप्सु न होना चाहिये।"

अर्जुन ने कहा—"अफल प्रेप्सु किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्ता कर्म करने समय यह अभिलाषा मन मे रखकर उस कर्म को करता है कि इस कर्म से हमें यह फल प्राप्त हो, तो वह फल प्रेप्सुराजस तामस कर्ता हैं, किन्तु जो कर्ता फल की इच्छा रखे बिना केवल कर्तव्य बुद्धि से ही जिस कर्म को करता है वह कर्म सात्त्विक कर्म कहा जाता है। कर्म तो कर्ता के अधीन होता है। जैसा कर्ता होगा उसका कर्म भी वैसा ही हो जायगा।"

अर्जुन ने कहा—"मैंने सात्त्विक कर्म का मर्म तो समझ लिया अब राजस कर्म कौन-सा होता है। कृपा करके इसे समझा दें।"

भगवान् ने कहा—"राजस कर्म राजस कर्ता द्वारा किया जाने वाला होता है। राजस कर्ता कर्म करने के पहिले उसके फल की इच्छा रखता है और अहंकार युक्त होकर कर्म करता है, उस कर्म के फल में अत्यन्त आसक्ति होने से वह पूरी शक्ति लगाकर अत्यन्त परिश्रम करता है, अतः जो कर्म फल की आशा से अहंकार पूर्वक अत्यन्त श्रम साध्य हो, वही कर्म राजस कर्म है।"

अर्जुन ने पूछा—"अहङ्कार युक्त कर्म किसे कहते है ?"

भगवान् ने कहा—अहंकार कहो अहकृति कहो, गर्व, अभिमान, मद ये सब अहंकार के ही वाचक हैं। मिथ्या नाशवान देह मे अहंकार करके मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ, यह कर डालूँगा वह कर डालूँगा। ऐसी मिथ्या प्रतीति ही अहकार मूलक है। उसी अहकार के प्रति कर्म मे अत्यन्त आयास-परिश्रम-करना पड़ता है। यह सब रजोगुण के ही कारण होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तमोगुणी कर्म का क्या लक्षण है ?"

भगवान् ने कहा—"बिना परिणाम विचारे इस कर्म के करने से हमारा क्या क्षय होगा, क्या हानि होगी, इसका विचार बिना

किये, इस काम के करने से कितनी हिंसा होगी इसकी बिना चिन्ता किये, इस काम को करने की हम में सामर्थ्य है या नहीं इस बात का पूर्वापर विचार न करते हुए, जो कर्म अज्ञान के वशीभूत होकर आरम्भ कर दिया जाता है, उसी कर्म को तामस कर्म कहते हैं। मोह से आरम्भ किये हुए उस कर्म में अनुबन्ध क्षय, हिंसा और पौरुष इन चारों पर विचार नहीं किया जाता।"

अर्जुन ने पूछा—"अनुबन्ध क्या ?"

भगवान् ने कहा— 'अनु कहते हैं पीछे को बन्ध कहते हैं बन्धन को अशुभ अकल्याण को। जिसमें यह विचार न किया जाय कि इस कर्म को करने से अन्त में क्या अशुभ होगा। इसी का नाम अनुबन्ध है।"

अर्जुन ने पूछा—"क्षय क्या ?"

भगवान् ने कहा—"कर्म करने के पहिले यह विचार न करे कि युद्धादि कर्म को करेंगे तो इसमें कितना धन व्यय होगा, कितने सैनिक हताहत होंगे, इन बातों को बिना विचारे अन्धाधुन्ध कर्म करना इसी का नाम क्षय है।"

अर्जुन ने कहा—"हिंसा और पौरुष को बिना देखे का तात्पर्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—"कार्य वही करना चाहिये जिसमें कम से कम-न्यून से न्यून-हिंसा हो। बिना हिंसा के तो कोई कार्य होता ही नहीं। फिर भी अपने पौरुष का-अपनी सामर्थ्य का-तथा जीव हिंसा का विचार करके ही कर्म आरम्भ करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते, ऐसे कर्ता का जो कर्म है वह तामस कर्म है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपने ज्ञान के तथा कर्म के तो सात्त्विक राजस और तामस भेद बता दिये। अब आप कृपा

करके कर्ता के भी तीन भेद और बता दें। त्रिविध कर्ताओं का लक्षण और समझा दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अर्जुन के पूछने पर भगवान् जैसे त्रिविध कर्ताओं के भेद बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

जाके लीये घोर परिश्रम नित नित करि हैं।
यह ला वह करि शोक मोह तें पचि-पचि मरि हैं॥
विषय भोग की सतत लालसा मन के माहीं।
अहङ्कार के सहित नेंक हू ऋजुता नाहीं॥
राजस ऐसे करम हैं, करैं राजसिक पुरुष जिहि।
करैं कामना सहित नित, करिकें पावैं दुःख तिहि॥

सोचे समुझे बिना करें जो करम अज्ञ जन।
बिनु बिचार परिनाम कहें अनुबन्ध विज्ञ जन॥
हानि न लाभ बिचार न हिंसा तनिक विचारें।
कितनी हैं सामर्थ्य जाइ चित में नहिँ धारें॥
मोह सहित आरम्भ करि, करें करम अज्ञानवश।
करम वही तामस कह्यो, करें तामसी जन विवश॥

त्रिविध कर्ता

[१५]

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० २६, २७, २८ श्लो०)

छप्पय

तीनि भाँति के कहे–शास्त्र में करता अरजुन ।
बरनन तिनिको करूँ दत्तचित्त ह्वै कें तू सुन ॥
जो आसक्ति न करें सगतैं रहित निरन्तर ।
अहंकार तैं युक्त न बानी बोलें नरबर ॥
धैर्य और उत्साह युत, सिद्धि असिद्धि बिकार नहिँ ।
सात्त्विक कर्ता कहहिँ तिनि, हरष शोक में सम रहहिँ ॥

---

* जो आसक्ति से रहित है, जो अहंकारी नहीं है, धैर्य और उत्साह से युक्त है और जो सिद्धि असिद्धि मे निर्विकार रहने वाला है ऐसे को सात्त्विक कर्ता कहते हैं ॥२६॥

जो राग वाला है, कर्म फल का इच्छुक है, लोभी है, हिंसक स्वभाव

कर्म में कर्ता ही प्रधान कारण है, यदि कर्ता ही न हो, तो क्रिया करणादि किसी की कल्पना नहीं। कर्म न अच्छे हैं न बुरे। वह तो कर्ता के ही ऊपर अवलम्बित हैं। जैसा कर्ता होगा, उसका कर्म भी वैसा ही उसके स्वभावानुकूल होगा। जैसे भगवती उमादेवी हैं। देवी तो एक ही हैं उनकी पूजा विधि भी एक ही है, किन्तु सात्त्विक पूजक पूजा करेगा, तो वह सात्त्विक बलि फल पुष्प की देगा, उसके पूजा के समस्त संभार सात्त्विक होंगे, उसकी जितनी भी क्रियायें होंगी, वे सब सत्त्व सम्पन्न होंगी। इसी प्रकार यदि पूजक राजस है, तो वह बलिदान भी राजस देगा और उसकी पूजा के समस्त संभार तथा क्रियायें राजसी होंगी, उसके सभी ठाट-बाट राजस होंगे, तथा यदि कर्ता तामस हुआ तो उसके समस्त उपकरण बलि आदि तामस भावापन्न होंगे। कर्ता अपनी भावना के अनुसार ही कर्मों को सात्त्विक, राजस अथवा तामस बना लेता है। फल को देखकर ही उसके वृक्ष का अनुमान किया जाता है। अतः सर्वप्रथम कर्ता को देखना चाहिये। कर्ता के कर्मों को देखकर उसकी प्रकृति को समझा जा सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने त्रिविध कर्ता के संबन्ध में प्रश्न किया" तो भगवान ने कहा—"अर्जुन! ज्ञान तथा कर्मों की भाँति कर्ता भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के होते हैं, उनमें से तुम पहिले सात्त्विक कर्ता के लक्षण सुनो।

का है, अशुद्ध आचरण करने वाला है, और जो हर्ष शोक में अनुलिप्त है। ऐसे व्यक्ति को राजस कर्ता कहते हैं ॥२७॥

जो अयुक्त है, शिक्षा दीक्षा से रहित है, अभिमानी तथा धूर्त है, जो दूसरों की आजीविका को हरण करने वाला है और विषादी, आलसी तथा दीर्घ सूत्री है। ऐसा व्यक्ति तामस कर्ता कहाता है ॥२८॥

जो सङ्ग से मुक्त हो, अनहंवादी हो, धृति उत्साह से समन्वित हो और सिद्धि असिद्धि मे निर्विकार रहने वाला हो उसी को सात्त्विक कर्ता कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"मुक्त सङ्ग क्या ?"

भगवान् ने कहा—"सङ्ग कहते हैं आसक्ति को। कर्मों में तो आसक्ति क्या है सदा कर्मों के फल मे ही आसक्ति हुआ करती है, कि यदि हम ऐसा कर्म करेंगे, तो हमे इस कर्म का यह फल मिल जायगा। कर्मों के फल मे आसक्त होकर कर्ता अत्यन्त प्रयास करता है। फल मे आसक्ति न हो केवल धर्म समझकर कर्तव्य मानकर जो कर्म किया जाय तो कर्ता को उस कर्म में विशेष संग-आसक्ति-स्पृहा-कामना न होगी। ऐसे आसक्ति रहित कर्ता का नाम ही मुक्त संग है। क्योंकि वह अनहंवादी है।"

अर्जुन ने कहा—"अनहंवादी क्या ?"

भगवान् ने कहा—"मैं ही कर्ता हूँ" इसे अहंकार कहते हैं यह अहंकार जिसमें हो उसे अहंवादी कहते हैं। ऐसे अभिमान से शून्य जो कर्ता है, जो बात-बात में अहंकार युक्त-दर्प युक्त-वचन नहीं बोलता है, जो अपने आप अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं करता, अपने पुरुषार्थ की स्वयं प्रशंसा नहीं करता अपने महान् पौरुष की जो डींग नहीं हाँकता, जो सरलता पूर्वक अभिमान शून्य होकर मधुर वचनों को बोलता है वही कर्ता अनहंवादी कहलाता है। क्योंकि वह धैर्य और उत्साह से युक्त रहता है।"

अर्जुन ने पूछा—"धृति और उत्साह से समन्वित का क्या अर्थ है ?"

भगवान् ने कहा—"धृति कहते हैं धैर्य को, और उत्साह कहते हैं निश्चयात्मिका बुद्धि से अपने उद्यम अथवा अध्यवसाय में लगे

रहने को। कुछ लोग विघ्नों के भय से कर्मों को आरम्भ ही नही करते वे नीच पुरुष हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो कर्म को आरम्भ तो कर देते हैं, किन्तु विघ्न आने पर विघ्नो के भय से हतोत्साह होकर आरम्भ किये हुए कर्म का परित्याग कर देते हैं, वे मध्यम पुरुष हैं और जो कर्तव्य कर्म समझ कर धर्म भाव से आरम्भ किये हुए कर्म को धैर्य और उत्साह पूर्वक करते ही रहते हैं। वे ही कर्ता धृति और उत्साह से समन्वित कहलाते है। क्योंकि वे सिद्धि असिद्धि मे सम होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"सिद्धि असिद्धि मे निर्विकार रहने का तात्पर्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—"कर्म करने मे अहकृति भाव हो, उस कर्म के फल मे अत्यन्त ममता तथा आसक्ति हो और उस कर्म से इन्द्रियों को तृप्त करने की अभिलाषा हो, तो उसकी सिद्धि मे हर्ष होता है और उस कर्म की सिद्धि न होने पर मन में विषाद होता है। ऐसा क्यों होता है ? आसक्ति, अहकार होने के कारण तथा धृति और उत्साह की कमी के कारण। जिसकी फल मे आसक्ति ही नहीं जो फल की इच्छा से कर्म कर ही नहीं रहा है, अपना धर्म समझकर कर्तव्य कर्म को कर रहा है, तो उसके लिये सिद्धि तथा असिद्धि दोनों ही बराबर हैं। उसे कर्म क फल में कोई राग नहीं आसक्ति नहीं विशेष स्पृहा नहीं। वह फल प्राप्ति के लिये नहीं शास्त्र की आज्ञा को प्रमाण मानकर कर्म करता है। कर्म की सिद्धि हो जाने पर जिसे अत्यन्त हर्ष नहीं होता, असिद्धि होने पर शोक या विषाद के कारण उसका मुख मलिन नहीं होता विषाद के कारण अन्तःकरण से दुःखी नहीं होता। जिसके अन्तःकरण के भाव दोनो ही दशाओ मे निर्विकार बने रहते हैं ऐसे ही कर्ता को 'सिद्धि और असिद्धि मे निर्विकार कर्ता' कहते हैं।

अतः मुक्तसंगता, अनहंवादिता, धृति और उत्साह समन्विता सिद्धि असिद्धि में निर्विकारता ये भाव जिसमें हों वही सात्त्विक कर्ता कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"राजस कर्ता के क्या लक्षण हैं ?"

भगवान ने कहा—"जो कर्ता रागी हो, फल प्रेप्सु हो, हिंसात्मक हो, अशुचि हो और हर्ष तथा शोक से समन्वित हो वह कर्ता राजस कर्ता कहा जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"रागी क्या ?"

भगवान् ने कहा—"रागी उसे कहते हैं जिसका अन्तःकरण कर्म के फल में अत्यन्त रँगा हुआ हो। इस कर्म को जब तक पूरा न कर लूँगा, इसमें जब तक सिद्धि प्राप्त न कर लूँगा तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी न मुझे सुख की नींद आवेगी न कोई भोग पदार्थ ही अच्छा लगेगा ऐसे कर्मफलासक्त पुरुष का ही नाम रागी है, जब तक उसे कर्म में सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक उसका चित्त अत्यन्त व्याकुल तथा उदविग्न बना रहता है क्योंकि वह कर्म फल प्रेप्सु है न ?"

अर्जुन ने पूछा—"कर्मफल प्रेप्सु किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"कर्म तो वह कर्म है ही जिसे वह करना चाहता है, फल वही है जिस फल की प्राप्ति लिये वह कर्म कर रहा है। प्रेप्सु कहते हैं इच्छा करने वाले को। जिसका चित्त निरन्तर कर्मों के फल की ही ओर लगा रहे वही कर्ता कर्म फल प्रेप्सु कहलाता है। वह स्वार्थ में सतत परायण रहता है क्योंकि वह लुब्धक है।"

अर्जुन ने पूछा—"लुब्धक किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो सदा दूसरों से वस्तुओं की आकांक्षा तो करता रहे, किन्तु अपने पास की वस्तु को व्यय न करे। उसे

ही लुब्धक, लुब्ध, लोभी, आकांक्षी, तृष्णक तथा गर्द्धन कहते हैं। ऐसा व्यक्ति न्याय से अन्याय से सदा दूसरों के धन की इच्छा रखता है, चाहे जितना भी शुद्ध पवित्र धार्मिक कार्य हो अपने पास से एक दमडी भी व्यय न हो यही उसकी हार्दिक इच्छा बनी रहती है, ऐसे भाव वाले कर्ता को ही लुब्ध या लुब्धक कहते हैं। क्योंकि वह हिंसात्मक बुद्धि वाला होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"हिंसात्मक से तात्पर्य क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"जो पुरुष दूसरो के प्राणों का दूसरों की वृत्ति का अपने अभिप्राय को प्रकट करके छेदन करता है, वह हिंसा करता है। ऐसी हिंसा करने का जिसका स्वभाव है वही हिंसात्मक कर्ता है। ऐसा व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिये-अपनी सुख सुविधा के लिये-दूसरों को कष्ट की तनिक भी चिन्ता नहीं करता क्योंकि वह अशुचि है।

अर्जुन ने पूछा—"अशुचि किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"देख, यह शुचि है यह अशुचि है यह विषय तर्क का नहीं, शास्त्र की आज्ञा पर निर्भर करता है। गौ का मूत्र क्यों शुचि है सिंह का या गज का मूत्र क्यों शुचि नहीं। इसका उत्तर शास्त्र ही दे सकता है। अतः जो शास्त्र में कहे हुए आचार पर श्रद्धा रखने वाला है वही शुचि है। इसके विपरीत जो शास्त्रोक्त आचार से रहित है वही अशुचि है। क्योंकि वह हर्ष और शोक से समन्वित रहता है।"

अर्जुन ने पूछा—"हर्षशोकसमन्वित का क्या तात्पर्य है ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे सात्त्विक कर्ता के लक्षणों में बताया कि वह सिद्धि असिद्धि में निर्विकार बना रहता है। उसके सर्वथा विपरीत यह सिद्धि में हर्ष के कारण अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है हर्ष में फूलकर कुप्पा हो जाता है असिद्धि में शोकान्वित होकर

रोने लगता है यही राजस कर्ता के लक्षण हैं। अतः जो कर्मों के फलों मे राग करने वाला, कर्म फलों में आसक्त, लुब्धक, हिंसा-परायण, अपवित्र तथा सिद्धि असिद्धि में हर्ष शोक समन्वित कर्ता है वही राजस कर्ता है।"

अर्जुन ने कहा—"अब कृपा करके तामस कर्ता के लक्षण और बता दें।"

भगवान ने कहा—"जो अयुक्त हो, प्राकृत हो, स्तब्ध हो, शठ हो, नेष्कृतिक हो, आलसी हो, विषादी हो और दीर्घ सूत्री हो वही तामस कर्ता कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"अयुक्त क्या ?"

भगवान् ने कहा—"अयुक्त कहते हैं असावधान को जो भ्रम-वश प्रमादवश कर्मों मे असावधान रहे। कारण कि उसका चित्त तो सदा सर्वदा विषयों में ही आसक्त रहता है। अतः उसे अपने धर्म का कर्तव्य कर्म का-ध्यान नहीं रहता। क्योंकि वह प्राकृत है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्राकृत किसे कहते हैं ?"

भगवान ने कहा—"देखो, जन्मते समय सभी जीव नगे ही पैदा होते हैं। सस्कारों से सस्कृत करके मनुष्य को सुसस्कृत बनाया जाता है। पशु पक्षियो के सस्कार नहीं होते। वे जैसे पैदा होते हैं वैसे ही प्राकृत स्वभाव वाले बने रहते हैं। छोटे बच्चे भी बुद्धि के परिपक्व हो जाने तक प्राकृत ही बने रहते हैं। जो कर्ता शास्त्र सस्कारों से शून्य हो, जो प्रवृत्ति निवृत्ति में समान स्वभाव वाला हो, जो शौच अशौच तथा अचार विचार और सत्य असत्य से हीन हो वही प्राकृत कर्ता कहलाता है। क्योंकि वह स्तब्ध है।"

अर्जुन ने पूछा—"स्तब्ध क्या ?"

भगवान् ने कहा—"स्तब्ध कहते हैं जड को स्तम्भित बना

रहे। गुरुजन आवें बडे लोग आवें उन्हे खडे होकर अभ्युत्थान न दे। देव मन्दिरों मे देवता की प्रतिमा के सम्मुख जो नम्र न हो ऐसे विनम्र न होने वाले कर्ता को स्तब्ध कहते हैं क्योकि वह शठ हैं।"

अर्जुन ने कहा – "शठ किसे कहते हैं ?"

भगवान ने कहा—"जो सम्मुख तो मधुर वचन बोले और पीठ पीछे बुराई करे। जो दूसरो के अपराधो को चेष्टाओं को दूसरों के सम्मुख कलुषित भाव से व्यक्त करे उसी का नाम शठ है। कूट कल्क, छल, छद्म, शठता तथा कपट आदि ये सब शठ कर्म हैं। पुरुषों के ठगने के हेतु यथार्थ बात को जानते हुए भी उसे अन्य ही प्रकार से व्यक्त करे उसी का नाम शठ है। वह अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त शठता करता है, क्योकि वह नष्कृतिक है।"

अर्जुन ने पूछा—"नष्कृतिक क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो पुरुष अपने अभिप्राय को प्रकट कर के दूसरों की वृत्ति का छेदन करता है वह तो हिंसक है किन्तु अपने अभिप्राय को बिना प्रकट किये चुपके चुपके दूसरो की वृत्ति का छेदन करता है, उस धुन्ना सर्प के स्वभाव वाले नीच पुरुष को नेष्कृतिक कहते हैं। यह अधम पुरुष पहिले तो लोगों पर परोपकारी होने का विश्वास उत्पन्न कर लेता है। लोग भ्रम मे पड जाते हैं उसे अच्छा समझने लगते हैं, किन्तु भीतर ही भीतर वह कतरनी चलाता रहता है। दूसरों के अनिष्ट करने का उपाय करता रहता है, दूसरों की अजीविका का, प्रतिष्ठा का हनन करता है और अपने स्वार्थ को सिद्ध करता रहता है ऐसा पुरुष ही नेष्कृतिक कहलाता है। वह स्वय अपने पुरुषार्थ से तो कुछ करता नही। इधर की इधर भिडाकर स्वार्थ सिद्धि में तत्पर रहता है, क्योंकि वह स्वभाव से आलसी होता है।

अर्जुन ने पूछा—"आलसी किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अलस शब्द लस धातु से बना है। जो आलस्य युक्त हो वही आलसी कहलाता है। जो कर्तव्य कर्मों में प्रमाद करता हो, जो प्रवृत्त कर्मों मे प्रवृत्त न होता हो। जो साहस हीन होने के कारण दैव-दैव चिल्लाता रहता हो वही आलसी कर्ता होता है क्योंकि वह विषादी होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"विषादी क्या ?"

भगवान् ने कहा—"इन विषयों से संसार में कोई संतुष्ट तो हो ही नही सकता। जितनी ही विषयोपभोग की सामग्रियाँ मिलती जाती हैं उतना ही असन्तोष बढ़ता जाता है, लोभ की वृत्ति दिन दूनी रात्रि चौगुनी चौड़ी होती जाती हैं। सर्वथा असन्तुष्ट रहने के कारण वह सोचता रहता है—हाय! मैंने अमुक काम वैसे नहीं कर दिया, वैसे करता तो मुझे अवश्य सिद्धि प्राप्त हो जाती। इस प्रकार निरन्तर अपने कामों के प्राति पश्चात्ताप करते रहने के कारण उसके मन मे सदा विषाद खेद बना रहता है। वह अवसाद शठता मूर्खता के कारण खिन्न चित्त रहता है क्योंकि वह दीर्घ सूत्री है।"

अर्जुन ने पूछा—"दीर्घसूत्री किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जिसके चित्त मे अपने किये हुए कार्यों के प्रति सन्तोष नहीं होता उसका चित्त सदा चिंतित खिन्न विषाद युक्त बना रहता है। इस कारण उसके मन में सदा सर्वदा सहस्रों शकायें उठती रहती हैं। वह सोचता रहता है इस काम को यदि मैं ऐसे करूँगा, तो इसमें इतने विघ्न आ जायेंगे। अमुक मेरे काम में रोड़ा अटकावेगा। इन बातों को सोचकर वह जो आवश्यक कार्य आज ही कर डालना चाहिये था। उसमें वर्षों लगा देता है। इतने दिन सोच विचार के पश्चात् भी वह कर सकेगा या

नहीं इसमें भी शंका ही बनी रहती है। अतः तत्काल करने योग्य कर्तव्य कर्मों के करने में जो देरी लगा देता है वही दीर्घ सूत्री कहलाता है। इस प्रकार अयुक्त, प्राकृत, स्तब्ध, शठ, नैष्कृति, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कर्ता कहलाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! आपने ज्ञान, कर्म और कर्ता के तो तीन-तीन भेद बताये अब बुद्धि और धृति जिनका उल्लेख आपने बार-बार किया है, उनके त्रिविध भेद और बता दीजिये। और फिर सुख के भी तीन भेद बताकर इस सांख्ययोग प्रकरण को समाप्त करके मुझे कर्म योग अर्थात् वर्णाश्रम धर्म योग फिर भक्ति योग का रहस्य समझा दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवन् अर्जुन के पूछने पर बुद्धि और धृति के जैसे भेद बतावेंगे. उस प्रसङ्ग को मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

जाके मन आसक्ति करम फल चाहन वारो।
करम कामना सहित करें मन भारो-भारो॥
सिद्धि होहि मम स्वार्थ कष्ट औरनि को होवै।
हरष शोक में लिप्त निरखि प्रतिकूलहिं रोवै॥
अशुचि स्वार्थ में रत रहैं, कर्ता राजस मानियो।
लक्षण सबरे समुझिकें, तुरत तिनहिं पहिचानियो॥

मन इन्द्रिय वश नहीं कहावे सो अयुक्त नर।
शिक्षा दीक्षा रहित घमंडी अति ही दुस्तर॥
करै धूर्तता नित्य धूर्त जनता बतलावै।
करै जीविका हरन सबनि की शठ कहलावै॥
परम विषादी आलसी, अधिक देर सोवत रहत।
तामस करता अधम अति, विज्ञ तामसी तिहि कहत॥

सात्त्विकी बुद्धि

[१६]

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ! ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥❀

(श्री भ० गी० १८ अ० २९, ३० श्लो०)

छप्पय

बुद्धि और धृति कहीं त्रिविध गुन हेतु राजसी।
जैसे सबके भेद सात्त्विकी और तामसी ॥
प्रथम बुद्धि के भेद धनञ्जय ! तोइ सुनाऊँ।
धृति हू तीनि प्रकार बुद्धि कहि फिरि समुझाऊँ ॥
बुद्धि और धृति के सकल, गुन विभाग निज धी करहु।
कहूँ भेद निःशेष सब, सावधान ह्वै के सुनहु।

❀ हे धनञ्जय ! बुद्धि तथा धृति के भी गुणों के कारण तीन भेद हैं। उन्हें पृथक्-पृथक् अशेष रूप से तुम्हारे प्रति कहता हूँ ॥२९॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्य अकार्य भय अभय, बन्ध तथा मोक्ष को भली भाँति जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥३०॥

सांख्य मार्ग या ज्ञान मार्ग बाहरी कर्मों को महत्त्व नहीं देता वह तो कर्ममात्र को बन्धन का कारण मानता है। बाहरी कर्मों से जब भी निवृत्त हो सकते, तभी उनसे निवृत्त हो जाय। वह तो विचार, विवेक, वैराग्य तथा ज्ञान और मनन का पक्षपाती है। यह जो भी कुछ प्रकृति का पसारा प्रतीत हो रहा है, सब अज्ञान का कार्य है, यह अज्ञान कैसे निवृत्त हो? तत्त्वज्ञान से। तत्त्व क्या है? इसी का विचार करे। पहिले मन का विचार करे। यह मन इधर-उधर क्यों भटकता रहता है, सदा चञ्चल क्यों बना रहता है, इसलिये कि मन में काम के संकल्प विकल्प उठते रहते हैं। संकल्प विकल्पात्मक ही मन है। फिर इसकी दो वृत्ति और हैं संशय और निश्चय। यह काम करें या न करें। इसके करने से लाभ होगा या हानि यही संशय वृत्ति है। निश्चय वृत्ति वह है जिसमें मन यह दृढ़ निश्चय कर लेता है, कि यह कार्य करना ही चाहिये। इस काम को अवश्यमेव त्याग ही देना चाहिये। जो संशय वाली वृत्ति थी उसका नाम विचिकित्सा है और जो निश्चय वाली वृत्ति है उसका नाम बुद्धि है।

मन की एक और भी वृत्ति है, किसी को देखकर तो मन उस पर लट्टू हो जाता है और किसी को देखकर घृणा करने लगता है। जिस वृत्ति से किसी का आदर सत्कार करने लगता है, उस पर लट्टू होकर-मुग्ध होकर-उसकी सेवा सत्कार करने लगता है उसे श्रद्धा कहते हैं और जिस वृत्ति से घृणा करने लगता है। उसे अश्रद्धा कहते हैं।

मन की जो वृत्ति किसी वस्तु विशेष को धारण करती है उसे धृति कहते हैं, इसके विपरीत जिसे धारण नहीं करती उस वृत्ति विशेष का नाम अधृति है।

किसी से अपने अनिष्ट की सम्भावना हो, अथवा जिस

वस्तु मे अपना अनुराग है, उसके विनष्ट हो जाने की आशंका हो, जिस आशका से मन मे एक प्रकार की शंका हो जाती है और उसके निवारण मे अपने को असमर्थ अनुभव करने पर मन मे जो भीति होती है, उसे ही भय कहते हैं। भय निवृत्त हो जाने पर मन मे जो एक प्रकार तुष्टि अनुभव होने लगती है उसी वृत्ति को अभय कहते हैं।

जो कर्म अकर्तव्य है उसे करने में जो एक प्रकार का भय होता है उसे लज्जा कहते हैं, जो अकर्तव्य कर्मों को भी सब के सामने करने लगता है उसमें संकोच नहीं करता उसे निर्लज्ज कहते है।

ये सब वृत्तियाँ मन की ही हैं। मन ही विविध रूपों मे वृत्ति के कारण भिन्न-भिन्न नाम वाला हो जाता है। अतः श्रुति मे कहा गया है (कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति ह्री र्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव) काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन के ही रूप है। इन सब वृत्तियों मे बुद्धि और धृति (धैर्य) की ही प्रधानता है। अतः इन दो के ही त्रिविध भेद बताकर छोड दिया है कि इसी प्रकार सभी वृत्तियो के भेद समझ लेने चाहिये। स्थालीपुला-कन्याय से।

मन की निश्चयात्मिका वृत्ति का नाम ही बुद्धि है। संस्कृत साहित्य मे यह बुद्धि अनेक नामो से व्यवहृत होती है। बुद्धि, मनीषा, धिषणा, धी, प्रज्ञा, शेमुषी, मति, प्रेक्षा, उपलब्धि, चित्, सम्वित्, प्रतिपत्, ज्ञप्ति, चेतना, धारणा, प्रतिपत्ति, मेधा, मनन, मन, ज्ञान, बोध, हृल्लेख, मरया, प्रतिभा, आत्मजा, पण्डा तथा विज्ञान ये सब प्रायः बुद्धि के ही पर्यायवाची शब्द हैं। बुद्धि का काम है किसी भी बात का विवेचन करना। वह बुद्धि आधिभौतिक

आधिदैविक और अध्यात्म रूप से तीन प्रकार की होती है। जो इन्द्रियो और मन के विषय मे विचार करती है वह अध्यात्म बुद्धि है। आधिदैविक बुद्धि के अधिष्ठातृ देव ब्रह्माजी प्रसिद्ध ही हैं। उसी को महत्तत्त्व भी कहते हैं। संसार की वस्तुओं के प्रति जो मान्यता है मन्तव्य है वही आधिभौतिक बुद्धि है। वह बुद्धि सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! अर्जुन ने जब भगवान् से कर्म प्रेरणा, कर्म संग्रह में से ज्ञान, कर्म तथा कर्ता के भेद सुनकर बुद्धि तथा धृति के भेदो के सम्बन्ध मे जिज्ञासा की तब भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! तुमने मुझसे बुद्धि और धृति के सम्बन्ध में जो जिज्ञासा की अब तुम उस बुद्धि और धृति के भी सम्बन्ध मे सुनो। इन दोनों के भी सात्त्विक, राजस और तामस गुणों के अनुसार तीन तीन भेद होते हैं। उन्हे मैं तुमसे क्रमशः विभाग-पूर्वक कहूँगा इस विषय को तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

अर्जुन ने कहा—"बुद्धि ही तो प्रधान वृत्ति है, उसके अनंतर धृति तदनन्तर सुख। इन तीनों के ही सम्बन्ध मे मैं क्रमशः सुनना चाहता हूँ। आप जो अपने श्री मुख से कहेंगे, मैं अवश्य ही दत्त-चित्त होकर सावधानी के साथ सुनूँगा। पहिले आप मुझे सात्त्विकी बुद्धि के ही सम्बन्ध मे बतावें।

भगवान् ने कहा—"देखो पहिले मैं तुम्हे सात्त्विकी बुद्धि के सम्बन्ध मे बताता हूँ, जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कार्य और अकार्य को, भय और अभय को तथा बन्ध और मोक्ष को भली भाँति जानती हो वही बुद्धि सात्त्विकी बुद्धि है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रवृत्ति और निवृत्ति किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"कर्मों मे प्रवृत्त होने का नाम प्रवृत्ति है, कर्मों से निवृत्त होने का नाम निवृत्ति है। सदा से दो मार्ग चले

आये हैं एक तो अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के कर्मों में अधिकारानुसार प्रवृत्त होना ही चाहिये, उन कर्मों को आवश्यक कर्तव्य समझकर करते ही रहना चाहिये कर्म करते-करते ही नेष्कर्मता मुक्ति को प्राप्त करना इसे तो प्रवृत्ति मार्ग कहते हैं।"

दूसरा निवृत्ति मार्ग है। उसमें कर्मों की कर्तव्यता पर बल नहीं दिया जाता। यही नहीं समस्त कर्मों को बन्धन का कारण दोषयुक्त मानकर उनसे शीघ्र से शीघ्र छूटकर श्रवण, मनन निदिध्यासन द्वारा ज्ञान लाभ करके मुक्ति प्राप्त करना इसे निवृत्ति मार्ग कहते हैं। एक प्रवृत्ति पूर्वक निवृत्ति मार्ग मध्यम मार्ग तीसरा मार्ग है जिसे निष्काम कर्म योग मार्ग या भक्ति मार्ग कहते हैं। उसका उल्लेख आगे होगा। यहाँ तो प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ही मार्गों का मैंने अर्थ बताया। क्योंकि प्रवृत्ति निवृत्ति का बोध हो जाने पर यह जाना जा सकता है कौन सा कर्म कार्य है कौन सा अकार्य। कार्याकार्य का निर्णय भी सात्त्विकी बुद्धि द्वारा ही होता है।

अर्जुन ने पूछा—"कार्याकार्य किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा –"जो किया जाय उसे कार्य कहते हैं (क्रियते यत् तत् कार्यम्) जो कर्तव्य समझकर किया जाय उसे कार्य कहते हैं। जो कर्तव्य समझकर त्यागा जाय उसे अकार्य कहते हैं। अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार श्रद्धा पूर्वक कर्मों को करते रहना यह कार्य है। कर्मों को बन्धन का कारण मानकर उन्हें अकार्य समझकर– कर्मों का न्यास करके त्यागी हो जाना सन्यास धारण कर लेना यह कर्मों से निवृत्त हो जाना अकार्य है। क्योंकि ये कर्म अभय करने वाले भी हैं और भयप्रद भी हैं। इसीलिये भयाभय हैं। कौन भयप्रद कर्म हैं कौन अभयप्रद कर्म हैं इन्हें सात्त्विकी बुद्धि ही जान सकती है।

अर्जुन ने पूछा—"भयाभय कर्म क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्म संसार की प्राप्ति के निमित्त। इस लोक के लौकिक तथा परलोकिक के दिव्य सुखो की प्राप्ति के निमित्त किये जाते हैं वे कर्म भयप्रद हैं और मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा से किये जाने वाले कर्म अभय देने वाले कर्म हैं। कौन से कर्मों से भय होगा कौन से कर्म अभय प्रदान कर देंगे। इसे सात्त्विकी बुद्धि ही जानती है, क्योंकि वही यह निर्णय करने में समर्थ है, कि कौन से कर्म बन्धन कारक हैं कौन से मोक्षप्रद हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"बन्ध क्या ? मोक्ष क्या ?"

भगवान् ने कहा—"अहकार पूर्वक अपने को कर्ता मानकर लौकिक पारलौकिक सुखो की इच्छा से किये जाने वाले कर्म बन्ध प्रद हैं उनके करने से ससार मे बन्धन होता है। जो कर्म मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से निष्काम भाव से किये जाते हैं वे मोक्ष के हेतु होते हैं। इसलिये जो बुद्धि प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्याकार्य, भयाभय और बन्ध मोक्ष को भली भाँति जानती हो वही बुद्धि सात्त्विकी बुद्धि है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! सात्त्विकी बुद्धि का लक्षण तो मैंने समझ लिया, अब कृपा करके राजसी और तामसी बुद्धि के सम्बन्ध में मुझे और बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् जैसे राजसी और तामसी बुद्धि के सम्बन्ध मे बतावेंगे, उसका वर्णन मैं आपसे आगे करूँगा, आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जाने प्रवृत्ति निवृत्ति पार्थ ! सुनि बुद्धि सात्त्विकी ।
निज स्वभाव अनुसार त्रिविध है बुद्धि सबनि की ॥
जो हैं सत्त्व प्रधान सात्त्विकी पुरुष कहावैं ।
लक्षन तिनिके कहूँ वेदविद तिनहिँ बतावैं ॥
यह करतव्य करतव्य नहीं, भय अरु अभय विचार की ।
बन्ध मोक्ष सामर्थ्य जिहि, वही बुद्धि है सात्त्विकी ॥

राजसी और तामसी बुद्धि

[१७]

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीताश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥*

(श्री० भग० गी० १८ अ० ३१, ३२ श्लो०)

छप्पय

लक्षण अब जो बुद्धि राजसी ताहि बताऊँ ।
पुरुष राजसिनि माहिँ रहै अरजुन ! समुझाऊँ ॥
जो कछु मैं करि रह्यो ताहि अधरम नहीं मानैं ।
अथवा जिह है धरम जथारथ मरम न जानैं ॥
कौन काज करतव्य है, काहि अकरतव हू कहत ।
वही राजसी बुद्धि है, राजस जन में नित रहत ॥

---

* हे पार्थ ! जिस बुद्धि से धर्म, अधर्म, कार्य, अकार्य यथावत् नहीं जाना जाता, वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥

हे पार्थ ! तमोगुण से ढकी हुई जो बुद्धि धर्म को अधर्म मानती है तथा सभी अर्थों को विपरीत ही समझती है, वह तामसी बुद्धि है॥३२॥

इस जगत को धर्म ही धारण किये हुए हैं। अथवा पुण्यात्मा पुरुष जिसे धारण करते हैं। उसी को धर्म कहते हैं। (धारति लोकान ध्रियते पुण्यात्मभिः इति) धर्म शब्द पुण्य, श्रेय, सुकृत, वृष, न्याय, स्वभाव, आचार, उपमा क्रतु इन नामों से भी व्यवहृत होता है। पुराणों में धर्म के सम्बन्ध की अनेकों कथायें हैं। ये ब्रह्माजी के दक्षिण स्तन से उत्पन्न हुए हैं। दक्ष प्रजापति की तेरह कन्याओं का विवाह धर्म के साथ हुआ था। उनके नाम मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, मूर्ति, तितिक्षा और ह्री हैं। कहीं-कहीं इनके नामों मे मतभेद भी है। ऊपर जो नाम दिये हैं वे तो हमने श्रीमद्भागवत के अनुसार दिये हैं। वहाँ इनकी सन्तानों का वर्णन इस प्रकार है। मैत्री का पुत्र प्रसाद, दया का अभय, शान्ति का सुख, तुष्टि का मुद, पुष्टि का गर्व, क्रिया का योग, उन्नति का दर्प, बुद्धि का अर्थ, मेधा की स्मृति पुत्री। मूर्ति से नर और नारायण, तितिक्षा का क्षेम, ह्री की पुत्री संज्ञा। कहीं पर श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि तथा कीर्ति ये तेरह बतायीं हैं। इनकी सन्तानो मे भी कुछ भेद हैं जैसे श्रद्धा का पुत्र काम, लक्ष्मी का दर्प, धृति का नियम, तुष्टि का पुत्र सन्तोष, पुष्टि का लोभ, मेधा का श्रुत, क्रिया का दण्ड, विनय का नय, बुद्धि का बोध, लज्जा का विनय, वपु का व्यवसाय, शान्ति का क्षेम, सिद्धि का सुख, कीर्ति का यश। कल्प भेद से ये भेद होते होंगे।

वाराह पुराण में धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि जब ब्रह्माजी ने समस्त प्रजाओं की सृष्टि करने का विचार किया, तो उनके मन मे यह बात आयी कि मैं जिस सृष्टि को बनाऊँगा उसका पालन किस आधार पर होगा। उनके इतना विचारते ही उनके दक्षिण स्तन से एक पुरुष उत्पन्न हो गया। वह परम दिव्य

पुरुष था, वह श्वेत माला धारण किये हुए था, सम्पूर्ण शरीर में चन्दन का अनुलेप किये हुए था उसे देखकर भगवान् ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा तुम्हारा नाम धर्म होगा। तुम सत्ययुग मे चार पैर वाले, त्रेता मे तीन पैर वाले, द्वापर में दो पैर वाले और कलि-युग में एक पैर वाले होकर प्रजा का पालन करोगे। तुम ब्राह्मणों के घर में ६ प्रकार से, क्षत्रियों में ३ प्रकार से, वैश्यो मे दो प्रकार से और शूद्रों मे एक प्रकार से रहोगे। शूद्रो का एक मात्र धर्म सेवा है, वैश्यो का यज्ञ दान है, क्षत्रियों का अध्ययन, यज्ञ दान है। ब्रह्मणो का अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, याजन, दान देना, दान लेना ये ६ धर्म हैं।

गुण, द्रव्य, क्रिया और जाति ये चार पैर हैं। स्मृति, वेद, पदक्रम सहित सहिता भाग ये तीन शृङ्ग हैं। मन्त्र के आदि अन्त में जो ओकार है वे ही धर्म, दो सिर है। सप्तव्याहृतियाँ सप्त हस्त है। उदात्त, अनुदात्त और प्लुत इन तीनो रस्सियों से बँधा हुआ धर्म व्यवस्थित रहता है। त्रयोदशी तिथि के दिन धर्म उत्पन्न हुआ था, अतः जो त्रयोदशी तिथि धर्म तिथि है, उस दिन जो उपवास करता है, वह अधर्म से छूटकर धर्म को प्राप्त करता है।

पद्मपुराण में धर्म के दश अंग बताये हैं। उनके नाम ब्रह्मचर्य, सत्य, तप, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, शान्ति और अस्तेय ये हैं। तथा अद्रोह, अलोभ, दम, दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश क्षमा, धृति और तप ये धर्म के मूल हैं।

ब्रह्माजी ने धर्म को उत्पन्न किया, तब धर्म ने पूछा—"मैं रहूँ कहाँ पर?"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"तुम वैष्णवो के हृदय मे, सभी यतियों में, ब्रह्मचारियो मे, पतिव्रता स्त्रियो मे, बुद्धिमान पुरुषो मे, वानप्रस्थ और संन्यासियों मे, धर्मशील राजाओं मे, सज्जन पुरुषो

लोग मार धाड़ करके शस्त्रों द्वारा आजीविका चलाते हों, जो पैसा लेकर पुस्तकों की प्रतिलिपि किया करते हों, जहाँ देवता को घुमा-घुमाकर उस देवता के नाम से पैसा पैदा करते हों, जहाँ सम्पूर्ण गाँव से चन्दा इकट्ठा करके उसके द्वारा अविधि यजन होता हो, जहाँ बैलों को जोतकर किराये की गाडी चलाने वाले रहते हों, जहाँ सुनार तथा जीव हिंसा करने वाले बहेलिये मत्स्य जीवी वास करते हों, जो स्त्री अपने पति की निरन्तर निन्दा करती रहती हो उसके समीप में, जो पुरुष अपनी स्त्री का सदा क्रीतदास बना रहता हो, जहाँ दीक्षा हीन सन्ध्या से रहित तथा विष्णु भक्ति से विहीन द्विज निवास करते हों अपने अंग से उत्पन्न हुई कन्या को जो लोग बेचने वाले हों तथा जो अपनी स्त्री को बेच देते हों ऐसे पुरुषों के समीप, जो पुरुष शालग्राम, देव प्रतिमा, वेदादि ग्रन्थ तथा भूमि को बेचने वाले हों, जो मित्र द्रोही हों, कृतघ्न हों, जो सत्य का विश्वास दिलाकर पीछे विश्वासघात करने वाले हों, जो शरणागत को शरण न देने वाले हों, जो आश्रित पुरुष का वध करने वाले हों, जो सदा झूठी बातें बनाने वाले हों, जो गाँव तथा खेत की सीमा का अपहरण करने वाले हों, जो काम क्रोध तथा लोभ के वशीभूत होकर झूठी गवाही देने वाले हों, जो पुण्य कर्मों से विहीन हों तथा पुण्य कर्मों का विरोध करने वाले हों, तथा और भी जो धर्म निन्दक हों, हे धर्म! उनके यहाँ तुम कभी भूल कर भी मत रहना। इन स्थानों में रहने का तुम्हें अधिकार नहीं है।"

श्रीमद्भागवत में जब विष्णुदूतों ने यमदूतों से धर्म का लक्षण पूछा, तब यमदूतों ने धर्म का लक्षण बताते हुए कहा था—"जिसे वेद ने कर्तव्य प्रतिपादन किया है वह तो धर्म तथा जिसे वेद ने अकर्तव्य बताया है वह अधर्म है। महाभारत में

अहिंसा लक्षण वाले को धर्म बताया है जिन कार्यों में हिंसा हो वह अधर्म है। वामन पुराण में जहाँ देव, असुर, राक्षसादि के धर्म बताये हैं, वहाँ मनुष्यों के स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यजन, उदारता, सरलता, दया, अहिंसा, क्षमा, जितेन्द्रिय रहना, शौच, मंगलमयी, भागवत भक्ति, शंकर में, सूर्य में तथा देवी आदि पंच देवों में भक्ति ये सब मनुष्यों के भक्ति के धर्म बताये गये हैं।

किसी कल्प की कथा है, कि आरम्भ में धर्म एक रस रहने वाला था। एक बार पिप्पलाद मुनि की पत्नी नदी किनारे स्नान कर रही थी। वह अत्यन्त सुन्दरी थी। उसके सौन्दर्य के कारण धर्म के मन में कुछ विकार उत्पन्न हो गया। इस पर ऋषि पत्नी ने धर्म को शाप दिया—"धर्म! तुम मर्यादा के स्थापक माने जाते हो, फिर भी तुम अधर्म का आचरण करते हो। तुम चतुष्पाद हो। आज से तुम क्षयिष्णु हो जाओगे। प्रत्येक युग में तुम्हारा एक पाद क्षय हो जाया करेगा। सत्ययुग में चतुष्पाद, त्रेता में त्रिपाद, द्वापर में द्विपाद और कलियुग में तुम एक पाद वाले ही रह जाओगे। केवल सत्ययुग में ही तुम्हारे पूरे चार पाद रहा करेंगे।"

धर्म के चार पैर हैं—१-सत्य, २-दया, ३-शान्ति, और ४-अहिंसा। इन चारों में ही सम्पूर्ण धर्म की व्याख्या आ जाती है। इनमें से पहिले सत्य पर ही विचार करें।

१-सत्य—धर्म शास्त्रों में सत्य के बारह भेद बताये हैं। १-अभिव्याहरन, अर्थात जो बात हमने जैसी देखी हो उसे वैसी ही बोलना, उसमें बनावटीपन न करना। २-स्वीकार प्रतिपालन—तुमने जिसे जो वचन दे दिया हो उसका भली भाँति प्रतिपालन करना। ३-प्रियवाक्य—बहुत से लोग कह देते हैं, किसी को भली लगे चाहे बुरी हम तो सच्ची बात कह देते हैं। यह सच्ची

कहना पूर्ण सत्य नहीं है। बात सच्ची कहो किन्तु मधुर शब्दों मे कहो। यद्यपि सत्य हितकर शब्द प्रिय होना दुर्लभ है, किन्तु फिर भी यथाशक्ति मधुर वाणी मे प्रेम पूर्वक कहना चाहिये। ४–गुरु सेवा—गुरुओं की सेवा भी सत्य के अन्तर्गत है। बिना सेवा के जो प्राप्त करोगे, वह सत्य से रहित होगा। ५–दृढ़ व्रत कृत अर्थात् नियमों मे ढिलाई न करना। नित्य नैमित्तिक नियमों को दृढ़ता के साथ पालन करना। नियमों मे जहाँ शिथिलता आई वहाँ सत्य न रहकर दम्भ हो जाता है। ६–आस्तिकता—वेद शास्त्र और ईश्वर के प्रति आस्तिक भाव। ७–साधु संग—सत् पुरुषो का आचरण सत्य ही होता है। ऐसे सत्य परायण पुरुषों का संग भी सत्य का पालन ही है। ८–माता-पिता का प्रियङ्कर—जिन माता-पिता ने हमे जन्म दिया है, पाल पोसकर बड़ा किया है। उनकी प्रसन्नता के निमित्त उनकी सेवा सुश्रूषा करना भी सत्याचरण ही है। ९–शौच—पवित्रता रखना। इस अपवित्र देह को और अधिक अपवित्र न करना। जल से मृतकादि से इसको निरन्तर शुद्ध रखना। तथा १०–भीतर की पवित्रता- शुद्ध आचरणों से अन्तःकरण को पवित्र रखना। ११–ह्री—ह्री कहते हैं लज्जा को बुरे कामो को करने मे सदा लजाते रहना। लज्जा का पुत्र विनय है। जो बुरे काम से लजाता है वह सदा विनयावनत बना रहता है। और सत्य का बारहवाँ अङ्ग है १२–अपरिग्रह हम जो अपनी अवश्यकता से अधिक वस्तुओ मे अपनापन करके उनमे आसक्त हो जाते हैं, यह भी सत्य की हत्या है। अतः जितने से शरीर निर्वाह हो उतने पर ही अपना स्वत्व माने शेष सबको परोपकार मे लगा दे। इस प्रकार धर्म का जो पहिला पाद सत्य है इसके ये बारह भेद हैं।

अब सत्य के दूसरे पाद दया के ६ भेद है, उनको भी सुनो।

१–परोपकार, २–दान, ३–स्मित भाषण, ४–विनय, ५–न्यून भाव स्वीकार, और ६–समत्व बुद्धि।

१–परोपकार—यह भाव मन में रखे कि जैसा कष्ट मुझे होता है वैसा दूसरों को भी होता होगा। अतः सभी प्राणियों पर दया के भाव रखकर यथाशक्ति प्राणिमात्र के उपकार में लगा रहे।

२–दान सब वस्तु भगवान् ने निर्मित की हैं सब उन्हीं की हैं, अतः जो अपने पास हो उसमें से यथाशक्ति दूसरों को देता रहे, जिससे सभी का भला हो।

३–स्मित भाषण जो व्यक्ति क्रोध करता है उसे देखकर सब भयभीत हो जाते हैं और अपना भी अन्तःकरण जलता है। अतः जब भी जिससे भाषण करे सर्वदा मुस्कराते हुए ही भाषण करे। जो सदा सर्वदा मुस्कराहट के साथ भाषण करता है मानों वह जीवमात्र के प्रति दया के भाव रखता है।

४–विनय—हम पहिले ही बता चुके हैं, विनय लज्जा का पुत्र है। जो क्रोध करता है, वह तो हिंसक है, जो सब के सम्मुख विनयावनत रहता है मानों प्राणीमात्र पर दया दर्शाता है।

५–न्यून भाव स्वीकार—अभिमान में भरकर जब हम अपने को सर्वश्रेष्ठ समझकर सब पर अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं तो हम सब को तुच्छ बनाकर उनकी हिंसा करते हैं। और सब को भगवत्‌रूप मानकर एक अपने को ही मन से सब का दास मान लेते हैं, तो मानों दया देवी के प्यारे बन जाते हैं।

६–समत्व बुद्धि—यह सोचे कि देह तो सभी का पंच भूतों से ही बना है, अतः देह भाव से तो सभी बराबर ही हैं। आत्मा में छोटा बड़ापन है ही नहीं। अतः देह और आत्मभाव से भी सब में समता की मति रखना यह भी दया का ही अंग है। इस प्रकार धर्म के दूसरे पाद दया के इतने भेद हैं।

धर्म का तीसरा पाद है शान्ति। उस शान्ति देवी के ३० लक्षण हैं। १. अनसूया, २. अल्प सन्तोष, ३. इन्द्रिय संयम, ४. असङ्गम, ५. मौन, ६. देवपूजा विधि मति, ७. निर्भयता, ८. गम्भीरता, ९. स्थिर चित्तता, १०. अरूक्ष भाव, ११. निःस्पृहता, १२. दृढ़मति, १३. अकार्य विवर्जन १४. तुल्य मानापमान १५. पर गुण श्लाघा, १६. अस्तेय, १७. ब्रह्मचर्य, १८. धैर्य, १९. क्षमा, २०. अतिथि सत्कार, २१. जप, २२. होम, २३. तीर्थ सेवा, २४. आर्यसेवन, २५. मत्सरहीनता, २६. बन्धमोक्ष ज्ञान, २७. संन्यास, भावना, २८. सुदुःखों में सहिष्णुता २९. अकृपणता और ३०. मूर्खता। जिन कारणों से अशान्ति मिटकर शान्त होती हैं, वे सब शांति के अंग हैं जैसे—

१ अनसूया—हम किसी की निन्दा तभी करते हैं, जब उसमें दोषों को देखते हैं। दोष दर्शन से चित्त अशान्त हो जाता है, अतः शान्ति के इच्छुक को किसी के दोषों को न देखकर उसकी निन्दा न करनी चाहिये।

२–अल्प सन्तोष– संसार के जितने भी भोग मिलते जाते हैं तृष्णा उतनी ही मात्रा में अधिकाधिक बढ़ती जाती है जब इच्छानुसार वस्तुएँ नहीं मिलती तभी अशांति होती है। अत प्रारब्ध वश जो भी थोड़ा बहुत प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तोष करने से शांति प्राप्त होती है। अतः अल्प में ही सन्तोष रखे। बहुत तृष्णा न करे।

३–इन्द्रिय संयम—इन्द्रियों का स्वभाव ही है विषयों को देखकर उनकी ओर दौड़ना। अतः इन्द्रियों को संयम रूपी रज्जु में सदा बाँधे रहने से शांति मिलती है।

४–असंगम—संसारी भोगों मे मन लुभा ही जाता है, अतः

भोगों मे अपने मन को आसक्त न होने दे, उनमे अनासक्त भाव रखे इससे चित्त में शांति आती है।

५–मौन— बहुत बकवाद करने से चित्त अशांत हो जाता है, झूठी सच्ची व्यर्थ की बातें मुख से निकल जाती हैं। अतः बहुत तोलकर सत्य वचन ही बोले–भगवान् के नामों को उनकी लीलाओं को गुण तथा महिमा के ही सम्बन्ध मे बोले, शेष बातों मे मौन रहे। मौन से कलह नहीं होती।

६–देव पूजा विधि मति— जैसे की पूजा करेगा वैसे ही अपनी बुद्धि बन जायगी। अतः अपनी मति को सदा सर्वदा देव पूजन मे ही लगाये रहे। दिव्य गुण वाले देवताओं की पूजा, अर्चना वंदना स्तुति से चित्त मे शांति होती है।

७–निर्भयता—भय सदा दूसरों से हुआ करता है। जिन्हें हम अपना समझते हैं उनसे भय नहीं होता, अतः सभी को अपना ही अभिन्न आत्मा मानकर सबसे निर्भय रहे। न तो स्वयं किसी को भय पहुँचावे और न स्वयं किसी से भयभीत हो।

८–गम्भीरता— हलकापन विषयों के संसर्ग से लोभ लालच तथा आसक्ति के कारण होता है, अतः इन सब का परित्याग करके सदा समुद्र की भाँति विशाल हृदय बनाकर गम्भीर बना रहे। जिससे क्षुद्रता पास न फटकने पावे। महत्ता में ही सुख शांति है, क्षुद्रता अल्पता में नहीं।

९–चित्त स्थिरता— चित्त चञ्चल और अस्थिर कब होता है, जब वह किसी वस्तु को पाने के लिये व्याकुल हो उठता है। अतः वस्तुओं से मन को खींचकर उसे चञ्चल न होने दे। मन को स्थिर बनाये रखे। स्थिरता ही चित्त को शान्ति प्रदान करती है।

१०–अरूक्ष भाव— जो लोग रूखे चित्त के होते हैं जो हँसना, जानते ही नहीं ऐसा पुरुष सबके लिये उद्वेग कारक होता है

अतः चित्त को प्रसन्न रखे। मन्द-मन्द मुस्कराता रहे। चित्त में कोमलता सरसता लावे।

११-निःस्पृहता—इच्छा ही दुख की जननी है, हम किसी के सामने छोटे हलके कब होते हैं, जब हमारे मन में कोई स्पृहा हो वासना हो भोगेच्छा हो। जो परोपकार निरत है, आस्तिक है उसे किसी संसारी व्यक्ति से किसी प्रकार की स्पृहा न रखनी चाहिये। सदा सर्वदा सर्वत्र निस्पृह बने रहना चाहिये।

१२-दृढमति—बुद्धि जहाँ अस्थिर होती है यह करें या न करें ऐसी दुविधा में पड़ी रहती है, तो उससे अशान्ति बढ़ती है। अतः सद् असद् का विवेक करके मति को सुदृढ़ बनाये रखना चाहिये।

१३-अकार्य विवर्जन—हम जिस कार्य को नहीं करने योग्य जानकर भी लोभ लालच वश उसे कर लेते हैं, तो अन्तःकरण अशान्त हो जाता है। अतः जो कार्य न करने योग्य हो, उसे कदापि न करे, उससे सदा दूर ही रहे।

१४-तुल्य मानापमान—जहाँ मान, पूजा प्रतिष्ठा होती है। उसे ग्रहण करने से आगे उससे भी अधिक पूजा प्राप्त करने की वासना स्वाभाविक हो उठती है, उससे अधिक पूजा न मिले तो अपना अपमान अनुभव करने लगता है, इसी प्रकार अपमान हो जाने पर चित्त क्षुब्ध होकर अशान्ति बढ़ जाती है। अतः मान अपमान में सम रहे। पूजा हो जाय तो भी उसे अनित्य शरीर की ही माने। आत्मा का तो कोई अपमान कर ही नहीं सकता। कहीं अपमान भी हो जाय, तो उसे भी शरीर का ही अपमान समझे। दोनों में सम बना रहे।

१५-परगुण श्लाघा—जीव का धर्म है, वह पर गुणों को सहन नहीं कर सकता। दूसरों के गुणों में दोष स्वाभाविक ही

दीख जाते हैं। दूसरो के गुण दिखाई नहीं देते। अवगुण देखने से अवगुणों का कथन करने से अशान्ति ही बढ़ती है। अतः साहस करके दूसरो के गुणों को देखने की चेष्टा करे और उन गुणों की प्रशंसा करे। दूसरो के गुण कथन से मन मे आह्लाद होता है।

१६-अस्तेय—हम दूसरों की वस्तुओं मे, दूसरों की कृतियों मे उपयोगिता देखते हैं तो उन्हे अपनाने की चेष्टा करते है, यही चोरी है अतः बिना पूछे किसी वस्तु को मत चुराओ। चोरी करने से शान्ति भङ्ग हो जाती है।

१७-ब्रह्मचर्य—पर नारी से अष्ट प्रकार के मैथुनों से बचे रहना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अतः अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर अपने से जो छोटी हों, उन्हे पुत्री के सदृश, बराबर वालियों को भगिनी के सदृश और अपने से बड़ियो को माता के सदृश माने। कभी कामनावश किसी भी क्रिया से व्यर्थ बिन्दुपात न होने दे।

१८-धैर्य—प्राणी दुःख पड़ने पर अधीर हो जाता है। वह सोच मे पड़ जाता है। उस की शान्ति भङ्ग हो जाती है। अतः दुःख में भी अधीर न हो। धैर्य धारण किये रखे क्योंकि दुःख सुख आते जाते हैं। धैर्यवान् पुरुष ही विपत्ति रूपी सागर से पार हो जाता है।

१९-क्षमा—प्राणी, जान में अनजान मे अपराध करते ही रहते हैं अतः दूसरों के अपराधो को क्षमा करता रहे। क्षमा न करेगा तो उसे अशान्ति बनी रहेगी। क्षमा कर देने पर मन से एक भार सा उतर जाता है।

२०-अतिथि सत्कार—यह संसार परस्पर के सहयोग से-उदारता से-सद्व्यवहार से ही चल रहा है। आप प्यासे हों और कोई पानी पिला दे, भूखे हों भोजन करा दे, तो आप को कितनी शांति होगी। इसी प्रकार निवास, भोजन, पान की आशा से

तुम्हारे यहाँ अकस्मात् जो आ जाय तो उसका यथाशक्ति सत्कार करने से अन्तःकरण मे शाति अनुभव होती है, अतः जहाँ तक हो वहाँ तक अतिथि का यथाशक्ति सत्कार अवश्य करना चाहिये।

२१-जप—मन कुछ न कुछ धुना धुनी करता ही रहता है। है। अतः उसे भगवत् स्तुति प्रार्थना के जो मन्त्र हैं उनके जप मे लगाये रहने से चित्त की व्यग्रता मिट जाती है। अतः नित्य नियम से इष्ट मन्त्रों का जप करना यह भी शाति का आवाहन करना ही है।

२२ होम—अग्नि देवताओं का मुख है, उसमे आहुति डालने से देवता प्रसन्न होते हैं। अतः नित्य होम भी करना चाहिये।

२३-तीर्थ सेवा—जैसा स्थल होता है, वहाँ का वायु मडल भी वैसा ही बन जाता है। सदा से तीर्थों में साधु सन्त सज्जन पुरुष निवास करते हैं, देवता भी वहाँ आते हैं, ऐसे तीर्थ स्थानों का वायु मडल दोषो से रहित होता है अतः जितने भी दिन अधिक से अधिक रह सकें पुण्य तीर्थों मे निवास करे। इससे चित्त में शान्ति आती है।

२४ आर्य सेवन—जो अपने श्रेष्ठ सत्पुरुष हों, उनका सग करने से उनके समीप रहने से अज्ञान का नाश होता है, अशान्ति दूर होती है, अतः सज्जन पुरुषों का ही सग करना चाहिये। उनकी सेवा करनी चाहिये।

२५-मत्सर हीनता—मद मत्सर ही पुरुषार्थ के सबसे बडे शत्रु हैं, वे न तो नित्य नैमित्तिक कर्मों को भली भाँति होने देते हैं न दूसरो के प्रति श्रद्धा ही जमने देते हैं। अतः मद मत्सर को पास भी न फटकने देना चाहिये सदा मत्सर हीन होकर ही रहना चाहिये।

२६-बन्ध मोक्ष ज्ञान—यह बन्धन है, यह मोक्ष है। इस कर्म से संसार बन्धन होता है, इससे संसार के बन्धन कट जाते हैं। यह ज्ञान सात्त्विक बुद्धि द्वारा होता है, अतः बन्ध मोक्ष जानने वाली सात्त्विकी बुद्धि को धारण करना चाहिये।

२७ सन्यास भावना—न्यास त्याग का नाम है। जीव संग्रह करना बहुत चाहता है। चूहे चींटी भी दिन भर परिश्रम करके अपने घर में बहुत सा अन्न संग्रह कर लेते हैं। कोई ले जाता है तो बड़ी अशान्ति हो जाती है। अतः सदा सर्वदा त्याग की ही भावना रखे। संग्रह की भावना का परित्याग कर दे।

२८ सुदुःख सहिष्णुता—सहनशीलता उसे कहते हैं, कि कोई अपना अपकार भी कर दे तो उसे सह ले। इसी प्रकार भारी से भारी दुःख पड़ने पर भी उसे सहन करने को सहिष्णुता कहते हैं। सहिष्णु पुरुषों के मन में अशान्ति नहीं आने पाती। वे प्रारब्ध भोग समझकर बड़े से बड़े दुःखों को भी हँसकर सहन कर लेते हैं।

२९ अकृपणता—अपने पास सामग्री है, उसे आवश्यक धर्म कार्य आने पर भी व्यय न करना दूसरों से ले लेने की इच्छा तो रखना, किन्तु देते समय हाथ भींच लेना—यही कृपणता है। ऐसा यक्ष वित्त जीवन भर तो अशान्त रहता ही है। मरकर भी उसे शान्ति नहीं मिलती, अधम योनियों में जाकर उस वित्त की चिंता में अशान्त बना रहता है।

३०-अमूर्खता—मूर्ख पुरुष को सत् असत् का धर्म अधर्म का, बन्ध मोक्ष का ज्ञान नहीं रहता इसलिये मूर्खता से सदा बचा रहे।

ये तीस लक्षण धर्म के तीसरे पाद शान्ति के हैं। अब धर्म के चौथे पाद अहिंसा के भी सात भेद हैं। उनके नाम १. आसन

जय, २. पर पीड़ा विवर्जन, ३. श्रद्धा, ४. अतिथि सत्कार, ५. शांत भाव प्रदर्शन, ६. सर्वत्र आत्मीयता और ७. पर में भी आत्म बुद्धि।

१. आसन जय— घूमने घामने मे कितना भी बचाओ हिंसा हो ही जाती है। अतः एक स्थान मे बैठकर आसन जय कर लेना चाहिये। आसन जय से मनुष्य बहुत सी हिंसाओं से बच सकता है।

२.पर पीड़ा विवर्जन— दूसरों को पीडा पहुँचाना ही हिंसा है, इसलिये जहाँ तक हो इससे बचता रहे।

३. श्रद्धा—हिंसा सदा अश्रद्धालु ही करेगा। जिसे धर्म पर, वेद पर, गुरुजनो पर समस्त जीवो पर श्रद्धा है। फिर वह किसकी हिंसा करेगा, अतः श्रद्धा रखना ही हिंसा से बचना है।

४. अतिथि सत्कार— इस सम्बन्ध मे तो शान्ति प्रकरण मे बता ही चुके हैं। अपने पास आये हुए भूखे प्यासे का सत्कार न करना उसकी हिंसा ही है। अतः कुछ न हो तो वाणी से केवल जल से ही अतिथि का सत्कार करके हिंसा से बच सकता है।

५. शान्त भाव का प्रदर्शन—अपने को अशान्त दिखना भी हिंसा ही है, अतः सदा सर्वदा अपने को शान्त भाव मे स्थित प्रदर्शित करे।

६. सर्वत्र आत्मीयता— जब तक आत्मीयता न होगी, तब तक दूसरो के दुख दूर करने की भावना न आवेगी। अतः सर्वत्र अपनी आत्मा को ही देखने का अभ्यास करे।

७. पर मे भी आत्म बुद्धि—स्वभावतः कुछ में अपनापन होता है, कुछ मे परायापन। जिनमें परायापन भी हो उनमे भी आत्म बुद्धि करने की सतत चेष्टा करे ऐसा करने से जिनमे परायापन है, उनकी मानसिक हिंसा से बचा जा सकता है।

इस प्रकार धर्म के चार पाद सत्य, दया, शान्ति और अहिंसा के अन्तर्गत ही समस्त सद्गुणों का समावेश हो जाता है, धर्म का बड़ा लम्बा चौड़ा परिवार है। इसी से इसे विस्तार के साथ बताया है और किसी ने इसे अत्यन्त संक्षेप में बताया है। कहीं धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध कहकर धर्म को दश लक्षणों वाला बताया है।

पद्म पुराण में धर्म के ६ लक्षण बताये हैं। वे इस प्रकार हैं- सुपात्र को दान देना, भगवान् में मति होना, माता पिता का पूजन करना, सत्कर्मों में श्रद्धा रखना, बलि वैश्व करना और गौओं को ग्रास निकालना।

एक स्थान पर धर्म का यथार्थ मर्म बताते हुए कहा है—"मैं धर्म का सार सिद्धान्त बताता हूँ, उसे सुनो और सुनकर धारण करो। जो बात तुम्हें अच्छी न लगे, उसका व्यवहार दूसरों के साथ मत करो।"

इस प्रकार धर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की आख्यायिकायें हैं। सबका सार यही है कि सद्गुणों के अनुसार आचरण करना धर्म है, दुर्गुणों के अनुसार आचरण करना अधर्म है। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आ जाती है, कि उस समय यह निर्णय करना कठिन हो जाता है, कि कौन काम धर्म है कौन अधर्म है। इसलिये ऋषियों ने धर्म के निर्णय के चार लक्षण बताये हैं। सब से पहले तो यह देखे कि इस विषय में वेद की क्या आज्ञा है। वेद में तो सभी बातें सूत्र रूप से संक्षेप में कही गयीं हैं। वेद की बातों का ही विस्तार स्मृतियों में किया गया है, वेद में कुछ संशय रह गया तो यह देखे स्मृतिकारों ने ऐसे प्रसङ्गों पर क्या निर्णय किया है। वेद स्मृति वाक्यों में मिलान हो जाय तब तो उत्तम ही है, यदि फिर भी कुछ संशय हो, तो पुराण इतिहास में यह देखे कि

ऐसे प्रसंग आने पर सज्जन पुरुषों ने कैसा आचरण किया था सदाचारी पुरुषों के आचरणों को भी देखकर धर्माधर्म का निर्णय करे। वेद, स्मृति, सदाचार, के वचनों को लेकर फिर अपने सद् असद् विवेकिनी सात्त्विकी बुद्धि से निर्णय कर ले। वेद शास्त्रों के आधार पर सात्त्विकी बुद्धि ही धर्माधर्म का निर्णय करने में समर्थ हो सकती है। पीछे बताया जा चुका है कि प्रवृत्ति निवृत्ति कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष इन सब का यथार्थ निर्णय सात्त्विकी बुद्धि ही कर सकती है। अब राजसी और तामसी बुद्धि के सम्बन्ध में आगे सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान से राजसी और तामसी बुद्धि के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—अर्जुन! सात्त्विकी बुद्धि में और राजसी बुद्धि में इतना ही अन्तर है कि सात्त्विकी बुद्धि तो कार्य-अकार्य तथा धर्म और अधर्म के विषय में यथावत् निर्णय करने में समर्थ होती है वह निश्चयात्मकरूप से निर्णय कर लेती है. कि यह कार्य धर्म्य है यह अधर्म्य, यह कर्तव्य है यह अकर्तव्य। किन्तु जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य को निश्चयात्मक रूप से नहीं जानती। जिसे धर्म्य अधर्म्य में, कर्तव्य-अकर्तव्य में संशय बना रहता है, वही बुद्धि राजसी है।

अर्जुन ने पूछा—"धर्म क्या?"

भगवान् ने कहा—"शास्त्र जिसे करने की आज्ञा दे' जो शास्त्र विहित कर्म है वही धर्म है।"

अर्जुन ने पूछा—"अधर्म किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—"धर्म के प्रतिकूल जो शास्त्र प्रतिषिद्ध निषिद्ध कर्म है वही अधर्म है। ये दोनों ही अदृष्ट प्रयोजन वाले

हैं। धर्म का और अधर्म का फल प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता। प्रत्यक्ष तो कार्य-अकार्य दिखाई देते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"कार्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो किया जाय, वह कार्य है (क्रियते यत् तत् कार्य) यहाँ कार्य से तात्पर्य है, कर्तव्य कर्म से, जिस वर्ण के लिये जिस आश्रम के लिये जो विहित कर्म हैं, वेद तथा अन्यान्य धर्म शास्त्रों ने जिन-जिनके लिये जो कर्म विधान किये हैं। उन-उनके लिये वे काम कार्य हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर अकार्य क्या ?"

भगवान् ने कहा—"इसके विपरीत जिनके लिये जो जो कर्म निषिद्ध किये हैं, वे सभी कर्म अकार्य हैं। कौन-सा कर्म किस परिस्थिति मे किसके लिये करने योग्य है और वही कर्म स्थिति के अनुसार किसके लिये अकार्य है। इसका यथार्थ निर्णय सद्-असद् विवेकिनी सात्त्विकी बुद्धि ही कर सकती है। राजसी बुद्धि धर्म-अधर्म को, कार्य अकार्य को यथावत् नहीं जान सकती। वह यथार्थ निर्णय करने मे समर्थ नहीं होती, वही बुद्धि राजसी बुद्धि कहलाती है।"

अर्जुन ने पूछा—"तामसी बुद्धि के क्या लक्षण हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! जो पुरुष तमोगुणी हैं, जिनकी बुद्धि को तमोगुण ने व्याप्त कर रखा है, उनकी वह बुद्धि सात्त्विकी बुद्धि से सर्वथा विपरीत ही बन जाती है। सात्त्विकी बुद्धि तो सद्-असद् का भली भाँति विवेचन करने मे समर्थ होती है। वह तत्काल निर्णय कर लेती है यह मार्ग प्रवृत्ति का है यह निवृत्ति का। इस कार्य को करना श्रेयस्कर है, इस अकार्य को करना अश्रेयस्कर है। इस कार्य के करने से संसार बन्धन छूट जायँगे, इसके करने से और अधिकाधिक बन्धन में पड़ जायँगे। राजसी

बुद्धि संशयात्मक होती है। वह भले बुरे के निर्णय को यथार्थ रूप मे करने मे समर्थ नहीं होती, किन्तु तामसी बुद्धि सदा सर्वदा विपरीत निर्णय करती है। जो बात धर्म की है उसे वह अधर्म को समझेगी। जो अधर्म है उसे धर्म मानकर उसका आचरण करने को कहेगी। वह सभी विषयों को विपरीत ही समझती है। तमोगुण बुद्धि के सत्-असत् विवेक को नष्ट कर देता है। वह संशयात्मिका ही नहीं होती, किन्तु सर्वथा विपरीत बन जाती है। अधर्म को ही धर्म समझने लगती है। ऐसी तामसी बुद्धि सर्वथा हेय है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! जैसे आपने सात्त्विकी, राजसी और तामसी इस प्रकार तीन भाँति की बुद्धि बतायीं, उसी प्रकार आपने धृति को भी त्रिविध बताया है, अतः मैं अब धृति के भी तीन भेद आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ। कृपा करके धृति के भी तीन भेदों को मुझे आप बता दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे भगवान् त्रिविध धृति को भी बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तामस पुरुष अधर्म करें तिहि धरमहिँ जानें।
पंडित शिक्षा देहिँ ताहि मिथ्या करि मानें॥
जितने सद्गुन कहे तिनहिँ विपरीत बतावैं।
शास्त्र वाक्य नहिँ सुनहि आपनी बात चलावैं॥
जिनिकी बुद्धि घिरी रहे, सदा तमोगुन बीच में।
बुद्धि तामसी तिनि कही, फँसे पाप की कीच में॥

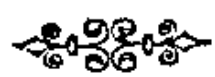

त्रिविध धृति

[१८]

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० ३३, ३४, ३५ श्लो०)

छप्पय

बुद्धि भेद तो कहे पार्थ ! धृति अब सुनु भाई ।
धारन जातें करें ताहि तें धृति कहलाई ॥
अव्यभिचारिनि कही वही है धृति अति उत्तम ।
ज्ञानयोग तें करै धारना जो नर सत्तम ॥
इन्द्रिय मन अरु प्रानकी, क्रिया सतत धारन करत ।
वही सात्त्विकी धृति सबहिं, शास्त्र जाहि उत्तम कहत ॥

---

* हे पार्थ ! योग के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को जिस अव्यभिचारिणी धारणा द्वारा धारण करते हैं, वह सात्त्विकी धारणा है ॥३३॥

हे पार्थ ! फल की आकांक्षा वाला पुरुष अति आसक्ति से जिस

अष्टाङ्ग योग में जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार हैं। उनमें से यम नियम तो सभी साधनों में आवश्यक ही हैं। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बाह्य साधन हैं। धारणा ध्यान और समाधि ये आभ्यान्तर साधन हैं। धारणा की परिपक्वता का ही नाम ध्यान है और ध्यान की परिपक्वता को ही समाधि कहते हैं। किसी क्रिया को, भाव को अथवा वृत्ति को अन्तःकरण में धारण करने को धृति या धारणा कहते हैं। ब्रह्मात्म चिन्ता को ध्यान कहते हैं और मन की धृति को धारणा कहा गया है। प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार होता है और तदनन्तर धारणा होती है इन्द्रियों की, मन, प्राण, ज्ञान, आयु और सुख की क्रियाओं को जो वृत्ति धारण करती है वही धृति कहलाती है। वह धृति भी कर्ता के स्वभावानुसार सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है। कर्ता यदि सात्त्विक प्रकृति का है, तो उसकी बुद्धि, धृति तथा अन्य वृत्तियाँ भी सात्त्विकी होंगी। उसका सुख भी सात्त्विक होगा, इसी प्रकार कर्ता राजस तथा तामस स्वभाव का होगा तो उसकी समस्त वृत्तियाँ और उसके सुख साधनादि भी राजस, तामस होंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से त्रिविध धृति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन पहिले तुम धृति का अर्थ समझो। धृति कहते हैं धारणा को।

धारणा से धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, हे अर्जुन! वह राजसी धारणा है ॥३४॥

हे पार्थ! जिस धारणा के द्वारा दुष्टबुद्धि वाला पुरुष निद्रा, भय, शोक, विषाद तथा मद को नहीं छोड़ता है, वह तामसी धारणा है ॥३५॥

धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों जहाँ एक हो जायँ उसे संयम कहते हैं। इन में सबसे पहिले धारणा है। जब वह धृति समाधि से व्याप्त हो जाती है, तो चित्त की चञ्चलता मिट जाती है। वह धृति सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है।

अर्जुन ने पूछा—"सात्त्विकी धृति के क्या लक्षण हैं?"

भगवान् ने कहा—"जिस अव्यभिचारिणी धृति से मनुष्य योग द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, हे पार्थ! उसी धृति का नाम सात्त्विकी धृति है।"

अर्जुन ने पूछा—"अव्यभिचारिणी धृति का अभिप्राय क्या है?"

भगवान् ने कहा—"व्यभिचार कहते हैं, अपने स्वामी के अतिरिक्त अन्यों से भी स्वामीपने का सम्बन्ध रखना। धारणा जब तक नाना विषयों को धारण करती है, तब तक वह व्यभिचारिणी बनी रहती है। जब धारणा अन्य सभी विषयों का परित्याग करके एक मात्र मुझ सर्वेश्वर को ही धारण करती है, मुझ भगवान् के अतिरिक्त अन्य संसारी विषयों को धारण ही नहीं करती, उसी धृति का नाम अव्यभिचारिणी धृति है। जब एक मात्र मुझ भगवान् को ही धृति धारण कर लेती है, अन्य वृत्तियों से हट जाती है, तो उसे योग समाधि कहते हैं। जब धृति समाधि से व्याप्त हो जाती है, तब मन फिर अन्यत्र कहीं जा ही नहीं सकता, उस दशा में मन की, इन्द्रियों की तथा प्राणों की क्रियायें अपने आप रुक जाती हैं। अतः उसी धृति का नाम सात्त्विकी धृति है।"

अर्जुन ने पूछा—"राजसी धृति के क्या लक्षण हैं?"

भगवान् ने कहा—"सात्त्विकी धृति तो एक मात्र मोक्ष स्वरूप को धारण करती है किन्तु राजसी धृति धर्म, काम और अर्थों को

अत्यन्त आसक्ति से–प्रसंग से–फल की इच्छा से धारण करती है, हे पार्थ ! वह राजसी धृति है।"

अर्जुन ने कहा—"प्रसग से क्या अभिप्राय है ?"

भगवान् ने कहा—"सग कहते है आसक्ति को–स्पृहा को। अत्यन्त स्पृहा–प्रवल आसक्ति–से कर्ता यह सोचकर धारणा करे कि इस धारणा से मुझे यह फल प्राप्त हो ही जायगा। वह अपने मे कर्तापने का अभिमान रखकर केवल धर्म, अर्थ और काम को ही अपना कर्तव्य समझ कर उसे ही करने की निश्चित धारणा करता है, मोक्ष के विषयों मे उदासीन बना रहता है, तो उस कर्ता की वह धारणा राजसी धारणा है।"

अर्जुन ने पूछा—"तामसी धृति के क्या लक्षण हैं ?"

भगवान् ने कहा—"दुर्मेधा पुरुष जिस धृति के द्वारा स्वप्न भय, शोक, विषाद, और मद का परित्याग नहीं कर सकता वह धृति तामसी धृति है।"

अर्जुन ने पूछा—"दुर्मेधा किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जिसकी मेधा–बुद्धि दुष्ट हो–सत्-असत् निर्णय करने में असमर्थ हो उस व्यक्ति को दुर्मेधा कहते है। वह यह विवेक नहीं कर सकता कौन कर्तव्य है कौन अकर्तव्य है। वह स्वप्न का परित्याग नहीं कर सकता।"

अर्जुन ने पूछा—"स्वप्न क्या ?"

भगवन् ने कहा—"वेसे जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओ मे से जाग्रत और सुषुप्ति के मध्य की अवस्था का का नाम स्वप्न है। किन्तु यहाँ जाग्रत से अतिरिक्त निद्रा, आलस्य प्रमाद और स्वप्न ये सभी स्वप्न के ही अन्तर्गत समझ लेना चाहिये स्वप्न के साथ ही जिस धारणा में भय बना रहे।"

अर्जुन ने पूछा—"भय क्या ?"

भगवान् ने कहा—"भय कहो भीति कहो डर, त्रास, भी, साध्वस, आतङ्क तथा आशंका ये सब भय के ही पर्यायवाची शब्द हैं। डर के कारण चित्त में विकलता हो जाने का नाम भय है। जैसा हमारा किसी विषय मे राग है, उसके नष्ट होने का समय उपस्थित हो गया। उस नाश के कारण को हम हटाने में असमर्थ हैं, उस समय जो चित्त की एक प्रकार से दीन वृत्ति हो जाती है उसी का नाम भय है। तामस धृति में स्वप्न और भय के साथ शोक भी बना रहता है।"

अर्जुन ने पूछा—"शोक क्या ?"

भगवान् ने कहा—अपने प्रिय के वियोग की जो मानसिक पीड़ा है उसे शोक कहते हैं। उसमें चित्त की विकलता बढ़ जाती है। चित्त में खेद या सोच होने लगता है। शोक सदा आसक्ति से हुआ करता है। अतः तामसी धृति में निद्रा, भय और शोक के साथ ही साथ विषाद भी बना रहता है।

अर्जुन ने पूछा—"विषाद क्या ?"

भगवान् ने कहा—"अपने इष्ट के वियोग से जो मानसिक क्लेश होता है उस मन की वृत्ति का तो नाम शोक है, उस शोक के कारण जो-जो बाह्य इन्द्रियों में सन्ताप या ग्लानि होती है उसी का नाम विषाद है। उसे जाड्य, मौर्ख्य, अवसाद, साद और विषण्णता भी कहते हैं। जिसके कारण विषाद हो रहा हो और उसके शमन के निमित्त का कोई संकेत मिल जाता है तो विषाद का शमन हो जाता है। अतः तामसी धृति में निद्रा, भय, शोक और विषाद के साथ ही साथ मद भी बना रहता है।

अर्जुन ने पूछा—"मद क्या ?"

भगवान् ने कहा—शास्त्र विरुद्ध अहंकार पूर्वक विषय सेवन में तत्परता ही मद कहलाता है। मद अनेक कारणों से होता है।

जाति मद, कर्मों का मद, युवावस्था का मद, रूप का मद, धन का मद, विद्या का मद तथा ऐश्वर्यादि समस्त संसारी भोगों को अहंकार पूर्वक सेवन करने का नाम ही मद है। जिस विवेकहीन दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष की धृति स्वप्न, भय, शोक, विषाद तथा मदादि को नहीं छोड़ती वही धृति तामसी धृति है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन! यह जीव निरन्तर कर्मों को ही करते रहने की इच्छा क्यों करता है?"

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया अर्जुन! सभी जीव अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपनी-अपनी धारणा के अनुसार सुख प्राप्ति तथा दुःख निवृत्ति के ही निमित्त समस्त कर्मों को करते हैं। सभी चाहते हैं–मुझे सुख ही सुख हो। दुःख कभी न हो। दुःख की सम्भावना हो जाय, तो उसकी निवृत्ति के अर्थ और सुख की प्राप्ति के ही निमित्त समस्त कर्म किये जाते हैं। दुःख की निवृत्ति भी सुख की प्राप्ति ही है। अतः कर्मों के करने का एकमात्र लक्ष्य सुख की प्राप्ति ही है।"

अर्जुन ने पूछा—"श्रद्धा, धृति कर्ता आदि के समान क्या सुख के भी ३ भेद हैं? यदि हैं तो कृपा करके उन्हें भी मुझे बता दीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के पूछने पर अब भगवान् जैसे अर्जुन को सुख के भेद बतावेंगे, उस कथा प्रसंग को मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

करमनि करै सकाम धारना शक्ति धारिकें।
करै फलनि आसक्ति नहीं करतव्य समुझिकें॥
धरमनि धारन करै अरथ फल हित ही धारै।
विषयनि में मन फाँसि काम सुख में मन डारै॥

वही धारना राजसी, पारथ पडितजन कहहिँ।
जो जन है अति राजसी हिये धारना अस धरहिँ ॥

तृतिय तामसी धतिके लक्षन पार्थ सुनाऊँ।
बुद्धि अधिक जिनि भ्रष्ट दुष्ट तिनि धति बतलाऊँ ॥
जासु धारना शक्ति होहि चिन्ता हिय अतिशय।
निद्रा आवै बहुत होहि भय दु:ख दुराशय ॥
नहिँ छोडत उन्मत्तता, विषय वासना मन बसी।
अरजुन ! अतिहि समासतैं, कही दुखद धृति तामसी ॥

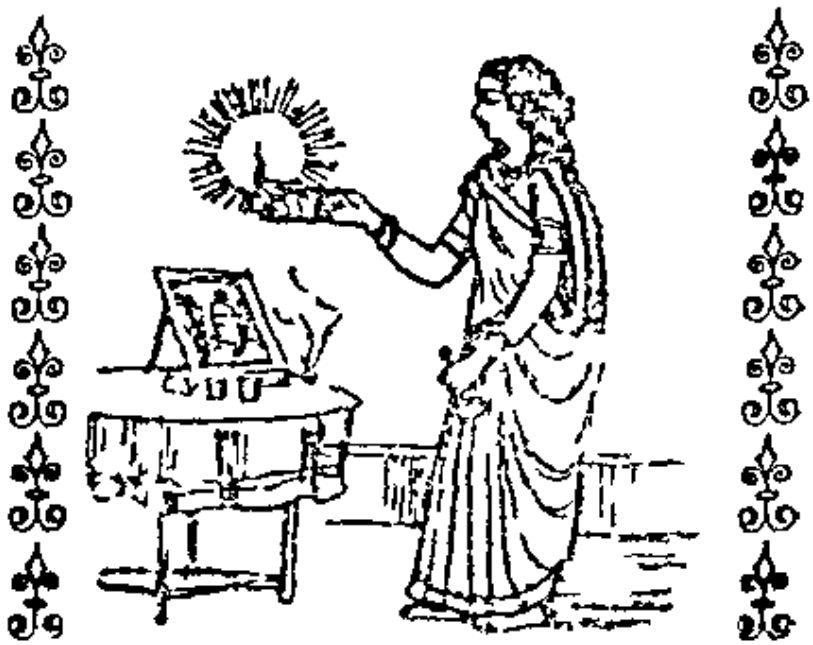

सात्त्विक-सुख

[१९]

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥*

(श्री० भग० गी० १८ अ० ३६, ३७ श्लो०)

छप्पय

बुद्धि और धृति भेद बताये अरजुन ! मैंने ।
तीन-तीन-तिनि भेद जताये पूछे तैंने ॥
सुनहु तीनि प्रकार ताहि हू तोइ सुनाऊँ ।
सात्त्विक सुख है प्रथम प्रथम ही ताहि बताऊँ ॥
जा सुखमें साधक भजन, ध्यान आदि में रत रहै ।
सेवादिक अभ्यास तैं, रमन करै दुख नहिं सहै ॥

---

* हे भरतर्षभ ! अब तुम मेरे से तीनि भाँति के सुखों को भी सुनो । जिस सुख में पुरुष अभ्यास के द्वारा रमण करता है, तो दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है ॥३६॥

जो सुख पहिले तो विष की भाँति लगे, किन्तु परिणाम में अमृतोपम हो और जो आत्मबुद्धि प्रसाद से प्राप्त हुआ हो, वह सात्त्विक सुख कहा जाता है ॥३७॥

श्री भगवान् श्यामसुन्दर के स्वधाम पधारने की इच्छा जानकर तथा उन्हीं की आज्ञा से उद्धवजी बदरीवन को जा रहे थे। मार्ग में भगवान की क्रीडा भूमि वृन्दावन के दर्शन हुए। वहाँ सहसा विदुरजी से उद्धवजी की भेंट हो गयी। दोनों को एक दूसरे से मिलकर परम हर्ष हुआ। कुशल प्रश्न के अनन्तर जब उद्धवजी ने बताया, कि भगवान तो स्वधाम पधार गये, मुझे भागवत का उपदेश देकर बदरीवन को भेजा है। उन्हीं की आज्ञा से मैं बदरीवन में तपस्या करने जा रहा हूँ।

तब विदुरजी ने प्रार्थना की—"उद्धवजी! भगवान् ने जिस भागवत ज्ञान का आपको उपदेश दिया है, उसे मुझे भी सुना दीजिये।"

तब हँसते हुए उद्धवजी ने कहा—"विदुरजी! आप बड़भागी हैं। ऋषि मुनि अन्त समय में भगवान् का स्मरण करते हैं, किन्तु भगवान् ने अन्त समय में-स्वधाम पधारते समय-आपका स्मरण किया था। मेरे सामने ही भगवान् ने मैत्रेयमुनि से कहा था—"विदुरजी मेरे बड़े भक्त हैं, आपने जो भागवत ज्ञान मुझसे सुना है, उसका उपदेश तुम विदुरजी को अवश्य कर देना। सो बड़भागी विदुरजी आप हरिद्वार में मैत्रेयमुनि के समीप चले जायँ, वे आपको भगवान् के भागवत ज्ञान का उपदेश करेंगे।" यह कहकर उद्धवजी तो बदरीवन को चले गये, विदुरजी भगवान् की ऐसी अहैतुकी कृपा का स्मरण करके फूट फूटकर रोने लगे व्याकुल होकर मूर्छित हो गये। चेतना होने पर वे गंगा किनारे-किनारे चल कर हरिद्वार पहुँचे। वहाँ मैत्रेयमुनि को दंड प्रणाम करने के अनन्तर बात चलाने को उनसे चर्चा आरम्भ की।

विदुरजी ने कहा—"भगवन्! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ।"

भगवान् मैत्रेयमुनि ने कहा—"हाँ, पूछो तुम जो भी पूछोगे। भगवत् कृपा से मैं उसका यथार्थ उत्तर दूँगा।"

तब विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे जो भी कर्म करते है सभी सुख के ही लिये करते हैं। कर्मों के करने का एकमात्र उद्देश्य सुख प्राप्ति ही है, किन्तु देखते है, इसका परिणाम उलटा ही होता है। कर्मों से न तो उन्हे सुख की ही प्राप्ति होती है और न दुःखों की ही निवृत्ति होती है, होता है विपरीत ही कार्य, उन कर्मों से और अधिक दुःख ही प्राप्त होता है। इस विषय में उचित क्या है, यही बात आप मुझे बताइये।"

विदुरजी के इस प्रश्न का उत्तर मैत्रेयजी ने बड़े विस्तार के साथ दिया है। यह प्रश्न विदुरजी का ही नहीं है। प्राणीमात्र का यही प्रश्न है। हम सुख प्राप्ति के निमित्त कर्म करते हैं किन्तु कर्मों से होता है, बन्धन ही। बन्धन दुख का हेतु है। क्योंकि परवश होना ही बन्धन में पड़ना है, सबसे बड़ा दुख है। स्ववश होना आत्मवशी बने रहना यही सुख है। अब विचार करना है कि सुख है क्या?

जो सुख प्रदान करे वही सुख है (सुखयतीति सुख) नैयायिक लोग इसे आत्मा की एक वृत्ति मानते हैं। वेदान्ती कहते हैं सुख मन का ही एक धर्म है।

जो लोग चौबीस तत्त्व मानते हैं। उनमें एक तत्त्व सुख भी है। वे सुख के दो भेद करते हैं। १-नित्यसुख और दूसरा २-जन्यसुख। नित्यसुख तो परमात्मा का विशेष गुणान्तरवर्ती है और जन्यसुख जीव का विशेष गुणान्तरवर्ती है। जीव जिसे चाहकर प्राप्त करता है, उसे जन्यसुख कहते है जैसे धन की प्राप्ति से जीव को सुख प्राप्त होता है, इसी प्रकार मित्रो की प्राप्ति में,

आरोग्यता में, मिष्टान्न, स्वादिष्टान्न पान में भी सुख होता है।

एक बार किसी राजा ने अपने बुद्धिमान मन्त्री से पूछा—"सबसे अधिक सुख कब होता है?" मन्त्री बड़ा बुद्धिमान था, उसने सोचा "मैं कह दूँ, कि धन में स्वादिष्ट भोजन में, मित्र दर्शन में सबसे अधिक सुख होता है, तो राजा कह देगा, मुझे तो इनमें विशेष सुख होता नहीं।" मन्त्री जानता था कि राजा को विष्ठन (कब्ज) रहता है, अर्श का (बवासीर का) रोगी है। अत मन्त्री ने कहा—"महाराज! जिस समय खुलकर भलीभाँति शौच हो जाय, तो यही सबसे बड़ा सुख है।" यह सुनकर राजा हँस पड़ा और बोला—"मन्त्री जी आप यथार्थ कहते हैं इस सुख के सम्मुख और सभी सुख तुच्छ हैं। अतः पुरीषोत्सर्ग में भी सुख होता है।

पुत्र जन्म के समय, पुत्र के स्पर्श में, उसके मुख चूमने में, उसकी चपलता में, उसकी प्रसिद्धि तथा पाडित्य में भी अपूर्व सुख होता है। स्त्री प्रसग में, माता को बच्चे को स्तनपान में, अत्यत सुख होता है, जिसको जो वस्तु अत्यन्त इष्ट होती है उसको उसकी प्राप्ति में अत्यधिक सुख होता है।

यज्ञादि कर्मों में यद्यपि क्लेश होता है, किन्तु यह ज्ञान है कि इसका परिणाम सुखद होगा। अन्त में इससे स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति होगी, अत. उसके परिणामजन्य ज्ञान के कारण यज्ञादि पुण्य कर्मों में भी सुखानुभूति होती है।

सुख से हर्ष, दर्प, शौर्य और उन्मत्तता होती है सुख से ही राग उत्पन्न होता है ऐश्वर्य की कामना बढ़ती है, परस्पर में विद्वेष भी ससारी सुखों को ही लेकर होता है। परन्तु ससार में ऐसा एक भी व्यक्ति न होगा जिसे केवल सुख ही सुख मिले या दुख ही दुख मिले। कभी किसी क्षण किसी को सुख हो जाता है, कभी

दुख हो जाता है। जैसे रथ का पहिया कभी ऊपर हो जाता है, फिर कभी नीचे चला जाता है। जिस सुख की इच्छा हो, उसे कीट पतंग से लेकर मनुष्यों तक सभी को सुख पहुँचाना चाहिये। अपने से किसी को दुख न हो। सुख दुख का संबन्ध मन से है। मन जिसे सुख मान ले, उसके लिये वही सुख है, मन जिसे दुख मान ले वही दुख है। वास्तव मे सुख और दुख का परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की अनुभूति नहीं हो सकती। अन्धकार न हो तो दीपक का क्या प्रयोजन? जैसे अन्धकार और प्रकाश। दीपक के आने पर अन्धकार कहीं चला नहीं जाता। निर्धन है उसे धन मिल जाय तो वह अपने को सुखी मानने लगेगा। धनी है उसका धन नाश हो जाय तो वह महान् दुखी होगा। इसके विपरीत त्यागी पुरुष अपना विशाल धन वैभव त्यागकर सुखानुभूति करेगा। किसी त्यागी को धन दे दो, तो वह धन उसके लिये दुख का कारण होगा। इस प्रकार सुख दुख मनके धर्म है। जिन कारणों से सुख प्राप्त होता है, वे सुख के साधन कहे जाते हैं। प्रीति, प्रमोद, आनन्द, हर्ष, आमोद शर्म, मुदा, मोद, शिव ये सब सुख के पर्यायवाची शब्द हैं। वह सुख, सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का होता है। उनमे सबसे पहिले सात्त्विक सुख को बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने त्रिविध सुखों के सम्बन्ध मे जिज्ञासा की, तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! जैसे मैंने ज्ञान के, कर्ता के, कर्म के, बुद्धि तथा धृति के तीन-तीन भेद बताये हैं वैसे ही ज्ञान के भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद हैं। उनको तुम मुझसे श्रवण करो।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! सात्त्विक सुख के क्या लक्षण हैं?"

भगवान् ने कहा—"देखो, जिस सुख में अभ्यास के कारण रमण करता है और समस्त दुखों का अन्त हो जाता है वह सात्त्विक ज्ञान का कारण है।"

अर्जुन ने पूछा—"अभ्यास से रमण करने का क्या तात्पर्य है?"

भगवान ने कहा—"देखो, संसारी सुख तो प्राप्त होते ही क्षण भर को सुख का अनुभव कराकर अन्त मे दुःख का कारण हो जाते हैं। जैसे हमने कोई स्वादिष्ट वस्तु खायी। तो जब तक वह जिह्वा से नीचे नहीं गयी तब तक तो सुख प्रतीत हुआ, जहाँ कंठ से नीचे गयी सुख समाप्त। फिर लालसा बढ़ने का दुःख रह जाता है। इसी प्रकार सुन्दर वस्तु को देखकर सुख होता है उसके ओझल हो जाने पर दुख। सुन्दर मधुर शब्द सुनने में सुखद, जहाँ उसकी समाप्ति हुई सुख समाप्त। ऐसे ही स्त्री प्रसंग, मलमूत्र विसर्जन, सुखद वस्तु का स्पर्श, ये आरम्भ में उसी क्षण सुखद प्रतीत होते हैं, पीछे परिणाम में दुखद ही होते है। किन्तु भजन, ध्यान, जप, समाधि आदि साधन, साधनकाल मे उतने सुखद प्रतीत नहीं होते। उनका दीर्घ काल तक सत्कार तथा श्रद्धापूर्वक निरन्तर अभ्यास किया जाय, उनसे अधिकाधिक परिचय बढ़ाया जाय, उनमे रमण किया जाय तभी वे सुखद प्रतीत होंगे। क्योंकि इन शुभकर्मों के निरन्तर अभ्यास से रजोगुण की समाप्ति हो जाती है। अभ्यास से शनैः शनैः मन प्रशान्त बन जाता है, वह भगवान् की ओर ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है साधन से ज्यों-ज्यों ब्रह्म के स्पर्श का अनुभव होने लगता है, त्यों-त्यों क्रमशः उसके सुख में वृद्धि होती जाती है। कारण कि ये संसारी विषयभोग क्षणिक सुख देने वाले परिणाम में दुःखद हैं। इन विषयों से तो उसने सर्वथा अपने मनको हटा ही लिया है। इनमें तो उसके

अन्तःकरण की आसक्ति रही ही नहीं। अब तो वह आत्मसुख की ओर बढने लगा है। ज्यों-ज्यों साधन की परिपक्वता होती जाती है त्यों-त्यों उसकी परितृप्ति होती जाती है उसे आन्तरिक सच्चे सुख की अनुभूति होती जाती है। धर्मादि जो सद्गुण हैं, ये ही साधक को मेरी ओर ले जाते हैं। इन सद्गुणों के पालन में जो दृढता दिखाते हैं, उनके दुःखों का अन्त होने लगता है। यही अभ्यास से रमण करने का तात्पर्य है।"

अर्जुन ने पूछा—यह सात्त्विक सुख आरम्भ से ही ऐसा सुखद क्यों नहीं होता जैसा विषयजन्य सुख ?

भगवान् ने कहा—"विषयजन्य सुख ऐसे हैं जैसे अधिक गरिष्ट स्वादिष्ट पदार्थों को संग्रहणी वाला रोगी खा जाय। खाते समय तो उसे क्षण भर को जिह्वा का सुख होता है, किन्तु उसका परिणाम भयंकर होता है, उसका शरीर सूज जाता है, विरेचन होने लगता है। और भाँति-भाँति के अन्य क्लेश होने लगते हैं। किन्तु सात्त्विक सुख ऐसा है जैसे चिकित्सक रोगी से चिरकाल तक संयम करने को कहता है, तैल, मिरच, खटाई, गुड गरिष्ठ पदार्थों को खाने से रोकता है। कडवी बेस्वाद की खाने को औषधियाँ देता है। तौलकर पथ्य भोजन देता है। और इच्छा रहने पर भी माँगने पर भी अधिक भोजन नहीं देता। तो रोगी वैद्य तथा औषधि की प्रशंसा सुनकर उस पर श्रद्धा रखकर उसकी बात मानता है, इस प्रकार चिरकाल तक संयम का भोजन, जिह्वा स्वाद की अपूर्ति, कडवी, कसैली बिना स्वाद की औषधियों के सेवन करने के कारण आरम्भ में उसे कष्ट होता है। ये सब बातें विष के सदृश लगती हैं, किन्तु इसका परिणाम अमृतोपम होता है। चिरकाल तक अपथ्य पदार्थों से बचे रहने से पथ्य, हलका, आरोग्यप्रद भोजन करने से तथा नाना गुणकारी स्वादरहित

औषधियों से उसे आरोग्य लाभ हो जाता है, जो आरोग्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का मूल कारण है। आरोग्य लाभ करके वह परम सुखी हो जाता है। इसी प्रकार जब साधक सात्त्विक बुद्धि होने के कारण ज्ञान, वैराग्य, ध्यान समाधि, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजा-पाठ, जप-तप, व्रत तथा अन्यान्य शुभकर्मों में उनकी प्रशंसा सुनकर प्रवृत्त होता है, तो आरम्भ में तो उसे साधन और साधने में होने वाले व्याधि, स्त्यान, संशय, आलस्य, विरतभ्रांति, निद्रा, प्रमादादि के कारण महान क्लेश होता है, ये सब बातें उसे विष के सदृश प्रतीत होती हैं। किन्तु पुनः पुनः अनेक विघ्न बाधाओं के आने पर भी जो श्रद्धा विश्वास से दीर्घकाल तक निरन्तर साधनों में ही लगा रहता है, तो फिर उसे उस साधन में अनुराग होने लगता है। साधन में रस आने लगता है, उस साधन में बिना किये उसे सूना-सूना-सा प्रतीत होने लगता है। अभ्यास करते-करते ज्ञान वैराग्यादि का परिपाक हो जाने पर उसे अमृतोपम सुख की अनुभूति होने लगती है। फिर उसे आत्म विषयिणि बुद्धि के प्रसाद का अनुपम सुख प्रतीत होने लगता है।

अर्जुन ने पूछा—"आत्मविषयिणी बुद्धि का प्रसाद क्या ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, यह अन्तःकरण निरन्तर के विषयों के संसर्ग से मलिन बन जाता है, जैसे चिरकाल तक धोया मला न जाय तो ताँबे पीतल के बर्तनों में मैल जम जाता है। जब उसे नीबू आदि खटाई से निरन्तर रगड़-रगड़कर धोया जाय, तो उसका मल दूर होकर बर्तन निर्मल स्वच्छ और चमकदार बन जाता है। इसी प्रकार विषयों के संसर्ग से मलिन हुआ अन्तःकरण जब निरन्तर की रगड़ रूप सत् साधनों के अभ्यास से स्वच्छ बन जाता है, तब वह मल रहित विशुद्ध हो जाता है। विशुद्ध अन्तःकरण में जिस सुख की प्रतीत होती है वही सुख आत्म

बुद्धि प्रसादज सुख कहलाता है। यही सात्त्विक सुख के लक्षण हैं। इससे सिद्ध हुआ, जो सुख निरन्तर के श्रद्धा संयमपूर्वक किये हुए सत् अभ्यास से प्राप्त होता हो, आरंभ मे तो जो विष के सदृश प्रतीत होता हो, किन्तु परिणाम में सुधा के सदृश स्वादिष्ट लगने लगता हो और जो परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से पैदा हुआ हो वही सात्त्विक सुख कहा जायगा।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! मैंने सात्त्विक सुख के लक्षण तो जान लिये, अब मैं राजस और तामस सुखों के सम्बन्ध मे भी जानना चाहता हूँ, कृपा करके राजस सुख और तामस सुखों की परिभाषा मुझे और बता दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने राजस, तामस सुखों की जिज्ञासा की, तब भगवान् ने जैसे उसे उनके लक्षण बताये, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा, आशा है आप समाहित चित्त से इस प्रसंग को सुनने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

यह सात्त्विक सुख प्रथम यदपि विष सरिस लखावै।
परि देखो परिणाम सुखद अति अमृत पिआवै॥
विषयनि को सुख क्षनिक अन्त ताको अति दुख है।
है प्रसाद परमात्म भाव में वह यह सुख है॥
भरत-श्रेष्ठ! नर सात्त्विकी, जाई में प्रमुदित रहें।
आत्मा बुद्धि प्रसादयुत, सात्त्विक सुख जाकूँ कहें॥

राजस और तामस सुख

[२०]

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ० ३८, ३९, ४० श्लो०)

छप्पय

इन्द्रिय सुखकूँ चहें विषय बिनु समरथ नाहीं ।
विषय मिलैं अनुकूल सुखी इन्द्रिय बनि जाहीं ॥
इन्द्रिय विषय संजोग जनित जो सुख कहलावै ।
पहिले अमृत समान फेरि विष-सो दिखलावै ॥
भोग काल में प्रिय अधिक, दुःख होहि परिणाम में ।
राजस सुख ताकूँ कहत, अरजुन ! सुख नहिं काम में ॥

---

* जो सुख विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से हुआ हो, वह पहिले तो अमृतोपम लगे, किन्तु परिणाम में विष के समान हो, वह राजस सुख कहा जाता है ॥३८॥

ससारी सुख और पारलौकिक सुख दो प्रकार के सुख हैं। परलोक भी है पहिले तो इस पर आस्था रखनी पडेगी। जो वस्तु आखों से प्रत्यक्ष दीखती है, उस पर तो सभी आस्था रखते हैं। माला, चदन, गुदगुदे, गद्दे सुदर भोज्य पदार्थ, तावूल वनिता, इत्र फुलेल आदि भोग पदार्थ प्रत्यक्ष दीखते हैं, इन्द्रियों से इन वस्तुओ का प्रत्यक्ष सग होने से इन्द्रियों के सयोग से मन को सुख की तत्क्षण अनुभूति होने लगती है, किन्तु परलोक तो प्रत्यक्ष दीखता नही। परलोक है इसके लिये तो वेद शास्त्र तथा आप्त पुरुषों के वचन ही प्रमाण हैं। उन वचनों को श्रद्धा पूर्वक मान कर ही परलोक के अस्तित्व पर आस्था की जा सकती है। इससे सिद्ध हुआ पारलौकिक सुख तो श्रद्धा के ऊपर अवलबित हैं। किन्तु लौकिक सुख तो प्रत्यक्ष हैं, उनका अनुभव तो सभी को हो रहा है। शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श का कान, आँख जिह्वा, घ्राण तथा त्वचा इन इन्द्रियों से सयोग हुआ नहीं, कि तुरत उसी क्षण सुख की अनुभूति होने लगती है। किन्तु इस सुख का परिणाम दुखद ही है।

ससारी विषयों का परिणाम यदि सुखद होता तो बडे बडे चक्रवर्ती राजा विषय भोगों से परिपूर्ण महलों को, राज्यों को, छोडकर वनों मे क्यों भटकते फिरते।

एक राजा थे, वे भगवान् को पाना चाहते थे, किन्तु अपने

जो सुख पहिले भी और परिणाम मे भी आत्मा को मोह मे डालने वाला हो और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न हुआ हो उसे तामस सुख कहते हैं ॥३९॥

देखो, पृथ्वी मे स्वर्ग मे तथा देवताओ मे भी ऐसा कोई प्राणी नही है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनो गुणो से रहित हो ॥४०॥

राज्य पाट, ससारी सुख-सुविधाओं को छोडना नहीं चाहते थे। एक दिन वे अपने सुसज्जित महलों की सबसे ऊँची अटारी पर सुदर गुदगुदी शैया पर शयन कर रहे थे, सेकडों दास तथा दासियाँ सेवा मे सलग्न थीं। सुगधित इत्रों का छिडकाव हो रहा था, उसी समय सहसा एक साधु वहाँ आ गया। पहरे वालों ने उसे बहुत रोका भी ता भी वह चला ही आया, आकर वह चारों ओर खोजने लगा।

राजा ने पूछा—"तुम कौन हो ?"

साधु ने कहा—"आदमी हूँ।"

राजा ने पूछा—"यहाँ कैसे आये ?"

साधु न कहा—"मेरा एक ऊँट खो गया है, उसे ही खोज रहा हूँ।"

राजा ने कहा—"तुम पागल तो नहीं हो गये हो। अरे, ऊँट खो गया है, तो उसे वन में जगल मे खोजो। यहाँ इतने ऊँचे पर कैसे चढ सकता है। यहाँ तुम्हे ऊँट का पता कैसे मिलेगा ?"

साधु ने कहा—"राजन्! तुम भी तो विषय भोगो मे भगवान् को खोज रहे हो। भला विषयो को भोगते भोगते भगवान् कैसे मिल सकते हैं ? भगवान् की प्राप्ति के लिये तो विषयों को विष-वत् त्यागना ही होगा।"

जो अतःकरण विषय भोगा में फँसा है, जिसे ससारी विषयों की लालसा है, वह परमार्थ पर परलोक पर विश्वास कैसे कर सकता है। ये ससारी विषय चाहें भूमि के हो अथवा स्वर्ग के हो, परिणाम मे दुखदाया ही होते हैं। जिन्होने चिरकाल तक ससारी सुख भोगे हैं, उनसे पूछो उन भोगों का परिणाम क्या हुआ ? तो वे यही कहेंगे हमारी तो अशाति और बढ गयी। महा-

राज ययाति चिरकाल तक विषयों के भोगने के अनंतर इसी परिणाम पर पहुँचे कि भोगों में शांति नहीं। यथार्थ सुख नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने राजसी, तामसी सुख के सम्बन्ध में पूछा, तो भगवान् कहने लगे- "अर्जुन! विषय और इन्द्रियों के संयोग के कारण जो सुख होता है, उसे ही राजसी सुख कहते हैं। यह सुख आरंभ में-पहिले पहिल तो अमृत के सदृश लगता है। आरंभ में तो बड़ा सुख प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में विष के सदृश दुखदायी सिद्ध होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"आगे अमृत के समान क्यों प्रतीत होता है?"

भगवान् ने कहा—"सूक्ष्म शरीर चैतन्यांश सहित जीव कहलाता है। इस जीव में जन्म-जन्मान्तरों के भोग संस्कार निहित रहते हैं। इस जीव ने नाना योनियों में विषय और इन्द्रियों के संयोग से संसारी सुख भोगे हैं। उन भोगों के संस्कार इसके अवशिष्ट हैं। भोगे हुए भोगों की अनुभूति सूक्ष्म रूप से इसके अन्तःकरण में बनी हुई है। पैदा होते ही बच्चा माँ का स्तन खोजने लगता है। इन संस्कारों के वशीभूत होकर सम्मुख विषयों के आते ही इन्द्रियाँ व्याकुल हो जाती हैं। परस्पर में संयोग होते ही, पूर्व की अनुभूति जाग्रत हो उठती है, उसी से सुखानुभूति करता है। फिर उस समय पारलौकिक सुखों को भी तुच्छ समझने लगता है। वे सुख उसे अमृत से भी बढ़कर सुखद प्रतीत होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"परिणाम में विष की भाँति होते हैं, इसका क्या तात्पर्य है?"

भगवान् ने कहा—"विषयों के भोग का परिणाम तो दुखद होता ही है। स्वादिष्ट पदार्थों को अधिक खाओ तो अजीर्ण,

मंदाग्नि, अर्श, अतिसार, ग्रहणी तथा अन्यान्य उदर सम्बन्धी व्याधियाँ होती ही हैं। इसी प्रकार अधिक स्त्री प्रसंग से नाना भाँति के प्रमेहादि रोग होते हैं, प्रबल वासना होने से पाप कर्मों में प्रवृत्ति होती है, इसके परिणामस्वरूप नरकों की यातनायें भोगनी पडती हैं। अतः राजस भोग परिणाम में क्लेशकारक-दुख देने वाले- परलोक से भ्रष्ट बना देने वाले होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"तामस सुख के लक्षण क्या हैं ?"

भगवान् ने कहा -"देखो, सत्त्वगुण से होने वाला सुख आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है, राजस सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग होने से-इन्द्रियों के अनुकूल विषय मिलने के आह्लाद से-होता है, किन्तु तामस सुख निद्रा आलस्य और प्रमाद के कारण होता है। तमोगुण से प्रमाद, मोह, अज्ञान, निद्रा और आलस्य उत्पन्न होते है।

सात्त्विक सुख आरम्भ में विष के सदृश होता है, परिणाम में अमृत के तुल्य, राजस सुख इसके सर्वथा विपरीत आरम्भ में अमृतोपम होता है और परिणाम में विषमय होता है, किन्तु तामस सुख आरम्भ में चित्त के मोह के कारण ही होता है और उसका परिणाम भी मोह को बढाने वाला होता है।"

अर्जुन ने पूछा—"मोह क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जो मोह ले, मन बुद्धि का मोहन करले उसे मोह कहते है। यह मोह बुद्धि का आवरण कर लेता है, ढक लेता है, ब्रह्माजी के अङ्गों से जैसे सद्गुण उत्पन्न हुए हैं वैसे ही उन सद्गुणों के मल स्वरूप ये दुर्गुण भी उन्हीं के अङ्गों से हुए हैं। जैसे ब्रह्माजी के अहंकार से मद हुआ है, उनके कण्ठ से प्रमोद हुआ है, नेत्रों से मृत्यु हुई है और उनकी बुद्धि से मल स्वरूप मोह हुआ है।

प्रत्येक भाव की नाड़ियाँ होती हैं, उन नाड़ियों का मस्तिष्क से सम्बन्ध होता है, अच्छे-बुरे भाव उन नाड़ियों के द्वारा ही मस्तिष्क मे आते हैं। कुछ संज्ञावह नाड़ियाँ होती हैं, जिनके द्वारा पुरुष को चेतना, संज्ञा, चेतनता होती है। उन संज्ञावह नाड़ियों मे सहसा वायु रुक जाती है। वात, पित्त, कफ तथा अन्य समस्त धातुएँ जो शरीर में घूमती रहती हैं, वे नाड़ियो के के द्वारा ही चक्कर लगाती हैं, ये समस्त धातुएँ स्वयं चलने मे असमर्थ होती हैं, सबकी सब पंगु होती हैं, केवल वायु ही ऐसा है, जो सब धातुओ को घुमाता रहता है। तो जो संज्ञावह—चेतना को सम्पूर्ण शरीर मे पहुँचाने वाली नाड़ियाँ हैं, जब उनमें वायु अवरुद्ध हो जाती है, तब वहाँ तमोगुण बढ़ जाता है। तमोगुण के कारण वे नाड़ियाँ स्तब्ध हो जाती हैं, उस समय सुख दुख की प्रतीति नहीं होती, एक प्रकार की जड़ता आ जाती है, उसी जड़ता का नाम मोह है।

जैसे कोई पुरुष वृक्ष से या अन्य ऊँचे स्थान से गिर गया। गिरने से उसकी संज्ञावह नाड़ियाँ स्तब्ध हो गयी, उनमे वात का सचार होना बन्द हो गया, तो उसे तमोगुण की वृद्धि के कारण मूर्छा आ जाती है, उसी मूर्छा का नाम मोह है। यह मोह इतने कारणो से होता है। १. अज्ञान से—बुद्धि का जो धर्म सद्-असद् का विवेक है, उस बुद्धि पर जब तमोगुण का पर्दा पड़ जाता है, तो उससे मोह हो जाता है, फिर सत्-असत् का विचार नहीं रहता।

२. निद्रा से—अन्तःकरण जब ज्ञान सहित हृदय मे विलीन हो जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं। क्योंकि यह सत्त्व प्रधान होती है। ज्ञान के सहित विलय है, इसलिये यह सत्त्व प्रधान है। वही मन जब हृदय कमल में अज्ञान के सहित लीन होता

है तो उसी का नाम निद्रा है। हृदय का जो कमल है, वह जाग्रत अवस्था में तो विकसित रहता है, निद्रा अवस्था में वह बन्द हो जाता है। वह अधोमुख रहता है। जब कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है, प्राण सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगामी हो जाता है, तब हृदयकमल का मुख ऊपर की ओर हो जाता है। ज्ञान सहित अन्तःकरण उसमें विलीन हो जाता है, उस समय समाधि का अपूर्व सुख प्राणी को होता है, किन्तु तमोगुण की वृद्धि से जब अज्ञान सहित मन उसमें प्रवेश करता है, तब उस हृदयकमल का मुख बन्द हो जाता है, वही जाग्रत से भिन्न निद्रावस्था है। उसमें संज्ञावह स्रोतों में श्लेष्म बढ जाता है, तमोगुण की वृद्धि हो जाती है, वायु रुद्ध हो जाती है, चेतना शून्य सी-हो जाती है। शरीर की सुधि नहीं रहती। यह निद्रा तमोगुणी पुरुषों को दिन में तथा रात्रि में भी बहुत आती है, जो रजोगुणी है उन्हें निमित्त के बिना नहीं आती। रात्रि में अधिक जागे, अधिक श्रम किया तो दिन में निद्रा आ जाती है नहीं तो उन्हें रात्रि में ही निद्रा आती है। जो सत्त्वगुण प्रधान है उन्हें अर्ध रात्रि में कुछ काल को निद्रा आती है। जिनका श्लेष्म क्षीण हो गया है, प्राणायाम से जिन्होंने वायु बढ़ाने का अभ्यास कर लिया है, उन्हें तमोगुणी निद्रा आती ही नहीं है, ऐसे मन और शरीर का संयम करने वाले संयमियों को निद्रा न आने से कोई हानि भी नहीं होती।

निद्रा सदा तम के कारण हुआ करती है। इसी निद्रा को शयन, स्वाप, स्वप्न तथा संवेश भी कहते है। निद्रा से भी मोह होता है।

३. आलस्य से—आलस्य कहते हैं अलसाने को। न जाग्रत न स्वप्न सुषुप्ति। जाग्रत और स्वप्न के बीच की अवस्था का नाम

आलस्य है, इसे तन्द्रा भी कहते हैं। यह आलस्य श्रम करने से होता है, शारीरिक श्रम न भी हो तो मानसिक श्रम से जो एक प्रकार की जड़ता सी आ जाती है। जँभाई आने लगती है, शरीर टूटने-सा लगता है, चित्त चाहता है, सुखद वस्तु का स्पर्श करते हुए पड़े रहे काम करने की सामर्थ्य रहते हुए भी काम करने की इच्छा न रहना, शरीर को दुःख न उठाना पड़े, केवल सुख पूर्वक पड़े रहें। इसी अवस्था का नाम आलस्य है। यह मोह जन्य होती है।

४. प्रमाद से—प्रमाद कहते है, अनवधानता को। अपने कर्तव्य कर्म में सावधान न रहना। प्रमाद सदा तमोगुण से होता है यह भी मोह का लक्षण है।

५. मादक द्रव्य सेवन से—सुरा, अफीम, भाँग, गाँजा आदि जो मद करने वाली वस्तुएँ हैं उनसे भी जड़ता आ जाती है। शरीर में एक प्रकार की स्फूर्ति सी तो प्रतीत होने लगती है, किन्तु बुद्धि के ऊपर एक प्रकार का आवरण छा जाता है, अतः यह भी मोह जनित है। अतः परमार्थ पथ के पथिकों को इन मोह जन्य कार्यों से बचते रहना चाहिये। ये सभी कारण चित्त में मोह डालने वाले हैं। वैसे निद्रा में भी एक प्रकार का अपूर्व सुख होता है, आलस्य में भी बड़ी मीठी-मीठी सुखानुभूति होता है, और प्रमाद का तो कहना ही क्या चित्त प्रमत्त होकर नाचने लगता है। अज्ञान में भी एक प्रकार का सुख होता है। किन्तु ये सुख आरम्भ में भी चित्त को मोह में डालने वाले होते हैं और इनका अन्तिम परिणाम भी मोह जनक ही होता है। अतः इसे आरम्भ तथा परिणाम में मोहक कहा है।

अर्जुन ने कहा—"आरम्भ तथा परिणाम में मोहक कैसे है तमोगुणी सुख ?

भगवान् ने कहा—"सुख की अनुभूति अन्तःकरण से होती है। सुख दुख का अनुभव मन से ही होता है। जैसे ऊपर से गिरने से मूर्छा आ गयी या अधिक सुरा आदि मादक पदार्थ पान करने से अचेतना- हो गयी, या निद्रा आने पर सो गये। इन अवस्थाओं में जब तक मूर्छा रही, या मद रहा अथवा निद्रित अवस्था रही, तब तक एक प्रकार का अचेतन्य जनक सुख तो प्रतीत हुआ, किन्तु अन्तःकरण को मोहित करके हुआ। अन्तः करण से न तो यह सुख स्पर्श हुआ न अन्तःकरणने इसकी अधिक अनुभूति की।

निद्रा में या मद में होता क्या है, श्रम जनित जो शैथल्यता है, उसके अभाव जन्य सुख की अनुभूति होती है। साक्षात् सुख नहीं होता। निद्रा न आवे तो दुख होता है। जो लोग चिन्ता ग्रस्त रहते हैं, उन्हें निद्रा नहीं आती। दरिद्र को सदा अपने अभावों की चिन्ता बनी रहती है। बहुत धनिकों को धन अर्जन, रक्षण की चिन्ता बनी रहती है, सेवक को स्वामी की सेवा की सदा चिन्ता बनी रहती है, कामी पुरुषों को इच्छिता कामिनी की चिन्ता कष्ट देती रहती है, ऐसे लोगों को निद्रा नहीं आती। इन लोगों को निद्रा आ जाय तो चिंता जनित दुःख दूर हो जाय। अनिद्रा के रोगियों को भी नींद नहीं आती। जो भारी ऋण से दबे हुए होते हैं, उन्हें भी चिन्ता के कारण नींद नहीं आती। जो किसी से भयभीत रहते हैं, उन्हें भी भय के कारण नींद नहीं आती। इनके ये भय दुःख हट जायँ से ऋण का ऋण चुक जाय, वह ऋण मुक्त हो जाय, विवाह योग्य कन्या का भली भाँति विवाह हो जाय, रोगी का रोग नाश हो जाय तथा भयभीत का भय छूट जाय, तो इन लोगों को गहरी निद्रा आ जायगी। उन्हें एक तामसिक आनन्द की अनुभूति होगी। क्योंकि निद्रा स्वयं

मोहने वाली है और जो निद्रा, आलस्य प्रमाद तथा मोह अहंकार वाले तामसी हैं मरकर वृक्ष आदि घोर तमोगुणी योनियो मे जाते हैं। अतः यह आरम्भ मे भी चित्त को मोह मे डालने वाला सुख है और मरकर घोर मोह मयी वृक्ष योनियो को देने वाला है। इसीलिये शास्त्रकारो ने एक वृक्ष का रूपक बाँधा है। इस मोह रूप वृक्ष का सेवन करने वाले का अवश्य पतन होता है। कैसा है यह वृक्ष—

इस मोह रूप पाप वृक्ष का बीज क्या है ? लोभ। मोह इस पाप वृक्ष की मूल है, जड़ें हैं। असत्य इसका स्कन्ध-तना-है। माया शाखायें हैं, माया के कारण ही यह अत्यन्त विस्तृत बन गया है। दम्भ और कुटिलता आदि इसके पत्ते हैं। कुकृत्य ही फूल हैं, पिशुनता इन फूलो की सुगन्धि है। अज्ञान फल है। छद्म, पाखण्ड, स्तेय, क्रूरता, पाप ये इस पर रहने वाले चोर पापी पक्षी हैं। यह पापरूपी मोह वृक्ष माया की शाखाओ से बहुत बड़ा हो गया है। इसके अज्ञान रूप जो फल हैं उनमे अधर्म का जो परिणाम है दुःख, वही उन फलो का रस है। इस वृक्ष को भाव रूपी जल दे-देकर बढ़ाया गया है। इसकी अधर्म रूपी जो वायु है उसके द्वारा क्लेद से ये फल मीठे होते है। यह लोभ वृक्ष है। इस वृक्ष की छाया मे रहकर जो इसके पके-पके फलो को सदा खाता है और इन फलों का जो अधर्म रस है उसके द्वारा पुष्ट होता है, वह पतन के गर्त मे गिर कर पतित हो जाता है। अतः श्रेयस्कामी को पतनशील इस मोह वृक्ष से सदा बचते रहना चाहिये। इस पाप वृक्ष की छाया मे कभी नहीं जाना चाहिये। रजोगुण और तमोगुण को छोड़कर सत्त्व गुण का ही आश्रय लेना चाहिये।

भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन ! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप

मे सांख्य मत का सार तुम्हें बता दिया इसी प्रसंग मे मैंने तुम्हें सत्त्व, रज, तथा तम इन तीन गुणों के कार्यों के लक्षण भी समझा दिये अब तुम मुझसे और क्या सुनना चाहते हो ?"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आपने जो इन मुख्य पदार्थों के तीन-तीन भेद बताये, इससे तो प्रतीत होता है कि सभी के तीन-तीन भेद होते होंगे, क्या कोई ऐसा भी पदार्थ है, जो इन तीनों गुणो से रहित हो। जिसमे इन तीनो गुणो का तनिक भी अंश न हो ?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! पृथ्वी की तथा पृथ्वी के प्राणियो की तो बात छोड दो, अजी, आकाश मे, स्वर्ग मे स्वर्गीय देवताओं मे से कोई भी प्राणी या पदार्थ ऐसा नहीं है जो प्रकृति जनित सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणो से रहित हो। सर्वत्र त्रिगुणो का ही मेला है, सर्वत्र इन्हीं गुणो का खेला है, इन्हीं तीनों मे परस्पर में ठेलम ठेला है। एक मात्र ब्रह्म ही अकेला है। सो तुम इन तीनो गुणो से ऊपर उठकर निस्त्रैगुण्य होने का प्रयत्न करो।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! मैं गुणातीत कैसे बन सकूँगा। आपने जो यह केवल विवेक विचार वाला सांख्य मार्ग बताया, यह तो मेरे लिये अत्यन्त ही कठिन है। जीव को स्वाभाविक प्रवृत्ति कर्मों मे ही है, बिना कर्म किये कोई प्राणी क्षण भर भी रह नहीं सकता। आपने तो यह सांख्य मार्ग, ज्ञान मार्ग, त्याग मार्ग, संन्यास मार्ग विचार मार्ग बताया। इस मार्ग में कर्मों का आदर नहीं, इसमे तो सदा विवेक विचार करते हुए वैराग्य वृति धारण करके त्याग मार्ग का अवलम्बन ही मुख्य है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग मेरे लिये बताइये।"

भगवान् ने कहा—"हाँ एक दूसरा कर्म मार्ग भी है। जिनमें

शम, दम, तप, तितिक्षा, उपरति, ज्ञान वैराग्य की न्यूनता हो, कर्मों में ही प्रवृत्ति हो, उनके लिये प्रवृत्ति मार्ग भी है, जिसे कर्म मार्ग अथवा वर्णाश्रम धर्म मार्ग कहते हैं। इसमें क्रमशः कर्म करते-करते निष्कर्मण्यता को प्राप्त कर सकते हैं। अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप कर्म करते-करते अन्त में संन्यास तक पहुँच सकते हैं। इस मार्ग में सब काम क्रमशः अवश्य कर्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं। अतः इसे क्रम मार्ग भी कहते हैं। इस मार्ग में ब्राह्मणों के, क्षत्रियों के, वैश्यों तथा शूद्रों के सभी वर्णों के स्वभाव से उत्पन्न गुणों के कारण कर्म पृथक्-पृथक् विभक्त किये गये हैं।"

अर्जुन ने कहा—"तो भगवन्! अब आप मुझे कर्म मार्ग अर्थात् वर्णाश्रम धर्म मार्ग का ही उपदेश करें। सभी वर्णों के पृथक्-पृथक् कर्तव्य कर्मों को बतावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे भगवान अर्जुन को वर्णाश्रम धर्म कर्म मार्ग का उपदेश करेंगे, उस कथा प्रसङ्ग को मैं आपसे आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

भोग काल में नहीं देहि सुख अतिशय समुचित।
करे भोग परिणाम माहिं आत्मा कूँ मोहित॥
निद्रा तैं सुख होहि कहा वह सुख है भाई।
आलस में नित परे रहत अति लेत जम्हाई॥
अरु प्रमाद उत्पन्न सुख, तामस सुख ताकूं कहैं।
जो जन अति ही तामसी, ताई में डूबे रहैं॥

जग के जितने जीव त्रिगुन सब ही देहिनि में।
काहू में है अधिक न्यून प्रानी बहुतनि में॥
सब पृथिवी में फिरौ सबनि की खोज कराओ।
देवलोक नभ माँहि त्रिगुन तैं रहित न पाओ॥
यह जग सगरो त्रिगुनमय, प्रकृति-पुत्र ये तीन गुन।
कोइ न इनितैं मुक्त जग, अरजुन! मेरी सीख सुन॥

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये!

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६) ५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ८) हैं। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती है सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डों में)—८१ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२–श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६.५०

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डों में)— एक खण्ड का मू० ८.००

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०सं० ३५० मू० ३.४५

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २.५०

७–कृष्ण चरित—पृ० सं० लगभग ३५० मू० २.५०

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९–गोपालन शिक्षा—गौओ का पालन कैसे करें मू० २.५०

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पांच खण्डो में)— प्रथम खण्ड का मू० १.६०

११–नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.६०

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झांकी (नाटक) मू० ०.६५

१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१

१४–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१

१५–मेरे महामना मालवीयजी–उनके सुखद संस्मरण, मू० ०.३१

१६–भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७–राघवेन्दु चरित—पृ० सं० लगभग १६० मू० ०.४०

१८–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१

१९–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ०.२०

२०–भक्तचरितावली प्रथम खंड मू० ४.०० द्वितीत खंड मू० २.५०

२१–सत्यनारायण की कथा —छप्पय छन्दों सहित मू० ०.७५

२२–प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२० २६–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२ २७–श्री हनुमत्-शतक— मू० ०.५०

२४–सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० २८–रासपंचाध्यायी— अमूल्य

–महावीर-[illegible] मू० [illegible] २९–छप्पय शतकत्रय (प्रेस में)

[मुरलीमनोहर श्याम]

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८२

गीतावार्त्ता (१४)

४८३
चर्म

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

शोधित मूल्य २-१०६

प्रथम संस्करण
१००० प्रति] चैत्र २०२७ मार्च १९७१ [मू० १.६५ पै०

● प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

● मुद्रक :
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

४८३
धर्म

विषय	पृष्ठाङ्क
सस्मरण (२)	५
सस्मरण (३)	१३
गीता माहात्म्य (१८)	१८
१. कर्ममार्ग मे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था	३३
२. ब्राह्मण के कर्म	४०
३. क्षत्रिय के कर्म	५५
४. वैश्य और शूद्र वर्ण के कर्म	६६
५. सभी स्वधर्म पालन द्वारा प्रभु की ही पूजा करें	७७
६. स्वधर्म पालन ही श्रेयष्कर है	८८
७. कर्म करते-करते ही सन्यास द्वारा नैष्कर्म सिद्धि मिल सकती है	१००
८. ज्ञाननिष्ठ की ब्रह्म प्राप्ति के साधनो का सिंहावलोकन (१)	१०७
९. ज्ञाननिष्ठ की ब्रह्म प्राप्ति के साधनो का सिंहावलोकन (२)	११३
१०. भगवद्भक्ति मार्ग की अन्तिम निष्ठा पराभक्ति	१२२
११. सर्व कर्म समर्पण करने वाला भक्त अव्यय पद को प्राप्त करता है	१३०

१२. भगवत् चित्त होकर सभी कर्म करने चाहिये १३७
१३. सभी ईश्वराधीन हैं १४९
१४. ईश्वर की शरण मे जाने से ही परम शान्ति मिलेगी १५८
१५. गीता का सर्वगुह्यतम ज्ञान १६४
१६. समस्त गीता का सार-सिद्धान्त १८२
१७. गीता ज्ञान किसे नहीं सुनाना चाहिये १९५
१८. गीता शास्त्र के अधिकारी २०५

संस्मरण

[२]

वासुदेव ! जरा कष्टं कष्टं निर्धनजीवनम् ।
पुत्र शोक महाकष्टं कष्टात् कष्टतरी क्षुधा ॥

छप्पय

वृद्धनिकूँ अति कष्ट शिथिल इन्द्रिय परि जावैं ॥
तिस्ना अति बढ़ि जाय न परिजन सुत ढिँग आवैं ॥
निरधनता के सरिस न दुख जा जग के माहीं ।
पुत्र शोक बड़ कष्ट जगत महँ उपमा नाहीं ॥
परि सब कष्टनि तैं बड़ो, भूख कष्ट अति ई प्रबल ।
भूख सहन नहिँ करि सकै, होवै भल नर अति सबल ॥

वृद्धावस्था कष्टो का आलय है। इसलिये कि संसार की कोई भी वस्तु सदा एक-सी नही रहती। परिवर्तनशील का ही नाम संसार है। लोहा सबसे अधिक सुदृढ़ टिकाऊ माना जाता है, किन्तु सौ दो सौ वर्ष मे लोहा भी पुराना पड़ कर घुनी लकडी के सहित सड़ जाता है। पुराने लोहे को हाथ से मसलो तो चुर-

---

❀ गान्धारी भगवान् से कह रही है—"हे वासुदेव ! वृद्धावस्था बड़ी कष्ट दायक है, उससे भी बढ़कर कष्ट निर्धनता मे है, पुत्र शोकरूप कष्ट तो सबसे बड़ा महाकष्ट है और भूख से बढ़कर संसार मे कोई दूसरा कष्ट है ही नही।

मुर्र होकर चूरा बन जाता है। जब लोहा जैसी प्रबल धातु पुरानी होकर गल जाती है, तो अन्न से पुष्ट हुई ये हड्डियाँ पुरानी होने पर क्या गलेगीं नहीं। वृद्ध लोगों की हड्डियाँ तनिक ठेस लगने पर टूट जाती हैं क्योंकि वे पुरानी पड़कर निर्जीव सी बन जाती है, बहुत से बूढ़ों की हड्डियाँ तो खाट पर पड़े-पड़े ही गल जाती है। इन्द्रियाँ पुरानी होने से काम नहीं देतीं। आँखों से दिखायी नहीं देता, कान जवाब दे देते हैं, दाँत साथ छोड़ देते हैं। बाल अपना रंग ही बदल देते हैं। बहुतों के सिर से ही उड़ जाते हैं। धातुएँ अपना काम करना कम कर देती हैं। जठराग्नि मंद पड़ जाती है, समस्त शरीर में वलय-झुर्रियाँ-पड़ जाती है, सिर हिलने लगता है। बच्चे पूछने आते हैं—"बाबा रोटी लावें।" बाबा को कान से सुनाई नहीं देता। सिर अपने आप हिलता रहता है। बच्चे समझते हैं, बाबा भोजन लाने को मना कर रहे हैं। वे घर में दौड़ जाते हैं, कहते हैं - "अम्मा ! अम्मा !! बाबा तो भोजन को मना कर रहे हैं। लो जी, आज का भोजन ही गया। बूढ़ों से घर वाले घृणा करने लगते हैं। कोई पास आना नहीं चाहता। उनके मल-मूत्र से, खकार, गंदगी और दुर्गन्ध से सभी डरते हैं। इन्द्रियों के समस्त व्यापार कम हो जाते हैं, किन्तु तृष्णा वृद्धावस्था में और बढ़ जाती है। भोगने की इन्द्रियों में शक्ति न रहने पर भी भोग वासना प्रबल हो जाती है। भूख न लगने पर भी नाना वस्तुओं पर मन चलता है, युवावस्था में भोगे हुए भोगों का स्मरण करके हृदय में एक प्रकार की हूक सी उठती है। उस समय की हुई रँगरेलियों को स्मरण करके चित्त उनकी पुनरावृत्ति चाहता है, किन्तु वृद्ध के पास आवे कौन, सभी तो उसे देखकर मुख बिचकाते हैं। यही सब देखकर वृद्धावस्थापन्न महाकवि केशवदेव ने कहा है—

केशव केशनि अस करी, जस अरि हू न कराय।
चन्द्र बदन मृगलोचिनी, बाबा कहि कहि जाय॥

सा, ससार मे समस्त सामग्रियो के रहते हुए भी–समस्त साधनो के उपलब्ध होने पर भी–वृद्धावस्था का कष्ट अत्यन्त ही दुखदायी है।

वृद्धावस्था से भी बढकर दुखदायी है, निर्धनता का कष्ट। वृद्धावस्था मे तो यह है, कि धन हुआ प्रभुत्व हुआ तो सैकडों सेवक सेविकायें सेवा में सदा समुपस्थित रही आती हैं। किसी भी अग मे तनिक सी आतुरता आते ही अनेकों अद्भुत अनुपम ओषधियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, किन्तु निर्धनता तो तिल तिल करके हृदय को काटती रहती है, प्रतिक्षण प्रतिपल प्रत्येक वस्तु का अभाव खटक कर हृदय मे सुइयो को चुभोता रहता है। जो लोग धनिक परिवारो मे उत्पन्न होते हैं, बिना माँगे समस्त भोग सामग्रियाँ विपुल मात्रा मे समुपस्थित रहती हैं, वे दरिद्रता के दु ख का अनुमान भी नहीं कर सकते। कार्तिकी पूर्णिमा है गगा स्नान की इच्छा होती है, गगाजी घर से ३० कोश हैं, आने-जाने मे दो तीन दिन लगेंगे। पैदल जा आ सकते हैं, चना चबेना से पेट की ज्वाला को भी किसी प्रकार पानी पी पीकर शात कर सकते हैं, किन्तु फिर भी हाथ खर्च को, ब्राह्मण को दान दक्षिणा देने को कम से कम चार आने के पैसे तो चाहिये ही। चार आने उधार माँगने बीसों जगह जाते हैं। सब ओर से टका सा जवाब मिलता है। "अभी तुम पर पहिले ही पैसे बाकी है हम नहीं दे सकते।" उस समय हृदय मे कितनी पीडा होती है मन मसोसकर बैठना पडता है। हाय! चार आने पैसे के अभाव में गगाजी छूट गयीं। वर्ष भर का त्यौहार है। गगा मैया!

तुमने मुझे इतना निर्धन क्यों बनाया ? कौन-से जन्म के मेरे पाप हैं, उस वेदना को सदा वाहन पर चढने वाले अनुभव कर ही नहीं सकते हैं।

घर मे बच्चे भूख के कारण बिलबिला रहे हैं। दो दिन से घर मे अन्न का एक दाना भी नहीं। अबोध बच्चे क्या जानें, वे माता से रोटी माँग रहे हैं, रो रहे हैं सिर पटक रहे हैं, माँ उन्हें छाती से चिपटाती है, स्तन पान कराती है। किन्तु सूखे स्तनो मे दूध का नाम नही। कई दिनो स अन्न का एक कोर मुख में नही गया। कभी जो थोडा बहुत कहीं से कुछ मिल जाता है, उसे बनाकर भूखे बच्चो में थोडा थोडा वितरित कर देती है, माँ भूखी रह जाती है उपवास कर जाती है, फिर स्तनो मे दूध कहाँ से हो, अनजान अबोध बच्चे दाँत से स्तन को काट लेते हैं। उस वेदना का समर्थ घर की महिलायें अनुमान भी नहीं कर सकती।

धनवान् होकर जो निर्धन हो जाता है, उसे जन्मजात निर्धन से सहस्रो गुणा कष्ट होता है। धनी होन पर जो लोग सदा उसकी लल्लो चप्पो करते रहत हैं, अब निर्धन हो जाने पर उससे बात भी नहीं करते, पास मे बेठे रहने पर भी पहिचानते नही इससे उसे जितना कष्ट होता है, उसका अनुमान भी नही किया जा सकता। दरिद्री निर्धन के लिये तो एक ही उपाय है, वह तपस्या मे लान हो जाय। किन्तु निर्धन को तपस्या की बात सूझती ही नहीं। वह तो निर्धनता के दुःख से सदा इतना सतप्त बना रहता है, कि उसके मनमें शुभ सकल्प उठते ही नही।

ससार मे तीन ऐषणायें-इच्छायें-बडी प्रबल होती हैं, वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणा। सभी चाहते हैं हमें धन मिले।

स्त्री पुरुष सभी की इच्छा रहती है हमारे पुत्र हो, सभी चाहते हैं मरने के अनन्तर हमे पुण्य लोकों की प्राप्ति हो।

इन तीनो एषणाओ मे से पुत्रेषणा सबसे प्रबल एषणा है। राक्षसियों—व्यभिचारिणियो—कुलटाओं को छोडकर प्रत्येक महिला पुत्रवती होना चाहती है, प्रत्येक पुरुष की बाप बनने की आतरिक अभिलाषा होती है। पुत्र कोई अन्य नही, पुत्र अपनी आत्मा ही है। पुरुष स्वय ही पत्नी के पेट मे नो महीने रहकर स्वय ही पुत्र रूप म उत्पन्न होता है। इसीलिये पुत्रवती पत्नी का नाम जाया है—"स्वय जायते उत्पद्यते यस्मिन् सा जाया।" जिसके उदर से पुरुष स्वय ही उत्पन्न हो उसे जाया कहते है। मनुष्य का स्वभाव है, यह जवधर्म है कि मनुष्य अपने को सर्व-श्रेष्ठ देखना चाहता है, किसी के सम्मुख पराजित होना नही चाहता। उसे किसी के सम्मुख पराजित होने पर महान कष्ट होता है। किसी परीक्षा मे बैठे हैं, चाहें हम पर कुछ भी नहीं आता, किन्तु फिर भी आन्तरिक अभिलाषा तो यही रहती है मैं सबसे श्रेष्ठ श्रेणी मे उत्तीर्ण होऊँ। यद्यपि पुरुष सर्वत्र अपनी विजय चाहता है किन्तु पुत्र के सम्मुख पराजित होने पर भी उसे प्रसन्नता ही होती है। पुरुष की आन्तरिक अभिलाषा रहती है मेरा पुत्र मुझसे भी बढकर धनी, मानी, पडित तथा विद्वान हो।" वह इसलिये चाहता है कि पुत्र तो अपनी आत्मा ही है "वह मेरा अपना ही नवीन सस्करण है।"

पुत्र के प्रति माता पिता की कितनी भारी ममता होती है, इसे बिना पिता बने कोई अनुमान कर ही नहीं सकता। पुत्र कितना ही अयोग्य अन्यायी दुराचारी पापाचारी हो फिर भी पिता का उसके प्रति आन्तरिक स्नेह बना ही रहता है। वह चाहे माता पिता की कुछ भी सेवा न करे, उन्हे सदा कष्ट ही

पहुँचाता रहे, फिर भी माता-पिता हृदय से उसके कल्याण की ही कामना करते रहते हैं। पुत्र के प्रति माता पिता का सहज स्वाभाविक स्नेह रहता ही है। ऐसे पुत्र की माता-पिता के सम्मुख स्वल्पावस्था में मृत्यु हो जाय तो माता-पिता को उसकी मृत्यु पर कितना महान कष्ट होता है, यह वर्णनातीत विषय है, शब्दों द्वारा उसका वर्णन करना असंभव है।

परन्तु इन समस्त कष्टों के अतिरिक्त एक महान् कष्ट है, जिसकी बराबरी का कष्ट संसार में कोई हो ही नहीं सकता, वह कष्ट है क्षुधा का कष्ट, भूख की वेदना। भूखा पुरुष सब कुछ करने को उद्यत हो जाता है। (बुभुक्षितः किं न करोति-पापम्) बुभुक्षित व्यक्ति के सम्मुख ऐसा कोई भी पाप नहीं है, जिसे वह भूख शान्ति के निमित्त न कर सकता हो। इस विषय में महारानी गान्धारी की एक कथा कही जाती है।

महारानी गांधारी के दुर्योधनादि सभी सौ के सौऊ पुत्र मारे गये। माता गांधारी पुत्रों के मृतक शरीरों को देखने समराङ्गण में गयी। वहाँ सेवकों ने खोज-खोजकर पुत्रों के शव एक स्थान पर एकत्रित कर दिये। माता को भगवान् श्रीकृष्ण के ऊपर अत्यन्त ही क्रोध था, कि श्रीकृष्ण ने ही मेरे पुत्रों को मरवा दिया है, वे चाहते तो सन्धि हो जाती, मेरे पुत्र न मारे जाते। अतः उन्होंने श्रीकृष्ण जी को शाप दिया, "कि जैसे तुमने मेरे वंश का सर्वनाश करा दिया है वैसे ही तुम्हारे कुल का भी परस्पर के युद्ध में सर्वनाश हो जाय। मुझे सबसे अधिक कष्ट अपने सौऊ पुत्रों के मरने का है।"

भगवान् ने अपनी माया फैलायी। माता गांधारी को समर-भूमि में ही बड़े जोरों की भूख लगी। वे भूख से इतनी व्याकुल हो गयीं कि उनसे क्षण भर भी नहीं रहा गया। अपनी आंखों

की पट्टी को तनिक खिसका कर उन्होंने चारो ओर देखा, जहाँ वे पुत्रो के मृतक शरीरा के बाच मे बैठा थी, वहाँ एक बेरिया का बडा वृक्ष था। उस पर पके पके बेर फले हुए थे। माता ने चारो ओर देखा, कोई आदमी नहीं है। उन्होन सोचा—'कोई मुझे देख तो रहा नहीं है, ये लडके तो मर ही गये, अब ये जीवित तो हो नही सकते। तब तक मे इस बेरिया से बेर तोड़कर अपनी भूख को शात क्यो न कर लूँ।" यह सोचकर वे बेर तोडने को खडा हो गया, उन्होने ऊपर हाथ बढाकर ज्यो ही बेर तोडने चाहे तो एक बिलस्त बेर दूर प्रतीत हुए।

वे बेर थाडे ही थे अगहन पौष मे पके बेर कहाँ से आवें वह तो भगवान् की माया थी, अब माता सोचने लगी—"ये लडके तो मर ही गये लाओ इनके ऊपर चढकर फल तोड लूँ।" यह सोचकर वह दुर्योधन के शव के ऊपर चढ गयी। फिर भी हाथ नहीं पहुँचा। तब माता ने उसके ऊपर उठाकर दूसरा शव रखा, ज्यो-ज्यों वह एक के ऊपर एक शव रखकर बेर तोडना चाहती थी, बेर और ऊपर होते जाते थे। कई शवों के ऊपर चढकर ज्यों ही उसने बेर तोडने का उपक्रम किया, त्या ही न जाने कहाँ से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी वहाँ आ पहुँचे और हँसते हुए बोले—'बूआ जी! क्या कर रहीं हैं, लाओ मैं तुम्हारे कार्य में कुछ सहायता करूँ।"

तब अत्यन्त ही लज्जित होकर महारानी गान्धारी ने कहा—

वासुदेव जरा कष्ट कष्ट निर्धन जीवनम्।
पुत्रशोक महाकष्ट कष्टात् कष्टतरा क्षुधा॥

सो, पाठक पाठिकाओ! भूख का कष्ट बड़ा ही प्रबल होता

है, जिसे अनुभव होगा, वह तो समझ ही लेगा, जिन्हें अनुभव न हो, उन्हे मैं अगले खण्ड मे अपनी अनुभूति की कहानियाँ सुनाऊँगा। स्थानाभाव से इस खड मे आज इतना ही।

रूपक

भूख भवानी बड़ी सयानी जुक्ति बतावै।
भूख मिटावन हेतु अकारज काज करावै॥
भूख सहन नहिं होइ और सब सहि लै प्रानी।
भूख बिना तनु शिथिल न निकसत मुख तैं बानी॥
भूख बडी है बावरी, पाप पुन्य कछु गने नहि।
भूख, प्यास, निद्रा, विपति, पाइँ परमपद इनहि सहि॥

संस्मरण

[३]

अन्नं ब्रह्म रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः ।
एवं ज्ञात्वा द्विजैर्भुङ्क्ते अन्न दोषो न विद्यते ॥ *

छप्पय

ब्रह्मरूप है अन्न अन्न तैं बीरज होवै ।
बीरज तैं उत्पन्न जीव जग उपजै रावै ॥
अन्न उदर में जाइ प्रथम सो रस बनि जावै ।
पालै पोसै अंग रक्त बनि मेद बढ़ावै ॥
जीव जीव तैं जीवते, जीव जीव भच्छन करै ।
भोक्ता बनिकैं जीव शिव, प्रलय करैं जीवनि हरै ॥

जो भी खाया जाय वही अन्न है (अत्तीति अन्नम्) परन्तु अन्न करके नित्य खाये जाने वाले धान्य (गेहूँ, जौ, चावल, मूँग उड़दादि) ही लिये जाते हैं। वास्तव मे अन्न शब्द का अर्थ तो धान मे से निकाला हुआ चावल (स्विन्न तण्डुल) ही है। हमारे इस उत्तर प्रदेश मे जहाँ गेहूँ, जौ चना मटरादि विशेष खाये जाते हैं वहाँ तो सभी खाये जाने वाले धान्यो को अन्न कहते हैं, किन्तु

---

* अन्न ही ब्रह्म है, रस ही विष्णु है, अन्न को भोगने वाला ही शिव है। इस रहस्य को जानकर जो अन्न को खाता है, उसे अन्न खाने का दोष नही लगता।

जिन देशो मे केवल चावल ही खाये जाते हैं, जेसे हिमालय के पर्वती देश, वगाल, आन्ध्र, तामिल, कर्नाटकादि देशो मे केवल चावल को ही अन्न मानते हैं, वहाँ एकादशी व्रत मे भात को छोडकर गेहूँ आदि के सभी पदार्थ फलाहार मान कर खाये जाते हैं।

सर्व प्रथम मैं आन्ध्र प्रदेश में गया। गुन्टूर जिले के नाडीगड्डापालम् मे हमारे स्वर्गीय दासशेपजी ने एक 'गुरुपादुका क्षेत्रम्' स्थान वना रखा था। आन्ध्र प्रदेश मे सर्वप्रथम वहीं अखड कीर्तन आरम्भ हुआ था। उसी मे उन्होंने मुझे आमन्त्रित किया था। आन्ध्र प्रदेशीय वन्धु अत्यन्त ही भावुक सरल सीधे और श्रद्धावान् होते हैं। उन्होंने कितनी श्रद्धा भक्ति आदर सत्कार से प्रेमपूर्वक मेरा स्वागत सत्कार किया उसके लिये मे उनका सदा आभारी रहूँगा। वहा मातायें अत्यन्त ही भावुक होती है। उन माताओ ने जब सुना कि मैं सदा फलाहार ही करता हूँ तो उन्होने पचासो प्रकार के अपनी दृष्टि से फलाहारी पदार्थ बनाये। गेहूँ के आटे की पूडी, हलुआ, चना के वेसन के लड्डू पकोडी आदि आदि। हम लोग उत्तर प्रदेशीय कूट्टू और सिंघाडे के आटे को ही फलाहारी मानते हैं। मेने समझा ये सब पदार्थ कूट्टू या सिंघाडे के आटे के होंगे। जब लड्डू को मुख मे दिया तो पता चला यह तो वेसन का है? मैंने पूछा—"यह लड्डू किससे वना है?"

तब दासशेप जी ने कहा—"फलाहारम्, चणकान्नम्"।

"मैं हँस पडा धत्तेरे की वडा वढिया यहाँ का फलाहार है, तव तो हमारे देश के लोग सदा फलाहारी ही रहते हैं।" वात यह है, कि वहाँ अन्न केवल चावल को ही मानते है सो भी चावल के वने भात ही को। चावल को पीसकर उसकी पूडी आदि

बना लो तो वह भी फलाहारी हो जायगी। मुझे बहुत से भक्त अपने घर पर भी प्रसाद पाने को आमन्त्रित करते। हमारे साथी उन्हे भली प्रकार समझा देते। गेहूँ, जो चने की कोई वस्तु मत बनाना। उन्हे कूटू का आटा दे देते बता देते "नल का पानी न डालना केवल फल, साग और कूटू की पूडी बनाना।" तो वे पूडी तो कूटू की बना लेते, किन्तु साग में उडद की दाल अवश्य मिला देते। हमारे आदमी बहुत मना करते, उड़द की दाल मत डालना। किन्तु वे मानते ही नहीं थे, वे उडद की दाल को जीरे धनिये की तरह मसाला ही मानते और थोडी बहुत दाल उसमे अवश्य मिला देते। अपने अपने देश का सदाचार है।

हाँ तो अन्न उसे कहते हैं, जिसके द्वारा प्राणो का तर्पण हो बुभुक्षा शान्त हो। खेत मे खडे हुए धान को शस्य कहते है खेत से लाये किन्तु उस पर तुषा-भूसी लगी रही तो कटने पर उसका नाम धान्य हो जाता है। तुषा को कूटकर पृथक् कर दिया, केवल भूसी रहित चावल हो गये उसे स्विन्न अन्न अर्थात् सूखा अन्न कहते है। उसे पतीली आदि मे अग्नि पर पका लिया तो उस भुक्त या भात तथा ओदन कहते हैं। जब प्राण चलते चलते श्रमित हो जाते हैं, तब उन्हें आहार की आवश्यकता अनुभव होती है, उसी आवश्यकता का नाम बुभुक्षा या भूख है। भोजन की इच्छा का ही नाम बुभुक्षा है। हम जो श्वास प्रश्वास लेते हैं इससे वात कुपित होती है नेत्रो के सम्मुख अन्धकार छा जाता है। तभी क्षुधा लगती है। क्षुधा लगने पर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। ज्यों-ज्यों क्षुधा तीव्र होती जाती है त्यों-त्यों दुःख बढता जाता है। क्षुधा से बढ़कर कष्टदायी कोई वस्तु नहीं। समस्त कार्य एक मुट्ठी अन्न जब पेट मे पड जाय तभी अच्छे लगते है। भूख में भजन भी भाता नहीं है, कहावत है—

भूखे भजन न होइ गुपाला। यह लै अपनी कंठी माला॥

सम्पन्न पुरुषों को भूख के दुःख का अनुभव नहीं होता। क्योंकि वे भूख लगने के पहिले ही नाना पदार्थों को पेट में ठूँसते रहते हैं। वे खुलकर पूरी भूख लगने ही नहीं देते। भूख लगे न लगे। प्रातः वे जलपान कर ही लेते हैं। मध्याह्न में भाँति-भाँति के पदार्थ कंठ तक भरकर खा लेंगे। तीसरे समय पुनः जलपान, बीच बीच में भी खाते पीते रहेंगे। रात्रि में भर पेट व्यालू और सोते समय गाढा-गाढा दूध ऊपर से। ऐसे लोग भूख का स्वाद क्या जाने। भूख का स्वाद तो अनिकेतन, असग्रही, यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट भिक्षुक ही जानता है।

गंगा किनारे उन दिनों बड़े बड़े विरक्त महात्मा विचरते रहते थे। गंगा किनारे के गाँवों में रहने वाले उन्हें बड़ी श्रद्धा से भिक्षा देते थे। गंगा किनारा विरक्त साधु महात्माओं का राजपथ था। बहुत से साधु संत गंगा किनारे इसी आशा से कुटिया बनाकर रहते थे, कि हमें आते-जाते महात्माओं के आतिथ्य का देव दुर्लभ अवसर प्राप्त होगा, बहुत से धनिक गंगा किनारे अन्न क्षेत्र लगा देते थे। गंगा किनारे घूमने वाले महात्मा भूखे नहीं रहते थे। अब तो गंगा किनारे पैदल महात्मा जाते ही नहीं। गंगा किनारे के एक ग्राम का ग्रामीण कह रहा था, गंगाजी की धारा कम हो गयी उसका हमें उतना दुःख नहीं। दुःख तो इस बात का है कि साधुसन्तों की धारा जो गंगा किनारे बहती थी वह बन्द हो गयी। बहुत से विरक्त तो ऐसे होते थे, कि वह भूख लगने पर सद्गृहस्थों के द्वार पर जाकर भिक्षा माँग लाते थे। कुछ ऐसे भी होते थे, जो याचना नहीं करते थे। अयाचित भाव से किसी ने स्वयं खिला दिया तो खा लिया नहीं तो भूखे ही रह जाते थे। अन्न

के यथार्थ स्वाद को तो वे अयाचक ही जानते थे। क्योंकि स्वाद पदार्थों मे नहीं है। स्वाद तो भूख मे है, जितनी ही खुलकर तीव्र भूख लगेगी, उतना ही अन्न मे स्वाद आवेगा।

एक महात्मा अनगबोधाश्रमजी थे, उनके गुरु स्वामी कृष्ण बोधाश्रमजी थे। १०० वर्ष की अवस्था मे भी वे हृष्ट-पुष्ट थे। अपने जीवन मे मैंने स्वामी अनंगबोधाश्रम के समान दूसरा कोई तितिक्षु नहीं देखा। ज्येष्ठ वैशाख की धूप मे गंगाजी की बालू इतनी गर्म हो जाती है कि उसमे चना डालो तो भुन जाय। ऐसी दोपहर भी वे दिन के १० बजे से ४ बजे तक गरम बालू में बैठे रहते थे। भैंसे के चर्म की भाँति उनके शरीर की खाल हो गयी थी। मेरे ऊपर उनकी बडी कृपा थी, कुछ दिन जब मुझे भी त्याग का भूत सवार हुआ तो मैं उनके साथ-साथ नगा घूमा था। वे किसी से भिक्षा की याचना नहीं करते थे। किसी ने दे दिया तो खा लिया नहीं २-२, ३-३ दिन भूखे ही रहे आते।

(शेष अगले खण्ड मे)

पाठकों की जानकारी के लिये यह बताना आवश्यक है कि कथावार्ता पहिले छप जाती है। संस्मरणादि को एक फरमा छोड़ देते हैं। जब खंड छपकर तैयार हो जाता है, तो अन्त मे संस्करण वाला अंश छपता है। इसी से कभी-कभी कथा अधूरी रह जाती है। इसीलिये ये संस्मरण अधूरे रह गये। विवशता के लिये पाठक क्षमा करें।

—लेखक

गीता माहात्म्य

[१८]

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥
(श्री भाग० ११ स्क० १४ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

कैसे हू यह चित्त और प्रभु की लगि जावै ।
जप, तप, पूजा, पाठ, ध्यान सयम रमि जावै ॥
फिर हू भाग्य अधीन विषय मन तैं न भुलावैं ।
दिव्य भोग भुगवाइ ताहि प्रभु पार लगावैं ॥
गीता को अध्याय वर, दिव्य अठारहवों कह्यो ।
भक्त सतत तिहि पाठ करि, स्वरग और प्रभु पद लह्यो ॥

यह जीव न जानें कब से कितनी योनियो मे भटक रहा है किन किन जन्मो के कितने कितने संस्कार इसके सचित कोष में एकत्रित है । किस जन्म मे कौन सा सस्कार जागृत हो जाय, इसे दैव के अतिरिक्त कोई जानता नही । जीवनमुक्त हो जाने पर भी

---

* श्री भगवान् उद्धव जी से कह रहे हैं—' उद्धव ! मेरा कोई भक्त है अभी उसने इन्द्रियो को जीता नही, ससार के विषय उसे बार-बार बाधा पहुँचाते हैं, ऐसा वह भी मेरी प्रगल्भ भक्ति के द्वारा विषयो से पराजित नही होता ।"

प्रारब्ध कर्म भोगने ही पडते हैं। न जाने किस जन्म के पुण्य के उदय हो जाने पर घोर से घोर पापी की भी बुद्धि सहसा सद्गुणों मे लग जाती है और कभी-कभी महान् से महान् पुण्यात्मा की भी प्रवृत्ति पाप कर्मों मे देखी गयी है। इतना सब होने पर भी कल्याणकृत्य पुरुष की कभी दुर्गति नही होती। मन को जप, तप, पूजा, पाठ, नियम सयम, भजन कीर्तन मे लगाये रखे, तो कभी न कभी समस्त सस्कारो का नाश होकर भगवान् के समीप पहुँच ही जावेंगे। अत: सदा सर्वदा शुभ कर्मों मे—परमार्थ के साधनो मे—लगे ही रहना चाहिये। भगवान् की शरण लेने पर शन शने: सभी सस्कार समाप्त हो जाते हैं।

महाराज बलि धर्मात्मा कैसे हुए। वे पूर्वजन्म मे एक बडे भारी जुआरी थे। एक दिन जूए मे बहुत-सा द्रव्य जीता। उनका एक वेश्या मे अत्यन्त ही अनुराग था। द्रव्य आ जाने पर उसे प्रसन्न करने, उसके लिये फल, फूल माला, इत्र, वस्त्र, नैवेद्य आदि लेकर उसकी पूजा करने चले। जाते समय मार्ग म पैर रपटने से गिर गये, किन्तु पूजा की सामग्री नही गिरी। वह रपटना उनके लिये वरदान हो गया। देवयोग से जहाँ रपटे थे, वहा शिवजी का मन्दिर था। उन जुआरी महोदय की बुद्धि बदल गयी। वे सोचने लगे—"एक पण्यस्त्री के लिये मैं क्यों ये वस्तुएँ ले जाऊँ? इनसे शिवजी का ही पूजन क्यों न करूँ?" ऐसी सद्बुद्धि आने पर उन महाभाग ने उसी सामग्री से शिवजी का पूजन किया। मरने पर इस पुण्य के प्रभाव से वे एक प्रहर को इन्द्र हुए। उन्होंने इन्द्र होते ही स्वर्ग की बहुमूल्य वस्तुएँ ऋषियो को दान कर दीं। वे इस दान के प्रभाव से धर्मात्मा असुरेन्द्र बलि हुए।

बलि इतने ज्ञानी धर्मात्मा, परोपकारी तथा सत्यपरायण हुए, कि भगवान् ने उन्हीं के निमित्त त्रिविक्रम-वामन अवतार

धारण करके उनके द्वार पर भीख माँगी। मनस्वी धर्मात्मा राजा ने अपना सर्वस्व दान कर दिया। जिसे एक बार भी भगवान के दर्शन हो जाते हैं, उसकी सदा के लिये मुक्ति हो जाती है। महाराज बलि ने तो सपरिवार भगवान के दर्शन किये, उनके अलोक्य पावन पादपद्मों को पखारा, पाद पूजा की, उनसे सभाषण किया और उन्हें सर्वस्व दान करके आत्मसमर्पण भी कर दिया। इससे उनकी मुक्ति हो जानी चाहिये, किन्तु वे संसार से उसी जन्म में मुक्त नहीं हुए। इस इन्द्र का कार्यकाल समाप्त होने पर महाराज बलि पहिले इन्द्र बनेंगे, तब कहीं जाकर मुक्त होंगे।

बात यह है कि गीता में भगवान् ने कहा है—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता." कौन सा कर्तव्य कर्म है और कौन-सा न करने योग्य अकर्तव्य कर्म है, इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान् भी चक्कर में फँस जाते हैं। त्याग, शम, दम, तप, दान, धर्मादि जो सद्गुण हैं, देखने में दो व्यक्ति एक-सा ही कर्म करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु उनका परिणाम भावना के अनुसार भिन्न भिन्न होता है। एक कथा है—स्वर्ग के द्वार पर प्रहरी बैठे रहते हैं, जो भी धर्मात्मा पुरुष जाता है, उसके धर्म का लेखा जोखा उन प्रहरियों का मुख्य अधिकारी सभापाल जानकर उसे भीतर प्रवेश करने की अनुमति देता है। स्वर्ग के द्वार पर एक समस्त शास्त्रों का ज्ञाता महान् लेखक पहुँचा। उसने कहा—"स्वर्ग के द्वार को खोल दो, जिससे मैं उसमें प्रवेश कर सकूँ।"

सभापाल ने पूछा—"आपने कौन कौन से पुण्य कर्म किये हैं?"

शास्त्रज्ञ पंडित ने कहा—"जीवन भर मैंने धर्म शास्त्रों का अध्ययन किया है, एक एक शब्द पर गम्भीरता से विचार किया है, उनके अर्थों का आलोडन किया है, उन पर तर्क वितर्क किये

हैं, दूसरे शास्त्रों का खण्डन-मण्डन किया है, बड़े-बड़े ग्रन्थों को लिखा है ? क्या ये पुण्य कार्य नहीं है ? इन कर्मों के द्वारा क्या मैं स्वर्ग का अधिकारी नहीं हो सकता है ?"

सभापाल ने कहा—"ये कर्म तो अवश्य ही अच्छे हैं, किन्तु आपने इन कर्मों को किस भावना से कैसे किया है, इसके लिये मुझे चित्रगुप्त जी से पूछना पड़ेगा। क्योंकि वे ही अपने दूतों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के गुप्त से गुप्त कार्यों के गुप्त से गुप्त भावों के निरन्तर चित्र लिवाते रहते हैं, इसीलिये वे चित्रगुप्त कहलाते हैं। यदि आपने अजितेन्द्रिय होकर केवल अपना व्यवसाय चलाने को शास्त्रों की आलोचना प्रत्यालोचना की है, तो आपको दूसरा फल मिलेगा और केवल धार्मिक भावना से प्रभु की प्रीति के निमित्त शास्त्रों का अध्ययन किया है, तो उसका दूसरा फल मिलेगा।"

सभापाल और शास्त्रज्ञ में ये बातें हो ही रही थीं, कि उसी समय एक पुरोहित जी भी आ गये। उन्होंने सभापाल से कहा—"क्या मुझे भीतर जाने की अनुमति मिलेगी ?"

सभापाल ने पूछा—"आपने कौन-से पुण्य कर्म किये हैं ?"

पुरोहित ने कहा—"जीवन भर मैंने पूजा पाठ किया है, लोगों से यज्ञयाग धर्मानुष्ठान कराता रहा हूँ। देवताओं की पूजा कराते-कराते मेरी आयु व्यतीत हुई है। पवित्र श्लोकों का, परम-पावन वेद मन्त्रों का उच्चारण करते-करते ही मैंने सम्पूर्ण समय बिताया है, क्या स्वर्ग में प्रवेश करने के निमित्त ये पुण्य कार्य पर्याप्त नहीं है ?"

सभापाल ने कहा—"इस विषय में भी मुझे चित्रगुप्तजी से पूछना पड़ेगा। यदि आपने अपनी आजीविका चलाने के निमित्त अजितेन्द्रिय होकर इन शुभ कर्मों को कराया है, तो आपको

दूसरा स्थान मिलेगा और यदि आपने जितेन्द्रिय होकर निस्वार्थ भाव से इन कर्मों का आचरण अनुष्ठान किया है, तो अन्य स्थान मिलेगा।"

इसी समय एक दीन हीन साधारण-सा कृषक आकर खड़ा हुआ। उसने नम्रता से कहा—"क्या स्वर्ग का द्वार मेरे लिये खुल सकता है ?"

सभापाल ने पूछा—"आपने कोई पुण्य कर्म किया है ?"

उसने कहा—"मैं दीन हीन पुण्य कर्म भला क्या कर सकता हूँ, मेरे पास इतना द्रव्य ही नहीं था, कि दान पुण्य कर सकूँ, मठ मन्दिर बनवा सकूँ, दीन दुखियो का दुख दूर करूँ मैंने तो केवल जैसे-तैसे कष्टपूर्वक अपना पेट ही भरा है, हाँ मैंने किसी को यथाशक्ति कष्ट नहीं पहुँचाया, अधर्म से द्रव्य पैदा नहीं किया है, मेरे द्वार पर जो अतिथि आ जाता था उसे मैं स्वयं भूखा रहकर भोजन दे देता था, सोने को स्थान दे देता था। इसके अतिरिक्त मुझसे कोई पुण्य कार्य नहीं बना।"

सभापाल ने कहा—'पधारिये-पधारिये इस विषय मे मुझे चित्रगुप्त से सम्मति लेने की आवश्यकता नही। आप बड़ी प्रसन्नता से स्वर्ग मे प्रवेश कर सकते हैं।"

इस कथा का सार इतना ही है, कि पुण्यकर्मों का फल भी भावना के ही अनुसार मिलता है, यदुवंश मे एक सहस्रजित् नाम के बड़े दानी राजा हुए है। उनके पुत्र शतजित् हुए। महाराज सहस्रजित् जब स्वर्ग सिधार गये, तो उनके पुत्र शतजित् राज्य के अधिकारी हुए। लोगो ने उनसे निवेदन किया—"राजन्! आपके पिता महान् दानी थे, उन्होंने बड़े भारी-भारी दान किये। आप भी उन्ही की भाँति दान देकर विपुल कीर्ति कमाइये।"

राजा ने कहा—"देखो, भाइयो ! मेरे पिता अवश्य दानी थे, उन्होंने बड़े-बड़े दान किये, इस बात को मैं जानता हूँ। किन्तु उनके दान का परिणाम क्या हुआ इसे जाने बिना मैं दान नहीं करूँगा। पहिले मुझे इस बात का पता लगाना है, कि उन दानों से मेरे पिता की क्या गति हुई।"

बहुत से ऋषि ऐसे होते हैं, जो अपनी तपस्या के प्रभाव से इसी शरीर से स्वर्ग जा सकते हैं और फिर ज्यों के त्यों सशरीर लौट आ सकते हैं। ऐसे ही एक ऋषि को शतजित् ने अपने पिता की गति जानने को स्वर्ग भेजा।

ऋषि स्वर्ग गये और लौटकर उन्होंने आकर कहा—"राजन् ! आपके पिता को एक घड़े में बन्द करके उन्हें बड़ी-बड़ी यातनायें दी जा रही हैं ?"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! इतने भारी दान करने वाले लोक विश्रुत मेरे पिता को ऐसी भारी-भारी यातनायें किस अपराध पर दी जा रही हैं ?"

ऋषि ने कहा—"राजन् ! आपके पिता ने दान तो अवश्य किये थे, किन्तु वे समस्त दान प्रजा को भाँति-भाँति की यातनायें देकर—अन्याय अधर्म से धन एकत्रित करके—उसी धन से किये थे। अन्यायोपार्जित धन से किये हुए दान का यथार्थ फल मिलता नहीं। जो न्यायोपार्जित धन से दान किया जाता है, वह चाहे स्वल्प ही दान हो, उसका महान फल होता है।"

जीवों के अनन्त जन्मों के संचित कर्म अतिरिक्त कोष में रखे रहते हैं। किस समय कौन-सा पुण्य उदय हो जाय कौन-सी भावना जागृत हो जाय इसे कोई जानता नहीं। महाराज बलि ने अपना सर्वस्व दान किया, वह भी किसी साधारण व्यक्ति को नहीं स्वयं साक्षात् त्रिविक्रम भगवान् को। भगवान् ने उन्हें दर्शन

ही नहीं दिया, उससे हाथ फैलाकर भी दान लिया। फिर भी उनकी अधोगति हुई सुतललोक में अब तक निवास कर रहे हैं। यद्यपि वहाँ उन्हें स्वर्ग से भी अधिक सुख है, भगवान स्वयं द्वारपाल बनकर उनका पहरा देते हैं, फिर भी लोक तो असुरों के रहने का नीचा ही है। यही नहीं आगामी मन्वन्तर में वे इन्द्र के पद को अलंकृत करेंगे। एक मन्वन्तर इन्द्रपद का सुख भोग कर वे मुक्त होंगे। क्योंकि इन्द्र बनने की उनकी पहिले की वासना थी, भगवान समस्त वासनाओं को पूर्ण करके ही परमपद प्रदान करते हैं। महाराज मुचुकुन्द को भगवान् के साक्षात् दर्शन हो गये, फिर भी उन्हें अगले जन्म में ब्राह्मण होना पड़ा। ध्रुवजी को भी भगवान के दर्शन हो गये थे, उन्हीं के निमित्त भगवान ने अवतार भी धारण किया। फिर भी ३६ सहस्र वर्षों तक उन्हें पृथ्वी पर राज्य करना पड़ा और अब तक भी वे सप्तर्षि लोकों से ऊपर ध्रुवलोक में निवास कर रहे हैं। शुद्ध भाव से प्रभु की प्रीति के निमित्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से भगवान् जीव की समस्त वासनाओं का मूलोच्छेदन करके उसे परमपद का अधिकारी बना लेते हैं। यही बात गीता के अठारहवें अध्याय के माहात्म्य से सिद्ध होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! लक्ष्मीजी के पूछने पर भगवान् विष्णु ने और पार्वतीजी के पूछने पर सदाशिव भोलेनाथ ने जैसे पार्वतीजी को गीता के अठारहवें अध्याय का माहात्म्य सुनाया उसी को मैं आपको सुनाता हूँ।"

पार्वतीजी ने कहा—"भगवन् मैंने आपके श्रीमुख से अब तक श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रह अध्यायों का तो माहात्म्य श्रवण कर लिया, अब कृपा करके मुझे सबसे अन्तिम अठारहवें अध्याय का माहात्म्य और सुना दें।"

शिवजी ने कहा—"देवि ! तुमने यह बहुत ही उत्तम प्रश्न किया। इससे मुझे अत्यन्त ही आनन्द हुआ। तुमने यह प्रश्न पूछकर मेरे ऊपर बड़ा भारी उपकार किया।"

पार्वती ने कहा—"क्यों प्रभो ! इस प्रश्न में ऐसी कौन-सी बात है ?"

भगवान् सदाशिव बोले—"देवि ! भगवत्गीता का अठारहवाँ अध्याय समस्त शास्त्रों का सार है। इसका माहात्म्य आनन्द की चिन्मय धारा बहाने वाला है। यह भव रोग को हरने के लिये सर्वोत्तम रसायन है। त्रिविध तापों से सन्तप्त प्राणी संसार की यातना रूप जाल में फँसे हुए हैं, उस जग जाल को छिन्न भिन्न करने वाला गीता का अठारहवाँ अध्याय और उसका महान् महत्वपूर्ण मनोहर माहात्म्य है। यह अविवेक को नाश करने वाला विवेकमयी लता का मूल है, संसार की विपत्तियों को हरने वाला त्रिशूल है, परम-पावन गीता-गंगा का कमनीय कूल है, यह प्रभु के परमपावन पादपद्मों की धूल है, जो गीता के इस अन्तिम अध्याय का प्रेमपूर्वक निरन्तर पाठ करता है, उसके लिये संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं। इसके पाठ को सुनते ही यमदूतों की गर्जना दूर हो जाती है, भव बीज भुन जाता है। ऐसे इस दिव्य अध्याय के दिव्य माहात्म्य को मैं तुम्हें सुनाता हूँ, इसे तुम दत्त-चित्त होकर श्रवण करो।"

शिवजी कह रहे हैं—"हे गिरिजेशनन्दिनि ! गीता के अठारहवें अध्याय के निरन्तर पाठ करने वाले पुरुष के सम्बन्ध की एक कथा है, उसी से अठारहवें अध्याय का माहात्म्य जाना जा सकता है।"

सुमेरुगिरि के शिखर पर इन्द्र की अमरावती नाम की एक परमपावन पुरी है। उस पुरी में पापी पुरुष प्रवेश नहीं कर

सकते। पुण्यात्मा पुरुषों के लिये ही उसके द्वार खुलते हैं। उसी पावन पुरी में समस्त देवताओं के राजा इन्द्र अपनी पत्नी सती-शची देवी के साथ निवास करते हैं। यह दिव्य पुरी पूर्व काल में विश्वकर्मा द्वारा बनायी गयी है। देवराज इन्द्र तीनों लोकों के स्वामी हैं। समस्त देवता, गंधर्व तथा ऋषि मुनि उनकी स्तुति करते हैं। जो पुरुष सौ यज्ञ करते हैं, वे ही इन्द्र पद के अधिकारी माने जाते हैं। इसीलिये इन्द्र का एक नाम शतक्रतु भी है। इन्द्र एक मन्वन्तर तक त्रैलोक्य के ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं। एक मन्वन्तर बीत जाने पर ये इन्द्र बदल जाते हैं, दूसरे इन्द्र इनके स्थान पर आ जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है, कि किसी राजा ने सौ यज्ञ कर लिये तो वह भी इन्द्र बन जाता है, अतः इन्द्र अपने इन्द्रासन की रक्षा के लिये किसी को सौ यज्ञ करने नहीं देते। बीच में किसी भी प्रकार कोई न कोई विघ्न उपस्थित कर देते हैं। कोई बहुत बड़े पुण्यात्मा स्वर्ग में आ जाते हैं, तो इन्द्र उन्हें अपने सिंहासन का आधा भाग दे देते हैं, उन्हें अपने बराबर बिठाते हैं। इन्द्र तीनों लोकों के समस्त ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं। समस्त यज्ञों में भाग ग्रहण करते हैं। अग्नि उनका मुख है, उसी के द्वारा वे हवि को ग्रहण करते हैं। उनकी सभा में सदा अप्सरायें नृत्य करती रहती हैं, गंधर्व गाते हैं, ऋषि मुनि स्तुति करते हैं।

एक दिन इन्द्र अपनी सभा में शची के सहित सुख पूर्वक विराजमान थे। देवताओं से घिरे ऋषि मुनियों द्वारा सेवित त्रैलोक्याधिपति शचीपति शतक्रतु अपने रत्न जटित सिंहासन पर अपनी प्रिया से हँस-हँसकर बातें कर रहे थे, उसी समय वे क्या देखते हैं, कि भगवान् विष्णु के दूत चले आ रहे हैं, वे सबके सब चतुर्भुज हैं, दिव्य मुकुट धारण किये हुए गले में वनमाला

पहिने दिव्य पीताम्बर पहिने एक पुण्यात्मा पुरुष को बड़े सत्कार से इन्द्रासन की ओर लिये चले आ रहे हैं।

अपना ही और भगवान् विष्णु के दूतों द्वारा सेवित परम तेजस्वी दिव्य पुरुष को आता देखकर, इन्द्र तो उसके तेज को देखकर हक्के बक्के से रह गये। उस नवागत तेजस्वी दिव्य पुरुष के तेज से तिरस्कृत होकर इन्द्र सहसा अपने सिंहासन से लुढ़क कर मंडप में आकर गिर गये। उन्हें अपने शरीर की सुधि बुधि नहीं रही। देवराज इन्द्र के सेवकों ने बड़े ही सत्कार सहित उस नवागत दिव्य पुरुष को इन्द्रासन पर बिठाया। इन्द्र का मुकुट उतार कर इस दिव्य पुरुष के मस्तक पर धारण कराया। उनके सिर के ऊपर छत्र तन गया। सेवक चँवर डुलाने लगे, देवांगनायें उसके स्वागत के लिये दिव्य नृत्य करने लगीं, उसकी स्तुति के गीत गाने लगीं। सभी देवता उसकी आरती उतारने लगे। ऋषि महर्षियों ने वेद मंत्रों के उच्चारण से उसे भाँति भाँति के आशीर्वाद दिये। गन्धर्वगण अपने अपने वाद्यों को एक स्वर में मिलाकर उसकी प्रशंसा में गायन करने लगे।

अब इन्द्र को चेतना हुई उसने देखा, मेरे सिंहासन पर तो एक दूसरा व्यक्ति इन्द्र बना हुआ बैठा है और इन्द्र पद के सभी भोगों का उपभोग कर रहा है, तब उसने समीप में बैठे हुए अपने गुरु बृहस्पति जी से पूछा—"गुरुदेव! क्या इस व्यक्ति ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये हैं?"

बृहस्पति जी ने कहा—'सौ यज्ञों की बात तो पृथक् रही इसने तो एक भी यज्ञ नहीं किया।"

तब इन्द्र ने पूछा—"इसने पिपासित पुरुषों को पानी पिलाने के लिये पावन पोसल (प्याऊ) लगवाकर पथिकों को पानी पिलाने का प्रबन्ध किया होगा? पशु पक्षी पुरुषों तथा अन्य जीवों

के पानी पीने को पोखरे खुदवाये होंगे ? राजपथ मे पथिकों को विश्राम करने तथा फल फूलों का उपभोग करने वट, पीपर, पाकर, आम, जामुन आदि के पवित्र वृक्ष लगवाये होंगे ? अकाल पडने पर भूख से व्याकुल नरनारियों को प्रचुर मात्रा मे अन्न वितरित कराया होगा ? अथवा पुण्य तीर्थों में अन्नसत्र खुलवाये होंगे ? विद्वान् ब्राह्मणों के निवास के निमित्त सभी आवश्यक सामग्रियों से युक्त भवन बनवाकर दान किये होगे ? या विद्यार्थियों को अन्न देकर उनके विद्याध्ययन का प्रबन्ध किया होगा ? अथवा देव मंदिर बनवा कर उसमे सेवा पूजा, उत्सवादि के निमित्त विपुल मात्रा मे द्रव्य व्यय करके उसके समस्त व्यय का प्रबन्ध किया होगा ? ऐसे ही और भी अनेकों पुण्य कार्यों के करने से प्राणियों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसने इनमें से कौन कौन से कार्य किये है ?"

देवगुरु बृहस्पतिजी ने कहा—"देवराज ! इनमें से इसने कोई भी कार्य नहीं किया।"

इन्द्र ने पूछा—"तब यह मुझे तिरस्कृत करके इन्द्र पद का अधिकारी किस कारण बन गया ?"

बृहस्पतिजी ने कहा—"हे अमरेश ! इस रहस्य को तो मैं भी नहीं जानता। चलो, क्षीरशायी भगवान् विष्णु से इसका कारण पूछें।"

यह सुनकर अपने गुरु को साथ लेकर इन्द्र क्षीरसागर में शेष शैया पर शयन करने वाले भगवान् विष्णु की सेवा में समुपस्थित हुए। वहाँ जाकर उन्होंने कमलाकान्त भगवान् विष्णु के पादपद्मों मे प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर विनम्र भाव से निवेदन किया—"प्रभो ! मैं अपने इन्द्रासन पर अपनी पत्नी के सहित देवताओं से घिरा बैठा था, कि सहसा

आपके पूजनीय पार्षदों से सेवित एक परम पुण्यात्मा पुरुष आया, उसके तेज से हतप्रभ होकर मैं सिंहासन से नीचे गिर गया और वह मेरे इन्द्रासन पर आसीन हो गया। मैं अपने त्रैलोक्य के साम्राज्य से किस कारण भ्रष्ट हो गया ? मैंने तो आपकी प्रसन्नता के निमित्त पूर्वकाल में सौ यज्ञों का अनुष्ठान किया था, उसी के परिणाम स्वरूप आपने मुझे सुर दुर्लभ इन्द्र पद प्रदान किया था, मुझे एक मन्वन्तर इस पद पर आसीन रहना चाहिये था, किन्तु मैं देखता हूँ, इस समय इन्द्रासन पर एक अन्य ही व्यक्ति बैठा हुआ है। उसने ऐसा कौन-सा सत्कर्म किया है, जिसके कारण वह मुझे तिरस्कृत करके स्वयं ही इन्द्र बन बैठा ?"

इन्द्र की बात सुनकर क्षीरसागर विहारी शेषशायी भगवान् लक्ष्मीपति बोले—"देवराज ! जिस व्यक्ति ने तुम्हारे इन्द्रासन पर अधिकार कर रखा है। यद्यपि उसने तीर्थ, व्रत, यज्ञ, दान तथा तपादि कुछ भी पुण्यप्रद कार्य नहीं किये। फिर भी उसने एक ऐसा दिव्य कार्य किया है, जिसके प्रभाव से तुम्हारा इन्द्रासन तो है ही क्या, वह तो परमपद मोक्ष का अधिकारी बन गया है।"

इन्द्र ने पूछा—"वह दिव्य कार्य कौन-सा है दीनानाथ !"

भगवान् ने कहा—"देवेन्द्र ! वह व्यक्ति प्रतिदिन श्रद्धाभक्ति तथा नियम से अर्थ सहित श्रीमद्भगवत्गीता के ५ श्लोकों का पाठ किया करता था। इस नियम में जीवन पर्यन्त उसने कभी प्रमाद नहीं किया। उसी के पुण्य प्रताप से उसका ऐसा तेज हो गया है। वह तो मोक्ष प्राप्त कर सकता था, किन्तु उसके मनमें पहिले-से स्वर्गीय सुखों को भोगने की वासना था। इसलिये मरणकाल में मैंने अपने दूतों को आज्ञा दी, कि पहिले स्वर्गीय सुखों का उपभोग कराकर इसे फिर मेरे वैकुण्ठ लोक में ले आओ। सो, तुम इसे कुछ काल स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने दो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भगवान् के श्रीमुख से श्रीमद्-भगवत्गीता के अठारहवें अध्याय का ऐसा माहात्म्य श्रवण करके देवेन्द्र परम विस्मित हुए। वे स्वर्ग मे तो सत्सग अध्ययन कर नहीं सकते थे, क्योंकि स्वर्गलोक तो भोग भूमि है। कर्मभूमि तो यह पृथ्वी ही है। अतः इन्द्र ने ब्राह्मण का वेष धारण किया। वे ब्राह्मण बनकर किसी ऐसे विद्वान की खोज में चले जो उन्हें श्रीमद्भगवत्गीता के अठारहवें अध्याय को पढा सके, उसका अर्थ समझा सके। खोजते खोजते वे दक्षिण दिशा में पुण्यतोया भगवती गोदावरी के किनारे पहुँचे। गोदावरी के किनारे किनारे वे जा रहे थे, कि उन्होंने गोदावरी के तट पर परम पवित्र कालिका नाम का एक उत्तम नगर देखा। वहाँ तट पर ही भगवान् कालेश्वर शिव का मन्दिर था, जिन भगवान् ने काल का मद मर्दन किया था। वहीं पर नर्मदा के तट पर वेदवेदाङ्ग पारगत परमदयालु धर्मात्मा एक विद्वान् ब्राह्मण बैठे हुए थे। वे बडे ही प्रेम से श्रीमद्भगवत गीता के अठारहवें अध्याय का पाठ कर रहे थे।

ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र कुछ काल तक चुपचाप बैठे हुए उनके पाठ को सुनते रहे। जब वे विद्वान ब्राह्मण पाठ कर चुके तब इन्द्र ने अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के सहित उनके युगल चरणारविन्दों मे साष्टाङ्ग प्रणाम किया।"

ब्राह्मण ने आशीर्वाद देते हुए पूछा—"वत्स ! तुम मुझसे क्या चाहते हो ?"

ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने कहा—"भगवन् ! मैं आपके श्रीमुख से श्रीमद्भगवत्गीता का अठारहवाँ अध्याय पढना चाहता हूँ।"

परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए विद्वान् ब्राह्मण बोले—"विप्रवर ! तुम बडे भाग्यशाली हो, जब अनेकों जन्म के पुण्य उदय होते हैं, तब मनुष्यों की गीता पाठ मे रुचि होती है और

उनमे भी कोई भाग्यशाली उसके यथार्थ अर्थ को जानने मे समर्थ होता है। मैं तुम्हें गीता का यथार्थ अर्थ समझाऊँगा।"

यह कहकर वे ब्राह्मण विप्र वेषधारी इन्द्र को गीता के अठारहवे अध्याय का अर्थ समझाने लगे। कुछ दिन इन्द्र ने उन विद्वान् के चरणों मे रहकर अठारहवें अध्याय का विधिवत् अध्ययन किया।

जब वे सम्पूर्ण अठारहवें अध्याय को पढ़ चुके और उसके रहस्य को भली-भाँति समझ गये, तो फिर उन्होंने इन्द्रपद ग्रहण की इच्छा नहीं की। उन्होंने सोचा—"इन्द्रादि देवताओं का पद तो बहुत ही तुच्छ है यह भी एक प्रकार का रेशम का बन्धन है।" अतः गीता के अठारहवे अध्याय के ज्ञान से उन्होंने श्री भगवान् विष्णु का सायुज्य प्राप्त किया वे परमोत्तम वैकुण्ठ धाम के अधिकारी बन गये।

शिवजी कह रहे हैं—"सो पार्वतीजी! ऐसा है गीता के अठारहवे अध्याय का महान् माहात्म्य। जो नर-नारी इस माहात्म्य को श्रवण भी करते है, वे भी परमपुण्य के अधिकारी होते है सो, पार्वतीजी! आपने जिस प्रकार गीता के प्रत्येक अध्याय का माहात्म्य पूछा और मैने उसके उत्तर मे श्री लक्ष्मीजी के पूछने पर भगवान् श्रीविष्णु ने जैसे सभी अध्यायों का माहात्म्य बताया, वह सम्पूर्ण कथा तुमसे कही। उसे समझकर तुम भी श्रीमद्भगवत् गीता के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन में अपने चित्त को लगाओ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैने श्रीशिवोक्त गीता के अठारहो अध्यायो का माहात्म्य बताया। अब आगे आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

छप्पय

इन्द्रासनपै इन्द्र विराजें नर इक आयौ।
हतप्रभ सुरपति भये इन्द्रपद ताहि बिठायौ॥
विष्णु निकट पुनि जाइ पुन्य पूछो तिहि सुरपति।
गीता पाठक रह्यो दयो उत्तर जब जगपति॥
सुनत इन्द्र धरि देह द्विज, अट्ठारह अध्याय सुनि।
स्वरग इन्द्रपद तुच्छ गनि, पायो पद बैकुण्ठ पुनि॥

`गेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८३

गीतावार्त्ता (१५)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

संशोधित मूल्य २-०- रुपया

प्रथम सस्करण
१००० प्रति

वैशाख २०२८
मार्च १९७१

मू० १.६५ पैसे

● प्रकाशक
सकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

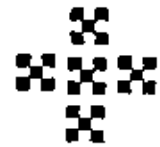

● मुद्रक
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
सस्मरण (३) पिछले खण्ड का शेष	१
१. ज्ञानदाता से बढकर भगवान् का कोई प्रियकृत नहीं धर्म	१७
२. गीता ज्ञानयज्ञ रूपी पूजा से प्रभु प्रसन्न होते हैं	२२
३. गीता श्रवण माहात्म्य	२९
४. अन्त मे भगवान् ने अर्जुन से पूछा	३६
५. अर्जुन का अन्तिम उत्तर श्री कृष्णार्जुन सम्वाद समाप्त	४०
६. सजय द्वारा गीता जी का परिशिष्ट भाग (१)	५२
७. सजय द्वारा गीता जी का परिशिष्ट भाग (२)	६१
८. सजय द्वारा गीता जी का परिशिष्ट भाग (३)	६९
९. सजय द्वारा गीता जी का परिशिष्ट भाग (४)	७५
१०. सजय द्वारा गीता की समाप्ति	८४
११. श्रीमद्भागवत् और श्रीमद्भगवद्गीता	९०
१२. पार्थगीता और उद्धवगीता का ज्ञानयोग	१०४
१३. पार्थगीता और उद्धवगीता मे भक्ति और विषय विरक्ति	११६
१४. दोनों गीताओं में सत्सग या शरणागति	१३०
१५. पार्थगीता और उद्धवगीता का ससार वृक्ष	१३७
१६. हसगीता और पार्थगीता का ज्ञान	१४७
१७. दोनो गीताओं में भक्तियोग	१५४
१८. दोनों गीताओं की ध्यान विधि (१)	१६६
१९. दोनो गीताओं की ध्यान विधि (२)	१८३
२०. दोनों गीताओं की विभूतियों का वर्णन	१९५

—०—

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित्र व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६) ५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ११) हैं। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों मे मिलती हैं सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

संस्मरण (३) पिछले खंड का शेष

उन दिनों मैं झूसी के हनुमतीर्थ वाली वट के नीचे की कुटी में रहकर अनुष्ठान कर रहा था। एक दिन रात्रि में स्वामीजी पधारे। मैं कुटिया की छत पर सो रहा था। उन्होंने पुकारा - "ब्रह्मचारी! ब्रह्मचारी!"

मैं उतर कर नीचे आया, चरणस्पर्श किये। पूछा—"महाराज! भिक्षा करोगे?"

हँसते हुए बोले—"हाँ, क्यों नहीं, कराओगे तो करेंगे।"

मैं समझ गया, स्वामीजी कई दिन के भूखे हैं। शीघ्रता से अँगीठी में कोयले डालकर आग जलायी। शीघ्रता से शाक छौंक कर परामठे बनाने लगा। मैंने कहा—"आइये स्वामीजी! प्रसाद पाइये"। अब स्वामीजी प्रसाद पाने बैठे। अब याद तो नहीं कै बार मैंने आटा माँडा और कितने परामठे उन्होंने खाये। खाते जायें और हँसते जायें। बार-बार कहते जायें, "साधुः स्वाद विजानाति" अर्थात् अन्न का स्वाद तो साधु ही जानता है।

लोग मुझे भी साधु कहते हैं, किन्तु अब मैं अन्न का स्वाद नहीं जानता। यद्यपि खाता हूँ एक ही बार किन्तु भक्तगण इतने पदार्थ भगवान् के भोग में रख देते हैं, वे यथार्थ भूख लगने ही नहीं देते। हाँ, मैंने भूख का अनुभव अवश्य किया और भली भाँति किया है, उन्हीं संस्मरणों को आगे लिखूँगा।

भूख अन्न न रहने पर बढ़ती है, चारों ओर मीठा भरा पड़ा हो, तो मीठे के देखने से उसकी गन्ध से ही चित्त भर जाता है, किन्तु मीठा न मिले तब मीठे पर कैसा चित्त चलता है, इसके दो

उदाहरण देता हूँ। जहाँ चोट लगी रहती है, वहीं अदि वदि के फिर फिर चाट लगा करती है, अन्न के अभाव में भूख अत्यन्त बढ जाती है (क्षते प्रहरे निपतन्त्यभीक्ष्णमन्नक्षये वर्धति जाठराग्नि·) चारो ओर अन्न भरा पडा हो तो भूख लगती ही नहीं है दुष्काल मे जो अन्न के विना दो तीन दिन मे ही आदमी मर जाते है। इसका कारण यही है, कि उन्हे सतत अन्न का अभाव खटकता रहता है हाय! अब मुझे अन्न न मिलेगा। इसी चिंता से मर जाते हैं। अन्न का अभाव न हो दृढ सकल्प हो तो कई महीनो तक आदमी विना खाये रह सकता है, मैं रहा ही हूँ। भावना का सभी पर विशेष प्रभाव होता है।

जिन दिनों विरक्त वेष बनाकर टाट की एक लँगोटी लगाकर मैं गगा किनारे या हिमालय मे घूमता था, उन्ही दिनो घूमते घामते कूर्मांचल प्रदेश अल्मोडा मे पहुँचा। कफ प्रकृति होने से मीठी वस्तुओ मे मेरी कम रुचि रही है। गुड मे चीनी मे विशेष अनुराग नही रहा। बाल्यकाल मे तो मीठे में रुचि होना स्वाभाविक है, फिर तो मीठे से बडी विरक्ति सी हो गयी थी। किन्तु जब निष्किंचन बनकर भिक्षान्न पर निर्वाह करने लगा। मीठे का अभाव हो गया, तब गुड खाने की प्रबल इच्छा होने लगी। अल्मोडा से सडक-सडक जा रहे थे, एक दुकानदार के यहाँ बहुत ही गन्दा काला-काला सडा-सा गुड रखा था, उसने थोडा-सा गुड़ दिया, उस गुड मे कितना स्वाद आया, बस, कहने की बात नहीं। गूँगे के गुड वाली कहावत यहीं चरितार्थ होती है। आज यदि वैसा गुड दीख भी जाय, तो निश्चय ही वमन हो जाय। अभाव

में इच्छा कैसी प्रबल होती है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है।

★ ★ ★

भगवान् ने बनाया तो है मुझे जन्मजात भिखारी। घर छोडने के अनन्तर अब तक भिक्षा पर ही निर्वाह करना पडता है। बहुत ही बाल्यकाल मे घर छोडा था, भिक्षा ही एक आधार था, घर मे जब काम नहीं करता था, तो माँ कहती थी—"तुमसे कुछ काम धाम तो होगा नहीं, भीख ही माँगेगा।" सो बडो के वचन सत्य ही हुए। यह सब होने पर भी माँगने मे बडा लज्जा लगती है, मैंने अपने विशेष परिचितो घनिष्ट बन्धु-बान्धवो से कभी किसी बात के लिये कह दिया हो, तो उसकी शपथ तो लेता नहीं, वैसे मुझे माँगने मे बडा ही सकोच लगता है। परिग्रह से बडा ही भय लगता है। यद्यपि केवल पेट भरने के लिये माँगा हुआ भिक्षान्न परिग्रह नहीं बताया है। (भिक्षान्नअमृतान्न च भिक्षा नव परिग्रहः) फिर भी मुझे रोटी माँगने मे भी सदा लज्जा का अनुभव होता रहा है। जब विरक्त वेष बनाकर भी घूमता था, तब भिक्षा माँगने को दूसरे आदमी साथ रखता था। पहिली विरक्ति मे इन्द्र ब्रह्मचारी, गोविन्द ब्रह्मचारी दो साथ रहे। गोविन्द तो अल्पावस्था मे ही अनूपशहर मे मर गया। इन्द्र ने विवाह कर लिया अब वह आचार्य इन्द्र नारायण गुर्टू के नाम से विख्यात है, उसकी पत्नी शचीरानी गुर्टू हिन्दी की सुप्रसिद्ध लेखिका है। दूसरी झोक मे रामपालजी रहे। इस प्रकार भिक्षा भी मैं दूसरो की माँगी हुई खाता रहा हूँ। अब तो भिक्षा का प्रकार ही बदल गया। अब तो भिक्षा मे पक्वान्न न लेकर नकद नारायण लेने लगा हूँ, प्रति वर्ष कुछ भिक्षा सदस्य बनाये जाते हैं,

जिनसे केवल दो रुपये मासिक लिये जाते हैं। इसे भिक्षा न कहकर चन्दा कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

हाँ, तो उस समय माधुकरी वृत्ति थी, जो थोड़ा बहुत रूखा-सूखा मिल गया उसी से उदर दरी को भरकर आगे चल दिये। जाड़े के दिन थे, ईख कट गयी थीं, ईखों का रस कढ़ाइयों में औट रहा था। मुजफ्फरनगर या बिजनौर की ओर गंगा तट की बात है। दोपहर में कहीं आधा पेट या भर पेट भिक्षा मिली थी। सायंकाल एक साधु की कुटी पर पहुँचे। उन्होंने पशुओं के रहने योग्य एक गदी सी जगह बता दी उसी में लेटे। पास में ही ईख के रस की कढाई में रस औटाया जा रहा था, उसकी मीठी-मीठी गंध ने हठात् रस खाने की इच्छा उत्पन्न कर दी। मैंने इन्द्र को भेजा कुछ राब दे दे। किसान ने कहा—'अभी रस औटा नहीं। औट जाने पर आना।' हम लोग प्रतीक्षा करते रहे। आधी रात्रि में जाकर उसने हमारे कमंडलु में थोड़ी सी राब दे दी, उसे थोड़ा-थोड़ा पीकर सो गये। कमंडलु में पानी भरकर रख दिया। प्रातः काल उठकर कुल्ला करने को ज्योंही कमंडलु में से पानी लेकर मुँह में डाला तो वह तो शहद के समान मीठा था। प्रतीत होता है, रात्रि में जो राब मिली थी, वह जमी की जमी कमंडलु में रह गयी थी, बिना ही मुख धोये आँख मींचकर उस पूरे शरबत को पी गये। कैसे थे वे दिवस! अभाव में भी कितना आनन्द था। असग्रह में भी कैसी मस्ती थी। 'ते हि नो दिवसाः गताः' वे दिन हमारे चले गये।

★ ★ ★

दो दिन से भर पेट भिक्षा नहीं मिली थी, एक आधी जो भी रोटी मिल जाती उसी को खाकर भर पेट गंगाजल पीकर आगे बढ़ जाते। चलते-चलते रात्रि में ९-१० बजे ऋषिकेश पहुँचे।

केलाशाश्रम के पहिले नैपाली क्षेत्र के सम्मुख एक सायकालीन क्षेत्र था। उसमें सायकाल में साधुओं को चार-चार रोटियाँ दी जाती थीं। रोटियाँ बट चुकी थीं चौका उठ चुका था, तब हम लोग वहाँ पहुँचे। प्रबन्धक कोई वृद्ध पजाबी साधु थे। इन्द्र ने जाकर उनसे कहा—"स्वामी जी! हम बडे भूखे हैं, कुछ भिक्षा हो तो दिला दीजिये।"

स्वामी जी ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"अरे, भाई! तुम लोग तो बहुत पिछड कर आये। अब तो चौका उठ गया है। अब यहाँ क्या है?" फिर थोडी देर सोचकर उन्होंने पुकारा—"भडारी! भडारी! देखो, ये दो ब्रह्मचारी आये हैं, एक आध रोटी हो तो इन्हें दे दो।"

अन्न क्षेत्रों के भडारी तो भगवान् का नाम ही होते हैं। पूरे देवता ही होते हैं। सेर भर घी मिले तो पहिले अपने लिये निकाल कर बढिया रोटी बनाकर, यथेष्ट घृत से दाल छौंककर प्रायः पहिले अपने भगवान् के भोग को रख लेते हैं, तब अतिथि अभ्यागतों को तिरस्कार के साथ बाँटते हैं। वे भी बेचारे क्या करें मगता आकर उन्हे जला कटी बुरी-बुरी बात सुनाते हैं, क्रोध करते हैं काँय-काँय मचा देते है, झगडा करते है, नित्य सुनते सुनते उनकी माँगने वालों के प्रति अश्रद्धा हो जाती है। पढे-लिखे होते नहीं। उनकी अपनी निज की श्रद्धा नहीं। नौकरी बजाते है, पैसे के लिये बनाते बाँटते है। अत वे प्राय: चिडचिडे स्वभाव के हो जाते है। किन्तु कभी कभी उनके हृदय में भी भगवान् बैठ जाते हैं।

भडारी आया। उसने हम दोनों को ऊपर से नीचे तक देखा और बडे उल्लास के साथ बोला—"ब्रह्मचारियो! भोजन करोगे? अच्छा आओ।"

यह कहकर उसने हमें भीतर चौके में बैठाया। ऊपर आलमारी से अपने लिये बढिया छुकी हुई दाल एक कटोरदान में घी से डूबी हुई पतली-पतली रोटियाँ निकालीं। हमारी थाली में ५-५ ७-७ रोटियाँ रखकर दाल देकर कहा—"अच्छा लो, खाओ।" कई दिन के भूखे थे, चढती अवस्था थी, नित्य १५-१५, २०-२० मील चलते थे, हम खाने लगे। हमारे खाने के ढङ्ग से ही वह समझ गया, इतनी रोटियों से इनका काम चलने का नहीं। चूल्हे में आग तो जल ही रही थी, उसने तुरन्त बहुत-सा आटा साना और तवा चढाकर गेंद की तरह फूली फूली रोटियाँ बना-बना कर हमारी थालियों में फेंकने लगा। रोटियाँ बनाता जाय, बना-बनाकर फेंकता जाय और बडे उल्लास के साथ कहता जाय—"ब्रह्मचारियो! खूब खालो, पेट भर कर खालो, भूखे मत रहना। परवाह मत करना।"

अंधे तुझे क्या चाहिये? "दो आँखें" हम तो यह चाह ही रहे थे, आज भगवान् ने कैसा संयोग बना दिया। उस दिन पता नहीं १००-१०० रोटियाँ खायीं या ५०-५० परन्तु उन्हें खाये आज पचासों वर्ष हो गये, किन्तु अभी वे रोटियाँ कंठ से नीचे नहीं उतरीं, ज्यों की त्यों उसी स्वाद के सहित गले में रखी हुई हैं। उसी दिन अनुभव हुआ अन्न ही जीवन है। अन्नदान करने का अर्थ है जीवन दान। इसीलिये मैंने अपने आदमियों से कह रखा है भोजन के समय कोई भी भूखा प्राणी आवे उसे निराश मत जाने दो। अन्न के सभी अधिकारी हैं। जिसके पेट है उसे भूख लगती है और भूखा प्राणी कैसा भी क्यों न हो वह अन्न का पात्र है, अधिकारी है।

★ ★ ★

एक प्रसग और भी याद आ गया। उसी विरक्ति के प्रवाह मे मैं वृन्दावन गया हुआ था। टाट की एक लँगोटी एक साफी यही हमारा परिग्रह। वैसे वृन्दावन मे उन दिनो बहुत-से अन्न-क्षेत्र थे किन्तु माँगे कैसे? कहीं से दूर से आये थे। दो पहर ढल गया था। पेट में चूहे कुदक रहे थे, कहीं किसी ने पूछा नहीं था। श्री राधावल्लभ जी के मदिर मे गये। भगवान् का राजभोग हो चुका था, राधावल्लभ जी सो गये थे, हम आँगन में बैठ गये। इतने में ही कहीं से करपात्री जी भी आ गये। मुझे देखते ही खिल उठे और बोले—"ब्रह्मचारी जी आप कब आये?" मैंने कहा—"स्वामी जी! अभी आया हूँ, क्या हाल चाल है आप कब से हो?"

वे बोले—"मैं तो कई दिनो से यहीं हूँ। भाई, बडी भूख लग रही है।"

उन दिनो हमारे करपात्रीजी, करपात्री ही थे। किसी भी प्रकार की सवारी पर न बैठना, एक लँगोटी एक साफी के अतिरिक्त कोई वस्त्र नहीं रखना। कमडलु भी नहीं, कोई पात्र भी नहीं। जो भी मिले हाथ में लेकर खा लेना। पात्र न रखने से ही सब लोग उन्हे करपात्री करपात्री कहने लगे। मुझसे बोले—"देखो, ब्रह्मचारी जी! यहाँ की ऐसी प्रथा है, कि यहाँ के व्रजवासी लोग बासी रोटियो के टुकडे कर करके एक जगह रख देते हैं, जब कोई साधु मधुकरी लेने जाता है, तो वहीं से बैठी-बैठी व्रज-वासिनि कह देती हैं—"बाबा! वहाँ टुकडे धरे हैं। एक उठा ले जा।" सो भैया, सब जाति के साधु वहीं से उठा लाते हैं, मुझसे तो ऐसा करते बनता नहीं।

यह सुनकर मैं हँस पडा। व्रज के साधु तो व्रजवासियों के जूठे कूठे टुकडों के लिये तरसते रहते हैं, वे कहते हैं—

ऐसो कब करिहौं मन मेरो ।
कर करवा हरवा गुंजनि को कुञ्जनि माँहि बसेरो ।
ब्रजवासिनि के टूँक झूठ अरु घर-घर छाछ महेरो ॥
भूख लगै तब माँगि खाइ हौं गनौं न साँझ सवेरो ।
व्यास दास की आस यही है मेरे माँगन खेरो ॥

बंगाली साधुओं को ब्रजवासियों के झूठे टूँक खाने में भी कोई संकोच नहीं वे ब्रजवसियों को भगवत् सखा मानते हैं, किन्तु हमारे करपात्री जी पुरबिया ब्राह्मण ठहरे, वे भला इसे कैसे सहन कर सकते थे ।

हम लोग ये बातें कर ही रहे थे, कि इतने में ही श्री राधा-बल्लभ जी के मुनीम जी तिलक छापे लगाये हुए वहाँ आये । हमें आँगन में बैठा देखकर वे बोले—"महाराज ! भगवान् का प्रसाद पाइये ।"

हम जब तक हाँ ना कुछ भी नहीं कर सके, तभी तक वे श्रीराधावल्लभजी का प्रसाद दाल, भात, कढ़ी, खीर, बड़ी-बड़ी रोटियाँ साग लेकर आ पहुँचे । । पत्तलों पर प्रसाद परसा गया । उस प्रसाद में कितना अनुपम स्वाद आया । बस, "गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।"

वे मुनीम जी अभी तक हैं, विरक्त वैष्णव सन्त बन गये हैं । श्री राधावल्लभजी के पीछे एक कुटिया में चुप चाप निवास करके अहर्निशि भजन करते रहते हैं । कभी-कभी जब मैं श्री राधावल्लभ जी के दर्शनों को जाता हूँ, तो उनके भी दर्शन करता हूँ और उन्हें उस घटना को सदा सुनाता हूँ । वे अब भी जब जाता हूँ, बहुत सुन्दर-सुन्दर प्रसाद देते हैं । किन्तु उनका वह प्रसाद अविस्मर-

णीय है। मानों स्वयं साक्षात् श्री राधावल्लभजी ने ही उनके हाथो भिजवाया था।

★ ★ ★

ऐसी एक नहीं अनंत कथायें हैं, किन्तु डरता इसीलिये हूँ, कि अपनी लघुता कहने मे भी एक प्रकार का अहंकार आ जाता है, स्थान स्वल्प, कथायें बहुत। पूरा जीवन ही इन कथाओ से भरा पडा है। उद्धवजी ने कहा है—"प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम्" हे प्रभो! मैं तो प्रतिक्षण आपकी अनुग्रह का अनुभव करता हूँ। पूरा जीवन ही उनकी कृपा के ऊपर अवलंबित है। इन कथाओं में मेरी बात, मेरा अहंकार यदि आ भी जाय, तो यह मेरा दोष है, मै तो अन्न भगवान् की महिमा बता रहा हूँ। एक बाल्य काल की कथा और कहकर इस प्रसग को समाप्त करूँगा।

× × ×

बहुत छोटा था, बाल्यावस्था थी, नया ही नया घर छोडा था, मथुरा की मयाराम पाठशाला मे पढता था। पाठशालाओ के विद्यार्थियों का जीवन कितना अभावमय होता है, इसका अनुभव पाठशाला के विद्यार्थी बने बिना कोई कर ही नहीं सकता। एक बार क्षेत्र का भोजन, सायकाल चना चबैना की चिंता, तेल बत्ती के लिये उद्योग। विद्यार्थियों को निमत्रण मिल जाय तो मानों स्वर्ग मिल गया। अच्छा, विद्यार्थियों के विषय में फिर कभी लिखूँगा अब तो तुम उस घटना को सुन लो।

विद्यार्थियों मे परस्पर मे पाठ पढ़ने की चर्चा के अतिरिक्त दूसरी चर्चा दान, दक्षिणा तथा निमंत्रण की ही होती है। एक दिन विद्यार्थियों मे चर्चा चली। क्वार की या चैत्र की नवरात्रियो

के दिन थे, उन दिनों दुर्गा सप्तसती के पाठ, सेठ लोग राजा लोग घर-घर कराया करते थे। नौ दिन के पाठ के कोई २॥) कोई ५) ऐसे देते थे। विद्यार्थियों ने कहा अमुक राजा के यहाँ नव-दुर्गाओं में, १०८ दुर्गा सप्तसती के पाठ होते हैं, वहाँ चला जाय। वहाँ दक्षिणा बहुत मिलती है अब ठीक तो याद नहीं रहा करौली या धौलपुर इन दो राज्यों में से एक राज्य था। मुझसे भी मेरे साथियों ने चलने को कहा।

मैंने कहा—"भाई, मैंने तो आज तक कभी दुर्गा सप्तसती का पाठ किया नहीं।"

मेरे साथियों ने कहा—"अरे, यार चलो भी उसमें रखा ही क्या है, केवल पाठ ही तो करना है, सब कर लोगे।"

मैं उनकी बातों में आ गया। बच्चों को घूमने फिरने की इच्छा तो बनी ही रहती है। हम ५, ६ विद्यार्थी बिना टिकट उस राजधानी में गये। रात्रि में भूखे ही सो गये। दूसरे दिन सभी पाठशालों की परीक्षा का दिन था। राजा के पंडित आकर परीक्षा लेते। जो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते उनका पाठ में वरण होता था, जो अनुत्तीर्ण हो जाते, उन्हें लौटा दिया जाता था। हम लोग भी परीक्षा देने गये। राजा साहब भी परीक्षास्थल पर उपस्थित थे। पारी पारी से पंडित परीक्षा देने पधारते। राजपंडित कहीं से भी पढ़वाते, फिर परस्पर में सम्मति करके उत्तीर्ण अनुत्तीर्ण करते।

मेरी भी पारी आयी। एक तो अपरिचित स्थान, इतने भारी-भारी पंडित, ऐसी सम्मुख परीक्षा देने का प्रथम अवसर और फिर कभी भी न पढ़ी पुस्तक की परीक्षा। मैं भली प्रकार न पढ़ सका। मैंने एक बूढ़े पंडित को कहते सुना—"लोग दुर्गा सप्तशती को सामान्य ग्रन्थ समझते हैं। सोचते हैं हम पाठ कर लेंगे।"

जिस बात का भय था, वही हुआ, हमसे स्यात् एक को छोडकर सब अनुत्तीर्ण माने गये। हमें अनुत्तीर्ण होने का उतना दु ख नहीं था, समस्या यह थी, कि दोपहर का भोजन कहाँ मिलेगा।

सबने कहा—"राजा के बगीचा मे एक अन्नक्षेत्र है वहाँ सबको भोजन मिलता है।" वहाँ हम सब लोग गये, किन्तु वहाँ सबको भोजन नहीं मिलता था, कुछ नियमित सख्या मे लोगो की भर्ती होती थी। जिसकी भर्ती हो जाती थी, उसी को भोजन मिलता था। हमारे साथियों में से कुछ की तो भर्ती हो गयी, हमारी नहीं हुई। बडी निराशा हुई। सबके सामने भोजन परसा गया, मै सामने बैठा टुंम टुम देख रहा था। बालक ही ठहरा, परदेश की बात भूख की प्रबलता, मैं अपने को रोक न सका और रोने लगा। तब भरती करने वाले को दया आ गयी उसने मुझे भी बिठा दिया। भोजन करके हम सब पुन. बिना टिकट गाडी मे बैठ गये और मथुरा जकसन पर उतर पडे किसी ने कुछ पूछा ही नहीं।"

इस प्रकार मैंने अपने जीवन में अनुभव किया है अन्न ही जीवन है, अन्नदान का अर्थ है जीवन दान इसीलिये छादोग्य उपनिषद् में लिखा है—

बल से भी उत्कृष्ट अन्न है। (क्योंकि अन्न के बिना बल आता ही नहीं।) इसीलिये यदि कोई दश दिन भोजन न करे, तो वह जीवित भी रह जाय, तो भी उसकी देखने की शक्ति, सुनने की शक्ति, मनन करने की शक्ति, समझने की शक्ति, विशेष ज्ञान की शक्ति क्षीण हो जाती है। वही पुरुष यदि भोजन करता है,

तो उसके देखने की शक्ति, सुनने की शक्ति, मनन करने
शक्ति, समझने की शक्ति, विशेष ज्ञान की शक्ति बनी रहती
बढती रहती है। इसलिये सनत् कुमार ऋषि नारदजी से
रहे हैं—सो नारद जी! अन्न की ब्रह्म बुद्धि से उपासना कर
चाहिये। वह "जो अन्न ही ब्रह्म" है ऐसी उपासना करता है
अन्नवान् और जल वाले लोकों की प्राप्ति होती है। जहाँ
अन्न की गति है वहाँ तक उसकी स्वेच्छा गति हो जाती है।
कि अन्न की 'यह ब्रह्म है' इस भाव से उपासना करता है।※

ससार मे दान का बडा माहात्म्य है। सभी शास्त्रों मे दान
अत्यन्त प्रशसा की गयी है। पुराणों मे तो यहाँ तक कहा ग
है, कि सैकडो मनुष्यों मे से कोई एक शूरवीर होता है। सह
मे से कोई एक पडित होता है। लाखों मे से कोई एक अच्छ
वक्ता होता है। लाखो में कोई दाता होता है या नहीं इस
सदेह है।*

वास्तव मे दान करने वाले दाता से बढकर भाग्यशाली को
होगा। लोग अपने प्राणों का प्रण लगाकर पैसा पैदा करते हैं
उस पैसे को स्वेच्छा से हर्ष से परोपकार में दूसरों की भलाई

※ अन्न वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्य
जीवदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽम ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथन्नास्याऽऽयं द्रा
भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञा
भवत्यन्नमुपास्स्वेति। स याऽ न ब्रह्मत्युपास्ताऽन्नवतो वै स लोकानपा
वतोऽभिसिद्ध्यति यावन्नस्य गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्
ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति॥

* शतेषु जायते शूर सहस्रेषु च पडित।
वक्ता शत सहस्रेषु दाता जायेत वानवा॥ (स्क० पु०)

लगा दे इससे बढ़कर साहसी, त्यागी, निर्भीक और उदार व्यक्ति कौन होगा। लोग तो पैसे को पैदा कर करके 'धर गुल्लक मे, धर गुल्लक मे' ही करते रहते थे। ऐसे दानी पुरुषों के पुण्य प्रताप से ही यह पृथ्वी टिकी हुई है। यदि पुण्यात्मा पुरुष न हों तो यह पृथ्वी कब की रसातल मे चली जाय। पुराणो मे सात परम पुण्यात्मा माने गये है। एक तो गौ सबसे अधिक पुण्यात्मा है, कि वह यह लोक और परलोक दोनों लोको में उपकार करती है, प्राणियों को सुख पहुँचाती रहती है, स्वय तृण खाकर जीवो को स्वादिष्ट दूध दही आदि देती रहती है। दूसरे ब्राह्मण पुण्यात्मा हैं, जो स्वय कुछ भी सग्रह न करके तपस्या द्वारा शरीर को कृश करते हुए, वेदाध्यपन करके ज्ञान के द्वारा जनता का उपकार करते रहते हैं। तीसरे ज्ञान के ग्रन्थ वेदादिशास्त्र परम उपकारी हैं जो पुरुषो को ज्ञान प्रदान करते हैं। चौथे सती स्त्रियाँ परम उपकारी है, जो अपना तन, मन तथा सर्वस्व पति को अर्पण कर देती हैं मृतक पति के साथ जीवित ही हँसते-हँसते जल जाती हैं। पाँचवें सत्य-वादी लोग बड़े त्यागी और उपकारी होते हैं, कि बडे से बडे लाभ को सत्य के पीछे परित्याग कर देते है। सत्य की महिमा संसार को समझाते रहते हैं। छठे जीव हिसा न करने वाले उदार पुरुष बड़े उपकारी होते हैं जो सदा सर्वदा सभी जीवो को अभय प्रदान करते रहते हैं और सातवें दानशील पुरुष भी ससार मे सबसे बडे उपकारी होते हैं, जो प्राणो से भी अधिक प्रिय धन को दूसरो के हित में सतत त्यागते रहते हैं। इन सात प्रकार के पुण्यात्मा पुरुषों द्वारा ही यह पृथ्वी टिकी हुई है।*

---

* गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥ (स्क. पु)

दानों के शास्त्रो मे अनेक भेद बताये हैं, किन्तु सभी दानों से अन्न दान सर्वश्रेष्ठ है। अन्न ही तो जीवन है। जो अन्नदान करता है जीवन दान करता है। अन्न ही तो भूख को शान्त करता है सुख पहुँचाता है। अन्न दान का अर्थ है सर्वसुख दान करना। वह अन्नदान यदि योग्य पात्र को, विद्वान् ब्राह्मणों को दिया जाय, तो सोने मे सुगन्ध का काम करता है। अन्य दानो में तो पात्र कुपात्र का ध्यान रखना पडता है। क्योंकि कुपात्र को दान देने से दूसरे जन्म मे दरिद्री होना पडता है (कुपात्र दानेषु भवेद्दरिद्री) किन्तु अन्नदान मे पात्र कुपात्र का कोई विचार नहीं। जिसके पेट है जो भूखा है वह कोई क्यो न हो, अन्न का अधिकारी है।

फिर अन्नदान मे एक बहुत बडी बात यह भी तो है, कि जिसे अन्नदान करने का अभ्यास होगा, उसे भूखों को अन्न देने के साथ एक बडा लाभ यह भी तो है, कि कभी न कभी उसके द्वार पर कोई सिद्ध पुरुष भी आ सकता है। एक सिद्ध पुरुष के चरण पड गये, बेडा पार हो गया।

एक महात्मा थे उन्होंने अपने एक अत्यन्त भक्त से कहा—"भैया! तुम अन्न का दान किया करो।" उसने कहा—"महाराज! किसे दान करें, सब कंगले इकट्ठे हो जाते हैं, कोई सत् पुरुष आवे तो उन्हें भोजन कराने मे प्रसन्नता भी होती है। यो अहरे-गहरे पचकल्यानी भोजनभट्ट पेटुओं को भोजन कराने से क्या लाभ ?"

महात्मा ने पूछा—"अच्छा, तुमने कभी हंस को देखा है ?"

भक्त ने कहा—"नहीं, महाराज! मैंने तो कभी हंस के दर्शन नहीं किये ?"

महात्मा ने कहा—"देखना चाहते हो ?"

भक्त ने कहा—"अवश्य देखना चाहता हूँ, यदि दिखायी दे जायँ तो।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा, एक काम करो तुम पक्षियों को नित्य नियम से अन्न डाला करो।"

महात्मा की बात भक्तजी ने स्वीकार की, वे नित्य पक्षियों को अन्न डालने लगे। पहिले कौए आने लगे। उसने महात्मा से कहा—"महाराज! हंस तो आते नहीं कौए ही कौए आते हैं।"

महात्मा ने कहा—"तुम डालते जाओ।" थोड़े दिनों में कबूतर आने लगे, मोर, दादुर, पपैया, तोता, मैना आदि आने लगे। जहाँ दाना मिलता है वहाँ की चर्चा पक्षी परस्पर में करते ही हैं। एक दिन चार हंस मानसरोवर को जा रहे थे। सर्वत्र पक्षियों द्वारा उस चारे डालने वाले की प्रशंसा सुनकर उसे देखने की उनकी भी इच्छा हुई। इसीलिये वे भी अन्य पक्षियों के साथ वहाँ आकर दाना चुगने लगे। दाता बड़ा प्रसन्न हुआ। वह दौड़ा दौड़ा महात्माजी के पास गया और बोला—'महाराज जी! महाराज जी!! हंस आ गये, हमको हंसों के दर्शन हो गये।"

तब महात्माजी ने कहा—"सतत दान का यही फल होता है। इसी प्रकार तुम निर्धन, कंगला, दीन हीन भिखारियों को अन्न देते रहोगे तो एक दिन तुम्हारे द्वार पर परमहंस सिद्ध पुरुष भी आ जायँगे। तुम्हारा समस्त दान सफल हो जायगा। एक भी सिद्ध पुरुष परमहंस आ गया, तो तुम कृतार्थ हो जाओगे। अतः भूखों को अन्न दान दिया करो।"

भक्त ने पूछा—"भगवन्! कितने पुरुषों को भोजन कराने के अनन्तर सिद्ध पुरुष के दर्शन हो सकते हैं?"

महात्मा ने कहा—"सवा लाख पुरुषों को भोजन करा दो, तो भगवत् कृपा से तुम्हें सिद्ध पुरुष के दर्शन हो सकते हैं।"

भक्त सामर्थ्यवान् थे, उन्होंने कहा—"मैं सवा लाख पुरुषों को भोजन कराऊँगा, किन्तु हमे सिद्ध का पता चलना चाहिये कि सिद्ध पुरुष आ गये। यो वेष बदलकर गुप्त रूप मे भोजन कर गये, तो हमे क्या पता चलेगा, कि सिद्ध आये या नहीं। हमे सिद्ध पुरुष के प्रत्यक्ष दर्शन होने चाहिये।"

सत भी समर्थ थे, उन्होंने कहा—"हाँ तुम्हें सवा लाख पुरुषों को भोजन कराने पर सिद्ध पुरुष के अवश्य दर्शन होंगे, किन्तु किसी भी समय, किसी को अन्न से विमुख न जाने देना जिस समय भी आकर जो तुमसे भोजन की याचना करे, उस समय ही उसे भोजन देना इसमें प्रमाद न करना।"

भक्त ने कहा—"इसकी पहिचान क्या है, कि सिद्ध पुरुष आ गये ?"

महात्मा ने एक घटा देते हुए कहा—"जिस समय यह घटा अपने आप बिना बजाये बजने लगे, तब समझो सिद्ध पुरुष आ गये।"

भक्त ने महात्मा की आज्ञा को शिरोधार्य किया। वह सेवक सामग्रियों के साथ गंगातट पर जाकर बैठ गये। जो भी चाहे, भक्तजी के भंडार मे आकर प्रसाद पा ले। वे सदा भोजन तैयार रखते थे। कभी किसी को निराश विमुख नहीं जाने देते थे। आस्तिक श्रद्धालु थे, वे श्रद्धा से सबको भोजन कराते थे।

सवा लाख पुरुष प्रसाद पा गये, किन्तु घटी बजी नहीं, फिर भी उनको अश्रद्धा नहीं हुई। सोचा—"हमारे पूर्वजन्म के कोई ऐसे पाप होंगे, कि सिद्ध पुरुषों के दर्शन नहीं हुए। अब घर चलना चाहिये।"

[शेष अगले खण्ड में]

ज्ञानदाता से बढ़कर भगवान् का कोई प्रियकृत नहीं

[३९]

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥*

(श्री भग० गी० १८ अ०, ६९ श्लो०)

छप्पय

गीता को जो ज्ञान देइ नित पढे पढावै ।
करि करि ताके अरथ सुपात्रनि नित्य सुनावै ॥
गद्य-पद्य में लिखै भाष्यकरि सरल बनावै ।
पक्षपात नहिँ करै जथारथ मरम बतावै ॥
मोकूँ तातैं प्रिय न अति, बढिके कोई मनुज वर ।
जगत माहिँ होवै न पुनि, तातैं प्रियतर श्रेष्ठतर ॥

जितने जप, तप, अनुष्ठान, वेदाध्ययन, यज्ञादि सत् कर्म है, ये समस्त सत्कर्म उस व्यक्ति के पुण्य के सोलवें भाग भी नहीं जो किसी एक जीव को भी अभय प्रदान कर दे। यह जीव न जाने कब से भयभीत बना संसार रूप महारण्य मे भटक रहा है।

---

* और मनुष्यो म उससे बढकर मेरा प्रिय काय करन वाला कोई नही है और उनसे बढकर कोई दूसरा पृथ्वी म अत्यन्त प्यारा होवेगा भी नही ॥ ६९॥

जीव को सबसे भारी भय तो मृत्यु का है। महासर्पिणी रूपा मृत्यु प्राणी के पीछे तभी से पड़ जाती है, जब वह जन्म लेता है, यह प्राणी किसी भी लोक मे क्यो न चला जाय, मृत्यु उसका पीछा नहीं छोड़ती। एक ही ऐसा स्थान है, जहाँ मृत्यु की दाल नही गलती। जीव किसी भी प्रकार से, किसी भी साधन से, किसी की भी सहायता से यदि भगवान् के चरणारविन्दों के समीप पहुँच जाता है, तो फिर मृत्यु उसका पीछा करना छोड़ देती है, वह स्वस्थ तथा भय रहित बन जाता है। भगवत् चरणारविन्दो के सन्निकट पहुँचते ही जीव की आधि, व्याधि, चिन्ता, शोक, भय, विवशता आदि सभी दूर चली जाती हैं। किसी भी जीव को कोई भी बड़भागी पुरुष भगवान् के सम्मुख पहुँचा दे, तो उससे बढ़कर पुण्यात्मा पुरुष, दानी पुरुष तथा सत्कर्म करने वाला पुरुष संसार में कोई दूसरा नहीं है।

भगवान् बड़े कृतज्ञ हैं, भगवान् के लिये जो तनिक सा भी त्याग करता है, उसी से उसके कृतज्ञ बन जाते हैं। गीध ने सीता जी की रक्षा का प्रयत्न किया, कृतज्ञ भगवान् ने उसे पिता की तरह माना। अपने हाथो उसके और्ध्व दैहिक संस्कार किये, गज ने एक कमल का फूल अपनी सूँड़ मे लेकर भगवान् को चढ़ाना चाहा, इसी पर आप नंगे पैरों ही दौड़ पड़े। भीलिनी ने जंगली बेर भगवान् को अर्पण किये, इसी पर उसे सद्गति दी। यहाँ तक कि पूतना ने तो भगवान् को मारने की इच्छा से गरल लपेटा अपना स्तन प्रदान किया, इसी पर भगवान ने उसे माता की सी गति दे दी, सुदामा ने तो मुट्ठी पर चावलों की कनी ही भगवान् को अर्पण की थी, उसी पर उसे देवराजो को भी दुर्लभ सम्पत्ति प्रदान कर दी। एक भक्त ने तो मुँह मे उगला हुआ फल ही भगवान् को अर्पित किया और भगवान् ने उसे ग्रहण किया।

भगवान् तो भक्त की दी हुई छोटी से छोटी वस्तु को भी बड़े आदर से प्रेम पूर्वक ग्रहण करते हैं। चाहे भक्त तुलसी का एक दल ही अर्पण करे। एक जंगली फूल ही चढ़ा दे, कहीं से बेर, बिल्व, कपित्थ आदि फल ही चढ़ा दे यहाँ तक कि एक चुल्लू जल ही अर्पण करे, तो भगवान् इन क्षुद्र वस्तुओं को प्रयतात्मा होकर-प्रसन्न होकर—लेते हैं। फिर जो लोग बड़ी श्रद्धा से, बड़े वैभव से, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय जल, स्नानीय जल, पंचामृत, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गंध, धूप, दीप तथा नाना भाँति के नैवेद्य अर्पण करते हैं। मुख शुद्धि के निमित्त सुगंधित पान, पूंगीफलादि देते हैं, रत्नादि दक्षिणा अर्पित करते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या? भगवान् भक्तों की दी हुई इन सामग्रियों को बहुमान-पुरस्सर होकर ग्रहण करते हैं, किन्तु इन सबसे भी बढ़कर एक उपहार है, जिसे वे सबसे अधिक प्रसन्नता के साथ ग्रहण करते हैं, यहाँ तक कि इस भेंट को वे कौस्तुभमणि से भी अधिक मूल्यवान् समझते हैं। वह भेंट है किसी जीव को निर्भय बनाकर भगवान् के सम्मुख उपस्थित करना।

जो दयालु कृपालु आचार्य किसी जीव को प्रपन्न बनाकर-प्रपत्ति प्रदान करके-भगवान् के सम्मुख करते हैं, तो भगवान् इस भेंट को पाकर अपने को कृत कृत्य समझने लगते हैं। भगवान् उस शरणागत जीव को अपने मणियों के मुकुट की मणि बनाकर शिर पर धारण करते हैं।

यह जीव अथाह संसार सागर मे गोता खा रहा है, ऐसे जीव पर दया करके जो आचार्यचरण ज्ञान का उपदेश देते है, वे कितना बड़ा महान् उपकार करते हैं, उनके पुण्य की कोई सीमा नहीं। वे तो नररूप धारण किये हुए स्वयं साक्षात् श्रीहरि ही है, इसीलिये स्वयं साक्षात् श्री हरि ने अपने श्री मुख से आज्ञा की

है—"आचार्यं मा विजानीयात्, नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्य बुद्धया सूयेत् सर्वदेवमयो गुरुः ॥" अर्थात् ज्ञानदाता आचार्य को मेरा ही स्वरूप जानो। उसमें और मुझमें अणुमात्र भी भेद भाव न करो। ऐसे आचार्य का कभी भूलकर भी अपमान न करना। उनमें कभी मनुष्य बुद्धि भी मत करना। वे गुरुदेव तो सर्वदेवमय हैं। वे ब्रह्मा हैं, वे विष्णु हैं। और वे महेश्वर हैं। अधिक क्या कहे वे ही स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। ऐसे ज्ञानदाता गुरु के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से गीताज्ञान प्रचारक के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया कि वह विशुद्ध प्रचारक आपको कैसा लगता है?" तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अत्यन्त प्रेमभाव रखकर इस गीताज्ञान को मेरे भक्तों में स्थापित करेगा, उससे बढ़कर मेरा प्रिय करने वाला मनुष्यों में कोई दूसरा है ही नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—"इस समय भले ही न भी हो, किन्तु भूत काल में तो इससे बढ़कर बहुत से भक्त हो गये होंगे?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तुम कैसी बात करते हो? अरे, जो मेरे गुह्य से गुह्य गीताज्ञान को योग्य अधिकारी को प्रदान करने वाला है, उसके समान प्रिय भक्त न आज तक कोई हुआ न वर्तमान में है ही।"

अर्जुन ने कहा—"ठीक है, न हुआ होगा और न अब ही है, किन्तु भविष्य तो अभी काल के गर्भ में ही छिपा है, संभव है आगे कोई इससे प्रिय भक्त उत्पन्न हो जाय?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तुम बात को समझते नहीं। भैया, साधारण लोगों के लिये भविष्य काल के गर्भ में छिपा रहता है, किन्तु मैं तो त्रिकालज्ञ हूँ। तीनों ही काल मेरे लिये

हस्तामलक के सदृश प्रत्यक्ष हैं, अतः मुझसे न भूत छिपा है, न वर्तमान और न भविष्य ही छिपा है। अतः मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ, कि जीवाभय प्रदान करने वाले आचार्य के सदृश प्रिय भविष्य में भी नहीं होगा। उससे बढ़कर प्यारा मुझे कोई भी भूत, भविष्य तथा वर्तमान में नहीं है।"

अर्जुन कहे—"भगवन्! यह तो आपने गीता शास्त्र को अध्ययन कराने वाले महापुरुष का महान् माहात्म्य वर्णन किया। अब मैं यह और जानना चाहता हूँ, कि जो इस गीताज्ञान का श्रद्धा के साथ अध्ययन करेंगे, तथा गीताज्ञान यज्ञ द्वारा आपका यजन करेंगे, उनको भी कुछ फल मिलेगा कि नहीं?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पराभक्ति मम करै मोइ ई सरबसु मानै।
गीताज्ञान प्रसार यही गुरु सेवा जानै॥
ऐसो जो मम भक्त वही मेरो अति प्रियकर।
है वह सब तैं बड़ो प्रियनिमें अतिशय प्रियतर॥
प्रिय, प्रियतर, प्रियतम परम उपमा ताकी अन्य नहिँ।
नहीं भयो, नहिँ होयगो, है नहिँ प्यारो ता समहिँ॥

गीता ज्ञान यज्ञरूपी पूजा से प्रभु प्रसन्न होते हैं

[४०]

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥*

(श्री भ० गी० १८ अ० ७० श्लोक)

छप्पय

ज्ञान देन की शक्ति नहीं तो पाठ करै नित ।
प्रेम सहित नित पाठ करै मोमें धरिकें चित ॥
सुखद धरम सम्वाद पार्थ ! यह मेरो तेरो ।
पढ़ै प्रेम तैं नित्य न समुझै बेर सबेरो ॥
मेरो निश्चित मत यही, ज्ञान यज्ञ वह करतु है ।
तातैं मोकूँ पूजि कैं, ज्ञान भँडारों भरतु है ॥

वासुदेव ही परम धर्म हैं। वासुदेव ही सर्वस्व हैं। वासुदेव से जो भी सम्बन्धित है, वही धर्म है। शास्त्रों ने जिसे करने की आज्ञा दी है, वह धर्म है। जिसका शास्त्रों ने निषेध किया है, वह अधर्म है। किन्तु समस्त शास्त्र उन वासुदेव भगवान् की निःश्वास है। अतः वासुदेव सब शास्त्रों के जनक हैं उन सब शास्त्रों में श्रेष्ठ-सबसे

---

* जो पुरुष हम दोनो के सम्वाद को पढेगा, तो उसके इस ज्ञान-यज्ञ से मैं पूजित होऊँगा। ऐसा मेरा मत है ॥७०॥

बढ़कर यह ब्रह्म विद्या सम्बन्धी योग शास्त्र श्रीमद्भगवत गीता उपनिषद् है। इसको ऐसी महिमा क्यों दी? इसे सभी शास्त्रों से परम श्रेष्ठ क्यों बताया है? इसलिये सर्वश्रेष्ठ कहा है, कि अन्य शास्त्र तो नाक से निकलने वाली निःश्वास मात्र हैं। उन निःश्वासों का प्राकट्य ऋषियों के द्वारा हुआ। जिस ऋषि को जिस मन्त्र का परिज्ञान होता है, वही ऋषि उस मन्त्र का माना जाता है, जिसकी महिमा का मन्त्र में वर्णन होता है, वही उस मन्त्र का देवता होता है, और जिस छन्द में वह मन्त्र प्रकट होता है, वही उसकी छन्द होती है। वह मन्त्र जिस कार्य में प्रयुक्त होता है वह उसका विनियोग कहलाता है। जिस मन्त्र का जप किया जाता है, उसके ऋषि का सिर पर न्यास करते हैं देवता का हृदय में और छन्द का मुख में न्यास किया जाता है। इस गीता रूप मन्त्र के ऋषि भी भगवान् वासुदेव हैं और वही उसके देवता भी हैं, क्योंकि भगवान् ने बार-बार अपनी महिमा बताते हुए कहा है—"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि" मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। "तानहं द्विषतः क्रूरान्" मैं उन दुष्ट क्रूर पुरुषों को आसुरी योनियों में गिराता हूँ। "धारयाम्यहमोजसा" मैं ही अपने ओज से चराचर को धारण करता हूँ। "आदित्यानामहं विष्णुः" मैं ही आदित्यों में विष्णु हूँ इत्यादि-इत्यादि। अनेकों स्थानों पर भगवान् ने 'अहं' कहकर अपने को परदेवत बताया है। इसलिये इस गीताज्ञान के ऋषि भी श्री भगवान् ही हैं और देवता भी श्री भगवान् ही हैं। अतः अन्य वेदादि शास्त्र तो नाक से निकले हैं। यह स्वयं साक्षात् पद्मनाभ भगवान के कमल रूपी मुख द्वारा निःसृत शास्त्र है। फिर यह शास्त्र किसी अन्य ऋषि से नहीं कहा है। भगवान् ने अपने स्वयं ऐसे आत्मीय जन से कहा है, जिसमें और अपने में भगवान कोई अन्तर नहीं समझते हैं।

६६८८

एक सत्त्व के नर और नारायण दो रूप हो गये हैं। जो नर है, वे ही नारायण हैं और जो नारायण हैं वे ही नर हैं।

जब पाँचों पाण्डव जूए में हारकर द्रौपदी के साथ वन चले गये, और यह समाचार द्वारका में श्रीभगवान् ने सुना, तो वे तुरन्त भोज, वृष्णि तथा अन्धक वंशीय अपने स्वजनों के सहित जहाँ पाण्डव निवास करते थे, उस काम्यक वन में गये। द्रुपद आदि और भी बहुत से राजा इस समाचार को सुनकर काम्यक वन में आ गये थे। सब के अग्रणी भगवान् वासुदेव ही थे। वे सभी राजा धर्मराज को चारों ओर से घेरकर उसी प्रकार बैठ गये, जैसे देवराज इन्द्र को घेरकर समस्त देवतागण बैठे जाते हैं। उस समय पाण्डवों के प्रेम से जिनका हृदय द्रवीभूत हो गया है, पाण्डवों को निर्जन वन में वास करते देखकर जिनका क्रोध उभर आया है, वे श्री कृष्णचन्द्र समस्त राजाओं को सुनाते हुए मेघ गम्भीर वाणी में कहने लगे—"समस्त राजागणो! आप सब कान खोल कर सुन लो। यह पृथ्वी दुष्टात्मा दुर्योधन, कर्ण, दुश्शासन, शकुनि तथा धृतराष्ट्र के समस्त पुत्रों के रक्त की प्यासी है। ये सब क्रूर हैं, इन्होंने पाण्डवों को छल कपट से अन्याय पूर्वक जीतकर वन-वासी बना दिया है। धर्मराज तो धर्मात्मा हैं, ये तो कुछ बोलेंगे नहीं। हम सब राजा मिलकर इन समस्त कौरवों का नाश कर डालें। यही सनातन धर्म है। कपटी धूर्तों को मार देना क्षत्रिय का परम धर्म है, यदि कौरवों की सहायता को दूसरे राजा आवेंगे, तो हम उन्हें भी मार डालेंगे।" ऐसा कहकर भगवान वासुदेव परम क्रुद्ध हुए। उनके क्रोध को देखकर सभी राजा भयभीत हो गये और उन्हें प्रतीत होने लगा कि भगवान अपने क्रोध से समस्त जगत को भस्म कर डालेंगे।

उन्हें क्रुद्ध देखकर किसी का साहस उनके सम्मुख बोलने

का नहीं हुआ। तब उनके परम सुहृद अनन्य सखा परम आत्मीय अर्जुन ने उन्हे अनेक स्तुतियो से, उनके पूर्व जन्म के पराक्रमो और गुण गानो से जैसे तैसे शान्त किया।

शान्त होने पर भगवान् अर्जुन से कहने लगे—"अर्जुन! तू मेरा है और मैं तेरा हूँ अर्थात् हम तुम दोनों एक ही है। देख, जो मेरे भक्त हैं वे तेरे ही है और जो तेरे भक्त हैं वे मेरे ही हैं। तेरा जो शत्रु है, वह मेरा भी शत्रु है। तेरा जो प्रेमी है वह मेरा भी प्रेमी है। देख, तू नर भगवान् का स्वरूप है और मैं विष्णु तथा नारायण स्वरूप हूँ। हम दोनो ही धर्म और मूर्ति माता द्वारा उत्पन्न होकर साथ ही साथ इस पृथ्वी पर आये थे। इसलिये न तो तू मुझसे भिन्न है और न मै तुमसे भिन्न हूँ। हे भरतवंशावतंस अर्जुन! हम दोनो में तनिक भी-अणुमात्र भी अन्तर नहीं। यह बात किसी की बुद्धि मे नहीं बैठ सकती।'

अतः ऐसे ऐक्यरूप नर नारायण भगवान् का यह संवाद है। यह संवाद भी साधारण नहीं धर्म युक्त सम्वाद है और वह किसी धारण स्थान में नहीं हुआ। धर्म्य युद्ध स्थान मे हुआ। जिस धर्म्य युक्त युद्ध से श्रेयस्कर क्षत्रिय के लिये कोई दूसरा धार्मिक कार्य ही नहीं। एक तो यह श्री भगवान् के मुख कमल द्वारा निसृत, दूसरे एक रूप में दो विभक्त हुए नर और नारायण रूप श्रीकृष्ण और अर्जुन का सम्वाद। वह भी परम पावन मार्गशीर्ष महीने मे हुआ। वह भी सर्वसिद्धात्रयोदशी के दिन और शुक्लपक्ष में प्रकट हुआ। वह भी धर्म्य युद्ध के अवसर मे धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में हुआ। ऐसा देश से भी पवित्र, काल से भी पवित्र, और पात्रता से भी पवित्र सम्वाद क्या है एक प्रकार का यज्ञ ही है। यह भी द्रव्य यज्ञ नहीं, तप यज्ञ नहीं, योग यज्ञ नहीं, तथा जपयज्ञ नहीं। इन समस्त यज्ञों से श्रेष्ठतम ज्ञानयज्ञ है।

समस्त यज्ञों का एक मात्र उद्देश्य भगवान् को सन्तुष्ट करना ही है। जिस कर्म से भगवान् सन्तुष्ट नहीं। उस कर्म के करने से कोई लाभ नहीं। उसमें तो केवल व्यर्थ का परिश्रम ही हाथ लगता है। जिस कर्म के द्वारा प्रभु की पूजा न हो, जिन साधनों से प्रभु पूजित न हों, वे कर्म और साधन सब व्यर्थ हैं। इस ज्ञानयज्ञ रूप श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद स्वरूप धर्ममय गीताशास्त्र के अध्ययन से, गुरु मुख द्वारा अर्थ सहित श्रवण से, या केवल पाठ मात्र से ही भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। भगवत् प्रसन्नता प्राप्त कर लेना ही जीव का परम पुरुषार्थ है। वह इस गीताज्ञान के अध्ययन से अवश्यमेव प्राप्त हो सकेगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से यह पूछा कि भगवन्! प्रचारक ज्ञान दाता की महत्ता का तो आपने वर्णन कर दिया, अब यह बताइये कि इस गीता ज्ञान के अध्येता को क्या फल मिलेगा?"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! फिर वही बात, भूल गये क्या? मा फलेषु कदाचन', फल की इच्छा मत रखना।

अर्जुन ने कहा—"न सही फलाहार, मैं तो अमृताशी बन जाऊँगा। अध्ययन करने वाला अमृत प्राप्त कर लेगा क्या?"

भगवान् ने कहा—"अमृत क्या?"

अर्जुन ने कहा—"अमृत प्रियदर्शनम्' प्यारे का दर्शन हो जाना यही अमृत है।"

भगवान ने कहा—"प्रिय क्या?"

अर्जुन ने कहा—'सबके एक मात्र सुहृद प्रिय तो आप ही हो।" आप जिस कर्म द्वारा पूजित हो जायँ, प्रसन्न हो जायँ, वह अमृत से भी बढ़कर है।

भगवान ने कहा—"अर्जुन! अमृत तो यह मेरा तुम्हारा सम्वाद रूप गीताज्ञान है।"

अर्जुन पूछा—"गीताज्ञान अमृत कैसे है ?"

भगवान ने कहा—"देखो, जो वेद की समस्त उपनिषदें हैं वे ही तो गयाँ हैं। इन गोओं का पालन करने वाला दुहने वाला गोपाल मैं प्रसिद्ध ही हूँ। बिना बछड़ा का गो का दूध पीना निषेध है, अतः इन इतनी गोओं के बछड़ा, हे पार्थ ! तुम हो। इन गोओं को दुहकर जो दूध मैंने निकाला, वह साधारण दूध नहीं। यह गीता रूप दुग्धामृत है। इस दूध को जो पी लेंगे, उसके द्वारा मैं अपने को पूजित मानूँगा, मैं उस पीने वाले पर प्रसन्न हो जाऊँगा, उससे सन्तुष्ट हो जाऊँगा।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! यह आप कैसी उलटी बात कह रहे हो। प्रसन्नता तो अपने खाने पीने से होती है। दूसरा गीतामृत का पान करे और प्रसन्न हो जायँ आप, यह क्या बात हुई ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया ! कोई प्रेम पूर्वक सुन्दर रसोई बनाता है। तो उस बनी रसोई को बनाने वाला ही खा ले तो उसे उतनी प्रसन्नता न होगी, जितनी अपने सुहृद प्रेमी को खिलाकर होगी। अपने खाने पीने की अपेक्षा अपने प्रेमी को खिलाने पिलाने में अधिक प्रसन्नता होती है। अतः तुम्हारे द्वारा पुहनाई हुई गोओं के दूध को जो मेरे द्वारा निकाला हुआ है, उसे जो पान करेंगे उस पान रूप ज्ञानयज्ञ के द्वारा मैं ही पूजित होता हूँ ऐसी मेरी निश्चिता मति है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आप गीता शास्त्र को अधिकारियों को सुनाने वाले का, उसके प्रचारक प्रसारकों का तथा अध्ययन करने वालों का, माहात्म्य तो बता चुके। अब जो स्वयं अध्ययन करने में असमर्थ व्यक्ति है, वे स्वयं तो पढ़ नहीं सकते,

यदि वे दूसरो से सुन ही लें तो उनके श्रवण का भी कुछ माहात्म्य होगा या नहीं ?"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! अब आगे भगवान् जैसे श्रवण करने वालो के माहात्म्य का वर्णन करेंगे उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

तू अरु हौं सुनु मित्र ! तत्त्व तैं एकहि भैया !
हौं तो हूँ गोपाल उपनिषद सबरी गैया ॥
तू बछरा बनि सब गैयनि कूँ पार्थ ! पुन्हावै ।
पुहन्ही गैयनि दुहँ अमृतमय दुग्ध कहावै ॥
दुग्धामृत कूँ जे पियें, ज्ञानयज्ञ वर मानिके ।
पूजित तातैं हौंउँ हौं, पीयो यह सब जानिके ॥

[मुरली मनोहर]

श्री भागवत-दर्शन

भागवती-कथा

खण्ड ८४

गीतावार्त्ता (१६)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रथम संस्करण
१००० प्रति

आषाढ़ २०२८
जून १९७१

प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

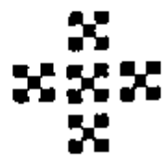

● मुद्रक :
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
संस्मरण (३) पिछले खण्ड का शेष	१
संस्मरण (४)	५
१. दोनों गीताओं में वर्णाश्रम धर्म निरूपण	३१
२. दोनों गीताओं में भक्तियुक्त वर्णाश्रम धर्म-निरूपण	४८
३. दोनों गीताओं में ज्ञान भक्ति निरूपण	६२
४. दोनों गीताओं में भक्ति के प्रकार	७१
५. दोनों गीताओं में अष्टांग योग के यम नियम	८२
६. दोनों गीताओं में षडङ्ग योग	९०
७. दोनों गीताओं में तत्त्व विवेचन	१११
८. भगवत् गीता और भिक्षुगीता	१२०
९. दोनों गीताओं का सांख्य	१२८
१०. दोनों गीताओं में तीनों गुणों की वृत्तियों का विवेचन	१४४
११. ऐलगीता और श्रीमद्भगवद्गीता	१६१
१२. दोनों गीताओं में परमार्थ निरूपण	१७१
१३. दोनों गीताओं के अधिकारी तथा भगवान् का अन्तिम प्रश्न	१८३
१४. दोनों गीताओं के श्रोता कृतार्थ होकर भगवत् आज्ञा पालन में तत्पर हुए	१९२

—o—

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६) ५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथमखंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ११) है। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती हैं
सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

८८५
चर्म

—० 'भागवत चरित" प्रशिक्षण सुविधा ०—

संकीर्तन भवन भूसी में

भागवत चरित सत्र भूसी संकीर्तन भवन मे तथा वंशीवट संकीर्तन भवन वृन्दावन में कई हुए। जिनमें लगभग १५०-२०० भागवत चरित व्यासो को प्रमाण पत्र दिये गये। जिनमे से अनेकों व्यास बाजे तबले से "भागवत चरित" की कथा कहकर लोगों में धर्मप्रचार कर रहे हैं और उससे द्रव्य अर्जन करके अपने कुटुम्ब का पालन पोषण भी कर रहे हैं।

इधर ८-१० वर्ष तक गौरक्षा के कार्य मे संलग्न रहने के कारण सत्रों का आयोजन न हो सका। हाँ, संकीर्तन भवन, वंशीवट वृन्दावन में एक भागवत विद्यापीठ स्थायी रूप से स्थापित हो गयी है, जिसमें श्रीमद्भागवत पढ़ाई जाती है। छात्रों के भोजनादि का प्रबन्ध भी आश्रम की ओर से है। उसमें से भी बहुत से छात्र भागवत लगाकर निकले हैं और उसी के द्वारा अपना योग क्षेम चला रहे हैं।

इधर डेढ़ दो वर्ष से मैं स्थायी रूप से संकीर्तन भवन भूसी में रहने लगा हूँ। भागवती कथा भी अब

नियमित रूप से निकलने लगी है। ८४ खंड अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। आगे के खंड भी प्रकाशित हो रहे हैं, प्रायः प्रति मास एक नया खंड निकल जाता है। पिछले चुके हुए पुराने खंड भी फिर से छपते रहते हैं।

मुट्ठीगंज प्रयाग में जो संकीर्तन भवन का भागवत प्रेस है, उसकी दशा भी दयनीय हो गयी थी, अब उसकी भी दशा सुधर गयी है, उसका भी अपना निजी विस्तृत भवन बन गया है। अर्थ सहित भागवत चरित खूब मोटे अक्षरों में बड़े आकार में दो खंडों में छप रहा है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

अब हमने सोचा है, भागवत चरित का प्रशिक्षण पुनः आरम्भ हो। सोचा यह है, कि वर्ष में चार-चार महीने के तीन सत्र किये जायँ। पहिला अषाढ की गुरुपूर्णिमा से कार्तिक की पूर्णिमा तक, दूसरा कार्तिक की पूर्णिमा से फाल्गुन की पूर्णिमा तक, तीसरा फाल्गुन की पूर्णिमा से अषाढी पूर्णिमा तक इन चार महीनों में प्रशिक्षणार्थी ६० घंटों तक पूरी भागवती कथा पढ जायँ, भागवत चरित के कम से कम ८ परायण हो जायँ और काम चलाऊ बाजा बजाना सीख जायँ तथा प्रवचन करने का—कथा

कहने का-अभ्यास कर लें। उन्हें अपने आप भागवती कथा के एक खंड को दो दिन में पढ़कर समाप्त करना होगा। भागवत चरित के कम से कम ८ पाक्षिक पाठ करने होंगे। कथा सत्संग मे अनिवार्य रूप मे आना होगा, नियमित संगीत सीखना होगा। अखंड कीर्तन मे १ घंटा नियमित कीर्तन करना होगा। इस प्रकार उन्होंने भली-भाँति मन लगाकर अध्ययन किया और परिश्रम पूर्वक पढ़ा, तो चार महीने पश्चात् उन्हे "भागवत चरित व्यास" की उपाधि मिलेगी प्रमाण पत्र दिया जायगा। अध्ययन तो उन्हे स्वयं ही करना होगा। आश्रम से तो उन्हे पढ़ने की सुविधा दी जायगी और मार्ग दर्शन कराया जायगा। ऐसे हम प्रत्येक सत्र में १० प्रशिक्षणार्थी ही ले सकेंगे। उनके भोजन का रूखा सूखा जैसा आश्रम मे बनता है प्रबन्ध यहाँ से किया जायगा। अध्ययन को पुस्तकें भी मिलेंगी। उन्हें आने जाने के मार्ग व्यय का प्रबन्ध स्वयं करना होगा, अपना बाजा स्वयं लाना होगा। आगामी गुरुपूर्णिमा (ता० ८ जुलाई सन् १९७१) से पहिला सत्र आरम्भ हो जायगा। प्रशिक्षणार्थी की अवस्था १८ वर्ष से कम न हो। अधिक चाहे जितनी हो संस्कृत की मध्यमा, अथवा संस्कृत लेकर प्रवेशिका (इंटर)

पास हो, या उतनी ही योग्यता की दूसरी कोई परीक्षा उत्तीर्ण हो या उतनी योग्यता हो। विना यहाँ से स्वीकृति प्राप्त किये कोई कदापि न आवें। यहाँ से स्वीकृति पत्र मिलने पर ही आवें। जो प्रशिक्षणार्थी इसमें सम्मिलित होना चाहे वे पत्र व्यवहार करें। *१—निःशुल्क भोजन, २—निःशुल्क आवास तथा निःशुल्क पाठ्य पुस्तकें इतनी ही सुविधायें आश्रम की ओर से मिलेंगी।*

संकीर्तन भवन,
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

विनीत
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

संस्मरण (३) पिछले खंड का शेष

उन्होंने नौकरों से सामान बांधने को कहा—सब सामान छकड़ों में लद गया। सन्त की दी हुई वह घटी भी सामानों के साथ बाँधकर रख दी गयी। जिन बड़े डेगचों में चावल बनता था, उन्हें माँजकर गाड़ी में रखने लगे। उनके नीचे जला हुआ भात जमा हुआ था, उसे खुरचकर नीचे रख दिया गया। उसी समय एक पागल-सा पुरुष आया और बोला—"सेठजी! भूख लगी है, कुछ खाने को दो।"

सेठ ने कहा—"अरे, बाबा आप तो बहुत देर से आये अब तो सब सामान बँध गया।"

पागल से पुरुष ने कहा—'कुछ भी दे दो।"

सेठ ने सामने पात्रों में से खुरचा हुआ जल हुए चावलों का ढेर देखा। उसी में से थोड़ा भात उठाकर उस पुरुष के हाथ पर रख दिया। उसने उसमें से चार चावल मुख में डाल लिये। चावल मुख में डालकर वह पुरुष चला गया। सेठजी ने आश्चर्य के साथ देखा, सामान में बँधी वह घटी अपने आप बज रही थी, अब भक्त को चेत हुआ अरे, ये ही सिद्ध पुरुष थे। वह उनके पैर पकड़ने दौड़ा, थोड़ी देर तो वे जाते हुए दिखायी दिये फिर अन्तर्धान हो गये।

सेठ ने कहा—"सिद्ध पुरुष के दर्शन तो हुए वह भी पृष्ठ भाग के, किन्तु चरणस्पर्श का सौभाग्य नहीं हुआ। चलो इतना ही मेरा सौभाग्य था।"

बात यह है, कि सिद्ध पुरुष किस समय किस वेष में कब आ

जाय इसका कोई निश्चय तो है नहीं। वे सभी रूपों में आ सकते हैं। अत प्राणामात्र में प्रेमभाव रखने के लिये शास्त्र की आज्ञा है।

ऐसा प्रसिद्धि है, कि महाराष्ट्र में जहाँ श्रीज्ञानेश्वर महाराज की समाधि है उस आलन्दी क्षेत्र में मधुकरी देने से दिन में एक बार कभी न कभी किसी भी वेष में दत्तात्रेय महाराज वहाँ मधुकरी लेने आ जाते हैं। अत. उस क्षेत्र में मधुकरी का बडा माहात्म्य है। यदि आप में सामर्थ्य है तो वहाँ मधुकरी दो, नहीं तो वहाँ की मधुकरी लो। मधुकरी के वहाँ कई क्षेत्र हैं, हमारे एक परम-भक्त बम्बई के गगाशकर भाई व्यासजी हैं, वे भी वहाँ सदा मधुकरी दिलाते रहते हैं। मैं भी एक बार उस पुण्य क्षेत्र में गया था, तब तक मैं वहाँ की मधुकरी की महिमा नहीं जानता था। माधुकरी उसे कहते हैं जैसे भौरा एक ही फूल से रस पान नहीं करता। अनेक फूलों से थोडा-थोडा रस लेता है, जिससे किसी को विशेष कष्ट न हो। जो सत माधुकरी वृत्ति पर निर्वाह करते हैं, वे घर घर से एक रोटी या आधी रोटी माँगकर १०–२० घरों से लेकर पेट भरते हैं। क्षेत्रों में जो मधुकरी दी जाती है उसमें एक या दो रोटी पर थोडा भात और दाल रखकर झोली में डाल देते हैं। ऐसे ही २४ क्षेत्रों से मधुकरी लाकर साधु लोग काम चलाते हैं।

एक भक्त सेठ थे। उन्होंने सोचा आज मैं दिन भर मधुकरी देता रहूँगा और जो भी मधुकरी लेने आवेगा सभी के पैर छूऊँगा, "न जाने दत्तात्रेयजी किस वेष में मधुकरी लेने आ जायँ।" इसलिये वहाँ स्वय मधुकरी बाँटने लगा और जो भी मधुकरी लेने आता सभी के पैर छूता। वहाँ मधुकरी का माहात्म्य है अत. साधु ही नहीं गृहस्थ भी मधुकरी लेने बहुत बडी सख्या में आते हैं। वह

सेठ कोढी, रोगी, मगता, भिखारी, गृहस्थी जो भी माँगने आता सभी को मधुकरी देता और उसके पैर छूता जाता था। उसी भीड में उनका रसोया भी मधुकरी माँगने आया। सेठ ने सोचा—"अरे, यह तो मेरा रसोया नोकर ही है इसके क्या पैर छूऊँ।" यह सोचकर उसके पैर उन्होंने नहीं छूए। रसोया मधुकरी लेकर चला गया।

पीछे उन्हें स्मरण आया—"अरे, रसोये को तो मैं बम्बई ही छोड आया था, वह यहाँ कहाँ से आ गया। हो न हो इसी रूप में भगवान् दत्तात्रेय आये हो। वह जिधर वे गये थे उधर दोडा, किन्तु तब तक वे अन्तर्धान हो गये थे।

यह कथा मुझे गुजरात के सुप्रसिद्ध कथावाचक श्री डोंगरेजी ने सुनायी थी। इस कथा का सार इतना ही समझना चाहिये कि—

तुलसी जग में आइकें मिलियों सबसे धाय।
ना जानें किहि वेष में नारायण मिल जाय॥

भोजन तो जिसके पेट है, उसे ही चाहिये। कुछ लोग कहते हैं—हट्टा कट्टा भिखारियों को देने से क्या लाभ? ऐसे तो सभी लोग माँगने लगेंगे। सब मगता बन जायेंगे, बेकारी बढेगी।

हमारा कहना है—"अरे, भाई! आदमी तभी माँगता है, जब विवश हो जाता है, नहीं मगता बनकर अपमानित कोन होना चाहेगा। हाँ, कुछ लोगों का भीख माँगना व्यवसाय अवश्य हो जाता है, वे माँग-माँगकर बहुत-सा द्रव्य एकत्रित कर लेते हैं। अत. आप किसी को नकद द्रव्य भले ही मत दो। अन्न देने में क्या हानि, उन्हें बठाकर भोजन करा दो। कोई भी होगा, भोजन तो कहीं से करेगा ही। इसीलिये शास्त्रों में अन्न दान की इतनी भारी प्रशंसा है।

संसार मे गौ दान, भूमिदान और कन्यादान ये महादान बताये गये हैं, इन दानो के दाता गृहीता दोनों ही पुण्य के भागी होते हैं, किन्तु इन सभी दानों से श्रेष्ठ है अन्न दान। अन्न दान से बढ़कर दान न है न हुआ और न होगा।

अन्नदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।
पुण्यं यशस्यमायुष्यं बलपुष्टि विवर्द्धनम्॥

छप्पय

अन्न मॉहिँ ही प्रान अन्न में लोक सकल हैं।
अन्न बिना सब जीव क्षुधातैं दुखी विकल हैं॥
अन्न दान जे करें, दार सुत धन यश पावैं।
अन्न प्रेमतैं देहिँ पुन्य लोकनि में जावैं॥
अन्न सिद्धिमय ब्रह्ममय, अन्न उपासन जे करत।
अन्न दान परभाव तैं, भवसागर सहजहिँ तरत॥

संस्मरण

[४]

विद्यार्थी

विद्यानाम कुरूपरूपमधिकं प्रच्छन्नमन्तर्द्धनम् ।
विद्यासाधुजनप्रिया शुचिकरी विद्यागुरूणां गुरुः ॥
विद्याबन्धुजनार्त्तिनाशनकरी विद्या परं देवता ।
विद्याभोग्ययशः कुलोन्नतिकरी विद्याविहीनःपशु ॥*

(गरुड पु० ११० अ० ११४ श्लोक)

छप्पय

विद्या जापै होहि रूप ताही को मनहर ।
विद्या जापै होहि वित्त ताही को सुखकर ॥
विद्यातैं ही भोग, कीर्ति, यश, धन सब आवें ।
विद्यावान कुलीन श्रेष्ठ उन्नत कहलावें ॥
विद्याधन जिनि संग्रह्यो, तिनि यश गावें रुद्र बसु ।
विद्या तैं जे हीन ते, सींग पूँछ बिनु द्विपद पशु ॥

---

* विद्या कुरूप को भी अधिक रूपवान् करने वाली है, विद्या छिपा हुआ अन्तर्धन है । विद्या साधुजनो की प्रिया है, वह पवित्र करने वाली तथा गुरुओ की भी गुरु है । विद्या बन्धु बान्धवो के दु खो को नाश करने वाली है, विद्या परम देवता है । विद्या भोग्य पदार्थ, यश तथा कुल की उन्नति करने वाली है, जो मनुष्य विद्या से विहीन है, वह पशु के सदृश है ।

हमारे यहाँ सनातन वर्णाश्रम आर्य धर्म में जिसके द्वारा संसार सागर से मुक्त हो सकें उसका नाम विद्या है। विद्वान पुरुष ही यह जान सकता है, कि कौन-सा कार्य करना चाहिये कौन-सा कार्य नहीं करना चाहिये। कर्त्तव्याकर्तव्य के निर्णय के लिये शास्त्रीय ज्ञान परमावश्यक है। हमारे यहाँ अठारह विषयों के ग्रन्थों को शास्त्र की संज्ञा दी है। इसीलिये पुराणकारों ने स्थान-स्थान पर अष्टादशा विद्या का उल्लेख किया है। वे अठारह ये हैं। १-शिक्षा, २-कल्प, ३-व्याकरण, ४-निरुक्त ५-ज्योतिष, और ६-छन्द ये वेद के अंगभूत ६ शास्त्र, १-ऋग्वेद, २-यजुर्वेद, ३-सामवेद, और ४-अथर्व वेद ये चार वेद, १-आयुर्वेद, २-धनुर्वेद, ३-गान्धर्व वेद और ४-अर्थशास्त्र ये चार उपवेद तथा १-मीमांसा, २-न्याय, ३-धर्मशास्त्र, और ४-इतिहास पुराण ये सब मिलाकर १८ हुए। शेष सभी इन्हीं अठारहों के अन्तर्गत आ जाते हैं।*

पहिले जो इन अठारहों के ज्ञाता होते थे वे आचार्य या गुरु कहलाते थे। वे बड़े त्यागी, सदाचारी, सत्य परायण, कर्मकांडी तथा स्वधर्म निरत ब्राह्मण हुआ करते थे। उनकी धारणा शक्ति ऐसी अद्भुत होती थी, कि वे परम्परागत विद्या को श्रवण करते ही धारण कर लेते थे। यह धारणा शक्ति उनमें उनके अद्भुत त्याग, वैराग्य, सदाचार, स्वाध्याय तथा तप के प्रभाव से स्वतः ही

---

* अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः।
धर्मशास्त्र पुराण च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थ शास्त्र चतुर्थश्च विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥

(विष्णु पुराणे)

आ जाती थी। वे एकान्त अरण्य मे वास करते थे। वे शास्त्रों का अध्ययन निष्कामभाव से, अपना धर्म समझकर कर्तव्य बुद्धि से किया करते थे। वे अन्नजनित दोष से बचने की सदा चेष्टा करत थे। शिलोञ्छवृत्ति से, अयाचितवृत्ति से अथवा शिष्यों द्वारा लायी हुई भिक्षा से निर्वाह करत थे। वे इतने प्रज्ञावान् होते थे, कि उन्हें स्मरण रखने को, विषयों को लिखना नहीं पडता था, सब सुनकर ही धारण कर लेते थे, इसीलिये वेदों को श्रुति कहते हैं। वे वेद वेदांगों को परम्परा से सुनकर ही स्मरण कर लेते थे ऐसे आचार्य प्रायः गृहस्थ होते थे। गृहस्थ हुए बिना पुत्र स्नेह का अनुभव नहीं हो सकता। वे अपने पुत्रों के समान ही अपने शिष्यों को–परपुत्रों को–प्यार करते थे। वे किसी के अधीन नहीं होते थे, किसी के आर्थिक दबाव मे आकर कभी कोई अनुचित कार्य नहीं करते थे। मनुष्य जब निरन्तर अर्थ के विषय में दूसरों के आश्रित रहता है, तो उसे दाता की उचित अनुचित सभी बातों को मानना पडता है। स्वार्थ व्यक्ति को अन्धा बना देता है। आचार्यगण न तो किसी से याचना करते थे, और न किसी के आश्रय मे रहते थे, भगवान् के भरोसे पर रहकर पूरे कुल का भरण पोषण करते थे। ये आचार्य या गुरु तथा उनकी पत्नी गुरुआनी अपने पुत्रों मे तथा पढने आये दूसरे विद्यार्थियों मे अणुमात्र भी भेदभाव नहीं मानते थे। वे विद्यार्थी सद्गृहस्थ द्विजातियों के घरों में भिक्षा के लिये जाते थे। गृहस्थी भोजन बनाकर–बलिवैश्वदेव करके–विद्यार्थियों की प्रतीक्षा में बैठे रहत थे। मातायें बार बार द्वार पर आकर देखती आज अभी विद्यार्थी भिक्षा के लिये नहीं आये। तभी विद्यार्थी आकर कहते—'भवति भिक्षा देहि' माताओं का हृदय—उन भोले बच्चों को देखकर भर आता था, अपने बच्चों की याद आ जाती। हमारे बच्चे भी ऐसे

ही किसी के घर मे भिक्षा माँगने को गये होंगे। वे भी किसी के द्वार पर झोली लिये खडे होंगे। उन विद्यार्थी ब्रह्मचारियो की झोलियो मे भिक्षा देते समय मातायें अनुभव करती, मानों हम अपने ही बच्चो को भिक्षा दे रही हैं। समता का कितना ऊँचा आदर्श था, इस भिक्षा प्रणाली मे।

बहुत से ब्रह्मचारी भिक्षा लाने मे प्रमाद करते। भिक्षा न लाना यह है तो विद्यार्थी धर्म–छात्र सदाचार–के विरुद्ध। फिर भी गुरु तथा गुरुपत्नी उन्हे भिक्षा न लाने पर स्वयं बनाकर खिलाते। राम राज्याभिषेक के समय ऐसे ही छात्रो को उद्देश्य करके माँ कौशल्या ने कहा था—"वे कठ शाखा वाले ब्रह्मचारी स्वादुभोजन तो चाहते हैं, किन्तु भिक्षा करने में आलस्य करते है, उन सबको विपुल मात्रा मे सुवर्ण मुद्रायें दे दो।"

इससे प्रतीत होता है, राजे-महाराजे, धनी-मानी सभी सद्-गृहस्थ ब्रह्मचारी विद्यार्थियों का तथा विद्यादान करने वाले आचार्यों का बहुत ध्यान रखते थे। स्थान-स्थान पर ऐसे बहुत से आश्रम तथा गुरुकुल होते थे। जिस आचार्य की जैसी सामर्थ्य होती थी, उतने ही ब्रह्मचारी वह रख लेता था। किसी-किसी आचार्य के यहाँ तो १०-१० सहस्र विद्या प्राप्त करने वाले छात्र तथा तपस्वी रहते थे। वे उन सबके भोजनादि का सब प्रबन्ध करते। जो १० सहस्र विद्यार्थी ब्रह्मचारी तथा तपस्वियों के भोजनादि का प्रबन्ध करे वही कुलपति कहलाता था। उस समय के कुलपतियो मे वाल्मीकि, भरद्वाज, दुर्वासा, कण्व आदि अनेको कुलपतियों का नाम इतिहास पुराणों मे आता है। उन गुरुकुलो का जब वृत्तान्त पढ़ते हैं, तो हृदय मे एक प्रकार की हूक उठती है। अहा! कैसे वे स्वच्छन्द, स्वतन्त्र गुरुकुल आश्रम मे रहे होंगे। बड़े-बड़े राजा राजपुत्र वहाँ हाथ जोड़े विनयावनत खड़े रहते थे। अग्नि

के सदृश जाज्वल्यमान तपःपूत महान् तेजस्वी कुलपति जब दर्शनार्थ खड़े हुए सहस्रों राजा, राजपुत्र, श्रेष्ठि तथा तपस्वियों के सम्मुख अग्निहोत्र करके निकलते होंगे तब सहस्रों श्रद्धाञ्जलियाँ उनके चरणारविन्दों में समर्पित होती होंगी।

वे आश्रम क्या होते होंगे, अरण्यों के छोटे मोटे राज्य ही होते थे। लाखों गौएँ जिनमें स्वच्छन्द घूम रही हैं, विपत्ति में फँसी राजमहिषियाँ, राज्य भ्रष्ट राजागण जहाँ आश्रय पाते थे। जिन भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा उन दुष्यन्तात्मज महाराज भरत का लालन पालन कुलपति महर्षि कण्व के ही आश्रम में हुआ। भगवान रामचन्द्रजी के तनय लव-कुश का जन्म तथा उनका लालन पालन कुलपति महर्षि वाल्मीकि के ही आश्रम में हुआ। राज्य से निर्वासिता भगवती सीता को आश्रय देकर भगवान् वाल्मीकि ने कैसा साहस का कार्य किया।

उस समय के कुलपति, राजाओं तक को तुच्छ समझते थे और राजाओं को नतमस्तक होकर उनकी समस्त आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। कोशल देश एक महान राज्य था। उसके राजा ध्रुवसन्धि को दो रानियाँ थीं। बड़ी रानी मनोरमा के पुत्र का नाम सुदर्शन और छोटी रानी लीलावती के पुत्र का नाम शत्रुजित् था। राजा ध्रुवसन्धि अकाल में ही काल कवलित हुए। दोनों राजकुमारों के नाना अपने अपने दौहित्र को राजगद्दी पर बिठाना चाहते थे।। शृङ्गवेरपुर के दस्यु निषादराज उन्हें लूटने आ पहुँचे। दोनों राजाओं में घोर युद्ध हुआ। शत्रुजित् के नाना युधाजित् का पलड़ा भारी पड़ गया। बड़ी रानी मनोरमा के पिता सुदर्शन के नाना युधाजित् युद्ध में मारे गये। तब महारानी मनोरमा अपने अनाथ पुत्र को चुपके से लेकर महामन्त्री विदल्ल के साथ एक रथ पर चढ़कर चोरी से भाग निकली। क्योंकि

युधाजित् अपने दौहित्र शत्रुजित् के राज्य को निष्कंटक बनाने के लिये सुदर्शन की हत्या करने वाला था। दूसरे राज्य तो युधाजित् के भय से मनोरमा को शरण दे नहीं सकते थे। वह अपने पुत्र को लेकर मन्त्री सहित कुलपति भगवान् भरद्वाज की शरण मे मे आयी। विपत्तियों पर विपत्तियाँ उस रानी पर आ रहीं थीं। पति मर गया, पिता रण मे मारा गया, राज्य पाट छिन गया, शत्रु उसके पुत्र को भी मार डालना चाहते थे, किसी प्रकार रथ पर चढकर पुत्र को लेकर चोरी छिपे भगकर गंगातट पर आई तो, वहाँ के निषाद दस्युओ ने उनका सर्वस्व छीन लिया रथ भी छीन लिया। किसी प्रकार गंगापार करके वह चित्रकूट के समीप स्थित कुलपति भगवान् भरद्वाज के आश्रम पर आई। ऋषि ने उसे आश्रय दिया, उसको निर्भय किया। जब युधाजित् ने यह यह समाचार सुना कि मनोरमा अपने पुत्र को लेकर भरद्वाज जी के आश्रम में ठहरी है, तो वह सेना लेकर आश्रम मे आ धमका और कुलपति से कहा—"मुनिवर! देखिये, आप राजाओ के बीच मे न पड़े। ऋषियो को राजनीति से दूर ही रहना चाहिये। मैं मनोरमा तथा सुदर्शन को छोड नही सकता। आप प्रसन्नता से इन्हे अपने आश्रम से न निकालेंगे तो मैं इन्हे बलपूर्वक ले जाऊँगा।"

राजा के ऐसे गर्व पूर्ण वचन सुनकर कुलपति हँस पड़े। और बोले—"राजन्! ऐसा ही साहस पूर्वकाल मे राजा विश्वामित्र ने वशिष्ठ जी की गो ले जाने को किया था। वह कथा तो तुम्हे स्मरण ही होगी। तुममे यदि शक्ति हो, साहस हो तो वह भी कर के देख लो।"

कुलपति का ऐसा निर्भीक उत्तर सुनकर राजा भयभीत हो गया। उसने अपने वृद्ध मन्त्री से सम्मति की। मन्त्री ने कहा—

"महाराज ! बर्र के छत्ते में हाथ मत डालो। इन महर्षियों से पार पाना अत्यन्त कठिन है। आप अपना भला चाहते हो, तो चुपचाप लौट चलिये।" यह सुनकर राजा रक्त का घूँट पीकर अपना-सा मुँह लेकर जैसे आया था वैसे ही चुपचाप लौट गया। महर्षि ने माता पुत्र तथा मन्त्री को आश्रय दिया और अन्त में देवी जी की कृपा से उसे राजा भी बना दिया। ऐसी होती थी, उन दिनों के कुलपतियों की सामर्थ्य बड़े-बड़े राजे-महाराजे उनकी कृपा के लिये लालायित रहते थे।

क्रूर काल की विडम्बना के कारण ये गुरुकुल नष्ट होने लगे। उनका स्थान 'टोल' पाठशाला तथा विद्यालयों ने ले लिया। धर्मात्मा पुरुष वेतनिक पंडित रख देते थे विद्यालय खोल देते थे, उनमें वेतनिक उपाध्यायगण वेदवेदाङ्ग पढ़ाते थे, विद्यार्थी लोग उनमें पढ़ते भिक्षा वृत्ति से अपना निर्वाह करते थे। कालान्तर में लोग भिक्षा देने में भी संकोच करने लगे, विद्यार्थियों को अन्न का कष्ट होने लगा, तो धर्मात्मा धनी मानी पुरुषों ने अन्नक्षेत्र खोल दिये। अन्नक्षेत्रों में भोजन कर आओ, विद्यालयों में पढ़ आओ। इस प्रकार पुराने अवेतनिक त्यागी विरागी निरपेक्ष आचार्यों का भी अभाव हो गया और भिक्षा वृत्ति भी बन्द हो गयी। बहुत से विद्यार्थियों ने १२, २४, ३६ अथवा ४८ वर्षों तक के लिये गुरुकुलों में जाना बन्द कर दिया। वे घर पर ही रहते, विद्यालयों में या टोलों में जाकर पढ़ आते, जो धनी मानी समर्थ होते वे अपने बच्चों को पढ़ाने को वैतनिक अध्यापक भी रख लेते। पहिले वेतन लेकर पढ़ाना महान पाप माना जाता था, किन्तु राजा द्रुपद के अपमान से अभिभूत हुए महर्षि द्रोणाचार्य ने यह प्रथा चला दी। राजाओं के घर पर वैतनिक रूप में पढ़ाने वाले उपाध्याय सर्वप्रथम द्रोणाचार्य ही हुए। फिर तो

वह चाहे अन्न वस्त्र, वाहन गौ, किसी भी रूप में क्यों न लिया जाय–लेने की प्रथा ही चल गयी। फिर भी उपाध्यायों को कुलीन वेदज्ञ ब्राह्मण बहुत सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। पाठक तथा उपाध्यायों को वे वैदिक ब्राह्मण समाज में विशेष आदर नहीं देते थे किन्तु करें क्या विद्या का तो प्रचार करना ही है। निस्वार्थ आचार्य कोई निर्माण तो किये ही नहीं जा सकते थे। वेदवेदाङ्गों का पढ़ना द्विजातियों के लिये परमावश्यक था, अतः अरण्यों में नहीं ग्रामों तथा नगरों में पाठक उपाध्यायों वाले सहस्रों लक्षों टोल खुल गये। राज्यों की सहायता से विश्वविद्यालय बन गये। जिनमें सहस्रों विद्यार्थियों के रहने, भोजन, वस्त्र, चिकित्सा का प्रबन्ध था। बौद्ध राजाओं ने इन विश्वविद्यालयों पर अरबों, खरबों का द्रव्य व्यय किया। नालन्दा राजगृह के बौद्ध कालीन ऐसे ही विश्वविद्यालय थे। जिनमें चीन, जापानादि के देशी विदेशी लाखों छात्र शिक्षा पाते थे।

बौद्धों के पश्चात् यवनों का इस देश पर आधिपत्य हुआ। उन्होंने यावना भाषा का यावनी संस्कृति का इस देश में प्रचार-प्रसार करना चाहा। क्योंकि राज्यसत्ता उनके अधीन थी, संस्कृति का विशेष सम्बन्ध भाषा से ही है। तब तक यहाँ के ब्राह्मण राजाओं की नौकरी करना पाप समझते थे, उसे "श्ववृत्तिर्नीच सेवनम्" कहकर हेयदृष्टि से देखते थे। अतः यावनी भाषा का यवनी संस्कृति का वर्णाश्रम धार्मियों में विशेष प्रचार-प्रसार न हो सका। हाँ जिस जाति के लोग राजाश्रय में रहकर राज काज करते थे। राज्यभृत्यता जिनकी परम्परागत वृत्ति थी, वैसे कायस्थ तथा अन्य संकर वर्णी लोगों ने–तथा कुछ अर्थ लोलुप–संसारी सुखेच्छु ब्राह्मणों ने भी यावनी भाषा अपना ली। वे यावनी भाषा के विद्वान होने पर राज्य के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पदों पर पदासीन होने

लगे। फिर भी संस्कृत विद्यालयों या टोलों का न महत्त्व ही कम हुआ और न उनकी संख्या ही कम हुई। अपितु उनकी संख्या में वृद्धि ही हुई। बहुत से यवन शासक भी संस्कृत के बड़े-बड़े भारी धुरधर विद्वान हो गये हैं। उस समय काशी, कांची, कन्नौज, कश्मीर तथा नदिया ये सुप्रसिद्ध विद्यापीठ थे।

पूर्व में नदिया, पश्चिम में कान्यकुब्ज, उत्तर में कश्मीर, दक्षिण में कांची और सबके मध्य में सर्वश्रेष्ठ काशी ये विद्या के प्रधान क्षेत्र थे। कोई कवि काव्य लिखता तो उसे इन पाँचों पीठों के पंडितों से मान्यता प्राप्त करानी पड़ती थी। बिना इनकी मान्यता प्राप्त ग्रन्थों की कोई भी प्रतिलिपि नहीं करता था। उन दिनों आज की भाँति मुद्रणालय तो थे नहीं। सभी लोग सम्मानित ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करके ही उनसे निर्वाह करते थे। मुसलमानी शासन काल तक यह क्रम अनवरत रूप से चलता रहा। हाँ, राजकाजी पुरुष तो फारसी आदि यावनी भाषाओं को अवश्य पढ़ते थे, शेष सर्वसाधारण जनता इनसे अनभिज्ञ ही बनी रही। अँगरेजों के आने के पूर्व तक अकेले बंग देश में ऐसी ५ लाख पाठशालायें थीं।

अँगरेजों के शासन आने पर यह प्रश्न हुआ कि शिक्षा का माध्यम क्या रखा जाय। सबकी सम्मति यही थी, कि सदा से जो संस्कृत माध्यम चला आ रहा है, वही शिक्षा का माध्यम रखा जाय। किन्तु लोगों ने कहा—"संस्कृत दुरूह भाषा है, हिन्दी को राज्य भाषा बनाया जाय।" जब अँगरेजों की राजधानी कलकत्ता थी, इस्टइंडिया कम्पनी का राज्य था, तब कुछ दिन हिन्दी ही इस देश की राजभाषा मानी गयी। जो भी आंगल देश से यहाँ अधिकारी आते थे, उनके लिये हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य था।

भारतीय सेवा आयोग (इन्डियन सिविल सर्विस) का जो भी सदस्य यहा मदरास, कलकत्ता, बबई किसी भी बदरगाह पर उतरता, वह लोगा से हिन्दी मे ही बात करता। विदेशो मे ऐसी मान्यता था, कि समूचे भारत की एक मात्र भाषा हिन्दी है। उनकी यह धारणा निराधार भी नहीं थी। इस देश के सन्तो ने बहुत पहिले ही सस्कृत के स्थान पर हिन्दी को ही सम्पर्क भाषा के माध्यम से राष्ट्र भाषा मान रखा था। उस समय हिन्दी, बगला, मराठी, पजाबा, पहाडी नपाला इनमे कोई भी अतर नहीं था। ब्रजभाषा को पूरे देश ने कविता की भाषा और सब मिली-जुली को भाषा बाता मान रखा था। गद्य मे बहुत ही कम–नहीं के बराबर–ग्र थ लिखे जाते। सस्कृत या ब्रज भाषा मे सभी ग्र थ पद्य में ही लिखने की प्रथा था।

अग्रेजो को राज्य विस्तार के साथ ईसाइयत का भी प्रचार करना था। किन्तु वे मुसलमानो का भाँति बलपूर्वक धर्मान्तरित करने के पक्ष मे नहीं थे। वे मीठा विष देकर मारना चाहते थे। वे देख चुके थे, सहस्रो वर्षों से बलपूर्वक–नाना अन्याय, अत्याचार पापाचार, लूट पाट और बलात्कार करने पर भी मुसलमान पूरे देश को मुसलमान नहीं बना सके। अतः वे चाहते थे भारतवर्ष की शिक्षा प्रणाली को बदल दिया जाय। सस्कृत से जब तक देश वासियो का लगाव रहेगा, तब तक वे भारतीय धर्म सस्कृति से चिपके ही रहेंगे। तब तक इगलैड आदि पश्चिमीय देशों मे वर्तमान समय की पाश्चात्य ईसाई सस्कृति प्रधान विश्व विद्यालयी इँगलिश पद्धति वाली शिक्षा प्रणाली का वहाँ के विद्यालयो मे प्रचार हो चुका था। वह प्रणाली शुद्ध पाश्चात्य ढग की धर्म हीन भारतीय परम्परा के विरुद्ध थी। एक लार्ड मेकाले नामक अँगरेज ने उसे ही भारत मे प्रचारित करने का आग्रह किया। उसका

कहना था इस शिक्षा से हिन्दू छात्र तत्काल ईसाई तो न बन जायँगे, किन्तु वे हिन्दु भी नहीं रह जायँगे। धर्म संस्कृति हीन नाम मात्र के हिन्दु संस्कार मे पाश्चात्य ढँग के ईसाई हो जायँगे। उसका सपना सत्य हुआ। हमारे देश की इस शिक्षा प्रणाली ने हमारी परम्परागत संस्कृति का सत्यानाश कर दिया, हममें से धार्मिक आस्था हटा दी। हम अपने धर्म को, अपने पूर्वजों को, अपनी संस्कृति को हेय समझने लगे। इस शिक्षा प्रणाली ने हमारी संस्कृति की नींव ही हिला दी, जिसे दस्युधर्मी आततायी, यवन नाना अत्याचार करके भी हिला नहीं सके थे।

शिक्षा का माध्यम अँगरेजी निश्चित हो जाने पर सभी विषयों को अँगरेजी मे पढ़ाये जाने का आग्रह होने पर यहाँ के विश्व-विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विद्यालयों और आरंभिक विद्यालयों मे अँगरेजी शिक्षा आरंभ हुई। कहने के लिये संस्कृत को अरबी, फारसी की भाँति एक सामान्य विषय रखा गया। आरम्भ मे छटी श्रेणी तक की आरंभिक शिक्षा मातृ भाषा मे दी जाती थी, फिर माध्यमिक परीक्षा देने के अनन्तर दो वर्ष की विशेष कक्षायें रखीं जाती थीं, उनमे अँगरेजी सिखाकर छात्रों को आठवीं श्रेणी मे सम्मिलित किया जाता था, फिर स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षा तक की समस्त शिक्षा अँगरेजी ही में दी जाती थी। और देश के स्वतंत्र हो जाने पर भी यह क्रम प्रायः अभी तक चालू है। यही नहीं अब स्वतंत्र हो जाने पर चतुर्थ कक्षा से ही अँगरेजी सिखायी जाने लगी है।

हमारे बाल्यकाल मे अँगरेजी को बड़े घरों के-सम्पन्न परिवार के ही-लोग पढ़ते थे। अँगरेजी सरकार का निश्चय था, राज्यकाज अँगरेजी में ही हुआ करे। जितने भी राज्य के बड़े सम्मानित पद थे, उन सब पर अँगरेज ही आसीन थे.

हमारे समय में भारतियों के लिये उप संग्रहीता (डिप्टी कलेक्टर) ही सबसे बड़ा पद माना जाता था। पुलिस में भारतियों के लिये उप निरीक्षक (थानेदार) सबसे बड़ा पद था। उस समय जो माध्यमिक कक्षा (मिडिल) उत्तीर्ण कर लेता उसे अधिवक्ता (वकील) का प्रमाण पत्र मिल जाता। जिसने बी० ए० कर लिया, वह बहुत भारी आदमी माना जाता था। हमारे बाल्यकाल मे मथुरा मे किसी ने बी० ए० कर लिया। उनका नाम ही बी० ए० बाबू पड़ गया। उस समय शिक्षालयों के कुलपति, उप कुलपति, प्रधानाचार्य, प्रधानाध्यापक सभी अँगरेज ही होते थे। विश्व-विद्यालयो और महाविद्यालयों के विविध विषयों के प्राध्यापक भी अँगरेज ही होते थे। उन्हें राज्यकाज के लिये अँगरेजो को अँगरेजी जानकार लिपिकों (क्लर्कों) की आवश्यकता होती थी, अतः आठवीं दशवीं कक्षा उत्तीर्ण पुरुषों को तुरन्त सरकारी नौकरी मिल जाती थी। बी० ए० पास को तो उप संग्रहीता (डिप्टी कलेक्टरी) निश्चित ही मिल जाती। कुछ एम० ए० उत्तीर्ण हमारे काल मे न्यायाधीश-न्यायमूर्ति (जज) भी हुए। उनका पूरे देश मे बडा नाम हुआ।

राजा जिस भाषा को प्रश्रय देता है, वह राज्याश्रित भाषा सम्मानित मानी जाती है, जनता की दृष्टि मे उसका बड़ा आदर होता है। यवन शासन काल मे फारसी का बड़ा सम्मान था। फारसी के विद्वान् ही राज्य के ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित होते थे। जब फारसी जानने वाले अत्यधिक हो गये, और सबको सरकारी नौकरी मिलना असम्भव हो गया, तब फारसी पढ़े लिखे अन्य व्यवसायादि करने लगे। किसी फारसी पढ़े को तेल बेचते देख कर यह लोकोक्ति ही बन गयी, "पढ़े फारसी बेचें तेल, यह देखो विधिना को खेल" इसी प्रकार जब अँगरेजी का अधिक प्रचार हो

गया तो बहुत से अँगरेजी-स्नातकों को भी नौकरी मिलना कठिन हो गया। फिर भी अँगरेजी शिक्षित सम्माननीय ही माना जाता था।

अँगरेजी राज्य भाषा होने पर सम्मानित समर्थ लोग अपने बच्चों को अँगरेजी की ही शिक्षा दिलाने लगे। जो आदर वर्णाश्रमी सनातन आर्य धर्मावलम्बी शासकों के काल में संस्कृत भाषा को था, वही आदर अब अँगरेजी का होने लगा। संस्कृत अब केवल धर्म भाषा रह गयी। जिन ब्राह्मणों की आजीविका ही पंडिताई, पुरोहिती से चलती थी, अब वे ही विवाह कराने कथा बाँचने को संस्कृत पढ़ते थे। ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी लोग राज्य भाषा में ही शिक्षा पाने लगे। ब्राह्मणों में भी जो समर्थ थे, वे भी अपने बच्चों को अँगरेजी ही पढ़ाने लगे। जिस ब्राह्मण के ६ बच्चे है। वह देखता है, उसके भाई के लड़के अधिवक्ता (वकील) न्यायाधीश (जज) प्राध्यापक (प्रोफेसर) अभियंता अधिशायी (इंजिनियर) आदि बनकर बड़े-बड़े वेतनों वाले अधिकारी बन गये हैं। वे एक-एक दिन में १०-१०, २०-२०, ५०-५० रुपये नित्य पाने लगे हैं। और हमारे संस्कृत पढ़े बच्चे दिन भर पाठ-पूजा, कथा कहकर भी एक सीधा, पाँच आने पैसे ही प्राप्त करते हैं। सो भी दिन भर यजमान के पीछे फिरना पड़ता है, उसकी हाँ में हाँ मिलाना पड़ता है, तो असमर्थ होने पर भी—कहीं से ऋण लाकर—घर-द्वार भूमि बेचकर अपने लड़कों को अँगरेजी पढ़ाने लगे। अपने लड़कों में जो रूपवान्, प्रज्ञावान्, चतुर, बुद्धिमान होते उन्हें जैसे भी होता वैसे अँगरेजी पढ़ाते। जो देखने में भी कुरूप, मंदबुद्धि सबसे गया बीता होता, उसे संस्कृत पाठशालाओं में पटक आते। क्षेत्रों में माँगो, खाओ और जैसे चाहो तैसे संस्कृत पढ़ो। घर से उन्हें प्रायः सहायता नहीं मिलती थी।

हमारे बाल्यकाल में पाठशालायें चार प्रकार की होती थीं। (१) एक तो जो धर्मात्मा परोपकार बुद्धि वाले आचार्य होते, वे अपने घर पढने जो भी ब्राह्मण बालक आता उसे निःशुल्क पढा देते। वे किसी के नौकर नहीं होते थे। असमर्थ विद्यार्थियों का किसी सेठ से–सद्गृहस्थ से सीधा बँधवा देते। बहुत से विद्यार्थी घर-घर से भिक्षा माँग लाते। इस प्रकार वे धर्मात्मा अध्यापक विद्यादान करते, विद्यार्थियों की भिक्षा का कहीं से प्रबन्ध करा देते, किन्तु उनकी भिक्षा में से स्वयं कुछ नहीं लेते थे।

दूसरा श्रेणी की ऐसी पाठशालायें होती थीं, कि कोई सेठ साहूकार-धनी मानी व्यक्ति धार्मिक भाव से किसी पंडित को वेतनिक अध्यापक रख देते। अध्यापक को नियमित वेतन देते। विद्यार्थी उनसे पढते। अन्न क्षेत्रों में जाकर जहाँ बनी बनायी रसोई मिलती, वहाँ जाकर खा आते। जिन क्षेत्रों में सूखा सीधा मिलता वहाँ से नित्य सीधा लाकर सब अपनी-अपनी अलग अलग रसोई बनाते। एक एक पाठशाला में ३०-३०, ४०-४०, चूल्हे चढते। क्षेत्रों में एक बार ही भोजन मिलता था, बनाने वाले भी सब एक ही बार बनाते थे। कोई भाग्यशाली विद्यार्थी ही दोनों बार भोजन पाता। नहीं तो संस्कृत के विद्यार्थी को एक ही बार भोजन मिल जाय, तो बडे भाग्य की बात है। "एकाहारी सदा सुखी।"

तीसरी श्रेणी की वे पाठशालायें होती थीं, जिन में ४० ५० नियत विद्यार्थियों को एक बार बना हुआ या सूखा अन्न मिलता। रहने को स्थान, पढने को तेल मिलता, किन्तु अध्यापक नहीं। यहाँ रहो, खाओ और जहाँ इच्छा हो, जिस पंडित से भी चाहो पढ आओ। कोई उनसे पूछता नहीं था, कहाँ पढते हो, क्या पढते हो। इन्हें पाठशाला न कहकर निःशुल्क छात्रावास ही कहना चाहिये। कुछ क्षेत्र सायंकालीन भी होते थे। जैसे भगवान्

का मंदिर है, उसमे सायकाल को ५ सेर की पूडी भगवान् को भोग लगीं। तो वे सब पूडियाँ-चार चार पूडियाँ साग के सहित-विद्यार्थियों को बाँट दी जातीं। उनसे सायकालीन व्यालू हो जाती। कुछ धर्मात्मा लोग चने भिगोकर उन्हे छोककर विद्यार्थियों म सायकाल को बँटवाते, कुछ भुने हुए सूखे ही चने बँटवाते। उन्हे लाकर विद्यार्थी खाकर पानी पीकर सो जाते।

चौथी श्रेणी की वे पाठशाला हैं, जिनम पढाई, भोजन, पुस्तक, तेल आदि सभी प्रकार की व्यवस्था होता थी। अच्छे अच्छे वेतनिक अध्यापक रखे जाते, उनके भोजनो की कहीं एक बार की कहीं दो बार की व्यवस्था की जाती, ऊपर से विद्यार्थियों को कुछ आवश्यक कार्यों को नियमित द्रव्य भी दिया जाता। ये चारो प्रकार का पाठशालाये धनी मानी धर्म प्रधान सेठ साहूकारो, राजा महाराजाओं तथा समर्थ व्यक्तियों द्वारा धार्मिक भावना से की जाती। सरकार का इनमे तनिक भी हाथ नहीं होता था। उस समय तक आज की भाँति धार्मिक भावना सर्वथा लुप्त नहीं हुई थी। लोगो के हृदयो मे धर्म की भावना बनी हुई थी। सस्कृत पढने वाले विद्यार्थी प्राय: निर्धन ब्राह्मण बालक ही होते थे। उनकी सहायता करने मे पुण्य होता है, इसी भावना से ये पाठ शालायें अन्न क्षेत्र तथा अन्य क्षेत्र चलते थे। मैंने इन चारो प्रकार का पाठशाला म रहकर अपना विद्यार्थी जीवन बिताया है। लगभग विभिन्न प्रकार की ६-७ पाठशालाओ का मुझे अनुभव है।

सस्कृत पढने सस्कृत पाठशालाओं म प्राय ऐसे ही निर्धन छात्र जाते हैं जो राजकीय विद्यालया म आर्थिक अभाव के कारण प्रविष्ट नहीं हो सकते। सस्कृत पढना हमारा धर्म है-कष्ट सह कर-तपस्या करके नि स्वार्थ भाव से वेद वेदाङ्गो का अध्ययन करना ब्राह्मण का कर्तव्य है, इस दृष्टि से सस्कृत पढने वाले तो

विरले ही कोई होते होंगे। परलोक में पुण्य लोकों की प्राप्ति होगी, इससे भूख रहकर तपस्या करके ब्राह्मण को कष्ट सहना चाहिये।* यह भावना प्रायः समाप्त हो गयी है।

अब तो प्रायः असमर्थता के कारण संस्कृत का विद्यार्थी बना जाता है। घर वाले किसे किसी काम का नहीं समझते, अथवा किसी भी प्रकार राजकीय विद्यालयों में उच्च शिक्षा नहीं दिला सकते। उन्हें संस्कृत पाठशालाओं के लिये छोड़ देते हैं। उनमें भी कोई कोई भाग्यशाली प्रज्ञावान् निकल जाते हैं। नहीं तो बहुत से पढ़कर पंडिताई करने लगते हैं, बहुत से कहीं अध्यापक हो जाते हैं, कुछ प्रज्ञावान् संस्कृत पढ़कर किसी की सहायता से या अपने पुरुषार्थ से आधुनिक उच्च शिक्षा प्राप्त करके किसी उच्च पद पर भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं। ऐसे इने गिने ही रहते हैं।

एक तो ये जन्मजात निर्धन होते हैं, दूसरे ये क्षेत्रों का कुधान्य खाते हैं, तीसरे उन्हें सदा सहायता के लिये दूसरों का मुख ताकना पड़ता है। चौथे ये सदा दान के द्रव्य के लिये, निमंत्रण के लिये उत्सुक रहते हैं। इससे उनकी आत्म सम्मान की भावना तुच्छ प्राय हो जाती है। ये बड़े लोगों के सम्मुख छाती तानकर खड़े नहीं हो सकते। उनमें स्वयं ही अपने आप में हीन भावना होती है।

जिन दिनों हम मुर्शी (जि० मुजफ्फरपुर) की पाठशाला में पढ़ते थे, तभी किसी संस्कृत विद्यार्थी को पागल कुत्ते ने काट खाया था। इस पर एक मारवाड़ी सेठ की सेठानी कह रही थी—"पागल कुत्ते को जैसे हो तैसे पकड़वाना चाहिये। आज तो

---

* [illegible]
[illegible]

विद्यार्थी को ही काटा है, कल किसी आदमी को काट लेगा।" इसका भाव यही हुआ कि विद्यार्थी की तो कोई बात नहीं। वह तो सर्वसाधारण लोगो से पृथक है समाज के किसी आदमी को न काटे।

ब्राह्मण सदा से ही कष्ट सहकर निर्धन बनकर–तप करके–धर्म का प्रचार प्रसार करता आया है। ब्राह्मणो ने कभी धन का लोभ नहीं किया। ब्राह्मणो मे जो जितना ही असग्रही, त्यागी, अपरिग्रही होगा वह उतना ही श्रेष्ठ समझा जायगा। सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण तो वही है जो पक्षियों की भाँति कण-कण बीनकर उदर पूर्ति करें। दूसरे समय को या दूसरे दिन को कुछ भी सग्रह करके न रखे। यही कारण है कि आज ऐसे गये बीते समय मे भी चाहे असमर्थता के ही कारण सही–निर्धन होने पर भी–ब्राह्मण बालक वेद वेदाङ्ग पढते है और धर्म के नाम को किसी न किसी रूप मे बचाये हुये हैं।

अब तो नित्य ही राजकीय अध्यापको की वेतन के निमित्त की हुई हडतालो, धरनो, अनशनो और घिरावो के कारण सस्कृत के अध्यापक भी इससे अभिभूत हुए हैं और वे भी वेतन के लिये भाँति भाँति से विरोध करने लगे है, नहीं तो मेरे [illegible] सस्कृत के अध्यापक बडे ही सतोषी, सीधे सादे [illegible] अनुरागी तथा छात्रवत्सल होते थे। वे यथालाभ [illegible] भाग्यवश जो भी थोडा बहुत मिल जाता था, [illegible] निर्वाह करते थे, विद्यार्थियो की उन्हें चिन्ता [illegible] लिये वे कुछ न कुछ करते-कराते रहते [illegible] अध्यापको का कृपा प्रसाद प्राप्त किया है। [illegible] शिष्यवत्सल होते थे, उन बातो को [illegible] भी हृदय भर आता है। उन दिनों [illegible]

भावों में आकाश पाताल का अनन्तर हो गया है। पहिले पाठशालाओं को या तो त्यागी विरागी तपस्वी संत महात्मा चलाते थे। या धनीमानी धर्मात्मा लोग चलाते थे। मैंने अनेकों ऐसे तपस्वियों के दर्शन किये हैं उनके संसर्ग में रहा हूँ, जो अयाचित वृत्ति से—भगवान् के भरोसे पर—अथवा भिक्षा माँग-माँगकर बड़ी-बड़ी पाठशालाओं को चलाते थे और सैकड़ों विद्यार्थियों का निर्वाह करते थे। कालक्रम से अब शनैः-शनैः ऐसे लोगों का ह्रास हो रहा है।

पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का जब प्रचार होने लगा और पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा में पले लोग भारतीयता से दूर होने लगे तो हमारे देश के नेताओं ने अनुभव किया कि यह शिक्षा हमारी संस्कृति के अनुरूप नहीं है तो उन्होंने इसका विरोध करना आरंभ किया। इनमें राजा राममोहन राय, श्री केशवचन्द्र सेन देवर्षि अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, महामनामालवीय आदि-आदि मनस्वियों ने इस प्रणाली का विरोध किया, किन्तु इन लोगों की शिक्षा दीक्षा भी पाश्चात्य प्रणाली से हुई थी, अतः इनका विरोध कोई विशेष प्रभावशाली नहीं रहा। हाँ स्वामी दयानंद सरस्वती इस पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से सर्वथा रहित थे, वे प्राचीन पाठशाला प्रणाली से पढ़े थे। निर्भीक थे, प्रभावशाली तथा नेतृत्वगुण से सम्पन्न थे, उन्होंने इस पाश्च प्रणाली का डटकर विरोध किया और प्राचीन पद्धति की गुरुकुल प्रणाली का समर्थन किया। उनके जीवन काल में तो गुरुकुल प्रणाली का उतना प्रचार प्रसार नहीं हुआ किन्तु उनके परलोक पधारने के पश्चात् महात्मा मुंशीराम (पीछे स्वामी श्रद्धानन्द) स्वामी दर्शनानंद आदि महानुभावों ने गुरुकुल प्रणाली के प्रचार में सराहनीय प्रयत्न किये। महात्मा

मुशीलाल जी अपनी वकालत छोडकर अपने दोनों पुत्रों को लेकर हरिद्वार उस पार गगा तट पर—कागड़ी नाम के छोटे से गॉव मे जा बेठे। वहॉ उन्होंने फूस की झोपडियॉ बनाकर उसी गॉव के नाम से कागडा गुरुकुल की स्थापना की। सन् १९२१ मे मैं उसे देखने गया था। उस समय गुरुकुल ऋषि आश्रम सा प्रतात होता था। महात्मा मुशीलाल जी के दर्शन मैंने एक फूस की कुटिया मे किये थे। वे उसी म रहते थे। उनके तेजस्वी मुख मडल, वेदिक धर्म के प्रचार की सच्ची लगन और अनुपम त्याग वृत्ति को देखकर मैं प्रभावित हुआ। उस समय तक गुरुकुल की शिक्षा दीक्षा प्राचीन ढॅग से सस्कृत के माध्यम से दी जाती थी। अच्छे अच्छे सस्कृत के पडित अच्छे वेतन पर पढाने को रखे जाते थे, उन दिनों गुरुकुला की धूम मच गयी थी। फर्रुखाबाद मे एक गुरुकुल की स्थापना हुई, पीछे वह वृन्दा वन मे उठकर चला आया, जो अभी तक वृन्दावन मे स्थित है। बुलदशहर के सिकदराबाद म, पजाब तथा हरियाणा के कई नगरों में अनेक गुरुकुल आर्य समाजी बन्धुओ द्वारा स्थापित हुए उनके प्रत्युत्तर म सनातन धर्मियों ने ऋषिकुलो की स्थापना की। जहॉ जहा गुरुकुल बने वहॉ वहॉ ऋषिकुल भी खोले गये। वृन्दावन मे भी रगजी के बगाचे में एक ऋषिकुल खुला। हरिद्वार मे भी महामना मालवीय, प० दुर्गादत्तजी पन्त आदि सनातनी नेताओ के प्रयत्न से ऋषिकुल की स्थापना हुई नगर नगर तथा ग्रामा तक मे भी ऋषिकुल गुरुकुल बन गये। किन्तु सनातन धर्मियों की अकर्मण्यता के कारण ऋषिकुल तो प्राय सब एक-एक करके समाप्त ही हो गये। गुरुकुलो की भी प्राचीन प्रणाली न चल सकी। जो गुरुकुल आर्थिक सकट में थे वे या तो समाप्त हो गये। या सस्कृत पाठशालाओ के ढाचे में परिणित हो गये।

भावों में आकाश पाताल का अनन्तर हो गया है। पहिले पाठशालाओं को या तो त्यागी विरागी तपस्वी संत महात्मा चलाते थे। या धनीमानी धर्मात्मा लोग चलाते थे। मैंने अनेकों ऐसे तपस्वियों के दर्शन किये है उनके संसर्ग में रहा हूँ, जो अयाचित वृत्ति से–भगवान के भरोसे पर–अथवा भिक्षा माँग-माँगकर बड़ी-बड़ी पाठशालाओं को चलाते थे और सैकड़ों विद्यार्थियों का निर्वाह करते थे। कालक्रम से अब शनैः-शनैः ऐसे लोगों का ह्रास हो रहा है।

पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का जब प्रचार होने लगा और पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा में पले लोग भारतीयता से दूर होने लगे तो हमारे देश के नेताओं ने अनुभव किया कि यह शिक्षा हमारी संस्कृति के अनुरूप नहीं है तो उन्होंने इसका विरोध करना आरंभ किया। इनमें राजा राममोहन राय, श्री केशवचन्द्र सेन देवर्षि अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, महामनामालवीय आदि-आदि मनस्वियों ने इस प्रणाली का विरोध किया, किन्तु इन लोगों की शिक्षा दीक्षा भी पाश्चात्य प्रणाली से हुई थी, अतः इनका विरोध कोई विशेष प्रभावशाली नहीं रहा। हाँ स्वामी दयानंद सरस्वती इस पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से सर्वथा रहित थे, वे प्राचीन पाठशाला प्रणाली से पढ़े थे। निर्भीक थे, प्रभावशाली तथा नेतृत्वगुण से सम्पन्न थे, उन्होंने इस पाश्च प्रणाली का डटकर विरोध किया और प्राचीन पद्धति की गुरुकुल प्रणाली का समर्थन किया। उनके जीवन काल में तो गुरुकुल प्रणाली का उतना प्रचार प्रसार नहीं हुआ किन्तु उनके परलोक पधारने के पश्चात् महात्मा मुंशीराम (पीछे स्वामी श्रद्धानन्द) स्वामी दर्शनानंद आदि महानुभावों ने गुरुकुल प्रणाली के प्रचार में सराहनीय प्रयत्न किये। महात्मा

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

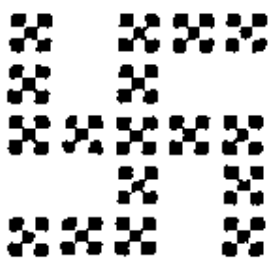

● मुद्रक :
पंडीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय पृष्ठांक

१८. ब्रह्मरूप से प्राण-स्तुति १५१

१९. प्रश्नोपनिषद् का तृतीय प्रश्न १५६

२०. प्रश्नोपनिषद् के तृतीय प्रश्न के शेष तीन-प्रश्नों का उत्तर १६४

२१. प्रश्नोपनिषद् का चतुर्थ प्रश्न १७१

२२. प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न के शेष दो प्रश्नों का उत्तर १८१

२३. प्रश्नोपनिषद् का पंचम प्रश्न और उसका उत्तर १८७

२४. प्रश्नोपनिषद् का छठा अन्तिम प्रश्न और उसका उत्तर १९७

संस्मरण

[धर्म और राजनीति]

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ४४ श्लोक)

छप्पय

जन साधारन दुःख परे निज होहिँ दुखित अति ।
किन्तु साधु पर दुःख देखि अति द्रवहि तिनहि चित ॥
जे परदुखमहँ दुखी सन्त वे ई कहलावें ।
निज स्वारथकूँ त्यागि लोकहित प्रान गवावें ॥
ऋषि मुनि सत्ता तैं विरत, द्रव्य मोह ममता तजहिँ ।
परमारथ के हेतु परि, सहैं दुःख नित प्रभु भजहिँ ॥

सब मनुष्य सभी कार्य करने की क्षमता नहीं रखते। कुछ लोग विद्योपजीवी होते हैं, सब श्रमोपजीवी, कुछ वाणिज्योपजीवी और कुछ सेवोपजीवी होते हैं। यह समाज देह के समान है। जैसे एक ही देह के पृथक् पृथक् अंग होते हैं। मुख का कार्य बोलना और भोजन करना है, हाथों का काम उठाना धरना है,

---

* साधु पुरुष प्रायः लोगों के संताप से संतप्त हुआ करते हैं। दूसरों के दुःखों से दुखी होना, यही उन अखिलात्मा परम पुरुष परमात्मा का परम आराधन है।

पैरों का कार्य चलना है, मल मूत्रेन्द्रिय का काज मल-मूत्र विसर्जन करना है। किन्तु हैं तो ये सब एक ही शरीर के अंग। मल मूत्रेन्द्रिय को कोई शरीर से पृथक् तो कर नहीं देता। शरीर में रह कर सभी अंग अपना-अपना पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए एक ही देह के सहयोगी बने हुए हैं। इसी प्रकार समाज में ऊँचे नीचे सभी वर्ग के लोग होते हैं। आर्य सनातन वर्णाश्रम धर्मियों की जो वर्णाश्रम धर्म प्रणाली है वह इसी आधार पर है। हमारे यहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ माने हैं। इनमें धर्म, अर्थ और काम ये तीन तो पुरुषार्थ हैं और मोक्ष परम पुरुषार्थ है। अतः मोक्ष के अधिकारी बहुत कम होते हैं। वेदाध्ययन में निरत ब्राह्मण वर्ण वालों का कार्य यही है, कि वे धर्मपूर्वक मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते रहें। क्योंकि ब्राह्मण का मुख्य धर्म क्षमा है, वह सब जीवों को अभय प्रदान करता हुआ मोक्ष मार्ग में निरत रहता है। क्षत्रिय का मुख्य धर्म तेज है। अपने तेज से दीन दुखियों की—आश्रितों की—दूसरों के द्वारा सताये हुए दुखियों की रक्षा करना यह उनका मुख्य धर्म है। जो समाज का अपने प्रबल पुरुषार्थ से इतना भारी कार्य करेंगे, उसे कामोपभोग की कुछ विशेष छूट देनी ही चाहिये। उसे ठाट-बाट से रहकर धर्मपूर्वक कामोपभोग करना चाहिये। अतः क्षत्रिय, काम प्रधान वर्ण है। वैश्य का मुख्य धर्म है समाज के लिये वस्तुओं का सचय करना, क्रय-विक्रय द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करना। यह सब अर्थ द्वारा ही संभव है, अतः वैश्य, अर्थ प्रधान वर्ण है। उसके लिये बताया है, चाहे जितना अपने पास धन संचय हो जाय, किन्तु कभी उससे सन्तुष्ट न हो। उससे भी अधिक धन संचय करने का प्रयत्न करता रहे (अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्य प्रकृतयस्त्विमाः) इसी प्रकार शूद्र, धर्म

प्रधान वर्ण है। यदि धर्म का बंधन न हो, तो कौन अपने समस्त सुखों को तिलांजलि देकर दूसरों की सेवा में सदा जुटा रहेगा। शूद्र न अच्छा वस्त्र पहिनता है, न अच्छा भोजन ही करता है, जैसा-तैसा मिल गया उसी को पहिन लिया, रूखा-सूखा जो मिला उसी को खाकर सदा सेवा में जुटा रहता है। उसके परिवार का उत्तरदायित्व भी दूसरों के ऊपर है। इस प्रकार मोक्षप्राप्ति तो सबका अन्तिम लक्ष्य है। धर्म का पालन सबके लिये परमावश्यक है। धर्म ही समाज को धारण किये हुए है। धर्मपूर्वक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहना। यह सब वर्णों का परम कर्तव्य है। जैसे ब्राह्मण का लक्ष्य तो मोक्ष है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति का साधन धर्म है। वह धर्मपूर्वक मोक्षमार्ग की ओर बढ़ता जाय। काम और अर्थ से विरत रहे। क्षत्रिय का लक्ष्य तो मोक्ष है, किन्तु वह धर्मपूर्वक कामोपभोग भी करता रहे। वैश्य का लक्ष्य तो मोक्ष है, किन्तु वह धर्मपूर्वक अर्थ संचय मे ही लगा रहे। कामोपभोग उसके लिये गौण विषय है। इसी प्रकार शूद्र का भी लक्ष्य तो मोक्ष ही है, किन्तु उसका प्रधान धर्म है स्वधर्म पालन। उसके लिये कामोपभोग, अर्थ संचय, गौण हैं। मुख्य धर्म तो उसका द्विजातियों की सेवा करना ही है। उनके लिये अर्थ-संग्रह निषेध है, वे तो द्विजातियों की,गोओ की और देवताओं की केवल सेवा मे ही निरत रहें, यही उनका परम धर्म है (शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः) वैश्य और शूद्र तो कर देने वाली प्रजा हैं। क्षत्रिय कर लेने वाले और ब्राह्मण कर मुक्त,अतः मुख्यतया ब्राह्मण और क्षत्रिय ये ही दो प्रजा के पालक थे। ब्राह्मण तो धर्म प्रधान और क्षत्रिय राजनीति प्रधान थे। जो कामोपभोग और अर्थ-संचय मे फँसा रहेगा, वह विशुद्ध धर्म का उपार्जन नहीं कर सकता। अतः ब्राह्मण कभी

राजनीति मे नहीं पडते। वे राजाओ को–क्षत्रियों को–उपदेश, सम्मति मत्र तो देते थे, स्वय कभी कोई राज्याधिकार ग्रहण नहीं करते। जब राजागण–क्षत्रिय लोग–मर्यादा का उल्लङ्घन करने लगते थे, तब कभी कभी विवश होकर ब्राह्मणो को भी राजनीति में आना पडता था। जैसे परशुरामजी ने हाथ में शस्त्र लेकर–धर्मद्रोही क्षत्रियो का–सहार किया। वेन राजा के अत्याचारो से ऊबकर ब्राह्मणों ने उसे हुङ्कार से मार डाला। इतना सब होने पर भी उन्होंने कभी स्वय पद ग्रहण नहीं किया। परशुरामजी ने यद्यपि इक्कीस बार पृथ्वी को नि क्षत्रिय कर डाला, किन्तु समस्त पृथ्वी को जीतकर–अपने अधीन करके–भी वे राजा नहीं बने। समस्त पृथ्वी को महर्षि कश्यप को दान देकर स्वय तपस्या करने महेन्द्र पर्वत पर चले गये। कश्यपजी ने भी दान म पायी समस्त पृथ्वी को क्षत्रिया को बाँट दिया। इसी प्रकार ऋषिगण वेन को मारकर तपस्या करने चले गये। वे राजा नहीं बने। राजा तो उन्होन वेन के पुत्र पृथु को ही बनाया। हाँ ब्राह्मणों ने राजाओ के यहाँ एक पद अवश्य ग्रहण किया वह था, पुरोहिती का पद। किन्तु इस निन्दनीय ही पद बताया है। पुरोहिती को ब्राह्मण की अत्यन्त ही निन्दनीय वृत्ति कहा है। ब्राह्मण की सर्वोत्तम वृत्ति त यही है, कि एक भी पैसे का सग्रह न करके खेतों में कट जाने पर पड़े हुए अन्न का–या अन्न हाट उठ जाने पर पड़े हुए दानो को बीनकर उसी से निर्वाह करे। जो ब्राह्मण भोगो की इच्छा रखते थे, वे ही पुरोहिती की निन्दनीय वृत्ति को स्वीकार करते थे।*

---

* अकिञ्चनानां हि धन निशाऽन्नम
ते ह निवर्तितमाधुमत्क्रिय ।
कथ विगर्हं नु करोम्यधीश्व ।
पौरोधन हृष्यति यन दुर्मति ॥
(श्री० भा० ६ स्क० ७ अ० ३६ श्लोक)

ब्राह्मण को राज्याधिकारो से सदा विरत रहकर कदमूल फल खाकर–आश्रमों में निवास करके–परमार्थ चिन्तन ही करना चाहिये। राजनैतिक अधिकारो की प्राप्ति तो दूर रही, उनके लिये राजा का अन्न तक खाना निषेध है। क्योंकि राजा की आय बलपूर्वक प्रजा से कर लेकर, अपराधियों से दंड मे धन लेकर ही होती है। इस धन को जो खायगा उसके संस्कार भी वैसे ही बनेंगे। अधिकार ग्रहण करने मे कुछ न कुछ भोगेच्छा रहती ही है, फिर चाहे वह कितना भी निष्काम भाव से क्यों न किया जाय। भोगेच्छा रखकर जो धन संचय किया जाता है, तो उसमे अर्थ-अनर्थ का ध्यान रहता नहीं। वैसे धन को खाकर ब्राह्मण की बुद्धि सात्त्विकी कैसे रह सकेगी। वैसे ब्राह्मण अपनी तपस्या के प्रभाव से इतना बुद्धिमान होता है कि वह चाहे तो राज्य का सचालन कर सकता है, समस्त सेना का सचालन कर सकता है, न्यायाधीश बनकर दण्ड विधान कर सकता है और तो क्या वह समस्त लोकों का शासन चला सकता है।* किन्तु वह इन झंझटो में फँसता नहीं, क्योंकि काजर की कोठरी मे कैसा भी सुजान जाय, एक आध बूँद काजर की कितना बचे उसके लग ही जायगी। महर्षि द्रोणाचार्य कदमूल फलों पर निर्वाह करके ब्राह्मण वृत्ति का पालन करते थे। किन्तु पुत्र के मोह के कारण उन्हे दूध की इच्छा हुई। अपने बालसखा राजा द्रुपद से दूध की गौ माँगने गये। राजा ने तिरस्कार कर दिया। ब्राह्मण का मुख्य धर्म क्षमा है, वे उसके अपमान को सह लेते–उसे क्षमा कर देते–

---

* सैनापत्य च राज्य च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्य च वेदशास्त्रविदर्हति॥
(श्री भा० ४ स्क० २२ अ० ४५ श्लोक)

तो उनका ब्रह्मतेज–ब्राह्मणपना–बना रहता। किन्तु उन्होंने राजा को क्षमा नहीं किया, उससे बदला लेने की इच्छा की। इससे वे ब्राह्मणपने से च्युत हो गये। उन्हें क्षत्रियों के यहाँ वेतन भोगी अध्यापक बनना पड़ा। शिष्यों के द्वारा द्रुपद को पराजित करके उससे आधा राज्य ले लिया और अन्त में उन्हें महाभारत युद्ध में सेनापति का कार्य करना पड़ा–अर्थ का दास होना पड़ा–जो ब्राह्मण के लिये परमगर्ह्य कार्य है।

यद्यपि धर्महीन राजनीति परम निन्दनीय है और धर्म का उपदेष्टा ब्राह्मण ही होता है, तथापि वह उपदेश ही करे उसमें फँसे नहीं। क्षत्रियों के अपराधों को सह ले उनका सामना न करे। यदि उसमें वास्तव में ब्रह्मतेज होगा, तो बलप्रयोग करने वाला उसके तेज के ही कारण परास्त हो जायगा। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ और जमदग्नि का उदाहरण प्रत्यक्ष ही है। राजा विश्वामित्र तथा राजा कार्तवीर्य अर्जुन दोनों ही दोनों ऋषियों के यहाँ से बलपूर्वक–मना करने पर भी–उनकी गौओं को खोल ले गये। ऋषियों ने उनका सामना नहीं किया, फिर भी दोनों को परास्त होना पड़ा।

जब तक इस देश में वर्णाश्रम धर्म का पालन होता रहा, तब तक ब्राह्मण शासन से दूर रहकर केवल क्षत्रियों को धर्मयुक्त राजनीति का उपदेश ही देते रहे, वे स्वयं राजनीति में कभी नहीं फँसे। जब वर्णाश्रम धर्म शिथिल पड़ गया, राजाओं के यहाँ ब्राह्मण लोग पुरोहिती ही नहीं, वेतनभोगी मन्त्रीपने का भी कार्य करने लगे तभी से ब्राह्मण प्रत्यक्ष राजनीति में भी भाग लेने लगे। परिस्थितियाँ जब व्यक्ति को विवश कर देती हैं, तो कभी-कभी मनुष्य को न करने योग्य कार्य भी करने पड़ते हैं।

जब तक इस देश में यवनों ने आक्रमण नहीं किया था, तब तक इस देश में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था, कि

क्षत्रियों के अतिरिक्त भी कोई शासन कर सकता है। प्रजा चाहे जिस जाति की हो, वह अपने राज्याधिकारी कुमार को प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी, उसकी रक्षा में कितने भी लोगों के प्राण चले जायँ, प्रजा के लोग सब कुछ करने को उद्यत रहते थे। तभी तो महाराणा प्रताप तथा अन्यान्य राजागण वर्षों राज्य-भ्रष्ट होकर इधर-उधर भटकते रहे, किन्तु प्रजा के लोगों ने उनकी सहायता की।

दस्युधर्मी यवनों ने इस देश पर शासन करने के निमित्त आक्रमण नहीं किया था, वे तो धन के भूखे थे। भारतवर्ष के धनवैभव की विश्व भर में ख्याति थी, यहाँ का शासन तो उन्हें अनपेक्षित भाव से हमारी परस्पर की फूट के कारण प्राप्त हो गया। और विदेशी विधर्मी लोगों ने अनुभव किया, कि यदि भारतीय संस्कृति नष्ट कर दी जाय, इन सबको नये इस्लाम सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लिया जाय, तो हमारा शासन स्थायी हो जायगा। अतः उनका समस्त बल भारतीय संस्कृति को नष्ट करने पर लोगों को मुसलमान बनाने पर ही लग गया। उसमें बाधक थे हिन्दु राज्य। अतः उन पर ही विजय पाने के प्रयत्न मुसलिम शासक करते रहे और साथ ही निम्न श्रेणी के हिन्दुओं को वे बलपूर्वक मुसलमान भी बनाते रहे। कुछ सवर्ण हिन्दु भी प्रलोभनों के कारण मुसलमान बन गये।

इस देश में विदेशियों के आक्रमण के पूर्व शुद्ध क्षत्रिय तो बहुत कम रह गये थे। शासन अधिकांश संकरवर्णीय क्षत्रियों के हाथ में था। उस समय में ब्राह्मणों के प्रति जनता तथा राज्य-शासकों का आदर था। उनके त्याग, तप तेज से जनता प्रभावित थी। तभी तो एक चाणक्य ब्राह्मण ने नन्द वंश का नाश कराकर चन्द्रगुप्त को सम्राट् बना दिया। वास्तव में चन्द्रगुप्त तो नाम के

ही राजा थे। यथार्थ राजा तो चाणक्य मुनि ही थे, उन्हीं का शासन चलता था। फिर तो ब्राह्मण स्पष्ट रूप से मन्त्री बनकर राज्य की बागडोर सम्हालने लगे। जब वर्णाश्रम धर्म विहीन मुसलमान शासक आये और उन्होंने ब्राह्मणों की ही नहीं, सनातन वैदिक आर्य वर्णाश्रम धर्म की ही मान्यता समाप्त कर दी। तब तो लोगों को क्षोभ हुआ और उसी काल में गो ब्राह्मण प्रतिपालक मराठों का अभ्युदय हुआ। उस समय बहुत क्षत्रिय संस्कार हीन होकर शूद्रश्रेणी में आ गये थे। उनको चेतना हुई और स्थान-स्थान पर मुसलिम शासकों के प्रति विद्रोह हुआ। पंजाब में सिक्ख गुरु जो वहाँ के हिन्दुओं के अग्रणी थे, और साथ ही गृहस्थी भी थे, उन्होंने इस्लाम के प्रति खुल्लमखुल्ला विद्रोह किया और बड़े-बड़े बलिदान हुए। तब पंजाब में सिक्ख जाटों का हिन्दु राज्य स्थापित हुआ। मराठों ने दिल्ली के पास तक अधिकार कर लिया। राजस्थान के राजा भी प्रबल हो गये। देश में फिर से हिन्दुओं की प्रबलता हो गयी, किन्तु जनता की आस्था तो दिल्ली के सम्राट् पर थी। अन्यत्र चाहे जिसका राज्य हो, किन्तु जो दिल्ली के सिंहासन पर बैठा है, सम्पूर्ण देश का सम्राट् तो वही कहावेगा। अब तक दिल्ली के सिंहासन को न तो सिक्ख ही ले सके, न राजपूत ही तथा न मराठे ही। यद्यपि मराठे, दिल्ली के समीप तक अपना साम्राज्य स्थापित कर चुके थे। रामगढ़ (अलीगढ़) तथा मेरठ जिले के गढ़मुक्तेश्वर तक उनका अधिकार हो गया था, किन्तु दिल्ली के सिंहासन पर अभी मुगलवंश का ही अधिकार था। देश की पूरी शक्ति हिन्दुओं के हाथों में आ गयी थी, किन्तु नाममात्र का सम्राट् तो अभी मुगल ही था। मराठों के राजवंश को निर्बल देखकर—शासन की बागडोर पेशवाओं ने ब्राह्मणों ने अपने हाथ में ले ली थी। जैसे नेपाल में ५

सरकार के समस्त अधिकार राणावश के महामन्त्रियों–३ सरकार वालों–ने ले ली थी। पेशवा मराठा ब्राह्मणों ने बड़ी बहादुरी से शासन की बागडोर सम्हाली और उन्होंने मुसलमान शासकों से डटकर लोहा लिया। तब तक ही एक तीसरी शक्ति इगलैंड की इस्ट इण्डिया कम्पनी उभर आयी। अँगरेज यहाँ शासन करने की इच्छा से नहीं आये थे, वे तो व्यापार करने आये थे। जब उन्होंने हिन्दु मुसलिम शासकों का सघर्ष देखा, तो वे भाँप गये, मुसलिम शासन में दीमक लग गयी है, वह निर्बल हो गया है, हिन्दुओं में एकता नहीं। वे परस्पर में ही लड रहे हैं। जाट, राजपूत, मराठे, सिख ये मिल जुलकर कार्य नहीं करते। तब उन्होंने भेदनीति से काम लिया। कभी वे हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलिम शासकों से मिल जाते, कभी मुसलमान शासकों के विरुद्ध हिन्दुओं से मिल जाते। आरम्भ में तो वे स्वप्न में भी अनुमान नहीं कर सकते थे, कि हम इस इतने बड़े देश के शासक भी हो सकेंगे क्या ? किन्तु जब उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिये सेना रखनी आरम्भ कर दी और देश के कुछ भाग पर अपना शासन भी स्थापित कर लिया, तब उन्हें आशा हो गयी हम हिन्दु मुसलमानों में फूट डालकर इस देश के शासक बन सकते हैं, और वे अपनी कूटनीति के अनुसार एक प्रकार के शासक बन भी गये फिर भी दिल्ली के सिंहासन के उत्तराधिकारी अभी मुगलवश के मुसलमान ही माने जाते थे।

उनकी चाल को हिन्दु और मुसलमान दोनों समझ गये। दोनों के स्वार्थ एक हो गये। दोनों ही अँगरेजों को देश का शत्रु समझने लगे। उसी समय सबने मिलकर अँगरेजों के प्रति राज्यक्रांति की। जिसे 'गदर' की सज्ञा दी गयी। वह राज्यक्रांति असफल रही और इस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत को इगलैंड की महा-

रानी के हाथों बेच दिया। भारत अब ब्रिटेन के अधीन एक उपनिवेश बन गया। बहुत से लोग समझते हैं मुसलमानों से अँगरेजों ने शासन लिया। यह सर्वथा निर्मूल है। मुसलानी शासन तो पूरे देश में समाप्त हो गया था, रामेश्वर से लेकर देहली के समीप तक मराठों का शासन हो गया था। राजस्थान, गुजरात, मध्य भारत के समस्त हिन्दु राजा स्वतन्त्र थे, पहाड़ी राजा सब स्वतन्त्र थे, वहाँ कभी मुसलमानों का प्रवेश ही नहीं था। कश्मीर पंजाब सब सिक्खों के आधीन था। देहली का सिंहासन भी डगमगा रहा था। जो नवाब राज्यपाल बनाकर भेजे गये थे, वे सब स्वतंत्र नवाब हो गये थे। इस प्रकार अँगरेजों ने तो एक प्रकार से हिन्दुओं से ही सत्ता ग्रहण की थी। सन् १८५७ के पश्चात् प्रायः समस्त देश अँगरेजों के आधीन हो गया था। हजार के लगभग राजा महाराजा स्वतन्त्र कहे जाते थे, किन्तु उन सब पर भी अँगरेजों का अंकुश था, वे राज्य प्रबन्ध में भी स्वतन्त्र नहीं थे, दूसरों से लड़ाई तो कर ही नहीं सकते थे। नैपाल हिन्दु राज्य अवश्य स्वतन्त्र था। गोरखों ने यहाँ तक किया कि इधर तो बिहार में गोरखपुर, मुजफ्फरपुर, दरभंगा के समीप तक जनकपुर तक अपना अधिकार जमा लिया। उधर पहाड़ में अलमोड़ा, टिहरी, सिरमौर आदि के राजाओं को जीतकर नैनीताल, अलमोड़ा, सिरमौर, टिहरी गढ़वाल की पूरी रियासतें बद्रीनाथ तक उनके राज्य में आ गया। उधर तिब्बत का भी कुछ भाग नैपाल ने जीत लिया। अब अंगरेजों ने शनैः-शनैः पैर फैलाने आरम्भ किये। उन्होंने बहुत बड़ी फौज रख ली। छोटे-छोटे राजाओं से संधियाँ आरंभ की। अपनी फौजों को किराये पर उठाने लगे। उस समय राजक्रान्ति का काल था, जिसके पास पैसा होता, दो-चार सहस्र सैनिक रखकर लूट पाट करके धन एकत्रित कर लेता।

किसी छोटे मोटे राजा को हराकर उसके राज्य पर अधिकार जमा लेता। उस समय सन्यबल ही सबसे बडा बल माना जाता, कुछ गुसाईं साधुओं ने भी सशस्त्र सेना बना रखी थी, वे भी कभी हिन्दुओं का ओर से लडते कभी मुसलमान नवाबों से भी धन पा जाते तो हिन्दुओं से भी लड जाते। अँगरेजों के सेना भी था और सुशिक्षित तथा सर्व साधनसम्पन्न थी। जो रियासतें उनके अधीन थीं उनमे राजा के मर जाने पर वे उसका उत्तराधिकारी नहीं बनाते थे, उसे अँगरेजी राज्य में मिला लेते थे। एक हिन्दु राजा से दूसरे हिन्दु राजा को लडवा देते। एक का पक्ष लेकर लडते। जब जीत जाते तो उसके राज्य का आधा भाग सनिक व्यय के नाम से ले लेते। जैसे गोरखो ने टिहरी गढवाल, सिरमौर की बडी-बडी रियासतों को अपन राज्य में मिला लिये। इन राज्यों के उत्तराधिकारी अल्पवयस्क थे। जब वे प्राप्तवयस्क हुए तो अँगरेज इनकी ओर से गोरखो से लडे। गोरखो को भगा दिया। तो सनिक व्यय के नाम से भागीरथी और अलकनन्द के उत्तर का राज्य तो अँगरेजो ने सनिक व्यय के नाम से ले लिया। गगा और अलकनन्दा का दूसरा तट टिहरी वालों को कुछ शर्तों पर दे दिया। तभी से दो गढवाल हो गयी। ऋषीकेश स्वर्गाश्रम से बद्रीनाथ तक ब्रिटिश गढवाल और मुनि की रेती से टिहरी गगोत्री तक टिहरी गढवाल हुई। इसी प्रकार सिरमोर राज्य हरिद्वार तक था। उसका भी आधा भाग ले लिया। देहरादून मसूरी ये सब गोरखों पर थे। अँगरेजो ने उन्हें भी ले लिया उधर गोरखपुर नोतनवा, बुटवल तक नैपालियो का राज्य था, उन पर भी गोरखपुर के डिप्टी कमिश्नर ने अधिकार कर लिया। पीछे बुटवल को तो गोरखो ने छीन लिया, शेष रह गये। इस पर शने-शनैः अँगरेजो का पूरी भारतभूमि पर अधिकार हो गया। अन्तिम पेशवा

को जीतकर उसे महाराष्ट्र से लाकर कानपुर के पास बिठूर में रखा। सन् ५७ की राज्यक्रांति में बिठूर के पेशवा का पूरा हाथ था। किन्तु समय के पहिले क्रांति हो जाने से सब कार्य असफल हो गया। पूरे देश पर अँगरेज छा गये।

उन दिनों अँगरेजों के ग्रह नक्षत्र उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे। शनैः-शनैः सवा डेढ सौ छोटे बडे देश अँगरेजों के अधीन थे। कहावत थी, अँगरेजों के राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था। महारानी विक्टोरिया के पश्चात् सप्तम एडवर्ड गद्दी पर बैठे उस समय में ब्रिटिश साम्राज्य उन्नति की चरम-सीमा पर था, उनके पुत्र जार्ज पचम के समय से पुनः भारत में तथा अन्यान्य देशों में स्वातन्त्र संग्राम आरम्भ हुए। उसी बीच जर्मन युद्ध आरम्भ हुआ। हम लोग नित्य ही सुनते थे, भारत में अब जर्मन आये, तब आये। हम लोग अँगरेजों से ऊब गये थे। आरम्भ में जब महारानी विक्टोरिया ने यह घोषणा की, कि किसी के भी धर्म में सरकार हस्तक्षेप न करेगी, सबको अपनी अपनी मान्यता के अनुसार पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता है। इस घोषणा से सहस्र वर्ष से धार्मिक स्वतन्त्रता के लिये जूझते रहने वाले हिन्दुओं को प्रसन्नता हुई। वे मुसलिम शासकों के नित्य के अत्याचारों से ऊब गये थे, इसीलिये उन्होंने अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई देखकर अँगरेजी शासन का स्वागत किया।

हिन्दुओं को जितना अपना धर्म प्यारा था, उतनी स्वतन्त्रता प्यारी नहीं थी। उनके ऊपर शासन कोई भी करें, इसमें उन्हें तनिक भी आपत्ति नहीं थी, किन्तु कोई उनके धर्म में हस्तक्षेप करता है, उनकी वंश परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में हेर-फेर करता है, इसे वे नहीं सह सकते थे। शासन का उन्हें लोभ नहीं था, "कोउ नृप होहि हमें का हानी।" यही उनका मन्त्र था,

किन्तु धर्म उन्हे प्राणों से प्यारा था, धर्म के लिये वे बड़े से बड़ा बलिदान करने को सदा सन्नद्ध रहते। ससार के इतिहास मे हिन्दुओं ने अपने धर्म की रक्षा मे जितने बलिदान किये हैं, उतने दूसरी किसी जाति मे मिलना असम्भव है। उनका यह दृढ़ मत था "धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः" जिसने धर्म को छोड दिया है, उसे धर्म भी छोड देता है और जिसने धर्म की रक्षा की है, वह सुरक्षित धर्म सदा धार्मिक पुरुष की रक्षा ही करता रहता है। अँगरजो ने जब धर्म स्वातत्र की घोषणा कर दी, तब हिन्दुओं ने उन्हे अपना त्राता तथा रक्षक समझा। किन्तु जब उन्होंने अनुभव किया, कि यह तो केवल घोषणा मात्र है। अँगरेज भीतर ही भीतर प्रकारान्तर से यही चाहते हैं, कि सब लोग ईसाई हो जायँ। ईसाइयत का प्रचार-प्रसार करने को उन्होंने ईसाई मिसनरियों को भाँति-भाँति की सुविधा दे रखी थीं, गोहत्या पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता, तथा वस्त्रों आदि मे गौ की चर्बी का प्रयोग किया जाता है। तब तो वे अँगरेजी राज्य के विरुद्ध हो गये। हिन्दुओं के उच्च जाति के लोग मेधावी थे। सरकारी नौकरियों मे उनकी ही प्रधानता थी। अँगरेज चाहते थे हिन्दु मुसलमान तथा हिन्दुओं मे उच्चनीच के भेदभाव पेदा करके हम अपने राज्य को स्थिर रखें। इसीलिये, आदिवासी, पिछडी जाति आदि के भेद पैदा किये गये। मुसलमानों में शिक्षा बढाने को मुसलिम विश्वविद्यालय अलीगढ मे बनाया गया। सब प्रकार के भेदभाव पेदा किये गये। धार्मिक झगडे भी आरम्भ किये गये। मुसलमानो को सरकार की ओर से विशेष सरक्षण दिया गया। देश मे हिन्दुओं की बहुसख्या होने पर भी हिन्दु और अहिन्दु न कहकर मुसलिम और गैर मुसलिम शब्द प्रचलित किया गया। अर्थात् हिन्दुओं का नाम निशान ही मिटा दिया गया। वे हिन्दु

न कहकर गैर मुसलिम कहे जाने लगे। मुसलमान सब अँगरेजों के पक्ष मे हो गये। कुछ भले मुसलमान राष्ट्र का भी पक्ष लेते थे, वे राष्ट्रीय मुसलमान कहलाते थे, किन्तु उनकी सख्या उँगलियों पर गिनने योग्य थी।

जब देश मे स्वातन्त्र सग्राम छिडा, तब यह कोई स्वप्न मे भी आशा नहीं करता था, कि इस देश से अँगरेज चले जायँगे। अँगरेजो का आतङ्क देश मे इतना व्याप्त था, कि कोई अनुभव भी नहीं कर सकता था, कि भारतीयजन अँगरेजों के बिना शासन चला सकेंगे। उस समय स्वतन्त्रता का अर्थ इतना ही था, कि देश ब्रिटिश शासन क अधीन ही रहे, किन्तु भारतवासियों को शासन विशेष मे अधिकार प्राप्त हो। अर्थात् भारत इगलैंड का उपनिवेश बना रहे। अँगरेज इतना भी देने को तैयार नहीं थे। वे भारतीयों को शासन के अयोग्य ही मानते थे। वे कहते थे—पहिले हम तुम्हें शिक्षित बनाकर शासन करना सिखावेंगे फिर शनै-शनै. अधिकार देते जायँगे। कब देंगे, कितने दिन मे देंगे, इसका कोई निश्चय नहीं। पहिले औपनिवेशिक स्वतन्त्रता की माँग थी, फिर ज्यों-ज्यों स्वातन्त्र्य भावना जागृत होने लगी, त्यों-त्यों माँग बढते बढते पूर्ण स्वतन्त्रता तक पहुँच गयी।

अँगरेजो ने सन् ५७ का विद्रोह गोली के बल पर दबाया था। उस समय अँगरेजों के पैर उखड गये थे। बहुत स्थानों से अँगरेज भाग गये थे प्रयागराज के किले पर ही ३ दिनों तक एक मौलवी साहब का अधिकार हो गया था, किन्तु पीछे अँगरेजी फौजों ने इतना भारी दमन किया, गाँव के गाँव तोप लगाकर जलाकर भस्म कर दिये। लोगों को खुले मैदान मे पेड़ो पर लटकाकर फाँसियाँ दी जाने लगी। इतने दमन के कारण लोग भयभीत हो

गये। विद्रोह दब गया। अँगरेजों का साहस बढ गया। फिर से उन्होंने अपना राज्य जमा लिया।

अबके भी वे दमन द्वारा स्वातन्त्र्य आन्दोलन को दबाना चाहते थे। अधिकाश मुसलमान और पूँजीपति अँगरेजों के साथ थे। कुछ भले मुसलमान और देशभक्त पूँजीपति स्वतत्रता के पक्ष मे थे। काग्रेस मे गरम दल और नरम दल दो दल हो गये थे। गरम दल वाले चाहते थे, जैसे बने तैसे अँगरेजों से शीघ्रतापूर्वक शासन छीन लें। नरम दल वाले—जिनमे अधिकाश वकील आदि थे, वे चाहते थे वधानिक उपायों से शनैः-शनैः अँगरेजो को प्रसन्न रखते हुए अधिकार प्राप्त करें। तब तक गाँधीजी महात्मा नहीं हुए थे। वे एक आन्दोलनकारी अपने स्वत्व के लिये लडने वाले कर्मवीर वेरिस्टरमात्र ही थे। दक्षिण अफ्रीका मे वे प्रवासी भारत-वासियो के अधिकारों के लिये लड रहे थे। यहाँ के समाचारपत्र उन्हें "कर्मवीर मोहनदास कर्मचन्द गाँधी" के नाम से छापते थे। वहा उन्हे सफलता मिली और वे भारत आये। एक गुजरात के राजा के राजवद्य ने अपने अभिनन्दन पत्र में उन्हे महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गाँधी लिखा। तभी से वे महात्मा गाँधी हो गये।

हिन्दु लोगो की दृष्टि मे धर्म ही सब कुछ था। धर्म के नाम पर उनसे चाहे जो कुछ करालो। उनके मेलों का, उत्सवो का, यात्राओ का, पर्वों का, सस्कारों का तथा सभी कृत्यों का सम्बन्ध धर्म से ही है। धर्म के लिये वे मर मिटने को, सर्वस्व त्यागने को तत्पर रहते थे। धार्मिक एकता ने ही अब तक हिन्दुओं को जीवित रखा है। कहीं का भी हिन्दु क्यों न हो, वह पृथ्वी के किसी भी कोने पर जाकर क्यो न बस गया हो, वह अपने सकल्प मे नित्य पढेगा "जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशे

पुण्यक्षेत्रे" आदि-आदि। इस एकता का ऐसा प्रभाव हुआ कि वह हिन्दु चाहे हिमालय के केदार, कश्मीर, जालंधर, कूर्माचल अथवा नैपाल इन खण्डों मे रहता हो अथवा समुद्र तट के जगन्नाथ, रामेश्वर अथवा द्वारका मे रहता हो। अथवा विदेशो में किसी भी द्वीप मे रहता हो, कोई भी भाषा बोलता हो, वह अपने को भारत माँ का पुत्र समझेगा, गंगा, हिमालय उसके पूज्य देवता होंगे। इस धार्मिक एकता ने हमारी कड़ियो को जोड़ रखा था। और धर्म के सम्बन्ध से हम सब एक थे। साधु-संत, संन्यासी महात्मा ये धर्म के ठेकेदार थे। इनके लिये हमारे हृदयों मे बड़ी श्रद्धा थी। जब गाँधीजी महात्मा बन गये, केवल नाम के ही महात्मा नहीं बने, सचमुच उन्होंने एक लँगोटी धारण करके सिर पर चोटी रखाकर महात्माओं का वेष भी धारण कर लिया, तब तो हिन्दुओं की उनके ऊपर श्रद्धा उमड़ पड़ी। और वे सबके माननीय बन गये।

दक्षिण अफ्रीका से आकर गाँधीजी कहीं अपना कार्यक्षेत्र बनाना चाहते थे, उन्हे स्वप्न मे भी यह आशा नहीं थी, कि मैं इतने बड़े भारत देश मे इतना लोकप्रिय बन सकूँगा। पहिले तो वे महात्मा मुंशीलाल (पीछे से स्वामी श्रद्धानन्दजी) द्वारा स्थापित गुरुकुल कागड़ी मे रहना चाहते थे, वह उन्हें अनुकूल न पड़ा, फिर वे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्वभारती मे रहने गये,वह भी अनुकूल न पड़ी तो उन्होंने अहमदाबाद में अपना ही एक आश्रम बनाया। पहिले उसका नाम ऋषि आश्रम, स्वराज्य आश्रम रखना चाहा, अन्त मे वह साबरमती आश्रम के ही नाम से प्रसिद्ध हुआ।

महात्मा गाँधी की ख्याति तो विशेष रूप से जलियाँ वाले बाग के सन १९१९ के कांड से ही हुई। अँगरेज सरकार ने एक

रौलट एक्ट बनाया जो काला कानून के नाम से विख्यात हुआ। उसके विरोध मे स्थान-स्थान पर सभायें हुईं। लाहौर के जलियाँ वाले बाग मे भी सभा हुई। उस समय पजाब के राज्यपाल ओडायर थे और सैनिक अधिकारी डायर था। ओडायर की सम्मति से डायर ने जो वह नर सहार किया वह अद्वितीय था। बगीचे के दरवाजो को बन्द करके स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढे जो भी थे सभी को गोलियों से भून दिया और तब तक भूनते रहे जब तक सैनिको की समस्त गोलियाँ समाप्त नही हो गयीं। निरीह, निशस्त्र, असावधान जनता पर ऐसा सहार शासकों ने कम ही किया होगा। उस सहार के कारण ही नादिरशाही की भाँति डायरशाही अर्थात् अत्याचार और अन्याय की पराकाष्ठा प्रसिद्ध हुई।

उसी समय गाँधीजी लाहौर जा रहे थे, मैं उन दिनो मथुरा मे पढता था। हमने सुना कर्मवीर मोहनदास कर्मचन्द्र गाँधी अमुक गाडी से लाहौर जा रहे हैं। उस समय गाँधीजी इतने प्रसिद्ध नहीं थे। उनके दर्शनों को जनता टूट पडती नहीं थी। अँगरेजों का उन दिनों बडा भारी आतक था। अँगरेजों के विरुद्ध कोई एकान्त में भी धीरे-धीरे बाते करता, तो लोग कहते—"भैया, ऐसी बातें मत करो, दीवालो के भी कान होते हैं, वे भी सुनकर राज्य के अधिकारियों से कह सकती हैं। इससे कोई राज्यद्रोह की न तो बातें ही करता, न राजद्रोह करने वालो से सम्पर्क ही रखता। विशेषकर हमारे सस्कृत के विद्यार्थी तो ऐसी बातों से सर्वथा विरत ही रहते। वे दो ही काम जानते थे क्षेत्रो मे जाकर भोजन कर आना और अपनी पुस्तकों को रटते रहना। इसके अतिरिक्त उनके लिये ससार में कुछ भी होता रहे—"कोउ नृप होहु हमहिं का हानी" उन्हें न ऊधो का लेना न माधो का देना। अपने काम

से काम। अतः उन्होंने तो इसे अनसुनी कर दिया। मेरे मन में बड़ा कुतूहल था, जिस महापुरुष ने विदेशों में दीन भारतीयों का पक्ष लेकर इतने कष्ट सहे हैं, उनका दर्शन तो कर लें। अतः मैं पैदल ही सम्मिलित (जकसन) स्टेशन पर पहुँचा। और भी १०० । ५० आदमी आये थे, किन्तु मैं सबसे पहिले पहुँचा। गाड़ी आई तो मैं डिब्बे में सबसे पहिले पहुँचा। जहाँ तक मुझे स्मरण है गाँधीजी तृतीय श्रेणी के डिब्बे में बैठे थे। वे काठियावाड़ी पगड़ी बाँधे थे और काठियावाड़ी देहाती किसान जिस प्रकार की कमर तक की तनीदार अँगरखी पहिनते हैं, वैसी अँगरखी पहिने थे। सबसे पहिले मैंने हाथ बढ़ाया। उन्होंने दोनों हाथों से हँसते हुए मेरे हाथों को पकड़कर अभिवादन किया। सर्वप्रथम गाँधीजी के मथुरा स्टेशन पर दर्शन हुए। फिर बहुत से और भी लोग आ गये। गाँधीजी ने कुछ कहा—क्या कहा; यह मुझे याद नहीं है। थोड़ी देर पश्चात् गाड़ी चल दी। मथुरा से चलकर मेल आदि वेग से चलने वाली गाड़ियाँ परवल स्टेशन पर ही रुकती हैं। परवल गुड़गाँव जिले में है। उन दिनों गुड़गाँव पंजाब प्रान्त में ही था। पंजाब सरकार का गाँधीजी को आदेश मिला कि वे पंजाब में प्रवेश नहीं कर सकते। उनके न मानने पर राज्य कर्मचारियों ने उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध उतारकर एक डिब्बे में अंजन लगाकर न जाने कहाँ ले गये।

जब यह समाचार देश में फैला तब सर्वत्र दुकानें बंद कर दीं और स्थान-स्थान पर सभायें हुईं, प्रदर्शन हुए। जीवन में सर्वप्रथम इतना भारी प्रदर्शन मथुरा में ही देखा।

यह तो मेरे इस संस्मरण की भूमिका मात्र है। अब कैसे और किन परिस्थियों में मुझे राजनैतिक आन्दोलन में आना पड़ा, इन सब बातों को पाठक आगामी खण्डों में पढ़ेंगे। यह भूमिका

आवश्यकता से अधिक बड़ी हो गयी किन्तु विषय विवेचन के पूर्व इतना प्राक्कथन आवश्यक था, इसीलिये इस विषय को कुछ विस्तार के साथ बताना पड़ा। शेष अब आगे के खण्डों में।

छप्पय

परहितमहँ नित निरत विपति पर निज सम माने।
काहू को अपमान होहि ताकूँ निज जाने॥
दीन दुखी सल दलित जाहि सबने ई त्याग्यो।
जो ताकूँ अपनाय वही अति प्रभु प्रिय लाग्यो॥
सहे सकल सहात जग, करत रहत कल्यान नित।
सन्त वही भगवन्त सम, होवै तिनितैं जगतहित॥

नचिकेता का तृतीय वर (३)

[१७]

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥*
(के० उ० १ अ० २ ब० ९ म०)

छप्पय

जो मति तुमकूँ मिली तर्क तैं दुरलभ सो है ।
चाहैं तुम सम शिष्य सत्यधृति प्रष्टा जो है ॥
नाचिकेत जो अग्नि सकामक भोगनि देवे ।
वे पावें फल नित्य जाहि निष्कामहिँ सेवे ॥
गूढ़ गुहाहित गहनवन- वासी पुरुष पुरात नहिँ ।
धीर पुरुष तिहि पाइकें, हरष शोक तजि अनुभवहिँ ॥

---

* हे प्रियतम पुत्र ! जो मति तुम्हें प्राप्त है, वह तर्क द्वारा प्राप्त होने वाली नहीं है। अपने आप नहीं गुरु द्वारा कहा हुआ उपदेश ही आत्मज्ञान मे निमित्त कारण होता है, वास्तव मे तुम सत्यधृति वाले परम धैर्यवान हो। बेटा नचिकेता हम लोग जो उपदेश देने वाले गुरु लोग हैं, उनकी हार्दिक अभिलाषा यही होती है, कि तुम्हारी जैसी बुद्धि वाला प्रश्नकर्ता शिष्य हम लोगों को मिला करे।

गुरु शिष्य का सम्बन्ध इतना मधुर और सर्वोत्तम है, जितना पिता पुत्र का भी नहीं है। पिता तो वीर्य आधान कर्तामात्र है, वह जो भी उपदेश करेगा, इस लोक के सुख सम्बन्धी ही करेगा। पिता तो पत्नी में वीर्याधान करता है, अर्थात् उससे प्रत्यक्ष सबध नहीं परम्परया सम्बन्ध है, किन्तु गुरु से तो प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, वह स्वय ही प्रत्यक्ष शिष्य के कान द्वारा मन्त्रोपदेश करता है। पिता तो इस लोक के भोगों की प्राप्ति का ही उपदेश देगा, किन्तु सद्गुरु तो परलोक को परिपुष्ट कर देगा, पिता से तो शरीर का ही सम्बन्ध है, किन्तु गुरु तो परम आत्मीय है उसका तो शिष्य से आत्मा का सम्बन्ध है, अतः सद्गुरु ही सच्चा पिता, माता, उपदेष्टा तथा इहलोक और परलोक का सुखदाता है।

जैसे प्रत्येक सद्गृहस्थ की हार्दिक इच्छा होती है, कि मुझे सत्पुत्र प्राप्त हो, उसी प्रकार प्रत्येक सत्गुरु सत्शिष्य की प्राप्ति के लिये लालायित रहता है। शिष्य को तो अपने में सत्पात्रता लाने की आवश्यकता है। सत्पात्रता आ जाने पर शिष्य को सत्गुरु की खोज नहीं करनी पडती। सद्गुरु ही सदा सुपात्र शिष्य को खोजते रहते हैं। जैसे व्याकरण के पडित आधी मात्रा की बचत–लाघव–हो जाने पर पुत्रोत्सव के सदृश प्रसन्नता मनाते हैं, जैसे अपुत्री पुत्र पाकर परम प्रमुदित होता है, उसी प्रकार सद्गुरु सुपात्र सत्शिष्य को पाकर फूला नहीं समाता। वह सत्शिष्य की प्राप्ति से अत्यन्त ही प्रसन्न हो जाता है। संसार में वे गुरु परम भाग्यशाली हैं, जिन्हे कोई सत्शिष्य मिल जाता है। सत्शिष्य ही तो संसार में गुरु के गौरव को बढाता है, वही तो अपने गुरु की कमनीय कीर्ति का दशो दिशाओं में प्रसार-प्रचार करता है। गुरु की महत्ता सत्शिष्य के द्वारा ही प्रकट होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब नचिकेता ने तर्क द्वारा सिद्ध

की हुई वस्तु को ही प्रमाण मानने को कहा, तब धर्मराज ने अत्यन्त ही प्रेम प्रदर्शित करते हुए नचिकेता से कहा—"देखो, वत्स ! तुम मेरे अत्यन्त ही प्रियतम हो, प्रेष्ठ हो, प्रेमास्पद हो। तुम परम श्रद्धावान् हो, परमार्थप्रिय हो, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय तथा विषयलम्पटता से सर्वथा रहित हो। ऐसी बुद्धि सब किसी को प्राप्त नहीं हुआ करती। जिन्होंने अनेक जन्मों में शुभकर्मों का अनुष्ठान किया है, उन्हीं की बुद्धि तुम्हारी भाँति विमल होती है। तुम्हें जो श्रद्धायुक्त अहैतुकी बुद्धि प्राप्त हुई है, वह तर्क के द्वारा किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती।"

नचिकेता ने कहा—"भगवन् ! सत्यधृति पारमार्थिक मति कैसे प्राप्त होती है ?"

धर्मराज ने कहा—"वत्स ! जब पूर्वजन्म के पुण्यों का उदय हो जाय, जब भगवत् कृपा से किन्हीं महापुरुष का–सद्गुरु का–सत्सङ्ग प्राप्त हो जाय, उनके चरणों के समीप बैठकर निरन्तर भगवत् कथा–परमार्थ विवेचन श्रवण करने का सुयोग मिल जाय, तभी ऐसी सुन्दर निष्ठा–आत्मज्ञान के प्राप्त करने की ललक–प्राप्त होती है।"

नचिकेता ने पूछा—"इसकी पहिचान क्या है कि इसे परमार्थ सम्बन्धिनी बुद्धि प्राप्त हो गयी है।"

यमराज ने कहा—"परमार्थ संबन्धी बुद्धि अधीर पुरुषों को–जो तनिक से दुःख में घबड़ा जायँ, तनिक से प्रलोभन में आ जायँ—उन्हें प्राप्त नहीं होती। उत्तम बुद्धि धैर्यवान पुरुषों को ही प्राप्त होती है। हे नचिकेता ! इसके उदाहरण तुम ही हो। तुम वास्तव में सत्यधृति–श्रेष्ठ धैर्य वाले हो। तुम अध्यात्मविद्या के अधिकारी हो। तुम्हारे जैसे उत्तम बुद्धि वाले–संसारी विषयों से विरत वैराग्यवान् शिष्य मिल जायँ, तो वक्ता को–आचार्य को–

परम प्रसन्नता होती है। हम लोगों की सदा यही हार्दिक इच्छा बनी रहती है, कि हमसे प्रश्न पूछने वाले कुपात्र न हों। तुम्हारे सदृश सुपात्र ही प्रश्न पूछने वाले मिलें जिनसे हम लोग परम दुर्लभ अध्यात्मविद्या का हर्ष के साथ उन्हें दान करें।

नचिकेता ने कहा—"भगवन्! एक बात मैं और पूछना चाहता हूँ।"

धर्मराज ने कहा—"हाँ, पूछो।"

नचिकेता ने कहा—"ये संसारी पदार्थ नित्य हैं या अनित्य।"

धर्मराज ने कहा—"संसार के जितने भी पदार्थ हैं, सब अनित्य हैं।"

नचिकेता ने पूछा—"तब अनित्य पदार्थों से जो फल की इच्छा से कर्म किये जायँगे, वे कर्म और उनके फल भी अनित्य ही होंगे?"

धर्मराज ने कहा—"इस बात को मैं भली भाँति जानता हूँ, कि अनित्य पदार्थों द्वारा जो कर्म फल की अभिलाषा से किये जायँगे, वे कर्म तो अनित्य होंगे ही, उनके फल भी अनित्य, क्षयिष्णु तथा बन्धनकारक होंगे।"

नचिकेता ने कहा—"तब आपने मुझे इष्टिका चयन, अग्निहोत्र आदि अग्निविद्या का उपदेश क्या दिया? जब आप मुझे अध्यात्मविद्या का अधिकारी समझते थे, तब ऐसी कर्मफल रूप-निधि-शेवधि-जो अनित्य है, संसार को ही प्राप्त कराने वाली है, उसको मेरे प्रति क्यों कहा और उस अग्नि को भी आपने मेरे ही नाम से प्रसिद्ध करने का वरदान क्यों दिया?"

धर्मराज ने कहा—"देखो, भैया, कर्मों का फल क्रियाओं के अधीन नहीं होता, भावना के अधीन होता है। अपनी परम सुन्दरी पुत्री है, सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर-सोलह

शृङ्गार करके विदा होकर अपनी ससुराल जा रही है, आकर अपने पिता से लिपट जाती है, पिता भी उसे अपनी अंक में भर-कर रोते-रोते उसकी चोटी को भिगो देता है, वहाँ वात्सल्य रस उत्पन्न हो जाता है। ठीक वैसे ही सज-धजकर अपनी धर्मपत्नी आलिंगन करती है। वहाँ शृङ्गार रस का उदय होता है। देखने में दोनों की क्रियायें एक-सी ही हैं, किन्तु भावना के अनुसार उनका फल पृथक्-पृथक् होता है। इसी प्रकार अग्निविद्या की बात है। मैंने स्वयं नाचिकेत-अग्नि के चयनादि रूप से यज्ञादि कर्म किये हैं और मैं इस रहस्य को भली-भाँति जानता भी हूँ, कि हवि आदि अनित्य साधनों द्वारा—नित्य जो परब्रह्म परमात्मा हैं उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अनित्य पदार्थों द्वारा तो अनित्य भोगों की ही प्राप्ति होगी, फिर चाहे वे कितनी भी महान् क्यों न हों। फिर भी मैंने ये सब कर्म निष्कामभाव से—केवल प्रभु प्रीत्यर्थ—ही किये। इसीलिये मैं अनित्य द्रव्यों द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन करता हुआ भी नित्य जो परब्रह्म परमात्मा हैं, उनको प्राप्त हो गया हूँ। मेरी गणना उन बारह पुरुषों में हो गयी है जो भागवत धर्म के पूर्ण ज्ञाता माने जाते हैं। जैसे शरीर तो अनित्य ही है। इसी शरीर द्वारा नित्य परमात्मा को साधक प्राप्त कर ही लेते हैं। इसी प्रकार निष्काम भाव से अग्निहोत्र करने पर अनित्य इस लोक या स्वर्गलोक के भोग ही प्राप्त नहीं होते, कैवल्य मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है और कुछ अधिकार की भी छिपी इच्छा रही हो, तो अधिकार पदों का उपभोग करने के अनन्तर मुक्ति प्राप्त होती है। तुम भी यदि निष्काम भाव से नाचिकेत अग्नि की उपासना करोगे, तो अनित्य भोगों के नहीं परमपद के अधिकारी बन जाओगे। यदि संसारी भोगों के चाक-चिक्य में फँसकर उन्हें प्राप्त करने के लिये अधीर हो जाओगे, तो

यहीं पृथ्वी और स्वर्ग इन्हीं मे भटकते रहोगे। ऊपर नहीं बढने पाओगे। उस परमपद को धीर ही प्राप्त कर सकते है।"

नचिकेता ने पूछा—"धीर किसे कहते हैं ?"

धर्मराज ने कहा—"देखो, वत्स! वेदों म कर्मकाड की ही प्रशसा है। यज्ञादिक जितने कर्म हैं, सब स्वर्ग की ही कामना से किये जाते है ज्ञानमार्ग की ऋचाओं से २२-२३ गुनी कर्मकाड की ऋचायें हैं। जिनमे यज्ञ द्वारा स्वर्ग प्राप्ति बतायी गयी है। स्वर्ग मे समस्त प्रकार के भोगो की प्राप्ति बतायी गयी है। स्वर्ग को जगत की प्रतिष्ठा, यज्ञ को चिरस्थायी फल देने वाले स्वर्ग का कारण, स्वर्ग को ही अभय की अवधि शुभ कर्मों द्वारा ही स्तुति करने योग्य महत्व पूर्ण स्वर्ग का निवास बताया है। वेदों में स्वर्ग की भूरि भूरि प्रशसा की गयी है। समस्त वेद स्वर्ग के गुणगान से ओतप्रोत हैं। बार बार कहा गया है, अमुक कर्म से अक्षय स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है। उस स्वर्ग के अक्षय कहलाने वाले सुखो को मैं तुम्हे दे रहा था, किन्तु इतने प्रलोभन देने पर भी तुमने धीरता धारण करके उनका परित्याग कर दिया। धीर के ये ही लक्षण हैं, जो स्वर्गीय सुखो की महत्ता, प्रतिष्ठा तथा सर्वश्रेष्ठता जानकर भी उनके प्रति उदासीन हो जाय, इनके प्रलोभन मे न फँसे। मेरी बुद्धि म ये सभी गुण तुममे हैं। स्वर्ग के समस्त सुख प्राप्त होने पर भी तुमने उनकी इच्छा नही की, अत निश्चय ही तुम धीर हो। विकार के हेतु भूत विषयों के प्राप्त होने पर भी जिसका मन विचलित न हो वही वास्तव मे धीर है।"

हाथ जोडकर नचिकेता ने नम्रतापूर्वक कहा—"भगवन्! मैं धन्य हुआ, मैं कृतार्थ हो गया, जो मेरे ऊपर आप जैसे ज्ञान स्वरूप गुरु प्रसन्न हुए अब कृपा करके मुझे उन परात्पर प्रभु पर ब्रह्म की कुछ महिमा बताने की कृपा करे।"

धर्मराज ने कहा—"बेटा, नचिकेता ! वह परब्रह्म गूढ़ तत्त्व है। वह अणु, परमाणु सब में समान भाव से व्याप्त है। वह सब की हृदयरूपी गुहा में बैठा हुआ है। वह भवरूपी अटवी में निवास करता है। अर्थात् जगतरूप होकर विद्यमान है। वह नूतन नहीं है पुराना है। कितना पुराना है इसका कोई अनुमान भी नहीं कर सकता इसीलिये उसे पुराणपुरुष कहकर पुकारते हैं।"

नचिकेता ने पूछा—"भगवन् ! जो योगमाया के पर्दे में छिपा रहता है, जो निगूढ़ है, जिसे कोई देख नहीं सकता, जो खुले भवन में न छिपकर एकान्त गुफा में छिपकर बैठा है और जो गहन वन में छिपकर विचरता रहता है, उस ब्रह्म को कौन पा सकता है ?"

धर्मराज ने कहा—"भैया ! कह तो दिया उसे विषय अलोलुप धीर पुरुष ही प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।"

नचिकेता ने पूछा—"उसे प्राप्त कर लेने पर साधक की स्थिति कैसी हो जाती है ?"

धर्मराज ने कहा—"जो धीरपुरुष अध्यात्म योग प्राप्ति के द्वारा उसे भली प्रकार समझ लेता है। वह हर्ष में न तो फूलकर कुप्पा ही हो जाता है और न शोक में विह्वल होकर रुदन ही करने लगता है। वह हर्ष, शोक दोनों का परित्याग करके कृतार्थ हो जाता है। हर्ष, शोक दोनों के भाव विनष्ट हो जाते हैं।"

नचिकेता ने कहा—"भगवन् ! हर्ष और शोक जो ये द्वन्द्व हैं इन्हें छोड़ने पर सूक्ष्म तत्त्व ज्ञाता की स्थिति कैसी होती है ?"

धर्मराज ने कहा—'अध्यात्म योग के द्वारा प्राप्त होने वाला जो यह तत्त्व है, इस धर्ममय तत्त्व के उपदेश को श्रवण करके जो इसे सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर लेता है, तथा उसका भली-भाँति विमर्श करता है, और विवेकपूर्वक विचार करके इस अणु परब्रह्म तत्त्व का अनुभव कर लेता है, वह परम प्रमुदित हो जाता है। क्योंकि वह मोदनीय है आनद स्वरूप है, सच्चिदानन्द-मय है, उसे जानकर तद्रूप हो जाता है उस आनन्द सागर मे तन्मय हो जाता है, निमग्न हो जाता है। वह सबसे श्रेष्ठ परम धाम है। उससे बढकर कोई श्रेष्ठ धाम नहीं।

नचिकेता ने पूछा—"प्रभो! वह धाम मुझे किस प्रकार प्राप्त हो?"

हँसकर धर्मराज ने कहा—"बेटा, नचिकेता! अरे, भैया! तुम्हारे लिये तो उस सद्म का—उस परम धाम का—द्वार सर्वथा खुला हुआ है। तुम तो जब चाहो उसमें प्रवेश कर सकते हो, मेरी ऐसी मान्यता है।"

नचिकेता ने कहा—"आपके कथनानुसार वह परब्रह्म पर-मात्म तत्त्व धर्म और अधर्म दोनों से अन्यत्र है अर्थात् धर्माधर्म से रहित है और इस कार्य कारण रूप जगत् से भी भिन्न तथा भूत, भविष्यत्, वर्तमान त्रिविध काल से भी परे है। उस तत्त्व के आप ज्ञाता है, उसका साक्षात्कार आपने किया है, उसे आपने देखा है। कृपा करके मुझे भी उसका उपदेश दीजिये। उसके सम्बन्ध मे आप मुझसे कहे।"

धर्मराज ने कहा—"बेटा! वह तत्त्व वाणी का विषय नहीं। उसका वर्णन विस्तार से करना असम्भव है। फिर भी मैं तुम्हे बहुत ही सक्षेप मे केवल एक ही शब्द मे उसका उपदेश करता हूँ। वह एकाक्षर पद ऐसा है, कि सम्पूर्ण वेद उसी एक अक्षर का

विस्तार मात्र हैं। समस्त वेद उसी पद का पुनः-पुनः प्रतिपादन करते हैं। संसार के समस्त ऋषि, महर्षि इसकी प्राप्ति के निमित्त भाँति-भाँति के कठोर तप करते हैं। अर्थात् जो पद सम्पूर्ण तपों का एकमात्र लक्ष्य है, सबका आधार है। ब्रह्मचारीगण जिसकी प्राप्ति के निमित्त ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं, वही एकाक्षर पद उस परब्रह्म परमात्मा का वाचक है।"

नचिकेता ने पूछा—"उस परब्रह्म परमात्मा का वाचक वह पद कौन-सा है ?"

धर्मराज ने कहा—"वह एकाक्षर ब्रह्मवाचक पद ॐ है। जिसे प्रणव भी कहते हैं। नचिकेता ! यह प्रणव ही वेदों का सार है। यह एक अक्षर ही ब्रह्म है। यही अक्षर परमपद है। इसी एक अक्षर के भाव को जानकर साधक कृतार्थ हो जाता है। वह वही हो जाता है, उसे निरतिशय आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

नचिकेता ने कहा—"उस निरतिशय आनन्द का आलम्बन क्या है ?"

धर्मराज ने कहा—"भैया ! मैंने कह तो दिया। यह प्रणव रूप ओंकार ही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही परम आलम्बन है। इस आलम्बन को जानकर जीव ब्रह्मलोक में गौरवान्वित होता है। उसकी महिमा ब्रह्म के लोक वैकुण्ठ में गायी जाती है। यह ॐ ही आत्मा तथा परमात्मा का प्रतीक है।"

नचिकेता ने पूछा—"भगवन् ! अब मैं आत्मा के स्वरूप को जानना चाहता हूँ, कृपया मुझे आत्मा का स्वरूप बतावें ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ब्रह्म के वाचकप्रणव के सम्बन्ध में बताकर अब जैसे नचिकेता के पूछने पर यमराज ने आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है, उस प्रसंग को मैं आगे वर्णन

करूँगा। यह प्रसंग अत्यन्त ही गूढ़ है। अतः इसे आप सब बड़ी सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

नर जिहि सुनि अरु समुझिमु दित हों तुम तिहि पाओ।
पूछे द्विज सुत—"आयु ब्रह्मविद ब्रह्म बताओ॥
वही ब्रह्म परब्रह्म प्रणव वाचक करि अनुभव।
वेद बतावें जाइ करें जिहि हित तप व्रत सब॥
आलम्बन अति श्रेष्ठ यह, परमालम्बन कहहिं मुनि।
ओं नाम जपि ब्रह्म लहि, गौरवशाली होहिं पुनि॥

नचिकेता का तृतीय वर (४)

[१८]

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥*

(क० उ० १ अ० २ व० २३ मन्त्र)

छप्पय

जनम मरन नहिं नित्य आतमा अजन पुरातन।
नहीं मरै तन मरत न मारै जरै न सँग तन॥
सूछम तैं हू सूक्ष्म बड़े तैं बड़ो कहावै।
प्रभु प्रसाद तैं वीतराग जानें जनवावै॥
थिर हू जावै दूरि अति, शयन करत दशदिशि चलत।
समद अमद नहिं हरप है, अमद मद्य मम सम भनत॥

सर्वसाधारण जीवों को तो संसार के भोग ही प्रिय लगते हैं, वे भोगों की प्राप्ति के ही निमित्त सतत प्रयत्नशील रहते हैं। आत्मानुसंधान करने वाले तो कोई विरले ही भगवत् कृपापात्र पुरुष होते हैं। वे साधारण जीव नहीं होते। वे अनुग्रह सृष्टि के

---

* यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त नहीं होता। न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त होता है। जिसे आत्मा वरण कर लेता है, वही उसे प्राप्तकर सकता है। उसी के लिये यह परमात्मा अपने शरीर को प्रकट करता है।

गोपालक कृष्ण

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८७

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

●

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●

प्रथम संस्करण १००० } सितम्बर १९७१ आश्विन सं० २०२८ { संशोधित, मूल्य २.०० रुपया मूल्य : १.६२

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज इलाहाबाद

विषय-सूची

विषय		पृष्ठांक
संस्मरण	...	१
१. मुण्डकोपनिषद्	...	२०
२. ब्रह्म के जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है		२५
३. अग्निहोत्र की महत्ता	...	३५
४. ज्ञानमार्ग की महत्ता	...	४३
५. सब ब्रह्म ही ब्रह्म है	...	५०
६. यह विश्व परम पुरुष ही है	...	५६
७. ब्रह्मलक्ष्य-वेध	...	६२
८. यह विश्व वरिष्ठ ब्रह्म ही है	...	६८
९. जीव परमात्मा की महिमा का अनुभव करके सुखी होता है	..	७४
१०. ब्रह्म ही सर्वत्र परिपूर्ण है	...	८२
११. परमात्मा कृपासाध्य हैं, साधनसाध्य नहीं		८९
१२. वेदान्त की अन्तिम स्थिति		९६
१३. माण्डूक्योपनिषद् (शान्तिपाठ)	...	१०५
१४. सब कुछ ओंकार ही है	..	११२
१५. चतुष्पाद परिपूर्ण ब्रह्म	...	११९
१६. तैत्तिरीयोपनिषद्	.	१०८
१७. पाँच महासंहिताओं का वर्णन	..	१३९
१८. प्रणव प्रार्थना और हवन विधि	...	१४९
१९. व्याहृतियों द्वारा उपासना का रहस्य		१५७
२०. अङ्गी रूप में ब्रह्म की उपासना	...	१६४
२१. पृथ्वी आदि पचक पंक्ति परिचय	...	१७०
२२. ओम् अक्षर की महिमा	...	१७८
२३. स्वाध्याय प्रवचन और सदाचार	...	१८४

संस्मरण

[७]

पंडित जीवनदत्त जी ब्रह्मचारी

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वस्था वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलं
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥*

(भर्तृ० नी० श० ६५ श्लोक)

छप्पय

कर की शोभा दान कही शोभा प्रनाम सिर ।
मुख की शोभा सत्य भुजनि शोभा है रन अरि ॥
हिय की शोभा कही स्वच्छता मुनिनि बताई ।
शास्त्र श्रवन नित कही सुशोभा काननि भाई ॥
सज्जन ढिंग धन है नहीं, धनी बिना धन के भये ।
उनको है ऐश्वर्य यह, अति अमोल भूषन कहे ॥

---

* हाथों की प्रशंसा त्याग से है, सिर की प्रशंसा इसी में है कि वह गुरुओं के पादपद्मों में प्रणत हो, मुख की प्रशंसा सत्य भाषण से है विजयी भुजों की प्रशंसा अतुल बल से है, मन की प्रशंसा स्वच्छ वृत्ति से है, कान वे ही प्रशंसनीय हैं जो शास्त्र श्रवण करें। धन सम्पत्ति के बिना भी ये गुण महत पुरुषों में स्वाभाविक होते हैं। उन्हें बाहिरी लौकिक भूषणों की आवश्यकता नहीं होती।

सहजावृत्ति को सर्वोत्तम बताया है, संसार से कोई सम्बन्ध न रखकर सदा चित्त की वृत्ति भगवदाकार ही बना रहे। संसार के किसी विषय का मन में स्फुरण ही न हो। यही सर्वोत्तम वृत्ति है। भागवत के माहात्म्य में गोकर्णजी ने अपने पिता को उपदेश करते हुए कहा है—"अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु त्यक्त्वा सेवा-कथारसमहो नितरां पिब त्वम्।" दूसरों के दोषों का और गुणों का भी चिन्तन तुम त्यागकर निरन्तर भगवत् सेवा तथा कथा के रस को पीते रहो। यदि ऐसा हो जाय, तो कहना ही क्या? तब तो वृन्दावन ही बन जाय। इसीलिये श्रीमद्भागवत में परमार्थ-निरूपण करते हुए बताया कि साधक को कभी भी दूसरों के स्व-भावों की तथा कर्मों की न तो प्रशंसा ही करनी चाहिये और न निन्दा ही करनी चाहिये। क्योंकि परमार्थ-दृष्टि से विश्व एकात्मक है। वैसे पुरुष और प्रकृति दो हैं। दो होते हुए भी भगवान् तो एक ही हैं, वे ही अनेक रूपों में क्रीडा कर रहे हैं। इसलिये सबको भगवान् का खेल समझकर निरन्तर उन्हीं एक के चिन्तन में निमग्न रहना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते। दूसरों के गुण दोषों का विवेचन करते रहते हैं, दूसरों के स्वभाव की निन्दा या प्रशंसा करते रहते हैं, वे अविलम्ब ही अपने यथार्थ परमार्थ साधन से भ्रष्ट हो जाते हैं। क्योंकि वे असत्य का अभिनिवेश करते हैं। सत्य तो एकमात्र भगवान् ही हैं। वे ही क्रीडा कर रहे हैं। उनमें यह अच्छा है, यह बुरा है, ऐसा भेद करना भी तो उचित नहीं।

यह तो सर्वोत्तम स्थिति है, इसीलिये प्राचीन ऋषि-महर्षि न तो अपने ही सम्बन्ध में विशेष कुछ बताते थे, न दूसरों के ही सम्बन्ध में। वे सदा परमार्थ चिन्तन में ही लगे रहते थे। यह सर्वोत्कृष्ट वृत्ति है।

६६५९

यदि ऐसा न हो सके सदा सर्वदा रात्रि दिन ब्रह्माकार वृत्ति न रह सके, तो जो लोग वीतराग महापुरुष हों-जिनका राग द्वेष नष्ट हो चुका है उनका ध्यान करने से उनके पुण्यकर्मों का चिन्तन करने से चित्त स्थिर हो जाता है। ऐसा योगदर्शन में बताया गया है।*

सर्वसाधारण मनुष्य निन्दा प्रिय हैं, दोषदर्शी हैं, उन्हें दूसरों के दोष देखने में बड़ा आनन्द आता है। परचर्चा-परनिन्दा करने और सुनने में उन्हें अत्यधिक रस आता है। किन्तु जो साधक हैं, वे जहाँ तक होता है परचर्चा और परनिन्दा से बचते रहते हैं। दूसरों के परमाणु सदृश भी गुण होते हैं, तो उनका बखान करते हैं, उन्हें विपद् करके अपने हृदय में धारण करते हैं (परगुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्। निजहृदि विकसन्त सन्ति सन्तः कियन्तः) बात यह है कि सदाचारी, वीतरागी पुरुषों के संस्मरण से भी चित्त की शुद्धि होती है। इसीलिये पुण्यश्लोक पुरुषों का प्रातःकाल उठकर सबसे पहिले स्मरण किया जाता है (पुण्यानिमा परमभागतां स्मरामि) ऐसा सभी शास्त्रकारों ने किया है। महाभारत में पुण्यश्लोक परम भागवतों का ही चरित तो है।

हमारे यहाँ सबसे अधिक शब्द कृपण वैयाकरण माने जाते हैं। उनके यहाँ वैयाकरण की परिभाषा ही यह की है, जिसे आधी मात्रा की बचत पर पुत्रोत्सव के सदृश सुख हो वही सच्चा वैयाकरण है (अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणाः) परन्तु उन व्याकरण के आचार्यों को भी जब अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का स्मरण करना होता है, तब वे इस परिभाषा की उपेक्षा

---

* वीतराग विषयं वा चित्तम् (योगदर्शन)

कर देते हैं। अन्य शास्त्रों में तो मूल लेखक या मूल रचयिता सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है, उससे कम व्याख्याता और उससे भी कम टीका-टिप्पणी कर्ता। किन्तु हमारे व्याकरण शास्त्र में ठीक इससे उलटा ही है। सूत्रकार पाणिनीय की अपेक्षा वार्तिककार उनकी अपेक्षा भाष्यकार पतंजलि अधिक प्रामाणिक माने जायँगे, तो बहुत से अष्टाध्यायी के सूत्रों में कुछ प्राचीन व्याकरण के आचार्यों के नाम का उल्लेख कर दिया है। तब वादी कहता है, तुम तो आधी मात्रा के लाघव को ही पुत्रोत्सव के सदृश हर्ष का विषय मानते थे, फिर तुमने इस सूत्र में इन प्राचीन वैयाकरण का नाम क्यों रखा ? इसे न भी रखते तो भी सूत्र के अर्थ में तो कोई व्यवधान न पडता ? इसका उत्तर देते हैं— "उनका नाम हमने पूजार्थ रखा है।* काम तो चल ही जाता, किन्तु जो पुराने आचार्य हैं, उनकी पूजा तो नहीं होती। उनका नामोल्लेख करके हमने श्रेष्ठ पुरुषों की पूजा की है। अतः प्राचीन पुरुषों के गुणों की प्रशंसा करना हमारा प्राचीन सदाचार है। जिनके सत्संग से, जिसके सहवास से हमें सुख मिला हो, सत्-कर्मों की प्रेरणा प्राप्त हुई हो, उनका गौरव के साथ स्मरण करना यह हमारी प्राचीन संस्कृति है। सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक विरले ही ऐसे होते हैं, जिनके सदाचार से लोगों को प्रेरणा प्राप्त होती है, जिनके गुण अनुकरणीय होते हैं। हमारे पं० जीवनदत्त

---

* जैसे 'वासुप्यापिशले" इसमें 'आपिशलि" कोई प्राचीन वैया-करण है। वादी कहता है यहां वा शब्द से ही विकल्प कार्य हो सकता है आपिशलि ग्रहण क्यों किया। कहते हैं पूजार्थ ग्रहण किया "ओतो-गार्गस्य" सूत्र है, यहां ओत शब्द से ही नित्य लोप हो सकता है, फिर गार्गस्य ग्रहण क्यों किया ? पूजार्थ। ऐसे बहुत से सूत्र हैं।

जा ब्रह्मचारी ऐसे ही सदाचार सम्पन्न अनुकरणीय गुणों वाले महामानव थे। हमारे साथ उनका आत्मीय सम्बन्ध था। वे अपने निजी जन थे। उनके संस्मरणों से परमार्थ पथ के पथिकों का सत् प्रेरणा प्राप्त होगी।

जिस समय हमारे ब्रह्मचारीजी पैदा हुए उस समय अलीगढ, बुलन्दशहर के जिलों में आर्य समाज का बडा जोर था। कारण कि स्वामी दयानन्दजी गंगाजी के अत्यन्त ही प्रेमी थे। वे प्रायः गंगा किनारे ही विचरा करते थे। वे इधर गंगा किनारे कर्णवास आदि स्थानों मे बहुत दिनों तक रहे। इसलिये इन जिलों में आर्य समाज का बडा प्रचार रहा। कहना चाहिये यहीं से आर्य समाज का सर्वत्र प्रचार हुआ। नया नया ही प्रचार था। वेदों का ही आधार था। उत्साह, त्याग, उन्नति का आवेश था, इससे उत्साही नवयुवकों का उस ओर झुकाव अधिक हो गया था।

रामघाट से लेकर नरोरा, नरवर, विहारघाट, राजघाट, कर्णवास, भेरिया, अनूपशहर, अवन्तिका, भगवानपुर और उधर पेटपालकी कुटिया तक के सभी गंगा किनारे के स्थान बडे ही रमणीक हैं। राजघाट के ही समीप एक गंगाजी से थोडे ही दूर बेलोन नाम का एक गाँव है। बेलोन की भवानी उस प्रान्त में बहुत ही विख्यात हैं। सैकडों कोश के यात्री वहाँ भगवती के दर्शनार्थ आते हैं। अब तो पता नहीं वह ग्राम कितना बडा हो गया है, जब मैं भगवती के दर्शनार्थ गया था, तब तो वह बहुत ही छोटा-सा ग्राम था। भवानी देवी के कारण ही वह इतना विख्यात था। उसमें एक प० हेमराजजी नाम के वैद्य थे। उन्हीं के पुत्र हुए एक प० गंगादत्तजी शास्त्री। वे व्याकरण के बड़े उद्भट विद्वान् थे। काशी मे प० काशीनाथजी से उन्होंने व्याकरण

पढा और अन्त में कागडी गुरुकुल में व्याकरण के अध्यापक हो गये। स्वामी श्रद्धानन्दजी से मतभेद होने के कारण, स्वामी दर्शनानन्दजी ने जो ज्वालापुर में गुरुकुल महाविद्यालय स्थापित किया था, उसमें आ गये और अन्त तक उसी में रहे। पीछे वही दण्डी सन्यासी होकर स्वामी शुद्धबोधतीर्थ के नाम से विख्यात हुए। मैंने ज्वालापुर महाविद्यालय में जब वे सन्यास ले चुके थे, तभी उनके दर्शन किये थे। उन्हीं के द्वारा मुझे कनखल के पुल के पास मुक्तिपीठ नामक स्थान गायत्री पुरश्चरण के निमित्त मिला था और उन्हीं की प्रेरणा से मैं घंटे भर को नित्य महाविद्यालय में ब्रह्मचारियों को पढाने के लिये जाया करता था। हमारे प० जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी उन्हीं के शिष्य थे। ब्रह्मचारीजी का जन्म अलीगढ जिले के एक गाँव में ही हुआ था। उन्होंने अष्टाध्यायी महाभाष्य की प्रणाली से ही व्याकरण पढा था। प० गंगादत्तजी शास्त्री से पाँच-६ वर्ष तक नवाह्निक भाष्य पढा था। पीछे इटावा के प० भीमसेन शर्माजी से भी उन्होंने अनेक विषयों का अध्ययन किया। प० भीमसेनजी स्वामी दयानन्दजी के शिष्य हो गये थे। प० गंगादत्तजी, भीमसेनजी ये सबके सब आर्य समाज के प्रवाह में थे, किन्तु उनमें आजकल के आर्य समाजियों की तरह कट्टरता नहीं थी। स्वामी शुद्धबोधजी तीर्थ को मैंने देखा था वे सूर्य को अर्घ्य देते थे। पहिले सनातनी आर्य समाजी पंडितों में कोई भेदभाव नहीं था। पीछे प० भीमसेनजी, प० अखिलानन्दजी, प० जीवनदत्तजी तथा और भी बहुत से लोग आर्य समाज को छोडकर शुद्ध सनातनधर्मी हो गये थे। ब्रह्मचारीजी ने रानघाट नगर के समीप साङ्गवेद विद्यालय नाम की एक छोटी-सी पाठशाला खोली थी। जिसमें विद्यार्थी दण्ड धारण करके, गाँवों से भिक्षा लाकर नित्य हवन करते और ब्रह्म-

चारी जीवन बिताते। पीछे ब्रह्मचारी के नियमों का पालन करने वाले तो नाममात्र को ही विद्यार्थी रह गये। अन्य संस्कृत पाठशालाओं की भाँति यह भी एक काशी की परीक्षा दिलाने वाली पाठशाला बन गयी। पं० भीमसेनजी संस्कृत के दिग्गज विद्वान थे। प्राचीन ढँग के संस्कृत के विद्वान् थे। अँगरेजी कुछ भी नहीं जानते थे। फिर सर आशुतोष-मुकर्जी ने उनकी विद्वत्ता के ही कारण उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत तथा वेदों का प्राध्यापक बनाकर बुला लिया था। अन्त में वे श्री ब्रह्मचारीजी के ही यहाँ आकर गंगातट पर नरवर पाठशाला में ही रहने लगे। और वहीं उन्होंने अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत किये।

कृष्णतीर्थजी महाराज महीनो श्री ब्रह्मचारीजी की नरवर पाठशाला मे रहे थे। बडे महाराजजी श्री ब्रह्मचारीजी से अत्यन्त ही स्नेह रखते थे। श्री ब्रह्मचारीजी का स्वभाव था, वे विद्वानो का, सदाचार सम्पन्न कर्मकाण्डी ब्राह्मणो का, विरक्त साधु-सन्तो का, बहुत अधिक आदर करते थे। जब मैं खुरजा मे पढता था, तब हमारे आचार्य चरण पू० पं० चण्डीप्रसादजी सुकुल प्रायः नरवर पाठशाला में जाया करते थे। तब तक स्यात् नरवर मे मध्यमा तक की ही पढ़ाई होती थी। आचार्य के विद्यार्थियों को वे खुरजा की पाठशाला मे ही भेज देते थे। वहाँ के पढ़े दो भाई सत्यदेव और ब्रह्मदेव हमारे साथ पढ़ते थे। उनसे नरवर पाठशाला की तथा ब्रह्मचारी महाराज की सब बातें हम सुनते रहते थे। सन् २१ के असहयोग आन्दोलन मे मैं बुलन्दशहर जिले के गाँव-गाँव जाकर प्रचार करता था। नरवर भी बुलन्दशहर जिले ही मे है, वहाँ मैं जा नहीं सका तभी तक पकड लिया गया। उस समय हमारा श्री ब्रह्मचारीजी से साक्षात्कार नहीं हुआ था। मैं तो उनकी कीर्ति बाल्यकाल से ही सुनता रहता था। और बुलन्दशहर का कार्यकर्ता होने के कारण वे भी मेरे नाम से परिचित थे। किन्तु हमारा प्रत्यक्ष परिचय तो तब हुआ जब वैराग्य की झोक मे काशी से साहित्यिक जीवन परित्याग करके विरक्त का वेष बनाकर पैदल गंगा किनारे-किनारे विचरने लगा था।

अहा! वे कैसे मधुमय दिवस थे, कैसा क्रान्तिमय जीवन था। हृदय में वैराग्य की कैसी-कैसी हिलोरें उठती थीं। क्या-क्या सोचते थे संसारी विषयो से कितनी उपरति थी। किसी साधु के पास गद्दा, तकिया आदि देखते उसी से लड पड़ते थे। अपने त्याग वैराग्य का बड़ा भारी अभिमान था। काशी में ५।७ उत्साही नवयुवक मेरे साथ रहते थे। जब सबको छोड़-

छोड़कर चला तो दो साथी मेरे साथ-साथ आये। इन्द्र ब्रह्मचारी और गोविन्द ब्रह्मचारी। इन दोनों ही ने अपना जीवन मेरे लिये अर्पित कर दिया था। ये दोनो गंगा किनारे के गाँवो मे से भिक्षा माँग लाते थे, हम तीनो मिलकर भिक्षा करके चल देते थे। उन दिनो चलते रहना ही हमारे जीवन का एकमात्र व्यापार था। हमने "चरैवेति चरैवेति" सूक्त की मानों दीक्षा ले रखी थी।

हमसे कुछ ही आगे-आगे स्वामी रामदेवजी भी चलते थे। उन दिनों उनकी अवस्था बहुत ही छोटी थी, रेख भी नहीं निकली थी १७-१८ वर्ष के रहे होगे। परन्तु इस अल्पावस्था मे भी उनके जीवन मे अपूर्व त्याग था। वे सरदी, गरमी तथा वर्षा सभी ऋतुओं मे नगे ही रहते थे। केवल एक ही लँगोटी रखते थे, उसी से नहाते थे, उसी को पहिन लेते थे, दूसरी लँगोटी भी नहीं रखते थे।

हमारे ब्रह्मचारीजी महाराज उनके इस अल्पावस्था के त्याग वराग्य से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। उन्हें कई दिनो तक आग्रह पूर्वक अपने यहाँ रोक रखा।

जब हम नरवर पहुँचे उसके एक दो दिन पहिले ही स्वामी-रामदेवजी वहाँ से चल चुके थे। हमारे सम्बन्ध में वे सुनते तो बहुत दिनो से थे ही। जब मिले तो परम आत्मीय बन्धु की भाँति मिले। स्वामी रामदेवजी के त्याग, वैराग्य की बड़ी प्रशसा करते रहे। खुरजा की पाठशाला के गुरूजी के सम्बन्ध की बातें करते रहे।

मैंने देखा उनमे बडप्पन का तनिक भी अभिमान नहीं था। जहाँ तहाँ बिना आसन के ही भूमि पर बैठ जाते। दूसरे लोगो को ये बातें बुरी लगती थीं, किन्तु उन्हे मान-अपमान का ध्यान ही नहीं था। मैंने उन्हें इधर-उधर बिना आसन के ही बठे पाया। खुरजा के बाबूलाल सूरजमल जाटिया तथा और सेठ,

साहूकार, सभी सेवक, विद्यालय की सहायता करते थे, फिर भी संस्कृत विद्यालयों की जैसी सोचनीय अवस्था होती है, वैसी ही अवस्था नरवर पाठशाला की थी। उन दिनों संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक कह लो, प्रधान निरीक्षक कह लो (क्योंकि उन दिनों संयुक्त प्रदेश भर में संस्कृत पाठशालाओं के एक ही निरीक्षक होते थे,) वे प० काशीनाथजी थे। वे ब्रह्मचारीजी के सात्त्विकी जीवन से नरवर के गंगातट के ऋषि आश्रम-तुल्य स्थान से बड़े प्रभावित थे और उन्होंने विद्यालय को यथाशक्ति अधिक से अधिक सहायता दिलाने की चेष्टा की थी। फिर भी इतने लोगों के नित्य भोजन का व्यय एक न एक अभाव सदा बना ही रहता था। कलकतिया नहर (राजघाट नरौरा गंगापुल) का कार्यालय पाठशाला के समीप ही था। पहिले पाठशाला वाले जंगलों से नहर के किनारे से ईंधन काट लाते थे। पीछे नहर के अधिकारियों ने इस पर आपत्ति की। उन दिनों पाठशाला के सम्मुख ईंधन का बड़ा संकट था। ब्रह्मचारीजी ने कहा—"भैया! देखो, नहर वाले हमें ईंधन काटने से मना करते हैं, अधिकारियों से कहकर हमारे ईंधन की सुविधा करा दो।"

उन दिनों वहाँ का अभियन्ता अधिशायी (इंजीनियर) कोई जैनी थे। मैं उनके समीप गया। उन्होंने बड़ी सभ्यता से बातें की। मैंने बार-बार धर्म और पुण्य की दुहाई दी, तो उन्होंने कहा—"देखिये, मैं तो जैनी हूँ। फिर भी आप आये हैं तो हम पाठशाला के लिये ईंधन का प्रबन्ध करा देंगे।" और उन्होंने, सुना प्रबन्ध करा भी दिया।

इस प्रकार ब्रह्मचारीजी का समस्त कार्य ईश्वर के भरोसे पर चलता था। कोई चन्दा नहीं, उत्सव नहीं, विज्ञापन नहीं भगवान् सब निर्वाह करते ही थे।

श्री ब्रह्मचारीजी की दिनचर्या प्राचीन ऋषि मुनियों की भाँति आदर्श थी। वे स्वतः विद्यार्थियों को पढ़ाते नहीं थे। पढ़ाने के लिये तो उन्होंने कई अध्यापक रख रखे थे। वे तो केवल विद्यालय की देखरेख रखते थे। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर नित्यकर्मों से निवृत्त होकर गंगा तट पर चले जाते। जो पाठशाला से उन दिनों आधा मील से कम ही थी। वहाँ एक फूँस की झोपड़ी बना रखी थी। उसमें बैठकर मध्यान्ह पर्यन्त गायत्री मन्त्र का जप करते। फिर मध्यान्ह कृत्य करके आश्रम में आते। उनका भोजन एक विद्यार्थी बनाता। प्रसाद पाकर फिर आश्रम की देख-रेख करते। कुछ सत्संग आदि करते फिर सायंकाल गंगातट चले जाते। ऐसे उनका सम्पूर्ण समय स्वाध्याय प्रवचन में ही बीतता। उनकी पाठशाला के द्वार पर यह उपनिषद् का आदर्श वाक्य अंकित था "स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम" स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करो।

तैत्तिरीय उपनिषद् के नवम अनुवाक में स्वाध्याय और प्रवचन की महिमा बतायी गयी है। वहाँ ऋत-सत्य सदाचार-सत्य-यथार्थ-भाषण, तप, दम, शम, अग्निचय, अग्निहोत्र, अतिथि सत्कार, मनुष्यता, सन्तान, धर्माविरुद्ध काम और कुटुम्ब-वृद्धि, इन सबको कर्तव्य बताकर अन्त में कहा है इनके साथ ही स्वाध्याय प्रवचन-शास्त्रों का पठन-पाठन-प्रधान कर्तव्य है। स्वाध्याय प्रवचन के साथ ये धर्म कार्य करने चाहिये। इस पर सत्यवचा ऋषि ने कहा—"नहीं भाई, एक सत्य का ही आश्रय ग्रहण करो सत्य से बढ़कर कोई परम धर्म नहीं।" इस पर तपोनित्य नाम के ऋषि बोले—"हम तो तप को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। तपसा किं न लभ्यते—तपस्या से ऐसी कौन-सी वस्तु है जो प्राप्त न हो सके।" इस पर मुद्गल ऋषि के पुत्र महर्षि नाक ने

"हमारे मत में तो स्वाध्याय प्रवचन-शास्त्रों का पठन-पाठन-ही सर्वश्रेष्ठ है। इससे श्रेष्ठ कोई कार्य नहीं, क्योंकि सबसे बड़ा तप स्वाध्याय और प्रवचन ही है।*

वास्तव में प्राचीन ऋषि महर्षियों का समस्त काल स्वाध्याय और प्रवचन में ही बीतता था। मन्त्रों का जप यह भी स्वाध्याय में ही है। हमारे ब्रह्मचारीजी एक प्रकार से आधुनिक समय के ऋषिकल्प ही महामानव थे।

इसके अनन्तर तो उनसे अनेकों बार मिलना हुआ। वे हमसे अपने परम आत्मीय बन्धु की भाँति स्नेह रखते थे। तब तक दंडि स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रमजी महाराज नरवर नहीं आये थे। उस समय पहिले ही पहिल पू० स्वामी अच्युत मुनिजी ने उन्हें भेरिया में साधुओं को वेदान्त पढ़ाने को बुलाया था। वे भेरिया में एक वेदान्त का विद्यालय खोलना चाहते थे। ब्रह्मचारी जी चाहते थे वह नरवर में ही खुले। श्री अच्युत मुनिजी और ब्रह्मचारीजी में किसी विषय पर मतभेद हो गया वह लम्बी बात है, अन्त में स्वामीजी नरवर में ही आकर पढ़ाने लगे। वे स्वामी जी पंजाबी थे कुछ अक्खड़ स्वभाव के। भगवन्नाम संकीर्तन आदि का बहुत खंडन करते थे। उन दिनों मैं हर समय "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस मन्त्र का सदा सर्वदा उच्चारण करता रहता था। लिखते समय भी मुख से

---

* सायमिति सत्यवचा रथीतरः।
तप इति तपानित्य पौरुशिष्टिः॥
स्वाध्याय प्रवचने एवेतिनाको मौद्गल्यः।
तद्हि तपस्तद्हि तपः॥
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

यह मन्त्र उच्चरित होता रहता था। चैतन्य चरितावली आदि उस समय के ग्रन्थ ऐसे ही उच्चारण करते-करते लिखे हैं। जिस समय वे पढ़ा रहे थे, उस समय मैं भी उनके यहाँ बैठकर सुन रहा था। उन्होंने तुरन्त कहा—"तुम्हारे बोलने से हमारे पढ़ाने में विघ्न होता है, या तो बोलना बन्द करो नहीं चले जाओ।" मैं उठकर चला आया।

इसी प्रकार एक दिन पू० उड़िया बाबाजी भी गये और उनको भी बहुत फटकारा। सन्यासी होकर कीर्तन कराते हो, आदि-आदि और कह दिया—यहाँ से चले जाओ। वे प्रणाम करके चले आये। पीछे ब्रह्मचारीजी महाराज बाबा के पास गये और क्षमा याचना की। श्री ब्रह्मचारीजी बड़े व्यवहार पटु थे। वे अपने व्यवहार से सभी को प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे। उनके समीप गरीब, अमीर, पठित, मूर्ख, सनातनी, आर्यसमाजी, योगी भोगी सभी प्रकार के लोग आते थे, और सभी से उन्हीं के अनुरूप बात किया करते थे।

देश में भारतीयता का प्रचार हो, फिर से धर्म की स्थापना हो, वैदिक आर्य संस्कृति का प्रसार हो। ब्राह्मणों में फिर से षोडश-संस्कार होने लगे। उनकी बड़ी बड़ी योजनायें होती थीं। एक बार मुझसे भी बहुत-सी बातें हुईं। उनको आशा थी—"यह उत्साही है, नवयुवक है, यह जिस काम में जुट जायगा तो काम हो जायगा।" मुझसे कहा—"यों ब्राह्मणों का संगठन करो। एक सम्मेलन करो। सबको संध्या का गायत्री का उपदेश दिया जाय। सब बच्चे कम से कम सन्ध्या-गायत्री करें।" उन्होंने बड़ा बड़ी योजनायें बनायीं। मैं उसके लिये खुरजा आदि गया भी। किन्तु खुरजे में प० नारायणदत्तजी वैद्य ने मेरा उत्साह शिथिल कर दिया। उन्होंने कहा—"ब्रह्मचारीजी तो बहुत बड़े आदमी हैं,

ऐसे ही योजना बनाते हैं। तुम अपना जो कार्य कर रहे हो वही करो।" अतः फिर मैं आगे न बढ़ा उत्तराखंड की ओर चला गया।

उन दिनों मैं इसी संकल्प से निकला था, कि "अब कभी उत्तराखंड से लौटकर नहीं आऊँगा। या तो अपने लक्ष्य को पूरा करूँगा, नहीं तो पहाड़ों में गल मरूँगा।"

किन्तु मैं रुग्ण होने से अपनी प्रतिज्ञा को निभा नहीं सका। फिर लौटकर नीचे आ गया और इधर-उधर घूमघाम कर यहाँ झूसी में हंसतीर्थ की वट की कुटिया के नीचे रहकर अपना अनुष्ठानादि करने लगा।

उन दिनों महामना मालवीयजी इस बात का प्रचार कर रहे थे कि सभी ब्राह्मणों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होने चाहिये। हमारे एक परम स्नेही बन्धु पं० भूदेवजी शर्मा हैं, उनके भतीजे श्रीनिवास शर्मा उन दिनों काशी विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। मालवीयजी ने अपनी पोती का विवाह उन्हीं के साथ किया था। ब्रह्मचारीजी उसकी बारात में प्रयाग आये थे। वे जानते थे मैं झूसी में हूँ। उन दिनों मेरा ऐसा नियम था, कि मैं न तो किसी से बोलता था, न किसी की ओर देखता ही था चुपचाप अपनी कोठरी में बैठा रहता था। ब्रह्मचारीजी आये, घंटों मेरी कोठरी के बाहर बैठे रहे। मैंने उन्हें देखा भी फिर-भी मैं बोला नहीं, अन्त में वे चुपचाप कुटिया को प्रणाम करके चले गये। ऐसे ही वेदतीर्थ पं० नरदेवजी शास्त्री जो श्री ब्रह्मचारीजी के सहाध्यायी थे, बैठकर चले गये। अब मुझे पश्चात्ताप हो रहा है, मैंने ऐसे नियम का दुराग्रह क्यों किया? ऐसे महापुरुषों का मुझे नियम छोड़कर स्वागत सत्कार करना चाहिये था। किन्तु ब्रह्मचारीजी ने इसका

तनिक भी बुरा नहीं माना न इसके लिये कभी उन्होंने मुझे ताना ही दिया। वे स्वयं भी तो अपने नियमों में दृढ़ रहने वाले थे।

जब हमारे करपात्रीजी महाराज ने देहली में शतकुण्डी महायज्ञ कराया, तो उसके प्रधान यजमान उन्होंने ब्रह्मचारीजी को ही बनाया। वह यज्ञ अभूतपूर्व था, एक प्रकार से प्रयाग के कुम्भ का-सा ही दृश्य था। उसके सयोजकों में हमारे पं० ज्योतिप्रसाद जी आदि अनेकों हमारे पुराने भक्त थे। उन दिनों मेरा प्रयाग छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाने का नियम था। मेरे स्नेही बन्धुओं ने अत्यन्त ही आग्रहपूर्वक कहा, कि चाहे घंटे ही भर को सही आप इसमें अवश्य आवें।

मैं कैसे जा सकता था, उन दिनों वायुयान सर्वसाधारण जनता को सुलभ नहीं थे। केवल सैनिक अधिकारी ही वायुयान से सरकारी कार्य से जा आ सकते थे। आज जैसे नेतागण वायुयान से जहाँ-तहाँ जाते हैं, वैसे उन दिनों जनता के किसी व्यक्ति को वायुयान नहीं मिल सकता था। हमने मिलावली के कुँवर कायमसिंह को सेना के उच्चाधिकारियों के पास भेजा। वह अँगरेज अधिकारी कोई भलामानुष रहा होगा, वह अत्यन्त ही प्रभावित हुआ। उसने चार सीट वाला एक वायुयान देहली जाने को हमें दे दिया। हमने यज्ञ के व्यवस्थापकों को सूचना दे दी, हम वायुयान से आ रहे हैं। सर्वथा नई बात थी, अत्यन्त ही कुतूहलमय समस्त यज्ञ-मेला में हल्ला मच गया। लोग भाँति-भाँति की बातें फैलाने लगे—जितने मुख उतनी ही बातें। समाचार पत्रों में भी बड़े-बड़े शीर्षक देकर यह समाचार छापा गया, किसी ने हँसी उड़ाई, किसी ने व्यंगपूर्वक चुटकियाँ लीं, किसी ने हमारे वायुयान से जाने का औचित्य भी दिखाया। लोगों ने समझा एक वायुयान करने में लाखों रुपये व्यय हुए होंगे। किसी समाचार

पत्र ने छापा भी कि एक साधु को इतना भारी व्यय करके यज्ञ मे जाने की क्या आवश्यकता थी। किन्तु यह सब नई बात होने स लोगो का भ्रममात्र ही था, सैनिक अधिकारी ने केवल चार सीट का जो नियमित भाड़ा था, उससे एक पाई भी अधिक नहीं लिया। अब मुझे ठीक-ठीक तो याद नहीं स्यात् २५०) या ३००) के लगभग ही रुपये लगे होंगे। इस पर इतना भारी तूफान।

गाँवों के लोग भाँति भाँति की कहानियाँ गढने लगे। कुछ लोग कहने लगे—"प्रयागराज के एक मोनीजी हैं, करपात्रीजी ने कहा है, तुम नहीं आओगे तो यज्ञ पूरा ही न होगा, अतः वे भारी व्यय करके विमान से आ रहे हैं।" ये सब चडूखाने की गप्पें थीं। मेरे बन्धुओं ने बताया कि जो भी वायुयान आता सब लोग चिल्लाने "लगते इसी मे ब्रह्मचारीजी आ रहे हैं, यहीं यज्ञ मण्डप मे उतरेंगे।"

उन दिनो श्री आनन्दमयी माँ भी मेरे ही यहाँ आश्रम मे ठहरी हुई थीं। मैंने बडे सकोच के साथ कहा—"माँ यज्ञादि में तो बिना बुलाये भी जाना चाहिये। आप भी करपात्रीजी के यज्ञ मे चलो तो कैसा रहे?" उन्होंने बडे उत्साह के साथ कहा—"हाँ, पिताजी! आप जहाँ भी कहेगे, वहीं चलूँगी। जहाँ भी ले चलेगे वहीं जाऊँगी।" मुझे बडी प्रसन्नता हुई। उसमे चार ही सीटें थीं। चलने को तो और भी बहुत से उत्सुक थे। किन्तु श्री आनन्दमयी माँ, श्री गुरुप्रिया दीदी, कुँवर कायमसिंह और मैं चार ही गये। हमको भी अत्यन्त कुतूहल हो रहा था, आकाश में वायुयान कैसे उडेगा, लोग कहते हैं वहाँ जी मिचलाता है, उलटी होती हैं, आदमी को कसकर बाँधकर डाल दिया जाता है। किन्तु हमने देखा ये सब गप्पें थीं, न कसकर बाँधकर डाला जाता है, न सबको के और उलटी ही होती हैं। एक पेटी होती है आपकी

इच्छा हो उसे कमर में बाँध लो, चाहे न बाँधो। मैंने तो बाँधी नहीं। पहिला ही जीवन में अवसर था, उस समय जितना आनन्द आया, जितना नीचे का दृश्य मनोरम, सुहावना, अद्भुत, अवर्णनीय लगा, इसके अनन्तर अनेकों बार वायुयानों में गये वैसा आनन्द फिर कभी नहीं आया। केवल दीदी को बेहोशी हुई, कै हुई। माँ तो आँखें बन्द किये बैठी ही रहीं। मैं तो चलते वायुयान में सर्वत्र उछलता-कूदता रहा, नीचे का अद्भुत दृश्य देखता रहा। दीदी का उपचार करता रहा। घंटा भर भी न लगा होगा, हमारी तनिक आँख झपी कि देहली के शतकुंडी यज्ञ का विशाल पंडाल, सहस्रों तम्बू डेरे दिखायी देने लगे। उतरने के स्थान पर यज्ञ के प्रबन्धक गाड़ी लेकर आये ही हुए थे। हम यज्ञस्थली में पहुँच गये। श्री ब्रह्मचारीजी महाराज हमारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। बड़े ही स्नेह से मिले। वायुयान की सब बात पूछते रहे। यहाँ की नाना प्रकार की किंवदन्तियों को भी बताते रहे। कहने लगे—"मेरी तो यजमान बनने की इच्छा नहीं थी, किन्तु श्री पंडितजी के अत्यन्त आग्रह को मैं टाल नहीं सका। यज्ञ का यजमान सपत्नीक होना चाहिये। वे ठहरे ब्रह्मचारी इसलिये कुशा की पत्नी बनाकर कार्य चलाया गया। इस पर भी लोगों ने भाँति-भाँति की टीका टिप्पणियाँ कीं। लोग तो बहिर्मुख होते ही हैं।"

श्री ब्रह्मचारीजी की अनन्त स्मृतियाँ हैं, किन्हें किन्हें लिखें किन्हें किन्हें छोड़ें। एक बार आपने क्षत्रिय ब्रह्मचर्याश्रम या क्षत्रिय ऋषिकुल नाम की एक नवीन संस्था यहीं नरवर पाठशाला में क्षत्रिय ब्रह्मचारियों के लिये खोली। वे धर्म के प्रचार प्रसार के लिये कुछ न कुछ सोचते ही रहते थे। अपने ही यहाँ क्षत्रियों का एक महासम्मेलन कराया। उसी में प्रस्ताव पारित करके यह संस्था चालू की। ठाकुर लोग तो प्रस्ताव पारित करके घरों

२-४ लडके भी आ गये। किसी ने कुछ लिया दिया पाठशाला का बहुत सा रुपया भी उसमे व्यय हो गया। ऋण हो गया। तब आपने मुझसे कहा—'ब्रह्मचारीजी! क्या बतावें ये क्षत्रिय तो मदान्ध हो गय है। यहाँ सम्मेलन मे आये अपने अपने टराओ मे खाट पर बठे हुक्का पीते रहते थे, जब हम जाते थे, तो उठकर खडे भी नहीं हात थे। समिति बनी पदाधिकारी चुने गये। कार्तिकी के मेले के पश्चात् कोई फिर यहाँ फटका भी नहीं। उलटा हमारे ऊपर ऋण करा गये। जब मैंने यह बात खुरजे के सठ बाबूलाल जटिया म कही, तो उन्होने हँसकर कहा—"महाराजजी! यदि आप वश्यो क लिये ऐसा ब्रह्मचर्य आश्रम खोलते, तो आपके ऊपर ऋण न होता?"

तब मैंने कहा—"सठजी! इच्छा तो मेरी यही थी, कि ब्राह्मण बालको के लिय तो यह पाठशाला है ही। क्षत्रियो की पाठशाला चल जाय तो फिर वेश्य बालको के लिये भी खोली जाय। सो, इसीसे शिक्षा मिल गयी।"

— ऐसी थी, उनका धर्म की उन्नति के लिये भावना।

— जब मैंने प्रधान मन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू के सम्मुख हिन्दुकोडबिल के विरोध मे उनका प्रत्युपरोध किया, तो वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए उन्होन वाल्मीकि रामायण के एक अनुष्ठान के लिय अत्यन्त ही आग्रह किया और स्यात् वह अनुष्ठान आश्रम मे किया भी गया।

वे बडे दयालु थे, कोई भी उनके पास हाईकोर्ट के मुकदमे की बाद लेकर जाय, या प्रयाग का कोई और काम लेकर जाय, तो तुरन्त कह देत— 'हाँ, यहाँ तो हमारे ब्रह्मचारीजी हैं, उनका यहाँ बहुत प्रभाव है, व तुम्हारा सब काम करा देंगे, और तुरन्त उसके हाथों मुझे पत्र लिख देत। इनका काम अवश्य करा देना। अपना

ही काम समझना ।" मानो करने कराने वाला न्यायाधीश मे ही हूँ। ये दूसरो के दु:खों को देखकर दयार्द्र हो जाते। सहस्रो छात्रों को पढाकर उन्हे योग्य बनाया। बहुतो को पढाकर उनका योग्य स्थानों म विवाह कराया, बहुतों की आजीविका का प्रबन्ध कराया। किसी का काम हो जाय, इसके लिये किसी को भी पत्र लिखने म उन्हे सकोच नहीं था। एसे थे वे हमारे ब्रह्मचारीजी महाराज! अब वे न जाने किस लोक मे चले गये? हमे भी अब जाना ही है। बिस्तर बाँधे तयार बेठे हैं, जब भी बुलावा आ जाय। ब्रह्मचारीजी तो चले गये, अब उनकी मधुर मधुर स्मृतियाँ ही शेष रह गयी हैं। जब कुछ प्रेमी बन्धुओं ने उनका श्रद्धाञ्जलि स्मृतिग्रन्थ निकालने का प्रस्ताव किया तो मने उसका हार्दिक स्वागत किया और उसी प्रेरणा स ये सस्मरण लिखे गये हे। लिखने की बाते तो बहुत सी हैं, किन्तु स्थानाभाव से इतना ही कहकर श्री भर्तृहरिजी का एक श्लोक उद्धृत करके इस सस्मरण को समाप्त करता हूँ।

मनसि बचसि काय पुण्यपीयूषपूर्णा-
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्त. ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यम्
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्त' कियन्त' ॥

छप्पय

जिनके तन मन पुन्य प्रेम अम्मृत तैं पूरित।
बानी अति ई-मधुर हियेकूँ—हरषि हिलोरत॥
मुदित करत जग फिरत न पर अवगुनकूँ निरखत।
परगुन अनुके सरिस ताहि गिरि करि हिय पिखत॥
सदा मुदित मन त्यागि मद सबके नित गुन गावत हैं।
कितने ऐसे सन्त हैं, जो परहित दुख सहत हैं॥

—•—

मुण्डकोपनिषद्

शान्ति पाठ

[४१]

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा-
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥❀

(मु० उ० शा० पा०)

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहैं करें सब यजन बखानित ।
काननि तैं हू सुनें वचन शुभ भद्र सतत हित ॥
आँखिनि तैं हू सदा निहारें दृश्य भद्र वर ।
सुदृढ़ अंग तनु लगै ईश इस्तुति में दृढ़तर ॥
शेष आयु हमरी सकल, रहै देव हित में निरत ।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्या रहैं तप में सतत ॥

❀ हे देवगण ! हम सब यजन करने वाले हों । कानों से भद्र ही बातें सुनें । आँखों से भद्र दृश्य ही देखें । हमारे शरीर के सब अंग सुदृढ़ हों, उनसे हम भगवान् की स्तुति करते हुए अपनी आयु को देवहित में लगाकर उपयोग करें । —

वे कान ही यथार्थ कान हैं, जो कल्याण स्वरूप कृष्ण की कमनीय कथाओं के श्रवण में ही सदा सलग्न रहते हों। यदि कान कृष्ण कथा के अतिरिक्त विषय वार्ताओं के श्रवण में ही लगे रहें, तो वे कान नहीं सर्पों के रहने के बिल के समान हैं, जिनमें विषय वासना रूप सर्प बैठा हुआ फुफकार छोड़कर सबको भयभीत करता रहता है।

जो नेत्र नन्दनन्दन के नयनाभिराम रूप के दर्शनों में अनुरक्त नहीं हैं, जो चक्षु चलते फिरते भगवत् विग्रह सन्त महात्माओं को देखकर खिल नहीं जाते, भगवत् विग्रहों की झाँकी से प्रफुल्लित नहीं होते वे मोर की पंख में बने नयनों के सदृश नाम मात्र के नयन हैं। नयनों को दो ही कार्य है या तो भगवत् विग्रहों का दर्शन अथवा भागवतों का अवलोकन।

शरीर सुडौल है, हृष्ट पुष्ट है, रोग रहित है, किन्तु उससे हम प्रभु प्रार्थना नहीं करते, परमात्मा के पादपद्मों में प्रणत नहीं होते, नन्दनन्दन के नवनीत से भी कोमल नूतन किसलय से भी कमनीय चरणकमलों में नम्रता से नहीं झुकते, तो यह इतनी बड़ी आयु व्यर्थ है, हमारे समस्त कार्य प्रभु के ही निमित्त हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ईश, केन, कठ और प्रश्न इन चार उपनिषदों का भावार्थ सरल-अर्थ मैंने आप से कह दिया। पाँचवीं मुण्डकोपनिषद् है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह बताइये कि इस उपनिषद् का नाम मुण्डक क्यों पड़ा?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! अब सब मैं ही सुनाऊँ? कुछ आप भी हमें सुनावें। यह मुण्डक उपनिषद् तो आपकी ही है। आपने ही महर्षि अंगिरा से प्रश्न किया था, और आपके

ही प्रति महामुनि अंगिरा ने उपदेश दिया था, अतः इस उपनिषद् के अर्थ को तो हम आपके ही श्रीमुख से सुनना चाहते हैं।"

यह सुनकर शौनक मुनि बोले—'सूतजी! यह भाषा कथा तो आपके ही मुख से मधुर लगती है। मैं उतनी मधुरता के साथ सम्भवतया नहीं सुना सकूँगा। फिर भी आपका आग्रह है तो मैं ही सबको उस उपनिषद् का सार सुनाता हूँ।

अथर्ववेद की एक शाखा हमारे नाम से प्रसिद्ध हुई। सब लोग उसे शौनकी शाखा के नाम से कहते हैं। उसी शाखा में यह मुण्डक उपनिषद् है। मैंने ही स्वयं भगवान् अंगिरा मुनि से प्रश्न किया था, उन्होंने जो मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया, उसीसे मुण्डकोपनिषद् का प्रादुर्भाव हुआ।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! इस उपनिषद् का नाम मुण्डक क्यों पड़ा?"

शौनकजी ने कहा—"हमारी इस उपनिषद् से पूर्व की भी बहुत-सी उपनिषदें हैं। जैसे शरीर में सभी अंग आवश्यक हैं, उपयोगी हैं, उत्तम हैं, किन्तु मस्तक सबसे अधिक मुख्य है—श्रेष्ठ है। इसी प्रकार यह उपनिषद् सब उपनिषदों में मुण्ड स्थानीय है। मुण्ड मेवेति मुण्ड, स्वार्थेकन्) अर्थात् जैसे शरीर के सब अंगों में मस्तक श्रेष्ठ है, वैसे ही समस्त उपनिषदों में यह श्रेष्ठ उपनिषद् है। उपनिषद् के पूर्व हम यह बताना आवश्यक समझते हैं, सभी कार्यों को आरम्भ करने के पूर्व ॐ का उच्चारण करना चाहिये। समस्त कार्य प्रणव से ही आरम्भ करने चाहिये।"

सूतजी! हम भृगुवंशी हैं अतः सर्वप्रथम हम अपने कुल का परिचय देने के पूर्व इस विद्या की परम्परा बता देना आवश्यक समझते हैं। इस सम्पूर्ण विश्व के एक मात्र कर्ता, इस भुवन के गोप्ता-रक्षक चतुर्मुख ब्रह्माजी हैं। समस्त सृष्टि इन्हीं के द्वारा

उत्पन्न हुई है। ये समस्त देवताओं में प्रथम देव हैं। सभी अमरों में आदि अमर हैं। सृष्टि के आदि में ये लोकगुरु ब्रह्मा प्रजापति प्रकट हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र महर्षि अथर्वा हुए उन्हीं के प्रति ब्रह्माजी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जो सभी विद्याओं की आधारभूता—सबसे श्रेष्ठ है।

जिस ब्रह्मविद्या का ब्रह्माजी ने अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र अथर्वा को उपदेश दिया। उसी विद्या को अथर्वा ऋषि ने अंगी ऋषि से कहा। उन अंगी ऋषि ने भरद्वाज गोत्रीय सत्यवह ऋषि से कहा। सत्यवह ऋषि ने अपने पूर्ववर्ती ऋषियों से प्राप्त इस परावर विद्या को अंगिरा नामक महर्षि से कहा। उन अंगिरा मुनि से ही यह विद्या मुझ शौनक को प्राप्त हुई।"

अब आप हमारे कुल के सम्बन्ध में भी थोड़ा वृत्तान्त सुन लीजिये। सभी के रचयिता जगत् के पितामह ब्रह्माजी ही हैं। उन्हीं ब्रह्माजी की त्वचा से—या वीर्य से—वरुणदेव के यज्ञ में महर्षि भृगु की उत्पत्ति हुई। उन भृगुजी की कई पत्नियाँ थीं, एक तो कर्दम मुनि की पुत्री ख्याति थी जिनसे धाता, विधाता नाम के दो पुत्र हुए और 'श्री' नाम की कन्या हुई, जो भगवान् विष्णु की पत्नी बनी।

उनकी एक दूसरी पुलोमा नाम की पत्नी थी। जिनसे महर्षि च्यवन की उत्पत्ति हुई। च्यवन के पुत्र प्रमति हुए। उन प्रमति मुनि ने घृताची नाम वाली अप्सरा से रुरु नामक पुत्र उत्पन्न किया। महर्षि रुरु ने प्रमद्वरा में शुनक नाम के पुत्र को उत्पन्न किया। ये हमारे प्रपितामह थे। ये परम यशस्वी, तेजस्वी तथा तपस्वी थे, इन्हीं शुनक महर्षि के नाम से हम शौनक कहलाते हैं। नैमिषारण्य में यह जो हमारी शाला है इसको महाशाला भी आप सब लोग कहते हैं। इस शाला की सेवा करने से ही

आप सब हमे महाशाल कहकर पुकारते हैं। एक बार हम शास्त्र विधि के अनुसार हाथ मे समिधा लेकर अंगी ऋषि के गोत्र वाले महर्षि अंगिरा की शरण मे गये। हमने उन्हे यथोचित रूप से दण्ड प्रणाम करके उनसे ही इस उपनिषद् के सम्बन्ध मे प्रश्न किये जिन्हे हम आप सबसे आगे कहेगे। इसके पहिले हम सब मिलकर देवताओ से प्रार्थना कर लें —

हे वृद्धश्रवा इन्द्र ! आपका यश जगत् में सर्वत्र व्याप्त है, आप हमारा कल्याण करें। स्वस्ति पोषण करें। हे सूर्यदेव ! आप विश्व के प्रत्यक्ष देव है, हमारा कल्याण करें। हे गरुड़देव ! जैसे भगवान् का सुदर्शन चक्र अरिष्टो को–कष्टो को–अपनी नेमियो से मिटाते रहते हैं, वैसे ही आप भी शक्तिशाली है, आप हमारा कल्याण करें मंगल करें। स्वस्ति पोषण करें। हे देवगुरो ! बृहस्पति जी ! आप बुद्धि के सागर हैं, नीतिकारो के शिरोमणि है आप भी हमारे कल्याण की पुष्टि करे। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्म तीनो प्रकार के तापो की शान्ति करें।

ॐशान्ति ! ॐशान्ति !! ॐशान्ति !!!

इस प्रकार शान्ति पाठ करके अब मुण्डकोपनिषद् का आरम्भ करते हैं।

छप्पय

देवराज हे इन्द्र ! चहुँ दिशि तव यश छायो।
विश्व वेद हे सूर्य ! जगत आलोक दिखायो॥
गरुड़ निवारक कष्ट शक्तिशाली सु–नेमि सम।
गुरो ! बृहस्पति देव ! करें मिलि विनती सब हम॥
सबतें हमरी विनय है, स्वास्ति करें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख, शोक, भय, भ्रम हरें॥

मुण्डकोपनिषद् (प्रथम खण्ड)

ब्रह्म के जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है।

[४२]

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥*

(मु० उ० प्र० ख० ९ म)

छप्पय

शौनक मुनि अंगिरा निकट पूछत—हे भगवन।
काहि जानि सब जानि लेयँ—बोले—शौनक-सुन ॥
विद्या अपरा परा शास्त्र सब अपरा माहीं।
जातैं अक्षर ब्रह्म ज्ञान सो परा कहाई ॥
जो अद्रेश्य अग्राह्य है, गोत्र वर्ण इन्द्रिय रहित।
नित्य सर्वगत सूक्ष्म विभु, ताहि लखें ज्ञानी भगत ॥

एक प्रधान मल्ल निवर्हण न्याय होता है। बहुत मल्ल अखाड़े मे एकत्रित हैं, सबसे कहाँ तक लडा जाय, उन सबमे जो सबसे बडा हो उसे विजय कर लो। सभी पर विजय हो जायगी। हंडी मे चावल पक रहे हैं, प्रत्येक चावल को नहीं देखा जाता कि पका या

---

* जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है, जिसका ज्ञानमय तप है। उसी से यह दृश्य ब्रह्म—विराट् जगत्—समस्त नाम, समस्त रूप तथा खाये जाने वाले समस्त पदार्थ अर्थात् अन्न उत्पन्न होता है।

नहीं। हंडी में से एक चावल को देख लो। एक के पक जाने पर सब पके माने जायँगे। मिट्टी के लाखों पात्र रखे हैं। सबको देखने की आवश्यकता नहीं। एक पात्र को देख लिया कि इसके बाहर भीतर सर्वत्र मिट्टी ही मिट्टी है, तो सभी पात्र मृण्मय हैं, यह सिद्ध हो जायगा। सुवर्ण के एक आभूषण को देख लो, उसके भीतर बाहर सुवर्ण ही सुवर्ण है, तो सभी सोने के आभूषण सुवर्णमय प्रतीत हो जायँगे। इसी प्रकार यह जगत् ब्रह्ममय है। ब्रह्म सर्वस्व श्रेष्ठ है। ब्रह्म का ज्ञान होने पर सभी ब्रह्म का ही रूप है, सभी पसरा ब्रह्ममय है, यह ज्ञान हो जायगा। अतः सबसे आवश्यक बात यह है, कि सर्वप्रथम ब्रह्म प्राप्ति का—ब्रह्मज्ञान का प्रबल प्रयत्न करना चाहिये। ब्रह्म को प्राप्त कर लेने पर—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर—फिर संसार में कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं रह जायगी। सभी का ज्ञान हो जायगा क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है।

शौनक महर्षि सूतजी से तथा अन्यान्य महर्षियों से कह रहे हैं—"मुनियो! हम समित् पाणि होकर भगवान् अंगिरा महर्षि की सेवा में समुपस्थित हुए। हमने महर्षि के पादपद्मों में प्रणत होकर दण्डवत प्रणाम किया। तब उनकी आज्ञा लेकर हमने कहना आरम्भ किया। हमने कहा "भगवन्! हम एक प्रश्न लेकर आपकी सेवा में समुपस्थित हुए हैं, आज्ञा हो तो हम आप से कुछ प्रश्न पूछें?"

कृपालु मुनि ने बड़े ही प्रेम से हमसे कहा—"वत्स! तुम्हें जो भी पूछना हो, मुझसे बिना किसी संकोच के पूछो।"

तब मैंने पूछा भगवन्! यह जगत् तो अनादि है, अनन्त है। इसमें असंख्यों पदार्थ हैं। हम सबकी ही यदि जानकारी प्राप्त करना चाहें, तो कैसे प्राप्त कर सकते हैं। क्या कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, कि जिसे जान लेने पर यह जो भी कुछ है सभी

जान लिया जाय। एक की ही जानकारी से सभी की जानकारी हो जाय, ऐसी कोई यदि वस्तु है, तो उसका परिचय हमे करा दीजिये।"

इस पर महामुनि अंगिराजी ने कहा—"देखो, भैया! जो ब्रह्मवेत्ता महामुनि हैं, वे दो विद्याओं को जानने योग्य बताते हैं।"

मैंने पूछा—"वे जानने योग्य दो विद्यायें कौन कौन सी हैं?"

महामुनि अंगिरा ने बताया—"एक विद्या का नाम तो परा विद्या है और दूसरी विद्या का नाम अपरा विद्या है।"

मैंने पूछा—"अपरा विद्या किसे कहते हैं?"

अंगिरा मुनि ने कहा—"अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व ये चारों वेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग आदि आते हैं।"

मैंने पूछा—"परा विद्या क्या है?"

उन्होंने कहा—"जिसके द्वारा तत्त्वतः अविनाशी परब्रह्म का जिसे अक्षर-भाव कहते हैं उनका-ज्ञान हो, उसे ही परा विद्या कहते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! इस परा विद्या का वर्णन वेदों में नहीं है क्या?"

शौनकजी कहा—'है क्यों नहीं, वेदों में तो परा, अपरा दोनों का ही वर्णन है। परन्तु यहाँ वेद से अभिप्राय कर्मकाण्ड युक्त वेदों से है। वेद के जिस भाग में कर्मकाण्ड का वर्णन है, उसी का नाम वेद है, किन्तु वेद के अन्तिम भाग में जिसमें परा विद्या का वर्णन है, उसे उपनिषद् कहते हैं। वेद का अन्तिम भाग होने से उसे वेदान्त भी कहते हैं। कर्मकाण्ड का विषय प्रगुण्य विषय है। इसी प्रकार जो वेद को समझने के लिये उनके ज्ञान के लिये

विद्या है वह वेदान्त है। उसमे परा विद्या का ही तो वर्णन है। इसी प्रकार वेद के अगों के सम्बन्ध में है। जैसे शिक्षा है। शिक्षा मे यह बताया गया है, वेदों का पाठ कैसे करना चाहिये जो बहुत शीघ्रता से पाठ करते हैं, वह भी उचित नहीं। अत्यन्त वेग के साथ चिल्लाकर करते हैं, सिर को हिला हिलाकर करते है, लिखा कुछ और है, पाठ कुछ और कर रहे हैं। बिना ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का विचार किये पाठ कर रहे है ये सब नियम विरुद्ध पाठ हैं। केवल सस्वर वेदो का पाठ करना भी पुण्यप्रद कार्य है। अतः वेद का अग शिक्षा पाठ की प्रक्रिया बताता है।

दूसरा वेद का अग है 'कल्प' जैसे गृह्य सूत्रादि। इसमें कर्म काण्ड सम्बन्धी यज्ञ यागों की विधि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यज्ञ करना चाहिये। अमुक यज्ञ की इस प्रकार विधि है। जिसमें विधि विधान का निर्णय हो वह कल्प है।

तीसरा वेद का अग है व्याकरण। व्याकरण बिना पढे हम यह नहीं जान सकते कि यह शब्द कैसे बना, इसमे कौन-सी प्रत्यय किस अर्थ में प्रयुक्त हुई। किस प्रक्रिया से अमुक शब्द साधा जायगा। इस शब्द मे अमुक विभक्ति आने पर इसका क्या अर्थ होगा। यह शब्द लौकिक है या वैदिक इस प्रकार शब्द ज्ञान जिसमे हो वह व्याकरण है। व्याकरण के ज्ञान बिना वेदो का उच्चारण यथार्थ रूप से नहीं हो सकता और न उनका यथार्थ अर्थ ही समझा जा सकता है।

वेद का चौथा अग है निरुक्त। निरुक्त मे पदो के अर्थों का ब्योरा है। यह पद किस अर्थ मे प्रयुक्त है, इसके पर्यायवाची शब्द कौन कौन से हैं। एक प्रकार से वैदिक शब्दो का यह कोश है। निरुक्त के बिना वाक्यों की सगति नहीं लगती।

वेद का पाँचवाँ अंग है छन्द। वेदों की ऋचायें शुद्ध गद्य में

हैं कुछ पद्य में हैं। पद्य में भाँति भाँति की कवितायें हैं। अमुक ऋचा कौन-सी छन्द में है, उस छन्द में कितने शब्द प्रयुक्त होते हैं, वैदिक छन्दों की जाति, भेद आदि जिसके द्वारा जाने जायँ उस शास्त्र का नाम छन्द है।'

वेद का छठा अंग है, ज्योतिष—इसमें गणित और फलित दोनों का समावेश है। गणना करके ग्रह और नक्षत्रों की गति बता दे, कि अमुक ग्रह में कितने दिनों तक, कब तक अमुक राशि पर रहेगा। अमुक राशि वाले व्यक्ति का, अमुक ग्रह का क्या शुभाशुभ फल होगा। इस प्रकार जो ग्रह नक्षत्रों की गति, स्थिति तथा उनका फलाफल जो शास्त्र बताये वह ज्योतिष शास्त्र है।

ये छः भी अपरा विद्या के ही अन्तर्गत हैं। इसलिये जो जगत् की बातें बताव, विराट् ब्रह्माण्ड का परिचय करावें, भगवान की विभूतियों के सम्बन्ध में बतावे वह अपरा विद्या है और जो इससे परे त्रिपाद विभूति का ज्ञान करावे वह परा विद्या है। दोनों का वर्णन वेदों में ही है। जिससे अपरा विद्या का ज्ञान हो वह वेद है, जिससे परा विद्या का ज्ञान हो वह वेद का अंतिम भाग वेदांत है।

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज! समझ गये अब आप परा विद्या के सम्बन्ध में बताइये। परा विद्या से जिस अक्षर अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है, उसी के सम्बन्ध में समझाइये।"

शौनक मुनि ने कहा—"सूतजी! उस अक्षर ब्रह्म के सम्बन्ध में क्या बतावें कैसे बतावें। वह तो अदृश्य है। अर्थात् जिसको बाह्य इन्द्रियों द्वारा जाना न जा सके। वह अग्राह्य है, जिसे बाहरी इन्द्रियाँ ग्रहण न कर सकें, पकड़ न सकें। अगोत्र है अर्थात् उनका नाम गोत्र कुछ भी न हो, अवर्ण है। अर्थात् जिसका वर्ण

आकार प्रकार कुछ भी न हो। रङ्ग रूप से रहित हो अचक्षु श्रोत है अर्थात् उसके हमारे जैसे लौकिक चर्म चक्षु तथा चर्म के कान आदि न हों। उसके हमारे जैसे लौकिक हाथ पैर न हो। अर्थात् वह ज्ञानेन्द्रियों से तथा कर्मेन्द्रियों से रहित है।"

सूतजी ने पूछा—"यह तो आपने सब निषेधात्मक शब्द बताये। ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा नहीं है तो वह है कैसा ?"

शौनक मुनि ने कहा—भगवान अंगिरा कहते हैं—"वह अक्षर ब्रह्म नित्य है अर्थात् तीनों कालों में एक समान रहने वाला है। विभु है कहीं एक ही स्थान पर ही बैठा रहता हो सो नहीं, वह सर्वव्यापक है। वह नियमित देश में ही सीमित हो सो भी बात नहीं सर्वगत है। सबमें समान भाव से छाया हुआ है सब में फैला हुआ है। सुसूक्ष्म है। वह इतना सूक्ष्म है कि उसे चक्षु आदि किसी भी प्रकार से देख नहीं सकती। वह अव्यय है। उसमें चाहे जितना व्यय करते रहो, वह घटता नहीं। संसार भर में जितने भी भूत हैं, जितनी भी योनियाँ हैं, उन सबका जनक है। सबका परम कारण है।"

सूतजी ने पूछा—"ऐसे नित्य, विभु, सर्वगत, अव्यय, परब्रह्म को कोई देख नहीं सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"उसे ज्ञानी पुरुष ही भली प्रकार से—परिपूर्ण रूप से—देखते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इसे महामुनि अंगिरा ने एक दृष्टान्त देकर समझाया। जैसे एक मकड़ी है। उसकी नाभि में तन्तु रहते हैं। वह मुख से तन्तु निकाल-निकाल कर एक जाला बुनती है। इच्छा होती है, तब तक उस जाले में विहार करती है, जब इच्छा होती है उस जाले को जैसे मुख से निकालकर बनाया था

वस ही उसे निगल जाता है। यथावत अपनी नाभि में रख लेती है। इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म निर्गुण अपने आप में ही इस विराट् जगत् का बनाते हैं, उसमें स्वेच्छा पूर्वक विहार करते हैं, जब इच्छा होती है उसका उपसंहार कर लेते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"भगवान किसी को उच्च योनि में क्यों उत्पन्न करते हैं, किसी को नीच योनि में क्यों उत्पन्न करते हैं। किसी की आयु बड़ी क्यों करते हैं, किसी को अल्पायु क्यों बनाते हैं?"

शौनकजी ने कहा—'समस्त जीवों के साथ काल, कर्म और स्वभाव लगा रहता है। किस काल में किस कर्म से कब और किस स्वभाव का जीव उत्पन्न होगा, ये सब अपने आप ही प्रकृति के अनुसार कर्मवश उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे पृथ्वी में औषधियों के बीज पड़े रहते हैं, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ में नहीं उपजते। जब वर्षा होती है तो पृथ्वी में अव्यक्त रूप से पड़े हुए औषधियों के सभी बीज अपने आप अंकुरित हो आते हैं। अपना समय आने पर योग्य परिस्थिति के आने पर वे अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं, जिनका समय नहीं आया वे नहीं जमते। जैसे सनक भूमि में दबे हुए बीज वर्षा का जल पाते ही अंकुरित हो आते हैं, किन्तु बथुआ के बीज कितनी भी वर्षा हो, नहीं अंकुरित होते। वे न आषाढ़ में अंकुरित होंगे, न श्रावण, भादों, क्वार तथा कार्तिक में ही होंगे। जहाँ दीपावली बीती नहीं कि फिर वे उगना आरम्भ करेंगे, मार्गशीर्ष में बथुए का साग मिलने लगेगा। इस प्रकार देश, काल, कर्म और स्वभावानुसार पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियाँ अपने आप उत्पन्न हो जाती हैं और समय पर पककर पुनः पृथ्वी में विलीन हो जाती हैं उसी

प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह क्षर जगत् उत्पन्न हो जाता है। और समय पाकर उन्हीं में पुनः विलीन हो जाता है।"

सूतजी ने कहा—"इसमें दो शंकायें हुईं। जो जैसा होता है, उससे उत्पन्न वस्तु भी उसी के गुण वाली होती है, जैसे मिट्टी के समस्त बने पात्र मृण्मय होंगे, सुवर्ण के बने समस्त आभूषण सुवर्णमय होंगे उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय चैतन्य परब्रह्म से सब चैतन्य ही उत्पन्न होने चाहिये ये जड पदार्थ उनसे कैसे उत्पन्न हुए? फिर परब्रह्म को किसान की भाँति इन्हें पैदा करने में अत्यन्त परिश्रम करना पडता होगा? भगवान् इतने भारी जगत् को इतने असंख्यों पदार्थों को पैदा करके थकते नहीं?"

यह सुनकर शौनकजी खिलखिला कर हँस पडे और बोले—"सूतजी! आप भी अब ऐसे प्रश्न करोगे। अच्छा आप ही बताओ कि मनुष्य जड है या चैतन्य?"

सूतजी ने कहा—"जब तक जीवित है तब तक चैतन्य है, मर जाने पर शरीर जड है।"

शौनकजी बोले—"अच्छा, जीवित शरीर से जो नख, केश, रोम और मल आदि निकलते हैं, वे जड है या चैतन्य?"

सूतजी ने कहा—"नख, रोम, बाल आदि तो जड ही हैं।"

शौनकजी ने कहा—"जड हैं तो ये बढ़ते क्यों हैं?"

सूतजी ने कहा—"बढते हैं, जीवित शरीर के ससर्ग से। शरीर से इन्हें पृथक् कर दो तो नहीं बढेंगे। अथवा शरीर ही मृतक हो जाय, तो भी ये नहीं बढ़ेंगे।"

शौनक जी ने कहा—"तब सिद्ध हुआ नहीं कि चैतन्य देह से जड़ केश, रोम, नख उत्पन्न हो जाते है, उसके ससर्ग से जड होने पर भी बढ़ते है। अब यह बताइये शरीर मे लाखों रोम

केश हैं दशों उँगलियों में दश नख हैं, इन्हें उपजाने में बढ़ाने में मनुष्य को कितना श्रम करना पड़ता है ?"

सूतजी ने कहा—"रोम, नख, केशादि उपजाने में मनुष्य को तो कुछ भी नहीं करना पड़ता। वे तो समय आने पर स्वतः ही बढ़ते रहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इसी प्रकार अक्षर परब्रह्म परमात्मा से यह जड़ जगत् उत्पन्न होता है, उन्हीं की सत्ता से बढ़ता रहता है इसमें भगवान् को तनिक भी श्रम नहीं करना पड़ता इससे थकने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

सूतजी ने पूछा—"यह जगत् उत्पन्न कैसे होता है ?"

शौनकजी ने कहा—"जैसे पृथ्वी में से बीज उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी में जब ऊष्मा गर्मी आती है, तो उसके ताप से पड़े हुए बीज अपने आप अंकुरित होने लगते हैं। उसी प्रकार परब्रह्म अक्षर परमात्मा तपस्या द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है।"

सूतजी ने पूछा—"क्या अक्षर निर्गुण निराकार ब्रह्म कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत करके अपने शरीर को क्षीण करते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"उन्हें ऐसे तप की आवश्यकता नहीं। उनका संकल्प कर लेना कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ, यही तप है। उनका संकल्प होते ही वे वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। जब संसार की वृद्धि होने लगती है, तो आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। प्राणियों के पैदा होते ही उनके खाने को अन्न उत्पन्न हो जाता है। फिर उस अन्न से प्राण उत्पन्न होते हैं। अन्न से जीवन होता है। फिर उससे मन बनता है। फिर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये स्थूल भूत सत्य उत्पन्न होते हैं। फिर भूर्भुवादि लोकों की उत्पत्ति होती है। फिर कर्म उत्पन्न होते हैं,

फिर उन कर्मों का नहीं भरने वाला अवश्यम्भावी सुख दुःखादि फल होते हैं। कर्मानुसार प्राणी फल भोगते रहते हैं।

इसलिये सनजा ! सबके कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं। वे सर्वज्ञ हैं सबको जानने वाले हैं, जिसका ज्ञानमय ही तप है। उसी ज्ञान स्वरूप परब्रह्म के तप से, सकल्प से यह इतना विराट् स्थावर जङ्गम रूप नाना नामों वाला, नाना रूपों वाला विश्व ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है। और उन्हीं से सबके जीवन बढ़ाने वाला, प्राणों को पोषण करने वाला अन्न उत्पन्न हुआ है। इसलिये वे परब्रह्म ही सबके आदि बीज हैं।"

शौनकजी सूतजी से कह रहे हैं—"सो, सूतजी ! हमने भगवान् अगिरा से यही प्रश्न पूछा था कि किसके जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है, सो उन्होंने यही उत्तर दिया, कि जिससे इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, उस मूल कारण को जान लेने पर सभी का परिचय अपने आप ही हो जाता है।"

सूतजी ने कहा--"इस प्रश्न का तो उत्तर हो गया। इसके अनन्तर आपने महर्षि अगिरा से क्या पूछा ?"

शौनकजी ने कहा- "फिर हमने महर्षि से अग्निहोत्र के सम्बन्ध के प्रश्न किये, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह प्रकरण तो पूरा हो गया।"

छप्पय

मकरी जाली रचै निगलि पुनि जैसे जावै।
पर्यो भूमि में बीज समय पर ज्यों उगि आवै॥
नरतनु नख अरु केश बढ़ै त्यों ब्रह्म जगत बढ़।
तप तैं बाढ़ै ब्रह्म अन्न मन प्रान भूत जड॥
जिनि को तप है ज्ञानमय, जो सर्वज्ञ कहावते।
नाम रूपमय जगत तिनि, और अन्न उपजावते॥

अग्निहोत्र की महत्ता

[४३]

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥*

(मु० उ० २ ख० १ मु० २ म०)

छप्पय

सुकृत पंथ मख वेद मंत्र तैं करिहो नियमित ।
आज्यभाग आहुतिहु देहिँ तब ज्वाला प्रजलित ॥
अग्निहोत्र अरु दरश पौर्णिमा चतुरमास मख ।
आग्राहन बलिवैश्व-देव पूजा अतिथिहु भल ॥
इनि यज्ञनि जे नहिँ करत, अविधि करें जे हवन नर ।
सप्तलोक वंचित रहैं, यज्ञ सतत सब विपति हर ॥

द्विजातियों के लिये अग्निहोत्र करना—यज्ञानुष्ठान करना—अत्यावश्यक कार्य माना जाता था। यज्ञ के बिना द्विजों का द्विजातित्व नष्ट हो जाता है। द्विजाति उपवीत धारण करते हैं, वह यज्ञ की दीक्षा का प्रतीक है। अर्थात् इन्होंने नित्य नैमित्तिक यज्ञों की दीक्षा ले ली। इसीलिये उपवीत को यज्ञोपवीत भी कहते हैं। गीता में तो कहा है—"यज्ञ के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं,

---

* जिस समय हव्यवाहन-अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तब उसकी ज्वालाएं लपलपाने लगती हैं, उसी समय आज्यभाग के अन्तर में आहुतियों को डालना चाहिये।

उनके अतिरिक्त सभी कर्म बन्धनकारक हैं। हमारे लिये पञ्चयज्ञ बलिवैश्वदेव यज्ञ प्रत्येक सद्गृहस्थ द्विजाति के लिये परमावश्यक माना जाता था। ब्रह्मचारी जब तक रहते थे तब तक नित्य समिधान आवश्यक था। जब समावर्तन संस्कार करके विवाह के अनन्तर अग्निहोत्र की दीक्षा ली जाती थी, तो उसे जीवन-पर्यन्त निभाना पड़ता था, उसी अग्निहोत्र की अग्नि से अग्निहोत्री का दाह-संस्कार किया जाता था और उसके साथ ही उसके स्रुक् स्रुवादिक यज्ञीयपात्र भी जला दिये जाते थे। अग्निहोत्र तो आवश्यक नित्य कर्म है। इसके साथ ही बहुत-सी नैमित्तिक इष्टियाँ थीं, जैसा अमावास्या आने पर पितरों के निमित्त दर्शयाग किया जाता था। पूर्णिमा के दिन देवताओं के निमित्त विशेष पौर्णमास यज्ञ किया जाता था। चातुर्मास लगने पर चातुर्मास श्रौतयज्ञ किया जाता था। शरद मे और वसन्त में जब खेतो से नया अन्न आता है तब आग्रयण यज्ञ किया जाता था, जिसे नवान्न इष्टि भी कहते हैं। बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, अग्रयण यागो के अतिरिक्त, अश्वमेध,, वाजपेय, राजसूय तथा अन्यान्य भी बहुत से महायज्ञ हैं। पहिले द्विजाति वालों का—उनमें भी विशेषकर ब्राह्मणों का—सम्पूर्ण जन्म यज्ञयागो मे ही व्यतीत होता था। अतः प्रत्येक द्विजाति को यज्ञयागों के सम्बन्ध की जानकारी अत्यावश्यक है।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी तथा अन्यान्य मुनियो! महर्षि अङ्गिरा ने अपरा और परा दो विद्यायें बतायीं। अपरा विद्या तो प्रवृत्ति मार्ग, परा विद्या निवृत्तिमार्ग ज्ञानकाण्ड। इनमे से पहिले अपरा विद्या का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् अङ्गिरा कह रहे हैं—"शौनक! यह बात सर्वथा सत्य ही है वेद के मन्त्रो में ऋषियो ने कर्मकाण्ड का उल्लेख देखा था। जिन कर्मों का

विधान उन्होंने देखा उन सब कर्मों का भाँति-भाँति के विधि-विधान और नियमपूर्वक वर्णन तीनों वेदों में नाना प्रकार से व्याप्त है। अतः जो लोग सत्यकामी हैं—उन्हें चाहिये उन यज्ञादि वेदोक्त सुकृत कर्मों का नियमपूर्वक अनुष्ठान किया करें। संसार में नर-तन पाकर जो उसे सार्थक करना चाहते हैं जो शुभकर्म करके उनका पुण्यफल प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये यज्ञ-यागादि द्वारा ही पुण्य प्राप्त करना यही सुखकर सरलमार्ग है।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! अग्नि में जो हवनीय पदार्थों का हवन किया जाता है, वह कब करना चाहिये?"

शौनकजी ने कहा—"अङ्गिरा मुनि ने बताया है, कि अग्नि का नाम हव्यवाहन है। अर्थात् यही हवनीय पदार्थों को जिस देवता के नाम से आहुति दी जाती है, उसे ये ही उस देवता के समीप पहुँचाते हैं। जो पदार्थ अग्नि में जलते नहीं—जिन्हें अग्नि-देव ग्रहण नहीं करते—वे पदार्थ उन देवताओं के पास पहुँचते नहीं। अतः जब तक अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित न हो जाय, जब तक उसमें लपलपाती हुई अर्चियाँ ज्वालायें न फूटने लगें उस समय तक उसमें आहुतियों को न डाले। जब अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित हो जाय, तब आज्यभाग के स्थान को छोड़कर मध्यभाग में आहुतियों को छोड़ना चाहिये।"

सूतजी ने पूछा—"आज्यभाग क्या?"

शौनकजी ने कहा—"यजुर्वेद के अनुसार यज्ञों में ऐसा नियम है, कि पहिले प्रजापति के लिये मौनभाव से एक आहुति दी जाती है। पहिले ब्रह्मा के निमित्त "ॐ प्रजापतये स्वाहा" इस मन्त्र से मौन होकर एक आहुति दी जाती है। फिर ॐ इन्द्राय स्वाहा" इस मन्त्र से इन्द्र के लिये दो आहुतियाँ दी जाती हैं। इन्हीं का नाम "आघार" है। तदनन्तर "ॐ अग्नये स्वाहा" इस

मन्त्र से आहवनीय अग्नि के उत्तर ओर पूर्वार्द्ध में एक आहुति दी जाती है और "ॐ सोमाय स्वाहा" इस मन्त्र से सोम देवता के निमित्त उसी आहवनाय अग्नि मे दक्षिण की ओर पूर्वार्द्ध मे एक आहुति दी जाता है। ये जो आहवनीय अग्नि मे उत्तर तथा दक्षिण मे जो अग्निदेवता को तथा सोमदेवता को जो दो आहुतियाँ दा जाती है उन्हीं का नाम "आज्यभाग है।

सूतजी ने पूछा—"जो लोग नित्य अग्निहोत्र करते हैं, उनके लिये आज्यभाग की दो आहुतियाँ क्या नित्य देनी ही चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"नहीं, नित्य अग्निहोत्र करने वालो के लिये आज्यभाग की दो आहुतियाँ नित्य देने का विधान नहीं है। यहाँ आज्यभाग के स्थान का निर्देश किया। अर्थात् जिन दो स्थानों मे अर्थात्-अग्नि और सोम के निमित्त उत्तर पूर्वार्द्ध और दक्षिण पूर्वार्द्ध मे जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन स्थानो को छोड़कर इन दोनों के बीच में हवन कुण्ड का जो मध्य भाग है जिसे 'आवाप' कहते हैं उसी स्थान मे देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देनी चाहिये। यहाँ आहुति देने का स्थान बताने के ही निमित्त आज्यभाग की दो आहुतियो का उल्लेख कर दिया। जो आहिताग्नि हैं-नित्य हवन करने वाले हैं। उनके लिये आज्यभाग की नित्य आहुतियाँ आवश्यक नहीं। जब अग्नि मंद-मंद जल रही हो, तब आहुति न दे। मंद अग्नि में आहुति देने से मंदाग्नि हो जाती है, और बुझी हुई अग्नि में भी आहुति न देनी चाहिये, क्योंकि बुझी अग्नि में दी हुई आहुतियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। अतः जब अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित हो जाय, उसमें से लपटें निकलने लगें, तब शास्त्रविधि से हवन करना चाहिये। अविधिपूर्वक दी हुई आहुतियाँ भी निष्फल हो जाती हैं, क्योंकि कर्मकाण्ड में विधिविधान का ही प्राबल्य है। नित्य अग्निहोत्र करने वाले को

अमावास्या का दिन आने पर पितरों के निमित्त दर्श नाम का यज्ञ करना चाहिये, मास की पूर्णिमा आने पर मौर्णमास यज्ञ करना चाहिये। वर्षाऋतु में चातुर्मास लगने पर चातुर्मास्य यज्ञ करना चाहिये। शरद और वसन्त ऋतुओं में जब नया अन्न आ जाय तब नवान्न इष्टि करनी चाहिये जिसे आग्रयण यज्ञ कहते हैं उसे करना चाहिये। अपने यहाँ यज्ञशाला में भोजन के समय में अतिथि आ जाय तो उसका पूजन भोजनादि से आतिथ्य करना चाहिये, यह अतिथि यज्ञ है और नित्य अग्निहोत्र तथा बलिवैश्वदेव तो करना ही चाहिये। जो अग्निहोत्री इन कर्मों को नहीं करता उसकी तीन आगे की तीन पीछे की तथा स्वयं इस प्रकार सात पीढ़ी के लोग नरक में जाते हैं। अथवा उन्हें सातों लोकों का सुख प्राप्त नहीं होता। इसलिये शास्त्रीयविधि से इन अग्निहोत्रादि कर्मों को श्रेयस्कामी गृहस्थी को अवश्य करना चाहिये और यावज्जीवन करते रहना चाहिये। अतः लपटें निकलती हुई अग्नि के मध्य में हवन करे।

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! अग्नि की कै लपटें हैं? उनकी पहिचान रंग आदि बताइये।"

शौनक मुनि बोले—"महर्षि अङ्गिरा ने मुझे बताया अग्नि की सात लपटें हैं, जिन्हें अग्नि की अर्चि अथवा जिह्वा भी कहते हैं। जिह्वा इसलिये कहते हैं, कि इन्हीं के द्वारा अग्निदेव हवनीय पदार्थों को खाते हैं। उन सातों के नाम हैं १-काली, २-कराली, ३-मनोजवा, ४-सुलोहिता, ५-सुधूम्रवर्णा, ६-स्फुलिङ्गिनी, और ७-विश्वरुचीदेवी हैं।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! इन अर्चियों का अर्थ भी बताइये।"

शौनकजी बोले—"इनका अर्थ तो इनके नामों से ही सुस्पष्ट

है। जैसे पहिली लपट का नाम काली है। अग्नि से जो काले रंग वाली लपट निकले, उसे "काली कहते हैं। काले रंग वाली (कालःकृष्णवर्णोऽस्ति अस्याः)।

दूसरी लपट, अर्चि अथवा अग्नि की जिह्वा का नाम कराली है। अत्यंत कराल-अति उग्र होने के कारण इसे कराली कहते हैं। यह अग्नि की लपट सहसा ऊपर उठ जाती है इससे अग्नि लग जाने का भय होता है। (कराल+गौरादित्वात् ङीप्)।

तीसरी अर्चि अथवा अग्नि जिह्वा का नाम मनोजवा है, जिसका जव-वेग-चाल मन के सदृश हो अर्थात् जो अत्यन्त ही चंचल लपट हो। लपलपाती हुई। (मनोइवजवो यस्याः सा)।

चौथी अग्नि की अर्चि का नाम सुलोहिता है। जो सुन्दर लाली लिये हुए हो, जिस लपट का रंग सर्वथा लालवर्ण वाला हो उसी अग्नि जिह्वा का नाम सुलोहिता है। (सुष्ठुलोहिता याःसा)।

पाँचवीं का नाम सुधूम्रवर्णा है। धूएँ का वर्ण काला भी होता है, कुछ सुन्दर काला होता है जो अग्नि की लपट सुन्दर धूएँ की वर्ण वाली हो वही सुधूम्रवर्णा कहलाती है (सुष्ठु धूम्रवतवर्णो यस्याः सा)।

छठी अग्नि जिह्वा का नाम स्फुलिङ्गिनी है। किसी लकड़ी में से जब अग्नि की लपटें निकलती हैं, तो उसमें से चटचट शब्द करती हुई चिनगारियाँ निकलती हैं, उन चिनगारियों को ही स्फुलिङ्ग कहते हैं। जिस ज्वाला में से चटचट शब्द करती हुई चिनगारियाँ निकलें वही लपट स्फुलिङ्गिनी कहलाती है। (स्फुलिङ्गो अस्या अस्तीति=स्फुलिङ्गिनी)।

सातवीं लपट का नाम विश्वरुचीदेवी है। देवी कहते हैं

देदीप्यमान को जो विश्वतः रुचि सुन्दरतायुक्त प्रकाश वाली ज्वाला हो।

इस प्रकार ये अग्निदेव की सात जिह्वायें हैं। इन सात जिह्वाओं से ही वे हवनीय पदार्थों को ग्रहण करते हैं और जिस देवता के निमित्त जो आहुति दी जाती है उसे उसी देवता के समीप पहुँचा देते है, वे केवल देवताओं के अन्न ढोने के वाहन हैं। देवता उन्हीं के मुख से खाते हैं अतः वे देवमुख भी कहाते हैं। इस प्रकार जो प्रज्वलित अग्नि मे विधिपूर्वक नियमित यथा-काल हवन करते हैं, उस अग्निहोत्री को ये आहुतियाँ अपने साथ लेकर सूर्य की रश्मि बनकर यज्ञकर्ता को उस स्थान तक पहुँचा देती हैं, जहाँ देवताओं के पति ब्रह्मा निवास करते हैं, अथवा देवेन्द्र शतक्रतु जिस स्वर्ग मे रहते हैं। स्वर्गलोक से सत्यलोक के सभी ऊपर के दिव्यलोक स्वर्ग कहलाते हैं।

वे आहुतियाँ देदीप्यमान होकर यज्ञकर्ता को आदरपूर्वक बुलाती है। वे कहती हैं—"आइये-आइये, इस ओर पधारिये। तुमने जो अपने सुकृत कर्मों से जिस पवित्र ब्रह्मलोक को प्राप्त किया है यही वह चतुर्मुख ब्रह्माजी का ब्रह्मलोक है। इस प्रकार प्रदीप्त अग्नि में दी हुई आहुतियाँ सूर्य की किरण बनकर देहान्त के पश्चात् यज्ञकर्ता यजमान को आदर-सत्कारपूर्वक बुलाकर वहाँ पहुँचा देती हैं। यही प्रज्वलित अग्नि मे नियमपूर्वक सविधि श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र करने वालों का फल है।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! इस परमपावन अग्निहोत्र कर्म द्वारा क्या यह संसार-सागर सुगमता से पार किया जा सकता है? क्या केवल अग्निहोत्र द्वारा ही जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिये छूटा जा सकता है? क्या इन कर्मों द्वारा आत्यन्तिक मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है?"

इन प्रश्नो का जो शौनकजी अङ्गिरा मुनि के मतानुसार उत्तर देंगे, उसका वर्णन आगे किया जायगा ।

छप्पय

सात अगिनि की अचि कराली काली जो हैं ।
सुलोहिता अरु सुधूम्रवर्णा मनोजवा हैं ॥
विश्वरुची ह देवि कही पुनि इस्फुलिङ्गिनी ।
सूर्य रश्मि बनि सकल आहुती ब्रह्मगामिनी ॥
ब्रह्मलोक ले जायँ परि, क्षुद्रनाव डगमग करत ।
अवर करम करि मूढ तस, पुनि जनमत पुनि पुनि मरत ॥

ज्ञानमार्ग की महत्ता

[४४]

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये ।
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ॥
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति ।
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥*
(मु० उ० २ ख० १ मु० ११ मं०)

छप्पय

स्वयं अविद्या निरत अपंडित मानें पंडित ।
खल नर सहि पुनि दुःख जायँ लै अंध अधवत ॥
बाल अविद्या फँसे कृतारथ निजकूँ मानत ।
रागयुक्त करि करम पुन्य क्षय नीचे आवत ॥
इष्ट पूर्त खल मानि सब, स्वरग जाइँ नीचे गिरत ।
क्षीण पुन्य भू जनम लें, नाना योनिनि में फिरत ॥

कर्मकाण्ड का मूल है विधिविधान । शास्त्रोक्त यज्ञ यागादि कर्मों में जो विधि बताई गयी है, उस विधि से जिस कामना की

---

* किन्तु जो अरण्य वन-में बसने वाले, शान्त स्वभाव वाले विद्वान् पुरुष हैं, जो भिक्षा पर निर्वाह करने वाले हैं तथा जो तपस्या और श्रद्धा का सेवन करते हैं वे रजोगुण से रहित होकर सूर्य द्वार से उस स्थान को जाते हैं जहाँ पर वे अमृत अविनाशी पुरुष रहते हैं ।

प्राप्त के निमित्त कर्म किया जायगा, विधि पूरी होने पर उस कर्म से उतना ही फल मिलेगा, अधिक नहीं, यदि विधि में कुछ गड़बड़ हो गया, तो अविधि यज्ञ से कुछ फल न मिले यही नहीं, उसका परिणाम विपरीत भी हो सकता है। त्वष्टा ऋषि ने इन्द्रहन्ता पुत्र उत्पन्न हो इस कामना से बड़े विस्तार से विधि विधानपूर्वक दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्य पचन नामक अग्नि) में हवन किया। वे चाहते थे, जिस इन्द्र ने मेरे पुत्र विश्वरूप को मार डाला है, मैं मन्त्र बल से ऐसा एक पुत्र उत्पन्न करूँ जो इन्द्र को मारकर अपने भाई की मृत्यु का बदला ले सके। उन्होंने हे इन्द्रशत्रो! तुम्हारी अभिवृद्धि हो और शीघ्र से शीघ्र तुम अपने शत्रु इन्द्र को मार डालो (इन्द्रशत्रो! विवर्धस्व माचिरजहिविद्विषम) इस भाव का मन्त्र पढ़कर अग्नि में आहुति दी। किन्तु एक स्वर शब्दों में अशुद्ध उच्चारण हो गया। उदात्त के स्थान में अनुदात्त हो गया। इसका अर्थ यह हो गया, कि इन्द्र का जो शत्रु है। इससे इन्द्र को मारने वाला उत्पन्न न होकर इन्द्र जिसे मार डाले वह वृत्रासुर उत्पन्न हो गया। जिन यज्ञ यागादि कर्मों में स्वर, वर्ण, विधि, उच्चारण आदि में तनिक विपरीतता होने पर उलटा परिणाम हो सकता है, उन केवल सकाम कर्मों से संसार सागर को कैसे पार किया जा सकता है। इसके लिये ज्ञान अथवा भक्तिमार्ग का ही आश्रय ग्रहण करना होगा।

जब सूतजी ने शौनक मुनि से यह बात पूछी कि स्वर्ग के साधन भूत यज्ञादि सकाम कर्मों से क्या संसार सागर से तरा जा सकता है? तो उन्होंने जो महर्षि अङ्गिरा से ज्ञान सुना था उसी के आधार पर कहने लगे—"सूतजी! मुझे अङ्गिरा मुनि ने ऐसा बताया है कि संसार रूपी समुद्र से पार जाने के लिये अठारह वस्तुओं से निर्मित यह नौका है तो सही, किन्तु यह नौका सुदृढ

नहीं है, इससे कुछ दूर जाकर बड़ा जो पोत है, जहाज है उसमें बैठना पड़ेगा। भवसागर को पार करने में वह सुदृढ पोत ही समर्थ होगा यह अष्टादशोक्त यज्ञरूपा नौका दृढ नहीं अवर है नीची श्रेणी की है, जहाज तक पहुँचा सकती है। पूरे समुद्र को पार नहीं कर सकती।

सूतजी ने कहा—"यज्ञ को अष्टादशोक्ता क्यों कहा ?"

शौनकजी ने कहा—"बड़े यज्ञों में १६ यज्ञकर्ता होते हैं। ४ प्रधान और तीन तीन उनके सहायक। उनके नाम (१) होता, (२) अध्वर्यु, (३) ब्रह्मा, (४) उद्गाता, (५) प्रशास्ता, (६) प्रतिप्रस्थाता, (७) ब्राह्मणाच्छंसी, (८) प्रस्तोता, (९) अच्छावाक, (१०) नेष्टा, (११) आग्नीध्र, (१२) प्रतिहर्ता, (१३) ग्रावस्तुत्, (१४) नेता, (१५) होता, (१६)सुब्रह्मण्य ये १६ तो यज्ञकर्ता हुए, सत्रहवाँ यजमान और अठारहवीं यजमान पत्नी इन अठारहों द्वारा यज्ञयाग सम्पन्न होते हैं, इसीलिये इस यज्ञ रूपी नौका को अष्टादशोक्त कहा गया है। आप ही बतावें सकामभाव से किये जाने वाले यज्ञ याग तो जिस कामना से किये जायँगे, उस कामना की पूर्ति ही करने में समर्थ होंगे, वे संसार-सागर से पार कैसे पहुँचा सकते हैं। जैसे समुद्र में दूर पार जाने वाला पोत खड़ा है। उस पर यात्री पदल जाकर नहीं चढ सकते। छोटी छोटी नौकाओं द्वारा उस पोत के पास जाया जा सकता है, उसमें से उतर कर बड़े पोत पर चढ जाओ तो समुद्र पार पहुँच जाओगे। यदि छोटी ही नौका को तुम लेकर समुद्र पार जाने को चल पड़ो तो वह छोटी नौका सुन्दर तो है नहीं। समुद्र की लहरें उसे पुनः किनारे पर बहा लावेंगी, या प्रबल चपेटों के चक्कर में पड़ गयी तो डूब भी जायगी। इसी प्रकार कर्मकाण्ड से अन्तःकरण की शुद्धि हो सकती है, उसके द्वारा तुम ज्ञानरूप सुदृढ पोत पर चढ़ सकते हो

उससे भवसागर को पार कर सकने में समर्थ हो सकते हो। तुम चाहो कि सकाम कर्म रूपी छोटी नौका से ही पार हो जायँ, तो उस अदृढ़, अस्थिर सकाम कर्मरूपी अवर नीची श्रेणी की नौका से तुम्हारा मनोरथ सिद्ध न होगा। यह तुम्हारी मूर्खता ही मानी जायगी। जो लोग मूढ़ हैं, वे ही सकाम कर्मों को श्रेयस्कर मानकर उनकी प्रशंसा करते हैं, वे मूढ़ लोग बारम्बार जरामृत्यु को प्राप्त होते हैं, अर्थात् भवसागर से पार न होकर पुनः-पुनः जन्मते और मरते रहते हैं।

सूतजी ने पूछा—"वे किस प्रकार दुःखों को भोगा करते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"बात यह है, कि विद्या तो वह है जो हमें मुक्ति के मार्ग की ओर ले जाय। सकाम कर्म तो कामना की ओर-बन्धन की ओर-ले जाने वाले हैं। किन्तु वे कर्माभिमानी मूढ़जन स्वयं तो अविद्या में स्थित हैं, लगाते हैं अपने को धीर पुरुष। स्वयं तो मूर्ख हैं, किन्तु मानते हैं अपने को पंडित पुरुष। ऐसे पंडित मूर्खजन जन्म लेकर बारम्बार नाना भाँति की यातनाओं को सहते हैं। वे उसी प्रकार संसार में भटकते रहते हैं, जिस प्रकार अन्धे नेता के पीछे अन्धे अनुयायी चलकर अपने गन्तव्य स्थान तक तो पहुँच नहीं सकते। बीच में ही कहीं कूआ आदि में अटके रहते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"वे लोग जब भटकते हैं भाँति-भाँति के कष्ट उठाते हैं, तो फिर उधर से लौट क्यों नहीं आते?"

शौनकजी ने कहा—"लौटे कैसे? मूर्खों ने तो उनके कान भर दिये हैं, सकामकर्मों की प्रशंसा के पुल बाँध दिये हैं। उनके मन में ये बातें दृढ़ता से बैठा दी हैं। चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले अक्षय सुख के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार वे बाल बुद्धि वाले बहुत प्रकार से नाना सकाम कर्मों का अनुष्ठान करते रहते हैं, उन्हीं में

लगे रहते हैं। वे अभिमानपूर्वक कहते हैं हम कृतार्थ हो गये' क्योंकि वे सकामकर्मी लोग रागवश कल्याण मार्ग से अनभिज्ञ बन रहते हैं। इस कारण वे पुनःपुनः आतुर होकर पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर इन्हीं नीचे के लोकों में गिरा दिये जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"वे यज्ञ याग, दान धर्म कार्य तो अच्छे करते हैं, फिर गिराये क्यों जाते हैं।'

शौनकजी ने कहा—"अच्छे कर्मों का फल स्वर्ग है, बुरे कर्मों का फल नरक है। मुक्ति के लिये तो अच्छे बुरे दोनों से ही पृथक् होना पड़ेगा। कर्म सकाम भाव से किये जायेंगे, तो कभी न कभी उनका फल समाप्त ही हो जायगा। पुण्यकर्म धन के समान हैं, तुम्हारे पास कितना भी धन है यदि उसे व्यय करते रहोगे तो देर सवेर कभी न कभी तो वह समाप्त ही हो जायगा। अच्छे कर्म दो प्रकार के होते हैं एक तो परोपकार की भावना से किये गये, पूर्त कर्म जैसे बावड़ी, कुआ, तालाब बनवाना, मंदिर, आराम बाग-बगीचा धर्मशालादि बनवाना। दूसरे इष्टकर्म यज्ञयागादि श्रुति के अनुसार किये हुए श्रौतकर्म। ये दोनों ही प्रकार के कर्म पुण्यप्रद हैं। इनसे इस लोक में कीर्ति और परलोक में दिव्य भोग प्राप्त होते हैं, किन्तु ये सब क्षयिष्णु हैं। पुण्य क्षय होने पर पुनः मर्त्यलोक में ही आना पड़ेगा। किन्तु जो सकाम कर्मों के ही दुराग्रही हैं वे लोग इष्ट और पूर्त कर्मों को ही वरिष्ठ-श्रेष्ठ-मानते हैं, वे मूढ़ इन्हें ही सब कुछ मानते हैं, इन कर्मों के अतिरिक्त वे दूसरा श्रेयस्कर कोई मार्ग और भी है इस पर विश्वास नहीं करते। क्योंकि उनकी आसक्ति कर्मों में ही है। स्वर्गीय सुख ही उनके लिये सबसे श्रेष्ठ सुख है। स्वर्ग में चला जाना ही उनका अन्तिम ध्येय है। अपने दुराग्रह के कारण वे शुभ कर्मों के फल स्वरूप स्वर्गीय सुखों को भोगकर-वहाँ के दिव्य भोगों का अनुभव

करके–जब पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब देवयोनि से हीनतर यहाँ पृथ्वी की अन्य योनियों मे आकर पुनः जन्म लेते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"जो लोग फल की इच्छा से सकाम कर्मों को नहीं करते उनकी कौन गति होती है ?"

शौनकजी ने कहा—"जो लोग मन मे स्वर्ग और नरक की कुछ भी कामना न रखकर निष्काम भाव से अरण्य मे वास करते हैं, ऐसे शांत स्वभाव के विद्वान् पुरुष अपने पास कुछ भी संग्रह नहीं करते। वे अपनी उदरपूर्ति भी केवल भिक्षान्न से करते हैं। संयम और श्रद्धा के सहित अपने नित्य कर्मों को करते रहते हैं, मन में किसी भी प्रकार की शुभ अथवा अशुभ कामना नहीं करते, ऐसे रजोगुण से रहित तपस्वी सूर्य द्वार द्वारा जाकर उस स्थान को प्राप्त करते हैं, जहाँ पर वे जन्म मृत्यु से रहित होकर अव्ययात्मा पुरुष-परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"वहाँ जाने के लिये साधन कौन-सा करना चाहिये ? इसके लिये किसकी शरण लेनी चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"पहिले तो श्रेयस्कामी ब्रह्म को जानने की अभिलाषा करने वाले साधक को इन स्वर्गादि अनश्वर लोकों की परीक्षा करनी चाहिये। अर्थात् विवेक विचार के द्वारा इन स्वर्गादि लोकों का परिणाम क्या होता है इस विषय पर शान्ति-पूर्वक मनन करना चाहिये। जब इन स्वर्गादि लोकों की नश्वरता का ज्ञान हो जाय, तो संसार के सभी भोगों से वैराग्य को धारण करले। यह निश्चय करले कि जो परब्रह्म परमात्मा स्वयं अचल है, जो स्वयं सभी प्रकार के कर्मों से रहित है, वह भला कर्मों द्वारा-सकाम कर्मों से-कैसे प्राप्त हो सकेगा। उसकी प्राप्ति के लिये तो साधक को स्वयं भी निष्काम बनना होगा। जब इस प्रकार संसार से-सकामकर्मों से-विरक्ति हो जाय, तो उस परब्रह्म पर-

मात्मा के विशेष ज्ञान के निमित्त श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप समित्पाणि होकर–उनके लिये कुछ भेंट लेकर–विनयपूर्वक जाय।"

सूतजी ने पूछा—"संसार से विरक्त होकर श्रद्धा भक्ति के साथ श्रेयस्कामी शिष्य जाय, यह तो शिष्य का कर्तव्य हो गया। ऐसे निष्काम, श्रद्धालु शिष्य को पाकर गुरु क्या करे। गुरु का क्या कर्तव्य है, इस विषय में भी कुछ बताइये। गुरु के कर्तव्य पर भी तनिक प्रकाश डालिये।"

शौनकजी ने कहा–"गुरु को चाहिये कि जब ऐसा त्यागी, विरागी, विचारशील शिष्य अपनी शरण में आवे, तो उन महात्मा को चाहिये इस सम्यक् प्रशान्त चित्त वाले, मन और इन्द्रियों को वश में करने वाले शरणागत शिष्य को उस ब्रह्म विद्या को तत्त्वतः कहे। जिससे वह शरणागत शिष्य अक्षर सत्य परम-पुरुष परमात्मा को जान जाय।"

सूतजी ने पूछा—"वह सत्य है क्या?"

शौनकजी ने कहा—"वह सत्य क्या है, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जे तप श्रद्धायुक्त वास वन करत शान्तचित।
सूर्य द्वार तैं जायँ अमृत अव्यय आत्माजित॥
करम प्राप्त सब लोक रहस लखि धरि विराग चित।
कस करमनि तैं अकृत पाइ गुरु ढिँग सुज्ञान हित॥
ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय समित्-पाणि जाइ श्रद्धा सहित।
ताहि ब्रह्म विद्या सकल, गुरु सिखवै सतशिष्य हित॥

द्वितीय खण्ड समाप्त॥

प्रथम मुण्डक समाप्त॥

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

सब ब्रह्म ही ब्रह्म है

[४५]

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥❀

(मु० उ० २ मु० १ ख० २ म०)

छप्पय

दीप्ति अगिनि सत सहस उठें चिनगारी जैसे ।
अक्षर तैं बहु भाव उदित लय होवें तैसे ॥
दिव्य पुरुष नहिं मूर्त सकल जग बाहिर भीतर ।
अज, अप्रान, मन रहित शुभ्र, अक्षर-परतैं पर ॥
परमेश्वरतैं प्रान मन, इन्द्रियगन आकाश पुनि ।
वायु, ज्योति, जल, विश्व की-धारक पृथिवी भई मुनि ॥

वट का वृक्ष है, उसमे स्कन्ध (तना) है, छोटी बडी बहुत-सी शाखायें, उपशाखायें तथा प्रोपशाखायें हैं, उन सभी शाखाओं मे पत्ते हैं, फल हैं, जड हैं, लटायें हैं, वल्कल है, दूध है । इन सबको

❀ वह पूर्ण पुरुष दिव्य, अमूर्त जगत् के बाहर भीतर व्याप्त, अज, अप्राण, अमन, शुभ तथा अक्षर जो जीवात्मा है उससे अत्यन्त ही श्रेष्ठ है ।

मिलाकर—इन सबका संघात रूप वटवृक्ष है। अब इसमे से कोई एक ऐसी वस्तु हो, जिस एक के जान लेने पर समस्त वटवृक्ष का ज्ञान हो जाय, तो वट के पके फल को तोड़कर उसमे से एक छोटा-सा नन्हा-सा बीज निकाल लीजिये। उस एक ही बीज से यह इतना बडा वटवृक्ष बन गया है, बीज को उर्वरा भूमि में मिला दिया। जल दे दिया। उपयुक्त खाद्य तथा जल मिलने से वह बीज अकुरित होकर शनैः-शनैः काल पाकर अकुर हो जायगा, बडा होता जायगा, पल्लवित होने लगेगा, फल आने लगेगे, स्कन्ध मोटा होने लगेगा, शाखाये-प्रशाखायें फूटने लगेंगी। वृक्ष बन जाने पर फिर आप उसकी जड को खोजो तो वह बीज फिर नहीं मिलेगा, वह बीज कहाँ गया, वह नन्हा बीज ही बृहद् होकर वृक्ष बन गया है। विनाश होते समय वृक्ष बीजों को छोड जायगा, उनसे पुनः वृक्ष बन जायँगे। इसी प्रकार यह वृक्ष रूप विश्व ब्रह्माण्ड है। इसके बीज परब्रह्म परमात्मा है। परमात्मा ही जगत् बन गये हैं। परमात्मा से ही जगत् की उत्पत्ति है, उन्हीं से जगत् की स्थिति है और अन्त मे उन्हा में जाकर जगत् विलीन हो हो जाता है। अतः एक ब्रह्म को जान लेने पर जगत् के सभी पदार्थों की जानकारी प्राप्त हो सकती है।

सूतजी ने जब पूछा—"श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर शिष्य पर विद्या के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करे और सत्गुरु उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश करें यह बात आपने बतायी। अब प्रश्न यह है, कि वह परविद्या या ब्रह्मविद्या है क्या ?"

सूतजी के ऐसा पूछने पर शौनक मुनि कहने लगे—"महर्षि अङ्गिरा ने हमें इस सम्बन्ध में बताते हुए कहा था—हे सौम्य शौनक ! मैं तुम्हें बार बार अनेक दृष्टान्त देकर बता चुका हूँ, कि वह ब्रह्म सत्य है। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं परब्रह्म से हुआ है।

जैसे सुदीप्त अग्नि है। अग्नि मे यथेष्ट ईंधन पड़ा है, इसके कारण ऊँची-ऊँची लपटें उठ रही हैं। कुछ लकड़ियाँ ऐसी होती हैं, कि उनके पड़ते ही चटचटाने लगती हैं। चटचट शब्द करते हुए उस सुदीप्त पावक से उसी के रग रूप की सहस्रो विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ-छोटी बडी अनेको प्रकार की उत्पन्न होती है, वे अग्नि से ही उत्पन्न होकर अन्त मे अग्नि मे ही मिल जाती हैं, उसी प्रकार इस अविनाशी अक्षर परब्रह्म परमात्मा से संसार के विविध भाव उत्पन्न होते है और अन्त मे उन्हीं मे जाकर विलीन हो जाते हैं। अतः वह ब्रह्म ही-परब्रह्म परमात्मा ही सबका आदि कारण है और उन्हे ही जान लेने पर संसार के सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"उस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप क्या है ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अङ्गिरा मुनि ने बताया यह पूर्णपुरुष परब्रह्म परमात्मा दिव्य है, उसका कोई एक आकार-प्रकार नहीं, वह अमूर्त है। यह बात नहीं कि वह जगत के भीतर ही भीतर रहता हो, वह जगत् के भीतर भी है, बाहर भी है यत्र-तत्र-सर्वत्र है। जीव तो कर्माधीन होकर नाना योनियों मे उत्पन्न होते हैं, किन्तु वह कर्मों में लिप्त नहीं होता। कर्म उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते, अतः वह प्राकृत जन्म से रहित है, अज है। प्राण तो शरीर-धारियो के शरीर मे ही विचरण करते हैं, किन्तु वह अशरीरी होने के कारण प्राण रहित है। देह का सम्बन्ध इन्द्रियों और मन के साथ है अतः देहरहित होने के कारण वह मन से भी रहित है। देह मलायतन है, किन्तु वह सर्वथा विशुद्ध है, परमशुभ्र है। इसीलिये अक्षर होने पर भी जो नाना योनियो में भटकने वाला जीवात्मा है, उससे यह परब्रह्म परमात्मा अत्यन्त श्रेष्ठ है, परात्पर है।"

सूतजी ने पूछा—"यह तो निराकार परब्रह्म परमात्मा का वर्णन हुआ। वह तो इन्द्रियों से परे है, अगोचर है। उस निराकार से यह साकार जगत् कैसे उत्पन्न हो गया ?"

शौनकजी ने कहा—"उस निराकार अज, अव्यक्त, अशरीरी परब्रह्म से सर्वप्रथम प्राणों की उत्पत्ति हुई। प्राणों की तृप्ति के लिये अन्न और अन्न से मन की उत्पत्ति हुई। अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार रूप अन्तःकरण चतुष्टय बना। तदनन्तर कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय भेद से समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। फिर सबको अवकाश देने वाले आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से सर्वत्र विचरण करने वाले प्राणों का सचार करने वाले वायुदेव की उत्पत्ति हुई। वायु से सबको प्रकाशित करने वाले तेज की उत्पत्ति हुई। उस ज्योति से ही समस्त भुवन को जीवन प्रदान करने वाले जल की उत्पत्ति हुई और उस अनन्त अगाध जल से ही सम्पूर्ण चराचर के प्राणियों को धारण करने वाली पृथ्वीदेवी की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति कहना तो उपलक्षण मात्र है, वे निराकार ब्रह्म ही विराट्रूप में परिणत हो गये। वे अब पुरुषाकार हो गये।"

पुरुष का जैसे मूर्धा मस्तक होता है, वैसे ही अग्नि उन विराट्पुरुष का मस्तक है। मस्तक में दो नेत्र होते हैं, जो प्रकाशक हैं, जिनके द्वारा सब कुछ देखा जा सकता है। अतः सूर्य और चन्द्रमा उस विराट्पुरुष के दोनों नेत्र हैं। ये विराट्पुरुष अनन्त मुख वाले हैं, इसलिये इनके कान भी अनन्त ही होंगे, अतः समस्त दिशायें ही इन विराटपुरुष के कान है। ये जो विस्तृत वेद है वे ही इनकी बोलने की वाणी हैं। शरीर में जैसे प्राण रहते हैं उन प्राणों के स्थान में ही सर्वत्र गमन करने वाली वायु विराट्पुरुष के प्राण हैं यह जगत् उनका हृदय है। पृथ्वी

उनके चरण स्थानीय है। यही सर्व भूतान्तरात्मा समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है। इस प्रकार यह व्यक्त जगत् ही उन अमूर्त ब्रह्म की व्यक्त मूर्ति है।

यह जगत् क्या है एक प्रकार यज्ञ है। यज्ञ मे अरणि से अग्नि उत्पन्न होती है। अतः उस ब्रह्मरूप अरणि से प्रथम यज्ञाग्नि उत्पन्न हुई। यज्ञ मे अग्नि के जलाने के लिये समिधा चाहिये, सो सूर्य ही मानो उनकी समिधा हैं। सोम यज्ञ मे सोम की आवश्यकता होती है अतः अग्नि से-प्रकाश से-सोम उत्पन्न होता है। यज्ञ से धूम उत्पन्न होता है। अतः सोम से पर्जन्यमेघ उत्पन्न होते हैं। धूम से वर्षा होती है उस वर्षा का फल यह होता है, उससे पृथ्वी पर नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे यज्ञ से देवता सन्तुष्ट होकर वर्षा करते हैं, वर्षा से अन्न और अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मयज्ञ से औषधियाँ उत्पन्न होती है। उन औषधियों के सार से वीर्य उत्पन्न होता है। उस वीर्य को पुरुष स्त्री मे सिंचन करता है। गर्भ का आधान करता है। जैसे पुरुष से नाना प्रकार की प्रजाओं की-सन्तानों की-उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम से इस प्रजारूप इस विश्वब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जगत् की उत्पत्ति के मुनियो ने अनेक प्रकार प्रताये हैं। सबका सार यही समझना चाहिये कि सब कुछ परब्रह्म से ही हुआ है। जैसे अमूर्त अग्नि ईंधन जैसा होता है उसी के आकार-प्रकार की बनकर प्रकट हो जाती है, फिर अपने अव्यक्त रूप मे विलीन हो जाती है।"

सूतजी ने पूछा—"आपने ब्रह्म को यज्ञमय बताया है, यज्ञ की क्या आवश्यकता है?"

शौनकजी ने कहा—"यज्ञ ही तो आधार है, यज्ञ से ही तो

सबकी रक्षा होती है। यज्ञ ही तो एकमात्र कर्तव्य है। यज्ञ के लिये किये हुए कर्म के अतिरिक्त और जो कर्म हैं, वे तो लोक में बन्धन के हेतु हैं।"

सूतजी ने पूछा—"यज्ञयागादि की, उनके साधन और फल की उत्पत्ति भी उन्हीं परब्रह्म से हुई होगी, क्योंकि सबके उत्पादक वे ही हैं, अतः उनकी उत्पत्ति का भी प्रकार बताइये।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, यज्ञ, उसके साधन, उसके फलादि की उत्पत्ति भी उन्हीं परब्रह्म से हुई है। इस विषय का वर्णन आगे करेंगे।"

छप्पय

अग्नि माथ हैं आँखि चन्द्र रवि कान दिशा-वर।
प्रकट वेद तिनि वाक वायु हैं प्रान देहधर॥
सकल विश्व तिनि हियो हिये में सकल छिपावें।
उभय चरन भू करी ताहि पै आवें जावें॥
पग तैं भू आत्मा सकल, तातैं पावक समिध रवि।
सोम अगिनितैं मेघ तिहि, भू ओषधि तिहि रेत कवि॥

यह विश्व परम पुरुष ही है

[४६]

पुरुष एवेदं विश्व कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहित गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि
विकिरतीह सोम्य ॥*

(मु० उ० २ मु० १ ख० १० म०)

छप्पय

पुरुष नारि में करै रेत सिचन शिशु होवै ।
त्यों यह सबरी प्रजा ब्रह्मतें परगट होवै ॥
ऋक्, यजु, साम, अथव सु-दीक्षा, यज्ञ क्रतव-तब ।
भई-दक्षिणा, फल, फेरि यजमान, लोक सब ॥
लोकनि में रवि शशि प्रभा, छिटकावें सुरगन भये ।
साध्य, मनुज, पशु, पक्षि पुनि, प्रान अपानहु है गये ॥

एक ही बात को बार-बार भिन्न भिन्न दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता, क्योंकि जो विषय गूढ है, गहन है स्थूल बुद्धि वाले जिसे सहज में ग्रहण

---

* तप, कर्म, परम अमृत रूप ब्रह्म यह दृश्यमान विश्व सभी कुछ पुरुषोत्तम ही है। हे सोम्य! इस हृदय गुफा में स्थित जो ब्रह्म है उसे जो जानता है, वही यहाँ अविद्या ग्रन्थि को खोल डालता है।

नहीं कर सकते उसे युक्तियों से विविध कथानक कहकर पुनः-पुनः समझाया जाता है। विषय एक ही है। सब कुछ ब्रह्म ही का पसारा है, ब्रह्म ही नाना रूप रखकर भास रहा है। उसी से समस्त विश्व ब्रह्माण्ड बने हैं। इसे एक प्रकार से समझाते हैं, फिर दूसरे प्रकार से इसकी पुष्टि करते हैं।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! महर्षि अङ्गिरा ने चराचर विश्व की उत्पत्ति बताते हुए सोम से पर्जन्य, उससे पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ और ओषधियों से वीर्य की उत्पत्ति बतायी और वीर्य से ही समस्त चराचर जीव उत्पन्न हुए। यहाँ तक तो समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का क्रम वर्णन किया।

अब जो समस्त प्रजा उत्पन्न हो गयी, उसकी रक्षा कैसे हो, रक्षा का एकमात्र उपाय है यज्ञ यागादि, इसलिये यज्ञादि साधन और उनके फलों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया-अङ्गिरा मुनि ने मुझसे कहा वत्स! जब परब्रह्म परमात्मा से भाँति के चर-अचर स्थावर-जंगम जीव उत्पन्न हो गये तदनन्तर उन्हीं परब्रह्म परमेश्वर से ऋग्वेद की ऋचायें उत्पन्न हुईं। जिन ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की जाती है। (ऋच्यन्ते स्तूयन्ते देवा अनया) इसके अनन्तर सामवेद के मन्त्रों की उत्पत्ति हुई। यह वेद गेय हैं। सामवेद सस्वर गाया जाता है। इसके गान को श्रवण करके दुखों का नाश हो जाता है। इसको धारण करना इसका समझना कठिन है दुःख देने वाला है, इसलिये भी इसकी साम संज्ञा है। (स्यति-छिनति दुःख गेयत्वात् इति साम, अथवा स्यति दुःखयति दुरध्येयत्वात् इति-साम) सामवेद के अनन्तर यजुर्वेद की श्रुतियाँ उत्पन्न हुईं। इसमें यज्ञ यागादि की विधियाँ है जिन मन्त्रों के द्वारा यजन किया जाता है उन्हें यजु कहते हैं (इज्यते अनेन इति यजुः) इस प्रकार वेदत्रयी के उत्पन्न

होने के अनन्तर दीक्षा की उत्पत्ति हुई। यज्ञादि शुभकर्म करने के पूर्व यजमान प्रायश्चित्तादि करके सकल्पपूर्वक उस अनुष्ठान के नियमों का पालन करने का जो व्रत लेता है, उसी का नाम दीक्षा है, यह यज्ञादि शुभकर्मों के आरम्भ करने के पूर्व ही ली जाती है। तदनन्तर समस्त यज्ञों की उत्पत्ति हुई। जिसमें शास्त्रीय विधिविधान पूर्वक हवि दी जाय, उसका नाम यज्ञ है। (इज्यते-हविर्दीयते यत्र इति यज्ञः अथवा इज्यन्ते देवता यत्र इति यज्ञः) फिर क्रतु हुए। वैसे यज्ञ और क्रतु दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु यज्ञ में और क्रतु में इतना ही अन्तर है, कि जिनमें पशुओं के बाँधने का यूप बनाया जाता है उसे क्रतु कहते हैं। (क्रियते असौ-इति क्रतुः यज्ञ विशेषः) यज्ञ और क्रन्तु के अनन्तर दक्षिणा की उत्पत्ति हुई। यज्ञ कराने के अनन्तर यज्ञकर्ताओं को यजमान जो श्रद्धापूर्वक द्रव्यादि देता है उसका नाम दक्षिणा है। दक्षिणा से कर्म की वृद्धि होती है (दक्षते इति-दक्षिणा)।

इतने सब यज्ञ के सभार होने पर सवत्सर रूप काल की उत्पत्ति हुई। फिर यज्ञ करने वाला यजमान हुआ। अर्थात् जो यज्ञानुष्ठान की दीक्षा ले, व्रत धारण करे (यजतीति यजमानः) याग स्वामी फिर यज्ञ के फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, उन लोकों की उत्पत्ति हुई। ऐसे लोक जहाँ सूर्य और चन्द्रमा प्रकाश प्रदान करते हैं अपनी किरणों द्वारा प्रकाश फैलाते हैं।

इस प्रकार यज्ञ सम्बन्धी समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति बताकर समस्त प्राणियों को अङ्गिरा मुनि ने उत्पत्ति बताई।

उन्हीं परब्रह्म परमात्मा से अनेक प्रकार के देवताओं की उत्पत्ति हुई। इन देवताओं के ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, उनचास मरुत तथा अश्विनी कुमार आदि ये सब सम्मिलित हैं, गन्धर्व, यक्ष, किंनर गुह्यकादि उपदेव हैं। अतः देवताओं की

की संख्या बहुत हैं। तदनन्तर १२ साध्यगण उत्पन्न हुए। उनके नाम मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, अपान, भक्ति, भय, अनघ, हंस, नारायण, विभु और प्रभु है। ये भी देवता विशेष ही हैं। (साध्य अस्ति अस्य इति साध्यः) तदनन्तर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। फिर पशुओं की इसके पश्चात् आकाश में उडने वाले पक्षियों के गण उत्पन्न हुए। फिर प्राण अपानादि शरीर में रहने वाली दश विध प्राण उत्पन्न हुए। तदनन्तर धान्य जौ आदि अन्न हुए। फिर तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि आदि समस्त सद् गुण उत्पन्न हुए।

उन्हीं परब्रह्म परमात्मा से सात प्राण उत्पन्न हुए। अर्थात् मरुत् के सात-सात गण (४९ वायु) अग्नि की काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, और विश्वारुची देवी ये सात आर्चियाँ उत्पन्न हुईं। अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पीपल, उदुम्बर और शमा ये सात समिधायें उत्पन्न हुईं। फिर अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, पशुयज्ञ और सोमयज्ञ ये सात प्रकार के हवन हुए। फिर भू, भुव, स्व, मह, जन तप और सत्य ये सात लोक हुए। जिनमें ये सातों प्राण विचरते रहते हैं, हृदय रूपी गुफा में शयन करने वाले ये सात-सात सभी प्राणियों में निहित हैं।

अथवा कान, त्वचा, नेत्र, रसना घ्राण, वाणी और मन ये सात प्राण हैं अर्थात् विषयों को प्रकाशित करते हैं। मनन करना शब्दों को सुनना, स्पर्श का अनुभव करना, वस्तुओं को देखना, रसों का स्वाद लेना, गन्ध को सूँघना और शब्दों को बोलना, ये सात विषय वृत्तियाँ हैं ये ही सात आर्चियाँ हैं। सात समिधा भी ये ही सातों वृत्तियाँ हैं। उनका सात इन्द्रियों के विषय रूप सात समिधाओं से सात प्रकार का हवन, सात इन्द्रिय रूप

अग्नियों में जलाना है। इन उपर्युक्त सात इन्द्रियों का वासस्थान हा इनके सात लोक हैं। निद्रा के समय ये सभी मनके साथ हृदय रूपी गुफा में सो जाते हैं। इस प्रकार यह सात-सात का समुदाय सर्वात्मा सर्वेश्वर द्वारा ही समस्त जीवों में सन्निहित है।

जिस प्रकार ये भीतर की वस्तुएँ परब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न हुईं उसी प्रकार बाहर की भी वस्तुएँ जैसे सात समुद्र, समस्त पर्वत, अनेक रूपों वाली अनेकों नदियाँ, सम्पूर्ण ओषधियाँ तथा सम्पूर्ण रस भी उन्हीं से उत्पन्न हुए। जिन रसों वाले शरीरों में यह अन्तरात्मा, परब्रह्म, परमात्मा समस्त भूतों में विराजमान रहता है।

इसलिये तप रूप में भी वही ब्रह्म है, कर्म रूप में भी वही परमात्मा है, परम अमृत रूप भी वही अखिलात्मा है, ब्रह्म, विश्व और पुरुष रूप में भी वही पुरुषोत्तम है, हे प्रियतम! वह पुरुषोत्तम सब की हृदय रूप गुफा में अन्तर्यामी रूप में विराजमान रहता है। जो उस गुफा में छिपे हुए सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को जान लेता है, वह इसी लोक में कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि जड़ और चेतन्य के बीच में जो एक ग्रन्थि पड़ गयी है, उस अविद्या ग्रन्थी को आत्मज्ञानी ही खोलने में समर्थ हो सकता है। जिसने उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वह कदापि उस अविद्या ग्रन्थि को नहीं खोल सकता।

सूतजी ने कहा—"भगवन! उस आत्मा के ज्ञान को हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"इस विषय में महामुनि अंगिरा ने जो हमें साधन युद्ध करके आत्म विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया है, उसका वर्णन मैं आप सबसे आगे करूँगा। आशा है आप सब इस विषय को समाहित चित्त से श्रवण करेंगे।

छप्पय

पुनि जौ, धान हु अन्न तपस्या, श्रद्धा, विधि सब।
ब्रह्मचर्य, सत, सप्त-प्रान ज्वाला सप्तहु तब॥
सदा समिध अरु होम, लोक, हिय दरी बिराजत।
पुनि समुद्र, गिरि, नदी, ओषधी, रस, उपजावत॥
रस सपुष्ट शरीर महँ, आत्मा सब भूतनि बसत।
ब्रह्म-अमृत तप करममय, हिय दरि थित लखि ब्रह्मवित॥

द्वितीय मुन्डक का

प्रथम खण्ड समाप्त

ब्रह्मलक्ष्य-वेध

[४७]

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥*

(मु० उ० २ मु० २ ख० ४ मं०)

छप्पय

ब्रह्म गुहाचर-निकट-प्रकाशक सबहिँ समरपित ।
सर्वाश्रय, धी-परे, श्रेष्ठतम, वरण, असत, सत ॥
दीप्तिमान, अतिसूक्ष्म, लोक सब जीव ताहि थित ।
वही प्रान, मन, वाक्, सत्य, अम्मृत, बुध वेधत ॥
प्रणव-धनुष शर-आतमा, ब्रह्म लक्ष्य मद मोह तजि ।
बींधो साधक सम्हरिकें, शर-वत्, तन्मय होहि भजि ॥

एक बार द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की लक्ष्यवेध की परीक्षा ली। एक बनावटी पक्षी को एक बड़े वृक्ष के ऊपर बिठाकर बाँध दिया। फिर अपने शिष्यों से कहा - "देखो, इस पेड़ पर यह पक्षी बैठा है, इसकी बाँई आँख को लक्ष्य बनाकर वेधना है।

---

* प्रणव-ओंकार ही मानो धनुष है, आत्मा बाण स्थानीय है। ब्रह्म—परमात्मा—ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। उस लक्ष्य को अप्रमत्त होकर ही बींधना चाहिये। और उस लक्ष्य में बाण की ही भाँति तन्मय हो जाना चाहिये।"

दुर्योधन ! पहिले तुम धनुष पर बाण चढाकर लक्ष्यवेध करो, किन्तु जब तक मैं कहूँ नहीं तब तक बाण मत छोडना।"

दुर्योधन आया, उसने धनुष पर बाण चढाया गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा। गुरु ने पूछा—"वत्स ! तुम मुझे देख रहे हो ?"

उसने कहा—"हाँ, गुरुदेव ! आप सम्मुख खडे हैं, मैं आपको देख रहा हूँ।"

गुरु ने फिर पूछा – "वृक्ष को देख रहे हो ?"

उसने कहा –"हाँ मै वृक्ष को भी देख रहा हूँ।"

गुरु ने पूछा—"जिस डाली पर पक्षी बैठा है, उसे देख रहे हो ?"

उसने कहा—"हाँ डाली को भी देख रहा हूँ और डाली पर बैठे पक्षी को भी देख रहा हूँ।"

गुरु ने कहा—"बाण को धनुष से उतार कर तूणीर मे रख लो, अपने स्थान पर आ जाओ।"

दुर्योधन के हट जाने पर अन्य शिष्यों को बुलाया। उनसे भी ये ही प्रश्न किये। किसी ने कहा—"मैं वृक्ष को देख रहा हूँ, किसी ने कहा मैं केवल उस डाली को देख रहा हूँ, किसी ने कहा—मैं पक्षी को ही देख रहा हूँ।"

गुरु ने सबको अपने अपने स्थानो पर लौट आने का आदेश दिया। फिर अर्जुन को बुलाया, और उससे भी ये ही प्रश्न किये। तब लक्ष्य वेध के लिये प्रमाद रहित होकर धनुष पर बाण चढाये ही चढाये अर्जुन ने कहा—"भगवन ! मै न अपने साथियों को देख रहा हूँ। न आपको, न वृक्ष को, न वृक्ष की शाखा को और न पक्षी को ही देख रहा हूँ, मैं केवल पक्षी की बाँई आँख को ही देख रहा हूँ, क्योंकि मेरा लक्ष्य वृक्ष, डाली, पक्षी नहीं है,

मुझे तो केवल पक्षी की बाँई आँख को ही वेधना है, वही एकमात्र मेरा लक्ष्य है।

गुरु ने आगे बढ़कर शिष्य को हृदय से लगा लिया और कहा—"वत्स! वास्तव में तुम ही एकमात्र लक्ष्य को बींधने में समर्थ हो सकते हो। जिसकी दृष्टि, जिसके बाण का निशान अपने लक्ष्य में पूर्णतया तन्मय नहीं हो जाता, वह अपने लक्ष्य वेधने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता। अतः लक्ष्य बेध के लिये अप्रमत्त होकर तन्मयता की ही आवश्यकता है।"

शौनकजी कह रहे हैं—सूतजी! आपने ब्रह्मप्राप्ति का साधन पूछा था। यही बात मैंने भगवान् अङ्गिरा मुनि से पूछी थी। उन्होंने बताया—"सौम्य! वह ब्रह्म कहीं दूर नहीं है। अपने से वह अत्यन्त ही निकट है। वह कहीं अंधकार में छिपा हुआ भी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है। उसका नाम गुहाचर है। अपने अत्यन्त ही निकट हृदयरूपी गुफा है, उसी में वह स्थित रहता है इसीलिये लोग उसे गुहाचर कहते हैं। वह महत्-पद है अर्थात् महान् पदवी वाला है। एकमात्र वही प्राप्त करने योग्य है। जितने भी जगत् जीव हैं। जो चेष्टा करते हैं, श्वास लेते हैं, आँखों को खोलते मींचते हैं, वे सबके सब उन्हीं पर-ब्रह्म परमात्मा में समर्पित हैं, प्रतिष्ठित हैं। एकमात्र संसार में वही जानने योग्य वस्तु है, अतः तुम सब लोगों का यही एकमात्र परम कर्तव्य है, कि उस जानने योग्य ब्रह्म को जानो, उस परम प्रापणीय पुरुष को प्राप्त करो। वे ही सत् हैं, वे ही असत् भी हैं। वे ही कार्य भी हैं और कारण भी वे ही हैं। वे ही प्रकट रूप में जगत् हैं। और अप्रकट रूप में आत्मा भी हैं। वे ही एकमात्र वरण करने योग्य वरेण्य हैं। वे ही श्रेष्ठों से भी परमश्रेष्ठ वरिष्ठ-तम हैं। और समस्त प्राणियों की बुद्धि से परे हैं। जहाँ जाकर

मन वाणी तथा बुद्धि लौट आती है, वे बुद्धि द्वारा जाने नहीं जा सकते।"

वे अंधकारमय नहीं अर्चिमान् हैं, दीप्तिमान् हैं, वे परमप्रकाश स्वरूप परम तेजस्वी हैं। सबसे सूक्ष्म अणु होता है। किन्तु वे अणु से भी अणु हैं, परम सूक्ष्मतम हैं। विश्व ब्रह्माण्डों में जितने लोक हैं, तथा उन लोकों में रहने वाले जितने भी प्राणी हैं, वे सब के सब इन्हीं के आश्रित हैं। वे सभी इन्हीं के अन्तर्गत अवस्थित हैं। बृहद् होने से यह ब्रह्म कहकर पुकारा जाता है। कभी नाश न होने से इसे अविनाशी अक्षर भी कहते हैं। वही प्रीणन करने वाला प्राण है, वही बोलने वाली वाणी है, वही मनन करने वाला मन है, वही सदा एक रस रहने वाला सनातन सत्य है। वही कभी भी न मरने वाला अमृत है। हे सौम्य! प्रियतम वत्स! उसे ही लक्ष्य बनाकर बींधना चाहिये। तुम उसी को बेधो।

सूतजी ने कहा—"लक्ष्य को बेधने के लिये तो धनुष बाण तथा अभ्यास एकाग्रता की आवश्यकता है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, गुरुदेव ने इसका भी एक रूपक बताया है, उसे भी सुनो। यह रूपक औपनिषद् है, अर्थात् उपनिषदों में इस रूपक का वर्णन किया गया है।"

सूतजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! उस औपनिषद् रूपक को हमें भी सुनाइये।"

शौनकजी ने कहा—"पहिले महास्त्र-बड़े भारी धनुष को लेना चाहिये। फिर उस पर चढ़ाने के लिये बाण लेना चाहिये। साधारण मोथरे भोतरे बिना धारयुक्त-बाण से लक्ष्य नहीं बेधा जा सकता। अतः उपासना रूपी पाषाण पर उस बाण को भली भाँति तारा-चोखा कर लेना चाहिये। फिर बाण को धनुष पर

चढाने का निरन्तर, दीर्घकाल तक सत्कारपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। फिर भावपूर्ण चित्त से उस अत्यन्त तीक्ष्ण बाण को खींचकर, हे वत्स! हे सौम्य! उस अपने महान् लक्ष्य अक्षर-ब्रह्म का वेधना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—'भगवन! यह तो आपने गोल माल-सी बात कह दी। वह महास्त्र धनुष क्या है, वे तीखे किये हुए बाण कौन-से हैं। इनका स्पष्ट बताइये।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"मेरे गुरु ने प्रणव-ओंकार-को ही महास्त्र धनुष कहा है। आत्मा को ही बाण की उपमा दी है और जिसे वेधा जाता है उस लक्ष्य को ब्रह्म स्थानीय बताया है। किन्तु यह लक्ष्य वेध प्रमाद से, आलस्य से, मोह से नहीं वेधा जा सकता। अतः प्रमाद रहित साधक द्वारा ही यह वेधा जा सकता है। कब वेधा जा सकता है, जब बाण की ही भाँति अपने लक्ष्य में तन्मय हो जाय, तदाकार बन जाय।"

सूतजी ने पूछा—"इस महान लक्ष्य को वेधने के लिये साधक में कैसी योग्यता होनी चाहिये, उसे किन किन बातों का परित्याग कर देना चाहिये?"

शौनकजी ने कहा—"भगवान् अङ्गिरा मुनि ने इस विषय को बताते हुए मुझे स्पष्ट रूप से यह आदेश दिया था—वत्स! जिस ब्रह्म में स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष समस्त प्राणों के सहित मन ओत-प्रोत हैं। चारों ओर से गुँथा हुआ है। उसे एक जानने योग्य परम आत्मा को तुम लोग जानो। उसी के सम्बन्ध की बातें करो। इसके अतिरिक्त दूसरी इधर-उधर की सांसारिक बातों को-विषय सम्बन्धी चर्चाओं को-सर्वथा छोड दो। उनका भली-भाति परित्याग कर दो। क्योंकि संसारी विषय सम्बन्धी कथायें तो विष के सदृश हैं। यह परमार्थ चर्चा तो परब्रह्म परमात्मा रूप

अमृत सागर का सेतु है, इसी सेतु द्वारा आप लोग संसार सागर के उस पार अमृतार्णव में प्राप्त हो सकोगे।"

सूतजी ने पूछा—"ध्यान किसका करे ?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, शरीर क्या है, यह एक संसार चक्र का पहिया है। यह घूमता रहता है। जैसे रथ की नाभि में चारों ओर से ऐसी टेढी लकड़िया (अरा) लगी रहती हैं उसी प्रकार इस शरीर में करोड़ों नाड़ियाँ हैं। ये सबकी सब हृदय प्रदेश से जुड़ी हैं। समस्त नाड़ियों का उद्गम स्थान-केन्द्र स्थान-हृदय है। उस हृदय में परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामी रूप से निवास करता है, शरीर के मध्य में विरचता रहता है, प्रकट होता है। उस परब्रह्म परमात्मा का वाचक प्रणव है, ओंकार है। अतः ॐ इस नाम के ही द्वारा उस परमात्मा का ध्यान करो। उस ध्यान से ही तुम असार संसार रूप समुद्र को पार कर जाओगे। मैं तुम्हारी शुभ कामना करता हूँ, मंगल कामना करता हूँ। तुम्हारे लिये मंगलाशासन करता हूँ। तम से परे-अज्ञानमय अंधकार से अतीत-संसार सागर के उस पार पहुँचने के लिये तुम लोगों का कल्याण हो ऐसी मेरी आप सब लोगों के लिये मनोकामना है।"

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी ! तथा अन्याय महर्षिगण ! इसके अनन्तर महामुनि अङ्गिरा ने जैसे पुनः परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का तथा उनके ज्ञान के फल का वर्णन किया, उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय—स्वरग, भूमि, आकाश, प्रान सह मन जिनि माहीं।
ओत-प्रोत है रह्यो ताहि जानो, पर नाहीं॥
छोड़ो जगकी बात अमृत सेतुहिँ अपनाओ।
चक्र माहिँ ज्यों अरा जाल नाड़ी हिय छायो॥
ध्याई हिय की गुफा में, अन्तरयामी बसहि नित।
प्रणवहिँ जपि तम पार हो, नित ताही में देउ चित॥

यह विश्व वरिष्ठ ब्रह्म ही है

[४८]

ब्रह्म वेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥*

(मु० उ० २ ख० २ मु० ११ म)

छप्पय

यही ब्रह्म सर्वज्ञ जगत महिमा सु सर्व वित।
आत्मा दिव्य प्रकाश व्योमवत ब्रह्म पुरस्थित ॥
नेता प्रान शरीर मनोमय हिये कमल थित।
अन्न प्रतिष्ठित रूप अमृत आनन्द प्रकाशित ॥
धीर लखें विज्ञान तैं, देखत हिय ग्रन्थी खुलत।
सशय सब कटि जात हैं, कर्म शुभाशुभ सब नसत ॥

परिचय दो प्रकार से दिया जाता है, एक अन्वय से दूसरा व्यतिरेक से। अन्वय का अर्थ है उसी में समन्वित कर लेना-जैसे सभी ब्रह्म ही ब्रह्म है। व्यतिरेक-यह भी ब्रह्म नहीं है, यह भी ब्रह्म नहीं है। चाहे अन्वय से परिचय दो या व्यतिरेक से

---

*ब्रह्म ही यह अमृत है। ब्रह्म ही सम्मुख है, ब्रह्म ही पीछे है। ब्रह्म ही दक्षिण ओर है, ब्रह्म ही उत्तर ओर है। ब्रह्म ही नीचे की ओर तथा ब्रह्म ही ऊपर की भी ओर फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण विश्व है यह भी सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

नोना मे ही उस ब्रह्म तत्त्व का इस प्राकृत पदार्थों से बोध हो जाता है। एक ही ब्रह्म नाना रूपों में दीख रहा है। अथवा जो भी कुछ दिखायी दे रहा है, वह उसमें पर है। जैसे किसी की कमर में म्यान में रखी तलवार लटक रही हो तो लोग यही कहेंगे, तलवार बाँधे हुए है। वास्तव में उन्हें तलवार दीखती नहीं, वह म्यान में छिपी है, किन्तु म्यान से तलवार का अनुमान लगाया जाता है। बिना तलवार के कोई म्यान क्यों लटकावेगा। आधार म्यान है, आधेय तलवार है। इसी प्रकार जगत् का आधार ब्रह्म है इसलिये यह कहना भी सत्य है, कि जो दीखता है वह ब्रह्म नहीं है और यह कहना भी सत्य है कि जो भी कुछ दिखायी दे रहा है वह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जगत् बिना ब्रह्म के निराधार रह नहीं सकता। और भगवान् योगमाया का आश्रय लेकर सबके सम्मुख प्रकाशित भी नहीं होते। वे गुहा में छिपकर बैठे रहते हैं। दोनों प्रकार से उनकी सिद्धि करनी चाहिये।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! महर्षि अङ्गिरा ने कहा—वह परब्रह्म परमात्मा सर्वज्ञ है, कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उनसे छिपी हो, वे भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सभी बातों को, सभी वस्तुओं को जानते हैं। उन्हें जो जान लेता है वह सभी को जान लेता है। सबको जानता है और सब ओर से सबको जानता है, ऐसी ब्रह्म की यह दिव्य जगत् महिमा है। वही आत्म स्वरूप है वह दिव्य आकाश स्वरूप है, ब्रह्मलोक में अर्थात् अपने लोक में—स्वस्वरूप में—वह सदासर्वदा स्थित रहता है। वह मन में व्याप्त है, मन जिसके बिना मनन करने में सर्वथा समर्थ नहीं, अतः उसे मनोमय भी कहते हैं। शरीर जिस की सत्ता के बिना हिल डुल नहीं सकता, प्राण जिसके बिना जीवन धारण नहीं कर सकते। वही

शरीरों का तथा प्राणों का नियमन करता है, अतः नेता कहलाता है। इसीलिये विद्वान् लोग उसे प्राण शरीर नेता कहते हैं। यह ब्रह्म ही प्राणियों के हृदयकमल का आश्रय लेकर अन्न में प्रतिष्ठित है। अर्थात् स्थूल शरीर की हृदय गुफा में छिपा रहता है। वैसे वह इन चमचक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु जो धीर, गम्भीर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि वाले पुरुष हैं, वे विज्ञान के द्वारा-विशेष ज्ञान से-उसे भली-भाँति देख लेते हैं, उसका साक्षात्कार कर लेते हैं। वैसे सत्ता रूप से, चैतन्य रूप से, अमृत रूप से, आनन्द रूप से, अविनाशी रूप से वह सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है।"

सूतजी ने पूछा—"इस धीर पुरुष ने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है? इसने विज्ञान के द्वारा उस परमात्मा को प्रत्यक्ष कर लिया है, इसका लक्षण क्या है? ब्रह्म साक्षात् करने वाले में अन्य लोगों से कौन-सी बात विलक्षण होती है?"

शौनकजी ने कहा—"महर्षि अंगिरा ने मुझे बताया था—जड और चैतन्य की हृदय में एक गाँठ पड़ गयी है। वह ग्रन्थि मल की-अज्ञान की-अधकार की है। तभी तो नित्य शुद्ध चैतन्य जीव इस अनित्य, क्षणभंगुर, जड शरीर में अहंता तथा संसारी नाशवान पदार्थों में ममता करने लगता है। वह जड चैतन्य की मलमय गाँठ खुल जाय, तो जीव को अपने स्वरूप का बोध हो जाय। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर-उस परात्पर प्रभु को तत्त्व से जान लेने पर-इसके हृदय की वह ग्रन्थि खुल जाती है।"

अज्ञान के कारण इस जीव को सदा सर्वत्र संशय बना रहता है। माया मोहित जीव का स्वरूप ही संशयालु होना, बात-बात में पग-पग पर इसको संशय उत्पन्न हो जाता है। किन्तु

ब्रह्म का साक्षात् हो जाने पर विज्ञान द्वारा ब्रह्म को भली-भाँति प्रत्यक्ष कर लेने पर हृदय में एक भी संशय शेष नहीं रह जाता। सम्पूर्ण संशय छिन्न भिन्न हो जाते है, जड मूल से कट जाते हैं।

माया मोहित जीव कर्मों के अधीन होकर ही बार-बार जन्मता मरता रहता है। कर्मों की शृङ्खला ऐसी सुदृढ़ है, कि वह टूटती ही नहीं। ज्यों-ज्यों प्राणी कर्मों को करता है, त्यों-त्यों यह शृङ्खला और भी कठोर होती जाती है, किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर जीव के समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते है। वह पुण्य पाप से परे होकर समस्त बन्धनों से निर्मुक्त हो जाता है। अर्थात निर्ग्रन्थ, संशय रहित और कर्म बन्धनों से विमुक्त हो जाना यही ब्रह्म साक्षात् करने वाले धीर पुरुष के लक्षण हैं।

सूतजी ने पूछा—"उस ब्रह्म का स्वरूप और स्थान के संबन्ध में हमारी पुनः श्रवण करने की इच्छा है।"

शौनकजी ने कहा—"महर्षि अंगिरा ने हमारे प्रति उसका बार-बार उपदेश किया है। उन्होंने बताया—वे परम प्रकाशमय अपने वैकुण्ठ धाम में विराजमान रहते हैं। वे सभी प्रकार के मल तथा विकारों से रहित है। जिनमे सत्त्व, रज, तम ये तीनो गुण नहीं हैं, अर्थात् जो गुणातीत हैं। संसार में १. प्राण, २. श्रद्धा, ३. आकाश, ४. वायु, ५. अग्नि, ६. जल, ७. पृथ्वी, ८. इन्द्रिय समूह ९. अतःकरण, १०. अन्न, ११. वीर्य, १२. तप, १३. मन्त्र, १४. कर्म, १५. लोक और १६. लोकादिको नाम ये १६ कलायें हैं। इन्हीं के द्वारा जगत की उत्पत्ति हुई है। भगवान् इन सोलहों कलाओं से रहित हैं अतः वे निष्कल कहलाते हैं। वे सर्वथा शुभ्र अनवद्य-विशुद्ध-है। वे प्रकाशयुक्त पदार्थ जो अग्नि, सूर्य, चन्द्रमादि हैं उनके भी प्रकाशक हैं। उनको सब कोई नहीं जान सकते।

तो तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी महापुरुष ही जानने में समर्थ हो सकते हैं। उन्हें सर्वसाधारण संसारी मनुष्य जान नहीं सकते।"

वे परब्रह्म परमात्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं, उन्हें प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं। इन प्रकाशों की उन तक पहुँच ही नहीं है। वहाँ सूर्य प्रकाश फैला ही नहीं सकता। वहाँ न चन्द्रमा तथा तारागण का ही प्रकाश है। बिजुली भी वहाँ अपनी चमक दमक नहीं दिखा सकती। जब सूर्य, चन्द्र, तारा तथा बिजुली तक की वहाँ पहुँच नहीं, तो फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या? वह तो स्वयं ही प्रकाश स्वरूप है, उसी के प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के एकमात्र आधार तो वे ही हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं के तेज से तेजस्वी बने हुए हैं।

वह ब्रह्म किसी एक स्थान में आबद्ध नहीं है वह यत्र-तत्र-सर्वत्र रहता है। वह अमृत स्वरूप है। साक्षात् अमृत ही है। वह सबके आगे आगे रहता है और पीछे की ओर भी विद्यमान है। वह दायें ओर भी है और बायें ओर भी है। वह ऊपर की ओर भी है और नीचे भी वहाँ विद्यमान है। वह सर्वत्र विस्तृत है। फैला हुआ है। ये जो दृश्यमान जगत् है, वह भी उन्हीं का स्वरूप है। वह सबसे श्रेष्ठ है। उससे ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ, त्यागी, तपस्वी, यती सब कुछ वही है। यह समस्त विश्व ब्रह्ममय ही है।

शौनकजी कह रहे हैं—'सूतजी! इस प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में बताकर अब जैसे जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में अंगिरा मुनि ने कहा था, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

निरमल निष्कल ब्रह्म हिरन्मय कोश परे नित।
शुभ्र ज्योति की ज्योति आत्मवित् हो जिनि जानत॥
रवि, शशि, तारा बिजुरि, न पहुँचत अगिनि पहुँच कहँ
जाको पाइ प्रकाश प्रकाशित सबरो जग जहँ॥
अमृत रूप परब्रह्म यह, सम्मुख पीछे अरु बगल।
ऊपर नीचे व्याप्त है, विश्व ब्रह्म ही सर्व थल॥

इति द्वितीय खण्ड समाप्त

द्वितीय मुण्डक समाप्त

तृतीय मुण्डक
(प्रथम खण्ड)

जीव परमात्मा की महिमा का अनुभव करके सुखी होता है

[४९]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य--
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥*

(मु० उ० ३ मु० १ ख० १ मं०)

छप्पय

जीव ईश तनु तरुहिँ सखा सम सग सँग निवसत ।
एक खाइ सुस्वादु करम-फल अपर न खावत ॥
ममतरु जीव निमग्न दीन बनि मोहत सोचत ।
अन्य जु सेवित ईश जानि महिमा नहिँ दुःखित ॥
जीव ईश अज लखहि जब, मल-जनक पर पुरुष कूँ ।
पुन्य पाप मल रहित तब, पावै प्रभु के साम्य कूँ ॥

---

* दो सुन्दर पंख वाले पक्षी समान रूप से सखा भाव से एक ही साथ वृक्ष पर रहते हैं । उन दोनों में से एक तो उस पीपल के पेड़ के फलों को स्वाद लेकर खाता है, दूसरा बिना फल खाये केवल साक्षी रूप में देखता रहता है ।

यह ससार रूप पीपल का वृक्ष है। पीपल का वृक्ष कहने का भाव यह है, कि जसे पीपल की पूजा तो करो किन्तु उसको स्पर्श मत करो। क्योंकि इसमे दरिद्रता देवी रहती है। दरिद्रता कहते है अभाव को। ससार को स्पर्श करके ससारी माया में फँसकर आज तक कोई ऐसा नहीं हुआ, जिसे कोई न कोई अभाव न बना रहा हो। ससार म लाभ से लोभ बढा करता है। लोभ इतना शीघ्रगामी है, कि इसको कितना भी आहार दो तुरन्त उसे चट कर जाता है, फिर उससे दूना और माँगता है। इसलिये इस ससार तरु को–पीपल के वृक्ष को छूओ नहीं, दूर से ही इसे नमस्कार करो। यदि छूना ही हो, तो जब इसमे परब्रह्म परमात्मा की पत्नी श्रीदेवी आ जायँ तो उस समय शनैः शनैः चलकर शनिश्चर के अवसर पर माँ की गोद मे बैठकर इसे स्पर्श करो। उस समय विष्णु का आश्रय लेने वाले तुम वैष्णव श्री सम्पन्न होकर इसे छू सकते हो। श्री बिना इसे स्पर्श मत करो। भूल से स्पर्श कर लोगे तो दरिद्रता देवी–लोभ की जननी तुम्हारे सिर पर चढ बैठेगी। तुम श्री हीन हो जाओगे। अतः इस ससार तरु को–पीपल के वृक्ष को–स्पर्श न करो।

दूसरी बात इस पीपर के फल में पिप्पली के भीतर कीडे बहुत रहते हैं, भूल से इसके फल को तुम खाओगे, तो पाप के भागी बन जाओगे अतः पीपल की छाया में बैठो, उसे नमस्कार भी करो, किन्तु इसे स्पर्श न करो इसके फलों को न खाओ। दो बात न करोगे, तो जो इस वृक्ष का ईश है–स्वामी है–जिसने इसे पैदा किया है या जो स्वय ही वृक्ष रूप म बन गया है, वह तुम्हारा सच्चा सुहृद बन जायगा। फल खाने से जो अशाति हो जाती है, उस अशाति से–पाप से–तुम बचकर परम शाति को प्राप्त कर लोगे। उसके सदृश गुणों वाले ही बन जाओगे। यदि उसकी

सारा को न मानकर श्री के बिना इसका स्पर्श कर लोगे, फलों का लाभवश भक्षण कर लोगे, तो तुम श्री हीन, अशान्त तथा शोक मग्न बन जाओगे।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! महर्षि अङ्गिरा ने बताया-कि जीव को ब्रह्म प्राप्ति के निमित्त कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। परब्रह्म परमात्मा तो जीव का सनातन साथी है, सच्चा सुहृद है, साथ ही साथ एक घोंसले में रहने वाले दो पक्षियों के समान है। एक ही घोंसले में–हृदयरूपी गुफा में–ये दोनों धूप और छाया के समान साथ ही साथ रहने वाले हैं। देखो, यह शरीर क्या है, अश्वत्थ का एक वृक्ष है। अश्वत्थ का अर्थ है जो कल भी रहे या न रहे, जिसका अगले क्षण भी रहने का विश्वास न हो उसी को अश्वत्थ कहते हैं।" (श्वोऽपि स्थास्यति इति विश्वास अनर्हत्वात् च=अश्वत्थ–मायामयः संसार वृक्षः। अथवा अश्वत्थवत् काम कर्म वातेरित नित्यप्रचलित स्वभावात्)

यह शरीर भी क्षणभंगुर है। अतः इस शरीर को अश्वत्थ की उपमा दी। उस वृक्ष के कोटर में दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों पक्षी ऐसे नहीं हैं, कि उनके पंख कटे हुए हों जो वृक्ष टूट जाने पर उड़ न सकें। उन दोनों के पंख सुन्दर हैं, शक्तिशाली हैं। उन दोनों में इतना स्नेह है, कि दोनों साथ ही साथ रहते हैं। परस्पर में दोनों में मैत्री है, सौहार्द है, सख्य भाव है। दोनों में कभी लड़ाई नहीं होती। दोनों लड़ झगड़कर बटवारा करके पृथक्-पृथक् वृक्ष पर अपने पृथक्-पृथक् घोंसले बना लें सो भी बात नहीं है। दोनों बड़े प्यार दुलार से एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। दोनों में बहुत साम्यता है, किन्तु एक ही दोनों में विषमता है। उनमें से एक तो लालचवश उस वृक्ष के सुस्वादु फलों को स्वाद ले लेकर खाता रहता है अर्थात् उस वृक्ष के फलों के

स्वाद में लिप्त हो जाता है। दूसरा उसी वृक्ष पर रहता है, सुन्दर पके फलों को देखता भी है, किन्तु उनका उपभोग नहीं करता, उन्हें खाता नहीं। केवल साक्षी बनकर बिना खाये हुए बैठे-बैठे देखता रहता है। उनमें न लालच करता है न आसक्ति ही करता है।

सूतजी ने पूछा—"फल खाने से उसकी हानि क्या होती है?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, देखिये! यद्यपि दोनों ही एक स्थान पर बैठे हैं, वृक्ष समान ही है, किन्तु वह फल खाने वाला पक्षी-जीवात्मा पुरुष-चिन्ता में निमग्न बना रहता है।"

सूतजी ने पूछा—"चिन्ता किस बात की?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जो खाता नहीं वह तो निश्चिन्त रहता है, किन्तु खाने से अनेकों प्रकार की चिन्तायें आकर घेर लेती हैं। फल मिलेगा या नहीं, कैसे मिलेगा, कहाँ मिलेगा, न मिला तो क्या होगा? भोक्ता तो भोजन के अधीन हो जाता है, अपने को परवश अनुभव करने लगता है। जो वस्तु प्राप्त करने में अपने को असमर्थ समझता है, वह रोगी की भाँति, अत्यन्त वृद्ध की भाँति अपने को दीन समझने लगता है। मोह में निमग्न होकर सदा सोचता ही रहता है। चारों ओर से शोक मोह उसे घेर लेता है।"

सूतजी ने पूछा—"उसका शोक मोह कभी छूट भी सकता है?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ छूट क्यों नहीं सकता, जब यह परम पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तभी यह शोक मोह से छूट सकता है।"

सूतजी ने कहा—"कैसा है वह परब्रह्म?"

शौनकजी ने कहा—"वह अकर्ता है, फिर भी सबका स्वामी है, ईश है, शासनकर्ता है। यद्यपि वह कार्य कारण से रहित है, फिर भी जगत् की सृष्टि करने वाले लोकपितामह ब्रह्मयोनि हैं ब्रह्मा की उत्पत्ति के वे ही आदि कारण हैं। यद्यपि वे संसार से परे है, फिर भी इस सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र कर्ता हैं। यद्यपि वे तम और प्रकाश दोनों से परे हैं, फिर भी दिव्य परमप्रकाश स्वरूप हैं, ऐसे उन परम पुरुष पुरुषोत्तम को जब जीवात्मा प्रत्यक्ष कर लेता है, तब कर्म बन्धनों से विमुक्त बन जाता है, फिर वह न पुण्य कर्मों मे बँधता है और न पाप कर्मों मे लिप्त ही होता है। पुण्य तथा पाप दोनों से ही निर्मुक्त होकर अञ्जन से रहित, मल से मुक्त बनकर निर्मल होकर सर्वोत्तम सत्ता को प्राप्त कर लेता है, फिर वह अज्ञानी बद्ध जीव न होकर विद्वान ज्ञानी महात्मा निर्द्वन्द्व बन जाता है।"

सूतजी ने पूछा—"जिसने परम पुरुष परमात्मा के दर्शन कर लिये हैं, जिसे परमात्म साक्षात्कार हो चुका है, उसके लक्षण क्या हैं?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, यह जो प्राणियों मे—सम्पूर्ण भूतों मे—प्राण रूप से प्रकाशित हो रहा है, वह परब्रह्म ही है। अज्ञानी लोग उसे जानते नहीं, पहिचानते नहीं, देखते नहीं। जो ज्ञानी विद्वान पुरुष—इस परब्रह्म के यथार्थ रहस्य को जान लेता है, उसे एक तो अभिमान नहीं होता। प्राणी जो अभिमानपूर्वक बहुत बढ़कर बक-बक करता है, यह मैंने किया, मैं ऐसा कर डालूंगा, वह मेरी उन्नति मे कंटक था, उसे तो मैंने घाट उतार दिया—मार दिया—अब जो और मेरे कार्यों मे विघ्न करने वाले हैं, उनका भी मैं अन्त कर दूंगा। इस प्रकार की बकवाद अज्ञान मूलक है। अज्ञानी पुरुष ही ऐसी बढ़-बढ़कर बातें किया करते हैं। जिन्हें

ज्ञान हो गया है, जिन्होंने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया है, वे अतिवाद-वक्वाद- से सदा दूर रहते हैं कभी बढ़-बढ़कर व्यर्थ की बातें नहीं करते।"

वह क्रियावान होता है-यज्ञ, दान, तपस्यादि क्रियाओं में निष्काम भाव से लगा रहता है। उसे क्रीडा करने के लिये बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी आत्मा के ही साथ अपने इष्टदेव परमात्मा के ही साथ सदा सर्वदा क्रीडा करता रहता है। उस रति के निमित्त-रमण करने के लिये-बाह्य रमणी की आवश्यकता नहीं होती, वह अन्तरात्मा परमात्मा के ही साथ सदा सर्वदा क्रीडा करता रहता है। उसी की रति में निरत रहता है। ऐसा परम पुरुष को देखने वाला-आत्म साक्षात्कार प्राप्त भगवत् भक्त ब्रह्मवेत्ताओं में भी वरिष्ठ-श्रेष्ठ-विशिष्ट होता है। अतः उस ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त विद्वान के प्रधानतया चार लक्षण हैं। १. एक तो वह बढ़ बढ़कर बड़ी बड़ी बातें नहीं बघारता २. दूसरे वह बाग बगीचों में क्रीडा न करके आत्मा में ही क्रीडा करता है। ३. तीसरे उसे रति के लिये माला, चन्दन, वनितादि की अपेक्षा नहीं रहती, अपनी आत्मा में ही रति करके सन्तुष्ट रहता है। ४. चौथे वह क्रियावान् होता है। अपनी शक्ति के अनुसार पितृ यज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, और नृयज्ञादि यज्ञ कर्मों को, अन्न दानादि दानों को, एकादशी आदि व्रत रूप तपों को करता रहता है।

सूतजी ने पूछा—'वह परब्रह्म किन साधनों से प्राप्त होता है?"

शौनकजी ने कहा—"अंगिरा मुनि ने मुझे बताया भगवान तो कृपा साध्य हैं, वे अपनी अहेतुकी कृपा द्वारा ही जीवों को प्राप्त होते हैं। फिर उनकी कृपा की परीक्षा करते हुए सदा-सर्वदा

सत्य का ही आचरण करते रहना चाहिये। सदा तपस्या में ही संलग्न रहना चाहिये। दृढ़ता से नियमपूर्वक नित्य ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते रहना चाहिये। जो इन शुभ कर्मों को करते हुए केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है वह सम्यक् ज्ञान से सदा प्राप्त होने वाले उन परम पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है। सब कोई-सर्वसाधारण जन-उसे प्राप्त नहीं कर सकते।"

सूतजी ने पूछा—"सब प्राप्त नहीं कर सकते, तो कौन लोग प्राप्त कर सकते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"मुझे अंगिरा मुनि ने बताया कि इस शरीर के ही भीतर अन्तर्यामी रूप से रहने वाले ज्योतिर्मय-प्रकाश स्वरूप परम विशुद्ध परमात्मा को यति लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"यति किसे कहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"जो सदा सर्वदा-भोगों के लिये नहीं-केवल मोक्ष के लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं। जिसके समस्त कार्य संसार से विमुक्त होने के निमित्त-परमात्मा के साक्षात्कार के ही निमित्त-होते हों उसे यति कहते हैं (यतते-चेष्टते मोक्षार्थं इति=यतिः)। उसे साधु, सन्यासी, त्यागी, विरागी कुछ भी कह लो। ऐसे जो क्षीण दोष यति हैं, जिनके समस्त दोष निर्बल-नाश-अथवा क्षीण हो गये हैं ऐसे निरन्तर यत्न करने वाले लोग ही यति नाम से पुकारे जाते हैं, वे ही परब्रह्म को देख सकते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्म प्राप्ति का एक सर्वोत्कृष्ट साधन बता दीजिये जिससे सरलतापूर्वक ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मेरे गुरुदेव भगवान् अंगिरा

मुनि ने सत्य को ही सर्वश्रेष्ठ सुलभ साधन बताया है। जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

प्राण रूप परमात्म प्रकाशत सब भूतनि तैं।
जो जन जानत जाइ दूर रह अभिमाननि तैं॥
करै न बढ़ि बढ़ि बात करम प्रभु प्राप्ति करत नित।
ब्रह्म विदनिमहँ श्रेष्ठ आत्मक्रीडा सु आत्मरत॥
अन्त देह में बसत नित, शुभ्र ज्योतिमय पुरुष-पर।
ब्रह्मचर्य सत ज्ञान तैं, लखें दोष-क्षय यति प्रवर॥

सत्य का ही आचरण करते रहना चाहिये। सदा तपस्या में ही संलग्न रहना चाहिये। दृढ़ता से नियमपूर्वक नित्य ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते रहना चाहिये। जो इन शुभ कर्मों को करते हुए केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है वह सम्यक् ज्ञान से सदा प्राप्त होने वाले उन परम पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है। सब कोई–सर्वसाधारण जन–उसे प्राप्त नहीं कर सकते।"

सूतजी ने पूछा–"सब प्राप्त नहीं कर सकते, तो कौन लोग प्राप्त कर सकते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"मुझे अंगिरा मुनि ने बताया कि इस शरीर के ही भीतर अन्तर्यामी रूप से रहने वाले ज्योतिर्मय–प्रकाश स्वरूप परम विशुद्ध परमात्मा को यति लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"यति किसे कहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"जो सदा सर्वदा-भोगों के लिये नहीं-केवल मोक्ष के लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं। जिसके समस्त कार्य संसार से विमुक्त होने के निमित्त–परमात्मा के साक्षात्कार के ही निमित्त–होते हों उसे यति कहते हैं (यतते-चेष्टते मोक्षार्थं इति=यतिः)। उसे साधु, सन्यासी, त्यागी, विरागी कुछ भी कह लो। ऐसे जो क्षीण दोष यति हैं, जिनके समस्त दोष निर्बल–नाश–अथवा क्षीण हो गये हैं ऐसे निरन्तर यत्न करने वाले लोग ही यति नाम से पुकारे जाते हैं, वे ही परब्रह्म को देख सकते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्म प्राप्ति का एक सर्वोत्कृष्ट साधन बता दीजिये जिससे सरलतापूर्वक ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मेरे गुरुदेव भगवान् अंगिरा

मुनि ने सत्य को ही सर्वश्रेष्ठ सुलभ साधन बताया है। जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

प्राण रूप परमात्म प्रकाशित सब भूतनि तैं।
जो जन जानत जाइ दूर रह अभिमाननि तैं॥
करै न बढ़ि बढ़ि बात करम प्रभु प्राप्ति करत नित।
ब्रह्म विदनिमहँ श्रेष्ठ आत्मक्रीडा सु आत्मरत॥
अन्त देह में बसत नित, शुभ्र ज्योतिमय पुरुष-पर।
ब्रह्मचर्य सत ज्ञान तैं, लखै दोष-क्षय यति प्रवर॥

ब्रह्म ही सर्वत्र परिपूर्ण है

[५०]

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपम्,
सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तदिहन्तिके च:
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥*
(प्र० उ० ३ मु० १ ख० ७ म०)

छप्पय

होइ सत्य की विजय झूठ की कबहुँ विजय नहिं ।
देवयान पथ पूर्ण सत्यतैं जाइँ ऋषिहु तिहिं ॥
वहीं सत्य परधाम ब्रह्म वह दिव्य बृहत अति ।
और सूक्ष्म तैं सूक्ष्म प्रकाशित सबकी नहिं गति ॥
अति समीप अति दूर है, देखत साधक कृपा प्रभु ।
दरसक के भीतर रहत, बसत गुफा हिय सतत विभु ॥

एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, यह जो दृश्यमान् जगत् है वह मिथ्या है, असत् है, नाशवान् है। यदि तुम जगत् का आश्रय

---

* वह परब्रह्म बृहत् है, दिव्य है, अचिन्त्य है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर में प्रकाशित होता है। वह दूर से भी अत्यन्त दूर रहकर भी समीप से भी समीप है। इस जगत् में देखने वालों के अन्दर हृदय की गुफा में सन्निहित है।

लोगे, तो तुम्हारी पराजय हो जायगी। अर्थात् तुम सदा जन्म-मरण के चक्कर म फँसे रहकर इस ससार में ही बँधे रहोगे। दूसरों के अधीन होकर रहना यही पराजय है। किसी के अधीन न होकर सर्व स्वतन्त्र होकर रहना यही विजय है। जीव जब तक इन्द्रियों के, अन्त करण के, विषय वासनाओं के अधीन है तब तक उसकी जय कहाँ ? उसे तो सब समय सशय मे ही बिताना पडता है। जब जीव विषयों से इन्द्रियों से, अन्तःकरण से प्रकृति की परिधि से बाहर हो जाता है इनके अधीन नहीं रहता, तभी समझो उसने विजय प्राप्त कर ली, वह सभी प्रकार के बन्धनों से विमुक्त हो गया। इसलिये ससारी प्रलोभनों को त्यागकर सतत ब्रह्म प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील बने रहना चाहिये। यही विजय कारक निष्कटक सुपथ है। इसके अतिरिक्त विजय प्राप्त करने का दूसरा मार्ग नहीं है।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी ! महर्षि अगिरा ने मुझे बताया—विजय सत्य की ही होती है, अनृत की-असत्य की-विजय कदापि नहीं होती। ससार में दो ही मार्ग हैं, एक देवयान मार्ग, एक पितृयान मार्ग, उन्हें ही शुक्ल मार्ग, कृष्ण मार्ग, धूम मार्ग, दीप्ति मार्ग भी कहते हैं। जो सत्य मार्ग के उपासक हैं, आप्त काम-पूर्ण काम ऋषि महर्षि हैं वे देवयान मार्ग द्वारा जाते हैं, उस मार्ग से जाकर वे उस स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ सत्य स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट दिव्य धाम है। उस सत्य मार्ग से, जाने वाला साधक लौटकर इस मर्त्यलोक मे नहीं आता। किन्तु जब पितृयान मार्ग से जाते हैं उनका अनृत से-जगत् से-कुछ सम्बन्ध बना रहता है, अतः वे पुण्य लोकों में पुण्यों का उपभोग करके पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः इसी लोक में आ जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"देवयान और पितृयान का मार्ग कैसा है? इसका कुछ वर्णन हमें सुनाइये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इन दोनों का वर्णन भिन्न-भिन्न पुराणों में, महाभारत में, उपनिषदों में गीतादि शास्त्रों में भिन्न-भिन्न नाम से किया गया है। गीताजी में इसे शुक्ल मार्ग और कृष्ण मार्ग कहा है, कहीं धूम मार्ग और दीप्ति मार्ग कहा है। छान्दोग्यउपनिषद् में देवयान मार्ग से जाने वाले साधक के सम्बन्ध में कहा गया है-जो भगवद् उपासक हैं, मरने पर उनके मृतक शरीर का कोई अन्त्येष्टि क्रिया करे या न करे वह देवयान मार्ग से अर्चि को प्राप्त होता है। दीप्ति कहो, अग्नि कहो, अर्चा कहो, प्रकाश कहो सब एक ही बात है। अर्थात् पहिले उसे अग्नि के अभिमानी देवता अग्निलोक में पहुँचाते हैं, फिर दिन के अभिमानी देवता उसे ले जाते हैं, फिर क्रम से शुक्लपक्ष के देवता, उत्तरायण के ६ मासों के देवता, फिर सम्वत्सराभिमानी देव, आदित्य-लोक के अभिमानी देव, चन्द्रलोक के अभिमानी देव, फिर विद्युत लोक में उसे ले जाते हैं, वहां से वह ब्रह्म को प्राप्त होता है, फिर लौटकर नहीं आता। इस मार्ग को अपुनरावृत्ति मार्ग कहते हैं।"

इसके विपरीत जो पितृयान मार्ग है, जिसे कृष्ण मार्ग, धूम्र मार्ग आदि भी कहते हैं। उसे पहिले धूमाभिमानी देवता ले जाते हैं, फिर क्रम से रात्रि-अभिमानी देव, कृष्ण पक्षाभिमानी देव, दक्षिणायन के-अभिमानी देव, फिर क्रम से चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर अपने पुण्य कर्मों के अनुसार स्वर्गादि पुण्य लोकों में जाकर दिव्य सुखों का उपभोग करता है और पुण्य क्षीण होने पर पुनः इसी असत् लोक में जन्म लेकर कर्मानुसार नाना योनियों में जन्म लेता है। अतः सत्य का ही अनुसरण करना

चाहिये। जिससे देवयान मार्ग द्वारा जाकर पुन इस असत् संसार में न लौटना पड़े। ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाय। उस ब्रह्म के सम्बन्ध में भगवान् अंगिरा महर्षि ने मुझे बारम्बार बताया। उन्होंने कहा—"वह परब्रह्म परमात्मा बृहद् है, महान् से महान् है, दिव्यातिदिव्य है। उसको मन के द्वारा चिन्तना नहीं की जा सकती, अत: उसे अचिन्त्य रूप कहा गया है। संसार में जितनी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुयें हैं, उन सबसे भी वह अत्यन्त सूक्ष्म-सूक्ष्मतर है। वह अन्धकारमय हो सो भी बात नहीं। इतना सूक्ष्मतर होने पर भी वह प्रकाशित हो रहा है। वह जितनी भी दूरी की कल्पना की जा सकती है, उस कल्पनातीत दूरी से भी दूर है। फिर भी इसी शरीर में रहकर अत्यन्त समीप भी है। जो साधक उसे देखना चाहते हैं, उसका साक्षात्कार करना चाहते हैं, उन्हें उसे खोजने के निमित्त दूर नहीं जाना पड़ेगा, उन्हें अपने ही शरीर की हृदय रूपी गुफा में स्थित वह मिल जायगा।"

सूतजी ने पूछा—"कैसे मिल जायगा? दीखने लगेगा?"

शौनकजी ने कहा—"दीखने तो लगेगा, किन्तु इन चर्म चक्षुओं से दिखायी न देगा। वाणी यदि उसका निर्वचन करना चाहे तो निर्वचन नहीं कर सकती। वाणी ही क्या कोई भी इन्द्रिय चाहे वह कर्म इन्द्रिय हो या ज्ञान इन्द्रिय। बाह्य इन्द्रिय हो या अन्त. इन्द्रिय। वह इन्द्रियातीत है, इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं। तुम चाहो, कि केवल तपस्या द्वारा ही उसे प्राप्त कर लें, तो यह असम्भव है। अथवा तुम चाहो कि केवल यज्ञ दानादि शुभ कर्मों के ही द्वारा उसे प्राप्त कर लें तो भी असम्भव है। उस निर्मल निष्कल-अवयव रहित-परब्रह्म परमात्मा को तो ज्ञान प्रसाद से-ज्ञान स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के प्रसाद से-उनकी प्रसन्नता से

कृपा से-उसे वही साधक प्राप्त कर सकता है-देख सकता है-जो विशुद्ध सत्त्व वाला हो-जिसका अन्तःकरण निरन्तर की उपासना से विशुद्ध बन गया हो। जो निरन्तर उन्हीं का ध्यान करता रहता हो।"

सूतजी ने पूछा—"वह परब्रह्म प्राणिमात्र की हृदय गुफा में रहता है या केवल उसका भजन करने वाले जो साधक हैं उन्हीं के हृदय मे वास करता है ?"

शौनकजी ने कहा—"वह परब्रह्म परमात्मा तो सबके हृदय मे-प्राणी मात्र के हृदय मे-रहता है। वह तो अन्तर्यामी सर्व व्यापक है।"

सूतजी ने पूछा—"यदि वह सर्वव्यापक है तो विशुद्ध अन्तःकरण वाले साधकों को ही क्यों दिखायी देता है। सभी को उसका साक्षात्कार होना चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"देखिये, जिस व्यक्ति ने कंठ पर्यन्त गंदा जल पी लिया है, वह सम्मुख रखे हुए गंगाजल की इच्छा नहीं करता। जिसने आवश्यकता से अधिक कोदों आदि अन्न को ठूँस-ठूँसकर पेट में भर लिया है, जिसे खट्टी-खट्टी डकारें आ रही हैं। उसके सम्मुख भगवान् का प्रसादी मोहन भोग ही रखा हो, तो वह उसकी इच्छा न करेगा। गंगाजल की इच्छा तो वही करेगा जो प्यासा हो, जिसे खाने की इच्छा हो, जिसे भूख लगी हो, वही प्रेमपूर्वक भगवत प्रसाद पावेगा।"

इस शरीर में प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पाँच भेदों में प्राण प्रविष्ट होकर जीवन संचार कर रहा है। उसी शरीर में वह अणु रूप में, अत्यन्त सूक्ष्म रूप में जीवात्मा भी निवास करता है। वह देखा नहीं जा सकता। केवल मन के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है-जाना जा सकता है-वह

जीवात्मा समस्त प्राणियों के सबके चित्त तथा प्राणों में ओत प्रोत है। इन प्राणों में तथा इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों मे नाना वासनायें भरी हुई हैं। जीव तो उन वासनाओं की पूर्ति के लिये ही अहर्निश प्रयत्नशील है। जिस अन्तःकरण मे विषय वासना भरी हुई हैं उसमें भगवान् को देखने का—परमात्मा के साक्षात्कार का—स्थान ही कहाँ है। जब अन्तःकरण का कचरा दूर हो। मन निर्मल हो। हृदय की गुफा वासनाओं से खाली हो तभी तो उसमें ब्रह्म का प्रकाश होगा। अतः जिन महात्माओं का अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, उसी मे परमात्मा का प्रकाश होता है। अतः ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष ही धन्य हैं।

सूतजी ने पूछा—"ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले महात्मा किन लोकों मे जाते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अंगिरा मुनि ने बताया था, कि जिनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, ऐसे विशुद्ध सत्त्व भगवत्भक्त ज्ञानी पुरुषों का कोई लोक निश्चित नहीं। वे मन से जिस-जिस लोक की इच्छा करते हैं। जिस लोक मे जाने का संकल्प उनके मन में उठता है, चिन्तन करते ही उन्हें उस लोक की प्राप्ति हो जाती है। वे जिस-जिस भोग की दिव्य-अदिव्य जैसी वस्तु की अभिलाषा करते हैं, उन-उन वस्तुओं को तुरन्त प्राप्त कर लेते हैं, जिस लोक मे जाना चाहे उस लोक को उसी क्षण विजय कर लेते हैं। वह अपने ही लिये नहीं जिसको चाहे उसे भोग ऐश्वर्य दिला सकते हैं। अतः जो अपना ऐश्वर्य चाहता हो, कल्याण चाहता हो उसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले आत्मज्ञानी महात्मा का अर्चन करना चाहिये, स्वागत सत्कार करना चाहिये। उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणामादि करके प्रणिपात करना चाहिये। उनकी पूजा से परमात्मा प्रसन्न होते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"क्या विशुद्ध अन्तःकरण वाले ज्ञानी पुरुष माला, चन्दन, स्त्री आदि सांसारिक भोगों को भी दे सकते हैं। वे स्वय भी उनका उपभोग कर सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"यदि उनकी कोई कामना शेष है, तो वे इन भोगो को भी भोग सकते हैं, दूसरो को भी दे सकते हैं। किन्तु इन भोगों के प्रति अपने लिये या दूसरों के लिये आदर देना उचित नहीं। भोगों की इच्छा तो बन्धन का कारण है। इस विषय में मुझे जो भगवान् अगिरा मुनि ने उपदेश दिया है, उस सकाम और निष्काम भाव वाले वृत्त को मैं आप सबसे आगे कहूँगा। आशा है आप सब इस अन्तिम पावन प्रसंग को श्रद्धा भक्ति और एकाग्रता के साथ सुनेंगे, क्योंकि इस उपनिषद् का सार सिद्धान्त इसी द्वितीय खण्ड के तृतीय मुण्डक में निहित है।"

छप्पय

वाक, चक्षु अरु अपर करन नहिँ ग्रहन करहिँ जिनि।
मिलें न तप शुभ करम, ज्ञान परसाद लखें तिनि॥
पच प्रान तन रहत सूक्ष्म आत्मा लखि शुध चित।
ओत प्रोत तन प्रान शुद्ध हियमहँ प्रभु निभरत॥
वे विशुद्ध मन जिनि चहैं, उन उन लोकनि जाइँगे।
श्री कामी आत्मज्ञ की, पूजा करि सुख पाइँगे॥

—(॥)—

परमात्मा कृपासाध्य हैं, साधनसाध्य नहीं

[५१]

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो-
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥❀
(मु० उ० ३ मु० २ ख० ३ म०)

छप्पय

विश्व निहित जिहि परम शम्भु वह परमधाम वर ।
जो अकाम करि ध्यान धीर जग लाँघि जाइँ नर ॥
भोग कामना करें भोगथल पुनि पुनि जनमत ।
जो होवें निष्काम कामना तजि नहिँ लौटत ॥
धी, श्रुत, प्रवचनतें कबहुँ, बल प्राप्त होवै नहीं ।
स्वीकारें जाकूँ सदय, प्रकट होइ ताकूँ तहीं ॥

भगवान् साधनसाध्य नहीं, वे कृपासाध्य है, किस जीव पर वे कब कृपा कर देते है, इसका कोई नियम नहीं । कृपा करने

❀ यह आत्मा प्रवचनो द्वारा प्राप्य नही है और न बुद्धि से, न बहुत श्रवण करने से ही लभ्य है । यह परब्रह्म परमात्मा जिसे अपना कहकर वरण कर लेता है—जिसे कृपा करके स्वीकार कर लेता है—उसी के द्वारा प्राप्त होता है, फिर उसी के सम्मुख अपने तनु को प्रकट कर देता है ।

किसी पर जाते हैं, वास्तव में अनायास दूसरों को कृतार्थ कर देते हैं। भगवान् महाभारत के पश्चात् द्वारकापुरी जा रहे थे, बीच में उतङ्कमुनि का आश्रम मिला, भगवान् उन्हें कृतार्थ करने उनके आश्रम पर पहुँच गये। मुनि ने पूछा—"वासुदेव! आप कौरव पाण्डवों में सन्धि कराने दूत बनकर गये थे उन दोनों में सन्धि हो गयी क्या?"

मुनि का प्रश्न सुनकर भगवान् हँस और बोले—"भगवन्! उन लोगों ने मेरी बात मानी ही नहीं। इसलिये महाभारत युद्ध हुआ। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र मारे गये, उनकी समस्त सेना युद्ध में मर गयी। सेना का विनाश तो पाण्डवों का भी हुआ, किन्तु वे विजयी हुए। धर्मराज का राज्यसिंहासन पर अभिषेक कराकर अब मैं द्वारका जा रहा हूँ। मार्ग में आपका आश्रम दिखायी दिया, अतः आपके दर्शनों के लिये चला आया।"

प्रतीत होता है मुनि दुर्योधन के पक्षपाती रहे होंगे। कौरवों के वंश नाश से उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे बोले—"वासुदेव! आप सर्वसमर्थ हैं आप चाहते तो सन्धि अवश्य हो जाती, किन्तु सामर्थ्यवान होने पर भी आपने कौरवों के कुल का नाश करा दिया अतः मैं आपको शाप देता हूँ, आपके भी कुल का इसी प्रकार परस्पर में लड़कर विनाश हो जाय।"

भगवान ने कृपा प्रदर्शित करते हुए कहा—"मुनिवर! आपको अपनी तपस्या का बड़ा अभिमान है, मुझ निरपराधी को आपने इतना भारी दारुण शाप दे दिया, मैं चाहूँ तो बदले में आपको भी शाप दे सकता हूँ, किन्तु मैं शाप न देकर वर ही दूँगा, आप कोई वर मुझसे माँग लें।"

मुनि ने कहा—"इधर जल का अत्यन्त अभाव है, आप ऐसी कृपा कर, कि यहाँ जल का अभाव न रहे।" भगवान् ने

तुरन्त मेघों को आज्ञा दी, वर्षा हो गयी और बोले—"आज से ये मेघ आपके ही नाम से प्रसिद्ध होंगे। आप जहाँ चाहेंगे, वहीं तुरन्त वर्षा हो जाया करेगी। आपको अब से जल का अभाव न रहेगा।" तभी से उन मेघों का नाम उतङ्क मेघ पड़ गया जो मारवाड़ में अब भी वर्षा करते हैं। भगवान जा तो रहे थे द्वारकावासियों पर कृपा करने, बीच में अनायास मुनि पर कृपा कर दी।

मिथिला, जानकीजी पर कृपा करने उसे अपनाने को जा रहे थे, बीच में सब प्रकार से असमर्थ केवल कृपा की ही प्रतीक्षा करती हुई—पाषाण बनी—अहिल्या पर भगवान ने कृपा कर दी। उसका उद्धार कर दिया।

जा रहे थे जानकीजी को दर्शन देने। बीच में सब साधनों से हीन, हीन जाति शबरी जो नित्य प्रति प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा में ही बैठी थी, जानकीजी से पूर्व उसे ही अपने दर्शन दिये, उसी पर अहैतुकी कृपा की।

भगवान कब किस पर कृपा करते हैं, कब किसे अपना कहकर वरण करते हैं, इसका कोई नियम नहीं। अतः यथाशक्ति साधन करते रहो, किन्तु अपने साधनों पर अभिमान मत करो। भगवान की कृपा पर विश्वास रखो। दण्डकारण्य के ऋषिगण अपने साधनों का ही अभिमान किये बैठे थे। हम सबसे बड़े तपस्वी हैं, राम सबसे पहिले हमारे यहाँ आवेंगे। हम सबसे भारी विद्वान् हैं, हमारी विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर राम सबसे पहिले हमारे यहाँ आवेंगे। हम सबसे अधिक कर्मिष्ठ सदाचारी हैं, यज्ञकर्ता हैं, राम हमारे यहाँ अवश्य आवेंगे। किन्तु राम इनमें से किसी के यहाँ नहीं गये। गये सबसे पहिले शबरी की कुटी पर। इसी से सिद्ध होता है, राम साधनसाध्य

नहीं कृपासाध्य हैं, अहर्निशि उनकी कृपा की ही–अनुकम्पा ही की–सुसमीक्षा करते रहो–तन्मय होकर उसी की प्रतीक्षा करते रहो।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ऐश्वर्य की कामना वालों को विशुद्ध सत्त्व महापुरुषों की पूजा तो करनी चाहिये, किन्तु सकाम भाव से–हमारी भोगों की कामना से–उनकी पूजा करना उचित नहीं। क्योंकि इस संसार में है क्या ? रज और वीर्य का सम्मिश्रण है। यह जगत् रज वीर्य के सम्मिश्रण से बना है, यदि तुम उन्हीं रज वीर्य सम्बन्धी सुखों के लिये समुत्सुक हो, तो तुम्हें वे सुख भी मिल जायँगे, किन्तु इस संसार सागर का अतिक्रमण नहीं कर सकोगे। इसी में डूबने उछलते रहोगे। जन्म मृत्यु के चक्कर में फँसकर बार-बार मरते और उत्पन्न होते रहोगे। यदि तुम संसारी कामनाओं का परित्याग करके निष्कामभाव से इस शुभ्र सत्त्व सम्पन्न, प्रकाशमान परब्रह्म के ब्रह्मधाम को जान लोगे, जिस धाम में यह सम्पूर्ण विश्व निहित है, उसी में स्थित होकर प्रतीत होता है तब तुम जन्म मरण के चक्कर से सदा के लिये छूट जाओगे। यदि तुम अकाम होकर–निष्कामभाव से उसकी उपासना करोगे तो तुम धीर-वीर पुरुष कहलाओगे और इस संसार रूप सागर का अतिक्रमण कर जाओगे। संसार के उस पार परमधाम, ब्रह्मधाम में प्राप्त हो जाओगे।"

सूतजी ने पूछा—"निष्काम भाव वालों की गति तो आपने बता दी, किन्तु जो सकाम भाव से परब्रह्म की उपसना करते हैं, उनकी क्या गति होगी ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप ही सोचिये चक्रवर्ती राजा की उपासना करके उससे धान की भूसी की याचना करना क्या उचित है ? परमात्मा तो भोग मोक्ष दोनों ही देने में समर्थ हैं। जो सकामी पुरुष संसारी विषय भोगों को ही श्रेष्ठ मानते हैं,

उन्हीं की कामना के निमित्त उपासना करते हैं, तो वे जो-जो कामनायें करते हैं, उन्हें वे-वे वस्तुएँ प्राप्त होती हैं उनका जन्म उनकी भावना के अनुसार वसे-वस स्थानों में ही होता है, जहाँ उनकी कामना की वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें। वे भोग चाहे लौकिक हों। या स्वर्गादि लोकों के दिव्य विषय सुख हों। वे वासनाओं में बँधे होने के कारण बार-बार जन्म लेते हैं, बार-बार मरते रहते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"जिनकी संसार की कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं, उनकी क्या गति होगी ?"

शौनकजी ने कहा—"बन्धन का कारण तो कामनायें ही हैं। यद्यपि बिना कामना के शरीर प्राप्त नहीं होता। किन्तु जिनका अन्तःकरण विशुद्ध हो चुका है ऐसे कृतात्मा पुरुष की सम्पूर्ण कामनायें यहीं-इसी जन्म में-विलीन हो जाती हैं। वे कामना हीन बन जाते हैं, वे पूर्ण काम पर्याप्त काम हो जाते हैं। ऐसे निष्कामी साधक का पुनर्जन्म नहीं होता। वह जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा सदा के लिये छूट जाते हैं।"

सूतजी ने कहा—"तो भगवन्! बताइये, किस साधन से निष्काम भाव होकर ब्रह्मसाक्षात्कार हो। कैसे भगवान् के दर्शन हों ?"

शौनकजी कहते हैं—"देखो, सूतजी! महर्षि अङ्गिरा मुनि ने मुझे बताया, कि भगवान् साधनसाध्य नहीं, कृपासाध्य हैं, प्रीति साध्य हैं, भक्तिसाध्य है। शास्त्रों का प्रवचन करना सर्वश्रेष्ठ साधन है, किन्तु आप चाहो कि केवल प्रवचन करके ही हम प्रभु की प्राप्ति कर लें, तो यह असंभव है, बुद्धि को सूक्ष्म से सूक्ष्म बनाना शास्त्रीय तर्कों से मेधा को तीक्ष्ण करना सुन्दर साधन है, किन्तु आप चाहें कि हम बुद्धि वैचित्र्य से ही ब्रह्म साक्षात् कर लें, तो उपयुक्त नहीं क्योंकि ब्रह्म तो बुद्धि से भी परे हैं।"

शास्त्रों का सतत-श्रवण करना सुन्दर साधन है, इससे परमार्थ पथ परिष्कृत होता है, किन्तु आप केवल शास्त्र श्रवण करके ही प्रभु को पा सकें यह कठिन है। उन्हें प्राप्त करने के लिये तो प्रभु प्रेम की आवश्यकता है। जो प्रभु का सर्वात्म भाव से प्यार करता हो और प्रभु भी जिससे प्रेम करते हों ऐसे ज्ञानी पुरुष ही-शुद्ध अन्तःकरण वाले साधक ही-उन्हें प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि ज्ञानी को भगवान् अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि वह प्रीतिपूर्वक उनका भजन करता है, अतः परमात्मा भी उन्हें बुद्धियोग-अपने समीप आने का उपाय-बता देते हैं। जिससे वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। साराश यही हुआ कि साधनों के ही बल भरोसे वे प्राप्त नहीं हो सकते। जिनको वे वरण कर लेते हैं-स्वीकार कर लेते हैं-उन्हीं को वे प्राप्त हो जाते हैं, फिर उनके सम्मुख वे अदृश्य नहीं बने रहते। उसके सम्मुख वे अपने यथार्थ रूप से प्रकट होकर-भक्त की भावनानुसार उसे दर्शन देते हैं। उसे अपने ब्रह्म-धाम में प्रविष्ट कर लेते हैं। उसे अपना तदीय बना लेते हैं।

सूतजी ने पूछा--"कैसे साधक को वे प्राप्त होते हैं? 'अपने धाम में वे कैसे साधक को प्रविष्ट करते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"यह परमात्मा बलहीन को प्राप्त नहीं होता। मल को प्राप्त हो जाता हो सो भी बात नहीं। जिसमें निष्काम भाव वाली उपासना का बल नहीं है वही निर्बल है, उस उपासना हीन को ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती। प्रमादपूर्वक तपस्या करने से भी वे नहीं मिल सकते। सब कुछ छोड़ छाड़कर अलिङ्ग बन जाने से-वर्णाश्रम धर्म के चिन्हों के परित्याग करने से भी वे प्राप्त नहीं हो सकते। जो विद्वान इन उपायों द्वारा प्रयत्न तो करता रहता है-किन्तु भगवत् स्वीकृति के लिये-उनकी कृपा की प्रतीक्षा करता है उसी का जीवात्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करता है। अर्थात्

शास्त्रीय साधन करते हुए भी जिसे साधनों का अभिमान नहीं होता, भगवत कृपा पर ही विश्वास रखता है ऐसे प्रीतिपूर्वक भजन करने वाले ही भगवद धाम के अधिकारी होते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"उन प्रेमपूर्वक भजन करने वालों की कैसी स्थिति हो जाती है ?"

शौनकजी ने कहा—"जो निष्काम भाव से परमात्मा की उपासना करते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त करके ज्ञान से तृप्त हो जाते हैं, वे अशांत नहीं होते परमशांत हो जाते हैं, वे राग द्वेष से रहित होकर वीतरागी बन जाते हैं, वे कृतात्मा-विशुद्ध अन्तःकरण वाले-हो जाते हैं। ऋषि रूप हो जाते हैं, वे युक्तात्मा बन जाते हैं। वे धीर पुरुष उस सर्वव्यापी परमात्मा को सब ओर से प्राप्त करके उन्हीं सर्व रूप सर्वेश्वर में प्रविष्ट हो जाते हैं। अर्थात् तद्रूप तन्मय हो जाते हैं। वे ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"ब्रह्म लोक में जाने वाले महापुरुषों की कैसी स्थिति होती है। इसका पुनः वर्णन करें।"

शौनकजी ने कहा—"बन्धन का कारण तो यह देह ही है। देह की आसक्ति से विमुक्त हुए महापुरुषों की स्थिति का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

प्रवचन, श्रुत, धी प्राप्त न होवै आत्मा भाई।
जिहि स्वीकारे तासु प्रकट सम्मुख ह्वै जाई॥
पावैं नहिँ बलहीन, प्रमादी-तपसी, त्यागी।
करि उपाय जो विज्ञ धाम हरि जाइँ विरागी॥
वीतराग ऋषि कृतात्मा, ज्ञान तृप्त अति शांतचित।
युक्तात्मा ज्ञानी पुरुष, प्रविसे सर्वत सर्वगत॥

—०—

वेदान्त की अन्तिम स्थिति

[५२]

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
अस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः-
परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥*
(मु० उ० ३ मु० २ ख० ८ म०)

छप्पय

जिनिन पढि वेदान्त जानि निश्चित परमात्मा ।
करया शुद्ध जिनि चित्त योग सन्यास हुतात्मा ॥
ते यात तनु तजि ब्रह्मलोक अम्मृत ह्वै जावें ।
कला, प्रतिष्ठा, देव, कर्म सब ब्रह्म समावें ॥
सरिता सागरमहँ मिलै, नाम रूप तज देइ सब ।
नाम रूप त्यों तजहिं बुध, ब्रह्म उदधि मिलि जाइ जब ॥

जब तक जीव को पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभी तक उसे इस लोक के तथा परलोक के कर्मों की चिन्ता रहती है। तभी तक उसे संयोग में सुख और वियोग में दुःख का अनुभव होता है।

---

* जिस प्रकार बहती हुई सरितायें अपने नामरूप का परित्याग करके समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम रूप से विमुक्त होकर परात्पर दिव्यपुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

जब उसे भली-भाँति ज्ञात हो जाता है, अनुभव होने लगता है, कि मैं पृथ्वी नहीं, जल नहीं, तेज नहीं, आकाश नहीं, तन्मात्रा नहीं, इन्द्रिय समूह नहीं, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार नहीं मैं इनसे विलक्षण हूँ, तब उसे शरीर के रहने से हर्ष नहीं, शरीर के न रहने से विषाद नहीं। जब उसे अनुभव होने लगता है कि ये सगे सम्बन्धी सब गन्धर्व नगर के समान है, स्वप्न मे देखे पदार्थों के सदृश हैं, इनसे मेरा वास्तविक सम्बन्ध कुछ नहीं है तो वह न सयोग में सुखी होगा न वियोग मे दुखी होगा।

एक साधारण श्रेणी का मनुष्य था। उसके पास थोडा सा धन था, छोटा सा परिवार था। एक स्त्री, एक पुत्र, एक स्वय, बस इतना ही उसका परिवार था। काम चलाऊ थोडा सा द्रव्य था। एक दिन उसने स्वप्न देखा, स्वप्न मे वह बहुत बडा राजा बन गया है, बहुत सा धन है, अपार वैभव है, बहुत-सी रानियाँ हैं, १० पुत्र हैं, वह सब पर शासन कर रहा है, सब लोग उसकी आज्ञा का पालन कर रहे हैं। निद्रा खुली तो न राज्य है, न धन वैभव है, न पुत्र तथा पत्नियाँ ही हैं। उसी टूटी खाट पर पडा है। दूसरे दिन कुछ डाकू आये उसका सब धन छीन ले गये पुत्र को मार गये। उनकी स्त्री ने रोते-रोते घर भर दिया। सम्पूर्ण गाँव के लोग सहानुभूति प्रकट करने आये, किन्तु वह मनुष्य न रोया, न उसने किसी प्रकार का दुःख ही प्रकट किया। वैसा ही निर्विकार, निर्लेप बना रहा।

इस पर उसकी स्त्री ने कहा—"तुम्हारा हृदय पत्थर का बना है, क्या ? घर का सब धन लुट गया, एकमात्र पुत्र था वह भी मर गया, तुम्हारी फूटी आँखो से एक बूँद पानी भी नहीं निकला। मानो तुम्हें इसका तनिक भी शोक ही नहीं। बडे निर्मोह, निष्ठुर, वज्रहृदय वाले हो ?"

उस पुरुष ने कहा—"शोक किस-किस के लिये करें। एक के लिये या अनेकों के लिये ?"

स्त्री ने कहा—"शोक अपनों के लिये किया जाता है, वैसे तो संसार में नित्य ही बहुत-से आदमी मरते रहते हैं, सबके लिये कोई थोड़े ही रोता है। तुम्हारे तो एक पुत्र था, तुम्हें पुत्र के वियोग का दुःख नहीं होना चाहिये ?"

उस मनुष्य ने कहा—"तुम एक की कहती हो, कल स्वप्न में मैं १० पुत्रों का पिता था, अपार धन का, अनन्त वैभव का स्वामी था, आज देखता हूँ, मेरे वे सब पुत्र, समस्त धन, वैभव नष्ट हो गया। जब उनके लिये मैंने शोक नहीं किया, तो उस एक पुत्र के लिये, तनिक-से धन के लिये दुःख शोक क्यों करूँ ?"

स्त्री ने कहा—"वे तो स्वप्न के धन, वैभव तथा पुत्र थे, यह तो आपका यथार्थ पुत्र था, सच्चा धन वैभव था।"

पुरुष ने कहा—"यथार्थ कुछ नहीं है, यह भी एक दीर्घ कालीन स्वप्न ही है। अपना एक तो परमात्मा है। उसका इन बाह्य पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब पदार्थ तो नाशवान् हैं ही।"

वास्तविक बात यही है। ये देह ये प्राकृतिक पदार्थ तो अन्तवन्त हैं, क्षणभंगुर हैं, विनाशशील हैं। जो शरीरी है, आत्मा है, वही नित्य है, अविनाशी है, कभी नष्ट होने वाला नहीं है। उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जो ज्ञान तृप्त महात्मा हैं वे इन संसारी पदार्थों के संयोग वियोग से दुखी सुखी नहीं होते। वे एकमात्र परमात्मा को ही सत्य मानकर सदा एकरस बने रहते हैं।

शौनकजी कहने लगे—"सूतजी ! जो ब्रह्मज्ञानी महात्मा हैं, जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, वे वीतराग विशुद्ध अन्तः-

करण वाले कृतात्मा ऋषिगण इस परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर ज्ञान तृप्त प्रशान्तात्मा हो जाते हैं। उनकी किसी वस्तु में आसक्ति नहीं रहती। अहंता अर्थात् देह मे अहंभाव और देह सम्बन्धी गेह, धन, पुत्र पौत्रादि मे ममता नहीं करते। उन्हे किसी प्रकार के अभाव का बोध नहीं होता। वे युक्तात्मा, धीर पुरुष सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा को पूर्णरीत्या प्राप्त करके उस परमात्मा मे ही प्रविष्ट हो जाते हैं। उनमे और परमात्मा में केवल नाम मात्र का ही भेद रह जाता है, वे उन्हीं में तल्लीन, तन्मय तथा तदाकार हो जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"ब्रह्म प्राप्त महापुरुषो का इस भौतिक शरीर से कुछ सम्बन्ध रहता है क्या ? वे ब्रह्मलोक में कैसे जाते हैं, संसार से विमुक्त होने पर उनकी स्थिति कैसी होती है ?"

शौनकजी ने कहा—"ब्रह्मज्ञानी का देह से सम्बन्ध तभी तक है, जब तक देह सम्बन्धी प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता। प्रारब्ध कर्म क्षय हो जाने पर वे इस शरीर को त्यागकर ब्रह्म के लोक में—परब्रह्म के सनातन धाम में—चले जाते हैं। क्योंकि उन्होने वेदान्त शास्त्र के विज्ञान द्वारा जो यथार्थ तत्त्व है उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। संन्यास योग द्वारा—कर्मों के फल और आसक्ति के त्याग रूप योग से उनका अन्तःकरण मल, विक्षेप और आवरण से रहित होकर विशुद्ध बन गया है। ऐसे समस्त साधना मे प्रयत्नशील साधक अन्तकाल में जब प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के समय शरीर का परित्याग करते हैं, तो उन्हें पुनः संसार मे जन्म ग्रहण नहीं करना पडता। वे ब्रह्मलोक में निवास करते हैं, वहाँ से उन्हें इस संसार में पुनः आना नहीं पडता। वे संसार के समस्त बन्धनों से सदा-सदा के लिये परिमुक्त हो जाते हैं। वे संसार के आवागमन से सर्वदा के लिये छूट जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"बहुत से ऐसे महात्मागण हैं,कि इस शरीर के रहते हुए ही वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष जब इस शरीर का परित्याग करते हैं,तो अन्तकाल में उनकी स्थिति कैसी होती है?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, सूतजी! भगवान् अङ्गिरा मुनि ने मुझे बताया कि जो समष्टि में है वही व्यष्टि में है, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में भी है। यह लोक पन्द्रह कलाओं से निर्मित है। ये श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रियगण, मन (अन्तःकरण) अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम जो पन्द्रह कलायें हैं, सब इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता हैं, ये सबके सब अपने अपने अधिष्ठातृ देवताओं में जाकर मिल जाते हैं। जैसे व्यष्टि पंचभूत समष्टि पंचभूतों में मिलकर एक हो जाते हैं। शरीर का पृथ्वी तत्त्व पृथ्वी में, जल तत्त्व जल में, तेज तत्त्व तेज में, वायु तत्त्व समष्टि वायु में और देहाकाश महाकाश में जाकर मिल जाता है। वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में और श्रोत दिशाओं में मिल जाते हैं। जैसे हाथों के अधिष्ठातृदेव इन्द्र हैं तो ज्ञानी के शरीर के अन्त होने पर वह इन्द्र में जाकर मिल जायगा। इसी प्रकार सभी शरीर के पदार्थ अपने अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं।"

इनके अतिरिक्त एक कर्म और जीवात्मा दो शेष रह जाते हैं। ज्ञानी के कर्म अदत्त फल वाले होते हैं। जैसे अज्ञानी तो शुभ अशुभ कर्मों के फल रूप ही नाना योनियों में जाते हैं। उनके कर्म दत्त फल कहलाते हैं। ज्ञानी तो शुभ अशुभ, धर्म अधर्म सबसे पर हो जाता है, इसलिये उसके कर्म भी अदत्त फल वाले हो जाते हैं। अतः अदत्त फल कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा ये सब अव्यय ब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाते हैं। एकीभूत हो जाते हैं।

सूतजी ने पूछा—"ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त का जीवात्मा परमात्मा मे किस मार्ग से, किन किन लोकों से, कैसे जाकर उनमे लीन होता है ?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, जैसे अपने उद्गम स्थान से निकलकर बहती हुई गगा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती आदि नदियाँ जब जाकर समुद्र मे मिलती हैं, तब अपने-अपने नामों का और रूपों का परित्याग करके उसी मे विलीन हो जाती हैं, एकाकार बन जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्मा नाम रूप से विमुक्त बनकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। उन्हीं के समान हो जाते है। उनका फिर कभी जन्म नहीं होता, वे आवागमन से सर्वथा के लिये रहित हो जाते हैं। वे जन्म-मरण विहीन पुनरावृत्ति रहित हो जाते हैं। वे किस पथ से कैसे जाते हैं, इसका भी कोई चिन्ह अवशेष नहीं रहता। जैसे कछुए,मछली आदि जलचर जीव जिधर से चाहे निकल जायँ, आकाश में उडने वाले पक्षी जिधर से चाहें उड जायँ, उनके पद चिह्न अवशिष्ट नहीं रहते। इसी प्रकार ज्ञानियों के गमन की गति दृष्टिगोचर नहीं होती। वे तो जैसे नदियाँ समुद्र मे विलीन हो जाती हैं, जलचर जीव जल मे विलीन हो जाते है, आकाशचारी जीव आकाश मे ही विलीन हो जाते हैं वैसे ही ब्रह्मज्ञानी अज्ञात मार्ग से जाकर ब्रह्म मे विलीन हो जाता है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आपने महर्षि अङ्गिरा द्वारा कही हुई यह उपनिषद् तो बहुत ही दिव्य सुनायी इसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक जान लेने पर तो साधक परब्रह्म का विज्ञाता बन जाता होगा ?"

शौनकजी ने कहा—"निश्चयपूर्वक जो भी साधक इस उपनिषद् के द्वारा परब्रह्म को जान लेता है, वह परब्रह्म ही हो जाता

है। ब्रह्म के समान ही हो जाता है। यही बात नहीं कि वह अकेला ही कृतार्थ होता है, उसके कुल में भी ब्रह्मवेत्ता ही उत्पन्न होते हैं, उसके कुल में कोई भी अब्रह्मवेत्ता नहीं होता। जो ब्रह्म को जान लेता है, वह शोक सागर को तर कर शोक के पार पहुँच जाता है, अर्थात् शोकरहित बन जाता है। वह पाप पंक से भी तर जाता है अर्थात् निष्पाप, निर्मल बन जाता है। उसके हृदय की ग्रन्थियाँ सर्वथा खुल जाती हैं, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर वह अमृतत्त्व को प्राप्त होता है, अमर बन जाता है।"

सूतजी ने पूछा—"इस ब्रह्मविद्या के अधिकारी के क्या लक्षण हैं?"

शौनकजी ने कहा—"इसका वर्णन इस ऋचा में किया गया है। वेद की ऋचा बताती है—जो क्रियावान् पुरुष श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हैं, अर्थात जो श्रुति के अर्थों के ज्ञाता तथा ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले उसकी उपासना करने वाले हैं, जो श्रद्धापूर्वक एकर्षि नाम वाली अग्नि में नियमित, निष्काम भाव से हवन करने वाले हैं और जिन्होंने विधिवत् शिरोव्रत-ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया है, उन्हीं श्रद्धालु, निष्काम कर्मयोगी, नियम व्रत परायण साधकों को इस ब्रह्म विद्या का उपदेश देना चाहिये। वे ही संयमी साधक इसके अधिकारी हैं उन्हीं के लिये यह ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिये। यह परम्परागत विद्या है।"

सूतजी ने पूछा—"इस ब्रह्मविद्या की परंपरा क्या है? सबसे पहिले इस विद्या को किसने किसको बताया और परम्परया यह आप तक कैसे पहुँची?"

शौनकजी ने कहा—"इस परम सत्य को प्रकाशित करने वाली ब्रह्मविद्या का सर्वप्रथम ब्रह्माजी ने अथर्वा मुनि को उपदेश दिया। अथर्वा मुनि ने अङ्गी ऋषि को उपदेश दिया। अङ्गी ऋषि

ने भरद्वाज गोत्रीय सत्यवाह मुनि से कहा। सत्यवाह मुनि ने इसे अङ्गिरा ऋषि से कहा। उन महाभाग अङ्गिरा महर्षि से मैंने इस ब्रह्मविद्या को उपलब्ध किया।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आपने तो इस परम रहस्यमयी ब्रह्मविद्या को सर्वसाधारण लोगों के लिये सुलभ कर दिया। अब तो इसे जो भी चाहे वही पढ़कर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता बन सकता है?"

हँसकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! ऐसी बात नहीं है, सिंहनी का दूध सुवर्ण पात्र में ही स्थिर रह सकता है। अन्य पात्रों में वह फटकर विष बन जायगा। सर्वसाधारण लोग इसे भले ही पढ लें, किन्तु वे ब्रह्मवेत्ता नहीं बन सकते। जो अचीर्ण व्रत हैं-जिन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत सावधानी के सहित, तत्परतापूर्वक पालन नहीं किया है, वे अव्रती चीर्णवती पुरुष इस ब्रह्मविद्या को नहीं पढ़ सकते। वे इसके कदापि अधिकारी नहीं हो सकते। गूढ अभिप्राय को वे कदापि हृदयङ्गम नहीं कर सकते।"

जिन परम ऋषियों की कृपा से यह ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई है। उन परम ऋषियों को नमस्कार है, उनके पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम करके, उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करके इस परम रहस्यमयी, साक्षात् ब्रह्मज्ञान को कराने वाली, सर्वश्रेष्ठ अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् को समाप्त करते हैं। शांति पाठ के अनंतर यह उपनिषद् पूर्ण हुई।

छप्पय

ब्रह्म जानिकें होइ ब्रह्ममय कुल तरि जावै।
शोक पाप नसि जायँ ग्रन्थि हिय की खुलि जावै॥
मुक्त अमर बनि जायँ सबनि विद्या नहिँ आवै।
ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ ब्रह्मचारी इहि पावै॥

दिव्य ब्रह्मविद्या परम, कही अंगिरा हिय धरी।
परम ऋषिनि वन्दन करौं, तिनि पग में पुनि-पुनि परौं॥

शान्ति पाठ

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहैं करें मिलि यजन ब्रह्म नित।
कानन तैं हू सुनें वचन शुभ भद्र निरत हित॥
आँखिनि तैं हू सदा निहारें दृश्य भद्रवर।
सुदृढ़ अंग तनु लगै ईश इस्तुति में दृढ़तर॥
शेष आयु हमरी सकल, रहै देवहित में निरत।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्यो रहै तप में सतत॥
देवराज हे इन्द्र ! चहूँ दिशि तव यश छायो।
विश्वदेव हे सूर्य ! प्रकाशहु जग फैलायो॥
गरुड निवारक कष्ट ! शक्तिशाली सुनेमि सम।
धन्य बृहस्पतिदेव ! करें मिलि विनती सब हम॥
तुम सब तैं ही विनय है, स्वस्ति करें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख शोक भ्रम भय हरें॥

॥ श्रीहरिः ॥

माण्डूक्योपनिषद्

शान्ति पाठ

[५३]

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा-
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥*

ॐ शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥।

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहैं करैं मिलि यजन बखानित ।
काननि तैं हू सुनैं बचन शुभ भद्र निरत हित ॥
आँखिनि तैं हू सदा निहारैं दृश्य भद्रवर ।
सुदृढ अङ्ग तनु लगैं ईश स्तुति में दृढतर ॥
शेष आयु हमरी सकल, रहै देवहित में निरत ।
मनुज जनम उपयोग यह, लह्यो रहै तप में सतत ॥

---

* हे देवगण ! हम अपने कानों से भद्र वचन ही सुनें अभद्र नहीं । नेत्रों से कल्याणकारी—भद्र—दृश्य ही देखें । हम सब यजन करने वाले हों, स्थिर अङ्गों तथा सुदृढ शरीर से भगवत् स्तुति करते हुए शेष आयु को देवहित में ही उपभोग करें ।

छठी उपनिषद् माण्डूक्य उपनिषद् है। वास्तव में सर्वाङ्गीण विशुद्ध उपनिषद् तो यही है। अन्य उपनिषदों में कहीं प्राणोपासना है, किसी में कर्मकाण्ड का भी समावेश है, कहीं अग्नि आदि की उपासना के प्रकरण आये हैं, किन्तु इसमें तो परम विशुद्ध तत्त्व केवल प्रणव का ही विवेचन है। किस प्रकार इसमें प्रणव के तीन पादों का इस सगुण साकार जगत् रूप ब्रह्म के साथ साम्य दर्शाकर अन्त में चतुर्थपाद में निर्गुणातीत तत्त्व का विवेचन किया है, वह कहते नहीं बनता।

आकार में यह उपनिषद् बहुत ही छोटी है, इसमें सम्पूर्ण १२ ही मन्त्र हैं, किन्तु इन बारह मन्त्रों में ही वेदान्त का सम्पूर्ण सार भर दिया है। बहुत प्राचीन समय से विद्वानों ने इस अत्यन्त लघु उपनिषद् का महत्त्व स्वीकार किया है। पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्यजी के गुरु के भी गुरु परमहंस चूड़ामणि भगवान् शुकदेवजी के शिष्य भगवत् पूज्यपाद गौडपादाचार्य ने इसके मन्त्रों के ऊपर विस्तार के साथ कारिकायें लिखी हैं। उन्होंने इन बारह मन्त्रों को आगम, वैतथ्य, अद्वैत और अलात शान्ति इन चार प्रकरणों में विभक्त किया है। आगम प्रकरण में २९ कारिकायें हैं, वैतथ्य में ३८, अद्वैत में ४८ और अलात शान्ति में १०० इस प्रकार गौडपादाचार्य की सम्पूर्ण कारिकायें २१५ हैं। पहिले प्रकरण में आगम-शास्त्रों-द्वारा पहिले यह बताया है, कि यह जगत् हुआ किसलिये। कोई तो कहते हैं उसने इच्छा की और जगत् की उत्पत्ति हो गयी। कोई कहते काल का एक चक्र चलता रहता है। उस चक्र की पत्तियाँ कभी ऊपर आ जाती हैं, कभी नीचे चली जाती हैं। इसी प्रकार काल क्रम से काल आने पर सृष्टि हो जाती है, सृष्टि का काल समाप्त होने पर प्रलय का काल उपस्थित हो जाने पर प्रलय हो जाती है, फिर प्रलय काल समाप्त

होने पर पुनः सृष्टि का काल आने पर पुनः सृष्टि हो जाती है। जैसे रथ का पहिया घूमता रहता है उसी प्रकार यह कालचक्र घूम-घूमकर सृष्टि प्रलय करता रहता है।

कुछ लोगों का कहना है जीवों के जन्मान्तरीय जो संचित कर्म हैं, उनके भोग के लिये सृष्टि होती है। कोई कहते हैं—भगवान् तो लीला के लिये–क्रीडा के लिये–मनोविनोद के लिये–सृष्टि करते हैं। इस प्रकार कोई कुछ मानते हैं कोई कुछ। कारिकाकार ने इन सब मतों का खडन किया है। वे कहते हैं भगवान् तो आप्तकाम हैं, उन्हें किसी वस्तु की लीला, क्रीड़ा, मनोविनोद की स्पृहा ही नहीं, फिर वे सृष्टि के चक्कर में क्यो पड़ने लगे। अतः यह जो कुछ दीख रहा है, वास्तव में कुछ है ही नहीं। यह जगत् न कभी हुआ, न है, न आगे होगा, भ्रमवश दिखायी दे रहा है। इसी को अजातवाद कहते हैं।

दूसरा प्रकरण है वैतथ्य—तथ्य कहते हैं यथार्थ को। वितथ्य कहते हैं जो यथार्थ न हो कल्पित हो अर्थात् इस दृश्य प्रपञ्च में तथ्य कुछ नहीं है, सब गन्धर्व नगर के सदृश कल्पित है। जब कुछ है ही नहीं तो कल्पना करने वाला कौन है? इसका उत्तर वे यही देते हैं, कि आत्मा ही अपने आप अपनी माया द्वारा कल्पना करता है और वही फिर अपने आप प्रतिबुद्ध हो जाता है। भेद अभेद, ज्ञान, अज्ञान ये सब माया के ही द्वारा कल्पित हैं।

तीसरा प्रकरण है अद्वैत। यह जो प्रपञ्च की भ्रांति होती है मायामोहित जीव को होती है। ज्ञानी के लिये जगत कुछ है ही नहीं। वे कहते हैं निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधक, मुमुक्षु, मुक्त ये भेद कुछ भी नहीं हैं, न कोई उत्पन्न होता है, न किसी का विनाश

होना है। उत्तम सत्य तो यही है, कि कोई कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। केवल एक अद्वय आत्मा का ही पसारा है।

चौथा प्रकरण है अलात शान्ति। बच्चे एक छेद वाले पात्र में मक्का की भुट्टी के छोटे-छोटे कोयले रखकर एक रस्सी में उसे बाँधकर घुमाते हैं जिससे चिनगारियों का एक मिथ्या चक्कर-सा प्रतीत होने लगता है। संस्कृत में उसे अलातचक्र कहते हैं। ब्रज-भाषा में उसे कुकुआ कहते हैं। जब तक उसे घुमाते रहो तब तक वह चक्र दिखायी देगा जब घुमाना बन्द कर दो वह चक्र नहीं दिखायी देगा। वास्तव में वह चक्र न पहिले था, न उसका जन्म हुआ, न नष्ट ही हुआ। घुमाने से उसकी प्रतीति हुई। घुमाना बन्द करने से वह प्रतीति समाप्त हो गयी। इसी प्रकार न स्वतः ही, न दूसरे के ही द्वारा कोई वस्तु होती है सत् असत् अथवा असत्-सत् कुछ भी तो उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार भगवान् गौडपादाचार्य ने इस माण्डूक्य उपनिषद् के १२ मन्त्रों पर २१५ कारिकायें लिखकर अजातवाद सिद्धान्त को परिपुष्ट किया है। ऐसी महत्त्वपूर्ण है यह माण्डूक्य उपनिषद्।

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है। अथर्ववेद के ब्राह्मण भाग में यह उपनिषद् आयी है। इस उपनिषद् को किस ऋषि ने किससे पूछा और किसने इसका उपदेश दिया। इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। कुछ लोगों का कहना है कोई माण्डूक्य नाम के ऋषि थे उन्होंने ही इस उपनिषद् का प्रचार किया। कुछ लोगों का कहना है, कि मंडूक मेढक या भेक का नाम है। जैसे मेढक जब जल से बाहर हो जाता है, तो वह तीन या चार छलांग मारकर पुनः जल में प्रविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार माया मोहित जीव जब अपने को ब्रह्म से पृथक् मानने लगे, तब ३ या ४ छलांग मारकर

पुनः ब्रह्म में ही विलीन हो जायगा। वे ३-४ छलांग क्या हैं ? इसी पर विचार करना है।

हमारे यहाँ त्रित का महत्त्व है। यह सम्पूर्ण जगत् त्रित पर ही टिका हुआ है। जैसे जगत् मे भी, प्रकृति-पुरुष और पुरुषोत्तम, ये तीन ही हैं। काल मे-भूत-भविष्य और वर्तमान, देवों मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अवस्थाओं मे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, गुणों मे सत्त्व, रज और तम, दोषों मे वात पित्त, कफ, अवस्थाओं के अधिष्ठाता, विश्व, तेजस्, प्राज्ञ, नदियों मे गंगा, यमुना, सरस्वती, शक्तियों मे महालक्ष्मी, महाकाली, महासरस्वती, वेदों में ऋक, यजु और साम, शरीर भी तीन हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण, कहाँ तक गिनावें यह सम्पूर्ण जगत् ही त्रितात्मक है। तीन के बिना कुछ नहीं। इन तीन से जो परे हैं, वही ब्रह्म है। अवस्था तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन ही है, किन्तु तीनों से परे जो तुरीय है वही ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था है। तुरीय कोई अवस्था नहीं, वह तो अवस्था से परे है काल तो भूत, भविष्य और वर्तमान तीन ही हैं, इन तीनों से परे जो कालातीत अवस्था है। जहाँ न भूत है, न भविष्य है, न वर्तमान है, यही भेदातीत काल ब्रह्म है। देव तो ब्रह्मा, विष्णु,महेश तीन हैं। सृष्टि करने को ब्रह्मा, उसकी रक्षा करने को विष्णु और संहार करने के लिये रुद्र ये तीन हैं, किन्तु इन तीनों से परे जो महादेव हैं, महाविष्णु हैं, परमआत्मा है वे ही परब्रह्म हैं। सत्त्व, रज और तम गुण तो ये तीन ही हैं, किन्तु इन तीनों से परे गुणातीत विशुद्ध सत्त्व सम्पन्न ब्रह्म हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीन ही तीनों अवस्थाओं के अधिष्ठाता है, किन्तु इन तीनों से परे जो अवस्थातीत का अधिष्ठाता है, वही ब्रह्म है, ऋक्, यजु और साम वेद तो ये तीन हैं, किन्तु इन तीनों से परे जो निस्त्रैगुण्य है, वही ब्रह्म है।

गंगा, यमुना और सरस्वती धारा तो तीन हैं, तीनों मिलकर त्रिवेणी हुई हैं, किन्तु इनसे परे परब्रह्म का धाम है। तीनों से परे उनका अव्यक्त रूप है। व्यक्त भी उन्हीं का रूप है अव्यक्त भी उनका ही रूप है। एक पाद में तो यह सम्पूर्ण व्यक्त विश्व ब्रह्माण्ड है शेष जो त्रिपाद विभूति है वह उनका अव्यक्त रूप है। व्यक्त-अव्यक्त कहो, स्थूल-सूक्ष्म कहो, निराकार-साकार कहो, सगुण-निर्गुण कहो। ये सब एक की ही अभिव्यक्ति हैं। अधिष्ठान एक ही है। अतः परिपूर्ण को जानने के लिये इन सब भेद भावों को सर्वथा भुलाना होगा। यद्यपि ब्रह्म नाम रूप से रहित है, किन्तु यह भी कैसे कहा जा सकता है, कि वह नाम रूप से रहित ही है, यदि यह कहा जाय कि उसमें नाम रूप हैं ही नहीं, तो फिर दृश्य जगत् में जो केवल नामरूपात्मक ही है, इसमें नाम रूप कहाँ से आ गये ? जब ब्रह्म के अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं तो न कोई साध्य है, न साधन है और न साधक ही है, फिर तो शास्त्र, ज्ञान, उपदेश, उपदेष्टा सब मिथ्या ही हैं। ऐसी स्थिति में तो कुछ कहने का अवसर ही नहीं। साधना काल में तो हमें नाम रूपों को मानकर ही चलना है। अतः जगत् तो त्रिगुणात्मक है। इसमें नाम रूप भी त्रिगुणात्मक हैं। ब्रह्म का नाम क्या है ? और ब्रह्म का रूप क्या है ? इसी को लेकर माण्डूक्य उपनिषद् का आरंभ होता है। उस ब्रह्म का नाम है ओम् ब्रह्म का वाचक मुख्य नाम यही है। और ब्रह्म का रूप भी 'ॐ' यही है। यद्यपि वह अमूर्त है फिर भी मंत्र ही, प्रणव ही उसकी मूर्ति है, समस्त संसार की मूर्तियाँ, संसार के समस्त पदार्थ इसी एक ॐ प्रणव से निकले हैं। समस्त नाम, समस्त वेद, समस्त जगत् इसी एक ॐ का पसारा है। इसी बात को बताने के लिये मांडूक्य मुनि ने इस मांडूक्य उपनिषद् का प्रवचन किया है।

यह जो जगत् में त्रित है वह और कुछ नहीं है। ओंकार के जो अ, ऊ और म् ये तीन पाद हैं ये ही त्रित बन गये हैं, इनसे परे जो चतुर्थपाद है अर्धबिन्दु है वही ब्रह्म का, अव्यक्त का प्रतीक है, अतः तीन के द्वारा उस चतुर्थ पद की खोज करनी चाहिये। यह कब होगा, जब सभी देव हमारी सहायता करें, सभी देव हमें आशीर्वाद दें। सभी विशिष्ट व्यक्ति हमारी मंगल कामना करें, अतः हम मंगल के लिये, अभिवृद्धि के निमित्त, कल्याण के लिये, शांति के लिये देवताओं से प्रार्थना करें—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शांतिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

छप्पय

देवराज हे इन्द्र! चहूँ दिशि तव यश छायो।
विश्वदेव हे सूर्य! प्रकाशहु जग फैलायो॥
गरुड निवारक कष्ट! शक्तिशाली सु-नेमि सम।
धन्य बृहस्पति देव! करें मिलि विनती सब हम॥
तुम सबते ही विनय है, स्वस्ति करें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख शोक भ्रम भय हरें॥

सब कुछ ओंकार ही है

[५४]

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्
भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । -
यच्चान्यत् त्रिकालातीत तदप्योङ्कार एव ॥❀

(मा० उ० १ म०)

छप्पय

ओंकार ई सकल जगत महिमा वर प्रापक ।
है त्रिकाल अरु काल-अतीत हु प्रणव नियामक ॥
सबहि ब्रह्म यह ब्रह्म आतमा चतुष्पाद है ।
जामत सम जग थूल ज्ञान जग रह्यो व्याप्त है ॥
सात व्याहृति सात ई, लोक कहे उनीस मुख ।
वैश्वानर ताको कह्यो, प्रथम पाद जो थूल मुक ॥

ओंकार की महिमा अनन्त है । ओंकार किसी भी भाषा का शब्द नहीं । वह भाषातीत है । पैदा होते ही संसार के बच्चे सर्व-प्रथम ओंकार का ही उच्चारण करते हैं । सृष्टि के आदि में एक ही वेद था वह ओंकार ही था । ओंकार से ही चारों वेदों का विस्तार

❀ ओंकार ही यह अक्षर है । यह सम्पूर्ण उसी का उपव्याख्यान है । जो भूत, भविष्य तथा वर्तमान है वह भी सब ओंकार ही है । जो त्रिकालातीत है, तथा अन्य भी जो कुछ है वह सब भी ओंकार ही है ।

हुआ है, ओंकार से ही सम्पूर्ण जगत् विस्तृत हुआ है। ओंकार से ही अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज जीवों की उत्पत्ति हुई है। ओंकार से ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय की कल्पना हुई है। ओंकार ही ब्रह्म का वाचक शब्द है, ओंकार ही सर्वश्रेष्ठ नाम है। ओंकार ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है। ओंकार के बिना वेद मन्त्रों में मन्त्रत्व नहीं आता। ओंकार के बिना कोई भी क्रिया सिद्ध नहीं होती। अतः मोक्ष की कामना करने वाले प्राणियों को ओंकार की ही शरण में जाना चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! छठी जो माण्डूक्य उपनिषद् है, उसमें किस विषय का प्रतिपादन किया गया है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! माण्डूक्य मुनि ने इस उपनिषद् में ओंकार की ही महिमा गायी है। उनका कहना है—ॐ यह शब्द अक्षर है।"

शौनकजी ने पूछा—"अक्षर क्या?"

सूतजी ने कहा "जिसका कभी क्षर न हो, नाश न हो, अनादि, अनन्त, अविनाशी। यह ॐ ही सम्पूर्ण जगत् बन गया है। यह दृश्य जगत् ओंकार का ही एक मात्र पसारा है। यह जगत् उत्पन्न हुआ था, मध्य में वर्तमान रहा, फिर जाकर ब्रह्म में ही विलीन हो गया। अब जो है, आगे जो होगा और पीछे जो भी कुछ हो चुका है, वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है। प्रणव ही प्रणव है। काल के तीन ही भेद मनीषियों ने किये हैं। बीता हुआ काल भूत काल है, जो इस समय वर्त रहा है वह वर्तमान काल है, जो काल आगे आने वाला है वह भविष्य काल है। काल के ये तीन रूप ओंकार ही हैं। और जो इन तीनों कालों से अतीत काल है, जिसे कालातीत कहते हैं, वह भी ओंकार ही है। कहाँ तक बतायें, काल से अति-

रिक्त जो भी कुछ है, सब ओंकार ही है। ओंकार के अतिरिक्त और भी जो कुछ है सब ओंकार ही है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस जड, चैतन्य, चराचर और इससे भी परे जो कुछ कल्पनातीत है, वह सब ब्रह्म कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्म के अतिरिक्त जब कुछ अन्य है ही नहीं, तो यह दृश्य अदृश्य, स्थूल-सूक्ष्म, जड-चैतन्य, स्थावर जंगम, चर अचर और इन सबसे भी परे जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। यह परमात्मा ही चतुष्पाद है।"

शौनकजी ने कहा—"आप भी बार बार कह आये हैं और सभी श्रुतियाँ कह रही हैं, कि ब्रह्म तो निरवयव है। उसके अवयव नहीं, भाग नहीं, विभाग नहीं। फिर आप उसे चतुष्पाद क्यों कह रहे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वास्तव में तो भगवान् अवयवों से-भाग विभागों से-सर्वथा रहित हैं, फिर भी यदि उनको विभाग करके न समझाया जाय, तो वे बुद्धि में कैसे बैठ सकते हैं। अतः केवल समझाने के लिये-उनकी भली भाँति अभिव्यक्ति करने के निमित्त भेदों की कल्पना की जाती है, विषय को बोधगम्य बनाने के लिये प्रथम पाद, द्वितीय पाद, तृतीय पाद और तुरीयपाद, चतुर्थ पाद इस प्रकार से उनके भेद बताये गये हैं। जो भेद हैं, वे उससे भिन्न नहीं। एक रुपया है, उसके चार भाग-चार चवन्नी-कर दीं। तो वे चारों मिलकर एक पूर्ण रुपया बन जायगा। एक मन है, उसकी चार धड़ी कर दीं। चार धड़ी मिलकर एक ही मन हो जायगा। एक सेर है इसके चार चार भाग कर दिये तो चारों पौआ मिलकर एक पूरा सेर बन जायगा। जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार अवस्थायें हैं। इनके अभिमाना

विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय हैं। ये चारों मिलकर ही पूर्ण ब्रह्म संज्ञक हो जायँगे। ईश्वर के विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और साक्षी ये चार अंश है, ये चारों मिलकर पूर्ण ब्रह्म हो जायँगे। इस प्रकार ब्रह्म के भी चार पाद है। वे चारों मिलकर ही पूर्ण ब्रह्म कहलाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"उस चतुष्पाद आत्मा के चार पाद कौन-कौन-से हैं ? इनमें से प्रथम पाद क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"जो परब्रह्म परमात्मा सर्वेश्वर है, सर्वाधार हैं, सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण हैं, उनका पहिला पाद है वैश्वानर।"

शौनकजी ने पूछा—"वैश्वानर का क्या अर्थ है ? वैश्वानर तो अग्नि को कहते हैं। और जीवात्मा का भी नाम वैश्वानर है। तो क्या जीव या अग्नि ब्रह्म का प्रथम पाद है ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज, एक शब्द के बहुत अर्थ होते हैं, प्रकरण के अनुसार उनका अर्थ किया जाता है। अग्नि तो जड़ है, जीव भी परिच्छिन्न है। ब्रह्म का जो प्रथम पाद है, प्रथमांस है वह इनसे भिन्न है। जैसे शरीर के स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन भेद हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाओं में जीवात्मा रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म का प्रथम पाद जाग्रत अवस्था के सदृश है, अर्थात् जाग्रत उसका स्थान है। उसे स्थूल शरीर की उपमा दी जा सकती है; यद्यपि ब्रह्म उपमा, उपमेयों से रहित है, फिर भी लौकिक, प्राकृत वस्तुओं से समझने की ही हमारी बुद्धि में शक्ति है; क्योंकि वह स्वयं लौकिक तथा प्राकृत है। इसीलिये जीवात्मा के स्थूल शरीर से और जाग्रत अवस्था से उपमा दी गयी।"

वह प्रथम पाद बहिष्प्रज्ञ है। अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान बाह्य और

अभ्यन्तर दोनों ओर है, तो प्रथम पाद उसका बाहर की ओर है, बाह्य जगत् में वह फैला हुआ है। अर्थात् बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला है। ब्रह्म का प्रथम पाद सात अङ्गों में विभक्त है और उन्नीस मुखों से भोजन करता है।

शौनकजी ने कहा—"सात अङ्ग कौन-कौन-से हैं और उन्नीस मुख कौन हैं ?"

सूतजी ने कहा—"बाह्य जगत् में भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य ये सात लोक हैं, उसी प्रकार ब्रह्म का प्रथम पाद इन सात लोकों में फैला हुआ है। ये सात लोक ही सात अङ्ग हैं। जैसे जीवात्मा, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चतुर्विध अन्तःकरण इन उन्नीस मुखों से ही विषयों का उपभोग करता है। यह स्थूल जगत् का भोक्ता है, अनुभवकर्ता या ज्ञाता है। बात यह है कि यह ब्रह्मांड इसे विराट् कहो, विश्व कहो एक ही बात है। इसे जो जानता है, अनुभव करता है वही विराट् है, उस विराट् को ही ब्रह्म का पहिला पाद कहा है। उसकी परिकल्पना सात अङ्गों में इस प्रकार भी की गयी है, कि स्वर्गलोक उसका सिर है, प्राण स्वाँस है, सूर्य नेत्र है, आकाश धड़ है, जल. मूत्र स्थानीय है और आहवनीय अग्नि उसका मुख है। इस प्रकार वह विश्वरूप नर वैश्वानर के नाम से प्रसिद्ध है और यही ब्रह्म का प्रथम पाद है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म का द्वितीय पाद क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे ब्रह्म के प्रथम पाद वैश्वानर का स्थान जाग्रत था वैसे ही द्वितीय पाद का नाम तैजस है। इसका स्थान स्वप्नावस्था के सदृश है। प्रथम बहिःप्रज्ञ था यह द्वितीय पाद अन्तःप्रज्ञ है अर्थात इसकी प्रज्ञा अन्तर्मुख है। पहिले बताये सात अङ्गों और उन्नीस मुखों वाला यह भी है। बात यह है

समष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी हिरण्यगर्भ है और व्यष्टि सूक्ष्म शरीर के अभिमानी तैजस हैं। जैसे स्वप्नावस्था में स्वप्नावस्था के अभिमानी है वैसे ही तैजस भी स्वप्नावस्था के अभिमानी है। अतः यह ब्रह्म का द्वितीय पाद है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म का तीसरा पाद क्या है ?"

सूतजी ने कहा—जाग्रत और स्वप्न को तो प्रथम और द्वितीय पाद का स्थान बताया उसी प्रकार तीसरा प्राज्ञ पाद है। इसका स्थान सुषुप्ति है यह प्राज्ञ भोग रहित है। जैसे जीव जब जागता रहता है, तो नाना भोगों को भोगता है, स्वप्नावस्था में स्वप्नमय पदार्थों का उपभोग करता है। किन्तु सुप्तावस्था में न तो वह जाग्रत की भाँति किन्हीं विषयों का ही उपभोग करता है, और न विषय रूप स्वप्नों में ही लिप्त होता है। गाढ निद्रा में सब इन्द्रियाँ, सब वृत्तियाँ अज्ञान में विलीन हो जाती हैं, जीव आनन्द का अनुभव करता है। उस समय सोया हुआ पुरुष किसी भी भोग की कामना नहीं करता और न किसी प्रकार का स्वप्न ही देखता है। उसी अवस्था का नाम सुषुप्ति है, सुषुप्ति अर्थात् जगत् की प्रलयावस्था जिसका स्थान है और एकीभूत प्रज्ञानघन ही आनन्द स्वरूप हैं। जाग्रत स्वप्न की भाँति उन्नीस मुख न होकर केवल चेतना अर्थात् प्रकाश ही जिसका मुख है। वह आनन्द भुक आनन्द को भोगने वाला प्राज्ञ ब्रह्म का तीसरा पाद है। जैसे जिन पदार्थों को हम जाग्रत में या स्वप्न में देखते हैं, वे सबके सब पदार्थ अविद्या में एकीभूत हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राज्ञ सुषुप्ति में ईश्वर के साथ एकीभूत हो जाता है व्यष्टि कारण शरीर में तो जीव अविद्या अंधकार में निमग्न होता है। किन्तु यह प्राज्ञ का तो प्रकाश ही मुख है अतः यह ईश्वर के साथ एकता को प्राप्त होता है, तो जीव तो सुषुप्ति अवस्था में—अज्ञानावृत आनन्द को भोगता है,

किन्तु यह प्राज्ञ ज्ञानानंद भुक् है, इसलिये यथार्थ आनन्द का उपभोग करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म का प्रथम पाद तो वैश्वानर बताया, दूसरा पाद तैजस बताया और तृतीय पाद प्राज्ञ बताया। इस तृतीय पाद प्राज्ञ की विशेष महिमा क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"यही ब्रह्म का तृतीय पाद प्राज्ञ समस्त संसार भर के ईश्वरों का भी ईश्वर है। इससे संसार की अणु, परमाणु कोई भी वस्तु अविज्ञेय नहीं, यह सर्वज्ञ है। यह सबमें व्याप्त सबके मन की जानने वाला अन्तर्यामी है। यही समस्त जीवों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। यही सबका एकमात्र स्थान है। यह सर्व कारणों का कारण है।"

शौनकजी ने कहा—"आपने ब्रह्म के तीन पादों का वर्णन तो किया, अब जो पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का चौथा पाद है, उसका भी वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"पूर्ण ब्रह्म का चतुर्थ पाद परिपूर्ण ब्रह्म का वर्णन क्या करें, वह तो वर्णनातीत है, फिर भी माण्डूक्य मुनि ने जैसा कुछ वर्णन किया है, उसका संक्षिप्त भाव मैं आपसे आगे कहूँगा। इसी प्रकरण में यह माण्डूक्य उपनिषद् समाप्त हो जायगी। आशा है, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय—स्वप्न थान सप्ताङ्ग अन्त प्रज्ञहु उन्निस मुख।
तैजस दूसर पाद ब्रह्म को सु प्रविक्ति भुक॥
जो प्रसुप्त नहि करै कामना स्वपन न देखे।
त्यों प्रसुप्त इस्थान पाद तीसर महँ पेखे॥
एकीभूत प्र-ज्ञान घन, आनँदमय आनन्द भुक।
सर्वेश्वर सरवज्ञ यह, सर्वयोनि परकाश मुख॥

—:—

चतुष्पाद परिपूर्ण ब्रह्म

[५५]

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघन न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षण-मचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ❀

(माण्डू० उ० ७ म०)

छप्पय

प्रज्ञा भीतर नहीं न बाहर उभय न आवै ।
नहि प्रज्ञ हु प्रज्ञान-घन हु अप्रज्ञ कहावै ॥
अव्यवहार अदृष्ट अग्राह्य अचिन्त्य हु भाई ।
आत्मा एकहि सार अकथ अद्वैत कहाई ॥
नहिं प्रपञ्च, शिव, शान्त वह, है अद्वैत सु आतमा ।
ब्रह्म पाद चौथो कह्यो, प्रणववाच्य परमातमा ॥

अवस्था से अतीत जो स्थिति है वही तुरीय कहाती है । उसे चौथी अवस्था कहो तो वह अवस्थाओं के अन्तर्गत आ जायगी ।

❀ जो न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है और न उभयप्रज्ञ ही है । न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ ही है और न अप्रज्ञ ही है । वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव तथा अद्वैत है । वही ब्रह्म का चौथा पाद है । ब्रह्मज्ञानी ऐसा ही मानते हैं । वही आत्मा है वही जानने योग्य है ।

वास्तव में जहाँ अवस्था, व्यवस्था, व्यवहार, साधन, साध्य कुछ भी न हो, व्यवहार शून्य, नाम, देश, काल, पात्र किसी की भी कल्पना न हो, कल्पनातीत स्थिति का नाम ही परिपूर्ण है। उसका कथन नहीं किया जा सकता वह तो अकथ कहानी है, अश्राव्य ज्ञान है, जहाँ इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण, प्रकृति किसी की भी गम नहीं ऐसी स्थिति का ही नाम चतुष्पाद है। उसे स्थिति कहना भी अनुचित है, वह स्थिति नहीं स्थिति से भी अतीत है। उसके कहने का एक ढंग तो यह है कि तुम जो भी कल्पना कर सकते हो सब वही वह है, क्योंकि सभी कल्पनायें उसी को आधार मानकर की जा सकती हैं, दूसरा ढंग यह है, कि तुम जो भी कल्पना करोगे, जो भी अनुमान लगाओगे, जहाँ तक भी इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से, तुम दौड़ लगाकर जो निर्णय कर सकोगे वास्तव में वह नहीं होगा। वह उससे भी विलक्षण है। सबका सार यही है, कि वह अचिन्तनीय, अकथनीय, परमानन्द स्वरूप है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने ब्रह्म के तीन पादों का वर्णन तो किया, अब चतुर्थ पाद के सम्बन्ध में बता दीजिये।"

सूतजी बोले—"भगवन् ! चतुर्थ पाद बताने की वस्तु नहीं वह तो अनुभव की वस्तु है, अनुभव भी जब प्रकृति से परे होकर किया जाय तब। फिर भी माण्डूक्य मुनि ने जैसे बताया है, उसी प्रकार मैं आपके सामने कहता हूँ।"

ब्रह्म का प्रथम पाद बताते हुए जाग्रत अवस्था का अधिष्ठाता वैश्वानर बताकर उसे बहिःप्रज्ञ कहा गया है। द्वितीय पाद में स्वप्नावस्था का अधिष्ठाता तैजस कहकर उसे अन्तःप्रज्ञ कहा गया है, किन्तु जो न बहिःप्रज्ञ है और न अन्तःप्रज्ञ ही है तथा बहिःअन्तः उभयप्रज्ञ भी जो नहीं है। सुषुप्ति अवस्था का अधिष्ठाता प्राज्ञ को

बताकर उसे प्रज्ञानघन कहा गया है। वह प्रज्ञानघन भी नहीं है। अद्वैत भाव के ज्ञान से युक्त प्राज्ञ भी नहीं और अप्रज्ञ भी नहीं। यही चतुर्थ पाद ब्रह्म है।"

शौनकजी ने कहा—"यह तो नेति-नेति का कथन हुआ। यह भी नहीं, यह भी नहीं। अब वह है क्या? कुछ अस्ति के रूप में भी तो बतावें?"

सूतजी बोले—"बताने योग्य कोई विशेष्य हो तो उसके विशेषण भी दिये जा सकते हैं। जब विशेष्य ही अनिर्वचनीय है, तो विशेषण कहाँ से लावें। तथापि निषेधात्मक वृत्ति से ही कहते हैं—वह अदृष्ट है अर्थात् आज तक किसी के द्वारा इन चर्मचक्षुओं से न देखा गया हो। वह अव्यवहार्य है। वह इतना बेकार है कि आज तक किसी ने भी उसे अपने संसारी व्यवहार में व्यवहृत नहीं किया है। वह अग्राह्य है आज तक किसी ने उसे अपने हाथों से पकड़कर नहीं बाँधा। आज तक किसी ने उसे पूर्णरीत्या पहिचाना नहीं क्योंकि उसका कोई बाह्य लक्षण पहिचानने के चिन्ह नहीं मिले। वह अचिन्त्य है। चिन्तना चित्त के द्वारा की जाती है, चित्त की वहाँ पहुँच ही नहीं तो बेचारा चिन्तना कैसे करे। वह अव्यपदेश्य है। बड़े बड़े प्रवचनकार-उपन्यासकार-वक्ता सब विषयों के सम्बन्ध में बताते हैं किन्तु उसके सम्बन्ध में कोई यथार्थ बता ही नहीं सका है।"

शौनकजी ने कहा—'यह तो फिर आप वही नेति नेति पर आ गये। ऐसा नहीं, वैसा नहीं। कुछ तो बताइये कैसा है?"

सूतजी बोले—"वह एकात्मप्रत्ययसार है। अर्थात् वह एक मात्र वही है। उसकी सत्ता का अस्तित्व है। उसके होने का सार सिद्धान्त यही है, कि उसके अस्तित्व की प्रतीति होती है। वह प्रपञ्चोपशम है। उसमें समस्त प्रपञ्चों का उपशम हो गया है।

प्रपञ्च का अभाव है। अशान्ति राग द्वेष के कारण होती है। उसमें न राग है, न द्वेष, सर्वथा शान्त है। वह शिव है, कल्याण स्वरूप है, मंगलमय है। वह अद्वैत है। न उससे कोई बढ़कर, न उसके कोई बराबर वाला, न उसका कोई पराया है, वह एकमात्र अपने ढंग का अद्वितीय है। यही ब्रह्म का चौथा पाद ऋषि मुनियों द्वारा माना गया है, अर्थात् कल्पित किया गया है। वही आत्मा है, वही परमात्मा है, वही ब्रह्म है, वही भगवान् है। उसी का जानना यथार्थ जानना है। और सब जानना तो गोरख धन्धा है, जानने योग्य वही है। उसी को जानना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! माण्डूक्य उपनिषद् के आरंभ में बताया था, ओंकार ही अक्षर ब्रह्म है, यह सब उसी ओंकार का ही उपव्याख्यान है। उसी की निकटतम महिमा का लक्ष्य कराने वाला है। प्रणव उसी परब्रह्म परमात्मा का वाचक है। तो ब्रह्म की और प्रणव की एकता किस प्रकार है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्म कहो, प्रणव कहो, बात एक ही है। इस परब्रह्म को अध्यक्षर कहा गया है। अध्यक्षर का अर्थ है जो अक्षर रूप प्रणव है उसके समीप रहने वाला—अधिकार में वर्णित—उसी प्रकरण में कहा हुआ। फिर उसे अधिमात्र भी कहा है। अधिमात्र का अर्थ हुआ तीन मात्रा वाला। इसलिये वह परमात्मा, परब्रह्म और ओंकार एक ही है। जैसे प्रणव की अकार, उकार और मकार तीन मात्रायें हैं वे ही तीन मात्रायें मानों परब्रह्म परमात्मा के तीन पाद हैं।"

शौनकजी ने कहा—"प्रणव की कौन-कौन-सी मात्रा ब्रह्म का कौन-कौन पाद हैं? इन मात्राओं में और पादों में साम्य किस प्रकार है, कृपया इसे भी बतावें?"

सूतजी ने कहा—"पिछले प्रकरण में ब्रह्म का प्रथम पाद वैश्वा-

नर को बताया था वह बहिःप्रज्ञ, स्थूलभुक और जागरित स्थान कहा गया था अर्थात् जाग्रत अवस्था की भाँति स्थूल शरीर वाला बाहर की ओर–अर्थात् बाह्य जगत् की–प्रज्ञा वाला इसी प्रकार प्रणव की पहिली मात्रा जो अकार है वह सबमे व्याप्त होने के कारण–अर्थात् बाह्य जगत् मे जितने भी स्वर व्यंजनात्मक नाम वाले शब्द हैं उनमे ऐसा एक भी शब्द वाक्य या नाम नहीं है जिनमे 'अकार' व्याप्त न हो। अकार के बिना किसी शब्द का उच्चारण ही नही हो सकता। अतः सबमें व्याप्त होने के कारण यह वैश्वानर के सदृश है। यह भगवान् की अकार विभूति भी है। दूसरे यह आदि वाला है, अर्थात् वर्णों मे सबसे आदि मे इसी की उत्पत्ति होती है। यही आदि वर्ण है। स्थूल जगत् रूप देह मे जैसे वैश्वानर सर्वत्र व्याप्त है और विराट् रूप से सबसे प्रथम हुआ है। वही बात प्रणव की अकार के सम्बन्ध में है।"

इस प्रकार जो ब्रह्म के प्रथम पाद तथा प्रणव की प्रथम मात्रा अकार की एकता को जानता है, वह निश्चय करके सभी कामनाओ को प्राप्त कर लेता है, उसे ससारी भोगो की कमी नहीं रहती। वह भी सबका आदि, मूर्धन्य, अध्यक्ष अथवा प्रधान बन जाता है, यह ब्रह्म के प्रथम पाद वैश्वानर की तथा प्रणव के आदि अकार की एकता की महिमा कही।

शौनकजी ने कहा—"ब्रह्म के द्वितीय पाद तैजस और प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार की एकता के सम्बन्ध में और बताइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्म का जो द्वितीय पाद तेजस है, जिसका स्वपन की भाँति सूक्ष्म जगत् ही स्थान है। उसकी समता प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार के साथ की गयी है। उकार ओंकार की द्वितीय मात्रा है और उत्कर्ष रूप तथा उभयात्मक है। उकार उत्कर्ष इसलिये है, कि अकार से ऊपर उठा है,

उभयात्मक इसलिये है कि अकार और मकार के बीच में है। अतः अकार के साथ भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है और मकार के साथ भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। इससे यह मध्यस्थ उभयात्मक है। यही बात प्रणव की द्वितीय मात्रा स्वप्न स्थानीय तैजस के सम्बन्ध मे है। यह तैजस अर्थात् हिरण्यगर्भ वैश्वानर से उत्कृष्ट है और वैश्वानर तथा प्राज्ञ के मध्य मे होने से मध्यस्थ तथा दोनो से सम्बन्धित होने के कारण उभयात्मक है। इस प्रकार जो पुरुष ब्रह्म के द्वितीय पाद तैजस,प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार दोनो की एकता की महिमा को जानता है, वह अवश्य ही ज्ञान की सन्तति को, ज्ञान की परम्परा को उत्कर्ष बनाता है–उन्नत करता है। तथा दोनो की समानता के ज्ञान के कारण समान भाव वाला हो जाता है। उसकी वंश परम्परा में–कुल मे–ऐसा कोई नहीं होता जो ब्रह्मवित् न हो–ब्रह्म का ज्ञाता न हो। यह मैंने ब्रह्म के द्वितीय पाद तैजस की तथा प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार की महिमा आप से कही।"

शौनकजी ने पूछा—"अब आप ब्रह्म के सुषुप्ति स्थानीय प्राज्ञ तृतीय पाद की और प्रणव की तृतीय मात्रा मकार की एकता का वर्णन और कीजिये ?"

सूतजी कहने लगे—"ब्राह्मन ! ब्रह्म का तृतीय पाद सुषुप्त स्थानीय कारण जगत् का अधिष्ठाता प्राज्ञ सर्वज्ञ है। सबको जानता है। जगत की जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन अवस्थायें हैं, इनको भली-भाँति जानने के कारण ही इसकी प्राज्ञ संज्ञा है। कारण जगत ही सूक्ष्म तथा स्थूल जगत का उत्पादक है। इसी प्रकार प्रणव की जो तृतीय मात्रा मकार है। यह मा धातु से बनी है। जो मापने–नाप लेने–के अर्थ में व्यवहृत होता है। यह सब वस्तुओं को नाप लेता है। यह मकार प्रणव की अंतिम मात्रा है।

विलीन करने वाला है। जैसे प्रणव के अकार उकार को कह
मकार कहते ही ओष्ठ बंद हो जाते हैं। ब्रह्म का तृतीय पाद सु
की भाँति कारण जगत् में स्थूल सूक्ष्म विलीन हो जाते हैं।
प्रकार दोनों की समानता है। जो इन दोनों का एकता के रू
को जान लेता है, वह इस सम्पूर्ण जगत् को माप लेता है, अ
इसकी चौड़ाई, लम्बाई, ऊँचाई, नीचाई आदि के सभी रह
को जान जाता है। और सबको अपने में विलीन करने की साम
वाला होता है। यह मैंने ब्रह्म के तृतीय पाद प्राज्ञ की तथा प्र
तृतीय मात्रा मकार की एकता की महिमा बतायी।"

शौनकजी ने कहा—'प्रणव की मात्रा तो तीन ही हैं, वि
चौथा अमात्रिक प्रणव का तथा ब्रह्म के चतुष्पाद की एकता
महिमा और बताइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तीनों मात्राओं वाला प्रणव
व्यावहारिक है। उसका व्यवहार में उपयोग होता है, बोला ज
है, सुना जाता है, उसका उच्चारण करते कराते हैं, उपदेश देते
किन्तु अमात्र प्रणव तो ब्रह्म के चतुर्थ पाद प्रपञ्चोपशम का भ
अव्यवहार्य है। अर्थात् व्यवहार में आने वाला नहीं
और प्रपञ्च से रहित है। जैसे ब्रह्म का चतुर्थ पाद शिव स्व
अद्वैत है वैसे ही प्रणव का अमात्र रूप शिव अद्वैत तथा कल्य
स्वरूप है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा नामी है, वाच्य है, प्र
उसका वाचक नाम है। नाम और नामी में भेद नहीं होत
दोनों का परस्पर में अभेद सम्बन्ध हुआ करता है। जो वस्तु
और उसका जो नाम है दोनों एक हैं। जैसे मिट्टी के बने वि
आकार के पदार्थ को घट कहते हैं वह पदार्थ और उसका न
घट दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार प्रणव और परब्रह्म दोनों
ही हैं, जो पुरुष इन नाम नामी-प्रणव और परब्रह्म की एक

के रहस्य को भली भाँति जान लेता है वह आत्मा से आत्मा में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो जाता है। अर्थात् परात्पर परब्रह्म परमात्मा में प्रवेश कर जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनिवर! न तो प्रणव की मात्राओं में ही भेद है, न ब्रह्म के ही पाद हो सकते हैं। यह तो केवल स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा तुरीय की तथा निर्गुण निराकार और सगुण-साकार की एकता दिखाने के लिये इस प्रकार की पृथकता तथा एकता की कल्पना की गयी है। इस प्रकार यह छोटी-सी माण्डूक्य उपनिषद् समाप्त हुई।"

छप्पय

ब्रह्मपाद जो तीनि प्रणव की मात्रा तीनहु।
जाग्रत वैश्वानर हु प्रणव की मात्र अकारहु॥
मात्रा द्वितीय उकार स्वपन तैजस तिहि जानो।
मात्रा तृतीय मकार सुषुप्ती प्राज्ञ बखानो॥
जो अमात्र ओंकार है, शिव, अद्वैत प्रपञ्च बिन।
मात्रा चौथी ब्रह्म की, जानि ब्रह्म प्रविसे सदन॥

अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् समाप्त।

शान्ति पाठ

छप्पय

सुरगन! हम सब चहें करें मिलि यजन ब्रह्म नित।
कानन तें हू सुनें वचन शुभ भद्र निरत हित॥
आँखिनि तें हू सदा निहारें दृश्य भद्रवर।
सुदृढ़ अंग तनु लगी ईश इस्तुति में दृढ़तर॥
शेष आयु हमरी सफल, रहें देवहित में निरत।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्यो रहे तप में सतत॥

छप्पय

देवराज हे इन्द्र ! चहूँ दिशि तव यश छायो ।
विश्वदेव हे सूर्य ! प्रकाशहु जग फैलायो ॥
गरुड निवारक कष्ट ! शक्तिशाली सुनेमि सम ।
धन्य बृहस्पतिदेव ! करें मिलि विनती सब हम ॥
तुम सब तें ही विनय है, स्वस्ति करें मङ्गल करें ।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख शोक भ्रम भय हरें ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

शान्ति पाठ

[५६]

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । श नो विष्णुरुरुक्रमः ।
नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि ।
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु ।
अवतुमाम् । अवतु वक्तारम् ॥*

तै० उ० शा० पा०

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!!

छप्पय

मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, गुरु, विष्णु-उरुक्रम ।
करें सबहिँ कल्याण करत विनती सबकी हम ॥
नमस्कार है ब्रह्म-देवकूँ आत्म-भूप जो ।
करें नमस्ते वायुदेवकूँ ब्रह्मरूप जो ॥
तुमहिँ एक प्रत्यक्ष हो, कहूँ सत्य ऋत तुम विभो ।
श्रोता वक्ता की सतत, रक्षा करि पालो प्रभो ॥

---

* ॐ मित्र देव हमें कल्याणकारक हों, वरुण भी श हों, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति शान्तिप्रदायक हों, उरुक्रम विष्णु हमको कल्याणकारी हों,

यह समस्त जगत् कलात्मक है। कला का अर्थ है जो कलन करे, एकत्रित करे, सग्रह करे। जैसे किसी के पास मूलधन सौ रुपये हैं, उन्हे किसी को व्याज पर दे दें, तो वे सौ तो ज्यों के त्यों ही बने रहेंगे। ऊपर से व्याज रूप मे और धन बटोर लेंगे यही कला है (कलयति वृद्धितो धन सगृह्णाति सचिनोति इति कला) कला समय का भी नाम है। चौंसठ कलायें प्रसिद्ध ही हैं। वैद्यक मे शरीर के अश विशेष को भी कला कहते हैं। किन्तु उपनिषदो मे विराट् के शरीर को षोडश कलात्मक कहा है। अर्थात् उन परब्रह्म परमात्मा से सोलह कलाओं का समुदाय संपूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। ये सोलह कलायें बढकर ही विराट् विश्व ब्रह्माण्ड जगत् के रूप मे विस्तृत हो गया है। वे विराट् पुरुष की सोलह कलायें कौन-कौन-सी हैं? १–श्रद्धा, २–पृथ्वी, ३–जल, ४–तेज, ५–वायु, ६–आकाश, ७–समस्त इन्द्रियाँ, ८–मन आदि अन्तःकरण चतुष्टय, ९–अन्न, १०–वीर्य, ११–तप, १२–मन्त्र, १३–कर्म, १४–समस्त लोक और, १५–ससार के समस्त नाम। ये सबके सब चैतन्य होकर जगत् की वृद्धि करते हैं। मत्र भी चैतन्य होते हैं। मन्त्र केवल वर्ण समुदाय वाक्य नहीं। वह तो साक्षात् भगवान् का रूप है। भगवान् तो अमूर्त हैं, मन्त्र ही उन अमूर्त भगवान् की चतन्य मूर्ति है। मन्त्र चैतन्य होते हैं तप से। तपस्या के द्वारा वर्णात्मक मन्त्र चैतन्य होकर सजीव हो जाते हैं, तभी वे फल देते है। मन्त्रो में कितनी भारी शक्ति होती थी, महाराज परीक्षित् ने पिता की मृत्यु से क्रुद्ध होकर अपने

ब्रह्म को नमस्कार है। वायु को नमस्ते। तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, तुमको ही ऋत कहूँगा। तुम्हे ही सत्य कहूँगा। मेरा रक्षा करें। वक्ता की भी रक्षा करें, रक्षा करें। ॐशान्ति, शान्ति, शान्ति।

पिता को काटने वाले सर्प के कारण समस्त सर्पों के नाश के निमित्त सर्वसत्र अभिचार यज्ञ किया। मन्त्रों के प्रभाव से जो सर्प जहाँ बैठे होते, वहीं से खिंच-खिंचकर चले आते और चिल्लाते हुए कुंड की अग्नि में गिरकर स्वाहा हो जाते। असंख्यों सर्प जल गये। राजा ने पूछा—"जिस दुष्ट तक्षक के कारण मैंने यह यज्ञ किया है, वह तक्षक अभी तक क्यों नहीं आया ?"

याज्ञिक ब्राह्मणों ने कहा—"राजेन्द्र ! उस तक्षक की रक्षा देवेन्द्र कर रहे हैं, वह इन्द्र के सिंहासन से लिपटा हुआ है।"

राजा ने पूछा—"क्या आपके मंत्रों में इतनी सामर्थ्य नहीं है, कि सिंहासन समेत इन्द्र को भी बुलाकर इस यज्ञाग्नि में भस्म कर दो ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"राजन् ! हमारे मंत्र अयातयाम हैं, हमने रात्रि दिन तप संयम से उन्हें सिद्ध किया है। हमारे मंत्रों में सब प्रकार की सामर्थ्य है, केवल आपकी आज्ञा की देरी है। आप कहें तो हम सिंहासन सहित इन्द्र को बुलाकर इसमें स्वाहा कर दें। इन्द्र और उनके सिंहासन सहित तक्षक भी साथ ही भस्म हो जायगा। आपकी जैसी आज्ञा ?"

राजा ने कहा—"तक्षक को उसके रक्षक इन्द्र सहित भस्म कर दीजिये।"

ब्राह्मणों को क्या था, उन्होंने मंत्र पढ़े, मंत्र का प्रभाव तो देखिये, सिंहासन सहित शचीपति इन्द्र खिँचा हुआ चला आया। तब बीच में लोक पितामह ब्रह्माजी ने पड़कर किसी प्रकार से इन्द्र की रक्षा की।

ऐसे प्रभावशाली होते थे, ब्राह्मणों के तपःपूत मंत्र। जो मंत्र सदाचार, तप, स्वाध्याय द्वारा चैतन्य नहीं किये गये हैं, वे तो वर्णात्मक शब्द मात्र हैं। उनका कोई प्रभाव नहीं होता। जिन्होंने

यम नियमों का विधिपूर्वक दीर्घकाल तक अभ्यास करके घोर तप किया है उन्हीं की ऋषि संज्ञा है, ऐसे ऋषि ही मन्त्रद्रष्टा होते हैं। उनसे जिन्हें वे मन्त्र परम्परया प्राप्त हैं और प्राप्त करके जिन्होंने तपः द्वारा उन चैतन्य मन्त्रों को पावन बना लिया है, वे विश्वामित्र की भाँति नूतन सृष्टि करने की सामर्थ्य रखते हैं। मन्त्रों का प्रभाव अमोघ होता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य इन छः उपनिषदों की कथा तो आपने कही। अब सातवीं उपनिषद् कौन सी है? उसकी कथा भी हमें सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! उपनिषद् तो सभी स्वतन्त्र ही हैं। वे एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं। मुक्तक छन्दों के सदृश वे सब पृथक् पृथक् हैं। फिर भी ऋषियों ने सुविधा के लिये इनका क्रम बना दिया है। पुराणों में, उपनिषदों में इनकी क्रम संज्ञा दी है। कोई तो माण्डूक्य के पश्चात् ऐतरेय उपनिषद् को बताते हैं, कोई तैत्तरेय को कहकर तब एतरेय को कहते हैं। अधिकांश तैत्तरेय को कहकर तब एतरेय को कहा करते हैं। आपकी आज्ञा हो, तो मैं भी पहिले तैत्तरेय को ही कहकर तब एत्तरेय को कहूँ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मिश्री की ठिलिया में जिधर से भी मुँह मारो उधर ही मुख मीठा होगा। हमें तो कोई अन्तर पड़ता नहीं। चाहे आप पहिले एतरेय सुनावें या तैत्तिरीय। अच्छी बात है, तैत्तिरीय ही सुनाइये। इस उपनिषद् का नाम तत्तिरीय उपनिषद् क्यों पड़ा? तित्तिर या तीतर तो पक्षी होता है, पक्षी के द्वारा यह उपनिषद् कैसे कही गयी? पक्षियों को चैतन्य मन्त्रों की उपलब्धि कैसे हुई?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! ये मन्त्र ग्रहण करने वाले तीतर साक्षात् तीतर नहीं थे, बने हुए तित्तिर थे। इस सम्बन्ध में एक

कथा है जिसे पीछे मैं कई बार कह चुका हूँ, किन्तु प्रसंगानुसार उसे पुनः सुनाता हूँ। ऋषि-महर्षि तथा पुण्यश्लोक पुरुषों की कथाओं मे पुनरुक्ति नहीं मानी जाती। उसे जितनी भी बार चाहे सुनाओ। कहने वाले जितनी भी बार कहेंगे, सुनने वाले जितना भी बार सुनेंगे, श्रोता वक्ताओं को उतनी ही बार पुण्य की प्राप्ति होगी।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! पुण्यश्लोक पुरुषों की कथा तो जितनी ही बार सुनने को मिले उतनी ही बार पुण्यप्रद होती है, तभी तो हम आप से अनजान की भाँति प्रश्न कर देते हैं। हाँ तो सुनाइये कौन-सी कथा है ?"

सूतजी बोले—"महाराज, एक बार समस्त ऋषियों का समाज एकत्रित हुआ। उस ऋषि सभा मे एक प्रस्ताव पारित हुआ। "इस सभा की प्रत्येक पूर्णिमा को बैठक हुआ करेगी। जो ऋषि उस दिन आकर इस सभा मे सम्मिलित न होंगे, उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगेगा।" ब्रह्महत्या के पाप के भय से सभी ऋषि महर्षि उस पर्व के दिवस नियमित रूप से आने लगे। एक दिन किसी कार्य विशेष से भगवान् वेदव्यास के शिष्य 'निगद' नाम की यजुर्वेद संहिता के अध्येता महर्षि वैशम्पायनजी पर्व के दिन उस सभा में उपस्थित नहीं हो सके, ऋषियों का वचन तो पत्थर की लकीर के सदृश अमिट होता है, वे सत्य के उपासक होते हैं, उनकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं होती है। नियमानुसार वैशम्पायन मुनि को ब्रह्महत्या का पाप लग गया और उन्होंने सत्य की रक्षा के लिये उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

वे वेद की यजुर्वेद संहिता के एक मात्र अध्येता आचार्य थे, उनके पास यजुर्वेद पढ़ने बहुत से शिष्य रहते थे। कुछ छोटी अवस्था के थे, कुछ बड़ी अवस्था के भी थे। छोटी अवस्था के

विद्यार्थियों ने आकर विनीतभाव से आचार्य के चरण कमलों में प्रार्थना की—"गुरुदेव ! आप आज्ञा दें आपके बदले आपकी ब्रह्महत्या के पाप का हम प्रायश्चित्त करें, शिष्य जो होता है आचार्य का पुत्र ही होता है, पुत्र पिता की आत्मा से ही उत्पन्न होता है, अतः हम ही सब आपके बदले में प्रायश्चित्त करेंगे।"

शिष्यों का अत्यन्त आग्रह देखकर भगवान् वैशम्पायन ने उन्हें प्रायश्चित्त करने की अनुमति दे दी। वे प्रायश्चित्त करने लगे। वैशम्पायनजी के एक शिष्य याज्ञवल्क्य मुनि भी थे। ये महर्षि विश्वामित्र के पौत्र थे। विश्वामित्र की बहिन अजीगर्त मुनि को विवाही थी, उनके तीन पुत्र हुए, मध्यम पुत्र का नाम शुनःशेप था, उसे महाराज हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित अपने यज्ञ में यज्ञ पशु बनाने के लिये क्रय कर लाये थे। शुनःशेप बलिदान के भय से दुखी थे। तब उनके मामा विश्वामित्रजी ने उन्हें वरुण की स्तुति के मन्त्र बता दिये। उन मन्त्रों से यज्ञ के मुख्य देवता वरुण प्रसन्न हुए और उन्होंने शुनःशेप को विश्वामित्रजी को दे दिया। अर्थात् वे बलिदान से बच गये। देव द्वारा रात–अर्थात् दिया हुआ होने से उनका नाम देवरात हो गया, जब विश्वामित्रजी ने उससे अपने पिता के पास जाने को कहा तो, उसने कह दिया—(पाति-रक्षति) जो रक्षा करे वही पिता है। मेरे जनक ने तो मुझे बेच दिया था। आपने मेरी रक्षा की है, अतः धर्मतः आप ही मेरे पिता हैं। मैं आपको ही आज से अपना पिता मानता हूँ।

यह सुनकर विश्वामित्रजी बहुत प्रसन्न हुए उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाकर कहा—"इस देवरात को तुम अपना बड़ा भाई मानो"। पचास ने कहा—"हम तो इसे अपना बड़ा भाई नहीं मानते।" इस पर विश्वामित्रजी ने उन्हें म्लेच्छ हो जाने का

शाप दिया। जिन्होंने उन्हें बड़ा मान लिया, वे ब्राह्मण हुए। उनमें देवरात सबसे बड़े विश्वामित्र के पुत्र कहलाये। उन देवरात के ही पुत्र याज्ञवल्क्य मुनि हुए। याज्ञवल्क्य को देवरातजी ने यजुर्वेद पढ़ने के लिये वैशम्पायन मुनि के पास भेजा। ये अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण महर्षि के शिष्यों में प्रधान माने जाते थे। जिस समय प्रायश्चित्त वाला प्रस्ताव हुआ था, प्रतीत होता है, याज्ञवल्क्य मुनि उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थे। किसी कार्य विशेष से बाहर चले गये होंगे। जब वे लौटकर आये तो उन्होंने अपने छोटे छोटे गुरु भाइयों को कठोर प्रायश्चित्त करते हुए देखा।

उन्होंने आचार्य से पूछा—"गुरुदेव! ये छोटे बटु क्या कर रहे हैं?"

वैशम्पायन मुनि ने कहा—"भैया, ऋषि समाज के पर्व पर उपस्थित न होने के कारण मुझे ब्रह्महत्या का पाप लग गया है, उस पाप के प्रायश्चित्त के निमित्त ये मेरी ओर से व्रत कर रहे हैं।"

यह सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा—"भगवन्! ये बेचारे ब्राह्मण कुमार जो प्रायश्चित्त व्रत करने के कारण चरकाध्वर्यु नाम से कहे जाते हैं ये तो अल्पशक्ति वाले हैं, ये अल्पवीर्य क्या प्रायश्चित्त करेंगे? इन अल्पसार बच्चों के व्रत पालन से लाभ ही क्या हो सकता है? मैं परम शक्तिशाली आपका शिष्य हूँ। मैं अकेला ही आपके प्रायश्चित्त के निमित्त बहुत ही दुश्चर तपस्या करूँगा, कठोर व्रत करूँगा।"

प्रतीत होता है, याज्ञवल्क्यजी को अपनी तीक्ष्ण बुद्धि का, वेद ज्ञान का आवश्यकता से अधिक अभिमान हो गया होगा। गुरुदेव उनके अभिमानी स्वभाव के कारण मन ही मन उनसे असन्तुष्ट रहते होंगे। आज जब उन्होंने प्रत्यक्ष ही ऋषिकुमारों का अपमान किया और अभिमानवश अपने को सर्वश्रेष्ठ बताया, तो आचार्य

उनके इस व्यवहार से असन्तुष्ट हो गये। उन्हे क्रोध आ गया। उन्होंने कुपित होकर याज्ञवल्क्य मुनि से कहा—"बस, बहुत हो गया। अब विशेष बकवाद न करो। मैं जान गया तुम्हें अधिक अभिमान हो गया है, तभी तो तुम ब्राह्मण बालकों का इस प्रकार अपमान कर रहे हो। अब तुम तुम मेरे शिष्य रहने योग्य नहीं रहे। मुझे तुम्हारे जस शिष्यों की आवश्यकता नहीं। तुमने अब तक मुझसे जिन मन्त्रों का अध्ययन किया है। जो विद्या मुझसे पढी है, उसका शीघ्र से शीघ्र परित्याग करके मेरे आश्रम से तुरन्त चले जाओ।"

याज्ञवल्क्यजी उसी समय अभिमान त्यागकर गुरु के पैरों मे पड़ जाते, और विनीत भाव से अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करते, तो बात न बढती, किन्तु उन्हें भी क्रोध आ गया, कि एक तो मैं घोर तप करके इन्हें पाप से मुक्त करना चाहता हूँ। तिस पर भी ये मुझे विद्या का परित्याग करके चले जाने को कह रहे हैं, यह सोचकर वे भी आपे से बाहर हो गये। वे विश्वामित्रजी के पौत्र और देवरात मुनि के पुत्र थे, अतः उन्होंने आचार्य की आज्ञा पाते ही योग विद्या द्वारा उनके उदर के भीतर जितने भी गुरु के दिये हुए चेतन्य मन्त्र थे, उन्हे उगल दिया। वे दिव्य मन्त्र थे। क्रोध से उगले गये मन्त्र जैसे पृथ्वी पर पडी हुई पारे की बिन्दु इधर-उधर लुढकती हैं, वैसे ही वे दिव्य मन्त्र पृथ्वी पर लुढकने लगे। योगेश्वर याज्ञवल्क्य योग द्वारा मन्त्रों को उगलकर गुरु को प्रणाम करके तुरन्त उनके आश्रम से बाहर हो गये।

अब उन दिव्य मन्त्रों को इस प्रकार लुढकते देखकर कुछ मद बुद्धि विद्यार्थी जो तप स्वाध्याय से घबडाते थे, ललचाने लगे, कि किसी प्रकार हमे ये दिव्य मन्त्र प्राप्त हो जाते। किन्तु दूसरों द्वारा वमन की हुई वस्तु का खाना धर्म शास्त्र में निषेध है। मनुष्य

शरीर से तो वे उन्हें ग्रहण कर नहीं सकते थे। अतः गुरु का संकेत पाकर वे योगबल से तित्तिर–तीतर–बन गये और सब मन्त्र उन्होंने चुग लिये। मन्त्र तो वे दिव्य ही थे। परम्परागत प्राप्त थे, किन्तु वे तपस्या द्वारा प्राप्त नहीं किये गये। लालचवश बिना श्रम के प्राप्त हुए। इसीलिये बुद्धि की मलिनता से वे कृष्ण हो गये। अतः कृष्ण यजुर्वेद की वह शाखा तैत्तिरीय शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

याज्ञवल्क्य मुनि ने निश्चय कर लिया, अब मैं मनुष्य को गुरु नहीं बनाऊँगा, भगवान् सूर्य की आराधना करके ऐसे मन्त्र प्राप्त करूँगा, जो मेरे गुरु के भी पास न हों। उन्होंने घोर तपस्या द्वारा सूर्य को प्रसन्न किया। सूर्यदेव ने अश्वरूप से उन्हें मन्त्रों का उपदेश दिया जो शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा है, उसके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यक है। उस तैत्तिरीय आरण्यक के दश अध्याय हैं। उस आरण्यक के जो सातवें, आठवें और नवें अध्याय हैं, वे ही तैत्तिरीय उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः अब उसी तैत्तिरीय उपनिषद् का आरम्भ किया जाता है। उपनिषदों के आदि अन्त में शान्ति पाठ करने की प्राचीन प्रथा है। इस उपनिषद् में वे ही मन्त्र तो शान्ति पाठ में हैं और वे ही पहिली शिक्षा वल्ली के प्रथम अनुवाक में हैं। अतः इसे शान्ति पाठ और प्रथम अनुवाक दोनों ही समझना चाहिये।

पहिले परब्रह्म परमात्मा का वाचक जो ओंकार है, उसी का आदि में उच्चारण करके सर्वरूप परब्रह्म परमात्मा की सूत्रात्मा वायु के रूप में प्रधानता से प्रार्थना की गयी है। भिन्न भिन्न नाम, भिन्न भिन्न रूप उन्हीं के हैं। वे अवयवी हैं और ये सब देवगण अवयव हैं। अतः—

मित्र देव हमारे लिये कल्याणकारक हों।
वरुणदेव हमारे लिये कल्याणकारक हो।
अर्यमा पितर हमारे लिये कल्याणकारक हों।
इन्द्र देवराज हमारे लिये कल्याणकारक हो।
बृहस्पति देवगुरु हमारे लिये कल्याणकारक हो।
उरुक्रम वामन विष्णु हमारे लिये कल्याणकारक हो।

परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है।
हे वायुदेव ! आपके लिये नमस्कार है।

हे वायु देव ! आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म स्वरूप हैं।
इसलिये हे वायुदेव ! मैं तो आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा।
हे वायुदेव। मै तो आपको ही प्रत्यक्ष ऋत कहूँगा।
हे वायुदेव ! मै तो आप ही को प्रत्यक्ष सत्य कहूँगा।

इसलिये आप मेरी रक्षा करो। मेरे जो आचार्य वक्ता गुरुदेव हैं, उनकी भी रक्षा करो देखिये मेरी रक्षा करना, भला-भूलियेगा नहीं फिर याद दिलाता हूँ, मेरे वक्ता गुरु की भी रक्षा करना।

आधिभौतिक विघ्नो की शान्ति हो।
आधिदैविक विघ्नो की शान्ति हो।
आध्यात्मिक विघ्नों की शान्ति हो।

इस प्रकार यह शान्ति पाठ भी हुआ और तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षा-वल्ली का प्रथम अनुवाक भी समाप्त हुआ।

दोहा

मित्र देव कल्याण मम, कीजे मित्र समान।
जो अपान अरु रात्रिपति, वरुण रखे मम ध्यान॥
चक्षु सूर्य मडप अधिप, करें अर्यमा शान्ति।
बल वायू के अधिप जो, इन्द्र मेटि मम भ्रान्ति॥

वाक् बुद्धि के अधिप हो, देव बृहस्पति आप।
करें सदा कल्याण मम, मेटें दुख सन्ताप॥
वायुदेव ! सर्वज्ञ तुम, पुनि-पुनि करूँ प्रनाम।
ब्रह्मदेव प्रत्यक्ष तुम, कहूँ ब्रह्म तव नाम॥
तुम्हें सत्य अरु ऋत कहूँ, रक्षा करि मम नित्य।
वक्ता की रक्षा करो, आपु देव हैं सत्य॥
मेरी अरु आचार्य की, रक्षा कीजे देव।
त्रिविध ताप की शान्ति हो, पाईं ब्रह्म को भेव॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पाँच महासंहिताओं का वर्णन

[५७]

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सँहितायाउपनिषद् व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासँहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम् ॥*

(त० उ० शि० व० ३ अ०)

छप्पय

वर्ण, साम, सन्तान बल हु मात्रा बिनु शुद्धी।
वेद पाठ जे करें पाइँ फल नहीं कुबुद्धी॥
महासंहिता पाच कहीं अधिलोक अधिप्रज।
अधिज्यौतिष अधिविद्य और अध्यात्म सुनहु द्विज॥
पूर्वरूप पृथिवी कही, उत्तररूप हु स्वरग है।
सधि अकाश बतावते, वायु कही सन्धान है॥

---

* साथ साथ हम दोनो का यश बढे। साथ ही ब्रह्मवचस बढे। तदनतर सहिता के उपनिषद् का वर्णन करेंगे। वह पाँच अधिकरण स्थानों म है। उनके नाम अधिलोक अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म हैं। इन सबको महासहिता इस नाम से पुकारते हैं। पहिली अधिलोक सहिता है। इसका पृथिवी पूर्वरूप है। स्वर्ग उत्तररूप है, आकाश सन्धि है, वायु सधान है, यही अधिलोक सहिता है।

वैयाकरणों का सिद्धान्त है एक भी शब्द यदि भली-भाँति प्रयुक्त किया जाय, तो वह स्वर्गलोक मे तथा इस लोक में समस्त कामनाओं को देने वाला होता है (एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यक्-ज्ञातः स्वर्गेलोके च कामधुक् भवति) इसके विपरीत एक भी दुष्ट शब्द स्वर से या वर्ण से मिथ्या प्रयोग किया जाय, तो उस शब्द के यथार्थ अर्थ का अवबोधन नहीं करायेगा। वह वाक् वज्र होकर यजमान को ही मार डालेगा। जैसे इन्द्र शत्रु कहने से केवल त्वष्टा मुनि से एक स्वर का अपराध हो गया था, उसी के कारण वे पैदा तो ऐसा पुत्र करना चाहते थे, जो इन्द्र को मार डाले किन्तु उदात्त होने से पैदा ऐसा हो गया जिसे इन्द्र ने ही मार डाला। (दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽ-पराधात्) इसलिये लौकिक शब्दों मे कुछ त्रुटि रह भी जाय, किन्तु वैदिक शब्दों का उच्चारण बड़ी ही शुद्धता के साथ करना चाहिये। किस वर्ण को कैसे उच्चारण किया जाय इस विषय के शास्त्र को शिक्षा कहते हैं। सर्वप्रथम इसी बात की शिक्षा दी जाती है, कि वर्णों का उच्चारण कैसे किया जाय। इसमें ६ नियम हैं, वर्ण और स्वर का विचार, मात्रा और बल का विचार, साम और सन्तान का विचार। उच्चारण के समय ६ बातों पर ध्यान देना चाहिये, सबसे पहिले वर्णों की ही शुद्धि पर विचार करें जैसे सकृत् शब्द है इसे शकृत उच्चारण करो तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। सकृत् कहते हैं थोड़े को और शकृत् कहते हैं विष्ठा को। इसी प्रकार-स्वजन कहते हैं अपने आदमी को। श्वजन कहते हैं, कुत्ता के पुरुष को अर्थात् कुत्ता को। इस प्रकार तनिक से उच्चारण भेद से ही दूसरा अर्थ हो जाता है।

वर्ण दो प्रकार के होते हैं। क से लेकर ह तक तो व्यजन वर्ण

हैं और अ से लेकर अ तक स्वर वर्ण हैं। दोनों का ही उच्चारण शुद्ध होना चाहिये। तनिक भी व्यत्यय होने से अर्थ में गड़बड़ी हो जायगा। यह तो वर्ण शुद्धि की बात हुई।

दूसरी बात स्वर का है। स्वर तीन प्रकार के होते हैं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। एक ही शब्द को उदात्त स्वर में उच्चारण करो उसका दूसरा अर्थ हो जायगा, उसी को अनुदात्त में करो तो अन्य अर्थ का द्योतक होगा, स्वरित में करने से और ही। इसलिये ध्यान रखो कि उच्च, मध्य और निम्न स्वर में किसका उच्चारण करो। स्वर भेद उच्चारण में भारी दोष है।

वर्ण और स्वरों के अनन्तर मात्राओं की शुद्धाशुद्धि पर ध्यान देना चाहिये। मात्रा तीन प्रकार की होती हैं ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। जहाँ ह्रस्व मात्रा है वहाँ आपने दीर्घ उच्चारण कर दिया तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। इसलिये जहाँ ह्रस्व मात्रा हो वहाँ ह्रस्व का उच्चारण करो, जहाँ दीर्घ हो वहाँ दीर्घ का और जहाँ दूर से पुकारना हो वहाँ प्लुत का उच्चारण करो यही मात्राओं की शुद्धि का प्रकार है।

वर्ण, स्वर और मात्राओं के अनन्तर बल की शुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिये। किस शब्द पर किस वाक्य पर विशेष बल दिया जाना चाहिये यह बहुत सूक्ष्म भेद है। वर्णों के उच्चारण में उनकी ध्वनि को व्यक्त करने में जो प्रयास है, किस वर्ण पर कितना बल देना चाहिये यही बल कहलाता है। व्याकरण वाले इसी बल को प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के होते हैं। इसमें भी आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है और बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का। आभ्यन्तर प्रयत्न के भेदों के नाम १ स्पृष्ट, २. ईषत् स्पृष्ट, ३. विवृत, ४. ईषद् विवृत और ५. संवृत। इसी प्रकार बाह्य

प्रयत्न के भेदों के नाम ये हैं—१. विवार, २. संवार, ३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त, १०. अनुदात्त और ११. स्वरित।

इस प्रकार वर्ण, स्वर, मात्रा और बल (या प्रयत्न) को बता कर अब साम के सम्बन्ध में बताते हैं, कैसे वर्णों का समवृत्ति से उच्चारण करना चाहिये इसकी रीति सामगान करने वाले विद्वान् जानते हैं। उसी विधि से साम स्वर में गाना चाहिये।

अब वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और साम के अनन्तर सन्तान के सम्बन्ध में बताते हैं–संतान का अर्थ है संहिता। व्याकरण में इसे सन्धि कहते हैं। यह सन्धि पाँच प्रकार की होती है। १. स्वर सन्धि, २. व्यंजन सन्धि, ३. स्वादि संधि, ४. विसर्ग सन्धि और ५. अनुस्वार सन्धि।

१—स्वर सन्धि – जिसे अच् सन्धि भी कहते हैं, इसमें एक स्वर वर्ण सामने वाले वर्ण में संधित हो जाता है, मिल जाता है। जैसे—सुधी + उपास्य=सुद्ध्युपास्य। मधु+अरि=मद्ध्वरि। धातृ+अंश=धात्रंश। लृ+आकृति=लाकृति, आदि २।

२—व्यंजन सन्धि—जिसे हल् सन्धि भी कहते हैं–एक व्यंजन वर्ण सामने वाले वर्ण में मिलकर उसका दूसरा ही रूप हो जाता है। जैसे हरिः+शेते=हरिश्शेते। रामः+चिनोति=रामश्चिनोति, सत्+चित्=सच्चित्, आदि आदि।

३—विसर्ग सन्धि—इसमें विसर्ग के स्थान में कहीं सकार हो जाता है, कहीं ओकार हो जाता है, कहीं विसर्गों का लोप हो जाता है और कहीं विसर्ग के विसर्ग ही बने रहते हैं। जैसे दुः+सह=दुस्सह। कः+भवान=को भवान। हरिः+शेते=हरिश्शेते, हरिःशेते, आदि आदि।

४—स्वादि संन्धि—इसमें पद के अंत में जो सु है उसकी

सन्धि की जाती है। इसी प्रकार ५-अनुस्वार कहाँ ऊपर चढ़ जाता है, कहाँ म् रह जाता है इस प्रकार की सन्धियाँ होती हैं।

इस पर वर्णों का जो मिलान है उसी का नाम संहिता या सन्धि है। वही संहिता-दृष्टि जब लोक में व्यवहृत होती है-व्यापक रूप धारण करके लोक को अपना विषय बनाती है उसी का नाम महासंहिता है। व्याकरण मे सन्धि पाँच प्रकार की होती है। स्वर, व्यञ्जन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वार, इसीलिये व्याकरण मे पञ्चसंधि प्रसिद्ध हैं। ये ही पाँच सन्धि के आश्रय हैं। लोक मे जो पंच महासंधि या महासंहिता हैं उनके भी पाँच आश्रय हैं। उनके नाम :—१. लोक, २. ज्योति, ३. विद्या, ४. प्रजा और ५. आत्मा (शरीर)। व्याकरण की सन्धि मे चार भाग होते हैं—१. एक तो पूर्व वर्ण शब्द, २. दूसरा पर वर्ण शब्द, ३. तीसरा दोनों के मिलने पर बना रूप तथा-चौथा दोनों किस नियम से मिलते हैं इसका संयोजक नियम। इसी प्रकार लोक मे भी १. पूर्वरूप, २. उत्तररूप, ३. सन्धि और ४. सन्धान हैं। इतना समझ लेने पर जो १. अधिलोक, २. अधिज्यौतिष, ३. अधिविद्या, ४. अधि प्रजा और ५. अध्यात्म्य इसके समझने मे सुविधा होगी।

शौनकजी ने कहा—"हाँ तो सूतजी! तैत्तिरीय उपनिषद् के सम्बन्ध मे सुना, शांति पाठ भी सुना, प्रथम अनुवाक में भी वही बात है। अब द्वितीय अनुवाक मे क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! द्वितीय अनुवाक मे शिक्षा है, जिसे ऋषि ने शीक्षा कहा है। उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान इनकी शुद्धि पर बल दिया है अर्थात् स्वर और व्यजन दोनो वर्णों का यथावत् शुद्ध उच्चारण हो, जैसा जहाँ स्वर उपयुक्त हो उस शुद्ध स्वर में

बोला जाय, किस वर्ण पर कितना बल दिया जाय उसका ज्ञान करके वर्ण का उच्चारण हो, साम के नियमों के अनुसार उच्चारण हो, सन्तान अर्थात् सन्धि के ज्ञानपूर्वक उच्चारण हो। यही द्वितीय अनुवाक में उच्चारण की शिक्षा का संक्षिप्त विवरण है।"

शौनकजी ने पूछा—"तृतीय अनुवाक में क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"तृतीय अनुवाक में-श्रोता-वक्ताओं के यश और ब्रह्मतेज बढ़ाने की कामना की गयी है और अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्या, अधिप्रजा और अध्यात्म शरीर के विषय में इन पाँच अधिकरणों, संहिता के वर्णन की प्रतिज्ञा करके इसे महासंहिता नाम दिया गया है। इसमें सर्वप्रथम अधिलोक का वर्णन है।"

शौनकजी ने पूछा—"अधिलोक का वर्णन कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"प्रत्येक संहिता में चार बातें होती हैं, १. पूर्वरूप, २. उत्तररूप, ३. सधि और चौथा—सधान है। जैसे हरि+अश्व शब्द है। इसमें रकार में जो इकार है यह तो पूर्वरूप है, अश्व वाला अकार उत्तररूप है। इकार को यकार हो गया यह सधि है अब इन दोनों का सयोजन करने वाला जो सयोजक नियम है जिससे हयश्व सिद्ध हुआ है वही संधान है। इसी प्रकार इन पाँचों संहिताओं में यही बात लोक में समझ लेनी चाहिये। व्याकरण में तो शब्दों में सन्धि होती है। यहाँ लोक में इन सब पदार्थों से सन्धि होकर जगत् कार्य सम्बन्ध होता है। तृतीय अनुवाक में लोक सम्बन्धी उपासना कैसे करनी चाहिये इसी का वर्णन है। सम्पूर्ण लोकों के अभिमानी देवताओं की जो उपासना है—उनका कैसे ध्यान करना चाहिये—उसका जो वर्णन है—उस उपासना का नाम अधिलोक उपासना है। यह अधिलोक उपासना महासंहिता का प्रथम अवयव है।"

शौनकजी ने पूछा—"लोक में कौन पूर्वरूप है, कौन उत्तर-रूप, सन्धि तथा सधान है ?"

सूतजी ने कहा—"अधिलोक मे पृथ्वी तो पूर्वरूप है। ऊपर के स्वर्गादि लोक उत्तररूप हैं। इन दोनों की सन्धि आकाश है और वायु इनका सन्धान है अर्थात् सयोजक है। जिससे यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सिद्ध होता है। इसी रूप मे इस अधिलोक की उपासना करनी चाहिये। ध्यान धरना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"महासंहिता का द्वितीय अवयव कौन सा है ?"

सूतजी ने कहा—"दूसरी संहिता है अधिज्यौतिष।"

शौनकजी ने पूछा—"अधिज्योतिष का भाव क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"सूर्य, चन्द्र आदि जो ज्योतिमण्डल हैं, उनके अभिमानी देवताओं की उपासना कैसे करनी चाहिये इनके पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि और सन्धान का परिचय करना यही अधिज्यौतिष संहिता है।"

शौनकजी कहा—"तो हाँ बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ज्योति सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल और विद्युत में रहती है। दिन में सूर्य प्रकाश करते हैं, रात्रि मे वे अपने तेज को जल मे छोड़ जाते हैं। इसलिये कैसा भी अन्धकार हो जल के सहारे-सहारे चले जाओ तो तुम्हे प्रकाश प्राप्त होगा। दिन में भी अग्नि चन्द्र में विद्युत में प्रकाश होता है, किन्तु वह सूर्य के कारण फीका रहता है। रात्रि मे चन्द्र, अग्नि, विद्युत तथा जल में विशेष प्रकाश रहता है। विद्युत-बिजली-प्रकाश का कारण है। अतः अग्नि तो पृथ्वी पर परम सुलभ है, सर्व-व्यापक है, जहाँ चाहो उसे युक्ति से प्रकट कर लो। अतः इस दूसरी ज्योतिष संहिता का अग्नि पूर्वरूप है, सूर्य उत्तररूप है।

जल-मेघ-इन दोनों की सन्धि है और विद्युत-बिजली-इन सबका सन्धान (जोड़ने का हेतु) है। सूर्य और अग्नि अपना तेज जल को देते हैं। तेज से-अग्नि से-ही जल की उत्पत्ति है। इसलिये जल अपने पिता-अग्नि-के तेज का उत्तराधिकारी है और जल से ही विद्युत की उत्पत्ति होती है। अतः विद्युत को सूर्य, अग्नि तथा जल तीनों की सामर्थ्य प्राप्त है। विद्युत से सभी प्रकार के भौतिक विकास सम्भव हैं।"

शौनकजी ने कहा - "सूतजी ! आपने अधिलोक, अधिज्यौतिष संहिताओं का तो वर्णन कर दिया-अब तीसरी अधिविद्या संहिता का वर्णन और कीजिये।"

सूतजी ने कहा -भगवन ! विद्या, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा से आती है। आचार्य जब प्रवचन करता है, उसी को अन्तेवासी-विद्यार्थी हृदयंगम करता है। अतः अधि विद्या का पूर्वरूप तो आचार्य है, उत्तररूप अन्तेवासी-समीप में रहकर अध्ययन करने वाला शिष्य विद्यार्थी है। दोनों की सन्धि कराने वाली सन्धि विद्या है और उस सन्धि का हेतु-मुख्य कारण-सन्धान है, प्रवचन। यही विद्या विषयिणी तीसरी संहिता है।"

शौनकजी ने कहा—सूतजी ! आपने पहिली संहिता अधिलोक बतायी, दूसरी अधिज्यौतिष, तीसरी अधिविद्या अब आप चौथी संहिता अधिप्रजा का वर्णन और कीजिये।

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्रजा कहते हैं सन्तान को। सन्तान होती है माता-पिता के संयोग द्वारा, अतः माता इसका पूर्वरूप है, पिता उत्तररूप है, दोनों की सन्धि से उत्पन्न प्रजा सन्धि है और संयोगरूप प्रजनन क्रिया-सन्तानोत्पत्ति का हेतु कर्म-सन्धान है। यही चौथी अधिप्रजा संहिता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने अधिलोक अधिज्यौष,

अधिविद्या और अधि प्रजायें चार संहिता ये तो बता दी। अब पाँचमी अध्यात्म संहिता के सम्बन्ध में और बताइये।"

सूतजी बोले—"भगवन्! आत्मा शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। आत्मा शरीर को भी कहते हैं और इसका व्यवहार इन्द्रिय, अन्तःकरण, जीव तथा परमात्मा के लिये भी होता है। यहाँ आत्मा शब्द से शरीर का ही अभिप्राय है। शरीर में मुख्य अंग मुख ही है। मुख न हो समस्त शरीर व्यर्थ है शरीर का मुख्य भाग्य होने से ही यह मुख कहलाता है। मुख में प्रधानतया ऊपर नीचे का जबड़ा वाणी और जिह्वा ये ही मुख्य उपाङ्ग हैं। अतः अध्यात्म संहिता में नीचे का ओष्ठ जबड़ा यह तो पूर्वरूप है, ऊपर का जबड़ा उत्तररूप है। दोनों के मिलने पर सिद्ध होने वाली वाणी ही सन्धि है और इन दोनों के मिलने से उत्पन्न होने वाली वाणी का हेतु-कारण-जिह्वा ही संधान है। यही अध्यात्म संहिता है। ये पाँचों संहिता मिलकर ही महासंहिता कहलाती हैं। ये ही जगत् का कारण हैं। इसी रूप में इनकी उपासना करनी चाहिये, ध्यान करना चाहिये। जो मनुष्य पीछे बतायी हुई रीति से इन महासंहिताओं को जान लेता है उसे इस लोक में किसी वस्तु की कमी नहीं रहती उसे सन्तानों की प्राप्ति होती हैं, सुन्दर सुन्दर पशुओं की प्राप्ति होती है, ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है तथा अन्न वस्त्रादि भोग्य सामग्रियों की प्राप्ति होती है तथा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। यह मैंने आपसे पंचसंहिताओं महासंहिताओं का वर्णन किया। अब आप आगे क्या आज्ञा देते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अब हमें पुनः आप प्रणव द्वारा प्रभु की प्रार्थना करने का प्रकार बताने की कृपा करें।"

सूतजी ने कहा—भगवन्! तैत्तिरीयउपनिषद् के चतुर्थ

अनुवाक मे इसी का वर्णन है, इस प्रकरण को मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

अधिज्यौतिष को अग्नि पूर्वरूपहु रवि उत्तर।
नीर संधि संधान कही बिजुरी अति सुन्दर॥
अधिविद्या को पूर्वरूप आचारज जानो।
उत्तररूप सुछात्र सन्धि विद्या पहिचानो॥
सधानहु प्रवचन कह्यो, अधिप्रज सुनि जो वेद मुख।
मातु पूर्व उत्तर पिता, सन्धि प्रजा सधान सुख॥

अब मुनिवर! अध्यात्म संहिता सुखद सुनाऊँ।
आत्मा तनु के अर्थ आत्म अधि भेद बताऊँ॥
तन में मुख ही मुख्य अधर हनु पूर्वरूप मुनि।
उत्तर हनु ही अपर, सन्धि वच जिह्वा कारन॥
महासंहिता पाँच जे, जाने सो सब पाइगो।
ब्रह्मतेज, पशु, अन्न, धन, अन्त स्वरगमहँ जाइगो॥

प्रणव प्रार्थना और हवन विधि

[५८]

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्।
शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा।
कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः।
श्रुतं मे गोपाय ॥❀

(तै० उ० ४ अनु०)

छप्पय

प्रणवरूप हे इन्द्र ! वेद में ऋषभ बताये।
विश्वरूप हो अमृत वेद में प्रथम कहाये॥
मम मेधायत करो अमृतमय प्रभु कूँ धारूँ।
देह फूर्तियत होइ जीभ वच सरस उचारूँ॥
दोऊ काननि तैं अधिक, श्रवन करूँ भगवत चरित।
प्रभुनिधि धी लौकिक ढकी, मम श्रुत रक्षो करहु हित॥

❀ जो छन्दो (वेदो) मे सर्वोत्तम हैं, विश्वरूप तथा अमृत रूप हैं। जो वेदो मे प्रधानता से प्रकट हुए हैं। वे प्रणवरूप इन्द्र मुझे मेधा युक्त बना दें। हे देव ! मैं अमृत धारण करूँ, मेरी वाणी अत्यन्त मधुमती—मीठा बोलने वाली हो। दोनो कानो से (भगवत् कथा) अधिक सुनूँ। मुझे ब्रह्म के कोश रूप ढकी हुई मेधा को स्पष्ट करके प्रदान करें मैं जो भी सुनूँ उसे धारण करने की शक्ति प्रदान करें। श्रुतज्ञान की रक्षा करें।

प्राचीन काल मे आस्तिक पुरुष, भगवान के अनेक रूपों पर आस्था रखते थे। वे प्रत्येक कार्य के लिये प्रभु से ही प्रार्थना करत थ, वह कार्य चाहे इहलौकिक हो, अथवा पारलौकिक हो। उनका एकमात्र आश्रय भगवत् प्रार्थना ही हुआ करती थी। ससार बन्धन से कैसे छूटें यही एक मुख्य विषय था। विद्या उसी को कहते थे जो हमे मुक्ति का मार्ग दिखा सके। अपवर्ग का पथ बता सके।

प्राचीनकाल मे साक्षरता को विद्या नहीं कहते थे। जैसे चित्र बनाना, भवन बनाना, मूर्ति बनाना, कलायें हैं, वैसे ही पुस्तकों को लिखना, बाँचना एक कला मानी जाती थी। प्राचीनकाल मे लोग बहुत ही कम लिखते पढते थे। पत्रादि भेजने का प्रचलन नहीं था सब बातें दूतों द्वारा सम्वाद के रूप में भेजी जाती थीं। पुस्तकें पढने का भी प्रचलन नहीं था। लोग विद्वान् ब्राह्मणों से राय, भाट, सूत, मागधों तथा इतिहास सुनाने वालों से सुना करत थे। उन दिनों श्रवण ही मुख्य माना जाता था।

सबको अक्षर ज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं था। सब पढ़ने जायँ यह भी अनिवार्य नहीं था। वेतन भोगी अध्यापक या तो होते ही नहीं थे, जो होते भी थे, वे हेय दृष्टि से देखे जाते थे। अक्षर ज्ञान को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। विद्या परम्परागत थी और वह एक दूसरे से श्रवण करके-सुनकर-ही धारण की जाती थी। उन दिनो सदाचार शुचिता यम, नियमादि पालन पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। ज्ञाननिष्ठ श्रोत्रिय आचार्य अपने स्थान पर ही छात्रों को विद्यादान देते थे। आचार्य के ज्ञान की, सदाचार तथा तप स्वाध्याय की ख्याति सुनकर दूर-दूर से छात्रगण उनके समीप विद्याध्ययन के लिये आते थे। आचार्य उनसे किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेते थे। घर से

भोजन मँगाने को भी नहीं कहते थे। ऐसा सभव ही नहीं था। सभी द्विजों के-विशेषकर ब्राह्मणों के प्रज्ञावान् छात्र गुरुकुलों में पढने जाते थे। उनके आस-पास अग्निहोत्री द्विजगण रहते थे। उनके लिये यज्ञ की ही भाँति अतिथि पूजन, नृयज्ञ आवश्यक होता था। जब तक भिक्षोपजीवी-जिनकी आजीविका एक मात्र भिक्षा ही है, उनको भिक्षा नहीं दे लेते तब तक वे स्वय भोजन ही नहीं करते थे। ब्रह्मचारी और सन्यासी ये दो भिक्षोपजीवी हैं। यद्यपि वानप्रस्थी भी भिक्षोपजीवी ही है, किन्तु वह गृहस्थियों से भिक्षा न माँगकर वन के वृक्षों से ही भिक्षा माँगता था। ग्राम में नगर में-वह भिक्षा के हेतु प्रायः नहीं आता था। गृहस्थी लोग ब्रह्मचारियों को भिक्षा बडे आदर, सत्कार और प्यार से देते थे। शास्त्रों म विद्याध्ययन करने वाल ब्रह्मचारियों को भिक्षा देने की बडा प्रशसा है, उसका अनन्त माहात्म्य है। जिसकी भिक्षा ब्रह्मचारी के उदर मे जाकर जीर्ण हो, उसी भिक्षा के सहारे जो विद्यार्थी अध्ययन करे। ऐसे भिक्षादाता को अनन्त पुण्य होता है। वह अपने १० पीछे के और १० आगे के कुलों का उद्धारक माना जाता था।

एक तो महान् पुण्य के लोभ से सद्गृहस्थ ब्रह्मचारियों को भिक्षा देते थे, दूसरे उनके भी बच्चे तो गुरुकुलों में गये हुए होते थे। वे भी किसी के द्वार पर भिक्षा माँग रहे होंगे। यदि उन्हे कोई भिक्षा न दे तो माता-पिता को कितना कष्ट होगा, अतः माता पिता घर पर आये हुए ब्रह्मचारियों को अपने पुत्र के ही समान मानते थे, ब्रह्मचारियों को देखते ही उन्हे अपने पुत्रों की स्मृति आ जाती। प्रत्येक घर से एक एक, दो दो रोटी ब्रह्मचारी को देना किसी को अखरता नहीं था। फिर बडे-बडे आचार्यों के दर्शनों को धनी मानी, सेठ साहूकार, राजा मह-

राजा आते ही रहते थे। वे आचार्य को भेंट चढ़ाते। वह भी सब विद्यार्थियों के ही काम आती। गुरुमातायें अपने यहाँ जितने भी ब्रह्मचारी रहते सबको पुत्रवत् मानती थीं। उनके सगे पुत्र ब्रह्मचारियों के साथ ही रहते, पढ़ते और भिक्षा माँगने जाते। गुरु और गुरुआनी अपने सगे बच्चों मे और अन्य ब्रह्मचारियों में भेद भाव नहीं करते, जो वस्तु आती सब मे समान भाव से बाँट दी जाती। एक-एक आचार्य के पास दश-दश सहस्र छात्र रहते। उन सबके भरण पोषण का उत्तरदायित्व आचार्य पर ही रहता। चाहे राजपुत्र हो या निर्धन पुत्र सब समान भाव से गुरुकुल में रहते। जिसके यहाँ कम से कम दश सहस्र छात्र न हों, वह कुलपति कहलाता ही नहीं था। जिसके पास जितने ही अधिक ब्रह्मचारी हों, वह उतना ही श्रेष्ठ आचार्य माना जाता था। इसलिये आचार्यगण अपने यहाँ अधिक से अधिक ब्रह्मचारी आवें, इसके लिये प्रयत्न किया करते थे। वे उसके लिये विज्ञापन करते हों, या कोई आन्दोलन चालू करते हो, सो बात नहीं, उसके लिये वे प्रभु से प्रार्थना करते। अग्नि स्वरूप ब्रह्म से प्रार्थना करते हुए इस निमित्त अग्नि मे हवन करते। उन दिनों आस्तिक पुरुष सब कामनायें भगवान् से ही प्रार्थनापूर्वक करते थे। शरीर स्वस्थ रखने को, बुद्धि, स्मृति, मेधा, धारणादि बढ़ाने को, ऐश्वर्य के लिये, लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति के लिये अग्नि मे हवन करते, प्रभु से प्रार्थना करते, यही प्राचीन वैदिक ऋषियों का सदाचार था।

सूतजी कहने लगे—"द्विजवर! आपने प्रणव की उपासना के सम्बन्ध में पूछा था। सो प्रणव रूप परमेश्वर से यही प्रार्थना करे। परमेश्वर और प्रणव में वही सम्बन्ध है जो खड्ग में और कोश (म्यान) में है। तलवार म्यान के भीतर रहती है तलवार दिखायी नहीं देती, म्यान ही दिखायी देती है। अतः म्यान को

अपनाने से तलवार अपने आप अपनी हो जायेगी। इसीलिये प्रणव से प्रार्थना करनी चाहिये—"हे विश्वरूप प्रणव ! आप वेदों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अर्थात् वेदों के जनक हैं। वेदों में से प्रणव को निकाल दो तो उनमें प्राण नहीं रहेगा। आप वेदों के प्राणस्वरूप हैं। आप विश्वरूप हैं, अमृत स्वरूप हैं, वेदों में प्रधान रूप से आप ही गाये गये हैं। आप इन्द्र हैं अर्थात् सबके स्वामी हैं। मुझे मेधा से सम्पन्न करा दो। हे देव ! जो परमात्मा अमृतमय हैं उन्हें मैं धारण कर सकूँ ऐसी शक्ति मुझे प्रदान करें। मेरी बुद्धि को, मेधा को, धारणा को विशुद्ध बना दें।"

बुद्धि के साथ ही साथ मुझे शारीरिक स्वास्थ्य भी प्रदान करें। मेरे शरीर में आलस्य न आने पावे। आलस्य ही शरीर-धारियों का परम शत्रु है। अतः मेरे शरीर में सदा विशेष स्फूर्ति बनी रहे। मेरी जिह्वा कभी कड़वे वचन असत्य वचन, कठोर वचन न बोले। मेरी वाणी मधु से भी अधिक मीठी-मधुमयी-सुमधुरभाषिणी हो। मेरे दोनों कान बहरे न हों, अन्त तक भली-भाँति सुनते रहें। भगवत् चरित्रों को ही सुनने वाले हों। हे प्रणव देव ! तुम लौकिक बुद्धि से ढके हुए ब्रह्म के कोश (म्यान) समान हो। मैंने गुरु द्वारा अब तक जो ज्ञान सुना है, जो उपदेश श्रवण किये हैं, उन उपदेशों की रक्षा करो। अर्थात् वे उपदेश मुझे भूलें नहीं।

इस प्रकार श्रेयस्कामी साधक ब्रह्मवाचक प्रणव की प्रार्थना करे। उससे बुद्धि की विशुद्धता के निमित्त विनम्र बनकर विनती करे।

शौनकजी ने पूछा—"जिन्हें ऐश्वर्य की कामना हो, वे भगवान की विनय कैसे करें ?"

सूतजी ने कहा—"विष्णु तो अनेक रूप रूपाय हैं। ऐश्वर्य

की अधिष्ठातृ देवी तो उनकी अर्धाङ्गिनी श्री देवी–लक्ष्मी देवी है। वे बिल्व के वृक्ष में रहती हैं, गौ के सूखे गोबर करीष में वास करती हैं। ऐश्वर्य की कामना वाले को बिल्व की समिधाओं से, बिल्व के फल और घृत के साथ श्री देवी के नाम से (आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणा चीरमात्मनः। वासांसि मम गावश्च। अन्न-पाने च सर्वदा। नतो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा इस मन्त्र से) आहुति दे। और प्रर्थना करे—"हे लक्ष्मी देवीजी! आप समस्त ऐश्वर्य की स्वामिनी हैं, मेरे लिये शीघ्र ही पहिनने को वस्त्र, दूध पीने को दुधारी गौ तथा भोजन को सुन्दर अन्न-पान सर्वदा प्रदान करती रहो। आप सब कुछ देने वाली हैं। उनका विस्तार करने वाली हैं,थोड़े को बढ़ा देने वाली हैं,जो नहीं हैं उनका निर्माण करने वाली हैं। सूती वस्त्र दो और ऊनी वस्त्रों के लिये रोएँ वाले पशु भेड़ बकरी भी दे देना। आप के भन्डार में सब कुछ पड़ा है,उस सर्ववस्तुयुक्त भंडारे के साथ मैं आपका आवाहन करता हूँ। आप समस्त श्री को मेरे निमित्त प्राप्त कराओ। इसी कामना से यह आहुति आपके निमित्त प्रदान करता हूँ।" इस प्रकार ऐश्वर्य की कामना वाला–सकामी पुरुष–श्री देवी के निमित्त हवन करे उनसे अखंड ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करे।"

शौनकजी ने पूछा—"यह तो आपने ऐश्वर्य की कामना वालों के निमित्त हवन और प्रार्थना का प्रकार बताया। अब ज्ञानदाता आचार्य कैसे हवन और प्रार्थना करे?"

सूतजी बोले—"भगवन्! आचार्यों की एकमात्र कामना यही होती है, कि मेरे पास मेधावी, उत्तम धारणा वाले, प्रज्ञावान विद्यार्थी ब्रह्मचारी आवें, अतः वे इन मन्त्रों से—(आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु

ब्रह्मचारिणः स्वाहा) अग्नि मे हवन करें और प्रार्थना करे—"हे प्रभो ! मेरे पास बहुत स ब्रह्मचारी आवें। जो ब्रह्मचारी आवें व सबके सब कपट शून्य-निष्कपट हो। व सब ब्रह्मचारी प्रामाणिक ज्ञान को ग्रहण करने वाले हो। वे सबके सब इन्द्रियों का दमन करने वाले हो। वे ब्रह्मचारी मन को वश मे करने वाले—शम, दम गुणों से सम्पन्न हो।'

फिर अपने निमित्त इन मन्त्रों से (यशोजनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। त त्वाभग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्र शाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा) हवन करे। और प्रार्थना करे—"मैं आचार्यों मे यशस्वी होऊँ। जगत् मे जो महान् धनवान हैं, दान, धर्मादि के कारण जगत् मे उनका यश फैलता है, मेरा यश उनसे भी अधिक फैले। मैं जगत् मे सबसे बडा यशस्वी धनी होऊँ। हे भगवन् ! आप समस्त ऐश्वर्य, समस्त वीर्य, समस्त यश, समस्त श्री, समस्त ज्ञान और समस्त वैराग्य के निधान हो। ऐसे आपमे मैं प्रविष्ट हो जाऊँ। हे भगवन् ! मैं आपमें प्रविष्ट हो जाऊँ आप मुझमे प्रविष्ट हो जायें। हे भगवन् ! आपकी सहस्र शाखायें हैं, अनन्त शाखायें हैं, ऐसे सहस्र शाखा वाले आप मे गोता लगाकर-आप में निमग्न होकर—मे अपने को परम पावन-विशुद्ध-बना लूँ।

यह सब कब होगा, जब प्रज्ञावान् बहुत से ब्रह्मचारी ज्ञानार्जन के निमित्त मेरे समीप आवेंगे। इसलिये इन मन्त्रों से (यथाऽऽपः प्रवता यान्ति यथा मासा अहर्जरम्। एव मा ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व) हवन करे और प्रार्थना करे—'हे भगवन् ! जिस प्रकार पानी नीची भूमि से समुद्र मे जाता है। जैसे महीना दिनों का अन्त करने वाले सम्वत्सर मे जाकर मिल जाते हैं, वसे ही हे विधाता !

मेरे पास भी चारों ओर से ब्रह्मचारीगण आवें, आप ही सबके एकमात्र विश्राम हैं। मेरे सम्मुख अपने को प्रकाशित करो। मुझे दर्शन दो। मुझे अपने में मिला लो। आप मुझे प्राप्त हो जाइये।"

इस प्रकार आचार्य हवन करके प्रभु से प्रार्थना करें।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! व्याहृतियों को प्रयुक्त करके आचार्यगण उपासना करना बताते हैं, उसका प्रकार क्या है? कृपा करके इसे हमें बताइये।"

सूतजी ने कहा—भगवन्! तैत्तिरीयउपनिषद् के पञ्चम अनुवाक में इसी विषय का वर्णन है, उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

हे लक्ष्मी! मम हेतु अन्न, पट, गो-धन लाओ।
लोमयुक्त अज भेड सुखद सामान दिवाओ॥
कहैं—अचारज आइँ ब्रह्मचारी मेरे ढिँग।
ज्ञान ग्रहन निष्कपट वशी मन शम दम धारक॥
जल बहि नीचे नीरनिधि, जावै सवत् मास जिमि।
हे धाता! मम प्राप्त हों, आइँ ब्रह्मचारी हु तिमि॥

इति तैत्तिरीयउपनिषद् का चतुर्थ अनुवाक

—०—

व्याहृतियों द्वारा उपासना का रहस्य

[५६]

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः । मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका । महीयन्ते ॥*

(तै० उ० ५ अनु०)

छप्पय

व्याहृति द्वारा ब्रह्म उपासन अब बतलावें ।
भू भुव सुव तैं श्रेष्ठ चतुर्थी मह जतलावें ॥
वही आतमा ब्रह्म देवता अङ्ग कहावें ।
पृथिवी भू भुव अन्त-रिक्ष स्वः स्वर्ग जतावें ॥
महः आदित्य हिताहि तैं, महिमान्वित सब लोक हैं ।
भू अग्नि भुव वायु है, सुव सूर्य मह चन्द्र हैं ॥

---

* भू, भुव और स्व ये प्रसिद्ध तीन व्याहृतियाँ हैं, उनमें चौथी जो मह है उसे महाचमस्य ऋषि ने सर्वप्रथम जाना था, यही चौथी व्याहृति ब्रह्म है । वह सबकी आत्मा है । अन्य देवता सभी उसके अंग हैं । भू यह पृथ्वी लोक है, भुव अन्तरिक्ष लोक है, स्व यह स्वर्गलोक है, मह यह आदित्य लोक है यही स्वर्गलोक है । यह जो है वह आदित्य है । आदित्य से समस्त लोक महिमान्वित हैं ।

सात नीचे के और सात ऊपर के ऐसे चौदह लोक हैं। नीचे क सात लोक भू विवर कहलाते हैं, अर्थात् पृथ्वी के छिद्र। इसलिय नीचे के सात लोकों की गणना पृथ्वी के ही अन्तर्गत की जाती है। इस प्रकार भू आदि सात लोक ही हैं। तीन प्रजावन्त पुनरावृत्ति लोक कहाते है, तीन अप्रजावन्त अपुनरावृत्ति लोक कहाते हैं। एक महर्लोक मध्यवर्ती लोक है जो प्रजावन्त अप्रजावन्त दोनों है और पुनरावृत्ति और अपुनरावृत्ति है।

बन्धन का कारण जन्म है,जन्म होता है मिथुन होने से। अतः मिथुन धर्मी जीव भू भुव और स्वर्ग इन्हीं तीनों लोको में आते जातेरहते थे। बार-बार जन्म लेते हैं, बार-बार मरते हैं। इसीलिये य भू लोक, भुव लोक और स्वर्ग लोक तीनों ही पुनरावृत्ति लोक कहाते हैं। जो मैथुनधर्मी हैं वे इन्हीं लोको मे विचरते रहते हैं। स्वर्ग कामना से पृथ्वी पर यज्ञ, दान, तपस्या करो, स्वर्ग की प्राप्ति होगी और पुण्य क्षीण होने पर पुनः पृथ्वी पर ही जन्म होगा। इनमें आने जाने वालों की कभी मुक्ति नहीं होती।

महर्लोक ऐसा लोक है, जहाँ जाकर ऊर्ध्वगति हो जाती है। यद्यपि इस लोक मे भी मिथुन धर्मी ही जाते हैं, किन्तु वे ऐसे तपःपूत महर्षिगण होते हैं, कि किसी कारण विशेष से उनका जन्म भले ही हो जाय, नहीं तो वे प्रायः मुक्ति मार्ग के ही गामी होते हैं, इसलिये कि वे जो दार ग्रहण करते हैं, भोग के निमित्त नहीं करते, वे ब्रह्माजी की भाँति प्रजापति माने जाते हैं। तप, स्वाध्याय, संयम की साक्षात प्रतिकृति होते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन में जो कल्प प्रलय होती है, उसमे भू, भुव और स्व ये तीन ही लोक नष्ट होते हैं, प्रलय की अग्नि तीनों लोकों को जला देती है, स्वर्ग को जलाते समय उसकी लपटें महर्लोक तक

पहुँच जाती हैं, उस समय महर्लोक निवासी महर्षिगण महर्लोक को छोड़कर जनलोक में चले जाते हैं। इसलिये कल्प प्रलय के समय महर्लोक जलता तो नहीं किन्तु वह खाली हो जाता है। जन, तप और सत्य ये अप्रजावन्त अपुनरावृत्ति लोक हैं। इनमें ब्रह्मदेव को छोड़कर प्रजावन्त पुरुष वास नहीं करते। जन लोक में तो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी गण ही रहते हैं जिन्होंने जीवन पर्यन्त कभी स्त्री का स्पर्श नहीं किया-दार ग्रहण नहीं किया। तपलोक में ऐसे तपस्वी वानप्रस्थी रहते हैं, जिनका समस्त जीवन ही तपमय है। ब्रह्मलोक में सर्वस्व त्यागी, विरागी, संन्यासी, ज्ञानी रहते हैं। इन तीनों लोकों में गये पुरुष प्रायः पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते क्योंकि ये तीनों अपुनरावृत्ति लोक हैं। प्रायः इसलिये कहा, कि बहुत महान् पुण्य कर्म करने वाले अपने अद्भुत अलौकिक पुण्य कर्मों से ब्रह्मलोक तक पहुँच जाते हैं, उन्हें पुण्य क्षीण होने पर पुनः जन्म लेना पड़ता है, किन्तु जिन्होंने केवल पुण्य कर्मों ही द्वारा नहीं-ज्ञान द्वारा, विवेक विचार वैराग्य द्वारा इन लोकों को प्राप्त किया है, और ज्ञान की कुछ न्यूनता रहने के कारण उन्हें जन, तप या सत्य लोक की प्राप्ति हुई है, उनकी न्यूनता को ब्रह्माजी मेंटकर महाप्रलय के समय उन्हें अपने में लीन करके मुक्त बना लेते हैं। अतः स्वर्गलोक तक की उपासना तो प्रसिद्ध ही थी। महर्लोक की उपासना का प्रचार महाचमस के पुत्र महाचमस्य मुनि ने किया। अतः यह ब्रह्मोपासना ही है। ब्रह्म प्राप्ति का द्वार ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह संसार त्रित पर है। तीन वेद, तीन लोक, तीन देव, तीन प्राण और तीन व्याहृतियाँ ये त्रिगुणात्मक हैं। इनका उपासक तीनों लोकों में ही विचरण करता है। जो तीन से चौथी व्याहृति महः में प्रवेश कर जाता

है वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है। यही व्याहृतियों की उपासना का प्रकार है।

शौनकजी ने कहा—"तीनों व्याहृतियों द्वारा उपासना का प्रकार स्पष्ट रूप से समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"देखिये महाराज! भू, भुव और स्व ये तीन व्याहृतियाँ हैं। स्व व्याहृति को उपनिषद् में सुवः कहा गया है। अतः स्व के स्थान में हम भी उसे सुव ही कहेंगे। हाँ तो भू भुवः स्वः ये तीन व्याहृतियाँ प्रसिद्ध ही है। इन तीनों की अपेक्षा जो सर्वश्रेष्ठ व्याहृति है वह मह इस नाम से प्रसिद्ध है इसे महाचमस्य मुनि ने सर्वप्रथम जाना था।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी 'जाना था' इस कहने का तात्पर्य तो यह है, कि यह पहिले से रही होगी। जब यह पहिले थी ही तो व्यर्थ में महाचमस्य मुनि के नाम लेने की क्या आवश्यकता थी?"

सूतजी ने हँसकर कहा—"मुनिवर! आप भी ऐसी बात कहेंगे क्या? भगवन्! ज्ञान तो सब सनातन ही है। वेद के मंत्र भी सब सनातन हैं, पहिले ही से विद्यमान हैं। जिस महर्षि ने जिस मंत्र का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया—उसे जाना—वह ऋषि ही उस मंत्र का ऋषि माना जाने लगा। मंत्र में चार बातें जाननी आवश्यक होती हैं। यह मंत्र किस छंद में है, इसका कौन देवता है, कौन ऋषि है और यह मंत्र किस कार्य में विनियोग किया जाता है अर्थात् इसका व्यवहार यज्ञ के किस कर्म में होता है। छंद, देवता, ऋषि और विनियोग जानकर ही मंत्र का उच्चारण करना प्रशस्त माना जाता है। ऋषि का नाम न भी लो, तो मंत्र तो फल देगा ही क्योंकि मंत्र सनातन है। किन्तु ऋषियों का नाम पूजार्थ लेना ही चाहिये। ऋषियों की पूजा प्रतिष्ठा करना—

स्मरण करना यह भी उपासना का एक अङ्ग ही है। इसीलिये महाचामस्य ऋषि का नाम लिया क्योंकि लोक में सर्वप्रथम इन्होंने ही इसका साक्षात्कार किया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपका कहना यथार्थ है यदि हम मन्त्रों के साथ ऋषियों का नाम न लें, तो परम्परा ही छिन्न-भिन्न हो जायगी। हाँ तो आगे सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ, भगवन्! यह जो चौथी व्याहृति 'मह' है यही ब्रह्म है, यह तीनों व्याहृतियों की आत्मा है। अन्य देवता सब इसके अंग हैं यह सबकी अंगीभूत है। भू व्याहृति पृथ्वी-लोक की सूचक है। भुव व्याहृति अन्तरिक्ष लोक की सूचक है। स्व या सुव व्याहृति स्वर्ग लोक की सूचक है। मह जो चौथी व्याहृति है यह आदित्य लोक सूर्यनारायण लोक की सूचक है। क्योंकि आदित्य के द्वारा ही समस्त लोक प्रकाशित होते हैं, महिमान्वित होते हैं। अतः सूर्यनारायण ही समस्त लोकों के प्रकाशक हैं, पूज्य हैं, ज्येष्ठ हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। यह तो मैंने लोकों की बात बताई अब आप देवों के प्रतीक की बात सुनिये।"

भू जो व्याहृति है यह अग्निदेव का प्रतीक है। भुव व्याहृति वायुदेव का प्रतीक है। स्वः या सुव आदित्यदेव का प्रतीक है और चौथी व्याहृति मह चन्द्रमा का प्रतीक है। चन्द्रमा से ही समस्त ज्योतियाँ निकलती हैं, उन्हीं की महिमा से सब महिमान्वित होती हैं। भू अग्निदेव वाणी के अधिष्ठातृदेव हैं, भावों के व्यक्त करने वाली वाणी है वह भी ज्योति है। स्व वायुदेवता त्वचा के अधिष्ठातृदेव हैं, त्वक् इन्द्रिय स्पर्श को प्रकाशित करती है, यह भी ज्योति है। स्वः सूर्यदेवता चक्षु इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेव हैं। यह भी ज्योति है। मह चन्द्र है, चन्द्रमा मन के अधिष्ठातृदेव हैं। समस्त इन्द्रियों में मन ही मुख्य है। बन्ध और मोक्ष का कारण

मन ही है। मन के द्वारा ही इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित तथा महिमान्वित होती है। यही मन रूप ब्रह्म की देवरूप से उपासना की विधि है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने लोक, देव, वेद और प्राण चार प्रतीकों द्वारा उपासना का उल्लेख किया था। अब तक आपने लोक और देव की प्रतीकात्मक उपासनायें बतायीं। अब वेद प्रतीकात्मक उपासना और बताइये।"

सूतजी बोले - "भगवन! इसी प्रकार क्रम से वेदों को भी समझ लें। जैसे भू व्याहृति ऋग्वेद का प्रतीक है, भुव व्याहृति सामवेद का प्रतीक है स्व या सुव व्याहृति यजुर्वेद का प्रतीक है, चौथी मह व्याहृति वेदातीत साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का प्रतीक है। परब्रह्म परमात्मा ही से समस्त वेद महिमावान् होते हैं। समस्त वेदों में परब्रह्म परमात्मा की ही अनेक रूपों में महिमा गायी गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—"लोक, देव और वेद की प्रतीकात्मक उपासना तो बताई, अब प्राणों के सम्बन्ध में और बताइये।"

सूतजी ने कहा—"इसी प्रकार आप प्राणों के सम्बन्ध में भी समझ लें। भू जो व्याहृति है वह प्राण का प्रतीक है, भुव अपान का, स्व या सुव व्यान का और जो व्याहृति मह है वह अन्न का प्रतीक है। अन्न के द्वारा ही समस्त प्राण महिमा को प्राप्त होते हैं। अन्न न मिले तो प्राण निष्प्राण हो जाते हैं अतः अन्न ही ब्रह्म है। अन्न रूप में परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार भगवन् लोक, देव, वेद और प्राण ये चार हैं और चार व्याहृतियाँ, इस प्रकार एक एक के चार-चार भेद हैं। इसमें लोक में मेहलोक के रूप में, देव में चन्द्र के रूप में, वेद में ब्रह्म के रूप में और प्राण में अन्न के रूप में, ब्रह्म की मह व्याहृति के प्रतीक रूप में उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार जो चारों व्याहृतियों की

उपासना के भेद को भली-भाँति हृदयगम करके जान लेता है, समझ लेता है और इसी प्रकार से उनकी उपासना करता है, ध्यान करता है वही यथार्थ में ब्रह्म को जान लेता है। उसके लिये सभी देवता बलि समर्पित करते है अर्थात् वह समस्त देवताओं द्वारा पूजित होता है। सभी उसका स्वागत सत्कार और आदर करते हैं। यह मैंने व्याहृतियों द्वारा लोक, देव, वेद और प्राणों के प्रतीत द्वारा उपासना का प्रकार आपको बताया अब आप और क्या सुनना चाहते है ?"

शौनकजी ने कहा—"ब्रह्म की उपासना समीप से समीप प्रतीक द्वारा कैसे करनी चाहिये, इसी विषय को हम फिर से स्पष्ट रूप से सुनना चाहते हैं। अब तक आपने अङ्ग की उपासना बताई, अब अङ्गी ब्रह्म की उपासना का प्रकार फिर से बतावें।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्,तैत्तिरीय उपनिषद् के छठे अनुवाक मे उपास्य का स्वरूप बताकर जैसे अङ्गी की उपासना का प्रकार बताया है उसे मैं आप से आगे कहूँगा। आशा है आप दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

भू ऋग भुव है साम सुवं हिँ यजुवेद बखानो।
मह वेदनिमहँ ब्रह्म, ब्रह्म की महिमा मानो॥
भू व्याहृति ही प्राण अपान हु भुव कहलावै।
सुव व्याहृति है व्यान अन्न मह रूप लखावै॥
सूर्य, सोम, परब्रह्म, अरु, अन्न चारि ये ध्येय हैं।
चारि-चारि कूँ जानि जे, ते देवनि सुन गेय हैं॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का पंचम अनुवाक

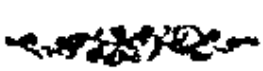

अङ्गी रूप में ब्रह्म की उपासना

[६०]

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः ।
तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः ॥*

(तै० उ ६ अनु०)

छप्पय

हृदय माहिँ आकाश मनोमय पुरुष विराजत ।
अमृत हिरण्मयदेव सुषुम्ना द्वार कहावत ॥
तालु मध्य जो काग कहें घाँटी ता भीतर ।
ब्रह्मरन्ध्र कचमूल निकसि हिय आवै ऊपर ॥
उभय कपालनि भेदि कें, इन्द्रयोनि सुषुमनि निकसि ।
भू भुव सुव मह अग्नि अरु, वायु सूर्य, ब्रह्महिँ प्रविसि ॥

गतियाँ तीन हैं, अधोगति, मध्यगति और ऊर्ध्वगति । इसलिये जब जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, तो नीचे के द्वार, मध्य के द्वार तथा ऊपर के द्वार कर्मानुसार इन तीनों ही द्वारों से निकलकर जाता है । अधःमार्ग से प्राण निकलेंगे, उनकी अधोगति होगी, मध्यम द्वार से प्राण निकलेंगे उनको मध्यगति

---

* वह परब्रह्म परमात्मा जो हिरण्मय है—प्रकाश स्वरूप है—अमृत है—अजर-अमर-अविनाशी है—मनोमय पुरुष है वह हृदय के भीतर जो आकाश है उसी में विराजमान रहता है ।

मिलेगी और ऊपर के द्वार से प्राण निकलने वालों को अपुनरावृत्ति गति ऊर्ध्वगति मिलेगी। वे फिर लौटकर इस जगत् में नहीं आवेंगे। अधः द्वार दो ही हैं मूत्र द्वार और मल द्वार। जिनके प्राण मूत्रेन्द्रिय द्वारा निकलते हैं, उनका मृत्यु के समय बहुत-सा वीर्य तथा मूत्र निकल जाता है, प्राण उसी मार्ग से बाहर होते हैं। जिनके प्राण मल द्वार से निकलते हैं, उनका मल फट जाता है, बहुत से मल के साथ प्राण बाहर निकल जाते हैं। ऐसे प्राणी नरकादि नीचे के लोकों में जाते हैं। यही अधोगति है।

मध्य द्वार सात हैं। दोनों आँखों के दो द्वार, दोनों कानों के दो द्वार, दोनों नासिकाओं के दो द्वार और एक द्वार मुख का। इस प्रकार सात द्वार हैं। इन मध्य के सात द्वारों से जिनके प्राण निकलेंगे, वे भू, भुवः और स्वर्ग इन्हीं लोकों में जायँगे। वे त्रिलोकी में ही घूमते रहेंगे, वे स्वर्गलोक से ऊपर के लोकों में जा ही कैसे सकेंगे।

ऊर्ध्व द्वार एक है, उसे सुषुम्ना द्वार कहते हैं। वह कपाल में होकर है, छोटे बच्चों के सिर के बीच में एक बहुत ही मुलायम स्थान होता है, हाथ रखने पर वह लुप-लुप करता हुआ प्रतीत होता है। अवस्था बढ़ने पर वह कड़ा हो जाता है। जहाँ से सिर के बाल निकलते हैं सिर के दोनों कपालों के बीच में जहाँ तालु के बीच में मांस का काग लटकता रहता है उसके भीतर से सुषुम्ना नाड़ी उस ब्रह्मरन्ध्र के द्वार तक जाती है, उसमें से यदि प्राण निकले। कपाल को फोड़कर दशम द्वार से प्राण बाहर हों, तो उस पुरुष की पुनरावृत्ति नहीं होती। या तो उसकी सद्य मुक्ति हो जाती है, अथवा क्रममुक्ति होती है। चाहे सद्यःमुक्ति हो अथवा क्रममुक्ति उसे पुनः देह धारण नहीं करना पड़ता। यही ऊर्ध्वगति है। साधकों के समस्त प्रयत्न इसी के निमित्त होते हैं, कि हमारे

प्राणों का उत्क्रमण-निकास-दशम द्वार से हो, जो किसी विरले ही भाग्यशाली का होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले पञ्चम अनुवाक में अङ्गभूत जो लोक, देव, वेद और प्राण हैं उनकी उपासना का प्रकार बताया। अब आगे जो साक्षात् अङ्गी हैं उस परब्रह्म परमात्मा की उपासना की पद्धति बताते हैं। सर्वप्रथम बताना यह है, परमात्मा को खोजने कहीं बाहर या दूर नहीं जाना पड़ता वह तो हमारे अत्यन्त ही समीप भीतर ही हृदयरूपी गुहा में विराजमान हैं। उनकी उपासना करना कोई कठिन कार्य नहीं है।"

भू, भुव और स्व तथा अन्य देवगण अङ्ग हैं और चौथी जो महः व्याहृति है जिसके अधिष्ठातृ हिरण्यगर्भ संज्ञक मनोमय ब्रह्म हैं वे अङ्गी हैं। वे रहते कहाँ हैं? यह जो हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह अमृतमय, मनोमय, हिरण्य पुरुष रहता है। अतः हृदय कमल के मध्य में निवास करने वाले परब्रह्म की प्रतीक रूप में उपासना करनी चाहिये।

शौनकजी ने कहा—"हृदय कमल में स्थित उस मनोमय, अमृतमय पुरुष की उपासना कैसे करनी चाहिये?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवान विष्णु की उपासना शालग्राम में की जाती है। शालग्राम विष्णु के प्रतीक हैं, इसी प्रकार हृदय कमल में एक अंगुष्ठमात्र आकाश है, उस आकाश में उपाधि से परिछिन्न की भाँति जो मनोमय आत्मस्वरूप परब्रह्म रहता है उसे भी अंगुष्ठमात्र पुरुष कहते हैं। वहीं जीवात्मा का निवास है, जीव वहाँ से ऊपर, नीचे, मध्य सभी द्वारों से जा सकता है। हृदय कमल के मध्य में जो हृदयाकाश है वहीं से सुषुम्ना नाड़ी नीचे को तो मूलाधार तक जाती है, ऊपर को दोनों तालुओं के बीच में जो छोटी गौ के छोटे स्तन के समान एक मांस पिंड-

सा लटकता रहता है जिसे लोक में काग अथवा घाँटी कहकर पुकारते है उसके भीतर होकर सुषुम्ना नाडी ऊपर की ओर जाती है। जहाँ केशो का मूल स्थान है जहाँ दो कटोरो के सदृश दो कपाल हैं, उन दोनों कपालो को भेदकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। ब्रह्मरन्ध्र को ही इन्द्रयोनि कहते है। इन्द्र का अर्थ है सर्वसमर्थ परब्रह्म, योनि का अर्थ है द्वार। उसे दशम द्वार कहो, ब्रह्मरन्ध्र कहो, इन्द्रयोनि कहो एक ही बात है। वह द्वार सर्वसाधारण लोगों का बद रहता है। जिन्होने योगाभ्यास नहीं किया है, उनके प्राण उस द्वार से निकल ही नहीं सकते। जिन्होंने यम नियमो का दृढता के साथ पालन करके प्राणायाम का सविधि अभ्यास किया है, वे ही मृत्युकाल में उस द्वार का भेदन कर सकते हैं और उसी द्वार से प्राणो का परित्याग करते हैं। सयमी साधक अन्तकाल मे दशम द्वार का भेदन करके उसके प्राण शरीर के बाहर निकलते है तो सर्वप्रथम तो वे भू व्याहृति के अधिष्ठातृ और अग्निदेव के लोक को जाते हैं, अर्थात् अग्निलोक मे प्रतिष्ठित होते हैं। फिर भुव व्याहृति के अधिष्ठातृ वायुदेव में प्रतिष्ठित होते हैं, पृथ्वी से लेकर सूर्यलोक पर्यन्त व्याप्त वायुदेव हैं उनके अधिकार में जाता है। फिर स्व व्याहृति के अधिष्ठातृ सूर्यदेव हैं उनके लोक मे जाता है, तदनन्तर महः नामक कहे हुए ब्रह्म में स्थिति हो जाता है, महत् पद को प्राप्त होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह ब्रह्म कैसा है? उसके कुछ स्वरूप का तो वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! वह ब्रह्म वर्णनातीत है। उसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता। फिर भी श्रुति ने उसे आकाश शरीर ब्रह्म कहा है। अर्थात् जिसका शरीर आकाश के सदृश

है। आकाश का कोई रूप, रंग, आकार-प्रकार नहीं। वैसा ही ब्रह्म का आकार-प्रकार रंग रहित स्वरूप है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म को प्राप्त उस पुरुष की स्थिति कैसी होती है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! कैसी स्थिति बताऊँ, गूँगे के गुड़ के समान है। गूँगा गुड खाकर उसके स्वाद का तो अनुभव करता है किन्तु उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। ब्रह्म में स्थित पुरुष स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है, फिर उसे किसी के अधीन नहीं रहना पडता, वह सर्वस्वतन्त्र बन जाता है, अर्थात् वह मन के अधीन न रहकर मन ही उसके अधीन बन जाता है। वह वाणी का, चक्षुओं का तथा कर्णों का स्वामी हो जाता है, और तो क्या वह विज्ञान का-बुद्धि का-भी स्वामी हो जाता है। अर्थात् इन्द्रियाँ, अन्तःकरण सभी उसके अधीन हो जाते हैं, वह सबका स्वामी हो जाता है। ब्रह्म का उपासक किसी के अधीन नहीं होता।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसा मानकर उस ब्रह्म की उपासना करें ?"

सूतजी ने कहा—"शौनकजी ! उपनिषद् के ऋषि ने प्राचीन योग्य नामक अपने शिष्य से कहा है—हे प्राचीन योग्य ! तू आकाश शरीर सदृश शरीर वाले ब्रह्म का, सत्तारूप सत्यात्म ब्रह्म का, इन्द्रिय प्राणादि सभी को विश्राम देने वाले प्राणाराम ब्रह्म का, मन आदि अन्तःकरण को आनन्द देने वाले मन आनन्द ब्रह्म का, शान्ति से सम्पन्न शान्ति समृद्ध ब्रह्म का, नित्य अमर अविनाशी ब्रह्म का ध्यान कर। उसी की उपासना कर। तेरा कल्याण हो जायगा।"

इस प्रकार अङ्गी रूप परब्रह्म की यह उपासना है। उस

अमृत स्वरूप, मनोमय पुरुष हिरण्यगर्भ की पहली व्याहृति भू उसके पैर हैं। दूसरी व्याहृति भुव उसके हाथ हैं। तीसरी व्याहृति स्व उसका सिर है और चौथी जो मह है वह हिरण्यगर्भ की आत्मा है। अर्थात् वह सर्वात्मा, सर्वव्यापक, परमानन्द स्वरूप, अमृतमय, परम पुरुष ही उपासना करने योग्य है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आकाश शरीर ब्रह्म की उपासना तो अत्यन्त सूक्ष्मतम है। अब साधारण बुद्धि वालों के लिये स्थूल उपासना बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्राह्मन! तैत्तिरीय उपनिषद् के सप्तम अनुवाक में स्थूल पृथ्वी आदिकों की पाङ्क्त स्वरूप करके—पञ्चाग्नि-उपासना का वर्णन है। अब आगे मैं उसी का वर्णन करूंगा। इसमें प्रथम भाग में आधिभौतिक पदार्थों को लोक, ज्योति और स्थूल इन तीन पंक्तिस्वरूप से अर्थात् तीन पंक्तियों में विभक्त करके उसका वर्णन किया गया है और द्वितीय भाग में शरीर स्थित प्राण, इन्द्रियाँ और धातु इन पदार्थों को तीन पंक्तियों में विभक्त करके वर्णन किया गया है। इन पाँचों पंक्तियों की पाङ्क्त संज्ञा है। उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

मललोक लहि पाइ स्वराज्यहिं मन को स्वामी।
घाक, चक्षु, अरु कान होई बुद्धि हु को स्वामी॥
मलदेह आकाश सरिस सत्ता स्वरूप है।
इन्द्रियादि जो प्राण सबनि विभाग रूप है॥
मनकूँ आनंदित करत, शान्ति समूह अमूर्त है।
तू प्राचीन सुयोग्य शिष, ताई गे दे चित्त है॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का षष्ठ अनुवाक

———

पृथ्वी आदि पञ्चक पंक्ति परिचय

[६१]

पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत मनो वाक् त्वक् । चर्म मा ँस ँस्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरोचत् । पाङ्क्त वा इद ँसर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्त ँस्पृणोतीति ॥*

(तै० उ० ७ अनु०)

छप्पय

अन्तरिक्ष, भू, स्वर्ग, दिशा उपदिशा पच ये ।
लोक पच विख्यात कहूँ अब ज्योति पच जे ॥
अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा नक्षत्र हु है ।
जल, ओषधि, आकाश, वनस्पति आत्मा तन है ॥
स्थूल पक्ति अधिभूत ये, पक्ति कहें अध्यात्म अब ।
प्राण, अपान, उदान अरु, व्यान, समान जि प्रान सब ॥

---

* पृथ्वी, अन्तरिक्ष स्वर्ग, दिशायें, अवा तर दिशायें ये पाच लोक पक्ति है । अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा नक्षत्र य ज्योति पक्ति हैं । जल,

यह सम्पूर्ण जगत प्रपञ्चात्मक है। पाँचो का विस्तार है। पचमय जगत् है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों भूतो से ही निर्मित जगत् के य सब पदार्थ हैं। इसीलिये इनकी प्रपञ्च सज्ञा है। सब पचो ने ही मिलकर यह निर्णय दिया है जगत् परिवर्तनशील है। इसीलिये शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य और विष्णु ये पच देव ही पूजनीय तथा उपास्य है। स्मार्त लोग पचदेवोपासक होते हैं। शरीर जिनके कारण टिका है व प्राण भी पाँच ही हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ भी पाँच हैं, कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच है, तन्मात्रायें भी पाँच है। यह अविद्या भी तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह पंचपर्वा ही है। इसमे पाँच ही गाँठे है। शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर ये रस भी पाँच ही है। इस प्रकार यह पचात्मक जगत् पचपर्वा अविद्या से ही बँधा हुआ है और इससे छुटकारा भी पचदेवों की कृपा से-पचक ज्ञान से-सम्भव है, अतः ऋषियों ने पचाग्नि तपादि साधनों से, ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, भक्तियोग तथा हठादि योगो से ही ससार की निवृत्ति बताई है। इसीलिये तैत्तिरीय उपनिषद् के सप्तम अनुवाक में पञ्चात्मक स्वरूप करके उपासना के विधान का वर्णन किया गया है, जो इस पञ्चात्मक उपासना के रहस्य को जान लेता है, वह पक्तिपावन पावन बन जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् अनेक रूपों वाले हैं,

ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश, और आत्मा (देह) य स्थूल पक्ति है, ये अधिभूत पक्तियाँ है, अब अध्यात्म पक्तियो को बताते हैं, प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान य प्राण पक्तियाँ है। चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी और त्वचा य करण पक्ति हैं, चर्म मांस, नाडी, हड्डी और मज्जा ये धातु पक्ति हैं। इसकी सम्यक् कल्पना करके ऋषि ने कहा। ये सब पाक्त हैं। पक्ति से ही पाक्त को पूर्ण करता है। इति।

इसीलिये उन्होंने इस स्थूल जगत् को भी अनेक रूपों वाला बनाया है। वास्तव मे तो वे अरूप हैं, कर्तृत्व भाव से रहित हैं, फिर भी उपासना के निमित्त उनके अनेक रूप कल्पित किये जाते हैं और अनेक उपासनाओं की कल्पना की जाती है। आपने मुझसे साधारण अधिकारियों के निमित्त पञ्चात्मक स्वरूप करके उपासना का स्थूल पृथ्वी आदिकों की उपासना का प्रकार पूछा—उसे मैं वैदिक ऋषि के मतानुसार आपको बताता हूँ। देखिये भगवन्! पाँच-पाँच की एक पंक्ति होती है। उनमें ३ पंक्तियाँ आधिभौतिक हैं और तीन अध्यात्मिक। यहाँ आत्म शब्द से देह का ही तात्पर्य है, अर्थात् तीन पंक्ति तो लौकिक हैं और तीन शरीर सम्बन्धी शारीरिक। इस प्रकार ६ पंक्ति हैं। लोकपंक्ति, ज्योतिपंक्ति और देहपंक्ति ये तीन अधिभूत पंक्तियाँ हैं और प्राणपंक्ति, करणपंक्ति और धातुपंक्ति ये तीनों ही अध्यात्मपंक्ति हैं। ये छैऊ महापंक्ति कहलाती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इस विषय को तनिक स्पष्ट करके समझाइये आपने जो (१) लोकपंक्ति (२) ज्योतिपंक्ति (३) आत्मपंक्ति (४) प्राणपंक्ति (५) करणपंक्ति और (६) धातुपंक्ति ६ पंचक या पंक्तियाँ बतायी हैं, इनमे से पहिले लोकपंक्ति को समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशायें और अवान्तर दिशायें ये पाँच लोकपंक्ति है। अर्थात् इन पाँचों के मिलने से ही लोक निर्मित हुए हैं। यह भी भगवान् का एक रूप है। भू देवी विष्णु भगवान् की पत्नी हैं। इस पृथ्वी देवी के समुद्र ही वस्त्र हैं, पर्वत ही इन मातेश्वरी के स्तन हैं। इन भगवती के सहस्रों नाम हैं। कहीं पर मधु कैटभ के मेद से निर्मित होने से इनका नाम मेदिनी बताया है, कहीं भगवान् विराट् के रोम

कूपों के मल से निर्मित इन्हें बताया है। सृष्टिकाल में ये प्रकट हो जाती हैं, प्रलयकाल में विलीन हो जाती हैं। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड इन्हीं के अन्तर्गत है। चतुर्दश भुवनों में ये ही व्याप्त हैं। गोलोक, वैकुण्ठलोक को छोड़कर सभी इसी के अन्तर्गत हैं। इसके ही तीन विभाग हो गये हैं। जिस पर ग्राम, नगर, पर्वत, नद, नदी, सागर आदि हैं इसे पृथ्वी कहते हैं। जो पोल है, अवकाश है, जहाँ सूर्यचन्द्र हैं उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। सुमेरु के शिखर से ऊपर जो दिव्यलोक हैं, उन्हें स्वर्ग कहते हैं। जिनमें सूर्य की किरणें छिटकती हैं, इधर-उधर प्रकाशित होती हैं उन्हें ऊपर नीचे, बायें दायें जानने को दिशा कहते हैं और उन दिशाओं के कोणों में जो हैं उन्हें उपदिशा या आन्तरदिशा कहते हैं। वास्तव में यह लोकपंक्ति पृथ्वी का ही विस्तार मात्र है। भगवान् विष्णु ने ही पृथ्वी से रमण करने के अनन्तर उनकी पूजा की। ये भगवान की अर्धाङ्गिनी हैं अतः विष्णु पत्नी रूप में इनकी उपासना करनी चाहिये। अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशा और उपदिशा इन्हीं के विस्तृत रूप हैं। यह स्थूल लोकपंक्ति उपासना है।"

शौनकजी ने पूछा—"ज्योतिपंक्ति क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये, भगवन ! जब तक ज्योति न होगी, तब तक लोक प्रकाशित कैसे होंगे, ज्योति वायु के बिना प्रकाशित नहीं हो सकती। ज्योति चार में ही प्रकाशित होती। अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में और नक्षत्रों में।"

शौनकजी ने कहा—"जल में भी तो प्रकाश होता है ?"

सूतजी ने कहा— "जल में प्रकाश अपना नहीं होता। जल तो अग्नि का पुत्र है। जल को प्रकाश अग्नि से उत्तराधिकार में मिलता है। प्रकाश तो अग्नि, सूर्य, चन्द्र और ताराओं में ही होता है और वायु प्रकाशक है। अतः ज्योति के अचल-स्थान अग्नि, वायु,

आदित्य, चन्द्र और नक्षत्र ही हैं। आकाश वायु के पश्चात् प्रत्यक्ष जन्म अग्नि का ही हुआ। आकाश और वायु ये दो इन चर्म चक्षुओं से प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते नहीं। अग्नि, जल और पृथ्वी ये तीन ही भूत अक्षिगोचर हैं। इन तीनों में प्रथम जन्मा अग्नि ही है। वायु इनके जनक हैं। वास्तव मे तो परम प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही है, उन्हीं से वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों को प्रकाश प्राप्त होता है। अतः इन पांचों को इन पंचात्मक स्थूल स्वरूप को ब्रह्म का ही रूप मानकर उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"अब सूतजी! आत्मपंक्ति के विषय में भी समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्, मैं कई बार बता चुका हूँ। आत्मा शब्द बहुत अर्थों का द्योतक है। यहाँ आत्मा शब्द से अभिप्राय देह से है। स्थूल देह पांचभौतिक होता है। वह जल, ओषधि, वनस्पति और आकाश का समूह है। इन सबका संहात स्वरूप अन्नमय देह है। कहना चाहिये अन्न, जल और आकाश द्वारा ही यह स्थूल देह निर्मित है। वनस्पति कहते हैं, जो फल पकने पर पेड़ सूख जाय। जैसे जौ, गेहूँ, चना, मटर आदि-आदि। वनस्पति बड़े वृक्षों को कहते हैं पीपर, पाकर, गूलर, आम, जामुन आदि। ये दोनों ही अन्न के अन्तर्गत आ गये, जो खाये जायँ उन सबकी अन्न संज्ञा है। जो पीया जाय वह पानी है, जिसमें रहा जाय वह पोल–रिक्त स्थान–आकाश है। अन्न, पान, अवकाश से निर्मित यह स्थूल देह है। अतः जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा ये ही सब मिलकर स्थूल पदार्थों की पंक्ति है। यह वर्णन आधिभौतिक दृष्टि से हुआ। अर्थात् यह जड़ पदार्थों की पंक्ति हैं। अब तीन अधि+आत्म=अध्यात्म शरीर के भीतर स्थित पंक्तियों को बतावेंगे। उनमें पहिली है

प्राणपंक्ति। एक ही प्राण के पाँच भेद हैं। जैसे (१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान और (५) व्यान। जो कंठ से नीचे हृदय प्रदेश में रहता है वह प्राण है। जो नाभि से नीचे गुदा स्थान में रहता है वह अपान है। जो नाभि और हृदय के बीच में नाभि में रहता है समान है, जो कण्ठ से ऊपर तक विचरण करके कण्ठ प्रदेश में रहता है वह उदान है और जो समस्त शरीर में व्याप्त रहता है वह व्यान है। इन पाँचों की प्राणपक्ति संज्ञा है। प्राणरूप में वे परब्रह्म ही प्राण अपान रूप से शरीर के भीतर रहकर चतुर्विध अन्न का परिपाक करते हैं, अतः इस पचक द्वारा प्राणरूप परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"अध्यात्म पक्ति में से दूसरी करण पंक्ति को समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन! करण इन्द्रियों का नाम है। इन्द्रि एक ही है। वही जब बाह्य कार्य करती हैं, बाह्यकरण कहाती हैं। भीतर कार्य करती हैं अन्तःकरण कहाती हैं। चक्षु, श्रोत, मन, वाक् और त्वचा इन पाँचों की करण पंक्ति है। इसमें कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों में ही भीतर बाहर की इन्द्रियों का समावेश हो गया। वाणी कहने से कर्मेन्द्रियाँ, चक्षु, श्रोत और त्वचा कहने से ज्ञानेन्द्रियाँ और मन कहने से अन्तःकरण चतुष्टय समझना चाहिये। यह ब्रह्म की करणपक्ति है। इन्द्रियों में भगवान् ने अपने को मन बताया है। करणं कारणं कर्ता। ये भी भगवान् के नाम हैं। देह के भीतर रहकर इन्हीं के द्वारा कार्य सम्पन्न होते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी अध्यात्म की तीसरी पंक्ति और दोनों की छठी पक्ति जो धातु पंक्ति है उसका वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा इन

पाँचो की धातुपंक्ति संज्ञा है। वैसे रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र सात धातुयें बतायी है। चर्म और नस नाड़ी का समावेश धातु मे नहीं किया गया है। किन्तु यहाँ देह के भीतर की सभी की धातु सज्ञा कही गयी है और रस, रक्त, मेद, वीर्य सबको तीनो के ही अन्तर्गत मानकर पांचों की धातु पंक्ति संज्ञा दी गयी है। इनमे सुषुम्ना नाड़ी है वही ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ये ६ पंचक पंक्तियाँ बतायी तो सही। इनको आपने अधिभूत और अध्यात्म संज्ञा भी दी। किन्तु हमारा समझ मे यह बात नहीं आई कि इन छैः में अन्तर क्या है। स्थूल, सूक्ष्म दोनों ही पंचकों में हैं। पहिले पंचक पृथ्वी को छोड़कर अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशा तथा उपदिशा दिखायी नहीं देती इन्हे स्थूल कैसे मानें। जिनको अध्यात्म शरीर के भीतर बताया है, उनमे पंच प्राण तो सूक्ष्म हैं, त्वचा, चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी ये तो स्थूल हैं, दीखती हैं इन्हे भीतर की सूक्ष्म कैसे कहा ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! ऋषि ने इन्हे संज्ञा दे दी है, यह तो उपलक्षण मात्र है। इन सब पंक्तियो के पदार्थ परस्पर में एक दूसरे से संबंधित हैं। इन सबका एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसे स्वय बुद्धिपूर्वक जान लेना चाहिये। जैसे प्रथम पंक्ति मे पृथ्वी, अन्तरिक्ष,स्वर्ग, दिशा और उपदिशाओ को गिनाया है। तो अन्तरिक्ष या स्वर्ग मे तो प्राण ही जायँगे। इन लोकों का प्राणों से घनिष्ट सम्बन्ध है। पहिली पक्ति में पृथ्वी गिनायी है, तीसरी मे जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश को गिनाया है, तो ओषधि और वनस्पति तो पृथ्वी पर ही उत्पन्न होती हैं, पृथ्वी का ही रूप हैं। दूसरा पंक्ति मे अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों को गिनाया है। पाँचवी करणपंक्ति मे चक्षु, श्रोत, मन, वाणी और

त्वचा को गिनाया है, तो ये भी परस्पर में सहायक हैं इन्द्रियाँ बिना प्रकाश के, बिना सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु के कुछ कर ही नहीं सकतीं। इस प्रकार इन सबका परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसलिये ऋषि ने अपनी कल्पना द्वारा इन सब पंक्तियों का विभाग कर दिया। ये परस्पर में आध्यात्मिक पंक्तियाँ बाह्य को और बाह्य पंक्तियाँ अध्यात्म को पूर्ण करती हैं। परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं। इनके ज्ञान से लौकिक और पारलौकिक, स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार की उन्नतियाँ हो सकती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह विषय यथार्थ रूप में समझ में आया नहीं, अस्तु ऋषियों ने उपयुक्त ही कल्पना की होगी। अब आप हमें फिर से ओंकार की ही महिमा सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तैत्तिरीय उपनिषद् के अष्टम अनुवाक में ओंकार की ही महिमा का वर्णन किया गया है। उसी को अब आपको मैं संक्षेप में सुनाऊँगा। आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

करन पंक्ति अब कहूँ चक्षु, मन, श्रोत्र वाक् त्वच।
आत्म पंक्ति है मांस, चर्म, नाड़ी, हड्डी, मज्ज॥
वैदिक ऋषि ने करी कल्पना पाँच कहावें।
पूर्ण परस्पर करें उभय मिलि काम चलावें॥
प्रथम पंक्ति चौथी मिलै, द्वितीय पाँचवीं तें मिलाई।
तृतीय षष्टि तें मिलति है, काज सकल जग के चलाई॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का सप्तम अनुवाक

ओम् अक्षर की महिमा

[६२]

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदँ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओँ शोमिति । शस्त्राणि शँसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमितिब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥❀

(तै० उ० ८ अनु०)

छप्पय

ओम् ब्रह्म को नाम ओम् ही प्रणव कहावै ।
सर्वरूप है ओम् ओम् अनुकृति में आवै ॥
ओम् आचार्य सुनाइँ ओम् कहि श्रवन करावै ।
सामगान कहि ओम् गाइके साम सुनावै ॥
गीति रहित जो ऋचा है, ओम् शोम् कहि पढ़त हैं ।
ओम् कहें अध्वर्यु पुनि, प्रतिगर मन्त्रनि बदत हैं ॥

❀ ओम् यह ब्रह्म है ओम् यह सर्व जगत् है, ओम यह अनुकृति है । अब सुनाइये जब ऐसा छात्र कहता है तब आचार्य ओम (हाँ) कहकर अनुमोदन करता है । ओम् कहकर सामवेदी साम गान करते हैं,

समस्त वेदों में पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन तथा जितने भी वैदिक ग्रन्थ हैं, सबमें ओंकार की ही महिमा भरी पड़ी है। ओम् अक्षर इतना व्याप्त है, कि यह सभी कार्यों में प्रचलित होता है। ओम् प्रणव का तो पर्याय है ही, यह और भी अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। ओम् का अर्थ है जो रक्षा करे (अवति=रक्षति-इति ओम्) इस ओम् में समस्त विश्वब्रह्माण्ड, ज्ञान, उपासना तथा कर्म का समावेश हो जाता है। इसमें अकार, उकार और मकार तीन हैं। अकार करके विष्णु समझना चाहिये, उकार से महेश्वर और मकार से ब्रह्माजी का बोध होना चाहिये। ये तीनों पृथक् नहीं हैं। जैसे ढाक (पलाश) की एक डाली में तीन पत्ते होते हैं, एक ही डाली जैसे ढाक के तीनों पत्तों को धारण करती है वैसे ही अकेला प्रणव ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों को धारण करता है, तीनों का वाचक है। अकार ऋग्वेद है, उकार सामवेद है और मकार यजुर्वेद है। ओंकार शब्द और अथ शब्द ये दो शब्द सर्वप्रथम ब्रह्माजी के कण्ठ को भेदन करके उत्पन्न हुए, इसलिये इन दोनों शब्दों को माङ्गलिक बताया गया है। समस्त शुभ कार्यों के पूर्व इनका उच्चारण करना चाहिये। इसलिये समस्त वेद वेदान्तों की ऋषि, मुनि, आचार्य, योगी, तपस्वी तथा सिद्धों की ओंकार में निष्ठा होती है। वेद ओंकार से ही आरम्भ होते हैं और ओंकार में ही उसका पर्यवसान होता है। समस्त वाङ्मय प्रणव के ही अन्तर्गत है, अतः प्रणव का ही अभ्यास करना

ओम् ओम कहकर शास्त्र-मन्त्रों-को पढ़ते हैं। अध्वर्यु ओम् कहकर प्रतिगर मन्त्रों को पढ़ता है, ओम् कहकर ब्रह्मा अनुमति देता है। ओम् कहकर अग्निहोत्र की आज्ञा देता है। पढ़ने को उद्यत ब्राह्मण ओम् का उच्चारण करके कहता है मैं वेद को प्राप्त करूँ। तो वह वेदों को प्राप्त कर लेता है।

चाहिये। इस प्रकार प्रणव ब्रह्मस्वरूप है। प्रणव ही यह दृश्यमान जगत् है। चराचर जगत् ओम के ही अन्तर्गत है।

'ओम्' अनुमोदन या अनुकृति अर्थ मे भी आता है, जैसे हमने किसी से प्रार्थना की "आप हमारा यह काम कर देंगे ?" उन्होंने कह दिया—'ओम्' हाँ कर देंगे। हुङ्कार देने मे भी 'ओम्' का व्यवहार होता है। जैसे अमुक देश में अमुक राजा हुआ। तो श्रोता ने कह दिया—'ओम्' अर्थात् अच्छा। इस प्रकार ओम् शब्द ब्रह्म के अर्थ मे, जगत् के अर्थ में, स्वीकृति के अर्थ मे हाँ, अच्छा, ठीक है, इस अर्थ मे तथा मगल कल्याण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। स्वीकृति का अनुमोदन का यह सांकेतिक अर्थ है। इसलिये 'ओम्' शब्द सभी अक्षरों मे सर्वश्रेष्ठ है। यज्ञो में ब्रह्मा, उद्गाता होता और अध्वर्यु ये चार प्रधान याज्ञिक ऋत्विक होते हैं। उद्गाता सामवेद का गान करता है। अध्वर्यु यजुर्वेद का गान करता है। होता गीतिरहित ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ करता है। ये यज्ञीय सर्व कार्य ब्रह्मा की अनुमति से होते हैं। ऋत्विक् या यजमान यज्ञ के किसी कार्य के लिये ब्रह्मा से पूछते हैं, क्या इस कार्य को करें ? तो ब्रह्मा 'ओम्' कहकर उस कार्य को करने की अनुमति देता है। इस प्रकार यजमान, ऋत्विज् आदि 'ओम्' कहकर पूछते हैं, ब्रह्मा 'ओम्' कहकर अनुमति देता है। इसी प्रकार जब छात्रगण अपने आचार्यों के समीप वेदाध्ययन के निमित्त जाता है, तो हाथ जोडकर पहिले ओंकार का उच्चारण करके उनसे पढ़ने की अनुमति माँगता है तो आचार्यगण 'ओम्' कहकर ही उसकी बात का अनुमोदन करते हैं। कह देते हैं—'ओम्' अर्थात् 'अच्छी बात है तुम वेदों का अध्ययन करो।' इस प्रकार यह 'ओम्' बहु अर्थ-विस्तृत अर्थ-का वाची है, इसलिये यह अक्षरों मे सर्वश्रेष्ठ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आपने मुझसे 'ओम्' अक्षर का महिमा कहने को कहा। तो ओंकार की महिमा तो इतनी है कि, मेरे तो एक मुख है उस एक मुख में एक ही जिह्वा है। भगवान् संकर्षणावतार शेषजी के तो सहस्र मुख हैं और प्रत्येक मुख मे दो दो जिह्वायें हैं। वे अपनी दो सहस्र जिह्वाओं से सृष्टि के आदि से सृष्टि के महाप्रलय पर्यन्त ओंकार का महिमा का निरन्तर–अहर्निशि–गान करते रहे तो भी पार नहीं पा सकते। अत ओंकार की समग्र महिमा का वर्णन असम्भव है। तथापि औपनिषद् ऋषि ने जो कुछ कहा है, उसका अनुवाद मात्र मैं यहाँ किये देता हूँ।"

'ओम' यह ब्रह्म का नाम है। नाम क्या है साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप ही है, क्योंकि नाम और नामी मे कोई भेद नहीं होता, जो नामी है उसी का वह नाम है। अत ब्रह्म का वाचक 'ओम्' है। यह जो दृश्यमान् जड चेतन्यात्मक चराचर जगत् है, वह भी सब 'ओम्' ही है, प्रणव के अन्तर्गत ही है।

'ओम्' यह अनुकृति भी है। अनुमोदन मे भी 'ओम्' का व्यवहार होता है। जैसे यज्ञादि कर्मों मे यजमान और पुरोहित (ऋत्विज्) प्रधान होते हैं। एक यज्ञादि शुभ कर्म कराने वाला होता है, पुरोहित उन कर्मों को करता है। यज्ञ में यजमान् आचार्य से पहिले चार शब्द बोलता है (ओश्रावय) जी, सुनाओ। इसमे सर्वप्रथम यजमान ने ओं का ही प्रयोग किया। इसका अनुमोदन करते हुए आचार्य कहते हैं (आश्रावयन्ति) 'ओम्' अच्छी बात है हम अब तुम्हें उपदेश सुनाते हैं। इसमें प्रार्थना करने वाले और उस प्रार्थना का अनुमोदन करने वाले–स्वीकृति प्रदान करने वाले–दोनो ने ही 'ओम्' कहा। अर्थात् प्रार्थना मे भी ओम् और स्वीकृति में भी ओम्। फिर इसी प्रकार साम गायन करने वाले

उद्गाता से भी 'ओम्' कहकर साम गायन करने की प्रार्थना करते है, तो वे भी 'ओम्' कहकर स्वीकृति देकर ओंकार का उच्चारण करके तब सामवेद की ऋचाओं का गान करते है। इसी प्रकार जब गाति रहित ऋचाओं के उच्चारण की होता से प्रार्थना की जाती है, तो वह ओम् शोम कहकर उन ऋचाओं को पढ़ता है। जब अध्वर्यु ऋत्विज् से उच्चारण करने की प्रार्थना करते हैं, तब वह यजुर्वेदीय अध्वर्यु ऋत्विज् 'ओम्' ऐसा कहकर होता के प्रत्येक उच्चारण के पीछे प्रत्युच्चारण करता है। जब ब्रह्माजी से यज्ञीय कर्म के सम्बन्ध मे पूछा जाता है, तब वह 'ओम्' ऐसा कहकर उस कर्म की अनुमति देता है। जब उससे अग्निहोत्र करने की अनुमति माँगते हैं, तब वह 'ओम्' कहकर ही अग्निहोत्र करने की अनुमति–आज्ञा–देता है। इस प्रकार यज्ञ के सभी काम 'ओम' कहकर पूछे जाते हैं और 'ओम्' कहकर ही उन्हें करने की अनुमति भी दी जाती है।

यज्ञ के ही सदृश अध्ययन में भी इसी प्रकार 'ओम्' का प्रयोग होता है। जैसे विद्यार्थी पढ़ने के निमित्त गुरु के समीप गये। दण्डवत् प्रणाम करके गुरु के समीप बैठ गये। अब पढ़ने को उद्यत ब्राह्मण पहिले आचार्य के चरणों में 'ओम्' का उच्चारण करके उनसे प्रार्थना करेगा—मैं ब्रह्म को–वेद को–प्राप्त करूँ? अर्थात् वेदाध्ययन आरम्भ करूँ? तब आचार्य 'ओम्' कहकर उसे वेदाध्ययन की अनुमति प्रदान करते हैं। इस प्रकार श्रद्धालु छात्र 'ओम्' कहकर आचार्य की अनुमति से जो वेद का अध्ययन करता है, उसे अवश्य ही वेद की प्राप्ति हो जाती है, वह वेदज्ञ बन जाता है। इस प्रकार यज्ञ करने कराने में, दान देने लेने में, अध्ययन करने कराने में जो 'ओम्' का उच्चारण करते हैं, वे मङ्गल के भागी होते हैं, उनका कल्याण निश्चय ही हो जाता

है। यह मैंने बहुत ही संक्षेप में 'ओम्' की महिमा कही। अब आप क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अब हमें श्रौत और स्मार्त कर्मों की उपादेयता बतावें। अध्ययन और अध्यापन करने वालों को इन कर्मों को कैसे करना चाहिये?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! तैत्तिरीय उपनिषद् के नवमें अनुवाक में इसी का वर्णन है, इसे मैं आपको आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

ब्रह्मा अनुमति देइँ ओम् कहि चौथे ऋत्विज।
अग्निहोत्र में ओम् बोलि देवै पुनि अनुमति॥
उद्गात होवैं विप्र, वेद पढ़िबे को जबई।
प्रथम ओम् उच्चारि पढ़ैं वेदनिकूँ तबई॥
ओंकार उच्चारिकें, छात्र विनय प्रभुतें करहिं।
देहिं बुद्धि वेदनि पढ़ूँ, ते वेदनि निश्चय पढ़हिं॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का अष्टम अनुवाक समाप्त

स्वाध्याय प्रवचन और सदाचार

[६३]

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥

(तै० उ० ९ अनु०)

छप्पय

प्रथम धरम स्वाध्याय प्रवचननि नहीं भुलाओ।
सदाचार अरु सत्य तपस्या दम सँग लाओ॥
अग्निचयन, शम और अग्निहोत्र हुँ न बिसारो।
प्रवचन अरु स्वाध्याय सबनिमें रहै सहारो॥
करो अतिथि सत्कार नित, पुरुषोचित करमनि करो।
साथ साथ स्वाध्याय अरु, प्रवचन कबहुँ न बीसरो॥

ऋत के साथ साथ स्वाध्याय प्रवचन भी किया करो। सत्य पालन करो स्वाध्याय प्रवचन के सहित। तपश्चर्या करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन

मानव शरीर केवल आहार निद्रा तथा विषय सुखों के उपभोग के लिये नहीं है। जो प्राणधारी जीव है भूख तो सभी को लगती है, भूख की निवृत्ति के लिये जान में अनजान में प्रयत्न सभी करते है। शरीर मे निरन्तर जीवन की क्रियायें होती रहती हैं, उनसे इन्द्रियो मे, शरीर के अग उपाङ्गों में थकान सभी को आती है, उस थकान को मिटाने के लिये विश्राम की-निद्रा की-आवश्यकता सभी को होती है। जीव जिस स्थान से उत्पन्न हुआ है जिस मिथुन प्रकिया से पैदा हुआ है उसके प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। आत्मा नित्य है, अमर है, अविनाशी है। उसी के अंश से प्राणियो का जन्म है अतः अपने नाश का भय प्राणिमात्र को होता है। अतः आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये स्वाभाविक हैं। इनके लिये प्राणियों को अपनी ओर से प्रयत्न नहीं करना पडता, इन्हें तो प्रकृति स्वतः करा लेती है। करने की इच्छा न भी हो तो

न छोडो। इन्द्रियो का दमन करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन मे प्रमाद न हो। मन का निग्रह करो साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन में भी मन को लगाये रखो। अग्निचयन करो स्वाध्याय प्रवचन को न छोडो। अग्निहोत्र करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग न करो। अतिथि सत्कार अवश्य करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन मे ढिलाई न हो। मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करो परन्तु स्वाध्याय प्रवचन की ओर से मुख न मोडो। गर्भाधानादि प्रजा हेतु करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन से उदासीन न हो। कुटुम्ब वृद्धि करो स्वाध्याय प्रवचन के साथ ही। शास्त्र विधि से ऋतकाल मे स्वभार्या मे गमन करो, स्वाध्याय प्रवचन भी करो। रथीतर पुत्र सत्यवाचा तप को ही श्रेष्ठ बताते हैं पौरुषिष्ट सुत तपोनित्य तप पर ही बल देते हैं, मौद्गल्य नाक का मत है स्वाध्याय प्रवचन ही सर्वश्रेष्ठ है, वही तप है, वही तप है। सबसे बडा तप स्वाध्याय प्रवचन ही है।

भी प्राणियों को ये काम अवश होकर–विवश बनकर–करने ही पड़ते हैं। ये साधन नहीं स्वाभाविक कर्म हैं। साधन उसे कहते हैं जो मोक्ष के लिये–संसार बन्धनों से छूटने के लिये–शास्त्रीय विधि से कर्म किये जायँ। उसका दूसरा नाम यज्ञ भी है। यज्ञ के अतिरिक्त और जितने भी कर्म हैं वे सब कर्म बन्धन के हेतु हैं, अतः सभी को यज्ञ कर्म करने का प्रयत्न करना चाहिये। यज्ञ शब्द का बड़ा विस्तृत अर्थ है। यज्ञ शब्द यज धातु से बनता है–जो देव पूजा, संगतिकरण और दान आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है। श्रीमद्भगवत्गीता के चतुर्थ अध्याय में देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, संयमयज्ञ, विषयेन्द्रिययज्ञ, प्राणेन्द्रिययज्ञ, आत्मसंयमयज्ञ, द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ, प्राणापानयज्ञ, अपान प्राणयज्ञ, प्राणायामयज्ञ और नियताहारपूर्वक प्राणयज्ञादि बहुत से यज्ञ गिनाये हैं। साधारणतया द्विजातियों के लिये ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ तथा पितृयज्ञ इन पाँच यज्ञों का नित्य करने का विधान है। ये नित्य नियमित रूप से करने चाहिये। देवयज्ञ तो नित्य देवताओं के लिये अग्नि में आहुति देने को कहते हैं जैसे बलिवैश्व देवयज्ञ है। ऋषियज्ञ नित्य स्वाध्याय को कहते हैं, भूतयज्ञ का अर्थ है अन्न को यथा योग्य सभी प्राणियों में बाँटकर खाना चाहिये। केवल अपने ही पेट को भरते रहने का प्रयत्न न करना चाहिये। गौ, कौआ, कुत्ता तथा चींटी आदि सबका भाग निकालकर तब भोजन करना चाहिये। नृयज्ञ वह है कि जो भी अतिथि–भोजन समय में अपने द्वार पर आ जाय उसे भगवत्रूप में मानकर श्रद्धा से भोजन कराना चाहिये, पितृ यज्ञ पितरों के निमित्त अन्न-जल देने को पितृयज्ञ कहते हैं।

इन नित्य यज्ञों के अतिरिक्त कर्मयज्ञ, तपोयज्ञ, जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ और ज्ञानयज्ञ ये भी पाँच बताये हैं। कर्मयज्ञ दो

प्रकार का है, सकामयज्ञ और निष्कामयज्ञ। सकामयज्ञ तो जैसे स्वर्गकाम की कामना से अश्वमेध यज्ञ करे। स्वर्ग की कामना से अश्वमेध यज्ञ करना सकामयज्ञ है। निष्कामयज्ञ ब्रह्मभाव से बिना किसी कामना के यज्ञ दान और तपस्यादि कर्मों को करते रहना, यह निष्काम यज्ञ है। तपयज्ञ में भी यदि कामनापूर्वक तप है, तो वह स्वर्ग को देने वाला है, निष्कामभाव से किया जाय तो मुक्तिदाता है। जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ निष्कामभाव से किये जायँ तो वे ज्ञानप्राप्ति में कारण होते हैं और ज्ञान से मुक्ति होती है। ज्ञान यज्ञ तो मुक्ति का प्रत्यक्ष कारण ही है।

वर्णाश्रमियों के लिये चार यज्ञ मुख्य बताये हैं। ब्राह्मणों के लिये स्वाध्याययज्ञ जपयज्ञ मुख्य है। ब्राह्मण चाहे और यज्ञों को न भी करे, केवल मन्त्रों का सविधि जप ही करता रहे, तो वह मुक्ति का अधिकारी हो जायगा। क्षत्रिय के लिये आरम्भ यज्ञ बताया है। लोक कल्याण के निमित्त जिस कार्य को आरम्भ कर दे उसे पूरे प्रयत्न के साथ पूर्ण करे। अधूरा न छोड़े। वैश्य के लिये हविष्ययज्ञ मुख्य है। उसके पास कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य से धन आता है, अतः वह घृत, अन्नादि हविष्य पदार्थों से हवन किया करे। शूद्र के लिये परिचारयज्ञ अर्थात् द्विजातियों की परिचर्या-सेवा-रूपी यज्ञ को करता रहे। इसी यज्ञ द्वारा परमात्मा उस पर प्रसन्न हो जायँगे। यह तो वर्णाश्रमियों के यज्ञ हैं। अब चाहे वर्णाश्रमी हो या अवर्णाश्रमी सबके लिये भगवद्भक्ति यज्ञ एक-सा फल देने वाला है। किसी वर्ण का हो, किसी आश्रम का हो, वर्णाश्रमी अवर्णाश्रमी कोई क्यों न हो अनन्यभाव से भगवान् की शरण लेने पर सभी का कल्याण हो सकता है।

उपनिषद् के ऋषि उन ऋषिकुमारों को उपदेश दे रहे हैं, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन केवल धर्माचरण में अर्पित कर

दिया है। उनमे सकाम धर्म का आचारण करने वाले पुण्य लोकों का इच्छा वाले और निष्काम धर्म का आचरण करने वाले मोक्षार्थी दो प्रकार के होते हैं। जो सकामी हैं उनका तो भाव यह रहता है, कि स्वाध्याय समाप्त करके यज्ञ यागादि में ही समय व्यतीत करना चाहिये। कुछ का मत है स्वाध्याय समाप्त करके तप, सत्य आदि सद्गुणों का आचरण ही करके जीवन व्यतीत करना चाहिये। किन्तु मुद्गलगोत्रीय नाक मुनि का सिद्धान्त है, जीवनभर चाहे तुम और जो भी धर्माचरण करो, स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग मत करो। वे यशस्वी, तपस्वी, मनस्वी महापुरुष धन्य हैं, जिनका समस्त जीवन स्वाध्याय तथा प्रवचन में ही व्यतीत होता है। ये लौकिक, राजनैतिक, सामाजिक प्रश्न ऐसे हैं, इनका कहीं अन्त नहीं। नित्य नई ही नई गुत्थियाँ पड़ती जाती हैं, इन ही मे जो उलझ जाते हैं, वे स्वाध्याय प्रवचन से वञ्चित हो जाते हैं। अतः निरन्तर केवल स्वाध्याय प्रवचन में ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाय तो इससे बढ़कर तो कोई जीवन ही नहीं। यदि ऐसा संभव न हो, और धार्मिक कार्य करने ही पड़ें तो भी स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग नहीं करना चाहिये। यही उपनिषद् के इन ऋषि के उपदेश का भाव होता है।

सूतजी ने कहा—"मुनियो! आपने जो सदाचार और स्वाध्याय प्रवचन के सम्बन्ध में प्रश्न किया, उसमे ऋषियों मे मतभेद है। कोई ऋषि तो कहते हैं—सत्य से बढ़कर कोई परमधर्म नहीं है। एक सत्याचरण से सभी धर्मों का पालन हो जाता है। कोई कहते हैं—ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो तपस्या से प्राप्त न की जा सके। अतः तप ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, किन्तु मुद्गल गोत्रीय नाक मुनि का कथन है, स्वाध्याय प्रवचन में सब कुछ आ जाता है, अतः जीवन पर्यन्त-कभी भी—स्वाध्याय प्रवचन को नहीं छोड़ना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! तो क्या अन्य शास्त्रों में बताये धर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये ? क्या सदा सर्वदा स्वाध्याय प्रवचन में लगे रहना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जिनका आठों प्रहरों का काल केवल स्वाध्याय-मंत्र, जप, वेदपाठादि-में प्रवचन-शास्त्रों के अर्थ प्रकाशन में-व्यतीत हो, उनसे बढ़कर भाग्यशाली कौन-होगा। किन्तु ऐसा होना कठिन पड़ता है, अतः अन्य धर्मों का भी आचरण करें, किन्तु साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन का भी परित्याग न करें, इन्हें भी साथ-साथ करता ही रहे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ऋत-सुनता वाणी, मन से यथार्थ विचार करना-सदाचार का पालन करना हमें तो यही धर्म श्रेष्ठ प्रतीत होता है।"

सूतजी ने कहा—"यथार्थ [illegible] वाणी और [illegible] विचार अवश्य करें, किन्तु स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग न करें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! शास्त्रों में कहा है 'सत्यान्नास्ति परोधर्मः', सत्य से बढ़कर कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है, [illegible] केवल सत्य का ही आचरण किया जाय तो कैसा है ?"

सूतजी ने कहा—"बहुत अच्छा है, सदा सर्वदा सत्य का ही आचरण करे, किन्तु साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन का भी अभ्यास करता रहे। स्वध्याय प्रवचन से सत्य को भी बल मिलता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! एक तप ही ऐसा बताया है कि इससे सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। त्रिदेव सदा तप में ही निरत रहते हैं, जिसने जो भी सिद्धि प्राप्त की है, तपस्या से ही की है, अतः केवल तप का ही सहारा क्यों न लिया जाय ?"

सूतजी ने कहा—"क्या कहना है, महाराज ! तप

ही तो भूषण है-धन है-इसी से तो ब्राह्मण तपोधन कहलाते हैं। आप सब तपोधन ही हैं, किन्तु तप के साथ आप स्वाध्याय और प्रवचन का परित्याग न करें। प्रवचन स्वाध्याय भी महान् तप है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हत्या की जड़ ये इन्द्रियाँ ही हैं, ये ही जीव को विषयों में ले जाकर पटक देती हैं, यदि इन्द्रियों के दमन की ही ओर विशेष ध्यान दिया जाय, तो कैसा है?"

सूतजी ने कहा—"बहुत अच्छा है महाराज! किन्तु इन्द्रिय दमन के साथ आप स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग कर देंगे, तो भटक भी सकते हैं, अतः इन्द्रिय दमन के साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन को भी चालू रखें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हत्या की जड़ तो यह मन ही है। बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है। यदि मनोनिग्रह में ही सब समय व्यतीत किया जाय तो कैसा है?"

सूतजी ने कहा—"क्या कहना है महाराज! मन के मारने पर सब मर जाते हैं। परन्तु मनोनिग्रह करते हुए स्वाध्याय प्रवचन को चालू रखें। इससे शम में सहायता मिलेगी।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! द्विजातियों को गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों का चयन तथा नित्य अग्नि होत्र करना ये परमधर्म हैं। इनमें ही बहुत काल लग जाता है। क्या इन्हें त्याग दे?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, भगवन्! त्यागने को कौन कहता है। जो नित्य अग्निहोत्र का, अग्नि चयन का कर्म कर सकें, वे अवश्य करें, किन्तु स्वाध्याय प्रवचन के लिये अवकाश अवश्य निकाल लें। इससे इन कर्मों में लाभ ही हो होगा।"

शौनकजी ने कहा—"अतिथि सेवा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। अतिथि

साक्षात् ब्रह्म का ही रूप होता है, उसी मे सब समय क्यों न लगावें।"

सूतजी ने कहा—"अतिथि सेवा का क्या कहना है, यह तो परमधर्म है, किन्तु इसके साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन में कमी न करें।"

शौनकजी कहा—"सूतजी ! मानवमात्र की सेवा में सम्पूर्ण समय लगाया जाय, सबके साथ मनुष्योचित व्यवहार किया जाय, इसे मै सर्वश्रेष्ठ धर्म मानता हूँ।"

सूतजी ने कहा—"आपका मानना सर्वथा उचित ही है, मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करते हुए भी स्वाध्याय प्रवचन के लिये आकाश अवश्य निकाल लें। इसके बिना सेवा सम्भव नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हम लोग त्यागी विरागी अप्रजावान हैं, किन्तु जिन पर पितृ ऋण है, उन्हें तो विवाह करना, गर्भाधानादि संस्कार करना कराना, शास्त्रीय आज्ञानुसार ऋतुमती अपनी धर्मपत्नी मे सन्तानोत्पत्ति करना, कुटुम्ब की वृद्धि करना ये आवश्यक धर्म हैं, क्या इनका पालन न करे ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! मनुष्य जन्म से ही देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण इन तीन ऋणों का ऋणी रहता है। अतः यज्ञ द्वारा देव ऋण से, वेदाध्ययन द्वारा ऋषिऋण से तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से अवश्य उऋण हो। विवाह भी करे, ऋतुकालाभिगामी भी हो, गर्भाधान करे, प्रजा उत्पन्न करे, कुटुम्ब की वृद्धि भी करे, किन्तु इन सब धर्मों का पालन करते हुए भी स्वाध्याय प्रवचन में ढिलाई न करे उसे न छोड़े।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आप स्वाध्याय प्रवचन पर अत्यधिक बल दे रहे हैं, क्या सभी ऋषियों का यही मत है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! एक मत तो संसार में किसी का न हुआ, न होगा। श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न बातें कहती हैं, स्मृतियों में भी परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है और मुनियों की दशा तो यह है, कि वह मुनि, मुनि ही नहीं कहलता जिसका कुछ न कुछ भिन्न मत न हो। सब मुनियों के मत में कुछ न कुछ भेद अवश्य रहता है। सो, इस विषय में भी भिन्न-भिन्न ऋषियों के भिन्न-भिन्न मत हैं, एक रथीतर महर्षि हुए हैं उनके पुत्र सत्यवचा हुए। वे कभी असत्य भाषण नहीं करते थे। सत्य बोलना ही उनका व्रत था। उनका मत है सत्य बोलना ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये सदा सत्य भाषण ही करना चाहिये।"

एक पुरुशिष्ट नामक ऋषि के पुत्र तपोनित्य हैं। वे सदा सर्वदा तप में ही लगे रहते हैं। उनका मत है, तप ही सबसे श्रेष्ठ है। किन्तु इस प्रसंग के वक्ता मुद्गल गोत्रीय नाक महर्षि का कहना है, कि स्वाध्याय प्रवचन ही सबसे श्रेष्ठ है। यही तप है यही-सब कुछ है। स्वाध्याय प्रवचन से ही सब कुछ हो सकता है। उसी से सर्वगुण अपने आप आ सकते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"स्वाध्याय प्रवचन से आपका तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"वेद, पुराण, धार्मिक ग्रन्थों का पठन करना। वैदिक तांत्रिक मन्त्रों का जप करना। वैदिक मन्त्रों की, पुराण और धर्मशास्त्रों की व्याख्या करके लोगों को सुनाना, व्याख्या करके उन्हें प्रकाशित करना, उनका प्रचार-प्रसार करना। लोगों को जो समझने के उत्सुक हों, उन्हें समझाना इन्हीं सब कामों का नाम स्वाध्याय प्रवचन है। जो अहर्निशि इन्हीं कार्यों में संलग्न रहते हैं, उनके समस्त धर्मों का पालन इनके ही द्वारा जाता है। अन्य धर्मों का भी पालन करते हों, करना पड़ता हो, वे उन-उन

धर्मों के पालन के साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन का भी आश्रय लिये रहें, इनका कभी परित्याग न करें यही मोद्गल्य मुनि नाक मुनि का मत है। यह मैंने स्वाध्याय प्रवचन प्रधान प्रकरण आपसे कहा, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! कर्मों का फल कैसे मिलता है ?"

सूतजी ने कहा—"फल भावना के अनुसार मिलता है, तुम जैसी भावना करोगे, वैसा ही फल मिल जायगा।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसी भावना करनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"जैसी त्रिशङ्कु मुनि ने की थी।"

शौनकजी ने पूछा—"त्रिशङ्कु मुनि ने कैसी भावना की थी ?"

सूतजी ने कहा—"तपोधन ! तैत्तिरीय उपनिषद् के दशम अनुवाक मे त्रिशङ्कु मुनि की भावना का ही वर्णन है। उसे भी मैं आपको सुनाऊँगा। आप देखेंगे, त्रिशङ्कु मुनि की यह भावना कितनी उत्कृष्ट है।"

छप्पय

गर्भाधान हु आदि करो संस्कार शास्त्र विधि।
प्रजन प्रजा की वृद्धि करो जो लौकिक हैं सिधि॥
किन्तु प्रवचन स्वाध्याय कबहुँ किहि विधि न बिसारो।
करो धरम सब काज प्रवचन स्वाध्याय सम्हारो॥
सत्यवचा ऋषि सत्य कूँ, तपोनित्य तप कहत वर।
किन्तु प्रवचन स्वाध्याय कूँ कहें नाक ऋषि श्रेष्ठतर॥

दोहा

प्रवचन अरु स्वाध्याय ही, परम धरम है एक।
तातें नित अव्यग्रचित्त, राखो सबनें टेक॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का नवमाँ अनुवाक

॥ श्रीहरि. ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डो मे)—८७ खण्ड छप चुके है। प्रति खण्ड का मू० १ ६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२–श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ११ ००

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डो मे)— एक खण्ड का मू० ११ ००

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५ ००

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३ ४५

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २ ५०

७–कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २ ५०

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २ ५०

९–गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २ ५०

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डो म)— प्रथम खण्ड का मू० १ ६०

११–नाम सकीतन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ० ६८

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ० ६५

१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१४–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ० ३१

१५–मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, मू० ० ३१

१६–भारतीय सस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ० ३१

१७–राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ० ४०

१८–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१९–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ० २५

२०–भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४ ०० द्वितीय खड मू० २ ५०

२१–सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दो सहित मू० ० ७५

२२–प्रयाग माहात्म्य—मू० ० २० २५–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ० २५

२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० ० २२ २६–श्री हनुमत् शतक— मू० ० ५०

२४–गाय छप्पय गीता— मू० ० ३० २७–महावीर हनुमान्— मू० २ ५०

[illegible] मूसी (प्रयाग)

गोपालक कृष्ण

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८७

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

●

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●

प्रथम संस्करण १००० } सितम्बर १९७१ आश्विन सं० २०२८ { संशोधित, मूल्य २.०० रुपया मूल्य : १.६२

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज इलाहाबाद

विषय-सूची

विषय		पृष्ठांक
संस्मरण	...	१
१. मुण्डकोपनिषद्	...	२०
२. ब्रह्म के जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है		२५
३. अग्निहोत्र की महत्ता	...	३५
४. ज्ञानमार्ग की महत्ता	...	४३
५. सब ब्रह्म ही ब्रह्म है	...	५०
६. यह विश्व परम पुरुष ही है	...	५६
७. ब्रह्मलक्ष्य-वेध	...	६२
८. यह विश्व वरिष्ठ ब्रह्म ही है	...	६८
९. जीव परमात्मा की महिमा का अनुभव करके सुखी होता है	..	७४
१०. ब्रह्म ही सर्वत्र परिपूर्ण है	...	८२
११. परमात्मा कृपासाध्य हैं, साधनसाध्य नहीं		८९
१२. वेदान्त की अन्तिम स्थिति		९६
१३. माण्डूक्योपनिषद् (शान्तिपाठ)	...	१०५
१४. सब कुछ ओंकार ही है	..	११२
१५. चतुष्पाद परिपूर्ण ब्रह्म	...	११९
१६. तैत्तिरीयोपनिषद्	.	१०८
१७. पाँच महासंहिताओं का वर्णन	..	१३९
१८. प्रणव प्रार्थना और हवन विधि	...	१४९
१९. व्याहृतियों द्वारा उपासना का रहस्य		१५७
२०. अङ्गी रूप में ब्रह्म की उपासना	...	१६४
२१. पृथ्वी आदि पचक पंक्ति परिचय	...	१७०
२२. ओम् अक्षर की महिमा	...	१७८
२३. स्वाध्याय प्रवचन और सदाचार	...	१८४

संस्मरण

[७]

पंडित जीवनदत्त जी ब्रह्मचारी

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वस्था वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलं
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥*

(भर्तृ० नी० श० ६५ श्लोक)

छप्पय

कर की शोभा दान कही शोभा प्रनाम सिर ।
मुख की शोभा सत्य भुजनि शोभा है रन अरि ॥
हिय की शोभा कही स्वच्छता मुनिनि बताई ।
शास्त्र श्रवन नित कही सुशोभा काननि भाई ॥
सज्जन ढिंग धन है नहीं, धनी बिना धन के भये ।
उनको है ऐश्वर्य यह, अति अमोल भूषन कहे ॥

---

* हाथों की प्रशंसा त्याग से है, सिर की प्रशंसा इसी में है कि वह गुरुओं के पादपद्मों में प्रणत हो, मुख की प्रशंसा सत्य भाषण से है विजयी भुजों की प्रशंसा अतुल बल से है, मन की प्रशंसा स्वच्छ वृत्ति से है, कान वे ही प्रशंसनीय हैं जो शास्त्र श्रवण करें। धन सम्पत्ति के बिना भी ये गुण महत पुरुषों में स्वाभाविक होते हैं। उन्हें बाहिरी लौकिक भूषणों की आवश्यकता नहीं होती।

सहजावृत्ति को सर्वोत्तम बताया है, संसार से कोई सम्बन्ध न रखकर सदा चित्त की वृत्ति भगवदाकार ही बना रहे। संसार के किसी विषय का मन में स्फुरण ही न हो। यही सर्वोत्तम वृत्ति है। भागवत के माहात्म्य में गोकर्णजी ने अपने पिता को उपदेश करते हुए कहा है—"अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु त्यक्त्वा सेवा-कथारसमहो नितरां पिब त्वम्।" दूसरों के दोषों का और गुणों का भी चिन्तन तुम त्यागकर निरन्तर भगवत् सेवा तथा कथा के रस को पीते रहो। यदि ऐसा हो जाय, तो कहना ही क्या? तब तो वृन्दावन ही बन जाय। इसीलिये श्रीमद्भागवत में परमार्थ-निरूपण करते हुए बताया कि साधक को कभी भी दूसरों के स्व-भावों की तथा कर्मों की न तो प्रशंसा ही करनी चाहिये और न निन्दा ही करनी चाहिये। क्योंकि परमार्थ-दृष्टि से विश्व एकात्मक है। वैसे पुरुष और प्रकृति दो हैं। दो होते हुए भी भगवान् तो एक ही हैं, वे ही अनेक रूपों में क्रीडा कर रहे हैं। इसलिये सबको भगवान् का खेल समझकर निरन्तर उन्हीं एक के चिन्तन में निमग्न रहना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते। दूसरों के गुण दोषों का विवेचन करते रहते हैं, दूसरों के स्वभाव की निन्दा या प्रशंसा करते रहते हैं, वे अविलम्ब ही अपने यथार्थ परमार्थ साधन से भ्रष्ट हो जाते हैं। क्योंकि वे असत्य का अभिनिवेश करते हैं। सत्य तो एकमात्र भगवान् ही हैं। वे ही क्रीडा कर रहे हैं। उनमें यह अच्छा है, यह बुरा है, ऐसा भेद करना भी तो उचित नहीं।

यह तो सर्वोत्तम स्थिति है, इसीलिये प्राचीन ऋषि-महर्षि न तो अपने ही सम्बन्ध में विशेष कुछ बताते थे, न दूसरों के ही सम्बन्ध में। वे सदा परमार्थ चिन्तन में ही लगे रहते थे। यह सर्वोत्कृष्ट वृत्ति है।

६६५९

यदि ऐसा न हो सके सदा सर्वदा रात्रि दिन ब्रह्माकार वृत्ति न रह सके, तो जो लोग वीतराग महापुरुष हों-जिनका राग द्वेष नष्ट हो चुका है उनका ध्यान करने से उनके पुण्यकर्मों का चिन्तन करने से चित्त स्थिर हो जाता है। ऐसा योगदर्शन में बताया गया है।*

सर्वसाधारण मनुष्य निन्दा प्रिय हैं, दोषदर्शी हैं, उन्हें दूसरों के दोष देखने में बड़ा आनन्द आता है। परचर्चा-परनिन्दा करने और सुनने में उन्हें अत्यधिक रस आता है। किन्तु जो साधक हैं, वे जहाँ तक होता है परचर्चा और परनिन्दा से बचते रहते हैं। दूसरों के परमाणु सदृश भी गुण होते हैं, तो उनका बखान करते हैं, उन्हें विपद् करके अपने हृदय में धारण करते हैं (परगुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्। निजहृदि विकसन्त सन्ति सन्तः कियन्तः) बात यह है कि सदाचारी, वीतरागी पुरुषों के संस्मरण से भी चित्त की शुद्धि होती है। इसीलिये पुण्यश्लोक पुरुषों का प्रातःकाल उठकर सबसे पहिले स्मरण किया जाता है (पुण्यानिमा परमभागतां स्मरामि) ऐसा सभी शास्त्रकारों ने किया है। महाभारत में पुण्यश्लोक परम भागवतों का ही चरित तो है।

हमारे यहाँ सबसे अधिक शब्द कृपण वैयाकरण माने जाते हैं। उनके यहाँ वैयाकरण की परिभाषा ही यह की है, जिसे आधी मात्रा की बचत पर पुत्रोत्सव के सदृश सुख हो वही सच्चा वैयाकरण है (अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणाः) परन्तु उन व्याकरण के आचार्यों को भी जब अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का स्मरण करना होता है, तब वे इस परिभाषा की उपेक्षा

---

* वीतराग विषयं वा चित्तम् (योगदर्शन)

कर देते हैं। अन्य शास्त्रों में तो मूल लेखक या मूल रचयिता सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है, उससे कम व्याख्याता और उससे भी कम टीका-टिप्पणी कर्ता। किन्तु हमारे व्याकरण शास्त्र में ठीक इससे उलटा ही है। सूत्रकार पाणिनीय की अपेक्षा वार्तिककार उनकी अपेक्षा भाष्यकार पतंजलि अधिक प्रामाणिक माने जायँगे, तो बहुत से अष्टाध्यायी के सूत्रों में कुछ प्राचीन व्याकरण के आचार्यों के नाम का उल्लेख कर दिया है। तब वादी कहता है, तुम तो आधी मात्रा के लाघव को ही पुत्रोत्सव के सदृश हर्ष का विषय मानते थे, फिर तुमने इस सूत्र में इन प्राचीन वैयाकरण का नाम क्यों रखा ? इसे न भी रखते तो भी सूत्र के अर्थ में तो कोई व्यवधान न पडता ? इसका उत्तर देते हैं— "उनका नाम हमने पूजार्थ रखा है।* काम तो चल ही जाता, किन्तु जो पुराने आचार्य हैं, उनकी पूजा तो नहीं होती। उनका नामोल्लेख करके हमने श्रेष्ठ पुरुषों की पूजा की है। अतः प्राचीन पुरुषों के गुणों की प्रशंसा करना हमारा प्राचीन सदाचार है। जिनके सत्संग से, जिसके सहवास से हमें सुख मिला हो, सत्-कर्मों की प्रेरणा प्राप्त हुई हो, उनका गौरव के साथ स्मरण करना यह हमारी प्राचीन संस्कृति है। सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक विरले ही ऐसे होते हैं, जिनके सदाचार से लोगों को प्रेरणा प्राप्त होती है, जिनके गुण अनुकरणीय होते हैं। हमारे पं० जीवनदत्त

---

* जैसे 'वासुप्यापिशले" इसमें 'आपिशलि" कोई प्राचीन वैया-करण है। वादी कहता है यहां वा शब्द से ही विकल्प कार्य हो सकता है आपिशलि ग्रहण क्यों किया। कहते हैं पूजार्थ ग्रहण किया "ओतो-गार्गस्य" सूत्र है, यहां ओत शब्द से ही नित्य लोप हो सकता है, फिर गार्गस्य ग्रहण क्यों किया ? पूजार्थ। ऐसे बहुत से सूत्र हैं।

जा ब्रह्मचारी ऐसे ही सदाचार सम्पन्न अनुकरणीय गुणों वाले महामानव थे। हमारे साथ उनका आत्मीय सम्बन्ध था। वे अपने निजी जन थे। उनके संस्मरणों से परमार्थ पथ के पथिकों का सत् प्रेरणा प्राप्त होगी।

जिस समय हमारे ब्रह्मचारीजी पैदा हुए उस समय अलीगढ, बुलन्दशहर के जिलों में आर्य समाज का बडा जोर था। कारण कि स्वामी दयानन्दजी गंगाजी के अत्यन्त ही प्रेमी थे। वे प्रायः गंगा किनारे ही विचरा करते थे। वे इधर गंगा किनारे कर्णवास आदि स्थानों मे बहुत दिनों तक रहे। इसलिये इन जिलों में आर्य समाज का बडा प्रचार रहा। कहना चाहिये यहीं से आर्य समाज का सर्वत्र प्रचार हुआ। नया नया ही प्रचार था। वेदों का ही आधार था। उत्साह, त्याग, उन्नति का आवेश था, इससे उत्साही नवयुवकों का उस ओर झुकाव अधिक हो गया था।

रामघाट से लेकर नरोरा, नरवर, विहारघाट, राजघाट, कर्णवास, भेरिया, अनूपशहर, अवन्तिका, भगवानपुर और उधर पेटपालकी कुटिया तक के सभी गंगा किनारे के स्थान बडे ही रमणीक हैं। राजघाट के ही समीप एक गंगाजी से थोडे ही दूर बेलोन नाम का एक गाँव है। बेलोन की भवानी उस प्रान्त में बहुत ही विख्यात हैं। सैकडों कोश के यात्री वहाँ भगवती के दर्शनार्थ आते हैं। अब तो पता नहीं वह ग्राम कितना बडा हो गया है, जब मैं भगवती के दर्शनार्थ गया था, तब तो वह बहुत ही छोटा-सा ग्राम था। भवानी देवी के कारण ही वह इतना विख्यात था। उसमें एक प० हेमराजजी नाम के वैद्य थे। उन्हीं के पुत्र हुए एक प० गंगादत्तजी शास्त्री। वे व्याकरण के बड़े उद्भट विद्वान् थे। काशी मे प० काशीनाथजी से उन्होंने व्याकरण

पढा और अन्त में कागडी गुरुकुल में व्याकरण के अध्यापक हो गये। स्वामी श्रद्धानन्दजी से मतभेद होने के कारण, स्वामी दर्शनानन्दजी ने जो ज्वालापुर में गुरुकुल महाविद्यालय स्थापित किया था, उसमें आ गये और अन्त तक उसी में रहे। पीछे वही दण्डी सन्यासी होकर स्वामी शुद्धबोधतीर्थ के नाम से विख्यात हुए। मैंने ज्वालापुर महाविद्यालय में जब वे सन्यास ले चुके थे, तभी उनके दर्शन किये थे। उन्हीं के द्वारा मुझे कनखल के पुल के पास मुक्तिपीठ नामक स्थान गायत्री पुरश्चरण के निमित्त मिला था और उन्हीं की प्रेरणा से मैं घंटे भर को नित्य महाविद्यालय में ब्रह्मचारियों को पढाने के लिये जाया करता था। हमारे प० जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी उन्हीं के शिष्य थे। ब्रह्मचारीजी का जन्म अलीगढ जिले के एक गाँव में ही हुआ था। उन्होंने अष्टाध्यायी महाभाष्य की प्रणाली से ही व्याकरण पढा था। प० गंगादत्तजी शास्त्री से पाँच-६ वर्ष तक नवाह्निक भाष्य पढा था। पीछे इटावा के प० भीमसेन शर्माजी से भी उन्होंने अनेक विषयों का अध्ययन किया। प० भीमसेनजी स्वामी दयानन्दजी के शिष्य हो गये थे। प० गंगादत्तजी, भीमसेनजी ये सबके सब आर्य समाज के प्रवाह में थे, किन्तु उनमें आजकल के आर्य समाजियों की तरह कट्टरता नहीं थी। स्वामी शुद्धबोधजी तीर्थ को मैंने देखा था वे सूर्य को अर्घ्य देते थे। पहिले सनातनी आर्य समाजी पंडितों में कोई भेदभाव नहीं था। पीछे प० भीमसेनजी, प० अखिलानन्दजी, प० जीवनदत्तजी तथा और भी बहुत से लोग आर्य समाज को छोडकर शुद्ध सनातनधर्मी हो गये थे। ब्रह्मचारीजी ने रानघाट नगर के समीप साङ्गवेद विद्यालय नाम की एक छोटी-सी पाठशाला खोली थी। जिसमें विद्यार्थी दण्ड धारण करके, गाँवों से भिक्षा लाकर नित्य हवन करते और ब्रह्म-

चारी जीवन बिताते। पीछे ब्रह्मचारी के नियमों का पालन करने वाले तो नाममात्र को ही विद्यार्थी रह गये। अन्य संस्कृत पाठशालाओं की भाँति यह भी एक काशी की परीक्षा दिलाने वाली पाठशाला बन गयी। पं० भीमसेनजी संस्कृत के दिग्गज विद्वान थे। प्राचीन ढँग के संस्कृत के विद्वान् थे। अँगरेजी कुछ भी नहीं जानते थे। फिर सर आशुतोष-मुकर्जी ने उनकी विद्वत्ता के ही कारण उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत तथा वेदों का प्राध्यापक बनाकर बुला लिया था। अन्त में वे श्री ब्रह्मचारीजी के ही यहाँ आकर गंगातट पर नरवर पाठशाला में ही रहने लगे। और वहीं उन्होंने अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत किये।

कृष्णतीर्थजी महाराज महीनो श्री ब्रह्मचारीजी की नरवर पाठशाला मे रहे थे। बडे महाराजजी श्री ब्रह्मचारीजी से अत्यन्त ही स्नेह रखते थे। श्री ब्रह्मचारीजी का स्वभाव था, वे विद्वानो का, सदाचार सम्पन्न कर्मकाण्डी ब्राह्मणो का, विरक्त साधु-सन्तो का, बहुत अधिक आदर करते थे। जब मैं खुरजा मे पढता था, तब हमारे आचार्य चरण पू० पं० चण्डीप्रसादजी सुकुल प्रायः नरवर पाठशाला में जाया करते थे। तब तक स्यात् नरवर मे मध्यमा तक की ही पढ़ाई होती थी। आचार्य के विद्यार्थियों को वे खुरजा की पाठशाला मे ही भेज देते थे। वहाँ के पढ़े दो भाई सत्यदेव और ब्रह्मदेव हमारे साथ पढ़ते थे। उनसे नरवर पाठशाला की तथा ब्रह्मचारी महाराज की सब बातें हम सुनते रहते थे। सन् २१ के असहयोग आन्दोलन मे मैं बुलन्दशहर जिले के गाँव-गाँव जाकर प्रचार करता था। नरवर भी बुलन्दशहर जिले ही मे है, वहाँ मैं जा नहीं सका तभी तक पकड लिया गया। उस समय हमारा श्री ब्रह्मचारीजी से साक्षात्कार नहीं हुआ था। मैं तो उनकी कीर्ति बाल्यकाल से ही सुनता रहता था। और बुलन्दशहर का कार्यकर्ता होने के कारण वे भी मेरे नाम से परिचित थे। किन्तु हमारा प्रत्यक्ष परिचय तो तब हुआ जब वैराग्य की झोक मे काशी से साहित्यिक जीवन परित्याग करके विरक्त का वेष बनाकर पैदल गंगा किनारे-किनारे विचरने लगा था।

अहा! वे कैसे मधुमय दिवस थे, कैसा क्रान्तिमय जीवन था। हृदय में वैराग्य की कैसी-कैसी हिलोरें उठती थीं। क्या-क्या सोचते थे संसारी विषयो से कितनी उपरति थी। किसी साधु के पास गद्दा, तकिया आदि देखते उसी से लड पड़ते थे। अपने त्याग वैराग्य का बड़ा भारी अभिमान था। काशी में ५।७ उत्साही नवयुवक मेरे साथ रहते थे। जब सबको छोड़-

छोड़कर चला तो दो साथी मेरे साथ-साथ आये। इन्द्र ब्रह्मचारी और गोविन्द ब्रह्मचारी। इन दोनों ही ने अपना जीवन मेरे लिये अर्पित कर दिया था। ये दोनो गंगा किनारे के गाँवो मे से भिक्षा माँग लाते थे, हम तीनो मिलकर भिक्षा करके चल देते थे। उन दिनो चलते रहना ही हमारे जीवन का एकमात्र व्यापार था। हमने "चरैवेति चरैवेति" सूक्त की मानों दीक्षा ले रखी थी।

हमसे कुछ ही आगे-आगे स्वामी रामदेवजी भी चलते थे। उन दिनों उनकी अवस्था बहुत ही छोटी थी, रेख भी नहीं निकली थी १७-१८ वर्ष के रहे होगे। परन्तु इस अल्पावस्था मे भी उनके जीवन मे अपूर्व त्याग था। वे सरदी, गरमी तथा वर्षा सभी ऋतुओं मे नगे ही रहते थे। केवल एक ही लँगोटी रखते थे, उसी से नहाते थे, उसी को पहिन लेते थे, दूसरी लँगोटी भी नहीं रखते थे।

हमारे ब्रह्मचारीजी महाराज उनके इस अल्पावस्था के त्याग वराग्य से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। उन्हें कई दिनो तक आग्रह पूर्वक अपने यहाँ रोक रखा।

जब हम नरवर पहुँचे उसके एक दो दिन पहिले ही स्वामी-रामदेवजी वहाँ से चल चुके थे। हमारे सम्बन्ध में वे सुनते तो बहुत दिनो से थे ही। जब मिले तो परम आत्मीय बन्धु की भाँति मिले। स्वामी रामदेवजी के त्याग, वैराग्य की बड़ी प्रशसा करते रहे। खुरजा की पाठशाला के गुरूजी के सम्बन्ध की बातें करते रहे।

मैंने देखा उनमे बडप्पन का तनिक भी अभिमान नहीं था। जहाँ तहाँ बिना आसन के ही भूमि पर बैठ जाते। दूसरे लोगो को ये बातें बुरी लगती थीं, किन्तु उन्हे मान-अपमान का ध्यान ही नहीं था। मैंने उन्हें इधर-उधर बिना आसन के ही बठे पाया। खुरजा के बाबूलाल सूरजमल जाटिया तथा और सेठ,

साहूकार, सभी सेवक, विद्यालय की सहायता करते थे, फिर भी संस्कृत विद्यालयों की जैसी सोचनीय अवस्था होती है, वैसी ही अवस्था नरवर पाठशाला की थी। उन दिनों संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक कह लो, प्रधान निरीक्षक कह लो (क्योंकि उन दिनों संयुक्त प्रदेश भर में संस्कृत पाठशालाओं के एक ही निरीक्षक होते थे,) वे प० काशीनाथजी थे। वे ब्रह्मचारीजी के सात्त्विकी जीवन से नरवर के गंगातट के ऋषि आश्रम-तुल्य स्थान से बड़े प्रभावित थे और उन्होंने विद्यालय को यथाशक्ति अधिक से अधिक सहायता दिलाने की चेष्टा की थी। फिर भी इतने लोगों के नित्य भोजन का व्यय एक न एक अभाव सदा बना ही रहता था। कलकतिया नहर (राजघाट नरौरा गंगापुल) का कार्यालय पाठशाला के समीप ही था। पहिले पाठशाला वाले जंगलों से नहर के किनारे से ईंधन काट लाते थे। पीछे नहर के अधिकारियों ने इस पर आपत्ति की। उन दिनों पाठशाला के सम्मुख ईंधन का बड़ा संकट था। ब्रह्मचारीजी ने कहा—"भैया! देखो, नहर वाले हमें ईंधन काटने से मना करते हैं, अधिकारियों से कहकर हमारे ईंधन की सुविधा करा दो।"

उन दिनों वहाँ का अभियन्ता अधिशायी (इंजीनियर) कोई जैनी थे। मैं उनके समीप गया। उन्होंने बड़ी सभ्यता से बातें की। मैंने बार-बार धर्म और पुण्य की दुहाई दी, तो उन्होंने कहा—"देखिये, मैं तो जैनी हूँ। फिर भी आप आये हैं तो हम पाठशाला के लिये ईंधन का प्रबन्ध करा देंगे।" और उन्होंने, सुना प्रबन्ध करा भी दिया।

इस प्रकार ब्रह्मचारीजी का समस्त कार्य ईश्वर के भरोसे पर चलता था। कोई चन्दा नहीं, उत्सव नहीं, विज्ञापन नहीं भगवान् सब निर्वाह करते ही थे।

श्री ब्रह्मचारीजी की दिनचर्या प्राचीन ऋषि मुनियों की भाँति आदर्श थी। वे स्वतः विद्यार्थियों को पढ़ाते नहीं थे। पढ़ाने के लिये तो उन्होंने कई अध्यापक रख रखे थे। वे तो केवल विद्यालय की देखरेख रखते थे। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर नित्यकर्मों से निवृत्त होकर गंगा तट पर चले जाते। जो पाठशाला से उन दिनों आधा मील से कम ही थी। वहाँ एक फूँस की झोपड़ी बना रखी थी। उसमें बैठकर मध्यान्ह पर्यन्त गायत्री मन्त्र का जप करते। फिर मध्यान्ह कृत्य करके आश्रम में आते। उनका भोजन एक विद्यार्थी बनाता। प्रसाद पाकर फिर आश्रम की देख-रेख करते। कुछ सत्संग आदि करते फिर सायंकाल गंगातट चले जाते। ऐसे उनका सम्पूर्ण समय स्वाध्याय प्रवचन में ही बीतता। उनकी पाठशाला के द्वार पर यह उपनिषद् का आदर्श वाक्य अंकित था "स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम" स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करो।

तैत्तिरीय उपनिषद् के नवम अनुवाक में स्वाध्याय और प्रवचन की महिमा बतायी गयी है। वहाँ ऋत-सत्य सदाचार-सत्य-यथार्थ-भाषण, तप, दम, शम, अग्निचय, अग्निहोत्र, अतिथि सत्कार, मनुष्यता, सन्तान, धर्माविरुद्ध काम और कुटुम्ब-वृद्धि, इन सबको कर्तव्य बताकर अन्त में कहा है इनके साथ ही स्वाध्याय प्रवचन-शास्त्रों का पठन-पाठन-प्रधान कर्तव्य है। स्वाध्याय प्रवचन के साथ ये धर्म कार्य करने चाहिये। इस पर सत्यवचा ऋषि ने कहा—"नहीं भाई, एक सत्य का ही आश्रय ग्रहण करो सत्य से बढ़कर कोई परम धर्म नहीं।" इस पर तपोनित्य नाम के ऋषि बोले—"हम तो तप को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। तपसा किं न लभ्यते—तपस्या से ऐसी कौन-सी वस्तु है जो प्राप्त न हो सके।" इस पर मुद्गल ऋषि के पुत्र महर्षि नाक ने

"हमारे मत में तो स्वाध्याय प्रवचन-शास्त्रों का पठन-पाठन-ही सर्वश्रेष्ठ है। इससे श्रेष्ठ कोई कार्य नहीं, क्योंकि सबसे बड़ा तप स्वाध्याय और प्रवचन ही है।*

वास्तव में प्राचीन ऋषि महर्षियों का समस्त काल स्वाध्याय और प्रवचन में ही बीतता था। मन्त्रों का जप यह भी स्वाध्याय में ही है। हमारे ब्रह्मचारीजी एक प्रकार से आधुनिक समय के ऋषिकल्प ही महामानव थे।

इसके अनन्तर तो उनसे अनेकों बार मिलना हुआ। वे हमसे अपने परम आत्मीय बन्धु की भाँति स्नेह रखते थे। तब तक दंडि स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रमजी महाराज नरवर नहीं आये थे। उस समय पहिले ही पहिल पू० स्वामी अच्युत मुनिजी ने उन्हें भेरिया में साधुओं को वेदान्त पढ़ाने को बुलाया था। वे भेरिया में एक वेदान्त का विद्यालय खोलना चाहते थे। ब्रह्मचारी जी चाहते थे वह नरवर में ही खुले। श्री अच्युत मुनिजी और ब्रह्मचारीजी में किसी विषय पर मतभेद हो गया वह लम्बी बात है, अन्त में स्वामीजी नरवर में ही आकर पढ़ाने लगे। वे स्वामी जी पंजाबी थे कुछ अक्खड़ स्वभाव के। भगवन्नाम संकीर्तन आदि का बहुत खंडन करते थे। उन दिनों मैं हर समय "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस मन्त्र का सदा सर्वदा उच्चारण करता रहता था। लिखते समय भी मुख से

---

* सायमिति सत्यवचा रथीतरः।
तप इति तपानित्य पौरुशिष्टिः॥
स्वाध्याय प्रवचने एवेतिनाको मौद्गल्यः।
तद्हि तपस्तद्हि तपः॥
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

यह मन्त्र उच्चरित होता रहता था। चैतन्य चरितावली आदि उस समय के ग्रन्थ ऐसे ही उच्चारण करते-करते लिखे हैं। जिस समय वे पढ़ा रहे थे, उस समय मैं भी उनके यहाँ बैठकर सुन रहा था। उन्होंने तुरन्त कहा—"तुम्हारे बोलने से हमारे पढ़ाने में विघ्न होता है, या तो बोलना बन्द करो नहीं चले जाओ।" मैं उठकर चला आया।

इसी प्रकार एक दिन पू० उड़िया बाबाजी भी गये और उनको भी बहुत फटकारा। सन्यासी होकर कीर्तन कराते हो, आदि-आदि और कह दिया—यहाँ से चले जाओ। वे प्रणाम करके चले आये। पीछे ब्रह्मचारीजी महाराज बाबा के पास गये और क्षमा याचना की। श्री ब्रह्मचारीजी बड़े व्यवहार पटु थे। वे अपने व्यवहार से सभी को प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे। उनके समीप गरीब, अमीर, पठित, मूर्ख, सनातनी, आर्यसमाजी, योगी भोगी सभी प्रकार के लोग आते थे, और सभी से उन्हीं के अनुरूप बात किया करते थे।

देश में भारतीयता का प्रचार हो, फिर से धर्म की स्थापना हो, वैदिक आर्य संस्कृति का प्रसार हो। ब्राह्मणों में फिर से षोडश-संस्कार होने लगे। उनकी बड़ी बड़ी योजनायें होती थीं। एक बार मुझसे भी बहुत-सी बातें हुईं। उनको आशा थी—"यह उत्साही है, नवयुवक है, यह जिस काम में जुट जायगा तो काम हो जायगा।" मुझसे कहा—"यों ब्राह्मणों का संगठन करो। एक सम्मेलन करो। सबको संध्या का गायत्री का उपदेश दिया जाय। सब बच्चे कम से कम सन्ध्या-गायत्री करें।" उन्होंने बड़ा बड़ी योजनायें बनायीं। मैं उसके लिये खुरजा आदि गया भी। किन्तु खुरजे में प० नारायणदत्तजी वैद्य ने मेरा उत्साह शिथिल कर दिया। उन्होंने कहा—"ब्रह्मचारीजी तो बहुत बड़े आदमी हैं,

ऐसे ही योजना बनाते हैं। तुम अपना जो कार्य कर रहे हो वही करो।" अतः फिर मैं आगे न बढ़ा उत्तराखंड की ओर चला गया।

उन दिनों मैं इसी संकल्प से निकला था, कि "अब कभी उत्तराखंड से लौटकर नहीं आऊँगा। या तो अपने लक्ष्य को पूरा करूँगा, नहीं तो पहाड़ों में गल मरूँगा।"

किन्तु मैं रुग्ण होने से अपनी प्रतिज्ञा को निभा नहीं सका। फिर लौटकर नीचे आ गया और इधर-उधर घूमघाम कर यहाँ झूसी में हंसतीर्थ की वट की कुटिया के नीचे रहकर अपना अनुष्ठानादि करने लगा।

उन दिनों महामना मालवीयजी इस बात का प्रचार कर रहे थे कि सभी ब्राह्मणों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होने चाहिये। हमारे एक परम स्नेही बन्धु पं० भूदेवजी शर्मा हैं, उनके भतीजे श्रीनिवास शर्मा उन दिनों काशी विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। मालवीयजी ने अपनी पोती का विवाह उन्हीं के साथ किया था। ब्रह्मचारीजी उसकी बारात में प्रयाग आये थे। वे जानते थे मैं झूसी में हूँ। उन दिनों मेरा ऐसा नियम था, कि मैं न तो किसी से बोलता था, न किसी की ओर देखता ही था चुपचाप अपनी कोठरी में बैठा रहता था। ब्रह्मचारीजी आये, घंटों मेरी कोठरी के बाहर बैठे रहे। मैंने उन्हें देखा भी फिर-भी मैं बोला नहीं, अन्त में वे चुपचाप कुटिया को प्रणाम करके चले गये। ऐसे ही वेदतीर्थ पं० नरदेवजी शास्त्री जो श्री ब्रह्मचारीजी के सहाध्यायी थे, बैठकर चले गये। अब मुझे पश्चात्ताप हो रहा है, मैंने ऐसे नियम का दुराग्रह क्यों किया? ऐसे महापुरुषों का मुझे नियम छोड़कर स्वागत सत्कार करना चाहिये था। किन्तु ब्रह्मचारीजी ने इसका

तनिक भी बुरा नहीं माना न इसके लिये कभी उन्होंने मुझे ताना ही दिया। वे स्वयं भी तो अपने नियमों में दृढ़ रहने वाले थे।

जब हमारे करपात्रीजी महाराज ने देहली में शतकुण्डी महायज्ञ कराया, तो उसके प्रधान यजमान उन्होंने ब्रह्मचारीजी को ही बनाया। वह यज्ञ अभूतपूर्व था, एक प्रकार से प्रयाग के कुम्भ का-सा ही दृश्य था। उसके सयोजकों में हमारे पं० ज्योतिप्रसाद जी आदि अनेकों हमारे पुराने भक्त थे। उन दिनों मेरा प्रयाग छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाने का नियम था। मेरे स्नेही बन्धुओं ने अत्यन्त ही आग्रहपूर्वक कहा, कि चाहे घंटे ही भर को सही आप इसमें अवश्य आवें।

मैं कैसे जा सकता था, उन दिनों वायुयान सर्वसाधारण जनता को सुलभ नहीं थे। केवल सैनिक अधिकारी ही वायुयान से सरकारी कार्य से जा आ सकते थे। आज जैसे नेतागण वायुयान से जहाँ-तहाँ जाते हैं, वैसे उन दिनों जनता के किसी व्यक्ति को वायुयान नहीं मिल सकता था। हमने मिलावली के कुँवर कायमसिंह को सेना के उच्चाधिकारियों के पास भेजा। वह अँगरेज अधिकारी कोई भलामानुष रहा होगा, वह अत्यन्त ही प्रभावित हुआ। उसने चार सीट वाला एक वायुयान देहली जाने को हमें दे दिया। हमने यज्ञ के व्यवस्थापकों को सूचना दे दी, हम वायुयान से आ रहे हैं। सर्वथा नई बात थी, अत्यन्त ही कुतूहलमय समस्त यज्ञ-मेला में हल्ला मच गया। लोग भाँति-भाँति की बातें फैलाने लगे—जितने मुख उतनी ही बातें। समाचार पत्रों में भी बड़े-बड़े शीर्षक देकर यह समाचार छापा गया, किसी ने हँसी उड़ाई, किसी ने व्यंगपूर्वक चुटकियाँ लीं, किसी ने हमारे वायुयान से जाने का औचित्य भी दिखाया। लोगों ने समझा एक वायुयान करने में लाखों रुपये व्यय हुए होंगे। किसी समाचार

पत्र ने छापा भी कि एक साधु को इतना भारी व्यय करके यज्ञ मे जाने की क्या आवश्यकता थी। किन्तु यह सब नई बात होने स लोगो का भ्रममात्र ही था, सैनिक अधिकारी ने केवल चार सीट का जो नियमित भाड़ा था, उससे एक पाई भी अधिक नहीं लिया। अब मुझे ठीक-ठीक तो याद नहीं स्यात् २५०) या ३००) के लगभग ही रुपये लगे होंगे। इस पर इतना भारी तूफान।

गाँवों के लोग भाँति भाँति की कहानियाँ गढने लगे। कुछ लोग कहने लगे—"प्रयागराज के एक मोनीजी हैं, करपात्रीजी ने कहा है, तुम नहीं आओगे तो यज्ञ पूरा ही न होगा, अतः वे भारी व्यय करके विमान से आ रहे हैं।" ये सब चडूखाने की गप्पें थीं। मेरे बन्धुओं ने बताया कि जो भी वायुयान आता सब लोग चिल्लाने "लगते इसी मे ब्रह्मचारीजी आ रहे हैं, यहीं यज्ञ मण्डप मे उतरेंगे।"

उन दिनो श्री आनन्दमयी माँ भी मेरे ही यहाँ आश्रम मे ठहरी हुई थीं। मैंने बडे सकोच के साथ कहा—"माँ यज्ञादि में तो बिना बुलाये भी जाना चाहिये। आप भी करपात्रीजी के यज्ञ मे चलो तो कैसा रहे?" उन्होंने बडे उत्साह के साथ कहा—"हाँ, पिताजी! आप जहाँ भी कहेगे, वहीं चलूँगी। जहाँ भी ले चलेगे वहीं जाऊँगी।" मुझे बडी प्रसन्नता हुई। उसमे चार ही सीटें थीं। चलने को तो और भी बहुत से उत्सुक थे। किन्तु श्री आनन्दमयी माँ, श्री गुरुप्रिया दीदी, कुँवर कायमसिंह और मैं चार ही गये। हमको भी अत्यन्त कुतूहल हो रहा था, आकाश में वायुयान कैसे उडेगा, लोग कहते हैं वहाँ जी मिचलाता है, उलटी होती हैं, आदमी को कसकर बाँधकर डाल दिया जाता है। किन्तु हमने देखा ये सब गप्पें थीं, न कसकर बाँधकर डाला जाता है, न सबको के और उलटी ही होती हैं। एक पेटी होती है आपकी

इच्छा हो उसे कमर में बाँध लो, चाहे न बाँधो। मैंने तो बाँधी नहीं। पहिला ही जीवन में अवसर था, उस समय जितना आनन्द आया, जितना नीचे का दृश्य मनोरम, सुहावना, अद्भुत, अवर्णनीय लगा, इसके अनन्तर अनेकों बार वायुयानों में गये वैसा आनन्द फिर कभी नहीं आया। केवल दीदी को बेहोशी हुई, कै हुई। माँ तो आँखें बन्द किये बैठी ही रहीं। मैं तो चलते वायुयान में सर्वत्र उछलता-कूदता रहा, नीचे का अद्भुत दृश्य देखता रहा। दीदी का उपचार करता रहा। घंटा भर भी न लगा होगा, हमारी तनिक आँख झपी कि देहली के शतकुंडी यज्ञ का विशाल पंडाल, सहस्रों तम्बू डेरे दिखायी देने लगे। उतरने के स्थान पर यज्ञ के प्रबन्धक गाड़ी लेकर आये ही हुए थे। हम यज्ञस्थली में पहुँच गये। श्री ब्रह्मचारीजी महाराज हमारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। बड़े ही स्नेह से मिले। वायुयान की सब बात पूछते रहे। यहाँ की नाना प्रकार की किंवदन्तियों को भी बताते रहे। कहने लगे—"मेरी तो यजमान बनने की इच्छा नहीं थी, किन्तु श्री पंडितजी के अत्यन्त आग्रह को मैं टाल नहीं सका। यज्ञ का यजमान सपत्नीक होना चाहिये। वे ठहरे ब्रह्मचारी इसलिये कुशा की पत्नी बनाकर कार्य चलाया गया। इस पर भी लोगों ने भाँति-भाँति की टीका टिप्पणियाँ कीं। लोग तो बहिर्मुख होते ही हैं।"

श्री ब्रह्मचारीजी की अनन्त स्मृतियाँ हैं, किन्हें किन्हें लिखें किन्हें किन्हें छोड़ें। एक बार आपने क्षत्रिय ब्रह्मचर्याश्रम या क्षत्रिय ऋषिकुल नाम की एक नवीन संस्था यहीं नरवर पाठशाला में क्षत्रिय ब्रह्मचारियों के लिये खोली। वे धर्म के प्रचार प्रसार के लिये कुछ न कुछ सोचते ही रहते थे। अपने ही यहाँ क्षत्रियों का एक महासम्मेलन कराया। उसी में प्रस्ताव पारित करके यह संस्था चालू की। ठाकुर लोग तो प्रस्ताव पारित करके घरों

२-४ लडके भी आ गये। किसी ने कुछ लिया दिया पाठशाला का बहुत सा रुपया भी उसमे व्यय हो गया। ऋण हो गया। तब आपने मुझसे कहा—'ब्रह्मचारीजी! क्या बतावें ये क्षत्रिय तो मदान्ध हो गय है। यहाँ सम्मेलन मे आये अपने अपने टराओ मे खाट पर बठे हुक्का पीते रहते थे, जब हम जाते थे, तो उठकर खडे भी नहीं हात थे। समिति बनी पदाधिकारी चुने गये। कार्तिकी के मेले के पश्चात् कोई फिर यहाँ फटका भी नहीं। उलटा हमारे ऊपर ऋण करा गये। जब मैंने यह बात खुरजे के सठ बाबूलाल जटिया म कही, तो उन्होने हँसकर कहा—"महाराजजी! यदि आप वश्यो क लिये ऐसा ब्रह्मचर्य आश्रम खोलते, तो आपके ऊपर ऋण न होता?"

तब मैंने कहा—"सठजी! इच्छा तो मेरी यही थी, कि ब्राह्मण बालको के लिय तो यह पाठशाला है ही। क्षत्रियो की पाठशाला चल जाय तो फिर वेश्य बालको के लिये भी खोली जाय। सो, इसीसे शिक्षा मिल गयी।"

— ऐसी थी, उनका धर्म की उन्नति के लिये भावना।

— जब मैंने प्रधान मन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू के सम्मुख हिन्दुकोडबिल के विरोध मे उनका प्रत्युपरोध किया, तो वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए उन्होन वाल्मीकि रामायण के एक अनुष्ठान के लिय अत्यन्त ही आग्रह किया और स्यात् वह अनुष्ठान आश्रम मे किया भी गया।

वे बडे दयालु थे, कोई भी उनके पास हाईकोर्ट के मुकदमे की बाद लेकर जाय, या प्रयाग का कोई और काम लेकर जाय, तो तुरन्त कह देत— 'हाँ, यहाँ तो हमारे ब्रह्मचारीजी हैं, उनका यहाँ बहुत प्रभाव है, व तुम्हारा सब काम करा देंगे, और तुरन्त उसके हाथों मुझे पत्र लिख देत। इनका काम अवश्य करा देना। अपना

ही काम समझना ।" मानो करने कराने वाला न्यायाधीश मे ही हूँ। ये दूसरो के दु:खों को देखकर दयार्द्र हो जाते। सहस्रो छात्रों को पढाकर उन्हे योग्य बनाया। बहुतो को पढाकर उनका योग्य स्थानों म विवाह कराया, बहुतों की आजीविका का प्रबन्ध कराया। किसी का काम हो जाय, इसके लिये किसी को भी पत्र लिखने म उन्हे सकोच नहीं था। एसे थे वे हमारे ब्रह्मचारीजी महाराज! अब वे न जाने किस लोक मे चले गये? हमे भी अब जाना ही है। बिस्तर बाँधे तयार बेठे हैं, जब भी बुलावा आ जाय। ब्रह्मचारीजी तो चले गये, अब उनकी मधुर मधुर स्मृतियाँ ही शेष रह गयी हैं। जब कुछ प्रेमी बन्धुओं ने उनका श्रद्धाञ्जलि स्मृतिग्रन्थ निकालने का प्रस्ताव किया तो मने उसका हार्दिक स्वागत किया और उसी प्रेरणा स ये सस्मरण लिखे गये हे। लिखने की बाते तो बहुत सी हैं, किन्तु स्थानाभाव से इतना ही कहकर श्री भर्तृहरिजी का एक श्लोक उद्धृत करके इस सस्मरण को समाप्त करता हूँ।

मनसि बचसि काय पुण्यपीयूषपूर्णा-
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्त. ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यम्
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्त' कियन्त' ॥

छप्पय

जिनके तन मन पुन्य प्रेम अम्मृत तैं पूरित।
बानी अति ई-मधुर हियेकूँ—हरषि हिलोरत॥
मुदित करत जग फिरत न पर अवगुनकूँ निरखत।
परगुन अनुके सरिस ताहि गिरि करि हिय पिखत॥
सदा मुदित मन त्यागि मद सबके नित गुन गावत हैं।
कितने ऐसे सन्त हैं, जो परहित दुख सहत हैं॥

—•—

मुण्डकोपनिषद्

शान्ति पाठ

[४१]

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा-
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥❀

(मु० उ० शा० पा०)

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहैं करें सब यजन बखानित ।
काननि तैं हू सुनें वचन शुभ भद्र सतत हित ॥
आँखिनि तैं हू सदा निहारें दृश्य भद्र वर ।
सुदृढ़ अंग तनु लगै ईश इस्तुति में दृढ़तर ॥
शेष आयु हमरी सकल, रहै देव हित में निरत ।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्या रहैं तप में सतत ॥

❀ हे देवगण ! हम सब यजन करने वाले हों । कानों से भद्र ही बातें सुनें । आँखों से भद्र दृश्य ही देखें । हमारे शरीर के सब अंग सुदृढ़ हों, उनसे हम भगवान् की स्तुति करते हुए अपनी आयु को देवहित में लगाकर उपयोग करें । —

वे कान ही यथार्थ कान हैं, जो कल्याण स्वरूप कृष्ण की कमनीय कथाओं के श्रवण में ही सदा सलग्न रहते हों। यदि कान कृष्ण कथा के अतिरिक्त विषय वार्ताओं के श्रवण में ही लगे रहें, तो वे कान नहीं सर्पों के रहने के बिल के समान हैं, जिनमें विषय वासना रूप सर्प बैठा हुआ फुफकार छोड़कर सबको भयभीत करता रहता है।

जो नेत्र नन्दनन्दन के नयनाभिराम रूप के दर्शनों में अनुरक्त नहीं हैं, जो चक्षु चलते फिरते भगवत् विग्रह सन्त महात्माओं को देखकर खिल नहीं जाते, भगवत् विग्रहों की झाँकी से प्रफुल्लित नहीं होते वे मोर की पंख में बने नयनों के सदृश नाम मात्र के नयन हैं। नयनों को दो ही कार्य है या तो भगवत् विग्रहों का दर्शन अथवा भागवतों का अवलोकन।

शरीर सुडौल है, हृष्ट पुष्ट है, रोग रहित है, किन्तु उससे हम प्रभु प्रार्थना नहीं करते, परमात्मा के पादपद्मों में प्रणत नहीं होते, नन्दनन्दन के नवनीत से भी कोमल नूतन किसलय से भी कमनीय चरणकमलों में नम्रता से नहीं झुकते, तो यह इतनी बड़ी आयु व्यर्थ है, हमारे समस्त कार्य प्रभु के ही निमित्त हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ईश, केन, कठ और प्रश्न इन चार उपनिषदों का भावार्थ सरल-अर्थ मैंने आप से कह दिया। पाँचवीं मुण्डकोपनिषद् है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह बताइये कि इस उपनिषद् का नाम मुण्डक क्यों पड़ा?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! अब सब मैं ही सुनाऊँ? कुछ आप भी हमें सुनावें। यह मुण्डक उपनिषद् तो आपकी ही है। आपने ही महर्षि अंगिरा से प्रश्न किया था, और आपके

ही प्रति महामुनि अंगिरा ने उपदेश दिया था, अतः इस उपनिषद् के अर्थ को तो हम आपके ही श्रीमुख से सुनना चाहते हैं।"

यह सुनकर शौनक मुनि बोले—'सूतजी! यह भाषा कथा तो आपके ही मुख से मधुर लगती है। मैं उतनी मधुरता के साथ सम्भवतया नहीं सुना सकूँगा। फिर भी आपका आग्रह है तो मैं ही सबको उस उपनिषद् का सार सुनाता हूँ।

अथर्ववेद की एक शाखा हमारे नाम से प्रसिद्ध हुई। सब लोग उसे शौनकी शाखा के नाम से कहते हैं। उसी शाखा में यह मुण्डक उपनिषद् है। मैंने ही स्वयं भगवान् अंगिरा मुनि से प्रश्न किया था, उन्होंने जो मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया, उसीसे मुण्डकोपनिषद् का प्रादुर्भाव हुआ।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! इस उपनिषद् का नाम मुण्डक क्यों पड़ा?"

शौनकजी ने कहा—"हमारी इस उपनिषद् से पूर्व की भी बहुत-सी उपनिषदें हैं। जैसे शरीर में सभी अंग आवश्यक हैं, उपयोगी हैं, उत्तम हैं, किन्तु मस्तक सबसे अधिक मुख्य है—श्रेष्ठ है। इसी प्रकार यह उपनिषद् सब उपनिषदों में मुण्ड स्थानीय है। मुण्ड मेवेति मुण्ड, स्वार्थेकन्) अर्थात् जैसे शरीर के सब अंगों में मस्तक श्रेष्ठ है, वैसे ही समस्त उपनिषदों में यह श्रेष्ठ उपनिषद् है। उपनिषद् के पूर्व हम यह बताना आवश्यक समझते हैं, सभी कार्यों को आरम्भ करने के पूर्व ॐ का उच्चारण करना चाहिये। समस्त कार्य प्रणव से ही आरम्भ करने चाहिये।"

सूतजी! हम भृगुवंशी हैं अतः सर्वप्रथम हम अपने कुल का परिचय देने के पूर्व इस विद्या की परम्परा बता देना आवश्यक समझते हैं। इस सम्पूर्ण विश्व के एक मात्र कर्ता, इस भुवन के गोप्ता-रक्षक चतुर्मुख ब्रह्माजी हैं। समस्त सृष्टि इन्हीं के द्वारा

उत्पन्न हुई है। ये समस्त देवताओं में प्रथम देव हैं। सभी अमरों में आदि अमर हैं। सृष्टि के आदि में ये लोकगुरु ब्रह्मा प्रजापति प्रकट हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र महर्षि अथर्वा हुए उन्हीं के प्रति ब्रह्माजी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जो सभी विद्याओं की आधारभूता—सबसे श्रेष्ठ है।

जिस ब्रह्मविद्या का ब्रह्माजी ने अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र अथर्वा को उपदेश दिया। उसी विद्या को अथर्वा ऋषि ने अंगी ऋषि से कहा। उन अंगी ऋषि ने भरद्वाज गोत्रीय सत्यवह ऋषि से कहा। सत्यवह ऋषि ने अपने पूर्ववर्ती ऋषियों से प्राप्त इस परावर विद्या को अंगिरा नामक महर्षि से कहा। उन अंगिरा मुनि से ही यह विद्या मुझ शौनक को प्राप्त हुई।"

अब आप हमारे कुल के सम्बन्ध में भी थोड़ा वृत्तान्त सुन लीजिये। सभी के रचयिता जगत् के पितामह ब्रह्माजी ही हैं। उन्हीं ब्रह्माजी की त्वचा से—या वीर्य से—वरुणदेव के यज्ञ में महर्षि भृगु की उत्पत्ति हुई। उन भृगुजी की कई पत्नियाँ थीं, एक तो कर्दम मुनि की पुत्री ख्याति थी जिनसे धाता, विधाता नाम के दो पुत्र हुए और 'श्री' नाम की कन्या हुई, जो भगवान् विष्णु की पत्नी बनी।

उनकी एक दूसरी पुलोमा नाम की पत्नी थी। जिनसे महर्षि च्यवन की उत्पत्ति हुई। च्यवन के पुत्र प्रमति हुए। उन प्रमति मुनि ने घृताची नाम वाली अप्सरा से रुरु नामक पुत्र उत्पन्न किया। महर्षि रुरु ने प्रमद्वरा में शुनक नाम के पुत्र को उत्पन्न किया। ये हमारे प्रपितामह थे। ये परम यशस्वी, तेजस्वी तथा तपस्वी थे, इन्हीं शुनक महर्षि के नाम से हम शौनक कहलाते हैं। नैमिषारण्य में यह जो हमारी शाला है इसको महाशाला भी आप सब लोग कहते हैं। इस शाला की सेवा करने से ही

आप सब हमे महाशाल कहकर पुकारते हैं। एक बार हम शास्त्र विधि के अनुसार हाथ मे समिधा लेकर अंगी ऋषि के गोत्र वाले महर्षि अंगिरा की शरण मे गये। हमने उन्हे यथोचित रूप से दण्ड प्रणाम करके उनसे ही इस उपनिषद् के सम्बन्ध मे प्रश्न किये जिन्हे हम आप सबसे आगे कहेगे। इसके पहिले हम सब मिलकर देवताओ से प्रार्थना कर लें —

हे वृद्धश्रवा इन्द्र ! आपका यश जगत् में सर्वत्र व्याप्त है, आप हमारा कल्याण करें। स्वस्ति पोषण करें। हे सूर्यदेव ! आप विश्व के प्रत्यक्ष देव है, हमारा कल्याण करें। हे गरुड़देव ! जैसे भगवान् का सुदर्शन चक्र अरिष्टो को–कष्टो को–अपनी नेमियो से मिटाते रहते हैं, वैसे ही आप भी शक्तिशाली है, आप हमारा कल्याण करें मंगल करें। स्वस्ति पोषण करें। हे देवगुरो ! बृहस्पति जी ! आप बुद्धि के सागर हैं, नीतिकारो के शिरोमणि है आप भी हमारे कल्याण की पुष्टि करे। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्म तीनो प्रकार के तापो की शान्ति करें।

ॐशान्ति ! ॐशान्ति !! ॐशान्ति !!!

इस प्रकार शान्ति पाठ करके अब मुण्डकोपनिषद् का आरम्भ करते हैं।

छप्पय

देवराज हे इन्द्र ! चहुँ दिशि तव यश छायो।
विश्व वेद हे सूर्य ! जगत आलोक दिखायो॥
गरुड़ निवारक कष्ट शक्तिशाली सु–नेमि सम।
गुरो ! बृहस्पति देव ! करें मिलि विनती सब हम॥
सबतें हमरी विनय है, स्वास्ति करें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख, शोक, भय, भ्रम हरें॥

मुण्डकोपनिषद् (प्रथम खण्ड)

ब्रह्म के जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है।

[४२]

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥*

(मु० उ० प्र० ख० ९ म)

छप्पय

शौनक मुनि अंगिरा निकट पूछत—हे भगवन।
काहि जानि सब जानि लेयँ—बोले—शौनक-सुन ॥
विद्या अपरा परा शास्त्र सब अपरा माहीं।
जातैं अक्षर ब्रह्म ज्ञान सो परा कहाई ॥
जो अद्रेश्य अग्राह्य है, गोत्र वर्ण इन्द्रिय रहित।
नित्य सर्वगत सूक्ष्म विभु, ताहि लखें ज्ञानी भगत ॥

एक प्रधान मल्ल निवर्हण न्याय होता है। बहुत मल्ल अखाड़े मे एकत्रित हैं, सबसे कहाँ तक लडा जाय, उन सबमे जो सबसे बडा हो उसे विजय कर लो। सभी पर विजय हो जायगी। हंडी मे चावल पक रहे हैं, प्रत्येक चावल को नहीं देखा जाता कि पका या

---

* जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है, जिसका ज्ञानमय तप है। उसी से यह दृश्य ब्रह्म—विराट् जगत्—समस्त नाम, समस्त रूप तथा खाये जाने वाले समस्त पदार्थ अर्थात् अन्न उत्पन्न होता है।

नहीं। हंडी में से एक चावल को देख लो। एक के पक जाने पर सब पके माने जायँगे। मिट्टी के लाखों पात्र रखे हैं। सबको देखने की आवश्यकता नहीं। एक पात्र को देख लिया कि इसके बाहर भीतर सर्वत्र मिट्टी ही मिट्टी है, तो सभी पात्र मृण्मय हैं, यह सिद्ध हो जायगा। सुवर्ण के एक आभूषण को देख लो, उसके भीतर बाहर सुवर्ण ही सुवर्ण है, तो सभी सोने के आभूषण सुवर्णमय प्रतीत हो जायँगे। इसी प्रकार यह जगत् ब्रह्ममय है। ब्रह्म सर्वस्व श्रेष्ठ है। ब्रह्म का ज्ञान होने पर सभी ब्रह्म का ही रूप है, सभी पसरा ब्रह्ममय है, यह ज्ञान हो जायगा। अतः सबसे आवश्यक बात यह है, कि सर्वप्रथम ब्रह्म प्राप्ति का—ब्रह्मज्ञान का प्रबल प्रयत्न करना चाहिये। ब्रह्म को प्राप्त कर लेने पर—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर—फिर संसार में कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं रह जायगी। सभी का ज्ञान हो जायगा क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है।

शौनक महर्षि सूतजी से तथा अन्यान्य महर्षियों से कह रहे हैं—"मुनियो! हम समित् पाणि होकर भगवान् अंगिरा महर्षि की सेवा में समुपस्थित हुए। हमने महर्षि के पादपद्मों में प्रणत होकर दण्डवत प्रणाम किया। तब उनकी आज्ञा लेकर हमने कहना आरम्भ किया। हमने कहा "भगवन्! हम एक प्रश्न लेकर आपकी सेवा में समुपस्थित हुए हैं, आज्ञा हो तो हम आप से कुछ प्रश्न पूछें?"

कृपालु मुनि ने बड़े ही प्रेम से हमसे कहा—"वत्स! तुम्हें जो भी पूछना हो, मुझसे बिना किसी संकोच के पूछो।"

तब मैंने पूछा भगवन्! यह जगत् तो अनादि है, अनन्त है। इसमें असंख्यों पदार्थ हैं। हम सबकी ही यदि जानकारी प्राप्त करना चाहें, तो कैसे प्राप्त कर सकते हैं। क्या कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, कि जिसे जान लेने पर यह जो भी कुछ है सभी

जान लिया जाय। एक की ही जानकारी से सभी की जानकारी हो जाय, ऐसी कोई यदि वस्तु है, तो उसका परिचय हमे करा दीजिये।"

इस पर महामुनि अंगिराजी ने कहा—"देखो, भैया! जो ब्रह्मवेत्ता महामुनि हैं, वे दो विद्याओं को जानने योग्य बताते हैं।"

मैंने पूछा—"वे जानने योग्य दो विद्यायें कौन कौन सी हैं?"

महामुनि अंगिरा ने बताया—"एक विद्या का नाम तो परा विद्या है और दूसरी विद्या का नाम अपरा विद्या है।"

मैंने पूछा—"अपरा विद्या किसे कहते हैं?"

अंगिरा मुनि ने कहा—"अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व ये चारों वेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग आदि आते हैं।"

मैंने पूछा—"परा विद्या क्या है?"

उन्होंने कहा—"जिसके द्वारा तत्त्वतः अविनाशी परब्रह्म का जिसे अक्षर-भाव कहते हैं उनका-ज्ञान हो, उसे ही परा विद्या कहते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! इस परा विद्या का वर्णन वेदों में नहीं है क्या?"

शौनकजी कहा—'है क्यों नहीं, वेदों में तो परा, अपरा दोनों का ही वर्णन है। परन्तु यहाँ वेद से अभिप्राय कर्मकाण्ड युक्त वेदों से है। वेद के जिस भाग में कर्मकाण्ड का वर्णन है, उसी का नाम वेद है, किन्तु वेद के अन्तिम भाग में जिसमें परा विद्या का वर्णन है, उसे उपनिषद् कहते हैं। वेद का अन्तिम भाग होने से उसे वेदान्त भी कहते हैं। कर्मकाण्ड का विषय प्रगुण्य विषय है। इसी प्रकार जो वेद को समझने के लिये उनके ज्ञान के लिये

विद्या है वह वेदान्त है। उसमे परा विद्या का ही तो वर्णन है। इसी प्रकार वेद के अगों के सम्बन्ध में है। जैसे शिक्षा है। शिक्षा मे यह बताया गया है, वेदों का पाठ कैसे करना चाहिये जो बहुत शीघ्रता से पाठ करते हैं, वह भी उचित नहीं। अत्यन्त वेग के साथ चिल्लाकर करते हैं, सिर को हिला हिलाकर करते है, लिखा कुछ और है, पाठ कुछ और कर रहे हैं। बिना ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का विचार किये पाठ कर रहे है ये सब नियम विरुद्ध पाठ हैं। केवल सस्वर वेदो का पाठ करना भी पुण्यप्रद कार्य है। अतः वेद का अग शिक्षा पाठ की प्रक्रिया बताता है।

दूसरा वेद का अग है 'कल्प' जैसे गृह्य सूत्रादि। इसमें कर्म काण्ड सम्बन्धी यज्ञ यागों की विधि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यज्ञ करना चाहिये। अमुक यज्ञ की इस प्रकार विधि है। जिसमें विधि विधान का निर्णय हो वह कल्प है।

तीसरा वेद का अग है व्याकरण। व्याकरण बिना पढे हम यह नहीं जान सकते कि यह शब्द कैसे बना, इसमे कौन-सी प्रत्यय किस अर्थ में प्रयुक्त हुई। किस प्रक्रिया से अमुक शब्द साधा जायगा। इस शब्द मे अमुक विभक्ति आने पर इसका क्या अर्थ होगा। यह शब्द लौकिक है या वैदिक इस प्रकार शब्द ज्ञान जिसमे हो वह व्याकरण है। व्याकरण के ज्ञान बिना वेदो का उच्चारण यथार्थ रूप से नहीं हो सकता और न उनका यथार्थ अर्थ ही समझा जा सकता है।

वेद का चौथा अग है निरुक्त। निरुक्त मे पदो के अर्थों का ब्योरा है। यह पद किस अर्थ मे प्रयुक्त है, इसके पर्यायवाची शब्द कौन कौन से हैं। एक प्रकार से वैदिक शब्दो का यह कोश है। निरुक्त के बिना वाक्यों की सगति नहीं लगती।

वेद का पाँचवाँ अंग है छन्द। वेदों की ऋचायें शुद्ध गद्य में

हैं कुछ पद्य में हैं। पद्य में भाँति भाँति की कवितायें हैं। अमुक ऋचा कौन-सी छन्द में है, उस छन्द में कितने शब्द प्रयुक्त होते हैं, वैदिक छन्दों की जाति, भेद आदि जिसके द्वारा जाने जायँ उस शास्त्र का नाम छन्द है।'

वेद का छठा अंग है, ज्योतिष—इसमें गणित और फलित दोनों का समावेश है। गणना करके ग्रह और नक्षत्रों की गति बता दे, कि अमुक ग्रह में कितने दिनों तक, कब तक अमुक राशि पर रहेगा। अमुक राशि वाले व्यक्ति का, अमुक ग्रह का क्या शुभाशुभ फल होगा। इस प्रकार जो ग्रह नक्षत्रों की गति, स्थिति तथा उनका फलाफल जो शास्त्र बताये वह ज्योतिष शास्त्र है।

ये छः भी अपरा विद्या के ही अन्तर्गत हैं। इसलिये जो जगत् की बातें बताव, विराट् ब्रह्माण्ड का परिचय करावें, भगवान की विभूतियों के सम्बन्ध में बतावे वह अपरा विद्या है और जो इससे परे त्रिपाद विभूति का ज्ञान करावे वह परा विद्या है। दोनों का वर्णन वेदों में ही है। जिससे अपरा विद्या का ज्ञान हो वह वेद है, जिससे परा विद्या का ज्ञान हो वह वेद का अंतिम भाग वेदांत है।

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज! समझ गये अब आप परा विद्या के सम्बन्ध में बताइये। परा विद्या से जिस अक्षर अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है, उसी के सम्बन्ध में समझाइये।"

शौनक मुनि ने कहा—"सूतजी! उस अक्षर ब्रह्म के सम्बन्ध में क्या बतावें कैसे बतावें। वह तो अदृश्य है। अर्थात् जिसको बाह्य इन्द्रियों द्वारा जाना न जा सके। वह अग्राह्य है, जिसे बाहरी इन्द्रियाँ ग्रहण न कर सकें, पकड़ न सकें। अगोत्र है अर्थात् उनका नाम गोत्र कुछ भी न हो, अवर्ण है। अर्थात् जिसका वर्ण

आकार प्रकार कुछ भी न हो। रङ्ग रूप से रहित हो अचक्षु श्रोत है अर्थात् उसके हमारे जैसे लौकिक चर्म चक्षु तथा चर्म के कान आदि न हों। उसके हमारे जैसे लौकिक हाथ पैर न हो। अर्थात् वह ज्ञानेन्द्रियों से तथा कर्मेन्द्रियों से रहित है।"

सूतजी ने पूछा—"यह तो आपने सब निषेधात्मक शब्द बताये। ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा नहीं है तो वह है कैसा ?"

शौनक मुनि ने कहा—भगवान अंगिरा कहते हैं—"वह अक्षर ब्रह्म नित्य है अर्थात् तीनों कालों में एक समान रहने वाला है। विभु है कहीं एक ही स्थान पर ही बैठा रहता हो सो नहीं, वह सर्वव्यापक है। वह नियमित देश में ही सीमित हो सो भी बात नहीं सर्वगत है। सबमें समान भाव से छाया हुआ है सब में फैला हुआ है। सुसूक्ष्म है। वह इतना सूक्ष्म है कि उसे चक्षु आदि किसी भी प्रकार से देख नहीं सकती। वह अव्यय है। उसमें चाहे जितना व्यय करते रहो, वह घटता नहीं। संसार भर में जितने भी भूत हैं, जितनी भी योनियाँ हैं, उन सबका जनक है। सबका परम कारण है।"

सूतजी ने पूछा—"ऐसे नित्य, विभु, सर्वगत, अव्यय, परब्रह्म को कोई देख नहीं सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"उसे ज्ञानी पुरुष ही भली प्रकार से—परिपूर्ण रूप से—देखते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इसे महामुनि अंगिरा ने एक दृष्टान्त देकर समझाया। जैसे एक मकड़ी है। उसकी नाभि में तन्तु रहते हैं। वह मुख से तन्तु निकाल-निकाल कर एक जाला बुनती है। इच्छा होती है, तब तक उस जाले में विहार करती है, जब इच्छा होती है उस जाले को जैसे मुख से निकालकर बनाया था

वस ही उसे निगल जाता है। यथावत अपनी नाभि में रख लेती है। इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म निर्गुण अपने आप में ही इस विराट् जगत् का बनाते हैं, उसमें स्वेच्छा पूर्वक विहार करते हैं, जब इच्छा होती है उसका उपसंहार कर लेते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"भगवान किसी को उच्च योनि में क्यों उत्पन्न करते हैं, किसी को नीच योनि में क्यों उत्पन्न करते हैं। किसी की आयु बड़ी क्यों करते हैं, किसी को अल्पायु क्यों बनाते हैं?"

शौनकजी ने कहा—'समस्त जीवों के साथ काल, कर्म और स्वभाव लगा रहता है। किस काल में किस कर्म से कब और किस स्वभाव का जीव उत्पन्न होगा, ये सब अपने आप ही प्रकृति के अनुसार कर्मवश उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे पृथ्वी में औषधियों के बीज पड़े रहते हैं, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ में नहीं उपजते। जब वर्षा होती है तो पृथ्वी में अव्यक्त रूप से पड़े हुए औषधियों के सभी बीज अपने आप अंकुरित हो आते हैं। अपना समय आने पर योग्य परिस्थिति के आने पर वे अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं, जिनका समय नहीं आया वे नहीं जमते। जैसे सनक भूमि में दबे हुए बीज वर्षा का जल पाते ही अंकुरित हो आते हैं, किन्तु बथुआ के बीज कितनी भी वर्षा हो, नहीं अंकुरित होते। वे न आषाढ़ में अंकुरित होंगे, न श्रावण, भादों, क्वार तथा कार्तिक में ही होंगे। जहाँ दीपावली बीती नहीं कि फिर वे उगना आरम्भ करेंगे, मार्गशीर्ष में बथुए का साग मिलने लगेगा। इस प्रकार देश, काल, कर्म और स्वभावानुसार पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियाँ अपने आप उत्पन्न हो जाती हैं और समय पर पककर पुनः पृथ्वी में विलीन हो जाती हैं उसी

प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह क्षर जगत् उत्पन्न हो जाता है। और समय पाकर उन्हीं में पुनः विलीन हो जाता है।"

सूतजी ने कहा—"इसमें दो शंकायें हुईं। जो जैसा होता है, उससे उत्पन्न वस्तु भी उसी के गुण वाली होती है, जैसे मिट्टी के समस्त बने पात्र मृण्मय होंगे, सुवर्ण के बने समस्त आभूषण सुवर्णमय होंगे उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय चैतन्य परब्रह्म से सब चैतन्य ही उत्पन्न होने चाहिये ये जड पदार्थ उनसे कैसे उत्पन्न हुए? फिर परब्रह्म को किसान की भाँति इन्हें पैदा करने में अत्यन्त परिश्रम करना पडता होगा? भगवान् इतने भारी जगत् को इतने असंख्यों पदार्थों को पैदा करके थकते नहीं?"

यह सुनकर शौनकजी खिलखिला कर हँस पडे और बोले—"सूतजी! आप भी अब ऐसे प्रश्न करोगे। अच्छा आप ही बताओ कि मनुष्य जड है या चैतन्य?"

सूतजी ने कहा—"जब तक जीवित है तब तक चैतन्य है, मर जाने पर शरीर जड है।"

शौनकजी बोले—"अच्छा, जीवित शरीर से जो नख, केश, रोम और मल आदि निकलते हैं, वे जड है या चैतन्य?"

सूतजी ने कहा—"नख, रोम, बाल आदि तो जड ही हैं।"

शौनकजी ने कहा—"जड हैं तो ये बढ़ते क्यों हैं?"

सूतजी ने कहा—"बढते हैं, जीवित शरीर के ससर्ग से। शरीर से इन्हें पृथक् कर दो तो नहीं बढेंगे। अथवा शरीर ही मृतक हो जाय, तो भी ये नहीं बढ़ेंगे।"

शौनक जी ने कहा—"तब सिद्ध हुआ नहीं कि चैतन्य देह से जड़ केश, रोम, नख उत्पन्न हो जाते है, उसके ससर्ग से जड होने पर भी बढ़ते है। अब यह बताइये शरीर मे लाखों रोम

केश हैं दशों उँगलियों में दश नख हैं, इन्हें उपजाने में बढ़ाने में मनुष्य को कितना श्रम करना पड़ता है ?"

सूतजी ने कहा—"रोम, नख, केशादि उपजाने में मनुष्य को तो कुछ भी नहीं करना पड़ता। वे तो समय आने पर स्वतः ही बढ़ते रहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इसी प्रकार अक्षर परब्रह्म परमात्मा से यह जड़ जगत् उत्पन्न होता है, उन्हीं की सत्ता से बढ़ता रहता है इसमें भगवान् को तनिक भी श्रम नहीं करना पड़ता इससे थकने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

सूतजी ने पूछा—"यह जगत् उत्पन्न कैसे होता है ?"

शौनकजी ने कहा—"जैसे पृथ्वी में से बीज उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी में जब ऊष्मा गर्मी आती है, तो उसके ताप से पड़े हुए बीज अपने आप अंकुरित होने लगते हैं। उसी प्रकार परब्रह्म अक्षर परमात्मा तपस्या द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है।"

सूतजी ने पूछा—"क्या अक्षर निर्गुण निराकार ब्रह्म कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत करके अपने शरीर को क्षीण करते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"उन्हें ऐसे तप की आवश्यकता नहीं। उनका संकल्प कर लेना कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ, यही तप है। उनका संकल्प होते ही वे वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। जब संसार की वृद्धि होने लगती है, तो आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। प्राणियों के पैदा होते ही उनके खाने को अन्न उत्पन्न हो जाता है। फिर उस अन्न से प्राण उत्पन्न होते हैं। अन्न से जीवन होता है। फिर उससे मन बनता है। फिर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये स्थूल भूत सत्य उत्पन्न होते हैं। फिर भूर्भुवादि लोकों की उत्पत्ति होती है। फिर कर्म उत्पन्न होते हैं,

फिर उन कर्मों का नहीं भरने वाला अवश्यम्भावी सुख दुःखादि फल होते हैं। कर्मानुसार प्राणी फल भोगते रहते हैं।

इसलिये सनजा ! सबके कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं। वे सर्वज्ञ हैं सबको जानने वाले हैं, जिसका ज्ञानमय ही तप है। उसी ज्ञान स्वरूप परब्रह्म के तप से, सकल्प से यह इतना विराट् स्थावर जङ्गम रूप नाना नामों वाला, नाना रूपों वाला विश्व ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है। और उन्हीं से सबके जीवन बढ़ाने वाला, प्राणों को पोषण करने वाला अन्न उत्पन्न हुआ है। इसलिये वे परब्रह्म ही सबके आदि बीज हैं।"

शौनकजी सूतजी से कह रहे हैं—"सो, सूतजी ! हमने भगवान् अगिरा से यही प्रश्न पूछा था कि किसके जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है, सो उन्होंने यही उत्तर दिया, कि जिससे इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, उस मूल कारण को जान लेने पर सभी का परिचय अपने आप ही हो जाता है।"

सूतजी ने कहा--"इस प्रश्न का तो उत्तर हो गया। इसके अनन्तर आपने महर्षि अगिरा से क्या पूछा ?"

शौनकजी ने कहा- "फिर हमने महर्षि से अग्निहोत्र के सम्बन्ध के प्रश्न किये, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह प्रकरण तो पूरा हो गया।"

छप्पय

मकरी जाली रचै निगलि पुनि जैसे जावै।
पर्यो भूमि में बीज समय पर ज्यों उगि आवै॥
नरतनु नख अरु केश बढ़ै त्यों ब्रह्म जगत बढ़।
तप तैं बाढ़ै ब्रह्म अन्न मन प्रान भूत जड॥
जिनि को तप है ज्ञानमय, जो सर्वज्ञ कहावते।
नाम रूपमय जगत तिनि, और अन्न उपजावते॥

अग्निहोत्र की महत्ता

[४३]

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥*

(मु० उ० २ ख० १ मु० २ म०)

छप्पय

सुकृत पंथ मख वेद मंत्र तैं करिहो नियमित ।
आज्यभाग आहुतिहु देहिँ तब ज्वाला प्रजलित ॥
अग्निहोत्र अरु दरश पौर्णिमा चतुरमास मख ।
आग्राहन बलिवैश्व-देव पूजा अतिथिहु भल ॥
इनि यज्ञनि जे नहिँ करत, अविधि करें जे हवन नर ।
सप्तलोक वंचित रहैं, यज्ञ सतत सब विपति हर ॥

द्विजातियों के लिये अग्निहोत्र करना—यज्ञानुष्ठान करना—अत्यावश्यक कार्य माना जाता था। यज्ञ के बिना द्विजों का द्विजातित्व नष्ट हो जाता है। द्विजाति उपवीत धारण करते हैं, वह यज्ञ की दीक्षा का प्रतीक है। अर्थात् इन्होंने नित्य नैमित्तिक यज्ञों की दीक्षा ले ली। इसीलिये उपवीत को यज्ञोपवीत भी कहते हैं। गीता में तो कहा है—"यज्ञ के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं,

---

* जिस समय हव्यवाहन-अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तब उसकी ज्वालाएं लपलपाने लगती हैं, उसी समय आज्यभाग के अन्तर में आहुतियों को डालना चाहिये।

उनके अतिरिक्त सभी कर्म बन्धनकारक हैं। हमारे लिये पञ्चयज्ञ बलिवैश्वदेव यज्ञ प्रत्येक सद्गृहस्थ द्विजाति के लिये परमावश्यक माना जाता था। ब्रह्मचारी जब तक रहते थे तब तक नित्य समिधान आवश्यक था। जब समावर्तन संस्कार करके विवाह के अनन्तर अग्निहोत्र की दीक्षा ली जाती थी, तो उसे जीवन-पर्यन्त निभाना पड़ता था, उसी अग्निहोत्र की अग्नि से अग्निहोत्री का दाह-संस्कार किया जाता था और उसके साथ ही उसके स्रुक् स्रुवादिक यज्ञीयपात्र भी जला दिये जाते थे। अग्निहोत्र तो आवश्यक नित्य कर्म है। इसके साथ ही बहुत-सी नैमित्तिक इष्टियाँ थीं, जैसा अमावास्या आने पर पितरों के निमित्त दर्शयाग किया जाता था। पूर्णिमा के दिन देवताओं के निमित्त विशेष पौर्णमास यज्ञ किया जाता था। चातुर्मास लगने पर चातुर्मास श्रौतयज्ञ किया जाता था। शरद मे और वसन्त में जब खेतो से नया अन्न आता है तब आग्रयण यज्ञ किया जाता था, जिसे नवान्न इष्टि भी कहते हैं। बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, अग्रयण यागो के अतिरिक्त, अश्वमेध,, वाजपेय, राजसूय तथा अन्यान्य भी बहुत से महायज्ञ हैं। पहिले द्विजाति वालों का—उनमें भी विशेषकर ब्राह्मणों का—सम्पूर्ण जन्म यज्ञयागो मे ही व्यतीत होता था। अतः प्रत्येक द्विजाति को यज्ञयागों के सम्बन्ध की जानकारी अत्यावश्यक है।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी तथा अन्यान्य मुनियो! महर्षि अङ्गिरा ने अपरा और परा दो विद्यायें बतायीं। अपरा विद्या तो प्रवृत्ति मार्ग, परा विद्या निवृत्तिमार्ग ज्ञानकाण्ड। इनमे से पहिले अपरा विद्या का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् अङ्गिरा कह रहे हैं—"शौनक! यह बात सर्वथा सत्य ही है वेद के मन्त्रो में ऋषियो ने कर्मकाण्ड का उल्लेख देखा था। जिन कर्मों का

विधान उन्होंने देखा उन सब कर्मों का भाँति-भाँति के विधि-विधान और नियमपूर्वक वर्णन तीनों वेदों में नाना प्रकार से व्याप्त है। अतः जो लोग सत्यकामी हैं—उन्हें चाहिये उन यज्ञादि वेदोक्त सुकृत कर्मों का नियमपूर्वक अनुष्ठान किया करें। संसार में नर-तन पाकर जो उसे सार्थक करना चाहते हैं जो शुभकर्म करके उनका पुण्यफल प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये यज्ञ-यागादि द्वारा ही पुण्य प्राप्त करना यही सुखकर सरलमार्ग है।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! अग्नि में जो हवनीय पदार्थों का हवन किया जाता है, वह कब करना चाहिये?"

शौनकजी ने कहा—"अङ्गिरा मुनि ने बताया है, कि अग्नि का नाम हव्यवाहन है। अर्थात् यही हवनीय पदार्थों को जिस देवता के नाम से आहुति दी जाती है, उसे ये ही उस देवता के समीप पहुँचाते हैं। जो पदार्थ अग्नि में जलते नहीं—जिन्हें अग्नि-देव ग्रहण नहीं करते—वे पदार्थ उन देवताओं के पास पहुँचते नहीं। अतः जब तक अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित न हो जाय, जब तक उसमें लपलपाती हुई अर्चियाँ ज्वालायें न फूटने लगें उस समय तक उसमें आहुतियों को न डाले। जब अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित हो जाय, तब आज्यभाग के स्थान को छोड़कर मध्यभाग में आहुतियों को छोड़ना चाहिये।"

सूतजी ने पूछा—"आज्यभाग क्या?"

शौनकजी ने कहा—"यजुर्वेद के अनुसार यज्ञों में ऐसा नियम है, कि पहिले प्रजापति के लिये मौनभाव से एक आहुति दी जाती है। पहिले ब्रह्मा के निमित्त "ॐ प्रजापतये स्वाहा" इस मन्त्र से मौन होकर एक आहुति दी जाती है। फिर ॐ इन्द्राय स्वाहा" इस मन्त्र से इन्द्र के लिये दो आहुतियाँ दी जाती हैं। इन्हीं का नाम "आघार" है। तदनन्तर "ॐ अग्नये स्वाहा" इस

मन्त्र से आहवनीय अग्नि के उत्तर ओर पूर्वार्द्ध में एक आहुति दी जाती है और "ॐ सोमाय स्वाहा" इस मन्त्र से सोम देवता के निमित्त उसी आहवनाय अग्नि मे दक्षिण की ओर पूर्वार्द्ध मे एक आहुति दी जाता है। ये जो आहवनीय अग्नि मे उत्तर तथा दक्षिण मे जो अग्निदेवता को तथा सोमदेवता को जो दो आहुतियाँ दा जाती है उन्हीं का नाम "आज्यभाग है।

सूतजी ने पूछा—"जो लोग नित्य अग्निहोत्र करते हैं, उनके लिये आज्यभाग की दो आहुतियाँ क्या नित्य देनी ही चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"नहीं, नित्य अग्निहोत्र करने वालो के लिये आज्यभाग की दो आहुतियाँ नित्य देने का विधान नहीं है। यहाँ आज्यभाग के स्थान का निर्देश किया। अर्थात् जिन दो स्थानों मे अर्थात्-अग्नि और सोम के निमित्त उत्तर पूर्वार्द्ध और दक्षिण पूर्वार्द्ध मे जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन स्थानो को छोड़कर इन दोनों के बीच में हवन कुण्ड का जो मध्य भाग है जिसे 'आवाप' कहते हैं उसी स्थान मे देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देनी चाहिये। यहाँ आहुति देने का स्थान बताने के ही निमित्त आज्यभाग की दो आहुतियो का उल्लेख कर दिया। जो आहिताग्नि हैं-नित्य हवन करने वाले हैं। उनके लिये आज्यभाग की नित्य आहुतियाँ आवश्यक नहीं। जब अग्नि मंद-मंद जल रही हो, तब आहुति न दे। मंद अग्नि में आहुति देने से मंदाग्नि हो जाती है, और बुझी हुई अग्नि में भी आहुति न देनी चाहिये, क्योंकि बुझी अग्नि में दी हुई आहुतियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। अतः जब अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित हो जाय, उसमें से लपटें निकलने लगें, तब शास्त्रविधि से हवन करना चाहिये। अविधिपूर्वक दी हुई आहुतियाँ भी निष्फल हो जाती हैं, क्योंकि कर्मकाण्ड में विधिविधान का ही प्राबल्य है। नित्य अग्निहोत्र करने वाले को

अमावास्या का दिन आने पर पितरों के निमित्त दर्श नाम का यज्ञ करना चाहिये, मास की पूर्णिमा आने पर मौर्णमास यज्ञ करना चाहिये। वर्षाऋतु में चातुर्मास लगने पर चातुर्मास्य यज्ञ करना चाहिये। शरद और वसन्त ऋतुओं में जब नया अन्न आ जाय तब नवान्न इष्टि करनी चाहिये जिसे आग्रयण यज्ञ कहते हैं उसे करना चाहिये। अपने यहाँ यज्ञशाला में भोजन के समय में अतिथि आ जाय तो उसका पूजन भोजनादि से आतिथ्य करना चाहिये, यह अतिथि यज्ञ है और नित्य अग्निहोत्र तथा बलिवैश्वदेव तो करना ही चाहिये। जो अग्निहोत्री इन कर्मों को नहीं करता उसकी तीन आगे की तीन पीछे की तथा स्वयं इस प्रकार सात पीढ़ी के लोग नरक में जाते हैं। अथवा उन्हें सातों लोकों का सुख प्राप्त नहीं होता। इसलिये शास्त्रीयविधि से इन अग्निहोत्रादि कर्मों को श्रेयस्कामी गृहस्थी को अवश्य करना चाहिये और यावज्जीवन करते रहना चाहिये। अतः लपटें निकलती हुई अग्नि के मध्य में हवन करे।

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! अग्नि की कै लपटें हैं? उनकी पहिचान रंग आदि बताइये।"

शौनक मुनि बोले—"महर्षि अङ्गिरा ने मुझे बताया अग्नि की सात लपटें हैं, जिन्हें अग्नि की अर्चि अथवा जिह्वा भी कहते हैं। जिह्वा इसलिये कहते हैं, कि इन्हीं के द्वारा अग्निदेव हवनीय पदार्थों को खाते हैं। उन सातों के नाम हैं १-काली, २-कराली, ३-मनोजवा, ४-सुलोहिता, ५-सुधूम्रवर्णा, ६-स्फुलिङ्गिनी, और ७-विश्वरुचीदेवी हैं।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! इन अर्चियों का अर्थ भी बताइये।"

शौनकजी बोले—"इनका अर्थ तो इनके नामों से ही सुस्पष्ट

है। जैसे पहिली लपट का नाम काली है। अग्नि से जो काले रंग वाली लपट निकले, उसे "काली कहते हैं। काले रंग वाली (कालःकृष्णवर्णोऽस्ति अस्याः)।

दूसरी लपट, अर्चि अथवा अग्नि की जिह्वा का नाम कराली है। अत्यंत कराल-अति उग्र होने के कारण इसे कराली कहते हैं। यह अग्नि की लपट सहसा ऊपर उठ जाती है इससे अग्नि लग जाने का भय होता है। (कराल+गौरादित्वात् ङीप्)।

तीसरी अर्चि अथवा अग्नि जिह्वा का नाम मनोजवा है, जिसका जव-वेग-चाल मन के सदृश हो अर्थात् जो अत्यन्त ही चंचल लपट हो। लपलपाती हुई। (मनोइवजवो यस्याः सा)।

चौथी अग्नि की अर्चि का नाम सुलोहिता है। जो सुन्दर लाली लिये हुए हो, जिस लपट का रंग सर्वथा लालवर्ण वाला हो उसी अग्नि जिह्वा का नाम सुलोहिता है। (सुष्ठुलोहिता याःसा)।

पाँचवीं का नाम सुधूम्रवर्णा है। धूएँ का वर्ण काला भी होता है, कुछ सुन्दर काला होता है जो अग्नि की लपट सुन्दर धूएँ की वर्ण वाली हो वही सुधूम्रवर्णा कहलाती है (सुष्ठु धूम्रवतवर्णो यस्याः सा)।

छठी अग्नि जिह्वा का नाम स्फुलिङ्गिनी है। किसी लकड़ी में से जब अग्नि की लपटें निकलती हैं, तो उसमें से चटचट शब्द करती हुई चिनगारियाँ निकलती हैं, उन चिनगारियों को ही स्फुलिङ्ग कहते हैं। जिस ज्वाला में से चटचट शब्द करती हुई चिनगारियाँ निकलें वही लपट स्फुलिङ्गिनी कहलाती है। (स्फुलिङ्गो अस्या अस्तीति=स्फुलिङ्गिनी)।

सातवीं लपट का नाम विश्वरुचीदेवी है। देवी कहते हैं

देदीप्यमान को जो विश्वतः रुचि सुन्दरतायुक्त प्रकाश वाली ज्वाला हो।

इस प्रकार ये अग्निदेव की सात जिह्वायें हैं। इन सात जिह्वाओं से ही वे हवनीय पदार्थों को ग्रहण करते हैं और जिस देवता के निमित्त जो आहुति दी जाती है उसे उसी देवता के समीप पहुँचा देते है, वे केवल देवताओं के अन्न ढोने के वाहन हैं। देवता उन्हीं के मुख से खाते हैं अतः वे देवमुख भी कहाते हैं। इस प्रकार जो प्रज्वलित अग्नि मे विधिपूर्वक नियमित यथा-काल हवन करते हैं, उस अग्निहोत्री को ये आहुतियाँ अपने साथ लेकर सूर्य की रश्मि बनकर यज्ञकर्ता को उस स्थान तक पहुँचा देती हैं, जहाँ देवताओं के पति ब्रह्मा निवास करते हैं, अथवा देवेन्द्र शतक्रतु जिस स्वर्ग मे रहते हैं। स्वर्गलोक से सत्यलोक के सभी ऊपर के दिव्यलोक स्वर्ग कहलाते हैं।

वे आहुतियाँ देदीप्यमान होकर यज्ञकर्ता को आदरपूर्वक बुलाती है। वे कहती हैं—"आइये-आइये, इस ओर पधारिये। तुमने जो अपने सुकृत कर्मों से जिस पवित्र ब्रह्मलोक को प्राप्त किया है यही वह चतुर्मुख ब्रह्माजी का ब्रह्मलोक है। इस प्रकार प्रदीप्त अग्नि में दी हुई आहुतियाँ सूर्य की किरण बनकर देहान्त के पश्चात् यज्ञकर्ता यजमान को आदर-सत्कारपूर्वक बुलाकर वहाँ पहुँचा देती हैं। यही प्रज्वलित अग्नि मे नियमपूर्वक सविधि श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र करने वालों का फल है।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! इस परमपावन अग्निहोत्र कर्म द्वारा क्या यह संसार-सागर सुगमता से पार किया जा सकता है? क्या केवल अग्निहोत्र द्वारा ही जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिये छूटा जा सकता है? क्या इन कर्मों द्वारा आत्यन्तिक मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है?"

इन प्रश्नो का जो शौनकजी अङ्गिरा मुनि के मतानुसार उत्तर देंगे, उसका वर्णन आगे किया जायगा ।

छप्पय

सात अगिनि की अचि कराली काली जो हैं ।
सुलोहिता अरु सुधूम्रवर्णा मनोजवा हैं ॥
विश्वरुची ह देवि कही पुनि इस्फुलिङ्गिनी ।
सूर्य रश्मि बनि सकल आहुती ब्रह्मगामिनी ॥
ब्रह्मलोक ले जायँ परि, क्षुद्रनाव डगमग करत ।
अवर करम करि मूढ तस, पुनि जनमत पुनि पुनि मरत ॥

ज्ञानमार्ग की महत्ता

[४४]

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये ।
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ॥
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति ।
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥*
(मु० उ० २ ख० १ मु० ११ मं०)

छप्पय

स्वयं अविद्या निरत अपंडित मानें पंडित ।
खल नर सहि पुनि दुःख जायँ लै अंध अधवत ॥
बाल अविद्या फँसे कृतारथ निजकूँ मानत ।
रागयुक्त करि करम पुन्य क्षय नीचे आवत ॥
इष्ट पूर्त खल मानि सब, स्वरग जाइँ नीचे गिरत ।
क्षीण पुन्य भू जनम लें, नाना योनिनि में फिरत ॥

कर्मकाण्ड का मूल है विधिविधान । शास्त्रोक्त यज्ञ यागादि कर्मों में जो विधि बताई गयी है, उस विधि से जिस कामना की

---

* किन्तु जो अरण्य वन-में बसने वाले, शान्त स्वभाव वाले विद्वान् पुरुष हैं, जो भिक्षा पर निर्वाह करने वाले हैं तथा जो तपस्या और श्रद्धा का सेवन करते हैं वे रजोगुण से रहित होकर सूर्य द्वार से उस स्थान को जाते हैं जहाँ पर वे अमृत अविनाशी पुरुष रहते हैं ।

प्राप्त के निमित्त कर्म किया जायगा, विधि पूरी होने पर उस कर्म से उतना ही फल मिलेगा, अधिक नहीं, यदि विधि में कुछ गड़बड़ हो गया, तो अविधि यज्ञ से कुछ फल न मिले यही नहीं, उसका परिणाम विपरीत भी हो सकता है। त्वष्टा ऋषि ने इन्द्रहन्ता पुत्र उत्पन्न हो इस कामना से बड़े विस्तार से विधि विधानपूर्वक दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्य पचन नामक अग्नि) में हवन किया। वे चाहते थे, जिस इन्द्र ने मेरे पुत्र विश्वरूप को मार डाला है, मैं मन्त्र बल से ऐसा एक पुत्र उत्पन्न करूँ जो इन्द्र को मारकर अपने भाई की मृत्यु का बदला ले सके। उन्होंने हे इन्द्रशत्रो! तुम्हारी अभिवृद्धि हो और शीघ्र से शीघ्र तुम अपने शत्रु इन्द्र को मार डालो (इन्द्रशत्रो! विवर्धस्व माचिरजहिविद्विषम) इस भाव का मन्त्र पढ़कर अग्नि में आहुति दी। किन्तु एक स्वर शब्दों में अशुद्ध उच्चारण हो गया। उदात्त के स्थान में अनुदात्त हो गया। इसका अर्थ यह हो गया, कि इन्द्र का जो शत्रु है। इससे इन्द्र को मारने वाला उत्पन्न न होकर इन्द्र जिसे मार डाले वह वृत्रासुर उत्पन्न हो गया। जिन यज्ञ यागादि कर्मों में स्वर, वर्ण, विधि, उच्चारण आदि में तनिक विपरीतता होने पर उलटा परिणाम हो सकता है, उन केवल सकाम कर्मों से संसार सागर को कैसे पार किया जा सकता है। इसके लिये ज्ञान अथवा भक्तिमार्ग का ही आश्रय ग्रहण करना होगा।

जब सूतजी ने शौनक मुनि से यह बात पूछी कि स्वर्ग के साधन भूत यज्ञादि सकाम कर्मों से क्या संसार सागर से तरा जा सकता है? तो उन्होंने जो महर्षि अङ्गिरा से ज्ञान सुना था उसी के आधार पर कहने लगे—"सूतजी! मुझे अङ्गिरा मुनि ने ऐसा बताया है कि संसार रूपी समुद्र से पार जाने के लिये अठारह वस्तुओं से निर्मित यह नौका है तो सही, किन्तु यह नौका सुदृढ

नहीं है, इससे कुछ दूर जाकर बड़ा जो पोत है, जहाज है उसमें बैठना पड़ेगा। भवसागर को पार करने में वह सुदृढ पोत ही समर्थ होगा यह अष्टादशोक्त यज्ञरूपा नौका दृढ नहीं अवर है नीची श्रेणी की है, जहाज तक पहुँचा सकती है। पूरे समुद्र को पार नहीं कर सकती।

सूतजी ने कहा—"यज्ञ को अष्टादशोक्ता क्यों कहा ?"

शौनकजी ने कहा—"बड़े यज्ञों में १६ यज्ञकर्ता होते हैं। ४ प्रधान और तीन तीन उनके सहायक। उनके नाम (१) होता, (२) अध्वर्यु, (३) ब्रह्मा, (४) उद्गाता, (५) प्रशास्ता, (६) प्रतिप्रस्थाता, (७) ब्राह्मणाच्छंसी, (८) प्रस्तोता, (९) अच्छावाक, (१०) नेष्टा, (११) आग्नीध्र, (१२) प्रतिहर्ता, (१३) ग्रावस्तुत्, (१४) नेता, (१५) होता, (१६)सुब्रह्मण्य ये १६ तो यज्ञकर्ता हुए, सत्रहवाँ यजमान और अठारहवीं यजमान पत्नी इन अठारहों द्वारा यज्ञयाग सम्पन्न होते हैं, इसीलिये इस यज्ञ रूपी नौका को अष्टादशोक्त कहा गया है। आप ही बतावें सकामभाव से किये जाने वाले यज्ञ याग तो जिस कामना से किये जायँगे, उस कामना की पूर्ति ही करने में समर्थ होंगे, वे संसार-सागर से पार कैसे पहुँचा सकते हैं। जैसे समुद्र में दूर पार जाने वाला पोत खड़ा है। उस पर यात्री पदल जाकर नहीं चढ सकते। छोटी छोटी नौकाओं द्वारा उस पोत के पास जाया जा सकता है, उसमें से उतर कर बड़े पोत पर चढ जाओ तो समुद्र पार पहुँच जाओगे। यदि छोटी ही नौका को तुम लेकर समुद्र पार जाने को चल पड़ो तो वह छोटी नौका सुन्दर तो है नहीं। समुद्र की लहरें उसे पुनः किनारे पर बहा लावेंगी, या प्रबल चपेटों के चक्कर में पड़ गयी तो डूब भी जायगी। इसी प्रकार कर्मकाण्ड से अन्तःकरण की शुद्धि हो सकती है, उसके द्वारा तुम ज्ञानरूप सुदृढ पोत पर चढ़ सकते हो

उससे भवसागर को पार कर सकने में समर्थ हो सकते हो। तुम चाहो कि सकाम कर्म रूपी छोटी नौका से ही पार हो जायँ, तो उस अदृढ़, अस्थिर सकाम कर्मरूपी अवर नीची श्रेणी की नौका से तुम्हारा मनोरथ सिद्ध न होगा। यह तुम्हारी मूर्खता ही मानी जायगी। जो लोग मूढ़ हैं, वे ही सकाम कर्मों को श्रेयस्कर मानकर उनकी प्रशंसा करते हैं, वे मूढ़ लोग बारम्बार जरामृत्यु को प्राप्त होते हैं, अर्थात् भवसागर से पार न होकर पुनः-पुनः जन्मते और मरते रहते हैं।

सूतजी ने पूछा—"वे किस प्रकार दुःखों को भोगा करते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"बात यह है, कि विद्या तो वह है जो हमें मुक्ति के मार्ग की ओर ले जाय। सकाम कर्म तो कामना की ओर-बन्धन की ओर-ले जाने वाले हैं। किन्तु वे कर्माभिमानी मूढ़जन स्वयं तो अविद्या में स्थित हैं, लगाते हैं अपने को धीर पुरुष। स्वयं तो मूर्ख हैं, किन्तु मानते हैं अपने को पंडित पुरुष। ऐसे पंडित मूर्खजन जन्म लेकर बारम्बार नाना भाँति की यातनाओं को सहते हैं। वे उसी प्रकार संसार में भटकते रहते हैं, जिस प्रकार अन्धे नेता के पीछे अन्धे अनुयायी चलकर अपने गन्तव्य स्थान तक तो पहुँच नहीं सकते। बीच में ही कहीं कूआ आदि में अटके रहते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"वे लोग जब भटकते हैं भाँति-भाँति के कष्ट उठाते हैं, तो फिर उधर से लौट क्यों नहीं आते?"

शौनकजी ने कहा—"लौटे कैसे? मूर्खों ने तो उनके कान भर दिये हैं, सकामकर्मों की प्रशंसा के पुल बाँध दिये हैं। उनके मन में ये बातें दृढ़ता से बैठा दी हैं। चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले अक्षय सुख के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार वे बाल बुद्धि वाले बहुत प्रकार से नाना सकाम कर्मों का अनुष्ठान करते रहते हैं, उन्हीं में

लगे रहते हैं। वे अभिमानपूर्वक कहते हैं हम कृतार्थ हो गये' क्योंकि वे सकामकर्मी लोग रागवश कल्याण मार्ग से अनभिज्ञ बन रहते हैं। इस कारण वे पुनःपुनः आतुर होकर पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर इन्हीं नीचे के लोकों में गिरा दिये जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"वे यज्ञ याग, दान धर्म कार्य तो अच्छे करते हैं, फिर गिराये क्यों जाते हैं।'

शौनकजी ने कहा—"अच्छे कर्मों का फल स्वर्ग है, बुरे कर्मों का फल नरक है। मुक्ति के लिये तो अच्छे बुरे दोनों से ही पृथक् होना पड़ेगा। कर्म सकाम भाव से किये जायेंगे, तो कभी न कभी उनका फल समाप्त ही हो जायगा। पुण्यकर्म धन के समान हैं, तुम्हारे पास कितना भी धन है यदि उसे व्यय करते रहोगे तो देर सवेर कभी न कभी तो वह समाप्त ही हो जायगा। अच्छे कर्म दो प्रकार के होते हैं एक तो परोपकार की भावना से किये गये, पूर्त कर्म जैसे बावड़ी, कुआ, तालाब बनवाना, मंदिर, आराम बाग-बगीचा धर्मशालादि बनवाना। दूसरे इष्टकर्म यज्ञयागादि श्रुति के अनुसार किये हुए श्रौतकर्म। ये दोनों ही प्रकार के कर्म पुण्यप्रद हैं। इनसे इस लोक में कीर्ति और परलोक में दिव्य भोग प्राप्त होते हैं, किन्तु ये सब क्षयिष्णु हैं। पुण्य क्षय होने पर पुनः मर्त्यलोक में ही आना पड़ेगा। किन्तु जो सकाम कर्मों के ही दुराग्रही हैं वे लोग इष्ट और पूर्त कर्मों को ही वरिष्ठ-श्रेष्ठ-मानते हैं, वे मूढ़ इन्हें ही सब कुछ मानते हैं, इन कर्मों के अतिरिक्त वे दूसरा श्रेयस्कर कोई मार्ग और भी है इस पर विश्वास नहीं करते। क्योंकि उनकी आसक्ति कर्मों में ही है। स्वर्गीय सुख ही उनके लिये सबसे श्रेष्ठ सुख है। स्वर्ग में चला जाना ही उनका अन्तिम ध्येय है। अपने दुराग्रह के कारण वे शुभ कर्मों के फल स्वरूप स्वर्गीय सुखों को भोगकर-वहाँ के दिव्य भोगों का अनुभव

करके–जब पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब देवयोनि से हीनतर यहाँ पृथ्वी की अन्य योनियों मे आकर पुनः जन्म लेते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"जो लोग फल की इच्छा से सकाम कर्मों को नहीं करते उनकी कौन गति होती है ?"

शौनकजी ने कहा—"जो लोग मन मे स्वर्ग और नरक की कुछ भी कामना न रखकर निष्काम भाव से अरण्य मे वास करते हैं, ऐसे शांत स्वभाव के विद्वान् पुरुष अपने पास कुछ भी संग्रह नहीं करते। वे अपनी उदरपूर्ति भी केवल भिक्षान्न से करते हैं। संयम और श्रद्धा के सहित अपने नित्य कर्मों को करते रहते हैं, मन में किसी भी प्रकार की शुभ अथवा अशुभ कामना नहीं करते, ऐसे रजोगुण से रहित तपस्वी सूर्य द्वार द्वारा जाकर उस स्थान को प्राप्त करते हैं, जहाँ पर वे जन्म मृत्यु से रहित होकर अव्ययात्मा पुरुष-परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"वहाँ जाने के लिये साधन कौन-सा करना चाहिये ? इसके लिये किसकी शरण लेनी चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"पहिले तो श्रेयस्कामी ब्रह्म को जानने की अभिलाषा करने वाले साधक को इन स्वर्गादि अनश्वर लोकों की परीक्षा करनी चाहिये। अर्थात् विवेक विचार के द्वारा इन स्वर्गादि लोकों का परिणाम क्या होता है इस विषय पर शान्ति-पूर्वक मनन करना चाहिये। जब इन स्वर्गादि लोकों की नश्वरता का ज्ञान हो जाय, तो संसार के सभी भोगों से वैराग्य को धारण करले। यह निश्चय करले कि जो परब्रह्म परमात्मा स्वयं अचल है, जो स्वयं सभी प्रकार के कर्मों से रहित है, वह भला कर्मों द्वारा-सकाम कर्मों से-कैसे प्राप्त हो सकेगा। उसकी प्राप्ति के लिये तो साधक को स्वयं भी निष्काम बनना होगा। जब इस प्रकार संसार से-सकामकर्मों से-विरक्ति हो जाय, तो उस परब्रह्म पर-

मात्मा के विशेष ज्ञान के निमित्त श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप समित्पाणि होकर–उनके लिये कुछ भेंट लेकर–विनयपूर्वक जाय।"

सूतजी ने पूछा—"संसार से विरक्त होकर श्रद्धा भक्ति के साथ श्रेयस्कामी शिष्य जाय, यह तो शिष्य का कर्तव्य हो गया। ऐसे निष्काम, श्रद्धालु शिष्य को पाकर गुरु क्या करे। गुरु का क्या कर्तव्य है, इस विषय में भी कुछ बताइये। गुरु के कर्तव्य पर भी तनिक प्रकाश डालिये।"

शौनकजी ने कहा–"गुरु को चाहिये कि जब ऐसा त्यागी, विरागी, विचारशील शिष्य अपनी शरण में आवे, तो उन महात्मा को चाहिये इस सम्यक् प्रशान्त चित्त वाले, मन और इन्द्रियों को वश में करने वाले शरणागत शिष्य को उस ब्रह्म विद्या को तत्त्वतः कहे। जिससे वह शरणागत शिष्य अक्षर सत्य परम-पुरुष परमात्मा को जान जाय।"

सूतजी ने पूछा—"वह सत्य है क्या?"

शौनकजी ने कहा—"वह सत्य क्या है, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जे तप श्रद्धायुक्त वास वन करत शान्तचित।
सूर्य द्वार तैं जायँ अमृत अव्यय आत्माजित॥
करम प्राप्त सब लोक रहस लखि धरि विराग चित।
कस करमनि तैं अकृत पाइ गुरु ढिँग सुज्ञान हित॥
ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय समित्-पाणि जाइ श्रद्धा सहित।
ताहि ब्रह्म विद्या सकल, गुरु सिखवै सतशिष्य हित॥

द्वितीय खण्ड समाप्त॥

प्रथम मुण्डक समाप्त॥

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

सब ब्रह्म ही ब्रह्म है

[४५]

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥❀

(मु० उ० २ मु० १ ख० २ म०)

छप्पय

दीप्ति अगिनि सत सहस उठें चिनगारी जैसे ।
अक्षर तैं बहु भाव उदित लय होवें तैसे ॥
दिव्य पुरुष नहिं मूर्त सकल जग बाहिर भीतर ।
अज, अप्रान, मन रहित शुभ्र, अक्षर-परतैं पर ॥
परमेश्वरतैं प्रान मन, इन्द्रियगन आकाश पुनि ।
वायु, ज्योति, जल, विश्व की-धारक पृथिवी भई मुनि ॥

वट का वृक्ष है, उसमे स्कन्ध (तना) है, छोटी बडी बहुत-सी शाखायें, उपशाखायें तथा प्रोपशाखायें हैं, उन सभी शाखाओं मे पत्ते हैं, फल हैं, जड हैं, लटायें हैं, वल्कल है, दूध है । इन सबको

❀ वह पूर्ण पुरुष दिव्य, अमूर्त जगत् के बाहर भीतर व्याप्त, अज, अप्राण, अमन, शुभ तथा अक्षर जो जीवात्मा है उससे अत्यन्त ही श्रेष्ठ है ।

मिलाकर—इन सबका संघात रूप वटवृक्ष है। अब इसमे से कोई एक ऐसी वस्तु हो, जिस एक के जान लेने पर समस्त वटवृक्ष का ज्ञान हो जाय, तो वट के पके फल को तोड़कर उसमे से एक छोटा-सा नन्हा-सा बीज निकाल लीजिये। उस एक ही बीज से यह इतना बडा वटवृक्ष बन गया है, बीज को उर्वरा भूमि में मिला दिया। जल दे दिया। उपयुक्त खाद्य तथा जल मिलने से वह बीज अकुरित होकर शनैः-शनैः काल पाकर अकुर हो जायगा, बडा होता जायगा, पल्लवित होने लगेगा, फल आने लगेगे, स्कन्ध मोटा होने लगेगा, शाखाये-प्रशाखायें फूटने लगेंगी। वृक्ष बन जाने पर फिर आप उसकी जड को खोजो तो वह बीज फिर नहीं मिलेगा, वह बीज कहाँ गया, वह नन्हा बीज ही बृहद् होकर वृक्ष बन गया है। विनाश होते समय वृक्ष बीजों को छोड जायगा, उनसे पुनः वृक्ष बन जायँगे। इसी प्रकार यह वृक्ष रूप विश्व ब्रह्माण्ड है। इसके बीज परब्रह्म परमात्मा है। परमात्मा ही जगत् बन गये हैं। परमात्मा से ही जगत् की उत्पत्ति है, उन्हीं से जगत् की स्थिति है और अन्त मे उन्हा में जाकर जगत् विलीन हो हो जाता है। अतः एक ब्रह्म को जान लेने पर जगत् के सभी पदार्थों की जानकारी प्राप्त हो सकती है।

सूतजी ने जब पूछा—"श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर शिष्य पर विद्या के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करे और सत्गुरु उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश करें यह बात आपने बतायी। अब प्रश्न यह है, कि वह परविद्या या ब्रह्मविद्या है क्या ?"

सूतजी के ऐसा पूछने पर शौनक मुनि कहने लगे—"महर्षि अङ्गिरा ने हमें इस सम्बन्ध में बताते हुए कहा था—हे सौम्य शौनक ! मैं तुम्हें बार बार अनेक दृष्टान्त देकर बता चुका हूँ, कि वह ब्रह्म सत्य है। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं परब्रह्म से हुआ है।

जैसे सुदीप्त अग्नि है। अग्नि मे यथेष्ट ईंधन पड़ा है, इसके कारण ऊँची-ऊँची लपटें उठ रही हैं। कुछ लकड़ियाँ ऐसी होती हैं, कि उनके पड़ते ही चटचटाने लगती हैं। चटचट शब्द करते हुए उस सुदीप्त पावक से उसी के रग रूप की सहस्रो विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ-छोटी बडी अनेको प्रकार की उत्पन्न होती है, वे अग्नि से ही उत्पन्न होकर अन्त मे अग्नि मे ही मिल जाती हैं, उसी प्रकार इस अविनाशी अक्षर परब्रह्म परमात्मा से संसार के विविध भाव उत्पन्न होते है और अन्त मे उन्हीं मे जाकर विलीन हो जाते हैं। अतः वह ब्रह्म ही-परब्रह्म परमात्मा ही सबका आदि कारण है और उन्हे ही जान लेने पर संसार के सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"उस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप क्या है ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अङ्गिरा मुनि ने बताया यह पूर्णपुरुष परब्रह्म परमात्मा दिव्य है, उसका कोई एक आकार-प्रकार नहीं, वह अमूर्त है। यह बात नहीं कि वह जगत के भीतर ही भीतर रहता हो, वह जगत् के भीतर भी है, बाहर भी है यत्र-तत्र-सर्वत्र है। जीव तो कर्माधीन होकर नाना योनियों मे उत्पन्न होते हैं, किन्तु वह कर्मों में लिप्त नहीं होता। कर्म उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते, अतः वह प्राकृत जन्म से रहित है, अज है। प्राण तो शरीर-धारियो के शरीर मे ही विचरण करते हैं, किन्तु वह अशरीरी होने के कारण प्राण रहित है। देह का सम्बन्ध इन्द्रियों और मन के साथ है अतः देहरहित होने के कारण वह मन से भी रहित है। देह मलायतन है, किन्तु वह सर्वथा विशुद्ध है, परमशुभ्र है। इसीलिये अक्षर होने पर भी जो नाना योनियो में भटकने वाला जीवात्मा है, उससे यह परब्रह्म परमात्मा अत्यन्त श्रेष्ठ है, परात्पर है।"

सूतजी ने पूछा—"यह तो निराकार परब्रह्म परमात्मा का वर्णन हुआ। वह तो इन्द्रियों से परे है, अगोचर है। उस निराकार से यह साकार जगत् कैसे उत्पन्न हो गया ?"

शौनकजी ने कहा—"उस निराकार अज, अव्यक्त, अशरीरी परब्रह्म से सर्वप्रथम प्राणों की उत्पत्ति हुई। प्राणों की तृप्ति के लिये अन्न और अन्न से मन की उत्पत्ति हुई। अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार रूप अन्तःकरण चतुष्टय बना। तदनन्तर कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय भेद से समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। फिर सबको अवकाश देने वाले आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से सर्वत्र विचरण करने वाले प्राणों का सचार करने वाले वायुदेव की उत्पत्ति हुई। वायु से सबको प्रकाशित करने वाले तेज की उत्पत्ति हुई। उस ज्योति से ही समस्त भुवन को जीवन प्रदान करने वाले जल की उत्पत्ति हुई और उस अनन्त अगाध जल से ही सम्पूर्ण चराचर के प्राणियों को धारण करने वाली पृथ्वीदेवी की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति कहना तो उपलक्षण मात्र है, वे निराकार ब्रह्म ही विराट्रूप में परिणत हो गये। वे अब पुरुषाकार हो गये।"

पुरुष का जैसे मूर्धा मस्तक होता है, वैसे ही अग्नि उन विराट्पुरुष का मस्तक है। मस्तक में दो नेत्र होते हैं, जो प्रकाशक हैं, जिनके द्वारा सब कुछ देखा जा सकता है। अतः सूर्य और चन्द्रमा उस विराट्पुरुष के दोनों नेत्र हैं। ये विराट्पुरुष अनन्त मुख वाले हैं, इसलिये इनके कान भी अनन्त ही होंगे, अतः समस्त दिशायें ही इन विराटपुरुष के कान है। ये जो विस्तृत वेद है वे ही इनकी बोलने की वाणी हैं। शरीर में जैसे प्राण रहते हैं उन प्राणों के स्थान में ही सर्वत्र गमन करने वाली वायु विराट्पुरुष के प्राण हैं यह जगत् उनका हृदय है। पृथ्वी

उनके चरण स्थानीय है। यही सर्व भूतान्तरात्मा समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है। इस प्रकार यह व्यक्त जगत् ही उन अमूर्त ब्रह्म की व्यक्त मूर्ति है।

यह जगत् क्या है एक प्रकार यज्ञ है। यज्ञ मे अरणि से अग्नि उत्पन्न होती है। अतः उस ब्रह्मरूप अरणि से प्रथम यज्ञाग्नि उत्पन्न हुई। यज्ञ मे अग्नि के जलाने के लिये समिधा चाहिये, सो सूर्य ही मानो उनकी समिधा हैं। सोम यज्ञ मे सोम की आवश्यकता होती है अतः अग्नि से-प्रकाश से-सोम उत्पन्न होता है। यज्ञ से धूम उत्पन्न होता है। अतः सोम से पर्जन्यमेघ उत्पन्न होते हैं। धूम से वर्षा होती है उस वर्षा का फल यह होता है, उससे पृथ्वी पर नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे यज्ञ से देवता सन्तुष्ट होकर वर्षा करते हैं, वर्षा से अन्न और अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मयज्ञ से औषधियाँ उत्पन्न होती है। उन औषधियों के सार से वीर्य उत्पन्न होता है। उस वीर्य को पुरुष स्त्री मे सिंचन करता है। गर्भ का आधान करता है। जैसे पुरुष से नाना प्रकार की प्रजाओं की-सन्तानों की-उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम से इस प्रजारूप इस विश्वब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जगत् की उत्पत्ति के मुनियो ने अनेक प्रकार प्रताये हैं। सबका सार यही समझना चाहिये कि सब कुछ परब्रह्म से ही हुआ है। जैसे अमूर्त अग्नि ईंधन जैसा होता है उसी के आकार-प्रकार की बनकर प्रकट हो जाती है, फिर अपने अव्यक्त रूप मे विलीन हो जाती है।"

सूतजी ने पूछा—"आपने ब्रह्म को यज्ञमय बताया है, यज्ञ की क्या आवश्यकता है?"

शौनकजी ने कहा—"यज्ञ ही तो आधार है, यज्ञ से ही तो

सबकी रक्षा होती है। यज्ञ ही तो एकमात्र कर्तव्य है। यज्ञ के लिये किये हुए कर्म के अतिरिक्त और जो कर्म हैं, वे तो लोक में बन्धन के हेतु हैं।"

सूतजी ने पूछा—"यज्ञयागादि की, उनके साधन और फल की उत्पत्ति भी उन्हीं परब्रह्म से हुई होगी, क्योंकि सबके उत्पादक वे ही हैं, अतः उनकी उत्पत्ति का भी प्रकार बताइये।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, यज्ञ, उसके साधन, उसके फलादि की उत्पत्ति भी उन्हीं परब्रह्म से हुई है। इस विषय का वर्णन आगे करेंगे।"

छप्पय

अग्नि माथ हैं आँखि चन्द्र रवि कान दिशा-वर।
प्रकट वेद तिनि वाक वायु हैं प्रान देहधर॥
सकल विश्व तिनि हियो हिये में सकल छिपावें।
उभय चरन भू करी ताहि पै आवें जावें॥
पग तैं भू आत्मा सकल, तातैं पावक समिध रवि।
सोम अगिनितैं मेघ तिहि, भू ओषधि तिहि रेत कवि॥

यह विश्व परम पुरुष ही है

[४६]

पुरुष एवेदं विश्व कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहित गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि
विकिरतीह सोम्य ॥*

(मु० उ० २ मु० १ ख० १० म०)

छप्पय

पुरुष नारि में करै रेत सिचन शिशु होवै ।
त्यों यह सबरी प्रजा ब्रह्मतें परगट होवै ॥
ऋक्, यजु, साम, अथव सु-दीक्षा, यज्ञ क्रतव-तब ।
भई-दक्षिणा, फल, फेरि यजमान, लोक सब ॥
लोकनि में रवि शशि प्रभा, छिटकावें सुरगन भये ।
साध्य, मनुज, पशु, पक्षि पुनि, प्रान अपानहु है गये ॥

एक ही बात को बार-बार भिन्न भिन्न दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता, क्योंकि जो विषय गूढ है, गहन है स्थूल बुद्धि वाले जिसे सहज में ग्रहण

---

* तप, कर्म, परम अमृत रूप ब्रह्म यह दृश्यमान विश्व सभी कुछ पुरुषोत्तम ही है। हे सोम्य! इस हृदय गुफा में स्थित जो ब्रह्म है उसे जो जानता है, वही यहाँ अविद्या ग्रन्थि को खोल डालता है।

नहीं कर सकते उसे युक्तियों से विविध कथानक कहकर पुनः-पुनः समझाया जाता है। विषय एक ही है। सब कुछ ब्रह्म ही का पसारा है, ब्रह्म ही नाना रूप रखकर भास रहा है। उसी से समस्त विश्व ब्रह्माण्ड बने हैं। इसे एक प्रकार से समझाते हैं, फिर दूसरे प्रकार से इसकी पुष्टि करते हैं।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! महर्षि अङ्गिरा ने चराचर विश्व की उत्पत्ति बताते हुए सोम से पर्जन्य, उससे पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ और ओषधियों से वीर्य की उत्पत्ति बतायी और वीर्य से ही समस्त चराचर जीव उत्पन्न हुए। यहाँ तक तो समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का क्रम वर्णन किया।

अब जो समस्त प्रजा उत्पन्न हो गयी, उसकी रक्षा कैसे हो, रक्षा का एकमात्र उपाय है यज्ञ यागादि, इसलिये यज्ञादि साधन और उनके फलों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया-अङ्गिरा मुनि ने मुझसे कहा वत्स! जब परब्रह्म परमात्मा से भाँति के चर-अचर स्थावर-जंगम जीव उत्पन्न हो गये तदनन्तर उन्हीं परब्रह्म परमेश्वर से ऋग्वेद की ऋचायें उत्पन्न हुईं। जिन ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की जाती है। (ऋच्यन्ते स्तूयन्ते देवा अनया) इसके अनन्तर सामवेद के मन्त्रों की उत्पत्ति हुई। यह वेद गेय हैं। सामवेद सस्वर गाया जाता है। इसके गान को श्रवण करके दुखों का नाश हो जाता है। इसको धारण करना इसका समझना कठिन है दुःख देने वाला है, इसलिये भी इसकी साम संज्ञा है। (स्यति-छिनति दुःख गेयत्वात् इति साम, अथवा स्यति दुःखयति दुरध्येयत्वात् इति-साम) सामवेद के अनन्तर यजुर्वेद की श्रुतियाँ उत्पन्न हुईं। इसमें यज्ञ यागादि की विधियाँ है जिन मन्त्रों के द्वारा यजन किया जाता है उन्हें यजु कहते हैं (इज्यते अनेन इति यजुः) इस प्रकार वेदत्रयी के उत्पन्न

होने के अनन्तर दीक्षा की उत्पत्ति हुई। यज्ञादि शुभकर्म करने के पूर्व यजमान प्रायश्चित्तादि करके सकल्पपूर्वक उस अनुष्ठान के नियमों का पालन करने का जो व्रत लेता है, उसी का नाम दीक्षा है, यह यज्ञादि शुभकर्मों के आरम्भ करने के पूर्व ही ली जाती है। तदनन्तर समस्त यज्ञों की उत्पत्ति हुई। जिसमें शास्त्रीय विधिविधान पूर्वक हवि दी जाय, उसका नाम यज्ञ है। (इज्यते-हविर्दीयते यत्र इति यज्ञः अथवा इज्यन्ते देवता यत्र इति यज्ञः) फिर क्रतु हुए। वैसे यज्ञ और क्रतु दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु यज्ञ में और क्रतु में इतना ही अन्तर है, कि जिनमें पशुओं के बाँधने का यूप बनाया जाता है उसे क्रतु कहते हैं। (क्रियते असौ-इति क्रतुः यज्ञ विशेषः) यज्ञ और क्रन्तु के अनन्तर दक्षिणा की उत्पत्ति हुई। यज्ञ कराने के अनन्तर यज्ञकर्ताओं को यजमान जो श्रद्धापूर्वक द्रव्यादि देता है उसका नाम दक्षिणा है। दक्षिणा से कर्म की वृद्धि होती है (दक्षते इति-दक्षिणा)।

इतने सब यज्ञ के सभार होने पर सवत्सर रूप काल की उत्पत्ति हुई। फिर यज्ञ करने वाला यजमान हुआ। अर्थात् जो यज्ञानुष्ठान की दीक्षा ले, व्रत धारण करे (यजतीति यजमानः) याग स्वामी फिर यज्ञ के फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, उन लोकों की उत्पत्ति हुई। ऐसे लोक जहाँ सूर्य और चन्द्रमा प्रकाश प्रदान करते हैं अपनी किरणों द्वारा प्रकाश फैलाते हैं।

इस प्रकार यज्ञ सम्बन्धी समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति बताकर समस्त प्राणियों को अङ्गिरा मुनि ने उत्पत्ति बताई।

उन्हीं परब्रह्म परमात्मा से अनेक प्रकार के देवताओं की उत्पत्ति हुई। इन देवताओं के ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, उनचास मरुत तथा अश्विनी कुमार आदि ये सब सम्मिलित हैं, गन्धर्व, यक्ष, किंनर गुह्यकादि उपदेव हैं। अतः देवताओं की

की संख्या बहुत हैं। तदनन्तर १२ साध्यगण उत्पन्न हुए। उनके नाम मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, अपान, भक्ति, भय, अनघ, हंस, नारायण, विभु और प्रभु है। ये भी देवता विशेष ही हैं। (साध्य अस्ति अस्य इति साध्यः) तदनन्तर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। फिर पशुओं की इसके पश्चात् आकाश में उडने वाले पक्षियों के गण उत्पन्न हुए। फिर प्राण अपानादि शरीर में रहने वाली दश विध प्राण उत्पन्न हुए। तदनन्तर धान्य जौ आदि अन्न हुए। फिर तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि आदि समस्त सद् गुण उत्पन्न हुए।

उन्हीं परब्रह्म परमात्मा से सात प्राण उत्पन्न हुए। अर्थात् मरुत् के सात-सात गण (४९ वायु) अग्नि की काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, और विश्वारुची देवी ये सात आर्चियाँ उत्पन्न हुईं। अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पीपल, उदुम्बर और शमा ये सात समिधायें उत्पन्न हुईं। फिर अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, पशुयज्ञ और सोमयज्ञ ये सात प्रकार के हवन हुए। फिर भू, भुव, स्व, मह, जन तप और सत्य ये सात लोक हुए। जिनमें ये सातों प्राण विचरते रहते हैं, हृदय रूपी गुफा में शयन करने वाले ये सात-सात सभी प्राणियों में निहित हैं।

अथवा कान, त्वचा, नेत्र, रसना घ्राण, वाणी और मन ये सात प्राण हैं अर्थात् विषयों को प्रकाशित करते हैं। मनन करना शब्दों को सुनना, स्पर्श का अनुभव करना, वस्तुओं को देखना, रसों का स्वाद लेना, गन्ध को सूँघना और शब्दों को बोलना, ये सात विषय वृत्तियाँ हैं ये ही सात आर्चियाँ हैं। सात समिधा भी ये ही सातों वृत्तियाँ हैं। उनका सात इन्द्रियों के विषय रूप सात समिधाओं से सात प्रकार का हवन, सात इन्द्रिय रूप

अग्नियों में जलाना है। इन उपर्युक्त सात इन्द्रियों का वासस्थान हा इनके सात लोक हैं। निद्रा के समय ये सभी मनके साथ हृदय रूपी गुफा में सो जाते हैं। इस प्रकार यह सात-सात का समुदाय सर्वात्मा सर्वेश्वर द्वारा ही समस्त जीवों में सन्निहित है।

जिस प्रकार ये भीतर की वस्तुएँ परब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न हुईं उसी प्रकार बाहर की भी वस्तुएँ जैसे सात समुद्र, समस्त पर्वत, अनेक रूपों वाली अनेकों नदियाँ, सम्पूर्ण ओषधियाँ तथा सम्पूर्ण रस भी उन्हीं से उत्पन्न हुए। जिन रसों वाले शरीरों में यह अन्तरात्मा, परब्रह्म, परमात्मा समस्त भूतों में विराजमान रहता है।

इसलिये तप रूप में भी वही ब्रह्म है, कर्म रूप में भी वही परमात्मा है, परम अमृत रूप भी वही अखिलात्मा है, ब्रह्म, विश्व और पुरुष रूप में भी वही पुरुषोत्तम है, हे प्रियतम! वह पुरुषोत्तम सब की हृदय रूप गुफा में अन्तर्यामी रूप में विराजमान रहता है। जो उस गुफा में छिपे हुए सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को जान लेता है, वह इसी लोक में कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि जड़ और चेतन्य के बीच में जो एक ग्रन्थि पड़ गयी है, उस अविद्या ग्रन्थी को आत्मज्ञानी ही खोलने में समर्थ हो सकता है। जिसने उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वह कदापि उस अविद्या ग्रन्थि को नहीं खोल सकता।

सूतजी ने कहा—"भगवन! उस आत्मा के ज्ञान को हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"इस विषय में महामुनि अंगिरा ने जो हमें साधन युद्ध करके आत्म विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया है, उसका वर्णन मैं आप सबसे आगे करूँगा। आशा है आप सब इस विषय को समाहित चित्त से श्रवण करेंगे।

छप्पय

पुनि जौ, धान हु अन्न तपस्या, श्रद्धा, विधि सब।
ब्रह्मचर्य, सत, सप्त-प्रान ज्वाला सप्तहु तब॥
सदा समिध अरु होम, लोक, हिय दरी बिराजत।
पुनि समुद्र, गिरि, नदी, ओषधी, रस, उपजावत॥
रस सपुष्ट शरीर महँ, आत्मा सब भूतनि बसत।
ब्रह्म-अमृत तप करममय, हिय दरि थित लखि ब्रह्मवित॥

द्वितीय मुन्डक का

प्रथम खण्ड समाप्त

ब्रह्मलक्ष्य-वेध

[४७]

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥*

(मु० उ० २ मु० २ ख० ४ मं०)

छप्पय

ब्रह्म गुहाचर-निकट-प्रकाशक सबहिँ समरपित ।
सर्वाश्रय, धी-परे, श्रेष्ठतम, वरण, असत, सत ॥
दीप्तिमान, अतिसूक्ष्म, लोक सब जीव ताहि थित ।
वही प्रान, मन, वाक्, सत्य, अम्मृत, बुध वेधत ॥
प्रणव-धनुष शर-आतमा, ब्रह्म लक्ष्य मद मोह तजि ।
बींधो साधक सम्हरिकें, शर-वत्, तन्मय होहि भजि ॥

एक बार द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की लक्ष्यवेध की परीक्षा ली। एक बनावटी पक्षी को एक बड़े वृक्ष के ऊपर बिठाकर बाँध दिया। फिर अपने शिष्यों से कहा - "देखो, इस पेड़ पर यह पक्षी बैठा है, इसकी बाँई आँख को लक्ष्य बनाकर वेधना है।

---

* प्रणव-ओंकार ही मानो धनुष है, आत्मा बाण स्थानीय है। ब्रह्म—परमात्मा—ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। उस लक्ष्य को अप्रमत्त होकर ही बींधना चाहिये। और उस लक्ष्य में बाण की ही भाँति तन्मय हो जाना चाहिये।"

दुर्योधन ! पहिले तुम धनुष पर बाण चढाकर लक्ष्यवेध करो, किन्तु जब तक मैं कहूँ नहीं तब तक बाण मत छोडना।"

दुर्योधन आया, उसने धनुष पर बाण चढाया गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा। गुरु ने पूछा—"वत्स ! तुम मुझे देख रहे हो ?"

उसने कहा—"हाँ, गुरुदेव ! आप सम्मुख खडे हैं, मैं आपको देख रहा हूँ।"

गुरु ने फिर पूछा – "वृक्ष को देख रहे हो ?"

उसने कहा –"हाँ मै वृक्ष को भी देख रहा हूँ।"

गुरु ने पूछा—"जिस डाली पर पक्षी बैठा है, उसे देख रहे हो ?"

उसने कहा—"हाँ डाली को भी देख रहा हूँ और डाली पर बैठे पक्षी को भी देख रहा हूँ।"

गुरु ने कहा—"बाण को धनुष से उतार कर तूणीर मे रख लो, अपने स्थान पर आ जाओ।"

दुर्योधन के हट जाने पर अन्य शिष्यों को बुलाया। उनसे भी ये ही प्रश्न किये। किसी ने कहा—"मैं वृक्ष को देख रहा हूँ, किसी ने कहा मैं केवल उस डाली को देख रहा हूँ, किसी ने कहा—मैं पक्षी को ही देख रहा हूँ।"

गुरु ने सबको अपने अपने स्थानो पर लौट आने का आदेश दिया। फिर अर्जुन को बुलाया, और उससे भी ये ही प्रश्न किये। तब लक्ष्य वेध के लिये प्रमाद रहित होकर धनुष पर बाण चढाये ही चढाये अर्जुन ने कहा—"भगवन ! मै न अपने साथियों को देख रहा हूँ। न आपको, न वृक्ष को, न वृक्ष की शाखा को और न पक्षी को ही देख रहा हूँ, मैं केवल पक्षी की बाँई आँख को ही देख रहा हूँ, क्योंकि मेरा लक्ष्य वृक्ष, डाली, पक्षी नहीं है,

मुझे तो केवल पक्षी की बाँई आँख को ही वेधना है, वही एकमात्र मेरा लक्ष्य है।

गुरु ने आगे बढ़कर शिष्य को हृदय से लगा लिया और कहा—"वत्स! वास्तव में तुम ही एकमात्र लक्ष्य को बींधने में समर्थ हो सकते हो। जिसकी दृष्टि, जिसके बाण का निशान अपने लक्ष्य में पूर्णतया तन्मय नहीं हो जाता, वह अपने लक्ष्य वेधने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता। अतः लक्ष्य बेध के लिये अप्रमत्त होकर तन्मयता की ही आवश्यकता है।"

शौनकजी कह रहे हैं—सूतजी! आपने ब्रह्मप्राप्ति का साधन पूछा था। यही बात मैंने भगवान् अङ्गिरा मुनि से पूछी थी। उन्होंने बताया—"सौम्य! वह ब्रह्म कहीं दूर नहीं है। अपने से वह अत्यन्त ही निकट है। वह कहीं अंधकार में छिपा हुआ भी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है। उसका नाम गुहाचर है। अपने अत्यन्त ही निकट हृदयरूपी गुफा है, उसी में वह स्थित रहता है इसीलिये लोग उसे गुहाचर कहते हैं। वह महत्-पद है अर्थात् महान् पदवी वाला है। एकमात्र वही प्राप्त करने योग्य है। जितने भी जगत् जीव हैं। जो चेष्टा करते हैं, श्वास लेते हैं, आँखों को खोलते मींचते हैं, वे सबके सब उन्हीं पर-ब्रह्म परमात्मा में समर्पित हैं, प्रतिष्ठित हैं। एकमात्र संसार में वही जानने योग्य वस्तु है, अतः तुम सब लोगों का यही एकमात्र परम कर्तव्य है, कि उस जानने योग्य ब्रह्म को जानो, उस परम प्रापणीय पुरुष को प्राप्त करो। वे ही सत् हैं, वे ही असत् भी हैं। वे ही कार्य भी हैं और कारण भी वे ही हैं। वे ही प्रकट रूप में जगत् हैं। और अप्रकट रूप में आत्मा भी हैं। वे ही एकमात्र वरण करने योग्य वरेण्य हैं। वे ही श्रेष्ठों से भी परमश्रेष्ठ वरिष्ठ-तम हैं। और समस्त प्राणियों की बुद्धि से परे हैं। जहाँ जाकर

मन वाणी तथा बुद्धि लौट आती है, वे बुद्धि द्वारा जाने नहीं जा सकते।"

वे अंधकारमय नहीं अर्चिमान् हैं, दीप्तिमान् हैं, वे परमप्रकाश स्वरूप परम तेजस्वी हैं। सबसे सूक्ष्म अणु होता है। किन्तु वे अणु से भी अणु हैं, परम सूक्ष्मतम हैं। विश्व ब्रह्माण्डों में जितने लोक हैं, तथा उन लोकों में रहने वाले जितने भी प्राणी हैं, वे सब के सब इन्हीं के आश्रित हैं। वे सभी इन्हीं के अन्तर्गत अवस्थित हैं। बृहद् होने से यह ब्रह्म कहकर पुकारा जाता है। कभी नाश न होने से इसे अविनाशी अक्षर भी कहते हैं। वही प्रीणन करने वाला प्राण है, वही बोलने वाली वाणी है, वही मनन करने वाला मन है, वही सदा एक रस रहने वाला सनातन सत्य है। वही कभी भी न मरने वाला अमृत है। हे सौम्य! प्रियतम वत्स! उसे ही लक्ष्य बनाकर बींधना चाहिये। तुम उसी को बेधो।

सूतजी ने कहा—"लक्ष्य को बेधने के लिये तो धनुष बाण तथा अभ्यास एकाग्रता की आवश्यकता है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, गुरुदेव ने इसका भी एक रूपक बताया है, उसे भी सुनो। यह रूपक औपनिषद् है, अर्थात् उपनिषदों में इस रूपक का वर्णन किया गया है।"

सूतजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! उस औपनिषद् रूपक को हमें भी सुनाइये।"

शौनकजी ने कहा—"पहिले महास्त्र-बड़े भारी धनुष को लेना चाहिये। फिर उस पर चढ़ाने के लिये बाण लेना चाहिये। साधारण मोथरे भोतरे बिना धारयुक्त-बाण से लक्ष्य नहीं बेधा जा सकता। अतः उपासना रूपी पाषाण पर उस बाण को भली भाँति तारा-चोखा कर लेना चाहिये। फिर बाण को धनुष पर

चढाने का निरन्तर, दीर्घकाल तक सत्कारपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। फिर भावपूर्ण चित्त से उस अत्यन्त तीक्ष्ण बाण को खींचकर, हे वत्स! हे सौम्य! उस अपने महान् लक्ष्य अक्षर-ब्रह्म का वेधना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—'भगवन! यह तो आपने गोल माल-सी बात कह दी। वह महास्त्र धनुष क्या है, वे तीखे किये हुए बाण कौन-से हैं। इनका स्पष्ट बताइये।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"मेरे गुरु ने प्रणव-ओंकार-को ही महास्त्र धनुष कहा है। आत्मा को ही बाण की उपमा दी है और जिसे वेधा जाता है उस लक्ष्य को ब्रह्म स्थानीय बताया है। किन्तु यह लक्ष्य वेध प्रमाद से, आलस्य से, मोह से नहीं वेधा जा सकता। अतः प्रमाद रहित साधक द्वारा ही यह वेधा जा सकता है। कब वेधा जा सकता है, जब बाण की ही भाँति अपने लक्ष्य में तन्मय हो जाय, तदाकार बन जाय।"

सूतजी ने पूछा—"इस महान लक्ष्य को वेधने के लिये साधक में कैसी योग्यता होनी चाहिये, उसे किन किन बातों का परित्याग कर देना चाहिये?"

शौनकजी ने कहा—"भगवान् अङ्गिरा मुनि ने इस विषय को बताते हुए मुझे स्पष्ट रूप से यह आदेश दिया था—वत्स! जिस ब्रह्म में स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष समस्त प्राणों के सहित मन ओत-प्रोत हैं। चारों ओर से गुँथा हुआ है। उसे एक जानने योग्य परम आत्मा को तुम लोग जानो। उसी के सम्बन्ध की बातें करो। इसके अतिरिक्त दूसरी इधर-उधर की सांसारिक बातों को-विषय सम्बन्धी चर्चाओं को-सर्वथा छोड दो। उनका भली-भाति परित्याग कर दो। क्योंकि संसारी विषय सम्बन्धी कथायें तो विष के सदृश हैं। यह परमार्थ चर्चा तो परब्रह्म परमात्मा रूप

अमृत सागर का सेतु है, इसी सेतु द्वारा आप लोग संसार सागर के उस पार अमृतार्णव में प्राप्त हो सकोगे।"

सूतजी ने पूछा—"ध्यान किसका करे ?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, शरीर क्या है, यह एक संसार चक्र का पहिया है। यह घूमता रहता है। जैसे रथ की नाभि में चारों ओर से ऐसी टेढी लकड़िया (अरा) लगी रहती हैं उसी प्रकार इस शरीर में करोड़ों नाड़ियाँ हैं। ये सबकी सब हृदय प्रदेश से जुड़ी हैं। समस्त नाड़ियों का उद्गम स्थान-केन्द्र स्थान-हृदय है। उस हृदय में परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामी रूप से निवास करता है, शरीर के मध्य में विरचता रहता है, प्रकट होता है। उस परब्रह्म परमात्मा का वाचक प्रणव है, ओंकार है। अतः ॐ इस नाम के ही द्वारा उस परमात्मा का ध्यान करो। उस ध्यान से ही तुम असार संसार रूप समुद्र को पार कर जाओगे। मैं तुम्हारी शुभ कामना करता हूँ, मंगल कामना करता हूँ। तुम्हारे लिये मंगलाशासन करता हूँ। तम से परे-अज्ञानमय अंधकार से अतीत-संसार सागर के उस पार पहुँचने के लिये तुम लोगों का कल्याण हो ऐसी मेरी आप सब लोगों के लिये मनोकामना है।"

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी ! तथा अन्याय महर्षिगण ! इसके अनन्तर महामुनि अङ्गिरा ने जैसे पुनः परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का तथा उनके ज्ञान के फल का वर्णन किया, उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय—स्वरग, भूमि, आकाश, प्रान सह मन जिनि माहीं।
ओत-प्रोत है रह्यो ताहि जानो, पर नाहीं॥
छोड़ो जगकी बात अमृत सेतुहिँ अपनाओ।
चक्र माहिँ ज्यों अरा जाल नाड़ी हिय छायो॥
ध्याई हिय की गुफा में, अन्तरयामी बसहि नित।
प्रणवहिँ जपि तम पार हो, नित ताही में देउ चित॥

यह विश्व वरिष्ठ ब्रह्म ही है

[४८]

ब्रह्म वेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥*

(मु० उ० २ ख० २ मु० ११ म)

छप्पय

यही ब्रह्म सर्वज्ञ जगत महिमा सु सर्व वित।
आत्मा दिव्य प्रकाश व्योमवत ब्रह्म पुरस्थित ॥
नेता प्रान शरीर मनोमय हिये कमल थित।
अन्न प्रतिष्ठित रूप अमृत आनन्द प्रकाशित ॥
धीर लखें विज्ञान तैं, देखत हिय ग्रन्थी खुलत।
सशय सब कटि जात हैं, कर्म शुभाशुभ सब नसत ॥

परिचय दो प्रकार से दिया जाता है, एक अन्वय से दूसरा व्यतिरेक से। अन्वय का अर्थ है उसी में समन्वित कर लेना-जैसे सभी ब्रह्म ही ब्रह्म है। व्यतिरेक-यह भी ब्रह्म नहीं है, यह भी ब्रह्म नहीं है। चाहे अन्वय से परिचय दो या व्यतिरेक से

---

*ब्रह्म ही यह अमृत है। ब्रह्म ही सम्मुख है, ब्रह्म ही पीछे है। ब्रह्म ही दक्षिण ओर है, ब्रह्म ही उत्तर ओर है। ब्रह्म ही नीचे की ओर तथा ब्रह्म ही ऊपर की भी ओर फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण विश्व है यह भी सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

नोना मे ही उस ब्रह्म तत्त्व का इस प्राकृत पदार्थों से बोध हो जाता है। एक ही ब्रह्म नाना रूपों में दीख रहा है। अथवा जो भी कुछ दिखायी दे रहा है, वह उसमें पर है। जैसे किसी की कमर में म्यान में रखी तलवार लटक रही हो तो लोग यही कहेंगे, तलवार बाँधे हुए है। वास्तव में उन्हें तलवार दीखती नहीं, वह म्यान में छिपी है, किन्तु म्यान से तलवार का अनुमान लगाया जाता है। बिना तलवार के कोई म्यान क्यों लटकावेगा। आधार म्यान है, आधेय तलवार है। इसी प्रकार जगत् का आधार ब्रह्म है इसलिये यह कहना भी सत्य है, कि जो दीखता है वह ब्रह्म नहीं है और यह कहना भी सत्य है कि जो भी कुछ दिखायी दे रहा है वह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जगत् बिना ब्रह्म के निराधार रह नहीं सकता। और भगवान् योगमाया का आश्रय लेकर सबके सम्मुख प्रकाशित भी नहीं होते। वे गुहा में छिपकर बैठे रहते हैं। दोनों प्रकार से उनकी सिद्धि करनी चाहिये।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! महर्षि अङ्गिरा ने कहा—वह परब्रह्म परमात्मा सर्वज्ञ है, कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उनसे छिपी हो, वे भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सभी बातों को, सभी वस्तुओं को जानते हैं। उन्हें जो जान लेता है वह सभी को जान लेता है। सबको जानता है और सब ओर से सबको जानता है, ऐसी ब्रह्म की यह दिव्य जगत् महिमा है। वही आत्म स्वरूप है वह दिव्य आकाश स्वरूप है, ब्रह्मलोक में अर्थात् अपने लोक में—स्वस्वरूप में—वह सदासर्वदा स्थित रहता है। वह मन में व्याप्त है, मन जिसके बिना मनन करने में सर्वथा समर्थ नहीं, अतः उसे मनोमय भी कहते हैं। शरीर जिस की सत्ता के बिना हिल डुल नहीं सकता, प्राण जिसके बिना जीवन धारण नहीं कर सकते। वही

शरीरों का तथा प्राणों का नियमन करता है, अतः नेता कहलाता है। इसीलिये विद्वान् लोग उसे प्राण शरीर नेता कहते हैं। यह ब्रह्म ही प्राणियों के हृदयकमल का आश्रय लेकर अन्न में प्रतिष्ठित है। अर्थात् स्थूल शरीर की हृदय गुफा में छिपा रहता है। वैसे वह इन चमचक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु जो धीर, गम्भीर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि वाले पुरुष हैं, वे विज्ञान के द्वारा-विशेष ज्ञान से-उसे भली-भाँति देख लेते हैं, उसका साक्षात्कार कर लेते हैं। वैसे सत्ता रूप से, चैतन्य रूप से, अमृत रूप से, आनन्द रूप से, अविनाशी रूप से वह सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है।"

सूतजी ने पूछा—"इस धीर पुरुष ने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है? इसने विज्ञान के द्वारा उस परमात्मा को प्रत्यक्ष कर लिया है, इसका लक्षण क्या है? ब्रह्म साक्षात् करने वाले में अन्य लोगों से कौन-सी बात विलक्षण होती है?"

शौनकजी ने कहा—"महर्षि अंगिरा ने मुझे बताया था—जड और चैतन्य की हृदय में एक गाँठ पड़ गयी है। वह ग्रन्थि मल की-अज्ञान की-अधकार की है। तभी तो नित्य शुद्ध चैतन्य जीव इस अनित्य, क्षणभंगुर, जड शरीर में अहंता तथा संसारी नाशवान पदार्थों में ममता करने लगता है। वह जड चैतन्य की मलमय गाँठ खुल जाय, तो जीव को अपने स्वरूप का बोध हो जाय। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर-उस परात्पर प्रभु को तत्त्व से जान लेने पर-इसके हृदय की वह ग्रन्थि खुल जाती है।"

अज्ञान के कारण इस जीव को सदा सर्वत्र संशय बना रहता है। माया मोहित जीव का स्वरूप ही संशयालु होना, बात-बात में पग-पग पर इसको संशय उत्पन्न हो जाता है। किन्तु

ब्रह्म का साक्षात् हो जाने पर विज्ञान द्वारा ब्रह्म को भली-भाँति प्रत्यक्ष कर लेने पर हृदय में एक भी संशय शेष नहीं रह जाता। सम्पूर्ण संशय छिन्न भिन्न हो जाते है, जड मूल से कट जाते हैं।

माया मोहित जीव कर्मों के अधीन होकर ही बार-बार जन्मता मरता रहता है। कर्मों की शृङ्खला ऐसी सुदृढ़ है, कि वह टूटती ही नहीं। ज्यों-ज्यों प्राणी कर्मों को करता है, त्यों-त्यों यह शृङ्खला और भी कठोर होती जाती है, किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर जीव के समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते है। वह पुण्य पाप से परे होकर समस्त बन्धनों से निर्मुक्त हो जाता है। अर्थात निर्ग्रन्थ, संशय रहित और कर्म बन्धनों से विमुक्त हो जाना यही ब्रह्म साक्षात् करने वाले धीर पुरुष के लक्षण हैं।

सूतजी ने पूछा—"उस ब्रह्म का स्वरूप और स्थान के संबन्ध में हमारी पुनः श्रवण करने की इच्छा है।"

शौनकजी ने कहा—"महर्षि अंगिरा ने हमारे प्रति उसका बार-बार उपदेश किया है। उन्होंने बताया—वे परम प्रकाशमय अपने वैकुण्ठ धाम में विराजमान रहते हैं। वे सभी प्रकार के मल तथा विकारों से रहित है। जिनमे सत्त्व, रज, तम ये तीनो गुण नहीं हैं, अर्थात् जो गुणातीत हैं। संसार में १. प्राण, २. श्रद्धा, ३. आकाश, ४. वायु, ५. अग्नि, ६. जल, ७. पृथ्वी, ८. इन्द्रिय समूह ९. अतःकरण, १०. अन्न, ११. वीर्य, १२. तप, १३. मन्त्र, १४. कर्म, १५. लोक और १६. लोकादिको नाम ये १६ कलायें हैं। इन्हीं के द्वारा जगत की उत्पत्ति हुई है। भगवान् इन सोलहों कलाओं से रहित हैं अतः वे निष्कल कहलाते हैं। वे सर्वथा शुभ्र अनवद्य-विशुद्ध-है। वे प्रकाशयुक्त पदार्थ जो अग्नि, सूर्य, चन्द्रमादि हैं उनके भी प्रकाशक हैं। उनको सब कोई नहीं जान सकते।

तो तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी महापुरुष ही जानने में समर्थ हो सकते हैं। उन्हें सर्वसाधारण संसारी मनुष्य जान नहीं सकते।"

वे परब्रह्म परमात्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं, उन्हें प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं। इन प्रकाशों की उन तक पहुँच ही नहीं है। वहाँ सूर्य प्रकाश फैला ही नहीं सकता। वहाँ न चन्द्रमा तथा तारागण का ही प्रकाश है। बिजुली भी वहाँ अपनी चमक दमक नहीं दिखा सकती। जब सूर्य, चन्द्र, तारा तथा बिजुली तक की वहाँ पहुँच नहीं, तो फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या? वह तो स्वयं ही प्रकाश स्वरूप है, उसी के प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के एकमात्र आधार तो वे ही हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं के तेज से तेजस्वी बने हुए हैं।

वह ब्रह्म किसी एक स्थान में आबद्ध नहीं है वह यत्र-तत्र-सर्वत्र रहता है। वह अमृत स्वरूप है। साक्षात् अमृत ही है। वह सबके आगे आगे रहता है और पीछे की ओर भी विद्यमान है। वह दायें ओर भी है और बायें ओर भी है। वह ऊपर की ओर भी है और नीचे भी वहाँ विद्यमान है। वह सर्वत्र विस्तृत है। फैला हुआ है। ये जो दृश्यमान जगत् है, वह भी उन्हीं का स्वरूप है। वह सबसे श्रेष्ठ है। उससे ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ, त्यागी, तपस्वी, यती सब कुछ वही है। यह समस्त विश्व ब्रह्ममय ही है।

शौनकजी कह रहे हैं—'सूतजी! इस प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में बताकर अब जैसे जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में अंगिरा मुनि ने कहा था, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

निरमल निष्कल ब्रह्म हिरन्मय कोश परे नित।
शुभ्र ज्योति की ज्योति आत्मवित् हो जिनि जानत॥
रवि, शशि, तारा बिजुरि, न पहुँचत अगिनि पहुँच कहँ
जाको पाइ प्रकाश प्रकाशित सबरो जग जहँ॥
अमृत रूप परब्रह्म यह, सम्मुख पीछे अरु बगल।
ऊपर नीचे व्याप्त है, विश्व ब्रह्म ही सर्व थल॥

इति द्वितीय खण्ड समाप्त

द्वितीय मुण्डक समाप्त

तृतीय मुण्डक
(प्रथम खण्ड)

जीव परमात्मा की महिमा का अनुभव करके सुखी होता है

[४९]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य--
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥*

(मु० उ० ३ मु० १ ख० १ मं०)

छप्पय

जीव ईश तनु तरुहिँ सखा सम सग सँग निवसत ।
एक खाइ सुस्वादु करम-फल अपर न खावत ॥
ममतरु जीव निमग्न दीन बनि मोहत सोचत ।
अन्य जु सेवित ईश जानि महिमा नहिँ दुःखित ॥
जीव ईश अज लखहि जब, मल-जनक पर पुरुष कूँ ।
पुन्य पाप मल रहित तब, पावै प्रभु के साम्य कूँ ॥

---

* दो सुन्दर पंख वाले पक्षी समान रूप से सखा भाव से एक ही साथ वृक्ष पर रहते हैं । उन दोनों में से एक तो उस पीपल के पेड़ के फलों को स्वाद लेकर खाता है, दूसरा बिना फल खाये केवल साक्षी रूप में देखता रहता है ।

यह ससार रूप पीपल का वृक्ष है। पीपल का वृक्ष कहने का भाव यह है, कि जसे पीपल की पूजा तो करो किन्तु उसको स्पर्श मत करो। क्योंकि इसमे दरिद्रता देवी रहती है। दरिद्रता कहते है अभाव को। ससार को स्पर्श करके ससारी माया में फँसकर आज तक कोई ऐसा नहीं हुआ, जिसे कोई न कोई अभाव न बना रहा हो। ससार म लाभ से लोभ बढा करता है। लोभ इतना शीघ्रगामी है, कि इसको कितना भी आहार दो तुरन्त उसे चट कर जाता है, फिर उससे दूना और माँगता है। इसलिये इस ससार तरु को–पीपल के वृक्ष को छूओ नहीं, दूर से ही इसे नमस्कार करो। यदि छूना ही हो, तो जब इसमे परब्रह्म परमात्मा की पत्नी श्रीदेवी आ जायँ तो उस समय शनैः शनैः चलकर शनिश्चर के अवसर पर माँ की गोद मे बैठकर इसे स्पर्श करो। उस समय विष्णु का आश्रय लेने वाले तुम वैष्णव श्री सम्पन्न होकर इसे छू सकते हो। श्री बिना इसे स्पर्श मत करो। भूल से स्पर्श कर लोगे तो दरिद्रता देवी–लोभ की जननी तुम्हारे सिर पर चढ बैठेगी। तुम श्री हीन हो जाओगे। अतः इस ससार तरु को–पीपल के वृक्ष को–स्पर्श न करो।

दूसरी बात इस पीपर के फल में पिप्पली के भीतर कीडे बहुत रहते हैं, भूल से इसके फल को तुम खाओगे, तो पाप के भागी बन जाओगे अतः पीपल की छाया में बैठो, उसे नमस्कार भी करो, किन्तु इसे स्पर्श न करो इसके फलों को न खाओ। दो बात न करोगे, तो जो इस वृक्ष का ईश है–स्वामी है–जिसने इसे पैदा किया है या जो स्वय ही वृक्ष रूप म बन गया है, वह तुम्हारा सच्चा सुहृद बन जायगा। फल खाने से जो अशाति हो जाती है, उस अशाति से–पाप से–तुम बचकर परम शाति को प्राप्त कर लोगे। उसके सदृश गुणों वाले ही बन जाओगे। यदि उसकी

सारा को न मानकर श्री के बिना इसका स्पर्श कर लोगे, फलों का लाभवश भक्षण कर लोगे, तो तुम श्री हीन, अशान्त तथा शोक मग्न बन जाओगे।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! महर्षि अङ्गिरा ने बताया-कि जीव को ब्रह्म प्राप्ति के निमित्त कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। परब्रह्म परमात्मा तो जीव का सनातन साथी है, सच्चा सुहृद है, साथ ही साथ एक घोंसले में रहने वाले दो पक्षियों के समान है। एक ही घोंसले में–हृदयरूपी गुफा में–ये दोनों धूप और छाया के समान साथ ही साथ रहने वाले हैं। देखो, यह शरीर क्या है, अश्वत्थ का एक वृक्ष है। अश्वत्थ का अर्थ है जो कल भी रहे या न रहे, जिसका अगले क्षण भी रहने का विश्वास न हो उसी को अश्वत्थ कहते हैं।" (श्वोऽपि स्थास्यति इति विश्वास अनर्हत्वात् च=अश्वत्थ–मायामयः संसार वृक्षः। अथवा अश्वत्थवत् काम कर्म वातेरित नित्यप्रचलित स्वभावात्)

यह शरीर भी क्षणभंगुर है। अतः इस शरीर को अश्वत्थ की उपमा दी। उस वृक्ष के कोटर में दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों पक्षी ऐसे नहीं हैं, कि उनके पंख कटे हुए हों जो वृक्ष टूट जाने पर उड़ न सकें। उन दोनों के पंख सुन्दर हैं, शक्तिशाली हैं। उन दोनों में इतना स्नेह है, कि दोनों साथ ही साथ रहते हैं। परस्पर में दोनों में मैत्री है, सौहार्द है, सख्य भाव है। दोनों में कभी लड़ाई नहीं होती। दोनों लड़ झगड़कर बटवारा करके पृथक्-पृथक् वृक्ष पर अपने पृथक्-पृथक् घोंसले बना लें सो भी बात नहीं है। दोनों बड़े प्यार दुलार से एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। दोनों में बहुत साम्यता है, किन्तु एक ही दोनों में विषमता है। उनमें से एक तो लालचवश उस वृक्ष के सुस्वादु फलों को स्वाद ले लेकर खाता रहता है अर्थात् उस वृक्ष के फलों के

स्वाद में लिप्त हो जाता है। दूसरा उसी वृक्ष पर रहता है, सुन्दर पके फलों को देखता भी है, किन्तु उनका उपभोग नहीं करता, उन्हें खाता नहीं। केवल साक्षी बनकर बिना खाये हुए बैठे-बैठे देखता रहता है। उनमें न लालच करता है न आसक्ति ही करता है।

सूतजी ने पूछा—"फल खाने से उसकी हानि क्या होती है?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, देखिये! यद्यपि दोनों ही एक स्थान पर बैठे हैं, वृक्ष समान ही है, किन्तु वह फल खाने वाला पक्षी-जीवात्मा पुरुष-चिन्ता में निमग्न बना रहता है।"

सूतजी ने पूछा—"चिन्ता किस बात की?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जो खाता नहीं वह तो निश्चिन्त रहता है, किन्तु खाने से अनेकों प्रकार की चिन्तायें आकर घेर लेती हैं। फल मिलेगा या नहीं, कैसे मिलेगा, कहाँ मिलेगा, न मिला तो क्या होगा? भोक्ता तो भोजन के अधीन हो जाता है, अपने को परवश अनुभव करने लगता है। जो वस्तु प्राप्त करने में अपने को असमर्थ समझता है, वह रोगी की भाँति, अत्यन्त वृद्ध की भाँति अपने को दीन समझने लगता है। मोह में निमग्न होकर सदा सोचता ही रहता है। चारों ओर से शोक मोह उसे घेर लेता है।"

सूतजी ने पूछा—"उसका शोक मोह कभी छूट भी सकता है?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ छूट क्यों नहीं सकता, जब यह परम पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तभी यह शोक मोह से छूट सकता है।"

सूतजी ने कहा—"कैसा है वह परब्रह्म?"

शौनकजी ने कहा—"वह अकर्ता है, फिर भी सबका स्वामी है, ईश है, शासनकर्ता है। यद्यपि वह कार्य कारण से रहित है, फिर भी जगत् की सृष्टि करने वाले लोकपितामह ब्रह्मयोनि हैं ब्रह्मा की उत्पत्ति के वे ही आदि कारण हैं। यद्यपि वे संसार से परे है, फिर भी इस सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र कर्ता हैं। यद्यपि वे तम और प्रकाश दोनों से परे हैं, फिर भी दिव्य परमप्रकाश स्वरूप हैं, ऐसे उन परम पुरुष पुरुषोत्तम को जब जीवात्मा प्रत्यक्ष कर लेता है, तब कर्म बन्धनों से विमुक्त बन जाता है, फिर वह न पुण्य कर्मों मे बँधता है और न पाप कर्मों मे लिप्त ही होता है। पुण्य तथा पाप दोनों से ही निर्मुक्त होकर अञ्जन से रहित, मल से मुक्त बनकर निर्मल होकर सर्वोत्तम सत्ता को प्राप्त कर लेता है, फिर वह अज्ञानी बद्ध जीव न होकर विद्वान ज्ञानी महात्मा निर्द्वन्द्व बन जाता है।"

सूतजी ने पूछा—"जिसने परम पुरुष परमात्मा के दर्शन कर लिये हैं, जिसे परमात्म साक्षात्कार हो चुका है, उसके लक्षण क्या हैं?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, यह जो प्राणियों मे—सम्पूर्ण भूतों मे—प्राण रूप से प्रकाशित हो रहा है, वह परब्रह्म ही है। अज्ञानी लोग उसे जानते नहीं, पहिचानते नहीं, देखते नहीं। जो ज्ञानी विद्वान पुरुष—इस परब्रह्म के यथार्थ रहस्य को जान लेता है, उसे एक तो अभिमान नहीं होता। प्राणी जो अभिमानपूर्वक बहुत बढ़कर बक-बक करता है, यह मैंने किया, मैं ऐसा कर डालूंगा, वह मेरी उन्नति मे कंटक था, उसे तो मैंने घाट उतार दिया—मार दिया—अब जो और मेरे कार्यों मे विघ्न करने वाले हैं, उनका भी मैं अन्त कर दूंगा। इस प्रकार की बकवाद अज्ञान मूलक है। अज्ञानी पुरुष ही ऐसी बढ़-बढ़कर बातें किया करते हैं। जिन्हें

ज्ञान हो गया है, जिन्होंने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया है, वे अतिवाद-वक्वाद- से सदा दूर रहते हैं कभी बढ़-बढ़कर व्यर्थ की बातें नहीं करते।"

वह क्रियावान होता है-यज्ञ, दान, तपस्यादि क्रियाओं में निष्काम भाव से लगा रहता है। उसे क्रीडा करने के लिये बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी आत्मा के ही साथ अपने इष्टदेव परमात्मा के ही साथ सदा सर्वदा क्रीडा करता रहता है। उस रति के निमित्त-रमण करने के लिये-बाह्य रमणी की आवश्यकता नहीं होती, वह अन्तरात्मा परमात्मा के ही साथ सदा सर्वदा क्रीडा करता रहता है। उसी की रति में निरत रहता है। ऐसा परम पुरुष को देखने वाला-आत्म साक्षात्कार प्राप्त भगवत् भक्त ब्रह्मवेत्ताओं में भी वरिष्ठ-श्रेष्ठ-विशिष्ट होता है। अतः उस ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त विद्वान के प्रधानतया चार लक्षण हैं। १. एक तो वह बढ़ बढ़कर बड़ी बड़ी बातें नहीं बघारता २. दूसरे वह बाग बगीचों में क्रीडा न करके आत्मा में ही क्रीडा करता है। ३. तीसरे उसे रति के लिये माला, चन्दन, वनितादि की अपेक्षा नहीं रहती, अपनी आत्मा में ही रति करके सन्तुष्ट रहता है। ४. चौथे वह क्रियावान् होता है। अपनी शक्ति के अनुसार पितृ यज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, और नृयज्ञादि यज्ञ कर्मों को, अन्न दानादि दानों को, एकादशी आदि व्रत रूप तपों को करता रहता है।

सूतजी ने पूछा—'वह परब्रह्म किन साधनों से प्राप्त होता है?"

शौनकजी ने कहा—"अंगिरा मुनि ने मुझे बताया भगवान तो कृपा साध्य हैं, वे अपनी अहेतुकी कृपा द्वारा ही जीवों को प्राप्त होते हैं। फिर उनकी कृपा की परीक्षा करते हुए सदा-सर्वदा

सत्य का ही आचरण करते रहना चाहिये। सदा तपस्या में ही संलग्न रहना चाहिये। दृढ़ता से नियमपूर्वक नित्य ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते रहना चाहिये। जो इन शुभ कर्मों को करते हुए केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है वह सम्यक् ज्ञान से सदा प्राप्त होने वाले उन परम पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है। सब कोई-सर्वसाधारण जन-उसे प्राप्त नहीं कर सकते।"

सूतजी ने पूछा—"सब प्राप्त नहीं कर सकते, तो कौन लोग प्राप्त कर सकते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"मुझे अंगिरा मुनि ने बताया कि इस शरीर के ही भीतर अन्तर्यामी रूप से रहने वाले ज्योतिर्मय-प्रकाश स्वरूप परम विशुद्ध परमात्मा को यति लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"यति किसे कहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"जो सदा सर्वदा-भोगों के लिये नहीं-केवल मोक्ष के लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं। जिसके समस्त कार्य संसार से विमुक्त होने के निमित्त-परमात्मा के साक्षात्कार के ही निमित्त-होते हों उसे यति कहते हैं (यतते-चेष्टते मोक्षार्थं इति=यतिः)। उसे साधु, सन्यासी, त्यागी, विरागी कुछ भी कह लो। ऐसे जो क्षीण दोष यति हैं, जिनके समस्त दोष निर्बल-नाश-अथवा क्षीण हो गये हैं ऐसे निरन्तर यत्न करने वाले लोग ही यति नाम से पुकारे जाते हैं, वे ही परब्रह्म को देख सकते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्म प्राप्ति का एक सर्वोत्कृष्ट साधन बता दीजिये जिससे सरलतापूर्वक ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मेरे गुरुदेव भगवान् अंगिरा

मुनि ने सत्य को ही सर्वश्रेष्ठ सुलभ साधन बताया है। जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

प्राण रूप परमात्म प्रकाशत सब भूतनि तैं।
जो जन जानत जाइ दूर रह अभिमाननि तैं॥
करै न बढ़ि बढ़ि बात करम प्रभु प्राप्ति करत नित।
ब्रह्म विदनिमहँ श्रेष्ठ आत्मक्रीडा सु आत्मरत॥
अन्त देह में बसत नित, शुभ्र ज्योतिमय पुरुष-पर।
ब्रह्मचर्य सत ज्ञान तैं, लखें दोष-क्षय यति प्रवर॥

सत्य का ही आचरण करते रहना चाहिये। सदा तपस्या में ही संलग्न रहना चाहिये। दृढ़ता से नियमपूर्वक नित्य ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते रहना चाहिये। जो इन शुभ कर्मों को करते हुए केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है वह सम्यक् ज्ञान से सदा प्राप्त होने वाले उन परम पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है। सब कोई–सर्वसाधारण जन–उसे प्राप्त नहीं कर सकते।"

सूतजी ने पूछा–"सब प्राप्त नहीं कर सकते, तो कौन लोग प्राप्त कर सकते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"मुझे अंगिरा मुनि ने बताया कि इस शरीर के ही भीतर अन्तर्यामी रूप से रहने वाले ज्योतिर्मय–प्रकाश स्वरूप परम विशुद्ध परमात्मा को यति लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"यति किसे कहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"जो सदा सर्वदा-भोगों के लिये नहीं-केवल मोक्ष के लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं। जिसके समस्त कार्य संसार से विमुक्त होने के निमित्त–परमात्मा के साक्षात्कार के ही निमित्त–होते हों उसे यति कहते हैं (यतते-चेष्टते मोक्षार्थं इति=यतिः)। उसे साधु, सन्यासी, त्यागी, विरागी कुछ भी कह लो। ऐसे जो क्षीण दोष यति हैं, जिनके समस्त दोष निर्बल–नाश–अथवा क्षीण हो गये हैं ऐसे निरन्तर यत्न करने वाले लोग ही यति नाम से पुकारे जाते हैं, वे ही परब्रह्म को देख सकते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्म प्राप्ति का एक सर्वोत्कृष्ट साधन बता दीजिये जिससे सरलतापूर्वक ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मेरे गुरुदेव भगवान् अंगिरा

मुनि ने सत्य को ही सर्वश्रेष्ठ सुलभ साधन बताया है। जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

प्राण रूप परमात्म प्रकाशित सब भूतनि तैं।
जो जन जानत जाइ दूर रह अभिमाननि तैं॥
करै न बढ़ि बढ़ि बात करम प्रभु प्राप्ति करत नित।
ब्रह्म विदनिमहँ श्रेष्ठ आत्मक्रीडा सु आत्मरत॥
अन्त देह में बसत नित, शुभ्र ज्योतिमय पुरुष-पर।
ब्रह्मचर्य सत ज्ञान तैं, लखै दोष-क्षय यति प्रवर॥

ब्रह्म ही सर्वत्र परिपूर्ण है

[५०]

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपम्,
सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तदिहन्तिके च:
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥*
(प्र० उ० ३ मु० १ ख० ७ म०)

छप्पय

होइ सत्य की विजय झूठ की कबहुँ विजय नहिं ।
देवयान पथ पूर्ण सत्यतैं जाइँ ऋषिहु तिहिं ॥
वहीं सत्य परधाम ब्रह्म वह दिव्य बृहत अति ।
और सूक्ष्म तैं सूक्ष्म प्रकाशित सबकी नहिं गति ॥
अति समीप अति दूर है, देखत साधक कृपा प्रभु ।
दरसक के भीतर रहत, बसत गुफा हिय सतत विभु ॥

एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, यह जो दृश्यमान् जगत् है वह मिथ्या है, असत् है, नाशवान् है। यदि तुम जगत् का आश्रय

---

* वह परब्रह्म बृहत् है, दिव्य है, अचिन्त्य है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर में प्रकाशित होता है। वह दूर से भी अत्यन्त दूर रहकर भी समीप से भी समीप है। इस जगत् में देखने वालों के अन्दर हृदय की गुफा में सन्निहित है।

लोगे, तो तुम्हारी पराजय हो जायगी। अर्थात् तुम सदा जन्म-मरण के चक्कर म फँसे रहकर इस ससार में ही बँधे रहोगे। दूसरों के अधीन होकर रहना यही पराजय है। किसी के अधीन न होकर सर्व स्वतन्त्र होकर रहना यही विजय है। जीव जब तक इन्द्रियों के, अन्त करण के, विषय वासनाओं के अधीन है तब तक उसकी जय कहाँ ? उसे तो सब समय सशय मे ही बिताना पडता है। जब जीव विषयों से इन्द्रियों से, अन्तःकरण से प्रकृति की परिधि से बाहर हो जाता है इनके अधीन नहीं रहता, तभी समझो उसने विजय प्राप्त कर ली, वह सभी प्रकार के बन्धनों से विमुक्त हो गया। इसलिये ससारी प्रलोभनों को त्यागकर सतत ब्रह्म प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील बने रहना चाहिये। यही विजय कारक निष्कटक सुपथ है। इसके अतिरिक्त विजय प्राप्त करने का दूसरा मार्ग नहीं है।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी ! महर्षि अगिरा ने मुझे बताया—विजय सत्य की ही होती है, अनृत की-असत्य की-विजय कदापि नहीं होती। ससार में दो ही मार्ग हैं, एक देवयान मार्ग, एक पितृयान मार्ग, उन्हें ही शुक्ल मार्ग, कृष्ण मार्ग, धूम मार्ग, दीप्ति मार्ग भी कहते हैं। जो सत्य मार्ग के उपासक हैं, आप्त काम-पूर्ण काम ऋषि महर्षि हैं वे देवयान मार्ग द्वारा जाते हैं, उस मार्ग से जाकर वे उस स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ सत्य स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट दिव्य धाम है। उस सत्य मार्ग से, जाने वाला साधक लौटकर इस मर्त्यलोक मे नहीं आता। किन्तु जब पितृयान मार्ग से जाते हैं उनका अनृत से-जगत् से-कुछ सम्बन्ध बना रहता है, अतः वे पुण्य लोकों में पुण्यों का उपभोग करके पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः इसी लोक में आ जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"देवयान और पितृयान का मार्ग कैसा है? इसका कुछ वर्णन हमें सुनाइये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इन दोनों का वर्णन भिन्न-भिन्न पुराणों में, महाभारत में, उपनिषदों में गीतादि शास्त्रों में भिन्न-भिन्न नाम से किया गया है। गीताजी में इसे शुक्ल मार्ग और कृष्ण मार्ग कहा है, कहीं धूम मार्ग और दीप्ति मार्ग कहा है। छान्दोग्यउपनिषद् में देवयान मार्ग से जाने वाले साधक के सम्बन्ध में कहा गया है-जो भगवद् उपासक हैं, मरने पर उनके मृतक शरीर का कोई अन्त्येष्टि क्रिया करे या न करे वह देवयान मार्ग से अर्चि को प्राप्त होता है। दीप्ति कहो, अग्नि कहो, अर्चा कहो, प्रकाश कहो सब एक ही बात है। अर्थात् पहिले उसे अग्नि के अभिमानी देवता अग्निलोक में पहुँचाते हैं, फिर दिन के अभिमानी देवता उसे ले जाते हैं, फिर क्रम से शुक्लपक्ष के देवता, उत्तरायण के ६ मासों के देवता, फिर सम्वत्सराभिमानी देव, आदित्य-लोक के अभिमानी देव, चन्द्रलोक के अभिमानी देव, फिर विद्युत लोक में उसे ले जाते हैं, वहां से वह ब्रह्म को प्राप्त होता है, फिर लौटकर नहीं आता। इस मार्ग को अपुनरावृत्ति मार्ग कहते हैं।"

इसके विपरीत जो पितृयान मार्ग है, जिसे कृष्ण मार्ग, धूम्र मार्ग आदि भी कहते हैं। उसे पहिले धूमाभिमानी देवता ले जाते हैं, फिर क्रम से रात्रि-अभिमानी देव, कृष्ण पक्षाभिमानी देव, दक्षिणायन के-अभिमानी देव, फिर क्रम से चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर अपने पुण्य कर्मों के अनुसार स्वर्गादि पुण्य लोकों में जाकर दिव्य सुखों का उपभोग करता है और पुण्य क्षीण होने पर पुनः इसी असत् लोक में जन्म लेकर कर्मानुसार नाना योनियों में जन्म लेता है। अतः सत्य का ही अनुसरण करना

चाहिये। जिससे देवयान मार्ग द्वारा जाकर पुन इस असत् संसार में न लौटना पड़े। ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाय। उस ब्रह्म के सम्बन्ध में भगवान् अंगिरा महर्षि ने मुझे बारम्बार बताया। उन्होंने कहा—"वह परब्रह्म परमात्मा बृहद् है, महान् से महान् है, दिव्यातिदिव्य है। उसको मन के द्वारा चिन्तना नहीं की जा सकती, अत: उसे अचिन्त्य रूप कहा गया है। संसार में जितनी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुयें हैं, उन सबसे भी वह अत्यन्त सूक्ष्म-सूक्ष्मतर है। वह अन्धकारमय हो सो भी बात नहीं। इतना सूक्ष्मतर होने पर भी वह प्रकाशित हो रहा है। वह जितनी भी दूरी की कल्पना की जा सकती है, उस कल्पनातीत दूरी से भी दूर है। फिर भी इसी शरीर में रहकर अत्यन्त समीप भी है। जो साधक उसे देखना चाहते हैं, उसका साक्षात्कार करना चाहते हैं, उन्हें उसे खोजने के निमित्त दूर नहीं जाना पड़ेगा, उन्हें अपने ही शरीर की हृदय रूपी गुफा में स्थित वह मिल जायगा।"

सूतजी ने पूछा—"कैसे मिल जायगा? दीखने लगेगा?"

शौनकजी ने कहा—"दीखने तो लगेगा, किन्तु इन चर्म चक्षुओं से दिखायी न देगा। वाणी यदि उसका निर्वचन करना चाहे तो निर्वचन नहीं कर सकती। वाणी ही क्या कोई भी इन्द्रिय चाहे वह कर्म इन्द्रिय हो या ज्ञान इन्द्रिय। बाह्य इन्द्रिय हो या अन्त. इन्द्रिय। वह इन्द्रियातीत है, इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं। तुम चाहो, कि केवल तपस्या द्वारा ही उसे प्राप्त कर लें, तो यह असम्भव है। अथवा तुम चाहो कि केवल यज्ञ दानादि शुभ कर्मों के ही द्वारा उसे प्राप्त कर लें तो भी असम्भव है। उस निर्मल निष्कल-अवयव रहित-परब्रह्म परमात्मा को तो ज्ञान प्रसाद से-ज्ञान स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के प्रसाद से-उनकी प्रसन्नता से

कृपा से-उसे वही साधक प्राप्त कर सकता है-देख सकता है-जो विशुद्ध सत्त्व वाला हो-जिसका अन्तःकरण निरन्तर की उपासना से विशुद्ध बन गया हो। जो निरन्तर उन्हीं का ध्यान करता रहता हो।"

सूतजी ने पूछा—"वह परब्रह्म प्राणिमात्र की हृदय गुफा में रहता है या केवल उसका भजन करने वाले जो साधक हैं उन्हीं के हृदय मे वास करता है ?"

शौनकजी ने कहा—"वह परब्रह्म परमात्मा तो सबके हृदय मे-प्राणी मात्र के हृदय मे-रहता है। वह तो अन्तर्यामी सर्व व्यापक है।"

सूतजी ने पूछा—"यदि वह सर्वव्यापक है तो विशुद्ध अन्तःकरण वाले साधकों को ही क्यों दिखायी देता है। सभी को उसका साक्षात्कार होना चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"देखिये, जिस व्यक्ति ने कंठ पर्यन्त गंदा जल पी लिया है, वह सम्मुख रखे हुए गंगाजल की इच्छा नहीं करता। जिसने आवश्यकता से अधिक कोदों आदि अन्न को ठूँस-ठूँसकर पेट में भर लिया है, जिसे खट्टी-खट्टी डकारें आ रही हैं। उसके सम्मुख भगवान् का प्रसादी मोहन भोग ही रखा हो, तो वह उसकी इच्छा न करेगा। गंगाजल की इच्छा तो वही करेगा जो प्यासा हो, जिसे खाने की इच्छा हो, जिसे भूख लगी हो, वही प्रेमपूर्वक भगवत प्रसाद पावेगा।"

इस शरीर में प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पाँच भेदों में प्राण प्रविष्ट होकर जीवन संचार कर रहा है। उसी शरीर में वह अणु रूप में, अत्यन्त सूक्ष्म रूप में जीवात्मा भी निवास करता है। वह देखा नहीं जा सकता। केवल मन के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है-जाना जा सकता है-वह

जीवात्मा समस्त प्राणियों के सबके चित्त तथा प्राणों में ओत प्रोत है। इन प्राणों में तथा इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों मे नाना वासनायें भरी हुई हैं। जीव तो उन वासनाओं की पूर्ति के लिये ही अहर्निश प्रयत्नशील है। जिस अन्तःकरण मे विषय वासना भरी हुई हैं उसमें भगवान् को देखने का—परमात्मा के साक्षात्कार का—स्थान ही कहाँ है। जब अन्तःकरण का कचरा दूर हो। मन निर्मल हो। हृदय की गुफा वासनाओं से खाली हो तभी तो उसमें ब्रह्म का प्रकाश होगा। अतः जिन महात्माओं का अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, उसी मे परमात्मा का प्रकाश होता है। अतः ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष ही धन्य हैं।

सूतजी ने पूछा—"ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले महात्मा किन लोकों मे जाते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अंगिरा मुनि ने बताया था, कि जिनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, ऐसे विशुद्ध सत्त्व भगवत्भक्त ज्ञानी पुरुषों का कोई लोक निश्चित नहीं। वे मन से जिस-जिस लोक की इच्छा करते हैं। जिस लोक मे जाने का संकल्प उनके मन में उठता है, चिन्तन करते ही उन्हें उस लोक की प्राप्ति हो जाती है। वे जिस-जिस भोग की दिव्य-अदिव्य जैसी वस्तु की अभिलाषा करते हैं, उन-उन वस्तुओं को तुरन्त प्राप्त कर लेते हैं, जिस लोक मे जाना चाहे उस लोक को उसी क्षण विजय कर लेते हैं। वह अपने ही लिये नहीं जिसको चाहे उसे भोग ऐश्वर्य दिला सकते हैं। अतः जो अपना ऐश्वर्य चाहता हो, कल्याण चाहता हो उसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले आत्मज्ञानी महात्मा का अर्चन करना चाहिये, स्वागत सत्कार करना चाहिये। उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणामादि करके प्रणिपात करना चाहिये। उनकी पूजा से परमात्मा प्रसन्न होते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"क्या विशुद्ध अन्तःकरण वाले ज्ञानी पुरुष माला, चन्दन, स्त्री आदि सांसारिक भोगों को भी दे सकते हैं। वे स्वय भी उनका उपभोग कर सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"यदि उनकी कोई कामना शेष है, तो वे इन भोगो को भी भोग सकते हैं, दूसरो को भी दे सकते हैं। किन्तु इन भोगों के प्रति अपने लिये या दूसरों के लिये आदर देना उचित नहीं। भोगों की इच्छा तो बन्धन का कारण है। इस विषय में मुझे जो भगवान् अगिरा मुनि ने उपदेश दिया है, उस सकाम और निष्काम भाव वाले वृत्त को मैं आप सबसे आगे कहूँगा। आशा है आप सब इस अन्तिम पावन प्रसंग को श्रद्धा भक्ति और एकाग्रता के साथ सुनेंगे, क्योंकि इस उपनिषद् का सार सिद्धान्त इसी द्वितीय खण्ड के तृतीय मुण्डक में निहित है।"

छप्पय

वाक, चक्षु अरु अपर करन नहिँ ग्रहन करहिँ जिनि।
मिलें न तप शुभ करम, ज्ञान परसाद लखें तिनि॥
पच प्रान तन रहत सूक्ष्म आत्मा लखि शुध चित।
ओत प्रोत तन प्रान शुद्ध हियमहँ प्रभु निभरत॥
वे विशुद्ध मन जिनि चहैं, उन उन लोकनि जाइँगे।
श्री कामी आत्मज्ञ की, पूजा करि सुख पाइँगे॥

—(॥)—

परमात्मा कृपासाध्य हैं, साधनसाध्य नहीं

[५१]

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो-
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥❀
(मु० उ० ३ मु० २ ख० ३ म०)

छप्पय

विश्व निहित जिहि परम शम्भु वह परमधाम वर ।
जो अकाम करि ध्यान धीर जग लाँघि जाइँ नर ॥
भोग कामना करें भोगथल पुनि पुनि जनमत ।
जो होवें निष्काम कामना तजि नहिँ लौटत ॥
धी, श्रुत, प्रवचनतें कबहुँ, बल प्राप्त होवै नहीं ।
स्वीकारें जाकूँ सदय, प्रकट होइ ताकूँ तहीं ॥

भगवान् साधनसाध्य नहीं, वे कृपासाध्य है, किस जीव पर वे कब कृपा कर देते है, इसका कोई नियम नहीं । कृपा करने

❀ यह आत्मा प्रवचनो द्वारा प्राप्य नही है और न बुद्धि से, न बहुत श्रवण करने से ही लभ्य है । यह परब्रह्म परमात्मा जिसे अपना कहकर वरण कर लेता है—जिसे कृपा करके स्वीकार कर लेता है—उसी के द्वारा प्राप्त होता है, फिर उसी के सम्मुख अपने तनु को प्रकट कर देता है ।

किसी पर जाते हैं, वास्तव में अनायास दूसरों को कृतार्थ कर देते हैं। भगवान् महाभारत के पश्चात् द्वारकापुरी जा रहे थे, बीच में उतङ्कमुनि का आश्रम मिला, भगवान् उन्हें कृतार्थ करने उनके आश्रम पर पहुँच गये। मुनि ने पूछा—"वासुदेव! आप कौरव पाण्डवों में सन्धि कराने दूत बनकर गये थे उन दोनों में सन्धि हो गयी क्या?"

मुनि का प्रश्न सुनकर भगवान् हँस और बोले—"भगवन्! उन लोगों ने मेरी बात मानी ही नहीं। इसलिये महाभारत युद्ध हुआ। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र मारे गये, उनकी समस्त सेना युद्ध में मर गयी। सेना का विनाश तो पाण्डवों का भी हुआ, किन्तु वे विजयी हुए। धर्मराज का राज्यसिंहासन पर अभिषेक कराकर अब मैं द्वारका जा रहा हूँ। मार्ग में आपका आश्रम दिखायी दिया, अतः आपके दर्शनों के लिये चला आया।"

प्रतीत होता है मुनि दुर्योधन के पक्षपाती रहे होंगे। कौरवों के वंश नाश से उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे बोले—"वासुदेव! आप सर्वसमर्थ हैं आप चाहते तो सन्धि अवश्य हो जाती, किन्तु सामर्थ्यवान होने पर भी आपने कौरवों के कुल का नाश करा दिया अतः मैं आपको शाप देता हूँ, आपके भी कुल का इसी प्रकार परस्पर में लड़कर विनाश हो जाय।"

भगवान ने कृपा प्रदर्शित करते हुए कहा—"मुनिवर! आपको अपनी तपस्या का बड़ा अभिमान है, मुझ निरपराधी को आपने इतना भारी दारुण शाप दे दिया, मैं चाहूँ तो बदले में आपको भी शाप दे सकता हूँ, किन्तु मैं शाप न देकर वर ही दूँगा, आप कोई वर मुझसे माँग लें।"

मुनि ने कहा—"इधर जल का अत्यन्त अभाव है, आप ऐसी कृपा कर, कि यहाँ जल का अभाव न रहे।" भगवान् ने

तुरन्त मेघों को आज्ञा दी, वर्षा हो गयी और बोले—"आज से ये मेघ आपके ही नाम से प्रसिद्ध होंगे। आप जहाँ चाहेंगे, वहीं तुरन्त वर्षा हो जाया करेगी। आपको अब से जल का अभाव न रहेगा।" तभी से उन मेघों का नाम उतङ्क मेघ पड़ गया जो मारवाड़ में अब भी वर्षा करते हैं। भगवान जा तो रहे थे द्वारकावासियों पर कृपा करने, बीच में अनायास मुनि पर कृपा कर दी।

मिथिला, जानकीजी पर कृपा करने उसे अपनाने को जा रहे थे, बीच में सब प्रकार से असमर्थ केवल कृपा की ही प्रतीक्षा करती हुई—पाषाण बनी—अहिल्या पर भगवान ने कृपा कर दी। उसका उद्धार कर दिया।

जा रहे थे जानकीजी को दर्शन देने। बीच में सब साधनों से हीन, हीन जाति शबरी जो नित्य प्रति प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा में ही बैठी थी, जानकीजी से पूर्व उसे ही अपने दर्शन दिये, उसी पर अहैतुकी कृपा की।

भगवान कब किस पर कृपा करते हैं, कब किसे अपना कहकर वरण करते हैं, इसका कोई नियम नहीं। अतः यथाशक्ति साधन करते रहो, किन्तु अपने साधनों पर अभिमान मत करो। भगवान की कृपा पर विश्वास रखो। दण्डकारण्य के ऋषिगण अपने साधनों का ही अभिमान किये बैठे थे। हम सबसे बड़े तपस्वी हैं, राम सबसे पहिले हमारे यहाँ आवेंगे। हम सबसे भारी विद्वान् हैं, हमारी विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर राम सबसे पहिले हमारे यहाँ आवेंगे। हम सबसे अधिक कर्मिष्ठ सदाचारी हैं, यज्ञकर्ता हैं, राम हमारे यहाँ अवश्य आवेंगे। किन्तु राम इनमें से किसी के यहाँ नहीं गये। गये सबसे पहिले शबरी की कुटी पर। इसी से सिद्ध होता है, राम साधनसाध्य

नहीं कृपासाध्य हैं, अहर्निशि उनकी कृपा की ही–अनुकम्पा ही की–सुसमीक्षा करते रहो–तन्मय होकर उसी की प्रतीक्षा करते रहो।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ऐश्वर्य की कामना वालों को विशुद्ध सत्त्व महापुरुषों की पूजा तो करनी चाहिये, किन्तु सकाम भाव से–हमारी भोगों की कामना से–उनकी पूजा करना उचित नहीं। क्योंकि इस संसार में है क्या ? रज और वीर्य का सम्मिश्रण है। यह जगत् रज वीर्य के सम्मिश्रण से बना है, यदि तुम उन्हीं रज वीर्य सम्बन्धी सुखों के लिये समुत्सुक हो, तो तुम्हें वे सुख भी मिल जायँगे, किन्तु इस संसार सागर का अतिक्रमण नहीं कर सकोगे। इसी में डूबने उछलते रहोगे। जन्म मृत्यु के चक्कर में फँसकर बार-बार मरते और उत्पन्न होते रहोगे। यदि तुम संसारी कामनाओं का परित्याग करके निष्कामभाव से इस शुभ्र सत्त्व सम्पन्न, प्रकाशमान परब्रह्म के ब्रह्मधाम को जान लोगे, जिस धाम में यह सम्पूर्ण विश्व निहित है, उसी में स्थित होकर प्रतीत होता है तब तुम जन्म मरण के चक्कर से सदा के लिये छूट जाओगे। यदि तुम अकाम होकर–निष्कामभाव से उसकी उपासना करोगे तो तुम धीर-वीर पुरुष कहलाओगे और इस संसार रूप सागर का अतिक्रमण कर जाओगे। संसार के उस पार परमधाम, ब्रह्मधाम में प्राप्त हो जाओगे।"

सूतजी ने पूछा—"निष्काम भाव वालों की गति तो आपने बता दी, किन्तु जो सकाम भाव से परब्रह्म की उपसना करते हैं, उनकी क्या गति होगी ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप ही सोचिये चक्रवर्ती राजा की उपासना करके उससे धान की भूसी की याचना करना क्या उचित है ? परमात्मा तो भोग मोक्ष दोनों ही देने में समर्थ हैं। जो सकामी पुरुष संसारी विषय भोगों को ही श्रेष्ठ मानते हैं,

उन्हीं की कामना के निमित्त उपासना करते हैं, तो वे जो-जो कामनायें करते हैं, उन्हें वे-वे वस्तुएँ प्राप्त होती हैं उनका जन्म उनकी भावना के अनुसार वसे-वस स्थानों में ही होता है, जहाँ उनकी कामना की वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें। वे भोग चाहे लौकिक हों। या स्वर्गादि लोकों के दिव्य विषय सुख हों। वे वासनाओं में बँधे होने के कारण बार-बार जन्म लेते हैं, बार-बार मरते रहते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"जिनकी संसार की कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं, उनकी क्या गति होगी ?"

शौनकजी ने कहा—"बन्धन का कारण तो कामनायें ही हैं। यद्यपि बिना कामना के शरीर प्राप्त नहीं होता। किन्तु जिनका अन्तःकरण विशुद्ध हो चुका है ऐसे कृतात्मा पुरुष की सम्पूर्ण कामनायें यहीं-इसी जन्म में-विलीन हो जाती हैं। वे कामना हीन बन जाते हैं, वे पूर्ण काम पर्याप्त काम हो जाते हैं। ऐसे निष्कामी साधक का पुनर्जन्म नहीं होता। वह जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा सदा के लिये छूट जाते हैं।"

सूतजी ने कहा—"तो भगवन्! बताइये, किस साधन से निष्काम भाव होकर ब्रह्मसाक्षात्कार हो। कैसे भगवान् के दर्शन हों ?"

शौनकजी कहते हैं—"देखो, सूतजी! महर्षि अङ्गिरा मुनि ने मुझे बताया, कि भगवान् साधनसाध्य नहीं, कृपासाध्य हैं, प्रीति साध्य हैं, भक्तिसाध्य है। शास्त्रों का प्रवचन करना सर्वश्रेष्ठ साधन है, किन्तु आप चाहो कि केवल प्रवचन करके ही हम प्रभु की प्राप्ति कर लें, तो यह असंभव है, बुद्धि को सूक्ष्म से सूक्ष्म बनाना शास्त्रीय तर्कों से मेधा को तीक्ष्ण करना सुन्दर साधन है, किन्तु आप चाहें कि हम बुद्धि वैचित्र्य से ही ब्रह्म साक्षात् कर लें, तो उपयुक्त नहीं क्योंकि ब्रह्म तो बुद्धि से भी परे हैं।"

शास्त्रों का सतत-श्रवण करना सुन्दर साधन है, इससे परमार्थ पथ परिष्कृत होता है, किन्तु आप केवल शास्त्र श्रवण करके ही प्रभु को पा सकें यह कठिन है। उन्हें प्राप्त करने के लिये तो प्रभु प्रेम की आवश्यकता है। जो प्रभु का सर्वात्म भाव से प्यार करता हो और प्रभु भी जिससे प्रेम करते हों ऐसे ज्ञानी पुरुष ही-शुद्ध अन्तःकरण वाले साधक ही-उन्हें प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि ज्ञानी को भगवान् अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि वह प्रीतिपूर्वक उनका भजन करता है, अतः परमात्मा भी उन्हें बुद्धियोग-अपने समीप आने का उपाय-बता देते हैं। जिससे वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। साराश यही हुआ कि साधनों के ही बल भरोसे वे प्राप्त नहीं हो सकते। जिनको वे वरण कर लेते हैं-स्वीकार कर लेते हैं-उन्हीं को वे प्राप्त हो जाते हैं, फिर उनके सम्मुख वे अदृश्य नहीं बने रहते। उसके सम्मुख वे अपने यथार्थ रूप से प्रकट होकर-भक्त की भावनानुसार उसे दर्शन देते हैं। उसे अपने ब्रह्म-धाम में प्रविष्ट कर लेते हैं। उसे अपना तदीय बना लेते हैं।

सूतजी ने पूछा--"कैसे साधक को वे प्राप्त होते हैं? 'अपने धाम में वे कैसे साधक को प्रविष्ट करते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"यह परमात्मा बलहीन को प्राप्त नहीं होता। मल को प्राप्त हो जाता हो सो भी बात नहीं। जिसमें निष्काम भाव वाली उपासना का बल नहीं है वही निर्बल है, उस उपासना हीन को ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती। प्रमादपूर्वक तपस्या करने से भी वे नहीं मिल सकते। सब कुछ छोड़ छाड़कर अलिङ्ग बन जाने से-वर्णाश्रम धर्म के चिन्हों के परित्याग करने से भी वे प्राप्त नहीं हो सकते। जो विद्वान इन उपायों द्वारा प्रयत्न तो करता रहता है-किन्तु भगवत् स्वीकृति के लिये-उनकी कृपा की प्रतीक्षा करता है उसी का जीवात्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करता है। अर्थात्

शास्त्रीय साधन करते हुए भी जिसे साधनों का अभिमान नहीं होता, भगवत कृपा पर ही विश्वास रखता है ऐसे प्रीतिपूर्वक भजन करने वाले ही भगवद धाम के अधिकारी होते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"उन प्रेमपूर्वक भजन करने वालों की कैसी स्थिति हो जाती है ?"

शौनकजी ने कहा—"जो निष्काम भाव से परमात्मा की उपासना करते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त करके ज्ञान से तृप्त हो जाते हैं, वे अशांत नहीं होते परमशांत हो जाते हैं, वे राग द्वेष से रहित होकर वीतरागी बन जाते हैं, वे कृतात्मा-विशुद्ध अन्तःकरण वाले-हो जाते हैं। ऋषि रूप हो जाते हैं, वे युक्तात्मा बन जाते हैं। वे धीर पुरुष उस सर्वव्यापी परमात्मा को सब ओर से प्राप्त करके उन्हीं सर्व रूप सर्वेश्वर में प्रविष्ट हो जाते हैं। अर्थात् तद्रूप तन्मय हो जाते हैं। वे ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"ब्रह्म लोक में जाने वाले महापुरुषों की कैसी स्थिति होती है। इसका पुनः वर्णन करें।"

शौनकजी ने कहा—"बन्धन का कारण तो यह देह ही है। देह की आसक्ति से विमुक्त हुए महापुरुषों की स्थिति का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

प्रवचन, श्रुत, धी प्राप्त न होवै आत्मा भाई।
जिहि स्वीकारे तासु प्रकट सम्मुख ह्वै जाई॥
पावैं नहिँ बलहीन, प्रमादी-तपसी, त्यागी।
करि उपाय जो विज्ञ धाम हरि जाइँ विरागी॥
वीतराग ऋषि कृतात्मा, ज्ञान तृप्त अति शांतचित।
युक्तात्मा ज्ञानी पुरुष, प्रविसे सर्वत सर्वगत॥

—०—

वेदान्त की अन्तिम स्थिति

[५२]

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
अस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः-
परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥*
(मु० उ० ३ मु० २ ख० ८ म०)

छप्पय

जिनिन पढि वेदान्त जानि निश्चित परमात्मा ।
करया शुद्ध जिनि चित्त योग सन्यास हुतात्मा ॥
ते यात तनु तजि ब्रह्मलोक अम्मृत ह्वै जावें ।
कला, प्रतिष्ठा, देव, कर्म सब ब्रह्म समावें ॥
सरिता सागरमहँ मिलै, नाम रूप तज देइ सब ।
नाम रूप त्यों तजहिं बुध, ब्रह्म उदधि मिलि जाइ जब ॥

जब तक जीव को पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभी तक उसे इस लोक के तथा परलोक के कर्मों की चिन्ता रहती है। तभी तक उसे संयोग में सुख और वियोग में दुःख का अनुभव होता है।

---

* जिस प्रकार बहती हुई सरितायें अपने नामरूप का परित्याग करके समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम रूप से विमुक्त होकर परात्पर दिव्यपुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

जब उसे भली-भाँति ज्ञात हो जाता है, अनुभव होने लगता है, कि मैं पृथ्वी नहीं, जल नहीं, तेज नहीं, आकाश नहीं, तन्मात्रा नहीं, इन्द्रिय समूह नहीं, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार नहीं मैं इनसे विलक्षण हूँ, तब उसे शरीर के रहने से हर्ष नहीं, शरीर के न रहने से विषाद नहीं। जब उसे अनुभव होने लगता है कि ये सगे सम्बन्धी सब गन्धर्व नगर के समान है, स्वप्न मे देखे पदार्थों के सदृश हैं, इनसे मेरा वास्तविक सम्बन्ध कुछ नहीं है तो वह न सयोग में सुखी होगा न वियोग मे दुखी होगा।

एक साधारण श्रेणी का मनुष्य था। उसके पास थोडा सा धन था, छोटा सा परिवार था। एक स्त्री, एक पुत्र, एक स्वय, बस इतना ही उसका परिवार था। काम चलाऊ थोडा सा द्रव्य था। एक दिन उसने स्वप्न देखा, स्वप्न मे वह बहुत बडा राजा बन गया है, बहुत सा धन है, अपार वैभव है, बहुत-सी रानियाँ हैं, १० पुत्र हैं, वह सब पर शासन कर रहा है, सब लोग उसकी आज्ञा का पालन कर रहे हैं। निद्रा खुली तो न राज्य है, न धन वैभव है, न पुत्र तथा पत्नियाँ ही हैं। उसी टूटी खाट पर पडा है। दूसरे दिन कुछ डाकू आये उसका सब धन छीन ले गये पुत्र को मार गये। उनकी स्त्री ने रोते-रोते घर भर दिया। सम्पूर्ण गाँव के लोग सहानुभूति प्रकट करने आये, किन्तु वह मनुष्य न रोया, न उसने किसी प्रकार का दुःख ही प्रकट किया। वैसा ही निर्विकार, निर्लेप बना रहा।

इस पर उसकी स्त्री ने कहा—"तुम्हारा हृदय पत्थर का बना है, क्या ? घर का सब धन लुट गया, एकमात्र पुत्र था वह भी मर गया, तुम्हारी फूटी आँखो से एक बूँद पानी भी नहीं निकला। मानो तुम्हें इसका तनिक भी शोक ही नहीं। बडे निर्मोह, निष्ठुर, वज्रहृदय वाले हो ?"

उस पुरुष ने कहा—"शोक किस-किस के लिये करें। एक के लिये या अनेकों के लिये ?"

स्त्री ने कहा—"शोक अपनों के लिये किया जाता है, वैसे तो संसार में नित्य ही बहुत-से आदमी मरते रहते हैं, सबके लिये कोई थोड़े ही रोता है। तुम्हारे तो एक पुत्र था, तुम्हें पुत्र के वियोग का दुःख नहीं होना चाहिये ?"

उस मनुष्य ने कहा—"तुम एक की कहती हो, कल स्वप्न में मैं १० पुत्रों का पिता था, अपार धन का, अनन्त वैभव का स्वामी था, आज देखता हूँ, मेरे वे सब पुत्र, समस्त धन, वैभव नष्ट हो गया। जब उनके लिये मैंने शोक नहीं किया, तो उस एक पुत्र के लिये, तनिक-से धन के लिये दुःख शोक क्यों करूँ ?"

स्त्री ने कहा—"वे तो स्वप्न के धन, वैभव तथा पुत्र थे, यह तो आपका यथार्थ पुत्र था, सच्चा धन वैभव था।"

पुरुष ने कहा—"यथार्थ कुछ नहीं है, यह भी एक दीर्घ कालीन स्वप्न ही है। अपना एक तो परमात्मा है। उसका इन बाह्य पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब पदार्थ तो नाशवान् हैं ही।"

वास्तविक बात यही है। ये देह ये प्राकृतिक पदार्थ तो अन्तवन्त हैं, क्षणभंगुर हैं, विनाशशील हैं। जो शरीरी है, आत्मा है, वही नित्य है, अविनाशी है, कभी नष्ट होने वाला नहीं है। उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जो ज्ञान तृप्त महात्मा हैं वे इन संसारी पदार्थों के संयोग वियोग से दुखी सुखी नहीं होते। वे एकमात्र परमात्मा को ही सत्य मानकर सदा एकरस बने रहते हैं।

शौनकजी कहने लगे—"सूतजी ! जो ब्रह्मज्ञानी महात्मा हैं, जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, वे वीतराग विशुद्ध अन्तः-

करण वाले कृतात्मा ऋषिगण इस परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर ज्ञान तृप्त प्रशान्तात्मा हो जाते हैं। उनकी किसी वस्तु में आसक्ति नहीं रहती। अहंता अर्थात् देह मे अहंभाव और देह सम्बन्धी गेह, धन, पुत्र पौत्रादि मे ममता नहीं करते। उन्हे किसी प्रकार के अभाव का बोध नहीं होता। वे युक्तात्मा, धीर पुरुष सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा को पूर्णरीत्या प्राप्त करके उस परमात्मा मे ही प्रविष्ट हो जाते हैं। उनमे और परमात्मा में केवल नाम मात्र का ही भेद रह जाता है, वे उन्हीं में तल्लीन, तन्मय तथा तदाकार हो जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"ब्रह्म प्राप्त महापुरुषो का इस भौतिक शरीर से कुछ सम्बन्ध रहता है क्या ? वे ब्रह्मलोक में कैसे जाते हैं, संसार से विमुक्त होने पर उनकी स्थिति कैसी होती है ?"

शौनकजी ने कहा—"ब्रह्मज्ञानी का देह से सम्बन्ध तभी तक है, जब तक देह सम्बन्धी प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता। प्रारब्ध कर्म क्षय हो जाने पर वे इस शरीर को त्यागकर ब्रह्म के लोक में—परब्रह्म के सनातन धाम में—चले जाते हैं। क्योंकि उन्होने वेदान्त शास्त्र के विज्ञान द्वारा जो यथार्थ तत्त्व है उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। संन्यास योग द्वारा—कर्मों के फल और आसक्ति के त्याग रूप योग से उनका अन्तःकरण मल, विक्षेप और आवरण से रहित होकर विशुद्ध बन गया है। ऐसे समस्त साधना मे प्रयत्नशील साधक अन्तकाल में जब प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के समय शरीर का परित्याग करते हैं, तो उन्हें पुनः संसार मे जन्म ग्रहण नहीं करना पडता। वे ब्रह्मलोक में निवास करते हैं, वहाँ से उन्हें इस संसार में पुनः आना नहीं पडता। वे संसार के समस्त बन्धनों से सदा-सदा के लिये परिमुक्त हो जाते हैं। वे संसार के आवागमन से सर्वदा के लिये छूट जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"बहुत से ऐसे महात्मागण हैं,कि इस शरीर के रहते हुए ही वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष जब इस शरीर का परित्याग करते हैं,तो अन्तकाल में उनकी स्थिति कैसी होती है?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, सूतजी! भगवान् अङ्गिरा मुनि ने मुझे बताया कि जो समष्टि में है वही व्यष्टि में है, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में भी है। यह लोक पन्द्रह कलाओं से निर्मित है। ये श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रियगण, मन (अन्तःकरण) अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम जो पन्द्रह कलायें हैं, सब इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता हैं, ये सबके सब अपने अपने अधिष्ठातृ देवताओं में जाकर मिल जाते हैं। जैसे व्यष्टि पंचभूत समष्टि पंचभूतों में मिलकर एक हो जाते हैं। शरीर का पृथ्वी तत्त्व पृथ्वी में, जल तत्त्व जल में, तेज तत्त्व तेज में, वायु तत्त्व समष्टि वायु में और देहाकाश महाकाश में जाकर मिल जाता है। वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में और श्रोत दिशाओं में मिल जाते हैं। जैसे हाथों के अधिष्ठातृदेव इन्द्र हैं तो ज्ञानी के शरीर के अन्त होने पर वह इन्द्र में जाकर मिल जायगा। इसी प्रकार सभी शरीर के पदार्थ अपने अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं।"

इनके अतिरिक्त एक कर्म और जीवात्मा दो शेष रह जाते हैं। ज्ञानी के कर्म अदत्त फल वाले होते हैं। जैसे अज्ञानी तो शुभ अशुभ कर्मों के फल रूप ही नाना योनियों में जाते हैं। उनके कर्म दत्त फल कहलाते हैं। ज्ञानी तो शुभ अशुभ, धर्म अधर्म सबसे पर हो जाता है, इसलिये उसके कर्म भी अदत्त फल वाले हो जाते हैं। अतः अदत्त फल कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा ये सब अव्यय ब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाते हैं। एकीभूत हो जाते हैं।

सूतजी ने पूछा—"ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त का जीवात्मा परमात्मा मे किस मार्ग से, किन किन लोकों से, कैसे जाकर उनमे लीन होता है ?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, जैसे अपने उद्गम स्थान से निकलकर बहती हुई गगा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती आदि नदियाँ जब जाकर समुद्र मे मिलती हैं, तब अपने-अपने नामों का और रूपों का परित्याग करके उसी मे विलीन हो जाती हैं, एकाकार बन जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्मा नाम रूप से विमुक्त बनकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। उन्हीं के समान हो जाते है। उनका फिर कभी जन्म नहीं होता, वे आवागमन से सर्वथा के लिये रहित हो जाते हैं। वे जन्म-मरण विहीन पुनरावृत्ति रहित हो जाते हैं। वे किस पथ से कैसे जाते हैं, इसका भी कोई चिन्ह अवशेष नहीं रहता। जैसे कछुए,मछली आदि जलचर जीव जिधर से चाहे निकल जायँ, आकाश में उडने वाले पक्षी जिधर से चाहें उड जायँ, उनके पद चिह्न अवशिष्ट नहीं रहते। इसी प्रकार ज्ञानियों के गमन की गति दृष्टिगोचर नहीं होती। वे तो जैसे नदियाँ समुद्र मे विलीन हो जाती हैं, जलचर जीव जल मे विलीन हो जाते है, आकाशचारी जीव आकाश मे ही विलीन हो जाते हैं वैसे ही ब्रह्मज्ञानी अज्ञात मार्ग से जाकर ब्रह्म मे विलीन हो जाता है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आपने महर्षि अङ्गिरा द्वारा कही हुई यह उपनिषद् तो बहुत ही दिव्य सुनायी इसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक जान लेने पर तो साधक परब्रह्म का विज्ञाता बन जाता होगा ?"

शौनकजी ने कहा—"निश्चयपूर्वक जो भी साधक इस उपनिषद् के द्वारा परब्रह्म को जान लेता है, वह परब्रह्म ही हो जाता

है। ब्रह्म के समान ही हो जाता है। यही बात नहीं कि वह अकेला ही कृतार्थ होता है, उसके कुल में भी ब्रह्मवेत्ता ही उत्पन्न होते हैं, उसके कुल में कोई भी अब्रह्मवेत्ता नहीं होता। जो ब्रह्म को जान लेता है, वह शोक सागर को तर कर शोक के पार पहुँच जाता है, अर्थात् शोकरहित बन जाता है। वह पाप पंक से भी तर जाता है अर्थात् निष्पाप, निर्मल बन जाता है। उसके हृदय की ग्रन्थियाँ सर्वथा खुल जाती हैं, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर वह अमृतत्त्व को प्राप्त होता है, अमर बन जाता है।"

सूतजी ने पूछा—"इस ब्रह्मविद्या के अधिकारी के क्या लक्षण हैं?"

शौनकजी ने कहा—"इसका वर्णन इस ऋचा में किया गया है। वेद की ऋचा बताती है—जो क्रियावान् पुरुष श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हैं, अर्थात जो श्रुति के अर्थों के ज्ञाता तथा ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले उसकी उपासना करने वाले हैं, जो श्रद्धापूर्वक एकर्षि नाम वाली अग्नि में नियमित, निष्काम भाव से हवन करने वाले हैं और जिन्होंने विधिवत् शिरोव्रत-ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया है, उन्हीं श्रद्धालु, निष्काम कर्मयोगी, नियम व्रत परायण साधकों को इस ब्रह्म विद्या का उपदेश देना चाहिये। वे ही संयमी साधक इसके अधिकारी हैं उन्हीं के लिये यह ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिये। यह परम्परागत विद्या है।"

सूतजी ने पूछा—"इस ब्रह्मविद्या की परंपरा क्या है? सबसे पहिले इस विद्या को किसने किसको बताया और परम्परया यह आप तक कैसे पहुँची?"

शौनकजी ने कहा—"इस परम सत्य को प्रकाशित करने वाली ब्रह्मविद्या का सर्वप्रथम ब्रह्माजी ने अथर्वा मुनि को उपदेश दिया। अथर्वा मुनि ने अङ्गी ऋषि को उपदेश दिया। अङ्गी ऋषि

ने भरद्वाज गोत्रीय सत्यवाह मुनि से कहा। सत्यवाह मुनि ने इसे अङ्गिरा ऋषि से कहा। उन महाभाग अङ्गिरा महर्षि से मैंने इस ब्रह्मविद्या को उपलब्ध किया।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आपने तो इस परम रहस्यमयी ब्रह्मविद्या को सर्वसाधारण लोगों के लिये सुलभ कर दिया। अब तो इसे जो भी चाहे वही पढ़कर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता बन सकता है?"

हँसकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! ऐसी बात नहीं है, सिंहनी का दूध सुवर्ण पात्र में ही स्थिर रह सकता है। अन्य पात्रों में वह फटकर विष बन जायगा। सर्वसाधारण लोग इसे भले ही पढ लें, किन्तु वे ब्रह्मवेत्ता नहीं बन सकते। जो अचीर्ण व्रत हैं-जिन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत सावधानी के सहित, तत्परतापूर्वक पालन नहीं किया है, वे अव्रती चीर्णवती पुरुष इस ब्रह्मविद्या को नहीं पढ़ सकते। वे इसके कदापि अधिकारी नहीं हो सकते। गूढ अभिप्राय को वे कदापि हृदयङ्गम नहीं कर सकते।"

जिन परम ऋषियों की कृपा से यह ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई है। उन परम ऋषियों को नमस्कार है, उनके पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम करके, उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करके इस परम रहस्यमयी, साक्षात् ब्रह्मज्ञान को कराने वाली, सर्वश्रेष्ठ अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् को समाप्त करते हैं। शांति पाठ के अनंतर यह उपनिषद् पूर्ण हुई।

छप्पय

ब्रह्म जानिकें होइ ब्रह्ममय कुल तरि जावै।
शोक पाप नसि जायँ ग्रन्थि हिय की खुलि जावै॥
मुक्त अमर बनि जायँ सबनि विद्या नहिँ आवै।
ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ ब्रह्मचारी इहि पावै॥

दिव्य ब्रह्मविद्या परम, कही अंगिरा हिय धरी।
परम ऋषिनि वन्दन करौं, तिनि पग में पुनि-पुनि परौं॥

शान्ति पाठ

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहैं करें मिलि यजन ब्रह्म नित।
कानन तैं हू सुनें वचन शुभ भद्र निरत हित॥
आँखिनि तैं हू सदा निहारें दृश्य भद्रवर।
सुदृढ़ अंग तनु लगै ईश इस्तुति में दृढ़तर॥
शेष आयु हमरी सकल, रहै देवहित में निरत।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्यो रहै तप में सतत॥
देवराज हे इन्द्र ! चहूँ दिशि तव यश छायो।
विश्वदेव हे सूर्य ! प्रकाशहु जग फैलायो॥
गरुड निवारक कष्ट ! शक्तिशाली सुनेमि सम।
धन्य बृहस्पतिदेव ! करें मिलि विनती सब हम॥
तुम सब तैं ही विनय है, स्वस्ति करें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख शोक भ्रम भय हरें॥

॥ श्रीहरिः ॥

माण्डूक्योपनिषद्

शान्ति पाठ

[५३]

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा-
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥*

ॐ शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥।

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहैं करैं मिलि यजन बखानित ।
काननि तैं हू सुनैं बचन शुभ भद्र निरत हित ॥
आँखिनि तैं हू सदा निहारैं दृश्य भद्रवर ।
सुदृढ अङ्ग तनु लगैं ईश स्तुति में दृढतर ॥
शेष आयु हमरी सकल, रहै देवहित में निरत ।
मनुज जनम उपयोग यह, लह्यो रहै तप में सतत ॥

---

* हे देवगण ! हम अपने कानों से भद्र वचन ही सुनें अभद्र नहीं । नेत्रों से कल्याणकारी—भद्र—दृश्य ही देखें । हम सब यजन करने वाले हों, स्थिर अङ्गों तथा सुदृढ शरीर से भगवत् स्तुति करते हुए शेष आयु को देवहित में ही उपभोग करें ।

छठी उपनिषद् माण्डूक्य उपनिषद् है। वास्तव में सर्वाङ्गीण विशुद्ध उपनिषद् तो यही है। अन्य उपनिषदों में कहीं प्राणोपासना है, किसी में कर्मकाण्ड का भी समावेश है, कहीं अग्नि आदि की उपासना के प्रकरण आये हैं, किन्तु इसमें तो परम विशुद्ध तत्त्व केवल प्रणव का ही विवेचन है। किस प्रकार इसमें प्रणव के तीन पादों का इस सगुण साकार जगत् रूप ब्रह्म के साथ साम्य दर्शाकर अन्त में चतुर्थपाद में निर्गुणातीत तत्त्व का विवेचन किया है, वह कहते नहीं बनता।

आकार में यह उपनिषद् बहुत ही छोटी है, इसमें सम्पूर्ण १२ ही मन्त्र हैं, किन्तु इन बारह मन्त्रों में ही वेदान्त का सम्पूर्ण सार भर दिया है। बहुत प्राचीन समय से विद्वानों ने इस अत्यन्त लघु उपनिषद् का महत्त्व स्वीकार किया है। पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्यजी के गुरु के भी गुरु परमहंस चूड़ामणि भगवान् शुकदेवजी के शिष्य भगवत् पूज्यपाद गौडपादाचार्य ने इसके मन्त्रों के ऊपर विस्तार के साथ कारिकायें लिखी हैं। उन्होंने इन बारह मन्त्रों को आगम, वैतथ्य, अद्वैत और अलात शान्ति इन चार प्रकरणों में विभक्त किया है। आगम प्रकरण में २९ कारिकायें हैं, वैतथ्य में ३८, अद्वैत में ४८ और अलात शान्ति में १०० इस प्रकार गौडपादाचार्य की सम्पूर्ण कारिकायें २१५ हैं। पहिले प्रकरण में आगम-शास्त्रों-द्वारा पहिले यह बताया है, कि यह जगत् हुआ किसलिये। कोई तो कहते हैं उसने इच्छा की और जगत् की उत्पत्ति हो गयी। कोई कहते काल का एक चक्र चलता रहता है। उस चक्र की पत्तियाँ कभी ऊपर आ जाती हैं, कभी नीचे चली जाती हैं। इसी प्रकार काल क्रम से काल आने पर सृष्टि हो जाती है, सृष्टि का काल समाप्त होने पर प्रलय का काल उपस्थित हो जाने पर प्रलय हो जाती है, फिर प्रलय काल समाप्त

होने पर पुनः सृष्टि का काल आने पर पुनः सृष्टि हो जाती है। जैसे रथ का पहिया घूमता रहता है उसी प्रकार यह कालचक्र घूम-घूमकर सृष्टि प्रलय करता रहता है।

कुछ लोगों का कहना है जीवों के जन्मान्तरीय जो संचित कर्म हैं, उनके भोग के लिये सृष्टि होती है। कोई कहते हैं—भगवान् तो लीला के लिये–क्रीडा के लिये–मनोविनोद के लिये–सृष्टि करते हैं। इस प्रकार कोई कुछ मानते हैं कोई कुछ। कारिकाकार ने इन सब मतों का खडन किया है। वे कहते हैं भगवान् तो आप्तकाम हैं, उन्हें किसी वस्तु की लीला, क्रीड़ा, मनोविनोद की स्पृहा ही नहीं, फिर वे सृष्टि के चक्कर में क्यो पड़ने लगे। अतः यह जो कुछ दीख रहा है, वास्तव में कुछ है ही नहीं। यह जगत् न कभी हुआ, न है, न आगे होगा, भ्रमवश दिखायी दे रहा है। इसी को अजातवाद कहते हैं।

दूसरा प्रकरण है वैतथ्य—तथ्य कहते हैं यथार्थ को। वितथ्य कहते हैं जो यथार्थ न हो कल्पित हो अर्थात् इस दृश्य प्रपञ्च में तथ्य कुछ नहीं है, सब गन्धर्व नगर के सदृश कल्पित है। जब कुछ है ही नहीं तो कल्पना करने वाला कौन है? इसका उत्तर वे यही देते हैं, कि आत्मा ही अपने आप अपनी माया द्वारा कल्पना करता है और वही फिर अपने आप प्रतिबुद्ध हो जाता है। भेद अभेद, ज्ञान, अज्ञान ये सब माया के ही द्वारा कल्पित हैं।

तीसरा प्रकरण है अद्वैत। यह जो प्रपञ्च की भ्रांति होती है मायामोहित जीव को होती है। ज्ञानी के लिये जगत कुछ है ही नहीं। वे कहते हैं निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधक, मुमुक्षु, मुक्त ये भेद कुछ भी नहीं हैं, न कोई उत्पन्न होता है, न किसी का विनाश

होना है। उत्तम सत्य तो यही है, कि कोई कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। केवल एक अद्वय आत्मा का ही पसारा है।

चौथा प्रकरण है अलात शान्ति। बच्चे एक छेद वाले पात्र में मक्का की भुट्टी के छोटे-छोटे कोयले रखकर एक रस्सी में उसे बाँधकर घुमाते हैं जिससे चिनगारियों का एक मिथ्या चक्कर-सा प्रतीत होने लगता है। संस्कृत में उसे अलातचक्र कहते हैं। ब्रज-भाषा में उसे कुकुआ कहते हैं। जब तक उसे घुमाते रहो तब तक वह चक्र दिखायी देगा जब घुमाना बन्द कर दो वह चक्र नहीं दिखायी देगा। वास्तव में वह चक्र न पहिले था, न उसका जन्म हुआ, न नष्ट ही हुआ। घुमाने से उसकी प्रतीति हुई। घुमाना बन्द करने से वह प्रतीति समाप्त हो गयी। इसी प्रकार न स्वतः ही, न दूसरे के ही द्वारा कोई वस्तु होती है सत् असत् अथवा असत्-सत् कुछ भी तो उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार भगवान् गौडपादाचार्य ने इस माण्डूक्य उपनिषद् के १२ मन्त्रों पर २१५ कारिकायें लिखकर अजातवाद सिद्धान्त को परिपुष्ट किया है। ऐसी महत्त्वपूर्ण है यह माण्डूक्य उपनिषद्।

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है। अथर्ववेद के ब्राह्मण भाग में यह उपनिषद् आयी है। इस उपनिषद् को किस ऋषि ने किससे पूछा और किसने इसका उपदेश दिया। इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। कुछ लोगों का कहना है कोई माण्डूक्य नाम के ऋषि थे उन्होंने ही इस उपनिषद् का प्रचार किया। कुछ लोगों का कहना है, कि मंडूक मेढक या भेक का नाम है। जैसे मेढक जब जल से बाहर हो जाता है, तो वह तीन या चार छलांग मारकर पुनः जल में प्रविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार माया मोहित जीव जब अपने को ब्रह्म से पृथक् मानने लगे, तब ३ या ४ छलांग मारकर

पुनः ब्रह्म में ही विलीन हो जायगा। वे ३-४ छलांग क्या हैं ? इसी पर विचार करना है।

हमारे यहाँ त्रित का महत्त्व है। यह सम्पूर्ण जगत् त्रित पर ही टिका हुआ है। जैसे जगत् मे भी, प्रकृति-पुरुष और पुरुषोत्तम, ये तीन ही हैं। काल मे-भूत-भविष्य और वर्तमान, देवों मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अवस्थाओं मे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, गुणों मे सत्त्व, रज और तम, दोषों मे वात पित्त, कफ, अवस्थाओं के अधिष्ठाता, विश्व, तेजस्, प्राज्ञ, नदियों मे गंगा, यमुना, सरस्वती, शक्तियों मे महालक्ष्मी, महाकाली, महासरस्वती, वेदों में ऋक, यजु और साम, शरीर भी तीन हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण, कहाँ तक गिनावें यह सम्पूर्ण जगत् ही त्रितात्मक है। तीन के बिना कुछ नहीं। इन तीन से जो परे हैं, वही ब्रह्म है। अवस्था तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन ही है, किन्तु तीनों से परे जो तुरीय है वही ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था है। तुरीय कोई अवस्था नहीं, वह तो अवस्था से परे है काल तो भूत, भविष्य और वर्तमान तीन ही हैं, इन तीनों से परे जो कालातीत अवस्था है। जहाँ न भूत है, न भविष्य है, न वर्तमान है, यही भेदातीत काल ब्रह्म है। देव तो ब्रह्मा, विष्णु,महेश तीन हैं। सृष्टि करने को ब्रह्मा, उसकी रक्षा करने को विष्णु और संहार करने के लिये रुद्र ये तीन हैं, किन्तु इन तीनों से परे जो महादेव हैं, महाविष्णु हैं, परमआत्मा है वे ही परब्रह्म हैं। सत्त्व, रज और तम गुण तो ये तीन ही हैं, किन्तु इन तीनों से परे गुणातीत विशुद्ध सत्त्व सम्पन्न ब्रह्म हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीन ही तीनों अवस्थाओं के अधिष्ठाता है, किन्तु इन तीनों से परे जो अवस्थातीत का अधिष्ठाता है, वही ब्रह्म है, ऋक्, यजु और साम वेद तो ये तीन हैं, किन्तु इन तीनों से परे जो निस्त्रैगुण्य है, वही ब्रह्म है।

गंगा, यमुना और सरस्वती धारा तो तीन हैं, तीनों मिलकर त्रिवेणी हुई हैं, किन्तु इनसे परे परब्रह्म का धाम है। तीनों से परे उनका अव्यक्त रूप है। व्यक्त भी उन्हीं का रूप है अव्यक्त भी उनका ही रूप है। एक पाद में तो यह सम्पूर्ण व्यक्त विश्व ब्रह्माण्ड है शेष जो त्रिपाद विभूति है वह उनका अव्यक्त रूप है। व्यक्त-अव्यक्त कहो, स्थूल-सूक्ष्म कहो, निराकार-साकार कहो, सगुण-निर्गुण कहो। ये सब एक की ही अभिव्यक्ति हैं। अधिष्ठान एक ही है। अतः परिपूर्ण को जानने के लिये इन सब भेद भावों को सर्वथा भुलाना होगा। यद्यपि ब्रह्म नाम रूप से रहित है, किन्तु यह भी कैसे कहा जा सकता है, कि वह नाम रूप से रहित ही है, यदि यह कहा जाय कि उसमें नाम रूप हैं ही नहीं, तो फिर दृश्य जगत् में जो केवल नामरूपात्मक ही है, इसमें नाम रूप कहाँ से आ गये ? जब ब्रह्म के अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं तो न कोई साध्य है, न साधन है और न साधक ही है, फिर तो शास्त्र, ज्ञान, उपदेश, उपदेष्टा सब मिथ्या ही हैं। ऐसी स्थिति में तो कुछ कहने का अवसर ही नहीं। साधना काल में तो हमें नाम रूपों को मानकर ही चलना है। अतः जगत् तो त्रिगुणात्मक है। इसमें नाम रूप भी त्रिगुणात्मक हैं। ब्रह्म का नाम क्या है ? और ब्रह्म का रूप क्या है ? इसी को लेकर माण्डूक्य उपनिषद् का आरंभ होता है। उस ब्रह्म का नाम है ओम् ब्रह्म का वाचक मुख्य नाम यही है। और ब्रह्म का रूप भी 'ॐ' यही है। यद्यपि वह अमूर्त है फिर भी मंत्र ही, प्रणव ही उसकी मूर्ति है, समस्त संसार की मूर्तियाँ, संसार के समस्त पदार्थ इसी एक ॐ प्रणव से निकले हैं। समस्त नाम, समस्त वेद, समस्त जगत् इसी एक ॐ का पसारा है। इसी बात को बताने के लिये मांडूक्य मुनि ने इस मांडूक्य उपनिषद् का प्रवचन किया है।

यह जो जगत् में त्रित है वह और कुछ नहीं है। ओंकार के जो अ, ऊ और म् ये तीन पाद हैं ये ही त्रित बन गये हैं, इनसे परे जो चतुर्थपाद है अर्धबिन्दु है वही ब्रह्म का, अव्यक्त का प्रतीक है, अतः तीन के द्वारा उस चतुर्थ पद की खोज करनी चाहिये। यह कब होगा, जब सभी देव हमारी सहायता करें, सभी देव हमें आशीर्वाद दें। सभी विशिष्ट व्यक्ति हमारी मंगल कामना करें, अतः हम मंगल के लिये, अभिवृद्धि के निमित्त, कल्याण के लिये, शांति के लिये देवताओं से प्रार्थना करें—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शांतिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

छप्पय

देवराज हे इन्द्र! चहूँ दिशि तव यश छायो।
विश्वदेव हे सूर्य! प्रकाशहु जग फैलायो॥
गरुड निवारक कष्ट! शक्तिशाली सु-नेमि सम।
धन्य बृहस्पति देव! करें मिलि विनती सब हम॥
तुम सबते ही विनय है, स्वस्ति करें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख शोक भ्रम भय हरें॥

सब कुछ ओंकार ही है

[५४]

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्
भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । -
यच्चान्यत् त्रिकालातीत तदप्योङ्कार एव ॥❀

(मा० उ० १ म०)

छप्पय

ओंकार ई सकल जगत महिमा वर प्रापक ।
है त्रिकाल अरु काल-अतीत हु प्रणव नियामक ॥
सबहि ब्रह्म यह ब्रह्म आतमा चतुष्पाद है ।
जामत सम जग थूल ज्ञान जग रह्यो व्याप्त है ॥
सात व्याहृति सात ई, लोक कहे उनीस मुख ।
वैश्वानर ताको कह्यो, प्रथम पाद जो थूल मुक ॥

ओंकार की महिमा अनन्त है । ओंकार किसी भी भाषा का शब्द नहीं । वह भाषातीत है । पैदा होते ही संसार के बच्चे सर्व-प्रथम ओंकार का ही उच्चारण करते हैं । सृष्टि के आदि में एक ही वेद था वह ओंकार ही था । ओंकार से ही चारों वेदों का विस्तार

❀ ओंकार ही यह अक्षर है । यह सम्पूर्ण उसी का उपव्याख्यान है । जो भूत, भविष्य तथा वर्तमान है वह भी सब ओंकार ही है । जो त्रिकालातीत है, तथा अन्य भी जो कुछ है वह सब भी ओंकार ही है ।

हुआ है, ओंकार से ही सम्पूर्ण जगत् विस्तृत हुआ है। ओंकार से ही अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज जीवों की उत्पत्ति हुई है। ओंकार से ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय की कल्पना हुई है। ओंकार ही ब्रह्म का वाचक शब्द है, ओंकार ही सर्वश्रेष्ठ नाम है। ओंकार ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है। ओंकार के बिना वेद मन्त्रों में मन्त्रत्व नहीं आता। ओंकार के बिना कोई भी क्रिया सिद्ध नहीं होती। अतः मोक्ष की कामना करने वाले प्राणियों को ओंकार की ही शरण में जाना चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! छठी जो माण्डूक्य उपनिषद् है, उसमें किस विषय का प्रतिपादन किया गया है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! माण्डूक्य मुनि ने इस उपनिषद् में ओंकार की ही महिमा गायी है। उनका कहना है—ॐ यह शब्द अक्षर है।"

शौनकजी ने पूछा—"अक्षर क्या?"

सूतजी ने कहा "जिसका कभी क्षर न हो, नाश न हो, अनादि, अनन्त, अविनाशी। यह ॐ ही सम्पूर्ण जगत् बन गया है। यह दृश्य जगत् ओंकार का ही एक मात्र पसारा है। यह जगत् उत्पन्न हुआ था, मध्य में वर्तमान रहा, फिर जाकर ब्रह्म में ही विलीन हो गया। अब जो है, आगे जो होगा और पीछे जो भी कुछ हो चुका है, वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है। प्रणव ही प्रणव है। काल के तीन ही भेद मनीषियों ने किये हैं। बीता हुआ काल भूत काल है, जो इस समय वर्त रहा है वह वर्तमान काल है, जो काल आगे आने वाला है वह भविष्य काल है। काल के ये तीन रूप ओंकार ही हैं। और जो इन तीनों कालों से अतीत काल है, जिसे कालातीत कहते हैं, वह भी ओंकार ही है। कहाँ तक बतायें, काल से अति-

रिक्त जो भी कुछ है, सब ओंकार ही है। ओंकार के अतिरिक्त और भी जो कुछ है सब ओंकार ही है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस जड, चैतन्य, चराचर और इससे भी परे जो कुछ कल्पनातीत है, वह सब ब्रह्म कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्म के अतिरिक्त जब कुछ अन्य है ही नहीं, तो यह दृश्य अदृश्य, स्थूल-सूक्ष्म, जड-चैतन्य, स्थावर जंगम, चर अचर और इन सबसे भी परे जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। यह परमात्मा ही चतुष्पाद है।"

शौनकजी ने कहा—"आप भी बार बार कह आये हैं और सभी श्रुतियाँ कह रही हैं, कि ब्रह्म तो निरवयव है। उसके अवयव नहीं, भाग नहीं, विभाग नहीं। फिर आप उसे चतुष्पाद क्यों कह रहे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वास्तव में तो भगवान् अवयवों से-भाग विभागों से-सर्वथा रहित हैं, फिर भी यदि उनको विभाग करके न समझाया जाय, तो वे बुद्धि में कैसे बैठ सकते हैं। अतः केवल समझाने के लिये-उनकी भली भाँति अभिव्यक्ति करने के निमित्त भेदों की कल्पना की जाती है, विषय को बोधगम्य बनाने के लिये प्रथम पाद, द्वितीय पाद, तृतीय पाद और तुरीयपाद, चतुर्थ पाद इस प्रकार से उनके भेद बताये गये हैं। जो भेद हैं, वे उससे भिन्न नहीं। एक रुपया है, उसके चार भाग-चार चवन्नी-कर दीं। तो वे चारों मिलकर एक पूर्ण रुपया बन जायगा। एक मन है, उसकी चार धड़ी कर दीं। चार धड़ी मिलकर एक ही मन हो जायगा। एक सेर है इसके चार चार भाग कर दिये तो चारों पौआ मिलकर एक पूरा सेर बन जायगा। जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार अवस्थायें हैं। इनके अभिमाना

विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय हैं। ये चारों मिलकर ही पूर्ण ब्रह्म संज्ञक हो जायँगे। ईश्वर के विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और साक्षी ये चार अंश है, ये चारों मिलकर पूर्ण ब्रह्म हो जायँगे। इस प्रकार ब्रह्म के भी चार पाद है। वे चारों मिलकर ही पूर्ण ब्रह्म कहलाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"उस चतुष्पाद आत्मा के चार पाद कौन-कौन-से हैं ? इनमें से प्रथम पाद क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"जो परब्रह्म परमात्मा सर्वेश्वर है, सर्वाधार हैं, सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण हैं, उनका पहिला पाद है वैश्वानर।"

शौनकजी ने पूछा—"वैश्वानर का क्या अर्थ है ? वैश्वानर तो अग्नि को कहते हैं। और जीवात्मा का भी नाम वैश्वानर है। तो क्या जीव या अग्नि ब्रह्म का प्रथम पाद है ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज, एक शब्द के बहुत अर्थ होते हैं, प्रकरण के अनुसार उनका अर्थ किया जाता है। अग्नि तो जड़ है, जीव भी परिच्छिन्न है। ब्रह्म का जो प्रथम पाद है, प्रथमांस है वह इनसे भिन्न है। जैसे शरीर के स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन भेद हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाओं में जीवात्मा रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म का प्रथम पाद जाग्रत अवस्था के सदृश है, अर्थात् जाग्रत उसका स्थान है। उसे स्थूल शरीर की उपमा दी जा सकती है; यद्यपि ब्रह्म उपमा, उपमेयों से रहित है, फिर भी लौकिक, प्राकृत वस्तुओं से समझने की ही हमारी बुद्धि में शक्ति है; क्योंकि वह स्वयं लौकिक तथा प्राकृत है। इसीलिये जीवात्मा के स्थूल शरीर से और जाग्रत अवस्था से उपमा दी गयी।"

वह प्रथम पाद बहिष्प्रज्ञ है। अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान बाह्य और

अभ्यन्तर दोनों ओर है, तो प्रथम पाद उसका बाहर की ओर है, बाह्य जगत् में वह फैला हुआ है। अर्थात् बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला है। ब्रह्म का प्रथम पाद सात अङ्गों में विभक्त है और उन्नीस मुखों से भोजन करता है।

शौनकजी ने कहा—"सात अङ्ग कौन-कौन-से हैं और उन्नीस मुख कौन हैं ?"

सूतजी ने कहा—"बाह्य जगत् में भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य ये सात लोक हैं, उसी प्रकार ब्रह्म का प्रथम पाद इन सात लोकों में फैला हुआ है। ये सात लोक ही सात अङ्ग हैं। जैसे जीवात्मा, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चतुर्विध अन्तःकरण इन उन्नीस मुखों से ही विषयों का उपभोग करता है। यह स्थूल जगत् का भोक्ता है, अनुभवकर्ता या ज्ञाता है। बात यह है कि यह ब्रह्मांड इसे विराट् कहो, विश्व कहो एक ही बात है। इसे जो जानता है, अनुभव करता है वही विराट् है, उस विराट् को ही ब्रह्म का पहिला पाद कहा है। उसकी परिकल्पना सात अङ्गों में इस प्रकार भी की गयी है, कि स्वर्गलोक उसका सिर है, प्राण स्वाँस है, सूर्य नेत्र है, आकाश धड़ है, जल. मूत्र स्थानीय है और आहवनीय अग्नि उसका मुख है। इस प्रकार वह विश्वरूप नर वैश्वानर के नाम से प्रसिद्ध है और यही ब्रह्म का प्रथम पाद है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म का द्वितीय पाद क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे ब्रह्म के प्रथम पाद वैश्वानर का स्थान जाग्रत था वैसे ही द्वितीय पाद का नाम तैजस है। इसका स्थान स्वप्नावस्था के सदृश है। प्रथम बहिःप्रज्ञ था यह द्वितीय पाद अन्तःप्रज्ञ है अर्थात इसकी प्रज्ञा अन्तर्मुख है। पहिले बताये सात अङ्गों और उन्नीस मुखों वाला यह भी है। बात यह है

समष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी हिरण्यगर्भ है और व्यष्टि सूक्ष्म शरीर के अभिमानी तैजस हैं। जैसे स्वप्नावस्था में स्वप्नावस्था के अभिमानी है वैसे ही तैजस भी स्वप्नावस्था के अभिमानी है। अतः यह ब्रह्म का द्वितीय पाद है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म का तीसरा पाद क्या है ?"

सूतजी ने कहा—जाग्रत और स्वप्न को तो प्रथम और द्वितीय पाद का स्थान बताया उसी प्रकार तीसरा प्राज्ञ पाद है। इसका स्थान सुषुप्ति है यह प्राज्ञ भोग रहित है। जैसे जीव जब जागता रहता है, तो नाना भोगों को भोगता है, स्वप्नावस्था में स्वप्नमय पदार्थों का उपभोग करता है। किन्तु सुप्तावस्था में न तो वह जाग्रत की भाँति किन्हीं विषयों का ही उपभोग करता है, और न विषय रूप स्वप्नों में ही लिप्त होता है। गाढ निद्रा में सब इन्द्रियाँ, सब वृत्तियाँ अज्ञान में विलीन हो जाती हैं, जीव आनन्द का अनुभव करता है। उस समय सोया हुआ पुरुष किसी भी भोग की कामना नहीं करता और न किसी प्रकार का स्वप्न ही देखता है। उसी अवस्था का नाम सुषुप्ति है, सुषुप्ति अर्थात् जगत् की प्रलयावस्था जिसका स्थान है और एकीभूत प्रज्ञानघन ही आनन्द स्वरूप हैं। जाग्रत स्वप्न की भाँति उन्नीस मुख न होकर केवल चेतना अर्थात् प्रकाश ही जिसका मुख है। वह आनन्द भुक आनन्द को भोगने वाला प्राज्ञ ब्रह्म का तीसरा पाद है। जैसे जिन पदार्थों को हम जाग्रत में या स्वप्न में देखते हैं, वे सबके सब पदार्थ अविद्या में एकीभूत हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राज्ञ सुषुप्ति में ईश्वर के साथ एकीभूत हो जाता है व्यष्टि कारण शरीर में तो जीव अविद्या अंधकार में निमग्न होता है। किन्तु यह प्राज्ञ का तो प्रकाश ही मुख है अतः यह ईश्वर के साथ एकता को प्राप्त होता है, तो जीव तो सुषुप्ति अवस्था में—अज्ञानावृत आनन्द को भोगता है,

किन्तु यह प्राज्ञ ज्ञानानंद भुक् है, इसलिये यथार्थ आनन्द का उपभोग करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म का प्रथम पाद तो वैश्वानर बताया, दूसरा पाद तैजस बताया और तृतीय पाद प्राज्ञ बताया। इस तृतीय पाद प्राज्ञ की विशेष महिमा क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"यही ब्रह्म का तृतीय पाद प्राज्ञ समस्त संसार भर के ईश्वरों का भी ईश्वर है। इससे संसार की अणु, परमाणु कोई भी वस्तु अविज्ञेय नहीं, यह सर्वज्ञ है। यह सबमें व्याप्त सबके मन की जानने वाला अन्तर्यामी है। यही समस्त जीवों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। यही सबका एकमात्र स्थान है। यह सर्व कारणों का कारण है।"

शौनकजी ने कहा—"आपने ब्रह्म के तीन पादों का वर्णन तो किया, अब जो पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का चौथा पाद है, उसका भी वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"पूर्ण ब्रह्म का चतुर्थ पाद परिपूर्ण ब्रह्म का वर्णन क्या करें, वह तो वर्णनातीत है, फिर भी माण्डूक्य मुनि ने जैसा कुछ वर्णन किया है, उसका संक्षिप्त भाव मैं आपसे आगे कहूँगा। इसी प्रकरण में यह माण्डूक्य उपनिषद् समाप्त हो जायगी। आशा है, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय—स्वप्न थान सप्ताङ्ग अन्त प्रज्ञहु उन्निस मुख।
तैजस दूसर पाद ब्रह्म को सु प्रविक्ति भुक॥
जो प्रसुप्त नहि करै कामना स्वपन न देखे।
त्यों प्रसुप्त इस्थान पाद तीसर महँ पेखे॥
एकीभूत प्र-ज्ञान घन, आनँदमय आनन्द भुक।
सर्वेश्वर सरवज्ञ यह, सर्वयोनि परकाश मुख॥

—:—

चतुष्पाद परिपूर्ण ब्रह्म

[५५]

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघन न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षण-मचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ❀

(माण्डू० उ० ७ म०)

छप्पय

प्रज्ञा भीतर नहीं न बाहर उभय न आवै ।
नहि प्रज्ञ हु प्रज्ञान-घन हु अप्रज्ञ कहावै ॥
अव्यवहार अदृष्ट अग्राह्य अचिन्त्य हु भाई ।
आत्मा एकहि सार अकथ अद्वैत कहाई ॥
नहिं प्रपञ्च, शिव, शान्त वह, है अद्वैत सु आतमा ।
ब्रह्म पाद चौथो कह्यो, प्रणववाच्य परमातमा ॥

अवस्था से अतीत जो स्थिति है वही तुरीय कहाती है । उसे चौथी अवस्था कहो तो वह अवस्थाओं के अन्तर्गत आ जायगी ।

❀ जो न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है और न उभयप्रज्ञ ही है । न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ ही है और न अप्रज्ञ ही है । वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव तथा अद्वैत है । वही ब्रह्म का चौथा पाद है । ब्रह्मज्ञानी ऐसा ही मानते हैं । वही आत्मा है वही जानने योग्य है ।

वास्तव में जहाँ अवस्था, व्यवस्था, व्यवहार, साधन, साध्य कुछ भी न हो, व्यवहार शून्य, नाम, देश, काल, पात्र किसी की भी कल्पना न हो, कल्पनातीत स्थिति का नाम ही परिपूर्ण है। उसका कथन नहीं किया जा सकता वह तो अकथ कहानी है, अश्राव्य ज्ञान है, जहाँ इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण, प्रकृति किसी की भी गम नहीं ऐसी स्थिति का ही नाम चतुष्पाद है। उसे स्थिति कहना भी अनुचित है, वह स्थिति नहीं स्थिति से भी अतीत है। उसके कहने का एक ढंग तो यह है कि तुम जो भी कल्पना कर सकते हो सब वही वह है, क्योंकि सभी कल्पनायें उसी को आधार मानकर की जा सकती हैं, दूसरा ढंग यह है, कि तुम जो भी कल्पना करोगे, जो भी अनुमान लगाओगे, जहाँ तक भी इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से, तुम दौड़ लगाकर जो निर्णय कर सकोगे वास्तव में वह नहीं होगा। वह उससे भी विलक्षण है। सबका सार यही है, कि वह अचिन्तनीय, अकथनीय, परमानन्द स्वरूप है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने ब्रह्म के तीन पादों का वर्णन तो किया, अब चतुर्थ पाद के सम्बन्ध में बता दीजिये।"

सूतजी बोले—"भगवन् ! चतुर्थ पाद बताने की वस्तु नहीं वह तो अनुभव की वस्तु है, अनुभव भी जब प्रकृति से परे होकर किया जाय तब। फिर भी माण्डूक्य मुनि ने जैसे बताया है, उसी प्रकार मैं आपके सामने कहता हूँ।"

ब्रह्म का प्रथम पाद बताते हुए जाग्रत अवस्था का अधिष्ठाता वैश्वानर बताकर उसे बहिःप्रज्ञ कहा गया है। द्वितीय पाद में स्वप्नावस्था का अधिष्ठाता तैजस कहकर उसे अन्तःप्रज्ञ कहा गया है, किन्तु जो न बहिःप्रज्ञ है और न अन्तःप्रज्ञ ही है तथा बहिःअन्तः उभयप्रज्ञ भी जो नहीं है। सुषुप्ति अवस्था का अधिष्ठाता प्राज्ञ को

बताकर उसे प्रज्ञानघन कहा गया है। वह प्रज्ञानघन भी नहीं है। अद्वैत भाव के ज्ञान से युक्त प्राज्ञ भी नहीं और अप्रज्ञ भी नहीं। यही चतुर्थ पाद ब्रह्म है।"

शौनकजी ने कहा—"यह तो नेति-नेति का कथन हुआ। यह भी नहीं, यह भी नहीं। अब वह है क्या? कुछ अस्ति के रूप में भी तो बतावें?"

सूतजी बोले—"बताने योग्य कोई विशेष्य हो तो उसके विशेषण भी दिये जा सकते हैं। जब विशेष्य ही अनिर्वचनीय है, तो विशेषण कहाँ से लावें। तथापि निषेधात्मक वृत्ति से ही कहते हैं—वह अदृष्ट है अर्थात् आज तक किसी के द्वारा इन चर्मचक्षुओं से न देखा गया हो। वह अव्यवहार्य है। वह इतना बेकार है कि आज तक किसी ने भी उसे अपने संसारी व्यवहार में व्यवहृत नहीं किया है। वह अग्राह्य है आज तक किसी ने उसे अपने हाथों से पकड़कर नहीं बाँधा। आज तक किसी ने उसे पूर्णरीत्या पहिचाना नहीं क्योंकि उसका कोई बाह्य लक्षण पहिचानने के चिन्ह नहीं मिले। वह अचिन्त्य है। चिन्तना चित्त के द्वारा की जाती है, चित्त की वहाँ पहुँच ही नहीं तो बेचारा चिन्तना कैसे करे। वह अव्यपदेश्य है। बड़े बड़े प्रवचनकार-उपन्यासकार-वक्ता सब विषयों के सम्बन्ध में बताते हैं किन्तु उसके सम्बन्ध में कोई यथार्थ बता ही नहीं सका है।"

शौनकजी ने कहा—'यह तो फिर आप वही नेति नेति पर आ गये। ऐसा नहीं, वैसा नहीं। कुछ तो बताइये कैसा है?"

सूतजी बोले—"वह एकात्मप्रत्ययसार है। अर्थात् वह एक मात्र वही है। उसकी सत्ता का अस्तित्व है। उसके होने का सार सिद्धान्त यही है, कि उसके अस्तित्व की प्रतीति होती है। वह प्रपञ्चोपशम है। उसमें समस्त प्रपञ्चों का उपशम हो गया है।

प्रपञ्च का अभाव है। अशान्ति राग द्वेष के कारण होती है। उसमें न राग है, न द्वेष, सर्वथा शान्त है। वह शिव है, कल्याण स्वरूप है, मंगलमय है। वह अद्वैत है। न उससे कोई बढ़कर, न उसके कोई बराबर वाला, न उसका कोई पराया है, वह एकमात्र अपने ढंग का अद्वितीय है। यही ब्रह्म का चौथा पाद ऋषि मुनियों द्वारा माना गया है, अर्थात् कल्पित किया गया है। वही आत्मा है, वही परमात्मा है, वही ब्रह्म है, वही भगवान् है। उसी का जानना यथार्थ जानना है। और सब जानना तो गोरख धन्धा है, जानने योग्य वही है। उसी को जानना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! माण्डूक्य उपनिषद् के आरंभ में बताया था, ओंकार ही अक्षर ब्रह्म है, यह सब उसी ओंकार का ही उपव्याख्यान है। उसी की निकटतम महिमा का लक्ष्य कराने वाला है। प्रणव उसी परब्रह्म परमात्मा का वाचक है। तो ब्रह्म की और प्रणव की एकता किस प्रकार है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्म कहो, प्रणव कहो, बात एक ही है। इस परब्रह्म को अध्यक्षर कहा गया है। अध्यक्षर का अर्थ है जो अक्षर रूप प्रणव है उसके समीप रहने वाला—अधिकार में वर्णित—उसी प्रकरण में कहा हुआ। फिर उसे अधिमात्र भी कहा है। अधिमात्र का अर्थ हुआ तीन मात्रा वाला। इसलिये वह परमात्मा, परब्रह्म और ओंकार एक ही है। जैसे प्रणव की अकार, उकार और मकार तीन मात्रायें हैं वे ही तीन मात्रायें मानों परब्रह्म परमात्मा के तीन पाद हैं।"

शौनकजी ने कहा—"प्रणव की कौन-कौन-सी मात्रा ब्रह्म का कौन-कौन पाद हैं? इन मात्राओं में और पादों में साम्य किस प्रकार है, कृपया इसे भी बतावें?"

सूतजी ने कहा—"पिछले प्रकरण में ब्रह्म का प्रथम पाद वैश्वा-

नर को बताया था वह बहिःप्रज्ञ, स्थूलभुक और जागरित स्थान कहा गया था अर्थात् जाग्रत अवस्था की भाँति स्थूल शरीर वाला बाहर की ओर–अर्थात् बाह्य जगत् की–प्रज्ञा वाला इसी प्रकार प्रणव की पहिली मात्रा जो अकार है वह सबमे व्याप्त होने के कारण–अर्थात् बाह्य जगत् मे जितने भी स्वर व्यंजनात्मक नाम वाले शब्द हैं उनमे ऐसा एक भी शब्द वाक्य या नाम नहीं है जिनमे 'अकार' व्याप्त न हो। अकार के बिना किसी शब्द का उच्चारण ही नही हो सकता। अतः सबमें व्याप्त होने के कारण यह वैश्वानर के सदृश है। यह भगवान् की अकार विभूति भी है। दूसरे यह आदि वाला है, अर्थात् वर्णों मे सबसे आदि मे इसी की उत्पत्ति होती है। यही आदि वर्ण है। स्थूल जगत् रूप देह मे जैसे वैश्वानर सर्वत्र व्याप्त है और विराट् रूप से सबसे प्रथम हुआ है। वही बात प्रणव की अकार के सम्बन्ध में है।"

इस प्रकार जो ब्रह्म के प्रथम पाद तथा प्रणव की प्रथम मात्रा अकार की एकता को जानता है, वह निश्चय करके सभी कामनाओ को प्राप्त कर लेता है, उसे ससारी भोगो की कमी नहीं रहती। वह भी सबका आदि, मूर्धन्य, अध्यक्ष अथवा प्रधान बन जाता है, यह ब्रह्म के प्रथम पाद वैश्वानर की तथा प्रणव के आदि अकार की एकता की महिमा कही।

शौनकजी ने कहा—"ब्रह्म के द्वितीय पाद तैजस और प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार की एकता के सम्बन्ध में और बताइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्म का जो द्वितीय पाद तेजस है, जिसका स्वपन की भाँति सूक्ष्म जगत् ही स्थान है। उसकी समता प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार के साथ की गयी है। उकार ओंकार की द्वितीय मात्रा है और उत्कर्ष रूप तथा उभयात्मक है। उकार उत्कर्ष इसलिये है, कि अकार से ऊपर उठा है,

उभयात्मक इसलिये है कि अकार और मकार के बीच में है। अतः अकार के साथ भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है और मकार के साथ भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। इससे यह मध्यस्थ उभयात्मक है। यही बात प्रणव की द्वितीय मात्रा स्वप्न स्थानीय तैजस के सम्बन्ध मे है। यह तैजस अर्थात् हिरण्यगर्भ वैश्वानर से उत्कृष्ट है और वैश्वानर तथा प्राज्ञ के मध्य मे होने से मध्यस्थ तथा दोनो से सम्बन्धित होने के कारण उभयात्मक है। इस प्रकार जो पुरुष ब्रह्म के द्वितीय पाद तैजस,प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार दोनो की एकता की महिमा को जानता है, वह अवश्य ही ज्ञान की सन्तति को, ज्ञान की परम्परा को उत्कर्ष बनाता है–उन्नत करता है। तथा दोनो की समानता के ज्ञान के कारण समान भाव वाला हो जाता है। उसकी वंश परम्परा में–कुल मे–ऐसा कोई नहीं होता जो ब्रह्मवित् न हो–ब्रह्म का ज्ञाता न हो। यह मैंने ब्रह्म के द्वितीय पाद तैजस की तथा प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार की महिमा आप से कही।"

शौनकजी ने पूछा—"अब आप ब्रह्म के सुषुप्ति स्थानीय प्राज्ञ तृतीय पाद की और प्रणव की तृतीय मात्रा मकार की एकता का वर्णन और कीजिये ?"

सूतजी कहने लगे—"ब्राह्मन ! ब्रह्म का तृतीय पाद सुषुप्त स्थानीय कारण जगत् का अधिष्ठाता प्राज्ञ सर्वज्ञ है। सबको जानता है। जगत की जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन अवस्थायें हैं, इनको भली-भाँति जानने के कारण ही इसकी प्राज्ञ संज्ञा है। कारण जगत ही सूक्ष्म तथा स्थूल जगत का उत्पादक है। इसी प्रकार प्रणव की जो तृतीय मात्रा मकार है। यह मा धातु से बनी है। जो मापने–नाप लेने–के अर्थ में व्यवहृत होता है। यह सब वस्तुओं को नाप लेता है। यह मकार प्रणव की अंतिम मात्रा है।

विलीन करने वाला है। जैसे प्रणव के अकार उकार को कह
मकार कहते ही ओष्ठ बंद हो जाते हैं। ब्रह्म का तृतीय पाद सु
की भाँति कारण जगत् में स्थूल सूक्ष्म विलीन हो जाते हैं।
प्रकार दोनों की समानता है। जो इन दोनों का एकता के रू
को जान लेता है, वह इस सम्पूर्ण जगत् को माप लेता है, अ
इसकी चौड़ाई, लम्बाई, ऊँचाई, नीचाई आदि के सभी रह
को जान जाता है। और सबको अपने में विलीन करने की साम
वाला होता है। यह मैंने ब्रह्म के तृतीय पाद प्राज्ञ की तथा प्र
तृतीय मात्रा मकार की एकता की महिमा बतायी।"

शौनकजी ने कहा—'प्रणव की मात्रा तो तीन ही हैं, वि
चौथा अमात्रिक प्रणव का तथा ब्रह्म के चतुष्पाद की एकता
महिमा और बताइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तीनों मात्राओं वाला प्रणव
व्यावहारिक है। उसका व्यवहार में उपयोग होता है, बोला ज
है, सुना जाता है, उसका उच्चारण करते कराते हैं, उपदेश देते
किन्तु अमात्र प्रणव तो ब्रह्म के चतुर्थ पाद प्रपञ्चोपशम का भ
अव्यवहार्य है। अर्थात् व्यवहार में आने वाला नहीं
और प्रपञ्च से रहित है। जैसे ब्रह्म का चतुर्थ पाद शिव स्व
अद्वैत है वैसे ही प्रणव का अमात्र रूप शिव अद्वैत तथा कल्य
स्वरूप है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा नामी है, वाच्य है, प्र
उसका वाचक नाम है। नाम और नामी में भेद नहीं होत
दोनों का परस्पर में अभेद सम्बन्ध हुआ करता है। जो वस्तु
और उसका जो नाम है दोनों एक हैं। जैसे मिट्टी के बने वि
आकार के पदार्थ को घट कहते हैं वह पदार्थ और उसका न
घट दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार प्रणव और परब्रह्म दोनों
ही हैं, जो पुरुष इन नाम नामी-प्रणव और परब्रह्म की एक

के रहस्य को भली भाँति जान लेता है वह आत्मा से आत्मा में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो जाता है। अर्थात् परात्पर परब्रह्म परमात्मा में प्रवेश कर जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनिवर! न तो प्रणव की मात्राओं में ही भेद है, न ब्रह्म के ही पाद हो सकते हैं। यह तो केवल स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा तुरीय की तथा निर्गुण निराकार और सगुण-साकार की एकता दिखाने के लिये इस प्रकार की पृथकता तथा एकता की कल्पना की गयी है। इस प्रकार यह छोटी-सी माण्डूक्य उपनिषद् समाप्त हुई।"

छप्पय

ब्रह्मपाद जो तीनि प्रणव की मात्रा तीनहु।
जाग्रत वैश्वानर हु प्रणव की मात्र अकारहु॥
मात्रा द्वितीय उकार स्वपन तैजस तिहि जानो।
मात्रा तृतीय मकार सुषुप्ती प्राज्ञ बखानो॥
जो अमात्र ओंकार है, शिव, अद्वैत प्रपञ्च बिन।
मात्रा चौथी ब्रह्म की, जानि ब्रह्म प्रविसे सदन॥

अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् समाप्त।

शान्ति पाठ

छप्पय

सुरगन! हम सब चहें करें मिलि यजन ब्रह्म नित।
कानन तें हू सुनें वचन शुभ भद्र निरत हित॥
आँखिनि तें हू सदा निहारें दृश्य भद्रवर।
सुदृढ़ अंग तनु लगी ईश इस्तुति में दृढ़तर॥
शेष आयु हमरी सफल, रहें देवहित में निरत।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्यो रहे तप में सतत॥

छप्पय

देवराज हे इन्द्र ! चहूँ दिशि तव यश छायो ।
विश्वदेव हे सूर्य ! प्रकाशहु जग फैलायो ॥
गरुड निवारक कष्ट ! शक्तिशाली सुनेमि सम ।
धन्य बृहस्पतिदेव ! करें मिलि विनती सब हम ॥
तुम सब तें ही विनय है, स्वस्ति करें मङ्गल करें ।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख शोक भ्रम भय हरें ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

शान्ति पाठ

[५६]

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । श नो विष्णुरुरुक्रमः ।
नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि ।
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु ।
अवतुमाम् । अवतु वक्तारम् ॥*

तै० उ० शा० पा०

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!!

छप्पय

मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, गुरु, विष्णु-उरुक्रम ।
करें सबहिँ कल्याण करत विनती सबकी हम ॥
नमस्कार है ब्रह्म-देवकूँ आत्म-भूप जो ।
करें नमस्ते वायुदेवकूँ ब्रह्मरूप जो ॥
तुमहिँ एक प्रत्यक्ष हो, कहूँ सत्य ऋत तुम विभो ।
श्रोता वक्ता की सतत, रक्षा करि पालो प्रभो ॥

---

* ॐ मित्र देव हमें कल्याणकारक हों, वरुण भी श हों, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति शान्तिप्रदायक हों, उरुक्रम विष्णु हमको कल्याणकारी हों,

यह समस्त जगत् कलात्मक है। कला का अर्थ है जो कलन करे, एकत्रित करे, सग्रह करे। जैसे किसी के पास मूलधन सौ रुपये हैं, उन्हे किसी को व्याज पर दे दें, तो वे सौ तो ज्यों के त्यों ही बने रहेंगे। ऊपर से व्याज रूप मे और धन बटोर लेंगे यही कला है (कलयति वृद्धितो धन सगृह्णाति सचिनोति इति कला) कला समय का भी नाम है। चौंसठ कलायें प्रसिद्ध ही हैं। वैद्यक मे शरीर के अश विशेष को भी कला कहते हैं। किन्तु उपनिषदो मे विराट् के शरीर को षोडश कलात्मक कहा है। अर्थात् उन परब्रह्म परमात्मा से सोलह कलाओं का समुदाय संपूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। ये सोलह कलायें बढकर ही विराट् विश्व ब्रह्माण्ड जगत् के रूप मे विस्तृत हो गया है। वे विराट् पुरुष की सोलह कलायें कौन-कौन-सी हैं? १–श्रद्धा, २–पृथ्वी, ३–जल, ४–तेज, ५–वायु, ६–आकाश, ७–समस्त इन्द्रियाँ, ८–मन आदि अन्तःकरण चतुष्टय, ९–अन्न, १०–वीर्य, ११–तप, १२–मन्त्र, १३–कर्म, १४–समस्त लोक और, १५–ससार के समस्त नाम। ये सबके सब चैतन्य होकर जगत् की वृद्धि करते हैं। मत्र भी चैतन्य होते हैं। मन्त्र केवल वर्ण समुदाय वाक्य नहीं। वह तो साक्षात् भगवान् का रूप है। भगवान् तो अमूर्त हैं, मन्त्र ही उन अमूर्त भगवान् की चतन्य मूर्ति है। मन्त्र चैतन्य होते हैं तप से। तपस्या के द्वारा वर्णात्मक मन्त्र चैतन्य होकर सजीव हो जाते हैं, तभी वे फल देते है। मन्त्रो में कितनी भारी शक्ति होती थी, महाराज परीक्षित् ने पिता की मृत्यु से क्रुद्ध होकर अपने

ब्रह्म को नमस्कार है। वायु को नमस्ते। तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, तुमको ही ऋत कहूँगा। तुम्हे ही सत्य कहूँगा। मेरा रक्षा करें। वक्ता की भी रक्षा करें, रक्षा करें। ॐशान्ति, शान्ति, शान्ति।

पिता को काटने वाले सर्प के कारण समस्त सर्पों के नाश के निमित्त सर्वसत्र अभिचार यज्ञ किया। मन्त्रों के प्रभाव से जो सर्प जहाँ बैठे होते, वहीं से खिंच-खिंचकर चले आते और चिल्लाते हुए कुंड की अग्नि में गिरकर स्वाहा हो जाते। असंख्यों सर्प जल गये। राजा ने पूछा—"जिस दुष्ट तक्षक के कारण मैंने यह यज्ञ किया है, वह तक्षक अभी तक क्यों नहीं आया ?"

याज्ञिक ब्राह्मणों ने कहा—"राजेन्द्र ! उस तक्षक की रक्षा देवेन्द्र कर रहे हैं, वह इन्द्र के सिंहासन से लिपटा हुआ है।"

राजा ने पूछा—"क्या आपके मंत्रों में इतनी सामर्थ्य नहीं है, कि सिंहासन समेत इन्द्र को भी बुलाकर इस यज्ञाग्नि में भस्म कर दो ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"राजन् ! हमारे मंत्र अयातयाम हैं, हमने रात्रि दिन तप संयम से उन्हें सिद्ध किया है। हमारे मंत्रों में सब प्रकार की सामर्थ्य है, केवल आपकी आज्ञा की देरी है। आप कहें तो हम सिंहासन सहित इन्द्र को बुलाकर इसमें स्वाहा कर दें। इन्द्र और उनके सिंहासन सहित तक्षक भी साथ ही भस्म हो जायगा। आपकी जैसी आज्ञा ?"

राजा ने कहा—"तक्षक को उसके रक्षक इन्द्र सहित भस्म कर दीजिये।"

ब्राह्मणों को क्या था, उन्होंने मंत्र पढ़े, मंत्र का प्रभाव तो देखिये, सिंहासन सहित शचीपति इन्द्र खिँचा हुआ चला आया। तब बीच में लोक पितामह ब्रह्माजी ने पड़कर किसी प्रकार से इन्द्र की रक्षा की।

ऐसे प्रभावशाली होते थे, ब्राह्मणों के तपःपूत मंत्र। जो मंत्र सदाचार, तप, स्वाध्याय द्वारा चैतन्य नहीं किये गये हैं, वे तो वर्णात्मक शब्द मात्र हैं। उनका कोई प्रभाव नहीं होता। जिन्होंने

यम नियमों का विधिपूर्वक दीर्घकाल तक अभ्यास करके घोर तप किया है उन्हीं की ऋषि संज्ञा है, ऐसे ऋषि ही मन्त्रद्रष्टा होते हैं। उनसे जिन्हें वे मन्त्र परम्परया प्राप्त हैं और प्राप्त करके जिन्होंने तपः द्वारा उन चैतन्य मन्त्रों को पावन बना लिया है, वे विश्वामित्र की भाँति नूतन सृष्टि करने की सामर्थ्य रखते हैं। मन्त्रों का प्रभाव अमोघ होता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य इन छः उपनिषदों की कथा तो आपने कही। अब सातवीं उपनिषद् कौन सी है? उसकी कथा भी हमें सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! उपनिषद् तो सभी स्वतन्त्र ही हैं। वे एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं। मुक्तक छन्दों के सदृश वे सब पृथक् पृथक् हैं। फिर भी ऋषियों ने सुविधा के लिये इनका क्रम बना दिया है। पुराणों में, उपनिषदों में इनकी क्रम संज्ञा दी है। कोई तो माण्डूक्य के पश्चात् ऐतरेय उपनिषद् को बताते हैं, कोई तैत्तरेय को कहकर तब एतरेय को कहते हैं। अधिकांश तैत्तरेय को कहकर तब एतरेय को कहा करते हैं। आपकी आज्ञा हो, तो मैं भी पहिले तैत्तरेय को ही कहकर तब एत्तरेय को कहूँ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मिश्री की ठिलिया में जिधर से भी मुँह मारो उधर ही मुख मीठा होगा। हमें तो कोई अन्तर पड़ता नहीं। चाहे आप पहिले एतरेय सुनावें या तैत्तिरीय। अच्छी बात है, तैत्तिरीय ही सुनाइये। इस उपनिषद् का नाम तत्तिरीय उपनिषद् क्यों पड़ा? तित्तिर या तीतर तो पक्षी होता है, पक्षी के द्वारा यह उपनिषद् कैसे कही गयी? पक्षियों को चैतन्य मन्त्रों की उपलब्धि कैसे हुई?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! ये मन्त्र ग्रहण करने वाले तीतर साक्षात् तीतर नहीं थे, बने हुए तित्तिर थे। इस सम्बन्ध में एक

कथा है जिसे पीछे मैं कई बार कह चुका हूँ, किन्तु प्रसंगानुसार उसे पुनः सुनाता हूँ। ऋषि-महर्षि तथा पुण्यश्लोक पुरुषों की कथाओं मे पुनरुक्ति नहीं मानी जाती। उसे जितनी भी बार चाहे सुनाओ। कहने वाले जितनी भी बार कहेंगे, सुनने वाले जितना भी बार सुनेंगे, श्रोता वक्ताओं को उतनी ही बार पुण्य की प्राप्ति होगी।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! पुण्यश्लोक पुरुषों की कथा तो जितनी ही बार सुनने को मिले उतनी ही बार पुण्यप्रद होती है, तभी तो हम आप से अनजान की भाँति प्रश्न कर देते हैं। हाँ तो सुनाइये कौन-सी कथा है ?"

सूतजी बोले—"महाराज, एक बार समस्त ऋषियों का समाज एकत्रित हुआ। उस ऋषि सभा मे एक प्रस्ताव पारित हुआ। "इस सभा की प्रत्येक पूर्णिमा को बैठक हुआ करेगी। जो ऋषि उस दिन आकर इस सभा मे सम्मिलित न होंगे, उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगेगा।" ब्रह्महत्या के पाप के भय से सभी ऋषि महर्षि उस पर्व के दिवस नियमित रूप से आने लगे। एक दिन किसी कार्य विशेष से भगवान् वेदव्यास के शिष्य 'निगद' नाम की यजुर्वेद संहिता के अध्येता महर्षि वैशम्पायनजी पर्व के दिन उस सभा में उपस्थित नहीं हो सके, ऋषियों का वचन तो पत्थर की लकीर के सदृश अमिट होता है, वे सत्य के उपासक होते हैं, उनकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं होती है। नियमानुसार वैशम्पायन मुनि को ब्रह्महत्या का पाप लग गया और उन्होंने सत्य की रक्षा के लिये उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

वे वेद की यजुर्वेद संहिता के एक मात्र अध्येता आचार्य थे, उनके पास यजुर्वेद पढ़ने बहुत से शिष्य रहते थे। कुछ छोटी अवस्था के थे, कुछ बड़ी अवस्था के भी थे। छोटी अवस्था के

विद्यार्थियों ने आकर विनीतभाव से आचार्य के चरण कमलों में प्रार्थना की—"गुरुदेव ! आप आज्ञा दें आपके बदले आपकी ब्रह्महत्या के पाप का हम प्रायश्चित्त करें, शिष्य जो होता है आचार्य का पुत्र ही होता है, पुत्र पिता की आत्मा से ही उत्पन्न होता है, अतः हम ही सब आपके बदले में प्रायश्चित्त करेंगे।"

शिष्यों का अत्यन्त आग्रह देखकर भगवान् वैशम्पायन ने उन्हें प्रायश्चित्त करने की अनुमति दे दी। वे प्रायश्चित्त करने लगे। वैशम्पायनजी के एक शिष्य याज्ञवल्क्य मुनि भी थे। ये महर्षि विश्वामित्र के पौत्र थे। विश्वामित्र की बहिन अजीगर्त मुनि को विवाही थी, उनके तीन पुत्र हुए, मध्यम पुत्र का नाम शुनःशेप था, उसे महाराज हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित अपने यज्ञ में यज्ञ पशु बनाने के लिये क्रय कर लाये थे। शुनःशेप बलिदान के भय से दुखी थे। तब उनके मामा विश्वामित्रजी ने उन्हें वरुण की स्तुति के मन्त्र बता दिये। उन मन्त्रों से यज्ञ के मुख्य देवता वरुण प्रसन्न हुए और उन्होंने शुनःशेप को विश्वामित्रजी को दे दिया। अर्थात् वे बलिदान से बच गये। देव द्वारा रात–अर्थात् दिया हुआ होने से उनका नाम देवरात हो गया, जब विश्वामित्रजी ने उससे अपने पिता के पास जाने को कहा तो, उसने कह दिया—(पाति-रक्षति) जो रक्षा करे वही पिता है। मेरे जनक ने तो मुझे बेच दिया था। आपने मेरी रक्षा की है, अतः धर्मतः आप ही मेरे पिता हैं। मैं आपको ही आज से अपना पिता मानता हूँ।

यह सुनकर विश्वामित्रजी बहुत प्रसन्न हुए उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाकर कहा—"इस देवरात को तुम अपना बड़ा भाई मानो"। पचास ने कहा—"हम तो इसे अपना बड़ा भाई नहीं मानते।" इस पर विश्वामित्रजी ने उन्हें म्लेच्छ हो जाने का

शाप दिया। जिन्होंने उन्हें बड़ा मान लिया, वे ब्राह्मण हुए। उनमें देवरात सबसे बड़े विश्वामित्र के पुत्र कहलाये। उन देवरात के ही पुत्र याज्ञवल्क्य मुनि हुए। याज्ञवल्क्य को देवरातजी ने यजुर्वेद पढ़ने के लिये वैशम्पायन मुनि के पास भेजा। ये अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण महर्षि के शिष्यों में प्रधान माने जाते थे। जिस समय प्रायश्चित्त वाला प्रस्ताव हुआ था, प्रतीत होता है, याज्ञवल्क्य मुनि उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थे। किसी कार्य विशेष से बाहर चले गये होंगे। जब वे लौटकर आये तो उन्होंने अपने छोटे छोटे गुरु भाइयों को कठोर प्रायश्चित्त करते हुए देखा।

उन्होंने आचार्य से पूछा—"गुरुदेव! ये छोटे बटु क्या कर रहे हैं?"

वैशम्पायन मुनि ने कहा—"भैया, ऋषि समाज के पर्व पर उपस्थित न होने के कारण मुझे ब्रह्महत्या का पाप लग गया है, उस पाप के प्रायश्चित्त के निमित्त ये मेरी ओर से व्रत कर रहे हैं।"

यह सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा—"भगवन्! ये बेचारे ब्राह्मण कुमार जो प्रायश्चित्त व्रत करने के कारण चरकाध्वर्यु नाम से कहे जाते हैं ये तो अल्पशक्ति वाले हैं, ये अल्पवीर्य क्या प्रायश्चित्त करेंगे? इन अल्पसार बच्चों के व्रत पालन से लाभ ही क्या हो सकता है? मैं परम शक्तिशाली आपका शिष्य हूँ। मैं अकेला ही आपके प्रायश्चित्त के निमित्त बहुत ही दुश्चर तपस्या करूँगा, कठोर व्रत करूँगा।"

प्रतीत होता है, याज्ञवल्क्यजी को अपनी तीक्ष्ण बुद्धि का, वेद ज्ञान का आवश्यकता से अधिक अभिमान हो गया होगा। गुरुदेव उनके अभिमानी स्वभाव के कारण मन ही मन उनसे असन्तुष्ट रहते होंगे। आज जब उन्होंने प्रत्यक्ष ही ऋषिकुमारों का अपमान किया और अभिमानवश अपने को सर्वश्रेष्ठ बताया, तो आचार्य

उनके इस व्यवहार से असन्तुष्ट हो गये। उन्हे क्रोध आ गया। उन्होंने कुपित होकर याज्ञवल्क्य मुनि से कहा—"बस, बहुत हो गया। अब विशेष बकवाद न करो। मैं जान गया तुम्हें अधिक अभिमान हो गया है, तभी तो तुम ब्राह्मण बालकों का इस प्रकार अपमान कर रहे हो। अब तुम तुम मेरे शिष्य रहने योग्य नहीं रहे। मुझे तुम्हारे जस शिष्यों की आवश्यकता नहीं। तुमने अब तक मुझसे जिन मन्त्रों का अध्ययन किया है। जो विद्या मुझसे पढी है, उसका शीघ्र से शीघ्र परित्याग करके मेरे आश्रम से तुरन्त चले जाओ।"

याज्ञवल्क्यजी उसी समय अभिमान त्यागकर गुरु के पैरों मे पड़ जाते, और विनीत भाव से अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करते, तो बात न बढती, किन्तु उन्हें भी क्रोध आ गया, कि एक तो मैं घोर तप करके इन्हें पाप से मुक्त करना चाहता हूँ। तिस पर भी ये मुझे विद्या का परित्याग करके चले जाने को कह रहे हैं, यह सोचकर वे भी आपे से बाहर हो गये। वे विश्वामित्रजी के पौत्र और देवरात मुनि के पुत्र थे, अतः उन्होंने आचार्य की आज्ञा पाते ही योग विद्या द्वारा उनके उदर के भीतर जितने भी गुरु के दिये हुए चेतन्य मन्त्र थे, उन्हे उगल दिया। वे दिव्य मन्त्र थे। क्रोध से उगले गये मन्त्र जैसे पृथ्वी पर पडी हुई पारे की बिन्दु इधर-उधर लुढकती हैं, वैसे ही वे दिव्य मन्त्र पृथ्वी पर लुढकने लगे। योगेश्वर याज्ञवल्क्य योग द्वारा मन्त्रों को उगलकर गुरु को प्रणाम करके तुरन्त उनके आश्रम से बाहर हो गये।

अब उन दिव्य मन्त्रों को इस प्रकार लुढकते देखकर कुछ मद बुद्धि विद्यार्थी जो तप स्वाध्याय से घबडाते थे, ललचाने लगे, कि किसी प्रकार हमे ये दिव्य मन्त्र प्राप्त हो जाते। किन्तु दूसरों द्वारा वमन की हुई वस्तु का खाना धर्म शास्त्र में निषेध है। मनुष्य

शरीर से तो वे उन्हें ग्रहण कर नहीं सकते थे। अतः गुरु का संकेत पाकर वे योगबल से तित्तिर–तीतर–बन गये और सब मन्त्र उन्होंने चुग लिये। मन्त्र तो वे दिव्य ही थे। परम्परागत प्राप्त थे, किन्तु वे तपस्या द्वारा प्राप्त नहीं किये गये। लालचवश बिना श्रम के प्राप्त हुए। इसीलिये बुद्धि की मलिनता से वे कृष्ण हो गये। अतः कृष्ण यजुर्वेद की वह शाखा तैत्तिरीय शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

याज्ञवल्क्य मुनि ने निश्चय कर लिया, अब मैं मनुष्य को गुरु नहीं बनाऊँगा, भगवान् सूर्य की आराधना करके ऐसे मन्त्र प्राप्त करूँगा, जो मेरे गुरु के भी पास न हों। उन्होंने घोर तपस्या द्वारा सूर्य को प्रसन्न किया। सूर्यदेव ने अश्वरूप से उन्हें मन्त्रों का उपदेश दिया जो शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा है, उसके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यक है। उस तैत्तिरीय आरण्यक के दश अध्याय हैं। उस आरण्यक के जो सातवें, आठवें और नवें अध्याय हैं, वे ही तैत्तिरीय उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः अब उसी तैत्तिरीय उपनिषद् का आरम्भ किया जाता है। उपनिषदों के आदि अन्त में शान्ति पाठ करने की प्राचीन प्रथा है। इस उपनिषद् में वे ही मन्त्र तो शान्ति पाठ में हैं और वे ही पहिली शिक्षा वल्ली के प्रथम अनुवाक में हैं। अतः इसे शान्ति पाठ और प्रथम अनुवाक दोनों ही समझना चाहिये।

पहिले परब्रह्म परमात्मा का वाचक जो ओंकार है, उसी का आदि में उच्चारण करके सर्वरूप परब्रह्म परमात्मा की सूत्रात्मा वायु के रूप में प्रधानता से प्रार्थना की गयी है। भिन्न भिन्न नाम, भिन्न भिन्न रूप उन्हीं के हैं। वे अवयवी हैं और ये सब देवगण अवयव हैं। अतः—

मित्र देव हमारे लिये कल्याणकारक हों।
वरुणदेव हमारे लिये कल्याणकारक हो।
अर्यमा पितर हमारे लिये कल्याणकारक हों।
इन्द्र देवराज हमारे लिये कल्याणकारक हो।
बृहस्पति देवगुरु हमारे लिये कल्याणकारक हो।
उरुक्रम वामन विष्णु हमारे लिये कल्याणकारक हो।

परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है।
हे वायुदेव ! आपके लिये नमस्कार है।

हे वायु देव ! आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म स्वरूप हैं।
इसलिये हे वायुदेव ! मैं तो आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा।
हे वायुदेव। मै तो आपको ही प्रत्यक्ष ऋत कहूँगा।
हे वायुदेव ! मै तो आप ही को प्रत्यक्ष सत्य कहूँगा।

इसलिये आप मेरी रक्षा करो। मेरे जो आचार्य वक्ता गुरुदेव हैं, उनकी भी रक्षा करो देखिये मेरी रक्षा करना, भला-भूलियेगा नहीं फिर याद दिलाता हूँ, मेरे वक्ता गुरु की भी रक्षा करना।

आधिभौतिक विघ्नो की शान्ति हो।
आधिदैविक विघ्नो की शान्ति हो।
आध्यात्मिक विघ्नों की शान्ति हो।

इस प्रकार यह शान्ति पाठ भी हुआ और तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षा-वल्ली का प्रथम अनुवाक भी समाप्त हुआ।

दोहा

मित्र देव कल्याण मम, कीजे मित्र समान।
जो अपान अरु रात्रिपति, वरुण रखे मम ध्यान॥
चक्षु सूर्य मडप अधिप, करें अर्यमा शान्ति।
बल वायू के अधिप जो, इन्द्र मेटि मम भ्रान्ति॥

वाक् बुद्धि के अधिप हो, देव बृहस्पति आप।
करें सदा कल्याण मम, मेटें दुख सन्ताप॥
वायुदेव ! सर्वज्ञ तुम, पुनि-पुनि करूँ प्रनाम।
ब्रह्मदेव प्रत्यक्ष तुम, कहूँ ब्रह्म तव नाम॥
तुम्हें सत्य अरु ऋत कहूँ, रक्षा करि मम नित्य।
वक्ता की रक्षा करो, आपु देव हैं सत्य॥
मेरी अरु आचार्य की, रक्षा कीजे देव।
त्रिविध ताप की शान्ति हो, पाईं ब्रह्म को भेव॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पाँच महासंहिताओं का वर्णन

[५७]

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सँहितायाउपनिषद् व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासँहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम् ॥*

(त० उ० शि० व० ३ अ०)

छप्पय

वर्ण, साम, सन्तान बल हु मात्रा बिनु शुद्धी।
वेद पाठ जे करें पाइँ फल नहीं कुबुद्धी॥
महासंहिता पाच कहीं अधिलोक अधिप्रज।
अधिज्यौतिष अधिविद्य और अध्यात्म सुनहु द्विज॥
पूर्वरूप पृथिवी कही, उत्तररूप हु स्वरग है।
सधि अकाश बतावते, वायु कही सन्धान है॥

---

* साथ साथ हम दोनो का यश बढे। साथ ही ब्रह्मवचस बढे। तदनतर सहिता के उपनिषद् का वर्णन करेंगे। वह पाँच अधिकरण स्थानों म है। उनके नाम अधिलोक अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म हैं। इन सबको महासहिता इस नाम से पुकारते हैं। पहिली अधिलोक सहिता है। इसका पृथिवी पूर्वरूप है। स्वर्ग उत्तररूप है, आकाश सन्धि है, वायु सधान है, यही अधिलोक सहिता है।

वैयाकरणों का सिद्धान्त है एक भी शब्द यदि भली-भाँति प्रयुक्त किया जाय, तो वह स्वर्गलोक मे तथा इस लोक में समस्त कामनाओं को देने वाला होता है (एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यक्-ज्ञातः स्वर्गेलोके च कामधुक् भवति) इसके विपरीत एक भी दुष्ट शब्द स्वर से या वर्ण से मिथ्या प्रयोग किया जाय, तो उस शब्द के यथार्थ अर्थ का अवबोधन नहीं करायेगा। वह वाक् वज्र होकर यजमान को ही मार डालेगा। जैसे इन्द्र शत्रु कहने से केवल त्वष्टा मुनि से एक स्वर का अपराध हो गया था, उसी के कारण वे पैदा तो ऐसा पुत्र करना चाहते थे, जो इन्द्र को मार डाले किन्तु उदात्त होने से पैदा ऐसा हो गया जिसे इन्द्र ने ही मार डाला। (दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽ-पराधात्) इसलिये लौकिक शब्दों मे कुछ त्रुटि रह भी जाय, किन्तु वैदिक शब्दों का उच्चारण बड़ी ही शुद्धता के साथ करना चाहिये। किस वर्ण को कैसे उच्चारण किया जाय इस विषय के शास्त्र को शिक्षा कहते हैं। सर्वप्रथम इसी बात की शिक्षा दी जाती है, कि वर्णों का उच्चारण कैसे किया जाय। इसमें ६ नियम हैं, वर्ण और स्वर का विचार, मात्रा और बल का विचार, साम और सन्तान का विचार। उच्चारण के समय ६ बातों पर ध्यान देना चाहिये, सबसे पहिले वर्णों की ही शुद्धि पर विचार करें जैसे सकृत् शब्द है इसे शकृत उच्चारण करो तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। सकृत् कहते हैं थोड़े को और शकृत् कहते हैं विष्ठा को। इसी प्रकार-स्वजन कहते हैं अपने आदमी को। श्वजन कहते हैं, कुत्ता के पुरुष को अर्थात् कुत्ता को। इस प्रकार तनिक से उच्चारण भेद से ही दूसरा अर्थ हो जाता है।

वर्ण दो प्रकार के होते हैं। क से लेकर ह तक तो व्यजन वर्ण

हैं और अ से लेकर अ तक स्वर वर्ण हैं। दोनों का ही उच्चारण शुद्ध होना चाहिये। तनिक भी व्यत्यय होने से अर्थ में गड़बड़ी हो जायगा। यह तो वर्ण शुद्धि की बात हुई।

दूसरी बात स्वर का है। स्वर तीन प्रकार के होते हैं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। एक ही शब्द को उदात्त स्वर में उच्चारण करो उसका दूसरा अर्थ हो जायगा, उसी को अनुदात्त में करो तो अन्य अर्थ का द्योतक होगा, स्वरित में करने से और ही। इसलिये ध्यान रखो कि उच्च, मध्य और निम्न स्वर में किसका उच्चारण करो। स्वर भेद उच्चारण में भारी दोष है।

वर्ण और स्वरों के अनन्तर मात्राओं की शुद्धाशुद्धि पर ध्यान देना चाहिये। मात्रा तीन प्रकार की होती हैं ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। जहाँ ह्रस्व मात्रा है वहाँ आपने दीर्घ उच्चारण कर दिया तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। इसलिये जहाँ ह्रस्व मात्रा हो वहाँ ह्रस्व का उच्चारण करो, जहाँ दीर्घ हो वहाँ दीर्घ का और जहाँ दूर से पुकारना हो वहाँ प्लुत का उच्चारण करो यही मात्राओं की शुद्धि का प्रकार है।

वर्ण, स्वर और मात्राओं के अनन्तर बल की शुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिये। किस शब्द पर किस वाक्य पर विशेष बल दिया जाना चाहिये यह बहुत सूक्ष्म भेद है। वर्णों के उच्चारण में उनकी ध्वनि को व्यक्त करने में जो प्रयास है, किस वर्ण पर कितना बल देना चाहिये यही बल कहलाता है। व्याकरण वाले इसी बल को प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के होते हैं। इसमें भी आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है और बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का। आभ्यन्तर प्रयत्न के भेदों के नाम १ स्पृष्ट, २. ईषत् स्पृष्ट, ३. विवृत, ४. ईषद् विवृत और ५. संवृत। इसी प्रकार बाह्य

प्रयत्न के भेदों के नाम ये हैं—१. विवार, २. संवार, ३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त, १०. अनुदात्त और ११. स्वरित।

इस प्रकार वर्ण, स्वर, मात्रा और बल (या प्रयत्न) को बता कर अब साम के सम्बन्ध में बताते हैं, कैसे वर्णों का समवृत्ति से उच्चारण करना चाहिये इसकी रीति सामगान करने वाले विद्वान् जानते हैं। उसी विधि से साम स्वर में गाना चाहिये।

अब वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और साम के अनन्तर सन्तान के सम्बन्ध में बताते हैं–संतान का अर्थ है संहिता। व्याकरण में इसे सन्धि कहते हैं। यह सन्धि पाँच प्रकार की होती है। १. स्वर सन्धि, २. व्यंजन सन्धि, ३. स्वादि संधि, ४. विसर्ग सन्धि और ५. अनुस्वार सन्धि।

१—स्वर सन्धि – जिसे अच् सन्धि भी कहते हैं, इसमें एक स्वर वर्ण सामने वाले वर्ण में संधित हो जाता है, मिल जाता है। जैसे—सुधी + उपास्य=सुद्ध्युपास्य। मधु+अरि=मद्ध्वरि। धातृ+अंश=धात्रंश। लृ+आकृति=लाकृति, आदि २।

२—व्यंजन सन्धि—जिसे हल् सन्धि भी कहते हैं–एक व्यंजन वर्ण सामने वाले वर्ण में मिलकर उसका दूसरा ही रूप हो जाता है। जैसे हरिः+शेते=हरिश्शेते। रामः+चिनोति=रामश्चिनोति, सत्+चित्=सच्चित्, आदि आदि।

३—विसर्ग सन्धि—इसमें विसर्ग के स्थान में कहीं सकार हो जाता है, कहीं ओकार हो जाता है, कहीं विसर्गों का लोप हो जाता है और कहीं विसर्ग के विसर्ग ही बने रहते हैं। जैसे दुः+सह=दुस्सह। कः+भवान=को भवान। हरिः+शेते=हरिश्शेते, हरिःशेते, आदि आदि।

४—स्वादि संन्धि—इसमें पद के अंत में जो सु है उसकी

सन्धि की जाती है। इसी प्रकार ५-अनुस्वार कहाँ ऊपर चढ़ जाता है, कहाँ म् रह जाता है इस प्रकार की सन्धियाँ होती हैं।

इस पर वर्णों का जो मिलान है उसी का नाम संहिता या सन्धि है। वही संहिता-दृष्टि जब लोक में व्यवहृत होती है-व्यापक रूप धारण करके लोक को अपना विषय बनाती है उसी का नाम महासंहिता है। व्याकरण मे सन्धि पाँच प्रकार की होती है। स्वर, व्यञ्जन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वार, इसीलिये व्याकरण मे पञ्चसंधि प्रसिद्ध हैं। ये ही पाँच सन्धि के आश्रय हैं। लोक मे जो पंच महासंधि या महासंहिता हैं उनके भी पाँच आश्रय हैं। उनके नाम :—१. लोक, २. ज्योति, ३. विद्या, ४. प्रजा और ५. आत्मा (शरीर)। व्याकरण की सन्धि मे चार भाग होते हैं—१. एक तो पूर्व वर्ण शब्द, २. दूसरा पर वर्ण शब्द, ३. तीसरा दोनों के मिलने पर बना रूप तथा-चौथा दोनों किस नियम से मिलते हैं इसका संयोजक नियम। इसी प्रकार लोक मे भी १. पूर्वरूप, २. उत्तररूप, ३. सन्धि और ४. सन्धान हैं। इतना समझ लेने पर जो १. अधिलोक, २. अधिज्यौतिष, ३. अधिविद्या, ४. अधि प्रजा और ५. अध्यात्म्य इसके समझने मे सुविधा होगी।

शौनकजी ने कहा—"हाँ तो सूतजी! तैत्तिरीय उपनिषद् के सम्बन्ध मे सुना, शांति पाठ भी सुना, प्रथम अनुवाक में भी वही बात है। अब द्वितीय अनुवाक मे क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! द्वितीय अनुवाक मे शिक्षा है, जिसे ऋषि ने शीक्षा कहा है। उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान इनकी शुद्धि पर बल दिया है अर्थात् स्वर और व्यजन दोनो वर्णों का यथावत् शुद्ध उच्चारण हो, जैसा जहाँ स्वर उपयुक्त हो उस शुद्ध स्वर में

बोला जाय, किस वर्ण पर कितना बल दिया जाय उसका ज्ञान करके वर्ण का उच्चारण हो, साम के नियमों के अनुसार उच्चारण हो, सन्तान अर्थात् सन्धि के ज्ञानपूर्वक उच्चारण हो। यही द्वितीय अनुवाक में उच्चारण की शिक्षा का संक्षिप्त विवरण है।"

शौनकजी ने पूछा—"तृतीय अनुवाक में क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"तृतीय अनुवाक में-श्रोता-वक्ताओं के यश और ब्रह्मतेज बढ़ाने की कामना की गयी है और अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्या, अधिप्रजा और अध्यात्म शरीर के विषय में इन पाँच अधिकरणों, संहिता के वर्णन की प्रतिज्ञा करके इसे महासंहिता नाम दिया गया है। इसमें सर्वप्रथम अधिलोक का वर्णन है।"

शौनकजी ने पूछा—"अधिलोक का वर्णन कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"प्रत्येक संहिता में चार बातें होती हैं, १. पूर्वरूप, २. उत्तररूप, ३. सधि और चौथा—सधान है। जैसे हरि+अश्व शब्द है। इसमें रकार में जो इकार है यह तो पूर्वरूप है, अश्व वाला अकार उत्तररूप है। इकार को यकार हो गया यह सधि है अब इन दोनों का सयोजन करने वाला जो सयोजक नियम है जिससे हयश्व सिद्ध हुआ है वही संधान है। इसी प्रकार इन पाँचों संहिताओं में यही बात लोक में समझ लेनी चाहिये। व्याकरण में तो शब्दों में सन्धि होती है। यहाँ लोक में इन सब पदार्थों से सन्धि होकर जगत् कार्य सम्बन्ध होता है। तृतीय अनुवाक में लोक सम्बन्धी उपासना कैसे करनी चाहिये इसी का वर्णन है। सम्पूर्ण लोकों के अभिमानी देवताओं की जो उपासना है—उनका कैसे ध्यान करना चाहिये—उसका जो वर्णन है—उस उपासना का नाम अधिलोक उपासना है। यह अधिलोक उपासना महासंहिता का प्रथम अवयव है।"

शौनकजी ने पूछा—"लोक में कौन पूर्वरूप है, कौन उत्तर-रूप, सन्धि तथा सधान है ?"

सूतजी ने कहा—"अधिलोक मे पृथ्वी तो पूर्वरूप है। ऊपर के स्वर्गादि लोक उत्तररूप हैं। इन दोनों की सन्धि आकाश है और वायु इनका सन्धान है अर्थात् सयोजक है। जिससे यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सिद्ध होता है। इसी रूप मे इस अधिलोक की उपासना करनी चाहिये। ध्यान धरना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"महासंहिता का द्वितीय अवयव कौन सा है ?"

सूतजी ने कहा—"दूसरी संहिता है अधिज्यौतिष।"

शौनकजी ने पूछा—"अधिज्योतिष का भाव क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"सूर्य, चन्द्र आदि जो ज्योतिमण्डल हैं, उनके अभिमानी देवताओं की उपासना कैसे करनी चाहिये इनके पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि और सन्धान का परिचय करना यही अधिज्यौतिष संहिता है।"

शौनकजी कहा—"तो हाँ बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ज्योति सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल और विद्युत में रहती है। दिन में सूर्य प्रकाश करते हैं, रात्रि मे वे अपने तेज को जल मे छोड़ जाते हैं। इसलिये कैसा भी अन्धकार हो जल के सहारे-सहारे चले जाओ तो तुम्हे प्रकाश प्राप्त होगा। दिन में भी अग्नि चन्द्र में विद्युत में प्रकाश होता है, किन्तु वह सूर्य के कारण फीका रहता है। रात्रि मे चन्द्र, अग्नि, विद्युत तथा जल में विशेष प्रकाश रहता है। विद्युत-बिजली-प्रकाश का कारण है। अतः अग्नि तो पृथ्वी पर परम सुलभ है, सर्व-व्यापक है, जहाँ चाहो उसे युक्ति से प्रकट कर लो। अतः इस दूसरी ज्योतिष संहिता का अग्नि पूर्वरूप है, सूर्य उत्तररूप है।

जल-मेघ-इन दोनों की सन्धि है और विद्युत-बिजली-इन सबका सन्धान (जोड़ने का हेतु) है। सूर्य और अग्नि अपना तेज जल को देते हैं। तेज से-अग्नि से-ही जल की उत्पत्ति है। इसलिये जल अपने पिता-अग्नि-के तेज का उत्तराधिकारी है और जल से ही विद्युत की उत्पत्ति होती है। अतः विद्युत को सूर्य, अग्नि तथा जल तीनों की सामर्थ्य प्राप्त है। विद्युत से सभी प्रकार के भौतिक विकास सम्भव हैं।"

शौनकजी ने कहा - "सूतजी ! आपने अधिलोक, अधिज्यौतिष संहिताओं का तो वर्णन कर दिया-अब तीसरी अधिविद्या संहिता का वर्णन और कीजिये।"

सूतजी ने कहा -भगवन ! विद्या, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा से आती है। आचार्य जब प्रवचन करता है, उसी को अन्तेवासी-विद्यार्थी हृदयंगम करता है। अतः अधि विद्या का पूर्वरूप तो आचार्य है, उत्तररूप अन्तेवासी-समीप में रहकर अध्ययन करने वाला शिष्य विद्यार्थी है। दोनों की सन्धि कराने वाली सन्धि विद्या है और उस सन्धि का हेतु-मुख्य कारण-सन्धान है, प्रवचन। यही विद्या विषयिणी तीसरी संहिता है।"

शौनकजी ने कहा—सूतजी ! आपने पहिली संहिता अधिलोक बतायी, दूसरी अधिज्यौतिष, तीसरी अधिविद्या अब आप चौथी संहिता अधिप्रजा का वर्णन और कीजिये।

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्रजा कहते हैं सन्तान को। सन्तान होती है माता-पिता के संयोग द्वारा, अतः माता इसका पूर्वरूप है, पिता उत्तररूप है, दोनों की सन्धि से उत्पन्न प्रजा सन्धि है और संयोगरूप प्रजनन क्रिया-सन्तानोत्पत्ति का हेतु कर्म-सन्धान है। यही चौथी अधिप्रजा संहिता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने अधिलोक अधिज्यौष,

अधिविद्या और अधि प्रजायें चार संहिता ये तो बता दी। अब पाँचमी अध्यात्म संहिता के सम्बन्ध में और बताइये।"

सूतजी बोले—"भगवन्! आत्मा शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। आत्मा शरीर को भी कहते हैं और इसका व्यवहार इन्द्रिय, अन्तःकरण, जीव तथा परमात्मा के लिये भी होता है। यहाँ आत्मा शब्द से शरीर का ही अभिप्राय है। शरीर में मुख्य अंग मुख ही है। मुख न हो समस्त शरीर व्यर्थ है शरीर का मुख्य भाग्य होने से ही यह मुख कहलाता है। मुख में प्रधानतया ऊपर नीचे का जबड़ा वाणी और जिह्वा ये ही मुख्य उपाङ्ग हैं। अतः अध्यात्म संहिता में नीचे का ओष्ठ जबड़ा यह तो पूर्वरूप है, ऊपर का जबड़ा उत्तररूप है। दोनों के मिलने पर सिद्ध होने वाली वाणी ही सन्धि है और इन दोनों के मिलने से उत्पन्न होने वाली वाणी का हेतु-कारण-जिह्वा ही संधान है। यही अध्यात्म संहिता है। ये पाँचों संहिता मिलकर ही महासंहिता कहलाती हैं। ये ही जगत् का कारण हैं। इसी रूप में इनकी उपासना करनी चाहिये, ध्यान करना चाहिये। जो मनुष्य पीछे बतायी हुई रीति से इन महासंहिताओं को जान लेता है उसे इस लोक में किसी वस्तु की कमी नहीं रहती उसे सन्तानों की प्राप्ति होती हैं, सुन्दर सुन्दर पशुओं की प्राप्ति होती है, ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है तथा अन्न वस्त्रादि भोग्य सामग्रियों की प्राप्ति होती है तथा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। यह मैंने आपसे पंचसंहिताओं महासंहिताओं का वर्णन किया। अब आप आगे क्या आज्ञा देते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अब हमें पुनः आप प्रणव द्वारा प्रभु की प्रार्थना करने का प्रकार बताने की कृपा करें।"

सूतजी ने कहा—भगवन्! तैत्तिरीयउपनिषद् के चतुर्थ

अनुवाक मे इसी का वर्णन है, इस प्रकरण को मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

अधिज्यौतिष को अग्नि पूर्वरूपहु रवि उत्तर।
नीर संधि संधान कही बिजुरी अति सुन्दर॥
अधिविद्या को पूर्वरूप आचारज जानो।
उत्तररूप सुछात्र सन्धि विद्या पहिचानो॥
सधानहु प्रवचन कह्यो, अधिप्रज सुनि जो वेद मुख।
मातु पूर्व उत्तर पिता, सन्धि प्रजा सधान सुख॥

अब मुनिवर! अध्यात्म संहिता सुखद सुनाऊँ।
आत्मा तनु के अर्थ आत्म अधि भेद बताऊँ॥
तन में मुख ही मुख्य अधर हनु पूर्वरूप मुनि।
उत्तर हनु ही अपर, सन्धि वच जिह्वा कारन॥
महासंहिता पाँच जे, जाने सो सब पाइगो।
ब्रह्मतेज, पशु, अन्न, धन, अन्त स्वरगमहँ जाइगो॥

प्रणव प्रार्थना और हवन विधि

[५८]

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्।
शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा।
कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः।
श्रुतं मे गोपाय ॥❀

(तै० उ० ४ अनु०)

छप्पय

प्रणवरूप हे इन्द्र ! वेद में ऋषभ बताये।
विश्वरूप हो अमृत वेद में प्रथम कहाये॥
मम मेधायत करो अमृतमय प्रभु कूँ धारूँ।
देह फूर्तियत होइ जीभ वच सरस उचारूँ॥
दोऊ काननि तैं अधिक, श्रवन करूँ भगवत चरित।
प्रभुनिधि धी लौकिक ढकी, मम श्रुत रक्षो करहु हित॥

❀ जो छन्दो (वेदो) मे सर्वोत्तम हैं, विश्वरूप तथा अमृत रूप हैं। जो वेदो मे प्रधानता से प्रकट हुए हैं। वे प्रणवरूप इन्द्र मुझे मेधा युक्त बना दें। हे देव ! मैं अमृत धारण करूँ, मेरी वाणी अत्यन्त मधुमती—मीठा बोलने वाली हो। दोनो कानो से (भगवत् कथा) अधिक सुनूँ। मुझे ब्रह्म के कोश रूप ढकी हुई मेधा को स्पष्ट करके प्रदान करें मैं जो भी सुनूँ उसे धारण करने की शक्ति प्रदान करें। श्रुतज्ञान की रक्षा करें।

प्राचीन काल मे आस्तिक पुरुष, भगवान के अनेक रूपों पर आस्था रखते थे। वे प्रत्येक कार्य के लिये प्रभु से ही प्रार्थना करत थ, वह कार्य चाहे इहलौकिक हो, अथवा पारलौकिक हो। उनका एकमात्र आश्रय भगवत् प्रार्थना ही हुआ करती थी। ससार बन्धन से कैसे छूटें यही एक मुख्य विषय था। विद्या उसी को कहते थे जो हमे मुक्ति का मार्ग दिखा सके। अपवर्ग का पथ बता सके।

प्राचीनकाल मे साक्षरता को विद्या नहीं कहते थे। जैसे चित्र बनाना, भवन बनाना, मूर्ति बनाना, कलायें हैं, वैसे ही पुस्तकों को लिखना, बाँचना एक कला मानी जाती थी। प्राचीनकाल मे लोग बहुत ही कम लिखते पढते थे। पत्रादि भेजने का प्रचलन नहीं था सब बातें दूतों द्वारा सम्वाद के रूप में भेजी जाती थीं। पुस्तकें पढने का भी प्रचलन नहीं था। लोग विद्वान् ब्राह्मणों से राय, भाट, सूत, मागधों तथा इतिहास सुनाने वालों से सुना करत थे। उन दिनों श्रवण ही मुख्य माना जाता था।

सबको अक्षर ज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं था। सब पढ़ने जायँ यह भी अनिवार्य नहीं था। वेतन भोगी अध्यापक या तो होते ही नहीं थे, जो होते भी थे, वे हेय दृष्टि से देखे जाते थे। अक्षर ज्ञान को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। विद्या परम्परागत थी और वह एक दूसरे से श्रवण करके-सुनकर-ही धारण की जाती थी। उन दिनो सदाचार शुचिता यम, नियमादि पालन पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। ज्ञाननिष्ठ श्रोत्रिय आचार्य अपने स्थान पर ही छात्रों को विद्यादान देते थे। आचार्य के ज्ञान की, सदाचार तथा तप स्वाध्याय की ख्याति सुनकर दूर-दूर से छात्रगण उनके समीप विद्याध्ययन के लिये आते थे। आचार्य उनसे किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेते थे। घर से

भोजन मँगाने को भी नहीं कहते थे। ऐसा सभव ही नहीं था। सभी द्विजों के-विशेषकर ब्राह्मणों के प्रज्ञावान् छात्र गुरुकुलों में पढने जाते थे। उनके आस-पास अग्निहोत्री द्विजगण रहते थे। उनके लिये यज्ञ की ही भाँति अतिथि पूजन, नृयज्ञ आवश्यक होता था। जब तक भिक्षोपजीवी-जिनकी आजीविका एक मात्र भिक्षा ही है, उनको भिक्षा नहीं दे लेते तब तक वे स्वय भोजन ही नहीं करते थे। ब्रह्मचारी और सन्यासी ये दो भिक्षोपजीवी हैं। यद्यपि वानप्रस्थी भी भिक्षोपजीवी ही है, किन्तु वह गृहस्थियों से भिक्षा न माँगकर वन के वृक्षों से ही भिक्षा माँगता था। ग्राम में नगर में-वह भिक्षा के हेतु प्रायः नहीं आता था। गृहस्थी लोग ब्रह्मचारियों को भिक्षा बडे आदर, सत्कार और प्यार से देते थे। शास्त्रों म विद्याध्ययन करने वाल ब्रह्मचारियों को भिक्षा देने की बडा प्रशसा है, उसका अनन्त माहात्म्य है। जिसकी भिक्षा ब्रह्मचारी के उदर मे जाकर जीर्ण हो, उसी भिक्षा के सहारे जो विद्यार्थी अध्ययन करे। ऐसे भिक्षादाता को अनन्त पुण्य होता है। वह अपने १० पीछे के और १० आगे के कुलों का उद्धारक माना जाता था।

एक तो महान् पुण्य के लोभ से सद्गृहस्थ ब्रह्मचारियों को भिक्षा देते थे, दूसरे उनके भी बच्चे तो गुरुकुलों में गये हुए होते थे। वे भी किसी के द्वार पर भिक्षा माँग रहे होंगे। यदि उन्हे कोई भिक्षा न दे तो माता-पिता को कितना कष्ट होगा, अतः माता पिता घर पर आये हुए ब्रह्मचारियों को अपने पुत्र के ही समान मानते थे, ब्रह्मचारियों को देखते ही उन्हे अपने पुत्रों की स्मृति आ जाती। प्रत्येक घर से एक एक, दो दो रोटी ब्रह्मचारी को देना किसी को अखरता नहीं था। फिर बडे-बडे आचार्यों के दर्शनों को धनी मानी, सेठ साहूकार, राजा मह-

राजा आते ही रहते थे। वे आचार्य को भेंट चढ़ाते। वह भी सब विद्यार्थियों के ही काम आती। गुरुमातायें अपने यहाँ जितने भी ब्रह्मचारी रहते सबको पुत्रवत् मानती थीं। उनके सगे पुत्र ब्रह्मचारियों के साथ ही रहते, पढ़ते और भिक्षा माँगने जाते। गुरु और गुरुआनी अपने सगे बच्चों मे और अन्य ब्रह्मचारियों में भेद भाव नहीं करते, जो वस्तु आती सब मे समान भाव से बाँट दी जाती। एक-एक आचार्य के पास दश-दश सहस्र छात्र रहते। उन सबके भरण पोषण का उत्तरदायित्व आचार्य पर ही रहता। चाहे राजपुत्र हो या निर्धन पुत्र सब समान भाव से गुरुकुल में रहते। जिसके यहाँ कम से कम दश सहस्र छात्र न हों, वह कुलपति कहलाता ही नहीं था। जिसके पास जितने ही अधिक ब्रह्मचारी हों, वह उतना ही श्रेष्ठ आचार्य माना जाता था। इसलिये आचार्यगण अपने यहाँ अधिक से अधिक ब्रह्मचारी आवें, इसके लिये प्रयत्न किया करते थे। वे उसके लिये विज्ञापन करते हों, या कोई आन्दोलन चालू करते हो, सो बात नहीं, उसके लिये वे प्रभु से प्रार्थना करते। अग्नि स्वरूप ब्रह्म से प्रार्थना करते हुए इस निमित्त अग्नि मे हवन करते। उन दिनों आस्तिक पुरुष सब कामनायें भगवान् से ही प्रार्थनापूर्वक करते थे। शरीर स्वस्थ रखने को, बुद्धि, स्मृति, मेधा, धारणादि बढ़ाने को, ऐश्वर्य के लिये, लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति के लिये अग्नि मे हवन करते, प्रभु से प्रार्थना करते, यही प्राचीन वैदिक ऋषियों का सदाचार था।

सूतजी कहने लगे—"द्विजवर! आपने प्रणव की उपासना के सम्बन्ध में पूछा था। सो प्रणव रूप परमेश्वर से यही प्रार्थना करे। परमेश्वर और प्रणव में वही सम्बन्ध है जो खड्ग में और कोश (म्यान) में है। तलवार म्यान के भीतर रहती है तलवार दिखायी नहीं देती, म्यान ही दिखायी देती है। अतः म्यान को

अपनाने से तलवार अपने आप अपनी हो जायेगी। इसीलिये प्रणव से प्रार्थना करनी चाहिये—"हे विश्वरूप प्रणव ! आप वेदों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अर्थात् वेदों के जनक हैं। वेदों में से प्रणव को निकाल दो तो उनमें प्राण नहीं रहेगा। आप वेदों के प्राणस्वरूप हैं। आप विश्वरूप हैं, अमृत स्वरूप हैं, वेदों में प्रधान रूप से आप ही गाये गये हैं। आप इन्द्र हैं अर्थात् सबके स्वामी हैं। मुझे मेधा से सम्पन्न करा दो। हे देव ! जो परमात्मा अमृतमय हैं उन्हें मैं धारण कर सकूँ ऐसी शक्ति मुझे प्रदान करें। मेरी बुद्धि को, मेधा को, धारणा को विशुद्ध बना दें।"

बुद्धि के साथ ही साथ मुझे शारीरिक स्वास्थ्य भी प्रदान करें। मेरे शरीर में आलस्य न आने पावे। आलस्य ही शरीर-धारियों का परम शत्रु है। अतः मेरे शरीर में सदा विशेष स्फूर्ति बनी रहे। मेरी जिह्वा कभी कड़वे वचन असत्य वचन, कठोर वचन न बोले। मेरी वाणी मधु से भी अधिक मीठी-मधुमयी-सुमधुरभाषिणी हो। मेरे दोनों कान बहरे न हों, अन्त तक भली-भाँति सुनते रहें। भगवत् चरित्रों को ही सुनने वाले हों। हे प्रणव देव ! तुम लौकिक बुद्धि से ढके हुए ब्रह्म के कोश (म्यान) समान हो। मैंने गुरु द्वारा अब तक जो ज्ञान सुना है, जो उपदेश श्रवण किये हैं, उन उपदेशों की रक्षा करो। अर्थात् वे उपदेश मुझे भूलें नहीं।

इस प्रकार श्रेयस्कामी साधक ब्रह्मवाचक प्रणव की प्रार्थना करे। उससे बुद्धि की विशुद्धता के निमित्त विनम्र बनकर विनती करे।

शौनकजी ने पूछा—"जिन्हें ऐश्वर्य की कामना हो, वे भगवान की विनय कैसे करें ?"

सूतजी ने कहा—"विष्णु तो अनेक रूप रूपाय हैं। ऐश्वर्य

की अधिष्ठातृ देवी तो उनकी अर्धाङ्गिनी श्री देवी–लक्ष्मी देवी है। वे बिल्व के वृक्ष में रहती हैं, गौ के सूखे गोबर करीष में वास करती हैं। ऐश्वर्य की कामना वाले को बिल्व की समिधाओं से, बिल्व के फल और घृत के साथ श्री देवी के नाम से (आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणा चीरमात्मनः। वासांसि मम गावश्च। अन्न-पाने च सर्वदा। नतो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा इस मन्त्र से) आहुति दे। और प्रर्थना करे—"हे लक्ष्मी देवीजी! आप समस्त ऐश्वर्य की स्वामिनी हैं, मेरे लिये शीघ्र ही पहिनने को वस्त्र, दूध पीने को दुधारी गौ तथा भोजन को सुन्दर अन्न-पान सर्वदा प्रदान करती रहो। आप सब कुछ देने वाली हैं। उनका विस्तार करने वाली हैं,थोड़े को बढ़ा देने वाली हैं,जो नहीं हैं उनका निर्माण करने वाली हैं। सूती वस्त्र दो और ऊनी वस्त्रों के लिये रोएँ वाले पशु भेड़ बकरी भी दे देना। आप के भन्डार में सब कुछ पड़ा है,उस सर्ववस्तुयुक्त भंडारे के साथ मैं आपका आवाहन करता हूँ। आप समस्त श्री को मेरे निमित्त प्राप्त कराओ। इसी कामना से यह आहुति आपके निमित्त प्रदान करता हूँ।" इस प्रकार ऐश्वर्य की कामना वाला–सकामी पुरुष–श्री देवी के निमित्त हवन करे उनसे अखंड ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करे।"

शौनकजी ने पूछा—"यह तो आपने ऐश्वर्य की कामना वालों के निमित्त हवन और प्रार्थना का प्रकार बताया। अब ज्ञानदाता आचार्य कैसे हवन और प्रार्थना करे?"

सूतजी बोले—"भगवन्! आचार्यों की एकमात्र कामना यही होती है, कि मेरे पास मेधावी, उत्तम धारणा वाले, प्रज्ञावान विद्यार्थी ब्रह्मचारी आवें, अतः वे इन मन्त्रों से—(आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु

ब्रह्मचारिणः स्वाहा) अग्नि मे हवन करें और प्रार्थना करे—"हे प्रभो ! मेरे पास बहुत स ब्रह्मचारी आवें। जो ब्रह्मचारी आवें व सबके सब कपट शून्य-निष्कपट हो। व सब ब्रह्मचारी प्रामाणिक ज्ञान को ग्रहण करने वाले हो। वे सबके सब इन्द्रियों का दमन करने वाले हो। वे ब्रह्मचारी मन को वश मे करने वाले—शम, दम गुणों से सम्पन्न हो।'

फिर अपने निमित्त इन मन्त्रों से (यशोजनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। त त्वाभग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्र शाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा) हवन करे। और प्रार्थना करे—"मैं आचार्यों मे यशस्वी होऊँ। जगत् मे जो महान् धनवान हैं, दान, धर्मादि के कारण जगत् मे उनका यश फैलता है, मेरा यश उनसे भी अधिक फैले। मैं जगत् मे सबसे बडा यशस्वी धनी होऊँ। हे भगवन् ! आप समस्त ऐश्वर्य, समस्त वीर्य, समस्त यश, समस्त श्री, समस्त ज्ञान और समस्त वैराग्य के निधान हो। ऐसे आपमे मैं प्रविष्ट हो जाऊँ। हे भगवन् ! मैं आपमें प्रविष्ट हो जाऊँ आप मुझमे प्रविष्ट हो जायें। हे भगवन् ! आपकी सहस्र शाखायें हैं, अनन्त शाखायें हैं, ऐसे सहस्र शाखा वाले आप मे गोता लगाकर-आप में निमग्न होकर—मे अपने को परम पावन-विशुद्ध-बना लूँ।

यह सब कब होगा, जब प्रज्ञावान् बहुत से ब्रह्मचारी ज्ञानार्जन के निमित्त मेरे समीप आवेंगे। इसलिये इन मन्त्रों से (यथाऽऽपः प्रवता यान्ति यथा मासा अहर्जरम्। एव मा ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व) हवन करे और प्रार्थना करे—'हे भगवन् ! जिस प्रकार पानी नीची भूमि से समुद्र मे जाता है। जैसे महीना दिनों का अन्त करने वाले सम्वत्सर मे जाकर मिल जाते हैं, वसे ही हे विधाता !

मेरे पास भी चारों ओर से ब्रह्मचारीगण आवें, आप ही सबके एकमात्र विश्राम हैं। मेरे सम्मुख अपने को प्रकाशित करो। मुझे दर्शन दो। मुझे अपने में मिला लो। आप मुझे प्राप्त हो जाइये।"

इस प्रकार आचार्य हवन करके प्रभु से प्रार्थना करें।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! व्याहृतियों को प्रयुक्त करके आचार्यगण उपासना करना बताते हैं, उसका प्रकार क्या है? कृपा करके इसे हमें बताइये।"

सूतजी ने कहा—भगवन्! तैत्तिरीयउपनिषद् के पञ्चम अनुवाक में इसी विषय का वर्णन है, उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

हे लक्ष्मी! मम हेतु अन्न, पट, गो-धन लाओ।
लोमयुक्त अज भेड सुखद सामान दिवाओ॥
कहैं—अचारज आइँ ब्रह्मचारी मेरे ढिँग।
ज्ञान ग्रहन निष्कपट वशी मन शम दम धारक॥
जल बहि नीचे नीरनिधि, जावै सवत् मास जिमि।
हे धाता! मम प्राप्त हों, आइँ ब्रह्मचारी हु तिमि॥

इति तैत्तिरीयउपनिषद् का चतुर्थ अनुवाक

—०—

व्याहृतियों द्वारा उपासना का रहस्य

[५६]

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः । मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका । महीयन्ते ॥*

(तै० उ० ५ अनु०)

छप्पय

व्याहृति द्वारा ब्रह्म उपासन अब बतलावें ।
भू भुव सुव तैं श्रेष्ठ चतुर्थी मह जतलावें ॥
वही आतमा ब्रह्म देवता अङ्ग कहावें ।
पृथिवी भू भुव अन्त-रिक्ष स्वः स्वर्ग जतावें ॥
महः आदित्य हिताहि तैं, महिमान्वित सब लोक हैं ।
भू अग्नि भुव वायु है, सुव सूर्य मह चन्द्र हैं ॥

---

* भू, भुव और स्व ये प्रसिद्ध तीन व्याहृतियाँ हैं, उनमें चौथी जो मह है उसे महाचमस्य ऋषि ने सर्वप्रथम जाना था, यही चौथी व्याहृति ब्रह्म है । वह सबकी आत्मा है । अन्य देवता सभी उसके अंग हैं । भू यह पृथ्वी लोक है, भुव अन्तरिक्ष लोक है, स्व यह स्वर्गलोक है, मह यह आदित्य लोक है यही स्वर्गलोक है । यह जो है वह आदित्य है । आदित्य से समस्त लोक महिमान्वित हैं ।

सात नीचे के और सात ऊपर के ऐसे चौदह लोक हैं। नीचे क सात लोक भू विवर कहलाते हैं, अर्थात् पृथ्वी के छिद्र। इसलिय नीचे के सात लोकों की गणना पृथ्वी के ही अन्तर्गत की जाती है। इस प्रकार भू आदि सात लोक ही हैं। तीन प्रजावन्त पुनरावृत्ति लोक कहाते है, तीन अप्रजावन्त अपुनरावृत्ति लोक कहाते हैं। एक महर्लोक मध्यवर्ती लोक है जो प्रजावन्त अप्रजावन्त दोनों है और पुनरावृत्ति और अपुनरावृत्ति है।

बन्धन का कारण जन्म है,जन्म होता है मिथुन होने से। अतः मिथुन धर्मी जीव भू भुव और स्वर्ग इन्हीं तीनों लोको में आते जातेरहते थे। बार-बार जन्म लेते हैं, बार-बार मरते हैं। इसीलिये य भू लोक, भुव लोक और स्वर्ग लोक तीनों ही पुनरावृत्ति लोक कहाते हैं। जो मैथुनधर्मी हैं वे इन्हीं लोको मे विचरते रहते हैं। स्वर्ग कामना से पृथ्वी पर यज्ञ, दान, तपस्या करो, स्वर्ग की प्राप्ति होगी और पुण्य क्षीण होने पर पुनः पृथ्वी पर ही जन्म होगा। इनमें आने जाने वालों की कभी मुक्ति नहीं होती।

महर्लोक ऐसा लोक है, जहाँ जाकर ऊर्ध्वगति हो जाती है। यद्यपि इस लोक मे भी मिथुन धर्मी ही जाते हैं, किन्तु वे ऐसे तपःपूत महर्षिगण होते हैं, कि किसी कारण विशेष से उनका जन्म भले ही हो जाय, नहीं तो वे प्रायः मुक्ति मार्ग के ही गामी होते हैं, इसलिये कि वे जो दार ग्रहण करते हैं, भोग के निमित्त नहीं करते, वे ब्रह्माजी की भाँति प्रजापति माने जाते हैं। तप, स्वाध्याय, संयम की साक्षात प्रतिकृति होते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन में जो कल्प प्रलय होती है, उसमे भू, भुव और स्व ये तीन ही लोक नष्ट होते हैं, प्रलय की अग्नि तीनों लोकों को जला देती है, स्वर्ग को जलाते समय उसकी लपटें महर्लोक तक

पहुँच जाती हैं, उस समय महर्लोक निवासी महर्षिगण महर्लोक को छोड़कर जनलोक में चले जाते हैं। इसलिये कल्प प्रलय के समय महर्लोक जलता तो नहीं किन्तु वह खाली हो जाता है। जन, तप और सत्य ये अप्रजावन्त अपुनरावृत्ति लोक हैं। इनमें ब्रह्मदेव को छोड़कर प्रजावन्त पुरुष वास नहीं करते। जन लोक में तो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी गण ही रहते हैं जिन्होंने जीवन पर्यन्त कभी स्त्री का स्पर्श नहीं किया-दार ग्रहण नहीं किया। तपलोक में ऐसे तपस्वी वानप्रस्थी रहते हैं, जिनका समस्त जीवन ही तपमय है। ब्रह्मलोक में सर्वस्व त्यागी, विरागी, संन्यासी, ज्ञानी रहते हैं। इन तीनों लोकों में गये पुरुष प्रायः पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते क्योंकि ये तीनों अपुनरावृत्ति लोक हैं। प्रायः इसलिये कहा, कि बहुत महान् पुण्य कर्म करने वाले अपने अद्भुत अलौकिक पुण्य कर्मों से ब्रह्मलोक तक पहुँच जाते हैं, उन्हें पुण्य क्षीण होने पर पुनः जन्म लेना पड़ता है, किन्तु जिन्होंने केवल पुण्य कर्मों ही द्वारा नहीं-ज्ञान द्वारा, विवेक विचार वैराग्य द्वारा इन लोकों को प्राप्त किया है, और ज्ञान की कुछ न्यूनता रहने के कारण उन्हें जन, तप या सत्य लोक की प्राप्ति हुई है, उनकी न्यूनता को ब्रह्माजी मेंटकर महाप्रलय के समय उन्हें अपने में लीन करके मुक्त बना लेते हैं। अतः स्वर्गलोक तक की उपासना तो प्रसिद्ध ही थी। महर्लोक की उपासना का प्रचार महाचमस के पुत्र महाचमस्य मुनि ने किया। अतः यह ब्रह्मोपासना ही है। ब्रह्म प्राप्ति का द्वार ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह संसार त्रित पर है। तीन वेद, तीन लोक, तीन देव, तीन प्राण और तीन व्याहृतियाँ ये त्रिगुणात्मक हैं। इनका उपासक तीनों लोकों में ही विचरण करता है। जो तीन से चौथी व्याहृति महः में प्रवेश कर जाता

है वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है। यही व्याहृतियों की उपासना का प्रकार है।

शौनकजी ने कहा—"तीनों व्याहृतियों द्वारा उपासना का प्रकार स्पष्ट रूप से समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"देखिये महाराज! भू, भुव और स्व ये तीन व्याहृतियाँ हैं। स्व व्याहृति को उपनिषद् में सुवः कहा गया है। अतः स्व के स्थान में हम भी उसे सुव ही कहेंगे। हाँ तो भू भुवः स्वः ये तीन व्याहृतियाँ प्रसिद्ध ही है। इन तीनों की अपेक्षा जो सर्वश्रेष्ठ व्याहृति है वह मह इस नाम से प्रसिद्ध है इसे महाचमस्य मुनि ने सर्वप्रथम जाना था।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी 'जाना था' इस कहने का तात्पर्य तो यह है, कि यह पहिले से रही होगी। जब यह पहिले थी ही तो व्यर्थ में महाचमस्य मुनि के नाम लेने की क्या आवश्यकता थी?"

सूतजी ने हँसकर कहा—"मुनिवर! आप भी ऐसी बात कहेंगे क्या? भगवन्! ज्ञान तो सब सनातन ही है। वेद के मंत्र भी सब सनातन हैं, पहिले ही से विद्यमान हैं। जिस महर्षि ने जिस मंत्र का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया—उसे जाना—वह ऋषि ही उस मंत्र का ऋषि माना जाने लगा। मंत्र में चार बातें जाननी आवश्यक होती हैं। यह मंत्र किस छंद में है, इसका कौन देवता है, कौन ऋषि है और यह मंत्र किस कार्य में विनियोग किया जाता है अर्थात् इसका व्यवहार यज्ञ के किस कर्म में होता है। छंद, देवता, ऋषि और विनियोग जानकर ही मंत्र का उच्चारण करना प्रशस्त माना जाता है। ऋषि का नाम न भी लो, तो मंत्र तो फल देगा ही क्योंकि मंत्र सनातन है। किन्तु ऋषियों का नाम पूजार्थ लेना ही चाहिये। ऋषियों की पूजा प्रतिष्ठा करना—

स्मरण करना यह भी उपासना का एक अङ्ग ही है। इसीलिये महाचामस्य ऋषि का नाम लिया क्योंकि लोक में सर्वप्रथम इन्होंने ही इसका साक्षात्कार किया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपका कहना यथार्थ है यदि हम मन्त्रों के साथ ऋषियों का नाम न लें, तो परम्परा ही छिन्न-भिन्न हो जायगी। हाँ तो आगे सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हाँ, भगवन्! यह जो चौथी व्याहृति 'मह' है यही ब्रह्म है, यह तीनों व्याहृतियों की आत्मा है। अन्य देवता सब इसके अंग हैं यह सबकी अंगीभूत है। भू व्याहृति पृथ्वी-लोक की सूचक है। भुव व्याहृति अन्तरिक्ष लोक की सूचक है। स्व या सुव व्याहृति स्वर्ग लोक की सूचक है। मह जो चौथी व्याहृति है यह आदित्य लोक सूर्यनारायण लोक की सूचक है। क्योंकि आदित्य के द्वारा ही समस्त लोक प्रकाशित होते हैं, महिमान्वित होते हैं। अतः सूर्यनारायण ही समस्त लोकों के प्रकाशक हैं, पूज्य हैं, ज्येष्ठ हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। यह तो मैंने लोकों की बात बताई अब आप देवों के प्रतीक की बात सुनिये।"

भू जो व्याहृति है यह अग्निदेव का प्रतीक है। भुव व्याहृति वायुदेव का प्रतीक है। स्वः या सुव आदित्यदेव का प्रतीक है और चौथी व्याहृति मह चन्द्रमा का प्रतीक है। चन्द्रमा से ही समस्त ज्योतियाँ निकलती हैं, उन्हीं की महिमा से सब महिमान्वित होती हैं। भू अग्निदेव वाणी के अधिष्ठातृदेव हैं, भावों के व्यक्त करने वाली वाणी है वह भी ज्योति है। स्व वायुदेवता त्वचा के अधिष्ठातृदेव हैं, त्वक् इन्द्रिय स्पर्श को प्रकाशित करती है, यह भी ज्योति है। स्वः सूर्यदेवता चक्षु इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेव हैं। यह भी ज्योति है। मह चन्द्र है, चन्द्रमा मन के अधिष्ठातृदेव हैं। समस्त इन्द्रियों में मन ही मुख्य है। बन्ध और मोक्ष का कारण

मन ही है। मन के द्वारा ही इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित तथा महिमान्वित होती है। यही मन रूप ब्रह्म की देवरूप से उपासना की विधि है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने लोक, देव, वेद और प्राण चार प्रतीकों द्वारा उपासना का उल्लेख किया था। अब तक आपने लोक और देव की प्रतीकात्मक उपासनायें बतायीं। अब वेद प्रतीकात्मक उपासना और बताइये।"

सूतजी बोले - "भगवन! इसी प्रकार क्रम से वेदों को भी समझ लें। जैसे भू व्याहृति ऋग्वेद का प्रतीक है, भुव व्याहृति सामवेद का प्रतीक है स्व या सुव व्याहृति यजुर्वेद का प्रतीक है, चौथी मह व्याहृति वेदातीत साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का प्रतीक है। परब्रह्म परमात्मा ही से समस्त वेद महिमावान् होते हैं। समस्त वेदों में परब्रह्म परमात्मा की ही अनेक रूपों में महिमा गायी गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—"लोक, देव और वेद की प्रतीकात्मक उपासना तो बताई, अब प्राणों के सम्बन्ध में और बताइये।"

सूतजी ने कहा—"इसी प्रकार आप प्राणों के सम्बन्ध में भी समझ लें। भू जो व्याहृति है वह प्राण का प्रतीक है, भुव अपान का, स्व या सुव व्यान का और जो व्याहृति मह है वह अन्न का प्रतीक है। अन्न के द्वारा ही समस्त प्राण महिमा को प्राप्त होते हैं। अन्न न मिले तो प्राण निष्प्राण हो जाते हैं अतः अन्न ही ब्रह्म है। अन्न रूप में परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार भगवन् लोक, देव, वेद और प्राण ये चार हैं और चार व्याहृतियाँ, इस प्रकार एक एक के चार-चार भेद हैं। इसमें लोक में मेहलोक के रूप में, देव में चन्द्र के रूप में, वेद में ब्रह्म के रूप में और प्राण में अन्न के रूप में, ब्रह्म की मह व्याहृति के प्रतीक रूप में उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार जो चारों व्याहृतियों की

उपासना के भेद को भली-भाँति हृदयगम करके जान लेता है, समझ लेता है और इसी प्रकार से उनकी उपासना करता है, ध्यान करता है वही यथार्थ में ब्रह्म को जान लेता है। उसके लिये सभी देवता बलि समर्पित करते है अर्थात् वह समस्त देवताओं द्वारा पूजित होता है। सभी उसका स्वागत सत्कार और आदर करते हैं। यह मैंने व्याहृतियों द्वारा लोक, देव, वेद और प्राणों के प्रतीत द्वारा उपासना का प्रकार आपको बताया अब आप और क्या सुनना चाहते है ?"

शौनकजी ने कहा—"ब्रह्म की उपासना समीप से समीप प्रतीक द्वारा कैसे करनी चाहिये, इसी विषय को हम फिर से स्पष्ट रूप से सुनना चाहते हैं। अब तक आपने अङ्ग की उपासना बताई, अब अङ्गी ब्रह्म की उपासना का प्रकार फिर से बतावें।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्,तैत्तिरीय उपनिषद् के छठे अनुवाक मे उपास्य का स्वरूप बताकर जैसे अङ्गी की उपासना का प्रकार बताया है उसे मैं आप से आगे कहूँगा। आशा है आप दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

भू ऋग भुव है साम सुवं हिँ यजुवेद बखानो।
मह वेदनिमहँ ब्रह्म, ब्रह्म की महिमा मानो॥
भू व्याहृति ही प्राण अपान हु भुव कहलावै।
सुव व्याहृति है व्यान अन्न मह रूप लखावै॥
सूर्य, सोम, परब्रह्म, अरु, अन्न चारि ये ध्येय हैं।
चारि-चारि कूँ जानि जे, ते देवनि सुन गेय हैं॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का पंचम अनुवाक

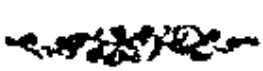

अङ्गी रूप में ब्रह्म की उपासना

[६०]

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः ।
तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः ॥*

(तै० उ ६ अनु०)

छप्पय

हृदय माहिँ आकाश मनोमय पुरुष विराजत ।
अमृत हिरण्मयदेव सुषुम्ना द्वार कहावत ॥
तालु मध्य जो काग कहें घाँटी ता भीतर ।
ब्रह्मरन्ध्र कचमूल निकसि हिय आवै ऊपर ॥
उभय कपालनि भेदि कें, इन्द्रयोनि सुषुमनि निकसि ।
भू भुव सुव मह अग्नि अरु, वायु सूर्य, ब्रह्महिँ प्रविसि ॥

गतियाँ तीन हैं, अधोगति, मध्यगति और ऊर्ध्वगति । इसलिये जब जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, तो नीचे के द्वार, मध्य के द्वार तथा ऊपर के द्वार कर्मानुसार इन तीनों ही द्वारों से निकलकर जाता है । अधःमार्ग से प्राण निकलेंगे, उनकी अधोगति होगी, मध्यम द्वार से प्राण निकलेंगे उनको मध्यगति

---

* वह परब्रह्म परमात्मा जो हिरण्मय है—प्रकाश स्वरूप है—अमृत है—अजर-अमर-अविनाशी है—मनोमय पुरुष है वह हृदय के भीतर जो आकाश है उसी में विराजमान रहता है ।

मिलेगी और ऊपर के द्वार से प्राण निकलने वालों को अपुनरावृत्ति गति ऊर्ध्वगति मिलेगी। वे फिर लौटकर इस जगत् में नहीं आवेंगे। अधः द्वार दो ही हैं मूत्र द्वार और मल द्वार। जिनके प्राण मूत्रेन्द्रिय द्वारा निकलते हैं, उनका मृत्यु के समय बहुत-सा वीर्य तथा मूत्र निकल जाता है, प्राण उसी मार्ग से बाहर होते हैं। जिनके प्राण मल द्वार से निकलते हैं, उनका मल फट जाता है, बहुत से मल के साथ प्राण बाहर निकल जाते हैं। ऐसे प्राणी नरकादि नीचे के लोकों में जाते हैं। यही अधोगति है।

मध्य द्वार सात हैं। दोनों आँखों के दो द्वार, दोनों कानों के दो द्वार, दोनों नासिकाओं के दो द्वार और एक द्वार मुख का। इस प्रकार सात द्वार हैं। इन मध्य के सात द्वारों से जिनके प्राण निकलेंगे, वे भू, भुवः और स्वर्ग इन्हीं लोकों में जायँगे। वे त्रिलोकी में ही घूमते रहेंगे, वे स्वर्गलोक से ऊपर के लोकों में जा ही कैसे सकेंगे।

ऊर्ध्व द्वार एक है, उसे सुषुम्ना द्वार कहते हैं। वह कपाल में होकर है, छोटे बच्चों के सिर के बीच में एक बहुत ही मुलायम स्थान होता है, हाथ रखने पर वह लुप-लुप करता हुआ प्रतीत होता है। अवस्था बढ़ने पर वह कड़ा हो जाता है। जहाँ से सिर के बाल निकलते हैं सिर के दोनों कपालों के बीच में जहाँ तालु के बीच में मांस का काग लटकता रहता है उसके भीतर से सुषुम्ना नाड़ी उस ब्रह्मरन्ध्र के द्वार तक जाती है, उसमें से यदि प्राण निकले। कपाल को फोड़कर दशम द्वार से प्राण बाहर हों, तो उस पुरुष की पुनरावृत्ति नहीं होती। या तो उसकी सद्य मुक्ति हो जाती है, अथवा क्रममुक्ति होती है। चाहे सद्यःमुक्ति हो अथवा क्रममुक्ति उसे पुनः देह धारण नहीं करना पड़ता। यही ऊर्ध्वगति है। साधकों के समस्त प्रयत्न इसी के निमित्त होते हैं, कि हमारे

प्राणों का उत्क्रमण-निकास-दशम द्वार से हो, जो किसी विरले ही भाग्यशाली का होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले पञ्चम अनुवाक में अङ्गभूत जो लोक, देव, वेद और प्राण हैं उनकी उपासना का प्रकार बताया। अब आगे जो साक्षात् अङ्गी हैं उस परब्रह्म परमात्मा की उपासना की पद्धति बताते हैं। सर्वप्रथम बताना यह है, परमात्मा को खोजने कहीं बाहर या दूर नहीं जाना पड़ता वह तो हमारे अत्यन्त ही समीप भीतर ही हृदयरूपी गुहा में विराजमान हैं। उनकी उपासना करना कोई कठिन कार्य नहीं है।"

भू, भुव और स्व तथा अन्य देवगण अङ्ग हैं और चौथी जो महः व्याहृति है जिसके अधिष्ठातृ हिरण्यगर्भ संज्ञक मनोमय ब्रह्म हैं वे अङ्गी हैं। वे रहते कहाँ हैं? यह जो हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह अमृतमय, मनोमय, हिरण्य पुरुष रहता है। अतः हृदय कमल के मध्य में निवास करने वाले परब्रह्म की प्रतीक रूप में उपासना करनी चाहिये।

शौनकजी ने कहा—"हृदय कमल में स्थित उस मनोमय, अमृतमय पुरुष की उपासना कैसे करनी चाहिये?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवान विष्णु की उपासना शालग्राम में की जाती है। शालग्राम विष्णु के प्रतीक हैं, इसी प्रकार हृदय कमल में एक अंगुष्ठमात्र आकाश है, उस आकाश में उपाधि से परिछिन्न की भाँति जो मनोमय आत्मस्वरूप परब्रह्म रहता है उसे भी अंगुष्ठमात्र पुरुष कहते हैं। वहीं जीवात्मा का निवास है, जीव वहाँ से ऊपर, नीचे, मध्य सभी द्वारों से जा सकता है। हृदय कमल के मध्य में जो हृदयाकाश है वहीं से सुषुम्ना नाड़ी नीचे को तो मूलाधार तक जाती है, ऊपर को दोनों तालुओं के बीच में जो छोटी गौ के छोटे स्तन के समान एक मांस पिंड-

सा लटकता रहता है जिसे लोक में काग अथवा घाँटी कहकर पुकारते है उसके भीतर होकर सुषुम्ना नाडी ऊपर की ओर जाती है। जहाँ केशो का मूल स्थान है जहाँ दो कटोरो के सदृश दो कपाल हैं, उन दोनों कपालो को भेदकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। ब्रह्मरन्ध्र को ही इन्द्रयोनि कहते है। इन्द्र का अर्थ है सर्वसमर्थ परब्रह्म, योनि का अर्थ है द्वार। उसे दशम द्वार कहो, ब्रह्मरन्ध्र कहो, इन्द्रयोनि कहो एक ही बात है। वह द्वार सर्वसाधारण लोगों का बद रहता है। जिन्होने योगाभ्यास नहीं किया है, उनके प्राण उस द्वार से निकल ही नहीं सकते। जिन्होंने यम नियमो का दृढता के साथ पालन करके प्राणायाम का सविधि अभ्यास किया है, वे ही मृत्युकाल में उस द्वार का भेदन कर सकते हैं और उसी द्वार से प्राणो का परित्याग करते हैं। सयमी साधक अन्तकाल मे दशम द्वार का भेदन करके उसके प्राण शरीर के बाहर निकलते है तो सर्वप्रथम तो वे भू व्याहृति के अधिष्ठातृ और अग्निदेव के लोक को जाते हैं, अर्थात् अग्निलोक मे प्रतिष्ठित होते हैं। फिर भुव व्याहृति के अधिष्ठातृ वायुदेव में प्रतिष्ठित होते हैं, पृथ्वी से लेकर सूर्यलोक पर्यन्त व्याप्त वायुदेव हैं उनके अधिकार में जाता है। फिर स्व व्याहृति के अधिष्ठातृ सूर्यदेव हैं उनके लोक मे जाता है, तदनन्तर महः नामक कहे हुए ब्रह्म में स्थिति हो जाता है, महत् पद को प्राप्त होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह ब्रह्म कैसा है? उसके कुछ स्वरूप का तो वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! वह ब्रह्म वर्णनातीत है। उसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता। फिर भी श्रुति ने उसे आकाश शरीर ब्रह्म कहा है। अर्थात् जिसका शरीर आकाश के सदृश

है। आकाश का कोई रूप, रंग, आकार-प्रकार नहीं। वैसा ही ब्रह्म का आकार-प्रकार रंग रहित स्वरूप है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म को प्राप्त उस पुरुष की स्थिति कैसी होती है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! कैसी स्थिति बताऊँ, गूँगे के गुड़ के समान है। गूँगा गुड खाकर उसके स्वाद का तो अनुभव करता है किन्तु उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। ब्रह्म में स्थित पुरुष स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है, फिर उसे किसी के अधीन नहीं रहना पडता, वह सर्वस्वतन्त्र बन जाता है, अर्थात् वह मन के अधीन न रहकर मन ही उसके अधीन बन जाता है। वह वाणी का, चक्षुओं का तथा कर्णों का स्वामी हो जाता है, और तो क्या वह विज्ञान का-बुद्धि का-भी स्वामी हो जाता है। अर्थात् इन्द्रियाँ, अन्तःकरण सभी उसके अधीन हो जाते हैं, वह सबका स्वामी हो जाता है। ब्रह्म का उपासक किसी के अधीन नहीं होता।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसा मानकर उस ब्रह्म की उपासना करें ?"

सूतजी ने कहा—"शौनकजी ! उपनिषद् के ऋषि ने प्राचीन योग्य नामक अपने शिष्य से कहा है—हे प्राचीन योग्य ! तू आकाश शरीर सदृश शरीर वाले ब्रह्म का, सत्तारूप सत्यात्म ब्रह्म का, इन्द्रिय प्राणादि सभी को विश्राम देने वाले प्राणाराम ब्रह्म का, मन आदि अन्तःकरण को आनन्द देने वाले मन आनन्द ब्रह्म का, शान्ति से सम्पन्न शान्ति समृद्ध ब्रह्म का, नित्य अमर अविनाशी ब्रह्म का ध्यान कर। उसी की उपासना कर। तेरा कल्याण हो जायगा।"

इस प्रकार अङ्गी रूप परब्रह्म की यह उपासना है। उस

अमृत स्वरूप, मनोमय पुरुष हिरण्यगर्भ की पहली व्याहृति भू उसके पैर हैं। दूसरी व्याहृति भुव उसके हाथ हैं। तीसरी व्याहृति स्व उसका सिर है और चौथी जो मह है वह हिरण्यगर्भ की आत्मा है। अर्थात् वह सर्वात्मा, सर्वव्यापक, परमानन्द स्वरूप, अमृतमय, परम पुरुष ही उपासना करने योग्य है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आकाश शरीर ब्रह्म की उपासना तो अत्यन्त सूक्ष्मतम है। अब साधारण बुद्धि वालों के लिये स्थूल उपासना बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्राह्मन! तैत्तिरीय उपनिषद् के सप्तम अनुवाक में स्थूल पृथ्वी आदिकों की पाङ्क्त स्वरूप करके—पञ्चाग्नि-उपासना का वर्णन है। अब आगे मैं उसी का वर्णन करूंगा। इसमें प्रथम भाग में आधिभौतिक पदार्थों को लोक, ज्योति और स्थूल इन तीन पंक्तिस्वरूप से अर्थात् तीन पंक्तियों में विभक्त करके उसका वर्णन किया गया है और द्वितीय भाग में शरीर स्थित प्राण, इन्द्रियाँ और धातु इन पदार्थों को तीन पंक्तियों में विभक्त करके वर्णन किया गया है। इन पाँचों पंक्तियों की पाङ्क्त संज्ञा है। उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

मललोक लहि पाइ स्वराज्यहिं मन को स्वामी।
घाक, चक्षु, अरु कान होई बुद्धि हु को स्वामी॥
मलदेह आकाश सरिस सत्ता स्वरूप है।
इन्द्रियादि जो प्राण सबनि विभाग रूप है॥
मनकूँ आनंदित करत, शान्ति समूह अमूर्त है।
तू प्राचीन सुयोग्य शिष, ताई गे दे चित्त है॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का षष्ठ अनुवाक

———

पृथ्वी आदि पञ्चक पंक्ति परिचय

[६१]

पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत मनो वाक् त्वक् । चर्म मा ँस ँस्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरोचत् । पाङ्क्त वा इद ँसर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्त ँस्पृणोतीति ॥*

(तै० उ० ७ अनु०)

छप्पय

अन्तरिक्ष, भू, स्वर्ग, दिशा उपदिशा पच ये ।
लोक पच विख्यात कहूँ अब ज्योति पच जे ॥
अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा नक्षत्र हु है ।
जल, ओषधि, आकाश, वनस्पति आत्मा तन है ॥
स्थूल पक्ति अधिभूत ये, पक्ति कहें अध्यात्म अब ।
प्राण, अपान, उदान अरु, व्यान, समान जि प्रान सब ॥

---

* पृथ्वी, अन्तरिक्ष स्वर्ग, दिशायें, अवा तर दिशायें ये पाच लोक पक्ति है । अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा नक्षत्र य ज्योति पक्ति हैं । जल,

यह सम्पूर्ण जगत प्रपञ्चात्मक है। पाँचो का विस्तार है। पचमय जगत् है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों भूतो से ही निर्मित जगत् के य सब पदार्थ हैं। इसीलिये इनकी प्रपञ्च सज्ञा है। सब पचो ने ही मिलकर यह निर्णय दिया है जगत् परिवर्तनशील है। इसीलिये शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य और विष्णु ये पच देव ही पूजनीय तथा उपास्य है। स्मार्त लोग पचदेवोपासक होते हैं। शरीर जिनके कारण टिका है व प्राण भी पाँच ही हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ भी पाँच हैं, कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच है, तन्मात्रायें भी पाँच है। यह अविद्या भी तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह पंचपर्वा ही है। इसमे पाँच ही गाँठे है। शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर ये रस भी पाँच ही है। इस प्रकार यह पचात्मक जगत् पचपर्वा अविद्या से ही बँधा हुआ है और इससे छुटकारा भी पचदेवों की कृपा से-पचक ज्ञान से-सम्भव है, अतः ऋषियों ने पचाग्नि तपादि साधनों से, ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, भक्तियोग तथा हठादि योगो से ही ससार की निवृत्ति बताई है। इसीलिये तैत्तिरीय उपनिषद् के सप्तम अनुवाक में पञ्चात्मक स्वरूप करके उपासना के विधान का वर्णन किया गया है, जो इस पञ्चात्मक उपासना के रहस्य को जान लेता है, वह पक्तिपावन पावन बन जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् अनेक रूपों वाले हैं,

ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश, और आत्मा (देह) य स्थूल पक्ति है, ये अधिभूत पक्तियाँ है, अब अध्यात्म पक्तियो को बताते हैं, प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान य प्राण पक्तियाँ है। चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी और त्वचा य करण पक्ति हैं, चर्म मांस, नाडी, हड्डी और मज्जा ये धातु पक्ति हैं। इसकी सम्यक् कल्पना करके ऋषि ने कहा। ये सब पाक्त हैं। पक्ति से ही पाक्त को पूर्ण करता है। इति।

इसीलिये उन्होंने इस स्थूल जगत् को भी अनेक रूपों वाला बनाया है। वास्तव मे तो वे अरूप हैं, कर्तृत्व भाव से रहित हैं, फिर भी उपासना के निमित्त उनके अनेक रूप कल्पित किये जाते हैं और अनेक उपासनाओं की कल्पना की जाती है। आपने मुझसे साधारण अधिकारियों के निमित्त पञ्चात्मक स्वरूप करके उपासना का स्थूल पृथ्वी आदिकों की उपासना का प्रकार पूछा—उसे मैं वैदिक ऋषि के मतानुसार आपको बताता हूँ। देखिये भगवन्! पाँच-पाँच की एक पंक्ति होती है। उनमें ३ पंक्तियाँ आधिभौतिक हैं और तीन अध्यात्मिक। यहाँ आत्म शब्द से देह का ही तात्पर्य है, अर्थात् तीन पंक्ति तो लौकिक हैं और तीन शरीर सम्बन्धी शारीरिक। इस प्रकार ६ पंक्ति हैं। लोकपंक्ति, ज्योतिपंक्ति और देहपंक्ति ये तीन अधिभूत पंक्तियाँ हैं और प्राणपंक्ति, करणपंक्ति और धातुपंक्ति ये तीनों ही अध्यात्मपंक्ति हैं। ये छैऊ महापंक्ति कहलाती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इस विषय को तनिक स्पष्ट करके समझाइये आपने जो (१) लोकपंक्ति (२) ज्योतिपंक्ति (३) आत्मपंक्ति (४) प्राणपंक्ति (५) करणपंक्ति और (६) धातुपंक्ति ६ पंचक या पंक्तियाँ बतायी हैं, इनमे से पहिले लोकपंक्ति को समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशायें और अवान्तर दिशायें ये पाँच लोकपंक्ति है। अर्थात् इन पाँचों के मिलने से ही लोक निर्मित हुए हैं। यह भी भगवान् का एक रूप है। भू देवी विष्णु भगवान् की पत्नी हैं। इस पृथ्वी देवी के समुद्र ही वस्त्र हैं, पर्वत ही इन मातेश्वरी के स्तन हैं। इन भगवती के सहस्रों नाम हैं। कहीं पर मधु कैटभ के मेद से निर्मित होने से इनका नाम मेदिनी बताया है, कहीं भगवान् विराट् के रोम

कूपों के मल से निर्मित इन्हें बताया है। सृष्टिकाल में ये प्रकट हो जाती हैं, प्रलयकाल में विलीन हो जाती हैं। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड इन्हीं के अन्तर्गत है। चतुर्दश भुवनों में ये ही व्याप्त हैं। गोलोक, वैकुण्ठलोक को छोड़कर सभी इसी के अन्तर्गत हैं। इसके ही तीन विभाग हो गये हैं। जिस पर ग्राम, नगर, पर्वत, नद, नदी, सागर आदि हैं इसे पृथ्वी कहते हैं। जो पोल है, अवकाश है, जहाँ सूर्यचन्द्र हैं उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। सुमेरु के शिखर से ऊपर जो दिव्यलोक हैं, उन्हें स्वर्ग कहते हैं। जिनमें सूर्य की किरणें छिटकती हैं, इधर-उधर प्रकाशित होती हैं उन्हें ऊपर नीचे, बायें दायें जानने को दिशा कहते हैं और उन दिशाओं के कोणों में जो हैं उन्हें उपदिशा या आन्तरदिशा कहते हैं। वास्तव में यह लोकपंक्ति पृथ्वी का ही विस्तार मात्र है। भगवान् विष्णु ने ही पृथ्वी से रमण करने के अनन्तर उनकी पूजा की। ये भगवान की अर्धाङ्गिनी हैं अतः विष्णु पत्नी रूप में इनकी उपासना करनी चाहिये। अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशा और उपदिशा इन्हीं के विस्तृत रूप हैं। यह स्थूल लोकपंक्ति उपासना है।"

शौनकजी ने पूछा—"ज्योतिपंक्ति क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये, भगवन ! जब तक ज्योति न होगी, तब तक लोक प्रकाशित कैसे होंगे, ज्योति वायु के बिना प्रकाशित नहीं हो सकती। ज्योति चार में ही प्रकाशित होती। अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में और नक्षत्रों में।"

शौनकजी ने कहा—"जल में भी तो प्रकाश होता है ?"

सूतजी ने कहा— "जल में प्रकाश अपना नहीं होता। जल तो अग्नि का पुत्र है। जल को प्रकाश अग्नि से उत्तराधिकार में मिलता है। प्रकाश तो अग्नि, सूर्य, चन्द्र और ताराओं में ही होता है और वायु प्रकाशक है। अतः ज्योति के अचल-स्थान अग्नि, वायु,

आदित्य, चन्द्र और नक्षत्र ही हैं। आकाश वायु के पश्चात् प्रत्यक्ष जन्म अग्नि का ही हुआ। आकाश और वायु ये दो इन चर्म चक्षुओं से प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते नहीं। अग्नि, जल और पृथ्वी ये तीन ही भूत अक्षिगोचर हैं। इन तीनों में प्रथम जन्मा अग्नि ही है। वायु इनके जनक हैं। वास्तव मे तो परम प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही है, उन्हीं से वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों को प्रकाश प्राप्त होता है। अतः इन पांचों को इन पंचात्मक स्थूल स्वरूप को ब्रह्म का ही रूप मानकर उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"अब सूतजी! आत्मपंक्ति के विषय में भी समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्, मैं कई बार बता चुका हूँ। आत्मा शब्द बहुत अर्थों का द्योतक है। यहाँ आत्मा शब्द से अभिप्राय देह से है। स्थूल देह पांचभौतिक होता है। वह जल, ओषधि, वनस्पति और आकाश का समूह है। इन सबका संहात स्वरूप अन्नमय देह है। कहना चाहिये अन्न, जल और आकाश द्वारा ही यह स्थूल देह निर्मित है। वनस्पति कहते हैं, जो फल पकने पर पेड़ सूख जाय। जैसे जौ, गेहूँ, चना, मटर आदि-आदि। वनस्पति बड़े वृक्षों को कहते हैं पीपर, पाकर, गूलर, आम, जामुन आदि। ये दोनों ही अन्न के अन्तर्गत आ गये, जो खाये जायँ उन सबकी अन्न संज्ञा है। जो पीया जाय वह पानी है, जिसमें रहा जाय वह पोल–रिक्त स्थान–आकाश है। अन्न, पान, अवकाश से निर्मित यह स्थूल देह है। अतः जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा ये ही सब मिलकर स्थूल पदार्थों की पंक्ति है। यह वर्णन आधिभौतिक दृष्टि से हुआ। अर्थात् यह जड़ पदार्थों की पंक्ति हैं। अब तीन अधि+आत्म=अध्यात्म शरीर के भीतर स्थित पंक्तियों को बतावेंगे। उनमें पहिली है

प्राणपंक्ति। एक ही प्राण के पाँच भेद हैं। जैसे (१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान और (५) व्यान। जो कंठ से नीचे हृदय प्रदेश में रहता है वह प्राण है। जो नाभि से नीचे गुदा स्थान में रहता है वह अपान है। जो नाभि और हृदय के बीच में नाभि में रहता है समान है, जो कण्ठ से ऊपर तक विचरण करके कण्ठ प्रदेश में रहता है वह उदान है और जो समस्त शरीर में व्याप्त रहता है वह व्यान है। इन पाँचों की प्राणपक्ति संज्ञा है। प्राणरूप में वे परब्रह्म ही प्राण अपान रूप से शरीर के भीतर रहकर चतुर्विध अन्न का परिपाक करते हैं, अतः इस पचक द्वारा प्राणरूप परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"अध्यात्म पक्ति में से दूसरी करण पंक्ति को समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन! करण इन्द्रियों का नाम है। इन्द्रि एक ही है। वही जब बाह्य कार्य करती हैं, बाह्यकरण कहाती हैं। भीतर कार्य करती हैं अन्तःकरण कहाती हैं। चक्षु, श्रोत, मन, वाक् और त्वचा इन पाँचों की करण पंक्ति है। इसमें कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों में ही भीतर बाहर की इन्द्रियों का समावेश हो गया। वाणी कहने से कर्मेन्द्रियाँ, चक्षु, श्रोत और त्वचा कहने से ज्ञानेन्द्रियाँ और मन कहने से अन्तःकरण चतुष्टय समझना चाहिये। यह ब्रह्म की करणपक्ति है। इन्द्रियों में भगवान् ने अपने को मन बताया है। करणं कारणं कर्ता। ये भी भगवान् के नाम हैं। देह के भीतर रहकर इन्हीं के द्वारा कार्य सम्पन्न होते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी अध्यात्म की तीसरी पंक्ति और दोनों की छठी पक्ति जो धातु पंक्ति है उसका वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा इन

पाँचो की धातुपंक्ति संज्ञा है। वैसे रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र सात धातुयें बतायी है। चर्म और नस नाड़ी का समावेश धातु मे नहीं किया गया है। किन्तु यहाँ देह के भीतर की सभी की धातु सज्ञा कही गयी है और रस, रक्त, मेद, वीर्य सबको तीनो के ही अन्तर्गत मानकर पांचों की धातु पंक्ति संज्ञा दी गयी है। इनमे सुषुम्ना नाड़ी है वही ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ये ६ पंचक पंक्तियाँ बतायी तो सही। इनको आपने अधिभूत और अध्यात्म संज्ञा भी दी। किन्तु हमारा समझ मे यह बात नहीं आई कि इन छैः में अन्तर क्या है। स्थूल, सूक्ष्म दोनों ही पंचकों में हैं। पहिले पंचक पृथ्वी को छोड़कर अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशा तथा उपदिशा दिखायी नहीं देती इन्हे स्थूल कैसे मानें। जिनको अध्यात्म शरीर के भीतर बताया है, उनमे पंच प्राण तो सूक्ष्म हैं, त्वचा, चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी ये तो स्थूल हैं, दीखती हैं इन्हे भीतर की सूक्ष्म कैसे कहा ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! ऋषि ने इन्हे संज्ञा दे दी है, यह तो उपलक्षण मात्र है। इन सब पंक्तियो के पदार्थ परस्पर में एक दूसरे से संबंधित हैं। इन सबका एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसे स्वय बुद्धिपूर्वक जान लेना चाहिये। जैसे प्रथम पंक्ति मे पृथ्वी, अन्तरिक्ष,स्वर्ग, दिशा और उपदिशाओ को गिनाया है। तो अन्तरिक्ष या स्वर्ग मे तो प्राण ही जायँगे। इन लोकों का प्राणों से घनिष्ट सम्बन्ध है। पहिली पक्ति में पृथ्वी गिनायी है, तीसरी मे जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश को गिनाया है, तो ओषधि और वनस्पति तो पृथ्वी पर ही उत्पन्न होती हैं, पृथ्वी का ही रूप हैं। दूसरा पंक्ति मे अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों को गिनाया है। पाँचवी करणपंक्ति मे चक्षु, श्रोत, मन, वाणी और

त्वचा को गिनाया है, तो ये भी परस्पर में सहायक हैं इन्द्रियाँ बिना प्रकाश के, बिना सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु के कुछ कर ही नहीं सकतीं। इस प्रकार इन सबका परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसलिये ऋषि ने अपनी कल्पना द्वारा इन सब पंक्तियों का विभाग कर दिया। ये परस्पर में आध्यात्मिक पंक्तियाँ बाह्य को और बाह्य पंक्तियाँ अध्यात्म को पूर्ण करती हैं। परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं। इनके ज्ञान से लौकिक और पारलौकिक, स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार की उन्नतियाँ हो सकती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह विषय यथार्थ रूप में समझ में आया नहीं, अस्तु ऋषियों ने उपयुक्त ही कल्पना की होगी। अब आप हमें फिर से ओंकार की ही महिमा सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तैत्तिरीय उपनिषद् के अष्टम अनुवाक में ओंकार की ही महिमा का वर्णन किया गया है। उसी को अब आपको मैं संक्षेप में सुनाऊँगा। आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

करन पंक्ति अब कहूँ चक्षु, मन, श्रोत्र वाक् त्वच।
आत्म पंक्ति है मांस, चर्म, नाड़ी, हड्डी, मज्ज॥
वैदिक ऋषि ने करी कल्पना पाँच कहावें।
पूर्ण परस्पर करें उभय मिलि काम चलावें॥
प्रथम पंक्ति चौथी मिलै, द्वितीय पाँचवीं तें मिलाई।
तृतीय षष्टि तें मिलति है, काज सकल जग के चलाई॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का सप्तम अनुवाक

ओम् अक्षर की महिमा

[६२]

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदँ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओँ शोमिति । शस्त्राणि शँसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमितिब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥❀

(तै० उ० ८ अनु०)

छप्पय

ओम् ब्रह्म को नाम ओम् ही प्रणव कहावै ।
सर्वरूप है ओम् ओम् अनुकृति में आवै ॥
ओम् आचार्य सुनाइँ ओम् कहि श्रवन करावै ।
सामगान कहि ओम् गाइके साम सुनावै ॥
गीति रहित जो ऋचा है, ओम् शोम् कहि पढ़त हैं ।
ओम् कहें अध्वर्यु पुनि, प्रतिगर मन्त्रनि बदत हैं ॥

❀ ओम् यह ब्रह्म है ओम् यह सर्व जगत् है, ओम यह अनुकृति है । अब सुनाइये जब ऐसा छात्र कहता है तब आचार्य ओम (हाँ) कहकर अनुमोदन करता है । ओम् कहकर सामवेदी साम गान करते हैं,

समस्त वेदों में पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन तथा जितने भी वैदिक ग्रन्थ हैं, सबमें ओंकार की ही महिमा भरी पड़ी है। ओम् अक्षर इतना व्याप्त है, कि यह सभी कार्यों में प्रचलित होता है। ओम् प्रणव का तो पर्याय है ही, यह और भी अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। ओम् का अर्थ है जो रक्षा करे (अवति=रक्षति-इति ओम्) इस ओम् में समस्त विश्वब्रह्माण्ड, ज्ञान, उपासना तथा कर्म का समावेश हो जाता है। इसमें अकार, उकार और मकार तीन हैं। अकार करके विष्णु समझना चाहिये, उकार से महेश्वर और मकार से ब्रह्माजी का बोध होना चाहिये। ये तीनों पृथक् नहीं हैं। जैसे ढाक (पलाश) की एक डाली में तीन पत्ते होते हैं, एक ही डाली जैसे ढाक के तीनों पत्तों को धारण करती है वैसे ही अकेला प्रणव ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों को धारण करता है, तीनों का वाचक है। अकार ऋग्वेद है, उकार सामवेद है और मकार यजुर्वेद है। ओंकार शब्द और अथ शब्द ये दो शब्द सर्वप्रथम ब्रह्माजी के कण्ठ को भेदन करके उत्पन्न हुए, इसलिये इन दोनों शब्दों को माङ्गलिक बताया गया है। समस्त शुभ कार्यों के पूर्व इनका उच्चारण करना चाहिये। इसलिये समस्त वेद वेदान्तों की ऋषि, मुनि, आचार्य, योगी, तपस्वी तथा सिद्धों की ओंकार में निष्ठा होती है। वेद ओंकार से ही आरम्भ होते हैं और ओंकार में ही उसका पर्यवसान होता है। समस्त वाङ्मय प्रणव के ही अन्तर्गत है, अतः प्रणव का ही अभ्यास करना

ओम् ओम कहकर शास्त्र-मन्त्रों-को पढ़ते हैं। अध्वर्यु ओम् कहकर प्रतिगर मन्त्रों को पढ़ता है, ओम् कहकर ब्रह्मा अनुमति देता है। ओम् कहकर अग्निहोत्र की आज्ञा देता है। पढ़ने को उद्यत ब्राह्मण ओम् का उच्चारण करके कहता है मैं वेद को प्राप्त करूँ। तो वह वेदों को प्राप्त कर लेता है।

चाहिये। इस प्रकार प्रणव ब्रह्मस्वरूप है। प्रणव ही यह दृश्यमान जगत् है। चराचर जगत् ओम के ही अन्तर्गत है।

'ओम्' अनुमोदन या अनुकृति अर्थ मे भी आता है, जैसे हमने किसी से प्रार्थना की "आप हमारा यह काम कर देंगे ?" उन्होंने कह दिया—'ओम्' हाँ कर देंगे। हुङ्कार देने मे भी 'ओम्' का व्यवहार होता है। जैसे अमुक देश में अमुक राजा हुआ। तो श्रोता ने कह दिया—'ओम्' अर्थात् अच्छा। इस प्रकार ओम् शब्द ब्रह्म के अर्थ मे, जगत् के अर्थ में, स्वीकृति के अर्थ मे हाँ, अच्छा, ठीक है, इस अर्थ मे तथा मगल कल्याण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। स्वीकृति का अनुमोदन का यह सांकेतिक अर्थ है। इसलिये 'ओम्' शब्द सभी अक्षरों मे सर्वश्रेष्ठ है। यज्ञो में ब्रह्मा, उद्गाता होता और अध्वर्यु ये चार प्रधान याज्ञिक ऋत्विक होते हैं। उद्गाता सामवेद का गान करता है। अध्वर्यु यजुर्वेद का गान करता है। होता गीतिरहित ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ करता है। ये यज्ञीय सर्व कार्य ब्रह्मा की अनुमति से होते हैं। ऋत्विक् या यजमान यज्ञ के किसी कार्य के लिये ब्रह्मा से पूछते हैं, क्या इस कार्य को करें ? तो ब्रह्मा 'ओम्' कहकर उस कार्य को करने की अनुमति देता है। इस प्रकार यजमान, ऋत्विज् आदि 'ओम्' कहकर पूछते हैं, ब्रह्मा 'ओम्' कहकर अनुमति देता है। इसी प्रकार जब छात्रगण अपने आचार्यों के समीप वेदाध्ययन के निमित्त जाता है, तो हाथ जोडकर पहिले ओंकार का उच्चारण करके उनसे पढ़ने की अनुमति माँगता है तो आचार्यगण 'ओम्' कहकर ही उसकी बात का अनुमोदन करते हैं। कह देते हैं—'ओम्' अर्थात् 'अच्छी बात है तुम वेदों का अध्ययन करो।' इस प्रकार यह 'ओम्' बहु अर्थ-विस्तृत अर्थ-का वाची है, इसलिये यह अक्षरों मे सर्वश्रेष्ठ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आपने मुझसे 'ओम्' अक्षर का महिमा कहने को कहा। तो ओंकार की महिमा तो इतनी है कि, मेरे तो एक मुख है उस एक मुख में एक ही जिह्वा है। भगवान् संकर्षणावतार शेषजी के तो सहस्र मुख हैं और प्रत्येक मुख मे दो दो जिह्वायें हैं। वे अपनी दो सहस्र जिह्वाओं से सृष्टि के आदि से सृष्टि के महाप्रलय पर्यन्त ओंकार का महिमा का निरन्तर–अहर्निशि–गान करते रहे तो भी पार नहीं पा सकते। अत ओंकार की समग्र महिमा का वर्णन असम्भव है। तथापि औपनिषद् ऋषि ने जो कुछ कहा है, उसका अनुवाद मात्र मैं यहाँ किये देता हूँ।"

'ओम' यह ब्रह्म का नाम है। नाम क्या है साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप ही है, क्योंकि नाम और नामी मे कोई भेद नहीं होता, जो नामी है उसी का वह नाम है। अत ब्रह्म का वाचक 'ओम्' है। यह जो दृश्यमान् जड चेतन्यात्मक चराचर जगत् है, वह भी सब 'ओम्' ही है, प्रणव के अन्तर्गत ही है।

'ओम्' यह अनुकृति भी है। अनुमोदन मे भी 'ओम्' का व्यवहार होता है। जैसे यज्ञादि कर्मों मे यजमान और पुरोहित (ऋत्विज्) प्रधान होते हैं। एक यज्ञादि शुभ कर्म कराने वाला होता है, पुरोहित उन कर्मों को करता है। यज्ञ में यजमान् आचार्य से पहिले चार शब्द बोलता है (ओश्रावय) जी, सुनाओ। इसमे सर्वप्रथम यजमान ने ओं का ही प्रयोग किया। इसका अनुमोदन करते हुए आचार्य कहते हैं (आश्रावयन्ति) 'ओम्' अच्छी बात है हम अब तुम्हें उपदेश सुनाते हैं। इसमें प्रार्थना करने वाले और उस प्रार्थना का अनुमोदन करने वाले–स्वीकृति प्रदान करने वाले–दोनो ने ही 'ओम्' कहा। अर्थात् प्रार्थना मे भी ओम् और स्वीकृति में भी ओम्। फिर इसी प्रकार साम गायन करने वाले

उद्गाता से भी 'ओम्' कहकर साम गायन करने की प्रार्थना करते है, तो वे भी 'ओम्' कहकर स्वीकृति देकर ओंकार का उच्चारण करके तब सामवेद की ऋचाओं का गान करते है। इसी प्रकार जब गाति रहित ऋचाओं के उच्चारण की होता से प्रार्थना की जाती है, तो वह ओम् शोम कहकर उन ऋचाओं को पढ़ता है। जब अध्वर्यु ऋत्विज् से उच्चारण करने की प्रार्थना करते हैं, तब वह यजुर्वेदीय अध्वर्यु ऋत्विज् 'ओम्' ऐसा कहकर होता के प्रत्येक उच्चारण के पीछे प्रत्युच्चारण करता है। जब ब्रह्माजी से यज्ञीय कर्म के सम्बन्ध मे पूछा जाता है, तब वह 'ओम्' ऐसा कहकर उस कर्म की अनुमति देता है। जब उससे अग्निहोत्र करने की अनुमति माँगते हैं, तब वह 'ओम्' कहकर ही अग्निहोत्र करने की अनुमति–आज्ञा–देता है। इस प्रकार यज्ञ के सभी काम 'ओम' कहकर पूछे जाते हैं और 'ओम्' कहकर ही उन्हें करने की अनुमति भी दी जाती है।

यज्ञ के ही सदृश अध्ययन में भी इसी प्रकार 'ओम्' का प्रयोग होता है। जैसे विद्यार्थी पढ़ने के निमित्त गुरु के समीप गये। दण्डवत् प्रणाम करके गुरु के समीप बैठ गये। अब पढ़ने को उद्यत ब्राह्मण पहिले आचार्य के चरणों में 'ओम्' का उच्चारण करके उनसे प्रार्थना करेगा—मैं ब्रह्म को–वेद को–प्राप्त करूँ? अर्थात् वेदाध्ययन आरम्भ करूँ? तब आचार्य 'ओम्' कहकर उसे वेदाध्ययन की अनुमति प्रदान करते हैं। इस प्रकार श्रद्धालु छात्र 'ओम्' कहकर आचार्य की अनुमति से जो वेद का अध्ययन करता है, उसे अवश्य ही वेद की प्राप्ति हो जाती है, वह वेदज्ञ बन जाता है। इस प्रकार यज्ञ करने कराने में, दान देने लेने में, अध्ययन करने कराने में जो 'ओम्' का उच्चारण करते हैं, वे मङ्गल के भागी होते हैं, उनका कल्याण निश्चय ही हो जाता

है। यह मैंने बहुत ही संक्षेप में 'ओम्' की महिमा कही। अब आप क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अब हमें श्रौत और स्मार्त कर्मों की उपादेयता बतावें। अध्ययन और अध्यापन करने वालों को इन कर्मों को कैसे करना चाहिये?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! तैत्तिरीय उपनिषद् के नवमें अनुवाक में इसी का वर्णन है, इसे मैं आपको आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

ब्रह्मा अनुमति देइँ ओम् कहि चौथे ऋत्विज।
अग्निहोत्र में ओम् बोलि देवै पुनि अनुमति॥
उद्गात होवैं विप्र, वेद पढ़िबे को जबई।
प्रथम ओम् उच्चारि पढ़ैं वेदनिकूँ तबई॥
ओंकार उच्चारिकें, छात्र विनय प्रभुतें करहिं।
देहिं बुद्धि वेदनि पढ़ूँ, ते वेदनि निश्चय पढ़हिं॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का अष्टम अनुवाक समाप्त

स्वाध्याय प्रवचन और सदाचार

[६३]

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥

(तै० उ० ९ अनु०)

छप्पय

प्रथम धरम स्वाध्याय प्रवचननि नहीं भुलाओ।
सदाचार अरु सत्य तपस्या दम सँग लाओ॥
अग्निचयन, शम और अग्निहोत्र हुँ न बिसारो।
प्रवचन अरु स्वाध्याय सबनिमें रहै सहारो॥
करो अतिथि सत्कार नित, पुरुषोचित करमनि करो।
साथ साथ स्वाध्याय अरु, प्रवचन कबहुँ न बीसरो॥

ऋत के साथ साथ स्वाध्याय प्रवचन भी किया करो। सत्य पालन करो स्वाध्याय प्रवचन के सहित। तपश्चर्या करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन

मानव शरीर केवल आहार निद्रा तथा विषय सुखों के उपभोग के लिये नहीं है। जो प्राणधारी जीव है भूख तो सभी को लगती है, भूख की निवृत्ति के लिये जान में अनजान में प्रयत्न सभी करते है। शरीर मे निरन्तर जीवन की क्रियायें होती रहती हैं, उनसे इन्द्रियो मे, शरीर के अग उपाङ्गों में थकान सभी को आती है, उस थकान को मिटाने के लिये विश्राम की-निद्रा की-आवश्यकता सभी को होती है। जीव जिस स्थान से उत्पन्न हुआ है जिस मिथुन प्रकिया से पैदा हुआ है उसके प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। आत्मा नित्य है, अमर है, अविनाशी है। उसी के अंश से प्राणियो का जन्म है अतः अपने नाश का भय प्राणिमात्र को होता है। अतः आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये स्वाभाविक हैं। इनके लिये प्राणियों को अपनी ओर से प्रयत्न नहीं करना पडता, इन्हें तो प्रकृति स्वतः करा लेती है। करने की इच्छा न भी हो तो

न छोडो। इन्द्रियो का दमन करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन मे प्रमाद न हो। मन का निग्रह करो साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन में भी मन को लगाये रखो। अग्निचयन करो स्वाध्याय प्रवचन को न छोडो। अग्निहोत्र करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग न करो। अतिथि सत्कार अवश्य करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन मे ढिलाई न हो। मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करो परन्तु स्वाध्याय प्रवचन की ओर से मुख न मोडो। गर्भाधानादि प्रजा हेतु करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन से उदासीन न हो। कुटुम्ब वृद्धि करो स्वाध्याय प्रवचन के साथ ही। शास्त्र विधि से ऋतकाल मे स्वभार्या मे गमन करो, स्वाध्याय प्रवचन भी करो। रथीतर पुत्र सत्यवाचा तप को ही श्रेष्ठ बताते हैं पौरुषिष्ट सुत तपोनित्य तप पर ही बल देते हैं, मौद्गल्य नाक का मत है स्वाध्याय प्रवचन ही सर्वश्रेष्ठ है, वही तप है, वही तप है। सबसे बडा तप स्वाध्याय प्रवचन ही है।

भी प्राणियों को ये काम अवश होकर–विवश बनकर–करने ही पड़ते हैं। ये साधन नहीं स्वाभाविक कर्म हैं। साधन उसे कहते हैं जो मोक्ष के लिये–संसार बन्धनों से छूटने के लिये–शास्त्रीय विधि से कर्म किये जायँ। उसका दूसरा नाम यज्ञ भी है। यज्ञ के अतिरिक्त और जितने भी कर्म हैं वे सब कर्म बन्धन के हेतु हैं, अतः सभी को यज्ञ कर्म करने का प्रयत्न करना चाहिये। यज्ञ शब्द का बड़ा विस्तृत अर्थ है। यज्ञ शब्द यज धातु से बनता है–जो देव पूजा, संगतिकरण और दान आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है। श्रीमद्भगवत्गीता के चतुर्थ अध्याय में देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, संयमयज्ञ, विषयेन्द्रिययज्ञ, प्राणेन्द्रिययज्ञ, आत्मसंयमयज्ञ, द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ, प्राणापानयज्ञ, अपान प्राणयज्ञ, प्राणायामयज्ञ और नियताहारपूर्वक प्राणयज्ञादि बहुत से यज्ञ गिनाये हैं। साधारणतया द्विजातियों के लिये ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ तथा पितृयज्ञ इन पाँच यज्ञों का नित्य करने का विधान है। ये नित्य नियमित रूप से करने चाहिये। देवयज्ञ तो नित्य देवताओं के लिये अग्नि में आहुति देने को कहते हैं जैसे बलिवैश्व देवयज्ञ है। ऋषियज्ञ नित्य स्वाध्याय को कहते हैं, भूतयज्ञ का अर्थ है अन्न को यथा योग्य सभी प्राणियों में बाँटकर खाना चाहिये। केवल अपने ही पेट को भरते रहने का प्रयत्न न करना चाहिये। गौ, कौआ, कुत्ता तथा चींटी आदि सबका भाग निकालकर तब भोजन करना चाहिये। नृयज्ञ वह है कि जो भी अतिथि–भोजन समय में अपने द्वार पर आ जाय उसे भगवत्रूप में मानकर श्रद्धा से भोजन कराना चाहिये, पितृ यज्ञ पितरों के निमित्त अन्न-जल देने को पितृयज्ञ कहते हैं।

इन नित्य यज्ञों के अतिरिक्त कर्मयज्ञ, तपोयज्ञ, जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ और ज्ञानयज्ञ ये भी पाँच बताये हैं। कर्मयज्ञ दो

प्रकार का है, सकामयज्ञ और निष्कामयज्ञ। सकामयज्ञ तो जैसे स्वर्गकाम की कामना से अश्वमेध यज्ञ करे। स्वर्ग की कामना से अश्वमेध यज्ञ करना सकामयज्ञ है। निष्कामयज्ञ ब्रह्मभाव से बिना किसी कामना के यज्ञ दान और तपस्यादि कर्मों को करते रहना, यह निष्काम यज्ञ है। तपयज्ञ में भी यदि कामनापूर्वक तप है, तो वह स्वर्ग को देने वाला है, निष्कामभाव से किया जाय तो मुक्तिदाता है। जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ निष्कामभाव से किये जायँ तो वे ज्ञानप्राप्ति में कारण होते हैं और ज्ञान से मुक्ति होती है। ज्ञान यज्ञ तो मुक्ति का प्रत्यक्ष कारण ही है।

वर्णाश्रमियों के लिये चार यज्ञ मुख्य बताये हैं। ब्राह्मणों के लिये स्वाध्याययज्ञ जपयज्ञ मुख्य है। ब्राह्मण चाहे और यज्ञों को न भी करे, केवल मन्त्रों का सविधि जप ही करता रहे, तो वह मुक्ति का अधिकारी हो जायगा। क्षत्रिय के लिये आरम्भ यज्ञ बताया है। लोक कल्याण के निमित्त जिस कार्य को आरम्भ कर दे उसे पूरे प्रयत्न के साथ पूर्ण करे। अधूरा न छोड़े। वैश्य के लिये हविष्ययज्ञ मुख्य है। उसके पास कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य से धन आता है, अतः वह घृत, अन्नादि हविष्य पदार्थों से हवन किया करे। शूद्र के लिये परिचारयज्ञ अर्थात् द्विजातियों की परिचर्या-सेवा-रूपी यज्ञ को करता रहे। इसी यज्ञ द्वारा परमात्मा उस पर प्रसन्न हो जायँगे। यह तो वर्णाश्रमियों के यज्ञ हैं। अब चाहे वर्णाश्रमी हो या अवर्णाश्रमी सबके लिये भगवद्भक्ति यज्ञ एक-सा फल देने वाला है। किसी वर्ण का हो, किसी आश्रम का हो, वर्णाश्रमी अवर्णाश्रमी कोई क्यों न हो अनन्यभाव से भगवान् की शरण लेने पर सभी का कल्याण हो सकता है।

उपनिषद् के ऋषि उन ऋषिकुमारों को उपदेश दे रहे हैं, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन केवल धर्माचरण में अर्पित कर

दिया है। उनमे सकाम धर्म का आचारण करने वाले पुण्य लोकों का इच्छा वाले और निष्काम धर्म का आचरण करने वाले मोक्षार्थी दो प्रकार के होते हैं। जो सकामी हैं उनका तो भाव यह रहता है, कि स्वाध्याय समाप्त करके यज्ञ यागादि में ही समय व्यतीत करना चाहिये। कुछ का मत है स्वाध्याय समाप्त करके तप, सत्य आदि सद्गुणों का आचरण ही करके जीवन व्यतीत करना चाहिये। किन्तु मुद्गलगोत्रीय नाक मुनि का सिद्धान्त है, जीवनभर चाहे तुम और जो भी धर्माचरण करो, स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग मत करो। वे यशस्वी, तपस्वी, मनस्वी महापुरुष धन्य हैं, जिनका समस्त जीवन स्वाध्याय तथा प्रवचन में ही व्यतीत होता है। ये लौकिक, राजनैतिक, सामाजिक प्रश्न ऐसे हैं, इनका कहीं अन्त नहीं। नित्य नई ही नई गुत्थियाँ पड़ती जाती हैं, इन ही मे जो उलझ जाते हैं, वे स्वाध्याय प्रवचन से वञ्चित हो जाते हैं। अतः निरन्तर केवल स्वाध्याय प्रवचन में ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाय तो इससे बढ़कर तो कोई जीवन ही नहीं। यदि ऐसा संभव न हो, और धार्मिक कार्य करने ही पड़ें तो भी स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग नहीं करना चाहिये। यही उपनिषद् के इन ऋषि के उपदेश का भाव होता है।

सूतजी ने कहा—"मुनियो! आपने जो सदाचार और स्वाध्याय प्रवचन के सम्बन्ध में प्रश्न किया, उसमे ऋषियों मे मतभेद है। कोई ऋषि तो कहते हैं—सत्य से बढ़कर कोई परमधर्म नहीं है। एक सत्याचरण से सभी धर्मों का पालन हो जाता है। कोई कहते हैं—ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो तपस्या से प्राप्त न की जा सके। अतः तप ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, किन्तु मुद्गल गोत्रीय नाक मुनि का कथन है, स्वाध्याय प्रवचन में सब कुछ आ जाता है, अतः जीवन पर्यन्त-कभी भी—स्वाध्याय प्रवचन को नहीं छोड़ना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! तो क्या अन्य शास्त्रों में बताये धर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये ? क्या सदा सर्वदा स्वाध्याय प्रवचन में लगे रहना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जिनका आठों प्रहरों का काल केवल स्वाध्याय-मंत्र, जप, वेदपाठादि-में प्रवचन-शास्त्रों के अर्थ प्रकाशन में-व्यतीत हो, उनसे बढ़कर भाग्यशाली कौन-होगा। किन्तु ऐसा होना कठिन पड़ता है, अतः अन्य धर्मों का भी आचरण करें, किन्तु साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन का भी परित्याग न करें, इन्हें भी साथ-साथ करता ही रहे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ऋत-सुनता वाणी, मन से यथार्थ विचार करना-सदाचार का पालन करना हमें तो यही धर्म श्रेष्ठ प्रतीत होता है।"

सूतजी ने कहा—"यथार्थ [illegible] वाणी और [illegible] विचार अवश्य करें, किन्तु स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग न करें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! शास्त्रों में कहा है 'सत्यान्नास्ति परोधर्मः', सत्य से बढ़कर कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है, [illegible] केवल सत्य का ही आचरण किया जाय तो कैसा है ?"

सूतजी ने कहा—"बहुत अच्छा है, सदा सर्वदा सत्य का ही आचरण करे, किन्तु साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन का भी अभ्यास करता रहे। स्वध्याय प्रवचन से सत्य को भी बल मिलता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! एक तप ही ऐसा बताया है कि इससे सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। त्रिदेव सदा तप में ही निरत रहते हैं, जिसने जो भी सिद्धि प्राप्त की है, तपस्या से ही की है, अतः केवल तप का ही सहारा क्यों न लिया जाय ?"

सूतजी ने कहा—"क्या कहना है, महाराज ! तप

ही तो भूषण है-धन है-इसी से तो ब्राह्मण तपोधन कहलाते हैं। आप सब तपोधन ही हैं, किन्तु तप के साथ आप स्वाध्याय और प्रवचन का परित्याग न करें। प्रवचन स्वाध्याय भी महान् तप है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हत्या की जड़ ये इन्द्रियाँ ही हैं, ये ही जीव को विषयों में ले जाकर पटक देती हैं, यदि इन्द्रियों के दमन की ही ओर विशेष ध्यान दिया जाय, तो कैसा है?"

सूतजी ने कहा—"बहुत अच्छा है महाराज! किन्तु इन्द्रिय दमन के साथ आप स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग कर देंगे, तो भटक भी सकते हैं, अतः इन्द्रिय दमन के साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन को भी चालू रखें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हत्या की जड़ तो यह मन ही है। बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है। यदि मनोनिग्रह में ही सब समय व्यतीत किया जाय तो कैसा है?"

सूतजी ने कहा—"क्या कहना है महाराज! मन के मारने पर सब मर जाते हैं। परन्तु मनोनिग्रह करते हुए स्वाध्याय प्रवचन को चालू रखें। इससे शम में सहायता मिलेगी।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! द्विजातियों को गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों का चयन तथा नित्य अग्नि होत्र करना ये परमधर्म हैं। इनमें ही बहुत काल लग जाता है। क्या इन्हें त्याग दे?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, भगवन्! त्यागने को कौन कहता है। जो नित्य अग्निहोत्र का, अग्नि चयन का कर्म कर सकें, वे अवश्य करें, किन्तु स्वाध्याय प्रवचन के लिये अवकाश अवश्य निकाल लें। इससे इन कर्मों में लाभ ही हो होगा।"

शौनकजी ने कहा—"अतिथि सेवा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। अतिथि

साक्षात् ब्रह्म का ही रूप होता है, उसी मे सब समय क्यों न लगावें।"

सूतजी ने कहा—"अतिथि सेवा का क्या कहना है, यह तो परमधर्म है, किन्तु इसके साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन में कमी न करें।"

शौनकजी कहा—"सूतजी ! मानवमात्र की सेवा में सम्पूर्ण समय लगाया जाय, सबके साथ मनुष्योचित व्यवहार किया जाय, इसे मै सर्वश्रेष्ठ धर्म मानता हूँ।"

सूतजी ने कहा—"आपका मानना सर्वथा उचित ही है, मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करते हुए भी स्वाध्याय प्रवचन के लिये आकाश अवश्य निकाल लें। इसके बिना सेवा सम्भव नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हम लोग त्यागी विरागी अप्रजावान हैं, किन्तु जिन पर पितृ ऋण है, उन्हें तो विवाह करना, गर्भाधानादि संस्कार करना कराना, शास्त्रीय आज्ञानुसार ऋतुमती अपनी धर्मपत्नी मे सन्तानोत्पत्ति करना, कुटुम्ब की वृद्धि करना ये आवश्यक धर्म हैं, क्या इनका पालन न करे ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! मनुष्य जन्म से ही देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण इन तीन ऋणों का ऋणी रहता है। अतः यज्ञ द्वारा देव ऋण से, वेदाध्ययन द्वारा ऋषिऋण से तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से अवश्य उऋण हो। विवाह भी करे, ऋतुकालाभिगामी भी हो, गर्भाधान करे, प्रजा उत्पन्न करे, कुटुम्ब की वृद्धि भी करे, किन्तु इन सब धर्मों का पालन करते हुए भी स्वाध्याय प्रवचन में ढिलाई न करे उसे न छोड़े।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आप स्वाध्याय प्रवचन पर अत्यधिक बल दे रहे हैं, क्या सभी ऋषियों का यही मत है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! एक मत तो संसार में किसी का न हुआ, न होगा। श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न बातें कहती हैं, स्मृतियों में भी परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है और मुनियों की दशा तो यह है, कि वह मुनि, मुनि ही नहीं कहलता जिसका कुछ न कुछ भिन्न मत न हो। सब मुनियों के मत में कुछ न कुछ भेद अवश्य रहता है। सो, इस विषय में भी भिन्न-भिन्न ऋषियों के भिन्न-भिन्न मत हैं, एक रथीतर महर्षि हुए हैं उनके पुत्र सत्यवचा हुए। वे कभी असत्य भाषण नहीं करते थे। सत्य बोलना ही उनका व्रत था। उनका मत है सत्य बोलना ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये सदा सत्य भाषण ही करना चाहिये।"

एक पुरुशिष्ट नामक ऋषि के पुत्र तपोनित्य हैं। वे सदा सर्वदा तप में ही लगे रहते हैं। उनका मत है, तप ही सबसे श्रेष्ठ है। किन्तु इस प्रसंग के वक्ता मुद्गल गोत्रीय नाक महर्षि का कहना है, कि स्वाध्याय प्रवचन ही सबसे श्रेष्ठ है। यही तप है यही-सब कुछ है। स्वाध्याय प्रवचन से ही सब कुछ हो सकता है। उसी से सर्वगुण अपने आप आ सकते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"स्वाध्याय प्रवचन से आपका तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"वेद, पुराण, धार्मिक ग्रन्थों का पठन करना। वैदिक तांत्रिक मन्त्रों का जप करना। वैदिक मन्त्रों की, पुराण और धर्मशास्त्रों की व्याख्या करके लोगों को सुनाना, व्याख्या करके उन्हें प्रकाशित करना, उनका प्रचार-प्रसार करना। लोगों को जो समझने के उत्सुक हों, उन्हें समझाना इन्हीं सब कामों का नाम स्वाध्याय प्रवचन है। जो अहर्निशि इन्हीं कार्यों में संलग्न रहते हैं, उनके समस्त धर्मों का पालन इनके ही द्वारा जाता है। अन्य धर्मों का भी पालन करते हों, करना पड़ता हो, वे उन-उन

धर्मों के पालन के साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन का भी आश्रय लिये रहें, इनका कभी परित्याग न करें यही मोद्गल्य मुनि नाक मुनि का मत है। यह मैंने स्वाध्याय प्रवचन प्रधान प्रकरण आपसे कहा, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! कर्मों का फल कैसे मिलता है ?"

सूतजी ने कहा—"फल भावना के अनुसार मिलता है, तुम जैसी भावना करोगे, वैसा ही फल मिल जायगा।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसी भावना करनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"जैसी त्रिशङ्कु मुनि ने की थी।"

शौनकजी ने पूछा—"त्रिशङ्कु मुनि ने कैसी भावना की थी ?"

सूतजी ने कहा—"तपोधन ! तैत्तिरीय उपनिषद् के दशम अनुवाक मे त्रिशङ्कु मुनि की भावना का ही वर्णन है। उसे भी मैं आपको सुनाऊँगा। आप देखेंगे, त्रिशङ्कु मुनि की यह भावना कितनी उत्कृष्ट है।"

छप्पय

गर्भाधान हु आदि करो संस्कार शास्त्र विधि।
प्रजन प्रजा की वृद्धि करो जो लौकिक हैं सिधि॥
किन्तु प्रवचन स्वाध्याय कबहुँ किहि विधि न बिसारो।
करो धरम सब काज प्रवचन स्वाध्याय सम्हारो॥
सत्यवचा ऋषि सत्य कूँ, तपोनित्य तप कहत वर।
किन्तु प्रवचन स्वाध्याय कूँ कहें नाक ऋषि श्रेष्ठतर॥

दोहा

प्रवचन अरु स्वाध्याय ही, परम धरम है एक।
तातें नित अव्यग्रचित्त, राखो सबनें टेक॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का नवमाँ अनुवाक

॥ श्रीहरि. ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डो मे)—८७ खण्ड छप चुके है। प्रति खण्ड का मू० १ ६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२–श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ११ ००

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डो मे)— एक खण्ड का मू० ११ ००

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५ ००

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३ ४५

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २ ५०

७–कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २ ५०

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २ ५०

९–गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २ ५०

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डो म)— प्रथम खण्ड का मू० १ ६०

११–नाम सकीतन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ० ६८

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ० ६५

१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१४–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ० ३१

१५–मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, मू० ० ३१

१६–भारतीय सस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ० ३१

१७–राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ० ४०

१८–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१९–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ० २५

२०–भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४ ०० द्वितीय खड मू० २ ५०

२१–सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दो सहित मू० ० ७५

२२–प्रयाग माहात्म्य—मू० ० २० २५–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ० २५

२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० ० २२ २६–श्री हनुमत् शतक— मू० ० ५०

२४–गाय छप्पय गीता— मू० ० ३० २७–महावीर हनुमान्— मू० २ ५०

[illegible] मूसी (प्रयाग)

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८८

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

●

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

● संशोधित मूल्य २-०-रुपया

प्रथम संस्करण १००० } अक्टूबर १९७१ कार्तिक सं० २०२८ { मूल्य : १.६५

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
संस्मरण (७)	१
१. भावनानुसार फल	२४
२. आचार्य द्वारा गृहस्थ छात्र को सदाचार का उपदेश (१)	३२
३. आचार्य द्वारा गृहस्थ छात्र को सदाचार का उपदेश (२)	४१
४. आचार्य द्वारा गृहस्थ छात्र को सदाचार का उपदेश (३)	५१
५. गुहावासी गगनचर ब्रह्म	५७
६. अन्नमय-ब्रह्म	६५
७ प्राणमय-ब्रह्म	७७
८. मनोमय-ब्रह्म	८३
९. विज्ञानमय-ब्रह्म	९०
१०. आनन्दमय-ब्रह्म	९७
११. अनु-प्रश्न	१०४
१२. आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही सबका कारण है	११२
१३. आनन्द सम्बन्धी मीमांसा	१२०
१४. कामना रहित श्रोत्रिय को सब सुख स्वाभाविक हैं	१३३
१५. आनन्द का विवेचन और उसके ज्ञान का फल	१४७
१६. भृगुवल्ली	१५३
१७. अन्न, प्राण, मन, बुद्धि का अन्तरात्मा आनन्द ही ब्रह्म है	१६१
१८. अन्न की महिमा और उसके व्रत	१७१
१९. अतिथि महिमा	१८१
२०. मानुषी दैवी आध्यात्मिक उपासना	१९०

संस्मरण (७)

[स्वातन्त्र प्रेम]

सर्वं परवश दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।*

छप्पय

परवशता में मिलै मिठाई तनिक न भावै । ६
प्राप्त होहि स्वातन्त्र अलोनी रोटी खावै ॥ ८
कनक पींजरा सुघर मिलै मेवा भोजन हित ।
तऊ न तोता मुदित रखै स्वच्छन्द गगन चित ॥
परवश में दुख ही सतत, सुख स्वतंत्रतामहँ मिलत ।
पशु पक्षी परतंत्रता, तजि स्वतन्त्र है सुख लहत ॥

एक बार जनकनन्दिनी भगवती वैदेही अपनी सखी सहेलियों के सहित अपने क्रीडा कानन में विचरण कर रही थीं। वहाँ उन्होंने एक वृक्ष पर एक शुक दम्पती को बैठे देखा। शुकी संस्कृत के श्लोकों का विशुद्ध वाणी में गान कर रही थी। उसका स्वर मधुर था, कहने का ढग मधुर था। उच्चारण शुद्ध था। उसके कथन का भाव था, कि अयोध्यानरेश महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्रजी होंगे। वे ससार मे सबसे अधिक सुन्दर होंगे, वे समस्त सद्गुणों की खानि होंगे। वे अनुपम, साहसी, तेजस्वी, यशस्वी तथा तपस्वियों जेसे स्वभाव वाले होंगे। शूरवीरता मे

---

* परवशता म ही समस्त दुख हैं, अपन वश मे रहना इसमे सब सुख ही सुख हैं।

उनके सदृश संसार में कोई दूसरा शूरवीर नहीं होगा। वे विनयी, शीलवान्, सदाचारी, मधुरभाषी, सर्वप्रिय, मातृपितृ भक्त, उदार, धैर्यवान्, साहसी, मृदुल, परोपकारी तथा सर्वगुणसम्पन्न होंगे। वे अपने लघुभ्राता लक्ष्मण के सहित महामुनि विश्वामित्र के साथ मिथिलापुरी में पधारेंगे, शिव के धनुष का खंडन करके जनक दुलारी सीताजी के साथ विवाह करेंगे। सीता ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न पति को पाकर परम प्रमुदित होंगी। दोनों की संसार में अनुपम जोड़ी होगी। कविगण उनके यश का गान करते-करते थकेंगे नहीं।

जो कन्या अभी कुमारी है, जिसके मन में वयस्क होने पर एक अनुपम वर पाने की प्रबल इच्छा है, किन्तु अभी तक उसका किसी से सम्बन्ध नहीं हुआ है। सहसा उसे कोई सुखद सम्वाद सुना दे, उसके भावी पति का पता बता दे, उसके देव दुर्लभ गुणों का बखान कर दे, तो उसे कितनी प्रसन्नता होगी? इस सम्वाद से सीताजी की भी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उनके रोम-रोम खिल उठे। अब वे इस शुभ सम्वाद को सुनाने वाली को अपने वश में रखने के लिये लालायित हो उठीं। उन्होंने अपनी सखियों से सम्मति की। किसी भी प्रकार इस शुकी को पकड़ना चाहिये। शुकी पेड़ पर से उड़कर नीचे एक छोटी लता की डाल पर बैठकर चहकने लगी। पीछे से चुपके-चुपके एक सखी ने आकर उसके ऊपर वस्त्र डाल दिया, उसे पकड़ लिया और पकड़ कर जानकीजी को उसे दे दिया। उसका पति अपनी पत्नी को पकड़ा देखकर दुखी हुआ, अश्रु बहाने लगा।

सीताजी ने शुकी से पूछा—"तुमने यह गायन कहाँ से सीखा?"

शुकी ने बताया—"हम भगवान् वाल्मीक के आश्रम के वृक्षों

पर निवास करने वाले पक्षी हैं। वाल्मीकि मुनि ने एक रामायण महाकाव्य की रचना की है। उनके शिष्य उस काव्य का गायन करते हैं। उनके मुख से सुनते सुनते हमें भी यह काव्य कंठस्थ हो गया है।"

सीताजी ने कहा—"राम कैसे हैं ? उनके गुण क्या-क्या हैं ? उनका सौन्दर्य कैसा है ? इसे मुझे तुम पुनः सुनाओ। मेरी अभी उसे सुनने से तृप्ति नहीं हुई है ?"

शुकी ने पुनः सुनाया। सीताजी ने उससे पुनः सुनाने का आग्रह किया। इस प्रकार कई बार सुनाने पर भी सीताजी की तृप्ति नहीं हुई, तब शुकी ने पूछा—"राजकुमारी ! तुम कौन हो ?"

सीताजी ने कहा—"महाराज मिथिलेश विदेह की राजकुमारी वह सीता मैं ही हूँ। मेरे प्राणनाथ राघवेन्द्र कब आवेंगे ?"

शुकी ने कहा—"राजकुमारी ! आज हमारा बड़ा सौभाग्य है, जिन जनकनन्दिनी के अनुपम सौन्दर्य की बातें हम काव्यों में सुनते रहे थे, उनके आज साक्षात् दर्शन हो गये। मैंने आपकी आज्ञा का पालन कर दिया। कई बार रामचरित सुना दिया। अब आप मुझे छोड़ दीजिये। मुझे देरी हो रही है, मेरे पति मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

जानकीजी ने कहा—"शुकी ! तुमने मुझे अत्यन्त ही सुखद सम्वाद सुनाया है, तुम्हारी वाणी परम मधुर है, अब मैं तुम्हें छोड़ूँगी नहीं। जब रघुकुल भूषण श्री राघवेन्द्र के साथ मेरा विवाह हो जायगा, वे आकर मेरा पाणिग्रहण कर लेंगे, तब मैं तुम्हें छोड़ सकती हूँ। मैं तुमसे नित्य यह मधुर कथा सुना करूँगी।"

शुकी ने कहा—"देखो, राजकुमारी ! मैं गर्भिणी हूँ, मैंने और मेरे पति ने एक वृक्ष पर बड़ा सुन्दर घोंसला बनाया है। उसमें मैं

बच्चा दूँगी, उसी में मैं रहूँगी। बच्चों के लिये दूर-दूर से चुगा लाकर उनके मुख में दिया करूँगी, उनका पालन-पोषण करूँगी। मुझे बहुत दुखी मत करो, मेरे पति मेरी प्रतीक्षा में बैठे रो रहे हैं, मुझे छोड़ दो।"

सीताजी ने कहा—"देखो, शुकी! तुम घास फूँस के घोंसले के लिये इतनी उत्सुक हो। मैं तुम्हारे लिये सुवर्ण का सुन्दर पींजरा बनवाऊँगी। उसमें हीरा मोतियों की झालर लगवाऊँगी। तुम्हें बैठने को रेशमी गद्दे बनवाऊँगी। खाने को सुवर्ण के पात्रों में नित्य नूतन मेवा, मिश्री, दाख, खजूर, छुआरे, बादाम तथा भाँति-भाँति की मिठाइयाँ दूँगी। मेरे यहाँ ही तुम बच्चों का प्रसव करना, मैं तुम्हारा सब प्रबन्ध करूँगी। तुम्हें प्राणों से भी अधिक प्यार के साथ रखूँगी।"

शुकी ने कहा—"राजकुमारी! तुम अभी नितान्त बच्ची ही हो, तुम पति के सुख से और स्वातन्त्र्य की भावना से सर्वथा अनभिज्ञ हो। जो सुख मुझे स्वतन्त्र रहकर-स्वच्छन्द गगन में-अपने पति के साथ उस घास फूँस के घोंसले में मिलेगा उसका सहस्रांश भी सुख मुझे तुम्हारे सोने के पींजड़े में, सुवर्ण के बर्तनों में, रेशमी गद्दों में, मेवा, मिठाई तथा भाँति-भाँति के फलों में नहीं मिल सकता। हम स्वतंत्रता प्रेमी पक्षी हैं। हमें स्वतन्त्रता अत्यंत प्रिय है। परवशता में दुःख ही दुःख है, स्वतन्त्रता में सुख ही सुख है फिर चाहे एक समय दाना सूखे टुकड़े ही क्यों न मिलें। माँ, तुम मेरी स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो। मुझे स्वच्छंद आकाश में छोड़ दो। मैं तुम्हारी मंगल कामना करूँगी। भगवान तुम्हारा भला करें। तुम मुझे परवश मत बनाओ। परतन्त्रता के पींजड़े में बन्द मत करो।"

सीताजी ने कहा—"शुकी! तुम चाहे एक बार कहो, चाहे

लाख बार कहो। जब तक श्री रामचन्द्रजी के साथ मेरा विवाह न होगा, तब तक मैं तुम्हें नहीं छोड़ूगी, नहीं छोड़ूँगी, कदापि नहीं छोड़ूँगी।"

शुकी ने जब देखा, सीताजी किसी भी भाँति मानने वाली नहीं हैं, तब उसने शाप दिया—"जैसे तुमने मुझे गर्भावस्था में अपने पति से पृथक् कर दिया है, उसी तरह तुम भी गर्भावस्था में अपने पति से वियुक्त हो जाओगी।" ऐसा कहकर उसने अपने प्राणों का परित्याग कर दिया।

शुकी ने स्वतन्त्रता के ऊपर सुवर्ण का घर, सुवर्ण के पात्र, रेशमी गद्दे, भाँति-भाँति के स्वादिष्ट व्यंजनों का तथा प्राणों का भी परित्याग कर दिया, किन्तु परतन्त्र रहकर जीवन व्यतीत करना स्वीकार नहीं किया। अत्याचारी के अधीन होकर रहना, आततायियों से सुख सुविधा पाकर अपनी स्वतन्त्रता को बेच देना, उनके दास बनकर रहने से तो मर जाना ही अच्छा है।

मुसलमान आततायियों, धर्मोन्मादियों, दस्युधर्मियों ने हिन्दु जाति पर जैसे जघन्य अत्याचार किये हैं, उनका यहाँ उल्लेख करना व्यर्थ है। इतिहास के पन्ने-पन्ने में उनके अमानुषीय अत्याचारों की गाथायें भरी पड़ी हैं। हिन्दु धर्म को सदा-सदा के लिये नष्ट करने और अपने मजहब को स्थापित करने को उनसे जो भी क्रूरसे क्रूरतम अत्याचार-पापाचार-व्यभिचार बन सके वे उन्होंने सब किये। हिन्दु जाति उनसे ऊब गयी थी। लगभग एक सहस्र वर्षों तक वह उनसे लोहा लेती रही। उस संघर्ष में हिन्दु जाति का कितना ह्रास हुआ, यह कहने की बात नहीं, अनुभव करने की वस्तु है। जैसे अमावस्या की घोर रात्रि के अन्त में ऊषा काल की लालिमा दृष्टिगोचर होती है, अरुणोदय का प्रकाश दिखायी देता है, वैसे ही उन घोर अत्याचारों के अन्त में-राजस्थान में महाराणा

प्रताप, पंजाब में महाराणा रणजीत सिंह, सिक्खों के धर्मरक्षक दशों गुरु, महाराष्ट्र में हिन्दुपदपादशाही के संस्थापक छत्रपति शिवाजी तथा बहुत से सन्त महात्मा उदय हुए। उन्होंने इस घोर अन्धकार में प्रकाश की किरण दिखायी। आसेतु हिमालय पुनः हिन्दु धर्म की स्थापना हुई। पुनः छत्रपति शिवाजी, महाराज रणजीत सिंह, महाराणा प्रताप आदि शासकों को गो, ब्राह्मण प्रतिपालक की गौरवमयी उपाधि से विभूषित किया जाने लगा। किन्तु हिन्दु जाति के दुर्दिनों का अभी अन्त नहीं होने वाला था। ज्यों-ज्यों मुसलिम साम्राज्य का ह्रास होने लगा, त्यों-त्यों एक तीसरी शक्ति शनैः-शनैः पुनः उभरने लगी। वह था फिरंगियों का मायाजाल। पश्चिम की गोरी जातियों में सर्वप्रथम फ्रांसीसियों ने इस भारत भूमि के कुछ खण्डों पर अपना अधिकार जमाया था। फ्रांस के होने से हम लोग उन्हें फिरंगी कहते थे। फिरंगियों की स्त्रियाँ गोरे रंग की होती थीं, उनमें भारतीय महिलाओं की भाँति पातिव्रत का परम कठोर बन्धन नहीं होता था, वे भारतीय स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्द होती थीं। भारतीयों के साथ संसर्ग होने से भारतीयों में एक रोग होने लगा। उसका नाम भी फिरंग रोग रखा गया। चरक सुश्रुत में फिरंग रोग का कहीं उल्लेख नहीं। तत्कालीन आयुर्वेद के विद्वान् माधव ने अपने माधव निधान वैद्यक ग्रन्थ में सर्वप्रथम फिरंग रोग का वर्णन किया है।

फ्रांसीसी तो चले गये, उसी समय अँगरेज व्यापारी इस देश में आये। वे फ्रांसीसियों की भाँति ही गोरे थे, अतः इन्हें भी हम लोग फिरंगी ही कहते थे। जब पहिले ही पहिल नल लगाये गये और भारतीयों ने नल का विरोध किया तो हम लोग बालकपन में गाया करते थे—

फिरंगी नल मति लगवावें।
नल को पानी बहुत बुरो मेरी तबियत घबड़ावें ॥ फिरंगी० ॥

किसी को क्या पता कि आगे चलकर ये ही फिरंगी व्यापारी इस देश के कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता बनकर लगभग डेढ़ शताब्दी तक हमारे ऊपर निरंकुश शासन करेंगे। हमारी सद्यः प्राप्त स्वतन्त्रता का पुनः अपहरण कर लेंगे। उस समय ब्रिटिश साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा था। समस्त देशों में उसकी धाक थी छोटे बड़े लगभग सवा सौ देश ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत थे। प्रसिद्धि ऐसी थी, कि ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्य अस्त ही नहीं होता था।

मुसलिम अत्याचारों से त्रस्त भारतीयों ने पहिले तो इन गोरों को अपना त्राता समझकर शरण दी किन्तु जब दोनों ही समझ गये कि ये दो बिल्लियों के बटवारे में बन्दर का काम कर रहे हैं, दोनों की रोटियों को चट करने वाले हैं, तो दोनों ने मिलकर इन्हें भगाने की योजना बनायी। इन गोरों के विरुद्ध पहिली क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। वही सन् १८५७ का प्रथम स्वातन्त्र संग्राम था। जो सर्वथा असफल हुआ और गदर के नाम से प्रख्यात किया गया। उसके पश्चात हमारा देश जो अब तक गोरों की इस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन था अब ब्रिटिश सामाज्य के अधीन हो गया। हम अँगरेजों के दास कहलाये जाने लगे। उन दिनों साम्राज्ञी विक्टोरिया ब्रिटिश सिंहासन पर सिंहासनासीन थीं। उन्होंने घोषणा की—किसी भी प्रकार किसी के धार्मिक कार्यों में कैसा भी हस्तक्षेप न किया जायगा,सभी को अपने अपने धार्मिक कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।

हिन्दुओं का सर्वस्व तो धर्म ही था, उसके लिये उन धार्मिक स्वतन्त्रता ही सबसे बड़ी वस्तु थी। अब तक हि—

के ही लिये संघर्ष कर रहे थे। धन को उन्होंने कभी प्राधान्यता नहीं दी। किन्तु शनैः शनैः हिन्दुओं को प्रतीत होने लगा—कि यह धार्मिक स्वतन्त्रता केवल दिखावटी है, भीतर ही भीतर हिन्दु समाज को ईसाई बनाने की योजना चल रही है। ईसाई धर्म प्रचारकों को न्यायालयों में, रेलों में, सेनाओं में विशेष सुविधायें दी जा रही हैं। राज्य का धन किसी भी तिकड़म से ईसाइयत के प्रचार में व्यय किया जा रहा है। शासन की समस्त बागडोर विदेशियों के ही अधीन है। समस्त बड़े-बड़े अधिकारी विदेशी ही बनाये जा रहे हैं। भारतीयों को कोई उच्चपद दिया ही नहीं जाता, तो कुछ अँगरेजी पढ़े लिखे लोगों ने हमें गृहशासन का (होमरूल) अधिकार मिले, इसके लिये गृहशासन समिति (होमरूल लीग) बनायी। किन्तु इसका प्रचार सर्वसाधारण जनता में नहीं हुआ। कुछ आधुनिक शिक्षा के शिक्षित कलहोपजीवी (वकील) आदि में ही रहा।

महात्मा गांधी ने भारतवासियों की नस पहिचानी। उन्होंने अपने आंदोलन में धार्मिकता का पुट दे दिया इसलिये यह आन्दोलन सार्वजानिक बन सका, जन-जन में इसका प्रचार हो गया। यह देश सदा से धर्मप्रधान, साधु सन्त महात्माओं, त्यागी, विरागी आचार्यों द्वारा संचालित होता आया है। अतः गान्धीजी ने --

(१) सर्वप्रथम तो महात्माओं जैसा वेष धारण किया केवल एक लँगोटीधारी बन गये।

(२) दूसरे उन्होंने नित्य धार्मिक प्रार्थना आरम्भ की। जिसमें गीता, महाभारत, पुराण तथा उपनिषद् आदि के चुने-चुने श्लोक होते थे।

(३) तीसरे नित्य राम धुनि आरम्भ की जिसमें वे ही पुरानी

ध्वनियाँ "रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम।"

(४) विदेशी वेष का बहिष्कार।

(५) विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार।

(६) विदेशी भाषा का बहिष्कार।

(७) गौरक्षा को प्राथमिकता।

(८) हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानना।

(९) अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि व्रतों पर बल देना।

(१०) रामायण गीता का नित्य पाठ और प्रचार।

ये कार्य ऐसे थे जिन्हें धार्मिक जनता चाहती थी और हमारे प्राचीन सन्त महात्मा सदा से करते आये हैं। किन्तु यह कहने में कोई सकोच नहीं कि महात्मा गान्धी राजनतिक व्यक्ति अधिक थे। धार्मिक बहुत कम। वे जो धार्मिक कृत्य करते थे, वे केवल जनता को अनुकूल रखने को करते थे, ये कार्य राजनैतिक कार्यों के लिये एक प्रकार की ढाल थे। यदि वे विशुद्ध धार्मिक होते, तो आज देश की दूसरी ही दशा होती, कोई धार्मिक व्यक्ति प्रधान मन्त्री होता और जो देश सदा से धर्म प्रधान रहा है, जिसने सम्पूर्ण ससार को धर्म की शिक्षा दी है उसकी आज ऐसी दुर्दशा न होती। वह अपने को बनावटी धर्मनिरपेक्ष (हिन्दुत्व द्रोही) कहने में गौरव का अनुभव न करता। अस्तु, गान्धीजी ने राजनेतिक कार्य की सिद्धि के लिये धार्मिक कृत्यों का प्रयोग अस्त्र के रूप में किया। इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है 'भारत में अँगरेजी राज्य' के लेखक श्री सुन्दरलालजी प्रयाग से हिन्दी उर्दू लिपि में एक मासिक पत्र निकालते थे। उसमें उन्होंने गान्धीजी के सम्बन्ध में लिखा था तब साबरमती आश्रम पहिले ही पहिल स्थापित हुआ था। तब वह सत्याग्रह आश्रम के नाम से पुकारा जाता था। अहमदाबाद के गुजराती सेठों की

सहायता से चलता था। उसकी एक छपी विज्ञप्ति में आश्रम-वासियों के नियम छपे थे। आश्रमवासियों के पालनीय नियमों में एक नियम यह भी छपा था, कि आश्रमवासी आश्रम से बाहर जाने पर किसी के हाथ का बनाया भोजन न करे। यदि करना ही हो तो केवल दूध फल ले सकते हैं।

हमारे सुन्दरलालजी जिन्हें हम हँसी में मौलवी सुन्दरलाल कहा करते हैं, जो मुसलमानों के सबसे बड़े पक्षपाती हैं, इस दकियानूसी पोंगापन्थी कहे जाने वाले नियम को कैसे स्वीकार कर सकते थे? उन्होंने पूछा—"बापू! यह आपने कैसा नियम बना दिया? (अर्थात् यह तो चौका-चूल्हे छूआ-छूत का समर्थक नियम है।)"

तब उन्होंने कहा—"यह नियम तुम्हारे लिये नहीं है। यह तो परिस्थितिवश बनाना पड़ा।"

पहिले आश्रम में उच्चवर्ण वाले ही भोजन बनाते थे। फिर ज्यों-ज्यों उनका प्रभाव बढ़ता गया त्यों-त्यों इन नियमों में ढिलाई होने लगी और फिर तो हरिजन भी बनाने लगे। पहिले वे तीर्थ-यात्रा, व्रत, पूजन, यज्ञोपवीत संस्कार सब मानते थे। काशी विद्या-पीठ के बाबू भगवान दासजी कर्मणाजाति के पक्षपाती थे। जब गान्धीजी से पूछा गया, तो उन्होंने कहा—"जाति जन्मना और कर्मणा दोनों ही है।" वेपीछे केवल कर्मणा ही मानने लगे।

मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि वे राजनीति प्रधान व्यक्ति थे। इसमें उनका भी क्या दोष? भगवान् ने जिस कार्य के लिये उन्हें भेजा था, वही कार्य उन्होंने किया। उस समय भगवान् ऐसे ही व्यक्ति की आवश्यकता समझते होंगे।

मैं जब-जब भी बाहर जाता, और किसी किले को टूटा-फूटा उजाड़ पड़ा देखता, तो पता लगता अँगरेजों ने इसे ढहा दिया है।

यहाँ का राजा भाग गया, या मार डाला गया। अँगरेजों से पहिले देश में सर्वत्र छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य होते थे। अँगरेजों को हाथरस, मुरसान, भरतपुर आदि छोटे-छोटे राज्यों से घोर युद्ध करना पड़ा था। उनकी नीति ही यही थी, कि कोई भी झूठा सच्चा कारण दिखाकर रियासतों को अँगरेजी राज्य में मिला लेना। इस प्रकार सहस्रों रियासतों को पूर्णरूप से या अंशरूप से अँगरेजी राज्य में मिला लिया था। बहुतों को पंगु बना दिया, बहुतों से औपनिवेपिक सन्धि कर ली। फिर भी ६००।७०० राज्य बचे ही रह गये थे। उन सब राज्यों को स्वराज्य के पश्चात् हमारे पटेलजी ने भारतीय संघ में मिला लिया। भारत का एक भाग पाकिस्तान बन गया। भारत की तीन छोटी-छोटी रियासतें नैपाल, भूटान, सिक्किम नाम मात्र को शेष रह गयी हैं।

जब इन टूटे फूटे किलों को मैं देखता; तो मेरे मन में बार-बार यही बात उठती, सात समुद्र से पार आकर मुट्ठी भर विदेशियों ने कैसे हमारे इस महान विस्तृत देश पर अपना अधिकार जमा लिया। मेरे ही मन में ऐसे भाव उठते हों सो बात नहीं। प्रत्येक स्वातन्त्र्यप्रेमी युवक के मन में ये भाव उठते थे। इसके लिये प्रत्यक्ष कुछ करने कराने की तो उस समय सामर्थ्य ही नहीं थी। बहुत से गुप्त संगठन बन गये थे। जो अपने-अपने ढंग से स्वतंत्रता प्राप्ति का प्रयत्न करते थे। किन्तु उस समय अँगरेजों का इतना अधिक आतंक था, कि कोई खुलकर सम्मुख आने का साहस ही नहीं करता। तभी गांधी जी असहयोग अस्त्र लेकर अँगरेजी सरकार के सम्मुख आये। उन्होंने देश भर के युवकों से इस स्वराज्य यज्ञ की बलि वेदी पर बलिदान होने के लिये आह्वान किया। उस यज्ञ के एक अत्यन्त ही नगण्य होता के रूप में मैं भी उस यज्ञ में सम्मिलित हुआ।

उस समय स्वतन्त्रता की लहर देश के कोने-कोने में ऐसी जाग्रत हो गयी थी कि बिना देखे कोई उसकी कल्पना ही नहीं कर सकता था। महात्मा गान्धी के प्रयत्न से भारतीय राष्ट्रीय सभा (आ० इं० कांग्रेस) ने अँगरेजी सरकार से असहयोग करने का प्रस्ताव स्वीकृत कराया। पहिले तो कुछ मूर्धन्य नेता-जैसे लाला लाजपत राय-महामना मालवीय आदि इससे पूर्णरीत्या सहमत नहीं थे, किन्तु पीछे गांधी की आँधी ऐसी चली कि नरम दल के कुछ इने गिने नेताओं को छोड़कर सभी उसमें सम्मिलित हो गये। उस समय असहयोग आंदोलन के ये मुख्य-मुख्य कार्य थे।

(१) अहिंसा, सत्य पर आरूढ़ रहना। कोई अपने साथ हिंसक व्यवहार भी करे, तो उस पर प्रहार न करना। उसके सब अत्याचारों को सह लेना। किसी से कड़वे वचन भी न कहना।

(२)सरकारी न्यायालयों का सर्वथा त्याग। अपने अभियोग सरकारी न्यायालयों में न ले जाना, पंचायतों द्वारा अपने यहाँ ही समस्त अभियोगों को तै कर लेना।

(३) सरकारी विद्यालयों का सर्वथा त्याग। सरकारी विद्यालयों को छोड़कर राष्ट्रीय विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करना। राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना करना। भारतीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना।

(४) विदेशी वस्त्रों का तथा जितनी संभव हों समस्त विदेशी वस्तुओं का परित्याग। स्वदेशी हाथ की बनी खद्दर ही पहिनना। खद्दर का उत्पादन बढ़ाना। प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से चर्खा कातना।

(५) पकड़े जाने पर बिना किसी आपत्ति के सहर्ष जेल चले जाना। वहाँ जाकर अपना किसी प्रकार का बचाव न करना।

जो दंड दिया जाय उसे सहन करना। यदि दंड स्वरूप में रुपयों का दंड दिया जाय तो रुपया नहीं देना।

(६) तिलक स्वराज्य कोष के लिये एक करोड़ रुपया एकत्रित करना।

(७) राष्ट्रीय महासभा (आ० इ० कांग्रेस) के एक करोड सदस्य बढ़ाना।

(८) सरकारी नौकरी, वकालत तथा और भी सरकार को सहयोग देने वाले समस्त कार्यों को त्याग देना।

इस प्रकार यह असहयोग आन्दोलन की मुख्य-मुख्य बातें थीं। देश की स्वतन्त्रता के नाम पर की हुई गाँधीजी की घोषणा पर अनेकों सरकारी नौकरों ने नौकरियाँ छोड़ दीं, बहुत से वकीलों ने वकालत छोड़ दी। असंख्यों छात्रों ने विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय छोड़ दिये। उस समय त्याग की कैसी भावना आ गयी थी। बड़े-बड़े धनिक जो सर्वदा सुख से जीवन व्यतीत करते थे, जिनका जीवन ही भोग विलासमय था, वे सर्वस्व त्यागकर खादी पहिनकर, चनों पर निर्वाह करते हुए गाँव-गाँव घूमने लगे।

उन दिनों पंडित मोतीलाल जी नेहरू और पंडित जवाहरलाल जी नेहरू के त्याग की सर्वत्र बड़ी ख्याति थी। पंडित मोतीलाल जी हमारे प्रयाग के ख्यात नामा वकील माने जाते थे। वकालत से उनको कितनी आय थी, इसका यथार्थ अनुमान कोई कर ही नहीं सकता था। उनका आनन्द भवन प्रयाग में दर्शनीय स्थान माना जाता था, दूर-दूर से लोग आनन्द भवन को देखने आया करते थे, उनके विलासमय जीवन की अनन्त कथायें प्रचलित थीं। हम तो यहाँ तक सुनते थे, कि उनके कपड़े फ्रांस की राजधानी पेरिस से धुलकर आते थे। यहाँ के धोबी उनके कपड़े धो ही नहीं सकते थे। किन्तु ये झूठी बातें थीं। पं० जवाहरलाल जी ने उनका

किया है। पं० जवाहरलाल जी भी थोड़े ही दिन पूर्व विदेशी वकील (बैरिस्टर) बनकर विदेश से लौटे थे। वे भी प्रयाग के उच्च न्यायालय में वकालत करते थे। बाप बेटों के त्याग की अनेकों गाथायें प्रचलित थीं। लोगों का कहना है बेटा ही बाप को त्याग के पथ पर खींच लाया था। पं० मोतीलाल जी के जवाहरलाल जी इकलौते ही पुत्र थे और वे उन्हें अत्यधिक प्यार करते हैं। संभव है पुत्र स्नेह के वशीभूत होकर ही उनका त्याग की ओर झुकाव हुआ हो। उनके वकालत त्याग के सम्बन्ध की एक किंवदन्ती हमने और भी सुनी थी, उसमें झूठ सच कितना है इसे तो भगवान् ही जानें।

महात्मा गाँधी प्रयाग आये। उन्होंने पं० मोतीलाल जी नेहरू से मिलने का समय माँगा। पंडितजी ने कहा—"मुझे मिलने का समय नहीं है।"

महात्माजी ने कहा—"मुझे अधिक समाय नहीं, केवल दो मिनट चाहिये।"

पंडित जी ने न्यायालय जाते समय मोटर पर चढ़ते समय दो मिनट देना स्वीकार किया। महात्माजी नियत समय पर पहुँच गये और उन्होंने कहा—"मैं आप का अधिक समय न लूँगा। मैं आप से एक अभियोग के सम्बन्ध में सम्मति लेने आया हूँ।"

पंडितजी ने पूछा—"कहिये क्या अभियोग है ?"

महात्माजी ने कहा—"हमारे इतने बड़े देश पर इन विदेशी अँगरेजों ने बलपूर्वक अधिकार जमा लिया है, इनसे अपना अधिकार पुनः कैसे लिया जाय, इसी विषय में आप से सम्मति लेने आया हूँ।" किंवदन्ती को गढ़ने वालों का कहना है—यह बात पंडितजी के हृदय में तीर के समान लग गयी और फिर उन्होंने

न्यायालय जाना स्थगित कर दिया, गान्धीजी से कई घण्टों तक बातें की। उसी समय अपनी वकालत छोड़कर वे महात्माजी के साथ हो लिये।

इस किंवदन्ती में कितना सत्य है, कितना झूठ, किन्तु इसका सार इतना ही है, कि देश की स्वतंत्रता के आह्वान पर वे विलासी से त्यागी बन गये। पंडितजी से भी बढ़कर उनके पुत्र के त्याग की प्रशंसा अधिक थी, उनका तो रहन-सहन, स्वभाव सभी बदल गया था।

उसी त्याग की आँधी में देश को स्वतंत्र करने–विदेशियों को अपने स्वदेश से भगाने की–भावना से मैं भी इन असहयोगियों की मंडली में सम्मिलित हो गया। किसी अधिकार प्राप्ति की भावना से नहीं। उस समय अधिकार प्राप्ति का तो किसी के सम्मुख प्रश्न ही नहीं था। किसी को भी यह विश्वास नहीं था, कि हमारे जीवन में अँगरेज लोग राज्य छोड़कर चले जायँगे। जैसे आज तो लोग राष्ट्रीय सभा में इसी भावना से सम्मिलित होते हैं कि हमें विधान सभा या लोक सभा की सदस्यता का स्वीकृति पत्र मिल जायगा। सदस्य होते ही मंत्री बनने की भावना व्यक्त करने लगते हैं। उन दिनों ये संभावनायें ही नहीं थीं। उस समय तो सब यही सोचते—"हम कब पकड़े जायँगे, कब जेल जायँगे। कब फाँसी पर लटकाये जायँगे।"

सब लोग त्याग करने को लालायित थे। किसी ने सरकारी नौकरी त्याग दी है, किसी ने वकालत, पढ़ाई, विदेशी माल की बिक्री त्याग दी है, किसी ने बाल बनवाना त्याग दिया है, कोई अन्न त्यागकर फलाहरी बन गये है, किसी ने वस्त्र त्याग दिये हैं, लँगोटी लगाकर रहने लगे हैं। बड़े-बड़े घरों के लड़के, बड़े-बड़े

सरकारी नौकर, वकील, बड़े धनी पागलों की भाँति गाँव-गाँव में प्रचार करते घूम रहे हैं। उनमें बहुतों का त्याग अनुकरणीय था।

हमारे जैसे लोगों का त्याग कोई त्याग नहीं। हम देहात के रहने वाले, रूखा-सूखा भोजन करने वाले, क्षेत्र में खाने वाले संस्कृत के विद्यार्थी हमारा कोई त्याग नहीं था। हमारे लिये नित्य १०। ५ कोश चलना, गाँव-गाँव घूमना एक दो दिन भूखों रह जाना साधारण-सी बातें थीं। त्याग तो उनका कहा जावेगा, जो समस्त सुख सुविधाओं को त्यागकर जेलों में सूखी रोटी खाने को तैयार होकर गाँव-गाँव घूम रहे थे।

हमें तो असहयोगी बनने में लाभ ही था। एक तो हम जहाँ भी जाते, जिस गाँव में जिसके द्वार पर जाते वहीं आदर पाते। एक तो संस्कृत के विद्यार्थी, दूसरे नाम से, वेष से साधु। भारतीय समाज में सदा से साधुओं का आदर होता आया है, उस समय तक साधु वेषधारियों से—अब की भाँति-घृणा नहीं हुई थी। लोग वेष का भी आदर करते। अतः सैकड़ों सहस्रों नर-नारी हमारा भाषण सुनने आते। कहीं-कहीं शोभा यात्रा भी निकाली जाती। लोग आदर सत्कार करते, भोजन कराते और प्रशंसा करते। कुछ सरकार से डरने वाले, धनिक व्यापारी वर्ग अवश्य हमसे दूर-दूर रहते, किन्तु हृदय से वे भी आदर करते।

हमारे एक सहाध्यायी थे स्वामी योगानन्दजी यति हम दोनों मिलकर एक गाँव से दूसरे गाँव में जाते। नगर में बहुत से कार्य-कर्ता थे, किन्तु वे ऐसे ही थे। कोई शोभायात्रा हो उसमें साथ हो जाना, कोई सभा हो उसमें सम्मिलित हो जाना, कोई नेता आवे तो उसके पीछे लग जाना। सब कुछ छोड़कर चौबीस घंटे इसी काम में लगे रहने वाले हम दो ही थे। स्वामी जी का संसर्ग कुछ धनिक लोगों से भी था, एक तो वे एक पैर से लँगड़े थे, दूसरे सुख

सुविधा के आदी हो गये थे। वे भी बहुत दौड़ धूप नहीं कर सकते थे। बहुत कहने पर साथ चले जाते, किन्तु वे अधिक कार्य नगर में ही करना चाहते थे। मेरे आगे नाथ न पीछे पगहा। मुझे चौबीसों घंटे यही धुनि थी। एक चदरा, एक लँगोटी यही मेरा वेष था। खाने को जो भी मिल जाय, कोई किसी प्रकार का व्यसन नहीं, कोई आवश्यकता नहीं। एक मुसलमान सज्जन ने बाजार में दुकानों के ऊपर तीन कमरे दे रखे थे, उन्हीं में मैं अकेला रहता था, एक में २-४ चरखे भी रख रखे थे। उसका नाम स्वराज्य आश्रम रख दिया था, वहाँ जो आता उसे चरखा चलाना सिखाते। नगर में भोजन के लिये किसी-किसी के यहाँ भटकना पड़ता। गाँवों में तो जिसके यहाँ जाते वही खिला देता। अतः हमें गाँवों में ही घूमना सुविधाजनक होता। कहीं घोड़े से, कहीं ऊँट से, कहीं बैलगाड़ी से और कहीं पैदल ही जाते। किसी गाँव में राष्ट्रीय पाठशाला खुलवाते, कहीं पंचायत की स्थापना करते। इस प्रकार उस जनपद में बड़ी प्रसिद्धि हो गयी।

उन दिनों देश में बेगार प्रथा थी, दरोगा, तहसीलदार, डिपुटी जो भी आते बेगार लेते थे। इसके विरुद्ध आंदोलन हुआ। इसमें बिजनौर के पं० जगदीशदत्तजी सोती ने बड़ा काम किया था, एक दिन वे खुरजा आये, उनके साथ एक दूसरे भी सज्जन थे, वे अपने व्याख्यानों में जनता को बहुत हँसाते थे, अपने को सोती-जी का शिष्य बताते थे। उन दिनों सर्वसाधारण जनता ऐसे ही व्याख्यानों का आदर करती थी, जिसमें सरकार की कड़ी से कड़ी आलोचना हो, और जिस में हँसी विनोद की मात्रा अधिक हो। जनता को जो जितना ही अधिक हँसाता था, वह उतना ही कुशल वक्ता माना जाता था। उन दिनों मैं एक लट्ठ रखता था और ऊट पटाँग बकता था, जनता को हँसी विनोद की

सुनाकर हँसाता भी था, अतः वक्ताओं में पाँचवा सवार मैं भी अपने को लगाता था।

हाँ, तो सोतीजी के शिष्य का व्याख्यान जनता को बहुत प्रिय लगा। सबके आग्रह पर हमने उन्हें २-३ दिनों और रोक लिया। नित्य उनका व्याख्यान कराते। अड्डा में साथ ही रहते। सोतीजी अत्यधिक स्नेह करने लगे। मैंने सोतीजी से कहा—"हमारे यहाँ कोई कार्यकर्ता नहीं, आप अपने यहाँ से कोई कार्यकर्ता हमारे यहाँ भेजिये।"

सोतीजी ने कहा—"एक लड़का सेना में से नौकरी छोड़कर आया है, वह उस जनपद से पृथक् कहीं काम करना चाहता है, यदि आवेगा तो मैं उसे आपके यहाँ भेजूँगा।" ऐसा कहकर वे बिजनौर चले गये। ५-६ दिन के पश्चात् गले में झोला डाले एक युवक मेरे पास आया। उसने कहा—"आपने सोतीजी से किसी को भेजने को कहा था, उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है, मेरा नाम महावीर त्यागी है।"

त्यागीजी बड़े हँसमुख मिलनसार थे, उन्हें पाकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे तगा ब्राह्मण थे। बुलन्दशहर जिले में अनूपशहर बसी बुगरासी की ओर बहुत से तगाओं के गाँव हैं, वे खेती करते हैं उनमें बहुत से धनी और बड़े-बड़े भूमिधर भी थे। हम दोनों उधर गाँव-गाँव घूमने लगे। त्यागीजी सरकार की बड़ी तीक्ष्ण आलोचना करते। न कहना चाहिये वे भी कह डालते अतः जनता उनके व्याख्यान को बड़ी रुचि से सुनती। मैं जहाँ तक होता मर्यादा में बोलता। उधर एक एम० ए० पास और भी तगा जाति के कार्यकर्ता थे, वे भी अत्यन्त प्रभावशाली भाषण करते। पीछे वे पकड़े गये। त्यागीजी किसी कार्य से पुनः बिजनौर चले गये। मैं फिर अकेला रह गया।

मैं समझता था, मैं जनता को अपने व्याख्यानों में हँसाता हूँ इसलिये लोग मुझे देखकर प्रसन्न होते हैं, मुझे प्रणाम करते हैं। यह मैं नहीं समझता था, कि लोग मुझे एक चरित्रवान् व्यक्ति मानते हैं। दो घटनायें ऐसी घटी जिससे मै फिर बहुत सम्हलकर रहने लगा। पहिली तो बुलन्दशहर में घटी। बुलन्दशहर के बहुत से वकील वकालत छोड़कर राष्ट्रीय कार्य करने लगे थे।

हमारे यहाँ खुरजा में एक उपदेशक आये। अब उनके बारे में विशेष न कहूँगा, वे ऐसे ही सट्ट-पट्ट थे। पैसा बटोरने को उन्होंने कई प्रभावशाली भाषण कंठ कर लिये थे। हम तब तक इन सब तिकड़मों से अपरिचित थे, उन्होंने कहा—आप हमारे साथ बुलन्दशहर चलो। मैं चला गया। वहाँ राष्ट्रीय सभा के कार्यालय मे ठहरे। जो व्याख्यान उन्होंने खुरजे मे दिया था, वही अक्षरशः वहाँ दिया। वे कुछ अश्लील हँसी विनोद कर रहे थे। लोग उसमे रस ले रहे थे। उसी प्रसंग में मैंने भी कोई उसके सम्बन्ध मे विनोद की बात कह दी। उस समय और लोग तो हँसने लगे। एक बड़े वकील जो वकालत छोड़ चुके थे, बड़े गम्भीर होकर बोले—"ब्रह्मचारी जी! हम तो आपको एक आदर्श ब्रह्मचारी मानकर आपका बड़ा आदर करते हैं, आपके मुख से ऐसा शब्द शोभा नहीं देता।" उस समय मैं सन्न हो गया, मुझे बड़ी लज्जा आई। मैंने कहा—"बाबूजी! बड़ी भूल हो गयी। आगे से ऐसी भूल न होगी।" तब से मैं अपनी वाणी पर विशेष संयम रखने की यथाशक्ति चेष्टा करने लगा।

दूसरी घटना खुरजा रेल के संयुक्त स्टेशन पर घटी। महात्मा गांधी अलीगढ़ आये हुए थे। वे शेरवानी वकील की कोठी पर ठहरे हुए थे। बकरी का ही दूध पीते थे। खुरजे से सैकड़ों-सहस्रों मनुष्य बिना टिकट उनके दर्शनों को गये। उन दिनों लाखों मुसल-

मानों ने मांस खाना छोड़ दिया था। गौरक्षा के लिये मुसलमान भी हिन्दुओं के साथ प्रचार करने जाते। और गौरक्षा न करने के लिये सरकार की आलोचना करते। हिन्दु मुसलिम एक्य ऐसा फिर कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अलीगढ़ जुम्मा मसजिद में सभा होने वाली थी, हम पहिले ही मसजिद में पहुँच गये और सायंकालीन सन्ध्या मसजिद में ही बैठकर की। लाखों हिन्दु मुसलमान उसमें एकत्रित हुए। सभा समाप्त होने पर हम कहाँ रहते, पास में एक पैसा नहीं। भोजन का ठिकाना नहीं। स्टेशन पर आये और खुरजा की ओर जो भी गाड़ी आई उसी में बिना टिकट बैठकर चल दिये। खुरजा जंकशन पर उतरे। वहाँ एक बूढ़ा-सा आदमी यात्रियों से टिकट ले रहा था। मुझसे भी उसने पूछा—टिकट ?

मेरे पास टिकट कहाँ थी, मैं झूठ बोला—"टिकट मेरे एक साथी पर है।"

उसने कहा—"आप तब तक यहाँ खड़े रहें साथी को आ जाने दीजिये।" मैं खड़ा हो गया। बहुत देर हो गयी। साथी कोई होता तो आता। उस बुड्ढे ने पूछा—"कहाँ है आपका साथी ?"

झूठ को छिपाने को दूसरा झूठ बोला, मैंने कहा—"स्यात् खुरजा नगर जाने वाली गाड़ी में बैठ गया हो।" क्योंकि जंकशन स्टेशन से खुरजा नगर ३।४ मील है।

उसने कहा—"चलिये, उसी में देखा जाय।" मैं उसके साथ चल दिया। एक झूठ को छिपाने के लिये मनुष्य को कितने झूठ बोलने पड़ते हैं। मैंने १०।५ डिब्बों में झूठे ही देखा। कोई साथी होता तो मिलता। मैंने कहा—"यहाँ भी नहीं है।"

तब वह हँस पड़ा और अत्यन्त ही व्यंग के साथ बोला—"आपको लज्जा आनी चाहिये। इतने बड़े नेता, महात्मा होकर झूठ

बोलते हैं। एक तो आप बिना टिकट आये यही अपराध किया, फिर उस अपराध को छिपाने को आपने कई झूठ बोले। मेरी आप पर बडी श्रद्धा थी। मैं आपके व्याख्यानों को नियमित सुनता था। जनता के सम्मुख तो आप ऐसे आदर्श पुरुष बनते हैं और यहाँ ऐसी झूठी बातें बनाते हैं। मैं यहाँ के गिरजाघर मे पादरी हूँ। मेरा लडका यहाँ टिकट कलेक्टर है। टिकट लेना मेरा काम नहीं है, किन्तु आपको देखकर मैं टिकट लेने खडा हो गया। जाइये, आगे से ध्यान रखिये। अपनी पद प्रतिष्ठा के अनुकूल व्यवहार कीजिये। जनता के सामने जैसा आदर्श रखते हो वैसा आचरण जीवन में भी कीजिये।" यह तो मैंने उसके भाषण का सार कहा, वह न जाने और क्या-क्या उपदेश देता रहा। मैंने इसे भगवान् का वरदान ही माना। दोनों कान पकडे और उसी दिन प्रतिज्ञा की, कि आज से कभी भी बिना टिकट रेल में न चढूँगा।"

अब यह तो नहीं कहता, कभी भूल में, कभी परिस्थितिवश, कभी श्रेणी भेद से भूल चूक हो गयी हो, किन्तु तब से जानबूझकर मैंने बिना टिकट यात्रा नहीं की। उस समय मुझे अनुभव हुआ, लोग मुझसे कितने उच्च चरित्र की आशा रखते हैं और मैं अपनी निर्बलताओं के कारण उनकी इच्छाओं की पूर्ति कर नहीं सकता।

जीवन मे प्रथम बार ही मुझे गाँवों में घूमकर प्रचार का कार्य करना पडा। इससे जीवन में बडे अनुभव हुए। बहुत सी शिक्षायें मिलीं। उन दिनों जमीदारी प्रथा थी। लोग एक से लेकर सहस्रों गाँवो तक के जमीदार होते थे। जमीदार अपने को राजा ही मानते थे। जिसे चाहें अपनी जमीदारी से निकाल दे। प्रजा के सब घर जमीदारों के ही घर माने जाते थे। उनमें से अधिकांश

अत्यन्त विलासी हो गये थे। प्रायः सभी ऋण से दबे रहते। इतने पर भी वे लोग धर्म भीरु होते थे। नित्य ही जमींदारियाँ बिका करती थी। एक दिन खुरजा जंकशन के समीप हम गाँव में गये। एक बहुत बड़ा भारी उजाड़ घर पड़ा था, उसी में ठहरे। वह एक बहुत बड़े जमींदार की गढ़ी थी। उनकी कथायें हम बहुत सुना करते थे। वे बहुत गाँवों के स्वामी थे। चार घोड़ों की गाड़ी में निकलते। दो घुड़सवार आगे, दो पीछे चलते। जब वे खुरजे के बाजार में जाते तो सभी दुकानदार खड़े होकर उनका अभिवादन करते। किन्तु वे विलासी इतने हो गये कि सदा सुरा सुन्दरियों में ही निमग्न रहने लगे। शनैः-शनैः सब ग्राम बिक गये। अन्त में यह दशा हो गयी, कि जो दुकानदार खड़े होकर उनका अभिनन्दन करते उनसे एक रुपये का अनाज माँगने जाते, तो वे उन्हें दुदकार देते। पीछे वे सड़क पर बैठकर यात्रियों से एक-एक पैसा की भीख माँगने लगे। उनके सगे नाती से उनकी सब बातें सुनी, उनका उजड़ा बगीचा, समाजगृह, संगीतगृह के स्थान देखे। बड़ा वैराग्य हुआ। "स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः। उनके वे सब गाँव पास के सीकर वाले ठाकुर ने खरीद लिये। सीकर सीकरा दो गाँव थे। सीकरा में हमने एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित किया था। उसमें भम्मनलालजी को अध्यापक बनाया था। पीछे वे विश्वबन्धु के नाम से विख्यात महात्मा कहलाये। उनका भी देहान्त हो गया। कितने साथी चल बसे कोई गणना नहीं, कोई संख्या नहीं। यह तो सरकने वाला, बदलने वाला संसार है। कोई स्थायी नहीं, एकरस नहीं। सभी परिवर्तनशील हैं।

अरे, मैं तो भटक गया। हाँ तो हमारे सब साथी पकड़े गये। स्वामी योगानन्दजी यति पकड़े गये, बिजनौर से त्यागीजी

बुलन्दशहर के जिलाधीश की आज्ञा से पकड़कर बुलाये गये, बुलन्दशहर के भी बहुत से आदमी पकड़े गये। किन्तु मैं नहीं पकड़ा गया। उन दिनों जेल जाना बड़े गौरव की बात मानी जाती थी, जो जेल नहीं गया, वह नेता ही नहीं समझा जाता था। हमारे यहाँ के परगना हाकिम एक बड़े आस्तिक ब्रह्मण्य व्यक्ति थे, वे चाहते थे हमारे हाथ से ब्रह्मचारीजी न पकड़े जायँ। जनपद के जिलाधीश तो चाहते थे, किन्तु ये अनेक बातें बताकर टाल जाते, कभी केवल चेतावनी देकर छोड़ देते। यह मेरे लिये असह्य था, यदि पकड़ा न गया तो जनता को क्या मुख दिखाऊँगा। नेतापन कैसे स्थायी रहेगा। मेरे लिये उस अधिकारी की ब्रह्मण्यता शाप के समान हो गयी। अब मैं दिन रात्रि इसी चिन्ता में रहने लगा, कि कैसे पकड़ा जाऊँ। अब मेरा संयम छूट गया। सरकार की कड़ी से कड़ी आलोचना करने लगा। अब मेरा एकमात्र ध्येय किसी प्रकार पकड़ा जाना और अपने नेतृत्व की रक्षा ही रह गया था।

बात बहुत बड़ी है और यह प्रसङ्ग भी बढ़ गया है, अतः मैं कैसे पकड़ा गया। इस बात को अगले संस्मरण में बताऊँगा।

छप्पय

सेवा सबतैं सुघर होइ निष्काम भावतैं।
सेवा में बड विघ्न करो यदि स्वार्थ भावतैं॥
सेवा धरम महान करै हरि सबमें जानै।
सेवा प्रभु की करूँ सबनि भगवत्मय मानै॥
सेवा काहू की करो, निश्चय तिहि फल पाउगे।
सेवा प्रभु ही की करो, जगबंधन छुटि जाउगे॥

भावनानुसार फल

[६४]

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥*

(तै० उ० १० अनु०)

छप्पय

जो जब जैसी करै भावना तस फल पावै।
तातैं करि नित ब्रह्म भाव ब्रह्महि ह्वै जावै॥
हौं उच्छेदक जगत वृक्ष को काटि गिराऊँ।
पर्वत शिखर समान कीर्ति मम अमृतहिं खाऊँ॥
अन्नोत्पादक सूर्य में, जस अमृत तस हौं अमृत।
पावन परम प्रकाश युत, हौं आलय वर धन अमित॥

मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है। हम जिसमें जैसी भावना रखेंगे, वैसा ही हमारा भाव बन जायगा। माता, बहिन, पुत्री, पत्नी सब स्त्री ही हैं, किन्तु भावना के अनुसार

---

* मैं इस जगत् वृक्ष का उच्छेद करने वाला हूँ। मेरी कीर्ति गिरि शिखर के सदृश परमोन्नत है। मैं अत्यन्त पवित्र हूँ। सूर्य जैसे अमृतमय है वैसे मैं भी अमृत ही हूँ। मैं परम प्रकाशमय धन हूँ। मैं शुद्ध बुद्धि वाला हूँ। मैं अमृत से अभिषिक्त हूँ। यह त्रिशङ्कु ऋषि का वेदानुवचन है।

उनमे भेद हो जाता है। एक धनिक का बालक है, वह अपने बलवान् मल्ल पहरेदार की मूँछे पकड़ लेता है, उसे उसका भय नहीं। क्योंकि उसका यह भाव दृढ़ है, कि मैं स्वामिपुत्र हूँ। मनुष्य जब अपने को निर्धन अनुभव करने लगता है, तब अपने को असहाय, निरर्थक, दीन मानकर हताश हो जाता है। जब साहस करके सोचता है मेरे हाथ पैर हैं मैं जो चाहूँ सो कर सकता हूँ, तब वह पुरुषार्थ करता है और अपने अभीष्ट की प्राप्ति कर लेता है।

एक युवक था। उसके माता-पिता मर गये। महाविद्यालय का छात्र था। शुल्क न दे सकने के कारण आचार्य ने उसे विद्यालय से पृथक् कर दिया। भोजन के लिये भी उसके पास कुछ नहीं था। तीन दिन से उसे भोजन नहीं मिला था। भूख के कारण, बेकारी के कारण, सहायक के अभाव मे वह हताश हो गया। अत्यंत दुखी होकर वह एक साधु स्वभाव के परोपकारी ज्ञानी पुरुष के समीप गया। रो-रोकर उसने अपनी पूरी विपत्ति सुनायी। साधु पुरुष बड़े धैर्य के साथ उसकी सब बातो को चुपचाप सुनते रहे। अन्त में उसने कहा—"मैं अत्यन्त ही अभागा हूँ, मेरा कोई सहायक नहीं, मेरे पास धन के नाम पर एक पैसा भी नहीं, मैं किसी काम का नहीं, व्यर्थ हूँ, बेकार हूँ, अब मैं आत्महत्या करना चाहता हूँ।"

साधु पुरुष ने कहा—"मेरे एक मित्र चिकित्सक हैं, वे दूसरों के कटे अंगो को जोडने का काम करते हैं। यदि तुम अपना एक पैर काटकर दे दो, तो वे तुम्हे एक सहस्र रुपये तत्काल दे देंगे। रुपये कहो तो मैं अभी दे दूँ। जाओ अपना पैर कटवा आओ।"

उसने कहा—"पैर कटवाने से तो मैं सर्वथा बेकार हो जाऊँगा

चलूँगा कैसे ? मैं सहस्र रुपये के लोभ से जीवन भर के लिये पंगु बनना नहीं चाहता।"

साधु पुरुष ने कहा—"अच्छा एक हाथ ही कटवा लो।" वह उससे भी सहमत नहीं हुआ। जीभ, आँख, नाक, दाँत सबके लिये प्रस्ताव किया और सभी में उसने अपनी अस्वीकृति ही व्यक्त की।"

तब साधु पुरुष ने कहा—"तुम तो कहते थे, मैं निर्धन हूँ, मेरे पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं। तुम तो बहुत बड़े धनी हो। दो हाथ, दो पैर, दो आखें, ३२ दाँत, एक जीभ, एक नाक तुम एक-एक सहस्र में भी देना नहीं चाहते, ये सब तुम्हारा कितना धन है। इन सबसे बढ़कर बुद्धि है। बुद्धि द्वारा इनसे काम लो। निराशा को पास में फटकने भी न दो, तुम महान् धनी हो, अपने को निर्धन कभी न मानो। तुम महान् धनी हो, पुरुषार्थ करो, साहस करो, उत्साह के साथ कार्य में जुट जाओ। पर्वत के सदृश अडिग होकर अपने उद्देश्य की पूर्ति में जुट जाओ। तुम्हारा शोक, मोह, निराशा, दीनता, हीनता, अकर्मण्यता सभी मिट जायगी। तुम शोक, मोह, दीनता से रहित परम सुखी बन जाओगे।" यह कहकर साधु पुरुष ने उसे ५ रुपये दिये और कहा—"पुरुषार्थ करो, निराशा से सदा दूर रहो। कभी हताश मत होओ। जाओ कल्याणमय प्रभु तुम्हारा कल्याण करें।"

ऐसा पुरुषार्थ मन्त्र पाकर उसने पाँच रुपये से अपना व्यवसाय आरम्भ किया और कुछ ही दिनों में वह बहुत बड़ा धनिक, उत्साही, परोपकारी, सुखी, उद्योगपति बन गया।

प्रार्थना कोई हाथ जोड़कर, एकान्त में बैठकर ही नहीं की जाती, वह तो चलते-फिरते, उठते-बैठते भी हो सकती है। हमारे

सतत विचार ही प्रार्थना हैं। तुम निरन्तर जैसा सोचते रहोगे, वैसे ही हो जाओगे। एक बात को बार-बार सोचना ही प्रभु प्रार्थना है। अपने को जैसा सोचेंगे वैसा ही शरीर भी हो जायगा। शरीर तो विचारों के-भावों के-अनुरूप ही चेष्टायें करता है।

एक महात्मा थे। मुझसे बता रहे थे कि एक दिन मुझे तीव्र ज्वर आ रहा था। श्लेष्म था, सरदी थी, सम्पूर्ण शरीर में बड़ी पीडा थी। एक व्यक्ति मेरा नाम पूछते-पूछते मेरे दर्शनों को आया। उसने मुझे शैया पर कई कम्बल ओढे पडे देखा, तो बोला—"आप ऐसे क्यों पडे हैं?"

मैंने कहा—"अरे, भैया! क्या करें, शरीर अत्यन्त रुग्ण है, ज्वर है, श्लेष्म है, प्रत्येक अंग में पीडा है, बड़ा कष्ट है।"

उसने गरजकर कहा—"नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। आप आनन्दस्वरूप हैं। आपको ज्वर आ नहीं सकता। सरदी लग नहीं सकती। आपको कष्ट कदापि नहीं हो सकता। आप उठकर बैठिये। ज्वर आपके पास कैसे फटक सकता है। उठिये, उठिये।" ऐसा कहकर उसने बलपूर्वक मुझे उठा दिया और गरजकर बोला—"अब आप सुखी हैं, शान्त हैं, नीरोग है, प्रसन्न हैं, हँसिये, हँसिये।"

महात्मा कहते थे, मैं उसकी साहस भरी बातें सुनकर हँस पडा। तभी मेरा ज्वर, सरदी, श्लेष्म, शरीर की पीडा तथा निर्बलता सभी दोष समाप्त हो गये। क्षण भर मे ही मैं स्वस्थ हो गया। भर पेट भोजन किया। यह दृढ सकल्प का ही प्रतिफल है।

इस विषय में हमे भी अनुभव हैं, उनमें से एक का यहाँ उल्लेख किया जाता है। जब काशीजी मे थे, तब एक बार हमने नियम किया—दोपहर में एक बार जौ के आध सेर आटे की रोटी,

आधा सेर दूध इतना ही भोजन चौबीस घंटे में लेना। नमक मिरच, मीठा तथा अन्य कोई भी वस्तु नहीं।

एक दिन पूड़ी खाने की इच्छा हुई। हमने सोचा जगत् भाव मय है, क्यों न इन सूखी रोटियों में पूड़ी की भावना करके खायँ। सो हमने पूड़ी की भावना करके भोजन आरम्भ किया। तो ऐसा प्रतीत हुआ मानों हम पूड़ी ही खा रहे हैं। वही गंध, वही स्वाद सब कुछ पूड़ी का ही आनन्द। खाने के पश्चात् सोचा सम्भव है हमें भ्रम हो गया हो, तो पीछे जो उद्गार (डकारें) आईं वह भी पूड़ी की। तब हमने सोचा—वस्तुओं में गुण तथा स्वाद नहीं होते। भावमय ही यह जगत् है। जो जैसा भाव करता है, वह वैसा ही हो जाता है। सब कुछ भाव से–श्रद्धा से–ही होता है, 'यो यच्छ्रद्ध स एव तत्'।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे त्रिशंकु मुनि की भावना के सम्बन्ध में प्रश्न किया था। सो जैसे त्रिशंकु मुनि ने भावना–दृढ़ संकल्प–की महिमा बताई है। और अपने मन में जो निरन्तर भावना की जाती है, मानों यही प्रभु की प्रार्थना है। मनुष्य जैसा सोचता है, जो सोचता है वैसा ही वही बन जाता है। ब्रह्म प्राप्ति के अनन्तर त्रिशंकु मुनि ने अपना अनुभव व्यक्त किया है। श्रीमद्भगवत् गीता में साक्षात् श्री भगवान् ने अपने श्री मुख से एक वृक्ष का वर्णन किया है। वह वृक्ष अश्वत्थ का है, ऐसा विलक्षण वृक्ष है कि इसका मूल नीचे न होकर ऊपर है, शाखायें नीचे हैं, कर्मकांड का कथन करने वाले त्रैगुण्य विषय वेद इसके पत्ते हैं, ये शाखायें त्रिगुण रूप जल से बढ़ती हैं, पंचविषय ही इसके कोपल हैं, शाखायें ऊपर भी हैं, नीचे भी हैं, इसकी जड़े कर्मानुसार बाँधने वाली हैं। आदि अन्त से रहित यह वृक्ष है। इसकी जड़ें–मूल–दृढ़ हैं। इस वृक्ष को काट देना चाहिये। दृढ़

भगवान् श्री विष्णु

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८६

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीत प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

संशोधित मूल्य २-०-रुपया

प्रथम संस्करण १००० } नवम्बर १९७१ मार्गशीर्ष सं० २०२८ { मूल्य : १.६५

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

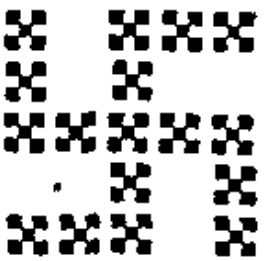

● मुद्रक :
वंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
मंगलाचरण (८)	१
१. विविध उपासनाएँ	१४
२. परिपूर्ण परमात्मा की प्राप्ति पर प्रसन्नता प्रकाश	३१
३. ऐतरेय उपनिषद्-शान्ति पाठ	३८
४. सृष्टि रचना (१)	५३
५. सृष्टि रचना (२)	६२
६. लोक और लोकपालों का आहार अन्न	७०
७. मानव शरीर की उत्पत्ति	८२
८. परम उपास्य-परब्रह्म	९१
९. छान्दोग्य-उपनिषद्-ओंकार महिमा	९९
१०. अध्यात्म रूप से प्राणोपासना की उत्कृष्टता	११०
११. आदित्य दृष्टि से ओंकार की आधिदैविक उपासना	१२३
१२. 'उद्गीथ' अक्षरों की और सकाम भाव से उपासना का फल	१३४
१३. उद्गीथ सहित ओंकार उपासना से अमृतत्व की प्राप्ति	१४२
१४. सूर्य और प्राणरूप में ओंकार की उपासना	१४७
१५. विविध भाँति की आधिदैविक उद्गीथोपासनायें	१५३
१६. आदित्य में हिरण्मय पुरुष की आधिदैविक उद्गीथोपासना	१६०
१७. शरीर दृष्टि से अध्यात्म-उद्गीतोपासना	१६८
१८. उद्गीथ उपासना का फल	१७४
१९. उद्गीथोपासना की उत्कृष्टता सम्बन्धी आख्यायिका(१)	१८५

कीर्तनीयो सदा हरिः

सचित्र

भागवत चरित

(सप्ताह)

रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी

श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धों को भागवत सप्ताह के क्रम से ७ भागों में बाँट कर पूरी कथा छप्पय छन्दों में वर्णन की है। श्रीमद्भागवत की भाँति इसके भी साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण होते हैं। सैकड़ों भागवत चरित व्यास बाजे तबले पर इसकी कथा कहते हैं। लगभग हजार पृष्ठ की सचित्र कपड़े की सुदृढ़ जिल्द की पुस्तक की न्योछावर ६) ५० मात्र है। थोड़े ही समय में इसके २३००० के ५ संस्करण छप चुके हैं। दो खंडों में हिन्दी टीका सहित भी छप रही है। प्रथम खंड प्रकाशित हो चुका है। उसकी न्योछावर ११) हैं। दूसरा खंड प्रेस में है।

नोट—हमारी पुस्तकें समस्त संकीर्तन भवनों में मिलती हैं सारी पुस्तकों का डाक खर्च अलग देना होगा।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

संस्मरण

[बड़े बनने की वासना]

गृहेषु पंडिताः केचित् केचित् मूर्खेषु पंडिताः ।
सभायां पंडिताः केचित् केचित् पंडित पंडिताः ।।*

(नी० वा०)

छप्पय

खावें सोवें करें पुत्र पैदा मरि जावें ।
का तिनिको है चरित अन्न-मल नित्य बनावें ।।
सद्गुन निष्ठा होहि धरम हित प्रान गवावें ।
चरितवान ते पुरुष कवीश्वर तिनि गुन गावें ।।
नहीं वासना तैं अमर, सद्गुन अमर बनावते ।
रहें सतत् पर हित निरत, तेई साधु कहावते ।।

मानव अमृत का पुत्र है, अतः सदा अमर रहने की इच्छा करता है। वह परम प्रसिद्ध प्रतिष्ठित है, सबसे बड़ा है, महान् है, अतः पुरुष भी प्रतिष्ठित बनने की इच्छा करता है। सभी की आन्तरिक अभिलाषा यह रहती है,

* कोई तो अपने घर की ही स्त्रियों में पंडित बन जाते हैं कुछ लोग मूर्खों की ही दृष्टि में पंडित होते हैं। कुछ लोग केवल सभा में ही पंडित कहलाते हैं और कुछ लोग जो पंडितों द्वारा मान्य हैं, वास्तव में वे ही पण्डित हैं।

कि सब लोग मेरी प्रतिष्ठा करें, मुझे बड़ा मानें और जब तक सूर्य-चन्द्र, गंगा-यमुना, हिमालय तथा सुमेरु रहें, तब तक मेरी कीर्ति दिग्दिगन्तों मे व्याप्त रहे। संसार मे चार प्रकार के लोग होते है। बहुत से लोग तो ऐसे होते हैं, जिन्हें धनोपार्जन का ही व्यसन होता है। कितना भी धन उन्हें क्यों न प्राप्त हो जाय, उससे उनकी तुष्टि नहीं होती। जितना ही धन उन्हें प्राप्त होता है, उससे दुगुनी तृष्णा बढ जाती है। वे धन के पीछे स्त्री, पुत्र, परिवार, पद प्रतिष्ठा सभी का बलिदान करने को उद्यत रहते हैं।

दूसरे वे लोग होते हैं, जो धन तो चाहते ही हैं साथ ही प्रतिष्ठा भी चाहते हैं। धन को सम्मान पूर्वक उपार्जित करना चाहते हैं। असम्मान पूर्वक धन मिलता हो, तो उसका तिरस्कार कर देते हैं। वे धन के साथ मान को चाहते हैं।

तीसरे वे होते हैं, जो केवल सम्मान के ही भूखे रहते हैं। सम्मान के लिये वे स्त्री, पुत्र, धन वैभव यहाँ तक कि प्राणों को भी हँसते-हँसते त्यागने को उद्यत हो जाते हैं। तीन इच्छायें सबके मन मे होती हैं धन की इच्छा, पुत्र की इच्छा और बड़े बनने की, सम्मानित होने की इच्छा। इसमें से किसी में कोई इच्छा अधिक होती है किसी मे न्यून। वास्तव मे ये तीनों ही इच्छायें अज्ञानजन्य है। इच्छा करने मात्र से ही उसकी पूर्ति नहीं होती। ये वस्तुएँ तो प्रारब्धानुसार ही मिलती हैं।

पहिले धन को ही ले लीजिये। संसार मे निर्धन रहना कोई भी नहीं चाहता। धन की इच्छा छोटे-बड़े, पंडित-मूर्ख सभी को होती है, किन्तु सब धनी नहीं होते। धन तो प्रारब्धानुसार मिलता है। आपके प्रारब्ध मे धन है, तो आप बालू वाले मरुदेश में जाकर बैठ जायँ, वहाँ भी आपको प्रारब्धानुसार धन मिल जायगा। यदि आपके भाग्य में धन नहीं है, तो आप चाहें सुवर्ण

के सुमेरु पर्वत पर ही जाकर क्यों न बैठ जाय, वहाँ भी आपको इच्छानुसार धन प्राप्त न होगा। फिर भाग्य से धन मिल ही गया, तो धन खाया तो जाता नहीं। धन की इच्छा लोग सुख के निमित्त करते हैं, कि हमारे पास जितना ही अधिक धन होगा, हम उतना ही अधिक सुख प्राप्त कर सकेंगे। किन्तु यह कोरा भ्रम ही-भ्रम है, त्रुटिपूर्ण अन्धपरम्परा है। धन से सुखी न आज तक कोई हुआ न है और न आगे होगा। धन जब आता है, तो अकेला नहीं आता। जैसे मालती मल्लिका आदि के पुष्प आते हैं तो सुगन्ध को साथ लेकर आते हैं। उसी प्रकार धन जब आता है, तो १५ व्यसनों को साथ ही लेकर आता है।

धन आने पर उसे बढाने की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। धन बढाने की इच्छा इतनी तीव्र होती है, कि जैसे तैसे भी जिस उपाय से भी हमारा धन बढ़ जाय। यदि काला बाजार से भी धन बढे, चोरबाजारी से भी धन बढता देखे तो धनी बनने की इच्छा वाला उससे भी नहीं चूकता।

धन तभी बढेगा, जब दूसरों का धन अपने पास आवे। स्वेच्छा से कोई भी धन को छोडना नहीं चाहता। अतः धन प्राप्ति के लिये शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक किसी भी प्रकार की हिंसा अवश्य ही करनी पडती है। धन हिंसा किये बिना बहुत मात्रा में प्राप्त नहीं होता।

धन आते ही उसके साथ असत्य भाषण आता है, किसी भी धनी से उसके धन की सख्या पूछो, तो वह सत्य-सत्य कभी न बतावेगा। सत्य और झूठ व्यापार में साथ ही-साथ चलते हैं और धन विशेषकर व्यापार से ही बढता है। कोई विरला ही ऐसा धनिक होगा, जो धन के रखने में, अर्जन करने में असत्य भाषण न करता हो।

धन आने पर जीवन मे दम्भ का प्रवेश स्वाभाविक है, दम्भ उसे कहते हैं, जैसे हम वास्तव में हैं नहीं, किन्तु दूसरों पर वैसा प्रकट करना। हमारे पास करोड रुपये हैं नहीं, किन्तु स्वार्थ सिद्धि के लिये अपने को कराडपति प्रकट करना। धार्मिक हैं नहीं, किन्तु काम चलाने को अपने लिये धार्मिक प्रकट करना।

धन आने पर नाना कामनायें आकर घेर लेती हैं, अपने अधिक धन आ जाय, तो इन्द्रिय सुख के लिये अमुक भोग सामग्री लेंगे, अमुक इच्छा की पूर्ति के लिये अमुक व्यापार करेंगे। ऐसी ऐसी कामनायें एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी उठती रहती हैं, जो जीवन में कभी पूरी होती ही नहीं।

धन आने पर क्रोध का बढना स्वाभाविक ही है। धनिकों के अकारण अनेकों शत्रु हो जाते हैं, उनसे मन से वचन से और कभी-कभी कर्म से भी क्रोध करना ही पडता है। क्रोध न करें, तो आस पास के विरोधी लोग रहने ही न दें। वे अनेकों बहाने बनाकर धनिको के धन को ऐंठने की घात मे लगे ही रहते हैं।

धन आने पर निर्धन लोगो के प्रति तुच्छता के भाव स्वतः ही आ जाते हैं। अपने धन पर अपनी सम्पत्ति पर, धन के द्वारा जो अपना इतना मान सम्मान होता है, सब पर प्रभाव छाया रहता है, उसका मन ही मन गर्व बना रहता है। देखो, हम इन लोगों की अपेक्षा कितने सम्पन्न हैं, कितने सुखी है।

धन आने पर अहङ्कार अपने आप बढ जाता है। प्रायः धनी लोग अहङ्कारवश अपने से छोटे लोगों से बातें नहीं करते। उनके साथ उठना बैठना उन्हें प्रिय नहीं लगता। अपने सगे सम्बन्धी भी यदि निर्धन हों, तो अहङ्कार के वशीभूत होकर उनसे भी बातें करना उन्हें रुचिकर नहीं होता।

धन आते ही यह बड़ा है—यह छोटा है, यह हमारी बराबरी का है—यह हमसे निकृष्ट है। यह हमसे ऊँचा है—यह हमसे नीचा है। इस प्रकार भेद-भाव स्वतः ही मन मे आ जाता है। इच्छा न रहने पर भी भेद बुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है।

धन वालो से लोग अकारण ही जलने लगते है, बेबात वैर मानने लगते हैं। वे चाहें सबसे ऊपर से मीठा ही बोलें, किन्तु धन के कारण अन्य अडोसी पडोसियो की बात तो छोड दो, उनके सगे सम्बन्धी नौकर चाकर भी भीतर-ही भीतर द्वेष भाव रखते हैं। मन ही मन उनका अनिष्ट चाहते रहते हैं। जो अपना अहित चाहते हैं, उनके प्रति प्रीति ये कैसे रख सकते हैं।

धन आते ही सबसे पहिल अविश्वास आ जाता है। धनी लोग सहसा किसी का विश्वास नहीं करते। अपरिचित लोगों से सदा सशंकित बने रहते हैं, अपरिचितो की बात छोड दीजिये वे अपने सगे सम्बन्धियों, इष्ट मित्रो, परिजन पुरुजनो यहाँ तक कि अपनी स्त्रियो, पुत्रो तक का विश्वास नहीं करते। उन्हे सदा सर्वदा शका बनी रहती है, कि मुझे कोई ठग न ले जाय।

धन में स्पर्धता तो निश्चय ही होती है। वह मेरा साथी था, वह इतना बढ कैसे गया, उसका मुझसे अधिक सम्मान कैसे हो गया। वह अमुक पद पर मेरे रहते कैसे चुन लिया गया। उसका घर, उसके वाहन मुझसे अधिक सुन्दर कैसे हो गये। धनी धनियो में परस्पर स्पर्धा प्रायः बनी ही रहती हैं।

धन आने पर दूसरों को ठग लेने की, लम्पटता करने की प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। एक दूसरे को ठग लेना चाहते हैं। चाहे उसमे सफलता प्राप्त हो या न हो। इच्छा यही रहती है कि किसी प्रकार दूसरों को उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध किया जा सके।

धन आते ही द्यूत की प्रवृत्ति स्वतः ही होने लगती है। केवल कौड़ियों से या पाशों से ही खेलने का नाम द्यूत नहीं है। थोड़ा धन लगाकर बहुत धन कमाने की प्रवृत्ति को द्यूत कहते हैं। उसके शेयर, सट्टा, लाटरी, दड़ा आदि अनेक भेद हैं।

धन आने पर मादक द्रव्यों के सेवन से कोई ही भाग्यशाली बचा रहता होगा, नहीं तो कोई-न कोई व्यसन पीछे लग ही जाता है और उसमें धन को पानी की भाँति बहाने में कुछ भी कष्ट प्रतीत नहीं होता।

जिनके पास धन नहीं होता, वे समझते हैं धनी लोग बड़े सुखी रहते होंगे, उनको कभी किसी भी वस्तु का अभाव न होता होगा, किन्तु हमने धनिकों को देखा है, वे सदा दुखी, चिन्तित तथा रोग ग्रस्त ही बने रहते हैं। उन्हें न भोजन अच्छा लगता है न रात्रि में सुख की निद्रा ही आती है। ऐसे धन से भला क्या लाभ ?

यही दशा पुत्र तथा अन्य सन्तानों की है। पुत्र न हो तो कष्ट, हो और मूर्ख निकल गया तो कष्ट, पढ़ लिखकर रोगी हो गया तो कष्ट, मर गया तो महान् कष्ट। सारांश यह है कि सन्तानों से भी आज तक कोई सुखी नहीं हुआ।

रही पद प्रतिष्ठा की बात। सो पद प्रतिष्ठा का आकर्षण कुछ ही दिन रहता है, पीछे वह भी एक व्यसन ही हो जाता है। नेताओं में परस्पर में वही लाग-डाँट, राग-द्वेष, उठवा-पटकी बनी रहती है। सभी चाहते हैं, हमारा अधिक नाम हो, हम इतिहास में अमर हो जायँ, किन्तु कौन अमर हुआ है। कितने कितने बड़े धनी, मानी, वैभवशाली, प्रसिद्ध पुरुष हुए। भगवत् सम्बन्ध से किसी का नाम भले ही शेष रहा हो, नहीं

तो कौन उन्हें जानता है। फिर भी मनुष्य प्रतिष्ठा के लिये न जाने क्या-क्या कार्य करते रहते हैं।

ससार में मनुष्य को अनुभव से जितना ज्ञान होता है, उतना पुस्तक पढकर नहीं होता। यह ससार खुली हुई पुस्तक है, इसे ही पढने की चेष्टा करे। प्रत्येक घटना से शिक्षा ले। पुस्तकी विद्या काम नहीं देती। लोक मे कहावत है, वे पढ़े हैं, गुने नहीं। वास्तव में गुनना तो व्यवहार मे ही होता है। भिन्न-भिन्न प्रकृति के पुरुषों के बीच मे रहने से, भिन्न-भिन्न घटनाओं के देखने से मनुष्यो के अनुभव में वृद्धि होती है, उसी का नाम गुनना है।

मैं स्वतन्त्रता आन्दोलन में किसी प्रलोभनवश नहीं पड़ा। पद प्राप्ति की तो अपने में योग्यता ही नहीं थी। हाँ, प्रतिष्ठा की इच्छा मनुष्य की स्वाभाविक निर्बलता है, जेव धर्म है, वह तो थी ही, किन्तु कोई सासारिक प्रलोभन नहीं था। इसमे आने पर अनुभव बहुत हुए। बहुत से भ्रम दूर हुए। पहिले इन समाचार पत्रों के सम्पादकों को हम ईश्वर तुल्य ही समझते थे। सोचते थे—जो पत्रो का सम्पादन करते हैं, नित्य नई नई बात छापते हैं, वे कितने ज्ञानी, सदाचारी, महान् होते होंगे ? जिनके नाम मोटे-मोटे शीर्षकों में नित्य छपते हैं, वे नेता कैसे महान होते होंगे। देहला हमारे समीप थी, वहाँ के हिन्दू मुसलमान बडे बड़े नामी नेता प्रायः हमारे यहाँ आते ही रहते थे। खिलाफत का भी आन्दोलन साथ ही चल रहा था। अतः प्रायः सभी मुसलमान नेता हमारे यहाँ आते। बड़े बड़े सम्पादक भी आते। उनके ससर्ग मे आने से मुझे अनुभव हुआ कि ढोल जितना भारी शब्द करता है, वह भीतर से उतना ठोस—दृढ नहीं होता। उसके भीतर तो पोल-ही-पोल है। बहुत से नेताओं के हम लेख पढते, पुस्तकें

पढते, उनके लेख पढकर पुस्तकें पढकर उनके साहस के प्रति श्रद्धा होती, सोचते वे कैसे होंगे। जब उनसे साक्षात्कार हुआ, उनके जीवन को निकट से देखा, तब भ्रम दूर हुआ, अपने निश्चय में परिवर्तन करने को बाध्य होना पडा। प्रान्तीय नेता भी आते, उनका भी स्वागत सत्कार करने का अवसर मिलता। सबसे अधिक प्रभावित मुझे पंडित जवाहिरलालजी नेहरू की सादगी ने किया। उन दिनों में उनकी सादगी, सरलता, मानवता तथा सौम्यता के वशीभूत हो गया। इसके पहिले मैं कभी भी किसी इतने बडे आदमी के संसर्ग में नहीं आया था। यह मैं मानता हूँ, कि पंडित जवाहिरलाल नेहरू द्वारा हमारे देश का और विशेष हिन्दू धर्म का अहित ही हुआ है। आज जो भ्रष्टाचार, पापाचार, अधार्मिकता की प्रवृत्ति, धर्म का ही न मानने की भावना समाज में प्रचलित हो गयी है, इसमें उनका शासन भी कारण है। इतना सब होते हुए भी उनमें मानवता थी। शासन हाथ में आने पर परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है, यह उनका व्यक्तिगत दोष न होकर शासन का पद का दोष है। किन्तु जब तक उनके हाथ में शासन नहीं था, देशभक्ति की प्रबल भावना थी, उस समय उनकी मानवता देखने ही योग्य था। सर्वप्रथम के संसर्ग में ही उन्होंने मुझे अत्यंत प्रभावित किया। यह स्यात् सन् २० की बात होगी। आगरा में संयुक्त प्रदेश का प्रांतीय राजनैतिक सम्मेलन था। पहिले जब भी राजनैतिक सम्मेलन होते, उसके साथ हिन्दू सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा गोरक्षा सम्मेलन भी होते थे। उस समय हिन्दू कहलाना अपराध नहीं माना जाता था। उस समय जो हिन्दू सभा के नेता होते थे, वे ही कांग्रेस के भी नेता होते थे। महामना मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्दजी, लाला लाजपत राय, पं० मोतीलाल नेहरू, डा० मुंजे, डा० भगवानदास, बा० श्रीप्रकाश, बा० पुरुषोत्तम

दास जी टण्डन, बाबू सम्पूर्णानन्द ये सब हिन्दू सभा के नेता थे। बिहार के जगत् नारायण लाल, जगजीवनराम ये सब हिन्दू सभा के ही थे। उन दिनों देशभक्त होने वालों के लिये चार बातें अनिवार्य थीं (१) खद्दर का व्यवहार, चर्खा चलाना, स्वदेशी वस्तु व्यवहार, (२) हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानकर उसका प्रचार-प्रसार करना, (३) गौरक्षा में निष्ठा रखना और (४) हिन्दू मुस्लिम एक्य।

तो आगरा के राजनैतिक सम्मेलन के साथ ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भी अधिवेशन था, जिसके स्वात् सभापति टण्डन जी थे। हम लोग बुलन्दशहर जिले से १०-२० आदमी एक साथ हो गये थे। सिकन्दराबाद तहसील के ४५ आदमी थे, उनमें एक बहुत सुन्दर शेर गाते थे। उन्होंने राष्ट्रीय भावना की छोटी-छोटी पुस्तकें छपा रखी थी। वे उन्हें गा-गाकर दो-दो या चार-चार पैसे में बेचते थे। उनके गाने को सुनकर प्रत्यक स्टेशन पर सैकडों आदमियों की भीड लग जाती। जैसा उत्साह सन् २१ में मैंने देखा, वैसा किसी भी आन्दोलन में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। वैसे हमने पीछे उससे बडे-बडे अनेकों सम्मेलन किये। बहुत बड़े बड़े आन्दोलन भी किये। किन्तु वैसी तन्मयता, वैसी भावुकता, उस प्रकार की कार्य कर्ताओं में सच्ची लगन फिर देखने को न मिली। उससे पहिले इतना बडा सम्मेलन हमने देखा भी नहीं था। बडा भारी पडाल उसमें सफेद गांधी टोपी ही टोपी दिखायी देती थी। वहीं पर अब्दुल कलाम आजाद, टण्डन जी, जवाहिरलाल जी तथा अन्यान्य प्रातीय नेताओं के सर्वप्रथम दर्शन हुए। उन दिनों जवाहिरलाल जी नवयुवक थे। मोटी खादी की धोती, मोटा सफेद कुर्ता पहिने अँग्रेजों की भाँति लाल आकर्षक चेहरा देखने

में बड़े ही भव्य प्रतीत होते थे। मुझे याद है कि उस सम्मेलन में एक आर्यसमाजी महिला भजनोपदेशिका आयी हुई थी। उसका नाम तो अब याद नहीं रहा। उसका गला बड़ा सुन्दर था, बड़े स्वर से भजन गाती थी। उसके भजनों की बड़ी धूम थी। लोगों को उसके भजन बड़े प्रिय लगे थे। पं० जवाहिरलाल नेहरू ने बड़े कड़े शब्दों में उसका विरोध किया। मुझे अभी तक ज्यों का त्यों याद है। पंडितजी ने कहा था – "मैं तो ऐसे प्लेटफार्मों पर ऐसी बाजारू औरतों का सख्त विरोध करता हूँ।" उनके विरोध का ही यह परिणाम हुआ कि उसे फिर मंच पर बोलने का समय नहीं दिया गया।

मैंने सोचा—चलो, पंडितजी से मिल तो लें। यह सोचकर मैं अकेला ही उनके पास चला गया। वे अत्यन्त ही सौम्यता शिष्टाचार से मिले। अब मैं उनसे बात क्या करूँ। मैंने वैसे ही शिष्टाचारवश कहा – "मैं खुरजे में कार्य करता हूँ। एक बार आपको खुरजा चलना चाहिये।"

उन्होंने मेरा परिचय पूछा, न यह पूछा खुरजा कहाँ है, तुम कौन हो ? छूटते ही कहा – 'अच्छी बात है चलेंगे।"

मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी, कि वे इतनी शीघ्रता से स्वीकार कर लेंगे। मैं कुछ बुलाने की इच्छा से तो गया नहीं था, शिष्टाचारवश बातें चलाने को कह दिया। और अब उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया, तो मुझे महान् आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—"तो मैं कब आऊँ ?"

उन्होंने कहा—"रात्रि के अमुक बजे आ जाना।"

नियत समय पर मैं पहुँचा वे तैयार बैठे थे। एक छोटी-सी पिटारी जिसमें कपड़े थे, उसे हाथ में लिया और मेरे साथ स्टेशन चल दिये। जो चद्दर वे ओढ़े थे उसी को ओढ़े थे। साथ में कोई

विस्तरा नहीं, अन्य सामान नहीं। उन दिनों रेल में तृतीय श्रेणी के पश्चात् एक ड्योढी श्रेणी होती थी। उसकी वे स्वय दो टिकटें ले आये और गाडी मे बैठ गये। प्रातः ३-४ बजे खुरजा जक्शन पर उतरे। कोई सवारी नहीं। एक टूटा-सा इक्का था, उसी मे बैठ कर हम अपने बाजार के उसी गन्दे अड्डे में पहुँचे। वहीं भूमि पर हमने कपडा बिछा दिया उसी पर वे लेट गये।

प्रातःकाल हमारा एक अत्यत गन्दा हाथ से सफा करने वाला शौचालय था उसी मे वे चले गये। स्वयं स्नान किया। खद्दर की मोटी धोती को स्वय धोया, अपने कुरते में धोती में साबुन स्वय लगाया। मैंने बहुत कहा—"मैं धो दूँगा, उन्होंने इस बात को स्वीकार ही न किया। कुछ देर पश्चात् नगर के कुछ लोग आ गये, उनसे बातें करते रहे। उन दिनों कपडे बेचने वाले व्यापारियों से यह आग्रह किया जाता था, कि वे विदेशी वस्त्रों पर सील मुहर लगवा कर रख दें। स्वदेशी कपडा बेचें। वे वस्त्र-विक्रेताओं से यही आग्रह करते रहे। कुछ ने माना, कुछ ने टाल-मटोल कर दी। किसी प्रकार के जलपान या चाय का हम प्रबन्ध नहीं कर सके।

दोपहर के समय हमारे नीचे एक जैनी सेठ रहते थे, उनके यहाँ से हम दाल-रोटी साग माँग लाये। प्रतीत होता था, बिना छुरी काटा चम्मच के भोजन करने का उनका यह प्रथम ही अवसर था। तब तक हमने न तो छुरी काँटे देखे ही थे, न किसी को छुरी काटों से खाते देखा ही था। अब हम सबको छुरी काटों और चम्मचों से खाते देखते हैं। नवीन ढँग के शौचालय (फ्लसवाले) मे जाते देखते हैं, तब अनुभव करते हैं, उन्हे हमारे इस ग्रामीण व्यवहार से कितनी असुविधा हुई होगी, किन्तु उन्होंने किसी भी प्रकार यह प्रकट नहीं होने दिया, कि हमें यहाँ

बड़ी असुविधा है। सब व्यवहार में हँसते ही रहे। उन दिनों वे खद्दर का मोटा जनेऊ भी पहिनते थे और स्नान के अनन्तर आसन मारकर नेत्र बन्द करके कुछ समय ध्यान भी करते थे।

उनके रोटी खाने के ढंग को देखकर हमें बड़ी हँसी आ रही थी। वे पूरी रोटी को उठाने उसमें उँगली से छेद करते, फिर जैसे कपड़ा को फाड़ते हैं ऐसे उसे फाड़कर उसके टुकड़े करते। टुकड़े को मुख में रख कर ऊपर से थाली उठाकर दाल पी जाते। तब तो हम उसका रहस्य समझे ही नहीं। जब लोगों को छुरी से डबल रोटी काटकर काँटे से उठाकर खाते देखा और चम्मच या काँटे से उठाकर दाल साग खाते देखा, तब रहस्य समझ मे आ गया।

मैंने कहीं एक लेख पढ़ा था, विदेशों मे कोई हमारी प्रदर्शिनी लगी थी। उसमे भारतीय मंडप भी लगा था, भारतीय ढंग का वहाँ भोजन भी मिलता था, उसे देखने बहुत से विदेशी आते थे। एक स्काटलैंड का दूध का व्यापारी उसे देखने आया था, उसी ने वह लेख लिखा था। वह भारतीय मंडप को देखकर अत्यन्त ही प्रभावित हुआ था। उसने लिखा—"भारतीय महिलाओं के ऐड़ी तक लटकते हुए केश अत्यन्त ही मनोहर थे। मुझे उनके केश विन्यास सबसे सुन्दर लगे। भारतीय महिलाओं की साड़ी अत्यंत ही मनोरम होती है। संसार मे स्त्रियों के लिये इससे सुन्दर कोई पोशाक हो ही नहीं सकती। वह साड़ी जैसा अंग होता है, वैसी ही मुड़ जाती है। उसमें भारतीय महिलायें अत्यंत भव्य लगती हैं। आश्चर्य की बात तो यह है, कि उनमें न पिन का प्रयोग होता है, न वह फीते से या किसी अन्य वस्तु से बाँधी जाती है। भारतीय स्त्रियाँ उन साड़ियों को ऐसे ढँग से

पहिनती हैं, कि बिना पिन, फीता, पेटी या अन्य उपकरणों के वे स्वतः ऐसी कसी रहती हैं, कि खुल नहीं सकती।

भारतीय भोजन बनाने वाले रंग बिरंगी पगड़ियाँ बाँधे थे। वहाँ दोनों प्रकार का भोजन का प्रबन्ध था, जो चाहे मेज कुरसी पर बैठकर खायें, जो चाहे भारतीय ढंग से पटरे पर बैठकर पालती मारकर भूमि मे खायें। मुझे भारतीयों के भोजन करने का ढंग अत्यन्त ही विचित्र लगा। वे भूमि पर बैठकर बिना काटे, चम्मच और छुरी के ही भोजन कर लेते हैं और आश्चर्य की बात तो यह है, कि उनके हाथ भी गन्दे नहीं होते। दूसरे हाथ को भी वे भोजन में नहीं लगाते। मेरे सामने ही एक गुजराती महिला भोजन करने आयी। वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी, पतला इकहरा शरीर, आकर्षक भव्य साड़ी पहिने हुए थी, वह हाथ धोकर भोजन करने बैठी, थाल मे दाल भात, कढ़ी, साग सब वस्तुएँ परसी गयीं। उनमे चम्मच, काटा, छुरी कोई वस्तु नहीं थी। गरम-गरम चपातियाँ भारतीय रसोइया इस ढंग से फेंकता जाता था, कि उसके थाल से वे इधर उधर नहीं गिरती थीं। वह महिला एक ही हाथ से ऐसी तरकीब से रोटी को तोड़ती कि खाने योग्य ही ग्रास टूटता था, न बड़ा न छोटा। फिर उस रोटी के टुकड़े का ही वह चम्मच बना लेती। उसी चम्मच में बारी बारी से दाल, साग, कढ़ी, रायता भरती और मुख में चम्मच सहित उसे डाल लेती। अहा! कैसी अजीब बात। प्रत्येक ग्रास चम्मच और भोज्य पदार्थ तथा चम्मच दोनों ही पेट में चले आते। मैं जब तक वह भोजन करती रही, उसे ही एकटक देखता रहा। हम योरोपीय लोग तो भोजन करते हैं, तो गले में वस्त्रों पर एक कपड़ा डाल लेते हैं, जिससे साग आदि से कपड़ा खराब न हो। हाथ से कोई वस्तु छूते नहीं। सब छुरी

कांटों की सहायता से खाते हैं। वह भारतीय महिला बिना छुरी कांटे चम्मच के खाती रही। न उसका कपड़ा ही खराब हुआ न उसके हाथों में ही दाल कढ़ी साग आदि लगे। भारतीयों के खाने का ढंग मुझे बड़ा ही अद्भुत लगा।"

इस लेख को पढ़कर ही मैं समझा योरोप के लोग हमें बिना छुरी कांटे और चम्मच के खाते देखकर आश्चर्य करते हैं। पंडित-जी बाल्यकाल से विदेशों में रहे, वहीं पढ़े-लिखे, छुरी कांटों और चम्मचों से खाने के आदी रहे होंगे। घर पर भी वैसे ही खाते होंगे। हम लोग कैसे ग्रास तोड़कर उसमें दाल साग लगाकर खाते हैं, तब तक उन्हें इसका पता ही न रहा होगा, अतः उँगली से छेद करके वे उससे छुरी का काम लेते होंगे और रूखी रोटी मुख में रखकर ऊपर से दाल पीकर उसे खाते होंगे। दो या तीन रोटी उन्होंने खायी होगी। तनिक देर आराम करके फिर लोगों से बातें करने लगे। उनके स्वागत सम्मान में न हमने कोई शोभा-यात्रा निकाली न कोई बड़ी सभा की। स्यात् साधारण-सी सभा की। किन्तु उन्होंने अपनी बात-चीत से, व्यवहार से, चेष्टा से यह हमें तनिक भी आभास नहीं होने दिया, कि हमने उनके अनुरूप व्यवहार नहीं किया, या हम आकर बुरे फँसे।

उसी समय बुलंदशहर से भी कुछ आदमी आ गये, उन्होंने बुलंदशहर चलने को कहा। पंडितजी ने स्वीकृति दे दी। मैंने जैसे-तैसे एक सेठ से उसकी एक घोड़ा की बग्गी माँगी। खुरजा से बुलंदशहर स्यात् १५-१६ मील है। हम उस बग्गी में बैठकर बुलन्दशहर पहुँचे। वहाँ पंडितजी के स्वागत का उपयुक्त प्रबन्ध था। एक बहुत बड़े कलहोपजीवी (वकील) की कोठी में उनके ठहरने का प्रबन्ध था। वहाँ का रहन-सहन, व्यवहार-बर्ताव, विराट सभा सभी उनके उपयुक्त ही थे। वहाँ से हम लोग

बुलदशहर की एक तहसील सिकन्दराबाद गये। वहाँ एक कायस्थ राय साहब के घर ठहरे। उनकी स्त्रियों ने बडे ही प्रेम से राजसी भोजन बनाया। बीसा छोटी-छोटी कटोरियों में भाँति भाँति के मीठे, चरपरे, नमकीन व्यजन बनाये। पडितजी से भोजन को कहा गया, तो उन्होंने कहा—'मैं तो एक ही समय भोजन करता हूँ। रात्रि में कुछ नहीं खाता।"

उन लोगों ने बहुत अनुनय विनय की, कहा—"हमारी बहिन ने बूआ ने अत्यन्त ही प्रेम से बनाया है, चाहें थोडा ही खा लीजिये" किन्तु वे अपने निश्चय से टस से मस भी नहीं हुए। बार बार यही कह देते—"ब्रह्मचारीजी को खिला दो।"

अन्त में उन्होंने मुझे ही खिलाया। इतने व्यजनों का सजा थाल, इतनी छोटी-छोटी चमकती कटोरियाँ जीवन में मैंने पहिले ही पहिल देखी थीं। मैंने कहा—"बाबूजी! मुझे तो पूडी साग, रबडी इतनी ही वस्तुएँ दे दीजिये। इन कटोरियों से मेरा क्या पेट भरेगा?"

वे बोले "महाराज! आप भी ऐसा कहेंगे क्या?"

मैंने कहा—"अच्छा जो चाहो सो लाओ। वह नाना व्यजनों से सजा थाल मेरे सम्मुख लाया गया। मैं आँख मूँद कर जो कटोरी सामने आ जाय, उसी को सफा करने लगा। कभी कोई चटपटी वस्तु आ जाय, कभी नमकीन, कभी मीठी, कभी चटनी। सब कटोरियों को साफ करके खीर, पूडी और साग पेट भरकर खाया।"

दूसरे दिन फिर हम रेल से खुरजा स्टेशन पर आये। ३ ४ दिन निरन्तर साथ रहने से मेरा उनसे अत्यन्त स्नेह हो गया था। अब वियोग का समय आया। मैं बच्चों की भाँति फूट-फूटकर रोने लगा। उन्होंने अत्यन्त ही स्नेह से मुझे प्यार किया और

कहा—"प्रयाग में आनन्द भवन मे आ जाना। वहाँ फिर मिलेंगे।"

मैंने कहा—"हमारे यहाँ कोई कार्यकर्ता नहीं। कोई कार्यकर्ता यहाँ भेजें।"

उन्होंने कुछ देर सोचकर कहा—"अच्छी बात है, मैं सोचूँगा।" यह कहकर वे गाडी मे चढ़ गये। गाडी चल दी। मैं खडा खडा रोता रहा। गाडी जब आँखों से ओझल हो गयी, तो मैं लौटकर अपने स्थान पर आ गया। मुझे ससार सूना ही सूना-सा दिखायी देने लगा। ३ ४ दिन के सग की मेरे हृदय पर गहरी छाप बैठ गयी।

उनके जाने के तीसरे या चौथे ही दिन एक १६-१७ वर्ष का कश्मीरी अत्यन्त सुन्दर लडका मेरे पास आया। उसने बताया—"मुझे पडितजी ने भेजा है।" नाम उसने अपना स्यात् बालकृष्ण कौल बताया। सब लोगों से उन्होंने बताया—"मैं कमला नेहरू का भाई हूँ।" सब उन्हे नेहरूजी का साला कहने लगे। मैंने पूछा—'तुम पडित जी के सगे साले हो?" तो उन्होंने कहा—"नहीं, दूर के नाते से कमला हमारी भतीजी लगती है।" वे कौलजी बडे ही मिलनसार मिष्टभाषी और स्नेही थे। हम दोनो बडे स्नेह से साथ साथ ही रहते थे। पीछे वे बुलन्दशहर मे सत्याग्रह मे पकडे गये। उसके पश्चात् उनसे फिर कभी भेंट नहीं हुई। सभव है वे अब किसी बडे भारी पद पर प्रतिष्ठित हों, कहीं राजदूत या सचिव हो गये हों। इस प्रकार नेहरूजी की सरलता मानवता तथा स्नेहशालता का मेरे ऊपर बडा प्रभाव पडा। इसके पश्चात् फिर मेरी भेंट उनसे लखनऊ जेल मे ही हुई। जहाँ विशिष्ट श्रेणी (स्पेशल क्लास) के ही प्रान्त भरके बन्दी रखे गये थे। मुझे भी फैजाबाद जेल से विशिष्ट श्रेणी में रखने लखनऊ भेजा गया

था। पडितजी ने मुझे तुरन्त पहिचान लिया। वे और देवीदासजी गांधीजाज जोजिफ तथा और भी ४-५ प्रयाग के मालवीय परिवार के लोग अस्पताल के पास वाले वेरिक में रखे गये थे। जब जेल के अस्पताल में मेरी उँगली के फोडे मे चीरा लगा, उस समय जेल मे आये ८-१० डाक्टर मेरी देख-रेख कर रहे थे। कानपुर के डाक्टर जवाहरलालजी ने चीरा लगाया था। उस समय मैं जोरों से चिल्लाया था। देवीदासजी तथा पडितजी निकलकर आ गये और जब तक चीरा लगा खडे खडे देखते रहे। उनके हृदय में अपने सगे साथियो के प्रति बडी ममता थी। एक ऐसा भी समय आया, जब हिन्दू कोडबिल के प्रश्न पर मैंने चुनाव में उनका विरोध भी किया उनके विरुद्ध चुनाव लड़ा। मैं समझता हूँ, संसार मे ऐसा चुनाव स्यात् प्रथम ही होगा, जब दोनों प्रत्याशियो ने अपने विरोधी के विरुद्ध एक भी शब्द न कहा हो। मैंने नेहरू जी के विरुद्ध ये ही शब्द कहे—"नेहरूजी बहुत योग्य व्यक्ति है, उनके ऊपर हम भारतवासियो को बडा गर्व है, ऐसे लोग कभी-कभी होते हैं, किन्तु वे धर्म प्रधान भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री बनने के सर्वथा अयोग्य हैं। अमेरिका इगलैंड के प्रधान मन्त्री बनने योग्य हैं।"

उन्होंने स्थान-स्थान पर मेरे सम्बन्ध मे इतना ही कहा—"ब्रह्मचारीजी को मैं इज्जत करता हूँ, वे हमारे बुजुर्ग हैं। वे माकूल आदमी हैं किन्तु उनके साथी (जनसघी) नामाकूल हैं।" बस, इसके सिवाय उन्होंने मेरे विरुद्ध चुनाव के समय मे और चुनाव के पश्चात् १५, १६ वर्ष जिये, कभी भी न सार्वजनिक रूप में, न व्यक्तिगत प्रसग मे कभी एक शब्द भी मेरे विरुद्ध कहा। यही उनकी महानता है। इसके विरुद्ध उस समय मुझे एक दूसरा भी अनुभव हुआ। उसे भी सुन लीजिये।

एक दिन हमे एक तार मिला। जिसमें लिखा था—"मैं देहली जा रहा हूँ, खुरजा जंक्शन पर अमुक समय मुझसे मिलो।" स्वामी सत्यदेव व्राजक।

स्वामी सत्यदेवजी थोड़े ही दिन पूर्व अमेरिका से लौटे थे। उन दिनों विदेशों से लौटे हुए विद्वानों का बड़ा सम्मान होता था। विदेशों मे सम्पन्न पुरुष ही जा सकते थे, किन्तु हमारे स्वामी सत्यदेवजी इसके अपवाद थे। वे बहुत निर्धन होने पर भी अमेरिका गये थे, वहाँ होटलो मे जूठे बर्तन धो धोकर पढ़े थे। भारतियो का दास होने के कारण सर्वत्र अपमान होता था। सत्यदेवजी साहसी थे, अक्खड़ स्वाभाव के थे, उन्होंने वहाँ गोरों से अनेक प्रकार से टक्करें ली थीं। यहाँ आकर उन्होने कई पुस्तकें हिन्दी में लिखी थीं। 'मेरी अमेरिका यात्रा', 'खतरे की घंटी' आदि आदि। उनको मैं अत्यन्त चाव से पढ़ता था। उनकी पुस्तकें पढ़कर मेरी उन पर बड़ी श्रद्धा हो गयी थी। वे सभा में बड़ा ओजस्वी भाषण करते थे, उनके भाषणों की बड़ी ख्याति थी। महात्मा गान्धीजी ने उन्हे हिन्दी के प्रचार हेतु दक्षिण में अपने पुत्र देवीदास गान्धी के साथ भेजा था। उन दिनों वक्ताओं में उनकी ख्याति थी। मैं उनके दर्शनो को बड़ा उत्सुक था। सहसा उनका तार पाकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। हम एक दो साथियों को लेकर स्टेशन पर गये। प्रथम श्रेणी के डिब्बे में वे बैठे थे। हमने जाकर उनके पैर छुए। उन्होंने कुछ बातें पूछीं। मैंने प्रार्थना की—"महाराज! एकदिन के लिये यहाँ भी उतर पड़िये। जनता आपके दर्शनों को अत्यन्त उत्सुक है।"

उन्होंने कहा—"अब तो मैं एक काम से देहली जा रहा हूँ। मुझसे देहली में आकर मिलो।"

उन्होंने दरियागंज या कहीं अन्यत्र जो पता बताया था उस

पर जाकर मिले। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् तैं हुआ कल चलेंगे। उन्होंने कहा—"खुरजा तार कर दो।"

अब खुरजा में किसे तार करूँ, परन्तु फिर भी मैंने तार करा दिया। स्टेशन पर आये साथ मे एक स्वामी ब्रह्मानद सरस्वती नाम वाले सन्यासी को और ले लिया। स्टेशन पर आकर प्रथम श्रेणी के दो टिकट लिये। इससे पहिले मैं कभी प्रथम श्रेणी मे बैठा ही नहीं। प्रथम श्रेणी में प्राय. अँगरेज ही चलते थे। बहुत बडे आदमी द्वितीय श्रेणी मे। नहीं तो बडे लोगो का ड्योढा ही था। उन दोनों स्वामियो को मैंने वहाँ खडे एक प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बिठा दिया। वह कहीं दूसरी ओर जाने वाला था, इजन उसे लेकर कहीं दूसरे स्थान पर चला गया। स्वामीजी उतरकर खडाऊँ खटकाते क्रुद्ध होते हुए आये—"मुझे कहाँ बिठा दिया।"

स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने बात सम्हाल ली। कह दिया "स्वामी जी! इन्हें मालूम नहीं था।" अस्तु गाडी आयी, दोनों स्वामी प्रथम श्रेणी में, मैं तृतीय श्रेणी में बैठा। खुरजा स्टेशन पर पहुँचे तो वहाँ एक भी मनुष्य स्वागत के लिये नहीं आया। स्वामीजी मन ही मन बडे असन्तुष्ट हुए। मैं एक इक्का ले आया। अब कहते क्या, बेमन से इक्के मे बैठ गये। मैं बाजार के अपने उसी गन्दे अड्डे में उन्हें ले गया। अब स्वामीजी गरजे। भीतर भरे असन्तोष को अब उन्होंने प्रकट किया—"यहाँ बाजार मे कहाँ ले आये? साधु बाजार मे नहीं रहता। वह तो एकान्त जङ्गल में रहता है कहीं जगल में स्थान नहीं है?"

अब मैं बडे धर्म सकट में पडा। नहर के बबे के समीप अँगरेजी महाविद्यालय के समीप एक सेठ का स्थान था। उसने एक अच्छा स्थान दे दिया। स्वामीजी वहाँ उतरे।

मैं तो जानता नहीं था, बडे नेता क्या खाते हैं, उनके कैसे

व्यवहार करना चाहिये। मैंने पूछा—"स्वामीजी! किसकी दाल बनावें?"

स्वामीजी पुनः गरजे, तुम निरे भोंदू ही हो। बड़े आदमियों से कैसे व्यवहार करना चाहिये, तुम कुछ भी नहीं जानते। दो-तीन दाल बना लो दो-चार साग बना लो।"

अब मैं दो-चार साग कहाँ से लाऊँ। जैसे-तैसे दाल, रोटी, भात तथा दो-तीन साग बनवाये। दुर्भाग्य से जो घृत आया वह अच्छा नहीं था। स्वामीजी बड़े दुखी हुए। भोजन नाम मात्र को किया। फिर मैं बाजार से सेव ले आया। मैं यह भी नहीं जानता था, कि सेवों में भी उत्तम, मध्यम और अधम होते है। मैं समझता था, सेव-सेव सब एक से ही। मैं सस्ते से सस्ते सेव ले आया। सेवों को देखकर स्वामीजी बोले—"कैसे मूर्खों से पाला पड़ा है।" उन्होंने सेव फेंक दिये और अपने सामान में से बड़े-बड़े लाल-लाल सुन्दर सेव निकाले। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने फिर बात सम्हाल ली, बोले—"स्वामीजी! अच्छे सेव देहली में ही मिलते हैं, यह तो छोटा-सा स्थान है।"

सायंकाल के समय हम कहीं से एक बग्गी माँग लाये। बाजे वालों को ले आये, स्वामीजी की शोभायात्रा निकालने। हमने आकर प्रार्थना की—"महाराज! शोभायात्रा में पधारें।"

आप बोले—"मैं ऐसे खेलों में नहीं जाता। स्वामी ब्रह्मानन्द को ले जाओ।"

स्वामी ब्रह्मानन्दजी पहिले नाभाराज्य में जज थे। असहयोग आन्दोलन में छोड़कर चले आये। उर्दू जानते थे। पंजाबी थे, उनकी बातों में, बोली में, व्यवहार में, नारीपन अधिक था। बोले—"नहीं, स्वामीजी! आप के ही लिये इन लोगों ने किया है, आप ही पधारें।"

स्वामीजी पुनः गरजे—"मैं कदापि नहीं जाऊँगा।"

हम लोग अपना-सा मुख लेकर लौट आये। सायंकाल में मंडी में सभा रखी। व्याख्यान सुनने सैकड़ों पुरुष एकत्रित हुए। हम स्वामीजी को ले गये। सभा के आरम्भ में एक सभापति चुनने की प्रथा है। एक बड़े ही सज्जन बहरे मुसलमान भाई थे। मैंने खड़े होकर कहा—"आज की सभा के सभापति मौलाना साहब बनाये जायँ।"

मेरे प्रस्ताव पर बूढ़े मौलाना साहब उठकर सभापति के आसन की ओर जाना चाहते ही थे, तब तक स्वामीजी गरजे—"साधुओं की सभा का कोई सभापति नहीं होता। साधु लोग व्याख्यान नहीं देते, उपदेश करते हैं।"

इतना सुनते ही बूढ़े मौलाना तुरन्त ही शीघ्रता से पुनः नीचे ही अपने स्थान पर जा बैठे। अब पालथी मारकर मेज पर बैठ कर स्वामीजी का उपदेश आरम्भ हुआ। उपदेश क्या था, मेरी समस्त त्रुटियों की गाथा थी—"यहाँ के लोग बड़े मूर्ख हैं, जानते नहीं बड़े लोगों का कैसे स्वागत सत्कार किया जाता है। हमने सुना था, खुरजे का घी बहुत प्रसिद्ध है। मुझे जो दोपहर खाने को घृत दिया गया वह महा रद्दी था। मेरा चित्त अभी तक मिचला रहा है। इस प्रकार उन्होंने अपने सभी हृदयोद्गार व्यक्त कर दिये। सभा विसर्जित हुई। मैं इतना डर गया था, कि उनसे बातें करने का साहस ही नहीं होता। डरते डरते मैंने पूछा—"स्वामीजी! रात्रि में रसोई क्या बनावें?"

तब वे बोले—"शाम को मैं कुछ नहीं खाता। केवल दूध ले आना।"

हम हलवाई के यहाँ से दूध ले गये। हलवाई अच्छा दूध सुन्दर दिया, स्वामीजी कुछ भी न बोले।

प्रातःकाल किसी की बग्गी माँगकर स्वामीजी को पहुँचाने स्टेशन गये। प्रथम श्रेणी के प्रतीक्षालय में काष्ठ शौचालय (कमोड) पाकर, स्नान पात्र (टब) पाकर मेज कुरसी आदि से सजा स्थान पाकर, स्वामीजी का चित्त प्रसन्न हुआ। सर्वथा नग्न होकर स्नान पात्र (टब) में स्नान किया। साबुन से मल मलकर नहाये। अँगरेजी वातावरण में उनका मस्तिष्क सतुलित हुआ। नहा धो कर आराम कुरसी पर लेट गये।

मैंने हाथ जोडकर नम्रता के साथ कहा—"स्वामीजी! अपराध तो हमसे बहुत हुए हैं, कृपा करके बालक जानकर क्षमा कर देंगे।"

तब स्वामीजी प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"देखो, बच्चे! हम अप्रसन्न नहीं हैं। तुम्हे उपदेश देने को हमने ये बातें कही थी। हम तुम्हें आशीर्वाद देते हैं। तुम्हारा कल्याण हो।"

अब मेरे प्राणों में प्राण आये। चलो स्वामीजी प्रसन्न तो हुए। तब उन्हें जैसे तैसे विदा किया। मैं समझता था जैसे हमारी प्रत्येक बात से नेहरू जी प्रसन्न रहें वैसे ये भी रहेंगे, किन्तु यहाँ तो उससे भिन्न ही बात रही। पीछे में समझा सभी अपने अपने स्वभाव से विवश हैं। हम दूसरों की तो आलोचना करते हैं, किन्तु जब हम स्वय ऐसी अवस्था में आ जाते हैं, तो हमें भी वैसा ही बर्ताव करना पडता है। उस समय तो हम अपनी परिस्थिति के अनुसार जानते नहीं थे। आज मेरे साथ कोई वैसा व्यवहार करे जैसा मैंने स्वामी सत्यदेव जी के साथ किया था, तो मैं शिष्टाचारवश ऊपर से क्रोध भले ही व्यक्त न करूँ, किन्तु भीतर ही-भीतर मैं रुष्ट अवश्य हूँगा। उस समय के और अब के मेरे रहन सहन व्यवहार में बहुत अन्तर हो गया है। इसके अनन्तर तो जेल में सैकड़ों बड़े बड़े नेताओं के ही

बीच में रहना हुआ। वहाँ बड़े-बड़े अनुभव हुए। भगवान् ने सर्वथा अयोग्य होने पर भी इतने बड़े लोगों में ले जाकर पटक दिया कि एक साथ ही अनेकों अनुभव हुए।

मेरे प्रायः सभी साथी पकड़े गये। मैं ही एक रह गया। वह मेरे परगना हाकिम की ब्रह्मण्यता के कारण। उनका नाम स्यात् बाबू राजनारायणजी था। वे मुझे पकड़ना नहीं चाहते थे। मैं जेल जाने पर ही तुला हुआ था। अन्त में विवश होकर उन्हें मुझे पकड़ना ही पड़ा। मैंने पीछे सुना था, मुझे दण्ड देने के अनन्तर उन्होंने सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दिया था और राजा अवागढ़ के यहाँ दानाध्यक्ष की नौकरी कर ली थी। मैं किस प्रकार पकड़ा गया और जेलों के कैसे कैसे अनुभव हुए, ये सब बातें आगे के संस्मरणों में आवेंगी, आज तो बस, यहीं समाप्त।

छप्पय

निज स्वभाववश बरतत सब ही जगके प्रानी।
करें करम है विवश जीव ज्ञानी अज्ञानी॥
परस्वभाव अरु करम करें निन्दा जे मनतें।
स्वार्थभ्रष्ट ते होहिं असतमें भाव करनतें॥
प्रकृतिपुरुष संयोग तें, बरतें सबहिं स्वभाववश।
नहिं निन्दा इस्तुति करै, सोचे सबई हैं विवश॥

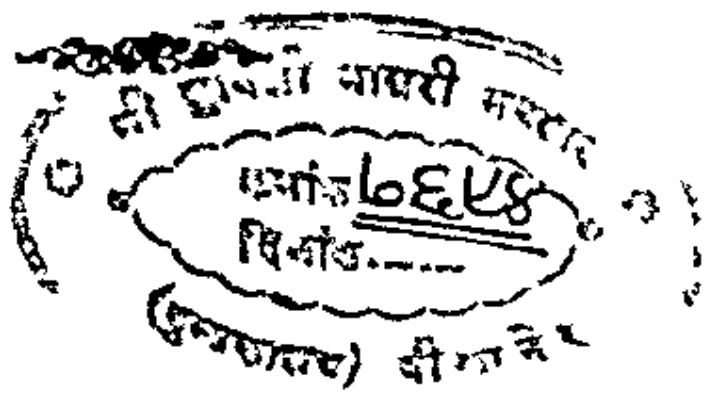

विविध उपासनाएँ

[८४]

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति । तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद् ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः ।*

(तै० उ० भृ० व० १० अनु०)

छप्पय

ताहि प्रतिष्ठा मानि उपासन साधक करिहैं ।
होहिँ प्रतिष्ठावान मानि महः जे जन भजिहैं ॥
ते ह्वै जायँ महान् मानि मन करहिँ उपासन ।
मानवान् ते बनें नमः करि तिहि राखें मन ॥
सकल कामना तिनिन में, ब्रह्मभाव तैं जे भजें ।
बलवान् ह्वै जायँ वे, जीव भाव कूँ ते तजें ॥

---

* वह ब्रह्म प्रतिष्ठा है । इस भावना से जो उसकी उपासना करता है, वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है । जो उसे महान् समझकर उपासना करता है, वह महान् हो जाता है । जो मन मानकर उसकी उपासना करता है, वह मानवान् होता है । जो नम. भाव से उपासते हैं उसके लिये सभी

एक महात्मा थे। वे सबको 'भगवन्' 'भगवन्' कहकर सम्बोधित किया करते थे। वे 'भगवन् स्वामी' के नाम से विख्यात हो गये। एक महात्मा 'हरि हरि' कहा करते थे, सब लोग उन्हें 'हरिबाबा' 'हरिबाबा' कहकर पुकारने लगे। ब्रह्म नाम और रूप से रहित है, वह गुणों से भी रहित निर्गुण है, फिर भी जो उन्हें जिस नाम से पुकारेगा, वह उसी नाम वाला हो जायगा, वह उसके जिस रूप का चिन्तन करेगा, उसी रूप का वह हो जायगा, वह जिस गुण वाला मानकर उसकी उपासना करेगा, वह उसी गुण विशिष्ट बन जायगा। संसार में भृङ्गी कीट न्याय प्रसिद्ध ही है। भृङ्गी कीड़े को पकड़कर अपने घर में बन्द कर देता है और उसके सामने गुनगुनाता रहता है। निरन्तर उसकी गुनगुनाहट सुनते सुनते कीट उसी भृङ्गी के आकार प्रकार, रूप रंग और वाणी वाला बन जाता है। जो जिस भाव से जिस गुण विशिष्ट की उपासना करेगा, वह उसी भाव वाला, उसी गुण से युक्त बन जायगा।

योग के सम्बन्ध की एक कथा आती है। सद्गुरु ने पूछा—"तुम्हें सबसे अधिक प्रिय कौन है?"

शिष्य ने कहा—"मुझे सबसे अधिक प्यारा अपनी भैंस का पड़रा लगता है।"

गुरु ने कहा—"इस गुफा में बैठकर उस भैंस के बच्चे पड़वे का ही ध्यान करो।"

भोग पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। जो ब्रह्मभाव से उपासना करता है, वह ब्रह्मवान् हो जाता है। जो उसे परिमर यम—मानकर उपासना करते हैं, उसके द्वेषी शत्रु मर जाते हैं और उसके सब प्रकार से अप्रिय करने शत्रु हैं, अनिष्ट करने वाले चाचा आदि के पुत्र हैं वे भी मर जाते

वह आदमी गुफा में बैठकर पडने का ही ध्यान करने लगा। कुछ दिनों के पश्चात् उसके गुरु पुनः आये और उन्होंने उनका नाम लेकर पुकारा और कहा—"तुम बाहर निकल आओ।"

उसने कहा—"गुरुजी! कैसे निकल आऊँ? मेरे तो बडे-बडे सींग हो गये हैं।"

भैंस के पडने का ध्यान करते-करते वह तदाकार अपने को अनुभव करने लगा। हमने एक साधक को देखा था। वह हनुमान् जी का भक्त था। उसकी आकृति प्रकृति सब बन्दर जैसी हो गई थी। वृक्षों पर ही वह रहता था और एक वृक्ष से कूदकर दूसरे वृक्ष पर बन्दरों की भाँति छलांग मारकर चला जाता।

एक लडके को भेडिया उठा ले गया था। भेडियों के साथ रह कर उनकी संगति से-उनके ध्यान सहवास से वह सर्वथा भेडिया ही बन गया था। दोनों हाथ पैरों से भेडियों की भाँति चलता, भेडियों की ही भाँति बोलता था, उन्हीं की तरह कच्चा मांस खाता था। उसकी समस्त आकृति प्रकृति तथा चेष्टायें भेडियों जैसी हो गयी थी। उसे लोग जिस किसी भाँति पकडकर लखनऊ लाये। बहुत चेष्टायें की वह मनुष्यों की भाँति खाने पीने लगे, बोलने लगे, किन्तु उसमे पूरी सफलता नहीं हुई। थोडे दिनों में वह मर गया। इससे सिद्ध होता है, ध्यान का, चिन्तन का, सहवास का, उपासना का बडा भारी प्रभाव होता है, जो जैसी उपासना करता है, वह वैसा ही बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् भाव के भूखे हैं। भगवान् की दुःखों को दूर करने की भावना से उपासना करो, चाहे ब्रह्म की जिज्ञासा की इच्छा से उपासना करो अथवा धन की इच्छा से उपासना करो और चाहें ब्रह्मज्ञान होने के अनन्तर भक्ति से उपासना करो, भगवान् सकाम उपासकों को तथा निष्काम भाव

से उपासना करने वाले उपासकों को उनकी भावना के अनुसार ही फल देते हैं। वे सकाम भाव से उपासना करने वालों से रुष्ट नहीं होते। कारण कि कामनाओं को उत्पन्न करने वाले भी तो वे ही हैं। साधकों की बुद्धिमत्ता इसी में है, कि वे अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये इन संसारी धन दुर्मद कामी लोगों की शरण में न जाकर, समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाले प्रभु की ही शरण में जायँ। उनकी शरण मे जाने से समस्त कामनायें पूर्ण हो सकती है।

पूर्व जन्मों के संस्कारवश पुरुषों के हृदयों में भिन्न भिन्न प्रकार की कामनायें रहा करती हैं। वे कामनायें संसारी कामियों के द्वारा कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं, वे तो पूर्ण होंगी समस्त कामनाओं के स्रोत श्यामसुन्दर की शरण मे जाने से ही। अब जैसे किसी की कामना है, कि मेरी प्रतिष्ठा बढ़े। संसार में मैं परम प्रतिष्ठित समझा जाऊँ, तो उसे अपने उपास्यदेव की अधिक से अधिक प्रतिष्ठा करनी चाहिये। उनकी राजोपचार से परम प्रतिष्ठा पूर्वक प्रेम से पूजा अर्चा करनी चाहिये, उनका महाराजाधिराजों से भी बढकर सम्मान करना चाहिये। पर्वों पर अत्यन्त धूमधाम से शोभा यात्रा निकालनी चाहिये। इन सम्प्रदाय प्रवर्तक आद्याचार्यों ने अपने इष्टदेव की अत्यधिक प्रतिष्ठा की थी, इसी लिये वे जगत् मे आज तक परम प्रतिष्ठित माने जाते हैं। इसके विपरीत जो अभागे भगवान् की प्रतिष्ठा न करके अपने शरीर की ही प्रतिष्ठा कराते हैं, अपने को ही पूज्य मानकर अपनी प्रतिष्ठा पूजा कराते हैं, पीछे उनका कोई नाम लेवा पानी देवा भी नहीं रहता। अतः जिसे प्रतिष्ठावान् बनना हो, वह अपने इष्टदेव की ही प्रतिष्ठा करे। उसी की प्रतिष्ठा रूप से उपासना करने पर प्रतिष्ठा वाला हो जाता है।

जिसे महान् बनने की इच्छा हो वह भगवान् की महः रूप में–हमारे इष्टदेव सबसे महान् हैं–इस भावना से उपासना करने पर वह साधक महान् हो जाता है। इसी प्रकार अपने इष्टदेव को मन समझकर उपासना करे तो वह मननशील हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इष्टदेव की मन रूप से उपासना कैसे करे?"

सूतजी ने कहा—"मन से यहा अभिप्राय अन्तःकरण से है। अंतःकरण की चार वृत्तियाँ हैं, उन चार वृत्तियों के चार ही विषय हैं। जैसे मन, बुद्धि अहङ्कार और चित्त ये तो चार वृत्ति हैं। मन का विषय है संशय, यह करें या न करें। इसके करने से लाभ है या हानि, यह उचित है या अनुचित इस प्रकार मनन करने की वृत्ति को मन कहते हैं। बुद्धि का विषय है, निश्चय ऐसा करना ही चाहिये ऐसा निश्चय जिस वृत्ति से हो, अन्तःकरण की उसी वृत्ति का नाम बुद्धि है। अहङ्कार वृत्ति का विषय गर्व है। मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ, ऐसा कर डालूँगा आदि। चित्त नामक जो अंतःकरण की वृत्ति है उसका स्मरण है भूली हुई बात का पुनः याद हो जाना। अन्तःकरण से सावधानी से किया हुआ निर्णय महान् होता है। जो अन्तःकरण की वाणी को दबाता नहीं, विचारपूर्वक मनन पूर्वक कार्य करता है, वही महान होता है, क्योंकि मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। मन विषयों का संग बिना सोचे समझे करने लगेगा, तो बद्ध हो जायगा। मननपूर्वक विचारपूर्वक निर्विषयक बनकर कार्य करेगा, तो मुक्ति का भागी बनेगा। इसलिये मन रूप से उपासना यही है, कि प्रत्येक कार्य को उहापोह करके, मननपूर्वक–विचारपूर्वक जो करना है, मन में इष्टदेव का ध्यान करके तन्मय होकर जो भगवत् बुद्धि से

कार्य करता है वह इष्ट को मनस्वी मानता है। ऐसे साधक को मनन करने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है।

जो अपने इष्ट को नम, इस भावना से उपासना करता है। उन्हें नमस्कार योग्य समझता है, निरन्तर दंडवत ही करता रहता है, उसके सम्मुख समस्त कामनायें करबद्ध खडी रहती हैं। वह जगत् में नमस्कारार्ह बन जाता है। सभी लोग उसे नमस्कार करने लगते हैं। समस्त जीव ही उनके सम्मुख झुक जाते हैं। समस्त कामनायें उसके सम्मुख नतमस्तक होकर आज्ञा हेतु खडी रहती है। जो अपने इष्ट को नमस्कार करेगा, उसके सम्मुख सभी नत हो जायँगे।

जो अपने इष्ट को ब्रह्मभाव से उपासना करता है। वह ब्रह्म रूप में अर्चा पूजा करता है, वह ब्रह्मवान् बन जाता है, अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है। जो अपने इष्टदेव को परिमर भाव मृत्यु अथवा यम रूप से उपासना करता है, अपने इष्ट को सबको मारने के लिये नियत किया हुआ अधिकारी–मृत्यु–मानकर उनकी पूजा करता है, तो उस साधक से द्वेष रखने वाले शत्रु मर जाते हैं और उसका अनिष्ट चाहने वाले जो अप्रिय परिवार वाले चाचा आदि ये भ्रातृव्य हैं वे भी मर जाते हैं। इस प्रकार जो उस परमात्मा की जिस भावना से उपासना करता है, वह उसी भाव से भावान्वित होकर वैसा ही बन जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह मैंने आपसे विविध भावना से की जाने वाली उपासना का फल सहित वर्णन किया। अब मैं आगे सर्वत्र एक ही परब्रह्म परमात्मा परिपूर्ण हैं, उन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उनकी प्राप्ति का क्या फल है? इस विषय को बताऊँगा। आशा है, आप सब इस उपदेश को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

इष्टदेव निज मानि भजें तिनि 'परिमर' जानें।
सब कूँ मारन हेतु तिन्हें अधिकारी मानें॥
तिनिके द्वेषी शत्रु तुरत सबरे मरि जावें।
जे अनिष्ट तिहि करें अप्रिय बान्धव नसि जावे॥
विविध भावना तैं पुरुष, इष्टदेव निज भजिमें।
वैसे ही बनि जायँ ते, जीव धरम कूँ तजिमें॥

—०—

परिपूर्ण परमात्मा की प्राप्ति पर प्रसन्नता प्रकाश

[८५]

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते।*

(तै० उ० भृ० व० १० अनु०)

छप्पय

जो आत्मा नर माहिँ वही [illegible]।
जो जाने जिह तत्त्व लोक [illegible]॥
प्राप्त अन्नमय होइ प्राणमय [illegible]।
लाँघि मनोमय फेरि [illegible]॥
आनँदमय कूँ प्राप्त है, [illegible]।
पाइ दिव्य लोकनि [illegible]॥

---

* जो आत्मा पुरुष में है [illegible] है, वह [illegible]
जो इसे जानता है, वह [illegible]

सर्वत्र सब में सर्वान्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा परिपूर्ण हैं और यह जगत् उनकी लीला का चिद् विलास है, इस भावना से जो परिपूर्ण परमात्मा की उपासना करते हैं, वे पंच कोषों का अतिक्रमण करके आनन्द मग्न हो जाते हैं। उन्हें सर्वत्र आनन्द की ही उपलब्धि होने लगती है। वे आनन्द में निमग्न होकर नाचने और गाने लगते हैं। जब आनंद हृदय में नहीं समाता, आह्लाद सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, तो उसी आनन्दोल्लास में साधक गायन करने लगता है, थिरकने लगता है, इस प्रकार वह अपने आनद की अभिव्यक्ति करने लगता है। जो सकाम उपासक हों उन्हें अपनी-अपनी कामनाओं के अनुसार उन कामनाओं को देने वाले देवताओं की उपासना करनी चाहिये। किन्तु जो निष्काम साधक हैं और तुरन्त सद्योमुक्ति नहीं चाहते, वे इन स्थूल सूक्ष्म कोशों को पार कर सर्वोत्तम लोकों में इच्छानुसार विचरण करते हैं, वे आनद सागर में गोते लगाते रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जो परब्रह्म परमात्मा की इस भावना से उपासना करते हैं, कि वे परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, वे इस लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त की सभी वस्तुओं में एक ही परमात्मा का दर्शन करते हैं। जो हिरण्मय पुरुष आदित्य में—सूर्य में—है, वही पुरुष में भी। अन्तर्यामी रूप से दोनों ही वास्तव

प्राप्त होकर तथा इस प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा, और आनन्दमय आत्मा को क्रमश प्राप्त होकर अपनी कामनानुसार अन्न प्राप्त करने वाला, अपनी इच्छानुसार रूप प्राप्त करने वाला और इन सभी दिव्य लोकों में विचरण करते हुए अत्यन्त हर्ष और आश्चर्य के सहित सामवेद का गायन करता रहता है। जिस सामगान को वह भाग्यशाली करता है उसे आगे कहा गया है।

मे एक हैं। जैसे प्रकाश तो एक ही है, उसके ऊपर जैसा कॉच लगा दोगे, प्रकाश उसी रंग का दिखायी देने लगेगा। जैसे आकाश तो एक ही है, घड़े में होने से उसकी घटाकाश संज्ञा हो जाती है। मठ में आ जाने से मठाकाश कहलाता है। घटमठ का व्यवधान हटने से वह महाकाश मे मिल जाता है। घट मे मठ में तथा दिशाओं मे व्याप्त आकाश एक ही है, पात्रभेद से पृथक् पृथक्-सा दिखायी देता है। इसी प्रकार आदित्य मे वर्तमान आत्मा और पुरुष देह में व्याप्त आत्मा एक ही है। दोनों में अणुमात्र का भी भेद भाव नहीं है। जो इस रहस्य को केवल वाणी से नहीं–तत्त्व से जानता है, वह इस स्थूल देह को त्यागकर जो अन्न रसमय है–जिसे भ्रान्तिवश अज्ञपुरुष आत्मा मानते हैं। इसका अतिक्रमण करके प्राणमय आत्मा को, जो वायु विकारात्मक है, उसे प्राप्त करता है। यद्यपि प्राणमयकोष अन्नमयकोष की अपेक्षा सूक्ष्म है, फिर भी वह उससे भी सूक्ष्म सशयात्मक वृत्ति वाले अन्तःकरण रूप मनोमय आत्मा को प्राप्त होता है। फिर उससे भी सूक्ष्म निश्चयात्मक वृत्ति वाले अन्तःकरण रूप विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है। तदनतर उससे भी सूक्ष्म दिव्य निद्रात्मक सुखानुभव स्वरूप आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है। फिर उस आनन्दमय आत्मा का भी अतिक्रमण करके इच्छानुसार रूप रखने वाला हो जाता है। वह जैसा चाहे वैसा रूप रख सकता है, जिस लोक में चाहे उस लोक मे जा सकता है। भू, भुव, स्वः यह जन, तप तथा सत्यलोक जिस लोक मे चाहे जा सकता है। जैसा अन्न खाना चाहे वैसा अन्न खा सकता है। स्वर्ग का अन्न अमृत है। महर्षि लोक का अन्न यज्ञ भाग है, जनलोक का अन्न ब्रह्मचर्य है, तपलोक का अन्न तपस्या है। सत्यलोक का अन्न ज्ञान है। वह बहु अन्न वाला होकर इच्छानुसार

लोकों में विचरण कर सकता है। सर्वत्र उसकी अव्याहत गति हो जाती है। उसके आनन्द का वारापार नहीं। उसकी बुद्धि समत्व में स्थिर हो जाती है अतः आनन्द में निमग्न होकर गाने लगता है—"हा इ वु हा उवु हाऽवु।"

शौनकजी ने कहा—"हा इ वु का अर्थ क्या हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"यह सामवेद का गायन है। 'हावु' शब्द आश्चर्य वाचक है। परम विस्मय के साथ कह रहा है अहा ! मैं क्या था क्या हो गया ?"

शौनकजी ने पूछा—"तीन बार कहने का क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"आनन्दातिरेक में विस्मय की पराकाष्ठा दिखाने को तीन बार कहा गया महान् आश्चर्य है ! अत्यन्त ही आश्चर्य है !! निरतिशय आश्चर्य है।"

शौनकजी ने कहा—"क्या आश्चर्य की बात है, क्यों विस्मयाविष्ट हो रहे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"वह कहता है, अहमन्नमहमन्नमहमन्नम ! मैं अन्न हूँ ! मैं अन्न हूँ !! मैं ही अन्न हूँ !!!"

शौनकजी ने पूछा—"मैं अन्न हूँ कहने का तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"अर्थात् आत्मा परमात्मा और अन्न की तादात्म्यता दिखाने को आनंद में भर कर कह रहा है। मैं ही अन्न हूँ और मैं ही अन्न को खाने वाला हूँ। अहमन्नाः दो ३ (तीन बार) अर्थात् अन्न भी मैं हूँ और अन्न का भोक्ता भी मैं ही हूँ। यहाँ सबकी एकात्मता दिखाने को सबको परमाश्चर्य के साथ तीन-तीन बार कह रहे हैं। फिर कहते हैं—"अहँ श्लोककृत् (तीन बार) इन दोनों कार्य कारण रूप संघात का कर्ता चेतनावान्-संयोग कराने वाला-भी मैं ही हूँ। और मैं ही इस श्रुत

रूप प्रत्यक्ष दीखने वाले जगत् की अपेक्षा से प्रथमजा (पहिले उत्पन्न होने वाला) हिरण्यगर्भ हूँ। (अहमस्मि प्रथमजा ऋतास्य)।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रथमजा कहने से क्या तात्पर्य ?"

सूतजी ने कहा—"वेद कहता है, इस सम्पूर्ण जगत से पहिले हिरण्यगर्भ ही था (हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे) वह हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ। अपनी जगत् और आत्मा की एकतानता प्रदर्शित कर रहे हैं।" फिर कहते हैं—"मैं ही देवताओं से भी प्रथम विद्यमान अमृत की नाभि हूँ। (पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना इभायि।) अर्थात् देवताओं से प्रथम उत्पन्न होने वाला ब्रह्मा भी मैं ही हूँ और अमृत के स्रोत परब्रह्म परमात्मा भी मैं ही हूँ। कहने का भाव यह कि सर्व रूपों में मैं ही आत्मभाव से व्याप्त हूँ। सब मेरा ही स्वरूप है। जो मुझे अन्न देता है, वह इस कार्य से मेरी ही रक्षा करता है (यो मा ददाति स इ देव मा इ वाः)।"

शौनकजी ने कहा—"अन्न देने वाला मेरी ही रक्षा करता है, इसका क्या तात्पर्य है ?"

सूतजी ने कहा—"यह व्यवहार की बात बताते हैं। अर्थात् जो अतिथि अभ्यागत को अन्न देता है, मानो अतिथिरूप में वह मुझ ही परमात्मा को देता है। मेरी ही रक्षा करता है मानो मेरी ही पूजा प्रतिष्ठा करता है। क्योंकि अतिथि रूप में भी मैं ही हूँ। अतिथि मेरा ही स्वरूप है। इसके विपरीत अन्न खाने वाले को मैं ही निगल जाता हूँ। (अहमन्नमन्नमदन्तमा इ क्षि)।"

शौनकजी ने पूछा- "अन्न खाने वाले को मैं निगल जाता हूँ, इसका क्या तात्पर्य है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जो केवल अपने ही लिये अन्न पकाता है। देवता, पितर, अतिथि को दिये बिना तथा बिना

शान्ति पाठ—

छप्पय

मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, गुरु, विष्णु-उरुक्रम ।
करें सबहिँ कल्याण करत विनती सबकी हम ॥
नमस्कार है ब्रह्म-देवकूँ आत्म-भूप जो ।
करें नमस्ते वायुदेवकूँ ब्रह्मरूप जो ॥
तुमहिँ एक प्रत्यक्ष हो, कहूँ सत्य ऋत तुम विभो ।
श्रोता वक्ता की सतत, रक्षा करि पालो प्रभो ॥

ऐतरेय उपनिषद्—शान्ति पाठ

[८६]

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥❀

(ऐ० उ० शा० पा०)

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

छप्पय

प्रणव ! वाक् मम होहि प्रतिष्ठित मन के भीतर ।
मन मेरो है जाइ प्रतिष्ठित वाणी अन्दर ॥
परमेश्वर ! मम हेतु प्रकट तुम ह्वै जाओ ।
मन वानी ! मम हेतु ज्ञान वेदनि को लाओ ॥
सुने वेद मम तजहिँ नहिँ, पढ़िकें निशि दिन सम करूँ ।
कहूँ श्रेष्ठ सुख तें वचन, सदा सत्य भाषन करूँ ॥

ॐ-मेरी वाणी मन मे प्रतिष्ठि हो, मेरा मन वाणी मे स्थित हो जाय। हे प्रकाशमय प्रभो ! तुम मेरे निमित्त प्रकट हो। मन वाणी तुम दोनो मेरे लिये वेद को अर्जन करने वाले बनो। मेरा सुना वेद मुझे छोड़े नहीं। अध्ययन के लिये मैं दिन रात्रि को एक कर दूँ। मैं ऋत

अब तैत्तिरीय उपनिषद् के अनन्तर ऐतरेय उपनिषद् के अर्थ को कहेंगे। ऋग्वेद में जो ऐतरेयारण्यक में पाँच आरण्यक हैं। उन पाँच आरण्यकों में सब मिलाकर १८ अध्याय हैं। उन पाँच आरण्यकों में से जो दूसरा आरण्यक है उसके चौथे अध्याय से छठें अध्याय पर्यन्त जो तीन अध्याय हैं ये ही तीन अध्याय 'ऐतरेय उपनिषद्' के नाम से विख्यात हैं। यह उपनिषद् एतरेय ऋषि द्वारा प्रवर्तित है। ऐतरेय महर्षि परम भगवद्भक्त ज्ञानी तथा विष्णु उपासक थे। महामुनि ऐतरेय की कथा स्कन्द पुराण कुमारि खण्ड में है। हारीत मुनि के वंश में माण्डूकि नाम के परम विख्यात महर्षि हुए हैं, जिनकी माण्डूक्य उपनिषद् है। उन्हीं माण्डूकि महर्षि की पत्नी का नाम 'इतरा' था। इन्हीं भगवती इतरा के गर्भ से एक परम भाग्यशाली पुत्र हुआ। माता के ही नाम से उसका नाम 'ऐतरेय' प्रसिद्ध हुआ। प्रायः पुत्र तो पिता के नाम से प्रसिद्ध होते हैं, किन्तु जो माताएं पति द्वारा परित्यक्ता होती हैं, उनके पुत्र माता के नाम से प्रसिद्ध होते हैं जैसे जाबाली महर्षि। इनकी माता का नाम जाबाला था। गुरु ने जब इनका गोत्र पूछा—तो उन्होंने अपनी माता से जाकर पूछा। माता ने यही कहा—"मैं तो सेवा कार्य में सदा निरत रहती थी। पति का नाम गोत्र तो मैं पूछ नहीं सकी।" तब गुरु ने माता के नाम से ही इनका नाम जाबाली रख दिया। ऐतरेय मुनि की माता 'इतरा' को भी उनके पति माण्डूकि ने परित्याग कर दिया था।

बात यह थी, कि जब इतरा के गर्भ से पुत्र उत्पन्न हुआ, तो वह न तो किसी की बात सुनता ही था, न किसी से कुछ

तथा सत्य ही बोलूं। वे परमात्मा मेरी रक्षा करें। वे उपदेश देने वाले आचार्य की रक्षा करें। मेरी रक्षा करें और मेरे आचार्य की रक्षा करें। ॐ शान्ति ! शान्तिः !! शान्ति !!!

बोलता ही था। वह निरन्तर द्वादशाक्षर मन्त्र का मानसिक जप ही करता रहता था। पिता ने उसे पढ़ाने की बहुत चेष्टा की, किन्तु उसने एक अक्षर भी पढ़कर नहीं दिया। तब पिता उससे निराश हो गये। इतरा के फिर कोई और पुत्र पैदा नहीं हुआ। तब पिता ने सोचा—"मेरा पुत्र गूंगा तथा बहरा है। पढ़ता लिखता नहीं। ऐसे पुत्र से वंश कैसे चलेगा ? पितरों को पिण्ड तथा उदक कौन देगा ? गूंगे बहरे पुत्र से तो पुत्र न होना ही अच्छा है। मेरी वंश परम्परा का नाश न हो, पितरों की पिण्डोदक क्रिया लुप्त न हो, यह सोचकर माण्डूकि मुनि ने पिंगा नामक एक दूसरी मुनि पुत्री से विवाह कर लिया। उसके गर्भ से चार पुत्र उत्पन्न हुए। वे सबके सब बड़े ही बुद्धिमान्, विद्वान् तथा वेदवेदाङ्गों के पारदर्शी थे। समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।"

इतरा ने देखा, "मेरी सौत के तो चार-चार पुत्र हो गये, वे सबके सब वेदवेदाङ्गों में पारङ्गत हैं। मेरे एक ही पुत्र है, वह भी बहरा-गूंगा है, कुछ पढ़ा लिखा भी नहीं। ऐसे पुत्र से तो मैं वन्ध्या ही रहती तो अच्छा था। इस अपढ़ पुत्र के कारण ही मैं पति द्वारा तिरस्कृता बन गयी। मेरे जीवन को धिक्कार है।" ऐसा विचार कर वह पुत्र को गोदी में लेकर रुदन करने लगी, और कहने लगी—"मैं बड़ी अभागिनी हूँ, मेरा निर्वाह कैसे होगा, पति ने मेरा परित्याग कर दिया है, यह पुत्र मूर्ख जड़ तथा गूंगा है। अब मैं महीसागर संगम में जाकर डूबकर मर जाऊँगी। मेरे जीने से क्या लाभ ? बेटा। अब तेरे मन में जो आवे सो करना। तू महा मौनी बनकर भजन करते रहना।"

माता को दुखी देखकर ऐतरेय जी को दया आ गयी। वे माता की बात सुनकर ठठाका मारकर हँस पड़े। माता ने आज सर्वप्रथम अपने पुत्र को इस प्रकार हँसते हुए देखा। फिर वे

आँख बंद करके दो घड़ी तक भगवान् का ध्यान करते रहे। ध्यान के अनन्तर उन्होंने नेत्र खोले और माता के चरणों में प्रणाम किया। तदनन्तर उन्होंने माता को उपदेश देना आरम्भ किया। जैसे भगवान् कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूति को उपदेश दिया था, उसी प्रकार ऐतरेय मुनि ने भी अपनी माता इतरा को उपदेश दिया। वह उपदेश क्या था, समस्त वेद शास्त्रों का निचोड़ था, समस्त ज्ञान का सारातिसार था। उन्होंने माता से कहा—"माँ! तुम अज्ञान अन्धकार मे भटक रही हो, अज्ञान को ही ज्ञान माने बैठी हो। यह संसार मिथ्या है। शरीर मे ममता तो मूर्ख मनुष्य करते हैं। शरीर मलायतन है। यह अशुद्ध तथा नाशवान् है। यह अशुद्ध घर है, जीव इस घर का गृही है। त्रिगुणमयी प्रकृति इसकी पत्नी है। क्रोध, अहंकार, काम, ईर्ष्या, लोभ इसकी सन्तानें हैं। इस घर के नौ द्वारों से निरन्तर मल बहता रहता है। इस शरीर को शुद्ध करने को जल, मिट्टी, तैल, फुलेल, सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग करते हैं, किन्तु कोयले को कितना भी धोओ, उसकी कालिख नहीं छूटती ऐसे ही यह नखशिख से मल से परिपूर्ण शरीर शुद्ध नहीं होता अतः अन्तःकरण की शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये।"

माँ ने पूछा—"अन्तःकरण कैसे शुद्ध होगा?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! इस बाह्य मृत्तिका जल से अन्तःकरण शुद्ध नहीं होने का। इसके लिये ज्ञान रूपी निर्मल जल और वैराग्य रूपी मृत्तिका की आवश्यकता है। तभी अन्तःकरण की शुद्धि होगी। इस शरीर की शुद्धि संभव नहीं, क्योंकि इसमें मल-ही-मल भरा है, केले के ऊपर की त्वचा को निकाल दो तो उसमें केवल पत्ते-ही-पत्ते मिलेंगे। ऐसे ही इस शरीर की त्वचा को पृथक् कर दो तो इसके भीतर मांस, रक्त,

कफ, विष्ठा, मूत्र, खखार, नेत्र मल, कान का मल, दाँतों का मल, जिह्वा का मल सर्वत्र अशुद्ध मल-ही-मल भरा है। ऐसे शरीर में अनुराग ममता करना महामूर्खता है। जो शरीर की तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं में ममता तथा अहंता को त्यागता है वही संसार बन्धन से छूट सकता है। अहंता ममता ही प्राणियों को संसार बन्धन में बाँधे हुए है।"

माँ ने पूछा—"संसार बन्धन में बँधे रहने पर क्या कष्ट होता है ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ ! संसार में तो कष्ट-ही-कष्ट है, गर्भ में आने का कष्ट, गर्भ में रहने का कष्ट, गर्भ से बाहर आने में कष्ट, ये सब कष्ट महान् हैं। गर्भ में जीव को पूर्व जन्मों की स्मृति होती है, बाहर की वायु लगते ही वह सब भूल जाता है। और इस हाड़ मांस के बने मल मूत्र के थैले में पुनः अत्यधिक अनुराग करने लगता है। इस शरीर के ही लिये घोर पाप करता है। अपने को ही सब कुछ समझने लगता है। शरीर व्याधियों का मन्दिर है। वात, पित्त और कफ की विषमता से ही असंख्यों व्याधियाँ होती हैं। व्याधियों में सिसकता ही हुआ प्राणी मर जाता है। १०० वर्ष तक तो कोई विरला ही जीता है, नहीं तो प्रायः सभी अकाल में ही काल कवलित हो जाते हैं।"

माँ ने कहा—"मृत्यु हो जाने पर तो दुःखों से छुटकारा हो ही जाता होगा ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ ! छुटकारा कहाँ है ? कर्मानुसार सहस्रों योनियों में जन्म लेना पड़ता है, उन सब योनियों में नाना क्लेशों को यह जीव सहता रहता है। एक शरीर से दूसरे और दूसरे से तीसरे में ऐसे निरन्तर भटकता रहता है।"

संसार में सब से बड़ा दुःख तो याचना है। जब प्राणी

दूसरे से माँगने को उद्यत होता है, चाहे अपना बाप, भाई, पुत्र तथा सगा सम्बन्धी ही क्यों न हो, उसका मन छोटा हो जाता है। याचक डरते-डरते माँगता है, उसे भय बना रहता है, कि जिससे माँग रहे है, वह कहीं मना न कर दे। तृष्णा मनुष्य को हलका बना देती है। इसलिये सबसे बड़ा दुःख माँगना है। माँ कहाँ तक गिनावे संसार में दुःख-ही-दुःख है। अन्न न मिले तो भूख का दुःख, भूख न लगे तो न खाने का दुःख। भूखा आदमी सब प्रकार के पाप कर सकता है।"

माँ ने कहा—"राजे महाराजे धनवान् तो सुखी रहते होंगे? उनके चारों ओर धन वैभव का अंबार लगा रहता है। सदा नृत्य, वाद्य, गायन आदि मनोरञ्जन के कार्य होते रहते हैं। जो चाहते हैं वही वस्तु तत्काल आ जाती है।"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! ये सब काल्पनिक सुख हैं। राजे महाराजे पदप्रतिष्ठा वाले धनी मानी साधारण लोगों से भी अधिक दुखी रहते हैं। उनका धन वैभव केवल दिखावटी है, उसका सुख में कोई उपयोग नहीं। उलटे उससे अभिमान की ही वृद्धि होती है। उन्हें वह धन वैभव भार रूप हो जाता है। नित्य का राग रंग उन्हें प्रलाप सा लगता है। कामनियाँ उनकी तृष्णा को बढ़ाती हैं। जितने ही भोग प्राप्त होते हैं उससे दुगिनी उनकी तृष्णा बढ़ती जाती है, तृष्णा का कहीं अन्त नहीं। पदार्थ दुःख नहीं देता। दुःख का कारण तृष्णा है। राजाओं की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। वे सदा दूसरों को जीतने में व्यग्र बने रहते हैं?"

माँ ने पूछा—"स्वर्ग में तो सुख होगा? वहाँ तो दिव्य भोगों की प्राप्ति होती है!"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! स्वर्ग में भी सुख कहाँ?

भी डाह इर्ष्या बनी रहती है। अपने से अधिक भोग वाले को देखकर मन मे क्षोभ होता है। फिर सदा पतन का भय बना रहता है। जैसे कोई पथिक घर से पाथेय बाँधकर ले जाता है, बाहर उसे खाता है, जब पाथेय चुक जाता है, घर लौटकर चला आता है, वैसे ही स्वर्ग में हम अपनी ही कमाई हुई वस्तु का उपभोग करते हैं। पूर्व अर्जित पुण्य समाप्त होते ही स्वर्ग से ढकेल दिये जाते हैं। वह भोगयोनि है वहाँ भोग ही सकते हैं, दूसरे पुण्य कर्म वहाँ कर नहीं सकते। कर्म करने पुण्योपार्जन के निमित्त पुनः यहीं आना पडता है। मनुष्यों को ही ये सब दुःख नहीं होते। स्थावर, जंगम, स्वेदज, उद्भिज, अडज, तथा पिंडज सभी योनियों मे दुःख-ही-दुःख है।"

माँ! तुम विचारपूर्वक देखो सुख किसको है। संसार मे चारों ओर दुःख-ही-दुःख है। कभी अकाल पड़ गया, कभी अधिक वर्षा हो गयी, कभी महामारी का प्रकोप हो गया। मूर्खता, दरिद्रता, ऊँच-नीच का भाव, रोगो का हो जाना, मृत्यु का दुःख, राष्ट्रों का विप्लव, पारस्परिक रागद्वेष, लड़ाई, झगड़ा, अपमान का दुःख, धन वैभव प्रतिष्ठा पद के लिये लड़ाई, अपनी बात न जाय, अपना सम्मान बना रहे इन बातों की चिंता, घर की कलह, सगे सम्बन्धियों के झगड़े, इस प्रकार जिधर देखो उधर दुःख-ही-दुःख भरा है। संसारी लोग एक दूसरे का अपमान करने में ही अपना बडप्पन समझते हैं। इन बातों से सदा मन मे उद्वेग बना रहता है।"

माँ ने पूछा—"इन दुःखों से छुटकारा पाने का क्या उपाय है?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! इन दुखों से छूटने का एक ही उपाय है। संसार से उदासीन हो जाय, न तो किसी की बात सुने

ही, न किसी से कुछ बोले ही। मौन धारण कर ले। सब की बातों को अनसुनी कर दे। किसी से न राग पूर्वक बोले न द्वेष पूर्ण वचन कहे। सबसे उदासीन होकर वैराग्य धारण कर ले। सबका सम्बन्ध मन से त्याग दे। वैराग्य के बिना त्याग टिक नहीं सकता। जब जगत् से वैराग्य हो जायगा, तो ज्ञान की प्राप्ति होगी और ज्ञान से ही संसार सागर से सदा के लिये मुक्ति हो जायगी। माँ! सोचो, ऐसे दुःख रूप सागर में मैं किससे बोलूँ क्या बोलूँ? यह संसार तो विष्ठा खाने वाले कौओं का स्थान है, यहाँ मोती खाने वाले हंस कैसे रह सकते है? यह अविद्या रूपी वन है। इसमे कौए ही रहते हैं।"

माँ ने पूछा—"यह संसार अविद्या रूपी वन कैसे है?"

एतरेय मुनि ने कहा—"अविद्या रूपी इस संसार वन मे कर्म ही बड़े-बड़े वृक्ष हैं। नाना प्रकार के संकल्प ही इसमे काटने वाले डांस मच्छर हैं। वन मे जैसे धूप सर्दी का कष्ट होता है वैसे ही अविद्या वन मे शोक हर्ष ये धूप सर्दी हैं। मोह ही सघन अंधकार है। लोभ रूप सर्प और बिच्छू इसमें भरे पड़े हैं। काम और क्रोध रूप लुटेरे अधिक इसमे वास करते हैं। अतः माँ! मैं इस अविद्या रूपी कौओ के रहने वाले वन से उदासीन होकर—कौओं—संसारी लोगों से कुछ भी सम्बन्ध न रहकर हंसो के रहने योग्य जो विद्यारण्य है उसमे वास करना चाहता हूँ।"

माँ ने पूछा—"भैया! तुम्हारे उस विद्या-वन में क्या क्या है?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! मेरे विद्या वन-में सात बड़े बड़े विशद् वृक्ष हैं, सात पर्वत हैं।"

माँ ने पूछा—"वे सात वृक्ष पर्वत क्या हैं?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ! (१) ब्रह्मतेज, (२) प्राणिमात्र

को अभय प्रदान, (३) समस्त प्राणियों के प्रति अद्रोह की भावना, (४) समस्त पारमार्थिक कार्यों में कुशलता दक्षता, (५) ससारी विषया के प्रति अचचलता, (६) प्रिय अप्रिय सभी घटनाओं मे अक्रोध भाव रखना, (७) और सबसे प्रिय वचन बोलना। ये ही मेरे विद्या वन के सात विशद् वृक्ष तथा पवत हैं। इन्हीं की छाया मे बेठकर में सुखानुभूति करता हूँ और माँ! मेरे विद्या वन में सात ही रमणीय ह्रद हैं।"

माँ ने पूछा—"वे सात ह्रद कोन-कौन से हैं?"

एतरेय मुनि ने कहा—"(१) सुदृढ निश्चय, (२) प्राणिमात्र के प्रति समता का भाव, (३) समस्त इन्द्रियों का तथा मन का सयम, (४) परमार्थ सम्बन्धी समस्त गुणों का सचय, (५) ससारी पदार्थों में ममता का सर्वथा अभाव, (६) तप, (७) और यथा लाभ सन्तोष ये ही मेरे विद्या वन के मनोहर सरोवर हैं, जिनमें मैं सुखपूर्वक स्नान करता रहता हूँ। इनके अतिरिक्त मेरे विद्या वन में सात नदियाँ भी हैं।"

माँ ने पूछा—"सात नदियाँ कौन कौन सी हैं?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"(१) भगवान् के अनन्त सद्गुणों के विशेष ज्ञान होने से जो उनके प्रति प्रगाढ भक्ति होती है यही पहिला नदी है, (२) विषयों से वैराग्य होना दूसरी, (३) ममता का सर्वथा त्याग तीसरी, (४) निरन्तर भगवद् आराधन में निमग्न रहना चौथी, (५) जो भी कुछ कर्म हो वस्तु हो, सबको भगवत् अर्पण करते रहना पाँचवी, (६) ब्रह्म का एकत्व भाव छठीं, (७) और भगवत् सिद्धि प्राप्त करना यह सातवीं नदी है। ये ही मेरे विद्यावन की नदियाँ हैं, जिनमें मैं कल्लोल करता रहता हूँ और जिनके पय पान को करके परम प्रमुदित बना रहता हूँ। इन सातों नदियों का वैकुण्ठ धाम मे सगम होता है। उस सगम मे मज्जन

करके आत्मतृप्त, शान्त, जितेन्द्रिय महात्मागण परात्पर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। माता ! मैंने व्रत ले रखा है, इसीलिये मैं किसी से बातें नहीं करता।"

माँ ने पूछा—"भैया ! तुम्हारे व्रत का क्या नाम है ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ ! मेरे व्रत का नाम ब्रह्मचर्य व्रत है। मैं नित्य हवन करता हूँ।"

माँ ने कहा—"भैया ! मैंने तो तुम्हें कभी हवन करते देखा नहीं। न कभी समिधा, कुश लाते ही देखा है ?"

ऐतरेय मुनि ने कहा—"माँ ! मैं यह स्थूल हवन नहीं करता। मैं तो सूक्ष्म हवन करता हूँ। मेरे हवन में ब्रह्म ही समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही कुशास्तरण है, ब्रह्म ही जल है और हवन कराने वाला गुरु भी मेरा ब्रह्म ही है।"

माँ ने कहा—"भैया ! तुमने तो बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें बतायीं। ये बातें तुमने किस गुरु से सीखी है ? तुम जब से मेरे पेट से पैदा हुए तब से न तो बोले ही, न कहीं पढ़ने गये। कौन है तुम्हारा गुरु ?"

एतरेय मुनि ने कहा—"माँ ! गुरु तो सब का एक ही है। तुम मेरे गुरु का परिचय प्राप्त करना चाहती हो, तो उसे भी सुनो वह मेरा ही गुरु नहीं है सबका गुरु है। वह है हृदय में विराजमान अंतर्यामी परमपुरुष परमात्मा। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा शिक्षक गुरु है ही नहीं। मैं उन हृदयस्थ गुरुदेव को ही नित्य प्रति परम श्रद्धा के सहित प्रणाम करता हूँ।* वे ही मेरे बन्धु है।

---

* एकोगुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो—
यो हृद्गतस्तमहं वै नमामि।
पञ्चावमन्यैव गुरु मुकुन्दम्,
परामृता दानवास्सर्व एव॥
(स्क० पु० कु० ख०)

माँ ! मैं गृहस्थ धर्म का पालन करता हूँ ।"

माँ ने कहा—"बेटा ! अभी तुम्हारा विवाह तो हुआ नहीं, गृहस्थ धर्म का पालन कैसे करते हो ?"

एतरय मुनि ने कहा—"माताजी ! प्रकृति ही मेरी पत्नी है किन्तु मैं स्त्रैण नहीं। कभी भी उसका चिन्तन नहीं करता। वह भले ही सदा मेरा चिन्तन करती रहे। नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान, मन तथा बुद्धि ये सात प्रकार की अग्नियाँ मेरी गार्हस्थ रूप यज्ञशाला में प्रज्वलित होती रहती हैं। गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श, मन्तव्य, और बोधव्य ये सात मेरी समिधायें हैं। मेरे होता भी नारायण हैं और भोक्ता भी नारायण हैं। वे ही उपस्थित होकर उस हव्य का उपभोग भी करते हैं। इसी यज्ञ द्वारा मैं नारायण का यजन करता हूँ। मेरे मन में न तो किसी वस्तु की कामना है और न किसी से राग अथवा द्वेष ही है। इसलिये माता ! तुम मेरे कारण दुखी मत होओ। ये कर्मकाण्ड के यज्ञ याग क्या वस्तुएँ—मैं तुम्हें उस पद पर पहुँचा दूँगा, जहाँ सैकड़ों यज्ञ करने वाले भी नहीं पहुँच सकते।"

इतरा माँ अपने गूँगे पुत्र की ऐसी ज्ञान वैराग्य युक्त ज्ञान की बातें सुनकर परम विस्मित हुई। अब उसे अपने पुत्र पर गर्व होने लगा। माँ सोचने लगी—"मेरा पुत्र इतना ज्ञानी है। आज इसे सब जड, मूर्ख, गूँगा, बहरा कहते हैं। जब संसार में इसकी ख्याति होगी, तब मेरा भी यश बढेगा। लोग कहेंगे यह इतरा का पुत्र है। मैं बड़ी भाग्यशालिनी हूँ, जो मुझे ऐसे ज्ञानी पुत्र की माँ होने का देव दुर्लभ पद प्राप्त हुआ।"

माँ ऐसा सोच ही रही थी, कि उसी समय माँ बेटा के सम्मुख ही शंख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी भगवान् श्रीमन्नारायण वहाँ प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हुए। वे ऐतरेय मुनि के वचनों

से परम प्रसन्न थे। अपने सम्मुख भगवान् को प्रत्यक्ष प्रकट हुआ देखकर ऐतरेय मुनि के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने शीघ्रता से उठकर भगवान् के पादपद्मों मे साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अत्यन्त प्रेम पूर्वक गद्गद वाणी से वेद शास्त्र सम्मत उनकी स्तुति की।

ऐतरेय मुनि की स्तुति सुनकर भगवान अत्यन्त प्रसन्न हुए और मेघ गम्भीर वाणी से ऐतरेय मुनि से कहने लगे—"बेटा ऐतरेय! मैं तुम्हारी स्तुति से अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे मनोवांछित वर माँग लो। मेरे लिये तुमको कुछ भी अदेय नहीं है।"

तब ऐतरेय मुनि ने कहा—"प्रभो! घोर संसार-सागर में निमग्न मुझ अकिंचन को आप अपनी अहैतुकी भक्ति द्वारा उबार लें। यही एकमात्र मेरा अभीष्ट वर है।"

यह सुनकर भगवान् और भी अधिक प्रसन्न हुए और कहने लगे—"वत्स! तुम संसार में फँसे कहाँ हो? तुम तो नित्य मुक्त ही हो। फिर भी तुम मेरी आज्ञा से विवाह करके अपनी माता को प्रसन्न करो। गृहस्थ रहकर भी तुम समस्त कर्मों को मुझे अर्पण करते हुए कर्म करोगे, तो गृहस्थ मे भी तुम मुक्तिलाभ करोगे। यद्यपि तुमने वेदों का अध्ययन नहीं किया है, फिर भी तुम्हें मेरी कृपा से समस्त वेद वेदाङ्गों का ज्ञान हो जायगा। अब तुम यहाँ से कोटि तीर्थ में चले जाओ। वहाँ हरिमेधा नाम के मुनि बड़ा भारी यज्ञ कर रहे हैं। उस यज्ञ में जाने से तुम्हारी माता का सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जायगा।"

ऐसा कहकर भगवान् जिस देवप्रतिमा में से प्रकट हुए थे, उसी मन्दिर की प्रतिमा मे पुनः प्रविष्ट हो गये। माता भगवान् का दर्शन करके और अपने पुत्र की ऐसी अलौकिक शक्ति तथा भक्ति

देखकर परम विस्मित हुई। उसने पूछा—"बेटा! यह तुम्हारे किस जन्म का पुण्य है, जो तुम्हें इतना ज्ञान हुआ और भगवान के साक्षात् दर्शन हुए?"

ऐतरेय मुनि ने बताया—"माँ! मैं पूर्व जन्म में शूद्र था। एक कृपालु ब्राह्मण ने मुझे द्वादशाक्षर मन्त्र का उपदेश दिया था। उनकी आज्ञा से मैं इस मन्त्र का अहर्निशि जप करता रहा। उसी जप के प्रभाव से मेरे हृदय में भगवद्भक्ति जागृत हुई। उसी के अनन्तर मैं तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न हुआ। मुझे अपने पूर्वजन्म की सब बातें स्मरण हैं। वह मन्त्र भी स्मरण है, इसीलिये मैं बिना किसी से बोले निरन्तर उसी मन्त्र का जप करता रहता हूँ। भगवान् ने कृपा करके मुझे अपनाया, अपने देव दुर्लभ दर्शन देकर मुझे कृतकृत्य किया। अब मैं भगवान् की आज्ञा का पालन करके कोटि तीर्थ में हरिमेधा मुनि के यज्ञ में जाता हूँ। भगवान् ने कहा है—वहाँ जाने से माँ! तुम्हारा सम्पूर्ण मनोरथ सफल हो जायगा।"

माता से इस प्रकार कहकर ऐतरेय मुनि कोटितीर्थ में गये। वहाँ हरिमेधाजी यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञ मे जाकर इन्होने यह श्लोक पढ़ा—

नमस्तस्मै भगवते विष्णवेऽकुण्ठमेधसे।
यन्माया मोहित धियो भ्रमामः कर्मसागरे॥

इस श्लोक को सुनते ही हरिमेधा तथा वहाँ यज्ञ मे उपस्थित समस्त सदस्यगण परम प्रसन्न हुए। उन्होंने ऐतरेय मुनि का अत्यधिक सम्मान किया। ऐतरेय मुनि ने भी अपनी भगवत् दत्त विद्या से वेदार्थ निरूपण करके सभी को परम सन्तुष्ट किया। हरिमेधा मुनि ने उन्हें विपुल दक्षिणा दी और अपनी पुत्री का विवाह उनके साथ कर दिया। ऐतरेय मुनि वहाँ से सत्कृत होकर

तथा अपनी पत्नी को लेकर अपनी माता के समीप आये और निष्काम भाव से भगवत् अर्पण बुद्धि से गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे। उनके अनेको पुत्र हुए। वे निरन्तर भगवान् वासुदेव की भक्ति मे ही लीन बने रहते थे। अन्त मे गृहस्थ रहते हुए ही उन्होंने मोक्ष पदवी को प्राप्त किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन्हीं ऐतरेय मुनि द्वारा जो अपने शिष्यों और पुत्रो को उपदेश है, वही ऋक्वेद का ऐतरेय आरण्यक है, उसी के अन्तर्गत यह ऐतरेय उपनिषद् है। अब इसी के अर्थ को निरूपण करना है। उपनिषद् को आरम्भ करने से प्रथम शान्ति पाठ करना चाहिये। अतः आप लोग इस उपनिषद् के शान्ति पाठ का भाव भी सुन लीजिये-शिष्य शान्ति पाठ करते हुए प्रार्थना कर रहा है—

हे सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मन्! मेरी जो वाणी है। वाणी इन्द्रियों का उपलक्षण है। अर्थात् मेरी समस्त इन्द्रियाँ मन में प्रतिष्ठित हो जायँ और मेरा मन इन्द्रियों मे प्रतिष्ठित हो जाय। भाव यह हुआ कि मैं मनसा, वाचा और कर्मणा एकसा हो जाऊँ। जो बात मेरे मन में हो, वही वाणी द्वारा उच्चारण करूँ और उसे ही कर्म में प्रवृत्त करूँ। यह न हो कि मन में कुछ वाणी मे कुछ और कर्म में कुछ। तीनों का समन्वय हो। मेरे सकल्प भी विशुद्ध हों तथा मेरी वाणी भी विशुद्ध हो। हे प्रभो! आप मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट हो जाइये। मुझे अपने अलौकिक तेज के दर्शन कराइये, क्योंकि आप परम प्रकाश स्वरूप हैं।"

फिर साधक मन और वाणी से कहता है—"हे मन! हे मेरी वाणी! तुम दोनों मेरे लिये वेद विषयक ज्ञान को लाने वाली बनो। अर्थात् मेरे मन में वेदों का प्रकाश हो, मेरी वाणी वेदों का उच्चारण करे, जिसे मैं याद कर लूँ, ऐसा मेरा वेद विषयक

ज्ञान मुझे सदा स्मरण रहे, कभी विस्मृत न हो। मैं वेदाध्ययन के द्वारा दिन रात्रि को एक कर दूँ। भाव यह है, कि वेदाध्ययन करते समय मुझे यह याद ही न रहे, कि अब दिन है या रात्रि। मैं सदा वाणी से सूनृत मधुर श्रेष्ठ वचन ही बोला करूँ। मेरी जिह्वा सदा सत्य भाषण ही किया करे। हे परब्रह्म परमात्मन् ! आप मेरी रक्षा करें और बोलने वाले, उपदेश देने वाले मेरे आचार्य की भी रक्षा करें। फिर बल देने के निमित्त प्रार्थना को समाप्त करने के निमित्त इसी बात पर बल देते हुए इन्हीं बातों को पुनः दुहराते हैं—"प्रभो ! रक्षा करें मेरी और रक्षा करें मेरे आचार्यदेव की भी।"

इस प्रकार प्रार्थना करके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध तापों की शान्ति के निमित्त तीन बार शांति पाठ करते हैं। -

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

छप्पय

वाणी तैं ऋत सत्य सदा बोलूँ हे भगवन !
रक्षा मेरी करो करूँ सरबसु हौं अरपन ॥
मेरे जो आचार्य देहिँ जो मोकूँ शिक्षा।
उनकी हू सब भाँति करें हे प्रभुवर ! रक्षा ॥
रक्षा मम आचार्य की, करत रहें भगवन सतत।
त्रिविध ताप की शांति हो, प्राप्त करें हम नित अमृत ॥

सृष्टि रचना (१)

[८७]

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।
नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ।❀
(ऐ० उ० प्र० अ० १ म०)

छप्पय

जगतैं पहिले एक आतमा रहि न जीव बचि ।
प्रभु ने कर्‌यो विचार भुगाऊँ करम लोक रचि ॥
अग्म, मरीची, मरम आप सब लोक रचाये ।
अन्तरिक्ष, भू, स्वरग, सकल पाताल बनाये ॥
हिरण गरभ कूँ लक्ष्य करि, कर्‌यो तपस्या तासु तन ।
अण्ड सरिस मुख छिद्र है, वाक् वाक् तैं है अगिन ॥

यह दृश्य जगत् बनता बिगड़ता रहता है, परिवर्तित होता रहता है। जितने शरीर हैं, वे क्षण क्षण पर बदलते रहते हैं, जैसे नदी का जल क्षण क्षण पर परिवर्तित होता रहता है। जगत् में भी मन्वन्तरों के बीच में खण्ड प्रलय होती रहती है। कभी समुद्री तूफान आ जाता है, करोड़ों जीव सोते के सोते ही रह जाते हैं।

❀ ॐ यह दृश्य जगत् के प्रकट होने से आगे एक केवल एक आत्मा ही आत्मा था। दूसरा कोई चेष्टा करने वाला प्राणी नहीं था। उस परमात्मा ने विचार किया कि मैं अवश्य ही लोकों की रचना करूँ।

कभी बरफ का तूफान आता है, कभी भूचाल आता है, कभी वायु का बवडर उठता है। ये सब असख्यों जीवो का सहार कर देते हैं। जहाँ स्थल है, वहाँ जल हो जाता है, जहाँ जल है, वहाँ स्थल हो जाता है। जहाँ बडे बडे ग्राम, नगर, पुर, पत्तन, गढ तथा अन्यान्य बस्तियाँ होती हैं, वहाँ वन वन जाते हैं, चौपट मैदान हो जाते हैं।

ब्रह्माजी के एक दिन में कल्प के अत में भू, भुव और स्व य तीनो लोक नष्ट हो जाते हैं, त्रिलोक की प्रलय हो जाती है। प्रलयाग्नि की लपटें महर्लोक तक पहुँच जाती है, महर्लोक वासी जनलोक मे चले जाते हैं। उस समय तीनो लोकों मे एक भी जीव नहीं रहता। ब्रह्माजी की अपनी आयु के जब १०० वर्ष बीत जाते हैं, तब महाप्रलय हो जाता है। भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्यलोक तथा नीचे के सात लोक सभी नष्ट हो जाते हैं। ससार मे एक भी चेष्टा करने वाला जीव शेष नहीं रह जाता।

महाप्रलय के अनतर पुनः परमात्मा की प्रेरणा से सृष्टि आरभ हो जाती है। वेदो मे, पुराणो मे तथा महाभारतादि इतिहास ग्रन्थों मे सृष्टि के अनेकों प्रकार हैं। ये सभी प्रकार सत्य हैं, क्योंकि सृष्टि एक ही बार तो हुई नहीं। महाविष्णु की एक स्वाँस लेने पर अगणित ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और प्रश्वास लेने पर अगणित ब्रह्माण्ड विलीन हो जाते हैं। इनकी सृष्टि मे तथा प्रलय मे कुछ न कुछ अन्तर पड ही जाता है। जैसे तीर्थराज प्रयाग में माघ मकर आने पर लोग कल्पवास करते हैं। कल्प कहते हैं नवीनीकरण को। वर्षा काल मे गगा यमुना जहाँ तक बढ़कर अपने जल से जितनी भूमि को धोकर नवीन बना देती हैं, उस कल्प की हुई भूमि में झोपडी बनाकर माघ-

मकर भर नियम व्रत के साथ निवास करने को कल्पवास कहते हैं। राज्य की ओर से विद्युत् की, जल की, स्वच्छता की, सुरक्षा का तथा आवास आदि की व्यवस्था होती है। प्रतिवर्ष नये नगर का निर्माण होता है। सब विभागों के छोटे बड़े अधिकारी अपने तम्बू डेरे लगा कर वहाँ अस्थायी निवास स्थान बना लेते हैं। प्रतिवर्ष नगर का निर्माण होता है, माघमकर के अनतर वह नगर समाप्त कर दिया जाता है। दूसरे वर्ष वर्षा के अनन्तर पुनः कल्पवास नगर का निर्माण होने लगता है। यद्यपि प्रतिवर्ष निर्माण प्रायः एक सा ही होता है, फिर भी प्रतिवर्ष कुछ-न कुछ उलट फेर होता ही रहता है। कभी तहसीली गंगा पट्टी में बनती है, कभी यमुना पट्टी में, कभी बाँध के ऊपर, कभी प्रतिष्ठानपुर (झूसी) की ओर। इस प्रकार के परिवर्तन प्रायः प्रत्येक वर्ष होते हैं। जैसे अधिकारी आ गये वैसे परिवर्तन होते हैं। कभी कुंभ, अर्ध कुंभ में विशेष प्रबन्ध किया जाता है, मेले की सीमा अत्यधिक बढ़ा दी जाता है। इसी प्रकार महाप्रलय के अनन्तर कभी किसी ढंग से, कभी किसी ढंग से सृष्टि आरंभ होती है। किस पुराण में, किस उपनिषद् में, किस महाकल्प की सृष्टि का वर्णन है, इसे कोई नहीं बता सकता। अतः महाकल्पों के भेद से सृष्टि के जितने भी प्रकार हैं, सभी सत्य हैं, सभी उचित हैं। यहाँ ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार औपनिषद् सृष्टि क्रम का वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐतरेय उपनिषद् में शान्ति पाठ के अनन्तर सृष्टि रचना विषयक परमात्मा के प्रथम संकल्प का वर्णन है। यह दृश्य जगत् कैसे उत्पन्न हुआ? इसी की प्रक्रिया बताते हैं। महाप्रलय हो जाने पर एक मात्र परब्रह्म परमात्मा के

अतिरिक्त चेष्टा करने वाला कोई भी प्राणी नहीं था। परमात्मा के अन्तःकरण मे सब कुछ विलीन हो चुका था।"

शौनकजी ने पूछा—"तब फिर यह चित्र-विचित्र वस्तुओं वाला दृश्य जगत् कैसे उत्पन्न हो गया ?"

सूतजी ने कहा—"जगत् परमात्मा के संकल्प से हो गया। अकेले बैठे-बैठे भगवान क्या करें, किससे खेलें ? भगवान् क्रीडा प्रिय हैं। फिर उनके भीतर विद्यमान जीव राशि के कर्म भी भोगोन्मुख हो रहे थे। अतः अपनी क्रीडा के लिये, मन विनोद के लिये तथा जीवों के भोग भुगाने के लिये भगवान् ने निश्चित विचार किया, कि लोकों की रचना करूँ। सभी लोकों मे जीवों को उत्पन्न करूँ, उनके भोगने के पदार्थों को उत्पन्न करूँ, वे पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भोगों को भोगें। परमात्मा के मन में ऐसा सकल्प आते ही, उन्होंने लोकों की रचना आरम्भ कर दी। पहिले उन्होंने अम्भ की रचना की।"

शौनकजी ने पूछा—"अम्भ क्या ?"

सूतजी ने कहा—"स्वर्गलोक से ऊपर के लोकों को अम्भ कहते हैं। ये अम्भ मेघों को धारण करते हैं, जैसे स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक। पहिले-पहिल ये पाँच लोक उत्पन्न हुए। इन सबकी स्वर्ग संज्ञा है। ये दिव्यलोक हैं। ये लोक कल्प में भी नष्ट नहीं होते। केवल महाप्रलय के समय ही नष्ट होते हैं। इन लोकों के अनन्तर उन्होंने मरीची-लोक की रचना की।"

शौनकजी ने पूछा—"मरीचीलोक किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! सूर्य की किरणों से सम्बन्ध रखने से स्वर्ग और पृथ्वी के बीच में अन्तरिक्षलोक है, जिसमें सिद्ध लोग तथा भूत-प्रेत, पिशाचादि वायु शरीर वाले जीव रहते

हैं, जिसमें विमानों वाले पुरुष, उड़ने की शक्ति वाले सिद्ध तथा पंख वाले पक्षी उड़ते हैं, उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। उसी की उपनिषद्कार ने मरीची संज्ञा बतायी है। फिर मरमलोक की रचना की।"

शौनकजी ने पूछा—"मरमलोक कौन-सा है ?"

सूतजी ने कहा—"जहाँ के लोग मृत्यु को प्राप्त होते हैं—मरते हैं—उसी मृत्युलोक की उपनिषद्कार ने मरम् संज्ञा बतायी है। प्राणी केवल पृथ्वी पर ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अन्तरिक्ष तथा पाँचों स्वर्गवासी जीव मरते नहीं। पुण्यक्षीण होने पर उन्हें धकेल दिया जाता है। मृत्यु तो केवल पृथ्वी के रहने वालों को ही मारती है। अतः पृथ्वी का ही नाम मरम् लोक है। तदनन्तर आपलोकों की सृष्टि हुई।"

शौनकजी ने पूछा "आपलोक कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"पृथ्वी के नीचे के जो (१) अतललोक, (२) वितललोक, (३) सुतललोक, (४) तलातललोक, (५) महातललोक, (६) रसातललोक, (७) और पातालोक ये सात लोक जल की अधिकता होने के कारण आपः कहते हैं, जिन्हें भू विवर भी कहते हैं, उपनिषद्कार ने इनकी आपः संज्ञा बतायी है। अर्थात् सात पृथ्वी से ऊपर के लोक और सात पृथ्वी के नीचे के लोक इस प्रकार चौदह लोकों की रचना की।"

लोक तो बन गये, किन्तु खाली लोकों के ही बन जाने से तो काम नहीं चलने का। घर बना दो और उसमें रहने वाला कोई न हो, तो घर व्यर्थ है। अतः परमात्मा ने सोचा—"ये सब लोक तो बन गये, अब मुझे इनमें रहने के लिये लोकपालों की भी रचना अवश्यमेव करनी चाहिये। यह विचार कर उसने जल में से हिरण्यगर्भ पुरुष को निकालकर उसे मूर्तिमान बनाया।

अर्थात् सर्वप्रथम जो पुरुषावतार हिरण्यगर्भ है, उसकी उन्होंने उत्पत्ति की। इसे आद्यपुरुष प्रजाओं का पति – विराट् कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"पानी में से निकालकर मूर्तिमान कैसे बनाया ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये, भगवन् ! मानव शरीर अग्नि और सोम दो तत्त्वों से मिलकर बनता है। माता की रज अग्निस्वरूपा है, पिता का वीर्य सोमस्वरूप जल है। इसमें प्रधानता सोम की हो जाती है। माता तो गर्भ धारण करने की थैली होती है, वह पुरुष के अधीन है, मुख्य अंश तो वीर्य का ही है। इसीलिये पुरुष को सोम्य करके सम्बोधन किया जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"जल तो गीला होता है, उस गीले से हाथ, पैर आदि अवयव कैसे बने ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! कुम्हार तालाब के नीचे की गीली मिट्टी से ही तो बर्तन बनाता है। बर्तन बनाकर उसे सुखा लेता है, इसीलिये उपनिषद्कार ने 'मूर्छन' शब्द दिया। अर्थात् जल से निकाल कर उसे अवयवों वाला मूर्तरूप दिया।"

अब जल के ऊपर विराट् पुरुष हिरण्यगर्भ बन गया। उसे चारों ओर से आच्छादित करके अण्डे के आकार का बना लिया। जैसे अंडे को पक्षि माँ अपने पंखों की भीतर की देहाग्नि से पकाती है और पकने के अनन्तर वह फूट जाता है, उसमें मुख हो जाता है। जैसे फोड़ा पक जाने पर उसमें अपने आप मुख हो जाता है और फूट जाता है। उसी प्रकार वह समस्त ब्रह्म जो अण्डाकार बना हुआ था परब्रह्म परमात्मा की संकल्प रूपी तप अग्नि में पक कर फूट गया। उसमें मुख उत्पन्न हुआ। अर्थात् उस हिरण्यगर्भरूप पुरुष को लक्ष्य करके परमात्मा ने तप किया-ज्ञानमय विचार किया—इससे उस अंड में सर्वप्रथम मुख

हो गया। उस मुख से वाक् इन्द्रिय वाणी उत्पन्न हुई। उस वाक् इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेव के रूप में अग्निदेव प्रकट हुए। मुख छिद्र होने के कारण उसका नाम मुख हुआ, वाक् उस मुख की इन्द्रिय हुई और वाक् के देवता अग्नि हुए।"

मुख के अनन्तर नासिका उत्पन्न हुई। नासिका में दो छोटे-छोटे छिद्र हो गये। उन छिद्रों से प्राण उत्पन्न हुए। प्राण से वायुदेव की उत्पत्ति हुई। फिर आँखों के दो गोलक उत्पन्न हुए। उनमें सूर्यदेव प्रकट हुए। तदनन्तर कानों के दो छिद्र उत्पन्न हुए, कानों से श्रोत्र इन्द्रिय प्रकट हुई। श्रोत्र इन्द्रियों से दशों दिशायें प्रकट हुई। फिर त्वचा प्रकट हुई। त्वचा से रोमावली प्रकट हुई। रोमों से ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ प्रकट हुई। तदनन्तर हृदय प्रकट हुआ। हृदय से मन प्रकट हुआ। हृदय में मन का आविर्भाव हुआ। मन के अधिष्ठातृदेव चन्द्रमा प्रकट हुए। तदनन्तर नाभि प्रकट हुई। नाभि से अपानवायु प्रकट हुई और अपानवायु से मृत्यु देवता उत्पन्न हुए। तदनन्तर शिश्नेन्द्रिय प्रकट हुई। शिश्न से वीर्य उत्पन्न हुआ और वीर्य से जल उत्पन्न हुआ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! नासिका छिद्रों से प्राण की उत्पत्ति बतायी, किन्तु घ्राण इन्द्रिय का यहाँ कथन नहीं किया और न घ्राण के अधिष्ठातृदेव अश्विनी कुमारों की उत्पत्ति बतायी, और मुख में केवल वाक् इन्द्रिय का ही वर्णन किया। रसनेन्द्रिय तथा उसके अधिष्ठातृ देव का भी वर्णन नहीं किया। यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! नासिका कह दी, उसीसे घ्राणेन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृदेव को भी उपलक्षण मात्र से समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार मुख में दो इन्द्रियाँ हैं एक वाणी

कर्मेन्द्रिय और रसना ज्ञानेन्द्रिय। जिह्वा से ही दोनों का सम्बन्ध है। अतः वाणी के साथ रसना और उसके अधिष्ठातृदेव को भी समझ लेना चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा, यह तो शिश्नेन्द्रिय का उसके वीर्य और जल का वर्णन हुआ, किन्तु गुद इन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देव निऋति का नाम भी नहीं आया, यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ऋषिगण संकेत में ही वर्णन करते हैं। नाभि का वर्णन किया और मृत्यु का वर्णन किया। मृत्यु तो गुदेन्द्रिय का अधिष्ठातृ देव है, और मल त्याग में अपान ही मुख्य कारण है। अपान वायु नाभि के समीप रहता है। अतः अपान और मृत्यु से गुदेन्द्रिय का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार उस अंडा में से एक पुरुषाकार विराट् पुरुष उत्पन्न हो गया। इस प्रकार इन्द्रियों के गोलक, इन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठातृदेव ये तीनों उत्पन्न हुए। तीनों का परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा और दूसरे के बिना तीसरा नहीं रह सकता। इस प्रकार पुरुषाकार मूर्तिवान् इन्द्रियों वाला यह पुरुष—जो सृष्टि का कारण है वह उत्पन्न हो गया।"

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! फिर क्या हुआ?"

सूतजी ने हँसकर कहा—"भगवन्! फिर होना था, वही हुआ। देवता चक्कर में फँस गये। भूख प्यास ने पुरुष को आ दबाया। गाड़ी चल निकली। संसार की जननी यह गोद भूख ही है, अब विराट् पुरुष को कैसे भूख ने दबाया और देवताओं ने क्या माँगा? इसका वर्णन ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड में होगा। जिसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

फेरि नासिका छिद्र प्राण पुनि वायु भये तहँ।
आँखि, चक्षु, आदित्य कान पुनि श्रोत्र भये तहँ॥
दिशा, त्वचा, पुनि लोम वनस्पति औषधि सबरी।
हिय, मन, शशि पुनि नाभि अपान हु मृत्यु नाभि ई॥
शिश्नेन्द्रिय प्रकटित भई, अमृत वीर्य उत्पन्न जहँ।
तातैं जल पैदा भयो, पुरुष रूप सम्पन्न तहँ॥

—(॥)—

सृष्टि-रचना (२)

[८८]

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तम-शनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥१॥ ❀

(ए० उ० प्र० अ० २ ख० १म०)

छप्पय

प्रभु निमित सब देव परे भवसागर माहीं ।
भूख प्यास युत भये देव बोले प्रभु पाहीं ॥
करें थान इक जहाँ अन्न खावें निवसें विभु ।
गौ तिनि सम्मुख करी कहें पर्याप्त न यह प्रभु ॥
अश्व न स्वीकार्यो जबहिं, पुरुष देह आगे कर्यो ।
सुकृत कह्यो तब प्रभु कही-यह निवास तुमरो भयो ॥

त्रिकालदर्शी प्राचीन ऋषि महर्षियों ने गणना करके ८४ लाख योनियाँ बतायीं हैं। वे सब भोग योनियाँ हैं। अंडों से

❀ परमात्मा द्वारा रचे वे सब के सब देवता इस संसार रूप महान् सागर में आकर गिर पड़े। प्रभु ने उन समस्त अग्नि आदि देवों को भूख प्यास से मुक्त कर दिया। तब देवता उन परमात्मा से बोले—"हमारे लिये निवास-स्थान की व्यवस्था कर दीजिये। जिसमें रहकर हम अन्न भक्षण किया करें।"

उत्पन्न कपोत, मयूर आदि पक्षी केवल प्रारब्ध कर्मों का भोग करते हैं। क्रियमाण कर्मों का निर्माण नहीं कर सकते। इसी प्रकार स्वेद (पसीना) से उत्पन्न होने वाले जूआँ आदि स्वेदज प्राणी और पृथ्वी को फोडकर उत्पन्न होने वाले वृक्षादि उद्भिज प्राणी भी कोई क्रियमाण कर्म नहीं कर सकते। देवताओं की योनि भी भोग योनि है। देवता केवल पृथ्वी पर किये हुए पुण्यों का भोग ही कर सकते हैं। नवीन कर्म पाप पुण्य ये कुछ नहीं कर सकते। जरायुज जो पशु मनुष्यादि हैं। इनमें गौ, भैंस, घोडा आदि भी नवीन कर्म करने में असमर्थ हैं। केवल मानव योनि ही ऐसी योनि है, जो प्रारब्ध कर्म भोगों के साथ-ही-साथ वासनानुसार नये क्रियमाण कर्मों का भी निर्माण कर सकते हैं। मनुष्य-योनि स्वर्ग, नरक तथा मोक्ष का द्वार है। इस मनुष्य योनि में ही पापकर्म करके नरक जा सकते हैं, पुण्य कर्म करके स्वर्ग जा सकते हैं और पाप-पुण्य दोनों से रहित होकर मोक्ष की पदवी भी पा सकते हैं, जन्म-मरण के चक्कर से सदा-सदा के लिए छुटकारा पा सकते हैं।

यह नृदेह आद्य है, चौरासी लाख योनियों के पश्चात् प्राप्त होती है, इस शरीर को पाकर भी जिसने ससार-सागर से पार होने का प्रयत्न नहीं किया, उसने हाथ मे आये हुए रत्न को काँच के बदले में मानो दे दिया। देवगण भी इच्छा करते हैं, कि हमें मानव शरीर मिले, तो हम मोक्ष के लिये यत्न करें। इस देव योनि में तो केवल पूर्व कृत पुण्यों के भोगों को ही भोग सकते हैं। मुक्ति के लिये साधन नहीं कर सकते। साधन तो केवल कर्म भूमि भारतवर्ष में मनुष्य शरीर से ही सभव है। इसीलिये देवताओं ने मनुष्य शरीर को सुकृत बताकर उसे अपनाया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं सृष्टि के सम्बन्ध में बता

रहा था। जब यह ब्रह्म सम्बन्धी अंडाकार गोला फूट गया और उसमे मुख तथा अन्य इन्द्रियों के गोलक प्रकट होने लगे, तो इन्द्रियों के गोलक हुए। फिर उनमें वह इन्द्रिय आकर बैठ गयी। जैसे हमारे कान के छेद है, ये श्रोत्र इन्द्रिय के गोलक हैं, रहने के स्थान है, दो भाग मे चिरी हुई शीशे वाली मांस रक्त से निर्मित आँखे गोलक हैं, इसमें चक्षु इन्द्रिय पृथक है। बहुतों की आँखें देखने में खुली हुई सुन्दर दीखती हैं, कानो की बनावट उसके छेद ज्यों के त्यों हैं। किन्तु उन्हे न आँखो से दीखता है, न कानों से सुनते हैं। इसका कारण यही है, कि आँख, कान के गोलक तो ठीक हैं, उनमे से श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय की शक्ति नष्ट हो गयी। अतः इन्द्रियों के गोलक पृथक् हैं। इन्द्रिय शक्ति पृथक् है। इन्द्रियों के गोलक और इन्द्रिय शक्ति के अतिरिक्त तीसरे उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव भी पृथक्-पृथक् होते हैं। जैसे मुख तो गोलक है, इसमें कर्मेन्द्रिय वाणी है, इसके अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं। नाक गोलक, घ्राण इन्द्रिय तथा अश्विनीकुमार देवता। नेत्र गोलक, चक्षु इन्द्रिय, सूर्य देव। कर्ण गोलक, श्रोत्र इन्द्रिय, दिग् देवता। त्वचा गोलक, स्पर्श इन्द्रिय, वायु-देवता। शिश्न गोलक, आनन्द इन्द्रिय, प्रजापति देव। गुदा गोलक, पायु इन्द्रिय, निर्ऋति देव। हस्त गोलक, ग्रहण त्याग रूप इन्द्रिय, इन्द्र-देवता। पैर गोलक, गति रूपा इन्द्रिय और विष्णु-देवता। अन्तःकरण गोलक, बुद्धि इन्द्रिय, ब्रह्मा-देवता। हृदय गोलक, मन इन्द्रिय, चन्द्रमा-देवता। हृदय गोलक, अहंकार इन्द्रिय, रुद्र-देवता। हृदय गोलक, चित्त इन्द्रिय, ब्रह्मा-देवता।"

इस प्रकार विराट् पुरुष के गोलक, इन्द्रियाँ और उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव उत्पन्न हुए। गोलक और इन्द्रियाँ तो जड़ ही ठहरे। चैतन्य तो ये देवता ही थे, अब तक ये देवगण पर-

ब्रह्म परमात्मा के भीतर वास करते थे, अब इन सबको भगवान् ने ससार रूप महासागर मे लाकर फेंक दिया। अब तक तो ये नित्यतृप्त परिपूर्ण परब्रह्म के भीतर नित्यतृप्त रहते थे। जब ये समस्त देवता ससार रूप महान् समुद्र मे आ पडे, तो भगवान् ने इन्हें भूख प्यास से युक्त बना दिया। अर्थात् ससार मे आकर अब इन्हें आहार की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इन देवताओं को ओर तो कुछ दीखा नहीं। अपने को उत्पन्न करने वाले अपने जनक परमात्मा को अपने सम्मुख देखा।"

परमात्मा को देखकर इन देवताओं ने प्रार्थना की—"भगवन्! हमें भूख और प्यास पीड़ा पहुँचा रही हैं।"

भगवान् ने पूछा—"भूख-प्यास कहाँ से आ गयीं?"

देवताओं ने कहा—'सबके जनक तो भगवन्! आप ही हैं। जैसे आपने हम सबको उत्पन्न किया है, वैसे ही भूख को भी आपने ही उत्पन्न कर दिया होगा?"

यह सुनकर परब्रह्म परमात्मा हँस पड़े और बोले—"तुम सब चाहत क्या हो?"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हमे आयतन-रहने का कोई सुन्दर-सा स्थान दीजिये, जिसमें रहकर अन्न को खाकर, पानी को पीकर अपनी भूख-प्यास को शान्त कर सकें।"

यह सुनकर परमात्मा ने उसी समय एक गौ शरीर का निर्माण किया और उस शरीर को लाकर देवताओं के सम्मुख रखकर बोले—"इसमे रहोगे?"

देवताओ ने कहा—"घर तो सुन्दर है, किन्तु इसमे हमारा निर्वाह नहीं होगा।"

भगवान् ने कहा—"क्यों, क्या त्रुटि है?"

देवताओं ने कहा—"इसमें रहकर साधन भजन की सुविधा

नहा। दूध तो मिलेगा। फिर इसके एक ही ओर दाँत हैं। दूब आदि की जड को यह उखाड नहीं सकती। इसमें विशेष गति नहीं मथर भाव से चलती है, बड़े-बड़े सींग हैं, कभी हमें मार भी सकती है।"

तब परमात्मा ने तुरन्त एक अश्व की रचना करके देवताओं के सम्मुख रखा और कहा—"देखो, इसके दोनों ओर दाँत हैं। इसकी गति भी अत्यधिक है, इसके सींग भी नहीं। इसकी पीठ भी सुन्दर है, इसी पर चढकर तुम आनन्द से घूमना।"

देवताओं ने कहा—"ये सब गुण तो इसमें हैं किन्तु इसमें विवेक विचार तो नहीं है। पुण्यापुण्य का ज्ञान भी नहीं। यह भी स्वर्ग तथा मोक्ष का साधन नहीं कर सकता।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने समस्त तिर्यक योनि के एक कम चौरासी लाख देह लाकर देवताओं को दिखाये। यहाँ तिर्यक् से तात्पर्य उन योनियों का ही है जिनका मुख नीचे की ओर हो, जो नीचा मुख करके चलें। मनुष्य को छोड़कर ससार के समस्त जीवो का सिर नीचे की ही ओर होता है। मनुष्य ही एक ऐसा जीव है, जो सदा ऊपर सिर करके चलता है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई जीव हँस नहीं सकता। क्योंकि हँसी ही शोक को दूर कर सकती है। शोक एक मात्र संसारी बन्धनो से मुक्त होकर प्रभु की शरण में जाने पर ही छूट सकता है। वह मनुष्य योनि में ही संभव है। अन्य योनि में कोई अनुग्रह सृष्टि का जीव मुक्त हो जाता है, वह नियम नहीं, अपवाद है। साधारणतया नियम यही है कि स्वर्ग,नरक तथा मोक्ष का द्वार मानव शरीर ही है।"

इस प्रकार देवताओं ने समस्त देह देखकर उन सबमें कुछ-न-कुछ त्रुटि दिखाकर उन्हें अपने आयतन–निवास स्थान–के अयोग्य

बता दिया। तब परमात्मा ने मनुष्य योनि बनाकर उसे देवताओं के सम्मुख रखा और कहा—"देखो, यह निवास स्थान कैसा है?"

उसे देखकर सभी देवतागण परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"सुकृतंवाव सुकृतवाव। धन्य है, धन्य है। बस, बस बहुत सुन्दर, बहुत ही सुन्दर है। आपकी यह रचना तो सचमुच ही अत्यन्त अद्भुत है। यह शरीर बहुत ही सुन्दर बन गया। यथार्थ में यही हमारे रहने के योग्य है।"

परमात्मा ने कहा—"अच्छा, तुम इसे अपने उपयुक्त मानते ो? तो इसमें सब यथा स्थान जहाँ जिसे रुचे वहाँ प्रविष्ट हो ाओ।"

इतना सुनते ही, सर्व प्रथम अग्नि देवता दौड़े कि मैं देवताओं ा मुख हूँ। अतः सर्व प्रथम मुख पर अपना अधिकार स्थापित र लूँ। सो अग्नि देवता वाक् इन्द्रिय बनकर मुख मे प्रविष्ट हो ये। वायुदेव ने सोचा—"सबसे अधिक तेज चलने वाला मैं ीछे ही रह गया। अग्नि ने मुख्य स्थान पर अपना आधिपत्य मा लिया। मैं मुख से भी ऊपर के स्थान में अधिकार जमाता ।" यह सोचकर वे प्राण बनकर नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट हो ये। नासिका पर उन्होंने अधिकार जमा लिया।

सूर्यदेवता ने सोचा—"सबसे अधिक प्रकाश करने वाला मैं । मेरे ही प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं। अग्नि, वायु ने हिले हाथ मार लिया, मैं इनसे भी ऊपर की इन्द्रियों में स्थान ाप्त करूँगा।" यह सोचकर सूर्यदेव नेत्र इन्द्रिय बनकर आँखों ा गोलकों में प्रविष्ट हो गये। दशों दिशाओं के जो अभिमानी ेवता थे, वे श्रोत्र इन्द्रिय बनकर कानों मे प्रविष्ट हो गये। जितनी ओषधियाँ हैं जिनके पेड फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हैं और जितनी वनस्पतियाँ हैं जो फल फूल देती रहती हैं, उनके

अधिष्ठातृ देव रोएँ बनकर त्वचा में प्रविष्ट हो गये। चन्द्रमा ने सोचा—"मैं ही पिछड़ रहा हूँ। और सब देव तो बाहर के करणों इन्द्रियों- में प्रविष्ट हुए हैं। मैं भीतर के करण में, अन्त करण में--प्रविष्ट हो जाऊँ।" यह सोचकर चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गये। मृत्यु देवता ने सोचा—"अच्छे-अच्छे स्थानों पर तो सबने अधिकार जमा लिया, ऐसा न हो, मैं रह जाऊँ।" यह सोचकर वे अपान वायु बनकर गुदेन्द्रिय के अधिष्ठात देव होकर नाभि में निवास करने लगे।"

जल के अभिमानी देवता वरुणजी ने सोचा—"हम तो पिछड़ गये।" अतः वे वीर्य बनकर शिश्नेन्द्रिय में प्रविष्ट हो गये। सब लोगों ने तो सब स्थानों पर अपना अधिकार जमा लिया। परमात्मा ने जो भूख और प्यास को उत्पन्न किया था, वे ज्यों-की-त्यों रह गयीं। तब उन्होंने उन परब्रह्म परमात्मा से पूछा—"प्रभो! हमारे लिये भी तो स्थान की व्यवस्था कीजिये।"

इस बात को सुनकर परमात्मा ने कहा—"देखो, मैं तुम दोनों को इन सब देवताओं में ही भाग दिये देता हूँ। इन देवताओं के स्थानों में ही तुम्हें सम्मिलित किये देता हूँ। तुम इनके साथ मिल जुलकर इनके साथ-साथ ही निर्वाह कर लो। इसलिए जिस किसी भी देवता के लिये इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न विषय रूप हवि दी जाय, उसे तुम उन देवताओं के साथ ही ग्रहण कर लिया करना। देवता के भोजन में भूख-प्यास दोनों को ही भाग मिला करेगा।"

शौनकजी ने पूछा—"भूख-प्यास को देवताओं के साथ स्थान देने का क्या तात्पर्य है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! प्रत्येक इन्द्रिय की क्षुधा पिपासा पृथक् होती है। उनके अनुरूप आहार से वे इन्द्रियाँ भी तृप्त हो

जाती हैं और उनके अधिष्ठात देव भी तृप्त हो जाते हैं। जिस भोग मे इन्द्रिय अभिमानी देवता तृप्त होते हैं तो उनमें व्याप्त क्षुधा पिपासा भी इन्द्रियों के तृप्त होते ही शान्त हो जाती हैं। जीवों में जो क्षुधा पिपासा की प्रतीति होती है, वह इन्द्रियों के देवताओं की उपाधि से ही होती है। इन्द्रियाँ तृप्त हुई क्षुधा पिपासा जो उन इन्द्रियों के ही सम्बन्ध की होती है, शान्त हो जाती हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवताओं और क्षुधा पिपासा को स्थान मिल गया। अब इन सबके निर्वाह को अन्न कैसा कैसा हुआ, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अग्नि वाक् बनि प्रथम पुरुष के मुख में प्रविसे।
वायु प्राण बनि नाक सूर्य चक्षु नि में निवसे॥
दिशा श्रोत्र बनि कान औषधी त्वक् लोमहु बनि।
शशि मन बनि हिय माहिँ मृत्यु नाभी अपान बनि॥
नीर रेत बनि शिश्न में, भूख प्यास पैदा करीं।
घर याच्यो प्रभु देव घर-में ही ये दोऊ भरीं॥

लोक और लोकपालों का आहार अन्न

[८९]

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥१॥ सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥२॥*

(ऐ० उ० प्र० अ० ३ ख० १, २ मं०)

छप्पय

लोकपाल अरु लोक हेतु अन्न हु प्रकटायो।
सो भाखिवे भय भग्यो वाक् तैं रोक्यो चाह्यो॥
नहीं रुक्यो तब चक्षु, श्रोत्र, त्वक् मन अजमायो।
शिश्न परीक्षा करी अपान हु मुख अपनायो॥
प्रभु सोचें मो बिनु पुरुष, यदि इन्द्रिनि कारज करे।
तो हौं पुनि का काम को, प्रविसूं तन जीवन भरे॥

भगवान् त्रित होकर इस जगत् को धारण किये हुए हैं, जड़, चैतन्य और इन सबके स्वामी। सत्त्व, रज, और तम। कर्ता, रक्षयिता और संहर्ता। अन्न, रस और भोक्ता। अन्न ब्रह्मा

* उस परमात्मा ने देखा कि लोक और लोकपाल तो रच गये अब इनके खाने के निमित्त मुझे अन्न की व्यवस्था और करनी चाहिये, तब उन्होंने जल आदि को तपाया। उन तपे हुए जलादि भूतों से एक मूर्ति उत्पन्न हुई, वह मूर्ति अन्न की ही थी।

है, रस विष्णु हैं और भोक्ता महेश्वर हैं। यह शरीर क्षेत्र है, जीव इसका स्वामी क्षेत्रपाल है, तथा क्षेत्र, क्षेत्रपाल का जो स्वामी है वही ज्ञेय है, जानने योग्य है। अन्न से ही सम्पूर्ण सृष्टि है, रस से सृष्टि बढ़ता है, रक्षित रहती है और अन्त में महेश्वर इस उत्पन्न हुई बढ़ी हुई सृष्टि को खा जाते हैं, संहार कर लेते हैं। प्रकृति का ही सब खेल है। प्रकृति ही जगत् को रचती है, किन्तु प्रकृति तो जड़ा है, वह अकेली जगत् रचना में सक्षम नहीं। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये ही अष्टधा प्रकृति हैं। इसके अतिरिक्त चेतन्य रूपा परा नाम की दूसरी जीव रूपा भी शक्ति है। ये दोनों ही जगत् की उत्पत्ति में कारण हैं। इनके अतिरिक्त एक महाशक्ति है, जो सम्पूर्ण जगत् को धारण करती है। जीव रूप से तो भगवान् सबके हृदय प्रदेश में विराजमान हैं और वहाँ अन्तर्यामी रूप से परमेश्वर भी गुफा में सोते रहते हैं। सोते क्यों रहते हैं, इसलिये कि उनकी एक ज्ञान रूपा शक्ति है, जब वह सो जाती है, तो भगवान् भी प्रसुप्त की भाँति हो जाते हैं। वह शक्ति यदि उत्थित हो जाय, तो भगवान् भी जाग जाते हैं। वह प्रसुप्त शक्ति ही जीवों को नाना योनियों में घुमाती रहती है, जब वह जाग जाती है, तब संसार का आवागमन निवृत्त हो जाता है। वह ज्ञान रूपा शक्ति दशमद्वार से ब्रह्मरन्ध्र से—सुषुम्ना नाड़ी द्वारा पुरुष शरीर में प्रविष्ट होती है, और गुदा में जो सर्वप्रथम मूलाधारचक्र है, चतुर्दल वाला कमल है, उसकी कर्णिका में जो स्वयम्भू लिंग है, उसको साढ़े तीन वलय लगाकर कुंडलाकार लिपटी हुई अपने मुख में अपनी पूछ को दबाये प्रसुप्त पड़ी है। जब तक वह प्रसुप्त रहेगी, तब तक जीव का नाना योनियों में आगमन होता रहेगा। जिस समय यह जागकर पुनः जिस मार्ग से आई थी

उसी मार्ग से चढ़कर छओ चक्रों को पार करके मूर्धा में जो सहस्र दल कमल वाला सहस्रार चक्र है, वहाँ जाकर उसी ब्रह्मरन्ध्र में अपने शक्तिमान् से जाकर मिल जायगी तभी संसार बन्धन छिन्न-भिन्न हो जायगा। वह कुंडलाकार प्रसुप्त पड़ी रहती है, इसीलिये उस महाशक्ति का नाम कुंडलिनी शक्ति है। वह अत्यन्त सूक्ष्मा है, मूलाधार में निवास करती है, करोड़ों विद्युत् के समान आभा वाली है, किन्तु स्वयम्भू लिंग से वेष्टित होकर सुप्त होने के कारण उसकी दीप्ति उसी प्रकार ढक-सी जाती है, जैसे राख से अग्नि ढक जाती है। उस महादेवी को प्राण मन्त्र से साधकगण उत्थापित करते हैं। जिस समय दृढ़ासन के द्वारा प्राणायाम से वह उत्थित होती है, तो जैसे सूर्य के उदय होने पर समस्त अन्धकार विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार उस भगवती महाशक्ति के उत्थित होने पर समस्त विघ्न बाधायें, अशेष संक्लेश, अनन्तानन्त अशुभ नाश हो जाते हैं। वह भगवान् की ज्ञानरूपा शक्ति ब्रह्मरन्ध्र से सुषुम्ना द्वार के द्वारा शरीर में प्रविष्ट होती है। उसके प्रविष्ट होते ही सुषुम्ना का द्वार ब्रह्मरन्ध्र बन्द हो जाता है। अतः योग द्वारा सुषुम्ना के पथ को परिष्कृत करना चाहिये। समस्त नाड़ियों की जननी सुषुम्ना को संशोधन करके उसे मल रहित निर्मल बनाना चाहिये तब कहीं जाकर शक्ति का शक्तिवान् से संयोग होगा। तब बिछुड़ी शक्ति पुनः आकर अपने इष्ट में मिलेगी।

अन्न जीवन भी देता है, साथ-ही-साथ मल की भी वृद्धि करता है। जब ऐसा हो जाय कि अन्न जीवन तो प्रदान करे, किन्तु मल निर्माण न करे, तो फिर संसार का बन्धन नहीं होता। बन्धन तो मल के ही कारण है। मल में जो दुर्गन्ध आती है इसका कारण यही है, कि नाड़ियाँ मलावृत्त हैं, वह तुरन्त मल

को बाहर नहीं फेंकती। मल आँतों की नाडियों मे ग्रन्थियाँ पडने के कारण रुका रहता है, सडता है, उसम दुर्गन्ध पेदा हो जाती है। मनुष्य केशर, कस्तूरी, कर्पूर केसी भी सुगन्धित वस्तुएँ खाय, वे सब आंतों मे मल बनकर सडकर दुर्गन्धयुक्त मल के रूप मे परिणित हो जाती हैं। यदि समस्त नाडिया शुद्ध हों, तो मल रुके नहीं। रुके नहीं तो सडे नहीं। सडे नहीं ता दुर्गन्धयुक्त न हो। तभी तो जिन योगिया की नाडियाँ विशुद्ध बन गयी हैं, उनके मल-मूत्र में दुर्गन्ध न होकर सुगन्ध आती है, उनके शरीर मे श्लेष्म आदि मल बढने नहीं पाते। उनके शरीर मे कभी भी किसी प्रकार का रोग नहीं होता, मन म भोग प्राप्त करने की वासना नहा उठती। मुखाकृति तेजपूर्ण हो जाती है, शरीर दमकने लगता है, वाणी में मधुरता आ जाती है, समस्त इन्द्रियाँ विशुद्ध हो जाती हैं। उनके मल म चन्दन से भी कई गुनी अधिक सुगन्ध आने लगती है। ऋषभदेव के मल की सुगन्धि दशयोजन ४० कोश तक जाती थी। इसी से कहते हैं, अन्न अमृत भी है और विष भी है। अज्ञानियों के लिये विष है, ज्ञानियों के लिये अमृत है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब समस्त लोका तथा लोक पालों का रचना हो गयी और भूख तथा प्यास की भी रचना हो गयी तथा भूख प्यास को इन्द्रियों क साथ रहने का स्थान मिल भी गया, तब परमात्मा ने सोचा—"मैंने लोक-लोकपालो की तथा भूख-प्यास की सृष्टि तो कर दी अब इनके लिये मुझे अन्न की सृष्टि और करनी चाहिये। जब तक इनकी भूख-प्यास की निवृत्ति के हेतु अन्न का व्यवस्था न करूँगा, तब तक काम चलने का नहीं। यह सोचकर भगवान् ने पृथ्वी पर जल को जमाया, फिर अग्नि जलाकर वायु की सहायता से आकाश में जल को तपाया। तपाने से उसमे क्रिया उत्पन्न हो गयी। वाष्प

बनकर हलचल प्रकट हुई। उससे एक मूर्ति उत्पन्न हो गयी। वही अन्न की सुन्दर सलोनी मनमोहिनी मनहारिणी मूर्ति थी। उसमे से सुगन्ध आ रही थी। अन्न उत्पन्न होते ही चारों ओर देखने लगा। यह बात उसकी बुद्धि में बैठ गयी कि लोग मेरी मनोहर मूर्ति को देखकर मुझे खा जायँगे। अतः जब तक मुझे कोई खा न जाय, तभी तक मैं नौ दो ग्यारह हो जाऊँ। यहाँ से भाग कर कहीं विजन वन मे छिप जाऊँ। यह सोचकर वह मुट्ठी बाँध कर भागने लगा। भगवान् ने भूख-प्यास को तो पैदा कर ही दिया था और उसे किसी अकेले स्थान में पृथक् रहने को कोठरी भी नहीं दी थी। सब इन्द्रियों के साथ रहने को स्थान दे दिया था, अतः सभी इन्द्रियाँ भूख-प्यास से व्याकुल थीं। अन्न को देखकर सभी परम प्रमुदित हो रही थीं, किन्तु जब उन्होंने मुट्ठी बाँधकर अन्न को भगने के लिए उद्यत देखा, तब तो सबको बड़ी निराशा हुई। वाणी ने सोचा—"यह तो बना बनाया खेल बिगड़ना चाहता है, सभी गुड़ गोबर हुआ जाता है, यह सोचकर वाणी अन्न को खाने को झपटी, किन्तु वाणी बोल सकती है, अन्न को खाने योग्य उसका द्वार ही नहीं था। इच्छा करने पर भी वाणी अन्न को खाने में असमर्थ ही रही, उसे खा नहीं सकी। इच्छा रहने पर भी बिना भक्षण किये लौट आयी। वाणी बोलकर ही कहीं अन्न को ग्रहण करने में समर्थ हो जाती, तो आज अन्न को पैदा करने में, कूटने पीसने, बनाने खाने में इतना प्रयत्न न करना पड़ता। वाणी से 'अन्न' शब्द का उच्चारण करते ही तृप्ति हो जाती।

जब वाणी द्वारा आदि पुरुष अन्न को ग्रहण न कर सका तब प्राण जिस मार्ग से स्वाँस प्रश्वास के रूप में आते-जाते हैं, उस घ्राणेन्द्रिय से कहा—"तू ही इस अन्न को ग्रहण कर। घ्राणे-

न्द्रिय अन्न को ग्रहण करने दौडी किन्तु ग्रहण करने में समर्थ न हो सकी। घ्राणेन्द्रिय का काम सूँघना है। सूँघकर अन्न उदर में कैसे पहुँच सकता है, उससे समस्त इन्द्रियों की तृप्ति कैसे हो सकती है। सौभाग्य से यदि उस समय घ्राणेन्द्रिय अन्न को ग्रहण करने में समर्थ हो सकती, तो अन्न को नाना भाँति से बनाने आदि की आवश्यकता नहीं रहती, लोग सूँघकर ही अन्न से तृप्त हो जाते। बेचारी घ्राणेन्द्रिय भी बिना ग्रहण किये ही लौट आयी। तब उन्होंने नेत्र इन्द्रिय को प्रेरित किया। नेत्र इन्द्रिय अन्न को ग्रहण करने के निमित्त लपकी, किन्तु उसे ग्रहण न कर सकी। भला केवल देखने मात्र से समस्त इन्द्रियो की तृप्ति कैसे हो सकती थी। यदि उस समय आँखें अन्न को ग्रहण करने मे समर्थ हो सकतीं तो फिर अन्न को तैयार करने में इतने झंझट क्यों करने पडते। प्राणी नेत्रों के द्वारा अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाते। इस कारण नेत्रेन्द्रिय द्वारा अन्न ग्रहण नहीं किया जा सका, वह लौट आयी।

तब उस आदि पुरुष ने अन्न को श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा पकडना चाहा, किन्तु श्रोत्र उसे पकड नहीं सके। केवल सुनने मात्र से समस्त इन्द्रियाँ तृप्त कैसे हो सकती थीं, यदि उस समय कानों द्वारा अन्न पकडा जा सका होता, तो फिर अन्न के लिये नाना प्रयत्न क्यों किये जाते। सभी प्राणी अन्न का नाम सुनते ही तृप्त हो जाते—चौका चूल्हे का सब झंझट ही समाप्त हो जाता, अतः कान उस अन्न को ग्रहण न करके लौट आये।

तब उसने सोचा—"स्पर्शेन्द्रिय से त्वचा द्वारा अन्न को पकड लें किन्तु त्वचा द्वारा अन्न पकड़ में नहीं आया। भला स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न से समस्त इन्द्रियाँ कैसे तृप्त हो सकती है? यदि उस समय त्वचा द्वारा अन्न ग्रहण करना सम्भव हो

जाता, तो जीव अन्न को स्पर्श करके ही तृप्त हो जाते। न सात धातुएँ बनती और न नाना प्रकार के मलों का ही निर्माण होता, किन्तु त्वचा द्वारा अन्न पकड़ा ही न जा सका। अतः त्वक्-स्पर्शेन्द्रिय निराश होकर लौट आयी।

तब उस पुरुष ने मन द्वारा अन्न को पकड़ना चाहा किन्तु केवल सकल्प मात्र से सब इन्द्रियाँ कैसे तृप्त हो सकती थीं। यदि उस समय मन अपने प्रयत्न मे सफल हो जाता—वह अन्न को ग्रहण करने मे समर्थ हो जाता—तो लोग अन्न का चिन्तन करके ही तृप्त हो जाते। यह बात न हो सकी। मन भी अपने प्रयत्न में असफल होकर लौट आया।

तब उसने शिश्नेन्द्रिय द्वारा अन्न को पकड़ना चाहा, किन्तु उपस्थ द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तृप्त कैसे हो सकती थी। यदि उपस्थेन्द्रिय सफल हो जाती, तो मनुष्य अन्न का विसर्जन करके ही तृप्त हो जाते। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं हुआ अतः वह भी असफल होकर लौट आयी।

तब उस पुरुष ने अन्न को अपान वायु द्वारा मुख से ग्रहण करना चाहा, तो मुख मे जाकर अपान वायु की सहायता से अन्न उदर मे चला गया। उसके जाते ही, रस बनकर प्राण-वायु ने समस्त इन्द्रियो के पास उस रस को पहुँचा दिया। इससे सभी इन्द्रियाँ परितृप्त हो गयीं। यह युक्ति सफल सिद्ध हुई। हम जो नासिका द्वारा बाहर को वायु छोड़ते हैं उसे स्वास या प्राण कहते हैं। बाहर की वायु को भीतर उदर मे ले जाते हैं, उसे प्रश्वास या अपान कहते हैं। प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान ये सब प्राणों के ही भेद हैं। भूख-प्यास प्राणों को ही लगती हैं। मुख से अपान वायु द्वारा जो अन्न उदर में जाता है, उससे प्राणों की तृप्ति के साथ-ही-साथ समस्त इन्द्रियाँ भी

तृप्त होती हैं। प्राणों द्वारा उन्हें भी आहार मिल जाता है। उदरस्थ अन्न से ही मन बनता है। इससे सिद्ध हुआ प्राण ही मनुष्य का जीवन है और प्राण अन्न द्वारा परितृप्त होते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब सृष्टिकर्ता परब्रह्म परमात्मा ने समस्त लोकों की इन्द्रियों के गोलक, इन्द्रियाँ तथा उनके अधिष्ठातृ देव, भूख, प्यास और अन्न की रचना तो कर ली। लोकपालों सहित लोक रच गये, तब उन्होंने सोचा—"ये सब उत्पन्न तो हो गये, किन्तु इन सब में मेरा भी तो कुछ भाग होना चाहिये। यदि इस पुरुष ने मेरे बिना ही इन्द्रियों से काम चला लिया, जैसे वाणी द्वारा भाव व्यक्त करने की क्रिया कर ली, घ्राण इन्द्रिय द्वारा सुगन्ध दुर्गन्ध के सूँघने की क्रिया कर ली, नेत्र द्वारा रूपों को देखने की क्रिया कर ली, कानों द्वारा शब्दों को श्रवण करने की क्रिया कर ली, त्वग् इन्द्रिय द्वारा शीत, उष्ण, सुखद दुखद स्पर्श के ज्ञान की क्रिया कर ली, मन के द्वारा संकल्प विकल्प आदि मनन क्रिया कर ली, अपान की सहायता से मुख द्वारा अन्न ग्रहण करने की क्रिया कर ली, उपस्थेन्द्रिय द्वारा मूत्र तथा वीर्य विसर्जन की क्रिया कर ली, तब मेरा क्या उपयोग होगा? मैं तो इस पुरुष के लिये अनुपयोगी ही सिद्ध होऊँगा। इसलिये मुझे भी इसमें प्रवेश करना चाहिये। फिर सोचा—"समस्त इन्द्रियों पर तो उनके अधिष्ठातृ देवों ने अधिकार स्थापित कर रखा है। इस शरीर रूपी भवन में प्रवेश के नौ ही द्वार हैं। नौऊ द्वारों पर अधिष्ठातृ देव बैठे हैं। मैंने किसी द्वार से प्रवेश किया, और किसी ने आपत्ति की, तो झगड़ा टटा बढ़ेगा। अतः इन नौ द्वारों के अतिरिक्त मुझे किस मार्ग से इस शरीर में प्रवेश करना चाहिये, इसी का सोच परमात्मा करने लगे। सोच-विचार कर उन्होंने निश्चय किया—"मुझे इसके

भीतर प्रवेश करने को सबसे ऊपर अपना एक पृथक् दशम द्वार निर्माण करना चाहिये।" ऐसा सोचकर उसने इस मानव शरीर की अन्तिम सीमा को चीरकर-दोनों कपालों के बीच में द्वार करके-उस द्वार के ही द्वारा इसमें प्रवेश किया। यह द्वार चीरने से विदृति नाम से प्रसिद्ध है। विदीर्ण करके परब्रह्म इसमें प्रविष्ट हुए थे। इसे ही नानन्द भी कहते हैं। जीव को सर्वोत्तम आनन्द इसी में प्रविष्ट होने पर प्राप्त होता है। इस छिद्र से ब्रह्म ने इसमें प्रवेश किया। इसलिये इस दशम द्वार को ब्रह्मरन्ध्र भी कहते हैं। परमेश्वर की प्राप्ति के तीन ही स्थान हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन स्थान कौन-कौन से हैं?"

सूतजी ने कहा-"पहिला आवसथ-स्थान-तो हृदयाकाश है। वह हृदय की गुफा जिसमें ईश्वर सबके हृदय देश में बैठा रहता है। दूसरा आवसथ-उपलब्धि स्थान-विशुद्ध आकाश है, जिसे परम धाम कहते हैं- जहाँ जाकर जीव फिर इस असार संसार मे लौटकर नहीं आता। तीसरा उनकी उपलब्धि का-स्थान है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अणु परमाणु में व्याप्त हैं। इन तीन के ही आश्रय से ब्रह्म की उपलब्धि हो सकती है। अथवा उनके रहने के जाग्रत काल मे इन्द्रियो का स्थान है दक्षिण नेत्र, २-स्वप्न काल मे वह मन मे रहता है, सुषुप्ति काल में हृदयाकाश मे रहता है। जैसे उसके तीन निवास स्थान हैं, वैसे ही उसके तीन स्वप्न भी हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वप्न क्या?"

सूतजी ने कहा—"स्वप्न का अर्थ सोना।"

शौनकजी ने पूछा—"क्या परब्रह्म सोते भी हैं?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"सदा जाग्रत रहने वाले सोवेंगे

क्या ? यह तो व्यवहार की बात है, वे कभी सोते नहीं, किन्तु व्यवहार में उन्हें प्रसुप्त-सा कहा करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर तीन स्वप्न कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीनों अवस्थायें अथवा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीनों ही उनके स्वप्न मात्र हैं।"

जब वह परम पुरुष दशम द्वार से ब्रह्मरन्ध्र द्वारा मनुष्य रूप में होकर भीतर घुसा तो उसने पञ्च महाभूतों को जगत् की रचना को देखा। चारों ओर आश्चर्य से निहारने लगा। ब्रह्माण्ड नायक पिंड में जाकर अपनी रचना पर स्वय ही मुग्ध हो गया। वह आश्चर्यचकित होकर सोचने लगा—यहाँ इस जगत् की रचना करने वाला दूसरा कौन है ? यह बड़ा ही सुन्दर कार्य है। कार्य का कोई-न-कोई कर्ता भी अवश्य होगा। तब उसने समस्त जगत् में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त घट-घट वासी अन्तर्यामी परम पुरुष को ही सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा के रूप में देखा। अर्थात् जो चैतन्यात्मा शरीर में प्रविष्ट होने से पुरुषाकार हो गया था। उसने सर्वान्तर्यामी परब्रह्म को ही वहाँ अनुभव किया। तब उसने आश्चर्यचकित होकर कहा—"अहा! बड़े सौभाग्य की बात है मैंने परब्रह्म परमात्मा को देख लिया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो गड़बड़ सड़बड़ सी हो गयी। बात हमारी समझ मे आयी नहीं। जिसने लोक, लोकपालों को, भूख प्यास को अन्न को, उत्पन्न किया, वह परब्रह्म कौन था ? यह जिसे पुरुष ने इन्द्रियों द्वारा अन्न को ग्रहण करना चाहा वह कौन था और जो ब्रह्मरन्ध्र से मनुष्य शरीर में प्रविष्ट हुआ वह कौन था ? और भीतर जाकर उसने सर्वान्तर्यामी पर-

ब्रह्म का साक्षात्कार किया वह कौन था ? और वह अन्तर्यामी भीतर कैसे घुस गया ?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज ! गड़बड़ घुटाला नहीं है। रचने वाला सगुण ब्रह्म था, जिसने एक से बहुत होने की इच्छा की। फिर चैतन्य जीवात्मा रूप से उसने इन्द्रियों से अन्न को ग्रहण करना चाहा था। वह मनुष्य रूप में ही परमात्मा ने देह मे प्रवेश किया। वही देहाभिमान से जीव बन गया। सर्वान्तर्यामी को द्वार की आवश्यकता नहीं थी। वह तो सब स्थानों में सब कालो मे, सब मे पहिले से ही बैठा रहता है। यह सब परमात्मा का खेल है, लीलाधारी की लीला है, परब्रह्म की माया का कौतुक है। वे स्वयं ही साध्य हैं, स्वयं ही साधक हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! माया है, लीला है, क्रीड़ा है, ये आपके ऐसे अस्त्र हैं, कि इसके सामने चुप ही हो जाना पड़ता है। हाँ तो आगे क्या हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"अब आगे क्या होना था, जो होना था हो गया। भाव यह हुआ कि परमात्मा की प्राप्ति इस मानव शरीर से ही हो सकती है। जब मानव देह में जीवात्मा ने सर्वान्तर्यामी परमात्मा का साक्षात्कार किया तो इसीलिये इसका नाम 'इदन्द्र' हो गया। क्योंकि उसने कहा था (इदम्+द्रः=इदन्द्रम्)इसको मैंने देख लिया। इसलिये परमात्मा का एक नाम इन्द्र भी है। इन्द्र नाम से भी उस इदन्द्र को पुकारते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"इदन्द्र' को इन्द्र नाम से क्यों पुकारते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ये देवता परोक्ष प्रिय होते हैं। (परोक्षप्रिया हि देवाः) इसलिये उन परमात्मा को इदन्द्र न कहकर इन्द्र नाम से पुकारते हैं। इसलिये इस जगत् को परब्रह्म की रचना

समझकर उनकी अनुकम्पा की प्रतीक्षा करो। उन्हीं पर सर्वात्म-भाव से निर्भर हो जाओ। इस संसार सागर से पार हो जाओगे। परमात्मा को पा लोगे, ब्रह्म का साक्षात्कार कर लोगे। इति।"

इस प्रकार ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय का तृतीय खंड समाप्त हुआ। प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ। अब द्वितीय अध्याय में जैसे मनुष्य शरीर की उत्पत्ति का वर्णन किया जायगा, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

सब द्वारनि उच्छिष्ट समुझि मूर्धा कूँ फार्‌यो।
ब्रह्मरन्ध्र तैं घुस्यो विहति तिहि नाम पुकार्‌यो॥
आनँद को वह द्वार गुफाहिय परमधाम अरु।
यह समस्त ब्रह्माण्ड, थूल, सूक्षम, कारन वरु॥
तीन् स्वप्न आश्रय कहे, लखि रचना वर ब्रह्म कूँ।
अन्तर्यामी इन्द्र जो, कहिँ इदन्द्र परब्रह्म कूँ॥

इति ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय का तृतीय
खण्ड समाप्त
प्रथम अध्याय समाप्त

मानव शरीर की उत्पत्ति

[९०]

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतः तदेतत्-
सर्वभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति ।
तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥*

(ऐ० उ० द्वि० अ० १ म०)

छप्पय

जीव जगत में प्रथम पुरुष तन वीर्य रूप बन ।
सब अंगनि उत्पन्न करै पुनि धारे निज तन ॥
पुनि पतिनी में गरभ धरे यह प्रथम जनम है ।
निज अंगनि सम पोसि मातु सब करै करम है ॥
जनम भयो संस्कार सब, पिता करै कल्यान हित ।
दूसर ताको जनम यह, आतमा ही बनि जात सुत ॥

---

* यह जीव पहिले पहिल पुरुष देह मे गर्भ (वीर्य) बनता है पुरुष यह जो रेत है वह इस पुरुष के समस्त अङ्गो से उत्पन्न होने वाला तेज है । इस अपने से उत्पन्न तेज को पुरुष प्रथम तो अपने शरीर में ही धारण करता है । तदनन्तर जब उसको स्त्री मे सिचन करता है, तब इसको गर्भ रूप मे प्रकट करता है । गर्भ धारण होना यह जीव का प्रथम जन्म है ।

एक अंधा जा रहा है, बहुत से अंधे उसके पीछे-पीछे चल रहे हैं। अंधा कुँआ में गिरता है, तो सभी अंधे उसके साथ कुएँ में गिर जाते हैं। यह पूछने का किसी को सावकाश नहीं कि जिसके पीछे-पीछे हम चल रहे हैं, उसे दीखता भी है या नहीं। कुछ लोग चल रहे हैं, उसके पीछे चले जा रहे हैं। इसे अंध-परम्परा कहते हैं। बिना समझे बूझे झुंड पीछे-पीछे चलते रहना संसार में अंध परम्परा ही व्याप्त है। बाप बेटा को उत्पन्न करता है। वह यह नहीं जानता मैंने कैसे इस पुत्र को उत्पन्न किया? वीर्य क्या है, इसका निर्माण कैसे होता है? स्त्री क्या है, इसके शरीर में रज कैसे उत्पन्न होती है? फिर दोनों के संयोग से गर्भ कैसे रहता है, वह कैसे बढ़ता है, अंगों की रचना कैसे होती है, कब किस समय कौन-सा अंग बनता है, कैसे इसमें प्राणों का संचार होता है, किस हेतु से यह उदर से बाहर होता है? कैसे यह बढ़ता है? शरीर के भीतर कहाँ-कहाँ कौन-कौन सी नसें नाड़ियाँ हैं, उदर में अन्न जाकर क्या बनता है, इस जीव का किसमें हित है किसमें अनहित है। इन बातों पर कोई भी विचार नहीं करता। सब आँख बन्द किये हुए एक दूसरे के पीछे चले जा रहे हैं। हमारे पिता ने हमारा विवाह किया था, अतः हमें भी अपने पुत्र पुत्रियों का विवाह करना ही चाहिये। माता पिता पर चाहे खाने को अन्न न हो, किन्तु पुत्र पुत्रियों का विवाह अवश्य होना चाहिये। विवाह के लिये ये व्यग्र विकल बने रहते हैं। अरे, भाई, तुमने ही विवाह करके कौन-सा गढ़ जीत लिया, तुमने ही विवाह करके कौन-सा सुख पा लिया। इन बातों को सोचने को उनको अवकाश नहीं। बस, एक ही धुनि। कैसे लड़की लड़के का विवाह हो? विवाह हो गया, तो फिर बच्चे की धुनि। लड़के का विवाह हुए दो वर्ष हो गये, लड़की को पति

घर गये यह तीसरा वर्ष है। अभी तक बच्चा क्यों नहीं हुआ। वैद्य को दिखाओ, चिकित्सक बुलाओ, झाड़ फूँक कराओ, किसी से गडा ताबीज दिलाओ। भूत, प्रेत, आऊत, पितरों को पूजो, देवी का मनौती मानों, चामुन्डा पर बलि चढाओ, भैरो बाबा को मनाओ लागुर जिमाओ, दुर्गा की जात लगाओ। जैसे भी हो लडका हो जाय, संतान का मुख देख सकें। क्या होगा इससे ? इसे कोई नहीं सोचता। अध परम्परा है। अंधों के पीछे अंधे जा रहे हैं। इसी का नाम ससार-चक्र है। अरे भाई ! कुछ सोचो, कुछ समझो, कुछ विचार करो। यह शरीर कैसे बना, इसमें क्या-क्या पदार्थ हैं, इसका सदुपयोग क्या है ? इससे कुछ सुकृत भी हो सकेगा या अन्न को मल बनाते बनाते ही इसका अंत कर दोगे। यदि यही बात है, तो मानव शरीर मे और सूकर कूकर के शरीरों मे फिर अन्तर ही क्या रहा ? अतः इस शरीर का परिचय प्राप्त करो, परिचय प्राप्त करके इसका सदुपयोग करो। अनित्य शरीर से नित्य वस्तु को प्राप्त करने का प्रबल प्रयत्न करो। यही साधन है। इसी में मानव शरीर की सार्थकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऋषियों ने वैराग्य उत्पन्न करने के निमित्त इस शरीर की अशुचिता, अनित्यता, दुःख बाहुल्यता का बार-बार वर्णन किया है। शास्त्र पुराणों मे दो ही मुख्यतया वर्णन के विषय हैं, एक तो विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और दूसरे मानव शरीर की क्षणभंगुरता और अनित्यता। विश्व ब्रह्माण्ड का वर्णन तो उपासना के निमित्त है। भगवान् का कहना यही है, यह सम्पूर्ण जगत् मेरा ही साकार शरीर है, अतः विश्व ब्रह्माण्ड में सर्वत्र मेरा ही दर्शन करो। मुझे छोड़कर संसार में और किसी को पृथक् भाव से अवलोकन मत करो। दूसरे जिस शरीर में तुम्हारी इतनी अधिक ममता है। उसे अशुचि, अनित्य, क्षण

भंगुर समझो। ये ही बातें बताने को पुनः-पुनः पिंड (देह) ब्रह्मांड (जगत्) का वर्णन किया गया है। पहिले यह जो मानव शरीर है, इसकी ही उत्पत्ति की गाथा सुन लीजिये। संतान पिता द्वारा उत्पन्न होती है। पिता के शरीर में सन्तान कैसे आती है? पहिले पिता के शरीर में यह वीर्य रूप से उत्पन्न होता है। वीर्य क्या है? हम जो भी अन्न खाते हैं, उसका पहिले रस बनता है। फिर रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और उन हड्डियों का भी सार वीर्य बनता है। वीर्य सबसे अंतिम सातवां धातु है। यह सभी अंगों का सार होता है। जैसे दही के अणु-अणु में नवनीत व्याप्त है, उसे मथने से सम्पूर्ण दही के सभी अंगों से सारभूत नवनीत पृथक हो जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण अंगों से उत्पन्न यह तेज रूप शुक्र पिता के शरीर में पकता है। पहिले-पहिल स्वयं ही पिता इस वीर्यमय तेज को अपने ही शरीर में धारण करता है। जब उस वीर्य का पत्नी के गर्भाशय में सिंचन करता है, गर्भ का आधान करता है, तब उसे माता गर्भ रूप में धारण करती है। वीर्य का माता के गर्भाशय में आना यह इस वीर्याधान करने वाले पुरुष का प्रथम जन्म है।"

पहिले तो उस वीर्य रूप गर्भ को पिता ने धारण किया, फिर पिता से प्राप्त करके माता ने अपने उदर में धारण किया। माता के उदर में आने पर वह माता के आत्मभाव को प्राप्त हो गया। जैसे माता के हाथ पैर आदि अन्य अंग हैं वैसे यह गर्भ भी उसके शरीर का अंगभूत हो जाता है, माता को उसके धारण करने से विशेष कष्ट नहीं होता। यह गर्भ माता को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाता। माता उसे प्रसन्नतापूर्वक धारण करती है। माता के शरीर से रस प्राप्त करके यह गर्भ पालित पोषित होता है। पिता के अंगों के सारभूत माता के उदर में आये हुए

को माता इसकी प्रसन्नता पूर्वक देख-रेख रखती है। ऐसी स्त्री पति द्वारा पालन-पोषण करने योग्य है, पति को उसका सदा पालन करना चाहिये। ज्यों-ज्यों उसे माता के उदर से आहार प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों वह उदर में वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। प्रसव के पूर्व तक वह उदर में ही बढ़ता रहता है, माता उसे धारण किये रहती है। जब दशवें मास में उसका जन्म हो जाता है, तब पिता भी उसके पालन पोषण में योग देता है, उसके जात-कर्मादि संस्कार करता है। बालक की उन्नति के और भी अनेकों कार्य करता है। अपनी ही आत्मा पुत्र बनकर प्रकट होती है, इसका अर्थ यह हुआ कि वह पुत्र की उत्पत्ति उसका पालन क्या करता है मानो मानव संतति वृद्धि द्वारा अपनी ही उन्नति करता है। अपने ही वंश को—अपने ही आप को वह बढ़ा रहा है। गर्भ से बाहर होकर पिता द्वारा पालित पोषित होना मानो इसका द्वितीय जन्म है।

पुत्र क्या है, पिता का उत्तराधिकारी है, पिता की सम्पत्ति का, पिता के पुण्यादि कर्मों का—उसकी ही आत्मा होने से—उसके शुभ कर्मों के लिये उसका प्रतिनिधि बना दिया जाता है। पुत्र जब समर्थ हो जाता है, तब जिसका यह पुत्र प्रतिनिधि है वह पिता रूप द्वितीय आत्मा—अपने को पितृऋण से उऋण समझकर अपने को कृतकृत्य मानता है। चलो, मेरी वंश पर-म्परा अक्षुण्ण बनी हुई है। इस प्रकार पुत्र के कार्य भार सम्हाल लेने पर और अपनी आयु पूरी होने पर पिता मर जाता है। इस लोक का परित्याग करके अन्य लोकों में चला जाता है। फिर कर्मानुसार अन्य योनियों में पुनः उत्पन्न हो जाता है, वह इसका तीसरा जन्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये तीन जन्म पिता के हुए या पुत्र के ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यहाँ पिता पुत्र की एकात्मता प्रदर्शित कर रहे हैं। पुत्र क्या है ? पिता की ही प्रतिकृति है। पिता की ही आत्मा है, पिता वीर्य रूप में अपने भीतर अपने अंगों के सार वीर्य को धारण करता है। फिर उस वीर्य को पत्नी के गर्भ में आधान करता है, तो यह पिता ही का तो पहिला जन्म हुआ। जब वह माता के उदर से बाहर आया तो मानो वही तो अपनी पत्नी के पेट से पुनः उत्पन्न हुआ। इसीलिये स्त्री का नाम जाया है। अर्थात् जिसके उदर से पुत्र रूप में स्वयं ही उत्पन्न होता है। यह पुत्र रूप में पिता का ही दूसरा जन्म है। जब कृतकृत्य होकर मर जाता है तो दूसरी योनि में वह फिर जन्म लेता है यह उसका तीसरा जन्म है। इस प्रकार यह शृङ्खला बनी ही रहती है। जन्म-मरण की परम्परा टूटती नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! यह शृङ्खला न टूटे तो कोई हानि है क्या ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन ! जन्म लेने में तो दुःख ही दुःख है। नित्य माता के उदर में मल मूत्र के आलय में निवास करना कोई सुखकर कार्य है क्या ? इसमें लाभ ही क्या ? हानि-ही-हानि है। शरीर रूप पिंजडे में जीव पडा रहे, जन्म मृत्यु की असंख्यों यन्त्रणाओं को बारबार झेलता रहे, इससे बढ़कर हानि और क्या होगी ? यह जन्म-मृत्यु का चक्कर छूट जाय, इस संसार बन्धन से मुक्ति मिल जाय, इसी के लिये मनुष्य को यत्न करना चाहिये। गर्भ में तो दुःख-ही-दुःख है। इसीलिये गर्भस्थ ऋषि ने इन दुःखों से भयभीत होकर कहा था।"

शौनकजी ने पूछा—"गर्भ में ऋषि कैसे चले गये ? गर्भ में उन्होंने क्या कहा था ?"

सूतजी ने कहा—"महर्षि वामदेव को माता के गर्भ में ही ब्रह्म का ज्ञान हो गया था, तभी उन्होंने इन जन्म-मृत्यु के दुःखों से दुखी होकर यह गाथा गायी थी, उन्होंने कहा था—"अहो! मैंने गर्भ मे रहते हुए इन शरीरस्थ देवताओं के बहुत से जन्मों का रहस्य भलीभाँति जान लिया है। मुझे नाना योनियों मे गर्भ के भीतर सैकड़ो लोहे के सदृश कठोर शरीर रूप पिंजड़ों में अवरुद्ध करके-चारों ओर से घेरकर-बंद करके रखा गया था, इतने पर भी मैं उन शरीरों से प्यार करने लगा था, उनमे मेरी अत्यन्त आसक्ति हो गयी थी, मैं उन्हे त्यागना नहीं चाहता था। शरीर छोडते समय महान् कष्ट की प्रतीति होती थी, किन्तु अब मुझे ज्ञान हो गया है। अब मैं बाज पक्षी की भाँति उन समस्त पिंजडों कोतोड ताडकर अत्यन्त ही वेग के साथ इन सब से पृथक् हो जाऊँगा।"

यह गाथा गर्भ मे ही ज्ञान होने पर वामदेव ऋषि ने गायी थी, उक्त वचन उन्होंने गर्भ से बाहर होने के पहिले कहे थे। क्योंकि गर्भ से बाहर होने पर बाहर की वायु लगने पर यह ज्ञान लुप्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वामदेव ऋषि कौन थे ?"

सूतजी ने कहा—"ये वामदेव ऋषि बड़े ज्ञानी थे। इन्होंने कहा है—आगामी प्रतिबन्ध एक ही जन्म मे प्रायः क्षीण हो जाता है, किन्तु राजर्षि भरत को प्रतिबन्ध क्षीण होने मे तीन जन्म लगे। ये वामदेव मुनि परमज्ञानी थे, माता के गर्भ मे ही इन्हें ज्ञान हो गया था। वास्तव मे तो माता के गर्भ मे आने पर मानव गर्भस्थ शिशु ही वामदेव ऋषि है। माता के गर्भ मे जब यह

मानव जन्तु सातवें महीने मे चेतन्य होता है। छठें महीने झिल्ली से लिपट कर दक्षिण कोख मे घूमने लगता है और माता के उदर के मल-मूत्र के कीडे उसके अत्यन्त कोमल शरीर को भूख के कारण नोंचने लगते हैं, तब वह उस क्लेश के कारण मूर्छित हो जाता है। उस समय उसका सिर तो अपने पेट की ओर होता है तथा पीठ और गर्दन कुण्डलाकार मुडी रहती है। वह वामदेव बन जाता है। वह पिजडे में बन्द पक्षी के समान पराधीन बना रहता है, अपने आप अङ्गों को भी हिला डुला नहीं सकता। तभी उसे अदृष्ट की प्रेरणा से स्मरण शक्ति प्राप्त हो जाती है। उसे अपने सेकडों जन्मों के कर्म स्मरण हो जाते हैं। तब वह वामदेव ऋषि गर्भ मे ही भगवान् की स्तुति करता है।*

वह गर्भस्थ जीव जिसे माता के उदर में सातवें महीने में सेकडो जन्मों का स्मरण हो आता है, और वामरूप से उदर मे झिल्ली से लिपटा माता की आँतों से घिरा हुआ पडा रहता है भगवान् व्यास ने उसी को ऋषि सज्ञा बतायी है। यही वामदेव ऋषि है। इस प्रकार सेकडो जन्मों के रहस्य को स्मरण करने वाला वह जीव रूप गर्भस्थ ऋषि इस शरीर का नाश होने पर-ज्ञान होने के कारण उत्पन्न होकर भी नीचे नहीं गिरा। भाग्यवश वह गर्भस्थ यातना को संसार मे आकर भूल नहीं जाता। ऐसा ज्ञानी विद्वान् जीव ससार से ऊपर उठ जाता है, उसकी अधोगति न होकर ऊर्ध्वगति हो जाती है और वह उस दिव्य स्वर्गलोक को-परमधाम को-प्राप्त होता है, जिसमें समस्त कामनायें प्राप्त

---

* नाषमान ऋषिर्भीत सप्तवध्रि कृताञ्जलि।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पित.॥
(श्री० भा० ३ स्क० ३१ अ० ११ श्लो०)

हो जाती हैं- जहाँ जाकर फिर कोई संसारी कामना अवशेष ही नहीं रहतीं। वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। अमृत हो जाता है।" इति

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार एतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय मे तो सृष्टि के रचने वाले परमात्मा का और उनके रचे ब्रह्माड का वर्णन किया और दूसरे अध्याय मे जीवात्मा की उत्पत्ति का वर्णन किया। अब तीसरे अध्याय में जैसे उपास्य आत्मा के विषय मे बतावेंगे, उसका वर्णन मै आगे करूँगा। उसी मे यह ऐतरेय उपनिषद् समाप्त हो जायगी।"

छप्पय

सुत प्रतिनिधि करि मरै लेइ पुनि जनम तृतिय है।
गरभ बास दुख सह्यो कहे ऋषि-दुखद करम है॥
पिंजरा में अवरुद्ध तोरि तिहि प्रभु पुर जाऊँ।
परमधाम अति दिव्य जाइ तहँ पुनि नहिँ आऊँ॥
वामदेव ऋषि जानि सब, जग तैं ऊपर उठि गये।
सकल कामना प्राप्त करि, दिव्य अमर पुनि बनि गये॥

इति ऐतरेय उपनिषद् का
द्वितीय अध्याय समाप्त।

———

परम उपास्य-परब्रह्म

[६१]

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे । कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥❀

(ए० उ० ३अ० १म०)

छप्पय

जिहि उपासना करें कौन वह है परमात्मा ।
जातें सूँघें सुनें लखें को है वह आत्मा ॥
हिय मन एकहि कह्यो विविध हैं शक्ति सबहिकी ।
ज्ञान, दृष्टि, विज्ञान, काम, क्रतु, असु है जिहिकी ॥
हैं उपास्य परमातमा, रक्षक, दाता, शक्तिप्रद ।
वे ही सुर, अज, भूत हैं, अंडज पिंडज, जीव सब ॥

जीवात्मा, परमात्मा और जगत् ये तीन हैं । जगत् तो दीखता है । चर चलने वाले पदार्थ, अचर नहीं चलने वाले पदार्थ । स्थावर एक स्थान पर बैठे रहने वाले, जंगम चलते-फिरते रहने

❀ जिसकी उपासना हम लोग करते हैं, वह आत्मा कौन है और वह कौन है, जिससे देखते हैं, सुनते हैं, गन्धो को सूंघते हैं, जिससे वाणी को स्पष्ट बोलते हैं, स्वादयुक्त अस्वादयुक्त वस्तुओं को पृथक्-पृथक् जानते हैं ।

वाले जितने भी पदार्थ हैं, सब जगत् के अन्तर्गत हैं। जो दिखायी दे, अनुमान से, मन से जिसका अनुभव हो, सब जगत् के अन्तर्गत हैं। अब न तो जीवात्मा ही दिखायी देता है और न परमात्मा ही। शास्त्र कहता है—"आत्मा की उपासना करनी चाहिये।" तब प्रश्न यह उठता है—"किस आत्मा की उपासना करें? जीवात्मा की या परमात्मा की।"

अब विचार करना है, आत्मा की उपासना की आवश्यकता क्या है? उपासना की जाती है, दुःख की निवृत्ति तथा परमानंद की प्राप्ति के हेतु। इस पर विचार करते हैं दुःख क्या है? १–इच्छा, २–द्वेष, ३–भय, ४–मोह, ५–क्षुधा, ६–तृषा, ७–निद्रा, और ८–मलमूत्र की पीड़ा ये ही आठ दोष हैं, इन्हीं के द्वारा पीड़ा होती है। शारीरिक रोग या दोष–जो वात, पित्त और कफ की विषमता के कारण होते हैं वे–ऋषियों द्वारा बतायी हुई आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा शान्त भी किये जा सकते हैं, किन्तु उपर्युक्त आठ दोष अचिकित्स्य हैं, इनकी निवृत्ति तो उपासना द्वारा–ब्रह्मज्ञान से ही संभव है। जैसे आठों मे से इच्छा को ही ले लें। पहिला दोष इच्छा है।

१–इच्छा–तीन प्रकार की होती है। जो सात्त्विकी प्रकृति के पुरुष हैं, उनकी इच्छा भी सात्त्विकी होती है, जैसे देव पूजन, भगवद्दर्शन, संसार से विमुक्त होने की इच्छा, आत्मबोध प्राप्त करने की इच्छा, जन्म-मरण के चक्कर से छूटकर मोक्ष कैसे मिले। जो लोग राजसी प्रकृति के होते हैं, उनकी इच्छा भी राजसी होती है। जैसे अच्छे-अच्छे राजसी भोगों को भोगने की इच्छा, राजसी ठाठ-बाठ से जीवन बिताने की इच्छा। साथ-ही-साथ कभी-कभी मोक्ष की भी इच्छा उत्पन्न होती है। किन्तु जो तामसी प्रकृति के पुरुष हैं, उन्हें मोक्ष की इच्छा नहीं होती।

केवल विषयों की ही इच्छा उन्हे रहती है। निद्रा, आलस्य और प्रमाद की ही उनकी इच्छा सदा बनी रहती है। इच्छा जीव मात्र को होती है इसी प्रकार द्वेष भी दोष है।

२-द्वेष-भी तीन ही प्रकार का होता है। सात्विक प्रकृति के पुरुष भी द्वेष करते हैं, किन्तु उनका द्वेष बुरे कार्यों से, प्रमाद आलस्य से तथा ससारी विषया स होता है। राजस लोग नरकों से यमराज से तथा दडादि से द्वेष करते हैं और तामस पुरुषों का द्वेष शुभकर्मों से, शुभकर्म करने वाले सत महात्माओं से तथा अपने बन्धु बन्धवों से होता है। जीव मात्र कोई भी द्वेष से बचा नहीं।

३-भय-भय भी तीन ही प्रकार का होता है। सत्त्व प्रकृति के पुरुष अधर्म से भयभीत रहते हैं, हमसे कोई धर्म विरुद्ध कार्य न होने पावे। प्रमादादि दुष्कर्मों से भी डरते रहते हैं कि कभी असावधानी स भी हमसे दुष्कर्म न बन जायँ। जो राजसी प्रकृति के पुरुष हैं वे नरकों से, दडधर यमराज से भयभीत रहते हैं और तामसी प्रकृति के पुरुष याचकों से, राजकर्मचारियों, अधिकारियों से, चोर तथा दुष्ट पुरुषों से और राजा से भयभीत बने रहते हैं। भय प्राय: प्रत्येक जीव को थोड़ा बहुत लगा ही रहता है। भय के बिना कोई बचा ही नहीं रह सकता। इसी प्रकार मोह की भी बात है।

४-मोह-मोह भी तीन प्रकार का होता है। जो सात्विकी प्रकृति के पुरुष हैं उन्हे तो इस बात का मोह है कि शुद्ध बुद्ध आत्मा में अज्ञान का प्रवेश कैसे हो गया ? जो राजसी प्रकृति के पुरुष हैं, उनका शास्त्र से मोह, विद्या में मोह तथा आत्मा क अज्ञान मे मोह और जो तामसी प्रकृति के पुरुष हैं उन्हे देह मे

मोह, गेह में मोह, देह गेह के सम्बन्धियों में मोह, विषयों में अज्ञानजन्य मोह, मोह जीव मात्र को होता है।

५–क्षुधा भूख तो सभी को लगती है चाहें सात्त्विक हो, राजस अथवा तामस। भूख की पीडा सभी को दुःख देती है। और व्याधियाँ हटायी जा सकती हैं, किन्तु क्षुधा बहुत ही कठिन रोग है। स्त्री, विविधरत्न, वस्त्र, आभूषण, भूखे आदमी को कुछ भी अच्छे नहीं लगते। जैसे कूप, तालाब, के जल को सूर्य की किरणें सोख लेती हैं ऐसे ही जठराग्नि अन्न न मिलने पर शरीरस्थ सभी धातुओं को सोख लेती हैं। भूखा आदमी कौन सा पाप नहीं कर सकता। अन्न न मिलने पर समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं।

६–तृषा–इसी प्रकार तृषा या पिपासा भी दुःखद दोष है। प्राणों के व्यापार से जब कंठ सूख जाता है तब प्यास लगती है। प्यास मे पेय पदार्थ न मिले तो प्राणी मात्र को असह्य पीडा होती है।

७–निद्रा–निद्रा भी सभी जीवों के लिये आवश्यक है। निद्रा न आने पर या सोने का अवसर प्राप्त न होने पर सभी को दुःख होता है।

८–मलमूत्रादि की पीडा—चाहें सात्त्विक प्रकृति का हो राजस या तामस मलमूत्र उत्सर्ग करने की आवश्यकता सभी को होती है। इसके उत्सर्ग का अवसर न आने पर सभी को कष्ट होता है।

ये जैव धर्म हैं। ये दोषाष्टक जीव मात्र को होते हैं। ये अपरिहार्य हैं, अचिकित्स्य हैं, इनकी निवृत्ति आत्मज्ञान के बिना सभव नहीं। ये दोष जीवों में ही हैं। परमात्मा इन दोषों से सर्वथा निर्मुक्त है। अतः इन दोषों की निवृत्ति के हेतु और परमानन्द

की प्राप्ति के निमित्त जीवात्मा को ही परमात्मा की उपासना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्मवेत्ताओं की एक सभा में इसी बात पर विमर्श हुआ कि उपासना किसकी करनी चाहिये। एक ऋषि ने प्रश्न किया—"वेद का वचन है, आत्मा ही उपासना करने योग्य है। तो यह आत्मा उपास्य है" ऐसा कहकर हम जिसकी उपासना करते हैं वह आत्मा कौन है? यह एक बात हुई। दूसरी बात पुरुष जिसके द्वारा रूपों को देखता है, जिसके द्वारा शब्दों को श्रवण करता है, जिसके द्वारा सुगन्ध दुर्गन्धों को सूँघता है, जिसके द्वारा वाणी से वाक्यों को सुस्पष्ट बोलता है, वार्तालाप करता है, जिसके द्वारा खट्टे मीठे, चरपरे आदि पदार्थों को यह स्वादिष्ट है, यह स्वाद रहित है, अस्वादु है, इन बातों की पृथक् पृथक् जानकारी करता है वह आत्मा कौन है?"

इस पर एक ऋषि ने कहा—"ये सब बातें हृदय से उठती हैं।"

दूसरे ने कहा—"नहीं, मन से उठती हैं। मन ही बन्धन तथा मोक्ष का कारण है।"

तीसरे ने कहा—"देखो, नीर, पय, जल, पानीय शब्दों का ही भेद है, वास्तव में वस्तु एक है। इसी प्रकार यह जिसे हृदय कहते हैं, वही मन भी है। इसी का नाम बुद्धि भी है, जिससे सम्यक् ज्ञान शक्ति प्राप्त होती है। ये सब आत्मा से ही होते हैं। किसी को जो आज्ञा दी जाती है, वह भी आत्मा की ही शक्ति है। अधिक क्या कहे, विज्ञान की शक्ति, प्रज्ञान—तत्क्षण जानने की शक्ति, मेधा शक्ति, देखने की दृष्टि शक्ति, धृति—धैर्य धारण की शक्ति, मति-बौद्धिक शक्ति, मनीषा-मनन करने की शक्ति, जूति—वेग के साथ क्रिया करने की शक्ति, रोगादि निवृत्त दुःख

निवारण शक्ति, स्मृति–स्मरणशक्ति–, संकल्प शक्ति, क्रतु–नाना प्रकार के मनोरथों को करने की शक्ति– असु–प्राण शक्ति– काम–विविध भाँति की कामनाओं की शक्ति–वश–मैथुनादि करने की अभिलाषा इनके अतिरिक्त और भी जो-जो क्रियायें है ये सब-की-सब प्रज्ञान स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के ही नाम धेय हैं। अर्थात् जितने भी ये नाम हैं सब हृदयस्थ आत्मा के ही नाम है। परमात्मा इन अन्तःकरण की वृत्तियों से भिन्न हैं। चैतन्यांश जीवात्मा के ही सज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, सकल्प, क्रतु, असु, काम और वश ये नाम हैं। उपाधि विनिर्मुक्त परब्रह्म परमात्मा जो परमोपास्य हैं वे इस जीवात्मा से पृथक् हैं।"

एक ऋषि ने पूछा—"वह परमात्मा क्या करता है ?"

दूसरे ने कहा—"उसमें करना कराना कुछ बनता नहीं। वह तो सब के साक्षी रूप से स्थित है। उसी की सत्ता द्वारा समस्त कार्य हो रहे हैं। जैसे भवन मे दीपक जल रहा है, उसके प्रकाश में पुण्य करो, पाप करो, दीपक सब का साक्षी है, वह पुण्य पाप से परे है, किन्तु हो रहा है सब उसी के साक्षित्व में। सर्वव्यापी होने से वह सब मे है और सब उसी की सत्ता से सत्तावान् हैं तथा सभी नाम भी उसी के हैं। वह प्रज्ञान रूप आत्मा ही ब्रह्म है। इन्द्र, प्रजापति, समस्त देव, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल तथा तेज सब इसी के नाम हैं। यही क्षुद्र, मिश्रित बीज रूप से समस्त प्राणियो के रूप मे है। इनसे भिन्न दूसरे अंडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज, घोडा, गाय, हाथी, मनुष्य तथा और भी जो कुछ है, ये सम्पूर्ण जगत् परों वाले आकाश में उडने वाले, भूमि पर चलने वाले जंगम, एक ही स्थान में जमे रहने वाले स्थावर, समस्त प्राणियों का समुदाय सब उन प्रज्ञानेत्र-

प्रज्ञान स्वरूप परब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं। अन्तर्यामी रूप से वे सब में व्याप्त हैं, सब उन्हीं में अवस्थित हैं। इन सब की प्रतिष्ठा का आधार प्रज्ञान ब्रह्म ही है।"

दूसरे ऋषि ने कहा—"जब तक इस जीवात्मा का देहादि में आत्मभाव है, तब तक वह अज्ञान में फँसा जीव है। जब उपासना द्वारा समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त सबके साक्षी सर्वगत परब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान कर लेता है, वह वामदेव ऋषि के सदृश अमर हो जाता है। जिन वामदेव ऋषि को गर्भ में ही ज्ञान हो गया था, वे इस लोक से ऊर्ध्वगति को प्राप्त करके उस दिव्य स्वर्ग रूप परमधाम को प्राप्त होकर इस प्रज्ञान स्वरूप ब्रह्म के सहित, समस्त, दिव्य भोगों को प्राप्त करके अमर हो गये।"

सूतजी कहते हैं "मुनियो! इस प्रकार यह ऐतरय उपनिषद् समाप्त हो गयी। आगे मैं छान्दोग्य उपनिषद् के अर्थ को आपसे कहूँगा। जिसमें परब्रह्म के विषय में निरूपण किया गया है। अब यह ऋग्वेदीय ऐतरेय उपनिषद् तृतीय अध्याय और साथ ही यह उपनिषद् भी पूरी हो गयी।"

छप्पय

अंडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज जीव सकल जे।
अश्व, गाय, गज पुरुष जगत में अचर सचर जे॥
थावर जंगम प्राणि सबहिं प्रज्ञान रूप हैं।
ब्रह्म प्रतिष्ठित निखिल सबनि साक्षी स्वरूप हैं॥
वामदेव ऋषि ज्ञान तैं, तजि लोकहिं स्वर्गहिं गये।
दिव्य भोग पाये सकल, नित्य अमर ते बनि गये॥

इति ऋग्वेदीय ऐतरय उपनिषद् का तृतीय अध्याय समाप्त

ऐतरेय उपनिषद् सम्पूर्ण।

शांति पाठ

प्रणव ! वाक मम होहिं प्रतिष्ठित मन के भीतर।
मन मेरो ह्वै जाय प्रतिष्ठित वाणी अन्दर॥
परमेश्वर ! मम हेतु प्रकट तुम हू ह्वै जाओ।
मन वानी ! मम हेतु ज्ञान वेदनि को लाओ॥
सुने वेद मम तजहिं नहिं, पढ़िवे निशि दिन सम करूँ।
श्रेष्ठ वचन मुखतै कहूँ,, सत्य सदा भाषन करूँ॥

छान्दोग्य-उपनिषद्-ओंकार महिमा

[९२]

शान्ति पाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणचक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्व-निराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥❀

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

छप्पय

मेरे जितने अङ्ग वाक अरु प्रान श्रोत जो ।
इन्द्रिय सबरी कर्म ज्ञानमय बल बीरज सो ॥
ब्रह्म उपनिषद् सर्व हमें सबई आ जावें ।
हम नहिं छोड़ें ब्रह्म ब्रह्म हमकूँ अपनावें ॥
कहे उपनिषद् धर्म जे, ते सब मो में नित रहें ।
भौतिक दैविक आतमिक, शान्ति शान्ति के हित कहें ॥

❀ हे प्रभो ! मेरे अंग, प्राण, नेत्र, श्रोत, सब इन्द्रियाँ और बल परिपुष्ट हों । जो यह उपनिषद् प्रतिपादित ब्रह्म है, मैं उस ब्रह्म को अस्वीकार न करूँ । तथा वह ब्रह्म भी मुझको अस्वीकार न करे । ब्रह्म के साथ मेरा सम्बन्ध सर्वदा बना रहे । मेरे साथ उस ब्रह्म का भी अटूट

समस्त वेद शास्त्रों में ओंकार की सबसे अधिक महिमा गायी गयी है। ऋक् यजु और साम इन तीनों को वेदत्रयी कहते हैं, अथर्ववेद इनके ही अन्तर्गत है। ऋक् शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा देवताओं की स्तुति की जाय (ऋच्यन्ते-स्तूयन्ते देवा अनया इति=ऋक्) जहाँ अर्थवश द्वारा पादव्यवस्थिति हो। अर्थात् जिसके अक्षर, पाद और परिसमाप्ति एक नियत संख्या के अनुसार होती हो। जैसे अनुष्टुप छन्द है। इसमें इतने अक्षर होंगे, इतने पाद होंगे। अर्थात् जिसकी ऋचायें छन्दोबद्ध हों, वह ऋक्वेद है। दूसरा यजुर्वेद है। यजु शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा यजन पूजन किया जाय (इज्यतेऽनेन इति=यजुः) ऋक्वेद और सामवेद से जो अवशिष्ट ऋचायें हैं वे यजुर्वेद की ऋचायें हैं। इनमें अक्षर आदि की कोई नियत संज्ञा या क्रम न हो, गद्य-पद्य सभी का समावेश हो जाता हो। ऋग्वेद की ऋचाओं में छन्दोबद्ध नियम क्रम के अनुसार हुआ करती हैं, उन ऋक्वेद के छन्दोबद्ध मन्त्रों में जो गीत प्रधान हैं—जो एक नियत ताल स्वर में गाये जा सकते हों उनकी 'साम' संज्ञा है। साम मंत्रों के गान द्वारा विभिन्न देवताओं की गाकर स्तुति की जाती है। यह जो छान्दोग्य उपनिषद् है यह सामवेदीय ही उपनिषद् है। सामवेद के ब्राह्मण भाग में एक तलवकार ब्राह्मण है। इसके छान्दोग्य ब्राह्मण में दश अध्याय हैं। उनमें से पहिले और दूसरे अध्याय को छोड़कर जो शेष आठ अध्याय रह जाते हैं, उन्हीं का नाम छान्दोग्य उप

सम्बन्ध हो। उपनिषद् प्रतिपादित जो धर्म हैं, उस परमात्मा मे निरत वे सब मुझमे भी हो। वे सब मुझमे भी हो त्रिविध तापो की निवृत्ति हो। ॐ शान्तिः! शान्ति.!! शान्ति.!!!

निषद् है। इसका शब्दार्थ है जो लोग छन्दों का गान करते हैं, उनका जो आम्नाय है, धर्म है वही छान्दोग्य है (छन्दोगानां धर्मः अम्नायो वा इति=छान्दोग्य) यह उपनिषद् बृहदारण्यक को छोड़कर सबसे बड़ी उपनिषद् है। इसमें जैसा कि अन्य सभी उपनिषदों मे तत्त्वज्ञान का ही वर्णन होता है, इसमे कर्मकांड तथा उपासना का भी वर्णन आता है। इसमे बडी सुन्दर-सुन्दर शिक्षाप्रद आख्यायिकायें भी है, जिनका वर्णन यथा स्थान किया ही जायगा। इसके आठ अध्याय खण्डों में विभक्त हैं, जैसे प्रथम अध्याय के तेरह खण्ड हैं। द्वितीय अध्याय के २४, तृतीय अध्याय के १९, चतुर्थ के १७, पचम के २४, षष्ठ के १६, सप्तम के २६, और अष्टम के १५ इनमे से प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड मे सर्वप्रथम ओंकार की ही महिमा गायी गयी है। पीछे जो हम केन उपनिषद् का अर्थ कह चुके है, वह भी सामवेदीय तलवकार शाखा की ही है। दोनों का शान्ति पाठ भी एक ही है। अतः इस शान्ति पाठ का भावार्थ तो हम केन उपनिषद् के प्रसंग मे कर ही चुके हैं, अतः अब इसकी कथा ओंकार की महिमा से ही आरंभ करते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! अब मैं छान्दोग्य उपनिषद् के भावार्थ को आप से कहूँगा। मुझमें न तो साम के मन्त्रो के गायन की सामर्थ्य ही है, न इसमे मेरा अधिकार ही है, मैं तो केवल आपको इसके भावो को ही सुनाऊँगा। ओंकार ही सर्व-श्रेष्ठ उपास्य है, अतः ॐ रूप यह अक्षर उद्गीथ है।"

शौनकजी ने पूछा—"उद्गीथ क्या?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सब जानते हैं। नित्य ही यज्ञ करते-कराते रहते हैं। यज्ञो में ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु ये चार ऋत्विक् प्रधान होते हैं। इनमें जो सामवेद

उच्च स्वर से गान करता है, वह उद्गाता कहलाता है (उद्गायति य सामवेद स उद्गाता)। वह उद्गाता आरम्भ में जिस प्रणव का उच्चस्वर से गान करे उसी का नाम उद्गीथ है (उत् उच्चगीयत उत+गे उद्गीथः) सामवेद की ध्वनि का नाम उद्गीथ है। उपनिषद्कार कहते हैं यह जो उद्गीथ-शब्द-वाच्य प्रणव है इसी प्रणव की परब्रह्म रूप से उपासना करनी चाहिये।'

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! प्रणव तो शब्द है, निराकार है, अमूर्त है, इसकी उपासना कैसे की जा सकती है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! परमात्मा तो अमूर्त ही हैं। मंत्र ही उन अमूर्त की मूर्ति है। अतः प्रणव ही उपास्य है। यज्ञों में जो भी उच्चारण करते हैं, सर्वप्रथम प्रणव का ही उच्चारण करते हैं। उद्गाता ॐ का ही सर्वप्रथम ऊँचे स्वर में गायन किया करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"उस ओंकार का भाव क्या है? उसकी व्याख्या कृपा करके करें?"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, भगवन्! अब आगे ॐ की ही व्याख्या की जाती है। जितने संसार में स्थावर-जंगम, चर अचर जीव हैं, उन सब का आधार क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"समस्त चराचर जीवों का रस कहो-आधार कहो, पृथ्वी है।"

सूतजी ने कहा—"सत्य कहते हैं, भगवन्! पृथ्वी गन्धवती होती है, सब पृथ्वी के रसों को ही सूँघकर सुगन्धि दुर्गन्ध का ज्ञान करते हैं। समस्त चराचर जीव पृथ्वी के ही सहारे रहते हैं। सब का आधार या रस (रसतीति+रसः अथवा रस्यते इति=रसः) रस धातु आस्वादन अर्थ में प्रयुक्त होती है। सभी पृथ्वी

से उत्पन्न रसों का आस्वादन करते हैं। अतः चराचर जीवों का-समस्त प्राणियों का-सभी भूतों का पृथ्वी ही रस है। अब पृथ्वी का रस क्या है ?"

शौनकजी ने कहा—"पृथ्वी जल से उत्पन्न हुई है, अतः पृथ्वी का आधार या रस अथवा कारण जल है।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आपका कथन यथार्थ है, पहिले जल-ही-जल था, तब जल से पृथ्वी हुई। पृथ्वी का आधार कारण या रस जल है। अब जल का आधार क्या है ?"

शौनकजी ने कहा—"पृथ्वी पर जल के द्वारा तो औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। औषधियों का आधार जल ही है। जल न मिलें तो सभी औषधियाँ सूख जायँ। औषधि-अन्न-खाने को न मिले, तो सभी प्राणी मर जायँ। अतः अपधियों की उत्पत्ति, स्थिति जल के ही अधीन है, अतः जल का रस सभी औषधियाँ ही हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन ! यथार्थ बात यही है। पृथ्वी पर जल के ही सहारे औषधियाँ होती हैं, अब औषधियों का रस-आधार या परिणाम क्या है ?"

शौनकजी ने कहा—"औषधि खाने से रस बनता है, रस से अन्य ६ धातुएँ बनती हैं, उसी से पुरुष की उत्पत्ति स्थिति होती है, अन्त में उसी मे लय भी हो जाता है, अतः औषधि का रस पुरुष है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आप सत्य कह रहे हैं। प्राण अन्न के ही सहारे पर रहते हैं। अन्न न मिले तो पुरुष मर जायँ। अब बताइये पुरुष का सार क्या है ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! पुरुष का रस तो वाणी है। यदि सुन्दर वाणी न हुई तो पुरुष नीरस ही है।

वाणी से ही सुकुल दुष्कुल का बोध होता है। कोयल कौआ एक डाल पर बैठे रहते हैं। दोनों की तब तक पहिचान नहीं होती जब तक बोलते नहीं। कोयल की वाणी रसीली होती है, कौए की कर्कश। अतः पुरुष का रस वाक् है, वाणी है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यथार्थ कह रहे हैं। इन्द्रियाँ तो दश हैं, किन्तु वाणी को सबसे अधिक प्रधानता दी जाती है, पुरुष के समस्त अवयवों में वाणी ही सब से अधिक सार वस्तु है। अब वाणी का रस क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"वाणी का रस तो वेद है। वेद के बिना वाणी व्यर्थ है। वेदों में भी सर्वप्रथम वेद ऋक्वेद है। क्योंकि उसमें अक्षर पाद समाप्ति की नियत संख्या रहती है। उच्चारण करने में रस आता है।"

सूतजी ने कहा—"अच्छा, ऋक्वेद से भी रसीला वेद कौन है?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह भी कोई पूछने की बात है। रसीला वेद तो सामवेद ही है, जिसके गायन को सुनकर रोम रोम खिल उठते हैं। भगवान् का स्वरूप ही है, भगवान् ने कहा भी है (वेदानां सामवेदोऽस्मि) मैं वेदों में सामवेद हूँ।"

सूतजी ने पूछा—"सामवेद का भी रस—उसका भी सार क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"सब का सार तो प्रणव है। प्रणव से ही समस्त वेदों की उत्पत्ति हुई है। इसीलिये सामवेद के उद्गाता इस प्रणव रूप उद्गीथ का सर्वप्रथम गायन करते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने स्वयं ही प्रणव को सब का सार रसरूप सिद्ध कर दिया। यह प्रणव सभी रसों से परमोत्कृष्ट

रस है। यह अष्टम रस उद्गीथ ही परमात्मा का प्रतीक है, उसका वाचक है।"

शौनकजी ने पूछा—"ऋक् कौन-कौन-सा है ? कौन-कौन सा साम है और कौन-कौन-सा उद्गीथ है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! वाणी ही ऋक् है, प्राण साम है और यह ॐ ही गद्गीथ है।"

शौनकजी ने पूछा—"वाणी और प्राण तो परस्पर मिले हुए हैं। प्राण के बिना वाणी संभव नहीं। इसी प्रकार ऋक् की ही ऋचाओं मे से गायन करने वाली ऋचायें साम कहलाती हैं। उनसे गाया हुआ प्रणव है। इनको पृथक्-पृथक् कहने का क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! जैसे पुरुष की स्त्री पूरक है, स्त्री का पुरुष पूरक है, उसी प्रकार ऋक् का साम और वाणी का प्राण ये परस्पर मे एक दूसरे के पूरक हैं। जब ये दो मिथुन होते हैं, दोनों मिल जाते हैं, तो परस्पर मे एक दूसरे की कामना की पूर्ति करते हैं। दोनों के सयोग से सुख की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार वाक् और प्राण का जोडा परस्पर में मिथुन होकर-मिल-कर ओंकार मे प्रयुक्त किया जाता है, तब वह प्रयुक्त करने वाला उपासक प्रणव की उपासना करने पर कृतकृत्य हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। यह ओंकार सम्पूर्ण कामनाओं का पूरक तो है ही अनुज्ञा सूचक भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! प्रणव अनुज्ञा सूचक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे लोक भाषा में कोई पूछे— आप जल पीयेंगे ? तो जल पीने की इच्छा वाला स्वीकृति मे 'हाँ' कह देगा। ऐसे ही वैदिक भाषा में कोई किसी से अनुमति माँगे तो

देने वाला 'ओम्' कह कर ही अनुमति देता है। शिष्य पूछता है—"मैं वन से समिधा ले आऊँ ?" तो आचार्य कहते हैं—'ओम्' अर्थात् ले आओ। आचार्य शिष्य से पूछते हैं—"तुम भिक्षा कर लाये ?" शिष्य कहता है—"ओम्" अर्थात् हाँ मैं भिक्षा कर लाया। इस प्रकार किसी से कुछ पूछने पर वह जो अनुमति देता है, स्वीकृति प्रदान करता है वही अनुज्ञा है। यह अनुज्ञा ही समृद्धि है, बड़प्पन है, शिष्टों का आचार है। जो इस प्रकार प्रणव रूप उद्गीथ इस अक्षर की उपासना करता है, उसकी समस्त कामनायें समृद्ध होती है, स्वीकृत होती हैं। ओंकार निश्चय ही समस्त इच्छाओं की समृद्धि में हेतु है। यह ओंकार माङ्गलिक भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"माङ्गलिक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"ऋक्, यजु और साम इन तीनों को त्रयी विद्या कहते हैं। आप चाहे ऋक्वेद का पाठ करें, चाहें यजुर्वेद का अथवा सामवेद का सभी का पाठ आप सर्वप्रथम ओंकार का उच्चारण करके ही आरम्भ करेंगे। ऐसा प्राचीन सदाचार है क्योंकि यह उद्गीथ विद्या-ओंकार, मंगलमय है। वेद पाठ में ही नहीं इन तीनों वेदों में जो वर्णित यज्ञादि कर्म हैं जैसे सोमयाग आदि उनमें भी सर्वप्रथम ओंकार का ही उच्चारण होता है। जो ऋग्वेद के मन्त्रों का उच्चारण -आश्रावण- करता है, उसे अध्वर्यु कहते हैं। जो यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण-शंसन- करता है, उसे होता कहते हैं और जो सामवेद का गायन-उद्गीथ-करता है, उसे उद्गाता कहते हैं। तो चाहें अध्वर्यु ऋक्वेद का आश्रवण करें, या होता यजुर्वेद का शंसन करे अथवा उद्गाता सामवेद का उद्गीथ-गायन करे सभी सर्वप्रथम ओंकार का उच्चारण करके ही वेद मन्त्रों का पाठ करते हैं। यह प्रणव जो परमात्मा का

वाचक अक्षर है, इसी की पूजा के ही निमित्त -इसी की महिमा के निमित्त तथा इसी के रस द्वारा समस्त कर्म किये जाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! प्रणव की अपचिति--पूजा--के निमित्त सर्ववैदिक कर्म कैसे किये जाते है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! समस्त वैदिक तान्त्रिक पौराणिक कर्मों द्वारा परमात्मा की ही तो उपासना पूजा होती है और यह प्रणव परमात्मा का वाचक है। वाचक और वाच्य मे कोई भेद नहीं होता, अतः परमात्मा की पूजा ही प्रणव की पूजा है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस प्रणव की महिमा से सब कार्य कैसे सम्पन्न होते हैं?"

सूतजी ने कहा—"प्राणो द्वारा ही यजमान और ऋत्विज कर्म करते हैं, इनमे प्राण शक्ति न हो, तो यज्ञ के कार्य सम्पन्न कैसे हों। वाक् प्राण ही ऋक् और साम है। अतः ऋत्विज और यजमान जो कर्म द्वारा यज्ञ की महिमा बढ़ाते हैं, वह प्रणव की ही महिमा तो हैं--वह महत्त्व उद्गीथ रूप प्रणव का ही तो है।"

शौनकजी ने कहा—"यज्ञ मे धान्य, तिल, जौ, आदि जो रसों द्वारा आहुति होती है, वह रस प्रणव कैसे हैं?"

सूतजी ने कहा—"व्रीहि यवादि हविष्य पदार्थ साक्षात् न सही तो परम्परया तो प्रणव के कारण हैं ही। जैसे होमादि वेदपाठादि कर्मों मे सस्वर प्रणव का उच्चारण करो, तो वे कर्म आदित्य को प्राप्त होते हैं, क्योंकि आदित्य समस्त कर्मों के साक्षी हैं। इसीलिये सभी शुभ कर्मों के अन्त मे आदित्य से यह प्रार्थना की जाती है—"हे ब्रह्मन! विवस्वान्! आप समस्त जगत् को प्रकाश प्रदान करने वाले हैं। आप जगत् के सविता हो और समस्त कर्मों के साक्षी हो।" तो वे शुभ कर्म सविता--आदित्य--को प्राप्त होंगे। उससे वृष्टि होगी, वृष्टि से जौ, तिल, चावल आदि अन्नों की

की--उत्पत्ति होगी। वे रस रूप अन्न यज्ञादि कर्मों में लगाये जायँगे, अतः रस की उत्पत्ति में भी उद्गीथ रूप प्रणव ही कारण है। अतः यज्ञों में प्रणव की ही पूजा होती है, प्रणव की महिमा बढायी जाती है और प्रणव रूप रस द्वारा ही हवन कार्य सम्पन्न होता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो ॐ की बड़ी अद्भुत महिमा बतायी। जो प्रणव की इस महिमा को नहीं जानते, फिर भी सब काम वे प्रणव उच्चारण पूर्वक ही करते हैं, तो क्या उनका वह कर्म निष्फल होता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! कल्याण कृत कर्म कभी निष्फल नहीं होता, किन्तु जो ज्ञान पूर्वक किया जाय, तो वह अधिक प्रबलतर होता है जैसे बहुत से मणिमाणिक्यों को लेकर जौहरी बेचने जा रहे हों, मार्ग में उन्हे दस्यु लूट लें और उन्हे हाट में बेच आवें, तो उन्हे उनका मूल्य न्यून मिलेगा, क्योंकि वे उन माणिक्यो के गुणो से परिचित नहीं थे। यदि उन्हें जौहरी लोग बेचते तो वे उसका अत्यधिक मूल्य प्राप्त करते, क्योंकि वे उनके गुणों से उनकी महत्ता से परिचित थे। इसी प्रकार जो इस प्रणव की महत्ता को जानकर प्रणव उच्चारण पूर्वक कर्म करता है, और जो इसको महत्ता को न जानकर भी परम्परया प्रणव उच्चारण पूर्वक कर्म करता है, तो फल तो दोनों को ही प्राप्त होता है, किन्तु विद्या और अविद्या दोनो के फल में भेद हो जाता है। जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योग से युक्त होकर किया जाता है उसका प्रतिफल प्रबलतर होता है, जो बिना जाने किया जाता है, उसका उससे कुछ न्यून प्रतिफल होता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! यही उद्गीथ संज्ञक प्रकृत अक्षर ॐ प्रणव की व्याख्या है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! प्रणव की उपासना कैसे करनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"प्रणव की उपासना प्राण से करनी चाहिये। प्राणोपासना ही सर्वोत्कृष्ट उपासना है।"

शौनकजी ने कहा—"तब, सूतजी ! हमे अब प्राणोपासना के ही सम्बन्ध मे बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड मे प्राणोपासना की उत्कृष्टता का ही वर्णन है। अब मैं आप से उसी प्रकरण को कहूँगा। आशा है, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

ओंकार उद्गीथ करें उद्गाथा गायन।
महिमा ताकी कहूँ चराचर रस पृथिवी इन॥
भू को रस जल तासु ओषधी ताको रस है।
ओषधि रस नर देह तासु वानी ही रस है॥
वानी को रस ऋचा है, साम तासु को रस सरस।
साम परम रस प्रणव है, तिहि आगे सब रस विरस॥

(२)

ऋचा, साम अरु प्रणव, प्राण वाणी मिलि जावें।
नारि पुरुष है मिथुन काम ज्यों अति सुख पावें॥
प्राण वाक् करि मिथुन उपासन करें प्रणव की।
होवैं ते कृतकृत्य कामना पूरी तिनिकी॥
ओम् अनुज्ञा समृधि हित, मङ्गलमय मख करम में।
प्रणवपूर्व करमनि करें, धन्य होहिं ते धरम में॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय मे
प्रथम खण्ड समाप्त।

अध्यात्मरूप रूप से प्राणोपासना की उत्कृष्टता

[९३]

देवासुरा ह वै यत्र सयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥*

(छा० उ० प्र० अ० २ ख० १ मं०)

छप्पय

पूर्वकाल सुर असुर परस्पर समर करत उत।
असुर हरावन सुरनि लगायो उद्गीथहिं चित॥
प्राण प्राणतैं प्रणव जप्यो असुरनि करि दूषित।
सो सुगन्ध दुरगन्ध प्राणतैं दोउनि सूँघत॥
पुनि बानीतैं सो जप्यो, असुरनि सो दूषित करी।
तातैं बानी सत असत, दोऊ बोलति अघभरी॥

कोई भी कार्य केवल इन्द्रियो द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक उसके लिये प्राणो का पण लगाकर चेष्टा न की जाय। शरीर में एक प्राण ही परोपकारी—सबकी सुधि लेने वाले हैं, अतः शरीर का आधार प्राण ही हैं। दो प्रकार के मनुष्य होते

---

* देवता और असुर पहिले दोनो परस्पर मे युद्ध करते थे। उस समय देवताओ ने असुरो को हराने के निमित्त उद्गीथ अर्थात् प्रणव का विजय के उद्देश्य से अनुष्ठान किया।

हैं। एक तो वे जिनका अपना कोई निजी स्वार्थ हो ही नहीं, जो सदा सर्वदा परोपकार में ही संलग्न रहते हो। ऐसे लोग सर्वथा निर्दोष होते हैं। क्योंकि दोष तो स्वार्थ से ही आते हैं। दूसरे वे लोग होते हैं, जो अपने स्वार्थ को प्रधान मानते हैं। अपना स्वार्थ पहिले सिद्ध हो जाय, तब दूसरो की बात सोची जाय। ऐसे लोगों से कुछ किसी का भले ही उपकार होता हो, सम्पूर्ण उपकार नहीं हो सकता। सम्पूर्ण उपकार तो उसी के द्वारा होगा जिसका अपना निज का कोई स्वार्थ ही न हो, जिसका प्रत्येक कार्य परमार्थ के ही निमित्त हो।

ब्रह्म प्राप्ति, बिना विद्या के बिना भक्त के तथा बिना चित्त को एकाग्र किये हो नहीं सकती। संसार मे बिखरी हुई वृत्तियों को एकाग्र करके उन्हें संसार से हटाकर परमात्मा की ओर लगाया जाय, तभी ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसके तीन ही उपाय हैं-साधन तथा योग है। एक तो अखंड ब्रह्मचर्य को धारण करना। ब्रह्म प्राप्ति का एक यह भी उपाय है।(यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यं चरन्ति) दूसरा मन को एकाग्र करने से और तीसरा उपाय है प्राणों की उपासना से प्राणायाम द्वारा मन की स्थिरता करने से।

इनमें ब्रह्मचर्य में स्खलन होने का भय बना रहता है। मन स्वभाव से ही चञ्चल है, पता नहीं कब किधर भटक जाय। एक प्राण ही ऐसे निर्दोष हैं, कि यथाविधि प्राणायाम करने से-प्राणोपासना से-मन तथा ब्रह्मचर्य के साथ प्राण स्थिर हो जाते हैं। समाधि सुख की अनुभूति होने लगती है, क्योंकि शरीर में प्राणों से बढकर कोई भी उपकारी नहीं। समस्त इन्द्रियाँ अपना ही उपकार करती हैं। उन्हे दूसरों का विशेष ध्यान नहीं। जैसे कोई सुगन्धित पदार्थ है, नासिका को उसे दो तो वह उसकी सुगन्धि का स्वयं ही आस्वादन करेगी। उससे न तो कान ही

तृप्त होंगे, न वाणी, तथा अन्य इन्द्रियाँ ही। नेत्रों को अंजन दे दो, तो उसे लगाकर नेत्र अपनी ही ज्योति बढ़ावेंगे, नाक, कान मुखादि को कुछ न देंगे। कानों को सुखद शब्द सुनाओ तो वे स्वयं तृप्त होंगे, अन्य इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं। कोई सुखद मृदुल, सुकोमल वस्तु स्पर्शेन्द्रिय को दें तो स्पर्श की सुखानुभूति वह स्वयं ही करेगी। किन्तु प्राणों के सम्बन्ध में यह बात नहीं। प्राण का धर्म है भूख-प्यास लगना। भूख-प्यास लगने पर आप प्राण को जो भी रूखा-सूखा, अच्छा-बुरा, खाने-पीने को दोगे, उसी से वह तृप्त हो जायगा, उसे अकेला ही न खायगा। समस्त इन्द्रियों को सम्पूर्ण शरीर को—वह अपना आहार बाँट देगा, स्वयं जा-जाकर सबको तृप्त करेगा, सबको आहार पहुँचावेगा। जिसको जिस रूप में आवश्यकता होगी, उसे उसी रूप में आहार देगा। उसकी इस परोपकारमयी वृत्ति के कारण ही तो सभी उसके अधीन रहते हैं। उसके निकलने पर सभी इन्द्रियाँ निकल जाती हैं। उसके आने पर सभी आकर अपना-अपना कार्य करने लग जाती हैं। अतः शरीर में निर्दोष परोपकारी मुख्यतया प्राण ही हैं। उस प्राण को ही निमित्त बनाकर प्राणों का पण लगाकर उपासना करनी चाहिये।

लोक में भी हम देखते हैं, किसी काम को करने कोई जाते हैं, तो हाथ की पूरी शक्ति लगाते हैं। वाणी से समझाते हैं, नेत्रों से अवलोकन करते हैं, सफल नहीं होते। जब प्राणों का पण लगाकर पूरी शक्ति से जुट जाते हैं, तो ऐसा कौन-सा कार्य है जो प्राणों का पण लगाकर करने से सफल न हो जाय। प्राणपण से किया हुआ कार्य निश्चय ही सफल होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे प्राणोपासना की

उत्कृष्टता के सम्बन्ध में प्रश्न किया था, उसका उत्तर उपनिषद्-कार ने एक बड़ी सुन्दर उपाख्यायिका के रूप में दिया है।"

शौनकजी ने कहा - "सूतजी ! वह कौन-सी उपाख्यायिका है ? कृपा करके आप उसे हमें भी सुनाइये ।"

सूतजी ने कहा—"सुनिये महाराज ! आपको प्राण सम्बन्धी आख्यायिका सुनाता हूँ। भगवान् कश्यप प्रजापति की ही देवता असुर दोनों सन्तानें हैं। दिति की सन्तान तो दैत्य असुर हैं और अदिति का सन्तान देवता हैं। देवता और असुरों मे स्वाभाविक द्वेष होता है। एक बार देवताओं और असुरों मे किसी कारणवश परस्पर युद्ध ठन गया। शारीरिक बल मे असुर लोग देवताओं से कुछ तगड़े पडते हैं। जब देवता असुरो को शारीरिक बल द्वारा जीतने में समर्थ न हुए तब उन्होंने सोचा—हम उपासना द्वारा ऐसी शक्ति पैदा करें, कि जिसके द्वारा इन असुरों को जीत सकें। अब प्रश्न यह उठा कि उपासना करनी किसकी चाहिये ? विज्ञ लोगों ने बताया कि सबसे श्रेष्ठ उपासना उद्गीथ (प्रणव) की है। प्रणव की उपासना करनी चाहिये।

अब प्रश्न यह उठा, कि प्रणव तो निराकार है, उसकी उपासना किसी को प्रतीक बनाकर उसके रूप मे करनी चाहिये। तब उन्होंने सोचा—नासिका मे रहने वाला जो प्राण है,वह सबसे श्रेष्ठ है। कारण कि समस्त चराचर जीवों का आधार है। पृथ्वी के बिना स्थावर जंगम कोई जीव रह नहीं सकता। पृथ्वी गन्धवती है, गंध का ज्ञान नासिका मे रहने वाले प्राण के अतिरिक्त कोई कर नहीं सकता। अतः नासिका मे रहने वाले प्राण के रूप में ही उद्गीथ (प्रणव) की उपासना करनी चाहिये।

यह सोचकर सब ने नासिकास्थ प्राण को ही आधार बनाकर उद्गीथ की उपासना की।

शौनक जी ने पूछा—"नासिका में रहने वाले प्राण के रूप में प्रणव की उपासना कैसे की ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! गंध का ज्ञान कराने वाला घ्राणेन्द्रिय का स्वामी प्राण ही उपास्य है अतः उसी में चित्त स्थिर करके उपांशुरूप में प्रणव का जप करने लगे। जब असुरों ने देखा कि उपासना द्वारा शक्ति प्राप्त करके ये लोग हमको परास्त कर देंगे, तो उन लोगों ने इनकी उपासना में विघ्न डालने का निश्चय कर लिया। नासिका में रहने वाले जिस प्राण के रूप में वे प्रणव (उद्गीथ) की उपासना कर रहे थे उसे पाप से विद्ध कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"घ्राणेन्द्रिय के प्राण को पाप से विद्ध कैसे कर दिया ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! पहिले घ्राणेन्द्रिय केवल गंध का ही ज्ञान कराती थी। पृथ्वी की जो साधारण गंध है पार्थिव गंध। अब असुरों ने क्या किया, कि घ्राणेन्द्रिय के सम्मुख अच्छे-अच्छे अत्यन्त सुगन्धित पदार्थ भी रख दिये और दुर्गन्ध वाले पदार्थ भी रख दिये। घ्राणेन्द्रिय अत्यन्त उत्कट सुगंध वाले पदार्थों को सूँघकर बड़ा प्रसन्न हुआ। फिर उसने सोचा—"देखें इन दूसरे पदार्थों में कैसी गन्ध है ? जब उन्हें सूँघने लगा तो उनमें दुर्गन्ध थी। तब तो नाक भौं सिकोड़ने लगा। अब उसके मन में सामान्य भाव नहीं रहा, राग द्वेष का भाव आ गया। सुगंध में राग दुर्गन्ध में द्वेष जो उपासना का आधार है, उसे राग द्वेष से रहित समदर्शी होना चाहिये। नासिका स्थित प्राण में विषमता आ गयी वह सुगन्ध दुर्गन्ध दोनों का आस्वाद लेने लगा। यही उसका पाप से विद्ध होना है। तभी से घ्राणेन्द्रिय पाप से विद्ध होने के कारण सुगंध दुर्गन्ध दोनों को ही सूँघता है।

वह निर्दोष–समदर्शी–नहीं रहा तो उपासना करने के लिये प्रतीक रूप का अधिकारी नहीं रहा। इसलिये उपासकों को उपासना के समय सुगन्ध दुर्गन्ध की ओर ध्यान न देना चाहिये।"

तब देवताओं ने सोचा—"यह नासिका में रहने वाला प्राण तो पाप से बिँधा हुआ है अब किसी दूसरी इन्द्रिय को प्रतीक बनाना चाहिये। तब तक वाणी सत्य ही भाषण किया करती थी, देवताओं ने सोचा—लाओ वाणी को ही प्रतीक बनाकर प्रणोपासना करें। अतः उन्होंने वाणी के रूप में उद्गीथ की उपासना आरम्भ कर दी। असुरों को तो अब एक अवलम्बन मिल गया। उन्होंने आकर वाणी को भी पाप से विद्ध कर दिया।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! वाणी द्वारा प्रणव की उपासना कैसे की? और फिर असुरों ने उसे पाप विद्ध कैसे कर दिया?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! पहिले तो नासिका में रहने वाले प्राण को प्रतीक बनाकर उन्होंने उपांशु–मानसिक–जप किया। अब वाणी से जोर-जोर से वैखरी वाणी में जप करने लगे। असुरों ने वाणी के सम्मुख सत्य और असत्य दोनों को रख दिया। वाणी चक्कर में फँस गयी। उसे असत्य बोलने का भी चस्का लग गया। यही उसका पाप विद्ध होना है। तभी से वाणी सत्य और असत्य दोनों ही बोलने लगी। उसकी समता नष्ट हो गयी। इसलिये उपासकों को उपासना के समय मौन धारण करना चाहिये। सत्य मिथ्या कैसा भी वचन न बोलना चाहिये। पाप विद्ध होने से देवताओं ने उसे भी उपासना प्रतीक के अनुपयुक्त जानकर दूसरे प्रतीक की खोज आरम्भ कर दी।

तब तक कान केवल सुनने योग्य शब्द को ही श्रवण किया

करते थे। देवताओं ने सोचा—"आकाश निर्लेप है, आकाश का गुण शब्द है, इस शब्द को श्रोत्र इन्द्रिय सुनती है, अतः यह निर्लेप पवित्र है, इसी को प्रतीक बनाकर प्रणव की उपासना करनी चाहिये। असुरों ने आकर उसे भी पाप विद्ध कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्रोत्र को प्रतीक बनाकर उपासना कैसे की, और असुरों ने उसे पाप विद्ध कैसे कर दिया?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! वे निरन्तर कानों द्वारा प्रणव के घोष को ही सुनते रहे। यही श्रोत्र द्वारा उपासना है। असुरों ने कुछ मधुर शब्द कुछ अपशब्द दोनों ही श्रोत्रेन्द्रिय के सम्मुख रख दिये। कान जो अब तक शुद्ध ही शब्द सुनने के आदी थे, वे अपशब्दों को भी सुनने लगे यही उनका पाप से विद्ध होना है, तब से श्रोत्र सुनने योग्य और न सुनने योग्य दोनों ही प्रकार के शब्दों को सुनने लगे। अतः उपासना करने वाले उपासकों को कानों को इस प्रकार बन्द रखना चाहिये, कि अपने इष्ट मन्त्र के अतिरिक्त अन्य कैसा भी शब्द सुनाई न दे।

जब श्रोत्र पाप से बिँध गये, तब देवताओं ने बाहरी इन्द्रियों को छोड़कर भीतरी इन्द्रिय मन के रूप में उद्गीथ–प्रणव–की उपासना की। असुरों ने मन को भी आकर पाप से वेध दिया।"

शौनकजी ने पूछा—'मन के द्वारा प्रणव की उपासना कैसे की और उसे पाप से कैसे वेध दिया?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! पहिले मन शिव संकल्प ही किया करता था। इसलिये देवताओं ने मानसिक जप, मानसिक पूजन, मानसिक ध्यान करना आरम्भ कर दिया, यही मन के द्वारा उद्गीथ की उपासना है। असुरों ने मन के सम्मुख कुछ शुभ संकल्प रख दिये कुछ अशुभ संकल्प भी। मन दोनों में बँट

गया, यही उसका पाप से बिँध जाना है। अतः साधना करते समय साधकों को संकल्प करने योग्य तथा संकल्प न करने योग्य किसी भी प्रकार के संकल्प विकल्प न करने चाहिये, निःसंकल्प होकर उपासना करनी चाहिये। तभी से लोक में मन संकल्प करने योग्य तथा संकल्प न करने योग्य दोनों ही संकल्प विकल्प किया करता है।"

जब देवताओं ने मन को भी पाप से बिँधा हुआ देखा, तब ये मुख में रहने वाले मुख्य प्राण के समीप गये। देवताओं ने सोचा—"यह प्राण सभी का आधार है, सभी अंगों से समान भाव से प्रेम करता है, इसे जो खाने पीने का आहार मिलता है, उसे सभी अंगों को बिना पक्षपात के बाँट देता है। यह समदर्शी, परोपकारी, पक्षपात से शून्य, निरभिमानी है, इसी को आधार मानकर इसी के रूप में उद्गीथ—प्रणव—की उपासना करें।" यह सोचकर वे प्राणपण से प्राणों का संयम करके—प्राणों को रोककर कुम्भक प्राणायाम द्वारा प्रणव की उपासना करने लगे। असुरों ने आकर वहाँ भी अपनी तिकड़म भिड़ाई। मुख्य प्राण को भी पाप विद्ध करना चाहा। किन्तु भगवन्! कोई सुदृढ़ पाषाण को मिट्टी के ढेले से तोड़ने का प्रयास करे, तो मिट्टी के ढेले से सुदृढ़ पाषाण तो टूट नहीं सकता। उलटे उससे टकराकर मिट्टी का ढेला ही फूट जायगा, वहीं चकनाचूर हो जायगा। जिनका व्रत निरन्तर परोपकार करना ही है, जो सदा सर्वदा परोपकार में ही निरत रहते हैं। जिनके मन में किसी के प्रति पक्षपात नहीं, जो समदर्शी हैं उन पर यदि खल आक्रमण करें, तो उन परोपकारी का तो कुछ बिगड़ेगा नहीं, उलटे खल ही नष्ट हो जायेंगे। भगवान् कपिलदेव के ऊपर सगर के साठ सहस्र सुतों ने अस्त्र-शस्त्रों से आक्रमण किया, इससे महर्षि कपिल की तो कुछ हानि हुई नहीं,

उलटे वे सबके सब साठ सहस्र जलकर भस्म हो गये। इसी प्रकार जिस भाँति दुर्भेद्य पाषाण को प्राप्त होकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है-चकनाचूर बन जाता है–उसी प्रकार वह व्यक्ति भी विनष्ट हो जाता है, जो इस प्रकार के परोपकारी पुरुष के प्रति पापाचरण की कामना करता है। जो उसे अपशब्द कहता है, कोसता है, उस पर प्रहार करता है- उसे मारता पीटता है।

असुरों की वहाँ दाल नहीं गली। परोपकारी प्राणों के सम्मुख उनकी एक भी चाल नहीं चली। क्योंकि प्राणों द्वारा उपासना करने वाला उपासक अभेद्य पाषाण के सदृश है। जिस पर प्रहार करने वाला मिट्टी के ढेले के सदृश उससे टकराकर चकनाचूर हो जाता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! और सब इन्द्रियाँ तो असुरों के प्रयत्न से पाप बिद्ध हो गयीं, किन्तु प्राणों के सम्मुख उनकी दाल नहीं गली। इससे सिद्ध हुआ, शरीर में सबसे मुख्य प्राण ही हैं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आपका कहना यथार्थ ही है। प्राण शरीर मे निर्लेप भाव से रहते हैं। प्राण न सुगन्ध जानता है न दुर्गंध, कारण कि पाप से बिद्ध न होने के कारण वह समदर्शी रूप मे रहता है। इसके लिये अपने निमित्त अच्छा बुरा कुछ नहीं। खूब भूख लग रही हो, उस समय चाहें हलुआ, पूडी, मिठाई, खीर, आ जाय अथवा सूखे सत्तू, चना, बासी-कूसी रोटी, प्राण दोनों से ही सन्तुष्ट हो जाता है। फिर यह जो भी कुछ खाता-पीता है, उससे सभी इन्द्रयों मे स्थित अन्य नौऊ प्राणों का पोषण करता है। सभी अंगों को आहार देकर समान भाव से सब का प्रतिपालन करता है।

भूख प्राण का ही धर्म है, अन्नपान प्राणों को ही प्राप्त होता

है। अन्नपान न मिलने से सभी इन्द्रियाँ शरीर को छोड़कर चली जाती हैं। शरीर ज्यों-का-त्यों पडा रहता है, इन्द्रिय गोलक ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। अन्नपान के अभाव में प्राणहीन होने पर सब इन्द्रियाँ उत्क्रमण करती हैं। आहार के बिना शरीर का परित्याग करके चली जाती हैं। उत्क्रमण के समय सभी इन्द्रियों के देव भूखे ही भगते हैं, उनकी भोजन करने की इच्छा बनी ही रहती है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सभी इन्द्रियों को भोजन करने की इच्छा रहती है, इसका प्रमाण क्या है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! प्रमाण तो स्पष्ट ही है, मरते समय मुँह फटा-का-फटा ही रह जाता है। पुरुष मुख फाड़ देता है, इसका अर्थ यही हुआ कि हमें आहार की इच्छा थी, इस शरीर में आहार नहीं मिला तो हम जाते हैं। इसलिये प्राणोपासना ही सर्वश्रेष्ठ है, उसी की उपासना करनी चाहिये। प्राण का एक नाम आङ्गिरस भी है।'

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! प्राण का नाम आङ्गिरस क्यों पड़ा?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अगिरा मुनि ब्रह्माजी के दश पुत्रों में से एक हैं। ये ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए थे। प्राण भी मुख में ही रहता है। (अङ्गति-ब्रह्मणो मुखान्निः सरति इति= अङ्गिरा) अङ्गिरा मुनि का विवाह कर्दम पुत्री श्रद्धा के साथ हुआ था। इसीलिये श्रद्धा के बिना उपासना संभव नहीं। इनके दो पुत्र थे उतथ्य और बृहस्पति। इन अङ्गिरा ऋषि ने प्राण को ही प्रतीक बनाकर प्रणव की-ओंकार की-उपासना की थी। अतः इस प्राणोपासना को अङ्गिरा द्वारा की जाने के कारण 'आङ्गिरस' कहते हैं। प्राण भी मुख में रहते हैं और अङ्गिरा भी ब्रह्माजी के

मुख से हुए हैं। यह प्राण भी समस्त अङ्गों का रस-आधार-अथवा पोषक है, इसलिये इस प्राण का नाम आङ्गिरस है। इस प्राण का दूसरा नाम बृहस्पति भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण का बृहस्पति नाम क्यों पड़ा ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! सदाचार ऐसा है जिस मार्ग से हमारे पिता, पितामह तथा प्रपितामह आदि गये हों, उसी मार्ग का हमें अनुसरण करना चाहिये। बृहस्पति अङ्गिरा ऋषि के पुत्र हैं जब अङ्गिरा मुनि ने प्राणों की उपासना की तो उनके पुत्र आङ्गिरस बृहस्पति को भी उसी उपासना को करना चाहिये। बृहस्पति द्वारा उपासित होने से ही लोग प्राणों को भी 'बृहस्पति' कहने लगे। दूसरे वाणी का एक पर्यायवाची शब्द बृहती भी है, उसका प्राण पति-रक्षक है। इसलिये भी इसका नाम बृहस्पति है। प्राण का एक नाम आयास्य भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण का नाम आयास्य क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"आयास्य नाम के एक ऋषि ने भी प्राण की उपासना की थी, इसीलिये लोक में लोग प्राण को ही 'आयास्य' कहने लगे। दूसरे यह आस्य-मुख से आता जाता है इसलिये भी इसका नाम आयास्य है। कहाँ तक गिनावें इस प्राणोपासना द्वारा सभी ने अपने-अपने मनोरथों को पूर्ण किया है। एक महर्षि दल्भ हुए हैं उनके पुत्र दाल्भ्य बक नाम के प्रसिद्ध महर्षि हुए हैं। उन्होंने उद्गीथ-ओंकार-की प्राण रूप से उपासना की। इसके परिणामस्वरूप उन्हें आप नैमिषारण्य के अठासी सहस्र मुनियों के यज्ञ में उद्गाता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये महर्षि बक जो आपके उद्गाता बने विराजमान है। इन्होंने आपके कामनापूर्ति के उद्देश्य से उद्गीथ का गान किया था। इसलिये ब्रह्मन् ! यह प्रणव की प्राणोपासन सर्वश्रेष्ठ उपासना

है। इस उपासना को जो भली-भाँति जानता है, और जानकर इस उद्गीथ-ओंकार अक्षर ब्रह्म-की उपासना करता है, वह समस्त कामनाओं का आगान करने वाला होता है। अर्थात् ओंकार के गान से उसकी समस्त मनोकामनायें परिपूर्ण हो जाती हैं। वे अपनी मनोभिलषित वस्तुओं को अवश्यमेव प्राप्त कर लेता है। ओंकार के गान रूपी उपासना से सभी इच्छित वस्तुयें आकर्षित होकर उपासक के समीप स्वतः ही चली आती हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! इस प्रकार यह अध्यात्म विषयक देह से सम्बन्ध रखने वाली प्रणव की प्राणोपासना की महिमा समाप्त हुई। अब मैं आगे आप से आदित्य दृष्टि से ओंकार की आधिदैविक उपासना कहूँगा। उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

(१)

फेरि चक्षु तैं करी उपासन दूषित कीन्ही।
दर्शनीय बिनु दर्शनीय तब तैं यह चीन्ही॥
पुनि श्रोत्रहु सुनि प्रणव उपासैं पाप विद्ध करि।
तब तैं यह श्रवणीय नहीं श्रवणीय सुनहिँ भरि॥
पुनि मन तैं उद्गीथ की, करत उपासन सुर जबहिँ।
अघते वेध्यो योग्य अरु, मनन अयोग्यहिँ करि तबहिँ॥

(२)

मुख्य प्राण तैं करी उपासन असुरहु हारे।
पत्थर तैं टकराय ढेल फूटै ज्यों मारे॥
प्राणोपासक श्रेष्ठ पखान अभेद्य सरिस है।
पर उपकारक प्रान मिलै जो देत सबनि है॥
जाहि आंगिरस बृहस्पति, आयास्यहु ऋषि मुनि कहत।
अंगसार यह वाक् पति, मुखतैं ही निकसत रहत॥

(३)

विश्वामित्र, वसिष्ठ, अत्रि अरु वामदेव मुनि ।
ऋषि बृहस्पति और अंगिरा जपत प्रणव सुनि ॥
दल्भ्य पुत्र उद्गीथ उपासन करि सुख पायो ।
बक नैमिष ऋषि सत्र माहिँ तिनने यह गायो ॥
यह अध्यात्म उपासना, गायन तैं सब दुख हरत ।
प्रणव उपासक की प्रणव, सब इच्छा पूरी करत ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड में आध्यात्मिक उपासना समाप्त ।

आदित्य दृष्टि से ओंकार की आधिदैविक उपासना

[६४]

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतो-द्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति । उद्यँ स्तमोभय-मपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ।*

(छा० उ० प्र० अ०, ३ ख १ म०)

छप्पय

अब अधिदैविक सुनो उपासन सूर्य प्रणव सम ।
प्रणवरूप में करै उपासन उदित नसै तम ॥
अन्न आदि उपजाइ सबनि उपकार करत है ।
जाने सूर्य प्रभाव नासि तम जनम हरत है ॥
प्रान उष्ण रवि उष्ण है, दोउनिकूं ऋषि स्वर कहत ।
प्रत्यास्वर ह सूर्य है, उभय उपासन दुख हरत ॥

---

* अब अधिदैव उपासना कहते हैं । यह जो सूर्य तपता है, उसकी उद्गीथ रूप मे उपासना करे । यह उदित होकर प्रजाओ के निमित्त उद्गान करता है । उदित होने पर तम और भय का नाश करता है । जो इस प्रकार सूर्य की महिमा जानता है, उनकी उपासना करता है, वह भय और तम का निश्चय ही नाश करने वाला होता है ।

सब वस्तुओं के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन भेद होते हैं। जैसे गंगाजी हैं, इनका आधिभौतिक रूप तो जो यह प्रत्यक्ष बहता हुआ जल है, वह है। वह तो सभी को दृष्टिगोचर होता है। देवी रूप में जो गंगाजी हैं, उनके दर्शन किसी भाग्यशाली को ही होते हैं। जैसे शांतनु के पिता के सम्मुख गंगाजी अपने दैवी रूप से प्रकट होकर उनकी दायीं जंघा पर बैठ गयीं और उनसे विवाह करने का प्रस्ताव किया। राजा ने कहा—"देवि! तुम से एक भूल हो गयी, दायीं जंघा पुत्री और पुत्रवधू के लिये है, पत्नी का अधिकार वाम जंघा पर है, अतः तुम मेरी पुत्रवधू हो सकती हो। तभी उनका विवाह महाराज शांतनु से हुआ, जिनसे भीष्मपिता का जन्म हुआ। यह उनका आधिदैविक स्वरूप है। अध्यात्मरूप में तो वे साक्षात् ब्रह्मद्रव ही हैं। पिघला हुआ साक्षात् ब्रह्म ही है। ब्रह्मद्रव के रूप में उनका साक्षात्कार महान् योगी, सिद्ध महापुरुष ही करते हैं।

ये तीनों रूप एक ही के हैं। इन तीनों में अणु मात्र भी भेद नहीं। तीनों में से किसी भी रूप में जो इनकी उपासना करेगा, उसका कल्याण होगा। ये तीनों रूप उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। आधिभौतिक रूप से आधिदैविक रूप श्रेष्ठ है और आधिदैविक से अध्यात्मरूप श्रेष्ठ है। तीनों की उपासना की ही अधिकारी भेद से करनी चाहिये।

इसी प्रकार उद्गीथ या प्रणवोपासना के भी तीन भेद हैं। अध्यात्मरूप से तो प्राणों को प्रतीक मानकर उपासना की जाती है, प्राण दृष्टिगोचर नहीं होते उसका आत्मा में ही अनुभव होता है अतः यह अध्यात्म पक्ष है। ओंकार को देवता मानकर सूर्य में उपासना करना सूर्य देवता को ही ओंकार का—प्राण का—रूप मानना यह आधिदैविक उपासना है। और ओंकार की स्वररूप

मे उपासना करना उच्चस्वर से उच्चारण करके उसकी उपासना करना यह ओंकार की उद्गीथ रूप मे आधिभौतिक उपासना है। पिछले प्रकरण में आध्यात्मिक उपासना का वर्णन किया गया। अब ओंकार की उपासना का आधिदैविक रूप में वर्णन करते हैं—

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले प्रकरण म मैंने आप से अध्यात्म रूप से ओंकार की प्राणोपासना का वर्णन किया। प्राण रूप मे प्राण को ही ओंकार मानकर उसकी उपासना करना यह अध्यात्म उपासना है। अर्थात् प्रत्येक प्राण के-स्वास के-साथ प्रणव का उच्चारण करना यही प्राणोपासना है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रत्येक प्राण के साथ प्रणव का जप कैसे किया जाय?"

सूतजी ने कहा—"ओम् कहो, सोह कहो, हस. कहो, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। हसः का उलटा कर दो तो सोह बन जायगा। स और ह का लोप कर दो तो ओम बन जायगा। प्राण जब बाहर आता है, तो वह ह शब्द करता हुआ ही बाहर आता है, जब वह अपान के रूप मे भीतर-प्रश्वास बनकर-जाता है तो स शब्द करते हुए जाता है। इस प्रकार जीव स्वतः ही प्रत्येक स्वास प्रश्वास पर हसः, सोह अथवा ओम्, इस मत्र का जाप करता रहता है। अज्ञानपूर्वक करने से अज्ञान मे डूबा रहता है। इसी जप को ज्ञानपूर्वक-उसी मे प्राणो का समावेश करके-उसी पर चित्त की वृत्ति को एकाग्र करके—इस प्राण मत्र का जप करता रहे, तो जीव ससार-बन्धन से तत्काल छूट जाता है। यही स्वतः उद्गात प्रणव है, इसे अजपागायत्री भी कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"इसे अजपागायत्री क्यो कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! पहिले गायत्री शब्द का अर्थ समझ ले। जो गायन के द्वारा-उच्चारण के द्वारा-हमारा त्राण कर, रक्षा कर उसी का नाम गायत्री है। (गायन्त त्रायते इति गायत्री) यही अर्थ उद्गीथ का भी है। यह जो गायत्री मन्त्र है, यह प्रणव का-ओंकार का-ही विस्तार है। गायत्रीमन्त्र तो माला लेकर जपा जाता है, किन्तु यह प्राणों के साथ जपी जाने वाली गायत्री (प्रणवरूपा) यह बिना ही माला के-बिना ही प्रयत्न के-बिना ही ओठ तथा जिह्वा की सहायता के स्वतः ही जपी जाती है, इसका गायन स्वय ही होता रहता है, इसीलिये इसे अजपा-गायत्री कहते हैं। चित्त की वृत्ति एक क्षण को भी श्वास-प्रश्वास से पृथक् न जाय। प्राण अपान के साथ ओ और म् का स्वतः ही जप चलता रहे अहर्निशि यही अध्यात्म प्रणव उपासना है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो अत्यन्त कठिन उपासना है, इसे तो कोई अत्यन्त ही उच्च कोटि का उपासक कर सकता है। निराधार निराकार रूप मे चित्त को आठो पहर अटकाये रहना साधारण साधक का काम नहीं है। कोई सरल-सा उपाय बतावें।"

सूतजी ने कहा—"तब ब्रह्मन् ! आधिदैविक रूप मे उद्गीथ की प्रणवोपासना करे।"

शौनकजी ने कहा—"आधिदैविकरूप मे प्रणवोपासना कैसे करे ?"

सूतजी ने कहा—"इस प्रत्यक्ष दीखने वाले देवता सूर्य-नारायण को ही प्राण मानकर इसी के द्वारा प्रणव की उपासना करे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूर्यनारायण मे और प्रणव में समानता कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये भगवन् ! सूर्यनारायण उदित होकर उद्गान करते है, अर्थात् ऊपर की ही ओर उठते जाते हैं। इसी प्रकार सूर्य में जो उद्गीथ प्रणव की उपासना करते हैं, वे सूर्य की ही भाँति ऊपर उठते जाते है। सूर्य मे दो विशेषतायें और हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वे दो विशेषताये कौन कौन सी हैं ?"

सूतजी ने कहा—अंधकार में रगरूप कुछ दीखता नहीं। अज्ञान अंधकार में प्राणी फँसा रहता है। अन्धकार मे पग-पग पर भय भी बना रहता है कोई हिंसक जन्तु आकर प्रहार न कर दे। जब सूर्यनारायण उदित होते हैं तो अन्धकार और भय दोनो का ही एक साथ नाश कर देते हैं। अंधकार हट जाने पर प्रत्येक वस्तु के रङ्ग-रूप, आकृति-प्रकृति का ज्ञान हो जाता है। भय का जो भयंकर भूत था, वह भग जाता है। इसी प्रकार जो इस रहस्य को भलीभाँति जानकर आदित्यरूप में प्रणव की उपासना करता है, उसका अज्ञान अंधकार भी नष्ट हो जाता है, साथ ही जन्म-मरण का जो भयंकर भय है, वह भी भास्कर की उपासना से भग जाता है। अतः जैसे प्राणरूप से प्रणव की आध्यात्मिक उपासना है, वैसे ही सूर्य रूप मे उनकी आधिदैविक उपासना करनी चाहिये। प्राण में तथा सूर्य में कोई भेद नहीं है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप यह कैसी उलटी-उलटी बात बता रहे हैं। प्राण में और सूर्य में तो पृथ्वी आकाश का अतर है। सूर्य ऊपर आकाश मे सूर्यमंडल में रहते हैं। प्राण पृथ्वी पर शरीरो मे रहता है। इनमें समता कैसे हो सकती है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! स्थान भेद से क्या समता नहीं होती ? चन्द्रमा आकाश में रहता है, कुमुदिनी पृथ्वी पर जल मे रहती है, किन्तु चन्द्रमा को देखते ही हर्ष के कारण-प्रसन्न होकर

खिल जाती है। दोनों में समता होने पर स्थान भेद अन्तराय नहीं होता। इसी प्रकार सूर्य आकाश में रहने पर और प्राण शरीरों में रहने पर भी उनमें परस्पर में बहुत साम्य है।"

शौनकजी ने कहा—"दोनों में क्या-क्या समानता है ?"

सूतजी ने कहा—सूर्य उष्ण है, गरम होते हैं। आप जाड़ों में देखें शरीर से जो प्राण निकलता है वह उष्ण ही होता है। इस प्रकार दोनों का गुण एक-सा ही है। गुण के अतिरिक्त दोनों का नाम भी एक है।"

शौनकजी ने पूछा—"दोनों का नाम एक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"दोनों ही गमन करते हैं इसलिये दोनों का नाम 'स्वर' है। (स्वरयति-गमयति-इति स्वरः) जो स्वरण करता है, गमन करता है। सूर्य भी प्रातःकाल उदय होकर अस्ताचल में गमन कर जाता है और प्राण भी एक शरीर को त्याग कर दूसरे में गमन करते हैं। अतः दोनों का नाम स्वर है। किन्तु सूर्य में एक विशेषता है, वह प्राची दिशा से गमन करके पुनः उसी प्राची दिशा में ही लौट आता है, किन्तु प्राण जिस शरीर का परित्याग करके जाता है, उसमें पुनः लौटकर नहीं आता। अतः स्वर तो प्राण और सूर्य दोनों का ही नाम है, किन्तु सूर्य का स्वर के साथ-ही-साथ प्रत्यास्वर नाम और अधिक है। इसीलिये प्राण रूप की भाँति सूर्य में भी उद्गीथ-प्रणव-की उपासना करनी चाहिये। यह गायत्री मंत्र प्रणव का ही विस्तार है, और गायत्री में सूर्य की ही महिमा है। उन्हीं से बुद्धि को शुद्ध करने की प्रार्थना की गयी है। अतः गायत्री मंत्र का मानसिक, उपांशु तथा वैखरी वाणी में जप करना यह भी आदित्य दृष्टि से उद्गीथ प्रणव-का आधिदैविक उपासना ही है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जैसे प्राण रूप में उद्गीत

की अध्यात्मोपासना बतायी है, उसी प्रकार व्यान दृष्टि से भी उद्गीथ-प्रणव-की अध्यात्मोपासना कही गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—व्यान दृष्टि से उद्गीथ-प्रणव-की उद्गीथोपासना कैसे की जाती है, कृपा करके इसे भी बताइये ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! पुरुष निरंतर मुख से या नासिका से वायु को बाहर निकालता रहता है और बाहर की वायु को भीतर ले जाता रहता है। उसको प्राणन क्रिया कहते हैं। वायु को बाहर निकालने को प्राण कहते हैं। इसका दूसरा नाम श्वास अथवा रेचक भी है। वायु को भीतर की ओर जब खींचते हैं, तो उसकी अपान संज्ञा है। इसका दूसरा नाम प्रश्वास, अपश्वास या पूरक भी है। प्राण और अपान की—श्वास और प्रश्वास की—जो सन्धि है, उसका नाम व्यान है, उसे कुंभक भी कहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अन्य शास्त्रों में तो हमने ऐसा सुना है, कि पञ्च प्राणों में से (१) प्राण-तो हृदय देश में रहता है, (२) अपान-गुदा में, (३) समान-नाभि में, (४) उदान-कण्ठ देश में और (५) व्यान-सम्पूर्ण शरीर में रहता है। यहाँ भगवती श्रुति प्राण और अपान की सन्धि को व्यान बता रही हैं यह क्या बात है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यहाँ व्यान से अभिप्राय पंच प्राणों वाले व्यान से नहीं है। यहाँ व्यान से अभिप्राय प्राणायाम वाले कुंभक से है। जैसे कुंभक दो प्रकार का होता है, बाह्य कुंभक और आभ्यन्तर कुंभक। ये दोनों श्वास प्रश्वास प्राण अपान की सन्धि में होते हैं। वायु छोड़ने के अनंतर और उसे भीतर [illegible] के बीच में जो कुछ देर श्वास प्रश्वास की क्रिया रुक [illegible] स्थिर हो जाती है उसे ही बाह्य कुंभक कहते हैं। वायु

ले जाने के अनंतर उसे बाहर निकालने के बीच मे जो कुछ देर श्वास रुक जाती है, उसे आभ्यन्तर कुंभक कहते हैं। यहाँ पर व्यान कहने से तात्पर्य इन दोनो कुंभको से ही है। यहाँ श्रुति वचन मे प्राण अपान की जो सन्धि है, उन दोनों के बीच की जो वृत्ति है उस वृत्ति का ही नाम व्यान है। योग की भाषा मे उसी का नाम कुंभक है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! प्राण अपान–रेचक कुंभक–दोनो को छोडकर केवल व्यान–कुंभक–की ही उपासना पर बल क्यों दिया ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! प्राण अपान–रेचक कुंभक-श्वास प्रश्वास–तो स्वभावतः आते ही जाते रहते हैं। प्रयास तो व्यान के लिये–कुंभक के लिये–ही करना पड़ता है। यह व्यान ही वीर्यवान् कर्म की निष्पत्ति का कारण है।"

शौनकजी ने पूछा—"वीर्यवान् निष्पत्ति का कारण व्यान-कुंभक–कैसे है ?"

सूतजी ने कहा–"व्यान से ही वाणी बोली जाती है। वास्तव मे व्यान ही वाणी है। कोई आदमी कहीं से दौड़कर आ रहा हो। उसके श्वास प्रश्वास जोर-जोर से चल रहे हों, तो एक भी बात न बोल सकेगा। वाणी कुंभक के समय–श्वास प्रश्वास की सन्धि के ही समय–बोली जाती है। न तो कोई दीर्घ श्वास लेते समय वाणी बोल सकता है और न दीर्घ निःश्वास छोडते ही समय बोल सकता है। मनुष्य श्वास को बाहर निकालने और प्रश्वास को भीतर खींचने की क्रिया न करता हुआ ही वाणी का स्पष्ट उच्चारण कर सकता है। अर्थात् शब्द उच्चारण व्यान में–कुंभक मे ही संभव हैं। इसीलिये व्यान वाणी है, यह व्यान ही

वीर्यवान् कर्म–बोलने–में कारण है। व्यान ही वाणी है, वाणी ही ऋक् या ऋचा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! वाणी ऋक् या ऋचा कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! ऋचाओं का जब विद्वान् पाठ करते हैं, तब प्राण अपान की क्रिया न करते हुए ही उनका उच्चारण करते हैं। अतः वाणी और ऋक् या ऋचा एक ही है। और जो ऋक् है वही साम है।"

शौनकजी ने पूछा—"ऋक् और साम एक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! इसका विचार तो इस छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में पहिले ही किया जा चुका है। वहाँ कहा गया है, पृथ्वी का रस जल, जल का रस औषधि, औषधि का रस मानव देह, देह का रस–वाणी, वाणी का रस ऋचा या ऋक्, ऋचा का रस साम और साम का रस उद्गीथ–ओंकार या प्रणव। उसी बात को यहाँ दुहरा रहे हैं। यहाँ भी वाणी, ऋक्, साम और उद्गीथ—ओंकार या प्रणव समानता निरूपण कर रहे हैं। ऋक् और साम एक इसलिये है, कि साम गायन कर्ता प्राण अपान की क्रिया न करता हुआ ही साम का गायन करता है। फिर वही बात कही जो साम है वही उद्गीथ–ओंकार या प्रणव है। ओंकार का उच्चारण भी तभी होगा जब प्राण अपान की क्रिया–श्वास प्रश्वास की क्रिया–न होगी। केवल ऋक्, साम अथवा ओंकार के उच्चारण में ही व्यान की प्रधानता हो सो बात नहीं। जितने पराक्रम के कार्य हैं, जितने भी वीर्ययुक्त कर्म हैं, उन सब में पुरुष प्राण अपान की क्रिया न करता हुआ केवल व्यान वृत्ति में ही करता है। जैसे याज्ञिक लोग हैं। दो अरणियों को मथकर अग्नि को

प्रकट करते हैं। एक अधो अरणी होती है, दूसरी ऊर्ध्व अरणी। जब इन दोनों का बलपूर्वक मन्थन करते हैं, तब उस मंथन क्रिया से अनल उत्पन्न हो जाते हैं। मंथन क्रिया को सुदृढ़ अंगों वाला याज्ञिक करता है, उस समय भी प्राण अपान का क्रिया न करता हुआ केवल व्यान के ही द्वारा अग्नि मंथन करता है।

बहुत से लोग एक स्थान की सीमा निर्धारित करके पण लगा कर वेग के साथ दौड़ते हैं, तो वे स्वास रोककर ही दौड़ते हैं। प्राण अपान की संधि मे–व्यान की वृत्ति में ही–अधिक तेजी से दौड़ा जा सकता है।

क्षत्रिय कुमार अपने-अपने सुदृढ़ धनुषों पर–ज्या-डोरी चढ़ाकर उसे बलपूर्वक खींचकर लक्ष्य पर बाण छोड़ते हैं। जब वे धनुष पर बाण चढ़ाकर डोरी को बलपूर्वक पीछे खींचते हैं तो उस समय भी प्राण अपान की क्रिया न करते हुए ही व्यान वृत्ति में उसे खींचते हैं। कहाँ तक बतावे समस्त वीर्ययुक्त कार्य इसी व्यान मे किये जाते हैं। इसलिये यह व्यान अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसीलिये ये उद्गीथ–प्रणव अथवा ओंकार—की व्यान रूप मे उपासना करनी चाहिये। अधिकाधिक कुंभक का अभ्यास बढ़ाते हुए ओंकार का चिंतन मनन और मानसिक जप करना चाहिये, यह भी व्यान की आध्यात्मिक उपासना है। यह मैंने आप से प्रणव ओंकार की आध्यात्मिक तथा आधिदैविक उपासनायें कहीं। अब प्रणव या ओंकार उच्चारण न करके प्रणव का जो वाच्यार्थ 'उद्गीथ' शब्द है, उस शब्द की उपासना से भी समस्त कामनायें सिद्ध हो सकती हैं। केवल 'उद्गीथ उद्गीठ' इस शब्द के ही निरन्तर जाप से वाणी विशुद्ध बन सकती है, अतः उद्गीथ शब्द की उपासना तथा सकामोपासना का वर्णन मैं आगे

करूँगा। आशा है आप इस प्रकरण को परम एकाग्रचित्त से श्रवण करने कृपा करेंगे।"

छप्पय

श्वास नाक मुख लेत, श्वास ही प्राण कहावै।
लेवैं पुनि प्रश्वास अपानहु वह कहलावै॥
उभय सन्धि दै व्यान, व्यान की करै उपासन।
वाणी बोले व्यान माहिँ व्यान हि वानी जनु॥
वाक्, साम, ऋक्, प्रणव ये, एक उच्चरें व्यान में।
मन्थन, धावन, धनुपबल, कारज होवें व्यान में॥

'उद्गीथ' अक्षरों की ओर सकाम भाव से उपासना का फल

[९५]

अथखलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्नेन हीदꣳ सर्वꣳ स्थितम् ॥❀

(छा० उ० प्र० अ० ख० ३ म० ६)

छप्पय

स्वरग, सूर्य अरु साम तीनि हू 'उत्' के वाचक।
अन्तरिक्ष अरु अनिल यजुर्वेद हु 'गी' वाचक॥
भूमि, अग्नि, ऋक्, कहे 'थ' वाचक जो इनि जानें।
अक्षर जो 'उद्गीथ' उपासन करि हरि मानें॥
तिहि वानी दोहन करति, रहस प्रकट तिहिँ ढिँग करत।
भोग शक्ति होवै सतत, अन्न वस्तु सब घर भरत॥

❀ तदनन्तर अब 'उद्गीथ' इस प्रणववाचक शब्द के तीन अक्षरों की उपासना करनी चाहिये। 'उद्गीथ' इस शब्द मे प्राण 'उत्' वाचक है क्योंकि प्राणी प्राणो से ही उठा करता है। 'गी' वाणी वाचक है क्योंकि वाणी को 'गिरा' भी कहते हैं। थकार अन्न का वाचक है क्योंकि समस्त प्राणी अन्न मे ही थिर रहते हैं।

संस्कृत की एक उक्ति है, कोई भी अक्षर ऐसा नहीं जो मंत्र न हो, कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो औषधि न हो, कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसमें कुछ न कुछ योग्यता न हो, किन्तु अक्षरों को मन्त्र बनाने वाला, कौन सी वस्तु किस रोग में कैसे प्रयुक्त की जानी चाहिये इसको जानने वाला, कौन सा व्यक्ति किस काम को कर सकता है, इसका परख करने वाला योजक संसार में दुर्लभ है।

हमारे ऋषि महर्षियों ने दीर्घकालीन तपस्या द्वारा, कठोर संयम द्वारा, चिर कालीन अनुष्ठानों द्वारा ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली थी, कि उनके श्रीमुख से स्वतः ही छन्दोबद्ध मन्त्र निसृत हो जाया करते थे। समस्त मन्त्रों के सम्राट समस्त मन्त्रों के स्रोत स्थान प्रणव या ओंकार है। अ+उ और म् ये तीन अक्षर मिलकर प्रणव महामन्त्र बनता है। यह परब्रह्म परमात्मा का वाचक नाम है। इसके जप से, ध्यान से तथा मनन से समस्त सिद्धियाँ स्वतः ही प्राप्त हो सकती हैं। प्रणव शब्द का अर्थ है, आत्मा की अथवा अपने इष्टदेव की सम्यक् प्रकार से जिसके द्वारा स्तुति की जाय उसे प्रणव कहते हैं। (प्रकर्षेण नूयते=स्तूयते आ मा अथवा स्व इष्ट देवता अनेन इति=प्रणवः) जो प्रणव का अर्थ है वही ओम् का अर्थ है और उसी अर्थ में 'उद्गीथ' शब्द भी प्रयुक्त होता है। उद्गीथ अथवा प्रणव की आध्यात्मिक आधिदैविक उपासना बताकर केवल 'उद्गीथ' शब्द की आधिभौतिक उपासना बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक 'उद्गीथ' शब्द द्वारा भी भौतिक उपासना की जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—" 'उद्गीथ' शब्द द्वारा उपासना की जाती है?"

सूतजी ने कहा—"उद्गीथ' 'उद्गीथ' 'उद्गीथ' इन शब्दों का ही जप किया करे। 'उद्गीथ' ये अक्षर प्रणव के वाचक हैं। ये स्वयं मन्त्र स्वरूप हैं।"

शौनकजी ने पूछा "उद्गीथ' इन अक्षरों में क्या विशेषता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन ! जैसे अ+ऊ, म्, ये तीन अक्षर मिलकर ओंकार अथवा प्रणव बनता है। वैसे ही उद्+गी और थ ये तीन अक्षर मिलकर 'उद्गीथ' शब्द बनता है। इसमें प्राण, वाणी तथा अन्न इन तीनों का समावेश हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"उद्गीथ' शब्द में प्राण, वाणी और अन्न इन तीनों का समावेश कैसे हो जाता है ?"

सूतजी ने कहा—"उत्' शब्द का अर्थ है ऊपर उठना। प्राणों के ही द्वारा पुरुष ऊपर उठता है। प्राणहीन पुरुष उठ नहीं सकता। इसलिये 'उत्' का भावार्थ हुआ प्राण। दूसरा शब्द है 'गी' यह वाक् या वाणी का वाचक है। शिष्ट लोग वाणी को गिरा कहते हैं। अतः 'गी' से वाणी का बोध होता है। उद्+गी +थ, में तीसरा शब्द है 'थ'। थ शब्द का अर्थ है स्थित होना। जितने भी प्राणी हैं सब पृथ्वी में-अन्न में-ही स्थित रहते हैं। अतः अन्न और 'थ' अक्षर की समानता है। इस प्रकार 'उद्गीथ अक्षर प्राण, वाक् तथा अन्न इन तीनों का द्योतक है जो जगत् के कारण हैं। इसके अतिरिक्त 'उद्गीथ' शब्द त्रिलोक का भी बोधक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! 'उदगीथ' शब्द त्रैलोक्य का बोधक कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"सबसे ऊपर का ऊँचा लोक द्यौ-स्वर्ग है। 'उद्गीथ' में जो 'उत्' शब्द है वह स्वर्ग का द्योतक है। सब

लोकों को जो गिरण करने से-निगल लेने से-अन्तरिक्ष-पृथ्वी और स्वर्ग के बीच के अन्तराल आकाश को 'गी' कहते हैं और समस्त प्राणियों की स्थिति-स्थान-होने से 'थ' करके पृथ्वी का बोध होता है, इसलिये उत्+गी+थ का अर्थ हुआ स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वी अर्थात् त्रैलोक्य। इसी प्रकार 'उद्गीथ' शब्द त्रिदेवमय भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! 'उद्गीथ' शब्द त्रिदेवमय कैसे है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! देवताओं में आदित्य वायु और अग्नि ये ही तीन देव मुख्य हैं। इसमें से 'उत्' शब्द ही आदित्य वाचक है। 'गी' शब्द वायु वाचक है और 'थ' शब्द अग्नि वाचक है। थ शब्द स्थिर होने, महाग्रन्थि, ग्रन्थि ग्राह, भयानक, शिली, शिरशिज, दण्डी, भद्रकाली, शिलोच्चय, कृष्ण, बुद्धि, विकर्मा, दनुनाशाधिप, अमर, वरदा, भोगदा, केश, वामबाहु, रस और अनल अर्थात् अग्नि इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसलिये उत्+गी+थ, का अर्थ हुआ आदित्य वायु और अग्नि। इसके अतिरिक्त 'उद्गीथ' शब्द वेदत्रयी अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"वेदत्रयी अर्थ में 'उद्गीथ' शब्द प्रयुक्त कैसे होता है?"

सूतजी ने कहा—"उत् से सामवेद, 'गी' से यजुर्वेद और 'थ' से ऋक्वेद का बोध होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस 'उद्गीथ' शब्द की उपासना का फल क्या है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जो मैंने ऊपर 'उद्गीथ' शब्द के अर्थ बताये हैं, उनके अर्थों को जो यथावत् जानकर केवल 'उद्गीथ' इन अक्षरों की ही उपासना करता है, उसके लिये वाणी

का जो दोह है-वेदो का-वाक् का-जो तात्पर्य है, वह अपने आप प्रकट हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"वाणी के प्रकट होने से यहाँ अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्रकट होने का अर्थ यही है कि जो प्रणववाची 'उद्गीथ' शब्द की उपासना करता है, इस शब्द का ही जो जप करता है, उसको समस्त वेदो का तात्पर्य अपने आप प्रकट हो जाता है। वह अन्नवान् होता है अर्थात् संसार की समस्त भोग सामग्रियाँ उसके सम्मुख स्वयं उपस्थित हो जाती हैं। साथ ही उन भोग सामग्रियों के भोगने की सामर्थ भी उसमें स्वतः ही आ जाती है, वह भोगो को भोगने में समर्थ होता है। यही 'उद्गीथ' अक्षरो की उपासना का फल है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो 'उद्गीथ' की निष्काम भाव से उपासना का फल हुआ। कोई कामना की पूर्ति के हेतु सकाम भाव से साम गायन द्वारा उपासना करें, तो उसकी मनोकामना पूर्ण नहीं होगी क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वेद तो कल्पद्रुम हैं। जो जिस कामना से सामवेदादि मंत्रों द्वारा उपासना करता है, उसकी कामना अवश्य पूर्ण होती है, किन्तु उस साम की उपासना में सात बातों का ध्यान रखना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"वे सात बातें कौन-कौन-सी हैं ?"

सूतजी ने कहा—"(१) पहिली बात तो यह है कि सामवेद के द्वारा-जिस मंत्र के द्वारा अपने इष्ट की स्तुति करनी हो, उसे पहिले भली भाँति समझ ले। उसे उपसरण-अर्थात् चिंतन-करते हैं। अपने ध्येय की जिस मंत्र से स्तुति करे अर्थात् अपने इष्टमंत्र की उत्पत्ति आदि क्रम से चिंतन करे। किस पद मे कौन

स्वर है, कैसे इसका उच्चारण होगा। ऐसा समझकर मन्त्र को कंठस्थ कर ले। उसे सदा स्मरण रखे। पुस्तक में पढकर सकाम मन्त्रों की उपासना नहीं होती।

(२) दूसरी बात है—यह साम- अर्थात् गाये जाने वाला उपास्य मन्त्र-जिस ऋचा में प्रतिष्ठित हो-उस ऋचा को भी याद कर ले।

(३) तीसरी बात यह है कि जिस ऋषि द्वारा उस मन्त्र का साक्षात्कार किया गया हो अर्थात् उस मन्त्र का जो ऋषि हो, उसका भी स्मरण रखे। प्रत्येक मन्त्र का ऋषि, देवता, छंद और विनियोग पृथक् पृथक् होता है। यह मन्त्र किस ऋषि को प्राप्त हुआ इसका उपासना के पूर्व स्मरण कर ले।

(४) चौथी बात यह है, कि जिस मन्त्र के द्वारा हमें अपनी कामना पूर्ति के निमित्त उपासना करनी है, उस मन्त्र का देवता कौन है ? इसका भी चिन्तन करे, उस देव का भली भाँति स्मरण रखे।

(५) पाँचवी बात यह है, कि जिस मन्त्र के द्वारा स्तुति करनी है, वह मन्त्र किस छन्द में है। देवता तथा ऋषि के साथ मन्त्र के छंद को भी स्मरण रखना चाहिये।

(६) छठी बात यह है, कि यह जो अपना इष्ट मन्त्र है यह किस स्तोत्र समूह-किस स्तोम-का है उस स्तोत्र का भी स्मरण रखे। एक स्तोत्र में कई मन्त्र होते हैं। तो जिस स्तोत्र समूह का अपना मन्त्र है उस स्तोत्र का भी चिंतन करे।

(७) सातवीं बात यह है, कि जिस दिशा में स्तुति करनी हो, उस दिशा का-उस दिशा के अधिष्ठातृ देव सहित चिंतन करे।

ये सात बातें तो मन्त्र के सम्बन्ध में हुईं। अब चिंतन करने

वाले उद्गाता के सम्बन्ध में बताते हैं, कि उपासक अपने स्वरूप का–अपने नाम गोत्र का भी स्मरण करे। मैं अमुक गोत्र वाला, अमुक वर्ण वाला, अमुक कामना की सिद्धि के निमित्त स्तुति करता हूँ। इस प्रकार इन सब बातों का स्मरण रखकर जो अप्रमत्त होकर–अर्थात् बड़ी सावधानी से–स्वर, ऊष्म तथा व्यंजनादि वर्णों के उच्चारण मे प्रमाद न करता हुआ अपने इष्टदेव की ध्यान पूर्वक स्तुति करता है, ऐसा साधक-अचिरात्-शीघ्र ही अपनी कामना को प्राप्त कर सकता है। उसकी मनोकामना अपने इष्ट मंत्र की उपासना द्वारा अवश्य ही समृद्धशालिनी--फलवती–होती है, अर्थात् वह अपनी कामना पूर्ति मे सफल हो जाता है!"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सकाम भाव से उपासना करना अच्छा है क्या?"

सूतजी ने कहा—मुनिवर! निष्कामभाव से उपासना की जाय, तब तो कहना ही क्या है, यह तो सर्वोत्तम पक्ष है, किन्तु सभी लोग निष्काम भाव से उपासना नहीं कर सकते। कोई आर्त होकर, कोई जिज्ञासु बनकर, कोई अर्थार्थी बनकर उपासना करते हैं, कोई-कोई ज्ञाननिष्ठ बिना किसी कामना के निष्काम भाव से भी उपासना करते हैं। गीता में भगवान् ने चारों को ही सुकृति कहा है।"

शौनकजी ने कहा–"सूतजी! कहाँ ज्ञानी, कहाँ अर्थार्थी और आर्त। अर्थार्थी तो स्वार्थी है, वह सुकृति कैसे हो सकता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! अर्थार्थी ही सही, आर्त ही सही, किन्तु वह अर्थ की याचना इन धन दुर्मद संसारी विषयी पुरुषों से तो नहीं करता। अपने दुःख को विषयियों से निवारण की प्रार्थना तो नहीं करता। वह अर्थ के लिये दुःख-दूर कराने

के लिये जाता तो परमात्मा की ही शरण में है। जो किसी भी भाव से भगवान् की शरण में जाता है, वह तो सुकृति है, फिर ज्ञानी को तो भगवान् ने अपनी आत्मा ही कहा है। किसी भी भाव से भगवान् की शरण लेने वाला परम सुकृति ही है। उपनिषद्-कार ने ओंकार की उपासना पर अत्यधिक बल दिया है, अब आगे उद्गीथ संज्ञक ओंकार उपासना के ही सम्बन्ध में बताया जायगा। इस बात को ऋषि एक सुन्दर आख्यायिका के रूप में कहेंगे। आशा है आप इस प्रसंग को प्रेम पूर्वक श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

अब उपासना कहें कामना सहित करें जो।
सात बात इस्मरण रखें जन कामार्थी सो॥
इष्टमन्त्र, अरु ऋचा, देवता, मंत्र, छन्द, ऋषि।
स्तुति समूह अरु दिशा करें चितन इनिहिय बसि॥
निज अभिलाषा सुमिरिकें, सावधान है ध्यान तैं।
इस्तुति करि फल पाई सो, मन्त्र सामके गान तैं।

इति छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
तृतीय खण्ड समाप्त।

उद्गीथ संज्ञक ओंकार उपासना से अमृतत्व की प्राप्ति

[९६]

ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ।
ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ।।*

(छा० उ० प्र० अ० ४ ख० १ मं)

छप्पय

मृत्युभीत सुर घुसे वेद छदनि के माहीं ।
मन्त्रनि कवच बनाइ छिपे ते छन्द कहाहीं ।।
मृत्यु तहाँ सुर लखे मत्स्य जल धीवर देखत ।
ओंकार उद्गीथ उपासन अमर करत नित ।।
ऐसौ मन सुर सोचिकें, ओम् माहिँ प्रविसे तुरत ।
तातै पढ़ि वेदत्रयी, उच्चारन ओम्हिँ करत ।।

यह पृथ्वी का प्राणी मर्त्य कहलाता है, क्योंकि मृत्यु इसके पीछे पडी रहती है। पृथ्वी को छोडकर अन्य लोकों में मृत्यु की दाल

---

* ओम् यह उद्गीथ संज्ञक है। इस प्रकार इसकी उपासना करने योग्य है। ॐ बोलकर ही उद्गाता उद्गान करता है। उसी ओंकार की उपव्याख्या की जाती है।

नहीं गलती। मृत्यु केवल भूलोक में ही होती है। अन्य पुण्य लोकों में मृत्यु नहीं पहुँचती। वहाँ के प्राणी मरते नहीं। पुण्य क्षय होने पर वे नीचे धकेल दिये जाते हैं। उन दिव्य लोकों में रहने वाले देवता कहलाते हैं। उनके अमर, निर्जर, अमर्त्य, देवता आदि बहुत नाम हैं। देवता मृत्यु के चक्कर से कैसे बच गये? वे केवल ॐ का सहारा लेने से ही बच गये। इस सम्बन्ध की जो कथा है, उसे सुनें, उससे पता चलेगा ओंकार से कैसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है। वास्तव में देवता तो नाम मात्र के अमर हैं, उन्हें भी सदा पतन का खटका बना रहता है, सभी लोकों में किसी न किसी रूप में मृत्यु का भय बना ही रहता है, किसी भी लोक में क्यों न चले जाओ जीव निर्भय नहीं हो सकता। जब जीव सर्वात्म भाव से भगवान् के चरणारविन्दों का आश्रय ले लेता है, तब वह तान दुपट्टा सुख की नींद सोता है। तभी मृत्यु उसका पीछा करना छोड़कर लौट आती है। वास्तव में अमर वही है जिसने परमात्मा का-परमात्मा के वाचक प्रणव नाम मन्त्र का-आश्रय ले लिया हो। ये देवता भी प्रणव के सहारे से ही मृत्यु से बच सके हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ॐ अक्षर ही, इसकी 'उद्गीथ' संज्ञा है, क्योंकि इसी का वेदों के आरम्भ में वेदों के अन्त में उच्च स्वर से गायन किया जाता है। इसीलिये ॐ इसकी उपासना करे। उद्गाता नाम का जो यज्ञों में ऋत्विज होता है, वह जिस ॐ का उच्च स्वर से गायन करता है, उसकी उपव्याख्या की जाती है, इस सम्बन्ध की एक प्राचीन आख्यायिका है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ओंकार के सम्बन्ध की कौन-सी आख्यायिका है, कृपा करके उसे हमें भी सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्! सुनिये, मैं उस

आख्यायिका को सुनाता हूँ। ब्रह्माजी ने मृत्यु को यही काम सौंपा था, कि वह जीवों को मार मारकर लाया करे। देवताओं ने देखा, मृत्यु हम मारने की घात में है, अतः वे मृत्यु से भयभीत होकर कहीं सुरक्षित स्थान में छिपने के लिये भगे, जहाँ मृत्यु उन्हें देख न सके। उन्होंने सोचा—'ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद जो यह वेदत्रयी है, इसके जो मन्त्र हैं, वे बहुत ही पवित्र हैं, इनमें छिप जाय, तो हमें मृत्यु देख न सकेगा। इसलिये देवतागण वेद मन्त्रों के ढेर में घुस गये। ऊपर से भी वेद मन्त्र, नीचे से भी वेद मन्त्र,, दायें से भी वेद मन्त्र, बायें से भी वेद मन्त्र कहने का सार यही कि उन्होंने ने चारों ओर से अपने को वेद मन्त्रों से आच्छादित कर लिया। उन्हें अपने वचन का कवच बना लिया, तभी से वेद मन्त्रों का नाम छन्द पड़ गया। छन्द शब्द का अर्थ है जो छिपा ले-छादन कर ले-(छादयति=इति छन्दः)

देवताओं ने अपनी ओर से तोमृत्यु से बचने का पूरा प्रयत्न किया, किन्तु मृत्यु भी पूरा घाघ है, उसके नेत्र अत्यन्त तीक्ष्ण हैं। जैसे जल के भीतर छिपी हुई मछलियों को मछली मारने वाला मछुआ-धीवर-देख ही लेता है और उसी स्थान पर जाल डाल देता है, उसी प्रकार वेद मन्त्रों में छिपे देवताओं को मृत्यु ने यहाँ भी देख ही लिया। देवता भी समझ गये, यहाँ भी हमारी दाल नहीं गलने की। इतना छिपाने पर भी हमें यहाँ मृत्यु ने देख लिया है, अतः वे ऋक्, यजु और साम के विस्तृत मन्त्रों से ऊपर उठकर स्वर में-प्रणव में-अर्थात् ओंकार में प्रवेश कर गये। वह स्वर-ओंकार-वेदों का अन्त है। समस्त वेदों का समावेश ओंकार में ही है। वह मृत्यु की पहुँच से बाहर है। अतः देवता मृत्यु से रहित अमर्त्य-अमर- हो गये। ओंकार के प्रभाव से।

शौनकजी ने पूछा—"यह स्वर ॐ का वाच्यार्थ कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जब अध्ययन करने वाला अध्ययन के द्वारा ऋक्वेद को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् ऋक्वेद को पढने के अनन्तर ॐ ऐसा उच्चारण बडे आदर से करता है। इसी प्रकार सामवेद या यजुर्वेद को भी पढने के अनन्तर ॐ का आदर पूर्वक उच्चारण करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ॐ का ही उच्चारण क्यों करते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ॐ का उच्चारण इसलिये करते हैं यह अक्षर है। इसका क्षर नाश नहीं होता। अविनाशी तो एकमात्र परमात्मा ही है। यह अक्षर परमात्मा का वाचक है। यह अमृत और अभय रूप है। यह मृत्यु से छुडाकर अभय प्रदान करने वाला स्वर है। अ-क्षर है। इस आकार का आश्रय लेकर-इसमें प्रविष्ट होकर देवगण अमृत-मृत्यु से रहित होकर-अभय हो गये। उन्हें अब मृत्यु का भय नहीं रहा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जो पुरुष ओंकार को इस रूप में जानता है। जो इस अक्षर ब्रह्म की उपासना करता है, इसकी स्तुति करता है। वह इस स्वर रूप अमृत और अभय रूप कभी क्षर-नाश न होने वाले-अविनाशी अक्षर मे प्रविष्ट हो जाता है। इसमे प्रवेश करके वह मृत्यु के चगुल स उसी प्रकार छुटकारा पा जाता है, जेसे देवता आकर का आश्रय लेकर अमर हो गये। वह भी अमर और निर्भय बन जाता है। यह मैंने आप से ओंकार के आश्रय से अमृतत्व प्राप्त करने की गाथा कही। अब जैसे सूर्य और प्राण के रूप में ओंकार की उपासना है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ओम् वाच्य परमात्म ताहि स्वर वेद बतावैं।
भय अरु मृत्यु छुडाय अभय सुर अमर कहावैं॥
यों उपासना ओंकार का करें उपासक।
अमृत रूप भय रहित ओम् में प्रविसें साधक॥
प्रणव शरण में जाइकें, अमृत होइ निर्भय सतत।
सुर स्वर जपि ओंकार कूँ, अमर भये अरु भय रहित॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय मे
चतुर्थ खण्ड समाप्त।

सूर्य और प्राणरूप में ओंकार की उपासना

[९७]

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति। अमी वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवः। ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥१॥*

(छा० उ० प्र० अ० ५ ख० १ मं०)

छप्पय

गावें सो उद्गीथ ताहि ओंकार बतावैं।
नामी नाम अभेद सूर्य उद्गीथ कहावैं॥
स्वरन् करत नित चलत सूर्य संज्ञा यों तिनकी।
कौषीतकि-सुत कह्यो उपासन करि सूरज की॥
श्वास-श्वास में ओम् ध्वनि, होति धारणा जो करत।
प्राण प्रणव रवि एक जपि, कौषीतकि सुत तैं कहत॥

---

* तदनन्तर कहते हैं—"जो उद्गीथ है, वही प्रणव है, जो प्रणव है वही उद्गीथ है। ऐसा निश्चय करके कहते हैं। यह जो आदित्य है वह भी उद्गीथ है और यही प्रणव भी है। यह आदित्य ओंकार का उच्चारण करता हुआ—स्वरन् करता हुआ—गमन करता है इसीलिये यह 'सूर्य' कहलाते हैं। यही सूर्य शब्द की व्युत्पत्ति है।"

सूर्यनारायण, नाद ब्रह्म और प्रणव मंत्र इन तीन द्वारा ब्रह्म की उपासना करना भारत की प्राचीन परम्परा है। अधर्म के प्रचार प्रसार से तथा धर्म से निरपेक्ष रहने की शासकों की नीति से अब अधिकांश लोगों की धर्म आस्था शिथिल पड़ गयी है, नहीं तो आज से कुछ काल पूर्व ही ग्रामीण से ग्रामीण, अपढ़ से अपढ़ प्राणी भी स्नान करके एक लोटा पानी सूर्य को चढ़ाया करता था। प्रत्येक शिखा सूत्रधारी भारतीय और कुछ भी पूजा पाठ भले ही न कर सके, किन्तु नदी में, तालाब मे, कल में तथा कूप पर कहीं भी कभी भी स्नान करता था, तो सूर्य को जल चढ़ाकर एक परिक्रमा अवश्य कर लेता था। सूर्य ही एक ऐसे प्रत्यक्ष देवता है, जो सबको दृष्टिगोचर होते है और आबाल वृद्ध नर-नारी किसी-न-किसी रूप में इनका सम्मान करते हैं। द्विजाति गण, प्रातः मध्यान्ह तथा सायंकाल में अर्घ्य, उपस्थान और जप के द्वारा, सर्वसाधारण लोग केवल अर्घ्य द्वारा सूर्य का सम्मान करते हैं। भगवान् सूर्यनारायण की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार की उपासना होती है।

नाद को–स्वर को–भी ब्रह्म बताया है। साम गायन द्वारा–संगीत द्वारा–नाद की–स्वर की–उपासना की जाती है। नाद में चित्त लय हो जाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। कालक्रम से शास्त्रीय संगीत का ह्रास हो जाने से अब सामगायकों का अभाव-सा हो गया है। अब सस्वर–शास्त्रीय विधि से सामगायन करने वाले मिलते नहीं। साम का एक 'उद्गीथ' नाम का भाग है, वह मानो प्रणव का–ओंकार का–स्वरूप ही है। उस उद्गीथ के यथावत् गायन से ब्रह्म साक्षात्कार तक हो सकता है, इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति तो उसका साधारण-फल है।

प्रणव के जप, चिंतन मनन से भी ब्रह्म साक्षात्कार होता

है। किन्तु प्रणव के जप के सभी अधिकारी नहीं होते। जिन्होने वैदिक कर्मों द्वारा तथा उपासना द्वारा अपने शरीर तथा अन्तः-करण के मल, विक्षेप और आवरणो को हटाया नही, ऐसे मलिन अन्तःकरण वाले पुरुष प्रणव के जप के अधिकारी नही। इस ब्रह्मवाचक मत्र के अधिकारी निष्काम कर्मी वीतरागी त्यागी सन्यासी ही हैं।

सूर्योपासना, स्वर-उपासना और प्रणवोपासना वास्तव मे एक ही हैं और तीनों का फल भी समान ही है। पात्र भेद से इनमे भेद दृष्टिगोचर होता है। प्राचीनकाल मे वेद मत्रो द्वारा ही उपासना की जाती थी। नित्य वेदो का स्वाध्याय करने वाले सयमी तपस्वी, त्यागी वेद पाठियो मे वेद पाठ से इतनी सामर्थ्य आ जाती थी, कि वे मुख से जो कह देते थे, वह ही हो जाता था। अब वह परम्परा नष्ट-प्राय हो गयी। अब तो प्रणव के स्थान पर भगवन्नाम और वैदिक उपासना के स्थान पर भगवद्भक्ति ही आधार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ओंकार की आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा और भी उपासनाओ के सम्बन्ध मे बताया गया। अब अन्य प्रकार से प्रणव के सम्बन्ध मे बताते हैं। सामवेदीय जिन मत्रो का उच्चस्वर से गायन करते हैं, उन्हे 'उद्गीथ' कहते हैं। उसका मूल आधार ओंकार है। ऋग्वेदीय मन्त्रो के पूर्व ओंकार का उच्चारण करते हैं, वही प्रणव है। 'उद्गीथ' कहो 'प्रणव' कहो, दोनों मे कोई भेद नही। एक ही बात है। ये जो प्रत्यक्ष देव सूर्यनारायण दिखायी देते है, वे भी 'उद्गीथ' अथवा 'प्रणव' ही हैं। इनका नाम सूर्य इसीलिये पडा, कि ये उदयाचल से उदय होते हुए ओम्-ओम् इस प्रकार उच्चारण

करते हुए ही गमन करते हैं (स्वरन+सन=एति=उदयति इति) यहां सय शब्द की व्याख्या है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रणव शब्द का अर्थ क्या हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"(प्रकर्षेण नमयति-अथवा प्रणामयति नामयति-इति प्रणवः) जिस आकार के उच्चारण करने से ऋक्, यजु और साम ये तीनों वेद ब्रह्मवेताओं के लिये प्रणाम कराता है उसका नाम प्रणव है। अथवा (प्राणान सर्वान् परमात्मनि प्रणानयति—इति प्रणवः) जो समस्त प्राणों को परमात्मा में लगावे। प्रणव वेदों का सार है, समस्त श्रुतियों का आदि कारण है। प्रणव के बिना श्रुतियाँ कुछ भी करने में समर्थ नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूर्य की उद्गीथ रूप में उपासना कैसे करे ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! सूर्य को ही उद्गीथ मानकर-उन्हें ही प्रणव समझकर उनकी उपासना करे। इस विषय की एक कथा है। एक कोपीतकी नामक ऋषि थे। उन्होंने अपने एकमात्र पुत्र से कहा—"बेटा! मैंने इन सूर्यनारायण प्रत्यक्ष देव की उद्गीथ रूप में उपासना की थी। अर्थात् साम का जो उद्गीथ है, उसका वाच्यार्थ सूर्य ही हैं इस भावना से मैंने इनका भजन किया था, अतः इसका परिणाम यह हुआ कि मेरे तू अकेला ही पुत्र हुआ। सूर्य में और सूर्य किरणों में अभेद है, अतः तू किरणों सहित सूर्य की उद्गीथ रूप से उपासना कर। सूर्य की किरणें बहुत हैं अतः तेरे बहुत पुत्र होंगे।" इस प्रकार यह सूर्य देवता से सम्बन्ध रखने वाली आधिदैविक उपासना है। एक शरीर से सम्बन्ध रखने वाली आध्यात्मिक उपासना और भी है।

शौनकजी ने पूछा—"शरीर से सम्बन्ध रखने वाली आध्यात्मिक उपासना का प्रकार क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"वह प्राणोपासना है। उद्गीथ-गाने योग्य-परमात्मा ही है। जो मुख्य प्राण है जो श्वास के रूप में नाक तथा मुख से निकलता है, उसी के द्वारा परमात्मा की उपासना करनी चाहिये क्योंकि यह प्राण ओम का उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है। यह प्राण और सूर्य में भी अभेद है। क्योंकि सूर्य भी शब्द करता हुआ गमन करता है और प्राण भी शब्द करता हुआ गमन करता है। दोनों ही ओम् का उच्चारण करते हुए चलते हैं। ओ से प्राण बाहर जाता है, म् से भीतर। अतः श्वास के साथ ओम् की भावना करते हुए परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। इस विषय में भी कौषीतकि ऋषि की गाथा है।"

कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से यह बात कही थी—"वत्स! मैंने प्राण को ही लक्ष्य करके प्राण के साथ ओम् का तादात्म्य भाव करके-इसी में परमात्मा की भावना करते हुए ओंकार का गान किया था। इसके परिणाम स्वरूप तू मेरे एक ही पुत्र हुआ। तू दशधा रूप में प्रतिष्ठित प्राण को-अनेक रूपों वाला मानकर परमात्मभाव से उपासना कर इससे तेरे बहुत पुत्र होंगे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! पहिले तो कौषीतकि मुनि ने अपने पुत्र से सूर्य रूप में ओंकार की उपासना का उपदेश दिया था, दुबारा प्राण रूप से उपासना करने को कहा, यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"इससे उन्होंने सूर्य तथा प्राण की एकता का-तादात्म्यता का-वर्णन किया। अर्थात् चाहे तुम सूर्यरूप में उपासना करो, चाहे प्राण रूप में। बात एक ही है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवती श्रुति ने प्रणव और उद्गीथ की एकता का वर्णन किया। कहने का

तात्पर्य यह है कि यज्ञों में जो सामवेद का उद्गाता ऋत्विज् उद्गीथ रूप में जिसका गान करता है और ऋग्वेद का होता जिसका प्रणव रूप में गायन करता है दोनों एक ही हैं। जो प्रणव है वही उदगीथ है और जो उद्गीथ है वही प्रणव है। इस रहस्य को जो जानता है वह होता के आसन से ही उदगाता द्वारा दोषयुक्त उदगान को प्रणव के उच्चारण से सुधार लेता है क्योंकि प्रणव परमात्मा का वाचक नाम है और भगवन्नाम उच्चारण मन्त्र–तन्त्र, देश, काल, वस्तु आदि से हुई अशुद्धि को निश्छिद्र कर देता है। सब कर्मों को परिपूर्ण बना देता है। यह मैंने आपसे सूर्य और प्राण रूप में ओंकार की उपासना का प्रकार बताया, अब उद्गीथ की विविध रूपों में उपासना कैसे करनी चाहिये, इस विषय को बताऊँगा। इसे आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

मुख्य प्रान हौं गान कर्‌यो तू सुत मम एकहिँ।
होवैं बहु सुत गान करै प्राननि बहु रूपहिँ॥
साम भाग उद्गीथ प्रणव वह सार सबनि को।
प्रणव वही उद्गीथ भेद नहिँ इनि दाउनि को॥
दोष युक्त उद्गान कूँ, दोषमुक्त प्रणवहिँ करत।
नामोच्चारण यज्ञत्रटि, दूरि करत दोषहि नसत॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
पञ्चम खण्ड समाप्त।

विविध भाँति की आधिदैविक उद्गीथोपासनायें

[९८]

इयमेवर्गग्नि साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम तस्मा-दृच्यध्यूढ ँ साम गीयत इयमेव साऽग्निरमस्तत्साम १। ❀

(छा० उ० प्र० अ० ६ ख० १ म०)

छप्पय

भू ऋक्, अग्निहि साम, साम ऋक् माहिँ अवस्थित।
'सा' भू 'अम' ही अग्नि गानउद्गाता करि नित॥
अन्तरिक्ष ऋक्, वायु-साम ऋक् माहिँ अधिष्ठित।
अन्तरिक्ष 'सा' वायु 'अम' हिँ दोऊ एकहिँ चित॥
द्यौ ऋक्, सूर्यहि साम है, सूर्य अधिष्ठित साम महँ।
ऋक् थित सामहिँ गान करि, 'सा' 'अम' द्यौ रवि एक तहँ॥

यह चराचर जगत उन परमात्मा का ही रूप है। किसी भी रूप से परमात्मा की उपासना की जाय, वह परमात्मा को ही प्राप्त होगी। जैसे आकाश से वर्षा हुआ पानी चाहे छोटी नदियों

❀ यह पृथ्वी ऋग्वेद है, अग्नि सामवेद है। वह यह साम अधिष्ठित है ऋग्वेद में। अत ऋक् में अधिष्ठित साम का ही उद्गाता गान करते हैं। पृथ्वी ही 'सा' है 'अम' यह अग्नि है। इस प्रकार सा और अम मिलकर ही साम बन जाता है।

मे गिरे, तालाबो मे, कुओ मे, बड़े-बड़े नदों में, नदियों में, बालू में, मेदान मे, कहीं भी क्यों न गिरे, वह इर फिर कर समुद्र मे ही पहुँच जायगा। इसी प्रकार परमात्मा के किसी नाम को, किसी रूप को नमस्कार करो, उसकी किसी भी रूप से उपासना करो, वह परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त हो जायगी।

पहिले यज्ञों मे उद्गाता लोग उद्गीथ द्वारा साम का गान किया करते थे। आधिदैविक उपासना मे साम गायन की प्रधानता है। साम ही भगवान् की वेदो में सर्वोत्तम विभूति है। वह साम है क्या ? साम कहते हैं शाति को। जो अपने गायन द्वारा दुःखों का छेदन कर दे, श्रोता तथा वक्ता को सुखी बना दे। उसी का नाम साम है (स्यति-छिनति दुःखं-गेयत्वात् इति= साम) साम गायन से दुःख का नाश होता है। किन्तु साम गायन सरल नहीं है, यह बहुत कठिन है अत्यन्त परिश्रम से साम गायन आता है, अतः कोई-कोई साम का अर्थ यह भी करते हैं-जो दुरध्येय होने के कारण पाठक को दुःख देता है, वह साम है (स्यति—दुःखयति—दुरध्येयत्वात् इति-साम)।

यह साम ऋग्वेद का ही एक रूप है। जिनके अक्षर, पाद और समाप्ति ये सब नियत संख्या के अनुसार होते हो, उन मंत्रों को ऋक् कहते है, जिनसे देवताओं की स्तुति की जाती है। ऋक् संज्ञक मन्त्रो मे ही जो गीत प्रधान हैं-जो ताल स्वर लय के साथ गाये जाते हो-उन्हीं की साम संज्ञा है। अतः ऋक् में और साम मे कोई भेद नहीं। उसी साम के एक भाग को 'उद्गीथ' कहते हैं। उद्गीथ का अर्थ है-जो गायन हमें पृथ्वी से उठाकर ऊपर के लोकों को ले जाय, वह उद्गीथ है। उस साम गायन उद्गीथ की अनेक वस्तुओं से एकता करके देव भाव से उपासना

करने को उद्गीथ की आधिदैविक उपासना कहते हैं। ऐसी कई एकता की उपासना का वर्णन किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब उद्गीथ जो सामवेद का एक भाग है, उसकी अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन करते हैं। जैसे पृथ्वी है और अग्नि है, इन दोनों को मिलाकर तब उद्गीथ की उपासना करे।"

शौनकजी ने पूछा—"पृथ्वी और अग्नि से उद्गीथ का क्या सम्बन्ध?"

सूतजी ने कहा—"उद्गीथ है क्या? साम ही उद्गीथ है। साम क्या है, ऋक्वेद के जो गेय मन्त्र हैं वे ही साम हैं। जैसे साम और ऋक् एक है वैसे ही पृथ्वी और अग्नि भी एक है, ये ही दोनों मिलकर जीवन चलाते हैं। पृथ्वी का अर्थ है अन्न। अन्न को अग्नि पकाती है। अग्नि अन्न को पकाना बन्द कर दे तो कोई प्राणी जीवित ही न रहे। एक बार भृगु मुनि ने अग्नि को सर्वभक्षी होने का शाप दे दिया। इससे अग्निदेव बड़े कुपित हुये, उन्होंने अन्न को पचाने का काम बन्द कर दिया। इससे तीनों लोकों के जीव मरने लगे। तब देवता दौड़े-दौड़े ब्रह्माजी के पास गये। अपना दुःखड़ा रोया। ब्रह्माजी स्वयं अग्नि के पास आये और बोले—"भैया! तुमने अपना काम बन्द क्यों कर दिया है। तुम्हारे बिना तो त्रैलोक्य का नाश ही हो जायगा।'

अग्नि ने कहा—"महाराज! भृगु मुनि ने मुझे सर्वभक्षी होने का शाप दिया है। जब मैं निकृष्ट वस्तुओं को खाने लगूँगा, तो मुझे कौन पूजेगा? सभी मुझे अशुद्ध समझकर घृणा करेंगे। सर्वभक्षी होना तो बड़ा निकृष्ट है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भृगु की बात पर ध्यान मत दो। मैं तो भृगु का भी बाप हूँ। मैं कहता हूँ तुम सर्वभक्षी होने पर भी

पावक, पवमान, परम पवित्र सबको पावन बनाने वाले कहलाओगे। अतः जैसे पृथ्वी सब का आधार है वैसे ही अग्नि सबका जीवन है। अतः यह पृथ्वी ही ऋक्वेद है और अग्नि ही सामवेद है। जैसे सामवेद ऋग्वेद में ही प्रतिष्ठित है उसी प्रकार अग्नि रूप सामवेद पृथ्वी रूप ऋग्वेद में ही प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋग्वेद में प्रतिष्ठित सामवेद का ही गान किया है।"

शौनकजी ने कहा—"पृथ्वी और अग्नि की सामवेद से एकता किस प्रकार है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवती श्रुति कहती है 'साम' शब्द में एक 'सा' है और दूसरा 'अम' है। इसमें पृथ्वी ही 'सा' है और अग्नि ही 'अम' है। दोनों मिलकर साम शब्द बना है। इसलिये पृथ्वी और अग्नि दोनों को एक मानकर कुण्ड में जलती हुई अग्नि को ही ब्रह्म मानकर उसकी 'उद्गीथ' से महिमा गाकर उसकी परमात्म रूप से उपासना करनी चाहिये कि हे अग्ने ! हमें सुपथ में ले चलो। एक तो पृथ्वी अग्नि की एकता से उद्गीथ की यह उपासना हुई। अब दूसरे प्रकार की उपासना सुनो।"

अन्तरिक्ष और वायु ये भी दो जीवन के आधार हैं। अंतरिक्ष में ही वायु चलती है। पृथ्वी और स्वर्ग के बीच का आकाश या अवकाश अन्तरिक्ष कहलाता है। अन्तरिक्ष न हो तो वायु न चले। वायु न चले, तो कोई प्राणी जीवित ही न रहे। अतः अन्तरिक्ष में स्थित वायु की एकता करके उनकी उद्गीथ द्वारा स्तुति करके उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"अन्तरिक्ष और वायु की एकता कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे ऋक् और साम की एकता के समान पृथ्वी और अग्नि की एकता बतायी वैसे ही यहाँ अन्तरिक्ष ऋक

है, उसमे विचरण करने वाला वायु ही साम है। वह वायु रूप साम अन्तरिक्ष रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक् प्रतिष्ठित साम का ही उद्गीथ रूप मे गान किया जाता है। 'सा' करके अन्तरिक्ष और 'अम' करके वायु को लेना चाहिये। दोनो मिलकर ही सामरूप हैं। इसलिये अन्तरिक्ष मे स्थित वायु को परमात्मा का रूप मानकर दोनो की एकता करके साम उद्गीथ द्वारा उसकी उपासना करनी चाहिये-स्तुति करनी चाहिये। अन्तरिक्ष मे स्थित वायु भी परमात्मा का रूप ही है। अब तीसरे प्रकार से उद्गीथ उपासना बताते हैं।

द्यौ-स्वर्ग- ही ऋग्वेद स्वरूप है, उसमें विचरण करने वाले आदित्य-सूर्य ही साम है। ये जो सूर्य रूप में सामवेद हैं वे द्यौ रूप-स्वर्गरूप-ऋग्वेद मे अधिष्ठित हैं। अर्थात् जैसे साम ऋक् मे अधिष्ठित है वैसे ही सूर्य नारायण स्वर्ग में अधिष्ठित हैं। सूर्य का अधिष्ठान-रहने का स्थान-स्वर्ग है। जैसे यद्यपि ऋक् और साम एक ही हैं, किन्तु गान ऋक् अधिष्ठित साम का ही किया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि स्वर्ग और सूर्य एक ही हैं, किन्तु उपासना स्वर्ग में अधिष्ठित सूर्य नारायण की ही की जाती है। स्वर्ग और सूर्य दोनो मिलकर साम हैं। साम मे 'सा' और 'अम' दो शब्द हैं। उनमे 'सा' से अन्तरिक्ष समझना चाहिये और 'अम' से आदित्य। इसी प्रकार ये दोनो मिलकर साम बन गये। इसीलिये उद्गीथ द्वारा स्वर्गस्थ सूर्य को परमात्मा मानकर उनकी स्तुति उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूर्य मे परब्रह्म परमात्मा की उपासना कैसे करनी चाहिये? क्या सूर्य की किरणों को परमात्मा माने या जो थाली की भाँति गोल-गोल लाल सूर्य दीखता है, उसकी उपासना करे?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! थाली-सी जो गोल-गोल सूर्य की आकृति दीखती है या उसकी जो सुवर्ण वर्ण की किरणें दिखाई देती हैं, ये तो सूर्य के आधिभौतिक बाह्य रूप हैं। इस गोल आकृति के भीतर जो एक पुरुषाकार देवता है, उसे ही परब्रह्म मानकर उसकी उपासना करने का विधान है। उसका वर्णन आगे किया जायगा। अब चौथे प्रकार से उद्गीथ की उपासना बताते हैं।"

ये जो आकाश मडल मे असंख्यो नक्षत्र दिखायी देते हैं। मानो ये समस्त नक्षत्र ही ऋग्वेद का स्वरूप हैं। इन सब नक्षत्रों के मध्य मे जो इन सबका स्वामी चन्द्रमा अवस्थित है, वही मानो साम है। जैसे चन्द्रमा रूप साम नक्षत्र रुप ऋग्वेद मे अधिष्ठित है-स्थित है फिर भी गान साम का ही किया जाता है, उसी प्रकार यद्यपि नक्षत्रो के मध्य मे ही चन्द्रमा अवस्थित है, फिर भी उद्गीथ द्वारा ताराओ मे स्थित चन्द्रमा की ही उपासना की जाती है। साम में 'सा' और 'अम' दो अक्षर है इनमें नक्षत्र ही 'सा' हैं और चन्द्रमा ही 'अम' है दोनो मिलकर जैसे साम कहलाते हैं, वैसे ही नक्षत्र और चन्द्रमा मिलकर चन्द्ररूप में परमात्मा कहलाते हैं, उन्हीं की उद्गीथ द्वारा कीर्ति का बखान करना चाहिये, उन्हीं की स्तुति तथा उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वह बात तो रह ही गयी, सूर्य मे स्थित जो एक आधिदैविक रूप है उसकी परमात्म भावना से उपासना कैसे की जाय ?"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है ब्रह्मन् ! अब आगे उसी का वर्णन किया जायगा। आप इस दिव्यातिदिव्य परम पावन प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

ऋक् ही है नक्षत्र चन्द्रमा साम बतायो।
चन्द्ररूप यह सामवेद ऋक् माहिं समायो॥
ऋक् में अवथित साम गान सामहिं को होवै।
त्यों नक्षत्रहिँ चन्द्र उपासन तिनि की होवै॥
'सा' नक्षत्र समान है, 'अम' कूँ चन्द्र समान कहिँ।
साम होहिं मिलिकें उभय, गावैं उद्गाता तिनहिँ॥

आदित्य में हिरण्मय पुरुष की आधिदैविक उद्गीथोपासना

[९९]

अथ यदेवैतदादित्य शुक्लं भाः सैव साऽथयन्नीलम् । परः कृष्ण तदमस्तत्सामाऽथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥*

(छा० उ० प्र० अ० ६ ख० ६ म०)

छप्पय

शुक्ल ज्योति रवि ऋक्हिँ श्यामता नील साम है ।
ऋक्हिँ अधिष्ठित साम गान के जोग्य साम है ॥
'सा' ही शुक्ल प्रकाश श्याम नीलहिँ 'अम' मानों ।
नख शिख सब रग कनक मूँछ दाढीयुत जानों ॥
अरुन वरन के नयन वर, लाल कमल आभा अमित ।
सब पापनि ऊँचे उठयो, तातैं वह कहलाय उत ॥

---

* तदनतर यह जो आदित्य का शुक्ल प्रकाश है वही 'सा' है, उस मे नीलवर्ण तथा अधिक कृष्णवर्ण दिखायी देता है, वह 'अम' है । ये दोनों ही मिलकर 'साम' हैं । यह जो आदित्य मे सुवर्णमय पुरुष दृष्टिगोचर होता है, जिसकी दाढी मूँछ तथा केश सुवर्ण वर्ण के हैं । जो नखशिखान्त सम्पूर्ण सुवर्ण वर्ण वाला है ।

भगवान को किसी वस्तु विशेष में दैवबुद्धि से मानकर उनकी स्तुति सेवा पूजा करने को आधिदैविक उपासना कहते हैं। हम सबके प्रत्यक्ष देव सूर्य नारायण है। उनमें ही भगवद् बुद्धि करके उनको नित्य अर्घ्य देना यह आधिभौतिक सूर्योपासना है, किन्तु उस सूर्य के भीतर दैवभाव से साक्षात् भगवान् की मूर्ति देखना यह आधिदैविक उपासना है। सूर्य मे उपासकों को एक दिव्य पुरुष के दर्शन होते हैं, वह परम प्रकाशमय पुरुष है। जिसके केश, तथा मूँछ और दाढ़ी सुवर्ण वर्ण के हैं, नख के अग्रभाग से लेकर शिखा के अन्त भाग तक वह पुरुष सब-का-सब सुवर्णमय प्रकाशयुक्त है। उसके दोनो नयन अरुणवर्ण का जो कप्यास के सदृश कमल है, उसके समान हैं। इस 'कप्यास' शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध मे आचार्यों मे मतभेद है। आदि शंकराचार्य ने 'कप्यास' का अर्थ किया है, कपि कहते हैं मर्कट को, उसके आस-उपवेशन–बैठने के स्थान–को कप्यास कहते है। कप्यास का उनके मत मे अर्थ हुआ वानर की पीठ का अन्तिम भाग–जिसमे वह बैठा करता है। पायु (गुदा) स्थान। (तस्यैवं सर्वतः सुवर्ण वर्णस्य अपि अक्ष्णोः विशेषः। कथम् ? तस्य यथा कपेः मर्कटस्य= आसः=कप्यासः, आसेः उपवेशनार्थस्य करणे घञ्, कपि पृष्ठान्तो येन उपविशति) इसमे कप्यासवत् लाल कमल और उस लाल कमल के सदृश उन सूर्यस्थ कनकवर्ण के पुरुष की आँखें बतायी गयी हैं। इस अर्थ पर स्वामी रामानुजाचार्यजी ने अपनी असहमति प्रकट की है। इस सम्बन्ध की एक कथा कही जाती है।

भगवान् रामानुजाचार्य के विद्या गुरु थे आचार्य यादवप्रकाशजी। वे अद्वैतवादी थे और वेदशास्त्रों के प्रकाण्ड पंडित थे। सैकड़ों शिष्य उनके समीप शिक्षा प्राप्त करते थे। बालक रामानुज भी उनके पास पढ़ने गये। ये अलौकिक बुद्धि सम्पन्न तथा

परम प्रज्ञावान थे। इनकी स्मरण शक्ति, प्रत्युत्पन्न मति और अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि के कारण श्रीयादवप्रकाशजी महाराज परम सन्तुष्ट हुए। कुछ ही काल मे बालक रामानुज अपने विद्यागुरु के स्नेह भाजन बन गये। श्रीयादवप्रकाशजी अद्वैत वेदान्त के अद्वितीय विद्वान् परम प्रज्ञावान् विख्यात पंडित थे। उनका अद्वैत सिद्धान्त आज तक "यादवीय सिद्धान्त" नाम से प्रसिद्ध है। वे रामानुज जैसे अलौकिक बुद्धि सम्पन्न शिष्य को पाकर परम प्रमुदित हुए। उन्हे आशा थी यह पढ़कर मेरे नाम को प्रख्यात करेगा, किन्तु हुआ इसके विपरीत ही।

एक दिन बालक रामानुज अपने विद्यागुरु श्रीयादवप्रकाशजी के अंगों में तैल लगा रहे थे। जिन अध्यापकों को पढ़ाने का अत्यन्त व्यसन होता है, वे चलते, बैठते, स्नान करते यहाँ तक कि भोजन करते, समय भी छात्रो को पढ़ाते रहते हैं। ऐसे अध्यापकों से अध्ययन करने का हमें स्वयं सौभाग्य प्राप्त हुआ है। श्रीयादवप्रकाशजी रामानुजजी से तैल मर्दन भी कराते जाते थे और साथ ही एक दूसरे विद्यार्थी को छान्दोग्य उपनिषद् प्रथम अध्याय के छठवें खण्ड को पढ़ाते भी जाते थे। जब सप्तम मन्त्र आया और उस मन्त्र का यह भाग आया—तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेव मक्षिणी—तो अद्वैतवादी होने के कारण स्वाभाविक ही था, जैसा कि भगवान् शंकराचार्य ने 'कप्यासं—का मर्कट के बैठने का स्थान (गुदा) अर्थ किया है, वही अर्थ बताया। इस बात को परम साकारोपासना के समर्थक श्रीरामानुजाचार्य सहन न कर सके। सकल कल्याणमय निखिल सौंदर्य राशि सच्चिदानन्दघन मूर्ति परात्पर प्रभु के नेत्रों की तुलना वानर के वायु देश से सुनकर वे विचलित हो उठे। उन्होंने इसका विरोध करते हुए कहा—

"आचार्यदेव ! आपको ऐसा अश्लील अर्थ नहीं करना चाहिये फिर प्रभु के नेत्रों की तुलना में, यह तो अर्थ नहीं अनर्थ है।"

यह सुनकर श्रीयादवप्रकाशजी चौंके। क्या मेरे किये हुए अर्थ में भी कोई त्रुटि निकालने वाला है और वह भी मेरा ही पढ़ाया हुआ छोटा-सा छात्र ? उन्होंने छात्र रामानुज की ओर देखा उनके मुख मंडल पर रोष था. नेत्र सजल थे। अध्यापक ने कहा—"भाई, भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य ने 'कप्यासं' का यही अर्थ किया है।"

श्रीरामानुजाचार्य ने कहा—"किसी ने भी किया हो, यह अर्थ अनुपयुक्त है, असंगत है, अयोग्य है।"

श्रीयादवाचार्य ने कहा—"अच्छा, तुम ही इसका अर्थ करो।"

तब श्रीरामानुजाचार्य जो प्रत्युत्पन्नमति थे, तुरन्त कहने लगे—"कप्यासं का अर्थ है (कं=जलं पिबति इति=कपिः= सूर्यः। तेन आस्यते=क्षिप्यते=विकास्यते=इति कप्यासम्) क अर्थात् जल को जो पीने वाला है (भास्करो वारि तस्करः) वह हुआ सूर्य। उस सूर्य की किरणों से भली-भाँति खिला हुआ जो पुण्डरीक (लालकमल) है उस कमल की भाँति हैं आखें जिनकी।"

इस उत्तर को सुनकर आचार्य यादवप्रकाश कुछ रुष्ट हुए। गुरु शिष्य में यहीं से मनोमालिन्य आरम्भ हो गया और वह बढ़ता ही गया। 'कप्यास' शब्द की उपमा भगवान् के नेत्रों को नहीं दी गयी। पुण्डरीक (लाल कमल) को कप्यास की उपमा दी गयी है। भगवान् के नेत्रों की समता तो पुण्डरीक (लाल कमल) से ही की गयी है। स्वयं भगवान शंकराचार्य ने भी इसका निराकरण करते हुए कहा है, वे स्वयं प्रतिपक्ष की शंका का

निवारण करते हुए प्रश्न उठाते हैं, ऐसी हीनोपमा भगवान् के नेत्रों को क्यों दी गयी ? इसका निराकरण करते हुए वे कहते हैं – "यहाँ आँखों को कप्यास से उपमित नहीं किया गया है अपि तो पुण्डरीक जो लाल कमल है उसको कप्यास के साथ उपमित किया गया है। नेत्रों को तो पुण्डरीक की ही उपमा दी गयी है। यहाँ हीन उपमा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो उपमितोपमान है। अर्थात् जिस पुण्डरीक की नेत्रों से उपमा दी गयी है, कप्यास की उपमा तो कमल को है न कि नेत्रों को (कप्यास इव पुण्डरीकमत्यन्त तेजस्वि, एवमस्य देवस्याक्षिणी उपमितोपमानत्वान्न हीनोपमा) इससे कोई विशेष हानि तो नहीं थी। वास्तव में देखा जाय कपि का जो पीठ का अन्तिम भाग है, उसकी जैसी लाली होती है, उसकी लाल कमल के भीतर के भाग के अतिरिक्त दूसरी कोई उपमा ही नहीं। इसे हीनोपमा नहीं कहनी चाहिये। जैसे गोपियों ने कहा है जारो मुक्त्वारतां स्त्रियम्। या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनि पायिनी, जैसे भगवान् की, भक्ति कैसी हो जैसे जार पुरुष की प्रीति कामिनी में होती है। 'यथा विटामिवसाधुवार्ता' यहाँ कहने का तात्पर्य इतना ही है जार पुरुष की जैसी अभीष्ट कामिनी में आसक्ति होती है उसकी दूसरी संसार में उपमा नहीं। इसी प्रकार कपि के पृष्ठ के अन्तिम भाग की जैसी लाली है वह लाली, लाल कमल के अतिरिक्त दूसरी वस्तु से हो ही नहीं सकती। फिर भी ऐसी उपमा का चाहे प्रत्यक्ष न सही परम्परया ही सही भगवान् के अंगों के साथ सम्बन्ध जोड़ना विशेष उपयुक्त नहीं। विद्वानों ने कप्यास के 'अत्यन्त खिले कमल, के अतिरिक्त भी कई अर्थ किये हैं। जैसे (कं=जलं विपति इति कपिः=कमलनालम्=तस्मिन आस्त इति कप्यासम्) अर्थात् पानी को पीकर बढ़ने वाली कमल की नाल है, उस नाल के

सहित जो लाल कमल हैं उसके सदृश जिनकी आँखें है। वैसे पुण्डरीक तो सफेद कमल को कहते हैं, इसीलिये कप्यास विशेषण लगाकर उसे लाल कमल बताया गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब सूर्य में एक दूसरी प्रकार से उद्गीथ की आधिदैविक उपासना बताते हैं। ये जो हमें प्रत्यक्ष सूर्यनारायण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनकी जो श्वेतवर्ण की आभा दिखायी देती है, वह श्वेत आभा ही मानो ऋक् है और इस श्वेत आभा के भी भीतर अप्रकट रूप मे नील वर्ण की गहरी श्यामता है, वह श्यामता ही मानो सामवेद है। इस श्वेत आभा रूप ऋक् मे श्याम आभारूप साम संप्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक् में प्रतिष्ठित साम का ही गान किया जाता है। अब दूसरे प्रकार से भी एकता श्रवण करें। सूर्य की जो श्वेत प्रभा बतायी गयी है, वही मानो 'सा' शब्द है जो नील तथा अत्यन्त गहरी श्याम प्रभा है, वही मानो 'अम' शब्द है। दोनों मिलकर ही साम बन जाते हैं। अब सूर्य के गोल प्रतिबिम्ब को ध्यान से अवलोकन करो, तो उसमे उसका अन्तर्यामी पुरुष दृष्टिगोचर होता है वह सुवर्ण के सदृश परम प्रकाशयुक्त स्वरूप वाला है। यद्यपि देवताओं के दाढ़ी, मूछें नहीं होतीं, किन्तु यह दिव्य पुरुष देवताओं से भी विलक्षण है। इसकी दाढ़ी, मूछें सुवर्ण वर्ण की-सी है तथा इसके केश भी सुवर्ण जैसे वर्ण वाले परम प्रकाशयुक्त हैं। अधिक क्या कहें उसका नख से लेकर शिखा पर्यन्त समस्त शरीर सुवर्ण सदृश वर्ण वाला दिव्य प्रकाशमय है। वह सूर्य के मध्य मे स्थित पुरुष परमेश्वर परमात्मा परमपुरुष ही है। उसकी दोनों लाल-लाल आँखें नव विकसित नाल सहित लाल कमल के सदृश बड़ी-बड़ी रतनारी हैं। उसका 'उत्' यह नाम है अर्थात् वह ऊपर की ओर उठा हुआ है। इसका अभिप्राय यही हुआ कि जो इस सूर्य-

मडल स्थित सुवर्ण वर्ण वाले परमपुरुष की उपासना करता है, उसका यह अधः पतन नहीं होने देता, उसे ऊपर ही उठाता ले जाता है। वह साधक समस्त पापों से ऊपर उठ जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर इस सूर्यमण्डल स्थित पुरुष की 'उद्गीथ' उपासना कैसे करनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! पीछे बार-बार तो बताया जा चुका है। जो ऋग्वेद है वही सामवेद है, ऋग्वेद, सामवेद में सप्रतिष्ठित है, अतः गान सामवेद का ही होता है। वैसे ऋग्वेद तथा सामवेद ये दोनों उसके पक्ष हैं ये और सभी वेद उन परमपुरुष परमात्मा के ही गुणों का गान करते हैं, इसलिये यह गान ही 'उद्गीथ' है। वेद मन्त्रो द्वारा उनकी स्तुति करना, गुणगान करना, अर्चा पूजा आदि करना यही उद्गीथ उपासना है। जो उद्गाता साम का गान करता है, वही उसी परब्रह्म का ही गान करता है। वह परमात्मा सभी का स्वामी है, सभी का अधिष्ठाता तथा शासक है। स्वर्ग से भी ऊपर के जितने लोक हैं, उन समस्त लोकों का तथा देवताओं के भी जितने दिव्य भोग हैं, उन सब भोगों का भी शासन एकमात्र यह परब्रह्म परमात्मा ही करता है। इस प्रकार सूर्यमण्डलवर्ती उस परमपुरुष की दैवभाव से उपासना करना यही आधिदैविक उपासना है। यह मैंने आदित्य मडलवर्ती पुरुष की आधिदैविक उपासना कही। अब इस शरीर मे ही उद्गीथ की आध्यात्मिक उपासना कैसे करनी चाहिये उस उपासना को मैं आप से आगे कहूँगा। आशा है, आप इस परम रहस्यमय गूढ़ प्रसंग को सावधानी के सहित श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जो जाने जा रहस उठै पापनि तैं ऊपर।
परम पुरुष के पच्छ साम ऋक् गावै गुनवर॥
उद्गाता तिहि कहैं गुननि उनिके जो गावै।
सब तैं ऊपर रहै ब्रह्म ही उत्' कहलावै॥
स्वर्ग लोक हू तैं उपरि, लोक-भोग शासन करत।
अधिदैवत उद्गीथ यह, करै उपासन नहिं मरत॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् मे प्रथम अध्याय का
सप्तम खण्ड समाप्त

शरीर दृष्टि से अध्यात्म-उद्गीथोपासना

[१००]

अथाध्यात्मं वागेवर्क् प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥*

(छा० उ० प्र० अ० ७ ख०, १ म०)

छप्पय

देह दृष्टि तैं अब अध्यात्म उपासन विधिवत।
सुनो, वाक्-ऋक् प्रान-साम ऋक् माहिँ अधिष्ठित॥
साम गान ही करत, वाक् 'सा' प्रान 'अम' हि हैं।
साम उभय मिलि होहिँ श्रोत्र-ऋक् मन-सामहि हैं॥
साम अधिष्ठित ऋक्हि में, गान साम ही को करें।
कहयो 'श्रोत्र' 'सा' मनहि 'अम' साम बनै गावें तरें॥

मिश्री की जो ठेली होती है उसे कहीं से भी तोड़ो, जहाँ से भी तोड़ोगे सब मीठी-ही-मीठी मिलेगी। पृथ्वी के नीचे के सात

---

* अब इसके अनन्तर अध्यात्म उपासना कही जाती है। वाणी ही ऋक् का स्वरूप है। प्राण ही साम है। इसलिये वाक् रूप ऋक् में प्राण रूप साम अधिष्ठित है। अतः अब भी ऋगारूढ साम का ही गायन होता है। इनमें वाणी ही 'सा' है और प्राण ही 'अम' हैं। ये उभय सम्मिलित होकर ही साम हैं।

लोक और पृथ्वी के ऊपर के सात लोक इन चौदह लोकों का एक ब्रह्माण्ड है। वैदिक भाषा में ये चौदह भुवन चार भागों में विभक्त किये गये हैं। (१) अम्भलोक, (२) मरलोक, (३) मरीच लोक, और (४) आपलोक। नीचे के जो (१) अतल, (२) वितल (३) सुतल, (४) तलातल, (५) रसातल, (६) महातल और (७) पाताल ये सात लोक हैं। ये आप लोक कहलाते हैं, क्योंकि इसके नीचे जल ही अधिक है। आप की अधिकता से इनकी आप संज्ञा है। इसके ऊपर पृथ्वी है इसे मृत्युलोक-मर्त्य लोक अथवा मर लोक कहते हैं, क्योंकि यहाँ के लोग मरते हैं। पृथ्वी से ऊपर भुवर्लोक है। जिसे अन्तरिक्ष भी कहते हैं। सूर्य, चन्द्र, तथा तारादि किरणें इसी मे फैलती हैं अतः किरणों से सम्बन्धित होने के कारण ये मरीचि-किरण-लोक-कहलाते हैं। भुवर्लोक से ऊपर जो स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्य लोक ये पाँच लोक हैं, ये अम्भलोक कहलाते हैं। अम्भ शब्द का अर्थ यहाँ मेघों से है। मेघों को ये ही लोक धारण करते हैं। ये सभी लोक भगवान् के स्वरूप हैं। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् परब्रह्म परमात्मा का ही रूप है। परमात्मा ही जगत् बन गये हैं। उस प्रकार नहीं बने है जैसे बीज वृक्ष बन जाता है। पृथ्वी में गड़ा हुआ बीज जब अंकुरित हो जाता है, तो फिर बीज नष्ट हो जाता है, किन्तु भगवान् जगत् रूप में भी परिणित हो जाते हैं और उनका जगत् से पृथक् भी अपना रूप अवस्थित रहता है। जगत् की रचना वे लीला के लिये, क्रीड़ा के लिये, मनविनोद के लिये तथा जीवों के भोगों को भुगवाने के लिये करते हैं। जीव का एकमात्र लक्ष्य परमात्म प्राप्ति है। वह परमात्म प्राप्ति उपासना द्वारा ही हो सकती है। उपासना चाहें आप अम्भलोक की वस्तुओं को ब्रह्म मानकर करें अथवा मरीचलोक की वस्तुओं

मे करें, चाहे मरलोक की वस्तुओं में करें। मिश्री की ठेली की भाँति सभी मे आपको एक-सी मधुरता मिलेगी। सभी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होगी। अब तक अम्भलोक तथा मरीचलोक की वस्तुओ की उपासना बतायी। अब मरलोक मर्त्यलोक की वस्तुओं से इस अपने ही शरीर को दृष्टि मे रखकर उद्गीथ (साम के द्वारा) अध्यात्म उपासना का वर्णन किया जाता है। ये समस्त उपासनायें उद्गाता द्वारा साम के गायन से–उद्गीथ से–ही होती हैं। इसीलिय इसका नाम उद्गीथ उपासना है। वह साम भी ऋगारूढ़ साम हो। अर्थात् ऋग्वेद जिस साम मे अधिष्ठित हो। इस प्रकार साम और ऋक् की एकता तथा उपास्य प्रतीक दो वस्तुओं की एकता ही इस उपासना का प्रकार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब देह दृष्टि से साम की–उद्गीथ की–उपासना बताते हैं। इन्द्रियाँ दश हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय इनमें कर्मेन्द्रिय में वाणी की और ज्ञानेन्द्रिय में चक्षु तथा कर्ण की प्रधानता है। सब इन्द्रियों के साथ प्राण तथा अन्तःकरण का तादात्म्य सम्बन्ध है। इस शरीर में उद्गीथ की उपासना किस भाव से करे, इसे बताते हैं। उद्गाता ऋगारूढ़ साम के गायन द्वारा ही अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर सकता है। अतः वाक् इन्द्रिय वाणी को तो ऋक् माने और प्राण को साम। प्राणरूप साम वाणी रूप ऋक् में अधिष्ठित हैं। इसीलिये उद्गाता लोग ऋगारूढ़ साम का ही गान किया करते हैं। इसमें वाणी ही 'सा' है और प्राण ही 'अम' हैं। दोनों मिलकर ही साम बनते हैं अतः वाणी में अधिष्ठित प्राण की ही परब्रह्म रूप मे उपासना करनी चाहिये।

अब दूसरा प्रकार बताते हैं। यह नेत्र है वही ऋक् है, इसके भीतर जो आत्मा रूप में काली पुतली है, वही साम है। इस

प्रकार चक्षु रूप ऋग्वेद में यह आत्मा रूप अधिष्ठित है। इसीलिये अब तक ऋगारूढ़ साम का ही गायन किया जाता है। इनमें चक्षु ही 'सा' स्वरूप है और आँख की काली पुतली आत्मा ही 'अम' है। दोनों मिलकर ही साम होते हैं अतः उद्गीथ-साम गायन-द्वारा आँखों में आत्म रूप से प्रतिष्ठित परमात्मा का गुण गान करना चाहिये।

अब शारीरिक दृष्टि से उद्गीतोपासना की आध्यात्मिक उपासना का तीसरा प्रकार बताते हैं। ये जो श्रोत्र (कर्ण) हैं वही ऋक् है, और इन्द्रियों को संचालन करने वाला मन ही साम है। इस भाँति श्रोत्र स्वरूप ऋग्वेद में मन रूप साम अधिष्ठित है, इसीलिये ऋगारूढ़ साम वेद का ही उद्गाता द्वारा गायन किया जाता है। इनमें जो श्रोत्र है वही मानो 'सा' शब्द है और 'ओ' 'अम' शब्द है वही मानों मन है। इस प्रकार श्रोत्र और मन दोनों मिलकर ही साम हैं। इसलिये श्रोत्र में मन को परमात्मा मानकर उसका उद्गाता द्वारा गुणगान करना चाहिये।

अब शारीरिक दृष्टि से ही एक चौथा प्रकार बताते हैं। नेत्रों में हमें दो प्रकार के रंग दिखायी देते हैं, आँखों की जो भूमि है, वह तो श्वेत वर्ण की है, उसमें नील वर्ण की अत्यन्त श्यामता लिये बीच में काली पुतली है। तो उस शुक्ल प्रकाश में तो ऋग्वेद की भावना करे। और जो नील वर्ण की अत्यन्त श्यामता लिये हुए पुतली है, उसमें सामवेद की भावना करे। इस प्रकार शुक्ल रंग का प्रकाश जो ऋग्वेद स्वरूप है और नील वर्ण की अत्यन्त श्यामता लिये हुए सामरूप पुतली है वह उसमें प्रतिष्ठित है, इसीलिये ऋगारूढ़ साम का ही उद्गाता द्वारा गान किया जाता है। इनमें नेत्र का शुक्ल प्रकाश ही 'सा' शब्द

स्वरूप है और नील वर्ण की जो गहरी श्यामता है वह 'अम' शब्द रूप है। ये दोनों ही मिलकर साम होते हैं। अतः आँखों में जो गहरी श्यामता है कृष्ण रंग है उसे ही श्यामसुन्दर का साकार स्वरूप मानकर उद्गीथ द्वारा उसकी स्तुति करनी चाहिये।

अब एक पाँचवाँ प्रकार शरीर की दृष्टि से अध्यात्म उद्गीथ उपासना का बताते हैं। छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के छठें खण्ड में पहिले ही बता चुके हैं कि सूर्य मंडल में एक सुवर्ण वर्ण का परम प्रकाशमय दाढ़ी, मूँछ तथा केशों वाला दिव्य पुरुष दिखायी देता है। उसी की परमात्म भावना से सूर्य मंडल में उपासना करनी चाहिये। अब यहाँ कहते हैं नेत्रो के अधिष्ठातृ देव सूर्य हैं, तो सूर्य मंडल में जो वह सुवर्ण वर्ण का दिव्य पुरुष दिखायी देता है, वही योगियो को नेत्रो मे भी दृष्टिगोचर होता है। वही नेत्रों के मध्य मे दिखायी देने वाला पुरुष ऋग्वेद स्वरूप है। और वही सामवेद स्वरूप भी है। वही उक्थ-अर्थात् साम वेद के स्तोत्र समूह हैं। वही यजुर्वेद है। और वही ब्रह्म है। वेद स्वरूप परब्रह्म है। इसका स्वरूप ठीक उसी भाँति है, जैसा स्वरूप सूर्य मंडल के मध्यवर्ती पुरुष का बताया है। जैसे वहाँ आदित्य मंडल मध्यवर्ती पुरुष के सम्बन्ध में बताया था कि ऋग्वेद और सामवेद उस दिव्य पुरुष के गुणगान करते हैं। इसी प्रकार इस नेत्र मध्यवर्ती पुरुष के भी ऋग्वेद तथा साम वेद का गुणगान करते हैं। वहाँ बताया था, कि आदित्य मंडल में स्थित उस दिव्य पुरुष का नाम 'उत्' है, क्योंकि वह समस्त पापों से ऊँचा उठा हुआ है और वह अपने उपासको को भी ऊपर उठा देता है। तो जैसे वहाँ उसका नाम 'उत्' बताया उसी प्रकार नेत्रों के मध्य मे जो दिव्य पुरुष है, उसका भी नाम 'उत्'

ही है। कहने का सारांश इतना ही है कि सूर्य मंडलवर्ती पुरुष और नेत्रों के मध्य मे दिखायी देने वाला पुरुष रंग, रूप, आकार, प्रकार, नाम तथा गान सभी दृष्टि से एक ही है। नेत्र के मध्य में भी परमात्म भावना से उसकी साम गान द्वारा उपासना करनी चाहिये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार सूर्य में जो आधिदैविक उपासना बतायी, उसी पुरुष की चक्षु मे उपासना कही गयी। दोनो एक ही हैं और दोनों की उपासना का फल भी एक ही है। इस चक्षु वाले पुरुष की उपासना का फल बताते हैं, कि पृथ्वी के नीचे के जो अतल वितलादि सात लोक हैं, उनका शासन यह परम पुरुष ही करता है। मनुष्य लोक में जितने भी भोग हैं, उन भोगों का प्रदाता स्वामी अध्यक्ष भी यही पुरुष है। इसीलिये जो लोग वीणा बजाकर वीणा के स्वरो के साथ इस परम पुरुष के गुणों का गान करते हैं, इसी पर मुग्ध होकर लोग उन्हे द्रव्य प्रदान करते हैं। वीणा पर गायन के द्वारा उसी के गुण गाये जाते हैं और गाने वाले को तत्काल—उस गायन का—फल भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह शरीर दृष्टि से उद्गीथ की अध्यात्म उपासना कही। अब इन उपासनाओं का जो फल होता है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

नेत्र मध्य इक पुरुष योग तैं दीसत मनहर।
वह ही है ऋक् साम उक्थ अरु यजुर्वेदवर॥
है वह वेद स्वरूप ब्रह्म परमात्म कहावै।
सूर्य माहिँ जो दिखै नेत्र में वही दिखावै॥
नाम, रूप, रङ्ग एक सम, दोउनि कूँ एकहि कहहिँ।
अधोलोक पति भोग पति, गाइँ बीन ते धन लहहिँ॥

उद्गीथ उपासना का फल

[१०१]

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे
य एवं विद्वान्साम गायति सामगायति ॥६॥❀

(छा० उ० प्र० अ० ७ ख० ६ म०)

छप्पय

चाक्षुस अरु आदित्य पुरुष गुन गान करत जो।
दोउनि एकहि मानि सामतैं गावै तिहिं सो॥
स्वर्ग लोक तैं उपरि दिव्य भोगनि सो पावै।
अतल, वितल, पाताल आदि लोकनि उपजावै॥
भूमण्डल के भोग सब, मिलै कामना पूर्ण सब।
चाहे जैसी वस्तु जब, तैसी सो मिलि जाय तब॥

वेद के मन्त्र कल्पवृक्ष के सदृश होते हैं। उनकी जो जिस भावना से—सकाम अथवा निष्काम भावना से—गान करता है, वह अपनी भावना के ही अनुसार फल प्राप्त करता है। किन्तु वेद का पाठ करने वाले में तीन बातें अवश्य होनी चाहिये।

❀ साम गायन करने वाला उद्गाता यजमान से पूछे—"तेरे लिये किस कामना को लक्ष्य करके मैं सामवेद का सविधि गान करूँ।" क्योंकि निश्चय ही सकाम गायन की यही सामर्थ्य है। जो उद्गाता इस रहस्य को भली भाँति जानकर साम का गान करता है, वास्तव में वही साम गायन करता है, वही सामवेद को गाता है।

(१) एक तो उसे वेद मन्त्रों का साङ्गोपाङ्ग पूर्णरीत्या स्वर, धन, वल्ली आदि सहित पूर्ण ज्ञान हो, (२) दूसरे वेद पाठ करने वाला सदाचारी तथा जितेन्द्रिय हो और (३) तीसरे वह घोर तपस्या के द्वारा कल्मष रहित–निष्पाप–हो गया हो। ऐसा वेदज्ञ ब्राह्मण जिस कामना से वेद मन्त्रों का उच्चारण करेगा, वह कामना अवश्य ही फलवती होगी। पहिले बहुत से वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हुआ करते थे और यजमान उनके द्वारा अपनी मनोकामनायें पूर्ण कराया करते थे।

इस सम्बन्ध की एक बड़ी ही सुन्दर पौराणिक कथा है। ब्रह्माजी के पौत्र कश्यपजी के विवस्वान् सूर्य हुए। विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु हुए। पहिले मनु निःसन्तान थे। पूर्वकाल में लोग सब कार्यों की सिद्धि के लिये दैवबल–उपासना से ही काम लेते थे।

वैवस्वत मनु ने अपने पुरोहित भगवान् वसिष्ठजी से कहा—"भगवन्! मेरे कोई पुत्र नहीं है, और वेद का वचन है–अपुत्र की गति नहीं होती। अतः आप मुझसे कोई ऐसा यज्ञ कराइये, जिससे मेरे पुत्र उत्पन्न हो जाय।"

वसिष्ठजी ने कहा—"बहुत अच्छी बात है, राजन्! मैं आप से मित्रावरुण इष्टि कराऊँगा। उस यज्ञ के प्रभाव से आपके अवश्य ही पुत्र होगा।"

राजा की अनुमति प्राप्त करके भगवान् वसिष्ठ ने यज्ञ [illegible] कराया। यज्ञ में जो ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, और उद्गाता [illegible] प्रधान चार ऋत्विज् होते हैं। उनमें होता ऋक्वेद का [illegible] है, अध्वर्यु यजुर्वेद का और उद्गाता सामवेद का [illegible] वेदों का ज्ञाता होता है, वह सभी ऋत्विज् [illegible] की देख-रेख करता है।

विधि विधान पूर्वक यज्ञमंडप, हवनकुण्ड की रचना हुई। यज्ञशाला के समीप ही यजमान के रहने का स्थान तथा यजमान का धर्मपत्नी के लिये पत्नीशाला बनी। यजमान और यजमान पत्नी वहाँ बड़े संयम-नियम से निवास करने लगे। वैवस्वत मनु की पत्नी श्रद्धा केवल एक बार दूध पीकर ही रहकर अपने पति के साथ यज्ञीय कार्यों को सम्पन्न कराती थी। यज्ञ पुत्र की प्राप्ति की कामना से हो रहा था। किन्तु मनु पत्नी महारानी श्रद्धा की इच्छा थी, मेरे पुत्र न होकर पुत्री हो। माताओं को पुत्र की अपेक्षा पुत्री से अधिक प्रेम होता है। पुत्र तो जहाँ दो चार वर्ष का हुआ पुरुषों में रहने लगता है, माता उससे खुलकर अपने दुःख सुख की बातें नहीं कह सकती। पुत्री तो जब तक विवाह न हो सदा माता के ही समीप बनी रहती है। सम लिङ्गी होने के कारण माता पुत्री से गुप्त से-गुप्त सुख दुःख की बातें कह सकती है। अतः रानी ने पति की इच्छा के विरुद्ध एक दिन चुपके से एकान्त में होता ऋत्विज् के समीप जाकर कहा—"ब्रह्मन्! मेरी इच्छा पुत्री प्राप्त करने की है, अतः आप ऐसा मंत्र पढ़ें जिससे मेरे पुत्र न होकर पुत्री ही हो।" यह कह रानी ने पूजा प्रतिष्ठा विशेष दक्षिणा द्वारा होता को सन्तुष्ट कर लिया। तब अध्वर्यु की प्रेरणा से होता बने ब्राह्मण ने श्रद्धा देवी की इच्छानुसार पुत्री ही की कामना से वषट्कार का उच्चारण करके यज्ञकुंड में आहुति दी। मंत्रों की शक्ति तो अमोघ होती है। महारानी की इच्छानुसार उनके गर्भ से इला नाम की पुत्री ही हुई।

यह देखकर महाराज मनु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा—मेरे इस वैदिक कर्म मे विधि की तो कोई त्रुटि हुई नहीं, यज्ञीय सामग्री भी सभी शुद्ध थी, मेरी भावना भी शुद्ध थी।

यज्ञ में जो ब्राह्मण वरण किये गये थे, वे भी सब विधि विधान को जानने वाले थे। अपने-अपने विषय के पूरे पंडित थे। उन्होंने यज्ञीय कृत्य भी सभी परम पवित्रता से विधि विधान पूर्वक कराये थे। फिर यह संकल्प वैषम्य-विपरीत फल-कैसे हुआ ?" अपनी शंका के निवारणार्थ वे अपने गुरु वसिष्ठ जी के पास गये और जाकर उन्होंने निवेदन किया—"भगवन ! यज्ञों में संकल्प का विपरीत फल या तो यजमान की अश्रद्धा के कारण होता है, अथवा विधि विधान में त्रुटि रहने से विपरीत फल हो जाता है। तीसरा कारण यह भी हो जाता है, कि यज्ञ के ऋत्विजगण पूर्ण ज्ञानी न हों। वेद मन्त्रों को भली भाँति न जानने वाले, असदाचारी तथा अतपस्वी हो। मेरे यज्ञ में इन तीन बातों में से एक भी बात नहीं थी। मैंने बड़ी श्रद्धा भक्ति से शुद्ध संकल्प से समस्त यज्ञीय कार्य कराये। जैसी आपने विधि बतायी थी, उसका यथाशक्ति पालन किया गया। आप ऋत्विजों का मंत्र ज्ञान परिपूर्ण है। आप ब्रह्मवेत्ता, जितेन्द्रिय, परम तपस्वी तथा निष्पाप हैं, मेरे संकल्प का विपरीत फल कैसे हुआ ?"

यह सुनकर भगवान् वसिष्ठजी को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। ऐसा कैसे हो गया ? ऐसा तो नहीं होना चाहिये था। उन्होंने ध्यान से देखा, तो वे समझ गये—ओ हो ! यह विपरीत फल होता के व्यतिक्रम से-उसके विपरीत संकल्प से-हुआ। उन्होंने महाराज मनु से कहा—"राजन् ! आपकी धर्म पत्नी के कहने से उसकी पुत्री की इच्छा होने के कारण-होता ने यह सब गड़बड़-सड़बड़ कर दी। विपरीत मन्त्र पढ़ दिया इसी से पुत्र न होकर पुत्री से पैदा हुई।।"

महाराज मनु ने कहा—"भगवन् ! अब कोई ऐसा उपाय

नहीं–आपके मन्त्रो मे ऐसी शक्ति नहीं–कि इस पुत्री का ही पुत्र हो जाय ?"

वसिष्ठ जी ने कहा—"मंत्रो की शक्ति अमोघ है। मत्रो मे सभी प्रकार की सामर्थ्य है। मैं अपने मत्रों के प्रभाव से इस पुत्री का हा पुत्र बना दूँगा।" यह कहकर वसिष्ठजी ने वेद मत्रो के प्रभाव से महाराज मनु का इच्छानुसार इला पुत्री को ही इल बना दिया। जा राजा सुद्युम्न नाम से प्रतिष्ठानपुरी के विख्यात राजा हुए। ऐसा पहिल वेद के मत्रो मे प्रभाव होता था। अब काल क्रम से वेदा का स्वाध्याय बद हो जाने से, सदाचार, इन्द्रिय सयम, तपस्या के अभाव से वेद मत्रो मे उतना प्रभाव नहीं रहा। अब उनके द्वारा सर्व कामनाओं की पूर्ति प्रायः नहीं होती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! चक्षु मे रहने वाला पुरुष तथा सूर्य मडल मे विराजमान पुरुष एक ही है। सूर्य मे विराजने वाला पुरुष स्वर्गलोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों का तथा उन लोकों मे प्राप्त भोगो का स्वामी है और चक्षु में अवस्थित पुरुष पृथ्वी के नाचे के सात लोकों का तथा पृथ्वी अन्तरिक्ष का और इन लोको में प्राप्त होन वाले भोगों का स्वामी है। इन दोनों का ही जो गुणगान करते हैं। वे अपनी अपनी मनोवाछित वस्तुओं को प्राप्त कर लेते हैं। देखिये, सभाओ मे जो भगवद् गुणानुवाद का वाद्यो पर गान करते हैं, उन्हे तत्काल उसका फल मिल जाता है, उन्हे धन की प्राप्ति हाता है। फिर जो सस्वर वेदगान द्वारा उस परमात्मा के गुणों का गान करेंगे उन्हे अपनी अभीष्ट वस्तु क्यो नहीं प्राप्त होगा। चाक्षुप पुरुष नीचे के लोको का तथा मानवीय भोगो का स्वामी है और सूर्य मडल का पुरुष स्वर्गादि पाँच ऊपर के लोको का तथा देवताओ के भोगो का अधीश्वर है। इस कथन से दोनो पृथक् पृथक् नहीं मानना चाहिये। दोनों

एक ही हैं, स्थान भेद से दोनों का पृथक् वर्णन है। जैसे कौए की आँखें तो दो होती हैं। किन्तु उनमें देखने वाली काली पुतली एक ही है, वह जब चाहे उसे बाँई आँख में कर लेता है। इसी प्रकार उपास्य परमपुरुष एक ही है। जो इस प्रकार चाक्षुष और आदित्य दोनों पुरुषों की एकता का ज्ञान करके साम गान द्वारा उस परमात्मा की स्तुति करता है। दोनों का ही एकत्व भावना से गुणगान करता है। वह उसी गान द्वारा जो आदित्य-लोक से ऊपर के लोक हैं उन्हें प्राप्त कर लेता है तथा देवताओं के भोगने योग्य जो उन-उन लोकों के दिव्य भोग हैं, उन्हें भी प्राप्त कर लेता है। साथ ही इसी अभेद रूप से-एकत्व भावना से-जो उद्गीथ द्वारा-सामगायन करके-उपासना करता है। उसे नीचे के भू विवर स्वर्ग तथा उनमें भोग और पृथ्वी के मनुष्य सम्बन्धी समस्त भोगों को भी वह चाहे तो प्राप्त कर सकता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जो स्वयं सामगान करने में समर्थ नहीं है, किन्तु वह पृथ्वी सम्बन्धी भोगों को तथा स्वर्गादि ऊपर के दिव्य लोकों के भोगों को प्राप्त करना चाहता है, तो कैसे प्राप्त करें?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! वह वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा अपनी कामना के अनुसार वैदिक यज्ञ याग करावें। सात्विक प्रकृति के तप'पूत ब्राह्मणों को जिन्होंने साङ्गोपाङ्ग सविधि वेदों का अध्ययन किया हो, उनका वरण करे। उनसे प्रार्थना करे—"भगवन्! पुण्यलोकों की-तथा अभीष्ट भोगों की प्राप्ति के निमित्त आप साम गान कीजिये।"

तब साम का गायन करने वाला उद्गाता अपने यजमान से पूछे—"मैं आपके निमित्त कौन-सी अभीष्ट वस्तु का अपने साम गायन द्वारा आगान करूँ-आवाहन करूँ-अर्थात् इस गायन द्वारा

तुम्हारी किस लोक को–किन लोकों को भोग वस्तुओं को प्राप्त कराने का प्रार्थना करूँ। तुम्हारी किस इच्छा को परिपूर्ण करूँ।"

यजमान कह दे—"कि मेरी स्वर्गलोक या उससे भी ऊपर के लोकों की जाने की, वहाँ के भोगों को प्राप्त करने की इच्छा है अथवा पृथ्वी लोक के ही भोगों को प्राप्त करना चाहता हूँ।" इस प्रकार अपनी इच्छा उद्गाता के सम्मुख व्यक्त कर दे, तो उद्गाता उसी भावना से साम गायन करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भोगों को प्राप्त करना यह उद्गाता का योग्यता के ही ऊपर निर्भर करता है। जो उद्गाता चाक्षुष पुरुष तथा सूर्य मंडलवर्ती पुरुष के एकत्व को भली-भाँति जानकर साम का गायन करता है, वही यजमान के वांछित भोगों को–साम गायन द्वारा आवाहन करने में समर्थ होता है। जो इस प्रकार जानकर साम गायन करता है, साम गायन करता है। वह भोगों को प्राप्त कराने में समर्थ होता है। (आदरार्थ द्विरुक्ति) यह मैंने आपसे चाक्षुष पुरुष और सूर्य मंडलवर्ती पुरुष इन दोनों की अभेद दृष्टि से उपासना करने का फल बताया। अब मैं उद्गीथ उपासना की ही उत्कृष्टता बताने के निमित्त तीन ऋषियों के सम्वाद को कहूँगा। उस उपाख्यान से आप उद्गीथ उपासना की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में समझ सकेंगे।"

छप्पय–*पुण्यलोक अरु दिव्य भोग हित यज्ञ करावैं।*
उद्गाता तिनि कहे—गान करि का दिलवावैं?
चाक्षुष–सूरज पुरुष रहस जानत जो गायक।
साम गान तैं होइ वही तिनि वांछा प्रापक॥
ये उद्गीथ उपासना, साम गान तें होहिँ सब।
ताकी अति उतकृष्टता, मुनिवर! तुम तैं कहहुँ अब॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में सप्तम खण्ड समाप्त

उद्गीथोपासना की उत्कृष्टता सम्बन्धी आख्यायिका (१)

[१०२]

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति। ते हो चुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥*

(छा० उ० प्र० अ० ८ ख० १ मं०)

छप्पय

शिलक, प्रवाहण, दाल्भ्य तीन उद्गीथ सुज्ञाता।
गोष्ठी करि उद्गीथ भिड़े तिनिहु विख्याता॥
शिलक दाल्भ्य सम्वाद प्रवाहण श्रोता क्षत्रिय।
आश्रय सामहिँ कहा? दाल्भ्य बोले 'स्वर' आश्रय॥
तिहि आश्रय का? 'प्राण है, प्राण? अन्न आश्रय कह्यो।
अन्नाश्रय का? जलहि है, जल आश्रय? स्वरगहि रह्यो॥

---

* तीन उद्गीथ विद्या मे कुशल थे। एक तो शिलक जो शालवान् के पुत्र थे, दूसरे दाल्भ्य जो चिकितायन के पुत्र थे। और तीसरे प्रवाहण जो जीवल के पुत्र थे। उन्होने परस्पर मे कहा—"हम लोग उद्गीथ विद्या मे कुशल हैं, आओ परस्पर मे उद्गीथ के सम्बन्ध मे बातें करें।"

एक से अधिक व्यक्ति जब परस्पर में किसी विषय पर वार्तालाप करते हैं, तो उसे वाद विवाद कहते हैं। शास्त्रार्थ भी इसी का नाम है। इसके तीन भेद हैं (१) वाद, (२) जल्प और (३) वितण्डा। 'वादे वादे जायते तत्व बोधः' यथार्थ बोधकी इच्छा से जो परस्पर मे शास्त्र के वाक्य कहे जाते हैं, उसे वाद कहते हैं। उसमे प्रमाण, तर्क, साधन, उपालम्भ और सिद्धान्त इन पाँचो से युक्त पक्ष प्रतिपक्ष वाले विचार करते हैं। प्रमाणयुक्त तर्क संगत, साधन सम्पन्न उपालम्भ और सिद्धान्त युक्त जो बात हो उसे दोनो पक्ष वाले सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे वादों से यथार्थ तत्त्व का बोध होता है।

दूसरा जल्पवाद है। इसमे तत्त्व निर्णय लक्ष्य नहीं रहता। इसमें अपनी विजय हो, इसी बात पर ध्यान रखा जाता है। अपनी विजय के निमित्त पर पक्ष वालो को छल के द्वारा, जाति निग्रह स्थानादि किसी भी प्रकार से दूषित करके अपने पक्ष को श्रेष्ठ सिद्ध किया जाता है। जल्प का मुख्य उद्देश्य परपक्ष को पराजित करके अपने पक्ष की श्रेष्ठता सिद्ध करना ही होता है।

वितण्डा में कई लोग सम्मिलित होकर परपक्ष को येन केन प्रकार से पराजित करने का प्रयत्न करते हैं। उनमे से एक तो स्वपक्ष को स्थापित करता है। दूसरे बहुत मिलकर छल से, बल से, कला से तथा नाना कौशलों से परपक्ष को दूषित करने मे ही जुट जाते हैं। उन्हें अपने पक्ष की स्थापना से कोई प्रयोजन नहीं परपक्ष में नाना दोष निकालना ही उनका कार्य है। इस प्रकार जल्प और वितण्डा इन दोनो में तत्त्व बोध का निर्णय लक्ष्य न होकर विजय में ही शक्ति परीक्षा होती है। जो पक्ष छल, बल, कला-कौशल मे अधिक निपुण या धूर्तता पूर्ण होता है, वही अपनी विजय की घोषणा कर देता है। अतः जल्प

और वितण्डा ये दोनों विचार गोष्ठी में निकृष्ट माने गये हैं। वास्तव में वाद ही परस्पर के विचार विनिमय में–वार्तालाप में–श्रेष्ठ पक्ष है। इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा है–'अध्यात्म विद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्' अर्थात् विद्याओं में अध्यात्म विद्या मेरी विभूति है और एक विषय पर भले लोग जब चर्चा करते हैं। वाद द्वारा निर्णय करते हैं उनमें 'वाद' मेरी ही विभूति है।

विद्या का भूषण वाद ही है। एक विषय के बहुत से ज्ञाता जब परस्पर में मिलते हैं, तो वे शास्त्र चर्चा छेड़ देते हैं, जिससे इधर से किसी विषय पर अपनी बुद्धि से कुछ लोग प्रमाण देकर तर्क करके उसे सिद्ध करते हैं। दूसरे अन्य प्रमाण तर्क देकर उसे दूसरी भाँति सिद्ध करते हैं। अन्त में प्रबल प्रमाण और तर्कादि द्वारा वे लोग सर्व सम्मत एक निर्णय पर पहुँच जाते है। इसे ही सत्संग, शास्त्र चर्चा, विचार गोष्ठी अथवा तत्त्व विविधत्सा कहते हैं। ऐसे तत्त्व विचार से ज्ञान वृद्धि होती है। प्राचीनकाल मे ऐसी ही शास्त्र चर्चायें हुआ करती थीं। उद्गीथ सम्बन्धी ऐसे ही एक सत्संग का वर्णन छांदोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के अष्टम खण्ड में किया है। आगे उसी का वर्णन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्गीथोपासना की उत्कृष्टता के सम्बन्ध की एक कथा है, उसी का वर्णन किया जाता है। उद्गीथोपासना के ज्ञाता, उस विद्या मे परम निपुण तीन ऋषि एक बार एकत्रित हुए। इनमें पहिले तो थे शालवान् महर्षि के पुत्र शिलक। दूसरे परम भागवत दाल्भ्य मुनि थे, इन दाल्भ्य को तो आप लोग भली-भाँति जानते ही हैं। ये बक दाल्भ्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आपके इस नैमिषारण्य यज्ञ में वे उद्गाता का कार्य कर रहे हैं। ये दल्भ्य गोत्र मे उत्पन्न महर्षि चिकितायन

के पुत्र हैं। तीसरे पाचाल देश के सुप्रसिद्ध महाराजा जीवल के पुत्र प्रवाहण राजर्षि थे। ये राजर्षि प्रवाहण बडे ज्ञानी ध्यानी ब्रह्मनिष्ठ थे। बृहदारण्यक ब्राह्मण भाग मे इनका कई स्थान में उल्लेख आया है। श्वेतकेतु ऋषि, गौतम ऋषि तथा अन्यान्य ऋषियो का पाञ्चाल नगरी मे प्रवाहण के समीप आने का वर्णन मिलता है। इससे प्रतीत होता है, ये अपने समय के धुरन्धर विद्वान्, सत्सगी तथा ब्रह्मविद्या निष्णात थे। सयोग से ये तीनों उद्गीथोपासना के विशेषज्ञ किसी एक स्थान मे एकत्रित हुए। जब किसी विषय के विशेषज्ञ एक स्थान में मिलते हैं, तो अपने विषय पर वाद-विवाद चर्चा करते हैं। सज्जन पुरुषो के सम्मिलन का यही फल है, कि परस्पर मे सत्संग हो, शास्त्रो के अर्थों की अलोचना हो जिससे तत्त्व के विषय मे निर्णय हो। जब तीनों परस्पर में मिले तो नमस्कार प्रणाम कुशल प्रश्न के अनन्तर सब ने कहा—"हम तीनों ही उद्गीथ उपासना मे कुशल माने जाते हैं। अतः सब की सम्मति हो, तो उसी के सम्बन्ध मे चर्चा हो उद्गीथ सम्बन्धी ही कथोपकथन हो। तत्सम्बन्धी ही परस्पर मिलकर कथा कहें।"

अपने प्रिय विषय की चर्चा सभी को सुहाती है, अतः सभी ने एक स्वर मे कहा—"बहुत अच्छी बात है, अवश्य ही इस विषय की कुछ चर्चा छिडनी चाहिये।"

इस पर पाञ्चालाधिपति महाराज जीवल के पुत्र प्रवाहण ने कहा—"देखिये, मैं क्षत्रिय हूँ, श्रवण का अधिकारी हूँ। आप दोनों ब्राह्मण हैं, मेरे पूजनीय हैं इसलिये आप दोनों ब्राह्मण परस्पर मे चर्चा आरम्भ करें। मैं आप दोनों की बातों को ध्यानपूर्वक सुनूँगा। पढ़ने तथा श्रवण करने का फल समान ही है। ऐसा कहकर क्षत्रिय कुमार चुप हो गये। तब इस बात पर वे दोनों

ब्राह्मण कुमार ऋषि सहमत हो गये। तब दोनों में से प्रथम प्रश्न कौन करे यह प्रश्न उठा, इस पर महर्षि शालवान् के पुत्र शिलक मुनि ने दाल्भ्य से कहा—"यदि आपकी अनुमति हो, तो मैं ही सर्व प्रथम आपसे प्रश्न पूछकर इस चर्चा का श्रीगणेश करूँ ?"

दाल्भ्य ऋषि ने कहा—"इससे उत्तम बात और क्या होगी ? आप प्रसन्नतापूर्वक जो पूछना चाहे पूछें।"

इस पर शिलक ने पूछा—'हमारी आपकी चर्चा उद्गीथ-साम सम्बन्धी है। अतः मैं यह पूछना चाहता हूँ कि साम का आश्रय-मूल कारण-आधार-क्या है ?"

इस पर दाल्भ्य ने कहा—"देखिये, साम का गायन होता है। बिना गायन के साम में सामता ही नहीं। गायन सदा सस्वर होता है। स्वर सात हैं (१) षटज, (२) ऋषभ, (३) गान्धार, (४) मध्यम, (५) पञ्चम, (६) धैवत, और (७) निषाद। समस्त गायन इन सात स्वरों के ही अन्तर्गत होते हैं। अतः साम का आश्रय स्वर है।"

इस पर शिलक ने पूछा—"यह तो उचित ही है साम का आधार स्वर है, अब मैं यह पूछना चाहता हूँ, कि स्वर का आश्रय कौन है ?"

दाल्भ्य ने कहा—"देखिये, स्वर का उच्चारण वाणी से होता है, वाणी प्राण के अधीन है, प्राणवान् ही वाणी द्वारा स्वर का आश्रय-आधार-मूल कारण प्राण ही है।"

शिलक ने पुनः प्रश्न किया—"स्वर का आश्रय तो प्राण है प्राण का आश्रय कौन है ?"

दाल्भ्य ने कहा—"प्राण अन्नगत होता है। प्राणों की स्थिति अन्न के ही ऊपर निर्भर है। अन्न के बिना प्राण रह नहीं सकते अतः प्राणों का आश्रय अन्न है।"

इस पर शिलक ने पूछा-"यह बात यथार्थ है, अन्नगत ही प्राण हैं, प्राणों का आधार अन्न है, अब यह बताइये अन्न का आश्रय कौन है ?"

इसका उत्तर देते हुए दाल्भ्य ने कहा—"अन्न पृथ्वी का रूप है, पृथ्वी जल से उत्पन्न हुई है। जल के बिना कोई भी अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः अन्न का आश्रय जल ही है।"

शिलक मुनि ने पुनः पूछा—"जल तो जीवन ही है। अब यह बतावें जल का आश्रय क्या है ?"

दाल्भ्य ऋषि ने कहा—"जल का आश्रय स्वर्ग है। मेघ स्वर्ग मे ही रहते हैं। वर्षा न हो, तो जल कहाँ से आवे, अतः जल का मूल कारण-आश्रय-स्वर्ग ही है।"

इस पर शिलक ऋषि ने पूछा—"अच्छा, बताइये स्वर्ग का आश्रय कौन है ?"

यह सुनकर दाल्भ्य ऋषि ने कहा—"देखिये, अब आप अति प्रश्न कर रहे हैं। प्रश्नों का कहीं भी तो अन्त होना चाहिये। हम लोगों को मर्यादा मे ही रहकर प्रश्न पूछना चाहिये। स्वर्ग से आगे हमें नहीं जाना चाहिये। स्वर्ग से परे की बात पूछना अति प्रश्न है। हमारे मत में स्वर्गलोक मे ही पूर्णतया साम की प्रतिष्ठा है। अर्थात् सामगान का अन्तिम फल स्वर्ग है, इसीलिये श्रुति ने स्वर्ग की प्रतिष्ठा साम मे ही बतायी है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! स्वर्ग से ऊपर तो चार लोक और भी हैं, फिर श्रुति ने स्वर्ग को ही साम वेद क्यों कहा ? (स्वर्गो वै लोकः सामवेदः)"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यहाँ श्रुति का अभिप्राय स्वर्ग से द्युवर्लोक वाले स्वर्ग से नहीं है। जिसमें इन्द्रादि देवगण निवास करते हैं। यह तो क्षयिष्णु लोक है। श्रुति ने जिस स्वर्गलोग में

साम की प्रतिष्ठा बतायी है, उस स्वर्ग से अभिप्राय श्रुति का मोक्ष से है। अनेक स्थानों में स्वर्ग कहकर मोक्ष का ही संकेत किया गया है। पीछे केन उपनिषद् में इसके द्वारा समस्त पापों को नष्ट करके सबसे श्रेष्ठ अनन्त स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है (अपहत्य पाप्मान अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतिष्ठिति)"

शौनकजी ने कहा—"यहाँ तो स्वर्ग के साथ अनन्त और ज्येये विशेषण हैं। इससे तो सिद्ध हुआ एक अन्तवन्त साधारण स्वर्ग है दूसरा अनत सर्वश्रेष्ठ-स्वर्ग है जिसे मोक्ष कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, भगवन्! बिना विशेषण के भी केवल स्वर्गलोक मोक्ष के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, जैसे पीछे प्रश्नोपनिषद् में यमराज से नचिकेता ने कहा था—"हे धर्मराज! देखिये, स्वर्गलोक में तनिक भी भय नहीं रहता। वहाँ जरावस्था भी नहीं होती। वहाँ आपका—मृत्यु का—भी भय नहीं। वहाँ क्षुधा पिपासा पर विजय प्राप्त करके समस्त शोकों से रहित होकर स्वर्ग लोक में आनन्द करता है, एकमात्र आनद ही-आनद करता है। (स्वर्गेलोके न भय किंचिनास्ति न तत्र त्व न जरया बिभेति। उभेती-र्त्वाशनया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके) यहाँ दोनों बार स्वर्गलोक बिना किसी विशेषण के आया है। और निश्चय ही यहाँ स्वर्गलोक से तात्पर्य—मोक्ष अथवा वैकुण्ठ—गोलोक साकेतलोक—से है। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा है। विमुक्त ब्रह्मविद् पुरुष इससे ऊपर स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेते हैं। (अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ता.)।"

शौनकजी ने कहा—'यहाँ स्वर्ग लोक को जो दाल्भ्य ऋषि ने साम की पूर्णतया स्थिति बतायी वह तो इन्द्रादि देवताओं के रहने वाले स्वर्ग से ही उनका तात्पर्य है। इसी के लिये उन्होंने कहा था, स्वर्गलोक से आगे नहीं जाना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"यही तो उन्होंने भूल की। इस भूल का मार्जन महर्षि शिलक ने किया। इस प्रसङ्ग को मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

शिलक प्रश्न पुनि करयो—स्वर्ग को आश्रय को है ?
कहें दाल्भ्य—इक स्वर्ग वही आश्रय सब को है ॥
साम स्वर्ग ही मानि करें इस्तुति सब भाई।
स्वर्गलोक ही पूर्ण प्रतिष्ठा वेद बताई ॥
यह सुनि बोले शिलक ऋषि, दाल्भ्य ! जाइ मानत न हम।
साम स्वर्ग आश्रय नहीं, बात सत्य नहिँ कहहु तुम ॥

वंशीधर गोपाल

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा 6

खण्ड ६०

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीत प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग
संशोधित मूल्य २-० रुपया

प्रथम संस्करण १००० } दिसम्बर १९७१ पौष सं०-२०२८ { संशोधित मूल्य ~~मूल्य : १.६२~~ 2

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
सस्मरण (९)	१
१. उद्गीथोपासना की उत्कृष्टता सम्बन्धी आख्यायिका(२)	१७
२. उषस्ति ऋषि तथा आपद्धर्म	२५
३. उषस्ति मुनि का राजा के यज्ञ में जाना	३५
४. उषस्ति मुनि का यज्ञ मे ऋत्विजों से सम्वाद	४२
५. सौव साम सम्बन्धी कथा	४८
६. सामवेद के स्तोभों की उपासना	५९
७. समस्त साम की साधु भाव से उपासना	६५
८. लोकसम्बन्धी पञ्चविध सामोपासना	७३
९. वृष्टि सम्बन्धिनी पञ्चविध सामोपासना	८२
१०. जल में पञ्चविध सामोपासना	८८
११. ऋतुओं में पञ्चविध सामोपासना	९३
१२. पशुओं मे पञ्चविध सामोपासना	९९
१३ प्राणों में पञ्चविध सामोपासना	१०४
१४. वाणी सम्बन्धिनी सप्तविध प्राणोपासना	११०
१५. सात प्रकार की आदित्य दृष्टि से सामोपासना	११५
१६. मृत्यु से अतीत सप्तविध सामोपासना	१२३
१७. गायत्र सामोपासना	१२८
१८. रथन्तर साम की उपासना	१३३
१९. साम सम्बन्धी वामदेव्य-उपासना	१३८
२०. बृहत्साम सम्बन्धिनी उपासना	१४५
२१. सामवेद की वैरूप उपासना	१५०
२२. साम के वैराज भेद की उपासना	१५४
२३. सामवेद की शक्वरी उपासना	१५९
२४. रेवती और यज्ञायज्ञीय साम की उपासना	१६३
२५. सामवेद की राजन उपासना	१६७
२६. सामवेद की सबमें ओतप्रोत उपासना	१७३
२७. साम के विविध आगानों उद्गीथों के नियम	१७९
२८. वर्णों की देवात्मता और उनके उच्चारण की विधि	१८४

संस्मरण

[राजनैतिक नेता]

गुणाः गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः
आसाद्य तोयं प्रभवन्ति नद्याः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥*

छप्पय

पात्र भेद तैं वस्तु एकई होहि अशुभ शुभ।
दूध अमृत के सरिस ताम्र वर्तन में बनि विष॥
बरसा को जल गिरै नदी में पेय कहावै।
वही नीर निधि-परै क्षार महिँ पीयो जावै॥
संग दोष तैं वस्तु-इक, भली बुरी बनि जात है।
खल सगति त्यागे पुरुष, तो पुनि देव कहात है।

विद्या, धन और शक्ति ये तीनों ही वस्तुएँ अत्यन्त उत्तम हैं, किन्तु यदि विद्या खल पुरुष पर आ जाय तो वह उसका उपयोग वितण्डावाद विवाद में करेगा, वही विद्या सज्जन पुरुष पर आ

---

* गुणज्ञ पुरुष के ही सभी सद्गुण गुण कहलाते हैं, वे ही गुण यदि निर्गुण पुरुष के समीप हों, तो दोष बन जाते हैं। जैसे वर्षा का जल नदी मे गिरे तो वह पीने योग्य पानी बन जाता है, वही समुद्र मे गिरे तो समुद्र के ससर्ग से मीठा जल भी अपेय बन जाता है।

जाय तो उस विद्या से ज्ञान प्राप्त करके संसार-सागर से सदा के लिये मुक्त हो जायगा। इसी प्रकार यदि धन दुष्ट पुरुष के पास आ जाय, तो उस धन से दुर्मदान्ध बनकर दूसरों का अनिष्ट ही करेगा। वही धन सज्जनों के समीप आ जाय तो उससे वे दान धर्म करके परलोक को बनायेंगे। ऐसे ही शक्ति की बात है, यदि दुष्ट जनों के पास शक्ति बढ़ जाय, तो उससे वे दूसरों को पीड़ा ही पहुँचायेंगे। वही शक्ति सज्जन पुरुषों में हो, तो वे उस शक्ति का उपयोग दीन हीनों की रक्षा में, दुखी पुरुषों की पीड़ा दूर करने में लगावेंगे। पात्र भेद से एक ही गुण कहीं अच्छा और कहीं बुरा बन जाता है। बुरे पुरुष अच्छी वस्तु को भी बुरी बना देते हैं।

हमारे देश में स्वतन्त्रता के पश्चात् एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ है। वे अपने को सामाजिक कार्यकर्ता कहते हैं किन्तु वास्तव में वे राजनैतिक जन्तु हैं। कानपुर में दो आदमी किसी दुकान पर सौदा ले रहे थे, उनमें एक सफेद खद्दर की टोपी पहिने था। दुकानदार ने पूछा—"आप क्या काम करते हैं?"

तब तक पास का दुकानदार बोला—"देखते नहीं गान्धी टोपी पहिने हैं, नेता हैं।"

आज कल नेतापन भी एक व्यवसाय बन गया है। ये राजनैतिक जन्तु गिरगिट पन्थी होते हैं। जब चाहें जैसा रंग बदल सकते हैं। इन्हें देश से, धर्म से, समाज से, साहित्य से कोई प्रयोजन नहीं। देश धर्म भाड़ में जाय, समाज चूल्हे में पड़े, उन्हें अपनी पद प्रतिष्ठा की ही चिन्ता रहती है। अपना स्वार्थ सँध जाय, फिर चाहे देश रसातल चला जाय, धर्म पाताल में चला जाय इन्हें इसकी चिन्ता नहीं। ये जनता के नेता या राजनैतिक जन्तु धर्म निरपेक्ष, जातिवाद, वर्गवाद, तथा सम्प्रदायवाद से

अपने को पृथक बताते हैं, किन्तु इनका स्वार्थ सिद्ध होता हो, तो इन सब वादों में घुलमिल जायेंगे। ये समाज की जोंक होते हैं। सेवा के नाम पर ये समाज में चिपक जाते हैं और शनः शनः समाज का रक्तपान करते-करते मोटे बन जाते हैं। इनकी न कोई जाति है, न धर्म। इनका तो टका धर्मः टका कर्म, टकैव परमागतिः है। एक पुरानी कहावत है—

हरिजन, हीरा, हुरिकिनी, हिजरा सब थल होइ।
सब जातिनि में ऊपजें, इनकी जाति न कोइ॥

प्रतीत होता है, तब तक इन राजनेतिक जन्तुओं का जन्म नहीं हुआ होगा नहीं तो यह दोहा यों होता—

नेता नर नारी सबहिं, हरि जन हिजरा होइ।
खद्दर पहिने बनि गये, इनकी जाति न कोइ॥

पहिले इस देश में वर्णाश्रम धर्म का प्रचार था। ब्राह्मण लोग त्याग प्रधान होते थे। सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण वही माना जाता था, जो सबसे अधिक त्यागी हो, अर्थात् जो दूसरे समय को भी अपने लिये अन्न संग्रह न करे, कटे खेतों में किसानों द्वारा छोड़े अन्न को बीनकर अथवा अन्न की दुकान के सामने पड़े दानों को ही बीनकर उनसे निर्वाह करे। अधिक से-अधिक ब्राह्मण ६ महीने का अन्न रख सकता था। जहाँ नया अन्न आया वहाँ पुराने को बाँट दे। इतना संग्रह करने वाला ब्राह्मण निम्नश्रेणी का माना जाता था। कहने का अभिप्राय इतना ही है, ब्राह्मण त्याग प्रधान होता था, अपने लिये कुछ भी संग्रह नहीं करे, दिन रात्रि परोपकार में निरत रहे। समाज के कल्याण के लिये ही कर्म करता रहे। उसका जीवन धर्ममय हो, धर्माचरण ही जिसके जीवन का उद्देश्य हो। ज्यों-ज्यों ब्राह्मणों में धर्म के प्रति उदासीनता

और स्वार्थ के प्रति ममता बढ़ने लगी, त्यों-त्यों ब्राह्मणों में भी कई श्रेणियाँ हो गयीं। अत्रि संहिता में दश प्रकार के ब्राह्मण बताये हैं।* वे इस प्रकार हैं, (१) देवब्राह्मण, (२) मुनि ब्राह्मण, (३) द्विज, (४) राजा, (५) वैश्य, (६) शूद्र, (७) निषाद, (८) पशु, (९) म्लेच्छ, (१०) चाण्डाल।

१. देव ब्राह्मण—तो वे हैं, जो सन्ध्या, स्नान, जप, हवन, देवपूजन, अतिथि-सत्कार और बलि वैश्वदेवादि धर्मकार्यों में निरन्तर लगा रहे, अपने लिये कुछ भी संग्रह न करे।

२. मुनि ब्राह्मण—वे कहलाते हैं, जो नित्य श्राद्धतर्पण देव-पूजन में निरत रहता हुआ वन में वास करे और वन में प्राप्त शाकपत्र, कन्द, मूल फलादि से ही अपना निर्वाह करे। ग्राम्यो-षधि अन्नादि ग्रहण न करे।

३. द्विज ब्राह्मण—वे कहलाते हैं, जो निरन्तर वेदान्तादि शास्त्रों के स्वाध्याय प्रवचनादि में लगा रहे। सभी प्रकार के सङ्गों का परित्याग करके साख्ययोगादि शास्त्रों के विचार में ही निरत रहे। प्रारब्धवश अयाचित वृत्ति से जो भी प्राप्त हो जाय उसी पर जीवन निर्वाह करे।

४. क्षत्रिय ब्राह्मण—वे कहलाते हैं, जो अस्त्र-शस्त्रों द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं। और युद्ध में अस्त्र-शस्त्र लेकर लड़ते हैं और विजय करते हैं या सम्मुख मारे जाते हैं। जिनकी मृत्यु सम्मुख युद्ध में ही होती है।

५. वैश्य ब्राह्मण—वे कहलाते हैं, जो जन्मना तो ब्राह्मण हैं,

---

* देवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्य शूद्रो निषादकः।
पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो विप्रा दशविधाः स्मृताः॥
(अत्रि संहिता)

किन्तु कृषि, गोरक्ष तथा वाणिज्य द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं। थोडा बहुत पूजा पाठ धर्मकार्य भी करते हैं।

६. शूद्र ब्राह्मण—वे कहलाते हैं, जिनका जन्म तो ब्राह्मण कुल में हुआ है किन्तु लाह, नमक, तेल, कुसुम्भ, दूध, दही, घृत, मदिरा, शहद, मास आदि शास्त्र निषिद्ध वस्तुओं का व्यापार करके उसी के द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं।

७. निषाद ब्राह्मण—वे ही हैं जो जन्मजात तो ब्राह्मण हैं, किन्तु चोरी, डाका, हत्या, मछली, मास द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं, निषिद्ध पदार्थों को खाते हैं, निषिद्ध कर्मों को करते हैं।

८. पशु ब्राह्मण—वे कहलाते हैं, जिनका जन्म तो ब्राह्मण कुल में हुआ है, किन्तु संस्कार और विद्या से हीन हैं। नाम मात्र को यज्ञोपवीत धारण किये रहते हैं। उस ब्रह्मसूत्र के गर्व से गर्वित बने रहते हैं। धर्म कर्म कुछ भी नहीं करते। आहार, निद्रा, मैथुनादि पशु धर्मों में ही निरन्तर निरत बने रहते हैं।

९. म्लेच्छ ब्राह्मण—वे कहलाते हैं, जो ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी वापी, कूप, तालाब आदि जनता के उपकार के स्थानों को नष्ट कर देते हैं। कुएँ से लोगों को जल नहीं लेने देते, फल वाले वृक्षों को कटवा देते हैं। फलों को दूसरों को खाने नहीं देते।

१०. चाण्डाल ब्राह्मण—वे हैं जो विद्याहीन, क्रियाहीन, सदाचारहीन, सर्व धर्म रहित, निर्दयी हैं, वे चाण्डाल सदृश है।

इनमें देव, मुनि और द्विज तक के ब्राह्मण तो वास्तव में ब्राह्मण हैं, शेष उत्तरोत्तर हीन और केवल नाम मात्र के ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण की परिभाषा यही है जो अपने लिये कुछ भी न चाहता हुआ धर्मकार्य में—सेवा कार्य में लगा रहे।

क्षत्रिय का धर्म यह है, अपने कामभोग के लिये अर्थ का भी

संचय करे और निरन्तर प्रजापालन में तत्पर रहे। प्रजापालन कर्म में सर्वदा अपने प्राणों की भी आहुति देने को उद्यत रहे। शैया पर पड़कर न मरे। या तो युद्ध में शरीर त्याग करे अथवा वन में तपस्या करते हुए योगाग्नि में शरीर को भस्म करे।

वैश्य के लिये अधिक-से-अधिक धन संग्रह करने का विधान था। वह कृषि द्वारा, गोपालन द्वारा, व्यापार वाणिज्य द्वारा विपुल मात्रा में धन कमाकर उसे धर्म कार्यों में, समाज सेवा में व्यय करे। किसी से याचना न करे।

शूद्रों का यह काम था, कि वे अपने लिये कुछ भी संग्रह न करें, तीनों वर्णों के आश्रित रहें, उनकी सेवा में सदा तत्पर रहें, वे जो भी दें उसी से अपना निर्वाह करें। वे तीनों वर्णों के पारिवारिक सदस्य की ही भाँति रहें। तीनों वर्णों के गृह स्वामियों का भी कर्तव्य यह बताया है, कि पहिले बच्चों को, गर्भिणी स्त्रियों को, दास-दासी तथा सेवकों को भोजन कराके तब स्वयं भोजन करें। ऐसी पहिले समाज की व्यवस्था थी। कुछ संकर जाति के लोग भी होते थे, उनकी जाति माता की जाति या माता की जाति से ऊँची, पिता की जाति से नीची मध्यम जाति मानी जाति थी। जैसे ब्राह्मण से क्षत्राणी में जो सन्तान होगी उसे मूर्धाभिषिक्त (उप ब्राह्मण) माना जायगा। वे माता के कर्म को ही करने वाले माने जाते थे।

क्षत्रियों के अथवा ब्राह्मणों के द्वारा जो वैश्य तथा शूद्रा पत्नी में सन्तान होती थी। उनका काम होता था, राज्य सेवा। वे कायस्थ, क्षत्रा, कूटकृत, पञ्जीकर, करण आदि नामों से पुकारे जाते थे। इनके प्रायः क्षत्रिय विप्र जाति के पिता तथा वैश्य, शूद्र जाति की मातायें होती थीं। ये लोग युद्धों में रथ हाँकने का तथा राजाओं के सचिवों-सेनापतियों से लेकर लेखपालों तक के पद

पर नियुक्त रहते थे। कहना चाहिये, प्रजा के प्रबन्ध का समस्त भार इन्हीं के ऊपर था। मन्त्री तो ब्राह्मण ही होते थे। वे केवल राजाओं को सम्मति ही देते थे, शास्त्रों का सिद्धान्त, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय बताते थे। सक्रिय राज-काजों मे भाग नहीं लेते थे। राज-काजों का समस्त कार्य कायस्थों के अधीन होता था। जैसे धृतराष्ट्र के समस्त राज्य के सचिव विदुरजी ही थे। विराट् राजा का सेनापति सचिव तथा कर्ता-धर्ता कीचक ही था। ये लोग ब्राह्मणों के बड़े भक्त होते थे। राज-काज मे निपुण होने से चतुर तथा बड़े चालू होते थे। जो अधिक स्वार्थी होते थे वे प्रजा को पैसों के लिये पीड़ा पहुँचाया करते थे।❀

इनको स्थान-स्थान मसीश–अर्थात् स्याही लेखनी का स्वामी–कहा है। लिखा पढ़ी का काम किया करते थे। प्रजा के लोग प्रायः इनसे प्रसन्न नहीं रहते थे। राज काज ऐसा ही होता है। अधिकार प्राप्त होने पर कोई विरला ही ऐसा होता है जो किसी-न-किसी रूप मे उत्कोच–घूँस या रिश्वत–न लेता हो। जो लोग मुँह माँगा उत्कोच न देते होंगे, उन्हे ये राजकर्मचारी पीड़ा पहुँचाया करते होंगे। इसीलिये ब्रह्म वैवर्तपुराण मे भगवान् श्री कृष्ण ने नन्दबाबा को शिक्षा देते हुआ कहा है, प्रजा को इन कायस्थों की पीड़ा से विशेषकर बचाये रहना चाहिये। यहाँ कायस्थ कहने से जाति विशेष से अभिप्राय नहीं है। राज्य कर्म-

---

❀ कायस्थोऽन: समाख्यातो मसीश प्रोक्तवाश्चयम्।
शठश्च शूरता किंचिदनेकप्रतिपालकृत्।
शठत्वाच्चतुरत्वाच्च विप्रमेदामनुक्षणम्।
वाञ्छत्येव मसीश: स मदोद्वेगीतिमावहन्।
(वन्हिपुराण पशुपति दानाध्याय)

चारियों से है। आज कल भी सचिवालयों में सभी जाति के लोग काम करते हैं वे प्रथम श्रेणी के कर्मचारी, द्वितीय श्रेणी के कर्मचारी ऐसे कहाते हैं। सभी लिपिक एक ही श्रेणी में आते हैं।

पहिले समय मे प्रजाजन इन कायस्थों-राजकर्मचारियों-से पीडित थे। आज राजकर्मचारी के स्थान में राजनतिक जन्तु आ गये हैं। ये न मन्त्री-केवल सम्मति देने वाले- ही हैं, न सचिव केवल राज्य प्रबन्ध करने वाले-ही हैं। यह एक सकर जाति ऐसी बन गयी है, जो राज कर्मचारियों से बढकर प्रजा के लिये समस्या बन गयी है। जो किसी भी विषय में सफल न हो वह राजनेतिक नेता बन जाय।

मुझे एक आदमी ने बताया था। एक बहुत बडे आदमी के ५ पुत्र थे। एक ने पूछा—"आपके पुत्र क्या करते हैं ?"

उसने कहा—"एक तो पढा लिखा भला आदमी है, वह तो महाविद्यालय में प्राध्यापक है। दूसरे को सेवा के साथ पैसा की भूख है, वह चिकित्सक है। एक हस्त कौशल में कुशल अभियन्ता (इजिनियर) है, एक चलते पुर्जे अर्थ लोलुप चतुर है वह कलहोपजीवी अधिवक्ता है। पाँचवाँ न पढा लिखा है न किसी काम धन्धे का है, मैंने कहा—जा, तू किसी दल में मिलकर राजनेतिक जन्तु बन जा, सो वह अमुक दल का नेता है।"

वास्तव में ये राजनेतिक जन्तु प्रायः ऐसे ही स्वार्थी बिना पैंदी के लोटे होते हैं, जिधर इनका स्वार्थ सधता है, उधर ही ढुलक जाते हैं। हमारे यहाँ एक शिशु परीक्षा होती है। अन्न प्राशन के समय बच्चे के आगे पुस्तक, रुपया पैसा चित्र तथा नाना सामग्रियाँ रखते हैं। बच्चा ने यदि पुस्तक पर हाथ रख दिया, तो समझा जाता है विद्वान होगा, कृषि गोरक्षा व्यापारिक वस्तुओं पर हाथ रख दिया तो वैसा होगा।"

एक पडितजी थे, उन्होंने अपने बच्चे की परीक्षा करायी। लडके ने मिठाई, रुपया पैसा, सुरा की बोतल, सब पर हाथ मारा। तब हँसकर पडितजी ने कहा—"अवश्य ही यह राजनेतिक जन्तु होगा। सभी पर एक साथ हाथ सफा करेगा। जब से यह राजनतिक नेता वर्ग हुआ है, तब से इसने धर्म, समाज, शिक्षा, उपासना, सौहार्द्र, सद्गुण सभी मे सकरता विषमता पैदा कर दी है। जिस विषय मे इन्होने हस्तक्षेप किया, मानो वह विषय चौपट हुआ। धर्म मे भी ये लोग हस्तक्षेप करते हैं, धर्म के शिक्षक भी अब ये ही बन गये। सब अपनी-अपनी साम्प्रदायिकता–पोंगापन्थी–छोडो सब मिलकर खिचडी उपासना करो। ईश्वर अल्ला तेरा नाम, सबको सन्मति दे भगवान्" इसे न अल्ला वालों ने अपनाया न भगवान् वालों ने किन्तु इन्होंने अपना एक नया ही पन्थ बना लिया।

पहिले हमने भगवन्नाम सकीर्तन का प्रचार विशुद्ध धार्मिक भावना से किया था अब राजनेतिक लोगो ने इसे सास्कतिक कार्यों में–मनोरन्जन में–ला पटका है। उसकी प्रतियोगितायें होती हैं सकीर्तन का महत्व ही चौपट कर दिया।

पहिले हिन्दी सभी प्रान्तो की सर्वमान्य राजभाषा थी। अटक से कटक तक, हिमालय से कन्याकुमारी तक सभी लोग हिन्दी पढते समझते थे, जब से हिन्दी इन राजनेतिक जन्तुओं के हाथो आयी, उसका महत्व ही नष्ट कर दिया। अब उसे प्रान्तीय भाषा बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसे भी बनावेंगे या चोपट करेंगे भगवान् जाने।

गोरक्षा का प्रश्न विशुद्ध धार्मिक प्रश्न था, आज से १५–२० वर्ष पूर्व तक किसी भी वर्ग का कोई भी हिन्दू गोरक्षा का विरोधी नही था, इस बात को हम बडे अभिमान से कहा करते थे, कि

विरोध किया था। उस समय उस गान्धी की आँधी में उस स्वतन्त्रता के तूफान मे स्वार्थियों की दाल नहीं गलती थी, उस समय तो स्वतन्त्रता के उन्मादी ही जेलों के भरने में उत्साह दिखा रहे थे।

सरकार एक ओर तो घोर दमन कर रही थी, दूसरी ओर राष्ट्रीय महासभा के विपक्ष मे एक अखिल भारतीय अमन सभा की उसने स्थापना करायी थी। उसके अखिल भारतीय अध्यक्ष, स्यात् हमारे प्रयाग के सुप्रसिद्ध विधि विशेषज्ञ सर तेजबहादुर सप्रू थे। सरकारी समस्त अधिकारी तन्त्र अमन सभा के प्रचार में लगा हुआ था, राजभक्तों को अमन सभा का सदस्य बनने को विवश किया जाता था। बड़े-बड़े सेठ साहूकार, धनी उपाधि-धारी, सरकार की हाँ-में-हाँ मिलाने वाले पढ़े-लिखे चाहें ऊपर ही से सही अमन सभा के सदस्य बन गये थे। किन्तु वह प्रभाव हीन थी। कोई हृदय से उसे नहीं चाहता था। सरकारी अधिकारियों के दबाव से—उन्हें प्रसन्न करने—अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये अमन सभा में जाते। हमारे यहाँ के एक सनातन धर्म सभा के उपदेशक भी उसके प्रचारक बने। हम लोग उन्हें चिढ़ाते थे, उनका अपमान करते थे, वे मुंह छिपाकर भाग जाते! हमारे अनूपशहर के सुप्रसिद्ध संस्कृत के कवि पं० अखिलानन्द जी शर्मा भी अमन सभा के उपदेशक हो गये थे।

एक दिन मैंने पूछा—"पंडित जी! आप इतने भारी विद्वान् होकर अमन सभा में कैसे चले गये?"

वे बड़े कड़ककर बोलते थे, बोले—"देखिये, महाराज! मुझे अमन सभा फमन सभा से कोई प्रयोजन नहीं। वे मुझे ५०) नित्य देते हैं। आप ५०) दीजिये आपकी ओर मे बोलूँगा।"

उन दिनों पचास रुपये आज के एक सहस्र रुपये के बराबर

थे। यहाँ तो सब त्यागी थे, उन्हें ५०) कौन दे। फिर अमन सभा वालों से जनता के सभी लोग मन-ही-मन घृणा करते थे। अमन सभाई उन दिनों एक गाली समझी जाती थी। किसी से कह दो–"यह तो अमन सभाई है।" तो इसे वह अपना घोर अपमान समझता था, अतः बड़े लोग चुपके से जिलाधीश को चन्दा दे आते सदस्य बन आते, किन्तु बताते नहीं थे कि हम अमन सभा के सदस्य हैं। भीतर-ही-भीतर स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिकों की शक्ति भर सहायता करते। मुझे भी बड़े-बड़े लोग, पढ़े-लिखे लोग, भोजन को बुलाते और चुपके से सुन्दर-सुन्दर भोजन करा कर विदा कर देते।

अमन सभाओं के सभापति जिलाधीश ही बना करते थे। उन दिनों जिलाधीशों का पद राज्यपाल से भी ऊँचा माना जाता। वह जिले भर का सर्वेसर्वा माना जाता था। जिले भर में जो चाहें सो करा दे उसे सभी पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। वही जिसे चाहें उप जिलाधीश (डिप्टी कलक्टर) बना दे। जिसे चाहे राय साहब, राय बहादुर, खानबहादुर, सर आदि की उपाधि दिलवा दे। एक जिले का जिलाधीश, जिले भर के सभी प्रतिष्ठित पदों का अध्यक्ष होता था। वही जिलाधीश, वही जिला न्यायाधिकारी, जिला परिषद् का सभापति, नगरमहापालिका का सभापति, जेल का मुख्याधिकारी, पुलिस का, नहर का, यहाँ तक कि जिले के सभी विभागों का वही सर्वेसर्वा होता था। उसके नाम से बड़े-बड़े राजे महाराजे ताल्लुकेदार, जमींनदार काँपते थे। उसके भय से सरकारी अधिकारियों के दबाव से लोग अमन सभाओं में बहुत ही न्यून सख्या में जाते। फिर स्वतन्त्रता के सेवक जाकर उन सभाओं में विघ्न डालते। उनके पास ही अपनी सभायें करते। जनता वहाँ से उठकर इनकी सभा में आ जाती। उस समय के उत्साह की

कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती। अनुपमेय उत्साह था।

एक दिन मैंने सुना अमुक स्थान पर (खुर्जा और बुलन्दशहर की सडक के बीच मे किसी गाँव मे) अमन सभा होगी, जिलाधीश उसके सभापति होंगे। मैं अकेला ही डडा लेकर वहाँ पहुँच गया। उन दिनो जिलाधीश का पद किसी भारतीय को नहीं दिया जाता था। कोई भी महत्वपूर्ण पद भारतीयों को नही मिलता था। भारतीयों के लिये सबसे ऊँचा पद उप जिलाधीश (डिप्टी कलेक्टर) का ही पद था। हमारे यहाँ के एक साधारण पढ़े सेठ के लड़के अवश्य कहीं जिलाधीश बना दिये गये थे। वे इसलिये कि भारत सरकार की ओर से एक आयोग (कमीशन) फिजी या मारीशसद्वीप मे भारतीयों की जाँच के लिये नियुक्त हुआ था। उसके सब सदस्य अँगरेज-ही-अँगरेज थे। एक भारतीय को रखना आवश्यक था। किसी भी प्रान्त का कोई भारतीय अपने भाइयों के गलो पर छुरी चलवाने को उद्यत नही हुआ। तब हमारे यहाँ के एक सेठ ने अपना एक सम्बन्धी भेज दिया। उसने अँगरेजों ने जैसे कहा वैसे हस्ताक्षर कर दिये। इसी के पारतोषिक रूप में उसे (जिलाधीश) बना दिया गया। यह सबसे भारी पारतोषिक था।

उसकी भी एक कथा सुनिये। मेरे साथ एक चौबे रहता था। पढ़ा-लिखा कुछ भी नहीं था, किन्तु अक्खड प्रथम श्रेणी का। जैसा चाहें उससे काम करा लो। एक दिन रामलीला में या किसी और मेला के समय वे भारतीय जिलाधीश भी थे। उनकी अकड़ का क्या कहना। एक तो गिलोय फिर नीम चढ़ी। एक तो सबसे बड़े धनिक और फिर भारतीयों को दुर्लभ जिलाधीश का पद। चौबे जी से कुछ अंट-संट बात कह दी

होगी। चौबेजी ने भरे मेले मे उतारी जूती और उनके सिर पर तडातड जमा दी। तुरन्त पुलिस ने उन्हे पकड लिया।

अब उन पर अभियोग क्या लगाया जाय। जूती मारने का अभियोग लगाने से तो भारतीय जिलाधीश का घोर अपमान है। फिर न्यायालय मे वे कैसे कहते, कि मेरे इसने जूती लगाई है। अतः उन पर चोरी करने का मिथ्या अभियोग लगाया गया। उसने न्यायालय मे स्पष्ट कह दिया—मैंने चोरी फोरी कुछ नहीं की। भारतीय जिलाधीश के दो जूतियाँ लगायी थीं।"

न्यायाधीश भला आदमी था, वह भी सब जानता था, हँस पडा। किन्तु साधारण जेल का दण्ड तो उन्हे दिया ही गया।

हाँ तो मैं अमन सभा की सार्वजनिक सभा मे पहुँच गया और खडे होकर कुछ पूछने लगा। उसी समय उस सभा के सचालक जो एक मुसलमान कलहोपजीवी अधिवक्ता थे, मेरे पास आये, मेरा कान पकडकर सभा से बाहर घसीटते ले गये। जिलाधीश अध्यक्ष के आसन पर नीचा सिर किये हुए देखता रहा। उसने एक भी शब्द नहीं कहा। बाहर आकर मैंने उसके प्रतिपक्ष मे पास ही दूसरी सभा की, व्याख्यान देने लगा। जो सभा मे लोग बैठे थे, वे मेरे अपमान से सब दुखी थे, किन्तु भयवश कुछ कर नहीं सकते थे, एक एक करके सभी वहाँ से उठकर मेरी सभा मे आ गये। जिलाधीश चुपचाप उठकर अपनी गाडी में बैठकर चला गया, खिसक गया कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि उन दिनों भीतर ही भीतर अँगरेज भयभीत रहने लगे थे। ऊपर से निर्भयता दिखाते थे।

मैं ये सब उपद्रव इसलिये करता था, जिससे किसी प्रकार पकडा जाऊँ। नेतागीरी से वचित न हो जाऊँ। उन दिनो हिन्दू मुसलमानों मे स्वाभाविक ही बडा स्नेह हो गया था। रोटी

बेटी की एकता का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। उसकी तो कभी स्वप्न मे सम्भावना ही नहीं थी। गान्धी जी ने भी अपने लेखों मे कई बार लिखा—"मैं रोटी बेटी एकता के लिये नहीं कहता। इस मे तो सभी स्वतन्त्र हैं। किन्तु देश की एकता के लिये हिन्दू मुसलमान दोनों को कन्धे से कन्धा भिडाकर प्रयत्न करना चाहिये।"

हमलोग मुसलमानों के यहाँ जाते। वे हमारे भोजन का प्रबन्ध गाँव के ब्राह्मणों के यहाँ कराते। गंगा किनारे बसी बुगरासी भगवानपुर के पास है। वहाँ के पठान जमींदार बड़े नामी थे। जब मैं बसी बुगरासी गया तो वहाँ के बड़े-बडे पठान मुसलमान सैकडों मिलकर पास के तगा ब्राह्मणों के गाँवो में जाते और गौरक्षा के प्रचार मे गले में ढोलक डालकर भजन गाते। बहुत से पठान पकड़े भी गये। कैसा उस समय का दृश्य था। अन्त में वह भी समय आ गया कि हमारे यहाँ के उप जिलाधीश ने विवश होकर मेरे नाम पकडने का आदेश (वारंट) निकाला। अब मैं किस प्रकार पकडा गया। और कैसे सर्व प्रथम जेल के दर्शन हुए, इस प्रकरण को अगले अक में परमार्थ चर्चा की पुस्तक में गप्प-शप्प और निजी चर्चा के लिये मनोरञ्जनार्थ इतना ही स्थान घेरना पर्याप्त है।

छप्पय

करम करै निष्काम कृष्ण अरपन करि देवै।
धरम समुझि सब करै न प्रतिफल ताको लेवै॥
करम न बन्धन करैं मुक्ति साधन बनि जावैं।
करै कामना सहित जगत बन्धन बँधि जावैं॥
कर्ता धर्ता विधाता, हे प्रभु विश्वम्भर अखिलपति।
कर्तापन अभिमान तू, करै व्यर्थ क्यों मूढ़मति॥

पौष कृ० ३–२००८ वि० प्रभुदत्त

उद्गीथोपासना की उत्कृष्टता सम्बन्धी आख्यायिका (२)

[१०३]

त ँ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायन दाल्भ्यमुवाचा-प्रतिष्ठित वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥❀

(छां० उ० प्र० अ० ८ खं० ६ म०)

छप्पय

सामतत्वविद सुने तुम्हारे अप उत्तर फिर।
देवै तुमपूँ शाप गिरै घड़तैं तुमरो सिर॥
तब पुनि बोले दाल्भ्य—स्वरग आधार बतावें?
शिलक कहें—आधार स्वरग को भूमि कहावें॥
मनुज लोक आधार का? प्रश्न दाल्भ्य ने जब करयो।
भूमि सबनि आधार है, साम जाहि वेदनि कह्यो॥

❀ चेकितानात्मज दाल्भ्य ऋषि से शालवानात्मज शिलक ने कहा—"हे दाल्भ्य! निश्चय तुम्हारा निश्चय किया हुआ साम अप्रतिष्ठित है। इस समय तुम्हारे इस अशुद्ध उत्तर को सुनकर कोई सामवेत्ता यह कह दे—कि अशुद्ध उत्तर देने के कारण तुम्हारा सिर भूमि पर गिर जाय"—तो निश्चय ही तुम्हारा सिर भूमि पर लोटने लगेगा।

यथार्थ क्या है ? अयथार्थ क्या है ? इस अभिलाषा से जो शिष्टता सयमपूर्वक शास्त्र चर्चा की जाती है वास्तव मे उसी का नाम तत्ववोध निर्णयात्मकवाद है। ऐसा वाद-विवाद वीतराग महात्माओ मे तथा गुरु और शिष्य में अथवा और भी धर्मात्मा श्रेयार्थी पुरुषों मे हुआ करता है। पूर्व पक्ष वाला अपने तर्कादि प्रमाणो में पराजित हो जाय, आगे उत्तर न दे सके, तो उसे उत्तर पक्ष वाले के प्रति क्रोध या अश्रद्धा प्रकट नहीं करनी चाहिये। अपितु नम्रतापूर्वक निवेदन करे—"मैं तो इतना ही जानता हूँ, इससे अधिक यदि आप जानते हों, तो बतावें। अब मैं ही आप से प्रश्न करता हूँ।" इस पर वह प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहे—"बहुत अच्छी बात है, अब आप ही इससे आगे प्रश्न करें, मैं आप के प्रश्नों का यथामति उत्तर दूँगा।" जब वह भी यथार्थ निर्णय पर न पहुँच सके और कोई तीसरा या चौथा व्यक्ति निर्णायक उत्तर दे दे, तो उसकी सब प्रकार से परीक्षा करके उसे प्रमाण, तर्क, साधन, उपालम्भ और सिद्धान्त इनकी कसौटी पर कसकर उसे सबको स्वीकार कर लेना चाहिये यही यथार्थ बोध की इच्छा से किये हुए वाद का प्रतिफल है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब शिलक मुनि ने स्वर्गलोक के आश्रय का प्रश्न किया, तब दाल्भ्य मुनि ने कहा—"अब आप अति प्रश्न कर रहे हैं। हम लोग स्वर्ग को ही साम की पूर्ण प्रतिष्ठा मानते हैं। वेदो मे साम को ही स्वर्गलोक कहकर उसकी पूर्ण-प्रतिष्ठा की गयी है (स्वर्गो वै लोकः सामवेदः) जब साम की प्रतिष्ठा स्वर्ग ही है, हम लोगो का प्रश्नोत्तर यहीं समाप्त हो जाना चाहिए। हमे स्वर्ग से आगे नहीं जाना चाहिए। स्वर्ग की प्रतिष्ठा साम ही है, इससे आगे प्रश्न करना अनुचित है।"

इस पर शिलक ऋषि ने कहा—"दाल्भ्य ! तुम्हारा उत्तर अंतिम

नहीं है। यह जो तुम कह रहे हो, स्वर्ग ही साम का आश्रय है, यह आपका कथन उचित नहीं। निःसन्देह आपका बताया हुआ साम का अन्तिम आश्रय स्वर्ग प्रतिष्ठा हीन है। स्वर्ग का भी कोई आश्रय अवश्य ही होना चाहिये। बिना सोचे समझे जो तुमने यह अशुद्ध उत्तर दे दिया, यह काम तुमने उचित नहीं किया। मैं तो तुम्हारा मित्र हूँ, मैंने तो तुम्हारा यह उत्तर सुनकर कुछ नहीं कहा। इसे सहन कर लिया। यदि कोई दूसरा साम के यथार्थ तत्त्व को जानने वाला विद्वान् होता, और तुम्हारे इस अशुद्ध उत्तर से असन्तुष्ट होकर तुम्हें शाप देते हुए कह देता—तुम्हारा सिर धड से गिर जाय, तो निश्चय ही तुम्हारा सिर तत्क्षण धड से गिरकर भूमि मे लोटने लगता। अतः ऐसा उत्तर फिर किसी साम के तत्त्व को जानने वाले पडित के सम्मुख मत देना।"

शिलक के इन दृढतापूर्वक वचनो को सुनकर दाल्भ्य मुनि को निश्चय हो गया, कि मेरा उत्तर यथार्थ नहीं है। मैंने जो स्वर्ग को साम का अन्तिम आश्रय निरूपण किया है, उसमें अवश्य ही कुछ त्रुटि है। ऐसा सोचकर उन्होने बडी ही नम्रता से कहा—"क्या इससे आगे मैं श्रीमान्जी से कुछ पूछ सकता हूँ? क्या सामगति परम्परा की विश्रान्ति भूमि के सम्बन्ध मे आप पूजनीय बन्धु से प्रश्न कर सकता हूँ?"

इस पर शिलक ऋषि ने उत्तर दिया—"बडी प्रसन्नता के साथ आप जो भी पूछना चाहें पूछें।"

इस पर दाल्भ्य मुनि ने पूछा—"जो आपने मुझसे पूछा था और जिसे मैंने अति प्रश्न कहकर उत्तर नहीं दिया था, उसी को दुहराकर मैं आप से पूछना चाहता हूँ, स्वर्गलोक का आधार क्या है?"

इसका शिलक ऋषि ने स्पष्ट उत्तर देते हुए कहा—"देखिये,

पृथ्वी पर यदि सत्कर्म किये जायँगे, तभी स्वर्गलोक की प्राप्ति सम्भव है। मनुष्य लोक के बिना स्वर्ग प्राप्त नहीं हो सकता। अतः यह मनुष्यलोक ही स्वर्ग का आधार है।"

इस पर दाल्भ्य ऋषि ने पुनः प्रश्न किया—"अच्छा, महर्षि शिलकजी! यह बताइये कि मनुष्यलोक का आधार कौन है?"

इस पर शिलक ऋषि ने कहा—"देखिये, दाल्भ्यजी! अब आप अति प्रश्न कर रहे हैं। इस मृत्युलोक को उल्लङ्घन करके साम का कोई अन्य आश्रय नहीं है। अतः मनुष्यलोक से आगे आपको प्रश्न नहीं करना चाहिये। साम की समुचित रूप से प्रतिष्ठा मनुष्यलोक ही है। साम को रथन्तर भी कहते हैं, श्रुति कहती है यह पृथ्वी ही रथन्तर साम है (इयं वै रथन्तरम्)।

जब इस प्रकार पृथ्वी को ही शिलक मुनि ने साम की अन्तिम प्रतिष्ठा-आधार कहा, तो श्रोता बने दोनों के सम्वाद को सुनने वाले पांचालाधिपति महाराज जीवल के पुत्र राजर्षि प्रवाहण ने बीच में ही हस्तक्षेप करते हुए कहा—"महामुनि शिलक! आप भी ऐसा न कहें, सबकी प्रतिष्ठा मनुष्यलोक को ही न बतावें। पृथ्वी को ही रथान्तर साम की अन्तिम अवधि निर्णीत न करें! तुम्हारा बताया भी अन्त वाला ही है। आप तो हमारे मित्र हैं इसलिये मैत्रीभाव से हमने आपकी यह बात सहन कर ली। यदि अन्य कोई साम की पूर्ण प्रतिष्ठा का ज्ञाता पंडित होता और आपके इस अशुद्ध उत्तर को सुनकर क्रुद्ध होकर शाप देते हुए कह देता, "कि तुम्हारा सिर धड़ से पृथक् हो जाय, तो तुम निश्चय ही बिना सिर के दिखायी देते। निश्चय ही तुम्हारा सिर धड़ से गिर जाता।"

यह सुनकर शिलक को सन्देह हुआ कि मेरा बताया हुआ प्रतिष्ठाभूत मनुष्यलोक-सम्पूर्ण प्राणियों की प्रतिष्ठाभूत पृथ्वी-

ही अन्तिम आधार नहीं है। इसलिये उन्होंने राजर्षि प्रवाहण से कहा—"क्या इस विषय की विशेष जानकारी मैं आदरणीय श्रीमान्‌जी से जान सकता हूँ ? क्या मैं इस सम्बन्ध मे आपसे पूछ सकता हूँ ?"

यह सुनकर राजर्षि जीवल के पुत्र प्रवाहण ने कहा—"बडी प्रसन्नता की बात है। आप जो भी जानना चाहें, अवश्य मुझसे जान सकते हैं। आप जो भी पूछना चाहें अवश्य मुझसे पूछ सकते हैं।"

इस पर शिलक मुनि ने राजर्षि प्रवाहण से पूछा—"आपने मेरे कथन पर अपनी असहमति प्रकट की। मैंने स्वर्गलोक का आश्रय पृथ्वीलोक को बताया था और उसे समस्त प्राणियों की प्रतिष्ठारूप–अन्तिम आश्रय बताया था। अब मैं आपसे पूछता हूँ इस मनुष्यलोक की गति–इसका आश्रय कौन है ?"

इस पर प्रवाहण ने कहा—"आकाश ही पृथ्वी की–इस मर्त्यलोक की–गति है, आश्रय है। कारण कि समस्त भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश मे ही लय हो जाते हैं, और सभी भूतों मे आकाश सबसे बृहत् है, अतः पृथ्वी का आश्रय आकाश ही है। यही परम आश्रय है, इसका आश्रय कोई नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! राजर्षि प्रवाहण ने आकाश को सबका आश्रय कैसे बताया ? आकाश तो पच भूतो मे से एक भूत है। और यह प्रपञ्चात्मक जगत् तो नाशवान् है। आकाश भी अविनाशी नहीं है, इसका भी प्रलयकाल में नाश होता है अतः सबका आश्रय उद्गीथ की अन्तिम गति–सर्वाश्रय आकाश कैसे हो सकता है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यहाँ आकाश से भूतों में आदि भूत आकाश से राजर्षि का तात्पर्य नहीं है। यहाँ आकाश से

उनका अभिप्राय सर्वत्र प्रकाशित परब्रह्म परमात्मा से ही है। श्रुतियों में स्थान-स्थान पर आकाश शब्द से परमात्मा का ही बोध कराया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ही पीछे आया है, यदि यह परमात्मा आकाश के सदृश व्यापक आनन्द स्वरूप न होता, तो कौन पुरुष जीवित रह सकता था, कौन पुरुष जीवित रहकर सांसारिक सुखों को प्राप्त कर सकता था। (को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाशआनन्दो न स्यात्) इस छान्दोग्य उपनिषद् में ही आया है, आकाश नाम से प्रसिद्ध परमात्मा नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है। (आकाशो वै नाम रूपयोर्निर्वाहिता) इसलिये यहाँ पंचभूतों वाले आकाश से तात्पर्य न होकर सर्वत्र प्रकाशित या सबको प्रकाशित करने वाले अथवा जिसमें सभी चराचर विश्व अवकाश-स्थान आश्रय प्राप्त कर सके उस परब्रह्म परमात्मा से हैं। वे ही परमात्मा सबके परम आश्रय हैं उन्हीं की सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा बतायी है।"

शौनकजी ने कहा—"यदि आकाश से यहाँ तात्पर्य परब्रह्म परमात्मा से ही है तब तो सत्य ही है, क्योंकि सबके आश्रय वे प्रभु ही हैं। राजर्षि प्रवाहण ने आकाश संज्ञक इस उद्गीथ को परम उत्कृष्ट सबका आश्रय सिद्ध किया। फिर उन्होंने उस उद्गीथ की उपासना का फल क्या बताया, इसे आप और समझावें।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! आकाश रूप उद्गीथ को परम उत्कृष्ट बताते हुए राजर्षि प्रवाहण ने कहा—"गाने के योग्य-उद्गीथ-ये अनन्त-परब्रह्म परमात्मा ही, हैं। जो इस रहस्य को जानकर उन्हीं परब्रह्म परमात्म रूप उद्गीथ का गान करता है, उनकी उपासना करता है, उसका जीवन भी आकाश की भाँति परमोत्कृष्ट हो जाता है। वह अकाश स्वरूप परमात्मा की

भाँति देश, काल, वस्तु, परिच्छेद रहित होकर सर्वथा असीम हो जाता है। वह क्रमशः उत्कृष्ट लोकों को अपने अधीन कर लेता है। बड़े से बड़े लोकों को जीत लेता है।

इस विषय का मैं एक दृष्टान्त देता हूँ। जैसा मैंने उद्गीथ का आकाश रूप में निरूपण किया है उसी प्रकार उदर शाण्डिल्य ऋषि से शुनक मुनि के पुत्र अनिधन्वा ने निरूपण किया था। उसका सम्पूर्ण रहस्य बताकर उन्होंने उदर शाण्डिल्य से कहा था—"देखो, मैंने तुमसे उद्गीथ उपासना का यह रहस्य बताया, तुम इसका उपदेश अपनी मन्त्र सतति या बिन्दु सन्तति को करना। जब तक तुम्हारी सन्तति के लोग इस उद्गीथ को जानते रहेंगे, तब तक उन्हें लौकिक जीवन की अपेक्षा उत्तरोत्तर विशिष्ट जीवन प्राप्त होता रहेगा। उनका जीवन सर्वसाधारण जनों से अत्यन्त उत्कृष्ट बना रहेगा। अन्त में मरने पर—परलोक में भी—उन्हें उत्तम लोकों की प्राप्ति होगी।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजर्षि प्रवाहण ने आकाश सज्ञक उद्गीथ की परमोत्कृष्टता तथा उसकी उपासना का फल बताया। उन्होंने अन्त में कहा-इस प्रकार आकाश रूप परब्रह्म परमात्मा की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है। उद्गीथ द्वारा उन्हीं के गुणों का गान करना चाहिये। इस रहस्य को जानकर जो कोई साधक उद्गीथ द्वारा—परमात्मा की—उपासना करता है। उसका जीवन भी परमोत्कृष्ट हो जाता है। और वह मृत्यु के पश्चात् क्रमशः परमोत्कृष्ट लोक को सर्वोत्तम सर्वोपरि लोक को प्राप्त कर लेता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यह उद्गीथोपासना सम्बन्धी आख्यायिका आपसे कही। वेद मन्त्रों का गान सविधि उसके रहस्य को जानकर ही करना चाहिये। इस विषय

की एक उपस्ति महर्षि की आख्यायिका छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के दशम खण्ड में कही गई है। आगे मैं उसी आख्यायिका का वर्णन आप से करूँगा। यह बड़ी ही शिक्षाप्रद रोचक आपद् धर्म का निर्वाह कैसे किया जाता है, इस विषय को बताने वाली आख्यायिका है, आशा है इसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

कहें प्रवाहण–शिलक! साम तव अन्तवान है।
कहत गिरत सिर तुरत कहे यदि सामवान है॥
शिलक कहें–गति भूमि कहा है आपु बतावें।
कहें प्रवाहण–आश्रय भू आकाश कहावें॥
परब्रह्म आकाश है, आश्रय परमोत्कृष्ट यह।
करि उद्गीथ उपासना, पद सर्वोत्तम पाहि वह॥

(२)

यह उद्गीथ अनन्त यथा क्रम श्रेष्ठ कहावें।
अतिधन्वा ऋषि जाइ उदर शांडिल्य सुनावें॥
तव संतति उद्गीथ जानि उत्तम गति पावें।
उत्तम लोकनि जाइँ सुखी जगमें बनि जावें॥
अति उत्तम जीवन बने, परलोक हु बनि जात है।
करें उपासन ब्रह्म की, सं ब्रह्महिँ मिलि जात है॥

उषस्ति ऋषि तथा आपद्धर्म

[१०४]

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिका सह जाययोपस्तिर्ह
चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥१॥❀

(छा० उ० प्र० अ० १० ख० १ म०)

छप्पय

चक्र पुत्र मुनि उषति देश कुरु इभ्य ग्राम में।
ओलिनि तैं दुष्काल अन्न बिनु मरें देश में॥
अलप वयस लै नारि उषस्ती भूखे भटकत।
हस्तिप निरख्यो घुने उडद बैठ्यो तहँ खावत॥
मुनि बाले—हौं बुभुक्षित, हस्तिप कहि—जूठे उड़द।
'देउ वही' मुनि कूं दये, पत्निहिं रखि खाये उड़द॥

मनुष्य पाप पुण्य शरीर द्वारा ही करता है। फिर भी उसका फल भोगना पडता है जीव को ही। जिस शरीर द्वारा पुण्य पाप होता है वह तो अन्त मे अग्नि में जल जाता है अथवा जीवो का आहार होकर विष्ठा बन जाता है। तो भी कर्म शरीर को

❀ कुरुदेश मे भारी ओले पत्थर पडने से वहाँ की समस्त खेती नष्ट हो गयी थी, खेती से चोपट हुए उसी कुरुदेश के इभ्य नामक ग्राम में अपनी छोटी वय वाली पत्नी के सहित चक्र ऋषि के पुत्र उषस्ति किसी प्रकार दुर्गति अवस्था में दिन बिताते थे।

माध्यम बनाकर जीव ही अपनी भावनानुसार उसका कर्ता माना जाता है। कोई आदमी किसी वाहन द्वारा यात्रा करे तो वह वाहन की यात्रा न कहलाकर वाहन पर यात्रा करने वाले की ही यात्रा कहलावेगी। उसका पुण्य-पाप वाहन को न होकर वाहक को ही होगा। फिर भी वाहन का महत्त्व है, वाहन न हो तो यात्रा होना कठिन है। क्योंकि वाहन यात्रा का माध्यम है। इसी प्रकार जीव जो पुण्य-पाप करता है, वह शरीर के माध्यम से ही करता है। इसीलिये बार-बार शरीर की सुरक्षा पर बल दिया गया है, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जो ये चार प्रकार के पुरुषार्थ हैं, इनका मूल कारण शरीर है। कभी-कभी शरीर रक्षा के निमित्त निषिद्ध आचरण भी करना पड़ता है, जिसे आपत् धर्म कहते हैं। दुष्काल पड़ने पर, देश मे घोर विप्लव होने पर तथा अन्यान्य घोर संकटों के आने पर जैसे तैसे शरीर की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि शरीर रहेगा, तो निषिद्ध कर्म का प्रायश्चित्त करके और अधिक धर्मार्जन किया जा सकता है। किन्तु आपद् धर्म के समय भी अपने कर्तव्य कर्म से पराङ्मुख न हो। जब विश्वामित्रजी घोर अकाल पड़ने के कारण, अत्यन्त बुभुक्षा से पीड़ित होकर चाडाल के यहाँ से कुत्ते के मास को चुराकर लाये। उस समय चांडाल ने उन्हें बहुत फटकारा और कहा—"ऋषि होकर ऐसा निषिद्ध खाद्य और वह भी चोरी करके खाना चाहते हो, तुम्हें लज्जा नहीं आती ?"

इस पर विश्वामित्र जी ने कहा—"तू मुझे धर्म मत सिखा। मैं धर्म का मर्म जानता हूँ। आज मैं यदि कुछ न खाऊँगा, तो मेरा शरीर न रहेगा। मैं जानता हूँ यह अखाद्य है और चोरी करना निषिद्ध कार्य है, तिस पर भी यदि मैं शरीर रक्षा कर सका, तो आगे प्रायश्चित्त करके इन पापों से छुटकारा पाकर अधिक

धर्म अर्जन कर सकूँगा।" यह कहकर वे उस कुत्ते के मांस को लेकर चले गये। आकर क्या उन्होंने उसे वैसे ही खा लिया? नहीं, वे अपने कर्तव्य को–सदाचार को–नहीं भूले जो केवल अपने लिये भोजन बनाता है, वह पाप खाता है। देवता, पितर, अतिथि को खिलाकर तब बचे अन्न को खाय। ऋषि ने उसी निषिद्ध वस्तु को पहिले इन्द्र को देना चाहा। इन्द्र घबड़ा गये। वे दौड़े-दौड़े आये और बोले—"मुनिवर! ऐसा निषिद्ध पदार्थ आप देवताओं को न दें, मेरे अपराध को क्षमा करें। मैं अभी वर्षा करता हूँ।" यह कहकर इन्द्र ने यथेष्ट वर्षा की अवर्षण समाप्त हो गया। समस्त प्रजा सुखी हो गयी। सुकाल हो गया। मुनि को अखाद्य पदार्थ खाना भी न पड़ा।

जो लोग आपद्धर्म के नाम पर कदाचार करते हैं। खाद्य अखाद्य सभी खाने लगते हैं, वे तो क्रूर पुरुष हैं, अपनी वासनाओं की पूर्ति के हेतु मनमाना व्यवहार करते हैं, स्वेच्छाचार वर्तते हैं। उन लोगों की बात तो छोड़ दो। वास्तव में जो आपत्ति में ग्रस्त हैं और केवल धर्म रक्षार्थ ही शरीर को रखना चाहते हैं, तो उस समय कुछ सदाचार के विरुद्ध भी आचरण करना पड़े, तो वे निन्दा के पात्र कभी नहीं कहलाते। क्योंकि उन्होंने जान-बूझकर स्वेच्छा से कदाचार नहीं किया है। अत्यन्त विवश होकर केवल शरीर रक्षा के निमित्त आपद्धर्म का निर्वाह किया है। इसका निर्णय दूसरा कोई नहीं कर सकता, वे स्वतः ही निर्णय कर सकते हैं कि ऐसा किये बिना शरीर निर्वाह नहीं हो सकता था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वेद मन्त्रों के सम्बन्ध में मैं पीछे कह आया हूँ, कि उद्गाता को वेदों के गान करते समय वेदमन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द, विनियोग तथा अर्थ का ज्ञान होना चाहिये। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वरों का ध्यान रखकर मन्त्रोचा-

रण करना चाहिये। जो बिना इस रहस्यों को जाने केवल देखा देखी यज्ञों का कार्य कराते हैं, उनके द्वारा की हुई प्रक्रिया से यजमान की इष्ट सिद्धि नहीं होती। इसी विषय पर उपस्ति ऋषि का आख्यान कहते हैं। इसी प्रसग मे उन्होने आपद्धर्म समझकर सदाचार के विरुद्ध आचरण करके भी कैसे शरीर रक्षा की, इस घटना को प्रथम सुनाते हैं।

कुरुदेश मे सम्पूर्ण वेदों के विद्वान् महर्षि चक्र रहते थे, उन्हीं के एक पुत्र थे उनका नाम था उपस्ति। महर्षि उपस्ति वेदो के सुप्रसिद्ध ज्ञाता थे, कर्मकाड मे स्नात थे। कर्मकाड मे उनकी बडी ख्याति थी, बडे बडे यज्ञों में वे ऋत्विज् कार्य के लिये बुलाये जाते थे। वे महर्षि कुरुदेश के इभ्य नामक ग्राम मे निवास करते थे। इभ कहते हैं हाथी को। हाथियो को जो पालें-पोसें वे इभ्य हाथी वाले कहलाते हैं। अर्थात् वह इभ्य ग्राम हाथी पालने वालों का ग्राम था। उस ग्राम मे वे अपनी छोटी अवस्था वाली आटिकी पत्नी के साथ रहते थे।"

शौनकजी ने कहा—"आटिकी का अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! प्राचीन काल मे विवाह दो प्रकार की स्त्रियों के होते थे। एक तो प्राप्त वयस्काओं के दूसरे अप्राप्य वयस्काओं के। जब तक स्त्री के रजोधर्म नहीं होता, तब तक उसकी सज्ञा कन्या होती है। कन्यादान तभी तक प्रसस्त माना जाता है, जब तक लडकी को मासिक धर्म न हुआ हो। आठ वर्ष की कन्या की 'गौरी' सज्ञा है, नव वर्ष वाली की 'रोहिणी' संज्ञा है। दश वर्ष वाली की 'कन्या' सज्ञा है। वह कन्या तब तक बनी रहती है, जब तक कि वह रजस्वला न हो जाय। रजस्वला—मासिक धर्म—हो जाने पर उस का कन्यापन नष्ट हो जाता है, फिर वह अप्राप्त वयस्का न रह

कर प्राप्त वयस्का हो जाती है। तब उसे स्त्रियोचित स्तनादि निकलने लगते हैं। उसकी 'व्यञ्जस्तनी' भी संज्ञा है। जो लोग कन्यादान के महान् पुण्य को प्राप्त करना चाहते थे, वे लोग दश वर्ष से पूर्व ही अपनी पुत्री का विवाह किसी योग्य वर के साथ कर दिया करते थे। अथवा यज्ञों में दक्षिणा स्वरूप यजमान सुयोग्य ऋत्विजों को अपनी कन्या का दान कर देते थे। प्रायः क्षत्रियों की कन्यायें (यहाँ कन्या शब्द से अविवाहित पुत्री से प्रयोजन है) जिनका स्वयंवर होता था। युवती होने पर ही विवाह होता था, जिससे वे स्वयं अपनी इच्छानुकूल पति का वरण कर सकें। ब्राह्मणादि की कन्याओं का कन्यादान दश वर्ष से पूर्व ही उनके पिता माता कर दिया करते थे। उपस्ति ऋषि का भी विवाह ऐसी ही अप्राप्त वयस्का कन्या से हो गया होगा, अथवा किसी यज्ञ मे दक्षिणा रूप मे वह विवाह के निमित्त कन्या मिली होगी। इसीलिये उसकी 'आटिकी' संज्ञा दी गयी है। (आटिक्या अनुपजात पयोधरादि स्त्री व्यञ्जनया)।

उपस्ति मुनि असंग्रही ब्राह्मण थे, वे यज्ञादि में जो दक्षिणा मिल जाती होगी, उसी से निर्वाह करते होंगे, अथवा भिक्षा में जो अन्न मिल जाता होगा उससे काम चलाते होंगे। वे एक ग्राम से दूसरे ग्राम में अपनी अप्राप्त वयस्का पत्नी के साथ भ्रमण करते रहते होंगे। संयोग से हस्तियों के उस इभ्य नामक ग्राम में किसी गृहस्थी के घर में उसके आश्रित होकर रह रहे होंगे। उस समय कुरुदेश भर में इतने ओले और पत्थर गिरे, कि धान की– अन्न की– समस्त खेती नष्ट हो गयी। प्रजा के लोग भूखों मरने लगे। उन दिनों एक देश से दूसरे देश में शीघ्र ही अन्नादि पहुँचाने के सुलभ साधन नहीं थे। अतः जिस देश पर विपत्ति आती उसे उसी देश के लोग सहन करते अथवा देश छोड़कर दूसरे

राजा के देश में चले जाते। ऐसी दशा में भिक्षा पर ही निर्वाह करने वाले उपस्ति मुनि को अन्न कौन देता। जब प्रजाजनों के पास स्वयं ही खाने को अन्न नहीं था। प्रतीत होता है उपस्ति मुनि को कई दिनों से अन्न उपलब्ध नहीं हुआ था। जब उनकी भूख असह्य हो गयी। तब वे अपनी अल्पवयस्का पत्नी को घर पर ही छोड़कर भिक्षा के लिये बाहर निकले। किसी के यहाँ अन्न नहीं था। एक हस्तिप के यहाँ पुराने घुने हुए गत वर्ष के उड़द रखे थे। भूख के कारण वह उन घुने हुए उड़द के दानों का ही चबा रहा था। तब तक उसके यहाँ ये महामुनि उपस्ति भी पहुँच गये। उसे घुने उड़द चबाते देखकर मुनि ने कहा—"भैया! हमें भी कुछ खाने को अन्न दे दो।"

हस्तिप सज्जन तथा आस्तिक पुरुष था, भोजन के समय एक सुयोग्य अतिथि आ जाय, और उसे कुछ न दिया जाय, तो यह अनुचित है, किन्तु अब इतने श्रेष्ठ ब्राह्मण को दें भी तो क्या दें? उसके पास उतने ही उड़द के दाने थे, जो उसके उच्छिष्ट पात्र में अवशेष थे। उसने विनम्रता के साथ कहा—"ब्रह्मन्! मैं अत्यन्त लज्जित हूँ। अन्न की इच्छा रखने वाले आप इतने योग्य अतिथि का आतिथ्य करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। विप्रवर! मेरे पास ये गत वर्ष के इतने ही घुने हुए उड़द थे। आज जब मैं खाने बैठा, तो अपने उच्छिष्ट पात्र में सबके सब उड़द उड़ेल लिये। इसी पात्र में से मैं ले लेकर खा रहा हूँ। ये सब उच्छिष्ट दाने हैं। आप योग्य ब्राह्मण हैं, मैं आपको अपने जूठे उड़द कैसे दे सकता हूँ?"

यह सुनकर उपस्ति मुनि ने कहा—'देखो, भैया! भूख के मारे मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। इन प्राणों की तो किसी प्रकार

रक्षा करनी है, तुम अब जूठे कूठे का विचार छोड़ दो। तुम्हारे पास जैसे भी उड़द हैं, उन्हीं मे से मुझे दे दो।"

ब्राह्मण के मुख से ऐसी बात सुनकर हस्तिप को दया आ गयी। उसने जितने भी उसके पात्र मे उड़द थे, सबके सब उपस्ति मुनि को दे दिये। उड़द देने के अनन्तर उस हस्तिप ने कहा—"ब्रह्मन्! विराजें, उडद खाकर इस जल को पी लें।"

तब उपस्ति मुनि ने कहा—"भैया! तुमने बड़ी दया की जो उडद दे दिये। मैं जूठा जल नहीं पी सकता। क्योंकि तुमने इस जल पात्र को जूठे हाथों से छू लिया है। इस जल को पीने पर मुझे उच्छिष्ट जल पीने का पाप लग जायगा।"

हस्तिप ने आश्चर्यचकित होकर कहा—"ब्रह्मन्! आप कैसी बात कर रहे हैं। जूठे उडद खाने पर तो आप को दोष न लगेगा और इस जल के पीने से दोष लग जायगा? यह कैसी उलटी बात है? गुड़ खाइ गुलगुलाओं से बचत करे"

उपस्ति ऋषि ने कहा—"देखो, भैया! ये उड़द तो मैं आपद् धर्मानुसार खा रहा हूँ। कई दिनों से मुझे आहार नहीं मिला है, यदि मैं इन उच्छिष्ट उड़दों को न खाऊँ तो मैं जीवित नहीं रह सकता। इसलिये इन्हें तो विवश होकर-केवल प्राण रक्षा के निमित्त-मुझे खाना पड़ रहा है। रही पानी की बात सो, पानी तो नदी, तालाब कूपो मे सर्वत्र सुलभ है। पानी तो सर्वत्र मिल सकता है। वह सहज प्राप्त है, जब वह सर्वत्र मिल सकता है तो तुम्हारे उच्छिष्ट जल को क्यों पीऊँ?"

यह कहकर ऋषि उड़द लेकर चले गये। जलाशय के निकट जाकर उन्होंने उड़द खाये। भर पेट जल पिया। जब कुछ पेट में पड़ा, प्राणों में प्राण आये तब उन्हें अपनी पत्नी की याद आई। वह भी तो भूखी होगी। जो बचे हुए उड़द हैं उन्हें

के लिये ले चलूँ ? यह सोचकर वे बचे हुए उड़दों को वस्त्र में बाँधकर घर की ओर चले।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हस्तिप जो शूद्र जाति के होते है, उनके उच्छिष्ट उड़दों को इतने बड़े वेदज्ञ महर्षि ने क्यों खाया ? धर्म की रक्षा के निमित्त यदि प्राण चले भी जाते तो क्या हानि थी ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! शरीर मे प्राण ही सर्वोत्तम हैं, प्राणो की रक्षा सभी प्रकार से करनी चाहिये। प्राण रहेंगे तो मनुष्य और भी उत्तमोत्तम धर्मों का पालन कर सकेगा, प्रायश्चित्त करके सैकड़ो कल्याणप्रद कार्यों को देख सकेगा। (जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति) बात यह है, कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ शरीर में प्राण रहेंगे, तभी तो सिद्ध होंगे, अतः मुख्य धर्म को न छोड़कर उपधर्मों में कुछ शिथिलता भी करनी पड़े, तो उसे करके सभी प्रकार से प्राणों की रक्षा करनी ही चाहिये। प्राणों की रक्षा करना परमधर्म है, और जान बूझकर प्राणों का हनन करना घोर पाप है। ऐसा नीतिकारों का वचन है।* इसलिये उच्छिष्ट सूखे अन्न को प्राणो की रक्षार्थ खा भी लिया तो इसमें दोष क्या है ? यह प्राण रक्षारूप धर्म है। यही सोचकर वेदज्ञ ऋषि ने प्राण रक्षा को श्रेष्ठ समझकर ऐसा किया।

उनका पेट भरा नहीं था, प्राणों का आधार मात्र हो गया था, इसलिये शेष उड़दों को उन्होंने लाकर अपनी पत्नी को दे दिया और शैया पर पड़ गये।

---

* धर्मार्थ काममोक्षाणां प्राणाः सस्थितिहेतवः।
तान् निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम्॥
(हितोपदेश)

इधर जब उपस्ति ऋषि भिक्षा को गये, तो उस छोटी बच्ची पर किसी ने दया करके उसे सुन्दर-सुन्दर पदार्थ लाकर भिक्षा करा दी और कह दिया—"तुम्हारे पति तो सायकाल तक आवेंगे कहीं-न-कहीं भिक्षा पा ही जायँगे। तुम भर पेट भिक्षा कर लो।" अतः उस छोटी बच्ची ने उनके कहने पर भिक्षा कर ली थी। इसलिये पति के दिये हुए उडदों को उसने बाँधकर रख दिया।

दूसरे दिन उपस्ति ऋषि शेया त्यागकर जब नित्य कर्मों से निवृत्त हो गये। तब उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—"देखो, कैसा दुर्भिक्ष पड गया है, सब लोग एक-एक दाने अन्न के लिये दुखी हो रहे हैं। मेरे शरीर में तनिक भी शक्ति नहीं है। मेने सुना है अमुक राजा समीप में ही एक बडा भारी यज्ञ कर रहा है। यद्यपि उसने अपने यज्ञ में मुझे बुलाया नहीं है, तो भी मैं वहाँ बिना बुलाये भी जा सकता था, क्योंकि शास्त्र की आज्ञा है-बिना बुलाये भी यज्ञ में चला जाय।* किन्तु वहाँ तक जाने की मुझमें शक्ति ही नहीं। इस समय यदि थोडा सा अन्न मिल जाता, तो मैं उसे खाकर वहाँ चला जाता।"

अपने पति की इस बात को सुनकर ऋषि पत्नी ने कहा—"स्वामिन्! कल जो आपने लाकर मुझे उडद दिये थे, वे मेरे पास ज्यों के-त्यों सुरक्षित रखे हैं। लीजिये, इन्हे खाकर आप मेरे साथ यज्ञ में चलिये।"

यह सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने उन उडदों को खाकर पानी पिया, और वे अपनी पत्नी को साथ लेकर शनैः-शनैः राजा के यज्ञ की ओर चलने लगे और कुछ ही काल मे राजा की विशाल यज्ञशाला के मडप मे पहुँच गये।

---

* अनाहूतोऽध्वर गच्छेत् (महाभारते)

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब यज्ञशाला मे जाकर उपस्ति मुनि ने जो अपनी कर्मकाण्ड विद्या का चमत्कार दिखाया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

हस्तिप पानी दयो न सो मुनि ने स्वीकार्यो।
पानी सब थल सुलभ अन्न बिनु ही हौं हार्यो॥
शेष उड़द घर लाइ दये पत्नी सो राखे।
ताकूँ भिक्षा मिली उड़द धरि वचन न भाखे॥
कह्यो प्रात मुनि अन्न यदि, मिलै नृपति मख जाइकें।
द्रव्य लहूँ मुनि पत्नि ने, दये उड़द सो लाइकें॥

उषस्ति मुनि का राजा के यज्ञ में जाना

[१०५]

तत्रोद्गातृनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश-
म ह प्रस्तोतारमुवाच ॥*

(छा० उ० प्र० अ० १० ख० ८ म०)

छप्पय

उडद खाइ चलि दये नृपति मख में मुनि आये ।
प्रस्तोता तैं कहें स्तवन विनु जानि सुनाये ॥
तो तव सिर गिरि जाय यही बच सबनि बताये ।
सब ऋत्विज डरि गये जानि नृप वरन कराये ॥
मुनि बोले - इनि सबनि कूँ, देहिँ दक्षिणा मम सरिस ।
मम सरक्षण में करें, यज्ञ कार्य ये ही विहँसि ॥

पडितों की सभा में गुणियों का आदर तब तक नहीं होता, जब तक वे अपनी विद्वत्ता को प्रकट न करें। वाणी द्वारा ही विद्वान् तथा मूर्ख की पहिचान होती है। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित बडी धोती बडी पोथी और बडी पगडी धारण किये हुए मूर्ख भी पडितों के समाज में जाकर बैठ जाय,

---

* राजा के यज्ञ मे जाकर उषस्ति मुनि वहाँ बैठ गये जहाँ प्रस्तोता आस्ताव (स्तुति) कर रहे थे। उन्होंने स्तुति करते हुए प्रस्तोता से यो कहना आरम्भ किया।

तो उसकी भी तब तक प्रतिष्ठा होगी, जब तक वह कुछ बोले नहीं। पंडितों की सभा में सजे-बजे मूर्खों का तभी तक आदर होता है, जब तक वे मौन धारण करे रहें। अज्ञता को ढकने के लिये विद्वत् समाज में मौन सबसे बड़ा भूषण है। जहाँ उन्होंने बोलना आरम्भ किया तहाँ उनकी पोलपट्टी खुल जाती है। वाणी द्वारा ही विद्वान्-मूर्ख की-कुलीन अकुलीन की पहिचान होती है। इसके विपरीत साधारण वेषभूषा में कोई विद्वान् भी जाकर समाज में बैठ जाय, तो सभासद लोग तभी तक उसके वेषभूषा को देखकर उसकी उपेक्षा करेंगे, जब तक वह कुछ बोले नहीं। जहाँ उसने अपने शास्त्र ज्ञान का परिचय दिया, तहाँ सभी सभासद उसका आदर करने लगेंगे, उससे उच्चासन पर बैठने का आग्रह करेंगे। इसीलिए वाग्देवी को सरस्वती कहा है। वाणी द्वारा ही विद्वान् मूर्ख की पहिचान होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्गीथ से ही सम्बन्धी प्रस्ताव प्रतिहार विषयक उपासना को बताने के निमित्त ही उषस्ति ऋषि की आख्यायिका का वर्णन किया जाता है। उषस्ति महर्षि ने पत्थर ओले से दग्ध कुरु देश में आपद्धर्म द्वारा किस प्रकार अपने प्राणों की रक्षा की, इस प्रसंग को पीछे बता ही चुके हैं। जब प्रातःकाल उषस्ति मुनि ने अपनी अल्पवयस्का पत्नी से कहा—"मेरे शरीर में अन्न के बिना चलने की शक्ति नहीं है। यदि इस समय कुछ अन्न खाने को मिल जाता, तो मैंने सुना है, समीप ही कोई राजा बड़ा भारी यज्ञ कर रहा है। यज्ञ में बहुत से विद्वान् ब्राह्मण वरण किये जाते हैं। उनमें ब्रह्मा (चारों वेदों के ज्ञाता) अध्वर्यु (यजुर्वेद के ज्ञाता) उद्गाता (सामवेद के गायक) होता (ऋग्वेद के ज्ञाता) ये चार तो मुख्य होते हैं। इनके अतिरिक्त प्रशास्ता, प्रतिस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता,

आच्छावक, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रतिहर्ता, प्रावस्तुत, होता, नेता और सुब्रह्मण्य ये बारह ऋत्विज् इनके सहायक ऋत्विज् होते हैं। मैं चारो वेदो का ज्ञाता हूँ, राजा के यज्ञ मे जाने पर मुझे इनमें से कोई-न-कोई पद अवश्य प्राप्त हो जाता। किन्तु जाऊँ कैसे मुझमें तो अन्न के बिना चलने की शक्ति ही नहीं।"

ऋषि पत्नी ने कहा—"यज्ञ मे आपको बुलाया तो नहीं है। अनिमन्त्रित यज्ञ मे कैसे जायँगे ?"

उपस्ति मुनि ने कहा—"प्रिये ! यज्ञ के लिये निमन्त्रण की प्रतीक्षा न करे। यज्ञ मे तो अनिमन्त्रित भी जाया जा सकता है।"

तब ऋषि पत्नी आटिकी ने कहा—"स्वामिन् ! आप ने जो मुझे कल उडद दिये थे, वे मैंने ज्यो-के-त्यों रख छोडे हैं। उन्हें खाकर आप उस महायज्ञ मे जायँ।"

यह सुनकर ऋषि को परम प्रसन्नता हुई। वे उडदो को खाकर पानी पीकर शनैः शनैः राजा के यज्ञ मे गये। वहाँ जाकर जिस स्थान मे उद्गाता ऋत्विज् लोग स्तुति करते हैं, उस स्थान में जाकर ऋत्विजो के समीप बैठ गये। जब प्रस्तोता स्तुति करने को उद्यत हुआ, तब उपस्ति ऋषि ने उससे कहा—"देखिये, प्रस्तोता-जी ! आप जिस देवता की स्तुति करना चाहते हैं, जिस देवता से इस प्रस्ताव का सम्बन्ध है, उसे बिना जाने यदि तुम उसकी स्तुति करोगे, तो इस अज्ञानपूर्वक की गयी स्तुति के कारण मेरे कहने से तुम्हारा सिर धड से पृथक् होकर गिर जायगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यज्ञ मे तो सभी प्रकार के ऋत्विज् होते हैं। बहुत से ऐसे ऋत्विज् होते हैं, जो वेदमन्त्रो का उच्चारण तो यथाविधि करते हैं, किन्तु उनके अर्थों को भली भाँति नहीं जानते। बहुत-से अक्षर और अर्थ दोनों को जानते

हैं। दोनो ही मन्त्रों के अक्षरो की सहायता से कर्म करते हैं। फिर उषस्ति ऋषि ने यह क्यों कहा कि बिना जाने तुम स्तुति के मन्त्र बोलोगे ता तुम्हारा सिर धड से पृथक हो जायगा ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आप का कथन यथार्थ है, पीछे छान्दोग्य उपनिषद् मे ही कह आये हैं, कि जो अक्षर को इस प्रकार अर्थ सहित भली-भाँति जानता है, और जो अर्थ को न जानकर केवल मंत्र की–अक्षर की– सहायता से ही यज्ञीय कर्म करते हैं, तो अक्षर की सहायता से अर्थ जानने वाले बिना अर्थ जानने वाले दोनों ही यज्ञीय कर्म करा सकते हैं। यह उसी दशा में सम्भव है, जब वहाँ कोई अर्थ विशेषज्ञ न हो, तब तो बिना अर्थ जाने भी केवल मन्त्र से कर्म कराने से काम चल जायगा। किन्तु जहाँ अर्थ विशेषज्ञ बैठा है, तो उसकी उपस्थिति मे ऐसा साहस करना अनुचित है। जो अर्थ नहीं जानता, उसे अपने पास मे बैठे अर्थ विशेषज्ञ से प्रार्थना करनी चाहिये आप ही अमुक देवता की स्तुति करें, क्योंकि आप मुझसे अधिक विद्वान् हैं, इसके अर्थ के विशेषज्ञ हैं, इसीलिये उषस्ति मुनि ने प्रस्तोता को चेतावनी दी, उसे सचेत कर दिया। केवल प्रस्तोता को ही नहीं उस यज्ञ मे जो सामवेद के उद्गाता थे उनसे भी यही बात कह दी—"देखिये, उद्गाता जी ! तुम सामवेद के मन्त्रों से जिस देवता की स्तुति का गान करो, तथा जिस मन्त्र से जिस देवता से सम्बन्ध है–जिसका उद्गीथ द्वारा तुम उद्गायन करो, यदि उसका अर्थ बिना जाने तुम गायन करोगे, तो निश्चय ही तुम्हारा सिर धड से पृथक् होकर गिर जायगा।"

यही बात उन्होंने प्रतिहर्ता ऋत्विज् से कही—"सुनिये, प्रतिहर्ता जी ! जिस देवता का तुम्हारे प्रतिहार से सम्बन्ध है। उसे

बिना जाने तुम प्रतिहार करोगे, तो तुम्हारा सिर धड से पृथक् हो जायगा।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रतिहार क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! सामवेद के जिस भाग को उद्गाता गाता है, उसे 'उद्गीथ' के नाम से पुकारा जाता है। जिस भाग को प्रस्तोता गाता है उसे प्रस्ताव कहा जाता है और जिसे प्रतिहर्ता गाता है, उसे प्रतिहार कहते हैं। ये तीनों ही गायन हैं। उपस्ति मुनि ने प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता तीनों को ही चुनौती दी। वास्तव में ये तीनों ही अर्थ विशेषज्ञ नहीं थे, वे लोग केवल मन्त्रों की ही सहायता से यज्ञीय कर्म कराते थे। जब उपस्ति मुनि ने उनसे दृढतापूर्वक ऐसी बात कही, तब वे समझ गये, यह कोई हमसे विशेष विद्वान् मन्त्रार्थ ज्ञाता मुनि है, अत. वे सबके सब अपने-अपने कार्यों से उपरत होकर चुप-चाप बैठ गये।

जो यजमान राजा यज्ञ करा रहा था और यजमान के स्थान पर बैठा था, जब उसने देखा—"मेरे यज्ञ कराने वाले उद्गाता, प्रस्तोता तथा प्रतिहर्ता आदि ऋत्विज् नवीन आये हुए ऋषि के वचनों को सुनकर अपने अपने कर्मों से उपरत होकर चुपचाप बैठ गये हैं, तो अवश्य ही यह नवागन्तुक ऋषि इन सबसे भारी विद्वान् कर्मकाडी तथा यज्ञ कर्मों मे कुशल याज्ञिक है।" यह सोचकर उसने उपस्ति मुनि से बडे ही आदर सत्कार और श्रद्धा-पूर्वक पूछा—"क्या मैं भगवान् का पूरा परिचय प्राप्त कर सकता हूँ ?"

यह सुनकर उपस्ति ऋषि ने कहा—"राजन्! मेरे पिता सुप्रसिद्ध परम विद्वान् चक्र ऋषि हैं। मैं उन्हीं का पुत्र हूँ, मेरा नाम उपस्ति है।"

उपस्ति ऋषि का नाम सुनकर राजा चौंके, वे सहसा खड़े हो गये और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर विनम्रता के साथ कहने लगे—"भगवन ! मेरा यज्ञ धन्य हुआ, मैं स्वयं कृतार्थ हो गया। आप सत्य मानें अपने इस यज्ञ में समस्त ऋत्विज् सम्बन्धी कार्यों के निमित्त मैं भगवान् को ही वरण करना चाहता था। आपकी विद्वत्ता की ख्याति मैंने पहिले से ही सुन रखी थी। मैंने अनेकों स्थानों पर अपने आदमी भेजकर भगवान् को खुजवाया था। आप परम पूजनीय ऋषि का सर्वत्र अन्वेषण कराया था। जब आप बहुत खुजवाने पर भी नहीं मिले तब मैंने दूसरे ऋत्विजों का वरण किया। जो महानुभाव बहुत अन्वेषण करने पर भी नहीं मिले थे वे ही अकस्मात् आज बिना बुलाये मेरे इस यज्ञ मे पधार गये, मैं अपने भाग्य की किन शब्दों मे सराहना करूँ ? हे भगवन् ! अब जब आपने मुझ सेवक पर इतनी अहैतुकी कृपा की है, स्वयं ही यहाँ तक बिना बुलाये पधारने का कष्ट किया है, तो अब आप ही इस यज्ञ के समस्त ऋत्विज् सम्बन्धी कार्यों को सम्हालें। आप ही इस यज्ञ के प्रधानाचार्य बनकर मुझसे यज्ञ सम्बन्धी कार्य करावें।"

राजा की विनम्र प्रार्थना सुनकर उपस्ति मुनि प्रसन्न हुए। ये तो यह चाहते ही थे, इसीलिये वे यहाँ आये थे, अतः वे राजा से बोले—"अच्छी बात है, राजन् ! मैं आपके प्रस्ताव को स्वीकार करता हूँ। अब यज्ञीय समस्त कार्य मेरी ही देख-रेख में हो। किन्तु एक बात है, ये पहिले वरण किये हुए ऋत्विज् हटाये न जायँ, ये अपने-अपने पदों पर पूर्ववत् ही प्रतिष्ठित रहें। इन्हें दक्षिणा भी उतनी ही मिले, जितनी मुझे मिले।"

राजा ने कहा—"तथास्तु, जैसी भगवान् आज्ञा करेंगे वैसी

ही सब बातें होंगी। अब यज्ञ सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होने चाहिये।"

राजा की बात सुनकर सभी ऋत्विज् परम प्रसन्न हुए। अब उपस्ति मुनि ने प्रथम प्रस्तोता से कहा—"हाँ तो आप प्रस्ताव करें–आप जिस देवता की स्तुति–प्रस्ताव–कर रहे थे, उसे आरम्भ करें।"

यह सुनकर प्रस्तोता उठकर उपस्ति मुनि के निकट आकर प्रस्ताव के सम्बन्ध में कुछ पूछने लगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता आदि ऋत्विजों का तथा उपस्ति ऋषि का जो सम्वाद होगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ऋषि उपस्ति कूँ पाइ नृपति अति ई हरषाये।
यज्ञ प्रथम ही दूत भेजि ऋषि बहु ढुंढवाये॥
जब उपस्ति नहिँ मिले वरन दूसर ऋषि कान्हें।
आये स्वय उपस्ति प्रथम आचारज कीन्हें॥
तब प्रस्तोता ऋषि निकट, पूछत सो को देव वह।
मुनि उपस्ति कहवे लगे, प्राण देव है वही यह॥

उषस्ति मुनि का यज्ञ में ऋत्विजों से सम्वाद

[१०६]

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥*

(छा० उ० प्र० अ० ११ ख० ४ म०)

छप्पय

प्राणहिँ तैं सब भूत होहिँ अनुगत प्रस्तावहिँ।
बिनु जाने प्रस्ताव करत तो मस्तक गिरिहहिँ॥
पुनि उद्गाता आइ प्रश्न उद्गीथ सुनायो।
तब उषस्ति आदित्य देव उद्गीथ बतायो॥
है अनुगत उद्गीथ तिहिँ, पुनि प्रतिहर्ता आइकें।
कर्‌यों प्रश्न प्रतिहार को? बोले मुनि हरषाइकें॥

---

* तदनन्तर यज्ञ में जो प्रस्ताता का कार्य कर रहे थे, वे महर्षि उषस्ति के समीप विनम्रता से आकर पूछने लगे—"भगवान् ने मुझसे कहा था, कि हे प्रस्तोता! तुम प्रस्ताव में अनुगत देवता को बिना जाने प्रस्तवन—स्तुति करोगे, तो तुम्हारा सिर धड से पृथक् होकर गिर जायगा। तो अब मैं यह जानना चाहता हूँ वह देवता कौन है?"

उपनिषदों में प्राण की, आदित्य की और अन्न की बड़ी महिमा गायी है। इन्हें साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही बताया है। वास्तव में ब्रह्म तो– प्राण, आदित्य तथा अन्न से परे हैं, किन्तु शरीर में प्राण सर्वश्रेष्ठ है, इन्द्रियों के न रहने पर किसी प्रकार कार्य चल सकता है, किन्तु प्राण न रहे, तो शरीर का कोई भी अंग कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता। प्राण ही जीवनी शक्ति है। इसीलिये प्राण रूप मे परब्रह्म की उपासना की जाती है। प्राणों को ही परब्रह्म स्वरूप मानकर उसका याज्ञिक लोग यशोगान करते हैं, किन्तु वास्तव मे प्राण ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म तो प्राणो से सर्वथा अतीत है। इससे यही समझना चाहिये कि जो प्राणो का प्राण है, जो प्राणो को प्रणयन करता है, जिसकी प्रेरणा से प्राण सर्वत्र विचरण करता है, जो प्राणों का ज्ञाता, प्रेरक तथा शक्ति प्रदाता है, वही परब्रह्म है।

यही बात आदित्य के सम्बन्ध मे समझनी चाहिये। सूर्य मंडलवर्ती जिस पुरुष की उपासना बतायी गयी है, वास्तव में वह ब्रह्म नहीं है, किन्तु उसकी उपासना से ब्रह्म का ज्ञान होता है, आदित्य उसी की प्रेरणा से सबको प्रकाश प्रदान करता है, जिससे सभी प्राणी जीते हैं।

यही बात अन्न के संबध मे भी है। अन्न को भी ब्रह्म मानकर उसकी उपासना का विधान है। अन्न को परब्रह्म स्वरूप मानकर उसकी स्तुति की गयी है। अन्न होता है, पृथ्वी जल और तेज की सहायता से। अन्न से ही प्राणो का तर्पण होता है, अन्न को प्राण ही शरीर के सभी स्थानों मे पहुँचाते हैं, अन्न ही जीवन है, किन्तु परब्रह्म इस लौकिक अन्न से सर्वथा अतीत है। यही कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि जिसकी प्रेरणा से अन्न में अन्नत्व आता है, जो अन्न का ज्ञाता, प्रेरक को शक्ति प्रदान

करने वाला है वही परब्रह्म है किन्तु परब्रह्म परमात्मा का तो कोई एक रूप निश्चित है नहीं। उसकी जिस रूप से उपासना करो, वह उसी से फल प्रदान करता है। इसीलिये वेदों में नाना रूपों से-विविध देवताओं को लक्ष्य करके उसकी स्तुति का गान किया गया है। किसी रूप से, किसी नाम से उस परब्रह्म की स्तुति करो, प्राप्त उसी को होगी, क्योंकि सत्य स्वरूप परमात्मा तो एक ही है, उसे विद्वान् लोग अनेक रूपों में कथन करते हैं। (एकः सद् विप्राः बहुधा वदन्ति)

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उपस्ति ऋषि को राजा ने अपने यज्ञ का प्रधानाचार्य वरण कर लिया। तब उपस्ति मुनि ने प्रस्तोता से कहा—"अच्छी बात है, तुम जिस देवता का प्रस्ताव-स्तुतिगान कर रहे थे, उसे करो।"

यह सुनकर प्रस्तोता प्रधानाचार्य बने उन उपस्ति ऋषि के समीप अत्यन्त ही विनम्र भाव से आया और शिष्य भाव से आदर के साथ कहने लगा—"जब मैं प्रस्ताव-स्तुति करने वाला था, तब भगवान् ने मुझसे यह कहा था तुम जिस देवता के मंत्रों द्वारा स्तुति करने जा रहे हो, उस देवता को बिना जाने तुम स्तुति करोगे, तो तुम्हारा सिर धड़ से पृथक हो जायगा।" इसलिये मैं जानना चाहता हूँ, वह मन्त्रोक्त देवता कौन है। आपके द्वारा उस देवता का परिचय प्राप्त करके तब मैं प्रस्ताव-स्तुति करूँगा।"

प्रस्तोता के शिष्य भाव से विनम्रतापूर्वक पूछे प्रश्न के उत्तर में उपस्ति मुनि ने कहा—"भैया ! तुम जिस देवता की स्तुति करने जा रहे हो, वह प्राण देवता है। देखो, शरीर का आधार प्राण ही है। प्रलयकाल में प्राणी प्राणरूप होकर ही प्राण में विलीन होते हैं और पुनः सृष्टिकाल में प्राणरूप होकर ही

उत्पन्न होते हैं। तुम्हारी स्तुति का अनुगत देवता वही मुख्य प्राण है। अब तुम प्राण का परिचय पाकर-उनके सम्बन्ध में जानकर निर्भय होकर स्तुति करो। यदि तुम इस देवता का बिना परिचय प्राप्त किये मेरे सम्मुख स्तुति करते, तो निश्चय ही मेरे कहने पर तुम्हारा सिर धड से अवश्य ही पृथक हो जाता। अब कोई बात नहीं है। अब तुम प्राणदेव की अपने गायन द्वारा स्तुति आरम्भ करो।"

उपस्ति ऋषि की आज्ञा से प्रस्तोता ने अपना प्रस्ताव किया। अर्थात् उन्होंने प्राणदेव की मन्त्रों द्वारा सविधि स्तुति की।

तदनन्तर उन्होंने उद्गाता से कहा—"तुम जिस उद्गीथ का गायन करना चाहते थे, उसका गायन करो।"

यह सुनकर उद्गाता भी शिष्य भाव से आकर नम्रतापूर्वक उपस्ति मुनि से पूछने लगा—"भगवन्! मुझसे भगवान् ने कहा था, जिस देवता को अनुगत करके तुम उद्गीथ का गायन करना चाहते हो यदि उस देवता का बिना जाने तुम गायन करोगे, तो मेरी आज्ञा से तुम्हारा सिर धड से पृथक् हो जायगा। अतः मैं आपके द्वारा यह जानना चाहता हूँ, कि जिसको लक्ष्य करके उद्गाता उद्गीथ का गायन करता है, वह देवता कौन है?"

यह सुनकर उपस्ति मुनि ने कहा—"वह देव आदित्य है। जितने देवर्षि ब्रह्मर्षि, ऋषि महर्षि तथा समस्त प्राणी हैं उन्हीं आकाश स्थित आदित्य का ही सदा सर्वदा यशोगान किया करते हैं। वही आदित्य उद्गीथ म अनुगत है अर्थात् वही सूर्य उद्गीथ से सम्बन्ध रखने वाला देवता है। यथार्थ में यदि तुम उस देव को बिना जाने स्तुति आरम्भ कर देते, तो मेरी आज्ञा से तुम्हारा सिर अवश्य ही धड से पृथक् हो जाता। अब तुमने मेरे द्वारा उस देव का परिचय प्राप्त कर लिया है। अब कोई बात —

है। अब तुम निर्भय होकर आदित्य देव का उद्गीथ द्वारा यशोगान करो।"

यह सुनकर उद्गाता ने उद्गीथ द्वारा आदित्य देव का यशोगान किया। तदनन्तर उषस्ति ऋषि ने प्रतिहर्ता से कहा—"प्रतिहर्ता जी! आप जिस मन्त्र से प्रतिहार-स्तुति-करने वाले थे, उसे करें।"

तब वह प्रतिहर्ता भी शिष्य भाव से उषस्ति ऋषि के समीप आकर पूछने लगा—"भगवन! जब मैं प्रतिहार-स्तुति-करने को उद्यत था, तब भगवान् ने मुझसे कहा था—"प्रतिहर्ता! तुम जिस देव का प्रतिहार करने वाले हो, यदि तुम उसे बिना जाने-बिना उसका परिचय प्राप्त किये उसका प्रतिहार-स्तुति गान करोगे तो तुम्हारा सिर धड से पृथक् हो जायगा। कृपा करके मुझे बताइये वह देवता कौन है?"

इस पर उषस्ति ऋषि ने कहा—"प्रतिहर्ता जी! वह देवता अन्न है। अन्न ही समस्त प्राणियों का जीवन है। अन्न को ही खाकर प्राणी जीवित रहते हैं। यही अन्न प्रतिहार सम्बन्धी देवता है। यदि तुम प्रतिहार के अनुगत इस देव को बिना जाने प्रतिहार-स्तुति-करते, तो मेरे कहने पर अवश्य ही तुम्हारा सिर धड़ से पृथक् हो जाता। अब तुमने उस देवता का परिचय प्राप्त कर लिया, अब किसी भी प्रकार का भय नहीं। अब तुम निर्भय होकर अन्न देवता का प्रतिहार करो।"

यह सुनकर प्रतिहर्ता ने अन्न देवता सम्बन्धी प्रतिहार-स्तुति-की।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इन संवादों में प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता द्वारा जो प्रस्ताव, उद्गीथ और प्रतिहार नाम से प्राण, आदित्य और अन्न की स्तुति की गयी है वास्तव में

प्राण, आदित्य और अन्न ये परब्रह्म परमात्मा के ही नाम हैं। अतः जो इस रहस्य को जानकर भगवान् की उपासना करता है, वह अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करता है, यह मैंने साम उद्गीथ सम्बन्धी उपस्ति मुनि का आख्यान आप से कहा—अब शैव उद्गीथ के सम्बन्ध में आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

प्रतिहर्ता यों कहे—आपु भगवान् बतावें।
अनुगत वह प्रतिहार देव को तिहि समुझावें॥
ऋषि उपस्ति ने कह्यो—अन्न प्रतिहार देव वे।
अन्न जीव प्रतिहरण करें जीवित सबई ये॥
प्रस्तोता प्रस्ताव के, उद्गाता उद्गीथ के।
प्रतिहर्ता प्रतिहार के, देव, प्राण, रवि, अन्न ये॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् मे प्रथम अध्याय के
दशम एकादश खण्ड समाप्त।

—:—

शौव साम सम्बन्धी कथा

[१०७]

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो
ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥१॥*
(छा० उ० प्र० अ० १२ खं० १ मं०)

छप्पय

अन्न प्राप्ति के हेतु शौव सामहिँ जो गावै ।
तो निश्चय बहु अन्न साम गायन तैं पावै ॥
दाल्भ्य ग्लाव स्वाध्याय हेतु एकान्त पधारे ।
श्वेत श्वान ऋषि रूप श्वान बहु संग निहारे ॥
श्वान कहें भूसे सबहिँ, भगवन् ! गावें अन्न हित ।
प्रात करूँ आगान इत, दाल्भ्य लगायो तितहिँ चित ॥

प्राचीन काल में जिस उपाय द्वारा आजीविका अर्जन की जाय, उस धर्म के पालन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। दूसरे वर्ण का अनापदि काल में कर्म करने से वह व्यक्ति उसी वर्ण के सदृश माना जाता था। आपद्धर्म में तो एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण के कर्म से काम चला सकता है। जैसे ब्राह्मण आपत्ति-काल में क्षत्रिय वैश्य का कर्म कर सकता है, क्षत्रिय आपत्ति में

---

* तदन्तर शौव उद्गीथ को बताते हैं। एक बक नाम के दल्भ पुत्र या मित्रा के पुत्र ग्लाव स्वाध्याय के निमित्त जल के समीप गया।

ब्राह्मण वेष बनाकर भिक्षा पर निर्वाह कर सकता है, वैश्य का कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य कर्म कर सकता है। वैश्य आपत्ति काल मे शूद्र का कर्म तथा चटाई बुनने आदि का अति शूद्रो का कर्म भी कर सकता है, किन्तु इन कर्मों को तभी तक करे, जब तक आपत्ति रहे। आपत्ति निवृत्त हो जाने पर भी जो इन कर्मों को लालचवश करता रहे, इन्हें ही अपनी जीविका अर्जन का साधन बना ले, तो वह पतित हो जायगा।

जैसे लाक्षागृह से बचकर पाडवो ने आपत्ति काल मे ब्राह्मण वेष बनाकर बारह वर्षों तक भिक्षा पर ही निर्वाह किया था, किन्तु जब उनकी आपत्ति टल गयी—द्रुपद राजा की पुत्री के साथ उनका विवाह हो गया—तब उन्होंने एक दिन भी भिक्षा नहीं माँगी। क्षत्रिय धर्म के अनुरूप राज्य प्राप्ति की चेष्टा आरम्भ कर दी। इसी प्रकार ब्राह्मण आपत्ति काल में क्षत्रिय या वैश्य का कर्म कर सकता है, आपत्ति हट जाने पर भी वह शस्त्र या कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य द्वारा अपनी जीविका चलाता रहेगा, तो फिर वह उसी वर्ण के सदृश पुकारा जायगा।

ब्राह्मण की मुख्य वृत्ति तो है शिलोञ्छ वृत्ति। किन्तु देश मे घोर दुष्काल पडने पर कहाँ खेतों में शिला मिलेगा और कहाँ दुकान के सामने अन्न के दाने मिलेंगे। शिलोञ्छ वृत्ति से हटकर दूसरी वृत्ति है अयाचित वृत्ति। इसे अमृत वृत्ति कहा है, किन्तु दुष्काल में जब स्वयं ही लोगों के पास अन्न नहीं है, तब अयाचक ब्राह्मण को कौन अन्न देने लगा। अयाचित वृत्ति से नीची, तृतीय श्रेणी की वृत्ति नित्य घर-घर से जाकर भीख माँग लावे। इसे मृत वृत्ति बतायी है। अर्थात् अत्यन्त निकृष्ट वृत्ति। चौथी सबसे निकृष्ट वृत्ति ब्राह्मण की है खेती करना। इसे प्रमृत—

अर्थात् मृतक से भी गयी बीती–सबसे हीन वृत्ति चौथी श्रेणी का वृत्त माना है।

पूर्व काल मे ब्राह्मण लोग तीसरी ही श्रेणी तक जाते थे। साधारणतया तो उन दिनों गॉव गॉव मे यज्ञयाग पूजा पाठ होते ही रहते थे, ब्राह्मण यज्ञयाग पूजा पाठ करा कर अपनी वृत्ति चलाते थे। कहीं यज्ञयाग नहीं हुआ और भूख ने अत्यन्त ही क्लेश दिया, तो वे भिक्षा मॉगकर भी निर्वाह कर लेते थे। जैसे उषस्ति मुनि को किसी यज्ञ मे वरण नहीं मिला और कुरुदेश मे घोर अकाल पड गया, तो वे भिक्षा मॉगने गये और भिक्षा में भी उन्हें जूठे उडद खाने पडे।

इस पर सामगान करने वाले ऋषियों ने सोचा—"जब हमारे सामगायन से इस लोक तथा परलोक की सब वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, तो सामगायन से अन्न की प्राप्ति नहीं हो सकती ?" यही सोचकर एक ऋषि अन्न प्राप्ति की इच्छा से एकान्त में सामगायन का स्वाध्याय करने गये। किन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं था, कि किस विधि से गान करने पर अन्न की प्राप्ति हो सकेगी। इसी के सम्बन्ध की यह शौव साम सम्बन्धी आख्यायिका है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सामवेद सम्बन्धी उपासना में उद्गीथ सम्बन्धी बहुत सी उपासनायें बतायीं। अब एक अन्न के निमित्त उद्गीथ की शौव साम उपासना बताते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! शौव उद्गीथ का अर्थ क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! श्व कहते हैं, कुत्ते को, कुत्ते द्वारा जो उद्गीथ देखा गया हो, उसे शौव उद्गीथ कहते हैं (श्वभिर्दृष्ट उद्गीथ उद्गानम्)।"

शौनकजी ने कहा—"सामवेद का उद्गान कुत्ते कैसे कर

सकते हैं ? वेदों के गान के अधिकारी तो केवल द्विज मात्र ही हैं। फिर कुत्तों ने यह गान कैसे किया ?"

सूतजी ने कहा—"भला, कुत्ते वेद का गान कैसे करेंगे, कोई कृपालु ऋषि ही दूसरे ऋषि को कुत्ते का रूप रखकर उपदेश देने आये थे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ऋषि के लिये और कोई योनि नहीं रही थी क्या, जो उन्होंने ऐसी निन्दित योनि से-और वह भी साम वेद का-उपदेश किया ? कुत्ता की योनि तो अत्यन्त ही निन्दित है। कुत्ते तो अखाद्य पदार्थ खाते हैं। वान्ताशी-के किये हुए को पुनः खाने वाले होते हैं। उनका तो स्पर्श करना भी पाप है। ऋषि ने ऐसी अधम योनि से उपदेश क्या किया ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! आपका कहना यथार्थ है। किन्तु समर्थ लोगों के लिये कोई भी योनि निन्दित या वन्दित नहीं है। स्वयं साक्षात् भगवान् ने परम निन्दित सूकर योनि में-मछली योनि में अवतार धारण किया। साक्षात् धर्मराज पाण्डवों के पीछे पीछे कुत्ता बनकर ही हिमालय में गलने गये थे। जब सब भाई गिर गये और धर्मराज ने फिरकर भी उनकी ओर न देखा, तब अन्त तक वह कुत्ता ही उनके साथ रहा। जब स्वर्ग का विमान उन्हें सशरीर स्वर्ग ले जाने को आया, तो इन्होंने कुत्ते को भी साथ ले चलने का आग्रह किया। इन्द्र ने बहुत मना किया, यह अत्यन्त अपवित्र जीव है इसे साथ ले चलने का आग्रह मत करो। किन्तु धर्मराज नहीं माने, नहीं माने तब कुत्ते के रूप को छोड़कर स्वयं साक्षात धर्मराज प्रकट हुए और बोले-"वत्स ! मैं तुम्हारा पिता साक्षात् धर्म हूँ। तुम्हारी धर्मनिष्ठा से मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ।"

बात यह है कि स्वयं साक्षात् भगवान् तथा भगवत साक्षात्

कार कृत महापुरुष ऋषि महर्षि आकाश की भाँति पवित्र तथा निर्लेप होते हैं। जैसे आकाश है, शौचालय में भी वह व्याप्त है, घडे में भी वह व्याप्त है। उस समय उसे मठाकाश, घटाकाश नाम से पुकारते हैं। जहाँ आवरण हटा—आकाश ज्यों-का-त्यों ही विशुद्ध है। इसी प्रकार भगवान् तथा भागवतों के लिये कोई योनि निंदित वन्दित नहीं होती। उनका ज्ञान तो सभी दशाओं में निर्दोष है। इसी को बताने के निमित्त यह शौव साम सम्बन्धी कथा कही गयी है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो उस शौव साम सम्बन्धी उपाख्यान को कहिये।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है, सुनिये। एक द्वामुष्यायण ऋषि थे। उनका नाम बक दाल्भ्य ग्लाव मैत्रेय था।"

शौनकजी ने कहा—"द्वामुष्यायण शब्द का अर्थ क्या है? फिर ये दो-दो ऋषियों के पृथक्-पृथक् नाम हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! पुत्र एक तो जन्मजात होते हैं, जो अपने वीर्य से उत्पन्न हुए हों, दूसरे पैदा तो दूसरे पिता से हुए हों, किन्तु किसी दूसरे ने उन्हे गोद ले लिया हो, वह दत्तक पुत्र कहाता है। दत्तक पुत्र का अपने जन्म वाले पिता से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। उसका गोत्र भी बदल जाता है, जो गोद लेता है उसी का गोत्र इसका गोत्र हो जाता है, किन्तु गोद लेते समय जन्म देने वाला पिता यह प्रतिज्ञा करा ले, कि इसे मेरे कुल वालों को भी पिंडोदक देने का अधिकार होगा, तो ऐसा पुत्र द्वामुष्यायण कहलाता है। वह जिस पिता से पैदा हुआ है उसके धनादिका भी अधिकारी बना रहता है और जिसकी गोद जाता है, उसके भी सब अधिकार उसे प्राप्त होते हैं, उसके दो नाम और दो गोत्र होते हैं। अतः वह द्विनामाद्वि गोत्र

कहलाता है। प्रतीत होता है ये बक महर्षि दल्भ के भी पुत्र रहे होंगे, मित्रा की गोद गये होंगे, उन्होंने इनका नाम ग्लाव रखा होगा इसीलिये इनका 'दाल्भ्यबक और मैत्रेयग्लाव' इतना लम्बा नाम हुआ होगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इतनी क्लिष्ट कल्पना करने का प्रयोजन क्या है। दाल्भ्य बक और मैत्रेय ग्लाव दो ऋषि मानने मे हानि क्या है?"

सूतजी ने कहा—हानि कुछ नहीं है, महाराज! किन्तु आगे क्रिया 'उद्वव्राज' एकवचन है। दो ऋषि होते तो क्रिया द्विवचन वाली "उत्वव्रजतु" होती। इससे यही सिद्ध हुआ ये दो नाम दो गोत्र वाले 'द्वयामुष्यायण' एक ही ऋषि थे। ऋषियों में स्वाध्याय प्रवचन का बड़ा महत्त्व है। स्वाध्याय प्रवचन-पठन पाठन-में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। स्वाध्याय प्रवचन पठन-पाठन ही परम तप है। ऐसा विचार कर अन्न लाभ की कामना मे-हमें साम के उद्गीथ गान से बहुत-सा अन्न प्राप्त हो, इस संकल्प से ग्राम के बाहर निजन एकान्त में एक जलाशय के समीप गये।

ये वहाँ बैठकर सोचने लगे—मैं किन स्वरों से उद्गीथ साम का गायन करूँ, जिससे मुझे बहुत अन्न की प्राप्ति हो, किन्तु अन्न प्राप्ति के निमित्त किन स्वरों का प्रयोग किया जाता है, इसका इनको ज्ञान नहीं था। उसी समय दूसरे कोई कृपालु मुनि सफेद कुत्ते का रूप रखकर इन्हें स्वरों की शिक्षा देने वहाँ प्रकट हुए।

ऋषि उस सफेद वर्ण के सुन्दर कुत्ते को देखकर बड़े प्रसन्न हुए, वे उसे ध्यानपूर्वक देखते ही रहे। इतने में ही बक ऋषि क्या देखते हैं कि उस सफेद कुत्ते के समीप और भी चार कुत्ते आ गये। उन आगत कुत्तों ने उस बड़े सफेद कुत्ते से कहा

नम्रता के साथ निवेदन किया—"भगवन्! हम सब बड़े भूखे हैं। अतः हम सबको बहुत अन्न प्राप्त हो, इस संकल्प से अन्न का आगान कीजिये। जिस आगान के फलस्वरूप हमें अन्न की उपलब्धि हो।"

इस पर उस श्वेत कुत्ते ने कहा—"देखो, उद्गायन का यह समय नहीं है। अन्न के संकल्प से जो उद्गीथ का आगान किया जाता है, वह प्रातःकाल में ही किया जाता है, अतः तुम सब कल प्रातःकाल यहीं आकर एकत्रित हो जाना। मैं तुम्हारे निमित्त अन्न के संकल्प से साम का आगान करूँगा।"

वक महर्षि कुत्तों की वाणी समझते थे, अतः उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ। वे स्वयं अन्न प्राप्ति के ही निमित्त सामका आगान करना चाहते थे, किन्तु उसकी विधि से अनभिज्ञ थे। अतः वे दूसरे दिन प्रातःकाल तक वहीं उन कुत्तों के आगमन की प्रतीक्षा में बैठे रहे, कि ये लोग आकर कैसे साम का आगान करते हैं।

दूसरा दिन हुआ। प्रातःकाल वे सब कुत्ते उसी जलाशय पर आकर एकत्रित हुए। यज्ञों में जो बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तवन करने वाले उद्गाता परस्पर मिलकर जैसे भ्रमण करते हैं वैसे उन कुत्तों ने भ्रमण किया और फिर सब एक स्थान में बैठकर हिंकार करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बहिष्पवमान स्तोत्र से उद्गाता भ्रमण करते हुए गान कैसे करते हैं?"

सूतजी ने कहा—ब्रह्मन्! ये सब वैदिक यज्ञों की प्राचीन वैदिक विधियाँ हैं। यह विधि विशेषकर 'ज्योतिष्टोम' नाम यज्ञ की है। यज्ञों में तीन समय के तीन कृत्य त्रिःसवन होते हैं। प्रातःसवन, मध्यदिन सवन और सायसवन। प्रातःकाल यज्ञों में जो जो कृत्य होते हैं, वे सब तो प्रातःसवन कहाते हैं। मध्याह्न

मे जो जो कृत्य होते हैं वे मध्यदिनसवन कहलाते हैं और माय काल मे जो कृत्य होते हैं, वे सायसवन कहलाते है। यज्ञो मे १६ ऋत्विज् होते हैं। चारा वेदा के चार चार ज्ञाता होते है, ऋक, यजु और साम के तीन तीन और चारो वेदो के ज्ञाता ब्रह्मा के तीन सहायक इस प्रकार सब सोलह होते हे। यहाँ सामगायन की उपासना का प्रकरण हे। साम वेद में एक वहिष्पवमान स्तोत्र हे। वह तृच हे।"

शौनकजी ने कहा—"तृच क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जिनम तीन तीन ऋचायें हो उन्हे तृच कहते हैं। इस वहिष्पवमान स्तोत्र मे सामवेद की १. उपस्मे-(साम० उ० १. १. १) २ दविद्युतत्या (साम० उ० १. १. २) और-पवमानस्यते कवे (साम० १ १. ३ ये तीन ऋचा हैं। इसीलिये यह वहिष्पवमान स्तोत्र तृच हे।"

शौनकजी ने पूछा—"इस स्तोत्र का वहिष्पवमान नाम क्यो पडा ?"

सूतजी ने कहा—"पवमान शब्द का अर्थ हे पावन-पवित्र वहि' कहते हैं बाहर को। ज्योतिष्टोम यज्ञा मे प्रात.सवन के कृत्यों मे इन तानो सूत्रों में गायत्रा छान्दोन्वित सामवेद का गान हुआ करता हे। यह गान मडप के भीतर न होकर मडप के बाहर भाग मे होता हे, इसीलिये वहिष्पवमान-मडप के बाहर का पवित्र गान-कहलाता हे। गायन के साथ एक प्रकार का नृत्य सा भी होता चलता हे। साम वेद के ज्ञाता-गायनकर्ता-(१) उद्-गाता, (२) प्रस्तोता, (३) प्रतिहर्ता और (४) ब्रह्मा ये चार तो ऋत्विज होते हैं, पाँचवाँ यजमान होता हे। ये पाँचों यज्ञमडप के बाहर क्रमबद्ध खडे होकर एक दूसरे का उत्तरीय वस्त्र पकडे हुए सस्वर गान करते हुए चात्वाल देश के प्रति शन शन मडला-

कार चलते हैं। यही वहिष्पवमान सामवेद के स्तोत्र पाठ संबंधी ज्योतिष्टोम यज्ञ मे प्रातः कृत्य है। जैसे यज्ञमंडप के बाहर ऋत्विज यजमान एक दूसरे का उत्तरीय वस्त्र पकड़कर घूमते हैं, वैसे ही वे पाँचों कुत्ते भी परस्पर में एक दूसरे की पूँछ को मुख में दबाकर परिभ्रमण करने लगे।

महर्षि दाल्भ्यबक उनके परिभ्रमण को बड़े ध्यानपूर्वक देखते रहे, जब वे परिभ्रमण कर चुके तब एक स्थान पर सुखपूर्वक बैठकर हिंकार करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"हिंकार कैसे करने लगे ?"

सूतजी ने कहा—' ब्रह्मन् ! सामवेद में हिं एक स्तोभ है।"

शौनकजी ने पूछा—"स्तोभ क्या ?"

सूतजी ने कहा-"भगवन् ! ये सब बातें सामवेद का अध्ययन किये बिना आती नहीं। सामगायन मे हा उ हा उ आदि तेरह प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते हैं। ये शब्द स्वर और लय की पूर्ति के निमित्त हुआ करते हैं। इन्हीं का नाम स्तोभ है। लोक में जैसे भजन की टेक की पाद पूर्ति के लिये रामा हो रामा आदि शब्दों का प्रयोग होता है उसी का नाम स्तोभ है। श्रीमद्भागवत मे कहा है—संकेत मे, परिहास में, पादपूर्ति के लिए स्तोभ मे, अवहेलना मे कैसे भी भगवान् वैकुण्ठ का नाम लिया जाय, ऐसा नाम भी समस्त पापों का नाश करता है।*

वे श्वान लोग गायन करने लगे और हिं इस स्तोभ का उच्चारण करने लगे। कारण कि 'हिं' यह स्तोभ प्रजापति रूप है

---

१. साकेत्य पारिहास्यं वा स्तोभ हेलनमेव च।
वैकुण्ठ नाम ग्रहण अशेषाघ हर विदु ॥
(श्री० भा० ६ स्क०)

और अन्न के स्वामी प्रजापति हैं। अतः वे हिंकार स्तोभ के सहित प्रजापति से अन्न की याचना करने लगे।"

शौनकजी ने कहा—"वे श्वान रूप में ऋषिगण क्या गान करने लगे ? कैसे गान करने लगे ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! न तो मुझ पर साम गायन ही आता है, न इसके गायन में मेरा अधिकार ही है। भगवती श्रुति ने प्लुत स्वर में ॐ का उच्चारण के जो गान बताया है। उसका साराश यही है कि हे ओंकार स्वरूप परमात्मन् ! हम लोग भूखे हैं जिससे भोजन करें, हम लोग प्यासे हैं जिससे पानी पीवें। हे परमात्मन् ! आप देव है-प्रकाशक हैं-आप वरुण है, प्रजापति हैं, सविता हैं, हम लोगों के लिये यहाँ अन्न-अन्न लाइये। हे अन्न पते ! अन्न को यहाँ ले आइये, अन्न को हमें दीजिये। अन्न दीजिये, अवश्य दीजिये।*

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! ऐसा गान करने पर वहाँ यथेष्ट अन्न जल आ गया और सबने भर पेट खाया पिया। इसे देखकर बक दाल्भ्य ऋषि को परम सन्तोष हुआ। यही शौव साम सम्बन्धी गान है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! जो भी इस मन्त्र को पढ़ेगा, क्या उसे ही अन्न की प्राप्ति हो जायगी ?"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! महर्षि होकर भी आप ऐसा प्रश्न कर रहे हैं ? भगवन् ! मेघ राग गाने से निश्चय ही वर्षा हो जाती है। दीपक राग गाने से जितने भी

---

* ओ ३ मदा ३ मों ३ पिवा ३ म। ओं ३ देवो वरुण प्रजापतिः सविता २ न्नमिहा २ हरत। अन्नपते ३ न्नमिहा २ हरा २ हरो ३ मिति॥

बिना जले दीपक होते हैं, वे तुरन्त जलने लगते हैं। मेघ राग को दीपक राग को बहुत से गायक गाते रहते है, उनके गाने से न तो मेघ ही बरसते हैं न दीपक ही जुड़ते हैं। किन्तु जो राग के समय के अनुसार उसके ताल, स्वर लय के साथ ठीक शास्त्रीय नियम से गावेंगे उनके मेघ राग गाने से अवश्य वर्षा होगी, दीपक राग गाने से अवश्य दीपक जुड जायेंगे। राग तो वे ही हैं, किन्तु उनका यथावत् सयोजक दुर्लभ है। उपासना मे संयोजन ही प्रधान है। शास्त्रीय विधि विधान का यथावत् पालन हो और अपनी श्रद्धा तथा विश्वास मे कमी न हो, तो उपासना से सभी कुछ सम्भव हो सकता है। जब उपासना से मुक्ति तक प्राप्त हो सकती है, तो संसारी वस्तुओं के प्राप्त होने मे क्या सन्देह है?

यह मैंने आपको शौव साम सम्बन्धी समाचार सुनाया। अब सामवेद के अवयव भूत जो स्तोभ के अक्षर बताये है, उन स्तोभाअक्षरो से सम्बन्ध रखने वाली उपासना का वर्णन मैं आपसे आगे करूँगा।"

छप्पय

प्रात होत ही श्वान सकल मिलि तिहिँ थल आये।
स्तवन वहिष्पवमान सरिस मिलि भ्रमण कराये॥
पुनि थिर ह्वै हिंकार करे सब गावन लागे।
ओंकार हे वरुण प्रजापति रवि हम मागें॥
खान पान हित अन्नपति! यहां अन्न ले आइये।
लावें अन्न यथेष्ट इत, भरिकें पेट खिलाइये॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय मे
एकादश खण्ड समाप्त।

सामवेद के स्तोभों की उपासना

[१०८]

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकार-
श्चन्द्रमा अथकारः। आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥*

(छा० उ० प्र० अ० १३ ख० १ म०)

छप्पय

पाद पूर्ति के हेतु शब्द जे स्तोभ कहावैं।
तिनिकी कैसे करें उपासन सो बतलावैं॥
हाउकार है लोक वायु ही हाइ कार है।
अथकारहिं हैं चन्द्र आतमा इहकार है॥
ऊकार हु आदित्य हैं, अग्नि कही ईकार है।
आवाहन एकार है, विश्वदेव औ होयिकार है॥

गायन मे स्वर, लय, ताल, गति तथा राग आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है। जैसे एक पद है। उसे किस राग में गाया जायगा। वह राग के मात्रा वाला है। कौन-सा स्वर कहाँ प्रयुक्त होगा। किस ताल और लय मे वह गाया जायगा। पद का एक स्थायी या टेक होती है, उसे बार-बार गाया जाता है।

---

* सामवेद मे जो पाद पूर्ति के लिये शब्द लगाये जाते हैं, उन्हें स्तोभ कहते हैं। उनमे हाउकार यह सम्पूर्ण लोक है। हाइकार वायु है। अथकार चन्द्रमा है, आत्मा इहकार है। और अग्नि ई कार है।

एक अन्तरा होता है। अन्तरा के भी दो भेद होते हैं। संचारी आभाग संगीत का विषय बड़ा गहन है। वैसे संगीत मे नृत्य, गीत और वाद्य तीनों का ही समावेश होता है। इनमें स्वर, राग, ताल, नृत्य, भाव, कोका तथा हस्तविन्यास ये सात बातें होती हैं। नृत्य न भी हो, केवल वाद्यों के साथ या बिना वाद्य के ही पद गायन किया जाय तो उसमे स्थायी (टेक) के साथ एक स्तोभ गायक लोग लगाते हैं। उसे पादपूर्ति कहते हैं, जैसे लोक मे-रामा हो राम, भजो सियाराम, हाँ जी, हरे हरे, अरे, हाँ, तो साधो जी आदि आदि।

प्राचीन काल मे सामवेद का गायन होता था। वह भगवान् की अनेक नाम रूपों में उपासना ही होती थी, वह उपासना सकाम निष्काम दोनों ही प्रकार की होती थी। सकाम उपासना तो किसी कामना की पूर्ति के निमित्त की जाती थी। जैसी कामना हो, वैसे ही देवकी उपासना करनी चाहिये। श्री मद्भागवत् में कुछ सकाम उपासनाओं का वर्णन आता है। जैसे जिन्हें ब्रह्मतेज की कामना हो वे बृहस्पति की उपासना करें। इन्द्रियाँ शक्तिशाली हों इस कामना से इन्द्र की, सन्तान कामना से प्रजापति की श्री कामी को मायादेवी की, तेज कामी को अग्नि की, धनार्थी को वसुओं की, वीरता कामी को रुद्रों की, अन्नेच्छुक को अदिति की, स्वर्ग कामी को देवों की, राज्य कामी को विश्वेदेवों की, प्रजा अनुकूल रहे इस कामना से साध्यों की, आयुष्कामी को अश्विनी कुमारों की, पुष्टि कामी को भू देवी की, प्रतिष्ठा कामी को पृथ्वी और द्यौ को, सौन्दर्य कामी की गन्धर्वों की, पत्नी कामी को उर्वशी अप्सरा की, आधिपत्य कामी को ब्रह्मा जी की, यशेच्छुक को यज्ञ पुरुष की, कोश कामी को वरुण की, विद्या कामी को शंकरजी की, पति पत्नी प्रेम के इच्छुकों को पार्वती

जी की, धर्मार्थी को विष्णु की, वंश परम्परा अक्षुण्ण बनाये रखने को पितरों की, बाधा निवारणार्थ यक्षों की, ओज तेज बल की कामना वाले को मरुद्गणों की, राज्यकामी को मन्वन्तराधिपों की, अभिचारार्थ निऋति की, भोगार्थ चन्द्रमा की, निष्कामतार्थ नारायण की और सकाम निष्काम सभी कामनाओं की पूर्ति के लिये तीव्र भक्ति योग से भगवान् पुरुषोत्तम की आराधना करनी चाहिये।

वास्तव में आराधना–उपासना का मुख्य प्रयोजन तो भगवत् प्राप्ति ही होना चाहिये, किन्तु जब तक अन्तःकरण में नाना कामनायें भरी हुई हैं, तब तक निष्काम उपासना हो ही नहीं सकती। अतः कामना पूर्ति के निमित्त भी सकाम भाव से परमपुरुष परमात्मा श्रीमन्नारायण की ही उपासना करनी चाहिये।

छांदोग्य उपनिषद् में सामवेद सम्बन्धी उद्गीथ की अनेक प्रकार की उपासनाओं का पीछे वर्णन आ चुका है। यहाँ तक कि उद्–गी–थ इस शब्द की भी उपासना बतायी है। उसी प्रकार सामवेद के मन्त्रों में जो पाद पूर्ति के लिये स्तोभ बताये गये हैं, वे स्तोभ निम्नलिखित १३ हैं—(१) हाउ, (२) हाइ, (३) अथ, (४) इह, (५) ई, (६) ऊ, (७) ए, (८) औहोयि, (९) हिं, (१०) स्वर, (११) या, (१२) वाक् और (१३) हुं हैं। इन तेरह को सामवेदज्ञ पाद पूर्ति अर्थ मन्त्रों के साथ प्रयोग करते हैं। इन स्तोभों की भी भिन्न-भिन्न कामनाओं से पृथक् उपासना बतायी गयी है। इसी उपासना को स्तोभ अक्षर सम्बन्धिनी उपासना कहते हैं। अब आगे इसी उपासना का वर्णन है।

सूतजी कहते हैं–"मुनियो! स्तोभ अक्षर सम्बन्धिनी सामवेद की उपासना बताते हैं। सामवेद के १३ स्तोभ हैं। उन अक्षरों

की तद्तद् कामना के अनुसार उपासना करनी चाहिये। जैसे—

पहिला स्तोभ है हाइउ। सामवेद गान करने वाले हा इ उ, हा इ उ बहुत गाते हैं। यह हा उ शब्द मनुष्यलोक का वाचक है। अर्थात् जिसे मनुष्यलोक के सुखों की कामना हो उसे हा इ उ इस स्तोभ की उपासना करनी चाहिये।

दूसरा स्तोभ है—वाइ—यह वाइ साक्षात् वायुलोक का द्योतक है। जिस वायुलोक में जाकर वहाँ के सुखोपभोगों की कामना हो उसे इस वा इ स्तोभ की उपासना करनी चाहिये।

तीसरा स्तोभ है—अथ—यह साक्षात् चन्द्रलोक का वाचक है, जिसे चन्द्रलोक में जाने की कामना हो उसे इस स्तोभ को चन्द्र स्वरूप मानकर इसी की उपासना करनी चाहिये।

चौथा स्तोभ है—इह—यह आत्मा का वाचक है। जिसे आत्मसुख की अभिलाषा हो, उसे इस स्तोभ द्वारा उपासना करनी चाहिये।

पाँचवाँ स्तोभ है—ई—यह साक्षात् अग्नि का स्वरूप है। जिसे तेजस्वी बनकर अग्निलोक में जाने की इच्छा हो, उसे इसी को अग्नि मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।

छठा स्तोभ है—ऊ—यह साक्षात् सूर्य स्वरूप है। जिसे तेजस्वी सूर्यलोक में जाने की कामना हो, उसे इसी—ऊ—की उपासना करनी चाहिये।

सातवाँ स्तोभ है—ए—यह आवाहन का बोधक है। जिसे जिस देवता का आवाहन करना हो, इस स्तोभ द्वारा उस देवता का आवाहन करे।

आठवाँ स्तोभ है—ओहोयि—यह विश्वेदेवों का स्वरूप है, जिन्हें विश्वेदेवताओं से राज्य की कामना हो, उन्हें इसके द्वारा उनकी उपासना करनी चाहिये।

नौवाँ स्तोभ है—हि—यह साक्षात् प्रजापति का स्वरूप है। प्रजापति अन्न के स्वामी हैं। जिसे बहुत अन्न की कामना हो, उसे इस स्तोभ द्वारा प्रजापति की उपासना करनी चाहिये।

दशवाँ स्तोभ है—स्वर—यह प्राण स्वरूप है। स्वरोपासना पीछे बता आये हैं। जिन्हें प्राणों को प्रबल बनाने की कामना हो, उन्हें इस स्तोभ द्वारा प्राणों की उपासना करनी चाहिये।

ग्यारहवाँ स्तोभ है—या—यह अन्न स्वरूप है। अन्न की उपासना भी बता चुके हैं, जिसे बहुत अन्न की इच्छा हो, उसे अन्न ब्रह्मरूप से इसकी उपासना करनी चाहिये।

बारहवाँ स्तोभ है—वाक्—यह साक्षात् विराट पुरुष का स्वरूप है, जिसे वाणी द्वारा रहस्य प्रकट करने की इच्छा हो, उसे इस स्तोभ को विराट् मानकर इसकी उपासना करनी चाहिये।

तेरहवाँ स्तोभ है—हु—यह सबमें व्याप्त रहने वाला अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म है। यह वर्णनातीत है। इसका निरूपण करना सम्भव नहीं। यह सर्वश्रेष्ठ स्तोभ है।

इस प्रकार यह सामवेद के अवयवभूत स्तोभ अक्षरों की उपासना कही। जो इस रहस्य को जान लेता है, उसकी सब इच्छायें पूर्ण होती हैं। वाणी उपासक के निमित्त दुग्ध स्वयं ही दुहती है, अर्थात् उसकी वाणी अपना रहस्य उसके सम्मुख स्वयं ही प्रकट कर देती है। वह अन्नवान् हो जाता है, अर्थात् उसके सम्मुख भोग सामग्रियों की कमी नहीं रहती और उसमें अन्न को पचाने की—भोगों को भोगने की सामर्थ्य भी यथेष्ट आ जाती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इन स्तोभों की उपासना कैसे करनी चाहिये?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! यह बात तो किसी

सामवेद ये रहस्य को जानने वाले सिद्धहस्त परमोपासक से ही पूछनी चाहिये। मैंने तो भगवती श्रुति ने जो अक्षर कहे–उनका यथामति यथासामर्थ्य अर्थ बता दिया। इसमें कुछ त्रुटि रह गई हो उसे सर्वान्तर्यामी परमात्मा परिपूर्ण कर लें। यह मैंने साम सम्बन्धी प्रथम अध्याय की उद्गीथ सम्बन्धिनी विविध उपासनायें बतायी। अब इस उपनिषद् के आगे के द्वितीयाध्याय में जैसे साधु दृष्टि से समस्त सामवेद की उपासना बतायी है, उसका वर्णन मैं आपसे करूँगा।"

छप्पय

प्रजापती 'हिंकार' प्राण ही 'स्वर' बतलायो।
'या' है अन्न स्वरूप 'वाक्' वीराट कहायो॥
'हुङ्कार' हु अव्यक्त स्तोभ ये तेरह सब हैं।
सब रहस्य कूँ जानि उपासन फलवति तब हैं॥
करै उपासन स्तोभ की, रहस वाक् प्रकटित करै।
भोग भोगिवे शक्ति हो, सब भोगनि तैं घर भरै॥

इति माण्डूक्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
त्रयोदश खण्ड समाप्त।
प्रथम अध्याय समाप्त

समस्त साम की साधु भाव से उपासना

[१०६]

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु यत् खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥१॥

(छा० उ० द्वि० अ० १ ख० १ म०)

छप्पय

साधु दृष्टि तैं सकल साम की करै उपासन ।
साम साधु कूँ कहैं असाम अ-साधु कहावन ॥
साम भाव तैं जाइँ साधु ते जन कहलावै ।
जे असाम तैं जाइँ असाधु हु तिनहिँ बतावैं ॥
साम, साधु, पर्याय शुभ, अशुभ, असाधु, असाम सम ।
साम भाव राखै सदा, तजै असामहिँ घोरतम ॥

काशी में जाओ तो वहाँ के लोग शास्त्रीय वचनों का उद्धरण देकर काशी को ही समस्त तीर्थों से श्रेष्ठ बतावेंगे, अन्य सभी तीर्थों को उसकी समता में तुच्छ सिद्ध करेंगे। प्रयागराज में आओ तो समस्त तीर्थों का एक छत्र सम्राट् तीर्थराज प्रयाग को ही बतायेंगे। अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काची, अवन्तिका तथा

❀ ॐ समस्त सामवेद की उपासना साधु भाव से करनी चाहिये। 'साम' शब्द का साधु अर्थ है जो साधु होता है उसे साम और जो असाधु होता है उसे असाम कहा करते हैं।

द्वारका ये पवित्र सात पुरियाँ हैं, ये तो तीर्थराज की सात पट रानियाँ हैं, अयोध्या में जाओ तो उसे सबसे श्रेष्ठ बतायेंगे। कहने का अभिप्राय इतना ही है, जिस तीर्थ में जाओ वहीं के लोग उस तीर्थ को सर्वश्रेष्ठ तथा उसके अतिरिक्त अन्य तीर्थों को हेय बतावेंगे। यहाँ अन्य तीर्थों को हेय बताने से उनकी निन्दा में तात्पर्य नहीं है। अपना तीर्थ श्रेष्ठ है, उस तीर्थ की श्रेष्ठता में ही तात्पर्य है। इसी प्रकार विद्याओं में वेदों की भी बात है। विद्याओं में अध्यात्म विद्या को सर्वश्रेष्ठ बताया है, किन्तु वैद्यक विद्या को अधम से भी अधम बताया है। (वैद्यविद्याधमाधमा) वैद्य को अत्यन्त निकृष्ट बताया है। यात्रा में उसका दर्शन अशुभ बताया है, श्राद्ध में वैद्य को बुलाना निषेध है, वैद्य को अपाक्तेय बताया है, उसे ब्राह्मणों की पंक्ति में बिठाना निषेध है। वैद्य के घर भोजन करना निषेध है। वैद्य के अन्न को फोड़े का पीव-राध- बताया है। (वैद्यस्य अन्नं पूयान्नम्) किन्तु आयुर्वेद शास्त्र में आयुर्वेद को ही सब वेदों में श्रेष्ठ बताया गया है। चरक के सूत्र स्थान में लिखा है यह आयुर्वेद आयु का वेद होने से सब वेदों से अधिक पवित्र है, ऐसा वेदज्ञ पुरुषों का मत है क्योंकि मनुष्यों के दोनों लोकों का हित इस वेद में बताया गया है।*

इसी प्रकार वैद्यों की भी इसमें बड़ी प्रशंसा की गयी है। वैद्यों को जीवन दाता, प्राण देने वाला, सबसे श्रेष्ठ परोपकारी बताया है। वहाँ वैद्यों को उपदेश करते हुए कहा है—"वैद्य बनने वाले बुद्धिमान पुरुष को अपने गुणों की सम्पत्ति के लिये अत्यधिक

---

* तस्यायुष पुण्यतमो वेदो वेदविदा मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणा लोकयोरुभयोर्हितम्।

प्रयत्न करना चाहिये। जिससे वह मनुष्यों में वास्तविक प्राणद–जीवन प्रदान करने वाला–बन सके।"

यहाँ आयुर्वेद की तथा आयुर्वेद के ज्ञाता की महत्ता बताने में तात्पर्य है, दूसरे वेदों की निन्दा में तात्पर्य नहीं है। जिसका जो विषय हो, उसे अपने विषय को सर्वश्रेष्ठ मानकर ही उसकी उपासना करनी चाहिये।

इसी प्रकार वेदों की भी बात है। वेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मार्कण्डेय पुराण में मार्कण्डेय मुनि ने बताया है, कि ब्रह्माजी के चार मुखों से चारों वेदों की उत्पत्ति हुई। पहिले पूर्व मुख से ऋग्वेद हुआ यह रजोगुण रूप है, दूसरे दक्षिण मुख से यजुर्वेद हुआ यह सत्वगुण रूप है। पश्चिम तीसरे मुख से सामवेद हुआ यह तमोगुण रूप है। चौथे मुख से अथर्ववेद हुआ घोरा घोर स्वरूप है। इस प्रकार सामवेद को तमोगुण रूप कहकर उसे हेय बताया है,[२] इसलिये प्रातःकाल ऋग्वेद का पाठ करे, मध्यान्ह में यजुर्वेद का पाठ करे और सायकाल में सामवेद का करे इसे अभिचारक बताया है। ऋग्वेद को ब्रह्मा कहा है, यजुर्वेद को विष्णु कहा है और सामवेद को रुद्र कहा है और इसकी ध्वनि को भी अशुचि बताया है। क्यों बताया है, इसके लिये कहते हैं–ऋग्वेद तो देवता और देवत्यों के लिये है, यजुर्वेद मनुष्यों के

भिषग्बुभूषुमातमानत स्वगुणसम्पत्।
पर प्रयत्नमातिष्ठेत् प्राणद स्याद्यथा नृणाम।
(चर० सं० सू० स्था० प्र० अ ६)

* रऋचो रजोगुणा सत्व यजुषश्च गुणो मुने।
तमोगुणानि सामानि तम सत्वमथर्ववपु॥
ऋचस्तपन्ति पूर्वाह्णे मध्यान्हे च यजूंषि वै।
सामानि चापराह्णे तु तपन्ति मुनि सत्तम॥

लिये और सामवेद पितरों के लिये है, इसीलिये इसकी ध्वनि अशुचि मानी गयी है।[१] अतः सामवेद की ध्वनि सुनने के अनन्तर ऋग्वेद तथा यजुर्वेद को कभी भी न पढ़ना चाहिये।[२]

इस प्रकार पहिले लोगों में साम ध्वनि के सम्बन्ध में कम आदर रहा होगा। हमारी यह छांदोग्य उपनिषद् सामवेद की ही उपनिषद् है। अतः इसने सामवेद की साङ्गोपाङ्ग उपासना का वर्णन किया है। सर्वप्रथम प्रणव की उपासना बतायी फिर स्तोभों की, उद्गीथ का महत्व बताया अब वह यह बताना चाहती है, कि सम्पूर्ण सामवेद ही शुभ है, साधु है। उसकी ध्वनि साधुरूप है, परमशुभ है, जो इस भावना से समग्र सामवेद की उपासना करता है उसके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह जो छान्दोग्य उपनिषद् है, यह सामवेदीय उपनिषद् है, इसमें सामोपासना की ही उत्कृष्टता बतायी है। प्रथम अध्याय में साम के जो अंग उपाङ्ग अवयव हैं—जैसे ओंकार जो सामवेद का अवयव है उसकी व्याख्या, उसकी आधिदैविक अध्यात्म उपासना, ओंकार के आश्रय से अमृतत्व की प्राप्ति, सूर्य तथा प्राण रूप में ओंकार की उपासना, उद्गीथ जो साम का एक भाग है उसकी विविध रूपों से उपासना, फिर

---

[१] शातिक ऋक्षु पूर्व्वाण्हे यजु स्वनृषपौष्टिकम्।
अपराण्हे स्थित नित्यं साम स्वेवाभिचारिकम्॥
सृष्टौ च ऋङ्मुखो ब्रह्मा स्थितौ विष्णुयजुर्म्मय।
रुद्र साममयोऽन्ते च तस्मात्तस्या शुचिर्ध्वनिः॥

[२] ऋग्वेदो देव दैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्या शुचिर्ध्वनिः।
सामध्वनावृग् यजुषी नाधीयीत कदाचन (म. ४। १२३)

सामवेद के जो तेरह स्तोभ हैं, इनकी उपासना इस प्रकार ये सामवेद के सब अवयव हैं, ये स्तोत्र उद्गीथ आदि साम के एक देशीय अंग हैं। अब आगे समस्त सामवेद से सम्बन्ध रखने वाली उपासनाओं का वर्णन किया जायगा। जैसे प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम ओंकार का महत्त्व बताया गया है, महत्त्व बताकर ही तो ओंकार की उपासनायें बतायी जा सकती हैं। जिसकी उपासना करनी हो पहिले उसके महत्त्व का निरूपण करना चाहिये। क्योंकि महत्त्व ज्ञान हो जाने पर उपासना में रुचि, अनुराग तथा आसक्ति होती है। अब तक साम के अगों के अवयवों की उपासना कही। अब समस्त साम जो अङ्गी है-अवयवी है-उसका महत्त्व जानकर तब उसकी उपासना करनी चाहिये।

पहिले 'साम' शब्द को ही लीजिये। साम शब्द ही कितना पवित्र है। साम शब्द का पर्याय है 'साधु' लोक मे कहावत है अमुक विशिष्ट व्यक्ति के समीप वह विद्यार्थी साम भाव से गया, तो वे बडे प्रसन्न हुए, उन्होंने उसे पुरष्कृत किया। यहाँ सामभाव से का अर्थ हुआ साधु भाव से गया। साधु भाव का परिणाम क्या होता है, महत् पुरुषों की कृपा तथा पुरष्कृत होना।

इसके विपरीत कहते हैं—अमुक विद्यार्थी उन विशिष्ट व्यक्ति के समीप असामभाव से गया। तो वे उस पर बडे अप्रसन्न हुए, उन्होंने उसकी बड़ी भर्त्सना की। यहाँ असामभाव से जाने का अर्थ हुआ असाधुभाव से जाना। उसका परिणाम क्या? महत् पुरुषों का प्रकोप, उनका शाप आदि।"

दूसरे साम शब्द सुष्टु, सुन्दर, शोभन तथा शुभ अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। जैसे कोई पूछे—"आप किसी काम से अमुक नगर में गये थे, वहाँ क्या हुआ?" तो यदि अच्छा हुआ होगा

तो आप कहेंगे—"वहाँ हमारा 'साम' हुआ। अर्थात् साधु हुआ, शुभ हुआ, मगल हुआ, शोभन हुआ, सुन्दर हुआ।" यदि वहाँ कुछ अनिष्ट हो गया हो, तो कहेंगे—"अजी, वहाँ तो असाम हुआ, अर्थात् असाधु हुआ, अशुभ हुआ, अमङ्गल हुआ, अशोभन हुआ।"

जब लोक मे ही 'साम' शब्द प्रचलित अर्थ मे मङ्गलवाचक, साधुवाचक, शुभवाचक तथा कल्याणवाचक है, तो फिर वेद का साम तो परममगल, परमसाधु तथा परमकल्याणकारक है, इस लिये समग्र सामवेद की श्रद्धा के साथ उपासना करनी चाहिये।

इस भाव को जानकर सामवेद को शुभ मानकर जो पुरुष साम की उपासना करते हैं, वे भी सामभाव—साधुभाव को प्राप्त हो जाते हैं। उनके समीप साधु धर्म शीघ्र ही आ जाते हैं-धर्म के जो साधु लक्षण हैं-जैसे धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा अक्रोधादि सद्गुण स्वभावतः आ जाते हैं। उनके पाप भग जाते हैं उसे अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है। धर्म के ये समस्त गुण समग्र सामोपासक के समीप स्वय ही आकर विनम्र हो जाते हैं। अर्थात् उपासक के भोग्य बन जाते हैं। जब स्वयं साम शब्द ही इतना शुभ है, तो उसके गायन की ध्वनि कितनी शुचि पवित्र होगी। अतः सामवेद के किसी भी भाग की किसी भी स्तोत्र की स्तुति सुनकर प्रसन्न होना चाहिये उसे परमपवित्र मानकर आह्लादित होना चाहिये।

शौनकजी ने कहा—"सामवेद तो स्वयं ही परम पवित्र है, वह भगवन् विभूति ही है, इसे यहाँ कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! लोक में वेद मे सर्वत्र संघर्ष

देखने में आता है, प्राचीनकाल मे सामवेद ध्वनि को अन्य वेद पाठी उतना महत्त्व नहीं देते थे, इसीलिये तो यज्ञों में सायं सवनों में ही सामवेद का पाठ रखा जाता था और सामवेद गायन के अनन्तर फिर ऋग् तथा यजुर्वेद का उच्चारण नहीं करते थे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ऐसी बात तो नहीं है, ज्योतिष्टोम यज्ञों मे सामवेद के बहिष्पवमान स्तोत्र की जो तृच–तीन-तीन ऋचायें हैं उनका गायन तो प्रातःकाल प्रातःसवन में ही होता है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वह सामान्य नहीं विशेष विधि है। फिर उसमे भी सामवेद के गाने वाले १. उद्गाता, २. प्रस्तोता, ३. प्रतिहर्ता तथा ४. सामगायक ब्रह्मा ये चारों सामवेदीय यजमान को लेकर मंडप के बाहर हो जाते हैं। उसका गायन मंडप मे न करके मंडप के बाहर एक दूसरे का वस्त्र पकड़े हुए गाते-गाते चात्वाल देश की ओर जाते हैं। यह प्रातः सवन मे मंडप के बाहर का कृत्य है। मण्डप में अन्य वेदों का पाठ होता ही रहता है।"

हमारी छांदोग्य की भगवती श्रुति कहती है साम सदा शुद्ध और साधु है, इसी भाव से समग्र साम की उपासना करनी चाहिये। आगे चलकर तीनो सवनों मे साम का कौन-कौन–सा भाग गाना चाहिये। इसको भी बतावेंगे। अब लोक विषयक पञ्चोपासना का वर्णन करेंगे। ऊपर के और नीचे के लोको की किस प्रकार सामोपासना करनी चाहिये। इसका संक्षेप मे वर्णन किया जायगा। इन उपासनाओं का रहस्य तद्विषयक ज्ञाताओं से ही भली-भाँति जाना जा सकता है। श्रुतिओं को तथा उनके अर्थों को श्रवण का भी बड़ा माहात्म्य है, इसी भाव से भगवती श्रुति के अर्थों का निरूपण किया है। अल्प बुद्धि होने के कारण जो कुछ

त्रुटि रह जाय, उसे सर्वात्मा जगदाधार क्षमा कर देंगे और स्वयं परिपूर्ण बना लेंगे। क्योंकि वे स्वयं परिपूर्ण हैं। उनके नाम स्मरण से मन्त्र, तंत्र, देश, कालादि सम्बन्धी समस्त त्रुटियाँ निश्छिद्र बन जाती हैं।

छप्पय

साम भाव या साधुभाव तैं करें उपासन।
साधुभाव तिनि होइ आइँ ढिँग धरम साधु तिन॥
जगत् प्रतिष्ठा होइ पाप सबरे नसि जावैं।
लोक अभ्युदय होइ मोक्ष की पदवी पावैं॥
दम, धृति, विद्या, शौच, धी, सत्य, क्षमा, अक्रोध ये।
अस्तेय हु इन्द्रिय दमन, सहज नम्र ह्वै जायँ ते॥

लोक सम्बन्धी पञ्चविध सामोपासना

[११०]

लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥१॥*

(छा० उ० द्वि० प्र० २ ख० १ मं०)

छप्पय

ऊपर नीचे लोक पचविध करै उपासन।
पृथिवी है हिंकार अग्नि प्रस्ताव कह्यो इन॥
अन्तरिक्ष उद्गीथ कह्यो प्रतिहार सूर्य वर।
स्वर्गलोक है निधन उपासक मृत निवसें नर॥
धर्म रूप अज तैं भये, पृथिवी आदिकलोक सब।
साम रूप ये लोक हैं, मिलैं उपासन भोग सब॥

वैदिक उपासनायें हमें ऊपर उठाने वाली होती हैं। जब तक हम ऊपर के लोकों का—स्वर्गादि तथा नरकादि लोकों का—अस्तित्व न मानेंगे, तब तक धर्मार्थ सहे जाने वाले कष्ट व्यर्थ हैं। लोक में जो कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत करते हैं, शरीर को सुखाने को नाना

---

* लोकों में पाँच प्रकार की सामोपासना करनी चाहिये। पृथ्वी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रतिहार है और स्वर्ग निधन है, ये ऊपर के लोकों की उपासनायें हैं।

भाँति के तप करते हैं, वे सब परलोक प्राप्ति के लिये ही तो करते हैं। यदि परलोको का अस्तित्व ही न मानें-मरने पर जीव की ऊर्ध्वगति या अधोगति होती है, उसे स्वर्ग या नरकादि लोकों की प्राप्ति होती है, इस सिद्धान्त को मानने पर ही शुभ कर्मों का अनुष्ठान नाना भाँति की उपासनायें सभव हैं। यदि जीव का सम्बन्ध केवल शरीर तक ही मानें कि जब तक शरीर है, तब तक जीव है, शरीर के नष्ट होते ही जीव भी नष्ट हो जाता है, तब तो शुभ कर्मों का उपासनाओ की-कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, तब तो केवल शरीर को पुष्ट बनाये रखना ही परम पुरुषार्थ है। तब धर्म सदाचार की भी आवश्यकता नहीं। तब तो जैसे बने तैसे शरीर को पुष्ट करो। ऋण लेकर भी शरीर को पुष्ट बनाने को घृत पीओ। क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर जीव भी नष्ट हो जायगा, फिर कौन ऋण चुकाने आता है, कौन सुकृत दुष्कृतो का भोग भोगने आता है। शरीर ही सब कुछ है परलोक फरलोक कुछ नहीं* ऐसे नास्तिक लोग वेद नहीं मानते परलोक नहीं मानते। हमारे यहाँ ईश्वर को मानो चाहे न मानो इसमे आस्तिकता नास्तिकता नहीं मानी जाती। जो वेद को नहीं मानता, परलोक को नहीं मानता वही नास्तिक है (नास्तिको वेद निन्दकः) और जो वेद को तथा परलोक को मानता है वही आस्तिक है।

ऊपर के सात और नीचे के सात इस प्रकार चौदह लोक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे बताये गये हैं। इन चौदह को त्रिलोक में भी विभक्तकर लेते हैं। जैसे नीचे के सात लोकों को भू भुवर-पृथ्वी

---

* यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
(चारवाक सिद्धान्त)

के छेद मानकर नीचे के सात और पृथ्वी को-इस प्रकार आठ लोकों को तो पृथ्वीलोक, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच के अन्तरिक्ष-पोल-या अवकाश को अन्तरिक्षलोक और स्व, मह, जन,तप और सत्य इन पाँचों की स्वर्ग में गणना करके त्रिलोकी में ही सबका समावेश कर लेते हैं। यहाँ हमारे सामवेद वाले लोकों के पाँच विभाग करते हैं। उनके वे दो विभाग करते हैं, एक तो नीचे से ऊपर को जाने वाले (ऊर्ध्व लोक) ऊपर मुख वाले। दूसरे ऊपर से नीचे आने वाले (आवृत्ता) नीचे मुख वाले लोक हैं। नीचे से ऊपर जाने वाले (१) पृथ्वीलोक, (२) अग्निलोक, (३) अन्तरिक्ष लोक, (४) आदित्य लोक और (५) पाँचवा द्युलोक या स्वर्गलोक ये ऊपर मुख वाले लोक हैं। ऊर्ध्व गति वाले नीचे से इन्हीं ऊपर के लोकों को जाते हैं। अब ऊपर से नीचे आने वाले लोक आवृत्त यानीचे मुख वाले कहाते हैं। इन लोकों को उलट दो जैसे (१) द्यु या स्वर्गलोक, (२) आदित्यलोक, (३) अन्तरिक्षलोक, (४) अग्नि लोक और पृथ्वीलोक। इन लोकों की उपासना इन लोकों के भोगों की प्राप्ति के निमित्त करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! सामवेद के जिस भाग को केवल उद्गाता गाता है, उसे 'उद्गीथ' कहते हैं, जिसे प्रस्तोता गाता है, उसे प्रस्ताव कहते हैं और जिसे प्रतिहर्ता गाता है उसे प्रतिहार कहते हैं। इस प्रकार (१) उद्गीथ, (२) प्रस्ताव और (३) प्रतिहार तीन तो ये हुए। अब तीन ऋत्विज 'हिं' इस साम के स्तोभ द्वारा जिसका गान करते हैं उसे हिंकार कहते हैं चौथा यह हिंकार हुआ। अब पाँचवाँ 'निधन' है। निधन उसे कहते हैं जिसका समस्त ऋत्विज मिलकर गान करते हैं। इस प्रकार (१) उद्गीथ, (२)प्रस्ताव, (३) प्रतिहार, (४) हिंकार और

(५) निधन ये पाँच प्रकार के सामवेद के क्रत्वङ्ग बताये हैं। इन पाँच क्रत्वङ्गो द्वारा पाँच लोकों की उपासना करे ?"

शौनकजी ने पूछा—"किस क्रत्वङ्ग द्वारा किस लोक की उपासना करे ?"

सूतजी ने कहा—"पहिला पृथ्वी लोक इसकी लोक भावना से-साधु भावना से भी-उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! एक मे दो भावना कैसे करे ? या तो साधु भावना से ही उपासना करे या लोक भावना से ? दोनों भावनायें एक साथ कैसे होंगी ?"

सूतजी ने कहा "भगवन् ! जैसे हम कहते सुन्दर अंगूठी में सुवर्ण की भावना करे। सुन्दर घड़े में मृत्तिका रूप में भावना करे। चीनी के बने हाथी मे चीनी हाथी की भावना करे। तो ये दो नहीं एक-सी ही भावनायें हैं। अंगूठी सुवर्ण की ही है सुवर्ण मय है घड़ा मृत्तिका का ही है अतः मृत्तिकामय है, चीनी का बना हाथी चीनीमय ही है दोनो एक दूसरे मे अनुगत हैं। पृथ्वी आदि लोक स्वयं साधु हैं इन लोकों मे साधु भावना अनुगत है। इसलिये पहिले शास्त्र ने आज्ञा दी साधु भाव से उपासना करो। साधुता स्वतः प्राप्त होने पर साधु कहना शास्त्रीय आदेश है। क्योंकि कार्य और अकार्य में शास्त्रीय वाक्य ही प्रमाण भूत हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो प्रथम भूलोक है इसकी किस क्रत्वङ्ग से उपासना करनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"जिसे तीन ऋत्विज् 'हिं' इस स्तोभ द्वारा गाते हैं उस हिंकार द्वारा पृथ्वी की उपासना करनी चाहिये। अर्थात् पृथ्वी ही हिंकार है ऐसी दृष्टि करके पृथ्वी लोक की उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! तीन ऋत्विज मिलकर सामवेद के 'हिं' स्तोभ द्वारा हिंकार का गान कैसे करते हैं।"

सूतजी ने कहा—"यह हिंकार तृच है। अर्थात् तीन-तीन ऋचाओं वाला यह स्तोत्र है। प्रथमा भक्ति से पहिले तीन से पहिला ऋत्विज 'हिं' का गान करता है। फिर मध्यमा भक्ति से दूसरा ऋत्विज, दूसरी तीन ऋचाओं से गान करता है, फिर तीसरा ऋत्विज शेष तीन से 'हिं' का गान करता है। ऐसे तीनों मिलकर इस हिंकार का गान करते हैं। इस प्रकार हिंकार स्तोत्र को पृथ्वी का ही रूप मानकर इसके द्वारा पृथ्वीलोक की उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"द्वितीय अग्निलोक है, इसकी उपासना सामवेद के किस क्रत्वङ्ग द्वारा करनी चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि प्रस्तोता जिस साम स्तोत्र का गान करता है उसे प्रस्ताव कहते हैं। उस प्रस्ताव द्वारा अग्निलोक की उपासना करनी चाहिये। अग्नि ही प्रस्ताव है इस दृष्टि से अग्नि की उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"तृतीय अन्तरिक्ष लोक है, उसकी उपासना सामवेद के किस क्रत्वङ्ग द्वारा करनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"अन्तरिक्ष लोक की उद्गीथ द्वारा उपासना करनी चाहिये। अन्तरिक्ष को उद्गीथ का ही स्वरूप माने, उसी दृष्टि से उपासक द्वारा उसका गान करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"चतुर्थ आदित्य लोक है, इसकी उपासना किस क्रत्वङ्ग द्वारा करनी चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् प्रतिहर्ता ऋत्विज जिस स्तोत्र द्वारा साम गान करता है उसे प्रतिहार कहते हैं, उस प्रतिहार द्वारा

आदित्य को ही प्रतिहार मानकर आदित्य लोक की उपासना करनी चाहिये।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पंचम जो द्युलोक-स्वर्ग है, उसकी किस क्रत्वङ्ग द्वारा उपासना करनी चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! सब ऋत्विज मिलकर साम के जिस स्तोत्र का गान करते हैं, उस निधन द्वारा द्युलोक की उपासना करनी चाहिये। द्युलोक को निधन स्वरूप मानकर निधन दृष्टि से उसकी उपासना करनी चाहिये।"

शौनक जी ने पूछा—"पृथ्वी लोक कहाँ से लेकर कहाँ तक है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अतल, वितल, सुतल, पातालादि जो सातों नीचे के लोक हैं, वे सब पृथ्वी के ही अन्तर्गत हैं। इसीलिये इन नीचे के सातों लोकों को सप्त भूविवर भी कहते हैं। ऊपर एक अवीचि स्थान है वहाँ से लेकर सुवर्ण का जो सुमेरु पर्वत है-जिसे इन चर्म चक्षुओं से किसी भी प्रकार नहीं देखा जा सकता। जो इलावृत्त खंड में अवस्थित है वह इलावृत खंड की कमल की कर्णिका के सदृश मध्य में स्थित है। उसके चारों ओर अष्टदल कमल के सदृश आठ खंड में जिनमें से मनुष्य केवल भरत खंड-या अजनाभ खंड-को ही देख सकता है। समुद्र का जल जहाँ तक खारा हो वह सभी भाग भारतवर्ष है। शेष आठ भू स्वर्ग है। उनमें स्वर्ग से पुण्य शेष वाले पुरुष रहते हैं, उनकी आयु सहस्रों वर्षों की होती है। भारतवर्ष के मनुष्य इस मर्त्य शरीर से उनमें जा नहीं सकते। ये सब सप्तद्वीप और आठ खंड सुमेरु से सटे हुए हैं। इसीलिये अवीचि स्थान से लेकर सुमेरु पर्वत की पीठ तक का सम्पूर्ण भाग भूलोक कहलाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर अन्तरिक्ष लोक कहाँ तक है?"

सूतजी ने कहा—"भूलोक भुवर्लोक और स्वर्ग लोक इन तीनों लोकों का आधार सुमेरु पर्वत ही है। सुमेरु के पृष्ठ भाग नीचे का सब स्थान भूलोक है। सुमेरु के जो आठ शिखर हैं, उन पर इन्द्रादि आठ लोकपालों की पुरियाँ हैं, वे सब की सब स्वर्गलोक के अन्तर्गत हैं, स्वर्गलोकों से नीचे और पृथ्वी लोक से ऊपर इन दोनों के मध्य में जो सुमेरु पर्वत की पीठ से लेकर ध्रुवलोक पर्यन्त जिस में ग्रह नक्षत्र तथा तारागण भ्रमण करते रहते हैं उसी का नाम अन्तरिक्ष लोक है।"

शौनकजी ने पूछा—"द्युलोक कहाँ तक है ?"

सूतजी ने कहा—"सुमेरु पर्वत के आस-पास के आठ शिखरों पर तो आठ लोकपालों की पुरियाँ हैं, बीच का जो सबसे ऊँचा शिखर है उस पर ब्रह्माजी की एक विशिष्ट सभा है, ब्रह्मलोक से कभी-कभी ब्रह्माजी आकर इस सभा में अपनी बैठक किया करते हैं। अष्ट लोकपालों की पुरियाँ, ब्रह्माजी की सभा ये सब स्वर्गलोक के अन्तर्गत हैं। स्वर्गलोक पाँच प्रकार का है।"

शौनकजी ने पूछा—पाँच प्रकार का स्वर्गलोक कौन-कौन-सा है ?"

सूतजी ने कहा—"(१) स्वर्गलोक, (२) महर्लोक, (३) जन लोक, (४) तपलोक और (५) सत्यलोक ये पाँचों ही स्वर्गलोक के अन्तर्गत माने जाते है। इनकी तीन संज्ञायें हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन संज्ञायें कौन-कौन-सी हैं ?"

सूतजी ने कहा—"एक तो महेन्द्र संज्ञा है, जिसके अन्तर्गत महेन्द्र आदि अष्ट लोकपालों की पुरियाँ आ जाती हैं, जिसे स्वर्ग लोक, देवलोक, नाक, त्रिदिव, द्यौः त्रिविष्टप आदि कहते हैं ये सब माहेन्द्र सज्ञा के अन्तर्गत हैं। दूसरी संज्ञा है प्राजापत्य। उसका नाम महर्लोक है। उसमे प्रजावान, गृहस्थी—महर्षिगण

निवास करते हैं, जैसे वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, अत्रि आदि-आदि। इसमें अवकाश प्राप्त मनु, प्रजापति, इन्द्रादि भी आकर निवास करते हैं। ये प्रजावानों के-संतति वालों के-सपत्नीक महर्षियों के-लोक हैं। इसीलिये महर्लोक की प्रजापति लोक भी सज्ञा है। अब महर्लोक से आगे जो जनलोक, तपलोक, और सत्यलोक ये तीन लोक हैं, ये अप्रजवानों के संतति से सम्बन्ध न रखने वाले-अग्रिहस्थियों के लोक हैं। केवल ब्रह्माजी को छोड़कर इन लोकों के रहने वाले पत्नी नहीं रख सकवे। इसलिये इन तीनों लोकों की ब्राह्म सज्ञा है। जनलोक में ऊर्ध्वरेता वे ब्रह्मचारी ही निवास करते हैं, जिन्होंने कभी दार ग्रहण किया ही नहीं। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया हो, जैसे आप नैमिषारण्य निवासी मुनिगण। तपलोक में वे तपस्वी ही निवास करते हैं, जिन्होंने घोर तपस्या द्वारा समस्त पापों को जलाकर निष्पाप हो गये हों और ब्रह्मलोक में ब्रह्म-परायण, त्यागी, संन्यासी, वीतरागी पुरुष रहते हैं। ये तीनों प्रायः अपुनरावृत्ति लोक हैं। प्रायः कहने से अभिप्राय यह है जो लोग अत्युत्कट पुण्यों द्वारा इन लोकों को प्राप्त कर लेते हैं वे पुण्य कर्म प्राप्त लोग तो पुण्य क्षीण होने पर पुनः पृथ्वी पर जन्म ले लेते हैं। ये तीनों ही लोक ब्रह्मलोक के अन्तर्गत हैं, अतः ब्राह्म लोक कहाते हैं। इस प्रकार (१) माहेन्द्रलोक, (२) प्रजापतिलोक और (३) ब्राह्मलोक ये तीनों स्वर्ग की ही तीन संज्ञायें हैं। ये तो ऊर्ध्वमुख लोकों की उपासना बताई अब अधोमुखी लोकों की नीचे उतरते हुए लोकों की-उपासना बताते हैं। इसे ठीक उलट दीजिये। ऊर्ध्वमुख लोकों की उपासना तो नीचे से भूलोक से आरम्भ होकर ऊपर स्वर्गलोक में समाप्त हुई थी। इस अधोमुखी लोकों की ऊपर के द्युलोक-स्वर्ग-से आरम्भ होकर नीचे भूलोक

में समाप्त होगी। जैसे द्युलोक-स्वर्ग-को हिंकार मानकर हिंकार दृष्टि से उपासना करे। उससे नीचे आदित्यलोक को प्रस्ताव मानकर प्रस्ताव दृष्टि से उपासना करे। उससे नीचे अन्तरिक्ष लोक को उद्गीथ मानकर उद्गीथ द्वारा उसकी उपासना करे। अग्निलोक को प्रतिहार मानकर प्रतिहार द्वारा उसकी उपासना करे, तथा पृथ्वी लोक को निधन मानकर निधन दृष्टि से उपासना करे। जैसे पहिले पृथ्वी को हिंकार माना था अब उलटे भी स्वर्ग को हिंकार द्वारा उपासना करे। उलटे क्रम से।

इस पाँच प्रकार की-हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इन पाँच रूपों से पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक की ऊर्ध्वमुख उपासना करता है, अथवा अधोमुख उपासना करता है। उनको पाँचों लोक के जो भोग्य पदार्थ हैं, वे अवश्य ही उपस्थित हो जाते हैं। यह इन लोकों की पञ्चविध सकामोपासना का फल है। अब इसी प्रकार वृष्टि में पाँच प्रकार की सामोपासना बतायी है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

उलटि अधोमुख होइ उपासन सुनहु विप्रवर।
स्वर्गलोक हिंकार कह्यो प्रस्ताव सूर्य वर॥
अन्तरिक्ष उद्गीथ अग्नि प्रतिहार जतायो।
भये अधोमुख उलटि निधन तिहि भूमि बतायो॥
जानि उपासन साम की, करै पंचविध पुरुष जब।
नीचे ऊपर लोक के, भोग प्राप्त है जाइँ सब॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय का
द्वितीय खण्ड समाप्त

वृष्टि सम्बन्धिनी पञ्चविध सामोपासना

[१११]

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते । स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योततेस्तन यति सप्रतिहारः॥*

(छा० उ० द्वि० अ० ३ ख० १ मं०)

छप्पय

वर्षा में हू करै पञ्चविध साम उपासन।
पूर्व वायु हिंकार न वर्षा होवै ता बिन॥
जो पैदा हो मेघ वही प्रस्ताव बतायो।
झर-झर वर्षा होइ वही उद्गीथ कहायो॥
चम चम चमकत पुनि उमड़ि, घुमड़ि घुमड़ि गरजन करत।
वही कह्यो प्रतिहार है, निधन मह न पुनि जल करत॥

वृन्दावन में गायनाचार्य एक महात्मा हो गये हैं। एक राज सभा के गायक थे। राजा ने गायक से कहा—"तुम दीपक राग जानते हो?" गायक ने कहा—"हाँ जानता तो हूँ।" "तो तुम दीपकों को अपना राग गाकर जला सकते हो?" राजा ने पुनः

---

* पञ्चविध सामोपासना वृष्टि में भी करनी चाहिये। पूर्व की वायु हिंकार है, उत्पन्न मेघ प्रस्ताव है, जो वर्षा होती है वह उद्गीथ है, बिजली का चमकना, मेघों का गरजना यही प्रतिहार है और (मेघों का जल ग्रहण करना यही निधन है।)

पूछा। गायक ने नम्रता के साथ कहा—"अन्नदाता! मैं दीपक राग गाकर दीपकों को तो जला सकता हूँ, किन्तु उस राग के गाने से उष्णता अत्यधिक बढ जायगी। उसकी शान्ति का उपाय मैं नहीं जानता।"

ससार मे राजहठ और त्रियाहठ तो प्रसिद्ध ही है। राजा को बडी उत्सुकता हुई, केवल गायन से दीपक कैसे जल जायेंगे। उसने गायक से दीपक राग गाने का अत्यन्त आग्रह किया। राजा के आग्रह को राजगायक कैसे टाल सकता था। यमुना किनारे बिना जलाये सहस्रों दीपक रखे गये। गायक ने दीपक राग का ठाठ खडा किया स्वर भरे और ऐसे स्वरों को ताल लय के साथ गाया कि देखते-ही-देखते समस्त दीपक एक साथ जल उठे। दीपकों के साथ-ही-साथ उष्णता के कारण गायक का गला भी जल गया। राजा का क्षण भर को मनोविनोद हुआ। गायक जीवन भर के लिये वाणीहीन बन गया। वह बडे कष्ट से एक आध शब्द बोल सकता था। उसे बडी ग्लानि हुई और वह गायकी छोडकर पृथ्वी पर विचरण करने लगा।

एक बार विचरते विचरते वह राजस्थान के एक घोर वन में चला गया। वहाँ एक स्त्री सूखी लकडी बीन रही थी। वह लकडी बीनती जाती थी और कुछ गाती भी जाती थी। ये गायक तो राग के रोगी ही थे, उसके सस्वर शास्त्रीय गायन से आकर्षित होकर उसके पीछे पीछे फिरने लगे।

जब स्त्री को प्रतीत हुआ कोई पुरुष मेरा पीछा कर रहा है, तो उसने चौंककर पूछा—"तुम कौन हो?"

गायक डर गया, कि इसने कुछ अन्यथा तो नहीं समझ लिया। अत. उसने बडे कष्ट से-'माता' यह शब्द कहा।

शब्द सुनते ही वह स्त्री समझ गयी। उसने कहा—"तुम गायक हो ?"

गायक ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया तब उस स्त्री ने कहा-"प्रतीत होता है, तुमने दीपक राग गाया है, इसका प्रतीकार न जानने से ही तुम्हारी यह दुर्दशा हुई है।"

अकस्मात् एक अपरिचित स्त्री के मुख से अपनी सच्ची बात सुनकर गायक के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वह समझ गया और माँ माँ कहकर रुदन करने लगा।

दयामयी महिला ने बड़े स्नेह से कहा-"बैठो, मैं अभी तुम्हारी चिकित्सा करती हूँ।"

यह कहकर उसने गायक को पास बिठाकर मेघ राग का ठाठ बाँधा और फिर साधकर इस ताल स्वर लय के साथ उसने गाना आरम्भ किया, कि मन्द मन्द पूर्वी वायु चलने लगी। देखते-देखते आकाश मंडल मे मेघ छाने लगे। और शनैः शनैः उमड़ घुमड कर बादल बरसने लगे, बिजली चमकने लगी। उस वर्षा के जल से गायक सिर से पैरों तक भीग गया-सराबोर हो गया। कुछ काल मे देवी ने अपना गायन बन्द किया, मेघ तितर बितर हो गये। किन्तु मेघ राग के जल से गायक का गला ठण्डा पड़कर खुल गया, वह भला चंगा हो गया।

उसने देवी की वन्दना की, उनके चरणों में मस्तक नवाकर प्रार्थना की—"मुझे मेघ राग सिखा दो।"

देवी ने कहा—"मुझे सिखाने का अधिकार नहीं है। यदि आप मेघ राग तथा और भी दूसरे राग सीखना चाहें तो श्रीवृन्दावन के निधि वन मे मेरे गुरुजी रहते हैं। उनसे जाकर सीख सकते हैं।"

गायक वहाँ से सीधा वृन्दावन गया और उन महात्मा के

शरणापन्न होकर ससार मे सर्वश्रेष्ठ गायक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये ही गायक अकबर बादशाह के सभा गायक तानसेन (तनकू मिश्र) हुए और वे महात्मा ललिता सखी के अवतार महात्मा हरिदास थे। गायन मे बडी सामर्थ्य होती है।

वर्षा है क्या ? अग्नि में जो धुँआ निकलता है, वह धुआँ आकाश में जाकर सूर्य की विशिष्ट किरणों में समा जाता है। इससे वे किरणें समुद्र मे से, नदियो से, कूप तालाबों मे से तथा प्राणियों के शरीरो मे से जल खींचने मे समर्थ हो जाती हैं। वह जल वाष्प रूप बनकर मेघ का रूप धारण कर लेता है। जब सूर्य आकाश मे प्रचण्ड रूप से तपते हैं तो उन मेघो मे वर्षण शक्ति आ जाती है, वर्षा हो जाती है।

मेघ आकाश मे रहते हैं, आकाश का गुण शब्द है, शब्द नित्य है। प्रत्येक शब्द रागमय है। जैसे प्रत्येक अक्षर मत्रमय है। प्रत्येक वस्तु औषध है, किन्तु कौन-कौन अक्षर मिलाने से मत्र बनेगा, इसे मंत्रज्ञ ही जान सकते हैं। कौन-कौन सी औषधियो का योग करने पर रसायन या वाजीकरणीय औषधि निर्माण हो जायगी, इसे सद्वैद्य ही जान सकता है। इसी प्रकार कौन से वाक्यों से राग बनाने पर उसकी ध्वनि मे ऐसी शक्ति आ जायगी, कि आकाश मंडल में इधर-उधर छितरे हुए मेघ एकत्रित होकर वर्षा करने लगे, इसे शास्त्रीय सगीत ज्ञाता ही जान सकता है। मेघ सदा धूम बनते हैं, जैसा धुआँ होगा, वैसे ही प्रभाव वाले मेघ होंगे। पहले यज्ञ याग होते थे। मन्त्रों द्वारा शुद्ध घृत तथा सामग्री से आहुतियाँ दी जाती थीं, उसके धूम से जो मेघ बनते थे, वे आस्तिकता को बढाने वाले और कन्द मूल, फलादिको की वृद्धि करने वाले जल को बरसाते थे। अब जो यन्त्रालयों के पत्थर के अशुद्ध कोयले के धूम से मेघ बनते हैं, वे नास्तिकता को बढ़ाने वाले

तथा फल फूलों को नाश करने वाले होते हैं। ऐसे यन्त्रालयों के समीप के आम्रादि वृक्ष प्रायः फल नहीं देते। देते हैं तो बहुत न्यून तथा छोटे-छोटे। मन्त्रों द्वारा–गायन द्वारा–जिन मेघों का आवाहन किया जायगा, वे रोग नाशक अमृतमय होंगे किन्तु अब वह विद्या लुप्तप्राय हो गयी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पाँच प्रकार की पीछे लोक सम्बन्धी सामवेद की पाँच प्रकार की उपासना बतायी है। उसी प्रकार वृष्टि में भी पचविध सामोपासना की जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"वृष्टि में पाँच प्रकार से सामोपासना कैसे की जाती है?"

सूतजी ने कहा—"वृष्टि होने में पाँच क्रियायें होती हैं। (१) पहिले पुरवाई वायु चल के शुष्क बादलों में नमी उत्पन्न करती है। (२) फिर उस नमी से मेघ उत्पन्न होते हैं। (३) मेघ उत्पन्न होने पर आकाश से पानी बरसता है। (४) तदनन्तर बिजली चमकती है, आकाश में गर्जन होती है। गरज गरजकर उमड घुमडकर पानी बरसता है। (५) तदनन्तर वर्षा समाप्त हो जाती हैं। खाली मेघ पुनः जल ग्रहण करते हैं।

इन पाँचों क्रियाओं में (१) हिंकार, (२) प्रस्ताव, (३) उद्गीथ, (४) प्रतिहार, और (५) निधन–जो पाँच सामवेद के क्रत्वङ्ग बताये हैं, जिनकी व्याख्या पीछे की गयी है। उन पाँचों क्रत्वङ्गों की इन पाँच क्रियाओं के साथ भावना करके पाँचों स्तोत्रों का गायन करे।

जैसे हिंकार स्तोत्र का गायन करते हुए यह भावना करे कि अब मेघों को पिघलाने वाली पुरवाई वायु चलने लगी। फिर प्रस्ताव स्तोत्र का गायन करे तो भावना को बरसाने वाले मेघ आने लगे। फिर उद्गीथ का गायन करे तो यह भावना करे वर्षा

होने लगी। फिर प्रतिहार का गायन करता रहे और देखता रहे उमड घुमडकर बिजली चमकाकर वर्षा हो रही है। तदनन्तर निधन स्तोत्र का गायन करके यह भावना करे मेघ वर्षा करके पानी से रिक्त होकर वर्षा बन्द करके पुन. जल ग्रहण करने चले गये।

जो इस रहस्य को भली भाँति जानता है और जानकर इन स्तोत्रों का विधिवत् गान करता है। इस भावना से वर्षा में साम की उपासना करता है, उसके निमित्त वर्षा बरस जाती है और वह जब भी चाहे तभी वर्षा करा सकता है। दुर्भिक्ष के समय बहुत से सामवेदीय सामवेद गायन करके वर्षा करा देते थे।"

शौनकजी ने पूछा—"क्या वर्षा कराने के लिये उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता आदि पाँच ऋत्विज गायकों की आवश्यकता अनिवार्य है?"

सूतजी ने कहा—"ये ऋत्विज तो यज्ञ यागों में आवश्यक होते हैं। वर्षा आदि करानी हो तो पाँचों स्तोत्रों को एक ही व्यक्ति गाकर वर्षा करा सकता है। यह मैंने वृष्टि में पंचविध सामोपासना का वर्णन किया। अब जैसे जलों में पंच प्रकार की सामोपासना की जाती है। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय—*जो जन जानत जाहि पंचविध करत उपासन।*
सामवेद विधि सहित करै मन्त्रनि को गायन॥
तिहि हित वर्षा होइ अवर्षण दुख न सतावै।
जहँ चाहै जल मिलै नहीं जल बिनु रहि जावै॥
जब चाहै दुरभिक्ष में, वर्षा तुरत कराइगो।
दुखी भये दुष्काल में, जीवन सुखी बनाइगो॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय का
तृतीय खण्ड समाप्त

जल में पञ्चविध सामोपासन

[११२]

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यस्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम्॥६

(छा० उ० द्वि० प्र० ४ ख० १ म०)

छप्पय

ऐसे ही जल माहिं उपासन साम करहि नित।
जल है पाँच प्रकार सुनो तिनि रहस समाहित॥
घनीभूत जो मेघ नीर हिंकार बतायो।
बरसा जल प्रस्ताव नदी जल द्विविध कहायो॥
पूर्व ओर सरिता बहैं, नीर कह्यो उद्गीथ वह।
पश्चिमीय प्रतिहार है, निधन समुद्रहिं नीर यह॥

यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्ममय है, यज्ञमय है। जैसे अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, जहाँ दो वस्तुओं को रगडो वहीं अग्नि उत्पन्न हो जायगी।

---

* सभी भाँति के जलो म पाँच प्रकार की सामोपासना करनी चाहिये। जलो मे जो मेघ का घनीभूत जल है वही मानों हिंकार है। बरसने वाला जल ही प्रस्ताव है, पूर्व की ओर प्रवाहित होने वाली सरिताओ का जल उद्गीथ है पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों का जल प्रतिहार है तथा समुद्र का जल निधन है।

अग्नि प्रत्यक्ष होकर–मन्थनकर्ता को दर्शन देकर पुनः अपने स्वरूप में विलीन हो जायगी, महाग्नि में मिल जायगी। इसी प्रकार जल भी सर्वत्र व्याप्त है। एक यन्त्र विशेष को रख दो, तो उसमें विना जल भरे ही बरफ जम जायगी। पूछे उसमें जल कहाँ से आ गया? तो वायु में व्याप्त जो जल कण हैं, वे ही एकत्रित होकर हिम बन गये। उपासना भावानुसार होती है, जहाँ जिस स्थान पर जैसी भावना करके तुम उपासना करोगे, वैसा ही फल तुम्हे प्राप्त हो जायगा, क्यों यह पुरुष श्रद्धामय है, भावमय है। तुम्हारी श्रद्धा जैसी होगी, जैसा ही भाव होगा, वैसे ही तुम बन जाओगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सामवेद की पचविध उपासना का प्रकरण चल रहा है। पाँच जो सामवेद के मुख्य-मुख्य स्तोत्र हैं जिन्हें यज्ञों में पाँच प्रकार के ऋत्विज गान करते हैं। यज्ञों में सामवेद के गाने वाले प्रायः तीन ही ऋत्विज होते हैं, ब्रह्मा भी कभी-कभी साम गायन करते हैं। नहीं तो प्रस्तोता प्रस्ताव का गायन करते हैं, उद्गाता उद्गीत का, और प्रतिहर्ता प्रस्ताव का। तीनों जब तीन-तीन ऋचाओं को गाते हैं वह हिंकार कहाता है और जब सब मिलकर गाते हैं उसी की निधन संज्ञा है। यही साम की पचविध उपासना कहलाती है। इन पाँचों का जिन पाँच प्रकार की सम्बन्धित वस्तुओं से सम्बन्ध करके तत्तत् वस्तुओं के साथ सम्बन्ध जोड़कर भावना की जाती है,वह उस वस्तु की पचविध सामोपासना कहलाती है। अब जैसे जल को ही ले लीजिये। वास्तव मे देखा जाय, तो जल तो सब एक ही है। फिर भी पात्र भेद से जल के पाँच भेद कर दिये हैं।

१—एक वाष्प रूप मे जल–सूर्य को वारि तस्कर कहा है। वह नद नदियों से, वापी कूपों से, छोटे बड़े तालाब, सरोवर

पुष्करिणी आदि से, समुद्र में से तथा प्राणियों के शरीरों में से जल चुरा ले जाता है। चुराना उसे कहते हैं, कि दूसरों की रखी वस्तुओं को इस प्रकार उठा ले जाय, कि दूसरे लोगों को उठाते समय पता भी न चले, कब किसने अमुक वस्तु उठा ली। हम देखते हैं हमारे सामने कल इस गड्ढे में पानी भरा था। आज उतना पानी नहीं है। सूख गया। कौन सोख गया? वारि-तस्कर जल का चोर सूर्य चुरा ले गया। सूर्य जो जल को चुराकर ले जाता है, उसी के बादल बन जाते हैं। धूमकणों के साथ जब वे जलकण मिलकर बादल बनकर घटा के रूप घनीभूत होकर आकाश के सहारे इधर-उधर भ्रमण करते हैं, तो एक भेद तो घनरूप जल का यह हुआ।

२—जब वे ही बादल उष्णता के आधिक्य के कारण पिघल कर बरसने लगते हैं, तो वर्षा का जल यह जल का दूसरा रूप हुआ।

३—वही वर्षा का अथवा पिघले हिम का गला हुआ जल जब नदियों में प्रवाहित होता है, तो यह नदियों का जल, यह जल का तीसरा रूप है। कुछ नदियाँ उत्तर से पूर्व की ओर बह कर समुद्र में मिलती हैं, कुछ पूर्व से बहकर पश्चिम समुद्र में मिलती हैं। अतः एक तो उत्तर से पूर्व की ओर बहती नदियों का जल।

४—दूसरा जो पूर्व से पश्चिम की ओर नदियाँ प्रवाहित होती हैं, उनका जल। इस प्रकार दो प्रकार बहने वाले जल के हुए।

५—पाँचवाँ स्थिर रहने वाला जल जो बहे नहीं, केवल भरा रहे, अपने ही स्थान में हिलोरें मारता रहे। वह सर, सरोवर, पुष्करिणी, तालाब आदि में भरा रहता है। समुद्र का जल भी

बहता नहीं। इसलिये समुद्र भी एक बड़ा सरोवर तालाब ही है। अत पाँचवाँ समुद्र का जल है। इस प्रकार जल के पाँच भेद हुए। अब इन पाँचों अनङ्ग रूप जल के साथ कृत्वङ्ग भूत जो (१) हिंकार, (२) प्रस्ताव (३) उद्गीथ, (४) प्रतिहार तथा (५) निधन रूप म इन पाचों प्रकार के सामस्तावों द्वारा उपासना करनी चाहिये। इन सर्व प्रथम घन रूप में घटा बनकर आकाश म घूमते हुए बादल रूप वाले जल में हिंकार क्रत्वङ्ग की भावना करे।

दूसरे प्रकार बरसते हुए वर्षा के जल मे प्रस्ताव रूप जो क्रत्वङ्ग है उसकी भावना करके उपासना करे।

तीसरा जो पूर्व की ओर बहने वाली नदियों का जल है उसमें उद्गीथ क्रत्वङ्ग की भावना करके उपासना करे।

चौथा जो पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों का जल है उसमे प्रतिहार क्रत्वङ्ग की भावना करके उपासना करे।

पाँचवाँ जो समुद्र का जल है, जो आपूर्यमाण अचल और परम प्रतिष्ठित है उसम निधन दृष्टि करके उपासना करे।

इस प्रकार जो समस्त जल म सामवेद के अनुसार पचविध उपासना करता है, उसे जल से कभी भय नहीं होता अर्थात् जल म डूबकर उसकी कभी अकाल मृत्यु नहीं होती। दूसरे उसे कभी भी कहीं भी जल का कष्ट नहीं होता। उसे यथेष्ट जल प्राप्त हो जाता है। जहाँ भी जाता है, वहा उसे पर्याप्त पय की प्राप्ति होती है। वह कहीं भी कभी भी जल का अभाव अनुभव नहीं करता।

सूतजी कह रहे हैं —"मुनियो! यह मेने आपसे जल में साम की पचविध उपासना केसे करनी चाहिये, इस प्रसग को

कहा—अब ऋतुओं में किस प्रकार साम की उपासना की जाती है, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जो जा विधि कूँ जानि उपासन जल में करिहैं।
वे न भूलि कें कबहुँ डूबि कें जल में मरिहैं॥
जल ही जीवन जानि दान जल को करवावै।
वापी कूप तडाग जलाशय बहु खुदवावै॥
जल उपासना तें सकल, जीवन सुख सम्पन्न नित।
रहै सतत सम्पन्न जल, सदा प्रफुल्लित रहहि चित॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
चतुर्थ खण्ड समाप्त

—:—

ऋतुओं में पञ्चविध सामोपासना

[११३]

ऋतुषु पञ्चविध सामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः ।
प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ।।*
(छा० उ० द्वि० प्र० ५ ख० १म०)

छप्पय

ऋतुनि माहिँ हू करै उपासन पाँच भाँति नर ।
साम उपासक सकल पाइँ तिहि तैं उत्तम वर ।।
ऋतु वसन्त हिंकार गीष्म प्रस्ताव सु माने ।
है वर्षा उद्गीथ शरद प्रतिहार हु जाने ।।
त्यागि शिशिर ऋतु पंचविध, कही वेद में ऋतु सकल ।
निधन कही हेमन्त ऋतु, विना वायु प्रानी विकल ।।

काल रूप से कृष्ण क्रीड़ा कर रहे हैं। जो आयु का कलन करता रहे, यह गिनता रहे कि इस प्राणी की कितनी आयु हो गयी है और कितनी शेष है वही काल पुरुष है (कलयति जीवानां आयुः=सः काल) यह काल संसार में जितने भी गणना करने वाले गणक हैं उन सबमें श्रेष्ठ है। औरों की गणना में

---

* इसी प्रकार ऋतुओं मे भी पांच प्रकार से सामोपासना करे। इन पांचों में वसन्त ऋतु हिंकार है, गीष्म को प्रस्ताव समझो, वर्षा को उद्गीथ मानो, शरद् को प्रतिहार जानो और हेमन्त निधन है ऐसे पहिचानो।

भले ही कुछ न्यूनाधिक अन्तर पड़ जाय, किन्तु इन काल पुरुष की गणना में पल निमेष भर का भी अन्तर नहीं पड़ता, इसीलिये ये भगवत् विभूति हैं (कालः कलयतामहम्) विभूति क्या है, काल साक्षात् भगवत् स्वरूप ही हैं। समस्त प्राणियों को अपने-अपने कर्मों के लिये प्रेरित करते हैं इसलिये भी ये काल कहलाते हैं। (कलयति सर्वाणि भूतानि सः काल) सम्पूर्ण जगत् इन काल भगवान् की प्रेरणा से ही चल रहा है। विश्व की कोई ऐसी वस्तु नहीं जो कालाधीन न हो। देवता हो, ऋषि हो, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, लोकपाल, ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी काल के अधीन हैं। सर्ग, स्थिति तथा प्रलय के कारण भी ये काल ही हैं। समस्त प्राणी रात्रि आने पर सो जाते हैं, किन्तु ये काल कभी सोते नहीं। सदा सर्वदा जागते ही रहते हैं। काल आने पर जितने भी ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त प्राणी हैं, उत्पन्न हो जाते हैं, जब तक जिसका जितना काल है, तब तक स्थिर रहते हैं। काल आ जाने पर अन्त में विनष्ट हो जाते हैं, लोप हो जाते हैं--उनका दर्शन नहीं होता। वह काल भूत, भविष्य और वर्तमान तीन प्रकार का कहा जाता है। यह कालदेव स्वयं साक्षात् भगवान् परमेश्वर ही हैं। समस्त विश्व काल के ही सहारे चल रहा है। क्षण, दण्ड, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा वत्सर आदि इस काल के ही भेद है। श्रीमद्भागवत में काल के भेद बताते हुए कहा है। काल का नाप सूर्य की गति से किया जाता है। जितनी देर में सूर्य अमुक वस्तु को पार करे उसी के अनुसार काल की गणना कल्पित की गयी है। सबसे छोटी वस्तु परमाणु को माना गया है। अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु को परमाणु कहते हैं जिसके विभाग, टुकडे किसी प्रकार हो ही न सकें, वह किसी भी प्रकार किसी भी यन्त्र से दिखायी न दे

वही परमाणु है। वह सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल का मापक जो काल की छोटी से छोटी अवस्था से लेकर बडी से बडी अवस्था का भोग करे वह महान् से भी महान् काल है।

अब छोटी से-छोटी अवस्था से काल का विभाग कीजिये। जिसका अस्तित्व है, किन्तु वह दृष्टि द्वारा दीखता नहीं वही परमाणु है। दो परमाणु मिलने पर 'अणु' होता है, अणु का भी दृष्टि से साक्षात्कार नहीं होता। तीन अणु मिलने पर एक 'त्रिसरेणु' होता है। त्रिसरेणु दृष्टिगोचर होता है। किसी झरोखे से जो सूर्य की किरणें हमारे घर के भीतर आती हैं, उन किरणो के प्रकाश मे जो बहुत ही छोटे छोटे आकाश में उडते हुए कण से दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हीं का नाम 'त्रिसरेणु' है। उस त्रिसरेणु को सूर्यदेव जितनी देर में पार करें उस काल का नाम त्रिसरेणु काल है। तीन त्रिसरेणुओं की एक 'त्रुटि' कहलाती है। तीन त्रिसरेणुओं को पार करने में सूर्य को जितना समय लगे वही 'त्रुटि काल' है। काल की गणना में 'त्रुटि' को ही सबसे छोटा काल माना गया है। सौ त्रुटि का एक 'वेध' कहलाता है। तीन वेध का एक 'लव' तीन लव का एक निमेष, तीन निमेष का एक 'क्षण', पाँच क्षण की एक 'काष्ठा', पन्द्रह काष्ठा का एक 'लघु', पन्द्रह लघु की एक 'नाडिका' या दण्ड होता है। दो नाडिका का एक 'मुहूर्त' दिन के घटने बढने के कारण छे या सात नाडिका का एक 'प्रहर' या याम होता है। चार चार प्रहर के मनुष्यों के दिन रात्रि होत हैं। अर्थात् दिन और रात्रि म आठ प्रहर होते हैं। पन्द्रह दिन रात्रि का एक पक्ष कहलाता है। दो पक्ष (कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष) मिलकर एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु होती है। ऐसी दो-दो मास की ६ ऋतुएँ होती हैं। उनके नाम (१) हिम, (२) शिशिर, (३) वसन्त, (४) ग्रीष्म, (५) वर्षा और (६) शरद

ये नाम हैं। अगहन और पौष हिम ऋतु, माघ और फाल्गुन शिशिर, चैत्र और वैशाख वसंत, ज्येष्ठ और आषाढ़ ग्रीष्म, श्रावण और भाद्रपद वर्षा तथा क्वार और कार्तिक ये शरद ऋतु कहलाते हैं। कोई ६ का समाहार तीन में ही कर देते हैं जैसे कार्तिक, अगहन, पौष और माघ ये चार महीने शीत ऋतु फाल्गुन, चैत्र, वैशाख और ज्येष्ठ ये चार ग्रीष्म ऋतु तथा आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद और क्वार ये वर्षा के चातुर्मास। इस प्रकार तीन में ही छ ऋतुओं को मान लेते हैं। कोई-कोई वर्षा को पृथक् न मानकर ग्रीष्म और शीत दो ही ऋतु मानते हैं। अर्थात् कार्तिक, अगहन, पौष, माघ, फागुन और चैत्र शीत ऋतु और वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, भादौ और क्वार ये छै ग्रीष्म ऋतु। इस प्रकार दो मे ही छ ऋतुओं का समाहार कर देते हैं। वेद मे पाँच ही ऋतु मानी हैं। * वहाँ हेमन्त और शिशिर इन दो ऋतुओं को एकत्रित करके पाँच ही ऋतु मानी हैं। हमारी इस छान्दोग्य उपनिषद् में भी हेमन्त और शिशिर को एक ही ऋतु मानकर पाँच ऋतुएँ ही मानी हैं और इन पाँचों ऋतुओं के ही अनुसार पचविध सामोपासना बतायी गयी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जल में पञ्चविध सामोपासना बताकर अब ऋतुओं मे पाँच प्रकार की सामोपासना का वर्णन किया जाता है। वसन्त ऋतु भगवत् विभूति मानी गयी है (ऋतूना कुसुमाकरः) इसलिये वसंत को पहिली ऋतु मानते हैं, इसलिये चैत्र वैशाख वैसन्त ऋतु मे हिंकार की भावना करके उपासना

---

* मास द्वयात्मक. कालः ऋतु प्रोक्तो विचक्षणै।
यत्रतु द्वादशमासाः पञ्चर्त्तवः इति श्रुतम्।
तत्र हेमन्त शिशिरयोरेकत्रीकरणं विवक्षितम्॥

करे। अब दूसरी ऋतु ज्येष्ठ, आषाढ़ ग्रीष्मऋतु है इसमे 'प्रस्ताव' की भावना करके उपासना करे। वसंत में जो खेतों में अन्न हो जाता है वह ज्येष्ठ, आषाढ़ में ही घर मे आता है। अतः सग्रह का प्रस्ताव इसी ऋतु में होता है।

अब तीसरी ऋतु श्रावण और भाद्रपद वर्षा ऋतु है, इसमें उद्गीथ की भावना करके उपासना करे। वर्षा मे राजा, सैनिक, यति आदि एक स्थान पर निवास करते हैं। लडकी-लडके झूला डालकर उस पर पेंग बढ़ाते हुए मल्हार राग का उद्गीथ गायन करते हैं, कृषकों को वर्षा के कारण बड़ा हर्ष होता है, अत्यन्त प्रसन्नता की ऋतु होने से इसमे उद्गीथ की भावना करनी चाहिये।

क्वार, कार्तिक ये शरद् ऋतु हैं। शरद् मे गर्मी समाप्त होने और जाडा आरम्भ होने से ऋतु परिवर्तन की यह सन्धि ऋतु है, इसमे प्रायः रोग हो जाया करते हैं। अतः रोगियो को एक स्थान से दूसरे स्थानों मे प्रतिहरण परिवर्तन करते रहते है अतः इस ऋतु मे प्रतिहार की भावना करके उपासना करनी चाहिये। अगहन, पौष, माघ और फाल्गुन ये हेमन्त तथा शिशिर ऋतुएँ हैं। इसमे ठडी वायु चलती और सरदी बहुत पडती है। वृद्ध पुरुषों को ठंडी बहुत लगती है। इन्हीं ऋतुओं मे मृत्यु संख्या अधिक हुआ करती है अतः हेमन्त में 'निधन' भावना से सामोपासना करनी चाहिये। इस प्रकार यह ऋतुओं मे पञ्चविध सामोपासना बतायी अब इन ऋतुओं मे की हुई पञ्चोपासना का फल भी श्रवण करें।

जो लोग इस प्रकार ऋतुओं मे पञ्चविध सामोपासना करते हैं। इन पूर्वोक्त पाँच ऋतुओं में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इन भावनाओं से उपासना करते हैं। उन

उपासको के लिये वसन्त आदिक जितनी भी ऋतुएँ हैं वे सब अपने अपने समय के भोग्य पदार्थों को उपस्थित करती हैं। उसके लिये ऋतु सम्बन्धी भोग प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होते हैं। ऐसा उपासक ऋतुमान् होता है, अर्थात् उसे ऋतु सम्बन्धी समस्त भोग स्वत ही प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। सभी ऋतुएँ उसके लिये अनुकूल तथा सुखद बन जाती हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने ऋतु सम्बन्धी पञ्चविध सामोपासना कही। अब पशुओं मे जिस प्रकार पञ्च विध सामोपासना की जाती है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इसे समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

सामोपासन जानि पञ्चविध ऋतुनि करै जो।
सब ऋतु में वह पाइ मनोवाञ्छित फलकूँ सो॥
काल-काल में करें व्यवस्था ऋतु सब ताकूँ।
भोग्य रूप फल मिलैं समय पै सबई वाकूँ॥
ऋतु सम्बन्धी भोग जो, तिनितैं है सम्पन्न नित।
नर होवै ऋतुमान वह, ऋतु उपासना देइ चित॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय मे
पञ्चम खण्ड समाप्त

पशुओं में पञ्चविध सामोपासना

[११४]

पशुषु पञ्चविधं सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥*

(छा० उ० द्वि० अ० ६ ख० १ म०)

छप्पय

ऐसे ही सब पशुनि माहिँ सामोपासन करि।
ताहि पञ्चविधि करै प्रेम तैं निज हिय महँ धरि॥
बकरा कूँ हिंकार करै प्रस्ताव भेड़ महँ।
गौअनि मह उद्गीथ परम पावन सब पशु महँ॥
अश्व माहिँ प्रतिहार की, करै भावना उपासक।
निधन पुरुष में भाव करि, पुरुष सबनि को प्रशासक॥

पशु शब्द का अर्थ है, जो सबको एक अविशेष भाव से देखे। (अविशेषेण सर्वं पश्यति इति=पशु) यज्ञों में एक पशु यज्ञ होता है, उसमें एक यूप-खम्भा-होता है, उसमें बलि के लिये जो भी बाँध दिया जाय, उसी की 'पशु' संज्ञा बतायी गयी है। फिर

---

* इसी प्रकार पशुओं में भी पाँच प्रकार की सामोपासना करनी चाहिये। जिनमें अज-बकरा-हिंकार है। अवि-भेड़ें-प्रस्ताव हैं। गौएँ उद्गीथ हैं अश्व प्रतिहार हैं और पुरुष ही निधन है।

चाहे ऊँट हो अथवा भेड, बकरा, घोडा कोई भी उसको 'पशु' इस शब्द से पुकारते हैं।*

पशुओं की सख्या बहुत है, किन्तु सामान्यतया पशु दो प्रकार के होते हैं। एक ग्राम्य पशु–गाँव में रहने वाले, दूसरे आरण्य पशु–वन मे –जगल मे–रहने वाले। सात ग्राम्य पशु ये हैं–(१) बकरा, (२) पुरुष, (३) भेड, (४) घोडा, (५) गौ, (६) गदहा और (७) खच्चर। सात आरण्य पशु ये हैं—(१) कुत्तों के से पैर वाले कूकर सियार आदि, (२) दो खुर वाले हरिण आदि, (३) हाथी, (४) वानर जाति, (५) पखों से उडने वाले पक्षी, (६) जल मे रहने वाले और (७) रेंगकर चलने वाले सर्प आदि।

यहाँ हमारी इस छादोग्य उपनिषद् में जिन पाँच पशुओं में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन रूप से पचविध की उपासना बतायी है, उनमें ग्राम्य पशु ही लिये गये हैं। गदहा और खच्चर ये अपवित्र पशु होने के कारण निकाल दिये गये हैं। केवल बकरा, भेड, गौ, अश्व और पुरुष ये पाँच ही उपासना के लिये प्रशस्त माने हैं। यहाँ पशु से बोलचाल मे सींग पूँछ और चार पैर वाले जतु को ही पशु नहीं माना गया है। यदि चार पैर वाले सींग पूँछ युक्त पशु का ही अभिप्राय होता, तो उसमें पुरुष की गणना क्यों की जाती ? पुरुष के न तो सींग पूँछ ही हैं और न चार पैर ही। यह तो दो पैर वाला सींग पुच्छ विहीन पशु है। यहाँ पशु शब्द से जीव मात्र का अभिप्राय समझना चाहिये। जैसे भगवान् शंकर का नाम पशुपति है। तो यहाँ पशु

* उष्ट्रो वा यदि वा मेषश्छागोवा यदि वा हय.।
पशुस्थाने नियुक्तानां पशु शब्दोऽभिधीयते ॥
(तिथि तत्वम्)

करके स्थावर जंगम सभी प्रकार के जीवों के पति होने का अभिप्राय है। ब्रह्माजी से लेकर स्थावर-तृण पर्यन्त जितने भी चर अचर जीव हैं। सबकी पशु संज्ञा है, उन सब के पति-स्वामी महादेवजी हैं। इसीलिये वे पशुपति कहलाते हैं।*

वराह पुराण में भगवान ने स्वयं कहा है—"मैं ही समस्त विद्याओं का पति हूँ, मैं ही आदि पुरुष तथा सनातन हूँ। मैं पति भाव से- पशुओं के मध्य मे व्यवस्थित हूँ। अतः तुम पशुपति नाम से लोक मे विख्यात होओगे।"[१]

इस प्रकार मुख्य जो ग्राम्य पशु हैं, ग्राम्य जीव हैं उनमें पञ्चविध सामोपासना कैसे करे, इसी को यहाँ ऋतुओं के अनंतर बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यहाँ सामवेद की हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन भाव से पाँच प्रकार की उपासना का प्रकरण चल रहा है, अतः जिन-जिन मे मुख्य रूप से पाँच प्रकार की उपासना हो सकती है। उसको बताते हुए पशुओं में पंचविध सामोपासना कैसे हो सकती है इसे बताते हैं। अज को यज्ञ पशुओं मे सर्वप्रथम कहा है (अजः पशूनां प्रथमः) अतः पहिले अज-बकरे-में हिंकार की भावना करके उपासना करे। फिर बकरा, भेड प्रायः साथ-साथ रहते हैं। जो

---

* ब्रह्माद्या स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिता.।
तेषां पतिर्महादेव. स्मृत. पशुपतिः श्रुतौ॥
(चिन्तामणि)

१ अहञ्च सर्व विद्यानां पतिराद्यः सनातन।
अहं वै पति भावेन पशुमध्ये व्यवस्थित.।
अत पशुपतिर्नाम त्व लोके ख्याति मेष्यति॥
(वराह पुराणे)

लोग बकरी पालते हैं वे ही भेडों को भी पालते हैं, इसलिये भेडों मे प्रस्ताव की भावना करे। गौएँ परम पवित्र हैं, इनका यशोगान किया जाता है अत: गौओं मे उद्गीथ की भावना करके उपासना करे। घोडा पुरुषो का इधर से उधर ले जाते हैं वे सवारी के काम मे आते है, अतः उनमें प्रतिहार की भावना करे।

जितने ये ग्राम्य पशु हैं, वे सब पुरुष वर्ग पशु के अधीन रहते हैं अत: पुरुष को ही 'निधन' माना है। पुरुष मे निधन भावना करके उपासना करे।

इस प्रकार जो पशुओं मे पाँच प्रकार से सामोपासना करेगा, उसे दूध पीने के लिये गौएँ, वाहनो के लिये हाथी, घोड़े, ऊँट तथा सुन्दर-सुन्दर बेल यथेष्ट मात्रा मे प्राप्त होते हैं। उनके यहाँ काम मे आने वाले तथा दूध देने वाले पशुओं की कभी कमी नहीं रहती है। वह पुरुष पशुमान होता है। उसकी पशुशाला में सुन्दर-से-सुन्दर पशु भरे रहते हैं और पशुओं द्वारा जो प्राप्त भोग सामग्रियाँ हैं, उनकी उसके यहाँ कमी नहीं रहती। वह गोदान, अश्वदान, गजदान तथा वृषभदान करता ही रहता है। जिससे सर्वत्र उसकी कीर्ति व्याप्त हो जाती है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में पशु विषयक पाँच प्रकार की सामोपासना कही। अब इसी क्रम में प्राण विषयक पाँच प्रकार की जो सामोपासना बतायी है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। पाँच प्रकार की प्राणोपासना बताकर यह हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन रूप पञ्चोपासना समाप्त हो जायगी अतः यह प्राणोपासना अतिम पञ्चविध उपासना है।

छप्पय

पशुनि माहिँ हिंकार आदि भेदनि कूँ जानें।
सामवेद अनुसार पंचबिध तिनिकूँ मानें॥
जानि मानि कें करै उपासन जो चितलाई।
उनिकें कबहुँ न रहै पशुनि की घर कमताई॥
गाय भैंस पशु दूध के, अश्व बैल बाहनन हित।
होवै वह पशुमान नर, पशु-फल भोगै भोग नित॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय का
षष्ठ खण्ड समाप्त

प्राणों में पञ्चविध सामोपासना

[११५]

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत। प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो-निधनं परोवरीयाँसि वा एतानि ॥*

(छां० उ० द्वि० अ० ७ ख० १ म०)

छप्पय

प्राननि के हू माहिँ उपासक करै उपासन।
हों क्रमशः उत्कृष्ट विशिष्ट हु उत्तर बढ़ि गुन॥
मुख्य प्रान हिंकार वाक् प्रस्ताव बतायो।
चक्षु माहिँ उद्गीथ श्रोत प्रतिहार जतायो॥
कह्यो निधन मन कूँ मुनिनि, यही पंचविध उपासन।
प्राण दीठि युत साम की, क्रमशः बढ़ि-बढ़ि कहे गुन॥

प्राणी जिसके द्वारा जीवन धारण करें उसे प्राण कहते हैं। (प्राणिति एभिः इति=प्राणाः) मुख्य पाँच प्राण बताये हैं। हृदय

---

* प्राणों में पंचविध एक से दूसरा उत्कृष्ट उससे तीसरा ऐसे क्रम-क्रम से गुण विशिष्ट साम की उपासना करे। प्राण ही हिंकार है, वाक् को प्रस्ताव जानो, चक्षु को उद्गीथ मानो, श्रोत्र प्रतिहार है, और मन को निधन मानकर उपासना करनी चाहिये। ये परोवरीय (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट) उपासनायें हैं।

में मुख्य प्राण रहते हैं, गुदा में अपान, नाभि में समान, उदान कण्ठदेश में और व्यान समस्त शरीर में प्राप्त है। किन्तु यहाँ छान्दोग्य उपनिषद् में पाँच इन्द्रियों को पाँच प्राणों का अधिष्ठान बताया है। जैसे मुख्य प्राण घ्राणेन्द्रिय है। वाणी अपान है। चक्षु समान है, श्रोत उदान है और मन व्यान है। यहाँ पर इन इन स्थानों में यह प्राण रहते हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिये। यहाँ तो एक से दूसरी इन्द्रिय की उत्कृष्टता बतायी है। जैसे घ्राण इन्द्रिय है घ्राण इन्द्रिय का काम है, उसके सम्मुख जो पदार्थ आ जाय उसे सूँघकर यह बतादे कि इसमें सुगंध है या दुर्गंध, गंध भी मृदु है या तीव्र, फिर वह गंध मीठी है, भीनी है, खट्टी है या कसेली है। इस प्रकार सूँघकर वह गन्ध का ज्ञान करा देती है। किन्तु उन्हीं पदार्थों की गन्ध का ज्ञान करावेगी जो उसके समीप हों, दूर की वस्तुओं का ज्ञान वह नहीं करा सकती। अब दूसरी इन्द्रिय है वाणी। वाणी घ्राण की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्यों श्रेष्ठ है, कि घ्राण इन्द्रिय तो सम्मुख आयी वस्तु का ही ज्ञान करावेगी वाणी तो जो सम्मुख हो, दूर हो, इस लोक की वस्तु हो, परलोक की वस्तु हो सबके विषय में बोल सकती है। वह अप्राप्त वस्तु का भी निरूपण कर सकती है। अतः घ्राण से वाणी उत्कृष्ट है। अब तीसरी इन्द्रिय चक्षु है। वाणी तो सुनी हुई वस्तु को ही कहती है, उसमें स्वयं देखने की शक्ति नहीं। एक महात्मा वन में रहकर तपस्या कर रहे थे। उनके पास में ही कुछ वधिक एक पशु का वध करने वाले थे। पशु भाग गया। महात्मा जी की कुटिया के ही सामने होकर गया। वधिकों ने आकर पूछा—"महात्माजी! इधर से अमुक पशु भाग कर गया है क्या? आपने देखा है?"

महात्मा ने सत्य बोलने का व्रत ले रखा था, यदि सत्य बताते

है, तो वधिक उसे पकड़कर मार डालेंगे, बताने के कारण हिंसा में सहायता देने से पाप लगेगा। यदि यह कहे कि हमने नहीं देखा, तो असत्य भाषण का पाप लगेगा। अतः उन्होंने गोल माल बात कह दी। महात्मा बोले—"देखो भैया, जिसने देखा है (अर्थात् आँखों ने) उनमें तो बोलने की शक्ति नहीं और जो वाणी बताती है, उसमें देखने की शक्ति नहीं। दूसरों द्वारा सुनायी या बताई बात पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः हम कुछ भी कहने में असमर्थ हैं। यहाँ ऋषि ने वाणी को देखने में असमर्थ बताया वाणी की अपेक्षा चक्षु श्रेष्ठ है, क्योंकि चक्षु विषय का प्रत्यक्ष दर्शन करके बताती है। अब चौथी इन्द्रिय कर्ण या श्रोत्र है। आँखें तो सम्मुख की वस्तुओं को देख सकती हैं। पीठ पीछे क्या है, दायें बायें क्या है, इसे देखने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। किन्तु श्रोत्र इन्द्रिय चारों ओर के शब्दों को सुनने में समर्थ है। आप सामने से बोलिये, पीछे से बोलिये, दायें बायें से बोलिये। बोलने वाला भले ही दिखायी भी न दे, उसकी वाणी सुनकर ही कान बता देंगे, यह अमुक की वाणी है। अतः चक्षु की अपेक्षा श्रोत्र इन्द्रिय श्रेष्ठ है। अब पाँचवी इन्द्रिय मन है। मन श्रोत्र से क्या सभी इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। सबका राजा है। सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ला-लाकर मन में ही रख देती हैं, मन ही इन्द्रियों को कर्म करने में प्रेरित करता है। अतः समस्त इन्द्रियों में मन ही सर्व श्रेष्ठ इन्द्रिय है। वह भगवान् की विभूति है। (इन्द्रियाणां मनश्चास्मि) इस प्रकार घ्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन इनमें क्रमशः हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इनकी उपासना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं— "मुनियो! सामवेद की (१) हिंकार,

(२) प्रस्ताव, (३) उद्गीथ, (४) प्रतिहार और (५) निधन इस भाँति पाँच प्रकार की उपासना का प्रकरण चल रहा है, ये पाँच प्रकार के सामवेद के स्तोत्र हैं, जिनमें से तीन ऋत्विज क्रम-क्रम से तीन-तीन ऋचाओं का जो गान करते हैं, उसे हिंकार कहते हैं। प्रस्तोता जिसका उच्चारण-गान-करता है, उसे प्रस्ताव कहते हैं। उद्गाता जिनका गान करता है उसे उद्गीथ कहते हैं। प्रतिहर्ता जिसका गान करता है उसे प्रतिहार कहते हैं और सब मिलकर जिसका गान करते हैं उसे निधन कहते हैं। इन पाँचों कर्त्वङ्गों में विभिन्न वस्तुओं में पञ्चोपासना कही गयी है। अब प्राण विषयक पाँच प्रकार की सामोपासना कहते हैं। इनमें एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी इस प्रकार क्रमशः परोवरीय-अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उपासना है।

अब इनमें मुख्य प्राण जो सर्वप्रथम है और जो घ्राणेन्द्रिय नाक से आता जाता रहता है, इसे हिंकार रूप मानकर घ्राण में हिंकार भावना से उपासना करे। दूसरे प्राण का नाम अपान है, यह वाणी में रहता है, घ्राण से वाणी श्रेष्ठ है, क्योंकि घ्राण द्वारा तो केवल गन्ध का ही बोध होता है, किन्तु वाणी सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने में समर्थ है, आँखों ने चाहे उन पदार्थों को देखा हो, या न देखा हो। कानों ने जिसको सुना ही हो, जिह्वा ने उसका स्वाद लिया हो या न लिया हो, त्वचा ने उसे स्पर्श किया हो या न किया हो, वाणी सभी विषयों को केवल सुनकर अनुमान किये तथा प्रत्यक्ष देखे सभी विषयों का कथन कर सकती है इससे सिद्ध हुआ वाणी घ्राणेन्द्रिय से उत्कृष्ट है श्रेष्ठ है। अतः वाणी प्रस्ताव मानकर प्रस्ताव भावना से उसकी उपासना करनी चाहिये। अब रही उदान की बात सो यह चक्षु में रहता है। चक्षु इन्द्रिय वाणी से श्रेष्ठ है, क्योंकि चक्षु देखकर वाणी को

जो बतावेगी वही वाणी बोलेगी। वाणी तो केवल चक्षु श्रोत्र द्वारा देखी सुनी बातों को ही व्यक्त कर सकती है, किन्तु नेत्र तो स्वाधीन हैं, वे सब कुछ देखने मे समर्थ हैं। अतः चक्षु को उद्गीथ मानकर उसमे उद्गीथ भावना से उपासना करनी चाहिये।

चक्षु सभी वस्तुओ को देख तो सकती हैं, किन्तु इनमें एक ही त्रुटि है ये नाक के बराबर हैं अतः नाक की सीध की वस्तुओं को–अर्थात् सामने की वस्तुओ को–ही देख सकती है। दायें बायें पीठ पीछे क्या है इसे तब तक नहीं देख सकती, जब तक मुड़े नहीं, उसे सम्मुख न कर ले। कानों मे यह बात नहीं है। आप चाहे सामने से बोलिये, अथवा दायें बायें तथा पीठ पीछे से बोलें, दूर से बोलें, समीप से बोलें, प्रत्यक्ष बोलें, छिपकर बोलें, आड़ से बोलें कान सभी प्रकार के सभी ओर के शब्दो को श्रवण करने मे समर्थ हैं अतः चक्षु की अपेक्षा श्रोत्र श्रेष्ठ हैं अतः श्रोत्र को प्रतिहार मानकर उनमे प्रतिहार भावना से उपासना करनी चाहिये।

प्राण, वाणी, चक्षु और श्रोत्र तथा अन्यान्य समस्त इन्द्रियाँ मन के ही अधीन हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ मन की सहायता के बिना ज्ञान नहीं कर सकतीं कर्मेन्द्रियाँ मन की प्रेरणा के बिना कोई भी कर्म नहीं कर सकती। मन समस्त इन्द्रियों का प्रेरक है–संचालक है समस्त इन्द्रियो मे व्यान के समान व्यापक है अतः इसे व्यान मानकर इसमें निधन भाव से उपासना करे। इस प्रकार ये उपासनायें एक दूसरी से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

जो इस रहस्य को भली प्रकार जानकर इसे हृदयङ्गम करके प्राणो में पाँच प्रकार की परोवरीय–अर्थात् उत्तरोत्तर एक दूसरे उत्कृष्ट भावना से–क्रम-क्रम से गुण विशिष्ट भावना से–उपा–

सना करता है, वह उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होता जाता है। अर्थात् वह उपासना के प्रभाव से उत्कृष्ट जीवन वाला होता हुआ उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ लोकों के भोगों का उपभोग करता हुआ आगे ही बढ़ता जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! पचविध सामोपासना से सम्बन्ध रखने वाली ये कुछ पाँच प्रकार की उपासनायें तो मैंने आपके सम्मुख कह दी अब आगे साम की सप्तविध उपासनायें कही जायँगी। जो इन पचविध उपासनाओं में निष्णात हो जायगा, जिन उपासकों की बुद्धि इन पीछे कही हुई उपासनाओं में समाहित हो जायगी, वे ही आगे चल के आगे कही हुई सप्तविध समोपासना को भी धारण करने में समर्थ हो सकेंगे। अतः अब पचविध उपासना के प्रकरण को समाप्त करके आगे (१) हिंकार, (२) प्रस्ताव, (३) आकार, (४) उद्गीथ, (५) प्रतिहार, (६) उपद्रव और (७) निधन इस प्रकार सप्त प्रकार की सामोपासना का वर्णन किया जायगा। आशा है आप इस विषय को समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।।"

छप्पय

साम पचविध प्राण उपासन जे नर करिहैं।
क्रम-क्रम करि उत्कृष्ट लोक उत्तम तम परिहैं॥
उत्तर-उत्तर होइ श्रेष्ठ जीवन हू तिनिको।
यश लोकनि में व्याप्त होइ निरमल वर उनिको॥
ब्रह्मलोक तक लोक सब, जीति लेइँ बहु सुख लहैं।
करी निरूपन पंचविध, वर उपासना मुनि कहैं॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय का
सप्तम खण्ड समाप्त

वाणी सम्बन्धिनी सप्तविध प्राणोपासना

[११६]

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधँ सामोपासीत
यत्किंच वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति
स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥१॥*

(छा० उ० द्वि० अ० ८ख० १ मं०)

छप्पय

वाणी विषयक सात भाँति की सुनहु उपासन।
'हु' स्वरूप हिंकार 'प्र' ही प्रस्ताव निरूपन॥
'आ' ऐसो जो रूप 'आदि' ओंकार कहावैं।
जो 'उत्' शब्द स्वरूप ताहि उद्गीथ बतावैं॥
'प्रति' प्रतिहार कहावते, कह्यो उपद्रव 'उप' हि कूँ।
'नी' ऐसो जो रूप है, निधन बतावें ताहि कूँ॥

अब तक हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इस प्रकार विभिन्न पदार्थों मे सामवेद की पाँच प्रकार की उपासना कही गयी। ये पाँचो सामवेद के अवयव हैं, अर्थात् सामवेद के कुछ इने गिने स्तोत्र मात्र हैं। अब ओंकार और उपद्रव मिलाकर

---

* तदनन्तर सात भाँति की वाणी मे सामोपासना करनी चाहिये। वाणी बोलने में जो हुं का प्रयोग करते हैं वह मानो हिंकार है। 'प्र' का प्रयोग प्रस्ताव है 'आ' ऐसा स्वरूप है वह आदि ओंकार है।

समस्त साम की साधुभाव से की जाने वाली सात प्रकार की उपासना का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इस प्रकार १. हिंकार, २. प्रस्ताव, ३. आदि ओंकार, ४. उद्गीथ, ५. प्रतिहार, ६. उपद्रव और ७. निधन ये ही सात प्रकार हैं। ओंकार तो समस्त वेदो का बीज सबसे प्रथम प्रकट आदि अक्षर कहलाता है। उपद्रव से यहाँ उत्पात या रोगों के उपद्रव यह नहीं समझना चाहिये। इस नाम से सामवेद का एक भाग है, यही यहाँ उपद्रव का रूढि अर्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अवयव रूप मे जो अब तक सामवेद की पचविध उपासनायें बतायीं, उस प्रकरण को समाप्त करके अब समस्त सामवेद की साधुभाव से की जाने वाली सप्तविध उपासना को आरम्भ करते हैं। बातचीत करते समय जो 'हु' ऐसा शब्द बोला करते हैं न? जैसे दक्षिण दिशा मे एक राजा रहता था, तो दूसरा हूँकारी भरते हुए कहेगा—तो जो यह 'हु' है इसे ही हिंकार मानकर हिंकार भावना से उपासना करनी चाहिये। यह तो एक प्रकार की उपासना हुई।

अब दूसरी प्रकार की उपासना बताते हैं। वाणी बोलते समय जो 'प्र' इस उपसर्ग का प्रयोग करते हैं। यह 'प्र' ही मानों प्रस्ताव है अतः प्र में प्रस्ताव की भावना रखकर उपासना करनी चाहिये। यह दूसरी प्रकार की उपासना हुई।

अब तीसरे प्रकार की उपासना को बताते हैं। बातचीत मे जो हम 'आ' ऐसा प्रयोग करते हैं। वह 'आ' शब्द रूप ही मानों आदि ओंकार है, क्योंकि सृष्टि के आदि मे सर्वप्रथम ॐ यही एक शब्द प्रयुक्त हुआ था। इसीलिये ओंकार ही 'आदि' इस नाम से कहा जाता है। ओंकार के आदि मे भी 'आ' है और आदि के आदि में भी आ है अतः आकार में ओंकार की भावना

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इस वाणी विषयक सप्तविध सामोपासना का फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जो इस साम की वाणी विषयक सप्तविध उपासना करता है, उसकी वाणी कामदुधा हो जाती है। अर्थात् वाणी का जो भी सार तत्त्व है वह उसे प्राप्त हो जाता है। ऋग्वेदादि शब्द से जो साध्य फल है वह उसे प्राप्त हो जाता है। उस फल को वाणी स्वयं ही दुहती है। अर्थात् उसकी वाणी फलवती होती है। उसकी वाणी से जो भी शब्द निकल जाय, वह सत्य ही होता है। उसके यहाँ अन्न की कमी नहीं रहती, वह प्रचुर अन्न वाला होता है। उसके यहाँ सदा बहुत से लोग भोजन करते रहते हैं। बहुत से लोग ऐसे होते हैं, जिनके यहाँ अन्न तो बहुत भरा रहता है। बहुत से मनुष्य उनके यहाँ भोजन भी करते हैं, किन्तु वे स्वयं कुछ खा नहीं सकते। उनकी जठराग्नि उद्दीप्त नहीं रहती। उन्हें मन्दाग्नि हो जाती है। खाए हुए को पचा नहीं सकते। खुलकर कभी शुद्ध भूख ही नहीं लगती है। किन्तु इस वाणी विषयक सप्तविध सामोपासक साधक के यहाँ अन्न तो प्रचुर मात्रा में रहता ही है वह अन्न का भोक्ता भी होता है। उसकी जठराग्नि उद्दीप्त रहती है, जो वह खाता है उसको पचाने की भी उसमें सामर्थ्य होती है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने वाणी सम्बन्धिनी सप्तविध सामोपासना आपसे कही। अब आप आदित्य सम्बन्धिनी साम की सात प्रकार की सामोपासना को और श्रवण कीजिए।"

छप्पय

वाणी विषयक सात भाँति की प्राण उपासन।
जो जाने जिहि पुरुष देहि दानी तिहि सब धन॥
वाणी को जो दोह वेद को शब्द साध्य है।
वाणी ताकूँ दुहे होइ वह अन्नवान है॥
प्रचुर अन्न तिहि ढिग रहै, दीप्ति होहि जठराग्नि अति।
जो खावै पचि जाइ सब, भोक्ता बनि पावै सुगति॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय मे
अष्टम खण्ड समाप्त

सात प्रकार की आदित्य दृष्टि से सामोपासना

(११७)

अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥*

(छा० उ० द्वि० प्र० ६ ख० १ म०)

छप्पय

अब आगे आदित्य उपासन सप्त बतावें।
आदित्य हु सम नित्य साम तातें कहलावें॥
मम प्रति मम प्रति कहें साम सज्ञा उनि कहि है।
उदय पूर्व 'हिंकार' भूत अनुगत सब तिनि है॥
पशु अनुगत हिंकार पशु-करें साम हिंकार वर।
उदित सूर्य 'प्रस्ताव' अनु-गत इस्तुति प्रिय होहिं नर॥

जिस प्रकार पीछे (१) हिंकार, (२ प्रस्ताव, (३) आदि ओंकार, (४) उद्गीथ, (५) प्रतिहार, (६) उपद्रव और (७)

---

* तदनन्तर आदित्य दृष्टि से सप्तविध साम की उपासना करनी चाहिये। ये सूर्य सर्वदा सम हैं, इसीलिये इनकी भी साम सज्ञा है। सब कहते हैं मेरे प्रति हैं मेरे प्रति हैं। सब सूर्य को अपने ही सम्मुख मानते हैं इसलिये उनका सबके प्रति सम भाव है। इसी समता के हेतु से वे साम हैं।

निधन सात प्रकार की वाणी में सामोपासना बतायी है, उसमें तो क्रत्वङ्गों के आदि अक्षर या उपसर्गों से समानता करके उन उनमें भावना करने को बताया गया। जैसे क्रम से हुँ, प्र, आ, उत्, प्रति, उप और नि में इन सातों क्रत्वङ्गों की भावना करे। आदित्य दृष्टि से जो सदा विध उपासना बतायी जायगी उसमें हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन इनके साथ सूर्यकाल की समानता सिद्ध करके उनके अनुगत प्राणियों को उन उन क्रत्वङ्गों का भागीदार बताया है। जैसे (१) हिंकार, (२) प्रस्ताव, (३) आदि ओंकार, (४) उद्गीथ, (५) प्रतिहार, (६) उपद्रव और (७) निधन इनके साथ (१) सूर्योदय से पूर्व काल, (२) सूय का सर्वप्रथम उदयकाल, (३) सूर्योदय के तीन मुहूर्त पश्चात् सग व वेला, (४) मध्याह्नकाल, (५) अपराह्न के पूर्व का काल, (६) अपराह्न के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व का काल और (७) सूर्यास्त के समय का काल इन कालों से तथा इन कालों के अनुगत प्राणी जैसे (१) पशु, (२) मनुष्य, (३) पक्षी, (४) देवता, (५) गर्भगत जीव, (६) वन्य पशु और (७) पितृगण इनको सात क्रत्वङ्गों की भक्ति के पात्र बताकर सप्तविध की उपासना का विधान बताया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के तृतीय खण्ड में जहाँ उद्गीथ सम्बन्धी उपासनाओं का वर्णन किया गया है, वहाँ पर आदित्य दृष्टि से उद्गीथ की उपासना बतायी है तथा द्वितीय अध्याय के द्वितीय खण्ड से सप्तम खण्ड तक जो साम की पञ्चविध उपासनायें बतायीं गयीं हैं उसी प्रसङ्ग में जो द्वितीय खण्ड में लोक विषयक पाँच प्रकार की उपासना बतायी है, उसमें भी आदित्य लोक को प्रतिहार मानकर उसकी उपासना का उल्लेख आया है। इन दोनों

ही स्थानों में जो आदित्य सम्बन्धिनी उपासनायें हैं, वे सामवेद के अवयव मात्र में आदित्य दृष्टि का उल्लेख है। अर्थात् सामवेद के उद्गाता, प्रतिहर्ता तथा प्रस्तोता आदि ऋत्विजों द्वारा गाये जाने वाले कुछ स्तोत्रों के ही साथ उनकी समता की गयी है। अब यहाँ इस सप्तविध आदित्योपासना में आदित्य को समस्त सामवेद में उसके अवयवों के विभागानुसार आरोपित करके उपासना बतायी जायगी। पिछले प्रकरणों में तो साम के अवयव भूत ऋत्वङ्गों के साथ जैसे–उद्गीथ के साथ, प्रतिहार के साथ आदित्य की समता की गयी थी। अब समस्त सामवेद के साथ आदित्य की समता करते हैं।

सामवेद का नाम साम क्यों हैं, इसलिये कि वह सर्वप्रिय है। इसके गायन को सुनकर दुःख दूर हो जाता है। सभी लोग इससे सुखी होते हैं, सभी इसे अपनाते हैं, अपना मानते हैं। जो सर्वप्रिय होता है उसे सभी लोग यही कहते हैं–वे मुझसे ही सबसे अधिक स्नेह रखते हैं, मेरे ही सम्मुख रहते हैं, मेरे ही अभिमुख रहते हैं। वही बात आदित्य में भी है। जो सबके प्रति समभाव रखे वही साम कहलाता है। आदित्य सभी के लिये सर्वदा सम हैं इसलिये सामवेद के सदृश वे भी साम हैं। सूर्य के लिये सभी लोग यही कहते कि सूर्य मेरे ही सम्मुख हैं। सभी को वे अपने अभिमुख प्रतीत होते हैं। सभी उन्हें समभाव से अपने ही सम्मुख मानते हैं। वे चन्द्रमा की भाँति क्षय तथा वृद्धिशील भी नहीं हैं। वे तो सदा सर्वदा समभाव से रहते हैं। इसलिये साम हैं। इस प्रकार सामवेद की और सूर्यनारायण–आदित्य की समानता है। दोनों ही साम स्वरूप हैं। उन सूर्य में समस्त प्राणी अनुगत हैं, अतः सात प्रकार के प्राणियों के साथ आदित्य के सात कालों की तथा साम के सात अवयवों की समता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमने शास्त्रों में चार ही प्रकार के प्राणी सुने हैं। एक तो अंडे से उत्पन्न होने वाले अंडज प्राणी जैसे उड़ने वाले पक्षी, जल में रहने वाले नक्र, मछली, कछुए, शङ्ख आदि, स्थल में रहने वाले गिरगिट–कृकलास–सर्प आदि ये सब माता के पेट से अंडे के रूप में पैदा होते हैं, बाहर आकर अंडा पककर जब फूट जाता है, तब उस अंडे में से वह जीव निकलता है। अंडे से पैदा होने से ये समस्त प्राणी अंडज कहलाते हैं।

दूसरे प्राणी हैं, पिंडज अथवा जरायुज। जरा झिल्ली या जेर को कहते हैं। जो प्राणी झिल्ली से लिपटा–जेर से बँधा हुआ पैदा हो वह जरायुज, पिंडज अथवा जारुज कहलाते हैं–जैसे गाय भैंस आदि पशु, हिरण आदि मृग जाति वाले, ऊपर नीचे दाँत वाले व्याल, राक्षस, पिशाच और मनुष्य ये सबके सब प्राणी जरायुज वर्ग में माने जाते हैं।

तीसरे प्राणी हैं, स्वेदज–जो स्वेद–पसीना–से उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे डांस, मच्छर, जोंक, मक्खी, खटमल, जूँआ आदि।

चौथे प्राणी हैं उद्भिज। जो पृथ्वी को फोड़कर भूमि से ही पैदा होते हैं, जैसे वृक्ष, लता, गुल्मादि। इनके भी दो प्रकार होते हैं एक तो बीज से उत्पन्न होने वाले जैसे आम, जामुन, कटहल, बबूर आदि। दूसरे वे हैं जो डाली अथवा पत्ते से उत्पन्न होने वाले जैसे पाटल–गुलाब–लतायें आदि-आदि।

इन चारों के अतिरिक्त पाँचवें प्रकार के प्राणी नहीं होते, आप ने सात प्रकार के प्राणी कैसे बताये?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आपका कथन सर्वथा सत्य है। पृथ्वी के प्राणी चार ही प्रकार के होते हैं। यहाँ उद्भिजों–वृक्षों आदि और स्वेदजों को छोड़ दिया है। जरायुजों के तीन भेद कर दिये हैं (१) मनुष्य, (२) ग्राम्य पशु, और वन्य पशु, अंडजों

में पक्षियों को लिया है इस प्रकार चार हो गये। गर्भस्थ बालक को उन्होंने पृथक् किया है, वह चाहे गर्भ में रहने वाला अंडज हो चाहे जरायुज। इस प्रकार पाँच हुए। देवता और पितर ये दो पृथ्वी के प्राणी नहीं दूसरे पुण्य लोकों के प्राणी हैं। इस प्रकार यहाँ सात प्रकार के प्राणियों को आदित्य के सात कालों के अनुगत बताया है और उनको साम के सात अवयवों से समता की है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, कैसे की है, इसे बताइये ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आदित्य में ये सम्पूर्ण प्राणी अनुगत हैं। अतः सात प्रकार के गेय सामवेद में आदित्य दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। सामवेद के वे सात गेय अवयव (१) हिंकार, (२) प्रस्ताव, (३) ओंकार, (४) उद्गीथ, (५) प्रतिहार, (६) उपद्रव और (७) निधन हैं। पहिला अवयव हिंकार है। सूर्योदय से पूर्व जो उषाकाल कहलाता है उसमें हिंकार की भावना करके उपासना करनी चाहिये। उषाकाल में पशु हिंकार करते हैं। हिंकार रूप में पशु अनुगत है। अर्थात् वे हिंकार के अनुष्ठाता हैं।

अब साम का दूसरा अवयव प्रस्ताव है। सूर्य के पहिले-पहल उदय होने पर अर्थात् सूर्य के उदय होने का जो काल है, उसमें प्रस्ताव की भावना करके उपासना करे। यह प्रस्ताव भक्ति है इसके अनुगत मनुष्य होते हैं। इसीलिये मनुष्य प्रस्तुति और प्रशंसा प्रिय होते हैं। प्रस्तुति या स्तुति तो उसे कहते हैं जो मुख के सम्मुख विनती की जाय। संसार में ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसे अपनी स्तुति प्रिय न हो ? (स्तोत्रं कस्य न रोचते भुवि नृणाम्) और प्रशंसा उसे कहते हैं जो सम्मुख तथा पीठ पीछे दोनों ही दशाओं में की जाय। मनुष्य अपनी पीठ पीछे भी प्रशंसा

चाहता है। और सम्मुख भी प्रस्तुति सुनकर प्रसन्न होता है। इसलिये कि वह सामरूप आदित्य की द्वितीय भक्ति प्रस्ताव का सेवन करने वाला है। अर्थात् प्रस्ताव का अनुष्ठाता अथवा अनुगामी है।

अब साम का तीसरा अवयव ओंकार है। जिसे प्रणव या आदि शब्द भी कहते हैं। सब के आदि में प्रयोग होने से प्रणव की आदि सज्ञा है। आदित्य की सङ्गव वेला मे आदि की भावना करके उपासना करनी चाहिये, सूर्योदय के तीन मुहूर्त पश्चात् के काल को सङ्गव वेला कहा जाता है। उसके उस रूप के अनुगत पक्षिगण हैं अर्थात् वे ओंकार के अनुष्ठाता हैं। तभी तो सूर्योदय के तीन मुहूर्त पश्चात् उष्णता पाकर पक्षिगण अपने-अपने घोसलो मे से उड़कर निरावलम्बन होकर आकाश मे उड़ने लगते हैं। विना किसी आधार-सहारे के वे अन्तरिक्ष मे उड़ान भरते हैं। वे सामके आदि शब्द का-ओंकार का भजन करने वाले हैं।

अब साम का चौथा अवयव है उद्गीथ। सूर्य के मध्याह्न काल मे उद्गीथ की भावना करके उपासना करनी चाहिए क्योंकि वह आदित्य के मध्याह्न काल का रूप है। इसके इस रूप के अनुगत देवतागण हैं। देवता प्रजापति से उत्पन्न सभी प्राणियों मे सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। मध्याह्न काल देवताओं का काल है। देवतागण इस सामरूप सूर्य की उद्गीथ भक्ति द्वारा उपासना करते हैं।

अब साम का पाँचवा अवयव है प्रतिहार। सूर्य के मध्याह्न काल के पश्चात् और अपराह्न के पूर्व का जो काल है, उसमे प्रतिहार की भावना से उपासना करनी चाहिये। उसके अनुगामी भी गर्भस्थ जीव हैं। इसीलिये गर्भस्थ जन्तु ऊपर की ओर आकृष्ट

किये जाने पर नीचे नहीं गिरते प्रतिहत रहते हैं। गर्भाशय योनि-द्वार के समीप ही रहता है, फिर भी गर्भ माताओं के मलमूत्र त्यागने और बैठने पर नीचे नहीं गिर जाता। क्योंकि सामरूप सूर्य की प्रतिहार भक्ति सेवन करने वाले वे गर्भस्थ प्राणी ही हैं। इसीलिये माताओं के शरीरों को विशेषकर गर्भाशय को अपराह्न के पूर्व के सूर्य की किरणें अत्यन्त ही लाभप्रद होती हैं। उन सूर्य किरणों के प्रभाव से गर्भ भली-भाँति सुरक्षित रहता है।

साम का छठा अवयव है उपद्रव। सूर्य का जो अपराह्न के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व का जो काल है उसमें उपद्रव भावना रखकर उपासना करनी चाहिये। उसके उस रूप के अनुगामी जंगली पशु हैं। इसी से जंगली पशु पुरुष को देखकर उपद्रव के भय से भगकर अपनी गुफा मे या घोर वन मे चले जाते हैं। ये पशु साम की उपद्रव भक्ति के भागी हैं अर्थात् उपद्रव के अनुष्ठाता हैं।

सामका सातवाँ अवयव है निधन। सूर्यास्त से तनिक पहिले का जो समय है उसमें निधन भाव रखकर उपासना करनी चाहिये इस रूप के अनुगत पितृगण हैं। पितरों का पूजन मध्याह्न के पश्चात् ही प्रशस्त माना गया है। श्राद्धकाल में उन्हें दिये जाने वाले पिंडों को कुशाओं पर स्थापित करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने दिन के सातों कालों के अनुसार हिंकार, प्रस्ताव, ओंकार, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन इन सात प्रकार के समस्त गेह साम के अवयवों की उपासना तथा उनके अनुगत, ग्राम्य पशु, मनुष्य, पक्षिगण, देवगण, गर्भस्थ, वन्यपशु और पितरों का अनुष्ठाता रूप मे वर्णन किया। अब आगे मृत्यु से अतीत साम की सप्तविध उपासना का वर्णन आपके सम्मुख करूँगा।"

छप्पय

सगव वेला 'आदि' पक्षि अनुगत तिहि नभचर ।
मध्यदिवस 'उद्गीथ' सुरहु अनुगत प्राणिनि-वर ॥
मध्याह्नोत्तर पूर्व गर्भ अनुगत 'प्रतिहार' हु ।
गिरै न प्रतिहत गर्भ भक्ति सो करि प्रतिहार हु ॥
सूर्यअस्त तैं पूर्व अनु-गत वन पशु वह 'उपद्रव' ।
तनिक पूर्व रवि अस्त अनु-गत पितर हु सो 'निधन' तब ॥

मृत्यु से अतीत सप्तविध सामोपासना

[११८]

अथ खल्वात्मसंमितमति मृत्युसप्तविधँ सामोपासीत ।
हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥❀

(छां० उ० द्वि० अ० १० ख० १ मं०)

छप्पय

साम उपासन सप्त अतीत हु मृत्यु कहें अब।
हिंकार, हु. प्रस्ताव, आदि, प्रतिहार उपद्रव ॥
निधन, उपद्रव सात सबहिँ बाइस अक्षर हैं।
बारह सबरे मास पाँच ऋतु लोक तीनि हैं॥
इक्किसवाँ आदित्य है, कह्यो मृत्यु आदित्य ई।
तिन सत्ते इक्कीस सम, परे ब्रह्म बाईस ई॥

पंचविधि सामोपासना के अनन्तर पहिले वाणी विषयक सप्तविध सामोपासना बतायी। वहाँ तो सातों अवयवों के आदि अक्षरों का वाणी में क्रम रखकर उपासना बतायी। जैसे हिंकार के आदि का अक्षर हिं या हुं, प्रस्ताव का 'प्र' आदि का 'आ'

❀ तदनन्तर मृत्यु से अतीत सप्तविध उपासना कहते हैं। मृत्यु से अतीत समान अक्षरों के आधार से सामोपासना करे। हिंकार में तीन अक्षर हैं, 'प्रस्ताव' में भी तीन ही अक्षर हैं। अतः ये दोनों अक्षर समान हैं।

उद्गीथ का 'उत्' प्रतिहार का 'प्रति' उपद्रव का 'उप' और निधन का 'नि' शब्द लेकर इनमें साम के सातों अवयवों की भावना करके उपासना करे।

वाणी विषयक उपासना बताने के अनन्तर जब आदित्य में सात प्रकार की उपासना बतायी, तो वह क्रम दूसरा ही रखा। वहाँ समग्र साम की और सूर्य की सर्वप्रियता से समता करके साम के सात अवयवों के सात आदित्य के सात समयों में भावना करने को बताकर उन अवयवों के सात अनुगत प्राणियों के साथ भी उनकी निष्ठा का निरूपण किया। अब यहाँ जो मृत्यु से अतीत साम की सप्तविध उपासना का वर्णन करेंगे उसमें दूसरा ही क्रम रखा। मृत्यु से अभिप्राय इनका आदित्य से ही है। काल का नाप सूर्य नारायण के ही द्वारा होता है। सूर्य उदय अस्त से होते हुए दिखाई न दें तो दिन रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा सम्वत्सर की गणना किस आधार से हो सकती है। अतः काल के प्रमापयिता आदित्य ही हैं मृत्यु का ही नाम काल है। काल के आने पर ही मृत्यु होती है। जब तक प्राणी आदित्य के अन्तर्गत लोकों में रहेगा, तब तक जन्मता और मरता रहेगा। जब आदित्य लोक को पार कर जायगा, तब मृत्यु के चंगुल से छूट जायगा। वह मृत्यु से अतीत लोकों को प्राप्त करके अमर बन जायगा। अतः यहाँ साम के क्रत्वंग रूप अवयवों के अक्षरों की संख्या के साथ आदित्य लोक के लोकों की समता की है। विशाखा नक्षत्र के अधिष्ठातृ देव जहाँ रहते हैं वह (१) वैशाख लोक, (२) ज्येष्ठा के अधिष्ठातृ देव जहाँ रहे वह ज्येष्ठ लोक, (३) आषाढ़ा के का आषाढ़ लोक, (४) श्रवण के का श्रावण लोक, (५) भाद्रा के का भाद्रपद लोक, (६) अश्विनी का आश्विन लोक, (७) कृत्तिका का कार्तिक लोक, (८) मृगशिरा का

मार्गशीर्ष लोक, (९) पूर्वाषाढा का पौष लोक, (१०) मघा का माघ लोक, (११) फाल्गुनी फागुन लोक और (१२) चित्रा का चैत्रलोक इस प्रकार बारह मासों के बारहलोक तो ये हुए। हम पीछे बता चुके हैं, कि वेद मे ६ ऋतुओं को पाँच ही माना है, उन्होंने हेमन्त और शिशिर दोनों को एक ही कर दिया है। इसलिये (१) वसंत, (२) ग्रीष्म, (३) पावस, (४) शरद और (५) हेमन्त (शिशिर भी इसी में) इस प्रकार पाँच ऋतुओं के पाँच लोक। बारह और पाँच सत्रह लोक हुए। (१) पाताललोक, (२) मृत्युलोक और (३) स्वर्गलोक तीन ये हुए। सत्रह और तीन बीस हुए। एक आदित्य लोकआदित्य लोक को इक्कीसवाँ लोक इसीलिये बताया। यहाँ तक मृत्यु का भय है। इन लोकों में विचरण करने वाले प्राणी मरते जन्मते रहेंगे। जो आदित्य लोक को पार कर जायगा। वही मृत्यु से अतीत परे हो जायगा। उसी की उपासना की विधि सामवेद के अनुसार बतायी जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आदित्य दृष्टि से सात प्रकार की सामोपासना के अनन्तर अब मृत्यु से अतीत (१) हिंकार, (२) प्रस्ताव, (३) ओंकर, (४) प्रतिहार, (५) उद्गीथ, (६) उपद्रव और (७) निधन सात प्रकार की साधु दृष्टि से समस्त गेय साम की उपासना का वर्णन करते हैं। गेय साम के जो उक्त सात प्रकार हैं, सात अवयव हैं, उन सब मे २२ अक्षर हैं। और आदित्य लोक इक्कीसवाँ लोक है। अतः साम के अवयवों के २१ अक्षरों से तो आदित्य लोक तक की समता करे। शेष जो एक अक्षर है उससे मृत्यु से अतीत लोक की—क्योंकि आदित्य ही मृत्यु है—अतः आदित्य से परे जाना ही मृत्यु से अतीत होना है—अतः मृत्यु से परे जाने की भावना करे। अब सात अवयवों के ३-३ अक्षरों से आदित्य के तीन अक्षरों को—आदित्य तक २१ लोकों की—समता करते हैं।

सामवेद का पहिला अवयव हिंकार है, दूसरा अवयव प्रस्ताव है। हिंकार मे हिं का और र तीन अक्षर हैं। इसी प्रकार प्रस्ताव प्र, स्ता और व तीन अक्षर हैं अतः ये तीन-तीन अक्षर समान हैं। ये आदित्य के वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्र और आश्विन के समान ६ अक्षरा के हिंकार भक्ति और प्रस्ताव भक्ति के समान समझना चाहिये।

सामवेद का तीसरा अवयव आदि है। इसमें आ और दि दो अक्षर हैं। चौथा अवयव प्रतिहार है। इसमे प्र, ति, हा और र ये चार अक्षर हैं। ये दोनो मिलकर ६ अक्षर हुए। तीन-तीन अक्षर होने से समान अक्षर हो जाते, किन्तु प्रतिहार में र अक्षर अधिक है। 'र' की समता यो मान लो कि 'र' अक्षर को आदि के पहिले जोड़ दो तो इस प्रकार दोनों में तीन-तीन शब्द समान हो जाते हैं। इन ६ अक्षरों की समता कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन और चैत्र इन ६ मासो के साथ की जा सकती है।

अब पाँचवाँ अवयव उद्गीथ है। इसमें उद्, गी और थ ये तीन अक्षर हैं, छठा अवयव उपद्रव है। इसमें उ, प, द्र और व ये चार अक्षर हैं। ये दोनों मिलकर सात अक्षर हुए। तीन-तीन अक्षर होने से ये भी समान हो जाते किन्तु उपद्रव में एक 'व' अक्षर अधिक है 'व' की समता यों मान लो कि 'व' अक्षर है और अक्षर में अ, क्ष और र ये तीन शब्द हैं इन ६ अक्षरों की समता पाँच ऋतुओं के पाँच लोकों के साथ तथा छठें पाताल लोक के साथ की जा सकती है।

सब सातवाँ अवयव निधन है। इसके भी नि, ध और न ये तीन अक्षर हैं। इन तीनो की मर्त्यलोक, स्वर्गलोक और आदित्य लोकों की समानता की जा सकती है। इस प्रकार ३-३ अक्षरों के ये २१ अक्षर हुए। एक अक्षर बढ़ता है। इन इक्कीस

अक्षरों में भावना करके आदित्य लोक तक पहुँच सकता है। क्योंकि आदित्य लोक इक्कीसवाँ ही लोक है। एक जो बाईसवाँ अक्षर बढ़ता है। वही आदित्यलोक से परे नाकलोक है वह कैसा लोक है, कि जिसमें न मृत्यु का भय है और न किसी प्रकार का शोक ही है। 'क' कहते हैं सुख को। अक कहते हैं दुःख को। जिसमें दुःख न हो केवल सुख ही सुख हो उसका नाम नाक है। (न क=सुखम् =इति अकं=दुखम्) यत्र तन्नास्ति =इति नाकः)।

जो साधक सामवेद की मृत्यु से अतीत इस सप्तविध उपासना को करता है, वह आदित्य लोक से भी ऊपर नाकलोक को जीत लेता है। वह आदित्य लोक से भी बढ़कर लोक विजेता हो जाता है। इस उपासना को करने वाला मृत्यु से अतीत हो जाता है, मृत्यु से अतीत हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने साम की मृत्यु से अतीत सप्तविध उपासना कही। अब आप गायत्र साम की उपासना के सम्बन्ध में श्रवण करें।"

छप्पय

सूर्य लोक इक्कीस तासु पर बाइस है जो।
जहाँ न दुःख विषाद शोक तैं रहित नाक सो॥
करै उपासन साम सप्तविध मृत्यु परे नर।
विजय करै आदित्य तासु उत्कृष्ट पाइ वर॥
जा उपासना मर्म कूँ, जानि आत्म सम्मित पुरुष।
मृत्यु विजय करि परम पद, पावै जग में परम यश॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय का
दशम खण्ड समाप्त

गायत्र-सामोपासना

[११९]

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥१॥*

(छा० उ० द्वि० प्र० ११ ख० १ मं०)

छप्पय

सामवेद दश भेद यज्ञ में हों प्रयुक्त जो।
तिनि सबमें गायत्र कहावै प्रथम भेद सो॥
है प्राणनि में प्रोत मनहिं हिंकार बतायो।
कह्यो वाक प्रस्ताव चक्षु उद्गीथ जतायो॥
श्रोत्र कह्यो प्रतिहार है, प्राण निधन मुनिवर कहें।
ओत प्रोत मन प्राण में, प्राणनि इन्द्रिय सँग रहें॥

पीछे के प्रकरणों में एक प्रकार से विना ही स्तोत्रों का नाम लिये साम के अवयवों की, साधुभाव से समग्र साम की उपासनाओं का वर्णन है। अब सामवेद के जो यज्ञों में प्रयुक्त भेद हैं, उनका नाम ले-लेकर पंचविध उपासना का वर्णन करेंगे।

---

* मन जो समस्त इन्द्रियो का स्वामी है वही हिंकार है, वाक् कर्मेन्द्रिय प्रस्ताव है। ज्ञानेन्द्रिय चक्षु ही उद्गीथ है। ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र ही प्रतिहार है। सब के सचालक प्राण ही निधन हैं। साम का जो गायत्र भाग है वह मन सहित प्राणों में प्रतिष्ठित है अर्थात् इनके आश्रित है।

यज्ञो मे प्रयुक्त होने वाले साम के (१) गायत्र, (२) रथन्तर, (३) वामदेव्य, (४) बृहत्, (५) वैरूप, (६) वैराज, (७) शक्वरी, (८) रवेती, (९) यज्ञायज्ञिय और (१०) राजन ये दश भेद हैं। अब आगे क्रमशः इन दशों का नाम लेकर सामोपासना का वर्णन किया जायगा। इन दशों मे पहिला भेद है गायत्र। सामवेद में एक स्तोत्र का नाम गायत्र है। उसका उद्गाता गायन करता है। गाने वाले का जो त्राण-रक्षण करता है अथवा गायत्र स्तोत्र जिसमें उस प्रकरण को गायत्र कहते हैं। (गायन्तं त्रायते-इति=गायत्। अथवा गायत्रं स्तोत्र-अस्य अस्ति-इति=गायत्र) यह गायत्र स्तोत्र प्राणों के साथ ओतप्रोत है। प्राण मन के साथ ओतप्रोत है। मन समस्त इन्द्रियों का स्वामी है। मन की भी इन्द्रिय संज्ञा है। अतः यह प्राणोपासना इन्द्रिय विशिष्ट प्राण की उपासना है। पिछले प्रकरण मे पाँच प्रकार की बहुत सी उपासनायें बतायी हैं उनमे एक पंचविध प्राणोपासना भी बतायी थी वहाँ भी इन्द्रिय विशिष्ट प्राण की ही उपासना थी। उसे परोवरीय गुण विशिष्ट सामोपासना बताया था। उसमें एक से दूसरी दूसरे से तीसरी ऐसे उत्तरोत्तर उत्कृष्टता का उल्लेख था। उसमे प्राण को हिंकार, वाणी को प्रस्ताव, चक्षु को उद्गीथ, श्रोत्र को प्रतिहार और मन को निधन बताया था। अब उसी को फिर से साम के गायत्र स्तोत्र भाग का नाम लेकर अन्य प्रकार से विशिष्ट फलवती बताकर उसका वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यज्ञो मे जो सामवेद की गाने वाली ऋचायें प्रयुक्त होती हैं उनके छन्दो के नाम से दश भेद बताये हैं। उन दशों के साथ हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इन क्रत्वङ्गों के साथ कैसे उपासना करे, इसी को बताते हैं। पहिला भेद है गायत्र। इस स्तोत्र मे गायत्री का

प्राण रूप से स्तवन किया गया है। प्राण को ही गायत्री मानकर उसकी स्तुति की गयी है, इसलिये यह गायत्र संज्ञक साम का भाग प्राणों में प्रतिष्ठित है। अतः इन्द्रिय विशिष्ट प्राणों को किस किसमें हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन भावना करके उपासना करनी चाहिये। कर्मेन्द्रियों में मुख्य वाणी है। ज्ञानेन्द्रियों में मुख्य कर्ण और चक्षु हैं। मन समस्त इन्द्रियों का स्वामी ही ठहरा। अतः मन, वाणी, चक्षु और श्रोत्र से विशिष्ट जो प्राण हैं उनमें किन-किन की भावना करे।

सर्वप्रथम तो मन है, क्योंकि वह समस्त इन्द्रियों का स्वामी है। उसकी इच्छा बिना, उसके सहयोग-आज्ञा के बिना-कोई इन्द्रिय अपने कार्य को सुचारु रूप से सम्पादन नहीं कर सकती। अतः मन में हिंकार की भावना करके उपासना करे। अब कर्मेन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ इन्द्रिय है वाणी। वाणी ही हृद्गत भावों को व्यक्त करने में समर्थ होती है, अतः उस वाणी में प्रस्ताव की भावना करे। क्योंकि प्रस्ताव वाणी द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियों में चक्षु सबसे श्रेष्ठ है। देखकर ही संसारी वस्तुओं का ज्ञान होता है, यदि दृष्टि नहीं तो सृष्टि न होने के समान है, अतः चक्षु में उद्गीथ की भावना करे। चक्षु के पश्चात् कर्णेन्द्रिय ही इतनी महत्वपूर्ण है, कि इसके द्वारा ऊपर नीचे, दायें बायें सम्मुख पीठ पीछे के शब्द सुनकर ज्ञान होता है, इसलिये उस श्रोत्रेन्द्रिय में प्रतिहार की भावना करे। क्योंकि शब्दों को श्रोत्र ही पकड़ता है। अब ये सब मन-सहित कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ गायत्र संज्ञक प्राणों में ही प्रतिष्ठित हैं, अतः प्राण में निधन की भावना करके उपासना करे। इस प्रकार यह गायत्र अर्थात प्राणों का रक्षक=प्राणों में ओतप्रोत प्रतिष्ठित स्तोत्र है। इस साम गायत्र के द्वारा जो उपासना करता है। जो गायत्र.

संज्ञक साम को प्राणों में ओतप्रोत–परस्पर सम्बन्धित–मानकर उसी भावना से उपासना करता है, वह प्राणवान् होता है अर्थात् उसकी कभी अकाल मृत्यु नहीं होती। वह अपनी पूर्ण आयु–शतायु का सुखपूर्वक उपभोग करता है। उसका जीवन ज्योक-प्रशस्त–रोग आदि से रहित–उज्ज्वल होता है। उसके बहुत सन्तानें तथा बहुत से पशु होते हैं। वह सन्तानों तथा पशुओं की बहुलता के कारण महान् होता है। उसकी चारों ओर कीर्ति फैल जाती है। वह अपनी उज्ज्वल निर्मल कीर्ति के कारण भी महान् होता है। परन्तु वह उपासना व्रतपूर्वक करे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! व्रत क्या?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! कोई भी अनुष्ठान हो, जब तक पूर्ण निष्ठा से एक नियम को वरण करके न किया जाय, तब तक वह अनुष्ठान सफल नहीं होता। पुण्य को उत्पन्न करने वाले जो कृच्छ्र चान्द्रायणादि उपवास हैं वे भी व्रत हैं और किसी बात को प्रतिज्ञा पूर्वक–नियम सयमपूर्वक–करना वही व्रत कहलाता है। जैसे कोई मन्त्र जप का अनुष्ठान कर रहा हो, तो उसे नियम कर लेना चाहिये जब तक जप पूर्ण न हो जायगा तब तक बोलूँगा नहीं, मौन होकर जप करूँगा। तो वह मन्त्र जप तो अनुष्ठान या यज्ञ है और मौन रहना व्रत है। इसी प्रकार साम की जो यह गायत्र उपासना है, इसे जो व्रतपूर्वक करेगा वही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर सकेगा।"

शौनकजी ने पूछा—"कौन–सा व्रत लेकर इस गायत्र सामोपासना को करे?"

सूतजी ने कहा—"इस उपासना के उपासक को महामना होना चाहिये। क्षुद्र हृदय वाले साधक इस उपासना को कर भी नहीं सकते और करें भी तो उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।"

शौनकजी ने पूछा—"महामना का भाव क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"जिसका मन प्रशस्त हो उसे मनस्वी कहते हैं। अर्थात् जिसके मन में क्षुद्र भाव न होकर उदार भाव हों। महान् मन वाला (महत्=प्रशस्त मनो यस्य सः महामना) उदार हृदय वाला। जो क्षुद्र हृदयी इस उपासना को करेगा, वह सफल कैसे हो सकेगा ? अतः इस उपासना के उपासक को यह व्रत नियम ले लेना चाहिये कि चाहे जैसा भी समय आ जाय, मैं अपने हृदय में कभी भी क्षुद्रता को न आने दूँगा। अपने हृदय को सदा सर्वदा विशाल बनाकर–महान् बनाकर–ही इस उपासना में प्रवृत्त हूँगा। जो ऐसा व्रत लेकर ऐसा नियम संयम लेकर–ऐसी प्रतिज्ञा करके इस अनुष्ठान में तत्पर होगा, उसी को सिद्धि प्राप्त होगी। वही प्राणवान् प्रजावान् पशुवान् महान् तथा कीर्तिवान् होगा।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! यह मैंने सामवेद के दश भेदों में से पहिले भेद गायत्र साम की उपासना का वर्णन किया। अब जो दूसरा रथन्तर भेद है उसकी उपासना का वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

प्राण प्रतिष्ठित साम वही गायत्र कहावे।
प्राणवान् सो होइ उपासन करि हरषावे॥
पूर्ण आयु उपभोग करै ढिँग रोग न आवे।
होवें बहु सन्तान अधिक पशु घर है जावें॥
कीर्ति होइ जग में विमल, होइ महान प्रधान नर।
महामना व्रत धारिकें, करै तबहिं पावै सु-वर॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
एकादश खण्ड समाप्त

रथन्तर साम की उपासना

[१२०]

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनँ सँ शाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥❀

(छा० उ० द्वि० अ० १२ ख० १ म०)

छप्पय

कहैं रथन्तर साम अग्नि में ओत प्रोत जो।
अभिमन्थन हिंकार कह्यो प्रस्ताव धूम जो॥
होइ प्रज्वलित जबहिँ वही उद्गीथ कहावै।
अगार हु प्रतिहार शान्त-सम निधन कहावै॥
होइ सर्वदा शान्त जब, निधन ताहु कूँ ऋषि कहैं।
यही रथन्तर साम है, अनुस्यूत पावक रहैं॥

❀ दोनो अरणियो से अग्नि जब मन्थन की जाती है, उस मन्थन कर्म मे हिंकार की भावना करके उपासना करे। जब धूम उत्पन्न हो जाय, उसमे प्रस्ताव की भावना करे। प्रज्वलित हो जाय उसमे उद्गीथ की, अङ्गारे हो जायँ उसमे प्रतिहार की। जब कुछ शान्त होने लगे तो उसमे निधन की और सर्वथा शान्त हो जाय तो उसमे भी निधन भावना करके उपासना करे।

यज्ञ मे प्रयुक्त होने वाले दश विध साम के नाम कोई तो छन्दपरक हैं, कोई देवपरक और कोई ऋषिपरक हैं। वेद में १. गायत्री, २. उष्णिक, ३. अनुष्टुप, ४. बृहती, ५. पङ्क्ति, ६. त्रिष्टुप, ७. जगती, ८. अतिजगती, ९. शर्करी, १०. अतिशर्करी, ११. अष्टि, १२. अत्यष्टि, १३. धृति, १४. अतिधृति, १५. कृति, १६ प्रकृति, १७. आकृति, १८. विकृति, १९. सस्कृति, २०. अतिकृति और २१ उत्कृति ये इक्कीस छन्द व्यवहृत हैं फिर इन्हीं के अनेक भेद होकर लोक म तथा वेद मे असख्यों छन्द प्रचलित हुए हैं। यज्ञो मे गाये जाने वाले साम के जैसे १. गायत्र—तो गायत्री छन्द के नाम से, २. बृहत्—बृहती छन्द से, ३.—शक्वरी—शर्करी छन्द से, प्रसिद्ध है। वामदेव्य वामदेव ऋषि के नाम से और रथन्तर अग्निदेव के नाम से प्रसिद्ध है।

अग्निदेव का नाम रथन्तर इसलिये है, कि यह जो अग्नि रूप रथ है, इसके द्वारा यह यजमान तरता है—ससार सागर से पार होता है। (रथेन तरति यः यजमानः स रथन्तरः) साम की इस दूसरी रथन्तर उपासना का वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! सामवेद का जो दूसरा भेद रथन्तर है, वह अग्निदेव मे ओतप्रोत है। अर्थात् इस रथन्तर स्तोत्र मे अग्नि की ही उपासना बतायी गयी है। उन्हीं की स्तुति की गयी है।

यज्ञ यागो मे अग्नि ही प्रधान देव हैं। वे समस्त देवताओं के मुख हैं। जसे मुख मे अन्न डालने स समस्त इन्द्रियाँ, समस्त शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग तृप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार अग्नि मे जिस जिस देवता को निमित्त करके जिस देवता के लिये हवि अर्पण की जाती है अग्निदेव उसी-उसी देवता को उस हविर्भाग को पहुँचा देते हैं। उस अग्नि मे १. हिंकार, २. प्रस्ताव, ३. उद्गीथ,

४. प्रतिहार और ५. निधन इनकी किस-किस कर्म द्वारा कैसे उपासना करनी चाहिये इसे बताते हैं।

यज्ञ यागों में सर्वप्रथम अग्नि उत्पन्न की जाती है। समी—छोकरा—के वृक्ष में जो पीपल का वृक्ष होता है उसी से अरणी बनायी जाती है। एक नीचे की अरणी होती है और एक ऊपर की। दोनों का मथन करते हैं— संघर्षण करते हैं, तो पहिले उसमें धुँआ उत्पन्न होता है, फिर चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। उन चिनगारियों को रूई में या नारियल के तृणों में रखकर उसी से अग्नि जलाते हैं। इस क्रिया को अरुणि मंथन—अग्नि उत्पादन कार्य-कहते हैं। तो जो यह अरणि मंथन कर्म है, इसमें हिंकार की भावना करके उपासना करनी चाहिये।

दोनों अरणियों को मथते-मथते जो पहिले-पहिल धुँआ निकलता है, उस धूम्र निष्कर्षण कर्म में प्रस्ताव की भावना करके उपासना करनी चाहिये।

धुँआ निकलने के अनंतर जो चिनगारियाँ निकलने लगती हैं, उन चिनगारियों को रुई में लेकर अग्नि प्रज्वलित करके जो समिधाओं में रखकर उन्हें जलाते हैं, उस प्रज्वलन कर्म में उद्गीथ की भावना करके उपासना करनी चाहिये।

समिधायें जलकर जब अंगारे हो जाते हैं—प्रज्वलित कोयले हो जाते हैं उनमें प्रतिहार की भावना करके उपासना करनी चाहिये।

यज्ञ कार्य समाप्त होने पर जब अग्नि शनैः-शनैः शान्त होने लगती है, उसमें से लपटें निकलनी बन्द हो जाती हैं, तो उस शान्त होने की क्रिया में निधन की भावना करनी चाहिये। और जब अग्नि सर्वथा शान्त ही हो जाय तो उसमें भी निधन की

भावना करके उपासना करे। इसी सामवेद की उपासना का नाम रथन्तर उपासना है।

जो इस रथन्तर उपासना के रहस्य को भलीभाँति जानकर उसकी उपासना करता है, जो अग्नि को रथन्तर में ओतप्रोत-अनुस्यूत-मानकर इसी भावना से इसकी उपासना में रत रहता है, वह साधक ब्रह्मतेज से सम्पन्न रहता है। अग्नि का गुण तेज ही है। अग्निदेव अपनी तेजस्विता उसे प्रदान करते हैं। वह यथेष्ट अन्न का भोक्ता होता है, उसके पेट मे रहने वाली जठराग्नि प्रदीप्त रहती है, वह जो खाता है, सब तुरन्त पच जाता है। उसकी अकाल में मृत्यु नहीं होती, वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है। उसे किसी प्रकार की व्याधि नहीं होती। वह बहुत सन्तान वाला होता है। उसके यहाँ हाथी,घोड़ा,बैल आदि वाहनोपयोगी तथा गाय भैस आदि दुग्धोपयोगी बहुत से पशु होते हैं। उसकी संसार मे विमल कीर्ति होती है। वह सब प्रकार से महान् होता है। इस उपासना को भी व्रतपूर्वक संयमनियम पूर्वक ही करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"इस रथन्तर उपासना का व्रत कौन-सा है?"

सूतजी ने कहा—"इस उपासना का व्रत यही है कि अग्नि में आदर बुद्धि रखे। अग्नि की ओर मुख करके अन्न जल का भक्षण न करे और उसकी ओर मुख करके थूके भी नहीं। इस प्रकार मैंने यह दूसरी रथन्तर उपासना कही। अब जैसे वामदेव ऋषि द्वारा कही हुई साम के भेद की जो उपासना है, उसे मैं आगे कहूँगा। यह बड़ी ही रहस्यमय उपासना है और गृहस्थियों के लिये ही है, आशा है आप सब ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी होने पर

भी इस उपासना को केवल समझ लेने की दृष्टि से ही श्रवण करेंगे।"

छप्पय

पुरुष रथन्तर माहिँ अग्नि अनुस्यूत समुझि कें।
करै उपासन अग्नि माहिँ भ शुभावनि भरिकें॥
ब्रह्मतेज सम्पन्न अन्न भोक्ता सो होवै।
जीवन पूर्ण बिताय निरोगी बनि सुख सोवै॥
प्रजावान पशुवान वह, कीर्तिवान होवै सतत।
अग्नि ओर मुख करि नहीं-खावै थूकै यही व्रत॥

साम सम्बन्धी वामदेव्य-उपासना

[१२१]

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद् वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥*

(छा० उ० द्वि० प्र० १३ ख० १ म०)

छप्पय

वामदेव्य अब कहें उपासन मिथुन प्रोत जो।
सकेतहिं हिंकार तोष प्रस्ताव कह्यो सो॥
ताहि कह्यो उद्गीथ शयन-सह सम्मति युत है।
पुनि अभिमुख है शयन कह्यो प्रतिहार एक है॥
समय मिथुन है लगे सो, निधन वामदेवहु कह्यो।
क्रिया निवृत ह्वै निधन है, अनुस्यूत मिथुनहि रह्यो॥

शृङ्गारसानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। गुण गुणज्ञ से सम्बन्धित होने से ही गुण कहलाते हैं। वे ही गुण निर्गुण से

---

* उपमन्त्रण—सकेत—ही हिंकार है। ज्ञपयन—पारस्परिक तोष-प्रस्ताव है। सहशयन उद्गीथ है। अभिमुखशयन प्रतिहार है। मिथुन कालयापन निधन है तथा क्रियानिवृत्ति-परिसमाप्ति भी निधन है। यह वामदेव्य नामक सामोपसना मिथुन में ओत प्रोत है अर्थात् अनुस्यूत है।

सम्बन्धित हो जायँ, तो दोष बन जाते हैं। वस्तुएँ न अच्छी हैं न बुरी, पात्रभेद से अच्छी बुरी कहलाने लगती है। घृत को अमृत कहा है कब ? जब उसका पात्र शुद्ध हो। सुवर्ण, रजत या मृण्मय पात्र से संसर्गिक हो। वही घृत जब ताम्रपात्र से सम्बन्धित हो जाता है तो विष बन जाता है। एक ही वस्तु पात्रभेद से अनुपात की भिन्नता से भिन्न गुण वाली हो जाती है। शृङ्गार रस है यदि अरसिक मूर्ख विषय लम्पट से उसका सम्बन्ध हो, तो वह नरक में पहुँचाने वाला वासनामय विषय भोग बन जायगा। वही रसज्ञ विज्ञ संयमी सुशिक्षित सुयोग्य पात्र से सम्बन्धित हो जाय, तो वह मुक्ति का सोपान बन जाता है। कामशास्त्र के प्रणेता वात्सायन मुनि ने अन्त मे लिखा है मैंने अखड ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके इस शास्त्र का प्रणयन किया है। मिथुन होना योग है यदि नियम संयम के साथ योगी उसका आचरण करे तब।

शास्त्रो मे मुक्तपुरुषों मे जडभरत शुक तथा वामदेव का नाम विशेष रूप से बार-बार लिया जाता है।* पीछे ऐतेय उपनिषद् मे वर्णन आ ही है, चुका, कि गर्भ में निवास करते हुए ही वामदेव ऋषि को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी थी। इसीलिये गर्भ से बाहर आने के पूर्व ही माता के उदर मे ही इन्होंने कहा था—यह महान् आश्चर्य की बात है, कि मैंने इस गर्भ मे रहते हुए ही

---

* आगामि प्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः॥
(पञ्चदशी)

तदनेक जन्मसाध्यं दुर्लभ जन्मिना सदा।
शुको वा वामदेवो वा मुक्त इत्यस्ति संशय॥
(स्कन्द पुराण)

अन्तःकरण और इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों के बहुत से जन्मों का रहस्य सम्यक् प्रकार से जान लिया। मैं इस रहस्य को भली भाँति समझ गया कि जन्म आत्मा के नहीं हुआ करते, वे तो इन्द्रिय तथा अन्तःकरण से विशिष्ट जीव के होते हैं। जब तक यह रहस्य मैंने जाना नहीं था। जब तक मैं इस रहस्य से अज्ञात था, तब तक मुझे सैकड़ों लोहे के सदृश कठोर देहरूपी पिंजड़ों में रहना पड़ा। उन शरीरों में मेरी ऐसी दृढ़ ममता हो गयी थी, कि उनसे छुटकारा पाना अत्यन्त ही दुर्लभ था। अब ज्ञान हो जाने पर मैं बाज पक्षी के सदृश ज्ञान रूपी बल के वेग से उन सब कठिन से कठिन पिंजड़ों को तोड़ फोड़कर पृथक् हो गया हूँ। उन देह रूपी पिंजड़ों से अब मेरा अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं। मैं सदा सर्वदा के लिये सभी शरीरों की अहंता से परिमुक्त हो गया हूँ।"

ऐसे ज्ञानी ऋषि द्वारा यह सामवेद का वामदेव्य भाग गाया गया है। इस साम के प्रवर्तक ये ऋषि हैं। वामदेव ऋषि का वेदों के मन्त्र भाग, ब्राह्मण भाग, उपनिषद् भाग, आरण्यकों में तथा महाभारत पुराणों में स्थान स्थान पर महान् ज्ञानी जीवन्मुक्त ऋषि के रूप में उल्लेख आता है। ऋषि ने स्थान-स्थान पर स्वयं ही कहा है—मैं मनु भी हुआ, सूर्य हुआ। मैं ही समस्त पदार्थों का मनन करने वाला मनु हूँ, मैं ही जगत् का प्रकाशक सूर्य हूँ, मैं ही कक्षीवान् ऋषि हूँ।

स्थान-स्थान पर वामदेव्य साम की प्रशंसा में वचन उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद में वेदवाणी रूप एक गौ की कल्पना की गयी है। उस गौ का बछड़ा तो इन्द्र को बनाया है। गायत्री छन्द उस गौ को दुहने वाला पात्र दोहनी है। अभ्रमेघ-को उस गौ का स्तन-मंडल बताया है। साम के जो दश भेद बताये हैं उनमें से बृहत्

साम और रथन्तर साम इनको दो स्तन तथा यज्ञायज्ञिय साम भाग और वामदेव्य को दूसर दो स्तन बताकर वेदवाणी रूप गो के चार स्तन पूरे किये हैं। उस गो को इन्द्र रूपी बछडे से पुहना कर देवगण दूध दुहते हैं। उस वदवाणी रूप गो के चारों स्तनो से चार प्रकार का वस्तुओं को दुहत हैं। पहिला जो रथन्तर साम नाम वाला स्तन है उससे ता समस्त ओषधिया को दुहत हैं। दूसरा जो बृहत् साम नाम का स्तन है, उसमें से विविध भाँति के पावन यज्ञीय अन्नो को दुहते हैं। तीसरा जो वामदेव्य साम नाम का स्तन है उससे जल को दुहते हैं और यज्ञायज्ञिय नाम का जो चौथा स्तन है उससे यज्ञ को दुहते हैं।

यहाँ तक इस वामदेव्य साम की प्रतिष्ठा बढायी है कि वाम देव्य साम को पिता बताया है तथा अन्य सभी सामो को उसका पुत्र कहा है। एक स्थान पर प्रश्न किया है वामदेव्य साम को किस प्रकार गाना चाहिये। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—जसे बिल्ली अपने बच्चों को दाँतो से पकडती तो अवश्य है, किन्तु इस प्रकार पकडती है, कि बच्चो को पता भी नहीं चलता, कि हमें माता के दाँतों का स्पर्श हुआ है या नही। अर्थात् उन्हे अत्यन्त धीरे से मृदुता प्रेम के साथ पकडती। दूसरी उपमा देते हैं जैसे वायु सर्वत्र तो वेग से बहता है, किन्तु जल के ऊपर शनैः शनैः बहता है। इसी प्रकार वामदेव्य साम का गायन करना चाहिये। इस प्रकार सर्वत्र इस वामदेव्य साम की प्रशसा है। अब आगे उन्हीं वामदेव्य ऋषि द्वारा साक्षात्कार की हुई वामदेव्य उपासना का वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब सामवेद के तीसरे भेद वामदेव्य उपासना का वर्णन करते हैं। वामदेव स्त्री पुरुष मिथुन में अनुस्यूत है। ओतप्रोत है। अतः मिथुन भाव से

स्वधर्मपत्नी में इसकी उपासना करनी चाहिये। मुनियो! शास्त्र ने कर्म को प्रधानता न देकर भावना को ही प्रधानता दी है। महाभारत में बताया है, तप, अध्ययन वर्णाश्रम धर्म और बलपूर्वक दूसरों से धन छीन लेना ये पाप नहीं है यदि भावना शुद्ध हो तो। यदि अशुद्ध भावना से ये ही तप अध्ययनादि कर्म किये जायें तो पाप है। जैसे भगवान् के भोग के लिये, यज्ञ के लिये अथवा अतिथि सत्कार के लिये भोजन बनाया जाय, तो पुण्यप्रद कर्म है। वही रसोई केवल अपने ही खाने की भावना से बनाई जाय, तो वह पाप है। ऐसी अपने ही निमित्त बनी रसोई को खाना मानो पाप को ही खाना है। इसी प्रकार वामदेव्य उपासना के अनुसार उपासना भावना से–केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये–अपनी ही धर्मपत्नी के साथ मिथुन धर्म का आचरण करना पुण्यप्रद है। वही विषयोपभोग की भावना से किसी भी स्त्री के साथ–चाहे अपनी धर्मपत्नी ही क्यों न हो–वह अपुण्यप्रद-अपराध ही है। अतः यह वामदेव्योपासना अपनी ही धर्मपत्नी के सहयोग से सम्भव है। यहां इस उपासना का मुख्य नियम है।

इसमें उपमन्त्रण—नर नारी सम्बन्धी संकेत अथवा ध्यान ही हिंकार है। उस संकेत में हिंकार भाव से उपासना करनी चाहिये। तदनन्तर जो ज्ञपन करता है–मधुर भाषण, चन्दन, स्रक, माला,-वस्त्राभूषणों द्वारा सन्तुष्ट करना। तोषण करना यही मानो प्रस्ताव है। इस सन्तोष प्रदान में प्रस्ताव भाव रखकर उपासना करनी चाहिये। तदनन्तर उभय सम्मत जो सहशयन है शैया अपृकत्व है वही 'उद्गीथ' है उसमें उद्गीथ भावना करके उपासना करनी चाहिये। तदनन्तर जो अभिमुख होना है उभयाङ्गों का सम्मिलन है वही मानो प्रतिहार है, उसमें प्रतिहार भावना से उपासना करनी चाहिये। पुनः संगमावस्था में कालयापन है वही

निधन है उसमे निधन भावना करके उपासना करनी चाहिये। इसके पश्चात् कर्म पार-क्रिया निवृत्ति परिसमाप्ति है उसमे भी निधन भावना ही करके उसकी उपासना करनी चाहिये। यही वामदेव्योपासना है। यह उपासना स्त्री पुरुष के मिथुन धर्म से ओतप्रोत है। अर्थात् इसमें मिथुन धर्म अनुस्यूत है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जो साधक इस मिथुन धर्म में ओतप्रोत इस वामदेव्य उपासना का अनुष्ठान करता है। वह मिथुनवान् होता है। उसे पूर्ण दाम्पत्य सुख की सम्यक् प्रकार से उपलब्धि होती है। उसे कभी दयिता वियोग जन्य दुःख उपलब्ध नहीं होता।

उसका प्रत्येक धर्म अमोघ होता है-सफल होता है उसके परिणाम स्वरूप उसे सन्तति की उपलब्धि होती है। वह अमोघ-वीर्य होता है उसका वीर्य कभी मोघ नहीं जाता। वह चिरायु होता है सम्पूर्ण आयु का सुख पूर्वक उपभोग करता है। उसका सम्पूर्ण जीवन समुज्वल-रोगादि से रहित-व्याधि शून्य होता है। वह प्रजा द्वारा सतति द्वारा महान् होता है। प्रजावान् होता है। उसके यहाँ उपयोगी पशुओ का बाहुल्य रहता है, वह पशुवान कहलाता है। वह प्रजा और पशुओ के बाहुल्य के कारण महान् माना जाता है। दशों दिशाओ मे उसकी विमल कीर्ति भर जाती है, कीर्ति के कारण भी वह महान् होता है। परन्तु इस उपासना को व्रत पूर्वक सयम नियम निष्ठा सहित करनी चाहिए।

शौनकजी ने पूछा—"इस उपासना का व्रत कौन-सा है?"

सूतजी ने कहा—"इसका एक ही व्रत है, पत्नी ग्रहण। किसी का परिहरण न करे। यदि अनेक पत्नी भी हों तो उनका परित्याग न करे। इस व्रत नियम के साथ इस वामदेव्य उपासना को करना चाहिए।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने तीसरी साम की वामदेव्य उपासना कही, अब आप चौथी बृहत् उपासना के सम्बन्ध मे आगे श्रवण करें।"

छप्पय

वामदेव्य जो साम मिथुन में ओत प्रोत है।
करे उपासन मार्ग वाम यह आदि स्रोत है॥
जो जन जाकूँ जानि करें दाम्पत्यवान वर।
उज्वल जीवन होइ आयु पूरी अति सुखकर॥
प्रजावान पशुवान अरु, होइ विमलवर कीति नित।
काहू कूँ नहिँ परिहरे, वामदेव्य को यही व्रत॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
तेरहवाँ खण्ड समाप्त

बृहत्साम सम्बन्धिनी उपासना

[१२२]

उद्यन् हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः।
प्रतिहारोऽस्त यन्निधनमेतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥*

(छा० उ० द्वि० अ० १४ ख० १ म०)

छप्पय

बृहत्साम की सुनो उपासन है चतुर्थ जो।
व्रतपूर्वक तिहि करै सूर्य में ओत प्रोत सो॥
उदित होत 'हिंकार' वही 'प्रस्ताव' उदय जब।
मध्याह्न हि उद्गीथ होइ प्रतिहार सुनो अब॥
मध्याह्नोत्तर काल में, करै भाव प्रतिहारको।
अस्त होत ही निधन है, करयो विभाजन काल को॥

वेदों में अनेक देवों का वर्णन है। पंडित लोग स्वस्तिवाचन में एक मंत्र का पाठ करते हैं। उसमे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आठ वसु, बृहस्पति, इन्द्र और वरुण इन मुख्य मुख्य १५ देवताओं का वर्णन है। कहीं ३३-कहीं ५०, कहीं तीन सहस्र तीन सौ और

---

* सूर्य जब प्रारंभ मे उदय हो ही रहा हो उस काल मे हिंकार की भावना करके उपासना करे। जब पूर्ण उदय हो जायं उस काल म प्रस्ताव की। मध्याह्न काल मे उद्गीथ की। अपराह्ण मे प्रतिहार की और अस्त होते काल में निधन की भावना करे। बृहत्साम आदित्य म ओत-प्रोत है—स्थित है—

कहीं तैंतीस करोड देवता बताये हैं। जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी तथा वृक्षादि योनियाँ हैं वैसे देव भी एक योनि है। वे स्वर्ग मे निवास करते हैं अजर-अमर होते हैं, उनके शरीर की छाया नहीं पडती, उनके पलक नहीं गिरते, उनके शरीर में कभी पसीना नहीं आता। उनका शरीर मल से रहित होता हैं, उन्हे कभी जरा व्याप्त नही होती। सदा सर्वदा सोलह वर्ष के बने रहते हैं। उनके दाढ़ी मूँछ नहीं होती वे हमारी भाँति स्थूल पदार्थों का भक्षण नहीं करते। वे सूँघकर घ्राण मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। वे अमृत का पान करते हैं विमानों में विहार करते हैं। पृथ्वी का पैरों से स्पर्श नहीं करते। वे जितने चाहें उतने रूप बना सकते हैं। यज्ञों में जहाँ-जहाँ देवताओं को हविर्भाग दिया जाता है वे यज्ञ चाहें पृथक् पृथक् करोडों स्थानो मे हो रहे हों, देवगण उतने ही रूपों को रखकर अपना भाग लेने पहुँच जाते हैं। वे शाप वरदान मे भी समर्थ होते हैं, किन्तु उनके शाप वर की सीमा होती है। कर्मकाण्ड में तो ये भाग ग्रहण करने वाले स्वर्ग तक पहुँचाने वाले माने जाते हैं। उपासना काण्ड में इनमें परमात्म बुद्धि करके उपासना की जाती है। और ज्ञान काण्ड में तो ये ब्रह्मरूप ही हैं।

इन सब देवों में चन्द्र, सूर्यदेव और अग्निदेव प्रत्यक्ष देव हैं। अतः वेदो में सर्वत्र सूर्योपासना तथा अग्नि उपासना की प्रधानता है। समस्त द्विजगण उदय होते सूर्य की, अस्त होते हुए सूर्य की तथा मध्याह्नकाल के सूर्य की वेदमन्त्रों द्वारा परमात्म रूप से उपासना करते हैं, उनका खड़े होकर उपस्थान करते हैं, अर्घ्य देते हैं, तथा ब्रह्म रूप से उनकी स्तुति करते हैं। सूर्य ब्रह्मतेज को प्रदान करने वाले प्रत्यक्षदेव हैं। जिस गायत्री मन्त्र की द्विजातिगण उपासना करते हैं। जो सबसे श्रेष्ठ मन्त्र माना जाता है, उस गायत्री को वेदों की माता कहते हैं। जो द्विजातियों का सर्वस्व है

जिसकी दीक्षा के बिना द्विज, द्विज नहीं कहला सकता। जो गायत्री दूसरा जन्म प्रदान करके द्विजत्व देती है, उस गायत्री के देवता सविता सूर्य ही हैं, उसमे सूर्य के भर्ग से अपनी बुद्धि को विशुद्ध बनाने की प्रार्थना की गयी है। इस प्रकार सूर्य ससार के सर्वश्रेष्ठ देव हैं, वे उपासको के साक्षात् नारायण हैं, इसीलिये उन्हे सूर्यनारायण कहते हैं। वे ज्ञानियो के लिये ज्योति स्वरूप हैं निर्गुण निराकार परब्रह्म हैं उन आदित्य भगवन् की सामवेद मे स्थान-स्थान पर उपासना के विभिन्न प्रकार बताये गये हैं। इसी छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के तृतीय खण्ड मे विभिन्न प्रकार की उद्गीथ उपासनायें बतायी गयी हैं, वहाँ आदित्य दृष्टि से उद्गीथोपासना बतायी है। फिर सूर्य और प्राण की एकतानता—एकता—समानता—बतायी है। प्राण ही सूर्य हैं। आगे पचम खण्ड में ओंकार, उद्गीथ और आदित्य की एकता बतायी है। फिर रश्मिभेद से आदित्य की व्यस्तोपासना बतायी है। फिर आदित्य के बीच मे जो एक पुरुष है उस पुरुष की नेत्रान्तर्गत पुरुष से एकता बतायी है। फिर द्वितीय अध्याय मे लोक विषयक पाँच प्रकार की उपासना में भी आदित्योपासना है। उसी के नवमखण्ड मे आदित्य विषयिणी सात प्रकार की उपासना बतायी है। अब यहाँ साम भेद के जो दश भेद हैं उसमे बृहद्साम सम्बन्धी उपासना है, इसमे आदित्य को ही बृहत् साम मे ओतप्रोत मानकर आदित्य की ही उपासना कही है। आगे भी तृतीय अध्याय मे जो मधुविद्या है उसके पाँच खण्डो मे केवल आदित्य में ही मधु की दृष्टि से उपासना है। इस प्रकार आदित्योपासना का वेदों में अत्यधिक महत्व है। उन सबका विवरण समय-समय पर आगे दिया जायगा। यहाँ तो अब बृहत्साम की आदित्य सम्बन्धी उपासना बतायी जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह बृहत्साम सूर्य में अवस्थित है। अतः सूर्य सम्बन्धी कालो में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन की भावना करनी चाहिये। इसमे जब पहिले-ही-पहिल सूर्य की आरम्भि किरण फूटती है उस सूर्य के आरम्भिक उदय काल में तो हिंकार की भावना करके उपासना करे। जब सूर्य पूर्ण रूप से उदय हो जायँ उस उदयकाल मे उनमें प्रस्ताव को भावना कर। जिस समय दोपहर सूर्य चढ़ जायँ उस मध्याह्न काल मे 'उद्गीथ' की भावना करे। जब मध्याह्नोत्तर-अपराह्न काल हो जाय तब उसमे प्रतिहार की भावना करे। जब सूर्य अस्त होने लगे तो उस काल मे निधन की भावना करे।"

इस प्रकार जो साधक बृहत्साम को सूर्य मे अनुस्यूत-ओत-प्रोत-मानकर उपासना करता है, वह सूर्य की कृपा से तेजस्वी होता है। उसकी जठराग्नि भी तीव्र होती है वह अन्न का उपभोग भली-भाँति कर सकता है। उसे अपच अजीर्ण नहीं होता। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती, वह पूर्ण आयु का भली-भाँति उपभोग करता है, उसका जीवन परम उज्जवल होता है। उसके सन्तानें बहुत होती हैं। उसके घर विपुल मात्रा में अनेक उपयोगी पशु रहते हैं। वह महान् से भी महान माना जाता है। उसकी कीर्ति दिगदिगान्तो में व्याप्त हो जाती है। इस उपासना को भी व्रत पूर्वक करना चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"इस बृहत्सामोपासना का मुख्य व्रत-नियम-संयम क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! इस उपासना का यही एक व्रत है कि तपते हुए सूर्य की किसी प्रकार से भी कभी भी निन्दा न करे। इस प्रकार यह मैंने बृहत्साम उपासना कही। अब आगे

वैरूप साम की उपासना का वर्णन किया जायगा। आशा है आप दत्तचित्त होकर इसे श्रवण करेंगे।"

छप्पय

बृहत्साम हू रहै सूर्य में नित्य अवस्थित।
भली भाँति तिहि जानि उपासन करै पुरुष नित॥
अति तेजस्वी होइ अन्न को भोक्ता होवै।
उज्वल जीवन तासु शतायू सुख तैं सोवै॥
प्रजावान पशुवान बनि, कीर्तिवान होवै जगत।
तपते सूरज कूँ नहीं–निन्दै याको यही मत॥

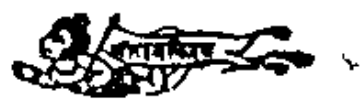

सामवेद की वैरूप उपासना

[१२३]

अभ्राणि सम्प्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥*

(छा० उ० द्वि० अ० १५ खं० १ म०)

छप्पय

एकत्रित नभ माँहिँ होइँ घन 'हिंकार' हु सो ।
मेघ होइँ उत्पन्न कहावै 'प्रस्ताव' हु सो ॥
जब वह बरसन लगै वही 'उद्गीथ' कहावै ।
विजला चमकै कड़िक ताहि 'प्रतिहार' जनावै ॥
उपसहार हु वृष्टि को, होइ निधन ताकूँ कहत ।
वैरूपहु यह उपासन, ओतप्रोत मेघहिँ रहत ॥

अब वैरूप उपासना जो सामवेद का पञ्चम भेद है, उसको कहते हैं। विकृत रूप या विविध रूप होने से वैरूप कहलाता है।

---

*नभ मे जब अभ्र एकत्रित होते हैं, वही 'हिंकार' है। जब मेघ उत्पन्न हो जाते हैं, वही 'प्रताव' है। जब बरसने लगते हैं वही उद्गीथ है। जब विजली चमकती है, कडकती है वही 'प्रतिहार' है। जब वर्षा की समाप्ति होती है उपसहार होता है—वही निधन है। यह वैरूप उपासना मेघ मे अनुस्यूत है। मेघ मे ओतप्रोत है, पिरोया हुआ है।

जिसके विविध रूप हो जायँ। यह उपासना पर्जन्य मे प्रतिष्ठित है। पर्जन्य की उपासना ही वेरूप उपासना कहलाती है। पर्जन्य मेघ का नाम है। यह पृषु सेचन धातु से बनता है (पर्षति=सिञ्चति=वृष्टि ददाति-इति पर्जन्यः) मेघ उसे कहते हैं जो गजते हुए वर्षा करते हैं, बिना गर्जन के भी जो वर्षा करत हैं, वे भी मेघ कहलाते हैं। वेसे पर्जन्य कहो, मेघ कहो, अभ्र कहो एक ही बात है। वारिमुच् भी मेघ का ही नाम है जो पानी बरसावे। वर्षा होती केसे है। सूर्यनारायण अपनी किरणों से जल के कणों को-शीकरों को खींच लेते हैं, धुएँ से बादल बनत हैं। वे बादल उन उन जल-कणों को-शीकरों को धारण करते हैं। इसीलिये वे अभ्र कहलाते हैं। (अपो बिभर्ति-इति=अभ्रः) जलकण वायु और धूम्र तीनों मिलकर मेघ बनते हैं। इसीलिये मेघों का नाम धूमयोनि भी है। क्योंकि धूम से ही मेघ बनते हैं। व्योमधूम भी इनका नाम है। तो पहिले तो आकाश मे बिखरे हुए मेघ वायु के द्वारा एकत्रित होते हैं। एकत्रित होकर फिर वे इस स्थिति म हो जात हैं, कि जल को वर्षा दें। जब वे परस्पर म टकरात हैं, तो शब्द करते हैं, गरजते हैं। मेघो के सघर्ष से विद्युत उत्पन्न होती है। वह आकाश में शब्द करती हुई, कड़कती हुई, चमचमाती हुई चमकती है। यथेष्ट वर्षा हो जाती है मेघ जल मुक्त हो जात हैं, रिक्त हो जाते हैं या वायु उन्हें उडाकर दूसरे स्थान पर ल जाता है, तब वर्षा बन्द हो जाती है। आकाश निर्मेघ शुद्ध हो जाता है। यही वर्षा का क्रम है। इसी वर्षा के क्रम म वेरूप उपासना की जाती है। उसी का वर्णन आगे होगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हिंकार प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन रूप में वरूप उपासना केसे करना चाहिए, इसका वर्णन करत हुए बताते हैं, कि वरूप की उपासना वर्षा में करनी

चाहिये क्योंकि सामवेद का जो वैरूप भाग है, वह मेघ में अनुस्यूत है। अर्थात् जैसे माला के दाने सूत्र में पिरोये हुए हैं माला का आधार सूत ही है। सूत को पृथक् कर देने पर उसकी संज्ञा माला नहीं रहती। इसी प्रकार वैराज में मेघ की ही स्तुति है, यह भाग मेघ सम्बन्धी ही है। इसमें वर्षा होने के पूर्व आकाश में संचार करते हुए अभ्र-धूम मिश्रित जल कण वायु द्वारा एकत्रित होते हैं। इनका सम्भवन होना है-संचार करके एकत्रित होना है, उसमें हिंकार की भावना करके उपासना करे। जब घन एकत्रित हो जाते हैं तब वे वर्षाभिमुख होकर-बरसने योग्य मेघ का रूप धारण कर लेते हैं। उन मेघों में प्रस्ताव की भावना करके उपासना करनी चाहिये। जब वे मेघ वर्षा करने लगते हैं तब उनमें उद्गीथ की भावना करके उपासना करनी चाहिये। जब वे वर्षा करते समय गड़गडाहट-तडतड़ाहट करते हुए बिजली चमकाते हैं, चमचम करती हुई बिजली चमकती है कडकती है उसमें प्रतिहार की भावना करके उपासना करनी चाहिये। जब वृष्टि का संहार हो जाय, वर्षा बन्द हो जाय, वर्षा करके घन जल शून्य हो जायँ या वायु उन्हें अन्यत्र उड़ा ले जाय, तो उनमें निधन की भावना करके उपासना करनी चाहिये। क्योंकि इस वैरूप्य साम का सम्बन्ध मेघ से ही है।

जो साधक वैरूप उपासना के इस रहस्य को जानकर इन्हीं भावनाओं से वैरूप साम की उपासना करते हैं, और वैरूप साम को मेघ में अनुस्यूत मानकर तद्रूप से ही भावना करके पूजते हैं उन्हें विरूप और सुरूप दोनों ही प्रकार के पशु प्राप्त होते हैं। विरूप पशु तो जैसे सिंह, व्याघ्र, बिलार, रीछ आदि हैं। उनका अवरोध करना क्या है, अर्थात् उन्हें पालतू बनाकर अपने वश में करके उनसे नाना प्रकार के कार्य करा सकते हैं। सुरूप पशु जैसे

गौ, घोड़े, बैल तथा हाथी आदि हैं उन्हें अपने वश में करके उनसे दूध का तथा वाहन आदि का कार्य लेते हैं। उसके यहाँ उपयोगी पशुओं की कमी नहीं रहती। उसकी कभी अकाल मृत्यु नहीं होती, अपने पूर्ण शतायु जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत करता है उसका जीवन परम उज्वल होता है। वह प्रजावान, पशुवान, कीर्तिवान तथा महान होता है। अर्थात् उसके सन्तानें बहुत होती हैं। उसके घर में उपयोगी पशुओं की प्रचुरता रहती है। वह अपनी उज्वल कीर्ति संसार में स्थापित कर जाता है। वह सब प्रकार से महान् बन जाता है। इस उपासना को भी व्रतपूर्वक करे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस उपासना का व्रत क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! इसका यही व्रत है, कि बरसते हुए मेघ की कभी भी निन्दा न करे। चाहे अधिक वर्षा हो या न्यून। सब में सम बुद्धि ही करके स्थित रहे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने वैरूप उपासना का वर्णन किया। अब वैराज साम की उपासना का वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

ओत प्रोत पर्जन्य माहिँ वैरूप उपासन।
जानि रहस अरु भेद करै जो जाकूँ प्रतिदिन॥
पशु विरूप जो होहिँ सिंह व्याघ्रादिक प्रानी।
होवैं चाहिँ सुरूप गाय वृष सब गुन खानी॥
सबई का अवरोध करि, उज्वल जीवन आयु शत।
प्रजावान पशुवान बनि, घन नहिँ निन्दे यही व्रत॥

इति छान्दोग्य उपनिषद के द्वितीय अध्याय में
पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त।

साम के वैराज भेद की उपासना

[१२४]

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः ।
शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥*
(छा० उ० द्वि० प्र० १६ ख०, १ म०)

छप्पय

सुनो विप्र ! वैराज उपासन सामवेद वर ।
ओत प्रोत ऋतु माहिँ रहसमय अति ही सुखकर ॥
है वसन्त हिंकार गीष्म प्रस्ताव बखानें ।
वर्षा ही उद्गीथ शरद प्रतिहार हु जानें ॥
निधन कही हेमन्त ऋतु, कही पांच ऋतु वेद महँ ।
अब आगे है शक्वरी, साम सतवीं भेद महँ ॥

गंगाजी का प्रवाह निरन्तर बहता ही रहता है। गंगाजी में पापों को काटने की पूरी शक्ति है। आप चाहें गोमुख जाकर गंगा जी में स्नान करो चाहे गंगासागर में जाकर शरीर से गंगाजल का स्पर्श होना चाहिये, गंगाजल का स्पर्श होते ही पाप जलने लगते

---

* वसन्त ऋतु ही हिंकार है, गीष्म ऋतु प्रस्ताव है, वर्षा ऋतु उद्गीथ है, उसकी उद्गीथ भाव से उपासना करनी चाहिये। शरद ऋतु को प्रतिहार माने। हेमन्त ऋतु को निधन जाने। यही वैराज साम उपासना है, यह ऋतुओं में ओतप्रोत है—अनुस्यूत है।

हैं। गंगाजी की धारा में गंगोत्री से गगासागर तक कहीं भी स्नान करो। गगा स्नान का फल प्राप्त हो जायगा। गगाजी की धारा उपलब्ध न भी हो सके, तो जो लोग गगाजली में गगाजल भर कर ले जाते हैं, उस गगाजल का भी पान, स्पर्श करने से पाप क्षय होते हैं। चाहे गंगाजी की अनन्त अथाह धार हो, अथवा गंगाजली का एक बिन्दु गगा जल हो, दोनों की ही शक्ति समान है। किन्तु पापों का नाश तभी सम्भव है जब तुम गगाजी की शरण मे जाओ, उनके समीप जाओ। उनकी जाकर उपासना करो। यदि उनकी शरण में नहीं जाते। उनका दर्शन स्पर्श, तथा पान स्नानादि नहीं करते, तो गगा जी समीप ही बहती रहे, तुम्हें फल प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार काल अनादि अनन्त है। वह भगवान् का रूप ही है। लव, क्षण, कला, काष्ठा, पल, घड़ी, मुहूर्त प्रहर, दिन, पक्ष, ऋतु, अयन, वर्ष तथा कल्प ये सब काल स्वरूप हैं, काल के विभाग हैं। चाहे लव क्षण हो या ब्रह्मा जी की पूर्णाहु का काल सब ही काल कहलायेंगे। काल के किसी भी रूप की उपासना करोगे, उसी के द्वारा परब्रह्म को प्राप्त कर सकते हो, यदि उपासना न करोगे, उनकी शरण मे न जाओगे, प्रपत्ति द्वारा प्रपन्न न होगी, तो काल तो सदा विद्यमान ही रहता है। हम ऐसे समय की मन से कल्पना भी नहीं कर सकते जिसमे काल विद्यमान न रहे सृष्टि का काल, स्थिति का काल, प्रलय का काल, प्रलयान्तर काल, कैसी भी स्थिति हो, काल का अस्तित्व रहेगा ही। किन्तु उस कालरूप की कैसे भी उपासना करोगे तो तुम्हें उपासना का परम फल--परम सुख--मोक्ष--मिल ही जायगा। अब यहाँ काल के स्वरूप ऋतु की उपासना का वर्णन करते हैं। यह हम पीछे बता ही चुके हैं, कि वेदवादी ६ऋतुओं के स्थान मे पाँच

साम के वैराज भेद की उपासना

[१२४]

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः।
शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥*

(छा० उ० द्वि० प्र० १६ ख० १ म०)

छप्पय

सुनो विप्र! वैराज उपासन सामवेद वर।
ओत प्रोत ऋतु माहिँ रहसमय अति ही सुखकर॥
है वसन्त हिंकार गीष्म प्रस्ताव बखानें।
वर्षा ही उद्गीथ शरद प्रतिहार हु जानें॥
निधन कही हेमन्त ऋतु, कहीं पांच ऋतु वेद महँ।
अब आगे है शक्वरी, साम सतवीं भेद महँ॥

गगाजी का प्रवाह निरन्तर बहता ही रहता है। गगाजी मे पापा को काटने की पूरी शक्ति है। आप चाहे गोमुख जाकर गगा जी म स्नान करा चाहे गगासागर मे जाकर शरीर स गगाजल का स्पर्श होना चाहिये, गगाजल का स्पर्श होते ही पाप जलन लगते

---

* वसन्त ऋतु ही हिंकार है, गीष्म ऋतु प्रस्ताव है वर्षा ऋतु उद्गीथ है, उसकी उद्गीथ भाव से उपासना करनी चाहिये। शरद ऋतु को प्रतिहार माने। हेम त ऋतु को निधन जाने। यही वैराज साम उपासना है, यह ऋतुओ मे ओतप्रोत है—अनुस्यूत है।

हैं। गगाजी की धारा मे गगोत्री से गगासागर तक कहीं भी स्नान करो। गगा स्नान का फल प्राप्त हो जायगा। गगाजी की धारा उपलब्ध न भी हो सके, तो जो लोग गगाजली में गगाजल भर कर ले जात हैं, उस गगाजल का भी पान, स्पर्श करने से पाप क्षय होत हैं। चाहे गगाजी की अनन्त अथाह धार हो, अथवा गगाजली का एक बिन्दु गगा जल हो, दोनों की ही शक्ति समान है। किन्तु पापा का नाश तभी सम्भव है जब तुम गगाजी की शरण मे जाओ, उनके समीप जाओ। उनकी जाकर उपासना करो। यदि उनकी शरण में नहीं जाते। उनका दर्शन स्पर्श, तथा पान स्नानादि नहीं करते, तो गगा जी समीप ही बहती रहें, तुम्हे फल प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार काल अनादि अनन्त है। वह भगवान् का रूप ही है। लव, क्षण, कला, काष्ठा, पल, घडी, मुहूर्त प्रहर, दिन, पक्ष, ऋतु, अयन, वर्ष तथा कल्प ये सब काल स्वरूप हैं, काल के विभाग हैं। चाहे लव क्षण हो या ब्रह्मा जी की पूर्णाहु का काल सब ही काल कहलायेंगे। काल के किसी भी रूप की उपासना करोगे, उसी के द्वारा परब्रह्म को प्राप्त कर सकते हो, यदि उपासना न करोगे, उनकी शरण मे न जाओगे, प्रपत्ति द्वारा प्रपन्न न होगी, तो काल तो सदा विद्यमान ही रहता है। हम ऐसे समय की मन से कल्पना भी नहीं कर सकते जिसमे काल विद्यमान न रहे सृष्टि का काल, स्थिति का काल, प्रलय का काल, प्रलयान्तर काल, केसी भा स्थिति हो, काल का अस्तित्व रहेगा ही। किन्तु उस कालरूप की कैसे भी उपासना करोगे तो तुम्हें उपासना का परम फल-परम सुख-मोक्ष-मिल ही जायगा। अब यहाँ काल के स्वरूप ऋतु की उपासना का वर्णन करते हैं। यह हम पीछे बता ही चुके हैं, कि वेदवादी ६ऋतुओं के स्थान मे पाँच

ही मानते हैं। शिशिर का समावेश वे हेमन्त मे ही कर लेते हैं। अतः हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इन पाँच क्रत्वङ्गो की उपासना पाँच ऋतुओं के साथ कैसे करनी चाहिये। इसी बात को बताते हैं।

सूतजी कहते हैं— मुनियो! अब तक गायत्र, रथन्तर, वामदेव्य, बृहत् और वैरूप जो साम के ५ भेद हैं उनकी उपासना बता चुके, अब छटे वैराज की उपासना का वर्णन करते हैं। यह वैराज उपासना ऋतुओं मे ओत प्रोत है। अर्थात् ऋतुओं में क्रत्वङ्गों की उपासना ही वैराज उपासना कहलाती है।

सर्वप्रथम ऋतु (चैत्र और वैशाख) वसन्त है। और क्रत्वङ्गों मे प्रथम हिंकार है। अतः वसन्त ऋतु में हिंकार की भावना करके उपासना करनी चाहिये। दूसरी ऋतु (ज्येष्ठ और आषाढ़) ग्रीष्म हैं। इधर क्रत्वङ्गो मे दूसरा प्रस्ताव है, अतः ग्रीष्म मे प्रस्ताव की भावना करके उसी द्वारा उपासना करनी चाहिये। तीसरी ऋतु (श्रावण और भाद्रपद) वर्षा है। तीसरा क्रत्वङ्ग उद्गीथ है, अतः वर्षा में उद्गीथ की भावना करके उपासना करनी चाहिये। चौथी ऋतु (कार कार्तिक) शरद है, इधर क्रत्वङ्गों मे चौथा प्रतिहार है। अतः शरद् ऋतु में प्रतिहार की भावना करके उपासना करनी चाहिये। पाँचवीं ऋतु हेमन्त (अगहन और पौष तथा माघ और फाल्गुन शिशिर भी इसी हेमन्त में सम्मिलित है) अतः हेमन्त मे निधन की भावना करके उपासना करनी चाहिये। यह वैराज उपासना ऋतुओं मे अनुस्यूत है अर्थात् वैराज उपासना ऋतुओं में ही की जाती है।

जो साधक इस वैराज उपासना को नियम से श्रद्धापूर्वक करते हैं, उनके उपयोगी पशुओं की कमी होती ही नहीं। वे ब्रह्मतेज से देदीप्यमान होकर विशेष शोभा के भाजन बन जाते हैं।

उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती, वे अपनी पूर्णायु का सुख से उपभोग करते हैं, उन्हें किसी प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ क्लेश नहीं पहुँचातीं। वे प्रजावान, पशुवान्, कीर्तिवान् तथा धनवान् होते हैं। इस उपासना को भी व्रतपूर्वक करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"इस वेराज उपासना का व्रत क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इसका व्रत यही है, कि ऋतुएँ कैसी भी क्यों न हों उनकी निन्दा न करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वेराज शब्द का अर्थ क्या है ? महीने जो कि ऋतुओं में विराजे वह वराज है। (विशेषेण ऋतुषु राजति=इति=वैराजम्) जो साम की उपासना ऋतुओं में की जाय उसका नाम वेराज है, तो पहिले जो इसी अध्याय के छठे खण्ड में ऋतुओं की उपासना कह आये हैं उसमें और इस वेराज उपासना में अन्तर क्या है ?"

सूतजी ने कहा—ब्रह्मन्! अन्तर तो कुछ नहीं है। वहाँ भी वसंत हिंकार, ग्रीष्म प्रस्ताव, वर्षा उद्गीथ, शरद प्रतिहार और हेमन्त को निधन बताकर उन उन में वैसी भावना करके उपासना करने को कहा है वही बात यहाँ भी कही है, किन्तु यहाँ इसकी विशेषकर शोभायमान होकर विराजने से वेराज संज्ञा कर दी है। विशेषता इतनी ही है इस उपासना को व्रतपूर्वक—ऋतुओं की निन्दा न करते हुए करनी चाहिये। अनिन्दित व्रत लेकर—समभाव रखकर विशेष रूप से इसे करे। ऐसा करने से ऋतु उपासना की अपेक्षा इसके फल में भिन्नता हो जायगी। अतः इसी उपासना को व्रतपूर्वक इसमें बताया गया है। यह मैंने आपसे वेराज उपासना का अत्यन्त ही संक्षेप में सार सुना दिया अब आप सातवीं शक्वरी साम की उपासना के सम्बन्ध में श्रवण कीजिये।"

छप्पय

राजति अतिहिँ विशिष्ट वही वैराज कहावै।
ओत प्रोत ऋतु माहिँ उपासन ऋतु करवावै॥
जो जानत इहि मर्म उपासक तेजवान अति।
आयु पूर्ण करि भोग सदा ताकी उज्वल मति॥
अति महान बलवान बनि, पुत्रवान पशुवान नित।
ऋतुनि नहीं निन्दे कबहुँ, वैराजहिँ को यही व्रत॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
सोलहवाँ खण्ड समाप्त।

सामवेद की शक्करी—उपासना

(१२५)

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः
प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥❀

(छा० उ० द्वि० अ० १७ ख० १ म०)

छप्पय

सुनो शक्वरी सुखद साम की सरस उपासन ।
है लोकनि अनुस्यूत उपासक कूँ मनभावन ॥
पृथिवी में हिंकार भावना विधिवत करिकें ।
अन्तरिक्ष प्रस्ताव हिये में भावनि भरिकें ॥
स्वर्गलोक उद्गीथ है, दिशा कहीं प्रतिहार है ।
निधन कह्यो पुनि नीरनिधि, यही शक्वरी सार है ॥

सकाम उपासनायें प्रजावान पुरुष ही करते हैं। जिन्होंने गृहस्थाश्रम की दीक्षा ली है, जो सपत्नीक हैं वे ही सकामोपासना के अधिकारी हैं। जिन्होंने गृहस्थाश्रम को स्वीकार न करके दार-ग्रहण नहीं किया है, वे त्रैलोक्य से ऊपर उठ जाते हैं। जो त्रैलोक्य से ऊपर चले गये, उनका प्रायः जन्म नहीं होता, वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं।

❀ पृथ्वी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है अर्थात् अन्तरिक्ष में हिंकार की भावना से उपासना करे, द्युलोक उद्गीथ है, दिशायें प्रतिहार हैं तथा समुद्र निधन है। यह शक्वरी साम लोकों में अनुस्यूत है।

जो गृहस्थी हैं, प्रजावान् हैं, वे प्रायः त्रैलोक्य से बाहर नहीं जाते है। वे छोटी, बड़ी योनियों में घूमते रहते हैं, कभी देवता बन जाते हैं, कभी पिपीलिका आदि क्षुद्र जीव। जो सकाम उपासक हैं, भगवान् के किसी रूप की किसी भाव की उपासना करते हैं, वे अपनी भावना के अनुसार फल पाते हैं। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड उन परमब्रह्म परमात्मा की ही मूर्ति है, किसी भाव से किसी में भी भावना करके जो सकाम निष्काम उपासना करेगा, उसे अपने भाव के अनुसार वैसा ही फल भी प्राप्त होगा। संसार में चार ही सबसे बड़े सुख माने जाते हैं। एक तो गोधन, गजधन, वाजिधन आदि पशुधन हो, चल सोना चाँदी आदि धन हो, अचल भूमि आदि धन हो। इस प्रकार चल-अचल सम्पत्ति को प्राप्त करना, दूसरे प्रजावान् पुत्रवान होना अर्थात् स्त्री हो भरा पूरा परिवार हो, तीसरे अपने शुभ कर्मों द्वारा कीर्ति हो, चौथे शरीर स्वस्थ हो, उसमें किसी प्रकार के भी रोग न हों। ये ही चार बातें इस लोक में सबसे सुखद वस्तुएँ हैं। जो सकाम उपासक होते हैं वे उपासना द्वारा (१) चल-अचल विपुल मात्रा में सम्पत्ति, बहुत-सी सन्तानें, विमल कीर्ति और नीरोग रहते हुए पूर्ण आयु को प्राप्त करना। मरने पर स्वर्ग प्राप्त हो, पुण्य क्षीण होने पर पुनः इस लोक में जन्म लेना पड़े, तो पवित्र श्रीमानों के यहाँ अथवा योगियों के परिवार में जन्म हो, जिससे पुनः शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते हुए स्वर्ग प्राप्त हो सके। सकाम उपासकों की भू, भुव और स्वर्ग इन तीन लोकों के अतिरिक्त अन्य लोकों में प्रायः गति नहीं। अतः जो गृहस्थ हैं, सकाम उपासक हैं तथा पृथ्वी के तथा स्वर्ग के सुखों के इच्छुक हैं, उन्हें लोकों में कृतवङ्गों की भावना करके सामवेद की शक्करी उपासना करनी चाहिये। वेद की जो २१ छन्दें बतायी हैं, उनमें एक शर्करी छन्द भी है।

उसी छन्द के नाम से इस उपासना का नाम शकरी उपासना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब सामवेद के दश प्रकार के भेदों में से जो सातवीं शकरी उपासना है, उसका वर्णन करते हैं। यह उपासना लोकों में अनुस्यूत है। अर्थात् लोक सम्बन्धी उपासना ही शकरी उपासना कहलाती है। लोक के जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशा और समुद्र ये पाँच अवयव हैं, उनकी हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इन कल्पङ्गों की भावना से उपासना करनी चाहिये। उन्हीं को बताते हैं।

पहिला जो पृथ्वी लोक है, उसमें हिंकार की भावना से उपासना करनी चाहिये। दूसरा जो अन्तरिक्ष लोक है, उसमें प्रस्ताव की भावना से उपासना करनी चाहिये। तीसरा जो द्यु-लोक—स्वर्गलोक—है उसमें उद्गीथ की भावना से उपासना करनी चाहिये। चौथी जो दिशायें हैं उनमें प्रतिहार की भावना करके उपासना करनी चाहिये। पाँचवा जो समुद्र है उसमें निधन की भावना करके उपासना करनी चाहिये।

जो इस प्रकार शकरी साम की उपासना करता है, और उसे पृथ्वी आदि लोकों में अवस्थित मानकर पूजता है, उस उपासक को उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है, वह लोकवान होता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती वह अपनी पूर्णायु का सुखपूर्वक उपभोग करता है। उसका जीवन व्याधियों से निर्मुक्त तथा, परम उज्वल होता है। वह इस लोक में बहुसतति वाला तथा बहुत से उपयोगी पशुओं का स्वामी होता है। उसके यहाँ गौओं की, घोड़ों और हाथियों की तथा अन्यान्य उपयोगी पशुओं की कमी नहीं रहती, वह प्रजावान पशुवान तथा महान् होता है। उसकी कीर्ति भी दिगदिगन्तों तक व्याप्त रहती है। इस उपासना को व्रतपूर्वक करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"शकरी उपासना का व्रत कौन-सा है ?"

सूतजी ने कहा—"इस शकरी उपासना का व्रत यही है कि कभी भूलकर भी पृथ्वी आदि लोकों की निन्दा न करे।"

शौनकजी ने पूछा - "सूतजी ! इसी छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के द्वितीय खण्ड मे जो लोको मे पंचविध उपासना बतायी गयी है, उसमे और इस शकरी उपासना में क्या अन्तर है ?"

सूतजी ने कहा —"भगवन् ! उसमे और इसमें थोड़ा अन्तर है वहाँ तो पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा अग्नि और आदित्य इन पाँचो को माना है। इसमे पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा दिशायें और समुद्र को माना है। वहाँ पर पृथ्वी मे हिंकार अग्नि में प्रस्ताव, अन्तरिक्ष मे उद्गीथ, आदित्य मे प्रतिहार और स्वर्ग में निधन की भावना बतायी है। उसमें किसी व्रत का उल्लेख नहीं। इस शकरी में लोकों की निन्दा न करना यह व्रत है। वास्तव में तो सब एक-सी ही उपासनायें हैं। यह मैंने सातवीं शकरी उपासना आपसे कही (अब आठवीं जो रेवती उपासना है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा, जो कि पशुओं में अनुस्यूत है। अर्थात् यह उपासना पशुओं मे क्रत्वङ्गो की भावना करके की जाती है।"

छप्पय

लोकनि में अनुस्यूत शक्वरी करै उपासन।
ओत प्रोत तिहिँ लोक जानिकें देवै तिहि मन॥
लोकवान बनि जाइ लोक उत्तम सो पावै।
पूर्ण आयुकूँ पाइ सुजीवनि तिहि बनि जावै॥
प्रजावान पशुवान बनि, विमल कीर्ति पावै जगत।
कबहुँ भूलतें नहिँ करै, लोकनि निन्दा यही व्रत॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
सत्रहवाँ खण्ड समाप्त।

रेवती और यज्ञायज्ञीय साम की उपासना

(१२६)

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः
प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥*

(छा० उ० द्वि० अ० १८ ख० १ म०)

छप्पय

कहूँ रेवती करो अजा हिंकार उपासन।
भेड़ कहीं प्रस्ताव गाय उद्गीथ सु-पावन॥
हैं घोड़ा प्रतिहार पुरुषकूँ निधन बतायो।
पशुनि माहिँ अनुस्यूत रेवती साम कहायो॥
आयुवान पशुवान नर, प्रजावान कीरति लहत।
करै उपासन रेवती, पशु नहिँ निन्दे यही मत॥

सामवेद के दश भेदों मे से गायत्र, रथन्तर, वामदेव्य, बृहत्, वैरूप, वैराज और शक्वरी इन सात प्रकार की उपासनाओं का वर्णन कर चुके, अब आठवीं और नववीं जो रवेती और यज्ञायज्ञीय उपासनायें हैं उनका वर्णन किया जाता है। रवेती उपासना पशुओं मे तथा यज्ञायज्ञीय उपासना पशुओं के अङ्गो मे अनुस्यूत है। पहिले

---

* रेवती उपासना मे बकरियां हिंकार हैं, भेडें प्रस्ताव हैं। गौयें उद्गीथ हैं, घोडे प्रतिहार हैं और पुरुष ही निधन है। यह रेवती उपासना पशुओं मे ओतप्रोत है। अनुस्यूत है।

कुछ लोग पशुओं के अंगों द्वारा यज्ञ किया करते थे। कुछ इसके विरोधी थे। शास्त्र का वचन था, कि अज के द्वारा होम करे। कुछ लोग अज का अर्थ बकरा करते थे; कुछ ऋषिगण अज का अर्थ करते चावल आदि जो बोने से उत्पन्न न हों जैसे चावल फल आदि। इस पर राजा उपरिचर को मध्यस्थ बनाया। उन्होंने देवताओं के पक्ष में निर्णय दिया। इस पर ऋषियों ने उसे शाप देकर उसकी आकाश में विचरण करने की शक्ति नष्ट कर दी। इस प्रकार वैदिक काल से एक मांस के पक्षपाती दूसरे मांस के विरोधी दो पक्ष चले आते हैं। एक पक्ष वाले यज्ञों में पशुओं का बलिदान करते हैं, दूसरे पक्ष वाले मुनि अन्नों द्वारा ही यज्ञ कार्यों को सम्पन्न कर लेते हैं। अथर्ववेद की ऐसी ही एक श्रुति में कहा गया है—कुछ मुग्ध-मूढ़-लोग जिन्हें असुर ही कहना चाहिये। कुत्ते के द्वारा यज्ञ करते हैं, कुछ गौ के अंगों से भी बहुधा यज्ञ करते हैं। यहाँ इस यज्ञायज्ञीय उपासना में मांस न खाने का व्रत बताया है। अतः ये मांस के विरोधी हैं। रेवती पशुओं में और यज्ञायज्ञीय, यज्ञीय पशुओं के अंगों में अनुस्यूत है। उन्हीं का वर्णन आगे करेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब रेवती उपासना को कहते हैं-यह उपासना पशुओं में ओतप्रोत है अर्थात् यह उपासना पशुओं में की जाती है। जैसे बकरियाँ है, इन्हें हिंकार माने। भेड़ों को प्रस्ताव, गायों को उद्गीथ, घोड़ियों में प्रतिहार भावना करे तथा पुरुषों में निधन भावना करके उपासना करे।

जो इस रेवती साम की उपासना के तत्त्व को जान कर इसे पशुओं में ओतप्रोत समझकर उपासना करता है, वह बहुत से पशुओं का स्वामी होता है, वह पूर्ण आयु का व्याधियों से रहित होकर उपभोग करता है। उसका जीवन परम उज्वल होता है।

वह प्रजावान पशुवान तथा कीर्तिवान होता है, उसकी महत्ता की ख्याति सर्वत्र फैल जाती है। इस रेवती उपासना को भी व्रत सहित करना चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस रेवती उपासना का व्रत क्या है?"

सूतजी ने कहा—"रेवती के उपासक साधक को किसी भी पशु की निन्दा न करनी चाहिये यही इसका व्रत है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! दूसरे अध्याय के षष्ठ खण्ड में जो पशुओं में पाँच प्रकार की सामोपासना बतायी है, उसमे और इस रेवती उपासना में क्या अन्तर है?"

सूतजी ने कहा—"कुछ भी अन्तर नहीं, भगवन्! दोनो में क्रमशः हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन मे बकरियाँ भेडें, गौयें, अश्व और पुरुष की भावना करके उपासना बताई है। इस रेवती उपासना में पशुओं की निन्दा न करे यह व्रत विशेष है। इसके अनन्तर यज्ञायज्ञीय सामोपासना है। यह पशुओं के अगों मे ओतप्रोत है। शरीरों में जो रोम होते हैं, वही तो हिंकार है। त्वचा प्रस्ताव है, मास उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है। मज्जा निधन है। इसकी उपासना यज्ञीय पशुओं के अगों में करनी चाहिये। जो इस रहस्य को जानकर यज्ञीय पशुओ के अगो में तत् तत् भावना करके उपासना करता है। उसका कोई भी अग कभी विकल नहीं होता। अर्थात् वह लूला, लँगडा, काना आदि नहीं होता। वह अपनी पूर्ण आयु का उपभोग करके शतायु होता है, उसे किसी प्रकार की शरीरिक व्याधि नहीं होती। वह अपना सम्पूर्ण जीवन उज्वलता के साथ व्यतीत करता है। वह प्रजावान पशुवान तथा महान् होता है।

उसकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रहती है, यह उपासना भी व्रतपूर्वक करनी चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इस यज्ञायज्ञीय उपासना का व्रत क्या है।"

सूतजी ने कहा—"कम से कम एक वर्ष पर्यन्त मांस भक्षण न करे अथवा जीवन मे कभी भी मांस भक्षण न करे यही इस उपासना का व्रत है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने सामवेद की आठवीं और नववीं रेवती तथा यज्ञायज्ञीय उपासना कही। अब आगे अन्तिम दशवी राजन उपासना का वर्णन आपसे करूँगा, उसे कृपा करके श्रवण करें।"

छप्पय

है यज्ञायज्ञीय लोम हिंकार बताये।
त्वचा कह्यो प्रस्ताव मांस उद्गीथ जताये॥
कहीं अस्थि प्रतिहार सुमज्जा निधन कहायो।
अंगनि में अनुस्यूत साम अँग नवम बतायो॥
जानि सुघर अँग प्रजा पशु, कीर्ति विमल हो आयु शत।
कबहुँ मास खावै नहीं, एक बरष वा यही व्रत॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय मे
अठारह और उन्नीसवाँ खण्ड समाप्त।

सामवेद की राजन उपासना

(१२७)

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजन देवतासु प्रोतम् ॥*

(छा० उ० द्वि० प्र० २० ख० १ मं०)

छप्पय

सामवेद दश भेद उपासन दशवीं राजन ।
देवनि में अनुस्यूत भाव करि होवैं पावन ॥
अग्निदेव हिंकार वाय प्रस्ताव बतावें ।
आदित्य हु उद्गीथ भाव करि जो नर ध्यावें ॥
नक्षत्र हु प्रतिहार हैं, चन्द्रदेव हैं निधन सुनि ।
भाव सहित करि उपासक, पावैं सब सुख सुनहु मुनि ॥

देवताओं की सख्या तो असख्य है। फिर भी तेतीस कोटि देवता बताये हैं। इनमें कुछ गण देवता हैं जो एक गण में साथ ही गिने जाते हैं। जैसे १२ आदित्य देव, ३० तुषितादेव, १० विश्वेदेवा, १२ साध्यगण, ६४ आभास्वर, ४९ मरुद्गण, २२० महाराजिक,

---

* अग्नि देव हिंकार हैं वायुदेव प्रस्ताव हैं, सूर्यदेव उद्गीथ हैं, समस्त सत्ताईस नक्षत्र ही मानो प्रतिहार हैं, चन्द्रदेव ही निधन हैं। यह जो साम की राजन नाम की उपासना है, यह देवताओं में ओतप्रोत है, अत देवताओं में भावना करके करनी चाहिये।

११ रुद्र तथा ८ वसु। कुछ पृथक् देवता होते हैं जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर देवताओं में मुख्य तीन ही हैं ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीन इनकी शक्तियाँ हैं। अतः तीन को तीन से गुणा करने पर ९ होते हैं। अतः तीन के शब्द को बायें से दायीं ओर ९ बार लिखे। जैसे ३३३३३३३३३ अर्थात् तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस सब देवता हैं। वैसे वर्णाश्रम धर्म पृथ्वी पर ही है, देवलोक में वर्णाश्रम धर्म नहीं है, फिर देवताओं में भी कहीं-कहीं वर्ण भेद का उल्लेख है महाभारत में आदित्यों को क्षत्रिय, मरुतगणों को वैश्य, अश्विनी कुमारों को शूद्र तथा आंगिरस देवताओं को ब्राह्मण बताया है।* इन सब देवताओं में पंचदेवों की ही मुख्य रूप से उपासना की जाती है। (१) गणेश, (२) सूर्य, (३) विष्णु, (४) शिव और (५) शक्ति ये ही पंचदेव हैं। कहीं-कहीं अग्नि को भी और मिलाकर ६ देव मुख्य माने गये हैं।

इनमें पाँच देवता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं (१) अग्निदेवता, (२) वायुदेवता, (३) सूर्यदेवता, (४) चन्द्रदेवता और चन्द्रमा की २७ पत्नी रूप में जो नक्षत्र हैं वे भी प्रत्यक्षदेव हैं। यद्यपि वायुदेव नेत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देते, फिर भी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा उनका प्रत्यक्ष होता है। इन प्रत्यक्ष देवों में सामवेद के पाँच क्रत्वङ्गों की भावना करके जो उपासना की जाती है वही राजन उपासना है। इस उपासना का व्रत बताया है, कि ब्राह्मणों की कभी भी निन्दा न करे।

अब सन्देह यह होता है, कि अन्य उपासनाओं में जो व्रत

---

* नवैवाङ्गास्त्रिवृद्धाः स्युर्देवाना दशकैगणैः।
ते ब्रह्म विष्णुरुद्राणा शक्तीनां वर्ण भेदतः॥
(आगमे)

बताये हैं, उनमे तो जो वस्तु उस उपासना मे अनुस्यूत है उसकी निन्दा न करने का व्रत बताया है। जैसे बृहत् उपासना सूर्य मे अनुस्यूत है तो वहाँ सूर्य की निन्दा न करने का व्रत बताया है। वराज उपासना ऋतुओं मे अनुस्यूत है अतः ऋतुओं की निन्दा न करे यही व्रत है। शक्वरी उपासना लोकों मे अनुस्यूत है अतः लोकों की निन्दा न करे। रेवती उपासना पशुओं मे अनुस्यूत है तो वहाँ पशुओं की निन्दा न करे यह व्रत बताया है। यहाँ राजन उपासना अनुस्यूत ता देवताओं मे है और इसमे व्रत बताया है, कि ब्राह्मणों की निन्दा न करे। यह कैसी बात है ?

बात यह है कि जैसे स्वर्ग मे तो अमृत है जिसे देवता पीते हैं। पृथ्वी पर घृत को ही अमृत बताया है (आज्य वे अमृतम्) इसी प्रकार ब्राह्मण पृथ्वी के देवता ही हैं। इसी से इनका नाम भूदेव है। जो जाति से, कुल से, अपनी शुद्ध वृत्ति से, स्वाध्याय और वेदज्ञान से युक्त हो वही ब्राह्मण है। जो मान और अपमान मे हर्ष और क्रोध नहीं करता, समस्त प्राणियों को जो अभय प्रदान करता है। जो भीड भाड से डरता है, धन को नरक मानता है और परस्त्री को शव समझता है, जो सग्रह नहीं करता जो मिल जाता है उसी से देह ढक लेता है, जो मिल जाता है उसी को खाकर प्राणों को तृप्त कर लेता है, जहाँ कहीं भी सो जाता है वही ब्राह्मण है। जो नि सग रहता है, जो एक दिन से अधिक कहीं ठहरता नहीं अर्थात् विरक्तभाव से पर्यटन करता रहता है शात गम्भीर रहता है, जिसका सम्पूर्ण जीवन धर्म के ही निमित्त होता है, रति केवल सतानोत्पत्ति रूप धर्म के ही निमित्त करता है, जो रात्रि दिन निरन्तर पुण्य कार्यों में लगा रहता है। ऋषिगण उसे ही ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मणों के हाथ में स्वर्ग है, उनकी वाणी मे वेद प्रतिष्ठित हैं हाथों मे भगवान् हैं, उनका शरीर तीर्थ रूप है यज्ञ रूप

है। नाड़ियों में त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। कण्ठ के कुहर में वेद माता गायत्री रहती है हृदय में ब्रह्माजी निवास करते हैं। या वेद सम्मत है। उनके स्तनों के बीच में धर्म रहता है पीठ में अधर्म है। ऐसे ब्राह्मण पृथ्वी के साक्षात् देवता ही हैं।❀

इसीलिये राजन उपासना मे ब्राह्मणों की निन्दा न करने का व्रत है। अब उस राजन उपासना का वर्णन किया जाता है।

सूतजी कहते हैं - "मुनियो! अब मैं राजन साम की उपासना को बताता हूँ। यह उपासना देवताओं मे अनुस्यूत है। अर्थात् देवताओं मे क्रत्वङ्गों की भावना करके उपासना करनी चाहिये। इनमे सबसे प्रत्यक्ष तेजस्वी अग्नि देवता हैं, ये समस्त देवों के मुख हैं। ये ही सब देवों के भागों को लेजाकर उन्हें पहुँचाते हैं। अतः इन अग्निदेव मे हिंकार की भावना करके उपासना करनी चाहिये। दूसरे प्रत्यक्ष देव वायु हैं। ये ही सबके प्राण हैं, जीवन हैं, अतः इनमे प्रस्ताव की भावना करके उपासना करनी चाहिये। तीसरे प्रत्यक्षदेव सूर्यनारायण हैं, ये सबको प्रकाश प्रदान करते हैं। जल को चुराकर वर्षा में बरसाते हैं। इन सूर्य में उद्गीथ का भावना करनी चाहिये। प्रजापति कश्यप ने अपनी साठ कन्याओं मे से २७ चन्द्रमा को दीं। ये ही २७ नक्षत्र कहाते हैं, जो आकाश मे प्रत्यक्ष दीखते हैं इन नक्षत्रों मे प्रतिहार की भावना करनी चाहिये। इन नक्षत्रों के तथा ब्राह्मणों और सर्व

❀ ब्राह्मणाना करे स्वर्गो वाचो वेदाः करे हरिः।
गात्रे तीर्थानि यागाश्च नाडीषु प्रकृतिस्त्रिवृत्॥
सावित्री कठ कुहरा हृदय ब्रह्म सङ्गतम्।
तेषा स्तनान्तरे धर्मः पृष्ठेऽधर्मः प्रकीर्तितः॥
भू देवा ब्राह्मणा राजन्! पूज्या वन्द्याः सदुक्तिभिः।
(कल्कि पुराणे)

ओषधियों के जो पति चन्द्रमा हैं, उनमे निधन की भावना करके उपासना करनी चाहिये। यह उपासना प्रत्यक्ष देवताओं मे अवस्थित है, देवताओं मे अनुस्यूत है।

जो साधक इस राजन उपासना को करता है, उसे इन देवताओं के लोको की प्राप्ति होता है अथवा देवताओं के समान ऐश्वर्य प्राप्त होता है, अथवा देवताओं के साथ परस्पर मे मिल जाते हैं, देवताओं का सालोक्यत्व, सष्टित्व तथा सायुज्य प्राप्त होता है, इस उपासना को भी व्रत पूर्वक करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इस उपासना का व्रत क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! इस उपासना का व्रत यह है, कि कभी भी ब्राह्मणों की निन्दा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि श्रुति का वचन है, कि ये जो ब्राह्मण हैं, वे प्रत्यक्ष देवता ही हैं (एत वे देवाः प्रत्यक्ष यद् ब्राह्मणाः) जब ब्राह्मण प्रत्यक्ष ही पृथ्वी के देवता–भू सुर-भू देव–हैं, तो उनकी निन्दा देवनिन्दा क ही सदृश है। अतः राजन उपासना के उपासक का भूल से भी कभी ब्राह्मणों की निन्दा न करनी चाहिये। ब्राह्मणों की ही क्या कभी भी किसी की भी निन्दा न करनी चाहिय। निन्दा से बडा पाप कोई नहीं है, निन्दक घोर नरकों मे जाता है। जो निन्दा प्रिय हो, जिसे निन्दा अच्छी लगती हो, जा परोक्ष मे या प्रत्यक्ष मे दूसरों की निन्दा करता हो, उस घोर नारकीय जीव समझना चाहिये, निश्चय ही वह नरकों से लौटकर आया है, किसी पूर्व सुकृत के कारण उसे मानव योनि मिल गयी है। अतः वह पापी होने के कारण कभी भी जीवन मे सुखी नहीं रह सकता। उसे भाँति-भाँति के शारीरिक रोग कष्ट देते रहते हैं, दूसरो से ईर्ष्या रखने के कारण वह आधिव्याधियों से सदा युक्त बना रहता है। उसका

शरीर तथा मन कभी स्वस्थ नहीं रहता। निन्दक भगवत् उपासना का अधिकारी ही नहीं। वह तो लोभाभिभूत होने के कारण रात्रि-दिन धन संग्रह करने में ही लगा रहता है। मर कर वह पुनः निश्चय ही नरकों में जाता है। अतः निन्दक पुरुष के तीन जन्मों का वृत्तान्त प्रत्यक्ष ही है।

सूतजी शौनकादि नैमिषारण्य वासी ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में राजन उपासना कही। अब सामवेद की सर्व विषयक उपासना कैसे करनी चाहिये इसका वर्णन मैं आपसे करूँगा। आशा है, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

देइ देव सालोक्य सार्ष्टि सायुज्य हु राजन।
देवनि में अनुस्यूत मामकी सुखद उपासन॥
उज्वल जीवन होइ आयु सब भोगे पूरन।
प्रजावान पशुवान होइ पावै सुख पावन॥
जग में पावै कीर्ति अति, धर्म माहिं नित-नित निरत।
विप्रनि की निन्दा नहीं-करै यही है तासु व्रत॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
बीसवाँ खण्ड समाप्त।

—:—

सामवेद की सब में ओतप्रोत उपासना

[१२८]

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाँसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधमेतत्साम सर्वास्मिन्प्रोतम् ॥*

(छा० उ० २ म० २१ ख० १ म०)

छप्पय

सब में जो अनुस्यूत साम की सुनहु उपासन।
त्रयी कही हिंकार लोकत्रय प्रस्तावहु सुन॥
अग्नि, वायु, आदित्य, यही उद्गीथ कहावें।
खग, मरीचि, नक्षत्र, इन्हें प्रतिहार बतावें॥
पितर, सर्प, गन्धर्व ये, कहे निधन अनुस्यूत सब।
जाको जो फल होत है, कहहुँ ताहि सो सुनहु अब॥

सामवेद के जो (१) गायत्र, (२) रथन्तर, (३) वामदेव्य, (४) बृहत्, (५) वैरूप, (६) वैराज, (७) शक्वरी, (८) रेवती, (९) यज्ञायज्ञिय और (१०) राजन ये जो दश भेद पीछे बताये

---

* तीनो वेद ही हिंकार है, त्रिलोक ही प्रस्ताव है, अग्नि, वायु और आदित्य ये तीन देव ही उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें ही प्रतिहार हैं। सर्प, गन्धर्व तथा पितृगण ही निधन हैं। यही सर्व विषयक सामोपासना है, यह सभी में अनुस्यूत हैं। ओतप्रोत है।

थे, उन दशो की उपासना का वर्णन हो चुका अब आगे सामवेद की सर्वविषयक उपासना का वर्णन करेंगे। सब मे जो सरकता रहे व्याप्त रहे वही सर्व कहलाता है (सर्वस्मिन् सर्वति इति= सर्व्वः) सम्पूर्ण, सकल, विश्व, समग्र, निखिल अखिल, सर्व, सम्पूर्ण ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। वास्तव मे तो सर्व शब्द का अर्थ है भगवान् विष्णु। वे ही सब मे व्याप्त हैं, वे ही एक से बहुत बन गये हैं। उन्होने कहा है मैं ही सबके हृदय मे सन्निविष्ट हूँ (सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः, गीता) जिसे सब समय सभी का समान भाव से ज्ञान रहे वही सर्व है। उत्पत्ति, स्थिति, लय, सत् असत कोई बात कभी जिनसे छिपी न रह सके वे ही सर्व हैं।* भगवान के अतिरिक्त ऐसा और कौन हो सकता है। वे ही सर्वात्मा जब जगत् का रूप रखकर एक से बहुत हो जाते हैं तो सर्व का अर्थ होता है सम्पूर्ण संसार। सामवेद की सर्व विषयक उपासना में पहिले सबको तीन में बाँट दिया है। क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत त्रिगुणात्मक है। तीन से ही सम्पूर्ण सृष्टि है। जैसे तीन गुण, तीन देव, तीन वेद, तीन दोष तथा तीन लोक आदि तीन से ही संसार विस्तृत हो गया है। इन तीन को उन्होंने पंचात्मक कर दिया है। सामवेद के जो पाँच (१) हिंकार, (२) प्रस्ताव, (३) उद्गीथ, (४) प्रतिहार और (५) निधन ये पाँच क्रत्वङ्ग हैं, इन पाँचों मे ३-३ का समाहार करके इसकी सर्व संज्ञा दे दी है। इसमें विश्व ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुएँ आ गयीं। जैसे त्रयी विद्या है। विद्या उसे कहते हैं, जो हमें मुक्ति का मार्ग दिखाकर मुक्ति तक पहुँचा दे। मुक्ति मे बाधक वस्तु है मृत्यु। जो मरता है, उसे जन्म लेना पडता है, जो जन्मता है

* अमतश्च मतश्चैव सर्वस्य प्रभवाव्ययाः।
सर्व्वस्य सर्वदा ज्ञानात् सर्व्वमेव प्रचक्षते॥

उसकी मृत्यु ध्रुव है। जन्म मृत्यु के चक्कर से जो छुटा दे वही विद्या है। निष्कामभाव से किया हुआ कर्म है मृत्यु से बचा सकता है। और ज्ञान ही अमर कर सकता है। अतः कर्म और ज्ञान का वर्णन जिसमे हो उसी का नाम त्रयीविद्या है। कर्म किसे कहते हैं–यज्ञ के लिये जो काम किया जाय वही तो कर्म है, शेष सब कर्म तो बन्धन के कारण हैं (यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र लोकोय कर्म बन्धनः) यज्ञो में क्या होता है, देवताओं का यजन पूजन होता है, उन्हे बलि दी जाती हैं, प्रत्यक्ष देवता तो बलि लेने आते नहीं हैं। अतः अग्नि उनका मुख है, अग्नि मे देवताओं के निमित्त हवि देते हैं। तो सबसे पहिले देवताओं के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिये। जैस जिसके हाथ में वज्र हो वही इन्द्र है। इसलिये यज्ञ मे सबस आवश्यक विषय है देवताओं के स्वरूपों का ज्ञान। ऋक्वेद मे विशेषकर देवताओं क स्वरूपों का ही वर्णन है। प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि यज्ञ के साथ की। मनुष्य यज्ञ करें, देवता सन्तुष्ट होकर वृष्टि आदि करें जिससे परस्पर मे दोनों काम चल जाय। इसलिये यज्ञ कर्म अत्यावश्यक है। वह यज्ञ कैसे करना चाहिये इसकी विधि का वर्णन प्रायः यजुर्वेद मे है। देवताओं के स्वरूप का ज्ञान हो गया, यज्ञ की विधि जान ली गयी अब देवताओं की स्तुति किस गायन से की जाय, उन गानों का वर्णन सामवेद में है। यज्ञा मे गायन करने योग्य मन्त्र–किस मन्त्र से किस देवता की स्तुति गान की जाय, ऐसे मन्त्र सामवेद में हैं। ये ऋक्, यजु और साम तीनों ही वेदत्रयी विद्या के नाम से विख्यात हैं। अतः विश्व ब्रह्माण्ड का सर्वज्ञान इन्हीं मे आ गया।

देवताओं मे प्रत्यक्ष मुख्य तीन ही देव हैं, एक अग्नि, दूसरे वायु, तीसरे सूर्य। अतः इन तीनों के अन्तर्गत समस्त देवताओं

का समाहार हो गया। आकाश में विचरण करने वाली तीन ही वस्तुएँ हैं। सूर्य चन्द्रादि ग्रहों की किरणें, पंख वाले पक्षी और सभी नक्षत्र इन तीन में आकाशगामी सभी वस्तुओं का समाहार हो गया। देवताओं का समाहार तो अग्नि, वायु और आदित्य में हो चुका। अब देवताओं के अतिरिक्त उपदेव भी बहुत होते हैं। अतः सर्प, गन्धर्व और पितरों में सभी उपदेवों का समाहार हो गया। गन्धर्व कहने से यक्ष राक्षस, पिशाच, असुर आदि सभी उपदेवों का, सर्प कहने से नाग, सर्प आदि का समावेश है। सर्प एक सिर वालों को कहते हैं। नाग बहु सिर वाले होते हैं। पितर कहने से (१) कव्यवाह, (२) अनल, (३) सोम, (४) यम, (५) अर्यमा, (६) अग्निष्वात्त और (७) बर्हिषद् इन सात नित्य पितरों का तथा मर कर जो अस्थायी पितर योनि में जाते हैं उन सबका समावेश हो जाता है। ये सब उपदेव कहलाते हैं। तीन लोकों में १४ भुवनों का समावेश हो गया। नीचे के सात लोक (भू विवर) और पृथ्वी ये आठ भू लोक दूसरा अन्तरिक्ष लोक स्वर्गलोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त पाँचों लोक स्वर्ग कहलाते हैं। इस प्रकार तीन लोक कहने से चतुर्दश भुवन आ जाते हैं। इन पाँचों की साम के ५ क्रत्वङ्गों के रूप में उपासना करना यही सर्व विषयक साम की उपासना है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब सर्वविषयक साम की उपासना को बताते हैं। ऋक, यजु और साम ये जो तीन वेद हैं। ये तीनों मिलकर त्रयीविद्या कहलाते हैं, इस त्रयीविद्या में हिंकार की भावना करके उपासना करे। भू, भुव और स्वर्ग ये तीनों मिलकर त्रिलोक कहलाते हैं। इन त्रिलोकों में प्रस्ताव की भावना करे। अग्नि, वायु और आदित्य ये तीनों त्रिदेव कहलाते हैं, इनमें उद्गीथ की भावना करे। नक्षत्र, पक्षी और किरणें ये

है, वे अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं। इनमें प्रतिहार की भावना करे। सर्प, गन्धर्व और पितृगण ये उपदेव कहाते हैं, इनमें निधन की भावना करे। यही साम की सर्वविषयक सामोपासना है। यह संसार के सभी पदार्थों में अनुस्यूत है।

अब इस सर्वविषयक उपासना के उपासक को क्या फल प्राप्त होता है, इसे बताते हुए कहते हैं, कि जो इस सर्वविषयक साम की उपासना करता है, साम को सब में अनुस्यूत मानकर इसका भजन पूजन करता है, वह भी सर्वरूप हो जाता है। क्योंकि जो जिसकी उपासना करता है वह उसी के स्वरूप का हो जाया करता है। इस विषय में श्रुति का भी एक वचन है, वह इस प्रकार है—

पीछे जो अठारहवां, तीन लोक, तीन वेद, तीन खग तथा तीन उपवेदों के पाँच प्रकार की [illegible] को जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, कारण इन १५ से [illegible] और कोई है ही नहीं ये ही सब संसार में व्याप्त हैं। सर्व [illegible] है। जो इनको जानता है, उसे और कुछ भी जानने को नहीं रह जाता। वह सब का ज्ञाता हो जाता है। उसके लिये दसों दिशायें बलि देने को उद्यत हो जाती हैं। इस उपासना को भी व्रत पूर्वक करे।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! इस उपासना का व्रत क्या है?"

सूतजी ने कहा—"मैं सब कुछ हूँ" ऐसी भावना सदा सर्वदा करता है। यही इस उपासना का व्रत है। यही व्रत है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने उत्कर्षसयी साम की सर्वविषयक उपासना कही। अब साम कोन-सा [illegible] कैसे गाना चाहिये, इस विषय को [illegible]।"

छप्पय

है श्रुति हू को कथन पांच जो तीनि-तीनि हैं।
ये सबई तैं श्रेष्ठ श्रेष्ठ इनतैं न और हैं॥
सर्वविषय जो साम उपासन जो जन जाने।
होवै वह सरवज्ञ सबहि कछु हौं यह माने॥
दश दिशि बलि अरपित करें, व्याप्त साम सब में सतत।
हौं ही हू सब में निहित, सब विषय को यही व्रत॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
इक्कीसवाँ खण्ड समाप्त।

साम के विविध आगानों उद्गीथों के नियम

[१२९]

विनर्दिं साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्ण वायोः श्लक्ष्ण बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुण त्वेव वर्जयेत् ॥*

(छा० उ० २ प० २२ ख० १ म०)

छप्पय

साम विनर्दी गान वरन करि पशुअनि हितकर।
अग्निदेव उद्गीथ प्रजापति अनिरुक्तहि वर॥
कह्यो निरुक्तहु सोम वायु को मृदुल सरल स्वर।
इन्द्र सरल बलवान बृहस्पति क्रौंच सरिस स्वर॥
अपध्वान्त है वरुण को, उद्गीथनि सेवन करै।
वरुण गान अति भ्रष्ट है, तातैं ताकूँ परिहरै॥

---

* अब पशुओं के हितकर जो सामवेद का 'विनर्दि' नामक गायन है, उसका वरण करता हूँ यह अग्नि देवता सम्बन्धी उद्गीथ है। अनिरुक्त नाम का उद्गीथ प्रजापति का है, निरुक्त सोम का उद्गीथ है। वायु का मृदुल और श्लक्ष्ण उद्गीथ है। श्लक्ष्ण और बलवान उद्गीथ इन्द्र

व्याकरण शास्त्र के सदृश संगीत शास्त्र के भी बड़े कठिन नियम हैं। जैसे व्याकरण के अनुसार शब्दोच्चारण मे तनिक भी त्रुटि हो गयी। स्वर, व्यञ्जन, उदात्त, अनुदात्त या उच्चारण सम्बन्धी कुछ भी गड़बड़ी हो गयी, तो वह शब्द अपने अर्थ को न कहकर दूसरे को कहता है। जैसे सकृत् शब्द है इसका अर्थ 'थोडा' है उसी को दन्ती संकार न करके तालव्य सकार कर दो 'शकृत्' उच्चारण कर दो, तो विष्ठा का बोधक हो जायगा। यही बात सगीत शास्त्र के सम्बन्ध में है। अमुक राग में कौन-कौन से स्वर लगने चाहिये इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। एक स्वर की भी गड़ बड़ी हो गयी, तो राग दूषित हो जाता है। मृदु को मंद स्वर मे कह दिया या मद को तार स्वर में गा दिया तो रस ही भंग हो जाता है। अतः गान के नियमों को जानकर ही गान करना चाहिये। पहिले हमारे देश में सामगायन का सर्वत्र प्रचलन था। वेद पाठियों मे स्थान-स्थान पर साम गाने वाले ब्राह्मण मिल जाते थे। जब वे सस्वर साम का गायन करते थे, तब बड़ा ही पावन वातावरण बन जाता था। यज्ञों के अभाव के कारण, वेदाध्ययन में रुचि न रहने के कारण, अर्थ को ही सब कुछ समझने के कारण, निःस्वार्थ भाव से अध्ययन न करने के कारण, अधर्म की वृद्धि के कारण तथा कलिकाल के प्रभाव के कारण विधिवत् वेदों का स्वाध्याय लुप्त प्रायः हो गया। अब सामवेद के गायक कहीं विरले ही मिलते हैं। इससे इस विषय को समझने में बड़ी असुविधा हो गयी। पहिले जब सर्वत्र साम गायन होता

का है। क्रौञ्च उद्गीथ बृहस्पति का है वरुण का उद्गीथ अपध्वान्त है। और सब उद्गीथों का तो सेवन करे, किन्तु भ्रष्ट होने से वरुण के उद्गीथ का परित्याग कर दे।

था, तब ब्राह्मणों के छोटे-छोटे बालक भी साम गायन सम्बन्धी नियमों से परिचित होते थे और उन्हीं नियमों के अनुसार साम गायन करते थे। सामवेद के गायन करने वालों को उद्गाता कहते थे (उद्गायति सामवेद य सः=उद्गाता) उद्गीत उसे कहते हैं जो ऊँचे स्वर से गाया जाय (उद् उच्चैः गीयते+इति= उद्गीतः) सामवेद में उसे उद्गीथ कहते हैं। सामवेद के द्वितीय अध्याय का नाम उद्गीथ है। वैसे समस्त सामवेद की ध्वनि को उद्गीथ कहते हैं। उद्गीथ प्रणव–ओंकार–का भी वाचक है। यहाँ पर जो भिन्न भिन्न देवताओं के उद्गीथ का वर्णन करेंगे वह उद्गीथ शब्द सामवेद की ध्वनि के ही सम्बन्ध में है। अमुक देवता सम्बन्धी उद्गीथ का अर्थ है सामवेद की अमुक देवता सम्बन्धीस्तुति का गान। अब आगे सामवेद के उन्हीं नियमों को बतावेंगे, कि किस देवता के उद्गीथ को कैसे गाना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सामवेद के गानों के बहुत भेद हैं। उनमें से एक भेद का नाम 'विनर्दि' है। विनर्दि शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार से डकराना। वृषभ नर्दन करता है डकराता है अतः बैल के सदृश डकराने को विनर्दि कहते हैं (विशिष्टो नर्दः= स्वर विशेष ऋषभ कूजित समः अस्याति+इति=विनर्दि) यह अग्नि देवता सम्बन्धी उद्गीथ है। अर्थात् यह उद्गायन अग्नि को लक्ष्य करके गाया जाता है। यह गायन पशुओं के लिये बहुत हितकर है। पशुओं सम्बन्धी कोई रोग हो या पशुओं में कोई दोष आ गया हो, तो इस गायन से वह दोष या रोग दूर हो जाता है। जब यजमान उद्गाता से कहे—आप विनर्दि गान करें। जब यजमान या दूसरा उद्गाता इस प्रकार प्रार्थना करे तो साम के विनर्दि भाग का उद्गान करना चाहिये। यह तो अग्नि देवता का उद्गान हो गया। अब प्रजापति–ब्रह्मा–का उद्-

गान बताते हैं। प्रजापति का उद्गीथ अनिरुक्त है अर्थात् जिसकी निरुक्ति–समता–उपमा–किसी अन्य के साथ नहीं की जा सकती। अर्थात् प्रजापति के लिये जो उद्गान किया जाता है वह अनुपमेय है, उसकी अनिरुक्त संज्ञा है सोमदेव सम्बन्धी जो उद्गीथ है, उसकी संज्ञा निरुक्त हैं। निरुक्त का अर्थ है स्पष्ट अर्थात् सोमदेव सम्बन्धी जो उद्गायन है वह ऐसा स्पष्ट है, कि उसे सबही अधिकारी समझ सकते हैं। वायुदेव का जो उद्गायन है वह मृदुल है अर्थात् चिकना है और श्लक्ष्ण है सरलता से उच्चारण किया जा सकता है और रसीला है सरस है। इन्द्र सम्बन्धी जो उद्गान है वह सरस तथा बलवान् है। उद्गाता को उसके गायन करने मे अधिक बल लगाना पड़ता है। देवगुरु-बृहस्पति का जो उद्गीथ है वह कौञ्च पक्षी के सदृश है। जो जल के समीप रहता है और जल के छोटे-छोटे जीवों को खाता है।

वरुण देव जो जल के अधिष्ठातृ देव हैं और पश्चिम दिशा के लोकपाल है, उनका उद्गायन अपध्वान्त है–अर्थात् फूटे हुए कांसे के बर्तन को बजाने से जैसा शब्द होता है वैसा ही शब्द वरुण सम्बन्धी गायन का है। अतः भगवती श्रुति आज्ञा देती है प्रजापति, सोम, वायु, इन्द्र और बृहस्पति सम्बन्धी सामवेद के आगानों को तो यज्ञों मे गायन करे, किन्तु वरुण देवता सम्बन्धी आगानों का गायन न करे, क्योंकि वह अपशब्द होने से शापित है।

जिस समय अग्नि, प्रजापति, सोम, वायु, इन्द्र, बृहस्पति आदि के स्तोत्रो का स्तवन करे उस समय ध्यान कैसा करे, इसका प्रकार बताते हैं। गायन के समय ऐसी भावना करे, कि मैं ब्रह्मादिक जितने तैंतीस कोटि देवता हैं, उन सबके लिये अपने गायन से अमृतत्व प्राप्ति का साधन करूँ। ऐसी भावना करता

हुआ शुद्ध-शुद्ध गायन करे। फिर भावना करें मैं अपने गायन द्वारा जो पितृगण हैं उनके निमित्त स्वधा प्राप्ति का सम्यक् प्रकार से साधन करूँ। मनुष्यों के लिये उनकी इच्छित वस्तुओं का, पशुओं के लिये उनके उपयोगी घास आदि तृणों का सुन्दर सुस्वादु पेय जल का तथा अपने यजमान के लिये स्वर्गीय सुखों के उपभोग का और अपने सुन्दर सुस्वादु चतुर्विध अन्न का साधन कर सकूँ ऐसी भावना करके मन से ध्यान करते हुए-प्रमाद रहित होकर, उच्चारण मे स्वर आदि की भूल न करते हुए आगान करे अर्थात् स्तुति पाठ करे। इस प्रकार जो सावधानी के साथ सामवेद का गायन करता है। उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनयो! इस प्रकार से मैंने आपको सामवेद के विविध आगानो के नियम बताये। अब आगे वर्णों की देवात्मता और उनके उच्चारण की विधि का वर्णन करूँगा। आशा है आप इसे प्रेमपूर्वक श्रवण करने की कृपा करेंगे।

छप्पय

देवनि हित अमृतत्व करूँ साधन चिन्त्ये यों।
पितरनि के हित स्वधा नरनि आशा पूरन हों॥
जल तृन पशुअनि मिलै स्वरग यजमानहु पावैं।
अन्न मोइ मिलिजाइ, भावना करि यह गावै॥
सबई के कल्याण कूँ, सावधान है हिय धरै।
तजि प्रमाद मन ध्यान धरि, गान साम गायक करै॥

वर्णों की देवात्मता और उनके उच्चारण की विधि

[१३०]

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥❀

(छा० उ० २ अ० २२ खं ५ मं०)

छप्पय

जितने स्वर हैं सबहिं इन्द्र, आत्मा कहलावें।
ऊष्म वर्ण हैं आत्म प्रजापति के बतलावें॥
सबहिं वर्ण इस्पर्श आतमा मृत्यु निरूपन।
उद्गाता प्रति स्वरनि दोष बोले उच्चारन॥
कहै—शरण हौं इन्द्र की, तोकूँ उत्तर देई वह।
दोष प्रदर्शित ऊष्म में, ताकूँ उत्तर देइ यह॥

❀ समस्त स्वर घोषयुक्त तथा बलयुक्त बोलने चाहिये। उनके उच्चारण में 'मैं इन्द्र में बल प्रदान करूँ' ऐसी चिन्तना करे। समस्त ऊष्मा संज्ञक वर्ण अग्रस्त और अनिरस्त एवं विवृत रूप से उच्चारण किये जाते हैं उनके उच्चारण में यह सोचे 'मैं प्रजापति को आत्मदान करूँ। स्पर्श वर्णों को तनिक भी दूसरों से मिलाये बिना उच्चारण करना चाहिये उनके उच्चारण के समय यही सोचे मैं मृत्यु से अपना परिहार करूँ।

देव वाणी सस्कृत मे जो वर्ण हैं, वे वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। वे अन्य विदेशी भाषाओं के सदृश सकेत मात्र नहीं हैं। वे जैसे जहाँ से उच्चारण किये जाते हैं, वैसे ही बोले जाते हैं। यह नहीं कि उच्चारण और, लिखावट और तथा बोलने का नियम और। एक आग्ल भाषा भाषी सज्जन जब सस्कृत पढने लगे तब उन्हें बताया गया—अकुह विसर्जनीयाना कण्ठः अकार कवर्ग, हकार और विसर्ग इनका उच्चारण कठ से होता है, तब वह यह सुनकर चकित रह गया। उसने कहा—हमारी वर्ण माला मे तो उच्चारण के ऐसे कोई नियम नहीं है। आपकी भाषा विशुद्ध वैज्ञानिक ढङ्ग वाली है, इसमे जैसा उच्चारण किया जाता है। इसके सदृश दूसरी कोई लिपि—कोई भाषा नहीं हो सकती।

सस्कृत साहित्य मे समस्त वर्णों के चार प्रयत्न बताये हैं। अर्थात् वर्ण चार प्रकार से प्रयत्न पूर्वक उच्चरित होने चाहिए। उन चार वाह्य प्रयत्नों के नाम हैं (१) स्पृष्ट, (२) ईषत् स्पृष्ट, (३) विवृत (४) सवृत। वर्ण भी चार प्रकार के होते हैं (१) स्वर वर्ण, (२) ऊष्मा वर्ण, (३) स्पर्श वर्ण, (४) अन्तस्थ वर्ण और (५) ह्रस्व अवर्ण विवृत है इनमे अच् जो प्रत्याहार है उसकी स्वर सज्ञा है। हिन्दी मे तो हम लोग अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अ, अः ऐसे १६ स्वर मानते हैं, किन्तु सस्कृत मे अच् की स्वर सज्ञा बताई है अतः उनके यहाँ अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, और औ, इन नौ की अच् सज्ञा है। अतः उनके मत मे स्वर नौ ही है। अब स्वर के पश्चात् ऊष्मा वर्ण हैं। श,ष, स और ह इन चार वर्णों की ऊष्मा सज्ञा है। ऊष्मा के पश्चात् तीसरे स्पर्श वर्ण आते हैं। तो 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त जो पच्चीस अक्षर हैं, इनकी स्पर्श सज्ञा है। य, र, ल, व, ये चार

अन्तस्थ कहे जाते हैं। ह्रस्व अ वर्ण की विवृत संज्ञा है। वैसे ह्रस्व अकार तो स्वरों में ही आ गया, किन्तु पृथक् केवल 'अ' वर्ण विवृत कहलाता है। स्वरों के उच्चारण के जो प्रयत्न हैं उनके दो भेद हैं। वाह्य प्रयत्न और आभ्यातर प्रयत्न। वर्णों के उच्चारण का प्रयत्न नाभि से किया जाता है और कंठ में आकर वे उच्चरित होते हैं। जैसे 'क' शब्द का उच्चारण किया तो सबसे पहिले नाभि पर बल पड़ेगा। नाभि में हलचल क्रिया होगी। नाभि से उठकर प्रयत्न पूर्वक वह मुख में आवेगा। मुख के भीतर आने पर जो प्रयत्न होंगे, वे आभ्यान्तर प्रयत्न कहलावेंगे, नाभि से मुख तक आने में जो प्रयत्न है, वे वाह्य प्रयत्न कहाते हैं। जैसा कि पीछे बता चुके हैं आभ्यान्तर प्रयत्न चार प्रकार के हैं, कोई उन्हे पाँच प्रकार के भी मानते हैं। (१) स्पृष्ट, (२) ईषत् स्पृष्ट, (३) विवृत (४) संवृत। जो पाँच प्रकार के मानते हैं वे ईषत् विवृत को पाँचवा मानते हैं।

अब नाभि से मुख तक आने में जो प्रयत्न हैं वे ११ हैं। (१) विवार, (२) संवार, (३) श्वास, (४) नाद, (५) घोष, (६) अघोष, (७) अल्प प्राण, (८) महाप्राण और (९) उदात्त, (१०) अनुदात्त तथा (११) स्वरित इनकी भी गणना प्रयत्नों में करने से ये ११ हो जाते हैं। आभ्यान्तर प्रयत्नों में स्वर वर्ण जो नौ हैं और श, ष, स और ह चार ऊष्मा वर्ण है इन स्वर और ऊष्मा वर्णों का आभ्यान्तर प्रयत्न विवृत है। 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त जो पचीस अक्षर हैं इनका प्रयत्न स्पृष्ट है, य, र, ल और व ये जो चार अन्तस्थ वर्ण है इनका प्रयत्न ईषत् स्पष्ट है केवल ह्रस्व अकार विवृत संवृत् प्रयत्न माना गया है।

अब ११ वाह्य प्रयत्नों के सम्बन्ध में सिद्धान्त कौमुदी में बताया है—खय प्रत्याहार के यम और खय प्रत्याहार तथा ≍ क और ≍ प तथा विसर्ग और शर प्रत्याहार भी इन सब के

१. श्वास, २. अघोष, और ३. कठ ये ही तीन विवार प्रयत्न वाले हैं। अन्य स्वर तथा हश प्रत्याहार ये सब १. घोष, २. सवार, ३. नाद तीन प्रयत्न वाले होते हैं। जैसे कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, आदि वर्ग हैं इन सब वर्गों का पहिला, दूसरा तथा तीसरा वर्ण जैसे कवर्ग मे से क, ख, ग और चवर्ग में से च, छ, ज, इसी प्रकार सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय तृतीय वर्ण और वर्ग के यमग, यण प्रत्याहार ये सब अल्पप्राण प्रयत्न वाले कहलाते हैं। शेष सब वर्ण महाप्राण वाले हैं। स्वर का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भी प्रयत्न माना गया है। इस प्रकार वर्णों का वाह्य आभ्यन्तर प्रयत्न समझकर कोन-सा वर्ण किस देवतात्मक है इसे जानकर ही वर्णों का विधिवत् शुद्ध उच्चारण करना चाहिए। सामवेद वाले कहते हैं। जितने स्वर है उनकी आत्मा इन्द्र है ऊष्मा वर्ण वालों की आत्मा प्रजापति हैं, स्पर्श वर्ण वालो की आत्मा मृत्यु है। अतः इन वर्णों के उच्चारण करते समय इन देवताओ का ध्यान करे। इस प्रकार सामवेद के प्रत्येक शब्द का उसके देवता का स्मरण करते हुए वड़े ध्यान से उच्चारण करे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विनर्दिगुण विशिष्ट साम की उपासना बताकर स्तवन के समय कैसा ध्यान करना चाहिये इसका प्रकार बताया। अब किन वर्णों के कौन देवता हैं, इसको बताते हैं। जितने अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, और औ ये नौ स्वर हैं, इनको आत्मा इन्द्र हैं। अर्थात् इन्द्र इन स्वरों को अपना ही अवयव मानते हैं। इन स्वरो मे इन्द्र की देवात्मकता है। जितने क से लेकर म पर्यन्त क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, ये स्पर्श सज्ञक वर्ण हैं उनको प्रजापति आत्मा हैं अर्थात् प्रजापति इन्हें अपना अवयव मानते हैं। जितने श, ष, स और ह ये

ऊष्मा सज्ञक वर्ण ह इनकी आत्मा मृत्यु है। अर्थात् इन चार शब्दो को मृत्युदेव अपना अवयव मानते हैं ये चार शब्द मृत्यु देवात्मक हैं। इसलिये भगवती श्रुति सामवेद के उद्गाता को उपदेश करती है। कि बहुत लोगो का स्वभाव होता है, कि वे गुणो मे भी दोप देखा करते हैं। अच्छी बातो मे भी बुराई निकालते हैं। शुद्ध को भी अशुद्ध बताने का प्रयत्न करते हैं। अतः कोई उद्गाता शुद्ध स्वरो का उच्चारण कर रहा हो और उन शुद्ध स्वरो मे भी कोई उपालम्भ दे अर्थात् उनमें भी मिथ्या दोप प्रदर्शित करके उस उच्चारण की निन्दा करे, तो उद्गाता को चाहिये कि निदक को प्रत्यक्ष उत्तर न दे। उसकी निन्दा को सहन करके शान्त ही बना रहे। केवल इतना कह दे—"मैं तो देवराज इन्द्र की शरणागत हूँ मैं तो उन्हीं के प्रपन्न हूँ, मैं कुछ नहीं कहता—देवराज इन्द्र ही इसका तुम्हे उत्तर देंगे।"

यदि कोई श, ष, स और ह इन ऊष्मा सज्ञक वर्णों के शुद्ध उच्चारण मे मिथ्या दोप लगाकर उपालम्भ दे तानो मारकर दोप प्रदर्शित करते हुए उच्चारण की निन्दा करे, तो उद्गाता को कह देना चाहिये—"देखो जी, मैं तो प्रजापति देव की शरण मे हूँ। मैं उन्हीं के प्रपन्न हूँ, मैं तुमसे कुछ भी नहीं कहता। वे प्रजापति देव ही तुम्हारा मर्दन करें।" तुम्हें तुम्हारे अपराध का दड देंगे। यदि कोई ऋत्विज् या अन्य व्यक्ति क से लेकर म पर्यन्त स्पर्श शब्दों के उच्चारण मे मिथ्या दोप लगावे, उलाहना दे तो, उससे उद्गाता कहे—मैं मृत्यु की शरण हूँ, वही तुमको इस अपराध के दड स्वरूप भस्मीभूत कर देगा। इस प्रकार मिथ्या दोप लगाने वालो की निन्दा न करे, उनसे कटु वचन न कहें, उनसे वाद विवाद न करे उन्हें देवताओं के ऊपर छोड़ दे।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! अब वर्णों को कैसे उच्चारण

करना चाहिये और साम के मन्त्रों का उच्चारण करते समय क्या करना चाहिये। इसके नियमों को बताते हैं। जितने स्वर हैं, उन्हें घोषयुक्त और बलयुक्त होकर उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिये। इसलिये स्वरों को घोषयुक्त बलयुक्त उच्चारण करे, तब अपने मन में ऐसी भावना करे 'मैं इन्द्र में बल का आधान करूँ।' क्योंकि स्वर इन्द्र देवात्मक हैं। समस्त ऊष्म वर्णों का, अग्रस्त अर्थात् जो अन्तर प्रवेश न किये हुए हों और अनिरस्त अर्थात् बाहर में प्रक्षेप न किये हुए हों ऐसे विवृत रूप से उच्चारण करना चाहिये। श, ष, स, ह ये ही ऊष्मा है उनके उच्चारण करते समय "मैं प्रजापति को आत्मदान करूँ।" ऐसी भावना करनी चाहिये।

अब जो 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त पचीस स्पर्श वर्ण हैं उन्हें एक-दूसरे से ईषत् मात्र तनिक भी-मिलाये बिना पृथक्-पृथक् उच्चारण करना चाहिये। उन स्पर्श वर्णों के उच्चारण के समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये, कि 'मैं' मृत्यु से अपना परिहार करूँ, मृत्यु से अपनी आत्मा को बचा सकूँ। इस प्रकार सामवेद के शब्दों का सचेष्ट होकर सावधानी के साथ सविधि उच्चारण करने से ही साम की सिद्धि सम्भव है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने वर्णों की देवतात्मता तथा उनके उच्चारण की विधि आपको बतायी। अब धर्म के जो तीन आधार स्तम्भ हैं उनके सम्बन्ध में आगे बताऊँगा। आप सब धर्म के अवतार ही हैं धर्म स्वरूप ही हैं। अतः इसे सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

शरण प्रजापति लई करै वह तेरो मरदन।
इस्पर्शनि मह दोष दिखावैं देइ उलाहन॥
मृत्यु शरण हौं लई करै दग्धहिं तव ततछिन।
घोषयुक्त बलयुक्त करै सब स्वर उच्चारन॥
करूँ इन्द्र आघान बल, करै गान अस ध्यान युत।
ऊष्म वर्ण अमस्त अनि-रस्त हुं उच्चारन विवृत॥
आत्मदान हौं प्रजापति, करूँ ध्यान ऐसौ करै।
पृथक् स्पर्श उच्चारिकै, मृत्य सतत मम परिहरै॥

इति छादोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय मे
बाइसवाँ खण्ड समाप्त हुआ।

—:—:—

छप गया ! छप गया !! छप गया !!!

श्री भागवत-चरित सटीक

टीकाकार

'भागवत चरित व्यास' पं० रामानुज पाण्डेय,
बी० ए० विशारद

'भागवत चरित' विशेषकर ब्रजभाषा की छप्पय छन्दो मे लिखा गया है। जो लोग ब्रजभाषा को कम समझते हैं, उन लोगों को छप्पय समझने मे कठिनाई होती है। उनके लिये लोगों की माँग हुई कि छप्पयों की सरल हिन्दी में भाषा-टीका की जाय। संवत् २०२२ विक्रमी में इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ। उसकी दो हजार प्रतियाँ छपायीं। छपते ही वे सब-की-सब निकल गईं। अब उत्तरार्द्ध की माँग होने लगी। जो लोग पूर्वार्द्ध ले गये थे, वे चाहते थे पूरी पुस्तक मिले किन्तु अनेक कठिनाइयो के कारण छपने में विलम्ब हुआ साथ ही लोगों की यह भी माँग थी, कि कुछ मोटे अक्षरो में छापा जाय। प्रभु कृपा से अब के रामायण की भाँति बड़े आकार में मोटे अक्षरों मे (२० पा०) अर्थ सहित प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक खंड में ८५० से अधिक पृष्ठ हैं मजबूत एवं सुन्दर कपड़े की जिल्द, चार-चार तिरगे चित्र और लगभग ३५० एकरंगे चित्र हैं। मूल्य लागत मात्र से भी कम २२) रु० रखा गया है। एक खंड का मूल्य ११) रु० डाक खर्च अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें। फिर न कहना हमें सूचना नहीं मिली। थोड़ी ही प्रतियाँ शेष हैं।

—व्यवस्थापक

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा (१०८ खण्डो मे)—९० खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १ ६५ पैसे डाक०व्यय पृथक।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६ ५०

३—सटीक भागवत चरित (दो खण्डो मे)— एक खण्ड का मू० ११ ००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५ ००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३ ४१

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २ ५०

७—कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २ ५०

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओ का पालन कैसे करें मू० २ ५०

१०—श्री चैतन्य चरितावली (पांच खण्डो मे)— प्रथम खण्ड का मू० १ ६०

११—नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ० ६०

१२—श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झांकी (नाटक) मू० ० ६१

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ० ३१

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, मू० ० ३१

१६—भारतीय सस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७—राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ० ४०

१८—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३१

१९—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों मे) मू० ०.२५

२०—भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४.०० द्वितीय खड मू० २ ५०

२१—सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दों सहित मू० ० ७५

२२—प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२० २५—प्रभुपूजा पद्धति— मू० ० २५

२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ० १२ २६—श्री हनुमत्-शतक— मू० ० ५०

२४—सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० २७—महावीर-हनुमान्— मू० २ ५०

पता—सकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६१

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-०-रुपया

प्रथम संस्करण १००० } जनवरी १९७२ माघ सं०-२०२८ { मूल्य : १.६५

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

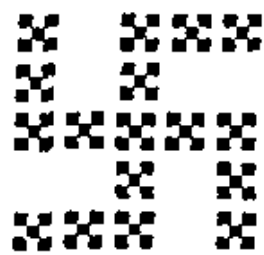

● मुद्रक :
बंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
संस्मरण (१०)	१
१. तीन धर्म के आधारस्तम्भ	१८
२. ओंकार की सर्वरूपता	२७
३. साम सम्बन्धी सवनों के अधिकारी देव	३२
४. प्रातःसवन सम्बन्धी सामगान	३९
५. मध्यन्दिन सवन और सायं सवन सम्बन्धी सामगान	४४
६. मधुविद्या	४९
७. सूर्य की दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊर्ध्व दिक्सम्बन्धिनी किरणों में मधुनाड्यादि-दृष्टि	५६
८. अमृतोपासना (मधुविद्या)	६१
९. मधुविद्या के अधिकारी तथा उसका फल और सम्प्रदाय परम्परा	७१
१०. गायत्री द्वारा परब्रह्म की उपासना	७६
११. पञ्चप्राणों की उपासना	८२
१२. हृदय में स्थित ब्रह्म की उपासना	८८
१३. सभी में ब्रह्म की उपासना	९३
१४. ब्रह्म बड़े से बड़ा तथा छोटे से छोटा है	१०४
१५. विराट्रूप कोश की उपासना	१०९

१६. वत्स सहित दिशाओं की अजर कोश उपासना ११४
१७. आत्मरूप यज्ञ की उपासना १२०
१८. आत्मयज्ञ के अन्नादि फल देने वाले शेष अङ्ग १३०
१९. आत्मयज्ञोपासना की उत्कृष्टता तथा फल १३६
२०. मन की अध्यात्मरूप से, आकाश की आधिदैवतरूप से ब्रह्मोपासना १४२
२१. ब्रह्माण्ड और आदित्य की ब्रह्मरूप से उपासना १५१
२२. संवर्ग विद्या के ज्ञाता और जिज्ञासु राजा जानश्रुति और रैक्व की कथा १५८
२३. रैक मुनि का पता १६५
२४. रैक मुनि द्वारा राजा जानश्रुति को संवर्ग विद्या का उपदेश १७२
२५. संवर्ग की महिमा सम्बन्धिनी कथा १७८

संस्मरण

(सेवादि सद्गुणों द्वारा सेवाप्रसन्नता)

[१०]

प्रेम्णा समीपवासेन स्तुत्यानत्या च सेवया ।
कौशल्येन कलाभिश्च कथाभिर्ज्ञानतोऽपि च ॥
आदरेणार्जवेनैव शौर्य दानेन विद्यया ।
प्रत्युत्थानाभिगमनैरानन्दास्मित भाषणैः ॥
उपकारः स्वाशयेन वशीकुर्यात् जगत् सदा ।

(शुक्र नीति-सार)

छप्पय

जग में शत्रु न मित्र करै व्यवहार मित्र अरि ।
प्रेम, समीप निवास, कला, सेवा, इस्तुत करि ॥
नमस्कार अरु गान, दान, विद्यादि सरलता ।
कथा, ज्ञान उपदेश, वाद्य अरु शूरबीरता ॥
प्रत्युत्थान हु अनुगमन, मन्दस्मित, आनन्दयुत ।
मधुर बात, उपकार करि, करै नेह तैं वश जगत ॥

---

* प्रेम, समीप मे वास, स्तुति, नमस्कार, सेवा, चतुरता, कला-गाना, बजानादि—कथा कहना, ज्ञानोपदेश, आदर, सरलता, शूरता, दान, विद्या, प्रत्युत्थान, अभिगमन, आनन्द, मन्द-मन्द मुस्कराकर बोलना परोपकार, सुन्दर आशय प्रदर्शित करना, इन सब कार्यों से जगत् को वश में करना चाहिये । अर्थात् इन्हीं कार्यों से मनुष्य लोक प्रिय बनता है ।

संसार में मनुष्य अपने आचरणों द्वारा ही निन्दित और वन्दित बन जाता है। बुरे आचरण करने से जगत् के लोग निन्दा करने लगते हैं। अच्छे आचरणों से सब लोग प्रशंसा करने लगते हैं। अपना आचरण ही शत्रु तथा मित्र बना लेता है। संसार के लोग तो स्वार्थपर होते हैं। सभी सुख चाहते हैं, सभी आनन्द के इच्छुक हैं, सम्मान के भूखे हैं। बुद्धिमान पुरुष को सदाचार पूर्वक सभी का आदर करना चाहिये और ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे सबको सुख हो, सबको प्रसन्नता हो, सबका चित्त प्रसन्न रहे। दूसरों को प्रसन्न करने के लिये चाटुकारिता (चापलूसी) भी न करनी चाहिये। चाटुकारिता एक अवगुण है, झूठी प्रशंसा करने वाले से लोग मन-ही-मन घृणा करते हैं। अतः जिसे लोकप्रिय बनना हो चाटुकारिता का परित्याग करके सबका आदर करना चाहिये। और जिससे सब लोग प्रसन्न रहें, ऐसा आचरण करना चाहिये। महर्षि शुक्राचार्य ने अपने नीति सार नामक ग्रन्थ में जगत् को वश में करने के लोकप्रिय होने के ये-ये कारण बताये हैं।

(१) सदा सबसे प्रेम का व्यवहार करना—संसार के सभी लोग प्रेम के भूखे हैं। जो चिकित्सक रोगियों से प्रेम पूर्वक बर्ताव करता है, उनसे ममता के साथ हँस-हँसकर बातें करता है, उससे सभी प्रेम करते हैं और वह अत्यन्त लोक प्रिय बन जाता है। औषधि का मूल्य और शुल्क तो वह भी लेता है, किन्तु उसे देना अखरता नहीं। लोग प्रसन्नता पूर्वक उसे देते हैं। प्रेम का व्यवहार लोकप्रिय बनाता है।

(२) समीप वास—प्रेम पूर्वक चिरकाल तक समीप रहने से भी प्रियता-मित्रता हो जाती है। विशेषकर राजा लोग तथा स्त्रियाँ समीप रहने वाले से प्रेम करने लगते हैं। जैसे लता समीप में

कैसा भी पेड़ हो उसी से लिपट जाती है। अतः जिनको अपने वश में रखना हो उनके समीप घुल-मिलकर चिरकाल तक निवास करे।

(३) स्तुति—मनुष्य में एक बड़ी भारी त्रुटि है, वह दूसरों से अपनी स्तुति सुनने का इच्छुक रहता है। वह स्पष्ट नहीं कहता किन्तु उसकी हार्दिक इच्छा—आन्तरिक अभिलाषा—यही रहती है, कि लोग मेरे कार्यों की प्रशंसा करें, मेरी स्तुति करें। प्रकारान्तर से लोग पूछ भी लेते हैं। व्याख्यानदाता पूछते हैं—कहो मेरा आज का व्याख्यान कैसा रहा? लेखक पूछते हैं—मेरा वह लेख मेरी वह पुस्तक आपको अच्छी लगी? लोगों की उसके सम्बन्ध में क्या सम्मति है? प्रशंसा स्तुति सुनकर प्रमुदित होना जैवधर्म है। जीव का स्वभाव है। जीव का ही क्यों? स्तुति प्रशंसा से तो परब्रह्म प्रभु भी प्रसन्न होते हैं। इसीलिये किसी कवि ने कहा—संसार में ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जिसे अपनी स्तुति प्रिय न हो (स्तोत्रं कस्य न रोचते भुवि नृणाम्) इसलिये मिथ्या प्रशंसा तो न करे। उदारता के साथ दूसरों के गुणों की प्रशंसा कर दिया करे। बहुत से ऐसे कृपण होते हैं, कि वे दूसरों की निन्दा के अतिरिक्त प्रशंसा करना जानते ही नहीं। ऐसे निन्दक निंदित माने जाते हैं। अतः जहाँ तक हो दूसरों के गुणों की प्रशंसा करनी चाहिये। प्रशंसक पुरुष लोक प्रिय होता है।

(४) नमस्कार—जो अभिवादनशील पुरुष है, उसे सभी प्रेम करते हैं। बड़ों के सम्मुख सिर झुकाने में अपना क्या व्यय होता है उलटे आशीर्वाद प्राप्त होता है। बड़े लोगों के प्रेम भाजन बनते हैं। नमस्कार के ही प्रभाव से मार्कण्डेय मुनि अल्पायु से कल्प जीवी बन गये। जिनका बड़ों के लिये नमन करने का

बन गया है, उनके आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती है। अतः अभिवादनशील पुरुष भी लोकप्रिय होता है।

(५) सेवा—सेवा किसी की भी की जाय, व्यर्थ नहीं जाती। फिर जो जनता जनार्दन की सेवा करते हैं, लोकसेवक हैं उन्हें तो सभी लोग प्यार करते हैं। सभी उन्हें अपना ही समझते हैं। सेवा धर्म सबसे श्रेष्ठ धर्म है। सेवापरायण व्यक्ति कैसा भी हो कोई भी क्यों न हो, सर्वत्र आदर पाता है। अपने घर का नौकर सेवापरायणता के ही कारण घर में स्वामी का प्रेम भाजन होकर स्वामी के सदृश आदर पाता है, अतः लोकप्रियता का सेवा सर्वश्रेष्ठ सर्वप्रधान साधन है, सेवा से सम्पूर्ण संसार वश में किया जा सकता है। सेवा से भगवद्भक्ति और मुक्ति तक मिलती है। (सेवया किं न लभ्यते) संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सेवा से प्राप्त न हो सकती हो ?

(६) कौशल्य—दक्षता, चतुरता, उचितज्ञता यह लोक प्रिय बनने का सर्वोत्तम साधन है। कहाँ कैसा व्यवहार करना चाहिये, कहाँ कैसी बात बोलनी चाहिये, कहाँ देना चाहिये, कहाँ हाथ पसारकर नम्रता से लेना चाहिये। इस प्रकार व्यवहार ज्ञान का नाम उचितज्ञता या कौशल है। व्यवहार कुशल लोग सर्वत्र समादृत होते हैं। नर-नारी उनके अधीन हो जाते हैं।

(७) कला—हमारे यहाँ चौंसठ कला मानी गयी हैं जैसे गाना, बजाना नृत्य आदि हैं। इनसे जनता का मनोरञ्जन होता है। सच्चा कलाकार सर्वत्र आदर पाता है। कला कौशल लोक प्रियता का साधन है।

(८) कथा वार्ता—प्राचीन काल में न तो कथा कहानियों की इतनी पुस्तकें ही छपती थीं और न समाचार पत्र तथा मासिक आदि पत्रिकायें ही होती थीं। कथाकारों के मुख से कथाओं को ही

सुनकर लोग अपना मनोरञ्जन तथा ज्ञान वृद्धि करते थे। सूतजी सूद जाति के होने पर भी कथाओं के कारण सर्वत्र आदर पाते थे। आज भी जो लोग कथा कहते हैं, दृष्टान्तों में सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ सुनाते है। वे लोकप्रिय कथाकार माने जाते हैं।

(९) ज्ञानोपदेश—उपदेशक का पद सर्वोत्तम पद है, फिर ज्ञानोपदेशक तो जगत् का गुरु है। जो ज्ञानोपदेशक जगत् में ज्ञानदान करते हैं, वे सबसे बड़े दाता हैं ज्ञानदान समस्त पुण्य-प्रद शुभ कर्मों से श्रेष्ठ है। ज्ञानोपदेशक के सम्मुख बड़े-बड़े सम्राट् नतमस्तक होते हैं। कुशल ज्ञानोपदेशक जनता से जो चाहे सो करा सकता है। जनता उनके वश में होती है।

(१०) आदर दान—प्राणी स्वभावतः दूसरे से आदर चाहता है। जो दूसरों का आदर नहीं करते अथवा निरादर करते हैं। ऐसे कृपण पुरुष जनता के श्रद्धा भाजन नहीं होते। जो सदा दूसरों का आदर सत्कार करता है, किसी का भी निरादर नहीं करता। उन्हीं का सब लोग हृदय से आदर करते हैं। जनता तो कूप के सदृश है, कूप में जैसी ध्वनि करोगे, वैसी ही प्रतिध्वनि सुनायी देगी। जो सबका आदर करता है, सभी उसका आदर करते हैं। सभी लोग उसके वश में रहते हैं।

(११) सरलता—सरलता एक ऐसा गुण है, कि सरल प्राणी से सभी लोग स्वाभाविक प्रेम करने लगते हैं। बच्चों को देखते ही सभी की उनसे प्रेम करने की इच्छा क्यों होती है? इसलिये कि उनमें बनावटीपन नहीं। स्वाभाविक सरलता उनके मुखमंडल पर छिटकती रहती है। सरल कोई भी क्यों न हो सभी उसे चाहते हैं। आपकी गौ, घोड़ा घोड़ी तथा अन्यान्य पशु-पक्षी आदि जितने ही सरल होंगे उतने ही मनुष्योंके प्रीतिभाजन बन सकेंगे। अतः सरलता से प्राणी वश में हो सकते हैं।

(१२) शूरता भी एक श्रेष्ठ गुण है, किन्तु उस शूरता का

सभी प्रकार के प्राणी वश में किये जा सकते हैं। राजा तो अपने धन, वैभव तथा सत्ता के कारण अपने ही देश में आदरणीय तथा पूजनीय माना जाता है, किन्तु विद्वान् की तो देश विदेश में सर्वत्र पूजा होती है। विद्या ऐसा प्रच्छन्न धन है जो कभी नष्ट ही नहीं होता, विद्वान् अपनी विद्वता से जगत् को वश में कर सकते हैं। वे सर्वत्र आदर पाते हैं।

(१५) प्रत्युत्थान—अपने से बड़े सम्माननीय व्यक्तियों के आने पर उठकर उन्हें आदर देना। नम्रता से कन्धा झुकाकर उनके सम्मुख खड़े हो जाना, यह भी ऐसा गुण है, कि इससे जिनका आदर करोगे, वे तो प्रसन्न हो ही जायँगे। अन्य दर्शकों के मन पर भी इस बात की छाप लग जायगी, कि देखो ये कैसे नम्र तथा विनयी हैं। जब बड़े लोग दूर से आते दिखायी दें, तो उठकर आगे जाकर उन्हें ले आना, आदर से बिठाना। और जब जाने लगे तो उन्हें सम्मान पूर्वक विदा करना। यह भी लोगों को वश में करने का गुण है।

(१६) अभिगमन—जैसे आते समय आगे बढ़कर उन्हें ले आये थे, वैसे ही जाते समय कुछ दूर तक उनके साथ-साथ चलकर उन्हें आदर पूर्वक सवारी तक या कुछ दूर तक पहुँचा आना यह भी विनम्रता का चिन्ह है।

(१७) आनन्द—सबको देखकर प्रसन्ता प्रकट करना, आनन्द विभोर हो जाना, यह एक बहुत भारी गुण है। मनुष्य जो वस्तु खायगा, उसी के उद्गार-डकार-आवेगी, जिसके भीतर आनन्द है, उसके मुखपर भी सदा आनन्द छलकता रहेगा, उस आनन्द से दूसरे प्राणी भी प्रसन्न होंगे सदा आनन्द में रहने वाला सबसे बड़ा उपकारी है, क्योंकि वह रोतों को हँसाता है। दुखी लोगों को आनन्द प्रदान करता है। जगत् के प्राणी तो

निरानन्द हैं। उन्हें जो अपने आनन्द-से-आनन्द प्रदान करते हैं वे बहुत दान करने वाले भूरिदा जन हैं।

(१८) मंदस्मितपूर्वक अभिभाषण करना—मनुष्य प्रायः संकोचशील प्राणी है और स्त्रियों में तो संकोच की मात्रा पुरुषों से भी अधिक होती है। प्रायः मनुष्य दूसरों से बोलने में संकोच करते है और विशेषकर अपरिचित व्यक्तियों से। पहिले बोलने वाले को यह भय बना रहता है, हमारे प्रश्न से ये बुरा न मान जायँ। अतः लोग प्रायः प्रथम बोलने में संकुचित होते हैं। किसी के कुछ पूछने पर आपने रूखा उत्तर दे दिया, या उसके प्रश्न को वैसे ही टाल दिया तो पूछने वाले का पुनः प्रश्न करने का साहस नहीं होता। यदि आप दूसरों के प्रश्न का मन्द-मन्द मुस्कराकर प्रेम पूर्वक उत्तर दें, तो प्रश्नकर्त्ता का भी साहस बढ़ता है, और देखने वाले भी प्रसन्न होते हैं। ऐसे मुस्कराकर मधुर बोलने वाले व्यक्ति परम लोकप्रिय होते हैं। भगवान् रामचन्द्रजी के सद्गुणों का वर्णन करते हुए आदि कवि ने उनमें सबसे बड़ा गुण यह बताया है, कि हँसकर वे पहिले ही सबसे प्रश्न करते थे। (स्मित पूर्वाभिभाषिणः) किसी को देखते ही हँसकर पहिले ही पूछ लिया—"कहो जी, अच्छे हो।" तो ऐसे लोग जनता जनार्दन के आदर भाजन बन जाते हैं।

(१९) परोपकार—परोपकार तो लोकप्रिय बनने का—जगत् को वश में करने का—सर्वोत्कृष्ट साधन है। संसार में जितने भी प्रातःस्मरणीय, परम आदरणीय पुरुष हुए हैं, वे सब परोपकार के ही कारण, सभी के हृदय सम्राट बन सके हैं। प्राणी स्वभावतः स्वार्थ परायण हैं। अपने स्वार्थ का परित्याग करके परोपकार में ही जो लगा रहे, उसकी लोकप्रियता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? परोपकार के ही लिये सज्जनों की समस्त विभूतियाँ हुआ करती

है। उत्तम पुरुष परोपकार के निमित्त प्राणों का भी परित्याग कर देते हैं, इसी कारण वे कीर्ति के द्वारा सदा के लिये अमर बन जाते हैं।

(२) सदाशय—सबके साथ सहृदता प्रकट करना। अपने विचारों को सत्यता के साथ सहृदयता के साथ व्यक्त करना किसी प्रकार का छल-कपट न करना, यह भी लोकप्रियता में सबसे बड़ा गुण है।

उपर्युक्त गुण तथा इन्हीं के सदृश अन्यान्य भी सद्गुणों के कारण लोगों को वश में किया जा सकता है। समस्त सद्गुणों का समावेश १. सेवा, २. सदाचार, ३. सरलता, ४. सत्य तथा ५. सहृदयता इन्हीं में आ जाता है। सबके साथ सौहार्द भाव रखकर, सत्यता के साथ सरलता पूर्वक सदाचारयुक्त होकर जो सेवा में तत्पर रहता है उसी के लोग वश में हो जाते हैं, उसी का सब लोग हृदय से आदर करने लगते हैं।

असहयोग के समय सेवा और सदाचार की एक लहर बह गयी थी। लोगों में त्याग की भावना बलवती हो गयी थी। सेवा के साथ-साथ जिनमें उपर्युक्त गुणों में से जितने गुण अधिक थे, वे उतने ही अधिक लोकप्रिय हो गये थे। जैसे कभी-कभी महामारी आदि छूत के रोग एक साथ फैल जाते हैं, वैसे ही कभी-कभी सद्गुणों की भी सार्वजनिक रूप से बाढ़ आ जाती है, जैसे बौद्ध-काल में त्याग की बाढ़ आ गयी थी, आचार्यों के काल में भक्ति की बाढ़ आ गयी थी। वैसे ही सन् २१ के असहयोग आंदोलन के समय त्याग, सहिष्णुता आदि सद्गुणों की सार्वजनिक बाढ़ आ गयी थी। बड़े-बड़े अधिवक्ता अपनी लाखों रुपयों की आय का परित्याग करके त्यागी विरागी बन गये थे। सरकारी अधिकारियों ने अपने अधिकार छोड़ दिये, धनिकों ने धन का मोह

छोड़ दिया। राजाओं, भूमिपतियों ने अपने राज्य सम्मान का त्याग कर दिया, छात्रों ने विद्यालय, महाविद्यालयों का परित्याग कर दिया। उस समय किसी ने वस्त्र पहिनना ही त्याग दिया, किसी ने मादक वस्तुओं को त्यागा, किसी ने अन्न खाना छोड़कर मूँगफली आदि सस्ते फलों पर ही निर्वाह करना आरम्भ कर दिया। सभी को एक ही धुनि थी, जेलों को भर दो, फाँसी के तख्तों पर लटक जाओ। उन दिनों जेल जाना सबसे श्रेष्ठ कार्य समझा जाता था, जो लोग जेल जाते, जनता उनका अत्यधिक आदर करती। उनकी शोभा यात्रा निकाली जाती। लाखों लोग उनमें सम्मिलित होते। सरकारी कर्मचारियों की भी इनके साथ भीतर-ही-भीतर हार्दिक सहानुभूति होती। वे भी हाथ पैर बचा-कर उनके सम्मानों में सहयोग करते। समाचार पत्र कारावास के यात्रियों के समाचारों से ही भरे रहते। आज वे पकड़े गये, आज उनको जेल भेज दिया। सर्वत्र यही धूम थी। अँगरेज अधिकारी चाहते थे, जितने भी ये आंदोलनकारी हैं, सबको पकड़कर कारा-वासों में बन्द कर दो। सधारण जनता को, लाठी, डंडा तथा गोलियाँ चलाकर, भय दिखाकर शान्त कर दो। स्थान-स्थान पर गोलियाँ चलायी जातीं, प्रत्येक जनपद के चुन-चुनकर कार्यकर्त्ता पकड़े जाते। हमारे यहाँ के भी कई पकड़े गये। किन्तु मैं अपने परगना अधिकारी की ब्रह्मण्यता के कारण बचा हुआ था। यह मेरे लिये असह्य था। जब कोई मुझसे पूछता—"कहिये ब्रह्मचारी जी! अभी तक आप नहीं पकड़े गये? आप कैसे बचे हुए हैं?"

तो मुझे लगता, यह मुझे गाली दे रहा है, मेरा अपमान कर रहा है। मैं ऊपर से तो बात को हँसकर टाल देता, किन्तु मन-ही-मन दुःखी होता। वैसे, मैं धन, वैभव, विद्या, आदिसे रहित होने

पर भी जनता का स्नेह भाजन था, किन्तु अब तक पकड़ा नहीं गया, यही मेरे लिये दुःख की बात थी।

समय की बलिहारी तो देखिये। जिस जेल का नाम सुनते ही बड़े-बड़े लोग भयभीत हो जाते हैं। हम किसी प्रकार जेल के फाटक के भीतर न जायँ, हमारे हाथों में हथकड़ी न पड़े, इसके लिये लोग लाखों रुपये व्यय करते थे। आज हम उसी के लिये परम उत्सुक हो रहे हैं, किस प्रकार हमारे हाथों में हथकड़ियाँ पड़ें, कैसे हम जेल जा सकें इसी के लिये व्याकुल थे। अन्त में भगवान् ने मेरी प्रार्थना सुन ली।

एक दिन मैं टहलने जा रहा था, सायंकाल का समय था, नगर के बाहर पुलिस की चौकी थी। वहाँ एक पुलिस का अधिकारी बैठा था, उसने बड़े आदर पूर्वक मुझे बुलाया। और बोला—"ब्रह्मचारी जी! तनिक थाने तक चलिये।"

मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"क्या मुझे पकड़ने का आदेश पत्र (वारंट) है क्या?"

उसने कहा—"नहीं, चलिये आपसे कुछ बातें करनी है।"

मैं तो उधार खाये ही बैठा था, जैसा था, वैसा ही चला गया वास्तव में मेरे नाम पकड़ने का आदेश पत्र नहीं था। धारा १०८ की विज्ञप्ति थी। मुझसे साक्ष्य द्रव्य (जमानत) वैयक्तिक विश्वास वचन (मुचलके) माँगे गये थे। न देने पर धृत–पकड़ने–का आदेश था। उन दिनों अभियोग में निरपराधता प्रकट करना साक्ष्य द्रव्यादि न देने का आदेश था। अतः मुझे वहीं थाने में रख लिया, विद्युत की भाँति पूरे नगर में यह समाचार फैल गया। सहस्रों पुरुषों ने आकर थाने को घेर लिया। दरोगा बड़ा उदार था। उसकी पत्नी बड़ी सती साध्वी और स्वातन्त्र संग्राम से सहानुभूति रखने वाली साधु सन्तों पर श्रद्धा रखने वाली थी।

दरोगा ने मुझे स्वतन्त्रता दे दी आप चाहें जिससे मिल सकते हैं, चाहें जहाँ तक जा सकते हैं। बड़े सम्मान से बैठने को मुझे पीठ (कुरसी) दी। सर्व प्रथम वैद्यराज पं० नारायणदत्त जी आये। फिर सभी लोग आने लगे। मैं थाने के बाहर गया, भाषण किया। बड़ी रात्रि तक दर्शनार्थियों का ताँता लगा रहा।

थानेदार की पत्नी ने स्वयं अपने हाथ से पूड़ी कचौड़ी आदि व्यञ्जन बनाये। बड़े प्रेम से प्रसाद पवाया। किन्तु रात्रि में सोने के लिये अपराध गृह (हवालात) में ही प्रबन्ध किया। प्रातः अत्यन्त ही भोर मे मुझे उठाया गया। हथकड़ी पहिनाकर घोड़ा-गाड़ी में बिठाकर सूर्योदय होते-होते बुलन्द शहर जिला जेल में पहुँचा दिया गया। जीवन में आज सर्व प्रथम जेल के दर्शन किये। किन्तु मुझे तनिक भी भय नहीं लगा। प्रत्युत परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। मेरी चिरभिलाषित इच्छा पूर्ण हुई।

उस समय जेल में बुलन्द शहर जनपद के कई राजनैतिक बन्दी और भी कई प्रतिष्ठित बन्धु बन्द थे। उनमें अधिवक्ता (वकील) उपदेशक तथा और भी उच्च श्रेणी के थे। उनको अभी दण्ड नहीं दिया गया था, उनका अभियोग विचाराधीन था। मुझे भी उन्हीं सब के साथ रखा गया। भोजन की व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर थी। हमें जेल का पता ही न चला जेल है। ५–७ एक से साथी थे, साथ ही सुन्दर भोजन बनता। खाते थे, खेलते थे, पढ़ते थे, पता ही न चला कब समय बीत गया। हमारे सभी साथियों के अभियोग का निर्णय हो गया। उनको कारावास का दंड सुना दिया गया और उन्हें विभिन्न जेलों में भेज दिया गया। अब मैं अकेला ही रह गया।

एक दिन जेलर ने आकर आधसेर आटा, थोड़ी दाल और नमक मेरे पास भिजवाया। मैंने उसे लौटा दिया। तब जेलर ने

कहा—विचाराधीन बन्दियों को नियमानुसार इतनी ही सामिग्री मिलती है। यह जो आप लोगों को मैं इतनी सामिग्री देता था अपनी ओर से देता था। केवल आपको सूचनार्थ यह भिजवाया था। "जब तक आप रहेंगे, आपको भी मैं वैसा ही देता रहूँगा।" यह कहकर उसने फिर यथेष्ट सामिग्री भिजवायी।

भोजन बनाने के लिए, सेवा के लिये हमें एक लम्बरदार मिला था, वही दोनों समय हमारा भोजन बनाता था। तथा और भी पानी लाना वस्त्र धोना आदि सब काम करता था। साधारण जेली जेल में चार प्रकार के होते हैं। एक तो सर्वसाधारण जेली, जिनसे कसकर काम लिया जाता है। कुछ अच्छे चाल चलन के कम दंड वाले, जेलियों को काम कराने वाला बन्दी (सी. एन.) बना दिया जाता है, वे केवल एक वर्ग के कैदियों से काम कराते हैं, स्वयं काम नहीं करते। जब उनकी पदोन्नति होती है तो वे नम्बरदार (सी. ओ.) बना दिये जाते हैं। फिर नम्बरदार से पदोन्नति होकर वे पहरेदार (सी. डब्ल्यू) बना दिये जाते हैं, जिनकी कारावास की अवधि लम्बी होती है, वे ही पहरेदार बनाये जाते हैं। उन्हें पारिश्रमिक के रूप में कुछ मासिक भी मिलता है और कारावास की अवधि में भी कुछ छूट मिलती है, वे अपने लिये खाने की वस्तुएँ स्वयं भी बना लेते हैं और अपने को कैदियों में श्रेष्ठ मानते हैं, वे डंडा भी रखते हैं और अन्य कैदियों को मारते पीटते भी हैं।

जेल एक नवीन ही संसार है। जेल वाले जेल से बाहर को संसार कहा करते हैं! अपने को संसार से पृथक् मानते हैं। वहाँ बीड़ी सिगरेट पीना तथा किसी भी प्रकार की मादक वस्तु, द्रव्य, अस्त्र, शस्त्र रस्सी आदि कुछ भी नहीं रख सकते, बाहर से फल, साग तथा खाने पीने की कोई भी वस्तु नहीं मँगा सकते।

वहाँ सभी आता है, सभी काम होते हैं। दिन में कई बार अन्वेषण (तलासी) होती है, फिर भी सब वस्तुएँ आती हैं। कैसे आती हैं ? चोरी से आती हैं, जिन्हें जेल की भाषा में तिकड़म से आना कहते हैं। जेल में तिकड़म बहुत चलती है। कहना चाहिये जेल जीवन तिकड़म पर ही आधारित है। हमारे भी बहुत से राजनैतिक बन्दी तिकड़म से समाचार पत्र, मिठाई, पान, तमाखू, सिगरेट आदि बहुत-सी निषिद्ध वस्तुओं को मँगाया करते थे। जेल में भी चोरी, जूआ आदि सभी बाहर के से काम करते हैं। मनुष्य तो वे ही हैं, अपने पुराने व्यसनों को जेल में जाने पर भी नहीं छोड़ सकते। यही जैव धर्म है।

हमारे लिये जेल की बगिया से नित्य साक भाजी आया करती थी। एक-एक हाथ लम्बे बैंगन भाटा आते। इतने लम्बे बैंगन बाहर मैंने कभी भी नहीं देखे थे। सब वस्तुएँ लेने हमारा नम्बरदार जाता था अतः वह दुगुनी चौगुनी लेता। अधिक सामग्री बनाता। हमारे प्रसाद पाने पर शेष सब उसी का होता। स्वयं खाता था और दूसरे अपने साथियों को भी बाँटता था।

एक दिन मैंने देखा, हमारा नम्बरदार चार पाँच सेर आटे की रोटी बना रहा है। मैंने पूछा—"इतनी रोटी किसके लिये बना रहे हो ?" उसने कहा—"ऐसे ही अपने साथियों के लिये बना रहा हूँ।"

मैंने पूछा—"इतना आटा कहाँ से लाये ?"

उसने कहा—"ऐसे ही तिकड़म से ले आया हूँ।"

बात यह थी कि हमारी कुटिया (बैरक) के पीछे ही चक्की घर था, पहरेदारों की आँख बचाकर उसके साथियों ने कपड़े में आटा बाँधकर दीवाल के इस पार फेंक दिया। इसे बीड़ी आदि वे दे देते होंगे। इससे यह बना-बनाकर उन्हें रोटी दे देता था। जेल

में तौलकर भोजन मिलता था उससे किसी का पेट भर जाता था, कोई भूखों रह जाता था। भूखे लोग नाना तिकड़म करके पेट को भरते। कुछ लोगों पर रोटी बच भी जाती थी, वे भंगी को देते थे। रोटी पाने के लोभ से उच्चवर्ण के लोग भंगी का काम करने को स्वेच्छा से उद्यत हो जाते थे। पहिले जेलों मे रोटी बनाने को ब्राह्मण कैदी ही रखे जाते थे। रसोइया यथेष्ट रोटियाँ बचा लेते थे, इस लोभ से अन्य जाति के भी ब्राह्मण बनकर तिकड़म से रसोइया बन जाते थे। तिकड़म से दूध भी आ जाता और संसार की सभी वस्तुएँ तिकड़म से जेलों में भी प्राप्त हो जाती।

जेली प्रायः अपने पास सभी द्रव्य रखते। वैसे नियमानुसार कोई भी बन्दी अपने पास द्रव्य नहीं रख सकता। दिन में दो बार खोज (तलाशी) ली जाती। सब लोग मुख में द्रव्य रखते थे। एक काँच की गोली विशेष ढँग से रखते-रखते मुख में एक बड़ा-सा गड्ढा हो जाता उसमें बहुत से लोग तो २-२, ४-४ रुपये की रेजगारी रख लेते। मैंने बहुतों को मुख में से पैसे निकालते देखा। मनुष्य अपने स्वभाव से विवश है स्वभाव को दुस्त्यज बताया है। स्वर्ग में जाओ, नरक में जाओ पृथ्वी पर रहो रहना होगा स्वाभाव के वशीभूत होकर। जिसने स्वभाव पर विजय पाली उसने जीवन पर विजय प्राप्त कर ली।

जेल में कोई काम तो था नहीं। इधर कई महीनों तक गाँवों में घूम-घूम कर बड़ा परिश्रम किया था, दिन-रात्रि एक कर दिये थे। उस समय तो उत्साह में पता नहीं चला, किन्तु जेल में आते ही बड़ी थकावट अनुभव होने लगी। मेरे अभियोग के निर्णय में लग-भग एक मास लगा। इस बीच में यथेष्ट सोकर समस्त थकावट मिटा ली। पहिले कभी जीवन में इतना सोया हूँगा, स्मरण नहीं आता।

जेल में सूर्यास्त के समय तक सभी कैदी अपनी-अपनी बैरिकों में बन्द कर दिये जाते हैं। उसके साथ दो तीन पहरेदार कैदी भी रहते है। वे रात्रिभर भीतर की चौकसी करते हुए पहरा देते हैं। बाहर सिपाही (वार्डर) प्रधान सिपाही (जमादार) कारागार-पाल (जेलर) उपकारागार पाल (नायब जेलर) पारी-पारी से चौकसी में घूमते रहते हैं। भीतर चौकसी करने वाले कैदी पहरे-दार तनिक-तनिक देर में चिल्ला-चिल्ला कर कहते रहते हैं—"जैसे एक बन्दी भवन में ३० बन्दी बन्द है, तो पहरेदार चिल्लावेगा—एक—दो—तीन—चार (ऐसे उच्च स्वर से ३० तक गिनेगा) फिर कहेगा—तीस कैदी एक मैं इकत्तीस। इकत्तीस कैदी ताला, जंगला, लालटैंन सब ठीक है साहेब १८ नम्बर।" फिर १९ नम्बर वाला बोलेगा। इस प्रकार रात्रिभर ताला जंगला, लालटैंन के ठीक होने की धूम मची रहती है। इस धूम धड़ाके में सभी कभी कैदी खुर्राटे भरते हुए सोते रहते हैं और लोहे के जंगलों को काटकर कभी-कभी कुछ कैदी भग भी जाते हैं। कैसी भगवान् की माया है, कैसी इस मानव प्राणी की खोपड़ी है। सभी नियमों में अपवाद ढूँढ़ लेता है। सरकार कितने भी कड़े-से-कड़े नियम बना दें। उसमें से भी युक्ति से मार्ग निकाल कर यह विचित्र खोपड़ी का जन्तु चोरी के लिये मोरी निकाल लेता है।

मेरे यहाँ ताला जंगला लालटैंन की पुकार नहीं होती थी। पूरे भवन में मैं और मेरा लम्बदार दो ही रहते थे। सूर्यास्त से पहिले जहाँ हमारी कुटी (बैरिक) में ताला पड़ा कि मैं सो जाता था। प्रातः लगभग ६ बजे उठता। उठकर नित्य कर्म करता। दस बजे तक प्रसाद तैयार हो जाता। प्रसाद पाकर फिर सो जाता और फिर चार बजे उठता सायं कालीन कृत्य करके प्रसाद पाते-पाते ताला बन्द करने वाले पहरेदारों का समूह आ जाता मुझे देर

होती तो बैठे रहते। सभी मेरे साथ अत्यन्त सभ्यतापूर्ण बर्ताव करते। जहाँ ताला बन्द हुआ नहीं कि मैं सो जाता। इस प्रकार प्रत्येक दिन लगभग १५-१६ घंटे सोता। इससे समस्त पुरानी थकावट उतर गयी और मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया।

बीच में कभी-कभी न्यायालय से न्यायाधीश द्वारा बुलावट होती, तब न्यायालय जाना पड़ता। जीवन में पहिले ही पहिल न्यायालय, न्याय-नाटक देखने को मिला। उसमे भी बड़ा आनंद आया। स्थान समाप्त हो गया। अब न्यायालय का वृत्तान्त अगले अंक में देखा जायगा।

छप्पय

मान बड़ाई हेतु नहीं सेवा अपनावै।
प्रभु की पूजा समुझि करै सेवा सुख पावै॥
हरि ही जग बनि गये भाव मनमें यह राखै।
करूँ सबनि दुख दूरि, नहीं करता बनि भाखै॥
करत करावत प्रभु सकल, निमित मात्र हैं जीव सब।
करै प्रतीक्षा अहर्निशि, अपनावेंगे नाथ कब?॥

फाल्गुन-कृ- ५। २०२८
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)

प्रभुदत्त

तीन धर्म के आधारस्तम्भ

[१३१]

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥*

(छा० उ० २ अ० २३ खं० १ मं०)

छप्पय

धरम तीनि इस्कन्ध यज्ञ, अध्ययन, दान उत।
दूसर तप इस्कन्ध तीसरो ब्रह्मचर्य व्रत॥
गुरुकुल में बसि छात्र ब्रह्मचारी-व्रत धारे।
काया कूँ कृश करै चित्त चन्चलता मारे॥
पुण्यलोक भागी सबहिँ, निज निज धरमनि धारिकें।
भोगनि तैं उपरत रहै, मदमाते मन मारिकें॥

धर्म शब्द इतना व्यापक है, कि इसको यथार्थ रूप में परि-

---

* तीन धर्म के स्कन्ध हैं, यज्ञ, अध्ययन और दान ये प्रथम स्कन्ध हैं, तप द्वितीय स्कन्ध है। ब्रह्मचारी जो आचार्य कुल मे वास करता है अपने शरीर को सेवा तपस्या द्वारा क्षीण कर देता है यह तृतीय स्कन्ध है। ये समस्त पुण्यलोक के अधिकारी होते हैं। ब्रह्म मे संस्थित पुरुष अमृतत्व को प्राप्त करता है।

भाषा करना कठिन है। जैवधर्म, चौरधर्म, वेश्याधर्म, ये शब्द भी आते हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये जैवधर्म हैं। चोरी कैसे करनी चाहिये, इसका वर्णन चौरशास्त्र में है। वेश्याओं को अपनी वृत्ति करते हुए भी स्वधर्म का पालन कैसे करे यह वेश्या-धर्म है। कहीं-कहीं 'धर्म' शब्द वर्णाश्रम विहित वृत्ति के अर्थ में आता है। अपने धर्म में स्थित रहना श्रेयस्कर है, पराया धर्म भयावह है (स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः) यहाँ धर्म शब्द वर्णाश्रम धर्म विहित वृत्ति से ही अभिप्रेत है। जब ब्राह्मण ने धर्मव्याध से कहा—"कि इतने ज्ञानी होकर भी जो आप मांस बेचने का व्यवसाय करते हैं, यह उचित नहीं। इस निन्दित व्याव-साय को आपको छोड़ देना चाहिये।"

इस पर धर्मव्याध ने कहा—"देखिये, यह मेरा वंश परम्परा का धर्म है, इसे मैं छोड़ नहीं सकता। मैं स्वयं जीवों की हिंसा नहीं करता, मैं स्वयं मांस नहीं खाता। मैं मांस लाकर बेचता हूँ। यह मेरी कुलगत वृत्ति है अपना धर्म यदि सदोष भी हो, तो उसे छोड़ना न चाहिये। क्योंकि कोई भी कर्म निर्दोष नहीं है। जैसे धूँये से अग्नि आवृत्त रहती है।"

यहाँ धर्म वंश परम्परा से चली आयी वृत्ति के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। ये सब कर्तव्य भी धर्म हैं, किन्तु वास्तव में जिसके पालन के लिये अत्यन्त बल दिया है, वह प्रेरणा लक्षण रूप ही धर्म है। ऐसा करना चाहिये ऐसा नहीं करना चाहिये जिससे यह ज्ञात हो वही धर्म है। वह जैवधर्म से ऊपर का धर्म है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये तो सभी जीवों में पशु-पक्षियों में और मनुष्य में समान ही हैं। इन कार्यों में तो सभी जीव समान धर्मी हैं, किन्तु मनुष्य में 'धर्म' ही अधिक है। धर्म से जो हीन है, वह पशु तुल्य है। यहाँ धर्म शब्द उस धर्म को बताता है; जिससे

अभ्युदय और निःश्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति हो सके। हम कोई धर्म विरुद्ध कार्य तो नहीं कर रहे हैं, इसे सर्वदा ध्यान में रखें। इसमें कभी प्रमाद न करें। जिन बातों पर सदा दृष्टि रखें वह धर्म क्या है ? इसके लिये स्मृतियों में धर्म की एक बहुत संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण व्याख्या की है। आज-कल धर्म शब्द का अर्थ बहुत ही संकुचित किया जाता है। ईसाईधर्म, मुसलिमधर्म यहूदीधर्म, पारसीधर्म, हिन्दुधर्म और उसका अर्थ है इस वर्ग के लोग जैसे उपासना करते हों, जैसे बाह्य चिन्ह रखते हों, जैसी दीक्षा लेते हों, वे बातें। किन्तु यह धर्म का अत्यन्त संकुचित अर्थ है। ईसाई, मुसलमान, हिन्दु, यहूदी सभी का धर्म एक ही है। जिन्हें आज धर्म कहा जाता है, वे तो रीति, रिवाज, पद्धति तथा बाह्य चिन्ह मात्र हैं। बाह्य चिन्ह धर्म में विशेष कारण नहीं माने गये हैं। (न लिङ्ग धर्म कारणम्) तब धर्म क्या है ? इसका मनु महाराज उत्तर देते हैं–१. धारता (धृति) २. क्षमा, ३. मनका निरोध करना, ४. चोरी न करना, ५. शौच (भीतर बाहर की पवित्रता), ६. इन्द्रियों का निग्रह करना, ७. बुद्धि को विकसित बनाना, ८. जिससे मुक्ति तक पहुँच सके उस विद्या का अर्जन करना, ९. सत्य भाषण और १०. क्रोध न करना ये दश धर्म के लक्षण हैं। अब बताइये इसमें सदाचार की कौन-सी बात रह गयी। किसी भी वर्ग के, किसी भी सम्प्रदाय–मजहब–विलीजन–के लोग इनमें से किसी भी एक बात का खण्डन कर सकते हैं ? धर्म का यह कैसा व्यापक–विस्तृत–अर्थ है। ऐसा धर्म ही समस्त संसार की सम्प्रतिष्ठा है। ऐसे ही धर्मात्मा पुरुष के समीप–फिर वह किसी देश, किसी जाति, किसी वर्ग तथा कैसे भी उपासना करने वाला हो, उसी के समीप सभी लोग जाते हैं, उसी धर्मात्मा पुरुष का आदर करते हैं। ऐसे ही धर्म से मनुष्य अपने पूर्वकृत् पापों को

दूर करते हैं तथा पाप कर्मों से बचते हैं। ऐसे व्यापक धर्म में ही सर्व धर्म प्रतिष्ठित हैं, ऐसे ही धर्म को लोग सर्वश्रेष्ठ धर्म कहते हैं।

जो पुरुष सुख-दुःख में धैर्य धारण करता है, जो अपराध करने वाले को भी सच्चे हृदय से क्षमा कर देता है, जो चित्त की बिखरी वृत्तियों को रोककर धर्म कार्यों में या परमात्मा में लगाता है, जो कभी किसी के धन को अन्याय से लेने की कभी मनसे भी इच्छा नहीं रखता है, जो भीतर बाहर से पवित्र शुचि रहता है, जो विषयाभिमुखी इन्द्रियों को विषयों से रोककर उन्हें सत्पथ में प्रवृत्त करता रहता है, जो अपनी बुद्धि को सदा विशुद्ध बनाये रखता है, बुद्धि में कभी मलिनता नहीं आने देता। लोभ के वशीभूत होकर कभी सत्पथ से विचलित नहीं होता, जो विद्याभ्यास में सदा लगा रहता है, जो सदा सत्य भाषण करता है, सम्पूर्ण व्यवहार में भी सत्य का आचरण करता है, जो क्रोध का प्रसङ्ग आने पर भी क्रोध नहीं करता वास्तव में वही धार्मिक है, उसी ने धर्म का यथार्थ मर्म समझा है, नहीं तो धर्म के नाम पर जो आज हो रहा है, उसे अधर्म न कहें तो फिर दम्भ, पाखंड, अधर्म अन्याय क्या है ? जो दश लक्षण वाला धर्म बताया है, जो इन्हें छोड़ देता है, धर्म भी उसे छोड़ देता है, जो इस दश लक्षण वाले धर्म की रक्षा करता है, तो धर्म भी उसकी रक्षा करता रहता है। ऐसे महान् धर्म का कभी भूल से भी लोभ-लालच में पड़कर भी त्याग नहींकरना चाहिये।

वास्तव में तो हम सब धर्म के ही सहारे जी रहे हैं। यदि सभी प्राणी इस दश लक्षण वाले धर्म को छोड़कर अधीर हो जायँ, एक दूसरे से सदा बदला ही लेते रहें, मन को स्वच्छन्द छोड़ दें। मन में जो आवे उसे ही करने लगें, दूसरों के धन को जिस

प्रकार भी हथियाने का प्रयत्न करते रहें, सदा अपवित्र बने रहें। इन्द्रियों को स्वच्छन्द विचरण करने दें, बुद्धि को विपरीत पथ पर चलने दें, विद्याध्ययन न करें, सदा असत्य ही भाषण करते रहें, कोई हमारा तनिक भी अपराध कर दे, तो उसके ऊपर कुपित होकर उसे गाली दे, मार दें यदि लोग ऐसे अधर्म का सब आचरण करने लगें, तो धर्म हमें नाश कर देगा, धर्म से हमारी यही प्रार्थना है, कि हम धर्म को त्यागे नहीं और धर्म भी हमें न त्यागे हमसे प्रेम करे हमारा वध न करे।

वास्तव में देखा जाय, तो संसारी लोग जो झूठा प्रेम प्रदर्शित करते हैं, हमारे प्रति मैत्री भाव दिखाते हैं, यह सब असत्य है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन में निरत यह क्षुद्र प्राणी तो विषयों में ही आसक्त रहता है, जिसे विषयों से प्रेम है वह दूसरों से मित्रता कैसे निभा सकता है, दूसरों के प्रति मित्रता प्रदर्शित करे भी तो वह स्वार्थ जनित मित्रता है, विषयों की प्राप्ति के निमित्त दूसरों के प्रति मिथ्या मैत्रीभाव दिखाता है, जो विषयों का दास है, वह वास्तविक मित्र नहीं। यथार्थ मित्र तो धर्म ही है। ये संसारी मित्र तो स्वार्थ सिद्ध न होने पर मैत्रीभाव छोड़ देते हैं, बहुत से लोग जीवनपर्यन्त मैत्री निभाते हैं, किन्तु मरने पर तो वे भी छोड़ देते हैं, किन्तु धर्म तो मरने के पश्चात् भी मैत्री नहीं छोड़ता, वहाँ भी वह अभीष्ट फल देता रहता है। अतः सदा सर्वदा धर्म का ही आचरण करे। धर्म से ही मैत्री करे। कैसी भी विपत्ति आ जाय धर्म का परित्याग न करे। अपने धर्म की दृढ़ता के साथ रक्षा करे। जो धर्म की दृढ़ता से रक्षा करता है, धर्म भी ऐसे धर्मात्मा पुरुष की सदा रक्षा करता रहता है। भगवती श्रुति उसी धर्म के तीन स्कन्ध—तीन विभागों का वर्णन करती है। ये तीन ही धर्म के आधार स्तम्भ हैं। इन तीन के सहारे ही धर्म टिका हुआ है। जो

धर्म का आश्रय लेकर वर्तते हैं-व्यवहार करते हैं, उन्हें त्रिवर्ग की प्राप्ति के अनन्तर अन्त में चौथे वर्ग की-मोक्ष की-अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब धर्म किन खम्भों के सहारे खड़ा है, इसका वर्णन करते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! प्रकरण तो यहाँ उपासना का था, बीच में धर्म की बात कैसे आ गयी ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! अब तक तो सब उपासनायें सकाम बतायीं। इन उपासनाओं से सन्तान, पशु, धन, धान्य तथा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। अब आगे इन्हें मोक्ष की साधनभूता ओंकार की उपासना को कहना है। धर्म भावना विहीन अधार्मिक पुरुष मोक्ष का साधन कर ही नहीं सकता। एकमात्र धर्म ही ऐसा है जिससे अर्थ, काम तथा मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष की प्राप्ति ओंकारोपासना से ही सम्भव है। अतः उसके साधनभूत धर्म स्वरूप बताकर तब आगे ओंकार की उपासना कहेंगे। हाँ, तो धर्म के तीन ही आधारस्तंभ हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन आधारस्तम्भ कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीन तो पहिले स्कन्ध हैं। तप दूसरा स्कन्ध है, और ब्रह्मचर्य व्रत यह तीसरा स्कन्ध है। विभाग है।"

शौनकजी ने पूछा—"क्या इन तीनों से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ?"

सूतजी ने कहा—"धर्म से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। धर्म से तो स्वर्गादि पुण्यलोकों की ही प्राप्ति सम्भव है। हाँ, धर्माचरण से मोक्ष का मार्ग परिष्कृत हो जाता है। धर्म से त्याग का महत्व जाना जाता है, त्याग से ज्ञान की प्राप्ति होती है और

मोक्ष मिलती है। धर्म मोक्ष में प्रत्यक्ष कारण नहीं परम्परया कारण है। अतः धर्माचरण करके अन्तःकरण को विशुद्ध बनाना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"आपने धर्म के तीन स्कन्ध विभाग बताये। इनमें पहिले स्कन्ध में यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीन को बताया। इनमें से यज्ञ का स्वरूप बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सब जानते हैं। अग्नि में हवि दी जाय, जिसमें देवताओं को हविर्भाग दिया जाय उसी का नाम यज्ञ है। वैसे तो जितने भी शुभ कर्म हैं, सबकी यज्ञ संज्ञा है। जैसे द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, आरम्भयज्ञ, हविःयज्ञ, जपयज्ञ, परिचर्यायज्ञ, दानयज्ञ सभी की यज्ञ संज्ञा है। किन्तु यहाँ यज्ञ शब्द से अग्नि में देवताओं के निमित्त आहुति देने से ही तात्पर्य है। द्विज गृहस्थ के लिये नित्य अग्निहोत्र आदि पंचयज्ञ परमावश्यक बताये हैं। उनसे ही यहाँ तात्पर्य है।"

शौनकजी ने पूछा—"अध्ययन क्या?"

सूतजी ने कहा—गुरु मुख से ग्रन्थ का आनुपूर्वक श्रवण का नाम अध्ययन है। जैसे गृहस्थ का यज्ञ करना परमधर्म है, वैसे ही ब्रह्मचारी का गुरुकुल में जाकर अध्ययन करना परमधर्म है। विद्यार्थियों के लिये अध्ययन ही परम तप बताया गया है। अध्ययन के बिना धर्म का ज्ञान नहीं होता। बिना अध्ययन किये जो व्यवसायों में प्रवृत्त हो जाते हैं, वे प्रायः अधर्म ही करते हैं। इसलिये धर्मज्ञान के लिये अध्ययन परम आवश्यक है।"

शौनकजी ने पूछा—"दान क्या?"

सूतजी ने कहा—"किसी वस्तु में से अपनापन त्यागकर उसे सत्पात्र को प्रदान करने का नाम दान है। वह दान चार प्रकार

का होता है। १. नित्यदान, २. नैमित्तिक दान, ३. काम्यदान और ४. विमल दान। नित्यदान तो अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार नियमित रूप से अन्नादि वस्तुओं को देते रहना। यह भेदभाव देते समय न करे कि इससे हमारा कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होगा। सत्पात्र याचक को देवे। अन्न के लिये जिसके पेट हो भूखा हो वे सभी पात्र ही हैं। दूसरा नैमित्तिक दान है। मावस, पूर्णिमा, संक्राति, व्यतीपात आदि पर्वों के आने पर दान दिये जायँ, अथवा पुण्य-क्षेत्रों के निमित्त से तीर्थयात्रा प्रसंग में दिये जायँ या पापों के प्रायश्चित निमित्त ग्रहों की शान्ति आदि के निमित्त जो दान दिये जाते हैं वे नैमित्तिक दान हैं।

तीसरा दान काम्य दान है, संतान की कामना से, विजय की कामना से, ऐश्वर्य की कामना से, अथवा स्वर्ग की कामना से जो दान दिये जाते हैं, वे काम्य दान कहलाते हैं।

चौथा दान विमल दान है। जो किसी निमित्त से नहीं, किसी कामना से नहीं, केवल ईश्वर प्रीत्यर्थ ब्रह्मवेत्ता को निष्काम भाव से—सात्विक वृत्ति से भक्ति पूर्वक दिया जाय वह विमल दान है। नित्य, नैमित्तिक और काम्यदान तो पुण्यलोकों को प्रदान करते हैं। विमल दान मुक्ति का कारण है। इस प्रकार यज्ञ, अध्ययन और दान ये धर्म के प्रथम स्कन्ध है। धर्म का दूसरा स्कन्ध है—तप।

शौनकजी ने कहा—"तप का तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"तप शब्द तप धातु से बना है, जो उप-संताप अर्थ में प्रयुक्त होती है। शरीर को जो शास्त्रीय विधि के अनुसार तपाया जाय. या जिस क्रिया से शरीर तपे उसे तप या तपस्या कहते हैं (तपति अथवा तापयति=इति-तपः) क्लेश जनक विधि विहित कर्म। तप से ऐसा कौन-सा कार्य है जो सिद्ध न हो सकता हो। तप से पापों का नाश, यश, ज्ञान, विज्ञान,

सौभाग्य, रूप तथा स्वर्गादि पुण्यलोकों की प्राप्ति होती है। अतः तप धर्म का दूसरा स्कन्ध है। धर्म का तीसरा स्कन्ध है ब्रह्मचर्य का पालन। ब्रह्मचर्य व्रत का विधिवत् आजीवन पालन करने वाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपने आचार्य के कुल में वास करके व्रत, उपवास तथा सेवा सम्बन्धी कर्मों द्वारा अपने शरीर को सुखा देता है। अत्यन्त क्षीण कर देता है। वह नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धर्म का तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्य कर्म यश, श्री तथा पुण्य लोकों की प्राप्ति इन धर्म के तीनों स्कन्धों द्वारा ही हो सकती हैं। जो ब्रह्म में सब प्रकार से स्थित हो चुका है, ऐसा स्थितप्रज्ञ पुरुष ही अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। संसार के जितने भी कार्य हैं, सब तप से ही होते हैं। ब्रह्माजी ने तप द्वारा ही इस सृष्टि को उत्पन्न किया है।

शौनकजी ने पूछा—"तप द्वारा जगत् को ब्रह्माजी ने कैसे रचा ?"

सूतजी ने कहा—"कमल पर बैठे ब्रह्माजी को सृष्टि के आदि में त-और प ये ही दो शब्द सुनायी दिये। अतः उन्होंने सहस्रों वर्ष पर्यन्त तप किया, ध्यान किया। उसी तप के प्रभाव से यह सृष्टि उत्पन्न हुई।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! तप द्वारा ब्रह्माजी ने कैसे त्रयीविद्या, तीन व्याहृति तथा त्र्यक्षर रूप प्रणव की उत्पत्ति की इस प्रसंग को मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय—यज्ञ, दान, अध्येन, तपस्या ब्रह्मचर्य व्रत।
पुण्यलोक पहुँचाइ देत जो करै यथावत॥
ब्रह्म माहिं थित होइ अमृत वह मानव पावै।
सब द्वंदनि निरमुक्त मुक्त जग तैं ह्वै जावै॥
करी तपस्या प्रजापति, ध्यान धर्‍यो लोकनि निमित।
भये लोक अभितप्त तिनि, त्रियि विद्या उतपत्ति इत॥

ओंकार की सर्वरूपता

[१३२]

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद् यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णोङ्कार एवेदँ सर्वमोङ्कार एवेदँ सर्वम् ॥*

(छा० उ० २ अ० २३ ख० ३ म०)

छप्पय

त्रिय विद्या अभितप्त भई व्याहृति अति व्यापक।
भू भुव स्वः ये तीनि तीनि लोकनि की प्रापक॥
फेरि प्रजापति करीं तीनि व्याहृति आलोचन।
आलोचित जो शब्द तिनहिँ तैं प्रणव भये पुनि॥
पत्र नसनितैं व्याप्त जिमि, त्यों सब जग ओंकार तैं।
सबरी वाणी व्याप्त है, ओङ्कार की शक्ति तैं॥

---

* उन तीनों व्याहृतियों के अक्षरों का प्रजापति ने आलोचन किया, उन्ही के आलोचित अक्षरों द्वारा ओङ्कार की उत्पत्ति हुई। पीपर आदि के पत्ते जैसे शकुओं-नसो से व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण वाणी ओंकार से है। ओंकार ही सब कुछ है, ओंकार ही सब कुछ है।

यह जगत् तप द्वारा ही उत्पन्न हुआ है और तप में ही स्थित है। समस्त साधनों का सार तप ही है। श्रीमद्भागवत में इस विषय का विपद् रूप से वर्णन किया गया है। भगवान् की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। उस कमल से समस्त प्रजा के पति लोक पितामह ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजी कमल पर बैठकर विचार करने लगे। चारों ओर देखने की इच्छा हुई, तब उनके चारों दिशाओं में चार मुख उत्पन्न हो गये। चतुर्मुख ब्रह्मा कमल पर बैठकर सोचने लगे—यह कमल कहाँ से उत्पन्न हुआ है, इसका आदि अन्त का पता लगाना चाहिये। अतः वे कमल नाल में घुसकर सहस्रों वर्ष पर्यन्त उसका उद्गम खोजते रहे, किन्तु वह तो अनादि अनन्त था, तब थककर पुनः ब्रह्माजी कमल पर आ बैठे। सोचने लगे—मेरी उत्पत्ति सृष्टि करने के निमित्त हुई है, अब मैं सृष्टि कैसे करूँ। कोई साज नहीं सामान नहीं। जब ब्रह्माजी इसी चिन्ता में निमग्न थे, तभी उन्हें न जाने कहाँ से दो शब्द सुनायी दिये। एक तो व्यञ्जनों का सोलहवाँ अक्षर 'त' था और दूसरा व्यञ्जनों का इक्कीसवाँ अक्षर था 'प'। दोनों मिलकर 'तप' वाक्य बना। यह तप शब्द दो बार सुनायी दिया, तप तप। अर्थात् तपस्या करो। इस तप के कारण ही ज्ञानी ब्राह्मणों को तपोधन कहते हैं। अर्थ के लिये जो धन शब्द का प्रयोग किया जाता है यह तो असत्य है। अर्थ तो अनर्थ का कारण है। अर्थ के साथ तो पन्द्रह दोष लगे रहते हैं। वास्तविक धन तो तप ही है। ब्रह्माजी सोचने लगे—"यह तप-तप कौन कह रहा है, ये चारों ओर कहने वाले को खोजने लगे, किन्तु उन्हें कोई दिखायी नहीं दिया। तब वे सोचने लगे—"उन अचिन्त्य महिमा वाले आदि प्रभु ने मुझे तप करने का आदेश दिया है, अतः मुझे तप करना चाहिये।" यह सोचकर उन्होंने उस कमल पर ही बैठे-बैठे सहस्र

दिव्य वर्षों तक तप किया। ब्रह्माजी के सदृश तप कौन कर सकता है ? वे सबसे बड़े तपस्वी हैं। वे अमोघ ज्ञान हैं। उनकी तपस्या ध्यानमय है, ज्ञानमय है। तपस्या के द्वारा वे समस्त लोकों को प्रकाशित करने में समर्थ हो गये। उनके ध्यानरूप तप का परिणाम यह हुआ कि ६ नीचे के लोकों सहित भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और पाँच स्वर्ग लोकों को प्रकाशित करने में समर्थ हो गये जब तीनों लोकों से उन्होंने तीन व्याहृतियों की उत्पत्ति की, तदनन्तर प्रणव की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! पुण्यलोकों की प्राप्ति का साधन बताकर अब अमृतत्व प्राप्ति का—मोक्ष की प्राप्ति का साधन बताते हुए भगवती श्रुति कहती है—तप ही समस्त साधनों का सार है। शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति तप से ही होती है।"

शौनकजी ने पूछा "सूतजी ! तप से सार वस्तु की प्राप्ति कैसे होती है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह समल ही होती है। मल के बिना उत्पत्ति संभव ही नहीं। उत्पन्न होने पर तप के द्वारा उसमें से मल पृथक् करके उसे निर्मल, सारभूत बनाया जाता है। जैसे खान से जो सोना उत्पन्न होता है, वह मल सहित ही होता है। फिर अग्नि द्वारा उसे तपाकर उसके मल को पृथक् किया जाता है। निर्मल—सारभूत—रह जाने पर तब उससे दिव्य आभूषण बनाये जाते हैं। तप द्वारा ही वह शुद्ध किया जाता है।"

ईख में से जो रस निकलता है, वह समल होता है। अग्नि में तपाकर उसमें से मल निकालकर उससे गुड़ बनाते हैं। फिर गुड़ को तपाकर उसके मल को पृथक् करके खाँड़ बनाते हैं। खाँड़ को तपाकर उसका मल निकालकर बूरा बनाते हैं। बूरे को

तपाकर उसे निर्मल बनाकर उससे स्वच्छ निर्मल सारभूत मिश्री बनती है। मिश्री समस्त मधुर वस्तुओं का सार है. स्वच्छ है—निर्मल है। वह निर्मलता तपाने से—तप के कारण—ही हुई। इसी प्रकार ब्रह्माजी ने तप द्वारा लोकों का ज्ञान प्राप्त किया, फिर उस ज्ञान को तपाया। परमात्मा का ज्ञान ही तप है। जब ब्रह्माजी को लोकों का ज्ञान हो गया, तो उन लोकों को पुनः अभितप्त किया—तपाया। तो उनके सारभूत ऋक्, यजु और साम इस त्रयीविद्या की उत्पत्ति हुई। फिर इस त्रयीविद्या को भी ज्ञानमय तप से पुनः तपाया तो उन तीनों का सार तीनों व्याहृतियों के रूप में प्रकट हुआ। अर्थात् तीनों वेद का सार भू, भुव और स्व ये तीन व्याहृतियाँ है। ये ऋक्, यजु और साम की सारभूता हैं। तीनों वेदों को तपाकर उनका निर्मल रूप व्याहृतियाँ हैं।

ब्रह्माजी ने इन तीनों व्याहृतियों को फिर से तपाया। उनके सारभूत अकार, उकार तथा मकार रूप ओंकार—प्रणव—की उत्पत्ति हुई। यह ओंकार ही सम्पूर्ण वाक् में व्याप्त है। जैसे आप पीपल के पत्ते को ले लीजिये। उसे ध्यान से देखिये, उसमें छोटी बड़ी समस्त नसें-ही-नसें व्याप्त हैं। यदि उन नसों को निकाल दो, तो पत्ते का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जायगा। उन नसों के अस्तित्त्व से ही पत्ते का अस्तित्त्व है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वाणी अ, उ और म के सम्मिश्रण से बने प्रणव द्वारा व्याप्त है। यह जो दृश्य प्रपञ्च है, यह ओंकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जो भी कुछ दृश्य है, श्रव्य है, मननीय है वह सब-का-सब ओंकार ही है। ओंकार ही सर्व है, ओंकार ही सर्व है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने ओंकार की सर्वरूपता का वर्णन किया। ओंकार उपासना से ही अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है। ओंकार ही मुक्तिपद को प्राप्त कराने वाला है। अब

आगे साम सम्बन्धी सवनों का होम, मन्त्र तथा उत्थानों का जैसे वर्णन करेंगे। उस प्रसंग को आगे कहूँगा।"

छप्पय

जाको करि उच्चार प्राण ऊपर कूँ जावैं।
ताही तैं ये तीन प्रणव अक्षर कहलावैं॥
है अकार ऋक् सार उकारहु यजुः सार है।
है सामहु को सार, मकारहि ब्रह्म तार है॥
ओंकार ही सर्व है, सर्व कह्यो ओंकार है।
सवन तीनि वरनन करूँ, साम होम को सार है॥

साम सम्बन्धी सवनों के अधिकारी देव

[१३३]

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनँ रुद्राणां माध्यन्दिनँ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥*॥

(छा० उ० २ प्र० २४ ख० १ मं०)

छप्पय

वसुअनि को है प्रात सवन रुद्रनि मध्यन्दिन।
तीसर साय सवन विश्वदेवनि आदित्यान॥
कहाँ लोक-यजमान? अज्ञ कस करै यज्ञवर।
पुण्यलोक पहिचान यज्ञ फल पावैं नर-वर॥
कहैं ब्रह्मवादी सकल, पूर्व प्रात अनुवाक तैं।
गार्हपत्य रहि पृष्ठ में, उत्तर मुख वसु गान तैं॥

शुभ कर्मों के द्वारा पापों का नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्तःकरण से ही उपासना सम्भव है। समस्त कर्मों में यज्ञ कर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, यज्ञ के निमित्त जो कर्म किया

---

* ब्रह्म वादियों का ऐसा मत है, कि प्रातः सवन वसु देवताओं का है, मध्याह्न सवन रुद्रों का है और तृतीय सायं सवन द्वादशादित्यों का तथा विश्वेदेवों का कहा गया है।

जाता है, वास्तव में वही तो कर्म है, शेष समस्त कर्म बन्धन के कारण हैं। यज्ञ वही फल देने वाला होता है जो विधि सहित किया गया हो। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक यज्ञ तीन प्रकार के होते हैं। सात्त्विक यज्ञ तो वे होते हैं जो शास्त्रीय विधि से किये गये हों, कर्त्तव्य बुद्धि से, फल की इच्छा न रखते हुए मन को समाधान करके, निष्काम भाव से किये गये हों। राजस् यज्ञ वे कहलाते हैं, जो फल को आगे रखकर फल प्राप्ति की इच्छा से किये गये हों या दम्भ के लिये किये गये हों। तथा तामस यज्ञ वे होते हैं, जो शास्त्रीय विधि से हीन हों, जिनमें केवल स्वाहा-स्वाहा ही विधि विधान हीन हुई हो, अन्न का दान जो यज्ञ का मुख्य अंग है उससे वर्जित हो, जिसमें दक्षिणा भी उचित न दी गयी हो, मन्त्रों से तथा श्रद्धा से रहित हो।

यज्ञ विधि प्रधान होते हैं। यज्ञों में शास्त्रीय विधि का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। यद्यपि उपनिषद् ज्ञान प्रधान हैं, तथापि यज्ञ का प्रकरण आने पर उसमें यज्ञ सम्बन्धी विधियों का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख है। यज्ञों में तीन सवन होते हैं। प्रातः सवन, मध्यान्दिन सवन और सायं सवन। सव शब्द का अर्थ है यज्ञ (शूयते सोमः अत्र=इति=सवः) और सवन कहते हैं यज्ञ सम्बन्धी कृत्यों को। यज्ञ सम्बन्धी स्नान, सोमपान, यज्ञफल इन अर्थों में भी सवन का प्रयोग होता है। किन्तु जहाँ सवन के साथ प्रात, मध्याह्न तथा सायं लगा रहेगा वहाँ अर्थ होगा—यज्ञ सम्बन्धी प्रातः कृत्य, मध्याह्न तथा सायं कृत्य। सभी सवनों के देवता भी पृथक्-पृथक् होते हैं। अतः सवनों का ज्ञान, होम कैसे करना चाहिये, किस समय, कौन-से देवता के किस मन्त्र को कैसे बोलना चाहिये, उत्थान कैसे करना चाहिये। यज्ञ संबंधी इन कृत्यों के सम्बन्ध में उपदेश करती हुई भगवती श्रुति सर्व,

प्रथम किस सवन के कौन-से देवता अधिकारी हैं, इसका उपदेश करती हुई बताती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब यज्ञ सम्बन्धी सवनों के सम्बन्ध में जो ब्रह्मवादी वेदपाठी मुनियों का मत है, उसे बताते हैं। प्रातः सवन वसु देवताओं का है। वसु आठ देवताओं के गण का नाम है। उन आठ वसुओं के नाम १. धर, २. ध्रुव, ३. अह, ४. अनिल, ५. अनल, ६. प्रत्यूप, ७. सोम और ८. प्रभास हैं। इन आठ वसुओं का विवाह दक्ष की साठ कन्याओं के साथ हुआ। ये ही आठों वसु वसिष्ठ ऋषि के शाप से गंगा के गर्भ से पृथ्वी पर उत्पन्न हुए थे। उनमें से गांगेय भीष्म पितामह भी अष्ट वसु में से एक थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महामुनि वसिष्ठ ने वसुओं को मनुष्य लोक में जन्म लेने का शाप किस आधार पर दिया?"

सूतजी ने कहा हैं—"मुनियो! यह बहुत बड़ी कथा है, इसे यहाँ यज्ञ सम्बन्धी विधियों में सुनाना अप्रासंगिक है, फिर भी जब आपने पूछा ही है तो बहुत ही संक्षेप में मैं इस कथा को आपके लिये सुनाता हूँ—

एक बार आठों वसु अपनी पत्नियों के साथ घूमते फिरते भगवान् वसिष्ठ के आश्रम पर पहुँचे। ऋषि के आश्रम में कामधेनु की पुत्री नन्दिनी गौ बछड़े के सहित बँधी थी। नन्दिनी गौ अत्यन्त ही सुन्दरी परम तेजस्विनी थी। उसे देखकर आठों वसुओं में से जो द्यौ नामक वसु थे उनकी पत्नी ने अपने पति से पूछा—"प्राणनाथ! यह इतनी उत्तम सुन्दरी तेजस्विनी गौ किसकी है?"

द्यौ ने कहा—"यह महर्षि वसिष्ठ की गौ है।"

वसु पत्नी ने कहा—"बड़ी ही सुन्दरी गौ है, इसे तो देखते ही रहने का चित्त चाहता है।"

द्यौ ने कहा—"यह केवल सुन्दर ही नहीं है इसके दुग्ध में एक विशेषता है। जो भी कोई पुरुष या स्त्री इसके दूध को पी लेता है, उसकी दश सहस्र वर्ष की आयु होती है। और उसकी युवावस्था कभी नष्ट नहीं होती। दश सहस्र वर्षों तक वह युवावस्थापन्न बना रहता है।

यह सुनकर द्यौ वसु की स्त्री ने कहा—"प्राणनाथ! मर्त्यलोक में मेरी एक सखी है। वह महाराजा उशीनर की पुत्री है, बड़ी ही सुन्दरी है। उसके निमित्त चुपके से इस गौ को खोल ले चलो। वह इसका दूध पीकर मनुष्य लोक में एक ही ऐसी ललना रत्न हो जायगी जो वृद्धावस्था तथा रोगों से रहित होकर दश सहस्र वर्ष तक युवती ही बनी रहेगी।"

अपनी स्त्री को प्रसन्न करने के लिये द्यौ वसु ने अन्य वसुओं से सम्मति करके नन्दिनी को चुरा लिया। उस समय महामुनि वसिष्ठ आश्रम में नहीं थे। आश्रम में आकर महामुनि ने देखा गौ नहीं है। वे बड़े चिन्तित हुए। वन में अन्य आश्रम में उन्होंने गौ को बहुत ढूँढ़ा, किन्तु गौ का कहीं पता ही न चला। जब उन्होंने ध्यान में देखा, तो पता चला नन्दिनी को तो वसु चुरा ले गये। इससे मुनि बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने शाप देते हुए कहा—"देवगण होते हुए भी वसुओं ने मर्त्य धर्मी मानुषों जैसा निन्द्यकर्म किया है अतः वसुओं का मर्त्यलोक में मानव शरीर में जन्म लेना पड़े।"

मुनि के शाप की बात सुनकर समस्त वसुगण अत्यन्त दुखित हुए। वे अत्यन्त दुखी होकर दीन भाव से महामुनि की शरण में आये। उन्होंने स्तुति प्रणामादि द्वारा मुनि को प्रसन्न करना चाहा और बड़ी दीनता से अपने अपराध के लिये क्षमा याचना की।

वसुओं को अत्यन्त दुखी तथा दीन देखकर मुनि को दया आ गयी। उन्होंने वसुओं से कहा—"वसुगण ! मैंने कभी असत्य भाषण नहीं किया, अतः तुम्हें मनुष्य शरीर में तो जाना ही पड़ेगा, किन्तु तुम जन्म लेते ही तुरन्त मानव शरीर को छोड़कर अपने वसु रूप में आ जाओगे, किन्तु जिस द्यौ वसु ने गौ चुराई है, उसे तो चिरकाल तक मनुष्य योनि में रहना ही पड़ेगा।"

यह सुनकर वे सब वसु बड़े चिन्तित हुए। हम देवता होकर मर्त्यधर्मा स्त्री के गर्भ में कैसे जायँगे। वे इस प्रकार की चिन्ता में मग्न ही थे, कि उन्होंने मार्ग में जाते हुए सरित् प्रवरा भगवती गंगा देवी को देखा। गंगाजी को देखकर उन सबने उन्हें प्रणाम किया, और हाथ जोड़कर कहने लगे—"देवि ! वसिष्ठ महर्षि ने हमें मनुष्य शरीर में जाने का शाप दिया है। हम सुधा पान करने वाले देवता होकर मनुष्य शरीर में मानुषी माता के गर्भ से कैसे पैदा हो सकते हैं ? कृपा करके आप मानुष्य शरीर धारण करके राजर्षि शान्तनु की पत्नी हूजिये। हम आपके ही गर्भ से उत्पन्न होंगे। आप हमें उत्पन्न होते ही अपने जल में फेंक दिया करना।"

वसुओं की प्रार्थना सुनकर गंगा माता को दया आ गयी। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। इसीलिये वे मनुष्य शरीर से शान्तनु की पत्नी हुईं। सात पुत्रों को तो उन्होंने उत्पन्न होते ही अपने जल में फेंक दिया, जिससे वे पुनः वसु शरीर को प्राप्त हो गये। आठवाँ द्यौ जब उत्पन्न हुआ तो राजा ने उसे नहीं फेंकने दिया। वे ही द्यौ वसु के अवतार कुरुकुल तिलक ऊर्ध्वरेता बाल ब्रह्मचारी भीष्मपितामह हुए।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार वसिष्ठ मुनि के शाप से देवता होने पर भी वसुओं को कुछ काल ही मानुषी

योनि में रहना पड़ा। इन वसुगण देवताओं का प्रातःसवन है।"

मध्याह्न सवन रुद्रों का है। रुद्र एकादश माने जाते हैं, उनके नाम ये हैं १. अज, २. एकपात्, ३. अहिर्बुध्न, ४. पिणाकि, ५. अपराजित, ६. त्र्यंबक, ७. महेश्वर, ८. वृषाकपि, ९. शम्भु, १०. हरण, और ११. ईश्वर कल्प भेद से भिन्न-भिन्न स्थनों में एकादश रुद्रों के भिन्न-भिन्न नाम भी मिलते हैं।

तृतीय जो सायंसवन है, वह आदित्य और विश्वेदेवा वसुओं का सवन है। उस सवन के अधिष्ठातृ देव आदित्य और विश्वेदेवा हैं। आदित्य बारह हैं। उनके नाम १. विवस्वान, २. अर्यमा, ३ पूषा, ४. त्वष्टा, ५. सविता, ६. भग, ७. धाता, ८. विधाता, ९. वरुण, १०. मित्र, ११. शुक्र और १२. उरुक्रम ये सब प्रजापति भगवान कश्यप से अदिति नामक पत्नी में उत्पन्न हुए। ये द्वादशादित्य कहलाते हैं। इसी प्रकार विश्वदेवा भी देवताओं के एक गण हैं। ये दश हैं। इनके नाम १. क्रतु, २. दक्ष, ३. श्रव, ४. सत्य, ५. काल, ६. काम, ७. धुनि, ८. कुरुवान, ९. प्रभवान्, १०. रोचमान हैं। ये विश्वेदेवा धर्म के पुत्र हैं। दक्ष ने अपनी साठ कन्याओं में से १० धर्म को दी थीं। उन दश में से एक विश्वा नाम की धर्म की पत्नी थी। उसी से धर्म के ये विश्वदेवा नामक पुत्र हुए। आदित्य और विश्वेदेवाओं का सायं सवन है।

इस प्रकार तीन सवनों के देवताओं को कहकर अब यजमान के लोक के सम्बन्ध में पर्यालोचन करते हैं। जैसे तीन सवनों के तीन देव हैं वैसे ही तीनों सवनों की तीन विशेष छंदें भी है। प्रातः सवन को प्रायः गायत्री छंद वहन करती है। अर्थात् प्रातःसवन के मंत्र प्रायः गायत्री छन्द प्रधान होते हैं। मध्याह्न सवन को त्रिष्टुप तथा सायं सवन को जगती छन्द वहन करती है। अब प्रश्न यह

उठता है, कि यज्ञ का जो यजमान है उसका कौन-सा लोक है। किस लोक की प्राप्ति के लिये वह यज्ञ करता है। लोक तीन ही है। भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक अथवा पुण्यलोक। भूलोक वसुओं का लोक है, अन्तरिक्षलोक रुद्रदेवों का लोक है और स्वर्लोक आदित्यों का लोक है, तब यजमान का लोक कौन-सा रहा ? श्रुति कहती है लोकों की प्राप्ति के ही हेतु यजन किया जाता है, वे लोक कौन-से हैं। जिस यजमान को अपने प्राप्यलोक का ज्ञान नहीं, वह भला हवन कैसे कर सकता है ? वह किस निमित्त से यज्ञानुष्ठान करेगा ? इसलिये यजमान को इन बातों का ज्ञान परमावश्यक है। हम जो प्रातः सवन, मध्यन्दिन सवन और सायं सवनों में होम करके साम गायन करते है। उन मन्त्रों के देवता कौन हैं, किन मन्त्रों से उनकी स्तुति की जाती है। उत्थानादि के लक्षण क्या हैं। इसी को बताने के लिये आगे का प्रकरण आरंभ करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब तीनों सवनों में किस प्रकार हवन करना चाहिये। कहाँ बैठकर किधर मुख करके किस सवन में किस देवता को, किस साम के मंत्र से स्तुति करनी चाहिये। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

गाइ प्रातरनुवाक पूर्व वासव इस्तोत्रनि।
करै अग्नि तै विनय साम गायन के मंत्रनि॥
उत्तर मुख करि बैठि वसुनि मन्त्रनि कैं गावै।
ऋक् अगान है शस्त्र प्रातरनुवाक कहावै॥
अग्नि राज्यहित लोक के, द्वार खोलि दें दरस हू।
नमो अग्नि कहि हवन करि, प्राप्त करावें लोक भू॥

प्रातः सवन सम्बन्धी सामगान

[१३४]

पुराप्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासव ँ सामाभिगायति ॥❀

(छां० उ० २ अ० २४ ख० ३ मं०)

छप्पय

आयु शेष मम होइ पुण्य लोकनि कूँ पाऊँ ।
स्वाहा कहिकें हवन करै अर्गला नसाऊँ ॥
फेरि करै उत्थान देइँ वसु प्रात सवनकूँ ।
उत्तर मुख दक्षिणाग्नि पृष्ठ मध्याह्न सवनकूँ ॥
साम गान करि रुद्र को, करै वायु तैं प्रार्थना ।
अन्तरिक्ष खोलो तुरत, द्वार करैं हम दर्शना ॥

वैदिककाल में यज्ञ ही धर्म का प्रधान साधन माना जाता था वेदों में यज्ञों का ही विस्तार है। ऋक्, यजु और साम तीनों में ही यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का विस्तार है। पहिले प्रत्येक ब्रह्मचारी को उपनयन के पश्चात् नित्य नियम से अग्नि में समिधा धान करना पड़ता था। ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त करके जब गृहस्थ में प्रविष्ट

❀ यजमान प्रातरनुवाक आरम्भ करने के पहिले गार्हपत्याग्नि के पीछे उत्तर की ओर मुख करके बैठकर वसु सम्बन्धी जो सामवेद का प्रातः सवनीय गान है, उसे गावें।

होता था, तो उसे अग्निहोत्र की दीक्षा लेनी पड़ती थी, जब तक सन्ध्या हवनादि पंचयज्ञ न करले, तब तक गृहस्थ भोजन नहीं करता था। यज्ञ करने वाला जो गृहस्थ यजमान है, उसे तीन कुण्डों में तीन प्रकार की अग्नि रखनी पड़ती थी। यजमान की अपनी अग्नि एक कुण्ड में रहती थी उसे गार्हपत्याग्नि कहते थे। गृहपति–यजमान का नाम है। उससे जो संयुक्त अग्नि है वही गार्हपत्याग्नि है (गृहपतिः=यजमानः तेन संयुक्ताग्निः गार्हपत्याग्निः) इस अग्नि से गृहपति का गृहस्थ का नित्य सम्बन्ध होता है। जब तक अग्नि परिचर्या–अग्निहोत्र न कर ले, तब तक गृहपति यजमान दूसरे कार्य कर ही नहीं सकता। उस गार्हपत्याग्नि वाले कुण्ड से दक्षिण दिशा में एक दूसरा कुण्ड रहता है, उसमें जो अग्नि रहती है, इसे अनुकूल अग्नि भी कहते हैं। एक तीसरे कुण्डों में जो अग्नि रहती है उसे आहवनीय अग्नि कहते हैं। गार्हपत्याग्नि कुण्ड से उठाकर होम के निमित्त जो अग्नि संस्कृत की जाती है, उसी अग्नि का नाम आहवनीय है (आहूयते आज्यादिः अस्मिन्)। इस प्रकार प्रचीन काल में सभी द्विजगण अग्निहोत्र करते थे। यज्ञ याग करना सबसे प्रतिष्ठा का–पुण्यलोकों को विजय करने का–सर्वोत्तम साधन समझा जाता था। यज्ञों के भी अनेक भेद हैं। जैसे श्रौत-अग्नि, स्मार्त अग्नि। श्रौताग्नि के सात कृत्य होते हैं। जैसे नित्य का अग्निहोत्र जिसे अग्नयाधान भी कहते हैं। (२) अमावास्या और पौर्णिमा के दिन विशेष हवन। अमावास्या को पितृयज्ञ और पूर्णिमा को देवयज्ञ जिन्हें दर्शपौर्णमास याग कहते हैं। (३) पिंड-दान–पितृयज्ञ, (४) नया अन्न आने पर अगहन में जो विशेष याग किया जाता है, उसे आग्रयण याग कहते हैं। (५) चातुर्मास्य यज्ञ। आषाढ़, श्रावण, भाद्र और आश्विन इन चार महीनों को

चातुर्मास्य कहते हैं जहाँ पक्ष को ही मास माना जाता है वहाँ श्रावण और भाद्र पद इन दो महीनों के चार पक्षों को चातुर्मास्य कहते हैं। इनमें जो विशेष यज्ञ किया जाता है उसे चातुर्मास्य याग कहते हैं। (६) निरूढ़ पशुबन्ध और (७) सौत्रामणि। ये सात कृत्य श्रौताग्नि के कृत्य है। निरूढ़ पशुबन्ध मे पशु आलमन किया जाता है और सौत्रामणि में सुराघ्राणादि का विधान है।

स्मार्ताग्नि से सात पाक यज्ञ किये जाते हैं। जैसे १. औपासन, २. बलिवैश्वदेव, ३. स्थालीपाक, ४. आग्रयणम्, ५. सर्पबलि, ६. ईशान बलि, ७. अष्टकान्यष्टका इनके अतिरिक्त विशिष्ट याग जो वैभवशाली पुरुष समय-समय पर किया करते थे। उनमें श्रौताग्नि की सप्त संस्थायें हैं। जैसे १. अग्निष्टोम याग इसे ही सोम याग कहते है। २. अत्यग्निष्टोम, ३. उकथ्य, ४. षोडशी, ५. वाजपेय, (कुरु और ६. अतिरात्र दो भेदों वाला) ७. अप्तूर्य्याम।

इनके अतिरिक्त उत्तर क्रतु बड़े-बड़े महायज्ञ बहुत प्रकार के हैं। उन्हें कभी-कभी बड़े वैभवशाली राजा महाराजा ही किया करते थे। जिनमे १. महाव्रत याग २. सर्वतोमुख, ३. राजसूय यज्ञ, ४. पौण्डरीक याग, ५. अभिजित् याग, ६. विश्वजित् याग, ७. अश्वमेध याग, ८. बृहस्पतिसव यज्ञ ९. आङ्गिरस याग तथा अठारह प्रकार के चयन याग। इस प्रकार वेदों में यज्ञों की ही भरमार है और ये यज्ञ विधि प्रधान हुआ करते थे। विधि में तनिक-सी भी गड़बड़ी हो गयी तो सम्पूर्ण यज्ञ व्यर्थ हो जाता था। यज्ञों मे राक्षस भी आकर बहुत विघ्न किया करते थे। यज्ञों में तीनों वेदों के ज्ञाता ऋत्विज रहते थे। यज्ञों में प्रातःसवन ऋक् प्रधान होता है, यजुर्वेद मध्याह्न सवन मे और सामवेद सायं सवन में। ऐसा मत है सामवेद के श्रवण के अनन्तर वेदपाठ

प्रातःसवन में ऋक्वेद मन्त्रों की प्रधानता होती है। ऋक्वेद के मन्त्र दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो गाये जाते हैं, दूसरे वे जो गाये नहीं जाते। जो गाये नहीं जाते उनको 'शस्त्र' कहते हैं। उनमें से जो बिना गायन वाले शस्त्र मन्त्र प्रातःकाल में प्रातःसवन में पाठ किये जाते हैं उन्हें 'प्रातरनुवाक' कहते हैं प्रातःसवन में इन अनुवाकों का पाठ प्रधान है। हमारी यह छांदोग्य उपनिषद् सामवेद की उपनिषद् है। अतः यह तीनों सवन में साम के किन मन्त्रों का गान करना चाहिये इसी को विस्तार से बताती है। पहिले प्रातः सवन में सामवेद के किन मंत्र का कब गायन करे, इसे बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यज्ञ में प्रातःकाल ऋक्वेद के उन मन्त्रों का पाठ किया जाता है जो गाये नहीं जाते। उनको प्रातरनुवाक कहते हैं। यज्ञ का प्रातःकालीन कृत्य प्रातरनुवाकों से ही आरम्भ होता है। भगवती श्रुति आज्ञा देती है, प्रातःसवन में स्तुति सम्बन्धी संग्रहीत जो ऋक्वेद के मन्त्र हैं जिनका यज्ञ यागों में प्रातःकाल सर्वप्रथम पाठ होता है उन मन्त्रों के पूर्व यज्ञकर्ता यजमान साम का गायन कर ले। कैसे करे ? उसकी जो अपनी गार्हपत्याग्नि है, उस कुण्ड के सम्मुख नहीं, पीछे बैठकर उत्तर की ओर मुख करके ऋत्विज् तब तक चाहें यज्ञशाला में आये हों न आये हो, स्वयं ही सोम सम्बन्धी मंत्रों का गायन करे। वसु अग्नि प्रधान देव हैं। अतः अग्निदेव से प्रार्थना करे—"हे अग्निदेव ! तुम पृथ्वी लोक में रहते हो, अतः मुझ यजमान के लिये पृथ्वी लोक का द्वार खोल दो, जिससे कि राज्य प्राप्ति के निमित्त हम तुम्हारा दर्शन कर सकें।" सस्वर वसु सम्बन्धी मन्त्र का गायन करे।*

---

* लो ३ का द्वारमपावाः ३ णु ३३ पश्येम त्वा वय ् रा ३३३३३ ह ३म् मा ३३ ज्या ३ यो ३ मा ३२१११ इति ॥४॥

इस प्रकार अग्नि की स्तुति करके यजमान स्वयं इस मन्त्र को पढ़कर हवन करे। मन्त्र का भाव यह है—अग्निदेव मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप पृथ्वी लोक में रहने वाले हैं। मुझ यजमान को आप अपने इस पृथ्वी लोक की प्राप्त कराओ। (पृथ्वी लोक में तो हैं ही, अभिप्राय यही है कि पृथ्वीलोक में मैं धन, सम्पत्ति, वैभव कीर्तियुक्त होकर रहूँ) जब मेरी आयु समाप्त हो जाय, तो इस लोक से जाकर स्वर्गादि पुण्य लोकों को प्राप्त होऊँ।"

ऐसा कहकर हवन करे। फिर कहे-(अपजहि परिधम्) यह जो बीच में अर्गला है अड़ंगा लगा हुआ है इसे खोल दो। ऐसी प्रार्थना करते हुए उत्थान करता है। खड़े होकर अग्नि को नमस्कार करके हवि देकर वहाँ से जाता है तो वसुगण प्रसन्न होकर उसे प्रातःसवन का फल प्रदान करते हैं। अर्थात् पृथ्वीलोक की सर्व-समृद्धि यजमान को प्रदान करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं – "मुनियो ! यागों में यही सामगान संबन्धी प्रातःसवन की पद्धति है। अब मध्याह्न सवन में रुद्र देवताओं के सम्बन्धी साम का गान कैसे करना चाहिये इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

वायुदेव ! वैराज्य पदहिँ तुम प्राप्त कराओ।
दया दीन पै करो दयालो ! दरस दिखाओ॥
तदनन्तर करि हवन मन्त्र पढ़ि करै प्रार्थना।
अन्तरिक्ष में रहो प्राण के अधिप बहुगुना॥
वायुदेव कूँ नमन है, निज सिर तव चरनिन धरूँ।
अन्तरिक्ष की प्राप्ति हित, बार-बार बन्दन करूँ॥

—:—:—

मध्यन्दिन सवन और सायं सवन सम्बन्धी सामगान

[१३५]

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्री-
यस्योद्रङ्मुख उपविश्य स रौद्रँ सामाभिगायति ॥*॥

(छा० उ० २ प्र० २४ खं० ७ मं०)

छप्पय

मध्यन्दिन जो सवन रुद्र है दैवत ताके।
करै प्रार्थना वायुदेव हैं अधिप हु वाके॥
अन्तरिक्ष कूँ प्राप्त करूँ होमें स्वाहा करि।
करो अर्गला दूरि नमूँ सिर चरननि में धरि॥
फेरि करै उत्थान वह, इस्तुति होम अनन्तरहिँ।
देवँ मध्यन्दिन सवन, रुद्र सकल पूजित रहहिँ॥

तीनों सवनों में तीनों वेदों के स्तोत्रों की प्रधानता रहती है। प्रातःसवन में ऋक् सम्बन्धी स्तोत्र और मध्यन्दिन सवन में यजुर्वेद सम्बन्धी स्तोत्र और सायं सवन में साम सम्बन्धी स्तोत्रों

---

* यजमान जब तक मध्याह्न सवन का आरम्भ न हो, तभी दक्षिणाग्नि के पीछे रुद्र सम्बन्धी साम का गान उत्तराभिमुख होकर करे।

की प्रधानता रहती है। तीनों सवनों में यजमान द्वारा साम गायन करना चाहिये कब करना चाहिये? जब तक सवनों के कार्य आरम्भ न हों। उसके पूर्व ही यजमान स्वयं जाकर वेदी के सम्मुख न बैठकर उसके पीछे बैठकर-उत्तराभिमुख होकर साम का गान कर ले। जो उस सवन के अधिष्ठातृदेव हों और वे जिस लोक में रहते हों, उस लोक की प्राप्ति की उनसे प्रार्थना करे। तीन सवन हैं, तीन ही अग्नि हैं, तीन ही लोक हैं और तीन ही उनके देव हैं। अतः प्रातःसवन में गार्हपत्य अग्नि के कुण्ड के पीछे से वसु देवताओं की जो भूलोक में अग्नि रूप से रहते हैं उनसे भूलोक में राज्य की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करे। मध्यन्दिन सवन में दक्षिणाग्नि के पीछे रुद्रदेवों से जो अन्तरिक्ष निवासी हैं उनसे वैराज्य पद प्राप्ति की प्रार्थना करे और सायं सवन में आहवनीय अग्नि के कुण्ड के पीछे बैठकर आदित्य और विश्वेदेवताओं से जो स्वर्ग में निवास करते हैं उनसे स्वर्ग और साम्राज्य पद की प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करे। यह सवनों के कृत्यों से अतिरिक्त विशेष साम सम्बन्धी प्रार्थनायें हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रातःसवन के अनन्तर अब मध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन सम्बन्धी साम गानों का वर्णन करते हैं। मध्यन्दिन सवन का कृत्य जब तक विधिवत् आरम्भ भी न हो उसके पूर्व ही स्वयं यजमान जाकर जिस कुण्ड में दक्षिणाग्नि है उस कुण्ड के पीछे बैठकर उत्तराभिमुख होकर मध्याह्न सवन के जो रुद्र देवता हैं, उनके सम्बन्ध के मन्त्र का गायन करे। उसका भाव यह है। हे रुद्रदेव! आप वायु रूप से अन्तरिक्ष में निवास करते हो। सो हे वायुदेव! आप मुझ यजमान के लिये अन्तरिक्ष का द्वार खोल दो, जिस वैराज्य पद की प्राप्ति के

निमित्त हम आपका दर्शन कर सके।*

इस प्रकार प्रार्थना करने के अनन्तर यजमान इस मन्त्र से हवन करे—'अन्तरिक्ष निवासी तथा अन्तरिक्ष में रहने वाले वायु देव को नमस्कार है। मुझ यजमान को अपने लोक अन्तरिक्ष की प्राप्ति कराइये। यही अन्तरिक्ष लोक मुझ यजमान का लोक है, मैं ही इसे प्राप्त करने का अधिकारी हूँ।" मैं अपनी आयु समाप्त होने पर अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त करूँगा। ऐसा संकल्प करके 'स्वाहा' कहकर हवन करे। फिर 'लोकद्वारकी अर्गला खोल दो।' ऐसा कहकर उत्थान करे। अर्थात् ऐसी प्रार्थना खड़े होकर करके वहाँ से चला जाय। तो रुद्र गण उसे मध्याह्न सवन प्रदान करते हैं। अर्थात् मृत्यु के पश्चात् अन्तरिक्ष लोक में वैराज्य पद की प्राप्ति होती है।

मध्याह्न सवन कहकर अब सायं सवन को कहते हैं। यह तीसरा सायं सवन है। जब तक यज्ञ मंडप में साय सवन का कृत्य आरम्भ न हो, उसके पूर्व ही यजमान जाकर आहवनीय अग्नि के कुण्ड के पीछे बैठकर उत्तराभिमुख होकर उस सवन के जो अधिष्ठातृदेव आदित्य और विश्वेदेवा हैं उनके सम्बन्ध वाला सामवेद का गायन करे। आदित्य और विश्वेदेवता स्वर्ग में रहते हैं। उनसे इस प्रकार प्रार्थना करे—"पहिले आदित्यों से प्रार्थना करे—हे आदित्यो! आप लोक का द्वार खोल दें। जिससे हम स्वाराज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन कर सकें।" यह तो हुआ आदित्यों के सम्बन्ध का सामगायन। अब विश्वेदेवों का सामगान कहते हैं। विश्वेदेवों से यह प्रार्थना करे—"अपने लोक का द्वार खोल

---

* लो ३ क द्वारमपावा ३ णु ३३ पश्येम त्वा वय वैरा ३३३३३ हु ३ म् भा ३३ ज्या ३ यो ३ भा ३२१११ इति ॥८॥

दो, जिससे हम साम्राज्य प्राप्ति के हेतु आपका दर्शन कर सकें।*

इस प्रकार प्रार्थना करने के अनन्तर यजमान इस मंत्र द्वारा हवन करे "स्वर्ग लोक के निवासी स्वर्ग में ही रहने वाले आदित्यों और विश्वे देवताओं को नमस्कार है। मैं जो यजमान हूँ, मुझे पुण्य लोक की प्राप्ति कराइये।" यह जो आपका स्वर्ग है यह निश्चय ही यजमान का लोक है। मैं इसे प्राप्त करने का अधिकारी हूँ। ऐसा कहकर आयु की समाप्ति के अनन्तर मैं इस लोक को प्राप्त करूँगा। ऐसा कहकर 'स्वाहा' बोलकर हवन करे। फिर इतना कहकर उत्थान करे। 'लोक द्वार की अर्गला को खोल दो।' खड़े होकर ऐसी प्रार्थना करके चला जाय।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने आपसे यह तीसरा सायं सवन कहा। जो यजमान इस प्रकार साम मंत्रों से प्रार्थना करता है, उसको आदित्यगण तथा विश्वेदेवगण तृतीय सवन के फल को प्रदान करते हैं। वह यजमान ही यज्ञ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है जो इस प्रकार इस रहस्य को जानता है। इसे भली प्रकार जानने वाला ही यज्ञ की मात्रा का ज्ञाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने साम सम्बन्धी तीनों सवनों की कथा कही यहाँ छान्दोग्य उपनिषद् का दूसरा अध्याय

---

* लो ३ क द्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं स्वारा ३३३३३ हु ३ म् आ ३३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति।

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो ३ क द्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं साम्रा ३३३३३ हु ३ म् आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति।

समाप्त हुआ। अब तृतीय अध्याय के प्रथम खंड में जैसे मधु विद्या का वर्णन होगा, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

तृतीय सवन के पूर्व पिछे आहवनीयाग्नी।
बैठे उत्तर ओर गाइ सामहिँ की बानी॥
आदित! विश्वेदेव!! लोक के द्वारनि खोलो।
स्वाराज्य हु साम्राज्य पाइँ घूँघट पट खोलो॥
नमस्कार अरु हवन करि, पुण्य लोक प्रापत करें।
लोक द्वार की अर्गला, खोलो, उत्थान हु करें॥
आदित विश्वे देव की, तृतिय सवन इस्तुति करें।
यज्ञ रूप जानत वही, गृहपति के सब अघ हरें॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
चौबीसवाँ खण्ड समाप्त।

द्वितीय अध्याय समाप्त।

—:—

मधुविद्या

(१३६)

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥*

(छां० उ० ३ अ० १ ख० १ मं०)

छप्पय

आदित्यहि मधु–देव बाँस तिरछो स्वर्गहि है ।
रवि किरण हिँ सुत छत्त अन्तरिक्षहि सो तिहि है ॥
रवि की पूरब किरन छिद्र हैं पूरब दिशि के ।
मधुकर ही हैं ऋचा वेदऋक् सुमन सरसके ॥
सोम अमृत ही कह्यो जल, ऋक् मधुकर अभिताप करि ।
तातैं इन्द्रिय, तेज, बल, अन्न आदि रस भये फिरि ॥

संसार की समस्त ओषधियाँ मधु प्रधान है। संसार में कटुता, क्षारता की अपेक्षा मधुरता अधिक है श्रीमद्भागवत के मतानुसार संसार में सात समुद्र और सात द्वीप हैं। ब्रह्माण्ड को कमल से उपमा दी है। कमल में एक बीच में कर्णिका होती है, उस कर्णिका के चारों ओर कमलदल (पंखुड़ियाँ) होती हैं। जम्बू

---

* यह आदित्य देवताओं का मधु है, द्युलोक ही तिरछा बाँस है, अन्तरिक्ष अपूप–मधु का छत्ता–है। मरीचें–सूर्य की किरणें–ही मधुमक्खियों के पुत्र हैं।

द्वीप को कमल की कर्णिका माना जाता है। जम्बूद्वीप में नौ वर्ष हैं। इलावृत तो बीच का वर्ष है। और आठ वर्ष उसकी आठों दिशाओं में है। इलावृत वर्ष में ही सुमेरु पर्वत है। वह दिव्य सुवर्णमय है। पहिले ये आठों वर्ष एक दूसरे से सम्बन्धित थे। जब सगर के साठ सहस्र पुत्रों ने चारों ओर से इसे खोदा तो भारतवर्ष के चारों ओर खायी बन गयी। सगर के पुत्रों द्वारा खोदी जाने से और खारे समुद्र से पानी भर जाने से इस खाई से भारतवर्ष शेष सात वर्षों से पृथक् हो गया। वह खाई सगर पुत्रों द्वारा खोदी जाने से 'सागर' के नाम से विख्यात हुई। जम्बूद्वीप के चारों ओर खारा समुद्र है। एक द्वीप के पश्चात् एक समुद्र है, फिर द्वीप और फिर समुद्र। इस प्रकार १. जम्बूद्वीप, २. प्लक्षद्वीप, ३. शाल्मली द्वीप, ४. कुशद्वीप, ५. क्रौञ्चद्वीप, ६. शाकद्वीप और ७. पुष्कार द्वीप ये तो सात द्वीप हैं। ये सब द्वीप जैसे किले के चारों ओर पानी से भरी खाई खुदी रहती है उसी प्रकार ये सात द्वीप सात समुद्रों से घिरे हुए हैं। उन समुद्रों के नाम १. क्षार समुद्र, २. इक्षुरस समुद्र, घृत समुद्र, ४. क्षीर समुद्र, ५. दधि मंड (तक्र) समुद्र, ६. सुरा समुद्र और ७. शुद्ध जल समुद्र हैं।

आप कहोगे, कि हमें तो खारे समुद्र के अतिरिक्त और कोई समुद्र दिखायी ही नहीं देता। जो वैज्ञानिक चन्द्रलोक तक की यात्रा कर आये हैं, उनमें से भी किसी ने इन ६ समुद्रों को नहीं देखा। इसका उत्तर शास्त्रों में यही दिया है, कि जम्बूद्वीप के अतिरिक्त मनुष्य शरीर से कोई अन्य द्वीपों में जा ही नहीं सकता। जम्बू द्वीप में भी नौ खण्ड या वर्ष हैं। उनमें से केवल भारतवर्ष में ही कर्म करने वाले शतायु पुरुष रहते हैं। शेष आठों वर्ष और छैऊ खंडों में भौम स्वर्ग के मानव रहते हैं। उनकी दश-दश सहस्र वर्ष की आयु होती है, इन आठ वर्षों में भी कर्म प्रधान

पुरुषों की पहुँच नहीं। जहाँ तक मनुष्य जा सकता है, और जहाँ तक खारा समुद्र है सब भारतवर्ष के ही अन्तर्गत है।

जब कोई मनुष्य इन खंड और द्वीपों में पहुँच ही नहीं सकता, तो हम कैसे जाने कि खारे समुद्र के अतिरिक्त भी १. ईख के रस का, २. मदिरा का, ३. घृत का, ४. दूध का, ५. मट्ठे का और शुद्ध जल का समुद्र है। इन समुद्रों के अस्तित्व को कैसे स्वीकार करें? इसका उत्तर यही है, हमारे इस वर्ष में नमक के अतिरिक्त ईख, मदिरा, घृत, दही और शुद्ध जल भी विद्यमान है। हमें नमक कहाँ से मिलता है? ओषधियों में जो क्षार अंश है, वह कहाँ से आता है? आप कहेंगे, समुद्र के जल को सूर्यनारायण लाकर ओषधियों में वर्षा देते हैं, उसी से भूमि नमकीन हो जाती है, ओषधि उसी से उत्पन्न होती है, इसीलिये फलों में, ओषधियों में नमक आ जाता है।

इसी सिद्धान्त को हम अन्य समुद्रों के सम्बन्ध में लगा दें। हमें जो ईख का रस, मदिरा, घृत, दूध, दही और शुद्ध जल मिलता है वह सूर्य द्वारा ही मिलता है। सूर्यदेव अपनी किरणों से इक्षु, सुरा, क्षीर, दधि, घृत और शुद्ध जल वाले समुद्रों से इन वस्तुएँ से मिले जल को लाकर ओषधियाँ पर बरसा देते हैं। उसी से ये वस्तुएँ ओषधियों द्वारा हमें मिल जाती हैं। नहीं तो घास आदि तृणों में दूध, घृत कहाँ से आ गया? महुआ जौ आदि में मदिरा कहाँ से आ गयी? तिल आदि में तैल कहाँ से आ गया? दूध में घृत कैसे आ गया? हमारे चारों ओर तो खारा समुद्र है हमें मीठा जल कैसे मिल गया? ये सब वस्तुएँ हमें सूर्य द्वारा ही प्राप्त होती हैं। सूर्य अपनी किरणों से इन वस्तुओं को चुराकर–खींचकर–ले आते हैं ओषधियों पर बरसा देते हैं, उन्हीं के द्वारा ये वस्तुएं उपलब्ध होती हैं इन वस्तुओं का कहीं-न-कहीं भण्डार

भरा होगा, इनका समुद्र होगा, उन्हीं से तो सूर्य लाते होंगे, नहीं तो सूर्य के घर में इतनी वस्तुएँ रखी थोड़े ही रहती होंगी। इन सातों समुद्रों में है तो जल ही किन्तु क्षीर समुद्र में दुग्धांश अधिक है इसी प्रकार सभी समुद्रों में उन-उन वस्तुओं का अंश अधिक है। जैसे हमारा क्षार समुद्र है। इसमें नमक-ही-नमक थोड़े ही भरा है। समुद्र तो जल का ही है, किन्तु उसमें नमक का अंश अधिक है। समुद्र के जल को क्यारियों में भर देते हैं, तो नीचे नमक-नमक जम जाता है, उसी से समुद्री नमक बनता है। वही बात दूसरे समुद्रों के सम्बन्ध में है।

इन सब समुद्रों में मधुरता का अंश अधिक है। जैसे हमारा यह खारा समुद्र है। इसमें खारापन तो है ही। खारे के साथ जल भी है। जल स्वभाव से मधुर होता है। वैज्ञानिक लोग समुद्र के जल में से खारेपन को पृथक् करके उससे पीने योग्य मधुर पेय जल बना लेते हैं। अतः क्षार जल में भी मधु है। ईख तो मधुरता की रानी ही है। सुरा में भी मधुरता होती है, घृत तो मधुर ही है। दही में मधुरता आम्लता मिली ही रहती है। दूध तो मीठा है ही। मधुर जल भी मीठा है। कहने का भाव यही है, कि संसार की मुख्य सात वस्तुओं में मधुरता का—मधु का—अंश अधिक है। यह मधुरता सूर्य से प्राप्त होती है। धूँआ, ज्योति, जल और वायु मिलकर घन बनते हैं। उन मेघों द्वारा हमें मधुरता मिलती है। हमारा सम्पूर्ण जीवन मधुमय बन जाय, यह तभी संभव है जब हम मधु उपासना करें। पंसारी की दुकान में हरड़, आवला आदि अमृत भी हैं और कुचला, मीठा, संखिया आदि विष भी हैं। आप जैसी भावना से जो लेने के लिये उसके समीप जाओगे, वही वस्तु तुम्हें प्राप्त होगी। वस्तुएँ सब विद्यमान हैं किन्तु तुम्हें प्राप्त वे ही होंगी जैसी तुम्हारी उपासना होगी। नारी

एक है उसके पास पति प्रेम, भातृ प्रेम, पितृ प्रेम तथा वात्सल्य प्रेम सभी हैं। आप जिस भावना से उसकी उपासना करोगे वही प्रेम तुम्हें प्राप्त होगा।

यज्ञ धूम में आप जैसी भावना करोगे, वैसे ही भावयुक्त मेघ बनकर तुम्हारे लिये बरसा करेंगे और उनसे तुम्हारी इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी, अतः सूर्य में मधु भावना करके किस प्रकार मधु उपासना की जाय, इसी का वर्णन मधुविद्या में है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो तीनों सवनों के अधिकारी देवताओं का, देवताओं से सम्बन्धित साम सम्बन्धी स्तुतियों का, तीनों सवनों के होम सम्बन्धी मन्त्रों का तथा तीनों काल के उत्थानों का वर्णन करने के अनन्तर अब मधु विद्या का आरम्भ किया जाता है। मधुविद्या से अभिप्राय यहाँ सूर्यदेव की उपासना है। सूर्य की उपमा मधु से भरे हुए मधुमक्खी के छत्ते से दी है मधु शब्द का अर्थ है जिससे मोद हो, प्रसन्नता हो वही मधु है। तो ये सूर्यदेव देवताओं के मधु हैं। मौहार का छत्ता प्रायः वनों में बाँस आदि वृक्षों में लटका रहता है, अधर में। जैसे बाँसों का समूह (कोठी) उसमें से जिस बाँस में मधुमक्खी का छत्ता लगा होता है वह उस छत्ते के बोझ के कारण टेढ़ा हो जाता है। उसमें मधुमक्खियाँ रहती हैं। सभी मक्खियाँ अंडे बच्चे नहीं देती हैं। उन मक्खियों में एक सबसे बड़ी रानी मक्खी होती है, वही अकेली अंडे देती है। उन्हीं अंडों से मक्खियों के बच्चे होते हैं। वह रानी मक्खी छत्ते से बाहर—फूलों से-मधु चुनने—नहीं जाती है। वह छत्ते में ही रह कर अंडे देती है और अंडे बच्चों का पालन-पोषण करती है। शेष सब मक्खियाँ पुष्पों से शहद संग्रह करने जाती हैं। तो उस टेढ़े बाँस में मधु का जो मल है जिसे मोम कहते हैं, उससे ही वह छोटे-छोटे छिद्र रूप

घरों वाला छत्ता बनता है, उसमें कुछ घरों में तो अंडे बच्चे भरे रहते हैं, कुछ में शहद-मधु-भरा रहता है, उसी छत्ते को घेरकर मक्खियाँ उस पर बैठी रहती हैं।

उसी मधु भरे छत्ते की सूर्यनारायण से उपमा देते हुए बताते हैं-ये सूर्यनारायण आदित्य के-देवताओं के-मधु हैं। मधु तो छत्ते में भरा रहता है, टेढ़े बाँस में वह छत्ता अन्तरिक्ष में लटकता रहता है। इसी प्रकार स्वर्गलोक ही टेढ़ा बाँस है, अन्तरिक्ष अर्थात् भुवर्लोक ही मधुमक्खियों का छत्ता है सूर्य की जो किरणें हैं मानों वे ही उस छत्ते में रहने वाले मधुमक्खियों के बच्चे हैं। छत्ते में छिद्र रूपी घर तो चारों दिशाओं में होते हैं, तो सूर्यनारायण की पूर्वदिशा की जो किरणें हैं, वे ही मानो उस अन्तरिक्ष रूपी छत्ते के पूर्व दिशावर्ती छिद्र रूप घर हैं। ऋक्वेद की जो ऋचायें हैं, वे ही मानों पूर्व दिशा में छत्ते में रहने वाली मधुमक्खियाँ हैं। सूर्य की किरणों में तो जल भरा रहता है, तो मानों सम्पूर्ण ऋक्वेद ही उस छत्ते का सोम आदि अमृत जल है। और ऋक्वेद विहित कर्म ही पुष्प हैं। उन ऋक्वेद की ऋचा रूप मधुमक्खियों ने ही इस ऋग्वेद का अभिताप किया है, अर्थात् ऋक्वेद विहित कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयोरूप जल अग्नि में अभितप्त करके ऋक्वेद विहित कर्म रूप फूल को तपाकर-जैसे पुष्पों से मधुमक्खियाँ रस बनाती हैं-वैसे ही ऋग्वेद से यश, तेज, इन्द्रिय शक्ति, वीर्य तथा अन्न आदि रस को ऋग्वेद की ऋचायें उत्पन्न करती हैं।

जैसे मधुमक्खियाँ फूलों से रस लेकर उसे तपाकर छत्ते में लाकर संग्रह करती हैं, वैसे ही ऋक्वेद की ऋचाओं ने ऋग्वेद सम्बन्धी कर्मों को ही तपाकर उससे रस निकाला। वह रस क्या है यश, तेज, इन्द्रिय शक्ति तथा खाद्य अन्नादि रूप है। यह रस विशेष रूप से बाहर निकल कर चला। वहाँ से निकल कर

आदित्य के चारों ओर लिपट गया। उसने पूर्व भाग में आश्रय लिया। सूर्यनारायण की जो लालिमा है, सूर्यनारायण में जो लाल रूप है यही मानों ऋक्वेद सम्बन्धी रस है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सूर्य को (छत्ता में स्थित) मधु के रूप में कल्पना करने में उसके चारों दिशाओं के छिद्रों की चारों वेदों से सूर्य के चारों वर्णों से उपमा करेंगे। यहाँ ऋक्वेद, पूर्व दिशा और लोहित वर्ण की उपमा की। अब आगे पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं की, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की तथा शुक्ल, कृष्ण और अत्यन्त कृष्ण वर्णों की जैसे उपमा देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ऋग्वेदनि की ऋचा सकल मधुमक्खी मानों।
खाद्य अन्न यश तेज वीर्य इन्द्रिय रस जानों॥
वह रस बहिकें चल्यो सूर्य चहुँदिशि लपटानों।
पूर्व दिशा में अधिक पाइ आश्रय हरसानों॥
सूरज मंडल में दिखै, लाल रूप दिशि पूर्वमहँ।
ऋग्वेदहिँ के कर्म को, है रस मधुकर ऋचनिमहँ॥

—:—

सूर्य की दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊर्ध्व दिक्सम्बन्धिनी किरणों में मधुनाड्यादि-दृष्टि

[१३७]

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूँष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥❀

(छां० उ० ३ प्र० २ खं० १ मं०)

छप्पय

दक्षिण पश्चिम उत्तर यजु साम हु आथर्वन ।
वेद विहित सब कर्म सबहिँ के समुझो सुमनन ॥
सब वेदनि की कही सकल श्रुति मधुकर मुनिवर ।
श्रुति सब सुमननि लेइँ सु-रस अभिताप करहिँ वर ॥
अभितप्त हि रस तेज, यश, इन्द्रिय बल अरु वीर्य जो ।
अन्न आदि रस उदित है, आश्रयहित करि गमन सो ॥

❀ तदनन्तर उस आदित्य की जो दक्षिण दिशा की किरणें हैं, वे उस मधुमक्खियों के छत्ते की दक्षिण दिक्सम्बन्धिनी मधु नाड़ियाँ हैं। यजुर्वेद की श्रुतियाँ ही मधु की मक्खियाँ हैं, यजुर्वेद सम्बन्धी जो कर्म हैं वे ही पुष्प हैं। तथा अमृत ही जल है।

में मधुनाड्यादि-दृष्टि

आदित्य को देवताओं का मधु (शहद) बताया है, अन्तरिक्ष में यह छत्ता लटक रहा है। सूर्य की किरणें ही मधु नाड़िकायें हैं। सूर्य की किरणें तो चारों दिशाओं में तथा ऊपर की ओर व्याप्त हैं। उनमें से बहता हुआ मधु सूर्य में किस रंग का होकर किस ओर कैसा दृष्टिगोचर होता है, उसका कैसे ध्यान करना चाहिये। इसी बात को बताते हैं। आदित्य की पूर्व दिशा सम्बन्धिनी किरणों में किस प्रकार मधुनाड्यादि-दृष्टि करनी चाहिये इसका वर्णन हो चुका। अब पूर्व के अतिरिक्त जो दक्षिण, पश्चिम उत्तर दिशायें हैं उनकी मधु नाड़ियों में सूर्य की किरणों के साथ कैसी दृष्टि करनी चाहिये। अब इसी बात का उल्लेख किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले प्रकरण में यह बात बतायी कि आदित्य ही देवमधु है। स्वर्गलोक रूपी तिरछे बाँस में अन्तरिक्ष रूपी मधुमक्खियों का छत्ता लटका हुआ है, उस छत्ते में सूर्य की किरणें ही मानों मधुमक्खियों के बच्चे हैं। सूर्य की पूर्व दिशा की किरणें ही उस छत्ता के छिद्र हैं। ऋक्वेद की ऋचायें ही मधुमक्खियाँ हैं। ऋक्वेद का जो कर्म है वही मानों सुमन-पुष्प-हैं। जैसे मधुमक्खियाँ फूलों से रस चुनकर उसका अभिताप करके-उसे भली-भाँति अभितप्त करके-उसका शहद बनाकर संग्रह करके रखती हैं, उसी प्रकार वेदों की पृथक-पृथक ऋचायें, वेदों के कर्मकाण्ड रूपी फूलों से रस लेकर उसे अभितप्त करके रस बनाते हैं। वह रस क्या है? यश, तेज, इन्द्रिय सामर्थ्य वीर्य तथा अन्नादि पदार्थ हैं। इन्हीं सूर्यप्रदत्त वस्तुओं में रस की तथा सूर्य के रंगों में मधु की भावना करके उपासना करनी चाहिये।"

इस प्रकार पूर्वदिशा का वर्णन करके इसी भाँति दक्षिण

दिक्सम्बन्धिनी किरणों में मधुनाड़ी आदि की दृष्टि कैसे करनी चाहिये। पहिले इसे ही बताते हैं—आदित्य की दक्षिण दिशा की किरणें ही मानों मधु की नाड़ियाँ हैं। यजुर्वेद की समस्त श्रुतियाँ ही मानो मधुमक्खियाँ हैं। यजुर्वेद विहित कर्म ही मानों पुष्प हैं। उन कर्मों को जब सोम आदि आज्य पय रूप जल में डालकर पकाया जाता है तब उसका रस बन जाता है वह रस क्या है? यश, तेज, इन्द्रिय शक्ति, वीर्य और अन्नादि रूप रस हो जाता है। वह रस अधिक होने से उन मधुनाड़ियों से बाहर निकलकर बहने लगा। उसने आदित्य के चारों ओर आश्रय लिया। उसने लाल रूप धारण कर लिया। आदित्य में जो लाल रूप है, यह वही यश, तेज, इन्द्रिय शक्ति, वीर्य तथा अन्नादि रूप रस है।

अब पूर्व दक्षिण की सूर्य रश्मियों का वर्णन करके पश्चिम दिशा की रश्मियों का वर्णन करते हैं आदित्य की जो पश्चिम दिशा की किरणें हैं, वे ही मानों अन्तरिक्ष रूप छत्ते की पश्चिमीय मधुनाड़ियाँ हैं। साम की समस्त श्रुतियाँ ही मानों मक्खियाँ हैं। सामवेद विहित कर्म ही मानों पुष्प हैं। उनमें सोमादि रूप जो अमृत है मानों वही जल है सामवेद की श्रुतियों ने साम विहित कर्म रूपी पुष्पों से रस लेकर उसे तपाया। वही अभितप्त साम ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्न आदि रूप रस पैदा हुआ। वह रस जब बहने लगा तो अदित्य पश्चिम भाग में उसने आश्रय प्राप्त किया। सूर्य में जो कृष्ण वर्ण का तेज है वही मानों वह घनीभूत रस है।

पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम दिशाओं का वर्णन करने के अनंतर उत्तर दिशा की आदित्य किरणों का वर्णन किया जाता है। सूर्य की उत्तर दिशा की किरणें ही मानों औत्तरीय मधुनाड़ियाँ हैं। अथर्ववेद की समस्त श्रुतियाँ ही मानों मधुमक्खियाँ हैं। इतिहास

पुराण ही मानों पुष्प हैं, उसमें सोमादि अमृत ही मानों जल है। उन श्रुतियों ने इतिहास पुराण रूप पुष्पों से रस लेकर उसे अभितप्त किया। उसी से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य तथा अन्नादि रूप रस उत्पन्न हुआ। वह रस बहने लगा तब उसे सूर्यनारायण के पश्चिम भाग में आश्रय प्राप्त हुआ, तब उस रस ने कृष्ण रूप धारण कर लिया। सूर्यनारायण में जो कृष्ण वर्ण दीखता है। वही अथर्ववेद की श्रुतियों द्वारा इतिहास पुराण से लेकर अभितप्त रस है।

अब पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं के भाग का वर्णन करके ऊर्ध्व रश्मियों में जैसे ऊपर की ओर जो मधुनाड़ियाँ हैं, उनमें कैसी दृष्टि करनी चाहिये। इस बात को बताते हैं। आदित्य देव की ऊपर की ओर जाने वाली जो किरणें हैं, वे ही मानों ऊपर की ओर की मधुनाड़ियाँ हैं। प्रणवरूप गुह्य आदेश ही मधुमक्खियाँ हैं। परब्रह्म परमात्मा ही पुष्प हैं। तथा सोमादि रूप अमृत ही आप हैं। इन गुह्य आदेशों ने ओंकार-प्रणव-को अभितप्त किया। उसी अभितप्त ब्रह्म से ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य तथा अन्नादि रूप रस की उत्पत्ति हुई। वह रस बहने लगा उस रस ने विशेष रूप से गमन किया। वह आश्रय खोजने लगा, तब उसे आदित्य के ऊर्ध्व भाग में आश्रय प्राप्त हुआ। आदित्य के मध्य में जो कम्पन-सी प्रतीति होती है। क्षुब्ध-सा प्रस्फुरित होता है। वही वह 'इन्द्रिय, वीर्य, यश, तेज, रूप मधु रस है।

सूर्य में जो लाल, शुभ्र, कृष्ण और अत्यन्त कृष्ण रंग तथा मध्य भाग में ध्यान से-देखने पर-जो कम्पन प्रतीत होती है, ये सब लोकों के सारभूत रसों के सर्वोत्तम रस हैं। ये चारों वेदों के भी सारभूत रस हैं। ये अमृतों के भी अमृत हैं। वैसे वास्तव

में वेद ही अमृत है और ये उस अमृत का भी सारभूत महामृत है। यही इसकी महिमा है। यही माहात्म्य है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने मधु उपासना के सम्बन्ध में चारों वेद, चारों दिशायें, तथा चारों वर्णों के सम्बन्ध में बताया। अब तीनों सवनों के अधिकारी देवों के जीवनाश्रय रूप जो मधु है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इस मधुविद्या सम्बन्धी प्रसंग को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

सो रस चारिहु दिशनि ऊर्ध्व रवि के लिपटानो।
लाल, शुक्ल अति कृष्ण कृष्ण रंगनि हि दिखानो॥
ऊर्ध्व प्रवण मधुकरहु कर्‌यो अमितत बन्यो रस।
अन्नादिक धरि रूप वीर्य इन्द्रिय तेजहु यश॥
कह्यो गमन रवि मध्य में, कम्पन बनि दीखत भयो।
सु-रस वेद तिहि सार-रस, अमृत-अमृत मधु है गयो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम खण्ड समाप्त।

अमृतोपासना (मधुविद्या)

[१३८]

तद्यत्प्रथममभृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥*

(छां० उ० ३ अ० ६ ख० १ मं०)

छप्पय

प्रथम अमृत वसु अग्नि बने जीवन धारन करि ।
दीठि मात्र तैं तृप्त उदासी उत्साहहिँ भरि ॥
वसु बनि अग्नि प्रधान तृप्त उत्साह उदासी ।
अजर अमर बनि रहै सूर्य जब तलक प्रकाशी ॥
द्वितीय अमृत है रुद्रगण, इन्द्र प्रधान कहावते ।
होहिँ तृप्त सुर अमृत लखि, जानि रुद्र बनि जावते ॥

मृत्यु से सभी भयभीत रहते हैं, किसी भी लोक में चले जाओ वहाँ मृत्यु का—पतन का—भय बना ही रहता है। अतः प्राणी अमृत प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता रहता है। भिन्न-भिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं में प्राणियों ने अमृत की कल्पना कर रखी है। इस मर्त्यलोक—भूलोक—में कान्ता के अधर रस को ही लोग अमृत

---

* जो प्रथम अमृत है उससे अग्नि प्रधान होकर वसुगण जीवन धारण करते हैं। बात यह है कि देवता खाते-पीते तो हैं नहीं। वे केवल इस अमृत के दर्शन मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं।

कहते हैं । शीतकाल में अग्नि को अमृत बताते हैं, राज्य सम्मान प्राप्त होना यह अमृत सदृश ही माना है। अपने प्रियतम का सम्मिलन भी अमृत कहा गया है, दुग्ध भोजन की भी अमृत से उपमा दी गयी है और घृत को भी मर्त्यलोक का अमृत बताया है (आज्यं वै अमृतम्) इसीलिये नास्तिक लोग कहते हैं, ऋण लेकर भी घृत को पीना चाहिये, देह जब भस्म हो जायगी, तो घृत पीने कौन आवेगा। किन्तु हम देखते हैं, संसारी लोग सतत कान्ता के अधरामृत का पान करते हैं। दूध, दही, घृत खाते हैं किन्तु किसी को भी आज तक हमने अमर होते नहीं देखा। कोई दस वर्ष अधिक जीता है, कोई दस वर्ष कम। एक दिन तो सभी को मरना ही होता है। स्वर्ग में देवताओं का अमृत दूसरा ही होता है। उनका अमृत सूर्य में स्थित रहता है। आदित्य ही देवताओं का अमृत है। सूर्य में जो लाल, शुभ्र, कृष्ण, अतिकृष्ण और कंपन रूप जो रस समूह है, वही देवताओं के लिये अमृत है। देवगण हम पृथ्वी लोक के पुरुषों के सदृश न तो खाते ही हैं और न पीते ही हैं, वे देखकर-केवल सूँघकर-ही तृप्त हो जाते हैं। यह जो पाँच प्रकार का सूर्य में अमृत बताया है उसका उपभोग क्रमशः वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, मरुद्गण और साध्यगण जो देवताओं के गण हैं, वे ही करते हैं। अर्थात् उन देवों के लिये वही अमृत है। महर्लोक में महर्षिगण धर्म को ही अमृत मानकर उसका आस्वादन करते हैं। जनलोक निवासी अखंड ब्रह्मचर्य को ही अमृत मानकर उसका पालन करते हैं। तप लोक में तपस्या को ही अमृत मानकर वहाँ के निवासी निरंतर तप में ही निरत रहते हैं। ब्रह्मलोक में ज्ञान को ही अमृत मानकर ब्रह्माजी के साथ उसी का आस्वादन करते हैं। किन्तु ये सभी लोक क्षयिष्णु हैं, पुनरावृत्तिशील हैं। जन्म-मरण को देने वाले

हैं। वास्तव में अमर तो वही है, जो भगवत् कृपा से भगवत् चरणारविन्दों में प्राप्त हो चुका है। जो प्रपन्न बनकर उनकी शरण में आ गया है। वही सर्वथा स्वस्थ होकर तान दुपट्टा सोता है। मृत्यु उसके समीप से भाग जाती है। वही वास्तविक अमृत को पान करके अमर हो गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आदित्य में लोहित, शुक्ल, कृष्ण, अतिशय कृष्ण और कंपन वाले यश, तेज, इन्द्रियशक्ति, वीर्य और अन्नादि खाद्य रूप पाँच प्रकार के अमृत बताये। अब इन पाँचों अमृतों का उपभोक्ता कौन-कौन देवता है, इसका वर्णन करते हैं। सूर्य में जो लोहितवर्ण वाला पहिला अमृत है, उसका उपभोग प्रातःसवन के अधिकारी वसुगण अग्नि प्रधान होकर अग्नि के द्वारा करते हैं। उसका उपभोग वे कैसे करते हैं, इस बात को बताते हैं–देखो, देवतागण मनुष्यों की भाँति न तो खाते ही हैं और न पीते ही हैं। वे दृष्टि मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। जहाँ उन्होंने उस अमृत को देखा, वहाँ भोगावसर न होने से रूप को लक्षित करके उदासीन से हो जाते हैं। जब अमृत के भोग का अवसर आ जाता है तब वे परम उत्साहित हो जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! देवता न खाते हैं और न पीते ही हैं, केवल देखने मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं, तो फिर उदासीन क्यों होते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! देखने से तात्पर्य यह नहीं है, कि दूर से देख लिया। इन्द्रिय संनिकर्ष होने से ही उपभोग होता है, जब भोग का अवसर नहीं है, तब तो भोग प्राप्त न होने पर उदासीन होना स्वाभाविक ही है। जब भोग का अवसर उपस्थित हो जाता है, नेत्रों से उसे देखते हैं, घ्राण इन्द्रिय से उसे सूँघते हैं, तब उत्साहित होते हैं। देवता खाते नहीं सूँघते हैं, (घ्राणं अर्ध भोज-

नम्) सूँघ लेना भी आधे भोजन के समान है। खाने से तो वस्तु घटती है, किन्तु सुवास लेने से सूँघने से–उसमें से मधु अंशमात्र ग्रहण करने से–वस्तु ज्यों-की-त्यों ही बनी रहती है। उपभोग कर लेने वाले उपभोग भी कर लेते हैं। वस्तु में विकृति भी नहीं आती। जैसे फूलों को तोलकर रख दो। फिर चाहें जितने आदमी उसकी सुवास लेकर–सूँघकर–आनन्द का अनुभव करें। फूलों का बोझ कम न होगा। फूलों से मधुकर मधु ले जाते हैं, किन्तु फूल का न तो बोझ ही कम होता है और न उसमें किसी प्रकार की विकृति ही आती है। इसीलिये साधु महात्मा मधुकरी वृत्ति अपनाते हैं। गृहस्थी जब भोजन कर चुकें। उनके भोजन के अनन्तर एक आध रोटी–एक आध टुकड़ा–बच गया। जो उनके काम का नहीं रहा। महात्मा आते हैं घर-घर से ऐसे टुकड़े माँग कर अपनी वृत्ति चलाते हैं। इससे गृहस्थियों पर तो बोझा पड़ा नहीं, उनका निर्वाह हो गया। इसीलिये मधुकरी वृत्ति सर्वोत्तम मानी गयी है।"

देवतागण दूर से उस आदित्य के अमृत को देखते हैं, तो उसके रूप को परिलक्षित करके भोग का अवसर न आने से पहिले तो उदासीन से हो जाते हैं। जब भोग का अवसर आता है, समीप से देखते हैं सूँघते हैं, तब उसके निकट दर्शन से, घ्राण से उत्साहयुक्त होकर प्रमुदित हो जाते हैं। इसका भाव यह हुआ कि बहुत-सी ओषधियाँ हैं, उनके केवल देखने मात्र से रोग नहीं चला जाता। जब उसका स्पर्श–करते हैं सूँघते हैं सेवन करते हैं, तब रोग जाता है। तभी बलवीर्य उत्साह स्फूर्ति आती है। संसार में अनुष्ठानहीन अनुत्साही पुरुषार्थ से रहित आलसी लोगों को भोगों की प्राप्ति नहीं होती। जो कुछ उद्योग करते हैं, भोगों के

सन्निकट जाते हैं उन्हें ही भोगों की प्राप्ति होती है तभी उत्साह बढ़ता है।

शौनकजी ने पूछा—"इस आदित्य के अमृत ज्ञान से क्या लाभ है ? इसका फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वसुओं के उपभोग योग्य इस आदित्य सम्बन्धी लोहित वर्ण के अमृत को जो यथार्थ रूप से जान लेता है। इसका परिज्ञान कर लेता है, वह निधन के पश्चात् वसुओं में से ही कोई एक वसु बनकर अग्नि की प्रधानता से उसे देखकर तृप्त हो जाता है रूप को परिलक्षित करके वह भी उदासीन होता है और उसके उपभोग से ही उत्साहित हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ऐसा विशेषज्ञ साधक कितने काल तक वसुत्व को प्राप्त करके-वसुओं के आधिपत्य और स्वाराज्य का उपभोग करता है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! वह तब तक वसु बनकर वसुओं के आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त करता है, जब तक सूर्यनारायण पूर्व दिशा में उदित होते रहते हैं और पश्चिम दिशा में अस्त होते रहते हैं। वसुओं का भोगकाल इतना ही होता है। जो दशा वसुओं के भोग्य लोहित रंग वाले प्रथम अमृत की है, वही दशा दूसरे अमृत की है ?"

शौनकजी ने कहा—"दूसरा जो शुभ्र वर्ण का अमृत है उसका उपभोग कौन-से देवगण करते हैं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! दूसरे अमृत का पान वसुगण करते हैं। यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि देवगण खाते-पीते नहीं, वे अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं, जैसा कि पहिले कहा दूर से रूप को परिलक्षित करके भोगावसर न देखकर प्रथम उदासीन हो जाते हैं, भोगावसर आने पर उद्यमशील हो जाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इसके जानने का फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"इसे जानने वाला रुद्र ही हो जाता है। एकादश रुद्रों में से कोई रुद्र बनकर इन्द्र की प्रधानता से अमृतोपभोग से तृप्त रहते हैं। उनका समय वसुओं के भोग से दुगुणा होता है। इतने समय तक वह उपासक रुद्रों के आधिपत्य को एवं स्वाराज्य को प्राप्त होता है।"

शौनक जी ने कहा—"अब तृतीय अमृत की उपासना बताइये।"

सूतजी ने कहा—"तीसरे अमृत का उपभोग आदित्यगण वरुण प्रधान होकर करते हैं। और सब बातें तो पूर्ववत् ही हैं देवगण बिना खाये पिये दृष्टि मात्र से भोगावसर आने पर उत्साहित होते हैं। इस अमृत के ज्ञाता के उपासक को आदित्यत्व की प्राप्ति होती है,रुद्रों से दूने समय तक आदित्योंके आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होता है। अर्थात् आदित्य जितने समय में दक्षिण से उदय होता है और उत्तर मे अस्त होता है। उससे दूने समय में पश्चिम से उदय होकर पूर्व मे अस्त होता है। चौथा जो अमृत वह मरुतों का जीवनाधार है। मरुद्गण उसी अमृत की उपासना करते हैं, और सब तो पूर्ववत् ही है। इस उपासना का ज्ञाता मरुद्गणों मे से कोई एक मरुद्गण होकर आदित्यों से दूनी समय तक उसका उपभोग करता है। अर्थात् आदित्य जितने समय में पश्चिम में उदय होता है और पूर्व में अस्त होता है उससे दूने काल में उत्तर से उदित होकर दक्षिण में अस्त होता है, उतने काल तक मरुद्गण के आधिपत्य को तथा स्वाराज्य को प्राप्त होता है। इसी प्रकार पाँचवाँ जो अमृत है वह साध्यों का जीवनाधार है। जो साधक उस अमृत की उपासना करता है वह साध्यों में से एक कोई

साध्य बनकर मरुतों से दूने समय तक अर्थात् आदित्य जब उत्तर से उदित होकर दक्षिण में अस्त होते हैं, उससे दूने काल तक ऊपर से उदित होकर नीचे की ओर अस्त होते हैं उतने समय तक साध्यों के आधिपत्य को प्राप्त करके स्वाराज्य सुख का उपभोग करता है।

शौनक जी ने कहा--"सूतजी ! हम तो सदा से यही सुनते आये हैं, कि सूर्य सदा पूर्व से उदय होते हैं, पश्चिम में अस्त होते हैं। सूर्यनारायण सुमेरु पर्वत की परिक्रमा किया करते हैं। सुमेरु पर्वत की चारों दिशाओं में चारों लोकपालों की पुरियाँ हैं। पूर्व दिशा में देवराज इन्द्र की देवधानी पुरी है, दक्षिण में यमराज की संयमनी पुरी है। पश्चिम में वरुण की निम्लोचनी पुरी है। और उत्तर में चन्द्रदेव की विभावरी नाम की पुरी है। इन पुरियों में मेरु के चारों ओर समय-समय पर सूर्योदय, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रि काल होते रहते हैं। जिस पुरी में सूर्यभगवान् का उदय होता है उसके ठीक दूसरी पुरी में वे अस्त से होते प्रतीत होते हैं। भाव यह है, सभी पुरियों में सूर्य के उदय अस्त का काल समान ही है, क्योंकि सुमेरु के चारों ओर जो सूर्यनारायन घूमते हैं, उनका तो सर्वत्र समान मार्ग ही है। फिर यहाँ कभी आप सूर्य को पूर्व से उदय हुआ बताते हैं। कभी पश्चिम से और कभी उत्तर, दक्षिण तथा ऊपर से उदय बताते है और भिन्न-भिन्न दिशाओं में उनका अस्त होना बताते हैं। और वसु, रुद्र, आदित्य मरुद् और साध्य गणों के भोग काल को क्रमशः द्विगुणा करते जाते हैं, इसका रहस्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आप सब जानते हैं। भगवान् सूर्यनारायण न तो कभी उदय होते हैं और न कभी अस्त ही होते हैं। वे सदा एक से उदित ही बने रहते हैं। प्राणी अपनी

सुविधा के अनुसार उन्हें उदय अस्त मे मान लेते हैं। जैसे चन्द्रमा का शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष। अँधियारा पक्ष और उजाला पक्ष। विचार पूर्वक देखा जाय, तो चन्द्रमा तो दोनो पक्षों में बराबर-बराबर ही दिखायी देते हैं, किन्तु शुक्ल पक्ष में वे रात्रि के पहिले भाग में जब हम जागते रहते हैं तब उदित होते हैं, इसीलिये उस पक्ष को हम लोग शुक्ल पक्ष कहने लगे हैं, कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा तब उदित होते हैं, जब हम सोते रहते हैं, जब तक हम जागते हैं, चन्द्रमा नहीं उदित होते। इसलिये उस पक्ष को हम कृष्ण पक्ष या अँधेरा पाख कहते हैं। हमने अपनी सुविधा के अनुसार पक्षों का नाम रख रखा है। नहीं तो चन्द्रमा तो दोनों पक्षों में समान ही रहते हैं।

इसी प्रकार सूर्य न उदय होते हैं न अस्त, पुरियों की स्थिति के अनुसार वे उदित अस्त-से प्रतीत होते हैं। ये लोकपालों की पुरियाँ भी क्षयिष्णु—नाशवान—हैं। जैसे हम मर्त्यलोक के प्राणियों की पुरियाँ अन्तवन्त—विनाशशीलिनी होती हैं, वैसे ही सुमेरु शिखर की पुरियाँ भी एक-न-एक दिन नष्ट हो जाती हैं। उनका आचार्यों के मत के अनुसार एक दूसरी से द्विगुण काल में विनाश होता है। जैसे अमरावती अथवा देवधानी से दूने समय मे सयमनी का, संयमनी से दूने काल में निम्लोचनी का तथा निम्लोचनी से दुगुने समय में विभावरी पुरी का। इन पुरियों में रहने वाले देवगणों की दृष्टि में जब सूर्य आते हैं, तब वे उनका उदय मानते हैं। और जब उनकी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं, उस समय वे सूर्य अस्त हो गया ऐसा कह देते हैं। यद्यपि सूर्य सदा उन्हीं पुरियों से जाते हैं, तथापि उन पुरियों में जब कोई नहीं रहता तो सूर्य को देखने वाला, कोई जिन पुरियों में नहीं रहता तो उनकी दृष्टि में वहाँ सूर्य उदय ही नहीं होता।

और जो पुरियाँ नष्ट होने से बच जाती हैं वहाँ के लोग सूर्य के आने पर उसे उदय कहते हैं।

उदाहरण के रूप में आप यों समझें, कि इन्द्र की अमरावती पुरी की अपेक्षा यमराज की संयमनी पुरी दुगुने काल तक रहती है। अमरावती के नष्ट हो जाने पर जब सूर्य संयमनी पुरी में जायेंगे, तो संयमनी तो दक्षिण दिशा में है, किन्तु वहाँ वाले सूर्य को देखकर कहेंगे—"देखो, सूर्य उदय हो गये।" तो उनके अनुसार सूर्य दक्षिण में उदय होकर उत्तर दिशा में अस्त हुए।

जिस समय अमरावती पुरी में सूर्य मध्याह्न में स्थित रहेगा, उस समय संयमनी में उदय-सा होगा। इसीलिये प्रथम अमृत में सूर्य को पूर्व दिशा से उदित होकर पश्चिम दिशा में अस्त होना बताया है। दूसरे अमृत में दुगुना काल होने पर दक्षिण से उदय होकर उत्तर में अस्त होना बताया है। तृतीय अमृत मे इस से दुगुना समय होने से पश्चिम से उदय होकर पूर्व में अस्त होना बताया है और चतुर्थ अमृत में इससे दुगुने काल में उत्तर से उदय होकर दक्षिण में अस्त होना बताया है। वास्तव में तो सूर्य न कभी उदय होते हैं न अस्त होते हैं। जैसे काल है वह तो सदा चलता रहता है, उसमें वर्ष, मास, ऋतु, पक्ष, वार, दिन, रात्रि, घटी, पल आदि नहीं होते हम अपनी सुविधानुसार कल्पना कर लेते हैं आज रविवार है, आज चन्द्रवार है। आज कृष्ण पक्ष है, आज शुक्ल पक्ष है, आज चैत्र है, आज वैशाख है। आज शरद है, आज वसंत है। आज अमुक सम्वत्सर है। काल में स्वतः ये विभाग नहीं। इसी प्रकार सूर्य मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, तथा उदय होना अस्त होना ये भेद नहीं। ये तो पुरियों के नष्ट होने और उदय होने से कल्पना कर ली गयी है।

शौनकजी ने कहा—"चारों दिशाओं की चारों पुरियों की

बात तो ठीक है, किन्तु पाँचवें अमृत मे जो ऊपर की ओर उदय होना और नीचे की ओर अस्त होना बताया है, इसे कैसे जानें। सूर्य तो सुमेरु की परिक्रमा करते हैं। चारों दिशाओं की पुरियों के निवासियों की दृष्टि से तो उदय अस्त कहना संभव है। सूर्य का ऊपर से उदय होना नीचे को अस्त होना यह कैसे कल्पना की जा सकती है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इलावृत खंड मध्य में है, उसी में सुमेरु पर्वत है। उस खंड को पर्वत परकोटे के सदृश घेरे हुए है। इससे सूर्य की रश्मियाँ उन पर्वत परकोटों से रुकी-सी प्रतीत होने लगती है। इसलिये उस खंड में रहने वालों को सूर्य ऊपर की ओर से उदित होते हुए से प्रतीत होते हैं और नीचे की ओर अस्त होते से प्रतीत होते हैं। केवल अमृत से ही जीवन व्यतीत करने वाले देवगणों के भोगकाल को द्विगुणित प्रदर्शित करने के निमित्त ही सूर्य का भिन्न-भिन्न दिशाओं मे उदय होना अस्त होना निरूपण किया है। अब आगे देवताओं का जब पुण्य समाप्त हो जाता है तब भोगों के क्षय के अनन्तर–सब का उप-संहार हो जाने पर–आदित्य रूप ब्रह्म की स्वस्वरूप में कैसे स्थिति होती है, ब्रह्मलोक मे क्या है तथा मधुविद्या का फल और उसके सम्प्रदाय परम्परा के सम्बन्ध मे मैं आपको आगे बताऊँगा।

छप्पय–*दूने वसुअनि रुद्र द्वितिय अम्मृत उपभोगें।*
तिनि दूने आदित्य मरुद् तिनि दूने भोगें॥
तिनि तैं दूने साध्य अमृत लसि तृप्त होइँ सब।
उदासीन हों प्रथम फेरि उत्साह भरहि सब॥
ज्ञाता बनि वसु, रुद्र अरु, आदित्य हु पुनि मरुद्गन।
साध्य, आधिपत पाइ कें, स्वाराज्यहि भोगें मगन॥

मधु विद्या के अधिकारी तथा उसका फल और सम्प्रदाय परम्परा

(१३९)

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन ।
देवास्तेननाह ँ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥❀

(छा० उ० ३ अ० ११ खं० २ मं०)

छप्पय

ब्रह्मलोक में सूर्य उदय अरु अस्त न होवै ।
वेद रहस कूँ जानि ब्रह्मविद ब्रह्महिँ जोवै ॥
उन हित उदय न अस्त दिवस ही होइ सर्वदा ।
तिनिकूँ मधुविज्ञान ब्रह्ममय होवै सुखदा ॥
ब्रह्माजी ने ज्ञान-मधु, दयो विराट प्रजापतिहिँ ।
दयो प्रजापति मनुहिँ फिरि, मनु ने दीयो सब प्रजहिँ ॥

परमात्मा ने इस जगत् की रचना जीवों के कर्म फलों को भुगाने तथा मोक्ष प्राप्त कराने के निमित्त और क्रीड़ा के निमित्त की । जीव न जन्म लेता है न मरता है । बार-बार शरीर परिवर्तित

❀ ब्रह्मलोक से लौटे हुए विद्वान् ब्रह्मलोक सम्बन्धी अपना अनुभव सुनाते हुए कह रहे हैं—वहाँ ब्रह्मलोक मे अन्य लोकों की भाँति नहीं होता । वहाँ पर तो सूर्य का न कभी उदय होता है और न अस्त । हे देवगण ! इसी सत्य के कारण मैं कभी भी उस ब्रह्म से विरुद्ध न होऊँ ।

होते रहते हैं। जीव संस्कारों के कारण अपने को बँधा-सा अनुभव करता है। जब इसके भोगों के संस्कार समाप्त हो जाते हैं, तब यह अपने को मुक्त मानने लगता है। भगवान् सूर्यनारायण भी उदय और अस्त का नाटक करते हुए प्राणियों के कर्मों को भुगाते हैं तथा प्राणियों की आयु को क्षीण करते से प्रतीत होते हैं। वास्तव में आदित्य तो साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हैं, उनमें न उदय है न अस्त, वे तो सदा एकरस रहकर स्व-स्वरूप में स्थित रहते हैं, किन्तु इसका अनुभव ज्ञानी ही कर सकते हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने भी लोक हैं, वे सब पुनरावृत्ति वाले हैं। जिसने साक्षात् परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, वह न कहीं आता है न जाता है, वह न जन्मता है न मरता है, सदा एकरस बना रहता है। ऐसे पुरुषों के लिये अमृत स्वरूप आदित्य भी कभी अस्त नहीं होते। उसके लिये कभी रात्रि-अंधकार-नहीं होते। उसके लिये सदा दिवस-परमप्रकाश-ही बना रहता है। आगे उसी को बताते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने वसुओं के, रुद्रों के, आदित्यों के, मरुतों के तथा साध्यों के जीवनाश्रय भूत, पाँच प्रकार के अमृतों की उपासना बतायी। देवताओं का मधु-अमृत-आदित्य ही है। प्राणियों के कर्मों को भुगाकर भोग क्षय कराकर आदित्य भगवान् अपने स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्म साक्षात्कार के दिव्यामृत का पान कराते हैं। भोग क्षय होने के अनन्तर आदित्य का कैसा रूप होता है, वे किधर से उदय होते हैं, किधर अस्त होते हैं, इस बात को बताते हैं। मुनियो! साध्यों के जीवनाश्रयभूत पञ्चम अमृत स्वरूप आदित्य का वर्णन करने के पश्चात् भगवती श्रुति कहती है—

जब आदित्य ऊर्ध्वगत होकर होता है और नीचे की ओर

अस्त होता है, इसके अनन्तर वह मध्य में उदय अस्त से रहित होकर एकाकी स्थित रहता है। उसमें का उदय अस्त भाव समाप्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इसको कैसे जानें ? क्या किसी ने सूर्य की ऐसी स्थिति का कभी साक्षात्कार किया भी है ?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, ब्रह्मज्ञानियों ने इसका साक्षात्कार किया है, क्रम मुक्ति के प्रसंग में वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् तथा साध्यों के भोगों को भोगते हुए जिन्हें रोहितादि अमृत भोग की योग्यता प्राप्त हो चुकी है, ऐसा कोई ज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोक तक पहुँच गया था। समाधि में ही उसे ब्रह्मलोक का साक्षात्कार हुआ। जब उसका समाधि से व्युत्थान हुआ तब किसी ने पूछा—"तुमने ब्रह्मलोक का साक्षात्कार किया है, वहाँ सूर्य हैं या नहीं ? यदि हैं, तो क्या हमारे इस लोक की भाँति वे उदय अस्त होकर प्राणियों की आयु को इसी प्रकार क्षय करते रहते हैं, जैसे मर्त्य-लोक में करते हैं ?"

जब उन योगी से यह प्रश्न किया गया, तो उन्होंने इसका उत्तर देते हुआ कहा—"ब्रह्मलोक में सूर्य है तो अवश्य, किन्तु उनमें उदय अस्त भाव नहीं। वे सदा-सर्वदा उदित ही रहते हैं, कभी अस्त नहीं होते।"

इस पर पूछने वाले ने कहा—"ऐसा तो हो ही नहीं सकता, जो उदय हुआ है, उसे अस्त होना ही पड़ेगा।"

इस पर योगी ने कहा—"मैं यह कब कह रहा हूँ कि वह उदय हुआ ही है। मेरा कहना तो इतना ही है कि वहाँ न तो किसी भी समय, कहीं से भी सूर्य उदय होता है, न कभी कहीं भी अस्त होता है। सर्वदा एकरस बना रहता है। सतत दिवस ही बना रहता है। यदि तुम इस पर विश्वास नहीं करते हो तो मत

करो, किन्तु मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ। मेरे इस कथन की सत्यता में देवतागण साक्षी हैं। मैं देवताओं को साक्षी बनाकर शपथ खाकर कहता हूँ, कि हे देवगण! तुम मेरे इस कथन के साक्षी हो, मैंने जो यह सत्य बात कही है यदि वह सत्य न हो, तो मैं ब्रह्म के स्वरूप से विरुद्ध हो जाऊँ। यदि यह बात सत्य हो, तो मैं ब्रह्म के स्वरूप हो जाऊँ, अर्थात् मुझे ब्रह्म की प्राप्ति न हो।" जब स्वयं साक्षात्कार करने वाले ने शपथ पूर्वक कहा है, तब तो इसमें सन्देह ही नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस मधुविद्या के ज्ञान का फल क्या है?"

सूतजी ने कहा—"जो पुरुष इस ब्रह्म सम्बन्धी उपनिषद् को जानता है, उसके लिये सूर्य न उदय होता है और न अस्त ही होता है। सर्वदा दिन-ही-दिन बना रहता है। अर्थात् वह अज्ञान अन्धकार से निकलकर ज्ञान रूपी परमप्रकाश में प्रेमपूर्वक प्रविष्ट हो जाता है। उसके लिये आरम्भ-अन्त, उदय-अस्त का भेद मिट जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह मधुविद्या तो सर्वोत्तम है। इसकी सम्प्रदाय परम्परा क्या है। पहिले पहिल इसका उपदेश किसने किसको दिया? फिर इसका प्रचार प्रसार पृथ्वी पर हो सका? कृपा करके इसे हमें और बता दीजिये?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! पहिले इस मधुविद्या को लोक पितामह भगवान् कमलासन ब्रह्माजी ने अपने विराट् प्रजापति को प्रदान किया, प्रजापति ने मनु से कहा। मनु ने समस्त प्रजाजनों में इसका प्रचार प्रसार किया। तथा दूसरी परम्परा में अरुण ऋषि ने अपने ज्येष्ठ पुत्र उद्दालक को इसका उपदेश दिया। फिर उद्दालक ने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्वेतकेतु को इसका उपदेश दिया।

परम्परा

इस प्रकार वंशानुक्रम से इस विद्या का प्रचार प्रसार हुआ। यह बहुत ही रहस्यमयी विद्या है, इसका उपदेश सब किसी को नहीं करना चाहिये। पिता अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र को उपदेश करे। गुरु अपने सुयोग्य शिष्य को उसकी योग्यता तथा पात्रता की परीक्षा करके करे। अन्य किसी दूसरे को भूलकर भी इसका उपदेश न दे। लोभ के वशीभूत होकर अयोग्य पुरुष को तो कभी भूलकर भी इसका उपदेश न करे। फिर वह चाहें कितना भी धनी क्यों न हो। वह चाहे दक्षिणा में सात समुद्र परिवेष्टित समस्त पृथ्वी को धन-धान्य से परिपूर्ण करके प्रदान करने का भी वचन क्यों न देता हो। क्योंकि इस विद्या के सम्मुख धन-धान्य से परिपूर्ण समस्त वसुन्धरा तुच्छ है। यह विद्या पृथ्वी धन-धान्य तथा संसार के समस्त भोगों से श्रेष्ठ है, इन सबसे यही अत्यधिक फल देने वाली है। उस इतनी बड़ी दक्षिणा से मधुविद्या अत्यधिक श्रेष्ठ है, अत्यधिक फल देने वाली है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने आपसे देवताओं की जीवनाधार अमृत उपासना मधुविज्ञान रूपा परम गुह्यतम विद्या कही। अब आगे गायत्री के द्वारा ब्रह्म की उपासना कैसे करनी चाहिये इस विषय को कहूँगा। आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

कहीं अरुण निज पुत्र महामुनि उद्दालक प्रति।
ज्येष्ठ पुत्र कूँ पिता देइ गुरु शिष्य योग्य अति॥
अन्य अपात्रनि कबहुँ भूलि विद्या नहिँ देवै।
होवै चाहें धनी नहीं बदले कछु लेवै॥
धन धान्यनि तैं पूर्ण भू-सागर वेष्टित द्रव्य बहु।
देइ, अपात्रहिँ तऊ नहिँ, देवै मधुविद्या कबहु॥

गायत्री द्वारा परब्रह्म की उपासना

(१४०)

गायत्री वा इद ँ सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इद ँ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥ ❀

(छा० उ० ३ अ० १२ खं० १ मं०)

छप्पय

गायत्री ये भूत चराचर सब गायत्री ।
सबई प्राणी वाक् वाक् गायत्री धात्री ॥
गान त्रान नित करै करै अति-कमन न कोई ।
भ ू यह पुरुष शरीर प्रान थिर तन में होई ॥
पुरुष देह अन्तः पुरुष-हिय निवसै नित प्रान है ।
गायत्री पट चार पद, मन्त्र रूप में ब्रह्म है ॥

गायत्री वेदों की माता है। गायत्री से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं। यह अमूर्त परब्रह्म की मन्त्र मूर्ति है। गायत्री धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय को प्रदान करने वाली है। गायन करने वाले-अर्थात् जप करने वालों का त्राण-रक्षण-परिपालन करने वाली होने के कारण ही यह गायत्री कहलाती है। यह त्रिपदादेवी

❀ ये जो समस्त भूत वर्ग हैं, यह गायत्री ही है। ये जो चर-अचर प्राणी हैं, वे भी सब गायत्री ही हैं। निश्चय ही वाणी भी गायत्री ही है तथा वाणी से ही समस्त प्राणी हैं, गान करने से तथा सबका त्राण करने से ही यह गायत्री कही जाती है।

सभी छन्दों से श्रेष्ठतम है। तीनों वेदों से एक-एक पाद लेकर यह प्रकट हुई है। जो द्विजातिगण प्रणव तथा व्याहृतियों के साथ इसका जप करते हैं, वे सभी सिद्धियों को स्वतः ही प्राप्त कर लेते हैं।

गायत्री सभी छन्दों में श्रेष्ठ क्यों है, इस सम्बन्ध की ऐतरेय ब्राह्मण में एक कथा आती है।

एक बार देवताओं को सोम प्राप्त करने की इच्छा हुई। तब देवताओं ने गायत्री त्रिष्टुप् और जगती इन तीनों छन्दों को सोम लाने के निमित्त नियुक्त करके इनसे कहा—"तुम सोम को यहाँ ले आओ।"

देवताओं की आज्ञा पाकर तीनों छन्दें सोम को लाने के लिये चलीं, किन्तु जगती और त्रिष्टुप् इन दोनों ने सोचा—"हम सोम को कैसे ला सकेंगी, वहाँ पर सोम के बड़े-बड़े रक्षक रहते हैं, वे हमें सोम तक जाने भी न देंगे।" अतः हमारा समस्त प्रयत्न व्यर्थ हो जायगा।" यही सब सोचकर वे दोनों मार्ग के बीच से ही लौट आईं। केवल अकेली गायत्री ही सोम के समीप पहुँच सकी, वह सोम के रक्षकों से लड़ीं। लड़ाई में उन सबको परास्त करके सोम को देवताओं के समीप लायी। इसीलिये यह छन्दों में सर्व श्रेष्ठ मानी गयी है।

गायत्री उदार तथा परोपकर प्रिया भी है। सोम लाने के निमित्त जब ये तीनों छन्दें गयी थीं तब जगती और त्रिष्टुप् ये दोनों असमर्थ होने के कारण बीच से ही लौट आयी थीं। अतः ये दोनों अपने-अपने कुछ अक्षर छोड़ आयी थीं। जगती छन्द के तीन अक्षर और त्रिष्टुप् का एक अक्षर रह गया था। इसकी पूर्ति गायत्री ने की। इसीलिये उष्णिक् के प्रत्येक पाद में ७—७

अक्षर होते हैं और अनुष्टुप् के प्रत्येक पाद में ८-८ अक्षर, किन्तु गायत्री के एक पाद में ६-६ अक्षर ही होते हैं।

यज्ञों में तीन सवन होते हैं। प्रातःसवन, मध्यन्दिन सवन और साय सवन। प्रातःसवन गायत्र सवन है। अर्थात् प्रातः सवन के कार्य प्रायः गायत्री छन्द में सम्पन्न होते हैं। मध्याह्न सवन त्रैष्टुभ सवन है। उसके कृत्य त्रिष्टुप् छन्द में होते हैं। सायं सवन जागत सवन है, उसके कृत्य प्रातः जगती छन्द में होते हैं। गायत्री अक्षर दान करने के कारण त्रिष्टुप् और जगती में व्याप्त है, अतः वह तीनों ही सवनों में व्यापक है।

गायत्री सभी से उत्तम है। अठारह विद्याओं में मीमांसा शास्त्र श्रेष्ठ है। मीमांसा से तर्क शास्त्र श्रेष्ठ है। तर्क शास्त्र से पुराण श्रेष्ठ हैं। पुराणों से धर्म शास्त्र श्रेष्ठ हैं। धर्म शास्त्रों से वेद श्रेष्ठ हैं। वेदों में भी उपनिषद् श्रेष्ठ हैं। उपनिषदों से भी श्रेष्ठ गायत्री है। सूर्य और गायत्री में वाच्य वाचक सम्बन्ध है। वाच्य तो सूर्य हैं, उनकी गायत्री वाचिका है। जो इस गायत्री देवी की उपासना करता है उसे सूर्यलोक की प्राप्ति होती है, फिर क्रम से उसकी मुक्ति हो जाती है। गायत्री की उपासना से मनुष्य जो चाहे सो प्राप्त कर सकता है। जैसे आकाश सर्व रूप है, उसी प्रकार गायत्री भी सर्वरूपा है। भगवती श्रुति गायत्री की सर्वरूपता का वर्णन करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गायत्री सर्वरूपा है, इसके द्वारा ब्रह्म की कैसे उपासना करनी चाहिये इस बात को बताते हुए कहते हैं—ये जो समस्त चर-अचर, स्थावर-जंगम प्राणी हैं, जितने भी भूत वर्ग हैं सब गायत्री ही हैं। गायत्री के द्वारा परब्रह्म परमात्मा का ही निरूपण किया जाता है। यह वाङ्मय ब्रह्म है। वाक् ही गायत्री है। ये जो स्थावर जंगम प्राणी हैं ये भी वाक् ही

हैं। इन सबका गान नामोच्चारण गायत्री ही करती है। नाम निर्देश वाणी के बिना संभव नहीं और वाणी में और गायत्री में कोई भेद नहीं। यही भय से भी निवृत्त करती है, कोई आदमी दस्युओं द्वारा घेर लिया गया है। उससे दूर से कोई कहता है—घबराना नहीं हम आ रहे हैं। कोई जल में डूब रहा है, उससे परम भयभीत हो रहा है—कोई कहता है, डरिये नहीं हम नौका ला रहे हैं। कोई अर्थ संकट से—कन्या के विवाह न होने से भयभीत है। दूसरा कहता है—'सब प्रबन्ध हो जायगा चिन्ता मत करो।' तो वाणी ही भय से त्राण—रक्षा करती है और वाक् ही गायत्री है। अतः गान करने से और भय से त्राण करने के कारण ही यह गायत्री कहलाती है। इसी में गायत्री का गायत्रीत्व है। (गानात् त्राणात् च गायत्र्या गायत्रीत्वम।) ।"

गायत्री और पृथ्वी में अभेद है, जो गायत्री है, वही पृथ्वी है। जैसे पार्थिव प्राणी सभी पृथ्वी में ही स्थित रहते हैं, कोई भी मृत्युलोक का प्राणी पृथ्वी का अतिक्रमण नहीं कर सकता। जैसे पृथ्वी सर्वरूपा है वैसे ही गायत्री भी सर्वरूपा है।

पुरुष के शरीर में और पृथ्वी में भी अभेद है। जो पृथ्वी है वही पुरुष शरीर भी है। शरीर में ही प्राण स्थित रहते हैं। शरीर चाहे स्थूल हो, सूक्ष्म हो अथवा कारण हो। प्राण, शरीर के ही आश्रय से टिकते हैं। शरीर के बिना प्राण रह ही नहीं सकते। प्राण शरीर को नहीं त्यागते। एक से दूसरे में चले जाते हैं, वह भी सूक्ष्म शरीर के ही द्वारा। जैसे वायु अपने आधार का परित्याग नहीं करती। जैसे वायु निराधार नहीं रह सकती, वैसे ही प्राण शरीर के बिना नहीं रह सकते। शरीर का अतिक्रमण नहीं कर सकते।

शरीर और अन्तः पुरुष के हृदय में भी अभेद है। प्राण ...

पुरुष के हृदय प्रदेश में स्थित हैं। प्राण अन्तः पुरुष के हृदय प्रदेश में निवास करता है उसी में प्रतिष्ठित है। अतः प्राण अन्तः पुरुष के हृदय का अतिक्रमण नहीं कर सकता। अतः पृथ्वी गायत्री है वाक्-वाणी-गायत्री है, सभी भूत गायत्री है, शरीर गायत्री है, हृदय गायत्री है और प्राण गायत्री है। इस प्रकार गायत्री ६ प्रकार की है। यह चौबीस अक्षर होने से ६-६ अक्षरों का एक पाद मानने पर यह चतुष्पदा है। यह अमूर्त ब्रह्म की मन्त्रमयी मूर्ति है। यह गायत्र्य ब्रह्म गायत्री मन्त्र द्वारा प्रकाशित किया गया है।

यह गायत्र्य ब्रह्म जो मन्त्रमय है, इतनी ही इसकी महिमा है। जिस अमूर्त निर्विकार ब्रह्म की यह मन्त्र रूपा गायत्री है, इससे वह परब्रह्म उत्कृष्ट है। क्योंकि यह जो दृष्यमान जगत् है वह तो उनका एक ही पाद है। उसकी त्रिपाद विभूति तो दिवि में स्थित है वही अमृत है। यह जो जगत् है उसके एक अंश में स्थित है।

शौनकजी ने पूछा - "सूतजी ! क्या परब्रह्म का यह एक पाद रूप अंश-जगत्-उनकी त्रिपाद विभूति से भिन्न है ?"

सूतजी ने कहा—"भिन्न कैसे हो सकता है। जैसे घटाकाश, मठाकाश तथा महाकाश परस्पर में भिन्न से प्रतीत होने पर सर्वथा अभिन्न है। इसी प्रकार ब्रह्म के त्रिपाद् विभूति रूप अमृत से पुरुष से बाहर जो यह महाकाश दिखायी देता है, वह त्रिपाद् विभूति से अभिन्न है। और यह जो महाकाश है, उससे पुरुष के शरीर के भीतर का आकाश भी अभिन्न है और शरीर के भीतर के आकाश से हृदयाकाश अभिन्न है। यह हृदयाकाश परिपूर्ण है, कहीं भी प्रवृत्त न होने वाला है। जो पुरुष इस अभिन्नता को जानता है। त्रिपाद विभूति और जगत् संभूति की एकता का ज्ञान

रखता है, वह परिपूर्ण और कहीं भी प्रवृत्त न होने वाली सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता। इस प्रकार यह गायत्र्य ब्रह्म ही गायत्री रूप से सब में व्याप्त हो रहा है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने गायत्री की सर्व-रूपता बतायी, अब आगे पञ्च प्राणों की उपासना के सम्बन्ध में आप सबसे कहूँगा।"

छप्पय

गायत्र्याख्यक ब्रह्म पुरुष उत्तम तातैं है।
एक पाद सब भूत अमृत त्रयपाद कह्यो है॥
वह इस्थित दिवि माहिँ अमृत आकाश एक सब।
पुरुष देह–आकाश हृदय आकाश एक नभ॥
जो इन सबकी एकता, जाने सो परिपूर्ण है।
प्राप्ति करै सम्पत्ति सब, सब विधि ही सम्पूर्ण है॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
बारहवाँ खण्ड समाप्त।

पञ्चप्राणों की उपासना

[१४१]

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥*

(छा० उ० ३ अ० १३ खं० १ मं०)

छप्पय

पंच प्राण है देव पंच रवि, शशि मेघ अनल।
पचम है आकाश चक्षु श्रोत्रहु वाणी अरु॥
द्वार वायु मन पूर्वहु पश्चिम उत्तर दाक्षिन।
ऊर्ध्व दिशा ये पंच जानि जिनि करै उपासन॥
तेज, ओज, अन्नाद्य, श्री, यश, सुन्दरता कीर्ति वर।
बानि उपासन करें जे, ते पावें सुत वीर्य धर॥

शास्त्र का सिद्धान्त है। यह मानव देह परिपूर्ण देह है। इस देह को उत्पन्न करके ही ब्रह्माजी सन्तुष्ट हुए तथा अन्य देवों ने

---

* उस समय के पांच अधिष्ठान भूत द्वाररूपी छिद्र हैं। इस हृदय भवन का जो पूर्व दिशावर्ती द्वार छिद्र है वही प्राण है वही चक्षु द्वार है आदित्य देवता है, वही तेज और अन्नाद्य भी है जो इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी तथा अन्न को खाकर पचाने वाला नीरोग होता है।

इसे सुकृत–सुन्दरकृति–कहा। इस मानव शरीर रूप पिंड में वह सूक्ष्म रूप से सब कुछ है जो ब्रह्माण्ड भर में है।

विराट् पुरुष ही जीव रूप से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। यह अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव तीन प्रकार का है। दश इन्द्रियाँ और मन अध्यात्म है, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय हैं ये ही अधिभूत हैं। तथा इन्द्रियों और अन्तःकरण के जो अधिष्ठातृ देव हैं यही अधिदैव हैं। इसमें जो प्राण हैं वे दश रूप से शरीर में विचरते हैं। हृदय ही इसमें मुख्य है। हृदय ही मानों भवन है। श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, घ्राण और रसना ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। पायु, उपस्थ, हाथ, पैर और वाणी ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार अन्तःकरण हैं। श्रोत्र इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेव दिशा, प्राणों के वायु, नेत्र के सूर्य, रसना के वरुण घ्राण के अश्विनीकुमार, वाणी के अग्नि, हाथों के इन्द्र, पैरों के उपेन्द्र विष्णु, पायु के निर्ऋति–मृत्यु–मन के चन्द्रमा, उपस्थ के प्रजापति, बुद्धि के ब्रह्मा, अहंकार के रुद्र, और चित्त के क्षेत्रज्ञ। अब यहाँ भगवती श्रुति पंच प्राणों की, हृदय भवन के पाँच छिद्र रूप जो द्वार हैं। उनकी उपासना का वर्णन करती हैं। नेत्र, श्रोत्र, वाक्, मन और वायु ये ही हृदय भवन के पाँच द्वार हैं। नेत्र श्रोत से सब ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक से सब कर्मेन्द्रियाँ मन से अन्तः-करण और वायु से दशप्राणों का ग्रहण किया गया। आदित्य, चन्द्रमा, मेघ, अग्नि और आकाश ये ही पंच देव हैं। इन हृदय द्वारों में प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व इन दिशा द्वारों मे कैसे उपासना करे, इसी का वर्णन पञ्चप्राणों की उपासना में किया जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! पिछले प्रकरण में गायत्री संज्ञक

परब्रह्म को हृदयाकाश में उपासना करने को कहा गया है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं के तीन प्रकार के आकाश के भेद माने जाते हैं, वास्तव में तो आकाश एक ही है। किन्तु अवस्थाओं के अनुसार, सुविधा के लिये, समझने के लिये उसके तीन प्रकार बनाये हैं। जाग्रत अवस्था में जिस आकाश की हमें प्रतीत होती है, उस आकाश में रहते हुए तो हम नाना चिन्ताओं में, नाना दुःखों में घिरे रहते हैं। स्वप्नावस्था में मन शरीरान्तर्गत आकाश में विचरण करता रहता है। शरीर के भीतर के आकाश में ही उसे संसार भर की वस्तुएँ दिखायी देती हैं। स्वप्नावस्था में जाग्रत की अपेक्षा दुःख की प्रतीति न्यून होती है और सुषुप्ति अवस्था में मन हृदयाकाश में विचरण करता है। वहाँ दुःख की प्रतीति ही नहीं होती। प्रगाढ़ निद्रा के समय मीठी-मीठी सुखानुभूति ही होती रहती है। जीव को उस अवस्था में न तो किसी प्रकार के भोग की ही इच्छा रहती है और न किसी प्रकार का स्वप्न ही दिखायी पड़ता है। प्रगाढ़ निद्रा में शरीर के मन के समस्त दुःखों की आधि और व्याधियों की निवृत्ति हो जाती है। वह एक प्रकार की समाधि का ही आनन्द है। अन्तर इतना ही है, कि सुषुप्ति अवस्था में मन का लय अज्ञान के सहित होता है, इसी लिये जागने पर दुःख की अनुभूति होती है। समाधि अवस्था में चित्त ज्ञान में लीन होता है, अतः समाधि से व्युत्थान होने पर भी उसे दुःख की अनुभूति नहीं होती।

उपासना द्वारा जब चित्त हृदयाकाश में समाहित कर लिया जाय, तो दुःखों की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, कारण कि पंच भूतों वाले आकाश की भाँति हृदयाकाश नाशवान् नहीं है, वह अविनाशी है अतः अविनाशी की उपासना से उसे अविनाशी ही प्राप्त हो जाती है वह जीवनमुक्त हो जाता है।

उस हृदयाकाश के पाँचों दिशाओं में पाँच द्वारपाल-पार्षद हैं। पार्षदों की पूजा करने पर इष्टदेव से भेंट तत्काल और सुगमता से हो जाती है, अतः हृदयान्तर्गत पाँचों दिशाओं के द्वारभूत पंच प्राणों से पहिले पूर्व दिशा के प्राण की उपासना बताते हैं।

हृदयरूप भवन का जो पूर्व दिशा का छिद्र है वह पाँच प्राणों में से मानों पहिला प्राण नाम का प्राण है, वही चक्षु है और वही आदित्य है और वही तेज तथा अन्नाद्य है। इस प्रकार इन सबको एक मानकर पूर्व दिशा के द्वारभूत प्राण की उपासना करनी चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस बात को और स्पष्ट समझावें। नेत्र को आदित्य क्यों कहा, वह पूर्वदिशा में तेज और अन्नाद कैसे है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् एतरेय उपनिषद् में पीछे बता चुके हैं, कि आदित्य नेत्र इन्द्रिय होकर आँखों के गोलक में प्रवेश कर गया। अतः आँखों का और सूर्य का तादात्म्य सम्बन्ध है। आँखें सूर्य के बिना देख नहीं सकतीं। आँखों में जो भी कुछ तेज है सूर्य का ही है। सूर्य ही अन्न को उत्पन्न करने वाले तथा पचाने वाले हैं। सूर्य पूर्वदिशा में ही उदित होते हैं। अतः पूर्व दिशा, सूर्य देव, चक्षु इन्द्रिय, तेज और अन्नाद्य ये सब एक ही हैं। इस प्रकार जो उपासक पूर्वदिशा के द्वारपाल रूप सूर्य को तेज और अन्न का भोक्ता जानकर नेत्र में उसकी उपासना करता है, वह तेजस्वी और खाये हुए अन्न को सम्यक् प्रकार से पचाने वाला नीरोग होता है। यह पूर्व द्वारपाल की प्राण उपासना कही, अब हृदय के दक्षिण द्वारवर्ती छिद्र श्रोत्र की व्यान रूप में उपासना को बताते हैं।"

हृदय भवन का जो दक्षिण दिशावर्ती द्वार है वह श्रोत्र है।

वही व्यान नाम वाला प्राण है वही श्रोत्र इन्द्रिय है, वही चन्द्रदेव है। वही श्री है और वही यश है। इस प्रकार जो इनमें तादात्म्य भाव मानकर उपासना करता है, वह साधक श्री सम्पन्न तथा यशस्वी होता है। यह दक्षिण दिशावर्ती व्यान की चन्द्रदेव के रूप में उपासना कही। अब पश्चिम दिशावर्ती द्वारपाल की उपासना सुनिये।

यह जो पश्चिम दिशावर्ती द्वार का छिद्र है, वह मुख में वाणी है, वही अपान नाम वाला प्राण है, वही अग्निदेव है, वही ब्रह्म तेज और अन्नाद्य है। जो उपासक इनकी तादात्म्य भाव से उपासना करता है ब्रह्मवर्चस्वी-तेजस्वी-और प्रचुर अन्न को खाकर पचाने वाला नीरोग होता है। यह पश्चिम दिशावर्ती द्वारपाल की उपासना हुई। अब उत्तर दिशावर्ती द्वारपाल की उपासना सुनिये।

यह जो हृदय भवन का उत्तर द्वार है वही समान नाम का प्राण है, वही मन रूप इन्द्रिय है, वही पर्जन्य-मेघ-देवता है और वही कीर्ति तथा द्युति-शरीर की विशिष्ट कान्ति-है। जो उपासक ऐसा जानकर इनकी उपासना करता है, वह कीर्तिवान्, दीप्ति तथा कान्तिवान्-सुन्दर शोभायुक्त होता है। यह उत्तर दिशावर्ती द्वारपाल की उपासना हुई। इस प्रकार चारों दिशाओं को कहकर अब ऊर्ध्व द्वार की उपासना कहते हैं।

यह हृदय भवन का ऊपर का छिद्र है। वही उदान नामक प्राण है, वही वायु है, वही आकाश देवता है, वही ओज और महः नाम का महान् तेज है। जो उपासक इसे जानकर इनकी तादात्म्य भाव से उपासना करता है, वह ओजस्वी-मनोबल वाला-तथा महान् तेजस्वी होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! हृदयाकाश रूप जो आनन्द भवन है, उसके सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पर्जन्य और आकाश ये द्वार-

पाल हैं। इनकी उपासना का पृथक्-पृथक् फल तो बता चुके अब इन स्वर्गलोक के ब्रह्मपुरुष द्वारपालों की जो समवेत उपासना करता है, उस गृहस्थी उपासक के कुल में वीर पुत्र उत्पन्न होता है। जो इन सबके रहस्य को जानकर इनकी उपासना करता है, वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने पाँचों दिशाओं के पंचप्राण रूप पंचदेवों के हृदय भवन के पाँचों द्वारपालों की उपासना कही। अब हृदयस्थित मुख्य ब्रह्म की उपासना का वर्णन आगे करूँगा।

छप्पय

चक्षु, श्रोत्र अरु वाक प्राण मन पंच पुरुष जो।
द्वारपाल ये स्वरग दिशा पाँचनि में बसि सो॥
हृदय माहिं थित ब्रह्म प्राप्त इनि द्वारा होवै।
करिकें इन्हें अधीन ब्रह्मकूँ साधक जोवै॥
इनकी करिकें उपासन, स्वर्गलोक पावें पुरुष।
विश्वभूत इक पाद यह, तीन पाद दिविमें निवस॥

हृदय में स्थित ब्रह्म की उपासना

(१४२)

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते
विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु
लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ॥*

(छां० उ० ३ अ० १३ खं० ७ म०)

छप्पय

परम ज्योति दिवि पार कही सर्वोत्तम मुनिवर ।
विश्व पृष्ठ पर ज्योति प्रकाशित सब तैं ऊपर ॥
अन्तः पुरुष हिँ मध्य रहै वह ज्योति प्रकाशित ।
होहि उष्णता देह परसि के सब जन निरखत ॥
आत्मा जब तक देह में, रहै उष्णता तब तलक ।
कान मूँदि अनहद सुनैं, उठे गिरैं तब तक पलक ॥

उपासना, भजन पूजन चार प्रकार के लोग करते हैं। आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। किसी दुःख से दुखी होकर उस दुःख की निवृत्ति के निमित्त के भगवान् की जो उपासना करते

---

* तदनन्तर इस दिवि लोक से परे ज्योति प्रकाशित हो रही है, वह विश्व के पृष्ठ पर है जो विश्व के परे अनुत्तम लोकों में प्रदीप्त है, वह ज्योति वही है जो अन्तः पुरुष के भीतर ज्योति है।

हैं, वे आर्त साधक कहाते हैं। किसी कामना की प्राप्ति के निमित्त जो उपासना करते हैं वे अर्थार्थी साधक होते हैं। ब्रह्म क्या है, जगत् क्या है इन प्रश्नों की जिज्ञासा से जो उपासना करते हैं, वे जिज्ञासु साधक हैं। ज्ञान हो जाने पर भी–निर्गुण ब्रह्म मे परिनिष्ठित होने पर भी–भगवान् के महान गुणों से उनकी अलौकिक सरल लीलाओं से आकृष्ट होकर जो सगुण साकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे ज्ञानी साधक कहलाते हैं। ये सभी श्रेष्ठ है, सभी सुकृति हैं।

कामनायें पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण हृदय में उत्पन्न होती है। उन कामनाओं की पूर्ति के निमित्त अधर्म न करके धन-दुर्मदन्धों की शरण न जाकर जो भगवान् की शरण जाते हैं। वे सकाम साधक भी श्रेष्ठ है। वास्तव में सकाम उपासना करते-करते निष्कामता की ओर बढ़ जाते हैं। जब तक इस लोक के भोगों के प्रति तथा परलोक के दिव्य भोगों के प्रति वैराग्य नहीं होगा, तब तक निष्कामता कैसे आ सकती है, बिना निष्कामता के मोक्ष की–सर्वोत्तम–सर्वोत्कृष्ट लोक की–प्राप्ति कैसे हो सकती है।

भुवर्लोक से ऊपर के जितने लोक हैं, सभी की स्वर्ग संज्ञा है। एक तो देवताओं के रहने का देवेन्द्र वाला लोक स्वर्ग कहलाता है। जहाँ विमान हैं, अमृत है, नन्दन कानन है, अप्सरायें हैं सभी दिव्यभोग हैं, किन्तु वह स्वर्ग क्षयिष्णु है, निर्भय नहीं। निर्दोष नहीं। वहाँ भी सातिसय दोष तथा ईर्ष्यादि हैं। पुण्य क्षीण होने पर पतन का भय बना रहता है।

दूसरा भय रहित स्वर्ग है। उसे वैकुण्ठ, साकेत, मोक्ष स्थान, भगवत् लोक कुछ भी कहलो। वह सुख स्वरूप है, प्रकाश रूप है, मोक्ष का स्थान है, निर्भय पद है। वहाँ मृत्यु की दाल नहीं गलती मर्त्य धर्म से–पतन से–रहित स्थान है। वहाँ जरा

व्याधि नहीं, चिन्ता नहीं, दुःख नहीं, बुभुक्षा, पिपासा, ईर्ष्या, द्वेष से रहित लोक है। वह सत्य सनातन चिन्मय धाम है। वहाँ आनन्द ही आनन्द है। आनन्द के अतिरिक्त कुछ भी वहाँ नहीं। वही परम पुरुषार्थ है, वही मोक्ष है, वही आवागमन से रहित पद है।

कार्मकांड की जितनी सकाम क्रियायें हैं वे सब स्वर्ग प्राप्ति के ही निमित्त हैं। वेद का भी वचन है 'स्वर्ग की कामना से ही अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये। जिस हृदय में भोग वासनायें विद्यमान हैं, वहाँ मोक्ष प्राप्ति की इच्छा हो ही नहीं सकती, अतः समस्त सकाम उपासनायें वासनाक्षय के निमित्त स्वर्गादि उत्तम लोकों की प्राप्ति की ही निमित्त होती हैं। जब इन दिव्य भोगों को भोगते-भोगते चित्त ऊब जाय, इनसे वैराग्य हो जाय, तब हृदय में निष्कामता आती है, तभी साधक मोक्ष का अधिकारी बनता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हृदयाकाश भवन के आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, पर्जन्य और आकाश इन पाँच द्वारपालों की उपासना तथा उसका फल बताकर, अब द्युलोक से भी परे परम ज्योति स्वरूप जो मुख्य ब्रह्म है। परब्रह्म है, उसकी उपासना बताते हैं। उस परात्परतर स्वर्ग का वर्णन करते हुए कहा गया है। वह विश्व के पृष्ठ पर अवस्थित है। अर्थात् वह समस्त लोकों की परिधि है। उत्तमता का आधार है। सुख का अन्तिम आलय है। उससे परे न कोई लोक है और उससे उत्तम न कोई स्थान है। वह सर्वोच्च स्थान है। उससे ऊँचा, उससे ऊपर कोई अन्य लोक नहीं। जो ज्योति हृदय स्थित पुरुष के मध्य है वही ज्योति उस परब्रह्म में है। वह चतुष्पाद ब्रह्म है। एक पाद में तो यह सम्पूर्ण विश्व ब्राह्मण्ड अवस्थित है। तीन पाद उसके उस दिव्य स्वर्ग में अवस्थित हैं। अतः सकाम उपासना से तो अमरों के

रहने के स्वर्ग की प्राप्ति होती है और निष्कामभाव से उपासना करने से उस त्रिपाद विभूति वाले निर्मल, निष्कल, अनन्त सुखार्णव आनन्दमयलोक की प्राप्ति होती है। उस परम ब्रह्म की अनुभूति इस शरीर में ही होती है। इसका अनुभव स्पर्श द्वारा होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्पर्श द्वारा उस परम ज्योति का अनुभव कैसे होता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! हम शरीर को स्पर्श करके यह द्वारा बता देते हैं, कि यह शरीर मृतक है या जीवित। जो हमें स्पर्श उष्णता का भान कराता है, वह उष्णता रूप ज्योति उसी परब्रह्म की है। यही उसका दर्शनोपाय है। वह ज्योति श्रवणीय भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"उस ज्योति को सुना कैसे जा सकता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! खुले हुए कानों से तो संसार के इन बाह्य शब्दों को ही सुनते हैं। भीतर का शब्द सुनायी नहीं देता। आप अपने दोनों कानों के छिद्रों को कसकर बन्द कर लीजिये, जिससे बाहर का एक भी शब्द सुनायी न दे। तब भीतर का अनहद शब्द सुनायी देगा। पहिले निनद सुनायी देगा। रथ की घरघराहट के सदृश स्वर को निनद कहते हैं। फिर आपको नदथु शब्द सुनायी देगा। बैल जिस प्रकार डकराता है उसे निदथु कहते हैं। फिर जलती हुई अग्नि में जैसा शब्द होता है, वैसा शब्द सुनायी देगा। इस प्रकार स्पर्श द्वारा यह दृष्ट है और कानों को बन्द करके चक्षुओं को मींचकर अनहद के रूप में वह श्रुत भी है। जो इस प्रकार एकाग्रचित्त होकर बाहर से चित्त की वृत्तियों को हटाकर उस भीतर के अनहद शब्द में ही मन को लीन करता है। जो इसका निरन्तर अभ्यास करता रहता है।

वह परम दर्शनीय और विश्रुत परम विख्यात होता है, उसकी समता किसी से की ही नहीं जा सकती। यह मैंने हृदयस्थित परब्रह्म की उपासना कही। अब शाण्डिल्य विद्या के अन्तर्गत जैसे सभी दृष्टियों से सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ ब्रह्म की उपासना की जाती है, उसका वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

भीतर के जो शब्द निनद नदथु हु कहलावें।
रथ के घोष समान नदथु ज्यों वृष डकरावें॥
अग्नि जरन सम शब्द कान करि बन्द सुनावें।
ज्योति दृष्ट श्रुति कही, उभय एकहि कहलावें॥
करै उपासन ब्रह्म की, हृदयमाहिं जो थित रहत।
दर्शनीय साधक परम, होवै जग विख्यात अति॥

सभी में ब्रह्म की उपासना

[१४३]

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।
अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके
पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥*

(छा० उ० ३ अ० १४ ख०, १ म०)

छप्पय

सब जग ब्रह्म स्वरूप ब्रह्म ही जगत लखावै ।
जाही में उत्पन्न रहै जामें मिलि जावै ॥
शान्त उपासन करै पुरुष क्रतुमय कहलावै ।
जिहि जस निश्चय होइ अन्त में सो बनि जावै ॥
ब्रह्म मनोमय प्रान तन, दीप्तिरूप संकल्प सत ।
सर्व कर्म-आकाश तन, सर्वकाम रस गन्धयुत ॥

पुरुष जैसी उपासना करता है, मरकर वह वैसा ही हो जाता है। मनुष्य के कर्मों को देखकर तीन जन्मों का अनुमान लगाया

---

* निश्चय करके यह जो सर्व जगत् है, वह ब्रह्म ही है। जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, ब्रह्म में ही लय हो जाता है और ब्रह्म मे ही चेष्टावान् है। उस ब्रह्म की सर्व दृष्टि से, शान्त भाव से उपासना करे। यह पुरुष क्रतुमय है। इस लोक मे पुरुष जैसी भावना वाला होता है, मरकर वह वैसा ही होता है, अतः उस पुरुष को सक्रतुं—निश्चयात्मक भाव से निश्चय कर लेना चाहिये।

जाता है। जो सुन्दर सत्कुलोद्भव है, कुलीन है स्वस्थ है रोग रहित है सदा शुभ कर्मों में ही संलग्न रहता है, उसे देखकर अनुमान लगाते हैं, कि पूर्वजन्म में इसने पुण्य किये होंगे, इसीलिये इसका जन्म उच्चकुल में हुआ है, कुशल कर्म करता रहता है। मरकर इसकी सद्गति होगी पुण्य लोकों को प्राप्त होगा।

जो स्वभाव से क्रूर है, दूसरों की निन्दा करता रहता है, अकुलीन है, नाना रोगों से ग्रस्त है, नाना अभावों से युक्त है, कामी, क्रोधी, लालची है, सदा दूसरों के अनिष्ट की ही चिंता करता रहता है, उसे देखकर अनुमान किया जाता है, पूर्वजन्मों में इसने दुष्कृत कर्म किये होंगे, इसी से इसका स्वभाव क्रूर है और पर अपकार में इसकी प्रवृत्ति है। निन्द्य कर्म करने से मरकर इसे नरकों में जाना पड़ेगा, पाप योनि प्राप्त होगी।

कुछ लोग भाग्यवश सम्मानित, प्रतिष्ठित प्रसिद्ध हो जाते हैं, किन्तु वे क्रूर कर्म करने में प्रवृत्त रहते हैं, तो अनुमान लगाते हैं, पूर्वजन्म के इसके सुकृत हैं, इससे धन, वैभव सम्मान प्राप्त है, किन्तु इस समय दुष्कृत कर्म कर रहा है, इससे अगले जन्म में इसकी दुर्गति होगी।

भगवान् तो सर्वमय हैं, जो उस प्रभु की जैसी उपासना करेगा, मरकर वह वैसा ही हो जायगा। क्योंकि यह पुरुष उपासना प्रधान है। जो काम की उपासना करेगा, वह मरकर कामी होगा। जो क्रोध की उपासना करेगा, वह क्रोधी हो जायगा। जो लोभ की उपासना करेगा, वह यक्षवित्त लोभी हो जायगा, जो पुण्य की उपासना करेगा, वह पुण्यात्मा हो जायगा, जो देवता की उपासना करेगा, वह देवमय हो जायगा।

सभी देवों के पृथक् पृथक् लोक हैं। तुम शिव की उपासना करोगे, शिव लोक को प्राप्त होगे विष्णु की उपासना करोगे,

विष्णुलोक को प्राप्त होगे। भूत, प्रेत, यक्ष राक्षसों की उपासना करोगे तो उनके उन-उन लोकों को प्राप्त होगे।

परोपकार निरत, जीवों के दुःख से दुखी होकर अवतार लेने वाले महापुरुष आचार्यों का भी अपना एक लोक बन जाता है। उन आचार्यों के अनुयायी उस लोक को प्राप्त होते हैं। जब ब्रह्माजी की मुक्ति होती है, उनके साथ उन आचार्यों की और उनके अनुगत भक्तों की भी मुक्ति हो जाती है।

जो दम्भी कपटी, पापाचारी छद्म वेष वाले आचार्य नामधारी, वेषधारी पुरुषों से प्रभावित होकर उनके अनुयायी बन जाते हैं, उनके दंभी नेता को जो नरक प्राप्त होते हैं उन्हीं में उनके अनुयायी भी जाते हैं।

इस लोक में जो व्यक्ति जैसा कर्म करने वाला होता है। अपनी भावना तथा संकल्प के अनुसार जन्मान्तर में वह वैसा ही होता है, जो इस जन्म मे साधु आचरण करता है, वह अगले जन्म में साधु होता है, जो पापाचरण करने वाला है वह मर कर पापी होता है।

चित्त तो गीली मिट्टी के सदृश है, इसमें जैसी आकृति का संकल्प करोगे वैसी ही बन जायगी। सुवर्ण में जैसा संकल्प करोगे वैसे ही आभूषण बन जायँगे। मरते समय जिन-जिन भावों का स्मरण करके मरोगे, वे ही वे भाव प्राप्त हो जायँगे। इस सम्बन्ध की एक बहुत ही सुन्दर कथा है।

एक भौतिक विज्ञानवादी दार्शनिक था, उसकी एक पुरोहित से मित्रता थी। भौतिक विज्ञानवादी की मान्यता थी, ईश्वर कोई वस्तु नहीं है। जो भी कुछ है, कर्म है, पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ करके जो आदमी जैसा भी चाहे बन सकता है।

पुरोहित कहता था—तुम ईश्वर को नहीं मानते हो, नरक में जाओगे। तुम्हें नरक की प्राप्ति होगी।

भौतिक पुरुषार्थ वादी कहता—हमें नरक स्वर्ग की अपेक्षा नहीं। नरक स्वर्ग हमारे लिए दोनों बराबर हैं। हम तो पुरुषार्थ की उपासना करते हैं, पुरुषार्थ ही सब कुछ है।"

कुछ दिन पश्चात् भौतिक पुरुषार्थ वादी विज्ञानी की मृत्यु हो गयी। पुरोहित ने सोचा—निश्चय ही बेचारा नरकों की अग्नि में पच रहा होगा ?

इसके कुछ काल के अनंतर पुरोहित की भी मृत्यु हुई। वे सदाचारी धर्म भीरु ईश्वर पर विश्वास रखने वाले थे। देवदूत उन्हें स्वर्ग को ले जा रहे थे। तब उन्हें अपने उस नास्तिक भौतिक विज्ञानी की याद आयी। उन्होंने देवदूतों से कहा—मार्ग में नरक पड़ता है, हमें अमुक भौतिक विज्ञानी के समीप होते हुए ले चलो।"

देवदूतों ने उनकी बात मान ली, वे पुरोहित को भौतिक विज्ञानी जहाँ रहते थे, वहाँ ले गये। पुरोहित के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जिसे वे नरक की भट्टी में जलता हुआ कल्पना कर रहे थे वह तो सुन्दर स्वर्ग में सुख भोग रहा है।

फलों से लदे सुन्दर वृक्ष लगे हैं। स्वच्छ सुन्दर छायादार वृक्षों से युक्त सुगन्ध युक्त सड़कें है। स्वच्छ शुभ्र सजे सजाये सुख सुविधापूर्ण सामग्रियों से सम्पन्न सुन्दर भवन हैं। उनमें वैज्ञानिक अपने अनुयायियों सहित सुखपूर्वक विचारण कर रहे हैं।

पुरोहित को देखकर वे खिल उठे, प्रेमपूर्वक उनका स्वागत किया। पुरोहित ने कहा—"आप और स्वर्ग में ? महान् आश्चर्य ??

तब तो सभी हमारे धर्म शास्त्र झूठे हैं। तब तो हमारी मान्यतायें असत्य हैं।"

हँसते हुए वैज्ञानिक ने कहा—"तुम्हारी मान्यता तुम्हारे लिये सत्य ही हैं। मेरी मान्यता मेरे लिये सत्य हैं। आप जानते ही हैं, मैं तो ईश्वर पर, उसके बनाये स्वर्ग नरक पर विश्वास नहीं करता। मैं तो कर्म पर अपने पुरुषार्थ पर ही भरोसा रखने वाला हूँ। यह स्थान पहिले नरक का ही एक अंग था। हम जब आये तो दुर्गन्धयुक्त मैले पानियों की नालियाँ बह रही थीं, ऊबर-खाबर कंकरीली-पथरीली भूमि थी, कोई पेड़ नहीं था, स्थान-स्थान पर ज्वालामुखी पर्वत थे जिनसे आग निकलती रहती थी, कोई भवन नहीं था। हम लोग अपने अनुयायियों सहित आते ही पुरुषार्थ में जुट गये। पहाड़ खोदकर कोयले निकाले, वाष्प बनायी, यन्त्र निर्माण किये, गन्दी नालियों को स्वच्छ किया, यन्त्रों द्वारा भूमि को सम किया। पहाड़ के पत्थरों को पीसकर पकाकर वज्र लेप तैयार किया, भवन बनायें। सड़कों का निर्माण किया, दूर से स्वच्छ सुन्दर जल का श्रोत ले आये। बीज लाकर बगीचा लगाया। सड़कें निर्माण कीं। यह जो आप देख रहे हैं हमारे सतत कर्म का ही प्रतिफल है। हमने अपने पुरुषार्थ से नरक को स्वर्ग में परिणित कर लिया है।"

तब पुरोहित ने गीता के इस भगवद् वाक्य का यथार्थ अर्थ समझा कि "(ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्)" भगवान् कहते हैं जो मुझे जिस भाव से भजता है उसे मैं उसी भाव से भजता हूँ। पुरुषार्थी को पुरुषार्थ रूप में, भक्त को भगवान् रूप में, ज्ञानी को ज्ञानरूप में, निर्गुण को निर्गुण रूप में और सगुण को सगुण रूप में मैं प्राप्त होता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हृदय में स्थित ब्रह्म की उपासना

कहकर अब जगत् रूप में सर्वदृष्टि से परब्रह्म की उपासना बतायी जाती है। यह सम्पूर्ण ब्रह्म ही है। जैसे जल ही जमकर हिम हो गया है। जैसे दूध ही जमकर दही बन जाता है। जैसे सुवर्ण ही नाम रूपों के भेद से आभूषणों का रूप रख लेता है। जैसे वायु ही शरीर के भीतर प्राण अपानादि रूपों में परिणित हो जाती है, वैसे ही ब्रह्म ही जगत् रूप में प्रतीत हो रहा है। जैसे गीली मिट्टी से ही हाथी घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा बन जाते हैं, फिर वे ही उन रूपों में स्थित होते हैं, अन्त में वे बिगड़कर फिर गीली मिट्टी के रूप में ही परिणित हो जाते हैं। वैसे ही यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होने वाला है, उसी में अन्त में विलीन होने वाला है और उसी में नाना भाँति की चेष्टा-सा करते हुए प्रतीत होने वाला है। इसलिये उपासना के लिये अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। किसी सप्तम आकाश में बैठे हुए ब्रह्म के पास में जाने की आवश्यकता नहीं। इस जगत् की ही ब्रह्मरूप से, शान्तभाव से, राग और द्वेष इनसे रहित होकर उपासना करे। क्योंकि यह पुरुष संकल्पमय है, क्रतुमय है, भावनामय है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी क्रतु क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! क्रतु शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। क्रतु शब्द के यज्ञ, यूपसहित सोम साध्य यज्ञ, विष्णु, संकल्प, आदि अनेक अर्थ हैं। यहाँ क्रतु शब्द संकल्प के अर्थ में है। जिस विषय में अत्यन्त रुचि होती है उसे कामना कहते हैं, वही कामना जब प्रबल हो जाती है, उस कामना की पूर्ति के लिये जो प्रयत्न करने का प्रबल विचार है उसे ही क्रतु या दृढ़ संकल्प कहते हैं। मनुष्य जैसा संकल्प करता है, वैसा ही हो जाता है। यही नहीं इस लोक में तो संकल्पानुसार दृढ़ निश्चयी हो ही जाता है, यहाँ से मरकर जाने पर भी व्यक्ति अपने संकल्प

के ही अनुसार होता है। अतः वह कौन-सा ब्रह्म है उसका दृढ़ निश्चय पहिले से ही कर ले।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसे ब्रह्म का निश्चय करे। उसके कुछ लक्षण तो बताइये। बिना गुण जाने निश्चय कैसे करें।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! वह तो गुण रहित है। वह तो अनिर्वचनीय है। साक्षात् गुण उसमें कहाँ। फिर भी उपासना के लिये उसमें गुणों का आरोप किया जाता है। कुछ लक्षण भगवती श्रुति बताती है। वह मनोमय है।"

मनोमय—जो मन के सदृश हो, जीवात्मा मनके ही द्वारा सब विषयों का मनन करता है। अपने निज के स्वभाव से वह संसार में प्रवृत्त होता है, जैसे मन स्वभावानुसार विषयों में प्रवृत्त होता है। मन जिस विषय को चाहता है, उसमें प्रवृत्त हो जाता है, जिसे नहीं चाहता, जो उसे भाती नहीं, अच्छी नहीं लगती उसविषय से निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार वह परब्रह्म भी मनोमय है। मनोमय के साथ वह प्राणशरीर भी है।

प्राणशरीर—उस परब्रह्म का प्राणमय शरीर है। अर्थात् इस जगत् को प्राण ही धारण करते हैं। जगत् का अधार प्राण ही है। उस प्राण का भी आधारभूत प्राण परमात्मा है। जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है। दोनों में तादात्म्य-सम्बन्ध है। शरीर तीन प्रकार के होते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण लिङ्गशरीर ही कारण भूत है। विज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति मिलकर ही लिङ्गशरीर का निर्माण करती हैं। उसे लिङ्गशरीर कहो, प्राण कहो एक ही बात है। यही जगत् का आधार प्राण उस परब्रह्म का शरीर है। अर्थात् वह जगदाधार स्वरूप है। यह लिङ्गशरीर ही आत्मा द्वारा नाना देहों में ले जाया जाता है। इस प्रकार वह ब्रह्म

प्राण रूप से सभी के हृदय प्रदेश में निवास करता है मनोमय प्राणशरीर होने पर भी भारूप है।

भारूप—भा कहते हैं दीप्ति को। भा कहो प्रभा कहो, दीप्ति कहो एक ही बात है। अर्थात् चैतन्य स्वरूप है। वह अपनी कान्ति से, तेज से, प्रभा से तथा दीप्ति से स्वयं प्रकाशित हो रहा है। उसे सूर्यादि अन्य किसी भी प्रकाश की अपेक्षा नहीं। भारूप होने पर वह सत्यसंकल्प है।"

सत्यसंकल्प—संकल्प कहते हैं कार्य करने के दृढ़ निश्चय को। जीव नाना संकल्प करता रहता है, कोई संकल्प उसका पूरा हो जाता है, कोई अधूरा रह जाता है। कोई सर्वथा होता ही नहीं। उसका संकल्प मोघ व्यर्थ हो जाता है, किन्तु परमात्मा का अमोघ संकल्प हैं। उनका संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। संकल्प किया नहीं, कि वह तत्क्षण पूर्ण हो जाता है। उनका एक भी संकल्प असत्य नहीं होता इसीलिये वे सत्यसंकल्प कहलाते हैं। इस प्रकार वे परब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप तथा सत्य-संकल्प हैं। साथ ही आकाशात्मा हैं।

आकाशात्मा—आकाश का कोई रूप नहीं है। किसी भी ऐसे स्थान की कोई भी कल्पना नहीं कर सकता, जहाँ आकाश न हो। आकाश सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, सर्वव्यापक तथा अरूप है। ये सब गुण परब्रह्म में होने से उसे आकाशात्मा कहा जाता है। वह परब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प और आकाशात्मा होने के साथ ही सर्वकर्मा भी है।

सर्वकर्मा—सर्व शब्द का अर्थ है विश्व। यह सम्पूर्ण विश्व ही सकल या सर्व है। इसे सकल, निखिल, अशेष, समस्त, अखिल, समग्र, अखण्ड, पूर्ण कुछ भी कह लो। इस चराचर जगत् को जो करने वाला—बनाने वाला—हो वही सर्वकर्मा कहलाता है।

यह जगत् परब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, परब्रह्म में ही स्थित रहता है और अन्त में परब्रह्म में ही विलीन हो जाता है, अतः वे सर्वकर्मा इस नाम से कहे जाते हैं। परब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा तथा सर्वकर्मा होने के साथ ही सर्वकाम हैं।

सर्वकाम—काम शब्द का अर्थ है इच्छा। अर्थात् संसार भर की इच्छा का केन्द्र परमात्मा है। उनकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता काम वर को भी कहते है। परमात्मा सभी प्रकार के वरदान देने में समर्थ है। मनोरथ को भी काम कहते हैं। परब्रह्म सर्वमनोरथ हैं। उनका कोई भी मनोरथ विफल नहीं होता। काम शब्द संहारकर्ता शिवजी के लिये तथा पालनकर्ता विष्णु के लिये भी आता है। अतः सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय इन सबके कर्ता परब्रह्म परमात्मा ही हैं। काम शब्द कुसुमायुध कामदेव के लिये भी आता है, अतः भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है। प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध काम मैं ही हूँ। काम के जितने भी अर्थ हैं, उन सबके विशेष्य परब्रह्म ही हैं। इसीलिये वे सर्वकाम हैं। अतः मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा और सर्वकाम होते हुए भी वे सर्वगन्ध हैं।

सर्वगन्ध—गन्ध कहते हैं आमोद को सुगन्ध को। केवल गन्ध शब्द आमोद का वाचक है। उसमें सु तथा दुर् लगाने से वह सुगन्ध दुर्गंध के अर्थ में व्यवहृत होता है। गन्ध गुण पृथ्वी का है। इसीलिये भगवान् ने कहा है, पृथ्वी में मैं पुण्यगन्ध हूँ। पुण्यगन्ध भगवत् विभूति है। और समस्त आमोद-प्रमोद जिनसे ही हों उन्हें सर्वगन्ध कहते हैं। अतः भगवान् मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम और सर्वगन्ध होते हुए भी सर्वरस हैं।

सर्वरस—जिसका जिह्वा ओठ द्वारा आस्वादन किया जाय उसे रस कहते हैं। अनेक प्रकार के रस होते हैं। कटु, अम्ल, तिक्त, मधुरादि ६ रस खाने के हैं। शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा मधुर ये पाँच रस भक्ति के हैं। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत तथा शान्त ये ९ रस साहित्य के हैं। वे परमात्मा सभी रसों के आधार हैं। समस्त रस उन्हीं द्वारा होते हैं। इसलिये वे सर्वरस हैं। इस प्रकार मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध तथा सर्वरस इन नौ विशेषणों से युक्त इन लक्षण वाले परब्रह्म सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से व्याप्त किये हुए हैं। अर्थात् तृण से ब्रह्मा पर्यन्त कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो इनकी परिधि के बाहर हो। सब पर इनका प्रभुत्व है। और विशेषता यह है, कि अवाकी है। अर्थात् वाक् रहित है।

अवाकी—हम लोग वाणी-वाक्-द्वारा अपने भावों को व्यक्त करते हैं, किन्तु परब्रह्म परमात्मा बिना वाणी के ही अपने भावों को व्यक्त करने में समर्थ है। वाक् तो यहाँ उपलक्षण मात्र है। वाक् से समस्त इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् उसके पैर नहीं हैं फिर भी वह बड़े वेग से चलता है, हाथ नहीं हैं फिर भी वह सब वस्तुओं को ग्रहण करने में समर्थ है, उसके नेत्र नहीं हैं, किन्तु सबको देखने की सामर्थ्य रखता है, उसके कान नहीं है, किन्तु सब कुछ सुन लेता है। ऐसे ही वाणी के बिना अपने समस्त भावों को व्यक्त करता है। इतना होने पर भी वह अनादर है।

अनादर—अर्थात् असम्भ्रम-आग्रह रहित है। जो कृपण है, जिसे सन्देह है वह किसी कार्य के लिये आग्रह करता है। जो उदार है आप्तकाम है, उसे किसी भी विषय में आग्रह करने की

आवश्यकता नहीं। आदर शब्द का अर्थ आरम्भ भी होता है। परमात्मा अनारम्भी है। वे किसी नयी वस्तु का आरम्भ नहीं करते। उनके लिये कोई भी वस्तु नयी नहीं। सभी पुरानी हैं, वे पुराण पुरुष हैं। जब सब पुरातन हैं, तो आरम्भ क्या करें। आदर शब्द का अर्थ सम्मान भी है। जो अपने से कोई बड़ा हो वह आदर सम्मान करे। आदर सदा दूसरे करते हैं। परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं, अतः उनमें आदर-अनादर की कल्पना ही नहीं। वे सब प्रकार के आदर-सत्कारों से रहित होकर स्वयं शोभायमान हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो निर्गुण निराकार लक्षणातीत परब्रह्म के कुछ लक्षण विशेषण भगवती श्रुति ने कहे। अब दूसरी प्रकार से ब्रह्म का निर्वचन करेंगे। ब्रह्म सबसे छोटे से छोटा भी है और सबसे बड़े से भी बड़ा है और हृदयस्थ ब्रह्म और परब्रह्म एक ही है। इस विषय का निरूपण आगे किया जायगा।"

छप्पय

करि सब जगकूँ व्याप्त जगत उन माहिँ विराजत।
वाक् रहित नहिँ करन करम सब इन्द्रिनि साधत॥
आग्रह कर्मनि नहीं असंभ्रम रहित अनादर।
स्वतः तृप्त जो नित्य कामना रहित निरन्तर॥
हृदयकमल के मध्य में, सरसौं जौ श्यामाकतैं।
धान समा सरसों हु तैं, सूक्ष्म सूक्ष्मतम मापतैं॥

ब्रह्म बड़े से बड़ा तथा छोटे से छोटा है

[१४४]

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद् वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥*॥

(छा० उ० ३ अ० १४ खं ३ म)

छप्पय

सूक्ष्म तैं हू सूक्ष्म थूल अति विशद कहावै।
अन्तरिक्ष, भू, स्वर्ग, बड़ो सब तैं बनि जावै॥
सर्वकाम जो सर्व—कर्म अरु सर्व गन्ध जो।
सर्व जगत में व्याप्त सर्व रस वाक रहित सो॥
जो सम्भ्रम तैं शून्य है, हृदय कमल इस्थित रहत
वह परमात्मा ब्रह्म—पर, ताहि जगन्मय हू कहत॥

छोटापन और बड़ापन अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से होता है। एक व्यक्ति ने एक रेखा खींची और लोगों से कहा-"इस रेखा को

---

* यह मेरा आत्मा हृदय कमल के भीतर धान, सरसो तथा श्यामाक-समा के चावल से भी छोटा है तथा वही हृदय कमल मे रहने वाला आत्मा भूमि, स्वर्ग अथवा अन्य समस्त लोकों से भी बडा है। वह सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और महान् से भी अत्यन्त महान् है।

बिना मेंटे छोटा बना दो।" सभी लोग बड़े चक्कर में पड़े कि बिना मिटाये यह रेखा छोटी कैसे हो सकती है। तब एक बुद्धिमान व्यक्ति ने उस रेखा के ऊपर उससे बड़ी रेखा खींच दी और लोगों से पूछा—"इनमें कौन-सी रेखा बड़ी है, कौन-सी छोटी ?"

तब सबको कहना पड़ा—"ऊपर की बड़ी रेखा है नीचे की छोटी।" उस रेखा को बिना स्पर्श किये ही उसे छोटा बना दिया छोटापन अपेक्षाकृत है।

एक माता अपने छोटे पुत्र को अपने पति को सौंपकर पानी भरने चली गयी और पति से कह गयी—"लड़का रोने न पावे। यह जो माँगे वह दे देना।" पति ने कहा—"मैं विश्वविद्यालय का प्राध्यापक हूँ, लड़के को सर्व प्रकार से सन्तुष्ट रखूँगा। तुम निश्चिन्त होकर चली जाओ।"

माता के चले जाने पर लड़के ने पिता से कहा—"मैं गुड़ लूँगा।"

पिता ने एक डेली गुड़ की उसे दे दी। लड़के ने कहा—"मैं तो बड़ी डेली लूँगा।" पिता ने उससे बड़ी दे दी। फिर भी लड़का बड़ी की ही माँग करता रहा, रोता रहा। विवश होकर पिता ने ५ सेर की एक भेली उसके सामने रख दी। लड़का रट लगा रहा था—"मैं तो बड़ी लूँगा।" तब तक माता आ गयी। उसने पूछा—"बच्चे को क्यों रुला रहे हो ?"

क्रोधित होकर पति ने कहा—"तुमने लड़के को सिर पर चढ़ा रखा है। बड़ी भेली को रो रहा है। एक बड़ी भेली रख दी तब भी यह बड़ी की ही रट लगाकर रो रहा है।"

माता ने हँसकर कहा—"ठहरो मैं इसे देती हूँ।" उसने [illegible] बड़ी डेली एक छोटी डेली बच्चे के सम्मुख रखकर कहा—
से जो तुझे अच्छी लगे, उसे उठा ले।" लड़के ने [illegible]

अपेक्षा जो बड़ी थी, उसे उठा लिया और प्रसन्न होकर हँसने लगा।

तब पत्नी ने कहा—"स्वतः न कोई बड़ा है न छोटा। बड़ापन छोटापन अपेक्षा कृत है। दो वस्तुओं में ही बड़ापन छोटापन होगा। जिसके कई बच्चे होंगे, उसके बच्चों को बड़ा बच्चा, सबसे बड़ा बच्चा, मझला बच्चा, छोटा बच्चा, सबसे छोटा बच्चा कहा जायगा पं० देवदत्त जी के एक ही बच्चा है उसे चाहे बड़ा बच्चा कहो या छोटा बच्चा। दोनों ही सत्य हैं।

इसी प्रकार ब्रह्म एक है। उसके सदृश या उससे बड़ा छोटा कोई दूसरा ब्रह्म नहीं, अतः उसे चाहें सबसे बड़ा कहो या सबसे छोटा दोनों ही कथन उपयुक्त हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह आत्मा है जो हृदय कमल में स्थित है। वह सबसे सूक्ष्म है। जौ आदि जो छोटे अन्न हैं उनसे भी छोटा है। जौ से छोटा चावल होता है, वह चावल से भी छोटा है। चावल से भी छोटे समा के चावल होते हैं, उनसे भी छोटा है। समा के चावलों से सरसों के दाने छोटे होते हैं, वह सरसों से भी छोटा है। कहाँ तक गिनावें संसार में अणु, परमाणु, जो भी छोटी से छोटी वस्तु है उससे भी वह छोटा है। केवल छोटे से छोटा नहीं, वह बड़े से बड़ा है। ग्राम, नगर, जनपद, प्रान्त, देश तथा सम्पूर्ण पृथ्वी से भी बड़ा है। आकाश से भी बड़ा है, स्वर्ग से भी बड़ा है। समस्त लोकों से भी बड़ा है। ब्रह्माण्डों से भी बड़ा है। संसार में जो बड़ी से बड़ी वस्तुएँ हैं अन्तरात्मा उन सबसे बड़ा है। उसी के द्वारा संसार के सर्व कर्म होते हैं। संसार का कोई कर्म ऐसा नहीं जो अन्तरात्मा की उपेक्षा करके सम्पन्न हो सके। समस्त कामनायें उसी के द्वारा पूरी होती हैं, वह सर्वकाम है। जितनी भी गन्ध हैं, सबका कर्ता भोक्ता अन्तरात्मा ही है, जितने

रस हैं, सबका आस्वादन कर्ता वही है। सम्पूर्ण जगत् को वही, चारों ओर से ढके हुए है। सभी में वह व्याप्त है। वाणी के बिना ही वह अपने भावों को व्यक्त करने में समर्थ है। वह सम्भ्रम रहित ऐसा आत्मा मेरे हृदय कमल के मध्य में अवस्थित है।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! हृदय कमल में स्थित आत्मा और परब्रह्म परमात्मा में कितना भेद है? क्या अंशी और अंश के समान है? इन दोनों में कौन छोटा है कौन बड़ा है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जो ईश्वर समस्त भूतों के हृदय देश में अवस्थित हैं, जो सब प्राणियों को यन्त्रारूढ़ की भाँति घुमा रहे हैं, जो सबके हृदय प्रदेश में प्रविष्ट होकर सबसे कार्य करा रहे हैं, जो हृदय में बैठकर सब का शासन कर रहे हैं वे हृदयस्थ ब्रह्म और आकाशात्मा परब्रह्म परमात्मा दोनों एक ही हैं। इनमे अणुमात्र का भी अन्तर नहीं, भेद नहीं, अंश और अंशी की कल्पना नहीं।"

इस शरीर के अन्त होने पर, वर्तमान शरीर का परित्याग करने पर मैं उसी परब्रह्म को प्राप्त होऊँगा, जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में मिल जाता है। मिल जाना कहना भी उपचार मात्र है। घट का आकाश कभी महाकाश से पृथक् ही नहीं हुआ था। उनमें पृथक्त्व संभव ही नहीं। बीच में घड़े का व्यवधान पड़ गया था। व्यवधान हटने पर वह यथार्थ रूप में प्रदर्शित होने लगा। इसी प्रकार शरीर रूपी व्यवधान के हटने पर मैं अपने स्वरूप को प्राप्त होऊँगा।" ऐसा जिस साधक का पूर्ण निश्चय है, दृढ़ मत है। जिसे इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं है, उसे उस भाव की अवश्य ही प्राप्ति होती है। ऐसा शाण्डिल्य ऋषि का मत है। निश्चय ही यह शाण्डिल्य ऋषि की उक्ति है। ये शाण्डिल्य ऋषि भक्ति सूत्रकार हैं, गोत्र प्रवर्तक

हैं। स्मृतिकार हैं। उन परम भागवत महामुनि शाण्डिल्य की यह आध्यात्मिकी शिक्षा है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! यह मैंने जगत् की एवं हृदयस्थ ब्रह्म की परब्रह्म रूप की उपासना बतायी, अब आगे विराट्रूप कोश की उपासना का वर्णन करूँगा। आशा है आप इस शरणागति विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

हृदय कमल के मध्य आतमा मेरो इस्थित।
हिये माहिँ जो बसै वही है परब्रह्म इत॥
हौं जब तनकूँ त्यागि मृत्यु देह की मृत्यु कराऊँ।
पुनि नहिँ धारूँ देह ब्रह्म में ही मिलि जाऊँ॥
जाको अस निश्चय सुदृढ़, नहिँ जाकूँ सन्देह है।
पाइ ब्रह्म कूँ सो अवसि, यह शांडिल उपदेश है॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
चौदहवाँ खण्ड समाप्त

———

विराट् रूप कोश की उपासना

[१४५]

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिल ँ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्वमिद ँ श्रितम् ॥*

(छा० उ० ३ अ० १५ ख० १ मं०)

छप्पय

यह विराट् ही कोश उदर तिहि अन्तरिक्ष है ।
भूमि मूल—नहिं जीर्ण दिशा सब कोण उक्त है ॥
उपरि छिद्र आकाश नाम वसुधान कहावै ।
विश्व सकल थित रहै पूर्व दिशि जुहू लखावै ॥
दक्षिण दिशि सहमना है, पश्चिम राज्ञी नाम है ।
कही सुभूता उदीची, दिशि—सुत वाय महान है ॥

कोश शब्द का अर्थ अण्डा है । जो सदा रहे, मिला रहे, आलिंगन किये रहे वही कोश है । (कुश्यते=संश्लिष्यते यः सः

---

* परब्रह्म परमात्मा की कोश रूप मे—अंड—रूप मे उपासना करनी चाहिये । अन्तरिक्ष ही इस कोश का उदर है, इसकी मूल भूमि है । यह जीर्ण शीर्ण पुराना नही होता । दिशायें ही इस कोश के कोने हैं । ऊपर का छिद्र ही आकाश है । यह वसुधान नामक कोश है । यह चराचर जड़ चैतन्यात्मक संपूर्ण विश्व इसी में स्थित है ।

कोशः) कोश खान को भी कहते हैं। कोश सुवर्ण को भी कहते हैं, कोश आवरण का भी नाम है और कोश रेशम बनाने वाले कीड़ा का भी नाम है। यहाँ विराट को कोश बताकर उसकी ब्रह्मरूप से उपासना बतायी है। यहाँ कोश शब्द विराट् विश्व ब्रह्माण्ड के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस विराट् ब्रह्माण्ड को, जो ब्रह्मरूप से उपासना करता है। उसे पुत्र के लिये रोना नहीं पड़ता। यह इस उपासना का फल है। पुत्र के लिये ३ प्रकार से ही रोया जाता है। या तो पुत्र न हो, तब रोया जाता है। या पुत्र मूर्ख हो, रोगी तथा दुखी हो तब रोया जाता है, या पुत्र अल्पायु हो, अपने सम्मुख ही उसकी मृत्यु हो जाय तब रोया जाता है। इस उपासना से जिसके पुत्र न होगा उसके पुत्र हो जायगा। अथवा सभी को अपना पुत्र मानकर संतोष करेगा। उसका पुत्र मूर्ख, रोगी अथवा दुखी न होगा और उसकी अल्पायु में मृत्यु भी न होगी। पीछे प्राण उपासना के प्रकरण में बताया है कि पाँच ब्रह्म पुरुष आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, पर्जन्य और वायु ये स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं, जो कोई इन स्वर्गलोक के द्वारपालों की उपासना करता है, उसके कुल में वीर पुत्र पैदा होता है।

हम पहिले ही बता चुके हैं ये सब सकाम उपासनायें हैं। संसार में गृहस्थियों को आयु, वित्त, पशु, परिवार, धान्य, स्वास्थ्य तथा स्त्री पुत्रों की ही कामना होती है। आयु के लिये, धन की प्राप्ति के लिये, पशु, परिवार, धान्य, स्वास्थ्य तथा स्त्री पुत्रों की प्राप्ति के निमित्त बहुत-सी उपासनायें पीछे बता चुके हैं। वीर पुत्र प्राप्ति के निमित्त भी उपासना कही गयी है। मान लो वीर पुत्र पैदा हो जाय, और वह अल्पायु होकर मर जाय, तो उसके लिये जीवन भर रोना ही पड़ेगा। अतः अब विराट् कोश की उपासना इसी कामना के निमित्त बताते हैं, जिससे पुत्र के लिये

रोना न पड़े। वह सुयोग्य दीर्घायु तथा चिरजीवी हो। इस कामना से विराट कोशोपासना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस उपासना का फल आत्मज की दीर्घायु होना है, उस उपासना को बताते है। जिसे इच्छा हो, मुझे पुत्र के निमित्त रोना न पड़े मेरा पुत्र दीर्घायु हो, उसे ब्रह्म की कोशोपासना करनी चाहिये। वह भावना करे यह चराचर विश्व ब्रह्माण्ड एक अंडा है। अंडे में भीतर उसका उदर होता है, तो यह अन्तरिक्ष-बीच का लोक-ही मानो इस विराट् कोश का उदर है। अंडा का मूल होता है-माता। तो यह पृथ्वी ही मानों इस विराट् कोश की मूल भूता माता है। साधारण अंडा पक जाने पर जीर्ण हो जाने पर-फूटकर नष्ट हो जाता है, किन्तु यह ऐसा कोश है, कि चिरकाल तक स्थायी रहने वाला है, यह कभी जीर्ण नहीं होता। अंडा में चार कोण होते हैं, तो चारों दिशायें ही चारों कोण हैं। अंडे में एक ऊपर छिद्र होता है, जिससे वायु भीतर जाती रहे। इस विराट् कोश का ऊपरी छिद्र मानों द्युलोक-स्वर्ग है। यह ऐसा विलक्षण विराट् कोश है। इस कोश का नाम है वसुधान। वसु कहते हैं धन को उससे परिपूर्ण है। अर्थात् कर्म फल ही इस कोश का मूलधन है। इस कोश में यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड आश्रित है। अर्थात् यह दृश्यमान समस्त कर्म कर्तृ फलात्मक जगत् इस कोश में स्थित है।"

अब इस विराट् कोश की चारों दिशाओं का वर्णन करते हैं। यह जो विराट् रूप कोश है। इसकी पूर्व दिशा 'जुहू' नाम वाली है। जुहू यज्ञ के उस पलाशपात्र का नाम है, जो चन्द्राकृति होता है, उससे हवन किया जाता है (जुहोति=अनया-इति-जुहू) पूर्वदिशा में जब सूर्योदय होता है, तभी हवन आरम्भ किया जाता है। अतः इस विराट्कोश की पूर्व दिशा का नाम जुहू है।

इस विराट्कोश की दक्षिण दिशा का नाम सहमाना है। सह धातु का अर्थ सहना अर्थात् भोगना है। कर्मों का फल यम की दक्षिण पुरी में ही भोगा जाता है अतः इस दिशा का नाम सहमाना है।

इस विराट्कोश की पश्चिम दिशा का नाम राज्ञी है। राजा की पत्नी का नाम राज्ञी होता है (राज्ञः पत्नी=इति-राज्ञी) समस्त जलों के जलचरों के राजा वरुण हैं। वे पश्चिम दिशा के अधिपति हैं-राजा है-अतः उनकी दिशा राज्ञी होनी ही चाहिये। राज्ञी प्रभा दीप्ति को भी कहते हैं। पश्चिम दिशा दीप्तिमती है।

विराट्कोश की उत्तर दिशा का नाम सुभूता है। जिस दिशा में सुन्दर प्राणी रहें उसे सुभूता कहते हैं। उत्तर दिशा में समस्त ऋषि मुनि तपस्या करते हैं। मृत्यु के समय समस्त सुकृति पुरुष उत्तर दिशा में जाते हैं, जिस दिशा को जाकर लौटते नहीं। कुबेर देवताओं के कोषाध्यक्ष इसी दिशा में रहते है। अतः इस दिशा का नाम सुभूता है। इन चारों दिशाओं का पुत्र वायु है। जैसे बच्चा अपनी माता की गोदी में स्वच्छन्द होकर विचरण करता है। माता की गोदी में जहाँ चाहता है, वहीं डोलता है। इसी प्रकार वायुदेव चारों दिशाओं में स्वच्छन्द विचरण करते हैं।

जो इस प्रकार इस विराट्कोश की, दिशाओं की, उनके पुत्र वायु की उपासना करता है, उसे पुत्र मरण के निमित्त रोदन नहीं करना पड़ता। यही इस विराट्कोश की उपासना का फल है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस विराट्कोश रूप ब्रह्माण्ड की जो चारों दिशाओं का पुत्र वायु है उसकी जो उपासना करता है, उसे कभी पुत्र के वियोग में रोना नहीं पड़ता। यह तो उपासना और उसका फल बताया। अब जिस उपदेष्टा ने यह उपासना की है और उस उपासना के प्रतिफल स्वरूप जो

अनुभव हुआ है, और उसने किन शब्दों द्वारा कैसे उपासना की है। उनकी उस स्वानुभूत उपासना का वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप लोग इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

दिशनि पुत्र जो वायु दिशनि सुत सहित अराधे।
रोवै नहिं सुत निमित साधना इहि विधि साधे॥
करि मन में संकल्प दिशनि हौं सुत युत जानूँ।
तो फिरि कबहूँ नहीं पुत्र हित रुदन न ठानूँ॥
चिरजीवी मम होइ सुत, कबहुँ न मम सम्मुख मरै।
नहिं प्रसङ्ग अस प्राप्त दिशि-वायु उपासन जो करै॥

वत्स सहित दिशाओं की अजर कोश उपासना विधि

[१४६]

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनामुनामुना प्राणं—प्रपद्येऽमुनामुनामुना भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना भुवः प्रपद्येऽमुनामुनामुना स्वः प्रपद्येऽमुनामुनामुना ॥*

(छा० उ० ३ अ० १५ खं० ३ मं०)

छप्पय

हौं निज सुत के सहित अजर जो कोश शरन हूँ।
अमुक नाम सुत सहित प्राण के शरणागत हूँ॥
अमुक पुत्र के सहित भूमि के शरणागत हूँ।
फिर वाई के सहित भुवः की शरण गहत हूँ॥
चिरजीवी मम सुत सहित, स्वः के शरणागत भयो।
प्राण शरण जो मम कही, भूतमात्र प्राणहि कह्यो॥

---

* अरिष्ट कोश की अमुक-अमुक-अमुक नाम के पुत्र सहित मैं शरण मे हूँ। अमुक-अमुक-अमुक के सहित मैं प्राण की शरण में हूँ। अमुक-अमुक-अमुक के सहित भू व्याहृति की शरण में हूँ भुव व्याहृति की अमुक-अमुक-अमुक के सहित शरण में हूँ तथा स्वः व्याहृति की भी अमुक-अमुक-अमुक के सहित शरण में हूँ।

उपासना की अथवा किसी भी कार्य की जो पद्धति को जानते हैं वे विधिवेत्ता कहलाते हैं। विधान शास्त्रों द्वारा जाना जाता है, किन्तु उस शास्त्र की विधि को करके जिन्होंने विधिवत अनुभव प्राप्त किया है और उस विधि से सफलता प्राप्त की है, वे ही वास्तविक प्रामाणिक विधिज्ञ हैं। ऐसे विधिवेत्ताओं द्वारा बतायी विधि से जो कार्य करते हैं वे अवश्य ही सफल होते हैं। हमारा पुत्र निरोग रहे, उसके लिए हमें रुदन न करना पड़े। इसके लिये नियम और उस उपासना का फल तो पीछे बता दिया गया। अब आगे यह बताते हैं, कि जिन्होंने इस वसुधान कोश की उपासना की है, उन्होंने अपना अनुभव कैसे व्यक्त किया है और किन शब्दों द्वारा किन देवों की कैसे इस उपासना को किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दिशाओं का और उनके वत्स वायु की उपासना का वर्णन तो पीछे कर चुके। अब वह उपासना कैसे करनी चाहिये। किन शब्दों द्वारा देवताओं के प्रपन्न होना चाहिये, उन कोश विज्ञान के अङ्गभूत प्रपदन (प्रपन्न होने वाली) विधि को उनके मन्त्रों का वर्णन करते हैं। साधक हाथ जोड़कर बद्धाञ्जलि होकर-मैं अमुक नाम वाले पुत्र के निमित्त, अमुक नाम वाले पुत्र के निमित्त, अमुक नाम वाले पुत्र के निमित्त अविनाशी कोश की शरण प्राप्त होता हूँ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अमुक नाम के पुत्र के निमित्त यह वचन तीन बार क्यों कहा?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! त्रिवाचा भरने की प्राचीन प्रथा है। आदमी हाथ से हाथ स्पर्श करके तीन बार कह दे कि यह मैंने दिया, दिया, दिया। तो वह प्रतिज्ञा पूर्ण मानी जाती है। इसलिये सभी प्रतिज्ञायें सभी शरणागत मन्त्र तीन बार उच्चारण किये जाते हैं। अथवा एक वचन, द्विवचन, बहुवचन। संस्कृत

भाषा में तीन ही वचन होते हैं। दो के आगे सब बहुवचन वाचक माने जाते हैं। किसी के बहुत पुत्र हों, तो उन सबका नाम लेकर इन प्रपद्न मन्त्रों को पढ़ें। जो अपने सब पुत्रों की मङ्गल कामना चाहता हो, सभी को नीरोग चिरजीवी बनाना चाहता हो, तो अमुक-अमुक-अमुक यह जहाँ भी आया हो, वहाँ अपने पुत्रों का नामोच्चारण करे। इस प्रकार पहिले कोश के शरणापन्न हो, तदनन्तर प्राण की शरणागति के मन्त्र पढ़े।"

शौनकजी ने पूछा—"जिसके बहुत पुत्र न हों, एक ही पुत्र हो तो क्या वह पुत्र का नाम अमुक के सहित अमुक की शरण हूँ, ऐसा एक ही बार पढ़े, या तीन बार पढ़े ?"

सूतजी ने कहा—"चाहें एक ही पुत्र क्यों न हो त्रिवाचा के रूप में तीन बार तो पढ़ना ही चाहिये। हाँ, तो कोश की शरण जाने के अनन्तर प्राण की शरण जाय। "मैं अपने अमुक नाम वाले पुत्र के निमित्त ३ (तीन बार) उसके सहित प्राण की शरण में हूँ।" तदनंतर भूः, भुवः, और स्वः इन तीन व्याहृतियों की शरण ग्रहण करे "मैं अमुक नाम वाले पुत्र के लिये (३ बार) सहित भूः की शरण में हूँ। अमुक नाम वाले पुत्र के लिये उसके उसके सहित भुवः की शरण में हूँ। अमुक नाम वाले पुत्र के लिये उसके सहित स्वः की शरण में हूँ।"

इस प्रकार प्राण की, भुः की, भुवः की और स्वः की, पुत्र के कल्याण निरोग और चिरजीवी होने के निमित्त शरणागति करे।

शौनकजी ने पूछा—"प्राण की शरणागति का अ क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"इस बात का स्पष्टीकरण भगवती श्रुति पुत्र की दीर्घ जीवन की कामना करने वाले व्यक्ति के मुख से

करा दिया है। जो पुत्र के निमित्त रोदन करना नहीं चाहता, वह 'पुत्र-कल्याणेच्छुक' कहता है—"मैंने जो यह बात कही कि 'मैं प्राण की शरण में हूँ।' इससे मेरा अभिप्राय केवल अपने शरीर के भीतर विचरण करने वाले प्राणों से ही नहीं है। अपितु जो भी सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् है। जितने भी जगत् में भूत समुदाय हैं, उन सब भूतों से ही मेरा तात्पर्य है। क्योंकि समस्त भूत प्राणात्मक हैं। प्राणों के बिना भूत समुदाय का अस्तित्व ही नहीं। अतः प्राण की शरण हूँ, इसका तात्पर्य है मैं समस्त भूत समुदाय की शरण में हूँ।"

शौनकजी ने कहा—"भूः की शरण हूँ, इसका तात्पर्य क्या है?"

सूतजी ने कहा—"इसका भी स्पष्टीकरण उसी के मुख से श्रुति ने कराया है। पुत्र कल्याणेच्छु कहता है—"मैंने जो यह बात कही, कि मैं भूः की शरण हूँ, इससे केवल पृथ्वी लोक का ही ग्रहण न करना चाहिये, अपितु इसका तात्पर्य यही है कि पृथ्वी की शरण हूँ, अन्तरिक्ष की शरण हूँ और स्वर्गलोक की भी शरण हूँ। यहाँ भू कहने का प्रयोजन तीनों लोकों का है।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर भुवः की शरण हूँ इसका क्या तात्पर्य?"

सूतजी ने कहा—"इसका भी तात्पर्य श्रुति के ही द्वारा पुत्र चिरजीवेच्छुक के ही शब्दों में सुनिये। वह कहता है—मैंने जो कहा—मैं भुवः की शरण हूँ, उससे मेरा तात्पर्य पृथ्वीलोक और स्वर्गलोक के बीच के केवल अन्तरिक्षलोक से ही नहीं है, अपितु उस अन्तरिक्ष लोक में विचरण करने वाले वायुदेव से, वायुदेव के पुत्र अग्निदेव से और अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले आदित्य-सूर्यदेव से है। अर्थात् मैं अग्निदेव की शरण में हूँ,

उनके पुत्र वायुदेव की शरण हूँ, तथा प्रकाश के अधिष्ठातृ देव आदित्य की शरण हूँ। तीनों जीवनाधार देवों से ही मेरा तात्पर्य है।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वः की शरण हूँ, इसका क्या अभिप्राय है?"

सूतजी ने कहा—"इसका भी तात्पर्य उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिये। वे कहते हैं—मैंने जो कहा-कि मैं स्वः की शरण हूँ, तो इससे अभिप्राय केवल देवताओं के रहने वाले द्युलोक से ही नहीं है। जिस वेदत्रयी के कारण स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है उस वेदत्रयी से मेरा अभिप्राय है। अर्थात् मैं ऋग्वेद की शरण में हूँ, यजुर्वेद की शरण में हूँ और सामवेद की शरण में हूँ। मेरा अभिप्राय यही है। इसी को मैंने कहा है यही मैंने कहा है, सत्य-सत्य यही मैंने कहा है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही वत्स सहित दिशाओं की अजर कोश उपासना है। अत्यन्त विनीत भाव से पुत्र की दीर्घायु चाहने वाला पिता अजर कोश का, दिशाओं के सहित उनके वत्स वायु का एकाग्रचित्र होकर श्रद्धापूर्वक ध्यान करे। फिर हाथ जोड़कर (अरिष्टं कोशं से तदवोचं तदवोचम् तक) मन्त्रों का जप करे। तो इससे उस साधक को पुत्र के लिये रुदन न करना होगा। यह मैंने पुत्र के दीर्घ जीवन के निमित्त विराट् कोश की उपासना बतायी अब आगे जैसे आत्मयज्ञ की उपासना बतायी है, उसका वर्णन आगे किया जायगा।"

छप्पय

भू की जो है शरण भूमि शरणागत जानो।
अन्तरिक्ष के सहित स्वर्ग के सहितहु मानो॥
भुव की जो है शरण अनिल अनल हु रवि जानो।
मैं स्वः की हूँ शरण तीनि वेदनि तिहि मानो॥
समुझो, हौं सब भूत की, भूमि, स्वरग, आकाश की।
अनल, अनिल, रवि, वेदत्रय, शरण गही यह ही कही॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
पन्द्रहवाँ खंड समाप्त।

आत्मारूप यज्ञ की उपासना

[१४७]

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥*

(छा० उ० ३ अ० १६ खं १ म०)

छप्पय

कह्यो पुरुष ही यज्ञ वरष चौबिस जो ताके ।
प्रातसवन गायत्र वही अक्षर सब वाके ॥
अनुगत वसु तिहि सवन प्राण ही वसु कहलावें ।
सबनि बसावें प्राण प्राण बिनु सब भगि जावें ॥
होइ रोग चौबिस बरस-तक तब वसु प्राननि कहै ।
परिवर्तित मध्यहि सवन-करें रोग बिनु ह्वै रहै ॥

यज्ञ ही मुख्य कर्म है। यज्ञ के अतिरिक्त जो कर्म हैं वे सभी कर्म बन्धन के कारण हैं। ब्रह्माजी ने सृष्टि के आरम्भ में अपने

---

* यह पुरुष यज्ञ रूप है, इस यज्ञ का प्रातःसवन गायत्र है गायत्री चौबीस अक्षरों वाली है, अतः पुरुष की आयु के चौबीस वर्ष प्रातःसवन हैं। इस प्रातःसवन के वसुगण अनुगत हैं। प्राण ही वसु हैं, जो बसावें वही वसु, प्राण ही सबको बसाये हुए हैं।

चारों मुखों से चारों वेदों की, होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा यज्ञ के चारों ऋत्विजों और उनके शस्त्र, इज्या, स्तुतिस्तोम और प्रायश्चित्त इन कर्मों की रचना की। तदनन्तर जो षोडशी, उक्थ, चयन, अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, अतिरात्र, वाजपेय और गोसव इन आठ यागों की रचना की। उष्णिक्, गायत्री, त्रिष्टुप, अनुष्टुप, जगती, पंक्ती और बृहती सात छन्दों की रचना की।

इन वर्णनों से पता लगता है। इस देश में सृष्टि के आरम्भ से ही कर्मकांड का–यज्ञों का–सर्वत्र प्रचलन था। यज्ञ ही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य था, जिसका वर्णन चारों वेदों में है। भगवान् का पुरुषावतार के पश्चात् आदि अवतार शूकरावतार ही है। भगवान् वाराह शूकर बनकर पाताल में गयी पृथ्वी को निकाल लाये थे और उसे पुनः जल के ऊपर स्थापित कर दिया था। उनके इस दुष्कर कर्म से प्रभावित और प्रसन्न होकर जन, तप और सत्यलोक के महर्षियों ने जो उनकी स्तुति की, वह भी यज्ञीय स्तुति थी। भगवान् के शरीर को यज्ञमय बताकर उनके अंग की यज्ञाङ्गों के साथ तुलना की। जैसे ऋषियों ने कहा—"आप का जो श्री विग्रह है (मुख, उदर और पृष्ठ भाग) वह वेदत्रयी रूप है। आप के रोम कूप ही नानाप्रकार के यज्ञों के भेद हैं। आप की त्वचा में गायत्री आदि सभी छन्द हैं, यज्ञों में काम आने वाली कुशायें मानो आपकी रोमावली है। नेत्र घृत रूप हैं, चारों पैर होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा चार ऋत्विज् और उनके कर्म हैं। आपके मुख का अग्रभाग थूथनी यज्ञीय पात्र श्रुक् है, नासिका छिद्र घृत डालने का पात्र स्रुवा है। उदर यज्ञीय भक्षण पात्र इडा है। कान चमसपात्र है। मुख ब्रह्म भाग पात्र प्राशित्र है। कण्ठछिद्र सोमपात्र ग्रह है। आप जो भोजन चबाते हैं वही मानों अग्निहोत्र है। यज्ञ की दीक्षणीय इष्टि आपका पुनः-पुनः

अवतार लेना है। यज्ञ की तीन इष्टियाँ जो उपसद कहलाती हैं, वह आपकी नार (गरदन) है। यज्ञ की जो प्रायणीय और उदयनीय–दीक्षा के पश्चात् की इष्टि और यज्ञ समाप्ति की इष्टि ये ही प्रायणीय और उदयनीय नाम की दो इष्टियाँ हैं वे मानों आप की दो दाढ़े हैं। यज्ञ की जो तीन इष्टियाँ उपसद नाम से विख्यात हैं उस प्रत्येक उपसद के पहिले जो कर्म किया जाता है उस कर्म को महावीर कर्म कहते हैं। वह महावीर कर्म ही मानों आपकी जिह्वा है। होमरहित केवल यज्ञ की जो अग्नि होती है उसका नाम सभ्य है, उपासना की जो अग्नि होती है उसका नाम आवसथ्य है। ये अग्नि मानों आपका सिर है। यज्ञ में ईंटों का चुनना (इष्ट का चयन) जो कर्म होता है, वही मानों आपके प्राण हैं। यज्ञों मे जो सोम होता है, जिसका पान देवगण करते हैं। आपका वीर्य ही मानों सोम है। यज्ञों में प्रातःसवन, मध्यन्दिनसवन और सायंसवन तीन यज्ञ कृत्यों के काल–सवन होते हैं। आपका आसन से बैठना ही मानों तीनों सवन हैं। यज्ञों की सात संस्थायें (सात प्रकार) १. अग्निष्टोम, २. अत्यग्निष्टोम, ३. उक्थ, ४. षोपशी, ५. वाजपेय, ६. अतिरात्र और ७. आप्तोर्याम नाम से हैं, वे ही मानों आप के देह की रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र ये सात धातुएँ हैं। जितने सत्र हैं वे आपकी शरीर सन्धियाँ हैं। आपका शरीर सोमरहित याग जिसकी यज्ञ संज्ञा है और सोमसहित याग जिसकी क्रतु संज्ञा है। वह यज्ञ और क्रतु रूप है। यज्ञ का अनुष्ठान रूप जो इष्टियाँ हैं वे आपकी मांस पेशियाँ हैं। विशेष कहाँ तक कहें–यज्ञों में जिन-जिन मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, जिन-जिन देवताओं का आवाहन, पूजन विसर्जन किया जाता है, जो-जो द्रव्य यज्ञ के उपयोग में लाये जाते हैं, जिस नाम का जो भी यज्ञ किया जाता है तथा यज्ञों में जितने भी तीनों

सवनों के कर्म किये जाते हैं वे सब आप ही हैं। इससे पता चलता है, कि पहिले सब महत्वपूर्ण कार्य यज्ञ को ही लक्ष्य करके प्रतिष्ठित होते थे। जब कर्म के पश्चात उपासना करने लगे तब सभी कर्मों में यज्ञ के साथ समता की जाने लगी इस बात को पीछे के उपासना प्रसङ्ग में बार-बार बताया ही गया है। अब अपने शरीर को ही यज्ञ मानकर इसे निरोग रखने की उपासना बतायी जाती है। इस शरीर की बाल्यावस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्था तीन अवस्थायें हैं। मनुष्य की पूर्णायु सौ वर्ष की मानी गयी है। उसे १२५ की पूर्णायु कहते हैं। शतायु कहो १२५ कहो एक ही बात है। सौ से ऊपर शतायु ही कहलाते हैं यहाँ भगवती श्रुति १ ६ वर्ष की पूर्णायु बताती है। इतरा के पुत्र ऐतरेय मुनि हुए हैं, जिनकी ऐतरेय उपनिषद् है, जिनका जीवन हम ऐतरेय उपनिषद् के आरम्भ में बता चुके हैं, उनका दूसरा नाम महिदास भी मिलता है। उन्होंने यह आत्मयज्ञ उपासना की थी। और उसे करके वे ११६ वर्ष तक नीरोग जीते रहे। आगे उन्हीं का अनुभव सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कर्मकाण्ड में यज्ञ सम्बन्धी समस्त संभार एकत्रित करके तब शास्त्रीय विधि से यज्ञ कर्म किये जाते हैं। उपासना में यज्ञ की तत्तद् विषयों में कल्पना की जाती है। पिछले प्रकरण में पुत्र की दीर्घायु के निमित्त कैसे उपासना करनी चाहिये, किन मन्त्रों का जप करना चाहिये ये बातें बतायीं। अब अपने आपको ही यज्ञ मानकर अपनी चिरायु के निमित्त उपासना करनी चाहिये।

शास्त्र का वचन है, अपनी आत्मा की पुत्र से तथा धन से भी अधिक रक्षा करनी चाहिये। जब पुरुष स्वयं जीवित रहेगा, तभी पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, पशु, वाहन, मान सम्मान के सैकड़ों

सुखों का उपभोग कर सकेगा। अतः बड़े यत्न से जीवन की रक्षा करनी चाहिये, अतः अपनी दीर्घायु के निमित्त भी उपासना करनी चाहिये। कैसे उपासना करनी चाहिये इसको बताते हैं। यज्ञों में तीन सवन होते हैं। प्रातःसवन, मध्यन्दिनसवन और सायंसवन। इन तीनों सवनों के प्रधानतया तीन देव होते हैं। वसुगण, रुद्रगण, और आदित्यगण। प्रातःसवन के वसुगण अधिष्ठातृ देवता होते हैं, मध्यन्दिनसवन के रुद्रगण देवता होते हैं और अन्तिम सायंसवन के आदित्य देवता माने गये हैं।

देवताओं की ही भाँति तीनों सवनों की मुख्यतया तीन छन्द मानी गयी हैं, चौबीस अक्षरों वाली त्रिपदा गायत्री छन्द प्रातःसवन को धारण करती है। अतः प्रातःसवन गायत्रसवन कहलाता है। त्रिष्टुप् छन्द मध्याह्न सवन को वहन करती है। इसीलिये त्रैष्टुप् सवन कहते हैं तृतीय जो सायंसवन है इसे जगती छन्द वहन करती है, अतः यह जागतसवन कहलाता है। इस प्रकार तीनों सवनों के देवता, छन्द बताये। उसकी कल्पना यज्ञ रूप में पुरुष की आयु से कैसे करे इसी को बताते हैं।

अपने शरीर को ही यज्ञ मानकर आत्मयज्ञोपासना करे। यज्ञों में तो प्रातः, मध्याह्न और सायं तीन सवन होते हैं। मनुष्य शरीर में तीन सवन क्या हैं। मनुष्य की आयु को भी तीन भागों में बाँट दो। मनुष्य की आयु के जो चौबीस वर्ष हैं उन्हें ही प्रातःसवन मानना चाहिये।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ५ वर्ष तक बाल्यावस्था है, ६ वर्ष से लेकर १४ तक पौगण्ड और १४ से १६ तक किशोरावस्था १६ के पश्चात् युवावस्था आ जाती है। २४ वर्ष को आप प्रातःसवन किस आधार पर बता रहे हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! यहाँ बाल, पौगण्ड किशोर तथा

युवावस्था के क्रम से सवनों की समता नहीं की गयी। प्रातः-सवन को गायत्र सवन कहते है। गायत्री छन्द के प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं और प्रायः गायत्री छन्द त्रिपदी होता है। अतः गायत्री छन्द चौबीस अक्षरों वाला है इसीलिये प्रातः-काल के गायत्र सवन से मनुष्य की आयु के चौबीस वर्षों से समता की गयी।"

शौनकजी ने कहा—"गायत्री के चौबीस अक्षरों से पुरुष की आयु के चौबीस वर्षों की समता की गयी, यह तो उचित ही समता है, किन्तु प्रातःसवन के वसुगण देवता हैं, उनकी समता मनुष्य शरीर में किससे की जाय ?"

सूतजी ने कहा—"प्रातःसवन वसुगण के अनुगत है। यहाँ शरीर में जो प्राण हैं ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं, ये ही मानों वसुगण है। ये प्राण कथा इन्द्रियाँ शरीर में बसते हैं, इसलिये प्राण ही वसु हैं (वसति=इति-वसुः) अथवा प्राण ही प्राणि समुदाय को बसाये हुए हैं। प्राण न रहें तो शरीर में इन्द्रियादि कोई भी न रहे। इसलिये स्वयं बसने के कारण और दूसरों को बसाये रहने के कारण प्राण ही वसु हैं।"

इस प्रकार पुरुष की चौबीस वर्ष की आयु को आत्मयज्ञ का प्रातःसवन मानकर उपासना करनी चाहिये। चौबीस वर्ष की आयु में यदि पुरुष को कोई रोग आदि कष्ट पहुँचावे तो उसे इस प्रकार वसुओं से प्रार्थना करनी चाहिये—"हे मेरे प्राण रूप वसु देवताओ ! मेरे इस प्रातःसवन को मध्यन्दिन सवन के साथ एक रूप कर दो। मैं जो यज्ञ स्वरूप हूँ, वह मैं वसुओं के मध्य में विलुप्त न होऊँ। अर्थात् २४ वर्ष के भीतर मेरी मृत्यु न हो, इसे मेरी मध्यन्दिनसवन रूप आयु में एकीभूत कर दो। अर्थात् मैं चौबीस वर्षों तक अगद-रोग दुःख सन्ताप से रहित होकर-सकु-

शल पच्चीसवें वर्ष में प्रवेश करूँ।" इस प्रकार जो वसुओं की उपासना करता है। वह रोगादि कष्टों से छूटकर इस जप ध्यान के द्वारा चौबीस वर्षों तक नीरोग रहता है।

अब प्रातःसवन के पश्चात् मध्याह्नसवन आता है। मध्याह्नसवन की छन्द त्रिष्टुप् है और रुद्रगण उसके देवता हैं। त्रिष्टुप् छन्द चार पाद वाली होती है और प्रत्येक पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं, इस प्रकार मध्यन्दिनसवन पुरुष की चौबीस वर्ष की आयु के पश्चात् चौवालीस वर्ष पर्यन्त रहता है।

शौनकजी ने कहा—"मध्यन्दिनसवन के देवता तो रुद्र हैं। शरीर में उन रुद्रों की समता किससे है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! इन शरीरस्थ प्राणों की ही रुद्र संज्ञा है। जो रोवे या रुलावे वही रुद्र है (रुदन्ति अथवा रोदयन्ति=इति-रुद्राः) मध्य आयु में प्राण क्रूर हो जाते हैं इसलिये रुद्र हैं अथवा मरणकाल में सब को रुलाते हैं इसलिये भी इनकी रुद्र संज्ञा है।"

अतः मध्यन्दिनसवन रूप पुरुष की आयु में अर्थात् चौबीस वर्ष से आगे ४४ वर्ष पर्यन्त ६८ वर्ष की आयु के मध्य में पुरुष विद्या निष्ठ उपासक को कोई रोग आदि कष्ट पहुँचावे तो इस प्रकार विनीतभाव से हाथ जोड़कर रुद्रों से प्रार्थना करे—"हे प्राण स्वरूप रुद्रगण! मेरा जो पच्चीसवें वर्ष से लेकर आयु के ६८ वर्ष पर्यन्त जो चौवालीस वर्ष हैं वे इस शरीर के मध्याह्नसवन हैं। मेरे इस मध्याह्न कालिकसवन को तृतीय सवन-सायंसवन के साथ एकीभूत कर दो। अर्थात् मैं ६८ वर्ष पर्यन्त निरोग रहूँ। मैं जो यज्ञ स्वरूप हूँ, प्राण रूप रुद्रों के मध्य में कभी नष्ट न होऊँ अर्थात् मैं ६८ वर्ष पर्यन्त मृत्यु को प्राप्त न होऊँ।" इस प्रकार की प्रार्थना करने पर वह पुरुषयज्ञ विद्यानिष्ठ उपासक इस कष्ट से

छूटकर नीरोग हो जाता है। वह अड़सठ वर्ष की वायु पर्यन्त सुखपूर्वक जीता है।

अब तीसरा यज्ञों में सायंसवन होता है। वह जगती छन्द वाला तथा आदित्य देवों के अनुगत होता है। जगती छन्द चार पादों का छन्द है और उसके प्रत्येक पाद में १२-१२ अक्षर होते हैं। इसलिये यह ४८ अक्षरों वाला है। अड़सठ वर्ष से लेकर ४८ वर्ष पर्यन्त अर्थात् आयु के ११६ वें वर्ष तक इस शरीर का सायं-सवन समझना चाहिये। तृतीय सवन के आदित्य देवता है।

शौनकजी ने कहा—"इस शरीर में आदित्य की समता किससे की गयी है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आदित्य शब्द का अर्थ है जो सबको चारों ओर से ग्रहण करे (इदं शब्दादिजातम्-आददते-इति-आदित्यः) सो ये प्राण ही आदित्य हैं। ये ही इन शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श आदि विषय समूहों को ग्रहण करते हैं। अतः ६८ वर्ष से लेकर ११६ वें वर्ष के बीच में पुरुष को कोई रोगादि कष्ट दे तो उसे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—"हे मेरे प्राण रूप आदित्यगण! मेरे इस तृतीय सवन को आयु के साथ एकी-भूत कर दो। अर्थात् ११६ वर्ष की आयु पर्यन्त मुझे रोग शोक आदि को कष्ट न हो यज्ञ स्वरूप वाला जो मैं हूँ, वह ११६ वर्ष के मध्य में अर्थात् प्राण रूप आदित्यों के काल में नष्ट न होऊँ। अर्थात् ११६ वर्ष पर्यन्त मृत्यु को प्राप्त न होऊँ। इस प्रकार जो यज्ञ के तीनों सवन स्वरूप आत्मयज्ञ की उपासना करता है, ऐसा उपासक कष्टों से छूट जाता है और पूर्णायु पर्यन्त नीरोग हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस आत्म यज्ञोपासना करके किसी ने पूर्णायु नीरोगता व्यतीत भी की है क्या?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! की न होती, तो भगवती श्रुति इसकी आज्ञा ही क्यों देती। इतरा के पुत्र ऐतरेय महामुनि ने जो महिदास के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, वे इस पुरुषयज्ञ विद्या के ज्ञाता थे। एक बार किसी रोग ने आकर उन्हें कष्ट दिया। तब वे रोग से गर्जकर निर्भय होकर बोले—"अरे, ओ रोग ! तू मुझे क्यों कष्ट दे रहा है, तू सोचता होगा, मैं रोग से पीड़ित करके इन्हें मार डालूँगा।" देख मैं तेरे द्वारा कदापि मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि मैं आत्मयज्ञोपासना का ज्ञाता हूँ। मेरी पूर्णायु पर्यन्त मुझे कोई भी रोग मार नहीं सकता।" उनकी ऐसी दृढ़ निष्ठा और आत्मयज्ञोपासना के प्रभाव से वे एक सौ सोलह वर्ष पर्यन्त जीवित रहे थे। इसलिये जो भी इस उपासना को जानकर इसका आचरण करता है। वह निश्चय ही ११६ वर्ष तक जीवित रहता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने आत्मयज्ञोपासना कही, आगे मैं पुनः अक्षयफल देने वाली आत्मयज्ञोपासना को कहूँगा। आशा है आप इसे ध्यान पूर्वक श्रवण करेंगे।"

छप्पय

(१)

मध्यन्दिन जो सवन छन्द जगती है ताकी।
अक्षर चौवालीस वर्ष सीमा है वाकी॥
देव रुद्र ही प्राण रुवावें सब प्राणिनिकूँ।
जामें होवे रोग रुद्र विनवे प्राणनिकूँ॥
रुद्र ! मध्यदिन सवन कूँ, तृतिय सवन में बदल दें।
कबहूँ नष्ट होऊ नहीं, तन निरोगता तुरत दें॥

(२)

तीसर सायंसवन छन्द जगती ताकी है।
अक्षर अड़तालीस वर्ष अवधी वाकी है॥
देव कहे आदित्य प्राण आदित्य कहावैं।
जामें होवै रोग विनय करि देव मनावैं॥
प्राणरूप आदित्यगण, तृतिय आयु में बदल दें।
नहीं नष्ट इहि सवन में, ऐसी आशिश आपु दें॥

(३)

एतरेय महिदास आत्म विद्या के ज्ञाता।
करि उपासना आत्म भये रोगनि के त्राता॥
रोगनि तैं तिनि कही—देउ संताप न हमकूँ।
हौं तुम तैं नहि मरूँ भगाऊँ अबई तुमकूँ॥
दृढ़ निश्चय ऐसो करयो, जीये सोलह बरस शत।
करि उपासना जिये नर, बरस सोलह और शत॥

—:—

आत्मयज्ञ के अक्षयादि फल देने वाले शेष अङ्ग

[१४८]

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः॥*

(छां० उ० ३ प्र० १७ ख० १ मं)

छप्पय

यज्ञ माहिँ मुनि कही प्रथम दीक्षा तन में जो।
उदासीनता भूख प्यास दीक्षा सम है सो॥
खान, पान रति सदृश कहावें उपसद सबई।
हँसे, खाय, जो मिथुन होइ स्तुत शस्त्र सरिसई॥
करे तपस्या दान बहु, सत्य वचन अरु सरलता।
जीवनि की हिंसा नहीं, पाइँ दक्षिणा साम्यता॥

यज्ञों में कुछ प्रधान कर्म होते हैं—जैसे यज्ञ अभी किया नहीं, यज्ञ करने का विचार दृढ़कर लिया। यज्ञ के समस्त संभार एकत्रित कर लिये, ज्योतिषी को बुलाकर मुहूर्त निकलवा लिया। फिर यजमान संकल्पपूर्वक यज्ञ की दीक्षा लेता है। दीक्षा में समस्त शास्त्रीय सदाचारों का पालन करता है। एक बार भूख प्यास सहकर परिमित सात्विक आहार किया जाय, मृगचर्म ओढ़

---

* इस पुरुष को जो भूख लगती है, प्यास लगती है, उदासीन रहता है, वही मानों आत्म यज्ञ की दीक्षा है।

कर मृग का सींग हाथ में धारण करके बैठा जाय। भूमि पर शयन किया जाय। पत्नी के साथ रहने पर भी दृढ़ता से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय। किसी पर कभी क्रोध न करे आदि-आदि बहुत से कठोर नियमों का यज्ञ में दीक्षा लेने वाले दीक्षित यजमान को पालन करना पड़ता है।

यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार ऋत्विक तो प्रधान होते हैं। १२ इनके सहायक कार्यकर्त्ता ऋत्विक् होते हैं। वे सब उपसद कहलाते हैं। उन्हें केवल दुग्ध पान करके यज्ञीय कार्य करना पड़ता है। उपसद यज्ञ की तीन इष्टियों का भी नाम है। किन्तु यहाँ उपसद दुग्ध पान करके रहने वाले कार्यकर्ता ऋत्विजों से ही अभिप्राय है।

यज्ञ में जो होता, उद्गाता, और अध्वर्यु जिन वेद मन्त्रों का गान करते हैं, वे शस्त्र, इज्या स्तुति स्तोम और प्रायश्चित्त कहलाते हैं। सामवेद का गायन करने वाला जिन ऋचाओं का गान करता है, वे स्तुति कहलाती हैं, जिनका गान उद्गाता न करके अन्य वेदों वाले ऋत्विज गाते हैं वे शस्त्र कहलाते हैं।

यज्ञों में दक्षिणा भी प्रधान कर्म है। यज्ञ के सकुशल सम्पन्न हो जाने पर यजमान परम प्रमुदित होकर परम उदारता के साथ यज्ञकर्ताओं को विपुल दक्षिणा देकर हर्षित होता है और ऋत्विज भी यथेष्ट दक्षिणा पाकर परम आह्लादित होते हैं। दक्षिणा का काल दोनों ओर से परम सुखप्रद होता है।

यज्ञों में यज्ञानुष्ठान कर्म होता है जैसे सोम याग में सोम को तैयार करने के लिये सोम वल्ली आदि को लाना, उसे कूट-कूटकर उसका रस निकालना। फिर रस को निकालकर उसे यज्ञ स्थान में लाकर रखना है। फिर देवताओं को सोमपान कराते हैं।

जब यज्ञ सम्पन्न हो जाता है, तब यज्ञ के सब कृत्यों के

अनन्तर यजमान ऋत्विज् सभ्य सदस्य तथा परिवार आदि के सभी स्वजनों सहित, गाजे बाजे के साथ जलाशय तीर्थ स्थान में जाकर यज्ञान्त अवभृत स्नान करता है। इस अवभृत स्नान का यज्ञों में बड़ा महत्व होता है। इस स्नान में सम्मिलित होने वाले सभी लोगों को पुण्य प्राप्त होता है। अतः यज्ञों में दीक्षा धारण करना यज्ञ का प्रथम कर्म है और अवभृत स्नान अन्तिम कर्म है। इनकी पुरुष शरीर में समता करके अक्षयादि फल देने वाली आत्म यज्ञोपासना का ही पुनः वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! पिछले प्रकरण में मैंने पुरुष की यज्ञ रूप मे उपासना का वर्णन किया। अब इस आगे के प्रकरण में यज्ञ की अवशिष्ट अन्य अंगों के साथ पुरुष की यज्ञरूप में उपासना का वर्णन करता हूँ।"

यज्ञों में सर्वप्रथम प्रधान कर्म यज्ञ की 'दीक्षा' होती है। इस पुरुष शरीर में दीक्षा क्या है? पुरुष को जो भूख लगती है, प्यास लगती है। समय पर भोजन न मिलने से, समय पर पेय पदार्थ न मिलने से जो मन में एक प्रकार की अप्रसन्नता, उदासीनता आ जाती है, वही मानों इस पुरुष शरीर में दीक्षा है। उस उदासीनता, अप्रसन्नता को ही आत्मयज्ञ की दीक्षा समझे।

यज्ञों में जो यज्ञ के कार्यकर्ता हैं, वे उपसद कहलाते हैं। इस शरीर में समय पर अनुकूल भोजन मिलने पर उसे तृप्ति पूर्वक खा लेना, अनुकूल पान पदार्थ प्राप्त होने पर प्रसन्नता पूर्वक उन्हें पी लेना। अपनी धर्मपत्नी में ऋतुकाल में रति सुख का अनुभव करना ही मानों यज्ञ के उपसदों के समान है। इन कर्मों में यज्ञीय उपसदों की भावना करे।

यज्ञों में उद्गाता के मुख से स्तुत-सामगायन के मन्त्र सुनकर-तथा अन्य ऋत्विजों के मुख से शस्त्र-साम के अतिरिक्त

अन्य मंत्र सुनकर जो प्रसन्नता होती है। इस मानव शरीर में वैसी ही प्रसन्नता खिलखिलाकर हँसने से, अनुकूल पदार्थों के भक्षण से, तथा धर्मपत्नी में मैथुन से होती है। अतः इन कर्मों में स्तुत-साम गायन, शस्त्र-अन्य मन्त्रों के गायन की भावना करे।

यज्ञों में दक्षिणा देकर लेकर यजमान तथा ऋत्विजों को प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार इस शरीर में धर्म की पुष्टि के निमित्त जो तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य वचन इन सद्-गुणों का आचरण किया जाता है, इन्हीं सत्कर्मों की यज्ञ की दक्षिणा के साथ तुलना की गयी है। क्योंकि पुरुष को इन कर्मों के करने से इस लोक में तथा परलोक में भी सुख की प्राप्ति होती है।

पहिले तपस्या को ही ले लीजिये। एक व्यक्ति को दंड स्वरूप एक दिन भोजन न दिया जाय, तो उसे भूख के कारण कितना कष्ट होता है। वही उपवास स्वेच्छा से-धर्म पालन पूर्वक लम्बे से लम्बा किया जाय, उसमें करने वाले को आन्तरिक प्रसन्नता होती है, लोग प्रसन्नतापूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायण, पराक आदि व्रतों को करते हैं। अतः स्वेच्छा से-प्रभु प्रीत्यर्थ-धर्म भावना पूर्वक जो शरीर को तपाते हुए शास्त्रानुकूल व्रत उपवास किये जाते हैं उन्हें तप कहते हैं। तपस्या द्वारा सभी कुछ संभव है, तपस्वी सब कुछ कर सकने में समर्थ होता है।

तपस्या से भी बढ़कर महत्त्व, दान का है। पैसा सरलता से प्राप्त नहीं होता, प्राणों का पण लगाकर पैसा मिलता है। प्रत्येक व्यापार में प्राणों का पण लगाना पड़ता है। व्यापारी पोतों पर चढ़कर समुद्र के उस पार जाते हैं। कब समुद्र में तूफान आ जाय, कब दस्यु का दल आकार आक्रमण कर ले, कब अपने ही साथी लोभवश विष दे दें। इन सब संभावनाओं के रहते हुए भी

व्यापारी प्राणों पर खेलकर सात समुद्र पार पैसा पैदा करने जाता है। घर वालों को और स्वयं भी उसे लौटने में सन्देह है। भाग्य-वश घाटा नहीं हुआ लाभ ही हुआ सकुशल लौटकर घर आ गया। पैसा पैदा कर लाया। उस इतने कष्ट से न्यायोर्जित पैसे को क्लेश में पड़े हुए विद्वान् ब्राह्मण को श्रद्धा पूर्वक दान कर देता है। अथवा उसकी आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ प्रसन्नता से देता है। या किसी भी दीन दुखी दरिद्र की मुक्त हस्त से सहायता करता है। इससे बड़ा त्याग और क्या होगा। अतः सत्पात्र को न्यायोर्जित द्रव्य देना सबसे श्रेष्ठ कर्म है।

दान से भी बढ़कर आर्जव है। आर्जव मृदुता कोमलता तथा समता को कहते हैं। चाहें अपना सगा पुत्र हो, मित्र हो, धर्म-पत्नी हो अथवा अपना शत्रु ही क्यों न हो, शत्रु की बात तो पृथक, अपना आपा ही क्यों न हो। सब में जो समभाव रखता है। मन में विषमता आने ही नहीं देता इसी साम्यभाव का नाम आर्जव है। सबके साथ समानता का व्यवहार करे।

आर्जव से भी बढ़कर अहिंसा गुण है। किसी भी प्राणी को मन से, वचन से, तथा कर्म से पीड़ा न पहुँचाने का नाम अहिंसा है। हिंसा सबसे क्रूरकर्म है। वेद विधि से अतिरिक्त जो मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किसी को भी किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाया जाय अथवा शरीर से उसके प्राणों का वियोग करा दिया जाय, इसी का नाम हिंसा है। इसे न करने का ही नाम अहिंसा है। अहिंसक के समीप स्वाभाविक वैर वाले अपने वैर भाव को त्याग देते हैं। यही अहिंसा धर्म की विशेषता है।

अहिंसा से भी श्रेष्ठ गुण सत्य भाषण है। सत्य से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है। जो जैसा देखा सुना है, उसे बिना किसी प्रकार के लगाव लपेट के प्रकट कर देने का ही नाम सत्य भाषण

है। विना छल, कपट बनावट के जो जैसी बात हो, उसे कहना सत्य भाषण है। अथवा सत्य स्वरूप एकमात्र भगवान् ही हैं। मुख से सदा सर्वदा भगवान् के ही नाम का उच्चारण करते रहना यह भी सत्य भाषण का अर्थ है। ऐसे सत्य के समान सहस्रों अश्वमेध यज्ञ भी नहीं हो सकते। सत्य सबसे बढ़कर, सबसे उत्कृष्ट, सबसे श्रेष्ठ धर्म है।

इन सद्गुणों से बढ़कर और उत्तम दक्षिणा क्या हो सकती है। अतः इन सद्गुणों में ही दक्षिणा की भावना करे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आत्मयज्ञ के अन्य अवशिष्ट अंगों का वर्णन किया। अब इस उपासना का फल क्या है। इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पुनर्जन्म जो देह यज्ञ अनुष्ठान कहावै।
होइ देह को अन्त न्हान अवभृत कहलावै॥
आत्म यज्ञ कूँ जानि उपासन सतत करै जो।
दिव्य अलौकिक महापुण्य फल पावै नर सो॥
मानुस की तो का कथा, कृष्ण देवकी तनय हू।
करि उपासना तृप्ति अति, भये परम सन्तुष्ट हू॥

—❀—

आत्मयज्ञोपासना की उत्कृष्टता तथा फल

(१४९)

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसँशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥❀

(छां० उ० ३ प्र० १७ ख० ६ मं०)

छप्पय

घोर आंगिरस आत्म-यज्ञ श्री कृष्ण सुनायो।
भये तृप्त फिरि विद्या अन्य न चित्य चलायो॥
अन्त काल में मन्त्र तीनि जप करि सुख पावै।
अक्षित, अच्युत, अतिहि-सूक्ष्म प्राणहिँ नित ध्यावै॥
कहीं ऋचा द्वै वेद की, प्रथम भाव पहिले कहैं।
दिव्य प्राप्त परकाश पर-ब्रह्म तेज सब एक हैं॥

❀ उसी आत्मयज्ञ को अङ्गिरा गोत्र में उत्पन्न घोर ऋषि ने देवकी नन्दन श्री कृष्णचन्द्र जी को सुनाया था जिससे वे अन्य विद्याओं के प्रति पिपासा हीन हो गये। अन्तिम वेला में तीन मन्त्रों का जप करना चाहिये। ऐसा कहा था—वे तीन ये हैं। तुम अक्षय हो, तुम अच्युत हो और तुम ही अतिसूक्ष्म प्राण हो। इस विषय की दो वैदिक ऋचायें हैं।

वास्तव में आत्म उपासना में दृढ़ निश्चय हो जाय, तो फिर जीव का जीवत्व ही नष्ट हो जाय, उसे फिर नाना योनियों में भटकना ही न पड़े। एक शैव भक्त ने शिवजी की मानसिक पूजा के प्रकरण में कहा है—"हे मेरे त्रिपुरारी! भोले भाले शंकर! तुम कहीं अन्यत्र थोड़े ही हो, तुम तो भगवती पार्वती के सहित आत्मभाव से मेरे शरीर में ही विराजमान हो। तुम आत्मस्वरूप हो। आत्मा रूप से आप तन में निवास करते हो। तुम्हारी अर्धाङ्गिनी गिरिराज कुमारी सुकुमारी पार्वती, मति रूप में बुद्धि बनकर विराजमान हैं। मेरे प्राण ही आपके नन्दी भृङ्गी आदि गण हैं। यह शरीर, शरीर नहीं है यह तो आपके रहने का मन्दिर कैलाश ही है। विषय भोगों की नाना प्रकार की रचना ही आप की पूजा है। निद्रा ही मानो आपकी योग समाधि है। यह जो शरीर का चलना फिरना है मानों यही आपकी परिक्रमा है, जितने जो शब्द बोले जाते हैं, वे ही आपके विनती के स्तोत्र हैं। इस प्रकार हे शम्भो! मेरे द्वारा जो-जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सब आपकी आराधना ही तो हैं।"

यह कितनी दिव्य आत्मोपासना है। अहङ्कार से विमूढ़ बना जीव अपने को कर्ता मानने लगता है, जो कर्ता मानेगा उसे कर्मों का फल भी भोगना पड़ेगा। जिसे कर्तापने का अभिमान नहीं। जो सबको प्रभु की आराधना ही मानता है, अपने को अक्षय, अच्युत, अतिसूक्ष्म प्राण अनुभव करता है। सब कर्मों को प्रभु पूजा ही अनुभव करता है। उसको बन्धन कैसे हो सकता है, उसे तृष्णा कैसे दुःख पहुँचा सकती है, पिपासा उसके समीप कैसे फटक सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने अक्षयादि फल देने वाली आत्मारूप यज्ञ की उपासना का वर्णन किया। यज्ञ के जितने अंग

हैं उनकी शरीर की क्रियाओं से तुलना करके उनकी उपासना बनायी। यज्ञ में एक यज्ञानुष्ठान होता है। अर्थात् हम यज्ञ करने वाले हैं, हम यज्ञ कर चुके। अर्थात् अनुष्ठान नहीं किया है उसका करने का संकल्प और अनुष्ठान पूर्ण हो गया, उसकी परिसमाप्ति कर्तृत्व सम्बन्धी परितृप्ति। जैसे स्त्री के गर्भवती होने पर सब लोग कहते हैं। यह सन्तान उत्पन्न करने वाली है। जब सन्तान उत्पन्न हो जाती है। तो कहते हैं—"यह सन्तान उत्पन्न कर चुकी। इसी प्रकार यज्ञों में कहते हैं अमुक ऋत्विज् सोम रस तैयार करेगा, जब वह सोमवल्ली को कूटकर उससे रस निकाल चुकता है, तब कहते हैं, उस ऋत्विज् ने सोम रस तैयार कर लिया। यह जो यज्ञानुष्ठान लक्षण है उसकी समता पुनर्जन्म से है। पुनर्जन्म शरीर का ही तो होता है। आत्मा तो, न मरता है, न जन्म लेता है। सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीर का परित्याग करके अन्य स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। फिर पूछते हैं तब मरण की समता किससे की जाय।

मरण क्या है। पुराने वस्त्र को फेंककर नया वस्त्र धारण करने के सदृश ही मृत्यु है। (पुराने वस्त्र की परिसमाप्ति ही मृत्यु है।) यज्ञों में यज्ञ समाप्त होने पर जो दीक्षांत यज्ञ है, प्रधान याग समापक अपर यज्ञ है, यज्ञावशेष स्नान है उसी का नाम अवभृथ स्नान है। (अवभ्रियते अनेन=इति-अवभृथः) यज्ञों में जो न्यून अधिक दोष हो जाते हैं, उन दोषों की शान्ति के निमित्त जो शेष कर्तव्य होम है उसके अनन्तर अंतिम स्नान है वही अवभृत स्नान है। इस शरीर में उसकी तुलना मृत्यु से की गयी है। यही आत्म यज्ञ है। इससे ऐसा फल प्राप्त होता है, जिसका कभी क्षय नहीं होता।

शौनकजी ने पूछा—"इस उपासना को सूतजी! किसी ने किया भी है?"

सूतजी ने कहा—"हाँ भगवन्! किया क्यों नहीं भगवती श्रुति ने ही बताया है, कि महर्षि अंगिरा जो ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए थे, जिनका विवाह महामुनि कर्दम की पुत्री श्रद्धा से हुआ था, जिनके उतथ्य और बृहस्पति दो पुत्र थे, सिनीवाली, कुहू और राका तीन पुत्रियाँ थीं। उन्हीं अंगिरा महर्षि के वंश में एक घोर नामक ऋषि हुए हैं। उन्होंने इस आत्मविद्या को देवकी नन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी को दिया था। इस विद्या को प्राप्त करके श्रीकृष्ण को फिर अन्य किसी भी विद्या के प्राप्त करने की तृष्णा नहीं रही। उनकी अन्य विद्याओं की पिपासा शान्त हो गयी, वे तृष्णाहीन बन गये। इस विद्या को जानने वाले को अन्त में तीन मन्त्रों का जप करना चाहिये, ऐसा घोर ऋषि का कथन है।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन मंत्र कौन-कौन हैं और उनका भाव क्या है?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! पहिले मंत्र का भाव तो यह है कि—'तू अक्षित है अर्थात् तेरा कभी क्षय नहीं हो सकता।'[1] दूसरे मंत्र का भाव है—'तू कभी भी च्युत न होने वाला अच्युत है।'[2] तीसरे मन्त्र का भाव है—'तू अत्यंत सूक्ष्मप्राण है। प्राण संशित है।'[3] इन तीन मन्त्रों का अंतिम समय में—मरणकाल उपस्थित होने पर—जप करना चाहिये। इनके जप से अक्षय अच्युत और सूक्ष्माति सूक्ष्म हो जाता है।

इसकी महिमा के सम्बन्ध की ऋग्वेद में दो ऋचायें हैं। इन ऋचाओं को भी बताते हैं।

---

१ अक्षितमसि।

२ अच्युतमसि।

३ प्राणसंशितमसि।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ऋग्वेद की जिन दो ऋचाओं को आप बतावेंगे क्या उनका भी जप करना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, भगवन् ! जप करने की तो वे तीन ही ऋचायें हैं। ये दो ऋचायें तो आत्मयज्ञ उपासना की महिमा की हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"आत्मयज्ञ उपासना की महिमा की वे ऋग्वेद की दो ऋचायें कौन-कौन-सी है ? उनका भाव क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"एक का भाव तो यह है, कि आदि जो पुरातन रेत है–बीजभूत ब्रह्म है–उसकी ज्योति को–प्रकाश को–(विद्वान् लोग) देखते हैं। वासरम् (वत्) अर्थात् जैसे दिन के प्रकाश को सभी लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। वह ज्योति परब्रह्म में स्थित परमतेज देदीप्यमान है।'

दूसरी ऋचा का भाव यह है। अज्ञानरूप अन्धकार से ऊपर जो उत्कृष्ट प्रकाश है, उसे सम्यक् प्रकार से देखते हुए, सबसे उत्कृष्ट स्वर्ग को देखते हुए हम समस्त देवताओं में प्रकाशमान सूर्य ज्योति को जो सर्वोत्तम है उसे प्राप्त होवें।[२]

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार जो इस आत्मयज्ञ उपासना के अक्षय फल को समझकर इसकी उपासना करता है और अन्त में पीछे बतायी तीन ऋचाओं का जप करता है, उसे अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है। यह मैंने आत्म यज्ञोपासना की उत्कृष्टता तथा उस फल का वर्णन किया अब मन को ही ब्रह्म

---

१ यादिदप्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम।
परो यदिध्यते दिवि ॥

२ उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं स्व पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

मानकर अध्यात्म दृष्टि से चतुष्पाद ब्रह्म की, तथा आकाश को ही ब्रह्म मानकर आधिदैवत दृष्टि से जैसे ब्रह्म की उपासना की जाती है, इस विषय का वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब इस विषय को समाहित चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

द्वितिय ऋचा को भाव कहे तमतैं अतीत जो।
उत्तम ज्योति निहारि परम उत्कृष्ट स्वर्ग जो॥
सब देवनि तैं श्रेष्ठ परम उत्तम प्रकाश वर।
उत्तम ज्योति स्वरूप तेज कूँ प्राप्त करें नर॥
अक्षय फल जो देत है, आत्म यज्ञ सबतैं उपरि।
पाइं उपासक ज्योति पर, उपासना इहि भाँति करि॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
सत्रहवाँ खण्ड समाप्त।

मन की अध्यात्मरूप से, आकाश की आधिदैवतरूप से ब्रह्मोपासना

[१५०]

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥❀

(छा० उ० ३ अ० १८ खं० १ मं०)

छप्पय

ब्रह्म मनहिं कूँ मानि करै अध्यात्म उपासन ।
आकाशहि है ब्रह्म कही अधिदैव उपासन ॥
करण, प्राण, अरुवाक, चक्षु यह चारि पाद मन ।
अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा–आकाश ब्रह्म धन ॥
वाक् ब्रह्म को पाद यह, दीप्त अग्नि तैं ही कहै ।
ब्रह्मतेज, यश, कीर्ति अरु, परम प्रकाशहिं नर लहै ॥

शास्त्र का एक वचन है, सहज वृत्ति में स्थित रहकर बिना किसी साधना के–यह अनुभव करे, गुण गुणों में वरत रहे हैं, मैं इन गुणों से परे गुणातीत, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप हूँ ऐसा सदा अनुभव होता रहे यह प्रथम साधना है ।

❀ मन को ब्रह्म मानकर उपासना करे यह अध्यात्म दृष्टि है । अब आधिदैवत दृष्टि बताते हैं, आकाश ही ब्रह्म है । यह आधिदैवत है । इस प्रकार अध्यात्म और आधिदैवत दोनों को ही कहा गया ।

द्वितीय साधना है, कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार से शरीर को विशुद्ध बनाकर यम नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए ध्यान धारणा द्वारा समाधि सुख का अनुभव करते रहना।

तृतीय साधना यह है, कि समस्त संसारी विषयों से उपरत रहकर केवल भगवान् के श्री विग्रहों की सेवा में ही सतत संलग्न बना रहे। सेवा पूजा के संभारों को–प्रभु की पूजा की सामग्रियों को–जुटाने में उनकी अष्टयाम की पूजा में ही समस्त शरीर की क्रियाओं को लगा दे।

चतुर्थ साधना यह है, कि घर गृहस्थी के समस्त कार्यों को छोड़कर, घर-द्वार, कुटुम्ब, परिवार की सभी प्रकार की चिंताओं का परित्याग करके, बिना किसी प्रकार का संग्रह किये, निष्किंचन बनकर पुण्य तीर्थों की पैदल यात्रा करता रहे। भूख-प्यास, शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख सबको समान मानकर सभी को सहन करते हुए पुण्यतीर्थों की यात्रा में ही लगा रहे। जहाँ भी सायंकाल हो जाय वहीं सो जाय, जो भी कुछ प्रारब्ध वशात् भोजन मिल जाय, उसी को खा ले। जो भी जैसा भी वस्त्र मिल जाय उसी को धारणकर ले। दिन भर चलते-चलते शरीर को थका डाले, इस प्रकार तितिक्षा द्वारा पुण्यतीर्थों की यात्रा करता रहे।

इन समस्त साधनों का एक ही उद्देश्य है। अनित्य, नाशवान्, क्षणभंगुर, शरीर का मोह छोड़कर नित्य, अविनाशी शाश्वत परब्रह्म में अपने मन को लगा देना। इन चारों प्रकार के साधनों में उत्तरोत्तर स्थूलता से उठकर सूक्ष्मता की ओर जाना है।

जीव प्रारब्धवश इधर-उधर भटकता रहता है, चारों धामों में परमात्मा को खोजता फिरता है। नाना वस्तुओं में सुख को ढूँढ़ता फिरता है। नहीं तो वास्तविक बात तो यह है, कि भगवान्

तो सबके हृदय में विराजमान हैं। यह शरीर भगवान् का मन्दिर है। इसमें भगवान्-ही भगवान् हैं। सुख वस्तुओं में नहीं है। सुख तो प्रेम में है, प्रेम कहीं बाहर भरा हुआ नहीं है। प्रेम का स्रोत तो अपने भीतर ही है। प्रेम की अजस्र धारा तो हृदय की गुफा में फूट रही है। प्रेम और कोई दूसरी वस्तु नहीं। उन प्रभु का ही नाम प्रेम है। हरि को ही प्रेम कहते हैं। धूप कहो, सूर्य कहो एक ही बात है। प्रेम कहो, प्रभु कहो, हरि कहो, परमात्मा कहो, परब्रह्म कहो सब एक ही वस्तु है। उसे खोजने बाहर मत भटको, बाह्य पदार्थों में उसे मत खोजो, दृष्टि को भीतर की ओर करो। यह भटकने वाला मन ही ब्रह्म है। इस मन की ही उपासना करो। जिस आकाश में ये सब पदार्थ भरे हैं, वह आकाश ही ब्रह्म है। चाहें आकाशरूप में चाहें मन के रूप में उसकी उपासना करो, वह परब्रह्म वहीं तुम्हें छिपा हुआ मिल जायगा। जिस सुख की खोज में तुम इधर-उधर भटक रहे हो, वह तुम्हें इस शरीर के भीतर ही प्राप्त हो जायगा ? क्यों भटकते हो, क्यों बाहरी प्रयास करते हो, तनिक नेत्रों को मींच लो, बाहर से खींचकर दृष्टि को भीतर की ओर ले जाओ। अन्तर दृष्टि होते ही मन में छिपे मनमोहन हँस पड़ेंगे। लुका छिपी के खेल में हृदयांधकार में छिपे हुए श्यामसुन्दर प्रकाश होते ही प्रकट हो जायँगे। इस चोर मन की ही शरण में जाओ। इसी को ध्यान से देखो, यही अपना सद्भवेष त्यागकर मनमोहन बन जायगा। यही ठठाका मारकर हँसी के शब्द से बन्द हुए सुख के स्रोत को खोल देगा, उसी में अवगाहन करके तुम परम सुख-निरतिशय आनन्द का अनुभव करने लगोगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आत्मयज्ञोपासना के अनन्तर मन और आकाश में अध्यात्म और आधिदैविक दृष्टि से उपा-

सना बतायी जाती है। अध्यात्म उसे कहते हैं जो आत्मा को ही अधिष्ठित मानकर कार्य किया हो। आधिदैवत उसे कहते हैं, जो देवताओं को ही अधिष्ठित मानकर कार्य किया जाय और आधिभौतिक उसे कहते हैं, जो पृथ्वी, जल, तेज आदि भूतों को ही अधिष्ठित मानकर कार्य किया जाय। यहाँ प्रकरण उपासना का है, अतः पहिले अध्यात्म दृष्टि से ही उपासना बताते हैं।"

जिससे प्राणी मनन करता है, अन्तःकरण की उस वृत्ति का नाम मन है। कहीं मन से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों का ग्रहण होता है, कहीं मन से केवल मनन करने वाली वृत्ति ही ली जाती है। वास्तव में तो अन्तःकरण एक ही है। जब वह मनन करने लगता है तब उसकी मन संज्ञा हो जाती है, जब चिंतन करता है तब उसी को चित्त कहते हैं, वही जब निश्चय करता है, बुद्धि के नाम से बोला जाता है, और जब अहंकृति करता है, तो उसी का नाम अहंकार पड़ जाता है। मन के ही द्वारा ब्रह्म की उपलब्धि होती है। दुःख और सुख का कारण मन ही है। अतः उस मन को ही ब्रह्म मानकर उपासना करनी चाहिये। अन्तःकरण अत्यन्त सूक्ष्म है अतः यह मन की उपासना अध्यात्म उपासना है।

मन भीतर का अन्तः का करण–इन्द्रिय–है इसीलिये इसे अन्तःकरण–भीतर की इन्द्रिय–कहते हैं। आकाश मन से स्थूल है। आकाश देवता है अतः आकाश को ब्रह्म मानकर की जाने वाली उपासना आधिदैवत उपासना है। यहाँ अध्यात्म दृष्टि से तथा आधिदैवत दृष्टि से दोनों ही दृष्टियों से उपासना का वर्णन है। मन स्वयं तो कुछ करता नहीं, केवल आज्ञा देता है, दूसरों से कार्य कराता है। जैसे राजा स्वयं युद्ध स्थल में जाता भी नहीं, उसकी सेना युद्ध करती है, जय-पराजय राजा की ही

है। क्योंकि सेना राजा का अंग है। जैसे वृषभ स्वयं नहीं चलता पैरों के द्वारा चलता है, पैर उसके शरीर के अंग है। जैसे धर्म-रूप वृषभ के चार पैर होने से वह चतुष्पाद कहलाता है, उसी प्रकार यह मन संज्ञक ब्रह्म भी चतुष्पाद है।

शौनकजी ने पूछा—"मन संज्ञक ब्रह्म के चार पाद कौन-कौन हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जैसे धर्मरूप वृष के तप, शौच, दया और सत्य ये चार पाद होते हैं, वैसे ही मनरूप ब्रह्म के वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत ये चार पैर हैं। वाक् कहने से समस्त कर्मेन्द्रियाँ आ गयीं। प्राण कहने से दश प्राण और चक्षु श्रोत कहने से सभी ज्ञानेन्द्रियाँ आ गयीं। मन इन्हीं के द्वारा अपने समस्त कार्यों को करता है। यह तो अध्यात्म दृष्टि हुई।"

अब आधिदैवत दृष्टि से आकाश को ही ब्रह्म मानकर उपासना करनी चाहिये। पंचभूतों में आकाश अत्यन्त ही सूक्ष्म भूत है। पृथ्वी स्थूलभूत है। पृथ्वी की सभी इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार होता है। पृथ्वी का अपेक्षा जल सूक्ष्म है, जल सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होता वह कूप, तालाब बावड़ी, नदियों और समुद्रों में ही दृष्टिगोचर होता है। प्राणियों के शरीर में भी जल होता है किन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं होता, जल की अपेक्षा तेज सूक्ष्म है। वह सर्वव्यापक होने पर भी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अग्नि तथा जल में ही दीखता है। रात्रि के अन्धकार में इन्द्रियाँ उसका साक्षात्कार नहीं कर सकतीं। तेज से वायु सूक्ष्म है। स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियाँ उसका साक्षात्कार नहीं कर सकतीं। वायु से भी सूक्ष्म आकाश है। वह किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता, अनुमान से ही जाना जाता है। यह दैव अत्यन्त सूक्ष्म है। यह भी चार पैर वाला है।

शौनकजी ने पूछा—"आकाश ब्रह्म के चार पैर कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"अग्नि, वायु, आदित्य और दिशायें ये ही इसके चार पैर हैं। अग्नि से पृथ्वी, जल, को समझना चाहिये। वायु से ४९ मरुत्गण, आदित्य से समस्त ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण और दिशा से दशों दिशाओं को समझना चाहिये। अग्नि, वायु, आदित्य और दिशायें ये सभी आकाश में व्याप्त हैं। आकाश इन्हीं चार पैरों द्वारा कार्य कराता है।"

शौनकजी ने पूछा—"चार मन ब्रह्म के और चार आकाश ब्रह्म के इस प्रकार ये तो आठ पैर हो गये ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप भी ज्ञानी होकर ऐसी बात कहते हैं। भगवन् ! पैर कहने से पाँच उँगली वाले पंजे ही थोड़े लिये जाते हैं। पंजा, टखना, जानु, उरु, नितंब ये सब पैरों के ही भाग हैं एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इसी प्रकार आकाश रूप ब्रह्म के अग्नि, वायु, आदित्य और दिशा रूपी पाद इनमें एकीभूत हैं। अध्यात्म दृष्टि और आधिदैव दृष्टि सब मिली-जुली है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मिले-जुले कैसे रहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जैसे वाक् ब्रह्म का चौथा पैर है, वह अग्नि रूप ज्योति से दीप्त रहता है, दोनों मिले जुले हुए न ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो आप गड़बड़-सड़बड़ कर रहे हैं। वाक् को आप मन रूप ब्रह्म का चौथा पैर कैसे बता रहे हैं ? पहिले तो आपने गिनाया था, वाक् पहिला पाद है, प्राण दूसरा पाद है, चक्षु तीसरा पाद है और श्रोत्र चौथा पाद है। अब आप वाक् को पहिला पैर न कहकर चौथा बता रहे हो, यह क्या बात है ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! गौ के पैरों में लिखा थोड़े ही रहता है, कि यह पहिला पैर है, यह दूसरा पैर है, यह तीसरा या चौथा पैर है। चौथापन तो अपेक्षाकृत है। तीन की अपेक्षा सभी चौथे ही पैर हैं। अतः सभी को चौथा ही पैर कहा जायगा। ये परस्पर सटे कैसे हैं, इसे भी सुनिये। जैसे मन रूप ब्रह्म का चौथा वाणी है। मन वाणी द्वारा अपने भावों को व्यक्त करता है, कैसे करता है ? शरीर में जब तक उष्णता रहेगी, तभी तक वाणी निकलेगी। उष्णता जहाँ समाप्त हुई–जहाँ मनुष्य ठंडा पड़ा–उसकी बोलती बन्द हो जाती है। अतः भीतर की अग्नि रूप ज्योति से भासित उष्णता द्वारा ही वाणी का संचार होता है। जो जितना ही तेजस्वी होगा, उसकी वाणी भी उतनी ही तेजस्विनी उत्साहयुक्त होगी। तेजयुक्त पदार्थ–जैसे घृत, तैल शहद आदि से तेज बढ़ता है, वाणी में तेजस्विता आती है। अतः वाक् ब्रह्म का चौथा पाद अर्थात् एक पाद है। जो इस रहस्य को जानकर वाणी की अग्निरूप में उपासना करता है उसकी चारों ओर कीर्ति फैल जाती है उसके मुख पर लोग उसका जय जयकार करते हैं। उसकी पीठ के पीछे लोग उसके यश का गान करते हैं, पीठ पीछे भी प्रशंसा करते रहते हैं। वह ब्रह्मतेज के कारण देदीप्यमान होता है। वह परम तेजस्वी होता है। यह ब्रह्म के एक पाद की अध्यात्म तथा आधिदैवत उपासना हुई।

मन रूप ब्रह्म का चौथा पाद—अर्थात् तीनों की अपेक्षा जो प्राणरूप एक पाद है, वह आकाश ब्रह्म की वायु रूप ज्योति से प्रकाशित होता है। अर्थात् प्राण वायु का ही स्वरूप है। बाहर की वायु को पवन कहते हैं वही वायु शरीर के भीतर दशधा होकर संचार करती है, तो उसकी प्राण संज्ञा हो जाती है। प्राण और वायु परस्पर में संश्लिष्ट हैं मिले-जुले एक

ही हैं। जो इस रहस्य को जानकर दोनों की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, उसे कीर्ति, यश, ब्रह्मतेज तथा प्रभाव की प्राप्ति होती है।

मन रूप ब्रह्म का जो चौथा पाद—तीनों की अपेक्षा चक्षुरूप एक पाद है, वह आकाश ब्रह्म के एक पाद आदित्य ज्योति से प्रकाशित होता है। अर्थात् नेत्रों में की ज्योति और सूर्य की ज्योति दोनों एक ही हैं। सूर्य की ज्योति आँखों में न रहे तो आँखों के गोलकों के रहने पर भी—आँखें खुली होने पर भी—सूर्य के रहते हुए भी आँखें देख नहीं सकतीं। यदि सूर्य दिखायी न दें सूर्यास्त के समय आँखों में ज्योति होने पर भी कुछ दिखायी नहीं देगा। इससे सिद्ध हुआ सूर्य अपनी ज्योति को नेत्र में रखकर अपने ही द्वारा देखता है। वही दृश्य है, वही द्रष्टा है। सूर्य और चक्षु परस्पर में संश्लिष्ट हैं। मिले-जुले एक हैं। जो इस रहस्य को समझकर सूर्य और नेत्र की ब्रह्मभाव से उपासना करता है उसे यश, कीर्ति, ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है इनके द्वारा वह तपता है।

मन रूप ब्रह्म का चौथा पाद—अर्थात् तीन की अपेक्षा श्रोत्र रूप ब्रह्म एक पाद है। वह दिशारूप ज्योति से प्रकाशित है। अर्थात् दशों दिशाओं में अवकाश न हो, तो कान सुन नहीं सकते। शब्द श्रवण आकाश के बिना—दिशाओं के बिना सुना ही नहीं जा सकता। अतः जो ज्योति दिशाओं में व्याप्त है, वही कानों में व्याप्त है। दिशायें और श्रवणशक्ति परस्पर में संश्लिष्ट हैं, मिली-जुली हैं जो इस रहस्य को जानकर श्रोत्र की दिशा रूप में ब्रह्म मानकर उपासना करता है उसे कीर्ति, यश, ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने मन और आकाश रूप में ब्रह्म की उपासना बतायी, अब आगे आदित्य और

दृष्टि से ब्रह्म की अध्यात्म और आधिदैविक उपासना का वर्णन किया जायगा। यह उपासना इस तीसरे अध्याय की अन्तिम उपासना है। इसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

प्राण मनोमय ब्रह्म पाद चौथो अति दीपित।
वायु ज्योति तैं युक्त तपै है जाय प्रकाशित॥
श्रोत्र मनोमय ब्रह्मपाद चौथो बतलायो।
दिशारूप जो ज्योति प्रकाशित तपत कहायो॥
आधिदैव अध्यात्म यह, करि उपासना थिर रहै।
ब्रह्मतेज, यश, कीर्ति अरु, परम प्रकाशहिं नर लहै॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
अठारहवाँ खण्ड समाप्त।

ब्रह्माण्ड और आदित्य की ब्रह्मरूप से उपासना

[१५१]

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥*

(छा० उ० ३ अ० १९ ख० १ मं०)

छप्पय

आदित्यहि है ब्रह्म असत् जग सत् पुनि प्रकट्यो ।
अंकुर अंडा बन्यो बरष भरि यों ही निबस्यो ॥
फूट्यो चाँदी स्वर्ग खण्ड द्वै भये निराले ।
रजत बनी भू स्वर्ण स्वर्ग बनि अमरनि पाले ॥
अंड जराय पहाड़ सब, उल्ब मेघ कुहरा भयो ।
घमनि नदी जो बरित जल, सोई जलनिधि बनि गयो ॥

---

* आदित्य ही ब्रह्म है ऐसा आदेश है । उसका व्याख्यान यो है— पहिले यह असत् के सदृश था, फिर सत् होकर अंकुरित हुआ । अंडे के आकार का हो गया । संवत्सर पर्यन्त सोता रहा । तब फूट गया उससे दो खंड हो गये । एक चाँदी का खंड दूसरा सुवर्ण का खंड ।

पूर्वजन्मों के संस्कारों के कारण जीव व्यर्थ के मोह में फँस कर अपना हनन कर रहा है। जन्म मरण के चक्कर में पड़कर दुःख भोग रहा है। एक कोशकार कीड़ा होता है, वह मुख से सूत निकालकर अपने ही चारों ओर लपेटता रहता है, और उस चक्कर में स्वयं ही फँस जाता है। नहीं तो जीव रज वीर्य से पैदा हो जाते हैं। सोना, चाँदी मिट्टी ही हैं, लाल पीली सफेद मिट्टी की भाँति ये भी भूमि की खानों से निकलते हैं। पृथ्वी को न जाने कितने राजे महाराजे मेरी-मेरी कहकर मर गये। पृथ्वी किसी के भी साथ नहीं गयी। ये सब प्रकृति के विकार हैं। जीव अकेला आया है अकेला जायगा। पुत्र, परिवार, स्त्री, बच्चे, धन, पशु, भूमि, कीर्ति कोई भी साथ जाने वाली नहीं है। फिर भी जीव इन्हीं के मोह में पड़कर अपने जीवन को नष्ट कर रहा है। अरे, इन असत् पदार्थ में तुम क्यों मोह कर रहे हो। होने दो इन्हें नष्ट, जो नष्ट होने वाला है, वह नष्ट होगा। जिसने बनाया है, वही उसकी चिन्ता करेगा। तुम व्यर्थ में कर्ता न होकर भी कर्ता क्यों बनते हो। स्वामी न होते हुए भी स्वामीपने की टाँग क्यों अड़ाते हो। जीवन-मरण, सुख-दुःख, हानि-लाभ ये तो सब प्रकृति जनित द्वन्द्व हैं। तुम निर्द्वन्द्व ब्रह्म की शरण में जाओ। सृष्टि के कर्ता की शरण में जाओ उन्हीं की उपासना करो। जो सबको प्रकाश प्रदान कर रहा है। वह प्रकाश ही तो ब्रह्म है। अंधकार की उपासना करोगे-प्रकृति के पदार्थों में भटकोगे। प्रकाश को-ज्योति को-उपासना करोगे, प्रकाशमय बन जाओगे। सत् की उपासना करोगे, सत् हो जाओगे। असत् का चिन्तन करोगे, असत् हो जाओगे। इसलिये सत्-की उपासना करो, ज्योति की ओर बढ़ो। इसी का उपदेश भगवती श्रुति कर रही है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! सभी उपनिषद् बार-बार ज्योति

की उपासना को दुहरा रही है। यहाँ आदित्य को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना पर पुनः-पुनः बल दे रही है। भगवती श्रुति कहती है—आदित्य को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये। प्रश्न यह है, कि ये आदित्य कौन हैं? कैसे प्रकट हुए?

यह जो दृश्यमान जगत् है, यह पहिले असत् था, फिर सत् बन गया।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह आप कैसी बात कह रहे हैं। असत् भला सत् कैसे हो सकता है। असत् वस्तु का भाव नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता। असत् सदा असत् ही रहेगा। सत् सदा सत् ही रहेगा।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! असत् सत् के झगड़े में न पड़ें। यहाँ तो आप इतना ही जानें कि यह जो जगत् है, प्रलय के अन्त में असत्-सा दिखायी देता था, वह जीवों के कर्म भोगोन्मुख काल आते ही सत् अर्थात् सत्तावान् हो गया। कीचड़ जब सूख जाती है, तब उस कीचड़ में छिपे मेढ़क भी सूख जाते हैं। देखने में वे सर्वथा मृतक दिखायी देते हैं, जीवन का उनके शरीर में कोई लक्षण नहीं दीखता, किन्तु जब वर्षा से तालाब पानी से भर जाता है, तो मेढ़क पुनः जीवित होकर टर्र-टर्र करने लगते हैं। इसका अर्थ आप इतना ही समझें अव्यक्त से यह जगत् व्यक्त हो गया। निष्काम रूप में पड़ा जगत् कार्याभिमुख होकर कुल बुलाने लगा। पानी पड़ने पर जैसे मृतकवत् पड़े हुए बीज अंकुरित हो उठते हैं, उसी प्रकार यह असत् जगत् अंकुरित होकर हलचल युक्त हो गया। हलचल के पश्चात् गोल मटोल सिकुड़कर अंडाकार हो गया।"

शौनक जी ने पूछा—"जड़ से अंडा कैसे बन सकता है?"

सूतजी ने कहा—"जड़ चैतन्य वाली बात छोड़ दो। ब्रह्म ने ही अंडा का रूप रख लिया। इसीलिये उसका नाम ब्रह्म-अंड है। ब्रह्म ही अंडा बनकर ब्रह्माण्ड हो गया।"

शौनकजी ने कहा - भला ब्रह्म अंडा कैसे बन सकता है? वह तो निराकार, निर्गुण, निर्विशेष, निरञ्जन, नित्य उत्पत्ति नाश से रहित है। बनना उसमें कैसे संभव है?"

सूतजी ने कहा—"अब आगे कहने भी दोगे कि नहीं। अपनी ही बात कहते रहोगे। ब्रह्म को आप भी अपनी मनमानी परिभाषा में बाँधना चाहते हो। उसने निराकार, निर्गुण निर्विशेष नित्य निरञ्जन बनने का कोई पट्टा तो लिखा नहीं लिया है। वह किसी से भयभीत होने वाला नहीं वह सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ सब कुछ कर्ता, सर्व और परिपूर्ण विरुद्धधर्माश्रयी है। अतः असत् से सत् हो जाने में उसे कोई रोक नहीं सकता। बात को आगे बढ़ने दीजिये। यदि निर्गुण निराकार निरामय है। तो उपासना कैसी बनेगी? फिर तो मौन होकर बैठ जाइये। बैठना भी कैसे बनता है, व्यवहार में तो व्यवहार की ही भाँति वर्तना पड़ता है। यही समझो जो अब तक असत्-सा दीखता था वह अब सत्-सा होकर अण्डे के आकार में परिणित हो गया। बोलिये, आगे बढ़ूँ।"

शौनकजी ने कहा—"आप ने तो सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, विरुद्ध धर्माश्रयी कहकर हमारी बोलती ही बन्द कर दी। जब वह विरुद्धधर्माश्रयी है। सत् भी है और असत् भी है, तो अण्डा बन जाना कोई बड़ी बात नहीं। हाँ, कहिये अण्डे से बच्चा कैसे बना?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज! आपने अंडे में से बच्चा निकलते देखा है? अंडे के ऊपर एक लाल-सफेद छिलका होता

है। अंडे के ऊपर एक छोटा-सा छिद्र होता है। अंडा जब पक जाता है, तब अपने आप फूट जाता है। कच्चा अपने आप नहीं फूटता। अतः पकने के लिये यह अण्डा एक वर्ष पर्यन्त पड़ा रहा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! अभी तो काल का विभाग भी नहीं हुआ था। कोई दूसरा गिनने वाला भी नहीं था। यह किसने गणना की कि ३६० दिन हो गये ?"

यह सुनकर सूतजी खिलखिलाकर हँस पड़े। और बोले—"भगवन् ! जनता के हित के निमित्त आप कैसे छोटे-छोटे बच्चों के जैसे प्रश्न पूछ बैठते हैं। ब्रह्मन् ! एक वर्ष से यहाँ अभिप्राय ३६० दिन वाले वर्ष से नहीं है। वर्ष पूर्ण संख्या का वाचक है। इसका अभिप्राय इतना ही है, कि जितने समय की उसे अपेक्षा थी, जितने समय में वह पक सकता था, उतने पूर्णकाल तक पड़ा रहा। मानव शरीर में भी गर्भ १० महीने के लगभग में पकता है, उसकी भी वत्सर ही संज्ञा है, जो अंडे जितने समय में पकते हैं उनके लिये वही समय वत्सर है। कहिये, आगे चलूँ ?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ चलिये, एक वर्ष पश्चात् क्या हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"होना क्या था, पकने का जो परिणाम होता है, वही हुआ। पकने पर उस अंडे के दो भाग हो गये। बीच से फूट गया। नीचे का स्वच्छ सफेद भाग था, ऊपर की लाली लिए हुए। इसलिए सफेद मानों रजत खंड था। लाली लिये हुए ऊपर का सुवर्ण वर्ण का खंड। नीचे वाला खंड पृथ्वी हो गया, ऊपर वाला खंड स्वर्ग हो गया। बीच वाला तो अंतरिक्ष रह ही गया। अब अंडे में एक स्थूल वेष्टन होता है और एक नीचे सूक्ष्म गर्भ वेष्टन होता है। उनको जरायु और

उल्व कहते हैं। (उल्वेनावृत गर्भः) सभी गर्भ उल्व से आवृत रहते हैं, उसे भीतरी झिल्ली कहिये ऊपर का जो जरायु है उसी से सब पर्वत बन गये जो सूक्ष्म गर्भ वेष्टन उल्व है, उसी से मेघ और कुहरा हो गये जो अन्तरिक्ष में व्याप्त है।"

शौनक जी ने पूछा—"ये सब तो गर्भ के ढकने के उपकरण थे। गर्भ का क्या हुआ। बच्चा कौन-सा पैदा हुआ।

सूतजी ने कहा—"अब कहने भी दोगे कि नहीं, पहिले उपकरणों को तो समाप्त हो जाने दो। हाँ, तो उस गर्भगत पिंड में जो नाड़ी नसें-धमनियाँ रक्तवाहिनी स्नायुयें थीं वे ही नदियाँ हो गयीं, और उसके वस्ति स्थान में जो जल था वे ही समुद्र बन गये। जो बच्चा हुआ वही आदित्य है। जौ को बो दो जौ ही उत्पन्न होगा, कंद को बो दो उससे कंद ही होगी। ब्रह्म का अंडा था आदि अंड था। वह आदित्य ब्रह्म ही बच्चा रूप में हो गया। उसके उत्पन्न होते ही बड़ा बृहत् शब्द हुआ। उसी शब्द से ये सब चराचर-स्थावर जंगम प्राणी उत्पन्न हो गये। जितने शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी भोग हैं वे उत्पन्न हो गये। इसीलिये आज कल भी जब सूर्य उदय होता है तब एक प्रकार का शब्द होता है, सभी भोग पदार्थ प्राणी दीखने लगते हैं। सूर्यास्त के समय भी एक शब्द होता है, सभी पदार्थ अदृश्य से हो जाते हैं। सूर्य के उदय पर उदित और अस्त होने पर अस्त से दीखते हैं।"

जो इस रहस्य को जानकर इस प्रकार आदित्य में ब्रह्म की भावना करके उपासना करता है, वह स्वयं ही प्रकाशयुक्त आदित्यवत् हो जाता है। उसके समीप शीघ्र ही सुन्दर मनोरम घोष होने लगते हैं। अनहद के बहुत ही हृदय स्पर्शी विलक्षण मधुर शब्द सुनायी देते हैं, वे शब्द उसे सुख देते हैं, निश्चय ही सुख पहुँचाते हैं। आनन्द लाभ कराते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने आदित्य की ब्रह्म रूप में उपासना कही यहाँ पर छांदोग्य उपनिषद् का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ। अब चौथे अध्याय में जैसे मुमुक्षु राजा जनश्रुति का तथा ज्ञानी महात्मा रैक्व का संवाद होगा उस उपाख्यान को मैं आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

अंड माहिँ आदित्य भयो पुनि शब्द बृहत् अति।
तातैं प्राणी भये मोग प्रकटे जग दीसत॥
उदय अस्त रवि होत घोषयुत रव नित प्रकटत।
तबई प्राणी सकल मोग जग सगरो दीसत॥
ब्रह्मभाव आदित्य महँ, करै होइ आदित्य ही।
तिहि समीप हों स्वर मधुर, घोष देइ सुख नित्य ही॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के तीसरे अध्याय में
उन्नीसवाँ खण्ड समाप्त।

तीसरा अध्याय समाप्त।

—॥—

संवर्ग विद्या के ज्ञाता और जिज्ञासु राजा जानश्रुति और रैक्व की कथा

[१५२]

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान्मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽस्यीन्तीति ॥❀

(छा० उ० ४ अ० १ ख० १ म०)

छप्पय

जीवित जाके पिता पितामह जानश्रुति नृप।
अन्न क्षेत्र बहु खोलि धर्मशाला अरु जल प्रप॥
इकदिन उड़िकें हंस परस्पर कहें कथा सँग॥
सुनि, भैया भल्लाक्ष! जानश्रुति तेज व्याप्त जग॥
करै तेज इस्पर्श तो, भस्म होइ जरिकें तुरत।
बोल्यो दूसर—शकटयुत-रैक्व सरिस नहिँ यह नृपति॥

❀ जनश्रुति राजा के वंश मे उनके पुत्र का पौत्र जानश्रुति नाम का राजा था, वह श्रद्धापूर्वक बहुत अधिक दान करने वाला था। उसके अन्न-क्षेत्र मे बहुत-सा अन्न दान के लिये पकता था। उसकी इच्छा थी, यहाँ आकर सभी लोग मेरा ही अन्न खायँ, इसके निमित्त उसने बहुत से निवास स्थान बनवा दिये थे।

प्रत्येक वस्तु के अध्यात्म, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन रूप होते हैं। उपासना में अध्यात्म आधिदैविक ही विशेष रूप से लिये जाते हैं। पिछले प्रकरण में मन को अध्यात्म मानकर तथा आकाश को आधिदैव मानकर उपासना बतायी। हृदयरूप आकाश में ही मन रहता है। अब आगे वायुदेव को ब्रह्म मानकर उपासना बताते हैं। वायु-अर्थात् बाहर बहने वाला पवन ही आधिदैवत है, और वही वायु जब दशधा होकर शरीर के भीतर विचरण करता है, तो वही प्राण के नाम से पुकारा जाता है, अतः प्राण अध्यात्म है। वायु सबको अपने में संप्रसन-संग्रहण-संवर्जन कर लेता है, अर्थात् पृथ्वी, जल, तथा तेज सबको लील जाता है-निगल लेता है-इसीलिये वायु के संवर्जन नाम के गुण के कारण वायु विद्या का नाम संवर्गविद्या है। ब्रह्म ही वायु है सब ही कुछ ब्रह्म है, अतः प्राण में-वायु में ब्रह्म भाव करके अध्यात्म तथा आधिदैवत उपासना करनी चाहिये। इस विषय के वर्णन के पूर्व एक सुन्दर आख्यायिका का वर्णन किया है। इससे यह विषय सुगमता से समझा जा सके और यह भी ज्ञात हो जाय कि विद्या कैसे अधिकारी को किस प्रकार दी जाती है तथा विद्या के जिज्ञासु को कैसे विद्या ग्रहण करनी चाहिये।

उपदेश तीन प्रकार से किया जाता है, राजा की भाँति शासन पूर्वक उपदेश, मित्र की भाँति प्रेमपूर्वक उपदेश और कान्ता के समान अनुराग से उपदेश। राजा अपने अधिकार के बल पर आज्ञा निकाल देता है ऐसा करना ही चाहिये। लोग अनिच्छापूर्वक भी भय से उसकी आज्ञा को मानते हैं। बहुत से छिपे-छिपे उसके विरुद्ध भी आचरण करते हैं। मित्र हानि-लाभ समझाकर अत्यंत स्नेह से उपदेश करता है, उसे प्रेमवश मान लेते हैं, किन्तु अपनी धर्मपत्नी अत्यन्त अनुराग से हँसाते-हँसाते अपनी मनोकामना

उपदेश करती है, कि वह अन्तःकरण में सीधा उतर जाता है। इसी प्रकार कथा, कहानी उपाख्यान तथा दृष्टान्त देकर जो विषय समझाया जाता है, वह सीधा हृदय में घुस जाता है, सरलता से विषय हृदयंगम हो जाता है। कुछ लोग ऐसा शुष्क उपदेश करते हैं, कि न उसमें एक भी कथा कहानी न दृष्टान्त। विषय को गूढ़ से गूढ़तम बनाते जाते हैं। कुछ लोग सरलता तो लाते हैं, किन्तु स्वर्ग नरक का लालच भय दिखाकर समझाते हैं, किन्तु कुछ लोग साधारण दृष्टान्त दे देकर इस सरलता, सरसता, मधुरता के साथ समझाते हैं, कि विषय अपने आप ही लीक करता हुआ मधुरता के साथ--रसगुल्ला की भाँति स्वतः ही सट्-से अपने आप लगे से नीचे उतर जाता है। इसीलिये भगवती श्रुति सरलता से समझाने के अभिप्राय से राजा जानश्रुति और महर्षि रैक्व का उपाख्यान आरंभ करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब संवर्ग विद्या का भगवती श्रुति उपदेश करने की इच्छा से राजा जानश्रुति और रैक्व मुनि की कथा का आरम्भ करती है।

पहिले इस भारतवर्ष में महावृष नाम का एक जनपद था। उसमे जनश्रुति नाम के कोई प्रसिद्ध धर्मात्मा राजा थे। उन्हीं के नाम से वह वंश जानश्रुति कहलया। महाराज जनश्रुति के पुत्र के पौत्र कोई जानश्रुति पौत्रायण राजा थे। प्रतीत होता है इन राजा के पिता, पितामह और प्रपितामह तीनों जीवित थे। जनश्रुति या तो इनके पिता का नाम होगा या प्रपितामह होंगे। पौत्रायण से यही लगता है, इसके पूर्वज जीवित थे, वे राज्य छोड़कर तपस्या करने वन चले गये होंगे इसे राजगद्दी सौंप गये होंगे। अस्तु—

ये राजा जानश्रुति पौत्रायण बड़े धर्मात्मा थे। जो दातृत्व

शक्ति प्रधान धर्मात्मा पुरुष होते हैं, उन्हें दूसरों को देने में बड़ी सुखानुभूति होती है। वे चाहते हैं, अधिक से अधिक व्यक्ति हमारी दी हुई वस्तुओं का उपभोग करें। जानश्रुति राजा भी चाहते थे बहुत मनुष्य मेरी वस्तुओं का उपभोग करें। उसने स्थान-स्थान पर बहुत से अन्नक्षेत्र खोल रखे थे। जिनमें अतिथि अभ्यागतों को भोजन कराने के निमित्त बहुत-सा अन्न पकाया जाता था। उसने अन्न क्षेत्रों के साथ रहने को सुन्दर-सुन्दर-आवास-धर्मशालायें-भी बनवा रखी थीं। जिनमें यात्रीगण आकर सुख-पूर्वक रहा करें और अन्नसत्र के भोजनालयों में भोजन भी करें। इस प्रकार उस धर्मात्मा राजा ने अतिथियों और यात्रियों की सुख सुविधा के सर्वत्र साधन उपलब्ध करा रखे थे।

इन धार्मिक कार्यों के कारण राजा की सर्वत्र बड़ी ख्याति हो गयी थी। अन्न दान से यश तथा कीर्ति की वृद्धि होती है, उसका प्रभाव-यश की ज्योति-सर्वत्र फैली हुई थी। धर्मात्मा पुरुषों को धर्म के कारण एक आन्तरिक तोष होता है।

एक दिन राजा जानश्रुति पौत्रायण गर्मी के दिनों में अपनी अटारी पर सुखपूर्वक शैया पर लेटा हुआ था। उसी समय कुछ हंस उड़कर आकाश में कहीं जा रहे थे। उनमें से जो आगे-आगे उड़ रहा था। उस हंस को सम्बोधन करके पीछे वाले हंस ने कहा—"अरे ओ! मन्द दृष्टि वाले भल्लाक्ष! सुनता नहीं है रे, तुझे दीखता नहीं, अंधा हो गया है क्या, बहुत उत्साह न दिखा, तुझे पता नहीं राजा जानश्रुति पौत्रायण का यश रूपी तेज दिग-दिगान्तों में व्याप्त है। तू उसके समान होने की चेष्टा मत करे। राजा का प्रचण्ड यश रूप तेज कहीं तुझे भस्म न कर डाले?"

यह सुनकर उस आगे वाले हंस ने अपने साथी से कहा—"भैया, तू तो मानो इस राजा जानश्रुति का भाट ही है। तू किस

आधार पर राजा को इतना सम्मान दे रहा है ? कौन-सी महत्त्व-पूर्ण बात के कारण राजा के प्रति ऐसे सम्मान सूचक वचनों का उच्चारण कर रहा है ?"

दूसरे हंस ने कहा—"तू देखता नहीं, राजा कितना धर्मात्मा है, वह निरन्तर पुण्यकर्म करके सभी के पुण्यों को अपने में आत्मसात कर रहा है। उसका यश स्वर्गलोक तक व्याप्त है।"

अग्रगामी हंस ने कहा—"रहने भी दो अधिक प्रशंसा की आवश्यकता नहीं। क्या यह राजा गाड़ी वाले रैक्व की बराबरी कर सकता है। तुम इसकी रैक्व के साथ समानता करते हो क्या ?"

इस पर पीछे वाले हंस ने कहा—"भैया, जिस गाड़ी वाले रैक्व को तुम इस राजा से अधिक धर्मात्मा बता रहे हो, वह रैक्व है कौन ? वह कैसा है ? उसमें इस राजा से कौन-सी विशेषता है ?"

इस पर अग्रगामी भल्लाक्ष नाम का हंस कहने लगा—"देखो, भैया ! जो बड़ी वस्तु होती है, वह छोटी वस्तुओं को भी अपने में बटोर लेती है। जैसे द्यूत क्रीड़ा में कलि, द्वापर, त्रेता और कृत नाम के चार पासे होते हैं। कलि नामक पासे में एक अंक अंकित होता है। द्वापर में दो, त्रेता में तीन और कृत में चार चिह्न चिन्हित होते हैं। किसी जूआ खेलने वाले का यदि कृतनामक-चार अंकों वाला-पासा जय प्राप्त कर लेता है, तो शेष तीनों एक, दो, तीन अंकों वाले, कलि, द्वापर और त्रेता-नीचे वाले पासे उसे प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् उन छोटों का भी इन्हीं में समावेश हो जाता है। इसी प्रकार रैक्व अपनी उपासना द्वारा इतने महान् हो गये हैं, कि इस राज्य के प्रजाजन जो भी पुण्यकर्म-सत्कर्म-करते हैं, सबसे उत्कृष्ट होने के कारण वे सभी पुण्यकर्म उस गाड़ी

वाले रैक्व मुनि को ही प्राप्त हो जाते हैं। यह बात नहीं कि उन रैक्व मुनि को ही प्राप्त होते हों, उनके सदृश जो भी उपासना करेगा, उसे भी वैसा ही फल प्राप्त होगा। इसलिये यह बात मैंने केवल रैक्व मुनि के ही सम्बन्ध में नहीं कही, उनके सदृश जो भी उपासना करेगा उसके विषय में भी मैंने कह दिया। अर्थात् यह प्रशंसा मैंने उनकी उपासना की की। उनकी उपासना इतनी श्रेष्ठ है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! पुण्यकर्म करने वालों की सहायता करने में श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्द होता है। प्रतीत ऐसा होता है, कि हंसरूप में कोई देवता या मुनि ही राजा को सावधान करने, उन्हें उपासना का अधिकारी समझकर रैक्व मुनि के समीप जाने की चेतावनी देने आये हों। राजा ने हंसों की बातें बहुत ध्यानपूर्वक श्रवण कीं। इन बातों में राजा की एक प्रकार से निंदा और गाड़ी वाले रैक्व मुनि की प्रशंसा छिपी हुई थी। अर्थात् रैक मुनि की उपासना के सम्मुख मेरे ये पुण्यकर्म अत्यंत तुच्छ हैं। इन बातों को सुनकर राजा को फिर निद्रा नहीं आई। वह रात्रि भर रैक मुनि के ही सम्बन्ध में सोचता रहा।"

प्राचीन परम्परा ऐसी थी, कि अरुणोदय वेला में राजा महाराजाओं को जगाने के लिये बन्दीगण आया करते थे। वे बन्दी उस राजा की तथा राजा के वंश के लोगों की ताल स्वर के साथ मधुर वाणी में वाद्यों के सहित स्तुति किया कहते थे। बन्दियों के स्तुतियुक्त वचनों से राजा लोग जगाये जाते थे। नित्य नियमानुसार जानश्रुति पौत्रयण के बन्दी भी अरुणोदय में राजा को जगाने आये। वे राजा की सुन्दर पद्यों द्वारा स्तुति करने लगे। राजा तो जाग ही रहे थे। रैक की प्रशंसा उनकी नस-नस में व्याप्त हो गयी थी। अतः अपनी प्रशंसा सुनकर राजा ने बन्दियों

को रोकते हुए कहा—"अरे, भाइयो ! तुम गाड़ी वाले रैक मुनि के सदृश मेरी झूठी प्रशंसा क्यों कर रहे हो ?"

बन्दियों ने आज राजा के मुख से यह नयी ही बात सुनी। उन्होंने सोचा—"हमारे महाराजा से भी बढ़कर धर्मात्मा यह गाड़ी वाला रैक्व कौन है ?" अतः उन बन्दियों में से एक सेवक ने पूछा—"राजन् ! ये गाड़ी वाले रैक्व कौन हैं ? कहाँ रहते हैं ?"

राजा स्वयं गाड़ी वाले रैक्व को नहीं जानते थे, किन्तु वे उसको जानने के लिये उत्सुक थे, अतः उन्होंने हंसों के मुख से जो कुछ सुना वही सेवकों से कह दिया। हंसों की बातों को ही दुहराते हुए राजा ने कहा—"जैसे कृत नामक जूआ के पासे द्वारा जीते जाने पर शेष पासे उस विजित पुरुष के अधीन हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाजनों द्वारा किये हुए समस्त सत्कर्म भी उन रैक्व की उपासना के प्रभाव से उनके अधीन हो जाते हैं। यही नहीं रैक्व की उपासना को जो कोई जानकर करता है, उसका भी ऐसा ही प्रभाव हो जाता है। रैक्व मुनि के सम्बन्ध में जो भी कुछ मैं जानता था, वह बतला दिया। वे एक गाड़ी लिये रहते हैं। तुम जाकर उन गाड़ी वाले रैक्व मुनि की खोज करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! राजा की आज्ञा पाकर और स्वयं भी रैक्व मुनि को जानने की इच्छा से सेवक जैसे उन्हें ढूँढ़ने जायगा, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय—कौन रैक्व ? सुनि कही—द्यूत में कृत पासो ज्यों।
पासे सबहिँ अधीन होहिँ विजयी के वह त्यों॥
प्रजा करै सत्कर्म रैक्व कूँ प्राप्त होइ फल।
विद्या जो संवर्ग सुज्ञाता रैक्व सकल भल॥
रैक्व ज्ञान जाने पुरुष, तेहू तिहि फल पाइकें।
जानश्रुति उठि कहत यों, सेवक तें हरषाइकें॥

रैक्व मुनि का पता

[१५३]

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कपमाणमुपोपविवेश तँ ह्याभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहँ ह्ये३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताविदमिति प्रत्येयाय ॥❀

(छां० उ० ४ अ० १ खं० ८ मं०)

छप्पय

रैक्व कौन, मुनि कहाँ रहैं तुम पतो लगाओ।
सेवक खोजन गये लौटि तिनि वृत्त बतायो॥
रैक्व कहीं नहिं मिले नृपति पुनि बोल्यो बानी।
मूरख! वन गिरि नदी निकट खोजो जित ज्ञानी॥
पुनि वन में सेवक लख्यो, खाज खुजावत रैक्व मुनि।
छकरा के नीचे परयो, बोल्यो तातैं प्रश्न सुनि॥

ज्ञानी पुरुष वेष से भी-चिन्हों द्वारा भी-त्यागी संन्यासी हों

❀ खोज करने वाले सेवक ने एकान्त स्थान में एक छकड़े के नीचे खाज को खुजाते हुए एक व्यक्ति को देखा। सेवक उनके समीप जाकर बैठगया और बड़ी नम्रता से उनसे पूछने लगा—"क्या भगवन्! छकड़ा लेकर घूमने वाले रैक्व मुनि आप ही हैं क्या? तब वे बोले—'अरे, जिस रैक्व को तू खोज रहा है वह रैक्व मैं ही हूँ। मुनि के हाँ कहकर स्वीकार करने से सेवक पता लगने पर राजा के समीप लौट आया।"

यह आवश्यक नहीं। ज्ञानी सभी आश्रमों में हो सकते हैं। ज्ञानी के लिये चिन्ह धारण की कोई आवश्यकता नहीं। लोक संग्रहणार्थ यदि वह चिन्ह धारण करता है, तो कोई आपत्ति भी नहीं। उस ज्ञानी का चिन्ह धारण में, चिन्ह न धारण में कोई आग्रह नहीं। ज्ञान होने पर संचित और क्रियमाण कर्म तो ज्ञान रूपी अग्नि में भस्म हो जाते हैं, किन्तु ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते हैं। यहाँ तक कि जीवनमुक्त पुरुष भी अभिमान शून्य होकर–शरीर को धारण किये हुए प्रारब्ध कर्मों का भोग करते रहते हैं। कोई प्रारब्ध कर्म शेष रह जाता है, तो वे उसे भी संसारी लोगों की भाँति–अहङ्कार शून्य होकर–निर्लिप्त भाव से–उसका उपभोग करते हैं। ज्ञान ऐसा हीरा है कि वह कभी-कभी काले कोयलों की खानि में से भी प्रकट हो जाता है। प्रारब्ध भोगों को मन सहित शरीर भोगता है, आत्मा से तो उसका कोई सम्बन्ध है नहीं। आत्मा तो अकर्ता, अभोक्ता, निर्द्वन्द्व, निर्लेप, निरञ्जन तथा निष्कलमष है। ज्ञानी की दृष्टि सदा आत्मा की ही ओर रहती है। प्रारब्ध कर्मानुसार बलात् भोग आ जाते हैं, तो ज्ञानी उन्हें प्रारब्ध कर्म समझकर स्वीकार करता है, किन्तु मूर्ख विषयी लोक में भोगों में अनुरक्त होकर भी अपने को निर्लिप्त ज्ञानी सिद्ध करते हैं, किन्तु ज्ञान की ज्योति जिसके हृदय में जग गयी है, वह ज्योति जैसे अंगारे पर राख आ जाने से कुछ काल के लिये ढकी-सी भले ही प्रतीत हो, वह ज्योति बुझती नहीं। काल पाकर चमक उठती है, उसी प्रकार ढोंग भी सदा बना नहीं रहता, कालान्तर में वह भी प्रकट हो ही जाता है। ज्ञान ऐसा हीरा है वह गुदड़ी में छिपाये से भी नहीं छिपता। कस्तूरी की गन्ध के समान उसकी गन्ध छिपाने से–साधारण वेष से–भी नहीं छिपती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! रैक मुनि की प्रशंसा सुनकर राजा जानश्रुति पौत्रायण को कुछ आन्तरिक ईर्ष्या भी हुई होगी। धन का अभिमान सबसे बड़ा अभिमान होता है। धनी को यह भरोसा रहता है, कि मैं धन द्वारा समस्त भोगों को प्राप्त कर सकता हूँ, बड़े-बड़े विद्वानों को धन का लालच देकर क्रय कर सकता हूँ।"

धन में वैसे तो अनेक दोष हैं, किन्तु एक सबसे बड़ा दोष यह होता है, कि उसमें सर्व समर्पण की सामर्थ्य नहीं होती। कुछ रखकर ही देने की प्रवृत्ति होती है। एक महाराज बलि ही ऐसे हुए जिन्होंने सर्वस्व समर्पण कर दिया। सर्वस्व समर्पण के बिना भगवान् वश में नहीं होते। सम्पूर्ण जगत् भगवान् के वश में है, वे किसी के वश में होने वाले नहीं हैं, किन्तु जो अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है, अपने आपे को भी उन्हें सौंप देता है, ऐसे भक्त के वश में भगवान् भी हो जाते हैं। उसे प्रारब्ध कर्मों के अनुसार वे भोग भी प्रदान कर देते हैं और मोक्ष भी दे देते हैं। भगवद्भक्त या ज्ञानी के हृदय में वैसे तो कभी संसारी भोगों की वासना उठती नहीं, क्योंकि ज्ञान होने पर अन्तःकरण निर्वासना हो ही जाता है, फिर भी प्रारब्धवश कोई वासना उठ भी जाय, तो भगवान् उसे पूर्ण कराके तब मोक्ष सुख देते हैं। महाराज बलि को इन्द्र बनने की इच्छा थी। कुछ भोग भोगने की भावना रही होगी। उसी बीच में भगवान् ने बलपूर्वक उनसे आत्मसमर्पण करा लिया। उसका सर्वस्व अपहरण कर लिया महाराज बलि ने स्वेच्छा से सब कुछ दे भी दिया। उसके गुरु ने उसे समझाया भी कि—"देखो, गृहस्थी का यह धर्म नहीं, कि सब कुछ दे डाले। सत्य पर ही दृढ़ रहे। कुछ बचाकर दो, पूरा मत दो। सत्य की व्यावहारिक व्याख्या करो।" किन्तु बलि

ने इसे कैतव धर्म–कपट का धर्म बताया। बचाकर देना कृपणता का चिन्ह है। धन से ही ज्ञानी को प्रसन्न करने की भावना अधम भावना है। देना हो, तो पूरा दो। 'बचाओ नहीं। ज्ञानी भूरिदा होते हैं, बहुत देते हैं। अल्प नहीं देते। क्योंकि अल्प में सुख नहीं सुख तो बहुत में है भूमा में है। राजा जानश्रुति पौत्रायण उस देश के धन वैभवसम्पन्न प्रभावशाली महाराजा थे। उनके पूर्व जन्म के सुकृत थे, कि उनमें दातृत्व शक्ति थी। दातृत्वशक्ति, प्रियवक्तृत्वशक्ति, धीरता और उचितज्ञता की शक्ति अभ्यास से नहीं आती पूर्वजन्मों के पुण्यों के कारण ये चारों स्वाभाविक सहज गुण होते हैं। राजा यथेष्ठ अन्नदान, गृहदान, जलदान, भूमिदान, करते थे, किन्तु सर्वव्यापक सर्वात्मा की उपासना से रहित थे। वे समझते थे, अर्थियों को अपने धन का अल्प भाग दान करके ही वे सर्वोत्तम अक्षय पुण्यलोक को प्राप्त कर लेंगे। उनकी दानशीलता के पुण्य से प्रभावित होकर हंस रूप रखे किन्हीं परमहंसों ने उन्हें रैक मुनि की प्रशंसा सुनाकर उनकी शरण में जाने को विवश कर दिया। अब तो राजा को रैक मुनि से साक्षात्कार करने की चटपटी लगी। उन्होंने अपने विश्वास पात्र सेवक से कहा—"रैक मुनि का जाकर पता लगाओ। निश्चय ही वे कहीं मेरे ही राज्य में रहते हैं। हंसों ने बार-बार उन्हें 'सयुग्वानम् सयुग्वानम्' कहा है, इससे प्रतीत होता है, वे सदा एक या दो बैल वाली गाड़ी साथ रखते होंगे। गाड़ी में ही सोते बैठते होंगे। तुम उनकी खोज करो।"

राजा की आज्ञा पाकर सेवक बड़े-बड़े नगरों में छोटी-छोटी राजधानियों में चौराहों में हाट बाट में रैक मुनि को खोजता रहा। कहीं भी उनका पता नहीं लगा, तब वह लौटकर राजा के पास

आया और हाथ जोड़कर बोला —"अन्नदाता ! मैंने सर्वत्र रैक मुनि की खोज की उनका कहीं भी मुझे पता नहीं लगा।"

राजा ने कहा—"तुम खोजने कहाँ-कहाँ गये थे ?"

सेवक ने कहा—"अमुक नगर में गया। अमुक राजधानी में गया। अमुक राजा के उद्यानों में खोजा। चौराहों पर, धर्मशालाओं में, हाटों में सर्वत्र मैंने उनकी खोज की। अच्छे-अच्छे सभ्य नागरिकों से उनका पता पूछा, किसी ने भी बताकर नहीं दिया।"

यह सुनकर राजा ने हँसकर कहा—"तुम महामूर्ख हो। अरे, ज्ञानी पुरुष नगरों में रहते हैं, हाट बाटों में अपनी प्रसिद्धि करते फिरते हैं, वे चौराहों पर नाम पट्टिका लगाकर विज्ञापन नहीं किया करते। अरे, वे तो जङ्गलों में, पुण्य तीर्थों में, वनों में, निर्जन स्थानों में, पर्वत कन्दराओं में गंगा यमुना जैसी परम पावन सरिताओं के तटों पर शान्त एकान्त स्थानों में रहा करते हैं। ऐसे पुण्य स्थलों में उनकी खोज करो।"

राजा के ऐसे वचन सुनकर सेवक पुनः खोजने चला। अब के वह पुण्य तीर्थों में, अरण्यों मे, पर्वतों की उपत्यकाओं में, पावन नदियों के किनारे-किनारे खोजने लगा। खोजते-खोजते एक दिन वह नदी के किनारे एक निर्जन स्थान में गया, वहाँ उसने एक सघन वृक्ष की छाया में एक छकड़ा खड़ा देखा। पास ही बैल चर रहा था। उस छकड़े के नीचे एक साधारण-सी चटाई बिछाकर एक साधारण-सा किन्तु तेजस्वी पुरुष बैठा था, उसके शरीर पर साधारण-सा एक वस्त्र लिपटा हुआ था, वह बैठा-बैठा अपने शरीर को खुजला रहा था।

छकड़े को देखकर राजसेवक को सन्देह हुआ, यहाँ एकान्त में ऐसे कोई गृहस्थ तो निश्चिन्त होकर पड़ा नहीं रह सकता।

हो न हो यही छकड़े वाला रैक मुनि तो नहीं है।" यह सोचकर वह उसके समीप पहुँचा। बिना किसी बाहरी चिन्ह के साधारण वेष में एक तेजस्वी पुरुष को देखकर वह उसके समीप गया। प्रणाम करके वह उसके समीप जाकर बैठ गया। उस व्यक्ति ने इससे कुछ भी नहीं पूछा, तू यहाँ क्यों बैठा है। जब उसने कुछ नहीं पूछा, तब इसी राजसेवक ने बात चलाते हुए पूछना आरम्भ किया। राजसेवक उसके तेज से प्रभावित होकर बड़ी ही नम्रता के साथ आदर पूर्वक पूछने लगा—"भगवन्! मैं एक रैक मुनि की खोज में हूँ, जो सदा गाड़ी अपने पास रखते हैं। गाड़ी तो आपके भी पास है। क्या रैक मुनि आप ही तो नहीं हैं?"

तब रैक मुनि ने अत्यन्त ही निर्भयता पूर्वक बिना शिष्टाचार के हँसते हुए ऐसे उत्तर दिया मानों वे सब बात पहिले से ही जानते हों कि राजा का सेवक मेरी ही खोज में घूम रहा है। वे बोले—"अरे, हाँ जिस रैक की खोज में तुम घूम रहे हो वह रैक मैं ही हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब निर्भय होकर रैक मुनि ने अपना स्पष्ट परिचय दे दिया, तो राजसेवक को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे इस बात से बड़ा सन्तोष हो गया मैंने रैक मुनि को पहिचान लिया। तब वह दौड़ा-दौड़ा राजा के समीप गया और उनसे जाकर समस्त वृत्तान्त बताया। रैक मुनि का पता लगने से राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे ६ सौ गौएँ, एक सुवर्ण का हार, एक सुन्दर रथ जिसमें बलवती खच्चरियाँ जुती हुई थीं। इतनी वस्तुएँ मुनि को भेंट करने के लिये लेकर रैक मुनि के समीप गये। राजा ने विधिपूर्वक मुनि को प्रणाम किया और निवेदन किया—"भगवन्! बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन रैक मुनि की मैं चिरकाल से खोज में था, वे आप मुनिवर मुझे

मिल गये। मैं आपकी सेवा के लिये ये छः सौ गौएँ यह सुवर्ण-मंडित हार और यह सुपुष्ट खच्चरियों से युक्त रथ आपकी भेंट के निमित्त लाया हूँ। आप इन वस्तुओं को कृपा करके स्वीकार करें और मुझे उस देवता के सम्बन्ध में उपदेश करें जिसकी उपासना आप करते हैं। जिस उपासना द्वारा आपका इतना प्रभाव हो गया, कि प्रजा के जन जो सत्कर्म करते हैं, वे सब आप को प्राप्त हो जाते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह सुनकर रैक मुनि ने राजा को निर्भय होकर बिना शील संकोच के डाँटा फटकारा। अब राजा में और रैक मुनि में जो सम्वाद हुआ उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जिज्ञासा सुनि कही—नाम मम रैक्व ख्यात है।
सेवक ने नृप निकट आइ सब कही बात है॥
जानश्रुति बहु गाय हार खच्चर रथ लैकें।
मुनि ढिँग जाकें कह्यो विनय तैं अवनत ह्वैकें॥
भगवन्! छै सौ धेनु धन, रथ स्वीकारें कृपा करि।
उपदेशें निज इष्ट कूँ, विनये मुनि पग शीश धरि॥

रैक्व मुनि द्वारा राजा जानश्रुति को संवर्ग विद्या का उपदेश

[१५४]

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वादयति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥*

(छा० उ० ४ प्र० ३ खं० १ मं०)

छप्पय

नहिँ स्वीकारी वस्तु शूद्र सम्बोधन कीन्हों ।
पुनि दुहिता गो सहस हार रथ ग्राम हु दीन्हों ॥
दुहिता लखि सन्तुष्ट दई संवर्ग सु विद्या ।
कही वायु संवर्ग यही विद्या है आद्या ॥
लीन होइँ ये वायु में, अग्नि, चन्द्र, रवि, नीर सब ।
अधिदैवत यह दृष्टि है, सुनु दर्शन अध्यात्म अब ॥

---

* रैक्व मुनि राजा जानश्रुति पौत्रायण को संवर्ग विद्या का उपदेश करते हुए कहते हैं—"यह वायु ही संवर्ग है। अग्नि जब बुझने लगती है, तब वह वायु में ही लीन हो जाती है। जब सूर्य अस्त होने लगते हैं, तब वे भी वायु में ही लीन हो जाते हैं और इसी प्रकार जब चन्द्रमा भी अस्त होते हैं, तो वे भी वायु में ही लीन हो जाते हैं।"

शरीर में तो अहंता होती है। शरीर के अतिरिक्त जो वस्तुएँ हैं उनमें ममता होती है। ममतास्पद वस्तुओं में भी एक क्रम होता है। अपने घर के अन्नादि में ममता होती है, किन्तु पशु क्रय करना हो तो अन्न को देते हैं। अन्नादि की अपेक्षा पशुओं में ममता विशेष रहती है। जब विशेष धन की आवश्यकता होती है, तो पशुओं को भी बेच देते हैं। पशुओं की अपेक्षा धन में ममता अधिक होती है। अपना कोई आत्मीय पुरुष रुग्ण हो तो अथवा पद प्रतिष्ठा जाती हो, यश बढ़ाना हो तो धन को भी व्यय कर देते हैं। धन की अपेक्षा आत्मीय पुरुषों में यश कीर्ति में ममता अधिक होती है। अपनी संतान का कल्याण करना हो, तो मनुष्य, धन, यश कीर्ति की भी उपेक्षा कर देता है, और अपनी रक्षा करनी हो तो लोग संतान की भी उपेक्षा कर देते हैं। अतः शरीर में तो अहंता होती है और सबसे अधिक ममता संतान में होती है। पुत्र तथा पुत्री अपनी आत्मा ही हैं। अपने शरीर से उत्पन्न होने के कारण अपने शरीर के अङ्ग ही हैं। इसलिये जहाँ सन्तान को भी समर्पण करने की भावना हो जाय, वहाँ सबसे अधिक आत्मीयता मानी जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जानश्रुति पौत्रायण राजा को जब रैक्व मुनि का पता लग गया, तो वह उनसे उस विद्या का उपदेश लेने गया, जिसकी उपासना के प्रभाव से रैक्व की इतनी महिमा हो गयी थी। वह अपने धन का कुछ सूक्ष्म अंश भेंट करने ले गया ६ सौ गौएँ, एक हार, एक रथ देकर राजा ने रैक्व मुनि से प्रार्थना की—"आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उसका उपदेश मुझे दें और इस भेंट को स्वीकार करें।"

इस पर रैक्व मुनि ने समझा यह राजा इस तुच्छ भेंट का लोभ देकर मुझसे विद्या ग्रहण करना चाहता है। थोड़ा देकर

बहुत लेने की इच्छा करना यह शूद्र का काम है। रैक मुनि तो ज्ञानी थे, वे निर्भय थे, उन्हें राजा हो महाराजा हो किसी का भय नहीं होता, जो अक्खड़ ज्ञानी होते है, वे शिष्टाचार की भी अपेक्षा नहीं करते। अतः रैक मुनि ने राजा को डाँटते हुए कहा—"अरे ओ शूद्र! गौओं सहित हार तथा खच्चरियों के रथ को तू अपने ही पास रख! मेरे लिये ये पर्याप्त नहीं!"

राजा जानश्रुति मुनि की बात से समझ गये, मैंने भेंट में सब चल सम्पत्ति ही दी है। अचल सम्पत्ति भूमि तथा परम आत्मीय सम्पत्ति संतान बचा रखी है। इसीलिये मुनि सन्तुष्ट नहीं हुए। अतः उन्होंने भेंट की सामग्री में वृद्धि की। छैः सौ के स्थान में गौओं की संख्या एक सहस्र कर दी। क्योंकि उन दिनों गोधन ही सर्वश्रेष्ठ धन माना जाता था, पर्याप्त गोचर भूमि पड़ी रहती थी। हार तो एक ही पर्याप्त है, रथ भी मुनि के लिये एक यथेष्ट है। हाँ, इन सबको रखने का स्थान भी तो देना चाहिये अतः जिस गाँव में रैक मुनि रहते थे, वह गाँव और उसके आस-पास की सहस्रों बीघा गोचर भूमि भी मुनि को देने का निश्चय किया। उस गाँव में सुन्दर घर भी मुनि को प्रदान करने का संकल्प किया। फिर सोचा—ईंट पत्थर के घर को ही घर नहीं कहते। वास्तव में गृहिणी का ही नाम घर है। एक गृहिणी के कारण ही सबका विस्तार होता है। गृहिणी में ही रेत का आधान करके पुरुष पुनः जायमान होता है, इसीलिये गृहिणी का नाम जाया है। अतः धर्मपत्नी के निमित्त उन्होंने अपनी कन्या को अपनी आत्मीया को—दान करने का निश्चय किया। अतः अब के सहस्र गौ, सुवर्ण हार, सुन्दर रथ, धनधान्य, गोचर भूमियुक्त ग्राम और जाया के हेतु अपनी पुत्री को भेंट करते हुए राजा ने कहा—"मुनिवर! इन सब वस्तुओं को ग्रहण करें। रहने के लिये यह ग्राम और पूरी भूमि

आपको समर्पण करता हूँ और धर्मपत्नी के लिये अपनी दुहिता-पुत्री-को आपके लिये देता हूँ, अब आप मुझे अवश्य उस विद्या में अनुशासित कीजिये, जिसकी उपासना से आप की इतनी महत्ता है।"

अब के मुनि ने सोचा—"राजा ने अपनी कन्या प्रदान करके मुझे विवशकर दिया। एक प्रकार से उसने आत्मसमर्पण ही कर दिया। यदि यह कन्या न देकर केवल चल सम्पत्ति धन ही देता, तो मैं इसे विद्या का अधिकारी नहीं मानता। यद्यपि अबके भी इसने चल सम्पत्ति दी है साथ ही ग्राम तथा अपनी कन्या भी प्रदान की है। यह कन्या ही इसके विद्या ग्रहण का द्वार है। अर्थात् इसी के द्वारा यह विद्या का अधिकारी बन सका है। अतः रैक ने फिर राजा से कहा—"काम तो फिर भी तुमने शूद्रों का ही किया है। अनित्य वस्तुओं से नित्यवस्तु की प्राप्ति करना चाहता है, किन्तु अबके तुमने अपनी आत्मीया-पुत्री प्रदान की है, यही विद्या ग्रहण का द्वार है। इसी के कारण तुम विद्या ग्रहण के अधिकारी हो गये हो। इस विद्याग्रहण के द्वार रूप कन्या के कारण ही तुम मुझसे भाषण करने के-विद्याग्रहण करने के-अधिकारी बन सके हो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! रैक मुनि कन्यादान से संतुष्ट हैं, यह सोचकर राजा को प्रसन्नता हुई।" उन्होंने कहा—"भगवन्! मेरा जो यह महावृष देश है (संभवतया चित्रकूट के आस पास के वन, तथा प्रदेश) उसमें जिस ग्राम में आप निवास करते हैं (संभवतया वाल्मीक आश्रम के पास नदी के तट पर बसा रैपुरा ग्राम) वह ग्राम रैकपर्ण के नाम से प्रसिद्ध हो। आप मेरी कन्या को जाया रूप में स्वीकार करें और मुझे उपदेश दें।"

इस पर रैक मुनि ने कहा—"मैं संवर्ग विद्या की उपासना करता हूँ। इसी कारण मेरा इतना महत्त्व है।"

राजा ने कहा—"संवर्ग क्या है ?"

रैक मुनि ने कहा—"वायु ही संवर्ग है।"

राजा ने पूछा—"वायु का नाम संवर्ग क्यों है ?"

रैक मुनि ने कहा—"संग्रहण करने से—औरों को निगल जाने से—वायु संवर्ग कहलाती है।"

राजा ने पूछा—"वायु किसको ग्रसती है। किसको निगल जाती है।"

रैक मुनि ने कहा—"देखो, अग्नि जल रही है, जलते-जलते बुझ जाती है, बुझकर कहाँ जाती है ? वायु में विलीन हो जाती है। वायु उसे ग्रस लेता है निगल लेता है। इसी प्रकार सूर्य उदय हो रहा है, सायंकाल में अस्त हो जाता है, अस्त होकर कहाँ जाता है ? वायु में लीन हो जाता है। चन्द्रमा उदय हो रहा है, फिर अस्त हो जाता है, अस्त होकर कहाँ जाता है ? वायु में लीन हो जाता है। अतः वायु ही संवर्ग है। वायु को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये। और देखो, तालाब में जल भर रहा है, कुछ काल में जल सूख जाता है, वह जल कहाँ जाता है ? वायु में विलीन हो जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! जल को तो वारितस्कर सूर्य चुरा ले जाते हैं।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन ! वायुदेव तो तस्कर के भी तस्कर हैं जब वे सूर्य को भी निगल जाते हैं, तो जल की तो बात ही क्या ? वायु ही समस्त जलों को अपने में लीन कर लेता है। वायु सबसे बलवान् देवता है, इससे बढ़कर वेगवान् बलवान् सबको निगलने वाला देवता और कोई नहीं है। यह तो वायुदेव

की अधिदैवत उपासना हुई। अब अध्यात्म दृष्टि से वायु की उपासना बतायी जाती है।"

वायु का प्राण रूप ही उसकी अध्यात्म उपासना है, वायु जो भीतर शरीर में दशधा होकर विचरता रहता है। वह भी संवर्ग है। यह अध्यात्म दर्शन है।"

राजा ने पूछा-"प्राण किसको ग्रसता है, किसे निगलता है ?"

रैक्व मुनि ने कहा—"जब पुरुष सोता है, तब बोलता नहीं, उसकी वाणी को प्राण अपने में लीन कर लेते हैं, सोते समय देखता भी नहीं, क्योंकि चक्षु को प्राण अपने में ग्रस लेते हैं। सोते समय सुनता भी नहीं, क्योंकि श्रोत को प्राण निगल लेते हैं, मन उस समय मनन करना बन्द कर देता है, क्योंकि मन को प्राण लील जाते हैं, इन सभी को प्राण अपने में लीन कर लेता है। इसलिये बाहरी वायु और भीतर के प्राण ये ही दो संवर्ग है। देवताओं में वायुदेव संवर्ग है उनकी उपासना आधिदैविक है। वही वायु भीतर में प्राण रूप से विचरता है, यह आध्यात्मिक संवर्ग उपासना है। इसी उपासना के कारण वायु और प्राण की उपासना से मेरा इतना महत्त्व है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने संवर्ग उपासना का वर्णन आप से किया। अब संवर्ग की स्तुति के सम्बन्ध में जो एक आख्यायिका है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय-प्राण कहे संवर्ग पुरुष निद्रित होवै जब।
वाक्, चक्षु, मन श्रोत प्राणकूँ प्राप्त होइँ सब॥
द्वै ई हैं संवर्ग, देव में वाय कहावैं।
इन्द्रिनि में है प्राण लीन सब इनि है जावैं॥
विद्या नहिँ जाके सरिस, सवर्गहि है श्रेष्ठ-सब।
कहूँ कथा इस्तुति परक, महिमा सुनि संवर्ग अब॥

संवर्ग की महिमा सम्बन्धिनी कथा

[१५५]

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिम् ।
परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥*

(छां० उ० ४ अ० ३ ख० ५ मं०)

छप्पय

अभिप्रतारि-सुत कक्षसेन शौनक कापेयहु ।
भोजन परस्यो गयो तबहिँ आये ब्रमचरिहु ॥
भिक्षा माँगी आइ उभय भिक्षा दीन्हीं नहिँ ।
ब्रमचारी ने कहीं-ग्रसे जिनि चार देव अहिँ ॥
सुनो ! भुवन गोप्ता पुरुष, बहुविधि करत निवास जो ।
ता देवहिँ जाने नहीं, जा हित अन्न न पाइ सो ॥

ब्रह्मचारी निश्चय करके वैश्वानर-अग्नि-का रूप है। ब्रह्मचर्य ही भुवनों की रक्षा करता है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल ये ब्रह्मचर्य के ही रूप है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र ये प्रकाश है। वायु का पुत्र प्रकाश है, प्रकाश का पुत्र जल है। जल और प्रकाश ये वायु रूप

---

* एक बार की बात है, एक तो शौनक जो कपि गोत्रीय थे, दूसरे अभिप्रतारी जो कक्षसेन के सुत थे। वे भोजन करने बैठे। उन्हें भोजन परोसा जा चुका था, तभी एक ब्रह्मचारी भिक्षा माँगने आ गया। उसने भिक्षा माँगी, किन्तु इन दोनों ने उस ब्रह्मचारी को भिक्षा नहीं दी।

परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। अतः ब्रह्मचर्य द्वारा ब्रह्मचारी ब्रह्म को प्राप्त होता है। भोजन अग्नि में ही पकाया जाता है और अग्नि के लिये-ब्रह्मचारी के लिये-पकाया जाता है। अतिथि, ब्रह्मचारी के भोजन करने के पश्चात् गृहस्थ आदि भोजन कर सकते हैं। ब्रह्मचारी भोजन करके ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। शास्त्रों में भोजन का नियम बताया है। यति संन्यासी-केवल शरीर को टिकाये रहने को ही भोजन करें। उन्हें नित्य ही समचान्द्रायण व्रत करते रहना चाहिये सर्थात् नित्य गिनकर ८ ग्रास खावे। वानप्रस्थ को तप, अग्निहोत्रादि कर्म करने होते हैं, अतः वह १६ ग्रास नित्य खाये। गृहस्थ को बहुत कार्यों का सम्पादन करना पड़ता है, अतः वह ३२ ग्रास तक खा सकता है, किन्तु ब्रह्मचारी के लिये ग्रासों का कोई नियम नहीं वह यथेष्ट पेट भर के खा सकता है। यति वानप्रस्थी, को एक बार का ही नियम है, किन्तु ब्रह्मचारी को दोनों समय भिक्षा का विधान है। जब ब्रह्मचारी समझ ले, कि अब सद्गृहस्थों के यहाँ भोजन तैयार हो गया होगा, तभी वह गृहस्थियों के द्वार पर भिक्षा लेने पहुँच जाय, क्योंकि वास्तव में अन्न तो ब्रह्मचारियों के निमित्त ही पकाया जाता है उसके पा लेने पर उसके शेषान्न को पाने के सभी अधिकारी होते हैं। ब्रह्मचारी को बिना दिये जो स्वयं खा लेता है, वह पाप को खाता है। इसलिये सद्गृहस्थों के यहाँ अन्न का पाक हो जाने पर ब्रह्मचारी का उस पर सर्वप्रथम अधिकार है। इसलिये ब्रह्मचारी के आने पर भोजन के पूर्व उसे भिक्षा दे देनी ही चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संवर्ग विद्या की महत्ता के सम्बन्ध में एक कथा है, उसे आपको सुनाता हूँ। एक शौनक नाम के ऋषि थे, वे एक बार राजा कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी को यज्ञ कराने गये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! मैं तो किसी राजा का यज्ञ कराने जाता नहीं।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप तो कुलपति हैं। अन्य बहुत से याजक आप ही के यहाँ यज्ञ कराने आते हैं। आप तो भृगु गोत्रीय भार्गव हैं। ये शौनक दूसरे हैं ये कपि गोत्रीय हैं। प्रतीत होता है ये कर्मकांड में परम-स्नात तथा वेद विद्या में पारंगत थे। राजा चैत्ररथ को भी कपि गोत्रीय शौनकादि ऋत्विजों ने यज्ञ कराया था। ये संवर्ग विद्या के भी ज्ञाता थे। ब्राह्मणों के नाम के आगे प्रायः उनका गोत्र होता है और क्षत्रियों का परिचय उनके पिता से या उनके वंश में कोई प्रसिद्ध पुरुष हो गये हो, उनके अपत्य सम्बन्ध से कराया जाता है। इसलिये आप तो भृगु गोत्रोत्पन्न हैं, ये शौनक कपिगोत्रोत्पन्न कापेय हैं।"

शौनकजी ने कहा—"यथार्थ है, अब आगे की कथा कहिये।"

सूतजी बोले—"हाँ तो यज्ञ कार्यों के अनन्तर पाचकों ने शौनक और अभिप्रतारी दोनों ऋत्विज और यजमान को भोजन के लिये बुलाया। ये दोनों आकर अपने-अपने आसनों पर प्रसाद पाने बैठ गये। पाचकों ने भाँति-भाँति के व्यंजन उन दोनों के सम्मुख परसे। जब सब सामग्री परस गयी, तभी एक तेजस्वी ब्रह्मचारी भिक्षा माँगने आया। उस ब्रह्मचारी के अपूर्व तेज को देखकर शौनक मुनि को उसकी उपासना के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा हुई। वीणा है, तबला पखावज है तथा विद्वान् पंडित है, इनको जब तक छेड़ोगे नहीं, तनिक सी ठोकर न दोगे तब तक इनका मन मिलता नहीं। छेड़ने से ये मिल जाते हैं। अतः ब्रह्मचारी की उपासना का परिचय पाने की अभिलाषा से शौनक ने उन तेजस्वी ब्रह्मचारी को छेड़ा। पाचकों से कहा—"इन ब्रह्मचारी को भिक्षा मत दो।"

ब्रह्मचारी ने कहा—"भोजन का समय है, मैं भोजन का अधिकारी हूँ, यह राजा धार्मिक है, आप वेदज्ञ ऋषि हैं। भोजन काल में आये हुए ब्रह्मचारी को तो भिक्षा देनी ही चाहिये।"

शौनक ने पूछा—"क्यों देनी चाहिये ?"

ब्रह्मचारी ने कहा—"इसलिये देनी चाहिये कि शास्त्र की आज्ञा है।"

शौनक ने पूछा—"क्या तुम शास्त्र का अर्थ जानते हो ?"

ब्रह्मचारी ने कहा—"आचार्य पूज्य श्री गुरुदेव की कृपा से किंचित् जानता हूँ।"

शौनक ने कहा—"यदि जानते हो, तो या तो हमसे कोई प्रश्न पूछो, या हम जो पूछें उसका उत्तर दें।"

ब्रह्मचारी ने कहा—"अच्छा, हम ही आप से एक प्रश्न पूछते हैं।"

शौनक ने कहा—"अच्छा, पूछिये।"

ब्रह्मचारी ने कहा—"इन चतुर्दश भुवनों की प्रजा का पालन करने वाला एक देव है। उसने चार महात्माओं को निगल लिया है। वह एक ही प्रजापति देव इन भुवनों में अनेक रूप से निवास करता है, वह विविध रूप रखकर विचरता है, किन्तु मर्त्यधर्मी मनुष्य उस देव को देखते नहीं। बताइये वह देव कौन-है ? अच्छा, एक बात और बताओ, जिसके लिये अन्न है उसे ही अन्न नहीं दिया गया, यह क्या बात है ? मेरे इन प्रश्नों का आप उत्तर दीजिये। हे कापेय गोत्रीय शौनक ! हे कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारिन् ! आप दोनों में से जो चाहें उत्तर दें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब ब्रह्मचारी ने दोनों से ये प्रश्न किये, तो क्षत्रिय होने के कारण अभिप्रतारी तो चुप ही रहा। शौनक ऋषि ने ब्रह्मचारी के प्रश्नों पर विचार किया, कुछ

देर तक वे मनन करते रहे। फिर वे बड़े प्रेम से ब्रह्मचारी के समीप में ही चले गये। और हँसते हुए बोले—"ब्रह्मचारिन्! आप जिस एक देव के सम्बन्ध में पूछ रहे हैं। वह देव समस्त देवताओं की आत्मा है, समस्त प्रजाओं की उत्पत्ति का कारण वही है। जिसकी दाढ़े सुवर्ण की हैं। अर्थात् उसके सुन्दर दाँत स्थायी हैं, वे टूटते-फूटते नहीं। चाहे सुवर्ण भी हो उसे भी चबा जाता है। दूसरों को तो वह खा जाता है, किन्तु दूसरे उसे खा नहीं सकते। वास्तव में जो अन्न नहीं है, उसे भी वह भक्षण कर जाता है। हे ब्रह्मचारिन्! हम उसी देव की उपासना करते हैं। उसका नाम संवर्ग है। वह अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल को निगल जाता है और वाणी, नेत्र, श्रोत्र तथा मन आदि इन्द्रियों को भी निगल जाता है। वास्तव में अन्न अग्नि के लिये-अग्नि स्वरूप ब्रह्मचारी के ही निमित्त ही पकाया जाता है। अवश्य आप भिक्षा के अधिकारी हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो! ब्रह्मचारी के प्रश्नों का उत्तर देकर कापेय शौनकजी ने पाचकों से कहा—"इन ब्रह्मचारी को भाई! शीघ्र ही भिक्षा दो।"

शौनक मुनि की आज्ञा पाकर सेवकों ने तुरन्त ब्रह्मचारी को भिक्षा दे दी। ब्रह्मचारी भिक्षा लेकर चला गया। तब उन दोनों ने प्रसन्नता पूर्वक प्रसाद पाया। इस प्रकार यह दश संख्यक संवर्ग उपासना का महत्त्व बताया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी इस संवर्ग उपासना को दश संख्यक कैसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"इसकी व्याख्या भगवती श्रुति स्वयं ही करती है। वायु ही अग्नि, सूर्य चन्द्र और जल को भक्षण करने वाला है। तो अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा जल और पाँचवीं वायु पाँच

तो ये अधिदैवत हुए। इनसे अन्य वाक्, नेत्र, श्रोत्र, मन और पाँचवें प्राण ये पाँच अध्यात्म हुए। इस प्रकार ये दोनों मिलाकर दश संख्या वाले दशकृत के समान हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"दशकृत क्या ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! आपने तो कभी द्यूत क्रीड़ा क्यों खेली होगी ? गृहस्थियों का द्यूत एक व्यसन है। हमारे भोले बाबा शंकरजी भगवती पार्वतीजी के साथ द्यूत क्रीड़ा करते हैं। श्यामसुन्दर भी श्रीमती किशोरीजी के साथ क्रीड़ा करते हैं। द्यूत खेलने के चार पासे होते हैं। एक पासे पर तो चार गोल चिह्न अंकित रहते हैं। दूसरे पासे पर तीन गोल चिह्न तीसरे पासे पर दो तथा, चौथे पासे पर एक गोल चिह्न अंकित रहता है। जिस पर चार चिह्न अंकित रहते हैं उसे तो कृत पासा कहते हैं। तीन वाला त्रेता, दो वाला द्वापर और एक वाला कलि कहलाता है। जिसके चारों चिह्न वाला पासा पड़ गया तो त्रेता द्वापर, कलि सबके सब पराजित माने जाते हैं। वह कृत वाला पासा सबके फलों को ग्रहण कर लेता है। इसी का नाम दशकृत है। चार, तीन, दो और एक मिलकर दश होते हैं यह संवर्ग विद्या भी दशकृत है। दिशायें भी दश ही होती हैं। इन दशों दिशाओं में अन्न ही होता है। विराट् नामक जो वैदिक छन्द है वह भी दश मात्रा वाली ही होती है। अतः वास्तव में जो विराट् है वही अन्न को खाने वाला है। अतः वायु में विराट् की भावना करके उपासना करनी चाहिये। क्योंकि वह परब्रह्म परमात्मा ही विराट् है और वह अन्न स्वरूप कहलाता है। अतः आध्यात्म और आधिदैविक जो ५-५ बताये थे भी विराट् स्वरूप होने से अन्न ही हैं। दश और अन्नादी दोनों ही विराट् स्वरूप हैं।"

इस प्रकार भली भाँति जानकर ऐसा निश्चय करके जो-

जो दशकृत संवर्गोपासना की विराट्रूप से उपासना करता है, उसे दशों दिशाओं में कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रहती। उसे ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त भोक्तृ भोग्य रूप में सभी का ज्ञान हो जाता है, वह विराट्रूप से अन्न रूप और कृतरूप से अन्नादी हो जाता है। वह जो खाता है वही पच जाता है। उसकी अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। यही दशकृत संवर्ग उपासना का फल है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह दशकृत संवर्ग उपासना कही गयी। अब आगे जैसे षोडश कला वाली ब्रह्मविद्या सत्यकाम जाबाली की कथा द्वारा बतायी जायगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

शौनक सोच्यो, कही—आतमा सुरनि कहावै।
प्रजाजनक मेधावि सुभक्षण शील लखावै॥
सबकूँ भक्षण करै जाइ दूसर नहिँ खावै।
तिहि उपासना करैं योग्य बटु भिक्षा पावै॥
पंच पंच दश अन्य हैं, दशकृत अन्न दिशानि जो।
अन्नादी वीराट यह, सब जाने अन्नाद सो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में प्रथम,
द्वितीय तथा तृतीय खण्ड समाप्त

छप्पय शतकत्रय

(श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

(राजर्षि भर्तृहरिजी के तीनों शतकों का छप्पय पद्यानुवाद)

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित-सा होता जा रहा है। श्री ब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की इस पुस्तक का मूल्य लागत मात्र। सटीक भागवत चरित छप रहा था इस कारण यह पुस्तक बीच में रुक गयी अब शीघ्र ही छप रही है।

छप गया छप गया !! छप गया !!!

श्री भागवत-चरित सटीक

टीकाकार

'भागवत चरित व्यास' पं० रामानुज पाण्डेय,

बी० ए० विशारद

'भागवत चरित' विशेषकर ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। जो लोग ब्रजभाषा को कम समझते हैं, उन लोगों को छप्पय समझने में कठिनाई होती है। उनके लिये लोगों की माँग हुई कि छप्पयों की सरल हिन्दी में भाषा-टीका की जाय। संवत् २०२२ विक्रमी में इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ। उसकी दो हजार प्रतियाँ छपायीं। छपते ही वे सब-की-सब निकल गईं। अब उत्तरार्द्ध की माँग होने लगी। जो लोग पूर्वार्द्ध ले गये थे, वे चाहते थे पूरी पुस्तक मिले किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण छपने में विलम्ब हुआ साथ ही लोगों की यह भी माँग थी, कि कुछ मोटे अक्षरों में छापा जाय। प्रभु कृपा से अब के रामायण की भाँति बड़े आकार में मोटे अक्षरों में (२० पा०) अर्थ सहित प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक खंड में ८५० से अधिक पृष्ठ हैं मजबूत एवं सुन्दर कपड़े की जिल्द, चार-चार तिरंगे चित्र और लगभग ३५० एकरंगे चित्र हैं। मूल्य लागत मात्र से भी कम २२) रु० रखा गया है। एक खंड का मूल्य ११) रु० डाक खर्च अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें। फिर न कहना हमें सूचना नहीं मिली। थोड़ी ही प्रतियाँ शेष हैं।

—व्यवस्थापक

हमारी ३ नयी पुस्तकें—

१—सटीक भागवत चरित (प्रथम खण्ड)—

बड़े आकार में, मोटे टाइप में—सुन्दर २८ पौंड के कागज पर सजिल्द-सचित्र (दुरंगा चित्र १, बहुरंगे ४—सादे लगभग १०० चित्र) छप्पय और उनका सरल भाषा में अर्थ, लगभग ८५० पृष्ठ—मूल्य केवल ११) रुपया अन्तर्कथाओं सहित।

२—सटीक भागवत चरित (द्वितीय खण्ड)—

सब विशेषतायें वही। सटीक सजिल्द, अन्तर्कथायें बहुरंगा चित्र—१ तिरंगे चार, सादे लगभग २५० चित्र—मूल्य वही ११) रुपया।

३—सटीक राघवेन्दु चरित—

सब विशेषतायें वही। पृष्ठ संख्या १०८ मूल्य १ रु० ५० पैसे।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा (१०८ खण्डों में)—९१ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १ ६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६.५०

३—सटीक भागवत चरित (दो खण्डों में)— एक खण्ड का मू० ११.००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०सं० ३५० मू० ३.४५

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २.५०

७—कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २.५०

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.५०

१०—श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डों में)— प्रथम खण्ड का मू० १.६०

११—नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ०.६८

१२—श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.६५

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३१

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद संस्मरण, मू० ०.३१

१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७—राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ०.४०

१८—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३१

१९—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ०.२५

२०—भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४.०० द्वितीत खड मू० २.५०

२१—सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दो सहित मू० ० ७५

२२—प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२० २५—प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२३—वृन्दावन-माहात्म्य—मू० ०.१२ २६—श्री हनुमत्-शतक— मू० ०.५०

२४—सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० २७—महावीर-हनुमान्— मू० २.५०

प्राप्ति—सकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)

[मुरली मनोहर]

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ९२

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-० रुपया

प्रथम संस्करण १००० } फरवरी १९७२ फाल्गुन सं०-२०२८ { मूल्य १.६५

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
संस्मरण (११)	१
१. सत्यकाम की कथा द्वारा सत्य की महिमा	१८
२. सत्यकाम को ब्रह्म के एकपाद का वृषभ द्वारा उपदेश	२७
३. सत्यकाम को ब्रह्म के द्वितीय पाद का अग्नि द्वारा उपदेश	३२
४. सत्यकाम को ब्रह्म के तृतीय पाद का हंस द्वारा उपदेश	३७
५. सत्यकाम को ब्रह्म के चतुर्थ पाद का मद्गु द्वारा उपदेश तथा आचार्य द्वारा उसी ज्ञान की पुष्टि	४४
६. ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में उपकोसल ब्रह्मचारी की कथा	५०
७. तीनों अग्नियों द्वारा उपकोसल को उपदेश	५९
८. आचार्य द्वारा उपकोशल को उपदेश	६५
९. संयद्वाम उपासना तथा ब्रह्मवेत्ता की गति	७२
१०. पवन को यज्ञ मानकर उसकी उपासना	८०
११. यज्ञदोष के प्रायश्चित स्वरूप व्याहृतियों की उपासना तथा यज्ञों में श्रेष्ठ ब्रह्मा की विशिष्टता	८९
१२. ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण सम्पन्न-प्राणोपासना	९६
१३. प्राण का अन्न और वस्त्र निर्देश	११०
१४ महत्व प्राप्त कराने वाले मन्थकर्म की विधि	११५
१५. मन्थ भक्षण विधि तथा कर्म समृद्धि सूचक स्वप्न	१२२
१६. श्वेतकेतु और प्रवाहण सम्वाद	१२८
१७. प्रश्न पयोधि पार हेतु पिता-पुत्र का प्रवाहण के पास प्रस्थान	१३६
१८. प्रवाहण द्वारा अपने पूछे प्रश्नों में से सर्वप्रथम पंचम प्रश्न का उत्तर	१४२
१९. प्रवाहण के प्रथम द्वितीय और तृतीय प्रश्नों का उन्हीं के द्वारा उत्तर	१५१
२०. प्रवाहण के चतुर्थ प्रश्न का उन्हीं के द्वारा उत्तर	१६३
२१. वैश्वानर विद्या के निमित्त ऋषियों का अश्वपति राजा के समीप गमन	१७१
२२. अश्वपति और आगत मुनिगण	१८१
२३. राजर्षि अश्वपति और महर्षि प्राचीनशाल सम्वाद	१८८

संस्मरण

[११]

(न्याय और दण्ड)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्म सूत्रैर्ग्रथितो हि लोकः ॥*

(अ० रा०)

छप्पय

जो जैसो कछु देइ अन्य जन्मनि सो पावै ।
अपनो ही जो मात बैठि दूसर घर खावै ॥
शत्रु मित्र नहिँ कोइ भाग्य जस तस बनि जावैं ।
सगे शत्रु बनि जाइँ अन्य प्रिय सुख पहुँचावैं ॥
हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख दुख, जीवन चर-अचर ।
सबहिँ भाग्यवश मिलत हैं, व्यरथ करत अभिमान नर ॥

---

* कोई किसी को न सुख देता है, न दुःख । दूसरो ने हमे यह सुख अथवा दुःख दिया यह कुबुद्धि है । मैं करने वाला हूँ, यह व्यर्थ का अभिमान है, वास्तव मे तो यह सम्पूर्ण ससार स्वकर्म सूत्र मे आबद्ध है । जैसा करोगे वैसा भरोगे ।

वास्तव में जीव पूर्वजन्म कृत कर्मों के कारण दैव या प्रारब्ध के वशीभूत होकर अपने को कर्ता मानकर–विवश होकर–कर्म कर रहा है और दुःख-सुख भोग रहा है। दुःख का कारण क्या है? अहता ममता और अपने में कर्तृत्व अभिमान। मैं यह हूँ, वह हूँ, ऐसा हूँ, वैसा हूँ। यह वस्तु मेरी है, इसे दूसरा कैसे लेता है। मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैं यदि ऐसा करता, तो ऐसा न होता, या मैं यह करता, तो ऐसा हो जाता। बस, इन्हीं कारणों से जीव अपने को दुखी अनुभव करता है, शोकमग्न, दुखी, चिंतित बना रहता है।

यदि यह निश्चय कर ले कि आयु, कर्म, धन, विद्या और जीवन-मरण ये सब भाग्यवश होते हैं, जन्म से पूर्व ही प्रारब्ध कर्मों का निर्माण हो जाता है जो हमारी प्रारब्ध में होगा, वह हमें अवश्य ही प्राप्त हो जायगा, उसे ब्रह्मा भी नहीं बदल सकते। जो हमें न प्राप्त होना होगा, वह लाख प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये जिस वस्तु पर तुम्हारा मन चले और वह तुम्हें प्राप्त न हो, तो दुखी मत होओ। सोच लो, यह हमारे भाग्य में थी ही नहीं। कोई वस्तु बिना प्रयत्न के तुम्हें अकस्मात् प्राप्त हो जाय, तो विस्मित भी मत होवो कि हमने इसके लिये प्रयत्न तो किया ही नहीं था, यह हमें कैसे प्राप्त हो गयी? सोचो—"यह तो मुझे प्राप्त होनी ही थी, तो कैसे प्राप्त न होती। तुमने किसी की प्राप्ति के लिये शक्तिभर प्रयत्न किया, फिर भी वह तुम्हें प्राप्त न हो सकी, तो सोच मत करो, चिंतित न हो, दुःख न करो। सोचो–यह मेरे प्रारब्ध में ही नहीं थी। फिर प्राप्त कैसे होती। इस प्रकार जो सुख-दुःख में, लाभ-अलाभ में, जय-पराजय में, प्राप्त-अप्राप्त में सम रहता है, वही ज्ञानी है उसने ही प्रारब्ध के रहस्य को समझा है।"

आप ही सोचो, किसी का हमने कुछ भी बिगाड़ा नहीं है, फिर भी वह हमसे शत्रुता करता है। इसके विपरीत जिनसे जान-पहिचान नहीं, नमस्कार प्रणाम नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं फिर भी वह हमारे लिये प्राण देने को तत्पर है, तो इसमें प्रारब्ध के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा कारण हो सकता है। शत्रु मित्र कोई उपजते थोड़े ही हैं। एक व्यक्ति कुछ लोगों का मित्र है, कुछ का वही शत्रु हो जाता है। माता के उदर से उत्पन्न होकर-अपना सगा भाई-शत्रु हो जाता है। इसके विपरीत भिन्न देश के, भिन्न जाति सम्प्रादाय के लोग मित्र बन जाते है। यह प्रारब्ध ही का तो खेल है। देखिये, रावण का सगा भाई शत्रु के आक्रमण के समय रावण को छोड़कर चला गया, शत्रु सेना से मिल गया। इसके विपरीत श्रीरामचन्द्रजी की माता कैकेयी उनके वनवास का कारण हुई। जिन रीछ वानरों से कोई सम्बन्ध नहीं था, वे श्रीरामचन्द्र के सहायक बन गये। उन्होंने राम काज के लिये प्राणों का पण लगा दिया। इसीलिये भीष्म पितामह ने बड़े ही दुःख के साथ कहा था—"लोग कहते हैं धर्म न करने से लोग दुःख पाते हैं हमारे युधिष्ठिर तो साक्षात् धर्म के अवतार ही हैं, वे कभी धर्म के विरुद्ध आचरण नहीं करते, फिर भी दुःख भोग रहे हैं। बहुत से लोग कहते हैं, जिसके सहायक बलवान् होते हैं वे दुःख नहीं उठाते सुखी रहते हैं। युधिष्ठिर के भाई सभी बलवान् हैं, उनकी आज्ञा में चलने वाले हैं। भीम गदा लेकर युद्ध में खड़े हो जायँ तो यमराज भी उन्हें जीत नहीं सकते। फिर भी भीम के रहते हुए भी पांडव सुखी कहाँ हैं, दुःख के ऊपर दुःख उन्हें प्राप्त हो रहा है। कुछ लोग कहते हैं—जो साधनहीन हैं वे ही दुःख झेलते हैं। पांडवों के पास सभी साधन हैं। संसार में किसी के भी पास न होने वाला अद्वितीय गांडीव धनुष और उसके चलाने वाले वीर

अर्जुन हैं, इतने सुन्दर साधनों के रहते हुए भी पांडवों पर विपत्ति के ऊपर विपत्तियाँ आती रही हैं।"

बहुत से कहते हैं—"जिनके अच्छे मित्र नहीं होते वे दुखी होते हैं। तो पांडवों के अभिन्न मित्र तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं। ऐसे मित्र के रहते हुए भी बेचारे विपत्तियों के भार को लादे वन-वन अनाथों की भाँति घूमते रहे हैं। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि ये सब भाग्यवश दैव के अधीन ही सुख-दुःख होते रहते हैं। लोकपालों के सहित संम्पूर्ण संसार दैवाधीन है। औरों की बात जाने दो, जो भगवान् कालातीत हैं, कर्म बन्धनों से रहित हैं, अनादि अनन्त हैं, जन्म मृत्यु से परे हैं, वे भी लीला के ही लिये सही—धर्म संस्थापना के ही निमित्त मान लो—भृगु के शापवश दश बार अवतार लेते हैं। वृन्दा के शाप से पाषाण होते हैं, इन सबसे यही सिद्ध होता है सब कुछ भाग्य से ही मिलता है। पूर्वजन्म कृत कर्म संचित कर्मों में संचित होते रहते हैं। एक जन्म के भोगने को जो प्रारब्ध कर्म मिलते हैं जीव विवश होकर वैसे ही कर्मों को करने को उद्यत हो जाता है। भवितव्यता के अनुसार ही बुद्धि बन जाती है। मनुष्य इच्छा न रहने पर भी भाग्यवश उन कामों में प्रवृत्त हो जाता है। अतः प्रारब्ध कर्मों के रहस्य को जानने वाले सुख-दुख को सम समझते हैं, सुख में फूल कर कुप्पा नहीं होते, दुःख में आँसू नहीं बहाते। अपकार करने वाले पर क्रोध नहीं करते, उपकार करने वाले की लल्लो चप्पो नहीं करते। आज्ञा मानने वाले के प्रति मोह नहीं करते, न आज्ञा मानने वाले से द्वेष नहीं करते, सर्वत्र दैव का हाथ देखते हैं। वे कभी दुखी नहीं होते। वे समस्त कार्यों को ईश्वरकृत मानते हुए चुपचाप अनासक्त भाव से तटस्थ होकर प्रारब्ध की लीला को—सुखान्त नाटक की भाँति हँसते हुए देखते रहते हैं।"

हमारे अनेक जन्म हो चुके हैं। उनके अनेकों माता पिता, सगे-सम्बन्धी तथा शत्रु मित्र हो चुके हैं। वे सब भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेकर उपकार करके अपना ऋण चुकाते रहते हैं। इसीलिये भगवान् का नाम मृत्यु भी है और दुःख देने वाला भी है। सुख-दुख दोनों को भगवान् की देन समझे दोनों में प्रभु का दर्शन करे तो उसके लिये संसार मे सुख ही सुख है, दुःख का लेश भी नहीं। जो लोग सबको मित्र के चक्षु से देखते हैं, सब उसके साथ मैत्री भाव रखते हैं।

माता कौशल्या जब श्रीराम के लिये दुखी होने लगी–कि मेरे सुकुमार बच्चे को वन मे भोजन कौन देगा, तब वसिष्ठजी ने कहा था—"माँ! जिसके लिये इतने प्राणी सौहार्द्र भाव जता रहे हैं, रो रहे हैं जो इतने लोगों का प्रिय है, क्या वन के खग, मृग, वृक्ष उसकी सहायता न करेंगे? शत्रु मित्र सर्वत्र मिल जाते हैं। वे खोजने नहीं पड़ते। जीवन में पग-पग पर इसका सभी को अनुभव होता है, किन्तु यह प्राणी भूल जाता है। किये हुए का स्मरण नहीं करता। संस्मरणों को स्मरण नहीं करता। नाटक देखने तुम बनावटी नाट्यशाला मे क्यों जाते हो। यह जगत् ही नाट्यशाला है, इसमें निरन्तर नाटक ही तो होते रहते हैं। बनावटी नाट्यशालाओं में तो इन जगत् के नाटकों का अनुकरण–अभिनय–होता है। यथार्थ नाटक तो जगत् है, प्रत्येक घटना नाटक ही तो है।

अपने जीवन में मैं अनेको बार जेल गया। अनेकों न्याय-कर्ताओं, अधिकारियों तथा कर्मचारियों से काम पडा। मेरे साथ तो सभी ने अत्यन्त मैत्री भाव शिष्टाचार का वर्ताव मुझसे उनका कोई परिचय नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं, कोई भय नहीं, किन्तु सभी का व्यवहार परम आत्मीय

भाँति रहा। जितनी जेलों में गया, वहाँ के सभी अधिकारियों का व्यवहार इतना मैत्री पूर्ण रहा कि मुझे आश्चर्य होता था। अभी तक एक भी न्यायकर्ता या जेल के किसी भी अधिकारी का मुझे स्मरण नहीं आता जिसने कभी भी मेरे साथ अशिष्ट व्यवहार किया हो। न्यायकर्ता न्यायाधीशों ने मेरी अशिष्टता की ओर ध्यान न देकर भी मेरे साथ सदा शिष्ट व्यवहार किया। उनमें कई तो विधर्मी विदेशी थे। जीवन में बड़े-बड़े अद्भुत-अद्भुत अनुभव हुए। बड़े-बड़े नाटक देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। बुलन्दशहर कारावास में जाने के पूर्व मैंने न्याय स्थान-जिसे कच-हरी-वालों तक को हरण करने वाली-कहते हैं। मैंने देखी नहीं थी। मैं संस्कृत का विद्यार्थी मुझे कच-हरी देखने की-वहाँ जाने की-आवश्यकता ही क्या थी। भोजन और पढ़ाई की चिन्ता के अतिरिक्त किसी से प्रयोजन ही नहीं। अब जब नेतागिरी का भूत सिर पर चढ़ा, तो सब कुछ देखना पड़ा।

जीवन में पहिले ही पहिले न्याय स्थल-कच-हरी-में गया। सो भी अभियुक्त बनकर। अभियुक्त भी ऐसा कि जिसका न्याय-कर्ता अधिवक्ता और सम्पूर्ण जनता हृदय से सम्मान करे। राज-चर-पुलिस वाले-जिसे सम्मान के साथ ले जायँ। न्यायकर्ता जिसे बैठने को पीठ-कुरसी-दे।

मैं पहिले ही बता चुका, कि मेरे परगने का अधिकारी मेरा बड़ा सम्मान करता था, वह मुझे पकड़ना ही नहीं चाहता था, किन्तु मैं पकड़वाने को तुरा रहा था-अन्त में परम विवश होकर उसने मुझे पकड़ा। वह भी अपराध में नहीं सन्देह में-१०८ धारा सन्देह की है, उसमें साक्ष्य द्रव्य (जमानत) वैयक्तिक विश्वास वचन (मुचलका) ही लिये जाते हैं। आप पर सन्देह है आप ऐसा काम कर सकते हैं, अतः इतने दिनों तक किसी योग्य आदमी से

विश्वास दिला दो ऐसा न करेंगे, या तुम स्वय वचन दो "कि इतनी अवधि तक हम ऐसा न करेंगे।" यदि मैं पकडे जाने के पूर्व ही ऐसा वचन दे देता तो मुझे कारावास आना ही न पडता। किन्तु मैं तो कारावास आने को उधार खाये बैठा था। भगवान से प्रति क्षण यही मना रहा था, कि श्यामसुन्दर जहाँ तुमने जन्म लिया उस अपनी जन्म भूमि में मुझे ले चलो। सो भगवान् ने मेरी ऐसी इच्छा पूर्ति की कि एक दो नहीं १४, १५ कारावास दिला दिये। जिस मथुरा के कारावास में श्यामसुन्दर ने जन्म लिया था, उस मथुरा कारावास में भी रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। वह भी विदेशी शासन में नहीं। अपने ही शासन म, अपने ही स्वबन्धुओं के राज्य मे।

हाँ, तो मेरा अभियोग न्यायलय में आरम्भ हुआ उस दिन साक्षी देने न्यायालय में जिला के सर्वोच्चचराधिकारी (पुलिस सुपरिटेन्डेंट) आने वाले थे वे अँगरेज थे। उन दिनों अँगरेजों का अत्यन्त प्रभाव था। अँगरेज अधिकारी के नाम से ही सब काँपने लगते थे। सेकडों सिपाही गणवेश में लाल-लाल पगडियाँ बाँधे सब मार्गों मे सुरक्षार्थ खडे थे। अब ऐसा सुरक्षा प्रबन्ध राज्यपालों के आने पर होता है मैं उन सिपाहियों के इतने समूह को देखकर आश्चर्य चकित रह गया। न्यायालय में न्यायकर्ता ने बडे आदर से मुझे बैठने को पाठ (कुरसी) दी। दर्शकों की पर्याप्त भीड़ थी। पुलिस अधिकारी आये। न्यायकर्ता ने उठकर उनसे हाथ मिलाया। अपने समीप बैठने को आसन दिया।

मैं समाचार पत्रों मे पढा करता था। न्यायालय म अमुक नेता ने ऐसा प्रभावशाली भाषण दिया, कि सब लोग स्तब्ध रह गये। मैंने भी उनका अनुकरण किया। अपनी बुद्धि के अनुसार पुलिस अधिकारी को तथा न्यायाधिकर्ता को सुनाते हुए

तड़क-भड़क से जैसे मंच पर भाषण देते हैं, वैसे भाषण दिया। दोनों मेरे भाषण को चुपचाप सुनते रहे। अन्त में हँसकर न्याय-कर्ता ने कहा—"आपके सैकड़ों भाषणों की प्रतियाँ तो हमारे पास पुलिस ने भेज ही दी हैं। उन सब को हमने पढ़ा है। आपको और कुछ कहना है ?"

मैंने कहा—"मुझे और कुछ भी नहीं कहना है।"

पुलिस अधिकारी ने अपना नाम, पद, कार्य बताकर खड़े होकर साक्षी दी। मेरे भाषणों की स्थान-स्थान की प्रतियाँ न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत की उनमें जो आपत्तिजनक अंश थे, उन्हें बताया।

सब सुनकर न्यायकर्ता ने कहा—"आप इतने रुपये का साक्ष्य और इतने का वैयक्तिक वचन दें तो अभी छोड़ दिये जायँगे।"

मेरे मना करने पर उसने अन्यमनस्कभाव से ६ महीने का बिना परिश्रम का-सादा-कारावास दण्ड सुना दिया। दण्डित होकर मैं पुनः कारावास में लौट आया।

उन न्यायकर्ता की सज्जनता, सौम्यता सरलता की मेरे हृदय पर बड़ी छाप लगी। उनका नाम स्यात् बाबू राजनारायणजी था। पीछे मैंने सुना मेरा अभियोग करके उन्होंने उसी समय सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दिया और राजा अवागढ़ के यहाँ दाना-ध्यक्ष की नौकरी कर ली। उन दिनों अवागढ़ राज्य के दानाध्यक्ष को उतना ही वेतन मिलता था जितना परगनाधिकारी पाते थे। कितना सज्जनतापूर्ण था उनका व्यवहार।

❀ ❀ ❀ ❀

अब मैं विचाराधीन बन्दी नहीं रह गया। अब तो नियमा-नुसार अपराधी बन्दी था। बुलन्दशहर जेल वाले मुझे रख नहीं

सकते थे। उन दिनों राजनैतिक बन्दियों के लिये बरेली, आगरा, लखनऊ, काशी और साकेत (फैजाबाद) ये ही कारावास निश्चत थे। अतः मुझे बरेली जेल भेजा गया। रात्रि मे चुपचाप तीन चार सिपाहियों के साथ मुझे रेल से भेजा गया। कारावास-जेल (जेलर) ने मार्ग मे भोजनादि को मेरे लिये तीन रुपये स्वयं अपने पास से दिये। मैं प्रातःकाल बरेली जेल मे पहुँचा दिया गया।

असहयोग आन्दोलन के पूर्व जेलो मे बन्दियो की कोई श्रेणियाँ नहीं थीं। कैसा भी बन्दी क्यों न हो, पढ़ा लिखा, लखपती, करोड़पति, चोर, डाकू, लुटेरे, गठकटे सब एक ही श्रेणी में रखे जाते थे। भले आदमी कोई जानबूझकर जेलो मे जाते ही नहीं थे। सब चोर जार अपराधी ही जाते थे। हाँ योरोपियनो के लिये पृथक् प्रबन्ध था वह योरोपियनशाला (वार्ड) कहलाता था। अब उच्चश्रेणी के प्रतिष्ठित पढ़े लिखे लोक विख्यात व्यक्ति स्वेच्छा से कारावासो को भरने लगे। वे भी साधारण अभियोगों में नहीं–राजनैतिक अभियोगो मे–तो सरकार ने शीघ्रता मे तीन श्रेणियाँ बना दीं। एक विशिष्ट श्रेणी (स्पेशल क्लास) जिसमे उच्च श्रेणी के सम्मानित, शिक्षित व्यक्ति रखे जाते। दूसरी राजनैतिक श्रेणी (पोलिटिकल प्रिजनर्स) जिसमे मध्यम श्रेणी के शिक्षित वर्ग के राजनैतिक कार्यकर्ता रखे जाते थे। तीसरे अराजनैतिक श्रेणी (नॉन पोलिटिकल प्रिजनर्स) अर्थात् जो राजनैतिक काम मे पकड़े जाने पर भी सरकार जिन्हें राजनैतिक नहीं मानती थी। वे सर्वसाधारण कैदियों के समान सर्वसाधारण बन्दियों के साथ रखे जाते थे। पहिले तो तीनों श्रेणियों के बन्दी सभी जेलों में रखे जाते थे। फिर विशिष्ट श्रेणी वालों के लिये बरेली, काशी, आगरा और लखनऊ ये चार कारावास निश्चित

हुए द्वितीय श्रेणी के भी इनमें पृथक् रखे जाते थे। अन्त में तीनों जेलों से हटाकर विशिष्ट श्रेणी के बन्दी केवल लखनऊ में और द्वितीय श्रेणी के केवल फैजाबाद में रखे गये। शीघ्रता में आयोग नियुक्त हुआ। उस आयोग के सदस्यों ने बिना किसी नियम के जिन्हें योग्य सुशिक्षित, प्रतिष्ठित व्यक्ति देखा उसे विशिष्ट श्रेणी में रख दिया। मध्यम श्रेणी का जिसे समझा उसे राजनैतिक श्रेणी में रख दिया।

मैं जब बरेली पहुँचा तो उस समय विशेष श्रेणी में १०-१५ ही व्यक्ति थे। ज्वालापुर महाविद्यालय के उपकुलपति पं० नरदेव जी शास्त्री, अलमोड़ा की शक्ति के सम्पादक पं० बदरीदत्तजी पांडेय, लखनऊ के पं० हरिकरण जी मिश्र, खुरजा के स्वामी योगानन्द जी, बुलन्दशहर के अतरसिंह जी, सिकंदाबाद के विश्वशर्मा, अवध के किसान नेता बाबा रामचन्द्र जी, अलमोड़ा के पं० केदारदत्तजी पंत आदि-आदि इनमें प्रायः सभी अपने परिचित ही थे। इन लोगों को विशिष्ट श्रेणी में रखा गया। मुझे राजनैतिक श्रेणी में। मैं अपने को बहुत बड़ा नेता लगाता था। मुझे द्वितीय श्रेणी में रखा गया। इससे मेरे आत्मसम्मान को ठेस लगी। आते ही मैंने आन्दोलन करने की ठानी। हमारे साथ अलमोड़े के २०-२५ आदमी थे। ये सब जंगलात सत्याग्रह में पकड़े गये थे। इनमें पं० केदारदत्तजी पंत भी थे उन्हें विशिष्ट श्रेणी मिली थी, किन्तु वे उसका परित्याग करके हम राजनैतिक द्वितीय श्रेणी वालों के साथ ही रहते थे। विशिष्ट श्रेणी वालों को १॥) रुपया नित्य नकद मिलता था। उस समय के १॥) आज के १५-२० रुपयों के बराबर होंगे। द्वितीय श्रेणी वालों का भी भोजन पृथक् बनता था। उनसे कोई काम नहीं लिया जाता था, अपने वस्त्र पहिन सकते थे। विशिष्ट श्रेणी में कुछ लोग इस पक्ष

मे थे, कि राजनैतिक बन्दियों मे भेदभाव नहीं होना चाहिये, सब को एक ही श्रेणी मे रहना चाहिये। कुछ सुन्दर सुविधाओं को देखकर, १॥) नित्य के लोभ से कहते– "भाई, हम किसी से श्रेणी माँगने तो गये नहीं हम तो बन्दी हैं। सरकार हमें जैसे रखेगी, जहाँ रखेगी वहीं रहना पड़ेगा।" ऐसी तर्क देकर वे विशिष्ट श्रेणी मे रहना चाहते थे।

हम लोगों को उन्हे सुखदपीठ (आरामकुरसियों) पर बैठा देखकर, फल फूल, मेवा मिठाई खाते देखकर ईर्ष्या होती। उन्हें रायबहादुर आदि अपमानजनक शब्दों से सम्बोधित करते। यह जीव कितना स्वार्थी है। जो वस्तु उसे प्राप्त नहीं होती दूसरों पर उसे देखकर ईर्ष्या करता है। उसमे नाना अवगुण देखता है, उसकी निन्दा करता है। जब स्वय उसे वह प्राप्त हो जाती है, तो प्रकारान्तर से उसकी प्रशसा करने लगता है। अपनी विवशताओं को बताकर उसका समर्थन करने लगता है। जिस विशिष्ट श्रेणी का मैं निन्दा करता था, वही जब मुझे प्राप्त हो गयी, तो मै फिर उन्ही मे घुल मिल गया, फिर मैं उसका प्रबल समर्थक बन गया।

वहाँ के कारागाराधिकारी (जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट) एक कर्नल लैप्स्ले नामक अँगरेज व्यक्ति थे। विशिष्ट श्रेणी वालों के साथ उनका व्यवहार बहुत सौहार्द्रपूर्ण तथा भद्रतापूर्ण था। वैसे वे सज्जन व्यक्ति थे, किन्तु मुझे तो कुछ न कुछ उपद्रव करना था 'आ बैल मुझे मार' मैं पहुँचा था उसी दिन या उसके दूसरे दिन माघ शुक्ला वसतपञ्चमी (स० १९७८) थी। विशिष्ट श्रेणी में वसंत पचमी का त्योहार बडी धूम धाम से मनाया गया। प० नरदेव शास्त्री ने वासंती हवन वेद मत्रों से कराया। मीठे केसरिया चावल बने, बडा उत्साह रहा।

जेल मे भोजन बनाने की भट्टियाँ होती हैं। उनमें बहुत बड़ी-

बड़ी लोहे की चद्दरें जड़ी रहती हैं, उन्हें तवा कह लीजिये। उनमें एक साथ ५०-१०० रोटी सिक जाती हैं। रोटी ऊपर ही परामठों की भाँति सिकती है कुछ कच्ची भी रह जाती होगी। बड़े बड़े बेलनों से बहुत लम्बी बेल दी जाती है फिर एक चलनी जैसे साँचे से गोल-गोल काटकर तवे पर ही सेकी जाती हैं। सर्व-साधारण बन्दी उन रोटियों को बड़े प्रेम से खाते हैं। भूख में किवाड़ भी पापड़ का स्वाद देती हैं। मैंने रात्रि में सबसे सम्मति की कि ऊपर तवे पर सिकी रोटी कच्ची रहती हैं, हमारे लिये पृथक् घई में सिकी रोटी बननी चाहिये। जब तक ऐसी रोटियों का प्रबन्ध न हो, तब तक कोई रोटी न ले उपवास करें।"

वहाँ के सभी लोग उस भोजन से असन्तुष्ट थे, किन्तु अग्रणी कौन बने-बिल्ली का मुख कौन पकड़े-जब मैंने दृढ़ता दिखायी तो सभी सहमत हो गये। दूसरे दिन भोजन आया। एक ने भी नहीं लिया। अब तो कारावास में बड़ी हलचल मच गयी। भोजन न लेना कारावास में सबसे बड़ा आन्दोलन है और सबसे बड़ा वहाँ का अपराध है। हमें समझाने विशिष्ट श्रेणी के लोग आये। हमने सरकारी पिट्ठू-रायबहादुर-कहकर उनकी बात नहीं मानी। पूरा दिन बीत गया। दूसरे दिन कारावासाधिकारी आया। उसने मुझसे पूछा—"तुम क्या चाहता है?"

मैंने कहा—"तवे पर सिकी रोटी कच्ची रोटी रहती है, हमें घई में सिकी रोटी चाहिये।"

तवे से उतारकर जो नीचे चूल्हे में कोयलों या अंगारों पर रोटी सेकी जाती है, जिससे वह फूल जाती है, उसे घई कहते हैं। उस अँगरेज ने समझा ये घी में सिकी रोटी चाहते हैं।

उसने कहा—"घी यहाँ नहीं मिलता। तैल दाल में डाला जाता है।"

मैंने कहा—"हम घी नहीं माँगते। चूल्हे के नीचे सिकी रोटियाँ चाहते हैं।"

तब किसी भारतीय कर्मचारी ने अँगरेजी में उसे सब कुछ समझाया। वह अच्छा कहकर चला गया। मेरी आचार पत्रिका (हिस्ट्री टिकट) मँगायी गयी। उस पर लिख दिया गया भयावह बन्दी (डेन्जरेस प्रिजनर) खतरनाक कैदी—और तुरन्त मुझे फैजाबाद कारावास के लिये भेज दिया गया। बरेली कारावास में मैं दो या तीन दिन ही रहा।

फैजाबाद का कारावास विशेषरूप से राजनैतिक बन्दियों के लिये ही अतिरिक्त कराया गया था। उसके कारावासाधिकारी रायबहादुर मिट्ठन लाल जी बनाये गये थे। वे पहिले चुनार की बाल अपराधिनी जेल के अधिकारी थे। सरकार के शुभ चिन्तकों में माने जाते थे तभी तो रायबहादुरी की उपाधि प्राप्त हुई। बड़े चालू मधुर भाषी—सूझ बूझ के व्यक्ति थे। मेरी आचार पत्रिका—देखकर बोले—"आपने बरेली में कोई उपद्रव कराया था?"

मैंने कहा—"नहीं, तो? सिकी रोटियों की माँग की थी।"

राय बहादुर बोले—"अच्छा, अच्छा कृपा करके यहाँ कोई ऐसा उपद्रव न करावें। आप जो कहेंगे हम वही करेंगे। आपको कोई कष्ट न होने पावेगा।"

वहाँ पूरे कारावास में स्वतन्त्रता थी। वाडों में बद नहीं होना पडता। पूरे कारावास में कहीं जाओ किसी से मिलो, जो चाहें सो करो। भोजनालय में भी हमारे ही आदमी जाते, जैसा चाहते भोजन बनाते। राय बहादुर जी सबसे हँस-हँसकर आत्मीय जनों की भाँति बातें करते। वहाँ कारावास-सा लगता ही नहीं

था। प्रायः सभी पढ़े-लिखे सुशिक्षित थे। स्वामी सहजानन्द जी गीता पर प्रवचन करते। तिलक महाराज के गीतारहस्य की कक्षायें लगतीं। सभायें होतीं कवि-सम्मेलन होते, हुड़दंगे और उपद्रव लड़ाई झगड़े भी होते।

हिन्दु मुसलिम एकता सिद्ध करने सब एक ही पत्तल पर रोटियाँ रखकर गोलाकर बैठकर खाते। मैं इसका विरोध करता, कि 'उच्छिष्ट खाना निषेध है।' वे कहते "उच्छिष्ट तो उसे कहते हैं जो मुँह में खाकर उगला जाय। एक पत्तल पर रोटियाँ रक्खी हैं। दाल सबकी अपनी-अपनी कटोरियों में है हम सब एक में से उठा-उठाकर खाते हैं उच्छिष्ट कहाँ हुआ ?"

मैं कहता—"जूठे हाथों से तो उठाते हो।"

वे कहते—"हाथ जूठे नहीं होते, मुख जूठा होता है।" किन्तु मैं उनकी बातों से सहमत न होता। मैं तो अपना भोजन सबसे पहिले पृथक् ले आता, अपने स्थान पर स्वच्छता से बैठकर अकेले ही पाता। इससे कुछ लोग मुझ पर छूआछूत मानने का दोष लगाते। कुछ ने मेरी बात का समर्थन किया और वे भी पृथक् भोजन लगाकर पृथक् बैठकर पाने लगे।

मानव स्वभाव से गम्भीर नहीं होता। किसी विशिष्ट व्यक्ति की बात पृथक् है। वैसे सर्वसाधारण लोग कुछ समय ही गंभीर रह सकते हैं। नहीं तो उन्हें वाद-विवाद, उछल-कूद, छेड़-छाड़-कहा-सुनी, मैत्री-शत्रुता सभी की आवश्यकता होती है। कुछ लोग कबड्डी खेलते, कुछ उपद्रव करते, कुछ को जब तक लड़ाई झगड़ा चहल पहल न हो आनन्द ही नहीं आता। भाँति-भाँति की माँगे उपस्थित करके अधिकारियों को विवश करते। वाद-विवाद होते। कटुता उत्पन्न होती। कारावास के अधिकारी अत्यन्त ही नम्रता का बर्ताव करते सबकी बातें सह लेते। अब

वे इतनी अधिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती नहीं रहे। कारावास के नियमों का पालन कराने की इच्छा से कुछ-कुछ कडाई करने को उद्यत हुए। इस पर नित्य ही चखचख होती।

इसी बीच मे सरकार ने पुनः एक आयोग की स्थापना की। उसका कार्य इस बात को निर्णय करने का था, कि कुछ अयोग्य व्यक्ति विशिष्ट श्रेणी मे पहुँच गये हैं, उन्हें वहाँ से प्रथम श्रेणी स निकालकर द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी मे भेज दिया जाय। कुछ योग्य व्यक्ति भूल से द्वितीय तृतीय श्रेणी मे चले गये हैं। उन्हे वहाँ से हटाकर प्रथम श्रेणी मे लखनऊ भेजा जाय। जिस जनपद का बन्दी हो उस जनपद के जिलाधीश से पूछा जाय यह किस श्रेणी के योग्य हैं।"

यह तो केवल कहने मात्र को था। वास्तविक बात यह थी कि विशिष्ट श्रेणी के लोग बहुत हो गये थे। उनकी संख्या सरकार अधिकाधिक घटाना चहती थी। बहुत विशिष्ट व्यक्तियो को ही विशिष्ट श्रेणी मे रखना चाहती थी। जिलाधीश जिससे चिढ़े थे वह चाहे कितना विशिष्ट, प्रतिष्ठित व्यक्ति हो, उसे वे दूसरी या तीसरी श्रेणी मे भेज देने को लिख देते। वह तुरन्त दूसरी श्रेणी राजनैतिक अथवा तीसरी श्रेणी का अराजनैतिक-साधारण बन्दी बनाकर अन्य जनपदीय जेलो मे भेज दिया जाता। इस प्रकार लखनऊ जेल से बहुत से विशिष्ट श्रेणी के बन्दी दूसरी या तीसरी श्रेणियों मे पृथक्-पृथक् जेलों मे भेजे जाने लगे।

अब एक दो को नीची श्रेणियो मे से भी ऊपर की श्रेणी मे भेजा जाना चाहिये। उनमें सर्व प्रथम मेरा नाम आया। सहसा एक दिन जेलपाल आया और बडे आदर से बोला—"आप विशिष्ट श्रेणी में लखनऊ भेजे जायँगे। उसके मन में यह बात बैठ गयी—ये कोई बहुत ही बड़े आदमी हैं। पूरी जेल मे यह

फैल गयी। मुझे मन ही मन प्रसन्नता हुई। कुछ लोगों ने इस ढङ्ग से पूछा—"जाओगे ?"

मैंने नम्रता से उत्तर दिया—"भाई, सरकारी बन्दी हैं, सरकार जहाँ भेजेगी जाना पड़ेगा।"

मनुष्य कितना स्वार्थपरायण है, जिसका मैं कल तक राय-बहादुरी कहकर तिरस्कार करता था, आज उसी श्रेणी में प्रसन्नता पूर्वक जाने को उत्सुक हो रहा हूँ। मुझमें ऐसी क्या विशेषता सरकार ने देखी जो द्वितीय श्रेणी से प्रथम में भेजा गया। पीछे अन्वेषण करने पर पता चला। हमारे जिले के जिलाधीश जो भरे न्यायालय में हमारे साथी श्री महावीर त्यागी में थप्पड़ लगवाया था, जिसका समाचार पत्रों में बड़ा प्रतिवाद हुआ। महात्मा गाँधी जी ने भी अपने समाचारपत्र में इसके विरोध में दो-तीन लेख लिखे। इसी का पीछे उस अँगरेज जिलाधीश को पश्चात्ताप हुआ। उसी के प्रायश्चित्त स्वरूप मुझ साधारण व्यक्ति को विशिष्ट श्रेणी में भेजने का आग्रह किया। मैंने पीछे सुना बुलन्दशहर जिले के विधायक बाबू नानकचंदजी ने विधान सभा में यह प्रश्न भी पूछा था—"ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी में ऐसी कौन-सी विशेषता है, कि उन्हें द्वितीय श्रेणी से प्रथम श्रेणी में भेजा गया ?"

तो सुनते हैं, हमारे यहाँ के जिलाधीश ने यही लिखकर भेजा कि पूरे जनपद में उनका इतना भारी प्रभाव है, कि उनकी एक उँगली के संकेत पर जिले भर के लोग सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि वे ब्राह्मण हैं।"

अँगरेज लोग ब्राह्मणों का हृदय से आदर करते थे। आज धर्म निरपेक्षवाद असम्प्रदायवाद, वर्गवाद और जातिवाद की विरोधिनी कही जाने वाली सरकार में जितनी हेय दृष्टि से ब्राह्मण देखे जाते हैं, उतने स्यात् ही और कोई देखे जाते हों।"

अस्तु, फैजाबाद जेल से हम लखनऊ जेल में होली से ८-९ दिन पूर्व फाल्गुन शुक्ला छटि या सप्तमी स १९७८ (४-३-२२ ई०) को आ गये। वहाँ अपने बरेली जेल के तथा अन्यान्य जेलों के सभी परिचित बन्धु मिल गये। जीवन में इतना सुन्दर सर्वाङ्गीण समागम—सब प्रकार के अनुभवों का अद्भुत अवसर फिर स्यात् कभी नहीं मिला। अब तो नियमित स्थान समाप्त हो गया। अगले सस्मरण की अगले खंड तक प्रतीक्षा करें।

छप्पय

यह जग अनुपम ग्रन्थ खुले पन्ना सब दिशि में।
नव नव अनुभव होइँ विचारे यदि नर चित में॥
नर नारी नित नये नई निज कथा सुनावैं।
पाप-पुण्य, सुख-दुःख-नित्य सब सीख सिखावैं॥
जगत ग्रन्थ अद्भुत अमित, अपनी अपनी सब बकैं।
सब सुनि सार निकारिके, बनैं विज्ञ जे पढि सकैं॥

प्रभुदत्त

सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर प्रयाग
चैत्र कृष्ण ७-२०२८ वि०

सत्यकाम की कथा द्वारा सत्य की महिमा

(१५६)

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे।
ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रोन्वहमस्मीति ॥*
(छां० उ० ४ प्र० ४ खं० १ मं०)

छप्पय

सत्यकाम जाबाल चले गुरुकुल पढ़िबे जब।
माँ तैं पूछ्यो गोत्र दयो उत्तर माँ ने तब॥
हौं परिचारिनि रही तोइ जायो यौवन महँ।
पिता गोत्र अज्ञात नाम तव सत्यकाम तहँ॥
सत्यकाम गुरु ढिँग गयो, बात सत्य सब कह दई।
सुनि प्रसन्न गुरु अति भये, विप्र सरिस तव मति रही॥

माता और पिता एक वर्ण से पृथक् पृथक् गोत्रों में उत्पन्न हुए हों, उनसे जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह पिता के वर्ण तथा गोत्र की मानी जायगी। प्राचीन काल में जब इस देश में सम्पूर्ण

---

* जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता के समीप जाकर उससे शिष्टाचार के साथ पूछा—"पूजनीया माताजी! मैं ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके गुरुकुल में आचार्य की सन्निधि में निवास करना चाहता हूँ। वहाँ गुरु मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे, अतः मुझे बताओ मैं किस गोत्र वाला हूँ।"

समाज मे वेद स्मृतियों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म चालू था, तब ब्राह्मण चारो वर्णों की, क्षत्रिय तीन वर्णों की, वैश्य दो वर्ण की, और शूद्र एक वर्ण की कई पत्नियाँ रख सकते थे। रखनी ही चाहिये। यह नियम नहीं था, जो अपनी एक ही धर्मपत्नी से सन्तुष्ट रह सके, यह सर्वोत्तम पक्ष था, क्योंकि धर्मपत्नी तो एक ही होती है, जो अपने ही वर्ण की शुद्ध सदाचारिणी कुलीना हो। यज्ञादि धर्म कार्य उसी के साथ सम्पन्न होते थे, शेष जो पत्नियाँ होती थीं, वे धर्मपत्नी न होकर भोग पत्नी कहलाती थी। अपनी धर्मपत्नी मे उत्पन्न हुई सन्तानो के अतिरिक्त अन्य वर्ण की पत्नियो में जो सन्तानें होंगी, वे माता के वर्ण की मानी जाती थीं। जैसे ब्राह्मण से क्षत्रिय जाति की पत्नी से जो सन्तान होगी वह क्षत्रिय, वैश्य वर्ण की पत्नी से वैश्य, और शूद्र वर्ण की से शूद्र। कहीं-कहीं उन्हे माता से उच्च और पिता से नीच वर्ण का भी माना गया है। जैसे ब्राह्मण से क्षत्रिय वर्ण की पत्नी में जो सन्तान होगी वे 'मूर्धाभिषिक्त' कहलावेंगे। उपब्राह्मण। इन पत्नियो के अतिरिक्त कुछ दासियाँ-परिचारिणी-भी होती थीं। वे पत्नी के साथ दहेज मे सेवा के निमित्त मिलती थीं। उनका विधिवत किसी से विवाह नहीं होता था। सामान्य रूप से वे जिसे दहेज में मिली हैं, उसी की एक प्रकार से भोगपत्नी-दासी-मानी जाती थीं। वे स्वतन्त्र होती थीं, अन्यों से भी उनके संतानें उत्पन्न हुआ करती थीं। इन सब की गणना दासों में की जाती थी। यह नियम मनुष्यों के लिये थे।

ऋषिगण इस नियम में नहीं आते थे, ऋषिगण अमोघ वीर्य, सत्य संकल्प माने जाते थे। वे किसी भी वर्ण की स्त्री में सन्तान उत्पन्न करें यहाँ तक कि उनका अमोघ वीर्य किसी भी प्रकार पत्नियों के भी पेट में पहुँच जाय, वहीं से ऋषि ही उत्पन्न

विभांडक मुनि का रेत जल के साथ मृगी के उदर में चला गया, उससे शृङ्गी ऋषि हुए। दाश कन्या से महर्षि पराशर के वीर्य से भगवान् वेदव्यास हुए। हाँ, यदि ऋषि दूसरे के क्षेत्र में उसी के निमित्त वीर्य दान करे तो ऋषि के वीर्य से होने पर भी वह स्त्री के पति के ही वर्ण का माना जायगा। जैसे सुदास की पत्नी मदयन्ती में भगवान् वसिष्ठ द्वारा राजा के ही निमित्त वीर्य दान दिया गया, उनसे जो पुत्र हुए वे क्षत्रिय महाराज अश्मक हुए। महाराज पांडु की तीन पत्नियाँ थीं। दो तो क्षत्रिय वर्ण की थी, एक शूद्र वर्ण की। भगवान् वेदव्यास ने उन्हीं की वंश वृद्धि के निमित्त अपनी जननी के अत्यन्त आग्रह पर तीनों में गर्भाधान किया, क्षत्रिय वर्ण की पत्नियों में तो धृतराष्ट्र और पांडु क्षत्रिय हुए, शूद्रा के गर्भ से विदुर जी शूद्र माने गये। वीर्य एक था, अमोघ ऋषि वीर्य था, किन्तु दूसरों के निमित्त दान दिया गया। अतः माता के वर्ण के माने गये। इसी प्रकार अंधतमा महर्षि ने अंगदेश के राजा की पत्नियों में उन्हीं के संकल्प से जो संन्तानें उत्पन्न कीं, वे राजा के ही वर्ण के पुत्र माने गये। अपने संकल्प से जो शूद्रा में पुत्र उत्पन्न किये वे सबके सब ऋषि हुए। ऋषिगण सर्व सामर्थ्यवान माने गये हैं। उनकी पत्नियाँ प्रायः राजपुत्री होती थीं, किन्तु उनकी संतानें सब ऋषि तथा ब्राह्मण ही होते थे। उनके लिये क्षेत्र का नियम लागू नहीं था। उनका वीर्य ही प्रधान माना जाता था। वैसे ब्राह्मण के शम दम, शौच, तप, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकता ये ९ गुण बताये हैं। कहीं १०, कहीं १२ भी कहे हैं, किन्तु ब्राह्मण के दो मुख्य गुण हैं सत्य और क्षमा। सत्यवादी होने से तथा क्षमाशील होने से ही ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। जिनमें ये दो गुण न हों, वे नाम मात्र के ही—केवल जन्मना—ब्राह्मण हैं।

और दूसरे वर्ण वालों में भी ये दो गुण पूर्ण रूप से हों, तो वे ब्राह्मणवत ही माने जायेंगे। सत्य, क्षमा और निर्भीकता के कारण ही ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व है और तप तो उनका मुख्य धन ही है इसीलिये ब्राह्मण तपोधन कहलाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वाक, नेत्र, श्रोत्र, मन और प्राण रूप से अध्यात्म और अग्नि सूर्य, चन्द्र, जल और वायु रूप से आधिदैविक रूप में सम्पूर्ण जगत् को कारण रूप से एक मानकर अब तक दशविध सवर्ग उपासना कही गयी। अब उसी के पुनः सोलह विभाग करके चतुष्पाद रूप में उपासना को बताने के लिये—पहिले सत्य का, तप का महत्व बताने के लिये—सत्यकाम जाबाल की कथा कही जाती है।"

एक जबाला नाम की परिचारिणी थी। वह ब्राह्मण के यहाँ परिचारिका रही होगी। उसके एक पुत्र हुआ, उसका नाम उसने सत्यकाम रखा। सत्यकाम बड़ा हुआ। किन्तु जिनके यहाँ वह परिचारिणी थी, उन्होंने सत्यकाम का उपनयन संस्कार नहीं कराया। सत्यकाम की उत्कट अभिलाषा थी, मैं गुरुकुल में वास करके ब्रह्मविद्या प्राप्त करूँ। उन दिनों उसके निकट गोतम गोत्रीय महर्षि हरिद्रुमान के पुत्र हारिद्रुमत वह विख्यात आचार्य थे। उन्हा के आश्रम म जाकर अध्ययन करने की उसकी इच्छा हुई। किन्तु वहाँ जाते ही सर्वप्रथम आचार्य मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे। अत में उन्हें अपना गोत्र क्या बताऊँगा। मेरे पिता तो हैं नहीं, जिनसे पूछ लेता। माताजी हैं, उन्हा से चल कर अपना गोत्र पूछूँ।

यह सोचकर वह अपनी माताजी के पास गया और विनीत भाव से उसने कहा—"पूजनीया माताजी! मैं आप से एक पूछना चाहता हूँ।"

बड़े प्यार दुलार के साथ बच्चे को गोद में बिठाकर माता ने कहा—"पूछो, बेटा ! क्या बात है ? क्या पूछना चाहते हो ?"

सत्यकाम ने कहा—"माँ ! मैं पूछना यह चाहता हूँ, कि हमारा गोत्र क्या है ?"

माता ने कहा—"क्यों क्या बात है, गोत्र पूछने की तुम्हें आज आवश्यकता क्यों पड़ी ?"

सत्यकाम ने कहा—"माँ ! मेरी इच्छा आचार्य चरणों के समीप में गुरुकुल वास करके ब्रह्मविद्या प्राप्ति की है। वहाँ जाते ही आचार्य मुझसे मेरा गोत्र पूछेंगे, उन्हें मैं क्या उत्तर दूँगा, इसीलिये पूछ रहा हूँ।"

अपने पुत्र का ब्रह्मविद्या का सत्संकल्प जानकर माता को परम प्रसन्नता हुई। उसने लजाते हुए कहा—"बेटा ! तेरे पिता किस गोत्र के थे, इसका पता तो मुझे भी नहीं है।"

सत्यकाम ने पूछा—"माँ ! तुम्हें पता क्यों नहीं है ?"

जवाला ने कहा—"देखो, बेटा ! सत्य बात तो यह है कि मैं परिचारिणी थी। उस समय मेरी यौवनावस्था थी, उसी समय तुम्हारा जन्म हुआ। इसीलिये मैं यह नहीं जानती तुम किस गोत्र के हो। मैं केवल इतना ही जानती हूँ, कि मेरा नाम तो जवाला है और तेरा नाम सत्यकाम रखा गया था। अतः तू अपने नाम के ही अनुरूप आचार्य को उत्तर देना। कह देना—मैं सत्यकाम नाम वाला जाबाल हूँ।"

माता का यह उत्तर सुनकर सत्यकाम अपनी माता के समीप से सीधा गोतम गोत्रीय महर्षि हरिद्रुमान के पुत्र आचार्य हारिद्रुमत के समीप पहुँचा। वहाँ जाकर उसने आचार्य चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख जाकर खड़ा हो गया।

आचार्य ने विनयावनत बालक को समीप ही खड़ा देखकर उससे पूछा—"वत्स ! तुम कौन हो ? क्या चाहते हो ? मेरे समीप किस अभिप्राय से आये हो ?"

हाथ जोड़े हुए मधुर वाणी में सत्यकाम ने कहा—"भगवन् ! मेरी इच्छा यहाँ आपके श्री चरणों की सन्निधि में ब्रह्मचर्यव्रत धारण पूर्वक निवास करने की है, श्रीमान् मुझे स्वीकार करेंगे तो मैं यहाँ निवास करूँगा, इसी अभिलाषा को लेकर श्री चरणों की सन्निधि में आया हूँ।"

बच्चे की सुशीलता, नम्रता तथा विनय से प्रभावित होकर आचार्य ने कहा—"बड़ी अच्छी बात है, तुम्हारा स्वागत है। तुम बड़े सौम्य जान पड़ते हो, अच्छा बच्चा बताओ तो सही, तुम्हारा गोत्र क्या है ?"

बालक सत्यकाम ने जो भी अपनी माता से सुना था, बिना संकोच के सभी के सम्मुख स्पष्ट शब्दों में कहना आरम्भ किया, वह बोला—"भगवन् ! मुझे अपने गोत्र का पता नहीं।"

आचार्य ने आश्चर्य से पूछा—"क्यों तुम्हें अपने गोत्र का भी पता नहीं ! तुमने अपने पिता से अपना गोत्र तक नहीं पूछा ?"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन् ! मेरे पिता नहीं हैं।"

आचार्य ने पूछा—"पिता नहीं है, तो घर में कोई तो होगा ? तुम्हारे घर में कौन कौन है ?"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन् ! मेरी केवल एक माताजी ही हैं।"

आचार्य ने कहा—"तो तुमने अपनी माता से अपना गोत्र नहीं पूछा ?"

सत्यकाम ने कहा—"हाँ, माताजी से तो पूछा था।"

इस पर आचार्य ने पुनः पूछा—"तुम्हारी माता ने फिर क्या बताया ?"

सत्यकाम ने कहा—"मेरे पूछने पर उसने यह उत्तर दिया कि पहिले मैं बहुतों की परिचर्या किया करती थी। परिचारिका ही थी। उस समय मेरी यौवनावस्था थी तभी मैंने तुझे प्राप्त किया। इसीलिये मैं यह नहीं जानती, कि तुम किस गोत्र वाले हो। केवल मैं तो इतना ही जानती हूँ, कि मेरा नाम जबाला है तेरा नाम सत्यकाम है।" अतः गुरुदेव ! आप यही समझें कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।

यह सुनकर आचार्य अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। सबके सम्मुख बिना किसी संकोच के कटु-सत्य को स्पष्ट रूप से प्रकट करने वाला यह कोई परिचारिका का साधारण बालक नहीं। आचार्य गद्गद हो गये और प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"वत्स ! ऐसा कटु-सत्य-ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई कर ही नहीं सकता। गोत्र न ज्ञात हो, तो इससे क्या हुआ, निश्चय ही तुम ब्राह्मण हो। तुम ब्रह्मविद्या के अधिकारी हो, शीघ्रता के साथ समिधा ले आओ। सौम्य ! मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार कर दूँगा। तुमने यथावत् सत्य का पालन किया है, किसी भी अंश में सत्य का परित्याग नहीं किया है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह कहकर आचार्य उसका उपनयन कराने-गायत्री मन्त्र की दीक्षा देने को उपस्थित हो गये। सत्यकाम समिधा लाकर समित्पाणि ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय आचार्य के सम्मुख समुपस्थित हुआ। आचार्य ने उसका सविधि उपनयन संस्कार कराया। उसे गायत्री मन्त्र की दीक्षा दी। यज्ञोपवीत धारण कराया।

संस्कार हो जाने के अनन्तर विनयावनत शिष्य ने अंजलि

बाँधे हुए गुरुदेव से निवेदन किया—"गुरुदेव! मेरे लिये कौन-सी सेवा सौंपी जाती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! उन दिनों लेखनी कर्गल पट्टिकाओं से कक्षा लगाकर, बहुत से ग्रन्थों द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती थी। शिक्षा का मुख्य अङ्ग सेवा ही माना जाता था। गुरु सुश्रुषा-आचार्य सेवा-म निष्णात हो गया-वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी माना जाता था। आचार्य ऐसे सामर्थ्यवान होते थे, कि ऐसे सेवापरायण तपस्या निरत सत्पात्र शिष्य को किसी के भी द्वारा क्षण भर में उपदेश करा देते थे। गुरु सुश्रुषा ब्रह्म प्राप्ति का प्रथम सोपान था। आचार्यगण सेवा कराते कराते हँसते खेलते बात की बात में ब्रह्मज्ञान करा देते थे। इसीलिये सत्यकाम ने सेवा के सम्बन्ध मे जिज्ञासा की। आचार्य ने उसकी सच्ची लगन और निष्ठा की परीक्षा लेने के निमित्त, अपनी गोशाला की गौओं में से जो बहुत ही दुर्बल दुर्बल गौएँ थीं ऐसी ४०० अत्यन्त कृशकाय गौएँ छाँटकर पृथक् कीं और उन्हें सत्यकाम को सौंपते हुए कहा—"साम्य! तुम इन गौओं के पाछे पीछे जाओ। इन्हें चराकर हृष्ट पुष्ट बनाकर तब लौटना।"

सत्यकाम न इस अपना अहोभाग्य माना उसने कहा—"भगवन्! मैं इन गौओं को चराने के लिये ऐसे सुन्दर सघन बन में जाऊँगा, जहाँ यथेष्ट घास हो, स्वच्छ सुन्दर जल का सुपास हो, इनकी सेवा करता हुआ मैं वन मे तब तक निवास करूँगा, जब तक इन चार सौ की एक सहस्र गौएँ न हो जायँ, जब तक इनकी सख्या एक सहस्र न होगी तब तक मैं आश्रम में लौटकर नहीं आऊँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सत्यकाम का ऐसा निश्चय सुनकर आचार्य को परम प्रसन्नता हुई, उन्होंने से आशीर्वाद दिया। गुरुदेव की अनुमति पाकर

पद्मों में प्रणाम करके, गौओं के साथ सत्यकाम वन की ओर चल दिया। उन दिनों यथेष्ट गोचर भूमियाँ पड़ी हुई थीं। जिनमें बारहों महीने घास रहती थी और जल का सुपास रहता था। सत्यकाम ऐसे ही सुन्दर सघन किसी वन में चला गया। वह दिन भर गौओं को चराता था, उन्हें जल पिलाता था। सायंकाल को किसी पेड़ के नीचे गौओं को खड़ा करके रात्रि में उनकी देख-रेख रखता था, कि कोई हिंसक पशु आकर उन्हें कष्ट न पहुँचावे। इस प्रकार वह गोचन रूपी तपस्या करता हुआ वन में गौओं के साथ रहने लगा। गौओं के साथ एक बलवान् साँड़ भी था। सत्यकाम गो सेवा में ऐसा तल्लीन हो गया था, कि उसे गौओं के गिनने का अवसर ही नहीं मिलता था, कि अब गौएँ कितनी हो गयीं हैं। वह तो रात्रि दिन गौओं की सेवा सुश्रूषा में ही लगा रहता। उसे पता ही न चलता कब भगवान भुवन भास्कर उदयाचल से उदय होकर लोकों को प्रकाशित करने लगे और कब अस्ताचल की ओर प्रस्थान करके अंधकार को फैला गये। उसे केवल गौओं की सेवा रूपी तप से ही प्रयोजन था। किन्तु गौएँ अब तक सहस्र हो गयीं। अब इस बात की सूचना जैसे धर्मरूपी वृषभ देगा और उसे चतुष्पाद ब्रह्म के एक पाद का ज्ञान प्राप्त होगा, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय—*निश्चय तू है विप्र करूँ उपनयन अबहिं तव।*
'गो सेवा करि सौम्य' हरषि बटु स्वीकारी जब॥
दईं चार सौ धेनु अधिक कृश—करी प्रतिज्ञा।
होवैं गौ जब सहस तबहिं लौटूँ दैं आज्ञा॥
गुरु आज्ञा तैं धेनु लै, तृन जलयुत वन में गयो।
गो सेवा-व्रत तप कर्‌यो, भईं सहस प्रमुदित भयो॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
चतुर्थ खण्ड समाप्त।

सत्यकाम को ब्रह्म के एक पाद का वृषभ द्वारा उपदेश

(१५७)

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः प्रापय न आचार्य कुलम् ॥*

(छा० उ० ४ अ० ५ ख० १ म०)

छप्पय

'सत्यकाम ! सुनु' कही वृषभ ने मानुष वानी ।
धेनु सहस है गयीं तुमनि अबतक नहिं जानी ॥
आचारज कुल चलो, ब्रह्म इक पाद बताऊँ ।
'भगवन् देहुँ बताइ' कहे बटु-पुनि पहुँचाऊँ ॥
वृषभ कहे-दिक् चारि हैं, पूरब पच्छिम दक्खिनहु ।
उत्तर कला प्रसिद्ध ये, पाद प्रकाशक प्रथम लहु ॥

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। भगवान धर्म स्वरूप हैं। धर्म के अतिरिक्त भगवान् को पाने का अन्य कोई उपाय नहीं। धर्म

---

* कालान्तर में सहस्र गौएँ हो जाने पर वृषभ-पाँड ने मानुषी वाणी में कहा— 'सत्यकाम !' सत्यकाम ने उत्तर दिया— 'हाँ, भगवन्' तब वृषभ बोला—"सोम्य ! हम सब सहस्र सहस्र वाले हो गये हैं। अब तुम हमें आचार्य कुल में प्राप्त करा दो। अर्थात् वहाँ पहुँचा दो।"

ही जगत् को धारण किये हुए है धर्म को वृषभ–सर्वश्रेष्ठ–माना गया है। वृषभ के चार पैर होते हैं। इसलिये ब्रह्म को भी चतुष्पाद कहा गया है। तीन पाद तो इस विश्व ब्रह्माण्ड के बाहर हैं, केवल एक पाद में–एक अंश में–यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है। जो जगत् रूप में ब्रह्म की उपासना करता है, वह ब्रह्माण्ड से परे त्रिपाद विभूति का अधिकारी होता है।

यह जगत् रूप में ब्रह्म भी चार भागों में विभक्त है। पहिला भाग प्रकाश है, दूसरा अन्तरहित अनन्त है, तीसरा ज्योति स्वरूप है, और चौथा वह निवास है–आयतन–घर है जहाँ बैठकर ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है। कहने को ज्योति और प्रकाश एक ही हैं। वास्तव में ज्योति स्थिर रहती है, उस ज्योति में से जो किरणें निकलकर फैलती हैं उसी का नाम प्रकाश है। इसलिये आधिदैविक उपासना के अनुसार चार देवों की साथ ही उपासना करनी चाहिये। धर्मरूप में परब्रह्म की, अग्नि रूप में परब्रह्म की, वायुरूप में और जल रूप में। जल से सम्बन्ध होने से जल प्राण ही है। धर्म नारायण के अवतार हैं, अग्नि ज्योति स्वरूप ब्रह्म है। वायु सबको अपने में धारण करने वाला ब्रह्म है और जल तो नारायण का स्वरूप ही है। जल ही नारायण का आयतन–अयन–है। तपस्या रूप से धर्म की–यज्ञरूप से अग्नि की, वायु रूप में प्राण की और ब्रह्मचर्य रूप में जल की उपासना करनी चाहिये। इन चारों की उपासना से चतुष्कल ब्रह्म का ज्ञान होता है। उपदेश तो तप, अग्निहोत्र, प्राणायाम और ब्रह्मचर्य के प्रभाव से देवता ही करते हैं, किन्तु यही उपदेश सत्य है, उसकी छाप आचार्य लगाते हैं। इसलिये आचार्य द्वारा सुनी विद्या ही सफल समझी जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जबाला का पुत्र सत्यकाम गौओं के साथ वन में रह कर तपस्या करने लगा। वह ब्रह्मचर्यव्रत

धारण करते हुए नित्य तपस्या, अग्निहोत्र, प्राणायाम तथा देवता, ऋषि और पितरों का जल से तर्पण किया करता था। इससे उस पर धर्म, अग्नि, वायु तथा जल ये चारों प्रसन्न हो गये। चारों ने ब्रह्म के एक एक पाद का उसे उपदेश किया। उसका समर्थन आचार्य ने किया, इसी से सत्यकाम ब्रह्मवेत्ता बन गया। अब जैसे धर्म रूप वृषभ ने उसे चतुष्कल ब्रह्म के प्रकाशवान् नामक प्रथम पाद का उपदेश दिया था, उसे ही बताते हैं।"

सत्यकाम को वन में निवास करते जब अधिक समय हो गया, तो उन गौओं के साथ जो वृषभ-साँड-था वह एक दिन अकस्मात् मानुषी वाणी में बोला—"सत्यकाम ?"

सत्यकाम ने वृषभ के मुख से सुस्पष्ट अक्षरों में प्लुत स्वर में-अपना नाम सुना, तो वह आश्चर्य चकित रह गया। किन्तु उसने विधिवत् उपासना की थी, वह कृतोपासक था, अतः समझ गया, वृषभ के मुख से कोई देवता ही प्रसन्न होकर मुझे सम्बोधित कर रहा है। अतः उसने बड़े ही आदर पूर्वक सम्मान सूचक सम्बोधन में उत्तर देते हुए कहा—'कहिये भगवन्! क्या आज्ञा है ?"

साँड ने कहा—"सौम्य! तुम जब गुरुकुल से चले थे, तब तुमने प्रतिज्ञा की थी, कि जब तक इन चार सौ गौओं की एक सहस्र गौएँ न होंगी, तब तक मैं नहीं लौटूँगा। एक सहस्र होने पर ही लौटूँगा। सो, वत्स! अब तो हम सब एक सहस्र सख्या वाले हो गये। तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी। अब तुम हमें आचार्य कुल में पहुँचा दो।"

सत्यकाम ने कहा—"जैसी आप की आज्ञा होगी उसका मैं पालन करूँगा।"

वृषभ ने कहा—"अच्छा, एक बात मैं तुमसे और पूछना चाहता हूँ ?"

वृषभ ने कहा—"तुमने धर्म का पालन करते हुए नित्य अग्नि की उपासना की है-नियमित रूप से समिधाधान किया है, अतः ब्रह्म के दूसरे पाद का उपदेश तुम्हें अग्निदेव करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर वृषभ मौन हो गया। सत्यकाम को बड़ी प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन उसने गुरुकुल जाने के निमित्त गौओं को हाँक दिया। अब चतुष्कल ब्रह्म के दूसरे पाद का सत्यकाम को जैसे अग्निदेव उपदेश करेंगे, उस कथा को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

प्रथम पाद यह ब्रह्म कहें जाकूँ प्राकारायुत।
करै उपासन पुरुष होइ नहिं कबहुँ धरम च्युत॥
यश चहुँ दिशनि प्रकाश तेज ताके अति होवै।
मुख प्रकाश तैं युक्त होइ विस्मित जो जोवै॥
जीते दिव्य प्रकारायुत, स्वर्ग लोक कूँ अन्त में।
धरम काज नित ही करै, प्रेम होइ भगवन्त में॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चौथे अध्याय में
पंचम खण्ड समाप्त।

—:—

सत्यकाम को ब्रह्म के द्वितीय पाद का अग्नि द्वारा उपदेश

[१५८]

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थानपयाञ्चकार। ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्रङ्मुपोपविवेश ॥*

(छा० उ० ४ प्र० ६ खं० १ म०)

छप्पय

जिज्ञासा जब करी द्वितिय की कहें वृषभ तब।
द्वितिय पाद मग अग्नि करै उपदेश जाइ जब॥
सुनि गुरुकुल चलि दयो साँझ रुकि अग्नि उपासन।
करिकें समिधाधान पूर्वमुख बैठ्यो आसन॥
'सत्यकाम!' कहि अग्नि जब, तिहि 'भगवन्' उत्तर दयो।
द्वितीय पाद जो ब्रह्म को, उपदेशूँ ज्ञान हौं, कह्यो॥

---

* चतुष्कल ब्रह्म के द्वितीय पाद की जब सत्यकाम ने जिज्ञासा की तब वृषभ ने कहा—"अग्नि तुम्हें एक पाद कहेगा। दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम ने गुरुकुल के लिये गौओं को हाँक दिया मार्ग में सायंकाल होने पर सब गौओं को एकत्रित करके रोक दिया। जहाँ गौएँ एकत्रित थीं, वहीं अग्नि को प्रज्वलित करके उसने समिधाधान किया, फिर अग्नि के पश्चिम में पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया।"

अग्नि की लपटें ऊपर की ओर उठती हैं, इसीलिये ये अग्नि कहे जाते हैं। अग्नि सर्व व्यापक हैं, ईंधन पाकर ये प्रज्वलित होते हैं। पृथ्वी में एक तो साधारण अग्नि होती है जिससे पाक आदि करते हैं। दूसरी अग्निहोत्र की पावन अग्नि है। जिससे उपासना की जाती है। जिसमें देवताओं के निमित्त हविः का प्रक्षेप किया जाता है। उसके ६ भेद हैं—(१) गार्हपत्याग्नि, (२) आहवनीयाग्नि, (३) दक्षिणाग्नि, (४) सभ्याग्नि, (५) अवसथ्याग्नि, और (६) औपासनाग्नि, इन अग्नियों द्वारा देवताओं को हविर्भाग पहुँचाया जाता है। ये सब भूमि में रहने से भौम अग्नि कहलाती हैं। ये काष्ठ की समिधाओं से घृतादि अन्य हविष्य पदार्थों से प्रज्वलित होती हैं। काष्ठादि ही इन अग्नियों का ईंधन है। दूसरी अग्नि समुद्र के जल में रहती है इसे दिव्याग्नि या वडवाग्नि कहते हैं। समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन क्यों नहीं करते? यह वडवाग्नि जल में बैठी रहती है, सीमा से ऊपर के सभी जल को यह खा जाती है। इसका जल ही ईंधन है। तीसरा उदर्याग्नि या जठराग्नि है, वह प्राणिमात्र के उदरों में निवास करती है। प्राणी जो भी अन्न पानादि खाते पीते हैं, उसे यह जठराग्नि पचाती है। इस प्रकार ब्रह्म की भाँति अग्नि सर्वव्यापक है। अध्यात्म दृष्टि से ब्रह्म मानकर इसकी उपासना की जाती है।

अधिदैव रूप में तो अग्नि तैंतीस कोटि देवताओं में से एक देव हैं। ये धर्म की वसु नाम भार्या में उत्पन्न हुए है। इनकी पत्नी का नाम स्वाहा है। पावक, पवमान और शुचि आदि इनके पुत्र हैं। इस प्रकार सब मिलाकर उनञ्चास अग्नि माने जाते हैं। ये अग्निकोण दिशा के लोकपाल भी हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही इनकी आराधना बतायी है। वर्णाश्रमियों में अग्नि की उपासना की प्रधानता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थी को

नियमपूर्वक निष्ठा के साथ अग्नि
मनु ने ब्रह्मचारी के लिये बताया है
परम शुचिता के साथ देवता, ऋषि
करना चाहिये और देवताओं का पूज
नित्य नियमपूर्वक करना चाहिये।
जिस रात्रि में समिधाधान नहीं करत
का विनाश करता है। ब्रह्मचारी के
हवन करने के लिये आवश्यकता नह
अथवा गौ के आरण्यक कंडों-उ
सकता है। ब्रह्मचारी को नित्य समि

सूतजी कहते हैं—"मुनियो!
द्वारा चतुष्कल ब्रह्म के एक पाद ब्रह्
उसने द्वितीय पाद के लिये भी जि
दिया—"दूसरे पाद का उपदेश तुझे

चार सौ गौओं की संख्या
उसकी प्रतिज्ञा भी पूरी हो गयी औ
वृषभ द्वारा उपदेश प्राप्त हो गया।
की चटपटी लगी। गुरुदेव के दश
हृदय में थी, अतः वह दूसरे दिन
साथ लेकर गुरुकुल की ओर चल
चराते बहुत दूर के वन में आ गया
पहुँचने में उसे कई दिन लग जायँ
गौओं के पीछे-पीछे जा रहा था
सुगम देखकर उसने वहीं रात्रि वि
वृक्षों के नीचे गौओं को खड़ा कर
कृत्य किये।"

की आराधना बतायी है
उस नित्य ही स्नान कर
था पितरों का जल से तर्प
न तथा अग्नि में समिधाध
हा तक कहा है कि ब्रह्मचा
उस रात्रि में अपनी अ
नय जो चावल तिलादि
। वह कमल समिधाओं
लो—से भी समिधाधान
आहरण करना ही चाहिये
सत्यकाम को धर्मरूप वृष
का ज्ञान प्राप्त हो गया। उ
ज्ञासा की, तब वृषभ ने
अग्निदेव मार्ग में करेंगे।"
ढकर एक सहस्र हो गयी
उसे ब्रह्म के एक पाद का
तब उस द्वितीय पाद के जान
नों की भी उत्कट अभिला
प्रातःकाल ही सब गायों
पड़ा। वह गौओं को चर
था। आचार्य के आश्रम स
। यहाँ विश्राम किया, व
सायंकाल होने पर जल
निश्चय किया। सब
कि उसने सम्पूर्ण सायंकाल

स्नान करके गौओं के समीप ही, उसने समिधाधान करने के लिये अग्नि प्रज्वलित की। उसने विधिपूर्वक समिधाधान किया। वृषभ ने उसे बता ही दिया था चतुष्कल ब्रह्म के एक पाद का मार्ग मे तुम्हें अग्निदेव उपदेश देंगे।"

अतः समिधाधान करने के अनन्तर अत्यन्त ही श्रद्धा के साथ अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया और प्रतीक्षा करने लगा, अग्निदेव कैसे उपदेश करेंगे। तभी अग्नि के भीतर से एक सुमधुर शब्द हुआ। अग्निदेव ने प्लुत स्वर में पुकारा—"सत्यकाम !"

सत्यकाम तो सावधान ही थे, अतः उन्होंने आदर पूर्वक उत्तर दिया—" हाँ, भगवन् !"

अग्निदेव ने पुनः कहा—"सौम्य ! यदि तुम सुनना चाहो, तो मैं तुम्हें ब्रह्म का दूसरा पाद सुनाऊँ ?"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन् ! मैं तो इसीलिये परम उत्सुक हूँ। भगवन् मुझे अवश्य उपदेश करें।"

तब अग्नि ने कहा—"देखो, यह लोक ही ब्रह्म का दूसरा पाद है। यह चार कलाओं से युक्त है।"

सत्यकाम ने कहा—"वे चार कलायें कौन-कौन-सी हैं भगवन् !"

अग्नि ने कहा—"सुनो यह पृथ्वी पहिली कला है। अन्तरिक्ष भुवर्लोक दूसरी कला है, द्युलोक-स्वर्ग लोक-तीसरी कला है और जल चौथी कला है। चतुष्कल ब्रह्म का द्वितीय पाद इन चारों कला वाला ही है। ये 'अनन्तवान्' नाम वाला दूसरा पाद है। इसी की द्वितीय पाद के रूप में उपासना करनी चाहिये।"

सत्यकाम ने पूछा—"उसकी उपासना का फल क्या है ?"

अग्निदेव ने कहा—"जो पुरुष चतुष्कल ब्रह्म के इस

वान्' नामक पाद की उपासना करता है, वह लोक में अनन्त गुणों से युक्त होता है, और मृत्यु के अनन्तर अनन्तवान् दिव्य लोकों को जीतकर अनन्तत्व को प्राप्त कर लेता है। इसीलिये इस अनन्तवान् नामक द्वितीय पाद की उपासना करनी चाहिये।"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! आपकी कृपा से मुझे चतुष्कल ब्रह्म के अनन्तवान् नामक द्वितीय पाद का बोध हो गया। अब कृपया मुझे तृतीय पाद का भी उपदेश करें।"

अग्निदेव ने कहा—"तुझे तीसरे पाद का उपदेश आकाश में उड़ने वाला वायु स्वरूप हंस करेगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर अग्निदेव अन्तर्हित हो गये। सत्यकाम प्रातः होते ही नित्यकृत्यों से निवृत्त होकर गौओं को हाँकता हुआ गुरु के आश्रम की ओर आगे बढ़ गया। अब ब्रह्म के तृतीय पाद का जैसे हंस उपदेश करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अन्तरिक्ष, भू, स्वर्ग, नीरनिधि चार कलायें।
अनंतवान् इहि नाम चतुष्कल ब्रह्म बताये॥
अनँतवान् की करै उपासन साधक मन तैं।
सोऊ होइ अनन्त गुणनियुत उत्तम सब तैं॥
जगत माहिँ गुन अनँत लहि, यश कीरति बहु पाइगो।
लोक अनन्तनि विजय करि, अनँतवान् बनि जाइगो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय मे
षष्ठ खण्ड समाप्त।

——

सत्यकाम को ब्रह्म के तृतीय पाद का हंस द्वारा उपदेश

[१५९]

हँ सस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य सामिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥*

(छां० उ० ४ प्र० ७ खं० १ मं०)

छप्पय

तृतिय पाद उपदेश हंस तैं तोइ मिलैगो ।
सत्यकाम चलि दयो रुक्यो सायं सँग लैगो ॥
करिकें समिधाधान पूर्वमुख बैठ्यो जबई ।
करन ताहि उपदेश हंस इक आयो तबई ॥
"सत्यकाम !" तानैं कह्यो, इनि उत्तर "भगवन्" कह्यो ।
उपदेशूँ हौं पादत्रय ! हरषित है हौं कहि दयो ॥

---

* अग्नि ने अन्तर्हित होने के पूर्व सत्यकाम से कहा—"ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश तुम्हें हंस देगा। दूसरे दिन आचार्य कुल की ओर उसने गौओं को हाँक दिया। सायंकाल होने पर सब गौएँ एक साथ किसी स्थान पर खड़ी कीं। वहीं उसी स्थान पर सत्यकाम ने अग्नि एकत्रित करके समिधाधान किया। फिर अग्नि के पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया।"

हस एक पक्षी नाम है, जिसके लिये प्रसिद्धि है कि मोती ही चुगता है और दूध में से दूध के भाग को पीकर पानी छोड़ देता है। नीर क्षीर विवेक कर लेता है। किन्तु ऐसे हस अब देखने में नहीं आते अब तो हस नाम का एक जलचर सफेद पक्षी होता है, उसमें ये दोनों गुण नहीं रहते। पहिले कोई ऐसा पक्षी होता होगा।

हस शरीर स्थित वायु का भी नाम है। एक हसोपासना भी होती है। जिसे अजपा गायत्री भी कहते हैं। हमारी नाक से तथा मुख से श्वास प्रश्वास निरन्तर निकलता और प्रवेश करता रहता है। भीतर की वायु निकलती है उसे श्वास या प्राण कहते हैं। बाहर की वायु जब भीतर जाती है, तो उसे प्रश्वास या अपान कहते हैं। अजपा गायत्री वालों का मत है कि जब श्वास निकलती है तो उसमें 'ह' यह सूक्ष्म शब्द होता है और जब प्रवेश करती है 'सः' ऐसा शब्द होता है। इसलिये बिना प्रयत्न के, बिना माला के, बिना शब्द उच्चारण किये जीव सदासर्वदा–रात्रि दिन–हसः–हसः इस मन्त्र को जपता रहता है। केवल इसका ज्ञान करके इस पर दृष्टि रखने की आवश्यकता है। फिर इस अजपा-गायत्री का जाप स्वतः ही होता रहता है, मन ससारी विषयों का चिन्तन न करके इसी में खोया रहता है। इसकी विधि यह है कि सुषुम्ना नाड़ी में जो षट्चक्र हैं और सातवा चक्र सहस्रार जो मूर्ध्नी में है। उनके देवताओं को इस जप को अर्पण करता रहे। अजपा गायत्री वालों का मत है कि,जीव के द्वारा दिन रात्रि में इकीस सहस्र छै सौ मन्त्र अपने आप जपे जाते हैं। जिस मन्त्र को जपे उसके देवता, ऋषि, छन्द और विनियोग का ज्ञान अवश्य कर ले उन्हें अपने अगों में धारण कर ले। सब मन्त्रों के ऋषि को सिर पर, छन्द को मुख में और देवता को हृदय में धारण किया जाता

है। जैसे त्रिपदा गायत्री छन्द को ले लीजिये इसके ऋषि विश्वामित्र हैं, छन्द गायत्री है और सविता देवता हैं। जप, प्राणायाम अर्घ्यादि में इसका विनियोग होता है। ऐसे ही इस 'हंसः' रूपी अजपा गायत्री के हंस तो ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छन्द है और परमहंस परमात्मा देवता हैं। इसलिये हंस ऋषि को सिर पर, अव्यक्त गायत्री छन्द को मुख में परमहंसदेव को हृदय में सर्व-प्रथम धारण करके तब इकीस सहस्र छै सौ मन्त्रों का जप करे। जप क्या करे स्वाभाविक होते हुए जप को सातों चक्रों के देवताओं को अर्पण करता रहे।

जैसे पहिला चक्र है मूलाधार वह गुदा में है, यह चार दल वाला चक्र है, इन चारों दलों का वर्ण स्वर्णवर्ण के सदृश है। चारों दलों के बीच में कर्णिका है उसमें गायत्री के सहित गणनाथदेव विराजमान है। चारों दलों में व, श, प, स, ये मात्रिका वर्ण हैं। इसलिये छै सौ संख्या जप तो इन्हें अर्पण कर देना चाहिये। अब शेष रहे इकीस सहस्र मंत्र उन्हें अन्य चक्रों के देवताओं को क्रमशः अर्पण करता चले।

दूसरा चक्र है स्वाधिष्ठान चक्र। वह लिंग स्थान में है। यह ६ दल वाला चक्र है। इन छैः दलों का वर्ण ऐसा है जैसे अनेक विद्युत मिलकर परमप्रकाश युक्त हों। इस कमल की कर्णिका के मध्य सावित्री शक्ति सहित चतुर्भुज ब्रह्मा विराजमान हैं। इस चक्र के छैः ऊदलों में ब, भ, म, य, र और ल ये छैः मात्रिका वर्ण अंकित है। अतः ६ सहस्र अजपा हंसः मंत्र [illegible] सहित ब्रह्माजी को अर्पण कर दे।

तीसरा चक्र है मणिपूरक। यह नाभि देश में स्थित है, दश दल वाला चक्र है। उसकी कर्णिका में [illegible] विष्णु भगवान् विराजमान हैं। इस चक्र के दलों

नीलकमल तथा जल भरे मेघों के सदृश गहरे नील वर्ण का है दशों दलों मे ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, और फ ये दस मात्रिका वर्ण अंकित हैं। इस चक्र में भगवान् लक्ष्मीनारायण को छैः सहस्र अजपा हंस मंत्र को अर्पण कर दे।"

चौथे चक्र का नाम है अनाहत चक्र। यह वक्षःस्थल मे स्थित है। १२ दल वाला कमल है। इसके बीच की कर्णिका में गौरी शक्ति सहित शिवजी विराजमान है। इस चक्र का वर्ण तरुण सूर्य के सदृश है। इसके बारह दलों मे क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ ये बारह मात्रिका वर्ण अंकित हैं इस चक्र के अधिष्ठातृदेव गौरीशंकर को अजपा हंस गायत्री ६ सहस्र मंत्र अर्पण कर दे।

पाँचवे चक्र का नाम है, विशुद्ध चक्र। यह सोलह दल वाला कमल है, कण्ठ देश मे अवस्थित है। इस कमल की मध्य कर्णिका में जीवात्मा रूप से भगवान् विराजमान है। सोलह दलों में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः ये सोलह स्वर मातृका वर्ण के रूप में अंकित हैं। इस चक्र के अधिष्ठातृ देव जीवात्मा को अजपा गायत्री मंत्र एक सहस्र अर्पण कर दे।

छटे चक्र का नाम आज्ञा चक्र है। इसका स्थान दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में है। इसकी प्रभा चन्द्रमा के सदृश है। यह दो दल वाला कमल है। इसके मध्य की कर्णिका में माया शक्ति सहित गुरुदेव विराजमान हैं। दोनों दलों मे ह और क्ष ये दो मात्रिका वर्ण अंकित हैं। इनको भी एक सहस्र अजपा हंस गायत्री मंत्र अर्पण कर दे। इस प्रकार २० सहस्र ६०० मंत्र हो गये।

अब सातवाँ सहस्रार चक्र है, जो मूर्धा में ब्रह्म रन्ध्र मे अव-

स्थित है। वह नाना वर्ण तथा सहस्र दल वाला कमल है। इसमें अकार से लेकर क्ष पर्यन्त सभी मातृका वर्ण हैं। इसकी कर्णिका के मध्य में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा विराजमान हैं। शेष एक सहस्र अजपा हंसः गायत्री मंत्र इन्हें अर्पण कर दे। इस प्रकार हंसः मंत्र का अजपा जाप करके इसे शरीरस्थ देवों को अर्पण करता चले। हंसः को जपते-जपते सोऽहं-सोऽहं जप स्वतः होने लगता है। जैसे मरा-मरा कहते-कहते राम-राम का जप होता है। इसी प्रकार इस हंसः मंत्र का जाप श्वास उच्छ्वास में अपने आप ही होता रहता है। यह प्राण ही हंसात्मा है। यही प्राण आत्मरूप से शरीर में स्थित है। हंकार से बाहर जाता है, सकार से पुनः प्रवेश करता है। इस रहस्य को जो जान लेता है उसका संसार बन्धन क्षय हो जाता है। यह हंसरूप प्राण नाभि से उठता है, हृदयाग्नि में इसकी व्यवस्थिति है। अतः जो नित्य नियम से अग्निहोत्र प्राणायाम करता है, उस पर हंसात्मारूप प्राण प्रसन्न होकर उसे ज्ञान प्रदान करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सत्यकाम जाबाल ब्रह्म के दो पादों का उपदेश पाकर तीसरे पाद के लिये हंसदेव की प्रतीक्षा करने लगा। वह गौओं को हाँकता हुआ, गुरुकुल की ओर जा रहा था, कि सायंकाल होने पर गौओं को एकत्रित करके एक स्थान पर रुक गया। वहीं नित्य कर्म से निवृत्त होकर सायंकालीन समिधाधान करने के निमित्त उसने अग्नि को प्रज्वलित किया। विधिवत् समिधाधान करने के अनन्तर वह अग्नि के पश्चिम ओर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। उस समय वह क्या देखता है आकाश से एक परम शुभ्र दर्शनीय हंस उतरकर उसके समीप आ रहा है। आते ही उसने मधुर स्वर में पुकारा—"सत्यकाम!"

सत्यकाम तो सावधान ही था, अतः उसने समादर के उत्तर दिया—"जी, भगवन् !"

तब हंस ने कहा—"हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्म का एक पा बताना चाहता हूँ। क्या तेरी सुनने की इच्छा है, यदि है तो बताऊँ ?"

इस पर सत्यकाम ने कहा—"भगवन् ! आपकी बड़ी है, मैं उसे सुनने को परम समुत्सुक हूँ। कृपा करके उसे बतावें।"

तब हंस ने कहा—"यह तृतीय पाद भी चार कलाओं है।"

सत्यकाम ने पूछा—"भगवन् ! वे चार कलायें कौन-कौन सी हैं ?"

हंस ने कहा—"देखो, तृतीय पाद ब्रह्म की पहिली कला अग्नि है, दूसरी कला सूर्य है, तीसरी कला चन्द्रमा है और चौथी कला विद्युत है। हे सोम्य ! यह चतुष्कल ब्रह्म का तृतीय पाद है इसका नाम ज्योतिष्माम् पाद है।"

सत्यकाम ने पूछा—"इस ज्योतिष्मान् पाद के जानने क फल क्या है ?"

हंस ने कहा—"जो उपासक चतुष्कल ब्रह्म के तीसरे इस ज्योतिष्मान् गुण से युक्त पाद की उपासना करता है। वह इस लोक में तो परम ज्योतिष्मान् होता है। उसके समस्त किल्विष-सम्पूर्ण दोष नष्ट होकर वह जगत् में प्रकाशवान् पुरुष होता है। अन्त में मृत्यु के अनन्तर वह ज्योतिष्मान् लोकों को जीतकर उन प्रकाशयुक्त दिव्य लोकों में निवास करता है।" यही इस चतुष्कल ज्योतिष्मान् की उपासना का फल है।"

यह सुनकर सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! मुझे ब्रह्म के चौथे पाद का उपदेश और दें।"

इस पर हंसदेव ने कहा—"एक मद्गु नामक जलजन्तु है, वह तुम्हें ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश देगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सत्यकाम को ब्रह्म के तीन पाद का ज्ञान हो गया। अब वह ब्रह्म का चौथा पाद जानने को परम उत्सुक हुआ। अब जैसे उसे ब्रह्म के चौथे पाद का उपदेश मद्गु (पान कौड़ि) नामक जलचर पक्षी करेगा, उस प्रसङ्ग को आगे कहूँगा आशा है इसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

अग्नि, सूर्य, शशि और कला विद्युत चारिहु ये।
ज्योतिष्मान तृतीय विदित ये पाद कहे ते॥
कह्यो चतुष्कल ब्रह्म तृतिय जो करै उपासन।
होवै ज्योतिष्मान गुननि तें इहि जग भूषन॥
होइ कान्ति ताकी सुघर, संसारी सुख पाइयो।
पुनि मरि ज्योतिष्मान जे, तिनि लोकनि में जाइगो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
सप्तम खण्ड समाप्त।

सत्यकाम को ब्रह्म के चतुर्थ पाद का मद्गु द्वारा उपदेश तथा आचार्य द्वारा उसी ज्ञान की पुष्टि

[१६०]

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार ता यत्रामि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥

(छा० उ० ४ प० ८ ख० १ मं०)

यह संसार धर्म, अग्नि, वायु, और जल के ही आधार पर स्थित है। सर्वप्रथम भगवान् ने जल की ही सृष्टि की। जैसे प्राणवायु जीवन है वैसे ही जल भी जीवन है। जल के बिना प्राण रह नहीं सकते। जैसे बाह्यकरण-दशों इन्द्रियाँ-अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार-ये प्राणों के बिना टिक नहीं सकते। उसी प्रकार प्राण जल के बिना टिक नहीं सकते। प्राणों का आधार जल है। जल भगवान का वीर्य है। नार जल को कहते हैं। वह अयन-स्थान-आयतन जिनका है, वे भगवान् नारायण कहलाते हैं। जल का आयतन स्थान क्या है शरीर है। शरीर क्या है बाह्यकरण और अन्तःकरण है। बाह्यकरण अथवा इन्द्रियाँ दश हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय हैं, मन से चारों अन्तःकरणों का बोध होता है। प्राण इन सबका आधार है। अतः जल रूप प्राण, चक्षु श्रोत्र और मन ये चार ही ब्रह्म के आयतन-रहने के स्थान हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मन और प्राण ये ही आयतन घर हैं। इस रहस्य को जो जानता है। वह इस लोक में तथा परलोक में भी गृहहीन नहीं होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सत्यकाम सच्चा जिज्ञासु था। उसे चतुष्कल ब्रह्म के पहिले पाद की पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन चार कलाओं का ज्ञान तो धर्मरूप वृषभ द्वारा हुआ, दूसरे पाद की पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र रूप चारों कलाओं का ज्ञान अग्नि से हुआ ब्रह्म के तृतीय पाद की अग्नि सूर्य, चन्द्र और विद्युत इन चार कलाओं का ज्ञान वायु हंसरूप से हुआ। अब चौथे पाद की चार कलाओं का ज्ञान होना शेष था। हंस चलते समय बता गये थे। इन जलरूप प्राणसंज्ञक चतुर्थ पाद का उपदेश मद्गु पक्षी करेगा।

इसलिये इस चतुष्कल ब्रह्म के चतुर्थ पाद, जलरूप

की चार कलाओं का ज्ञान प्राप्त करने को परम उत्सुक था। इ
लिये दूसरे दिन वह गौओं को आगे आगे हाँकता हुआ अ
बढा। जहाँ सायकाल हो गया, वहाँ उसने गौओं को एक
करके खडा किया। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर समिधाधान
के निमित्त उसने अग्नि प्रज्वलित की। समिधाधान करने
अनन्तर अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख होकर वह मद्गु जलचर
की प्रतीक्षा में बैठ गया। तभी उसे एक सुमधुर वाणी
दी—"सत्यकाम !"

सत्यकाम तो सतत सावधान ही थे, वे समझ गये
रूप में जीवनाधार आ गये। अतः उसने उत्तर दिया—
भगवन् ! क्या आज्ञा है ?"

मद्गु ने कहा—"सौम्य ! मैं तुम्हें ब्रह्म का चतुर्थ पाद
चाहता हूँ। तुम्हारी सुनने की इच्छा हो तो सुनाऊँ ?"

सत्यकाम ने समाहित चित्त से शांति सरलता के साथ
"भगवन् ! मैं सुनने को समुत्सुक हूँ कृपा करके सुनाइये।"

मद्गु ने कहा—"चतुष्कल ब्रह्म की प्राण, चक्षु, श्रोत्र,
मन ये ही चार कलायें हैं, यही ब्रह्म का 'आयतनवान्'
चतुर्थ पाद है। जो उपासक इसकी उपासना करता है। वह
लोक में आयतवान् होता है और अन्त में आयतवान् लोकों
जीतकर उनमें प्रमुदित होता है। यह आयतनवान् ब्रह्म का
पाद है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार सत्यकाम
वृषभ, अग्नि, हंस और मद्गु पक्षी द्वारा चतुष्कल ब्रह्म के
पादों की तथा सोलह कलाओं का ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ
गया। उसके मुख मण्डल पर प्रत्यक्ष ब्रह्मज्ञान की ज्योति छिट
कने लगी। उसका आनन ब्रह्मतेज से प्रदीप्त हो उठा।

पुष्ट एक सहस्र गौओं को लेकर आश्रम में अपने आचार्य तम गोत्राय हारिद्रुमत के समीप पहुँचा। उसने आचार्य चरणों साष्टांग प्रणाम किया। अपने शिष्य को सम्मुख विनम्र भाव से ड़ा देखकर प्रेममूर्ति आचार्य खिल उठे। वे अत्यन्त ही अनु-ाग के साथ बोले—"कौन, वत्स! सत्यकाम?"

नम्रता के साथ सत्यकाम ने उत्तर दिया—"जी, भगवन्!

आचार्य ने कहा—"अच्छा, बेटा तू आ गया? सौम्य! तेरा ुख मंडल तो ब्रह्मतेज से दम-दम दमक रहा है। तू तो ब्रह्म-ेत्ताओं की भाँति भासित हो रहा है? मैंने तो तुझे ब्रह्म का उपदेश दिया नहीं। फिर तुझे ब्रह्म विद्या की प्राप्ति किससे हुई? किसने तुझे ब्रह्म का उपदेश दिया?"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! मुझे किसी मनुष्य ने ब्रह्म का उपदेश नहीं दिया।"

आचार्य ने पूछा—"ब्रह्मज्ञान तो तुम्हें अवश्य हुआ है, मनुष्य ने उपदेश नहीं किया, तो किसने किया है?"

सत्यकाम ने कहा—"मनुष्यों से इतर—वृषभ, अग्नि, हंस और जलचर मद्गु ने चतुष्कल ब्रह्म के एक-एक पाद का उपदेश मुझे किया है।"

आचार्य ने कहा—"किसी ने भी किया हो तुम ब्रह्मवेत्ता तो हो ही गये।"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! समानशीलता में ही स्थिरता है। भगवान् के अनेकों अवतार हैं, किन्तु मनुष्यों को रामावतार और कृष्णावतार से ही अधिक अनुराग है। इसलिये भगवन्! जब तक मैं अपने पूज्यपाद आचार्य के श्रीमुख से उपदेश ग्रहण न कर लूँ, तब तक मुझे सन्तोष न होगा। अतः भगवन्! आप

मुझे ब्रह्म का उपदेश करें। ऋषियों ने यही बात कही है कि "आचार्य द्वारा प्राप्त विद्या ही साधुता को प्राप्त होती है।"

आचार्य ने पूछा—"उन चारों ने तुम्हें क्या उपदेश दिया था ?"

सत्यकाम ने कहा—"वृषभ ने ब्रह्म के प्रकाशवान् नाम की पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार कलायें बतायीं। अग्नि ने ब्रह्म के द्वितीय अन्तवान् पाद की पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र ये चार कलायें कहीं। हंस ने ब्रह्म के तृतीय ज्योतिष्मान् पाद की अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत ये कलायें बतायीं। और मद्गु नामक जलचर ने चतुष्कल ब्रह्म के चतुर्थ पाद की प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये कलायें बतायीं। चारों ने पाद और षोडश कलायुक्त ब्रह्म का उपदेश दिया।

आचार्य ने कहा—"तुमको यथार्थ ब्रह्म का उपदेश है। वृषभ रूप में वह धर्मदेव थे, अग्नि रूप में वे ही हुतभुक् थे, हंस रूप में प्राणात्मा वायु थे और मद्गु रूप में जल वरुण देव थे। देखो प्रकाश, अनन्त, ज्योति और आयतन ये ब्रह्म के प्रतीक हैं। प्रकाश दिशाओं में होता है, अतः दिशायें का एक पाद हैं। पृथ्वी अन्तरिक्ष तथा ऊपर के समस्त लो तथा समुद्र ये सब अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। सत्य, ज्ञान और यही ब्रह्म का लक्षण बताया है। वह ब्रह्म ज्योति रूप में प्रत्यक्ष होता है। इस जगत् में अग्नि, सूर्य, चन्द्र, और इनमें ही ज्योति प्रत्यक्ष दृष्टि होती है। ब्रह्म का आयतन-स्थान प्राण कर्म और ज्ञान इन्द्रियाँ, अन्तःकरण ये ही हैं। अतः यह षोडश कलायुक्त चतुष्पाद ब्रह्म ही सत्य है। तुम्हें जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह पूर्णज्ञान प्राप्त हुआ है। वह पूर्णज्ञान है। उसमें कुछ

भी न्यून नहीं हुआ। मैं तुमसे फिर कहता हूँ, इसमें कुछ भी न्यून नहीं हुआ है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उसी देवों द्वारा दत्त ज्ञान को अपने आचार्य के मुख से श्रवण करके सत्यकाम कृतार्थ हो गये। यह मैंने सत्यकाम जाबाल के सम्बन्ध से षोडशकलात्मक चतुष्पाद ब्रह्म के सम्बन्ध में बताया अब अग्नि ने जैसे उपकोसल को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है, उसका वर्णन मैं आगे आपसे करूँगा। आशा है आप इस प्रसंग को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

प्राण, चक्षु, मन, श्रोत्र पाद आयतन वान वर।
ब्रह्म चतुष्कल जानि होहिँ आयतनवान नर॥
चतुष्पाद उपदेश पाइ बटु गुरुकुल आयो।
ब्रह्म प्राप्त तब भयो देखि मुख गुरु बतलायो॥
पुरुष अन्य उपदेश तैं, नहिँ गुरु! मेरो हिय भरयो।
उपदेशैं गुरु! आपु अब, पुनि गुरु उपदेशहु करयो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
अष्टम तथा नवम खण्ड समाप्त।

ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में उपकोसल ब्रह्मचारी की कथा

[१६१]

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्माऽन्यानन्तेवासिनः समावर्तय ँ स्त ँ ह स्मैव न समावर्तयति ॥*

(छा० उ० ४ प्र० १० ख० १ म०)

छप्पय

सत्यकाम जाबाल भये गुरु बटुनि पढ़ावैं ।
ब्रह्मचर्यव्रत धारि शिष्य बहु पढ़िवे आवैं ॥
उपकोसल इक शिष्य अग्नि सेवा-गुरु कीन्हीं ।
स्नातक सगी करे न तिहि गृह अनुमति दीन्हीं ॥
गुरुआनी गुरु तैं कही, करी अनसुनी चलि गये ।
करयो दुखित उपवास जब, उपदेशहु अग्निनि दये ॥

---

* उपकोसल कामलायन नाम का ब्रह्मचारी सत्यकाम जाबाल आचार्य के गुरुकुल में निवास करता था । उसने द्वादश वर्ष पर्यन्त गुरु की परिचर्या की । गुरु ने अन्य विद्यार्थियों का तो समावर्तन संस्कार कर दिया । किन्तु केवल इसी का समावर्तन संस्कार नहीं किया ।

विद्या वह है हमें जो मुक्ति का मार्ग दिखा दें। आचार्य वह है, जो वेद की श्रुतियों का ज्ञाता श्रोत्रिय तथा ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म-निष्ठ हो। पहिले प्रायः आचार्य कर्मपरायण सद्गृहस्थ होते थे वैसे गृहस्थी भू, भुव और स्वर्गलोक से ऊपर नहीं जा सकते। क्योंकि वे प्रजावान् होते हैं प्रजावानों के ये ही लोक हैं, किन्तु जीवनभर सदाचरण का पालन करने वाले गृहस्थ में रहते हुए भी कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले तथा सदा सर्वदा यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय और प्रवचन में निरत श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महर्षिगण महर्लोक को प्राप्त कर लेते हैं। उनका पुनः प्रायः जन्म नहीं होता। वे त्रैलोक्य को पारकर के मृत्यु को जीत लेते हैं।

सद्यः मुक्ति तो किसी विरले ही महापुरुष की युगयुगान्तरों में होती है। नहीं तो देहधारी सत्कर्म में निरत ज्ञानियों की क्रम-मुक्ति ही हुआ करती है। महः जन, तप और सत्यलोक में प्रायः क्रममुक्ति वाले मुक्तपुरुष ही निवास करते हैं। अतः आचार्य-गण ऐसी ही उपासना का उपदेश करते थे, जिसके प्रभाव से इस लोक में भी समस्त सुख समाप्तियाँ प्राप्त हों, परलोक में भी दिव्य सुख प्राप्त हों और अन्त में संसार सागर से सदा के लिये विमुक्त बन जाय।

जिह्वा और जननेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करके जो समस्त भोग वासनाओं का परित्याग कर देता है वास्तव में वही तपस्वी है, वही यथार्थ ब्रह्मचारी है, ब्रह्म प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य को पालन करना परमावश्यक है। गुरुकुल में ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके जो गुरु, अग्नि, देव तथा अतिथियों की सेवा में संलग्न रहता है, वही विद्या प्राप्ति का अधिकारी समझा जाता है। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे। एक तो वे जिनके मन में गृहस्थ बनने की वासना है, दूसरे वे जो गृहस्थी के झंझट में नहीं फँसना चाहते। जो गुरु-

कुल से स्नातक बनकर दार-ग्रहण करके भी ऋषि जीवन बिताते हुए यज्ञ, दान, तपस्या तथा स्वाध्याय प्रवचनादि पुण्य कर्मों में जीवन बिताते हैं, अन्त मे उन्हें महर्लोक की प्राप्ति होती है। दूसरे वे जो गृहस्थ के चक्कर में पड़ते ही नहीं। अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करके जीवनभर नैष्ठिक बने रहते हैं। उन्हे महर्लोक से भी ऊँचे जन लोक की प्राप्ति होती है। सभी ब्रह्म है, जिसे जिसकी उपासना से ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि हो जाय, उसके लिये वे ही ब्रह्म हैं। हम जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश को लोक मे देखते हैं ये इनके आधिभौतिक रूप हैं। जो इनमे लगा रहेगा, उन्हे नाना पचभूत निर्मित देह प्राप्त होते रहेंगे।

इन सबके एक आधिदैविक रूप भी हैं। जैसे मेघ पर चढ़े हुए ज्वाला मालायुक्त अग्नि देवता, रथ मे बैठे सूर्यदेवता, देवता रूप में इनकी उपासना करने से ये प्रत्यक्ष देवरूप में दर्शन देते हैं और अन्त में अपने लोकों को ले जाते हैं जहाँ इस लोक से बढ़ कर दिव्य भोग हैं। उन्हीं देवताओं की ब्रह्मभाव से उपासना की जाय, तो वे दिव्य भोगो के साथ ही साथ ज्ञान भी प्रदान करते हैं जिस ज्ञान से अन्त मे मुक्ति प्राप्त होती है। इससे यही सिद्ध हुआ कि आधिभौतिक पचभूतों की उपासना से बार बार अनेक पाच भौतिक योनियाँ प्राप्त होती हैं। देवताओं की उपासना से स्वर्ग के दिव्यभोग मिलते हैं और ब्रह्मोपासना से ज्ञान होकर अन्त में मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसका उपाय है, आचार्य की शरण में जाकर सत्कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करते रहना। इससे देवता प्रसन्न होते हैं, आचार्य प्रसन्न होते हैं और ज्ञान की प्राप्ति पूर्वक मुक्ति होती है। समस्त उपनिषदें भाँति भाँति से उपासना पूर्वक इसी मुक्तिमार्ग का उपदेश करती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसे सत्यकाम जाबाल ने गुरु

सुश्रूषा से देवताओं द्वारा तथा अन्त में गुरुदेव के मुख से ज्ञान प्राप्त किया, वह कथा तो मैं कह ही चुका। अब उन्होंने अपने शिष्यों पर कैसे अनुग्रह की। ऊपर से कठोरता प्रदर्शित करके किस प्रकार देवताओं द्वारा अपने शिष्य को उपदेश कराया, और अन्त में स्वयं ने भी उसी ज्ञान को कहकर उसका अनुमोदन किया, इस ब्रह्मविद्या की साधनभूता उपकोसल की कथा का आरम्भ करते हैं।"

अपने गुरु गौतम गोत्रीय हरिद्रुमत महर्षि के यहाँ से शिक्षा पाकर—उनसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश प्राप्त करके, सत्यकाम जाबाल समावर्तन संस्कार कराकर—स्नातक होकर—अपनी माता के समीप गये। माताओं की तो उत्कट अभिलाषा रहती ही है—'मैं अपने पुत्र को पुत्रवधू के सहित देखूँ।' अतः जबाला ने सत्यकाम जी से विवाह करने का आग्रह किया। उन्होंने भी माता की आज्ञा से दारग्रहण करके द्वितीय आश्रम गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। वे अपनी धर्मपत्नी के सहित अरण्य में वास करते हुए अग्नि, देवता, पितरों तथा अतिथियों की सेवा करते हुए, स्वाध्याय प्रवचनादि सत्कर्मों में समय बिताने लगे। उनके तप की ख्याति सुनकर दूर-दूर देशों से अन्तेवासी—विद्यार्थी—उनके समीप ब्रह्मचर्यव्रत धारण पूर्वक विद्या प्राप्ति के निमित्त निवास करने लगे। उनके समीप एक कमल का पुत्र कामलायन नाम का छात्र जिसका दूसरा नाम उपकोसल भी था, वह भी निवास करता था। प्रतीत होता है, वह उपकोसल देश का रहा होगा। उसने नियम पूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए बारह वर्ष पर्यन्त गुरुकुल में निवास किया। आचार्य की जो अग्नि थीं उनकी सेवा भी वह बड़ी लग्न के साथ नियमित रूप से करता रहा।

प्रायः ब्रह्मचारी लोग बारह वर्षों तक गुरुकुल में वास करके

जो उपकुर्वाण होते हैं गृहस्थी बनना चाहते हैं, वे गुरु की आज्ञा से समावर्तन संस्कार कराकर घर चले जाते हैं और घर पर विवाह करके गृहस्थी जीवन बिताते हुए कालयापन करते हैं। उपकोसल कामलायन के साथ जितने विद्यार्थी आये थे। उसके जितने साथी सहपाठी थे, उन सबका तो आचार्य ने समावर्तन संस्कार करा दिया। वे सब तो अपने-अपने घर चले गये। यह उपकोसल रह गया। आचार्य ने जान बूझकर इसका समावर्तन नहीं कराया।

यह गृहस्थ बनने की कामना करता था, किन्तु जब तक आचार्य अनुमति न दें, तब तक कैसे जा सकता था। सत्यकाम आचार्य की पत्नी को यह बात अच्छी नहीं लगी। नारी हृदय मनुष्य के हृदय की कामना को शीघ्र परख लेता है। उपकोसल उदास रहने लगा। गुरुआनी उसके भाव को समझ गयी। दया मयावती आचार्यपत्नी ने एक दिन अपने पति से एकान्त में कहा—"प्राणनाथ! मुझे आप से एक निवेदन करना है?"

आचार्य ने कहा—"कहो, क्या कहना चाहती हो?"

आचार्यपत्नी ने कहा—"देखिये, यह जो उपकोसल कामलायन ब्रह्मचारी है, इसके सभी साथी तो व्रत स्नान करके—स्नातक होकर—समावर्तन संस्कार कराकर अपने-अपने घर चले गये, इसे आपने अभी तक क्यों रोक रखा है? इसका समावर्तन क्यों नहीं कराया?"

आचार्य ने कहा—"करा देंगे, ऐसी शीघ्रता क्या है?"

आचार्यपत्नी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"शीघ्रता क्यों नहीं है, बेचारा भोलाभाला बच्चा उदास रहता है। इसने और विद्यार्थियों की अपेक्षा आपकी सेवा भी अधिक की है। इसने तपस्या भी यथेष्ट की है। इसने आपकी अग्नियों की

सेवा भी मन लगाकर की है। अग्नियाँ इस पर प्रसन्न भी हैं। यदि आप इसकी इच्छा के विपरीत करेंगे, तो ये अग्नियाँ आप की निन्दा करेंगीं। अतः अग्नियाँ आप की निन्दा न करें इसके पूर्व ही आप इसे ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर–समावर्तन संस्कार कराकर–व्रत का स्नान कराकर–स्नातक बनाकर–घर भेज दीजिये।"

आचार्य ने कहा—"अच्छी बात है, करा देंगे।"

आचार्यपत्नी नित्य इनसे कहती रहीं आचार्य टालमटूल करते गये। अन्त में जब उनकी धर्मपत्नी ने अत्याधिक आग्रह किया, तो किसी आवश्यक कार्य के व्याज से बाहर चले गये। बहुत दिनों तक लौटे ही नहीं।

अब तो उपकोसल निराश हो गया। उसे अत्यधिक मानसिक क्लेश हुआ। मानसिक व्याधि ने उसे घेर लिया। उसने भोजन का परित्याग कर दिया।

दयामयी आचार्यपत्नी ने बड़े प्रेम से पूछा—"बेटा! ब्रह्मचारी! अरे, तू अनशन क्यों कर रहा है? भोजन क्यों नहीं करता?"

उपकोसल ने कहा—"माताजी! अब मैं आपको क्या बताऊँ? इस मनुष्य के अन्तःकरण में–पूर्व वासनाओं के अनुसार–बहुतसी कामनाएँ भरी रहती हैं। वे कामनाएँ वस्तु स्वरूप का उल्लङ्घन करके मनुष्य को अनेक ओर ले जाने वाली हैं। ब्रह्मप्राप्ति के अतिरिक्त भी जीव की नाना विध सांसारिक वासनायें होती हैं। वे वासानायें ही प्राणियों को व्यथित बना देती हैं। वासनाओं के वशीभूत प्राणी को खाना-पीना फिर कुछ अच्छा नहीं लगता। माताजी! आपकी बड़ी दया है जो आप मेरी इतनी चिंता रखती हैं, मुझसे भोजन करने का आग्रह करती हैं, किन्तु मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूँ, इस समय मैं मानसिक चिन्ताओं से युक्त होने

के कारण व्यथित हूँ, व्याधियुक्त हूँ मुझे खान-पान सुहाता, नहीं, अतः मैं भोजन नहीं करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! गुरुआनी से ऐसा कहकर वह ब्रह्मचारी बिना भोजन किये हुए भी लगन के साथ भली प्रकार अग्नियों की सेवा में पूर्व की ही भाँति लगा रहा। वह अव्यग्र भाव से अग्नियों की सेवा करता ही रहा।"

आचार्य घर पर नहीं हैं। उपकोसल ने अनशन कर रखा है। आचार्यपत्नी चिंतित तथा दुखित हैं, ब्रह्मचारी अनशन कर भी अग्नि की भली-भाँति सेवा में संलग्न है। इससे अग्निहोत्र की अग्नियाँ ब्रह्मचारी पर प्रसन्न हो गयीं। गार्हपत्य, पचन-दक्षिणाग्नि और आहवनीय तीनों अग्नियों ने होकर परस्पर में कहा—"देखो, इस ब्रह्मचारी ने जितनी करनी चाहिये उतनी तपस्या की है। गुरुकुल में रहकर यह भली भाँति तपस्या कर चुका है। इसने बड़ी सावधानी से से हमारी भली-भाँति सेवा भी की है। अब हमें ही इसको ब्रह्म ज्ञान का उपदेश करना चाहिये।"

ऐसा निश्चय करके अग्नियों ने उपकोसल से कहा—"वत्स उपकोसल!"

ब्रह्मचारी ने कहा—"हाँ, भगवन्त!"

अग्नियों ने कहा—"ब्रह्मचारिन्! हम तुम्हें ब्रह्म का करना चाहते हैं, करें?"

ब्रह्मचारी ने कहा—"आप सब की महती अनुग्रह है, करके उपदेश कीजिये।"

तब अग्नियों ने कहा—"प्राण ही ब्रह्म है कं ब्रह्म है खं है।"

ब्रह्मचारी ने कहा—"प्राण ब्रह्म है, यह तो सर्वविदित बात

इसे तो मैं जानता हूँ। क्योंकि शरीर में प्राण ही मुख्य हैं। प्राणों के चले जाने पर समस्त इन्द्रियाँ चली जाती हैं, देह निष्क्रिय बन जाता है। किन्तु कं खं को जो आप ने ब्रह्म बताया, यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। कृपया इसे मुझे समझा दीजिये। वैसे कं सुखम्—खं आकाश—क तो सुख का नाम है, ख आकाश को कहते हैं। ब्रह्म अविनाशी है। वह अनपेक्ष है उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं। ये संसारी सुख तो दुःख की अपेक्षा रखते हैं, फिर वे नाशवान् हैं। नाशवान् सुख ब्रह्म कैसे हो सकता है। आकाश भी पंचभूतों में से एक भूत है। भूत नाशवान् हैं, आकाश भी नाशवान् है। फिर खं—आकाश ब्रह्म कैसे हो सकता है। आप अग्निदेव प्रत्यक्ष सर्वपूज्य देव हैं। आप असत्य भी नहीं कह सकते, अतः कृपा करके मुझे समझा दें कं खं कैसे ब्रह्म हैं ?"

इस पर अग्नियों ने कहा—"जो क है वही ख है और जो ख है वही क है। अर्थात् प्राण का आश्रय जो हृदयाकाश है वही वास्तिवक सुख है। सुख से यहाँ द्वन्द्व वाला सुख नहीं। संसारी सुख नहीं। नित्यसुख और आकाश से पंचभूतों वाला आकाश नहीं। हृदय कमल के मध्य का अवकाश ही है। इसलिये प्राण ब्रह्म है और उसके आश्रयभूत जो आकाश है वह ब्रह्म है। इसको हम तीनों अग्नियाँ स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् तुम्हें उपदेश करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब तीनों अग्नियाँ जैसे अपने चार-चार शरीरों को बताकर उनमें ब्रह्मोपासना का प्रकार बतावेंगे, उन तीनों अग्नियों के पृथक्-पृथक् उपदेशों को मैं आगे वर्णन करूँगा, आशा है आप इस पुण्य प्रसंग को प्रेमपूर्वक श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

अग्नि कहें—हे ब्रह्म प्राण अरु क ख वटु ! सुनि ।
बोल्यो वटु—हे प्राण ब्रह्म सब कहें विज्ञ मुनि ॥
क ख कैसे ब्रह्म ? जाइ मोकूँ समुझावें ।
कहे गारपत अगिनि चारि मम देह कहावें ॥
अग्नि, अन्न, आदित्य भू, पुरुष दिखे आदित्यमहँ ।
वही ब्रह्म करि उपासन, प्राप्त अग्नि के लोकमहँ ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
दशम खण्ड समाप्त ।

तीनों अग्नियों द्वारा उपकोसल को उपदेश

[१६२]

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पाप कृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्याग्जीवति नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्चलोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥❀

(छां० उ० ४ अ० ११ ख० २ म०)

छप्पय

गार्हपत्य फल कह्यो पुन्य मम लोकनि आवै।
उज्वल जीवन पुत्रवान बहु आयू पावै॥
दक्षिणाग्नि जल, दिशा, चन्द्र, नक्षत्र बताये।
चन्द्र पुरुष जो दिखै ब्रह्म वह यों समुझाये।
फल पूरव सम ही कह्यो, अग्नि आहवनि आइ पुनि।
प्राण, स्वर्ग नभ, बीजुरी, विद्युत् नर हौं ब्रह्म सुनि॥

❀ इस प्रकार चतुर्धा विभक्त अग्नि को जानकर उसकी उपासना करता है, वह पुरुष पाप कर्मों को नाश करके पुण्य कर्मों को प्राप्त होता है। अपनी पूर्ण आयु भोगता है। उज्वल जीवन बिताता है, उसकी वंश परम्परा क्षीण नहीं होती। जो इस प्रकार जानकर उपासना करता है। उसका हम इस लोक में तथा परलोक में पालन करते हैं।

आदित्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युत्लोक ये सब प्रकाशमय लोक हैं। आदित्य अग्नि स्वरूप ही हैं। अग्नि से अन्न होता है और अन्न से पृथ्वी। या यों कहो कि पृथ्वी पर अन्न होता है, उस अन्न को अग्नि पचाती है। अग्नि की उपासना से आदित्यलोक की प्राप्ति होती है। पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य इन सबका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जैसा अग्नि और आदित्य का सम्बन्ध है वैसा ही जल और चन्द्र का सम्बन्ध है। जल से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। चन्द्रमा समस्त ओषधियों के राजा हैं। ओषधियों द्वारा अग्नि की उपासना करने से दिग्देवता नक्षत्र लोकों में होकर चन्द्रलोक को प्राप्त करा देते हैं। उसी प्रकार प्राण और विद्युत् का सम्बन्ध है। प्राण वायु स्वरूप ही है वह हृदयाकाश में रहता है, अग्नि की उपासना से प्राण, आकाश और विद्युत् द्वारा उपासक स्वर्ग को प्राप्त होता है।

पृथ्वी, अग्नि, अन्न, आदित्य, जल, दिशा, नक्षत्र, चन्द्र, प्राण, आकाश, स्वर्ग और विद्युत् ये अग्नि के ही शरीर हैं। इनमें तो तेज है वह अग्नि का ही तेज है। वह तेज ब्रह्म का ही है। ब्रह्मभाव से जिस अग्नि की जो उपासना करता है। उसे वह अग्नि अन्त में अपना लोक ही प्रदान करते हैं। ये लोक त्रैलोक्य के ही अन्तर्गत हैं। केवल अग्नि की ही उपासना से इन पुनरावर्ती लोकों की प्राप्ति होती है। इससे जन्म मरण का चक्कर निवर्त नहीं होता। इस उपासना से पाप क्षय होकर पुण्यलोकों की प्राप्ति होती है। यथार्थ ज्ञान वह है, कि जिसे जानकर पाप पुण्य का स्पर्श न हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तीनों अग्निओं ने उपकोसल को प्राण और कं खं रूप में प्राण और आकाश का उपदेश दिया, तो ब्रह्मचारी इसे भली-भाँति समझ नहीं सका।

तब गार्हपत्याग्नि दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि इन तीनों ने उसे पृथक्-पृथक् उपदेश देना आरम्भ किया। सबसे पहिले जो आचार्य की गार्हपत्याग्नि है, जिसकी उपासना आचार्य नित्य नियम से करते थे। गृहपति जो यजमान है उसे संयुक्त होने के कारण ही जो गार्हपत्य नाम से विख्यात है, वह अग्निदेव अपने कुण्ड से बोले—"देखो, ब्रह्मचारी मेरे चार शरीर हैं।"

ब्रह्मचारी ने पूछा—"चार शरीर आपके कौन-कौन से हैं?"

तब गार्हपत्याग्नि ने कहा—"पृथ्वी मेरा शरीर है, अग्नि जो संसार में दीखती है वह मेरा शरीर है अन्न मेरा शरीर है और आदित्य मेरा शरीर है।"

ब्रह्मचारी ने पूछा—"इन चार रूपों में उपासना कैसे करें?"

अग्नि ने कहा—"जैसे शरीर में प्राण मुख्य हैं, वैसे ही हमारे शरीर में आदित्य मुख्य है। चारों को एक मानकर आदित्य में मेरी उपासना करे।"

ब्र०—"आदित्य में आपकी उपासना कैसे करे?"

गा० अग्नि ने कहा—"आदित्य को ध्यान से देखो, उसमें एक सुवर्ण वर्ण का परम तेजस्वी पुरुष दिखायी देगा, उसके बाल दाढ़ी मूँछ सभी सुवर्ण वर्ण के हैं। वह जो पुरुष दिखायी देता है। वह मैं हूँ, उसी की तुम गार्हपत्याग्नि मानकर उपासना करो।"

ब्र०—"उसकी उपासना का फल क्या है?"

गा० अ०—"इसके छै फल हैं। (१) इसका उपासक पाप कर्मों को नष्ट कर देता है, जो मोक्ष मार्ग के प्रतिबन्धक हैं। (२) पुण्य वृद्धि होने से उसे दिव्य अग्नि लोकों की प्राप्ति होती है। (३) वह अपनी आयु का सुख पूर्वक उपभोग करता (४) उसका जीवन उज्वल होता है और (५) उसकी वंश

नष्ट नहीं होती। उसकी सन्तान परम्परा में लोग क्षीण नहीं होते तथा (६) इस लोक में और परलोक में भी हम अग्नि उसका पालन करते हैं।

इस प्रकार उपदेश करके गार्हपत्याग्नि मौन हो गये।

इसके अनतर अन्वाहार्य पचनाग्नि-जो गार्हपत्याग्नि के दक्षिण भाग मे स्थित रहने से दक्षिणाग्नि भी कहलाती है उसने शिक्षा देने के लिये उपकोसल से कहा—"ब्रह्मचारिन्! मैं तुम्हें शिक्षा दूँ?"

उपकोसल ने कहा—"दीजिये भगवन्!"

दक्षिणाग्नि ने कहा—"मेरे भी चार शरीर हैं।"

ब्र० ने पूछा—"वे कौन-कौन से शरीर हैं?"

दक्षिणाग्नि ने कहा—"एक शरीर मेरा जल है दूसरा दिशायें हैं, तीसरा नक्षत्र हैं और चौथा शरीर चन्द्रमा है।"

ब्रह्मचारी ने पूछा—"जल तो शीतल है, आप तो उष्ण हैं, जल आपका शरीर कैसे है?"

दक्षिणाग्नि ने कहा—"पुत्र में पिता का अश रहता है या नहीं? पुत्र तो पिता की आत्मा ही माना जाता है। जल मुझसे ही तो उत्पन्न हुआ है, जल मेरा ही पुत्र है। फिर समुद्र के जल में भी तो मैं वाडवाग्नि के नाम से रहता हूँ। जठराग्नि जो उदर में रहती है वहाँ तो जल है। हिम-जमा हुआ जल ही तो है उस में भी मैं रहता हूँ। हिम शरीर को जला देता है।"

ब्र०—"फिर जल से आप बुझ क्यों जाते हैं?"

दक्षिणाग्नि—"आदमी सर्वत्र अपनी ही जय चाहता है, किन्तु पुत्र में पराजय में भी उसे सुख होता है। इसीलिये पुत्र के प्रवेश में बुझ-सा जाता हूँ। बुझकर कहीं चला थोड़े ही जाता हूँ, अदर्शन हो जाता हूँ। इस पर ग्रह, नक्षत्र, तारा, चन्द्रमा और

दिशायें ये मेरा ही रूप है। इन रूपों में मेरी उपासना करनी चाहिये।"

ब्र०—"इन रूपों में आपकी उपासना कैसे करें?"

दक्षिणाग्नि—"देखो, ध्यानपूर्वक देखने पर चन्द्रमा में एक पुरुष दिखायी देता है। वह मैं ही हूँ। वह मेरा ही रूप है। उसी रूप की निरन्तर चारों शरीर वाला मानकर मेरी उपासना करनी चाहिये।"

ब्र०—"इसका फल क्या है?"

दक्षिणाग्नि—"इसके भी वे ही ६ फल हैं जिसका वर्णन गार्हपत्याग्नि ने किया है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! दक्षिणाग्नि के उपदेश करने के अनन्तर आहवनीय अग्नि ने आकर उपदेश देने की इच्छा की। गार्हपत्याग्नि से उठाकर होम के लिये जिसका संस्कार किया जाता है, जिसमें घृतादि हवन किये जाते हैं उस अग्नि को आहवनीय अग्नि कहते हैं। (आहूयते—आज्यादिः अस्मिन्=इति)।

उस अग्नि ने कहा—"ब्रह्मचारिन्! मैं भी तुम्हे उपदेश करना चाहता हूँ।"

ब्र० ने कहा—"कीजिये भगवन्!"

आ० अग्नि ने कहा—"मेरे भी चार शरीर हैं।"

ब्र० ने कहा—"कौन-कौन से चार शरीर हैं?"

आ० अग्नि ने कहा—"मेरा पहिला शरीर प्राण है, दूसरा आकाश है, तीसरा स्वर्गलोक है और चौथा विद्युत है।"

ब्र० ने कहा—"वायु तो आपको बुझा देता है वायु आपका शरीर कैसे है?"

आ० अग्नि ने कहा—"वायु प्रज्वलित भी तो करता है, वायु

तो हमारा पिता है, उसका भी पिता आकाश है। हम सब एक ही हैं। एक रूप से हमारी उपासना करनी चहिये।"

ब्र ने पूछा—"एक रूप से उपासना कैसे करें?"

आ० अग्नि ने कहा—"विद्युत् को तुम ध्यान से देखो, उसमें एक पुरुष दिखायी देगा वह पुरुष मैं ही हूँ। विद्युत् मेरा ही स्वरूप भासमान होता है। उसी की उपासना करनी चाहिये।"

ब्र०—"उसकी उपासना का फल क्या है?"

आ० अग्नि ने कहा—"वे ही ६ फल है जिनका गार्हपत्याग्नि के प्रसंग में किया जा चुका है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार गार्हपत्याग्नि अन्वाहार्यपचनाग्नि और आहवनीयाग्नि ये तीनों ही उपकोसल को उपदेश देकर विराम को प्राप्त हुई। अब वे ब्रह्मवेत्ता की भाँति दमकने लगे। अब आगे का उपदेश उसके आचार्य करेंगे' उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

विद्युत में नर दिखै अग्नि आहवनी मैं हूँ।
करै उपासन पुरुष चतुर्थी अग्नी मैं हूँ॥
सब अघ होवैं नाश लोक मेरे कूँ पावै।
करै आय सब भोग, विमल जीवन बनि जावै॥
वंश क्षीण होवै नहीं, वंशज असमय नहिँ मरैं।
लोक और परलोक में, पालन हम सब तिहि करैं॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय मे
एकादश खण्ड समाप्त

—०—

आचार्य द्वारा उपकोसल को उपदेश

[१६३]

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥*

(छां० उ० ४ प्र० १४ खं० १ मं०)

छप्पय

अग्नि कहैं—हे सौम्य! सुनी यह विद्या हमतैं।
शेष मार्ग आचार्य आइकें कहिहैं तुमतैं॥
आये जब आचार्य कहैं—मुख ब्रह्मविज्ञ सम।
अग्नि दयो उपदेश कहैं गुरु और कहैं हम॥
लोकनि को उपदेश ही, अग्निनि ने दीयो तुमहि।
उपदेशू अघ परस नहिं—करें पद्म जल ज्यों रहहि॥

एक तो पाप करके उस पाप को साधनों द्वारा धो देना, दूसरे इस ढँग से कार्य करना कि पाप लगने ही न पावें। इनमें से अन्तिम मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। वस्त्रों में पहिले कीचड़ लगाकर उसे

---

* अग्नियों ने ब्रह्मचारी से कहा—"सौम्य उपकोसल! ये हमारी अपनी विद्या और आत्मविद्या हमने तुझसे कही। तुम्हारे आचार्य शेष गति को बतावेंगे। तदन्तर विदेश से उसके आचार्य आ गये।" आचार्य ने कहा—"उपकोसल?"

जल आदि से धोकर स्वच्छ कर लेने की अपेक्षा उत्तम तो यही है, कि वस्त्रों मे कीचड लगने ही न दे। आप पूछेंगे, हमें तो कीचड के ही मार्ग से चलना होता है कीचड से बच कैसे सकते हैं। ससार मे रहकर पापो से बचा कैसे जा सकता है ? इसका उत्तर यही है, कि युक्ति के द्वारा सभी सभव है। एक अकर ओषधि होती है, उसे हाथ मे लेपन करके तब अग्नि को हाथ उठाओ, हाथ जलेंगे नहीं। मार्ग मे स्थान-स्थान पर कीचड़ हो, तो वस्त्रों को ऊपर उठाकर शने. शने. सावधानी से निकल जाओ, आपके कपडों मे कीच नहीं लगेगी। कमल तो जल से ही उत्पन्न होता है, जल ही में रहता है, किन्तु सदा जल से ऊपर उठा रहता है। उस पर जल डाल दो तो लुढक जायगा। कमल की बेल कितने भी कम पानी वाले कुड में हो उसमें ऊपर तक कितना भी अधिक पानी भर दो। उसके पत्ते जल से ऊपर ही आ जायेंगे जल में डूबे नहीं रहेंगे। जैसे पद्मपत्र जल में रहता हु जल से पृथक् रहता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी ससार में हुआ भी ससारी पुण्य पापों से पृथक् ही बना रहता है। कर्ता हुआ भी अकर्ता ही बना रहता है। उसके भीतर जो की सदा ज्योति जलती रहती है, वह शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों को भस्मसात् करती रहती है। वह पाप पुण्य दोनों से ही निर्लिप्त बना रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उपकोसल पर आचार्य की तीनों अग्नियों ने कृपा करके उसे उपदेश दिया। उपकोसल ने जब अग्नियों से निवेदन किया कि–'मुझे और भी उपदेश क तब अग्नियों ने उससे कहा—"ब्रह्मचारी ! देखो, सौम्य ! हम पर जो अपनी विद्या थी और जिसे हम आत्मविद्या मानते थे, उसका उपदेश तो हमने तुम्हें कर दिया। अब इसमें कुछ अवशेष रह

गया होगा, उसे तुम्हारे आचार्य पूरा करेंगे। शेष मार्ग का प्रदर्शन गुरुदेव करेंगे।" ऐसा कहकर अग्नि शान्त हो गये।

कालान्तर में आचार्य लौटकर आये। आकर उन्होंने देखा, उपकोसल का मुखमंडल दम-दम दमक रहा रहा है। उसके मुखमंडल पर ब्राह्मीश्री विराजमान है। उन्होंने प्रणाम करके नम्रता पूर्वक अपने शिष्य को सम्मुख खड़े देखकर प्रेमपूर्वक पुकारा—"उपकोसल सौम्य!"

अत्यन्त ही नम्रता के साथ उपकोसल ने उत्तर दिया- "हाँ, भगवन्! क्या आज्ञा है?"

आचार्य ने कहा—"मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ?"

नम्रता से नतकंधर हुए ब्रह्मचारी ने सरलता के साथ कहा—"आज्ञा करें भगवन्!"

आचार्य ने कहा—सौम्य! तुम्हारे मुख पर दिव्यतेज छिटक रहा है। तुम्हारे मुखमंडल की आभा ब्रह्मवेत्ता के सदृश प्रतीत हो रही है। तुम सत्य बताओ। मैंने तो तुम्हें ब्रह्म का उपदेश किया नहीं। तुम्हारी आकृति से तुम ब्रह्मज्ञ से लग रहे हो, तुम्हें उपदेश किसने दिया है?"

ब्रह्मचारी ने कहा—"भगवन्! आपके अतिरिक्त मुझे उपदेश करने वाला दूसरा है ही कौन?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! उपकोसल ने गुरु का गौरव बढ़ाने के निमित्त बात को छिपाना चाहा, किन्तु पीछे उसने सोचा-गुरु से कपट नहीं करना चाहिये, किसी व्याज से भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये। गुरु के सम्मुख सब सत्य बात कह देनी चाहिये।" यही सब सोचकर उसने कहा—"भगवन्! इन आपकी अग्नियों ने ही मुझे उपदेश दिया है।"

आचार्य ने आश्चर्य के सहित कहा—"अग्नियों ने ! अग्नियें कैसे उपदेश कर सकती हैं ?"

ब्रह्मचारी ने सरलता किन्तु दृढ़ता के साथ कहा— "भगवन् आप माने चाहें न मानें, किन्तु मैं सत्यता के साथ निश्चय ही इन्हीं आपकी अग्नियों ने मुझे उपदेश दिया है।"

आचार्य ने कहा—"ये अग्नि तो कुण्डों में प्रज्वलित हो हैं। इन्होंने किस भाँति किया ?"

उपकोसल ने कहा—"हाँ भगवन् ! इन्हीं अग्नियों ने दिया है। अब ये इस प्रकार कुण्डों में प्रज्वलित हो रहीं हैं। देश काल में ये अन्य प्रकार की थीं। उस समय देवरूप इन्होंने मुझे उपदेश किया था।"

आचार्य ने पूछा—अच्छा बताओ, अग्नियों ने तुम्हे उपदेश दिया है ?"

इस पर उसकोसल ने कहा—गार्हपत्याग्नि ने पृथ्वी, अ अन्न और आदित्य इन चारों को अपना शरीर बताकर न्तर्गत पुरुष को अपना रूप बताकर उसकी उपासना बतायी।

दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्यपचनाग्नि) ने जल, दिशा, नक्षत्र चन्द्रमा को अपने चार शरीर बताकर चन्द्रमान्तर्गत पुरुष अपना रूप बताकर उसकी उपासना बतायी और आहवनीया ने प्राण, आकाश, द्युलोक तथा विद्युत् को अपने चार शरीर कर विद्युत अन्तर्गत पुरुष को अपना रूप बताकर उसकी उपास का उपदेश दिया।"

आचार्य ने पूछा—"तीनों ने इन उपासनाओं का फल क बताया ?"

उपकोसल ने कहा—"फल तीनों ने ही एक से बता तीनों ने फल बताते हुए यही कहा, कि इस प्रकार उपा

से (१) पापकर्म नष्ट हो जायँगे। (२) पुण्य लोकवान् बन जाओगे (३) पूर्ण आयु प्राप्त करोगे (४) उज्वल जीवन व्यतीत होगा। (५) वंश परम्परा क्षीण न होगी और (६) हम इस लोक और परलोक में भी तुम्हारा पालन करेंगे।" इस प्रकार उपदेश करके अन्त में यह भी कह दिया, शेष उपदेश "तुम्हारे आचार्य तुम्हें करेंगे।" सो, भगवन्! जब तक इन उपदेशों पर आपकी छाप न लगेगी, तब तक मुझे सन्तोष न होगा।"

हँसकर आचार्य ने कहा—"वत्स! तुम्हारा कहना यथार्थ, है। अग्नियों ने तुम्हें उपदेश उत्तम किया, किन्तु वह अधूरा ही उपदेश है। उन्होंने तुम्हें केवल पुण्यलोकों की प्राप्ति का ही उपदेश दिया है। पुण्य लोकों की प्राप्ति कब होगी, जब उन लोकों के अन्तराय रूप पाप कर्म नष्ट हो जायँगे। इस उपासना का फल पाप कर्मों का नष्ट होना ही है। मैं तुम्हें ऐसा उपदेश करूँगा, जिसे जानकर पाप कर्मों से उसी प्रकार पृथक् रहा जा सकता है, जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमलपत्र उससे पृथक रहता है। कमलपत्र का जल में रहने पर भी जल का सम्बन्ध नहीं होता।"

विनम्रता के साथ दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे हुए उपकोसल ने कहा—"भगवन्! उस उपदेश को आप मुझे अवश्य करें।"

तब आचार्य ने कहा—"मैं तुम्हें सरल साधन बताता हूँ। एक दर्पण लो। उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखो, तुम्हें अपनी आँखों के भीतर एक पुरुष बैठा दिखायी देगा, वही आत्मा है।"

उपकोसल ने कहा—"भगवन्! वह तो अपना ही प्रतिबिम्ब है।"

आचार्य ने कहा—"प्रतिबिम्ब तो बिम्ब का ही होता है। बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब कैसे दीखेगा। वह बिम्ब ब्रह्म ही है।

उसी आत्मस्वरूप बिम्ब का ध्यान करो। यह कभी मरता नहीं, अमृत है। मनुष्य सबसे भयभीत होता है, अपने से भयभीत नहीं होता। दूसरों के सम्मुख नग्न होने मे उसे लोकापवाद का भय रहता है, किन्तु अपने आप से कोई भय नहीं खाता। एकान्त मे जब कोई न हो अपना अकेला ही हो निर्भय होकर अनावृत हो जाता है। यह अपनी आत्मा ही ब्रह्म है। वह नेत्र मे रहता है, द मे रहता है, दृष्टि मे ही समस्त सृष्टि करता है। फिर भी सृष्टि में लिप्त नहीं होता। उसकी बात तो छोड़ दो, जिन आखों मे वह रहता है, उन आँखों में आप घृत तैल, जल छोड़ो तो जैसे पद्म पत्र पर पड़ा पानी इधर-उधर ढुलक जाता है, उसी प्रकार आँखों में पड़ा घृत, जल आदि आँखों के शीशा मे नहीं रहता। पलकों में जाकर इधर-उधर ढुलक जाता है। जब ब्रह्म के रहने के को जलादि स्पर्श नहीं कर सकते। जब वह सबसे निर्लेप सम्बन्ध रहित बना रहता है, तो उस परम पुरुष की निःसङ्गता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या। इसलिये नेत्रस्थ पुरुष की उपासना करनी चाहिये। इस पुरुष की उपासना से पाप स्पर्श भी नहीं कर सकता।

उपकोसल ने पूछा—"इस उपासना का नाम क्या है ?"

आचार्य ने कहा—"इसे 'संयद्वाम' उपासना के नाम से पुकारते हैं।"

उपकोसल ने पूछा—"इसे संयद्वाम क्यों कहते हैं। और इस उपासना के करने का फल क्या है। इस उपासना के करने वाले की गति कैसी होती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आचार्य जैसे संयद्वाम उपासना के सम्बन्ध में समझावेंगे तथा ब्रह्मवेत्ता की गति का वर्णन करेंगे, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

जिज्ञासा बटु करी, कहैं गुरु-नेत्र पुरुष जो ।
अमृत अभय है ब्रह्म रहै निःसंग सदा सो ॥
घृत जल डारो आँखि, चल्यो पलकनि में जावै ।
ताहि वामनी कहैं सु संयद्वाम कहावै ॥
सेवनीय जो वस्तु सब, लोक और परलोक तैं ।
तातैं संयद्वाम सो, प्राप्त होहिँ सब ओर तैं ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
चतुर्दश खण्ड समाप्त ।

—:—

संयद्वाम उपासना तथा ब्रह्मवेत्ता की गति

(१६४)

एतँ संयद्वाम इत्याचक्षत एतँ हि सर्वाणि वामान्याभिसयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसयन्ति य एवं वेद ॥*

(छा० उ० ४ अ० १५ ख० २ म०)

छप्पय

सभजनीय हु वाम वही शोभन कहलावै।
सबहिँ प्राप्त तिहि होहिँ वाम सयदहु कहावै॥
पुण्य करम फल वहन करै तिहि कहैं वामनी।
वाम वहन सब करैं, सु-साधक इच्छा अपनी॥
भासमान सब लोक में, ताहि भामिनी हू कहत।
भासमान साधक सदा-रहत कहूँ गति ब्रह्मवित॥

सत् एक ही है, वेदज्ञ विद्वान् उस सत् को बहुत नामों से, बहुत प्रकार से कथन करते हैं। यद्यपि ब्रह्म अकर्ता, निर्गुण, निरा-

---

* उपकोसल ब्रह्मचारी के आचार्य उस ब्रह्म का उपदेश करते हुए कहते हैं—"इस उपासना को सयद्वाम भी कहते हैं, क्योंकि इसे सब ओर से सम्पूर्ण सेवनीय सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। जो साधक इस विषय को भली भाँति जानता है उसे भी सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सभी ओर से प्राप्त होने लगती हैं।

कार, अनादि, अविनाशी, नित्य निरञ्जन, चैतन्यघन है। तथापि वह लीला के लिये, लोक संग्रह के लिये, जीवों के कर्म फलों को भुगाने के लिये, साधन साध्य को समझाने के लिये एक से बहुत बन जाते हैं। बिना द्वैत के उपासना संभव ही नहीं। साधन बन ही नहीं सकते। साधन के लिये साधक भी चाहिये। और साध्य भी। उपासना के लिये उपासक भी आवश्यक है और इष्टदेव उपास्य भी। इसीलिये पीछे ऐतरेय उपनिषद् में इस बात को विस्तार के साथ बता आये हैं कि उन परब्रह्म निर्गुण निराकार परमात्मा ने अम्भ, मरीचि, मर और आप इन चार प्रकार के लोकों की रचना की। अम्भ पानी को भी कहते हैं। चौथी संख्या को भी कहते हैं, सार को भी स्वर्गलोक से ऊपर के ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने लोक हैं अम्भ प्रधान होने से तथा भू, भुवः और स्वः इन तीन से ऊपर चौथे लोक होने से अम्भ लोक कहलाते हैं। मरीचि सूर्य का नाम है सूर्य अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं, अतः पृथ्वी और स्वर्ग के बीच के अवकाश को मरीचि लोक कहते हैं। जीवों की मृत्यु पृथ्वी पर ही होती है, अतः पृथ्वी को मृत्यु लोक मर्त्य लोक अथवा मर लोक कहते हैं। पृथ्वी के नीचे जो अतल वितल सुतलादि सात लोक हैं, वे भू विवर कहलाते हैं। आप अर्थात् जल प्रधान होने से ये आप लोक कहलाते हैं। अर्थात् सात नीचे के अपलोक-एक मर या मृत्यु लोक, एक मरीचि या स्वर्ग लोक और मह, जन, तप, तथा सत्यलोक ये चार लोक ऐसे चौदह भुवनों को परमात्मा ने बनाया इन सब लोकों को बनाकर भगवान् इन्हीं में प्रवेश कर गये। अर्थात् श्रीहरि जैसे बीज वृक्ष रूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा जगत् रूप में परिणत हो गये। जब वृक्ष बन जाता है तब स्वयं नष्ट हो जाता है, किन्तु

जगत् बनने पर भी अपने उसी निर्विकार रूप में अवस्थित रहते हैं उनका अपना निजी रूप भी बना रहता है और जगत् में भी तदाकार हो जाते हैं। उपासक उस जगत् मे से उन्हें खोजता है। उसे ही साधना, उपासना, अनुष्ठान, आदि कहते हैं। उस ब्रह्म को पाने के अनेकों मार्ग हैं। जिन्हें पन्था, अध्वा, मार्ग आदि कहते हैं। उनके गुण कर्मानुसार अनेक नाम हैं। लीला के अनुसार अनेक रूप हैं। अनेक नाम, रूप साधनों मे विभक्त से होने पर भी वास्तव मे वे एक हैं। जो उनके उस यथार्थ रूप को जान लेता है, वह संसार मे रहने पर भी संसार से लिप्त नहीं होता। दुःखालय और अशाश्वत जगत् के मध्य में भी जो मर तथा भययुक्त है उसमें सुखस्वरूप शाश्वत ब्रह्म को जानकर अमृत और अभय हो जाता है।

सूतजी करते हैं—"मुनियो! उपकोशल ने जब 'संयद्वाम शब्द का अर्थ तथा ब्रह्मवेत्ता की गति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तब आचार्य सत्यकाम जाबाल ने उसे उत्तर देते हुए कहा—"वत्स! ब्रह्म को 'संयद्वाम' भी कहते हैं। संयद्वाम शब्द संयद् और वाम इन दो शब्दों को मिलाकर बना है। संयद् का अर्थ है। सम्यक् प्रकार से यत् अर्थात् प्राप्त हो रहे हैं। वाम अर्थात् प्रार्थनीय सुन्दर पदार्थ। जिसे सभी ओर से सभी प्रकार सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त होती हों, उसे 'संयद्वाम' कहते हैं। केवल सत्य संकल्प परब्रह्म परमात्मा को ही इच्छानुसार-केवल संकल्प मात्र से ही-सब वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इसी कारण परब्रह्म परमात्मा का ही नाम 'संयद्वाम' है। जो उस संयद्वाम पुरुष को भली-भाँति जान लेता है, ऐसा साधक भी संयद्वाम-वत हो जाता है, उसे भी सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओर से प्राप्त होती हैं। उसी संयद्वाम को वामनी भी कहते हैं।

उपकोसल ने पूछा—"उसे वामनी क्यों कहते हैं ?"

आचार्य ने कहा—"वाम और नी दो शब्द हैं। वाम शब्द का अर्थ तो प्रार्थनीय-शोभनीय-वननीय-सम्भजनीय बता ही चुके हैं। नी का अर्थ प्राप्त कराने वाला। जो समस्त वामों का-शोभनीय सुन्दर वस्तुओं को अपने आश्रितों को-भक्तों को-उपासकों को-प्राप्त कराता है। जो सभी इच्छित पदार्थों का प्रापक है, नेता है, पहुँचाने वाला है वही वामनी है। जो साधक वामनी भाव से उस परब्रह्म की उपासना करता है। वह भी सम्पूर्ण सुन्दर वस्तुओं का वहन करने वाला दूसरों को प्राप्त कराने वाला बन जाता है। इसीलिये वह वामनी है।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो ! परब्रह्म परमात्मा का नाम भी वामनी है और बद्रीनाथ जो उनका स्थान है उस स्थान का भी नाम वामनी है। बद्रीनाथ से सटा कांचन गंगा के पास वामनी नाम का एक गाँव है। वहाँ भी भगवान् ने रहकर सर्वसाधारण भक्तों के लिये बदरीधाम जो परम शोभनीय सम्भजनीय है। सबके लिये सुलभ कर दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"बदरीनाथ के गाँव का नाम वामनी क्यों है ? वह पहले दुर्लभ क्यों था भगवान् ने उसे सर्वसाधारण के लिये सुलभ क्यों कर दिया ? कृपया इस कथा को हमें सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! श्रीमन्नारायण की समस्त लीलायें जीवों के कल्याणार्थ ही होती हैं, वे जीवों को सुख पहुँचाने के लिये ही समस्त चेष्टायें करते हैं।"

पहिले गन्धमादन का दिव्य वन भगवान् भूतनाथ की क्रीड़ा की ही स्थली थी। शिव और शिवा ही वहाँ क्रीड़ा किया करते थे, अन्य प्राणियों का उस पुण्यप्रद परमपावन अति रमणीय स्थल में प्रवेश नहीं था। शिवजी ने पार्वती जी की प्रसन्नता के

निमित्त यह नियम कर दिया था कि इस प्रदेश में जो भी पुरुष-जातीय प्रवेश करेगा वह स्त्री हो जायगा। अतः वहाँ कोई भी पुरुष नहीं जाता था। भूल से कोई चला भी जाता, तो वह स्त्री हो जाता। अतः पुरुषों के लिये वह प्रदेश अवरुद्ध था। भगवान् ने सोचा—"ऐसा सुन्दर पुण्यप्रद प्रदेश, पुरुष यहाँ प्रवेश नहीं कर सकते। पुरुषों को इसे कैसे प्राप्त कराऊँ। यही सोचकर परमात्म देव वामन- छोटे बच्चे-बनकर रोने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह छोटा बच्चा बच्ची क्यों नहीं बन गया?"

हँसकर सूतजी ने कहा—महाराज! चार पाँच वर्ष तक का बच्चा हो या बच्ची सब बच्चे ही कहलाते हैं। फिर देवता न तो स्त्री लिंग हैं, न पुलिंग। ये ठहरे देवाधिदेव अतः ये बच्चे ही बने रोते रहे।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर क्या हुआ?"

सूतजी ने कहा—"पार्वती सहित शिवजी उधर से स्नान को जा रहे थे। बच्चे को रोता देखकर पुत्रवत्सला माँ पार्वती रुक गयी। शिवजी ने बहुत मना किया, इस कपट बच्चे को बहुरूपिया ठगिया बताया, किन्तु माँ जगजम्बिका न मानीं। उन्होंने बच्चे को उठाकर गोद में ले लिया। पूछा—बेटा क्यों रोते हो? क्या चाहते हो?"

बनावटी बालक बोला—"माँ! मैं यहाँ रहना चाहता हूँ।"

माँ ने कहा—"रहो, बेटा! तुम्हारा स्थान है? यह सुनते ही चतुर्भुज विष्णु प्रकट हो गये।"

शिवजी ने कहा—"देखी, इस वामन बटु की चतुराई। अब यह स्थान तो इनका हो गया। अब यहाँ से अपना झोलाडंडा उठाकर कहीं दूसरे स्थान पर डेरा जमाओ। तब से विशालापुरी

में बदरीनाथ रहने लगे शिवजी ने अपने वहाँ से ढाई कोश दूर दूसरे शिखर पर अपना आसन जमाया, जो केदारनाथ के नाम से विख्यात है। अपना पूर्वाधिकार शिवजी ने फिर भी नहीं छोड़ा विशाला नगरी में वे आदि केदार नाम से रहते हैं। वामन ने यह भूमि सर्व साधारण के लिये सुलभ करायी इसलिये उस गाँव का नाम अभी तक वामनी विख्यात है। नारायण का भी नाम वामनी है।" आचार्य कह रहे हैं—"जैसे उनका नाम संयद्वाम वामनी है, वैसे ही उनका नाम भामिनी भी है।"

उपकोसल ने पूछा—"उन परब्रह्म परमात्मा का नाम भामनी क्यों है ?"

आचार्य ने कहा—"भामनी शब्द भी भाम और नी इन दो शब्दों से बना है। भाम का अर्थ दीप्ति है। जो व्याप्तिवान् हो सम्पूर्ण लोकों को—चौदहों भुवनों को—जो अपनी दीप्ति से भासमान प्रकाशमान्—करता हो। जो उपासक भामनी भाव से ब्रह्म की उपासना करता है। वह सम्पूर्ण लोकों में भासमान—दीप्तिवान्—प्रकाशवान् हो जाता है। अतः लोकों की प्राप्ति की इच्छा से उपासना करने की अपेक्षा लोकों को प्रकाशित करने वाले लोकाध्यक्ष परब्रह्म की उपासना सर्वश्रेष्ठ है। ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष को उन्हीं की उपासना करनी चाहिये। उन्हीं की उपासना से अमृत्व तथा अभय पद की प्राप्ति होती है ?"

उपकोसल ने पूछा—"ऐसे ब्रह्मवेत्ता की गति क्या होती है ? उसे किन लोकों की प्राप्ति होती है ?"

आचार्य ने कहा—"देखो, बेटा ! जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक देह गेह तथा मृतक होने पर अंतिम संस्कार और्ध्व दैहिक कर्मों की भी चिन्ता बनी रहती है। जब परिपक्व ज्ञान आता है, तो उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी की हृदय ग्रन्थि खुल जा

उसके समस्त संशय छिन्न भिन्न हो जाते हैं। फिर शरीर के मृत होने पर उसके शव को चाहे कोई अग्नि में जलावे अथवा न जलावे, जल प्रवाह करे, चाहे न करे। भूमि में गाड दे या वैसे ही पड़ा रहने दे। उसका संस्कृत या असंस्कृत शव उसकी गति में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं डाल सकता। उसे अर्चि अभिमानी देवता अर्चिलोक को ले जाते हैं, फिर अपने पड़ाव तक जहाँ तक उनकी गति है, वहाँ तक ले जाकर दिवस के अभिमानी देवता को सौंपकर लौट आते हैं। दिवसाभिमानी देवता अपने अधिकार की सीमा तक पहुँचाकर शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवताओं को सौंप आते है, वे अपनी सीमा की परिधि तक पहुँचाकर उत्तरायण के अभिमानी देवता को सौंपकर चले आते हैं। उत्तरायणाभिमानी देवता उसे संवत्सर अभिमानी देवता की सीमा पर पहुँचाकर उन्हें सौंपकर लौट आते हैं। संवत्सराभिमानी देवता आदित्य तक पहुँचाते हैं, आदित्य वाले चन्द्रलोक तक, चन्द्रलोक वाले विद्युतलोक तक पहुँचाते हैं। विद्युतलोक तक उसका सूक्ष्म शरीर मानुष भावापन्न ही रहता है। फिर वह अमानुष भाव को प्राप्त होता है। अतः अमानव पुरुष उसे ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं। इसे अर्चिमार्ग, देवमार्ग तथा ब्रह्म मार्ग कहते हैं। इस मार्ग से जाने वाले साधक पुरुष पुनः मानव मण्डल में–मनुष्य लोक में–लौटकर नहीं आते। कभी भी लौटकर नहीं आते। इसी को क्रम मुक्ति मार्ग भी कहते हैं। ब्रह्मवेत्ता का यही गति वेदों में वर्णित है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार आचार्य सत्यकाम जाबाल ने अपने प्रिय शिष्य कामलायन उपकोशल को ब्रह्म का उपदेश दिया। अपने गुरु के द्वारा ब्रह्मविद्या प्राप्त करके उप कोशल कृतार्थ हो गया। यह मैंने आपसे उपकोशल के माध्यम

से ब्रह्मविद्या का वर्णन किया। अब आगे यज्ञ द्वारा कैसे उपासना की जाती है, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ब्रह्मज्ञानयुत पुरुष करम-शव होइँ न होवै।
अर्चिलोक कूं प्राप्त दिवस पक्षहु पुनि जोवै॥
पाके उत्तर- अयन फेरि सवत्सर आवै।
रवि, शशि, विद्युत् लोक अमानव पुनि पहुँचावै॥
ब्रह्म प्राप्त करवाइ के, आवागमन मिटातु है।
ब्रह्म मार्ग कम मुक्ति को, पुनि नहिँ आवत जातु है॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त।

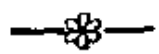

पवन को यज्ञ मानकर उसकी उपासना

[१६५]

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निद ँ सर्वं पुनाति। यदेष यन्निद ँ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥*

(छा० उ० ४ अ० १६ ख० १ म०)

छप्पय

यज्ञ पवन ही कह्यो चलत नित करत जगत शुचि।
मार्ग तासु द्वै कहे वाक् मन करैं यथारुचि॥
ब्रह्मा मन संस्कार करै त्रय ऋत्विज् वाकहि।
प्रथम प्रातरनुवाक ऋचा परिधानी या इहि॥
उच्चारन के पूर्व ही, बोलि उठे ब्रह्मा वहाँ।
एक मार्ग संस्कार करि, अपर मार्ग नासत तहाँ॥

यज् धातु देवपूजा, संगतिकरण, दान आदि अनेक अर्थों प्रयुक्त होती है। एक आचार्य ने यज्ञ की व्याख्या करते हु बताया है, कि-फलाभि सन्धि रहित भगवद् आराधना के रूप में उ

* यह निश्चय ही प्रसिद्ध बात है, कि जो यह पवन चलता है वह यज्ञ है। यह चलते हुए इस सम्पूर्ण संसार को पावन बनाता है। गम करने से पावन करने के कारण ही इसकी यज्ञ संज्ञा है, इसके दो मार्ग हैं जिन्हें वर्तनी कहते हैं। वे हैं मन और वाक्।

महायज्ञादि अनुष्ठान किये जायँ, उन सबकी 'यज्ञ' संज्ञा है। इस प्रकार जो देवताओं की पूजा की जाती है, वह यज्ञ ही है। देवताओं की कोई संख्या नहीं। तैंतीस कोटि देवता बताये गये हैं, किन्तु वेदों में कुछ विशिष्ट-विशिष्ट देवों के नामों का उल्लेख किया गया है। उनकी पूजा का नाम भी यज्ञ है। जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आठ वसुगण, ग्यारह रुद्रगण, बारह आदित्यगण, उनचास मरुद्गण, दस विश्वेदेवा, देवताओं के गुरु बृहस्पति, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, तथा त्रिदेव आदि-आदि यज्ञों में इन देवताओं की पूजा होती है। उपासना में यज्ञ के अङ्गों की भगवान् के अङ्गों के साथ समता करके भगवान् को अङ्गी मानकर सब कर्मों को उनका अङ्ग मानकर आराधना की जाती है। एक यज्ञ होता है और दूसरी यज्ञों की वर्तनी होती है। जिनके द्वारा यज्ञ विस्तारित होकर प्रवृत्त होता है, उसे वर्तनी कहते हैं। वर्तनी का अर्थ हुआ मार्ग अथवा पन्था। सत्कर्मों का पहिले मन से चिंतन किया जाता है। मन में ऊहापोह होती है, यह देव पूजनादि यज्ञ हमें करना चाहिये जब बुद्धि से निश्चय हो जाता है, तो वाणी द्वारा उसका कथन किया जाता है। यहाँ मन से अन्तःकरण चतुष्टय को समझना चाहिये और वाणी से समस्त इन्द्रियों को। इसीलिये इस वायु-प्राण-अपान-रूप यज्ञ के मन और वाक् ये दो पथ हैं, मार्ग हैं। इन्हीं द्वारा यज्ञ सम्पन्न होता है। इसी क्रम में यज्ञ की एक क्रिया का भी उल्लेख कर दिया है, कि ब्रह्मा जो यज्ञों में प्रधान ऋत्विज है, वह यज्ञों के कर्मों को करता नहीं केवल दृष्टा बनकर कर्मों को देखता भर रहता है। वह बोलता नहीं। यदि यज्ञ के कर्म विशेष के पहिले वह बोल पड़ता है, तो यज्ञ में विघ्न पड़ जाता है। इसलिये वायु रूप में यज्ञ की उपासना का वर्णन किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यज्ञ ही मुख्य कर्म है। यज्ञ ही विष्णु है। यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ सम्पन्न होते हैं। अतः यज्ञ ही कर्म है, यज्ञ ही कर्ता है और यज्ञ ही उस कर्म का फल है। अतः यज्ञ कर्म को ही यज्ञ की प्राप्ति के लिये करते रहना चाहिये।"

भगवती श्रुति कहती है। यह जो पवन बहता रहता है चलता रहता है प्रवाहित होता रहता है। यह यज्ञ है। इस वायु की यज्ञ रूप में उपासना करनी चाहिये। यह पवन वायु रूप से बाहर बहता रहता है और प्राण अपान रूप से शरीर में से निरन्तर निकलता और प्रवेश करता है। सबको पवित्र करता रहता है। इसी से इसका नाम पवन है। (पुनाति+इति=पवन) देखिये राजपथ पर पत्ते आदि पड़े रहते हैं, पवन उन्हें वहाँ से हटाकर पथ को परिष्कृत-पावन करता है। कोई वस्तु पृथ्वी पर सड़ गयी हो, वायु उसकी दुर्गन्ध को बहाकर ले जाता है। शरीर में जो अशुद्ध द्रव्य हैं उन्हे वायु ऊपर नीचे से बाहर फेंकता रहता है। सारांश यह है कि यह पवन ही शरीर के भीतर से बाहर से सबको पावन बनाता रहता है। अतः यह पवन यज्ञ स्वरूप है। समस्त संसार को पावन बनाने वाला है। इसके दो मार्ग हैं, दो पन्था हैं। एक वाणी रूप में बाह्यकरण—समस्त बाहरी इन्द्रियाँ और एक मन रूप में—अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इन दो मार्गों द्वारा इन दो वर्तनियों द्वारा ही यह वायु रूप यज्ञ को सम्पन्न करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"मन और वाक् ये दो वर्तनी-मार्ग-पन्था-कैसे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये भगवन् ! यज्ञ से यज्ञमय देव-विष्णु-की प्राप्ति होती है। विष्णु की प्राप्ति का साधन यज्ञ है। इसीलिये वायु ही यज्ञ का प्रारम्भक है। वायु न हो तो अग्नि

प्रज्वलित ही न हो। वायु द्वारा अग्नि प्रज्वलित करके ही तो यज्ञ का प्रारम्भ किया जाता है। और वायु ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है। अर्थात् यज्ञ वायु में ही रहता है, अतः वायु ही यज्ञ है। इसीलिये यज्ञ में यजमान प्रार्थना करता है—"हे चित्त के प्रवर्तक देव! इस यज्ञ को स्वाहा के साथ आपको देता हूँ, समर्पण करता हूँ। आप इसे वायु में प्रतिष्ठित कर दें।" अर्थात् यज्ञ की प्रतिष्ठा वायु ही है।"

भीतर से जो वायु नाक मुख द्वारा निकलती है, उसकी प्राण संज्ञा है, बाहर की वायु जो नाक मुख द्वारा शरीर के भीतर प्रवेश करती है, उसकी अपान संज्ञा है। प्राण और अपान के संयोग से मन और वाणी का जो परिचलन होता है, उसी का नाम यज्ञ है। यज्ञ कर्ता पहिले मन से सोचता है वाणी द्वारा—तथा अन्य इन्द्रियों द्वारा—उसे व्यक्त करता है—कार्य रूप में परिणत करता है। अतः मन और वाणी वायु रूप यज्ञ की वर्तनी हैं उसे सम्पन्न करने के मार्ग हैं। इसीलिये पहिले वाणी का संयम करना चाहिये, फिर मन का संयम करना चाहिये। बिना मन वाणी का संयम किये समाधि रूप यज्ञ सम्पन्न नहीं होगा। वाणी के संयम के लिये नियत समय तक मौन की आवश्यकता है। वाणी का संयम किये बिना कार्य की सिद्धि हो नहीं सकती। वाणी और मन दोनों का ही संयम न हो, तब तो सर्वनाश निश्चित ही है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मौन और यज्ञ से क्या सम्बन्ध? यज्ञों में तो ऋत्विज् मन्त्रों का उच्चारण करते ही रहते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सब जानते हैं। लोक-शिक्षार्थ ऐसे प्रश्न आप कर देते हैं। बात यह है, कि यज्ञों में चार ऋत्विज् प्रधान होते हैं और सब तो उनके सहायक

ऋत्विज् हुआ करते हैं। जो ऋक्वेद का ज्ञाता ऋत्विज् है, उसे 'होता' कहते हैं। जो यजुर्वेद का ज्ञाता ऋत्विज् है, वह 'अध्वर्यु' कहलाता है, जो सामवेद का ज्ञाता सामवेद का गायन करता है उसको 'उद्गाता' संज्ञा है और जो अथर्व वेद के सहित अन्य तीनों वेदों का भी ज्ञाता है उसकी 'ब्रह्मा' संज्ञा है। होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये तो मन्त्रों का उच्चारण करते हैं, किन्तु ब्रह्मा मौन रहकर इन सबके कर्मों का साक्षी भाव से परिवेक्षण करता रहता है। स्थाणु की भाँति चुपचाप बैठकर देखता रहता है। यज्ञ में मनोलक्षण मार्ग और वाणी लक्षण मार्ग दो मार्ग हैं। अर्थात् कुछ ऋत्विज् मनोलक्षण मार्ग से यज्ञ कर्मों का संस्कार करते हैं कुछ वाणी लक्षण मार्ग से संस्कार करते हैं। इनमें जो अथर्वादि चारों वेदों का ज्ञाता 'ब्रह्मा' नाम वाला ऋत्विज् है, वह वाणी से न बोलकर मनके ही द्वारा–मनोलक्षण मार्ग द्वारा–ही कर्मों का संस्कार करता है। उसके अतिरिक्त जो होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये तीन मुख्य ऋत्विज् है, वे वाणी लक्षण मार्ग द्वारा-मन्त्रों को बोलकर–उनका सस्वर उच्चारण करके–यज्ञीय कर्मों का संस्कार करते हैं। यज्ञों मे ब्रह्मा को मौन रहने का ही विधान है।"

शौनकजी ने पूछा—"कब तक मौन रहने का विधान है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप जानते ही हैं, ऋक्वेद के मन्त्र दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो गाये नहीं जाते उनका केवल शान्तिपूर्वक पाठ ही किया जाता है, उन्हें 'शस्त्र' कहते हैं और जो मन्त्र गाकर सस्वर पाठ किये जाते हैं, उन्हें 'स्तोत्र' कहते हैं। यज्ञों में प्रातःसवन, मध्यन्दिन सवन और सायं सवन तीन सवन होते हैं। सवन अर्थात् यज्ञीयकृत्य। इन तीनों काल के लिये वेदों में से छाँट-छाँटकर शस्त्र और स्तोत्र पृथक्-पृथक् निकाल कर उन-उन कालों में गाये जाते हैं। प्रातः सवन में प्रातः

कालीय कृत्यों में जो स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ आदि मंत्र उच्चारण किये जाते हैं उन्हें प्रातरनुवाक कहते हैं प्रातः अर्थात् प्रातःकालीन कर्मों के–अनुवाक–अर्थात् तीनों वेदों में से तीनों कालों के स्वस्तिवाचन शान्तिपाठ के चुने हुए मंत्र यज्ञों में प्रातःसवन में ऋक्वेद के अनुवाक पढ़े जाते हैं। मध्यन्दिन सवन में यजुर्वेद के अनुवाक और सायं सवन में सामवेद के। तो प्रातःकालीन कृत्यों में जब तक ऋक्वेद के प्रातरनुवाक मन्त्रों का पाठ न हो जाय, तब तक तो ब्रह्मा को सर्वथा मौन धारण किये ही रहना चाहिये। यज्ञ कार्य जब तक आरम्भ न हो, तब तक ब्रह्मा यज्ञ सम्बन्धी बातें अन्य ऋत्विजों से कर सकता है, किन्तु यज्ञ का प्रातरनुवाक कृत्य आरम्भ हो जाने पर जब तक समाप्त न हो जाय, ब्रह्मा को किसी से भी बात नहीं करनी चाहिये। उसे सर्वथा मौन धारण करके ही रहना चाहिये। यदि प्रातरनुवाक आरम्भ होने पर समाप्ति के पूर्व ही–बीच में–ब्रह्मा बोल उठता है, तो यज्ञ का एक ही तीनों ऋत्विजों द्वारा जो वाणी लक्षण रूप मार्ग है। उसी का संस्कार होता है, दूसरा जो मन लक्षण रूप मार्ग है वह नष्ट हो जाता है। अर्थात् यज्ञ का आधा भाग व्यर्थ हो जाता है।"

इस सम्बन्ध की ऐतरेय ब्राह्मण में एक कथा है। ब्रह्माजी ने सर्वप्रथम यज्ञ का विस्तार किया तभी उन्होंने ऋक्वेद कर्म वाले को होता, यजुर्वेद के, को अध्वर्यु, सामवेद वाले को उद्गाता तथा अथर्वादि वेद वाले को ब्रह्मा निरूपण किया। और उनके कर्मों का भी निरूपण कर दिया किसी यज्ञ में ऋत्विजों ने प्रातरनुवाक शस्त्र का पाठ किया, स्तोभ भाग का जप करके वे ऋत्विज बीच में ही ब्रह्मा के साथ बातचीत करने लगे। ब्रह्माजी भी उनसे बातें कर रहे थे। तब उस यज्ञ के जो विद्वान् आचार्य थे, उन्होंने जब प्रातरनुवाक के आरम्भ होने पर ब्रह्मा को अन्य ऋत्विजों के

साथ बातचीत करते देखा, तो उन्होंने कहा—"अरे, यह आपने क्या किया ? प्रातरनुवाक के आरम्भ हो जाने पर बीच में ही बातचीत करके-मौन का परित्याग करके-यज्ञ के आधे भाग को नष्ट कर दिया।" इसलिये ब्रह्मा को प्रातरनुवाक आरम्भ होने पर बीच में बोलना नहीं चाहिये-मौन धारण किये रहना चाहिये। बीच में ब्रह्मा के बोल देने से क्या दोष होता है, इसे दृष्टान्त देकर समझाते हैं—यज्ञ के दो मार्ग हैं। मनोलक्षण मार्ग और वाग्लक्षण मार्ग। ब्रह्मा मन के द्वारा यज्ञीय कर्मों का संस्कार करता है। होता, अध्वर्यु और उद्गाता-वाणी द्वारा मन्त्रों का उच्चारण करके संस्कार करते हैं। यदि प्रातरनुवाक आरम्भ हो जाने पर बीच में ब्रह्मा ने मौन भङ्ग कर दिया—तो उसने एक मार्ग नष्ट कर दिया। अब तीनों ऋत्विज् वाणी द्वारा ही संस्कृत करेंगे। तब यज्ञ साङ्गोपाङ्ग किस प्रकार सम्पन्न होगा ? उसे तो अन्त में नष्ट होना ही है। जैसे दो पैर से चलने वाले पुरुष के एक पैर को तोड़ दिया जाय, जैसे दो पैर से चलने वाली गाड़ी का एक पहिया पृथक् कर दिया जाय, तो ये कब तक चलेंगे। उन्हें तो रुकना ही पड़ेगा। इसी प्रकार एक मार्ग के नष्ट होने पर यज्ञ का नाश निश्चित ही है। यदि यज्ञ का नाश हो गया, तो इसके पश्चात् यज्ञ के यजमान का नाश तो हो ही जायगा। इस प्रकार जो यज्ञ पुण्य प्राप्ति के निमित्त किया गया था, ब्रह्मा के मौन भङ्ग करने पर यजमान और भी अधिक पापी हो जाता है। इसलिये ब्रह्मा को अपने कर्तव्य पालन में बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है।

शौनकजी ने पूछा—"यदि ब्रह्मा अपने कर्तव्य पालन में तत्पर रहे, तब यज्ञ का क्या परिणाम होगा ?"

सूतजी ने कहा—"तब तो कहना ही क्या है। यदि प्रात-

वाक के प्रारम्भ होने के अनन्तर जब तक परिधानीया ऋचा पाठ नहीं हो जाता, इसके बीच में पाठ के पूर्व तक ब्रह्मा यावत् मौन धारण किये रहता है, तब मनोलक्षण मार्ग और वाग्लक्षण रूप मार्ग दोनों ही मार्गों का चारों ऋत्विज मिलकर संस्कार कर देते हैं। तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता। दोनों मार्ग-मनुष्य के दोनों पैरों के समान, गाड़ी के दोनों पहियों के समान, पहियों के दोनों पक्षों के समान-भली-भाँति बने रहते हैं। दोनों में से कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता। उनके दोनों मार्ग यथावत् स्थित रहते हैं। जिस यज्ञ के दोनों मार्ग स्थित हैं, वह यज्ञ भी स्थित रहता है, यदि यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सविधि स्थित रहता है तो यज्ञ का-यज्ञीय-यजमान भी स्थित रहता है। ऐसे यज्ञ को सविधि सम्पन्न करने वाला यजमान भी यज्ञ करके श्रेष्ठत्व को प्राप्त होता है। इसलिये यज्ञों में मनोलक्षण रूप मार्ग और वाणी लक्षण रूप मार्ग दोनों की ही यथाशक्ति रक्षा करनी चाहिये। यही मौन विज्ञान है। ब्रह्मा के मौन रहने पर यज्ञों का उत्कर्ष बढ़ जाता है, उसी के बीच में बोल देने से यज्ञ नष्ट हो जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार पवन रूप में यज्ञ की उपासना, ब्रह्मा के बीच में बोल देने पर यज्ञ की हानि तथा ब्रह्मा के मौन पालन से यज्ञ की प्रतिष्ठा इन सबका वर्णन मैंने आपसे किया। इसलिये यज्ञों में योग्य ब्रह्मा का ही वरण करना चाहिये। योग्य ब्रह्मा से यज्ञ की कैसे रक्षा होती है और अयोग्य ब्रह्मा से कैसे यज्ञ का नाश होता है, इस विषय का वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इस विषय को सावधानी के साथ श्रवण करेंगे।"

छप्पय

एक पाद तैं पुरुष एक पहिये तैं रथ ज्यों।
होवैं दोऊ नष्ट मार्ग एकहिं तैं मख त्यों॥
नष्ट यज्ञ के होत नाश यजमानहु होवै।
पाप अधिक लगि जाय प्रतिष्ठा अपनी खोवै॥
तातैं दोऊ मार्ग शुचि, रखै पाद-नर, चक्र-रथ।
यज्ञ रहै थिर उभय तैं, होइ नहीं वह मख विरथ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
सोलहवाँ खण्ड समाप्त।

यज्ञ दोष के प्रायश्चित स्वरूप व्याहृतियों की उपासना तथा यज्ञों में श्रेष्ठ ब्रह्मा की विशिष्टता

(१६६)

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ॥*

(छा० उ० ४ प्र० १७ खं ८ म०)

छप्पय

अज तप करि रस लोक माहिं ये सार निकारे ।
अग्नि भूमि तैं अन्त-रिक्ष तैं वायु निकारे ॥
स्वर्ग हु तैं आदित्य तीनि तिनि वेद तीनि हैं ।
वेदनि तैं व्याहृती भूर्भुवस्वः प्रसिद्ध हैं ॥
मख में ऋक्-श्रुति होइ क्षत, भू स्वाहा कहि देइ हवि ।
गार्हपत्य में हवन तैं, ऋक्-क्षत मख है जाइ पवि ॥

---

* जिस प्रकार लवणादि से सुवर्णादि धातुएँ जोड़ी जाती हैं, उसी प्रकार लोक, देव तीनों वेदों के वीर्य से यज्ञ के क्षतों का प्रतिसधान किया जाता है। जिस यज्ञ में इस रहस्य का ज्ञाता विद्वान् ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ इस प्रकार शुद्ध संस्कृत होता है, मानो ओषधियों द्वारा शुद्ध किया हुआ हो।

परीक्षाओं मे छात्रगण अपनी ओर से पूर्ण प्रयत्न करके शु
ही लिखने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु परीक्षक उनमें अशुद्धियाँ
देखने में लगा रहता है। तनिक-सी भी त्रुटि हुई उसकी दृष्टि व
रुक जाती है। इसलिये प्रधानाध्यापक को बड़ी सावधानी
साथ समस्त कक्षा की शुद्धि पर सदा सर्वदा ध्यान रखना चाहिये
इसी प्रकार यज्ञों में असुरगण छिद्र ही देखते रहते हैं। ज
तनिक सी भी मन्त्र से, तन्त्र से, शब्द से, वाक्य से, उच्चार
से, देश, काल तथा पात्र सम्बन्धी, किसी भी प्रकार से त्रुटि
गयी, तो वे आकर यज्ञ में विघ्न करते हैं। इन विघ्नों की निवृ
का उपाय ब्रह्मा ही कर सकता है, वही टूटे हुए तारों को जो
सकता है। जिस यज्ञ का ब्रह्मा विद्वान् होगा, देश, काल, वस्तु तथ
विधि विधानों से भली-भाँति परिचित होगा, वही यज्ञ को साङ्गो
पाङ्ग पूर्ण करा सकता है। इसके विपरीत जिस यज्ञ का ब्रह्मा अ
होगा, जिसे यज्ञीय विधि विधानों का भली भाँति ज्ञान न होगा
वह यज्ञ सम्बन्धी त्रुटियों को दूर नहीं कर सकता। यज्ञ कर्मों के
छिद्रों को नहीं भर सकता, तो वह यज्ञ कभी सविधि साङ्गोपाङ्ग
पूर्ण नहीं हो सकता। उसमें कुछ न कुछ त्रुटि रह ही जायगी।
अतः यज्ञों में सबसे अधिक सावधानी इसी विषय की रखी जाय,
कि उसका ब्रह्मा कार्यकुशल, सुयोग्य विद्वान् को ही बनाया जाय।
ब्रह्मा विद्वान बहुज्ञ होगा, तो वह त्रुटियों का प्रतिसंधान करता
हुआ, यज्ञ को निः छिद्र रहते हुए निर्विघ्न समाप्त करा सकेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब यज्ञों में ब्रह्मा की विशिष्टता
बताने के निमित्त पहिले लोकों का, देवताओं का तथा त्रयी विद्या
का सार बताते हुए, उस सार से वेदों की जो ऋचायें त्रुटि-
पूर्ण रह जाती हैं, वे खण्डित-सी हो जाती हैं, उन्हें कैसे जोड़ना

चाहिये। इस बात को बनाने के लिये पहिले सार वस्तु का कथन करते हैं।"

ब्रह्माजी ने तपस्या करके पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीनों लोकों की रचना की। फिर उन्होंने तपस्या करके इन तीनों लोकों का सार निकालना चाहा। उनका ज्ञान ही-ध्यानपूर्वक विचार ही तप है। अतः ब्रह्माजी ने ध्यान रूप तप द्वारा तीनों लोकों का जो सार है-मुख्य वस्तु है-उसे निकाला। पृथ्वी में सार क्या है? अग्नि देवता है। अग्नि न हो, तो पृथ्वी निस्सार रह जायगी अतः पृथ्वी का सार अग्निदेव है। अन्तरिक्ष का सार-मुख्य वस्तु-क्या है? उसकी मुख्य वस्तु है वायु। वायु प्रवाहित न हो, तो अन्तरिक्ष-सार हीन-निस्सार है। अतः अन्तरिक्ष के सार वायुदेव हैं। अब द्युलोक का-स्वर्ग का सार क्या है? स्वर्ग का सार आदित्य है। आदित्य न हों, तो स्वर्ग को कोई कौड़ी के दाम में भी न पूछे। अतः द्युलोक के सार आदित्य हैं। तात्पर्य यही निकला, कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीनों के सार क्रमशः अग्निदेव, वायुदेव और आदित्यदेव हैं। अब अग्नि-वायु और आदित्य इन तीनों का सार क्या है? सार अर्थात् रस।

ब्रह्माजी ने अग्नि, वायु और आदित्य इन तीनों का रस जानने के लिये तप किया। अर्थात् ध्यानपूर्वक विचार किया। तब उन्होंने अग्नि का रस ऋक्वेद को जाना, वायु का रस यजुर्वेद और आदित्य का रस सामवेद को ग्रहण किया। फिर ऋक्, यजु और साम का सार जानने की जिज्ञासा से उन्होंने पुनः तप किया। तो ऋक्वेद की समस्त श्रुतियों का रस भू व्याहृति, यजुर्वेद की समस्त श्रुतियों का रस भुव व्याहृति और सामवेद की समस्त ऋचाओं का रस स्वः व्याहृति को जाना।

इसीलिये यज्ञ के ब्रह्मा को मौन धारण करके-तपस्या द्वारा-

यह देखते रहना चाहिये कि अन्य ऋत्विजों द्वारा कौन-सी श्रुतियाँ क्षत हो रहा हैं। अर्थात कौन-से वेद मंत्रों का उच्चारण दोष पूर्ण हो रहा है। यदि ऋक्वेद का श्रुतियों द्वारा क्षत हो, ऋक्वेद का कोई ऋचा अशुद्ध उच्चारण का जाती हो, या उसका प्रयोग अन्य स्थान में किया गया हो, किसी भी प्रकार का क्षत हो, तो ऋक्वेद का सार भूता-ऋक्वेद की रस स्वरूपा जो भू व्याहृति है उसके द्वारा न्यूनाधिक दोष के परिहारार्थ 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर जो गार्हपत्याग्नि के कुंड में उसमें हवन कर दे। इस भू व्याहृति रूप हवन से ऋचाओं के रस से उनके वीर्य द्वारा ऋक् सम्बन्धी यज्ञ क्षत के दोष निवृत्त होकर यज्ञ क्षत की पूर्ति हो जायेगी। इसे वह सावधानी से ब्रह्मा ही करवा सकता है।

इसी प्रकार यजुर्वेद की श्रुतियों के कारण क्षत हो-यजु सम्बन्धी ऋचाओं में किसी प्रकार की त्रुटि हो गयी हो-तो यजुर्वेद का रस रूप जो भुव व्याहृति है, उसके द्वारा 'भुवः स्वाहा' ऐसा कह कर गार्हपत्याग्नि के दक्षिण में जो अन्वाहार्यपचनाग्नि है-जिसे दक्षिणाग्नि भी कहते हैं-उसमें हवन करे। इस प्रकार हवन करने से यजुर्वेद को ऋचाओं के रस से जो यजुर्वेद के वीर्य द्वारा यजुर्वेद सम्बन्धी क्षत की पूर्ति हो जायगी। ब्रह्मा यदि ध्यान देकर ऐसा करता है तो मानो वह यजु सम्बन्धी क्षत की पूर्ति करता है।

इसी प्रकार यदि सामवेद की श्रुतियों के कारण यज्ञ में त्रुटि हुई हो तो साम की सार भूता जो स्वः व्याहृति है उसके द्वारा 'स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर तीसरी जो आहवनीयाग्नि है उसमें हवन करे। ऐसा करने से वह साम रस से साम के वीर्य द्वारा यज्ञ सम्बन्धी क्षत की पूर्ति करता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इन छोटी-छोटी व्याहृतियों द्वारा टूटी हुई ऋचायें पुनः कैसे जुड़ सकती हैं ?"

सूतजी ने कहा—"क्यों भगवन् ! कोई लकड़ी टूट जाती है, तो उसमें लोहे की पत्ती लगाकर, अथवा छोटी काठ को किरच लगाकर उसमें लोहे की कील ठोककर उसे फिर ज्यों-का-त्यों जोड़ नहीं देते ? सोने का कोई आभूषण है, वह टूट जाय, तो टङ्कण आदि ऐसे क्षार रस होते हैं दोनों को मिलाकर क्षार से टूटे सुवर्ण को जोड़ देते हैं। चाँदी टूट गयी, तो उसे सुवर्ण से जोड़ देते हैं। राँगा है उसे चाँदी से जोड़ देते हैं। राँगा से सीसा को जोड़ देते हैं। सीसा से लोहे को जोड़ देते हैं लोहे से काष्ठ को अथवा चमड़े का बन्धन लगाकर भी काठ की वस्तुओं को जोड़ दिया जाता है। उसी प्रकार पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इनके सार जो अग्नि, वायु और आदित्य हैं और इनके भी सार जो ऋक्, यजु और सामवेद हैं तथा इन तीनों वेदों की सारभूता जो भू, भुव और स्वः ये तीन व्याहृतियाँ हैं, ऐसी इन वेदयत्री की वीर्यभूता जो त्रयव्याहृतियों से यज्ञ के क्षत का प्रति संसधान किया जाता है—जोड़ लगाया जाता है।"

जो ब्रह्मा इस रहस्य को जानता है, जिसे वेदों के सारभूत इन रस स्वरूपा व्याहृतियों का ज्ञान हो, यज्ञ का वही ब्रह्मा मानों यज्ञ के समस्त अंग उपाङ्गों को ओषधियों द्वारा संस्कृत कर देता है। जिस यज्ञ में ऐसा विद्वान् ब्रह्मा होता है, वही यज्ञ उत्तर मार्ग-मुक्ति मार्ग का-हेतु होता है, उसे उदक्प्रवण कहते हैं, क्योंकि वह कर्म उत्तर की ओर झुका हुआ तथा दक्षिण की ओर उठा हुआ सा रहता है। जैसे दाँतों में जहाँ-जहाँ कोई वस्तु रुकी रहती है जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है। इसी प्रकार यह प्रसिद्ध बात है, कि यज्ञ का विद्वान् ब्रह्मा जहाँ-जहाँ कर्म आकुल होता है—

रुकावट होती है—वहीं-वहीं वह ब्रह्मा पहुँच कर उस रुकावट को निवृत्त कर देता है।

इसलिये सत्यलोक के ब्रह्मा, जैसे सत्यलोक में हैं वास्तविक प्रजापति वे ही हैं। अन्य प्रजापति तो अनुलक्षण मात्र हैं, इसी प्रकार यज्ञों में वास्तविक ऋत्विज् तो यह मानव ब्रह्मा ही है। जब युद्ध केवल पृथ्वी पर योद्धाओं द्वारा होते थे, तो योद्धाओं की घोड़ियाँ योद्धाओं की सब प्रकार से रक्षा किया करती थीं। चतुर घोड़ियों द्वारा योद्धा युद्ध में अधिक सुरक्षित माना जाता था। उसी प्रकार यज्ञों में विद्वान् ब्रह्मा द्वारा रक्षित यज्ञ अधिक सुरक्षित माना जाता था। चतुरवेद विद् विधानज्ञ ब्रह्मा यज्ञ की, यज्ञ के यजमान की, अध्वर्यु, होता, उद्गाता तथा अन्य सहायक ऋत्विजों की भी सब ओर से रक्षा करता रहता है। अतः ऐसे विद्वान् व्यक्ति को ही ब्रह्मा बनावे। अज्ञ को—वेद विधि से रहित को—कभी भी यज्ञों में ब्रह्मा न बनावे। इस बात को मैं बल देकर कहता हूँ, पुनः-पुनः दुहराता हूँ, कि वेद विधि को न जानने वाले अज्ञ को कभी भी ब्रह्मा न बनावे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यज्ञ सम्बन्धी जो वेदत्रयी की ऋचायें हैं, उनमें हुए दोषों के प्रायश्चित्त रूप व्याहृतियों के हवन द्वारा यज्ञ की त्रुटियों के निवारण का उपाय बताते हुए यज्ञों में सुयोग्य विद्वान् ब्रह्मा की आवश्यकता का उल्लेख किया। अब आगे पाँचवे अध्याय में जैसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राणों की उपासना के सम्बन्ध में बताया जायगा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

यजु श्रुति घृत है जायँ 'भुवः स्वाहा' कहि होवे।
दक्षिणाग्नि में करै यजुः घृत दोषहिं धोवे॥

सामहु श्रुतिज्ञत करै स्व स्वाहा आहनीया।
जोरै कनकहिं क्षार रजत कनक हुं जुरवैया॥
रजत राँग त्रपु सीसकूं, सास लोह त्वचकाष्ठहू।
त्यों ही लोकहु देव, त्रय-विद्या तैं जुरि यज्ञहू॥

(२)

जो विधि ज्ञाता यज्ञ होइ ब्रह्मा करि संस्कृत।
उत्तर मार्गहिं हेतु होइ ब्रह्मा मख आवृत॥
ब्रह्मा मखहिं प्रधान एक ही ऋत्विज मानव।
रक्षा थोड़ी करै युद्ध में त्यों ब्रह्मा सब॥
ऋत्विज, मख, यजमान की, ब्रह्मा ही रक्षा करै॥
तातैं मख में विज्ञ नर, बहुश्रुत ब्रह्माकूं वरै॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
सत्रहवाँ खण्ड समाप्त।
चतुर्थ अध्याय समाप्त।

ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण सम्पन्न--प्राणोपासना

(१६७)

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह
वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥*

(छा० उ० ५ प्र० १ ख० १ मं०)

छप्पय

ज्येष्ठ श्रेष्ठ है प्रान जानि अस तस है जावै ।
वाक् वसिष्ठ कहाइ जानि नर वसिठ कहावै ॥
चक्षु प्रतिष्ठा जानि प्रतिष्ठा स्वर्गहिं पावै ।
सम्पद् श्रोत्रहि कहैं जानि बहु भोग भुगावै ॥
मन कूँ ही आश्रय कह्यो, ताहि आयतन हू कहत ।
जो जाने वा रहस कूँ, निज जातिनि आश्रय रहत ॥

जो अपने से अवस्था में बड़ा हो, उसे ज्येष्ठ कहते हैं। प्रशंसनीय को भी ज्येष्ठ कहते हैं (अयम्–ऐषाम्–अतिशयेन वृद्धः इति–ज्येष्ठः) ज्येष्ठ ही श्रेष्ठ भी हो यह बात नहीं। बहुत से ज्येष्ठ होने पर भी श्रेष्ठ नहीं होते। श्रेष्ठ कहते हैं उत्तम पूजा के योग्य को (अयम्–एतेषाम्–अतिशयेन प्रशस्यः = इति=श्रेष्ठः) ब्राह्मणों में

* ये जो प्राण हैं, वास्तव मे ये ही ज्येष्ठ भी हैं और श्रेष्ठ भी हैं। जो इन प्राणों को भली-भांति जान लेता है, कि ये ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हैं, तो वह जानने वाला व्यक्ति सबमे ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हो जाता है।

श्रेष्ठत्व आयु के ज्येष्ठत्व से नहीं माना जाता। वहाँ श्रेष्ठत्व में वय कारण न होकर ज्ञान ही मुख्य कारण बताया है। जो ज्ञान में श्रेष्ठ है, फिर चाहें उसके अन्य संबन्धी अवस्था में सम्बन्ध में ज्येष्ठ ही क्यों न हों, उन्हें श्रेष्ठ न मानकर ज्ञान ज्येष्ठ ही श्रेष्ठ माना जायगा। क्षत्रियों में श्रेष्ठत्व बल के कारण होता है। बल में जो ज्येष्ठ है अवस्था में चाहें वह अवर ही क्यों न हो बल के कारण ही वह श्रेष्ठ समझा जायगा। वैश्यों में ज्येष्ठत्व धन के कारण माना गया है। धन में जो ज्येष्ठ है, वह अवस्था में भल ही न्यून ही क्यों न हो अपनी जाति में वही श्रेष्ठ माना जायगा। शूद्रों में ज्येष्ठत्व आयु के कारण होता है, जो वयोवृद्ध है वही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ कहो सत्तम कहो, अतिशोभन, वरेण्य, मुख्य प्रमुख, उत्तम, अग्रिम, अनवर ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। मनुष्यों में जो उत्तम होता है उसे पुरुषोत्तम-पुरुषसत्तम, प्रमुख पुरुष आदि कहते हैं। जो अवस्था से भी ज्येष्ठ हो और उपयोगिता तथा ज्ञान के कारण भी ज्येष्ठ हो उसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ कहते हैं। ऐसे उपयोगी पुरातन पुरुष सबके वन्दनीय तथा माननीय माने जाते हैं। अतः जो वास्तव में ज्येष्ठ भी हों और श्रेष्ठ भी हो उनकी स्तुति वन्दना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब ज्येष्ठ और श्रेष्ठ की उपासना का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। शरीर में जो ज्येष्ठ हो और श्रेष्ठ भी हो, उसी की उपासना करनी चाहिये। शरीर में सबसे अधिक ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ कौन है, इसी का निर्णय करना है।"

शौनकजी ने पूछा—"शरीर में सबसे अधिक ज्येष्ठ-श्रेष्ठ कौन है? सूतजी!"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! शरीर में कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों

तथा मन, बुद्धि चित्त और अहंकार इन सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ प्राण को ही बताया है। प्राणों से ज्येष्ठ-श्रेष्ठ शरीर में दूसरा कोई नहीं, जो इस बात को भली-भाँति जान लेता है, वह जानने वाला भी सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हो जाता है।"

शरीर में वाणी ही वसिष्ठ है, वसिष्ठ उसे कहते हैं जो सबको आच्छादन करता है अथवा जो अत्यन्त वसुमान-धनवान-हो। शरीर में समस्त बाह्य तथा अन्तर की इन्द्रियों में वाणी ही श्रेष्ठ है। मनकी बात को वाक् ही व्यक्त करते हैं अतः सबमें वाक् ही वसिष्ठ है। धनवान है। वाणी के कारण ही बेटी, बेटा, धन, सम्पत्ति क्षण भर में दूसरों के बन जाते हैं, अतः वाक्-वाणी-ही वसिष्ठ है। जो इस तथ्य को भली-भाँति जान लेता है वह अपनी जाति के लोगों में वसिष्ठ-विशिष्ट-बन जाता है।

शरीर में प्रतिष्ठा चक्षु हैं। लज्जा आँखों में ही होती है, जो शीलवान् है बुरे कर्मों से लज्जित होता है। संसार में उसी की प्रतिष्ठा है, जो प्रतिष्ठा के इस रहस्य को जानता है, वह लोक तथा परलोक में परम प्रतिष्ठित होता है। अतः आँखों में शील सकार प्रतिष्ठा का द्योतक है।

इस शरीर में संपदा क्या है? गुणों में जो अधिक उत्कर्ष वाली वस्तु होती है वही सम्पत्ति, संपदा तथा सम्पद् कहलाती है। सम्पत्ति से इष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है। इस शरीर में सम्पद् क्या है? श्रोत्र। श्रोत्र-कान-ही शरीर में सम्पदा है। कानों के द्वारा ही वेद शास्त्रों का उनके अर्थों का ग्रहण होता है। इसीलिये वेदों को श्रुति कहते हैं। जो कोई सम्पद् के यथार्थ मर्म को जान लेता है, उसे दैवी तथा मानुषी सम्पत्ति प्राप्त होती है। उसे इस लोक तथा परलोक के कामभोग सम्यक् प्रकार से प्राप्त होते हैं।

इस शरीर में आश्रय-आयतन-क्या है? मनीषियों ने कहा

को ही आयतन माना है, क्योंकि पुरुषों के सुख-दुःख का एकमात्र कारण मन ही है। मन जिसे विजय मान ले वही विजय है, जिसे पराजय मान ले वही पराजय है। बन्ध और मोक्ष मन के ही मानने से होता है। अतः शरीर का आश्रय मन है। जो इस रहस्य को भली-भाँति जान लेता है वह आयतनवान् होता है। सभी का आश्रय होता है। सभी उसके आश्रय में आकर सुखी होते हैं। मन को आयतन मानकर उपासना करनी चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"वाणी तो वसिष्ठ है, चक्षु प्रतिष्ठा हैं, श्रोत्र सम्पदा हैं, और मन आयतन आश्रय है। इनमें मन ही सबसे श्रेष्ठ हुआ।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इन्द्रियों में भले ही मन श्रेष्ठ हो, किन्तु मन से भी ज्येष्ठ-श्रेष्ठ प्राण हैं।"

शौनकजी ने कहा—"प्राण सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ कैसे हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवती श्रुति ने इस सम्बन्ध में एक बड़ी ही सुन्दर कथा कही है। उस कथा से ही आपके प्रश्न का यथार्थ उत्तर मिल जायगा।"

एक बार देह रूपी गेह में रहने वाले सभी सदस्यों का एक सम्मेलन हुआ। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आकर सभा भवन में बैठ गयीं। कर्मेन्द्रियाँ भी आ गयीं। अन्तःकरण चतुष्टय भी आकर बैठ गये। दस प्रकार के शरीर के अन्तर्गत रहने वाले प्राण भी आ गये। अब प्रश्न अध्यक्ष का उठा। अध्यक्ष के श्रेष्ठ आसन को कौन सुशोभित करे। हस्त इन्द्रिय ने प्रस्ताव रखा—"हम कर्मेन्द्रियों में वाणी सर्वश्रेष्ठ है। लोग वाणी द्वारा ही उसकी योग्यता कुल का ज्ञान कर लेते हैं। अतः मेरा प्रस्ताव है, कि वाणी को ही अध्यक्ष पद प्रदान किया जाय।"

इस पर रसना इन्द्रिय ने कहा—"वाणी जिह्वा पर ही रहती

है, कर्मेन्द्रिया म वाणी श्रेष्ठ है, किन्तु वह सभी इन्द्रियों से श्रेष्ठ नहीं। मेरा प्रस्ताव है कि चक्षु इन्द्रिय को अध्यक्ष बनाया जाय। जगत् का अस्तित्व चक्षु से है। चक्षु के बिना सब शून्य है।'

यह सुनकर स्पर्शेन्द्रिय ने कहा—"चक्षु की उपयोगिता हम मानता है, किन्तु चक्षु केवल नेत्र गोलक द्वारा ही देख सकती है। नेत्र गोलकों को बन्द कर दो, तो चक्षु कुछ भी देखने मे समर्थ न होगी। वह एक देशीय है। मैं सर्वदेशी हू। मैं शरीर के—नख से लेकर शिखा तक व्याप्त हूँ। बाहर भीतर सर्वत्र मैं कार्य करती रहती हूँ। आँख मे तनिक—सा धूलि कण पड जाय मैं बता दूँगी। पीठ के पीछे चींटी रेंगने लगे, मैं झट बता दूँगी। दाँतो में कोई वस्तु हिटक जाय, मैं जिह्वा से कहूँगी, उसे निकाले। इतने बडे दाल भात, साग के ग्रास मे छोटा—सा बाल चला जाय, मैं मुख मे आते ही बतादूँगी बाल है। शरीर का कोई अग एसा नहीं जहाँ मैं कार्य रत न रहती होऊँ। जिस अग मे मैं कार्य नहीं करती, वह अग शून्य गलित—व्यर्थ—अकाम बन जाता है। अतः समस्त शरीर पर मेरा अधिकार होते हुए भी मैं अपने लिये प्रस्ताव नहीं करती। मेरी बहिन श्रोत्रेन्द्रिय को अध्यक्ष बनाया जाय, क्योंकि ज्ञान का कारण यही है। वेदो का श्रवण कानो से होता है इसीलिये वेदो को श्रुति कहते हैं।"

इस पर अहकार ने कहा—"तुम सब व्यर्थ बढ-बढ़कर बात कररही हो, अपने बड़प्पन को व्यर्थ मे डींग हाँक रही हो। कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे भाई मन के बिना कुछ भी नहीं कर सकतीं। चक्षु रूप को देखतीं अवश्य हैं, किन्तु हमारे भाई मन का सहयोग न हो, तो ये देखते हुए भी—खुली रहने पर भी—देख नहीं सकतीं। मन की सहायता बिना श्रोत्र सुन नहीं सकते। वाणी बोल

नहीं सकती। अतः मेरा प्रस्ताव है मनको अध्यक्ष बनाया जाय, सर्वश्रेष्ठ सिंहासन इन्हीं को प्रदान किया जाय।"

इस पर अपान नामक प्राण ने कहा—"आप सब जो कह रहे हैं, वह सब सत्य होने पर भी पूर्ण सत्य नहीं। हमारे जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ भाई मुख्य प्राण देव हैं, ये ही सबसे श्रेष्ठ हैं। सभा पति के आसन पर इन्हें ही आसीन किया जाय।"

यह सुनते ही सभा में हुल्लड़ मच गया। सभी कहने लगे—"मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ। ये कौन होते हैं अध्यक्ष पद पर मेरा ही अधिकार है।" इस अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिये सभी विवाद करने लगे। जब विवाद पराकाष्ठा पर पहुँच गया। कोई भी किसी की बात को मानने को उद्यत नहीं था। सभी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् ढपली बजाने लगे, अपना-अपना पृथक् राग अलापने लगे। तब उनमें से मुख्य प्राण उठे और बोले—"देखो, भाई! यों तो सभी लोग अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। जब परस्पर में विवाद हो और एक दूसरे की बात सुनने को मानने को उद्यत न हों, तब किसी श्रेष्ठ पुरुष को मध्यस्थ बना लेना चाहिये। वह जो निर्णय दे दे उसी को सबको मान लेना चाहिये।"

कर्मेन्द्रियों ने कहा—"हमें मध्यस्थता स्वीकार है।"

ज्ञानेन्द्रियों ने कहा—"हमें भी स्वीकार है।"

अन्तःकरण चतुष्टय ने कहा—"हम भी स्वीकार करते हैं।"

प्राणों ने कहा—"हमारे मुख्य प्राण का तो यह प्रस्ताव ही है। हमें भी स्वीकार है।"

सबके स्वीकार कर लेने पर अब प्रश्न यह उठा कि मध्यस्थ बनाया किसे जाय। इस पर मुख्य प्राण ही ने कहा—"यदि आप सबको आज्ञा हो, तो मध्यस्थता के लिये मैं एक महानुभाव के नाम का प्रस्ताव करूँ?"

सबने कहा—"हाँ कीजिये। यदि वे पक्षपात-हीन व्यक्ति होंगे, तो हम सब उन्हें स्वीकार कर लेंगे और यदि वे केवल आपके ही पक्ष के समर्थक होंगे, तो हम उन्हें कभी स्वीकार न करेंगे।"

इस पर मुख्य प्राण ने कहा—"मैं प्रस्ताव करता हूँ, उसे मानना न मानना आप सबके अधीन है। हम सभी चराचर जीवों के पितामह भगवान् प्रजापति पक्षपात शून्य हैं। उनके लिये सभी सन्तानें समान हैं। उन्हीं के समीप चलकर उन्हें ही मध्यस्थ बनाकर उनसे पूछा जाय। वे जिसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बतादें, उसी को सब लोग ज्येष्ठ-श्रेष्ठ मानकर अध्यक्ष पद पर आसीन कर दें।"

यह सुनकर सभी ने एक स्वर से कहा—"हमें स्वीकार है। हमें भगवान् प्रजापति की मध्यस्थता सहर्ष स्वीकार है। उन्हीं के समीप चलना चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो! सबकी सम्मति से सभी भगवान् प्रजापति के समीप गये। मुख्य प्राण ने प्रजापति के पाद पद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम करके पूछा—"भगवन्! हम सब में कौन श्रेष्ठ है? कृपया उसका नाम निर्देश कर दें, तो हम उसे ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ मानकर अध्यक्ष पद पर बिठा दें।"

भगवान् प्रजापति ने सोचा—"मैं किसी एक का नाम बता दूँगा, तो शेष सब असन्तुष्ट हो जायँगे। अतः ऐसी युक्ति से उत्तर दिया जाय, जिससे ये सभी मिलकर अपने आप अपने अध्यक्ष का निर्णय कर लें।" यही सोचकर प्रजापति ने कहा—"तुम में से जिसके भी निकल जाने पर यह शरीर पापिष्ठ सा-स्पर्श के अयोग्य-दिखाई देने लगे। वही आप सब में श्रेष्ठ है। क्रमशः आप सब लोग पारी-पारी से इस शरीर को त्यागकर इस बात का परीक्षा करो। बोलो, आप सबको यह निर्णय स्वीकार है?"

सबने एक स्वर से कहा—"हमें यह निर्णय सहर्ष स्वीकार है। हम क्रमशः इस शरीर से पृथक् हो-होकर इस बात की परीक्षा करेंगे।" यह कहकर वे सब पुनः अपने स्थान पर लौट आये। अब सर्व प्रथम वाणी ने कहा—"मैं ही पहिले इस शरीर को छोड़कर जाती हूँ। देखें मेरे बिना इस शरीर का कार्य कैसे चलता है।" यह कहकर सबसे विदा लेकर वाणी शरीर को छोड़ एक वर्ष के लिये घूमने फिरने अन्यत्र चली गई।

वाक् इन्द्रिय एक वर्ष तक घूमती फिरती रही। एक वर्ष पर्यन्त प्रवास करने के पश्चात् वह फिर लौटकर आयी। उसने आश्चर्य चकित होकर देखा शरीर ज्यों का त्यों स्वस्थ बना हुआ है, शरीर में प्राण पूर्ववत् चल रहे हैं। नेत्र समस्त वस्तुओं को देख रहे हैं। कान सुन रहे हैं। मन मनन कर रहा है। पैर चल रहे हैं। हाथ वस्तुओं को उठा रहे हैं। धर रहे हैं। ऊपर नीचे उछाल रहे हैं। शरीर का कोई भी कार्य रुका नहीं। तब तो उसने अन्य शरीर में रहने वाले इन्द्रिय, अन्तःकरण तथा प्राणादि से पूछा—"मेरे बिना तुम सब जीवित कैसे रह सके?"

इसका उत्तर देते हुए उन्होंने वाक् इन्द्रिय से कहा—"तुम्हारे न रहने पर शरीर में कोई विशेष असुविधा तो नहीं हुई। तुम देखती हो, जो बोलने में असमर्थ हैं, जिनकी वाक् इन्द्रिय कार्य नहीं करती, ऐसे गूँगे लोग भी संकेतों द्वारा अपना सब काम चला ही लेते हैं। जिस प्रकार गूँगे पुरुष वाणी बोले बिना ही सब व्यवहार करते हुए प्राणन क्रिया करते हैं। जीवित बने रहते हैं। नेत्रों से देखते हैं श्रोत्रों द्वारा श्रवण करते हैं, मन द्वारा मनन चिन्तन करते हुए जीवित रहकर अपना काम चला लेते हैं। वैसे ही तुम्हारे बिना हम सब भी काम चलाते हुए इस शरीर को जीवित बनाये रखे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अन्य इन्द्रियादिकों की बात सुनकर वाणी ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और वह चुपचाप शरीर में प्रवेश करके पूर्ववत् अपने कार्य में प्रवृत्त हो गई। अब आयी चक्षु इन्द्रिय की पारी। चक्षु इन्द्रिय भी विदायी का भोज खाकर, सबसे मिल भेंट कर—हाथ मिलाकर—एक वर्ष का अवकाश लेकर प्रवास के लिये निकल पड़ी। एक वर्ष तक तीर्थ व्रत करती हुई इधर-उधर भिन्न भिन्न स्थानों में घूमती फिरती रही। जब एक वर्ष पूरा हो गया, तब वह लौटकर अपने देह रूपी घर में आ गयी। उसने देखा शरीर का व्यापार वैसे ही पूर्ववत् सुचारु रूप से चल रहा है। उसने आश्चर्य के साथ अन्य इन्द्रियादि से पूछा—"कहो तो सही आप सब मेरे बिना जीवित कैसे रह सके ? बिना देखे शारीरिक व्यवहार कैसे चल सका ?"

इस पर अन्य इन्द्रियादिकों ने कहा—"बिना देखे अन्धे भी सब काम चला लेते हैं। वे स्पर्श करके रंग तक बता देते हैं। जिस मार्ग से एक बार निकल जायगे उसे फिर नहीं भूलेंगे। जैसे अन्धे भी बिना दृष्टि के समस्त शारीरिक कार्यों का निर्वाह कर लेते हैं। जैसे बिना दृष्टि के भी अंधे पुरुष बिना देखे ही प्राणों से प्राणन करते हैं। वाणी से बातचीत करते हैं, श्रोत्रों द्वारा सुनते हैं, मन के द्वारा चिन्तन मनन करते हुए भी जीवित बने रहते हैं। उसी प्रकार हम सब भी तुम्हारे बिना निर्वाह करते हुए अब तक शरीर में जीवित बने रहे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह सुनकर चक्षु ने भी अपनी पराजय स्वीकार कर ली और वह शरीर में आकर पूर्ववत् अपना कार्य करने लगी।"

अब पारी आयी कर्णेन्द्रिय की। श्रोत्र को भी विदाई भोज दिया गया, सबने उसे उत्साह पूर्ण वातावरण में भाव भरा

विदाई दी। वह भी सबसे मिल भेंटकर—नमस्कार प्रणाम करके—
एक वर्ष के अवकाश पर प्रवास पर चली गयी। वर्ष भर इच्छा-
नुसार भ्रमण करती रही। वर्ष बीतने पर वह लौटकर देहरूपी
गेह में आयी। उसने देखा, देह का सब कार्य पूर्ववत् चल रहा
है। सभी अपने-अपने कार्यों में लगे हुए हैं। उसने अन्य इन्द्रिया-
दिकों से पूछा—"आप सब बिना शब्द सुने मेरे बिना जीवित
कैसे रह सकीं ?"

इसका उत्तर देते हुए इन्द्रियादिकों ने कहा—"डोरा पुरुष—
बहरे आदमी—क्या बिना सुने अपना निर्वाह नहीं कर लेते ? वे
जीवित नहीं रहते क्या ? जिस प्रकार बहरे मनुष्य बिना शब्द
सुने प्राणों से प्राणन करते हैं। वाणी द्वारा वचनों को बोलते हैं,
आँखों द्वारा दृश्यों को देखते हैं। मन द्वारा मनन चिन्तन करते
हुए अपने समस्त शारीरिक कार्यों का सम्पादन करते हुए जीवन
व्यतीत करते हैं, वैसे ही हम सब ने इस शरीर को बनाये रखा।
शरीर के साथ-ही-साथ हम भी जीवित बने रहे।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो भगवन्! ऐसा जानकर श्रोत्र ने
अपनी पराजय स्वीकार कर ली, वह पूर्ववत् शरीर में स्थित रह
कर अपना कार्य करने लगी। अब आयी मन की पारी। उसने
समस्त इन्द्रियों से कहा—"मैं भी परीक्षा कर लूँ आप सब घब-
रायेंगी तो नहीं ?

सब ने कहा—"आप भी परीक्षा कर लें। एक वर्ष तक आप
भी यात्रा कर आवें। यह सुनकर मन शीघ्रता से बिना विदायी
समारोह के दौड़कर चले गये। वर्ष भर इधर-उधर भटकते फिरे।
एक वर्ष के अनन्तर आये तो उन्होंने देखा, शरीर तो पूर्ववत् चल
रहा है। उसने संभ्रम और आश्चर्य के साथ पूछा—"मेरे बिना

भी तुम सब कैसे जीवित रह सके। इन्द्रियों से काम कौन क था ?"

इस पर उन सब ने कहा—"पागलों का जिनका मति विक्षिप्त हो जाता है, उनके शरीर का भी तो निर्वाह होता है। अथवा जिन बच्चों का मन विकसित नहीं हुआ है, उन को शरीर यात्रा चलती ही है। वे लोग प्राणों द्वारा प्राणन नि करते ही हैं वाणी द्वारा कुछ-न-कुछ बोल ही लेते हैं आँखों देखते भी हैं, श्रवणों द्वारा सुनते भी हैं। इस प्रकार उनका क चल ही जाता है, जीवन निर्वाह हो ही जाता है, वैसे ही हम स आपके बिना भी देह मे जीवित बने रहे।"

यह सुनकर मन का दर्प चकनाचूर हो गया। मन-ही-म अपनी पराजय स्वीकार करके शरीर मे यथावत् कार्य क लगे।

अब मुख्य प्राण की पारी आयी। प्राण ने कहा—"आ सबकी आज्ञा हो, तो वर्ष भर मैं भी सैर सपाटा कर आऊँ।"

सबने कहा—"अच्छी बात है। आप भी परीक्षा कर लें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मुख्य प्राण अभी शरीर स विदा भी नहीं हुए केवल उन्होंने जाने का संकल्प ही किया था कि अन्य प्राणों के भी सिंहासन हिल गये। वे सब अपने आप ही उसी प्रकार उखड़ कर प्राणों के संग जाने को उद्यत हो गये, जैसे बलवान् घोड़ा अपने आगे पीछे के बन्धनों और खूँटों को उखाड़ देता है, वैसे ही अन्य प्राण भी साथ जाने को उद्यत हो गये। प्राणों के बिना तो कोई भी वहाँ रहने को उद्यत नहीं था। शरीर श्रीहीन निष्प्राण अशुचि अस्पर्श शव ही बनने वाला था, अतः सभी ने प्राण को रोकते हुए उसकी विनय करते हुए उसके सम्मुख आकर कहा—"भगवन्! आपके वियोग को

हम एक लव निमेष भी सहन नहीं कर सकते। आप सब हमारे स्वामी हैं। आप न जायँ आप यहीं रहें। हम सबने सर्व सम्मति से एक स्वर से सहर्ष स्वीकार कर लिया। शरीर में आप ही सबसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हैं। आप उत्क्रमण न करें।"

यह सुनकर प्राण ने प्रवास करने का अपना विचार उस समय स्थगित कर दिया। सबको आश्वासन दिया—"मैं आप सबके कहने से रुक गया, मैं इस समय न जाऊँगा।" यह सुनकर सभी परम प्रमुदित हुए। अब हँसकर प्राण ने सर्वप्रथम वाक् इन्द्रिय से पूछा—"क्यों वाक् इन्द्रिय! तुम तो वसिष्ठ विशिष्ट-हो न?"

यह सुनकर वाक् इन्द्रिय ने कहा—"अजी, मैं काहे की वसिष्ठ हूँ। वास्तव में तो आप ही वसिष्ठ हैं। आपके रहने पर ही मेरा अस्तित्व है। आप तो विशिष्टों से भी विशिष्ट हैं।

तब प्राण ने चक्षु से कहा—"चक्षु इन्द्रिय! तुम तो प्रतिष्ठा हो न?"

चक्षु ने कहा—"अजी, मैं काहे की प्रतिष्ठा हूँ। मेरी प्रतिष्ठा तुम्हारे ही कारण है। वास्तविक प्रतिष्ठित तो आप ही हैं।"

तब प्राण ने कर्णेन्द्रिय से कहा—"कर्णेन्द्रिय! तुम तो सम्पद् हो न?"

कर्णेन्द्रिय ने कहा—"भगवन्! समस्त सम्पादाओं के साधन भूत स्वामी तो आप ही हैं। मेरी जो सम्पदा है तुम्हारे ही कारण से है। मैं सम्पद् न होकर वास्तव में आप ही सम्पद् हैं।"

तब प्राण ने मन से कहा—"मनदेव! आप तो आयतन-आश्रय-हैं न?"

मन ने कहा—"भगवन्! आप हमें लज्जित न करें। मेरा आश्रयत्व आपके ही ऊपर अवलम्बित है। वास्तविक आश्रय

आप ही हैं। मैं सबका आयतन न होकर आप ही सबके आयतन हो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस संवाद का सार निकालते हुए भगवती श्रुति कहती है—लोक मे लोग शरीर को यह नहीं कहते कि वाणी वाला है, यह चक्षुवान् है, यह श्रोत्रवान् है, यह मनवान् है। सब यही कहते हैं यह प्राणवान् प्राणी है। क्योंकि शरीर मे प्राण ही मुख्य हैं। शरीर से प्राण पृथक् हो जायँ, तो नाटक समाप्त ही है। जीवन का अन्त ही है। इसलिये ये सब प्राण ही हैं। प्राणों की ही मुख्यता है। मनुष्य बिना वाणी के जीवित रहते हैं। सकेत से सभी कार्य चल जाते हैं। सैकड़ों गूँगे सुख से जीवन यापन कर रहे हैं। नेत्रों के बिना भी कार्य चल ही जाता है। लाखों नेत्रहीन परमप्रसिद्ध हो चुके हैं। बड़े-बड़े प्रख्यात कलाकार अन्धे हुए हैं। बिना देखे ही उनके समस्त कार्य हो जाते हैं।

बिना कानों के कार्य चल जाता है। बहुत से बहरे लिख पढ़ कर सब काम कर लेते हैं। वृद्धावस्था में श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, किसी-किसी की तो काम ही नहीं करतीं फिर भी बूढ़े बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं।

अविकसित मन वाले बच्चों का मन के बिना ही काम चल जाता है। इसी प्रकार युद्ध मे बहुतों के हाथ कट जाते हैं। बहुतों के पैर कट जाते हैं। बहुतों के पैदा होते समय गुदा का छिद्र ही नहीं रहता। चिकित्सक उदर मे छिद्र करके उसमे नली लगाकर मल निकालने का मार्ग बना देते हैं। वे लोग भी बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं। इन सबके बिना तो पुरुष जीवित रह सकता है, किन्तु प्राणों के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रहता। जीवन का प्राण ही आधार है। शरीर मे प्राण ही

ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हैं। इसीलिए शरीरधारी को इन्द्रियधारी अन्तःकरणधारी न कहकर प्राणधारी अथवा प्राणी ही कहते हैं। अतः प्राण को ही परमेश्वर मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये, क्योंकि वे प्रभु प्राणों के भी प्राण हैं। प्राणों का भी प्राणन वे ही करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्राण का शरीर में ज्येष्ठत्व-श्रेष्ठत्व सिद्ध किया गया। अब आगे प्राण का अन्न वस्त्रादि से कैसे निर्देश किया जायगा। इस प्रकरण को आगे कहा जायगा। आशा है आप सब इस प्रकरण को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

प्राण और इन्द्रियनि माहिँ अति भयो विवादा।
प्राण कहें—हम श्रेष्ठ इन्द्रियनि बड़पन वादा॥
दोऊ झगड़त गये प्रजापति ब्रह्मा पाहीं।
जा बिनु तन पापिष्ठ श्रेष्ठ वह दोउनि माहीं॥
वाक्, चक्षु, श्रोत्रहु गये, मन बिनु हू तन चलि रह्यो।
प्राण गये शव बनि गयो, श्रेष्ठ प्राण सब मिलि कह्यो॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
प्रथम खंड समाप्त।

प्राण का अन्न और वस्त्र निर्देश

(१६८)

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदिदमाश्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदन्नस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवं विदि किञ्चनानन्नं भवतीति ॥१

(छा० उ० ५ प्र० २ ख० १ म०)

छप्पय

का होवै मम अन्न ? कह्यो वागादिक सबई ।
अन ही प्राननि नाम खायँ सब वस्तु प्रान ई ॥
होवै विघ्न अनन्न प्रान सब अन्नहि मानत ।
वस्त्र कहा ? वागादि कह्यो जल पट तब जानत ॥
सब जन भोजन आदि अरु, अन्त पिये पानी सतत ।
आच्छादन अन्नहिँ करत, आच्छादक जलकूँ कहत ॥

---

१ जब वागादि इन्द्रियों ने प्राण को ज्येष्ठ-श्रेष्ठ मान लिया तब प्राण ने उनसे पूछा—"यह बताओ, मेरा अन्न क्या होगा ?" तब इन्द्रियों ने कहा—"कुत्ते और पक्षी सभी प्राणी जो खाते हैं, सभी तुम्हारा अन्न है।" 'अन' प्राण का ही प्रत्यक्ष नाम है। सो यह सब अन का—प्राण—का ही अन्न है। जो इस तत्व को भली-भांति जान लेता है, वह सर्वभक्ष्य हो जाता है।

शरीर में जो भी कुछ चेतना है, जो भी कुछ कर्म करने की शक्ति है, सब प्राणों के द्वारा ही हैं। शरीर में अन्य इन्द्रियाँ न भी रहें, तो किसी प्रकार कुरु-मुरु करके निर्वाह हो ही जाता है, किन्तु शरीर में प्राण न रहें, तो शरीर द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। वह अकर्मण्य, चेतनाशून्य, निष्क्रिय, निष्प्राण तथा शव बन जाता है। प्राण पुष्ट होता है अन्न से। प्राणों को अन्न न मिले, तो वे क्षीण होते-होते शरीर का परित्याग करके चले जाते हैं। जो खाये जायँ उन सभी पदार्थों का नाम अन्न है। संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो किसी न किसी का खाद्य न हो। हाथ वाले पुरुष बिना हाथ वाले जौ, चना, गेहूँ, फल, साग, कन्द आदि को खाते हैं। दो पैर वाले चार पैर वालों को खा जाते हैं। बड़े मत्स्य छोटी मछलियों को खा जाते हैं। सर्पिणी अपने पुत्रों को ही खा जाती है। बहुत से घुन आदि कीड़े सूखी लकड़ियों को खाते हैं। गौ आदि पशु तृण घास को खाते हैं। पाषाण तथा लोहे आदि धातुओं को भी जीव खाते हैं। मृतक जीवों को जीवित प्राणी खा लेते हैं। विष्ठा, थूक, खखार, पीव, मांस आदि को शूकर, कूकर, मछली, कीड़े आदि खाते हैं। सारांश यही कि संसार की सभी वस्तुएँ किसी न किसी का आहार हैं। सभी अन्न हैं। अन धातु का अर्थ है प्राणन-जीवन (अनस्य-प्राणस्य यद् आहारः स अन्नम्, अत्तीति अन्नम्) अन्न एक प्रकार से शरीर रूप मन्दिर को बनाये रखने की ईंटों के समान है। सूखी ईंटों से घर सुस्थिर नहीं रह सकता, जब तक उसे पानी मिलाकर चिना और लीपा पोता न जाय, उसे आच्छादित न किया जाय। शरीर जैसे वस्त्रों से ढका जाता है, वैसे प्राण पानी से ढके जाते हैं। भोजन के पहिले जल का आचमन करते हैं। खाते समय भी बीच-बीच में पानी पीते जाते हैं और भोजन के अन्त में भी पानी

पीते हैं। अन्न को ऊपर नीचे से जल से ढक देते हैं। इसीलिये जल प्राण का आच्छादन है, वस्त्र है। प्राण की शोभा, स्थिरता, अन्न और जल से ही है। जीव ज्ञान के बिना भूखा और नंगा है, जो प्राणों के रहस्य को भली-भाँति जान लेते हैं, वे विधि निषेध से परे होकर शोभित होते हैं। स्वरूप में स्थित हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सभी इन्द्रियों ने प्राण के ज्येष्ठत्व और श्रेष्ठत्व को स्वीकार कर लिया, तो प्राण ने उनसे एक प्रश्न पूछा। क्या पूछा? प्राण ने कहा—"तुम सबने मुझे श्रेष्ठ तो मान लिया, किन्तु मेरे भोजन का कोई नाम निर्देश नहीं किया। मेरा भोजन क्या होगा?"

तब वाग् आदि इन्द्रियों ने कहा—"अच्छे-बुरे जितने पदार्थ हैं, सब तुम्हारे अन्न होंगे।" सबसे बुरे पदार्थ वे कहे जाते हैं, जिन्हें मनुष्य खाकर देह के छिद्रों द्वारा पुनः निकाल दे। खाये हुए को ऊपर के और नीचे के छिद्रों से प्राणी निकालते हैं। नीचे के छिद्रों से निकाले हुए को विष्ठा, मूत्र कहते हैं। ऊपर के मुख से निकाले हुए को वान्त-कै-उलटी-कहते हैं। विष्ठा और उलटी-कै-किये हुए पदार्थों से नीच-अशुद्ध-पदार्थ कोई नहीं। कुत्ता इन विष्ठा और वान्त-उलटी-दोनों को खाता है, अतः उसका अन्न यही है। पक्षी पवित्र फलों को ही खाते हैं। हंस केवल दुग्ध का सार भाग ही खाते हैं। दूध और फलों से पवित्र कोई आहार नहीं। इसलिये इन्द्रियों ने कुत्तों और पक्षियों से लेकर संसार के समस्त जीवों का जो भी कुछ आहार है, उस सबको अन्न कहा। अर्थात् अच्छे-बुरे, खोटे-खरे, उच्च-नीच जितने भी संसार के पदार्थ हैं, वे सब प्राण के अन्न हैं। 'अन' यह प्राण का प्रत्यक्ष बोधवाचक शब्द है। अर्थात् अन्न ही प्राण है। परन्तु आख्यायिका के अनुसार प्राणों का अन्न-अर्थात् आहार संसार की

सभी वस्तुएँ हैं। जो ज्ञानी पुरुष इस रहस्य को भली-भाँति जानकर इसका प्रत्यक्ष-साक्षात्कार-कर लेता है, तो उसके लिये कोई भी पदार्थ अभक्ष्य नहीं रह जाता। अर्थात् उसे अभक्ष्य भक्षण का दोष नहीं लगता। वह विधि निषेध से ऊपर उठ जाता है।

इसके अनन्तर प्राण ने वागादि इन्द्रियों से पूछा—"अच्छा, अन्न तो हो गया। मेरा वस्त्र क्या होगा?"

इन्द्रियोंने कहा—"यह जल ही आपका वस्त्र होगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वस्त्र तो तन ढकने के लिये होता है। जल से तन कैसे ढका जायगा। उसे आच्छादन कैसे कहा?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! अन्न को जब तक जल से ढका न जाय, तब तक वह पचता नहीं। प्राणों की पुष्टि नहीं करता। इसीलिये विद्वान् लोग भोजन के आदि में और भोजन के अन्त में आचमन करते हैं। बीच-बीच में जल पीते भी हैं, मानों अन्न को जल से आच्छादित करते हैं-ढक देते हैं। जो इस प्रकार भोजन के अन्त में अन्न को जल से आच्छादित करता है-ढक देता है-उसे आच्छादन-वस्त्र-की तथा अन्न की कमी नहीं रहती। वह विधिनिषेध से भी परे हो जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही प्राणविद्या है। यही प्राणदर्शन है। जो इस प्रकार प्राणों को ज्येष्ठ-श्रेष्ठ मानकर, अच्छी बुरी सभी वस्तुओं का उसका भोजन और जल को आच्छादन-वस्त्र-मानकर विधिवत् उसकी उपासना करते हैं, वे निष्प्राण पदार्थ में भी प्राणों का संचार कर सकते हैं। इस विद्या का उपदेश व्याघ्रपद के पुत्र गोश्रुति को महर्षि सत्यकाम जाबाल ने किया था। उपदेश करके आचार्य सत्यकाम ने अपने शिष्य गोश्रुति से कहा था—"कोई व्यक्ति इस प्राणविद्या को भली-भाँति

जानकर इसे सूखे हुए ठूँठ-स्थाणु-को भी सुना देगा, तो वह ठूँठ हरा भरा हो जायगा, उसमें से शाखा निकलकर पत्ते फूटने लगेंगे। वह निर्जीव ठूँठ सजीव होकर लहलहाने लगेगा।"

शौनकजी ने पूछा—"उसे सूखे ठूँठ को सजीव करने की कौन सी और क्रिया करनी पड़ेगी ?"

सूतजी ने कहा—"उसे पहिले प्राणविद्या का ज्ञाता होना पड़ेगा। फिर एक मन्थ बनाना पड़ेगा।"

शौनकजी ने पूछा—"मन्थ कैसे तैयार किया जाता है, उसकी भी विधि बताइये ?"

सूतजी ने कहा—"श्रुति ने स्वयं ही मन्थ बनाने की विधि बतायी है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

आच्छादन कूँ जानि वस्त्रयुत होइ नग्न नहिं।
गोश्रुति के प्रति सत्य-काम जाबालसुधी कहिं॥
शुष्क ठूँठ प्रति कहे पत्र फलयुत है जावै।
हो महत्व की चाह मन्थ ओषधिनि बनावै॥
मावसकूँ दीक्षित बनै, पन्द्रह दिन संयम करै।
पूनो की निशि ओषधिहिं, दधि मधु सँग मन्थन करै॥

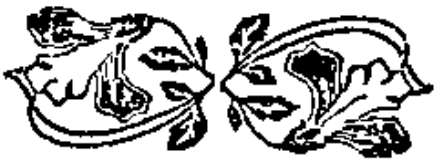

हत्व प्राप्त कराने वाले मन्थकर्म की विधि

[१६९]

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावस्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥*

(छां० उ० ५ प्र० २ खं० ४ म०)

छप्पय

हवन अगिनि कूँ बारि आज्य की आहुति देवै।
स्रुव में जो घृत बचै मन्थ में तिहि तजि देवै॥
ज्येष्ठ श्रेष्ठ, आयतन, प्रतिष्ठा वसिष्ठ संपद।
चतुर्थन्त्य इन करें लगावै स्वाहा कोविद॥
तब पुनि कछु हटि अगिनितें, अमो न मासि हि मंत्र जपि।
यों विधिवत् वा मन्थ कूँ, पूत करै नियमादि तपि॥

---

* तदनन्तर कहते हैं यदि साधक को महत्व प्राप्त करने की वांछा हो, तो वह अमावास्या को दीक्षा ग्रहण करे, पन्द्रह दिन पश्चात पूर्णिमा की रात्रि में सर्व औषधियों में दधि और मधु मिलाकर मन्थन करके मन्थ निर्माण करना चाहिये। फिर अग्नि में ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा इस मन्त्र से घृत का हवन करे। स्रुक में अवशेष घृत को मन्थ पर डालता जाय।

संसार चक्र से मुक्त होने के ज्ञान, कर्म और उपासना ये तीन मार्ग हैं। ज्ञानमार्ग त्याग वैराग्य प्रधान होता है। उसमें कर्मों का विशेष महत्त्व नहीं। कर्म किये भी जाते हैं, तो वे त्याग के लिये कर्म करने से अन्तःकरण में स्थित मल नष्ट हो जाता है, इससे त्याग वैराग्य की शक्ति बढ़ती है। ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से मुक्ति होती है। यही ज्ञानमार्ग है कर्ममार्ग में वर्ण और आश्रम सम्बन्धी कर्तव्य कर्मों की प्रधानता रहती है। कर्तव्य कर्मों को करते हुए चले जाओ, कभी न कभी तो ज्ञान होकर मुक्ति हो जायगी। कर्ममार्ग को यज्ञमार्ग धूममार्ग भी कहते हैं। उपासना मार्ग इसके मध्य का मार्ग है। उसमें यज्ञों की प्रधानता तो है किन्तु देवताओं को भगवान् का अंग मानकर एक प्रकार से अंग को ही उपासना की जाती है।

वैदिकी उपासना को उपासना कहते हैं, उसका आधार वेद ही है। उपासना यदि पौराणिक पद्धति से की जाय, तो उसका नाम भक्ति होता है। शुद्ध तान्त्रिक मन्त्रों से या वैदिक तान्त्रिक दोनों ही मिले जुले मन्त्रों से यह पूजा या उपासना की जाती है। वैदिकी उपासना की भाँति यह अग्नि में आहुति डालकर ही की जाती है, ऐसी बात नहीं। यह उपासना या पूजा तो भगवान् की पत्थर की, लकड़ी की, धातु की, मिट्टी और चन्दन की, चित्र पट में बनी मूर्ति, बालुका की, मणि की या मनोमयी मूर्तियों में की जा सकती है। मिट्टी की वेदी में, अग्नि में, सूर्य में, जल में, ब्राह्मण में तथा अपने हृदय में भी की जा सकती है। यह पूजा पंचोपचार षोडशोपचार तथा अन्य कई उपचारों के भेद से विविध प्रकार की होती है।

वैदिकी उपासना अग्नि में ही घृत तथा सांकल्य की आहुति देकर वैदिक मन्त्रों द्वारा की जाती है। हवन कैसे करना चाहिये।

इसका विस्तार वेदों में है। कैसी ईंटों से, कितनी लम्बी चौड़ी वेदी बनायी जाय, कौन-सी वेदी किधर बनायी जाय, कैसे इष्टिका चयन कुशों का परिस्तरण किया जाय, अग्नि चयन कैसे किया जाय, यज्ञों में कौन-कौन सामग्री अपेक्षित हैं, यज्ञीय पात्र कितने हों, कैसे हों, किस धातु से, किस काष्ठ से निर्मित हों, उनका आकार प्रकार कैसा हो, कौन-सी आहुति किस देवता के उद्देश्य से, किस मन्त्र द्वारा दी जाय इन समस्त बातों का वर्णन वेदों में, गृह्यसूत्रों तथा स्मृति आदि ग्रन्थों में है। यहाँ हम उनका विस्तार से वर्णन करने में असमर्थ हैं। प्रकृत विषय का सम्बन्ध जिन-जिन वस्तुओं से है, उसी के सम्बन्ध में हम कुछ जानकारी करा देना चाहते हैं। जैसे सर्वौषधि है। औषधि उसे कहते हैं जो फूले फले। फल पक जाने पर स्वतः ही गिर जाय, नष्ट हो जाय। जैसे गेहूँ, जौ, चना, धान्य आदि हैं। दस ग्रामीण अन्न मिलाकर सर्वौषधि कहलाती हैं। वे दस अन्न ये हैं १-धान, २-जौ, ३-तिल, ४-उड़द, ५-सावाँ, ६-कँगुनी, ७-गेहूँ, ८-मसूर, ९-खल्व-मटर-और १०-कुलथी। ये सर्वौषधियाँ मन्थ कर्म में काम आती हैं।

अब मन्थ कार्य में जिन यज्ञीय पात्रों का उपयोग होता है, उनको भी समझ लेना चाहिये। इनमें मुख्य है स्रुवा।

(१) स्रुवा—स्रुवा उस यज्ञ पात्र को कहते हैं, जिससे घृत को तथा अन्य द्रव पदार्थ की आहुति दी जाती है। यह पात्र खैर या पर्ण की लकड़ी से बनाया जाता है। यह एक हाथ-दो वितस्ति-लम्बा होता है। लम्बी लकड़ी एक हाथ लम्बी और उसके मुख पर चम्मच की भाँति गोल गहरा हाथ के अग्रभाग के सदृश वृत्त बना रहता है, जिसमें घृत आदि भरकर आहुति देते अग्रभाग में दो अँगूठे के सदृश परिमंडल होता

के सदृश खात–गड्ढा–होता है। दूसरा मुख्य पात्र है आज्य स्थाली।

(२) आज्यस्थाली—उसे कहते हैं जिसमें घृत भरा रहता है, उसी में से स्रुवा को डुबो डुबोकर–घृत भरकर–आहुति देते हैं। वह सुवर्ण, चाँदी आदि तेजस् द्रव्यों से निर्मित हो अथवा मृत्तिका की भी आज्यस्थाली होती है। यह छोटी बड़ी घृत के परिमाणानुसार हो सकती है। किन्तु वह सुन्दर, सुदृढ छिद्र रहित हो। साधारणतया आज्यस्थाली चाहे धातु की हो अथवा मृत्तिका की हो। वह बारह अँगुल चौड़ी एक बिलस्त ऊँची हो। देखने में सुन्दर और मनोरम हो। तीसरा यज्ञीय पात्र चमस है।

(३) चमस—यह भी स्रुवा की भाँति होता है। इसका दण्ड चार अँगुल, कन्धा तीन अँगुल, चौड़ा चार अँगुल और लम्बा बारह अगुल का हो। यह ढाक (पलास) वट वृक्ष अथवा अन्य यज्ञ सम्बन्धी वृक्षों के काष्ठ से निर्मित होना चाहिये।

इध्म—जलाने की लकड़ी को इध्म कहते जिसे फूँकना कहते हैं। उसमे फूँक देकर अग्नि प्रज्वलित की जाती है।

उपमन्थनी—जिसके द्वारा मन्थन कर्म किया जाता है।

इस मन्थन कर्म में स्रुवा, चमस, इध्म और उपमन्थनी ये सबके सब गूलर के ही काठ से निर्मित होने चाहिये। यह इस कर्म के पात्रों में विशेष नियम बताया गया है।

सूतजी कहते—"मुनियो! आपने मुझसे मन्थ कर्म की विधि पूछी थी, इस सम्बन्ध मे भगवती श्रुति ने बताया, कि जिसे महत्त्व प्राप्त करने की इच्छा हो, तो उसे अमावस्या से एक पक्ष की विधिवत् मन्थ कर्म की दीक्षा लेकर उपसद् व्रत करना चाहिये। यह व्रत उत्तरायण मे प्रशस्त माना गया है। अमावास्या के दिन दीक्षित होकर संकल्प कर, शुभ वार पुण्य

तिथि में शुक्लपक्ष भर नियम से रहे। विधिवत् ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे, पृथ्वी पर शयन करे, व्यर्थ की बातें न करे, अथवा मौनव्रत धारण करे। अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का पालन करे। इस प्रकार उपसद् व्रती होकर–केवल दुग्ध पीकर–ही रहे। पन्द्रह दिन व्रत करने के अनन्तर पूर्णिमा की रात्रि में मन्थ कर्म करे। पहिले समस्त सामग्रियों को एकत्रित कर ले। दश प्रकार के ग्राम्यअन्न, यज्ञीयपात्र और भी जो आवश्यक वस्तुयें हों, सबको पहिले से ही लाकर रख ले, जिससे बार-बार बीच में से उठना न पड़े। जहाँ हवन करना हो, उस स्थान का परिसमूहन करे। अर्थात् कुशाओं के मूँठे से उसे झाड़बुहार कर स्वच्छ करले। फिर वेदी को गोबर जल से परिलेपन करे। अर्थात् लीप ले। फिर विधिवत् अग्नि स्थापना करे। फिर वेदी के चारों ओर कुशाओं को बिछावे। घृत को अग्नि में तपाकर उसका परिशोधन करे। अर्थात् यह देख ले उसमें कोई तृण जीवजन्तु तो नहीं हैं। कोई निषिद्ध वस्तु हो उसे निकालकर फेंक दे। पुलिङ्ग वाले हस्त आदि नक्षत्र में यह मन्थ कर्म प्रशस्त माना गया है। अग्नि और अपने बीच में मन्थ को रखकर हवन करे। इसके पूर्व मन्थ को तैयार कर ले। दश ग्राम्यौषधि तथा वन्योषधि ले। उन्हें तुष रहित करके बिना भूने–कच्चे ही–पत्थर की शिला पर पीस ले। पीसकर जो पिट्ठी बने उसे कंसाकार या चमसाकार गूलर के काष्ठ से निर्मित पात्र में रख ले। उसमें दही और मधु मिला दे। फिर गूलर की ही उपमन्थनी से उसे गथे। अब मन्थ तैयार हो गया। उसे अग्नि और अपने बीच में रख ले। आज्यस्थाली में घृत भरकर स्रुवा से घृत की आहुति दे।

पहिले प्राण के जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ नाम में हैं, उनमें चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्त में स्वाहा कहकर आहुति दे। "...नाय

श्रेष्ठाय स्वाहा" ऐसा कहकर स्रुवा से आवसथ्याग्नि में आवसथ्यान में घृत की आहुति दे। स्रुवा मे थोड़ा-सा घृत जो बच जाय, उस अवशिष्ट घृत को मन्थ के ऊपर डाल दे। यह तो पहिली आहुति हुई।

इसी प्रकार दूसरी आहुति "वसिष्ठाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में आहुति दे और अवशिष्ट घृत को पूर्ववत् मन्थ में डाल दे। फिर तीसरी आहुति 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इससे दे। चौथी आहुति 'संपदे स्वाहा' इस मंत्र से दे। पाँचवीं आहुति 'आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्र से दे। पाँचों मन्त्रों से आहुति देकर स्रुवा के अवशिष्ट घृत का स्राव मन्थ पर डालता जाय। बचे हुए घृत को संस्रव कहते हैं। इस प्रकार पाँच आहुति देकर संस्रव घृत को मन्थ पर डालकर हवन से निवृत्त हो जाय। फिर अग्नि से कुछ दूर हटकर मन्थ से भरे पात्र को अञ्जलि में ले और इस मन्त्र का जप करे। "ॐ अमो नामासि नामास्यमा हि ते सर्वमिदं सहि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठं सर्वमसानीति।" इस मन्त्र का एक माला तो जप करे ही। इस मन्त्र का भाव यह है कि "हे मन्थ! तुम्हारा नाम 'अम' है। अम प्राण का नाम है तुममें सम्पूर्ण जगत्-प्राणभूत-अवस्थित है। तुम ज्येष्ठ हो, श्रेष्ठ हो, राजा और सबके अधिपति हो। इसलिये तुम मुझे जेष्ठत्व-श्रेष्ठत्व राज्यऔर आधिपत्य प्राप्त कराओ। मैं सर्वरूप हो जाऊं।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! इस विधि से यह महत्व प्राप्त कराने वाला मन्थ तैयार हो गया। अब इसे भक्षण कैसे करना चाहिये। इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कहे—मन्थ ! 'अम' नाम तुम्हारो सब जग अन्दर ।
अवथित तुमरे साथ जगत तुम ज्येष्ठ श्रेष्ठवर ॥
राजा अधिपति तुमहिँ देउ ज्येष्ठत्व श्रेष्ठपन ।
आधिपत्य अरु राज्य कराओ प्राप्त सर्व मन ॥
तीन पाद करि मन्थ के, प्रथम भाग भक्षण लहे ।
मंत्र भाग पहिलो पढ़े, तत्सवितुर्वृणी महे ॥

मन्थ भक्षण विधि तथा कर्म समृद्धि सूचक स्वप्न

(१७०)

तदेष श्लोको—यदा कर्मसु काम्येषुस्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्न निदर्शने-तस्मिन् स्वप्न निदर्शने ॥*

(छा० उ० ५ अ० २ खं ८ म०)

छप्पय

द्वितिय भाग कूँ खाइ 'वयं देवस्य भोजनम् ।'
तृतीय भाग भखि जाइ श्रेष्ठं सर्वधातमम् ॥
तुरिय भाग पढ़ि मन्त्र तुरं भागस्य धीमहिहितव ।
चमस कटोरा धोइ मन्थ को लेप पिये सब ॥
फेरि अगिनि पीछे चरम, शयन यज्ञ भू पै करै ।
पाणी संयमकरि सुधी, सोवै दुःस्वप्ननि हरै ॥

कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक काम्य कर्म, दूसरे निष्काम

* मन्थ भक्षण के पश्चात् कर्म समृद्धि सूचक स्वप्न के सम्बन्ध में यह श्लोक है, इसका भाव यह है, कि जिस समय काम्यकर्मों का अनुष्ठान कर रहे हो, उस समय रात्रि में सोते समय स्वप्न में स्त्री का दर्शन हो, तो समझना चाहिये उस काम्यकर्म में समृद्धि होगी।

उचित मार्ग से चल रहा हूँ, मेरा साधन उत्तम रीति से चल रहा है। सिद्धियाँ सम्मुख न आवें तो उसे कैसे भरोसा हो, कि मेरा साधन उचित हो रहा है या अनुचित।

इसी प्रकार काम्यकर्मों के क्रिया कलापों मे भी यही बात है। दिव्य ओषधियाँ, रसायन आदि तैयार की जायँ, शास्त्रोक्त विधि से मन्थ आदि तैयार किये जायँ, तो कैसे पता चले, कि हमारा यह कर्म सांगोपाङ्ग सम्पन्न हुआ या इसमें कुछ-जान मे अनजान म विधि सम्बन्धी-त्रुटि रह गयी। इसका पता शुभ-अशुभ स्वप्नों द्वारा ही लग सकता है। यदि कर्म के अनन्तर साधक को शुभ स्वप्न होते हैं, तो समझना चाहिये हमारी यह क्रिया सांगोपाङ्ग सम्पन्न हुई। इसके विपरीत यदि अशुभ स्वप्न हों, तो समझना चाहिये इसमें कुछ न कुछ त्रुटि रह गयी। यही बात इस महत्त्व प्राप्ति की कामना से किये हुए मन्थकर्म के सम्बन्ध में भी है। मन्थ को भक्षण करने के अनन्तर स्वप्न में यदि लक्ष्मीस्वरूपा नारी को देखे, तो समझना चाहिये हमारा मन्थकर्म सांगोपाङ्ग सम्पन्न हुआ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मन्थ तैयार होने पर उसका भक्षण किस विधि से करना चाहिये इसको बताते हैं। ऋग्वेद का एक यह चतुष्पाद मन्त्र है। 'तत्सवितुर्वर्णीमहे, वय देवस्य भोजनम्, श्रेष्ठ सर्वधातमम्, तुर भागस्य धी महि।' इस मन्त्र में चार पाद हैं। अतः एक एक पाद का उच्चारण करके चार बार म इस सम्पूर्ण मन्थ का पान करना चाहिये। जैसे-'तत्सवितुर्वर्णी महे॥' इस पाद को कहकर मन्थ का एक भाग पी जाय। फिर-'वय देवस्य भोजनम' इस पाद को पढ़कर दूसरे भाग को पी जाय तदनन्तर 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्, इस पाद को पढ़कर तीसरे भाग को पी जाय। अन्त मे 'तुरं भागस्य धी महि' इस चतुर्थ

चरण को पढ़कर शेष बचे हुए समस्त मन्थ को पी जाय। फिर उस पात्र (कटोरे) अथवा चमस पात्र को धोवे। अथवा धोकर सबको पी जाय। इस प्रकार मन्थ का विधिवत् पान कर ले।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार पूर्णिमा की रात्रि में विधिपूर्वक मन्थ बनाकर उसका पान करे। अब यह देखना है, कि हमारा यह मन्थन कर्म सफल हुआ या नहीं। इसके लिये यह करे, कि जिस वेदी में हवन किया है उसके पीछे पूर्व की ओर सिर करके शयन करे। शयन या तो काले मृग की मृगछाला पर करे अथवा यज्ञशाला स्थण्डिल—केवल खाली भूमि—पर ही करे। सोते समय वाणी का संयम करे। और इस प्रकार से सावधानी के साथ शयन करे जिससे स्वप्न दर्शन से अभिभूत न हो। अर्थात् स्वप्न में स्त्री दर्शनादि से स्वप्न दोष न होने पावे। इस प्रकार रात्रि में सोते समय स्वप्नावस्था मे उसे सात्विकी प्रसन्नमुद्रा में स्त्री के दर्शन हो जायँ, तो समझना चाहिये हमारा कर्म सफल हो गया।"

शौनकजी ने पूछा—"आपने जो चतुष्पाद ऋग्वेद का मन्त्र बताया, जिसके एक-एक पाद से चार बार में मन्थ का पान किया जाता है। उसका अर्थ क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! मन्त्रो की तो शक्ति ही कार्य करती है। अर्थ तो गौण है। इसका अर्थ यही हुआ कि हम समस्त साधकगण विश्व ब्रह्माण्ड के उत्पादक—समस्त शरीरो में क्रीड़ा करने वाले परम प्रकाशवान उन प्राणदेव के सर्व विषयक—सर्वधारक—श्रेष्ठतम भोजन की प्रार्थना करते हैं। और शीघ्र ही सेवनीय जो सविता देवता हैं। उनके स्वरूप का ध्यान शुद्धचित्त से करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वप्न में स्त्री दर्शन को कार्यसिद्धि का कारण क्यों बताया ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वे महामाया श्रीदेवी ही अनेक रूपों से इस विश्वब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। वे ही जगज्जननी जगन्माता है। वे ही विभूति की अधिष्ठातृ देवी हैं। वे ही लक्ष्मी गायत्री, सावित्री, श्री के रूप मे अवस्थित हैं। जिस पर उनकी कृपा हो जाती है। उसे ही महत्व प्राप्त हो जाता है, उसे ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। देवताओं और असुरों ने मिलकर जब समुद्र मन्थन किया था, तो उसी मन्थन कार्य से समुद्र से श्री देवी प्रकट हुई थीं। उन्होंने देवताओं की श्री वृद्धि की। इस मन्थन कार्य के समय भी यदि लक्ष्मी रूपा सौम्या नारी के दर्शन स्वप्न में भी हो जायँ, तब समझना चाहिये समस्त विभूति की आधिष्ठातृ देवी हम से प्रसन्न है। इस मन्थन कर्म का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् के अतिरिक्त भी बृहदारण्यकादि अन्य उपनिषदों मे भी है। जिनका वर्णन यथा स्थान किया जायगा। इस स्वप्न के सम्बन्ध मे एक प्राचीन श्लोक भी है, जिसका भाव है—काम्य कर्म करते काल में स्वप्न मे स्त्री दृष्टिगोचर हो, तो उस स्वप्नदर्शन का फल यही है कि कार्य में सफलता अवश्य मिलेगी, इस कर्म फल में समृद्धि होगी। कर्म की निष्पत्ति अवश्यम्भावी है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने मन्थन कर्म की विधि मन्थ भक्षण का विधान तथा कर्म समृद्धि सूचक स्वप्न के सम्बन्ध में बताया। अब जैसे मुमुक्षु पुरुषों को वैराग्य हो, इसके निमित्त श्वेतकेतु और प्रवाहण के सम्वाद रूप में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

स्वप्न माहिँ यदि लखै सुंदरी मनहर नारी।
तो निश्चय करि लेइ कामना पूर्ण हमारी॥
जाई कूँ श्रुति कहै ऋचा में यों दरसावै।
काम्यकर्म में स्वप्न माहिं नारी दिखि जावै॥
ो दृढ़ यह निश्चय करै, समृधि कर्म में होइ ध्रुव।
न्थ कर्म की विधि यही, कही यथावत तुमहिँ सब॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
द्वितीय खण्ड समाप्त।

श्वेतकेतु और प्रवाहण सम्वाद

(१७१)

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाँ समितिमेयाय तँ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानुत्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥*

(छा० उ० ५ म० ३ ख० १ म०)

छप्पय

आरुणि को सुत श्वेत-केतु पंचाल देश जहँ।
जीवल नृप-सुत रहें प्रवाहण गयो समिति महँ॥
विज्ञ प्रवाहण कहे—कुमर! तव पिता पढ़ायो।
हाँ भगवन्, जब कह्यो प्रश्न पूछें बतलाओ॥
प्रजा जाइ जा लोक तें, करै बास कहँ ज्ञात है?
कैसे पुनि इहि लोक में, आवै यह विज्ञात है॥

संसार में प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग दो मार्ग ही प्रधान हैं। जिनके जीवन का लक्ष्य परम पुरुषार्थ मोक्ष है, आत्मानुभूति

---

* श्वेतकेतु जो आरुणि के पुत्र थे, वे एक बार पांचाल देश के राजा की समिति में गये। वहाँ महाराज जीवल के पुत्र राजकुमार प्रवाहण ने पूछा—"हे ऋषिकुमार! क्या तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें शिक्षा दी है?" इस पर श्वेतकेतु ने कहा—"हाँ, भगवन्! मैंने पिताजी से शिक्षा प्राप्त की है।"

है। वे निवृत्ति और प्रवृत्ति दो मार्गों द्वारा ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। निवृत्ति मार्ग में आरम्भ से ही इस लोक तथा परलोक के भोगों के प्रति निस्पृह बना रहना पड़ता है। उसमें विषयों से वैराग्य और संसारी भोगों के त्याग की ही प्रधानता रहती है। प्रवृत्ति मार्ग में धर्मपूर्वक इस लोक के तथा परलोकों के सुखों को भोगते हुए क्रम-क्रम से मुक्ति तक पहुँचना होता है। इसको पिपीलिकामार्ग भी कहते हैं। जैसे चींटी शनैः-शनैः चलकर अन्त में अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाती है। त्यागमार्ग विहङ्गम मार्ग है, जैसे पक्षी आकाश में उड़कर तुरन्त अपने गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं। त्यागमार्ग वालों को त्याग वैराग्य तथा ज्ञान की उत्कटता के कारण किन्हीं अन्य लोकों में जाना नहीं पड़ता उनकी इस शरीर के अन्त हो जाने पर सद्यः मुक्ति हो जाती है, किन्तु प्रवृत्तिमार्ग के साधक की शनैः-शनैः अनेक लोकों में जाते हुए कई जन्मों के पश्चात क्रमशः मुक्ति होती है। उसे क्रममुक्तिमार्ग कहते हैं। जो धर्माचरण करते ही नहीं वेद शास्त्र तथा परलोक को मानते ही नहीं, जो इस शरीर को ही सब कुछ मानकर इसी के पालन-पोषण और पुष्ट करने में लगे रहते हैं, वे साधक-मनुष्य-नहीं कहे जा सकते, वे तो नारकीय जीव हैं। बार-बार जन्मते मरते हुए नाना योनियों में उत्पन्न होकर क्लेश भोगते रहते हैं।

प्राचीन काल में जब इस देश में वर्णाश्रम धर्म का पूर्णरीत्या पालन किया जाता था, तब ब्राह्मण और क्षत्रिय दो ही वर्ण अकरद थे। अर्थात् इन दोनों को राज्य का कर नहीं देना पड़ता था। शेष वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज ये करद-प्रजा-कहलाते थे। इन्हें राज्य को कर देना पड़ता था। राज्य के शासन में रहना पड़ता था। क्षत्रिय तो शासक ही होते थे। सम्पूर्ण राज्य धन

के स्वामी ही होते थे। ब्राह्मण त्यागी तपस्वी तथा असग्रही होते थे। तप ही उनका धन होता था अतः वे तपोधन कहलाते थे। अपने त्याग तप के कारण वे सर्ववन्द्य होते थे। अच्छे अच्छे चक्रवर्ती राजा उनके सम्मुख भय से थर थर काँपते थे। ब्राह्मण त्याग तथा ज्ञानप्रधान होते थे और वे राजागण भोगप्रधान होत थे। किन्तु उन राजाओं मे भी कोई कोई ऐसे ज्ञानी होत थे, कि अच्छ-अच्छे त्यागी तपस्वी, ब्राह्मण भी उनका शिष्यत्व स्वीकार करके उनसे ब्रह्मविद्या सीखने आते थे। इन राजर्षियों मे से पाञ्चाल देश के जीवलपुत्र प्रवाहण राजा का नाम उपनिषद्-तथा अन्यान्य ग्रन्थो मे बहुत आता है। वे उस समय के राजर्षियो मे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी माने जाते थे।

गौतम वश मे वाजश्रवा नाम के एक महर्षि हुए हैं। उनके पुत्र अरुण हुए। अरुण के पुत्र आरुणि हुए जो उद्दालक के नाम से भी विख्यात हुए। उन आरुणि के एक पुत्र नचिकेता हुए दूसरे श्वेतकेतु ये आरुणि महर्षि पाञ्चाल देश में ही निवास करते थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आरुणि ऋषि का नाम उद्दालक क्यों पड़ा ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! महाभारत के आदि मे ही पौष्य पर्व मे महर्षि आरुणि-उद्दालक-की कथा आती है। उन दिनों आयोद् धौम्य नाम के एक महर्षि आचार्य थे। उनके समीप ही आरुणि महर्षि पढ़ते थे। उनके आरुणि के अतिरिक्त उपमन्यु और वेद नाम के भी दो शिष्य थे। अन्त में उपमन्यु तो गोत्र प्रवर्तक हुए। ये दो भी विख्यात आचार्य हुए।"

हाँ तो आयोद् धौम्य आचार्य बहुत कड़े थे, वे अपने शिष्यों से बहुत कड़ी-कड़ी सेवा लेते थे।

एक दिन वर्षाकाल में आचार्य ने आरुणि से कहा—"वत्स! जाओ वर्षा होने ही वाली है तुम धान के खेत की मेड़ बाँध आओ जिससे खेत का पानी बाहर न निकलने पावे।"

आरुणि छोटा-सा बालक ही था, वह खेत पर पहुँचा तो वेग से वर्षा होने लगी। खेत में एक गड्ढा था उसमें से पानी बाहर निकल रहा था। आरुणि ज्यों ही उस पर मिट्टी डालता त्यों ही पानी का वेग उस मिट्टी को बहा ले जाता। पूर्ण प्रयत्न करने पर भी जब वह उस मेड़ के गड्ढे को न पाट सका, तो अन्त में उसे एक उपाय सूझा। वह स्वयं उस गड्ढे में मेड़ बन कर लेट गया। इससे पानी रुक गया। उसी समय आश्रम पर किसी काम से बाहर गये हुए आचार्य लौटकर आये। आते ही उन्होंने अन्य शिष्यों से पूछा—"पांचाल देशीय वह आरुणि दिखायी नहीं देता, वह कहाँ चला गया?"

शिष्यों ने कहा—"भगवन् आपकी आज्ञा से वह धान के खेत की मेड़ बाँधने गया था, पता नहीं अभी तक क्यों नहीं लौटा?"

आचार्य ने कहा—"चलो, चलें देखें वह क्यों नहीं आया?"

यह कहकर वे शिष्यों सहित खेत पर पहुँचे। वहाँ आरुणि को न देखकर उन्होंने उसे उच्च स्वर से पुकारा। गुरु का स्वर सुनकर आरुणि उठकर आया। उसने हाथ जोड़कर गुरु को सब वृत्तान्त सुनाया। सुनकर गुरुदेव बहुत प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया—"बिना पढ़े ही तुम्हें सब वेद आ जायेंगे। तुम खेत के बाँध को तोड़कर चले आये हो, इसलिये आज से तुम (उत्+दालक) उद्दालक के नाम से प्रसिद्ध होगे। तभी से गौतम गोत्रीय आरुणि उद्दालक के नाम से विख्यात हुए। उनके पुत्र नचिकेता

की कथा तो कठोपनिषद् में आ ही गयी है। अब इस छान्दोग्य उपनिषद् में उनके दूसरे पुत्र श्वेतकेतु का जो संवाद राजा प्रवाहण से हुआ है उसे मुमुक्षुओं के वैराग्य के निमित्त तथा जगत् की गति का बताने के निमित्त किया जाता है।"

एक समय आरुणि ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु घूमते-फिरते पाचाल देश के राजाओं की सभा में आये। पाचाल देशाधिराज राजा धर्मात्मा और ज्ञानी विख्यात ही थे। श्वेतकेतु अभी-अभी स्नातक होकर ज्ञानार्जन करके पिता के यहाँ से समावर्तन संस्कार कराकर आये थे। उन्हें अपने ज्ञान का अभिमान था। सोचा होगा, राजा की समिति में चलें, वहाँ ज्ञानचर्चा करेंगे। वहाँ कुछ दान दक्षिणा प्राप्त होगा, तो उससे किसी सुयोग्य कन्या से विवाह कर लेंगे।

समिति में उन्होंने जीवल के पुत्र प्रवाहण राजा को देखा। राजा देखते ही समझ गये। यह अभी समावर्तन कराकर स्नातक आया है। अतः पूछा—"कहो, विप्रवर! अभी विवाह नहीं किया?"

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं राजन्! मैं अभी कुमार ही हूँ। अभी-अभी अपने पूज्य पिता के यहाँ से समावर्तन संस्कार करा कर लौटा हूँ।"

प्रवाहण ने पूछा—"तुम पिता के ही पास शिक्षा प्राप्त करते थे?"

श्वेतकेतु ने कहा—"हाँ, मैं अपने पूज्य पिताजी से ही शिक्षा प्राप्त करता था।"

प्रवाहण ने पूछा—"तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें क्या क्या शिक्षा दी है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"उन्होंने सभी कुछ सिखाया है।"

प्रवाहण ने कहा—"हम कुछ पूछें ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"हाँ, पूछिये।"

प्रवाहण ने कहा—"अच्छा, कुमार ! यह बताओ, इस मर्त्य-लोक से जाने पर प्रजा कहाँ जाती है ?" (१)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं भगवन् ! मुझे मालूम नहीं है।"

प्रवाहण ने कहा—"दूसरा हमारा प्रश्न यह है क्या तुम जानते हो मरकर फिर प्रजा इस लोक में कैसे आती है ?" (२)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं, भगवन् ! इसे भी मैं नहीं जानता।"

प्रवाहण ने पूछा—"अच्छा, तीसरा प्रश्न हमारा यह है, तुम जानते हो तो बताओ दो मार्ग हैं एक देवयान दूसरा पितृयान इन दोनों मार्गों का किस स्थान पर जाकर विच्छेद होता है ? दोनों कहाँ जाकर विलग होते हैं ?" (३)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं, भगवन् ! मैं इसे भी नहीं जानता।"

तब प्रवाहण ने कहा—"अच्छा, हमारा चौथा प्रश्न और है, तुम उसके सम्बन्ध में जानते हो, तो बताना। नित्य ही इतने आदमी मरकर पितृलोक को जाते रहते हैं, वह पितृलोक भरता क्यों नहीं ?" (४)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं, भगवन् ! मैं इसे भी नहीं जानता।"

तब प्रवाहण ने कहा—"अब अन्तिम पाँचवा प्रश्न हमारा और है, तुम जानते हो तो इसका उत्तर दो। पाँचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर (घृतादि रस) पुरुष संज्ञा को किस प्रकार प्राप्त होते हैं ?" (५)

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं भगवन् ! मैं इसे भी नहीं जानता।"

तब हँसकर प्रवाहण ने कहा—"फिर तुम कैसे कहते हो, मेरे पिता ने मुझे सब प्रकार की शिक्षा दी है।" संसार में जानने योग्य मुख्य प्रश्न तो ये पाँच ही हैं। जो व्यक्ति इन पाँचों बातों को नहीं जानता, वह अपने को शिक्षित-विज्ञाता-अनुशिष्ट-कैसे कह सकता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! श्वेतकेतु का उत्तर न देने से अभिमान चूर हो गया अपने पराभव से उसे बड़ा दुःख हुआ। दुखी होकर वह पुनः लौटकर अपने पिता के पास आया और पिताजी से दुखी होकर बोला—"पूज्य पिताजी! मुझे पूर्ण शिक्षा दिये बिना ही आपने यह कहकर कि मैंने तुझे सम्पूर्ण शिक्षा दे दी है मेरा समावर्तन संस्कार क्यों कर दिया?"

पिता ने कहा—"बात क्या है? मैंने तो तुझे अपनी बुद्धि के अनुसार पूर्ण रूप से शिक्षा दे ही दी थी।"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! मैं इस पांचाल देश के राजा प्रवाहण की समिति में गया था। उन्होंने मुझसे पाँच प्रश्न किये थे। उनमें से मैं एक का भी उत्तर न दे सका। तब क्षत्रबन्धु उस राजा ने हँसकर मुझसे कहा—"तुम तो कहते थे मेरे पिता ने मुझे पूर्ण शिक्षा दे दी है, जब तुम इन महत्व पूर्ण पाँच प्रश्नों का ही उत्तर नहीं दे सकते तो क्यों कहते हो मुझे पूर्ण शिक्षा दी गयी है।"

पिता ने पूछा—"तुमसे राजा प्रवाहण ने कौन-कौन से पाँच प्रश्न पूछे थे?"

श्वेतकेतु ने कहा—"राजा ने पहिला प्रश्न तो मुझसे यह पूछा था कि (१) इस लोक से प्रजाजन कहाँ जाते हैं। (२) दूसरा प्रश्न यह पूछा कि फिर प्रजाजन लौटकर इस मर्त्यलोक में कैसे आते हैं। (३) तीसरा प्रश्न यह पूछा कि देवयान और पितृयान

इन दोनों मार्गों का विलग होने का स्थान कौन-सा है। (४) चौथा प्रश्न उन्होंने यह पूछा कि इतने लोगों के नित्य मरने पर भी यह पितृलोक भरता क्यों नहीं है। और (५) पाँचवाँ प्रश्न यह पूछा कि पाँचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर आप (सोम घृतादि रस) पुरुष संज्ञा को कैसे प्राप्त होते हैं।"

ये ही उनके पाँच प्रश्न थे। इनमें से मैं एक का भी उत्तर न दे सका, क्योंकि आप ने इनके सम्बन्ध की मुझे कुछ शिक्षा ही नहीं दी थी। उस क्षत्रियबन्धु ने हँसते-हँसते मुझे पराभूत कर दिया।

इस पर महर्षि आरुणि ने कहा—"तुमने आकर जो मुझे ये पाँच प्रश्न बताये हैं, वास्तव में मैं भी उनमें से एक का भी उत्तर नहीं जानता। जब मैं स्वयं ही नहीं जानता, तो तुम्हें बताता कैसे? यदि मुझे इनका उत्तर ज्ञात होता तो तुम तो मेरे औरस पुत्र हो, प्रिय शिष्य हो, भला तुम्हें मैं क्यों न बताता? चलो, हम पिता पुत्र दोनों ही चलकर उस राजा से ही नम्रतापूर्वक इन प्रश्नों का उत्तर पूछें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब पुत्र को लिये हुए पिता जैसे प्रवाहण राजा के यहाँ जायेंगे और उनमें इन प्रश्नों का उत्तर लेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

देवयान अरु पितरयान बिलगाई कहाँ पै।
पितर लोक क्यों भरै नहीं नर जाइँ जहाँ पै॥
पंचम आहुति हुते आप कस पुरुष संज्ञ है।
पाँच प्रश्न जब करे कुमर 'ना' करी अज्ञ है॥
कहै प्रवाहण—प्रश्न यदि, पंच न जानो फेरि तुम।
कैसे निज मुख तैं कहो, पितु तैं शिक्षा लई हम॥

प्रश्न पयोधि पार हेतु पिता-पुत्र का प्रवाहण के पास प्रस्थान

[१७२]

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय त ँ होवाच मानुष्यस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति । स होवाच तवैव राजन् मानुष वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्री बभूव ॥*

(छा० उ० ५ अ० ३, ख० ६ म०)

छप्पय

पराभूत ह्वै श्वेत-केतु पुनि पितु ढिँग आयो ।
सकल प्रवाहण वृत्त आदि तैं आइ सुनायो ॥
पितु बोले-जो प्रश्न न उत्तर हौं हू जानूँ ।
पूछे चलिके ताहि नृपति कूँ पंडित मानूँ ॥
पास प्रवाहण पुत्र पितु-गये नृपति आदर करयो ।
दयो लोभ धन नहीं जब-लयो कह्यो चिर इत रहो ॥

---

* पुत्र सहित आरुणि गौतम राजा के निवास पर आये । राजा ने उनकी अतिथि मानकर पूजा की । द्वितीय दिवस गौतम प्रात काल ही राजा की सभा में गये । राजा ने कहा—"भगवन् गौतम ! आप मनुष्य सम्बन्धी धन माँग लीजिये ।" तब ऋषि ने कहा—"मनुष्य सम्बन्धी धन तो आप पर ही रहे । मेरे कुमार से जो आपने पाँच प्रश्न पूछे थे मुझे तो उन्हीं का उत्तर बताइये ।" यह सुनकर राजा संकट में पड़ गया ।

ज्ञान दान सबसे श्रेष्ठ दान है। ज्ञानधन सबसे श्रेष्ठ पात्र है। जिसके पास ज्ञान है, वह आयु में, धन में, कुल में, वर्ण में तथा परम्परा में अपने से कनिष्ट भी हो, तो उसे श्रेष्ठ ही मानना चाहिये और जैसे हो तैसे उससे उस ज्ञान को प्राप्त कर लेना चाहिये। यदि अपावन स्थान में भी सुवर्ण पड़ा हुआ हो तो बुद्धिमान उसे ग्रहण कर ही लेते हैं। जैसे स्त्री रत्न दुष्कुल में भी हो तो उसे पुरुष ग्रहण कर लेते हैं। ये सांसारिक धन तो नाशवान् हैं, क्षणभंगुर हैं, अन्तवन्त हैं। ज्ञानरूप धन अविनाशी है, शाश्वत तथा अनन्त है। अतः ज्ञान प्राप्ति के निमित्त जितनी तपस्या करनी पड़ें। जितने संयम, नियम तथा अनुष्ठानादि करने पड़े, उन सबको करके भी ज्ञानार्जन कर लेना चाहिये। मुमुक्षुओं को ज्ञान प्राप्ति में किसी प्रकार का आलस्य, प्रमाद तथा संकोच नहीं करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्वेतकेतु ने पांचालों की समिति में घटी घटना को अपने पूज्य पिताजी के पास जाकर सुनाया। और वे पाँच प्रश्न भी बताये जिनका उत्तर वे नहीं दे सके। तब पिता ने बड़ी सरलता से परमशालीनता से स्पष्ट यही सत्य बात अपने पुत्र से कह दी—"वत्स! इन प्रश्नों का उत्तर तो मैं भी नहीं जानता। चलो उस राजा से ही चलकर इन प्रश्नों के उत्तर पूछें।"

यद्यपि श्वेतकेतु प्रतीत होता है, अपनी पराजय से क्षुब्ध हो गया था। सभा में तो उसने राजा प्रवाहण को भगवन्-भगवन् करके सम्बोधित किया, किन्तु यहाँ पिता के समीप आकर अपना रोष प्रकट करते हुए राजा को 'राजन्यबन्धु' कहा। राजन्य बन्धु या क्षत्रबन्धु नीच क्षत्रिय को कहते हैं। वास्तव में जो क्षत्रिय न होकर वर्ण संकर हो। क्षत्रियों से केवल उसका ऊपर से

बन्धुत्व का सम्बन्ध हो। जैसे स्त्री, शूद्र और द्विजबन्धु इन तीन का श्रुति का अनधिकारी माना है। द्विजबन्धु का अर्थ है नीच द्विज—संस्कार हीन, संकरता दोष से युक्त द्विजातिगण। यही अर्थ राजन्यबन्धु या क्षत्रबन्धु का है। किन्तु उसके पिता बुद्धिमान थे मुमुक्षु थे, ज्ञानार्जन में उनकी रुचि थी। पुत्र के रोषपूर्ण वचनों पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। उन्होंने पुत्र से यहां कहा—"चलो, उन राजर्षि प्रवाहण से ही चल कर इन प्रश्नों का उत्तर पूछें।"

जब पिता स्वयं ही उस व्यक्ति के पास जिज्ञासु बनकर जाने को उद्यत हैं, जिसने मुझे पराजित कर दिया है। तब पुत्र क्या करता। पिता के साथ वह भी पाञ्चाल देश की राजधानी कापिल्य की ओर चल दिया। पिता पुत्र दोनों ही राजा प्रवाहण के महलों में पहुँचे। आरुणि ऋषि को अपने यहाँ आया देखकर राजा प्रवाहण अपने आसन पर से उठकर खड़े हो गये। शास्त्रीय विधि से राजा ने दोनों पिता तथा पुत्र की पूजा की। दोनों ने ही शास्त्रीय विधि से राजा की पूजा को स्वीकार किया।

रात्रि हो चुकी थी, अतः राजा ने कहा—"भगवन्! आप दूर से आये हैं, थक गये होंगे। रात्रि में भोजन करके सुखपूर्वक विश्राम करें। कल बातें होंगी।"

मुनि ने राजा की बात मानकर भोजन करके अतिथिशाला में सुखपूर्वक शयन किया। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही, मुनि अपने नित्यकर्मों से निवृत्त होकर उस समय राजा की सभा में गये, जिस समय राजा राजपरिषद् में पहुँच चुके थे। अपनी सभा में ऋषि के पहुँचने पर राजा ने उनका अभिनन्दन किया।

पहिले राजाओं की सभाओं में सदा धर्मचर्चा ही हुआ करती थी। दूर-दूर से ब्राह्मण नाना कामनाओं की पूर्ति के

निमित्त राजसभाओं में राजाओं से याचना करने आया करते थे और धर्मप्राण राजागण यथाशक्ति यथासामर्थ्य उनकी इच्छाओं की पूर्ति किया करते थे।

राजा प्रवाहण ने भी शिष्टाचार के रूप में पूछा—"ब्रह्मन्! आपने कैसे कृपा की? केवल मुझे आशीर्वाद देने के ही निमित्त आप पधारे हैं, या कोई आपका और कार्य है। कोई कार्य हो तो उसे बिना संकोच के मुझसे कहें।"

महामुनि आरुणि ने कहा—"राजन्! मैं कुछ इच्छा लेकर आप से याचना करने आया हूँ।"

राजा ने बड़े उत्साह के साथ कहा—'कहिये-कहिये, आप मुझे आज्ञा दीजिये। आप मुझसे ग्राम, धन, धान्य वाहन जो भी चाहें माँगे। मेरा सर्वस्व ब्राह्मणों के ही लिये है। आप मनुष्य सम्बन्धी जो भी भोग पदार्थ धन चाहें मुझसे माँग लें।"

मुनि ने कहा—"राजन्! मैं मनुष्य सम्बन्धी धन माँगने आपके पास नहीं आया हूँ। ये मनुष्य सम्बन्धी धन आपके ही पास रहें।"

राजा ने कहा—"तब आप क्या चाहते हैं?"

मुनि ने कहा—"राजन्! यह मेरा पुत्र श्वेतकेतु है, यह आपकी सभा में आया था। इससे आपने ५ प्रश्न पूछे थे। उन प्रश्नों का उत्तर यह नहीं दे सका। इसने जाकर ये ही प्रश्न मुझसे पूछे। मैं भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता था। अतः हम उन्हीं प्रश्नों के उत्तर की जिज्ञासा से आपके समीप आये हैं। कृपा करके जो प्रश्न आपने इससे पूछे थे उन्हीं का उत्तर मुझे बताइये।"

राजा ने सोचा—"ब्राह्मण ने तो बहुत बड़ी वस्तु माँग ली। अब इस इतने बड़े ज्ञान को सहसा इन ब्राह्मण को कैसे दूँ।

अपात्र को दी हुई वस्तु व्यर्थ हो जाती है। और पात्रता की परीक्षा चिरकाल तक समीप मे रहने से ही होती है। अतः न्यून से न्यून एक वर्ष पर्यन्त जो समीप न रहे, उसे ज्ञानदान नहीं करना चाहिये। यही सब सोचकर राजा ने मुनि को उत्तर दिया।"

राजा ने कहा—'ब्रह्मन्! आप सर्वविद्या सम्पन्न सब वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। मैं द्वितीय वर्ण का क्षत्रिय हूँ। तथापि यह विद्या पूर्वकाल मे ब्राह्मणो के पास नहीं थी। क्षत्रीय ही इस विद्या के आचार्य थे और सुपात्र योग्य क्षत्रियो को ही यह प्रदान की जाती थी। राजर्षियो मे ही यह विद्या प्रचलित थी। ब्राह्मणों ने न इनकी जिज्ञासा की न उन्हें यह प्राप्त हुई। आप पहिले ब्राह्मण हैं। जिन्होंने क्षत्रिय के समीप आकर इस विद्या की जिज्ञासा की है। किन्तु ब्रह्मन्! मुझे क्षमा करें विद्या का नियमानुसार ही उपदेश करने का विधान है। आप यहाँ जिज्ञासु भाव से मेरे समीप चिरकाल तक निवास करें। फिर मैं यथा समय आपको इसका उपदेश करूँगा।"

महामुनि आरुणि ने कहा—"अच्छी बात है राजन्! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। आपके अनुशासन में रहकर जब तक आप कहेंगे, तब तक यहाँ निवास करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर मुनि राजा के समीप पाञ्चाल देश की राजधानी कापिल्य मे निवास करने लगे।"

महामुनि को सच्चा जिज्ञासु समझकर एक दिन राजा ने कहा—"मुनिवर मैंने आपके पुत्र से ५ प्रश्न पूछे थे। उनमें पहिला प्रश्न तो यह था कि १. इस लोक से प्रजाजन कहाँ जाते हैं? दूसरा प्रश्न था, २. प्रजाजन फिर लौटकर यहाँ कैसे आते

हैं ? तीसरा प्रश्न था ३. देवयान और पितृयान मार्ग कहाँ जाकर विलग होते हैं। चौथा प्रश्न था ४. इतने लोगों के नित्य मरने पर भी पितृलोक भरता क्यों नहीं ? और पाँचवाँ प्रश्न था ५. पाँचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर आप (सोमघृतादि रस) पुरुष संज्ञा को कैसे प्राप्त होते हैं ? सो पहिले मैं आपको पाँचवें प्रश्न का ही उत्तर दूँगा, क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर समझ लेने पर अन्य प्रश्नों को समझने में आपको सुविधा होगी।"

महामुनि आरुणि ने कहा—"राजन् ! आप जैसे भी उचित समझें वैसे ही करें। अच्छी बात है पहिले आप मुझे पाँचवें प्रश्न का ही उत्तर दें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब राजा प्रवाहण जैसे पाँचवे प्रश्न का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

विप्रनि पै यह नहीं सु-विद्या कह्यो प्रवाहन ।
स्वर्गलोक ही अगिनि समिध आदित्य सु-पावन ॥
किरन धूम, दिन ज्वाल चन्द्र अङ्गार कहावें ।
विस्फुलिङ्ग नक्षत्र अगिनि सुर हवन करावें ॥
स्वर्ग अगिनि आहुति दिये, सोमराज प्रकटित भयहु ।
उत्तर पंचम प्रश्न को, भू रूपा अगिनिहिं सुनहु ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
तृतीय खंड समाप्त ।

—:—:—

प्रवाहण द्वारा अपने पूछे प्रश्नों में से सर्वप्रथम पञ्चम प्रश्न का उत्तर

[१७३]

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो-
धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥*
(छा० उ० ५ प्र० ४ ख० १ प०)

छप्पय

स्वरग अगिनि सुर करें हवन श्रद्धा आहुति दै ।
सोमराज उत्पन्न प्रथम आहुति साई है ॥
कही अगिनि पर्जन्य वाय सामधा धुम अभ्रहु ।
विद्युत् ज्वाला वज्र-अंगारे गर्ज चिनगारिहु ॥
करें हवन सुर सोम का, सोम कही आहुति द्वितिय ।
भूमि अगिनि सवत् समिध, नभ धूँआ ज्वाला निशिहि ॥

जैसे सविधि किया हुआ यज्ञ ही परलोक सम्बन्धी अदृष्ट बनाने मे समर्थ होता है, वसे ही शास्त्रीय विधि से किये हुए गर्भाधान

---

* राजा प्रवाहण सवप्रथम पचम प्रश्न का उत्तर दते हुए कह रहे हैं—"हे गौतम गोत्रीय आरुणिजी ! द्यु अर्थात् स्वग ही अग्नि है । सूय उसकी समिधा हैं, उस सूय की किरण ही मानों धूँआ हैं । दिवस उस अग्नि की ज्वाला हैं । चन्द्रमा उस जली समिधा क अगारे हैं, और नक्षत्र ही उस जलती अग्नि म स उडती हुई चिनगारियाँ हैं ।"

संस्कार द्वारा ही संस्कारी–मोक्ष की अधिकारिणी–संतान उत्पन्न होती है। अतः माता-पिता को शास्त्रीय विधि जानकर शास्त्रीय नियमानुसार गर्भाधान करना चाहिये। जैसे विधिहीन सामग्री अग्नि में जला देने से पुण्यकर्मों का अदृष्ट उत्पन्न नहीं होता, वह पदार्थ व्यर्थ ही जाते हैं। वैसे ही पशु पक्षियों की भाँति काम वासना की तृप्ति हेतु जो संगम करते हैं, उनकी सन्तानें पशु पक्षियों की भाँति मुक्ति की अनधिकारिणी होती हैं। उनमें और पशुओं में कोई भी अन्तर नहीं होता। जैसे पशु-पक्षी बद्धजीव हैं बिना साधन किये कर्मानुसार उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, वैसे ही मनुष्य योनि के वे बद्धजीव भी जन्मते मरते रहते हैं।

सब जीवों में चार इच्छाएँ स्वाभाविक रहती हैं। एक तो जीवित रहने की इच्छा, दूसरी आहार ग्रहण करने की इच्छा, तीसरी सोने की इच्छा और चौथी मिथुन होने की इच्छा। ये इच्छायें जीवमात्र में स्वाभाविक होती हैं,। मुमुक्षु जीवों में एक संसार चक्र से मुक्त होने की इच्छा विशेष रहती है। अतः वह सभी कर्मों को करता तो है किन्तु उन्हें कुशलता पूर्वक करता है। कुशलता पूर्वक किये हुए कर्म ही योग कहलाते हैं। अतः वह योगयुक्त होकर कर्म करता है।

दृष्टान्त के लिये सन्तानोत्पत्ति को ही ले लो। पशु-पक्षी या अज्ञ पुरुष स्वाभाविकी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर मिथुन भाव को प्राप्त हो जाते हैं। उसके परिणाम स्वरूप संसारी कर्मों में आसक्त अज्ञानी सन्तान की ही उत्पत्ति होती है। कोई कारक पुरुष या भगवत् अनुग्रह प्राप्त पुरुष तो स्वेच्छानुसार किसी भी योनि को निमित्त बनाकर प्रकट हो जाता है। उनकी बात तो छोड़ दीजिये वे तो अपवाद हैं। नहीं तो बद्ध जीवों की सन्तानें भी प्रायः बद्ध ही होती हैं और मुमुक्षु पुरुषों की सन्तानें मुमुक्षु होती हैं।

हमारे यहाँ शास्त्रों में मैथुन केवल रति सुख के ही निमित्त नहीं है। वह धर्म है, उसकी शास्त्रों में विधियाँ हैं। उसका आचरण धर्म समझकर नियमानुर विधिवत् होना चाहिये। जैसे धर्मशास्त्र का गृहस्थ धर्माश्रयी पुरुष को आज्ञा है ऋतुकाल में ही अपनी भार्या में ही अवश्य गमन करना चाहिये (ऋतौभार्यामुपेयात्) इसमे तीन शब्द हैं। ऋतुकाल मे-अपनी ही भार्या में-गमन करना चाहिये।

माताओं को जो मासिकधर्म होता है। उसे ही ऋतुकाल कहते हैं। वह ऋतुकाल जिस दिन से स्राव आरम्भ हो १६ दिन का माना गया है। प्रथम के चार दिन जिनमे स्राव होता है। गर्भाधान के लिये सर्वथा निषिद्ध हैं। उनमें जो भार्या में गमन करता है वह महापातकी माना जाता है। अतः १६ दिनों मे से चार दिन तो ये निकल गये। अब रहे बारह दिन इनमें ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ भी निषिद्ध हैं। अतः दश रात्रियाँ ही प्रशस्त हैं। इन दश रात्रियों मे भी श्राद्ध का दिवस, एकादशी, अमावस्या पूर्णिमा, अष्टमी और चतुर्दशी तथा विशिष्ट पर्व के दिन वर्जित हैं। इन सबको बचाकर धर्म भावना से केवल अपनी धर्मपत्नी ही मे गमन करना चाहिये।

धर्मपत्नी का अर्थ है, धर्मपूर्वक शास्त्रीय विधि से जिससे विधिवत् विवाह हुआ हो। (पत्यः=यज्ञे सम्बन्धो यस्या सा पत्नी) पत्युर्नोयज्ञ संयोगे। जिसका सम्बन्ध यज्ञ में हुआ हो और जिसके साथ मिलकर धार्मिक कृत्य यज्ञादि किये जायँ। उसे अर्धाङ्गिनी भी कहते हैं। पुरुष के शरीर का पत्नी आधा भाग मानी जाती है। पत्नी संयोग से ही पुरुष पूर्णाङ्ग होता है। यज्ञ में विधिवत् उसका मंत्रों द्वारा पाणिग्रहण किया जाता है, इसलिये पाणिग्रहीता कहते हैं। धर्म कार्यों में वह सदा साथ रहती है इसी

लिये वह सहधर्मिणी कहाती है। पति उसका सदा भरण-पोषण करने को बाध्य होता है इसलिये वह भार्या कहाती है। पति अपने वीर्य रूप से उसके उदर में वास करके उत्पन्न होता है इसलिये उसकी जाया संज्ञा है। वह अपने माता-पिता, भाई-बन्धुओं को छोड़कर पति के साथ चली आती है। इसलिये उसका नाम दारा भी है (दारयति ज्ञाति बन्धून् = इति = दारा) घर की स्वामिनी होने से वह गृहिणी कहाती है। वह सन्तानों की जननी है इसलिये उसे जनी कहते हैं। ऐसी धर्मचारिणी धर्मपत्नी में धर्मपूर्वक सन्तानोत्पत्ति करने का शास्त्रीय विधान है। स्मृतियों में दाम्पत्य सम्बन्ध के बहुत से विधान हैं। अपनी धर्म-पत्नी भी हो, और वह सोलह वर्ष की न हो, तथा पति की अवस्था २५ वर्ष की न हो तो भी गर्भाधान करना अनुत्तम माना गया है। अल्पावस्था का बालक दुर्बल तथा अल्पजीवी होता है। संगम गर्भाधान रात्रि में ही प्रशस्त माना गया है। दिवा मैथुन घोर पाप कहा गया है।

वीर्य को आप संज्ञा है। जल ही वीर्य है। अग्नि में आहुति देने पर ही अदृष्ट बनता है। यज्ञ से ही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति बतायी है। प्रजापति ने यज्ञ सहित ही प्रजा की सृष्टि की है। यज्ञ में इतनी वस्तुएँ प्रधान रूप से होती हैं। एक तो यज्ञ जिसमें किया जाता है वह कुंड होता है। एक करने वाला यजमान, जो आहुति देता है, जिस समिधा से अग्नि प्रज्वलित होती है, वह समिधा। समिधा को अग्नि में डालने पर धूँआ होता है, फिर निर्धूम होने पर अग्नि की ज्वाला उठती है, ज्वाला उठने पर समिधा के अंगारे-जलते हुए कोयले हो जाते हैं, अग्नि में से चिनगारियाँ निकलती हैं, फिर यजमान उसमें हवन करता है। शाकल्य की आहुति देता है। उस आहुति से अदृष्ट-पुण्यकर्म

की उत्पत्ति होती है। प्रवाहण का पाँचवाँ प्रश्न यही था, कि पचम आहुति में आपकी पुरुष संज्ञा कैसे हो जाती है ? इस एक ही प्रश्न में मनुष्य की उत्पत्ति का सम्पूर्ण रहस्य छिपा हुआ है। चार आहुतियों तक तो उनकी आप (जल) संज्ञा ही रहती है। पचम आहुति में वह आप–जल–अथवा वीर्य–पुरुष कैसे बन जाता है। अतः पाँचों आहुतियों की अग्नि, समिधा, धूम, ज्वाला, और विस्फुलिंगों का पृथक्-पृथक् वर्णन करके हवन करने वाले यजमानों का तथा उसमें दी जाने वाली आहुतियों का वर्णन करके किस आहुति से कौन-सी वस्तु उत्पन्न होती है। उस वस्तु की पुनः आहुति देने पर कौन-सी वस्तु होती है और पंचम आहुति में आपकी पुरुष संज्ञा कैसे हो जाती है, इस अपने ही प्रश्न का राजर्षि प्रवाहण गौतम गोत्रीय महर्षि आरुणि उद्दालक के प्रति उत्तर दे रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। पंचम प्रश्न मनुष्य कैसे उत्पन्न होता है इस विषय का है। अग्निहोत्री जो प्रातःकाल और सायंकाल नित्य हवन करता है, उसकी वे आहुतियाँ एक अपूर्व फल का निर्माण करती हैं। पहिले तो इसी विषय को समझ लेना चाहिये। आहुतियों के सम्बन्ध में ६ बातें जाननी चाहिये। यहाँ से उन आहुतियों का उत्क्रमण कैसे होता है। उनकी गति कैसे है, उनकी प्रतिष्ठा कहाँ है। उनसे तृप्ति कैसे होती है, फिर कर्ता की पुनरावृत्ति कैसे होती है, तब लोकों के प्रति उत्थान कैसे होता है। ये ६ बातें पहिले समझ ली जायँ, तब इस प्रश्न के उत्तर को समझने में सुविधा होगी। अग्निहोत्री द्वारा अग्नि में आहुतियाँ दी जाने पर अन्त में वे आहुतियाँ अपूर्व का निर्माण करके ऊपर की ओर उत्क्रमण करती हुई। अर्थात् अन्तरिक्ष में ऊपर की ओर धूँआ बनकर जाती हुई अन्तरिक्ष में पहुँचती हैं। फिर वहाँ उनकी

गति यह होती है अन्तरिक्ष को आहवनीय अग्नि बनाकर वायु को समिधा बनाकर सूर्य की किरण उन्हें शुक्ल बनाती हुई वहाँ प्रतिष्ठित होती हैं। इससे अन्तरिक्ष लोक तृप्त होता है। अर्थात् अन्तरिक्ष लोक में स्थित अग्निहोत्र करने वाले यजमान को फलोन्मुख करती हैं। जब यजमान उनके सहारे द्युलोक में-स्वर्ग में उत्क्रमण करता है। स्वर्गीय सुखों को उन आहुतियों के ही द्वारा भोगता है। वे आहुतियाँ स्वर्गस्थ यजमान को भोगों द्वारा परितृप्त करती हैं। जब भोग समाप्त हो जाते हैं, पुण्य क्षय होने पर इस भूलोक में उसका पुनरावर्तन होता है। वह जल बनकर ओषधियों में प्रवेश करता है उन ओषधियों को पुरुष खाते हैं, उनका वीर्य बनता है। स्त्रियों की रज बनती है स्त्री पुरुष के सहवास से वह स्त्री के उदर में वास करके कर्मानुष्ठान में समर्थ देह की प्राप्ति कराती है। वह जल रूप वीर्य ही पुरुष बनकर पुनः शुभ कर्मों का अनुष्ठान करके स्वर्ग को प्राप्त करता है। यह लौकिक आहुतियों का क्रम हुआ।"

अब ये पाँच आहुति बताते हैं। इनमें चार आहुतियाँ तो आप या श्रद्धा कहलाती हैं। उन आहुति के कारक ६ हैं। अग्नि, समिधा, धूम, ज्वाला, अङ्गार तथा विस्फुलिङ्ग। इनमें से चार आहुतियों की आप संज्ञा है और पाँचवीं आप होने पर भी पुरुष संज्ञक हो जाती है। इसी का वर्णन भगवती श्रुति करते हुए कहती है। ऊपर से नीचे को कैसे आते हैं, इसी का वर्णन करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! महाराज राजर्षि प्रवाहण गौतम गोत्रीय आरुणि महर्षि से कह रहे हैं—"हे गौतम गोत्रीय मुनिवर स्वर्गलोक ही अग्नि है। उस अग्नि की समिधा सूर्य हैं, सूर्य की किरणें ही मानों धूँआ है। उस निर्धूम हुई अग्नि से उठने

वाली ज्वाला ही मानो दिवस है। चन्द्रमा मानों अङ्गार है और नक्षत्र ही मानो विस्फुलिङ्ग–चिनगारियाँ–हैं। इस स्वर्गलोक अग्नि में देवतागण श्रद्धा का–आपका–हवन करते हैं। इस श्रद्धा की प्रथम आहुति से सोम राजा की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार श्रद्धापूर्वक हवन करने पर सोमराज प्रकट हुए। यह सोमराज द्वितीय आहुति हैं। अब देवताओं ने पर्जन्य–जिसके द्वारा वृष्टि वृष्टि होती है। वृष्टि के अभिमानी देवता–को अग्नि बनाया। उसकी समिधा वायु को बनाया। अभ्र–बादल–में धूम की कल्पना की। विद्युत् को ज्वाला माना। वज्र को अङ्गार बताया, गर्जना को चिनगारियाँ–विस्फुलिङ्ग–कहा। उस अग्नि में राजा सोम का ही हवन किया। इससे वर्षा उत्पन्न हुई यह वर्षा तीसरी आहुति है। एक आहुति तो स्वर्ग में हुई। दूसरी अन्तरिक्ष में हुई। अब तीसरी चौथी और पाँचवीं आहुतियाँ पृथ्वी पर होंगी क्योंकि वर्षा अन्तरिक्ष से पृथ्वी पर ही होती है।"

अतः देवताओं ने पृथ्वी को ही अग्नि बनाया। वर्ष या सम्वत्सर ही उस पृथ्वी की समिधा है। आकाश ही धूम है। रात्रि उस निर्धूम अग्नि की ज्वाला है। दिशायें ही अङ्गारे हैं। तथा अवान्तर–उप-दिशायें–ही चिनगारियाँ हैं उस पृथ्वी रूपा अग्नि में वर्षा रूपी आहुति का हवन किया इससे अन्न की उत्पत्ति हुई। यही अन्न चौथी आहुति है। अन्न से ही पुरुष की उत्पत्ति है। अतः देवताओं ने पुरुष को अग्नि बनाया। वाणी को समिधा। प्राण ही मानो धूम है। लाल रंग की जिह्वा ही मानो उस अग्नि की लपलपाती ज्वाला है। चक्षु ही अङ्गारे हैं और श्रोत्रेन्द्रिय ही मानो चिनगारियाँ हैं। उस पुरुष रूप अग्नि में देवताओं ने अन्न की ही आहुति दी उससे वीर्य रूप में मानो पाँचवीं आहुति उत्पन्न हुई।

अब उस वीर्य का सेचन स्त्री रूपा क्षेत्र में किया जाता है। इसलिये देवताओं ने स्त्री को ही अग्नि माना उसमें समिधा स्थानीय उपस्थ की कल्पना की। उपमन्त्रण ही मानों धूम्र है। प्रजनन-स्थली ही ज्वाला है। अन्तःपरिसर्पण ही अङ्गारे हैं। रतिसुख ही मानों विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ हैं। देवताओं ने उस नारी रूपा अग्नि में वीर्य की ही आहुति दी। उससे गर्भ उत्पन्न हुआ। श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न और वीर्य ये पाँच आहुतियाँ जलरूपा ही हैं। इनमें जल की प्रधानता होने से इन पाँचों की आप संज्ञा है। पाँचवीं जो वीर्य रूपा आहुति है वह स्त्री के उदर में जाकर गर्भ रूप में परिणित होकर पुरुष वाचक बन गया। उस वीर्य ने पुरुष रूप कैसे धारण किया, इसे बताते हैं। पहिले यह वीर्य मातृ-उदर में पहुँचकर शनैः-शनैः कड़ा और स्थूल होता हुआ जरायु या गर्भ की झिल्ली से आवृत हुआ। वह माता के उदर में नौ दश या जब तक पूर्णाङ्ग न हुआ तब तक माता के उदर में सोता रहा। समय आने पर वह माता के उदर से बाहर आया, और जितनी दैव ने उसकी आयु निश्चित की थी, उतने दिनों यहाँ पृथ्वी पर जीवित रहकर कर्म करता रहा। आयु शेष हो जाने पर कर्मानुसार पर-लोक को प्रस्थित हुआ। वह अग्नि से ही उत्पन्न हुआ था। अग्नि से ही नीचे आया था अतः उसे अग्नि में ही ले जाते हैं। जिन पाँच अग्नियों के क्रम से आया था उसी के अनुसार कर्मवश वह पुनः चला जाता है जहाँ से पुरुष आता है वहीं चला जाता है।

राजर्षि प्रवाहण महामुनि आरुणि से कह रहे हैं—"मुनिवर! यह मैंने आपको सुविधा के लिये सर्वप्रथम पाँचवें प्रश्न का उत्तर दिया। आप समझ गये न?"

महामुनि उद्दालक आरुणि ने कहा—"हाँ भगवन्! समझ गया।"

तब राजा प्रवाहण ने कहा—"अब मैं प्रथम प्रश्न का उत्तर देता हूं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियों! अब कैसे राजा प्रवाहण प्रथम प्रश्न का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

दिशि अङ्गारे विस्फुलिंग उपदिशि बतलाई।
वर्षा सुर करि हवन अन्न तातैं उपजाई॥
वर्षा आहुति तृतिय पुरुष ही अगिनि कहावै।
वाक् समिध है धूम प्राण जिभ ज्वाल कहावै॥
चक्षु अगारे श्रोत्र हू, विस्फुलिंग तिहि अगिनि सुर।
अन्न होमि वीरज करें, आहुति चौथी अन्न वर॥
नारि अगिनि है तासु उपस्थहु समिध सहारे।
तिहिकी ज्वाला योनि प्रविस भीतर अगारे॥
विस्फुलिंग सुख कह्यो हवन वीरज करि सुरगन।
तातैं होवै गरभ वीर्य आहुति पचम तन॥
आप वीर्य आहुति पँचम, पुरुष मास दस प्रकट अहिँ।
निज आयुष जीवै मरै, अग्नि भयो प्रविसे तहहिँ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पंचम अध्याय में चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम खण्ड समाप्त।

—::—

प्रवाहण के प्रथम द्वितीय और तृतीय प्रश्नों का उन्हीं के द्वारा उत्तर

[१७४]

तद्य इत्थं विदुः । ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान्षडुदङ्ङेति मासा ँ स्तान् ॥❀

(छा० उ० ५ अ० १० खं १ म०)

छप्पय

प्रथम द्वितीय अरु तृतीय प्रश्न को उत्तर मुनिवर ।
सुनो, वास वन करें तपस्या श्रद्धायुत नर ॥
अर्चिमार्ग ते जाइँ अर्चि तैं दिन अभिमानी ।
शुक्लपक्ष पुनि अयन हु संवत् रवि राशि मानी ॥
राशि तैं विद्युत करे नर, प्राप्त अमानव ब्रह्मकूँ ।
देवयान यह मार्ग है, सुनहु यान अब पितृकूँ ॥

❀ जो इस भाँति इस विषय के जानकार हैं और जो अरण्यवास करते हुए श्रद्धा और तपस्या द्वारा उपासना करते हैं, वे अन्त में देवयान मार्ग द्वारा जाते हैं । पहिले वे अर्चि अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं । अर्चिषभिमानी देवताओं से फिर दिवस अभिमानी, फिर शुक्ल पक्षाभिमानी फिर उत्तरायणाभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं ।

ऋषिकुमार श्वेतकेतु जब पाचालो की समिति में पहुंचे, तो राजर्षि प्रवाहण ने उनसे पाँच प्रश्न पूछे। उनमे से पाँचवे प्रश्न का तो पीछे उन्हीं के द्वारा उत्तर मिल चुका। अब शेष चार रहे। उनमे से पहिला प्रश्न था प्रजा कहाँ जाती है। दूसरा था फिर इस लोक में कैसे आती है। तीसरा था देवयान और पितृयान ये दोनो मार्ग एक दूसरे से विलग कहाँ होते हैं। इन तीनो प्रश्नों का परस्पर मे घनिष्ट सम्बन्ध है। सबसे पहिले देवयान और पितृयान इन दोनो मार्गों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिये। फिर समझना चाहिये कहाँ से लोग आते हैं। तो या तो आने वाले लोग पितृयान से गये हुए ही यहाँ आते हैं। किस क्रम से आते हैं, इसे तभी बताया जायगा, जब पहिले दोनों यानों का-मार्गों का जिन पर चलकर यात्री जाता है-उसका ज्ञान हो। और यहाँ से फिर जाता कैसे हैं, इसके लिये भी देवयान, पितृयान का ज्ञान आवश्यक है। अब फिर तीसरे प्रश्न का उत्तर होगा, कि ये दोनों मार्ग एक साथ जाकर विगल किस स्थान पर होते हैं। तब दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया जा सकेगा कि लोग आते कहाँ से हैं। इसलिये पहिले प्रथम प्रश्न का उत्तर है इसी मे तृतीय प्रश्न के कुछ अश का उत्तर आ जाता है और फिर तृतीय प्रश्न का पूरा उत्तर होकर द्वितीय प्रश्न का उत्तर होता है। पाठक इस विषय को ध्यान से समझें।

सामान्यतया आश्रमी दो प्रकार के होते थे, एक तो ग्राम्यवासी दूसरे वनवासी। ग्राम्यवासी तो गृहस्थी होते हैं, जो अपने ससारी समस्त व्यवहारो को करते हुए, अपने कुटुम्ब परिवार के साथ व्यवहार करते हुए भी अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों को करते रहते हैं। ये धर्मपरायण वैदिक कर्मकाड मे रत गृहस्थी स्वर्ग से आगे नहीं बढ़ सकते। वे स्वर्ग जायँगे, पितृलोकों में निवास

करेंगे, फिर भूमि पर आवेंगे फिर शुभकर्म करेंगे फिर मरेंगे, फिर आवेंगे। इस प्रकार उनका आवागमन पुनः-पुनः लगा ही रहेगा।

दूसरे आश्रमी वनवासी होते हैं। उनमें आचार्य महर्षिगण (सद्गृहस्थ आचार्य) नैष्ठिक ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी और संन्यासी और वानप्रस्थ ये चार होते हैं।

अरण्यवासी आचार्य महर्षिगण यद्यपि प्रजावान् होते हैं, अग्निहोत्रादि देव, पितर और ऋषियों के निमित्त कर्म भी करते हैं, फिर भी वे ज्ञान द्वारा स्वर्गलोक से ऊँचे लोक महर्लोक तथा जन लोकादि लोकों को प्राप्त होते हैं, जिन्हें अपुनरावृत्ति लोक कहते हैं। ब्रह्मचारियों में भी दो प्रकार के ब्रह्मचारी होते हैं। एक तो विद्यार्थी ब्रह्मचारी—अथवा उपकुर्वाण ब्रह्मचारी दूसरे नैष्ठिक ब्रह्मचारी या ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी। यद्यपि समावर्तन संस्कार से पूर्व दोनों ही एक से अरण्यवासी ब्रह्मचारी ही होते हैं। दोनों ही गुरुकुल में पढ़ते समय अरण्य में वास करते हैं। किन्तु उपकुर्वाण ब्रह्मचारी—जो पढ़कर विवाह करके ग्राम में निवास करेगा, उसका अरण्यवास नैमित्तिक है। वह विद्या पढ़ने के निमित्त कारण विशेष से वन में वास करता है। उसका मन तो ग्राम में ही लगा रहता है कब विद्या समाप्त हो और कब मैं समावर्तन करके गृहस्थी बनूँ। तो ऐसा ब्रह्मचारी वन में वास करता हुआ भी ग्राम्यवासी ही कहा जायगा। क्योंकि प्रजावान् होना चाहता है, और महर्षिगण यद्यपि देखने में प्रजावान् हैं, वन में वास करने पर भी उनके सन्तानें हैं, किन्तु उनमें ज्ञान की प्रधानता है इसलिये वे प्रजावान् होकर भी त्रिलोकी को पार करके अपुनरावृत्ति लोकों को प्राप्त कर लेते हैं। वैसे सामान्य नियम तो यही है, कि संतान की इच्छा वाले श्मशान को—पुनरावृत्ति लोकों को—प्राप्त होते हैं। ज्ञानी पुरुष जो अप्रजावान् हैं। सन्तान की

इच्छा नहीं करते वे अमरत्त्व को प्राप्त होते हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि देवयान मार्ग से जाने वाले साधक यहाँ लौटकर नहीं आते और पितृयान मार्ग से जाने वाले पुनः यहीं लौटकर आ जाते हैं। ज्ञान कर्म के बिना केवल अरण्यवास से भी कोई देवयान मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे दस्यु, कोल-भील-सिंह व्याघ्रादि वन में ही वास करते हैं, किन्तु ज्ञानकर्म से रहित होने से न उन्हें देवयान ही प्राप्त होता है, न पितृयान ही। ये दोनों मार्ग तो शास्त्रीय कर्म करने वाले ज्ञानवान् अरण्यवासी तथा ग्राम्यवासी आश्रमी ही प्राप्त कर सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजर्षि प्रवाहण का पहिला प्रश्न था 'इस लोक से परे प्रजा कहाँ जाती है।' इस प्रश्न का उत्तर देने के निमित्त दो प्रकार के—अरण्यवासी तथा ग्राम्यवासी—आश्रमियों का वर्णन करते हुए, पहिले अरण्यवासी—नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा सन्यासियों—के सम्बन्ध में बताते हैं। जो इस प्रकार जानने वाले हैं—इस अग्नि विद्या के ज्ञाता हैं, ऐसे वन में रहकर श्रद्धा और तपस्या द्वारा शास्त्रीय विधि से उपासना करते हैं। ऐसे त्यागी वनवासी उपासक इस शरीर के अन्त हो जाने पर सब से प्रथम अग्नि शिखा के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। क्योंकि उन्होंने संसारी भोगों की इच्छा किये बिना अव्यग्र-भाव से अग्नि की आराधना की थी। अतः वे दीप्तिमार्ग के अधिकारी होते हैं। अग्नि की शिखा के अभिमानी देवता जहाँ तक उनकी सीमा होती है, वहाँ तक उस वन में रहने वाले उपासक को ले जाते हैं। फिर दिन के अभिमानी देवताओं की सीमा आ जाती है, वहाँ आकर वे अर्चि अभिमानी देवता उसे दिवसाभिमानी देवताओं को सौंप देते हैं। दिवसाभिमानी देवता उसे अपनी सीमा के अन्त तक पहुँचा देते हैं, वहाँ शुक्ल पक्ष के

अभिमानी देवताओं को उसे सौंपकर वे लौट आते हैं। शुल्कप-
क्षाभिमानी देवता वहाँ से उसे ऊपर ले जाते हैं। अपनी सीमा
तक पहुँचाकर वहाँ उत्तरायणाभिमानी देवताओं को उसे सौंपकर
लौट आते हैं। फिर वे जिन ६ महीनों में सूर्य उत्तर की ओर
जाता है उनके अभिमानी देवता उसे अपनी सीमा तक ले जाकर
संवत्सराभिमानी देवताओं को सौंप आते हैं। वहाँ से वे संवत्-
सराभिमानी देवता उसे आदित्य लोक में पहुँचा देते हैं। आदित्य
लोक से फिर वह चन्द्रलोक को प्राप्त होता है, चन्द्रलोक से
विद्युत्लोक को प्राप्त करता है। विद्युत्लोक तक तो त्रिलोक हैं।
इसके अनन्तर फिर एक अमानव पुरुष उसे ब्रह्मा को प्राप्त करा
देता है। इसे देवयान मार्ग, अर्चिमार्ग या दीप्ति मार्ग कहते हैं।
इस मार्ग से जाने वाला साधक फिर लौटकर इस जगत् में नहीं
आता।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह राजर्षि प्रवाहण के
पहिले प्रश्न का और तृतीय प्रश्न का आधा-आधा उत्तर है।
क्योंकि तीसरा प्रश्न था 'देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग दोनों
मार्ग एक दूसरे से विलग किस स्थान पर होते हैं। इस प्रश्न के
लिये देवयान और पितृयान—दीप्ति मार्ग और धूममार्ग—अर्चिमार्ग
और तमोमार्ग—इन दोनों ही मार्गों का परिचय आवश्यक है।
अतः देवयान या अर्चि-दीप्ति-मार्ग का परिचय तो करा चुके अब
पितृयान या धूम्र मार्ग का परिचय कराते हैं।"

जो अप्रजावान्-अरण्यवासी अग्नि सेवी साधक न होकर
प्रजावान—गृहस्थ—ग्राम्यवासी—साधक हैं। जो काम्यकर्मों में
शास्त्रीय विधि से लगे रहते हैं। वे पितृयान मार्ग से जाते हैं।
अर्थात् पहिला प्रश्न था इस लोक से पुरुष कहाँ जाते हैं। तो बता
दिया—एक तो देवयान मार्ग से जाकर अन्त में ब्रह्म को प्राप्त

करते हैं, दूसरे पितृयान से जाकर स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं। पितृयान मार्ग से कैसे जाते हैं और देवयान और पितृयान मार्ग कहाँ से पृथक्-पृथक् होते हैं। इसे ही बताना है।

जो ग्राम्य मे वास करने वाले प्रजावान् गृहस्थ हैं वे शास्त्रीय विधि से काम्यकर्मों में लगे रहते हैं। शास्त्रानुसार काम्यकर्म तीन प्रकार के होते हैं। (१)—इष्ट, (२)—पूर्त और (३)—दत्त इष्टकर्मों के ६ भेद हैं। ६ प्रकार के कर्म इष्टकर्म कहलाते हैं। (१) अग्निहोत्र करना (२) शास्त्रीय विधि से तपस्या करना। (३) सत्य भाषण करना, (४) वेदाध्ययन करना, (५) घर पर आये अतिथियों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना और (६) नित्य बलिवैश्व देवयज्ञ करना। इन ६ का नाम इष्टकर्म है। अब पूर्त-कर्म बताते हैं—बावडी, पुष्करिणी, धर्मशाला, देव मंदिर, सभा भवन, पाठशाला, औषधालय आदि बनवा देना, फल फूल वाले बाग-बगीचा लगवा देना। अन्नक्षेत्र लगाना अर्थात् परोपकार सम्बन्धी कार्यों मे धन व्यय करना तथा पतितों का उद्धार करने के कर्मों को करना इन सबकी पूर्त सज्ञा है। यदि ये पूर्तकर्म सकामभाव से किये जायँ तो इनसे स्वर्ग मिलता है निष्कामभाव से किये जायं, तो इनसे मोक्ष तक की भी प्राप्ति होती है।

अब तीसरा कर्म दत्त है—दत्त कहते हैं दान को। यज्ञों में जो ब्राह्मणों को धन दिया जाता है, उसकी दान संज्ञा नहीं है। उसे तो दक्षिणा कहते हैं। वह तो एक प्रकार से सम्मान और उदारता सहित पारिश्रमिक है। दान तो उसे कहते हैं, जो अपने न्याय से उपार्जित धन को अथवा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं को बिना किसी उपकार की भावना से सत्पात्र को—क्लेश में पड़े वेदज्ञ ब्राह्मण को—श्रद्धापूर्वक दिया जाय। वही दान है। यह दान जिस कामना से दिया जाता है उस कामना की पूर्ति होती है और स्वर्ग

को प्राप्त कराता है, यही दान निष्कामभाव से किया जाय तो मोक्ष प्राप्त करा सकता है।

जो सद्गृहस्थ इष्ट, पूर्त और इन कर्मों को काम्यभाव से करते हुए उपासना करते हैं ऐसे उपासक सर्वप्रथम धूमाभिमानी देवताओं को प्राप्त करते हैं। धूमाभिमानी देवता अपनी सीमा तक पहुँचाकर उन्हें रात्रि-अभिमानी देवताओं को सौंप आते हैं। वे निशाभिमानी देवता उन्हें पक्षाभिमानी देवताओं तक पहुँचा देते हैं, फिर पक्षाभिमानी देवता उन्हें दक्षिणायनाभिमानी देवताओं को सौंप आते हैं। जिन ६ महीनों में सूर्य दक्षिण मार्ग से जाते हैं। उन्हें दक्षिणायन कहते हैं। अब यहां से इन्हें सम्वत्सराभिमानी देवताओं को प्राप्त करना चाहिये, सो ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते। जैसे देवयान वाले उत्तरायणाभिमानी देवों को प्राप्त हुए। नियमानुसार उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों ही संवत्सर के अवयव हैं, किन्तु इस पितृयान का मार्ग यहीं से बदल जाता है, पितृयान वाले दक्षिणायन से सीधे पितृलोक को चले जाते हैं, फिर पितृलोक से आकाश को। आकाश से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा सोम है अर्थात् देवताओं का अन्न है। देवता इसी सोम का पान करते हैं। इसी का भक्षण करके देवता अपना निर्वाह करते हैं। वे पितृयान वाले साधक स्वर्ग में देवताओं के उपभोग्य होकर वहां के पदार्थों का उपभोग करते हुए अपने पुण्य कर्मों का फल भोगते रहते हैं। देवयान वाला साधक भी चन्द्रलोक में आता है और पितृयान वाला साधक भी चन्द्रलोक में आता है। किन्तु देवयान मार्ग वाला चन्द्रलोक से-स्वर्ग से विद्युतलोक होता हुआ अमानव पुरुष द्वारा ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है और पितृयान वाला स्वर्ग

का स्वर्ग में ही रह जाता है। स्वर्ग से दोनों का मार्ग विलग हो जाता है। यह तीसरे प्रश्न का उत्तर हुआ।

अब बीच में दूसरा प्रश्न रह ही गया कि जीव इस लोक में कैसे आता है ?"

शौनकजी ने पूछा—"आकाश से वह साधक चन्द्रमा को प्राप्त होता है और चन्द्रमा राजा सोम है, वह देवताओं का अन्न है, देवता लोग उस अन्न का भक्षण करते हैं। इसका अर्थ क्या हुआ ?"

"क्या देवता उस पितृयान वाले उपासक को खा जाते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! 'अन्न' शब्द का अर्थ खाने वाली वस्तु ही नहीं है। यहाँ अन्न शब्द से सेवा की उपकरण वस्तु से है। जैसे अप्सरायें देवताओं का अन्न हैं तो देवता अप्सराओं को खाते थोड़े ही हैं। उनके सुख की साधिकायें हैं।

शौनकजी ने पूछा—"जब वे स्वयं दूसरों के सुख के साधक हैं, तो उन्हें क्या सुख मिलता होगा ?"

सूतजी ने कहा—"क्यों भगवन् अप्सरायें देवताओं का अन्न हैं, सुख का साधन हैं, तो क्या अप्सराओं को स्वर्गीय सुख प्राप्त नहीं होता। वे सजती-बजती हैं, अनुलेपन लगाती हैं, दिव्य मालायें धारण करती हैं, शृङ्गार करती हैं, नाचती गाती हैं। इन कार्यों से उन्हें भी सुख होता है और देवताओं के भी सुखोपभोग का कारण बनती हैं। इसी प्रकार चन्द्रलोक में वे साधक धूमादि मार्ग से जाकर देवताओं के सुख के उपकरण बनकर स्वयं भी वहाँ के सुखों का उपभोग करते हैं।"

शौनक जी ने कहा—"वे कब तक स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"तब तक करते हैं जब तक उनके पुण्य

कर्मों का फल समाप्त नहीं हो जाता। पुण्य कर्मों का फल समाप्त होते ही वे इस लोक में आ जाते हैं।"

शौनक जी ने पूछा—"वे फिर इस लोक में कैसे आते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यही तो राजर्षि प्रवाहण का द्वितीय प्रश्न था, इसका उत्तर देते हुए प्रवाहण आरुणि ऋषि से कह रहे हैं—"मुनिवर! धूममार्ग से चन्द्रलोक-स्वर्ग-में गये उपासक पुण्य कर्मों का क्षय होने तक वहाँ के सुखों का उपभोग करते हैं फिर जिस मार्ग से गये थे उसी मार्ग से पृथ्वी पर लौट आते हैं।"

मरने पर उसके शरीर को अग्नि में जला देते हैं। अग्निहोत्र के पुण्य धूम के साथ जलीय तत्व उस यजमान को अच्छादित करके ऊपर की ओर जिस क्रम को पीछे बता आये है, उस क्रम से ऊपर की ओर जाकर चंद्र मंडल में पहुँच जाते हैं। उस सूक्ष्मजलीय तत्व रूप शरीर से यहाँ पृथ्वी पर जो उनसे इष्ट, पूर्त तथा दत्त शुभ कर्म किये थे। उनके फलों को भोगने के अनन्तर-पुण्य शेष होने पर-वे जलीय शरीर द्वारा पहिले आकाश में आते हैं, आकाश से फिर वायु को प्राप्त होते हैं। वायु से फिर धूम को प्राप्त होते हैं। और धूम से अभ्र-बादल-जल भरण मात्र रूप-हो जाता है। उस बादल या अभ्र से वह जल रूप से मेघ को प्राप्त होता है। फिर मेघ अन्तरिक्ष से-पृथ्वी पर-बरसता हैं। तब वह जीव पृथ्वी पर धान, जौ, अन्य ओषधि, वनस्पति, तिल तथा उड़द आदि रूप से उत्पन्न होता है। अर्थात् अन्न बनकर पैदा होता है। उस अन्न को जीव खाते हैं। उसे जो-जो जीव खाते हैं, उन सब का अन्न से वीर्य बनता है। उस खाये अन्न से जिस-जिस जीव ने उसे खाया है उस जीव का उसके गुण कर्मानुसार वैसा ही वीर्य बन जाता है। उस वीर्य का वह स्त्री में सेचन करता है,

उससे उसकी आकृति के ही अनुरूप जीव उत्पन्न हो जाता है। उन उत्पन्न होने वाले जीवों में जो अच्छे आचरण वाले होते हैं, वे तो कर्मानुसार उत्तम योनि में जन्म लेते हैं, कोई ब्राह्मण योनि मे जन्म लेता है। कोई क्षत्रिय योनि में उत्पन्न होता है और कोई वैश्य योनि को प्राप्त होता है। जो अशुभ आचरण करने वाले होते हैं, वे तत्काल अशुभ योनि को ही प्राप्त कर लेते हैं। कोई कुत्ता योनि को प्राप्त हो जाता है, कोई शूकर बन जाता है, मनुष्य योनि भी प्राप्त हो, तो श्वपच चांडालादि योनि को प्राप्त करता है।

शौनकजी ने पूछा—"जो लोग वेद सम्बन्धी शुभ कर्मों को करते नहीं हैं, केवल विषय भोगो मे ही रत रहते हैं वे धूममार्ग से जाते या दीप्ति मार्ग से ?"

सूतजी ने कहा "वे इन दोनो मार्गों मे से किसी मार्ग में नहीं जाते हैं। वे नरकों मे पाप कर्मों का फल भोगकर अन्न को प्राप्त करके नीच योनि के पुरुषों का अन्न होते हैं और नीच योनि में जन्म लेकर दुःख भोगते रहते हैं।"

शौनक जी ने कहा—"जब पितृयान मार्ग के धर्मात्मा साधक भी लौटकर अन्न ही होकर उत्पन्न होते हैं और पाप कर्म वाले भी अन्न बनकर पाप योनि मे उत्पन्न होते हैं, तो दोनों को जन्म लेने में समान दुःख ही हुआ।"

सूतजी ने कहा—"जन्म लेने का दुःख तो समान ही है, किन्तु उसमे कुछ अन्तर होता है। जैसे किसी व्रण का चिकित्सक शल्य कर्म करते हैं। तो एक तो अचेतन करने की ओषधि सुँघाकर शल्य स्थल को जड़वत बनाकर शल्य कर्म किया जाय, तो जिस का शल्य कर्म किया गया है, उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता। दूसरा बिना अचेतन किये हुए शल्य कर्म किया जाय, तो उसे

महान् कष्ट होता है, रोता चिल्लाता है। ऐसा ही अन्तर पुण्यात्मा और पापियों के जन्म लेने में है। धूममार्ग से लौटनेवाले पुण्यात्मा पुरुष तो लौटते समय अचेतन बने रहते हैं, उन्हें लौटने से जन्म लेने तक अचेतन रहने से कष्टानुभूति नहीं होती और पापी पुरुषों को नरक से लौटने से लेकर जन्मपर्यन्त पग-पग पर क्लेशों की अनुभूति होती है। अतः जीव पितृलोक से या नरक लोक से क्रमशः लौटकर इस पृथ्वी पर आता है, यही दूसरे प्रश्न का उत्तर है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजर्षि प्रवाहण द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्नों में से उन्हीं के द्वारा पाँचवें, प्रथम, द्वितीय तथा तीसरे चार प्रश्नों का उत्तर दिया जा चुका, अब जो चौथा यह प्रश्न है कि यह पितृलोक भरता क्यों नहीं? इसी का उत्तर शेष रह गया, सो इसका उत्तर जो प्रवाहण राजा ने दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इस अत्यन्त उपयोगी प्रश्न के उत्तर को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे और इस पर मनन करेंगे।"

छप्पय

गृही ग्राम बसि करें दत्त अरु इष्ट पूर्त सब।
ग्राम धूम कूँ होहिँ निशा पनि कृष्ण पक्ष तब॥
दक्षिण अयनहिँ जाइँ नहीं सम्वत्सर जावें।
पितृलोक नभ फेरि चन्द्र सोमहिँ सुर पावें॥
पुण्य कर्म क्षय होत ही, फेरि ताहि कम आत है।
नभ में नभ तें वायु में, धूम अभ्र बनि जात है॥

अभ फेरि बनि मेघ जीव बरसा सँग बरसें।
जो तिल ओषधि अन्न बनें मरि प्रानी हरषें॥
दुख प्रद है निष्फल अन्न कूँ जो जो खावें।
ता आकृति के जीव करम शुभ अशुभ बनावें॥
शुभ तें द्विजपन अशुभ तें, शूकर श्वान चँडाल बनि।
आइ करम फल भोगि कें, पुनि पुनि जनमें मरहिं पुनि॥

—:—

प्रवाहण के चतुर्थ प्रश्न का उन्हीं के द्वारा उत्तर

[१७५]

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥*

(छा० उ० ५ प्र० १० खं० १० मं०)

छप्पय

उभय मार्ग नहिं जाइँ मरे जीवें फिरि आवें।
ताते नहिं परलोक भरे यों वेद बतावें॥
घृणा जगत तें करै पाँच नग पतित सु-नामी।
कनक चोर, मद पिये और गुरुनारी गामी॥
द्विजघाती इनि संग-कर, पाँच महापापी कहे।
प्रायश्चित इनिको कठिन, पाप लगै इनि संग रहे॥

---

* ब्रह्म हत्यारा, सुरापी, सुवर्ण चोर गुरु स्त्री गामी और इनका संसर्गी ये महापातकी हैं, इन पांचों से संसर्ग रखने वाला भी पतित हो जाता है। किन्तु जो इन पांच प्रश्न रूप पंचाग्नियों को जानता है, वह इन महापातकियों के संसर्ग में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता। वह शुद्ध पावन और पुण्यलोक भागी होता है। जो इसे जानता है जो इस प्रकार जानता है।

हम देखते हैं, कितना भी बड़ा गड्ढा क्यों न हो, शनैः-शनै-भरते-भरते एक दिन वह भर जाता है, किन्तु यह पेट का गड्ढा ऐसा है कि इसमें जीवन भर आटा, दाल, चावल, साग, भाजी, कन्द, मूल, फल, जल, दूध, दही, घृत, चीनी, डालते रहो यह भरता नहीं। क्यों नहीं भरता ? इसलिये कि बनाने वाले ने ऐसा युक्तियुक्त प्रबन्ध कर दिया है, कि आय के समान ही निकासी की भी व्यवस्था प्रथम से ही कर दी है। प्रातःकाल इस गड्ढे को कसकर भर दो, सायकाल तक पुनः रिक्त का रिक्त। यह कभी पूर्ण भर जाने का नाम ही नहीं लेता।

इसी प्रकार समुद्र में सभी ओर से बड़े वेग से बड़े-बड़े भारी-भारी नदी नद उमड़ते हुए, उफनते हुए आकर मिलते हैं। ऐसा लगता है, कि इन नदी नदों के निरन्तर आते हुए प्रबल वेग से समुद्र उफन कर जगत् की प्रलय कर डालेगा। क्योंकि ये नदियाँ जब अपनी प्रबल बाढ़ से उफनती हुई आती हैं तो सहस्रों लाखों ग्राम तथा नगरों को नष्ट करती हुई आती हैं। ऐसी अनन्त नदियों का जल निरन्तर ही समुद्र में गिरता रहता है, किन्तु समुद्र इतने पर भी अपनी मर्यादा का परित्याग नहीं करता। वह धीर गम्भीर वैसे का वैसा ही बना रहता है। उफनती हुई नदियाँ समुद्र में मिलकर शान्त गम्भीर बन जाती हैं। वे अपने नाम रूप को खोकर समुद्र में आत्मसात् हो जाती हैं। निरन्तर इतनी नदियों का जल भरते रहने पर भी समुद्र भरता क्यों नहीं ?

इसलिये कि समुद्र के बनाने वाले चतुर चितेरे ने पहिले से ही नियमित स्थान पर बड़वानल को लाकर बिठा दिया है। उस स्थान से ऊपर जितना भी जल आ जाता है। बड़वानल उस सब को पीकर पचाती जाती है। इसीलिये समुद्र कभी भरता नहीं।

अपने स्थान से अधिक उफनता नहीं, अपनी मर्यादा से बाहर जाता नहीं।

इन सभी लोकों के रचने वाले ने चन्द्र, सूर्य, वायु, समुद्र, स्वर्ग तथा नरकादि लोकों की ऐसी मर्यादा बाँध रखी है, कि सब अपनी मर्यादा के भीतर ही क्रियाशील रहते हैं। इस मर्यादा पुरुषोत्तम की तनिक सी भ्रु कुटि वक्र होते ही सभी थर-थर काँपने लगते हैं कैसा है वह चतुर चितेरा, कैसा है वह परम प्रवीण प्रबन्धक, कैसा है वह नियमनियामक निरीक्षक, कैसा है, वह नयनाभिराम नेता उसी के संकेत पर नरपाल, भूपाल, दिग्पाल, लोकपाल तथा ब्रह्माण्डपाल सबके सब नाच रहे हैं। उस भूमा पुरुष के पाद पद्मों में हमारा पुनः-पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजर्षि प्रवाहण ने अपने ही द्वारा पूछे हुए पाँच प्रश्नों में से प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा पंचम इन चारों का उत्तर दे दिया, अब यह एक चौथा प्रश्न रह गया, कि यह पितृलोक (नित्य इतने पुरुषों के मरने पर भी) भरता क्यों नहीं? अब इसी अपने प्रश्न का वे अपने आप ही उत्तर देते हैं।"

राजर्षि प्रवाहण महर्षि आरुणि से कह रहे हैं—"मुनिवर! अब मैं चतुर्थ प्रश्न का आपको उत्तर देता हूँ। देवयान वाले उपासक तो क्रमशः ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं और वे प्रायः यहाँ लौटकर नहीं आते। किन्तु जो पितृयान मार्ग के उपासक हैं वे क्रमशः स्वर्ग लोक जाते हैं, वहाँ अपने कृत पुण्य कर्मों का फल भोग अन्त में पुनः इस लोक में आ जाते हैं। साधकों की ये ही दो गतियाँ हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जो उपासक न तो

सम्बन्धी उपासना करते हैं और न देवयान सम्बन्धी उपासना करते हैं, ऐसे साधकों की कौन सी गति होती है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! राजर्षि प्रवाहण इसी का तो चतुर्थ प्रश्न में उत्तर दे रहे हैं। उनका कहना है जो न पितृयान के अधिकारी हैं और न देवयान के। ऐसे जीव इन दोनों मार्गों मे से किसी भी एक मार्ग द्वारा नहीं जाते। वे प्राणी कर्मानुसार बारम्बार क्षुद्र, अति क्षुद्र योनियों में जन्मते और मरते रहते हैं, यही उनका तृतीय स्थान है। जब वे किसी स्थान पर स्थायी नहीं रहते, गये और तुरन्त आ गये। मर गये पुनः उत्पन्न हो गये। पितृलोक में पहुँचते ही तुरन्त उन्हें दूसरी योनियों में डाल दिया गया। इस प्रकार जब वहाँ से प्राणी आते भी रहते हैं और जाते भी रहते हैं। इसी कारण से पितृलोक भरता नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार राजर्षि प्रवाहण ने अपने ही प्रश्नों का स्वयं ही उत्तर देते हुए कहा—"मुनिवर ! मैंने यह पञ्चाग्नि विद्या आपसे कही। (१) द्युलोक, (२) पर्जन्य, (३) पृथ्वी, (४) पुरुष और (५) स्त्री ये पाँच अग्नि हैं। इन पाँच अग्नियों के यथार्थ रहस्य को जानने वाला पुरुष घोर से घोर पाप कर्मों से छूट जाता है। संसार मे पाँच महापातक हैं, उनके करने वाले महापापी कहे जाते हैं। शास्त्रों में इन महापातकों से छुटकारा पाने के प्रायश्चित नहीं हैं। हैं भी तो अत्यन्त कठिन। किन्तु जो इस पंचाग्नि विद्या के रहस्य को जान लेता है। वह इन महापातकों से भी सहज में ही छूट जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पाँच महापातक कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवती श्रुति ने स्वयं ही इन महापातकों को बताया है (१) पहिला महापापकी तो है हिरण्-

स्तेयी -अर्थात् सुवर्ण चुराने वाला (२) दूसरा महापातकी है सुरापी-अर्थात् द्विज होकर सुरापन करने वाला। (३) तीसरा महापातकी है गुरु स्त्री गामी अर्थात् वर्ण में, सम्बन्ध में अपने से जो श्रेष्ठ हैं, उनकी पत्नी के साथ सहवास करने वाला। (४) चौथा महापातकी ब्रह्म हत्यारा अर्थात् समस्त वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण को मार देने वाला और (५) इन चारों के साथ खाने, पीने, सोने तथा सम्बन्ध आदि अन्य संसर्ग करने वाला इनके ही सदृश पंचम महापातकी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सुवर्ण चोर से क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"सुवर्ण को चुराने वाला-जैसे सुवर्णकार आदि-महापातकी तो होते ही हैं। सुवर्ण के ही समान चाँदी, ताँबा आदि धातुओं को चुराने वाला, अन्न, फल तथा असहाय पुरुषों की जीवकोपयोगी अन्य उपकरणों को भी चुराने वाला-जिन वस्तुओं की चोरी हो जाने पर परिवार के लोग भूखों मरने लगें-उन सबके चुराने का पाप भी सुवर्ण की चोरी के ही सदृश माना जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सुरापान से अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! सुरा पीना सबसे बड़ा पाप है। सुरा, मदिरा मद्य तथा माध्वी आदि मदिरा के सैकड़ों नाम हैं। गौड़ी, पैष्ठी; तथा माध्वी साधारणतया तीन प्रकार की मदिरा होती है। गुड़ से बनायी जाने वाली गौड़ी, जौ आदि अन्नों की पीठी से बनाई जाने वाली पैष्ठी तथा महुआ आदि के पुष्पों से फलों से बनायी जाने वाली माध्वी सुरा कहलाती है। वैसे महुआ, कटहल, अंगूर, दाख, खजूर, ताल, ईख, शहद, मधूक, नारियल गुड़ सभी वस्तुओं से सुरा बनायी जाती है। द्विजाति यदि भूल से भी मदिरा का पान कर ले तो उसे गरम-गरम दूध,

पीकर प्राणांत करने का ही प्रायश्चित बताया है। दही गुड़ शहद मिलाकर ताम्र पात्र में पीना ये सब भी सुरापान के सदृश ही हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म हत्या से अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्राह्मण का वध कर देना ही ब्रह्मवध है। इन्द्र ने वृत्रासुर ब्राह्मण का वध किया था इससे उसके पीछे ब्रह्महत्या-चांडाली का रूप रखकर-लग गयी थी। शास्त्रों में ब्रह्महत्या का स्त्रीरूप में वर्णन किया है। जैसे मासिक धर्म से युक्त स्त्री अस्पर्शा होती है वैसा ही रूप ब्रह्महत्या का बताया है। वह लाल कपड़े पहिने रहती है, वृद्धा के वेष में बाल बखेरे, सात तालों की बराबर लम्बी बड़े-बड़े हल की फार की भाँति भयानक उसके दाँत होते हैं, बड़ी भयंकरा और भयदायिनी होती है, ब्रह्म हत्यारे के पीछे-पीछे लगी रहती है, हाथ में खड्ग लिये हुए दया से रहित होकर ब्रह्महत्या करने वालों को भयभीत करती रहती है।

अपने गुरुजनों का अपमान करने वाला, पञ्चदेवों में भेद बुद्धि रखने वाला, और भी ऐसे अनेक पातक हैं जो ब्रह्महत्या के सादृश माने जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"गुरु स्त्री गामी से तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"मन्त्र देने वाला, दीक्षा देने वाला, ज्ञान प्रदान करने वाला। ये सब तो गुरु हैं ही। इनके अतिरिक्त पिता, श्वसुर, बड़े भाई, मामा, मौसा, फूफा, चाचा, ताऊ, कुल पुरोहित राजा अपने से वर्ण में अवस्था में, ज्ञान में, सम्बन्ध में, जो भी बड़े हों सबकी गुरु संज्ञा है। उनकी जो पत्नियाँ हैं उन सब को माता के समान माने, इनके साथ जो धर्म विरुद्ध आचरण करता है। वह भी महापातकी माना जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"संसर्गी को महापातकी क्यों माना है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! गुण और दोष तो संसर्ग से ही आते हैं। जो पापियों के साथ एक पंक्ति में बैठकर, उनके साथ एक पात्र में खाते हैं, एक शैया पर सोते हैं। उनके वस्त्र, आभूषण उपानह आदि को धारण करते हैं, तो उनके संसर्ग से संसर्गी भी महापापी ही बन जाता है। इसलिये इन महापातकियों से सदा सर्वदा दूर ही रहना चाहिये।"

इतना सब होने पर भी ज्ञान रूप अग्नि समस्त पापों को उसी प्रकार शीघ्र ही भस्म कर देती है। जैसे सूखे ईंधन को अग्नि भस्म कर देती है। इसलिये जिसने सम्यक् प्रकार से पीछे कही हुई पंचाग्नियों का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वैसा ज्ञानी पुरुष यदि इन पाँचों महापातकियों का साथ भी करता है, इनसे संसर्ग भी रखता है, तो उसे कुछ भी पाप नहीं लगता। उसे पातक स्पर्श भी नहीं करते। वह किसी भी प्रकार पापों से लिप्त नहीं हो सकता, वह सदा सर्वदा शुद्ध और पावन ही बना रहेगा। वह पवित्र पुरुष पुण्यश्लोक ही कहलाता रहेगा। जो इस विद्या को इस प्रकार जानता है। भली प्रकार से जानता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! यह मैंने राजर्षि प्रवाहण द्वारा पाँच प्रश्नों के रूप में पंचाग्नि विद्या कही अब आगे प्राचीन शाल आदि राजा जैसे अश्वपति राजर्षि के पास गये और उनसे वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न किया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पंचाग्निहु सम पाँच प्रश्न इनि सब जो जानत।
पापिनि हू करि संग लिप्त निज कूँ नहिं मानत॥
जानि पाँच हू प्रश्न शुद्ध पावन नर होवै।
पुण्यलोक अधिकार पाइ कल्मष सब धोवै॥
नृपति प्रवाहण प्रश्न निज, उत्तर मुनिवर तैं कहे।
पढ़ें सुनें जे प्रेम तैं, शेष कृत्य तिनि नहिं रहे॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
दशम खण्ड समाप्त।

वैश्वानर विद्या के निमित्त ऋषियों का अश्वपति राजा के समीप गमन

[१७६]

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीम
मात्मानं वैश्वानरमध्येति त ँ हन्ताभ्या-
गच्छामेति त ँ हाभ्याजग्मुः॥❀
(छा० उ० ५ प्र० ११ खं ४ मं०)

छप्पय

सत्ययज्ञ, प्राचीन शाल, जन, इन्द्र द्युम्न मुनि।
बुडिल, पाँच ऋषि मिले परम श्रोत्रिय ऋषि गुनसुनि॥
कौन आतमा भल, कहा यों कहैं परस्पर।
उद्दालक ऋषि पास गये पूछन वैश्वानर॥
उद्दालक अलपज्ञ' निज, जानि सबनि तैं कहहिँ तब।
केकय-सुत नृप अश्वपति, ज्ञाता तिहि ढिँग चलहिँ सब॥

❀ आये हुए महर्षियों से महामुनि आरुणि ने कहा—हे भगवत् स्वरूप महानुभावो! केकय देश के राजा के कुमार अश्वपति इस काल में वैश्वानर आत्मा को भली भाँति जानते हैं। मेरी सम्मति है, हम सब मिलकर उन्हीं के समीप चलें। ऐसा निश्चय करके वे सब-के-सब अश्वपति के निकट गये।

हमारे शास्त्रों में वेद, पुराण, उपनिषद्, लोक, परलोक सबके सब नित्य हैं, सनातन हैं। एक परमात्म को छोड़कर सबका कालानुसार आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है। भगवान् का भी अवतार रूप में आविर्भाव तिरोभाव सा होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह वर्तमान सृष्टि है, कालान्तर में यह तिरोहित हो जाती है। फिर ब्रह्मा का प्राकट्य होता है। वे धाता पूर्व सर्गों की ही भाँति पुनः इस जगत् की रचना कर देते हैं। अतः जैसे पसारी रात्रि मे दुकान को बन्द कर देता है, प्रातः होते ही पुनः पूर्ववत् सजा देता है। जिस समय उसने दुकान बन्द की उस समय दुकान की समस्त सामग्रियों को कहीं फेंक नहीं आता। वे विद्यमान रहती हैं। किन्तु ग्राहकों की दृष्टि से ओझल हो जाती हैं। लुप्त हो जाती हैं। वस्तुओं का अदर्शन होना ही लोप कहलाता है। अतः जगत् में कोई वस्तु नयी नहीं होती। हिरफिर कर वे ही वस्तुएँ रूपान्तर होकर आती जाती रहती हैं। इसी न्याय से कर्म, उपासना तथा ज्ञान ये तीनों मार्ग भी सनातन हैं। कभी किसी की बहुलता हो जाती है कभी किसी की। यज्ञादि कर्मकाण्ड भी नित्य हैं और समय-समय पर भगवान् ही अपने श्री अंगों द्वारा यज्ञादि कर्मों का प्रवर्तन करते हैं। जब उनकी इच्छा इन्हे अदर्शन–या लुप्त–करने की होती है, तो स्वयं ही इन्हे लुप्त कर देते हैं।

सकाम यज्ञ-यागादिकों का प्राकट्य कैसे और क्यों हुआ। इस सम्बन्ध की पुराणों मे एक बड़ी ही रोचक कथा है। आदि सत्ययुग मे सभी लोग परम धर्मात्मा होते थे। उस समय वेदों का विस्तार नहीं हुआ था। एक मात्र प्रणव–ओंकार–ही वेद था। समस्त वेदशास्त्र उसी प्रणव के अन्तर्भूत थे। देवता भी तैंतीस कोटि नहीं थे, एक नारायण ही देव थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र ये वर्ण भी चार नहीं थे। एकमात्र हंस नाम का वर्ण था। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय ये तीन अग्नि भी नहीं थीं। एक ही अग्नि थी। पृथ्वी लोक और स्वर्गलोक में भी कोई भेदभाव नहीं था। लोग जब चाहते तभी स्वर्ग चले जाते, जितने दिन चाहते स्वर्ग में रह आते, जब इच्छा होती तब लौटकर आते। स्वर्ग प्राप्ति के लिये किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जिसकी जो इच्छा होती वही अनायास इन्हें प्राप्त कर लेता था। सबको सब वस्तुएँ सहज ही प्राप्त थीं। किसी की किसी प्रकार की उत्कट कामना नहीं होती थी।

यह जगत् परिवर्तनशील है, सदा एक-सी स्थिति में संसार की कोई वस्तु नहीं रहती। उसमें क्षण-क्षण में पल-पल में कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। सत्ययुग के पश्चात् त्रेता आया। अब लोगों के मन में कुछ कामनायें उठने लगी। चन्द्रमा के पुत्र बुध हुए बुध के द्वारा इला के गर्भ से पुरूरवा का जन्म हुआ। पुरूरवा एक तो चन्द्रमा के पुत्र थे, दूसरे उनकी सन्तान संकरी थी, अतः वे कामदेव से भी अधिक सुन्दर थे। इच्छानुसार जब चाहते तब स्वर्ग में चले जाते। स्वर्ग में देवी उर्वशी ने इनको देखा इनके रूप, गुण, शील स्वभाव उदारता तथा धन सम्पत्ति से आकृष्ट होकर वह स्वर्ग की देवाङ्गना होकर भी मर्त्यलोक के राजा के ऊपर आसक्त हो गयी। इधर राजा भी उसके अनवद्य सौंदर्य से आकृष्ट होकर उसकी कामना करने लगे। इस प्रकार कामना ने दोनों के बीच भेदभाव डाल दिया। तभी से काम्य कर्मों के करने का प्रचलन आरम्भ हुआ।

कामना से पुरुष पतित हो जाता है, फिर उस कामना की पूर्ति के लिये प्रयत्न करता है, यही सकाम कर्मों का रहस्य है।

राजा पुरूरवा ने उर्वशी से विवाह तो कर लिया, किन्तु वह विवाह धर्म प्रेरणा से न होकर रूपासक्ति और कामना के वशीभूत होकर असमानता पूर्ण था। उसका जो परिणाम होना था वही हुआ। उर्वशी राजा का परित्याग करके चली गयी। राजा अत्यन्त दुखी हुए, उसे अत्यन्त व्यग्रता के साथ रोते-रोते खोजते फिरे। अन्त मे उर्वशी मिली, उसने कहा—तुम गन्धर्वों की स्तुति-विनय-आराधना करो, वे चाहेंगे, तो मुझे तुमको दे सकते हैं।"

जिसके हृदय मे कामना–आसक्ति–घर कर गयी है, वह उसकी पूर्ति के लिये सब कुछ कर सकता है। राजा ने गन्धर्वों की स्तुति की। गन्धर्वों ने स्तुति से प्रसन्न होकर राजा को अग्नि स्थापन करने की थाली (अग्नि स्थाली) दी। राजा तो उर्वशी के विरह में विक्षिप्त से हो गये थे। उस अग्निस्थाली को ही उर्वशी मानकर घूमते रहे। अन्त मे अग्निस्थाली को वन मे छोड़ घर चले गये।

तभी राजा के हृदय में तीनों वेद प्रकट हुए। तब वे वन में गये जहाँ वह पात्र रखा था वहाँ शमी वृक्ष के गर्भ में एक पीपल का वृक्ष उग आया था। राजा ने उन दोनों के काष्ठ से दो अरणियाँ (मन्थनकाष्ठ) बनाये और नीचे की अरणी में उर्वशी की भावना करके ऊपर की मे अपनी भावना करके उसे मथा उनके मन्थन से जो अग्नि उत्पन्न हुई, उसका नाम उन्होंने 'जातवेदा' रखा। उस अग्नि को उन्होंने आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इन तीन विभागों में बाँट दिया। उस अग्नि में पुरूरवा ने यज्ञपति भगवान् का हवन किया। तभी से त्रयीविद्या, तीन अग्नियों का प्रादुर्भाव हो गया। वासनाओं के कारण अब स्वतः स्वर्ग में जाकर वहाँ से लौटने की शक्ति विलुप्त हो गयी। ये तीनों अग्नियाँ राजा के पुत्र कहलाये। उर्वशी लोक प्राप्ति की

कामना से राजा ने हवन किया, जिससे उन्हें उर्वशी लोक की प्राप्ति हुई।

तभी से लोग स्वर्ग की कामना से यज्ञ यागादि करने लगे। ये वेद त्रिगुणात्मक हैं। वैदिक कर्मकांड यज्ञयागादिकों का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति ही है। कर्मकांडी स्वर्ग से आगे नहीं बढ़ते। वे स्वर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, वे यज्ञादि द्वारा भोग और ऐश्वर्य को ही प्राप्त करना चाहते हैं। मीमांसकों की मोक्ष स्वर्ग ही है। वे स्वर्ग से आगे किसी मोक्ष को नहीं मानते।

पूर्वकाल में जैसे द्विजातियों के लिये शिखा सूत्र अनिवार्य था वैसे ही अग्निहोत्र भी अनिवार्य था। कोई भी द्विजाति ऐसा नहीं होता था, जो अग्निहोत्र न करता हो। सभी अग्नि के उपासक थे और स्वर्ग प्राप्ति ही सत् कर्मों का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। ऐसे कर्मकांड प्रधान काल में भी अरण्यों में ज्ञान की चर्चा होने लगी। कर्मकांड से ऊपर उठकर वनों में ब्राह्मण आत्मा के सम्बन्ध में ऊहापोह करने लगे। इस ज्ञान चर्चा में क्षत्रिय भी ब्राह्मणों से पीछे नहीं रहे। कई विद्याओं को तो ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से ही सीखा। उन्हीं में एक वैश्वानर विद्या है।

वैश्वानर वैसे उस शक्ति का नाम है, जो प्रकाश प्रदान करती है, जगत् में जो सबको प्रकाशित करती है, सबको धारण करती है, समस्त प्राणियों का परिपोषण करती है और खाये हुए को जो पचाती है। विराट् पुरुष का नाम वैश्वानर है। (विश्वश्चासौ नरश्चोति) वैश्वानर अग्नि का भी नाम है, यही अग्नि अपने उपासकों लोकान्तर-स्वर्गादि लोकों को प्राप्त कराती है। अग्नि उपासक ही अग्नि की ज्योति दीप्ति द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं। (विश्वान्=नरान्-इतः लोकात् लोकान्तरं नयति=इति= वैश्वानरः) कहने का तात्पर्य यही है, कि जो हमें सुपथ की ओर

प्रेरित करे। जो स्वर्ग से भी ऊपर हमें उठावे। वह वैश्वानर क्या है ? जो कामनाओं में फँसकर निरन्तर स्वर्ग के ही लिये प्रयत्न करते रहते हैं, वे तो एक प्रकार से अन्धे हैं। कामना के धूम्र से उनकी आँखे बन्द हो गयी हैं, वे स्वर्ग से ऊपर मोक्ष को देख ही नहीं सकते। वे स्वर्ग को ही मोक्ष माने बैठे हैं। जैसे बहुत से अन्धों से हाथी का स्वरूप पूछा, तो जिसने हाथी की सूँड़ पर हाथ फिराया उसने हाथी को केले के खभे की भाँति बताया। जिसने पैर पर हाथ फिराया उसने भवन के खम्भे के सदृश बताया, जिसने कान पर हाथ फेरा उसने सूप के सदृश बताया, जिसने दाँतो पर हाथ फेरा उसने लकड़ी के सदृश बताया। यद्यपि ये सब रूप हैं तो हाथी के ही, किन्तु वे पूर्ण हाथी के नहीं, हाथी के अंगो के ही है। इसी प्रकार वैश्वानर को केवल प्रकाशक ही कहना, केवल, धारणा की ही शक्ति पोषण की शक्ति अथवा पचाने वाली अग्नि कहना उसका पूर्णरूप नहीं। तब जिज्ञासा होती है वैश्वानर है क्या ? इसी बात को समझाने के निमित्त भगवती श्रुति ने एक आख्यायिका के द्वारा इस विषय को स्पष्ट किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्राचीन काल में सज्जन पुरुष परस्पर में बैठकर धर्म सम्बन्धी ही चर्चा किया करते थे। एक बार महर्षि उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, महर्षि पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ महर्षि भल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न, महर्षि शर्कराक्ष के पुत्र जन और महर्षि अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल ये पाँच ऋषि कुमार एक समय किसी एक स्थान पर एकत्रित हुए। ये सबके सब अग्निहोत्र करने वाले, नियम संयम के साथ रहने वाले महाशाल तथा महाश्रोत्रिय थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महाशाल किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जो बड़े परिवार वाले महागृहस्थ

हों। जिनका कुटुम्ब बड़ा हो धनधान्य से युक्त विस्तृत शालायें हों। जो सब प्रकार से सम्पन्न विशाल परिवार वाले गृहस्थ होते हैं, वे ही महाशाल कहलाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"महाश्रोत्रिय किन्हें कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"जो शुद्ध ब्राह्मण पिता से शुद्ध ब्राह्मणी माता में सन्तान होती है, वह जन्मना ब्राह्मण कहलाते हैं। जब उसके मुंडन, कर्णवेध, वेदारम्भ, यज्ञोपवीतादि संस्कार होकर गायत्री मन्त्र की दीक्षा दी जाती है, तो उसकी 'द्विज' संज्ञा हो जाती है। ब्राह्मण संस्कारों के द्वारा ही द्विजत्व को प्राप्त करता है। वही द्विज जब विद्याध्यन करता है, तो उसकी विप्रसंज्ञा हो जाती है। (विशेषेण प्रति=पूरयति-षट्कर्माणि+इति=विप्रः) १-अध्यन, २-अध्यापन, ३-यजन, ४-याजन, ५-दान और ६-प्रतिग्रह ये ही षटकर्म हैं। अर्थात् जो जन्म से तो ब्राह्मण हो, उसके विधिवत् सब संस्कार हुए हों और जिसने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष इन षडङ्गों सहित केवल अपनी ही वेद की एक शाखा को भी विधिवत् पढ़ लिया हो उसे धर्मात्मा द्विज ब्राह्मण की श्रोत्रिय संज्ञा होती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जो जन्मना ब्राह्मण भी नहीं, जिनके विधिवत् संस्कार भी नहीं हुए और जिन्होंने वेद को देखा तक नहीं ऐसे लोग भी अपने नाम के सम्मुख श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ लगाते हैं, यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यह तो अधर्म बहुल कलिकाल का प्रभाव है। छोड़िये ऐसे पापियों की चर्चा। ऐसे पापियों की चर्चा करने से भी पाप लगता है। ऐसे लोग अपने पापों का भोग स्वतः ही करेंगे। यहाँ तो शास्त्रों ने जो श्रोत्रिय का लक्षण बताया है, उसे ही मैं कहता हूँ। हाँ तो ये पाँचों ऋषिकुमार धर्म

परायण सद्गृहस्थ तथा महाश्रोत्रिय चारों वेदों के ज्ञाता थे। जब ये परस्पर मिले, तो सज्जन पुरुष जहाँ मिलते हैं वहाँ ज्ञान ही की चर्चा होती है। इधर-उधर की लौकिक बातें वे नहीं करते। अतः उनमें परमार्थ चर्चा छिड़ गयी। वे परस्पर ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध में विचार करने लगे। प्रश्न यह उठा कि हम जो आत्मा-आत्मा कहते हैं, वह हमारा आत्मा है कौन? और जो हम ब्रह्म-ब्रह्म कहते हैं वह ब्रह्म क्या वस्तु है।"

इस सम्बन्ध में कोई कुछ कहने लगा, कोई कुछ। निर्णय कुछ भी न हो सका। तब उन्होंने विचार किया जो अरुण के पुत्र आरुणिमहर्षि हैं जिसका दूसरा नाम उद्दालक भी है, ये सभी वेदों के ज्ञाता हैं। इन्होंने पांचाल नरेश राजर्षि प्रवाहण से पंचाग्नि विद्या भी प्राप्त कर ली है। वे इस वैश्वानर नामक आत्म विद्या को भी जानते होंगे। अतः हम सब उन्हीं के पास चलें।"

सबने इस प्रस्ताव का अनुमोदन समर्थन किया और सभी मिलकर महर्षि उद्दालक आरुणि के समीप आये। मुनिवर आरुणि वेदों के ज्ञाता थे, किन्तु वैश्वानर विद्या में वे अपने को निष्णात नहीं मानते थे। जब ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ ऋषिकुमार उनके यहाँ पहुँचे, तो इन्होंने इन सबका विधिवत् स्वागत सत्कार किया इनकी पूजा करने के अनन्तर वे जिस काम से आये हैं उनके आन्तरिक भाव को वे जान गये। वे समझ गये ये महागृह-श्रोत्रिय ऋषिकुमार मुझसे वैश्वानर ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रश्न करेंगे। मैं इस विषय को भली-भाँति जानता नहीं। जो विषय को न जानता हुआ भी दूसरों को मिथ्या उपदेश करता है, वह पाप का भागी होता है। अतः मुझे अपनी स्पष्ट स्थिति सम्मुख बिना संकोच के प्रकट कर देनी चाहिये। यही सब सोचकर महर्षि आरुणि उद्दालक ने उनसे कहा—"प्रतीत होता है, आप सब

इतने भारी विद्वान् वेदज्ञ श्रोत्रिय विप्रवर मेरे पास वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के निमित्त पधारे हैं।"

सबने कहा—"हाँ, भगवन्! हम इसी हेतु से आपकी सेवा में समुपस्थित हुए हैं।"

यह सुनकर आरुणि महर्षि ने कहा—"महानुभावो! मैं वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में कुछ-कुछ जानता तो हूँ, किन्तु मैं उसे पूरी तरह बता न सकूँगा। मुझसे भी अधिक इस विद्या के ज्ञाता एक दूसरे महानुभाव हैं। वे तुम्हें इसका भली-भाँति उपदेश कर सकते हैं। आप चाहें तो मैं उन उपदेष्टा का नाम बता दूँ?"

सबने कहा—"हाँ, अवश्य बताइये।"

इस पर महर्षि आरुणि उद्दालक ने कहा—"भगवत् स्वरूप पूजनीय महानुभाव! उन उपदेष्टा का नाम राजर्षि अश्वपति है। वे केकय देश के महाराज के राजकुमार हैं। वे इस वैश्वानर संज्ञक आत्मा के ज्ञाता हैं; वे इस विद्या को भली प्रकार जानते हैं। चलिये; मैं भी आप सबके साथ उनकी सेवा में चलता हूँ। मैं भी आप सबकी कृपा से इस विषय को सम्यक् प्रकार से समझ लूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! ऐसा निश्चय करके पाँच वे ऋषिकुमार और छठे आरुणि उद्दालक महर्षि, छैः के छैः ऊ महाराज अश्वपति की राजधानी की ओर चल दिये और कुछ ही काल में अश्वपति की राजसभा में पहुँच गये।"

एक साथ इतने श्रोत्रिय विद्वान् ऋषियों को अपने यहाँ आया हुआ देखकर राजा अश्वपति परम प्रमुदित हुए। बड़े हर्ष और उल्लास के साथ राजा ने सभी ऋषियों का पृथक्-पृथक् सत्कार किया, उनकी पूजा की। तब राजा ने कहा—"भगवत् स्वरूप

महर्षियों ! आप बहुत दूर से आये होंगे, श्रमित हो गये होंगे, आज विश्राम करें। कल बातें होंगी।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो ! राजर्षि अश्वपति की यह बात सुनकर सभी ऋषिकुमार नित्यकर्मों से निवृत्त होकर प्रसाद पाकर सो गये। अब दूसरे दिन जिस प्रकार इन छैऊ महर्षियों से राजर्षि अश्वपति की जो बातें होंगी, उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इस प्रसंग को दत्तचित्त होकर प्रेमपूर्वक श्रवण करेंगे।"

छप्पय

निश्चय सबने कर्‌यो चलें पुर नृपति अश्वपति।
आवत देखे विप्र भूप मन मुदित भयो अति॥
पृथक पृथक सत्कार कर्‌यो निज भाग्य सराये।
प्रातकाल पुनि गये राज्य निज वृत्त बताये॥
मुनिगण ! मेरे राज्य में, चोर, अदाता, मद्यपी।
परनारी गामी घृनित, मूरख नर नहिँ कदापी॥

अश्वपति और आगत मुनिगण

[१७७]

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्त हैव वदेदात्मान मेवेमं वैश्वानर संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥*

(छां० उ० ५ प्र० ११ ख० ६ मं०)

छप्पय

करनो चाहैं यज्ञ आपु सब विप्र पधारे।
ऋत्विक्-सम धन देउँ, बसें इत यज्ञ हमारे॥
सुनिकें ऋषिगन कहें—नहीं धन सम्पति चाएँ।
आत्मा वैश्वानरहिं आपु हम सबहिं बताएँ॥
प्रातकाल कल हौ कहौ, नृप यों कहि महलनि गये।
द्वितिय दिवस समिधा लिये, ऋषि नृपढिंग पहुँचत भये॥

भारतवर्ष में वर्णाश्रम धर्म का क्षत्रिय राजाओं के काल में ऐसा प्रभाव था, कि चारों वर्णों के लिये सभी कार्यों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था थी। ब्राह्मण बालक का कै वर्ष की आयु में उप-

---

* राजा के धन देने की बात सुनकर ऋषिगण उससे बोले—"राजन्! कोई व्यक्ति कहीं पर किसी के पास जिस प्रयोजन से जाता है, तो जाने वाले को चाहिये कि उससे उसी प्रयोजन को कहे। हम वैश्वानर आत्मा को जानना चाहते हैं, इस समय आप उसके ज्ञाता हैं, अतः आप उसी का वर्णन हमारे सम्मुख करें।"

नयन संस्कार हो, क्षत्रिय का तथा वैश्य का किस आयु मे। ब्राह्मण बालक भिक्षा माँगने में कौन से शब्द कहे, क्षत्रिय तथा वैश्य कौन से ? यहाँ तक नहीं, उनके दण्डों में भी भेद होता था, यहाँ तक कि उनकी दँतौन में भी भेद होता है। ब्राह्मण बारह अंगुल की दँतौन करे, क्षत्रिय दश अंगुल की और वैश्य आठ अंगुल की। सबका वेष भूसा, पहिनाव उढ़ाव पृथक् होता था। उनके वेष से, चाल-ढाल तथा व्यवहार से ही उनके वर्ण का पता चलता था। ब्राह्मण का बालक ८ वर्ष का हो, क्षत्रिय ८० वर्ष का। फिर भी वह वर्ण में श्रेष्ठ होने के कारण ब्राह्मण का अभिवादन करेगा। यहाँ तक कि कुशल क्षेम भी भिन्न-भिन्न वर्णों के व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न प्रकार से पूछी जाती थी। ब्राह्मण से कुशल क्षेम पूछी जाती थी। कहिये आप कुशलपूर्वक हैं न ? कुशल का अर्थ है कुशो को लाने वाला। यज्ञादि मंगल कार्यों में कुशा लायी जाती हैं, उनका प्रयोग होता है। अर्थात् आपके यज्ञयागादि मंगल कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो रहे हैं न ? आपका कल्याण तो है ? कुशल का दूसरा अर्थ है आपके पाप कट रहे हैं न ? (कुं=पापम् तस्मात् शलति=गच्छति=अर्थात्-पृथक्त प्राप्नोति=इतिकुशलं) क्षत्रियों मे अनामय पूछे। अर्थात् आप रोगादि उपद्रवों से रहित तो हैं ? आम-अर्थात् रोगादि उपद्रवों का अभाव तो है ? वैश्यों से क्षेम पूछे। क्षेम का अर्थ भी कुशल मंगल ही है और शूद्र से शरीर सम्बन्धी आरोग्य पूछे। अर्थात् पूछे-तुम्हारा शरीर नीरोग है न ?

पहिले जब राजागण ऋषियों के आश्रमों में जाते थे, तो उनके अग्निहोत्र की, आश्रम के छात्रों की, आश्रम के वृक्षों की, मृगादि पशु-पक्षियों की कुशल पूछते थे। ब्राह्मण लोग राजाओं के यहाँ जाते थे, तो उनकी प्रजा की, धर्म की, सेना, कोश, मन्त्री

तथा अन्य राज्य सम्बन्धी कार्यों की अनामयता के सम्बन्ध में पूछते थे।

साधारण नियम तो यही था, कि उपदेष्टा आचार्य वेदवेत्ता ब्राह्मण ही होते थे। उपदेश देने के वे ही अधिकारी माने जाते थे, किन्तु कहीं-कहीं इसका अपवाद भी देखने में आता था। ब्राह्मण भी नम्रता के साथ समिधा हाथ में लेकर क्षत्रियों का शिष्यत्व स्वीकार करके उनसे शिक्षा लेने जाते थे। इतने पर भी क्षत्रिय उनका आदर करते थे, उन्हें शिष्य न मानकर बन्धु भाव से उपदेश देते थे। कैसी थी वह वर्णाश्रम धर्म की निष्ठा कलि-काल में तो वर्णाश्रम धर्म प्रायः नष्ट से ही हो गये हैं। अब उनकी गाथायें ही कहीं-कहीं अवशिष्ट हैं। घोर कलि आने पर वे गाथायें भी देखने सुनने को उपलब्ध न होंगी ?

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब उपमन्यु सुत प्राचीन-शाल, पुलुष पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवितनय इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष सुत जन, अश्वतराश्व पुत्र बुडिल और अरुण पुत्र आरुणि उद्दालक ये ६ ऋषिकुमार केकयिकुमार महाराज अश्वपति के यहाँ पहुँचे, तो उस दिन तो विशेष बातें नहीं हुईं। दूसरे दिन जब ये श्रोत्रिय ऋषि पहुँचे तो सबने राजा से अनामय सम्बन्धी प्रश्न किये। उन्होंने राजा से पूछा—"राजन् ! आपके राज्य में सब कुशल तो है ? चोर डाकू तथा दस्युओं का उपद्रव तो नहीं ? लोग द्विजों को श्रद्धानुसार दान तो देते हैं न ? कोई द्विजाति के लोग मद्यपान तो नहीं करते ? जो मद्यपी हैं, उन्हें राज्य की ओर से दण्ड तो दिया जाता है न ?

राजा ने कहा—"ब्राह्मणो ! आपके आशीर्वाद से मेरे राज्य में सर्वत्र मंगल है मेरे राज्यभर में एक भी चोर नहीं है, फिर चोरों के उपद्रव का प्रश्न ही नहीं उठता। मेरे राज्य में कोई भी

ऐसा नहीं जो अपनी शक्ति के अनुसार दान न देता हो, मेरे राज्य में अदाता पुरुष खोजने पर भी नहीं मिलेगा। मेरे राज्य भर में मद्य की कोई दुकान ही नहीं। मेरे यहाँ मद्य पीने वाला एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा।"

ऋषियों ने पुनः पूछा—"राजन्! द्विजातिगण आपके राज्य में अग्निहोत्र करते हैं न? लोगों की शिक्षा का राज्य की ओर से समुचित प्रबन्ध है न?

राजा ने कहा—"मुनियो! मेरे राज्य में द्विजों में एक भी आपको ऐसा पुरुष न मिलेगा जो अनाहिताग्नि हो—जो अग्निहोत्र न करता हो। मेरे राज्य में शिक्षा का सर्वत्र समुचित प्रबन्ध है, मेरे यहाँ आपको ढूँढ़ने पर भी कोई अविद्वान् न मिलेगा।"

ऋषियों ने पुनः पूछा—'राजन्! आपके यहाँ सदाचार का समुचित रूप से पालन तो किया जाता है न? जो व्यभिचारी पुरुष हैं, उन्हें कठिन दण्ड तो दिया जाता है न?"

राजा ने कहा—"हे पूज्य महानुभावो! व्यभिचारी को दण्ड देने का मेरे यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मेरे पूरे राज्य में एक भी पुरुष परस्त्री गामी नहीं। जब पुरुष ही पर स्त्रियों से उपरत हैं, तो फिर कुलटा स्त्री होने का तो प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। आप सब महर्षियों ने पधारकर मेरा आतिथ्य ग्रहण करके मुझे कृतार्थ किया। आप मेरे राज्य में कुछ काल विराजें मैं एक यज्ञ करने वाला हूँ। आप अनायास ही उपयुक्त समय पर आ गये। उस यज्ञ में मैं आपका सत्कार करूँगा। सामान्य अभ्यागत की भांति ही मैं आपको सामान्य द्रव्य देकर विदाई न कर दूँगा, किन्तु यज्ञ के ऋत्विजों का जितना-जितना द्रव्य दक्षिणा में दूँगा, उतना ही उतना आप सब विद्वानों को भी धन

प्रदान करूँगा। कृपा करके तब तक आप सब मेरी अतिथि शाला में ठहरें। यज्ञ के समय की प्रतीक्षा करें।"

राजा की बात सुनकर ऋषियों ने अपने मन में सोचा—"ब्राह्मण समझकर राजा ने अपने मन में यही अनुमान लगाया होगा। कि ये सब द्रव्य के हेतु मेरे समीप आये हैं। अधर्मी राजा का अधर्मोपार्जित द्रव्य नहीं लेना चाहिये। इसीलिये राजा ने अपने राज्य की धार्मिकता का अपनी प्रजा की सदाचारशीलता का बखान किया है। किन्तु हम राजा के समीप धन की इच्छा से तो आये नहीं। जिस अभिप्राय से आये हैं, उसे कह दें।" यही सोचकर उन ऋषियों ने कहा—"राजन्! किसी के पास कोई कुछ न कुछ प्रयोजन लेकर ही जाता है। जो जिस प्रयोजन से जिसके पास जाय, उस प्रयोजन को उससे कहे और उस प्रयोजन को पूर्ण करने में वह समर्थ हो, तो आगन्तुक की इच्छा को दाता पूर्ण करे। हम आपके समीप धन की इच्छा से नहीं आये हैं।"

राजा ने पूछा—"तो आप मेरे समीप किस इच्छा से आये हैं?"

ऋषियों ने कहा—"राजन्! हमने ऐसा सुना है, आप इस समय वैश्वानर आत्म विद्या के पारंगत हैं। उस विद्या को आप भली-भाँति जानते हैं, हम उसी विद्या को आपसे सीखने की इच्छा से आये हैं, उसी का उपदेश आप कृपा करके हमें कीजिये।

राजा ने मन में सोचा—"ये सब वेदज्ञ ब्राह्मण हैं, मेरे पास ज्ञान सीखने की इच्छा से आये हैं, किन्तु इनका बड़प्पन का अभिमान नहीं गया। ये मुझसे साधारण पुरुष की भाँति ही ज्ञान सीखना चाहते हैं। ज्ञान प्राप्त करने का ऐसा नियम तो नहीं है। इन्हें मेरा शिष्यत्व स्वीकार करना चाहिये।" यही सब सोच

कर राजा ने ऊपर से कहा—"ब्राह्मणो! आप सब अनूचान हैं। वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता हैं, आपके पिता प्रपितामह सभी विद्वान हैं, आप श्रोत्रिय कुल में उत्पन्न हुए हैं। स्वयं श्रोत्रिय हैं आपको भला मैं क्या उपदेश कर सकता हूँ?"

ऋषियों ने कहा—"राजन्! आपका कहना यथार्थ है। अवश्य ही हमने वेद तथा वेदाङ्गों का अध्ययन किया है, फिर भी हम वैश्वानर आत्मा के विषय में अनभिज्ञ हैं। इस काल में इस विद्या के ज्ञाता आजकल आप ही हैं। इसीलिये हम आपके समीप आये हैं।"

राजा ने कहा—"हाँ, आप लोगों ने जो सुना है वह मिथ्या नहीं। मैं वैश्वानर आत्म विद्या का ज्ञाता हूँ। आप उसे ऐसे ही सीखना चाहते हैं? अच्छी बात है, मैं कल प्रातःकाल आपको उत्तर दूँगा। आज भी आप लोग विश्राम करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा के संकेत को ऋषि कुमार समझ गये। हमें ज्ञान प्राप्ति के निमित्त राजा के समीप उसी भाव से जाना चाहिये, जिस भाव से हाथ में समिधा लेकर नम्रता के साथ शिष्य गुरु के समीप जाता है। अतः वे दूसरे दिन प्रातःकाल एक एक यज्ञ करने योग्य समिधाओं का गट्ठर हाथ में लिये हुए समित्पाणि होकर नम्रता के साथ-शिष्य भाव से राजा के समीप पहुँचे। राजा ने समझ लिया अब इनका बड़प्पन का अभिमान दूर हो गया, अब ये शिष्य भाव से मेरे समीप आये हैं। किन्तु ये जन्मना ब्राह्मण हैं, इनको मैं नियमानुसार शिष्य न बनाकर उपदेश तो करूँगा ही किन्तु मैत्री भाव से। इसीलिये उनका विधिवत् उपनयन संस्कार न कराकर मैत्री भाव से राजा ने उन्हें उपदेश किया।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब जैसे राजा ने मुनियों से

पृथक्-पृथक् प्रश्न करके उन्हें उपदेश दिया। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

नहिँ कीयो उपनयन भाव मैत्री ही धरि उर।
प्रथम भूप उपमन्यु-पुत्र तैं पूछत मुनिवर॥
कौन उपासन करो? करूँ दिव बोले ऋषिवर।
नृप बोले— तिहि नाम सुतेजा है वैश्वानर॥
तातैं तव कुल सुत प्रसुत, आसुत दीसत बह-जठर।
सुत सुख, खावैं अन्न बहु, बल तेज युत कुल सुघर॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
एकादश खण्ड समाप्त।

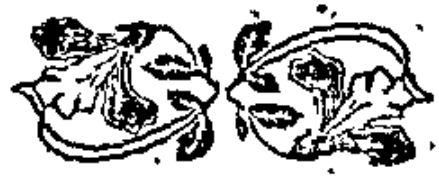

राजर्षि अश्वपति और महर्षि प्राचीन-शाल सम्वाद

[१७८]

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्य इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतयासुतं कुले दृश्यते ॥ ❀

(छां० उ० ५ प्र० १२ खं० १ मं०)

छप्पय

वैश्वानर दिवलोक 'सुतेजा' नाम कह्यो इत ।
जो उपासना करै दीप्त जटराग्नि तासु नित ॥
अन्न खाइ सो पचै वंश निज प्रिय नित देखै ।
ब्रह्मतेज बढ़ि जाइ सकल कुल सुत सब पेखै ॥
किन्तु न वैश्वानर सकल, केवल दिव इक अंग मुनि ।
वैश्वानर मस्तक कह्य, दिव्यलोक तिहि तत्व सुनि ॥

❀ राजा अश्वपति ने पूछा—"हे उपमन्यु तनय प्राचीनशाल! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?" प्राचीनशालशास ने कहा—"भगवन् ! राजन् ! मैं तो द्युलोक की उपासना करता हूँ।" राजा ने कहा—"मैं समझ गया, आप जिसकी उपासना करते हैं, वह तो 'सुतेजा' नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है, इसी कारण तुम्हारे वंश में सुत, प्रसुत, और आसुत दृष्टिगोचर होते हैं।

प्राचीनकाल में गुरु शिष्य सम्बन्ध एक पवित्र सम्बन्ध माना जाता था। गुरु शिष्य का सम्बन्ध पिता पुत्र के सम्बन्ध से भी श्रेष्ठ समझा जाता था। पिता तो केवल वीर्यदान करके शरीर के जन्म का ही कारण मात्र है, किन्तु आचार्य-गुरु-तो अज्ञान अन्धकार को नष्ट करके ज्ञानालोक प्रदान करता है। वह तो संसार-सागर से बचा के लिये पार जाने का उपाय बताता है।

प्राचीन प्रथा ऐसी थी कि, ब्राह्मण का बालक जहाँ ५ वर्ष का हुआ, उसे गुरुकुल में आचार्य के घर भेज दिया जाता था। क्षत्रिय को ८ और वैश्य के पुत्र को १२ वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल प्रविष्ट हो जाना ही चाहिये। जो ब्राह्मण बालक अधिक से अधिक १६ वर्ष, क्षत्रिय २२ वर्ष वैश्य २४ वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल नहीं जाते थे, तो वे पतित व्रात्य माने जाते थे। उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

वटु-ब्रह्मचारी-द्विज बालक जब आचार्य के समीप अध्ययन करने जाता था, तो उसके दो संस्कार आचार्य साथ ही कराते थे। वेदारम्भ संस्कार तथा उपनयन संस्कार। उपनयन का अर्थ होता है अध्ययन के निमित्त आचार्य के समीप जिस संस्कार द्वारा प्राप्त हों, उसे उपनयन कहते थे। (अध्ययनार्थं आचार्यस्य—समीपं, नीयते येन कर्मणा= उपनयनम्)- इसमें द्विज बालकों को यज्ञसूत्र-यज्ञोपवीत-धारण और सावित्री-गायत्री मंत्र-का उपदेश तथा समिधाधान ये कर्म मुख्य होते थे। आचार्य इन तीनों कर्मों को कराने के अनन्तर वटु को अपना शिष्य स्वीकार करते थे। इस संस्कार को आनय, उपनाय, उपनय, उपनयन तथा वटुकरण कहते थे।

जिन विद्यार्थियों को आरम्भ से ही पढ़ाना होता था, उन्हें तो आचार्य अपनी पद्धति से ही पढ़ाया करते थे। किन्तु जो

अन्यत्र पढ़कर किसी विशेष विद्या को सीखने आते थे, उनसे आचार्य पहिले यही पूछते थे, अब तक तुमने क्या-क्या पढ़ा है। जैसे नारदजी सनत्कुमारजी के पास ब्रह्मविद्या सीखने गये, तो सबसे पहिले सनत्कुमारजी ने उनसे यही पूछा—"अब तक तुमने क्या पढ़ा है ?"

उसके उत्तर में नारदजी ने यही कहा—"मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, वेदों का वेद व्याकरण, शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष पुराण, इतिहास, स्मृति आदि-आदि का अध्ययन किया है।"

तब सनत्कुमारजी ने उन्हें उपदेश दिया। उपदेश देने की यह प्राचीन प्रथा है। बात यह है जो अज्ञ है, अभी तक जिसने कुछ जाना ही नहीं उसे तो आचार्य अपने ढंग से शिक्षा देंगे, किन्तु जो पढ़ चुका है, जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे आचार्य वही बतावेंगे, जो उसे ज्ञात नहीं है। जिस विषय को वह पढ़ चुका है, उसे ही फिर से पढ़ाना यह तो पिसे हुए आटे को फिर से पीसने के समान है।

जो छोटे बच्चे हैं उनका तो संस्कार कराके मन्त्रदीक्षा देकर शिष्य बनाकर पढ़ाया जाता है। जो बड़ी अवस्था वाले हैं, जिन्होंने बड़े-बड़े आचार्यों के समीप रहकर बहुत सी विद्यायें प्राप्त कर ली हैं, वे यदि किसी विशेष विद्या की जिज्ञासा से किसी आचार्य के समीप जाते हैं, तो आचार्य उनका छोटे बच्चों की भाँति उपनयन कराके शिष्य बनाकर शिष्य भाव से नहीं सिखाते। उन्हें तो भ्रातृभाव से अपना बन्धु मानकर शिक्षा देते हैं। राजर्षि अश्वपति ने अपने समीप आये हुए प्राचीनशाल, सत्यज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल और आरुणि इन ऋषि कुमारों को उपदेश मैत्रीभाव से ही किया। यद्यपि ये सब तो राजा के समीप

शिष्य भाव से समित्पाणि होकर ही शिक्षा ग्रहण करने आये थे, किन्तु राजा ने छोटे बटुओं के सदृश इनका बटुकरण नहीं किया। अपने मित्रों की भाँति पहिले उनकी उपासना के सम्बन्ध में पूछा और उसमें जो न्यूनता थी, उसकी पूर्ति कर दी।

बात यह है, कि जिसमें जिस विषय का संस्कार होगा, उसी को उस विषय को सिखाकर बढ़ाया जा सकता है, जो सर्वथा संस्कारहीन है, उसे उस विषय की शिक्षा नहीं दी जा सकती। श्रीकृष्ण की उँगली में चोट लग गयी। द्रौपदी जी ने तुरन्त अपनी साड़ी फाड़कर भगवान् को बाँधने को चीर प्रदान की। उसी छोटी-सी चीर को भगवान् ने दुस्सासन के चीर खेंचने पर उसे अक्षय बना दिया। इसलिये आचार्य रूपहरि छोटे को बड़ा कर सकते हैं, किन्तु जहाँ कुछ संस्कार ही न हो: ऊसर खेती में कोई बीज कैसे उगा सकेगा। समर्थ तो कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु सभी कुछ करने में समर्थ हैं। उनकी बात छोड़ दीजिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब ये छैः ऋषिकुमार समित्पाणि होकर राजा अश्वपति के समीप नम्रतापूर्वक शिक्षा ग्रहण करने गये तब राजा ने सभी से क्रमशः यह बात पूछी, कि मैं वैश्वानर उपासना के सम्बन्ध में तो आप सबको पीछे बताऊँगा, पहिले आप लोग मुझे अपनी उपासना के सम्बन्ध में बतावें, कि आप किसे वैश्वानर मानकर उपासना करते हैं? अतः सर्वप्रथम उन्होंने उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल से ही पूछा—"अच्छा, उपमन्यु तनय! पहिले आप ही बताइये आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

यह सुनकर ऋषिकुमार प्राचीनशाल ने बड़ी ही नम्रता से तथा शिष्टता के साथ उत्तर दिया—"भगवन्! राजन्! मैं तो द्युलोक की उपासना करता हूँ।"

यह सुनकर अश्वपति ने कहा—"मुनिवर! द्युलोक वैश्वानर आत्मा तो है ही, किन्तु यह पूर्ण वैश्वानर नहीं। इसका नाम 'सुतेजा' (सुन्दर तेज युक्त स्वर्ग लोक) नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर है।"

प्राचीनशाल ने पूछा—"तो क्या यह 'सुतेजा' वैश्वानर आत्मा नहीं है?"

राजा ने कहा—"मुनिवर! मैंने कह तो दिया यह वैश्वानर आत्मा का एक अंग है। यह वैश्वानर आत्मा का मस्तक मात्र है।"

प्राचीनशाल ने पूछा—"तो क्या इसकी उपासना निरर्थक है?"

राजा ने कहा—"निरर्थक क्यों है, सार्थक ही है। देखिये, इस उपासना के प्रभाव से ही आप इतने पवित्र और बृहत् कुल वाले हो गये हैं। आप के कुल में ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करने वाले हैं। उन यज्ञों में सुत्-सोम रूप लता द्रव्य निकाला जाता है। अहीन कर्म में प्रसुत (विशेष रूप से निकाला द्रव्य) प्रयुक्त होता है और सत्रों में आसुत (पूर्वरूप से निकाला सोमरस अधिक मात्रा में देखा जाता है। कहने का भाव यह है कि तुम्हारे कुल के लोग सदा कर्म कांडों में ही लगे रहते हैं। यह सुतेजा वैश्वानर की उपासना का ही तो फल है।" यही नहीं आप जो अन्नादि भोग्य पदार्थों का यथेष्ट उपभोग करते हैं। तुम्हारी जठराग्नि तीव्र है, तुम जो खाते हो, वह तुरन्त पच जाता है। तुम्हारे इतने पुत्र पौत्र दृष्टि हो रहे हैं। स्वजन बन्धु बान्धव रूप प्रिय पुरुषों का दर्शन कर रहे हैं। यह सब द्युलोक शरीरक वैश्वानर आत्मा की उपासना से ही तो इतना वैभव दृष्टि गोचर हो रहा है। आपकी ही बात नहीं है, जो भी कोई साधक इस

सुतेजा वैश्वानर आत्मा की आपके सदृश उपासना करता है, उसकी जठराग्नि तीव्र होती है, वह यथेष्ठ अन्न का भक्षण करता है। वह पुत्र, पौत्र, स्वजन, बन्धु बान्धव रूप प्रियजनों का दर्शन करता है उसके कुल में आपके ही सदृश ब्रह्मतेज होता है। इसलिये यह उपासना निरर्थक तो नहीं है, किन्तु अधूरी है। अच्छा हुआ आप मेरे पास आ गये। यदि आप मेरे पास न आते तो आपका मस्तक गिर जाता।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह तो बड़ा अन्याय है, कि कि चाहे अधुरी ही सही उपासना तो ऋषि कुमार करते ही थे, यहाँ न आते तो उनका मस्तक गिर जाता। यह क्या बात हुई ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! यह प्राचीन काल की कथन की शैली है। इसका तात्पर्य इतना ही है, कि तुम यहाँ न आते और अधूरी उपासना को पूरी मानकर करते तो तुम्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति तो भले ही हो जाती। मस्तक रूप जो मोक्ष है, उससे वञ्चित हो जाते। अर्थात् जन्ममरण के चक्कर में ही पड़े रहते।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, यह तो उचित ही है। अब पूर्ण वैश्वानर आत्मा की उपासना क्या है। इसे भी तो बताना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"सभी छैओं ऋषिकुमारों की उपासना सुन कर तब ये पूर्ण वैश्वानर उपासना का उपदेश करेंगे। पहिले उपमन्यु तनय प्राचीनशाल से पूछकर तदनन्तर पुलिप ऋषि के पुत्र सत्ययज्ञ से जैसे प्रश्न किया और सत्ययज्ञ ने जैसे अपनी उपासना के सम्बन्ध में राजा को बताया इस प्रसंग को मैं आगे

कहूँगा। आशा है आप इसे सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे। यह प्रसङ्ग बहुत ही महत्वपूर्ण तथा गम्भीर है।"

छप्पय

जब उपमन्यु कुमार उपासन निजहिं बताई।
तब नृप बोले सत्ययज्ञ तैं—आप हुँ भाई॥
कस उपासना करो देव का महिमा उनिकी।
हे प्राचीन सुयोग्य! उपासन करिहो जिनिकी॥
सत्ययज्ञ ऋषि सुत कहें, भगवन्! नृपति! हौं कहूँ।
पूजूँ हौं आदित्य कूँ, तिनहिं ध्यान तन्मय रहूँ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पंचम अध्याय में
द्वादश खण्ड समाप्त।

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६३

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन, श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

● प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

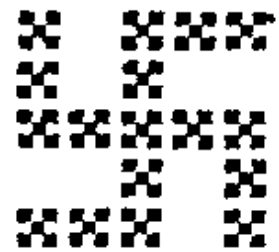

● मुद्रक :
बंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

छप्पय शतकत्रय

(श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

४४४ धर्म

(राजर्षि भर्तृहरिजी के तीनों शतकों का छप्पय पद्यानुवाद)

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित-सा होता जा रहा है। श्री ब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की इस पुस्तक का मूल्य २.५० मात्र।

—:०:—

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
संस्मरण (१२)	१
१. अश्वपति तथा सत्ययज्ञ और इन्द्रद्युम्न सम्वाद	१५
२. राजर्षि अश्वपति और जन आदिक मुनियों का सम्वाद	२१
३. समग्र वैश्वानर की उपासना के सम्बन्ध में राजर्षि अश्वपति का उपदेश	२९
४. पिता पुत्र का प्रश्नोत्तर	४६
५. सत् से दृश्य जगत् की उत्पत्ति	५५
६. त्रिवृत् करण क्या है ?	६५
७. अन्न, जल और तेज के त्रिविध परिणाम	७०
८. सब का मूल कारण सत् ही है	७८
९. सुषुप्ति अवस्था में सत् प्राप्ति का ज्ञान नहीं	८७
१०. नारद सनत्कुमार सम्वाद (१)	१०२
११. नारद सनत्कुमार सम्वाद (२)	१११
१२. नारद सनत्कुमार सम्वाद (३)	१२६
१३. नारद सनत्कुमार सम्वाद (४)	१३८
१४. दहरपुण्डरीक में—दहर ब्रह्म की उपासना	१५४
१५. इन्द्र और विरोचन को प्रजापति द्वारा आत्मतत्त्व का उपदेश	१७७

संस्मरण

(१२)

[कारावास की कडवी मीठी संस्मृतियाँ]

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते,
सम यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतातुल्यावस्थां सिकतिलनदी तीर तरुभिः ॥*

(भर्तृ० वै० श० ३६ श्लो०)

छप्पय

जिनितैं हम उत्पन्न भये तिनि पतो न पायौ ।
जिनिके सँग में बढ़े नाम तिनिको बिसरायौ ॥
रहे शेष हम एक वृद्ध वनिकैं घबरावैं ।
ज्यों ज्यों बीतत दिवस मृत्यु के ढिंग त्यों जावैं ॥
नदी कूल के तरु सरिस, बैठे जाई आस में ।
कब प्रवाह आवै प्रबल, पहुँचें यम के पास में ॥

---

* हम जिनसे उत्पन्न हुए वे बहुत दिन हुए परलोक पधार गये । जिनके साथ पढे बढे खेले उनका नाम भी स्मरण नहीं रहा । इस समय हम ही बचे हैं सो प्रति दिन पतन के कगार पर खडे हैं । साथी तो चले गये । नदी के किनारे के वृक्ष की भाँति दिन गिन रहे हैं, कब गिर पडें ।

मसार मे जो जन्मा है, वह मरेगा ही। अमर होकर संसार मे कोई नही आया। जैसे नदी का जल निरन्तर बहता ही रहता है, प्रतिक्षण बदलता रहता है, जो जल बह जाता है, उसका स्थान दूसरा जल ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार संसार में प्रतिक्षण आदमी बालक से युवा, युवा से वृद्ध और वृद्ध बनकर मरते रहते हैं, फिर भी संसार जन शून्य नही होता। ज्यों-का-त्यों भरा पूरा ही दिखायी देता है। हरिद्वार मे हरि की पौड़ी पर कुम्भ मेले की भीड मे एक महात्मा चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था—"देखो, भाई! जितने ये आदमी हैं सौ वर्ष में इनमे से एक भी न बचेगा, फिर भी सौ वर्ष के पश्चात् यहाँ भीड़-भाड़ ऐसी ही बनी रहेगी।" लोग कहते हैं—"भाई, संसार में ऐसा काम करते चलो, जिससे इतिहास के पृष्ठों में हमारा नाम अमर रहे। संसार में कौन अमर रहा है? इतिहास के इतने पृष्ठ हैं कहाँ, कि इतने लोगों को वह अमर रख सके। इतिहास स्वयं भी अमर नहीं।"

यह तो संसार-सागर का प्रवाह है। ऊर्मियाँ हैं, लहरें हैं आती हैं चली जाती हैं। कोई शीघ्र कोई देर में सब स्मृति के गर्त में गिरकर विलीन होते जाते हैं। कुछ लोग किसी के नाम को अमर बनाये रखने को लकीर पीटते हैं, उनके नाम के द्वारा अपने स्वार्थों को साधने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु संसार किसी की अपेक्षा नहीं करता, वह समान गति से चलता जाता है, चलता जाता है, सब को पीछे छोड़ता हुआ बढता जाता है। उसकी चाल कभी मन्द नहीं पडती वह चलता ही रहता है, चलता ही रहता है। हम समय काटने को मनोरजन के लिये, स्वान्तः सुख के लिये या अन्य किसी स्वार्थवश दूसरों का स्मरण करते हैं। शनैः-शनैः वे भी स्मृति पटल से विलीन होते जाते हैं।

एक पाषाण का पर्वत था, उस पर उस प्रदेश के राजाओं

के नाम खोदे जाते थे। होते-होते वह पूरा पहाड़ नामों से भर गया। उसमें एक तिल भी स्थान नहीं रहा। जो वर्तमान राजा था, उसने कहा—"मेरा नाम इस पर्वत पर अवश्य अंकित होना चाहिये।"

सेवकों ने कहा—"श्रीमन्! अंकित हो तो कहाँ हो, पर्वत पर तो एक तिल भर भी स्थान नहीं।"

तब राजा ने कहा—"एक काम करो, किसी एक नाम को मिटा दो, उसके स्थान पर मेरा नाम लिख दो।"

सेवकों ने ऐसा ही किया। उस राजा का नाम अंकित करके राजा से कहा—"राजन्! आपने यह अच्छी प्रथा चला दी। अब आगे लोग दूसरों का नाम मिटाकर अपना नाम प्रचलित कराया करेंगे।"

आज कल यही हो रहा है, पहिले जो नगर, राजपथ, विद्यालय, चिकित्सालय तथा भवन आदि जो आर्य राजाओं के नाम से प्रचलित थे, मुसलमान बादशाहों ने उन्हें अपने नाम से प्रचलित कराया। अँगरेजों ने उन्हें मिटाकर अँगरेज राजाओं तथा विशिष्ट व्यक्तियों के नाम से प्रचलित कराया। अब कांग्रेसी राजनीतिज्ञों ने अपने स्वजन बन्धु बान्धवों तथा नेताओं के नाम पर उनके नाम रख दिये। दूसरे आवेंगे इनको मेट कर अपने लोगों का नाम रखेंगे। फिर इतिहास में नाम अमर किसका रहा? यह तो भ्रम है, अन्ध विश्वास है। अमर तो भगवान् का ही नाम है, और सब तो ऐसे ही सट्ट-पट्ट मामला है। मन मोदक हैं वैसे तो सभी अपने नाम को अमर रखने का प्रयत्न करते हैं। भवन नहीं बनवा सकते स्वच्छ पाषाण पर अपना नाम ही खुदवा सकते हैं। वे पुराने जीर्ण-जीर्ण भवनों पर कोयले से ही अपना नाम लिख कर अपने को अमर बनाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ दिन

दूसरे मनुष्य उस नाम पर कोयले से अपना नाम अंकित कर आते हैं। असत को सत्य बनाने की, अनित्य को नित्य सिद्ध करने का, नाशवान् को अविनाशी बताने की यह प्रक्रिया सनातन है। यह सदा से रही है, और सदा रहेगी। संस्मरण मानव आत्मतोष के लिये, स्वतः सुख के लिये अथवा स्वार्थसिद्धि के लिये करता है, लिखता है, बोलता है। नहीं तो विस्मृति के महागर्त रूप संसार में किसकी स्मृति रही है? किस किस की स्मृति कहाँ है, किसके पास इतना समय है, किसके हृदय में इतना स्थान है? विस्मृति न होती तो यह प्राणी पुरानी बातों को स्मरण करते-करते ही मर जाता।

ये मैं सन् २ –२१ की स्मृतियाँ लिख रहा हूँ। ५०–५२ वर्ष हो गये। तब से कितना समय बदल गया, आचार विचार सभी बदल गये। फिर भी पुराना बातों को सुन सुनकर लोगों का मनोरंजन होता है। यद्यपि वर्ष दो वर्ष पुराने नीबू आदि के अचार से पेट नहीं भरता, फिर भी स्वाद बदलने को भोजन के साथ लोग अचार चटनी खाते ही हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण का आहार तो भागवती कथायें ही हैं। परितृप्ति तो उन्हीं कथाओं से होगी, किन्तु स्वाद बदलने को अचार के स्थान पर ये प्राचीन स्मृतियाँ कुछ लिख दी जाती हैं, जिससे नई सतानें उन दिनों का कुछ आभास प्राप्त कर सकें।

हम फाल्गुन शुक्ला सप्तमी (४–३–२२ ई०) को लखनऊ कारागार में पहुँचे। उन दिनों बरेली, काशी, आगरा जेलों के विशिष्ट श्रेणी के राजनैतिक बन्दी लखनऊ लाये जा रहे थे। बहुत से लखनऊ से विशिष्ट श्रेणी से निकाल निकालकर कुछ को द्वितीय श्रेणी का बनाकर साकेत (फैजाबाद) भेजा जा रहा था। बहुतों को साधारण राजनैतिक बन्दी बनाकर विभिन्न जिलों की

विभिन्न जेलों में भेजा जा रहा था। कारावास का जीवन ही पृथक् था। वहाँ का जगत् ही दूसरा था। कारावास के कैदी बाहर को संसार कहते थे। संसार में जाकर हम यह करेंगे, वह करेंगे, मानों कारावास संसार से बाहर है। कारावास में विचित्र-विचित्र प्रकार की खोपड़ियों के दर्शन हुए। जितना अनुभव परिज्ञान, व्यावहारिक बोध मुझे कारावास में हुआ, उतना कहीं भी नहीं हुआ। प्रान्त भर के सभी जिलों के बड़े से बड़े प्रसिद्ध नेताओं का दर्शन एक साथ ही यहाँ हो गया। जिनमें बहुत से कलहोपजीवी अधिवक्ता (वकील) विदेशी विधानविशेषज्ञ (बैरिष्टर) चिकित्सक (डाक्टर) प्राध्यापक (प्रोफेसर) समाचार पत्र सम्पादक, व्यवसायी, उपदेशक, न्यायकर्ता, न्यायमूर्ति तथा विभिन्न विभागों में कार्य करने वाले त्यक्तपद अधिकारी थे। कारावास में एक गोल चक्कर होता है। उसी के चारों ओर बन्दी आवस-(वार्ड) होते थे। उन सबके द्वार चक्कर मे ही खुलते थे। सबकी सीमा पृथक्-पृथक् बनी रहती थी। हमारी सीमा में दो आवास थे। सबके भोजनालय पृथक्-पृथक् होते थे। हमारे पहिले आवास मे कुछ बरेली के थे कुछ बुलन्दशहर और कुछ अन्य जिलों के। दूसरे आवास में जिसमे मैं था उसमें अधिकाश काशी के, कुछ बरेली के, कुछ अमरोहा के, कुछ अन्य स्थानो के। काशी के लोगों में सम्पूर्णानन्दजी, कविराज वैद्य कृष्णचन्द्रजी, डा० ताराचन्द्रजी, पं० शिव विनायक मिश्र, ठा० बैजनाथ सिंहजी, सत्यदेव नारायण शाही, गिडवानीजी इतने लोगों के नाम याद हैं, बरेली के प० वशीधरजी पाठक, अमरोहा के डा० नरोत्तमशरण, वैद्य नाथूराम, ला० बाबूलाल। देहरादून के पं० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ, अवध के बाबा रामचन्द्र जी (कृषक नेता) अल्मोडे के पं० बदरीदत्त जी पांडेय, पं० चन्द्रदत्त

पांडेय तथा और भी कई थे। हम सब २०–२५ व्यक्ति एक ही आवास में थे। मेरे आवास के सभी लोग शान्त, सरल तथा झगड़े झंझट से दूर रहने वाले थे। मुझसे अत्यन्त स्नेह रखते थे। क्योंकि मैं इन सभी से अवस्था में छोटा था, सबका वात्सल्य प्रेम मेरे ही ऊपर होता था। मनुष्य कुछ तो ऐसे लोगों को चाहता है, जो हमसे प्यार करें, जिनमें हम श्रद्धा करें। कुछ बराबरी के लोगों को चाहते हैं, कुछ ऐसों को भी चाहते हैं, जिन पर हम अपना वात्सल्य स्नेह उड़ेल सकें। मैं साधु था, इसलिये उस नाते से सब मुझमें आदर भाव भी रखते थे, मैं अवस्था में छोटा था, इससे सबका वात्सल्य स्नेह भाजन था। पं० नरदेवजी एकांत में एक पेड़ के नीचे निरन्तर अपने स्वाध्याय में ही लगे रहते। मुझपर उनका अत्यन्त ही स्नेह था। वह जीवन भर बना रहा। जब भी वे प्रयाग आते मुझसे बिना मिले नहीं जाते। बड़े सहृदय मिलनसार और भावुक व्यक्ति थे।

दूसरे बाबू सम्पूर्णानन्द जी। धार्मिक प्रवृत्ति के बड़े ही उत्साही मिलनसार विद्वान थे। राजस्थान डूँगरपुर के किसी महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पद का परित्याग करके आये थे। उनका सम्पूर्णसमय स्वाध्याय मे ही व्यतीत होता था। मुझसे उनका सहज स्नेह था। वे सन्त मत के ग्रन्थों को सुनातेथे। योग की ओर भी उनकी रुचि थी। मेरा अधिकांश समय उनके ही साथ व्यातीत होता था।

ठा० बैजनाथ सिंह काशी के नामी मल्लों में से थे, वे भूमिहार थे। ब्रजभाषा की कविता भी करते थे वृद्ध पुरुष थे, मुझसे कहते– "आप मुझसे ब्रजभाषा मे बात किया करें।" तब तक कविता की भाषा ब्रजभाषा ही मानी जाती थी। पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा, पं० श्रीधर पाठक, पं० रामनरेश त्रिपाठी और बाबू मैथिलीशरण

गुप्त ये लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे थे, किन्तु समादर तब तक ब्रजभाषा का ही था। सभी प्रान्तों के लोग ब्रजभाषा में ही कविता करते थे। उनको ब्रजभाषा सीखनी पड़ती थी। जो ब्रज के हैं उनकी तो मातृभाषा ही थी। पं० रामनरेश त्रिपाठीजी भी हमारे ही साथ जेल मे थे। अन्य आवासों (बैरिकों) मे बहुत से कवि साहित्यिक लेखक, सम्पादक थे। कभी-कभी सगीत सम्मेलन भी होते। कारावास मे ये सब मनोरञ्जन के लिये ही होते। क्योंकि सभी पर कोई काम नहीं था।

प० शिव विनायक मिश्र विशेष पढ़े-लिखे तो नहीं थे, किन्तु बड़े उत्साही, पुराने कार्यकर्ता और सूझ-बूझ के व्यक्ति थे। उनका मेरे प्रति बडा स्नेह था, जेल से छूटने पर काशी मे कुछ दिनों तक मैं बड़ी पियरी के उनके भारत प्रेस मे ही रहा। अन्त समय तक उनका स्नेह ज्यो का-त्यो ही बना रहा। यहाँ हमारे धार्मिक उत्सवों मे बहुधा भूसी आते रहते थे। ऐसे आदमी अब देखने को कहाँ मिलेंगे।

पं० बदरीदत्त जी पाडेय। अल्मोडा से निकलने वाली साप्ताहिक पत्रिका 'शक्ति' के सम्पादक थे। बड़े उत्साही देशभक्त थे। मैं जब कहता "जि वस्तु मोइ नेंक दे दो।" तो वे बड़े हँसते कहते ब्रह्मचारी जी नेंक मुझे भी दो। पहाडी होने के कारण उनके लिये ब्रजभाषा एक विचित्र-सी लगती थी। हम खुरजा से आये थे। खुरजा से ५–७ कोश ही शिकारपुर गाँव है। शिकारपुर के मूरख ससार भर में प्रसिद्ध है। किसी को कह दो–ये तो पूरे शिकारपुरी हैं। अर्थात् मूर्ख हैं। इसीलिये शिकारपुर के लोग अपना गाँव नहीं बताते। आस पास के किसी गाँव का नाम बता देते हैं. कि शिकारपुर का नाम सुनते ही लोग खिल्लियाँ उडावेंगे।

कई बार ऐसा भी हुआ कि शिकारपुर के लोग गङ्गा नहाने

गये। किसी ने ताड लिया ये शिकारपुर के हैं। उनके पीछे पड गये—"कहाँ रहते हो? कहाँ रहते हो?" तब उन्होंने धोती सम्हाली मुट्ठी बाँधी और शीघ्रता से यह कहते हुए भगे—"हम शिकारपुर के है। लो, कर लो हमारा क्या करते हो।"

उनको भागते हुए देखकर सब ताली पीटकर हँसते हुए कहने लगे—"अरे शिकारपुरिया है, शिकारपुरिया है।"

सो पाडेयजी बड़े विनोदी थे, मुझसे पूछते—"ब्रह्मचारी जी! शिकारपुर आपके यहाँ से कितनी दूर है? फिर अपने ही आप कहते 'नेंक दूर होयगो।' सब लोग हँसने लगते। एक तो पढ़े लिखे मिलनसार, दूसरे उन दिनों पहाडी बडे सीधे सादे सरल सत्यवादी छल कपट से रहित हुआ करते थे। पाडेयजी को लखनऊ की गरमी सहन नहीं होती थी, वे बहुत रुग्ण हो गये। कारावास के चिकित्सालय में रखे गये। मैं भी उनके साथ वहीं रहने लगा और शक्ति भर उनकी जितनी बन पडी सेवा की। इससे वे मेरे अत्यन्त ही कृतज्ञ रहे। जीवन भर उस उपकार को नहीं भूले। प्रयाग आते तो मुझसे मिलकर जाते। अब इतने सच्चे सरल व्यक्ति कहाँ मिलेंगे।

हमारे आने के कुछ दिनों पश्चात् ही प० चन्द्रदत्त पाडेय स्यात् बलिया से पकडकर आये। वे कारावास में स्यात् सबसे छोटे बच्चे थे १४–१५ वर्ष के रहे होंगे। अत्यन्त ही सुन्दर हँसमुख मिलनसार। पहाड़ी होने से अँगरेज के बच्चों जैसे लगते थे। मेरे साथ उनकी अत्यन्त ही घनिष्टता हो गयी थी। उनको भी वहाँ की गरमी सहन नहीं होती थी। दिन में कई बार नाक से रक्त गिरता था। वे भी जेल के चिकित्सालय में रहे। पाडेजी के के दूर के भतीजे लगते थे। पीछे तो पं० गोविन्द वल्लभ पन्त जी ने अपनी भानजी का विवाह उनसे करके उन्हे अपना निजी

सचिव बना लिया। पीछे सुना वे संसद् सदस्य भी रहे बहुत बड़े आदमी हो गये हैं। पीछे स्यात् एक दो बार काशी में भेंट हुई। फिर मिले ही नहीं जेल की, रेल की और नौका की मैत्री ऐसी ही होती है। जब तक रहे, तब तक बड़े घुल मिलकर यथेष्ट प्रेम प्रकट किया। जहाँ पृथक् हुए, 'राम रामजी, जयरामजी की।' पत्र देते रहना। कौन पत्र देता है? किसे इतना अवकाश है?

आये एकहि घाट तैं, उतरे एकहि घाट।
अपने-अपने करम तैं, ह्वै गये बारह बाट॥

हम २५०–३०० आदमी साथ मे थे। कैसा परस्पर में स्नेह था, कितनी आत्मीयता थी, अब सबके नाम भी स्मरण नहीं। सब परलोक वासी हो गये। कोई भूला भटका एक आध बचा होगा, सो वह भी बोरिया बिस्तर बाँधे जाने को तैयार ही बैठा होगा। कितना अनित्य यह संसार है, कितना क्षणभंगुर यह जीवन है, कितना नश्वर यह शरीर है, फिर भी जीव कितना अभिमान करता है। मैं ऐसा हूँ। मैं वैसा हूँ।

प्रान्त भर के सभी प्रतिष्ठित सभी नेता वहीं एक कठघर मे बंद थे। प्रान्तीय राष्ट्रीय महासभा की कार्यकारिणी परिषद् को सरकार ने अवैध घोषित कर दिया था। उसके ५५ सदस्य प्रयाग में पकड लिये थे। वे सबके सब यहीं थे। प० मोतीलाल नेहरू, बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन, श्री रणेन्द्रजी वसु, दो तीन मालवीय, पं० जवाहरलाल नेहरू, जार्जजोजिफ, देवीदास गाँधी ये सब अन्य आवासों में थे। प० मोतीलालजी नेहरू और कई व्यक्ति यूरोपियन आवास (सिविलब्लाक) में थे। नित्य नई सभायें बनतीं, नित्य अधिकारियों से झगड़ा होता। विचित्र विचित्र

झोंपड़ी के लोग एकत्रित हुए थे। कुछ ऐसे थे, कि जब तक दिन में एक दो बार झगड़ा टंटा न हो जाय तब तक उनकी रोटियाँ ही न पचें। कुछ लोगों को दूसरों को चिढ़ाने में ही आनन्द आता। एक दल ऐसा भी था, कि किसी के घर से कोई मिठाई या वस्तु आई है, रात्रि में उसके यहाँ से जाकर चुरा लाये और हँसते-हँसते सब मिलकर उसे चट कर गये। हमारे आवास में आचार्य कृपलानी, सिकन्दराबाद के पं० मुरारीलाल जी शर्मा के पुत्र विश्वशर्मा तथा और भी कई बरेली मुरादाबाद के थे।

जेल में विचित्र-विचित्र खेल होते, भाँति-भाँति की सभायें होतीं। कबड्डी होती, मेरे बड़े-बड़े बाल थे। जब मैं बाल बखेर कर कबड्डी खेलता सब हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। कभी पशु सम्मेलन होता। कुछ लोग पेड़ों पर चढ़कर बन्दरों की भाँति एक पेड़ से कूदकर दूसरे पर, दूसरे से कूदकर तीसरे पर जाते। कोई मोर बनकर नाचते। जो उपनेत्र (चश्मा) लगाते उन्हें उल्लू की संज्ञा देते। कभी संगीत सम्मेलन होता, कभी कवि सम्मेलन। कवि सम्मेलनों में हास्यरस की कतिवायें सबको प्रिय होतीं। कभी छोटी छोटी बातों पर आपस में झगड़ा होता। पहिले सबको डेढ़ रुपये नकद मिलते थे। कुछ लोग वहाँ भी बचाने लगे। वस्तुएँ मँगवा कर घर भिजवाने लगे। तब सरकार की ओर से वस्तुएँ दी जाने लगीं। दूध, दही, साक, भाजी, आदि यथेष्ट मात्रा में मिलते किन्तु उपनिषदों में लिखा है। संसार भर का धान्य, धन, पशु, स्त्रियाँ एक ही व्यक्ति को मिल जायँ तो भी उसकी तृप्ति न होगी, इसलिये शान्ति धारण करो। किन्तु वहाँ तो सब शान्ति भंग करके ही आये थे। शान्ति किसे थी। ऐसी लड़ाई होती कि हमने ऐसी कंजरों में भी नहीं देखी। हम तो सामान्य घर के संस्कृत के विद्यार्थी थे। हमने इतना मूल्यवान भोजन, इतने ठाट-

बाट देखे भी नहीं थे। वहाँ एक से एक धुरंधर, एक से एक विद्वान् और प्रथम श्रेणी का जीवन बिताने वाले थे। हम तो अवस्था में छोटे, फिर हंसों में काक सदृश। फिर साधु वेष। हमें अपनी मर्यादा का भी ध्यान था। अतः ऐसे किसी झगड़े झंझट में नहीं पडते। चुपचाप दूर रहकर इन नाटकों को देखते रहते। अंगरेजी के विद्वानों के अतिरिक्त वहाँ साधु संन्यासी भी थे। बरहज के परमहंस श्री बाबा राघवदास जी बड़े सरल शान्त सबसे पृथक् रहते। एक स्वामी ब्रह्मानन्दजी भारती थे। पहिले कभी नाभा में मुंसिफ थे। बोलचाल रहन सहन सब स्त्रियों जैसा लोग चिढाने का उन्हें देवीजी कहते। एक शङ्कराचार्यजी के शिष्य स्वामी भास्करानन्द तीर्थ थे, उनका क्या कहना पूरे अग्निशर्मा ही थे। स्वामी सहजानन्द जी बड़े प्रसिद्ध नेता थे हमारे यहाँ के स्वामी योगानन्द जी यति शान्त प्रकृति के थे। एक स्वामी वासुदेवाश्रम भी थे और भी कई वैरागी वैष्णव तथा अन्य धार्मिक व्यक्ति थे। पूरा जमघट था। सभी श्रेणी के थे। प्रेम की सीमा नहीं थी और झगडा टंटा भी असीम होता था। कभी-कभी तो लोग इतने भी नीचे स्तर पर उतर आते थे, कि देखकर आश्चर्य होता था, कि इतने बड़े आदमी ऐसी हलकी बात भी कह सकते हैं क्या ? जीव का स्वभाव होता है वह प्यार किये बिना भी नहीं रह सकता और लड़ाई झगडा किये बिना भी नहीं रह सकता। बाहर तो बात ढकी-मुदी रहती है। झगडा करने की इच्छा हुई तो घर में स्त्री बच्चों से, नौकरों से झगडा कर लिया। प्यार करने को अपना लड़का लड़की, पत्नी सगे सम्बन्धी हैं ही। किन्तु यहाँ कारावास में तो सब खुल्लमखुल्ला करना पड़ता है। प्यार भी साथियों से ही किया जाता है और लडाई भी उन्हीं से करनी पड़ती है। जैव धर्म है। जीव इसके बिना रह नहीं सकता इसमें दोष किसी का नहीं।

बाहर कोई त्योहार मनाता हो न मनाता हो, किन्तु जेल में सब त्योहार विधिवत् मनाये जाते थे। वहाँ दूसरा कोई काम था ही नहीं। हम जब लखनऊ आये उसके ९-१० दिन पश्चात् ही होली थी। जेल में ऐसी होली हुई कि बाहर स्यात् ही कहीं मिले। उस दिन जेल का एक भी अधिकारी भीतर नहीं आया। एक दिन पहिले ही खाद्य सामग्री बाँट दी गयी। होली का जो हुड़दंगा मचा वह देखने ही योग्य था। हिन्दु मुसलमान का कोई भेदभाव नहीं। यही नहीं हिन्दुओं से अधिक उत्साह मुसलमानों में था। कैसा स्नेहमय, आनन्दमय, उल्लासमय, उत्साहमय दृश्य था। जेल में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं दिखायी देता था, जो एड़ी से चोटी तक रंग में रंगा हुआ न हो। जेल के साधारण कैदी भंगी तक को रंग दिया गया। उस दिन सबको सबसे मिलने की छूट थी, सब आवासों के ताले खुले थे। सब एक दूसरे से गले लगा कर मिल रहे थे। प्रेम की सरिता बह रही थी। हँसी के फुव्वारे छूट रहे थे। सब अपने आपे को भूले हुए थे। कोई नाच रहे थे, कोई कबीर गा रहे थे कोई स्वाँग बनाकर मुँह मटका रहे थे। जेल की जैसी होली फिर देखने को नहीं मिली।

एक प्रोफेसर रंगा अय्यर थे, उन्होंने श्रीकृष्ण की मूर्ति लटकायी ५-६ दिन तक जेल में उसी की चर्चा रही। किसी न किसी बात को लेकर नित्य ही कहासुनी होती रहती।

फिर ईद आई हिन्दु मुसलमान सभी ने ईद को बड़े उत्साह से मनाया। मुसलमानों ने सभी हिन्दुओं को मिठाई बाँटी। कैसी एकता थी, उस समय। यदि ऐसी एकता लोग बाहर भी रखें तो ये मार-काट दंगे उपद्रव क्यों हों, किन्तु लोग दंगे करने को भी विवश हैं। भगवान् ने यह मानव खोपड़ियाँ कैसी-कैसी बनायी हैं। उनके पास न जाने कितने साँचे होंगे। जिस साँचे में एक

आदमी को ढाल दिया। फिर उस चतुर-चितेरे ने उसे छूआ तक नहीं। सबकी आकृति, प्रकृति, स्वभाव, रहन सहन सभी भिन्न। तभी तो कहावत है "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नाः" जितने सिर उतने स्वभाव। जेल में सभी प्रकार के दृश्य दिखायी देते थे।

जन्म का दृश्य तो दिखायी नहीं देता था, क्योंकि वहाँ स्त्रियाँ नहीं थीं। रोग के, शोक के, मृत्यु के सभी दृश्य वहाँ अपूर्व थे। देवरिया के एक मुख्त्यार अवधनारायणजी थे। उनकी मृत्यु जेल के चिकित्सालय में हो गयी। उसका कैसा कारुणिक दृश्य था। सभी अपने आत्मीय बन्धु की मृत्यु के सदृश दुखी थे। शवयात्रा कितने ढग से निकाली गयी। उस दिन सबको छूट थी सभी शवयात्रा में सम्मिलित हुए। सभी अधिकारियों को दोष दे रहे थे। अधिकारियों के भी मुख फक्क पड़े हुए थे। नगर से भी शव को लेने फाटक पर बहुत लोग आये थे। फाटक तक सब गये। शव उन्हें दे दिया गया। कई दिनों तक इसकी चर्चा रही। सरकार की ओर से भी इसकी छान बीन हुई। किन्तु सब बात आया गयी हो गयी।

कोई रोग ग्रस्त होता, तो सभी उसके साथ मौखिक सहानुभूति प्रदर्शित करते। बहुत लोग सब प्रकार से उसकी सेवा भी करते। मेरे दायें हाथ की बीच की उँगली में गदही बिसेली (बिटलो) हो गयी। उँगली सूज आई। अत्यधिक पीडा थी। सबने निश्चय किया जब तक इसकी शल्य क्रिया न होगी तब तक अच्छी नहीं होगी। वहाँ चिकित्सकों की कमी थोड़े ही थी। जेल के चिकित्सक अशरफीलाल से भी बड़े-बड़े चिकित्सक हमारे थे। मेरी उँगली की शल्य चिकित्सा में १०। १२ चिकित्सकों ने मिलकर कार्य किया कानपुर के डा० मुरारीलाल, डा० जवाहर लाल, काशी के डा० ताराचन्द्र, कविराज वैद्य कृष्णचन्द्र बस्ती के

डा० विश्वनाथ मुकर्जी और न जाने कितने डाक्टर थे। डा० जवाहरलालजी ने बिना औषधि सुँघाये चीरा दिया। मैं बहुत वेग से चिल्ला उठा। चिकित्सालय की बगल में ही प० जवाहर लाल नेहरू, देवीदास गाँधी रहते थे। वे चिल्लाहट सुनकर तुरन्त चिकित्सालय मे आ गये। क्या बात है, क्या बात है।

किसी ने बताया—"ब्रह्मचारी जी की उँगली चीरी जा रही है। वे दोनो तब तक वहाँ खड़े रहे जब तक शल्य क्रिया पूरी नहीं हुई। मेरे साथी सहयोगियों की सहानुभूति का तो कहना ही क्या था। सबने अपने छोटे भाई की भाँति, पुत्र की भाँति मेरी देख रेख की। सभी प्रकार की सुविधाओं का ध्यान रखा। लगभग एक महीने तक वह घाव अच्छा नहीं हुआ। तीन बार घाव को चीरा गया। जब नित्य घाव मे आर पार औषधि से भीगा कपडा डाला जाता, तब महान् कष्ट होता था। वे दिन अब भी याद आते हैं तो रोमाञ्च होते हैं। बीच की उँगली में वह घाव घिरा हुआ चिन्ह अभी तक विद्यमान है उसी मे लेखनी लगाकर मैं लिख रहा हूँ और वह सम्पूर्ण का सम्पूर्ण दृश्य मेरी आँखों के सामने नाच रहा है।"

जेल की अनन्त स्मृतियाँ हैं। वे सब स्मरण भी नहीं रहीं। स्मरण करके लिखना चाहूँ, तो लिख भी सकता हूँ, किन्तु व्यर्थ की बात बढाने से लाभ ही क्या ? ये तो लौकिक बातें हैं। इनसे तृप्ति नहीं होने की। तृप्ति तो भागवती कथाओं से ही होगी। वही अन्तःकरण का पौष्टिक परिपूर्ण आहार है। यह तो स्वाद बदलने को अचार चटनी के सदृश है। बहुत चटपटा भी शरीर के लिये हानि कारक ही होता है। अतः अब आज यहीं विश्राम। आगे की चटनी अगले अंक में चाट सकते हैं।

अधिक वैशाख शु० पूर्णिमा सं० २०२९
सर्वोदय भवन, प्रतिष्ठानपुर
झूसी (प्रयाग)

प्रभुदत्त

अश्वपति तथा सत्ययज्ञ और इन्द्रद्युम्न सम्वाद

[१७९]

अथ होवाच सत्ययज्ञ पौलुषीं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥*

(छा० उ० ५ म० १३ ख० १ म०)

छप्पय

नृप बोले—यह विश्वरूप वैश्वानर मुनिवर ।
याही तैं नित रहै विश्वसाधन नित तव घर ॥
अगनित दासी दास हार सब विपुल पदारथ ।
जठर अग्नि अति तीव्र ब्रह्मतेज हु बहु हय रथ ॥
अन्य उपासक हू लहैं, करि उपासना किन्तु मुनि ।
है वैश्वानर नेत्र इत—नहिं आवत तो अन्ध मुनि ॥

---

* राजा अश्वपति ऋषिकुमार सत्ययज्ञ से कह रहे हैं—"हे प्राचीन योग्य ! तुम किस आत्मा की उपासना किया करते हो ? सत्ययज्ञ ने कहा—"भगवन् ! राजन् ! मैं तो आदित्य की उपासना करता हूँ ।" इस पर राजा ने कहा—"यह 'विश्वरूप' नाम का वैश्वानर आत्मा है । इसकी उपासना के प्रभाव से ही बहुत-सा विश्वरूप सम्बन्धी वैभव दृष्टिगोचर हो रहा है ।"

विद्युत का सग्रह स्थल एक है। स्थान-स्थान पर उसे ग्रहण करने के संयन्त्र लगे हैं। कोई उस संयन्त्र से घर में प्रकाश करते हैं, कोई पंखे चलाते हैं, कोई उसके द्वारा कूप से जल निकालते हैं, कोई चक्की चलाकर आटा पीसते हैं, कोई कुट्टी कूटते हैं कोई तिल, सरसों पेर कर उससे तैल बनाते हैं। कोई वस्त्र बनाते हैं, कोई सूत कातते हैं, कोई, गुड़, शक्कर तथा चीनी आदि बनाते हैं। कोई सुरा निर्माण करते हैं, कोई उसी से रोगों का उपचार करते हैं। यद्यपि ये सब कार्य होते तो विद्युत से ही हैं, किन्तु ग्रन्थ छापने वाला कहे—"विद्युत् से केवल ग्रन्थ ही छपते हैं, आटा पीसने वाला कहे—"विद्युत् से केवल आटा ही पीसा जाता है, पानी निकाने वाला कहे विद्युत् से केवल जल ही निकाला जाता है, तो यह विद्युत् के महत्त्व को न्यून करना है। विद्युत् में तो प्रकाशन शक्ति, धारण शक्ति, पोषण शक्ति, शोषण शक्ति, पाचन शक्ति, रोग विनाशक शक्ति, मारणशक्ति आदि-आदि सभी शक्तियाँ हैं। जो विद्युत को सर्वकार्यरता के रूप मे जानते हैं, वास्तव में वे ही विद्युत् के विशेषज्ञ हैं, जो उसके एक देशीय लाभ के प्रशंसक हैं, कार्य तो उनका भी समुचित रूप से होगा, फिर भी वे विशेषज्ञ नहीं कहे जा सकते। उन्हें अल्पज्ञ–अल्प लाभ प्रापक–ही कहा जायगा। यही बात विराट् वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में है। ये समस्त शक्तियाँ विराट् द्वारा–वैश्वानर आत्मा द्वारा-ही संचालित हैं, किन्तु अज्ञानी लोग विराट् के महान रूप की उपासना न करके उसके अंगभूत–अवयवों की उपासना में ही सलग्न रहते हैं। इसी कारण वे उसके सर्वात्मरूप के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। कोई दयालु विशेषज्ञ ही उनके इस संकुचित-परिमित भाव को दूर करने में समर्थ हो सकता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उपमन्यु तनय प्राचीनशाल से

उनके उपास्य के सम्बन्ध में पूछने के अनन्तर राजर्षि अश्वपति ने पुलुष-पुत्र सत्ययज्ञ से पूछा। प्रतीत होता है उनका एक नाम प्राचीन योग्य भी होगा। या गुणात्मक सम्बन्ध होगा कि आप हो तो नवीन ही अवस्था के किन्तु योग्यता में प्राचीनों के सदृश हो। कुछ भी हो राजा ने उन्हें इसी नाम से सम्बोधित करके पूछा—"हे प्राचीन योग्य! अब आप भी बताइये कि आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

इस पर अत्यन्त ही नम्रता के साथ सत्ययज्ञ ने कहा—"हे पूजनीय भगवन्! राजन्! मैं तो आदित्य रूप में ही वैश्वानर आत्मा की उपासना करता हूँ।"

इस पर महाराज अश्वपति ने कहा—"यह तो [illegible] उपासना हुई।"

सत्ययज्ञ ने पूछा—"क्या यह वैश्वानर आत्मा [illegible]?"

अश्वपति ने कहा—"क्यों नहीं, वैश्वानर [illegible] ही उपासना है, किन्तु समग्र वैश्वानर की न होकर [illegible] की उपासना है। जिसके द्वारा विश्व [illegible] आदित्य की उपासना अङ्ग भूत [illegible]?"

इस पर सत्ययज्ञ ने पूछा—"[illegible] निरर्थक है।"

अश्वपति ने कहा—"[illegible] है। यदि निरर्थक होती तो [illegible] इस उपासना के [illegible] आपके कुल में [illegible] गये हैं। आप [illegible] हैं। आपके यहाँ [illegible] दासियाँ आपके [illegible]।

के हाथों द्वारा मण्डित हैं। आपकी जठराग्नि भी तीव्र है। आप जो अन्न भक्षण करते हैं, वह भली-भाँति पच जाता है। आप पुत्र, पौत्र, स्वजन-बन्धु-बान्धवों का आनन्द सहित दर्शन कर रहे हैं। आपके कुल के लोग सब ब्रह्मवर्चस सम्पन्न हैं। आप ही नहीं जो भी आदित्य रूप से इस आत्मा की उपासना करेगा, उसे भी आप के सदृश वैभव की प्राप्ति होगी उसके यहाँ भी वाहन, धन, सम्पत्ति, सतति तथा ब्रह्मतेज की प्राप्ति होगी। किन्तु मुनिवर! यह वैश्वानर नहीं है। यह तो उस वैश्वानर आत्मा का नेत्र स्थानीय है।"

आपने बड़ा अच्छा किया, जो आप वैश्वानर आत्मा के उपदेश के निमित्त मेरे पास आ गये। यदि आप यहाँ न आते तो अन्धे हो जाते।

शौनकजी ने पूछा—"अन्धे हो जाने का भाव क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! श्रुति और स्मृति ये ही नेत्र हैं, जो इन नेत्रों से रहित है, वह अन्धे व्यक्ति के समान है। राजा के कहने का भाव यह ही है, कि यदि आप अङ्गभूत आत्मा को समग्र अंगी मानकर उपासना करते रहते, तो तुम्हें ज्ञान की प्राप्ति न होती, अन्धों के सदृश ससार में इधर से उधर भटकते रहते। पुनः-पुनः जन्मते और मरते रहते। अच्छा हुआ आप वैश्वानर की जिज्ञासा से मेरे समीप आ गये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! प्राचीनशाल और सत्ययज्ञ से पूछने के अनन्तर महाराज अश्वपति भल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न से उनके उपास्य के सम्बन्ध में पूछते हुए कहने लगे—"हे वैयाघ्रपद गोत्रीय मुनिवर इन्द्रद्युम्नजी! आप भी अपने उपास्य के सम्बन्ध में बताइये। आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

परम नम्रता के साथ मुनि पुत्र इन्द्रद्युम्न ने उत्तर दिया—

"पूजनीय भगवन्! राजन्! मैं तो वायु की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"यथार्थ है, यह तो पृथग् वर्मा उपासना है?"

इन्द्रद्युम्न ने पूछा—"क्या यह वैश्वानर उपासना नहीं है?"

राजा ने कहा—"यह समग्र वैश्वानर उपासना नहीं है। यह तो वैश्वानर का अंश है। केवल वैश्वानर का प्राण है।"

इन्द्रद्युम्न ने पूछा—"तो क्या यह उपासना व्यर्थ है?"

राजा ने कहा—"व्यर्थ क्यों है, सार्थक ही है। इसी उपासना के प्रभाव से तो पृथक् पृथक् देशवासी आपके लिये पृथक् पृथक् उपहार लाते हैं। आपके पीछे जो रथ की पंक्तियाँ चलती हैं, उनमें पृथक् पृथक् रंग के पृथक् पृथक् रूप के, पृथक् पृथक् देशों के, पृथक् पृथक् जातियों के घोड़े खच्चर जुते रहते हैं, ऐसे बहुत से रथ आपके पीछे पीछे चलकर आपका अनुगमन करते हैं। आपकी जठराग्नि तीव्र है आप जो खाते हैं वह सम्यक् प्रकार से पच जाता है। आपके कुल में पुत्र पौत्र हैं, सभी पुरुष ब्रह्मवर्चस्वी हैं। आपकी ही भाँति जो वायु आत्मा की उपासना करेगा उसके यहाँ, वाहनों की, कुटुम्ब परिवार की, ब्रह्म तेजस्वी पुरुषों की कमी न रहेगी। किन्तु ब्रह्मन्! यह समग्र वैश्वानर आत्मा की उपासना नहीं है। यह उस आत्मा का प्राण है। अच्छा हुआ आप समग्र वैश्वानर आत्मा की जिज्ञासा से मेरे पास आ गये। आप यदि न आते तो निष्प्राण हो जाते। आपके प्राण उत्क्रमण कर जाते।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण उत्क्रमण कर जाते, इसका तात्पर्य क्या है?"

सूतजी बोले—"भगवन् यह कहने की परिपाटी है, कि चिकित्सक के पास जाओ, आपका रोग देखकर वह यही कहेगा

अच्छा हुआ जो आप मेरे पास आ गये, नहीं यह रोग ऐसा है, कि प्राण लेकर ही छोड़ता है। अब कोई चिन्ता की बात नहीं।"

ब्रह्मन्! बिना समग्रज्ञान के प्राणी मृतक सदृश ही है। अधूरे ज्ञान वाला तो जीते हुए भी मृतक ही है। अतः समग्र वैश्वानर आत्मा को न जानने से, एक प्रकार से आप प्राणहीन हो रहते। यही इसका अभिप्राय है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब तक राजा ने प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ और इन्द्रद्युम्न इन तीन ऋषिकुमारों से उनकी उपासना के सम्बन्ध में पूछा। शेष तीनों से वे जैसे पूछेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पुनि नृप बोले—इन्द्रद्युम्न! तुम कवन उपासन।
वायु उपासन करूँ वह्नि मुनि सुत भूपति सन॥
पथक् वर्त्म यह अन्न पृथक् उपहार मँगावै।
रथ युत सपति मिलै पचै जिहि अन्नहिं खावै॥
किन्तु प्राण यह आत्म को, यदि नहिं आते मुनि! इतै।
प्राण हीन ह्वै जात तुम, भये ज्ञान बिनु नर कितै॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के पंचम अध्याय में
त्रयोदश चतुर्दश खण्ड समाप्त।

राजर्षि अश्वपति और जन आदिक मुनियों का सम्वाद

(१८०)

अथ होवाच जनं शार्कराक्ष्यं त्वात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥*

(छां० उ० ५ अ० १५ खं १ म०)

छप्पय

पुनि नृप जनतें कहैं—उपासन तुमहु बताओ ।
'मम उपास्य आकाश' नाम बहुसज्ञ कहायो ॥
याही ते धन विपुल तीव्र जठराग्नि कहाओ ।
ब्रह्मतेज प्रियदरस श्रेष्ठ कुलमें कहलाओ ॥
सब साधक हू फल लहैं, किन्तु मध्यतन भाग वह ।
यदि इत नहिं आवत सुरत, नष्ट होत 'सदेह' यह ॥

---

* इसके पश्चात् राजा अश्वपति ने ऋषिकुमार जन से कहा—"हे शार्कराक्ष्य ! तुम भी बताओ तुम किसकी उपासना करते हो ?" जन ने कहा—पूजनीय भगवन् ! राजन् ! मैं तो आकाश की उपासना करता हूँ।" इस पर राजा ने कहा—जिसकी तुम उपासना करते हो यह तो बहुल सज्ञक वैश्वानर आत्मा है।" इसी कारण सन्तति तथा धन के कारण तुम बहुल हो गये हो।

श्री मद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में अत्यन्त ही संक्षेप मे सृष्टि का जैसा अद्भुत वर्णन है। वैसा सुस्पष्ट वर्णन कहीं भी देखने मे नहीं आता। श्रीमद्भागवत के बारहों स्कन्धों में दूसरा स्कन्ध ही बहुत क्लिष्ट और गम्भीर है। उसे यथार्थ रूप में समझने वाले बहुत कम विद्वान् मिलते हैं। मुझे एक महात्मा ने द्वितीय स्कन्ध के सम्बन्ध मे एक बड़ी ही सुन्दर मनोरञ्जक बात सुनायी।

उन्होंने कहा—"लोग कहते हैं, ये पंडितजी भागवत के अद्वितीय विद्वान् हैं, इसका क्या अर्थ हुआ ?"

मैंने कहा—"यही अर्थ है, कि ये भागवत के बहुत बड़े विद्वान् हैं, इनकी टक्कर का दूसरा नहीं।"

वे बोले—"नहीं, यह अर्थ नहीं है। इसका अर्थ है ये पंडित ग्यारह स्कन्धों के तो विद्वान् हैं, केवल द्वितीय स्कन्ध को छोड़कर।"

बात तो हँसी की थी, किन्तु वास्तविक बात यही है, कि विधिवत् दूसरा स्कन्ध समझ में आ गया, तो आगे की भागवत समझ में आ जायगी। द्वितीय स्कन्ध के पहिले अध्याय में तो ध्यान-विधि बताकर भगवान के विराट् स्वरूप का संक्षेप मे वर्णन किया है। दूसरे में परमात्मा के स्थूल सूक्ष्म रूपों की धारणा बताकर क्रम मुक्ति और सद्योमुक्ति का स्वरूप बताया है। तीसरे मे कामनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासनायें बतायी हैं और उपनिषदों से भी अधिक विशेषता यह बतायी है, कि भगवद्भक्ति की प्रधानता का निरूपण किया है।

प्रथम स्कन्ध के अन्त में शुकदेवजी के आने पर राजा परीक्षित् ने यही प्रश्न किया था, कि जिसकी मृत्यु निकट आ गयी है, 'उसे क्या क्या करना चाहिये और क्या-क्या छोड़ना चाहिये।' केवल इसी प्रश्न के उत्तर में भगवान् शुक ने ये तीन अध्याय कह

दिये और सार यही बताया कि पुरुष को भगवान् की भक्ति करनी चाहिये। इस पर शौनकजी ने आगे की जिज्ञासा की, कि राजा परीक्षित्जी ने शुकदेवजी से पुनः क्या-क्या प्रश्न किये ? इस पर चौथे अध्याय में राजा ने बहुत से प्रश्न एक साथ ही कर डाले। इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर सम्पूर्ण भागवत में है। कथा पाँचवें अध्याय से आरम्भ होती है। पाँचवें अध्याय में सृष्टि कैसे हुई इसका वर्णन है। नारदजी ने अपने पिता ब्रह्माजी से बहुत से प्रश्न किये और कहा—"आप सर्वज्ञ हैं, आप ही स्वतन्त्रता से इस सम्पूर्ण सृष्टि को करते हैं, आप सर्व स्वतन्त्र हैं, क्या आपसे भी कोई बड़ा है ?

इस पर हँसकर ब्रह्माजी ने कहा—"अरे, भैया ! हम काहे के स्वतन्त्र हैं। अंशी तो भगवान् हैं। जैसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, ग्रह नक्षत्र तारे उनके अंश हैं वैसे ही मैं भी अंश हूँ वे भगवान् ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव ये सब ही बन जाते हैं। ये सब भगवान् के ही अंशभूत हैं। जब उनका एक से बहुत होने की इच्छा होती है, तभी वे काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार करके त्रिगुणात्मक सृष्टि को करते हैं। फिर ब्रह्माण्ड कैसे बना और भगवान् अन्तर्यामी रूप से उसमें कैसे प्रविष्ट हुए इसका वर्णन किया है। फिर उन्होंने उसे विराट् पुरुष (वैश्वानर) के शरीर में इस जगत् की उपासना के निमित्त कई प्रकार से वर्णन किया। उसी विराट् के कमर से नीचे के अंगों में सात पातालों की और पेट से ऊपर के अंगों में सात स्वर्ग ऊपर के लोकों की कल्पना की।

दूसरी कल्पना यह की, कि ब्राह्मण उसके मुख हैं, क्षत्रिय भुजायें हैं, वैश्य जाँघ हैं और शूद्र पैर हैं।

तीसरी कल्पना यह की, कि पैरों से लेकर कटि पर्यन्त तो

भूलोक तथा अतल वितलादि सातों भू के विवर हैं। नाभि में भुवर्लोक, हृदय में स्वर्गलोक, वक्षःस्थल में महर्लोक, कंठ में जनलोक, दोनों स्तनों में तपलोक, मस्तक में ब्रह्मलोक या सत्यलोक है।

चौथी कल्पना यह की, कि कमर में अतल, जाँघों में वितल, घुटनों में सुतल, पिंडलियों में तलातल, टखनों में महातल, पंजे और एड़ियों में रसातल और तलुओं में पाताल है। कमर के ऊपर के सातों अंगों में सात ऊपर के स्वर्गादिलोक हैं।

पाँचवीं कल्पना यह की कि चरणों में भूलोक नाभि में भुवर्लोक और सिर में स्वर्गलोक। इस प्रकार समस्त विश्व ब्रह्माण्ड उन्हीं का रूप है। इस वैश्वानर उपासना में द्युलोक (स्वर्गादि समस्त लोक) इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक है। आदित्य उसके नेत्र हैं, वायु, प्राण, आकाश शरीर का मध्य भाग, जल उसका वस्ति स्थान (जहाँ मूत्र एकत्रित होता है) और पृथ्वी उस वैश्वानर आत्मा के चरण हैं। ये सब संकुचित उपासनाओं से हटाकर महान् विराट् की उपासना के निमित्त कल्पनायें हैं। वेद का वचन है दीर्घ देखो, ह्रस्व को मत देखो पर को देखो अपर को मत देखो, अल्प को मत देखो महान् को देखो। यद्यपि पृथ्वी जल, तेज, वायु आकाश तथा स्वर्ग सब आत्मा के ही अंश हैं, किन्तु तुम जिस अंशी के ये सब अंश हैं उसकी उपासना करो नहीं तो तुम संसार चक्र में परिभ्रमण ही करते रहोगे। जन्म मृत्यु के चक्कर से नहीं छूट सकोगे।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! तीन मुनि पुत्रों से पूछने के अनन्तर राजर्षि अश्वपति ने चौथे जन से पूछा—"हे शार्कराक्ष्य! तुम किसकी उपासना करते हो?"

जन ने कहा—"मैं तो आकाश की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"यह तो बहुल संज्ञक आत्मा की उपासना है।"

जन ने कहा—"क्या यह वैश्वानर नहीं है ?"

राजा ने कहा—"है क्यों नहीं, किन्तु यह समग्र वैश्वानर नहीं है। यह वैश्वानर का सन्देह (शरीर का मध्य भाग) ही है।"

जन ने पूछा—"तो क्या इसकी उपासना निरर्थक है ?"

राजा ने कहा—"निरर्थक क्यों है। सार्थक ही है इसी उपासना के प्रभाव से तो तुम धन सम्पत्ति और पुत्र परिवार के कारण बहुल हो गये हो। खाते हुए अन्न को विधिवत् पचाते हो, अपने प्रियजनों का दर्शन करते हो, जो भी इस आकाश रूप वैश्वानर आत्मा की उपासना करेगा, उसे भी ये सब लौकिक वैभव प्राप्त हो जायँगे, किन्तु वैश्वानर के केवल शरीर के मध्य भाग की उपासना संकुचित उपासना है, वह लौकिक फल ही दे सकती है। जन्म मृत्यु से छुटकारा नहीं दिला सकती। अच्छा तुम मेरे पास आ गये नहीं तो तुम्हारा शरीर का मध्य भाग नष्ट हो जाता।

शौनकजी ने पूछा—"मध्य भाग नष्ट होने का अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"इसका अर्थ यह है, कि तुम मृत्यु को प्राप्त हो जाते। तुम्हारा शरीर नष्ट हो जाता।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! मरते तो सभी हैं। [illegible] धारी है, वह एक न एक दिन मरेगा अवश्य यह [illegible]

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! ज्ञानी कभी [illegible] मरता है उसका जन्म अवश्य होता है, [illegible] वह मरता अवश्य है। ज्ञानी जन्म-मरण से [illegible] मर जाते अर्थात् अज्ञानी बने रहते। यही [illegible]

हाँ तो चार ऋषिकुमारों से पूछने के अनन्तर राजा ने पाँचवें अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से पूछा—"हे वैयाघ्रपद्य ! तुम भी बताओ, तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ?"

परम नम्रता के साथ बुडिल ने कहा—"माननीय भगवन् ! राजन् ! मैं तो जल की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह रयि सञ्ज्ञक है।"

बुडिल ने कहा—"क्या यह वैश्वानर नहीं है ?"

राजा ने कहा—"है क्यों नहीं। किन्तु समस्त वैश्वानर नहीं है, उसका एक अंग है।"

बुडिल ने पूछा—"तो इसकी उपासना का कोई फल नहीं ?"

राजा ने कहा—"फल क्यों नहीं। रयि कहते हैं धन को। इसी उपासना के कारण तो तुम धनवान् और पुष्टिवान् हो। तुम खाये हुए अन्न को यथेष्ट पचाते हो, प्रिय दर्शन करते हो, जो भी इस जल रूप वैश्वानर की उपासना करता है उसको ये सब धन वैभव आरोग्यता सन्तति की प्राप्ति होती है, फिर भी यह वैश्वानर आत्मा का वस्तिस्थान है, अच्छा हुआ तुम यहाँ मेरे पास आ गये यदि यहाँ मेरे पास न आते तो तुम्हारा वस्तिस्थान गिर जाता।"

शौनकजी ने पूछा—"वस्तिस्थान गिर जाता इसका क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"विराट् भगवान् के जल को—वीर्य को—ही जीवन कहते हैं। अर्थात् तुम्हारा जीवन नष्ट हो जाता। निरर्थक बन जाता। जो महान् की उपासना छोड़कर स्वल्प की उपासना करता है, उसका एक प्रकार से जीवन नष्ट हुआ ही समझना चाहिये।"

हाँ तो पाँच ऋषिकुमारों से पूछने के अनन्तर अब जो इन पाँचों को लेकर इनके सग अरुण पुत्र आरुणि उद्दालक आये थे उनसे भी राजा ने पूछा—"हे गौतमगोत्रीय उद्दालक ! तुम भी बताओ, तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ?"

इस पर महर्षि आरुणि ने शिष्टता के साथ उत्तर दिया—माननीय पूज्य भगवन् ! राजन् ! मैं तो पृथ्वी का उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"यह प्रतिष्ठा सञ्ज्ञक आत्मा है।"

आरुणि ने पूछा—"क्या यह वैश्वानर नहीं है।"

राजा ने कहा—"है क्यों नहीं, किन्तु यह वैश्वानर का अंश है।"

आरुणि ने पूछा—"इसकी उपासना का कुछ फल नहीं क्या ?"

राजा ने कहा "फल न होता, तो आज आपका इतना प्रतिष्ठा न होती। आप बहुत सी सन्तति के द्वारा, बहुत से पशुओं के कारण जगत् में परम प्रतिष्ठित बने हुए हो। जो खात हो, वह पूर्णरीत्या पच जाता है, आप शरीर से नीरोग हो, प्रिय दर्शन करते हो। जो इस पृथ्वी रूप वैश्वानर आत्मा की उपासना करेगा, वह भी आपके समान धन, सम्पत्ति, प्रजा, पशु, प्रिय-दर्शन और अतुल वैभव के कारण प्रतिष्ठित हो जायगा, किन्तु यह पूर्ण वैश्वानर का उपासना नहीं है यह तो वैश्वानर आत्मा के चरण मात्र हैं। अच्छा हुआ आप इन पाँचों ऋषिकुमारों के साथ मेरे पास आ गये। यदि आप न आते, तो आपके चरण गिर जाते।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! चरण गिर जाते इसका तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! चरणों के अधिष्ठातृदेव श्री विष्णु हैं। अर्थात् तुम यहाँ न आते तो पृथ्वी के धन वैभव में ही पड़े रह जाते। विष्णु-उपासना से वञ्चित हो जाते।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजा अश्वपति ने छेऊ ऋषिकुमारों की द्युलोक आदित्य आकाश, वायु, जल और पृथ्वी इन उपासनाओं को अंश उपासना बताया। अब वे जैसे वैश्वानर की समस्तोपासना का इन सभी ऋषिकुमारों को उपदेश करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इस महत्त्व पूर्ण प्रसंग को एकाग्रचित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

तब नृप बोले—बुडिल! करो तुम काहि उपासन।
'हौं तो जल की करौं' बुडिल यों कर्‌यो प्रकाशन॥
रयि-संज्ञक यह आत्म होहि धनवान उपासक।
प्रिय दरशन जठराग्नि तीव्र तेजस्वी साधक॥
किन्तु आतमा वस्ति यह, यदि तुम नहिं आवत इतहिं।
वस्ति फटत तुमरी तुरत, वस्तिहीन होवैं उतहिं॥१॥

उद्दालक तैं भूप कहें—तुम कहौ सुशासन।
को उपास्य? मुनि कहें—भूमि की करूँ उपासन॥
जाहि प्रतिष्ठा कहें, प्रतिष्ठित होइ उपासक।
अन्न पचै धन तेज बढ़ै होवै भू शासक॥
किन्तु आत्मके चरण यह, यदि इत आवत नहीं मुनि।
चरण शिथिल है जात तब, निर्भय हौं अब ज्ञान सुनि॥२॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में पञ्चदश,
षोडस और सप्तदश खण्ड समाप्त।

समग्र वैश्वानर की उपासना के सम्बन्ध में राजर्षि अश्वपति का उपदेश

[१८१]

तान्होवाचैते वै खलु यूय पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वा ँ सोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्र-मभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेष भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥❀

(छां० उ० ५ प्र० १८ खं० १ म०)

छप्पय

वैश्वानर कूँ पृथक् मानि तुम अन्नहिँ खाओ ।
सबहिँ व्याप्त प्रादेशमात्र ब्रह्महिँ नहिँ ध्याओ ॥
सीमित सीमित फलहिँ असीमित निस्सीमहिँ फल ।
करै उपासन सर्व व्याप्त सबमें खावै मल ॥
दिवि सिर, सूरज चक्षु है, वायु प्राण स हु बहुल है ।
वह्नि नार भू चरन द्वय, वेदी वक्षःस्थलहु है ॥

❀ राजर्षि अश्वपति उन छैऊ ऋषिकुमारो से कह रहे हैं—"तुम सब वैश्वानर की उपासना करके अन्न भक्षण करते तो हो, आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर उपासना करते हो, किन्तु जो सबमें व्याप्त इस समग्र वैश्वानर आत्मा को प्रादेशमात्र मानकर उपासना करता है वह सम्पूर्ण लोकों में, सम्पूर्ण भूतों मे, सम्पूर्ण आत्माओं मे, अन्न का भक्षण करता है । अर्थात् सभी मे अपने आपको ही भोगता हुआ अनुभव करता है ।"

वे सर्वगत सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी प्रभु ही समस्त प्राणियों का हृदयरूपी गुफा में बैठकर समस्त कार्य करा रहे हैं। वे ही समस्त प्राणियों के शरीरों में जठराग्नि रूप से—वैश्वानर बनकर—प्राणियों के खाये हुए, पीये हुए, चाटे हुए और चूसे हुए अन्नों को प्राण और अपान को सम करके पचाते रहते हैं। वास्तव में जो सबके सब अन्नों को सर्वत्र, सर्वकाल में पचाता है, वही सर्व व्यापक विराट् वैश्वानर है। जितने भी देवगण हैं सब उनके अंश हैं। अंशी वे ही विराट् भगवान हैं। जो अंश की उपासना करेगा, उसे उतने ही अंशों में सीमित फल मिलेगा। और जो समग्र अंशी की समग्रभाव से उपासना करेगा उसे समग्र फल की प्राप्ति होगी।

श्रीमद्भागवत में ऐसी अंशभूत सकाम उपासनाओं का वर्णन है। जैसे जो चाहता हो मुझे ब्रह्मतेज की प्राप्ति हो, तो उसे बृहस्पति जी की उपासना करनी चाहिये। इन्द्रियों में यथेष्ट बल की कामना से इन्द्र की, सन्तान की कामना से प्रजापतियों की, लक्ष्मी की कामना से मायादेवी की, तेज की कामना से अग्नि की, धन की कामना से वसुओं की, वीर्य कामना से रुद्रों की, अन्न की कामना से आदित्यों की, राज्य कामना से विश्वेदेवों की, प्रजानुकूल बनाने को साध्यों की, दीर्घ आयु की कामना से अश्विनीकुमारों की, पुष्टि कामना से भूमि की, प्रतिष्ठा के लिये भू और द्यौ की, सौन्दर्य की कामना से गन्धर्वों की, पत्नी की कामना से उर्वशी की, आधिपत्य की कामना से ब्रह्मा जी की, यश के लिये यज्ञपुरुष की, कोश की कामना से वरुण की, विद्या के लिये गिरिजेश शंकर की, पति पत्नी में प्रेम की कामना से उमादेवी की, धर्म कामना से विष्णु की, वंशपरम्परा अक्षुण्ण बनी रहने की कामना से पितरों की, बाधाओं से बचने को यक्षों की, बलवान्

बनने को मरुद्गणों की, राज्य कामना से मनुओं की, अभिचार के लिये निर्ऋति की, और भोग कामना से चन्द्रमा की उपासना करनी चाहिये।

यद्यपि ये समस्त देवगण उन विराट् प्रभु के वैश्वानर भगवान् के-अंश हैं, किन्तु इन सबका मर्यादा सीमित हैं। आप जिस कामना से इनकी उपासना करोगे आपकी वही कामना पूरी हो सकती है। वह भी तब जब आपकी उपासना विधिपूर्वक निर्विघ्न सम्पन्न हो। आप चाहते हों, कि एक ही देवता से पुत्र, धन, प्रतिष्ठा, अन्न, सुख, भुक्ति मुक्ति सब ले लें सो असम्भव है। क्योंकि इन देवों के अधिकार सीमित हैं। अपनी सीमा के ही भीतर और उपासक की कामना के अनुसार ही ये सब फल देंगे। किन्तु जो समस्त पुरुषों में उत्तम हैं जो समस्त पुरुषों से परे हैं, सब अंशों के अंशीमात्र है। जो परमपुरुष, परमात्मा, परब्रह्म, परात्पर प्रभु विराट् भगवान् वैश्वानर हैं उनकी उपासना चाहें सकाम करो, निष्काम करो अथवा मोक्ष की कामना से करो वे सबके सब फल देने में समर्थ हैं। अत अंश की उपासना न करके अंशी की उपासना करनी चाहिये। क्योंकि अंश तो इस लोक के तथा स्वर्गलोक के भोगों को ही दे सकते हैं और अंशी जो चाहें भुक्ति मुक्ति तथा भक्ति सब कुछ देने मे समर्थ है। यही बात राजर्षि अश्वपति ने प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल और उद्दालक इन ६ ऋषि कुमारों को बतायी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजर्षि अश्वपति ने छैऊ ऋषिकुमारों की उपासना के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर ली, तब उन्होंने सबको सम्बोधित करके कहा—"आप लोग इस वैश्वानर आत्मा को पृथक् पृथक् मानकर अन्न भक्षण करते हैं। वास्तव में आपकी उपासना समग्र वैश्वानर उपासना न होकर

उस परमात्मा के एक-एक अंश की ही उपासना है। जो सम्पूर्ण वैश्वानर है जो विश्वब्रह्माण्ड में अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं उसकी उपासना नहीं करते। इसी कारण आपको भागने का पृथ्वी के सीमित भाग ही प्राप्त होते हैं। जो कोई मुमुक्षु उपासक विगतमान–सीमा अवधि रहित प्रादेशमात्र वैश्वानर की उपासना करते हैं वे समस्त लोकों में, समस्त प्राणियों में और समस्त आत्माओं में अन्न भक्षण करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"अन्न भक्षण करते हैं इसका क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"यहाँ अन्न से अभिप्राय सभी प्राणियों के भोग्य पदार्थ से है। यथार्थ में सभी प्राणियों का भोग्य तो वह परब्रह्म ही है। जो समस्त प्राणियों में उस जीवों की समस्त गतियों के नेता को अथवा समस्त नरों में व्याप्त हो उस वैश्वानर को सबमें समान भाव से मानता है, वह सभी के मुख से स्वयं ही अन्न खाता है। सभी के द्वारा सभी भोगों का भोक्ता है। वह जो वैश्वानर के समग्र रूप का ज्ञाता है वह सर्वात्मभाव से–समष्टि रूप से–भोग भोगता है। अज्ञानियों की भाँति व्यष्टि रूप में ही अपने ही निमित्त अन्न नहीं खाता।"

शौनकजी ने पूछा—"उस वैश्वानर का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप कैसा है ?"

सूतजी ने कहा—"उन छैऊ ऋषिकुमारों की उपासना सुनकर राजर्षि अश्वपति बताते गये थे, कि यह पूर्ण वैश्वानर न होकर अमुक वैश्वानर का सिर है, चक्षु, प्राण, बहुल, वरित तथा चरणादि हैं। उसी को पूर्ति करके भगवती श्रुति वैश्वानर के सम्पूर्ण रूप का वर्णन करती हुई कहती है—"उस विराट् वैश्वानर आत्मा का सुतेजा नाम वाला द्युलोक तो मूर्धा-मस्तक है। उसका

विश्वरूप नामक आदित्य चक्षु हैं प्रत्यग्वर्त्मा नामक वायु उसका प्राण है आकाश जिसे बहुल भी कहते हैं वह सन्देह–देह का मध्य भाग है। जल जिसे रयि भी कहते हैं, वह उस वैश्वानर का वस्ति स्थान (जहाँ मूत्र एकत्रित होता है वह) है। पृथ्वी जिसको प्रतिष्ठा भी कहते हैं वह उसके चरण हैं। उसके शरीर का वक्षः-स्थल ही मानो यज्ञ की वेदी है। यज्ञ की वेदी के चारों ओर जो कुशायें बिछायी जाती हैं वे दर्भ मानों उसके लोम–रोयें–हैं। तीन प्रकार की अग्नियों में से मानों हृदय ही गार्हपत्याग्नि है। उसका मन ही अन्वाहार्यपचन–दूसरी दक्षिणाग्नि–है और मुख ही मानो उसकी तीसरी आहवनीयाग्नि है।

इसलिये बाह्य हवन की अपेक्षा वैश्वानर में ही आत्मा में हवन करना चाहिये। अपने सम्मुख जो भी अन्न आवे उस में से पंचग्रास लेकर पंच प्राणों को प्रथम आहुति देनी चाहिये। अन्न के भोक्ता को चाहिये कि "प्राणाय स्वाहा" ऐसा कहकर प्रथम आहुति मुख्य प्राण को दे। ऐसा करने से समष्टि में व्याप्त मुख्य प्राण तृप्त होते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"प्राण के तृप्त होने पर भोक्ता की तृप्ति कैसे होगी ?"

सूतजी ने कहा—"क्यों, भगवन् ! इस जगत् में प्राण ही तो मुख्य हैं। प्राणों के बिना सभी प्राणी-निष्प्राण–शव–हो जाते हैं। प्राणों की तृप्ति से नेत्रेन्द्रियों के अभिमानी देव तृप्त होते हैं। नेत्र के अधिष्ठातृ देव सूर्य हैं, नेत्रों के तृप्त होने पर सूर्य तृप्त हो जाते हैं। सूर्य द्युलोक में रहते हैं सूर्य में और द्युलोक में स्व स्वामिभाव होता है अतः सूर्य के तृप्त होने पर द्युलोकाभिमानी देव 'स्वर्गलोक' तृप्त होते हैं। द्युलोक के तृप्त होने पर जिस सम्बन्ध से द्युलोकाभिमानी और सूर्यलोकाभिमानी देवता से अधिष्ठित जो भी

वस्तुजात देव हैं वे तृप्त होते हैं उनके तृप्त होने पर प्राणों में जो "प्राणाय स्वाहा" कहकर हवन करने वाला जो उपासक है, वह पुत्र पौत्रादि प्रजाओं द्वारा, उपयोगी पशुओं द्वारा, अन्नाद्य द्वारा, तेज द्वारा तथा ब्रह्मवर्चस–ब्रह्मतेज द्वारा स्वयं भी तृप्त होता है। अतः खाने के पूर्व अन्न को "प्राणाय स्वाहा" कहकर मुख में प्रथम ग्रास रूपी आहुति देनी चाहिये।"

अब दूसरी आहुति "व्यानाय स्वाहा" इस मन्त्र से देनी चाहिये। इस आयुति से व्यान तृप्त होता है। व्यान के तृप्त होने पर श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होती हैं, श्रोत्रियेन्द्रिय के देवों की तृप्ति होने से चन्द्रदेव तृप्त होते हैं, चन्द्रमा के तृप्त होने पर श्रोत्रेन्द्रिय के अधिष्ठातृ देव दिशायें तृप्त होती हैं। दिशाभिमानी देवता की तृप्ति से जिन दिशाभिमानी देवताओं से और चन्द्राभिमानी से अधिष्ठित जो भी कुछ वस्तु जात है उसके अभिमानी देव तृप्त होते हैं। इन सब के अभिमानी देवताओं की तृप्ति के पश्चात् स्वयं जिसने प्राण अग्नि में हवन किया है ऐसा साधक–हवनकर्ता यजमान–प्रजाओं के द्वारा अन्नाद्य–खाद्य पदार्थों द्वारा–उपयोगी पशुओं द्वारा, तेज द्वारा तथा ब्रह्मवर्चस ब्रह्म तेज द्वारा–तृप्ति को प्राप्त करता है। प्राण हृदय में रहता है और व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। जीवात्मा हृदय प्रदेश में रहता है और उसका प्रकाश–तेज–सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। जैसे दीपक घर के एक देश में बैठा रहता है, किन्तु उसका प्रकाश पूरे घर के कोने में व्याप्त हो जाता है। हृदय प्रदेश से मुख्य-मुख्य सौ नाड़ियाँ निकल कर सम्पूर्ण शरीर में फैली रहती हैं। इन सौ में से प्रत्येक की सौ-सौ शाखा नाड़ियाँ निकलती हैं इस प्रकार दश सहस्र नाड़ियाँ हैं। इन दश सहस्र नाड़ियों में से प्रत्येक में से बहत्तर-बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म निकलती हैं। इस प्रकार

शरीर की छोटी बड़ी सभी नाड़ियाँ बहत्तर करोड़ हैं। व्यान रूप प्राण इन बहत्तर करोड़ नाड़ियों में व्याप्त रहता है। इसलिए यह सर्व व्यापक है। इसकी तृप्ति से दशों दिशायें तृप्त हो जाती हैं।"

अब तीसरी आहुति 'अपानाय स्वाहा' इस मन्त्र से देनी चाहिये। अपान के अधिष्ठातृ देव के तृप्त होने पर वाक् इन्द्रिय के अधिष्ठातृ देव तृप्त होते हैं। वाक् के तृप्त होने पर अग्निदेव तृप्त होते हैं, अग्निदेव के तृप्त होने पर पृथ्वी के अधिष्ठातृदेव तृप्त होते हैं, पृथ्वी के तृप्त होने पर जिस स्वामिभाव से पृथ्वी और अग्नि अधिष्ठित हैं। वह वस्तु जात उसके अभिमानी देव तृप्त होते हैं। उनकी तृप्ति के पश्चात् यज्ञकर्ता भोक्ता यजमान प्रजाओं के द्वारा, पशुओं के द्वारा अन्नाद्य-विविध भाँति के खाद्य पदार्थों-द्वारा, तेज द्वारा तथा ब्रह्मवर्चस ब्रह्मतेज द्वारा स्वयं तृप्त होता है। यह अपान वायु शरीर में पायु-मल द्वार-तथा उपस्थ-मूत्र द्वार-में रहता है। यही मल, मूत्र तथा अपानवायु को बाहर निकलता है यही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। स्त्रियों के गर्भस्थ शिशु को भी यही बाहर निकलता है। गुदा मंडलवर्ती यह अपान जीवन का आधार है। इसकी तृप्ति होने पर अग्नि पृथ्वी सभी तृप्त होते हैं

अब चौथी आहुति "समानाय स्वाहा" कहकर जठराग्नि में देनी चाहिये। इससे समान अधिष्ठातृ देव तृप्त होते हैं, उनके तृप्त होने पर मन के अधिष्ठातृदेव तृप्त होते हैं। मन के तृप्त होने पर पर्जन्य देव तृप्त होते हैं। पर्जन्य देव के तृप्त होने पर विद्युत् अधिष्ठातृदेव तृप्त होते हैं। विद्युत् देव की तृप्ति होने से जिस स्वामिभाव से विद्युत् और पर्जन्य अधिष्ठित हैं, वे देव तृप्त होते हैं, उनके तृप्त होने के अनन्तर यज्ञकर्ता साधक यजमान पुत्र पौत्रादि

सन्तानों द्वारा, उपयोगी पशुओं द्वारा अन्नाद्य-भोग्य पदार्थों-द्वारा तेज और ब्रह्मवर्चस द्वारा स्वयं भी होता है।

समान वायु शरीर के मध्य भाग में अर्थात् नाभि प्रदेश में रहता है। प्राणवायु शरीर को ऊपर की ओर खींचे रहता है, उद्गार-डकार-यह प्राण का धर्म है भीतर की वायु को ऊपर मुख से निकालता है। अपानवायु शरीर की स्थिति नीचे की ओर सम्हाले रहता है। यह अपानवायु को नीचे की ओर गुदा द्वारा निकालता है। समान वायु दोनों का सन्तुलन रखता है। इसी से शरीर स्थित रहता है। समान वायु यदि संतुलन न रखे तो शरीर स्थिर नहीं रह सकता जीवन लीला समाप्त हो जाती है।

अब पाँचवीं आहुति 'उदानाय स्वाहा' इस मन्त्र से देनी चाहिये। इससे उदान देव तृप्त होते हैं। उदान देव के तृप्त होने पर त्वचा के अधिष्ठातृदेव तृप्त होते हैं। उनके तृप्त होने पर वायुदेव तृप्त होते हैं, वायु के तृप्त होने पर आकाश देव तृप्त होते हैं, फिर जिस वस्तु जात से वायु और आकाश का स्वामि-भाव है वह उस वस्तु जात के अधिष्ठाता तृप्त होते हैं, उनकी तृप्ति के अनन्तर यज्ञकर्ता, साधक, यजमान, सन्तानों द्वारा, पशुओं द्वारा, भोग्य पदार्थों द्वारा तथा तेज और ब्रह्मवर्चस द्वारा स्वयं तृप्त होता है।

शरीर में उदान वायु कंठ में रहती है। जैसे हृदय में प्राण, गुदा देश में अपान, नाभि में समान कंठ में उदान और समस्त शरीर में व्यान नामक वायु रहता है। कुछ का मत है कण्ठ उसका मुख्य स्थान भले ही हो, किन्तु हाथ पैर तथा शरीर की समस्त सन्धियों में जैसे घुटने, टखने, कोहनी कलायी, कंठादि जहाँ से भी शरीर मुड़ जाता हो, वहाँ उदान वायु रहती है। उदान के तृप्त होने पर आकाश और उसमें बहने वाली वायु भी

तृप्त होती है। उसकी तृप्ति से अन्न भक्षण करने वाला भी तृप्त हो जाता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जानकर अन्न भक्षण करो, अथवा बिना जाने, मन्त्र पढ़कर अन्न भक्षण करो अथवा बिना मन्त्र के। अन्न जब जठराग्नि में जायगा, तो अपने आप ही समस्त देवता तृप्त हो जायँगे। अतः मन्त्रादि पढ़कर प्राण की आहुति देकर अन्न खाने की क्या आवश्यकता है।"

सूतजी ने कहा -"भगवन् ! महिमा जानकर उपयोग करने में और बिना महिमा जाने उपयोग करने में तो अन्तर होता ही है। अग्नि में विधिवत् देवताओं का नाम लेकर उनके उद्देश्य से सविधि हवन करने का परिणाम और होता है तथा बिना विधि जाने बुझी हुई अग्नि में वैसे ही साकल्य फेंक देने का परिणाम दूसरा ही होता है। अतः जो वैश्वानर विद्या को बिना जाने वैसे ही अन्न का भक्षण कर जाता है, विधिवत् हवन नहीं करता। उसका वह हवन इसी प्रकार है जिस प्रकार जलती हुई अग्नि को हटाकर भस्म में ही हवन किया जाय। भस्म में हवन करना जैसे व्यर्थ है, वैसे ही अविद्वान् का अन्न भक्षण रूप हवन व्यर्थ है।"

शौनकजी ने पूछा—"अच्छा जो इस विद्या को भली-भाँति जानकर इस पंच आहुति प्रधान हवन को करता है, उसका फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह तो इन पंच आहुतियों के प्रसंग में ही बताया जा चुका है, कि प्राण को आहुति देने पर कौन-कौन तृप्त होते हैं तथा व्यान, अपान, समान और उदान में आहुति देने पर कौन-कौन देवता तृप्त होते हैं। इसी प्रकार जो इस वैश्वानर आत्मा की विधिवत् जानकारी प्राप्त करके विधि से इन पंचग्रास रूप आहुति के द्वारा अग्निहोत्र

उसके उस हवन से सम्पूर्ण लोक, समस्त भूत तथा निखिल आत्माये तृप्त होती हैं। सभी भूतों मे उसका हवन हो जाता है।'

शौनकजी ने पूछा—"ये पचग्रास रूपा आहुतियाँ कैसे देनी चाहिये, इसे विधिवत् बताइये।"

सूतजी ने कहा—"यह प्रसग भिन्न-भिन्न उपनिषदों मे, भिन्न-भिन्न पुराणों मे, भिन्न भिन्न स्मृतियों में वृहत् रूप से वर्णित है। यहाँ मैं सक्षेप में सबका सार लेकर बताता हूँ।

जब भगवत् प्रसाद पाना हो, तब पवित्र होकर भोजनालय मे जाय। भोजन के आसन पर बैठने के पूर्व दोनो हाथों को, दोनों पैरों को विधिवत् धोकर कुल्ला करके तब पवित्रतापूर्वक गीले पैरों से भोजनालय में जाय। वहाँ पीढा पर या भूमि पर ही कुशा का या वस्त्र का आसन बिछाकर बैठ जाय। सिले हुए वस्त्र न पहिने ऊनी रेशमी या सूती ही अधोवस्त्र, ऊर्ध्ववस्त्र पहिनकर एक उप वस्त्र अँगोछा कधे पर डालकर पूर्व, पश्चिम अथवा उत्तर जिस दिशा में जहाँ भी सुविधा हो उसी ओर मुख करके बैठ जाय। इसके अनन्तर शुद्ध लिपे स्थान में एक वितस्ति लम्बा-चौडा चतुष्कोण मडल ब्राह्मण तर्जनी उँगली से बनावे। क्षत्रिय त्रिकोण मण्डल, वैश्य गोलाकार मण्डल और शूद्र अर्धचन्द्राकार मण्डल बनावे। उस मण्डल पर भोजन के जैसे भी पात्र हों, उन्हें रखे।"

शौनकजी ने पूछा—"मण्डल किस वस्तु से बनावें?"

सूतजी ने कहा—"ब्राह्मन! तर्जनी उँगली से जल से मण्डल बनावे। क्योंकि भोजन के समय हाथ, पैर, मुख, भोजन पात्र और मण्डल ये पाँचों वस्तुएँ आर्द्र-गीली-होनी चाहिये।

भोजन जिस किसी के हाथ का बना, जहाँ तहाँ नहीं करना चाहिये। गृहस्थी हो तो अपनी पत्नी के हाथ का बना, या स्वयं का

ही बना हो। अथवा पाचक के हाथ का बना हो या अपने शिष्य भक्त, अनुरक्त परिचित विशुद्ध व्यक्ति के हाथ का बना हो। अन्न पात्र को जहाँ तक हो ऊँचा रखे। अपनी दाहिनी ओर जल से भरा पात्र उपपात्र (ग्लास) रखे। फिर जल पात्र से जल लेकर भगवान के नामों से या गायत्री मन्त्र से प्रोक्षण करे। फिर भगवान का नाम लेकर अभिषेचन करे। फिर भगवान् का ध्यान करते हुए, मानसिक पूजन करे। फिर मन्त्र पढकर आचमन करे। अब पंच-ग्रास रूप पंचआहुतियों को मुख द्वारा वैश्वानर के [illegible] में हवन करे। जो भी हविष्य अन्न हो उसे अँगूठा, [illegible] और मध्यमा इन तीन ही उंगलियों से ग्रास उठाकर "[illegible] स्वाहा" कहकर मुख में हवन करे। गीता के अनुसार [illegible] प्रणव को भी लगा लेवे। विष्णु पुराण में आदि में [illegible] अन्त में स्वाहा और प्राण के साथ चतुर्थ्यन्त विभक्ति [illegible] आता है।

दूसरा ग्रास कनी–सबसे छोटी–उँगली [illegible] के पास अनामिका और अँगूठा इन तीन ही उँगलियों [illegible] "[illegible]नाय स्वाहा" कहकर मुख मे हवन करे।

तीसरा ग्रास अनामिका मध्यमा और [illegible] दोनों उँगलियों से उठाकर "अपानाय स्वाहा" [illegible] आहुति दे

चौथा ग्रास पाँचों उंगलियों से [illegible] "[illegible]नाय स्वाहा" इस मन्त्र से मुख में चौथी आहुति दे

पाँचवें ग्रास को अँगूठा से, [illegible] सबसे छोटी कनी उँगली इन [illegible] इस मन्त्र से मुख में आहुति दे

इस प्रकार पाँचों आहुति [illegible] आचमन [illegible] भावना करता हुआ कि [illegible] साक्षात् विष्णु का [illegible]

वैस अन्न के खाने मे दोष है, किन्तु जो इस भावना से अन्न भोजन करता है, उसे अन्न सम्बन्धी दोष नहीं लगता।"

शौनकजी ने पूछा—"पञ्च प्राणों की आहुति देने से सम लोग सम्पूर्ण भूत तथा सभी आत्मायें तृप्त कैसे हो जाती हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! एक सरपत है सींक है उस अग्रभाग को अग्नि मे प्रवेश कर दो, तो वह सबकी सब तत्का भस्म हो जायगी। इसी प्रकार जो इस वैश्वानर विद्या को जान प्राणों में आहुति देता है, उसके समस्त पाप तुरन्त ही भस्म जाते हैं। जिसने वैश्वानर दर्शन को भली-भाँति समझ लिया और उसके अनुसार आचरण करता है, वह पवित्र अन्न मुख आहुति न देकर अपने उच्छिष्ट अन्न को चांडाल को दे देता तो उसका वह अन्न वैश्वानर विराट् भगवान् को ही प्राप्त हो है, क्योंकि उसकी तो सब में समबुद्धि हो जाती है। ऐसा ज्ञा पुरुष भोजन नहीं करता, वह तो अपने अग्निहोत्र के द्वा प्राणिमात्र का हित करता रहता है।"

जैसे भूख से पीड़ित अबोध बालक सब भाँति से भूख निवृत्त होने तथा भोजन से तृप्त होने के लिये अपनी जन्मदा जननी की ही उपासना करते हैं, उसी की ओर टकटकी लगा देखते रहते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी, सम्पूर्ण भूत ऐसे ज्ञान के भोजन रूप अग्निहोत्र की उपासना करते हैं। उसी की ओ टकटकी लगाये देखा करते हैं।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हम जहाँ भी देखते हैं, उप निषदों में, पुराणों में तथा अन्य धर्म ग्रन्थों मे प्राणों की अत्यधिक महिमा गायी गयी है। उपनिषद् में तो प्राणों की उपासना को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। यह क्या बात है?"

हसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! राजा के पश्चात् युवराज

की ही महिमा गायी जाती है। इस शरीर में कर्णों में दिग् देवता, सम्पूर्ण शरीर में वायु देवता, आँखों में सूर्य देवता, जिह्वा में वरुण देवता, नाक में अश्विनी कुमार देवता, वाणी मे अग्नि, बाहुओं में इन्द्र, पैरों मे उपेन्द्र, गुदा मे मृत्यु, चित्त मे चन्द्र, मन मे रुद्र, बुद्धि में ब्रह्मा और क्षेत्रज्ञ तथा ईश्वर ये १४ देव निवास करते हैं। इन सबमें प्राणों की ही मुख्यता है। इस सम्बन्ध की स्कन्ध पुराण में एक कथा है—

भगवान् नारायण देव ने अपनी नाभि कमल से ब्रह्माजी को उत्पन्न किया तथा अन्यान्य देवताओं की भी उत्पत्ति की। सबको उत्पन्न करके भगवान् ने सबसे कहा—"देखो, भाई! बिना स्वामी के अध्यक्ष के कोई कार्य नहीं होता। अतः मैं इन कमलयोनि ब्रह्माजी को आप सबका प्रभु, पति, सम्राट् बनाये देता हूँ"

सबने कहा—"हमें ब्रह्माजी का आधिपत्य सहर्ष स्वीकार है, किन्तु इनका किसी को युवराज भी तो बना दें।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"भाई, युवराज का चुनाव तुम सब मिलकर आपस मे ही कर लेना। जो तुम में सबसे बडा हो उसे ही युवराज बना लेना।"

भगवान् तो ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गये। अब युवराज के चुनाव का अवसर आया। ब्रह्माजी ने कहा—"भाई, तुम में जो शील में, शौर्य मे, उदारता में तथा समस्त सद्गुणों में श्रेष्ठ हो, वही मेरा युवराज बन जाओ।"

यह सुनकर सभी अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा करने लगे। किसी ने कहा सूर्य को युवराज बनाओ। किसी ने चन्द्र का, किसी ने इन्द्र का, किसी ने रुद्र का नाम लिया। कोई अग्नि के पक्ष में था, कोई कामदेव के पक्ष में साराश सबके सब यौवराज पद के प्रत्याशी बन गये।

ब्रह्माजी ने कहा—"भाई मतदान हो जाय।" किन्तु मतदान तो तब हो जब कुछ मतदाता हों, कुछ प्रत्याशी हों, जब सबके सब प्रत्याशी हो तो मतदान से क्या लाभ।"

तब सबने कहा—"इस अभियोग को भगवान् नारायण को ही सौंप दो। वे जिसे युवराज बना दें, हम सब उसे ही स्वीकार कर लेंगे। इस निर्णय को सबने मान लिया। सब मिलकर भगवान् नारायण की सेवा में समुपस्थित हुए। उनके सामने अपना अभियोग प्रस्तुत किया और निवेदन किया—"आप ही जिसे चाहें युवराज बना दें।"

भगवान् ने कहा—"भाई, मैं किसी एक के पक्ष में नहीं हूँ। आप लोग स्वयं ही निर्णय कर लें। जिसके न रहने पर यह शरीर मृत हो जाय और जिसके आने पर फिर चैतन्य होकर खड़ा हो जाय, वही आप सबमें श्रेष्ठ है, उसे ही युवराज पद पर प्रतिष्ठित कर दो।"

यह बात सबने स्वीकार कर ली और सभी पारी-पारी से शरीर को छोड़कर जाने लगे। क्रमशः कानों में से दिशा, नेत्रों से सूर्य, रसना में से वरुण, नाक में से अश्विनीकुमार, हाथों में से इन्द्र, पैरों में से उपेन्द्र सभी निकल-निकल कर गये, किन्तु इनके बिना भी शरीर जीवित रहा। जब प्राण निकलकर गये, तो सभी अपना स्थान छोड़कर चले गये। शरीर प्राणहीन शव हो गया। फिर कहा—अच्छा देखें किसके प्रवेश करने से यह शरीर चैतन्य होकर उठ पड़ता है। फिर क्रमशः इन्द्र ने हाथों में प्रवेश किया, किन्तु शरीर नहीं उठा, इसी प्रकार, सूर्य, वरुण अश्विनी कुमार, अग्नि, मृत्यु, चन्द्र सभी ने प्रवेश किया शरीर नहीं उठा। ज्योंही प्राण ने प्रवेश किया, शरीर चैतन्य होकर उठ पड़ा। तभी सबने सर्व-सम्मति से प्राण को युवराज पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। इसी

लिये प्राण को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसकी इतनी प्रशंसा वेदशास्त्रों में गायी गयी है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वेदशास्त्रों में महिमा भले ही गायी गयी हो, किन्तु जितनी प्रसिद्धि देवताओं ऋषियों तथा राजाओं की है, उतनी प्रसिद्धि प्राणों की नहीं है, यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! प्रसिद्धि होना एक बात है, प्रतिष्ठित होना दूसरी बात है धन, सम्पत्ति, यश प्रसिद्धि ये सब वस्तुएँ तो भाग्य से प्राप्त होती हैं। प्राण को प्रसिद्ध न होने का शाप है।"

शौनकजी ने कहा—"प्राण को शाप किसने दिया?"

सूतजी ने कहा—"इस सम्बन्ध में भी एक पौराणिकी कथा है। जब प्राण को युवराज पद प्राप्त हुआ, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसी उपलक्ष्य में उन्होंने भगवान् हरि का अश्वमेध यज्ञ द्वारा यजन करना चाहा। निश्चय हुआ गंगाजी के किनारे एक विशाल चौरस प्रदेश में यज्ञ किया जाय। यज्ञ करने के पूर्व यज्ञीय भूमि को सुवर्ण के हल से जोतकर सम किया जाता है। अतः प्राणदेव सुवर्ण के हल से भूमि को जोत रहे थे। बीच में उन्हें एक वल्मीक का—दीमकों का—एक टीला सा मिला। उसे भी सम करने के अभिप्राय से वे जोतने लगे। उसके भीतर कण्व महर्षि बैठे तप कर रहे थे। उनके शरीर में हल की फार लग गयी। तब वे महर्षि क्रोध में लाल-पीली आँखें करके निकले। निकलते ही उन्होंने प्राण को शाप दिया—"आज से तुम्हारी तीनों भुवनों में ख्याति न होगी। हाँ भूलोक में तुम्हें देवताओं का ईशत्व प्राप्त होगा। और तुम्हारे अवतार ४९ मरुत् तीनों लोकों में प्रख्यात होंगे।"

यह सुनकर प्राणदेव को बड़ा क्रोध आया और वे बोले—'देखाजी, कण्व ! मैं तो यज्ञकार्य के लिये भूमि सम कर रहा था मेरा कोई दोष नहीं था। तुमने मुझ निर्दोष को शाप दे दिया, इसलिये मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ, तुम गुरु द्रोही हो जाओगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! उसी कण्व मुनि के शाप के कारण प्राणदेव की संसार में उतनी ख्याति नहीं हुई। प्राण के शाप से वे कण्वमुनि (याज्ञवल्क्य) अपने गुरु वैशम्पायन से द्रोह करके उन्हें छोड़कर सूर्य के शिष्य हो गये थे।"

सूतजी कह रहे हैं, मुनियो ! इस प्रकार वे प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल और उद्दालक नाम वाले ६ ऋषि कुमार राजर्षि अश्वपति से वैश्वानर विद्या सीखकर राजा से अनुमति माँगकर अपने अपने स्थानों को चले गये। यह मैंने वैश्वानर की समग्र उपासना कही अब आगे जैसे आरुणि और उनके पुत्र का सम्वाद है, उस सृष्टि ज्ञान सम्बन्धी उपदेश का वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सब इसे दत्तचित्त से श्रवण करेंगे।

छप्पय

(१)

लोमदर्भ हिय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि मनहु है।
मुख है आहवनीय अन्न ही हव्य वस्तु है॥
प्राण, व्यान, आपान, समान, उदान पुकारे।
चतुर्थान्त इनि करै अन्त स्वाहा उच्चारे॥
होहि तृप्त सबही जगत, भस्म माहिं अन्नहि हवन।
विश्व हवनतैं लोक सब, भूत आत्म होवै हवन॥

(२)

प्राण तृप्त तैं नेत्र नेत्रतैं रवि द्युलोक पुनि ।
पुनि भोक्ता पशु प्रजा तेज अन्नाद्य ब्रह्ममुनि ॥
व्यान तृप्त तैं श्रोत्र श्रोत्र तैं चन्द्र दिशा पुनि ।
दिग् शशि स्वामी भाव होहिं भोक्ताहू पुनि मुनि ॥
तृप्त अपान हु वाक्तैं, अग्नि अग्नि तैं भूमि है ।
भूमि अनलकी तृप्तितैं, भोक्तादिक अरु ब्रह्म है ॥

(३)

तृप्त समानहु तृप्त होहि मन पर्जन्यहु पुनि ।
विद्युत् होवै तृप्त अधिष्ठित तृप्त होहि मुनि ॥
भोक्ता पशु अन्नाद्य ब्रह्मवर्चस तृप्तहु सो ।
तृप्त उदानहु त्वचा वायतैं नभ तृप्तहु सो ॥
भोक्ता पशु अन्नाद्य अरु, ब्रह्मतेज तैं तृप्त हौं ।
क्षय अप हौं विदानके, शिशु माँवत सब भूत त्यौं ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के पचम अध्याय में अठारहवाँ, उन्नीसवाँ, बीसवाँ, इक्कीसवाँ, बाईसवाँ, तेईसवाँ तथा चौबीसवाँ खण्ड समाप्त
पचम अध्याय समाप्त ।

पिता पुत्र का प्रश्नोत्तर

[१८२]

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस त ँ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम् । न वै सौम्यास्मत् कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥*

(छा उ० ६ अ० १ ख० १ म०)

छप्पय

आरुणि निज सुत श्वेतकेतु तैं कहैं—सौम्य ! सुनि ।
मम कुल सबई विज्ञ ब्रह्मचारी तू हू बनि ॥
गुरुकुल द्वादश बरस बास करि बनि अभिमानी ।
श्वेतकेतु घर आइ बन्यो अति तंडित मानी ॥
पितु पूछ्यो—आदेश तू, जानत वह जिहि हेतु तैं ।
होइ अश्रुत श्रुत अमत मत, अविज्ञात जिहि ज्ञात तैं ॥

विद्या से विनय, सरलता, निरभिमानता तथा महत्ता आदि

---

* अरुण के पुत्र आरुणि उद्दालक थे । उनके सुप्रसिद्ध पुत्र श्वेतकेतु हुए । एक दिन पिता आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा— देखो बेटा, श्वेतकेतो ! तुम ब्रह्मचारी बनकर गुरुकुल में निवास करो । क्योंकि भैया ! हमारे इस कुल में ऐसे कोई पुरुष नहीं हुए, जिन्होंने वेदाध्ययन न किया हो, जिन्होंने ब्रह्मबन्धुपन का—नाम मात्र का ब्राह्मण बनकर—जीवन बिताया हो ।"

गुण स्वय आ जाते हैं। अभिमान अविनीतता ये मूर्खता के लक्षण हैं। जिस घडे मे न्यून जल रहेगा, वही अधिक छलकेगा, वही अधिक उछल कूद करेगा, जो घडा ऊपर तक परिपूर्ण भरा रहेगा, वह शात गभीर और छलकने से रहित होगा। लोग अविनीत शिष्टाचार से रहित कब होते हैं, जब उन्हे अपने पाडित्य का, मिथ्या गुणों का अभिमान हो जाता है। गुणी तो हैं नहीं, किन्तु अपने को गुणी माने बैठे हैं। सगीत के सम्बन्ध मे इधर उधर की दो चार बातें सुनकर रटकर अपने को सगीत विशारद मानने लगे हैं। पाडित्य तो नहीं, किन्तु अपने को पडित मानने लगे हैं। ऐसे अधूरे लोग ही मिथ्याभिमान किया करते हैं। उनके अभिमान को देखकर ही विज्ञ पुरुष समझ लेते हैं, कि ये कितने पानी मे हैं ऐसे पुरुषों को अल्पज्ञ कहते हैं। इनका सुधार कब हो सकता है, जब ये लोग विद्वत् समाज मे जायँ। विद्वानों की सत्सगति करने से, उनके समीप रहने से, उनका उपदेश सुनने से शने शने उनका अभिमान गलने लगता है, फिर वे अपने को पडित न मानकर मूर्ख ही मानने लगते हैं। शास्त्र अनन्त हैं विद्या भी बहुत सी हैं, ज्ञान का पार नहीं अल्पायु वाला क्षुद्र जीव समस्त शास्त्रों का अध्यन कैसे कर सकता है? समस्त विद्याओं को कैसे सीख सकता है? समस्त ज्ञान को कैसे धारण कर सकता है? अनन्त शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी जिसे यह अनुभव हो जाय, कि ज्ञानरूप समुद्र अगम्य अथाह है, मैं तो उसके एक बिन्दु के सदृश भी नहीं जानता। ऐसा जिसे अनुभव होगा, वह फिर अभिमान किस कारण से करेगा। वह तो परम विनीत, विनयावनत, सरल और निरभिमानी हो जायगा। जहाँ ये गुण आये तो समझ लो, विद्या ने उस पर कृपा कर दी। ऐसा [illegible] यत्नशील निरभिमानी विनीत [illegible] व्यक्ति ही विद्वान

जागया। विद्वत्ता केवल पढ़ने से ही नहीं आती है, गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा तथा सत्संगति से चिरकाल में विद्या आती है। कुल परम्परा कुलीनता का भी शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है यदि रज वीर्य में सकरता न आयी हो, तो प्रायः विद्वानों के पुत्र भी विद्वान् ही होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जन्म से तो शिशु माता-पिता के वर्ण वाला होता है, संस्कार होने से द्विज होता है, वेदों के पढ़ने से विद्वान होता है और उन्हें आचरण में लाने से श्रोत्रिय होता है। जो वेदों को उनके ६ अंगों के साथ विधिवत् पढ़ ले ऐसे विनीत विचक्षण विद्वान् को अनूचान कहते हैं। विद्वान् ब्राह्मण पिता की यह हार्दिक इच्छा रहती है, कि मेरा पुत्र मुझ से बढ़कर विद्वान् हो। पिता की अन्तरिक भावना यह रहती है, कि मुझ में जो दुर्गुण हैं, वे मेरे पुत्र में तनिक भी न आने पावें और जो मुझ में अणुमात्र भी गुण हैं, वे मेरे पुत्र में पर्वत के समान वास करें। पिता पुत्र का सम्बन्ध ही ऐसा है।"

पिछले प्रकारण में यह बात बतायी कि एक विद्वान् के भोजन करने पर सम्पूर्ण संसार की तृप्ति हो जाती है। उसी बात को अनेक दृष्टान्तों से सिद्ध करने को आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु के सम्वाद को आरम्भ करते हैं।

प्राचीन प्रथा ऐसी थी कि द्विजातिगण अपने बच्चों को घर पर नहीं रखते थे। जहाँ वह तनिक सयाना हुआ कि उसे आचार्य की सन्निधि में—गुरुकुल में—भेज देते थे। वहाँ गुरु उसका उपनयन संस्कार कराकर गायत्री मन्त्र की दीक्षा और यज्ञोपवीत देकर वेदारम्भ करा देते थे। कोई १२ वर्ष रहकर कोई २४, ३६ अथवा ४८ वर्ष रहकर गुरुकुल से घर लौटते थे। कोई-कोई जीवन पर्यन्त लौटते ही नहीं थे। नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत

को धारण करके ऊर्ध्वरेता होकर सम्पूर्ण जीवन या तो गुरुकुल में बिता देते थे अथवा सन्यास लेकर भ्रमण करते हुए ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते थे।

ब्राह्मण के बालक का ५ वर्ष में अथवा ८ वर्ष में, क्षत्रिय का ११ वर्ष में और वैश्य का १२ वर्ष में उपनयन संस्कार करा ही देना चाहिये। ब्राह्मण का अधिक से अधिक १६ वर्ष की आयु तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष और वैश्य का २४ वर्ष की आयु पर्यन्त उपनयन नहीं होता, तो फिर वे व्रात्य पतित समझे जाते हैं। फिर उनका संस्कार प्रायश्चित्त करा के ही किया जा सकता है। ब्रह्मवर्चस–ब्रह्मतेज–की कामना वाले ब्राह्मण को अपने पुत्र का ५ वर्ष की अवस्था में ही उपनयन करा देना चाहिये।

गौतम गौत्रीय एक अरुण ऋषि थे। उनके पुत्र आरुणि थे जो आयोद् धौम्य ऋषि के समीप पढते थे। जो खेत की मेड बनकर गुरु के पुकारने पर उसे तोड कर चले आने से 'उद्दालक' नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके कई पुत्रों में से एक श्वेतकेतु नाम के पुत्र हुए। ये प्रतीत होता है, वेदाध्ययन में मन नहीं लगाते थे। ब्राह्मण के बालक का पाँच वर्ष की अवस्था में ही उपनयन संस्कार हो जाना चाहिये, किन्तु उनकी १२ वर्ष की अवस्था हो गयी, न तो उन्होंने उपनयन ही कराया और न गुरुकुल में वास करने ही गये।

एक दिन उनके पिता आरुणि उद्दालकजी ने उन्हें प्रेमपूर्वक अपने पास बुलाया और स्नेह से उनके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"बेटा, श्वेतकेतु! मैं तुम से एक बात कहना चाहता हूँ।"

श्वेतकेतु ने कहा—"कहिये पिताजी! क्या आज्ञा है।"

पिता ने कहा—"देखो बेटा, हम ऋषि हैं हमारे कुल में सदा से स्वाध्याय प्रवचन की परम्परा रही है। हमारे कुल में आज तक जो भी उत्पन्न हुआ है वह स्वाध्याय प्रवचन से

रहा। जो बालक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी वेदाध्ययन नहीं करता वह नाम मात्र का नीच ब्राह्मण-ब्रह्मबन्धु-कहलाता है। अर्थात् ब्राह्मणों से उसका बन्धुत्व का केवल सम्बन्ध ही है ब्राह्मणों के से उसमें गुण नहीं हैं। ऐसे ब्रह्म बन्धु बहुत से हैं, किन्तु हमारे कुल में आज तक ऐसा एक भी ब्रह्मबन्धु नहीं हुआ।'

श्वेतकेतु ने कहा—"तो मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

पिता ने कहा—"अब तुम से क्या कहें, अब तुम सर्वथा बच्चे तो हो नहीं। तुम्हें स्वयं ही सोचना चाहिये। ब्रह्मवर्चस कामना वाले ब्राह्मण कुमार का ५ वर्ष की अवस्था में ही उपनयन होकर गुरुकुल वास होना चहिये, सो तुम्हारा अवस्था १२ वर्ष की हो गयी। अब तुम्हें ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके गुरुकुल में निवास करना चाहिये।"

श्वेतकेतु ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा है पिताजी! मैं वैसा ही करूँगा।" ऐसा कहकर श्वेतकेतु १२ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल चला गया। १२ वर्ष में उसने सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर लिया। अध्ययन तो कर लिया, किन्तु उन्हें यथार्थ अनुभव नहीं हुआ। चौबीस वर्ष की अवस्था के पूरे युवक होकर अपने को बहुत बड़ा विद्वान् मानकर, तथा वेदों की व्याख्या करने वाला समझकर अत्यत ही उद्दण्ड भाव से घर लौटे।"

उनकी उद्दण्डता को ही देखकर पिता समझ गये, कि इसे अभी यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ है अतः एक दिन बातों ही बातों में पिता ने पुत्र से पूछा—"बेटा, तुमने क्या क्या पढ़ा है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! मैंने सब कुछ पढ़ा है, मेरा हृदय विशाल है, मैं अनूचान हूँ बड़ा भारी पंडित हूँ।"

पिता ने कहा—"वत्स! विद्या से विनय आती है, वह विनय

तुममें नहीं आयी। तुम अब तक अविनीति ही बने हो। अपने को अनूचान विद्वान् तथा पंडित बताते हो। वास्तव में पांडित्य के कोई लक्षण तुममें दिखायी नहीं देते। तुमने अपने आचार्य से ऐसा उपदेश पूछा है। ऐसा कोई आदेश, सीखा है ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"कैसा आदेश, पिताजी !"

पिता ने कहा—"जिस एक आदेश के जान लेने पर अन्य सभी न सुने हुए सुने हो जाते हैं। जिस आदेश को जान लेने पर जितने भी अन्य अनिश्चित हैं सब निश्चित हो जाते हैं। जिस आदेश के जान लेने पर अन्य जितने भी अविज्ञात हैं अनिश्चित हैं, वे सब विज्ञात और निश्चित हो जाते हैं। ऐसा आदेश-ऐसा उपदेश-क्या तुम्हारे आचार्य ने तुम्हें बताया है ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"ऐसा आदेश तो मेरे आचार्य ने नहीं बताया। वह कैसा आदेश है पिताजी !"

पिता ने कहा—"देखो, कुम्हार के घर जाओ। वह मिट्टी सानकर उसके पिंड बना-बनाकर रखता है। उन पिंडों को चाक पर चढ़ाकर भाँति भाँति के घड़ा, सकोरा, कुल्लड़, नाद, हँड़िया परिया आदि बर्तन बनाता है। तुम एक मृत्तिका के पिंड के सम्बन्ध में पूरी जानकारी कर लो। फिर जितने भी मिट्टी से बने बर्तन हैं, सबका ज्ञान तुम्हें अपने आप ही हो जायगा। आप मिट्टी से कैसे भी, किसी भी आकार के, किसी भी प्रकार के, किसी भी नाम वाले बर्तन को देखोगे फिर झट कह दोगे, यह मिट्टी का बर्तन है। वह जो उसके लम्बे चौड़े, भारी, हलके, लाल, पीले, हरे रंग, विविध प्रकार के नाम केवल वाणी के विलास हैं। वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं, वे सब मिथ्या हैं, उन सब में सत्य पदार्थ तो मिट्टी ही है। अतः-एक मिट्टी के पिंड को जान लेने पर समस्त मिट्टी के बने पात्रों का ज्ञान हो जाता है या नहीं-?

तुमने मिट्टी के बहुत से बर्तनों का नाम भी नहीं सुना होगा। किन्तु अश्रुत पात्र तुम्हारे सम्मुख आवेगा तो, उसे देखते ही तुम कह दोगे, यह तो मिट्टी का पात्र है, क्योंकि उस कार्य के कारण का तुम्हें ज्ञान है। अब दूसरा दृष्टान्त सुनो।

तुम सुनार के यहाँ जाओ उसके यहाँ सुवर्ण के बहुत से पिंड पास रखे होंगे। वह उन सुवर्ण पिंडों को गलाकर उसके भाँति-भाँति के हार, कुण्डल, कटक, अँगूठी आदि आभूषण बनाता है। तुम एक सुवर्ण पिंड को भली-भाँति जान लो। उसके जान लेने पर तुम्हारे सम्मुख जितने भी अज्ञात, जितने भी अश्रुत, जितने भी, अमत सुवर्ण के आभूषण आवेंगे आप उन्हें देखते ही कह दोगे—ये तो सुवर्ण के आभूषण हैं। अब रहा नाम रूप, लम्बाई, चौड़ाई का झगड़ा सो ये तो वाचारम्भण मात्र हैं। वाणी द्वारा केवल व्यवहार के लिये कहे जाते हैं। उन आभूषणों में जो सत्य वस्तु है, वह तो केवल सुवर्ण ही है। क्योंकि एक सुवर्ण पिंड जानने पर सब सुवर्ण के बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है या नहीं ?

अब तीसरा दृष्टान्त सुनो। तुम नाई के पास जाओ। उससे कहो—"भाई, हमारे नख काट दो।"

यह सुनकर वह अपनी पेटी में से नहन्ना (नख काटने का यन्त्र) निकालेगा। तुम उससे पूछो—"यह क्या है ?"

वह कहेगा—"यह नहन्ना है।"

तुम फिर पूछो—"यह बना किससे है ?"

वह कहेगा—"लोहे से बना है।"

तो तुम लोहे का सम्यक् प्रकार ज्ञान कर लो, फिर लोहे से बने जितने भी पदार्थ हैं—चाहे तुमने उनका नाम भी न सुना हो, चाहे तुमने उन पदार्थों के सम्बन्ध में कभी विचार भी न किया

हो, चाहे तुम्हें उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से भले ही कुछ ज्ञात भी न हो, आप लोहे की बनी वस्तुओं को देखते ही कह देंगे, यह तो लोहे की है। उसके नाम, रूप, आकार, प्रकार, लम्बाई, चौड़ाई ये सब तो केवल वाणी से कहने के लिये हैं। उनमें जो सदा रहने वाला सत पदार्थ है वह तो लोहा ही है। जिस एक के जान लेने पर सभी अश्रुत श्रुत हो जाते हैं सभी बिना बिचारे हुए बिचारे से हो जाते हैं, बिना जाने, जाने की भाँति हो जाते हैं, ऐसा ही वह आदेश भी है।"

यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! यह तो आपने मुझे अद्भुत बात बतायी। मेरे आचार्य ने तो मुझे इसे बताया ही नहीं। संभव है, वे इसे न जानते होंगे, क्योंकि यदि वे जानते होते, तो मुझे अवश्य ही बताते। उनके न बताने का और कोई कारण नहीं हो सकता। अस्तु ये तीनों तो दृष्टान्त हुए। अब कृपा करके दृष्टान्त का-जिसको उद्देश करके ये तीनों दृष्टान्त दिये गये हैं—उस आदेश को आप ही मुझे बतावें।"

पिता ने कहा—"अच्छा, सौम्य! उसका भी मैं तुम्हें उपदेश करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने पुत्र की जिज्ञासा समझ कर जैसे महामुनि आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश करेंगे। उस प्रसङ्ग को मैं आगे आपसे कहूँगा इसमें सर्वप्रथम जगत् की सृष्टि का ही वर्णन है।"

छप्पय

(१)

श्वेतकेतु ने कह्यो—कौन आदेश पिताजी।
जाके जाने बिना जीत होवै नहिँ बाजी॥
पितु बोले—घट, नाद, सकोरा नाम मात्र वच।
बने मृत्तिका पिण्ड सबनि में माटी है सच॥
आभूषन सोने बने, नाम रूप तिनिमें असत।
वाचारम्भण मात्र है, सोनों तिनिमें एक सत॥

(२)

एक नहन्ना सबहिँ लोह को ज्ञान करावै।
वाचारम्भ विकार सत्य लोहो कहलावै॥
है यह ही आदेश मान अरु रूप निकारो।
फिरि जो कछु बचि जाइ ताहि ई सत्य पुकारो॥
सुत बोल्यो—मम गुरु नहीं, जानत नहिँ शिक्षा दई।
आप बतावें कृपा करि, पितु बोले—सुनु जो सई॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में
प्रथम खण्ड समाप्त।

सत् से दृश्य जगत् की उत्पत्ति

[१८३]

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुर-
असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥*
(छा० उ० ६ प्र० २ ख० १ म०)

छप्पय

सत्त हि एक अद्वितीय प्रथम कछु असत बतावें।
असतहिं तें सत भयो, व्यरथ मत—सतहि रहावें॥
सत सोचे—'हौं बहुत होउँ' उत्पन्न तेज-बल।
तेजहु 'बनि बहु जाउँ' सोच करि प्रकट्यो तब जल॥
शोक पुरुष जबई करै, स्वेद अश्रु प्रकटै तबहिं।
जल बहु बनि अबहि भयो, अन्न होइ बरसै जलहिं॥

यह सम्पूर्ण जगत् त्रिवृत् है। तीन से ही सृष्टि की उत्पत्ति है। देखो, ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीन ही आदि देव हैं। लोक भी भू, भुव और स्वर्ग तीन ही हैं। सत्त्व, रज और तम गुण

---

*आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"अब तुम्हें बताता हूँ, कि एक के ज्ञान से सबका ज्ञान कैसे होता है। देखो सौम्य! सृष्टि के आरम्भ में पहिले पहिल एकमात्र अद्वितीय सत् ही सत् था। कुछ लोगों का इस विषय में मत है आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय असत् ही असत् था। उसी असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।"

भी ये तीन ही हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान काल के भी तीन ही विभाग हैं। शरीर में भी वात, पित्त और कफ ये तीन गुण या दोष होते हैं। अवस्था भी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ही हैं। उत्तम मध्यम और अधम ये तीन ही कोटि हैं। रंग मुख्यतया तीन ही हैं। काला, सफेद और लाल। कहने का सारांश यही है, कि जगत् त्रिगुणात्मक है। और तीनों के योग से ही यह सब चल रहा है। ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों का ही रचा हुआ यह प्रपञ्च है। इन सब में एक ही तत्त्व है, उस एक तत्त्व को जान लेने पर सबका ही बोध हो जायगा। उस तत्त्व को बिना जाने इस जगत् की त्रिगुणात्मक वस्तुओं के ही पीछे तुम पड़े रहोगे, तो यह उलझन सुलझने की अपेक्षा और अधिकाधिक उलझती ही जायगी। क्योंकि एक ही अनेक रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। तुम चोरों के मारने के पीछे पड़े रहोगे, तो चोर और उत्पन्न होते जायँगे। अतः चोरों को न मार कर चोरों कि माँ को ही मार दो, कि चोर फिर उत्पन्न ही न हों। नदी की शाखाओं के पीछे पड़े रहोगे, तो उनका तो अन्त नहीं। नदी के उद्गम का पता जान लो सब रहस्य खुल जायगा। यह अनेक रूपों में दृश्यमान जगत् नाना नाम रूपों में दृष्टिगोचर हो रहा है। तुम इसके मूल स्थान को, उत्पत्ति स्थान को जान लो। उस एक के जान लेने पर ही, तुम विज्ञाता सम्पूर्ण ज्ञाता बन जाओगे। वह आदि क्या है। सत्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब आरुणि महर्षि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को मिट्टी सुवर्ण और लोहे के तीन दृष्टान्त देकर यह बताया, कि मिट्टी के ज्ञान होने से मिट्टी के बने सभी पात्रों का ज्ञान हो जायगा। सुवर्ण के ज्ञान से सुवर्ण के बने समस्त आभूषणों का रहस्य खुल जायगा और लोहे के ज्ञान से लोह

निर्मित सभी वस्तुओं का निष्कर्ष समझ में आ जायगा, क्योंकि मिट्टी के समस्त पात्रों का, सुवर्ण के समस्त आभूषणों का, लोहे की बनी समस्त वस्तुओं का मूल, मृत्पिंड, सुवर्ण तथा लोह ही है, तो शङ्का होती है, इस जत का मूल कारण कौन है, जिसके जान लेन पर संसार की समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाय। इसी का उत्तर देत हुए आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं—"इस सृष्टि के पूर्व हे सौम्य! एक मात्र अद्वितीय सत् ही था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! केवल यह ही कह देते कि सत् ही था एक और अद्वितीय ये विशेषण क्यों लगाया।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! सत् तो बहुत हो सकते हैं, इसलिये कह दिया वह एक ही सत् स्वरूप परमात्मा था।"

शौनकजी ने कहा—"सत्य तो एक ही होता है, उसमें द्वित्व सम्भव नहीं। अस्तु एक ही सत्य था, इतने से ही काम चल जाता, अद्वितीय क्यों कहा?"

सूतजी ने कहा—"सत् एक ही है, यह सत्य है, उसी को सुदृढ़ करने को तो एक ही सत् था यह कहा। अब रही अद्वितीय क्यों कहा। सो इस शंका के निवारणार्थ कि उस एक सत् के जोड़ तोड़ का, उसके बराबर वाला या उससे छोटा भी कोई सत् हो सकता है। जैसे किसी राजा का युवराज है, युवराज तो एक ही होता है, किन्तु उससे बड़ा राजा भी तो एक होता है। राजा के बिना वह कुछ कर नहीं सकता। किन्तु अद्वितीय लगाकर कह दिया, उससे कोई बड़ा नहीं, उसके कोई बराबर नहीं, सभी उससे छोटे हैं।"

शौनकजी ने कहा—"छोटे ही सही। छोटे होने पर उसका अद्वितीयपन तो नष्ट हो गया।"

सूतजी ने कहा—"छोटों से अद्वितीयता नष्ट नहीं होती,

यह मल्ल अद्वितीय है, यह कहने से मल्ल मात्र का निषेध थोड़े ही है अभिप्राय इतना ही है, कि मल्ल तो बहुत हैं, किन्तु न इसमें कोई बड़ा मल्ल है, न इनके कोई जोड़ तोड़ का बराबरी का मल्ल है। अर्थात् ये सबसे श्रेष्ठ हैं।"

शौनकजी ने कहा—"आरम्भ में वह एक ही अद्वितीय था, यह बात क्या कही गयी। क्या वह आरम्भ में ही एक अद्वितीय सत् था। अब वह असत् द्वितीय और बहुत हो गया।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आप तो बाल की खाल खींचते हैं। आरम्भ में कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि इस वर्तमान सृष्टि से पूर्व वही एक अद्वितीय सत् था। जो आरम्भ से ही सत् है वह असत् कैसे हो जायगा। आरम्भ में वट का बीज एक था, उसी से वृक्ष बना असख्यों बीज बन गये। बीज चाहे जितने बन जायें। उन सब में सत्यत्व-असख्यों बीज पैदा करने की शक्ति-तो बनी ही रहेगी। उसका बीजपना जैसे पहिले था वैसे ही अब भी बना रहेगा।"

शौनकजी ने कहा—"देखिये, बीज जब वृक्ष बन जाता है, तो वह बीज नष्ट हो जाता है, उसका अस्तित्व मिट जाता है। बीज वृक्ष रूप में परिणित हो जाता है, इसी प्रकार सत् जब जगत् रूप में बन गया तो उसका सत्पना नष्ट होकर जगत्पना ही रह जाना चाहिये।

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आप तो तर्कहीन बात कह रहे हैं। बीज का मानों वृक्ष बन गया, तो उसका बीजपना नष्ट कैसे हुआ। बीजपना नष्ट हो जाता तो उस वृक्ष पर असंख्यों फल लगकर असख्य बीज कैसे बन जाते? बीज ने बहुत बनने की कामना से वृक्ष का रूप रखकर अपने बहुत रूप बना लिये। वृक्ष बीज की ही परिणति है।"

शौनकजी ने कहा—"बीज अपने आप वृक्ष कैसे बन जायगा ? उसके लिये जल चाहिये, भूमि चाहिये, प्रकाश चाहिये तब अंकुर होकर बीज वृक्ष बनेगा।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह बीज ऐसा है,कि इसके भीतर पृथ्वी, प्रकाश, जल, सब भरा हुआ है। तभी तो यह अद्वितीय है. एक है, सत्य है सबका बीज है। बोलो, आगे चलूँ या और कोई शका है ?"

शौनकजी ने कहा—"चलिये, महाराज आगे आपके 'अभिन्न-निमित्तोपादन' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अनिवर्चनीय' 'अवाङमनस-गोचर' ये ऐसे दाव पेंच के शब्द हैं, कि आस्तिक व्यक्ति इससे आगे कुछ कह नहीं सकता।',

हँसकर सूतजी ने कहा—"नहीं, भगवन् ! कुछ लोगों का कथन यह भी है, कि आरम्भ में यह एक मात्र अद्वितीय असत् था। उसी असत् से इस सत् जगत् की उत्पत्ति हुई। अर्थात् सृष्टि के पूर्व प्राग् अभाव था। पहिले कुछ था ही नहीं। सत् का अभाव था। अभाव से ही भाव हो गया। असत् से ही सत् की उत्पत्ति हो गयी।"

शौनकजी ने कहा—"उन लोगों का मत भी ठीक ही है। जब कुछ नहीं था तभी तो कुछ होगा। जब पहिले से ही जो विद्यमान् है, उसकी उत्पत्ति की तो कोई तुक ही नहीं। स्त्री के पेट में पहिले कुछ नहीं था। समय आने पर उसमें गर्भ रहा। बच्चा पैदा हो गया। असत् से ही सत् हुआ।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आप विद्वान हैं, उलटे को सीधा और सीधे को उलटा सिद्ध कर सकते हैं, किन्तु आप स्वय सोचें खाली पेट में अपने आप गर्भ आकर बैठ जायगा ? जब तक गर्भ का मूल कारण—जो रजवीर्य के रूप में है—गर्भ में आने से

पूर्व न रहेंगे तब तक गर्भ के बालक की उत्पत्ति होगी कैसे। बीज तो नित्य है। संसार का बीज जो सत् है वह तो सृष्टि के पहिले भी था, सृष्टि काल में भी है, सृष्टि के नाश होने पर भी रहेगा। उसी सत् से तो बहुतों की उत्पत्ति संभव है। असत् से सत् कैसे हो सकता है। इस मत का स्वयं ही खंडन करते हुए आरुणि मुनि अपने पुत्र से सिद्धान्त रूप में कह रहे हैं—"हे सौम्य! तुम ही सोचो, क्या यह संभव हो सकता है? असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है। हाँ, सत् से तो सत् ही—बहुतों की— उत्पत्ति हो सकती है। अतः सिद्धान्त यही रहा कि सृष्टि के आरम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत्-ही-सत् था।"

शौनकजी ने कहा—"मान ली आपकी बात। आगे चलिये।"

सूतजी ने कहा—"जब उस सत् का अकेले-अकेले पड़े पड़े मन ऊब गया तो, उसने इच्छा की। संकल्प किया—ईक्षण किया—कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वे तो एक अकेले थे, अद्वितीय थे। यह इच्छा किधर से आ गयी?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! इच्छा समीक्षा, सृष्टि ये सब उनके पेट के भीतर ही भरी हुई थी। सहसा इच्छा फूट पड़ी।"

शौनकजी ने पूछा—"पहिले क्यों नहीं फूटी थी?"

सूतजी ने कहा—"महाराज, आप तो, साधुओं की सी बातें करते हैं। राजभवनों में सबका समय नियुक्त होता है। असमय में कोई काम नहीं होता। नौकर जब सूचना देते हैं, तभी नाचने गाने वाले, क्रीड़ा करने वाले सम्मुख आते हैं। कालदेव ने सूचना दी, तभी इच्छारूपी देवी संकल्परूपी देव आगे आये।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा तो फिर इच्छा ने-संकल्प ने-क्या किया ?"

सूतजी कहा—"संकल्प ही सृष्टि में कारण है। बिना सकल्प के-बिना कामना के-बिना इच्छा-संगम के-सृष्टि नहीं होती। सत् की इच्छा ने एक पुत्र प्रसव किया।"

शौनकजी ने कहा—"उस पुत्र का कुछ नाम भी तो होगा ?"

सूतजी ने कहा—"उसका नाम है तेज।"

शौनकजी ने पूछा—"तेज कहाँ से आ गया ?"

सूतजी ने कहा—"पिता से पुत्र कहाँ से आ जाता है। अपना आपा ही पुत्र बनकर प्रकट होता है। पुत्र से फिर पुत्र होते हैं उसके भी पुत्र होते हैं, ऐसे ही एक से अनेक हो जाते हैं। संसार में नित्य देखते नहीं हैं आप ?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, ससार में तो नित्य देखते हैं। जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। उस तेज के कौन-सा पुत्र हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जो उत्पन्न होता है उसकी स्वाभाविकी इच्छा अपने समान बहुत उत्पन्न करने की होती है। अतः तेज ने इच्छा की मैं बहुत हो जाऊँ, नाना प्रकार से उत्पन्न होऊँ।" इस प्रकार इच्छा करने पर तेज से जल की उत्पत्ति हुई।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी उलटी बात कहते हैं। तेज उष्ण-गरम-होता है, उससे जल शीतल की उत्पत्ति कैसे सम्भव है ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! यही तो विचित्रता है, ताप (उष्ण) से ही जल पैदा होता है। मनुष्य भी जब शोक सन्ताप करता है, गरम हो जाता है, तो उसके शरीर से स्वेद

बिन्दु निकलने लगते हैं, आँखों से भी अश्रुबिन्दु निकलने लगते हैं। सन्ताप से जल उत्पन्न हो जाता है या यहीं।"

शौनकजी ने कहा—"हर्ष से भी तो नेत्रों में से जल निकलने लगता है।"

सूतजी ने कहा—"अत्यन्त हर्ष भी एक प्रकार की उष्णता ही है। अतः सिद्धान्त यही है, कि तेज से जल की उत्पत्ति होती है।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर, पानी से अग्नि बुझ क्यों जाती है?"

सूतजी ने कहा—"जो जिससे उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न करने वाला शान्त हो जाता है। लड़के से पिता दब ही जाता है। तेज पुत्र का सम्मान करने के लिये शान्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"जल ने बहुत होने की इच्छा की या नहीं?"

सूतजी ने कहा—"यह तो स्वाभाविक ही है। उस जल ने ईक्षण-संकल्प किया-हम बहुत हो जायँ, अनेक रूपों में उत्पन्न हों, तब जल के 'अन्न' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। अन्न सब जल से ही उत्पन्न होते हैं। जहाँ कहीं वर्षा हो जाती है, जल की वृष्टि हो जाती है वहीं बहुत-सा अन्न उत्पन्न हो जाता है। अन्न से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति है। इन तेज, जल और अन्न में बीज रूप से ही सत्य देव नारायण अनुस्यूत हैं, ओत-प्रोत हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सब प्राणियों के कितने प्रकार के बीज हैं?"

सूतजी ने कहा—"इन सब प्रसिद्ध प्राणियों के तीन ही बीज होते हैं। एक तो अंडे से उत्पन्न होने वाले अण्डज जीव पक्षी

आदि। दूसरे जीव-देह-पिण्ड से उत्पन्न होने वाले जीवज-पिंडज अथवा जरायुज जीव, मनुष्य पशु आदि और तीसरे भूमि को फोड़कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष आदि।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमने तो अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज ये चार प्रकार के बीज सुने हैं आप तीन ही प्रकार के बता रहे हैं, यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यहाँ भगवती श्रुति ने स्वेदजों को पृथक् नहीं किया। जैसे उद्भिज बीज पृथ्वी फोड़कर उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही स्वेद से अपने आप जूँ, डाँस, मच्छर, जोंक, खटमल आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं। अतः उसने स्वेदजों की उद्भिजों में ही गणना कर दी। इसीलिये यहाँ तीन ही प्रकार के बीज भूत जीव बताये। अब ये सब खोल, गोलक, देह तो बन गये। जब तक इनमें चैतन्य प्रवेश न करे, तब तक ये कार्य रत कैसे हो सकते हैं। तब उस सत् देव ने ईक्षण किया—संकल्प किया—मैं जीवात्म रूप से इन सबमें प्रवेश करूँ। और पृथक्-पृथक नाम तथा पृथक्-पृथक् रूपों की इनमें अभिव्यक्ति करूँ।"

फिर उसने सोचा—"सृष्टि एक से नहीं होती, एकाकी रमण नहीं होता अतः जो ये मैंने तेज, जल और अन्न उत्पन्न किये हैं, इनके अधिष्ठातृदेवों को तीन-तीन बनाऊँ। क्योंकि सृष्टि में कारण कार्य और इच्छा या संकल्प ये ही तीन हेतु हैं। इसलिये तेज, जल और अन्न इन देवों में उस सत्देव ने जीवात्म रूप से अनुप्रवेश किया। उसके अनुप्रवेश करते ही ये सब क्रियाशील हो गये। तब सबका इन देव ने नाम रूप का व्याकरण किया। अर्थात् उन सबके पृथक्-पृथक् नाम और उन नामों के अर्थ उनके प्रयोग के प्रकार ये सब निरूपण किये (व्याक्रियन्ते अर्थायेन+ इति—जब सबके नाम रखे और सबको त्रिवृत्-त्रिवृत् कर दिया

तो अनेक प्रकार की योनियों वाले जीव उत्पन्न हो गये। देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष आदि।

शौनकजी ने पूछा "ये तीनों देवता तेज, जल और अन्न त्रिवृत् त्रिवृत् कैसे हुए। त्रिवृत् होने पर इनका स्वरूप कैसा बना इसे और समझाइये।,'

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तीन पदार्थ हैं। उन सबको आधे-आधे में बाँट दो। जैसे 'क' 'ख' और 'ग' हैं। क में ५० भाग तो 'क' का और ५० में-२५-२५ ख और ग का ऐसे 'क' ख और 'ग' से त्रिवृत् हो गया। इसी प्रकार 'ख' में ५० भाग तो 'ख' का और ५० में २५ 'क' का और २५ 'ग' का मिलाकर 'ख' त्रिवृत् हो गया। इसी प्रकार 'ग' में ५० भाग तो 'ग' का ५० में २५ 'क' का २५ ख का भाग मिला देने से ग त्रिवृत् हो गया। अर्थात् आधा अंश तो अपना और आधे में दोनों का मिला देने से त्रिवृत् हो जाता है। इस विषय को आगे स्पष्ट रूप से जैसे समझावेंगे, उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

तेज, अन्न, जल मिले त्रिविध साँचे उपजावै।
अण्डज, जीवज और तृतिय उद्भिज कहलावै॥
सत् सोध्यो-इनि पुनि नाम अरु रूप बनाऊँ।
त्रिवृत् त्रिवृत् इनि करूँ परस्पर पृथक् कराऊँ॥
तेज, अन्न, जल, त्रिवृत् बनि, तीनि तीनि ते ह्वै गये।
कैसें वे सब बनि गये, कहूँ ताहि जैसे भये॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में
तृतिय खण्ड समाप्त।

———

त्रिवृत् करण क्या है ?

(१८४)

यदग्ने रोहित ँ रूप तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्ल तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्व वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥*

(छा० उ० ६ अ० ४ ख १ म०)

छप्पय

अग्नि रूप जो लाल तेज को शुक्ल रूप जल ।
कृष्ण रूप है अन्न अग्नि तैं निवृत अग्निपन ॥
अग्नि तु वाक्-विकार सत्य है तीनि रूप ही ।
रवि में रोहित रूप तेज को शुक्ल नीर ही ॥
कृष्ण रूप है अन्न को, तीनि रूप ही सत्य है ।
चन्द्र तेज रोहित-उदक-सित असित हु यह अन्न है ॥

हम संसार में अपने ही यथार्थ रूप में किसी को नहीं देखते ।

---

* आरुणि उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—'तुम जो अग्नि में लाल, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप देखते हो ये क्रमशः तेज जल और अन्न के ही रूप हैं। अब अग्नि में केवल अग्निपन ही नहीं रहा। तीनों के मिलने से अग्नित्व निवृत्त हो गया। क्योंकि अग्नि रूप केवल वाणी से कहने ही मात्र के लिये है, सत्य तो केवल तीन रूप ही हैं।"

सबको मिले-जुले ही रूप में देखते हैं। विशुद्ध पृथ्वी हमें नहीं दीखती। यह जो पृथ्वी हमें दीख रही है। इसमें पचास भाग ही पृथ्वी तत्त्व है शेष १२॥ भाग जल, १२॥ भाग तेज, १२॥ वायु और १२॥ भाग आकाश है। इसी प्रकार जो जल हमें दृष्टिगोचर हो रहा है। वह यथार्थ जल नहीं। इसमें सौ में पचास ही भाग जलीय तत्त्व है। शेष १२॥ भाग पृथ्वी, १२॥ भाग तेज, १२॥ वायु और १२॥ भाग आकाश है। इसी प्रकार पांचों भूतों में आधा भाग तो अपना होता है, शेष आधे में चार भाग चारों भूतों के होते हैं। इसे पंचीकरण कहते हैं। हमें जो भी भूत दिखायी देते हैं, सब पंची कृत ही हैं। सब जब पृथक् पृथक् हो जायँगे, तब प्रलय हो जायगी क्योंकि क्रमशः सभी अपने कारणों में विलीन हो जायँगे। पृथ्वी जल में लीन हो जायगी, जल, तेज में लीन हो जायगा। तेज, वायु में लीन हो जायगा, वायु आकाश में ऐसे ही सभी अपने कारणों में लीन होते-होते, सभी का एकमात्र कारण वह केवल 'सत्' ही शेष रह जायगा। वह 'सत्' त्रिकाल बाधित है। वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान में—सभी कालों में—समान रूप से बना रहता है। जो सत् को छोड़कर अन्य का चिन्तन करेगा, वह उन्हीं के सदृश नाशवान-सा हो जायगा, जो सत् का चिंतन करेगा। वह अविनाशी पद को प्राप्त कर सकेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पहिले ही बताया जा चुका है तेज, जल और अन्न इनसे ही सम्पूर्ण संसार की वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। ये ही त्रिवृत् होकर जगत् में व्याप्त हैं। अतः ये ही तीन सत्य हैं। शेष तो वाणी का विकार मात्र है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये तीन ही सत्य कैसे हैं?"

उन्होंने कहा—"भगवन्! लोक में तेज वाले चार ही पदार्थ

हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत्। इनमें तेज, जल और अन्न ये ही व्याप्त हैं और ये ही सत्य हैं, शेष नाम आदि तो मिथ्या हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इस बात को पुनः समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"अच्छा, पहिले अग्नि को ही ले लीजिये। अग्नि में लाल, श्वेत और काला तीन ही रंग दृष्टिगोचर होते हैं। अग्नि में जो लोहित-लाल-रङ्ग होता है, वह अग्नि का अपना रंग नहीं, वह तेज का ही रूप है फिर जो आपको शुक्ल-श्वेत रंग दृष्टिगोचर होते हैं वे जल के रूप हैं, क्योंकि जल स्वभाव से स्वच्छ होता है। तीसरा जो काला रंग है, वह अन्न का-पृथ्वी का-रूप है। इन तीनों के रूपों को एकत्रित होने से-त्रिवृत् हो जाने से सब अग्नि का अग्निपना निवृत्त हो गया। अब भी जो सब लोग उसे अग्नि अग्नि कहकर पुकारते हैं, वह अग्नि रूप विकार केवल वाणी से कथन मात्र के ही लिये है। सत्य तो केवल तीन रूप ही हैं, जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।"

इसी प्रकार अग्नि के सदृश सूर्य, चन्द्र और विद्युत् में भी समझ लें। जैसे आदित्य में भी हमें लाल शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप दीखते हैं। इनमें से लाल तेज का, शुक्ल जल का और काला अन्न का रूप है इस प्रकार आदित्य का आदित्यपना निवृत्त हो गया। अब आदित्य वाणी का विकार मात्र है, सत्य तो ये तीन रूप ही हैं। यही बात चन्द्रमा के सम्बन्ध में है। चन्द्रमा में भी लाल, शुक्ल और कृष्ण तीन रूप दीखते हैं। इनमें से लाल रूप तेज का, शुक्ल जल का और कृष्ण अन्न का रूप है। इस प्रकार चन्द्रमा में से चन्द्रत्व निवृत्त हो गया। चन्द्रमा रूप विकार केवल वाणी पर ही अवलम्बित है। इसमें सत्य तो ये तीन रूप ही हैं।

यही बात विद्युत् के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। इसमें भी लाल, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रंग हैं। लाल तेज का, शुक्ल जल का, और कृष्ण का अन्न रूप है। इस प्रकार विद्युत् से विद्युत्त्व का निवृत्त हो गयी। अब उसका विद्युत् रूप विकार केवल कथन मात्र को ही है। सत्य तो ये तीन रूप ही हैं।

संसार में आप जहाँ देखें उसमें तेज, जल और अन्न ही दृष्टिगोचर होगा। संसार में रंग भी तीन ही हैं। लाल, काला और शुक्ल। शेष सभी रङ्ग मिश्रित हैं। ये सब भी एक सत् के ही अङ्ग हैं अतः वास्तव में तो एक मात्र सत् ही सत् सत्य है। सत् के अतिरिक्त सब ही परिवर्तनशील नाशवान् असत् है।

यह बहुत ही रहस्यपूर्ण बात है। गौतम गोत्रीय आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"देखो बेटा! इस त्रिवृत् करण को जानने वाले महा भाग्यशाली महागृहस्थ तथा महा श्रोत्रिय जो ब्रह्मपिगण हैं, उन्होंने पूर्वकाल में कहा था, कि इस काल में हमारे कमनीय कुल में कोई भी बात अश्रुत नहीं है। अर्थात् इस त्रिवृत् करण को जान लेने पर हम सब सुन सकने में समर्थ हैं। हमारे कुल में कोई बात अमत नहीं है। अविज्ञात नहीं हैं हम त्रिवृत् करण के कारण सब कुछ जानते हैं क्योंकि इन पूर्व कथित अग्नि आदि के दृष्टान्त से सभी बातें जानी जा सकती हैं हमारे पूर्वजों ने यह सिद्धान्त भली-भाँति जान लिया था, जहाँ ललाई-लालरूप लोहित वर्ण दिखायी दे उस सबको तेज का ही रूप समझना चाहिये। जहाँ स्वच्छ, शुक्ल, शुभ्र रूप दिखायी दे समझ लो यह जल का ही रूप है और जहाँ कृष्ण-काला-सा-रूप दिखायी दे उसे अन्न का ही रूप समझना चाहिये और जो कुछ विज्ञान-सा है जानकारी है वह देवताओं का समुदाय है, क्योंकि सब देवता ही ज्ञान स्वरूप हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"ये तेज, जल और अन्न तीनों देवता किस प्रकार पुरुष को प्राप्त होकर इन तीनों में से तीनों ही पृथक्-पृथक् त्रिवृत् को प्राप्त होते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"यही जिज्ञासा श्वेतकेतु ने भी की थी, उसके उत्तर में महर्षि आरुणि ने यही कहा—"अच्छी बात है ये तीनों कैसे त्रिवृत् त्रिवृत् हुए इस बात को मैं आगे कहूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"अब आरुणि जैसे त्रिवृत् का स्पष्ट वर्णन करेंगे उसे मैं आप से कहता हूँ।"

छप्पय

तीनि रूप ई सत्य नाम बानी विलास है।
अग्नि, सूर्य शशि, बिजुरि त्रिविधि बनि है प्रकाश है॥
त्रिवृत् ज्ञान ते भये सकल सर्वज्ञ सुरूपि है।
जाने लोहित तेज, शुक्ल जल, कृष्ण अन्न है॥
जो कछु है विज्ञात सो, सकल देव समुदाय है।
अब आदि जैसे त्रिविध, ताको बरनन करत है॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में
चतुर्थ खण्ड समाप्त।

अन्न, जल और तेज के त्रिविध परिणाम

[१८५]

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥*

(छां० उ० ६ अ० ५ खं० १ मं०)

छप्पय

थूल, मध्य अरु सूक्ष्म भाग सबके तीन हु तन ।
अन्न खावें, मल थूल, रक्त मध्यम, सूक्ष्म मन ॥
जल पीयो, मूत्र थूल, रक्त मध्यम, सूक्ष्म प्रन ।
तेज खायें, थुल अस्थि, मध्य मज्जा, सूक्ष्म वच ॥
प्राण नीरमय-अन्नमय-मन तेजोमय वाक् है ।
श्वेतकेतु बोले—पिता ! पुनि समुझायें बात है ॥

भूख प्राणों को लगती है। नियमित समय पर अन्न न मिलने पर प्राण तड़फड़ाने लगते हैं। प्राण क्या है शरीर के भीतर की वायु का नाम ही प्राण है। भीतर रहते-रहते इसे घुटन होने लगती

---

* हम जो अन्न खाते हैं उसके तीन भाग हो जाते हैं, अत्यन्त स्थूल भाग पुरीष या विष्ठा होता है। मध्यम भाग मांस बनता है और उसका जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है उसी का मन बनता है।

है। अतः वह बार-बार बाहर आती है, भीतर जाती है। बाहर जो वायु भीतर से आती है उसे प्राण कहते हैं, बाहर से जो भीतर जाता है उसे अपान कहते हैं। जो जीवन दे उसे प्राण कहते हैं (प्राणिति=जीवति=इति प्राणः) श्वास न लें तो जीवन कैसे चले। अपान उस वायु का नाम है जो भीतर की ओर विचरती रहती है (अवाग्गमनवान् इति अपानः) इसलिये यद्यपि हम प्रतिदिन मनों वायु भीतर ले जाकर खाते हैं, पचाते हैं, फिर भी प्राण रूप वायु होने से वायु के खाने का श्रुति ने कथन नहीं किया। वायु के अतिरिक्त हम तीन वस्तुएं और खाते हैं। एक तो स्थूल अन्न-जौ, गेहूँ, चावल, उडद, मूँग फल मूलकन्द आदि-आदि-दूसरी वस्तु है जल। शुद्ध जल भी यथेष्ट पीते हैं। दाल-भात, साग भाजी, दूध, दही, मट्ठा, घोल के रूप में भी बहुत सा जल खाते हैं। तीसरी वस्तु है तेज। सूर्य की प्रत्यक्ष गर्मी भी पेट में जाती है। गरमागरम दाल भात, दूध, खीर आदि के साथ भी तेज पेट में जाता है और घृत भी तेज है। इस प्रकार हम वायु के अतिरिक्त अन्न, जल और तेज तीन वस्तुएँ प्रतिदिन खाया करते हैं। हमारे पेट में जाकर ये सब वस्तुएँ ऐसे ही भरी नहीं रहती जैसे किसी गोदाम में बोरियाँ भरी हुई रखी रहती हैं। पेट में जाते ही क्रिया आरम्भ हो जाती है। ये सब वस्तुएँ तीन-तीन विभागों में में बटकर भीतर की धातुओं का इन्द्रियों का कैसे पालन-पोषण करती हैं। इसी बात को आरुणि महर्षि अपने पुत्र श्वेतकेतु से बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हम जो भी कुछ खाते-पीते हैं, वह उदर में जाकर तीन प्रकार का हो जाता है। इसी विषय को बताते हुए आरुणि अपने पुत्र से कह रहे हैं—"हे सौम्य! हमारे खाये पिये अन्न जलादि के उदर मे जाकर स्थूल, मध्य और सूक्ष्म

तीन प्रकार बन जाया करते हैं। अन्न जाकर जठराग्नि में पकता है। उसके तीन भाग हो जाते हैं अत्यन्त स्थूल भाग जो वहाँ पृथक् हो जाता है। उसे तो विष्ठा, मल, विष्ठा या पुरीष कहते हैं। वह तो मल द्वार से बाहर निकल जाता है। अन्न का जो मध्यम भाग है, उससे मांस बढ़ता है, वह मांस हो जाता है और अन्न का अत्यन्त ही सूक्ष्म भाग होता है उसका मन बनता है। इसलिये यह कहावत है—"जैसा खाओ अन्न, वैसा बने मन।"

शौनकजी ने पूछा—"मन कोई स्थूल पदार्थ तो है नहीं, अन्न तो स्थूल है, इससे मन कैसे बनता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! कहा तो सही स्थूल अन्न में कुछ सूक्ष्म का भी अंश तो रहता ही है। सूक्ष्म का ही नहीं अत्यन्त सूक्ष्मांश से मन को आहार मिलता है। मन स्वयं भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इसलिये अन्न को ऐसे ही बिना सोचे विचारे, सर्वत्र सबके हाथ का, सब का स्पर्श हुआ, जैसी तैसी कमायी का अन्न न खाना चाहिये। जिसे अपने मन को पवित्र बनाना हो, उसे न्यायार्जित अन्न को ही, पवित्र व्यक्ति द्वारा बनाया हुआ, पवित्र पुरुषों द्वारा स्पर्श किया हुआ-परसा हुआ, अन्न पवित्रता के साथ, पवित्र स्थान में बैठकर पवित्र भावनासे-भगवान् को भोगादि लगाकर, पवित्र होकर खाना चाहिये। इतनी पवित्रता रखने पर तब पवित्र मन बनेगा। वीर्य की पवित्रता और मन की पवित्रता पर ही समाज की पवित्रता अवलम्बित है। इसीलिये प्राचीन ऋषियों ने रोटी और बेटी की पवित्रता का अत्यधिक विचार बताया है। रोटी जहाँ तहाँ जिस किसी के हाथ की, जिस किसी स्थान पर न खानी चाहिये। ऐसे ही अपनी बेटी को जिस किसी सदाचार रहित अन्य वर्ण अन्य वर्ग के लोगों को न देना चाहिये। श्रेष्ठ आचार वाले सदाचारी स्ववर्ण के

मातृ-पितृ गोत्र बचाकर तब देनी चाहिये तभी समाज की पवित्रता स्थिर रह सकेगी। जिस समाज के लोग स्वेच्छाचारी यथेच्छ भोजी हो जाते हैं, वे धन वैभव संसारी भोग विलासों में भले ही बढ़ जायँ, किन्तु परमार्थ के पथ से तो वे पतित हो जायँगे। उनका मन परमार्थ पथ की ओर अग्रसर न हो सकेगा।"

अन्न की ही भाँति पीये हुए जल के भी तीन ही प्रकार हो जाते हैं। जल का जो अत्यन्त स्थूल भाग है, उसका तो मूत्र बन जाता है, मध्य भाग का रक्त और सूक्ष्मतम भाग का प्राण बन जाता है। जल के जीवन, भुवन, वन, नीर तथा पानीय आदि बहुत से नाम हैं। अन्न के बिना तो प्राण चिरकाल तक रह सकते हैं, किन्तु जल के बिना प्राणों का रहना कठिन है। शरीर में से जहाँ समस्त जलीय अंश निकल जायगा, वहाँ प्राणियों की मृत्यु हो जायगी। अतः जल के अत्यन्त सूक्ष्मांश से ही प्राणों का प्रीणन होता है।

यही दशा तेज की भी है। हम जो शरीर में घृत आदि तेजस् पदार्थ ले जाते हैं उसके अत्यन्त स्थूल भाग से हड्डी बनती है। मध्यम से मज्जा बनता है और अत्यन्त सूक्ष्म अंश से वाक् वाणी बनती है। इसलिये सिद्धान्त यह हुआ कि मन अन्नमय है। प्राण जलमय हैं और वाक् वाणी तेजमयी है।

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! अभी यह विषय यथार्थ रूप से मेरी बुद्धि में बैठा नहीं। आप इसी विषय को फिर से दृष्टान्त देकर मुझे समझाइये।"

अपने पुत्र की यह बात सुनकर महर्षि आरुणि उद्दालक श्वेतकेतु से कहने लगे—"हे सौम्य! यह पुरुष षोडश कहा जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! १६ कला कौन-कौन-सी हैं।"

सूतजी ने कहा—"जिनके द्वारा यह शरीर क्रियायें करता है, व ये १६ कलायें हैं (१) प्राण, (२) श्रद्धा, (३) आकाश, (४) वायु, (५) अग्नि, (६) जल, (७) पृथ्वी, (८) इन्द्रियाँ, (९) मन, (१०) अन्न, (११) वीर्य, (१२) तप, (१३) मन्त्र, (१४) कर्म, (१५) लोक और (१६) नाम शरीर इन में कलाओं के रहते हुए ही पुरुष देखता है, सुनता है, मनन चिंतन करता है, विचार स्थिर करता है, सभी कर्मों को करता है, विज्ञान का अनुभव करता है। इन कलाओं के क्षीण हो जाने पर शक्ति का ह्रास हो जाता है। शक्ति अन्न से ही आती है।

शौनकजी ने कहा—"लोग बिना अन्न के भी तो बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जीवित रहना दूसरी बात है। पीछे कह आये हैं, कि प्राण जलमय है वाक् तेजोमयी है और मन अन्नमय है। अन्न न खाने से मन भ्रमित हो जाता है। उन्मत्तता आ जाती है। स्मृति नाश हो जाती है। इसी बात को महर्षि आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुए कहते हैं—"श्वेतकेतु ! बेटा ! मैं तुझे एक अनुभव कराता हूँ। तू एक काम कर १५ दिन तू भोजन मत कर।"

श्वेतकेतु ने कहा—"यदि १५ दिन न खाने से मैं मर गया तो ?"

आरुणि ने कहा—"सौम्य ! तू मरेगा नहीं, क्योंकि प्राण तो जलमय हैं, तू यथेच्छ जल पीते रहना।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो अपने पिता की बात मानकर श्वेतकेतु ने १५ दिनों तक कुछ भी नहीं खाया। केवल यथेच्छ

जल पीता रहा। पन्द्रह दिन के पश्चात् वह अपने पिता आरुणि के पास आया। आरुणि ने कहा—"सौम्य श्वेतकेतु! कुछ बोलो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"आज्ञा करें भगवन! क्या बोलूँ?"

आरुणि ने कहा—"अरे, तू तो चारों वेदों का ज्ञाता है ऋक्, यजु तथा साम के मन्त्रों का उच्चारण करो। साम का गान करो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! पन्द्रह दिन भोजन न करने से भूख के कारण-मुझे मन्त्रों का प्रतिभान-स्फुरण-नहीं हो रहा है। मेरा मस्तिष्क चकरा रहा है।"

पिता ने कहा—"देखो, बेटा! जैसे अग्नि है, उसे जलाकर उसमें यथेष्ट सूखा ईंधन डाल दो तो उसमें चाहें जितना जल गरम कर लो चाहे जितना भोजन पकालो। यथेष्ट प्रज्वलित अग्नि से सभी कार्य सुचारुरूप से सम्पन्न हो सकते हैं। उस प्रज्वलित अग्नि में ईंधन न डालो तो वह शनः शनः क्षीण होने लगेगी। यहाँ तक कि अन्त में जुगनू के सदृश एक छोटी चिनगारी शेष रह जायगी। वह चिनगारी अग्नि का द्योतक मात्र है। उससे जल गरम नहीं हो सकता, चावल नहीं पकाये जा सकते। फिर उस छोटी सी चिनगारी को रुई द्वारा पतली लकड़ियों द्वारा प्रज्वलित करके यथेष्ट ईंधन दो, तो वह पुनः प्रज्वलित हो जायगी। फिर उस पर जो चाहें सो पका लो। जितना चाहो जलादि गरम कर लो।

इसी प्रकार वत्स! १५ दिन अन्न न खाने से तुम्हारी १५ कलाएं क्षीण हो गयी हैं, एक प्राण की कला शेष रह गया है, इससे तू पूर्व की भाँति वेदों का पाठ नहीं कर सकता। अब तू भोजन कर ले अपनी क्षीण हुई कलाओं को स्फुरित सचेष्ट कर ले। ये सब भोजन पाने से होंगी।"

पिता की आज्ञा मानकर उसने शनैः शनैः युक्त भोजन करके आहार को क्रमशः पूर्ण किया। शरीर सबल और स्वस्थ बन गया। तब वह पुनः पिता के समीप आया और बोला—"पिताजी! अब मैं स्वस्थ सबल हो गया। अब आप मुझे आज्ञा दें?"

आरुणि ने कहा—"ऋग्वेद के अमुक मंडल के अमुक मन्त्र को बोलो। सामवेद के अमुक स्तोत्र का गायन करो।"

पिता ने श्वेतकेतु से जो-जो भी पूछा उस सब को उसने तत्काल बता दिया।

तब आरुणि ने कहा—"देखो सौम्य! जैसे बहुत से ईंधन से प्रज्वलित अग्नि में पुनः ईंधन न डाला जाय, और वह क्षीण होते-होते खद्योत के समान—एक छोटी सी चिनगारी—अवशेष रह जाय, उसे रुई से, तृण से पुनः प्रज्वलित करके उसमें शनैः-शनैः ईंधन डालते रहो। तो वह अपने पूर्व परिमाण की भी अपेक्षा अधिक प्रज्वलित हो जायगी। अधिक शक्तिशालिनी बन जायगी इसी प्रकार १५ दिन न खाने से तुम्हारी सोलह कलाओं से एक कला अवशिष्ट रह गयी थी। वह तुमने शनैः शनैः अन्न के द्वारा प्रज्वलित करके अभिवृद्धि को प्राप्त कर ली। अब जो तुमसे पूछा जाता है, उसका तू तुरन्त उत्तर देता है इसका कारण यही है कि अब अन्न के द्वारा तेरी समस्त कलाएँ परिपुष्ट हो गयीं। उनमें पूर्व की ही भाँति शक्ति आ गयी। इससे सिद्ध हो गया। मन अन्नमय है। प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! कहने सुनने से बात शीघ्रता से समझ में नहीं आती। बड़ी बात अपने ऊपर पड़ती है, तो स्वयं के अनुभव से बात शीघ्रता से बुद्धि में बैठ जाती है। अतः पुस्तकी ज्ञान से अनुभवी ज्ञान श्रेष्ठ है। श्वेतकेतु ने जब स्वयं

पन्द्रह दिन कुछ न खाकर केवल जल पर ही रहने से इस बात का अनुभव कर लिया कि मन अन्नमय है और प्राण जलमय है। तब उसकी बुद्धि में विशेषरूप से यह बात बैठ गयी। इस प्रकार भगवन्! महर्षि आरुणिक उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को षोडष कला विष्ट पुरुष का उपदेश करके मन अन्न का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश है। मन अन्नमय है यह बात सिद्ध कर दी। अब आगे सुषुप्ति काल में जीव की क्या स्थिति होती है। इसका वर्णन वे आगे करेंगे। आशा है आप सब इसे मनोयोग से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

दधि मथि सूक्ष्म घीउ अन्न सूक्ष्म त्यों ई मन।
जल सूक्ष्म ई प्राण तेज सूक्ष्म वाणी बनि॥
प्राण नीरमय, वाक तेजमय, मनहु अन्नमय।
अनशन में जल पियो प्राण नाशन को नहिं भय॥
पन्द्रह दिन अनशन कर्यो, पितु बोले—सुत! वेद पढ़ि।
सुत बोल्यो—भूल्यो सबहिं, पितु बोले—आगे न बढ़ि॥

(२)

जगी आगि में एक रहै चिनगारी चमकै।
सोलह में है शेष कला एकहि वह दमकै॥
'करि भोजन' सो कर्यो यदि सब वेद सुनाये।
अन्य कला प्रज्वलित करीं इरमृति सब आये॥
प्राण नीरमय अन्नमय—मन तेजोमय वाक है।
समुझि गयो सुत पितु वचन, प्रमुदित सुत अरु तात है॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में
पंचम, षष्ठ और सप्तम खण्ड समाप्त।

सबका मूल कारण सत् ही है

[१८६]

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं हे सोम्य-
विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा
सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्या-
चक्षते स्वं ह्यपीतो भवति ॥*

(छा० उ० ६ प्र० ८ ख० १ म०)

छप्पय

आरुणि सुत सन कहत नींद में सत सपन नर।
निजकूँ होवै प्राप्त सूनरी बँध्यो कबूतर॥
प्राण बँध्यो मन रहै घूमि प्राननि ही आवै।
जल हि अन्न लै जाय ताहि तैं तन उपजावै॥
अन्न मूल तन को कह्यौ, अंकुर जल तेज उत।
तेजाकुर सत् ई कह्यो, आश्रय, मूल, प्रतिष्ठ सत॥

---

* आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—"तू सुषुप्ति स्वरूप को समझ ले। जब पुरुष सोता है, उस समय वह सत् से सम्बन्धित हो जाता है। निज स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, इसी से सोते हुए को 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं। क्योंकि उस समय वह स्व—अपने—को ही अपीत—प्राप्त—होता है।"

जाग्रत अवस्था में हम मन के अधीन होते हैं। मन के ही अनुसार काम करते हैं, मन से ही मनन करते हैं, जिस इन्द्रिय का मन से विशेष संयोग हो जाता है। उसी के द्वारा उस इन्द्रिय के विषय को करने लगते हैं। स्वप्नावस्था में मन स्वतन्त्र हो जाता है। वह स्थूल इन्द्रियों की सहायता बिना ही सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा इच्छानुसार घूमता रहता है। बुद्धि उस समय क्रियाहीन-सी हो जाती है। अतः स्वप्नावस्था में कोई विषय क्रमबद्ध मनन नहीं होता। बैठे हैं वाराणसी में दृश्य देख रहे हैं पाटलपुत्र का। सब स्वप्न प्रायः असम्बद्ध होते हैं। दुःख सुख जाग्रत अवस्था के ही सदृश होता है, क्योंकि जाग्रत अवस्था में भी मन ही मनुष्य के दुःख सुख का कारण है। मन जिसे सुख मान ले वही सुख मन जिसे दुःख मान ले वही दुःख। स्वप्नावस्था में मन रहता तो स्वतन्त्र है, किन्तु वह क्रमबद्ध मनन करने में असमर्थ है। सुषुप्ति अवस्था में मन भी सद् में- आत्मा में- विलीन हो जाता है। उस समय न इन्द्रियाँ कार्य करती हैं और न मन ही। स्वस्वरूप में प्राप्त होकर पुरुष प्रसन्न होता है। जैसे परदेश में गया पथिक अनेक स्थानों में भटकता फिरता है, कहीं जल का कष्ट, कहीं भोजन का कष्ट, कहीं निवास का कष्ट कहीं दुष्टों के दुर्वचनों का कष्ट, कहीं चोर, ठग, दस्यु, धूर्तों का कष्ट परदेश में कष्ट ही कष्ट है। किन्तु वही पथिक जब अपने घर पर-नित्य निवास पर-अपने सदा रहने के स्थान में-पहुँच जाता है, तो तान दुपट्टा सो जाता है। वहाँ उसे अपनी सामर्थ्य के अनुसार सभी सुविधायें हैं। वह निश्चिन्त हो जाता है। इसी प्रकार स्वप्नावस्था में मन अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। मनुष्य रोगी है और उसे गाढ़ निद्रा आ गयी तो वह सुषुप्ति अवस्था में रोगजनित सभी पीडाओं से निर्मुक्त हो जाता है। स्वजन की मृत्यु से जो शोकमग्न हैं, उन्हें

यदि गाढी नींद आ जाती है तो वे सभी शोकों को भूल जाते हैं। यदि कोई मोह ग्रस्त व्यक्ति है और उसे किसी प्रकार गहरी नींद आ जाता है, तो वह निद्रावस्था में सभी मोह ममता जनित चिन्ता को विस्मरण कर देता है। उस समय न इन्द्रियाँ काम करता हैं, न मन न बुद्धि केवल एक प्राण जागता रहता है। अनुभव करने वाला पुरुष बिना सोये साक्षी रूप से जागता रहता है। तभी तो सोने के पश्चात् उठकर पुरुष कहता है—"आज बडी गहरी मीठी निद्रा आयी बड़ा सुख मिला।"

केवल पुरुष ही—आत्मा ही—सुखानुभूति करता है, प्राण क्रिया करते हुए इसके जीवित रहने की सूचना देते हैं।

सुषुप्ति में और समाधि में सुख तो समान ही है, किन्तु समाधि में एक विशेष प्रकार का सुख होता है, वहाँ मन प्राण को लिये हुए ज्ञान के साथ आत्मा में लीन होता है और सुषुप्ति में प्राण स्वतन्त्र क्रिया करते रहते हैं। मन अज्ञान के सहित आत्मा में लीन होता है, अतः अज्ञान के कारण सुखानुभूति भी उतनी अनुभव नहीं होती और अज्ञान चिरकाल तक मन को लीन नहीं रखने देता। कुछ ही काल में निद्रा भग हो जाता है, वह सुख भी विलीन हो जाता है। समाधि में चिरकाल तक प्राण मन और ज्ञान आत्मा में विलीन होते हैं अतः वहाँ सुख भी विशेष होता है और वह स्थिति चिरकाल तक टिकी रह सकती है। अब विचारणीय विषय यह है कि सुषुप्ति अवस्था में जीव की स्थिति क्या होती है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्वेतकेतु षोडश कला विशिष्ट पुरुष के उपदेश को भली-भाँति समझ गया, तब सुषुप्ति अवस्था में जीव की क्या स्थिति होती है। इसका उपदेश करते हुए महर्षि आरुणि उद्दालक अपने प्रिय पुत्र तथा सद् शिष्य श्वेतकेतु

से कहने लगे—"हे सोम्य ! अब तू सुषुप्ति स्वरूप को भी भली-भाँति समझ ले।"

व्यवहार में जब हम अपने किसी सेवक से कहते हैं—'अमुक बात जाकर देवदत्त से कह दो।"

तब वह सेवक आकर हमें सूचना देता है—"जी, देवदत्तजी ! तो सो गये हैं।"

'सो गये हैं' इसका अभिप्राय क्या हुआ ? अर्थात् उनके मन की वृत्ति विश्व के पदार्थों में न लगकर सत् में–आत्मा में–लीन हो गयी है। देवदत्त स्वपिति अर्थात् स्व–अपने–स्वरूप में वह अपात- प्राप्त हो गया है। अर्थात् उनका मन बाह्य पदार्थों में भटकना बन्द करके आत्मसुख का अनुभव कर रहा है। इसी बात को दृष्टान्त से समझ लो।

एक कबूतर बाज या कोई भी पक्षी है, उसके पैर में बहुत लम्बी रस्सी बाँधकर उस रस्सी का किसी पेड की डाली में बाँध दो। पङ्ख वाले पक्षी का उडने का तो स्वभाव ही होता है, वह पङ्खों से आकाश में इधर उधर उडता रहेगा। उडते उडते जब वह श्रमित हो जायगा, तो पुनः आकर उसी स्थान पर लौटकर बठ जायगा। जैसे समुद्र में जाने वाले किसी पोत की लम्बी बल्ली पर कोई पक्षी बेठ गया। पोत अथाह सागर में पहुँच गया। अब पक्षी आकाश में चारों ओर उडता है। कहीं समुद्र का अन्त नहीं दृष्टि गोचर होता, सर्वत्र उसे अनन्त अगाध समुद्र का जल ही जल दिखायी देता है। थककर वह पुनः पोत की बल्ली पर ही आकर बेठ जाता है, वहीं अपने श्रम को मिटाता है। वही उसका एक-मात्र आश्रय है। मन प्राण से बँधा है। प्राण न रहेंगे तो वहाँ मन भी न रहेगा।

श्वेतकेतु ने कहा—"शरीर का कारण क्या है ?"

आरुणि ने कहा—"शरीर का कारण प्राण है, प्राण रहते शरीर है, नहीं शव है।"

श्वेतकेतु ने कहा—"प्राण का कारण क्या है ?"

आरुणि ने कहा—"प्राण का कारण जल है, जल ही जीवन है। जल के सहारे ही जीवन रहता है।"

श्वेतकेतु ने कहा "केवल जल से ही काम तो नहीं चलता। अन्न भी तो चाहिये। प्राण तो अन्नमय हैं।"

आरुणि ने कहा—"अन्न और जल में तादात्म्य भाव है। जैसे कोई आम ले जा रहा है। हम पुकारते हैं—'ओ आम!' तो वह व्यक्ति ही बोलता है। कोई दही बेच रहा है। हम पुकारते हैं—'ओ दही।' तो दही न बोलकर दही को ले जाने वाला ढोने वाला ही बोलता है। कोई आदमी गौ को पकड़े ले रहा है, तो उसे गोनाय-गौ ले जाने वाला--कहेंगे। कोई घोड़ा को ले जा रहा हो, तो अश्वनाय-घोड़े को ले जाने वाला कहेंगे। कोई पंक्तिबद्ध लोगों को एक साथ ले जा रहा हो तो उसे हम पुरुषनायक-सेनापति-कहेंगे। इसी प्रकार जल ही अन्न को भीतर ले जाता है। दाल भात साग रोटी में जल ही तो रहता है, जल के ही द्वारा वे बनाये जाते हैं जल के ही कारण वे कंठ से नीचे निगले जा सकते हैं। इसीलिये जल को अशनाय--अन्न को भीतर ले जाने वाला--कहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! पानी रहित भुने चने, सूखे सत्तू भी तो लोग खा जाते हैं।"

सूतजी ने कहा—"चाहे सूखे सत्तू हों या भुने चने, इनमें भी थोड़ा बहुत जलीय अंश रहता ही है, फिर मुँह में जाकर मुँह का पानी भी इनमें मिल जाता है, ऊपर से पानी भी पीते हैं।

पानी की सहायता के बिना अन्न भीतर नहीं जा सकता। इसीलिये जल का नाम 'अशनाय' है। उसी अन्न से संशिष्ट जल द्वारा यह शरीर शुद्ध अर्थात् अकुर उत्पन्न होता है। अन्न जल के सम्मिश्रण से ही वीर्य बनता है। वार्य गाढ़ा जल ही तो होता है। इसलिये शरीर का कारण जल--वीर्य-ही है। तुम स्वयं सोचो, अन्न के बिना वीर्य बन ही कैसे सकता है। अतः अन्न को छोड़कर शरीर का मूल कारण और कोई कैसे हो सकता है। अन्न ही अकुर उत्पन्न करता है, उसके मूल में जो जल है जो अन्न को हाथ पकड़कर-रस्सी से बाँधकर भीतर ले जाता है, उस 'अशनाय' जल की खोज करो। जल के अकुर द्वारा तेज की खोज करो। तेज के द्वारा जो सबका मूल कारण 'सद्' है उसकी खोज करो वास्तव में तो सत् से ही सबकी उत्पत्ति है। एक सत् को ही विद्वान् बहुत प्रकार से कहते हैं। एक सत् ही बहुत बन गया है। जितनी भी प्रजा है जितना भी यह दृश्यमान जगत है। सब सत्मूलक है। सभी का एकमात्र आश्रय निवास स्थान–सत् ही है। सभी का प्रतिष्ठा स्थिति--आयतन -सत् ही है।"

अन्न रूप अंकुर के द्वारा जैसे सद्रूप मूल का ज्ञान कराया गया, उसी प्रकार अब जल रूप अंकुर द्वारा सद्रूप मूल का ज्ञान कराया जाता है। मनुष्य को जब प्यास लगती है, तब उसे प्यासा–पिपासित-कहते हैं। प्यास क्यों लगती है, उष्णता के कारण। जिस अन्न को जल भीतर ले जाता है, उसे तेज–सूर्य सोख लेता है। क्योंकि सूर्य का नाम ही है वारि तस्कर–जल को चुराने वाला। सूर्य जल को समुद्र, नदी, तालाब, कूप तथा समस्त शरीरों म चुराता रहता है। सूर्य यदि जल को शरीरों से न चुराये तो जल अपनी अधिकता के कारण शरीर को गीला कर दे। शरीर में शिथिलता आ जाय। इसलिये देह से सूर्य

निरन्तर जल को चुराता रहता है, अन्न के अकुर भूत देह को अधिक आद्रता स बचाय रखता है। जब प्यास लगती है, तो उस पाये हुए पानी को तेज ही चुरा ले जाता है। इसीलिये जैसे गो ले जान वाले को गोनाय, घोड़ा ले जाने वाले को अश्वनाय कहत हैं, वेसे हा जल को ले जाने वाले उस तेज को 'उदन्या'-जल का ल जाने वाला-कहत हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अन्न को भी भीतर ले जाने वाला तथा तेज द्वारा स्वयं सूखने वाले जल से शरीर रूप अकुर उत्पन्न हुआ है। इस शरीर का मूल-भूत कारण अन्न क सदृश जल भा है, यह शरीर बिना मूल कारण क उत्पन्न ही नही हो सकता।

एक मूल का पता लगने पर उसके द्वारा मूल की भी खोज की जाती है। जेसे अन्न शरीर का मूल है। अन्न का मूल कारण जल है और जल का मूल तेज है। जल तेज से ही उत्पन्न होता है। तज का मूलकारण सत् है। 'सत्' का मूलकारण कोई नहीं। सत् कारण रहित सभी का मूल है। यह सम्पूर्ण प्रजा सत् से ही उत्पन्न हुइ है। सत् ही सबका आयतन-निवास स्थल-है। सत् ही एक मात्र सबकी प्रतिष्ठा है। सत् के बिना कोई प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, किसी का अस्तित्व संभव नहीं। अन्न, जल और तेज ये तानों देवता पुरुष को प्राप्त होकर त्रिवृत्-त्रिवृत् (पची करण के सदृश) प्राप्त हो जाते हैं। उसी के द्वारा जीवन चलता रहता है। जीवन का समाप्ति मे पहिले वाणी मन मे लीन हो जाती है। मरने के पूर्व पुरुष की बोली बन्द हो जाती है। वाणी के मन मे लीन हो जाने से वह बोलने मे असमर्थ हो जाता है। फिर मन प्राण में लीन हो जाता है। प्राण तेज में लीन हो जाता है, जब तक शरीर मे उष्णता रहती है, तब तक लोग कहते हैं, अभी उष्णता शेष है। अर्थात् वह बोल नहीं

सकता, क्योंकि वाणी तो मन मे लीन हो गयी घर परिवार तथा परिचित पुरुषों को पहिचान नहीं सकता, क्योंकि जिस मन के द्वारा मनन करके पहिचाना जाता है, वह मन प्राणों में लीन हो गया। वह हिल डुल भी नहीं सकता, क्योंकि जिस प्राण के द्वारा हिलने डुलने की क्रियाये होती हैं, वह प्राण तेज में लीन हो गया। अब वाणी, मन, प्राण को लीन किया हुआ तेज जब परदेवता में लीन हो जाता है—शरीर ठडा पड जाता है, तो उसे फिर मृतक घोषित कर देते हैं। उस समय अपने कारण सत्य स्वरूप परमात्मा का अनुसंधान करते हुए वह देह त्याग करता है, तो सत् को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि मरते समय जिस प्रकार का स्मरण करेगा, वैसा ही वह बन जायगा। ज्ञान पूर्वक नारायण का स्मरण करेगा, तो नारायण को प्राप्त होगा, भूत का स्मरण करेगा, भूत बन जायगा, पितरों का स्मरण करेगा, पितर बन जायगा। ज्ञान पूर्वक स्मरण करेगा, तो ज्ञान को प्राप्त होकर संसार के आवागमन से छूट जायगा, अज्ञान मे मरेगा, तो जन्म-मरण के चक्कर मे फिर-फिर भटकता रहेगा। यह जो सद्वाचक परब्रह्म परमात्मा है, वह अणिमा है। अर्थात् बुद्धि गम्य नहीं जैसे अणु दुर्विज्ञेय है, अगोचर है वैसे ही यह परब्रह्म परमात्मा है। यह जो जगत् है। वह परब्रह्म द्वारा ही व्याप्त है। वह सद् स्वरूप परब्रह्म परमात्मा सत्य है। हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है, अन्तर्यामी है। वह तुम ही हो। उसे चाहे वह कहो चाहे तुम कहो उसमें वह और तुम का भेद नहीं।

यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! पिताजी इस विषय को मुझे आप फिर से समझाइये। अभी यह विषय मेरी बुद्धि में ठीक-ठीक बैठा नहीं।"

यह सुनकर महर्षि आरुणि उद्दालक ने कहा—"अच्छी बात है, वत्स ! मैं तुम्हें इसे फिर समझाऊँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब जैसे अनेकों दृष्टान्त दे दे कर इस विषय को स्पष्ट करके समझावेंगे। उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

जल लै जावै तेज वासु तन तेजहि मूलक।
शोध तासु की करो आयतन हैं सन्मूलक॥
देव त्रिवृत् है जायँ तजे तन जब यह प्रानी।
मन में लय हो वाक् मनहु प्राणनि महँ जानी॥
प्राण तेज में तेज पर-देवहिँ होवै लीन यह।
अणिमा-आत्मा सत्य वह, तू ही है नहिँ अन्य वह॥

इति छादोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय में
अष्टम खण्ड समाप्त।

सुषुप्ति अवस्था में सत् प्राप्ति का ज्ञान नहीं

[१८७]

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नाना-त्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रस गमयति ॥*

(छा उ० ६ अ० ९ ख० १ म०)

छप्पय

मधुमक्खी मधु मधुर विविध सुमननि तैं लावैं ।
मधु सब जब मिलि जाय कौन तरु-रस न बतावैं ॥
त्यों सतकूँ करि प्राप्त न सत् कूँ नर पहिचाने ।
नर सुषुप्ति तैं पूर्व व्याघ्र नर सूकर जाने ॥
जागें पुनि होवैं वही, यह आत्मा अणिमा हु सत ।
तू वह ही है सुदृढ़ करि, बार बार बतलाऊँ सत ॥

सुषुप्ति अवस्था में पुरुष सत् को प्राप्त होता है। उस समय उसे बड़ा सुख प्रतीत होता है। रोगी अपने रोग को भूल जाता है, बन्दी अपने बन्धन को भूल जाता है, दीन हीन दुखी अपनी

---

* महर्षि आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"हे सोम्य ! जैसे मधुमक्खियाँ इधर-उधर के बहुत से फूलों से लाकर मधु तैयार करती हैं, उसमें नाना वृक्षों के फूलों का रस लाकर एक ही छत्ते में सबको मिला देती हैं।"

दीनता हीनता तथा दुख को भूल जाते है, निर्धन अपनी निर्धनता को भूल जाते है। कैसी विचित्र स्थिति है। उस समय राजा, रंक, धनी निर्धन का भेद नहीं रहता।

एक राजा के महल के पीछे एक त्यागी महात्मा पड़े रहते थे। न उनके पास शैया थी, न बिस्तरा, न वस्त्र वैसे ही नंगे भूमि पर सो जाते। नींद पूरी होने पर अपने आप उठकर जहाँ चाहते घूम फिर आते। राजा उन्हे नित्य सुख से सोते हुए देखता। एक दिन राजा ने उन्हे बुलाया, आदर पूर्वक बिठाकर विनय के साथ पूछा—"भगवन् आपकी और मेरी स्थिति मे क्या अन्तर है ?"

"महात्मा ने कहा—"कुछ स्थिति मे तो हम तुम दोनों समान हैं, कुछ स्थिति मे हम तुमसे बढ़कर हैं।"

राजा ने कहा—"समान किस स्थिति मे हैं ?"

महात्मा ने कहा—"सोने के पूर्व तुम्हारे शयन स्थान को झाड़ा-बुहारा जाता है, उसमे सुन्दर सुगन्धयुक्त जल का छिड़काव होता है। बगुला के पंखो के समान स्वच्छ शुभ्र शैया पर भाँति-भाँति बिस्तरे बिछाये जाते हैं। उपधान (तकिये) रखे जाते हैं। जब तक निद्रा नहीं आती तब तक हमारी तुम्हारी स्थिति भिन्न रहती है। हम पर न शैया, न तकिया, न बिस्तर, न छिड़काव, न सुगंधित पदार्थ। जब घोर निद्रा आ जाती है। हम दोनों सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, उस समय हमारी तुम्हारी स्थिति समान हो जाती है। उस समय न आपको गद्दा तकिया का भान रहता है, न हमें नगी भूमि का दोनो ही एक समान सत् में विलीन हो जाते हैं। उस स्थिति में तो हम तुम समान हैं।"

राजा ने पूछा—"बढ़कर आप किस स्थिति में हैं ?"

महात्मा ने कहा—"जागने पर आपको राजकाज की, कुटुम्ब परिवार की, शत्रुओं और मित्रों की, सेनापति, मंत्री, राजकुमार

तथा समस्त प्रजा की नाना चिन्तायें आकर घेर लेती हैं। आप उन चिन्ताओं के कारण चिन्तित दुखी तथा शोकग्रस्त बने रहते हैं। उस जाग्रत अवस्था में हम तुमसे बढ़कर होते हैं। हमें कोई चिन्ता नहीं, कोई इच्छा नहीं, हम पर कोई संग्रह नहीं। हमने शरीर को प्रारब्ध के ऊपर छोड़ दिया है। जो प्रारब्ध में शरीर के भोग होंगे, वे बिना चाहे भी अवश्य प्राप्त होंगे। अतः हम शरीर को प्रारब्ध के अधीन छोड़कर चिन्ता, शोक, विस्मय से रहित होकर निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते हैं। उस स्थिति में हम तुमसे उत्तम हैं।"

सारांश यह है कि निद्रा आने पर पशु, पक्षी, मनुष्य, धनी निर्धन, राजा रंक सब समान हो जाते हैं। क्योंकि उस समय वे सत् को प्राप्त हो जाते हैं। अब प्रश्न यह होता है, कि सत् को प्राप्त करके भी जागने पर जीव दुखी क्यों हो जाता है? उसका कारण अज्ञान है। सुषुप्ति अवस्था में जीव अज्ञान के साथ सत् में लीन होता है, उसे यह ज्ञात नहीं होता कि मैं सत् को प्राप्त हो गया हूँ। जैसे कोई व्यक्ति बहुत धनिक परिवार का है। उसके पूर्वज बहुत धनी थे। मरते समय वे बहुत सा धन भूमि में गाड़ गये थे। काल क्रम से यह व्यक्ति निर्धन हो गया। भोजन के भी लाले पड़ गये। वह धन उसके नीचे ही गड़ा है। उस पर से नित्य ही पचासों बार आता जाता है, किन्तु उसे ज्ञान नहीं कि अपार धनराशि मेरे पैरों के नीचे गड़ी है। कोई सद्गुरु आकर उसे ज्ञान करा दे। अपार धनराशि का दिग्दर्शन करा दे, तो उसकी समस्त समस्यायें पूर्ण हो जायें। उसकी निर्धनता सदा के लिये चली जाय।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्वेतकेतु ने यह शंका की, कि प्रजा के लोग जो प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में सत् से मिलकर

सुखी होते हैं, फिर भी जागने पर उन्हें दुःख की अनुभूति क्यों होती है ? तो इसका उत्तर महर्षि आरुणि देते हैं—कि यह सब अज्ञान के कारण होता है। इस विषय में वे एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त देते हैं— जैसे सभी फूल वाले वृक्षों के रस का सार पुष्पों में आ जाता है। वह पुष्प रस अपने आप में मधुर है, मीठा है वृक्ष के रस का सारतत्व है। उसी रस को मधुमक्खियाँ ला-लाकर अपने छत्ते मे एकत्रित करती जाती हैं। उस मधु में मधुरता तो होती ही है, मधुरता के साथ ही अन्य तिक्त, आम्ल, नमकीन आदि रस भी रहते हैं। भिन्न-भिन्न पुष्पों से वह रस चुनकर एकत्रित किया जाता है। एकत्रित हो जाने पर अब उन मधु बिन्दुओं को यह ज्ञान नहीं रहता कि मैं कटहल के फूल का रस हूँ, आम, जामुन, मल्लिका, जूथिका या पाटल के पुष्पों का। इसी प्रकार हे वत्स ! यह सम्पूर्ण प्रजा नित्य प्रति सुषुप्ति अवस्था में सत् को प्राप्त होकर भी यह नहीं जानती कि हम सत् को प्राप्त हो गये हैं, क्योंकि जीव अज्ञान के सहित सुषुप्ति अवस्था में सत् को प्राप्त होता है। सुषुप्ति अवस्था मे तो चाहें अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज किसी भी वर्ग का जीव क्यों न हो सबकी एक-सी ही स्थिति हो जाती है। जागने पर जो व्याघ्र है, अपने को व्याघ्र अनुभव करने लगता है। सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतङ्ग, डांस अथवा मच्छर जो भी कोई जीव हो वह अपने सोने से पूर्वरूप को व्याप्त करके अपने को दुखी-सुखी अनुभव करने लगता है।

इससे सिद्ध हुआ कि यह जो सत् स्वरूप अणिमा है एतद्रूप ही प्रजा के सभी जीव हैं वह सत्य है, उसी को आत्मा भी कहते हैं। बेटा श्वेतकेतु ! वही सब है। तू भी वही है। तत् त्वम् असि !

इस पर श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी ! अभी मैंने इस विषय को पूर्णरीत्या समझा नहीं। हे भगवन् ! इसे ही मुझे पुनः अन्य दृष्टान्त देकर समझावें।"

महर्षि आरुणि ने कहा—"अच्छी बात है मैं और दृष्टान्त देकर इसी विषय को समझाता हूँ।"

देखो, जैसे बहुत सी नदियाँ हैं। गंगा आदि बहुत-सी नदियाँ पूर्व वाहिनी हैं। उत्तर से बहती हुई पूर्व के समुद्र में मिल जाती हैं। सिन्धु आदि नदियाँ पश्चिम की ओर बहती हैं। मेघ समुद्र से जल लाकर वर्षा करके इन्हें बढ़ाते हैं। समस्त जलों का स्रोत समुद्र ही है। एक प्रकार से ये नदियाँ समुद्र से ही निकलती हैं बढ़ती हैं और अन्त में जाकर समुद्र में ही मिल जाती हैं। समुद्र में मिल जाने पर समस्त नदियाँ अपना अस्तित्व खो बैठती हैं। मिल जाने पर उनकी पृथक् सत्ता समाप्त हो जाती है, फिर वे यह नहीं जानतीं कि मैं गंगा हूँ, मैं सरस्वती अथवा सिन्ध हूँ। उसी प्रकार हे सौम्य ! ये समस्त प्रजायें—ये समस्त चराचर—स्थावर जंगम जीव उस 'सत्' से ही निकलते हैं सब वहीं से आते हैं। आने पर अपने सत्स्वरूप को भूल जाते हैं। फिर उन्हें जो भी व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस तथा मच्छर जो-जो भी योनियाँ प्राप्त होती है, सुषुप्ति के पश्चात् वे ही वे फिर-फिर हो जाते हैं। यह जो अणिमा रूप सत् है, वही यह सब है। वह सत्य है, आत्मा है और श्वेतकेतु ! तू भी वही है।"

जब आरुणि ने नदी का दृष्टान्त देकर समझाया, तब श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन् ! यह विषय गहन है, इसे पुनः मुझे समझाइये।"

अपने पुत्र तथा शिष्य की बात सुनकर महर्षि

कहा—"अच्छा, वत्स! अब मैं तुम्हें इस विषय को दूसरा दृष्टान्त देकर समझाता हूँ।"

देखो कोई बहुत भारी बहुत सी शाखाओं वाला सघन वृक्ष है। उसके मूल में कोई कुल्हाड़ी से आघात करे, तो उसमें से रस-रक्त-स्रवित हो जायगा, किन्तु मरेगा नहीं। यदि कोई कुल्हाड़ी आदि शस्त्र से उसके मध्य भाग में आघात करे, तो भी वह मरेगा नहीं, केवल रक्तस्राव करके ही रह जायगा। इसी प्रकार उसके अग्रभाग में आघात किया जाय, तो भी वह सूखेगा नहीं। रसस्राव करके शनः शनैः वह घाव भर जायगा। क्योंकि वह वृक्ष जीवात्मा से ओत प्रोत है और अपनी भूमिगत जड़ों द्वारा जलपान करता हुआ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा है। क्योंकि इसमें सर्वत्र जीवात्मा व्याप्त है। यदि एक शाखा को जीवात्मा परित्याग कर देता है, तो वह शाखा सूख जाती है। शेष वृक्ष हरा भरा बना रहता है। जिस जिस शाखा को जीवात्मा परित्याग करता चलता है, वह वह शाखा सूखती जाती है। जब सम्पूर्ण वृक्ष का परित्याग करता है, तो सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है। वृक्ष ही सूख जाता है जीवात्मा तो ज्यों-का त्यों जाकर दूसरी देह का आश्रय ले लेता है। इसी प्रकार यह शरीर है, जब जीव इस शरीर को छोड़कर चला जाता है, तो शरीर मर जाता है। जीवात्मा नहीं मरता। जीवात्मा तो जैसे पुराने कपड़ों को त्याग कर मनुष्य नये कपड़े पहिन लेते हैं, उसी प्रकार वह पुराने शरीरों को त्याग कर नये शरीर में जाता है। इसीलिये यह अणिमा जो है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है। हे सौम्य श्वेतकेतो! वही तू है।"

आरुणि से श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! भगवन्! इस विषय को और भी दृष्टान्त देकर मुझे समझाइये।"

आरुणि महर्षि ने कहा—"अच्छी बात है, सुनो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! पिता पुत्र का जिस अरण्य में सम्वाद हो रहा था, उसके सम्मुख एक वट वृक्ष खड़ा था। आरुणि ने अपने पुत्र से कहा—"वत्स! इस वट वृक्ष से एक पका हुआ वट का फल ले आ।"

पिता की आज्ञा पाकर श्वेतकेतु वट के समीप गया और वहाँ से एक वट का फल ले आया। लाकर उसने अपने पिता से कहा—"पिताजी! मैं आपकी आज्ञा से वट का फल ले आया।"

आरुणि ने कहा—"अच्छा, इसे फोड़ तो सही।"

पिता की आज्ञा से श्वेतकेतु ने दोनों हथेलियों से दबाकर फल को फोड़ दिया और आचार्य से कहा—"भगवन्! आपकी आज्ञानुसार मैंने इस फल को फोड़ दिया।"

महर्षि आरुणि ने कहा—"अच्छा सौम्य! तुम इसमें क्या देखते हो?"

श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! इसके भीतर अणु के सदृश बहुत से छोटे-छोटे बीज भरे हुए हैं।"

इस पर महर्षि आरुणि ने कहा—"अच्छा, वत्स! इन बीजों में से एक बीज बाहर निकालो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"निकाल लिया भगवन्।"

आरुणि—"अच्छा, इसे फोड़ो तो।"

श्वेतकेतु—"भगवन्! यह देखिये, मैंने इसे फोड़ दिया।"

आरुणि—"अच्छा, बताओ, फोड़ने पर इसमें क्या दिखायी देता है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"इसके भीतर तो कुछ भी दिखायी नहीं देता।"

आरुणि ने कहा—"वत्स! जो नहीं दिखायी देता वही

अत्यन्त सूक्ष्म वट बीज है। वह उस बीज की न दिखायी देने वाली सूक्ष्म अणिमा है। उसी अणिमा द्वारा इतने बड़े चौड़े चौड़े पत्ते, इतनी मोटी-मोटी शाखायें, उप शाखायें, स्कन्ध, मूल तथा फल आदि हैं। इसी प्रकार जो अणिमारूप यह अत्यन्त सूक्ष्म 'सत् है। उसी के द्वारा यह नाम रूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है।

देख, सौम्य! यह जगत् भी श्रद्धामय है। जो जैसी श्रद्धा करता है, वह वैसा ही हो जाता है। युक्ति शास्त्रवचन आर्षोपदेश ये सब श्रद्धा के ही ऊपर निर्भर करते हैं। अतः श्रद्धत्स्व "श्रद्धा करो-श्रद्धा करो।"

आरुणि ने कहा—"कहो तो दूसरा दृष्टान्त देकर समझाऊँ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"समझाइये भगवन्!"

आरुणि ने कहा—"देखो, दूध में धवलता तो प्रत्यक्ष दिखायी देती है, किन्तु उसकी मधुरता का अनुभव प्रकारान्तर से ही होता है।"

श्वेतकेतु ने कहा—"प्रकारान्तर से उपलब्धि कैसे होती है? इसे मुझे समझाइये।'

आरुणि ने कहा—"एक नमक की डली ले आ।"

श्वेतकेतु जाकर नमक की डली ले आया लाकर उसने कहा—"भगवन्! मैं नमक की डली ले आया।"

आरुणि ने कहा—"अच्छा, एक काम कर, एक पात्र में जल ले आ और उस जल में इस नमक को डालकर रख दे। कल प्रातः मेरे पास आना।"

श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया, नमक को पानी में डालकर रख दिया। रात्रि में वह नमक पानी में घुल मिलकर एक हो गया।

दूसरे दिन श्वेतकेतु पिता के पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके बोला—"भगवन् मैं समुपस्थित हूँ।"

तब आरुणि ने उससे कहा—"वत्स! कल जो मैंने तुमसे जल में नमक डालने को कहा था, उस नमक को ले तो आओ।"

श्वेतकेतु गया, पात्र को उठा लाया। उसने हाथ डालकर बहुत टटोला, बहुत ढूँढ़ा किन्तु उसमें नमक नहीं मिला। तब उसने कहा—"भगवन् वह नमक तो इसमे मिलता ही नहीं।"

आरुणि ने पूछा—"वह नमक कहाँ गया?"

श्वेतकेतु ने कहा—प्रतीत होता है भगवन्! वह नमक इसी जल में विलीन हो गया है।"

आरुणि ने कहा—"तुम्हारा कथन यथार्थ है। नमक इसी जल में विलीन हो गया है।"

श्वेतकेतु ने कहा—"किन्तु भगवन्! वह हमें नेत्रों से दिखायी तो नहीं देता?"

आरुणि ने कहा—"वत्स! विलीन हो जाने पर वह नेत्रों द्वारा गोचर नहीं हो सकता। तुम इसे जानना चाहते हो, तो यह जिह्वा द्वारा जाना जा सकता है। तुम जल के ऊपर से कुछ विन्दु उठाकर आचमन करो।"

आचार्य की बात सुनकर श्वेतकेतु ने ऊपर से जल उठाकर उसका आचमन किया।

तब आरुणि ने पूछा—"कैसा स्वाद है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"यह तो नमकीन है।"

आरुणि ने कहा—"अब नीचे से जल निकाल कर आचमन करो।"

श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया, तब आरुणि ने पूछा—"यह कैसा है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"यह भी वैसा ही नमकीन है।"

तब आरुणि ने कहा—"अच्छा, अबके बीच में से जल लेकर उसका आचमन कर।"

श्वेतकेतु ने वैसा ही किया? तब आरुणि ने पूछा—यह कैसा है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"यह भी नमकीन ही है।"

इस पर आरुणि ने कहा "अच्छा, वत्स अब तुम इस जल को फेंककर मेरे पास आओ।"

श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। तब आरुणि ने कहा—वह नमकीनपना ऊपर नीचे, मध्य में कहाँ से आ गया।"

श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! नमक जल के अणु-अणु में सर्वत्र व्याप्त था। उसमें विद्यमान था।"

इस पर आरुणि महर्षि ने कहा—"वत्स! इसी प्रकार 'यह' 'सत्' भी निश्चय करके यहाँ सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है, किन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु अन्य युक्तियों द्वारा साधक उस सत् का स्पर्श करके उसका साक्षात्कार करते हैं। जैसे लवण को नेत्रों से न देखकर तैंने जिह्वा द्वारा उसकी उपलब्धि कर ली। उसी प्रकार सत् को लवण की अणिमा के समान श्रद्धा विश्वास द्वारा उपलब्ध कर सकता है।"

श्वेतकेतु ने पूछा—"भगवन्! जब जीव सत् से ही उत्पन्न हुआ है और भ्रमवश नाना योनियों में भटक रहा है, तब वह पुनः 'सत्' का कैसे प्राप्त कर सकता है?"

आरुणि ने कहा—"यदि पुरुष अपने को भूला-भटका अनुभव करने लगे, और कोई पथ प्रदर्शक आचार्य उसे मिल जाय, तो वह पुनः सत् को प्राप्त कर सकता है। आचार्यवान् पुरुष उस 'सत्' को जान सकता है इस विषय को इस दृष्टान्त से समझो।

कोई गान्धार देश का चोर है, उसने किसी गाँव मे चोरी की। चोरी करते हुए वह पकडा गया। गाँव की पचायत में यह अभियोग उपस्थित हुआ। पचों ने सोचा—"कोई वस्तु तो यह चुराकर ले नहीं गया है। नयी अवस्था का है। भूल से इसने ऐसा साहस किया हो, अतः उसे कोई अधिक दण्ड नहीं दिया। दया करके इतना ही दड दिया, कि इसकी आँखों मे पट्टी बाँधकर इसे देश की सीमा के बाहर किसी घोर वन में छोड आओ।"

ऐसा ही किया गया। उसकी आँखों मे कसकर पट्टी बाँध दी गयी। दोनों हाथ पीछे करके उन्हें भी कसकर बाँध दिया गया और गाधार देश की सीमा के बाहर घोर सघन वन में–जनशून्य स्थान में लोग उसे छोडकर चले गये। उसके दोनों हाथ पीछे की ओर बँधे हुए थे, आँखों मे पट्टी बँधी थी। स्वय पट्टी खोलने में वह असमर्थ था। उसे दिशाओं का भी ज्ञान नहीं था। सयोग वश उसका मुख पूर्व की ओर था। उसने उधर ही मुख कर चिल्लाना आरम्भ किया—"मेरी आँखें बाँधकर यहाँ विजन वन मे लाकर आँखें बँधे ही बँधे छोड दिया है। कोई मेरी वाणी सुनता हो तो मुझे बन्धन मुक्त कर दे।" इस प्रकार पूर्व की ओर चिल्ला कर उसने उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम चारों ही दिशाओं की ओर पुकार की।

सयोग की बात उसी समय किसी दयालु पुरुष के कानों मे यह वाणी सुनायी दी। उसने आकर पीछे बँधे हुए हाथों को खोल दिया। आँखो की पट्टी भी खोल दी और पूछा—"तुम किस देश के हो ?"

उसने कहा "मैं गाधार देश का हूँ।"

उसने पूछा—"अब कहाँ जाना चाहते हो ?"

चोर ने कहा—"जहाँ का मैं निवासी हूँ, जहाँ से मेरी उत्पत्ति हुई है, उसी अपने मूल देश मे–गान्धार–में जाना चाहता हूँ।"

उस दयालु व्यक्ति ने उसे मार्ग बताया—"देखो, सामने यह जो पगडडी जाती है उससे तुम सीधे चले जाना। आगे जाकर गान्धार देश की सीमा की एक चौकी आवेगी। उसे पार करके अमुक गाँव आवेगा। फिर पूछते-पूछते अपने जन्म स्थान में पहुँच जाना।"

उनकी बात उसकी बुद्धि में बैठ गयी, वह स्वय बुद्धिमान् था। पगडडी को पकड़कर एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पूछता हुआ गान्धार देश में पहुँच गया और फिर पूछते-पूछते अपने निज के घर मे पहुँच गया।

महर्षि आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"हे वत्स! हे सौम्य! जिस प्रकार वह बन्धनमुक्त व्यक्ति पूछते-पूछते अपने जन्मस्थल मे पहुँच जाता है उसी प्रकार लोक में भी आचार्यवान् पुरुष ही उस सत् को जानकर उधर चल पड़ता है। उसको सत् की प्राप्ति में विलम्ब तभी तक है, जब तक कि वह देह बन्धन से विमुक्त होकर–मार्ग दर्शन की योग्यता प्राप्त नहीं कर लेता। जब वह ज्ञान नेत्रों से यथार्थ मार्ग को देखने लगता है, तब तो वह सत्सम्पन्न परब्रह्म–सत्–को प्राप्त हो जाता है। हे सौम्य! सत् स्वरूप जो यह अणिमा है एतद्रूप है यह सब दृश्य प्रपञ्च जगत् है। वह सत्य है वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो! वही तू है।"

इस पर श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! मुझे पुनः समझाइये।"

आरुणि ने कहा—"अच्छा, सौम्य! सुनो, एक व्यक्ति है। उसे सन्निपात हो गया है, कालज्वर से सन्तप्त है। कुछ ही काल

में मरने ही वाला है। उसके सगे सम्बन्धी इष्टमित्र बन्धु-बान्धव चारों ओर से उसे घेरे खड़े हैं। उनमें से कोई पूछता है—"आप मुझे पहिचान रहे हैं न ?" दूसरा पूछता है—"आप बतावें मेरा क्या नाम है ?"

उनकी बात सुनकर वह बोल तो नहीं सकता, किन्तु संकेत से ऐसा भान होता है, कि वह पहिचान रहा है। जब तक उसकी वाक्शक्ति, मनमें विलीन नहीं हो जाती। मन भी जब तक प्राणों में लीन नहीं हो जाते और प्राण तेज में तथा तेज पर देवता में लीन नहीं हो जाता तब तक वह कैसे भी सही पहिचान लेता है। फिर जब उसकी वाणी मनमें, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता में विलीन हो जाते हैं, तब वह किसी को भी पहिचानने में समर्थ नहीं होता।

इस प्रकार सौम्य ! जो अज्ञ हैं, अविद्वान् हैं वे तो अपनी व्याघ्रादि की पूर्व योनियों में प्रविष्ट हो जाते हैं, किन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं वे परमात्मा में प्रवेश करके पुनः नहीं लौटते वह जो अणिमा है एतद्रूप ही सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! वही तू है।"

इस पर श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन् ! पिताजी ! इस विषय को फिर भी आप मुझे समझावें।"

आरुणि ने कहा—"देखो, वत्स ! प्राचीन प्रथा ऐसी थी, कि सत्य की परीक्षा के लिये एक लोह खंड को गरम किया जाता था। सत्य बोलने वाला उसे उठाता था, तो उसका शरीर सत्य के प्रभाव से जलता नहीं था, किन्तु असत्य बोलने वाला अपने को सत्यवादी प्रमाणित करने के लिये उसे उठाता था, तो उसका शरीर जल जाता था। एक पुरुष ने चोरी की। राजकर्मचारी

उसे पकड़कर लाये और उन्होंने राजा से कहा—"इसने चोरी की है।"

चोर कहता है—"मैंने चोरी नहीं की।"

तब राजा कहता है—"अच्छा लोहे के परशु को तपाओ राजाज्ञा से परशु तपाया जाता है, यदि परशु उठाने से उसका शरीर जल जाता है, तो समझो इसने चोरी की है और मिथ्या भाषण करके अपनी चोरी को छिपाता है। यदि उसका शरीर गरम परशु से नहीं जलता तो समझते हैं, यह सत्यवादी इसने चोरी नहीं की। यदि शरीर जलने से वह चोर सिद्ध होता है, तो वह मारा जाता है उसे त्रिविध यातनायें सहनी पड़ती हैं यदि वह चोर नहीं होता, तो वह तत्काल छोड़ दिया जाता है।"

आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"वत्स! जिस प्रकार गरम लोहे के परशु की परीक्षा में सत्यवादी नहीं जलता असत्यवादी जल जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी का-विद्वान् का पुनर्जन्म नहीं होता। अज्ञानी का अविद्वान् का वारम्वार जन्म मरण होता रहता है। वह सत्‌रूप आत्मा एतद्‌रूप ही है, वह सत्य है, आत्मा है। हे श्वेतकेतो! वही तुम भी हो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! इतने दृष्टान्तों से अब मैं इस सम्बन्ध में जान गया।"

सूतजी हैं—"मुनियो! इस प्रकार महर्षि आरुणि उद्दालक ने मधुमक्खियों का दृष्टान्त देकर तथा नदियों का, वृक्ष का, वट बीज का, नमक का, बँधे हुए पुरुष का तथा मुमुर्षु पुरुष का दृष्टान्त देकर भाँति-भाँति से उस 'सत्' आत्मा को ही सबका मूल कारण सिद्ध किया। अब जैसे नाम की ब्रह्मरूप में उपासना की जाती है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सरिता सागर मिलै एक मिलिकें है जावै ।
तरु जीवित तब तलक जीव जाते नहिँ जावै ॥
बट बीजहु नहिँ दिखै जासु तरुवर बड होवै ।
मिलै नमक पय नहीं दिसै घुलि एकहि होवै ॥
चोर आँखि पट्टी बँधे, निजन छोड़िकें गयो नर ।
पट्टी खोली नगर पथ, दयो, बतायो गयो घर ॥१॥
मरनशील नर वाक्लीन मन मनहु प्रानमहँ ।
प्रान तेज परदेव माहिँ लवलीन तेज तहँ ॥
पहिचाने नहिँ फेरि लौन निज रूपहिँ होवै ।
तप्त लोह तें जरै चोर सच्चो नहिँ रोवै ॥
सत्य सदा समरस रहै, यह आत्मा अणिमा हुसत ।
तू यह ही है सुदृढ़ करि, बार बार बतलाउँ सत ॥२॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय में नवम्, दशम्,
एकादश, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश, पञ्चदश,
षोडश खण्ड समाप्त ।

षष्ठोऽध्याय समाप्त ।

नारद सनत्कुमार सम्वाद

[१८८]

ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेनमोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामिति स होवाच ॥❀

(छा० उ० ७ अ० १ ख० १ म०)

छप्पय

नारद सनत्कुमार समीप गये उपदेशे ।
तुमने का का पढ़्यो बताओ सिखऊँ शेषे ॥
नारद बोले—वेद-चार इतिहास व्याकरन ।
श्राद्ध, गणित, उत्पात, तर्क, निधि, नीति तपोधन ॥
देव, ब्रह्म, नक्षत्र, क्षत, भूत, सर्प, सगीत सब ।
भगवन् ! जानत हौं सकल, आत्म तत्त्व समझाइ अब ॥

उपदेश करने के कई प्रकार हैं। जैसे किसी विल्व के वृक्ष पर पका फल लगा है। पहिले तो कह दिया उस सर्वोपयोगी स्वादिष्ट

❀ एक बार देवर्षि नारद अपने अग्रज सनत्कुमारजी के समीप गये और जाकर उन्हीं निवेदन किया—'भगवन् ! मुझे उपदेश कीजिये।" इस पर सनत्कुमारजी ने उनसे कहा—' अब तक जो तुमने पढ़ा हो, जो-जो विद्यायें तुम जानते हो, उन्हें मुझे बतलाओ, उन्हें सुनकर तब मैं तुम्हें उससे आगे बताऊँगा।" यह सुनकर नारदजी ने कहा —

फल को तोड़ लो। किन्तु उड़कर कोई फल तोड़ नहीं सकता। पत्थर मारकर तोड़ने से वह भूमि पर गिर जायगा, टूट जायगा। अतः उसके लिये कहते हैं—"यह जो नीचे झुकी डाली है सुदृढ़ है, इसमें काँटे भी नहीं। इस पर पैर रखकर ऊपर की डाली को पकड़ लो। जब डाली पर चढ़ गये। तब कहा—हाथ से जिस डाली को थामे हुए हो, उस पर पैर रख लो, उसके ऊपर की डाली को पकड़ लो। जब उससे भी ऊँचे चढ़ गये, तो कहा—"तुम्हारे सिर के ऊपर जो डाली है, उसे देखो, उस डाली के ठीक सामने पका बेल लगा है, उसे तोड़ लो।" इतना सब बताने का, क्रमशः ऊपर चढ़ाने का एक मात्र उद्देश्य फल की प्राप्ति करना ही है।

किसी लक्ष्यभेदी ने एक काठ का पक्षी पेड़ के ऊपर बिठा दिया है। उस पक्षी की आँख को लक्ष्य बनाकर भेदना है। अतः वह शिष्य से कहता है—"सामने पेड़ों को देख रहे हो। उन पेड़ों में एक वट का वृक्ष है, उस वट वृक्ष की एक मोटी शाखा है, उस मोटी शाखा में से एक पतली शाखा उत्तर की ओर है, उस पर एक पक्षी बैठा है, उस पक्षी की बायीं आँख को लक्ष्य बनाओ। उसी पर दृष्टि स्थिर कर लो। और सबको भुला दो केवल आँख को ही देखो।

किसी को चन्द्रमा दिखाना है, तो पहिले वृक्ष दिखावेंगे, फिर शाखा पर दृष्टि स्थिर करायेंगे तब कहेंगे, इस शाखा के ऊपर देखो चन्द्र है।

छत के ऊपर कोई अमूल्य वस्तु रखी है, तो पहिले प्रथम सीढ़ी का परिचय करावेंगे, फिर दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी इसी प्रकार क्रमशः ऊपर चढ़ा ले जायँगे और उस अमूल्य वस्तु की प्राप्ति करावेंगे।

पिछले प्रकरण से सत् स्वरूप परब्रह्म परमात्मा की महिमा का वर्णन किया। अब इस सप्तम अध्याय मे भूमा पुरुष की महिमा बतायी जायगी। उसी का उपक्रम बाँधने को पहिले नाम की महिमा बतायी जाती है। यह सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी सिद्धान्त को स्थिर करने पहिले नाम ब्रह्म का महिमा बताने के निमित्त नारद सनत्कुमार सम्वाद को आरभ करते हैं—

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भूमा पुरुष का माहात्म्य बताने के लिये नारद सनत्कुमार सम्वाद का आरम्भ भगवती श्रुति करती है—

ब्रह्माजी के सनककुमार, सनन्दनकुमार, सनातनकुमार और सनत्कुमार ये चार मानसिक पुत्र हुए। ये कुमार माया अविद्या से भी पूर्व ब्रह्माजी की मानसिक सृष्टि थी। ये चारो भगवान् के कुमारावतार ही हैं। इन्होंने सृष्टि बढ़ाने के कार्य में ब्रह्माजी को योग नहीं दिया। ये चारो सदा ५–६ वर्ष के बालक ही बने रहते हैं। इनके मुख से सदा सर्वदा 'हरिः शरणम्' यही मन्त्र निकलता रहता है। ये मायातीत जीवन्मुक्त आदिकुमार हैं, इसके अनन्तर ब्रह्माजी ने अपने अंगों से प्रजापतियों की उत्पत्ति की। अपनी गोद से नारदजी को उत्पन्न किया। अगुष्ठ से दक्ष को और इसी प्रकार अन्य प्रजापतियों को उत्पन्न किया। उन प्रजापतियो से सृष्टि वृद्धि करने को गृहस्थ धर्म स्वीकार करने को कहा—दक्ष, भृगु, वसिष्ठादि ने तो स्वीकार किया नारदजी ने गृहस्थ बनना स्वीकार नहीं किया। वह ज्ञान प्राप्ति के निमित्त ही प्रयत्नशील बने रहे।

ज्ञान पिपासा की शांति के निमित्त एक बार वे घूमते फिरते अपने अग्रज सनत्कुमार की सेवा मे समुपस्थित हुए। शिष्य भाव

से समिधा हाथों में लेकर विनम्रता पूर्वक वे उनके समीप गये और साष्टाङ्ग प्रणाम करके उन्होंने निवेदन किया—"भगवन्! मुझे उपदेश कीजिये।"

सनत्कुमारजी ने कहा—"नारद! कैसा उपदेश चाहते हो?"

नारदजी ने कहा—"मैं आत्मज्ञान का उपदेश चाहता हूँ।"

सनत्कुमार ने कहा—"आत्मज्ञान के लिये शास्त्रज्ञान साधन के रूप में आवश्यक है। पहिले तुम यह बताओ कि तुमने अब तक क्या-क्या अध्ययन किया है। तुम्हारी योग्यता जानकर जितना तुमने पढ़ लिया है, उसे छोड़कर तब आगे का उपदेश तुम्हें करेंगे। बिना योग्यता जाने वैसे ही तुम्हें उपदेश करने लगें, तो यह तो पिसे हुए को पीसने के समान है। अतः पहिले तुम जो कुछ जानते हो, उसका परिचय दो। जिन शास्त्रों का तुमने अब तक अध्ययन किया है उनके नाम गिनाओ उन्हें सुनकर तब मैं तुम्हें उससे आगे का ज्ञान बताऊँगा।"

तब नारदजी ने कहा—"भगवन्! जिसके मन्त्रों में अर्थ वश से पाद व्यवस्था होती है, उस ऋग्वेद को मैं जानता हूँ। पाद व्यवस्था से जो शेष हैं, उस यजुर्वेद को भी मैं जानता हूँ। जिसके मंत्र गाये जाते हैं उस गीतिमंत्र वाले सामवेद का भी मैंने अध्ययन किया है। विशेष धर्म वाला निगद चतुर्थ वेद अथर्व है उसे भी मैंने पढ़ा है। मन्त्र भाग तथा ब्राह्मण भाग दोनों का ही मुझे ज्ञान है। वेदों के अतिरिक्त जो इतिहास ग्रन्थ हैं, जिनमें देवता, ऋषियों और मनु पुत्रों के वंशों का वर्णन है, दश लक्षण वाले जो पुराण हैं, जो इतिहास-पुराण पंचम वेद कहे जाते हैं, उनका भी मैंने अध्ययन किया है। चारों वेद और इतिहास पुराणादि पंचम वेद जिस विद्या के द्वारा जाने जाते हैं उस वेदों के भी वेद व्याकरण का भी मुझे ज्ञान है। जिस व्याकरण द्वारा दैविक

लौकिक शब्दों के अनुशासन का प्रकृति, प्रत्यय विभाग पूर्वक शब्द साधन की प्रक्रिया तथा शब्दार्थ बोध के प्रकार की रीति जानी जाती है। व्याकरण के अतिरिक्त परलोक पधारे पितरों का श्राद्धकल्प, गणित विद्या, दैव अर्थात् दैव द्वारा होने वाले उत्पातों की विद्या, जिस विद्या से भूमिगत निधि का ज्ञान होता उस महाकालादि निधि विद्या को, तर्क शास्त्र को, मैं जानता हूँ। नीति विद्या, देव विद्या, ब्रह्म विद्या, भूत विद्या जिसके द्वारा भूत, प्रेत, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, नागादि ग्रहों की शांति होती है उसे भी मैं जानता हूँ।"

क्षत्र विद्या अर्थात् क्षत्रियों की विद्या राजनीति धनुर्वेदादि का भी मुझे ज्ञान है। जिस विद्या के द्वारा ग्रह नक्षत्रों का ज्ञान होता है, उस ज्योतिष विद्या का भी मैंने अध्ययन किया है। जिन गारुड़ मन्त्रों से सर्पादि के विष उतारे जाते है उस सर्प विद्या का भी मुझे ज्ञान है। जिसके द्वारा गायन, नृत्य तथा वाद्य इन तीनों का ज्ञान हो उस देव विद्या संगीत का भी मुझे ज्ञान है। जिस विद्या से सर्व साधारण पुरुषों की आधि-व्याधि शारीरिक और मानसिक रोगों की चिकित्सा की जा सके उस जन विद्या-आयुर्वेद का भी मैंने अध्ययन किया है।

यह सुनकर सनत्कुमार जी ने कहा - "नारदजी! तब तो आप सर्व विद्या विशारद हैं। तब आप मेरे समीप उपदेश लेने क्यों आये?"

यह सुनकर नारदजी ने कहा - "भगवन्! समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी आदमी मूर्ख ही बना रहता है। जो क्रियावान् है-जिसने साधनों द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही विद्वान् है। मैं केवल मन्त्र वेत्ता हूँ अर्थात् शब्द ब्रह्मनिष्ठ हूँ। मैं आत्मवेत्ता-परब्रह्मनिष्ठ-नहीं हूँ।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"न सही परब्रह्मनिष्ठ–शब्द ब्रह्म-निष्ठ तो हो हा। शब्दब्रह्म के ज्ञाता तो हो ही। इसमें तुम्हें न्यूनता क्या दिखायी देती है ?"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! मैंने आप जैसे ज्ञानियों के द्वारा सुना है 'तरति शोक आत्मवित्' जो आत्मवेत्ता होता है, वह शोक सागर को पार कर जाता है–अर्थात् आत्मज्ञानी को–अनुकूल परिस्थित मे–प्रतिकूल परिस्थित मे–कभी भी शोक नहीं होता। मैं देखता हूँ मुझे शोक होता है। अपना स्थिति का ज्ञाता तो अपना आपा ही है। अपने अतिरिक्त अपने अन्तःकरण की स्थिति को अन्य कोई समझ ही नहीं सकता। जब मैं स्वय शोक का अनुभव करता है, तो सोचता हूँ, मैं आत्मवेत्ता नहीं। उसी आत्मज्ञान का उपदेश लेने आपके चरण कमलों मे समुपस्थित हुआ हूँ। हे भगवन्! मैं शोक सागर में निमग्न हो रहा हूँ। मुझे शोक रूपी समुद्र से पार कर दीजिये मैं इतना जानते हुए भी अनजान बना हुआ हूँ।"

यह सुनकर महामुनि सनत्कुमार खिलखिलाकर हँस पडे और हँसते हुए बोले—"नारदजी! आपका कथन यथार्थ है। तुमने जिन वेदशास्त्रों को गिनाया, जिनकी जानकारी तुम्हे है, वह सब के सब नाम ही है।"

नारदजी ने कहा—"नाम क्या ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"वाचारम्भण विकारो नामधेयम्–वाणी पर अवलम्बित विकार केवल नाममात्र ही है। यह समस्त प्रपच नाम रूपात्मक है।"

नारदजी ने कहा—"तो क्या मैने जिन निगम आगमों का नाम गिनाया है, वे सब के सब नाम ही हैं ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"हाँ भैया! सब का सब नाम ही

है। देखो, ऋग्वेद नाम है यजुर्वेद नाम है, सामवेद नाम है और चौथा अथर्ववेद नाम है तथा पाँचवाँ जो इतिहास पुराण है वह भी नाम ही है। वेदों का वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या भूतविद्या, धनुर्वेद, राजनीति शास्त्र ज्योतिष, गारुडशास्त्र, संगीत शास्त्र शिल्पविद्या, यजुर्वेद शास्त्र ये सब ही नाम हैं। नाममय जगत् है। इसलिये तुम नाम का ही उपासना करो।"

नारदजी ने कहा—"नाम की उपासना कैसे करें?

सनत्कुमार जी ने कहा—"जो भी नाम वाले पदार्थ हों, सब में ब्रह्म भावना करो। सभी ब्रह्मरूप हैं।"

नारदजी ने पूछा—"इससे क्या होगा?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, ब्रह्मलोक पर्यन्त जो भी नामात्मक जगत् है। नाम की जहां तक गति है, वहाँ तक यह नामात्मक सब ब्रह्म ही है जो ऐसी उपासना करता है उसकी वहाँ तक यथेच्छ गति हो जाती है। इसलिये नाम को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! आपने जो कहा कि यह सम्पूर्ण जगत् नामात्मक है, यह तो सत्य ही है, किन्तु प्रभो! मैं यह जानना चाहता हूँ, क्या नाम से भी अधिक कुछ है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"है क्यों नहीं। नाम से भी अधिक एक वस्तु है।"

नारदजी ने कहा—"नाम से जो बढ़कर हो, हे भगवन्! उसे ही मुझे बताने की कृपा करें।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, नारद! वाणी ही नाम से बढ़कर है वाक् न हो, तो इन शास्त्रादि को कौन विज्ञापित

करेगा। वाणी द्वारा ही सबका नाम लिया जाता है। यह ऋग्वेद है, यह यजुर्वेद है, यह सामवेद है। यह चौथा अथर्ववेद है यह पाँचवाँ इतिहास पुराण पंचम वेद है। यह वेदों का भी वेद व्याकरण है। यह श्राद्धकल्प गणित दैवोत्पात शास्त्र निधिशास्त्र तर्कशास्त्र नीतिशास्त्र, निरुक्त एकविद्या भूतविद्या क्षत्रवेद ज्योतिष, गारुड़ संगीत शास्त्र देवलोक पृथ्वी वायु आकाश, जल तेज, देव, मनुष्य पशु पक्षी तृण वनस्पति श्वापद (सिंह व्याघ्रादि हिंस्र पशु) कीट पतंग यहाँ पर्यन्त लघु क्षुद्र प्राणी धर्म अधर्म, सत्य असत्य साधु असाधु मन व अमनोज्ञ सारा जो भी नामात्मक जगत् के पदार्थ हैं उनका निवापन वाणी ही करता है। वाणी न हो तो यह ज्ञान बनाने वाला आत्मा है यह जामुन है यह कटहल है। यह विष है। यह अमृत है। यदि वाणी न हो तो यह ज्ञान किस प्रकार हो कि यह कार्य धर्म है यह अधर्म है। यह बात सत्य है यह बात असत्य है यह साधु पुरुष है यह असाधु पुरुष है। यह वस्तु मनोज्ञ है मन को अच्छी लगने वाली है। यह वस्तु अमनोज्ञ है—मन को अच्छी न लगती। वाणी न होती, तो इन सबका बोध कैसे होता। केवल वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है वही संज्ञा निर्धारित करती है एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् बताती है। अतः नाम से श्रेष्ठ वाणी है। तुम वाणी को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।'

नारदजी ने पूछा—'वाणी की ब्रह्मभाव से उपासना कैसे करें?"

सनत्कुमार जी ने कहा— जिसके द्वारा वचन बोला जाता है, वह वाणी देवी है। वही ब्रह्म का रूप है। इस भावना से वाणी की उपासना करनी चाहिये।'

नारदजी ने पूछा—"इसका फल क्या होता है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"जो साधक 'वाणी ही ब्रह्म है' इस भावना से वाणी की उपासना करता है, उसकी गति वहाँ तक हो जाती है जहाँ तहाँ वाणी की गति है। संसार में वाणी की ही सर्वत्र गति है। ब्रह्म तो वाणी का विषय है नहीं। वहाँ से तो वाणी लौट आती है। नहीं तो वाणी की सर्वत्र गति है। वाणी के उपासक की भी वहाँ तक गति हो जाती है।"

इस पर नारद जी ने कहा—"भगवन! क्या वाणी से भी बढ़कर कुछ है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"है क्यों नहीं, वाणी से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! जो वाणी से भी बढ़कर है, कृपया उसी का उपदेश मुझे दीजिये। उसे ही मुझे बताइये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब वाणी से भी बढ़कर जो मन है। उसका उपदेश जैसे योगीराज सनत्कुमार नारदजी से करेंगे, उसे मैं आप सबको आगे बताऊँगा। उपनिषदों की प्रक्रिया पुराणादि से कुछ भिन्न है, किन्तु इन सबका पर्यवसान जाकर एक ही ब्रह्म में होता है, अतः इन उपाख्यानों का सार समझकर इनसे उपदेश ही ग्रहण करना चाहिये। नाम रूप के चक्कर में नहीं फँसना चाहिये।"

छप्पय—बोले सनत्कुमार—नाम यह तुम जानत जो।
करो उपासन नाम नाम ही ब्रह्म मानि सो॥
परे नाम तैं वाक वाक सब ई दरसावै।
साधु, असाधु, अधर्म, धर्म सत असत बतावै॥
ब्रह्मभाव तैं वाक की, करें उपासन वाग्गति।
पावैं स्वेच्छा गति सतत, वागहु तैं पर मन कथित॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में
प्रथम, द्वितीय खण्ड समाप्त।

नारद सनत्कुमार सम्वाद (२)

[१८९]

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसोभूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥*

(छा० उ० ७ अ० ३ ख० २ म०)

छप्पय

दै फल मुट्ठी आइँ मिलै त्यों वाक नाम मन ।
मन ई तैं सब होइ आतमा लोक ब्रह्म मन ॥
मानि ब्रह्म मन करो उपासन मन गति पाओ ।
मन हू तैं जो बड़ो ताहि भगवन् बतलाओ ॥
मन तैं हू संकल्प बड़, बोले सनत्कुमार मुनि ।
सकल्पहिं तैं होइ सब, भू, दिव, जल फल अन्न सुनि ॥

---

* 'मन ही ब्रह्म है' जो मन की इस प्रकार उपासना करता है, उसकी गति वहाँ तक स्वेच्छानुसार हो जाती है, जहाँ तक मन की गति है। नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! मनस भी बढकर क्या कोई है ? इस पर सनत्कुमारजी न कहा—"मन स भी बढकर है ही।" तब नारदजी ने कहा—"भगवन् ! उसी का मेरे प्रति कथन करें।"

साधारणतया समस्त इन्द्रियाँ मनके ही अधीन हैं। दशों इन्द्रियों में यदि मन प्रेरणा न करे तो मनके बिना केवल इन्द्रियाँ कार्य करने मे समर्थ नहीं। इसलिये मन समस्त इन्द्रियों का राजा है। इसलिये जिसने मन को जीत लिया है वही इन्द्रियों का निग्रह करने में समर्थ होता है। स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर होता है। उनमें दश इन्द्रियाँ, पाँच प्राण और मन तथा बुद्धि ये सत्रह अवयव होते हैं। अन्तःकरण चतुष्टय-मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये कहने को चार हैं। वास्तव मे तो ये मन के ही भेद हैं। जब मन मनन करता है, तब मन कहलाता है, वही मन जब चिंतन करता है तो उसकी चित्त संज्ञा हो जाती है। मन जब निश्चयात्मक हो जाता है तो उसी को बुद्धि कहते हैं। मन जब अहंकृति करने लगाता है तो उसी को अहंकार कहते हैं।

यह मन अन्न के अति सूक्ष्म अंश से बनता है। गर्भस्थ बालक के जब सब अंग बन जाते हैं, सातवें महीने में जब जीवात्मा शरीर में पूर्णरीत्या प्रवेश करता है, तभी मन शरीर मे काम करने लगता है।

मन से ही यह सब जाना जाता है, बन्ध-मोक्ष का कारण भी मन को ही कहा गया है। भगवान् ने गीता में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए इन्द्रियों मे मन को अपनी विभूति बताया है। मनके धैर्य, उपपत्ति (ऊहापोह करना) व्यक्ति (स्मरण) विसर्ग (विपरीत सर्ग) कल्पना (मनोरथवृत्ति) क्षमा, सत्, (विवेक वैराग्य आदि) असत् (रागद्वेषादि) आशुता (अस्थिरता) ये नौ गुण मनके कहे गये हैं।

सात्विक, राजस् और तामस इन भेदों से मन भी तीन प्रकार का होता है। जब मन सात्विक होता है। मन में सत्वगुण

की वृद्धि हो जाती है तब आस्तिकता आती है, भोज्यपदार्थ को बाँटकर खाने की भावना होती है, चित्त में उत्ताप (क्रोध) नहीं होता, शान्ति का अनुभव करते हैं, किसी को कष्ट न पहुँचाते हुए मधुर तथ्य वचन बोलने की भावना होती है। मेधा, बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, ज्ञान, अदम्भता, विनय, धर्मभाव ये गुण उदय होते हैं, निन्दित कर्मों के प्रति अरुचि होना ये सात्त्विक मन के लक्षण हैं।

जब मन रजोगुण से युक्त होता है, तब क्रोध दूसरों को मारने पीटने की इच्छा, दुःख को सुख समझने की प्रवृत्ति, दम्भ का बाहुल्य, कामुकता, न कहने योग्य मिथ्या वचनों को बोलना, अधीरता, अहङ्कार, ऐश्वर्यादि का अभिमान, जितने अपने हैं नहीं उससे अधिक अपने को प्रकट करना, सुख की अधिकाधिक इच्छा देश विदेशों में घूमने फिरने की प्रवृत्ति, अपने को विख्यात करने की भावना ये सब भाव रजोगुणी मन में हुआ करते हैं।

जब मन तमोगुण से अभिभूत हो जाता है तब नास्तिकता के भाव आने लगते हैं। मन में विषण्णता बनी रहती है, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, मति का दुष्ट होना, निन्दित कर्मों के प्रति प्रेम होना, दिन में, रात्रि में सदा सोने की इच्छा बनी रहना, मूढ़ता तथा क्रोधान्धता एवं अज्ञान में सदा डूबे रहना ये भाव जब आने लगें तब समझना चाहिये मन तमोगुण से युक्त हो गया है।

वास्तव में मन जड़ है फिर भी वह चैतन्य शरीर के संसर्ग से आकाश पाताल को सदा एक करता रहता है। यह इतना चंचल है कि कभी स्थिर होकर बैठता ही नहीं। सदा कुछ न कुछ ऊहापोह धुनाबुनी करता ही रहता है। इसीलिये इस मन को मन से ही देखकर सदा इस पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिये।

यह बहुवृत्ति वाला है चारों ओर भटकने वाला है। इसके वश करने पर जगत वश में हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सनत्कुमारजी ने सम्पूर्ण जगत् को नाममय बताया, तब नारदजी ने पूछा—"नाम से भी श्रेष्ठ क्या है, तब वाणी को महामुनि ने श्रेष्ठ बताया। वाणी अर्थात् इन्द्रियों को। जब इन्द्रियों से भी कोई श्रेष्ठ है ऐसा प्रश्न नारदजी ने किया, तब महामुनि सनत्कुमार ने कहा वाणी से भी श्रेष्ठ मन है। वह वाणी से–अर्थात् इन्द्रियों से–उत्कृष्ट है। नाम और वाणी ये दोनों ही मन के अन्तर्गत आ जाते हैं। मन न हो तो वाणी बोल नहीं सकती। वाणी बोलेगी नहीं तो नाम का निर्देश करेगा कौन? अतः वाणी और नाम दोनों मन में समा जाते हैं, उनमें अन्तर्भुक् हो जाते हैं। इस विषय को समझाने को भगवती श्रुति तीन दृष्टान्त देती है।"

जैसे दो आँवले के फल हैं, अथवा बेर के ही दो फल हैं या बहेड़े के दो फल हैं, उन्हें हाथ पर रखकर मुट्ठी बन्द कर लो तो दोनों फल मुट्ठी में आ जायँगे। क्योंकि ये तीनों प्रकार के फल मुट्ठ से छोटे हैं। यदि आप दो कोहडा के फल, या बिल्व के बड़े फल रखो तो वे मुट्ठी में नहीं आवेंगे, क्योंकि ये हाथ की हथेली से बड़े हैं। जिस प्रकार दो छोटे फल एक साथ मुट्ठी में आ जाते हैं, उसी प्रकार वाक्–वाणी–का और नाम का मन में अन्तर्भाव हो जाता है। मन के बिना कोई काम हो ही नहीं सकता।

एक विद्यार्थी है, उसने वेदों को पढ लिया है, यदि उसका मन पाठ करने को न हो, तो पढ लिखकर भी वह पाठ करने में समर्थ नहीं। जब वह मन से विचार करता है, कि मैं अमुक वेद के अमुक स्तोत्र का पाठ करूँ, तभी पाठ कर सकता है। पाठ की ही बात नहीं। प्रत्येक कार्य में ही यह सिद्धान्त लागू होता

है। जब वह मन सोचता है, मैं 'अमुक काम करूँ' तभी काम कर सकता है। करने के अतिरिक्त मन के बिन विचार भी नहीं कर सकता। जब मन में आता है 'मैं पुत्रों की तथा उपयोगी पशुओं की इच्छा करूँ।" तभी वह इच्छा भी कर सकता है। कामना भी मन के बिना नहीं होती। जब सोचता है "मैं इस लोक की तथा परलोक की कामना करूं" तभी वह कामना भी कर सकता है। इसलिये मन ही आत्मा है, मन ही लोक है, और मन ही ब्रह्म है। अतः मन की ब्रह्मभाव के उपासना करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"मन की ब्रह्मभाव से उपासना करने का फल क्या ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"जो साधक मन को ब्रह्म मानकर ब्रह्मभाव से मन की उपासना करता है उसकी गति वहाँ तक हो जाती है, जहाँ तक मन जा सकता है। उसकी स्वेच्छा गति हो जाती है। वह मन के सदृश हो जाता है।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन् मन से भी बढकर क्या कोई और है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"हाँ है क्यों नहीं। मन से भी बढ़कर कोई और है।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन् ! जो मन से भी बढकर हो उसी का उपदेश आप मेरे प्रति करें।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"मन से भी बढकर सकल्प है। सकल्प के बिना मन कुछ कर नहीं सकता। जब मनुष्य सकल्प करता है तभी मन बोलने आदि की प्रेरणा करता है। सकल्प होने पर मन वाणी आदि इन्द्रियों को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है। सकल्प होने से मन नाम के प्रति प्रवृत्त करता है।

नाम मन में आते ही जिन मन्त्रों का पाठ करने का संकल्प हो वे सब मन्त्र नाम में एक रूप हो जाते हैं। फिर मन्त्रों में कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् अमुक वेद के अमुक मंडल के अमुक स्तोत्र का वाणी द्वारा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त अनुदात्त आदि उच्चारण करना है। मन तो संकल्प में ही प्रतिष्ठित है यह मन संकल्प रूप, लय स्थान वाले, संकल्प मय और संकल्प में ही प्रतिष्ठित हैं।

देखो, संकल्प के बिना किसी का अस्तित्व नहीं। यह जो पृथ्वी है, स्वर्गादि लोक हैं, इन्होंने जब इस बात का संकल्प कर लिया है, कि हमारा अस्तित्व है, तभी ये प्रतिष्ठित हैं इसी प्रकार वायु तथा आकाश भी संकल्प द्वारा ही स्थित होकर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। जल और तेज भी संकल्प के आधार पर ही अवस्थित हैं। जल तेज की संसिद्धि के निमित्त ही वृष्टि ने जल बरसाने का संकल्प किया तभी वृष्टि भी होती है। वृष्टि होने पर अन्न संकल्प करता है, अन्न की समृद्धि के निमित्त प्राण संकल्प करते हैं। क्योंकि प्राण अन्न जल के ही द्वारा अवस्थित हैं। जब प्राण परिपुष्ट होंगे, तभी साधक मन्त्रोच्चारण में समर्थ हो सकेगा, अतः प्राणों के संकल्प के निमित्त मन्त्र समर्थ होते हैं। मन्त्रों के द्वारा कर्म समर्थ होते हैं। अतः मन्त्रों के संकल्प से अग्नि होत्रादि कर्मों में प्रवृत्ति होती है। अग्नि होत्रादि कर्मों की सिद्धि के निमित्त अग्नि होत्रादि का जो फल स्वर्गादि लोक हैं, वे संकल्प करते हैं। स्वर्गादिलोकों की प्राप्ति के निमित्त समस्त भूत जात प्राणी समर्थ होते हैं। अर्थात् संकल्प से ही द्युलोक, भू लोक, वायु, आकाश, जल, तेज, वृष्टि, अन्न, प्राण, मन्त्र, कर्म कर्मों के फल तथा सभी प्राणी अपने-अपने कार्यों में समर्थ होते

है। सबसे श्रेष्ठ संकल्प ही है। इसलिये तुम सकल्प को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।

नारदजी ने पूछा—"सकल्प को ब्रह्म मानकर उपासना करने का फल क्या होगा ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"जो साधक सकल्प को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करता है, वह सकल्प सिद्ध हो जाता है। विधाता के रचे हुए जो ध्रुवादि नित्य लोक हैं, जिनमें भोग के समस्त उपकरण हैं, जिनमें किसी प्रकार की व्यथा नहीं है, उन लोकों में स्वय अव्यथित होकर निवास करता है। उन परम प्रतिष्ठित लोकों में स्वयं प्रतिष्ठित होता है। साराश यह है कि सकल्प की जहाँ तक गति है, वहाँ तक उस सकल्प को ब्रह्म मान कर साधना करने वाले साधक की स्वेच्छा गति हो जाती है।

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! क्या सकल्प से भी बढकर कोई श्रेष्ठ है।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"है क्यों नहीं, सकल्प से भी श्रेष्ठ कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन् ! जो सकल्प से भी श्रेष्ठ है, उसी का उपदेश कृपा करके मुझे दीजिये।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, भैया ! सकल्प से भी श्रेष्ठ चित्त है।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! पीछे तो नाम की अपेक्षा वाणी, वाणी की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा सकल्प को श्रेष्ठ बताया। अब सकल्प से भी श्रेष्ठ चित्त को बता रहे हैं, तो चित्त में और मन में क्या अन्तर है ?"

सूतजी ने कहा—"अन्तर कुछ नहीं भगवन् ! सकल्प, ध्यान, ज्ञान, विज्ञानादि ये सब मन की ही वृत्तियाँ हैं। हम

बता आये हैं। मन ही जब मनन करने लगता है, मन कहलाता है। चिन्तन करने से, चित्त निश्चयात्मक होने से बुद्धि और अहंकृति करने से अहंकार के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ एक वृत्ति से दूसरी वृत्ति श्रेष्ठ है ऐसा सिद्ध करते-करते अन्त में सबका पर्यवसान भूमापुरुष में करना है। अत मन की वृत्ति पृथक् है, चित्त की वृत्ति पृथक् है। संकल्प से चित्त उत्कृष्ट है। चित्त की वृत्तियों के निरोध का ही नाम योग है।"

इसी बात को सनत्कुमार जी नारदजी को समझाते हुए कह रहे हैं—"नारद! संकल्प से उत्कृष्ट चित्त ही है।"

नारदजी ने पूछा—"चित्त संकल्प से उत्कृष्ट कैसे है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"देखो, संकल्प मनुष्य तभी करता है, जब वह चेतनावान् होता है। आम का फल श्रेष्ठ है, ऐसा जब चित्त में आवेगा, तभी आम की प्राप्ति का पुरुष संकल्प करेगा। संकल्प होने पर फिर मनन करता है, कि ग्रहण करने योग्य है। जब संकल्प हुआ, उसे प्राप्त करना चाहिये, मनन द्वारा निश्चय किया तब मन वाणी को प्रेरित करता है। वाणी बोले क्या? तब वाणी आम के नाम को स्मरण करके उसमें प्रवृत्त होती है? वाणी कहती है—आम नाम का जो कोई फल है, कौन सा आम? काशी का लँगड़ा, लखनऊ का सफेदा-मलीहा बादी, बम्बई का हापुस। इस प्रकार नाम लेकर उच्चारण करते हैं। पहिले वाणी का एक मात्र मुख्योद्देश्य मन्त्रोच्चारण ही माना जाता था, अतः वाणी नाम में प्रवृत्त होकर, नाम में मन्त्र एक रूप हो जाते हैं, और मन्त्रों द्वारा अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार चित्त चलने पर संकल्प, संकल्प से मनन, मनन से वाणी उच्चारण, वाणी से नामों सहित मन्त्रोच्चारण, मन्त्रों द्वारा कर्म होते हैं, इस प्रकार चित्त द्वारा ही संकल्प होकर

मों में प्रवृत्ति होती है। अतः ये संकल्प नाम मन्त्रादि चित्त रूप
यन वाले हैं, अर्थात् चित्त के मार्ग का ही अनुसरण करने
ले हैं, चित्त मय हैं, चित्त में ही प्रतिष्ठित हैं। इन सब में
ानता चित्त की ही है।

इस बात को यों समझो। एक व्यक्ति ने पुराने वेद शास्त्रों
अध्ययन किया है, वह बहुज्ञ है, किन्तु अविज्ञ है अर्थात्
का प्रयोजन निरूपण करने में असमर्थ है। तो उस अविज्ञ
ान के प्रति सर्व साधारण लोग यों कहने लगते हैं—"अजी,
तो अस्थिर चित्त वाले हैं, इनकी बात का विश्वास न करना
दिये। ये तो कुछ भी नहीं हैं। यह तो पढ़ लिखकर भी अज्ञ
है, तभी तो ऐसी बिना सिर पैर की बातें बक रहा है। यदि
कुछ जानता होता, कुछ बुद्धिमान होता तो ऐसी अस्थिर चित्त
की बातें न करता।" इससे सिद्ध हुआ कि अविज्ञ [illegible]
ों न रहने के सदृश है, वह पढ़ लिखकर भी [illegible]
न है।"

करता है, वह चिन्तन किये हुए उपचित ध्रुवादि लोकों को स्वयं ध्रुव होकर शत्रुपीड़ादि व्यथा से रहित होकर प्रतिष्ठित होकर प्रतिष्ठा पाता है, उनमें उन लोकों में अव्यथित होकर निवास करता है। चित्त जहाँ तक पहुँच सकता है, वहाँ तक उसकी स्वच्छन्द गति हो जाती है, वह चित्तवान् बन जाता है।"

नारद जी ने पूछा—"भगवन्! क्या चित्त से भी बढ़कर कुछ है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"है क्यों नहीं, चित्त से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन्! जो चित्त से भी बढ़कर है, उसी का मुझे कृपा करके उपदेश करें।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, भैया? चित्त से भी बढ़कर है ध्यान। ध्यान चित्त से उत्कृष्ट है।"

नारद जी ने पूछा—"ध्यान चित्त से उत्कृष्ट कैसे है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, लोक में पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, जल, पर्वत तथा देवता आदि सभी ध्यानमग्न होकर अपने-अपने कार्यों में संलग्न हैं। लोक में भी जो पुरुष अपने सभी कार्यों को ध्यान पूर्वक करते हैं, वे श्रेष्ठ समझे जाते हैं। ऋषि मुनि ध्यान द्वारा ही महान माने जाते हैं, उनको जो महत्व प्राप्त होता है, वह मानो ध्यान के लाभ का ही अंश है। जो ध्यानपूर्वक कार्य नहीं करते ऐसे ध्यान हीन क्षुद्र पुरुष परस्पर में कलह किया करते हैं। वे पिशुन-दूसरों के दोष दुर्गुणों को देखने वाले होते हैं। मुख पर कुछ और परोक्ष में कुछ कहने वाले होते हैं। इनके विपरीत जो महान् हैं सामर्थ्यवान् पुरुष हैं वे लोग ध्यान के लाभ का ही अंश प्राप्त करते हैं। अर्थात् जिसका ध्यान जितना ही उत्कृष्ट होगा, वह उतना ही महत्व को प्राप्त

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! विज्ञान से तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! विज्ञान से तात्पर्य विशेष ज्ञान से है। शास्त्रों को पढ़ लेना और बात है, उनके अर्थों का परिज्ञान होना ही विज्ञान है। शिल्पशास्त्रों तथा धर्मशास्त्रों में निपुणता का नाम विज्ञान है। पढ़े हुए को अनुभव करना-गुनना-इसी का नाम विज्ञान है। विविध प्रकार के ज्ञान को भी विज्ञान कहते हैं। चौदहों विद्याओं को अर्थ सहित विधिवत् पढ़कर उसे अनुभव में लाने का नाम विज्ञान है, विज्ञान से ही धर्म की वृद्धि होती है। ब्राह्मण के जहाँ आठ लक्षण बताये हैं। उनमें विज्ञान भी एक लक्षण बताया है। वे आठ गुण क्षमा, दया, विज्ञान, सत्य, दम, शम, अध्यात्मनित्यता और ज्ञान ये हैं। साधारणतया शास्त्रों के अर्थों को जानने की कुशलता तथा अन्य विषयों सम्बन्धी निपुणता का ही नाम विज्ञान है।"

नारदजी ने पूछा—"विज्ञान को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना का फल क्या होगा ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"विज्ञान को ब्रह्म मानकर उपासना करने वाले को विज्ञानवान्, ज्ञानवान् लोकों की प्राप्ति होती है। जहाँ तक भी विज्ञान की गति है, वहाँ तक विज्ञान को ब्रह्म मान कर साधना करने वाले साधक की गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! विज्ञान से भी कोई बढ़कर है क्या ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"क्यों नहीं है, विज्ञान से भी बढ़कर है ही ?"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन् ! जो विज्ञान से भी बढ़कर हो उसी का उपदेश कृपा करके मुझे दीजिये।"

सनत्कुमारजी ने कहा—"विज्ञान की अपेक्षा बल उत्कृष्ट है।"

नारदजी ने पूछा—"विज्ञान की अपेक्षा बल उत्कृष्ट कैसे है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"देखो, बल तीन प्रकार का होता है। शारीरिक बल, इन्द्रियों का बल और मनोबल। जो सह, ओज और बल कहलाते हैं सौ विज्ञानियों को एक बलवान हिला देता है। बल से ही उठ सकते हैं, उठकर परिचर्या कर सकते हैं। बल से ही गमन, दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, विज्ञानादि कर सकते हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पर्वत, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद कीट-पतंग अर्थात् पिपीलिका से ब्रह्मा पर्यन्त सभी प्राणी बल से ही स्थित हैं। ये समस्त लोक बल द्वारा ही स्थित हैं। अतः तुम बल में ब्रह्म भाव करके उसकी उपासना करो।"

नारदजी ने पूछा—"बल में ब्रह्म भाव से उपासना करने का फल क्या होगा?"

सनत्कुमार ने कहा—"जो बल को ब्रह्म मानकर उपासना करते हैं, उनकी जहाँ तक बल की गति है, वहाँ तक गति हो जाती है। उनकी निर्बाध स्वेच्छा गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! बल से भी बढ़कर कुछ है क्या?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"क्यों नहीं, बल से भी बढ़कर है ही।"

तब नारदजी ने कहा—"भगवन् जो बल से भी बढ़कर है उसी का उपदेश मुझे दीजिये।"

इसरप सनत्कुमारजी ने कहा—"बल से भी उत्कृष्ट अन्न है।"

नारदजी ने पूछा—"बल से बढ़कर अन्न किस प्रकार है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"तुम दस दिन भोजन न करो। अन्न मत खाओ। तब देखो, कैसी दशा होती है।"

नारदजी ने कहा—"दश दिन अन्न न खाने से मर थोड़े ही जायँगे ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"भले ही मरो नहीं। जीवित ही बने रहो, तो भी दश दिन के पश्चात् भली भाँति देख न सकोगे, भली-भाँति सुन न सकोगे, भली प्रकार मन्ता, योद्धा, कर्ता तथा विज्ञाता न हो सकोगे। फिर यदि अन्न खाने लगो, तब भली प्रकार देखने भी लगोगे, सुनने भी लगोगे, मनन भी करने लगोगे, जानने भी लगोगे, कार्यों को करने भी लगोगे, और भली प्रकार विषयों के विज्ञाता भी हो सकोगे। "इसीलिये तुम अन्न को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन्! जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं ऐसे साधकों को क्या फल होता है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"उन्हें अन्नवान् और पानवान् लोकों की प्राप्ति होती है। जहाँ तक भी अन्न की गति है वहाँ तक उनकी स्वेच्छागति हो जाती है।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन्! अन्न से भी उत्कृष्ट कोई है क्या ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"है क्यों नहीं, अन्न से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन्! अन्न से भी बढ़कर जो कुछ हो उसी का उपदेश मुझे कीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब अन्न से भी बढ़कर जैसे जल बताया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

संकल्पहिं करि ब्रह्म उपासन करें धीर मति।
स्वेच्छा गति है जाइ जहाँ तक संकल्पहिं गति॥
संकल्पहु तैं चित्त बड़ो चित में सब होवैं।
चितमय ही नर होइ चित्त बिनु सब कछु खोवैं॥
ब्रह्म चित्तकूँ मानिकैं, करो उपासन नित्य नित।
ध्यान बड़ो है चित्त तैं, ध्यान ब्रह्म करि सतत चित॥

(२)

ध्यान करें चर-अचर ध्यान तैं श्रेष्ठ कहावैं।
ध्यान ब्रह्मकूँ मानि उपासन करि गति पावैं॥
ध्यानहु तैं विज्ञान बड़ो गति साधक पावैं।
बल विज्ञान महान ब्रह्म बल करि जो ध्यावैं॥
न हू तैं बड़ अन्न है, अन्न बिना जीवन व्यरथ।
अन्न ब्रह्म करि उपासन, गति पावैं अन्नहिं सतत॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम्, अष्टम् नवम् खण्ड समाप्त।

———

नारद सनत्कुमार सम्वाद (३)

[१८६]

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाँ स्तृप्तिमान्भवति यावदपां गत तत्रास्य यथाकामचारी भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वा भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥*

(छा० उ० ७ अ० १० ख० २ म०)

छप्पय

अनहु तें जल श्रेष्ठ जगत-जन जलमय जानो ।
तृप्त कामना पूर्ण ब्रह्म जलकूँ जो मानो ॥
तेज जलहु तें श्रेष्ठ तेज हीं तें जल होवै ।
तेज ब्रह्म जो भजे तेजमय लोकनि जोवै ॥
तेजहु तें आकाश बड़, रवि, शशि, मह सब ताहितें ।
करें उपासन ब्रह्म ख, शुभ रा तेजहिं पाहिं तें ॥

---

* यह पुरुष जो जल ही ब्रह्म है, ऐसी उपासना करता है वह सपूर्ण कामो को प्राप्त कर लेता है तथा तृप्तिमान होता है। जहाँ पर्यन्त जल की गति है, तहाँ पर्यन्त उस साधक की स्वेच्छा गति हो जाती है। जो जल को ब्रह्मभाव से भजता है। (नारद) जल से भी कुछ श्रेष्ठ है क्या ? (सन०) हाँ जल से भी श्रेष्ठ है। (नारद) मुझे हे भगवन् ! उसी का उपदेश करो।

श्रेष्ठता अपेक्षाकृत होती है। कोई पूछे कि अंकुर, वृक्ष, शाखा, फल और बीज इनमें कौन श्रेष्ठ है। तो इसका सहसा सर्वसमस्त कोई उत्तर दिया नहीं जा सकता। आप कहेंगे कि बीज श्रेष्ठ है। तो प्रतिवादी कहेगा—"बीज आया कहाँ से? बीज भी तो वृक्ष से ही उत्पन्न हुआ है। पहिले वृक्ष हुआ उस पर बीज लगा। तो बीज की अपेक्षा वृक्ष ही श्रेष्ठ हुआ।" इस पर वादी कहेगा—"भाई वृक्ष बिना बीज के उत्पन्न हो नहीं सकता। बीज को भूमि में गाड़ते हैं, तब बीज जलादि अनुकूल परिस्थित पाकर अंकुरित होता है। फिर पल्लवित, पुष्पित तथा फलान्वित होता है। फल में पुनः बीज आते हैं। प्रत्येक बीज पुनः वैसा ही वृक्ष बनाने की अपने में सामर्थ्य रखता है। अतः श्रेष्ठ तो बीज ही हुआ।"

प्रतिवादी पुनः कहता है—"बीज बिना वृक्ष के हो ही नहीं सकता।" तब वादी कहता है—"वृक्ष भी बीज के बिना नहीं हो सकता।"

वास्तव में वृक्ष और बीज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यही बात पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, देह, नाम, प्राण तथा इन्द्रियों आदि के सम्बन्ध में है। इन सबका परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। प्राण बिना शरीर नहीं। प्राण, अन्न, जलमय हैं। फिर भी क्रम बताने को एक की अपेक्षा दूसरा श्रेष्ठ है, इसी को बताने के निमित्त यह प्रकरण प्रारम्भ किया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सनत्कुमारजी ने सम्पूर्ण भूतों में अन्न को ही श्रेष्ठ बताया और उसका महत्त्व बताते हुए कहा कि संसार के समस्त प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। जीवन काल में वह प्राणियों द्वारा भक्षण किया जाता है। और वह स्वयं भी प्राणियों को खा जाता है (अद्यते अत्ति च भूतानि=

इति-अन्नम् ।) इस पर नारदजी ने पूछा—"क्या अन्न से भी कोई बढ़कर है ।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"अन्न की अपेक्षा जल श्रेष्ठ है ।"

तब नारदजी ने पूछा—"अन्न की अपेक्षा जल श्रेष्ठ कैसे है ?"

इसका उत्तर देते हुए सनत्कुमारजी ने कहा—"अन्न भी जल के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता । जिस समय जल की वृष्टि नहीं होती है या कम वृष्टि होती है, तो समस्त प्राणियों में हाहाकार मच जाता है । प्राणी सोचते हैं वृष्टि न हुई तो अन्न न होगा, अथवा कम वृष्टि हुई तो अन्न भी कम उत्पन्न होगा ।" अतः वर्षा के बिना प्राणी दुखी हो जाते हैं ।

इसके विपरीत जब अच्छी वर्षा हो जाती है, तो सभी प्राणी परम प्रसन्न हो जाते हैं । वे सोचते हैं—"अब के समय-समय पर अच्छी वृष्टि हुई है । यथेष्ट अन्न उत्पन्न होगा । प्राणियों की प्रसन्नता अप्रसन्नता जल के ही ऊपर निर्भर है । जल ही जीवन है । यह पृथ्वी क्या है ? मूर्तिमान् जल ही है । पृथ्वी में से जलांश निकाल दो तो वह बिखर कर नष्ट हो जायगी । अन्तरिक्ष, स्वर्ग लोक, पर्वत, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, सिंह व्याघ्रादि हिंसक पशु, कीट पतंग तथा चींटी आदि पर्यन्त जितने भी छोटे-बड़े जीवधारी प्राणी हैं, वे सब मूर्तिमान् जल के ही स्वरूप हैं । इन सबमें से जलीय अंश निकाल दो, तो फिर किसी का अस्तित्व नहीं रहता । अतः तुम जल को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो ।"

नारदजी ने पूछा—"जल की ब्रह्म भाव से उपासना करने का फल क्या है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"जल ही ब्रह्म है, जो इस भावना से जल ब्रह्म की उपासना करता है वह साधक अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर लेता है। जल का स्वभाव तृप्त करने का होता है, वह साधक सदा सर्वदा परितृप्त बना रहता है। जल की जहाँ तक गति है वहाँ तक उस साधक की अव्याहत गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! क्या कुछ जल से भी उत्कृष्ट है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं जल से भी श्रेष्ठ कुछ न कुछ है ही?"

नारदजी ने कहा—"तो महान्! जो जल से भी श्रेष्ठ हो, उसी का उपदेश मुझे कीजिये।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—जल की भी अपेक्षा उत्कृष्ट तर तेज है।"

नारदजी ने पूछा—"यह जो तेज है वह जल से उत्कृष्ट कैसे है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"तेज जल का बाप है। तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है। वायु जब निश्चल हो जाय, आकाश चारों ओर से परितप्त होने लगे वायु उष्ण हो जाय तो सब हा पानी-हा पानी चिल्लाने लगते हैं। अधिक गर्मी हो जाने से ताप बढ़ जाने से चींटियाँ भी अपने बिलों से अंडा ले-लेकर निकलने लगती हैं। तब लोग कहने लगते हैं, अब अत्यधिक उष्णता बढ़ रही है निश्चय ही वर्षा होगी। जैसे स्त्री के उदर को फूला देख-कर गर्भ का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार उष्णता को उद्भूत हुआ देखकर जल की उत्पत्ति की संभावना होने लगती है। कारण कि तेज के बिना वृष्टि नहीं होती। तेज ही वर्षा का

हेतु है। वही तेज जब विद्युत् के रूप में गड़गड़ान-तड़तड़ान करके ऊपर की ओर चमकता है, इरछे-तिरछे बिजली चमकने लगती है, बादल गरजने लगते हैं, तब सबको निश्चय हो जाता है, अब तो वर्षा होगी ही। जैसे गर्भ ही उदर को फुलाकर शिशु को उत्पन्न होने की संभावना प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार तेज ही प्रथम प्रदर्शित करके वृष्टि की—जल वर्षा की संभावना उत्पन्न करता है। क्योंकि तेज द्वारा ही जल की उत्पत्ति होती है। अतः जल से तेज श्रेष्ठ है, इसीलिये तेज की ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"तेज की ब्रह्मभाव से उपासना करने का फल क्या है?"

सनत्कुमार ने कहा—"जो तेज को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है वह साधक तेजस्वी तथा तेज सम्पन्न होता है, उसके मुख मंडल पर तेज दमकता रहता है। वह तेजयुक्त प्रकाशवान् लोकों को जाता है, जिसमें अन्धकार का नाम भी नहीं होता। जहाँ तक तेज की गति है वहाँ तक उस साधक की स्वेच्छा गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! क्या तेज से भी उत्कृष्ट कुछ है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"है क्यों नहीं। तेज से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन! जो तेज से भी बढ़कर हो, उसी का उपदेश मुझे कीजिये।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"तेज से भी बढ़कर है आकाश।"

नारदजी ने पूछा—"आकाश तेज से बढ़कर कैसे है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा अन्तरिक्ष ये सबके सब आकाश में ही स्थित हैं। यही नहीं रवि, शशि, विद्युत्, नक्षत्र तथा अग्नि सब के सब आकाश में ही अवस्थित हैं, आकाश न हो, तो शब्द कहाँ उत्पन्न हो। शब्द न हो, तो एक दूसरे को सम्बोधित कैसे करे। एक दूसरे का नाम लेकर जो हम पुकारते हैं, तो आकाश के द्वारा ही तो पुकारते हैं। जो भी शब्द श्रवण करते हैं उसे आकाश के ही द्वारा तो श्रवण करते हैं। सुने हुए शब्द का जो प्रत्युत्तर देता है, उसे भी आकाश के द्वारा ही पूछने वाला सुनता है। जितने जीव हैं, सब आकाश में ही तो रमण करते हैं। यही नहीं रमण करने के इन्द्रिया द्वारा उपभोग करने के जितने भी संसार में पदार्थ हैं, वे सब आकाश में ही तो उत्पन्न होते हैं।"

पृथ्वी में कितने नीचे बीज पड़े रहते हैं, उन बीजों के अंकुर नीचे की ओर नहीं जाते। बीज चाहे पृथ्वी में उलटे पड़े हों अथवा सीधे सभी के अंकुर नीचे की ओर न जाकर आकाश की ही ओर उत्पन्न होकर आकाश में ही बढ़ते हैं। इसलिये सबका आधार आकाश ही है, अतः आकाश को ब्रह्म मानकर उसकी ब्रह्म भाव से उपासना करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"जो आकाश की ब्रह्म भाव से उपासना करते हैं। उनको क्या फल प्राप्त होता है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"जो आकाश को ब्रह्म मानकर उपासना करता है, उस उपासक की जहाँ तक आकाश की गति है वहाँ तक स्वेच्छा गति हो जाती है। उसे उन दिव्य लोकों की प्राप्ति होती जो आकाशवान्, प्रकाशवान तथा पीड़ा से रहित लोक हैं, जिनका विपुल विस्तार है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! क्या कोई आकाश से भी बढ़कर है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं आकाश से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन् ! जो आकाश से भी बढ़कर हो उसी का उपदेश मुझे दीजिये।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"स्मरण आकाश से भी श्रेष्ठ है।"

नारदजी ने कहा—"स्मरण क्या है ?"

सनत्कुमार ने कहा—"किसी विषय को किसी भी इन्द्रिय द्वारा पहिले अनुभव किया हो। कालान्तर में वह विषय विस्मृति के गर्त में दब गया हो। पुनः समय पाकर वह विषय चित्त में स्फुरण हो जाय, उसकी स्मृति आ जाय, उसी का नाम स्मरण है। एक स्थान पर बहुत से पुरुष बैठे हों, वे परस्पर में दूसरों को भूले हुए हैं। विस्मृति अवस्था में न बातों को सुन सकते हैं, न मनन कर सकते हैं, न विषय को जान ही सकते हैं। जब विषय की, सम्बन्ध की प्रयोजन की अथवा अधिकारी की स्मृति जाग्रत हो जाय उसी समय एक दूसरे की बात सुन भी सकते हैं, स्मृत विषय का मनन भी कर सकते हैं, परस्पर में एक दूसरे को जान भी सकते हैं। अपना पुत्र ही है, अपने ही पशु हैं, चिर-काल तक न देखने से वे विस्मृत हो गये हैं। जब स्मरण दिलाने से या स्मृति स्वतः ही जाग जाने पर उन्हें पहिचाना जा सकता है। उनमें पुनः अपनत्व स्थापित हो जाता है। समस्त सम्बन्ध स्मृति के ही ऊपर निर्भर हैं। जिन्हें सम्मोह हो जाता है उनकी स्मृति विभ्रम को प्राप्त हो जाती है। स्मृति विभ्रम से बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धिनाश से स्वतः नष्ट हो जाता है। अतः

आकाश से भी श्रेष्ठ स्मरण है। अतः स्मृति को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"स्मृति को ब्रह्म मानकर उपासना करने का फल क्या होता है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"जो साधक स्मरण को ही ब्रह्म मानकर उसकी ब्रह्मभाव से उपासना करता है, उसकी जहाँ तक स्मरण की गति है। मनुष्य जिन लोकों का स्मरण कर सकता है, वहाँ तक उसकी स्वेच्छा गति हो जाती है।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई स्मरण से भी श्रेष्ठ है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं। स्मरण से भी श्रेष्ठ कुछ न कुछ है ही।

नारदजी ने कहा—"तो ब्रह्मन्! जो स्मरण से भी श्रेष्ठ हो, उसी का उपदेश मुझे कीजिये।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, यह जो आशा है, यह स्मरण से भी श्रेष्ठ है। आशा पर ही सम्पूर्ण संसार टिका हुआ है। जीवन में आशा न रहे तो पुरुष एक क्षण भी जीवित न रहे। प्राणीमात्र किसी न किसी आशा से ही जीवित बने रहते हैं। कोई व्यक्ति मन्त्रों का पाठ करता है तो उसे मन्त्रों का स्मरण किसी न किसी आशा से ही उद्दीप्त होता है। किसी न किसी आशा के ही ऊपर निर्भर करके कर्म करता है, मेरे पुत्र होंगे, तो मुझे सुख देंगे, मेरी वंश परम्परा अक्षुण्य बनी रहेगी। पितरों को पिंड तथा तर्पण का जल मिलता रहेगा। पशु होंगे तो दूध मिलेगा, कृषि के कार्यों में वृषभ आदि का उपयोग होगा। किसी न किसी आशा को ही लेकर पुरुष पुत्र तथा पशुओं आदि की इच्छा करता है। चाहे इस लोक की हो अथवा परलोक की

समस्त कामनाओं का मूलाधार आशा ही है। अतः आशा स्मरण से भी श्रेष्ठ है तुम आशा को ब्रह्म मानकर उसकी ब्रह्म भाव से उपासना करो।"

नारदजी ने पूछा—"जो साधक आशा की ब्रह्मभाव से उपासना करते हैं। उसका फल क्या होता है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"आशा कि ब्रह्मभाव से उपासना करने वाले की समस्त कामनायें आशा द्वारा समृद्ध होती हैं। वह जिस आशा से जो भी प्रार्थना करता है वह प्रार्थना सफल होती है। आशा की जहाँ तक गति है वहाँ तक उसकी स्वेच्छा गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! आशा से भी उत्कृष्ट कुछ है क्या ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं। आशा से भी बढ़कर कुछ है हीं।"

तब नारदजी ने कहा—"भगवन् ! जो आशा से भी बढ़कर हो, उसी का उपदेश मुझे दीजिये।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"नारद ! आशा से भी अत्युत्कृष्ट प्राण हैं ?"

नारदजी ने पूछा—"प्राण आशा से उत्कृष्ट कैसे हैं ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"प्राण के बिना किसी का अस्तित्व नहीं। समस्त सम्बन्ध प्राण से ही हैं। जहाँ प्राण शरीर से पृथक हुए कि सभी सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् प्राणों के द्वारा उसी प्रकार समर्पित है जिस प्रकार रथ के पहिये की बीच की नाभि में उसके सभी अरे समर्पित हैं। यह जो प्राण है यही प्राणों के द्वारा गमन करता है। प्राणवान् प्राणी जो भी कुछ देगा प्राणवान् प्राणी को ही तो देगा। जो भी कुछ वस्तु दी

में जला दे, जल में प्रवाहित कर दे भूमि में गाड़ दे, या काट-काटकर पशु पक्षियों को खिला दे, फिर उसे कोई भी मातृ-पितृ-हन्ता नहीं कहते। इससे यही सिद्ध हुआ कि मान, अपमान, सगा सम्बन्धी पन सब प्राणों पर ही अवलम्बित है। प्राण रहते ही लोग स्वागत सम्मान करते हैं, सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जहाँ देह से प्राण पृथक् हुए नहीं कि सब सम्बन्ध समाप्त हो गये। इसलिये नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, तथा आशा इन सब से प्राण ही उत्कृष्ट हैं। जितने सम्बन्ध हैं सब प्राणों पर निर्भर हैं जो इस प्रकार देखता है, चिन्तन करता है तथा जानता है, वह अतिवादी है अर्थात् नामादि सब का अतिक्रमण करता है। उस प्राणोपासक से कोई कहे कि—"तू तो अतिवादी है।" तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिये कि हाँ मैं अतिवादी हूँ। उसे इस बात को छिपाना नहीं चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी यह सुनकर चुप हो गये। उन्होंने समझा प्राण ही सबके उत्कृष्ट हैं। प्राणों से परे कुछ भी नहीं है, अतः उन्होंने पुनः सनत्कुमार जी से यह प्रश्न नहीं किया कि, क्या प्राणों से भी कोई बढ़कर है?"

जब नारदजी ने आगे प्रश्न करना बन्दकर दिया, तब करुणा के सागर श्री सनत्कुमार जी ने स्वयं ही सत्य की महिमा का निरूपण किया। अब जैसे सनत्कुमार जी नारद को सत्य की महिमा बतावेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सब इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

आकाश हु तैं स्मरण स्मरणतैं आशा उत्तम।
आशा तैं बढ़ प्राण प्राण में जग सब सत्तम॥
माँ, पितु, द्विज सब प्राण कदाचारी गुरुघाती।
प्राणहीन तन दग्ध करें न कहें पितुघाती॥
प्राण सबहिं तैं श्रेष्ठ है, जो सोचे देखें गुनें।
अतिवादी ताकूँ कहैं, अतिवादी स्वीकृति सुनें॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में दशम, एकादश, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश तथा खण्ड समाप्त।

नारद सनत्कुमार सम्वाद (४)

[१९१]

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥

(छा० उ० ७ अ० १६ खं० १ म०)

छप्पय

जिज्ञासा करि सत्य सत्य विज्ञानाधारित।
मति जिज्ञासा योग्य सोउ श्रद्धा आधारित॥
श्रद्धा निष्ठा माहिं सु निष्ठा कृति अधीन है।
कृति सुख पै अविलम्ब सुखहु भूमा अदीन है॥
श्रवण, ज्ञान, दर्शन न कछु, भूमा सो अमृत कह्यो।
श्रवण ज्ञान दर्शन जहाँ, अल्प वही मर्त्यहि कह्यो॥

सत्य उसे कहते हैं जो त्रिकालाबाधित हो, जिसका कभी नाश न हो, जिसकी कभी उत्पत्ति न हो। जो सदा सर्वदा

---

* जो सत्य के कारण अतिवदन करता है। वही मानो अतिवदन करता है। इस पर नारदजी ने कहा—"मैं तो परमार्थ सत्य आत्मा के विज्ञान के कारण ही अतिवदन करता हूँ।" सनत्कुमार जी ने कहा—"सत्य है सत्य ही की तो जिज्ञासा करनी चाहिये।" नारदजी ने कहा—"भगवन्! मैं तो सत्य ही की जिज्ञासा करता हूँ।"

सभी विकारों से सभी सम्बन्धों से रहित, एक रस रहने वाला है। उसे सत्य कहो ब्रह्म कहो, चैतन्य कहो आनन्द घन कहो। सब एक ही बात है। उपनिषद् सत्य ब्रह्म का ही निरूपण करती है। सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म। वह सत्य स्वरूप ज्ञान स्वरूप है उसका कहीं भी अन्त नहीं। वह बृहत् है सर्वत्र व्याप्त है। जो सर्वज्ञ है सर्ववित् है। जिसका तप ज्ञानमय है। वह सब का वशी है। सब कुछ उसी के वश में है। वह सब का स्वामी है। जो पृथ्वी में रहता हुआ तदनन्तर कामना करता है। मैं एक से बहुत हो जाऊँ। जो आप्त काम हैं, जो परिपूर्ण हैं उन्हें कामना करने की क्या आवश्यकता थी ? जो वस्तु जिसके पास नहीं होती, वही उस वस्तु की कामना करता है। ब्रह्म तो परिपूर्ण है, सभी कामनाओं से रहित है। उसने कामना क्यों की ?

देखो, भाई ! जो सर्वस्वतन्त्र है, उसके लिये तुम क्यों का प्रश्न मत करो। उसकी कामना भी अकामना ही है। क्रीड़ा के लिये, लीला के लिये, विनोद के लिये ही उसकी अकामना के सदृश कामना है। अतः उन्होंने तेज की सृष्टि की। वह भूमा पुरुष ही सत्य रूप से प्रतिष्ठित हो गया। वह प्राण बनकर प्राणन कर्म करने लगा। संसार की सृष्टि करने में समर्थ हुआ। उस सत्य की ही जिज्ञासा करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—' मुनियो ! जब नाम, वाक, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, तथा आशा इनको एक से एक श्रेष्ठ बताते हुए जब सनत्कुमार जी ने प्राण को सर्वश्रेष्ठ बताया। सबको अतिक्रमण करके प्राण पर ही जाकर परि समाप्ति कर दी और प्राणवेत्ता

अतिवादी बताया, तब नारदजी चुप हो गये, फिर उन्होंने यह जिज्ञासा नहीं की कि प्राण से भी कोई श्रेष्ठ है क्या ?"

तब परम कृपालु गुरुदेव भगवान् सनत्कुमार ने सोचा—"मेरा प्रिय शिष्य प्राणवेत्ता ही रह गया, ब्रह्मवेत्ता नहीं हुआ तो मेरा सब उपदेश व्यर्थ ही हो जायगा। अतः नारदजी के न पूछने पर भी वे अपनी ही ओर से कहने लगे—"हे नारद! प्राणवेत्ता तो अतिवादी-सबका उत्क्रमण करके प्राण को ही श्रेष्ठ समझने वाला-होता ही है, किन्तु प्राणवेत्ता से अतिवादी वह है जो सत्यवेत्ता है। जो आत्मा विज्ञान को जानता है, जो परमार्थ सत्य को पहिचानता है, वास्तव में तो वही अतिवादी। वही सर्व-श्रेष्ठ विज्ञाता है। उस सत्य विज्ञान की ही जिज्ञासा करनी चाहिये जो प्राण से भी श्रेष्ठ है।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! मैं तो उसी सर्वश्रेष्ठ तत्व सत्य विज्ञान का ही जिज्ञासु हूँ। मैं उसी का अतिवदन करता हूँ। यदि प्राण से भी उत्कृष्ट सत्य है, तो मेरी जिज्ञासा तो विशेष रूप से सत्य की ही है। उस सत्य का ही मुझे उपदेश करें।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"विज्ञान के द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार होता है।"

नारदजी ने कहा—"सो कैसे ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"विज्ञान के द्वारा जब उसे सत्य के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जायगा, तभी तो वह सत्य बोल सकता है, सत्य का विज्ञान हुए बिना कोई सत्य कैसे बोल सकेगा। जो विज्ञाता है वही विशेष रूप से सत्य का कथन करता है। अतः सत्य को जानने के लिये विज्ञान की जिज्ञासा करनी चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"यदि विज्ञान द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार होता है, तो भगवन्! मैं विज्ञान का ही जिज्ञासु हूँ, विज्ञान को विशेष रूप से जानना चाहता हूँ। मुझे विज्ञान का ही उपदेश करें।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"विज्ञान का तो हमने नाम वाणी आदि क्रम में उल्लेख किया है, वहाँ क्रम परम्परा में विज्ञान से अभिप्राय शास्त्रज्ञान से है, यहाँ विज्ञान का तात्पर्य विशिष्ट ज्ञान से है। शास्त्रों को पढ़कर उनका एकाग्र चित्त होकर विशेष रूप से जब मनन करता है, तभी वह विज्ञानी बनता है। बिना स्थिर चित्त से मनन किये कोई विज्ञानी बन ही नहीं सकता। विशेष मनन द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार होता है। जब तक सु-मति न होगी तब तक विज्ञानी नहीं हो सकता। अतः विज्ञानी बनने के लिये मति का आश्रय लेना चाहिये। मति को विशेष रूप से जान लेना चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"सत्य की उपलब्धि यदि विज्ञान से होती है और विशेष ज्ञान मनन द्वारा सु-मति से ही सम्भव है, तो मैं मति के विज्ञान का जिज्ञासु हूँ। मुझे मति विज्ञान का ही उपदेश करें।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, भैया! परमार्थ में मति भाग्य शालियों की ही होती है। जो श्रद्धावान् है, उसी की परमार्थ में मति होती है। जब हृदय में श्रद्धा जाग्रत होगी तभी सुमति होगी। तभी पढ़े लिखे शास्त्रों के मनन करने की प्रवृत्ति जाग्रत होगी। श्रद्धा के बिना मनन सम्भव नहीं। इसलिये सुमति होने के लिये श्रद्धा का आश्रय लेना चाहिये। श्रद्धा को विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"मति यदि श्रद्धा के बिना सम्भव नहीं

और मति के बिना विज्ञाता होना संभव नहीं और विज्ञान के बिना सत्य का साक्षात्कार संभव नहीं, तो भगवन्! मुझे श्रद्धा के ही विज्ञान का उपदेश करें। श्रद्धा कैसे हो यह बतावें।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"श्रद्धा निष्ठा के बिना नहीं होती।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! निष्ठा क्या?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! जिसमे अपनी दृढ़ता हो जाय, उसी का नाम निष्ठा है। (नितरां तिष्ठति=इति-निष्ठा) जिसकी जिस वस्तु मे निष्ठा जम जायगी, उसमे श्रद्धा होगी। आज एक देवता का मन्त्र जपा कल उसे छोड़कर दूसरे का जपने लगे परसों तीसरे का जपने लगे। ऐसे अस्थिर चित्त निष्ठा विहीन पुरुषो को कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। नैष्ठिक भाव रखकर एक में श्रद्धा बढ़ानी चाहिये। इसीलये सनत्कुमार जी ने कहा—"जब पुरुष की किसी विषय मे निष्ठा जम जाती है तभी वह उस विषय में श्रद्धा करता है। निष्ठा के बिना श्रद्धा हो ही नहीं सकती। निष्ठावान् ही श्रद्धावान् होता है। अतः निष्ठा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये।"

यह सुनकर नारदजी ने कहा—"भगवन ब्रह्म साक्षात्कार विज्ञान के बिना नहीं हो सकता। विज्ञान बिना मति के नहीं होता। मति श्रद्धा के बिना नहीं होती। श्रद्धा निष्ठा के बिना नहीं होती। श्रद्धा निष्ठा के बिना संभव नहीं। तो मुझे निष्ठा का ही उपदेश दें, मैं निष्ठा को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, भैया! गुरुजनों में विश्वास करके उनके प्रति प्रणिपात-नमस्कार प्रणाम करके—

नम्रता पूर्वक परिप्रश्न करना उनकी सेवा सुश्रूषा करना यही निष्ठा का चिन्ह है, निष्ठा होती है कृति से।"

नारदजी ने पूछा—"कृति क्या ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"कृति अर्थात् क्रिया-कर्तृ व्यापार जब मनुष्य कुछ व्यापार करता है, उसी समय उसमें निष्ठा भी करने लगता है। आप सोचें, कि हम करें तो कुछ भी नहीं, हमारी निष्ठा हो जाय, तो यह असम्भव है। बिना किये हुए किसी की भी निष्ठा होती ही नहीं है। जब कुछ कार्य करेगा—किसी कर्म में प्रवृत्त होगा तभी निष्ठावान होगा। अतः कृति को ही विशेष रूप से जानना चाहिये। कृति के ही निमित्त साधकों को विशेष रूप से जिज्ञासु होना चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्म साक्षात्कार विज्ञान के बिना नहीं। विज्ञान मति के बिना नहीं, मति श्रद्धा के बिना नहीं, श्रद्धा निष्ठा के बिना नहीं, निष्ठा कृति के बिना नहीं हो सकती, तो आप मुझे कृपा करके कृति का ही उपदेश करें। मैं कृति की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"क्रिया तभी की जाती है जब उसे करने में सुख हो, या सुख प्राप्ति की आशा हो। जिस क्रिया के करने में सुख न हो अथवा सुख प्राप्ति की आशा न हो, उस क्रिया को मनुष्य करेगा ही नहीं। बिना सुख मिले या मिलने की आशा नष्ट होने पर कोई क्रिया करेगा नहीं। सुख पाकर या सुख की आशा से ही कर्म किये जाते हैं। अतः सुख कृति की जननी है। सुख पाने की आशा से ही क्रिया-कर्तृ व्यापार-में प्रवृत्ति होती है। अतः साधक को सुख की जिज्ञासा करनी चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"सुख की आशा से कर्म करने में प्रवृत्ति

होती है, कृति निष्ठा के बिना नहीं। निष्ठा श्रद्धा के बिना नहीं, श्रद्धा मति के बिना नहीं। मति विज्ञान के बिना नहीं, विज्ञान के बिना सत्य का साक्षात्कार नहीं। इन सब में प्रवृत्त कराने वाला सुख ही है, अतः मुझे सुख के ही सम्बन्ध में बताइये। सुख का ही उपदेश करें।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"यथार्थ सुख तो भूमा में ही है।"

नारदजी कहा—"भूमा क्या ?"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"जो अतिशय बड़ा हो, सुख अपार, अगाध, अखंड, अनन्त में है। मछली को अल्प जल में छोड़ दो तो सुखी न होगी। उसे अगाध जल में छोड़ दो तो सुखी हो जायगी। अतः इससे यही सिद्ध हुआ कि भूमा ही सुख स्वरूप है। भूमा में ही सुख है। अल्प में कभी सुख नहीं। भूख लगने पर एक दो ग्रास कोई खाय तो सुखी न होगा। यथेष्ठ भोजन से ही परितृप्ति होगी सुखानुभूति होगी। इसलिये जिज्ञासा योग्य भूमा ही है।"

नारदजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! भूमा ही सुख स्वरूप है, तो उस भूमा पुरुष का ही मुझे उपदेश करें, मैं उस भूमा पुरुष की ही विशेषरूप से जिज्ञासा करता हूँ। उस भूमा पुरुष का ही स्वरूप मुझे समझाइये।"

यह सुनकर सनत्कुमार जी ने कहा—"नारद ! भूमा अगाध अपार, अनन्त, सर्वव्यापक को कहते हैं। जैसे मछली अनन्त अगाध समुद्र में जाकर जल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखती। उसी प्रकार जहाँ जाकर जीव उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखता, उसके शब्द के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द

नहीं सुनता, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता, वही भूमा है। उसी में सुख है, वही सुख स्वरूप भूमा पुरुष है।"

नारदजी ने कहा—"यदि उसके अतिरिक्त कुछ और भी देखा सुना जाना जाय वह क्या है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"उसके अतिरिक्त जहाँ कुछ और सुना जाय, और कुछ जाना जाय, और कुछ देखा जाय, वह भूमा न होकर अल्प है। अल्प सुख,सुख नहीं होता, सुख भूमा में ही होता है। अमृत तो भूमा ही है, जो अल्प है, अंश है, वह मर्त्य है, नाशवान् है। अतः भूमा जिसमें प्रतिष्ठित रहता है उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"भूमा से कोई बड़ा हो तब तो बताया भी जा सकता है, कि भूमा अमुक में प्रतिष्ठित है। वह तो स्वयं ही इतना अनादि अनन्त तथा बृहद् है, कि वह अन्य किसी में भी प्रतिष्ठित नहीं। वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है।"

नारदजी ने पूछा—"महिमा क्या ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"महिमा अर्थात् विभूति। वह अपनी ही विभूति में प्रतिष्ठित है।"

नारदजी ने कहा—"उस भूमा पुरुष की महिमा-विभूति-कितनी बड़ी होगी ? उस भूमा पुरुष से तो बड़ी ही होगी, क्योंकि वह उसमें प्रतिष्ठित है।"

यह सुनकर सनत्कुमार जी हँस पड़े। और बोले—"उसकी महिमा उससे भिन्न नहीं कहना चाहिये। वह अन्य किसी में प्रतिष्ठित नहीं। महिमा को उससे पृथक् मानते हो, तो हम यों

कहेंगे, कि वह किसी अन्य में प्रतिष्ठित नहीं अपनी महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! यह क्या बात हुई, पहिले तो आपने कहा भूमा अपनी महिमा में-विभूति में-प्रतिष्ठित है पीछे कह दिया अपनी विभूति में भी प्रतिष्ठित नहीं।"

यह सुनकर सनत्कुमारजी ने कहा—"देखो, लोक में महिमा शब्द से गौ, घोड़ा, हाथी तथा अन्य उपयोगी पशुओं को, सुवर्ण, चाँदी आदि मूल्यवान् धातुओं की, सेवा करने वाले दास-दासियों की, गृहलक्ष्मी भार्या की, जीवनोपयोगी खेती बारी घर बैठक चौपाल आदि की गणना की जाती है। जिस महामहिम पुरुष की ये विपुल मात्रा में वस्तुएँ होती हैं, वह महिमावान् कहलाता है। यहाँ पर पशु, धन आदि भिन्न हैं, जिसके ये सब हैं, जिसमें ये प्रतिष्ठित हैं, वह पुरुष भिन्न है। सिद्धान्त यह हुआ कि अन्य पदार्थ किसी अन्य में प्रतिष्ठित हुआ करता है। जब उस भूमा पुरुष की महिमा उससे भिन्न नहीं, तब यह कैसे कहा जा सकता है, कि वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है, उसकी महिमा तो उससे अभिन्न है। यदि उसकी महिमा उससे भिन्न होती तो एक स्थान में वह रहता, किसी दूसरे स्थान में उसकी महिमा रहती तब वह महिमा में प्रतिष्ठित माना जाता, किन्तु वह तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को घेरकर बैठा है, महिमा आदि के लिये कोई स्थान उसने छोड़ा ही नहीं। नहीं समझे?"

सनत्कुमार ने जब ऐसा कहा—तब नारदजी ने पूछा—"तो वह कहीं प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसा निषेध वचन उसके लिये क्यों कहा जाता है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"इस बात को बता तो चुके हैं, कि वह एक स्थान में न रहकर सर्वत्र है। वह नीचे भी है और ऊपर

भी है। वह आगे भी है और पीछे भी है, वह दायीं ओर भी है, बायीं ओर भी है, वही यह सब है जो कुछ देखा सुना अनुभव किया जाता है।"

नारदजी ने कहा - "वह है, कहने से कहने वाला पृथक् हुआ और जिसको निर्देश करके कथन किया जाता है, वह कोई दूसरा होगा ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"उसे चाहे वह कहो 'मैं' कहो, वही, वही है। द्विलपने की तो वहाँ गन्ध भी नहीं। वह है के स्थान में आप मैं हूँ भी कह सकते हैं। उसमें आप अहङ्कार का आदेश-उपदेश-शासन कार्य भेद करके यों भी कह सकते हैं, कि मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ और मैं ही सब हूँ। उसे चाहे वह कहो या मैं कहो एक ही बात है। यहाँ उसका और मैं का आग्रह नहीं चाहे तदेव सत्यं कहो चाहे अहमेव सत्यं कहो। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं। अहं शब्द भी आत्मा का-ब्रह्म का-ही वाचक है। जो अविवेकी पुरुष हैं वे ही अहं शब्द से शरीर को मानते हैं। अतः वह तथा अहं से न कहकर उसे आत्मा द्वारा भी उपदिष्ट किया जाता है।"

नारदजी ने कहा—"आत्मा द्वारा आदेश कैसे किया जाताहै ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"आत्मारूप में भी वैसे ही उपदेश किया है। जैसे 'वह' और मैं से किया गया। आत्मा रूप में यों कहो-आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही आगे है आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है, यह सब जो भी देखा सुना मनन किया जा सकता है। सब आत्मा ही आत्मा है।"

नारदजी ने पूछा—"जो साधक सब में सर्वत्र आत्मा को

देखता है, उसी का मनन करता है, उसे ही सर्वत्र जानता है, उसकी क्या गति होती है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"सर्वत्र आत्मा को देखने वाला, आत्मा को ही मनन करने वाला, आत्मा को ही जानने वाला जो साधक होता है, वह आत्मरति, आत्मा क्रीड़ा आत्म मिथुन, आत्मानंद होता है। वह स्वराट् होता है। सम्पूर्ण लोकों में सर्वत्र उसकी अव्याहत यथेच्छ गति होती है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आत्मरति किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जिस अन्तःकरण की वृत्ति से रमण किया जाता है, उसे रति कहते हैं-(रम्यते अनया-इति रतिः रति कामदेव की स्त्री का भी नाम है। रति अनुराग का नाम है अनुराग अपने से भिन्न में हुआ करता है, किन्तु जो आत्मा को सर्वत्र देखता है उसे अनुराग करने को किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं होती, वह अपने से अपनी आत्मा में ही अनुराग का अनुभव करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"आत्मक्रीड किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! लोक में जो क्रीडा होती है, वह अन्य उपकरणों के बिना नहीं होती। बच्चे जब क्रीडा करते हैं तो कई मिल जुल कर करते हैं। खेलने को उन्हें गेंद, बल्ला, गुल्ली, डंडा, गुड्डा, गुड़िया, मिट्टी आदि उपकरण चाहिये। किन्तु जो आत्मा को सर्वत्र जानता मानता है, वह बिना किसी उपकरण के ही क्रीड़ा सुख का अनुभव करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"आत्ममिथुन क्या ?"

सूतजी ने कहा—"संसार में जो मैथुन सुख सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, वह दो के बिना संभव नहीं। किन्तु जो आत्मा को सर्वत्र जानता मानता है, वह आत्मा में ही एकाकी मैथुन सुख का

अनुभूति करता है। उसे मिथुन होने के लिये दूसरे की आवश्यकता नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"आत्मानन्द किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"रमण-आनन्दानुभव एकाकी नहीं होता। हम कोई मधुर वस्तु खाते हैं, कहते हैं, इसे खाने से बड़ा आनद आया, इसे सूँघने से आनन्द आया, इसे देखने से आनन्द आया, इस संगीत के सुनने से आनन्द आया, इसके स्पर्श से आनन्द आया। अर्थात् आनन्दोत्पादन के लिये उपकरण चाहिये। किन्तु आत्मा को सर्वत्र देखने वाला अपनी आत्मा में ही आनन्द की अनुभूति करता है।

शौनकजी ने पूछा—"स्वराट् का तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"जो अपनी ही महिमा में सदा प्रकाशित रहता है, जिसे दूसरों की अपेक्षा नहीं (स्वेन राजते=इति=स्वराट्) उसके लिये न कोई विधि रहती है न निषेध। वह विधि निषेध से परे हो जाता है। उसकी सर्वत्र सब लोकों में अप्रतिहत गति हो जाती है। क्योंकि भूमा विराट् में ही सुख है, अल्प में सुख नहीं।"

नारदजी ने पूछा—"जो भूमा को नहीं जानते उनकी क्या गति होती है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"वे स्वराट् नहीं हो सकते। उनके ऊपर शासन करने वाला कोई दूसरा ही होता है। वे अपने से भिन्न किसी दूसरे द्वारा शासित होते रहते हैं। उन्हें अक्षय लोक की प्राप्ति भी संभव नहीं। मरने पर उन्हें क्षयिष्णु लोकों की प्राप्ति होती है, जिनमें से पुण्य क्षीण हो जाने पर ढकेल दिये जाते हैं, फिर फिर पृथ्वी पर जन्म लेते रहते हैं। उनकी गति प्रतिहत होती है स्वेच्छानुसार सभी लोकों में जा नहीं सकते।"

नारदजी ने पूछा—"इस आत्मोपासना का फल क्या है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"आत्मोपासना का फल आत्मा ही है। जैसे पैसा से पैसा पैदा होता है, उस पैसे द्वारा ही समस्त संसारी सुखों के उपकरण प्राप्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार जो आत्मा की उपासना करता है, सर्वत्र एकमात्र आत्मा को ही देखता है, आत्मा का ही मनन करता है आत्मा को ही सर्वत्र जानता है, उसे आत्मा से ही सबकी उपलब्धि हो जाती है। वह आत्मा से ही प्राण, आशा, स्मृति, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाक् नाम, मन्त्र, कर्म और आत्मा से ही यह सब हो जाता है आत्मवेत्ता को अन्य किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं रहती।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! आत्मवेत्ता को शारीरिक दुःख सुख का तो कुछ अनुभव होता ही होगा ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"नारद ! तुम कैसी बात कर रहे हो। इतना कहने पर भी तुमको ज्ञान नहीं हुआ ? अरे, भैया ! भगवती श्रुति कहती है। आत्मवेत्ता आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी को देखता ही नहीं। वह मृत्यु, रोग, दुःखादि किसी को भी नहीं देखता वह तो समस्त चराचर ब्रह्माण्ड में केवल एक मात्र आत्मा को ही देखता है। वह सबको प्राप्त हो जाता है, वह एक-मात्र आत्मस्वरूप तो है ही वही तीनों गुण बन जाता है, वही पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्रायें, पंचभूत बन जाता है, वही प्रकृति, पुरुष और पाँच प्राण मिलकर सात हो जाता है, वह ही पाँच तन्मात्रायें और अन्तःकरण चतुष्टय होकर नौ हो जाता है, वही दश इन्द्रियाँ और एक मन इस प्रकार ग्यारह प्रकार का हो जाता है, वह ही वृत्तियों के रूप में शत सहस्र बन

जाता है। वही पंचभूत दश इन्द्रियाँ तथा पंच प्राण मिलकर चौबीस बन जाता है। कहाँ तक गिनावें। अनेक रूपों में वही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। यह समस्त प्रपञ्च उसी आत्मा का पसारा है।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! आपने स्मृति पर अत्यधिक बल दिया था, सब आत्मा ही आत्मा तो था, आत्मा ही है आत्मा ही रहेगा। जीव आत्मविस्मृत होने से अज्ञानी बन गया है। पूर्वस्मृति जाग्रत होने से निश्चल स्मृति होती है। वह निश्चल स्मृति कैसे हो?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"विशुद्ध अन्तःकरण पर आहार आदि की अशुद्धि के कारण अज्ञान का परदा पड़ गया है। अशुद्ध अन्न खाने से उसके सूक्ष्मांश से मन भी अशुद्ध हो गया है। दूषित अन्न से अन्तःकरण अशुद्ध बन गया है। उस अशुद्ध अन्तःकरण की शुद्धि आहार शुद्धि से—विषय उपलब्धि रूप विज्ञान की शुद्धि से—करनी चाहिये। आहार शुद्धि से जब अन्तःकरण विशुद्ध बन जायगा, तभी जाकर निश्चल स्मृति होगी।"

नारदजी ने पूछा—"निश्चल स्मृति हो जाने पर क्या होता है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"निश्चल स्मृति की प्राप्ति होने पर ये जो हृदय में अज्ञान की ग्रन्थियाँ पड़ गयी हैं, जिनसे अन्तःकरण संशयालु बन गया है, वे सब ग्रन्थियाँ अपने आप खुल जाती हैं। फिर अज्ञान भाग जाता है, सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं। यह स्मृति प्राप्त होने का फल है।"

सनत्कुमारजी ने पूछा—"कहो, नारद! तुम्हारे सब संशय निवृत्त हुए या नहीं?"

नारदजी ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए नम्रता के

"भगवन्! आप की कृपा से मेरे समस्त संशय मिट गये। मैं कृतार्थ हो गया। मैं अज्ञान अन्धकार रूप जो अगाध अपार सागर है, उससे पार हो गया।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! इस प्रकार सनत्कुमार जी के उपदेश से जिन नारदजी की समस्त वासनाएँ नाश हो गयी हैं ऐसे क्षीणवासना वाले नारदजी को सदुपदेश करके भगवान् सनत्कुमारजी ने अज्ञानान्धकार रूप अपार सागर का पार दिखा दिया। अर्थात् उन्हे अज्ञानान्धकार के पार पहुँचाकर ज्ञानालोक को प्राप्त करा दिया।"

इस प्रकार यह मैंने छांदोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में सनत्कुमार नारद सम्वाद आप सबको सुनाया अब अष्टम अध्याय में जैसे दहर ब्रह्म की उपासना बतायी जायगी उसका वर्णन मैं आप से आगे करूँगा।

छप्पय

(१)

भूमा महिमा माहिँ प्रतिष्ठित नहिँ सो महिमा।
हय, गो घर, करि, स्वर्ण दास दारा हू महिमा॥
जग के सकल पदार्थ अन्यमें सबहिँ प्रतिष्ठित।
भूमा है सरवत्र अहता में आदेशित॥
भूमा आत्मा प्राण है, आशा स्मृति आकाश जल।
आत्मा तैं ही तेज है, आविरभावहु अन्न बल॥८

(२)

आत्मा तैं विज्ञान, ध्यान, चित, मन, वाणी सब ।
आत्मा तैं संकल्प नाम कर्मादि मन्त्र सब ॥
आत्म रूप ही लखैं विज्ञ देखैं न मृत्यु रुज ।
एक रूप लखि होहिं बहुत जग की द्विविधा तज ॥
आहार हु की शुद्धि तैं, शुद्ध होहि अन्तःकरन ।
तब इस्मृति हिय ग्रन्थि खुलि, करै आत्म ज्ञानहिं बरन ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में सोलह, सत्रह, अठारह, उन्नीस, बीस, इक्कीस, बाईस, तेईस, चौबीस, पच्चीस तथा छब्बीस खण्ड समाप्त ।
सातवां अध्याय समाप्त ।

छान्दोग्य-उपनिषद् अष्टम अध्याय

दहरपुण्डरीक में-दहर ब्रह्म की उपासना

[१९२]

हरिः ॐ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥*

(छां उ० ८ प्र० १ ख० १ म०)

छप्पय

तन हिय कमलाकार सूक्ष्म आकाश अवस्थित ।
तामें जो यह बसै शिष्य तिहि गुरु तें पूछत ॥
हृदयाकाश महान अग्नि, रवि, शशि तहँ वायू ।
बिजुरी अरु नक्षत्र सबहि जग सो परमायू ॥
सत्य ब्रह्मपुर आतमा, मृत्यु शोक पुन दुख रहित ।
तत् संकल्पहु सकल जग-भोग कामना के सहित ॥

---

* यह जो ब्रह्मपुर—मानवदेह—है इसमें सूक्ष्म कमल की भाँति जो सूक्ष्म आकाशरूप घर है। उस घर के भीतर जो भी कुछ पदार्थ है उसी की खोज करनी चाहिये और उसी की विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये।

बहुत ऊँचे पहाड़ों पर जहाँ हिमपात होता है, वहाँ एक छोटा-सा कस्तूरी मृग होता है। उसकी नाभि में एक गुठली-सी होती है, उसमें कस्तूरी भरी रहती है। उस कस्तूरी की बहुत ही सुन्दर दिव्य सुगन्ध होती है, उस मृग को यह ज्ञान नहीं होता कि कस्तूरी मेरी नाभि में ही अवस्थित है। जब उसकी सुगन्ध उसके नासिका पुटों में जाती है, तो कहाँ से यह सुगन्ध आ रही है, उसे पाने के लिये चारों ओर दौड़ता ही रहता है। जहाँ जाता है वहीं उसे सुगन्ध का भान होता है, वह समझता है यहीं कहीं पास में ही होगी। अतः गन्ध लोलुप वह मृग चक्कर ही लगाता रहता है। कुछ लोगों का कहना तो यहाँ तक है, कि वह कभी बैठता ही ही नहीं। चक्कर लगाते-लगाते जब थक जाता है, तो किसी वृक्ष के सहारे खड़ा होकर कुछ काल विश्राम कर लेता है, फिर वह सुगन्ध पाने को दौड़ता है, किन्तु यह बात सत्य नहीं। प्रत्यक्ष दर्शियों ने बताया है कस्तूरी मृग बैठता है, सोता है, किन्तु वह घूमता अवश्य रहता है।

कस्तूरी मृग के ही सदृश यह पुरुष भी अज्ञानी ही है। सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय देश में वे परब्रह्म परमात्मा बैठे हुए हैं। प्राणी उन्हें अपने हृदय में न देखकर बद्रीनाथ, केदारनाथ, जगन्नाथ, रामेश्वरनाथ तथा द्वारका आदि दूर देशों में भटकता फिरता है। ईश्वर तो हमारे हृदयकमल की कर्णिका के एक छोटे से छिद्र में बैठे हुए हैं। उस पुरी में आनन्द पूर्वक सोते हुए, सोते-सोते ही इन शरीर रूप पुर की विमान की चाभी घुमाते रहते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से प्राणी समस्त कार्यों को करता है। उस हृदयकमल के दहर में–सूक्ष्म स्थान में–जो देव बैठे हुए हैं उन्हीं का अन्वेषण करना चाहिये। जो लोग श्रद्धा संयम द्वारा गुरु वाक्यों पर विश्वास करके उस हृदय के कमलाकार सूक्ष्म

में रहने वाल देव को जान लेते हैं, वे जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा के लिये छूट जाते है, जो उन्हें नहीं जान पाते वे बार-बार जन्मते और मरते रहते हैं। अतः उसी हृदयस्थ देव का अन्वेषण करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सप्तम अध्याय में भूमा पुरुष की महिमा कही, अब इस अष्टम अध्याय में दहर विद्या बतलाने के निमित्त भगवती श्रुति दहरोपासना का आरम्भ करती है।"

शौनकजी ने पूछा—"दहर क्या है सूतजी!"

सूतजी ने कहा—"दहर का अर्थ है सूक्ष्म सुषुम्ना नाड़ी में षट् स्थानों में-गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कण्ठ और भ्रूमध्य में-षट कमल बताये हैं उसमें जो हृदय स्थान में कमल है उसमें भगवान् बैठे रहते हैं। वहीं जीव का भी बास बताया गया है। उस सूक्ष्माति सूक्ष्म स्थान में आकाश के सदृश ब्रह्म विराजमान हैं। अब उसी दहर ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा जायगा।"

भगवती श्रुति कहती है—"यह जो नव द्वार वाला मानव शरीर है, जिसमें ब्रह्म निवास करता है इसे ब्रह्म पुरी कहा गया है। इस ब्रह्म पुरी के भीतर एक हृदय प्रदेश है। वह स्थान पुंडरीक-लाल कमल-के सदृश है। वह अत्यन्त ही सूक्ष्म दहर-गुफा है। उसमें परम सूक्ष्म आकाश है उसके भीतर कोई एक विलक्षण वस्तु है, उसी वस्तु का अन्वेषण करना चाहिये, वह वस्तु क्या है उसी की खोज करनी चाहिये और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुओं के समीप जाकर उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसे जिज्ञासा करें?"

सूतजी ने कहा—"शिष्यों को श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ गुरु के निकट जाकर नम्रता से पूछना-चाहिये—भगवन्! इस मानव शरीर रूप ब्रह्मपुर में जो हृदय प्रदेश है उस प्रदेश के अति सूक्ष्म

कमलाकार गृह में जो अन्तराकाश है, उसके भीतर कौन-सी वस्तु है। श्रुति का कहना है उसी ही वस्तु की खोज करनी चाहिये और उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये। कृपया उसी का हमें उपदेश दें।"

जब जिज्ञासु सुयोग्य अधिकारी शिष्य प्रपन्न होकर आचार्य की शरण में आकर यह प्रश्न करें, तब कृपालु आचार्य को उन्हें इस प्रकार उत्तर देना चाहिये।

गुरु कहें—"देखो, बच्चो! तुम जो बाह्य आकाश देख रहे हो, वह कितना बड़ा है?"

शिष्यों ने कहा—"आकाश की कोई सीमा नहीं। यह तो निस्सीम है।"

इस पर गुरु पूछें—"इस आकाश में तुम क्या-क्या देखते हो?"

शिष्य कहें—"भगवन्! आकाश में द्युलोक अर्थात् स्वर्गलोक से लेकर पृथ्वीलोक पर्यन्त सभी लोक अवस्थित हैं। इसी आकाश के अन्तर्गत अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, नक्षत्र सभी अवस्थित हैं। कहाँ तक नाम गिनावें, आत्मा का जो भी कुछ इस लोक में है और जो नहीं भी है वह सब इसी में स्थित है।"

इस पर गुरु कहें—"तो देखो, शिष्यगण! जितना बड़ा यह भौतिक आकाश है उतना ही बड़ा हृदयान्तर्गत आकाश है। जो आकाश में वस्तुएँ स्थित हैं, वे ही सब हृदयान्तर्गत आकाश में भी स्थित हैं। जो पिण्ड में है वही सब ब्रह्माण्ड में भी है।"

इस पर शिष्यों को शीघ्र ही यह शंका करनी चाहिये, कि यह शरीर ब्रह्मपुर है, और इसके भीतर हृदयाकाश में पृथ्वीलोक—स्वर्गलोक, सूर्य-चन्द्र, विद्युत्—नक्षत्रादि समस्त पदार्थ स्थित हैं, सम्पूर्ण भूत तथा समस्त कामनायें भी इसमें स्थित हैं, तो जिस

समय यह शरीर वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उस समय ये सब वस्तुएँ कहाँ चली जाती हैं। ये सब भी शरीर के साथ नष्ट हो जाती हैं, अथवा किसी अन्य स्थान में सुरक्षित रह जाती हैं ?"

इसका आचार्य को यों उत्तर देना चाहिये—"देखो, भाई! शरीर के जीर्ण होने पर अथवा मृतक होने पर हृदय प्रदेश में अवस्थित आकाशस्थ परब्रह्म परमात्मा जीर्ण अथवा मृतक नहीं होता। जिस दहर में यह पुरुष शयन करता है, वह सत्य है निर्विकार है इस ब्रह्म के ही पुर में—दहराकाश में संसार भर की समस्त कामनायें सम्यक् प्रकार से अवस्थित हैं। ऐसी कोई भी कामनायें नहीं हैं, जो वहाँ उपस्थित न हों। वह ही आत्मा है। उस समरस निर्द्वंद्व आत्मा में धर्म-अधर्म, जरा-मृत्यु, शोक-मोह, बुभुक्षा-पिपासा ये जो प्राकृत हेय गुण हैं, उनसे रहित है। वह हृदय दहर स्थित परमात्मा सत्यकाम है। अर्थात् वह जो-जो कामनायें करता है, वे सभी कामनायें सत्य हो जाती हैं। जितने भोग्य पदार्थ हैं, जितने भोग के उपकरण हैं, तथा जितने भोग के स्थान हैं, वे सब उसी में सन्निहित हैं। वह सत्य सकल्प है। संसारी लोगों के संकल्प तो प्रायः व्यर्थ ही हो जाते हैं, किन्तु उसका सकल्प अमोघ है जो संकल्प करता है, वह तत्काल सिद्ध हो जाता है। इसलिये उस ब्रह्मपुरवासी सत्य स्वरूप प्राकृत गुणों से रहित, सत्यकाम, सत्य संकल्प परमात्मा की ही जिज्ञासा करनी चाहिये। क्यों करनी चाहिये ? इसलिये कि कर्म साध्य जो पुण्य लोक हैं, उनमें स्वतन्त्रता नहीं परतन्त्रता है। किस प्रकार परतन्त्रता है ? इस पर दृष्टान्त सुनो।"

एक देश का कोई राजा है, उसके राज्य के जितने भी प्रजा जन हैं, राजा की आज्ञा के अनुसार ही अनुवर्तन करते हैं। राजा

की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता। उसे जो भी फल प्राप्त करना हो, जिस भू खंड में भी जाकर आजीविका उपार्जन करनी हो, उसके लिये उन्हे राजा की अनुमति लेनी पड़ती है। राजा की ही कृपा से उसी की आज्ञानुसार उन्हे इच्छित प्रान्त में आजीविकार्थ वृत्ति चलानी पड़ती है, क्योंकि प्रजा स्वतन्त्र नहीं राजा के अधीन है। जो लोक कर्म द्वारा प्राप्त होंगे, उनका कभी न कभी-पुण्य क्षीण होने पर नाश हो ही जायगा। क्योंकि लोक जैसे प्रजा के अधीन है वैसे ही वे कर्मों के अधीन हैं। पुण्य क्षीण हुए कि फिर वे मर्त्यलोक मे धकेल दिये जाते हैं।

इसका अभिप्राय इतना ही है, कि कर्मों द्वारा प्राप्त लोक क्षयिष्णु हैं, वे पुण्य के ऊपर निर्भर करते हैं। जिन्होंने अविनाशी, नित्य परिपूर्ण परमात्मा का ज्ञान इसी लोक में प्राप्तकर लिया है, वे सर्वथा स्वतन्त्र हो जाते हैं, कर्म फलों से विमुक्त हो जाते है। वे ऐसे अविनाशी अक्षयिष्णु लोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ से कभी लौटना नहीं पडता। जिन्होंने सत्य स्वरूप उन परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वे इन सत्य कामनायुक्त परमात्मा को बिना जाने ही परलोकगामी हो जाते हैं, उनकी गति सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ नहीं होती। यह नहीं कि वे जहाँ चाहें, जिस लोक में चाहें इच्छानुसार चले जायँ, क्योंकि वे अनात्म ज्ञानी तो स्वतन्त्र नहीं, कर्मों के अधीन हैं।

इसके विपरीत जिन्होंने इसीलोक में उपासना द्वारा सत्य का साक्षात्कार कर लिया है। जिन्होंने आत्मा को तथा सत्य काम सत्य सकल्प परब्रह्म परमात्मा को जान लिया है और फिर वे परलोक को प्राप्त होते हैं, तो अपनी इच्छानुसार जिन लोकों में भी जाना चाहें उन्हीं लोकों में स्वेच्छा पूर्वक जा सकते हैं।

उनकी समस्त लोकों में स्वच्छन्द गति–यथेच्छ गति–हो जाती है।

जिन्होंने उस दहर ब्रह्म की–जो हृदय कमल के भीतर अवस्थित है उसकी उपासना की है, यद्यपि वह समस्त कामनाओं से विमुक्त बन जाता है। तथापि पूर्व जन्म की कोई कामना अवशेष भी रह गयी हो, तो इच्छा करते ही उस कामना की पूर्ति हो जाती है। उसके मन में कदाचित पितृलोक जाने की कामना उत्पन्न हो जाती है, तो उसे पितृलोक जाना नहीं पडता, उसके सकल्प करते ही पितृगण वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस पितृलोक से सम्पन्न होकर वह महिमान्वित होता है। अपने पितरों से उसका आत्म सम्बन्धित्व हो जाता है।

इसी प्रकार उसके मन में कदाचित अपनी माताओं के लोक की कामना उत्पन्न हो जाती है तो उसकी मातायें वहीं आकर उपस्थित हो जाती है। वह अपनी माताओं से आत्म सम्बन्धित्व को प्राप्त हो जाता है, वह मातृलोक से सम्बन्धित होने से उसकी महिमा को प्राप्त हो जाता है। इसी भाँति मातृलोक की कामना होने पर मातृगण, सखा लोक की कामना होने पर सखागण उसके सकल्प मात्र से वहाँ आकर उपस्थित हो जाते हैं और उन-उन लोकों से सम्पन्न होकर उनकी महिमा को प्राप्त होता है।

यदि उनके मन में ऐसी इच्छा कभी उठ आवे कि मुझे अच्छे अच्छे सुगन्धित पदार्थ प्राप्त हों, सुन्दर सुगन्धित मालायें मिल जायँ, सुगन्ध वाले लोक प्राप्त हों तो उसे कहीं अन्यत्र जाना नहीं पडता उसके सकल्प मात्र से ही गन्ध माल्यादि वहीं उपस्थित हो जाते हैं वह उन लोकों की विभूति से सम्पन्न होकर उनकी महिमा को प्राप्त होता है।

इसी भाँति उसे कभी सुस्वादु अन्न की दिव्यपान सम्बन्धी कामना हो जाती है तो उसके संकल्प मात्र से ही संकलिपत अन्न पान उनके समीप स्वयं ही आकर समुपस्थित हो जाते हैं, उस अन्नपान लोक से सम्पन्न होकर उसकी महिमा को प्राप्त होता है। इसी प्रकार गीत वाद्य सम्बन्धी कामना होने पर, स्त्री लोक की कामना होने पर उसके सकल्प मात्र से ही वे सब वहाँ उपस्थित हो जाते हैं और तत्तदलोक से सम्पन्न होकर वह महिमान्वित हो जाता है।

कहाँ तक कहें, वह सत्य काम साधक जिस जिस प्रदेश की कामना करता है जिस जिस भोग की कामना करता वह सभी उससे सकल्प करने मात्र से ही जहाँ भी वह स्थित रहता है वहीं उसे वे सभी वस्तुएँ, वे सब पदार्थ, वे सब लोक प्राप्त हो जाते हैं और उनसे सम्पन्न होकर वह उस महिमा को प्राप्त होता है।

सत्यकाम जो परब्रह्म परमात्मा हैं, वे सबको दिखायी क्यों नहीं देते ? इसलिये दिखायी नहीं देते कि हिरण्मय पात्र से वे ढके हुए हैं। हिरण्मयपात्र क्या ? अनृत–असत्य–का जो आच्छादन ढकना–है उसे ही हिरण्मय पात्र कहते हैं। उस अनृत के आच्छादन से सत्य होने पर भी प्राणी उसे देख नहीं सकते क्योंकि अनृत ने–मिथ्या ने–उसका अपिधान कर रखा है उस सत्य को छिपा रखा है।

अब देखो, अपने सेकड़ों सगे सम्बन्धी मर-मरकर परलोक को जाते हैं। लोग चाहते हैं हमारा मरा हुआ पिता, भाई सगा सम्बन्धी हमें पुनः देखने को मिल जाय, किन्तु वह देखने को नहीं मिलता है। किन्तु हमारे समस्त सगे सम्बन्धी और सब कुछ चाहे वे जीवित हों, अथवा मर गये हों, वे सब के सब

हृदयाकाश स्थित ब्रह्म में स्थित हैं, आत्मवेत्ता इच्छा करने पर अपने हृदय प्रदेश में चाहे तो उनको प्राप्त कर लेता है।

अब प्रश्न यह है, कि जब वे सब हृदय में ही स्थित हैं प्राणियों को अपने मृतक सम्बन्धी यहाँ दिखायी क्यों नहीं देते, वे हृदयाकाश स्थित दहर में विद्यमान हैं ही। इस पर कहते हैं, प्राणियों को हृदय में विद्यमान रहते हुए भी दीखें कैसे ? क्योंकि यहाँ पर तो ये समस्त काम अनृत से ढके हुए हैं। जो वस्तु किसी से ढकी हुई है, वह विद्यमान रहते हुए भी उससे अनभिज्ञ पुरुषों को दिखायी नहीं देती। इस विषय को इस दृष्टान्त से समझिये।

एक कोई धनी व्यक्ति है। उसके बहुत से पुत्र हैं। और सब तो अयोग्य हैं, उनमें एक पुत्र योग्य है। धनिक अपने सम्पूर्ण धन को योग्य पुत्र को ही देना चाहता है। उसने अपना समस्त सुवर्णादि धन एक गड्ढे में भरकर ऊपर पत्थर रखकर उसे भली प्रकार ढक दिया है। उस पर घास जम गयी है। सभी व्यक्ति उसी धन के ऊपर से नित्य ही आते जाते रहते हैं, अनेकों बार उसके ऊपर-ऊपर विचरते रहते हैं, किन्तु वे जानते नहीं, भीतर विपुल धन राशि छिपी है। जिसे उस धनिक ने जता दिया है, केवल वही इस रहस्य को जानता है। दूसरे लोग उसे रहते हुए भी नहीं जान सकते नित्य प्रति उसके समीप उसके ऊपर जाते हुए भी उससे अनभिज्ञ ही बने रहते हैं।

इसी प्रकार समस्त प्रजाजन नित्य ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, नित्य ही ब्रह्मलोक जाते हैं, किन्तु उस सत्यकाम परब्रह्म से अनभिज्ञ रहते हैं।

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! यह बात हमारी समझ में नहीं आई। ब्रह्मलोक को नित्य प्राणी कैसे जाते है और वहाँ जाकर भी सत्य काम परब्रह्म से अनभिज्ञ बने रहते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! सत्यकाम परब्रह्म सुख स्वरूप परमात्मा की यही परिभाषा है कि जहाँ शोक, मोह, दुःख, भूख, प्यास आदि कुछ न हों। जब प्राणी प्रगाढ निद्रा में शयन करता है तब उसके शोक मोह दुःख भूख प्यास सभी समाप्त हो जाते हैं। सुषुप्ति अवस्था में प्राणी नित्य ही ब्रह्म सुख का अनुभव करता है, उसके पास तक पहुँचता है किन्तु अज्ञान सहित लीन होता है। ब्रह्म उस अज्ञान रूप अनृत से आच्छादित होने के कारण उसके समीप पहुँचने पर भी उससे साक्षात्कार नहीं होता। समस्त प्रजाजन उस नित्य ब्रह्म सुख के समीप जाने पर उसके दर्शनों से वंचित रह जाते हैं।

वह परब्रह्म परमात्मा किसी दूर देश में नहीं, वह तो हृदय में ही विद्यमान है। यह हृद् में ही आत्मा है, इसलिये इसकी 'हृदय' संज्ञा भी है (हृदि-अयम्=हृदय) यही इसकी व्युत्पत्ति है। जो इस रहस्य को जानता है, वह मानों प्रतिदिन स्वर्ग को जाता है। इसी हृदय दहर मध्य स्थित आत्मा का सत्य भी नाम है।

इस लोक में रहता हुआ भी ज्ञानी सत्य अनुभव तो करता है, किन्तु उस जीवन्मुक्त पुरुष के लिये भी शरीर एक उपाधि ही है। अशरीरता ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है अतः जो यह ज्ञान सम्यक् प्रकार से प्रमाद गुणयुक्त होकर शरीर का परित्याग करके अर्थात् शरीर से उत्थान करके परम ज्योति जो ब्रह्म स्वरूप उसी को प्राप्त करके अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही आत्मा अमृत है, यही अभय पद है, यही ब्रह्म है, यही भूमा है और इसी को सत्य भी कहते हैं।

इसे 'सत्य' क्यों कहते हैं? सत्यं में सकार, तकार 'यम्' ये तीन अक्षर हैं। सकार का अर्थ है वह अमृत है। तकार का

अर्थ मर्त्य है, जड़ कहो प्रकृति कहो। इन अमृत और मर्त्य दोनो का नियामक है, दोनों को जो चलाने वाला है, वही 'यम्' है, वह दोनो का नियमन करता है। अर्थात जो मर्त्य अमर्त्य सभी का नियामक है, सचालक है, नेता है, प्रधान है, वही ब्रह्म सत्य स्वरूप है। जो इस रहस्य को जानता है, इसके मर्म को पहिचानता है, वह जानने पहिचानने वाला नित्य प्रति स्वर्ग को जाता है। अर्थात् वह सुख स्वरूप ही हो जाता है।

आत्मा ही महामहिम है, इन समस्त लोकों में सकरता न आ जाय, परस्पर में इन लोकों में सघर्ष न हो जाय, इनमें सम्भेद न पड जाय, इसके लिये आत्मा सेतु के समान है, यह एक लोक से दूसरे लोक में जाने का मानों पुल है। इस सेतु के कारण सभी अपनी-अपनी मर्यादा में बने रहते हैं। दिन तथा रात्रि इस सेतु का अतिक्रमण नहीं करते। यह सेतु ऐसा सुदृढ है कि यह कभी पुराना नहीं पड़ता, जरा इसका स्पर्श नहीं कर सकती। मृत्यु इसके पास भी नहीं फटक सकती, शोक इसके समीप भी नहीं आ सकता, सुकृत या दुष्कृत इसे छू भी नहीं सकते। सम्पूर्ण पाप इसके पास निवृत्त हो जाते हैं, यह सेतु ब्रह्म लोक स्वरूप है पापों से सर्वथा रहित है। इसलिये सेतु को कोई अन्धा भी पार जाय तो वह अन्धा नहीं रहता। अर्थात् कोई अज्ञानी साधक भी साधना करते करते इस सेतु से पार हो जाता है, तो उसका अज्ञान नष्ट होकर ज्ञानी बन जाता है। कोई आयुध से विद्ध हुआ है, घायल है, वह भी इस सेतु को पार कर जाय, तो दिव्य देह वाला अविद्ध हो जाता है। अर्थात् जो पाप से विद्ध भी इस ओर बढ़ता है तो निष्पाप निष्कल्मष-बन जाता है। कोई ज्वरादि ग्रस्त उपतापी रोगी होने पर भी इसे पार कर जाता है, तो वह निरोग-अनुताप रहित बन जाता है।

इस सेतु को अन्धकार रूप रात्रि में भी पार करे तो फिर रात्रि न रहकर प्रकाशमय दिन बन जाता है। अर्थात् अज्ञानान्धकार में पड़ा साधक इस सेतु को तरता है तो उसके लिये सदा ज्ञान रूप प्रकाश प्राप्त हो जाता है।

यह ब्रह्मलोक रूप सेतु किनको प्राप्त होता है? जो शास्त्रीय एवं गुरु परम्परा प्राप्त ज्ञान के अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा इसके प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हीं साधकों को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति सम्भव है जो ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा इसे प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे उपासकों की सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ गति हो जाती है, वे जिस भी लोक में जाना चाहें उसमें बिना किसी रोक टोक के स्वतन्त्रता पूर्वक जा सकते हैं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सप्तम धातु वीर्य की रक्षा मात्र ही नहीं है। ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान, तप, वेदान्तार्थ का जो आचरण है उसी का नाम ब्रह्मचर्य है। (ब्रह्म=वेदार्थ ज्ञान तपं वा चर्य—आचरणीयम्—इति ब्रह्मचर्य्यम्) इसमें यज्ञ, इष्ट, सत्रायण, मौन, अनाशकायन, अरण्यायन ये सब ब्रह्मचर्य के ही अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचर्य्य के ही दूसरे नाम हैं।

शौनकजी ने पूछा—"यज्ञ तो हवनीय सामग्रियों को अग्नि में स्वाहा पूर्वक हवन करने को कहते हैं जैसे पाक यज्ञ हविर्यज्ञादि अनेक यज्ञ हैं। ब्रह्मचर्य तो उसका नाम है जो स्त्रियों में भोग बुद्धि न करके उनका दर्शन स्पर्शादि न करना स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय, क्रिया निवृत्ति—अर्थात् धातु पतन—ये आठ प्रकार के मैथुन कहे गये हैं। इन से बचे रहने का नाम ब्रह्मचर्य है। जब ये दो भिन्न-भिन्न व्रत हैं तो आप यज्ञ को ब्रह्मचर्य क्यों बताते हैं?

सूतजी ने कहा—"आपने जो यज्ञ तथा ब्रह्मचर्य का अर्थ

बताया। यह तो यथार्थ अर्थ है ही। किन्तु यहाँ भगवती श्रुति दोनों को समान अर्थ में लेती है। उसका कहना है लोक में जिन्हें पाक यज्ञ हविर्यज्ञादि पुरुषार्थ साधन क्रिया कहते हैं, वह यज्ञ भी ब्रह्मचर्य ही है जो इस रहस्य का ज्ञाता है वह ब्रह्मचर्य द्वारा ही उस ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, जहाँ पर साधक की यथेच्छ गति हो जाती है। अतः यज्ञ भी ब्रह्मचर्य का वाचक है। ब्रह्मचर्य्य पुरः सर यज्ञ ही ब्रह्म प्राप्त कराता है।"

शौनकजी ने पूछा—"परमार्थ साधन भूत यज्ञ को ब्रह्मचर्य कहते हैं, यह उपयुक्त ही है। किन्तु इष्ट तो अग्निहोत्र, तप, सत्य वेदों का स्वाध्याय, अतिथि सत्कार और बलि वैश्वदेव इन ६ कर्मों को कहते हैं। आप इष्ट को ब्रह्मचर्य कैसे बताते हैं।'

सूतजी ने कहा—"इन ६ कर्मों का नाम तो इष्ट है ही। किन्तु भगवती श्रुति इस इष्ट का भी समावेश ब्रह्मचर्य में ही करते हुए कहती है—इष्ट का अर्थ परमात्मा का पूजन है, जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके उसके द्वारा उन परमात्मा का पूजन करते हैं, वे ही पुरुष परमात्मा को प्राप्त होते हैं। अतः इष्ट भी ब्रह्मचर्य ही है।"

शौनकजी ने कहा—"सत्त्रायण तो यज्ञ विशेष का नाम है, जिसमें यथेच्छ अन्न गौ आदि दक्षिणा सहित दिया जाता है। (सत्—जीवात्मा तस्य त्रायणम्—रक्षणम्—इति सत्त्रायणम्) जीव की रक्षा अन्न से ही होती है। अन्न बहुल यज्ञ का नाम सत्त्रायण है, फिर आप ब्रह्मचर्य को सत्त्रायण कैसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"सत्त्रायण का जो अर्थ बताया, सो तो यथार्थ है ही, आत्मा की जिससे सतत रक्षा हो उसका नाम सत्त्रायण है। वास्तव में देखा जाय तो ब्रह्मचर्य से ही आत्मा

की सतत रक्षा होती है। बिन्दुपात को ही मरण कहा है और बिन्दु-ब्रह्मचर्य को धारण करना ही जीवन है। इसीलिये ब्रह्मचर्य को सत्त्रायण कहा गया।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मौन तो मुनि भाव को वाणी संयम को कहते हैं। (मुनेर्भावइति—मौनम्) अर्थात् वाणी द्वारा शब्दों का प्रयोग न करे, भाषण न करे, चुपचाप रहे। फिर आप ब्रह्मचर्य को मौन क्यों कहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"मौन का जो अर्थ आपने बताया सो तो यथार्थ है ही, किन्तु भगवती श्रुति यहाँ कहती है। मननशील का ही नाम मौन है। ब्रह्मचर्य साधन से युक्त होकर ही साधक सम्यक प्रकार से मनन कर सकता है। मनन तो तभी हो सकेगा जब शास्त्रों द्वारा सद्गुरु द्वारा आत्मा का ज्ञान हो। जब ज्ञान होगा तभी ध्यान मनन कर सकेगा। ब्रह्मचर्य के बिना मनन ध्यान व्यर्थ है अतः यथार्थ मौन ब्रह्मचर्य है। ऐसा श्रुति का कथन है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अनाशकायन तो उसे कहते हैं, बिना खाये उपवास करके तप करना। अथवा नाशकायन—विनाशशील न हो अविनाशी हो—विनाश को प्राप्त न हो, फिर आप ब्रह्मचर्य को अनाशकायन क्यों कहते हैं?"

इस पर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! श्रुति का तात्पर्य है। अनाशकायन वास्तव में आत्मा है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता। उस आत्मा को साधक ब्रह्मचर्य द्वारा ही प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी का ही आत्मा नष्ट नहीं होता अतः ब्रह्मचर्य का ही नाम अनाशकायन है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अरण्यायन तो अरण्यवास (वानप्रस्थ) को कहते हैं। आप उसे ब्रह्मचर्य कैसे बता रहे हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवती श्रुति अरण्यायन का दूसरा ही अर्थ बताती है। उसका कथन है अरण्यायन में अर, एय और अयन ये तीन शब्द हैं। ब्रह्मलोक में अर (कर्मकांड) एय (ज्ञानकांड) नाम के दो समुद्र हैं। तीसरे द्युलोक में ऐरंमदीय नामका सरोवर है। एक अश्वत्थ का वहाँ वृक्ष भी है जिसका नाम सोमसदन है। वहाँ पर ब्रह्माजी की एक पुरी है जिसका नाम अपराजिता है। अर्थात् उस पुरी को कोई भी पराजित करने में समर्थ नहीं। वहाँ प्रभु का विशेष रूप से निर्माण किया हुआ एक दिव्य सुवर्ण मंडप है।

उस ब्रह्मलोक में सभी की पहुँच नहीं है। सभी उसमें प्रवेश नहीं कर सकते। जो लोग अखंड ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा अर (कर्मकांड) नाम वाले दोनों अगाध अपार समुद्रों को पार करके वहाँ पहुँचते हैं, उन्हीं को उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है। जो वहाँ पहुँच जाते हैं, इन दोनों समुद्रों को पार करके उनकी वहाँ पहुँच हो जाती है उनकी अव्याहत गति हो जाती है, वे सम्पूर्ण लोकों में जहाँ चाहे तहाँ जा सकते हैं। समस्त लोकों में उनकी यथेच्छा स्वेच्छा गति हो जाती है। यह सब होता है ब्रह्मचर्य द्वारा, इसीलिये अरण्यायन ब्रह्मचर्य का नाम है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस छांदोग्य उपनिषद् में ब्रह्मलोक का यह तो बड़ा ही सजीव विषयोत्पादक वर्णन है। ऐसा तो हमने अभी तक नहीं सुना।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इसी से मिलता जुलता वर्णन कौषीतकि ब्राह्मण में भी है। वहाँ बताया गया है कि इस ब्रह्मलोक में 'आर' नाम वाला एक ह्रद है। मुहूर्ता नाम की वेष्टिहा है। विरजा नाम वाली नदी है। तिल्य नाम का वृक्ष है। सायुज्य नाम का संस्थान है। अपराजित नाम का आयतन स्थान है।"

इन्द्र और प्रजापति ब्रह्मा ये दोनों उस पुरी के द्वार रक्षक द्वार-पाल हैं। विभु प्रभु-द्वारा प्रमित-निर्मित-एक दिव्य मडप है। उस मडप के मध्य भाग में विचक्षणा नाम की वेदी है। उस वेदी पर एक 'अमितौजा' जिसके तेज, कान्ति, प्रभा, ज्योति की कोई सीमा नहीं ऐसा एक पर्यङ्क पलङ्ग अथवा मणिमय दिव्य सिंहासन है। इस प्रकार साकार उपासकों के लिये इस दिव्य लोक का वर्णन किया गया है। इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य ही यजन करने के कारण यज्ञ है, एषणाओं के क्षय करने के कारण इष्ट है, सत् स्वरूप ब्रह्म की रक्षा करने के कारण सत्त्रायण है, मनन करने के कारण मौन है, कभी नष्ट न होने के कारण अनाशकायन है और अर तथा एय इन दो समुद्रों को पार कराने के कारण अरण्यायन है उस ब्रह्मचर्य के ही द्वारा अव्याहत गति वाले ब्रह्म-लोक की प्राप्ति हो सकती है। उसी के द्वारा दहर ब्रह्म का परिज्ञान सभव है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हृदय प्रदेश में स्थित जो पुण्डरीक है, उसमें जो सूक्ष्म दहर है उसकी उपासना ब्रह्मचर्यादि साधनों द्वारा की जाती है, उस उपासक की गति ब्रह्मलोक में कैसे होती है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! शरीर के भीतर नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है, इन नाडियों में सौ नाडियाँ प्रधान है वैसे ७२ करोड नाडियाँ बतायी हैं। सौ नाडियों से प्रत्येक में से ७२-७२ लाख नाडियाँ निकली हैं, इस प्रकार सभी मिलाकर ७२ करोड नाडियाँ हैं। यद्यपि हृदय प्रदेश से १०० नाडियाँ निकल कर मूलाधार तक आई हैं फिर उनमें से छोटी-छोटी नाडियाँ निकल कर सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त हो गई हैं। उन सौ में भी १० नाडी प्रधान हैं। इनके नाम हैं (१) इडा, (२) पिंगला, (३) सुषुम्ना,

(४) गान्धारी, (५) हस्तिजिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) अलम्बुसा, (९) कुहू और (१०) शङ्खिनी हैं। सम्पूर्ण शरीर में ये ही दश प्राणों को पहुंचाने वाली प्राण धारण करने वाली हैं। इनमें बायीं नासिका में इडा नाड़ी है। और दायीं में पिंगला है। इन दोनों के मध्य में सर्वप्रधान सुषुम्ना नाड़ी है। पीठ के पीछे जो रीढ़ की हड्डी की एक के ऊपर एक रक्खी हुई कसेरुकायें हैं उनके बीच में एक नाली सी बन गयी है, उसे ब्रह्म नाल कहते हैं, ये कसेरुकायें सिर से लेकर गुदा तक है, यह कुछ वंक-टेढ़ी है। इसलिये इसका नाम वंकनाल भी है। इस वंकनाल में सुषुम्ना मूर्न्धा से चलकर गुदा के मूलाधार चक्र में जो शिवलिंग है, उसकी साढ़े तीन वलय लगाकर अपनी पूँछ को मुख में दबाकर प्रसुप्त हुई पड़ी रहती है। कुण्डलाकार सोती रहने से इसे कुण्डलिनी भी कहते हैं। जब तक यह सोई रहती है, तभी तक जीव अज्ञान अन्धकार में पड़ा रहता है। जब शास्त्रीय साधनों द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत होकर उलटी ऊपर को चढ़ती है। गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कंठ और भ्रू मध्य के ६ कमलों को बेधती हुई सहस्र दल कमल में पहुँच जाती है, तभी जीव को ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है, फिर उसे ब्रह्मांड में कुछ भी अज्ञेय नहीं रहता। वह सर्वदर्शी हो जाता है। इसलिये यह तीसरी सुषुम्ना नाडी सर्व प्रधान है।

चौथी बायें नेत्र में गांधारी नाड़ी रहती है पाँचवीं दक्षिण नेत्र में रहती है। उसका नाम हस्तिजिह्वा है। छटी दक्षिण कान में रहती है उसे पूषा नाड़ी कहते हैं। सातवीं बायें कान में रहती है उसका नाम यशस्विनी है। आठवीं मुख में रहती है जो अलंबुसा के नाम से विख्यात है। नववीं नाड़ी लिंग प्रदेश में रहती है।

जिसका नाम कुहू है और दशवाँ गुदा मार्ग में स्थित है जो शंखिनी कहाती है। ये ही दश प्रधान नाड़ी है।

शरीर में ९ छिद्र हैं, इन नौओं छिद्रों में नौ नाड़ियाँ रहती हैं। एक दशवाँ छिद्र तालु में है। जन्म जात छोटे बच्चे के तालु में वह द्वार लुप्प-लुप्प करते हुए प्रत्यक्ष अनुभव होता है, बच्चा ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, त्यों-त्यों वह दशम द्वार कड़ा होते-होते बन्द हो जाता है। मरते समय प्राण इन नौ द्वारों में से किसी एक द्वार द्वारा निकल जाता है। नीचे के गुदा लिंगों द्वारा प्राण निकलने से अधोगति होती है ऊपर के द्वारों से निकलने से ऊर्ध्व गति किन्तु इन नौ द्वारों से प्राण निकलने वालों का पुनर्जन्म होता है। यदि भाग्यवश सुषुम्ना का द्वार विशुद्ध बन जाय, और कुण्डलिनी शक्ति गुदा से चलकर सहस्र दल कमल में मूर्धा में आ जाय और दशम द्वार को फोड़कर प्राण निकलें तो फिर जीव का जन्म नहीं होता। वह जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है। त्रिकालज्ञ ऋषियों ने इन नाड़ियों का ज्ञान द्वारा समाधि में साक्षात्कार किया है। इनकी गति को रङ्ग रूप को प्रत्यक्ष देखा है। उसी का संक्षेप में श्रुति वर्णन करती है।

ये जो हृदय की नाड़ियाँ हैं इनमें रस प्रवाहित होता रहता है, इन नाड़ियों का सीधा सम्बन्ध सूर्य से हैं, इन हृदयस्थ नाड़ियों में प्रवाहित होने वाला रस पिंगल, शुक्ल, नील पीत और लोहित लाल वर्ण का होता है। इनके पाँच ही वर्ण होते हैं। एक तिकोने शीशे में सूर्य की ओर देखो, तो उसमें सूर्य के पिंगल, शुक्ल, नील, पीत और लाल ये पाँच वर्ण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। सूर्य में जो पाँच वर्ण हैं, वे ही पाँचों वर्ण हृदयस्थ नाड़ियों में हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! सूर्य में तो पाँच वर्ण प्रत्यक्ष दीखते हैं, किन्तु हृदयस्थ नाडियों में ये रङ्ग कैसे हो जाते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन ! सूर्य के तेज द्वारा ही तो समस्त प्राणी जीते हैं। तेज वायु द्वारा तेज की वृद्धि है, तेज से जल और जल से पृथ्वी होती है। यह पार्थिव शरीर वायु, तेज और जल द्वारा ही जीवित रहता है अन्न तो पार्थिव है ही। अन्न से रस बनता है, जल से कफ बनता है, वायु शरीर में जाकर वात हो जाती है। तेज अथवा अग्नि ही पित्त शरीर मे जाकर पित्त का रूप रख लेती है। वात, पित्त और कफ ये ही तीन गुण शरीर को टिकाये रहते हैं, ये जब कुपित होते हैं, तो इन्हीं की त्रिदोष संज्ञा हो जाती है। नाडियों में भ्रमण करने वाला रस वात, पित्त और कफ के रंग से रजित होने के कारण जिस-जिस नाडी में संचार करता है उस-उस नाडी को अपने ही रङ्ग में रङ्ग लेता है। जैसे पित्त का वर्ण पीला है, कफ का वर्ण शुक्ल है और वायु का वर्ण काला है ये जो हृदय की नाडियाँ हैं वे पिंगल वर्ण सूक्ष्म रस की हैं। कुछ शुक्ल, नील, पीत और लोहित–लाल–वर्ण की हैं। क्योंकि सूर्य में पिंगल, शुक्ल, नील, पीत और लाल वर्ण विद्यमान हैं। हृदय की नाडियों का और सूर्य की किरणों का परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ये किरणें पुरुष की नाडियों में और आदित्य मंडल में दोनो में ही व्याप्त रहती हैं। ये किरणें आदित्य में से ही निकली हैं और नाडियों में व्याप्त हैं, नाडियों में से निकलकर सूर्य में व्याप्त हैं। जैसे एक रामगढ नाम का एक ग्राम है, उसमें से एक राजपथ–बडा मार्ग–निकलकर दश कोश दूर के श्यामगढ़ को गया है। तो सडक रामगढ से श्यामगढ को भी गयी है और श्यामगढ से रामगढ को भी गयी है। रामगढ से श्यामगढ़ जाने वाले व्यक्ति भी उसी सडक से जाते हैं तथा

श्यामगढ़ से रामगढ़ आने वाले भी उसी सड़क से आते हैं। वह सड़क दोनों नगरों के सम्बन्ध को एक करे हुए है। इसी प्रकार सूर्य की किरणें इन नाड़ियों में प्रवेश करके उष्णता पहुँचाती हैं। हृदयाकाश को नाड़ियों का आदित्य से नित्य सम्बन्ध है। नाड़ियों का आदान प्रदान बन्द हो जाय, तो शरीर में उष्णता न रहेगी, वह मृत बन जायगा। जीवात्मा जागृत अवस्था में मन के अधीन होकर विश्व में भटकता रहता है। जिस समय प्रगाढ निद्रावस्था होती है, जिसमें स्वप्न आदि कुछ भी दिखायी नहीं देते। सम्यक् प्रकार से लीन हुआ पुरुष आनन्द के साथ गहरी नींद में सोता है, उस समय पुरुष इन हृदय की नाड़ियों में ही प्रवेश कर जाता है। उस समय उसे दुःख, शोक, भय, आदि, व्याधि आदि कोई भी पाप स्पर्श नहीं करता। उस समय वह आनन्दानुभव करता हुआ सौर तेज से व्याप्त रहता है। जिन नौ छिद्रों में व्याप्त नौ नाड़ियों के नाम हम पहिले बता आये हैं, वे नाड़ियाँ इन्द्रियों को निरुद्ध कर लेती हैं। इसीलिये प्रगाढ निद्रा में इन्द्रियाँ बाह्य विषयों का भी अनुभव नहीं करतीं और न स्वप्न ही देखती हैं। क्योंकि देखने सुनने वाला पुरुष तो सुषुप्ति में हृदयगत नाड़ियों में जाकर ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव कर रहा है। क्योंकि जीवात्मा ने अज्ञान के साथ हृदयगत आकाश में प्रवेश किया था, इसीलिये जागने पर उसे अज्ञान फिर घेर लेता है, फिर विश्व के प्रपंच में फँस जाता है। जब तक नाड़ियों में सूर्यगत रश्मियों की उष्णता रहती है, तभी तक उसमें जानने पहिचानने की शक्ति रहती है। जब उष्णता शरीर से चली जाती है या जाने लगती है, तब पुरुष के पहिचानने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। वह ठंडा पड़ जाता है। आदित्य की रश्मियों की उष्णता फिर हृदयस्थ नाड़ियों में नहीं लौटती।

तभी तो आदमी जब मरने लगता है, मुमूर्षु हो जाता है शरीर क्षीण और दुर्बल हो जाता है, देहगत उष्णता कम होने लगती है, तब उसके परिवार के लोग उसे चारों ओर से घेर कर बैठ जाते हैं और पूछते हैं—"मुझे आप पहिचान रहे हैं, मैं कौन हूँ ?" उनके पूछने का तात्पर्य यह है कि अभी आपकी नाडियों में सूर्यगत रश्मियों की उष्णता विद्यमान है न ? क्योंकि जब तक जीवात्मा इस शरीर का परित्याग नहीं करता तब तक वह पहिचानता है। जब इस शरीर को जीवात्मा छोड देता है। नाडियों में सूर्यगत रश्मियों की उष्णता समाप्त हो जाती है, वह ठंडा पड जाता है तब नहीं पहिचानता।

ये सूर्यगत किरणें ही मरने के पश्चात् पुरुष को ऊपर की ओर ले जाती हैं जो ॐ ऐसे एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए ज्ञान पूर्वक प्राणों का परित्याग करता है वह ऊर्ध्व लोकों को जाता है परमगति को प्राप्त होता है। जो अज्ञान पूर्वक विवशता के साथ प्राणों का परित्याग करता है वह अधो लोकों को जाता है। बारम्बार जन्मता मरता रहता है।

ऊर्ध्वगति वाले को आदित्य लोक में जाने में देर नहीं लगती। जितनी देर में मन जाता है उतनी ही देर में वह आदित्य लोक में पहुँच जाता है। आदित्यलोक तक विद्वान्, अविद्वान् सब जाते हैं। विद्वान् तो सूर्य मण्डल को भेद कर ब्रह्मलोक को चले जाते हैं। अविद्वान् पुनः पुनरावर्ती लोकों को प्राप्त होते हैं। यह आदित्य लोक मुक्ति तथा भुक्ति दोनों का द्वार है। जैसे हरिद्वार है। हरिद्वार से चाहो तो आप गङ्गाजी के किनारे-किनारे नीचे गङ्गासागर तक आ सकते हो। ऊपर को जाना चाहो तो चढते-चढते गो मुख तक पहुँच सकते हो इसी प्रकार आदित्य लोक—

सूर्य द्वार–विद्वानों के लिये ब्रह्मलोक प्राप्ति का स्थान है और अविद्वानों के लिये निरोध स्थान है।

जो सुषुम्ना नाडी है, उसका सूर्य की एक किरण के साथ सीधा सम्बन्ध है, किन्तु वह सम्बन्ध दशमद्वार के द्वारा है, हृदय की एक सौ एक नाडियाँ हैं। प्राण इन्हीं के द्वारा उत्क्रमण करते हैं, एक शरीर से दूसरे शरीर मे जाते हैं। सुषुम्ना नाडी जो हृदय से सीधी मस्तक की ओर गयी है, उस नाडी द्वारा सोई हुई कुण्डलिनी उत्थित होकर मस्तिष्क मे आ जाती है और दशवें द्वार को फोडकर सुषुम्ना द्वार से प्राण निकलते हैं तो ऐसा ऊर्ध्व-गति वाला जीव अमरत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् वह ब्रह्माण्ड को फोडकर इससे बाहर हो जाता है फिर उसका संसार में कभी जन्म नहीं होता। शेष जो इधर-उधर जाने वाली सौ नाड़ियाँ हैं, उनके द्वारा निकलने वाले जीव का केवल उत्क्रमण ही होता है। अर्थात् वह एक शरीर को छोड़कर उसी प्रकार दूसरे शरीर में चला जाता है, जैसे पुराने कपड़े को छोड़कर नया कपड़ा पहिन लिया, अथवा सर्प पुराना केंचुल का परित्याग करके नई केंचुल में आ गया। वे जन्म-मरण के चक्कर से नहीं छूटते।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह दहर ब्रह्म की उपासना है। यही हृदय नाड़ी और सूर्य रश्मि रूप मार्ग है। यह मैंने आपसे कहा। अब जैसे इन्द्र और विरोचन अमरत्व का अनु-संधान करने के निमित्त भगवान प्रजापति के समीप जायेंगे और वे जैसे इन्हें अमरत्व का उपदेश करेंगे उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा—

छप्पय

(१)

सत्यकामना आत्म अज्ञ परलोक छयिष्णु ।
आत्मभाव तैं विज्ञ होइ अव्याहत गतिहू ॥
जिनि लोकनि की करै कामना वे सब आवैं ।
जिनि जिन महिमा प्राप्त विज्ञ हिय में पा जावैं ॥
ब्रह्म सत्य ताकूं कहैं, अमृत अभय है एक रस ।
स-त्त-यं इनिके भाव लखि, स्वरग लोक जावैं स्ववश ॥

(२)

आत्मा है यह सेतु मृत्युभय जरा न दुष्कृत ।
सेतु जाइ जो तरै सदा ही रहै प्रकाशित ॥
ब्रह्मचर्य तैं प्राप्त होइ अव्याहत गति तिन ।
ब्रह्मचर्य सर्वस्व पाहि आत्मा तिहि पूजन ॥
द्वै समुद्र अर-एय-हु कहे, एरंमदिय तलाब इक ।
सोम सवन पीपर पुरी-ब्रह्म सुमण्डल वर कनक ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद के अष्टम अध्याय में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पंचम तथा षष्ठ खण्ड समाप्त ।

इन्द्र और विरोचन को प्रजापति द्वारा आत्म तत्त्व का उपदेश

(१६३)

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाँश्च लोकानाप्नोति सर्वाँश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीतिह प्रजापतिरुवाच ॥*

(छा० उ० ८ अ० ७ ख १ म०)

छप्पय

(१)

'अर' अरु 'रय' द्वै जलधि ब्रह्मचारी तरि जावैं ।
ब्रह्मलोक कूँ पाइ यथेच्छ हु गति ते पावैं ॥
नील, पीत, रस शुक्ल सु-लोहित पिंगल रवि में ।
सूर्य्य रश्मि-हिय नाड़ि परस्पर मिली उभय में ॥
सूय रश्मि तनु उष्णता, लोक-द्वार आदित्य यह ।
अज्ञ विज्ञ गति ऊर्ध्व अघ-इतई तैं पावैं सबहि ॥

---

* "यह जो आत्मा है, वह पाप रहित, जरा वर्जित, मृत्यु रहित, विशोक, भूख-प्यास से रहित, सत्यकाम और सत्य सकल्प है उसी का अन्वेषण करना चाहिये । उसी की विजिज्ञासा करनी चाहिये । जो उसे जान लेता है, वह समस्त लोक तथा सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है ।" यह बात ब्रह्माजी ने कही है ।

(२)

आत्मा जानन जोग्य जाइ जाने सब जानत।
इन्द्र विरोचन आत्म-तत्त्व जानत अज प्रापत॥
ब्रह्मचर्य बत्तीस बरष करि आत्म प्रश्न करि।
अज बोले जो चक्षु पुरुष सो ब्रह्म अभय हरि॥
जल में जो प्रतिबिम्ब है, अभय अमृत आत्मा वही।
निश्चय कर दोऊ बले, असुर देह आत्मा कही॥

जगत् के जितने पदार्थ हैं, सब कुछ-न-कुछ पाप से विद्ध हैं। क्योंकि पाप पुण्य के ही प्रभाव से प्राणी जन्म लेता है, जो पाप पुण्य से पर पहुँच जाते हैं, वे पुनः जगत् में नहीं आते हैं। संसार के जितने भी उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं, एक न एक दिन वे अवश्य बूढ़े होंगे, जरावस्था उन्हें प्राप्त होगी ही। जग में जो जन्मा है वह मरेगा भी अवश्य। उत्पन्न होने वाले की मृत्यु ध्रुव है। शरीर संसर्ग से शोक होना स्वाभाविक है। शरीर है तो उसमें क्षुधा पिपासा अवश्यम्भावी है, संसारी पुरुषों की समस्त कामनायें कभी पूरी नहीं होतीं, न सभी संकल्प ही परिपूर्ण होते हैं। जो पाप, जरा, मृत्यु, शोक क्षुधा, पिपासा से रहित हो सत्य-काम और सत्यसंकल्प हो, वही अविनाशी अज अनादि अनन्त आत्मा है साधकों को उसी का अन्वेषण करना चाहिये। जो मर्त्यधर्मी है, नाशवान् है अशाश्वत है उसके सम्बन्ध में चिन्तन मनन करने से लाभ ही क्या ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आत्म तत्त्व के विवेचन के निमित्त देवताओं के राजा इन्द्र और असुरों के राजा विरोचन की कथा का आरम्भ करते हैं। भगवान् कमलयोनि प्रजापति ने देवता, असुर, राक्षस तथा मनुष्य आदि के लिये एक सार-

गर्भित उपदेश दिया। ब्रह्माजी का कथन था—पुरुषों को उस आत्मा का अन्वेषण करना चाहिये, जो पाप, जरा, मृत्यु, क्षुधा तथा पिपासा से रहित है। जो सत्यकाम तथा सत्यसकल्प है। जो साधक शास्त्र ज्ञान द्वारा गुरु सुश्रूषादि कर्मों द्वारा अभ्यास करते-करते उस आत्मा को जान लेता है, उसके लिये कोई भी बात दुर्लभ नहीं रह जाती। वह जिस भी लोक में जाना चाहे, चला जा सकता है, वह जो भी कामना करे वही पूर्ण हो सकती है। अतः परम पुरुषार्थ यही है, कि मनुष्य को ऐसी आत्मा की खोज करनी चाहिये।"

ब्रह्माजी का यह सार्वजनिक उपदेश था, सबके लिये था, सर्व-विदित था। देवता तथा असुरों ने परम्परा से—पिता से सुनकर पुत्र ने उस पुत्र से सुनकर उसके पुत्रों ने ऐसे वंशानुक्रम से—इस उप-देश को सुन लिया था। देवताओं और असुरों की सभाओं में इस पर चर्चा चली, कि जानने योग्य वस्तु क्या है। सबने प्रजा-पति के वचनों को उद्धृत किया, कि प्रजापति का कथन है आत्मा को ही जानना चाहिये क्योंकि आत्मा के जान लेने पर जीव समस्त लोकों को, समस्त भोगों को सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। अतः आत्मा का ही अन्वेषण करना चाहिये।"

देवताओं की सभा में निश्चय हुआ कि जब जानने योग्य एकमात्र आत्मा ही है, तो सबको उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये, उस आत्मतत्त्व की शिक्षा प्राप्त करने देवताओं के राजा देवेन्द्र को ब्रह्माजी की सेवा में जाना चाहिये और आत्मज्ञान प्राप्त करके उसे हम सबको सिखाना चाहिये।

देवता, असुर राक्षसादि सभी ब्रह्माजी को तो मानते ही हैं, जब उन्होंने सुना आत्मतत्त्व के अनुसन्धान के निमित्त देवताओं

की ओर से देवेन्द्र प्रजापति के समीप जा रहे हैं, तो उन्होंने भी निश्चय किया हमारी ओर से असुरेन्द्र विरोचन आत्मतत्त्व की जिज्ञासा के निमित्त प्रजापति के समीप जायँ। देवताओं और असुरों की परिषदों में ऐसा निश्चय होने पर इन्द्र स्वर्ग के समस्त सुखों को त्यागकर स्वर्ग का राज्य अन्य देवताओं को सौंपकर त्याग भाव से प्रजापति के समीप जाने को उद्यत हुए।

इधर असुराधिप विरोचन भी समस्त सुख त्यागकर असुरों के शासन का अन्य असुरों को सौंपकर वे भी ब्रह्माजी के पास जाने को कटिबद्ध हुए। इस प्रकार दोनों परस्पर में ईर्ष्या करते हुए शास्त्रीय विधि से समित्पाणि होकर–हाथ में समिधायें लेकर–भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी की सेवा में समुपस्थित हुए। दोनों चाहते थे मुझे ही यह विद्या सर्वप्रथम प्राप्त हो जाय।

शास्त्र का वचन है, जो अपने यहाँ चिरकाल तक निवास न करे, उसे उपदेश नहीं करना चाहिये। अतः गुरु को प्रसन्न करने के निमित्त अपने में साधन की पात्रता लाने के निमित्त दोनों ही ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए ब्रह्माजी की सेवा में–उनकी सन्निधि में बत्तीस वर्ष पर्यन्त रहे। इस अवधि में न ब्रह्माजी ने इनसे कुछ पूछा और बिना पूछे इन्होंने भी ब्रह्माजी से कुछ कहना उचित न समझा।

बत्तीस वर्ष के पश्चात् एक दिन ब्रह्माजी ने इनसे पूछा—वत्सो! तुम यहाँ मेरे समीप किस इच्छा से वास कर रहे हो? तुम्हारे यहाँ रहने का प्रयोजन क्या है?"

ब्रह्माजी के पूछने पर दोनों ने कहा—"भगवन्! हमने परम्परा से ऐसा सुना है, कि आपने सबको उपदेश करते हुए यह कहा है कि—"पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा तथा पिपासा रहित सत्यकाम सत्यसंकल्प आत्मा का ही अन्वेषण करना

चाहिये और उसी की विजिज्ञासा करनी चाहिये। जो उस आत्मतत्त्व को विशेष रूप से जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोकों को समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है।" ऐसा हमने परम्परा से सुना है और आपके इस उपदेश को शिष्ट जन सदा दुहराते रहते हैं, प्रसंग आने पर सभी को बताते रहते हैं। सो हम उसी आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से आपकी सेवा में समुपस्थित हुए हैं, कृपा करके हमें आत्मतत्त्व का उपदेश दें।"

देवता और असुरों के राजाओं की तपस्या और विनय को देखकर ब्रह्माजी प्रसन्न हुए उन्होंने उन दोनों से कहा—"देखो, भैया! तुम्हारे नेत्रों के बीच में जो एक काला तिल है उसमें एक पुरुषाकार जो आकृति दिखायी देती है वही आत्मा है, वही अमृत है और वही अभय है यही ब्रह्म है।"

इस पर दोनों ने कहा—"भगवन्! नेत्र में तो छोटा-सा रूप दिखायी देता है, जल में देखें तो उसमें सब ओर आकृति प्रतीत होती है। दर्पण में भी देखते हैं, तो उसमें भी एक आकृति दृष्टि-गोचर होती है, इनमें से आत्मा कौन है?"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"चक्षु में जो पुरुष दृष्टिगोचर होता है, वही इन सबमें सब ओर से प्रतीत होता है।"

तब ब्रह्माजी ने एक सकोरे में जल मँगाया और दोनों से कहा—"इस सकोरे के जल में देखो, क्या दिखायी देता है? आत्मा के सम्बन्ध में जो न जान सको उसे मुझे बताओ, अपनी शंका को पूछो।"

दोनों ने कहा—"भगवन्! इसमें हम अपनी सम्पूर्ण आत्मा को नख से शिख तक एक-एक रोम को ज्यों-का-त्यों देख रहे हैं।"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"अब तुम तपस्वी का वेष त्याग दो।

राजोचित वस्त्राभूषण पहिनकर अपने को भली-भाँति अलकृत करके, भली प्रकार परिष्कृत होकर बाल आदि सम्हालकर किरीट मुकुट धारण करके तब सकोरे के जल में देखो।"

इन्द्र और विरोचन ने प्रजापति की आज्ञा से अपने शरीर को परिष्कृत किया। वस्त्राभूषणों से अपने को अलंकृत करके वे जल भरे सकोरे के निकट आये। उसमें उन्होंने अपना ज्यों का-त्यों प्रतिबिम्ब देखा।"

तब उन्होंने ब्रह्माजी से कहा—"भगवन्! इसमें तो हमें दो पुरुषों की प्रतिकृति दिखायी देती हैं। जिस प्रकार पूर्ण परिष्कृत होकर हम वस्त्राभूषणों को धारण करके समलकृत हैं, उसी प्रकार ये दोनों जल में दिखायी देने वाली प्रतिकृतियाँ भी पूर्ण परिष्कृत वस्त्राभूषणों से समलकृत दृष्टिगोचर हो रही हैं।"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"यही आत्मा है यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है। क्यों है न? जान गये न? तुम्हें यदि कोई और शका रह गयी हो तो पूछो।"

इस पर दोनों ने कहा—"हाँ, भगवन्! समझ गये। अब हमें कोई शका नहीं रही।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वे दोनों ब्रह्माजी के उपदेश से अपने को कृतार्थ समझकर शान्तचित्त से ब्रह्माजी के समीप से अपने-अपने स्थानों को चले गये।"

वे दोनों जब कुछ दूर निकल गये, तब हँसकर ब्रह्माजी ने कहा—"ये दोनों अपने को कृतार्थ हुआ समझकर गये हैं, किन्तु वास्तव में दोनों अकृतार्थ हैं, इन्होंने आत्मा की उपलब्धि नहीं की। इनको आत्म साक्षात्कार नहीं हुआ। अज्ञानतावश ये अपने को कृतार्थ हुआ समझकर जा रहे हैं। चाहे कोई देवता हो, असुर हो कोई भी क्यों न हो जो अज्ञानतावश कृतार्थ न होने पर

भी अपने को कृतार्थ मान लेगा उसी का पराभव होगा। ये अभी कृतार्थ नहीं हुए।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! विरोचन और इन्द्र दोनों ही अपने को ब्रह्मज्ञानी मानकर चल दिये थे। इनमें विरोचन तो असुरों की पुरी में अपनी राजधानी में पहुँच गया। उन असुरों ने सुना हमारा राजा विरोचन प्रजापति के समीप से बत्तीस वर्ष का ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके लौट रहा है, तो स्वागत सत्कार किया। सभी ने पूछा—"[illegible] प्रजापति से—ब्रह्माजी से—आत्म विद्या सीख आये?"

विरोचन ने कहा—"हम और इन्द्र दोनों साथ-ही-साथ प्रजापति के पास ब्रह्म विद्या सीखने गये थे, दोनों ने साथ-ही-साथ बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत [illegible] किया, फिर ब्रह्माजी ने हम दोनों से साथ-ही-साथ [illegible] का [illegible] पूछा। जब हमने आत्म विद्या की जिज्ञासा की तब [illegible] दोनों को साथ-ही-साथ आत्म विद्या का उपदेश दिया और हम दोनों साथ-ही-साथ कृतार्थ होकर वहाँ से चले [illegible] मैं शीघ्रता के साथ आप [illegible] आ गया।"

इस पर असुरों ने [illegible] विद्या [illegible] से सीखकर आये हैं [illegible] दीजिये।"

विरोचन ने कहा—[illegible] करता हूँ, तुम सब [illegible] का अर्थ है देह, [illegible] की ही पूजा [illegible] विविध प्रकार [illegible] स्नान करना चाहिये। [illegible]

चाहिये। इसे वस्त्रालङ्कार से, चन्दन मालाओं से अलंकृत करना चाहिये। सुगंधित धूपादि से इसे प्रमुदित करना चाहिये। अच्छे-अच्छे विविध व्यंजनों से इसे परितृप्त करना चाहिये। सुगन्धित पेय पदार्थ पिलाने चाहिये। सारांश यह कि शरीर की ही पूजा करो, शरीर की ही परिचर्या करो। इससे इस लोक में तो सुख मिलेगा ही। परलोक में इसकी पूजा से सुख प्राप्त होगा।

असुरों ने पूछा—"परलोक में शरीर के मृत होने पर सुख कैसे होगा ?"

विरोचन ने कहा—"मृतक शरीर को ओषधियों द्वारा ऐसा बना दें, कि वह नष्ट न हो, चिरकाल तक ज्यों का-त्यों बना रहे फिर उसमें सुगन्धित तेल फुलेल इत्र लगाकर बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके उसके साथ नाना प्रकार के पकान्न रखकर, उसके उपभोग के लिये उसके साथ स्त्रियों के भी शरीर को दबा देना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी। मृतक शरीर को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके, उससे सजा बजाकर सुरक्षित रखने से क्या लाभ ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जो प्राणों को ही सब कुछ समझ कर उन्हीं में रमण करें, वे ही असुर कहलाते हैं। (असुषु रमते-इति—असुरः) जो सुर न हो देवताओं से द्वेष करने वाले हों वे ही असुर हैं। उनका मत है, शरीर को तृप्त करने से प्राण तृप्त होते हैं। अतः पहिले असुर प्रकृति के राजागण मृतक शरीरों को सुरक्षित रखने को उस पर लक्षों रुपये व्यय करते थे। उसकी समाधि में भोग की समग्र सामग्रियाँ रखते थे। पुरानी समाधियाँ खोदने पर अब तक ऐसी अनेकों वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं। उनका मत था इस लोक में शरीर सुखी रहेगा, तो परलोक में उसके

प्राण परितृप्त होंगे। असुर प्रकृति के पुरुष दान धर्म, यज्ञ आदि में श्रद्धा नहीं रखते। वे शरीर को ही सर्वस्व मानते हैं। इसीलिये लोक में जो पर्व आदि पर भी दान नहीं देता, पितरों का श्राद्ध तर्पण नहीं करता, यज्ञ यागादि पवित्र कर्मों को नहीं करता, वेद तथा ईश्वरादि पर श्रद्धा नहीं करता। उसे सज्जन लोग-शिष्ट जन-यही कहते हैं-अजी, यह तो आसुरी स्वभाव का पुरुष है। क्योंकि शरीर को ही सब कुछ मानना यही असुरों की उपनिषद् है। इसीलिये वे ही मृतक पुरुष की देह को भिक्षा से-सुगन्धित पदार्थों से-अन्न आदि सुरादि व्यजनों से-वस्त्र और अलंकार से सुसज्जित किया करते हैं। उनका विश्वास है-हम इसके द्वारा परलोक प्राप्त करेंगे। यह आसुरी उपनिषद् हुई। पात्र भेद से उपदेश में भी भेद हो जाता है, जैसे वर्षा का जल गंगादि नदियों में पड़ने से वह पेय और मीठा हो जाता है वही समुद्र में गिरता है, तो अपेय और खारी बन जाता है। उपदेश तो ब्रह्माजी का ही था, किन्तु आसुरी प्रकृति के असुरराज विरोचन रूप पात्र में आने के कारण वह शरीर को ही आत्मा मानने वाला आसुर ज्ञान हो गया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! विरोचन ने तो आत्मा देह को ही समझा इससे तो देहात्म भाव का आसुरी प्रकृति के पुरुषों में प्रचार हुआ। क्या इन्द्र ने भी ऐसा ही मानकर देवताओं में देहात्म भाव का प्रचार किया? इन्द्र ने जाकर देवताओं को क्या बताया?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इन्द्र देवताओं के समीप स्वर्ग में पहुँचे ही कहाँ? उन्हें तो बीच मार्ग में ही शंका हो गयी। वे अपनी शंका का समाधान कराने के निमित्त पुनः लौटकर प्रजापति की सेवा में श्रद्धापूर्वक समुपस्थित हुए। इन्द्र जैसे लौटकर प्रजा-

पति के समीप आये और उन्होंने जो-जो शंका की तथा ब्रह्माजी ने जैसे उनकी शंकाओं का समाधान किया, इस प्रसंग का वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सब इसे सहृदयता के साथ सुनने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जाइ विरोचन देह ब्रह्म यह सबनि बतायो।
जिनि तन पूजा करी लोक परलोक बनायो॥
शव सजाइ सब कहैं—भोग परलोक मिलत है।
नहीं दान मख करें असुर तन ब्रह्म कहत है॥
असुर उपनिषद् यह कही, प्राननि कूँ पोसत रहत।
दान यज्ञ श्रद्धा रहित, असुर तिनहिं सज्जन कहत॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय में
सप्तम तथा अष्टम खंड समाप्त।

श्री भागवत-चरित सटीक

टीकाकार

'भागवत चरित व्यास' पं० रामानुज पाण्डेय,
बी० ए० विशारद

'भागवत चरित' विशेषकर ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। जो लोग ब्रजभाषा को कम समझते हैं, उन लोगों को छप्पय समझने में कठिनाई होती है। उनके लिये लोगों की माँग हुई कि छप्पयों की सरल हिन्दी में भाषा-टीका की जाय। संवत् २०२२ विक्रमी में इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ। उसकी दो हजार प्रतियाँ छपायीं। छपते ही वे सब-की-सब निकल गईं। अब उत्तरार्द्ध की माँग होने लगी। जो लोग पूर्वार्द्ध ले गये थे, वे चाहते थे पूरी पुस्तक मिले किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण छपने में विलम्ब हुआ साथ ही लोगों की यह भी माँग थी, कि कुछ मोटे अक्षरों में छापा जाय। प्रभु कृपा से अब के रामायण की भाँति बड़े आकार में मोटे अक्षरों में (२० पा०) अर्थ सहित प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक खंड में ८५० से अधिक पृष्ठ हैं मजबूत एवं सुन्दर कपड़े की जिल्द, चार-चार तिरंगे चित्र और लगभग ३५० एकरंगे चित्र हैं। मूल्य लागत मात्र से भी कम २२) रु० रखा गया है। एक खंड का मूल्य ११) रु० डाक खर्च अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें। फिर न कहना हमें सूचना नहीं मिली। थोड़ी ही प्रतियाँ शेष हैं।

—व्यवस्थापक

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डों में)—९३ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १ ६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२–श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६ ५०

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डों में)— एक खण्ड का मू० ११ ००

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५ ००

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३ ४५

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २ ५०

७–कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २ ५०

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९–गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २ ५०

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डों में)— प्रथम खण्ड का मू० १ ६०

११–नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ० ६०

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ० ६५

१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१

१४–शोक शान्ति—शोक को शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ० ३१

१५–मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद संस्मरण, मू० ० ३१

१६–भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७–राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ० ४०

१८–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ० ३१

१९–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ० २५

२०–भक्तचरितावली प्रथम खंड मू० ४.०० द्वितीय खंड मू० २ ५०

२१–सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दों सहित मू० ० ७५

२२–प्रयाग माहात्म्य—मू० ०.२० २५–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२ २६–श्री हनुमत्-शतक— मू० ०.५०

२४–सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० २७–महावीर-हनुमान्— मू० २ ५०

पता—संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)

७६५८

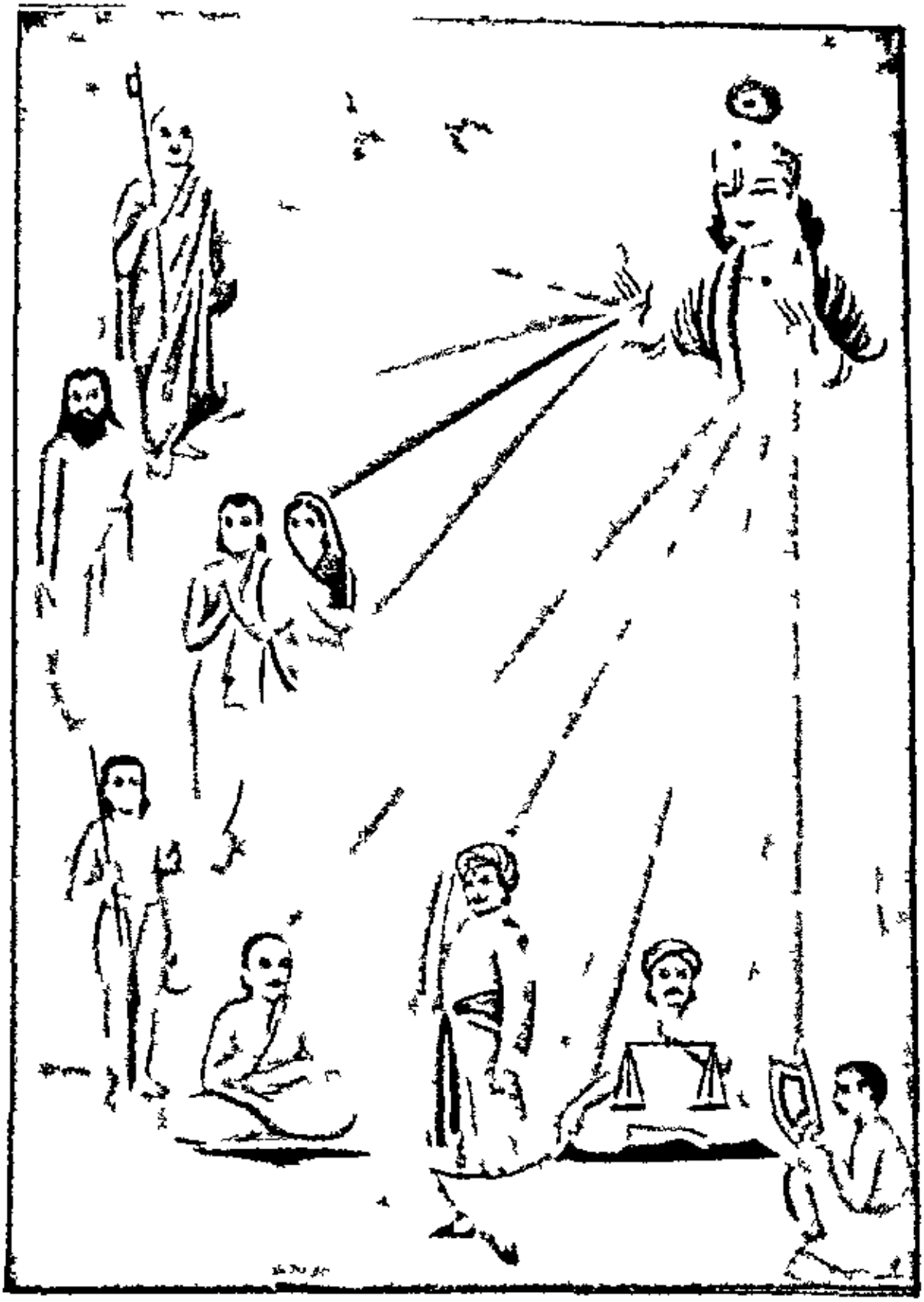

चातुर्वर्ण्य उत्पत्ति

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६४

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } अप्रैल १९७२ वैशाख सं०-२०२९ { मूल्य : १.६५

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

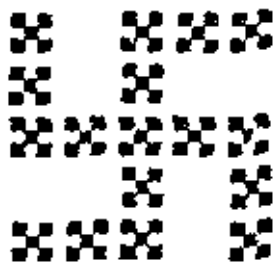

● मुद्रक :
बंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

छप्पय शतकत्रय

(श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

(राजर्षि भर्तृहरिजी के तीनों शतकों का छप्पय पद्यानुवाद)

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित-सा होता जा रहा है। श्री ब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की इस पुस्तक का मूल्य २.५० मात्र।

—:०:—

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
संस्मरण (१३)	१
१. प्रजापति द्वारा इन्द्र को पुनः उपदेश	१२
२. श्याम शबल, आकाश ब्रह्म और आत्मज्ञान फल	२७
३. अथ बृहदारण्यकोपनिषद्	३५
४. अश्वमेधोपासना (१)	५३
५. अश्वमेधोपासना (२)	५९
६. अश्वोत्पत्ति और अश्वमेधोपासना का फल	६८
७. प्राणोपासना (१)	७४
८. प्राणोपासना (२)	८३
९. प्राणोपासना (३)	९१
१०. प्राणोपासना (४)	१०१
११. ब्रह्म की पूर्णरूपता (१)	१०७
१२. ब्रह्म की पूर्णरूपता (२)	११८
१३. ब्रह्म की पूर्णरूपता (३)	१२७
१४. चातुर्वर्ण की उत्पत्ति	१३४
१५. धर्म की उत्पत्ति	१४१
१६. कर्मलोक-वैशिष्ट	१४८
१७. अन्नोत्पत्ति विवेचन	१५८
१८. प्रजापति के तीन अन्नों का अर्थ (१)	१६८
१९ प्रजापति के तीन अन्नों का अर्थ (२)	१७८
२०. प्रजापति के तीन अन्नों का अर्थ (३)	१८७

संस्मरण

[१३]

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात्
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभाव :
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० ९ अ० २० श्लोक)

छप्पय

काल करम अनुसार सबनि सरबेश नचावैं।
जातैं जब जस उचित लखैं तब तस करवावैं॥
सत्व वृद्धि करवाइँ सतोगुन बली बनावैं।
रज तम वृद्धि कराइँ उभय गुन बलहिँ बढ़ावैं॥
करता, कारन, करन अरु, करम वही भगवान हैं।
उनि इच्छा बिनु पात नहिँ, हिलै तऊ निष्काम हैं॥

सब कार्यों का समय निश्चित रहता है। भगवान् जब जिससे जैसा भी कार्य कराना चाहते हैं, तब उसे वैसा ही कार्य विवश

---

* पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले जितने भी श्रेष्ठ तथा कनिष्ट कर्ता हैं वे समस्त आपकी ही प्रेरणा से कार्य कर रहे है। जिसके लिये, जैसे, जिस उद्देश्य से, जिस विधि से जो भी कुछ करते हैं वह सब आपका ही स्वरूप है अर्थात् आप ही कर्ता करणादि बन कर्म करा रहे हैं।

बनकर करना पडता है। धर्म अधर्म दोनों ही उनके पुत्र हैं। धर्म हृदय से उत्पन्न हुआ है, अधर्म पीठ से। धर्म उन्हें प्रिय है। अधर्म उतना प्रिय नहीं। भगवान् में भी पक्षपात होता है क्या? देखो जी, इसे पक्षपात नहीं कहते। माता के चार पुत्र हैं, एक बलवान् है, एक मंदाग्नि वाला है, एक रुग्ण है। एक मानसिक कार्य करने वाला है। जो बली है माता उसको पोष्टिक आहार देती है। जिसकी अग्नि मन्द है, उसे बिना चुपडी रोटी, मूँग की दाल, पतली खिचडी देती है। रुग्ण है, उसे दाल का पानी और रोटी के ऊपर की पपड़ी देती है और जो बौद्धिक कार्य करने वाला है उसे दूध फल आदि देती है। इसमें पक्षपात नहीं है, पुत्रों के हित की कामना है। इसी प्रकार सृष्टि का क्रम चलाये रखने को उन्हें धर्म-अधर्म, सत्य-अन्नृत, यश-अपयश, जीवन-मरणादि द्वन्द्वों की आवश्यकता रहती है। द्वन्द्वों के बिना सृष्टि नहीं।

यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। कभी सत्त्व गुण की वृद्धि हो जाती है, तब रज, तम दब जाते हैं। सब सत्त्वगुण प्रधान हो जाते हैं। उसे सत्ययुग कहते हैं। जब सत्त्व के साथ रजो गुण का भी कुछ अंश बढ जाता है, तब सत्ययुग में जैसे धर्म चतुष्पाद था अब त्रेता में आकर वह तीन पाद का ही रह गया। एक पाद पर अधर्म ने अधिकार स्थापित कर लिया। जब रज तम कुछ और बढ़े तो द्वापर में धर्म के दो ही पाद रह गये। दो में रज तम रूप अधर्म आ गया। कलिकाल में धर्म का एक ही पाद रह गया। तीन पाद अधर्म के और अन्त में वह भी समाप्त। इस प्रकार चारों युगों के चार-चार पाद होने से सोलह पाद हो गये। सोलह पादों में से दश पाद धर्म के और छे पाद अधर्म के हैं। युगों में ही नहीं, प्रत्येक युग में भी चारों युग वर्त जाते हैं। सत्ययुग में त्रेता, द्वापर, कलि का कुछ न कुछ अंश आ जाता है। ऐसे ही

त्रेता, द्वापर, और कलियुग में भी समझो। बारह-बारह वर्ष के भी युग होते हैं। उन बारह वर्षों में भी चार युग वर्त जाते हैं। बारह वर्ष की बात जाने दो। एक दिन में भी चारों युग वर्त जाते हैं। मनुष्य के अल्प जीवन में ही कितने परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, किन्तु जीव अन्ध परम्परा के पीछे दौडे चले जाते हैं। यही भगवान की माया है। वह माया ही सब को नचा रही है, वही सबसे कार्य करा रही है। अज्ञानी अपने को कर्ता मानकर फँस जाते हैं। ज्ञानी तटस्थ द्रष्टा बनकर साक्षी रूप से सब देखते हुए हँस जाते हैं। ज्ञानी, अज्ञानी सभी कार्य कर रहे हैं। एक अनजान में अपने को ही करने वाला जानते हुए उनके सुख दुःख जनित फलों को भोगते हैं, बन्धन में बँधते जाते हैं। दूसरे इन्द्रियाँ अपने अर्थों में वर्त रही हैं, देह से मन इन्द्रियों द्वारा कार्य हो रहा है मैं द्रष्टा हूँ साक्षी हूँ ऐसा सोचकर प्रारब्ध भोगों को भोगते हुए निर्लेप रहे आते हैं। यही दोनों के कार्यों में अन्तर है।

सब कुछ भगवान् की ही प्रेरणा से हो रहा है वे जिसे जिसका निमित्त बनाते हैं, उसे वह कार्य करना पडता है। इस कलियुग में भी आज से चार सौ पाँच सौ वर्ष पूर्व सत्ययुग आ गया था, उस समय देश के सभी भागों में एक साथ बहुत भगवत् भक्त आचार्य, महापुरुष हो गये थे। कबीर, नानक गोरख, तुलसी, सूर, रामानन्द, चैतन्य, रूप, सनातन, जीव, हरिदास, वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, हितहरिवंश, निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव, एकनाथ, मुक्ताबाई, मीराबाई यहाँ तक गिनायें एक दो शताब्दी के ही अन्तर्गत सहस्रों महापुरुषों ने उत्पन्न होकर भगवती भक्ति की अजस्र धारा बहा दी। यद्यपि वह यवन शासन का समय था, फिर भी इन महापुरुषों ने आस्ति-

कता की ऐसी संजीवनी बखैर दी कि जिससे अगणित जीव कृतार्थ हो गये।

ऐसी ही राजनैतिक बाढ़ सन् इक्कीस से सन् ४१ तक तीन बार आई। सन् इक्कीस का आन्दोलन तो सत्ययुगी था, ३१ का त्रेतायुगी, ४१ का द्वापर युगी और अब तो घोर कलियुगी वातावरण है। मैंने तीनों ही आन्दोलनों में कुछ-न कुछ भाग लिया और स्वराज्य हो जाने पर भी रामलीला, गोरक्षा आदि धार्मिक आन्दोलनों के कारण कई बार जेल जाना पड़ा। उस समय अँगरेजों के भाग्य का नक्षत्र आकाश में था एक सौ से अधिक देश उनकी छत्र छाया में उनके अधीन थे। उनका भाग्य मार्तंड मध्याह्न वेला में तप रहा था। किसी को स्वप्न में भी यह अनुमान नहीं, कि अँगरेज लोग इस इतने बड़े विशाल देश को छोड़कर एक दिन में भग जायँगे अधिक से अधिक लोग यही आशा लगाये हुए थे अँगरेजों की छत्रछाया में हमें औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हो जाय। हमारे ही देश के कुछ नेता भारतवासियों को इसके भी अयोग्य समझते थे। अँगरेज कहते जब तुम लोग योग्य हो जाओगे तो हम तुम्हें औपनिवेशिक स्वराज्य देंगे। कब योग्य होंगे इसकी कोई अवधि नहीं थी। सन् २१ का असहयोग आन्दोलन सहसा नहीं हो गया। बीज पृथ्वी में पड़ा रहता है, वह अनुकूल समय आने पर अंकुरित, पल्लवित-पुष्पित और फलित हो जाता है। इसके पूर्व रासविहारी बोस, सूफी अम्बा प्रसाद, श्रीसावरकर, राजा महेन्द्र प्रताप तथा सैकड़ों क्रान्तिकारियों की कहानियाँ हम सुना करते थे। सैकड़ों ने विदेशों में जाकर सशस्त्र क्रान्ति करके देश को स्वतन्त्र करना चाहा। उन लोगों ने विदेशों में भारत की स्वतन्त्र सरकार भी बना ली थी। सैकड़ों सहस्रों स्वतन्त्रता संग्राम में बलिदान हुए। सैकड़ों

फाँसी के तख्ते पर झूल गये। वास्तव में स्वराज्य की नीव तो इन्हीं बलिदानियो की डाली हुई थी। उस नींव पर भवन का निर्माण कोई भी करलो। नींव के पत्थर दिखाई नहीं देते। वे अनन्त काल तक अदृश्य ही बने रहते हैं। किन्तु अदृश्य बनकर भी भवन के सम्पूर्ण भार को वे ही अपनी छाती पर लादे रहते हैं। नींव सुदृढ़ हो जाने पर भवन बनाने मे कठिनाई नहीं थी। किन्तु भवन बनाने मे भी लगन, चतुरता, त्याग तथा दृढ़ता की आवश्यकता है। २१ का आन्दोलन ऐसे ही सुयोग्य, त्यागी, सुदृढ़ असहयोगियो द्वारा चलाया गया था। हमारे उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक नेता थे। प्रान्त भी बड़ा था, और भारत का हृदय भी है, समस्त आन्दोलनों का स्रोत उत्तर प्रदेश और तीर्थ-राज प्रयाग ही है। उन दिनों लखनऊ जेल में प्रयाग के ही नेता अधिक थे। उनमें त्यागमूर्ति पं० मोतीलालजी नेहरू सबसे श्रेष्ठ थे। अँगरेज अधिकारी समय देखकर काम करने वाले होते थे। वे प्रतीत होता है, छाँट-छाँट कर भेजे जाते थे, तभी तो मुट्ठी भर अँगरेज इस इतने बड़े देश पर एकछत्र साशन कर रहे थे। उनके विरुद्ध उनके परोक्ष में भी किसी को चूँ करने का साहस नहीं होता था। यह कहावत प्रसिद्ध थी, कि दीवालों के भी कान होते हैं दीवालें सुनकर उसे अँगरेजों से कह देंगी वैसे लखनऊ जेल में सहस्रों राजनैतिक वन्दी थे। किन्तु जिनके साथ विशिष्ट व्यवहार किया जाता था। ऐसे ३००–४०० ही होंगे। वहाँ के जेलाधिकारी ने समस्त प्रवन्ध पं०मोतीलालजी तथा जवाहरलाल नेहरू को सौंप दिया था, अपनी सुविधा के निमित्त पंडित जी को सभी लोग आदर करते थे, और वे भी घूम-घूमकर सभी वैरिकों मे सबके दुःख-सुख पूछते। किसी को कोई असु-विधा होती तो, वे उसका तुरन्त निवारण का प्रयत्न करते।

प्रबन्ध सुचारु रीति से चल रहा था। किन्तु जरैला लोग सर्वत्र ही होते हैं। पं० जवाहरलालजी तो हम सब लोगों के साथ ही रहते थे। पं० मोतीलालजी योरोपिन भवन में रहते थे। वे राजसी ठाट-बाट के थे। उनके लिये सेवक चाकर भोजनादि की विशेष सुविधायें थीं। उदार प्रकृति के थे। अपने पास से फल आदि मँगाकर सबको बँटवाते। अतः कुछ लोग कहने लगे क्या मोतीलालजी ही नेता हैं, हम लोग नेता नहीं, उनको इतनी अधिक सुविधा क्यों दी जाती हैं।" इस प्रकार की बातें सुनते-सुनते पंडितजी के कान पक गये। उन्होंने प्रबन्ध से हाथ खींच लिया। अब तो कारावास अधिकारियों की बन आई। वे भाँति-भाँति की कड़ाई करने लगे नित्य ही किसी न किसी बात को लेकर झगड़ा होता। अब जेल में करते क्या, यही झगड़ा टटा, अलोचना प्रत्यालोचनायें होतीं। स्वाध्याय प्रेमी तो कुछ इने गिने ही पुरुष थे।

जेल का मुख्य अधिकारी कर्नलक्लीमैंट सैनिक था। बहुत ही रूखा तथा घमण्डी था। आवश्यकता से अधिक लम्बा था। लोग उसे भाँति-भाँति से चिड़ाते।

एक जगत्गुरु शंकराचार्य भारतीय कृष्णतीर्थ जी के शिष्य दण्डी स्वामी भास्करानन्दजी भी हमारे साथ में थे। बड़ी उग्र प्रकृति के थे। वे दीवाल पर श्रीकृष्ण का चित्रपट लगाये हुए थे। कारावास के नियमों के अनुसार कील गाड़कर कोई किसी प्रकार की वस्तु नहीं लटका सकता। क्लीमेंट ने उसे हटाने को कहा। हमारे स्वामीजी भी कुछ कम नहीं थे। अड़ गये, लड़ पड़े तब उसने बलपूर्वक चित्र हटवा दिया। इस बात को लेकर पूरी जेल में बड़ा भारी आन्दोलन हुआ। तिकड़म से सैकड़ों चित्र मँगाये गये। सभी ने अपनी-अपनी बैरिकों में चित्र लगा

लिये और क्रीमेंट के आने पर ध्यान का ढोंग करने लगे। अँगरेज समय देखकर काम करते थे। फिर उसने किसी से कुछ नहीं कहा। भास्करानन्दजी को फैजाबाद भेज दिया। और भी बहुत से लोगों को नीचे की श्रेणियों में करके विभिन्न जेलों में भेज दिया। इस प्रकार नित्य ही किसी न किसी बात पर अधिकारियों से चख-चख होती।

जब हम जेल में ही थे, तभी चौरी चौरा (गोरखपुर जिले मे) एक कांड हो गया। उत्तेजित भीड़ ने पुलिस के लोगों पर घातक प्रहार कर दिये। कइयों की मृत्यु हो गयी। इस पर देश भर में बड़ी चख-चख मची। गान्धीजी ने आन्दोलन को स्थगित कर दिया। सभी निराश हो गये। जेल मे अब तक लोग यह आशा लगाये हुए थे कि कुछ समझौता हो जायगा, हम शीघ्र ही छूट जायँगे, किन्तु सब की आशाओं पर पानी फिर गया। माहात्मा-गान्धीजी भी पकड़ लिये गये। उनको ६ वर्ष का कारावास का दण्ड मिला। प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजनैतिक नेता पकड लिये गये। आन्दोलन एक प्रकार से शान्त सा ही हो गया। जेलों के भीतर तथा बाहर भी एक प्रकार का निराशा का वातावरण व्याप्त हो गया।

वैसे अँगरेजों को यह तो विश्वास था, कि असहयोगी वीर जान-बूझकर किसी की हिंसा न करेंगे। अच्छे अँगरेज मन-ही-मन इन स्वतत्रता के प्रेमी वीरो के प्रति आदर का भाव रखते थे और इनका विश्वास भी करते थे। इसका एक उदाहरण है।

आगरा जेल से कुछ सत्याग्रही लखनऊ जेल [illegible] अँगरेज सारजेंटों की रेख-देख मे लाये जा रहे थे। [illegible] आकर गाडी बदलनी थी। लखनऊ जाने वाली [illegible] घण्टे की देरी थी। कुछ लोगों ने अँगरेज [illegible]

"गाड़ी में तो अभी देरी है आपकी अनुमति हो तो हम गङ्गा स्नान कर आवें।"

उसने बिना किसी हिचक के कहा—"बहुत अच्छा जाइये, समय पर आ जाइये।"

यह देखिये कितने साहस का, कितने विश्वास का कार्य था। वैसे जेली को कोई भी पुलिस वाला एक निमट को नहीं छोड़ सकता। उसने सजा पाये जेलियों को बिना किसी पुलिस के जाने की आज्ञा दे दी। सबके सब चले गये। जहाँ जेल से बाहर देखने तक को नहीं मिलता था। वहाँ वे सब स्वतन्त्र होकर कानपुर के बाजारों में घूमने लगे। कोई अपने सम्बन्धियों से मिलने गया, कोई गङ्गा स्नान को गया। गाड़ी का समय होते ही सब लौट कर आ गये। सारजेंट ने पूछा—"सब आ गया?"

कुछ ने कहा—"३-४ नहीं आये।"

वह बोला—"कोई परवाह नहीं। हम लिख देगा ४ कैदी भाग गया।" उसने बिना ही गणना किये हुए सबसे कहा—"बैठ जाओ" सब बैठ गये, गाड़ी छूटने ही वाली थी, तब तक वे ३-४ भी आ गये। दौड़कर गाड़ी में बैठ गये।"

इतना अँगरेजों को असहयोगियों पर विश्वास हो गया था। बाहर तो इतना विश्वास था, किन्तु भीतर नित्य ही झगड़े होते, किन्तु जेल के अधिकारियों को भी यह विश्वास था, कि ये जेल से भागेंगे नहीं। अतः वे घबराते नहीं थे। कठोर से कठोर मार्ग अपनाने में भी नहीं हिचकते थे।

जेल में विचित्र होली मनाने की बात तो हम पिछले संस्मरण में लिख ही चुके हैं, उसमें एक बात रह गयी उपद्रव प्रायः हमारे ही आवास से होते थे। क्योंकि हमारे आवास में ५०-६० आदमी थे। उनमें बड़े-से-बड़े नेता, बड़े-से-बड़े तिकड़मी तथा

उपद्रवी थे। हमारे भोजनालय में बहुत पवित्रता बरती जाती थी, उसमें काशी के पं० शिवविनायक मिश्र, बाबू सम्पूर्णानन्दजी पं० लक्ष्मीनारायणजी आदि थे। पं० नरदेवशास्त्री, बरेली के पं० वशीधरजी पाठक आदि और अमरोहा के डा० नरोत्तमशरण, प० नाथूराम वैद्य और ला० बाबूलाल थे। डा० नरोत्तमशरण बहुत ही लम्बे चौड़े और जैसे बने तैसे कार्य साधने वाले थे। विचित्र होली के दिन अस्पताल से या जाने कहाँ से वे तिकड़म से भाँग का सत्त्व ले आये। पान बनाकर उन्होंने उसमें भाँग का सत्त्व लगा दिया। जिन-जिन ने वह पान खाया वे सबके सब नशे मे पागल हो गये। मैं तो ब्रह्मचारी ही ठहरा मैं तो कभी पान या और कोई भी किसी प्रकार की मादक वस्तु स्पर्श ही नहीं करता। किसानों के नेता बाबा रामचन्द्रजी, पं० वंशीधर पाठक, वैद्य नाथूराम, पं० बदरीदत्तजी पांडेय ये लोग तो अचेत ही हो गये। यह कार्य किया तो हँसी में ही गया, किन्तु कारावास के नियम के विरुद्ध, सदाचार तथा शिष्टता के विरुद्ध था। बा० रामचन्द्रजी ने तो इसके प्रायश्चित स्वरूप नौ दिन का उपवास किया। वे भी हमारे ही चौके मे भोजन करते थे। नौ दिन उन्होंने कुछ नहीं खाया। लोगों का तो कहना था, वे पानी भी नहीं पीते थे।

नरोत्तमशरणजी से प्रायः जेल के सभी साथी असंतुष्ट रहते। वे तिकडम बहुत करते थे। देवरिया के जिन अवधविहारी लालजी मुखतार की जेल में मृत्यु हो गयी, उसका जेल में भी बाहर भी आन्दोलन मचा। सरकार की ओर से कीमेंट पर भी डाँट पड़ी उनकी वेतन वृद्धि भी रोक दी गयी। उनके पक्ष में कोई भी साक्षी देने को उद्यत नहीं थे। सुनते हैं इन्हीं डा० नरोत्तम शरण ने उनके पक्ष में साक्षी दी जिससे वे निर्दोष सिद्ध बात जेल भर मे फैल गयी। सभी उन्हें धिक्कारने

सुनते हैं इसी साक्षी के फल स्वरूप वे अवधि से पूर्व ही जेल से मुक्त कर दिये गये।

इस प्रकार की घटनायें प्रायः नित्य ही होतीं, लोग बाहर की बातें सुनने को लालायित रहते। जेल में समाचार पत्र मिलते थे कुछ समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध था उन्हें भी लोग तिकड़म से मंगा लेते थे। सबकी दृष्टि इसी पर लगी रहती कब छूटेंगे। बारदौली में क्या हुआ, मालवीय की गोलमेज समिति में क्या निश्चय हुआ। सत्याग्रह क्यों स्थगित किया गया, मान्टेगू के त्याग पत्र का क्या परिणाम हुआ, मालवीयजी के प्रयत्नों का क्या परिणाम हुआ। इन बातों की चर्चा रहती। मालवीयजी के पुत्र भतीजे और कई परिवार के लोग हमारे साथ थे। मालवीयजी उनसे मिलने लखनऊ जेल में भी आये थे। वे ही एक ऐसे थे जो सरकार और कांग्रेस के बीच में बिचौलिये का काम कर रहे थे। पहिले तो सरकार कुछ नरम पड़ी थी, लोगों को आशा थी, अब छूटे तब छूटे किन्तु पीछे सरकार का रुख कड़ा पड़ गया। दमन नीति बढ़ गयी। सैकड़ों लोगों को प्रथम श्रेणी से हटा कर द्वितीय, तृतीय श्रेणियों में भेजा जाने लगा। नित्य यही सुनते आज अमुक को द्वितीय श्रेणी में फैजाबाद भेजा जा रहा है, आज अमुक को साधारण कैदी बनाकर अमुक जेल में भेजा जा रहा है। जहाँ के जिलाधीश ने जिसके लिये जो श्रेणी लिख दी उसे तुरन्त वहाँ से हटा दिया। पं० नरदेवजी शास्त्री को जब साधारण कैदी बनाकर उनके पैरों में मोटी-मोटी बेड़ी पहिनाकर रायबरेली जेल भेजा गया तो मेरी आँखों में आँसू आ गये। पं० बदरीदत्तजी पांडेय को भी प्रथम श्रेणी से हटाकर देहरादून भेजा गया, बाबा रामचन्द्र को साधारण कैदी बनाकर बरेली केन्द्रीय जेल में भेजा गया। इस प्रकार नित्य ही प्रथम श्रेणी के लोग विभिन्न जेलों में

भेजे जाने लगे। नये लोग तो प्रथम श्रेणी में आते ही नहीं थे। आते भी तो बहुत न्यून सर्वत्र निराशा व्याप्त हो गयी। पं० मोती लालजी ने छूटकर स्थान-स्थान पर जाना आरम्भ कर दिया था। हम अब कुछ ही लोग रह गये थे।

अन्त में मेरे छूटने का दिन आया। मुझे छूटने की कोई प्रसन्नता नहीं थी, किन्तु इतने अच्छे लोगों से वियोग का दुःख था। जैसे परिवार के लोग अपनी पुत्री को विदा करते हैं, उसी प्रकार सभी ने फाटक तक मुझे अत्यन्त स्नेह से विदाई दी। मैं फूट-फूटकर रो रहा था। और भाईयों के नेत्र भी अश्रुपूर्ण थे। बड़े कष्ट से मैं बाहर हुआ। बाहर एक परिचित स्वागत के लिये आये थे। उनसे मैंने प्रयाग के 'इन्डीपेंडेन्ट' में अपने छूटने का तार दिला दिया। जो मेरे खुरजा पहुँचने के पहिले ही छप गया। खुरजा पहुँचा, वहाँ सर्वत्र सन्नाटा था, सब सूना-सूना लगा। सोचा अब गङ्गा किनारे अनूपशहर चलकर महीने भर रहकर चान्द्रायण व्रत करें। इसलिये मैं सबसे विदा लेकर माँ जाह्नवी की क्रोड़ में क्रीड़ा करने अनूपशहर चला गया। अब अनूपशहर का वृत्तान्तअगले संस्मरण में—

छप्पय

सदा एक-सो समय भयो नहिँ कबहूँ होगो।
छिन-छिन बदलत रहत परै सिर जैसो भोगो॥
सब वे ही हरि करत सबनिकूँ नाच नचावैं।
उन्नति-अवनति, ऊँच-नीच वे ई दरसावैं॥
वे ई सुख-दुख-जनम अरु, मृत्यु देत हैं सबनिकूँ।
सबमें जो उनिकूँ लखैं, दीखैं सबमें उनहिँकूँ॥

ज्येष्ठ कृ० ५. २० २९
प्रतिष्ठानपुर-प्रयाग

प्रभुदत्त

प्रजापति द्वारा इन्द्र को पुनः उपदेश

[१६४]

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसेन सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति ॥*

(छा० उ० ८ अ० ६ ख० १ म०)

छप्पय

पथ महँ सोचत इन्द्र छाय तन सरिस अलंकृत।
तन खंडित, अरु अंध, मृतक, छाया हू दतवत ॥
छाया आत्मा नहीं लौटि अज शङ्क सुनाई।
पुनि बत्तिस ममचर्य करयो तब अज बतलाई ॥
स्वप्न शरीरहि आतमा, तन खंडित खंडित नहीं।
इन्द्र सोचि अज तैं कहे, स्वप्न दुःख रुदनहु वहीं ॥

---

* तदनन्तर इन्द्र तो देवताओं के समीप बिना ही पहुँचे छाया पुरुष में उन्हें यह आशंका हुई, कि भली प्रकार शरीर के अलंकृत होने पर छाया भी अलंकृत दीखती है, भव्य वस्त्र धारण करने पर वह भी भव्य वस्त्रधारी तथा परिष्कृत दीखती है उसी प्रकार शरीर के अंधे होने पर अन्धी, काना होने पर कानी और शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जायगी।"

आत्मा को पाप शून्य, जरा रहित, मृत्यु से रहित, शोक से रहित तथा क्षुधा पिपासा से रहित, सत्यकाम और सत्य सकल्प बताया है। इस प्रकार आठ विशेषण देकर आत्मा को अजर, अमर, निर्दोष तथा सभी प्रकार की उपाधियों से रहित सिद्ध किया है। देखा जाय तो छाया में जो पुरुष दिखायी देता है, वह कोई पाप करता हुआ, क्षुधा पिपासा से रहित, शोक मृत्यु से रहित दीखता है, किन्तु शान्ति पूर्वक विचार किया जाय, तो छाया पुरुष में अपना कुछ भी गुण नहीं है। इस शरीर को नङ्गा करके देखो तो छाया नगी दिखायी देगी। शरीर को सजा बजा कर देखो, छाया सजी दिखाई देगी, रोते हुए छाया देखो तो रोती हुई दिखायी देगी, डडा लिये कमर लचाकर बूढे के रूप में छाया देखो, तो छाया बूढी दिखायी देगी, जो दोष शरीर में हैं, वे ही दोष छाया में भी दीखेंगे। जाग्रत पुरुष में जो-जो बातें हैं, वे ही छाया में भी हैं। इसी प्रकार के दोष स्वप्न पुरुष तथा सुषुप्त पुरुष में भी हैं। मर्त्य शरीर में तो ये सब हैं ही, इस प्रकार ब्रह्माजी ने इन्द्र की योग्यता के अनुसार ज्यों-ज्यों उनकी बुद्धि विकसित होती गयी त्यों-त्यों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ उपदेश देते रहे। और अन्त में कारण रूप से आकाश सज्ञक ब्रह्म का उपदेश दिया।

उपदेश करने वाले आचार्य को शिष्य की बुद्धि देखकर उप देश करना चाहिये। सभी पुरुष सम्पूर्ण ज्ञान के अधिकारी नहीं होते। उपदेश पात्रता की परीक्षा करके दिया जाता है। तुम्हारा जितना बडा पात्र होगा, उसमें उतना ही जल आवेगा। उससे अधिक उसमें आ ही नहीं सकता, चाहें आप उस पात्र को तालाब में डुबोइये अथवा कूआ, नदी, बावरी तथा समुद्र में डुबोइये सभी में डुबोने पर बराबर ही जल आवेगा। इसी प्रकार आप में जितनी समझने की योग्यता है, उसके आधार

पर आप चाहे जिस योग्य आचार्य के पास जाओ उतना ही समझ सकोगे। समस्त लोकों के एकमात्र प्रपितामह सम्पूर्ण सृष्टि के कर्ता वेदगर्भ ब्रह्माजी के पास जाकर उनसे उपदेश पाकर असुरराज विरोचन तो शरीर को ही आत्मा मानकर सन्तुष्ट हो गये। किन्तु इन्द्र की बुद्धि सूक्ष्म थी, उनका पात्र बड़ा था, वह ब्रह्माजी के इस उपदेश से सन्तुष्ट नहीं हुए—उनका घड़ा इतने ही ज्ञान से परिपूर्ण नहीं हुआ—इसीलिये वे बार-बार मनन करते हुए पूछते ही गये और अन्त में उनका ज्ञान घट परिपूर्ण हो गया उन्होंने तुर्यावस्था का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया। जब तक जीवन मे यथार्थ वस्तु को जानने की जिज्ञासा जाग्रत नहीं होती। मनन करते हुए उस विषय की विशेष ऊहा पोह नहीं होती,तब तक यथार्थ ज्ञान होता नहीं। यह बात प्रजापति और इन्द्र के सम्वाद से सिद्ध होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! लोक में दैवी और आसुरी दो प्रकार की सम्पत्तियाँ होती हैं, जिनका वर्णन भगवान् ने श्रीमद्-भगवत् गीता में किया है और जिनके सम्बन्ध में पीछे विस्तार से बता चुके हैं। आसुरी प्रकृति के पुरुष भोग और ऐश्वर्य प्रसक्त होने के कारण देहात्मवादी होते हैं, देह को ही आत्मा मानकर उसके लालन पालन तथा उसे परिपुष्ट करने में ही सन्तुष्ट रहते हैं। उनके मन में यह विचार ही नहीं उठता, कि अनित्य क्षण-भंगुर देह नित्य शाश्वत धर्म वाला आत्मा कैसे हो सकता है, इसीलिये विरोचन देह को ही आत्मा मानकर सन्तुष्ट हो गये।

किन्तु वे इन्द्र तो दैवी सम्पत्ति सम्पन्न थे। वे सत्त्व संशुद्धि-युक्त अन्तःकरण की निर्मलता से युक्त थे। वे जाते समय उसी उपदेश का निरन्तर मनन करते जाते थे। वे अभी देवताओं के-

समीप पहुँचे नहीं थे, तभी उनके मन में एक आशका उत्पन्न हो गयी। वे सोचने लगे—"भगवान् प्रजापति ने छाया पुरुष को ही ब्रह्म बताया है। उन्होंने हमें भली प्रकार अलकृत होकर, वस्त्राभूषण धारण कराकर भली भाँति परिष्कृत कराकर जल में हमारा प्रतिबिम्ब दिखाया था। हमने जैसे वस्त्र पहिने थे, जैसे अलकृत हुए थे जैसे परिष्कृत होकर खडे हुए थे, हमारी छाया वैसे ही दिखाई दी थी। उस समय हम प्रसन्न मुद्रा में हँस रहे थे, छाया भी प्रसन्न मुद्रा मे हँस रही थी। हमारे शरीर की वह प्रतिकृति ही थी, किन्तु छाया का स्वभाव सदा अलकृत परिष्कृत होकर प्रसन्न होने का ही तो नहीं है। शरीर यदि अन्धा हो तो छाया भी अन्धी दीखेगी, शरीर यदि काणा हो तो छाया भी काणी दीखेगी। शरीर यदि मल से लिथरा हो तो छाया भी मलावृत्त दिखायी देगी, शरीर का हाथ पैर आदि कोई अग टूटा, छोटा, बडा हो, तो छाया भी तदनुरूप दिखायी देगी। इस शरीर के नष्ट होने पर प्रतिबिम्ब का भी नाश हो जायगा। तब आत्मा में जो अभय, अमृत, अजरा, विशोकादि है वे गुण तो छाया में नहीं है। इसलिये शरीर अथवा उसका प्रतिबिम्ब—छाया पुरुष का—आत्मा होना सभव नहीं। देवताओं ने मुझसे कहा था, आप आत्मज्ञान का उपदेश प्राप्त करके उसका उपदेश हमे भी आकर करना। जब आचार्य के बताये हुए ज्ञान के प्रति मुझे सशय है, तो मैं उन्हें क्या उपदेश करूँगा। इसलिये अब आगे न बढना चाहिये। सर्वप्रथम आचार्य के निकट पुन: जाकर अपनी शका का समाधान कर लूँ, तब देवताओं के समीप जाकर उन्हें आत्मतत्व का उपदेश करूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बीच मार्ग में ही जब इन्द्र ऐसे विचार हुए, उन्हें छाया पुरुष के आत्मा में सदेह

गया, तो फिर वे आगे की ओर स्वर्ग की दिशा में नहीं बढ़े, वे प्रजापति के निकट जाने के लिये लौट पड़े।"

गुरु के समीप रिक्त हस्त न जाना चाहिये ऐसा सदाचार है, अतः वे समित्पाणि होकर हाथ में समिधा फूल फल लेकर प्रजापति के समीप गये। उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करके नम्रता के साथ नीची दृष्टि करके उनके सम्मुख खड़े हो गये।

अपने सम्मुख नम्रतापूर्वक समित्पाणि इन्द्र को खड़े देखकर भगवान् प्रजापति बड़े ही स्नेह के साथ उनसे बोले—"वत्स! इन्द्र! तुम तो अभी-अभी विरोचन के साथ अपने को कृतार्थ मानकर शान्त चित्त से उसके साथ अपने स्थान को चले गये थे। फिर तुम लौट क्यों आये? तुम अब पुनः लौटकर किस इच्छा से यहाँ आये हो?"

यह सुनकर इन्द्र ने कहा—"भगवन्! आपने छाया पुरुष को आत्मा बताया, इस विषय में मुझे एक शंका उत्पन्न हो गयी है, उसके समाधानार्थ मैं पुनः आपकी सेवा में समुपस्थित हुआ हूँ।"

प्रजापति ने कहा—"क्या शङ्का उत्पन्न हुई, उसे मुझे बताओ। मैं उसका समाधान करूँगा।"

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! आपने हमें वस्त्राभूषणों से भली-भाँति अलङ्कृत कराकर, सुवेषधारी बनाकर, सब प्रकार से परिष्कृत कराकर तब हमारी छाया दिखायी, तो हमें देह के सदृश वैसी ही सुन्दर सुसज्जित, शोकरहित प्रसन्न मुद्रायुक्त छाया दिखायी दी। अब शङ्का यह उठी कि यदि शरीर अन्धा हो, काणा हो, खण्डित हो, नष्ट हो गया हो, तो क्या छाया वैसी दिखायी न देगी?"

प्रजापति ने कहा—"छाया भी वैसी ही अवश्य दिखायी देगी।"

तब इन्द्र ने कहा—"तो फिर देह या देह की छाया आत्मा कैसे हो सकती है?"

यह सुनकर प्रजापति हँस पड़े। उन्होंने कहा—"इन्द्र! वह मेरा उपदेश सत्य नहीं था, वह बात तो मैंने तुम्हारी पात्रता की परीक्षा के निमित्त कही थी। देखो, असुरराज विरोचन तो लक्षणा से देह को ही आत्मा मानकर अपने को कृतार्थ समझकर चला गया। उसके मनमें कोई शंका न उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि वह आसुरी प्रकृति का देहात्मवादी है। तुमने जो शङ्का की, वह सत्य ही की, देह अथवा छाया [illegible] नहीं है, अब तुम बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए और रहो। इस बीच में तुम्हारा अन्तःकरण और भी [illegible] हो जायगा, तब मैं तुम्हारे प्रति इस विषय की [illegible] के साथ [illegible] व्याख्या करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"[illegible] प्रजापति की [illegible] शिरोधार्य करके इन्द्र वहाँ [illegible] पालन करते हुए और रहे। [illegible] एक दिन प्रजापति ने उनसे [illegible] वस्तुएँ दिखाई देती हैं, [illegible]

इन्द्र ने कहा—"[illegible] देखता है।

भगवान् प्रजापति ने [illegible] कटा हुआ दिखाई देता है [illegible] स्वप्न पुरुष नहीं मरता। [illegible] और ब्रह्म है।"

ब्रह्माजी के इस उपदेश को सुनकर, अपने को कृतार्थ मानकर, प्रजापति से अनुमति लेकर इन्द्र पुनः देवताओं के समीप स्वर्ग लोक की ओर चल दिये। मार्ग में वे इसी विषय पर मनन करते जाते थे। वे सोचने लगे प्रजापति ने स्वप्न पुरुष को ब्रह्म बताया है। स्वप्न पुरुष वैसे है तो सूक्ष्म। शरीर अंधा हो, तो भी स्वप्न पुरुष अंधा नहीं होता। शरीर काणा हो तो भी स्वप्न शरीर काणा नहीं होता। यद्यपि छाया पुरुष की भाँति यह शरीर के दोष से दूषित नहीं होता, स्वप्न में शरीर का कोई वध करदे, नष्ट कर दे, तो भी स्वप्न पुरुष नष्ट नहीं होता, मरता नहीं। वह साक्षी होकर देखता ही रहता है। तथापि दुख देने पर स्वप्न पुरुष दुखी होता है, भय का प्रसंग आने पर भयभीत हो जाता है। स्वप्न में कोई इसे मारता है, ताड़ित करता है, तो इसे दुःख होता है, कोई भगाता है, तो भयभीत होकर भागता है, परिजन प्रियजनों का वियोग होने पर दुःख का अनुभव करता है, रुदन करता है। इसलिये इस स्वप्नात्मदर्शन पुरुष में आत्मा के जो अमृत, अभय अशोकादि गुण हैं, वे इसमें नहीं हैं। अतः स्वप्न पुरुष परब्रह्म नहीं हो सकता।" ऐसा विचार कर इन्द्र बीच में से ही पुनः लौट पड़े। पुनः वे समित्पाणी होकर प्रजापति की सेवा में समुपस्थित हुए। उन्हे पुनः आया हुआ देखकर ब्रह्माजी ने उनसे फिर वही प्रश्न किया—"इन्द्र! तुम तो शान्त चित्त होकर-शंका का समाधान प्राप्त करके गये थे, अब फिर क्यों लौटकर आये?"

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! फिर भी एक शंका रह ही गयी।"

प्रजापति ने कहा—"कौन-सी शंका रह गयी, उसे भी कह डालो।"

इन्द्र ने कहा—"प्रभो ! यह तो सत्य है, कि स्वप्न पुरुष शरीर के अंध रहने पर अनन्ध रहता है, शरीर के काने होने पर यह काणपने से रहित होता है, शरीर के वध से इसका वध भी नहीं होता। किन्तु मारने ताडने का, स्वजन वियोग का, गाली तथा कटु वचन का प्रभाव तो स्वप्न पुरुष पर भी पड़ता है, वह दुखी चिंतित होता है, रोता झींकता भी है।" जब यह सब है तो स्वप्न पुरुष आत्मा अथवा ब्रह्म कैसे हो सकता है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े। वे हँसते हुए बोले—"इन्द्र ! तुम्हारा कहना यथार्थ है। यह जो मैंने स्वप्न पुरुष को आत्मा बताया, यह मेरी व्याख्या यथार्थ नहीं है। तुम्हारी पात्रता की परीक्षा हेतु ही मैंने ऐसे कह दिया। अब इस आत्मातत्त्व की तुमसे दूसरे ढँग से व्याख्या करूँगा। तुम बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मेरे समीप और निवास करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! भगवान् प्रजापति की आज्ञा से इन्द्र ने विधि विधान पूर्वक बड़ी निष्ठा से बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके ब्रह्माजी के पास और निवास किया। जब बत्तीस वर्ष पूरे हो गये, तब एक दिन लोक पितामह ब्रह्माजी ने इन्द्र से कहा—"जाग्रत में तो विश्व को देखता है, स्वप्न में स्वप्न पुरुष शरीर से तटस्थ होकर स्वप्न देखता है। सुषुप्ति अवस्था में प्रगाढ़ निद्रा के समय-आनन्द का अनुभव कौन करता है ?"

इन्द्र ने कहा—"उस समय न तो विश्व की वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं और न स्वप्न का ही अनुभव होता है उस समय आनन्द की अनुभूति सुषुप्त पुरुष ही करता है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"बस, वह सुषुप्त पुरुष ही अमृत, अभय, ब्रह्म है। क्योंकि उस समय जाग्रत, स्वप्न से परे केवल आनन्द का ही अनुभव वह करता है। वह साक्षी है।"

ब्रह्माजी के इस उपदेश को सुनकर इन्द्र पुनः शान्त चित्त से स्वर्ग की ओर चल दिये। मार्ग में वे बार-बार इसी विषय का मनन करते जाते थे। उन्होंने सोचा—"प्रजापति ने सुषुप्ति अधिष्ठातृ पुरुष को ब्रह्म बताया है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में तो यह "मैं हूँ" यह भी ज्ञान उसे नहीं रहता। जब अपना ही ज्ञान नहीं रहता तो अन्य भूतों का ज्ञान तो होगा ही कैसे? सुषुप्ति अवस्था एक प्रकार से मृतक अवस्था है-विनाश की अवस्था है-उसमें अमृत, अभय और परिज्ञान का अभाव है। इसमें मुझे योग्य इष्ट फल-दृष्टि गोचर नहीं होता।"

ऐसा सोचकर वे पुनः समित्पाणि होकर ब्रह्माजी की सेवा में समुपस्थित हुए। ब्रह्माजी ने इनसे पुनः पूछा—"इन्द्र! और भी कोई शंका रह गयी क्या? अब के तो तुम पूर्ण शान्त चित्त गये थे?

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! सुषुप्ति अवस्था ज्ञान की नहीं, अज्ञान की अवस्था है। इस अवस्था में तो यह भी ज्ञान नहीं होता कि "यह मैं हूँ।" अन्य भूतों का ज्ञान तो रहता ही नहीं। विनाश को प्राप्ति-सी अवस्था वाले सुषुप्त पुरुष को आप अमृत, अभय, ब्रह्म क्यों बताते हैं। इसमें तो मुझे अपना इष्ट फल दृष्टि गोचर होता हुआ जान नहीं पड़ता।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले—"इन्द्र! अब हम इस विषय को स्पष्ट बतायेंगे सुषुप्त पुरुष को ब्रह्म तो मैंने तुम्हारी धारण शक्ति—ज्ञान परीक्षा के निमित्त बताया। इस विषय को तुम्हें मैं विस्तार के साथ पुनः समझाऊँगा। आत्मा इससे भिन्न नहीं है तुम पाँच वर्ष तक अभी और ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके मेरे पास रहो। अब के तुम्हें १०१ वर्ष हो जायँगे। इतने दिनों

में ब्रह्मचर्य तप से तुम्हारा अन्तःकरण सर्वथा परिशुद्ध हो जायगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् ब्रह्मा की आज्ञा से इन्द्र ने पाँच वर्ष तक और ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके नियम संयम पूर्वक निवास किया। इस प्रकार सब मिला कर १०१ वर्ष हो गये। इसी से लोक में यह कहावत प्रचलित है, कि इन्द्र ने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके ब्रह्माजी के समीप एक सौ एक वर्ष तक वास किया। जब पूरे १०१ वर्ष हो गये तब एक दिन ब्रह्माजी ने इन्द्र से कहा—"देखो, इन्द्र तुम्हें मैं रहस्य की बात बताता हूँ। शरीर क्या है?"

इन्द्र ने कहा—"यह पाँच भूतों का समूह ही शरीर है।"

प्रजापति ने कहा—"सरीर तो जड़ है इसे प्रिय अप्रिय का ज्ञान कैसे होता है? जड़ को तो सुख-दुख नहीं होना चाहिये।

इन्द्र ने कहा—"शरीर को तो दुख सुख-अप्रिय नहीं होता, किन्तु जब इसमें जीवात्मा का सम्बन्ध हो जाता है तब यह दुख-सुख, प्रिय अप्रिय की अनुभूति करने लगता है।"

प्रजापति ने कहा—"तुम्हारा कहना यथार्थ है। शरीर तो मरणशील नाशवान् है ही। शरीर तो मृत्यु से ग्रस्त ही है। यह शरीर आत्मा का अधिष्ठान है—आयतन है, रहने का स्थान है। जब आत्मा शरीर हो जाता है, किसी भी शरीर को ग्रहण करके उसमें अपनापन स्थापित कर लेता है, तो वह निश्चय ही प्रिय-अप्रिय सुख-दुख से ग्रस्त हो जाता है। आत्मा जब तक शरीर की उपाधि से युक्त रहेगा, तब तक उसके प्रिय अप्रिय का विनाश न होगा। जहाँ शरीर की उपाधि त्यागकर आत्मा अशरीर हुआ नहीं,कि उसे फिर सुख-दुख प्रिय-अप्रिय स्पर्श भी नहीं कर सकते जितना भी दुःख है प्रिय अप्रिय का भान है यह सब शरीर

न्ध से ही है। आत्मा जहाँ शरीर से असम्बद्ध हो गया फिर वह निर्द्वन्द्व निराकार, अविनाशी, अमृत, अभय हो जाता है। देखो, वायु अशरीर है। वायु को कोई देखता नहीं स्पर्श से जानते हैं। अभ्र बादल भी अशरीर हैं। जो बिजली चमकती है उसका भी कोई शरीर नहीं होता, ये जो घन आकाश में गर्जते तर्जते हैं उस मेघ ध्वनि का भी कोई शरीर नहीं। वायु, अभ्र, विद्युत तथा मेघ ध्वनि ये सब आकाश में से ही समुत्थान करते हैं आकाश में से उठते हैं फिर सूर्य की परम ज्योति को प्राप्त करके अपने प्रथम स्वरूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे वायु एक है, वही अपने कारण द्रव्यों को पाकर १-आवह, २-प्रवह, ३-उदहास, ४ महान, ५-वरीवह, ६-विनह और ७-परावह इन सात नामों से विख्यात हो जाती है। जब अपने-अपने कारण द्रव्यों से पृथक् होकर-कार्यावस्था त्याग देती है, तो पुनः अपने वायु रूप में अवस्थित हो जाती है। अभ्र उसे कहते हैं जब बादलों में जल भरा हुआ हो, जल भरे अभ्र जब वर्षोन्मुख होते हैं। वर्षा करने को उद्यत हो जाते हैं, तब उनकी मेघ सज्ञा हो जाती है जब अभ्र अपने कारण द्रव्य जल आदि को प्राप्त करके मेघ बनकर बरस जाते हैं, जब वे जल को बरसा देते हैं अपनी कार्यावस्था को त्याग देते हैं तो पुनः अभ्र के अभ्र रह जाते हैं। अपने कारण भूत स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं। जैसे विद्युत् है, उसका अपना स्वरूप है, जब बादलों के सघर्ष से अपने कारण द्रव्य को पाकर चमकने दमकने लगती है, हम कहते हैं बिजली चमक रही है। जब बिजली चमक दमक रूप जो कार्य है, उन्हें छोड कर अपने तेज रूप में अवस्थित हो जाती है ऐसे ही मेघों के गर्जन है। कारण को पाकर गर्जने लगते हैं। गर्जन को छोड़कर शांत होकर चुप हो जाते हैं तो आकाश से उठकर सूर्य की परम

ज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा इस पाञ्चभौतिक कुत्सित सम्प्रसाद देह से पृथक् होकर परम ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। तब वह देह की उपाधि का परित्याग कर देता है। वही उत्तम पुरुष है, शरीर बन्धन से पृथक् हुआ यह जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हुआ बिना शरीर के केवल अशरीरी होकर हँसता है, भाँति भाँति की क्रीडायें करता है, बिना शरीर के ही स्त्री, यान और ज्ञाति जनों के साथ सपर्क से जो आनन्द होता है उसका मन से ही अनुभव करता है। जिस पिछले शरीरों का वह परित्याग कर आया है, जिनसे सम्बन्ध विच्छेद कर आया है, उनका स्मरण भी नहीं करता। फिर भी अशरीरी होकर सब ओर स्वच्छन्द विचरण करता रहता है।

शौनकजी ने पूछा—'देह से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित होकर मुक्तात्मा पुरुष ब्रह्मलोक में सुखानुभूति करता है, वैसा इस लोक में शरीर के रहते क्यों नहीं करता।"

सूतजी ने कहा—"उस समय शरीर के ससर्ग के कारण जीवात्मा कर्मपाश में आबद्ध रहता है। वह जिस योनि में जाइये देह के बन्धन में बँधा रहेगा। जैसे कोई बैल है गाडी में जुता है, कोई घोडा है रथ में जुता है, तो वे जुते हुए घोडे बैल जहाँ जहाँ जायँगे रथ तथा गाडी उनके पीछे पीछे जायगी। जब वे रथ या गाडी से उन्मुक्त कर दिये जायँ, तब स्वच्छन्द हो जायँगे, फिर उनके पीछे कोई बन्धन नहीं रहेगा। इसी प्रकार ससारी दशा में प्राणसहचारी जीवात्मा कर्मपाश के वशीभूत होकर इस शरीर रूप रथ में जुता हुआ है। जब तक इसका शरीर से सम्बन्ध रहेगा, तब तक शरीर सम्बन्धी प्रिय अप्रिय से जुटा ही रहेगा। शरीर से पृथक् होवे हो स्वच्छन्द होकर विचरण करेगा।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आत्मा को हम जाने कैसे, कि यह आत्मा है। इसकी अनुभूति कैसे हो?

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन! लोक में किसी से पूछो यह घोड़ा, वाहन किसका है? तो वह कहेगा 'मेरा है' ये हाथ पैर किसके हैं, तो कहेगा मेरे हैं। मेरे पैर मे चोट है, मेरे हाथ उठते नहीं, मेरी आँख से दीखता नहीं, मैं कानों से सुनता नहीं,-मेरा मन स्वस्थ नहीं, मेरे चित्त में विक्षेप है, मेरी बुद्धि विभ्रमित हो गयी है। इन सब मे जो मेरा है वही आत्मा है। शरीर आत्मा नहीं, इन्द्रिय आत्मा नहीं, अन्तःकरण आत्मा नहीं। ये सब जिसके उपकरण हैं, इन सबके द्वारा जो अनुभव करता है, इन सबका जो स्वामी है वही आत्मा है।

देखो, जिसमें यह नेत्र द्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है। अर्थात् नेत्रों में जो रूप को प्रकाशित करके उस नेत्र द्वारा देखता है वह चाक्षुष पुरुष है। रूप ग्रहण करने के लिये चक्षु उसका उपकरण है।

जो यह अनुभव करता है, मैं अमुक गन्ध को सूघूँ वही घ्राणात्मा है, उसी के गन्ध ग्रहण करने का उपकरण नासिका है। अर्थात् चक्षु नासिका आदि इन्द्रियाँ आत्मा नहीं, जो इनके द्वारा देखता तथा घ्राणादिका अनुभव करता है, वही आत्मा है। जो यह अनुभव करता है, मैं वाक्य उच्चारण करूँ, वाणी के द्वारा जो बोलता है वही आत्मा है। वाग् इन्द्रिय उसी के शब्दोच्चारण का उपकरण मात्र है। जो यह अनुभव करता है, मैं सुनूँ और श्रवणेन्द्रिय के द्वारा जो सुनता है वह आत्मा है श्रोत्रेन्द्रिय उस आत्मा के शब्द श्रवण का उपकरण है।

जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ और मन के द्वारा जो मनन करता है वह ही आत्मा है, मन उसके मनन करने का

उपकरण है। मन ही उसका दिव्य चक्षु है, उस दिव्य नेत्र के द्वारा आत्मा भोगों को देखता है, रमण करता है।

दहर आकाश में स्थित वह दहरात्मा ब्रह्मलोक में समस्त भोगों को देखता है, उनमें रमण करता है। उसी आत्मा की देवता गण उपासना करते हैं। इस आत्मोपासना का फल यह है, कि देवताओं को सम्पूर्ण सुखद लोक तथा समस्त आनन्द दायक भोग प्राप्त हैं। इन्द्र इस आत्म ज्ञान को प्राप्त करके स्वर्ग में गये वहाँ जाकर उन्होंने इसका उपदेश देवताओं को दिया। इसी से वे अशरीरी होकर पुण्यलोक तथा दिव्य भोगों को भोगते हैं।

देवताओं की बात छोड़ दो। जो भी साधक शास्त्र की विधि से आचार्य के उपदेशानुसार आत्म साक्षात्कार करेगा। आत्मा इस स्वरूप का साक्षात् रूप से अनुभव करेगा। वह भी सम्पूर्ण पुण्य लोक तथा दिव्य भोगों को प्राप्त करेगा। यह उपदेश देवराज इन्द्र को प्रजापति ने दिया है, ब्रह्माजी ने ऐसा कहा है। निश्चय ही यह ब्रह्माजी द्वारा कथित उपदेश है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने भगवान् प्रजापति द्वारा इन्द्र के प्रति कहा हुआ उपदेश आप से कहा, अब आगे जैसे श्याम ब्रह्म से शबल ब्रह्म की प्राप्ति और आकाश नामक ब्रह्म का उपदेश देकर आत्मज्ञान की परम्परा बताकर इस छांदोग्य उपनिषद की समाप्ति कर दी जायगी। इसका वर्णन मैं आप से आगे करूँगा।"

छप्पय

लौटि इन्द्र पुनि शक प्रजापति आइ सुनाई।
ब्रह्मचर्य बत्तीस करयो तब कथा सुनाई॥
पुरुष सुषुप्ति हि आत्म इन्द्र पुनि त्रुटि दिखलाई।
होइ नहिं निज ज्ञान विनाश समान लखाई॥
आत्मा अद्वय एकरस, इन्द्रिय तिहिं उपकरण सब।
आत्मा को साक्षात करि, प्राप्तलोक अरु भोग सब॥

(२)

मनन करूँ जो जानि, वही आत्मा है भाई।
दिव्य नेत्र मन तासु भोग भोगे सुखदाई॥
सुरगन भोगें भोग लोक सुख इहि तें पावें।
साधक अनुभव करें, दिव्य ते हू है जावें॥
आत्म-उपासन प्रजापति, देवराज के प्रति कही।
शबल और आकाश की, कहों उपासन जो रही॥

इति छादोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय मे नवम, दशम, एकादश और द्वादश खण्ड समाप्त।

—०—

श्याम शबल, आकाश ब्रह्म और आत्मज्ञान फल

[१६५]

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ॥ ❀

(छा० उ० ८ प्र० १३ ख० १ म०)

छप्पय

श्याम ब्रह्म तैं शबल ब्रह्म कूँ प्रापत होऊँ।
शबल ब्रह्म तैं श्याम ब्रह्म में तन्मय होऊँ॥
घोड़ा रोमनि झारि तुरत निरमल ह्वै जावै।
चन्द्र राहु मुख निकसि रूप अपनो निज पावै॥
त्यों हौं पापनि झारिकें, निष्कलमष निष्पाप बनि।
ब्रह्मलोक कूँ प्राप्त करि, तजि नर तन ह्वै जाउँ धनि॥

❀ मैं श्याम से शबल को प्राप्त होऊँ और शबल से श्याम को। घोड़ा जैसे रोमों को झाड़कर निर्मल बन जाता है, वैसे ही मैं पापों को परित्याग करके राहु के मुख से जैसे चन्द्रमा छूटकर निज स्वरूप को प्राप्त करता है वैसे ही चन्द्रमा के समान मैं भी शरीर को त्यागकर कृतात्मा होकर नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होऊँ।

पृथ्वी के कण-कण के संस्कार इस शरीर और मन में व्याप्त हो जाते हैं। शरीर संकारों के ही ऊपर टिका है। माता-पिता के—जन्म स्थान के—संस्कार शरीर के रोम-रोम में व्याप्त हो जाते हैं। जीव माता के स्तनों से दुग्ध पान करता है, तो वह केवल दूध ही नहीं पीता। माता के हृदयस्थ भावों का भी पान करता है, माता के हृदयस्थ सस्कार भी दूध के साथ उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। माता का स्नेह भी उसके रोम-रोम में समा जाता है। *माता के साथ ही उत्पत्ति स्थान का प्रेम भी उसके शरीर में* छा जाता है। जन्मस्थली—जन्मभूमि—के प्रति आकर्षण होना भी जीव का स्वाभाविक धर्म है। जननी और जन्मभूमि में प्रियता होना स्वाभाविक है।

जिसका जिसमें प्रेम होगा, उसी को जीव प्राप्त होगा, अतः प्रजावान् पुरुष प्रजावान् लोकों को ही प्राप्त होते हैं, वे जन्म-मरण के चक्कर से छूट नहीं सकते। क्योंकि प्रजा के प्रति और प्रजा के उत्पत्ति स्थान के प्रति उसका अनुराग हृदय में बना ही रहता है, इसलिये उन्हें मातृगर्भ में वास करना पडता है। किन्तु उपासना द्वारा जिनका प्रजाओं के प्रति और प्रजा प्रजनन स्थान के प्रति वैराग्य हो गया है, उनके प्रति अरुचि उत्पन्न हो गयी है, उन्हें पुनः शरीर धारण नहीं करना पडता। वे प्रजावान् लोकों को—भू-भुव, स्व और महः इन लोकों को पार करके—प्रवृत्ति मार्ग से प्राप्त लोकों को नाघकर, अप्रजावान लोकों को अपुनरावृत्ति—तप, सत्य और ब्रह्म लोकों को प्राप्त होते हैं, जहाँ से प्रायः पुनः लौटकर आना नहीं पड़ता। जन्म होता है, जन्मस्थान—प्रजनन स्थली—के प्रेम के कारण अतः साधक प्रभु से यही प्रार्थना करता है, कि उसके प्रति मेरा अनुराग न रहे। इस बिना दाँत के खाने वाली—पके बेर के से वर्ण वाली, शशि प्रभश्वेत वर्ण वाली धातु

को भक्षण करने वाली स्थली को मैं प्राप्त न होऊँ। न उसमें से निस्सरण करूँ और न उसमें विन्दु रूप से प्रवेश ही करूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तपस्या से, स्वाध्याय से और ईश्वर प्रणिधान भगवत् भक्ति से प्रभु की प्राप्ति होती है। तपस्या कहते हैं, ससारी भोगों के परित्याग को। स्वाध्याय कहते हैं वेद मन्त्रों के जप को और ईश्वर प्रणिधान कहते हैं भगवत् विश्वास को। ईश्वर है यह बात अन्तःकरण में भली-भाँति बैठ जाय, घुस जाय। ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास हो जाय। इस प्रकार जो भगवान् पर विश्वास करके, संसारी भोगों का परित्याग करके वेद मन्त्रों का निरन्तर जप करता रहेगा वह अवश्य ही कृतार्थ हो जायगा। उसे नित्य धाम ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी, जहाँ से फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।"

मन्त्र तीन प्रकार के होते हैं, एक तो ऐसे मन्त्र है जिनका प्रयोग केवल जप कर्म में ही होता है। उनके अर्थ का विशेष महत्व नहीं। उनके उच्चारण मात्र से ही फल होता है। दूसरे ऐसे होते हैं, जिनके अर्थ के अनुसार यज्ञादि क्रियायें की जाती हैं। तीसरे ऐसे होते हैं, जिनका जप भी किया जाता है, उस मन्त्र के अर्थ की भी जप के साथ-साथ भावना की जाती है। 'श्यामाच्छ-वलम्' ऐसा ही मन्त्र है। इस मन्त्र को इसके अर्थ की भावना सहित शुद्धचित्त से नियम संयम पूर्वक जपना चाहिये। मन्त्र तो ऊपर लिखा ही है अब इसके अर्थ को बताते हैं।

"तैत्तरीय आरण्यक में परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप जैसे नील जल में विद्युत् लेखा के समान प्रकाशवान् हो ऐसा बताया है।" जल भरे नूतन मेघों के समान परमात्मा का स्वरूप है। जैसे कोई नील मणि को मक्खन में घिसकर उसके बीच में बिजुली को बैठा दे। ऐसा हमारे श्यामसुन्दर का स्वरूप है। अत्यन्त श्याम

और प्रभावान् होने से उनमें हरेपन की झलक आ जाती है। श्रीराधिकाजी का वर्ण पीली चमेली के समान पीली चंपा के समान है श्यामसुन्दर काले हैं उन पीली प्रियतमा की छाँई काले मे पड़ने से हरापन आ जाता है। आह्लादिनी शक्ति के संसर्ग से उनका अन्तःकरण हरा हो जाता हैं। श्याम होने से दूर्वा से अतसी के पुष्प से, जल भरे मेघों से, श्याम तमाल से श्यामसुन्दर की उपमा दी जाती है। वे श्यामसुन्दर हृदय प्रदेशों में विराजमान हैं। श्याम यह बहुत ही गाढ़ा गंभीर वर्ण है। इसी प्रकार हृदय मे रहने वाले श्यामसुन्दर अत्यन्त ही दुर्गम हैं। अब एक ब्रह्मलोक मे रहने वाले ब्रह्म हैं। वे भी शबल वर्ण के हैं। शबल भी काला ही वर्ण है, किन्तु सघन उज्वल काला है। उसमें दिव्य भोग हैं। तो मैं हृदयस्थ श्याम ब्रह्म की उपासना करते-करते शरीर त्याग के अनन्तर ब्रह्म लोक को-शबल ब्रह्म को-प्राप्त होऊँ यह साधक की विनय है। फिर ब्रह्मलोक से-शबल ब्रह्म से- अशरीरी जो श्याम हैं, जहाँ किसी प्रकार के भोग नहीं, उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म को प्राप्त होऊँ।

साधन काल में शरीर रहते कर्मानुसार अनेक पाप रहते हैं, साधना द्वारा उन सभी पापों से छूट कर मैं निष्कलमष निर्मल अन्तःकरण वाला हो जाऊँ, किस प्रकार? जिस प्रकार घोड़ा, भूमि पर लोटकर मैला हो जाता है, फिर फुरहुरी लेकर-रोमकंपन करके-शरीर में लगे धूलि कणों को झाड़कर तथा अपने श्रम को मिटाकर निर्मल बन जाता है। उसी प्रकार हृदयस्थ श्यामसुन्दर को जानकर पाप पुण्यों को धर्माधर्म रूप कर्मों को झाड़कर मैं भी निर्मल बन जाऊँ।

दूसरा दृष्टान्त देते हैं, जैसे पर्व पर राहु चन्द्रमा को ग्रस लेता है, किन्तु राहु के पेट तो है नहीं केवल मुख-ही-मुख है नीचे से

चन्द्रमा निकल आते हैं। जिस समय चन्द्रमा को राहु ग्रस लेता है उस समय वे तमोमय दिखायी देते हैं, जब वे उसके मुख से निकल आते हैं, तो उससे पृथक् हो जाते हैं पुनः प्रकाशवान् होकर दमकने लगते हैं। इसी प्रकार पाप-पुण्य-धर्म-अधर्म का सम्पूर्ण अनर्थों का आश्रय यह शरीर ही है, जब इस शरीर द्वारा ध्यान धारणा करके मैं कृतार्थ होकर-पुनः इस शरीर का परित्याग करके शबल ब्रह्म को-ब्रह्मलोक को-प्राप्त करके प्रकाशित होऊँ। मैं विशुद्ध बनकर ब्रह्म लोक को प्राप्त होता हूँ, हूँ, ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ।" यही इस 'श्यामाच्छबलम्' मन्त्र का अर्थ है। जो इस अर्थ का मनन ध्यान करता हुआ इस मन्त्र को जपता है उसे निश्चय ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।"

यह तो हुई श्याम और शबल उपासना अब दूसरी कारण रूप से आकाश ब्रह्म की उपासना बताते हैं। श्रुतियों में स्थान-स्थान पर आकाश को ब्रह्म कहा है। (यस्याकाशःशरीरम्, खं ब्रह्म इत्यादि) वह आकाश नाम से प्रसिद्ध आत्मा नाम रूप का व्याकर्ता है। अर्थात् संसार में जितने भी नाम और रूप हैं, उन सब का निर्वाह इस आकाश ब्रह्म से ही होता है। परब्रह्म ने स्वयं ही कहा है—"मैं इस जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश करके नाम रूपों को प्रकाशित करता हूँ।" ऐसा यह नाम रूपों का प्रकाश करने वाला आकाश ब्रह्म है। जितने नाम तथा रूप हैं सभी इस आकाश ब्रह्म के अन्तर्गत हैं। वही अमृत है, वही आत्मा है। जैसे आकाश अपने में सब को धारण करते हुए भी सबसे असंस्पृष्ट है, उसी प्रकार नाम रूपों को धारण करते हुए भी सबसे असंस्पृष्ट है, अछूता है, जैसे कमल पत्र जल में रहता हुआ भी जल से पृथक् है।

मैं उन्हीं प्रजापति के सभागृह को प्राप्त होता हूँ। जिसे यश

कहते हैं वह यश स्वरूप आत्मा मैं ही हूँ। मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो द्विजाति हैं, उनका उपासना रूप जो यश है वह यश मैं ही हूँ, संसार में जितने भी यश हैं, उन सब यशों का भी यश मैं हूँ।

मेरी एक ही प्रार्थना है, जो प्रजा का द्वार है पके बेर के सदृश जिसका रोहित वर्ण है, जो पिच्छल है, जो बिना दाँतों के श्वेत वर्ण के वीर्य को भक्षण कर जाती है, उस लिन्दु को मैं प्राप्त न होऊँ, उससे मैं बचा रहूँ। क्योंकि उससे बचने पर ही अप्रजावान अमृत, अपुनरावर्ती अशोक लोक प्राप्त हो जा सकते हैं। लिन्दु के संसर्ग से तो बार-बार जन्मना मरना पड़ता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इन आठ अध्यायों में यह छान्दोग्य उपनिषद् समाप्त हुई। ऐसा प्राचीन सदाचार है, कि जो ज्ञान जिसके द्वारा प्राप्त हो उसकी परम्परा बना देना चाहिये। उसके नियम तथा फल का भी वर्णन कर देना चाहिये। इसलिये इस आत्मज्ञान की परम्परा बताते हैं।"

इस आत्मज्ञान उपासना रूप उपनिषद् का उपदेश लोक पितामह ब्रह्माजी ने अपने पुत्र प्रजापति कश्यपजी के प्रति किया, प्रजापति कश्यपजी ने इसे मनु महाराज को दिया। और मनु ने ही इसका प्रचार प्रजाजनों में किया। उन्होंने योग्य अधिकारियों को इसे सुनाया। इसलिये साधक को चाहिये कि पहिले तो ब्रह्मचर्यादि व्रत नियमों को धारण करके नियमानुसार गुरु सुश्रूषा आदि कर्मों को पालन करते हुए गुरु कुल में वास करे। यदि ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने की इच्छा हो तो जीवन भर गुरुकुल में वास करे अथवा वनवास करके तपस्या करे अथवा सर्वस्व त्यागकर प्रभुपरायण हो जाय।

यदि उपकुर्वाण ब्रह्मचारी हो, गृहस्थाश्रम में जाने की इच्छा हो तो स्नातक बन के–समावर्तन संस्कार कराकर–कुटुम्बी बन जाय। गृही धर्म का धर्मपूर्वक पालन करे फिर परम पवित्र स्थान में स्वाध्याय प्रवचन में स्थित होकर कालयापन करे। स्वाध्याय द्वारा अन्तःकरण को पावन बनावे। प्रवचन द्वारा पुत्र तथा शिष्यों को धार्मिक शिक्षा दे। इन्द्रियों को सदा वश में रखे। अन्तःकरण को विशुद्ध बना ले। शास्त्रीय आज्ञाओं का पालन करे, कार्य और अकार्य में शास्त्रों को ही प्रमाण माने। कभी प्राणियों की हिंसा न करे। जो इस प्रकार नियम संयम पूर्वक शास्त्रीय नियमों का पालन करता हुआ जीवन यापन करता है, वह शरीर त्याग के अनन्तर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। वह सब ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है, जहाँ से प्राणी पुनः लौटकर इस लोक में नहीं आता।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस आत्मज्ञान की परम्परा बताकर, इसके पालन के नियमों का उपदेश करके तथा इसकी साधना से साधक को क्या फल मिलेगा इसका वर्णन करके यह छान्दोग्य उपनिषद् समाप्त हुई। मुझसे जो टूटा फूटा अर्थ बना वह मैंने आप सबको सुना दिया। आप सब विद्वान् हैं वेदों में पारगत हैं, मुझसे यदि कोई त्रुटि रह गयी हो, तो उसे आप अपने सौजन्य से सम्हाल लें अब आगे मैं बृहदारण्यक उपनिषद् के अर्थ को आप सबसे कहूँगा। जैसे शांतिचित्त से आपने इसे श्रवण किया वैसे ही आशा है आप बृहदारण्यक उपनिषद् के अर्थ को भी सुनेंगे।"

छप्पय

(१)

मह बिदित आकाश नाम रूपनि अन्तर्गत ।
अमृत आतमा वही प्रजापति घर हौं प्रापत ॥
मह क्षत्र अरु वैश्य रूप यश आत्मा पाऊँ ।
यश को यश हौं सतत उदरमहँ पुनि नहिँ आऊँ ॥
बिना दाँत भक्षण करै, पिच्छल लोहित वर्ण सुनि ।
मातु भगवती चिन्ह तव, प्राप्त कबहुँ होऊँ न पुनि ॥

(२)

उपनिषद हु छान्दोग्य दयी अजने परजापति ।
तिनि पुनि मनु कूँ दई कही मनु निज परजा-प्रति ॥
जो वेदनि पढ़ि आइ गृही धनि नियमनि साधत ।
प्रवचन अरु स्वध्याय करें नहिँ प्राणिनी पीड़ित ॥
धारे उपनिषदहिँ विमल, जीवन मरि व्रत तें रहै ।
मह लोककूँ प्राप्त करि, लौटे नहिँ अम्मृत लहै ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय में तेरह, चौदह और पन्द्रह खण्ड समाप्त छान्दोग्य उपनिषद् समाप्त ।

अथ बृहदारण्यकोपनिषद्

(१९६)

बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम् ॥*

(श्रीसुरेश्वराचार्यजी)

छप्पय

उपनिषदनिमहँ बृहत् अरथ हू में जो भारी।
यजुरवेद की सुखद काण्व शाखा सुखकारी॥
ब्राह्मण वाजसनेयि सुअन्तरगत इहि गरिमा।
बटु अरण्य में पढ़त यही आरण्यक महिमा॥
ज्ञान उपासन विविध विधि, बहु उपदेशनि तें भरी।
बृहदारण्यक उपनिषद्, प्रारम्भ हु प्रभु-वर करी॥

दश उपनिषदों में ही नहीं अब तक जितनी उपनिषदें प्राप्त हैं, उन सबमें बृहदारण्यक उपनिषद् सबसे बड़ी है। यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की काण्व संहिता के कण्व शतपथ ब्राह्मण के सत्रहवें काण्ड के अन्तर्गत है। इस उपनिषद् में ६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय के विभाग जैसे छांदोग्य उपनिषद् में काण्ड नाम से किये हैं। यहाँ ब्राह्मण नाम से किये हैं। प्रथम अध्याय

---

* इस उपनिषद् का नाम बृहदारण्यक क्यों पड़ा? इसलिये कि ग्रंथ का कलेवर भी सब उपनिषदों की अपेक्षा बृहद है और अर्थ की दृष्टि से भी यह बृहत् है। अरण्य में अध्ययन किये जाने से इसे आरण्यक कहते हैं।

में ६ ब्राह्मण हैं। द्वितीय में ६, तृतीय में ९, चतुर्थ में ६, पंचम में १५ और छठवें अध्याय में ५ ब्राह्मण हैं। जिनमें भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा अनेकों उपासना तथा ज्ञानमयी गाथायें हैं।

वेद तथा पुराण अनादि हैं। वेदों का भाव पुराणों के पढ़े बिना जाना नहीं जा सकता। इतिहास और पुराण ज्ञान से ही वेदों का अर्थ परिवृंहण किया जाता है। जो अल्प श्रुत हैं, जिन्होंने महाभारत, रामायणादि इतिहास तथा अठारह पुराण महापुराण, उपपुराण औपपुराणों को नहीं पढ़ा है और वेदों का अर्थ करने बैठता है, तो उससे वेद भयभीत हो जाते हैं, कि यह अर्थ का अनर्थ करके मेरे ऊपर प्रहार करेगा। इसलिये पुराण ही वेदों के भाव को खोलते हैं। ये वेदों का भाष्य हैं। वेदों में ऋषियों के नाम दिये हैं, उनकी उत्पत्ति कैसे हुई इसका वर्णन तो इतिहास पुराणों में ही विस्तार से किया गया है।

अब शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद, यजुर्वेद की दो शाखायें कैसे हुईं। इसका विस्तार से वर्णन पुराणों में ही मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद की शाखा का नाम वाजसनेयि कैसे हुआ इसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। यजुर्वेद के आचार्य वैशम्पायन मुनि थे। वे अपनी ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त छोटे बटुओं से करा रहे थे। उनके ज्येष्ठ वरिष्ठ शिष्य याज्ञवल्क्य मुनि ने अहङ्कार से कहा—"ये कल के बच्चे क्या प्रायश्चित्त करेंगे, मैं करूँगा।" उनके इन अभिमान पूर्ण वचनों से गुरु को क्रोध आ गया। उन्होंने कहा तुमने मुझसे जो वेद पढ़ा है उसे त्याग दे। तब उन्होंने सजीव चैतन्य वेद की ऋचाओं को उगल दिया, वे पारे के कण की भाँति भूमि पर लुढ़कने लगीं। कुछ शिष्यों को लालच आ गया। वे बिना तप ब्रह्मचर्य और साधना के ही उन ऋचाओं को हृदयङ्गम करना चाहते थे। मनुष्य शरीर से उगले हुए—के किये

हुए वांत-को कैसे खा सकते थे। अतः तित्तर बनकर उन्होंने वे चुग लिये। अतः वह वेद की तैत्तरेय शाखा हो गई।

अब याज्ञवल्क्य मुनि ने प्रतिज्ञा की ये मनुष्य क्रोधी होते हैं। अतः अब में मनुष्य को गुरु न करूँगा। उन्होंने सूर्यदेव की आराधना की सूर्यदेव ने वाज-घोड़ा-का रूप रखकर उन्हें वेद का उपदेश किया यही वाजसनेय शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिन्हें कण्व माध्यन्दिन आदि ऋषियों ने ग्रहण किया। उन कण्व मुनि की काण्वी शाखा के वाजसनेयि ब्राह्मण के अन्तर्गत यह बृहदारण्यक उपनिषद् है।

कण्व मुनि के सम्बन्ध में स्कन्धपुराण में एक कथा है। जब इन्द्रियों और प्राणों में श्रेष्ठत्व के सम्बन्ध में वाद विवाद हुआ और सभी ने प्राण का श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया तो प्राण देवता की इच्छा हुई एक अश्वमेध यज्ञ करें।

सबसे पहिले यज्ञीय भूमि की खोज की गयी। खोजते-खोजते भगवती भागीरथी के तट पर एक बहुत सुन्दर सुविस्तृत भूमि दृष्टिगोचर हुई। याज्ञिकों की सम्मति से गंगा किनारे की वह भूमि अश्वमेध यज्ञ के लिये चुन ली गयी। अब भूमि शुद्धि के निमित्त जैसा कि नियम है, यजमान प्राणदेव सुवर्ण के हल से उस भूमि को जोतने लगे। जोतते-जोतते उस चौरस भूमि में एक छोटा सा वल्मीक-दीमक-का टीला-सा दिखायी दिया। प्राणदेव उसे भी चौरस करने के लिये उसे जोतने लगे, उस पर हल चलाने लगे। उसके भीतर कण्व मुनि तपस्या कर रहे थे। सहस्रों वर्षों तक एक ही स्थान पर बैठे रहने से उनके शरीर में दीमक लग गयी थी, उन्हीं दीमकों ने मुनि के शरीर पर एक टीला-सा बना लिया था। जब हल की फार मुनि के शरीर में गड़ने लगी, तब उनकी समाधि भङ्ग हुई। मुनि को हल जोतने वाले

आ गया, उन्होंने शाप दिया—"जिन्होंने प्रसिद्धि प्रतिष्ठा के निमित्त मेरे ऊपर हल चला दिया है, उन प्राण की आज से जगत में प्रसिद्धि न होगी। उनकी महिमा की ख्याति भूमि पर न होगी। हाँ प्राण के अवतार (४९ वायु) तीनों जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त करेंगे।"

यह सुनकर प्राण को भी क्रोध आ गया और कहा—"हे कण्व ! मैं निरपराध था, मैं तो अश्वमेध यज्ञ के निमित्त भू शुद्धि के लिये सुवर्ण के हल से भूमि को जोत रहा था। महान् पुण्यप्रद कार्य कर रहा था। किन्तु बिना ही सोचे समझे त्यागी विविक्षु मुझको तुमने शाप दे दिया, तो मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ, कि तुम गुरु द्रोही हो जाओगे।"

इस कथा से ऐसा प्रतीत होता है, कि कण्व कोई याज्ञवल्क्य जी से पृथक् मुनि नहीं थे। याज्ञवल्क्य का ही दूसरा नाम कण्व रहा होगा, क्योंकि उसी प्रसङ्ग में आगे कहा गया है, कि प्राण वायु के शाप से कण्व अपने गुरु का परित्याग करके सूर्यनारायण के शिष्य हो गये।

कुछ भी क्यों न हो उन कण्व ऋषि की काण्वी शाखा के अन्तर्गत यह बृहदारण्यक उपनिषद् है। इसमें सबसे पहिला प्रकरण है अश्वमेधोपासना। अब थोड़ा विचार इस बात पर भी कर लेना चाहिये, कि इन अश्वमेधादि यज्ञों का प्राचीन स्वरूप क्या था ?

वैसे अश्वमेध का स्वरूप पुराणों के पढ़ने से यही जान पड़ता है, कि शुभ लक्षणों वाले अश्व को चुनकर उसके मस्तक पर एक ताम्र पत्र बाँधा जाता था, कि "अमुक राजा के अश्वमेध का यह अश्व है। जिसे विरोध हो वह इस घोड़े को पकड़े।" अश्वस्वच्छन्दगति से चलता था, एक बहुत बड़ी चतुरङ्गिनी सेना

उसके पीछे-पीछे चलती थी। अश्व जिस राजा के राज्य में जाता उस देश के राजा को यदि कोई विरोध न होता, उस राजा के अश्व मेध का समर्थक होता, तो सेनापति का सम्मान करता, उसे यज्ञ के निमित्त द्रव्य दान देता, अश्व आगे बढ़ जाता। जिसे विरोध करना होता, वह पकड़ कर घोड़े को बाँध लेता, तब घोड़े के पीछे चलने वाली सेना के सेनाति उससे युद्ध करके उसे जीत कर आगे बढ़ते। इस प्रकार एक संवत्सर में या इससे अधिक समय में घोड़ा लौटकर आ जाता, तो शास्त्रीय विधि से उसके अंगों का अग्नि में हवन किया जाता। यही अश्वमेध का स्वरूप प्रतीत होता है। वैसे अश्वमेध यज्ञ स्वर्ग की कामना से, तथा पापों के प्रायश्चित्त स्वरूप किये जाते थे। जब धर्मराज महाभारत के अनन्तर कुल हिंसा के कारण दुखी हुए तो भगवान् ने उसके प्रायश्चित्त स्वरूप तीन अश्वमेध ही कराये थे। जिसमें अश्व की मेध हिंसा हो वह अश्वमेध है। (अश्वः मेध्यते-हिंस्यते यत्र सः अश्वमेधः) मेधृ धातु संगम, मेधा और हिंसन तीनों अर्थों में प्रयुक्त होती है। पुराणों के पठन से यही प्रतीत होता है, कि उसमें अश्व के अंगों का हवन होता था। कलि वर्ज्य प्रकरण में भी कलियुग में अश्वमेध नरमेध गोमेध का निषेध बताया गया है।* इससे भी सिद्ध होता है अन्य युगों में ये बलिदानात्मक यज्ञ होते थे।

---

* दीर्घकाल ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ।
महाप्रस्थानगमनं गोमेधं च तथा मखम्।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः।
(बृहन्नारदीय पुराणे)

नराश्वमेधौ मद्यञ्च कलौवर्ज्यौ द्विजातिभिः
(ब्रह्मपुराणे)

व्रीहि–चावल। क्योंकि छिलका पृथक् हो जाने पर चावल फिर पैदा नहीं हो सकता। इससे छिले हुए बीज का नाम अज है। लोग तो अपनी प्रकृति के अनुसार अपने स्वार्थ के अनुसार अर्थ लगा लेते हैं जो राजस् तामस प्रकृति के हैं वे स्वार्थवश–जिह्वा लोलुपता के कारण–अज का अर्थ बकरा लगाते हैं। तुम तो भैया सत्व प्रधान हो। भगवान् विष्णु भी सत्त्व प्रिय हैं, तुम ही सोचो साक्षात् सत्त्व मूर्ति रमापति ऐसे हिंसा यज्ञों से सन्तुष्ट कैसे हो सकते हैं? उनको प्रसन्न करने के निमित्त तो अहिंसक यज्ञ करने चाहिये।"

रजोगुणी तमोगुणी धर्म के व्याज से ऐसे हिंसामय यज्ञ करते हैं। आप लोग तो शुद्ध सत्व गुण प्रधान हो। प्रतीत होता है इन रजोगुणी तमोगुणी लोगों के संसर्ग के कारण तुम ऐसा हिंसामय यज्ञ करने को उद्यत हो गये हो। जो ये राजागण या असुरगण तामस देवता भैरवादिकों को प्रसन्न करने को हिंसामय यज्ञ करते हैं। आपके लिये ऐसे हिंसा प्रधान यज्ञ नहीं करने चाहिये। हमने तो आज तक सात्विक पुरुषों को देवताओं को सुरा और मांस प्रधान यज्ञ करते न कभी देखा न सुना ही है। अरे, भैयाओ! अधर्म क्यों करते हो। सुन्दर दूध मँगाओ उसमें उत्तम चावल डालकर चीनी घृत मिलाकर उससे हवन करो। देखो, अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य, अदम्भ, क्षमा और धृति इन सबका नाम सनातन धर्म है। हिंसा करना कदापि वेद सम्मत नहीं। जो इस सनातन धर्म का उल्लङ्घन करके जीव हिंसा आदि अधर्म करता है, वह धर्म घातक है, उसका पतन होता है।"

इस प्रकार ऋषियों ने नाना प्रमाण देकर भाँति-भाँति की युक्तियों द्वारा देवताओं को पशुओं के बलिदान से रोकना चाहा, किन्तु ये माने नहीं। जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर वे कहने

लगे—"हम लोग तो वेद की ही आज्ञा का पालन कर रहे हैं-वेद कहता है अज के द्वारा हवन करना चाहिये। अज-छाग-बकरा, को ही कहते हैं। आप कहते हो, अज का अर्थ बीज है, यह बात हमारी बुद्धि में बैठती नहीं। हम तो अज का लोक में प्रचलित अर्थ बकरा ही लेते हैं। अतः हम उसी का बलिदान करेंगे।"

यह सुनकर ऋषियों को बड़ा दुःख हुआ। वे उदास हो गये। फिर भी वे भाँति-भाँति की युक्तियों से देवताओं को समझाने बुझाने लगे। किन्तु देवता अपनी ही बात पर अड़े रहे। वे अज का अर्थ बकरा ही बतलाते रहे और यज्ञ में बलिदान करने को वेद की आज्ञा बताकर उसके लिये आग्रह करते रहे।

संयोग की बात उसी समय वहाँ अकस्मात् परम धर्मात्मा राजा उपरिचर वसु आ पहुँचे। ये बड़े धर्मात्मा विष्णु भक्त वैष्णव तथा हिंसा से रहित थे। पांचरात्र विधि से इन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ याग किये थे, किन्तु किसी भी यज्ञ में उन्होंने जीव हिंसा नहीं की थी। वे अपनी विष्णु भक्ति, अहिंसा प्रियता परोपकार निरता तथा वैष्णवता के कारण विश्व में विख्यात थे। इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर साक्षात् भगवान् नारायण ने इन्हें पृथ्वी का साम्राज्य प्रदान किया। ये भी अनासक्त भाव से निरन्तर भगवान् की भक्ति करते हुए आदर पूर्वक प्रजा का पालन करते थे और निरन्तर भगवान् के भजन में ही लगे रहते थे। ये जब चाहते तब स्वर्ग में इसी शरीर से चले जाते, इन्द्र इनका बड़ा आदर करते थे, उन्हें अपने सिंहासन का आधा भाग बैठने को देते। अपनी भक्ति के कारण ये आकाश में ही विचरते रहते। इसलिये इनका उपरिचर नाम पड़ गया।

देवताओं और महर्षियों के वाद विवाद के समय भगवत्भक्त वैष्णव राजा को आया हुआ देखकर देवतागण महर्षिगण

ही प्रसन्न हुए। महर्षियों ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए देवताओं से कहा—"देखो, तुम लोग हमारी बात नहीं मानते, ये धर्मात्मा राजा उपरिचर वसु आ गये हैं, ये तुम्हारी शङ्का का समाधान कर देंगे।"

महाराज तो इन्द्र के परम मित्र ही थे, अतः देवताओं ने कहा—"ये राजा जो निर्णय कर देंगे। वह हमें स्वीकार होगा।"

इस पर महाराज उपरिचरवसु ने कहा—"आप दोनों अपनी-अपनी बातें मुझे बतावें, तब मैं निर्णय दूँगा।"

देवताओं ने कहा—"हमारा पक्ष यह है, कि पशु से हवन करना चाहिये।"

महर्षियों ने कहा—"हमारा पक्ष यह है, कि पशुओं से हवन न करके औषधियों से हवन करना चाहिये। अब इस विषय में आप जो निर्णय देंगे, वही प्रमाण माना जायगा।"

अब राजा बड़े चक्कर में पड़े, वैसे वे तो विष्णु भक्त होने के कारण सदा औषधियों ही से हवन करते थे, किन्तु इन्द्र से उनकी मित्रता थी, अतः मित्र के सकोच के कारण बोले—"मेरी सम्मति में तो अज का अर्थ छाग-बकरा-ही है, उसी से हवन करना चाहिये।"

राजा ने निष्पक्ष भाव से मध्यस्थ के धर्म का पालन नहीं किया। मित्रता के कारण देवताओं के असत्य पक्ष का समर्थन किया, वेदों को हिंसापरक सिद्ध किया। इस वाणी दोष के कारण राजा की अन्तरिक्ष में उड़ने की शक्ति नष्ट हो गयी। वे अन्तरिक्ष से धड़ाम पृथ्वी पर गिर पड़े और पृथ्वी में भी एक गुफा में गिर गये और वहीं रहने लगे। इतने पर भी उन्होंने कल्याण करने वाली भगवान् की भक्ति की थी, इससे उनकी स्मृति नष्ट नहीं हुई। वे भूविवर में रहते हुए भी भगवान् का निरन्तर स्मरण

करते रहे। पीछे भगवान् ने कृपा करके गरुड़ जी द्वारा उनका उद्धार कराकर उन्हें पुनः आकाश में चलने की शक्ति प्रदान कर दी।

देवताओं ने महाराज उपरिचर की दुर्दशा देखी थी। उनको निश्चय हो गया, कि वेदों में हिंसा का विधान नहीं है, यह तो जिह्वालोलुप लोगों ने स्वार्थवश ऐसी अशुद्ध परम्परा चला दी है। अतः बलिदान के लिये जितने पावन पशु एकत्रित किये थे। उन सबको उन्मुक्त करके स्वर्ग को चले गये। वे समझ गये यज्ञों में हिंसा पाप है। महर्षिगण भी अपने-अपने स्थानों को चले गये।

महाराज उपरिचर वसु की कथा महाभारत में तथा अन्यान्य पुराणों में कुछ हेर फेर के साथ आई है। प्रायः सभी स्थानों में वेद में हिंसा बताने पर उनका पतन सिद्ध किया गया है। इस प्रसंग से स्पष्ट सिद्ध होता है, कि यज्ञों में पशु हिंसा अवैदिक है अशास्त्रीय है। किन्तु इस बात से असमति प्रकट नहीं की जा सकती कि त्रेता द्वापरादि युगों में बड़े-बड़े राजा महाराजाओं ने यज्ञों में पशुओं के बलिदान किये है।

स्कन्धपुराण में ऐसी ही शंका सावर्णि ने की है। उसके उत्तर में कहा गया, कि जब दुर्वासा के शाप से त्रैलोक्य की श्री नष्ट हो गयी, तब बिना वर्षा के अन्न का एक दाना भी उत्पन्न नहीं हुआ। प्रजा के लोग नगरों को छोड़कर वनों में वास करने लगे। वहाँ वे कन्द मूल फलों पर निर्वाह करने लगे। कुछ लोग जंगली पशुओं का मांस खाकर बुभुक्षा को शान्त कर लेते। जब कन्द मूल फल भी नहीं रहे, तब धर्मात्मा लोग भूख के कारण मरने लगे। इस पर महर्षि को बड़ा दुःख हुआ। जैसे भी हो किसी आत्मा की रक्षा करनी चाहिये। इसलिये ऋषियों ने उनसे

प्राण बचाने को आपद् धर्म मानकर यह उपधर्म बताया, कि वैसे मांस भक्षण तथा हिंसा करना महापाप है, फिर भी वैदिकी हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती। आप लोग अपने उदर के निमित्त नहीं देवता पितरों के लिये मांस का प्रयोग करें। यज्ञ से उच्छिष्ट मांस में कोई दोष नहीं यह बात प्राणों की रक्षा के लिये विवश होकर कुछ लोगों ने मान ली। वे फिर से यज्ञों में हिंसा करके यज्ञोच्छिष्ट का भोग लगाने लगे। यह धर्म नहीं था धर्म का आभास था। करते-करते लोगों की इन कार्यों में प्रवृत्ति हो गयी। दरिद्रों की सन्तानें बहुत बढ़ गयीं। उनमें से जो विद्वान् हुए उन्होंने यज्ञों में हिंसा के समर्थन में ग्रन्थ लिखे, इससे पुनः ये हिंसा प्रधान यज्ञ लोक में प्रचलित हो गये और आज तक भी काम, क्रोध, जिह्वा के रस के वशीभूत होकर बहुत से मुनीश्वर राजा, देवता तथा अन्यान्य मनुष्य उस आपद्धर्म को प्रधान धर्म मानकर यज्ञों में हिंसा करने लगे। वही परम्परा लोक में अब तक प्रचलित हो गयी। किन्तु जो एकान्त भगवद्भक्त वैष्णव हैं उन्होंने इसे आपद्धर्म को भी न मानकर कभी भी वैदिकी हिंसा का समर्थन नहीं किया। इस प्रकार आपद्धर्म मानकर फिर से आरम्भ किया। यह धर्म त्रेतादि युगों में मुख्य धर्म बन गया।*

---

* तत्राऽपि केचिन्मुनयो नृपा देवाश्च मानुषाः।
काम क्रोध रसास्वादलोभोपहत सिद्धयः॥
तमापद् धर्मं मन्यापि प्राधान्येनैव मन्यते॥
एकान्तिनो भागवतजिता कामादयस्तु ये।
आपद्यपि न ते गृह्णंस्त तदाकिमुताऽन्यदा॥
(पद्म० पु० २ खं० सृ० ६ अ० ३३, ३४ श्लोक)

मनु महाराज ने इस विषय में स्पष्ट लिखा है। मांस, मद्य मैथुन में दोष नहीं है ऐसी संसारी लोगों की स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, किन्तु मेरा मत है, कि जो इन से निवृत्त रहेगा, उसे महा फल की प्राप्ति होगी।

बात यह है, कि संसार में प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग दो ही निष्ठायें हैं और वेदों में प्रवृत्ति परक और निवृत्ति परक दो ही प्रकार के कर्मों का वर्णन है। जिसकी जैसी योग्यता हो जिसकी जिस में प्रवृत्ति हो उसे उसी मार्ग को ग्रहण करना चाहिये। ये दो मार्ग सनातन हैं। प्रवृत्ति मार्ग तो उसे कहते हैं, जिसमें वेद तथा तन्त्रों की विधि से गुरुकुल से आकर विधिपूर्वक विवाह कर ले। न्याय पूर्वक धनोपार्जन करे और उस द्रव्य को सकाम यज्ञों में व्यय करे। ग्राम में अथवा नगर में निवास करके वापी, कूप, तड़ाग, आराम बनवाकर परोपकार के कर्म करे सकाम वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करे। वास्तव में व्यापार, खेती आदि कर्म नहीं हैं, ये तो आजीवा उपार्जन के साधन हैं। कर्म तो यज्ञों का अनुष्ठान ही है। यज्ञों के निमित्त किये कर्मों से अतिरिक्त जितने काम हैं, वे सब के सब कर्म बन्धन के कारण हैं। प्रवृत्ति मार्ग में यज्ञ सब कामना सहित ही किये जाते हैं। अमुक कर्म पितरों की तृप्ति के लिये करे। अमुक यज्ञ पुत्र प्राप्ति, धन सम्पत्ति प्राप्ति तथा स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति के निमित्त करे यही प्रवृत्ति मार्ग है, किन्तु इन कर्मों से शाश्वती शान्ति प्राप्त नहीं होती। पुण्यों का भोग स्वर्ग में जाकर करो। पुण्य क्षय होने पर फिर जन्म धारण करो। अतः प्रवृत्ति मार्गीय कर्म अशान्ति कर बताये हैं।

अब निवृत्ति मार्ग क्या है? स्त्री तथा द्रव्य का सर्वथा काम, क्रोध तथा लोभादि का परित्याग ग्राम नगर छो

में जाकर निवास करना तपस्या करते रहना, क्षमा, शम, दम आदि सद्गुणों को धारण करना। हिंसा प्रधान सकाम यज्ञों को छोड़कर ब्रह्म यज्ञ, योग यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, जप यज्ञ, जो अहिंसा प्रधान यज्ञ हैं, उन्हें करते रहना। यही निवृत्ति मार्ग है।

जो प्रजावान्, स्त्री परिग्रही प्रवृत्ति मार्ग परायण पुरुष हैं, वे भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक से आगे नहीं बढ़ सकते इन तीनों लोकों में ही आते जाते हैं। स्वर्ग में पुण्यों के भोग के निमित्त जाते हैं। पुण्य क्षीण होने पर विवश होकर ढकेल दिये जाते हैं। प्रवृत्ति मार्ग के मनुष्यों की बात तो जाने दो। जो देवता अधिकारारूढ़ हैं, इन्द्र, मनु, प्रजापति, सप्तर्षि, आदि बड़े-बड़े पदों पर प्रतिष्ठित हैं उन लोगों के इष्ट भोग, ऐश्वर्य ब्रह्माजी के एक दिन में नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि ये अधिकार भी प्रवृत्ति मार्ग परायण पुरुषों को ही प्राप्त होते हैं।

किन्तु जो निवृत्ति मार्ग निरत पुरुष हैं, वे शरीर त्याग के अनन्तर त्रैलोक्य को पार करके जन, तप और सत्य ये तीन ब्रह्मलोक हैं। उनको प्राप्त हो जाते हैं। जब ब्रह्माजी के एक दिन के अनन्तर तीनों लोकों का प्रलय हो जाता है, तब भी ये ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इनके लोकों में प्रलय की आंच तक नहीं पहुँचती। द्विपरार्ध में ब्रह्माजी की आयु पूर्ण होने पर ये ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। अतः दो ही मार्ग हैं पहिला प्रवृत्ति मार्ग अथवा कर्ममार्ग। दूसरा निवृत्ति मार्ग, त्याग संन्यासमार्ग अथवा ज्ञान मार्ग, सांख्य मार्ग। कैसा भी सही ये दोनों ही मार्ग गुणात्मक हैं। यदि ये ही निवृत्ति मार्ग के कर्म या प्रवृत्ति मार्ग के कर्म निष्काम भाव से-केवल प्रभु प्रीत्यर्थ विष्णु के सम्बन्ध से किये जायँ, तो विशुद्ध निर्गुण बन जाते हैं। क्योंकि भगवान् विष्णु निर्गुण हैं, उनके निमित्त-उनकी प्रीति के लिये-जो भी कर्म

किये जायँगे वे सब निर्गुण हो जायँगे । उनका फल अक्षय हो जायगा । जैसे तुम पुत्रेष्टि यज्ञ करो तो यदि वह सागोपांग सविधि समाप्त हो गया, तो उससे केवल पुत्र की ही प्राप्ति होगी । बीच में कुछ विघ्न बाधा पड़ गयी तो विपरीत भी फल हो सकता है । उसी यज्ञ को निष्काम भाव से प्रभु प्रीत्यर्थ करो तो उसका अक्षय फल होगा, उसमें विघ्नों की सम्भवना ही नहीं ।

यह तीसरा मार्ग है, इसे वैदिक भाषा में उपासना और पौराणिकी भाषा में भक्ति कहते हैं । इसमें समस्त कार्य विष्णु के सम्बन्ध से विष्णु प्रीत्यर्थ किये जाते हैं और अन्त में विष्णुलोक की ही प्राप्ति होती है जो निर्गुणलोक है । इसलिये विवेकी पुरुषों को चाहिये कि चाहे प्रवृत्ति मार्गीय कर्म करे अथवा निवृत्ति मार्गीय, विष्णु भक्ति से समन्वित होकर--प्रभु प्रीत्यर्थ ही कर्म करना चाहिये । इस भक्ति मार्ग को ही निष्काम कर्म योग भी कहते हैं क्योंकि उन कर्मों में अपने लिये कोई कामना नहीं रहती । सब भगवान् के ही निमित्त उन्हीं के सम्बन्ध से किये जाते हैं ।

इस प्रकार दो मार्ग हैं, एक प्रवृत्ति मार्ग दूसरा निवृत्ति मार्ग । ब्रह्मा, रुद्र, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, यम, मारीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, विवस्वान्, चन्द्रमा, कश्यप, कर्दम, समस्त प्रजापति, समस्त देवता, ऋषिगण, वर्णाश्रमी ये सब प्रवृत्ति धर्मपरायण होकर परमात्मा प्रभु की पूजा में परायण रहते हैं ।

इनके अतिरिक्त सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, सुजात, कपिल, आरुणि, ऋभु, यति, हंसादि समस्त मुनि, शौनकादि समस्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी ये निवृत्ति धर्म परायण होकर उन प्रभु की पूजा में परायण रहते हैं जो देवता पितरों को भगवान् वासुदेव के अंग मानकर बिना हिंसा किये अहिंसा विधि से नित्य उनका यजन करते हैं, वे लोग चाहे प्रवृत्तिधर्म निरत हों अथवा

निवृत्ति धर्म निरत हों, भगवान् उनको यथाधिकार कर्मों में नियुक्त कर देते हैं। भगवान् ने जो मर्यादा बाँध दी है उसका उल्लङ्घन कोई कर नहीं सकता।

भक्ति भाव से—उपासना पूर्वक—जो स्वल्प भी प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करते हैं, भगवान् उसके उस स्वल्प कर्म को भी अक्षय बना देते हैं। इसलिये कामना सहित कर्म न करके देवता पितरों को उनका अंग मानकर उपासना विधि से—भक्ति भावना से—कर्म करने चाहिये।

लोक में अश्वमेध यज्ञ कर्म सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। धर्मराज को भी इसीलिये भगवान् ने अश्वमेध करने की ही सम्मति दी। भक्ति मार्ग की फल श्रुतियों में बार-बार अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है। प्रयागराज की यात्रा में जो जाता है, उसे पद-पद पर अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता। वैशाख के महीने में भगवान् माधव की तुष्टि के निमित्त जल की प्याऊ लगवा देता है, उसे प्रत्येक दिन अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त हो जाता है।[१]

जो अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के साथ गंगाजी के स्नान के निमित्त घर से चलता है, उस पुरुष को पग-पग पर अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त हो जाता है।[२]

---

१. वैशाखे मासि यः कुर्यात् प्रपां माधवतुष्टये।
दिने दिने अश्वमेधस्य फल प्राप्नोति मानवः॥
(पद्म पुराणे)

२. स्नानन्तु भक्त्या गङ्गायां कर्तुकामस्य गच्छतः।
पदे पदे अश्वमेधस्य फल मर्त्यस्य जायते॥
(ब्रह्माण्डपुराणे)

इन वचनों से यही सिद्ध होता है, कि अश्वमेध यज्ञ का महान् फल होता है। हम बता चुके हैं सकाम कर्म मार्ग और ज्ञानमार्ग के बीच का तीसरा उपासना या भक्ति मार्ग है। उसमें बिना हिंसा किये हुए केवल भगवान् की प्रीति के निमित्त वैसे या भावना से ही कर्म किये जाते हैं। अश्वमेध यज्ञ करने में तो बड़े झंझट हैं। विपुल द्रव्य को, नाना प्रकार की सामग्रियों को, सहस्रों लक्षों सहायक पुरुषों की आवश्यकता होती है। इस यज्ञ को चक्रवर्ती राजा ही कर सकते हैं।[३]

अब श्रुति उपासना की विधि से अश्वमेध विज्ञान का वर्णन करती है। इस अश्वमेध विज्ञान को जो भली प्रकार जान लेता है, उसे वही फल प्राप्त हो जाता है, जो अश्वमेध से यजन करता है।[४] यह यज्ञ वेद विज्ञान की फल श्रुति है। अर्थात् अरबों खरबों द्रव्य व्यय करके सहस्रों लक्षों सैनिकों की हिंसा करके, असंख्यों द्रव्य एकत्रित करके जो चिरकाल में अत्यन्त कष्ट करके अश्वमेध यज्ञ करने पर जो फल प्राप्त होता है वही फल केवल अश्वमेध विज्ञान को जान लेने पर प्राप्त होता है। अर्थात् जो अश्वमेध यज्ञ करने में असमर्थ हैं या जिन्हें उसे करने का अधिकार नहीं। वे यदि इस अश्वमेध विज्ञान को जान लेंगे, तो उन्हें इसके जान लेने से ही अश्वमेध यज्ञ का फल मिल जायगा। यह तो प्रवृत्ति मार्ग वालों के लिये फल हुआ। निवृत्ति मार्ग वाले बिना हिंसा किये हुए अरण्य में रहकर इसे जान लेने से श्रेष्ठ फल पा सकेंगे। किन्तु जो उपासक इसे विष्णु प्रीत्यर्थ सुनेंगे समझेंगे, भगवान् में भक्ति रखते हुए उन्हीं की

(अश्वलायन श्रौ०)

३ अश्वमेधेन यजते (श्रुति)

४. यो अश्वमेधेन यजते य उ चैनमेव वेद

महिमा समझकर इसका श्रवण करेंगे, उन्हें विष्णुलोक की प्राप्ति होगी। अतः ऐसा मानकर जो अश्वमेध उपासना विज्ञान को समझने की चेष्टा करेंगे, ऐसे उपासकों पर परम कृपालु प्रभु प्रसन्न होंगे।

इतनी अवतरणिका के पश्चात् अब आगे बृहदारण्यक उपनिषद् की अश्वमेध उपासना का वर्णन आरम्भ करते हैं।

मैं न प्रवृत्ति मार्ग परायण ही हूँ, न निवृत्ति मार्ग परायण। न मैं वेद वेदान्त का ही ज्ञाता हूँ और न ऋषियों के ज्ञान के समझने की योग्यता ही। उन परात्पर प्रभु की अनुकम्पा की प्रतीक्षा करने वाला एक अत्यन्त ही क्षुद्र जीव हूँ। मेरा दुस्साहस ही है, कि बिना योग्यता के इन विषयों की व्याख्या करने में प्रवृत्त हुआ हूँ, किन्तु मैं तो उनका यन्त्र हूँ, वे जिस काम में मुझे नियुक्त कर देते हैं, उसमें विवश होकर प्रवृत्त हो जाता हूँ, या हो जाना पड़ता है। इस व्याख्याओं से औरों को लाभ होगा या नहीं इसका मुझे पता नहीं। किन्तु निरन्तर इसी विषय का चिन्तन, मनन, स्वाध्याय, प्रवचन तथा लेखन से मेरा कालक्षेप सुचारु रूप से हो जाता है। यही मेरे लिये परम लाभ है। इसके अतिरिक्त यदि कुछ भी पाठकों को इससे सन्तोष होगा, लाभ पहुँचेगा, तो इससे मुझे परम प्रसन्नता होगी। बृहदारण्यक सबसे बड़ी उपनिषद् है, यह कब तक समाप्त होगी ? इसे वे ही जानें। पाठक से मेरी यही विनम्र प्रार्थना है, कि वे ऐसा आशीर्वाद करें, कि मेरा शेष जीवन इसी प्रकार निरन्तर स्वाध्याय प्रवचनों में ही व्यतीत हो। इतिशम्।

ज्येष्ठ-कृ०-७।२०२९ वि०
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
प्रयाग

प्रभुदत्त

अश्वमेधोपासना (१)

(१६७)

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वा सुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥*

(बृ० उ० १ अ० १ ब्रा० २म०)

छप्पय

अश्वमेध अब कहूँ उपासन अश्व मुख्य जहँ।
ऊषा तिहि सिर सूर्य–नेत्र वायू प्राणहिँ तहँ॥
वैश्वानर मुख खुल्यो अश्व–आत्मा संवत्सर।
स्वर्ग पीठि हय–उदर लोक भू पृथिवी पग थल॥
पार्श्व भाग तिहि सब दिशा, कहीं पसुरियाँ उप दिशा।
अङ्ग सकल ऋतु–पर्व–पक्ष, कही प्रतिष्ठा दिन निशा॥

---

* अश्वमेध यज्ञ में अश्व के आगे पीछे सोने चाँदी के महिमा नाम के दो पात्र रखे जाते हैं। वह आगे का महिमा दिन, पीछे का महिमा रात्रि हुई। पूर्व पश्चिम समुद्र उसकी दोनों योनि हैं, ये दोनों उस अश्व के आगे पीछे के महिमा सञ्ज्ञक ग्रह हुए। इसने देवताओं को हय होकर, गन्धर्वों को वाजि बनकर, असुरों को अर्वा होकर और मनुष्यों को अश्व होकर वहन किया इसका उद्गम स्थान तथा बन्धु समुद्र ही है

यह जगत् भावमय है, जिसकी जैसी भावना रहती है, उसे प्रभु की वैसी ही मूर्ति दिखायी देती है। समस्त उपासनाओं का एकमात्र लक्ष्य यही है कि सब में—चराचर विश्व में वे ही प्रभु दिखायी देने लगें। जिधर भी दृष्टि जाय उधर यही दिखायी दें। यह जगत् क्या है ? यह उन प्रभु का स्वरूप ही है। इस जगत् को बनाकर इसी में वे प्रवेश कर गये हैं। बाहरी जगत् हमारे भीतर भी ज्यों-का-त्यों अवस्थित है। जो ब्रह्माण्ड में है वही सब पिंड में भी विद्यमान है। अतः जिस अश्व को परम पावन बलि मानकर अश्वमेध यज्ञ में जिसका उपयोग किया जाता है, वह अश्व भी अखिल ब्रह्माण्ड रूप नारायण का स्वरूप ही है। उसके अंग-प्रत्यङ्गों में विश्व की समस्त मुख्य-मुख्य सामग्री की कल्पना करके भावना के अनुसार भावमयी उपासना करनी चाहिये यही अश्वमेध उपासना का सार है। अब अश्व के किस-किस अंग में विश्व की किस-किस वस्तु की भावना करनी चाहिये। इसी का वर्णन आगे भगवती श्रुति के द्वारा हुआ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवती श्रुति अश्वमेध उपासना का वर्णन करते हुए बताती है—अश्वमेध यज्ञ का जो अश्व है उसके अंगों में काल के अवयवों की भावना करनी चाहिये। यही बृहदारण्यक उपनिषद् का आरम्भिक विषय है। उपनिषद् आरम्भ के पूर्व शान्ति पाठ करना चाहिये—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!

दोहा—वह पूरन यह पूर्ण है, पूर्ण पूर्ण उपजायँ।
पूरन तें पूरन गहें, तऊ पूर्ण बचि जायँ॥

अश्वमेध का जो अश्व है उसके शरीर में उषाकाल की भावना करनी चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उषाकाल कौन-सा होता है? और अश्व की इतनी महिमा क्यों है?"

सूतजी बोले—"भगवन्! रात्रि के पिछले पहर तीसरे मुहूर्त को ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। सूर्योदय से अट्ठावन घड़ी के पूर्व समय को जब आकाश में लाली के सहित कुछ कुछ प्रकाश की किरण दीखने लगे प्रातःकाल कहते हैं। उसके एक घड़ी पूर्व के समय को अरुणोदय कहते हैं। प्रातःकाल होते ही घड़ी भर के पहिले सूर्य के सारथी अरुण दिखायी देने लगते हैं। पैरहीन सारथी अरुण का शरीर लाल रंग का है, उस काल में आकाश में लाली छा जाती है। अरुणोदय से दो घड़ी पश्चात् अर्थात् सूर्योदय से पचपन घड़ी के पूर्व के समय को ऊषा काल कहते हैं। अर्थात् सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व प्रातःकाल उसके एक घड़ी पूर्व अरुणोदय और अरुणोदय से दो घड़ी पूर्व उषाकाल होता है। ये सूर्य-नारायण ही जगत् के प्रकाशक हैं। इनके घोड़े वेदमय हैं। भगवान् का एक अवतार घोड़े के सिर वाला हयग्रीवावतार हुआ है। देवताओं में इन्द्र और वायु दोनों अत्यन्त ओजस्वी माने जाते हैं, इनमें वायु अत्यन्त वेग से चलने वाले हैं। ये दो देवता अश्व के शरीर में विशेषरूप से निवास करते हैं। इसलिये अश्व पशुओं में अत्यन्त ओजस्वी माना जाता है। जहाँ शक्ति की नाप होती है वहाँ सिंह, हाथी तथा बैल आदि की शक्ति से माप नहीं होती, शक्ति की माप सदा घोड़े की शक्ति (हार्स पावर) से ही की जाती है। संसार के जितने भी प्राणी हैं। उनके छोटे बड़े सबके स्तन होते हैं। अर्थात् सब में कुछ न कुछ स्त्रीत्व रहता है। घोड़े के शरीर में स्तनों के चिन्ह तक नहीं रहते अतः एकमात्र घोड़ा ही

पूर्ण पुरुष माना जाता है। इसीलिये अश्वमेध यज्ञ में परम पावन मानकर इसका उपयोग होता है। इसीलिये इसके अंगों के साथ जल के अवयवों की तुलना की गयी है।

हाँ तो यज्ञ सम्बन्धी अश्व का सिर तो उषाकाल है। खुला हुआ मुख मानों वैश्वानर नामक अग्नि है। अश्व की आत्मा मानों उत्सर है। उसकी पीठ द्युलोक है। उसका उदर अन्तरिक्ष है। उसके पैर रखने का स्थान ही मानों पृथ्वी है। अश्व का जो पार्श्व भाग है वही मानों समस्त दिशायें हैं। उपदिशायें वा अवान्तर दिशायें मानों उसकी पसलियाँ हैं। उसके अंग ही मानों ६ ऋतुएँ है। उसके जो पर्व हैं, वे ही मास तथा पक्ष हैं। पीछे के दो पैर मानों दिन तथा रात्रि हैं। उसकी हड्डियाँ मानों सत्ताइस नक्षत्र हैं। आकाश अथवा आकाशस्थित मेघ ही उसका मांस है। उसके पेट में अधपका भोजन है, वही मानों सिकता अर्थात् बालू है। उसकी समस्त नाड़ियाँ ही मानों समस्त नदियाँ हैं। हृदयगत मांस खंड और यकृत ही उसके मानों पर्वत हैं। उसके जितने रोयें हैं मानों वे ओषधि और वनस्पतियाँ हैं। उसकी नाभि के ऊपर का भाग प्रातःकाल से मध्यान्ह काल तक ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य है। इसी प्रकार कटि से नीचे का भाग मानों मध्यान्ह से सायकाल पर्यन्त नीचे की ओर जाता हुआ सूर्य है। अश्व जो जमुहाई लेता है, वह मानों विद्युत की चमक दमक है। वह जो शरीर को हिलाता है, वह मानों मेघों की गर्जना है। वह जो मूत्र त्याग करता है, वही मानों जल की वर्षा है। उसका बोलना ही मानो वाणी है।

अश्वमेध यज्ञों में यज्ञीय अश्व के आगे और पीछे सुवर्ण तथा चाँदी के दो यज्ञीय पात्र ग्रह रखे जाते हैं। उन ग्रहों की महिमा सुंदा है। तो अश्व के सामने जो सुवर्ण पात्र-महिमा ग्रह है वह

मानों दिवस है उसकी पूर्व समुद्र योनि है। चाँदी का जो पीछे का महिमा ग्रह पात्र है वही मानों रात्रि है उसकी पश्चिम समुद्र योनि-प्रकट होने का स्थान-है। ये दो महिमा संज्ञक ग्रह ही मानों दिन रात्रि हैं।

इसी अश्व की देवताओं में 'हय' इस नाम से प्रसिद्धि है। गन्धर्वों में इसको 'वाजि' कहते हैं। असुरों में इसका नाम 'अर्वा' है और मनुष्यों में इसे अश्व कहते हैं। अश्व नाम से ही यह मनुष्यों को अपनी पीठ पर चढ़ाकर इधर से उधर ले जाता है, उनके भार को वहन करता है। इसका सगा सम्बन्धी प्रेम में बाँध लेने वाला बन्धु समुद्र ही है। और समुद्र मन्थन के समय चौदह रत्नों में से एक रत्न यह अश्व भी उत्पन्न हुआ था अतः समुद्र इसकी योनि है-उत्पत्ति का स्थान है। इस प्रकार यह अश्व परम पवित्र है। इसकी उत्पत्ति भी समुद्र से है। और इसके अंग भी काल-मय तथा विश्वमय है। देवता, असुर गन्धर्व तथा मनुष्यों में सर्वत्र इसका आदर होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह अश्वमेध यज्ञ के यज्ञीय अश्व की स्तुति के ही निमित्त उसके अंगों में काल के अवयवों की तथा पृथ्वी की अन्य वस्तुओं की कल्पना की गयी। अब अश्वमेध यज्ञ में उपयोग आने वाली अग्नि की उत्पत्ति कैसे हुई इस विषय का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय-अस्थि सकल नक्षत्र मांस ही मेघ कहाये॥
बालू अधपक्व अन्न नदी नाड़ी बतलाये॥
गिरि-हिय मांसहु यकृत वनस्पति औषधि रोमहु।
ऊष्मा रवि हय उपरि भाग कटि नीचे नीचहु॥
जमुहाई विद्युत चमक, तन कम्पन गर्जन कही।
मूत्र त्याग वर्षा कही, वाणी वाणी ही रही॥१॥

(२)

आगे पीछे महिम रात्रि दिन प्रकट भये हय।
पूरब पश्चिम जलधि योनि प्रकटे तिहि हय मह॥
गन्धर्वनि कूँ वाजि सुरनि हय अर्वा असुरनि।
बन्धु योनि तिहि जलधि अश्व बनि घारे पुरुषनि॥
अश्वमेघ को अश्व यह, कह्यो कालमय शुचि परम।
करैं उपासन माव तैं, ते पावैं प्रभु-पद-परम॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद के प्रथम अध्याय का
प्रथम अश्वमेघ ब्राह्मण समाप्त।

अश्वमेधोपासना (२)

[१९८]

नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् । अशनायया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति । तदेवार्कस्यार्कत्व क ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्व वेद ॥*

(बृ० उ० १ अ० २ ब्रा० १ म०)

छप्पय

प्रथम कछु नहीं हतो मृत्यु अरु क्षुधा ढक्यो सब ।
मनतैं होऊँ युक्त भया अर्चन तैं अप तब ॥
अप अर्कहिं-जल-थून भई भू मृत्यु थक्यो पुनि ।
ता तन को जो सार तेज तिहिं अग्नि प्रकट मुनि ॥
अग्नि, वायु, आदित्य ये, प्राण त्रिधा विभजित भयो ।
शिर पूरब जघा त्रिदिशि, पार्श्व दक्षिन उत्तर कह्यो ॥

---

* इस जगत् मे पहिले यहाँ कुछ भी नही था। यह सबका सब मृत्यु से ढका था। क्षुधा से ढका था। क्षुधा ही मृत्यु है। उसने सङ्कल्प किया मैं मन से आत्मा वाला—मन वाला—हो ऊँ। उसने अर्चन करते हुए आचरण किया, भी अर्चन से आप-जल हुआ। अर्चन करने से मुझे क—जल प्राप्त हुआ है। यही अर्क का अर्कत्व है। जो अर्क के अर्कत्व को इस प्रकार जान लेता है, उस क—सुख की प्राप्ति होती है।

यह विश्व ब्रह्माण्ड विराट् पुरुष से उत्पन्न हुआ है। पहिले अप्-वीर्य-की उत्पत्ति की। उसमें अपना वीर्य-यश तथा प्राण-को स्थापित किया। तब उस ब्रह्म का गोलाकार अंडा बन गया। काल की अवधि बनी। अवधि से वह अंडा फूटा, उसके दो भाग हो गये। ऊपर के सात स्वर्ग नीचे के सात पाताल। वह अंडा ही सृष्टि का आदि बीज था। उपनिषदों में तो सर्वत्र सृष्टि का क्रम संक्षेप में बताया है, किन्तु पुराणों में इस विषय का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। श्रीमद्भागवत में विदुरजी के पूछने पर भगवान् मैत्रेयमुनि ने जो सृष्टि का वर्णन किया है, वह बहुत विस्तार के साथ तथा सुगम और सबके जानने वाली भाषा में किया गया है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के पंचम और षष्ठ दो अध्यायों में इतनी सुन्दरता से इस विषय को बताया, कि साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी सरलता से इसे समझ सकता है। जिसे जिज्ञासा हो उन अध्यायों को ध्यान पूर्वक देखें सुनें और मनन करें। जो औपनिषद् ज्ञान उपनिषदों में संक्षेप में कहा है, उसी को पुराणों में विस्तार से समझाया गया है। अब यहाँ तो अश्वमेध प्रकरण में अग्नि, वाणी और अश्व की उत्पत्ति बताने के प्रसंगानुसार ही सृष्टि की उत्पत्ति बतायी है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! पहिले यहाँ पर-इस जगत् में-इस विश्व ब्रह्मांड में-कुछ भी नहीं था केवल तम ही तम था। यह प्रलयकालीन अवस्था का वर्णन है। कुछ भी नहीं था का तात्पर्य यही है कि यहाँ घोर अंधकार ही अंधकार था। तम कहो, मृत्यु कहो, भूख कहो एक ही बात है। मरणशील प्राणी को मर्त्य कहते हैं, जिस लोक में प्राणियों की मृत्यु होती है उस लोक का नाम भी मृत्युलोक है। जन्म का-उत्पत्ति का-कारण मृत्यु ही है। क्योंकि जिसका जन्म है उसकी मृत्यु ध्रुव है, और जिसकी मृत्यु हुई है

उसका जन्म उत्पत्ति भी निश्चित है। प्रलयकाल में और सब तो ब्रह्म में लीन हो ही गया था। केवल तम-अन्धकार-मृत्यु-अथवा अज्ञान ही शेष बचा था। प्रलयकाल में-सब मृत्यु से भूख से आवृत्त था। उस भूख को क्षुधा कहो अशनाया कहो मृत्यु कहो सब एक ही बात है। उस मृत्यु में भगवान् ने सकल्प शक्ति का सचार किया। अतः उसने सकल्प किया कि मैं आत्मा से-देह या मन से-मुक्त हो जाऊँ। जब वह देहवान्-मनवान्-हो गया तब उसने अर्चन करते हुए आचरण किया। अर्चन से-पूजन से-धनधान्यादि की उत्पत्ति होती है। अतः अर्चन करते हुए उसके आचरण करने से आदि में अप् (सूक्ष्म जल) की उत्पत्ति हुई। तब उसी की अर्क सज्ञा हुई। अर्क सज्ञा क्यों हुई? अर्चन करते हुए मेरे लिये क-जल अथवा सुख-की प्राप्ति हो। यही अर्क का अर्कत्व है। अर्क शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहाँ अर्क से अभिप्राय जल से है। अर्चन करते हुए मुझे जल की प्राप्ति हो जो-इस प्रकार अर्क का अर्थ भलीभाँति जान लेगा उसे सुख की प्राप्ति होगी। जल में प्रवेश करते ही सभी हँसने लगते हैं, प्रसन्नता को सुख की अनुभूति करने लगते हैं। इसीलिये जल नारायण का स्वरूप है। जल में नारायण की पूजा करनी चाहिये आप-जल-ही अर्क है। उस जल से ही पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। जल से पृथ्वी कैसे हो गयी? आप समूह का जो स्थूल भाग था वह स्थूल अश जमते-जमते पृथ्वी हो गयी जल का जमा हुआ स्थूल भाग ही तो पृथ्वी है। पृथ्वी के ऊपर, नीचे, दायें-बायें सर्वत्र जल ही जल तो है। मृत्यु कहो, तम कहो, अन्धकार कहो यह सब नारायण के ही रूप है। दुःख देने वाला, सबको हरण करने वाला, मृत्यु ये सब लीलाधारी कर्तृत्व प्रधान नारायण के ही नाम है। मृत्यु रूप नारायण ने मन से सकल्प किया देहवान् मनवान्

पूजन करते हुए आप जल को और पृथ्वी को उत्पन्न किया। कर्तव्य प्रधान प्रजापति थे। इतना परिश्रम करने पर वे श्रमित हो गये थकित हो गये। इतनी तपस्या की, श्रम किया अतः उन तपोतप्त और परम श्रमित प्रजापति के शरीर से उसका सारभूत एक प्रकार का तेज निकल पड़ा। वह तेज ही मानों अग्नि है। संकल्प, देह, मन, जल, पृथ्वी तथा अग्नि ये सब मृत्यु रूप नारायण प्रजापति के अङ्ग से ही उत्पन्न हुए। उस अग्नि ने अपने को तीन भागों में विभक्त कर लिया। एक तो अग्नि का भाग, दूसरा भाग सूर्य हुआ, तीसरा भाग वायु या प्राण है। अग्नि, वायु, सूर्य ये प्राण ही तीन भागों में बँट गये। अब यह प्रजापति अग्नि रूप में हो गया। अब इस प्रजापति के स्वरूप का वर्णन करते हैं। अवकाश में–आकाश में–ही मृत्यु रूप प्रजापति ने संकल्प, मन, जल, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति की। आकाश में दशों दिशायें हैं। इस अग्नि रूप विराट प्रजापति का पूर्व दिशा सो मानों सिर है। इस पूर्व की इधर-उधर की विदिशायें (ईशान कोण और अग्नि कोण) मानों उसके दोनों हाथ हैं। पश्चिम दिशा इसका पुच्छ भाग है। यह अग्निरूप विराट् पुरुष पुच्छ वाला है। इसी प्रकार पश्चिम दिशा की इधर-उधर की विदिसायें (वायव्य कोण और नैर्ऋत्य कोण) उसकी दोनों जंघायें हैं। अब आठ दिशाओं में से शेष रह गयीं दक्षिण और उत्तर दिशायें। ये दोनों दिशायें उसके दोनों पार्श्व भाग हैं। पृथ्वी उसका हृदय है, अन्तरिक्ष लोक उसका उदर है। और स्वर्ग लोक उसका पृष्ठ भाग है। यह अग्निरूप विराट् प्रजापति जल में प्रतिष्ठित है। इसीलिये जल में तेज विद्यमान रहता है। जैसे पिता की प्रतिष्ठा पुत्र है। पुत्र जहाँ भी जायगा वहाँ पिता के नाम से प्रतिष्ठित होगा, अमुक का पुत्र है [illegible] स्थानों में सर्वत्र उसके पिता का नाम लिया जायगा,

क्योंकि पुत्र पिता की प्रतिष्ठा है। इसी प्रकार अग्नि जल में प्रतिष्ठित है अतः जल अग्नि की प्रतिष्ठा है, इस बात को जो सम्यक् प्रकार से जान लेता है, वह जहाँ भी कहीं जाता है, वहीं प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् उसकी सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है।

अब उस मृत्यु या क्षुधा रूप प्रजापति के शरीर से जल तथा पृथ्वी हुई। श्रान्त होने पर अग्नि रूप से आदित्य, वायु और अग्नि की उत्पत्ति हुई जो जल में प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार अश्वमेध की अङ्गभूत जो चिति अग्नि की उत्पत्ति हुई। अश्वमेध यज्ञ में अग्नि की प्रधानता है। अग्नि के पश्चात वाणी की प्रधानता है। यदि अग्नि है और वेद मन्त्रों के पाठ करने को वाणी न हो, तो यज्ञ कार्य सम्पन्न कैसे होंगे, अतः अग्नि की उत्पत्ति बताकर अब वाणी की उत्पत्ति बतायी जाती है, कि वाणी कैसे उत्पन्न हुई।

इस मृत्यु रूप प्रजापति ने पुनः संकल्प किया, मेरी दूसरी देह उत्पन्न हो जाय। अतः क्षुधारूप मृत्यु ने अपने मन से और वेदत्रयी से मिथुन होने की भावना की। उससे जो रेत-वीर्य-बिन्दु हुआ वही काल का मापक सम्वत्सर हुआ। इससे पूर्व काल रूप में प्रभु ही थे। काल का मापक सम्वत्सर नहीं था। उस मृत्यु ने मन से वेद के साथ जो मिथुन होने की भावना से संवत्सर वीर्य हुआ उसे मृत्यु रूप प्रजापति ने बारह मास तक अपने गर्भ में धारण किया। बारह मास सम्वत्सर का काल होता है। अर्थात् बारह महीने का सम्वत्सर होता है। बारह मास पश्चात् तेज रूप में एक बालक सम्वत्सर हुआ। मृत्यु प्रजापति क्षुधा युक्त तो था ही। उस तेज पुंज सम्वत्सर नामक उस बालक को देखकर उसे खाने के निमित्त मुख फाड़ा तब उस अग्नि रूप-तेज युक्त-बालक के मुख से 'भाण्' ऐसा शब्द निकल पड़ा

वही वाक् वाणी या प्रथम शब्द हुआ। मृत्यु रूप प्रजापति और वेदत्रयी के संगम से जो संवत्सर बालक हुआ उसे क्षुधित मृत्यु प्रजापति ने खाना चाहा। किन्तु पुनः उसने सोचा—"इसे मैं भक्षण कर जाता हूँ–अर्थात् इसे प्राप्त करके मैं अपने को कृतार्थ मान बैठता हूँ, तब तो मुझे थोड़ा ही अन्न भोजन के निमित्त मिलेगा। अतः इसका विस्तार करूँ जिससे बहुत खाने को अन्न मिले। क्योंकि अन्न उसे कहते हैं, जो खाया जाय अथवा जो हमें स्वयं खा जाय। (अद्यते अत्ति भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते) अतः अधिक खाने की अभिलाषा से उसने वाणी और मन के द्वारा इन सबकी रचना की। किन-किन की रचना की ? जैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, छन्द, यज्ञ, समस्त प्रजावान्, पशु-पक्षी-गण। मृत्यु प्रजापति क्षुधा से युक्त ही ठहरे। अतः जिसे पैदा करें उसी को खाने को दौड़े, भाव यह हुआ, कि जन्म के साथ ही भूखी मृत्यु भी साथ उत्पन्न होती है। जन्म से पहिले ही मृत्यु निश्चित् हो जाती है, मृत्यु मुख फाड़े सदा प्राणियों के साथ-ही-साथ रहती है। अद् धातु भक्षण अर्थ में प्रयुक्त होती है। वह मृत्यु रूप प्रजापति सबको अति–खाता है इसीलिये उसका एक नाम अदिति भी है। ये सब भगवान् के ही नाम हैं भगवान् के ही रूप हैं। वे ही मन हैं, वे ही प्रजापति हैं, वे ही अग्नि हैं, वे ही संवत्सर हैं और वे ही अदिति हैं इसीलिये यजुर्वेद में कहा है। स्वर्गलोक अदिति है, अन्तरिक्षलोक अदिति है, अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है। सबका भक्षण करना, सबको अन्त में समेट कर उदरस्थ कर लेना यही अदिति का अदितित्व है। अर्थात् सब को भक्षण करने वाला वह काल स्वरूप कृष्ण ही है। जो इस प्रकार इस अदिति के अदितित्व को जान लेता है, वह मोक्षा–अद्या (खाने वाला) होता है। वही सबका अन्न

होता है। भाव हुआ जो अन्न को खाता है, वह भी किसी के खाने योग्य अन्न होता है, छोटी मछलियों को बड़ी मछलियाँ खा जाती हैं, बड़ी मछलियों को और जीव खा जाते हैं। जो खाता है वह भी किसी द्वारा खाया जाता है, जीव ही जीवों को भक्षण करते हैं। सभी खाये जाते हैं सभी खाते हैं। अन्न ही ब्रह्म है। अदिति परमात्मा ही सब का भक्षण करता है।

अश्वमेध में उपयोग आने वाली समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति बता रहे हैं। पहिले अश्वमेध सम्बन्धी अग्नि का उत्पत्ति के प्रकरण में क्षुदित मृत्यु प्रजापति के द्वारा जल, पृथ्वी, अग्नि, आदित्य, प्राण, वायु, दिशायें तथा त्रिलोकी की उत्पत्ति बतायी। अर्थात् यज्ञीय स्थान निर्माण, अग्निहोत्र की अग्नि उत्पन्न हो गयी। केवल यज्ञ वेदी यज्ञाग्नि से ही कार्य तो न चले अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी जब तक मन्त्र न पढे जायँगे तब तक यज्ञ कैसे होगा। अतः काल के मापक सवत्सर और जिस वाणी से वेद मन्त्र पढे जाते हैं उस वाणी की उत्पत्ति के ही प्रकरण में सवत्सर, वेद-त्रयी, छन्द, यज्ञ तथा समस्त प्रजा और पशुओं की उत्पत्ति बतायी। अब स्थान हो गया, दिशाओं का ज्ञान हो गया, काल का ज्ञान हो गया, यज्ञ करने कराने वाली प्रजा की उत्पत्ति हो गयी। मन्त्रों को पढने को वाणी तथा वेदत्रयी हो गयी। अब अश्वमेध यज्ञ में यज्ञीय मेध्य पशु अश्व की उत्पत्ति की कथा और रह गयी। यदि अश्व उत्पन्न होकर अश्व और आ जाय, तो अश्वमेध की सभी सामग्रियाँ जुट जायँ। अतः अब अश्व की उत्पत्ति और बतायी जाती है। पहिले तो उस मृत्यु रूप परमात्मा ने यह कामना की, कि मैं आत्मा से युक्त होऊँ तब तो उसने देहवान्-आत्मावान् बनकर अप् की अग्नि की उत्पत्ति की। और अपने को अग्नि, आदित्य और प्राण वायु तीन भागों में विभक्त कर लिया।

दूसरी बार उसने दूसरे शरीर की कामना की जिससे संवत्सर वाणी वेदत्रयी की उत्पत्ति हुई।

अब तीसरी बार उसने ऐसे शरीर की कामना की जिसके द्वारा मैं अश्वमेधादि बड़े भारी यज्ञ से यजन करूँ। यज्ञों में तो श्रम बहुत पड़ता है, अतः यज्ञ की कामना करने से ही वह श्रमित हो गया। तब उसने तप किया। उसका विचारना ही ज्ञानमय तप है। जिस शरीर से तप किया था मृत्यु प्रजापति के उस शरीर से यश और वीर्य निकल गया। यश वीर्य निकल गये अर्थात् प्राण निकल गये। क्योंकि शरीर में प्राणों के रहते ही यश तथा वीर्य है। प्राणहीन शरीर तो अशुद्ध अशुचि हो जाता है, उसमें न बल रहता है न यश रहता है, वह तो शव हो जाता है। प्राण शरीर से पृथक् होने पर प्राणहीन शरीर ने फूलना आरम्भ किया। यद्यपि उस प्रजापति के शरीर से उनके प्राण तो अवश्य पृथक् हो गये थे, किन्तु उनका मन तो शरीर में ही रहा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मृत्यु प्रजापति का वह प्राणहीन शरीर अमेध्य-अशुचि-हो गया। जैसे कोई किसी अपने प्रियस्थान से या प्रिय पुरुष के पास से-शरीर द्वारा दूर देश चला जाता है, किन्तु उसका मन वहीं रह जाता है, उसी प्रकार प्रजापति का मन उस प्राणहीन अमेध्य शरीर में ही रहा आया। अब जैसे उस अमेध्य प्राणहीन शरीर में मृत्यु प्रजापति पुनः प्रवेश करके उसे यज्ञ के योग्य मेध्य-पवित्र-अश्व बना लेंगे और इस अश्वमेध उपासना का क्या फल होगा इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अन्तरिक्ष है उदर पीठ द्यु हु भूमि हृदय गति ।
अग्नि प्रजापति जलहिँ बसे जाने सुप्रतिष्ठित ॥
मृत्यु कामना करी वेद मन मिथुन रेत सो ।
सम्वत्सर तिहि बन्यो गर्भ बसि तितककाल सो ॥
अंड फुट्यो बालक भयो, भाण शब्द करि बाक् सो ।
करी कामना यजन की, श्रमित भयो है आप सो ॥

अश्वोत्पत्ति और अश्वमेधोपासना का फल

[१९९]

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत्॥*

(बृ० उ० १ अ० २ ब्रा० ६ म०)

छप्पय

पुनि तानें तप कर्‌यो श्रमित तपयुत मृत्युहिँ तब।
निकसे यश अरु वीर्य प्राण ही यश वीरज सब॥
प्राण निकसि जब गये देह फूली भारी अति।
तातैं भई अमेध्य मनहिँ परि इतहिँ प्रजापति॥
करी कामना मेध्य की, देह हौं बनि जाउँ इत।
अश्वत-फूली-देह वह, मेध्य अश्व सो भयो उत॥

---

* "मैं बड़े भारी यज्ञ द्वारा यजन करूँ" ऐसी उसने पुनः कामना की। इससे वह थक गया। उसने तपस्या की। उस प्रजापति मृत्यु का श्रमित तथा तपित होने के कारण वीर्य निकल गया। प्राण ही यश तथा वीर्य है। प्राणहीन शरीर ने फूलना आरम्भ किया प्राण तो शरीर नकल गया, किन्तु प्राणहीन शरीर में मन में अटका ही रहा।

राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अध्वर, अर्क, [illegible] जीववर्हि और मदिन्तम ये तथा अन्यान्य यज्ञ उन पर [illegible] में आश्रित हैं। महत्त्व की दृष्टि से राजसूय यज्ञ [illegible] किन्तु राजसूय यज्ञ को सभी राजा नहीं कर सकते। जो [illegible] वसुमति का एक छत्र सम्राट् हो, पृथ्वी भर के समस्त राजाओं जिसकी अधीनता स्वीकार करलें, वही राजसूय यज्ञ कर सकता है। इसीलिये वरुण ने चन्द्रमा ने, महाराज हरिश्चन्द्र ने और धर्मराज युधिष्ठिर ने ही राजसूय यज्ञ किये हैं। राजसूय के पश्चात् सबसे वैभवशाली अश्वमेध यज्ञ है।

अश्वमेध यज्ञ के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—जो अश्वमेध से यजन करता है, अथवा जो उपासना द्वारा इस प्रकार इसके रहस्य को निश्चय करके जानता है, वह सभी प्रकार के पापों को पार कर जाता है।*

अश्वमेध इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय सुखों की कामना से [illegible] सामग्रियों से वैभव के साथ सम्पन्न राजा लोग स्वर्ग की प्राप्ति के निमित्त अथवा पापों के प्रायश्चित्तों के निमित्त करते हैं और उसके करने से उन्हें स्वर्गादि [illegible] है। किन्तु जो इन्द्रियों द्वारा [illegible] मन के द्वारा उपासना से इसके रहस्य को [illegible] अश्वमेध का फल मिलता है। [illegible] स्वर्गादि सुखों को [illegible] में जन्म लेता है, किन्तु [illegible] को जानता है उसे [illegible] आदि [illegible] साथ मुक्त हो [illegible]।

* [illegible]

उपासना का रहस्य इतना ही है, कि यज्ञ के समस्त संभारों में-समस्त सामग्रियों में परमात्मभावना-परब्रह्मभावना-करनी चाहिये। यही बात भगवान् ने गीता में कही है। यज्ञों में जो हवि अर्पण की जाती है वह अर्पण क्रिया भी ब्रह्म है। हविष्य जो होमा जाता है, वह भी ब्रह्म है, जिस अग्नि में हवन किया जाता है, वह भी ब्रह्म है, जो हवन कर्ता है वह भी ब्रह्म है, आहुति भी ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म भावना से यज्ञ करने वाले को अन्त में ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है।* यह तो भावना की बात हुई। ये उपासना वाले कहते हैं, यज्ञों में उपयोग आने वाले समस्त संभार परब्रह्म स्वरूप ही हैं, इसकी जानकारी भर प्राप्त कर लो तुम्हें यज्ञ का फल उससे भी श्रेष्ठ फल मिल जायगा। यज्ञों में यज्ञ करने का स्थान पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, यजमान, पुरोहित, सामग्री ये परमावश्यक हैं। ये सब ब्रह्म का शरीर हैं, ब्रह्म रूप ही हैं उसका जल शरीर है, पृथ्वी उसका शरीर है, अग्नि उसका शरीर है, तेज उसका शरीर है, वायु उसका शरीर है। आदित्य उसका शरीर है। दिशायें उसका शरीर हैं ये सब बातें बृहदारण्यक उपनिषद् में कही गयी हैं। अश्व भी भगवान् का स्वरूप है। ऐसी भावना करने वाला अश्वमेध के फल को प्राप्तकर लेता है। भक्ति-मार्ग में जहाँ प्रणाम का प्रकरण आया है, वहाँ प्रणाम का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है—श्रीकृष्ण को एक भी प्रणाम किया जाय, तो वह एक ही प्रणाम दश अश्वमेध यज्ञों के बराबर फल देने वाला है। बराबर ही नहीं अपितु उनसे भी अधिक फल देने वाला है। दश अश्वमेध करने वाला तो अपने पुण्यों का स्वर्गादि

* ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(श्री भा० गी० ४ अ० २४ श्लोक)

लोकों में फल भोगकर फिर मर्त्यलोक में आकर पुनः जन्म धारण करेगा, किन्तु श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होगा।* इस प्रकार सबमें ब्रह्म भावना करके जो इस अश्वमेधोपासना को भलीभाँति जानता है, वह जन्ममरण से सदा के लिये छूट जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह बात पहिले भी बताया जा चुकी है, कि उस मृत्यु प्रजापति ने बड़े भारी यज्ञ या यजन करने की कामना की। इस कामना करने से ही वह श्रमित हो गया। तब उसने तप किया जब कोई श्रमित होकर [illegible] तपित हो जाता है, तो उष्णता के कारण उसका वीर्य निकल पड़ता है। इसका वीर्य क्या है, प्राण ही इसका यज्ञ [illegible] वीर्य है अर्थात् प्रजापति का शरीर ही शेष रह गया। [illegible] प्राण उड़ गये। प्राणों के निकल जाने पर निकल [illegible] अश्वयित होने लगा—उसने फूलना प्रारम्भ कर दिया [illegible] के निकल जाने पर भी उसका मन [illegible] गया था। शरीर में ही जिसका मन लगा है [illegible] ने मन में कामना की। मेरा यह शरीर [illegible] मेध्य-अपवित्र-अस्पर्श-हो गया

ही शरीर है। जो इसे इस प्रकार जानता है, वही वास्तव में अश्वमेध को जानता है, अश्वमेध का यथार्थ फल उसी जानकार को प्राप्त होता है।

अब इस अश्वमेध का तात्पर्य बताते हैं। जब यह निष्प्राण फूला हुआ अमेध्य शरीर अश्व के रूप में मेध्य बन गया तो उस मृत्यु रूप प्रजापति ने इस अश्व को अवरोध रहित बना दिया। खुला छोड़ दिया, खूँटे आदि से बाँधा नहीं। एक सम्वत्सर के पश्चात् उसने उस प्रजापति के अश्व शरीर को अपने ही निमित्त आलभन किया। अन्य पशुओं का भी देवताओं के निमित्त बनाकर उनका आलभन किया। उन्हें तत्तद देवताओं के समीप पहुँचाया। इसीलिये यज्ञो में याज्ञिक लोक वेद के मन्त्रो द्वारा उस बलिदान के पशु का संस्कार करके उसे सर्वदेव सम्बन्धी प्राजापत्य पशु मानकर उसका आलभन-करते हैं यह जो आदित्य-सूर्यनारायण-तपता है, वही मानों अश्वमेध यज्ञ है। उस अश्वमेधीय अश्व का सम्वत्सर ही शरीर है। यह अग्नि ही अर्क है। जितने ये लोक हैं वे इस अश्व की आत्मा हैं। अग्निदेव और आदित्यदेव ये ही दोनों अर्क और अश्वमेध हैं। इन अर्क और अश्वमेध का देवता एक ही यह मृत्युरूप प्रजापति है। इस प्रकार अश्वमेध के यथार्थ रहस्य को जानकर जो मन के द्वारा इसका मनन करता है, वह फिर मृत्यु के चक्कर में नहीं फँसता। जैसे अश्वमेध का अश्व सब पर विजय प्राप्त करके लौट आता है, उसी प्रकार इस उपासना को जानने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। मृत्यु बहुत खोजने पर भी उसे पा नहीं सकता। क्योंकि मृत्यु उसकी अपनी अन्तरात्मा बन जाती है। और जितने भी ये यज्ञ सम्बन्धी देवता हैं वे सब भी इसमें एकीभूत हो जाते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने आप सबसे अश्वमेधोपासना कही। इसका तात्पर्य यही है, कि सब में ब्रह्मभाव रखकर उपासना करनी चाहिये। अब आगे देवताओं और असुरों में जैसे उद्गान को लेकर स्पर्धा हुई। उस साम के उद्गीथ सम्बन्धी विचारों को मैं आगे आप को बताऊँगा। आशा है आप स्वस्थचित्त होकर, इस पुण्यप्रद कथा को ध्यान पूर्वक सुनने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

सम्वत्सर तक अश्व प्रजापति छुट्टल छोड्यो।
पुनि अपने हित कर्‌यो आलभन नातो तोड्यो॥
अश्वमेध में करैं आलभन पशु देवनि प्रिय।
अश्वमेध रवि तपन देह सम्वत्सर तिहि प्रिय॥
अग्नि अर्क सब लोक ही, आत्मा अग्नि अदित्य है।
अश्वमेध अरु अर्क द्वय, देव किन्तु वे एक हैं॥

(२)

जो जानें जा रहस प्रजापति मृत्युहि माने।
देव मन्त्र ही रूप मन्त्र सबई में जाने॥
अग्नि, अश्व, यजमान, पुरोहित, सामग्री सब।
उनहीतें उत्पत्ति उनहिं में तीन होहिं सब॥
जीति मृत्यु कूँ लेईं वे, मृत्यु ताहि पावै नहीं।
मृत्युदेव आत्मा बने, का आत्मा मारै कहीं?

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
द्वितीय अग्नि ब्राह्मण समाप्त।

प्राणोपासना (१)

[२००]

द्वया ह प्रजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ३ ब्रा० १ मं)

छप्पय

कश्यप सुत मर असुर, असुर बहु थोरे सुर सब ।
करत परस्पर डाह करें जय सुर सोचें अब ॥
बानी तैं सुर कहें—करो गद्गान सुरनि हित ।
भोग सुरनि हित गान कर्‌यो शुभ भाषन निजहित ॥
पाप विद्ध असुरनि करी, अनुचित भाषन जो करत ।
बानी को यह पाप है, म्यारथरत हौ अघ निरत ।

पहिले जब सब लोग यज्ञ को सर्वस्व समझते थे। तब सब कार्य यज्ञों द्वारा ही सिद्ध कराया करते थे। किसी के पुत्र नहीं है, तो वह पुत्र प्राप्ति के निमित्त पुत्रेष्टि यज्ञ कराते थे। इसी प्रकार,

---

* प्रजापति की दो भाँति की सन्तानें थी, देवता और असुर। उनमें देवता अल्पमत में थे और असुर बहुमत में थे इन लोकों में परस्पर डाह करने लगे। इन दोनों में से देवताओं ने कहा—"हम यज्ञ करके उद्गीथ प्रार्थना द्वारा असुरों को परास्त कर देंगे। उनका अतिक्रमण करेंगे।"

से छिपाकर–कुछ द्रव्यादि का लोभ देकर अपनी इच्छा ऋत्विजों पर प्रकट करी। ऋत्विज् भी लोभ में आ गये। उनमें अध्वर्यु की प्रेरणा से जो होता बने हुए ऋत्विज ब्राह्मण थे। उन्होंने पुत्र सम्बन्धी मन्त्रों को न पढ़कर स्वार्थवश–लोभ के अभिभूत होकर, यजमानी–श्रद्धा देवी की कामना के अनुसार एकाग्र चित्त से पुत्री की भावना से वषट्कार का उच्चारण करके अग्नि में आहुति दी।

स्वाभाविक ही था, जिस भावना से आहुति दी जायगी, वही भावना फलीभूत होगी। मनु के इला नाम की पुत्री हुई। यह हुआ ऋत्विजों के स्वर्थवश विपरीत आचरण के कारण। विपरीत फल देखकर मनु महाराज को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने पुरोहित वसिष्ठजी से कहा—"भगवन्! वैदिक कर्म भी विपरीत फल देने लगे हैं क्या? मैंने तो पुत्र की कामना से यज्ञ किया था। पुत्री कैसे हुई?"

तब भगवान् वसिष्ठजी ने ध्यान से सब समझ लिया। यह विपरीत फल लोभ के वशीभूत होकर ऋत्विजों के स्वार्थवश हुआ है। फिर वसिष्ठजी ने अपनी तपस्या के प्रभाव से लड़की को ही लड़का बना दिया। फिर भी बड़ा झमट हुआ। यहाँ पर इस कथा कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि यज्ञ में नियुक्त ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता तथा उद्गातादि ऋत्विजों को लोभ नहीं करना चाहिये अपने स्वार्थवश कोई विपरीत आचरण न करना चाहिये। समस्त पापों का बाप है लोभ। अतः ऋत्विजों को यजमान की इच्छा के विपरीत स्वर्थवश अपने लिये कुछ न करना चाहिये। जो ऋत्विज अपने लिये कुछ पृथक् कार्य करता है, वह पाप से विद्ध हो जाता है, वह पाप प्रचार में सहायक होता है। त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप जब देवताओं के पुरोहित हो

गये, तो वे देवताओं की इच्छा के विरुद्ध स्वार्थवश चुपके-चुपके असुरों को भी भाग देने लगे। उसी पाप के कारण देवेन्द्र ने उनका वध कर दिया। बड़ा झंझट हुआ पाप की वृद्धि हुई। अतः उद्गातादि ऋत्विजों को स्वार्थ से रहित होकर आचरण करना चाहिये। जो ऋत्विज् ऐसा नहीं करते वे पाप से लिप्त हो जाते हैं। इसी बात को सिद्ध करने के लिये देवताओं की उद्गीथ सम्बन्धी कथा कही गयी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रजापति के दो प्रकार की सन्तानें थीं। एक तो दिव्य गुण सम्पन्न देव नामक थे। दूसरे सुरों से भिन्न अदिव्य गुणों वाले असुर थे। असुर ज्येष्ठ थे देवता कनिष्ठ थे। असुर बहुमत में थे देवता अल्प मत में थे। उन दोनों में स्वाभाविकी जन्म जात स्पर्धा थी, दोनों ही परस्पर में एक दूसरे को जीतना चाहते थे। क्योंकि देवता अल्पमत में थे, अतः वे प्रायः असुरों से पराजित हो जाते थे। अतः एक बार सबने मिलकर मन्त्रणा की, कि इन असुरों को हम कैसे जीतें। इनका अतिक्रमण कैसे करें? सबने मिलकर निश्चय किया, कि यज्ञ ही एक कामधेनु है, इससे जैसी भी कामना करोगे वैसा ही फल प्राप्त हो जायगा। अतः अग्निष्टोम नामक यज्ञ करें। उसमें विजय सम्बन्धी उद्गीथ का गायन उद्गाता नामक ऋत्विज् से करावें उस उद्गीथ द्वारा हम अवश्य ही असुरों का अतिक्रमण करेंगे।" उस उद्गीथ के द्वारा हमारी जय और असुरों की पराजय हो जायगी।

यह बहुत पहिले की आदि सत्ययुग की कथा है। तब तक वाक् देवता (वाणी) दो ही कार्य करते। एक तो वाणी ऐसे वचन बोलती माला लाओ, चन्दन लाओ, सुगंधित पदार्थ लाओ, सुस्वादु भोजन लाओ अर्थात् भोग पदार्थों को

प्राप्त कराने वाले वचन। दूसरे ऋत, सत्य, और श्रुत मधुर वचन बोलना। अर्थात् सूनृत, सत्य से पवित्र सुन्दर गान युक्त, मन मोहक वाणी बोलना। देवताओं ने सोचा—"इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में यदि हम वाग् देवता को अपना उद्गाता बनालें, तो यह सत्य सुन्दर, सुमधुर आकर्षक वाणी में उद्गीथ का गायन करेगा। इससे हम लोगों की कार्य सिद्धि अवश्य हो जायगी।"

ऐसा सोचकर सब देवगण वाणी के अधिष्ठातृ देव वाग् देवता के समीप गये और बोले—"वाग्देवताजी! आप हमारे इस यज्ञ में उद्गाता ऋत्विज का पद ग्रहण करके उद्गीथ गायन कर देंगे क्या?"

वाग्देवता ने कहा—"अवश्य! आपका कार्य सो मेरा कार्य हम सब तो एक ही हैं।"

वाग्देवता की स्वीकृति मिलने पर सभी देवगण बड़े प्रसन्न हुए। वाग्देवता को उद्गाता के पद पर प्रतिष्ठित किया। उसने देवताओं के निमित्त शास्त्रीय विधि से उद्गायन किया, किन्तु वाग्देवता के मन में स्वार्थ आ गया। उसने वाणी में जो भोग था—अर्थात् भोग्य पदार्थों को मँगाने की शक्ति थी उसका गान तो अन्य सब देवताओं के निमित्त किया, किन्तु उसमें जो शुभ बोलने की, सत्य बोलने की, मंगल बोलने की सामर्थ्य थी उसका गान केवल अपने ही लिये किया। यह वाग्देवता का स्वार्थमय अपराध, था उन्होंने अपने कर्तव्य का निःस्वार्थ भाव से निर्वाह नहीं किया।

असुरगण वाग्देवता के भाव को ताड़ गये पहिले तो असुरों ने भयभीत होकर यही समझा कि वाग्देवता द्वारा सामवेद का उद्गान कराकर इस उद्गाता द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। हमें पराजित करके वे विजयलाभ करेंगे। किन्तु जब

उन्हें प्रतीत हो गया, कि देवताओं का उद्गाता ऋत्विज वागदेवता स्वार्थ परायण होने से अशुद्ध है, तो उन्होंने उसे पाप विद्ध कर दिया। कारण यह है जो पवित्र पुरुष हैं, उन पर भूत, प्रेत, पितर, पिशाच असुर राक्षस आक्रमण नहीं कर सकते, किन्तु स्वार्थवश जिनका अन्तःकरण अशुद्ध मलिन हो जाता है, उस पर वे आक्रमण कर देते हैं। वागदेवता ने अपने कर्तव्य का निस्वार्थ भाव से पालन नहीं किया अतः असुरों ने उसके पास जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया। अर्थात् तुमने शुभ भाषण को केवल अपने ही लिये रखा, इस स्वार्थ के कारण तुम सत्य, मंगलमय शुभ ही वचन वाणी से न बोला करोगे, अपितु आज से वाणी कठोर, अनृत, अश्लील, अनुचित तथा पैशुन्ययुक्त वचन भी बोला करेगी। इसलिये वाणी जो भोगमय पदार्थ मँगाती है उसका उपयोग तो सभी इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव करते हैं। जैसे उसने कहा—माला चंदन लाओ, तो घ्राणेन्द्रिय तथा चक्षु इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेव इनका उपभोग करेंगे। किन्तु वाणी जो मधुर, हृदय स्पर्शी सत्य, उचित, विशुद्ध वचन बोलेगी तो लोग वाणी की ही प्रशंसा करेंगे। कैसी मधुर मनोज्ञ वाणी है। यह वाग्-देवता का स्वार्थ था तभी से वाणी से कठोर असत्य वचन भी निकलने लगे। उसी पर लोग वाणी को कोसते हैं। वाक्बाण सबसे अधिक घायल करते हैं। स्वार्थवश वाणी में विकृति आ गयी। देवताओं का मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ। असुरों के मन की बात हो गयी।

जब वागदेवता ने धर्मपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया, तो देवताओं ने उसे उद्गाता के पद से हटा दिया। अब सोचा—इसके स्थान पर किसे नियुक्त करें? सबने कहा—अबके घ्राण में रहने वाले प्राण को उद्गाता बनाओ। उससे कहा,

उसने स्वीकार कर लिया। उस घ्राण रूप प्राण के मन में भी स्वार्थ समा गया, उसने जो उसमें भोग है उसे तो उसने देवताओं के लिये आगान किया और उसमें जो शुभ सूँघने की शक्ति है उसे अपने लिये आगान किया। इसी दुर्बलता को देखकर असुरों ने उसे भी पाप से विद्ध कर दिया। तब से घ्राण सुगंधि को ही नहीं दुर्गन्ध को भी सूँघने लगा है। यही इसका पाप है। इसी पाप से आविद्ध होने से यह देवताओं की विजय नहीं करा सका।

तदनन्तर देवताओं ने चक्षु से उद्गान कराने को कहा। उसने भी स्वीकार करके स्वार्थपरता की। चक्षु मे जो भोग है उसका उद्गान तो देवताओं के लिये किया, किन्तु जो कुछ वह शुभ देखता है, कल्याणमय दर्शन करता है, उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने उसे भी पाप विद्ध कर दिया। तभी से चक्षु कल्याणमय दर्शन के साथ अकल्याणमय अपवित्र, अननुरूप दर्शन करने लगा। बुरी-बुरी वस्तुओं को भी देखने लगा। यही चक्षु का पाप है।

तब देवताओं ने श्रोत्र से कहा, उसने भी स्वीकार करके कपट व्यवहार किया, श्रोत्र में जो भोग है, उसे तो उसने देवताओं के निमित्त गाया और जो उसमें शुभ श्रवण करने की शक्ति है, उसे स्वयं के लिये उद्गान किया। तब असुरों ने उसे भी पाप विद्ध कर दिया। तभी से श्रवण शुभ के स्थान में अशुभ भी सुनने लगे। पहिले श्रोत्र केवल शुभ बात ही सुनते थे जब से स्वार्थ के कारण पाप विद्ध हो गये, तब से अश्लील बातें, गाली, कटुवाणी ईश्वर निंदा, दूसरों की बुराई आदि बुरी बातें भी सुनने लगे। यही श्रोत्र का पाप है। यही यह स्वार्थपरायणता युक्त पाप है। अब जब इन इन्द्रियों से कार्य सिद्धि न हुई। ये सबके सब पाप से विद्ध हो गये, तब देवताओं ने मन से कहा।

उसके स्वीकार कर लेने पर उसमें भी स्वार्थ परता प्रवेश कर गयी। उसने जो मन में भोग सम्बन्धी भाव आते हैं उसका गान तो देवताओं के लिये किया। किन्तु जो शुभ संकल्प करता है उसे उसने अपने लिये रख कर गान किया। असुरों ने उसे भी पाप से विद्ध कर दिया। मन में जो अशुभ सकल्प उठते हैं, वह जो अननुरूप संकल्प करता है। यही वह स्वार्थपरायणता का पाप है। इस प्रकार वाक्, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये स्वार्थ के कारण सबके सब पाप विद्ध हो गये, इनसे कार्य की सिद्धि नहीं हुई, तब देवता चिन्ता में पड गये। क्या किया जाय ?

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब इतने उद्गाताओं से देवताओं का मनोरथ पूर्ण न हुआ ये सब-के-सब स्वार्थ के वशीभूत होकर पाप विद्ध बन गये। तब उन्होंने सोचा-शरीर में सबसे मुख्य अङ्ग मुख है। मुख्य होने से ही मुख कहलाता है। शरीर में वैसे दश प्रकार के प्राण है, किन्तु जो इन सब प्राणों में मुख्य प्राण है, वह मुख्य अङ्ग मुख में ही रहता है। अतः उस मुख्य प्राण से ही उद्गाता बनने की प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा निश्चय करके जैसे समस्त देवगण मिलकर मुख्य प्राण के समीप जायँगे और उनसे उद्गाता बनने की प्रार्थना करेंगे, वह प्रसङ्ग आगे वर्णन किया जायगा, आशा है आप सब इसे सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

—०—

छप्पय

(१)

सुरनि करी पुनि घ्राण, चक्षु, मन श्रोत्र प्रार्थना।
करो गान उद्गीथ करी नाहीं एकहु ना॥
बस्यो स्वार्थ सब हिये गान कछु निज हित कीन्हों।
पाप विद्ध सब करै भाव असुरनि तिनि चीन्हों॥
घ्राण भोग हित सुरनि कूँ, शुभ सूँघन निज हित करयो।
विद्ध घ्राण इहि पाप तैं, तबहिं अशुभ सूँघन लग्यो॥

(२)

चक्षु भोग हित गान देव हित शुभ दर्शन निज।
तबतैं देखन लग्यो अशुभहू पाप बही द्विज॥
श्रोतहु निज हित कर्यो गान असुरनि सो पापी।
पर निंदा अरु अशुभ सुनै, करि आपा धापी॥
मन स्वीकारी सुरविनय, ताहू ने संकल्प शुभ।
निज हित राख्यो तब हितैं, करै मनन यह मन अशुभ॥

प्राणोपासना (२)

(२०१)

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्यय
मास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रस ॥*
(बृ० उ० १ अ० ३ ब्रा० ८ मं०)

छप्पय

सब सुर मिलि पुनि मुख्य प्राण तें करी विनय जब ।
परमारथ हिय धारि कर्‌यो उद्‌गान प्राण तब ॥
असुरनि गह्यो न दाल सबहिं खिसियाने हारे ।
देव भये प्रकृतिस्थ विजय के बजे नगारे ॥
जो जानत जा ज्ञानकूं, होहि प्रकृतिपति थिर सतत ।
करै द्वेष जो तासु तें, तासु पराभव होइ नित ॥

श्रेष्ठत्व स्वार्थ में नहीं परमार्थ में है। स्वयं के पेट पालने को पुरुषार्थ नहीं कहते। अपने पेट को तो कूकर-सूकर, पशु-पक्षी सभी पाल लेते हैं। पुरुषार्थी–परमार्थी–तो वही है, जो सब का

---

* देवताओं ने मुख्य प्राण की स्तुति करते हुए कहा—"जिसने हमें को आसक्त बनाकर हमें देव भाव को प्राप्त कराया, वह रहता कहाँ है? पुनः सोचकर बोले—ओ हो, तो यह तो आस्य–मुख–के भीतर रहता है। अतः यह अयास्य है, समस्त अंगों का रस होने से यह आंगिरस भी है।"

ध्यान रखे। सबके लिये करे। जो अपने लिये न करके सबके लिये करता है, वही सर्वश्रेष्ठ है।

आँखों में अंजन डालो तो आखें उससे अपनी ही ज्योति बढ़ावेंगी। दांतो में मञ्जन लगाओ तो वे अपनी ही चमक बढ़ावेंगे। घ्राण द्वारा सुगंधि सूँघो तो वह अपनी ही परितृप्ति करेगा। वाणी द्वारा मधुर वचन बोलो,तो सभी लोग वाणी की ही प्रशंसा करेंगे, किन्तु आप प्राणों की परितृप्ति के हेतु मुख द्वारा प्राणों को भोजन देंगे, तो प्राण उससे स्वयं परितृप्ति न होकर सम्पूर्ण शरीर को–देह के सभी अंग उपाङ्गों को तृप्ति प्रदान करेगा। सभी को उसके रस द्वारा पालेगा पोसेगा। श्रेष्ठता इसी में है कि श्रम तो अकेला स्वयं करे, किन्तु उसका लाभ सबको पहुँचावे। जाड़े के दिनों में कुछ श्रेष्ठ पुरुष स्वयं ही जाकर अरण्य से अकेले ही लकड़ियाँ ले आते हैं। स्वयं ही आग लाकर उसे अधियानों में–कोड़ा–में जलाते हैं। आग जलने पर अनेकों लोग उससे ताप कर अपने जाड़े को बुझाते हैं। इसी प्रकार मुख में रहने वाला प्राण खाने पीने के लिये प्रयत्न तो स्वयं ही करता है, किन्तु उसका फल–रस–सबको बाँट देता है। इसीलिये प्राण सभी से श्रेष्ठ है। उसी श्रेष्ठ प्राण की भगवत् बुद्धि से उपासना करनी चाहिये। इस आख्यायिका द्वारा प्राणों का श्रेष्ठत्व सिद्ध किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब वाणी घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन के गायन द्वारा देवताओं की कार्य सिद्धि नहीं हुई, तब उन्होंने सोचा—"चलो शरीर के मुख्य स्थान में रहने वाले मुख्य प्राण से प्रार्थना करो, वह हमारे लिये उद्गीथ का गायन करे।" ऐसा सोचकर सभी देवगण मुख्य प्राण के समीप गये। और

उससे कहा—"हमारी विजय के निमित्त तुम उद्गायन कर सकते हो तो करो।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुख्य प्राण कहा—"बहुत अच्छी बात है, मैं अवश्य आप सबके निमित्त उद्गायन करूँगा।" प्राण देव तो परोपकारी हैं, अन्य इन्द्रियों ने जो उद्गायन किया, वह पूर्ण परोपकार भावना से नहीं किया अपने स्वार्थ को बचा रखा था। कुछ अपने लिये कुछ औरों के लिये ऐसे स्वार्थ रक्षापूर्वक उद्गायन किया था, किन्तु ये प्राण तो पूर्णरीत्या परोपकारी हैं, ये सभी के हित के लिये करते हैं। व्यक्तिगत अपने लिये कुछ बचाकर नहीं रखते। जो सदा दूसरों का ध्यान रखता है, दूसरे लोग भी उसका ध्यान रखते हैं। उनका अनुगमन करते हैं।

यह बात असुरों को विदित हुई। उन्होंने समझा इस उद्गाता के द्वारा देवगण अवश्य ही हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः अन्य इन्द्रियों की भाँति इन्हें भी उन्होंने पाप विद्ध करना चाहा, किन्तु जिसका अपना निज का कोई स्वार्थ है ही नहीं। जो सतत परमार्थ में ही निरत है। जो निरन्तर दूसरों के हित के ही निमित्त कार्य करता रहता है, उसे कोई पापविद्ध कैसे कर सकता है? उन्होंने प्राणों का पाप विद्ध करने का पूर्णरीत्या प्रयत्न किया, किन्तु जिस प्रकार पत्थर की सुदृढ़ शिला से टकराकर मिट्टी का ढेला स्वयं नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वे असुरगण प्राणों के सम्मुख स्वयं ही विध्वस्त होकर–चूर-चूर होकर–अनेक भाँति से विनष्ट हो गये। अब क्या था, देवताओं की चिन्ता दूर हुई, वे प्रकृतिस्थ होकर गये। असुरों की तो पराजय होनी ही थी।

अब इस प्राणोत्कृष्टता का फल बताते हैं, कि जो प्राणों के इस रहस्य को जान लेता है, वह प्रजापति के समान स्थित हो जाता है। जो लोग उससे द्वेष करते हैं अकारण जलते रहते हैं,

उनका जलन के कारण सौतेले भाई होने पर भी पराभव होता है, निश्चय करके उनकी पराजय होती ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! असुरों के अमक्त हो जाने पर देवगण परस्पर में कहने लगे—"भाई, प्राणदेव ने तो बड़ा अद्भुत कार्य किया। उसके सम्मुख अन्य सभी हत श्री हो गये। जिसने हमारी इस प्रकार विजय कराया। हमें जिन्होंने इस प्रकार देवभाव को प्राप्त कराया है। वे रहते कहाँ हैं? उनका निवास स्थान कौन-सा है?

कुछ ने इस विषय पर मनन किया, विचार किया और अन्त में कहा—"यह मुख में-आस्य में-रहता है अतः इसे मुख्य या अयास्य कहा करो।"

किसी देवता ने कहा—"प्राण ने कार्य तो अत्यन्त ही अद्भुत किया। जो काम किसी से न हुआ, वह प्राण ने किया। अतः इसे कोई प्रशसात्मक उपाधि प्रदान करनी चाहिये।"

इस पर मुख्य-मुख्य देवों ने कहा—"प्राण ने हमारे गुरु बृहस्पति के समान बुद्धिमत्ता का काम किया है। इसलिये इसे "अङ्गिरस" की उपाधि से विभूषित किया जाना चाहिये।"

इस पर एक ने कहा—"अङ्गिरस तो अगिरा के पुत्र को कहते हैं, यह प्राण अङ्गिरा का पुत्र थोड़े ही है।'

इस पर दूसरे ने कहा—'अङ्गिरस का अर्थ है, जो कि यह समस्त अगों का रस है, सार है, जीवनाधार है। इसके रहते ही समस्त इन्द्रियाँ चैतन्य रहती हैं, देह कर्म करने में समर्थ होती है। इसके शरीर से निकल जाने पर देह सूख जाती है। अतः इसको 'अगिरस' उपाधि यथार्थ है। वास्तव में यह सभी अग उपाङ्गों का रस है, जीवनदाता है, आत्मा है।'

एक देवता ने कहा—"प्राणदेव ने अमर कार्य किया है, इस लिये इन्हें एक उपाधि और देनी चाहिये।"

दूसरे ने पूछा—"तुम्हीं बताओ 'आंगिरस' के अतिरिक्त दूसरी उपाधि कौन-सी दी जाय?"

तब देवताओं ने विमर्श करके कहा—"इन्हें एक 'दूर' नामक उपाधि और दी जावे।"

एक ने पूछा—"दूर का अर्थ क्या हुआ?"

दूसरे ने बताया—"जिससे मृत्यु दूर रहे। मृत्यु जिसके पास फटकने भी न पावे। जो अमर हो वही दूर है। जो प्राण की इस व्युत्पत्ति को भली प्रकार जान लेगा वह भी अमर हो जायगा मृत्यु उससे दूर ही रहेगी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सग का दोष तो लगता ही है। शव अस्पर्श है, उसे जो छूवेगा उसे ही दोष लगेगा। इसी प्रकार प्राण शरीर में रहता है। उसका वाणी से, श्रोत्र से, चक्षु से, घ्राण से, तथा मन आदि सभी से संसर्ग होता है। सभी को समान भाव से रस पहुँचाता है। ये सब स्वार्थ के कारण पाप विद्ध है, तो क्या इन सब के संसर्ग से प्राण को दोष न लगेगा। उसे अशुद्धता स्पर्श न करेगी।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! उत्तम प्रकृति वाले पुरुषों का कुसंग कुछ भी बिगाड नहीं कर सकता। देखिये, चन्दन के वृक्ष पर सर्वत्र भुजंग-सर्प-लिपटे रहते हैं। फिर भी चन्दन में विष व्याप्त नहीं होता। उत्तम प्रकृति वाले दूसरों को पावन बना देते हैं जैसे जिस वन में चन्दन का वृक्ष हो, उसकी सुगन्ध से आस पास के सभी वृक्ष सुगन्धमय बन जाते हैं।

प्राण से तो मृत्यु दूर रहते ही हैं, किन्तु प्राणोपासक से भी मृत्यु दूर रहते हैं क्योंकि वह प्राणों के रहस्य को जान गया है।

विषयों के संसर्ग से होने वाली आसक्ति ही मृत्यु है। प्राणाभिमानी जो व्यक्ति है उससे मृत्यु का विरोध है। अतः जिस प्राण से मृत्यु दूर रहती है। उस प्राण से जिसने मित्रता कर ली है। मृत्यु उससे भी दूर ही दूर रहेगी। यही नहीं प्राण के संसर्ग से वागादि सब भी जो पाप विद्ध थे, पावन बनकर मृत्यु से परे पहुँच गये। इनके पाप को इनके शरीरों में से निकालकर दूर फेंक दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"इनके शरीरों में से निकाल कर पाप को प्राण ने कहाँ पहुँचा दिया ? किधर फेंक दिया ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! पाप विद्ध जो वागादि इन्द्रियाँ हैं, उनके शरीरो मे से पाप को निकालकर जहाँ पर इन दिशाओं का अन्त है उस अन्त जन स्थान में पहुँचा दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! दिशायें तो अनन्त हैं, इनका कहीं अन्त ही नहीं होता। फिर दिशाओं के अन्त में पाप को पहुँचा दिया यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यहाँ दिशाओं के अन्त से तात्पर्य श्रौत स्मार्त-वर्णाश्रम धर्म की सीमा के बाहर के समुद्र तटीयादि म्लेच्छ देशों से है। जहाँ के लोग केवल मत्स्यादि जीवों को मार कर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। वहीं पर प्राण ने वागादि के पाप को तिरस्कार पूर्वक स्थापित कर दिया। इस साधक को चाहिये कि ऐसे सदाचारहीन देशों में न जाय और न धर्महीन दस्यु धर्मी अन्त्यज म्लेच्छों से संसर्ग ही करे। पाप से संश्लिष्ट न हो जाऊँ इस भय से अन्त्यजन के समीप न तो भूलकर जाय ही और जहाँ दिशाओं का अन्त हो—वर्णाश्रम धर्म से हीन की सीमा के म्लेच्छ प्रायः देशों में भी न जाय। प्राणदेव बड़े परोपकारी हैं। इन्होंने देववाओं के पाप रूप मृत्यु को दूर करके इन

सबको मृत्यु से पार पहुँचा दिया। अर्थात् इन्हें विशुद्ध बनाकर अन्यादि देव भाव को प्राप्त करा दिया।"

शौनकजी पूछा—"कैसे इन सब को मृत्यु के पार पहुँचाया?"

सूतजी ने कहा—"जैसे वाग्देवता है, वह असुरों ने पापविद्ध कर दिया था उसे पाप रहित करके मृत्यु के पार पहुँचा दिया। वाग ही निष्पाप होकर अग्निदेव बन गये। अतः अग्नि मृत्यु से परे है। वह मृत्यु का अतिक्रमण करके स्वतन्त्र रूप से देदीप्यमान है।

इसी प्रकार घ्राण सहक प्राण को निष्पाप किया, उसका अतिवहन किया तो वही प्राण विशुद्ध बनकर—मृत्यु के पार होकर वायुदेव बन गया। यह वायुदेव मृत्यु का अतिक्रमण करके-मृत्यु को जीतकर स्वतन्त्र रूप में बहता रहता है।

इसी प्रकार घ्राण प्राण ने चक्षु को भी निष्पाप बनाया, उसका भी अतिवहन किया। वही चक्षु पाप रहित होने पर आदित्य देव हो गया, उसने मृत्यु का अतिक्रमण किया, इसीलिये निष्पाप आदित्य देव मृत्यु से परे तपते हैं। मृत्यु को अतिक्रमण करके स्वच्छन्द विचरण करते हैं।"

फिर प्राण ने श्रोत्र को निष्पाप किया उसका अतिवहन किया वही दिशायें हो गयीं, मृत्यु से पार पहुँच गयीं। दिशाओं को मृत्यु छू भी नहीं सकता।

फिर प्राण ने मन को निष्पाप किया उसका अतिवहन किया, वही मृत्यु से पार होने पर विशुद्ध हो जाने पर चन्द्रदेव बन गया। ये मृत्यु का अतिक्रमण करके चन्द्रदेव प्रकाश फैलाते रहते हैं।"

यही देवों की उत्पत्ति का रहस्य है। जो पाप विद्ध रह गयीं

वे इन्द्रियाँ बनी रहीं। जो पाप से परे हो गयी वे मृत्यु की को पार करके मृत्युजित हो गये, जो साधक इस रहस्य को भली-भाँति जान जाता है, वह भी मृत्यु को पारकर अमर हो जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने प्राणों की श्रेष्ठता और इन्द्रियों की निष्पापता का वर्णन आपसे किया। अब आगे प्राण ने जैसे अन्नाद्य गान किया उस प्रसंग को आगे बताऊँगा।"

छप्पय

(१)

अंगनि को रस सार अयास्यहु प्राण आंगिरस।
मृत्यु दूर दुर् नाम वाक अघ पठै अन्त दिशि॥
अन्त्यज अरु दिशि अन्त न जावै पाप न परसै।
देव मृत्यु करि दूरि पार करि अघ बिनु सरसै॥
वाक् देवता अघ रहित, अग्नि भये ते मृत्यु तरि॥
प्राण पाप मिटि वयु बनि, बहै मृत्यु कूँ पार करि।

(२)

मन के धोये पाप चन्द्रमा वही भयो है।
अति क्रान्त वह चन्द्र मृत्यु तैं पार गयो है॥
प्राणदेव सब करें पाप तैं हीन बनाये।
हैकें वे निष्पाप मृत्यु—पर देव कहाये॥
जा विद्या को जानि कें, प्रेम सहित हिय में धरै।
वह साधक हू अमर बनि, पार मृत्यु पापहिं तरै॥

प्राणोपासना (३)

[२०२]

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ३ ब्रा० १७ म०)

छप्पय

पुनि निज हित अन्नाद्य गान प्राण हु ने कीन्हों ।
अन्न प्राण ही खात प्रतिष्ठित प्राणहि चीन्हों ॥
सुरनि याचना करी तिनहिँ निज तनहिँ बिठायो ।
सुर प्रवेश करि गये खाय सब तृप्त करायो ॥
प्राण रहसकूँ जानिकें, पोषण सब जनको करै ।
आश्रित पोषण जे करैं, प्राण नियम ते हिय धरै ॥

कुछ तो सार्वजनिक सम्पत्ति के पदार्थ होते हैं। जैसे वृक्षों के फल हैं, नदी का जल है, उसका उपभोग सार्वजनिक रूप में सब करते हैं, हम भी सबके साथ उसका उपभोग करते हैं। किन्तु

* वाक्, प्राण (घ्राण), चक्षु, श्रोत्र और मन से विशिष्ट जो प्राण है, उन तीन पवमानों में समस्त प्राणों के निमित्त प्राजापत्य रूप फल का आगान किया था। फिर जैसे वागादि इन्द्रियों ने अपने लिये आगान किया वैसे ही मुख्य प्राण ने भी अपने लिये अन्नाद्य-आदि भक्ष्य-अन्न-का आगान किया। कारण कि प्राण द्वारा ही सब कुछ खाद्य पदार्थ खाये जाते हैं और उस अन्न में भी प्रतिष्ठित रहते हैं।

किसी हमारे विशेष गुण के कारण हमें व्यक्तिगत पुरस्कार प्राप्त हो, तो उस पर हमारा सर्वभाव से पूर्ण अधिकार है, किन्तु श्रेष्ठ पुरुष उस व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी उपभोग वे अकेले नहीं करते। अपने आश्रित पुरुषों के साथ अपने सगे सम्बन्धी इष्ट मित्र तथा परिवार के लोगों के साथ उसका उपभोग करते हैं, तो यही महानता है।

दो भाई एक ही सम्मिलित परिवार में साथ-ही-साथ रहते थे। दोनों के बच्चे थे। सम्मिलित परिवार का जो मुखिया होता है वह अपने बच्चों में तथा भाइयों के बच्चों में किसी भी प्रकार का भेद भाव नहीं रखता। बच्चे तो सब समान ही हैं। जो वस्तु वह लावेगा, सभी बच्चों में समान भाव से वितरित करेगा। बच्चों का यह स्वभाव होता है, अपने दूसरे भाई की वस्तु में विशेषता देखेंगे, तो वे भी वैसी ही वस्तु पाने को आग्रह करेंगे। अतः सम्मिलित परिवार के मुखिया को सदा सर्वदा सचेष्ट रहना पड़ता है, मन से भी वह अपने और भाई के बच्चों में भेद भाव नहीं लाता। तभी सम्मिलित परिवार चलता है। जहाँ घर की स्त्रियों में या परिवार के प्रधान के मन में तनिक भी अपनेपन, परायेपन का भाव आया वहीं सम्मिलित परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है।

एक दिन बड़ा भाई दो फल लेकर आया। उसे फल लाते देखकर उसका लड़का और भाई का लड़का दोनों ही फल लेने दौड़े। उसके बायें हाथ में बड़ा फल था दायें हाथ में छोटा। भाई का लड़का दाईं ओर से दौड़कर आया और उसका लड़का बाईं ओर से आया। उसके मन में अपना परायापन आ गया। मेरे लड़के को बड़ा फल मिल जाय, भाई के को छोटा इस विचार से बाँये हाथ को दाईं ओर कर दिया, दाँये हाथ को बाँयी ओर कर दिया। यदि वह स्वाभाविक अवस्था में रहता जो बच्चा जिस

ओर के हाथ के सम्मुख आ गया उसे उसी हाथ का फल दे देता तो भाई के लड़के को बड़ा फल मिल जाता, अपने को छोटा मिलता। किन्तु उसने अस्वाभाविक वर्ताव किया। मेरे बच्चे को बड़ा मिले इसलिये उसने विपर्यय हाथ कर दिये। बच्चे तो इस रहस्य को समझे नहीं। वे तो जो पाया उसी को लेकर प्रसन्नता पूर्वक भाग गये, किन्तु उसका छोटा भाई इसे देख रहा था। वह नम्रता पूर्वक अपने भाई से बोला—"भैयाजी! हम अब पृथक् होना चाहते हैं, हमारा बँटवारा कर दीजिये।"

बड़े भाई ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"क्यों-क्यों क्या बात हो गयी ?"

छोटे भाई ने कहा—"जब परिवार के मुखिया के मन में अपना परायेपन का भाव आ जाय, तो सम्मिलित परिवार नहीं चल सकता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! साम के तीन पवमान स्तोत्रों में तो समस्त प्राणों के लिये प्राजापत्य रूप का आगान है। शेष जो नौ पवमान स्तोत्र हैं, उनमें मुख्य प्राण ने अपने लिये अन्नाद्य का-भक्षण करने योग्य अन्न का-आगान किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अपने लिये शुभ का आगान करने से तो वाक्, श्रोत्र, चक्षु तथा मन आदि पाप विद्ध हो गये, तो फिर यह मुख्य प्राण अपने लिये नौ स्तोत्रों से अन्नाद्य का आगान करने से पाप विद्ध क्यों नहीं हुए ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! अपने लिये आगान करने का सबका स्वत्व था, अधिकार था। अधिकार के लिये प्रयत्न करना पाप नहीं। पाप तो वह है जो प्राप्य वस्तु को केवल अपने ही स्वार्थ में लगावे। जो प्राप्त वस्तु को भी समान भाव से सम्मिलित परिवार में सबके साथ बाँटकर उपयोग करता है वह कभी भी पाप

विद्ध नहीं हो सकता। अन्य इन्द्रियों के समान प्राण अपने शुभ भाग का भी उपभोग सभी देवों के साथ करते हैं, अतः वे पाप विद्ध नहीं होते मुख द्वारा जो अन्न खाया जाता है, वह प्राण के ही द्वारा तो खाया जाता है, भूख लगना प्राणों का ही तो धर्म है। अन्न का अर्थ भी प्राण ही है। क्योंकि अन्न अन् प्राण से धातु से बनता है इसलिये अन्न में प्राण प्रतिष्ठित होता है।"

तो भक्ष्य अन्न का आगान करने से प्राण को खाने योग्य समस्त अन्न की प्राप्ति हो गयी। तब तो वाग् देवता आदि सभी देवगण घबड़ाये। उन्होंने सोचा—"समस्त भक्षण करने योग्य अन्न को प्राण ही खा जायगा, तो हम सब तो भूखे ही मर जायँगे। अतः कुछ अन्न की प्राण से चलकर याचना करनी चाहिये। यही सोचकर समस्त देवगण प्राण के समीप पहुँचे और उससे कहने लगे—"हे प्राणदेव! आपने जो आगान द्वारा भक्ष्य अन्न को प्राप्त कर लिया है वह समस्त अन्न तो इतना ही है। यदि आप ही समस्त अन्न का भक्षण कर जाओगे, तो फिर हम क्या खायँगे? हम भूखों ही मर जायँगे क्या? इसलिये भाईजी! ऐसा मत करो। अब पीछे से हमें भी इस अन्न में भागीदार बना लो। कुछ अन्न इसमें से हमें भी दे दो, जिससे हम भी खाकर अपना निर्वाह कर सकें।"

देवताओं की यह बात सुनकर प्राण ने कहा—"देखो, भाई, पृथक्-पृथक् बटवारा करके कोई सुखी नहीं होता। यदि सब एक ही में सम्मिलित होकर रहें, तो सम्मिलित परिवार सुखी रहता है। सबके दुःख-सुख पूरे परिवार में बँट जाते हैं। एक के सुख में पूरा परिवार सुखी होता है, एक के दुःख में पूरा परिवार सहानुभूति प्रकट करता है, अतः एक काम करो तुम लोग सब ओर से मेरे शरीर में प्रवेश कर जाओ।"

यह प्रस्ताव सभी देवों को अच्छा लगा उन्होंने इसे स्वीकार किया और वे सब-के-सब, सब ओर से प्राण में प्रवेश कर गये। अब सबका एक सम्मिलित परिवार हो गया। प्राण उस परिवार के सर्वश्रेष्ठ मुखिया हुए। तभी से प्राण के द्वारा पुरुष जो अन्न खाता है, उससे प्राणों के साथ ये समस्त देव समान भाव से तृप्त होते हैं।

यही प्राण के सर्वश्रेष्ठत्व होने का रहस्य है जो उपासक इस रहस्य को भली भाँति जानता है उसका उसके ज्ञाति वाले परिवार वाले सभी ओर से आश्रय ग्रहण करते हैं, ऐसा साधक अपने समस्त स्वजनों का भरण पोषण करने वाला होता है। वह अपने समस्त सम्मिलित परिवार में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। वह उनका नेता अग्रगामी तथा पथप्रदर्शक होता है। वह अन्न को भक्षण करके उसे भली-भाँति पचाने वाला होता है, सभी लोग उसे अपना अधिपति मानते हैं।

उन सम्मिलित परिवार के ज्ञातिजनों में से जो भी उसके प्रति प्रतिकूल आचरण करता है, उसके प्रतिकूल होना चाहता है, वह अपने आश्रितों के पालन-पोषण में सदा असमर्थ ही बना रहता है। इसके विपरीत ऐसे उपासक साधक के जो अनुकूल रहता है, उसके अनुकूल आचरण करता है, वह अपने आश्रितों के चाहने पर भरण-पोषण करने में समर्थ होता है। वह अवश्य ही अपने आश्रितों का भरण-पोषण कर सकता है। यही प्राणों का श्रेष्ठत्व है, यही प्राणों का अन्नाद्य है और यही अन्नाद्य-रूप अन्न को प्राप्त करके उसे परिवार के साथ उपभोग करने का फल भी है। प्राण के अयास्य, दूर अङ्गिरस, बृहस्पति तथा ब्रह्मणस्पति आदि-आदि नाम हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! प्राण का अयास्य न क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"आस्य मुख का नाम है। मुख के भी जो आकाश है, उसी में यह रहता है, इसलिये इसे अयास्य कहते हैं। (आस्ये-मुखे य आकाशस्तस्मिन्-अन्तरयं प्रत्यक्षो वर्त इति=अयास्यः)।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण का दूर् नाम क्यों है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! इस प्राण देवता से मृत्यु दूर रहती है आसक्ति रूप पाप इससे परे रहते हैं। इसीलिये इसको दूर् कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इसका नाम आङ्गिरस क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह बात तो पीछे ही बतायी जा चुकी है, कि यह शरीर के समस्त अङ्गों का रस-सार-है। इसी लिये इसका नाम आङ्गिरस प्रसिद्ध है। शरीर के अङ्ग इस प्राण रूप रस से बढ़ते हैं पुष्ट होते हैं। जिस अङ्ग से प्राण निकल जाता है वहाँ रस नहीं पहुँचता, वह सूख जाता है। रस के बिना अङ्गों की परिपुष्टि कैसे हो सकती है ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इस प्राण का बृहस्पति नाम क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! वाक् ही बृहती है। उसका यह पति है। वैदिक छन्दों में बृहती छन्द सबसे बड़ी ३६ अक्षरों का छन्द है उसका यह पति है। बृहती अर्थात् वाणी का पालन प्राण से ही होता है। निष्प्राण व्यक्ति बोल नहीं सकता। यह प्राण बृहती आदि सभी छन्दों का पति है, प्राण है, आत्मा है। इसी लिये इसे बृहस्पति कहते हैं। अर्थात् ऋग् वेद का पति है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण का ब्रह्मणस्पति नाम क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"वाक् ही ब्रह्म है। ब्रह्म अर्थात् यजुर्वेद है। यह उसका पति है, अर्थात् यजुर्वेद का यह प्राण पति है।"

शौनकजी ने कहा—"बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति से ऋक् और यजुर्वेद का तो स्वामी हो गया। अब वेदत्रयी में से साम-वेद ही बचा क्या यह प्राण सामवेद का पति नहीं है ?"

सूतजी ने कहा—"है क्यों नहीं ब्रह्मन्! भगवती श्रुति स्वय ही कह रही है, कि यही प्राण साम भी है। साम क्यों है ? इस विषय मे बताते हैं कि साम में सा+और अम दो शब्द हैं इनमें से, सा तो वाक्-वाणी का वाचक है और अम यह प्राण वाचक है। सा और अम मिलकर ही साम बनता है। यही साम का सामत्व है। अर्थात् साम सर्वमय है और प्राण भी सर्वमय है।"

शौनकजी ने पूछा—"साम सर्वमय कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"सा+अर्थात् वाणी-यह सा समस्त स्त्री-लिंगवाची वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करता है और अम+यह प्राण है। यह समस्त पुलिङ्गवाची शब्दों का प्रतिनिधित्व करता है। प्राण स्त्रीलिङ्गवाची, पुलिङ्गवाची सभी संज्ञाओं में सभी में विद्यमान है। अतः साम ही प्राण है। वाणी से ही प्राण द्वारा साम का गायन होता है। वाणी न हो तो साम गायन नहीं हो सकता। प्राण बिना भी वाणी गायन करने मे असमर्थ है।"

सम से भी साम बनता है। अर्थात् यह सभी देहों में देह के समान ही-सर्वव्यापक बनकर रहता है। जैसे एक छोटी मक्खी है, उस मक्खी के शरीर में प्राण उसी के शरीर के समान होकर रहेगा। मच्छर है, मच्छर के शरीर में प्राण मच्छर के शरीर के समान ही होकर उसी के आकार का छोटा होकर रहेगा। और बड़े डील-डोल का हाथी है, तो प्राण उसी के आकार का बड़ा बनकर

रहेगा। मक्खी, मच्छर तथा हाथी के शरीरों में कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ प्राण न हो, जिस अङ्ग में प्राण का संचार न हो होगा, वह अङ्ग व्यर्थ बन जायगा। अतः जितनी भी देहें हैं, प्राण समान भाव से उन्हीं के समान होकर रहता है। त्रिलोकी में, त्रिलोकी के समान बनकर रहेगा। भूलोक में, भू के समान भुवर्लोक में, भुव के समान स्वर्लोक में, स्वर्गों के समान अर्थात् सभी में उनके समान रूप रखकर ही यह साम कहलाता है।

जो साधक साम के इस सामत्व भाव को भलीभाँति जान लेता है। वह प्राणों के साथ सायुज्य-अर्थात् एकता प्राप्त करता है उसका अपनत्व और प्राणों का अपनत्व एक ही हो जाता है। अथवा प्राणों के साथ सालोकता प्राप्त करता है। अर्थात् जिस लोक में प्राण रहता है उसी लोक मे भावना से प्राणोपासक भी रहता है। यह प्राण को नाम रूप से-समान भाव से सबमें रहने वाला-जानने का फल है।

सामवेद का ऋत्विज् उदगाता जो उद्गीथ गायन करता है। वह उद्गीथ भी और कुछ नहीं है, प्राण का ही नाम उद्गीथ है।

शौनकजी पूछा—"सूतजी! उद्गीथ तो सामवेद की अवयव भूता भक्ति को कहते हैं। सामवेद की ऋचाओं का उच्चस्वर से भक्ति पूर्वक गायन का ही नाम उद्गीथ है। आप प्राण को उद्गीथ कैसे बता रहे हैं?"

तब सूतजी ने कहा—ब्रह्मन्! भगवती श्रुति ही उद्गीथ की प्राण परक व्याख्या करती है। उद्गीथ मे दो शब्द है उत्+और गीथ-गीता या गीथा। उत् ही प्राण है। उत् का अर्थ हुआ उत्तब्ध अर्थात् धारण किया हुआ। समस्त चराचर जगत् को प्राण ही तो धारण किये हुए है इसीलिये प्राण ही उत् है। अब गीथा यहाँ वाक् का वाचक है। वाणी के ही द्वारा गीत गाते

ाते हैं। वाणी न हो तो साम के गीत कैसे गाये जायँ। वाणी ौर प्राण एक ही हैं। अतः वहा प्राण उत् भी है और गीथा ा है। उसलिये प्राण का ही उद्गीथ सज्ञा है।

वाणी और प्राण दोनों मिल हुए ही उद्गाथ हैं। इस विषय एक दृष्टान्त के रूप मे गाथा कहते हैं। पहिले यज्ञों मे एक ामवान पर्व होता था। सोम नाम की एक लता बल्ली हुआ रता था। वैसे उसके २४ भेद बताये है। सोमलता में १५ ही ते होते हैं। अमावास्या को उसमे एक भी पत्ता नही रहता, कर शुक्ल पक्ष मे चन्द्रमा की कला के साथ प्रतिपदा को एक ता, द्वितीया को दो पत्ते, ऐसे पूर्णिमा को पन्द्रह पत्ते हो जाते । फिर कृष्ण पक्ष में एक एक पत्ता गिरता जाता है और मावास्या को वह पत्रहीन हो जाती है। उस सोमलता को सने विशेषज्ञ शास्त्रीय विधि से पुण्य तिथि को लाकर कूटते । उसका रस निकालकर पहिले देवताओं को सोमरस का ान कराते थे, पीछे बचे हुए रस को प्रसाद के रूप मे यजमान था ऋषिगण पीते थे। उसके पीने से दश सहस्र वर्ष की आयु ाती थी। एक प्रकार से देवत्व ही प्राप्त हो जाता था। अब तो ामलता दुर्लभ हो गयी है। वैसे कहीं पर्वतों पर तारागों में ेना तो अब भी होगी, किन्तु लिखा है, जो अधर्मी कृतघ्नी, ा द्रोही, औषधि द्रोह, तथा ब्राह्मण द्राही पुरुष हैं, उन्हें यह ामलता दिखायी ही नहीं देती।

इस कलिकाल में सविधि यज्ञ भी नहीं होते, शुद्ध यज्ञ करने ाने वाले भी नहीं मिलते। फिर सोमलता कहाँ मिलेगी? ामलता के बिना सोम रस कैसे बन सकता है।

जिस समय इस देश में वेद विधि से यज्ञयाग होते थे, और ज्ञों में वेद मत्रा के साथ सोमरस का पान किया जाता था, उसी

समय का यह दृष्टान्त है। एक चिकितान नामक ऋषि थे उ
पुत्र चैकितायन हुए उनके पुत्र ब्रह्मदत्त नाम के थे।
ब्रह्मदत्त ने किसी यज्ञ में सोमरस का पान करते हुए इस प्र
की एक शपथ ली थी। "अयास्य और आङ्गिरस नाम व
मुख्य प्राण है। उस मुख्य प्राण ने वाणी संयुक्त प्राण के अति
देवता द्वारा साम का उद्गायन किया हो, तो यह सोम मेरा
गिरा दे।" इस शपथ से ही सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण व
के बिना अन्य देवता में दृष्टि करके जो उद्गीथ का उद्गा
करता हुआ सोमपान करता है उसका सिर धड़ से पृथक्
जाता है। इन सोमदत्तजी ने यही मानकर सोमपान किया
कि वाणी संयुक्त मुख्य प्राण ने ही उद्गायन किया। इससे उन
सिर धड़ से पृथक् नहीं हुआ। अतः प्राण ही उद्गीथ है। इस
लिये ब्रह्मदत्त ने प्राण तथा वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार प्राण के उद्गीथ
का मैंने वर्णन किया अब प्राण ही साम है और उस साम
स्वभूत स्वर को कैसे सम्पादन करना चाहिये तथा साम सम्बन्ध
अन्य बातों का वर्णन मैं आगे करूँगा और प्राणोपासना के लि
भगवती श्रुति ने जिन मन्त्रों के जप का विधान बताया है उसे भी
मैं आगे कहूँगा। आशा है आप इसे ध्यान पूर्वक श्रवण करेंगे।

छप्पय

यही आङ्गिरस प्राण अयास्य हु अन्नानि रस है।
यही बृहस्पति यजुर्वेद सब मन्त्रनि पति है॥
यही ब्रह्मणस्पतिहु वेद ऋक् को स्वामी यह।
यही साम सम रहे माखि मच्छर हाथी महँ॥
यही प्राण उद्गीथ है, गान साम को यह करै।
यही व्याप त्रिभुवन सतत, यही भाव भुवननि भरै॥

प्राणोपासना (४)

[२०३]

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य र्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य मेवत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥*

(बृ० उ० १ अ० ३ ब्र० २६ म०)

छप्पय

स्वर सुवर्ण स्वर प्राण सबहिँ स्वर धनहिँ सरायें।
स्वर अभिलाषा करो सुरीले सबकूँ भाएँ॥
साम सुवर्ण कहाय जानि सो सोनों लावे।
स्वर सुवर्ण कूँ मानि सुरीलो सुबरन पावे॥
साम प्रतिष्ठा जानि कें, होहि प्रतिष्ठित जगत में।
गावे वाणी प्राण सह, अपर बतावें अन्न में॥

वाणी और प्राण का तादात्म्य है। प्राणवान् मे ही वाणी उत्पन्न होगी। अथवा प्राणवान् वाणी ही जड़ वस्तु के माध्यम प्राण को जा सकेगी। निस्प्राण मे वाणी नहीं, गायन नहीं। का आकर्षण वाणी मे है उतना आकर्षण किसी में नहीं।

---

* जो सामवेद के सुवर्ण रहस्य को जानता है उसको सुवर्ण की होती है। सुवर्ण उसका स्वर ही है जो साम के सुवर्ण रहस्य को नि जानता है, उसे सुवर्ण की प्राप्ति होती है।

अच्छा वक्ता सबको अपने पक्ष में कर सकता है। अच्छा गा
सबके मन को मुग्ध करके अधिक द्रव्य कमा सकता है। वाणी
ही प्रभाव से अधिवक्ता अपार धन कमाते हैं। वाणी के ही
सुप्रसिद्ध गायक देश विदेशों में सम्मान तथा धन प्राप्त
हैं। जिनकी वाणी में ओज है, तेज है, मधुरिमा है, मिठास
वह वाणी हृदयस्पर्शी प्राणवान् मानी जाती है। जिस वाणी
ओज नहीं, तेज नहीं, माधुर्य नहीं, आकर्षण नहीं, वह
निष्प्राण है अतः प्राणवान् वाणी, सशक्त वाणी मनोकामना
में साधिका हो सकेगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मुख्य प्राण के दूर, अङ्गिरा
बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति उद्गीथ तथा साम नामों की उपपत्ति
कर अब इस तीन गुणात्मक नामों 'स्व' 'सुवर्ण और प्रतिष्ठा
फल और बताते हैं। मुख्य प्राण का एक गुणात्मक नाम
भी है। स्व का अर्थ है धन। वास्तव में धन प्राण ही है।
को लोग पण में—शर्त में—लगाते हैं। जब किसी बड़े काम
लौकिक धन को न लगाकर लोग प्राणों का ही पण लगा देते
तो लोग कहते हैं—इस काम को मैंने प्राणों का पण लगा
किया।" अर्थात् उस काम पर मैंने अपना सर्वस्व निछावर
दिया। अतः स्व का अर्थ हुआ सर्वश्रेष्ठ धन। किन्तु
श्रुति कहती है स्वर ही प्राण का धन है। अतः स्व के स्वर
अर्थ को जो जानता है उसे धन की प्राप्ति होती है। देखो,
यज्ञ यागादि कराने वाले ऋत्विजों को चाहिये, कि अपनी
में सुस्वर की मधुरता की इच्छा करे। वैसे तो रोना गाना
पर आता है। सभी स्वर में बेसुर में रो गा लेते हैं। किन्तु
सस्वर रोते हैं सस्वर गाते हैं, वे सर्वत्र आदर पाते हैं।
ऋत्विक कर्म करने वाले वैदिक कर्मकाण्डी पंडितों को

स्वर की इच्छा करनी चाहिये। उसे मधुर स्वर से सम्पन्न होकर यज्ञ के ऋत्विज का कर्म करना चाहिये अर्थात् सस्वर मधुर वाणी में वेद मन्त्रों का गायन करे। जो ऋत्विज मधुर स्वर में वेद मंत्रों का सस्वर गायन करता है। उसकी सभी लोग प्रशंसा करते हैं, यज्ञों में इसी से स्वरवान् उद्गाता को सभी लोग देखने की इच्छा करते हैं। क्योंकि उद्गाता का धन तो स्वर है। वैसे साधारण रूप में स्व का अर्थ धन ही लो, तो भी लोक में जो धनी पुरुष होते हैं, उनका सभी लोग आदर करते हैं। कोई धनवान् पुरुष आ जाता है, तो उसे लोग देखने दौड़े आते हैं। धनवान् को सभी देखना चाहते हैं। यही इस प्राणरूप साम का स्वत्व है-धनत्व है-जो साधक-उपासक-इस भाँति इस साम के धन को जानता है। उसे स्वं की-धन की-सुन्दर मधुर वाणी की-प्राप्ति होती है। यह इस स्वत्व को जानने का फल है।

अब प्राण का एक गुणात्मक नाम सुवर्ण भी है। जो पुरुष इस मुख्य प्राण रूप साम के सुवर्ण को जानता है उसे सुवर्ण की प्राप्ति होती है। पीछे तो स्व शब्द का अर्थ स्वर बताया। यहाँ सुवर्ण का अर्थ वर्णों के उच्चारण को भली-भाँति जानना। पीछे तो सुरीले कंठ से तात्पर्य था। यहाँ सुन्दर स्पष्ट सुसंस्कृत वर्ण उच्चारण से तात्पर्य है। एक वाणी ही मनुष्य को अलंकृत करती है। वह वाणी कैसी हो सुसंस्कृत हो-शुद्ध हो-प्रत्येक वर्ण का जिस देश से उच्चारण करना चाहिये उसी देश से उच्चारण करे। जैसे अ, वर्ण, क वर्ग के सब वर्ण और हकार वर्ण ये कंठ से उच्चारण करने के है तो इन्हें वहीं से उच्चारण करे, स्पष्ट शुद्ध उच्चारण करे। ह्रस्व को ह्रस्व और दीर्घ प्लुत को दीर्घ प्लुत उच्चारण करे यही वाणी का सुवर्णत्व है। स्वर ही सुवर्ण है। जो साधक इस प्रकार वाणी

संश्लिष्ट मुख्य प्राण रूप साम के सुवर्ण को जानता है, उसे सुवर्ण प्राप्त होता है।

वाणी संश्लिष्ट मुख्य प्राण रूप साम का एक गुणात्मक नाम प्रतिष्ठा भी है। जो उसकी प्रतिष्ठा को भली भाँति जानता है वह प्रतिष्ठित पुरुष हो जाता है। प्रतिष्ठा क्या है? वाणी ही प्रतिष्ठा है। वाणी में प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है। वाणी में प्राण न हो, तो निष्प्राण वाणी क्या गान करेगी? किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है, कि यह अन्न में प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है। यदि अन्न को खाकर वाणी बलिष्ट न हो तो भली भाँति वाणी से गाया ही न जायगा। कैसा भी स्वर मधुर निर्मल हो, उद्गाता भूखा हो, उसे अन्न न मिला हो, तो वह गा नहीं सकता। अतः वाणी की प्रतिष्ठा अन्न है। यही भी सत्य ही है। प्राण भी अन्नमय ही है। एक ही बात हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह प्राणों का महत्व बढ़ाने वाली प्राणोपासना कही। अब जो प्राणोपासक है, उसके लिये जिन मन्त्रों के जप का विधान है उसे भगवती श्रुति बताती है। जो प्राण की उपासना करने वाला पुरुष है उसे अभ्यारोह मन्त्रों का उचित काल में-मन्त्रों का अर्थ जानकर प्रयोग करना चाहिये। जिन मन्त्रों के जप के द्वारा उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त हो सके उन मंत्रों को अभ्यारोह कहते हैं। वेद में तीन पवमानों को ब्रह्मलोक के अभ्यारोह का-प्राप्त होने का-कारण बताया है। उन तीन पवमानों का नाम बहिष्पवमान, मध्यंदिन पवमान और आर्भ पवमान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति के निमित्त ये गाये जाते हैं। यज्ञों में जो सामवेद का गायन करता है वह प्रस्तोता ऋत्विज जिस समय साम गान का प्रस्ताव करे। साम गायन आरम्भ करे, उसके पूर्व यजुर्वेद के तीन मंत्रों को जपे।

अर्थात् उन्हें सस्वर उच्चारण करे। वे तीन मन्त्र कौन-कौन से हैं ? पहिला तो है 'असतो मा सद्गमय' दूसरा है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' और तीसरा है 'मृत्योर्मामृत गमय।' इन तीनों का अर्थ भगवती श्रुति स्वय ही बताती है। पहिले मन्त्र में कहा गया है, 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ।" तो इसमे असत् का अर्थ मृत्यु है, और सत् का अर्थ अमृत है। अर्थात् मैं जो असत्=मृत्यु की ओर जा रहा हूँ, उस मुझको मृत्यु की ओर से खींचकर अमृतत्व की ओर ले जाओ। भाव यह हुआ कि मुझे मर्त्यधर्मी न रहकर अमर बना दो। दूसरे मन्त्र का अर्थ है—"मुझे तम से—अधकार से-ज्योति की ओर-प्रकाश की ओर-ले जाओ।" यहाँ तम का अर्थ भी मृत्यु ही है और ज्योति का अर्थ अमृत है। अर्थात् मुझे मृत्यु मार्ग से हटाकर अमृत मार्ग की ओर मोड दो। भाव वही हुआ मुझे अमर बना दो। अब तीसरे का अर्थ स्पष्ट ही है। उस पर टीका टिप्पणी भाष्य की तो आवश्यकता ही नहीं उसमे तो स्पष्ट ही कहा है मुझे मृत्यु की ओर से अमृत की ले जाओ अर्थात् मुझे अमर बना दो। इस प्रकार सामवेद के गायक प्रस्तोता को सामगायन के प्रस्ताव के पूर्व इन तीन मन्त्रों को जप करके इसके पीछे जो अन्यान्य स्तोत्र हैं। अर्थात् वहिष्पवमान, माध्यदिन पवमान और आर्भपवमान के आज्यादि नौ स्तोत्र स्तव हैं उनका गान करे। उनसे अपने लिये भक्ष्य अन्न की प्रार्थना करे। क्योंकि ऐसा उद्गाता प्राण के रहस्य को भली भाँति जानता है। उस प्राण की महिमा को जानने वाला ऋत्विज अपने लिये अथवा यजमान के लिये जिस जिस वस्तु की कामना करता है, वह वह वस्तु अवश्य ही प्राप्त हो जाती है। अपने उद्गान द्वारा अपनी या यजमान की कामनाओं को परिपूर्ण करने में समर्थ होता है। यह प्राण वेदन ब्रह्मलोक प्राप्ति का साधन है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! प्राणोपासना के जप का विधान बताकर अब भगवती श्रुति इसके फल का वर्णन करती हुई कह रही है—यह प्राण दर्शन विद्या ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन है। जो इस विद्या को भली भाँति जानता है, उसे ब्रह्म लोक की प्राप्ति न हो यह संभव ही नहीं। अर्थात् जो साधक उपासक–इस विद्या को इसी प्रकार जानता है उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति अवश्य ही हो जायगी। इसमें अणु मात्र भी सन्देह नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मैंने फल सहित यह प्राणोपासना आप से कही। अब आगे ब्रह्म की सर्व रूपता का वर्णन आपके सम्मुख किया जायगा।"

छप्पय

प्रस्तोता प्रस्ताव साम को करै सु–निर्भय।
असतो मा सद्गमय. तमसो मा ज्योतिर्गमय॥
मृत्योर्मामृतंगमय मृत्यु तै अमर बनाओ।
करै गान अन्नाद्य भोग इच्छित सब पाओ॥
प्राणोपासक जानि सब, उद्गाता गायन करै।
निज यजमानहु भोग सब, पावै भय भव तै तरै॥

इति छांदोग्य उपनिषद के प्रथम अध्याय में तृतीय उद्गीथ ब्राह्मण समाप्त।

ब्रह्म की पूर्णरूपता (१)

[२०४]

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हाय मीत्तां चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं चीयायकस्माद्द्वयमेष्यद् द्वितीयाद् वै भय भवति ॥*

(बृ० उ० ८० ४ ब्रा २ म०)

छप्पय

आत्मा पुरुषाकार प्रथम एकहि दूजो नाहिं ।
अहमस्मीतिहु कह्यो कहें अब तक मैं हूं कहिं ॥
पाप दग्ध करि पुरुष कहायो दग्ध अहङ्करि ।
भयो प्रेम भयभीत अकेलो नर तातें डरि ॥
सोच्यो जब हौं अकेलो, तो डरकी का बात है ।
भय छूट्यो क्यों भय भयो ? भय दूसर तें होत है ॥

सृष्टि और उसके समस्त कार्य द्वैत में ही हैं । सृष्टि रमण से,

---

* पहिले यह पुरुषाकार आत्मा अकेला ही था । बात-चीत और किसी को न देखकर यह भयभीत हो गया । इसीलिये अब तक लोग एकाकी होने पर डरते हैं । फिर इसने सोचा—"भय तो दूसरे से ही हुआ करता है जब मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा है ही नहीं, तो मैं क्यों डरूं ? इस विचार से उसका डर जाता रहा । किन्तु वह भयभीत हुआ ही क्यों ? दूसरे से ही भय होता है ।"

क्रीड़ा से, कामना से होती है। रमण एकाकी नहीं होता। क्रीड़ा बिना उपकरण के नहीं होती। कामना या इच्छा की पूर्ति के निमित्त सहायक सामग्री आवश्यक होती है। यह सृष्टि क्या है? भगवान् की क्रीड़ा है मनोरञ्जन है। कभी तो इच्छा होती है, बहुतों के साथ मिलकर खेलें। कभी ऐसी भी इच्छा होती है, एकान्त में चुपचाप-शान्तभाव से--बैठे रहें। बैठे-बैठे भी जब ऊब आने लगती है, तब फिर इच्छा होती है, बहुत होकर खेलें। भगवान् की इच्छा से ही सृष्टि होती है, वे ही स्वयं सृष्टि की सामग्री जुटाकर सृष्टि कराते हैं, उस करायी हुई सृष्टि का स्वयं ही पालन-पोषण करते हैं। फिर जब एकाकी रहने की इच्छा होती है, तो सब को समेटकर उदरस्थ कर लेते हैं, अकेले रह जाते हैं। फिर भीतर भरी सामग्री कुलबुलाने लगती है। काल शक्ति पूछती है, यह एकाकीपन कब तक रहेगा? मानों काल शक्ति पुनः सृष्टि के लिये प्रेरित करती है। तब क्रिया शक्ति आकर खड़ी हो जाती है, क्या आज्ञा है मेरे लिये? ये सब शक्तियाँ उसी की प्रेरणा से भीतर प्रसुप्त पड़ी रहती हैं, कहीं बाहर से थोड़े ही आती हैं। समय पर उठकर बैठ जाती हैं। काल उन्हें यथा समय जगा देता है। काल कहाँ से आ जाता है? देखो, तुम व्यर्थ के प्रश्न मत किया करो। कह तो दिया। उसके अतिरिक्त न कोई देश है, न स्थान है, न व्यक्ति है। सब कुछ उन्हीं के भीतर है। समस्त शक्तियाँ उन्हीं के भीतर रहती हैं। काल भी वहीं बैठा पोनओं पर कुछ गिनता रहता है। काल स्वरूप वे ही हैं। काल स्वरूप ही क्यों सर्व स्वरूप वे ही हैं।

हाँ तो इस वर्तमान सृष्टि से पूर्व कुछ नहीं था, समस्त आत्माओं के आत्मा वे ही एकमात्र प्रभु परमात्मा थे। उनके अतिरिक्त कुछ नहीं था।

जब तुम कहते हो, समस्त आत्माओं के आत्मा तो इसका अर्थ है, बहुत-सी आत्मायें होंगी उन आत्माओं के ये अधीश्वर होंगे ? फिर अकेले कहाँ रहे ?

अरे, भाई जो जिसके अधीन हैं—अन्तर्गत हैं—उनकी गणना पृथक् नहीं हुआ करती। जैसे बहुत भारी सेना, सामन्त, मन्त्री, पुरोहित, रानी राजकुमार सेवकादिकों को साथ लिये एक बहुत से मानवों का समूह आ रहा हो, तो सब यही कहेंगे—'राजा आ रहा है' उनके नाम पृथक् पृथक् नहीं गिनायेंगे। क्योंकि राजकुमार, रानी, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति सेना सब राजा के ही अन्तर्गत है। जहाँ राजा रहेंगे, वहाँ ये सब तो रहेंगे ही।

इसी प्रकार वे सृष्टि के आदि में अपनी समस्त शक्तियों को अपने भीतर ही बटोरकर चुपचाप अकेले बैठे थे। अकेले बैठे-बैठे ऊब गये। उनकी इच्छा हुई कुछ धूम धड़ाका हो, कुछ क्रीडा, खेल तथा चहल-पहल हो।

क्यों जी वे तो आत्मकाम हैं, आत्मकाम को इच्छा कैसी ? वे तो आत्मक्रीड, आत्मरति, आत्मतुष्ट हैं। वे अकेलेपन से ऊबे क्यों ? उन्होंने बहुत होने की इच्छा क्यों की ?

देखो जी, क्रीडा में, खेल में, मनोरन्जन में, मनबहलाव में क्यों का प्रश्न नहीं उठता। उसमें जैसे भी जिससे भी मनोरञ्जन हो, मनोरञ्जन की मर्यादा में सब उचित है। अतः उसकी इच्छा जब सृष्टि करने की हुई तभी उसने कामना की। अपनी सकल्प शक्ति को जगाया, प्रजा को पैदा होने को प्रेरित किया, क्योंकि वही समस्त प्रजाओं के—शक्तियों के—पति हैं। प्रजापति ने बहुत होने की कामना की। उस समय न दृश्य था, न दृष्टा अकेले प्रजापति ध्यान कर रहे थे। कामना होते ही सोती हुई समस्त

शक्तियाँ उठकर बैठ गयीं। वे सब शक्ति मिलकर एक साथ उनकी नाभि से अंकुरित हो उठीं।

अंकुर तो पृथक्-पृथक् उपजते हैं। सब मिल एक साथ अंकुरित कैसे हुए ?

एक कटहल का बड़ा भारी फल है। उसके उदर में सैकड़ों बीज भरे हैं। यदि कटहल का पेट फाड़कर उनके बीजों को पृथक्-पृथक् बोया जाय तो उन सभी बीजों में पृथक्-पृथक् वृक्ष होने की शक्ति है, यदि उस बहुत भारी पके हुए कटहल में छिद्र करके उसे भूमि में गाड़ दो तो सब बीजों के अंकुर एक साथ ही उस छिद्र से निकल आवेंगे। एक ही बड़ा भारी अंकुर निकलेगा। महान् तत्वयुक्त। इसी प्रकार समस्त शक्तियों का सामूहिक बीज भगवान की नाभिकमल के छिद्र से चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप में उत्पन्न हो गया। सृष्टि की कामना के आधार पर ही ब्रह्माजी की सृष्टि हुई थी। वे प्रजापति के पुत्र थे अतः वे भी प्रजापति कहलाये। जैसे संकल्प से वे सृष्टि–उत्पन्न–हुए थे वैसी ही संकल्पमयी सृष्टि भी उन्होंने की। उन संकल्प से उत्पन्न सनकादि से भी सृष्टि बढ़ाने कहा–"वे भी इस विषय में विशेष उत्साह नहीं दिखाने लगे। उन्होंने देखा मैंने मन से जो मरीचादि महान् शक्तिशाली ऋषि बनाये हैं, ये सृष्टि को बढ़ाने में उतने समर्थ नहीं। अब क्या करूँ कैसे सृष्टि करूँ ? यह सृष्टि का संकल्प कर ही रहे थे, उसी समय जैसे एक ही चने के दो दल हो जाते हैं। उनके शरीर के दो भाग हो गये। दाँया भाग पुरुष रूप था बायाँ स्त्री रूप। दोनों को मिलाने से एक मिथुन–जोड़ा बन गया। जोड़ा बनते ही काम का कोड़ा लगा, प्रजापति ने पुराना शरीर छोड़ा, दोनों ने पति-पत्नी का नाता जोड़ा सृष्टि का कार्य आरम्भ हो गया। अतः आदि पुरुष भी

प्रजापति, उनके द्वारा उत्पन्न ब्रह्मा भी प्रजापति और शरीर का जो पुरुष भाग मनु है वह भी प्रजापति ही हुआ। जोड़ा होते ही मैथुन धर्म से स्वतः ही मैथुनी सृष्टि बढ़ने लगी और इतनी अधिक बढ़ने लगी, कि ब्रह्माजी भी घबरा गये। उन्हें उस बाढ़ को कम करने के निमित्त मृत्यु देव की व्यवस्था करनी पड़ी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तक प्राण रूप प्रजापति की महिमा उपासना कही। अब सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म का पसारा है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार ब्रह्म की पूर्णरूपता दिलाने के निमित्त भगवती श्रुति अत्यन्त संक्षेप में सृष्टि का वर्णन करती है। इसी का विस्तार पुराणों में अनेक प्रकार से किया गया है। सृष्टि से पूर्व एकमात्र यह पुरुषाकार आत्मा-ही-आत्मा था। उसने अपने आप ही अपनी आलोचना आरम्भ की। उसे दूसरा कोई दिखायी ही नहीं दिया। इसलिये उसके मुख से सहसा निकल पड़ा। 'अहमस्मि' मैं ही मैं हूँ। आज तक भी कोई किसी की किवाड़ खटखटावे और वह भीतर से पूछे—"कौन है? तो यही उत्तर देगा—कोई नहीं मैं हूँ।" माता-पिता शरीर का कुछ भी नाम रखें, किन्तु सब से पहिले उसमें मैं को अवश्य लगावेगा। मैं देवदत्त हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं छोटा हूँ, मैं बड़ा हूँ। यह मैं ही मानो ब्रह्मा हुआ। बाप की पदवी बेटा को प्राप्त होती ही है। अतः यह मैं-ब्रह्मा-भी प्रजापति के नाम से विख्यात हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"इसकी पुरुष संज्ञा क्यों है?"

सूतजी ने कहा—"प्रजापति के प्रतिबन्धक रूप समस्त पापों जिसने उपन-दग्ध-करा दिया है, इसलिये इसकी पुरुष संज्ञा है। (पूर्वमौपादिति पुरुषः) जो पुरुष के इस अर्थ को जानकर

इसकी उपासना करता है, वह उस व्यक्ति को दग्ध कर देता है जो उससे प्रथम प्रजापति होना चाहता है।"

मैं ही हूँ, यह कहने वाला सृष्टि का कारणभूत ब्रह्मा अपने को अकेला पाकर भयभीत हो गया। इसीलिये आज तक भी एकाकी होने पर लोग भयभीत हो जाते हैं। अकेले पड़ जाने पर लोग डर जाते हैं।

जब अकेलेपन से उसे कुछ भय प्रतीत हुआ तो फिर उसने गम्भीरता पूर्वक विचार किया। भय सदा दूसरे से-अपने प्रतिद्वन्द्वी से-हुआ करता है। यहाँ पर मेरा कोई दूसरा प्रतिद्वन्द्वी तो दिखायी देता नहीं। फिर मैं डरता किससे हूँ। मुझे डरना नहीं चाहिये। इस विचार के आते ही प्रजापति का भय भग गया। वास्तविक बात यही है, कि अपने आपे से-अपने स्नेही व्यक्तियों से भी-कोई भयभीत नहीं होता। भय सदा दूसरों से ही हुआ करता है। द्वित्व में ही भय है एकत्व में तो सुख-ही-सुख है। दूसरा न होने पर भय होना ही नहीं चाहिये।

उसके अतिरिक्त दूसरा कोई था नहीं इससे वह भय रहित हो गया। यद्यपि यह रमण की इच्छा वाला ही था, किन्तु अकेला क्या रमण करता? जो सर्वथा नंगा रहा है वह निचोड़ेगा क्या? रमण तो दो होने पर होता है। जब तक जोड़ा न हो-मिथुन न हो-तब तक रमण सम्भव नहीं। इसीलिये आज तक भी पुरुष अकेले रमण नहीं कर सकते।

जब रमण करने का संकल्प उठा तो स्वाभाविक ही है किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति की इच्छा हो, जिसके साथ-रमण-क्रीड़ा की जाय। दो की इच्छा होते ही उसका मन उस स्थिति में हो गया जैसे एक होता हुआ भी चना भीतर से दो जुड़े हुए दल होते हैं। अर्थात् छिलका चढ़े रहने से दीखता तो वह एक ही है, किन्तु

भीतर उसके दो भाग जुड़े हुए रहते हैं। इसी प्रकार दो बनने की इच्छा होते ही प्रजापति की स्थिति इस प्रकार की हो गयी, जिस प्रकार आलिंगित स्त्री पुरुष दो होते हुए भी मिले हुए एक ही प्रतीत होते हैं वैसे ही परिणाम वाला वह हो गया। अब जब मन से दो हो गये तो ऊपर का एकत्व का पतला छिलका कब तक एकता बनाये रखेगा। जैसे छिलका उतर जाने पर चने के दोनों दाने पृथक् पृथक् हो जाते हैं वैसे ही उसने अपने इस शरीर को भी दो भागों में विभक्त कर लिया। उन दो भागों से पति और पत्नी हुए। 'द्वेधा अपातयत्' दो भागों में गिरा दिया। गिरने से—गिर-कर दो हो जाने से—ही वे दोनों भाग पति और पत्नी कहलाये (पतनात् पतिश्च पत्नी च) दायाँ आधा अंग पुरुष पति कहलाया और बायाँ स्त्री पत्नी कहलायी। उस पुरुष ने कहा मैं तुम्हारा पालन करूँगा। इससे उसकी संज्ञा पति हो गयी (पाति=रक्षति—इति पतिः) जब उसने उसके पालन की प्रतिज्ञा कर ली तो उसने उसके अभिप्राय को जानकर उससे सम्बन्ध स्थापित कर लिया इससे वह पत्नी कहलायी। (पति अर्थज्ञे—सम्बन्धो यथा स्यात् तथा) जब उनमें पति-पत्नी भाव हो गया तो वे दोनों आधे आधे भाग मिलकर एक हो गये। इसीलिये महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा है। यह पुरुष शरीर विवाह के पूर्व जिन अन्नों की दाल बनती है उन अन्नों के दो दलों में से एक दल है। अर्थात् विवाह के पूर्व मनुष्य आधा रहता है। आधा स्थान रिक्त रहता है, खाली रहता है। विवाह हो जाने पर वह रिक्त स्थान स्त्री के द्वारा भरा जाता है, पूर्ण किया जाता है। जब पति-पत्नी मिल जाते हैं, तभी पुरुष का अंग पूर्ण होता है, वह पूर्ण कहलाता है। इसीलिये पत्नी को अर्धाङ्गिनी कहते हैं। वह पुरुष का आधा अंग है, भगवान् शंकर ने अपनी पत्नी पार्वती को आधे अंग में सदा के लिये बिठा

लिया तभी तो वे 'अर्धनारी नटेश्वर' कहलाते हैं। स्त्री पुरुष का पूरक भाग है पुरुष स्त्री का पूरक भाग है। जब वे दोनों मिलकर एक होते हैं संयुक्त हो जाते हैं। तभी सृष्टि वृद्धि का क्रम आरंभ होता है। यही मैथुनी सृष्टि आरम्भ होने की कथा है। पुरुष का स्त्री के प्रति-स्त्री का पुरुष के प्रति आकर्षण होता है, क्योंकि वे दोनों एक ही अंग के दो भाग हैं, अपनेपन में आकर्षण होना स्वाभाविक ही है। उसी से मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। एक जोड़े से अनेक जोड़े हुए। प्रजापति का आधा दायाँ अंग मनु नाम से विख्यात हुआ। क्योंकि प्रजापति ने उसे अपना पुत्र मान लिया (मन्यते—इति मनुः) तो प्रजापति के पुत्र होने के कारण ये भी प्रजापति ही हुए। दायाँ जो आधा भाग था वह स्त्री रूप में सैकड़ों प्रकार से दीखने के कारण शतरूपा नाम से विख्यात हुआ। (शत रूपाणि अस्याः सा शतरूपा) सबसे पहिला मनु प्रजापति और शतरूपा का ही जोड़ा हुआ। ये दूसरे ब्रह्मा ही-प्रजापति ही-कहलाये। वह स्त्री शतरूपों में सैकड़ों रूपों में कैसे दिखायी दी, इस कथा को कहते हैं।

एक दिन शतरूपा ने एकान्त में बैठकर विचार किया—"इस पुरुष ने तो मुझे अपने से ही उत्पन्न किया है। अपनी ही उत्पन्न की हुई सन्तान से समागम करना तो उचित नहीं। यह मुझसे यह न्याय विरुद्ध कार्य क्यों करता है? अच्छा, यह पुरुषाकार है। मैं यदि अपने इस पुरुषाकार को छिपाकर किसी दूसरी योनि को धारण कर लूँ तो यहाँ तो यह भिन्न लिंग होने के कारण न पहुँच सकेगा। अतः उसने अपने को गौ के आकार में छिपा लिया। अर्थात् वह गौ बन गयी। प्रजापति पुरुष ने सोचा—"मेरी पत्नी कहाँ चली गयी?" जब उसने ध्यान लगाकर देखा—"ओहो, उसने तो गौ का रूप रख लिया है, तब तो ये पुरुष

बनकर उनके पास गये और वृषभ रूप से उससे समागम किया। तब बहुत से गौ वृषभों के जोड़े उत्पन्न हो गये।"

शतरूपा ने सोचा—"यह तो इस योनि में भी पुरुष बनकर चला आया। तब वह जाकर घोड़ी बन गयी। तो मनु घोड़ा बनकर उससे मिले। तब शतरूपा गधी बन गयी। सोचा—"इस अधम योनि में न आवेगा, किन्तु वहाँ भी गधा बनकर उससे संयुक्त हुआ।" कहाँ तक गिनावें एक खुर वाले जितने भी पशु हैं, शतरूपा जो-जो भी रूप रखती, मनु उसी का पुंलिङ्ग बनकर उससे समागम करता।

तब शतरूपा बकरी बन गयी। यह बकरा बनकर उससे जा मिला। वह भेड़ बन गयी तो इसने भेड़ा होकर उससे सम्भोग किया कहाँ तक कहें बकरी, भेड़, चींटी, कीट, पतग संसार में जितने भी जीवधारी जन्तु हैं शतरूपा उसमें से जो बनती उसी का पुंलिङ्ग बनकर वह उस जाति की वृद्धि करता। इस प्रकार जितने भी स्त्री पुरुष रूप मिथुन हैं—जोड़े हैं—उन सभी की रचना इनके द्वारा हुई।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इतना बड़ा औपनिषद् ज्ञान और बातें ऐसी जैसे बच्चों की कहानी। वह गौ बनी तो यह बैल बन गया, वह घोड़ी बनी तो यह घोड़ा बन गया, वह गधी बनी तो यह गधा बन गया। यह क्या बात है?"

हँसकर सूतजी बोले—"ब्रह्मन्! जिन्होंने उपासना नहीं की है, जो जड़वादी हैं, वे ऐसी बात कहें तो ठीक भी है, आप जैसे रसिक शिरोमणि ऋषि द्वारा ऐसी शंका तो नहीं होनी चाहिये। किन्तु आप उन अज्ञों का ही प्रतिनिधित्व करते हुए ऐसा प्रश्न कर रहे हैं।

ब्रह्मन्! भगवती श्रुति ने कितनी ऊँची बात को कितनी सर-

लता पूर्वक कथा के रूप में समझा दिया है। भगवन्! आप शब्दों को छोड़कर भाव पर ध्यान दीजिये। इस कथन का एक मात्र भाव यही है, कि सब योनियों में स्त्री पुरुष के जोड़े के रूप में वही भगवान् प्रजापति क्रीड़ा कर रहे हैं। दो नहीं, वे अकेले ही दो बनकर–तीन होकर–बहुरूप बनाकर रमण कर रहे हैं, खेल रहे हैं। प्रकृति नटी जो-जो रूप रखती है, पुरुष नट वैसा रूप रखकर उसका अनुसरण करता है। यही स्रष्टा बनकर सृष्टि करता है और अपने को ही सृष्टि रूप में अनुभव करता है।"

. शौनकजी ने पूछा—"वह प्रजापति अपने को ही सृष्टि रूप में अनुभव कैसे करने लगा?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! उसके द्वारा चर-अचर समस्त जीवों की सृष्टि हो गयी। सबकी रचना इस प्रजापति द्वारा ही हुई थी तब उसने अनुभव किया, कि मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत् को रचा है। इसलिये मैं ही यह सम्पूर्ण जगत् हूँ। जगत् मेरा ही रूप है। सृष्टि उसे कहते हैं, जिसका निर्माण किया जाय (सृज्यते इति सृष्टिः) सृष्टि को रचकर वह अपने को ही सृष्टि समझने लगा। स्रष्टा और सृष्टि में उसने अभेद भाव किया। जो उपासक स्रष्टा और सृष्टि के इस रहस्य को समझकर उपासना करता है वह इस प्रजापति की सृष्टि में प्रमुख स्रष्टा बन जाता है। इस प्रकार स्रष्टा द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति बताकर वह एकमात्र ब्रह्म ही परिपूर्ण भाव से सबमें व्याप्त है इस बात को बताया और उसकी उपासना का भी फल बता दिया। अब आगे जैसे अग्नि आदि देवरूप से अति सृष्टि बताई जायगी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अपने तें उत्पन्न करी क्यों करत समागम ।
शतरूपा यों सोचि छिपी गौ बनि पूतागम ॥
मनु तब बनिकें वृषभ समागम तिहि सँग कीन्हों ।
गाय बैल तिहि भये रूप घोड़ी धरि लीन्हों ॥
घोड़ा पुनि मनु बनि गये, शतरूपा गर्दभि भई ।
बनि गर्दभ मनु भोग करि, इक शक्र सुर सज्ञा भई ॥

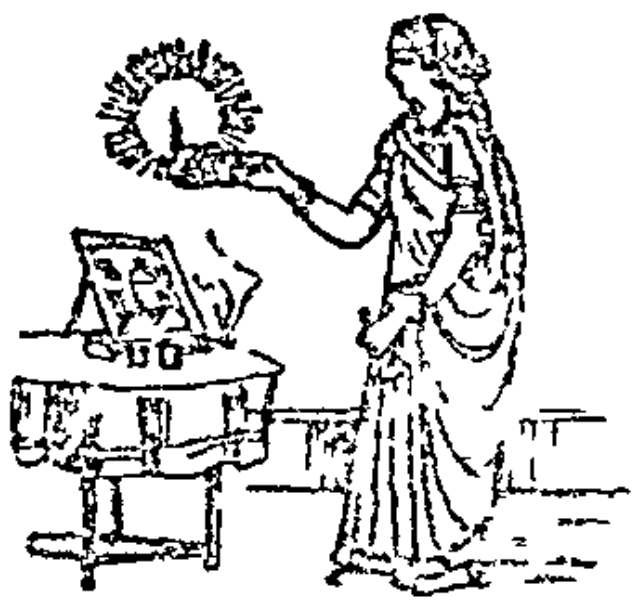

ब्रह्म की पूर्णरूपता (२)

(२०५)

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहँ हीदँ सर्वमसृक्षीति। ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याँ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥*

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० ५ मं०)

छप्पय

बकरी बकरा बने मेढ़ मेढ़ा चेंटी बनि।
चेंटा है मिलि गयो मिथुन सब द्वै ई बनि पुनि॥
सबकी रचना करी चराचर जगत बनायो।
करी प्रजापति सृष्टि सृष्टि स्रष्टा कहलायो॥
स्रष्टा सृष्टि एक हैं, जो रहस्य जानत पुरुष।
होइ मुख्य स्रष्टा जगत, जग में पावै अति हरष॥

ब्रह्म एक ही है, वही नाना रूपों में परिणित हो गया है। उसे ही विद्वान् लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा करते हैं। उसी शाश्वत परब्रह्म परमात्मा का नाम प्रजापति है, उसे ही ब्रह्मा के

* 'मैं ही सृष्टि हूँ' उस प्रजापति ने ऐसा अनुभव किया। इसकी रचना मैंने की है। इसीलिये वह 'सृष्टि' हुआ। जो इस रहस्य को भली-भाँति जानता है। वह भी उस प्रजापति की सृष्टि में मुख्य स्रष्टा होता है।

नाम से पुकारा जाता है, फिर वही मनु कहलाने लगता है। अग्नि, इन्द्र, प्राण, मित्र, वरुण, दिव्य, गरुड, गरुत्मान, दीप्तिमान्, वायु, यम उसी एक सत्य स्वरूप ब्रह्म को वेदज्ञ ब्राह्मण पृथक् पृथक् नामों से पुकारते हैं। सृष्टि के आदि में वह एक ही था, उसी की समस्त शक्तियाँ उसमें अन्तर्भुक थीं, उसी में समायी हुई थीं, अचेतनावस्था में पड़ी हुई थीं। जब उसने बहुत होने की इच्छा की। एक से अनेक होना चाहा तो शक्ति समूह जो प्रसुप्तावस्था में था, जागृत हो गया। वह शक्ति समूह ही, मन के द्वारा, वाणी के द्वारा, मैथुनादि विविध कर्मों द्वारा, भिन्न-भिन्न रूपों में परिणित हो गया। इन सबके मूल तत्व एक ही है। उसी तत्व को खोजना चाहिये उस तत्व को भली भाँति समझ लेना यही आत्मदर्शन है, यही ब्रह्म ज्ञान है। यही प्रियतम की प्राप्ति है, क्योंकि यह प्राणी प्रेम की भूख में ही व्याकुल हुआ चारों ओर भटक रहा है। जिसमें वह प्रेम देखता है, उस ओर दौड़ता है। उसका सेवन करता है। अन्त में उसे पता चलता है, जिस दारा, धन, पुत्र, मित्रादि को मैं प्रेमास्पद समझता था, यह तो मेरा भ्रम था। एक मात्र आत्मा ही परम प्रेमास्पद है। ऐसा ज्ञान होना ही मोक्ष का द्वार है। यही वेदान्त है। यही परागति है।

सूतजी कहते है—"मुनियो! प्रजापति ने इस जगत् का निर्माण किया, सृष्टि की। इसलिये सृष्टि होने से उसने सोचा—"मैं ही सृष्टि हूँ। अतः वह स्रष्टा और वही सृष्टि नाम से प्रसिद्ध हुआ, अतः स्रष्टा सृष्टि को एक ही जानना चाहिये। इसका फल पीछे बता ही चुके हैं।

इस प्रकार योनि द्वारा मैथुनी सृष्टि का वर्णन करके अब

हाथ और मुख द्वारा जो अति सृष्टि की, उसका प्रतिपादन किया जाता है।

प्रजापति ने दोनों हाथों में दो अरणी लेकर उनका मन्थन किया। अब तक तो मिथुन होकर स्त्री पुरुष मन्थन से योनि द्वारा मनुष्य गवादि की मैथुनी सृष्टि हुई थी। अब उसने दोनों हाथों से मथकर और मुख से फूँक मार-मारकर अग्नि की रचना की। अग्निदेव प्रकट हो गये। जो आदि पुरुष परब्रह्म प्रजापति थे, वे ही चतुर्मुख ब्रह्मा प्रजापति हुए, फिर वे ही मनु प्रजापति रूप में अनेक योनियों के रूप में प्रकट हुए। और वे ही फिर योनि द्वारा नहीं, हाथ और मुख के द्वारा अति सृष्टि के रूप में अग्निदेव बन कर प्रकट हुए।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मिथुन द्वारा जो गवादि सृष्टि हुई वह तो योनि द्वारा हुई। इस अग्नि की सृष्टि मुख हाथों से क्यों हुई?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! मैथुनी सृष्टि साधारण सृष्टि है। यह अग्निदेव की सृष्टि, दिव्य सृष्टि है अति सृष्टि है। दोनों में कुछ अन्तर तो होना ही चाहिये। फिर कुछ साम्यता तो है ही, योनि भी भीतर से लोम रहित ही होती है और हाथों की हथेलियाँ तथा मुख भी भीतर से लोम रहित ही होता है। इस प्रकार अलोमता रूपी साम्यता तो दोनों में है ही। इसलिये इस प्रजापति के मुख से पहिले ही पहिल अग्नि देवता प्रकट हुए। ये अग्नि सर्व देवमय हैं जितने देवता हैं। सब इन प्रजापति के ही भेद हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब समस्त देवता उन्हीं प्रजापति की विसृष्टि है। उन्हीं के रूप हैं। तो यज्ञों में पृथक् पृथक् देवताओं का नाम लेकर यजन क्यों किया जाता है? यह

कर्ता ब्राह्मण गण तो भिन्न भिन्न देवताओं का नाम ले-लेकर यह क्यों कहा करते हैं इस अग्निदेव का यजन करो, इस इन्द्रदेव का यजन आदि-आदि ?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आपका कथन सत्य है। ये समस्त देवता उन्हीं प्रजापति की विसृष्टि हैं उन्हीं के रचे हुए हैं। वे प्रजापति ही इन अनेक नाम रूपों में हो गये हैं। इन सब मैथुनी सृष्टि, दिव्य सृष्टि, मर्त्य सृष्टि, अमर्त्य सृष्टि के रचयिता वे ही हैं। अग्नि तो अन्नाद है, अन्न को खाने वाला है। अतः उसके खाने के लिये उसने अन्न की रचना की। अन्न की रचना कैसे की ? जो कुछ द्रव पदार्थ है-गीला है-उसी को उसने वीर्य से उत्पन्न किया। वीर्य द्रव होता है, शीतल होता है। वह द्रव से रचा पदार्थ ही सोम है। सोम ही समस्त ओषधियों का स्वामी है, वही अन्न है अन्न उत्पादक है। अतः अग्नि तो अन्नाद-अन्न को खाने वाला-हुआ और सोम-साक्षात् अन्न ही हुआ। इस प्रकार अन्न और अन्नाद की सृष्टि करने के अनन्तर इन्द्र, वरुण, कुबेरादि अपने से उत्कृष्ट देवताओं की रचना की।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! देवता आदि प्रजापति से उत्कृष्ट कैसे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! प्रजापति ने पुरुष रूप से ही तो यह सब रचना की। पुरुष का अर्थ पीछे ही बता आये हैं, कि इस सबसे पूर्ववर्ती आत्म संज्ञक प्रजापति ने समस्त पापों को उपनष्ट किया। इसीलिये यह पुरुष कहलाया। भगवन्! इन्द्र, वरुण, कुबेरादि देव अजर, अमर अमर्त्य देव हैं। पुरुष कैसा भी हो वह है तो मरणधर्मा मर्त्य ही। इसीलिये प्रजापति पुरुष से

उत्कृष्ट देवता है। तभी तो भवगती श्रुति ने कहा है—स्वयं मर्त्य होने पर भी इसने अमृत देवताओं को उत्पन्न किया"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! जो जिस गुण वाला होगा, वह उसी गुण वाली वस्तु को उत्पन्न कर सकेगा। जैसे मिट्टी से जितने भी पदार्थ बनेंगे सब मृण्मय ही बनेंगे। सुवर्ण से जितने आभूषण पात्र बनेंगे सब सुवर्णमय ही बनेंगे। इसी प्रकार मर्त्य के द्वारा जो भी सृष्टि होगी वह मर्त्य ही होगी, मर्त्य द्वारा अमृत कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! उन प्रजापति को मर्त्य अमर्त्य कहना एक व्यवहारिक बात है ! वास्तव में वे तो दोनों से परे हैं। यहाँ मर्त्य होकर अमर्त्यों--अमर देवताओं--को उत्पन्न किया। इस कथन से यहाँ उनका विरुद्ध धर्माश्रयी गुण दिखाया है। जैसे अन्य स्थानों में भी कहा है। वह बिना पैरों के चलता है, बिना कानों के सुनता है, बिना हाथों के कार्य करता है। वह सत् भी है असत् भी है। वह एक स्थान में बैठा हुआ भी दूर चला जाता है। सोता हुआ भी सब ओर चला जाता है। इससे उसकी सर्वज्ञता, सर्व शक्तिमत्ता, सब कुछ करने की शक्ति का ही निर्देश किया है। नहीं तो वह तो सनातन सर्व नियन्ता सर्वाधार है ही। इस प्रकार उसने मैथुनी सृष्टि और अति सृष्टि-दिव्य सृष्टि-की। जो इस रहस्य को यथार्थ रूप से जान जाता है, वह इसकी इस अति सृष्टि में ही हो जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"मर्त्य होकर अमर्त्य की रचना की, निगूढ भाव को तो हम समझ गये, किन्तु अव्याकृत परमब्रह्म व्याकृत कैसे हो गया ? जो अव्यक्त है, उसे व्यक्त किसने कर दिया ?"

सूतजी ने कहा—"समस्त भूत-सम्पूर्ण चराचर जीव पहले

अव्यक्त रहते हैं, मध्य में व्यक्त हो जाते हैं। अन्त में अव्यक्त में ही जाकर पुनः मिल जाते हैं। यह सदा से ऐसे ही होता आया है। सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण चराचर जगत् अव्यक्त ही था। सबके पृथक् पृथक् नाम और रूप नहीं थे। सब उन्हीं परब्रह्म प्रभु में अन्तर्भूत थे। उन्हीं में तदाकार थे। उनके अतिरिक्त कोई दूसरा होता तो वह इन्हें व्यक्त करता। उस समय तो केवल वे-ही-वे थे। अतः अपने आप ही अपने निजी संकल्प से ही नाम रूप के योग से व्यक्त बन गये। वे ही पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, आदि पृथक् पृथक् नाम रूपों से व्यक्त हो गये। वे ही निमित्त हैं वे ही उपादान हैं। वे अपने से ही विभक्त से बनकर भिन्न-भिन्न नाम और रूपों से दिखायी देने लगते हैं। अब भी व्यवहार में यही कहा जाता है, कि अमुक वस्तु इस नाम और इस रूप वाली है। सबकी रचना करके अन्तर्यामी रूप से वह सब में बैठा रहता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! शरीरों में वह कहाँ बैठा रहता है, बहुत से जीव तो ऐसे हैं जो नेत्रों से दिखायी तक नहीं देते, उन्हें अणुवीक्षण यन्त्रों द्वारा देखा जा सकता है, उनमें वह कहाँ रहता होगा और बहुत से हाथी, शरभ, तिमिंगल आदि बड़े बड़े आकार के जीव हैं। उनमें वह किस स्थान में बैठा होगा?"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"ब्रह्मन्! जो कर्तुं-अकर्तुं अन्यथा कर्तुं—सब कुछ करने में समर्थ है, उसके सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो चींटी से ब्रह्मापर्यन्त सब देहों में पैर के नखों से लेकर सिर के केशों तक प्रवेश किये है। जैसा देह होता है, उसी के अनुरूप अपना रूप बना लेता है और शरीर में कोई भी अंग प्रत्यङ्ग नहीं जिसमें

अस्तित्व न हो। जैसे छुरे हैं, तलवार हैं इनका जो खोल या घर होता है, उन्हीं के अनुरूप बना रहता है। जैसे छुरा या तलवार अपने-अपने खोलों में घरों में छिपे रहते हैं। देखने वाले कहते तो हैं, देखो, उस व्यक्ति के कमर में छुरा लटक रहा है, किन्तु देखने वाला खोल में छिपे छुरे को नहीं देखता। वह तो ऊपर के उसके घर को ही देख रहा है। छुरा तो घर में छिपा हुआ है और उसी के आकार का है। उसी प्रकार आत्मा देहों में तदनुरूप होकर छिपा बैठा है, उसे सर्वसाधारण देख नहीं सकते।

दूसरा दृष्टान्त लीजिये। विश्व का भरण पोषण करने वाले अग्निदेव हैं। वे समस्त काष्ठों के अनुरूप ही बनकर बैठे हुए हैं, किन्तु सब लोग उन्हें देख नहीं सकते। जब संघर्ष से-रगड़ से-वे व्यक्त होते हैं, तो काष्ठ के अनुरूप ही दिखायी देते है। नाना रूपों में वही व्याप्त है, जैसे तिल में तैल व्याप्त है। जो इस प्रकार सर्व व्यापक रूप में उन्हें नहीं देखता वह अपूर्ण रूप है। क्योंकि वे तो सभी में समान भाव से व्याप्त हैं। परब्रह्म परमात्मा सब नामों से सब रूपों से वे ही अभिव्यक्त हो रहें हैं। जीवों में प्राणन क्रिया करने से वे ही प्राण नाम से प्रसिद्ध हैं। भाषण करने से बोलने के कारण उन्हें ही वाक् कहते हैं। वे ही आँखों में बैठकर देखते हैं। अतः उन्हीं का नाम चक्षु हो जाता है। वे कानों बैठकर श्रवण करते हैं। अतः श्रोत्र नाम से वे ही पुकारे जाते हैं। वे मन में बैठकर मनन करते हैं अतः मन भी वे ही कहे जाते हैं। ये उन्हीं के कर्मों के अनुसार नाम हैं। जैसा कर्म होता है वैसा ही उनका नाम पड़ जाता है। जैसे बेर बेचने वाले का नाम बेर वाला, दही बेचने वाले का नाम दही वाला आदि-आदि। काम पृथक्-पृथक् होने से नाम भी पृथक् पृथक् पड़ गये हैं, किन्तु वास्तव में वे एक ही हैं। जो इनमें से एक-एक

नाम को पृथक् समझकर उपासना करता है। दूसरे नाम को पृथक् मानकर उसके उपासक से लड़ता है, तो वह उनके यथार्थ रूप को नहीं जानता। वह असम्पूर्ण ही है।

अतः उपासक को चाहिये, कि सब मे समान रूप से व्याप्त उस आत्मा की सर्वव्यापी में सर्वरूप में उपासना करनी चाहिये। यह एक ही अनेक विशेषणों से युक्त होता है। आत्मा शब्द का अर्थ ही यह है, कि वह निरन्तर सभी अवस्थाओं में सब में अनुवर्तन करे। अत धातु सातत्य गमन अर्थ में प्रयुक्त होती है। (अतति–सन्तत भावेन–जाग्रदादि सर्वावस्थासु–अनुवर्तते–इति= आत्मा) इसी भावना से आत्मोपासना करनी चाहिये। आत्मा में समस्त नाम रूप एक हो जाते हैं। समस्त पदार्थों का अन्तर्भाव आत्मा में ही हो जाता है। सबका प्राप्तव्य स्थान आत्मा है ज्ञान से सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। इस जगत् के पदार्थों द्वारा उस आत्मा को कैसे जान लेता है, इस विषय में एक दृष्टान्त देते हैं।

प्राचीन काल में एक खोजा होते थे। वे पैरों के चिन्हों को देखकर जिसके पैर के चिन्ह हैं उनके स्वभाव का, रूप रंग का स्थान का पता लगा लेते थे। किसी की गौ भैंस या अन्य पशुओं को चोर खोल ले गये, तो वे खोजे पशुओं के तथा चोरों के पद चिन्हों को देखकर यह पहिचान लेते थे, कि कै चोर थे, उनमें कितने युवक थे, कितने बूढ़े थे, कौन काना था, कौन लँगड़ा था। वे पशुओं को किधर ले गये हैं। उन पदचिन्हों पर चलते-चलते अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर पशुओं को और पशुओं के अपहरण कर्ताओं को पकड़ लेते थे। इसी प्रकार इन सब वस्तुओं में व्याप्त आत्मा को अन्वेषण द्वारा उपासक प्राप्त कर लेता है। एक आत्मा के ज्ञान से समस्त जगत् का ज्ञान हो जाता

है। अब इस आत्मोपासना का फल बताते हैं, कि जो इस प्रकार आत्मा को जान लेता है यश ख्याति को प्राप्त होता है और पुण्य-श्लोकता को तथा महापुरुषों के सहवास को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह समग्र आत्मोपासना का महत्त्व बताया अब आगे यह आत्मा ही निरतिशय प्रिय है, इस आत्मा से बढ़कर प्रिय पदार्थ जगत् में दूसरा नहीं। इस विषय का निरूपण करेंगे। आशा है आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

(१)

मन्थन करि मुख अग्नि रची होवै यज्ञादिक।
लोम रहित मुख योनि इन्द्र अरु अग्नि सृष्टि इक॥
सर्वदेवमय यही प्रजापति गीलो कछु जो।
बीरज तें उत्पन्न करयो तिनि सोमहि है सो॥
सोमदेव ही अन्न है, अग्नि कही अन्नाद यह।
देव सृष्टि अति सृष्टि अज, जाने सो है जात वह॥

(२)

अव्याकृत जग प्रथम रूप नामहु तें व्याकृत।
नख शिख तन में प्रविशि खोलमें छुरा छिप्यो नित॥
अग्नि काठ में छिपी न पूरन जन नहिं निरखत।
प्राणन तें ही प्राण बोलिबे तें पानी उत॥
सुनिबे तें है श्रोत्र यह, मनन करत मन बनि गयो।
एक आतमा जानि मनु, आत्मरूप मजि सो भयो॥

ब्रह्म की पूर्णरूपता (३)

[२०६]

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते। किमु तद्ब्रह्मावेद यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० ६ मं०)

छप्पय

सुत धन सब तें अधिक आतमा प्यारो अतिशय।
जो प्रियदर्शी आत्म वाक ताको हो ततमय॥
आत्म रूप प्रिय करै उपासन सब फल पावै।
मरणशील प्रिय होइ न तिहि अम्मृत है जावै॥
ब्रह्म ज्ञान तें सर्व हो, अस कहि द्विज होवै अभय।
ब्रह्म कहा जान्यो भयो, ताही तें वह सर्वमय॥

लोक में जो पवित्र, चमकीली, उज्वल, सुन्दर, दर्शनीय वस्तुएँ हैं वे हमें प्यारी लगती हैं, उनके प्रति हमारा आकर्षण होता है, किन्तु कब? जब उनमें अपनापन हो, आत्मीयता का भाव हो। जो सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर को ही देखते हैं, उन्हें संसार में अप्रिय कोई वस्तु ही दिखायी नहीं देती। वे सबमें

---

* जब ब्राह्मणों ने एक प्रश्न किया कि उन्होंने यह कहा, कि सब लोग ऐसा मानते हैं, कि ब्रह्म विद्या के द्वारा 'हम सब सर्व हो जायेंगे' तो ब्रह्म जिसके द्वारा सर्व हो गया उसने क्या जाना?

अपने इष्टदेव के दर्शन करते हैं। एक महात्मा थे, वन में जा रहे थे। एक सिंह ने दहाड़ लगायी और वह उनकी ओर झपटा। महात्माजी उसकी चमकीली आखों को देखकर, सुन्दर भरे हुए कन्धों और कृश उदर को देखकर मुग्ध हो गये। उसकी अपूर्व दर्शनीय शोभा को निहारते हुए तन्मय हो गये। उन्हें उसके दर्शनों से नृसिंह भगवान् की स्मृति हो उठी। अहा! भगवान् ने इसी प्रकार हिरण्यकशिपु द्वारा प्रताड़ित अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा की होगी?

वे महात्मा सबमें अपने इष्ट का दर्शन करने वाले थे, जगत् को सियाराममय समझने वाले थे। सबको वासुदेव मानने वाले थे, ऐसे वासुदेव दृष्टि वाले महात्मा दुर्लभ हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु हमें आकर्षित करती है, किन्तु जिसमें सौंदर्य के कारण, सम्बन्ध के कारण, उपयोगिता के कारण अथवा अन्य किसी कारण से अपनापन हो जाय, वह अधिक आकर्षक बन जाती है। जैसे पत्नी है वह सुखद है, मनोज्ञ है, उससे धर्मपूर्वक सम्बन्ध है वह सबसे अधिक आकर्षक है, प्रिय है। अपना पुत्र है, अपने से ही उत्पन्न हुआ है, शरीर का रक्त का-सम्बन्ध है, वह भी प्रिय है। धन है, अत्यन्त उपयोगी है, उससे संसार के सभी व्यवहार चलते हैं, अतः उसमें भी आकर्षण है, वह भी अत्यन्त प्रिय है किन्तु ये सब पदार्थ नाशवान् है, अन्तवन्त हैं, नश्वर हैं, परिवर्तनशील हैं, अतः अत्यन्त प्रिय नहीं हो सकते। क्योंकि प्रेम तो नित्य है, शाश्वत है अविनाशी है। वह नाशवान् वस्तुओं में कहाँ मिलेगा? वह तो नित्य में शाश्वत में सदा एकरस रहने वाले में ही मिलेगा। इन गुणों वाला तो आत्मा ही है, अतः आत्मा ही निरतिशय प्रिय है। वह सबसे

अधिक प्यारा है। अन्य वस्तुओं में जो प्रियता है वह आत्मा के ही कारण है। अपनेपन के ही कारण है।

जैसे अपना पुत्र है। सुन्दर है, स्वस्थ है सुयोग्य है, विद्वान् है, किन्तु किसी भी कारण से उसमें आत्मीयता नहीं, न वह पिता को अपना समझता है, न पिता का ही उसके प्रति आत्मीयता का भाव है, तो वह पुत्र होने पर भी प्रिय नहीं। यही बात पत्नी आदि सभी सम्बन्धियों के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। संसार में जो भी प्रिय है आत्मा के कारण अपनेपन के कारण। इससे यही सिद्ध हुआ वस्तुओं में प्रियता नहीं आत्मा में-अपनेपन में-प्रियता है। सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है, वही निरतिशय प्रिय है। इसी बात को भगवती श्रुति अनेक दृष्टान्तों द्वारा बार-बार बताती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवती श्रुति कहती है—"यह आत्मा पुत्र से भी अधिक प्रिय है। क्योंकि पुत्र में प्रियता आत्मा के ही कारण है, शरीर के कारण नहीं। जीवात्मा के पृथक् होने पर शरीर तो वहीं रहता है, किन्तु पिता उस मृतक से प्रेम नहीं करता उसे अपने हाथों से अग्नि में जला आता है।"

संसार में धन सबसे प्रिय वस्तु है, किन्तु आत्मा धन से भी अधिक प्रिय है, क्योंकि आत्मतत्व का जिज्ञासु जब आत्मज्ञान के लिये गृह त्यागकर संन्यास धारण करता है, तब धन को तृण-वत् त्याग देता है, फिर न उसकी स्पृहा ही करता है, न उसका स्पर्श ही करता है। मनुष्य प्रिय वस्तु का त्याग तभी करेगा, जब उसे उससे भी कोई प्रिय वस्तु प्राप्त होती हो। अतः आत्मा धन से भी अधिक प्रिय है। कहाँ तक गिनावें संसार में जितने भी प्रिय पदार्थ हैं उन सबसे भी अधिक आत्मा प्रिय है। क्योंकि यह आत्मा उन सबकी अपेक्षा अत्यन्त निकटवर्ती है, सबसे

अन्तरतर है, सबकी अपेक्षा मुख्य है। इसलिये आत्मा को ही निरतिशय प्रिय मानकर इसकी उपासना करनी चाहिये। जो आत्मा को ही परमप्रिय मानकर उसकी उपासना करते हैं, उनकी वाणी में ऐसी शक्ति हो जाती है, कि वे वर तथा शाप देने में समर्थ हो जाते हैं। उनकी शक्ति इतनी बढ़ जाती है, कि कोई संसारी पुरुष आत्मा से भिन्न पुत्र मित्र धनादि को ही प्रिय मानता है। और ऐसे आत्मदर्शी पुरुष का किसी कारणवश कोई अनिष्ट कार्य कर देता है और वह आत्मोपासक यह कह दे कि "तेरा प्रिय पुत्र नष्ट हो जाय, तेरा प्रिय धन नष्ट हो जाय" तो अवश्य वैसा ही हो जायगा, अतः किसी भी आत्मोपासक का अनिष्ट कार्य न करना चाहिये। क्योंकि वह शाप-वरदान देने में समर्थ होता है।

सारांश यह हुआ कि साधक को आत्मरूप परमप्रिय की ही उपासना करनी चाहिये। जो उपासक आत्मरूप परमप्रिय की ही उपासना करता है उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील-पुत्र मित्र धनादि-पदार्थ नहीं हो सकते।

अब कुछ विद्वान ब्राह्मण ब्रह्म के सर्वरूप होने के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हैं, उसी का वर्णन आगे किया जायगा।

ब्राह्मणों ने प्रश्न उठाया—"बहुत से मनुष्य यह मानते हैं, कि ब्रह्म विद्या के द्वारा हम सर्व हो जायँगे। तो उस ब्रह्म ने क्या जाना था जिसके कारण वह सर्व हो गया?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अपने से भिन्न कोई दूसरा हो तो उसे जानने का प्रयत्न भी हो। सृष्टि के आदि में तो यह केवल ब्रह्म ही-ब्रह्म था। उस समय जानने-न-जानने का प्रश्न ही नहीं उठता था, क्योंकि जगत् का कोई भी पदार्थ उस समय विद्यमान नहीं था। जब बहुत होने की कामना हुई, तब सर्व

यम उसने अपने को ही जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ" अर्थात् मैं केला ही ब्रह्म हूँ अब बहुत हो जाऊँ। जहाँ उसने बहुत होने की इच्छा की, वहीं वह सर्व हो गया। उसी ने देवताओं का रूप धारण कर लिया। उन देवताओं में से जिस जिसने उसके यथार्थ रूप को जाना, वे तद्रूप हो गये। फिर ऋषि और मनुष्यों में से जिस जिसने उसे जाना वे भी सब तद्रूप ही हो गये। उन्हीं परब्रह्म परमात्मा को आत्मरूप से देखते हुए महर्षि वामदेव ने यह वाक्य कहा था—"मैं ही कभी मनु हुआ कभी सूर्य भी" अर्थात् सूर्य, मनु, पशु, पक्षी सब उस आत्मा के—ब्रह्म के ही रूप हैं। जो इस 'अहं ब्रह्मास्मि' के यथार्थ रहस्य को जान लेता है, वह अब भी सर्वरूप ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। उसे यदि देवता भी चाहें कि पराजित कर दें, तो वे उसके पराभव में समर्थ नहीं हो सकते। क्यों नहीं हो सकते? इसलिये नहीं हो सकते, कि वह सर्वमय है। सर्व में देवता भी आ जाते हैं, अतः वह देवताओं की भी आत्मा है। अपना आपे से कोई अपने को पराजित नहीं करता। इसके विपरीत जो अपने से भिन्न देवता की भिन्न भाव से उपासना करता है। और सोचता है मैं दूसरा हूँ, मेरा देवता दूसरा है जो भेद भाव रखकर उपासना करता है, वह ब्रह्म के यथार्थ तत्त्व को नहीं जानता। वह तो अन्य पशुओं की भाँति देवताओं का नर पशु ही है। पशु क्यों है? इसलिये पशु है, कि वह अविवेक से सबको एक ही भाँति देखता है। बुद्धिमान पुरुष ऐसे पशुओं को पालकर उनसे अपना कार्य कराया करते हैं। लोक में मनुष्य बैलों से कृषि आदि का, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि पशुओं से वाहन आदि का कार्य लेते हैं। बैल आदि पशु खेती में अन्न आदि पैदा करके मनुष्यों का पालन करते हैं। मनुष्यों के काम करते हैं। ऐसे ही भेदवादी पुरुष देवताओं का पशु है,

वह देवता पितरों का श्राद्ध यज्ञयागादि करके पालन करता रहता है। ज्ञान के अभाव में पशुओं की भाँति बार-बार जन्मता रहता है, बार-बार मरता रहता है। इसीलिये देवताओं को यह प्रिय नहीं है, कि मनुष्यों को यथार्थ ज्ञान हो ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! देवता क्यों नहीं चाहते, कि मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान हो ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! किसी कृषक के यहाँ आठ बैल हैं, उनमें से कोई एक बैल चुरा ले जाय, तो उस किसान को कितना बुरा लगेगा। एक ही अपने उपयोगी पशु के हरण करने पर किसान को कष्ट होता, यदि उसके बहुत से उपयोगी पशु चुरा लिये जायँ तब तो उसके कष्ट का कहना ही क्या है ? इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष पशु देवताओं के उपयोगी पशु है, उन्हें नित्य बलि प्रदान करता है। ज्ञान हो जाने पर तो वह उनके हाथ से निकल जायगा। इसीलिये देवता नहीं चाहते मनुष्य एकात्म भाव से उपासना करके ब्रह्म तत्त्व को जानें, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान सम्पन्न होने पर तो देवताओं से ऊपर उठ जायगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ब्रह्म की पूर्ण रूपता–सर्वरूपता–बताकर ब्रह्मोपासना का फल बताया। और जो भेदभाव रखकर उपासना करते हैं, उनका पशुत्व सिद्ध करके उनका देवानाप्रिय–देवताओं का प्रिय पशु कहा। अब आगे क्षत्रिय सर्ग तथा ब्राह्मण जाति की उत्पत्ति, वैश्य तथा शूद्रों की उत्पत्ति कैसे हुई और फिर धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, धर्म का क्या प्रभाव है उसका क्या स्वरूप है, इन सब बातों का विवेचन अगले प्रकरण में किया जायगा। आशा है आप इन सब विषयों को समाहित चित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

ब्रह्म प्रथम इक रह्यो "ब्रह्म हौं हूँ" तिहि जान्यो ।
होइ सर्व तिहि जानि देव, ऋषि, नर सब मान्यो ॥
ब्रह्म ब्रह्मवित होइ सर्व बनि जीते सब सुर ।
भेद उपासन करै देव पशु बनि जीवै नर ॥
कृपकनि पशु होवैं हरन, दुखी होइँ चिन्ता करें ।
ब्रह्मज्ञान नहिँ होइ नर, सुर चाहें पशु बनि मरें ॥

चातुर्वर्ण की उत्पत्ति

[२०७]

स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० १२ म०)

छप्पय

ब्रह्म प्रथम इक करम करि सक्यो नहिं विभूतियुत ।
क्षत्र इन्द्र, यम, वरुण सोम की कीन्ही उतपति ॥
क्षत्रिय हैं उत्कृष्ट उपरि मख बैठें विप्रनि ।
किन्तु योनि है ब्रह्म करें क्षत्रिय आश्रय तिनि ॥
द्विज हिंसा क्षत्रिय करें, नाश योनि अपनी करें ।
ते पापी द्रोही अधम–होवें जिनि तें द्विज मरें ॥

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था समस्त समाजों में पायी जाती है। चाहें उनका नाम दूसरा हो, अभिव्यक्ति दूसरी प्रकार से हुई हो। सभी समाजों में कुछ तो ऐसे सत्त्व प्रकृति के होते हैं, जो सदा

---

* ब्राह्मण और क्षत्रियों की उत्पत्ति से भी जब वह ब्रह्म विभूतियुत कर्म करने में समर्थ न हो सका तब उसने वैश्यों को बनाया ये जो वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत् आदि गणशः कहे जाने वाले देवता हैं (जो वैश्यवर्ग के हैं) उनकी उत्पत्ति की।

भजन, पूजन, पाठ में ही लगे रहते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जिन में सत्त्व गुण तो है, किन्तु रजोगुण की प्रबलता है, वह अपने शौर्य-तेज के कारण सब पर शासन करने लगते हैं। लोग उनके तेज के कारण उनकी आज्ञा मानने को, उनके शासन को सहन करने को विवश हो जाते हैं, कुछ ऐसे होते हैं, कि रजोगुण तो उनमें रहता ही है, किन्तु उसमें तमोगुण मिला रहता है, वे न विशेष पूजा पाठ के ही चक्कर में पड़े रहते हैं, और न शौर्य तेज दिखाकर किसी में शासन ही करना चाहते हैं, उन्हें अपने काम से प्रयोजन खेती, व्यापार, पशु पालन द्वारा वे द्रव्य कमाते हैं, चौथे वे लोग होते हैं जिनमें काम करने को रजोगुण तो रहता ही है, किन्तु तमोगुण की प्रधानता रहती है। जो लोग पूजा-पाठ करते हैं, वे पूजा-पाठ करें, जो शासन करते हैं, वे शासक बने रहें, जिन्हें व्यापार, पशुपालन खेती से द्रव्य कमाना है वे कमावें। इन्हें तो सबकी सेवा करके सेवा द्वारा ही शरीर का पालन-पोषण करना है। इस प्रकार चारों प्रवृत्तियों के पुरुष प्रत्येक समाज में होते रहे हैं, और आगे भी होते रहेंगे। समय के प्रभाव से इनके नाम रूपों के प्रकारों में परिवर्तन होता रहता है। यह वर्ण व्यवस्था मनुष्यकृत नहीं है ईश्वरकृत है, अनादि है, सनातन है। इसका विकाश समयानुसार शनैः-शनैः हुआ।

ब्रह्मा के आदि सत्ययुग में जो सृष्टि आरम्भ हुई उसमें सभी सत्वगुण सम्पन्न व्यक्ति थे, उस समय सत्त्व का प्राबल्य था, धर्म की प्रधानता थी। उस समय एक ही वेद था प्रणव। ओंकार। और एक ही वर्ण था उसे 'हंस' कहो या ब्राह्मण कहो। वैसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मूल में विद्यमान थी, किन्तु प्रकट क्रमशः शनैः-शनैः हुई। तब न कोई संग्रह करता था, न घर बनाता था, न किसी प्रकार का सामाजिक बन्धन ही था। उसी

समाज में कुछ महत्त्वकांक्षी हुए उन्होंने समाज पर शासन करना चाहा शौर्य प्रकट किया लोगों की संकटों से रक्षा की उनके इस रक्षण भाव से लोग उन्हें क्षत्रिय कहने लगे (क्षदति=रक्षति जनान्-अथवा क्षतात् त्रायते=इति=क्षत्रियः) उनके जो संतति हुई उनके जो वंशज हुए वे सब क्षत्रिय कहलाये। उन्हीं में से जो पशुपालन, कृषि, वाणिज्य कार्यों में घुस गये प्रवेश कर गये। संग्रह करके धन को इधर उधर व्यापार में लगाने लगे वे वैश्य हो गये। जो लोग सेवा परायण हो गये वे शूद्र कहलाये। यद्यपि अकर्ता भगवान् ने ही इनकी सृष्टि की, किन्तु पूर्व सृष्टि में जिसके जैसे कर्म थे, जिसकी प्रकृति जिस गुण की ही थी, वैसी ही भगवान् ने इनकी सृष्टि कर दी। पहिले जब घोर सत्त्व था तब वर्ण एक था, जब पाप के कारण वर्णसंकरता आ जायगी, कलियुग में घोर तम बढ जायगा, तब भी सब वर्ण एक हो जायँगे। घोर सत्त्व की और घोर तम की स्थिति देखने में तो एक-सी ही लगती है किन्तु उनमें आकाश भूमि का अन्तर है। घोर सत्त्व की स्थिति ज्ञानमय है, घोर तम की स्थिति अज्ञानमय है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय में कोई विशेष अन्तर पूर्व काल में नहीं था। दोनों ही सत्त्व सम्पन्न तेजस्वी होते थे। ब्राह्मण तप स्वाध्याय प्रवचन प्रधान होते थे, क्षत्रिय बल, नीति शासन प्रधान होते थे। ऋषिगण, क्षत्रिय कन्याओं से विवाह करते थे। दोनों ही अकरद होते थे ब्राह्मण तो असंग्रह त्याग के कारण और क्षत्रिय स्वयं कर लेते थे इस कारण। शेष वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज करद होते थे। प्रजा माने जाते थे। वैश्य समस्त प्रजाओं में श्रेष्ठ-प्रजा होते थे अतः वे श्रेष्ठि (सेठ) कहलाते थे, ब्राह्मण क्षत्रिय का सम्बन्ध मुख और बाहु के सदृश है। बाहुओं न हो तो मुख में अन्न कौन दे। मुख में अन्न न जाय, तो समस्त देह का पालन कैसे हो। राष्ट्रे

रूप देह के मान के लिये क्षत्रिय रूप बाहु, मुख रूप ब्राह्मण मे अन्न डालते थे, जिससे समस्त राष्ट्र का—सम्पूर्ण शरीर पालन होता था। अतः अपने-अपने स्थान मे दोनो ही श्रेष्ठ हैं। सृष्टि के प्रकरण में भगवती श्रुति चातुर्वर्ण्य उत्पत्ति के विषय मे ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनो को ही श्रेष्ठ बताती है। सामान्यतया देवताओं मे वर्ण व्यवस्था नहीं होती, किन्तु श्रुति देवताओ मे भी कर्मानुसार वर्णों को बताती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवती श्रुति चातुर्वर्ण्योत्पत्ति के सम्बन्ध में बताती हुई कहती है—"सृष्टि के आरम्भ मे यह अकेला ही ब्रह्म था। अकेले-अकेले कोई विभूति युक्त कार्य नहीं हुआ करता। बहुत से लोग हो, मिल-जुलकर बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न कर लेते हैं। तब उसने ब्रह्म होने के कारण अग्नि बनाने के अनन्तर ज्ञान के लिये ब्राह्मण को बनाया। इसीलिये सबसे पहिले होने के कारण इन्हे अग्रजन्मा, अग्नि स्वरूप होने से वाडव, ब्रह्म से होने से ब्रह्म, ब्रह्मा या ब्राह्मण, कहते है।"

पिछले प्रकरण मे मुख और हाथो के मन्थन से अग्नि की उत्पत्ति बतायी। अग्नि और ब्राह्मण की उत्पत्ति एक ही स्थान से-मुख से-है। इसलिये प्रजापति अपने को ब्राह्मण मानने लगा। किन्तु जैसा ब्रह्म वैसा ही ब्राह्मण इनसे विभूतियुक्त—वैभवशाली कार्य होने संभव नहीं। तब उन्होने अग्नि के अनन्तर इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि रूप से क्षत्रिय जाति की रचना की। क्योंकि ये देवता अपने वर्ग की प्रजा पर शासन करते हैं, अतः देवताओ मे इनकी क्षत्रिय संज्ञा है। विभूतियुक्त कार्य करने के निमित्त अतिशयता के साथ क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की। ब्राह्मण तो ब्रह्म का रूप ही हैं, अतः क्षत से-विपत्ति से-त्राण करने के कारण क्षत्रिय उत्कृष्ट वर्ण है इससे

उत्कृष्ट कोई भी नहीं है। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को राजसूयादि यज्ञों में इतना अधिक महत्त्व दिया है, कि राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय ऊपर पीठ पर बैठता है, ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। उस समय पीठ पर बैठा हुआ क्षत्रिय नीचे बैठे हुए ब्राह्मण को पुकारता है—"ब्रह्मन्!" इसके उत्तर में ब्राह्मण कहता है—"राजन्! तुम ही ब्रह्म हो। (त्वं राजन् ब्रह्मासि।" इस प्रकार ब्राह्मण अपने नाम को अपने यश को क्षत्रिय में ही स्थापित कर देता है। उसे सर्वोत्कृष्ट पद प्रदान कर देता है।

शौनकजी ने कहा—"तब तो ब्रह्मन्! क्षत्रिय ब्राह्मणों से भी उत्कृष्ट हुआ।"

सूतजी ने हँसकर पूछा—"भगवन्! मैं एक बात पूछता हूँ, दाता श्रेष्ठ होता है या दान की हुई वस्तु श्रेष्ठ होती है?"

शौनकजी ने कहा—"दाता ही श्रेष्ठ है। दान की जाने वाली वस्तु तो उसके अधीन है।"

हँसकर सूतजी बोले—"इसी प्रकार ब्रह्मन्! सम्मानित व्यक्ति से सम्मान दाता श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मण ने अपनी उदारता से अपना नाम तथा यश देकर क्षत्रिय को सम्मानित किया उसे ब्रह्म बनाया। इससे ब्राह्मण का श्रेष्ठपना कहीं चला थोड़े ही गया। वास्तव में ब्राह्मण तो क्षत्रिय का जनक है, निर्माता है उसकी योनि है। इसलिये यद्यपि नीचे बैठा हुआ ब्राह्मण राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय को ब्रह्म कहकर सम्मानित अवश्य करता है, फिर भी राजसूय के अन्त में क्षत्रिय उस ब्राह्मण के ही आकर अधीन होता है, उसी का आश्रय ग्रहण करता है। निज आसन से उतर कर ब्राह्मण को प्रणाम करता है, नीचे बैठकर उसकी द्रव्यादि से पूजा प्रतिष्ठा करता है। अतः सबसे आदि वर्ण ब्राह्मण ही वास्तव में श्रेष्ठ है। इसीलिये ब्राह्मण का कभी निरादर नहीं

करना चाहिये। जो क्षत्रिय अपने बल के अभिमान में भरकर ब्राह्मण की शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक हिंसा करता है। उसका बुरा सोचता है, उससे कटुवचन कहता है अथवा उसकी प्रत्यक्ष हिंसा ही कर डालता है। तो मानो वह अपने मूल पर ही कुठाराघात करता है, वह अपने कारण का ही विनाश करता है, अपनी योनि को ही नष्ट करता है। इसलिये ऐसा अधम नीच क्षत्रिय उसी प्रकार महापातकी होता है, जिस प्रकार पुरुष श्रेष्ठ की हिंसा करने से महापातकी होता है।

अब ब्राह्मण क्षत्रिय की उत्पत्ति बताकर वैश्य की उत्पत्ति बताते हैं। देवताओं अग्नि देव सब का उपकार करते हैं सबको जीवन अन्न देकर प्राण रक्षा करते हैं, इससे ब्राह्मण हैं। इन्द्र देवताओं पर शासन करते हैं, सभी सुरों के स्वामी हैं। वरुण जलचर जीवों के शासक हैं, सोम ब्राह्मणों के, पशुपति रुद्र अन्य दश रुद्रों के, मेघ विद्युत् आदि के, यम पितरों के, मृत्यु समस्त रोगों के शासक हैं अतः इन देवताओं की क्षत्रिय सज्ञा है। जब ब्राह्मण क्षत्रियों से भी वह पूर्ण विभूतियुक्त नहीं हुआ, तो उसने वस्तुओं को, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत् आदि देवों को उत्पन्न किया क्योंकि धन के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। पहिले वैश्यों के गण ही होते थे। गण-समूह-बनाकर देश विदेशों में द्रव्योपार्जन के निमित्त जाते थे। आजकल भी व्यापारियों के समूह होते हैं। ये जितने देवता गिनाये हैं, ये सब अकेले नहीं हैं। सबके पृथक् पृथक् गण हैं। जैसे आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, त्रयोदश विश्वेदेवा और उनन्चास मरुत। इसलिये इन सबकी वैश्य सज्ञा है। अतः विभूतियुक्त कर्म करने के निमित्त-धनोपार्जन के लिये उस ब्रह्म ने वैश्यों की उत्पत्ति की।

फिर भी जैसा वह चाहता था विभूतिवान् नहीं हुआ।

क्योंकि ब्राह्मण ज्ञान दान दे सकता है, क्षत्रिय अपने शौर्य तेज से सबको शासन मे रख सकता है, वैश्य धन दान कर सकता है, किन्तु जब तक कोई कार्य करने वाला न हो सेवा परायण न हो, तब तक कार्य सम्पन्न कैसे होगा। अतः उसने कार्यों के सम्पादन द्वारा विभूतियुक्त कर्म करने के निमित्त शूद्र वर्ण की रचना की। देवताओं मे पूषा ही शूद्र वर्ण है।

शौनकजी ने पूछा—"पूषा कौन ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यह पृथ्वी ही पूषा है। पृथ्वी से बढकर सेवा परायण कौन होगा। सबको अपने ऊपर धारण करता है। पानी के लिए सदा मनुष्य इसे खोदते रहते हैं, फिर भी कुपित नहीं होती। सभी इसके ऊपर मलमूत्र त्याग करते हैं। सब को शान्ति भाव से सहती हुई सदा सबकी सेवा में ही सलग्न रहती है। अन्न, जल, फल, फूल, मूल, कन्द, वस्त्र सभी जीवनपयोगी वस्तुएँ सबको देती रहती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! चारों वर्णों को उत्पन्न करके भी वह परब्रह्म विभूतियुक्त नहीं हुआ। क्योंकि इन सबका नियामक, इन सबको धारण करने वाला भी तो एक चाहिये। इसी लिये अब जैसे उन्होंने इन सबको धारण करने के निमित्त धर्म की उत्पत्ति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

मरुत् रुद्र, आदित्य, विश्वदेवहु, वसु भाई।
पुनि, विभूतियुत होन जाति वैश्यनि उपजाई॥
करम करन हित शूद्र भये पूषा यह पृथिवी।
पोषण सबको करति धरै सबकूँ यह धरिणी॥
रच्यो श्रेययुत धरम पुनि, राजनि का हू नियन्ता।
सर्वोत्तम यह धरम है, नहिं काहू का निहन्ता॥

धर्म की उत्पत्ति

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयाँसमाशँसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तँ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० १४

छप्पय

धरम कह्यो उत्कृष्ट धरम की विजय सतत है।
निरबल धार्मिक होइ सबल कूँ जीति सकत है॥
धरम सत्य हुइ एक सत्यवादी धरमात्मा।
धरमात्मा कूँ कहैं सत्यवादी पूतात्मा॥
चारि बरन कर मल ई, अग्नि रूप ब्राह्मण भयो।
तत् तत् बर्णनि नर सुरनि, अग्नि बिचौला है गयो॥

---

* इन सब को उत्पन्न करने पर भी वह विभूतियुक्त कर्म करने में असमर्थ रहा। उसने उस धर्म की रचना की जो अतिशयता से श्रेयो रूप है। क्षत्रिय का नियन्ता भी यह धर्म है। धर्म से पर कुछ भी नहीं है। क्योंकि धर्म के द्वारा अबली पुरुष भी बलवान् को उसी प्रकार जीतने की इच्छा करता है, जिस प्रकार राजा की सहायता से बली शत्रु को।

जिसके द्वारा ये समस्त लोक धारण किये गये हैं, जो सबको धारण किये हुए है उसे धर्म कहते हैं। अथवा जो पुण्यात्मा पुरुषों द्वारा धारण किया गया है। उसे धर्म कहते हैं। (धरति लोकान्—इति धर्म्मः। अथवा ध्रियते पुण्यात्मभिरिति धर्मः) वह धर्म दो प्रकार का है, लोक धर्म और परलोक धर्म। परलोक धर्म के भी दो भेद हैं सुरलोक धर्म और मोक्ष धर्म। आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये लोक धर्म हैं। इन्हें सिखाना नहीं पड़ता। जीव मात्र की इन धर्मों में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। ये धर्म पशु-पक्षी मनुष्य तथा जीवमात्र में समान रूप से हैं परलोक धर्म को मनुष्य ही कर सकता है, अन्य पशु-पक्षी आदि नहीं। पशुओं में जैसे ग्राह ग्रस्त गज ने भी कमल लेकर भगवान् की स्तुति की। हरिन बने हुए भरत जी ने भी मरते समय गंडकी नदी में अपना शरीर त्यागते समय यज्ञ स्वरूप धर्म के पति, धर्मानुष्ठान में निपुण, योग स्वरूप, सांख्य द्वारा प्रतिपाद्य, प्रकृति के अधीश्वर उन हरिनारायण के लिये नमस्कार है ऐसे धर्मयुक्त वचन कहे, तो ये गज तथा मृग पशुओं में अपवाद हैं। फिर इन्हें जो ऐसी बुद्धि हुई उसकी उपलब्धि पशु शरीरों से नहीं हुई थी। मनुष्य शरीर में ही उपासना करते-करते इन्हें ज्ञान हुआ था। किसी अपराध के कारण इन्हें पशु योनि में आना पड़ा। गजेन्द्र तो पूर्व जन्म में द्रविड़ देश के अधिपति राजर्षि इन्द्रद्युम्न थे। वे राज्य छोड़कर मलयपर्वत की गुफा में रहकर भगवान् की आराधना करते थे अगस्त्य मुनि का अभ्युत्थान न करने से उनके शाप से गज हो गये। राजर्षि भरत तो मुक्ति की सीढ़ी तक

सत्य ही धर्म है इसी तो सत्य भाषण करता को धर्म भाषण कर्ता कहते हैं। और धर्म भाषण करने वाले को सत्य भाषण कर्ता कहते हैं, क्योंकि दोनों ही एक है।

पहुँच गये थे। किन्तु जीवन मे प्रारब्धवश अन्तराय उपस्थित हो गया। हरिन के मोह में पड़कर उन्हें हरिन योनि मे जाना पड़ा। किन्तु इन दोनों को उपासना के बल से अपनी पूर्व जाति का स्मरण था, अपना पूर्व उपासना का ज्ञान था। अतः पशु योनि मे भी पूर्वाभ्यास द्वारा इन्होंने धर्माचरण किया। भगवान् की स्तुति की। नहीं तो साधारण नियम यही है, कि पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर योनियों में धर्म सम्पादन नहीं किया जा सकता। यह मनुष्य योनि की ही विशेषता है, कि इसमे धर्माचरण करके परलोक प्राप्त किया जा सकता है।

सुरलोक धर्म तो वह है, कि इस लोक में इष्टापूर्ति द्वारा धर्माचरण करके स्वर्ग में जाकर स्वर्गीय सुखों का उपभोग करे। किन्तु यह धर्म क्षयिष्णु धर्म है। पुण्य क्षीण होने पर पुनः पतन की संभावना है। दूसरा जो मोक्ष धर्म है वह अक्षयिष्णु, नित्य शाश्वत सनातन धर्म है, वह पर धाम वाला धर्म है, जहाँ जाकर संसार में पुनः लौटना नहीं पड़ता।

वास्तव मे धर्म का नियन्त्रण न हो, तो मनुष्य में और पशुओं में अन्तर की क्या ? हमें धर्म ही बताता है, यह माता है, यह बहिन है, यह पुत्री है, यह पत्नी है, यह गम्या है यह अगम्या है। यह खाद्य है, यह अखाद्य है, यह पेय है, यह अपेय है। यह कर्त्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है। अतः सच्चा साथी धर्म ही है। शरीर तो यहीं रह जाता है। पंचभूत पचभूतों मे मिल जाते हैं। साथ मे केवल धर्म ही जाता है। अतः श्रेयस्कामी पुरुषों को सदा धर्म का ही आचरण करना चाहिये। जहाँ धर्म है वहीं विजय है। रक्षित धर्म ही धर्मात्मा की सदा रक्षा करता है। उस धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई। उसी बात को भगवती श्रुति बताती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब उसने देवताओं को बना

लिया, चारों वर्णों को उत्पन्न कर लिया, फिर भी वह प्रजापति ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने मे समर्थ नहीं हुआ, तो उसने सोचा—अब त्रुटि क्या रह गयी। उसने विचारा यह क्षत्रिय अधिकार, तेज, ओज, शौर्य से युक्त है, इसका स्वभाव भी उग्र है, इसे कैसे वश मे किया जाय, यह मनमानी करने लगेगा, तो सभी गुड गोबर हो जायगा, अतः उसने क्षत्रिय जाति को तथा समस्त मनुष्यों को नियन्त्रण मे रखने के निमित्त अतिशयता से श्रेयो रूप धर्म की रचना की। इस धर्म के द्वारा उग्र क्षत्रिय भी नियन्त्रण में रखा जा सकता है, क्योंकि सबका शासक नियन्ता तो क्षत्रिय है और क्षत्रिय का भी नियन्ता यह धर्म है। इससे धर्म सर्वोत्कृष्ट नियन्ता है। धर्म से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। इसी धर्म के आधार से निर्बल भी सबलों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! धर्म के सहारे से निर्बल पुरुष सबलों पर विजय कैसे प्राप्त कर सकेंगे?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! एक निर्बल मनुष्य है। उसकी स्त्री को, पुत्र को अथवा धन को कोई बलवान पुरुष बलपूर्वक उठा ले जाय, तो निर्बल पुरुष स्वयं तो उसके छुड़ाने मे समर्थ नहीं हो सकता है, किन्तु यदि वह राजा की सहायता ले, तो राजा की सहायता से, प्रबल-से-प्रबल पुरुष को जीतने में समर्थ हो सकता है। उससे अपनी इष्ट वस्तु को पुनः प्राप्त कर सकता है।" उसी प्रकार उपासक धर्म के बल पर सब को जीत लेता है उस धर्म का स्वरूप क्या है? उसका स्वरूप है सत्य। सत्य से बढकर कोई परम धर्म नहीं। जो धर्म है वही सत्य है। सत्य और धर्म दो नहीं एक ही हैं। लोक मे भी जो सत्यपरायण है, सत्य ही बोलने वाला है, तो सभी लोग यही कहते हैं—यह बड़ा

धर्मात्मा है। धर्म की ही बात करता है अधर्म की बात नहीं करता। अर्थात् सत्य बोलता है। इसी प्रकार जो धर्मात्मा है, सदा धर्माचरण करता है, उसके लिये लोक में पुरुष कहते हैं, यह सत्य का आचरण करता है सत्य बोलता है। इससे सिद्ध हुआ, कि सत्य और धर्म दोनों एक ही है। सत्य धर्म ही का नाम है।"

जैसे सत्य और धर्म एक है वैसे ही अग्नि और ब्राह्मण भी एक ही हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अग्नि और ब्राह्मण एक कैसे हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इस बात को तो पहिले ही बता चुके हैं, कि उस परब्रह्म ने हाथों के द्वारा मथकर और मुख के द्वारा फूँक मार-मारकर-मुख से अग्नि को उत्पन्न किया। और ब्राह्मण भी मुख से ही हुआ। तो दोनों एक स्थान से उत्पन्न होने के कारण भाई-भाई हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इनको उत्पन्न करने पर ब्रह्म ही अग्नि रूप रखकर देवताओं में ब्राह्मण हुए। जैसे मनुष्यों में जो ब्राह्मण पुरुष ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न होगा। वह ब्राह्मण ही वर्ण का होगा। इसी प्रकार क्षत्रिय से क्षत्रिय, वैश्य से वैश्य और शूद्र से शूद्र ही होगा। इसी प्रकार अग्नि में ही देवता सम्बन्धी कर्म करके मनुष्य स्वर्गादि लोकों को देवताओं के लोकों को प्राप्त कर सकते हैं। उसी प्रकार मनुष्यों में जो ब्राह्मण हैं उन्हें ही दान देकर अपने देवता, पितर तथा ऋषियों द्वारा प्रदत्त कर्म फलों को प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि विशेषकर वह परब्रह्म अग्नि रूप से और ब्राह्मण रूप से, दो ही रूपों से अभिव्यक्त हुआ है। इसलिये मनुष्यों को चाहिये, कि अग्नि तथा ब्राह्मणों द्वारा आत्मलोक का दर्शन करे।

शौनकजी ने पूछा—"आत्मलोक क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आत्मलोक अर्थात् आत्म साक्षात्कार आत्मज्ञान शोक मोहादि की परम निवृत्ति। मनुष्य का मुख्य ध्येय तो मोक्ष धर्म की प्राप्ति ही है। उसे ही प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करना चाहिये। उसे जो प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। और इस लोक से आत्मलोक का दर्शन किये बिना ही मर जाता है इस शरीर को त्यागकर चला जाता है, उसका पालन वह अविहित लोक आत्मलोक नहीं करता। अर्थात् उसके शोक मोहादि की निवृत्ति नहीं होती है। जैसे वेद है उसको जब तक साङ्गोपाङ्ग-विधि सहित-अध्ययन न करोगे तब तक वह फल नहीं देगा। ऐसे ही कोई ज्योतिष्टोमादि कर्म है, जब तक उसका विधि विधान पूर्वक अनुष्ठान न करोगे, तब तक वह फल नहीं देने का। इसी प्रकार जिसने मोक्ष धर्म को-आत्मलोक को-नहीं जाना और उसके द्वारा बड़े-बड़े यज्ञादि विशिष्ट कर्म-अथवा वापी, कूप, तडाग आरामादि महान् पुण्य कर्म हो भी जायँ, तो भी अन्त में-पुण्य भोग के अनन्तर-उसका वह कर्म क्षीण हो ही जायगा। इसलिये सब कुछ करते हुए आत्मलोक की प्राप्ति का-मोक्ष धर्म के अनुष्ठान का-ही आत्मोपासना का ही अपना लक्ष्य रखना चाहिये। जो लोग आत्मोपासना को ही जीवन का लक्ष्य मानकर कर्म करते हैं, आत्मलोक की प्राप्ति के ही हेतु उपासना करते हैं, उनका कर्म की क्षीण नहीं होता। क्योंकि आत्मा नित्य है, सनातन है, शाश्वत है, कामधेनु है, इस आत्म से-उपासक-साधक पुरुष-जिस जिस वस्तु की कामना करता है, वह अवश्य ही उस-उस वस्तु को प्राप्त कर सकता है। अतः अपना लक्ष्य आत्म ज्ञान-मोक्ष प्राप्ति ही रखना चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! इस प्रकार मैंने धर्म की उत्पत्ति

और आत्मोपासना की आवश्यकता बतायी। अब आगे जैसे कर्मों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जायगा उसे आप लोग आगे श्रवण करें।"

छप्पय

बालए तैं हीं कर्म फलनि इच्छा चाहैं सब।
अग्नि बक्ष दै रूप धरें सुर नरान भये तब॥
आत्म लोक नहिं लख्यो तज्यो तन वे पछितावें।
बिना पढ़ें ज्यों वेद कर्म बिनु फल नहिं पावें॥
पुरुष कर्म बिनु मोक्ष हित, क्षीण होहिं पुनि परें भव।
कामधेनु सम आतमा, करि उपासना लहहिं सब॥

कर्मलोक-वैशिष्ट

[२०९]

अथ अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणाम् ॥*

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० १६ मं०½)

छप्पय

नर-तन जीवनिलोक देवमख करि लोकहु सुर।
ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय पठन पाठन करि ऋषि-पर॥
पितृयज्ञ करि पितर तृप्त श्राद्धहु तरपन करि।
नरमख करि नरवास देइ भोजन निवास घर॥
भूतयज्ञ करि जीव सब, पशु पक्षिन आहार दै।
तिहि चाहैं अविनाश सब, पंच यज्ञ जो नित करै॥

---

* बताते हैं यह मनुष्य शरीर सबका भोग्य है। पंच महायज्ञों द्वारा यह नित्य जीवमात्रका उपकार करता है। हवन यज्ञ द्वारा देवताओं का, स्वध्याय द्वारा ऋषियों का, पिंड दान तर्पणादि तथा सन्तानेच्छा द्वारा पितरों का, आगत अतिथियों को ठहरने को वास स्थान, खाने को भोजन देकर मनुष्यों का लोक—मनुष्यों का भोग्य—होता है।

अन्य जीवों को मनुष्य वश में करके औरों का कार्य करा लेता है। यदि मनुष्य से इतर सभी जीवों को स्वतन्त्र कर दिया जाय, तो वे केवल अपना ही पेट पालन करेंगे। अपने ही निमित्त भोग सामग्रियों को जुटावेंगे। चूहा अपने ही लिये अपने बिल में अन्न एकत्रित करेगा। हरिन आदि जितने जंगली जीव हैं, अपने ही पेट को भरने का प्रयत्न करेंगे। वे अपने ही निर्वाह के लोक हैं। अर्थात् अपने ही आहार के लिये वे प्रयत्न करते हैं। एक यह मनुष्य ही ऐसा है, कि यह समस्त जीवों के उपकार के लिये प्रयत्नशील रहता है। यह जीवमात्र का अपने को ऋणी मानता है अतः सभी जीव इससे अपने भोग्य पदार्थ प्रतिदिन प्राप्त करते हैं। यह गृहस्थ धर्मावलम्बी धर्मपरायण द्विज नित्य पञ्च यज्ञों द्वारा समस्त जीवों का आहार प्रदान करता है। सबकी तृप्ति के लिये यह प्रयत्न करता है। इसीलिये यह समस्त जीवों का लोक है। सभी का भोग्य है।

सद्गृहस्थ के लिये पञ्च महायज्ञ नित्य नित्य करने का विधान है। ये पञ्च महायज्ञ कौन-कौन से हैं ? उनके नाम हैं—(१) देवयज्ञ, (२) ब्रह्मयज्ञ, (३) पितृयज्ञ, (४) नृयज्ञ और (५) भूतयज्ञ।

१—देवयज्ञ उसे कहते हैं जो देवताओं के निमित्त कर्म किया जाय। जैसे नित्य का अग्नि होत्र, उस अग्नि में देवताओं के निमित्त से आहुति देने पर इन्द्रादि देव प्रसन्न होते हैं। इसके द्वारा यह मनुष्य देवताओं का उपकार करता है। देवता इससे अपना भोग प्राप्त करते हैं। इस कारण यह पुरुष देवताओं का उपभोग्य है। देवताओं का लोक है।

२—दूसरा यज्ञ है ब्रह्मयज्ञ-ऋषियों का आहार स्वध्याय प्रवचन है। ऋषिगण इन्हीं कार्यों से प्रसन्न होते हैं। अतः

मनुष्य जो नित्य प्रति वेदों का स्वाध्याय पठन पाठन करता है। इसके द्वारा यह ऋषियों का उपकार करता है। ऋषियों को आहार प्रदान करता है। ऋषिगण स्वाध्याय प्रवचन द्वारा इससे अपना भोग प्राप्त करते हैं। अतः यह नर तनु ऋषियों का उपभोग्य है, ऋषि लोक है।

३—तीसरा यज्ञ है पितृयज्ञ—पितर दो प्रकार के होते हैं। एक नित्य पितर जैसे यम, पूषा आदि। दूसरे अपने कुल के पिता, पितामह, प्रपितामह आदि। इन सभी प्रकार के पितरों को मनुष्य श्राद्ध द्वारा तिलोदक तर्पण द्वारा सन्तुष्ट करता है। पितरलोग श्राद्धान्न द्वारा इससे अपनी भोग्य वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। इससे यह पितरों का उपभोग्य है पितरों का लोक है।

४—चौथा यज्ञ है नृयज्ञ—सद्गृहस्थ के द्वार पर जो भोजन निवास की इच्छा से हारे थके अतिथि आते हैं, उन्हें रहने को स्थान की, खाने को भोजनादि जो श्रद्धापूर्वक समुचित व्यवस्था करना है उसी का नाम नृयज्ञ है। मनुष्य मात्र को आश्रय देकर वह मनुष्यों का उपकार करता है, इससे यह मनुष्यों का उपभोग्य है मानवलोक है।

५ पाँचवा यज्ञ है भूतयज्ञ—कौए को, कुत्ते को, गौ को, तथा चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीवों को अपनी शक्ति के अनुसार नित्य कुछ न-कुछ उनके अनुकूल आहार देना यही भूत यज्ञ है। इस भूत यज्ञ को करके मनुष्य सभी जीवों का उपकार करता है। गौ घास पाकर, कुत्ता, बिल्ली, कौआ टुकड़ा पाकर तृप्त होते हैं, अतः यह मानव शरीर सभी जीवों का उपभोग्य है। सभी भूतों का लोक है। इस प्रकार पञ्च यज्ञ करके यह मनुष्य प्राणिमात्र का उपकार करता है। जो मनुष्य नित्य पञ्चयज्ञ न

करके केवल अपने ही पेट भरने का प्रयत्न करता है, उसमें और पशुओं में अन्तर ही क्या है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह जो कर्माधिकारी गृहस्थ धर्मावलम्बी जीव है, यह केवल अपना ही पेट नहीं भरता। यह सभी जीवों के लिये कुछ-न-कुछ कर्म नित्य करता है। यह सभी का भोग्य है। सभी का लोक है। अर्थात सभी का जन है। यह सार्वजनिक सम्पत्ति है। इस पर सभी का अधिकार है, सभी इससे अपना-अपना भाग पाते हैं। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य तथा प्राणी मात्र इससे आशा रखते हैं। यह सभी को नित्य कुछ-न-कुछ देकर तृप्त करता है।

शौनकजी ने कहा—"देवताओं को क्या देकर यह तृप्त करता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! द्विजाति गृही के लिये नित्य अग्नि होत्र का विधान है। वह सायं प्रातः नित्य ही अग्नि में हवन करता है, वह यज्ञ हवन द्वारा देवताओं का लोक होता है अर्थात् अग्निहोत्र द्वारा देवता इससे अपना भोग प्राप्त करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"ऋषियों को यह क्या देकर नित्य तृप्ति किया करता है ?"

सूतजी ने कहा—"ऋषिगण स्वाध्याय प्रवचन प्रेमी होते हैं। यह जो स्वाध्याय-पठन-पाठन करता है इससे ऋषियों को आहार प्रदान करता है, इस कारण ऋषियों की प्रिय वस्तु देने से यह उनका भोग्य है।

शौनकजी ने पूछा—"पितरों को यह क्या देकर तृप्त करता है ?"

सूतजी ने कहा—"पर्वों पर श्राद्ध करके, नित्य ही तिलोदक से तर्पण करके तथा सन्तान उत्पन्न करके पितरों को प्रसन्न

करता है। पितर यही चाहते हैं हमारे वंश की परम्परा बनी रहे। हमारे वंश का नाश न हो, जिससे हमें पिंडोदक मिलता रहे। सन्तान उत्पन्न करके तथा पितरों को श्राद्ध तर्पण करके यह उनका भोग्य होता है। उनका उपकार करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"मनुष्यों को यह क्या देकर तृप्त करता है। उनका भोग्य कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"जो अतिथि इसके घर पर आ जाते हैं, उन्हें भोजन, देकर निवास का स्थान देकर यह उनका उपकार करता है, अतः यह मनुष्यों का उपभोग्य है।"

शौनकजी ने पूछा—"समस्त भूतों को क्या देकर यह तृप्त करता है ?"

सूतजी ने कहा—"भोजन से पहिले यह काकवलि, श्वानवलि निकलता है। गौ, बैल, घोड़ा आदि पशुओं को तृण घास देता है। चीटियों और कछुए आदि को कुछ खाने को देता है। इस प्रकार शक्ति के अनुसार यह सभी जीवों को बलि प्रदान करके उनका उपकार करता है। इसलिये सभी को कुछ-न-कुछ देकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इन सबको देने का प्रतिफल क्या होता है ?"

सूतजी ने कहा—"ये सभी जीव चाहते हैं, हम सदा बने रहें। मरना कोई नहीं चाहता। अपने शरीर का सभी अविनाश चाहते हैं। जब इन्हें जो नित्य सन्तुष्ट करता है नित्य बलि प्रदान करता है, तो ये सभी जीव इसे इसका अविनाश चाहते हैं, इसे दीर्घजीवी होने का मन से आशीर्वाद देते हैं। अतः देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ और भूतयज्ञ इन पाँचों यज्ञों को मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। पञ्च महायज्ञ

प्रकरण में इन कर्मों की विशेष रूप से अवश्यकर्त्तव्यता का वर्णन है और इसकी विशेष मीमांसा अवदान प्रकरण में की गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह जीव कर्म क्यों करता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! पूर्वजन्म की वासनाओं के अनुसार ही इसके मन में कामनायें उत्पन्न होती हैं। ये कामनायें ही विवश होकर मनुष्य से कर्म कराती हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मुख्य कामनायें कै प्रकार की होती हैं?"

सूतजी ने कहा—"मुख्य कामनायें पाँच प्रकार की हैं। मेरा शरीर बना रहे, मेरे स्त्री हो, मेरे पुत्र हो, मेरे धन हो और मेरे द्वारा कर्म हो। इन पाँच कामनाओं के वशीभूत होकर ही प्राणी कर्मों में प्रवृत्त होता है।"

पहिले यह शरीर अकेला ही होता है। गुरुकुल से पढकर ब्रह्मचारी आता है, तो उसका एकमात्र शरीर ही रहता है। फिर पूर्वजन्म की वासनानुसार उसे कर्म करने की कामना होती है। वह चाहता है, मैं वैदिक यज्ञ यागादि कर्म करूँ। किन्तु कर्म एकाकी होते नहीं। तब उसकी कामना होती है, धर्म काम करने के लिये मुझे धर्मपत्नी की प्राप्ति हो तो विवाह करके एक से दो हो जाते हैं। फिर इच्छा होती है—मैं अपने स्वरूप को नये रूप में उत्पन्न होकर देखूँ। तो वही वीर्य रूप से पत्नी के उदर में प्रवेश करता है। और नौ महीने के पश्चात् पुत्र रूप से स्वयं ही प्रकट हो जाता है। उस रूप से वह पितरों का उद्धारक होता है। उन्हें पुं नामक नरकों से तारता है, अतः उसकी अपनी ही नयी कृति का नाम पुत्र हो जाता है। (आत्मा वै पुत्र नामासि)।

अपनी ही स्त्री में अपने आप उत्पन्न होता है। अतः पुत्रवती का नाम जाया हो जाता है। (तज्जाया जाया भवति तदस्या जायते पुनः) तो अब तक तो आत्मा (शरीर) स्त्री दो थे अब एक तीसरा पुत्र हो गया। तब इच्छा होती है, मैं यज्ञादि कर्म करूँ, किन्तु कर्म धन के बिना होते नहीं। तब धन की इच्छा करता है। धन आने पर कर्म में प्रवृत्त होता है। बस, देह, स्त्री, पुत्र, धन और कर्म इतनी ही कामनायें हैं। इन्हीं में समस्त कामनाओं का समावेश हो जाता है। इच्छा करने पर भी इनसे अधिक कोई प्राप्त कर नहीं सकता। अब भी अकेला पुरुष इन्हीं कामनाओं को करता है। विवाह नहीं हुआ तो स्त्री की, सन्तान की, धन की और कर्म करने की कामना करते हैं, इन सबको चाहता है। विवाह होने पर सन्तान की कामना अवश्य होती है। स्त्री पुत्र वाले पुरुष को धन की कामना अनिवार्य है और धन आने पर कर्म करने की कामना स्वाभाविक है। इन पाँचों में से एक भी प्राप्त न हो, तब तक वह अपने को अपूर्ण ही मानता है। शरीर स्वस्थ, कामयोग्य न हो, तो भी अपूर्ण है। शरीर स्वस्थ है, किन्तु स्त्री नहीं तो भी अपूर्ण है, स्त्री है किन्तु सन्तान नहीं, तो भी अपूर्ण है। सन्तानें हैं किन्तु धन नहीं, तो भी अपूर्ण है। धन है किन्तु उसके द्वारा कर्म नहीं होते, तो भी अपूर्ण हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मान लो, किसी को तीव्र वैराग्य है, वह विवाह करना नहीं चाहता। उसे ये पाँचों वस्तुएँ प्राप्त नहीं, तो क्या वह अपूर्ण ही बना रहेगा? उसकी पूर्णता कैसे सिद्ध होगी?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! उसको बिना विवाह के भी पूर्णता प्राप्त हो सकती है, यदि सच्चा वैराग्य हो तो?"

जितने भी पशु हैं–जीव हैं–सभी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों द्वारा निर्मित हैं, अतः ये सब पांक्त हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वैसे तो पुरुष भी पशु है, किन्तु अन्य पशुओं से इसमें विशेषता है। अन्य पशु परमार्थिक साधन करने में समर्थ नहीं हो सकते। यह मनुष्य पशु ही परमार्थिक साधन कर सकता है, इसलिये इस मनुष्य का दूसरा नाम साधक भी है। यह साधक पुरुष पांक्त किस प्रकार है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! साधक पुरुष–(१) मन, (२) वाणी, (३) प्राण, (४) नेत्र और (५) श्रोत्र इन पाँच वस्तुओं से श्रेय कल्याण कर सकता है, इसीलिये यह साधक पुरुष भी पांक्त है।"

शौनकजी ने कहा—"आपने इस स्थावर जङ्गम चराचर को पाक्त किस प्रकार बताया ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! समस्त चराचर जगत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों से निर्मित है। इसीलिये इसे प्रपञ्च या पांक्त कहते हैं। यह जो भी कुछ है सब प्रपञ्च है। सब पांक्त है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस पांक्त उपासना का फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जो इस सबको पांक्त रूप से भली भाँति निष्ठापूर्वक जान लेता है। उसके लिये फिर कुछ भी जानना अवशेष नहीं रहता। वह सभी को जान लेता है। सभी को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मैंने यह पञ्च यज्ञों द्वारा मनुष्य किस प्रकार सभी जीवों का भोग्य है, तथा कामना के अनुसार कैसे सब पांक्त हैं इस विषय का वर्णन किया। अब आगे पंचम ब्राह्मण में जैसे अन्न की उत्पत्ति और उसकी उपासना आदि का वर्णन होगा उसे मैं आप से आगे कहूँगा।

"आशा है आप इस विषय को समाहित चित्त होकर श्रवण करने को महती कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

पुरुष अकेलो हतो कामिनी करी कामना।
पुत्र, वित्त पुनि कर्म मनुज की इती वासना॥
जो विराग युत पुरुष आत्मा मन वाणी सी।
प्राण कहे सन्तान नेत्र है मानुष धन ही॥
दैववित्त श्रोत्रहि कह्यो, आतमा ताको कर्म है।
प्रवृत्ति बीज ये कर्म हैं, यह सब जग ई पांक है॥

(२)

आत्मा, जाया, पुत्र, वित्त अरु कर्म पाक यस।
पृथिवी, जल, अरु तेज वायु आकाश पाक पशु॥
मन, वाणी, अरु प्राण, नेत्र अरु श्रोत्र पाक नर।
पंचभूत तें बन्यो पांक जग जंगम थावर॥
जो जानत सब पाक हैं, पंचभूत निर्मित जगत।
आप्त करे वह सबहि कूँ, आत्म भाव सब में सतत॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त।

अन्नोत्पत्ति--विवेचन

(२१०)

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ॥*

(बृ० उ० १ अ० ५ ब्रा० १ मं० ६)

छप्पय

पिता अन्न करि सात एक साधारन कीन्हों।
देवनि कूँ द्वै दयो तीनि कूँ निज हित लीन्हों॥
एक पशुनि कूँ दयो चराचर माहिँ प्रतिष्ठित।
त्रीण अन्न ज्यौं नहीं ? सतत ताकूँ सब खावत॥
जानत अक्षय भाव जो, अन्न मुखहिँ भक्षन करत।
प्राप्त सुरनि कूँ होइ सो, अम्मृत उपजीवी रहत॥

---

* प्रजापति ब्रह्मा ने मेधा और तपस्या द्वारा जिन सात अन्नों की उत्पत्ति की। उनमें से एक अन्न तो सर्व साधारण है। दो अन्न उन्होंने देवताओं को प्रदान कर दिये। तीन अन्नों का उन्होंने निजी रूप में अपने लिये रख लिया। इस प्रकार ६ हुए। एक पशुओं के लिये दिया। उस अन्न में सभी प्रतिष्ठित हैं। जो सांस लेते हैं और जो सांस नहीं लेते।

जो जिस श्रेणी का पुरुष होता है, उसका अन्न भी उसी श्रेणी का होता है। धनिकों का भोजन दूसरे प्रकार का होता है, निर्धनों का दूसरे प्रकार का। पशुओं का अन्न तृण घास भिन्न प्रकार का। देवताओं का अन्न-अमृत अन्य ही प्रकार का है। पितरों का अन्न-कव्य-अन्य भाँति का है। कहने का भाव यही है, कि जैसा प्राणी है, उसकी स्थिति के अनुसार उसका अन्न भी उसी के अनुरूप होता है।

एक ही अन्न है, वह देश काल तथा पात्र के खाने के प्रकार के कारण वही अमृत भी हो जाता है। वही विष भी बन जाता है। वही पुण्यप्रद होता है, वही पाप प्रद भी हो जाता है। जैसे हमने दूध की सुन्दर खीर बनायी किन्तु ऐसे प्रदेश श्मशानादि में बनायी जो अशुद्ध है, तो वह दूध का पदार्थ भी विषयुक्त बन जायगा। खीर को ताँबे के पात्र में बनाया। ताँबे के में ही रखा तो वह दूध ताँबे के संसर्ग से विष हो जायगा। सुन्दर खीर बनायी किन्तु न उससे देवता पितरों का पूजन किया और न उसे भगवान को ही अर्पण किया, वैसे ही स्वाद के लिये-स्वार्थवश-पेट भरने के लिये गटगट खा गये। तो वह खीर नहीं खायी प्रत्यक्ष पाप को खाया। वह अमृत नहीं विष का पान किया।

इसके विपरीत सुन्दर स्वच्छ लिपे पुते पवित्र प्रदेश में, सुन्दर पीतल के पात्र में, सुयोग्य पवित्र वेदज्ञ ब्राह्मण द्वारा बनायी गई, भगवान् का भोग लगाकर हरी-हरी मञ्जरी डालकर उसमें से देवता तथा पितरों का भाग निकालकर अतिथि, पूज्य, वृद्ध, गर्भिणी, आश्रित पुरुषों को तृप्त करके जो उस बचे हुए शेष अन्न को भक्षण करता है वह नित्य नित्य अमृत ही भक्षण करता है। अतः अन्न का उपयोग केवल अपने ही स्वार्थ के निमित्त न करना चाहिये। परमार्थ के निमित्त, सबका भाग निकालकर-शेष

अन्न को प्रभु का प्रसाद समझकर प्रेम पूर्वक पवित्रता के साथ पाना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अन्न की उत्पत्ति और उपासना को बताते हैं। प्रजापति ब्रह्माजी ने मेधा और तप के द्वारा विज्ञान तथा कर्म के द्वारा—सात प्रकार के अन्नों की रचना की। उनमें से एक अन्न तो सर्वसाधारण जनों के निमित्त उत्पन्न किया। जैसे धान्य आदि। यह सभी प्राणियों द्वारा उपभोग्य है। दो अन्न उसने देवताओं के निमित्त वितरित कर दिये। इस प्रकार तीन अन्न तो ये हो गये। अब बचे चार। सो उनमें से तीन अन्न प्रजापति ने अपने लिये रख लिये। अब शेष रह गया एक अन्न। सो उस अन्न को उन्होंने पशुओं के निमित्त दे दिया। पशुओं से यहाँ अभिप्राय चराचर जीवमात्र से हैं। जो स्वास लेते हैं जैसे मनुष्य, गौ, बकरा, भेड़ा, घोड़ा, खच्चर, गदहा आदि-आदि और जो स्वास नहीं लेते जैसे वृक्षादि हैं। वह अन्न चर-अचर दोनों ही प्रकार के जीवों के निमित्त है। इस प्रकार सातों प्रकार के अन्नों को भिन्न-भिन्न प्राणियों में बाँट दिया। वे प्राणी इस अन्न को खा-खाकर अपने जीवन का निर्वाह करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है, कि ये अन्न प्राणियों द्वारा नित्य ही खाये जाते हैं, सदा सर्वदा सभी प्राणी सतत इनका भोजन करते हैं, फिर भी ये बने ही रहते हैं, सर्वदा खाये जाने पर भी ये क्षीण क्यों नहीं होते?

इससे पता चलता है, यह अन्न अक्षय है। जो इसके इस अक्षय भाव को जानकर मुखरूप प्रतीक के द्वारा अन्न का भक्षण करता है, वह अन्न अमृत होकर देवताओं को प्राप्त होता है। वह मानों अन्न न खाकर निरन्तर अमृत ही पान करता है, अमृतोपजीवी ही होता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इस विषय को स्पष्ट समझाइये। सात अन्न कौन-कौन से हैं ? मुख से खाया हुआ अमृत कैसे हो जाता है ?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवती श्रुति ने ही अगले मन्त्र में इसका स्पष्टी करण किया है। अब जिस प्रकार इस विषय का स्पष्टीकरण किया है। उसे बताता हूँ।"

श्रुति कहती है, पिता ने सात अन्नों को मेधा और तप से उत्पन्न किया। इसमें पिता तो वे परब्रह्म आदि पुरुष ही हैं, उन आदि पुरुष की जब एक से बहुत होने की इच्छा हुई अर्थात् वे सृष्टि के उन्मुख हुए। सृष्टि करने को उद्यत हुए, तो उन्होंने भोग्य भोक्तृरूप अन्न को उत्पन्न किया।"

शौनकजी ने पूछा—"मेधा और तप से अन्न को उत्पन्न किया यहाँ मेधा तप से तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेधा और धी वैसे तो एक ही हैं, किन्तु मेधा में और धी में थोड़ा अन्तर है। मेधा तो वार्ता को धारण करने वाली बुद्धि का नाम है। जो सभी बहु श्रुति विषय को आत्मसात कर ले-धारण कर ले (मेधते सङ्गच्छते अस्याम्= इति मेधा धारणाशक्ति युक्ता धीर्मेधा) और धी या बुद्धि चिन्तन करने को कहते हैं अन्तःकरण की जो निश्चयात्मिका वृत्ति है, उसका नाम है। और उसका ज्ञान ही तप है। अर्थात् उन्होंने अपनी पूर्व कल्प की मेधा और ज्ञान द्वारा-विज्ञान और कर्म द्वारा-सात अन्नों को-सात भोग्य पदार्थों को-पैदा किया। उनमें पहिला तो लोक में सुप्रसिद्ध साधारण अन्न है ही। चावल, गेहूँ, जौ आदि-आदि। इसे मनुष्य खाते हैं, इसी को देवता पितर ऋषि आदि को अर्पण करते हैं। जो पुरुष इसको अपने ही लिये

उपासना करता है। वह पाप से दूर नहीं होता। क्योंकि यह अन्न मिश्र है।"

शौनकजी ने पूछा—"अपने लिये उपासना का क्या अभिप्राय है ? मिश्र किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जो अन्न को केवल अपने ही निमित्त बनाकर खा लेता है, वह अन्न नहीं खाता पाप ही खाता है। इसलिये कि यह अन्न तो समस्त प्राणियों का मिश्रित है सम्मिलित है। इस अन्न में तो सभी जीव जन्तुओं का अधिकार है। अतः इसे देवताओं को, ऋषियों को, पितरों को, आगत अतिथियों को और थोड़ा-थोड़ा सभी जीवों को बाँटकर खाना चाहिये यह तो पहिला साधारण अन्न हुआ।

अब दो अन्न देवताओं को वितरित किये इसका तात्पर्य यह है, कि जो हुत प्रहुत है। हवन और बलि वैश्वदेव ये देवताओं के अन्न हैं, किसी-किसी ऋषि का मत है, कि दर्श जो अमावस्या को पितरों के निमित्त यज्ञ किया जाता है और पूर्णिमा को जो देवताओं के निमित्त यज्ञ किया जाता है ये दोनों दर्श और पूर्णमास यज्ञ देवताओं के अन्न हैं। इसलिये जो किसी कामना से की गयी काम्य इष्टियाँ हैं उनमें प्रवृत्त न हो। इस प्रकार तीन अन्न तो हो गये।

अब तीन अन्न अपने लिये कि ये वे तीन अन्न कौन हैं, इसकी व्याख्या आगे करेंगे। हाँ एक अन्न पशुओं को दिया। वह कौन-सा है। वह है दुग्ध। यहाँ पशु शब्द से जीव मात्र का तात्पर्य है। मनुष्य तथा पशु सर्व प्रथम दूध के ही आश्रय से जीते हैं। सबके बच्चे पैदा होते ही माता के दूध को ही पीकर रहते हैं। वर्णाश्रमी द्विजों के जब बच्चा होता है, तो नाल छेदन के पूर्व पिता बच्चे का जातकर्म संस्कार करता है। यह सोलह

संस्कारों में से उत्पन्न होने वाले संस्कारों में से प्रथम संस्कार है। उस समय पिता बच्चे को सुवर्ण की सलाका से घृत चटाता है। चार व्याहृतियों से चार बार शहद मिला घृत या केवल घृत ही इन मन्त्रों को पढ़कर चटाता है। (भूस्त्वयि दधामि, भूवस्त्वयि दधामि, स्वस्त्वयि दधामि, भूर्भुवःस्व सर्वं त्वयि दधामि) इससे बालक मेधावी होता है, इस कर्म को मेधाजनन कहते हैं। जहाँ ये वस्तुएँ उपलब्ध न हों या कर न सके, तो घृत के स्थान में माता का स्तन पान ही करावें। बछड़े को तो सर्व प्रथम माता का स्तन पान ही कराते हैं। किसी की गौ के बच्चा होता है, तो लोग पूछते हैं—"बच्चा कितने दिन का है ?" तो गौ का स्वामी कहता है—"अजी, अभी तो तृण को घास को छूता भी नहीं अभी तो केवल दूध पर ही रहता है।"

जितने भी जो स्वास लेने वाले मनुष्य, गौ आदि पशु हैं या ो बिना स्वास प्रस्वास वाले वृक्ष आदि हैं, वे सब दुग्ध में ही तिष्ठित हैं अर्थात् दुग्ध सभी का आहार है। इसलिये दुग्ध की बड़ी महिमा है।

ऋषिगण जो ऐसा कहते हैं, कि जो एक वर्ष तक दुग्ध से हवन करता है। वह अपमृत्यु को जीत लेता है। हमारा कहना तो यह है कि दुग्ध का इतना भारी माहात्म्य है कि मनुष्य जिस दिन दुग्ध से हवन करता है उसी ही दिन अपमृत्यु को जीत लेता है। अतः श्रेयस्कामी को दुग्ध की बनी खीर से ही हवन करना चाहिये। इस प्रकार जो खीर से हवन करके देवताओं की उपासना करता है, वह मानों देवताओं को सम्पूर्ण खाद्यान्न प्रदान करने वाला होता है।

शौनकजी ने पूछा—"पिछले मन्त्र में जो पूछा गया था, वि

सर्वदा भक्षण करने पर भी अन्न क्षीण क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! अन्न ब्रह्म स्वरूप है, रस विष्णु स्वरूप है और महेश्वर ही खाने वाले हैं। जब भोक्ता पुरुष अविनाशी है। तो उसका भक्ष्य भी अमर है वही उस अन्न को बार-बार उत्पन्न कर देता है। इसीलिये सब प्राणियों द्वारा बार-बार खाये जाने पर भी अन्न का क्षय नहीं होता।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पिछले मन्त्र में जो यह कहा गया कि जो पुरुष इस अन्न को अक्षय भाव को जानता है, तो अक्षय भाव को जानने से क्या तात्पर्य है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यह जो अन्न को खाने वाला अविनाशी पुरुष है, वह चुप नहीं बैठा रहता। वह पुरुषार्थ करता रहता है। वह इस अन्न को ज्ञान और कर्म द्वारा-संकल्प और बुद्धि द्वारा--निरन्तर इस अन्न को उत्पन्न करता रहता है। यदि अविनाशी पुरुष अन्न को प्रतिदिन उत्पन्न न करे, तब यह अन्न अवश्य ही क्षीण हो जाय। यही इसके अक्षय होने का भाव है। इस भाव को जो जानता है, वह भी अक्षय हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"पिछले मन्त्र में जो यह कहा गया, कि अन्न के जो अक्षय भाव को जानता है वह प्रतीक के द्वारा अन्न को भक्षण करता है। वह प्रतीक क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्रतीक उसे कहते हैं जिसके द्वारा यथार्थ वस्तु की प्राप्ति हो जैसे हम पितरों को भोजन कराते हैं। पितर तो आते नहीं उनके प्रतीक-प्रतिनिधि रूप में-अङ्गरूप में--ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं, तो ब्राह्मण पितरों के प्रतीक हैं। कोई पति है, उसकी प्राणप्रिया सती साध्वी स्त्री है। पति को बाहर जाना है। पत्नी कहती है—आपकी सेवा के बिना मैं रह

नहीं सकती। तब पति उसे अपनी प्रतिमा देकर कहता है—तब तक इसकी श्रद्धा से सेवा करना। वह प्रतिमा प्रतीक है। इसी प्रकार अन्न का भोक्ता तो अविनाशी है, किन्तु वह अविनाशी स्वतः खाने नहीं आता। अतः उसका प्रतीक—मुख है। मुख के द्वारा मानों वह अविनाशी प्रजापति ही खाता है। यही प्रतीक द्वारा भक्षण करने का भाव है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रथम मन्त्र में जो यह कहा गया है, कि ऐसा साधक देवताओं को प्राप्त होता है, वह अमृतोपजीवी होता है। इसका क्या भाव है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जो अन्न के अक्षय भाव को जानकर अविनाशी को ही भोक्ता मानकर मुख को उसका प्रतीक समझकर अन्न का भक्षण करता है, वह न तो मनुष्य ही साधारण मनुष्य है और न उसके द्वारा खाया हुआ अन्न ही साधारण अन्न है। वह मनुष्य नहीं देवता है उसका खाया अन्न साधारण अन्न नहीं अमृत है। इसका कोई विलक्षण अर्थ नहीं। स्पष्ट अर्थ है। इस उपासना का फल श्रुति है। प्रशंसामात्र है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! परम पिता प्रजापति द्वारा आपने सात अन्नों की उत्पत्ति बतायी। उनमें से साधारण अन्न मनुष्यों के लिये। हुत प्रहुत अथवा दर्श पूर्णमास ये दो अन्य देवताओं के लिये तथा एक दुग्ध रूपी अन्न पशुओं—जीवों—के लिये आपने बताये। ये चार ही अन्न हुए। अब तीन अन्न जो प्रजापति ने अपने लिये रखे वे तीन कौन-कौन से अन्न हैं। कृपा करके उनकी व्याख्या और कीजिये। श्रुति ने एक साधारण अन्न दो देवताओं के अन्नों की व्याख्या करके तुरन्त सातवें पशु अन्न-दुग्ध—की व्याख्या कर दी। बीच में प्रजापति ने जो तीन अन्न अपने लिये रखे उनकी व्याख्या क्यों नहीं की?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! एक लुहार है, उसके पास एक आदमी गया, उसने कहा—"मुझे एक बड़ा कड़ाह बना दो।" लुहार कड़ाह बनाने का सामान जुटा ही रहा था। तभी एक आदमी ने उससे कहा—"मुझे एक सूची--सुई--बना दो।" लुहार ने तुरन्त और काम छोड़कर पहिले सूची बनाकर उसे दे दी। तब कड़ाह वाले ने कहा—मैं पहिले आया था, मेरा काम छोड़कर तुमने पीछे आये हुए उस आदमी का काम पहिले क्यों कर दिया।"

इस पर लुहार ने कहा—"तुम्हारा कार्य बड़ा था वह देर में सम्पन्न होने वाला था उसका काम छोटा था--सरल था--शीघ्र सम्पन्न होने वाला था। इसलिये पहिले उसे निबटाकर अब आपके बड़े विस्तृत कार्य में लगता हूँ। इसे 'सूची कटाह न्याय' कहते हैं। इसी न्याय से चार अन्नों के विषय सरल थे, छोटे थे, अतः श्रुति ने पहिले उन्हें निबटा दिया। यह जो प्रजापति के तीन अन्नों वाला विषय है यह विस्तृत है। इसका विस्तार के साथ आध्यात्मिक विवेचन करना है, अतः पहिले चार को निबटा कर अब इन तीन का जैसे श्रुति गंभीरता के साथ विचार करेगी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

इक साधारन अन्न मीहि जौ, गेहूँ आदी।
मिश्रित, तातैं बाँटि खाउ नहिं अघी प्रमादी॥
दर्श-पूर्ण-हुत प्रहुत-अन्न द्वै सुरनि कहावैं।
दुग्ध पशुनि को अन्न प्रथम शिशु ताहीं खावैं॥
अविनाशी पुनि-पुनि करै, तातैं अक्षय अन्न यह।
भोक्ता, कर्ता अन्न कूँ, अक्षय जानत सिद्ध वह॥

(२)

पुरुष सतत क्षय रहित भाव अक्षय जो जानत।
ज्ञान करन तैं वही अन्न कूँ नित उपजावत॥
यदि न करै उत्पन्न अन्न पुनि क्षय है जावै।
मुख प्रतीत तैं खाइ अन्न देवनि कूँ जावै॥
अन्न ब्रह्म कूँ मानि कै, मुख प्रतीक जाने पुरुष।
नित्य अमृत भक्षण करै, सब अम्मृत होवै अवँसि॥

प्रजापति के तीन अन्नों का अर्थ (१)

[२११]

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥*

(बृ० उ० १ अ० ५ ब्रा० ४ म०)

छप्पय

मन बानी, अरु प्रान पिता निज अन्न बनाये।
मनतें दसै सुन्यै परस बिनु लखे दिखाये॥
सशय, श्रद्धा, कान, अश्रद्धा, लज्जा, धृति मय।
बुद्धि, अधृति, सकल्प सबहिँ इनि माना मन मय॥
जितने जो कछु शब्द हैं, तिनकूँ बानी मानियो।
अविधेयहिँ अनुगत सतत, स्वय प्रकाशित जानियो॥

यह सृष्टि चक्र तीन से ही चल रहा है। स्त्री, पुरुष और कामना। मन मे कामना न हो तो स्त्री पुरुष जीवन भर साथ रहें। सृष्टि नहीं बढ सकती। कामना हो और केवल पुरुष हो तो वह क्या कर सकता है। कामना हो और केवल स्त्री हो, तो भी वह कुछ सृष्टि वृद्धि नहीं कर सकती। जब तीनों का सयोग होगा।

---

* वाणी, मन और प्राण ये ही तीनो लोक हैं। इनम से यह भूलोक तो वाणी है। भुवर्लोक-अर्थात् अन्तरिक्षलोक मन है और स्वर्ग लोक ही प्राण है। इस प्रकार यह सभी वाणी, मन और प्राणमय है।

स्त्री और पुरुष दोनों के हृदय में कामना प्रवेश करेगी तभी सृष्टि प्रवाह आरम्भ होगा। तीन से ही सृष्टि है। प्रकृति, पुरुष और परमात्मा। चित्, अचित् और नारायण, जड चेतन्य और ब्रह्म। कुछ लोग कहते हैं तीन नहीं एक ही है। वे व्यवहार और परमार्थ दो अवस्था मानते हैं। व्यवहार में तो उन्हें तीनों की सत्ता स्वीकार है। किन्तु परमार्थ अवस्था में वह एक ही है, जैसे वह सबका जनक है कारण है। जगत् उसका कार्य है। देह है। जड़ जगत् यह दृश्य प्रपञ्च है। चैतन्य जगत् आत्मा या जीव है। ये व्यवहार में तो पृथक्-पृथक् दीखते हैं, किन्तु परमार्थ में इनमें अभेद है। अभेद हो, भेद हो। जब सृष्टि और प्रलय को चाहे व्यवहार में, या यथार्थ में मानोगे तो तीन के बिना निर्वाह नहीं। वेद, देव, लोक, गुण, दोष, प्रकृति ये सबके सब त्रित हैं। अतः परमपिता ने सृष्टि के समय सात अन्न उत्पन्न करते समय तीन अन्न अपने लिये बचा कर रख लिये। क्योंकि सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। तीनों गुणों में क्षोभ होने पर सृष्टि चक्र आरंभ होता है। अतः तीन अन्न- वाणी, मन और प्राण प्रजापति ने अपने भोग्य के लिये-अपने भक्षण करने के लिये रख लिये। आगे भगवती श्रुति उन्हीं प्रजापति के तीनों अन्नों की आध्यात्मिक विवेचना करती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनिवर शौनकजी! आपने पूछा उस परमात्मा ने अपने लिये तीन अन्न उत्पन्न किये, वे तीन कौन-कौन हैं? उसी का वर्णन श्रुति स्वयं करती है, कि वे तीन अन्न हैं, मन, वाणी और प्राण।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अन्न तो उपभोग्य होता है, भोक्ता जिसका भक्षण करे, जिसे खाय वह अन्न है। मन तो भोग्य नहीं। खाती तो इन्द्रियाँ हैं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इन्द्रियाँ तो स्वतः विषयों का उपभोग नहीं कर सकतीं। चक्षु तब तक रूप नहीं देख सकती जब तक कि वहाँ मन न हो, कान तब तक श्रवण नहीं कर सकते, जब तक वहाँ मन न हो। किसी आदमी से कुछ कहो और वह उसे न सुने। तो आप फिर उसे डाँटकर कहो-"क्योंजी! मैं इतनी देर से कह रहा हूँ आप सुनते क्यों नहीं?" तब वह कहेगा—"क्षमा कीजिये, मेरा मन अन्यत्र था, इससे मैं आप की बात सुन नहीं सका।"

कोई आदमी हमारे सामने से जा रहा है। हमें देखता हुआ भी वह बिना नमस्कार प्रणाम के चला गया। पीछे से हमने उसको जाकर झकझोरा—"क्योंजी! ऐसे आँख बचाकर भागे जा रहे हो?" तब वह जैसे कोई सोते से उठकर चौंककर बोलने लगे ऐसे बोलते हुए कहने लगा—क्षमा कीजिये, मेरा मन अन्यत्र था। इसलिये आँखें खुली रहने पर भी मैंने आपको देखा नहीं।" इन बातों से यही निश्चय होता है, कि वह आँखों से तथा कानों से देखता सुनता नहीं है। मन द्वारा ही देखता सुनता है। कोई आदमी पीछे से आकर हमारी आँखें बन्द कर लेता है। हम उसके हाथों का अन्य अङ्गों का स्पर्श करके ही मन से उसे जान लेते हैं अतः कामना मन से ही होती है। स्त्री पुरुष का पुरुष स्त्री का उपभोग मन के ही द्वारा करते हैं। जितने भी संकल्प हम करते हैं, मन से ही करते हैं। विचिकित्सा अर्थात् संशय-ज्ञान, श्रद्धा—अर्थात् वस्तु के प्रत्यक्ष न होने पर भी भावनावश उसमें विश्वास कर लेना—अश्रद्धा—अर्थात् वस्तु के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसमें विपरीत भावना कर लेना; धृति—अर्थात् धैर्य धारण किये रहना, अधृति—शरीर के शिथिल हो जाने पर स्वयं भी शिथिलता को प्राप्त हो जाना। लज्जा लजा जाना, संकोच में

पड़कर संकुचित हो जाना। बुद्धि-किसी-विषय को निश्चयाभाव से दृढ़ पर लेना। भी-भयभीत हो जाना। ये सब मन के-अन्तःकरण के ही रूप हैं। इसलिये भोगने वाली इन्द्रियों से परे एक मन की भी सत्ता है, आत्मा का यही भोग्य है। उसी के द्वारा यह विषयों का भोग करता है इसलिये यह आत्मा का आध्यात्मिक अन्न मन है। अब दूसरा अन्न वाक् है। जो भी शब्द है वह चाहे कंठादि स्थानों से निसृत हो, अथवा वाद्यों से निसृत हो, मेघों द्वारा निसृत हो जो भी वर्णादि शब्द हैं सब की संज्ञा वाक् है। इसीलिये कि वाणी सब की प्रकाशिका है। यह अभिधेय के पर्यवसान में अनुगत है इससे प्रकाशिका है, प्रकाश्य नहीं। जैसे दीपक है उसे कोई दूसरा प्रकाशित नहीं करता है वही सबको प्रकाश प्रदान करता है। उसी के समान वाणी भी प्रकाशिका है। यह अन्य किसी द्वारा प्रकाश्य नहीं है। वाणी का कार्य प्रकाशकत्व ही है।

अब तीसरा अन्न है प्राण। इसमें केवल प्राण को ही नहीं समझना चाहिये। प्राण से प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन इन सबकी प्राण संज्ञा ही है। प्राण किसे कहते हैं? जो बाहर गमन करे (प्रणयनात् प्राणः) यह प्राण हृदय में तो स्थायी रूप से रहता है। किन्तु मुख नासिका के मध्य भाग में तथा नाभि तक विचरता रहता है। स्वास को भीतर ले जाना बाहर निकालना तथा खाँसना ये प्राण वायु के कर्म हैं।

अपान नामक प्राण गुदा में स्थायी रूप से रहता है। मल-मूत्र को नीचे फेंकने से यह अपान कहलाता है (अपनयनात मूत्र पुरीषादेः अपानः) यह गुदा, लिङ्ग, दोनों जघाओं, कटि प्रदेश, नीचे घुटनों तक तथा सम्पूर्ण उदर में विचरता रहता है।

व्यान नामक प्राण सर्वसन्धियों में रहता है। यह बल

अपेक्षा रखने वाले कर्मों का हेतु है। दोनों कानों में, दोनो नेत्रों मे, दोनो कन्धो मे, दोनो टखनों में, जहाँ-जहाँ प्राण के स्थान हैं तथा कण्ठ में भी व्याप्त रहता है। यह प्राण अपान की सन्धि है। व्यायमन कर्माश्रम करने वाला–होने से यह व्यान कहलाता है। यह ध्वनि का भी व्यंजक है।

उदान नामक प्राण पादतल से लेकर मस्तकपर्यन्त व्याप्त रहता है। उत्कर्ष और ऊर्ध्व गमन के कारण यह उदान कहलाता है। (उत्कर्षात् ऊर्ध्वगमनात्=उदानः) इसकी स्थिति विशेषकर दोनों हाथों मे दोनों पैरों मे है। पुष्टि तथा प्राणोत्क्रमण का कारण है।

अब जो समान वायु है वह सम्पूर्ण शरीर में समान भाव से व्याप्त है। यह खाये पीये पदार्थों को पचाने का कार्य भी करता है। समस्त शरीर को समभाव में रखने के कारण यह समान कहलाता है (समं नयनात्-इति समानः)

अन को भी इसमें गिनाया है। यह प्राण का ही बोधक है देह को सामान्य रखने वाली वृत्ति विशेष है। ये सब-के-सब प्राण ही हैं। यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय है। जैसे जीव अन्नमय है वैसे आत्मा के ये तीनों अन्न हैं। उन्हीं के सहारे यह कार्य करता है। ये तीनों ही अनेक रूपों में व्यक्त होते हैं। जैसे भू, भुव और स्वर्ग ये तीन लोक हैं। इनमें वाणी भूलोक है, मन भुवर्लोक है और प्राण ही स्वर्गलोक है। इसी प्रकार जो तीन वेद हैं, इनमें से वाणी ही ऋग्वेद है मन ही यजुर्वेद है और प्राण ही सामवेद हैं। इसी भाँति देवता, पितर और मनुष्यों में से वाणी ही देवता हैं, मन ही पितर हैं और प्राण ही मनुष्य हैं। माता, पिता और पुत्र में मन ही पिता है, वाणी ही माता है और प्राण ही पुत्र है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् ही त्रितयात्मक है। तीन के अतिरिक्त कुछ नहीं वाणी, मन और प्राण ये ही नाना रूपों में नाना भावों में संसार में व्यक्त हो रहे हैं। जगत् में विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये तीन ही भाव हैं, विज्ञात तो उसे कहते हैं जो विशेष रूप से जान लिया गया है। जिसे जाना तो तो नहीं है, किन्तु जानने की जिज्ञासा है, उसे विजिज्ञास्य कहते हैं और जिसके विषय में हमें जानकारी ही नहीं है, जिसके सम्बन्ध में हमें भली भाँति ज्ञात नहीं, उसे अविज्ञात कहते हैं। अब इनका वाणी, मन तथा प्राणों में कैसे विभाग किया जाय? तो वाग्व्यवहार द्वारा जो भी कुछ जाना हुआ है-विज्ञात है-वह सब वाणी का रूप है। अर्थात् विज्ञात वाणी है। वह वाणी विज्ञाता की विज्ञात होकर रक्षा करती है।

वाणी तो विज्ञात हुई अब मन ही विजिज्ञास्य है अर्थात् इस दृश्य प्रपञ्च में-विश्व ब्रह्माण्ड में- जो भी पदार्थ हैं, उन्हें विशेष रूप से जानने के लिये मन-अर्थात् अन्तःकरण ही-समुत्सुक रहता है। मन ही निरन्तर कुछ न कुछ धुना धुनी करता रहता है वही मनन चिंतन में सलग्न रहता है। वही विजिज्ञास्य स्वरूप होकर जिज्ञासु साधक की रक्षा करता है। अतः मन ही विजिज्ञास्य है।

अब विज्ञात तो वाणी हुई। विजिज्ञास्य मन हुआ। रह गया अविज्ञात सो यह अविज्ञात रूप प्राण ही है। इन्द्रियों के अगोचर होने के कारण प्राण को ही अविज्ञात कहा गया है। यह प्राण अविज्ञात स्वरूप होकर भी उपासक की रक्षा करता है। इस प्रकार वाणी, मन और प्राण ये तीनों ही उपकारक हैं। ये तीनों ही उस प्रजापति के अन्न हैं। अब तक वाणी, मन और प्राण के आधिभौतिक रूप का ही जो विस्तार है उसी की

व्याख्या की गयी। अब आगे वाणी, मन और प्राण के आधिदैविक विषय को बताते हैं।

वाणी है, इसका आधिदैविक रूप क्या है? अर्थात् इसका अधिष्ठातृ देव कौन है? वाणी में वाक् इन्द्रिय है वह अध्यात्म है, जो वचन बोले जाते हैं, वे आधिभौतिक हैं और वाणी के अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं। मुख से वाणी प्रकट होती है और वाणी के अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं। वाणी की उत्पत्ति शरीर द्वारा मुख द्वारा होती है अतः वाणी का शरीर तो पृथ्वी है। अर्थात् उसका अधिष्ठान पृथ्वी है-और अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं। पृथ्वी उसका आधार है और अग्नि उसका आधेय है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि पृथ्वी और अग्नि ये प्रजापति की वाणी रूपा हैं। तो वाणी, पृथ्वी और अग्नि ये तीनों साथ-ही-साथ मिल जुलकर रहती हैं। जितनी वाणी है, उतनी ही पृथ्वी है और उतनी ही उसमें अग्नि है। वाणी इन्द्रिय है। उसका अधिष्ठान-आयतन-शरीर-पृथ्वी है और अधिष्ठातृदेव रूप से अग्नि है। इसी प्रकार वाणी की ही भाँति मन और प्राण में भी यही क्रम समझ लेना चाहिये।

वाणी के अधिष्ठातृ देव बताकर अब मन के अधिष्ठातृ देव बताते हैं मन का शरीर द्युलोक है। अर्थात् हृदयाकाश। मन हृदय कमल के भीतर रहता है। और इसका अधिष्ठातृ देव ज्योतिरूप आदित्य है। तो मन तो हुआ अधिष्ठाता, उसका शरीर-आयतन-रहने का स्थान हुआ हृदयाकाश-द्युलोक-और इसके अधिष्ठातृ देव हुए आदित्य। ये तीनों साथ ही रहते हैं जितना मन है उतने ही परिणाम में द्युलोक तथा आदित्य हैं। इस प्रकार वाणी और मन के अधिष्ठातृ देव बताये। जब वाणी और मन पारस्परिक संसर्ग से दोनों मिथुन हुए अर्थात वाणी

रूपा स्त्री और मन रूप पुरुष का सयोग हुआ—तो उन दोनो के ससर्ग से प्राण रूप पुत्र की उत्पत्ति हुई। इस प्राण रूपी पुत्र का मन ही पिता है और वाणी ही माता है। यह प्राण इन्द्र है अर्थात् परम ऐश्वर्यवान् है। इस प्राण मे एक विशेषता है यह असपत्न है—अर्थात् इसका कोई शत्रु नहीं, वैरी नहीं, द्वेषी नहीं यह अजातशत्रु है। शत्रु तो प्रतिपक्षी ही हुआ करता है, इसका कोई प्रतिपक्षी नही अतः यह शत्रु रहित है।

इस प्रकार प्राण को मन वाणी का शत्रु रहित पुत्र मानकर जो साधक प्राणोपासना करता है उसका ससार मे कोई शत्रु नहीं रह जाता अर्थात् वह सभी प्राणियों मे मैत्री-भाव स्थापित कर लेता है।

इस भाँति वाणी और मन के अधिष्ठातृ देवो को बताकर अब प्राण के अधिष्ठातृ देव को बताते हैं। प्राण का शरीर—आयतन—घर जल है। इसका अधिष्ठातृ देव ज्योति रूप चन्द्रमा है। प्राण, जल और चन्द्रमा ये तीनों एक ही हैं साथ साथ रहते हैं। जितना प्राण है, उतने ही परिमाण मे जल तथा चन्द्रमा है। ये तीनों ही समान हैं।

अब फिर से सुन लीजिये। वाणी, मन और प्राण ये तीनों प्रजापति के अन्न हैं। वाणी का शरीर पृथ्वी, अग्नि उसका अधिष्ठातृ देव। मन का शरीर हृदयाकाश—आदित्य उसके अधिष्ठातृ देव प्राण का शरीर जल, चन्द्रमा उसके अधिष्ठातृ देव ये तीनों ही अधिष्ठाता, अधिष्ठान और अधिष्ठातृ देव मिले जुले रहते हैं।

इस प्रकार वाणी, मन और प्राण ये तीनो ही अनन्त हैं और तीनों ही समान है। जो भी उपासक वाणी, मन और प्राण इन तीनों को अन्तवान् समझकर इनकी उपासना करता है वह

अन्तवान् लोकों को ही जीतने मे समर्थ हो सकता है, किन्तु जो साधक इन्हें अनन्त मानकर, अनन्त भावना मे इनकी उपासना करता है वह अनन्त लोक पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार वाणी, मन और प्राण रूप से प्रजापति के तीनों अन्नों का आधिभौतिक-आधिदैविक वर्णन किया। अब इस तीन अन्न रूप प्रजापति के संवत्सरस्वरूप की सोलह कलाओं का वर्णन आगे किया जायगा।"

छप्पय

(१)

प्रान, अपान, समान व्यान अन अरु उदान हू।
सबई हैं ये प्रान बसैं सम्पूर्ण देह हू॥
देह मनोमय वाक-प्राणमय तीनिहु मय है।
भू भुव स्वर्यलोक वाक, मन, प्रान रूप है।
तीनि वेद, नर, पितर सुर, मातु पिता सुत तीनि ये।
सबहिँ वाक, मन, प्रानमय, तीनि भाव ही प्रकटते॥

(२)

विजिज्ञास्य, विज्ञात, अविज्ञात हु तीनि हिये।
वाक रूप विज्ञात कह्यो मन विजिज्ञास्य जे॥
अविज्ञात है प्रान करें रक्षा तीनहुकी।
वानी भू-तनु, अग्निदेव, समता तीनहुकी॥
-मन-तनु हिय आकाश है, कहे देव आदित्य है।
-मन-वानी संसर्ग तैं, प्रान पुत्र-बिनु शत्रु हैं॥

(३)

प्रान-देह जल, देव चन्द्रमा तीनहु सम हैं।
मन, बानी अरु प्रान अन्न ये सकल अनँत हैं॥
अन्तवान् इनि जानि अन्त लोकनि जय पावै।
जानैं इन्हें अनन्त अनन्त हु लोकनि आवै॥
कहे प्रजापति अन्न त्रय, मन इकाम करि इनि गुनौ।
सवत्सर सोलह कला, सावधान साधक सुनो॥

प्रजापति के तीनों अन्नों का अर्थ (२)

[२१२]

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाँ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशँसन्ति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ५ ब्रा० १६ मं०)

छप्पय

सम्वत्सर की कला निशा पन्द्रह ध्रुव सोलहिँ ।
शुक्लपक्ष महँ वृद्धि कृष्ण में पुनि सो क्षीणहिँ ॥
अमा निशा महँ कला सोलहू प्राणिनि प्रविसै ।
ता दिन हिंसा करै न निरखै नहिँ लखि हरसै ॥
वित्त पन्द्रवीं कला है, सोलहवीं आत्मा कही ।
धन तो आवत जात है, मुख्य देह यदि बचि रही ॥

शास्त्रों मे बार-बार एक ही बात बतायी गयी है। यह जगत् अनित्य और परिवर्तनशील है। जब परमात्मा प्रलयकाल में

---

* ये तीन ही लोक हैं। मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। पुत्र के द्वारा मनुष्यलोक जीता जा सकता है। अन्य से नहीं। कर्म द्वारा पितृलोक तथा विद्या द्वारा देवलोक जीते जा सकते हैं। लोकों में श्रेष्ठ तो देवलोक ही है। इसी कारण विद्या की ही प्रशंसा है।

स्वयं ही है। वह स्वयं ही अन्न है और स्वयं ही उसे खाने वाला अन्नाद है। वह स्वयं ही निमित्त कारण है और स्वयं ही उपादान कारण है। वह चित् अचित् से युक्त भी है और इनसे परे भी है। अतः भिन्न-भिन्न प्रकार से उसी एक ब्रह्म को नाना रूपों से, नाना युक्तियों से सिद्ध किया गया है। फिर भी वह तर्कों द्वारा आज तक सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि वह तर्कों से परे है। तर्कों की वहाँ तक पहुँच नहीं। वह अचिन्त्य है। फिर भी उसकी चिन्तना किये बिना जीव पर रहा नहीं जाता। यद्यपि वह अतर्क्य है फिर भी समस्त अस्ति-नास्ति सम्बन्धी तर्क उन्हीं के ऊपर की जाती हैं। ऐसा करने को जीव विवश है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले प्रकरण में जो आत्मा के वाणी, मन और प्राण तीन अन्न बताये। उनमें सबसे अंत में प्राण का शरीर जल और चन्द्रमा को उस प्राण का अधिष्ठाद देव बताया। अब प्रसङ्गानुसार सोलह कला वाले संवत्सर के प्रजापति रूप का भी वर्णन करना आवश्यक हो गया। क्योंकि वे प्राण के अधिष्ठाद देव चन्द्रमा ही संवत्सर का निर्माण करते हैं और यह संवत्सर प्रजापति ही अन्नोपासक है। अन्न का भोक्ता है। यह षोडश कला युक्त है। कैसे है? इसी को भगवती श्रुति बताती है क्योंकि इसमें चन्द्र द्वारा ही संवत्सर है। इसलिये इसे चन्द्र विद्या कहते हैं।"

अब प्रसंग प्राप्त विषय के अनुसार चन्द्र विद्या को कहते हैं। इसमें वाणी, मन और प्राणरूप जो प्रजापति के तीन अन्न हैं। अर्थात् तीनों अन्नों का भोक्ता जो प्रजापति है, उस प्रजापति का संवत्सर भी एक रूप है वह संवत्सर सोलह कलाओं वाला है। क्योंकि चन्द्रमा की सोलह ही कलायें होती हैं। उनके नाम (१) अमृता, (२) मानदा, (३) पूषा, (४) तुष्टि, (५) पुष्टि (६) रती

(७) धृती, (८) शशिनी, (९) चन्द्रिका, (१०) कान्ती, (११) ज्योत्स्ना, (१२) श्री, (१३) प्रीति, (१४) अंगदा, (१५) पूर्णा और (१६) पूर्णामृता हैं। ये जो प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक की पन्द्रह रात्रियाँ हैं ये तो पन्द्रह कला हुईं, एक सोलहवीं कला जो पूर्णामृता है उसका नाम ध्रुवा है और कलायें तो घटती बढ़ती रहती हैं, किन्तु एक ही कला यह ध्रुवा ऐसी है, जो सदा चन्द्रमा के साथ रहती है। अमावस्या के दिन जब चन्द्रमा की पन्द्रहों कला क्षीण हो जाती हैं तब एक यह ध्रुवा ही कला चन्द्रमा के समीप रह जाती है जैसे शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा है उस दिन चन्द्रमा की पहिली कला बढ़ेगी फिर प्रतिदिन एक-एक बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ये कलायें और एक उसके पास सदा रहने वाली ऐसे सोलहों कलाओं से चन्द्रमा परिपूर्ण हो जायँगे। फिर कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन से उनकी एक-एक कला घटती जायगी। अमावस्या को पन्द्रह कलायें क्षय हो जायँगी। इसीलिये अमावस्या को चन्द्रमा दिखायी नहीं देते। उस दिन उनकी एक ही कला ध्रुवा रह जाती है। उस दिन चन्द्रमा उस सोलहवीं ध्रुवा कला से इन संसार के समस्त प्राणियों में प्रवेश कर जाते हैं। दूसरे दिन (शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को) प्रातःकाल जब एक कला की उनमें वृद्धि होती है, तब वे पुनः उत्पन्न होते हैं। अमावस्या की रात्रि में अपनी ध्रुवा कला सहित प्राणी समुदाय में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिये अमावस्या की रात्रि में किसी भी प्राणी का प्राण विच्छेद न करे। यहाँ तक की उस दिन वृक्ष से दातौन भी न तोड़े। कृकलास-गिरगिट-को भी न मारे।

सोमदेव के सम्मानार्थ उनकी पूजा के निमित्त किसी की भी हिंसा न करे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब अमावस्या के दिन सभी प्राणियों की हिंसा का निषेध कर ही दिया गया तो फिर गिरगिट कृकलास--का विशेष नाम क्यों लिया ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जिसके शरीर पर कुक--कांटे होते हैं वह करकेंटा या गिरगिट नामक जीव बहुत ही निकृष्ट, नीच, अत्यन्त पापी प्राणी माना जाता है। लोगों का कहना है इसके शरीर में विष होता है, जिसे यह काट ले, वह बचता नहीं। कुछ लोगों का ऐसा स्वभाव पड़ जाता है, कि गिरगिट को देखते ही उसे पत्थर से-अशुभ दर्शन समझकर मार डालते हैं और उस नीच प्राणी के मारने में पाप भी नहीं समझते। ऐसे ही प्राणियों को लक्ष्य करके श्रुति गिरगिट के भी मारने का निषेध करती है, कि अन्य दिन तुम गिरगिट को मार भी देते हो, तो भी अमावस्या के दिन इस सोमदेव के सन्मानार्थ उसे भी उस दिन न मारना। इस प्रकार चन्द्रमा की सोलह कलाओं के पूर्ण होने में एक मास लगता है। ऐसे बारह मास का एक संवत्सर होता है। यही संवत्सर उस प्रजापति का स्वरूप है जिसके वाणी, मन और प्राण अन्न हैं। यही चन्द्र विद्या है। अर्थात् इस संवत्सर को प्रजापति का ही रूप समझ कर उपासना करे। अब इस षोडश कलायुक्त चन्द्र विद्या की उपासना करने का फल क्या होता है, इसे बताते हैं। जो उपासक इस षोडश कलायुक्त संवत्सर नामक प्रजापति की उपासना करता है, जो इस प्रकार संवत्सर के स्वरूप को जान लेता है, उसे वित्त की पन्द्रह कलायें तथा सोलहवीं जो आत्म कला है उन्हें प्राप्त कर लेता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आपने चन्द्रमा की अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टी, पुष्टी, रती, धृती, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ती,

ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा और पूर्णा ये क्षय वृद्धि होने वाली पन्द्रह कलायें बतायीं और सोलहवीं पूर्णामृता को ध्रुवा (स्थायी रहने वाली) बताया। ऐसे ही मानव वृत्ति की १५ कलायें और एक स्थायी रहने वाली सोलहवीं कला कौन-सी है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! मनुष्यों में १५ वस्तुएँ ही धन मानी जाती हैं। वे पन्द्रह वस्तुएँ ये हैं—(१) गौ, (२) भैंस, (३) घोड़ा, (४) हाथी, (५) भेड़, (६) बकरी, (७) भूमि, (८) सुवर्ण, (९) चाँदी, (१०) मोती, रत्न, (११) वस्त्र, (१२) आभूषण, (१३) अन्न औषधि, (१४) राज्य तथा (१५) साम्राज्य। जैसे चन्द्रमा की पन्द्रह कलायें क्षय और वृद्धि धर्म वाली हैं, कृष्ण में घट जाती हैं, शुक्ल पक्ष में बढ़ जाती हैं। उसी प्रकार ये गौ भैंस आदि द्रव्य क्षय वृद्धिकारक हैं कभी घट जाते हैं कभी बढ़ जाते हैं। जैसे चन्द्रमा की एक ध्रुवा नाम वाली सोलहवीं कला उसके पास स्थायी रहती है, वैसे ही मनुष्य का जो यह आत्मा है-देह है-शरीर है-यह धन घट बढ़ जाय तो भी यह बना ही रहता है धन से ही आदमी चन्द्रमा की भाँति घटता बढ़ता रहता है। धन बढ़ जाय तो लोक में उससे भाग्यवान् धनवान बड़ा आदमी कहने लगते हैं। धन क्षीण हो जाय तो उसे निर्धन अभागा छोटा आदमी कहते हैं। साधक का यह शरीर रथ के चक्र की नाभि के सदृश है। पहिये के बीच में जो पुट्ठी लगी रहती है। जिसमें सभी ओर-आड़ी-बेड़ी लकड़ियाँ लगी रहती हैं, उसके सदृश है और ये पन्द्रह धन उन नेमि-लकड़ियों के सदृश हैं जो चारों ओर से पुट्ठी में जड़ी रहती हैं। इसीलिये यदि पुरुष का सभी प्रकार का धन नष्ट हो जाय-सर्वस्व अपहरण हो जाय किन्तु रथ की पुट्ठी की भाँति शरीर शेष रह जाय, तो लोग यही कहते हैं अजी, कोई बात नहीं, पहिये की लकड़ियाँ ही टूटी हैं। पुट्ठी

तो ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं नेमि लकड़ियाँ फिर और लग जायँगी। इसी प्रकार कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की कलाओं के समान सोना, चाँदी, गो, घोड़ा ये कलायें क्षीण भी हो जायँ तो शुक्ल पक्ष मे ये कलायें फिर बढ़ जाती हैं उसी प्रकार चन्द्र विद्या की महिमा के प्रभाव से मनुष्य की ये समस्त कलायें शरीर के रह जाने पर पुनः पूर्ण हो जायँगी। इस प्रकार प्रसंगानुसार चन्द्र विद्या और उसका फल बता दिया।

पीछे प्रजापति के वाणी, मन और प्राण तीनों अन्नों की तीनों लोको से समता की थी। जैसे वाणी ही मनुष्यलोक है। मन ही पितृलोक है और प्राण ही स्वर्ग देवलोक है। उसी की व्याख्या करते हुए तीनो लोकों की प्राप्ति के साधनों को बताकर देव लोक की उत्कृष्टता का अब कथन करते हैं। भगवती श्रुति कहती है—

लोक तीन ही हैं। मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक। अब इस मनुष्य लोक पर विजय प्राप्त करने का साधन एक ही है, वह पुत्र है। पुत्र के बिना इस लोक में गति नहीं। पुत्र के अतिरिक्त यह लोक किसी अन्य कर्म से नहीं जीता जा सकता।

शौनकजी पूछा—"पुत्र से यह लोक कैसे जीता जाता है?"

सूतजी बोले—"भगवन्! पुत्र होता है, धर्मपत्नी में। विवाह हो तभी धर्मपत्नी आवे। संसार में तीन ही सुख हैं, रति सुख, धन सुख और परलोक सम्बन्धी धर्म सुख। रतिसुख पत्नी से प्राप्त होता ही है। जब पत्नी होगी तो उसके लिये धन भी जुटाना आवश्यक होता है। पत्नी द्वारा पुत्र की प्राप्ति होती है। वह इह लोक तथा परलोक दोनों का ही उत्तराधिकारी होता है। पुत्र उसे कहते हैं, पिता के जीवन में तो उसकी आज्ञाओं का

पालन करे। पिता के मरने पर मरण के दिन हृदय खोलकर बहुत से लोगों को भोजन करावे और गयाजी में जाकर पितरों को पिंडदान दे आवे। जो ये तीन काम करता है। वही वास्तव में पिता का यथार्थ पुत्र है। इसलिये इस मनुष्य लोक का यथार्थ सुख पुत्र है। यह मनुष्य लोक पुत्र से ही जीता जा सकता है। इसलिये लोग बहुत पुत्रों की कामना किया करते हैं, कि उनमें से कोई भी एक जाकर पितरों का गया में श्राद्ध कर आवेगा। कोई एक भी पितरों के नाम से नीला साँड़ छोड़ देगा।"

शौनकजी ने पूछा—"मनुष्यलोक तो पुत्र के द्वारा जीता जा सकता है। पितृलोक किसके द्वारा जीता जाता है?"

सूतजी ने कहा—"पितृलोक कर्मों द्वारा जीता जा सकता है। स्वर्ग और अन्तरिक्ष के बीच में पितृलोक है। वह अग्निहोत्र, दर्श पूर्णिमा और श्राद्धादि कर्मों से ही जीता जा सकता है। पुत्र से अथवा विद्या से नहीं जीता जा सकता।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वर्ग लोक किससे जीता जा सकता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मलोक पर्यन्त के सभी लोक देवलोक ही कहाते हैं। ये लोक तो केवल विद्या द्वारा ही जीते जा सकते हैं। तीनों लोकों में देवलोक ही सर्वश्रेष्ठ लोक हैं। वे बिना विद्या के प्राप्त नहीं होते। अतः शास्त्रों में सर्वत्र विद्या की ही प्रशंसा है। और विद्या उसी को कहते हैं जो हमें मुक्ति तक पहुँचा दे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने संक्षेप में तीनों लोकों की प्राप्ति के साधन सुनाये अब आगे मनुष्य लोक पुत्र द्वारा कैसे जय का हेतु है इसे बताने के निमित्त कैसे सम्प्रति कर्म और उसके परिणाम को बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

मनुज, पितर, सुर तीनि-लोक नरलोक जयी सुत।
पितृ लोक जय करै कर्म तैं पिण्ड श्राद्ध युत॥
देवलोक पै करै विजय विद्या तैं साधक।
सब लोकनि तैं श्रेष्ठ लोकसुर अति सुख दायक॥
'उद्धा तैं ही ज्ञान है, ज्ञान मुक्ति को द्वार है।
कहैं कर्म सम्प्रत्ति कूँ, जातै नर उद्धार है॥

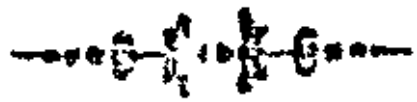

प्रजापति के तीनों अन्नों का अर्थ (३)

[२१३]

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च देवी वागाविशति सा वै देवी चाग्नया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥*

(बृ० उ० १ ब० ४ ब्रा० १८ मं०)

अन्वय

मरनशील पितु कहे—पुत्र ! तू मल, लोम, मांस !
सुनि सुत हाँ कहि देत नख-स्वाध्याय, यज्ञ-मख ॥
होहिं लोक ही लोक गृही करतव्य यही है।
पुत्र लोक्य तिहि देह व्याप्त पितु तामें है है ॥
यदि प्रमादवश पिता तैं, रहे शेष करतव्य है।
पुत्र ताहि पूरन करै, पिता पुत्र तैं अमर है ॥

इस संसार में दो ही मार्ग हैं। मार्ग को ही पन्था, अध्वा सम्प्रदाय कहते हैं। वे दो मार्ग हैं, कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग। तीसरा एक बीच का उपासना मार्ग भी है। उसी को भक्ति मार्ग निष्काम कर्म मार्ग, तदर्थ कर्ममार्ग, प्रवृत्ति मार्ग, शरणागति मार्ग आदि नामों से पुकारते हैं। इसे कर्म करते हुए गृहस्थ भी कर

---

* सम्प्रति कर्म करने वाले में पृथ्वी और अग्नि से देवी वाक् का आवेश हुआ करता है। देवी वाक् की परिभाषा यही है, कि साधक अपनी वाणी से जो-जो भी वचन बोले वही-वही तुरन्त हो जाय

सकते हैं और कर्म त्यागी संन्यासी भी कर सकते हैं। कर्म मार्ग में तो द्विजातियों का ही अधिकार है, किन्तु इस भक्ति मार्ग या निष्काम कर्म योग मार्ग के अधिकारी तो द्विज, द्विजबन्धु, स्त्री तथा शूद्र सभी हैं।

कर्म तो बन्धन का कारण है, उसकी इतनी प्रशंसा क्यों है, समस्त वेद कर्म परक ही हैं, एक लक्ष श्रुतियों में चौरानवे सहस्र कर्म का ही उपदेश करती हैं। इसीलिये मीमांसक लोग कहते हैं वेद कर्म मार्ग का ही प्रतिपादन करते हैं। जब तक जीवित रहो, वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते ही रहो। जीवन पर्यन्त यज्ञ यागादि शुभ कर्मों का भूल से भी परित्याग न करो।

ज्ञान मार्ग वाले कहते हैं—"कर्म अदृढ़—टूटी फूटी—नौका है। उसके द्वारा तुम कभी भी संसार सागर से पार नहीं हो सकते। संसार से पार होने का एक मात्र साधन ज्ञान है। ज्ञान के बिना संसार बन्धन से मुक्ति नहीं। अतः जब भी जहाँ भी गृह में अथवा वन में वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी समय वहीं समस्त कर्मों को त्यागकर यति—संन्यासी बन जाना चाहिये।"

बात दोनों ही सत्य हैं, किन्तु कर्मों का त्यागना कोई सहज काम तो है नहीं। जो जीव जन्म से ही कर्मासक्त है, कर्म संगी है, जो एक क्षण भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। उससे आप कैसे आशा करेंगे, कि वह समस्त इहलौकिक तथा पारलौकिक कर्मों का परित्याग करके सर्वथा निष्काम हो जाय? इसलिये जीव जब जन्म लेता है तभी पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा उसके हृदय में चिपटी रहती हैं। ब्रह्माजी ही एक शरीर से दो बन गये। शरीर का आधा भाग पुरुष और आधा भाग स्त्री। अतः स्त्री पुरुष के बिना आधी है और पुरुष स्त्री के बिना आधा है। जब दोनों मिल जाते हैं, तभी वे अपने

को पूर्ण समझते हैं। अधूरा कौन-रहना चाहेगा। क्योंकि यह जीव पूर्ण का अंश है। इसलिये यह भी पूर्ण ही होना चाहता है।

जब पुरुष पूर्ण हो गया तब वह निर्वाह के लिये धन चाहता है और अपने उत्तराधिकार के लिये पुत्र चाहता है। पुत्र पिता दो नहीं एक ही हैं। पिता की आत्मा ही पुत्र है। पुत्रेषणा और वित्तेषणा के अनन्तर पुरुष की इच्छा होती है, मैं स्वर्गादि पुण्य लोकों को जीतूँ। इसके लिये वह वेदाध्ययन, यज्ञादि पुण्य कर्मों को करता है, जिससे उसे मरने के अनन्तर पुण्य लोक प्राप्त हों। जीवन में कुछ काम अधूरे रह जाते हैं, जैसे जिस काम को आज पूरा नहीं कर सके, उसे सोचते हैं—"कल पूरा कर लेंगे।" किन्तु पुरुष जब मरने लगता है, तब अपनी ही आत्मा-अपने ही स्वरूप पुत्र से यह आशा रखता है। मेरे बचे हुए कार्यों को पुत्र पूरा करेगा। मेरे वेदाध्ययन, यज्ञ और लोक सम्बन्धी कार्यों का उत्तराधिकार भी यह वहन करेगा। क्योंकि पिता और पुत्र तो एक ही हैं। पुत्र के किये हुए कर्म का फल पिता को भी मिलता है।

एक बार देवर्षि नारद धर्मराज युधिष्ठिर की सभा में पधारे। उन्होंने सब लोक पालों की पुरियों का वर्णन किया और उनमें कौन-कौन लोग रहते हैं इसका भी वर्णन किया। तब धर्मराज ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपको मेरे पूज्य पिताजी भी कहीं मिले थे क्या?"

नारदजी ने कहा—"धर्मराज! वे मुझे स्वर्ग में देवराज इन्द्र की सभा में मिले थे। उन्होंने तुम्हारे लिये एक सन्देश भेजा है। उसे ही कहने मैं तुम्हारे पास आया हूँ तुम्हारे पिता ने कहा है—"और तो यहाँ सब ठीक ही है, किन्तु राजा हरिश्चन्द्र

जब देवराज इन्द्र के सिंहासन पर उनके बराबर बैठते हैं, और हमें उनके नीचे बैठना पड़ता है, तो इससे हमें महान् कष्ट होता है। हरिश्चन्द्र इसलिये देवराज के बराबर बैठते हैं, कि उन्होंने राजसूय यज्ञ किया है। आप मेरे पुत्र युधिष्ठिर से कह दें कि वह जैसे हो तैसे राजसूय यज्ञ करे। जिससे मुझे भी बैठने को इन्द्र का आधा सिंहासन मिले।"

इससे सिद्ध होता है, कि पिता जिस कार्य को जीवन में नहीं कर सका, उसे यदि उसका पुत्र कर देता है, तो उसका फल स्वर्गीय पिता को भी प्राप्त हो जाता है। इसीलिये पीछे कहा गया है, यह मनुष्य लोक सत्पुत्र द्वारा ही जीता जा सकता है। वह कैसे जीता जाता है। सम्प्रति कर्म द्वारा। संप्रत्ति कर्म क्या है इसी का वर्णन आगे किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मनुष्यलोक पुत्र के कारण ही जीता जा सकता है। वह संप्रत्ति कर्मानुसार।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! संप्रत्ति किसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! सम्प्रत्ति, सम्प्रदान को कहते हैं। किसी के लिये कोई वस्तु दी जाती है। उसी का नाम संप्रदान है। पिता जब मरने लगता है, तो अपना उत्तराधिकार पुत्र को देता है। अर्थात् जिन कार्यों को अब तक मैं करता था उन कामों को मेरे पश्चात् तुम करते रहना। इसी कर्म को सम्प्रत्ति कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"पिता पुत्र को किस प्रकार अपना उत्तराधिकार सम्प्रदान करता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! शरीर के लक्षणों को देखकर जब पिता को यह विश्वास हो जाता है, कि अब मेरी मृत्यु हो जायगी। तब वह अपने सुयोग्य पुत्र को अपने समीप बुलाकर

कहता है—"देखो, बेटा ! तुम ही ब्रह्म अर्थात् वेद हो, तुम ही यज्ञ हो और तुम ही लोक हो।" अर्थात् जैसे मैं अब तक वेदाध्ययन करता था, वैसे ही तुम भी निरालस्य होकर वेदों का अध्ययन करते रहना। जिस प्रकार मैं नियमित समय पर यज्ञ करता था। वैसे ही तुम भी करते रहना जैसे मैं पुण्य लोकों की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहा हूं वैसे ही तुम भी रहना।"

पिता के ये वचन सुनकर इसके प्रत्युत्तर में पुत्र कहता है—"पिताजी ! मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूं और मैं लोक हूँ। अर्थात् आपकी आज्ञानुसार मैं वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ और बलिवैश्वदेव तथा पुण्य लोकों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहूँगा।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मैं ब्रह्म हूँ मैं यज्ञ तथा लोक हूँ। इसमें ब्रह्म का अर्थ परब्रह्म ही क्यों नहीं मान लिया जाय।"

सूतजी ने कहा—'भगवन् ! भगवती श्रुति स्वयं ही इनकी व्याख्या करती हुई बताती है कि यहाँ जो 'ब्रह्म' शब्द है इससे जो भी कुछ स्वाध्याय है उसी से यहाँ अभिप्राय है। और जितने भी यज्ञ हैं उन सब की एकता यज्ञ शब्द में है। जितने भी पुण्य लोक हैं, उनकी एकता लोक शब्द से है। इसलिये गृहस्थ का ही कर्त्तव्य है। वह विधिवत् वेदाध्ययन करे। शक्ति के अनुसार इतना यज्ञों का अनुष्ठान करे और पुण्यलोकों की प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील बना रहे।

जब पुत्र पिता की दी हुई सम्पत्ति को सप्रदान को स्वीकार कर लेता है, तब पिता यह मानने लगता है कि यह मेरा सत्पुत्र है, यह मेरे इस भार को सम्हाल लेगा। मैं जब इस लोक से प्रस्थान कर जाऊँगा तब यह पीछे से मेरा पालन करेगा, मुझे पिंड प्रदान और तर्पण द्वारा तृप्त करेगा। मुझे पुण्य लोक प्राप्त

कराने में सहायक होगा। इसीलिये इस प्रकार अनुशासित सत् पुत्र को लोक्य कहते हैं। लोक्य का अर्थ हुआ पुण्यलोक प्राप्त कराने में हितकर। इसीलिये पिता उस सत्पुत्र का अनुशासन करता है। उसे जब भली-भाँति ज्ञात हो जाता है, कि यह पुत्र मेरी आज्ञाओं का पालन करेगा, तो वह परलोक जाते समय इन्हीं प्राणों सहित पुत्र में व्याप्त हो जाता है। अर्थात् पुत्र पिता का प्रतिकृति ही बन जाता है। वह पिता के समस्त कार्यों का प्रतिनिधि होता है। पिता किसी से ऋण लेकर चुका नहीं सका है तो पुत्र उस ऋण को चुकाता है। किसी को ऋण देकर उससे ले नहीं सका है तो पुत्र उस ऋण को उससे प्राप्त करता है। कोई यज्ञ अनुष्ठान करना चाहता था, किन्तु मरण काल पर्यन्त उसे नहीं कर सका, तो उसे पुत्र रूप में पूर्ण करता है। कहने का सारांश इतना ही है, कि पिता प्रमादवश या अन्य किसी कारण से जो काम नहीं कर सका या अधूरा कर सका, तो उसे पुत्र पूर्ण करके पिता को चिन्ता मुक्त कर देता है। इसी से उसका नाम पुत्र है (अवशिष्ट कार्य पूरणेन-त्रायते-इति पुत्रः) पुत्र का यही पुत्रत्व है। अपने पिता के बचे हुए छिद्रों को भरकर पिता को पाप से बचा ले। उसे पुं नामक नर्क में न जाने दे। क्योंकि पुत्र के द्वारा ही पिता इस लोक में प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार जिस पिता ने अपने पुत्र में सम्प्रति कर्म-अर्थात् सम्प्रदान कर्म-किया है। उस पिता में ये वाणी, मन और प्राण देवी भाव से-हिरण्य गर्भ सम्बन्धित अमृत-प्रवेश करता है। अर्थात् अमरण धर्मा प्राण जो देवताओं में होते हैं-वे अविष्ट हो जाते हैं। वे अमरण धर्मा वाणी, मन और प्राण किस भाँति अविष्ट होते हैं-उस प्रकार को बताते हैं—

इस बात को पीछे बता चुके हैं वाणी का शरीर तो पृथ्वी

है और अग्नि उसके अधिष्ठातृ देव हैं। अब जब यह भौतिक शरीर त्यागकर पुत्र द्वारा इस लोक से कृत-कृत्य होकर पुण्य लोक में पहुँचा तो आधिभौतिक मानुषी वाक् के स्थान में इसमें सूक्ष्म अग्नि और सूक्ष्म पृथ्वी द्वारा दैवी वाणी का प्रवेश होता है। अर्थात् मानुषी वाणी के स्थान में इसमें दैवी वाणी का आवेश होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"दैवी वाणी किसे कहते है ?"

सूतजी ने कहा—"इसकी व्याख्या श्रुति स्वयं करती है। मानुषी वाणी तो कभी असत्य भी हो जाती है, किन्तु दैवी वाणी उसे कहते हैं जिससे पुरुष जो-जो भी बोलता है, वही-वही हो जाता है। जिसे शाप दे-दे उसे वह शाप लग जाता है। जिसे जैसा भी वरदान दे-दे, वह ज्यो का त्यों सफल हो जाता है। उसमें अनृत तथा अशुद्धादि दोष नहीं रहते। दैवी वाणी के अनन्तर उसमें दैवी मन का आवेश होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"दैवी मन का उस कृत-कृत्य हुए परलोक वासी माहात्मा में आवेश कैसे होता है ?"

सूतजी ने कहा—"पीछे बता ही आये हैं, कि मन का द्युलोक तो शरीर है और आदित्य इसके अधिष्ठातृदेव हैं। अतः द्युलोक और आदित्य द्वारा इसमें दैव मन का आवेश होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"दैव मन की परिभाषा क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"दैव मन वही कहलाता है, कि जिससे यह आनन्द को प्राप्त होता है सदा आनन्दी ही बना रहता है। कभी शोक नहीं करता। इस प्रकार दैवी वाणी और दैवी मन के प्रवेश के अनन्तर इसमे दैवी प्राण ने भी प्रवेश किया।"

पीछे बता ही चुके हैं इस प्राण का शरीर तो जल

चन्द्रमा अधिष्ठातृ देव है। तो जल और चन्द्रमा द्वारा दैव प्राण का इसमे प्रवेश हुआ।

शौनकजी ने पूछा—"दैव प्राण की क्या परिभाषा है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्राण का कार्य सचार करना है दैव प्राण संचार कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, वह कभी भी किसी भी दशा में व्यथित नही होता। और न वह नष्ट ही होता है।"

इस प्रकार दैवी वाणी, दैव मन और दैव प्राण प्राप्त करके वह महात्मा कृत-कृत्य हो जाता है। जो उपासक इस प्रकार दैव वाक्, दैव मन और दैव प्राण के रहस्य को जानकर उपासना करता है, वह समस्त भूतों का आत्मा हो जाता है। वह देवताओं के सदृश ही हो जाता है। जिस प्रकार समस्त प्राणी देवों की आज्ञा का पालन करते हैं अर्थात् यज्ञादिकों मे आहुति देकर उन्हें पुष्ट करते हैं वैसे ही समस्त प्राणी इसका पालन पूजन आदि करते हैं। मनुष्यों के दिये हुए उपहार इसे प्राप्त होते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब इस परलोकगत महात्मा को प्रजाओं के पुण्य प्राप्त होते हैं, तो उनके शोक जनित दुःख भी इसे प्राप्त होते होंगे ?"

सूतजी ने कहा—"नहीं भगवन् ! दिव्य पुरुषों को दिव्य ही वस्तुएँ प्राप्त होती है, प्रजा के लोग जो शोक करते हैं, वह शोक जनित दुःख तो उन्हीं के पास रहता है। उसका उपभोग तो प्रजा के लोग ही करते हैं, किन्तु जो वे पुण्य करते हैं, वह पुण्य इसे प्राप्त होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ऐसा क्यों ? मीठा-मीठा गप्प-गप्प। कड़वा-कड़वा थू-थू ?"

सूतजी ने कहा—"जैसा पुरुष होता है उसे वैसी ही वस्तु

प्राप्त होती है। पाप का तो वे परित्याग करके ही आये हैं। इस-लिये पाप उनके पास पहुँचता ही नहीं। वे तो पुण्यात्मा हैं अतः पुण्य ही उनके पास पहुँच सकते हैं। पुण्यात्मा देवताओं को पाप स्पर्श नहीं कर सकते। इस प्रकार वाक्, मन और प्राण जो प्रजा-पति के अन्न हैं, इनका महत्व बताया।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रजापति के जो तीन अन्न हैं—वाक्, मन और प्राण—इनका समान भाव से गुण वर्णन किया। अब इन तीनों में प्राण ही श्रेष्ठ है। इस बात को बताने के लिये—प्राण का श्रेष्ठत्व सिद्ध करने के लिये—आगे व्रत मीमांसा कही जाती है। इसमें जिस प्रकार अध्यात्म प्राण प्रदर्शन किया जायगा, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

रूपक

भूमि अग्नि आवेश वाक् दैवी को होवै।
दैवी है वह वाक् कहे जो-जो सो होवै॥
स्वर्ग सूर्य आवेश दैव मन को है जावै।
वही देव मन जासु शोक भय दुख नसि जावै॥
दैव प्रान आवेश जल, और चन्द्रमा में कह्यो।
दैव प्रान सचार तै, नसै न ज्यों को त्यों रह्यो॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा (१०८ खण्डों में)—९४ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १ ६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६ ५०

३—सटीक भागवत चरित (दो खण्डो मे)— एक खण्ड का मू० ११ ००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३.४५

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २ ५०

७—कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २ ५०

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओ का पालन कैसे करें मू० २ ५०

१०—श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डो मे)— प्रथम खण्ड का मू० १.६०

११—नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ० ६०

१२—श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ० ६१

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ० ३१

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, मू० ०.३१

१६—भारतीय सस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७—राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ०.४०

१८—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३१

१९—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों मे) मू० ०.२५

२०—भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४.०० द्वितीय खड मू० २ ५०

२१—सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दों सहित मू० ० ७१

२२—प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२० २५—प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२१

२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२ २६—श्री हनुमत्-शतक— मू० ० ५०

२४—सार्थ छप्पय गीता—मू० ३.०० २७—महावीर-हनुमान्— मू० २ ५०

पता—सकीर्तन भवन कूडी (प्रयाग)

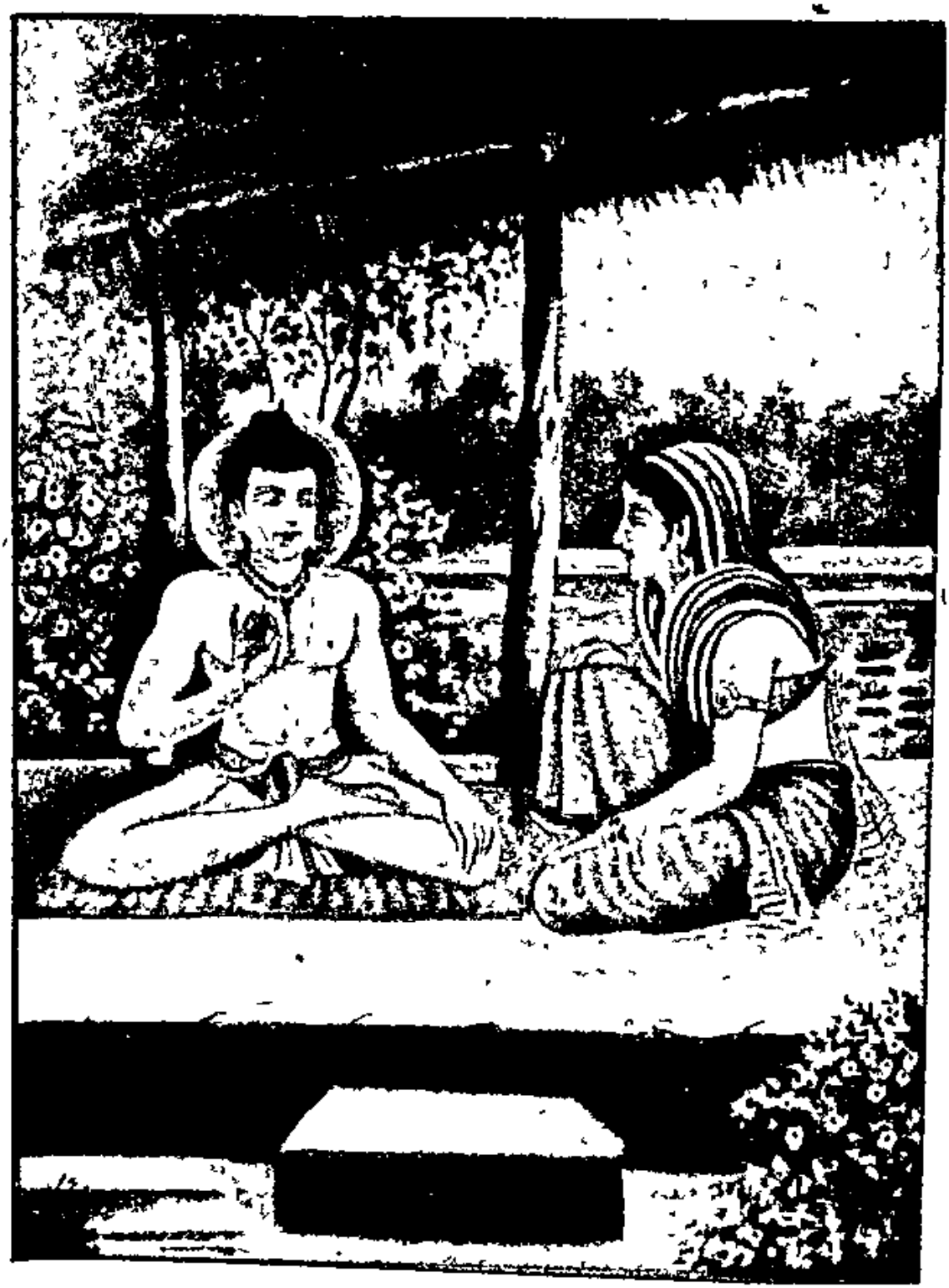

ज्ञानोपदेश

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६५

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २ ० रुपया

प्रथम सस्करण १००० } मई १९७२ ज्येष्ठ स०-२०२९ { मूल्य : १.६५

मुद्रक—वशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगज प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
संस्मरण (१४)	१
१. व्रत मीमांसा तथा प्राणों की श्रेष्ठता	२४
२. नाम, रूप, कर्म विवेचन	३४
३. गार्ग्य अजातशत्रु सम्वाद (१)	४१
४. गार्ग्य अजातशत्रु सम्वाद (२)	५१
५. गार्ग्य को जनक द्वारा ब्रह्म का उपदेश	६१
६. शिशु नाम से मध्यम प्राण की उपासना	७३
७. ब्रह्म के दो रूप	८३
८. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-सम्वाद	९४
९. सब की आत्मस्वरूपता	१०१
१०. मैत्रेयी की शंका का समाधान	११२
११. मधु-विद्या	११७
१२. ब्रह्मविद्या-मधुविद्या की स्तुति	१२३
१३. ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय परम्परा	१३२
१४. जनक यज्ञ में याज्ञवल्क्य और अश्वल का शास्त्रार्थ(१)	१४७
१५. जनक यज्ञ में याज्ञवल्क्य और अश्वल का शास्त्रार्थ(२)	१५१
१६. जनक यज्ञ में याज्ञवल्क्य और अश्वल का शास्त्रार्थ(३)	१५९
१७. याज्ञवल्क्य और जारत्कारव आर्तभाग का शास्त्रार्थ	१६३
१८. याज्ञवल्क्य और लाह्यायनि भुज्यु का शास्त्रार्थ	१७९
१९. याज्ञवल्क्य और उषस्त का शास्त्रार्थ	१८६

(१४)

माँ गंगा की गोद में

निराकार भजन्ते के नराकार तथापरे।
चयंतु तापसैस्तप्ताः निराकार मुपास्महे ॥*

छप्पय

निरगुनियाँ धरि ध्यान ब्रह्म निरगुन कूँ ध्यावै।
ज्योति लखे हरषायँ और जा कछु ही पावै॥
ध्यावै कोई मोरमुकुट वंशीधर यदुवर।
कोई सीयालखन सहित ध्यावै धनुधर वर॥
निरगुन सरगुन होहिँ भल, नहिँ हम जा चक्कर परहिँ।
त्रिविध ताप तैं तपित हम, शीतल जल युत मो भजहिँ॥

माँ! गंगे! न जानें कितने सतप्त प्राणियों को तुमने शान्ति दान की है। जगज्जननी! तुम कितनी सहनशीला और समदर्शिनी हो। योग्य-अयोग्य, पंडित, मूर्ख, छोटे बड़े सभी तुम्हारी सन्तानें हैं, सभी पर तुम्हारी ममता है। ज्ञान के भंडार ऋषि

* कोई तो बिना आकार वाले निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, कोई राम, कृष्ण वामनादि नराकृति परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करते हैं। हम तो भैया! संसार त्रिविध तापों से तपे हुए जल रूप में, गंगा के रूप में ब्रह्म द्रव है, उसकी उपासना करते हैं।

मुनियों ने तुम्हारे तट पर निवास करके शान्ति का अनुभव किया है। दुखियों ने अपने दुःखों को भुलाया है, पापियों ने आपकी शरण में आकर पापों का प्रक्षालन किया है। माँ! तुम पापी, तापी संतापी सभी को शरण देती हो, सभी के दुःखों को दूर करती हो। जीते ही नहीं मरणोपरान्त भी आपकी क्रोड़ में आकर पापी से पापी भी शान्ति पाते हैं। माँ! तुम सतत बहती ही रहती हो, बहती ही रहती हो, मानो विश्राम करना तुमने सीखा ही नहीं। बिना थके तुम चलती ही रहती हो, पल भर को भी रुकती नहीं। माँ! ऐसी कौन-सी व्याग्रता है तुम्हें? तुमतो सागर के साठ सहस्र सुतों का उद्धार करने स्वर्ग से अवनि पर आई थीं। उनका उद्धार कर चुकीं, अब इतनी शीघ्रता क्यों कर रही हो, क्यों निरन्तर चलती ही रहती हो। तनिक तो विश्राम कर लिया करो। किन्तु माँ! तुम्हारे लिये तो सभी सगर के सुत हैं। सभी विषय रूपी विष-गर के सहित उत्पन्न होते हैं (सूयते+ इति सुतः) जब सभी में पाप रूपी विष भरा है तो सभी सगर सुत हैं। तुम्हें तो सभी का उद्धार करना है। इसीलिये तुम सतत व्यग्र बनी रहती हो।

माँ! तुमने बड़े-से-बड़े पापियों का उद्धार किया है। जननी! तुम पापियों से घबड़ाती नहीं। सभी तुम्हारी सन्तानें ही हैं। ये जो राजनैतिक जन्तु जीवन में कैसे अकड़ते रहते हैं-हम गंगा-फंगा को नहीं मानते।" मरने पर उनकी जली हुई अस्थियों को भी माँ! तुम शरण देती हो। कितनी दयामयी हो माँ! कितनी कृपा की मूर्ति हो माँ। मैंने भी तुम्हारे चरणों की शरण गही है और शान्ति का अनुभव किया है। माँ! यही प्रार्थना है, अन्त तक ऐसे ही निभा लेना। इस नश्वर शरीर को अपनी निर्मल नीर में एकीभूत कर लेना। माँ! तुम्हारे बिना जीव का अन्य

आश्रय कहाँ है ? तभी तो राज्यपाट का परित्याग करके राजर्षि महाराज परीक्षित् ने आपके चरणों की शरण ली थी। अन्त समय में आपकी पद धूलिका सेवन किया था और उन्होंने मुनि मंडली के मध्य में चिल्लाकर कहा था—

या वै लसच्छ्रीतुलसीनिमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्ता न सेवेत मरिष्यमाणः ॥

माँ गंगाजी की उत्पत्ति हमारे श्यामसुन्दर के अरुण-चरण के चरण कमलों से हुई है। वहाँ से वे चरण कमलों की पावन पुनीत पराग के सहित तथा चरणारविन्दों में चढ़ी तुलसी की मधुर पाप ताप हारी सुगन्ध सहित वहाँ से चलीं। उनका प्रवाह वहाँ से विष्णुलोक से प्रवाहित होकर पृथ्वी पर आया। यही कारण है, कि वे ऊपर के लोकों को लोकपालों सहित पवित्र करती हैं तथा नीचे के भी समस्त लोकों को पावन बनाती हैं। ऐसी परमपावनी कलिमलहारिणी जगदुद्धारिणी कल्मषकाटिनी माँ जाह्नवी को ऐसा कौन पुरुष होगा जिसकी मृत्यु निकट आ रही हो—जो मरणासन्न हो—वह उन माता का सेवन न करेगा ?"

जान में अनजान में कैसे भी माँ गंगा का सेवन करने से चित्त में एक प्रकार की प्रफुल्लता आती है। कारावास से छूटकर आया, तो मन में एक प्रकार की अशान्ति थी। राजनैतिक पुरुषों के आचरणों से चित्त उद्विग्न था। मेरा उद्देश्य राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने का कभी नहीं रहा। मैं तो स्वदेश में स्वराज्य हो—धर्मराज—रामराज—हो इस उद्देश्य से स्वतन्त्रता संग्राम में कूदा था। मेरे जीवन का उद्देश्य तो आरम्भ से ही प्रभु प्राप्ति—

धार्मिक सम्पत्ति का अर्जन–ही था। बाहर जब सर्वत्र निराशा–जनक शांति का वातावरण था, तब मेरे मन में आया, चलो भगवती भागीरथी के तट पर एक मास निवास करके चान्द्रायण व्रत का अनुष्ठान करें।

तब तक चान्द्रायण व्रत के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन तो किया नहीं था। यही सुन रखा था, कि जैसे-जैसे चन्द्रमा की कला बढ़े तैसे-तैसे एक से लेकर पन्द्रह ग्रास तक बढ़ाना, फिर पूर्णिमा से एक-एक ग्रास घटाते-घटाते अमावास्या को उपवास करना। इसे यव चान्द्रायण कहते हैं। जैसे जौ दोनों ओर पतला होता है, और बीच में मोटा होता है। तब तक पिपीलिका और समचान्द्रायण या यति चान्द्रायण का ज्ञान नहीं था।

चान्द्रायण व्रत तीन प्रकार का होता है। (१) यव चान्द्रायण (२) पिपीलिका चान्द्रायण और (३) तीसरा सम चान्द्रायण अथवा यति चान्द्रायण। यव चान्द्रायण अमावास्या से आरम्भ होता है। अमावास्या को कुछ न खाय प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास से बढ़ाते-बढ़ाते पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास। फिर एक-एक घटाते-घटाते अमावास्या को कुछ नहीं, बीच में मोटा (१५ ग्रास) होने से और दोनों अमावास्याओं को पतला होने से इसे यव चान्द्रायण कहते हैं। ग्रास कितना बड़ा हो उसके लिये लिखा है उतना बड़ा हो जितना बड़ा मुर्गी का अंडा (कुक्कुटांडवत् प्रमाणम्) सामान्यतया दो तोले का हो। न कोई ग्रास बड़ा हो न छोटा सभी ग्रास एक से हों। वे हविष्यान्न के हों। जैसे पूड़ी परामठे का चूरमा बना लिया या दूध के खोये के ग्रास बना लिये ग्रासों को कांटे में तौल कर बनावे।

पिपीलिका चान्द्रायण पूर्णिमा से आरम्भ होता है। पूर्णिमा को १५ ग्रास फिर घटाते-घटाते अमावास्या को एक भी

नहीं। फिर शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से एक-एक बढ़ाते बढाते पूर्णिमा को फिर १५ पर आजाय जैसे चींटा बीच मे पतला होता है दोनो ओर मोटा होता है, ऐसे ही यह है इसलिये यह पिपीलिका चान्द्रायण होता है। यह स्वाभाविक है, वैज्ञानिक है। इसमे कोई भय की बात नहीं। यत्र चान्द्रायण मे चौदस को खब भर पेट खाया अमावास्या को उपवास फिर एक एक बढाकर पूर्णिमा को १५ फिर घटाकर अमावास्या को कुछ नहीं। फिर भूख लगती ही है मनुष्य अधिक खा जाते हैं बहुतो की मृत्यु हो जाती हैं। मैं स्वय मरते-मरते बचा। इस पिपीलिका चान्द्रायण मे कोई भय नहीं। चौदस को भर पेट खाया पूर्णिमा को १५ ग्रास मिल गये। सामान्यतया १५ ग्रासो मे पूरा आहार हो जाता है। ६ छटाक पर्याप्त है। फिर क्रमशः घटता है और क्रमशः बढकर पूर्णिमा को फिर १५ पर आ जाते हैं इससे दूसरे दिन अधिक भी खाले तो वैसा विशेष प्रभाव नहीं पडता। फिर भी व्रत के पश्चात् १५ दिन सावधानी की नितान्त आवश्यकता है।

तीसरा सम चान्द्रायण है। पिछले दोनो चान्द्रायणो में सब २४० ग्रास होते हैं। सम चान्द्रायण में २४० को ३० दिन में बाँट दे। तो नित्य ८ ग्रास होते हैं। इसमे घटाने बढाने की आवश्यकता नहीं। नित्य आठ ग्रास खाले। संन्यासी को जीवन पर्यन्त नित्य आठ ग्रास ही खाने का विधान है। इसीलिये इसे यति चान्द्रायण भी कहते हैं। वैसे तो नमक न खाने मे, जाड़े मे करने से एक बार ही पानी पी लेने से पुनः पानी पीने की इच्छा नहीं होती, किन्तु बीच में जल पीने की इच्छा हो तो जल पी भी सकता है। हमे तीनों का भेद तब तक पता नहीं था, जब चान्द्रायण को ही चान्द्रायण मानते थे इसलिये वही

याचना करने आये। मैं तो उनकी सौम्यता, सरलता तथा नम्रता को देखकर अवाक् रह गया। मैं समझता था, वे मेरे सम्बन्ध में कुछ भी न जानते होंगे। मिलते तो पहिले ही प्रणाम कर लेते थे। किन्तु उस दिन पता चला वे तो मेरे सम्बन्ध में सब कुछ जानते हैं। स्यात् रामेश्वर ने उन्हें सब बताया होगा। लाला कुन्दनलाल जी के तीन पुत्र थे, लाला किशोरीलाल, मुरारीलाल और बाबूलाल। बाबूलालजी वैद्य भी थे। वे कभी-कभी आया करते थे। वे भी मुझसे अत्यधिक स्नेह मानने लगे।

श्रीहरिबाबाजी इधर अभी कुछ ही दिनों से गंगा किनारे घूमते-घूमते आये थे। इनका जन्म पंजाब के होशियारपुर जिले के एक छोटे से गाँव मेंगरवाल में सिक्खधर्मावलम्बी अहलूवाल सूद जाति में हुआ था। इनके पिता पटवारी थे। कहावत है—"होनहार बिरवान के, होत चीकने पात।" ये बाल्यकाल से ही सौम्य गम्भीर और संसारी विषयों से विरक्त थे। ऐसे कारक पुरुषों को साधन नहीं करना पड़ता, ये तो जन्म जन्मान्तरों में अनेक साधन करके ही अवतरित होते हैं। ये देश, काल, जाति सम्प्रदाय के बन्धन से ऊपर उठे रहते हैं। ऐसे लोगों की वृत्तियाँ स्वयं ही पूर्व जन्मों के संस्कारानुसार समाहित रहती हैं। इनके माता-पिता इनका विवाह करना चाहते थे, किन्तु ये विवाह-बन्धन में बँधने के निमित्त संसार में थोड़े ही आते हैं। ये तो बन्धन में बँधे हुए जीवों को मुक्त करने अवनि पर अवतरित होते हैं। प्रवेशिका (इण्टर) परीक्षा पास करके ये चिकित्सा महाविद्यालय (मेडिकल कालेज) में प्रविष्ट हो गये। वहाँ की पढ़ाई में एक वर्ष ही शेष था, कि इसे झंझट समझकर तथा उसे छोड़कर अपने गुरु श्री स्वामी सच्चिदानन्दजी के आश्रम में होशियारपुर में आकर रहने लगे।

जिन दिनों ये चिकित्सा महाविद्यालय में पढते थे उस समय की एक घटना किसी ने मुझे बतायी थी। ये अपनी कक्षा के कई छात्रों के साथ यत्रों से कोई प्रयोग कर रहे थे। महाविद्यालय के अभ्यास कक्ष का कोई मूल्यवान् कॉच का पात्र इनकी सहपाठिनी एक लडकी से फूट गया। इनके सभी साथियो ने मिलकर उस लडकी का नाम तो बताया नहीं इनके मत्थे वह दोष मढ दिया। प्रधानाचार्य ने कहा— 'तुमने इस पात्र को फोडा है, ऐसा ये तुम्हारे सभी साथी कह रहे हैं।" ये कुछ भी नहीं बोले चुपचाप खडे रहे। तब प्रधानाचार्य ने कहा—"इसका मूल्य इतने रुपये हैं। तुम इतने रुपये लाकर उपस्थित करो।"

ये कुछ भी न बोले। दूसरे दिन उतने रुपये चुपचाप कार्यालय में लाकर दे दिये। कालान्तर मे प्रधानाचार्य को यथार्थ बात का पता चल गया। वे यह भी जान गये कि पात्र इनसे नही फूटा है। इसलिये उन्होंने इन्हें बुलाया और कहा—"क्यों भाई! हमने सुना है वह पात्र तुमसे नहीं फूटा था उस लडकी से फूटा था।" ये फिर भी चुप रहे। तब आचार्य ने पूछा—"सच-सच बताओ।"

तब ये बोले—"जी मुझसे नहीं फूटा था।"

तब आचार्य ने कहा—"यह बात तुमने उस समय क्यो नहीं बतायी। फिर नहीं फूटा था, तो इतने रुपये लाकर क्यों दे दिये।"

इन्होंने कहा—"जी, जब मेरे सभी साथियो ने मेरा नाम लगा दिया, तो फिर मैंने बात को बढाना नहीं चाहा। २५, २६ रुपये के पीछे मैं उन्हें झूठा बनाऊँ, वाद विवाद बढ़ाऊँ यह मैंने उचित नहीं समझा। इतने थोड़े रुपये देने पर ही बात समाप्त हो जाय, इसीलिये मैंने चुपचाप रुपये लाकर दे दिये।"

इनकी इस सहनशीलता पर दोष दर्शन की अनिच्छा से

आचार्य अत्यन्त प्रभावित हुए। यह गुण इनमें अन्त तक रहा। भागवत के इन श्लोकों का वे नित्य नियम से पाठ कराया करते थे—

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्नगर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥*

वे जहाँ तक होता दूसरों की निन्दा से सदा बचने का ही प्रयत्न करते। किसी की निन्दा का प्रकरण उपस्थित होने पर या तो वे उस प्रसंग को ही बदल देते, या कह देते अरे भैया! भगवत् चर्चा करो।" परनिन्दा से वे सदा भयभीत रहते।

जब वे चिकित्सक की पढ़ाई छोड़कर अपने गुरु के आश्रम में रहने लगे, तो वहाँ आश्रम की निरन्तर सेवा में ही जुटे रहते। वे सेवा पर अत्यधिक बल देते। वे कहते थे—सेवा ही सब कुछ है, सेवा से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। मनुष्य, वृक्ष पशु-पक्षी किसी की भी सेवा करो। फिर गुरु की, सन्त की सेवा तो साक्षात् मोक्ष का द्वार ही है। वे रात्रि में बहुत ही कम सोते, दिन रात्रि आश्रम के वृक्षों को पानी देने में, आश्रम को स्वच्छ करने में जुटे रहते। स्वच्छता उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। जहाँ भी

---

* दूसरों के स्वभाव की तथा कर्मों की न तो निन्दा ही करे और न प्रशंसा ही करे। इस सम्पूर्ण विश्व को एकात्म देखे, कि यह प्रकृति और पुरुष का खेल है। जो पुरुष दूसरों के स्वभाव की तथा कर्मों की प्रशंसा अथवा निन्दा करता है, वह शीघ्र ही अपने स्वार्थ से च्युत हो जाता है, क्योंकि उसने असत्य में अभिनिवेश कर लिया है। जगत् जो असत्य है, उसी के कार्यों की आलोचना प्रत्यालोचना करता है।

रहते अपने हाथों से सफाई करते। वे बार-बार कहा करते—
"सफाई ही खुदाई है।" स्वच्छता को देखकर भगवान् अत्यन्त
प्रसन्न होते हैं।

सुठि सुन्दर आश्रम निरखि, हरषे राजीवनयन।

इतना करने पर भी उनके गुरु ने कहा—"तुम आश्रम की
रोटी व्यर्थ ही खाते हो, कुछ कमाकर खाओ। अतः आपने कुछ
काल के लिये अध्यापकी कर ली। उससे जो वेतन मिलता—उस
सबको गुरुचरणों मे अर्पित कर देते।

कुछ दिनों में यह भी उन्हें झंझट ही दिखायी दिया। वे
नौकरी-चाकरी करने को थोड़े ही आये थे। उन्हे तो भक्ति भागी-
रथी की अजस्रधारा बहानी थी। अतः आश्रम छोड़कर काशीजी
चले गये। सदा-सदा से यह भगवान् शङ्कर के त्रिशूल पर अव-
स्थित मुक्तिदायिनी विश्वनाथपुरी समस्त साधकों की प्रेरणा का
स्रोत रही है। सभी ने इसी पावनपुरी मे आकर अपने कर्तव्य
को उपलब्धि की है। देश के किसी भी भाग मे जन्मा हो, उसे
अपने जीवन को सफल बनाने इस कल्मषनाशिनी काशी में
आना ही पड़ता है। यह ज्ञान का भंडार है अतः हमारे दीवान-
सिंहजी (श्रीहरिबाबा जी का घर का नाम यही था) काशी
पहुँच गये। वहाँ क्या करते। बहुत सोच विचारकर इन्होंने
हिन्दु महाविद्यालय में बी० ए० के छात्रों में अपना नाम लिखा
लिया और वहाँ पढ़ने लगे।

किन्तु ये पढ़ते क्या, ये तो पढ़े पढ़ाये ही पैदा हुए थे। वहाँ
से पढ़ना छोड़कर-अपने आप बाजार से गेरू लाकर-कपड़े रँग-
कर-अपने समस्त सामान को दीन टुसियों मे बाँटकर गंगा
किनारे-किनारे चल पड़े।

उन दिनों गङ्गा किनारा ही विरक्त महात्माओं का राजपथ

था। सैकड़ों सहस्रों साधु केवल एक कमण्डलु लिये गंगा किनारे-किनारे विचरा करते थे, गंगा किनारे के गाँवों के गृहस्थी ऐसे सधे हुए थे, कि अपने ग्राम में कितने भी साधु आ जायँ वे सबकी भिक्षा का प्रबन्ध करते। गाँव के बाहर कुटियाँ बनी रहती उनमें विरक्त महात्मा आकर ठहर जाते। मधुकरी करने वाले कितने भी साधु आ जायँ। सभी घरों से उन्हें एक-एक, दो-दो रोटियाँ मिलतीं। अतः विरक्त सन्त गंगा किनारा छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते। वे हरिद्वार से लेकर काशी तक विचरते रहते। काशी से आगे कोई-कोई ही जाते। वे अंग-वंग देशों में प्रवेश निषेध मानते। हमारे अनामी दीवानसिंहजी भी कपड़े रंग कर गंगा किनारे-किनारे चल दिये। कोई दे देता तो खा लेते। नहीं भूखों ही रह जाते। प्रयागराज में आकर द्रौपदीघाट की एक कच्ची गुफा में दो तीन वर्ष तक रहे। एक बंगाली स्वामी वहाँ आश्रम बनाकर रहते थे। मैंने भी उनके दर्शन किये हैं। उन्हीं के कहने पर वहाँ रह गये। वे कहते थे हम एक दिन भिक्षा कर लाते खाने के अनन्तर जो रोटियाँ बच जातीं उन्हें कपड़े में लपेटकर भूमि में गाड़ देते। और नित्य उनमें से निकालकर पानी में भिगोकर खा लेते। इस प्रकार घोर तितिक्षा का जीवन बिताते हुए ये पुनः होशियारपुर में अपने गुरु के आश्रम में पहुँचे। ये सोचते थे, गुरुदेव अप्रसन्न होंगे, किन्तु वे तो इनके स्वभाव को पहिले से ही जानते थे, कि यह घर में रहने वाला नहीं है। अतः वे बोले—"तुम अपने ही आप प्रकाशित हुए हो, अतः तुम्हारा नाम स्वतः प्रकाश हुआ। अब ये स्वतःप्रकाश स्वामी बन गये। आश्रम में आकर ये पुनः पूर्ववत् आश्रम की सेवा करने लगे। स्वामीपने का इनके मन में तनिक भी अभिमान नहीं था। कुछ दिन सेवा करने के अनन्तर इन्हें आश्रम जीवन से भी उपराम हो गया और ये

आश्रम छोड़कर गगा किनारे अनूपशहर चले आये। वहाँ भैरिया मे बगाली स्वामी की सन्निधि मे निवास करने लगे। आस-पास के गाँवों से जाकर भिक्षा कर लाते और गगा किनारे एक पेड के नीचे पड़े रहते। उस समय की एक मनोरजक घटना किसी ने मुझे सुनायी। गँवे के लाला कुन्दनलालजी बगाली स्वामी के भक्त थे, वे उनकी सेवा करते आगत साधु सन्यासी अभ्यागतो को वे ही भोजन बनवाकर भिक्षा कराते। गगा किनारे साधुओ का तो राजपथ ही था। भिक्षा का सुपास देखकर कुछ साधु अधिक दिन डट जाते। दो तीन दिन तो लालाजी उन्हे प्रेम से भिक्षा कराते फिर किसी मिस से उन्हे आगे बढने को कहते। हमारे स्वामी स्वतःप्रकाशजी भी जब अधिक दिन डट गये, जाने का नाम ही नहीं लेते तो एक दिन लालाजी ने आकर पूछा—"कहो स्वामीजी। अब किस ओर विचरने का इरादा कर रहे हैं ?"

स्वामीजी समझ गये, लालाजी प्रकारान्तर से भिक्षा के लिये मनाकर रहे हैं। अतः उन्होने क्षेत्र से भिक्षा लेना बन्द कर दिया। गाँवो से जाकर मधुकरी कर लाते थे। उन दिनो गगा किनारे अद्वैत वेदान्ती स्वामी ही विशेष विचरते थे। एक अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। मै ही ब्रह्म हूँ, ये भाव गाँव-गाँव मे, घर घर में व्याप्त हो गये थे। पजाब की तो स्त्रियाँ भी बडी-बडी अद्वैत वादिनी हो गयी थी। उन दिनो योगवासिष्ठ, चित्सुकी, पञ्चदशी, वृत्ति प्रभाकर तथा शाकर भाष्य ब्रह्मसूत्र इन्हीं अद्वैत वेदान्त ग्रन्थ की विद्वत् संन्यासि मडली मे चर्चा होती थी। जो सस्कृत से अनभिज्ञ थे, वे दादू पन्थी श्री निश्चलदासजी के विचार सागर का मनन अध्ययन और सत्सग करते। पजाब के गाँव गाँव में अहं ब्रह्मास्मि का प्रचार था। वहाँ की स्त्रियाँ बहुत अधिक भावुक होती हैं। उन्हीं में वेदान्त का प्रचार अधिक था।

हरिबाबाजी ने भी अपने गुरु स्वामी सच्चिदानन्दजी से इसी वेदान्त का श्रवण किया था, अतः वे भी इसी में निष्ठा रखते थे। हमारे पं० दौलतरामजी (स्वामी अच्युत मुनिजी) पहिले टी० ए० वी० कालेज में अध्यापक थे, आर्य समाज में उपदेशक भी रहे। पीछे विरक्तभाव से पंडित वेष में ही पाइजामा अँगरखी पहिने विचरते रहे। एक बार वे अत्यधिक रोग ग्रस्त हो गये। तभी इन्होंने स्वतः ही कपड़े रंगकर आतुर संन्यास ले लिया। तब से उनका नाम अच्युत मुनि पड़ा। बड़े उग्र स्वभाव के थे। अद्वैत वेदान्त के प्रकांड पंडित थे। पञ्चदशी उनका अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ था। उसी को सबको पढ़ाते थे। उसी का सबको उपदेश करते थे। मेरे ऊपर उनकी बड़ी कृपा थी। एक दिन मुझसे बोले—"ब्रह्मचारी ! मैं तुम्हें ब्रह्म साक्षात्कार करा दूँ ?"

मैंने कहा—"करा दो महाराज !"

वे बोले—"इसमें बहुत समय नहीं लगेगा। मिनटों का काम है, मैंने गौरीशंकर को करा दिया, बुद्धिचन्द को करा दिया, भूदेवशर्मा को करा दिया तुम्हें भी मैं मिनटों में करा देता हूँ।"

उन दिनों मैं सदा सब समय मुख से "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस मन्त्र का उच्चारण करता रहता था मुझसे बोले—"तुम्हें यह मन्त्र बोलना छोड़ना पड़ेगा।"

मैंने कहा—"महाराज ! मैं इसे तो छोड़ नहीं सकता।"

तब वे बोले—"अरे, तुम को तो नाम में मोह है। तब कैसे ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है।"

मैंने कहा—"भगवन्नाम को छोड़कर मुझे ब्रह्म साक्षात्कार नहीं चाहिये। मेरे इस उत्तर से वे अप्रसन्न नहीं हुए।"

एक स्वामी हीरादासजी थे। बड़े भारी विरक्त कट्टर वेदान्ती,

वे किसी साधु की किसी स्थान मे किसी वस्तु मे तनिक भी आसक्ति देखते, तो उसकी बड़ी कड़ी आलोचना करते। श्रीहरि बाबाजी से कहते—"तुम्हे गँवे से मोह हो गया है, श्री उड़िया बाबाजी से कहते—"तुम्हे रामघाट से मोह हो गया है, मैंने भी बनी बुगरासी आते समय भगवानपुर घाट मे नौका मे उनके दर्शन किये थे। उन दिनों एक नौका में ही वे रहते थे। एक माई उनकी सेवा मे थी। मुझसे पूछा—"तुम्हें काम से से कै रुपये महीने मिलते हैं ?" मैंने कहा—"मैं नौकरी नहीं करता। मुझे कुछ भी नहीं मिलता।"

वे बोले—"तो वैसे ही गाँव-गाँव मारे-मारे फिरते हो।"

मैंने कहा—"मैं तो देश सेवा के भाव से घूमता हूँ। जैसे वे नौका मे रहते थे, वैसी ही एक नौका सेठ गौरीशंकरजी गोयनका ने स्वामी अच्युत मुनि के लिये बनवायी थी। वह काशी के बजड़ाओं की भाँति बहुत सुन्दर काँच के दरवाजे लगाकर बनी थी। स्वामीजी उसी मे रहते थे। एक नौकर था वह अनूपशहर आदि से भिक्षा ले आता। नौका कभी किसी घाट पर रहती कभी किसी पर। सेठ गौरीशकरजी गोयनका सत्सग के लिये कभी-कभी आया करते। अनूपराहर के पं० श्रीलालजी (जो बम्बई में व्यवसाय करते थे) प० रमाशकरजी गुजराती, गँवे के लाला-कुन्दनलालजी के भतीजे लाला हीरालालजी ये लोग स्वामीजी के सत्संग मे जाते थे। स्वामीजी कभी वृत्ति प्रभाकर, कभी पच-दशी की कथा करते। जो भी आता उसे पचदशी पढ़ाते मेरे एक भक्त मैनपुरी मिलावती के कुँवर कायमसिंहजी थे। वे मेरे अनन्य भक्तों में से थे। मेरे साथ स्वामीजी के दर्शनो को गये तो स्वामीजी ने उन्हे कांगड़ी विश्व विद्यालय भू० पू० आचार्य 'अभय' जी द्वारा की हुई पंचदशी की हिन्दी टीका छपाने की

आज्ञा की। उनकी आज्ञानुसार वह छपाकर वितरित करायी गयी।

अधिकतर स्वामीजी भैरिया (भृगु क्षेत्र) के ही आस-पास अपनी नौका रखते थे। बंगाली बाबा की भी सेवा करते थे। बंगाली बाबा के परलोक गमन के पश्चात् तो भैरिया में उन्होंने साधुओं के लिये स्थायी क्षेत्र ही खुलवा दिया था। मैंने बंगाली बाबाजी के दर्शन तो स्यात् नहीं किये। किन्तु भैरिया में जब उनकी केवल एक पक्की कुटी ही थी तब से उसे देखा है। पीछे तो भृगुजी का मन्दिर पाठशाला, धर्मशाला आदि बन गये बाग-बगीचा लग गये। पूरा आश्रम बन गया। अब तो जो बिना स्वामी के आश्रमों की जो दुर्दशा होती है, वही भृगुक्षेत्र के आश्रम की दुर्दशा हो रही है।

हाँ, तो लाला हीरालालजी अत्यन्त ही भावुक भक्त और साधु सेवी थे। कुछ अँगरेजी भी पढ़े थे। इसलिये वे हमारे स्वामी स्वतः प्रकाशजी को बंगालीबाबा से कहकर गँवा ले गये। गँवा के लालाओं ने अपने बगीचों में साधुओं के लिये कुटियायें बनवा रखी थीं। भिक्षा का भी गाँव में समुचित प्रबन्ध था। अतः वहाँ कोई न कोई महात्मा नित्य ही आते जाते रहते। कुछ स्थायी भी रहते थे। स्वामीजी गँवे में रहने लगे। पास में दीप-पुर के घाट पर स्वामी अच्युत मुनि की नौका लगी थी। उसमें वे वेदान्त के ग्रन्थों को आगत जिज्ञासुओं को पढ़ाते। हमारे स्वामी-जी भी नित्य उनसे पढ़ने, पाठ सुनने पहुँच जाते। नागपुर के सेठ वृद्धिचन्दजी पोद्दार भी अच्युत मुनि के भक्त थे। उनके आमंत्रण पर स्वामीजी वर्धा गये तो श्री स्वतःप्रकाशजी स्वामी को भी साथ ले गये। वहीं वर्धा में समर्थ गुरु रामदासजी के मठ में हमारे स्वामी स्वतःप्रकाशजी ने "श्रीराम जय राम जय जय

राम" का अखण्ड कीर्तन देखा। वहाँ का वातावरण भक्तिमय था। वहीं पर बगाल की "अमृत बाजार पत्रिका" के सम्पादक महात्मा शिशिरकुमार घोष की श्री चैतन्य महाप्रभु की "लार्ड गौराङ्ग" नाम की दो भागों मे लिखी हुई अँगरेजी की जीवनी मिली।

उसके पढ़ते ही इनके भीतर अवरुद्ध जो भक्ति का स्रोत था, वह परिस्फुट हो गया। वहाँ ये लज्जा छोडकर कीर्तन करने लगे। महाप्रभु के चरित्र की कथा कहने लगे। वहीं श्री स्वामी अच्युत मुनि से इनका मतभेद हो गया। ये पुनः गँवे मे आ गये। गँवे मे आकर तो इनके सिर पर भक्ति का भूत ही सवार हो गया। हरि-हरि कहकर नाचने लगे, लड़कों के साथ कीर्तन करने लगे। हरि बोल हरि बोल कहकर उच्च ध्वनि करने लगे। तभी सब लोग इन्हें हरिबाबा-हरिबाबा इस नाम से पुकारने लगे। साधुओं के नाम ऐसे ही प्रसिद्ध होते हैं। उडीसा प्रान्त के होने से उड़िया बाबा, बगाल के होने से बगाली बाबा, पजाब के होने से पंजाबी बाबा, फलाहार करने से फलाहारी बाबा, मौन रहने से मौनी बाबा ऐसे लोग अपने आप पुकारने लगते हैं। अब हरिबाबा वहाँ के ग्रामीण अनपढ़ लोगों को साथ लेकर हरे राम महामन्त्र का कीर्तन करने लगे। उस प्रान्त के लिये यह एक नई बात थी। विद्वान् लोग इसे अशास्त्रीय बताकर विरोध करने लगे। अद्वैत वेदान्ती इसे अनपढ़ों का तमासा बताने लगे। किन्तु श्री हरिबाबा ने एक की भी नहीं सुनीं। वे अपनी धुनि मे ही तल्लीन रहे। जब कीर्तन से रामेश्वर अच्छा हो गया, तब तो सबका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। रामेश्वर की बीमारी मे ही मुझे सर्वप्रथम उनके दर्शन हुए। फिर तो जो घनिष्टता बढ़ी वह जीवन पर्यन्त बढ़ती ही गई। वे मुझसे कितना स्नेह

करते थे, कितना चाहते थे, मेरे हृदय में उनके प्रति कितना आदर था, इसे दूसरे लोग नहीं जानते थे। वे अनेकों बार आकर मेरे पास रहे। उनमें एक विशेषता थी, वे स्वतः कोई कार्य नहीं करते थे, किसी को माध्यम बनाकर उनके द्वारा कार्य कराया करते थे। मैंने अनेकों को उन्हें माध्यम बनाते देखा है। जिसे माध्यम बनाते उसे अत्यधिक आदर देते और कराते थे उनसे मन की बात। पहिले एक बंगाली स्वामी को माध्यम बनाया, फिर एक दूसरे को, कुछ दिन हमारे वृन्दावन के रघुनाथाचार्य को बनाया। कहाँ तक गिनावें। सबसे अधिक पूज्यपाद श्री उड़ियाबाबाजी ने निभाया और सबसे अन्त में श्री श्री माँ आनन्दमयी ने।

वे मुझसे भी अत्यन्त स्नेह करते थे। उनकी इच्छा थी हम और वे सदा साथ ही रहें। कभी-कभी महीनों आकर झूसी आश्रम में भी रहे। कई बार कहा भी—"अब तो हम सब कुछ छोड़कर श्री ब्रह्मचारीजी के चरणों में ही रहेंगे। उन्हीं की आज्ञाओं का पालन करेंगे।" मैं हँसकर कह देता—महाराज, यहाँ आपकी दाल गलने की नहीं। मुझमें इतनी योग्यता नहीं, जो मैं आपको निभा सकूँ।

वास्तव में उनको निभाना सहज नहीं था। उनके सत्संग में एक मिनट भी पीछे पहुँचो तो अप्रसन्न। उनके सत्संग से एक मिनट पहले चले आओ तो बड़े दुखी। वे घड़ी के कांटे पर कार्य करते थे। श्री उड़ियाबाबा उन्हीं के कारण घड़ी रखने लगे। उन्होंने हरिबाबा को एक प्रकार से आत्मसमर्पण ही कर दिया था। श्रीहरिबाबा जिससे प्रसन्न हों, वह करना, जो वे कह दें वही ठीक। जीवन पर्यन्त दोनों की ऐसी निभी कि किसी की ऐसी निभनी असंभव है। मैं तो सात जन्म में भी इस प्रकार नहीं

निभा सकता था। मेरा जीवन क्रम दूसरा ही है। श्री श्री आनन्दमयी माँ से उनका परिचय सर्वप्रथम मैंने ही सहस्र धारा पर कराया था। पीछे मा ने भी लगभग उड़िया बाबाजी की ही भाँति निभाया और उन्होंने अपना अन्तिम लीला संवरण भी मा आनन्दमयी आश्रम वाराणसी में ही की। उनसे सम्बन्धित मेरे जीवन में अनेक सुखद संस्मरण हैं, जिनका उल्लेख समय-समय पर अन्य संस्मरणों में मैं करता रहूँगा। यहाँ तो प्रसंगवश ये बातें लिख दीं।

उन दिनों अनूप शहर के आस पास बहुत से प्रसिद्ध महात्मा निवास करते थे। रामघाट में पूज्य श्री उड़ियाबाबा, विहार घाट में स्वामी शंकरानन्दजी, कर्णवास में स्वामी निर्मलानन्द, बंगाली स्वामी तथा और भी बहुत से विरक्त महात्मा। भैरिया में बंगाली स्वामी श्री शास्त्रानन्दजी, उससे आगे स्वामी हीरानन्दजी, फिर अनूप शहर में बहुत से महात्मा रहते थे। आगे पेटपाल की कुटी पर भगवानपुर में दक्षिणी स्वामी हीरादासजी। इस प्रकार गंगा किनारा महात्माओं की खान थी। मेरे देखते-देखते इन पचास, साठ वर्षों में ही कितना परिवर्तन हो गया। गंगा किनारा जो महात्माओं का राजपथ था, जिसमें गंगाजी के प्रवाह के साथ महात्माओं के प्रवाह की एक धारा बहती थी। वह धारा अब बन्द हो गयी।

जिन दिनों वे रामेश्वर को निमित्त बनाकर अनूप शहर की गोरीशंकर गोयनका धर्मशाला में अखंड कीर्तन करा रहे थे। उसी समय मेरा उनसे परिचय हुआ। तब तक मैं श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता था। वे गंगा किनारे एक अड्डे पर किसी उर्दू पुस्तक की कथा किया करते थे, उनके प्रधान श्रोता थे हमारे पंडितजी बद्रीदत्तजी। मैं कभी कभी

उसमें जाता था। कथा सुनते सुनते पंडितजी रोने लगते। एक तो मैं व्रत के कारण असक्त हो गया था, दूसरे संस्कृत का विद्यार्थी होने के कारण उर्दू पुस्तक की कथा में मेरी श्रद्धा नहीं थी। यह मैंने पहिले ही पहिल देखा, कि उर्दू हिन्दी की पुस्तक की भी कथा हो सकती है क्या? मैं तो कथा का अर्थ संस्कृत की भागवतादि पुराणों के प्रवचन को ही समझता था। मैं जानता भी नहीं था, वे किसकी कथा कह रहे हैं। पीछे पता चला महात्मा शिशिरकुमार घोष की जो बँगला में "अमियनिमाई चरित" नाम से चैतन्य महाप्रभु का छः भागों में जीवन चरित है। उसी के दो भागों का किसी ने उर्दू में अनुवाद किया है। श्री हरिबाबाजी उसी की बड़ी भावुकता से कथा कहते थे।

मैं व्रत के कारण दुर्बल हो गया था, अतः श्रीहरिबाबाजी के सत्संग में अधिक सम्मिलित न हो सका। अमावास्या को मेरा व्रत समाप्त हुआ। लाला कुन्दनलालजी की बहुत इच्छा थी, कि वे मेरी कुछ सेवा करें, किन्तु व्रत के दिनों में वे सेवा ही क्या करते। व्रत समाप्ति के दूसरे दिन उन्होंने दलिया बनवाया। एक महीने के पश्चात् नमकीन दलिया अमृत के सदृश लगा। थोड़ा करते-करते भी मैं बहुत खा गया। पेट में अन्न पहुँचते ही सोई हुई भूख जाग उठी। अब क्या करें। दूध पीया। फिर भी भूख नहीं गयी। पेड़ा खाये, भूख और बढ़ी शाम को दलिया खाया, फल भी खाये, खाते ही रहे। परिणाम यह हुआ कि रात्रि में कै दस्त हो गये। ऐसा पता चला अब मृत्यु हो जायगी, किन्तु संस्कार शेष थे। भगवान् को तो भागवती कथा लिखानी थी। मरा नहीं बच गया। फिर शनैः-शनैः डर-डरकर खाने लगा। १०-१५ दिन में अपने पूरे आहार पर आ गया। सबसे मिल भेंट कर विदा लेकर मैं पुनः खुरजा लौट आया।

कारावास में काशी के सभी स्नेही बन्धुओं का आग्रह था, कि मैं काशी आकर रहूँ। मेरा भी मन काशी वास के लिये छटपटा रहा था। बाबू सम्पूर्णानन्दजी का अत्यन्त आग्रह था, उन्हीं का स्नेह मुझे काशी ले गया। काशी जाने के पूर्व संयुक्त प्रदेशीय राजनैतिक सम्मेलन देहरादून में होने वाला था, इसीलिये मैंने एक बार देहरादून जाने का निश्चय किया।

अँगरेजी मास अक्टूबर सन् २२ स्यात् कार्तिक का महीना था। प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन के सभापति त्यागमूर्ति पं० मोतीलालजी नेहरू चुने गये थे। उसमें प्रायः सभी नेता आये थे। बड़े डाक घर के सामने मैदान में पंडाल बना था। मंच पर पं० जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, उनकी पुत्री पद्मजा नायडू, काशी के श्री शिवप्रसादजी गुप्त तथा अन्यान्य बहुत से नेता बैठे थे। स्त्रियों के बैठने का प्रबन्ध पृथक् था, पुरुषों का पृथक्। पंडितजी ने कहा—"यह पुरानी परिपाटी छोड़ो सब एक साथ मिलकर बैठो। इतना सुनते ही सब स्त्री पुरुष मिल-जुलकर बैठ गये। मुझे यह अच्छा नहीं लगा। क्या-क्या प्रस्ताव पारित हुए मेरा मन उधर नहीं था। मैंने हिमालय के दर्शन पहिले ही पहिल किये थे। देहरादून से राजपुर जाते हुए जो छोटी छोटी हरी भरी पहाड़ियों की शोभा देखी मेरा मन मयूर आह्लाद में भरकर नृत्य करने लगा। मुझे अनुभव होने लगा। स्वर्ग यही है। हिमालय ने मेरे मन को मोह लिया। मैं सोचने लगा—"जीवन भर मुझे यहीं रहना हो, तो कितना अच्छा है।" उन दिनों पक्की सड़क राजपुर तक ही थी। मसूरी को पैदल या घोड़ों पर जाना पड़ता था। पैदल चलने में इतना आनन्द आया, कि थकावट प्रतीत ही न हुई। एक पैसे के दो या चार बड़ी-बड़ी पहाड़ी केलों की फली मिलती थीं। मेरा सबसे प्रिय आहार यही

था। हिमालय की सुषमा देखते-देखते मेरा मन भरता ही नहीं था। तभी मैंने गंगाजी के उस पार कांगड़ी गाँव में फूँस की कुटियों में बसे गुरुकुल कांगड़ी को देखा। वहाँ महात्मा मुन्शी लाल (स्वामी श्रद्धानन्दजी) के भी दर्शन किये। हमारे साथ में जौनपुर के एक ठाकुर साहब तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक पं० चतुरसेनजी शास्त्री भी थे। गुरुकुल ज्वालापुर भी देखा। ज्वालापुर में एक देवीजी का आश्रम देखा। वहाँ पर हमारे सब साथियों ने उन देवीजी को अच्छा छकाया। शास्त्रीजी ने उस पर एक कथा भी लिखी है। इस प्रकार वहाँ की सब प्रसिद्ध संस्थाओं को देख भालकर हम फिर खुरजा आ गये और वहाँ से कुछ दिन इधर-उधर घूम घामकर काशी के लिये चल दिये।

हाँ, एक बात भूल गया। देहरादून राजनैतिक सम्मेलन में ही मुझे ज्ञान मण्डल और काशी विद्यापीठ के संथापक दानवीर श्री शिवप्रसादजी गुप्त के दर्शन हुए। ज्ञान मंडल से दैनिक "आज" के साथ ही एक "मर्यादा" नाम की मासिक पत्रिका भी निकलती थी। पहिले इसे प्रयाग से पं० कृष्णाकान्तजी मालवीय निकालते थे। उन्हीं से ज्ञान मण्डल वालों ने ले ली। हमारे बाबू सम्पूर्णानन्द उसी "मर्यादा" के सम्पादक थे। जब वे जेल में थे तब मुन्शी प्रेमचन्दजी उसके स्थानापन्न संपादक हुए थे। गुप्तजी बड़े ही उत्साही समाज सेवी थे। हिन्दु विश्व विद्यालय की स्थापना में उन्होंने मालवीयजी का तन, मन तथा धन से सहयोग दिया था। वे मालवीयजी के अनन्य भक्तों में से थे। यद्यपि असहयोग आन्दोलन में उनका मालवीयजी से मत-भेद हो गया था, फिर भी उनकी भक्ति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं हुआ। देहरादून में उनसे मेरी खुलकर बातें हुईं। मैंने काशी आने की वहाँ दर्शन शास्त्र अध्ययन की अपनी इच्छा प्रकट की।

उन्होंने सहर्ष मेरी इच्छा का अनुमोदन किया और मुझे ज्ञान मण्डल में कुछ काम देने का भी वचन दिया। इसी से प्रेरित होकर मैं काशी पहुँच गया। अब काशी के संस्मरण अगले अंक में पढ़िये।

छप्पय

भाग्य कहाँ ले जाइ न नर निश्चय जिह जानै।
मैं कर्ता सब करूँ व्यरथ में मानव मानै॥
करवावै करतार कर्म के वे है स्वामी।
नर नहिं चाहै करन करावै अन्तरजामी॥
इच्छा अपनी नहिं रखै, आत्म समरपन नर करै।
वही सुखी अरु शान्त है, अमर होइ नहिं सो मरै॥

आषाढ़ कृ० ५।२००९
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
प्रयाग

प्रभुदत्त

व्रतमीमांसा तथा प्राणों की श्रेष्ठता

(२१४)

अथातो व्रतमीमाँसा प्रजापतिर्ह कर्माणि
ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त ॥*

(बृ० उ० १ अ० ५ ब्रा० २१ मन्त्रांश)

छप्पय

व्रत विचार अब करें प्रजापति करननि कीन्हों।
सब इसपर्धा करें वाक बोलन व्रत लीन्हों॥
चक्षु, श्रोत्र व्रत लयो सतत हम दिखि हैं सुनि हैं।
यों सबने व्रत लयो मृत्यु श्रम वनि अवरुधि हैं॥
नेत्र, श्रोत्र वाणी तबहिँ, सब इन्द्रिय होवैं श्रमित।
किन्तु न होवै श्रमित यह, मध्यम प्राण चलै सतत॥

यह सम्पूर्ण जगत् प्राणमय है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें प्राण न हो। प्राण के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं। जिन कंकड़ पत्थरों को आप निष्प्राण कहते हैं, उनमें भी सूक्ष्म रूप से प्राण हैं। जब सभी में प्राण हैं, तो जड़-चैतन्य,

---

* वाणी, मन और प्राण इन प्रजापति के तीनों अंगों का समान वर्णन करके प्राण की श्रेष्ठता सिद्ध करने को व्रत की मीमांसा करते हैं। प्रजापति ने कर्मों को करने के निमित्त कर्मों के साधनभूत इन्द्रियों की रचना की।

सजीव-निर्जीव, स्थावर-जंगम का भेद क्यों है ? सबको सजीव, चैतन्य और जंगम कहो ? जड़ता और चैतन्यता अपेक्षाकृत है। जिन में प्राणों का प्रकाश अत्यन्त सूक्ष्म है, उनको जड़ कह दिया, जिनमें उनसे अधिक प्राणों का प्रकाश है उन्हें स्थावर वृक्ष आदि कह दिया। जिनमे उनसे भी अधिक प्राणों का प्रकाश है, उन्हें कीट पतंग, मछली आदि कह दिया। इस प्रकार चैतन्यता अपेक्षाकृत है, पात्र भेद से उसकी जहाँ जैसी अभिव्यक्ति हुई उसकी वैसी संज्ञा कर दी। जैसे सूर्यनारायण का प्रकाश सब पर समान पड़ता है, किन्तु पात्र भेद से अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न वस्तुओं मे भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। हम घर में बैठे हैं, हमारी दीवाल पत्थर की है, तो उनमें पत्थर के कारण कम प्रकाश जायगा, यदि दिवाल बाँस की टटिया की है, तो उनमें अधिक प्रकाश जायगा और दिवालें काँच की होगीं तो और अधिक प्रकाश पहुँचेगा। इसी प्रकार जिसका अन्तःकरण अधिक निर्मल होगा उसमे बुद्धि का प्रकाश अधिक होगा, जिनका अन्तःकरण तमावृत होगा उनमें कम पड़ेगा। यही दशा प्राणों की है। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम प्राण सभी में हैं। इसीलिये ये सभी जगत् के पदार्थ प्राणी कहलाते हैं। अंडज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज ये तो प्रत्यक्ष प्राणवान् हैं। जड़ कहलाने वालों में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में प्राण हैं। इससे सिद्ध हुआ यह जगत् प्राणमय है। प्राण ही परमात्मा का रूप है अतः वह प्राणाधार, प्राणपति प्राणमय है। इसीलिये उपनिषदों में बारम्बार प्राणों की श्रेष्ठता सिद्ध करके प्राणोपासना को अधिक महत्व दिया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब तक वाक्, मन और प्राण

जो प्रजापति के अन्न बताये गये हैं, उनके सम्बन्ध में कहा गया। अब व्रत के ऊपर मीमांसा करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी व्रत क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! जो नियम संयम वरण किया जाय-स्वीकार किया जाय, उसे व्रत कहते हैं। जैसे पुण्य पर्वों पर पुण्य प्राप्ति के हेतु उपवासादि किये जायँ, उसका नाम व्रत है। दूसरे कोई नियम धारण किया जाय, उसे भी व्रत कहते हैं। जैसे कोई नियम करले आज से मैं बोलूँगा नहीं। यह मौनव्रत है। आज से मैं बैठूँगा नहीं। यह खड़ेश्वरीव्रत है। आज से अपनी बाहु को नीचा नहीं करूँगा यह ऊर्ध्वबाहु व्रत है। यहाँ पर व्रत शब्द से ऐसे ही नियम से तात्पर्य है। इन्द्रियों ने भी ऐसा ही व्रत किया था।"

शौनकजी ने पूछा—"यह अप्रासंगिक व्रत मीमांसा यहाँ क्यों आरम्भ की गयी ?"

सूतजी ने कहा—"अप्रासंगिक कैसे है महाराज ! अब तक वाक्, मन और प्राण का सामान्य रूप से उपास्यत्व कहा गया था, अब प्राणों का उपास्यत्व विशेष रूप से कहना है। प्राण को सभी इन्द्रियों से श्रेष्ठ करना है। जब तक परस्पर में झगड़ा न हो, सब एकमत से किसी को श्रेष्ठ न मान लें तब तक निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिये सब इन्द्रियों में परस्पर कलह हुई। सभी अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने को अपना-अपना व्रत साधकर अड़ गये। इस अड़ने में जो सबसे आगे निकल जाय, वही सबसे बड़ा हुआ। इसीलिये सभी इन्द्रियों के अड़ंगे का वर्णन इस व्रत मीमांसा में करना है।"

शौनकजी ने कहा—"ठीक है, कहिये इन्द्रियों के अड़ंगे की कहानी।"

सूतजी ने कहा—'सुनिये महाराज! प्रजापति भगवान् ने सम्पूर्ण प्रजा की रचना की। श्रोत्र, त्वक, नेत्र, जिह्वा, नासिका, पायु, उपस्थ, पाणि, पाद और वाणी इन कमरूप इन्द्रियों की भी रचना की। इन्द्रियाँ वैसे तो करण हैं, किन्तु कर्मों के साधन होने के कारण इन्हें उपचार से कर्म कह दिया।"

ब्रह्मा ने इनमें से किसी को बड़ा छोटा पद तो दिया नहीं था। इसलिये ये सभी अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगीं। सभी सोचने लगीं—मेरा ही कार्य परमावश्यक है। मेरे बिना शरीर का कार्य नहीं चलने का। इस प्रकार सभी परस्पर में एक दूसरी से स्पर्धा-डाह-करने लगीं। अपने अपने कार्यों को महत्वपूर्ण सिद्ध करने के निमित्त सभी ने भिन्न भिन्न व्रत धारण कर लिये। वाणी ने व्रत लिया—मैं सदा बोलती ही रहूँगी।

चक्षु इन्द्रिय ने व्रत लिया—मैं सदा देखती ही रहूँगी। इसी प्रकार श्रोत ने सदा सुनने का, जिह्वा ने सतत रसास्वादन का, नासिका ने सदा सूँघते रहने का, इसी प्रकार सभी ने अपना अपना व्रत ले लिया। सभी अपनी अपनी हेतु चावल की पृथक् पृथक खिचड़ी पकाने लगीं, सभी अपनी अपनी हेतु लेकर अपना अपना पृथक राग अलापने लगीं।

ब्रह्माजी ने देखा—ये तो सभी घरना देने लगीं। सृष्टि के कार्य में रोड़ा अटकाने लगीं। तब उन्होंने लोकपालों से सम्मति ली अब क्या करना चाहिये? इस पर यमराज ने कहा—'मेरे मन्त्री मृत्यु से कहो इन सबको मार डालें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भाई, मारने से कैसे काम चलेगा? सृष्टि आगे कैसे बढ़ेगी। कोई दूसरा सुझाव दो।"

यमराज ने कहा—"इन मृत्यु शर्मा से ही पूछिये।"

ब्रह्माजी ने मृत्यु से पूछा—"भैया, ये इन्द्रियाँ तो सृष्टि कर्म

में अड़ंगा लगाकर—एक दूसरे से स्पर्धा करती हुई निरन्तर अपना-अपना ही राग अलाप रही हैं। इन्हें बन्द करने का कोई उपाय सोचो।"

मृत्यु ने कहा—"मैं श्रम बनकर गुप्त रूप से इनमें प्रवेश करता हूँ। जब ये बोलते-बोलते, सुनते-सुनते श्रमित हो जायँगी अपने आप रुक जायेंगी।"

ब्रह्माजी ने कहा—"यह तुमने बहुत सुन्दर उपाय सोचा। अब तुम श्रम बनकर इनमें प्रवेश कर जाओ।"

प्रजापति की आज्ञा पाकर मृत्यु ने श्रम का रूप बनाकर उनसे सम्बन्ध स्थापित किया। इन्द्रियाँ इनके यथार्थ रूप को समझ नहीं सकीं कि ये मृत्यु देवता हैं। श्रम से सम्बन्ध करना सबने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इससे श्रम उनमें व्याप्त हो गया। जो कपट सम्बन्ध करके भीतर घुस जाता है, वह अवरोधक सिद्ध होता है। अब तो वाणी बोलते-बोलते श्रमित होने लगी। उसे विश्राम की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अतः विश्राम करने को चुप हो गयी। तभी से वाक्, नेत्र, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ श्रमित होने लगीं।

मृत्यु श्रम का रूप रखकर शरीर के मध्य में विचरण करने वाले मुख्य प्राण के भी समीप गया। प्राण तो उसे ताड़ गये, कि यह मुझे फँसाने आया है। मृत्यु ने बहुत-सी मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातें बनायीं, किन्तु प्राण ने उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। वे चुपचाप अपने कार्य में लगे ही रहे। तब अपनी दाल वहाँ गलते न देखकर मृत्यु चुपचाप वहाँ से लौट गये। प्राण ने उनसे सम्बन्ध स्थापित ही नहीं किया, अतः प्राण में श्रम व्याप्त न हो सका। जब अन्य सब इन्द्रियाँ तो अपने-अपने कार्यों में श्रमित होकर सोने लगीं और प्राण कभी

भी बिना श्रमित हुए सतत चलता ही रहा, तो सबने इसका कारण जानकर यही निश्चय किया कि हम सबमे प्राण ही श्रेष्ठ है, जो संचार करते और न सचार करते कभी भी व्यथित नहीं होता। साधारण लोगों का प्राण सदा चलता रहता है, वह बन्द नहीं होता। मरते समय प्राण शरीर से निकल कर दूसरे में चले जात हैं। सदा चलते रहने पर प्राण श्रमित नहीं होता। योगी लोग प्राण को रोककर बिना सञ्चार के वर्षों पडे रहते हैं। उस दशा में भी प्राण न व्यथित होता है न क्षीण ही होता है। ऐसा निश्चय करके सब इन्द्रियों ने प्राण का श्रेष्ठत्व सर्वसम्मति से सादर सहर्ष स्वीकार कर लिया। यही नहीं, सबने सर्व-सम्मति से यह भी स्वीकारा, कि आज से हम सब भी इसी के रूप मे मिल जायँगी। जैसे एक सेनापति के नाम से ही पूरी सेना का बोध होता है, उसी प्रकार ये सभी इन्द्रियाँ 'प्राण' इसी नाम से पुकारी जाती हैं। प्राण जहाँ से निकलता है उसके साथ ही समस्त इन्द्रियाँ भी निकल जाती हैं। प्राण जहाँ प्रवेश करता है उसी मे सभी इन्द्रियाँ भी प्रविष्ट हो जाती हैं। समस्त इन्द्रियाँ प्राण के ही नाम से पुकारी जाती हैं। जो इस बात को भली भाँति जानकर प्राण की इस भाव से उपासना करता है, वह जिस कुल में होता है, उसमे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है वह कुल उसी के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है, जैसे रघु के नाम से रघुकुल आदि-आदि।

इसके विपरीत जो ऐसे विद्वान् उपासक से स्पर्धा करता है, वह सूख जाता है और अन्त में मृत्यु के मुख में चला जाता है, काल कवलित हो जाता है—मर जाता है। यही अध्यात्म प्राण दर्शन है।

शौनकजी ने कहा—"यह तो प्राण का अध्यात्म दर्शन हुआ अब इसका आधिदैविक रूप भी तो सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इसका वर्णन तो अध्यात्म प्राणोपासना के अनन्तर श्रुति स्वयं ही करती हुई कहती है—अब आधिदैव को बताते हैं। जैसे इन्द्रियों ने अपना-अपना कार्य निरन्तर करते रहने का व्रत लिया था। वैसे ही अग्नि आदि देवताओं ने भी व्रत लिया।"

शौनकजी ने पूछा—"देवताओं ने क्या व्रत लिया?"

सूतजी ने कहा—"यही व्रत लिया, कि अग्निदेव ने कहा—"मैं सदा जलता ही रहूँगा।" सूर्य ने व्रत लिया—"मैं सदा तपता ही रहूँगा।" चन्द्रमा ने व्रत लिया—"मैं सदा प्रकाशित ही होता रहूँगा।" कहाँ तक गिनावे समस्त देवताओं ने अपने-अपने कार्य के अनुसार सतत कार्यरत होने का व्रत ले लिया। ब्रह्माजी ने पुनः इनके पास मृत्यु को भेजा। मृत्यु श्रम का रूप रखकर इनके पास गये। इनसे सम्बन्ध स्थापित करके इनके शरीरों में प्रवेश कर गये। एक वायु देवता ही इनके चक्कर में नहीं फँस सके। शरीर के भीतर वाक् आदि इन्द्रियों में मुख्य प्राण हैं, उसी प्रकार देवताओं में ये वायु देव हैं। शरीर के भीतर विचरण करने वाली वायु को प्राण कहते हैं और बाहर विचरण करने वाले अनिल का नाम वायु है। इसीलिये अन्य देवतागण तो समय-समय पर अस्त हो जाते हैं, किन्तु वायु कभी अस्त नहीं होते वे सतत चलते ही रहते हैं। एक वायु ही एसे देव हैं जो अस्तता को प्राप्त नहीं होते। दश बाहरी इन्द्रियाँ हैं, चार भीतर की इन्द्रियाँ-अन्तःकरण-हैं। इस प्रकार चौदह इन्द्रियों के चौदह ही अधिष्ठातृ देव हैं। जैसे (श्रोत्र के) दिशा, (प्राण के) वायु, (नेत्र के) सूर्य, (जिह्वा के) वरुण, (घ्राण के) अश्विनीकुमार, (वाणी के)

अग्नि, (हाथ के) इन्द्र, (पैर के) उपेन्द्र, (पायु के) मृत्यु, (मन के) चन्द्रमा, (उपस्थ के) प्रजापति, (बुद्धि के) ब्रह्मा, (अहंकार के) रुद्र और (चित्त के) क्षेत्रज्ञ। जैसे समस्त इन्द्रियों में प्राण श्रेष्ठ हैं यह ता प्राणों का आध्यात्मिक रूप हुआ उसी प्रकार इन इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं में वायु सर्वश्रेष्ठ हैं। स्पर्श आधिभौतिक रूप है, वायु आधिदैविक है और प्राण आध्यात्मिक रूप है। अतः प्राण वायु का संयम करके ब्रह्म स्पर्श को प्राप्त करना चाहिये। वायु ब्रह्म का ही रूप है। इसी के अर्थ को प्रकाशित करने वाला एक मन्त्र है-मन्त्र में कहा गया है-"सूर्य जहाँ से उदित होते हैं, और जहाँ पर जाकर अस्त हो जाते हैं। इत्यादि" इस आधे मंत्र का अर्थ श्रुति बताती है-यह सूर्य देव प्राण से (अर्थात् वायु द्वारा) ही उदित होते हैं और प्राण में (वायु में) ही अस्त होते हैं। यह तो उक्त मंत्र के पूर्वार्द्ध का अर्थ हुआ। अब मन्त्र का उत्तरार्ध कहते हैं—"देवताओं ने उसी प्राण की उपासना रूप धर्म को श्रेयस्कर समझकर किया है।" वही प्राणोपासना धर्म आज भी है और वही धर्म कल भी रहेगा अर्थात् प्राणोपासना रूप धर्म आज भी अनुष्ठान करने योग्य है और कल भी अनुष्ठान करने योग्य रहेगा इस उत्तरार्ध का अर्थ बताते हुए श्रुति कहती है—"देवताओं ने विवाद होने पर इन प्राण देवता को मुख्य मान कर उस समय उन्हें सर्वश्रेष्ठ करके धारण किया था, उनका वह सर्वश्रेष्ठत्व आज भी है। अर्थात् आज भी उन्हें सर्वश्रेष्ठ मानकर उनकी उपासना करते हैं। अतः साधक को चाहिये कि एक ही व्रत का आचरण करे। अर्थात् एक मुख्य प्राणोपासना के ही व्रत का अनुष्ठान करे। प्राण और अपान के व्यापार को करे। अर्थात् प्राणायाम करें। भीतर से वायु को बाहर फेंकने वाली वायु को प्राण कहते हैं। बाहर की वायु को भीतर ले जाने को

अपान कहते हैं ! जिन्हें श्वास प्रश्वास भी कहते हैं। भीतर से बाहर स्वास छोड़े और बाहर से भीतर स्वास खींचे। इस प्रकार पूरक, कुंभक और रेचक तीन प्रकार के प्राणायम को करे। बाहर के वायु को भीतर भरने को पूरक कहते हैं। उसे जैसे वस्तु को घड़े में बन्द कर देते हैं, वैसे ही प्राणों को रोके रहे इसे कुंभक कहते हैं। फिर रुकी हुई वायु को शनैः शनैः छोड़े इसे रेचक कहते हैं। ऐसे ही प्राणों को निकाले भरे। इस भावना से इस प्राण अपान के व्यापार को करे कि कहीं मुझे पापी मृत्यु व्याप्त न करले। इसी भय से इस प्राणायाम व्रत का आचरण करे। एक बात का ध्यान रखे। इस व्रत को आरम्भ करे, तो इसे पूरा ही करके छोड़े। इसे समाप्त करने की ही इच्छा रखे। मध्य में विच्छेद न होने दे। बीच में छोड़ देने से प्राणों का पराभव होता है।

इस उपासना का फल क्या होगा ? इसको बताते हैं, कि इस प्राणोपासना रूप व्रत से इस प्राण देवता से सायुज्य और सालोक्य प्राप्त होता है। सायुज्य कहते हैं एक रूपता को। अर्थात् वह वायु का रूप हो जायगा और सालोक्य कहते हैं, एक ही लोक में समान भाव से साथ-ही-साथ रहने को। अर्थात् वह वायु लोक में निवास करेगा।

सूतजी कह रहे हैं—' मुनियो ! व्रत मीमांसा पूर्वक प्राणों की श्रेष्ठता बतायी। अब आगे जैसे इसी प्रथम अध्याय के छठे ब्राह्मण में नाम, रूप और कर्म के सम्बन्ध में बताया जायगा उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

— —

छप्पय

प्रान रूप सब करन भये जो जाकूँ जानैं।
निज कुल ताके नाम चले सब तिहि यह मानैं॥
ऐसे ही सब देव लयो त्रन वायु मानवत।
स्वीकारयो सुर श्रेष्ठ वायु होवै न अस्त इत॥
उदय अस्त रवि वायुतैं, वायु नवनि तैं श्रेष्ट है।
प्राणोपासन नित करै, प्रान-करन-सुर ज्येष्ट है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय मे
पञ्चम ब्राह्मण समाप्त।

नाम, रूप, कर्म विवेचन

(२१५)

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति । एतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः समभेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥❀

(बृ० उ० १ अ० ६ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

नाम, रूप अरु कर्म तीनि समुदाय बताये ।
वाक उक्थ अरु साम ब्रह्म नामहिं कहलाये ॥
रूप चक्षु सामान्य उक्थ यह रूप प्रकट सब ।
यही साम सम रहे ब्रह्म यह घटै रूप सब ॥
नाम रूप व्याख्या करी, कर्म विवेचन सुनहु अब ।
कर्म देह सामान्य यह, उक्थ कर्म उत्पन्न सब ॥

इस दृश्य जगत् को-स्थाणु से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जो संसार

❀ इस जगत् में तीन ही समुदाय हैं । नाम, रूप और कर्म । इन समस्त नामों का 'वाक्' इस शब्द से निर्दिष्ट होता है । यही उक्थ है । क्योंकि इसी वाक् से समस्त नाम उत्पन्न होते हैं । यही वाक् इन नामों का साम भी है, क्योंकि यह सब नामों के सम है—तुल्य है । यही इन नामों का ब्रह्म भी है, क्योंकि यही समस्त नामों को धारण करता है ।

है- शास्त्रों ने विविध भाँति से त्रितयात्मक सिद्ध किया है। तीन से ही यह सृष्टि हुई है, तीन में ही स्थित है और अन्त में तीनों का एक में ही समावेश हो जाता है। इस जगत् में भी तीन ही समुदाय हैं। नाम, रूप और कर्म। जगत् में इन तीन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इनका सम्बन्ध पीछे कहे हुए वाक्, मन और प्राण इन तीनों से भी है, नाम का अभिव्यक्ति वाणी से ही होगा। नाम का उच्चारण वाणी द्वारा होगा। सैकड़ों प्रकार के फल रखे हैं, जब तक वाणी से उच्चारण करके न बतावेंगे तब तक कैसे पता चलेगा कि आम है, यह जामुन है, यह कटहल है इत्यादि इत्यादि अब रहा रूप का, इसका सम्बन्ध नेत्र से है। नेत्र उपलक्षण मन का है, क्योंकि नेत्र मन की ही सहायता से देखता है, नेत्र में स्वयं देखने का सामर्थ्य नहीं 'चक्षु पश्यती रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा) अतः संसार में जितने भी रूप हैं उनका आधार चक्षु है। संसार में जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे प्राण के ही आधार से किये जाते हैं। प्राण के बिना कोई कर्म सम्भव नहीं। अतः जैसे पीछे वाक्, मन और प्राण का महत्व बता आये हैं, यहाँ दृश्य जगत् में नाम, रूप और कर्म का महत्व बताना है।

वैदिक क्रियाओं में पीछे उक्थ, साम और ब्रह्म इन तीनों का वर्णन किया जा चुका है। (अथ य एषऽन्तरक्षिणी पुरुषे दृश्यते सैवर्क तत्साम तदुक्थं तद् यजुः तद् ब्रह्म) इन तीनों की भी नाम, रूप और कर्म में समता का गयी है, किन्तु यहाँ जैसे उक्थ साम समूह के स्तोत्रों का नाम है। साम से सामवेद और ब्रह्म से परमात्मा या वेद समूह अर्थ है यहाँ ये शब्द रूढ़ि हैं, किन्तु इसमें जो उक्थ साम और ब्रह्म का प्रयोग किया है यौगिक अर्थ में किया है। जैसे पीछे तो उक्थ शब्द सामवेद के मन्त्र समूह

जो उक्थ नाम के स्तोत्र है, उस अर्थ में है। यहाँ (उत् +स्था= इति उक्थ) जिससे उत्पन्न हो वह उक्थ है। इस प्रकार (सम एव=इति साम) जो बराबर हो इस अर्थ में साम लिया है। वहाँ ब्रह्म परमात्मा का नाम है। यहाँ ब्रह्म डुभृङ् धारण पोषण अर्थ में व्यवहृत होने वाली धातु से सिद्ध करके जो सबको धारण करे (सर्वाणि-बिभर्ति-इति ब्रह्म) इस अर्थ में प्रयोग किये हैं। दोनों का साम्य किया है अर्थात् जैसे वैदिक क्रिया में उक्थ, साम और ब्रह्म हैं। वैसे ही नाम में, रूप में तथा कर्म में इन तीनों में भी उक्थ, साम और ब्रह्म हैं। श्रुति स्वयं ही इनके भावार्थ को स्पष्ट करेगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जो यह दृश्यमान जगत् है वह तीन पर ही अवलम्बित है, निर्भर है। तीन ही के समुदाय का नाम जगत् है।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन कौन-कौन हैं?"

सूतजी ने कहा—"वे तीन हैं, नाम, रूप और कर्म।"

शौनकजी ने पूछा—"नाम क्या?"

सूतजी ने कहा—"नाम निर्वचन-जो वस्तु जिस नाम से पुकारी जाय उसे नाम कहते हैं। जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णु मित्र नाम हैं। यह देवदत्त है, यह इसका नाम है। यह देवदत्त ब्राह्मण है, ब्राह्मण इसके वर्ण का नाम है। यह देवदत्त गृहस्थ है गृहस्थ आश्रम का नाम है। यह धर्मात्मा है, यह गुण मूलक नाम है। कहाँ तक कहें वाणी से जो-जो भी शब्द निकले वे सबके सब नाम हैं। अतः नाम का उक्थ (उपादान कारण) वाणी है। क्योंकि संसार के समस्त स्थावर जंगम नाम वाणी से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे वाणी उक्थ (उपादान कारण) है वैसे ही यह वाणी साम भी है। वाणी ही सब नामों में समानता उत्पन्न

करती है। जैसे गौ कह दिया—तो जितनी सींग, थन और गले के सासनागलकम्बल—वाली जाती के पशु होंगे सबका बोध होगा। जैसे 'वर्णाश्रमी' नाम कह दिया—तो चारों वर्णों, चारों आश्रमों के अन्तर्गत जितने भी स्त्री पुरुष होंगे सभी का बोध होगा। इसी-लिये यह नाम का उपादान कारण वाणी उक्थ के साथ-ही-साथ साम भी है। और ब्रह्म भी है। ब्रह्म कैसे है? ब्रह्म कहते हैं धारण करने वाले को। वाणी समस्त नामों को जिह्वा पर धारण करती है। जितने भी नाम हैं, यदि वाणी में धरे न रहे तो वाणी उसका उच्चारण कैसे करेगी। अतः नामों को निर्देश करने वाली वाणी उक्थ भी है साम भी है और ब्रह्म भी है। नाम का समुदाय कहकर अब रूप का समुदाय कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"रूप क्या?"

सूतजी ने कहा—"हरे, पीले, लाल, सफेद, गुलाबी ये सब रूप ही हैं। रूप का सामान्य (उपादान कारण) अथवा उक्थ—चक्षु है। क्योंकि समस्त रूप आँखों से ही देखे जाते हैं आँख फूट जायें या आँखों को बन्द कर लो तो कोई भी रूप दिखायी न देगा। अतः आँखें ही रूप का कारण हैं उक्थ हैं। ये ही रूप का साम भी हैं। नाम क्यों हैं? क्योंकि आँखें ही रूपों में ममता लाती हैं। जैसे आँखों ने एक आम का पेड़ देख लिया तो उसने समझ लिया संसार के समस्त आम के पेड़ ऐसे ही हरे पत्ते वाले, फल वाले होंगे। विविध भाँति के रूपों में समता लाने के कारण ये चक्षु ही साम भी हैं। और ये ब्रह्म भी है। ब्रह्म कैसे हैं, ये आँखें सब रूपों को धारण किये हुए हैं। आँखों में सब प्रकार के रूप धरे हुए न हों तो वे रूपों को देख कैसे सकती हैं। अतः रूप का उपादान कारण—चक्षु इन्द्रिय उक्थ भी है, साम भी है और ब्रह्म

भी है। अब नाम रूप के समुदाय को कहकर कर्म समुदाय का कथन करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"कर्म क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! पढ़ना पढ़ाना, जाना आना, बैठना उठना, चलना फिरना जितनी भी क्रियायें सबकी कर्म संज्ञा है। ये कर्म शरीर द्वारा ही हो सकते हैं, अतः कर्म का उपादान कारण–उक्थ–यह शरीर ही है। जितने भी कर्म हैं सब शरीर द्वारा (प्राण द्वारा) ही उत्पन्न होते हैं, (प्राणयुक्त) शरीर से ही कर्म संभव है। अतः कर्म का सामान्य कारण–देह है–आत्मा है। यही शरीर इसका साम भी है। समस्त कर्मों में समता यह शरीर स्थापित करता है। रोटी ऐसे बनानी चाहिये, पीसना ऐसे चाहिये, खेती ऐसे करनी चाहिये एक काम को करके फिर उसके करने की क्रिया में समता स्थापित करता है। यह शरीर इस कर्म का ब्रह्म भी है, क्योंकि समस्त कर्मों को शरीर ही धारण करता है, सीखकर उसे करने की सामान्य क्रियाओं को धारण किये रहता है। (प्राणवान्) शरीर कर्म को धारण न करे, तो कर्म होने संभव ही नहीं। अतः कर्म का उक्थ, साम और ब्रह्म शरीर ही है। ये नाम, रूप और कर्म कहने को तीन हैं, किन्तु तीन होते हुए भी एक आत्मा है। और आत्मा भी एक होते हुए तीन हैं। प्राण अमृत है, नाम और रूप सत्य है–अर्थात् कर्म फल है। वह अमृत–प्राण, सत्य से–नाम रूप से ढका है।"

शौनकजी ने पूछा—"अमृत सत्य से आच्छादित है इसका क्या तात्पर्य है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! इसका अर्थ भगवती श्रुति ने स्वयं ही कर दिया है। श्रुति कहती है–कर्मरूप प्राण ही अमृत है। और नाम रूप इनकी सत्य संज्ञा है। अर्थात् यह प्राण–ब्रह्म

नाम रूप से आच्छादित है। नाम रूप के कारण इस प्राण रूप ब्रह्म को प्रत्यक्ष होने पर भी लोग देख नहीं सकते।"

शौनकजी ने पूछा—'जब प्रत्यक्ष है, तो देख क्यों नहीं सकते ?"

सूतजी ने कहा "कोई राजकुमार है, गृह कलह के कारण उसकी धाई उसे छुपाकर व्याधों के गाँव में ले गयी। वहाँ उसने उसका राजोचित नाम भी छिपा लिया और महलों के सुख से वंचित रहने के कारण घोर जंगलों में रहने से उसका रूप भी काला पड गया। इसलिये सर्वसाधारण लोग उसे भी व्याध ही समझने लगे। क्योंकि उसका नाम रूप दोनों ही व्याधों के समान हो गया था। किन्तु जो बुद्धिमान थे, लक्षणज्ञ थे, वे उसके लक्षण आकृति को देखकर समझ गये थे इसके नाम रूप प्रच्छन्न हैं—बनावटी हैं। वास्तव में यह राजकुमार ही है। तो वे उसे पुनः राज्य सिंहासन पर लाकर प्रतिष्ठित कर देते हैं। इसी प्रकार यह प्राण रूप राजकुमार ब्रह्म नाम रूप वाले व्याध कुल में छिप गया है। सामान्य लोग तो नाम रूप के कारण इसे सामान्य प्राणी मानते हैं, किन्तु जो नाम रूप के ढक्कन को हटाकर इसके यथार्थ रूप को जान लेते हैं, उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती। हे इस प्रकार यह नाम रूप से आच्छादित इस कर्म रूप प्राण की उपासना करनी चाहिये इसके यथार्थ रूप का परिज्ञान करना चाहिये। ऐसे यह नाम रूप कर्म का विवेचन समाप्त हुआ। साथ ही बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय का छठा ब्राह्मण और प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ। अब द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में जैसे आत्मा का स्वरूप समझाने के निमित्त गार्ग्य और काशिराज महाराज अजातशत्रु का सम्वाद आरम्भ होगा, उस प्रकरण को मैं आप सबसे आगे कहूँगा। जिसमें राजर्षि काशिराज

महाराज अजातशत्रु ने गार्ग्य को आत्मा के यथार्थ स्वरूप का उपदेश दिया है। इस पुण्यमय आख्यान को आप सब महानुभाव दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

करमनि समता करै देह धारै करमनिकूं।
नाम, रूप अरु करम तीन है एक नरनिकूँ॥
एकहि दीखें तीनि अमृत यह सत्य ढक्यो है।
प्रानहि है ये अमृत सत्य नामहि रूपहि है॥
ब्रह्म प्रानकूँ जानिकें, करै उपासन उपासकें।
नाम रूप तैं ढक्यो है, पहिचाने साधक अंधक॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
छठा ब्राह्मण समाप्त।
प्रथम अध्याय समाप्त।

गार्ग्य अजातशत्रु सम्वाद (१)

[२१६]

ॐ दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ।।*

('बृ' उ० २ अ० ब्रा० १ म०)

छप्पय

गार्ग्य दृप्त बाचाल जनक नृपके ढिंग आयौ ।
'ब्रह्मज्ञान उपदेश करूँ' सुनि नृप हरषायौ ॥
सहस धेन हौं देउ जनक कहि सब जन दौरत ।
गार्ग्य कहे—'आदित्य पुरुष ब्रह्महि हौं मानत ॥
नृप अजातशत्रु कहै—उत्तम राजा शिर-सकल ।
होहि उपासकहू परम-श्रेष्ठ, दीप्तियुत भूप-मल ॥

---

* एक गर्ग गोत्रीय ऋषिकुमार दृप्त बालाकि था। वह काशिराज अजातशत्रु की सभा में जाकर उनसे बोला—"मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा। तब उस अजातशत्रु ने कहा—"आपके इस वचन के लिये मैं सहस्र गौएँ आपको देता हूँ।" (जनक जिज्ञासु, दाता, ब्राह्मणों का आदर करने वाला है) ऐसा मानकर सब लोग जनक के यहाँ दौड़े जाते हैं।'

प्रचीनकाल में पुस्तकी विद्या, विद्या नहीं मानी जाती थी, जो भी कुछ हो, सब कंठस्थ हो। राज सभाओं में पंडितों का शास्त्रार्थ ही होता था। जैसे किसी को कुक्कुट लड़ाने का व्यसन होता है, कोई साँड़ लड़ाते हैं, कोई मेढ़ा लड़ाते हैं। इसी प्रकार प्राचीन राजाओं को पंडितों के शास्त्रार्थ सुनने का व्यसन होता था। जैसे युद्ध प्रेमी राजा अपने यहाँ नामी-नामी मल्लों को रखते थे, उन्हें यथेष्ट खाने को पौष्टिक माल देते थे और बाहर से जो मल्ल आते थे, उनसे उनका द्वन्द्व युद्ध कराते थे। जैसा उन्हें द्वन्द्व युद्ध देखने में आनन्द आता था, वैसा ही विद्या व्यासंगी राजाओं को भी विद्वान् पंडितों के शास्त्रार्थ मे आनन्द आता था। प्रायः सभी धार्मिक राजा अपनी सभा में बहुत से विद्वान् शास्त्रार्थ कुशल ब्राह्मणों को रखते थे। वे राज सभा पंडित कहलाते थे। कोई-कोई विद्वान् राजा स्वयं भी पंडितों से शास्त्रार्थ किया करते थे। जो भी विद्वान् शास्त्रार्थ में जीत जाता था, उसे राजा की ओर से पारितोषिक दिया जाता था। उन दिनों गोधन ही सबसे श्रेष्ठ धन माना जाता था। राजा लोग कह देते थे—"जो विद्वान् मेरे इस प्रश्न का उत्तर देगा उसे मैं दश सहस्र, एक सहस्र या इतनी संख्या में गौ प्रदान करूँगा।" शास्त्रार्थ में तीन ही बात प्रधान मानी जाती थीं। इसे शास्त्रों का कितना ज्ञान है, इसकी तर्क शक्ति कितनी प्रबल है और यह कितना प्रत्युतपन्न मति है। इसके लिये कभी तो शास्त्र वचनों का अर्थ पूछते। उसके बताये अर्थ का खंडन करके दूसरा ही अर्थ बताते। कभी जैसे हम पहेली पूछते हैं वैसे पूछते-जैसे—

कहा न अबला करि सके, कहा न सिन्धु समाय।
कहा न पावक में जरे, काहि काल नहिं खाय॥

इस प्रकार की शास्त्रीय पहेली पूछते। कोई जो प्रश्न करते दूसरा उसे काट देता और यह सिद्ध करता, कि इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ। यही नहीं मैं इससे अधिक भी जानता हूँ, यदि तुम इससे आगे जानते हो तो बताओ।

राजसभा मे सभी का प्रवेश सम्भव नहीं था। पहिले तो द्वार पर द्वारपाल ही ऐसे बहुत रखे जाते थे, कि राजसभा मे प्रवेश करने से पूर्व द्वारपाल को ही सन्तुष्ट करना पडता था। द्वारपाल ने सन्तुष्ट होकर राजा को सूचना दे दी, तो सभा मे प्रवेश करने वाले पंडित को वहाँ जाकर राजा को सन्तुष्ट करना पड़ता था। राजा ने सन्तुष्ट होकर उसे सभासदों मे बैठने की आज्ञा प्रदान कर दी, तब वह राजसभा के अन्य पंडितों से शास्त्रार्थ करता था। कभी-कभी बहुत से पंडित मिलकर उस पंडित को पराजित करने का प्रयत्न करते थे। वैसे तो सभी राजाओं की राज सभाओं में पंडित रहते थे, शास्त्रार्थ होते थे, किन्तु मिथिला के महाराज जनकों की राजसभा इसके लिये संसार मे विख्यात थी। जनक-वंश मे प्रायः जितने भी राजा हुए, वे सब-के-सब मोक्ष धर्म के ज्ञाता, शास्त्रज्ञ तथा ब्रह्मवादी थे। उनकी सभा मे भी बड़े भारी-भारी विद्वान् रहते थे और संसार भर के ज्ञानी ध्यानी वेदज्ञ शास्त्रार्थ करने, पंडितों को परास्त करने, दान दक्षिणा पाने तथा कुछ सीखने को आते थे। मिथिला के राजाओं के यहाँ अब तक यह प्रथा चली आती थी। अब जब राज्य ही नहीं रहे, तो राज्यसभाओं का, राजपंडितों का और शास्त्रार्थों का भी प्रचलन समाप्त हो गया। महाभारत मे अष्टावक्र और बन्दी के शास्त्रार्थ का वन पर्व मे उल्लेख आता है। उससे तब की राजसभाओं का, राजपंडितों का शास्त्रार्थों का अच्छा परिचय प्राप्त होता है

अतः बहुत ही संक्षेप में हम यहाँ उसका परिचय देते हैं। यह शास्त्रार्थ भी महाराज जनक की ही राजसभा में हुआ था।

महाराज जनक की राजसभा में वन्दी नाम के विद्वान् थे वे शास्त्रार्थ में जिसे पराजित कर देते, उसे नदी के पानी में जाकर डुबो देते। इसी प्रकार उसने कहोड़ नामक विद्वान् को जीतकर उन्हें जल में डुबो दिया था। कहोड़ की पत्नी गर्भवती थी। उसके आठ स्थान से टेढ़ा एक पुत्र कहोड़ के पीछे पैदा हुआ। उनका नाम अष्टावक्र रखा गया। अष्टावक्रजी ने जब अपने पिता का वृत्तान्त सुना तो वे राजा जनक की सभा में बन्दी से शास्त्रार्थ करने गये। उस समय उनकी अवस्था १०-११ वर्ष की थी, अतः द्वारपाल ने इन्हें भीतर जाने ही नहीं दिया। तब इन्होंने अपनी वाक्चातुरी से द्वारपाल को सन्तुष्ट किया, अब राजा को सन्तुष्ट करना था। इन्होंने जाकर राजा की प्रशंसा की। उनके धर्म कार्यों की सराहना की। और बन्दी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। राजा ने पूछा—"अच्छा बताओ-तीस अङ्ग, बारह अंश, चौबीस पर्व, तीन सौ साठ आरे, किस पदार्थ में हैं?"

अष्टावक्र बोले—"ऐसा सम्वत्सर आपका कल्याण करे।"

राजा ने पूछा—"सोते समय आँखें कौन बन्द नहीं करता?"

अष्टावक्र बोले—"वह मछली है।"

राजा—"उत्पन्न होने पर कौन नहीं चलता?"

अष्टा०—"वह अंडा है।"

राजा—"हृदय किसके नहीं है?"

अष्टा०—"पाषाण के नहीं है।"

राजा—"वेग से कौन बढ़ता है?"

अष्टा०—"नदी वेग से बढ़ती है।"

इस प्रकार राजा को प्रसन्न करके अब उन्होंने वन्दी को ललकारा। वन्दी ने कहा—"अग्नि, सूर्य, इन्द्र, यम एक हैं।"

अष्टा०—"इन्द्र अग्नि दो मित्र हैं, नारद और पर्वत दो सखा हैं, अश्विनीकुमार दो हैं, रथ के पहिये दो, स्त्री और पुरुष दो।"

वन्दी—"कर्म, वेद, स्नान, लोक और कर्म ज्योति तीन हैं।"

अष्टा०—"वर्ण, आश्रम, दिशा, गौ के पैर चार होते हैं।"

वन्दी—"अग्नि, पंक्ति छन्द, यज्ञ, इन्द्रियाँ, वेदवृत्ति, पंजाब की मुख्य नदियाँ ये ५ प्रकार की हैं।"

अष्टा०—"अग्न्याधान की दक्षिणा में गौदान, ऋतुएँ, इन्द्रियाँ, कृत्तिकायें, वेद में साधस्क यज्ञ विधान ये सब ६-६ प्रकार के हैं।"

वन्दी—"ग्राम्य पशु, वन पशु. छन्द, समर्पि और वीणा के तार ये ७-७ होते हैं।"

अष्टा—"एक शतमान ने गोनी, शरभ के पैर, वसु, समस्त ...ों के यूप ये आठ-आठ होते हैं।"

वन्दी—"पितृ यज्ञ में सामधेनी, बृहती छन्द का प्रत्येक चरण, गणित के अङ्क ये ९-९ होते हैं।"

अष्टा०—"दिशायें, सौ में दशक, स्त्री पूर्ण गर्भ तत्वोपदेशक, अधिकारी और द्वेषी भी १०-१० हैं।"

वन्दी—"इन्द्रियाँ, विषय, प्राणियों के विकार और रुद्र ११-११ हैं।"

अष्टा०—वर्ष में मास, जगती छन्द के प्रत्येक चरण के अक्षर, प्राकृत यज्ञ पूर्ति दिवस और आदित्य ये १२-१२ होते हैं।"

वन्दी—"त्रयोदशी पुण्य तिथि है, पृथ्वी के तेरह द्वीप हैं—आगे वन्दी लड़खड़ा गया। आगे और कौन वस्तु १३ है यह वह तत्काल निर्णय न कर सका। तब उसकी बात को काटते हुए

अष्टावक्रजी ने कहा—"आत्मा के भोग १३ हैं, बुद्धि को लेकर तेरह उसकी रोंके हैं।"

अब आगे बन्दी कुछ न कह सका। वह पराजित हुआ। अष्टावक्र की जीत हुई इसी प्रकार के शास्त्रार्थ हुआ करते थे। गार्ग्य मे और मैथिल जनक राजा अजातशत्रु में जो शास्त्रार्थ हुआ यह दूसरे प्रकार का था। गार्ग्य ने अपनी जानकारी बतायी। राजा ने कहा—"इसे मैं जानता हूँ, इससे ऊँची बात बताओ। तब उसने इससे भी ऊँची बात बताई।"

राजा ने कहा—"इसे भी मैं जानता हूँ, ऐसे करते-करते गार्ग्य चुप हो गया। उससे आगे का उपदेश राजा ने स्वयं गार्ग्य को किया। गार्ग्य ने राजा का शिष्यत्व स्वीकार किया। कैसा था उस समय का निश्छल कपट रहित सत्य व्यवहार। अब आप आगे जिस प्रकार गार्ग्य जनकी राजसभा में गये और पराजित होकर राजा का शिष्यत्व स्वीकार किया उस कथा को सुने।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! क्षत्रिय होकर भी अजातशत्रु राजा जनक ने गार्ग्य को जैसे उपदेश दिया—उस कथा को मैं आपको सुनाता हूँ।" आशा है आप इस पुण्यप्रद ब्रह्म विद्यामयी कथा को दत्त चित्त होकर श्रवण करेंगे—

एक गर्ग गोत्र में उत्पन्न होने वाले बालक ऋषि के पुत्र बालाकि नाम वाले ऋषिकुमार थे। अथवा बलाका इनकी माता का नाम रहा होगा। इन्होंने शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, कल्प, छन्द और ज्योतिष इन वेद के छैऊ अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन किया था। किन्तु इन्हें अपनी विद्या का बड़ा अहङ्कार था। ये बड़े गर्वीले थे। इसीलिये ये इस बालाकि गार्ग्य, इस नाम से प्रसिद्ध थे।

उन दिनों मिथिला में अजातशत्रु नामके राजा राज्य करते

थे। वे राजा बड़े सत्संगी, दानी, विद्वानों का आदर करने वाले तथा ब्रह्म विद्या में पारंगत थे। बड़े-बड़े विद्वान् सदा ही उनकी सभा में आते रहते और महाराज उनका दान मान द्वारा यथोचित सत्कार करते थे। उनके जिज्ञासुपने तथा दान की प्रशंसा सुनकर ये उनकी राजसभा में गये। विद्वान् तो थे ही। अतः इन्हें राजसभा में जाने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई। द्वारपाल ने जाकर राजा को सूचना दी। राजा ने विद्वान् ब्राह्मण समझकर इन्हें तुरन्त बुलवा भेजा। ये राजा के पास गये। राजा ने इनका स्वागत सत्कार किया और कहा—"ब्रह्मन्! आपने दर्शन देकर मुझे कृतार्थ किया। अब कृपा करके आप बताइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ? किस कारण आप ने कष्ट किया?"

राजा के नम्रता पूर्वक वचन सुनकर इन्होंने अभिमान में भर कर कहा—"मैंने आपकी राजन्! बहुत प्रशंसा सुनी है, क्या मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँ?"

राजा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"धन्यवाद! धन्यवाद! मेरा बड़ा सौभाग्य है जो आप मेरे यहाँ ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने स्वयं पधारे। "मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा।" इस शब्द को ही सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। इसके उपलक्ष्य में मैं आपको सहस्र गौएँ प्रदान करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"राजन्! अभी तो मैंने आपको उपदेश दिया भी नहीं, फिर आप मुझे ब्रह्मज्ञान की दक्षिणा प्रदान क्यों कर रहे हैं?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं ब्रह्मज्ञान की दक्षिणा नहीं दे रहा हूँ। आपने यहाँ आकर मेरा सम्मान बढ़ाया मुझे जिज्ञासु श्रोता दानी समझकर मेरे यहाँ आये और मुझे ब्रह्मज्ञान का अधिकारी समझकर ब्रह्म विद्या प्रदान करने की इच्छा प्रकट की

इसी सम्मानयुक्त वाक्य के उपलक्ष्य में सहस्र गौएँ प्रदान कर रहा हूँ। ब्रह्मज्ञान की दक्षिणा तो मैं पश्चात् दूँगा। आप सब मुझे श्रोता समझकर दानी मानकर जनक के यहाँ चलो, जनक के यहाँ चलो ऐसा कहकर मेरे यहाँ के लिये दौड़-दौड़कर आते हैं, यह क्या मेरे लिये कम सौभाग्य की बात है। ऐसा समाम्न सभी भूपतियों को प्राप्त थोड़े ही होता है। आपने यहाँ पधार कर और मुझे ब्रह्मज्ञान का पात्र समझकर ब्रह्मविद्या प्रदान करने का शुभ संकल्प किया है उसी के निमित्त ये सहस्र गौएँ दे रहा हूँ। गोदान करके ही तो मैं ब्रह्मविद्या का श्रवण करूँगा।"

हाँ तो अब कहिये। आप किसे ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं?"

गार्ग्य ने कहा—"राजन्! यह जो आदित्य मण्डल में आदित्य नाम वाला पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ। उसी की उपासना तुम्हें भी करनी चाहिये।"

राजा ने कहा— 'ब्रह्मन्! आप यथार्थ कह रहे हैं, किन्तु इस विषय को तो मैं पहिले से ही जानता हूँ। इसे न कहकर इससे भी कोई ऊँची बात हो, तो उसे कहिये।"

गार्ग्य ने कहा—"इस विषय में आप क्या जानते हो?"

राजा ने कहा—"मैं यही जानता हूँ, कि यह सूर्य मण्डलवर्ती आदित्य समस्त भूतों का अतिक्रमण करके स्थित रहता है। यही सभी का शिरस्थानीय है–मस्तक है–तथा दीप्तिमान होने से राजा भी है। मैं तो इन्हें ऐसा ही मानता हूँ और ऐसा ही मानकर इनकी सतत उपासना करता हूँ—

गार्ग्य ने कहा—"अच्छा, यह बताओ इसकी उपासना का फल क्या है?"

राजा ने कहा—"जो जिसकी जिस भावना से उपासना

करता है, उसे वैसा ही फल भी प्राप्त होता है। इनकी उपासना करने वाला सबका अतिक्रमण करके स्थित होता है, सभी प्राणियों में उनका मस्तक बनकर रहता है और दीप्तिमान् प्रकाश युत राजा होता है। यही आदित्य की उपासना का फल है।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो सूर्य से भी ऊपर चन्द्र मण्डल में चन्द्र नामक पुरुष है, इसकी ब्रह्म रूप से उपासना करनी चाहिये।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इस उपासना को भी मैं पहिले से ही जानता हूं। उस सम्बन्ध में आप विशेष कुछ न कहें।"

गार्ग्य ने कहा—"उस सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?"

राजा ने कहा—"देखिये ब्रह्मन्! ये जो सोम हैं, चन्द्रमा हैं, ये महान हैं, ये सदा शुक्ल वस्त्र धारण करते हैं ये सोमराज इस नाम से विख्यात हैं। मैं तो सदा से इनकी इसी रूप में उपासना करता ही हूँ। इससे ऊँची कोई बात आप जानते हों तो बतावें?"

गार्ग्य ने पूछा—"अच्छा, बताइये, इस उपासना का फल क्या है?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! बता तो दिया, जो जैसे की उपासना करता है, वैसा ही बन जाता है। इन सोम के उपासक को प्रकृति यज्ञ में सोम की प्राप्ति होती है और विकृति यज्ञ में और अधिकता से सोमरस प्रस्तुत रहता है। ये सोम सभी वनस्पतियों के राजा हैं अतः इसके उपासक का कभी अन्न चुकता नहीं। उसके यहाँ कभी खाद्य पदार्थ क्षीण नहीं होते।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो विद्युत् में पुरुष है उसी की मैं ब्रह्म रूप में उपासना करता हूं।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! कोई नवीन बात बताइये जिसे मैं न जानता हूँ, विद्युत् पुरुष की उपासना तो मैं पहिले से ही करता हूँ। इसकी चर्चा छोड़कर कोई बड़ी बात बताइये।"

गार्ग्य ने कहा—"इसके सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"यह विद्युत् सबसे अधिक तेजस्वी है, मैं तेजस्वी मानकर ही इसकी उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"इसका उपासक राजा परम तेजस्वी होता है और उसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब राजा गार्ग्य के प्रत्येक उपदेश के सम्बन्ध में अपनी पूर्व जानकारी बताते गये, तब तो वे कुछ चकराये, किन्तु उन्होंने अपना उपदेश चालू ही रखा। अब जैसे वे आकाशादि की उपासना बतावेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

गार्ग्य कहे—जो चन्द्र-पुरुष बलहि तिहि मानूँ।
भूप कहे—मत कहो ताहि पहिले हौं जानूँ॥
राजा सोम महान शुक्ल अम्बर वर धारी।
साधक श्रुत अरु प्रसुत भरयो अचहु घर भारी॥
गार्ग्य कहे—विद्युत पुरुष—बल कहे नृप जानि हौं।
तेजस्वी सो उपासक, प्रजा सहित तेजस्वि हौं॥

गार्ग्य-अजातशत्रु-सम्वाद (२)

(२१७)

स होवाच गार्ग्य य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सर्वादिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥*

(बृ० उ० २ अ० १ ब्रा० ५ म०)

छप्पय

गार्ग्य कहे—आकाश ब्रह्म नृप बाले—जानूँ।
अप्रवर्ति तिहि रूप उपासक तिहि तम मानूँ॥
जो उपासना कर प्रजा पशु पूर्ण रहै नित।
गार्ग्य कहे— जो वायु-पुरुष ब्रह्महिं मानूँ उत॥
कहे—भूप—जानूँ प्रथम, इन्द्र विकुण्ठ अ-पराजित।
होइ उपासक विजेता, सब थल विजयी शत्रुजित॥

---

* जब गार्ग्य ने कहा—"आकाश मे यह जो पुरुष है, मैं ब्रह्मरूप से इसी की उपासना करता हूँ। तब अजातशत्रु बोले—"ऐसा न कहिये। मैं तो अप्रवर्ति रूप से इसकी उपासना करता हूँ। इसकी जो भी कोई इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा तथा पशुओं से परिपूर्ण हो जाता है। और उसकी प्रजा का इस लोक मे उच्छेद नहीं होता।"

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। सभी ब्रह्म की विभूति हैं, किसी में भी ब्रह्म भावना करके उपासना करो वहीं ब्रह्म की उपलब्धि हो जायगी। जैसे स्थान-स्थान पर सर्वत्र पत्र पेटिकायें टँगी हुई हैं उनमें से किसी में भी कहीं भी पत्र डाल दो निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जायगा। जल को कहीं भी फेंक दो वह इर-फिर कर समुद्र में ही पहुँच जायगा। इसी प्रकार आदित्य, चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, आदर्शगत रूप, प्राण, दिशा तथा छाया में कहीं भी ब्रह्मोपासना करो ब्रह्म की ही भावनानुसार प्राप्ति होगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब विद्युत पुरुष का भी अजातशत्रु ने प्रत्याख्यान कर दिया तब गार्ग्य ने कहा—"राजन्! यह जो आकाश में पुरुष है, मैं तो ब्रह्म रूप से इसी की उपासना करता हूँ।"

अजातशत्रु ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं तो पहिले ही इसकी पूर्ण तथा अप्रवर्ति रूप से उपासना किया करता हूँ, अतः इस विषय को मैं जानता हूँ, इस सम्बन्ध में आप विशेष कुछ कहने का कष्ट न करें।"

गार्ग्य ने पूछा—"आप इस सम्बन्ध में क्या जानते हैं?"

राजा ने कहा—"यह जो आकाश पुरुष है सर्वत्र परिपूर्ण है, यह प्रवर्तनशील नहीं है अर्थात् क्रिया शून्य है।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसकी उपासना करने वाले उपासक को फल क्या मिलता है?"

राजा ने कहा—"जैसा यह परिपूर्ण वैसा ही उपासक भी पुत्र पौत्रों से, गौ, बैल, घोड़ा आदि पशुओं से परिपूर्ण हो जाता है। और इसकी पुत्र पौत्रादि सन्तति अमरमय में विनष्ट नहीं होती।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो वायु में पुरुष है, मैं उसी की ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"इसकी भी विशेष चर्चा मत करो। इसकी भी मैं उपासना करता हूँ। इस विषय में भी पहिले से ही जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसके विषय में आप क्या जानते हैं?"

राजा ने कहा—"देखिये यह वायु पुरुष इन्द्र है अर्थात् परम ऐश्वर्ययुक्त है, यह वैकुण्ठ है अर्थात् जो किसी से कभी कुण्ठित न हो जिसे कोई सहन न कर सके और अपराजिता सेना है वायु की ४९ मरुतों की कभी किसी से पराजित न होने वाली सेना है मैं वायु पुरुष की इसी रूप से उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है?"

राजा ने कहा—"जिस गुण से विशिष्ट उपास्य देवता होता है उपासक को वैसा ही फल मिलता है। अतः इसका उपासक सदा विजयी होता है, उसकी कभी पराजय नहीं होती और वह अपने शत्रु पर सदा विजय प्राप्त करता है।"

तब गार्ग्य ने कहा—"मैं जो अग्नि में पुरुष है उसी की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! कोई अश्रुत नूतन बात बताइये। इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ और उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इस विषय में आप क्या जानते हैं?"

अजातशत्रु ने कहा—"यह अग्नि पुरुष विषासहि है। अर्थात् सहनशील है। अग्नि में जो भी जलने को डाल दो उसे वह जलाकर सहन कर लेता है। इसी भाव से मैं अग्नि पुरुष की उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है?"

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। सभी ब्रह्म की विभूति हैं, किसी में भी ब्रह्म भावना करके उपासना करो वहीं ब्रह्म की उपलब्धि हो जायगी। जैसे स्थान-स्थान पर सर्वत्र पत्र पेटिकायें टँगी हुई हैं उनमें से किसी में भी कहीं भी पत्र डाल दो निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जायगा। जल को कहीं भी फेंक दो वह इर-फिर कर समुद्र में ही पहुँच जायगा। इसी प्रकार आदित्य, चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, आदर्शगत रूप, प्राण, दिशा तथा छाया में कहीं भी ब्रह्मोपासना करो ब्रह्म की ही भावनानुसार प्राप्ति होगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब विद्युत पुरुष का भी अजातशत्रु ने प्रत्याख्यान कर दिया तब गार्ग्य ने कहा—"राजन्! यह जो आकाश में पुरुष है, मैं तो ब्रह्म रूप से इसी की उपासना करता हूँ।"

अजातशत्रु ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं तो पहिले ही इसकी पूर्ण तथा अप्रवर्ति रूप से उपासना किया करता हूँ, अतः इस विषय को मैं जानता हूँ, इस सम्बन्ध में आप विशेष कुछ कहने का कष्ट न करें।"

गार्ग्य ने पूछा—"आप इस सम्बन्ध में क्या जानते हैं?"

राजा ने कहा—"यह जो आकाश पुरुष है सर्वत्र परिपूर्ण है, यह प्रवर्तनशील नहीं है अर्थात् क्रिया शून्य है।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसकी उपासना करने वाले उपासक को फल क्या मिलता है?"

राजा ने कहा—"जैसा यह परिपूर्ण वैसा ही उपासक भी पुत्र पौत्रों से, गो, बैल, घोड़ा आदि पशुओं से परिपूर्ण हो जाता है। और इसकी पुत्र पौत्रादि सन्तति असमय में विनष्ट नहीं होती।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो वायु में पुरुष है, मैं उसी की ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"इसकी भी विशेष चर्चा मत करो। इसकी भी मैं उपासना करता हूँ। इस विषय में भी पहिले से ही जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसके विषय में आप क्या जानते हैं?"

राजा ने कहा—"देखिये यह वायु पुरुष इन्द्र है अर्थात् परम ऐश्वर्ययुक्त है, यह वैकुण्ठ है अर्थात् जो किसी से कभी कुण्ठित न हो जिसे कोई सहन न कर सके और अपराजिता सेना है वायु की ४९ मरुतों की कभी किसी से पराजित न होने वाली सेना है मैं वायु पुरुष की इसी रूप से उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है?"

राजा ने कहा—"जिस गुण से विशिष्ट उपास्य देवता होता है उपासक को वैसा ही फल मिलता है। अतः इसका उपासक सदा विजयी होता है, उसकी कभी पराजय नहीं होती और वह अपने शत्रु पर सदा विजय प्राप्त करता है।"

तब गार्ग्य ने कहा—"मैं जो अग्नि में पुरुष है उसी की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! कोई अश्रुत नूतन बात बताइये। इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ और उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इस विषय में आप क्या जानते हैं?"

अजातशत्रु ने कहा—"यह अग्नि पुरुष विषासहि है। अर्थात् सहनशील है। अग्नि में जो भी जलने को डाल दो उसे वह जलाकर सहन कर लेता है। इसी भाव से मैं अग्नि पुरुष की उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है?"

राजा ने कहा—"अग्नि पुरुष की जो इस भाव से उपासना करता है, वह निश्चय ही सहनशील होता है और उस राजा की प्रजा भी विषासहि अर्थात् सहनशील होती है।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो जल में पुरुष है मैं उसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"ऋषिवर ! कोई नूतन विलक्षण बात बताइये। इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस विषय में आप पहिले से क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"देखिये, जल में आप अपनी आकृति देखिये, तो जैसे आप हैं वैसे ही प्रतिरूप अर्थात् आपके सदृश ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होगा। अतः मैं इसकी 'प्रतिरूप' भावना से उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसकी उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"प्रतिरूप ही इसका फल है इसके उपासक के जो पुत्र होगा वह इसके प्रतिरूप–सदृश–ही होगा। जो इसके पास आवेंगे, प्रतिरूप स्वभाव वाले ही आवेंगे। असदृश–अप्रतिरूप स्वभाव वाले इसके पास नहीं आते।"

तब गार्ग्य ने कहा—"जो दर्पण में पुरुष दिखाई देता है, मैं उसी की उपासना करता हूँ।"

अजातशत्रु ने कहा—"बस, आगे कुछ न कहिये। इस उपासना को भी मैं जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"यह प्रतिबिम्ब पुरुष की उपासना है। इसकी उपासना मैं देदीप्यमान रूप में रोचिष्णु भाव से करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इसका फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"जो दर्पण में दीखने वाले अपने प्रतिबिम्ब को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है। वह गोचिष्णु अर्थात् देदीप्तिमान् होता है। उसकी प्रजा भी देदीप्यमान् होती है, जिन-जिन से उनका संसर्ग संगम होता है उन सबसे बढ़कर वह देदीप्यमान् दिखाई देता है।"

गार्ग्य ने कहा—"जानने वाले पुरुष के पीछे जो यह शब्द उत्पन्न होता है, उसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"उसे मैं जानता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"क्या जानते हो ? कौन है वह ?"

राजा ने कहा—"जाने वाले पुरुष के पीछे जो शब्द उत्पन्न होता है, वह प्राण है। प्राणवान् पुरुष ही श्वास लेता है। ध्वनि करने पर प्रतिध्वनि प्राणवानों में ही होती है। अतः ऐसा जान कर ही मैं प्राणरूप से इसकी उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"जो प्राण की इस रूप में उपासना करता है। उसकी अकाल में मृत्यु नहीं होती, अकाल मृत्यु से बचकर वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है। समय से पूर्व प्राण इसका परित्याग नहीं करता।"

तब गार्ग्य ने कहा—"इन दिशाओं में जो दिग् पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"इसने भी दो ब्राह्मण ! क्या वे ही पुरानी घिसी पिटी बातें करते हो इस उपासना को तो पहिले से ही जानता हूँ और करता भी हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इस विषय में आप क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"देखिये, दिशाओं में कर्णेन्द्रिय में और हृदय

में अश्विनी कुमार एक ही देवता है। ये दो भाई सदा साथ-ही-साथ रहते हैं कभी परस्पर में वियुक्त नहीं होते। ये कभी एक-एक पृथक होकर नहीं रहते सदा सङ्ग-सङ्ग रहते हैं। अतः इनमें अवियुक्तता और अनयगत्व दो विशेषतायें हैं। इन दो विशेषताओं के ही साथ मैं इस दिग् पुरुष की उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"इसके उपासक का अपने गण से बाल बच्चे पशुओं से कभी विच्छेद नहीं होता। उसकी स्त्री का उससे विच्छेद नहीं होता बहू दुलहा का जोड़ा साथ-ही-साथ रहता है, वह द्वितीयवान् ही बना रहता।"

गार्ग्य ने पुनः कहा—"मैं पुरुष की जो परछाँई है। छाया है, उसी को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"देखिये, जिस विषय में मेरी जानकारी है, उसे कहना तो मानों पिसे को पीसना है। छाया पुरुष के विषय में मैं पहिले से ही जानता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"आप क्या जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"जिसकी मृत्यु संन्निकट होती है, उसे अपनी छाया दिखाई नहीं देती। छाया मृत्युरूप है और इसी रूप से मैं इसकी उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने पूछा—"इसका फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"जो छाया पुरुष की उपासना करता है उसकी अपमृत्यु अकाल मृत्यु नहीं होती। वह अपनी पूर्ण आयु का सुख पूर्वक उपभोग करता है। इसके समीप अकाल में मृत्यु फटकती भी नहीं।"

तब गार्ग्य ने कहा—"यह जो आत्मा में-शरीर में-पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।"

इस पर राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! इससे भी मैं परिचित हूँ। और आगे कहिये।"

गार्ग्य ने कहा—"क्या परिचित हैं आप ?"

राजा ने कहा—"देखिये, आत्मा शब्द जीव, उपाय, धीरता, बुद्धि, स्वभाव, परब्रह्म और शरीर इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ आपका तात्पर्य जीवात्मा प्रजापति से है। वह आत्मन्वी है अर्थात् प्रशस्त आत्मा वाला है। आत्मवान् है। मैं आत्मन्वी रूप से ही इस आत्मा की उपासना करता हूँ।"

गार्ग्य ने कहा—"इस उपासना का फल क्या है ?"

राजा ने कहा—"इसकी जो इस भाव से उपासना करता है, वह उपासक आत्मन्वि अर्थात् आत्मवान् होता है। उसकी संतति—प्रजा-भी आत्मन्वि अर्थात् आत्मवान् होती है। आगे कहिये ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब गार्ग्य मुनि सिटिपिटा गये। आगे उनसे और कुछ भी कहते न बना। वे चुपचाप लज्जित होकर नीचा सिर करके कुछ सोचने लगे।"

तब राजा ने पूछा—"कहिये ब्रह्मन् ! कुछ और भी कहना है या आपकी इतनी ही पूँजी है ?"

लज्जित होकर गार्ग्य ने कहा—"राजन् ! बस, मैं तो इतना ही जानता हूँ।"

अजातशत्रु ने कहा—"इतने से तो ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। ये सब तो ब्रह्म के कर्म है, इनका कर्ता तो इन सब से कोई विलक्षण ही है। उसे आप जानते हैं ?"

गार्ग्य बालाकि ने कहा—"उसे तो मैं नहीं जानता।"

राजा ने कहा—"तब आपने मुझसे कैसे प्रतिज्ञा की थी, कि मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा। इससे आगे कुछ जानते हो तो कहिये।"

गार्ग्य ने कहा—"इससे आगे मैं कुछ नहीं जानता। आप जानते हैं ?"

राजा ने कहा—"आप ब्राह्मणों, गुरुजनों की कृपा से ही जानता हूँ।"

तब गार्ग्य ने कहा—"आया था, तो मैं गुरु बनने किन्तु मैं आपसे पराजित हो गया। अब आपकी शरण में हूँ। आपके उपपन्न हूँ, मैंने आपका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। आप मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! मिथिला नरेश महाराज जनक शत्रुजित यह सुनकर संकोच में पड़ गये। उन्होंने कहा—ब्रह्मन् ! सदा से क्षत्रिय उपसन्न होकर शिष्यत्व की कामना से-ब्राह्मण के समीप जाया करते हैं। क्षत्रिय ही ब्राह्मणों के शिष्य होते हैं। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय के समीप ब्रह्मविद्या सीखने जाता है और क्षत्रिय का शिष्यत्व स्वीकार करता है यह विपरीत बात हो जायगी। गुरु बनकर क्षत्रिय ब्राह्मण को ब्रह्म का उपदेश कैसे कर सकता है ? फिर भी आपने ब्रह्मज्ञान की याच्चा की है। मेरे द्वार से याचक भग्नाशा होकर जाय-निराश होकर लौटे, यह क्षत्रिय के लिये कलङ्क की बात है। इसलिये मैं आपको आपकी इच्छानुसार ब्रह्मज्ञान कराऊँगा ही। किन्तु यहाँ सबके सम्मुख नहीं। चलिये, एकान्त में हमारी आपकी बातें होंगी।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो ! यह कहकर राजा अजातशत्रु उन दृप्त बालाकि नामक ऋषिकुमार को महलों के भीतर एकान्त स्थान में ले गये। अब जैसे राजा अजातशत्रु उन ऋषि कुमार को युक्ति के साथ ब्रह्म का ज्ञान करादेंगे। उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

गार्ग्य कहे—जो पुरुष अग्नि मानूँ ब्रह्महिं तिहि।
भूप कहे बस करो उपासन करूँ विपासहि॥
होई उपासक सदनशील सतातिहु विपासहि।
गार्ग्य कहे—जल पुरुष ब्रह्म नमभूं सुमिरूँ तिहि॥
नृपति कहे—प्रतिरूप कार, करूँ उपासन हौं प्रथम।
होइ उपासक रूप प्रति, प्रतिरूपहिं सुतवर परम॥

(२)

गार्ग्य कहे आदश पुरुष ब्रह्महिं करि मानूँ।
बोले राजा—और कहा, यह तो हौं जानूँ॥
रोचिष्णुहु तिहि मानि उपासन करूँ नित्य प्रति।
प्रजा महित रोचिष्णु उपासक दीप्तिमान अति॥
गार्ग्य कहे—प्रतिध्वनि परक—शब्द ब्रह्म ताकूँ कहूँ।
कहे भूप—वह प्राण है, प्राणवान बनि नित रहूँ॥

(३)

गार्ग्य कहे - दिग्पुरुष ब्रह्म करि करूँ उपासन।
भूप कहे अवियुक्त द्वितियता फल अति पावन॥
गण विच्छेदन द्वियवितान् है जाय उपासक।
गार्ग्य कहे—जो पुरुष छुछाया ब्रह्म नियामक॥
नृपति कहे—वह मृत्यु है, मृत्यु उपासन जे करें।
पूर्ण आयु भोगे जगत्, नहिं अकाल मे वे मरें॥

(४)

गार्ग्य कहे—जो पुरुष आतमा में तिहि मानूँ।
ब्रह्मरूप तैं करूँ उपासन नृप कहिँ जानूँ॥
आत्मन्वी तिहि मानि उपासन करिहै साधक।
आत्मवान तिहि प्रजा अनात्मा होइ न बाधक॥
सटपटाय पुनि मुनि गये, निज अज्ञानी मानकें।
नृप के शरणागत भये, सकुचे नृप द्विज जानिकें॥

गार्ग्य को जनक द्वारा ब्रह्म का उपदेश

[२१८]

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा
व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे
देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य
सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥*

(बृ० उ० २ अ० १ ब्रा २० म०)

छप्पय

बोले नृप—विपरीत विप्र-गुरु होइ न क्षत्रिय।
तऊ करूँ उपदेश द्वार द्विज आये अति प्रिय॥
यों कहि भीतर सुप्त पुरुष बहु नाम बुलायो।
उठ्यो नहीं तब मसलि-मसलि के ताहि उठायो॥
नृप पूछे विज्ञान मय, पुरुष कहाँ आयो कितहिं?
उत्तर गार्ग्य न दै सक्यो, समुझावें नृप पुनि द्विजहिं॥

---

* जैसे मकड़ी निज निर्मित तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाती है। जैसे अग्नि से निकले विस्फुलिंग ऊपर नीचे जाते हैं, वैसे ही आत्मा से समस्त प्राण, सभी लोक, सभी देवगण और समस्त भूत उत्पन्न होकर निकलते रहते हैं। सत्य का सत्य यह आत्मा ही उपनिषद् है—रहस्य है—प्राण सत्य है, उनमे यह सत्य है।

साधारणतया जगत् की दो दशायें हैं। एक व्यक्त दूसरी अव्यक्त। तीसरी एक दशा और भी है जब अव्यक्त से व्यक्त होने लगता है। इन तीनों को ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय कहते हैं। जब अव्यक्त में व्यक्त होने की इच्छा होती है, तो सृष्टि का कार्य आरम्भ होने लगता है। जब पूर्ण व्यक्त हो जाती है तो उसी का नाम स्थिति है। व्यक्त जब जहाँ से हुआ था, अपने कारण में पुनः छिप जाता है, वही प्रलय की स्थिति है।

दुकानदार और दुकान की सामग्री और दुकान ये तीन हैं। दुकानदार जब प्रातः दुकान खोलता है तो भीतर रखे हुए सामान को निकाल-निकाल कर बाहर सजाने लगता है, मानों वह सृष्टि कर रहा है। दुकान सजाकर जब गद्दी पर स्थिर होकर सौदा बिकवाने लगता है तो मानों वह स्थिति काल है। सायंकाल में जब पुनः एक-एक सामान उठा-उठाकर भीतर रखकर दुकान में ताला डाल देता है, तो मानों वह प्रलय है। वास्तव में प्रलय या नाश तो किसी का भी नहीं। जो है उसका नाश तो कभी होता ही नहीं। केवल कुछ काल को—लोप हो जाता है। अदर्शन का—नहीं दिखाई देने का—ही नाम लोप है। दुकानदार भी सत्य, दुकान भी सत्य और दुकान में का सब सामान भी सत्य। केवल व्यक्त और अव्यक्त ये उसकी दो दशायें हैं। मिथ्या नाम की तो कोई वस्तु ही नहीं।

मिट्टी है उसके पात्र हैं और कुम्भकार है। कुम्हार की जब इच्छा होती है, मिट्टी से नाम रूपात्मक घड़ा आदि बना देता है, इच्छा होती है सबको समेटकर फिर सबको बिगाड़ बिगूड़ कर भीतर रख लेता है। इनमें से नष्ट होने वाली वस्तु एक भी नहीं कुम्हार भी सत्य, मिट्टी भी सत्य और तन्निर्मित पात्र भी सत्य।

सुवर्णकार है, सुवर्ण के नाना प्रकार के आभूषण बना लेता है, इच्छानुसार सबको गलाकर उसका सुवर्ण बना लेता है। अब भले ही आभूषण व्यक्त रूप में दिखाई नहीं देते। किन्तु उनका अस्तित्व तो सुवर्णकार के मस्तिष्क में विद्यमान ही है, अतः सुवर्णकार भी सत्य, सुवर्ण भी सत्य और सुवर्ण निर्मित समस्त आभूषण भी सत्य।

मकड़ी है, अकेली है, किन्तु उसके उदर में जाला और तनु दोनों ही विद्यमान हैं। उनका अस्तित्व है। जब चाहती है, मुख में से तन्तु निकालकर जाले का निर्माण कर लेती है, इच्छा होती है जाले को तनु बनाकर पुनः पेट में रख लेती है, अतः मकड़ी भी सत्य जाला भी सत्य और तन्तु भी सत्य।

अग्नि है, वह काष्ठादि ईंधन में पहिले ही विद्यमान है। जब वह काष्ठ में व्यक्त होती है, तो उसमें से विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। चिनगारियाँ कहीं अन्यत्र से नहीं आयीं अग्नि के ही पेट से निकलती हैं। अतः अग्नि भी सत्य, ईंधन भी सत्य, और विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ भी सत्य।

ईश्वर ने ही जीव को जगत को व्यक्त किया है। वे कहीं से नये निर्माण होकर नहीं आ गये। नया तो कुछ है ही नहीं। सब पुराना ही पुराना है। व्यक्त होने पर वह नया-सा दीखता है। जगत् को व्यक्त करके जीव कर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं। ईश्वर की जब इच्छा होती है, जीव जगत् को अपने पेट में रख लेता है, उनका अदर्शन-सा हो जाता है। इच्छा होती है, तब उन्हें व्यक्त करके जगत् व्यापार चलाने लगता है। अतः ईश्वर भी सत्य जगत् भी सत्य और जीव भी सत्य।

परमात्मा की इच्छा से प्रकृति में विकृति होती है जगत् व्यापार चालू होता है अन्धी प्रकृति के कन्धे पर लूला पुरुष बैठ-

कर उसे सब बताता जाता है, उससे कार्य कराता जाता है, पुरुषोत्तम परमात्मा की जब इच्छा होती है, दोनों को कोठरी में सुला देते हैं। मारते नहीं। मारना तो वे जानते ही नहीं। मरता तो कोई है ही नहीं। इसलिये प्रकृति भी सत्य है, पुरुष भी सत्य है और परमात्मा तो सत्य है ही। सत्य कहो पूर्ण कहो, एक ही बात है। पूर्ण में पूर्ण मिला दो पूर्ण हो जायगा। पूर्ण में पूर्ण को घटा दो पूर्ण ही बच जायगा। पूर्ण में से पूर्ण को गुणा कर दो गुणनफल पूर्ण ही आवेगा। यह जगत् तीन से ही चल रहा है, व्यवहार परमार्थ सब में तीन ही तीन हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब गार्ग्य दृप्त बालाकि महाराज अजातशत्रु से पराजित होकर उपसन्न हो गया, उनका शिष्यत्व स्वीकार करने को उद्यत हो गया, तो धर्मात्मा महाराज जनक ने कहा—"आचार्य होने का अधिकार तो केवल ब्राह्मण को ही है। यह विपरीत बात हो जायगी। इसलिये मैं शिष्यभाव से तो आपको उपदेश दूँगा नहीं। रही ब्रह्म विद्या के उपदेश की बात, सो मैं क्षत्रिय हूँ, आप मेरे द्वार से निराश लौटें यह भी मेरे लिये उचित नहीं। शिष्य भाव से न सही तो भी मैं आपको ब्रह्म का ज्ञान कराऊँगा ही।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ऐसा कहकर राजा उन ऋषि कुमार के हाथ को पकड़कर मित्र भाव से उठ खड़े हुए। गुरु का शिष्य पैर पकड़ता है, मित्र, मित्र का हाथ पकड़ता है। अतः राजा ने मित्र भाव से गार्ग्य का हाथ पकड़ा। दोनों भीतर राजमहल में गये। वहाँ उन्होंने किसी व्यक्ति को प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुए देखा। दोनों उसके समीप गये। अजातशत्रु ने उस सोये हुए पुरुष को सम्बोधित करके कहा—"हे ब्रह्म! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्! उठो उठो।" इन सम्बोधनों से उठाने पर

और उठकर बैठ गया, तब राजा ने उस दृप्त बालाकि से पूछा—"ब्रह्मन्! अब हम आप से दो प्रश्न करते हैं। यह जो सोया हुआ पुरुष था, तब भी प्राणवान् था और जागने पर भी वही प्राणवान् है। (१) जब यह सो रहा था, उस समय भी इन्द्रियाँ थीं, इन्द्रियों के सम्मुख विषय उपस्थित होने पर भी यह बोला नहीं, इससे प्रतीत होता है, वह यहाँ नहीं था। जब यहाँ नहीं था तब कहाँ चला गया था? दूसरा प्रश्न यह कि जब हाथ से मसलने पर इसकी निद्रा भङ्ग हुई और यह जाग उठा, तो सब सुनने लगा, सब बोलने लगा। तब बताइये यह कहाँ से आ गया?"

गार्ग्य इसका कुछ भी उत्तर न दे सका, उसने कहा—"राजन्! इस विषय में मेरी जानकारी नहीं है, कृपा करके इसे आप ही बताइये।"

इस पर राजा ने कहा—"यह जो इन्द्रियों द्वारा विषयों को जानने वाला विज्ञानमय पुरुष है। सोते समय समस्त इन्द्रियों को उनके विषय ग्रहण सामर्थ्य के साथ तथा मन को भी साथ लेकर हृदयाकाश जो ब्रह्म है उसी में जाकर सो गया था। उसके साथ संगत हो गया था।"

शौनकजी ने पूछा—"हृदयाकाश कहाँ है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! नाभि से एक बिलस्त ऊपर हृदय स्थान है, वहीं नीचा मुख किये कमल कोश के समान एक मांस पिंड है। इसका आकार हाथ की बँधी हुई मुट्ठी के सदृश है। इसमें आकाश है अवकाश है—वह आत्म स्वरूप है। उसी में जाकर यह विज्ञानमय पुरुष मन इन्द्रियों सहित सोता है। इसीलिये सोये हुए पुरुष को 'स्वपिति' कहते हैं। अर्थात् यह सोया है। स्वपिति का अर्थ है स्व अर्थात् आत्मा को अपीति अर्थात्

प्राप्त हो जाता है (स्वं=आत्मानं अपीति=अपिगच्छति=इति=स्वपिति) इसीलिये आत्मा को प्राप्त हो जाने पर सुषुप्ति अवस्था-गाढ़ निद्रा-में प्राप्त पुरुष दुःख, शोक, भय तथा शारीरिक क्लेश सभी को भूलकर आनन्द का-सुख का-अनुभव करता है। उस समय सभी प्राण की अनुवर्तिनी इन्द्रियाँ गृहीत हो जाती हैं, वन्दिनी बन जाती है, बुलाने पर वाग् इन्द्रिय बोल नहीं सकती, क्योंकि वह तो वन्दिनी बनी पड़ी है। विषय सम्मुख आ जाने पर चक्षु इन्द्रिय देख नहीं सकती, क्योंकि गृहीत है। शब्द सम्मुख होने पर भी श्रोत्र इन्द्रिय सुन नहीं सकती, क्योंकि वह तो भीतर बन्दिनी बनी सो रही है। मन किसी विषय पर स्वतन्त्र मनन नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो पराधीन पड़ा है। गृहीत है। सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित रहकर शोक, दुःख, चिन्ता, आधि-व्याधि से मुक्त होकर बिना कुछ देखे सुने आनन्द का ही अनुभव करता है।"

शौनकजी ने कहा—"सुषुप्ति अवस्था में तो आप जैसा कह रहे हैं, कुछ भी बाहरी पदार्थों का अनुभव किये बिना देखे सुने बिना सुख से सोता है, किन्तु स्वप्नावस्था में तो शरीर शैया पर पड़ा रहता है, इन्द्रियाँ प्रसुप्त पड़ी रहती हैं, फिर भी उस अवस्था में विषय दृष्टिगोचर होते हैं, सुख दुःख का अनुभव भी होता है। शोक मोहादि भी होते हैं। यह क्या बात है? इस में तो जाग्रत अवस्था की ही भाँति विषयों का उपभोग भी होता है और उनसे उत्पन्न हर्ष, शोक भी होता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वप्नावस्था की बात पृथक् है। उस अवस्था में यह विज्ञानमय पुरुष जीवात्मा-हृदय आकाश में शयन नहीं करता। उस समय तो वह अपने कर्म फलों को भोगता है।"

शौनकजी ने आश्चर्य के साथ पूछा—"सूतजी! कर्म फल तो शरीर द्वारा भोगे जाते हैं, उस पुरुष का शरीर तो शैया पर पड़ा रहता है, फिर वह कर्म फल किसके द्वारा और कैसे भोगता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इस जीवात्मा के कर्मों की कोई संख्या नहीं। एक क्षण भी ऐसा नहीं बीतता जिसमें पुरुष कुछ-न-कुछ करता न रहे। चुपचाप पड़ा भी रहेगा, तो मन से धुना-बुना तो करता ही रहेगा। कोई मनसा, वाचा, कर्मणा कर्म किये जायँ उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा। इस स्थूल शरीर द्वारा समस्त कर्मों का फल भोगना संभव नहीं। अतः कुछ कर्मों का फल स्वप्न में स्वप्न शरीर से भोगकर ही कर्मों के फल समाप्त किये जाते हैं। कुछ कर्म जिनका फल स्वप्न में भोगना पड़ता है, स्वप्न काल में वे कर्मफल उदित होते हैं। स्वप्न का एक शरीर दूसरा ही होता है, उस शरीर से यह विज्ञानमय पुरुष उन स्वप्न के सुख दुःखों को भोगता है। कभी तो स्वप्न में महाराज बनकर उन स्वप्न के रचे पदार्थों द्वारा राज्य करता है। उन्हीं स्वप्न के नौकर चाकरों पर शासन करता है। कभी उत्तम ब्राह्मण बनकर यज्ञ यागादि पुण्य कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। कभी देवतादि उच्च योनियों को प्राप्त होता है। कभी चांडालादि नीच योनियों में चला जाता है। इस प्रकार स्वप्न में स्वप्न पदार्थों द्वारा स्वप्न देह से कर्म फलों को भोगता है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण तो शरीर में ही रहता है, वह तो निकलता नहीं फिर इतने दूर-दूर के भोगों को जाकर कैसे भोगता है ?"

सूतजी ने कहा—"प्राण तो शरीर में रहते ही हैं। जीवात्मा शरीर में रहकर ही स्वच्छन्द होकर स्वप्न के भोगों को भोगता

है। जैसे कोई राजा है। अपने देश में—जाग्रत अवस्था में—तो वह राजा होकर भोगों को भोगता ही है, किन्तु किसी प्रदेश को अपने बाहु बल से विजय करके उस देश में भी वह अपने सेवक सचिव पुरजन और परिजनों के साथ स्वच्छन्द विचरण करता है। साथ ही अपने पूर्व देश का राजा तो वह बना ही रहता है। इसी प्रकार जाग्रत शरीर के अन्तर्गत ही स्वप्न शरीर से प्राणों को ग्रहण करके अपने स्वप्न निर्मित शरीर मे यथेच्छ विचरण करता है। जैसे ही स्वप्न शरीर के कर्म फल भोग, वैसे ही जाग्रत के भी हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"जैसे जाग्रत अवस्था मे, स्वप्नावस्था में कर्म फल भोगता है, वैसे ही क्या सुषुप्ति अवस्था मे भी जीवात्मा कर्म फलों को भोगता है?"

सूतजी ने कहा—"सुषुप्ति अवस्था मे भोग रहते ही नहीं जिनका उपभोग करे। वहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। आनन्द तो ब्रह्म का स्वरूप है, अपने स्वरूप मे अपना ही सुख है। सुषुप्ति अवस्था में तो वह निजानन्द के अतिरिक्त किसी के भी विषय में कुछ भी नहीं सोचता, कुछ भी नहीं जानता। उस समय हिता नाम की जो नाड़ी है उसके द्वारा बुद्धि के साथ जाकर वह शरीर में व्याप्त होकर सुखपूर्वक शयन करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"हिता नाड़ी कहाँ है, और उसमे वह किस प्रकार शयन करता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इस शरीर मे नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है। पीपल के पत्ते मे जैसे छोटी बड़ी अनेकों शिरायें दिखायी देती हैं, उनसे भी पतली बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं। ये सब नाड़ियाँ अन्न के रस का परिणाम हैं। आत्मा के हित में सतत रहने के कारण हृदय से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त

होने वाली बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ हैं। उन सबमें बड़ी नाड़ी हिता है, उसी से ये सब नाड़ियाँ निकली हैं। वह हिता हृदयाकाश में स्थित है। उसी में जाकर यह बुद्धि सहित शयन करता है। कैसे शयन करता है, इस विषय में दृष्टान्त देते हैं।"

ये जो तत्काल उत्पन्न होने वाले बच्चे होते हैं। जो केवल माता के स्तन के दूध को ही पीकर रहते हैं। उन्हें निद्रा बहुत आती है। १८-२० घण्टे वे सोते हैं, तनिक दूध पिया सो गये। सोते समय न उन्हें कुछ दुःख होता है न रोते चिल्लाते ही हैं, आनन्द से सोते रहते हैं।"

राजा है, उसे राज्य भर की समस्त प्रजाजनों के सुख-दुःख की चिन्ता बनी रहती है। रात्रि के समय सुन्दर सुखद शैया पर जब वह सुख से सो जाता है तो सभी शोक, मोह, दुःख तथा चिन्ता से निर्मुक्त होकर आनन्द के साथ मीठी-मीठी निद्रा के सुख का अनुभव करता है।

विद्वान् ब्राह्मण है, किसी महायज्ञ का आचार्य है, यज्ञ सम्बन्धी नाना प्रकार की चिन्तायें उसे व्याप्त रहती हैं। कर्म कराते-कराते श्रान्त हो जाता है, जब वह अपनी शाला में आकर सुखद शैया पर आनन्द की दुःखनाशिनी अवस्था को प्राप्त करके शयन करता है, तो सभी चिन्ताओं से निर्मुक्त हो जाता है। उसी प्रकार यह विज्ञानमय पुरुष भी हिता नाम की हृदयान्तर्गत नाड़ी के निकट हृदयाकाश में बुद्धि के सहित शयन करता है, तो वह समस्त चिन्ताओं से निर्मुक्त होकर केवल आनन्द का ही अनुभव करता है। जिसके अधीन जीवात्मा रह कर सुखानुभूति करता है, ब्रह्म तो उससे भी विलक्षण है। प्राणादि की उत्पत्ति तो उसी से होती है।

शौनकजी ने पूछा—'उसका स्वरूप क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आत्मा रूप से रहित है, उसका अपना ही विलक्षण स्वरूप है। उसका वर्णन वाणी से संभव नहीं। राजा ने उस सुप्त पुरुष के सम्बन्ध में गार्ग्य से दो प्रश्न किये। सुषुप्ति अवस्था में वह विज्ञानमय पुरुष—जीवात्मा कहाँ था और अब जाग्रतावस्था में कहाँ से आया।" जहाँ सुषुप्ति अवस्था में सोया था वहाँ का वर्णन तो कर दिया। अब वह आया कहाँ से? इसे बताते हैं—

देखो, जिस प्रकार मकड़ी अपने ही निर्मित जाल के तन्तुओं में बाहर के निमित्त शनैः-शनैः ऊपर की ओर जाती है। जैसे अग्नि से ही निकलने वाली चिनगारियाँ अग्नि से निकलकर बाहर उड़ती हैं उसी प्रकार आत्मा से ही सब पदार्थ आते हैं। सबका कर्ता कारण आत्मा ही है। आत्मा से ही समस्त प्राण उत्पन्न होते हैं, वहीं से प्राण आते हैं। आत्मा से ही समस्त देवगण प्रकटित होते हैं। देवताओं के आदि कारण वे ही परब्रह्म परमात्मा ही हैं। अधिक क्या कहें। ये समस्त चराचर प्राणी, ये सभी स्थावर जंगम जितने भी भूत समुदाय हैं सब उन्हीं परब्रह्म परमात्मा से ही प्रकटित होते हैं। यह सबका सब सत्य है। इस सत्यका भी सत्य वह परमात्मा है। यह प्राण सत्य है, किन्तु इस प्राण का भी प्राण स्वरूप सत्य परमात्मा है। यही उपनिषद् है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दृप्त बालाकि ऋषिकुमार को इस प्रकार अजातशत्रु महाराज जनक ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराने के निमित्त प्राण को सत्य बताया। प्राण का भी सत्य ब्रह्म है। अब आगे उसी प्राण की उपासना बतावेंगे। यहाँ तक द्वितीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण समाप्त हुआ। अब जैसे बृहदारण्यक उपनिषद्

के द्वितीय ब्राह्मण में शिशु नाम से मध्यम प्राण की उपासना बतायी है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

जीव करन आकाश हृदय में शयन करत जब।
प्राण वाक अरु चक्षु श्रोत्र मन हो गृहीत तब॥
स्वप्न करम फल उदित्त, भूप, द्विज, देव कीट बनि।
भूप सरिस स्वच्छन्द देह में विचरत प्राननि॥
जब सोवत निश्चिन्त बनि, विषयनि कछु जानें नहीं।
सहस बहत्तर नाड़ि हिय, हिता शयन घी सँग वहीं॥

(२)

जैसे बालक, भूप, विप्र विद्वान् भवन में।
सोवैं सुख तैं दुःख-नासनी गाढ़ नींद में॥
तैसे ही यह जीव सुषुप्ती में सुख सोवे।
नकरी -जालो बुनै तन्तु तैं ऊपर होवे॥
विस्फुलिंग पावक उठें, आत्मा तैं त्यों प्राण सह।
लोक, देव सब भूत त्यों, सत्य प्राण तिनि सत्य वह॥

शिशु नाम से मध्यम प्राण की उपासना

(२१६)

यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्यधानꣳ सस्थूणꣳ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि । अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिद प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम ॥*

(बृ० उ० २ अ० २ ब्रा० १ म०)

छप्पय

शिशु सम मध्यम प्राण देह आधान बतावें ।
शिर है प्रत्याधान प्राण स्थूणा कहलावें ॥
दाम अन्न ही कहो चार सह शिशु जो जानें ।
सात शत्रु अवरोध करें साधन करि मानें ॥
नेत्र-रक्त, जल, कनीनका, कृष्ण, शुक्ल, द्वै अधर कम ।
रुद्र, मेघ, आदित्य मरु, अग्नि, इन्द्र, भू, स्वरग सम ॥

उपनिषद् में प्राणों को अत्यधिक महत्व देते हैं। प्राण ही

---

* एक शिशु है उसे आधान, प्रत्याधान, स्थूणात तथा दाम इन चार वस्तुओं सहित जो जानता है, वह उपासक द्वेष करने वाले सात शत्रुओं का अवरोध करता है। मध्यम प्राण ही शिशु है, शरीर ही आधान शिर प्रत्याधान है। प्राण स्थूणा है और अन्न दाम है।

जीव का मुख्य आधार है, इसीलिये जीवधारी प्राणी कहलाते हैं, यह प्राणोपासना उपासना का आधार है। ब्रह्म को सत्य का सत्य और प्राणों का प्राण बताया है। जैसे दूध पीने वाला छोटा शिशु दो ही काम करता है। दूध पीता है और सोता रहता है। ऐसे ही यह प्राण रूपी बछड़ा है बहुत ही छोटा फुदकने वाला शिशु है। इसे एक रज्जु से खूँटे में बाँधे रहते हैं। ऐसे यह जीव रूप प्राण हृदयरूपी गुफा में बैठा रहता है। बछड़े के लिये चार वस्तुएँ आवश्यक हैं। एक तो इसे बँधने के लिये स्थान चाहिये। एक पूर्व स्थापित पहिले से बना स्थान चाहिये। तीसरा बाँधने को एक खूँटा चाहिये, चौथे एक ऐसी रस्सी चाहिये जो बछड़े के कण्ठ में भी बँधी रहे और खूँटे में भी बँधी रहे। इन चार वस्तुओं से युक्त जो इस बछड़े को जानता है। वह अपने सात शत्रुओं का अवरोध करता है। अर्थात् शत्रु उसका कुछ भी अपकार करने में समर्थ नहीं होते। अतः अब आगे राजा जनक प्राण के उपकरणों सहित उसका वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्म के उपदेश की बात चली थी, दृप्त बालाकि ने अपनी चंचलतावश ज्ञानी महाराज अजातशत्रु से कहा था—"मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा।" ब्रह्मज्ञान से विनम्र हुए महाराज जनक ने उनकी बात का प्रत्याख्यान नहीं किया, कि आप मुझे क्या ब्रह्म का उपदेश करेंगे। मुझे तो ब्रह्म का ज्ञान है। उन्होंने ऋषिकुमार के वचनों का अभिनन्दन किया। जब वे देह में रहने वाले आत्मा जीव तक पहुँचे तब आगे कुछ न कह सके। उस समय उससे आगे राजा ने जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त पुरुष का वर्णन किया और कह दिया वह सत्य का सत्य है और प्राण ही सत्य है। अब प्राण का सत्यत्व सिद्ध करने के लिये उपकरणों सहित मध्यम प्राण की

शिशु से उपमा देते हुए कह रहे हैं। देखो, एक शिशु है। बछड़ा है। उसके चार उपकरण हैं, १–आधान, २–प्रत्याधान, ३–स्थूणा और ४–दाम इन चारों उपकरणों सहित जो शिशु को जान लेता है, अर्थात् इसकी उपासना करता है। उसके सात भ्रातृव्य कुछ बिगाड़ नहीं सकते। उनका वह अवरोध करने में पूर्ण समर्थ होता है।"

भ्रातृव्य भाई के लड़कों को कहते हैं। प्रायः भाई तो कुछ अनुकूल होते हैं, किसी-किसी के भाई के लड़के भी अनुकूल होते हैं। किन्तु जो सौतेला भाई है उसके लड़के प्रायः द्वेष करते हैं। वे अपना भाग पाने को लड़ाई झगड़ा किया करते हैं अतः भ्रातृव्य शब्द–शत्रु के अर्थ में व्यवहृत होता है। शिर में स्थित जो सात प्राण हैं, अर्थात् विषय प्राप्त करने के सात छिद्र रूपी साधन हैं। वे प्राणों की उपासना से विरोध नहीं करते। लड़ाई झगड़ा उपद्रव नहीं करते, शान्त बने रहते हैं।

अब ये चार उपकरण कौन कौन से हैं। भगवती श्रुति स्वयं ही इसकी व्याख्या करती है। सबसे पहिले तो शिशु का परिचय कराते हैं। यह बछड़ा कौन है? कहते हैं—"यह जो मध्यम प्राण है वही मानो बछड़ा है, शिशु है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! प्राणों में भी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ होते हैं क्या?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! यहाँ मध्यम प्राण कहने से उत्तम से छोटे से तात्पर्य नहीं है। मध्यम से यहाँ शरीर के मध्य भाग में–हृदय में–रहने वाले प्राण से तात्पर्य है। मुख्य प्राण हृदय में ही रहता है। हृदय शरीर का मध्य भाग है इसलिये मुख्य प्राण का ही नाम मध्यम प्राण है।"

शौनकजी ने कहा—"ठीक है समझ गये। अब उपकरणों को बताइये आधान क्या ?"

सूतजी ने कहा—"आधान उसको कहते हैं, जिनमें वस्तु रखी जाय। दूध का आधान दोहनी है, जल का आधान कमंडलु है। आधान कहो, अधिष्ठान कहो एक ही बात है। (आधीयते-अस्मिन्=इति आधानम्) तो इस प्राण रूप बछड़े का रहने का स्थान क्या है ? यह देह में रहता है, इसलिये शरीर ही इसका आधान है। प्राण को शिशु क्यों कहा ? इसलिये कि अन्य इन्द्रियाँ तो अपने-अपने विषयों में पटु हैं। यह प्राण भोला भाला है। यह स्वतः विषयों में प्रवृत्त नहीं होता। जहाँ बाँध दो वहीं बँधा रहता है। यह पाँच प्रकार से शरीर में रहता है। बृहन्, पाण्डरवास, सोम और राजा इसी प्राण के नाम हैं। शरीर इसका आधान-रहने का स्थान है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रत्याधान क्या ?"

सूतजी ने कहा—"एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान में रखा जाय उसे प्रत्याधान कहते हैं। पहिले प्राण हृदय में स्थापित होता है। हृदय से शिर में जाता है। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है। जैसे बछड़ा गर्भ काल में गर्भ में रहता है, गर्भ से निकल कर भूमि में आता है, तो गर्भ स्थान तो आधान, जिसमें-गर्भ का आधान करते हैं, गर्भ को स्थापित करते हैं। गर्भ परिपूर्ण होने पर पृथ्वी पर आता है, पृथ्वी उसका प्रत्याधान है। इसी प्रकार प्राण पहिले हृदय में आता है, हृदय से सम्पूर्ण शरीर में विशेष कर सिर में आता है। अतः सम्पूर्ण शरीर-विशेषकर सिर इसका प्रत्याधान है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! प्राण तो हृदय से सम्पूर्ण

शरीर में व्याप्त है, अतः सम्पूर्ण शरीर को ही प्रत्याधान कहिये विशेषकर सिर को क्यों कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"शरीर तो प्रत्याधान है ही। किन्तु भगवन्! समस्त शरीर में सिर ही मुख्य है। हाथ पैर आदि को काट दो तो भी प्राण शरीर में बने ही रहते हैं, किन्तु सिर को काट दो तो प्राण नहीं रहते। अतः सिर ही प्रत्याधान है। यही उसका द्वितीय रहने का स्थान है।"

शौनकजी ने पूछा—"स्थूणा-खूँटा-क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"बछड़ा जिसमें बँधा रहता है, उसे खूँटा कहते हैं। यह जीवात्मा ही खूँटा है, क्योंकि प्राण जीव में बँधा रहता है। यह जो श्वास उच्छ्वास रूप प्राण है यही जीव के रहने की पहिचान है। अतः यह प्राण रूपी बछड़ा शरीर के भीतर रहने वाले जीवात्मा से बँधा हुआ है।"

शौनकजी ने पूछा—"दाम-रस्सी-क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"रस्सी बछड़ा के शरीर में भी बँधी रहती है और खूँटे में भी बँधी रहती है। दोनों को टिकाये रहती है। बछड़ा के शरीर से खुल जाय, तो भी बछड़ा स्वतन्त्र हो जायगा, और बछड़े के शरीर में बँधी रहे, खूँटे से खुल जाय, या खूँटा उखड़ जाय तो भी बछड़ा बँधा नहीं रह सकता स्वतन्त्र हो जायगा। जैसे बछड़ा और खूँटे को बाँधे रहने का आधार रस्सी है वैसे ही जीव और प्राण को बाँधे रहने की रस्सी अन्न है। अन्नमय ही प्राण है। अन्न ही जीवन है। विविध भाँति के भोज्य पदार्थ-खाने पीने वाला अन्न ही प्राणों की रस्सी है। यह शरीर प्राण रूप बछड़े के बाँधने का घर है। प्राण ही बछड़ा है। बछड़े का प्रथम निवास हृदय था, दूसरा गोसदन, इन्द्रियाँ ही इसके घूमने का स्थान है। जीवात्मा ही स्थूणा-खूँटा-है और

विविध भाँति के भोज्य पदार्थ ही इस बछड़े को बाँधने की रस्सी है। प्राणों को वश में करना ही मुख्य उद्देश्य है। प्राण के वश में होने पर मन की भी चंचलता नष्ट हो जायगी। मन भी वश में हो जायगा। इस बछड़े को वश में करने के लिये। इसके रहने का पूर्व स्थान को वहाँ से आकर जिस स्थान में फिर से बाँधा गया है, उस दूसरे स्थान को, जिस खूँटे से बाँधा गया है, उस खूँटे को और जिस रस्सी से खूँटे में बँधा है उस रस्सी को जानना अत्यावश्यक है। इसके वश हो जाने पर ऊपर के जो इन्द्रियों के सात छिद्र रूपी भ्रातृव्य हैं शत्रु रूपी भतीजे हैं, वे कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते। इनके परिज्ञान से उनका अवरोध हो जाता है।

यह प्राण रूप शिशु साधारण नहीं है। १–रुद्र, २–पर्जन्य, ३–आदित्य, ४–अग्नि, ५–इन्द्र, ६–भूमि और ७–द्युलोक (स्वर्ग) ये सात देव इसका अनुगमन करते हैं इसके निकट रहकर इसका स्तवन करते हैं। सात अक्षितियाँ ही मानों सात देव स्थानीय हैं। इनके द्वारा ही ये सात देव इस प्राण के अनुगत हैं।

शौनकजी ने पूछा—"अक्षितियाँ किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जिसका क्षय न हो उसे अक्षिति कहते हैं। ये अक्षिति शिशु की आँखों में स्थित हैं। आखों के भीतर जो लाल-लाल डोरे होते हैं। इन रेखाओं द्वारा रुद्रदेव इस प्राण के अनुगत हैं। नेत्रों में जो जल भरा रहता है वही मानों मेघ हैं, उस जल द्वारा मेघ इसके अनुगत है। नेत्र में जो बीच में कनीन का-तारा-है जिस तेजोमयी दृक् शक्ति से देखा जाता है, वही मानों आदित्य हैं, उसी के द्वारा आदित्य प्राण में प्रवेश करता है। तारा के चारों ओर जो काले वर्ण की पुतली है, उस कृष्ण वर्ण के द्वारा अग्नि उस शिशु के समीप समुपस्थित रहता है। नेत्र में शुक्ल

वर्ण है, उसके द्वारा इन्द्र इसके अनुगत है। लालडोरा, नेत्रजल, तारा, कृष्णवर्ण और शुक्लवर्ण ये तो नेत्र के भीतर हैं। इनमें क्रम से रुद्र, पर्जन्य, आदित्य, अग्नि और इन्द्र ये पाँच देवता अनुगत बताये। अब नेत्र में ऊपर और नीचे के दो पलक शेष रह गये। सो, नीचे के पलक में भूमि और ऊपर के पलक में स्वर्ग-द्युलोक अनुगत हैं। ये सातों ही प्राण के इस बछड़े के अन्न होकर-भोज्य पदार्थ होकर समुपस्थित रहते हैं। यह भी प्राण की एक वासना है। आँखों में प्राणों के अन्न रूप इन सातों देवों को तत्-तत् स्थानीय मानकर इन्हें प्राणों के अनुगत माने। मानो ये सातों प्राण की स्तुति कर रहे हैं। प्राणों के अन्न होकर उसके निकट समुपस्थित रहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"इस प्राणोपासना का फल क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जो इस प्रकार प्राण की उपासना करता है, उसके यहाँ चाहे जितने अतिथि आ जायँ, चाहे जितने लोगों को वह भोजन करा दे। उसका अन्न कभी घटता नहीं—क्षीण नहीं होता—

इस विषय में प्राचीन काल से यह एक श्लोक मन्त्र प्रचलित है। नीचे की ओर छिद्र वाला और ऊपर की ओर घुण्डी की भाँति उठा हुआ एक चमस है, उसमें विश्वरूप यश रखा हुआ है, उसके तीर पर एक साथ सात ऋषि रहते हैं और आठवीं वेद के द्वारा संवाद करने वाली वाणी रहती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह श्रुति ने क्या पहेली-सी कह दी।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यह सम्पूर्ण विश्व ही एक पहेली है, समस्त शास्त्र सभी ऋषि मुनि इस पहेली को ही सुलझाने में तो लगे हैं। वेद भी इसे भली-भाँति नहीं सुलझा सके। वे भी

नेति-नेति कहकर मौन हो गये। बताइये न+इति+न+इति= यह नहीं है, यह नहीं है। यह नहीं है तो क्या है ? इसका कोई उत्तर नहीं देता।"

शौनकजी ने कहा—"इस पहेली को तो समझाइये। नीचे छिद्र वाला चमस क्या है ? ऊपर कैसे उठा है। सात महर्षि कौन हैं ?"

सूतजी ने कहा—"इसे तो स्वयं श्रुति ने ही स्पष्ट किया है। श्रुति स्वयं बताती है, चमस यज्ञ के पात्रों का नाम है। जिनसे अग्नि में आहुति देते हैं, जिनसे सोमरस आदि का पान किया जाता है। उनके अनेक भेद हैं। यज्ञीय ऋत्विजों के चमस भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उन्हें तो आप जानते ही हैं। लौकिक भाषा में इसे चमचा या चम्मच कहते हैं। छोटे चम्मचों से दूध पीते हैं, खीर आदि खाते हैं। बड़े चम्मच होते हैं जिनसे दाल साग बनाते परोसते हैं। एक चमचा है। उसके ऊपर का भाग ठोस है, बड़ी घुंडी है। नीचे की ओर खुदा औंढ़ा है और उसमें लम्बा गोल-सा छिद्र है। उसमें सात लकीरें बनी है, एक आठवीं उनसे दूर बनी है। उस चमचा में रस भरा हुआ है उस रस को जो पीले वह फिर किसी का भोज्य न होगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह आप ने एक नयी पहेली कह दी। इसका भी अर्थ समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"यह भी प्राणोपासना की एक प्रक्रिया है। देखिये यह सिर ही मानों चमचा है। ऊपर की ओर तो सिर, चमचे की घुंडी के समान ठोस होता है, नीचे की ओर ही छिद्र होता है, मुख।

इस शिर रूपी चमचा में विश्वरूप यश क्या भरा है ? मानों प्राण ही विश्वरूप यश है। शिर में--शरीर में--प्राण न रहें तो

यश हीन चमचा है। सात जो लकीरें हैं मानों वे ही सप्त ऋषि हैं। आठवीं जो लकीर है, वह वेदों का व्याख्यान करने वाली वाणी है। वह आठवीं लकीर रूप वाणी वेदों का सम्वाद करती है।"

शौनकजी ने कहा—"और स्पष्ट रूप से समझाइये।"

सूतजी बोले—"श्रुति स्वयं समझाती है। इस सिर रूप चम्मच में जो लकीर रूप सात छिद्र हैं, वे ही मानों सप्तर्षि हैं। सात छिद्र कौन-कौन से हैं? दो आँखों के, दो कानों के, दो नासिका के और एक मुख ये ही सात ऋषि हैं। इनमें से गौतम तो दक्षिण कान हैं और भरद्वाज बायाँ कान हैं। विश्वामित्र दाहिना नेत्र हैं, जमदग्नि बायाँ नेत्र हैं। वसिष्ठ दायीं ओर के नासिका छिद्र हैं, कश्यप बायीं ओर के नासिका छिद्र हैं। ये ६ छिद्र तो ६ ऋषि स्थानीय हो गये। अब एक छिद्र बचा मुख और सात ऋषियों में एक ऋषि बचे अत्रि। यह मुख ही अत्रि स्थानी है मुख में वाक इन्द्रिय रहती है और मुख के ही द्वारा अन्न का भक्षण किया जाता है। अत्रि को अत्ति समझो अत्ति जो खाय। इस प्रकार जो ये सात प्राण के भक्षण करने वाले भोग भोगने वाले स्थान हैं। जो इस रहस्य को भली-भाँति जान लेता है। इस भाव से चमस में भरे यश रूप अन्न का भक्षण करता है, फिर वह किसी का अन्न नहीं होता। अर्थात् फिर वह किसी भी प्राणी का भोग्य नहीं बनता। वह सब का भोक्ता हो जाता है। संसार के समस्त पदार्थ इसके अन्न हो जाते हैं। यही इस प्राणोपासना का फल है।"

सूतजी कह रहे हैं—"इस प्रकार मुनियो! यह प्राणोपासना कही गयी है। यही प्राणों का प्राण और सत्य का सत्य है। अब आगे जैसे ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन किया जायगा। उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

जो जानें जा रहस अन्न तिनि क्षीण न होवैं।
सात देव विख्यात नेत्र अनुगत इनि होवैं॥
चमचा नीचे छिद्र उठ्यो ऊपर घुण्डी वर।
विश्वरूप यश निहित रहें ऋषि सात तीर पर॥
वाक् आठवीं हू कही, चमस कह्यो सिर प्राण यश।
उभय कान के छिद्र जो, गौतम अरु भर-द्वाज अस॥

(२)

विश्वमित्र जमदग्नि नेत्र के इन्द्रिय गोलक।
कश्यप और वसिष्ठ–नासिका छिद्र अमोलक॥
मुख के द्वै हैं काज अन्न खावै वच बोले।
अत्रि अत्रि तिहि कहे, उपासन नर नहिं डोलें॥
करैं उपासक उपासन, भोक्ता सो बनि जात है।
भक्ष्य न काहू को बनै, वह सबही कूँ खात है॥

ब्रह्म के दो रूप

(२२०)

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥❀

(बृ० उ० २ अ० ३ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

ब्रह्म रूप द्वै कहे मर्त्य–अम्मृत, स्थित–यत् है ।
सत्–त्यत्, मूर्त अमूर्त, वायु–नभ भिन्न मूर्त है ॥
यह सत् स्थित है मर्त्य सकल इनिको यह रस है ।
यह सत् को रस कह्यो जगत महँ सतत तपत है ॥
अन्तरिक्ष अरु वायु ये अमृत अमूर्त अधार है ।
यत् त्यत् अमृत अमूर्त को, मण्डल पुरुषहि सार है ॥

ब्रह्म का कोई अर्थ नहीं, परिभाषा नहीं, क्योंकि अर्थ और परिभाषा ये तो ब्रह्म के पश्चात् के परिवर्तनशील शब्द हैं। परिभाषा का तात्पर्य कहीं कुछ होता है, कहीं कुछ। किन्तु ब्रह्म जिस भाव में व्यवहृत है, वह नित्य, कूटस्थ, सत्य, ज्ञानमय, सन्मय, चिन्मय तथा आनन्दमय है। उसकी कोई परिभाषा नहीं, उसकी

❀ निश्चय ही ब्रह्म के दो रूप हैं। एक तो मूर्त रूप, दूसरा अमूर्त रूप। उन दोनों को ही मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् तथा सत् और त्यत् भी कहा जाता है।

छप्पय

(१)

जो जानें जा रहस अब तिनि क्षीण न होवैं ।
सात देव विख्यात नेत्र अनुगत इनि होवैं ॥
चमचा नीचे छिद्र उठ्यो ऊपर घुण्डी वर ।
विश्वरूप यश निहित रहें ऋषि सात तीर पर ॥
वाक् आठवीं हू कही, चमस कह्यो सिर प्राण यश ।
उभय कान के छिद्र जो, गौतम अरु भर-द्वाज अस ॥

(२)

विश्वमित्र जमदग्नि नेत्र के इन्द्रिय गोलक ।
कश्यप और वसिष्ठ—नासिका छिद्र अमोलक ॥
मुख के द्वै हैं काज अन्न खावे वच बोले ।
अत्रि अत्रि तिहि कहे, उपासन नर नहिँ डोले ॥
करैं उपासक उपासन, भोक्ता सो बनि जात है ।
भक्ष्य न काहू को बनै, वह सबही कूँ खात है ॥

——

ब्रह्म के दो रूप

(२२०)

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥❀

(बृ० उ० २ अ० ३ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

ब्रह्म रूप द्वै कहे मर्त्य–अम्मृत, स्थित–यत् है ।
सत्–त्यत्, मूर्त अमूर्त, वाय–नभ भिन्न मूर्त है ॥
यह सत् स्थित है मर्त्य सकल इनिको यह रस है ।
यह सत् को रस कह्यो जगत महँ सतत तपत है ॥
अन्तरिक्ष अरु वायु ये अमृत अमूर्त अधार है ।
यत् त्यत् अमृत अमूर्त को, मण्डल पुरुषहि सार है ॥

ब्रह्म का कोई अर्थ नहीं, परिभाषा नहीं, क्योंकि अर्थ और परिभाषा ये तो ब्रह्म के पश्चात् के परिवर्तनशील शब्द हैं। परिभाषा का तात्पर्य कहीं कुछ होता है, कहीं कुछ। किन्तु ब्रह्म जिस भाव में व्यवहृत है, वह नित्य, कूटस्थ, सत्य, ज्ञानमय, सन्मय, चिन्मय तथा आनन्दमय है। उसकी कोई परिभाषा नहीं, उसकी

❀ निश्चय ही ब्रह्म के दो रूप हैं। एक तो मूर्त रूप, दूसरा अमूर्त रूप। उन दोनों को ही मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् तथा सत् और त्यत् भी कहा जाता है।

कोई उपमा नहीं, उसकी किसी से समता नहीं, उसका कोई विशेषण नहीं। वह अवाङ्मनस् गोचर है।

तथापि स्वाध्याय प्रवचन के लिये, कथनोपकथन के लिये उनका नाम निर्देश किया जाता है। वह ब्रह्म नाम से निर्दिष्ट है ब्रह्म का शाब्दिक अर्थ है, जो बढ़ता ही जाय, जिसमें घटने का-क्षय होने का प्रश्न ही न उठे। जो निरन्तर बढ़ता ही रहे। कहाँ तक बढ़े ? कितना बढ़े ? इसकी कोई सीमा नहीं, इयत्ता नहीं, परिधि नहीं। जो निस्सीम भाव से बढ़ता जाय (बृंहति=बर्द्धते= निरतिशय महत्त्व लक्षण वृद्धिमान् भवति=इति-ब्रह्मः) जब जिसके बढ़ने की कोई सीमा ही नहीं तो वह निराकार है या साकार। वह निराकार भी है, साकार भी है और निराकार साकार से परे भी है। एक बात कहो, या निराकार मानो या साकार ? एक में दोनों धर्म कैसे रह सकते हैं ? यही तो बात है यह तुम लौकिक व्यवहार की बात कह रहे हो। वह तो लोकातीत है। विरुद्ध धर्माश्रयी है। वह निराकार रह कर भी समस्त आकारों का निर्माता है। यदि वह कोरा निराकार ही रहे, तो साकार जीवों को उसकी प्रतीति कैसे हो। इसलिये वह साकार भी बन जाता है। साकार होकर भी वह किसी एक आकार के बन्धन में नहीं बँधता कि वह दो भुजा ही वाला हो। या चार ही भुजा वाला हो। जब वह साकार होता है, तो उसके नाम, रूप भजने वालों की भावनानुसार होते हैं। जैसी जिसकी भावना है, उपासना है, साधना है, उसे उसके वैसे ही रूप दिखायी देते हैं और अपनी भावनानुसार ही उनके नाम भी होते हैं। इसलिये उसके सहस्र नाम हैं। सहस्र शब्द यहाँ अनन्त का वाचक है। उसके अनन्त नाम हैं। वेदों में उसे ब्रह्म कहा है। कापिल उसे सिद्ध कहते हैं। पातञ्जल उसे क्लेश कर्म विपाकाशय से अपरामृष्ट

पुरुष विशेष ईश्वर कहते हैं। महापाशुपत निर्लेप स्वतन्त्र कहते हैं। वैष्णव उसी को पुरुषोत्तम कहते हैं। पौराणिक उसे प्रपिता-मह कहते हैं। याज्ञिक यज्ञ पुरुष, सौगत सर्वज्ञ, दिगम्बर निरा-वरण, मीमांसक कर्म, चार्वाक लोक व्यवहार, सिद्ध नैयायिक यावदुक्तोपपन्न तथा शिल्पीगण विश्वकर्मा कहाँ तक गिनावे शैव उन्हीं को शिव, वैष्णव विष्णु, शाक्त शक्ति, गाणपत्य गणेश और सौर्य सूर्य के नाम से उन्हें पुकारते हैं। और वे यह सब हैं। यदि इनमें से एक भी असत्य होता, तो वे सर्वव्यापक सर्वत्र विद्यमान नहीं हो सकते थे। अतः जो कहते हैं वे निराकार ही हैं, निर्गुण ही हैं, वे हठधर्मी हैं। इसके विपरीत जो कहते हैं वे सदा सर्वदा साकार ही हैं, सगुण ही हैं, उनके चार ही हाथ हैं, वे सदा द्विभुज ही हैं। वे भी हठी हैं। वे सर्व हैं, सब कुछ हैं। तुम जो मान रहे हो वह भी सत्य और तुम्हारे विरोधी जो मान रहे हैं वह भी सत्य और जो सत्य कहते हैं उनके भी वे ही सत्य हैं। यही तुम्हारी परिभाषा सत्य है, परन्तु व्यवहार में बताओ ब्रह्म क्या है? तो श्रुति ने एक व्यावहारिक परिभाषा की है—ये जो चराचर समस्त स्थावर जंगम प्राणी हैं, जिसके द्वारा ये सब उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारे से समस्त प्राणी जीवित रहते हैं और अन्त में सभी जिसमें लीन हो जाते और अन्त में जिससे विमुक्त हो जाते हैं, उसी को जानना चाहिये। वही ब्रह्म है। अर्थात्, सृष्टि स्थिति प्रलय और मोक्ष का जो कारण है वही ब्रह्म है। उसी को परम सत्य कहकर भागवतकार ने सर्वप्रथम उन्हें नमस्कार किया है। उस ब्रह्म की ही उपासना के सम्बन्ध में श्रुति बता रही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पीछे कह आये हैं, वह सत्य का भी सत्य है और प्राण ही सत्य है। इसी की पुष्टि करने के

निमित्त ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन किया जाता है। उपासना के ही निमित्त पहिले आधिदैविक रूप का वर्णन करते हैं। ब्रह्म के दो रूप हैं। एक तो मूर्त रूप है अर्थात् दीखने वाला मूर्तिमान रूप और दूसरा अमूर्त न दीखने वाला सूक्ष्म अमूर्त रूप। उन्हीं को मर्त्य-अमृत, स्थित-यत् तथा सत्-त्यत् भी कहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"मूर्त-अमूर्त तो समझ लिया। मर्त्य अमृत क्या ?"

सूतजी ने कहा—"मर्त्य तो वह जो मर जाय-विनष्ट हो जाय। अमृत जो मरे नहीं, विनष्ट न हो।"

शौनकजी ने पूछा—"स्थित-यत् क्या ?"

सूतजी ने कहा—"स्थित तो वह जो व्यापक न हो, एक देश में ही स्थित रहे। यत् वह जो सार्वदेशिक हो, व्यापक हो।"

शौनकजी ने पूछा—"सत्, त्यत् क्या ?"

सूतजी ने कहा—"प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला सत् अर्थात् जो प्रत्यक्ष हो परोक्ष न हो। इसके जो विपरीत हो, सर्वदा परोक्षरूप से कहे जाने योग्य हो, जो अपनी पूर्वावस्था त्यागने वाला हो वही त्यत् है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! श्रुति तो पहेली-सी कह देती है। मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत, स्थित-यत्, सत्-त्यत्। यह बात क्या हुई ? ब्रह्म के दो रूपों का इसमें वर्णन कहाँ आया ?"

हँसकर सूतजी बोले—"भगवन् ! देवता परोक्षप्रिय ही होते हैं। एक ही बात घुमा फिराकर बार-बार कही जाती है। श्रुति अवश्य पहेली कहती है, किन्तु स्वयं उसका समाधान भी तो करती जाती है। अब जैसे मूर्त-अमूर्त को ही ले लीजिये। ये मूर्त-अमूर्त विशेष्य हैं, शेष तीनों इसके विशेषण हैं। मूर्त अमूर्त का भाव समझ में आ जायगा तो मर्त्य-अमृत, स्थित-

यत् और सत्–त्यत् का भी अर्थ समझ लेंगे। तो पहिले मूर्त का ही अर्थ समझें। पंच भूतों में दिखायी देने वाले प्रत्यक्ष दीखने वाले कौन-कौन से भूत हैं। पृथ्वी दीखती है, यह मूर्त है, जल दीखता है, यह भी मूर्त है, प्रकाश–सूर्य–चन्द्र–अग्नि का तेज प्रत्यक्ष दीखता है यही भी मूर्त है। भूतों में पृथ्वी, जल और तेज ये ही तीन प्रत्यक्ष दीखते हैं, इसलिये ये मूर्त हैं। इनसे जो भिन्न वायु और आकाश हैं ये दोनों आँखों से दिखायी नहीं देते इसलिये इन दोनों की अमूर्त संज्ञा है। जो मूर्त है उसी को मर्त्य कह लो, स्थित कह लो, सत् कह लो, एक ही बात है। इन पृथ्वी, जल और तेज का अर्थात् मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत् का सार क्या है? इनका रस क्या है? इनका रस है जो सवितृ-मण्डल है–सूर्य का दिखायी देने वाला मण्डल ही इन मूर्त पदार्थों का सार है। सूर्य न हो, जल कहाँ से बरसे। जल न बरसे तो भूमि में उर्वरापन कैसे आवे। तेज से ही जल होता है और जल से ही पृथ्वी। अतः इन मूर्त का सार सूर्यमण्डल ही है। जो सूर्य सतत तपता ही रहता है। यह सत् का रस है। इस प्रकार मूर्त का वर्णन तो हो गया। अब अमूर्त का वर्णन सुनिये। पृथ्वी, जल और तेज ये तो मूर्त है। इन तीनों से भिन्न जो वायु और अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश हैं, वे अमूर्त हैं। उन्हें अमृत कह लो, यत् कह लो या त्यत् कह लो। सब पर्यायवाची शब्द हैं, सबका अर्थ एक ही है। अब मूर्त का सार तो सवितृमण्डल बता दिया, अमूर्त का सार क्या है?"

आप ध्यानपूर्वक देखें तो सवितृमण्डल में एक पुरुष-सा दृष्टिगोचर होता है, सबको वह दिखायी न देगा, योगियों को ही वह दिखायी देता है। सवितृमण्डल मध्यवर्ती नारायण का ध्यान बताया गया है। अतः इस अमूर्त का अमृत, यत् तथा

त्यत् का सार सवितृमण्डलवर्ती पुरुष है। इस प्रकार मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत, स्थित-यत् तथा सत्-त्यत् रूप जो ब्रह्म के दो रूप हैं उनकी अधिदैवत भाव से की हुई उपासना है। इसे अधिदैवत दर्शन भी कहते हैं। अतः यह उपासना तो यहाँ समाप्त हो गयी। अब इस मूर्त और अमूर्त की अध्यात्मभाव से की जाने वाली उपासना को भी सुनिये।

आधिदैवत उपासना में समष्टि रूप में जो पृथ्वी, जल और तेज ये तीनों मूर्त बताये। अब इस अध्यात्म उपासना में शरीरान्तर्गत जो पृथ्वी भाग वाले पदार्थ हैं जैसे मांस, मज्जा, अस्थि आदि पार्थिव भाग है, मूत्र, स्वेद, नेत्र जल, आदि जलीय भाग और वीर्य, कफ नेत्र का शीशा आदि तेजीय भाग ये तो मूर्त हैं। इन्हें ही मूर्त कहो, मर्त्य कहो,स्थित तथा सत् कहो एक ही बात हैं क्योंकि ये कठिन, विनश्वर, अव्यापक तथा प्रत्यक्षोपलभ्य हैं। इसलिये इनकी मूर्त संज्ञा है। अब इनका सार क्या है ? जो नेत्र हैं वही इस मूर्त का सार है, क्योंकि आदित्य ही इस इन्द्रिय का अधिष्ठातृ देवता है। अतः यह सत् का सार है। अब अध्यात्म रूप में अमूर्त को बताते हैं।

अधिदैवत उपासना में समष्टि वायु और समष्टि आकाश को अमूर्त बताया था यहाँ अध्यात्म उपासना में शरीरान्तर्गत वायु जिसे प्राण कहते हैं वह प्राण और शरीर के भीतर का जो आकाश है वे ही अमूर्त हैं। उन्हें ही अमृत, यत्-त्यत् कह लो। इनका सार क्या है। जो नेत्रान्तर्गत पुरुष है यही इसका-त्यत् का सार है, रस है।

अब उपासना में विशेष प्रवृत्त कराने के निमित्त ब्रह्म के मूर्त, अमूर्त दो भेद बताने के अनन्तर ब्रह्म के रूप को बताते हैं।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ब्रह्म तो अरूप है। अरूप के रूप का वर्णन क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! फिर वही बात आप दुहरा रहे हैं। ब्रह्म को आप अपने प्राकृत नियमों में बाँध क्यों रहे है। यह हम मानते हैं ब्रह्म अरूप है–रूप रहित है–किन्तु वह रूपवान् हो जाय, तो उसे कोई निषेध करने वाला भी तो नहीं। वह तो विरुद्ध धर्माश्रयी है। रूपवान् भी है, अरूप भी है, साकार भी है, निराकार भी है, सगुण भी है निर्गुण भी है, वह रूपवान हो जाय तो क्या बुराई है।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छी बात है सूतजी। उपासना के निमित्त श्रुति ने रूप बताया है तो उसका वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"मैं श्रुति-सम्मत ही तो बात कह रहा हूँ। ६ प्रकार के रूपों का वर्णन है। १–कभी तो वह कुछ पीलापन लिये लाल दीखता है जैसे कुसुम्भ के फूल का रंग। कुसुम्भ के वह्नि, शिख और महारजन नाम है। जैसे कुसुम्भी रङ्ग का वस्त्र।

२—कभी पांडु रङ्ग का भेड़ की ऊन का वस्त्र जैसा दिखाई देता है। वैसे पाडुर सफेद का नाम है, किन्तु बगुला के पंख के समान सफेद नहीं। सफेद भेड की ऊन के कपडे मे कुछ पीलेपन की-सी झलक आती है। अतः पीलापन लिये हुए सफेद ऊनी वस्त्र के समान दीखता है।

३—कभी वर्षा मे जो लाल रङ्ग की एक वीर बधूटी (समल गुड़िया) जिसे इन्द्र गोप भी कहते हैं। उसके समान गहरे लाल रङ्ग का दीखता है।

४—कभी अग्नि की ज्वाला के सदृश प्रकाशवान लाल रङ्ग का दिखायी देता है।

५—कभी श्वेत कमल के सदृश स्वच्छ दिखायी देता है। पुण्डरीक सफेद कमल का नाम है।

६—कभी बिजली की जैसी चमक वाला दिखायी देता है ?"

शौनकजी ने पूछा—"इन रङ्गों का अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी बोले—"ब्रह्मन् ! जिन्होंने इस जन्म में या पूर्व जन्म में उपासना नहीं की है, वे इस रहस्य को समझ नहीं सकते। जिन्होंने इस जन्म में या पूर्व जन्म में उपासना की है। चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न किया है, उन्हें उपासना के समय साधारण चलते फिरते, उठते बैठते नेत्रों के सम्मुख ऐसे दिव्य रङ्ग दिखायी देते हैं जिनकी संसार की किसी भी वस्तु से उपमा नहीं दी जा सकती। इन छै रङ्गों में तीन ही रङ्गों की प्रधानता है। (१) लाल, (२) पीला, और (३) सफेद। क्योंकि कुसुम्भ का रङ्ग कुछ पीलाई लिये लाल है, अग्नि शिखा के समान। पीली (हल्दी) और सफेदी (चूना) मिलाने पर लाल--रोली का रंग बन जाता है। अतः कुसुम्भी वस्त्र अच्छा पीला और ऊन का सफेद वस्त्र पीली झलक लिये सफेदी ये दो रंग तो पीले में आ गये। इन्द्र बधूटी (समल गुड़िया) अग्नि की ज्वाला और बिजली ये तीनों लाल रंग में आ गये और सफेद कमल तथा सफेद ऊन का वस्त्र ये सफेद में आ गये। काले वर्ण में सबका समाहार हो जाता है। काली कमरी पर दूसरा रंग चढ़ता नहीं। अतः जैसे चार युग हैं वैसे ही श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण चार रंग हैं। उपासक के नेत्रों के सम्मुख ये ही चार रंग कभी हलके कभी गाढ़े वृत्ताकार दिखायी देते हैं। कभी तो गोल-गोल इतना गाढ़ा लाल रंग दीखता है, कि उसके सम्मुख

इन्द्रगोप वधूटी (सनल गुड़िया) का रंग तुच्छ दिखायी देता है, कभी हलका पीला रंग दीखता है, कभी श्वेत कमल की भाँति दूध के झाग के समान शुभ्र गोल ज्योति दीखती है, और कभी अंजन पर्वत के समान तेजयुक्त काला-काला दिखायी देता है। काला दिखायी दे तो समझो हमारे शरीर में अभी तमोगुण की प्रधानता है, रक्त या पीला दिखायी दे तो रजोगुण की प्रधानता है, और स्वच्छ सफेद दिखायी दे तो समझो सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। ये सब उपासना की परिपक्वता प्रदर्शित करने के निमित्त ब्रह्म के रूप हैं। किन्तु ये ही ब्रह्म नहीं हैं। बिजली की-सी चमक जब दिखायी देने लगे तो उस साधक को श्री बिजली की चमक के समान सर्वत्र फैल जायगी। उसका यश सर्वत्र व्याप्त हो जायगा। यदि वह ब्राह्मण है तो उसकी ब्राह्मी श्री बढ़ जायगी और यदि वह क्षत्रिय है तो उसकी शौर्य श्री बढ़ जायगी और वह वैश्य है तो उसकी सम्पत्ति श्री बढ़ जायगी और वह शूद्र है तो उसकी शुद्धि श्री बढ़ जायगी। यह उस नेत्रों के सम्मुख विद्युत् की चमक सदृश ब्रह्म के तेज दर्शन का प्रभाव है। किन्तु साधक इतने से ही सन्तुष्ट न हो जाय। ब्रह्म का—वेद का आदेश है नेति नेति।"

शौनकजी ने पूछा—"नेति नेति क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! न+इति=नेति होता है। अर्थात् इतना ही उपदेश करने पर श्रुति कहती है। मूर्त, अमूर्त, लाल, पीला, सफेद तथा काला बस, इतना ही ब्रह्म नहीं है। यह भी नहीं, यह भी नहीं।"

शौनकजी ने कहा – "तब तो अब तलक जो कुछ कहा गया नेति नेति कहकर ऐसा आदेश देकर श्रुति ने सगुण रूप का ब्रह्म के रंगों का सर्वथा निषेध ही कर दिया।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप तो एक ही बात को बार-बार दुहराते हैं। नेति नेति कहकर निषेध कहाँ किया। सगुण को भी नेति कहा, निर्गुण को भी नेति कहा। अर्थात् वह सगुण भी नहीं निर्गुण भी नहीं। सगुण भी है और निर्गुण भी है। अनेक श्रुतियों में उसे सहस्र शीर्षा आदि कहकर उसकी स्तुति की गयी है अतः नेति नेति यह सर्वश्रेष्ठ आदेश है। नेति नेति से बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। प्राण सत्य है किन्तु प्राण ही ब्रह्म नहीं हैं। नेति नेति। सत्य ही ब्रह्म है किन्तु वह सत्य ही नहीं। सत्य का भी सत्य है। प्राण का भी सत्य है। मन का भी मन है। वह सबका सब है। सर्वस्व है। सर्वत्र है, सर्वाधार है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वव्यापक है, सर्वात्मा है, सर्व का भी सर्व है। सत्य का सत्य, सर्व का सर्व यह उसका पुकारने का नाम है, वैसे तो वह नामी अनामी सब कुछ है। उसी की खोज करनी चाहिये उसे ही प्राप्त करना चाहिये। संसारी धन-वैभव, सुख-सम्पत्ति सब मिथ्या है, नाशवान हैं अन्तवन्त है। अनाम होते हुए भी वे नामी हैं, अरूप होते हुए भी वे रूपवान् हैं, निर्गुण होते हुए भी वे सगुण हैं। निराकार होते हुए भी नाना अवतार धारण करके नाना भाँति की लीलायें करते हैं। उनके सम्बन्ध में ऐसे ही हैं ऐसा कोई नहीं कह सकता। कहना ही चाहे तो नेति नेति कहे। क्योंकि यही ब्रह्म का आदेश है यही सर्वोत्कृष्ट है। यही सत्य का सत्य है। इसी बात को सिद्ध करने अब आगे याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का सम्वाद कहा गया है, जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कहँ फेरि अध्यात्म देहगत भूमि, तेज, जल।
कहे मूर्त अब कहूँ अमूर्त अकाश प्राण मल॥
मूर्त अमूर्तहु सार नेत्र अरु पुरुष नेत्र अँग।
वस्त्र कुसुंभा, श्वेत ऊन-पट, इन्द्रगोप रँग॥
पुंडरीक, पावकशिखा, विजुरी सम तिहि चमक है।
साधक विजुरी चमक सम, नेति नेति आदेश है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय मे
तृतीय ब्राह्मण समाप्त।

याज्ञवाल्क्य-मैत्रेयी-सम्वाद

[२२१]

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवाल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति *

(बृ० उ० २ अ० ४ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

दो पत्नी मुनि याज्ञवाल्क्य की मैत्रेयी बड़।
छोटी कात्यायनी एक दिन बोले मुनिवर॥
ऊपर जानो चहूँ करूँ बटवारो धन को।
मैत्रेयी सुनि कहै—तोष धन तें नहिं मन को॥
सुनि मुनि बोले द्रव्य तें, होइ प्राप्त अमृतत्व नहिं।
होहुँ अमर साधन कहो, पत्नी बोली पुनि मुनिहिं॥

एक अन्ध परम्परा चल गयी है। जिसके पास भोग की सामग्रियाँ जितनी ही न्यून हैं, वह अपने काम को उतना ही अधिक दुखी समझता है और सोचता है जिसके पास मुझसे अधिक भोग सामग्रियाँ हैं वह मुझसे अधिक सुखी है। इससे

---

* "मैत्रेयि" ऐसा सम्बोधन करते हुए महर्षि याज्ञवाल्क्य जी ने अपनी बड़ी पत्नी मैत्रेयि से कहा—"मैं इस स्थान से ऊपर जाने वाला हूँ। इसलिये मेरी इच्छा है इस कात्यायनी के साथ धन का बटवारा कर दूँ। तुम दोनों में धन को बराबर-बराबर बाँट दूँ।"

अधिक सामग्रियों वाला समझता है, मुझसे अधिक सामग्री वाला सुखी है। इस परम्परा का कहीं अन्त नहीं। शतपति सहस्रपति को सुखी समझता है, सहस्रपति लक्षपति को, लक्षपति करोड़पति को, करोड़पति अरबपति को, अरबपति पद्मपति को और पद्मपति शङ्खपति को सुखी समझता है। किन्तु वास्तव में देखा जाय तो इनमे से कोई भी सुखी नहीं। उपनिषद् तथा अन्य सभी शास्त्रों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—समस्त पृथ्वी भर के जितने खाने पीने के धन्यादि अन्न हैं। पृथ्वी भर का सुवर्ण, समस्त संसार भर के उपयोगी पशु, समस्त वसुन्धरा की सुन्दरी स्त्रियाँ ये सबके सब भोग्य पदार्थ एक ही व्यक्ति को प्राप्त हो जायँ, तो भी ये सबके सब पदार्थ उस एक व्यक्ति को सन्तुष्ट करने मे समर्थ नहीं। उसे सुखी करने के लिये पर्याप्त नहीं, क्योंकि कामनाओं की भूख का कहीं अन्त नहीं। विषयों के भोग की कामना प्राणी को हत कर देती है, जर्जरित बना देती है। विषयों के भोगने से भोग वासना शान्त नहीं होती है प्रत्युत जितना ही भोगो उतनी ही कामना और अधिक बढती जाती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि मे जितनी ही घृत की आहुतियाँ दो, अग्नि बुझने के स्थान में और भी अधिक जलने लगती है। भड़कने लगती है। भोगों को जितना ही भोगोगे भोगेच्छा उससे दश गुनी बढ़ती जायगी। तब क्या करें? उस भोग वासना का शीघ्र-से-शीघ्र मोक्ष कामी को—सच्चे सुख की इच्छा वाले को—परित्याग कर देना चाहिये। शान्ति त्याग मे है। भोगों के संग्रह मे—भोगो के उपभोग मे—शांति नहीं, अधिकाधिक अशान्ति ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शास्त्र भोग वस्तुओं के संग्रह का आग्रह नहीं करते। वे तो त्याग को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते हैं।

शास्त्र मरण धर्म वाले नश्वर, क्षणिक पदार्थों के संग्रह के उपायों को श्रेष्ठ नहीं मानते। वे तो अमृत प्राप्ति के ही उपायों का प्रधानता से कथन करते हैं। शास्त्र सुख का कारण धन को नहीं बताते। वे तो सुख स्वरूप परब्रह्म को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का आग्रह करते हैं। वह सम्पत्ति को शान्ति का सुखद साधन न बताकर समस्त सद्गुणों के आलय, गुण गण निलय, समस्त कल्याणों के आलय श्रीमन्नारायण के पदारविन्द मकरन्द के पान को, उनकी शरण में जाने को, उनके प्रपन्न होने को ही शान्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन मानते हैं। अतः इसी को बताने के निमित्त याज्ञवाल्क्य और मैत्रेयी के सम्वाद को आरम्भ करते हैं।"

महर्षि देवरात के पुत्र याज्ञवल्क्य जी थे। इन समर्थ महर्षि ने अपने विद्या गुरु वैशम्पायन जी के कहने पर उनसे प्राप्त विद्या को उगलकर सूर्यदेव की आराधना करके शुक्ल यजुर्वेद की प्राप्ति की। ये वेद विद्या में पारङ्गत थे। इन महर्षि की दो पत्नियाँ थीं। बड़ी का नाम मैत्रेयी था और छोटी का नाम कात्यायनी था। ये दोनो भी ऋषियों की पुत्रियाँ थीं और परमार्थ में निपुण थीं। शास्त्र की आज्ञा मानकर महर्षि ने गृहस्थाश्रम को स्वीकर किया था। उनका स्थान–आश्रम–पहाड़ के नीचे था। मोक्ष ही पर्वत है–गृहस्थाश्रम में नाना प्रकार की चिन्तायें लगी रहती हैं। ऊँचे उठने वाले को ऊपर जाने वाले को ममता मोह को त्यागकर इनसे ऊपर उठना चाहिये।

याज्ञवल्क्य मुनि ज्ञानी होने से मैथिल राजा जनक के आचार्य थे। राजा के यहाँ से दक्षिणा में इन्हें पर्याप्त धन मिलता था। अतः ये निर्धन महर्षि नहीं थे। ज्ञान धन, तपोधन और द्रव्यधन तीनों ही इनके यहाँ पर्याप्त थे। अब इनकी इच्छा इस नीचे के

स्थान-आश्रम-को त्यागकर ऊपर जाने की हुई। भोग का जीवन
वो देख लिया। अब त्याग का जीवन बिताने का संकल्प हुआ।
वैसे मुनि ब्रह्मज्ञानी थे, उनके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं था।
तथापि लोक समूह के लिये-त्याग का महत्त्व दिखाने के लिये-
ससारी भोगों की निस्सारता सिद्ध करने के लिये उन्होंने भोग-
मय जीवन से ऊपर त्यागमय जीवन बिताने का विचार किया।
मुनि ने सोचा—चिन्ता के तीन ही विषय हैं कामिनी, कांचन
और भूमि। इन तीनों का परित्याग करके मैं निश्चिन्त होकर
ऊपर एकान्त में ब्रह्म विचार करूँ। लडाई झगड़े का मूल कारण
चल-अचल सम्पत्ति ही है। मेरे पश्चात् मेरी इन दोनो पत्नियो
में कलह न हो इसलिये दोनों को धन सम्पत्ति बाँटकर चलना
चाहिये। यही सोचकर उन्होंने अपनी बडी पत्नी मैत्रेयी को
पुकारा—"अरी, मैत्रेयि!"

पति का सम्बोधन सुनकर मैत्रेयी ने कहा—"हाँ, भगवन्!
मैं आ गयी।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"तुमसे एक बात कहना चाहता
हूँ।"

मैत्रेयी ने नम्रता से कहा—"कहिये।"

याज्ञवल्क्य—"अब मैं इस स्थान से-इस आश्रम से-ऊँचे
स्थान पर जाना चाहता हूँ।"

मैत्रेयी ने कहा—"तो प्रभो! मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"मेरी इच्छा यह है, यदि तेरी भी
सम्मति हो, तो यह जितना हमारे पास धन है उसका तुम दोनों
बहिनों में मेरे सामने ही बटवारा हो जाय। मैं अपने हाथों ही
तुम दोनों में धन का बटवारा कर दूँ।"

मैत्रेयी ने कहा—"आपकी आज्ञा तो हम दोनों को शिरो-

धार्य है ही। आप हमारे देवता हैं आप जो भी कुछ करेंगे, हमारे कल्याण के ही निमित्त करेंगे, किन्तु मैं एक बात पूछना चाहती हूँ। आज्ञा हो तो पूछूँ ?"

याज्ञवल्क्य जी ने बड़े स्नेह के साथ कहा—"हाँ-हाँ पूछो, क्या पूछना चाहती हो ?"

मैत्रेयी ने कहा—"भगवन् ! आप जो हमें धन देना चाहते हैं, वह सुख के ही लिये देना चाहते हैं। आपकी हम पर बड़ी कृपा है जो आप हमारी सुख सुविधा का इतना ध्यान रखते हैं, किन्तु प्रभो ! मेरा प्रश्न यह है कि इस संसारी द्रव्य से क्या हमें शाश्वत सुख मिल सकेगा ? क्या आप जो धन हमें दे रहे हैं उसे पाकर अथवा इस धन धान्य से पूर्ण समस्त पृथ्वी के आधिपत्य को भी पाकर मुझे परम शान्ति–शाश्वत सुख–मोक्ष अथवा अमृतत्व की प्राप्ति हो सकेगी। क्या इस संसारी धन से मैं अमर हो सकती हूँ ?"

अपनी प्रिया पत्नी के ऐसे सारगर्भित वचनों को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य जी परम प्रमुदित हुए। वे प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—"प्रिये ! तुमने बड़ा ही सुन्दर प्रश्न किया। देखो, धन से किसी को परम शान्ति--शाश्वत सुख–मोक्ष अथवा अमृतत्व की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। धन से इतना ही होगा कि भोग सामग्रियों से सम्पन्न जो धनी लोग हैं जैसा वे भोग विलास पूर्ण जीवन बिताते हैं वैसा ही जीवन तुम्हारा हो जायगा। इस संसारी धन से कोई शाश्वत सुख की–मोक्ष अथवा अमृतत्व की–आशा रखे तो यह असम्भव है। धन से अमृतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।"

मैत्रेयी ने कहा—"भगवन् ! आप जैसे समर्थ पति को पाकर

प्रियतम आत्मा के ही निमित्त प्रिय होती है, इस विषय को समझावेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पत्नी को सुनि प्रश्न भये अति ही मुनि प्रमुदित।
बोले— तू मम प्रिया प्रश्न कीयो अति सुललित॥
आ मेरे ढिँग बैठि प्रश्न को मरम जताऊँ।
कहूँ रहसमय बात प्रेम तें तोइ सुनाऊँ॥
पति प्रिय नहिं पति हेतुतें, आत्मा हित पति होइ प्रिय।
नारि प्रयोजन प्रिया नहिँ, आत्माहित ही नारि प्रिय॥

सबकी आत्मस्वरूपता

न यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्-ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥*

(बृ० उ० २ अ० ४ ब्रा० ७ म०)

छप्पय

दारा, सुत, धन, विप्र, क्षत्र अरु लोक देवगन ।
प्राणी, सब प्रिय होहिं आत्महित अतिप्रिय दरशन ॥
दर्शनीय, श्रवणीय मनन अरु ध्यान योग है ।
दरश श्रवन अरु मनन आत्मा तें ही सब है ॥
होहि सबहिं विज्ञान तें, आत्म ज्ञान होवे तुरत ।
आत्मभिन्न द्विज जाति लखि, द्विज परास्त करिहैं सतत ॥

ध्यानपूर्वक देखा जाय, सोचा जाय, मनन किया जाय, तो पता चलता है, ससार मे प्रिय वस्तु क्या है ? ससार में प्यारे लगने वाले इतने ही पदार्थ हैं । दार, सुत, अन्य सगे सम्बन्धी,

* जैसे यह नगाडे का शब्द है । बजते हुए नगाडे के बाहरी शब्द को पकडने म कोई समर्थ नही हो सकता । किन्तु नगाडे को नगाडे के बजाने वाले को पकड लेने पर नगाडे का शब्द भी पकडा जा सकता है ।

द्रव्यादि सम्पत्ति, उपयोगी पशु, पाँचों इन्द्रियों के सुखकर अनुकूल विषय, भूमि, यश कीर्ति आदि इनमें सोचो स्त्री प्रिय क्यों है ? क्या उसमें स्त्रीत्व है इसलिये प्रिय है। यदि स्त्रीत्व ही प्रेम की वस्तु होती तो सभी स्त्रियाँ प्यारी लगनी चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं। जिसमें आत्मीयता है, अपनापन है, वही स्त्री प्यारी लगती है। पुत्र में पुत्रपना है यदि इसलिये वह प्यारा लगता–प्रेमास्पद होता--तो सभी किसी-न-किसी के पुत्र हैं ही। सभी प्यारे लगते, किन्तु हमें प्यारा आत्मज ही लगता है क्योंकि उसमें आत्मीयता है अपनापन है। धन इसलिये प्यारा नहीं लगता कि वह उपयोगी है। धन का तो सभी उपयोग ही करते हैं। किन्तु हमें वही धन प्यारा है, जिसमें हमारी आत्मीयता हो जाय। जो धन हमारा हो जाय। धन तो सभी धन न्यास (बैंक) में रखा है। किन्तु हमें उतने ही धन से प्रेम है जितना हमारी बही में हमारे नाम लिखा हुआ है। जिस धन में हमारी आत्मीयता नहीं अपनापन नहीं, वह नष्ट हो जाय, हमें कोई कष्ट नहीं होता। किन्तु जिसमें हमारी आत्मीयता है वह नष्ट हो जाय तो हमें कष्ट होगा, उसमें वृद्धि हो जाय तो हमें हर्ष होगा। इन सब दृष्टान्तों से सिद्ध यही हुआ कि प्रियता पदार्थों में नहीं अपनेपन में है। आत्मा में है। जिस आत्मा के सम्बन्ध से अनित्य, क्षण भंगुर, नाशवान् पदार्थ भी जिनमें प्रेम का लेश मात्र भी नहीं, वे भी प्रिय लगने लगते हैं, तो जिसे आत्मा के नित्यत्व का, अमृतत्व का ज्ञान हो जाय उस आत्मा से बढ़कर प्रेमास्पद कौन होगा। फिर उसे रति करने को बाहरी वस्तुओं की आवश्यकता न रहेगी वह आत्मा से ही रति करने लगेगा। फिर उस क्रीड़ा करने को बाह्य उपकरणों की आवश्यकता न होगी, वह आत्मा के ही साथ क्रीड़ा करके सुख का अनुभव

के कारण क्षत्रिय प्रिय नहीं। अपितु वे अपने हैं। इ
सम्बन्धी हैं, इस हेतु से उनमें प्रियता है। लोक हैं इसी
प्रिय नहीं। जिन लोकों को हमने जय कर लिया है अप
कारण ही लोक प्रिय हैं। देवताओं में देवत्व है, इसलिये
नहीं, अपितु जिन देवों में अपनापन होता है, वे उस
के कारण प्रिय हैं। प्राणियों के प्रयोजन के कारण प्राण
नहीं होते। अपितु अपने ही प्रयोजन के निमित्त प्राण
होते हैं। सबके निमित्त सब प्रिय नहीं होते, आत्मीय
कारण ही सबमें प्रियता है। सो, मेरी अरी, मैत्रेयि! जो भी
हैं। आत्मा में ही है। रंग फूलों में नहीं होते वे तो सूर्य में
हैं। सूर्य छिप जाते हैं, तो सब रंग एक से ही अंधकारमय
काले दीखते हैं। सूर्य में विभिन्न रंग हैं, जिस फूल में जिस
को ग्रहण करने की शक्ति होती है, सूर्य के संसर्ग से वह
रंग का दिखायी देने लगता है। इसीलिये प्रियता आत्मा में
है। आत्मा ही प्रेमार्णव है। उसी आत्मा को देखना चाहि
उसी आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण करना चाहिये, उसी आ
का मनन करना चाहिये। उसी का ध्यान धरना चाहिये। दे
उस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से सभी
ज्ञान हो जाता है, क्योंकि वही सब ज्ञानों का प्रकाशक है।

मैत्रेयी ने पूछा—"भगवन्! ब्रह्म का स्वरूप क्या है?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"यह जो भी कुछ है, सब आ
ही-ब्रह्म तो है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जो ब्रह्म
अतिरिक्त वस्तुओं को देखता है, वह पराभव को प्राप्त होता है
अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, समस्त लोक सम्पूर्ण देवगण, सभी भू
गण तथा संसार के सभी चराचर, स्थावर जङ्गम जो भी कुछ
सब आत्मा ही हैं। आत्मा के अतिरिक्त अन्य का अस्ति

जैसे कोई दूर देश में नगाड़ा बज रहा है, नगाड़े का शब्द हमारे कानों में आ रहा है, किन्तु यदि हम उसे हाथ से पकड़ना चाहें तो वह पकड़ा नहीं जा सकता। किसी यन्त्र में उस शब्द को भर भी लो, तो दूसरे यन्त्र पर चढ़ाने पर जैसे वह पहिले शब्द सुनायी पड़ रहा था वैसे ही सुनायी पड़ेगा। उसका निरोध नहीं किया जा सकता। यदि आप शब्द को छोड़कर शब्द जहाँ से आ रहा है, उसके मूल कारण को जाकर पकड़ें। बजने वाले नगाड़े को और बजाने वाले व्यक्ति को जाकर पकड़ लें तो शब्द भी पकड़ा जा सकता है, अर्थात् उसे अपने वश में किया जा सकता है। इसी प्रकार विषयों से दूर हटने से तथा इन्द्रियों के निरोध से मन भी निरुद्ध किया जा सकता है। बाह्यार्थ ज्ञान पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिये सबसे पहिले मन की वृत्तियों के निरोध के लिये इन्द्रियों का निरोध अत्यावश्यक है। इसी प्रकार दूसरा दृष्टान्त लीजिये।

जैसे कोई व्यक्ति शङ्ख बजा रहा है, शङ्ख का शब्द श्रवणों में सुनाई पड़ता है। हम चाहें केवल शङ्ख के शब्द का निरोध करलें उसे हाथ से पकड़ लें तो असम्भव है। आप शब्द के पीछे न पड़कर जिसमें से शब्द हो रहा है जो शङ्ख को बजा रहा है, उस बजाने वाले को और साथ ही शङ्ख को पकड़ लें तो बजाने वाले, और शङ्ख के निरोध के साथ-ही-साथ शब्द का भी निरोध हो जायगा। इसी प्रकार इन्द्रियों के निरोध से अन्तःकरण का भी निरोध हो जाता है। निरुद्ध अन्तःकरण में आत्मा के ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। इसी प्रकार इसी विषय में तीसरा भी दृष्टान्त लीजिये।

जैसे दूर से वीणा का शब्द सुनायी दे तो आप वीणा के शब्द को हाथ से पकड़ना चाहें तो नहीं पकड़ सकते। यदि वीणा

को या वीणा बजाने वाले को जाकर पकड़ लें, तो शब्द भी पकड़ा जा सकेगा। इसी प्रकार बिखरी हुई चित्त की वृत्तियों को आप निरुद्ध करना चाहें तो वे ऊपर से निरुद्ध न होंगी। करणों को-इन्द्रियों को-जाकर निरुद्ध कर लोगे, विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अन्तःकरण में लगा दोगे तो अन्तःकरण निरुद्ध हो जायगा। तब बाह्य वस्तुओं का जो आत्मा से भिन्न देखने की प्रवृत्ति है वह रुक जाती है। शुद्ध स्वच्छ निर्मल हुए-निरुद्ध हुए-अन्तःकरण में आत्मा का साक्षात्कार होने लगता है।

मैत्रेयी ने पूछा—"भगवन्! आत्मा तो निर्लेप है, शुद्ध है, चैतन्य है। इससे ये इतने पदार्थ कैसे पैदा हो जाते हैं। आत्मा को इसके लिये बड़ा भारी प्रयत्न करना पड़ता होगा?"

यह सुनकर हँसते हुए महामुनि याज्ञवल्क्य जी बोले—"अरी मैत्रेयि! मनुष्य को स्वांस लेने में कुछ प्रयत्न करना पड़ता है क्या? देखो, कोई अग्नि में गीली लकड़ी रखकर फूँक से या पंखे से अग्नि को प्रज्वलित करता है, तो अग्नि में से बिना प्रयत्न के ही अपने आप जैसे धूँआ निकलने लगता है, धूँआ निकालने को कोई पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार उस परमात्मा से बिना प्रयत्न के स्वास के समान ये ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व वेद, इतिहास, पुराण, नाना प्रकार की विद्यायें, उपनिषदें भाँति-भाँति की छन्दों में बद्ध श्लोक, विविध शास्त्रों सम्बन्धी सूत्र, विविध भाँति की वृत्तियाँ, भाँति-भाँति के शास्त्रीय व्याख्यान इस आत्मा से निकल पड़ते हैं। परमात्मा को इनके रचने में निकालने में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ये समस्त वेद, समस्त विद्यायें उनसे आपसे आप उत्पन्न हो जाती हैं।

मैत्रेयी ने पूछा—"इन वेदादि विद्याओं का प्रयोजन क्या है ?"

याज्ञवल्क्य जी कहा—"ये सभी शास्त्र आत्म साक्षात्कार का साधन बताते हैं।"

मैत्रेयी ने पूछा—"आत्म साक्षात्कार का साधन तो इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध ही है। यह मैं पहिले ही बता चुका। इन्द्रियों की विषय प्रवाहिनी वृत्तियों के निरोध से अन्तःकरण निरुद्ध होता है। निरुद्ध हुए स्वच्छ निर्मल अन्तःकरण में आत्म का दर्शन होता है। इसी उपासना के उपकरण भूत इन्द्रियों के नियमन को जिसे पहिले मैंने संक्षेप में बताया था, उसे ही पुनः विस्तार पूर्वक तुम्हें बताता हूँ। तुम इसे समाहित चित्त से ध्यान पूर्वक सुनना।

देखो, जैसे जितने भी वापी, कूप, तड़ाग, नद, नदी आदि जलाशय हैं, उन सबका अयन—मूल स्थान--समुद्र है। उसी प्रकार जितने भी कठोर-गुदगुदे, रूखे--चिकने, ऊष्ण--शीतल आदि पदार्थ हैं उन सब स्पर्शों का त्वचा ही एक अयन है, इसी भाँति समस्त सुगन्धित-दुर्गंधित पदार्थों का अयन नासिका है, ऐसे ही समस्त मीठे, नमकीन, कड़वे, कसेले खट्टे तथा चरपरे रसों का अयन एकमात्र जिह्वा द्वारा ही इन रसों का आस्वादन किया जा सकता है। जैसे समस्त सफेद, पीले, हरे, लाल, काले, आदि रूपों का ग्रहण नेत्रों द्वारा ही होता है। इन समस्त रूपों का चक्षु रूप ही अयन है। जैसे समस्त तार, मध्य, मंद्र ध्वन्यात्मक शब्दों को श्रोत्र इन्द्रिय ही ग्रहण करती है। समस्त शब्दों का श्रोत्र अयन है जैसे समस्त संकल्प विकल्पों का एक मात्र स्थान मन है। जैसे समस्त विद्याओं को हृदय ही ग्रहण करता है। इन सबका हृदय ही एकमात्र अयन है। जैसे समस्त कर्मों का हाथ ही अयन है।"

अर्थात् जैसे ऊपर नीचे फेंकना, किसी को फैलाना-समेटना, हिलाना-डुलाना आदि कर्म हाथ से ही होते हैं। जैसे समस्त आनन्दों का उपस्थ अयन है। समस्त विसर्गों का पायु अयन है। जैसे समस्त गमनागमन का अयन पैर हैं। उसी प्रकार समस्त वेदों को वाणी ही ग्रहण करती है। इसलिये आत्म साक्षात्कार करने वाले मुमुक्षु साधक को इन सबके अयन का-मूल स्थान का इन्द्रियों का ही निरोध करना चाहिये। इन्द्रियों के निरोध से समस्त कर्मों का समस्त भीतर को इन्द्रियों-अन्तःकरण- का भी निरोध हो जाता है। तभी आत्म साक्षात्कार होता है।

मैत्रेयी ने पूछा—"क्या यह जगत् सदा ऐसा ही बना रहता है?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"नहीं, यह जगत् तो उत्पन्न होता है फिर विनाश को प्राप्त होता है।"

मैत्रेयी ने पूछा—"तब जो सर्व भूतात्मक है, जिसकी सृष्टि करके जिसमें जो आत्मा प्रवेश कर गया है। उन-उन रूपों वाला हो गया है। उसका क्या होता है?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"देखो, मैत्रेयि! कभी सिन्धु देश में समुद्र था। उस समुद्र के जल का जो नमकीनपना था। वह जमते-जमते सिन्धु देश में नमक का एक पहाड़ हो गया है। उस पहाड़ को तोड़कर जो खंड लोग लाते हैं उसे सैंधव लवण-सेंधा नोंन-कहते हैं। वह नमक कोई अन्य पदार्थ नहीं। जमा हुआ समुद्र का जल ही है, किन्तु जम जाने से भ्रमवश लोग उसे जल से पृथक् मानते हैं। उस सैंधे नमक का एक डला ले लो। उसे जल में डाल दो। कुछ काल के पश्चात् कहो उस डले को जल से निकाल लाओ। तो उस जल से उस नमक के डले को-ज्यों

का-त्यों जैसा वह पहिले था, वैसा ही निकाल लाने में कोई भी विद्वान समर्थ नहीं हो सकता। वह जहाँ-जहाँ से जल उठाकर चखेगा वहीं-वहीं उसे नमकीन जल ही प्रतीत होगा। वह नमक का ढेला जल में ऐसा घुल मिल गया है, कि अब उसका पृथक् अस्तित्व रहा ही नहीं। इसी प्रकार हे मैत्रेयि! यह परमात्मा भूतभूत अनन्त अपार और विज्ञान घन ही है। यह इन भूतों के साथ प्रकट होता है। जब प्रलयकाल में भूतों का विनाश होता है, तो उन्हीं के साथ उसका भी विनाश हो जाता है। देह तथा इन्द्रियों के भाव से विमुक्त हो जाने पर, फिर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। न कोई नाम रहता है न रूप। समझ लिया न मैत्रेयी! यह मैंने सेंधा नमक का दृष्टान्त देकर तुझे समझा दिया ऐसा मैंने कहा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो विचित्र बात कह दी। भूतों के विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है। शरीरपात के अनन्तर इसकी कोई संज्ञा ही नहीं रहती। फिर आत्मा का अजरत्व, अमरत्व, नित्यत्व कहाँ रहा?"

सूतजी ने कहा—"यह शङ्का तो स्वयं मैत्रेयीजी ने ही उठाई है। इसका जो समाधान याज्ञवल्क्य जी करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, देव भूत सब करत पराजय।
आत्म भिन्न यदि लखै सबनिकूँ लखै आत्ममय॥
शब्द, नगाड़ो, शङ्ख तथा वीणा श्रवननि सुनि।
ग्रहन करन असमर्थ गहे यदि कर्ता अरु इनि॥
पकरे वाद्यहिं वादकहिं, शब्द ग्रहन होवै तुरत।
त्यों इं करन निरोध तें, अन्तकरन होवै निरुध॥

(२)

गीलो ईंधन आगि धरो फिरि फूँकहु मारो।
धूँआ निकसे स्वतः योंहि जग सकल पसारो॥
वेद, सूत्र, इतिहास उपनिषद् विद्या सगरी।
महद्भूत तैं स्वतः निकसि सब जग में पसरी।
सब इन्द्रिनि विषयहि अयन, जलनिधि जलको अयन ज्यों।
नारायण तैं निस्वसित, वेद शास्त्र इतिहास त्यों॥

(३)

जल में डारो नौन नाम अरु रूपहिं खोवै।
जल तैं प्रकट्यो नौन नीर में लीनहु होवै॥
त्यों अनन्त विज्ञान प्रकट भूतनि तैं होवै।
नाश तिनहिं के संग नाम निज रूपहु खोवै॥
देहेन्द्रिय तैं मुक्त है, नहिं सत्ता ताकी रही।
आत्मनाश मुनि! होइ कस, शंका मैत्रेयी कही॥

मैत्रेयी की शंका का समाधान

[२२३]

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्तीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥❀

(बृ० उ० २ अ० ४ ब्रा १३ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य मुनि सुनी प्रिया की शंका बोले ।
प्रिये ! मोह उपदेश करूँ नहिं धी पट खोले ॥
महद्भूत विज्ञान हेतु पर्याप्त भाविनी ।
द्वैत माहिं ही अन्य अन्य कूँ भोगत घरनी ॥
जब सब आत्मा ही भयो, तब भोगी को भोग है ।
जो विज्ञाता सकल को, का तैं जानन जोग है ॥

आत्मज्ञान बहुत प्रवचन करने से प्राप्त नहीं होता। धारा प्रवाह बोलना, शब्दों में यमक, अनुप्रास, लगाकर एक से एक

❀ यह सुनकर वह मैत्रेयी कहने लगी—"भगवन् आप ने यह कह कर कि 'देहपात के अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती मुझे मोह में डाल दिया।' इस पर याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा—"अरे मैत्रेयि ! भला क्या मैं मोह कह सकता हूँ ? अरी, यह तो विज्ञान के निमित्त पर्याप्त है।"

अलंकारयुक्त वाक्यों की झड़ी लगा देना, नाना शास्त्रों के वचनों का उद्धरण देकर कुशलता पूर्वक श्लोकों का नाना अर्थ लगा देना ये सब बातें विद्वानों की विद्वता को तो प्रकट कर देती हैं, इन अलंकारयुक्त वचनों से प्रभावित होकर राजे महाराजे धनिक श्रीमान् धन तथा पर्याप्त भोग सामग्रियाँ तो प्रदान कर देते हैं। ये कुशलता पूर्वक लच्छेदार भाषा में कहे गये वचन भोग सामग्री जुटाने में तो कारण हो सकते हैं। इससे भुक्ति मिल सकती है मुक्ति नहीं मिल सकती। ये सब पुष्पित वचन ब्रह्मज्ञान कराने में समर्थ नहीं। आप ही सोचें—"जिस आत्मा के द्वारा संसार के समस्त पदार्थ जाने जा सकते हैं, वह आत्मा भला किसके द्वारा जानी जा सकती है। तुम चाहो, आत्मज्ञान केवल वेदाध्ययन से ही हो जाय, तो यह सम्भव नहीं। वेद तो त्रैगुण्य हैं। हमें तो निस्त्रैगुण्य होना है।"

तुम चाहो, तपस्या द्वारा आत्मज्ञान हो जाय, तो यह तो असम्भव है। तप का फल तो स्वर्ग है, केवल तपस्या से ब्रह्म-ज्ञान कैसे हो सकेगा। तुम चाहो दान द्वारा ब्रह्म साक्षात् हो जाय, तो दान तो पुण्य कार्य है। पुण्य का फल स्वर्ग है। इसी प्रकार यज्ञ भी पुण्य कार्य है इससे स्वर्ग की प्राप्ति हो सकेगी। ब्रह्म की प्राप्ति नहीं। यदि उसका कोई साधन है, तो वह एकमात्र अनन्य अहैतुकी भक्ति ही है। भक्ति मानव शरीर द्वारा ही सम्भव है। शरीर संयोग से ही ब्रह्मज्ञान हो सकता है। हमें आत्मा के ही द्वारा सबका परिज्ञान होता है। जिसके द्वारा देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकारादि का ज्ञान हो, उसका ज्ञान भला किसके द्वारा संभव है? आत्मज्ञान तो उसी को होगा। जिसे वह स्वतः वरण कर ले। जिसे वह वरण कर लेता है, उसे आत्मज्ञान हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब याज्ञवल्क्यजी ने यह कहा कि, "मरकर–शरीरपात के अनन्तर–कोई संज्ञा ही नहीं रहती यह इन भूतों से प्रकट होकर उन्हीं के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है।" तब मैत्रेयी को शंका हुई कि पहिले तो आत्मा को महद्भूत, अनन्त अपार तथा विज्ञानघन कहा और फिर उसे भूतों के साथ विनाशशील भी कह दिया, यह क्या बात है ? इसीलिये उसने अपने प्राणपति भगवान् याज्ञवल्क्य से कहा—"भगवन् ! आपके इन विपरीत वचनों ने मुझे मोह में डाल दिया है, आप मेरी इस शंका का निराकरण करें।"

इस पर महर्षि ने कहा—"प्रिये ! मैत्रेयि ! अरे, मैं भला कभी ऐसी बात कह सकता हूँ, जिससे तुम्हें मोह हो। मैं तुम्हें मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ। देखो, देवि ! मैंने जो इस आत्मा को विज्ञानघन बताया अर्थात् इसमें विज्ञान के अतिरिक्त अविद्या, अज्ञान का लेश नहीं। वह वास्तव में सत्य ही है। देखो, संज्ञा किसे कहते हैं–देह को ही भ्रान्तिवश जो आत्मा समझ ले वही संज्ञा है। तब जब देह का नाश होगा तो उस संज्ञा का भी नाश हो जायगा। 'मैं देवदत्त हूँ' तो देवदत्त संज्ञा शरीर की तो नहीं है। शरीर की देवदत्त संज्ञा होती तो मरने पर सभी उसे देवदत्त कहते। किन्तु मरने पर सभी उस देह को मिट्टी या मृतक कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि देह की देवदत्त संज्ञा नहीं है। अब रहा जीवात्मा, यदि जीवात्मा की देवदत्त संज्ञा होती तो सभी जीव देवदत्त कहाते, किन्तु ऐसा संसार में देखा नहीं जाता। फिर देवदत्त संज्ञा किसकी है ? कहना पड़ेगा देह में जो भ्रमवश आत्मभ्रान्ति हो गयी है, उस देहात्म संघात की ही अहंकारवश देवदत्त संज्ञा हो गयी है। जब देह नष्ट हो जाता है तो उसकी देवदत्त संज्ञा भी नष्ट हो जाती है। आत्मा तो नष्ट नहीं

होती। देह के साथ नामधेय नष्ट होता है। ये जितने भी नाम हैं सब विकार वाणी से आरम्भ होने वाले हैं। नाम तो संसारी वस्तु है। देह के नाश होने पर नाम भी नष्ट हो जाता है, किन्तु जो असंसारी है, विज्ञानघन है, सम्पूर्ण जगत् का आत्मा है, उसका नाश भूतों के नाश होने पर भी नहीं होता जो अविनाशी है, सबका विज्ञाता है उसके विज्ञान का नाश नहीं होता। इसलिये इस महद्भूत, अनन्त अपार का विज्ञान कराने के ही लिये तुम से कहा गया। इसलिये शरीरपात के अनन्तर उसकी संज्ञा नहीं रहती इस कथन से आत्मा के विनाश की बात नहीं समझना। यह जो तुम्हें भोग्य और भोक्ता दो दिखायी देते हैं, ये द्वैतभाव में ही संभव हैं। जहाँ आत्मा एक है, अद्वय है, केवल है वहाँ भोग्य और भोक्ता का पृथकत्व सम्भव नहीं।"

मैत्रेयी ने पूछा—"सो कैसे ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, जहाँ द्वैत-सा होता है। वहाँ सूँघने वाला पृथक् है और जिस गन्धादि को सूँघता है, वह पृथक है। इसी भाँति देखने वाला पृथक् जो दीखता है, दृश्य है वह पृथक् है। जहाँ किसी को अभिवादन करता है, वहाँ अभिवादन कर्ता पृथक् और जिसका अभिवादन करता है, वह पृथक्। जहाँ मनन करता है, वहाँ मनन कर्ता पृथक् और जिसका मनन करता है वह पृथक। जहाँ जानने का प्रश्न है वहाँ जो जानता है, वह पृथक् और जिसे जानता है वह पृथक्। किन्तु जब ज्ञान की अवस्था में—जब सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे ? क्योंकि सूँघने वाला और जो वस्तु सूँघी जाती है दोनों ही तो आत्मरूप हैं। वह फिर किसके द्वारा किसको देखे ? कारण कि देखने वाला और जो वस्तु देखी जाती है दोनों में एक

ही आत्मा है। फिर वह किसके द्वारा किसे सुने ? क्योंकि सुनने वाला और जो सुना जाता है, दोनों ही आत्मा हैं। फिर वह किसके द्वारा किसका अभिवादन करे ? क्योंकि अभिवादन कर्ता और जिसे अभिवादन किया जाता है, दोनों ही तो आत्मरूप हैं। फिर वहाँ किसके द्वारा किसका मनन करें ? क्योंकि जो मनन करने वाला है और जिसका मनन किया जाता है, दोनों एक ही हैं। फिर वह किसके द्वारा किसे जाने ? क्योंकि जानने वाला और जिसे जानता है दोनों आत्मा ही हैं।"

सिद्धान्त यह हुआ कि जिस आत्मा के द्वारा इस सब दृश्य प्रपञ्च को जानता है उसे किसके द्वारा जाने ? आत्मा तो विज्ञाता है, वही तो सबको जनाने वाला है उस विज्ञाता को किसके द्वारा जाना जा सकता है ? अर्थात् किसी के द्वारा भी नहीं। वह तो विज्ञानघन है। सभी को जानने वाला है। समझ गयी मैत्रेयी ?"

मैत्रेयी ने कहा—"हाँ, भगवन् ! आपकी कृपा से ही कुछ समझ गयी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद की कथा कही अब आगे जैसे पृथ्वी आदि में मधु दृष्टि करके मधुविद्या कही जायगी, उस मधुविद्या का वर्णन मैं आप से आगे करूँगा।"

छप्पय

याज्ञवल्क्य मैत्रेयि भयो सम्वाद समापत।
अब मधुविद्या कहें भूमि मधु कही भूम तत॥
पृथिवी के मधु कहे भूतगन भू तेजोमय।
और अमृतमय पुरुष कह्यो अध्यात्म अमृतमय॥
पुरुष अमृतमय तेजमय, आत्मा ही सब कछु बनत।
ताहि ब्रह्म चाहे कहो, सर्व कहो चाहे अमृत॥

मधु-विद्या

[२२४]

इय पृथिवी सर्वेषा भूताना मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्या पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिद ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥*

(बृ० उ० २ म० ५ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

जल मधुभूतनि कह्या मृतमधु जलहिं महाराय।
जल में जो है पुरुष तेजमय अरु अमृतमय ॥
जो है यह अध्यात्म अमृतमय पुरुष आतमा।
अमृत बल अरु सब कहो सब मधु अमृतमा ॥
वायु, सूर्य, दिक्, चन्द्रमा, विजुरी मेघ अकाश कहिं।
धरम, सत्य, नर, आतमा, सर्व, ब्रह्म अमृत सबहिं ॥

फलों में मधु है, किन्तु वह सब किसी को दीखता नहीं। सब

* सभी भूतों का यह पृथ्वी मधु है तथा समस्तभूत पृथ्वी के मधु है। जो तेजोमय अमृतमय पुरुष इस पृथ्वी में है। तेजोमय अमृतमय पुरुष जो अध्यात्म है, वह यही है जिसे 'यह आत्मा है' ऐसा कहते हैं। यही मधु अमृत, ब्रह्म और सर्व है।

कोई उस मधु का संग्रह नहीं कर सकते। कोई एक व्यक्ति उसका संग्रह करने में भी समर्थ नहीं। बहुत से मिलकर ही मधु संचय करने में समर्थ होते हैं। मधु सार को कहते हैं। पुष्पों का जो पराग है उसका भी जो मधुर भाग है, उस रस का नाम है मधु। वह पौष्टिक होता है। जिस औषधि के साथ अनुपान रूप में मधु का सेवन किया जाय, तो वह औषधि मधु के संसर्ग से दशगुणी लाभदायक हो जायगी। इसलिये यह अमृतवत है। यह ब्रह्म है, व्यापक है, एक स्थान में रहने वाला नहीं। सर्वरसमय है। जैसे समुद्र में जाकर सब नदियाँ समा जाती हैं, वैसे ही मधु में समस्त पुष्पों के सब रस समा जाते हैं। मधु में ध्यान पूर्वक देखो तो खट्टे, मीठे, चरपरे, कड़वे, कषेले तथा नमकीन सभी रस उसमें रहते हुए भी वह प्रधानतया मधुर ही है। इसीलिये सर्वरसमय, ब्रह्ममय है। वह मधु सबमें व्यापक है। जैसे ब्रह्म सर्वव्यापक है। यह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, मधु ही मधु है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्मसर्व व्यापक है, उसकी सर्वव्यापकता के ज्ञान को ही मधु विद्या कहते हैं। इसका वर्णन अनेक उपनिषदों में अनेक स्थानों में अनेक प्रकार से आया है। कहीं कहा है-जो पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट हो जाता है, वहाँ प्रविष्ट होकर प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है। स्वयं पृथ्वी जिसे जानती नहीं, किन्तु पृथ्वी जिसका शरीर है-रहने का स्थान है-वह कौन है? वह कोई दूसरा नहीं वह तो निरुपाधिक अन्तर्यामी अमृतत्वशाली तुम्हारी आत्मा ही है। वह सर्वव्यापक मधु है। पंचभूतों में सबसे अन्तिमभूत पृथ्वी है इसलिये इस मधु विद्या को पृथ्वी से आरम्भ करते हैं। जितने भी भूत हैं, प्राणी हैं उन सबका मधु क्या है? पृथ्वी ही है। क्योंकि स्थूलांश

सूक्ष्मांश कुछ न कुछ अंश ब्रह्म से स्तम्ब पर्यन्त सभी में पृथ्वी का अंश रहता ही है। अतः पृथ्वी भूतों का मधु है सार है। और समस्त भूत भी इस पृथ्वी के मधु ही हैं। सब भूतों से मिलकर ही तो यह पृथ्वी बनी है। अतः समस्त भूत इसके मधु हैं। पृथ्वी का एक तो आधिभौतिक रूप है जो हमें दीखता है, एक आधिदैविक स्वरूप जिसका उद्धार वाराह रूप भगवान् ने किया था जिसके धेनु, धरणी तथा लोकधारिणी ये नाम प्रसिद्ध हैं। तीसरा इनका एक अध्यात्मरूप भी है, वह तेजोमय, अमृतमय सनातन पुरुष के रूप में है। यह पृथ्वी का अध्यात्म वपु है। उसका नाम आत्मा है। वह पृथ्वी का स्वरूप अमृत है, ब्रह्म है तथा सर्वरूप है। इसी प्रकार सबमें समझ लो।

जैसे जल है यह जल भी समस्त भूतों का मधु है। इस जल के समस्त भूत मधु हैं। इस जल में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है। जिसे रेतस्-वीर्य-कहते हैं यही तेजोमय अमृतमय पुरुष इस नीर का अध्यात्म है वह कौन है? वह 'यह आत्मा है' इसलिये अमृत, ब्रह्म और सर्व यह है।

इसी प्रकार यह अग्नि सब भूतों का मधु है। समस्त भूत इसके मधु हैं। वाणी इस तेजोमय अमृत पुरुष की अध्यात्म रूप है। यह वह आत्मा है, वह आत्मा अमृत है, ब्रह्म है तथा यह सर्व है। यह वायु भी मधु है। समस्तभूत इसके मधु हैं प्राण इसका अध्यात्म रूप है। यह प्राण रूप तेजोमय अमृतमय पुरुष आत्मा है। यही अमृत, ब्रह्म और सर्व है।

इसी भाँति यह आदित्य भूतों का मधु है। समस्तभूत इसके मधु हैं। इसका चाक्षुस्-नेत्र अध्यात्म रूप है। यह चाक्षुस् अध्यात्म पुरुष तेजोमय और अमृतमय है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सर्व है।

इसी भाँति दिशायें समस्त भूतों का मधु है समस्तभूत इनके मधु हैं। इसका अध्यात्म रूप श्रोत्र सम्बन्धी प्रातिश्रुत्क है। यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यह आत्मा है। अमृत, ब्रह्म सर्व है।

अब सभी का ऐसे ही समझ लो आगे हम सबका अध्यात्म रूप ही बताते जायँगे और सब ज्यों-का-त्यों है। चन्द्रमा का अध्यात्म मन सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। विद्युत् का अध्यात्म तैजस् तेजोमय अमृतमय पुरुष है। मेघ का अध्यात्म शब्द एवं स्वर सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। आकाश का अध्यात्म हृदयाकाश रूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है। धर्म का अध्यात्म धर्म सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। सत्य का अध्यात्म सत्य सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। मनुष्य जाति में अध्यात्म मानुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है। अब इसी प्रकार आत्मा सब भूतों का मधु है। तथा समस्त भूत इस आत्मा के मधु हैं। यह जो आत्मा में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है यही यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशायें, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म सत्य तथा मनुष्य जाति को अमृत बताकर फिर आत्मा को अमृत बताया। आत्मा को अमृत बताने के अनन्तर आत्मा का सर्वाधिपत्व और सर्वाश्रयत्व निरूपण करते हुए कहते हैं—

देखो, यह जो आत्मा है, यही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश इन समस्त भूतों का अधिपति है। यह समस्त चर-अचर, स्थावर-जंगम प्राणियों का राजा है। समस्त जीव इसी में पिरोये हुए हैं। इस विषय में दृष्टान्त देते हैं। जैसे रथ का

पहिया है। पहिये में तीन वस्तुएँ हैं, कुछ गोल-गोल काष्ठ जोड़-कर एक गोलाकार काष्ठ का वृत्त बनाया जाता है उसका नाम नेमि है। उसके बीच में एक गोल छिद्रयुक्त लकड़ी होती है, उसे पुट्ठी रथ की नाभि या पिंड़िका कहते हैं, उसमे छिद्र करके उसमें से बहुत-सी आड़ी तिरछी लकड़ियाँ लगाकर नेमि में फँसाई जाती हैं, उनको अर या अरा कहते हैं। तो जितने भी अरे हैं, वे सब रथ की नाभि और रथ की नेमि में समर्पित रहते हैं, कसे रहते हैं, बँधे रहते हैं, जड़े रहते हैं। इसी प्रकार इस आत्मा मे संसार भर के भूत, इन्द्रादिक जितने देवता हैं वे सब 'भू' भुवादि जितने लोक हैं, वे सब लोक तथा समस्त प्राण और प्राणी ये सबके सब आत्मा मे समर्पित हैं। आत्मा में बँधे हैं आत्मा में जड़े हुए हैं। इसलिये यह जो भी कुछ दिखायी देता है सब आत्मा ही है। जैसे रथ का पहिया कहने से पहिये की नेमि, उसकी बीच में लगी नाभि और नाभि तथा नेमि के बीच में लगे अरे ये तीनों ही पहिये कहलाते हैं। वैसे ही यह जगत, यह जीवात्मा और यह परब्रह्म तीनों ही मिलकर आत्मा है। यही अमृत है, यही सर्व है और यही ब्रह्म है। आत्मा के अति-रिक्त और कुछ है ही नहीं। इस प्रकार सभी में व्याप्त यह पर-ब्रह्म सबका मधु है, सबका आश्रय है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने मधुविद्या आप से कही। और जैसे दध्यङ्ङ्ङ आथर्वण महर्षि दधीचि ने अश्विनी कुमारों को अश्व के शिर से मधुविद्या का उपदेश दिया था, उस पावन प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आशा है आप सब इस ज्ञान-दायी आख्यायिका को समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

आत्मा सबको अधिप सबहि भूतनिको राजा ।
सब ही जामें जड़े होहिँ सब जातें काजा ॥
रथ पहिये की नाभि नेमि में जुरे अरे तत ।
त्यों आत्मा में भूत, देव अरु लोक समर्पित ॥
आत्मा सबमें रमि रह्यो, सब ही आत्म स्वरूप है ।
ब्रह्म सर्व अरु अमृत वह, सबको स्वामी भूप है ॥

ब्रह्मविद्या-मधुविद्या की स्तुति

(२२५)

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ् ह तन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥*

(बृ० उ० २ अ० ५ ब्रा० १६ म०)

दोहा

निज शिर कूँ कटवाइ अश्वशिर धारन कीयो ।
मुनि दधीच उपदेश अश्वशिर तैं ही दीया ॥
कुमर अश्विनी भये कृतारथ विद्यालहिकें ।
दध्यंङ् ऋषि भये अमर विद्याकूँ कहिकें ॥
मधुविद्या या जगत में, त्यागी विनु को कहेगो ।
होइ जगत तैं पार वह, जो या विद्या लहेगो ॥

---

* इस मधु विद्या को दध्यङ्ङ आथर्वण ऋषि ने दोनों भाई अश्विनी कुमारों से कहा था । इस ब्रह्म विद्या को देखते हुए ऋषि ने कहा था— मेघ जिस प्रकार वर्षा करता है, इसी प्रकार वर रूप धारी हे अश्विनी कुमारो । तुम दोनों के लाभ के लिये मैं शिरच्छेदन रूप इस उग्र दंश कर्म को प्रकट करता हूँ ।" जिस मधु विद्या का दधीचि मुनि ने तुम्हारे प्रति अश्व के शिर से उपदेश किया है ।

आज कल तो सब कोई सब किसी को कथित ब्रह्म विद्या का उपदेश करने लगे हैं। कोई जिज्ञासा भी न करे, तो भी उपदेशक-मानी ये व्यवसायी वक्ता घर-घर ब्रह्मविद्या सिखाते फिरते हैं। घोर संसारी कार्यों में संलग्न व्यक्ति भी ब्रह्म से नीचे की बातें नहीं करते। यह युग का प्रभाव है किसी व्यक्ति का दोष नहीं। प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी। कोई विरला ही ब्रह्मवेत्ता होता था, वह बहुत ठोक बजाकर सब प्रकार से पात्र की परीक्षा करके उत्तम श्रेष्ठ सुपात्र को ही ब्रह्म विद्या देते थे।

जैसे हम मनुष्यों में कोई बद्ध जीव होते हैं, कोई मुक्त तथा नित्य और कुछ मुमुक्षु भी होते हैं। ऐसे ही देवलोक में बहुत से इन्द्र केवल सौ अश्वमेध करके ही इन्द्र बन जाते हैं, वे पुनः चींटी आदि योनियों में आ जाते हैं। बहुत से इन्द्र होने पर भी ब्रह्मज्ञानी होते हैं। प्रतीत होता है पहिले यह ब्रह्मविद्या भी इन्द्रादि देवों के ही अधीन होती थी। वे बहुत परीक्षा करके, कुल, गोत्र, व्यवसाय, विद्या, तप आदि देखकर तब किसी को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते थे और उससे भी कह देते थे—कि देखो यह बहुत ही गोपनीय विद्या है, इसका उपदेश सब किसी को मत देना। सब प्रकार की परीक्षा करके, जिसे उत्तम-से-उत्तम श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ सुपात्र समझो उसी को इस विद्या को देना। अथर्ववेद के आचार्य अथर्वा मुनिका विवाह महामुनि कर्दम की नौ कन्याओं में से शान्ति नाम्नी कन्या के साथ हुआ था। उसी शान्तिदेवी के गर्भ से अथर्वामुनि के औरस पुत्र ये दधीचि मुनि थे। ये दध्यङ्ङ्ङ अथर्वण के नाम से भी प्रसिद्ध हैं ये इस मधुविद्या ब्रह्मविद्या के ज्ञाता थे। प्रतीत होता है, इन्होंने देवेन्द्र द्वारा ही यह विद्या प्राप्त की होगी।

अश्विनी कुमार जो सूर्य के पुत्र थे। सूर्य की पत्नी ने सूर्य के

तेज को सहन न करने के कारण अश्वी–घोडी–का रूप रख लिया था। ज्ञात होने पर सूर्यदेव ने भी अश्व का रूप रखकर उससे सगम किया। उन्हीं से ये दोनों कुमार साथ ही साथ पैदा हुए। ये बडे ही सुन्दर थे। दोनो साथ ही उठते-बैठने, खाते पीते तथा चलते फिरते हैं। दोनों का नाम भी अश्विनी कुमार ही है। वे वेद विद्या में निष्णात है। देवताओं की चिकित्सा करते हैं। विद्याओं में वेद्य विद्या को अधनाधमा विद्या बताया है। ये दोनों भाई ब्रह्मविद्या भी प्राप्त करना चाहते थे। इन्द्र से भी इन्होंने प्रार्थना की होगी, किन्तु वैद्य विद्या अधमा है। ये वेद्यक करते हैं चीडफाड का काम करते हैं, इसलिये इन्द्र ने इन्हे अनधिकारी समझकर मना कर दी होगी। अब ये इस खोज में थे, कि कोई ब्रह्मवेत्ता मिल जाय, तो उससे हम ब्रह्मविद्या प्राप्त करें।

इन्हें पता चला अथर्वमुनि के पुत्र दधीचि मुनि ब्रह्मवेत्ता हैं, और अत्यन्त उदार भी हैं। अतः ये दोनों भाई उनकी शरण में गये और उनसे प्रार्थना की—"भगवन्! हमें ब्रह्म विद्या का उपदेश दें।"

ऋषि तो परम उदार थे, उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, इस समय तो मैं एक विशेष कार्य मे लगा हूँ, फिर आना मैं तुम लोगों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करूँगा।"

ऋषि की स्वीकृति पाकर अश्वनी कुमारों को परम हर्ष हुआ, वे प्रसन्नता पूर्वक ऋषि के चरणो मे प्रणाम करके लौट गये। यह बात इन्द्र को मालूम पड गयी, कि दधीचि मुनि ने अश्वनीकुमारों को ब्रह्मविद्या देने की प्रतिज्ञा कर ली है। अतः वे कुपित होकर हाथ में वज्र लेकर दधीचि मुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि ने देवेन्द्र का पाद्य अर्घ्यादि से सत्कार किया। इन्द्र ने पूछा—

"मुनिवर ! हमने सुना है, तुमने अश्विनी कुमारों से ब्रह्मविद्या प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर ली है।"

मुनि ने कहा—"हाँ प्रतिज्ञा तो कर ली है।"

इन्द्र ने कहा—"सावधान, उन्हें कभी भी ब्रह्मविद्या का उपदेश न करना।"

मुनि ने पूछा—"क्या कारण है ?"

इन्द्र ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"तुम जानते नहीं हो, वे वैद्य हैं, विद्या अधमाधमा है। फिर वे देवता होकर मनुष्यों का रूप रखकर मनुष्यों की भी चिकित्सा करते हैं। अंगों के चीर फाड़ का भी काम करते हैं। दक्ष के कटे हुए धड़ पर इन्होंने ही बकरे का सिर लगाकर उसे जीवित कर दिया था। भग के नेत्रों को इन्होंने लगा दिया। च्यवन मुनि को वृद्ध से युवा बना दिया। देवताओं के टूटे फूटे हाथ पैर इन्होंने जोड़ दिये थे।"

ऋषि ने कहा—"ये कोई बुरे काम थोड़े ही हैं। परोपकार का कार्य किया अच्छा ही किया।"

इन्द्र ने कहा—"कैसा भी अच्छा हो, वैद्यक से आजीविका चलाना निन्दित वृत्ति है। वे ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं हैं। उनको कभी भी ब्रह्मविद्या का उपदेश न करना। यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी, तो मैं तुम्हारा सिर धड़ से पृथक् कर दूँगा।"

इन्द्र की इस बात का दधीचि मुनि ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इन्द्र ऐसा कह कर चले गये। कालान्तर में ये दोनों भाई अश्विनी कुमार पुनः मुनि की सेवा में ब्रह्मविद्या सीखने समुपस्थित हुए और प्रार्थना की—"भगवन् ! अब आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिये।"

मुनि ने कहा—"भाई, प्रतिज्ञा तो मैंने तुम से अवश्य की है, किन्तु इन्द्र आये थे, वे कह गये हैं—"कि तुमने यदि अश्विनी

कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया तो मैं तुम्हारा सिर काट लूँगा।"

अश्विनी कुमारों ने कहा—"भगवन ! आपकी प्रतिज्ञा व्यर्थ नहीं होनी चाहिये।"

ऋषि ने कहा—"सोचता तो मैं भी यही हूँ, प्रतिज्ञा पूरी करना तो मेरा धर्म है। किन्तु यदि बीच में ही इन्द्र ने आकर शिर काट दिया तो क्या होगा ?"

अश्विनी कुमारों ने कहा—"भगवन् ! हम वैद्य हैं। इसका उपाय तो हम कर लेंगे।"

मुनि ने पूछा—"क्या उपाय करोगे ?"

अश्विनी कुमारों ने कहा- "हम आपका सिर पहिले ही काट कर रख लेंगे। एक घोड़े का सिर काटकर आपके धड़ पर लगा देंगे। आपके सिर को घोड़े के सिर पर लगा देंगे। आप घोड़े के ही सिर से हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश दें। जब इन्द्र आपके शिर को काट जायँगे। तो हम आपके सिर को घोड़े से काटकर आपके धड़ पर लगा देंगे। उस घोड़े के मुख को पुनः उसी के सिर पर चिपका देंगे।"

मुनि को अश्विनीकुमारों की युक्ति अच्छी लगी। उन्होंने स्वीकृति दे दी। स्वीकृति पाकर अश्विनीकुमारों ने उनका सिर काटकर घोड़े के धड़ में लगा दिया और घोड़े के सिर को इनके धड़ पर जमा दिया। उसी अश्व के सिर से मुनि ने अश्वनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। इसीलिये ब्रह्मविद्या का दूसरा नाम अश्वशिरा विद्या भी है।"

पीछे से इन्द्र आकर मुनि का शिर काट गये। अश्विनी कुमारों ने उसे घोड़े के धड़ पर लगा दिया। मुनि के सिर को फिर उनके धड़ पर लगा दिया। ऐसी यह ब्रह्मविद्या है। तभी

ब्रह्मज्ञानी महर्षि दधीचि ने देवताओं के माँगने पर अपने जीवित शरीर की हड्डियों को वज्रादि अस्त्र बनाने को प्रसन्नता पूर्वक दे दिया। ब्रह्मज्ञानी के अतिरिक्त ऐसा दुष्कृत कर्म दूसरा कौन कर सकता है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मधुविद्या तो समाप्त हुई। अब मधुविद्या अथवा ब्रह्मविद्या की फल स्तुति कहते हैं—"ब्रह्माजी के पुत्र अथर्व मुनि हुए। उनको ब्रह्माजी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अथर्व के पुत्र ध्यान परायण दध्यङ्ङ मुनि हुए जो दधीचि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस मधुविद्या को दधीचि मुनि ने अश्विनी कुमारों को दिया। इन्द्र ने जब अश्विनी कुमारों को विद्या देने से मुनि को रोका और धमकी दी—"यदि तुम अश्विनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दोगे तो मैं तुम्हारा सिर काट लूँगा।" इस पर भी मुनि ने अश्विनी कुमारो से कहा—"हे मनुष्यों का-सा रूप धारण करने वाले अश्विनी कुमारों ! मेघ जिस प्रकार सर्वत्र वृष्टि करता है, वह भेद भाव नहीं करता कि यह चांडाल का खेत है, इसमें वर्षा न करूँ, यह अमुक का खेत है इसमें वर्षा करूँ। वह तो सर्वत्र बरसता है। यद्यपि इन्द्र मुझे आपको उपदेश करने के लिये मना कर गये हैं। फिर भी आप कहते हो, सिर कटाकर हमें अश्व के सिर से उपदेश कर दें। मैं तुम दोनों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करूँगा तो तुम्हारा लाभ होगा। अतः तुम दोनों के लाभ के निमित्त इस सिर कटाने रूप उग्र शल्यकर्म को प्रकट किये देता हूँ। अर्थात् अश्व के ही मुख से तुम्हें ब्रह्म-विद्या का उपदेश किये देता हूँ।"

भगवती श्रुति कहती है—"जिस मधुविद्या का उपदेश दध्य-ङ्ङाथर्वण ऋषि ने अश्विनी कुमारों के प्रति अश्व के सिर से

वर्णन किया है, उसी महा दुर्लभ मधुविद्या का मैंने वर्णन किया है।"

अब मधुविद्या की स्तुति करते हुए पुनः एक प्रत्यक्षदर्शी मन्त्र दृष्टा ऋषि के मुख से उसे कहला रहे हैं, जिस मधुविद्या का दधीचि मुनि ने अश्विनी कुमारों को उपदेश दिया था, उसे देखकर मन्त्र दृष्टा ऋषि ने अश्विनी कुमारों से ही कहा था—"हे अश्विनी कुमारो! तुम दोनों बड़े भाग्यशाली हो, जो तुमको दधीचि मुनि ने मधुविद्या का उपदेश दिया। तुम इन्द्र के भय से ऋषि को अभय करते हुए दधीचि मुनि के लिये घोड़े का सिर लाये थे। महामुनि दधीचि ने पूर्व में आप से ब्रह्मविद्या प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। उस प्रतिज्ञा रूपी सत्य का पालन करते हुए तुम्हें सूर्य सम्बन्धी—त्वाष्ट्र शब्दित यज्ञ शिरः सम्बन्धी अर्य—मधुविद्या का उपदेश किया था। हे शत्रुहिंसक—दस्र—अश्विनी कुमारो! यह जो आत्मज्ञान सम्बन्धी मधुविद्या है यपि यह कद्य है—परम सुगोप्य है सब किसी के लिये इसका पदेश नहीं दिया जाता है। फिर भी दध्यङ् आथर्वण ऋषि ने उस रम गोपनीय विद्या का तुम को उपदेश दिया था। अतः तुमसे बढ़कर भाग्यशाली और कौन होगा।"

दूसरे ऋषि ने भी इस विद्या की स्तुति करते हुए अश्विनी कुमारों से कहा था—"देखो, अश्विनी कुमारो! उन परब्रह्म परमात्मा ने दो पैर वाले—मनुष्यादि—शरीरों को बनाया। फिर चार पैर वाले—गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि—पशुओं को बनाया। फिर वह पक्षी होकर—हंस बन के—जीव रूप से—समस्त शरीरों में प्रविष्ट हो गया। क्योंकि उसके प्रवेश किये बिना वे शरीर कुछ कार्य करने मे समर्थ ही नहीं हो सकते थे। उसका

नाम पुरुष है। पुरुष नाम क्यों है ? इसलिये कि वह समस्त शरीरों में वर्तमान रहता है। वह परमात्मा शरीर में-पुर में-शयन करता है, इसी निमित्त उसकी पुरुष संज्ञा है। देहों में सोता है, देह ही उसका पुर है। इसलिये वह पुरुष कहलाता है। इस परमात्मा से कोई भी वस्तु बाहर से अनाच्छादित नहीं है। अर्थात् सभी पदार्थ इनसे आवृत हैं, ढके हुए हैं। और कोई संसार में ऐसा भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं हो सकता जिसमें यह घुसा हुआ न बैठा हो अर्थात् समस्त पदार्थों में यह प्रविष्ट है। यह सबके भीतर भी है और सबके बाहर भी है। अर्थात् यह परमात्मा सर्वत्र समान भाव से व्याप्त है। हे अश्विनी कुमारो! उसी सर्वव्यापक ब्रह्म का तुम्हें उपदेश अथर्व ऋषि के पुत्र दध्यङ्ङा मुनि ने किया है।"

इसी प्रकार अश्विनीकुमारों से ही किसी तीसरे मन्त्रद्रष्टा सर्वज्ञ ऋषि ने कहा था—"हे अश्विनीकुमारो ! जैसे माता पिता के अनुरूप संतान होती है, वैसे ही इस जीवात्मा का रूप परमात्मा के ही प्रतिरूप हो गया। अर्थात् वही परमात्मा जीव रूप से जैसा शरीर था उसी के अनुसार हो गया। चींटी के शरीर में चींटी के अनुसार हाथी के शरीर में हाथी के अनुरूप बन गया। जो भी कुछ व्यवहार के लिये है, वह सब उस परमात्मा का ही रूप है, अर्थात् लोक में प्रकट करने के निमित्त ही उसके ये सब रूप हैं। वह इन्द्र-परमात्मा-बड़ा मायावी है। वह अपनी मायाओं से-इन्द्र जाल के समान-अनेक रूपों में प्रकट होता है। यह शरीर क्या है, मानों एक रथ है। इसमें जुते हुए घोड़े क्या है ? मानों ये इन्द्रियाँ ही घोड़े हैं, ये हैं तो दश किन्तु विषय असंख्य हैं उनको हरण करने के कारण असंख्य रूपों से दृष्टि-गोचर होते हैं। वह ब्रह्म अपूर्व है अपर है, अनन्त है, अबाह्य

है। यही आत्मा सबको जानने वाला, सबको अनुभव करने वाला ब्रह्म है। यही सबका सार है। यही समस्त तत्वों का परम तत्व है। यही सर्व अनुभूतियों का अनुशासन है। यही समस्त वेदान्त वाक्यों का परम रहस्यमय तात्त्विक उपदेश है। अश्विनीकुमारो! तुम धन्य हो, जो यह उपदेश तुम्हें अथर्व के पुत्र दध्यङ्ङमुनि से जो दधीचि के नाम से प्रसिद्ध हैं उनसे प्राप्त हुआ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह मधुविद्या की स्तुति समाप्त हुई। अब आप से मैं मधुविद्या की सम्प्रदाय परम्परा को सुनाकर इस विषय को समाप्त करूँगा।"

छप्पय

(१)

मन्त्रदृष्टा ऋषि कहें-मेघ ज्यों बरसत सब थल।
त्यों ऋषि शिर कटवाइ ज्ञान दीयो अति निरमल॥
अथ शिरहि तें कहीं कहाई अथशिर वह।
गोपनीय मधु सरिस मुक्ति दायिनि विद्या यह॥
रचिकें जग के जीव सर्व, पशु, पक्षी सबई पुरुष।
पुरनि-शरीरनि शयन करि, पुरुष कहे जस तन सरस॥

(२)

सब जाने ढकि लये सबनि में प्रविसें प्रभुवर।
व्याप्त सबनि में रहें सकल जग माहिं चराचर॥
रूप रूप प्रतिरूप प्रकट है सब दरसावत।
माया तें बहुरूप धरें रथ सरिस घुमावत॥
ब्रह्म अनन्त तर अनपरहि, वह अवाह्य अनुभव सकल।
अनुशासन वेदान्त सब, है उपदेशहु अति विमल॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
पंचम मधु ब्राह्मण समाप्त

ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय परम्परा

(२२६)

अथ वंशः। पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात् कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥❀

(बृ० उ० २ अ० ६ ब्रा० १ मन्त्र०)

छप्पय

हरि ने अज सन कही सनक ने कही सनातन।
तिनि सतारु उनि व्यष्टि विप्रचित्तिहु एकर्षिनि॥
प्रध्वंसन उनि कही मृत्यु प्रध्वंस अथर्वनि।
जो अथर्वा देव कही तिनि आथर्वण मुनि॥
तिनितें अश्विकुमारनहु, विश्वरूप त्वाष्ट्रहि दई।
तिनि आमूतिहिं त्वाष्ट्र कूं, तिनि अयास्य आङ्गिरस लई॥

समस्त विद्यायें वंश परम्परा से गुरु द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। वंश दो प्रकार के होते हैं। बिन्दु वंश और मन्त्रवंश। बिन्दुवंश

❀ अब ब्रह्म विद्या की वंश परम्परा सुनो। पौतिमाष्य ने गौपवन से गोपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक से तथा गौतम से गौतम ने आग्निवेश्य से यह ब्रह्मविद्या प्राप्त की।

तो जो औरस हों वीर्यजात हों। जैसे अमुक के पुत्र वे उनके पुत्र वे उनके भी पुत्र वे। इस प्रकार पैतृक क्रम से जो वंश हो उसे बिन्दुवंश कहते हैं। नादवश या मन्त्रवश वह है कि परम्परा से जिनके द्वारा कान में मन्त्र लिया हो। अमुक के शिष्य वे, उनके शिष्य वे। पहिले प्रायः पैदा करने वाला पिता ही मन्त्र भी देता था, अतः पिता से ही वंश परम्परा चलती थी। जैसे भगवान् विष्णु नारायण के पुत्र ब्रह्माजी, ब्रह्माजी के पुत्र वसिष्ठजी, वसिष्ठजी के पुत्र शक्तिजी, शक्तिजी के पुत्र पराशरजी, पराशरजी के पुत्र व्यासजी और व्यासजी के पुत्र शुकदेवजी। पहिले महर्षिगण प्रायः सद्गृहस्थ ही होते थे, कुछ ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी होते थे। वे अपने-अपने आश्रम बनाकर सम्पूर्ण जीवन तपस्या में ही बिताते थे। उनका समस्त जीवन तपोमय ही होता था। उनको गृहत्याग कर काषाय पहिनकर कमण्डलु धारण करके घर-घर भिक्षा नहीं माँगनी पड़ती थी। वे उसी एक आश्रम में जीवन पर्यन्त रहकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेते थे। वैसे शास्त्रों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमों का विधान है, किन्तु यह कर्मसंगी–कर्मासक्त–साधारण साधकों के निमित्त है। उत्तम साधक किसी भी आश्रम में रहे वहीं वह ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर सकता है। भक्तिमार्ग में भी संन्यास आवश्यक नहीं। जिस किसी आश्रम में भी रहकर भक्त भगवान् को प्राप्त कर सकता है। कुछ लोगों का आग्रह है, ज्ञान के बिना मुक्ति होती नहीं और ज्ञान बिना संन्यासी बने प्राप्त नहीं होता, अतः मुक्ति के लिये संन्यासाश्रम ग्रहण करना अनिवार्य है। इसलिये संन्यास लेना ही चाहिये। सन्यास कोई बाजार में बिकता तो है नहीं जिसे लेना ही चाहिये। संन्यास का अर्थ है त्याग। और त्याग का सम्बन्ध वस्तुओं से न होकर मन से है।

वेष से नहीं अग्निहोत्र परित्याग से नहीं। काषाय वेष और कमंडलु से नहीं। इस बात को स्वयं साक्षात् भगवान् ने गीताजी में कहा है—जो कर्मों को छोड़ दे, अग्निहोत्र करना छोड़कर केवल लिंग धारण करने वाला संन्यासी नहीं होता जो कर्मों के फलों का परित्याग करके, निरन्तर कर्तव्य कर्मों का पालन करता रहता है। वही वास्तव में संन्यासी है और वही योगी है। ऐसे मन से किये संन्यास-त्याग-के बिना ज्ञान नहीं होता। लिङ्गधारण करना-ब्रह्मज्ञान में कारण नहीं।

आगे ब्रह्मज्ञान की परम्परा में जिन महर्षियों की परम्परा गिनावेंगे, उनमें प्रायः सभी सद्गृहस्थ ही ऋषि हैं। अद्वैतवादी संन्यासी जो अपनी वंश परम्परा का नित्य पाठ करते हैं। उनमें श्री लक्ष्मी नारायण, ब्रह्माजी, वसिष्ठजी, शक्तिजी, पराशरजी, व्यासजी और श्रीशुकदेवजी पर्यन्त सबके सब सद्गृहस्थ ही हैं। शुकदेवजी के शिष्य गौड़पादाचार्य, उनके शिष्य गोविन्द पादाचार्य और उनके शिष्य श्रीशंकर पादाचार्य ये ही तीन संन्यासी हैं। कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि ब्रह्मविद्या किसी आश्रम के अधीन नहीं। वह सभी आश्रमों में रहकर प्राप्त की जा सकती है। अब आगे हम ब्रह्मविद्या की परम्परा बताते हैं। आप देखेंगे ये सबके सब महर्षि प्रायः सद्गृहस्थ ही थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! १—सर्वप्रथम परब्रह्म परमपिता परमात्मा ने अपने नाभि कमल से परमेष्ठी पितामह चतुर्मुख ब्रह्माजी को उत्पन्न किया और उनके लिये समस्त वेदों का उपदेश भी किया। अतः भगवान् विष्णु तो किसी से पैदा ही नहीं होते। वे तो अज, नित्य, शाश्वत, अजन्मा अविनाशी सदा रहने वाले शाश्वत ही हैं। उनसे ब्रह्माजी की उत्पत्ति होती है।

अतः ब्रह्माजी उनके आदि पुत्र भी हैं और वेदों का उपदेश करने के कारण आदि शिष्य भी हैं। अतः इस मधुविद्या अथवा ब्रह्मविद्या के सर्वप्रथम आदि आचार्य भगवान् परब्रह्म परमात्मा नारायण ही हैं। तो नारायण परमात्मा ने सर्वप्रथम उपदेश ब्रह्माजी को दिया।

२—ब्रह्माजी ही इस सम्पूर्ण सृष्टि के कर्ता हैं। संस्कृत भाषा के कोशों में ब्रह्माजी के बहुत से नाम हैं। जिनमें आत्मभू, सुरज्येष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, स्वयम्भू, चतुरानन, धाता, अजयोनि, विरचि, कमलासन, स्रष्टा, प्रजापति, वेधा, विधाता, विधि पद्मयोनि, वेदगर्भ, लोकनाथ, रजोमूर्ति, हंसवाहन आदि नाम अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी उनके बहुत नाम आते हैं। ये ज्ञान के अवतार हैं। चारों वेदों का ज्ञान सर्वप्रथम इन्हें ही हुआ था। इनकी वाणी कभी भी मृषा नहीं होती समस्त ज्ञान के ये ही भण्डार हैं। भगवान् नारायण के पुत्र तथा शिष्य हैं। ब्रह्मविद्या या मधु विद्या के भगवान् नारायण के पश्चात् ये दूसरे आचार्य हैं।

३—इन परमेष्ठी पितामह ने सर्वप्रथम मन से सनक, सनन्दन, सनातन और सनत् कुमार इन चारों ऋषियों को उत्पन्न किया। अतः ब्रह्माजी के सबसे ज्येष्ठ ये चार ही पुत्र हैं। इनमें सनक ऋषि सबसे बड़े हैं अतः ब्रह्माजी ने ज्येष्ठ-श्रेष्ठ होने के नाते ब्रह्मविद्या का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र सनक को किया, अतः ये सनक ब्रह्माजी के शिष्य तथा पुत्र तीसरे आचार्य हुए।

४—अब सदा ५ वर्ष के ही बने रहने वाले, सदा "हरिः शरणम्" इस पंचाक्षर का जप करने वाले, जय-विजय को वैकुण्ठ में तीन जन्मों तक असुर बनने का शाप देने वाले ये

कुमार सबके सब ब्रह्मज्ञानी थे। सनकजी ने अपने भाई सनातन को लक्ष्य करके तीनों भाइयों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। अतः सनक के शिष्य सनातन इस विद्या के चौथे आचार्य हुए।

५—एक सनारु नाम के महर्षि थे। इनका विशेष विवरण पुराणों में प्राप्त नहीं होता। ये कोई परमत्यागी महर्षि रहें होंगे सनातनजी से इन्होंने ब्रह्मविद्या का उपदेश ग्रहण किया। अतः ये ब्रह्मविद्या के पाँचवे आचार्य हैं।

६—एक व्यष्टि नाम के महर्षि हुए हैं। इनको ब्रह्मविद्या का उपदेश सनारु महर्षि ने किया। व्यष्टि महर्षि का भी विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता, किन्तु पुण्यश्लोक पुरुषों का नाम कीर्तन करने से भी पाप का नाश होता है, अतः ये महाभाग सनारु के पश्चात् ब्रह्मविद्या के छटवें आचार्य हुए।

७—एक विप्रचित्ति नाम के महायशस्वी हुए। एक विप्रचित्ति तो दनु के चौबीस पुत्रों से सबसे बड़े पुत्र हुए। महाभारत में आया है कि दनु के चौबीस पुत्र हुए उनकी संसार में सर्वत्र ख्याति थी। उनमें सबसे बड़े महान् यशस्वी राजा विप्रचित्ति हुए। यद्यपि ये दानव थे, किन्तु ब्रह्मविद्या के अधिकारी तो सभी श्रद्धालु हो सकते हैं। असुरों में वृत्रासुर, प्रह्लाद, बलि ये सबके सब ब्रह्मज्ञानी थे। अतः ये विप्रचित्ति दानव हों या कोई महर्षि हों ये व्यष्टि नामक महर्षि के शिष्य सातवें ब्रह्मविद्या के आचार्य हुए।

८—एक एकर्षि नाम के ऋषि हुए। वसुदेवजी ने जो कुरुक्षेत्र में यज्ञ किया था, उसमें जो बहुत से ऋषि पधारे थे उनमें एकत ऋषि का भीनाम है। सम्भव है ये वे ही महर्षि हों, इन्होंने विप्रचित्ति आचार्य से ब्रह्मविद्या सीखी थी अतः ब्रह्मविद्या के ये आठवें आचार्य हुए।

—कोई प्रध्वंसन नाम के आचार्य हुए हैं, इन्होंने एकर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये नववें ब्रह्मविद्या के आचार्य

०—कोई मृत्यु प्राध्वंसन नाम के आचार्य हुए हैं। इन्होंने न आचार्य से ब्रह्मविद्या ग्रहण की अतः ये इस विद्या के आचार्य हुए।

११—कोई अथर्वा देव हुए। ये अथर्वा ब्रह्माजी के पुत्र थे। ने मृत्यु प्राध्वंसन नाम के महर्षि से मधुविद्या सीखी अतः विद्या के ये ग्यारहवें आचार्य हुए।

१२—इन अथर्वा देव के ही पुत्र दध्यङ्ङाथर्वण-दधीचि हुए। इन्होंने अपने पिताजी से तथा इन्द्र से भी ब्रह्मविद्या की। दधीचि मुनि तो लोक प्रसिद्ध हैं, इनकी पत्नी का गर्भस्थिनी था। पिप्पलाद मुनि इन्हीं के पुत्र थे। इन्होंने ाओं के माँगने पर अपने जीवित शरीर की हड्डियाँ उन्हें न कर दीं थी। उन्होंने ही घोड़े के सिर से अश्विनी कुमारों ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। तभी से ब्रह्मविद्या का एक नाम वशिरा प्रसिद्ध हुआ। ये इस ब्रह्मविद्या के बारहवें आचार्य ।

१३—दधीचिमुनि जो दध्यङ्ङाथर्वण के नाम से विख्यात थे से अश्विनीकुमारों ने ब्रह्मविद्या सीखी। जिसका पीछे वर्णन ा ही चुका है। ये इस विद्या के तेरहवें आचार्य हुए।

१४—महर्षि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप त्वाष्ट्र हुए। इन्द्र के पमान से असंतुष्ट होकर जब देवगुरु बृहस्पति जी कहीं चले ये, तब देवताओं ने इन्हीं विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाया ा। इनकी माता असुर कुल की थीं, अतः इन्होंने मातृकुल के ाते भीतर-ही-भीतर असुरों का पक्षपात किया। इससे इन्द्र

ने ध्यान में बैठे हुए इनका शिर काट दिया था। जिससे इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी और ये मारे-मारे फिरते रहे। ये विश्वरूप त्वाष्ट्र अश्विनी कुमारों के शिष्य ब्रह्मविद्या के चौदहवें आचार्य हुए।

१५—इन विश्वरूप त्वाष्ट्र के कोई छोटे भाई आभूतित्वाष्ट्र रहे होंगे। उन्होंने इन विश्वरूप त्वाष्ट्र से ब्रह्मविद्या की दीक्षा ली। अतः ये आभूति त्वाष्ट्र इस विद्या के पन्द्रहवें आचार्य हुए।

१६—अयास्य आङ्गिरस अङ्गिरा गोत्र के कोई ऋषि हैं उन्होंने आभूतित्वाष्ट्र से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अङ्गिरा महर्षि के एक पुत्र घोर हुए उनके पुत्र कण्व हुए संभव है ये ही कण्व अयास्य के नाम से प्रसिद्ध हों अतः ये इस विद्या के सोलहवें आचार्य हुए।

१७—स्वयम्भू ब्रह्माजी के मुख से अङ्गिरा महर्षि की उत्पत्ति हुई। अङ्गिरा के पुत्र घोर हुए और घोर के पुत्र कण्व हुए। शकुंतला के प्रतिपालक पिता कण्व दूसरे थे वे यजुर्वेदीय थे। ये कण्व तो ऋग्वेदीय हैं। ऋग्वेद में इनकी ऋचायें हैं। ये गोत्र प्रवर्तक ऋषि हैं। इन्हीं के पुत्र सौभरि हुए जो वृन्दावन के समीप सुनरख में रहते थे। जिन्होंने मांधाता की पचास कन्याओं से विवाह किया काली अहि को शाप दिया था। अयास्य आङ्गिरस से इन पन्या सौभर ने ब्रह्मविद्या प्राप्त की ये अङ्गिरा मुनि के प्रपौत्र थे। अतः ये भी आङ्गिरस ही थे। ऋग्वेद में इनकी बहुत-सी ऋचायें हैं। ऋग्वेदीय होने के कारण ये बह्वृच भी कहलाते हैं। अतः ये इस विद्या के सत्रहवें आचार्य हुए।

१८—पन्या सौभर के पुत्र अथवा शिष्य कोई वत्सनपात् त्वाभ्रव नाम के महर्षि हुए। पन्या सौभर ने इन्हें ब्रह्मविद्या का

उपदेश दिया अतः ये वत्सनपात् बाभ्रव ब्रह्मविद्या के इस परपरा में अठारहवें आचार्य हुए।

१९—विदर्भ देश के कोई कौण्डिन्य महर्षि हुए हैं। विदर्भ देशीय होने के कारण ये विदर्भी कौण्डिन्य कहलाये। एक कौण्डिय मुनि का वृत्तान्त अनन्त चतुर्थदशी व्रत माहात्म्य कथा में आता है। ये विवाह करके आ रहे थे, मार्ग में बहुत से स्त्री पुरुष अनन्त व्रत करके चौदह ग्रन्थियों वाले अनन्त डोरे को बाहु में बाँध रहे थे। सम्भव है ये वे ही कौण्डिन्य हों। पन्था सौमर के विदर्भी कौण्डिन्य इस विद्या के इक्कीसवें आचार्य हुए।

२०—गालव महर्षि जो जगत् प्रसिद्ध हैं। इनकी कथा स्कन्द पुराण में आती है, इनकी कान्तिमती कन्या थी जिसकी अवज्ञा करने पर इन्होंने विद्याधराधिपति विज्ञप्ति कौतुक के दोनों पुत्रों सुदर्शन और सुकर्ण को मनुष्य योनि में जाने का शाप दिया था। बड़े सुदर्शन को वेताल होने का भी शाप दिया था। जिसकी मुक्ति के कारण रामेश्वर में चक्रतीर्थ के समीप वैताल तीर्थ हुआ। ये गालव ऋषि परम ब्रह्मज्ञानी हुए। आगामी आठवें मन्वन्तर में ये गालव महर्षि दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य ऋष्यशृङ्ग और भगवान् द्वैपायन व्यास के साथ सप्तर्षि बनेंगे। इन्होंने विदर्भी कौण्डिन्य मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी। अतः ये इस सम्प्रदाय के बीसवें आचार्य हुए।

२१—एक कुमार हारीत नामके ऋषि हुए हैं। इन्होंने गालव महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की इसलिये ये इक्कीसवें आचार्य हुए इनकी हारीतिकी संहिता प्रसिद्ध है।

२२—इन कुमार हारीत के शिष्य कौशोर्य काप्य हुए। इन्होंने कुमार हारीत से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये बाइसवें आचार्य हुए।

२३—शाण्डिल्य नाम के ऋषि गोत्र प्रवर्तक हैं। ये शांडिल ऋषि के पुत्र थे। शाण्डिल्य मुनि के भक्ति सूत्र संसार में प्रसिद्ध हैं। श्री स्वप्नेश्वरसूरि ने शाण्डिल्य शत सूत्र पर भाष्य किया है। इन शाण्डिल्य मुनि ने कैशोर्य काप्य मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः महर्षि शाण्डिल्य इस विद्या के तेईसवें आचार्य हैं।

२४—एक वत्स नाम के महर्षि गोत्र प्रवर्तक हुए हैं। उनके पुत्र वात्स्य हुए। इन्हीं वात्स्य सावर्णि गोत्रों में ऊर्व्य, च्यवन, भार्गव, जमदग्नि प्रवर हुए हैं। इन वात्स्य मुनि ने शाण्डिल्य महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये इस संप्रदाय के चौबीसवें आचार्य हुए।

२५—गोतम तो ब्रह्माजी के पुत्र ही हैं, उनके वंशज गौतम हुए गोतम के पुत्र शतानन्द जी हैं। अतः उनका नाम भी गौतम आता है। और भी कई गौतम हैं। जो भी गौतम हों इन्होंने वात्स्य मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये इस विद्या के पचीसवें आचार्य हैं।

२६—कोई माण्टि नामक मुनि हुए हैं इन्होंने गौतम से ब्रह्म-विद्या की प्राप्त की अतः ये छब्बीसवें आचार्य हुए।

२७—अत्रि महर्षि ब्रह्माजी के पुत्र है। इनके चन्द्रमा, दुर्वासा और दत्त ये तीन पुत्र हुए। वैसे तो ये तीनों ही आत्रेय हैं। अत्रि गोत्रोत्पन्न सभी आत्रेय हैं। किन्तु दत्त मुनि के साथ विशेष कर आत्रेय लगाया जाता है। इसीलिये वे दत्तात्रेय कहलाते हैं। इन आत्रेय महर्षि ने माण्टि मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये इस ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के सत्ताईसवें आचार्य हुए।

२८—प्रयाग में निवास करने वाले भरद्वाज मुनि गोत्र

प्रवर्तक हुए हैं। आयुर्वेद के भी ये प्रवर्तक हैं। इन्होंने इन्द्र से आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन करके ससार में उसका प्रचार किया उन्हीं के वंश में द्रोणाचार्य हुए। ये भी भारद्वाज कहलाये। इन्होंने आत्रेय महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये अट्ठाईसवें आचार्य हैं ब्रह्मविद्या के।

२९—आसुरी नाम के चिरजीवी महर्षि सांख्याचार्य हैं। राजा चित्रकेतु ने देवर्षि नारदजी और आंगिरा से इतने भगवत् प्रिय ब्रह्मवेत्ताओं के नाम गिनाये हैं उनमें सनत्कुमार, नारद, ऋभु, अङ्गिरा, देवल, असित, अपान्तरतम, व्यास, मार्कण्डेय, गौतम, वसिष्ठ, परशुराम, कपिल, शुकदेव, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण, आरुणि, रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, पतञ्जलि, वेदशिरा, बोध्य मुनि, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कौसल्य, श्रुतदेव, ऋतध्वज, और आसुरी ये मुख्य हैं। ये आसुरी मुनि ब्रह्मवेत्ता थे। इन्होंने ब्रह्मविद्या की दीक्षा भारद्वाज मुनि से ली अतः ये आसुरी महर्षि ब्रह्मविद्या के उन्तीसवें आचार्य हैं।

३०—कोई औपजन्धनि नाम के ऋषि हुए हैं इन्होंने आचार्य आसुरी से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये इस विद्या के तीसवें आचार्य एहु।

३१—त्रैवणि ऋषि औपजन्धनि के शिष्य इकतीसवें आचार्य हुए।

३२—असुरायण आचार्य ने त्रैवणि मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये इस विषय के बत्तीसवें आचार्य हुए।

३३—जातूकर्ण्य महर्षि भी चिरजीवी ब्रह्मवेत्ताओं में से हैं महाराज चित्रकेतु ने इनका भी नाम गिनाया है। इन महर्षि जातूकर्ण ने असुरायण महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये इस ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के तेतीसवें आचार्य हुए।

३४—ब्रह्माजी के पुत्र वसिष्ठजी हुए, वसिष्ठजी के शक्ति शक्तिपुत्र, पराशर और पराशर जी के पुत्र व्यासजी हुए। इसलिये पाराशर्य सम्बोधन स्थान-स्थान पर भगवान् द्वैपायन व्यास के लिये ही आया है। वसिष्ठजी और पराशर जी दोनों ही गोत्र प्रवर्तक ऋषि हैं। अतः पराशर गोत्रीय और भी ऋषि हो सकते हैं। इन पाराशर्य ने जातूकर्ण्य महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये चौंतीसवें आचार्य हैं।

३५—इस पराशर गोत्र में कोई पाराशर्यायण ऋषि हुए हैं, इन्होंने पाराशर्य महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की, अतः ये पाराशर्यायण ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के पैंतीसवें आचार्य हुए।

३६—कुशिक वंश में कोई घृतकौशिक मुनि हुए हैं उन्होंने पाराशर्यायण से ब्रह्मविद्या सीखी अतः ये घृतकौशिक छत्तीसवें आचार्य हुए।

३७—एक कुशिक गोत्रीय ही कोई कौशिकायनि नाम के आचार्य हुए हैं, इन्होंने घृतकौशिक मुनि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये सैंतीसवें आचार्य हुए।

३८—कोई वैजवापायन मुनि हुए हैं, उन्होंने कौशिकायनि नामक महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये अड़तीसवें आचार्य हुए।

३९—पराशर गोत्र में पाराशर्य नाम के कोई दूसरे ऋषि हुए हैं उन पाराशर्य ने वैजवापायन महर्षि से ब्रह्मविद्या ग्रहण की अतः ये उन्तालीसवें आचार्य हुए।

४०—भरद्वाज गोत्रीय ये कोई दूसरे भारद्वाज मुनि हैं, इन्होंने पाराशर्य से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये चालीसवें आचार्य हुए।

४१—गौतम गोत्रीय कोई गौतम महर्षि दूसरे हैं इन्होंने भारद्वाज से ब्रह्मविद्या सीखी अतः ये इकतालीसवें आचार्य हैं।

४२—भरद्वाज गोत्रीय किन्हीं भारद्वाज मुनि ने अपने ही गोत्रीय दूसरे भारद्वाज से तथा गौतमजी से भी दो आचार्यों से ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः ये ब्यालीसवें आचार्य हैं।

४३—पराशर गोत्रीय किन्हीं पाराशर्य मुनि ने भारद्वाज मुनि से ब्रह्मविद्या सीखी अतः ये इस सम्प्रदाय के तैंतालीसवें आचार्य हुए।

४४—कोई सैतव और प्राचीन योग्य दो मुनि थे उन दोनों ने पाराशर्य महर्षि से ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अतः ये दोनों चौवालीसवें आचार्य हुए।

४५—सैतव और प्राचीन योग्य इन दोनों आचार्यों ने गौतम नाम के किन्हीं गोतम गोत्रीय ऋषि को ब्रह्मविद्या सिखायी अतः ये गौतम पैंतालीसवें आचार्य हुए।

४६—कोई अनभिम्लात नामक ऋषि हुए हैं उन्होंने गौतम जी से यह विद्या सीखी अतः वे इस सम्प्रदाय के छियालीसवें आचार्य हुए।

४७—अनभिम्लात और शाण्डिल्य दोनों महर्षियों ने आग्निवेश्य नामक वैद्यकविद्या के आचार्य नामक मुनि को ब्रह्मविद्या सिखायी। अतः ये आग्निवेश्य ऋषि सैंतालीसवें आचार्य हुए।

४८—आग्निवेश्य के शिष्य कोई गोतम गोत्रीय गौतम ऋषि हुए ये इस विद्या के अड़तालीसवें आचार्य हुए।

४९—शाण्डिल्य नाम के कोई आचार्य हुए हैं उन्होंने कौशिकगोत्रीय किन्हीं कौशिक से तत्पश्चात् गौतमजी विद्या प्राप्त की। अतः ये गौतम शिष्य शाण्डिल्य आचार्य हुए।

५०—इन शाण्डिल्य मुनि के शिष्य कोई ऋषि थे ये इस विद्या के पचासवें आचार्य हुए।

५१—कौण्डिन्य के शिष्य कुशक वंशीय कोई कौशिक नामक मुनि हुए। ये इस सम्प्रदाय के इक्यावनवें आचार्य हुए।

५२—कोई गौपवन नाम के मुनि हुए हैं। उन्होंने कौशिक से यह ब्रह्मविद्या प्राप्त की अतः कौशिक शिष्य गौपवन इस सम्प्रदाय के बावनवें आचार्य हुए।

५३—इन गौपवन के शिष्य पौतिमाष्य हुए। कहना चाहिये ये पौतिमाष्य इस सम्प्रदाय के अन्तिम आचार्य हुए। इनके अनन्तर ब्रह्म की परम्परा छिन्न-भिन्न हो गयी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् नारायण से लेकर पौतिमाष्य पर्यन्त मैंने आपसे इस ब्रह्मविद्या की आचार्य परम्परा का वर्णन किया। यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय का अन्तिम छठा ब्राह्मण समाप्त हुआ। अब तृतीय अध्याय में जैसे जनक याज्ञवल्क्य सम्वाद होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पन्था सौमर शिष्य वत्सनय पात बाभ्रव।
तिनि विदर्भि कौण्डिन्य दई तिनि मुनिवर गालव॥
पुनि कुमार हारीत फेरि कौशोर्य काप्य मुनि।
लई फेरि शाण्डिल्य वात्स्य मुनि गौतम ने पुनि॥
यों मधुविद्या यथा क्रम, पौतिमाष्य मुनि तक गई।
-सम्प्रदाय पुनि कालवश, छिन्न भिन्न इततें भई॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय का
छटा वंश ब्राह्मण समाप्त।
द्वितीय अध्याय समाप्त

जनक यज्ञ में याज्ञवल्क्य और अश्वल का शास्त्रार्थ

[२२७]

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपाञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवां सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥*

(बृ० उ० ३ अ० १ ब्रा० १ म०)

छप्पय

मधुविद्या में निपुण जनक वैदेह नृपतिवर ।
बृहद् दक्षिणायुक्त रच्यो इक यज्ञ श्रेष्ठतर ॥
कुरु पाचाल सुदेश अन्य देशनि आये द्विज ।
सहस धेनु नृप रोकि जानिये उत्तम ऋत्विज ॥
कह्यो होइ ब्रह्मिष्ठ जो, सो गैयनि ले जाइ अब ।
सबके सींगनि पाद दश, कनक बँध्यो, सुनि सहमि सब ॥

---

* राजा जनक वैदेह ने बहुत दक्षिणा वाला यज्ञ किया । उसमें कुरु पाचाल देश के ब्राह्मण एकत्रित हुए । उस राजा विदेह को यह जिज्ञासा हुई कि इन एकत्रित ब्राह्मणों में कौन परमश्रेष्ठ अनुवचन कर्ता—ब्रह्मिष्ठ—है । इस निमित्त उन्होंने एक सहस्र गौएँ रोक रखी, उन सबके सींगों में दश-दश पाद सोना बँधा हुआ था ।

प्राचीनकाल में विधि विधानों का निर्णय तो ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही किया करते थे। राजाओं की सभाओं में तो ब्रह्मज्ञान की चर्चा हुआ करती थी। सभी राजाओं की सभा में राजपंडित सभासद होते थे। वे ब्रह्मज्ञान की तथा साहित्य की चर्चा करते। बाहर से जो विद्वान ब्राह्मण आते, राजा उनका स्वागत-सत्कार करते। अपने पंडितों से उनका शास्त्रार्थ कराते और जीतने पर उन्हें यथेष्ट पुरस्कार प्रदान करते। उस समय राजसभाओं में शास्त्रार्थ की ही धूम मची रहती थी।

राजागण बड़े-बड़े यज्ञ किया करते थे। अवकाश के समय में पंडितों का शास्त्रार्थ होता, उसमें सभी अपने को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् सिद्ध करने का प्रयत्न करते। वह सुवर्ण समय था। अब तो राजा ही नहीं रहे। जो नाममात्र की राजपरिषदें हैं, उनमें निरर्थक शुष्क वाद-विवाद प्रायः विद्याबुद्धि से हीन सभापद करते रहते हैं। जिनका ब्रह्मज्ञान से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इन समस्त राजाओं में मिथिला देश के राजा जनक ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ थे और उनकी राजसभा में पंडित भी बहुत रहते थे तथा सदा बाहर से विद्वान् आते ही रहते थे। वे भी विद्वानों को प्रोत्साहित करने के निमित्त भाँति-भाँति के आयोजन करते रहते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब इस देश में ब्रह्मविद्या को ही सर्वश्रेष्ठ विद्या और ब्रह्मवेत्ताओं को ही सर्वश्रेष्ठ पूजनीय पुरुष माना जाता था, तब यहाँ ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों का सर्वत्र समादर होता था, उन्हें दान दक्षिणा में पुष्कल द्रव्य प्राप्त होता था, उन दिनों गोधन को ही सर्वश्रेष्ठ धन माना जाता था। एक

बार ब्रह्मज्ञानियों का आदर करने वाले और स्वयं भी ब्रह्मविद्या में निपुण मिथिला देश के राजा जनक ने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया। उसमें दूर-दूर देश के विद्वान् ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया गया। राजा के यज्ञ की बात सुनकर सभी देशों के विद्वान् ब्राह्मण वहाँ एकत्रित हुए। उन दिनों कुरुक्षेत्र से काशी तक का यह गंगा-यमुना का क्षेत्र सबसे अधिक पवित्र माना जाता था, इसी देश के ब्राह्मणों का सदाचार सर्वश्रेष्ठ माना जाता था और उसी का अनुकरण पृथ्वी भर के मनुष्य किया करते थे। राजा जनक के यज्ञ में कुरुदेश तथा पाञ्चाल देश के भी बहुत बड़े बड़े विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए थे।

राजा जनक तो स्वयं भी ब्रह्मज्ञानी थे। इनकी वंश परम्परा में जितने भी राजा हुए सभी जनक तथा विदेह कहलाये और प्रायः सभी ब्रह्मवेत्ता हुए। राजा ने यह जानने के लिये, कि इन सब एकत्रित विद्वान् ब्राह्मणों में कौन अनूचानतम है। कौन सर्वश्रेष्ठ अनुवचन-प्रवचनकर्ता है, एक पण रखा।

उनकी गौशाला में लाखों गौएँ थीं। और सब गौओं को तो गोचारक चराने के लिये जंगलों में खोलकर ले गये। किन्तु राजा ने एक सहस्र सुन्दर दुधारू बछड़े सहित गौएँ गौशाला में ही रोक रखीं। उनको भली-भाँति सजाया। उनको वस्त्र उढा-कर खुरों को चाँदी से मढकर पूँछ में मोती जड़कर प्रत्येक के सींग में दश दश पाद (लगभग आधा आधा सेर) सुवर्ण बाँध दिया था और वे सभा भवन के सम्मुख ही बाँध रखी थीं।

राजसभा में जब सभी विद्वान् एकत्रित थे। तब राजा ने सिंहासन से उठकर घोषणा की—"हे पूज्यपाद ब्राह्मणो! मैं आप सबसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। आप में जो ब्रह्मिष्ठ

हों, अपने को पूर्ण ब्रह्मवेत्ता अनुभव करते हों, वे इन गौओं को ले जायँ।"

वैसे तो वहाँ एक-से एक-धुरन्धर विद्वान् बैठे थे, किन्तु अपने को सर्वश्रेष्ठ मानने का साहस किसी को भी नहीं हुआ। सभी इस घोषणा से सहम गये। कोई भी नहीं उठा। सभी चुपचाप बैठे एक दूसरे का मुख ताकते रहे। क्षण भर तक सभा में सन्नाटा छाया रहा। जब किसी का साहस न हुआ कोई भी गौओं को लेने न उठा, तब सभा की निस्तब्धता को भंग करते हुए महामुनि याज्ञवल्क्य जी ने अपने एक शिष्य ब्रह्मचारी से कहा—"सोम्य सामश्रवा! भैया, जब कोई इन गौओं को लेने को उद्यत नहीं है, तो तुम ही गौओं को खोलकर अपने आश्रम को ले जाओ।" गुरु की आज्ञा पाते ही ब्रह्मचारी सामश्रवा उठा और भी उसके साथी ब्रह्मचारी उठे जब वे उन गौओं को सच-मुच ही खोल-खोलकर ले जाने लगे, तब तो सभा में खलबली मच गयी। सभी विद्वान् ब्राह्मणों ने इसे अपना घोर अपमान समझा। वे सबके सब क्रुद्ध हो उठे। सब एक साथ क्रुद्ध होकर परस्पर में कहने लगे—"क्यों जी, यह ही अपने को अधिक विद्वान् समझता है। इसमें ऐसी क्या विशेषता है?"

सबको क्रुद्ध हुआ देखकर राजा जनक के यज्ञ का जो होता था, जिसका नाम अश्वल था, जिसकी विद्वत्ता की सर्वत्र धाक थी वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपना सबसे अधिक अपमान समझा। कहाँ तो वह सर्वमान्य राजा का होता, कहाँ उसके सामने सामान्य ब्राह्मण। सबके देखते-देखते सर्वोत्तम उपहार को बलपूर्वक ले जाय, अतः उन विरोधी समस्त पंडितों का प्रतिनिधित्व करते हुए उसने याज्ञवल्क्यजी के सम्मुख जाकर प्रश्न

किया—"क्योंजी ! याज्ञवल्क्यजी ! क्या आप ही इन सब विद्वान् ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ हैं ?"

क्रुद्ध हुए अश्वल के प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्यजी तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने सरलता के साथ नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"ब्रह्मन् ! ब्रह्मिष्ठ के पादपद्मों में तो हम पुन-पुनः प्रणाम करते हैं। उनको तो हम बार बार नमस्कार करते हैं। जब किसी ने भी गौओं को लेना स्वीकार नहीं किया, तो हम तो गौओं की इच्छा वाले ही हैं। गौओं की हमें आवश्यकता है, इसलिये गौओं को हम ले जा रहे हैं।"

अश्वल ने कहा—"आपने महाराज की घोषणा सुनी नहीं थी क्या ? महाराज ने यही तो कहा था कि जो अपने को सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ अनुभव करता हो, वह गौओं को ले जाय। महाराज ने यह तो नहीं कहा—जिन्हें गौओं की आवश्यकता हो, वह गौओं को ले जाय।" यदि तुम अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ समझकर गौओं को ले जा रहे हो, तो जब तक हमारे प्रश्नों का समुचित उत्तर न दे दोगे जब तक हम सबको परास्त नहीं कर लोगे, तब तक गौओं को नहीं ले जा सकते। बोलो, हमारे प्रश्नों का उत्तर देने को उद्यत हो ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पूछिये, हम जानते होंगे, तो आपके प्रश्नों का उत्तर देंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब याज्ञवल्क्यजी उत्तर देने को प्रस्तुत हो गये तब होता अश्वल ने उनसे प्रश्न करने का निश्चय किया। अब अश्वल याज्ञवल्क्य से जो प्रश्न करेंगे और मुनिवर उसका जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

याज्ञवल्क्य तब सामश्रवा निज बटु तैं बोले।
'सब गैयनि ले चलो' सुनत बटु खूँटा खोले॥
विप्र कुपित सब भये जनक होता अश्वल तब।
बोल्यो—सब द्विज मध्य श्रेष्ठ वसिष्ठ तुमहिँ अब॥
याज्ञवल्क्य बोले—करहिँ, नमस्कार वसिष्ठ कूँ।
गोइच्छुक हम विप्रवर, ले जावैं गैयानिकूँ॥

जनक यज्ञ में याज्ञवल्क्य और अश्वल का शास्त्रार्थ (२)

(२२८)

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाप्तꣳ सर्वं मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥*

(बृ० उ० ३ अ० १ ब्रा० ३ म०)

छप्पय

अश्वल बोल्यो-प्रथम प्रश्न उत्तर मम देओ।
करिकें हमें परास्त फेरि गैयनि कूँ लेओ॥
मृत्यु व्याप्त सब-करें अति क्रम साधक कैसे?
होता ऋत्विज आग्न वाक् मख होता ऐसे॥
वाक्, अग्नि, होता वही, वही मुक्ति अति मुक्ति है।
होता सुनि सन्तुष्ट है, बोल्यो-सुन्दर युक्ति है॥

---

* अश्वल बोला—'याज्ञवल्क्य! यह सब जो मृत्यु से व्याप्त है, सब मृत्यु द्वारा अभिपन्न है, तो यजमान मृत्यु की व्याप्ति का किस उपाय द्वारा अतिक्रमण कर सकता है।' इसके उत्तर में याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यजमान उसका अतिक्रमण होता ऋत्विक् रूप अग्नि से वाणी द्वारा कर सकता है। वाणी ही यज्ञ की होता है। वाणी ही अग्नि है वही होता, मुक्ति और अति मुक्ति है।"

कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक तो योग क्षेम के निमित्त आजीविका के लिये जैसे कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, पौरोहित्य, नौकरी आदि। दूसरे कर्म परलोक प्राप्ति के लिये। जैसे यज्ञयाग, पूजापाठ, अर्चनपूजन दान-धर्म आदि। जो कर्म आजीविका के लिये किये जाते हैं, उनका फल यहीं मिल जाता है, कृषि वाणिज्य से धन की अन्न की प्राप्ति होती है, किन्तु यज्ञ, दान तथा तपादि जो परलोक सम्बन्धी कर्म हैं, उनका फल परलोक में प्राप्त होता है। तो परलोक सम्बन्धी जो कर्म हैं, वास्तव में कर्म तो वे ही हैं। यज्ञ से अतिरिक्त जो आजीविका उपार्जन के लिये योगक्षेम चलाने को जो कर्म किये जाते हैं वे तो बन्धन के कारण हैं। इसलिये सदा ध्यानयज्ञ, हवियज्ञ, पूजायज्ञ, और नामसंकीर्तनयज्ञ इन्हीं यज्ञों को करते रहना चाहिये। योगक्षेम के निमित्त जो कर्म करे, उन्हें भी प्रभु की पूजा समझ कर ही करे।

यह विश्व कर्मप्रधान है। किन्तु केवल कर्म समझकर यज्ञ किये जायँ, तो उनका फल स्वर्ग ही है। इन कर्मों से आवागमन से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

इन्हीं कर्मों को यदि उपासना की विधि से—ब्रह्मभाव से—करे तो ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। उससे संसार चक्र से मुक्ति मिल जाती है। अतः उपासना पूर्वक कर्म करना यही मुक्ति का द्वार है। परमपद का सोपान है। अक्रिय बनकर बैठ जाना या अग्निहोत्र शिखा सूत्र का परित्याग कर देना यह मुक्ति का मार्ग नहीं है। कभी किसी-किसी की ऐसी अवस्था हो सकती है, कि उससे कोई कर्म ही न हो, वह अपवाद है। परमहंस वृत्ति किसी विरले को ही ऋषभ देव आदि जैसों को प्राप्त होती है, नहीं तो जड़भरत जैसे महान् ज्ञानियों ने भी शिखा सूत्र का परित्याग

नहीं किया था। उपासना पूर्वक यज्ञ किस भावना से करे, इसका वर्णन समस्त गीता में भगवान् ने बताया है। वे यज्ञ कर्म करने पर बहुत बल देते हैं। किस भाव से यज्ञ करना चाहिये, इस सम्बन्ध में भगवान् बताते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैवतेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

यज्ञों में अग्नि, अग्नि में अर्पण की जाने वाली हवि, यजमान, आहुति कर्म और कर्मों का फल इतनी वस्तुएँ हैं। इन सबको उन्हीं भावनाओं से करेगा, तो उस यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होगी और इन सबको ब्रह्म मानकर करेगा, तो स्वर्ग की प्राप्ति न होकर ब्रह्म की प्राप्ति होगी। यही उपासना पूर्वक किये जाने वाले कर्म का रहस्य है। इसी को उपासना कहते हैं। समस्त उपनिषदें उपासना प्रधान है। इनमें नाना प्रकार की उपासनाओं का ही वर्णन है। यज्ञों मे एक यज्ञकर्ता यजमान होता है, एक यज्ञ कराने वाला आचार्य होता है। ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और उद्गाता चारो वेदों के चार ऋत्विज् होते हैं। इन चारों में ब्रह्म भाव करके जो यज्ञाचरण करता है, वह मुक्ति का अधिकारी होता है। इसी यज्ञ सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान को ब्रह्म ज्ञान कहते हैं, जिन्हें इन यज्ञ सम्बन्धी कृत्यों का वास्तविक अर्थ ज्ञात है, वही ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्मवेत्ता है। अश्वल ने उसी यज्ञ के सम्बन्ध में गूढ़ प्रश्न किये। याज्ञवल्क्यजी ने उनके कर्म परक उत्तर न देकर जैसे उपासना परक उत्तर दिये उनका वर्णन आगे किया जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक के होता अश्वल ने याज्ञवल्क्यजी के शिष्यों द्वारा ले जाती हुई गौओं के ले जाने पर आपत्ति की और उन्हें शास्त्रार्थ के लिये ललकारते हुए

कहा—"याज्ञवल्क्य ! हम सबको शास्त्रार्थ में परास्त किये बिना तुम गौओं को नहीं ले जा सकते। यदि तुम अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ मानते हो तो हमारे प्रश्नों का उत्तर दो। बोलो, दोगे ?"

नम्रता के साथ याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"आप प्रश्न पूछें, यदि हम उस विषय को जानते होंगे, तो आपको उत्तर देंगे।"

अश्वल ने पूछा—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी ! यह बताइये, यह चेतनात्मक दृश्य जगत् कैसा है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा"—इसे तो सब देख ही रहे हैं, नित्य परिवर्तनशील है।"

अश्वल ने कहा—"परिवर्तनशील तो है ही। यह मरण धर्म से व्याप्त है। संसार में जो उत्पन्न हुआ उसकी मृत्यु ध्रुव है। अतः केवल यह जगत् मृत्यु से व्याप्त ही नहीं इसने मृत्यु द्वारा सभी को वश में कर रखा है। इस दशा में यजमान किस साधन द्वारा- किस उपाय से- मृत्यु की व्याप्ति का अतिक्रमण कर सकता है ? अर्थात् वह मृत्यु को जीतकर कैसे अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है ?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"हे अश्वल ! तुम तो महाराज जनक के होता हो। देखो, यज्ञ में चार ऋत्विज् मुख्य होते हैं। शेष बारह उनके सहायक ऋत्विज् होते हैं। जो ऋग्-वेद का ज्ञाता होता ऋत्विज है, उस होता-अग्नि द्वारा-वाणी द्वारा-यजमान मृत्यु की व्याप्ति को अतिक्रमण कर सकता है। अर्थात् वाणी द्वारा मृत्यु को पार कर सकता है।"

अश्वल ने कहा—"इसे फिर से स्पष्ट कीजिये !

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, यह जो वाक् इन्द्रिय है, वही यज्ञ का होता स्वरूप है। उस होता में अध्यस्यमान-आरोपित जो यह वाक् है-वाणी है-वही वाणी मानो यज्ञ की अग्नि है। उसे

होता कहो, अग्नि कहो, वाणी कहो एक ही बात है। वह वाक्, अग्नि, अथवा होता यही मुक्ति है। वही अतिमुक्ति है। भाव यह हुआ कि यह जो यज्ञ का होता नामक ऋत्विज है इसे यजमान अग्नि रूप में देखे यही मुक्ति है। और होता में अधिष्ठित जो वाणी है उसे भी अग्नि का ही रूप माने यह अतिमुक्ति है। अर्थात् होता में, अग्नि में, वाणी में, परब्रह्म भावना करना ही मृत्यु से पार जाने का यजमान के लिये साधन है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! याज्ञवल्क्यजी के इस प्रश्न से अश्वल संतुष्ट हो गये। तब उन्होंने दूसरा यह प्रश्न किया—"अच्छा, याज्ञवल्क्य! यह बताओ, यह जो जगत् है सब दिन रात्रि से व्याप्त है। अर्थात् दिन होता है, फिर रात्रि आ जाती है, रात्रि के पश्चात् फिर दिन हो जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् दिन रात्रि के अधीन है। अर्थात् काल के अधीन है। तो यह बताओ ऐसी दशा में यजमान किस साधन द्वारा दिन रात्रि की व्याप्ति का अतिक्रमण कर सकता है? अर्थात् कैसे कालातीत हो सकता है?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्जी ने कहा—"देखिये अश्वलजी! यज्ञों में जो यजुर्वेद का ज्ञाता अध्वर्यु ऋत्विज होता है, वही मानों चक्षु का अधिष्ठातृ देव आदित्य है। उस आदित्य के द्वारा ही दिन रात्रि का अतिक्रमण कर सकता है, अर्थात् कालातीत हो सकता है। क्योंकि अध्वर्यु यज्ञ का चक्षु ही है। तो जो चक्षु है वही आदित्य है वही अध्वर्यु है और वही मुक्ति तथा अतिमुक्ति है। भाव यह हुआ कि अध्वर्यु में, चक्षु में और आदित्य में ब्रह्म भावना रखने से यजमान कालातीत हो सकता है। वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है। यही भावना कालातीत

होने का साधन है। आदित्य भाव को प्राप्त होने पर दिन रात्रि का भेदभाव नहीं रहता।"

इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर अश्वल ने पुनः तीसरा प्रश्न किया वह बोला—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी यह बताइये, यह सम्पूर्ण जगत् पूर्वपक्ष और परपक्ष में व्याप्त है। उभय पक्ष के वश में ही यह सम्पूर्ण जगत् है। तो यजमान पूर्वपक्ष और पर पक्ष की व्याप्ति से कैसे पार हो सकता है? अर्थात् कैसे यह पक्षपात हीन हो सकता है?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"यज्ञ में जो सामवेद का ज्ञाता उद्गाता ऋत्विज् है, वह वायु रूप प्राण से उभयपक्ष का अतिक्रमण कर सकता है। क्योंकि प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है। और जो प्राण है, वही वायु है। वही उद्गाता है, वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है। भाव यह हुआ कि उद्गाता को प्राण को, वायु को ब्रह्मभाव से मानकर जो उपासना करता है वह पूर्वपक्ष तथा अपर पक्ष दोनों का अतिक्रमण करके मुक्त हो सकता है।"

इस तीसरे प्रश्न के उत्तर से सन्तुष्ट होकर अश्वल ने पुनः चौथा प्रश्न किया—"अच्छा याज्ञवल्क्यजी यह बताइये। यह जो अन्तरिक्ष है-आकाश है-इसका कोई अवलम्ब-चढ़ने के लिये सिड्ढी आदि साधन—तो है नहीं। स्वर्ग इस अन्तरिक्ष से ऊपर है, तो यजमान किस अवलम्ब से-किसके सहारे से-स्वर्ग में चढ़ सकता है?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यज्ञ में जो ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदों का ज्ञाता जो ब्रह्मा नाम का ऋत्विज् है वही मानों मन है, मन का अधिष्ठातृदेव चन्द्रमा है। उस चन्द्रमा ही द्वारा वह स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि

ब्रह्मा ही यज्ञ का मन है, और जो मन है वही चन्द्रमा है वही ब्रह्मा है, वही मुक्ति है वही अतिमुक्ति है। अर्थात् यज्ञ के ब्रह्मा में, मन में और चन्द्रमा में ब्रह्मभाव करके स्वर्ग अर्थात् ब्रह्म के लोक को यजमान प्राप्त कर सकता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब अश्वल ने होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा चारों ऋत्विजों के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्यजी के अतिमुक्ति सम्बन्धी उत्तर सुने तो उनकी परीक्षा के निमित्त यज्ञ सम्बन्धी सम्पत्तियों के कर्मकाण्ड के प्रश्न पूछने आरम्भ कर दिये। अश्वल ने पूछा—"याज्ञवल्क्यजी! अच्छा यह बताइये। हमारा जो यज्ञ हो रहा है, उसमें प्रधान जो चार ऋत्विज् हैं, उनमें से ऋग्वेद का ज्ञाता होता नामक ऋत्विज् वह आज कितनी ऋचाओं द्वारा शस्त्रशसन (होता द्वारा की जाने वाली ऋचाओं का पाठ) करेगा?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"ऋग्वेद की तीन संख्याओं वाली ऋचाओं द्वारा हौत्रकर्म करेगा।"

अश्वल ने कहा—"उन तीन संख्या वाली ऋचाओं के नाम बताओ। वे तीन कौन-कौन-सी हैं?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"उनमें से एक ऋचा समूह का नाम तो पुरोनुवाक्या है। अर्थात् ऋग्वेद की जिन ऋचाओं का पाठ होता यागकाल से पूर्व करता है। जब तक यज्ञ आरम्भ भी नहीं होता उसके पहिले जो ऋग्जाति की ऋचायें पढ़ी जाती हैं उन्हें पुरोनुवाक्या कहते हैं।"

दूसरी याज्या हैं। जो याग आरम्भ होने पर याग के ही लिये प्रयुक्त होती हैं।

तीसरी शस्या हैं। जो ऋचायें यज्ञ के शस्त्र कर्म के लिये अर्थात्

नियमानुसार तो शास्त्रार्थ जिस विषय पर हो उसी विषय के प्रश्न पूछने चाहिये। किन्तु जब उभयपक्ष के द्वन्द्वी प्रतिद्वन्द्वी शास्त्रार्थ करने खड़े होते हैं, तो ऐसे-ऐसे विषय के चुन-चुनकर प्रश्न करते हैं, जिस विषय का ज्ञान हमारे प्रतिद्वन्द्वी को न हो। राजा जनक ने तो यही कहा था—"आप में जो ब्रह्मिष्ठ हो वह इन गौओं को ले जाय।"

तो धर्म की बात तो यही थी, कि विपक्षियों को उनसे ब्रह्म-ज्ञान सम्बन्धी ही प्रश्न करने चाहिये थे। न कि कर्मकाण्ड सम्बन्धी। किन्तु शास्त्रार्थ करने वाला तो अपने को सर्वज्ञ समझकर दूसरे से शास्त्रार्थ करता है और वह चाहता है, जिस विषय को हमारा प्रतिपक्षी न जानता हो, उसी विषय में मैं प्रश्न करूँ। जिससे जनता यह कह दे—"अमुक व्यक्ति उन विद्वान् के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। प्रश्न चाहे किसी भी विषय का क्यों न हो, प्रतिपक्षी को उसका उत्तर देना ही चाहिये। यदि वह नहीं दे सकता है, तो उसकी विद्या अधूरी है, उसकी पराजय है।"

श्री शंकराचार्य ने मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। तब उनकी विदुषी पत्नी सरस्वती ने कहा—"स्वामीजी! अभी तो आपने मिश्रजी के आधे ही अङ्ग को जीता है, अतः अभी आपकी विजय आधी ही मानी जायगी। मिश्रजी की अर्धाङ्गिनी तो मैं हूँ, यदि आप मुझे भी जीत लें, तभी आपकी पूरी विजय होगी। आइये मुझसे शास्त्रार्थ कीजिये।"

बात युक्तियुक्त शास्त्रानुकूल थी। स्वामी जी एक-एक करके उस विदुषी देवी के प्रश्नों का उत्तर देने लगे। उसने सोचा—ये स्वामीजी आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, कामशास्त्र के सम्बन्ध में ये अनभिज्ञ होंगे ही। अतः इनसे काम सम्बन्धी प्रश्न करूँ।

ये उन प्रश्नों का उत्तर दे ही नहीं सकेंगे। तब इनकी पराजय और मेरी विजय हो जायगी। यह सोचकर उसने भगवान् शंकराचार्य से काम सम्बन्धी ऐसे-ऐसे व्यावहारिक प्रश्न किये जिन्हें कामशास्त्र का ज्ञाता नहीं कामशास्त्र का अनुभवी ही जान सकता है।

तब स्वामीजी ने उससे उत्तर देने को कुछ काल का अवकाश चाहा। योग के प्रभाव से उन्होंने परकाया प्रवेश किया। अमरुक नाम के किसी राजा का देहान्त हो गया था, उसके मृत शरीर में प्रवेश करके उससे उन्होंने काम क्रियाओं का अनुभव किया और उसी अनुभव के आधार पर उसे शास्त्रार्थ में पराजित करके विजय प्राप्त की।

यद्यपि ऐसे आप्रासंगिक प्रश्न करना नियम के विरुद्ध ही है, किन्तु शास्त्रार्थ करने वाला तो जैसे हो तैसे विपक्षी को पराजित करना चाहता है।

इसी प्रकार जब अश्वल उपासना सम्बन्धी प्रश्नों से याज्ञवल्क्यजी को पराजित न कर सका तब उसने कर्मकाण्ड के सम्पत सम्बन्धी प्रश्न किये। याज्ञवल्क्य जी तो कर्म, उपासना तथा ज्ञान तीनों काण्डों में पारगत थे। अतः उन्होंने यह नहीं कहा—'भाई, ज्ञानकाण्ड सम्बन्धी प्रश्न करो। ऐसे प्रश्न क्यों करते हो, कि होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा ये यज्ञ के ऋत्विज् आज किन-किन ऋचाओं द्वारा स्तवन करेंगे और इनका फल क्या क्या होगा? ये तो यज्ञों के कर्मकाण्ड के कृत्य हैं।" किन्तु उन्होंने ऐसा न कहकर अश्वल ने जो भी प्रश्न किये उन सभी का यथार्थ उत्तर दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अश्वल ने सम्पत् सम्बन्धी प्रश्न करके होता के शस्त्रशंसन का प्रश्न किया तब याज्ञवल्क्यजी

ने उसका यथार्थ उत्तर दे दिया। तब अश्वल ने अध्वर्यु ऋत्विज् आहुतियों के सम्बन्ध में पूछा।"

शौनकजी ने पूछा—" 'सम्पद्' किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जिसके द्वारा सम्पदा प्राप्त की जाय अथवा सम्पदा का जो फल स्वर्गादि लोक हैं, उन्हें प्राप्त किया जाय। यह कर्मकाण्ड का विषय है।

कुछ लोग सम्पद् का अर्थ सम्पादन करते हैं। जैसे हम कोई भी छोटा-मोटा यज्ञ कर रहे हों, उसी के द्वारा अश्वमेध, राजसूयादि बड़े-बड़े यज्ञों का भावना के द्वारा फल सम्पादन करलें। जैसे राजसूय यज्ञ सभी नहीं कर सकते। किन्तु भावना द्वारा अन्य यज्ञों में उसके फल की भावना की जाय तो राजसूय यज्ञ किये बिना ही उसके फल की प्राप्ति हो सकेगी, यही सम्पद् है। कुछ भी क्यों न हो यह भी कर्मकाण्ड का ही विषय है। हाँ तो आगे अश्वल ने यज्ञ के यजुर्वेद के ज्ञाता अध्वर्यु के कर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया।

अश्वल ने कहा—"याज्ञवल्क्य जी ! यह बताइये। यजुर्वेद का ज्ञाता यज्ञ का अध्वर्यु आज कितनी आहुतियों का हवन करेगा ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"तीन प्रकार की आहुतियों द्वारा अध्वर्यु हवन करेगा।"

अश्वल ने पूछा—"वे तीन आहुतियाँ कौन-कौन-सी हैं ? उनके नाम बताइये।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"पहली आहुतियाँ तो वे हैं, जो होम किये जाने पर प्रज्वलित होती हैं।

दूसरी आहुतियाँ वे हैं जो होम किये जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं और तीसरी आहुतियाँ वे हैं जो होम किये जाने पर

पृथ्वी के ऊपर लीन हो जाती हैं। इन्हीं तीन प्रकार की आहुतियों द्वारा आज अध्वर्यु हवन कुण्ड में होम करेगा।"

अश्वल ने कहा—"इन आहुतियों का फल क्या होगा ? इनके द्वारा यज्ञ का जो यजमान है, वह किन लोकों को जीतता है ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"इन तीन प्रकार की आहुतियों द्वारा यजमान तीनों लोकों को जीत लेता है।"

अश्वल ने पूछा—"किन आहुतियों द्वारा किन लोकों को यजमान जीतता है। इसे पृथक् पृथक् बताइये।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"जिन पहिली आहुतियों से जो हवन करने पर प्रज्वलित होती हैं, उनसे तो यजमान देवलोक का जीत लेता है, क्योंकि स्वर्गलोक मानों देदीप्यमान हो रहा हो।

दूसरी जो आहुतियाँ हैं, जिनके द्वारा होम किये जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनके द्वारा यजमान पितृलोक को जीत लेता है, क्योंकि पितृलोक मानों अत्यन्त शब्द करने वाला है।

तीसरी आहुतियाँ जो होम करने पर पृथ्वी पर लीन हो जाती हैं, उनके द्वारा यजमान पृथ्वी लोक के समस्त वैभव को जीत लेता है, क्योंकि मनुष्य लोक अधोवर्ती सा है।"

तदनन्तर पुनः अश्वल ने प्रश्न किया—"अच्छा याज्ञवल्क्य जी ! आप यह तो जानते ही हैं, चौथा ऋत्विज् जो ब्रह्मा है, वह अपने हाथ से हवन-आदि नहीं करता। वह साक्षी रूप से कर्मों को देखता रहता है और देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है, तो आप यह बताइये आज यह ब्रह्मा इस यज्ञ में दक्षिण की ओर बैठकर कितने देवताओं द्वारा इस यज्ञ की रक्षा करेगा ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"एक देव द्वारा वह यज्ञ की रक्षा करेगा।"

अश्वल ने पूछा—"किस एक देवता द्वारा यज्ञ की रक्षा करेगा ? वह एक देवता कौन है ? उसका नाम बताइये।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"वह देवता मन ही है। मन की वृत्तियाँ अनन्त है। विश्वेदेव मन के देवता हैं अतः वे भी अनन्त हैं।"

अश्वल ने पूछा—"इसका फल क्या होगा ?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"मन की वृत्तियाँ अनन्त हैं, विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, अतः इसका फल यह होगा, कि इसके द्वारा यजमान अनन्त लोक को जीत लेगा।"

इसके अनन्तर अश्वल ने पूछा—"अच्छा, याज्ञवल्क्य जी ! यह बताइये, कि यज्ञों में जो सामवेद का विद्वान् उद्गाता ऋत्विज् होता है, वह सामवेद की ऋचाओं का उद्गायन करता है, तो हमारे इस यज्ञ में उद्गाता आज कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन-उद्गायन करेगा ?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"आपके इस यज्ञ में आज उद्गाता तीन प्रकार की ऋचाओं द्वारा उद्गायन करेगा।"

अश्वल ने पूछा—"वे तीन कौन-कौन-सी ऋचाएँ हैं, उनके पृथक्-पृथक् नाम बताइये ?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पहली ऋचा समूह का नाम पुरोनुवाक्या है, दूसरी का नाम याज्या है और तीसरी का नाम शस्या है। जो ऋचायें हवन के पूर्व गायी जाती हैं, वे पुरोनुवाक्या ऋचायें हैं। जो हवन करने पर गायी जाती हैं, वे याज्या ऋचायें हैं और जो अन्त में शस्त्र कर्म के लिये स्तुति के लिये गायी जाती हैं शस्या कहलाती हैं।"

अश्वल ने कहा—"ये ऋचायें तो बाह्य हुईं इनमें जो शरीरान्तर्वर्ती हैं—वे कौन-कौन-सी है ?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जिनको हम पुरोनुवाक्या कहते हैं वे सर्वप्रथम गायी जाती हैं। दशों प्राणों में से शरीरान्तवर्ती प्राणवायु सर्वश्रेष्ठ है। सर्वप्रथम इस प्राणवायु को ही पुरोनुवाक्या समझना चाहिये।

याज्या ऋचायें मध्यमा हैं, अपान भी मध्यम प्राण है अतः अपान वायु को याज्या जानना चाहिये।

शरीरान्तवर्ती व्यान वायु अन्तिम है और सर्वव्यापक है, उसी प्रकार शस्या ऋचायें भी अन्तिम स्तोत्रिया ऋचायें हैं अतः 'शरीरान्तवर्ती व्यान वायु ही शस्या है।"

अश्वल ने पूछा—"इनका फल क्या है? इनके द्वारा यज्ञ का यजमान किन-किन लोकों पर जय प्राप्त कर सकता है?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"इन तीनों स्तोत्रिया ऋचाओं द्वारा यजमान तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर सकता है।"

अश्वल ने पूछा—"किन स्तोत्रिया ऋचाओं द्वारा किन-किन लोकों पर विजय प्राप्त कर सकता है। इनका पृथक् पृथक् विवरण बताइये?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, अश्वलजी! तुमतो स्वयं ही इस यज्ञ के होता हो। तुम सब जानते हो, तथापि आपके पूछने पर बताता हूँ। पुरोनुवाक्या ऋचायें सर्वप्रथम प्रयुक्त की जाती हैं अतः ये प्रथम हैं। तीनों लोकों में भूलोक प्रथम है, अतः प्रथम पुरोनुवाक्या ऋचाओं से यजमान भूलोक पर विजय प्राप्त कर सकता है। कब? जब सम्पद् भावना से इनका प्रयोग किया जाय।

मध्यम ऋचायें याज्या हैं और मध्यमलोक अन्तरिक्ष लोक है, अतः याज्या द्वारा अन्तरिक्ष लोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

शस्या ऋचाएँ अन्तिम हैं और स्वर्गलोक भी अन्तिम हैं। अतः शस्या ऋचाओं द्वारा स्वर्गलोक-द्युलोक-पर यजमान विजय प्राप्त कर सकता है। यह मैंने सम्पद् भावना से कर्मकांड के कृत्यों का आपको उत्तर दिया। अब आप और भी जो मुझसे पूछना चाहें पूछ सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महर्षि याज्ञवल्क्यजी के युक्ति-युक्त दिये हुए उत्तरों से जनक यज्ञ के होता अश्वल संतुष्ट हो गये। अब उनके पास पूछने को कोई प्रश्न ही शेष नहीं रहा, इससे वे प्रश्नों से उपराम हो गये अर्थात् उन्होंने मौन धारण कर लिया। अश्वल के चुप हो जाने पर अपने को अधिक विद्वान् मानने वाले जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न होने वाले ऋतभाग के पुत्र जारत्कारव आर्तभाग मुनि ने जैसे याज्ञवल्क्यजी से अनेक प्रश्न किये और उनका याज्ञवल्क्यजी ने जो-जो उत्तर दिया, इन दोनों के प्रश्नोत्तर का वर्णन मैं आगे करूँगा। यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय का प्रथम अश्वल ब्राह्मण समाप्त हुआ आगे दूसरा आर्तभाग ब्राह्मण आरम्भ होगा।

छप्पय

उद्गाता इत तोत्र स्तवन मख आज करै कति ?
प्राण अपानहु ब्यान प्रथम, याज्या, शस्याऋचि ॥
पुरोवाक्य भूलोक जीति याज्यातैं मध्यम ।
शस्यातैं दिविलोक जीति यजमान सु-उत्तम ॥
याज्ञवल्क्य उत्तर दये, अश्वल सुनि चुप ह्वै गयो ।
आर्तभाग सम्वाद पुनि, याज्ञवल्क्यजी तें भयो ॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
प्रथम अश्वल ब्राह्मण समाप्त

याज्ञवल्क्य और जारत्कारव आर्तभाग का शास्त्रार्थ

[२३०]

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥*

(बृ० उ० ३ अ० २ ब्रा० १ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य तैं प्रश्न आर्तभाग हु पूछे पुनि ।
ग्रह अतिग्रह कति होइँ? आठ ग्रह अतिग्रह हू सुनि ॥
प्राण, वाक, 'ग्रह' जीभ, चक्षु, मन, श्रोत्र, त्वचा, कर ।
'अतिग्रह' कहे अपान, नाम, रस, रूप, शब्द अरु ॥
काम, कर्म, अरु परस, सब, आठ अतिग्रह सबनि कूँ ।
करें काज सब जगत के, गहें आपने विषय कूँ ॥

संसार में निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग दो मार्ग हैं। दोनों ही मार्गों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। निवृत्तिमार्ग ज्ञान वैराग्य

---

* तदनन्तर याज्ञवल्क्य जी से जरत्कारु गोत्र वाले ऋतभाग के पुत्र आर्तभाग ने पूछा—"याज्ञवल्क्य ! ग्रह और अतिग्रह कितने-कितने हैं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"दोनों आठ-आठ हैं ?" आर्तभाग ने पूछा—"वे आठ-आठ कौन-कौन-से हैं ?"

परक है। गृहस्थ धर्म को स्वीकार न करके विवेक वैराग्य द्वारा सबका त्याग करके सदा ब्रह्म विचार में ही निमग्न रहना यह निवृत्तिमार्ग है। ऐसे निवृत्तिमार्गानुगामी त्रैलोक्य को पार करके महर्जनतपादि लोकों को प्राप्त होकर क्रम से मुक्त हो जाते हैं। या उत्कट ज्ञान होने पर किसी भी लोक में बिना गये तत्काल यहीं विमुक्त हो जाते हैं।

प्रवृत्तिमार्ग वालों को दारग्रहण-विवाह-परमावश्यक होता है। गृहस्थी बिना बने प्रवृत्तिमार्ग परक कर्म सम्पन्न हो ही नहीं सकते। गृहस्थ का अर्थ ही है घर में रहने वाला। ईंट पत्थर के बने घर को गृह नहीं कहते। घरवाली ही गृह है। धर्मपत्नी के बिना गृहस्थ यज्ञ यागादि पुण्य कर्म नहीं कर सका। 'गृहिणी का वरण संतान के निमित्त होता है। गृहस्थ होने पर जिसके पुत्र या पुत्री न हों, उसकी गति नहीं होती। पितर सदा यही चाहते हैं, कि हमारी वंश परम्परा चलती रहे। हमारे कुल का वंश विच्छेद न हो। ऐसा न हो कि हमारे वंश में कोई पितरों को जल देने वाला न रहे। महाभारत जो प्रवृत्ति प्रधान ग्रन्थ है, उसमें ऐसी अनेकों कथायें हैं, कि बिना पुत्र के ऋषियों की कैसी दुर्गति हुई और उनके पितरों ने कितना कष्ट पाया। इसी सम्बंध की महाभारत देवीभागवत तथा अन्यान्य पुराणों में महर्षि जरत्कारु की कथा आती है। वह इस प्रकार है।

महर्षि जरत्कारु नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। उन्होंने प्रवृत्तिमार्ग के पथिक होने पर भी विवाह नहीं किया। विवाह उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य धारण के उद्देश्य से न किया हो सो बात नहीं। विवाह करना तो वे चाहते थे, किन्तु उनकी एक हठ थी, मैं उसी कन्या से विवाह करूँगा जो मेरे ही नाम वाली होगी। इसी हठवादिता के कारण उन्हें उनके नाम वाली कन्या मिली नहीं उनका विवाह

हुआ नहीं। प्रतीत होता है, ये स्वभाव के भी उग्र रहे होंगे। क्रोध के कारण जब इनको मन चाही वहू नहीं मिली, तो इन्होंने विवाह का विचार छोड़कर घोर तपस्या मे ही अपना मन लगा लिया। ये यायावर हो गये। अर्थात् निरन्तर घूमते ही रहते थे।

एक अँधेरे कूप में लम्बी घास के सहारे इनके पितर लटके हुए थे, उस घास की जड को भी चूहे काट रहे थे। उन पितरों की ऐसी दुर्दशा देखकर जरत्कारु मुनि ने उनसे पूछा—"आप लोग कौन हो, आपकी यह दुर्दशा क्यो हो रही है?"

पितरों ने कहा—"हम पितर गण हैं। हमारे वश का अब नाश होने ही वाला है। हमारे वंश मे अब कोई रह नहीं गया है। एक जरत्कारु रह गया है। वह ऐसा मूर्ख है कि विवाह करके सन्तान पैदा करता ही नहीं। सदा तपस्या में ही लगा रहता है उसी की मूर्खता के कारण हम कष्ट पा रहे हैं। आप कौन हैं? जो हमसे इस प्रकार अपनेपन से दयावश पूछ रहे हैं? आपको कहीं जरत्कारु मिले तो आप उसे हमारी यह दुर्दशा सुनावें और उसे विवाह करने को कहें।"

जरत्कारु मुनि ने कहा—"वह अभागा जरत्कारु मैं ही हूँ। मै विवाह आपके कहने पर अवश्य करूँगा। किन्तु करूँगा तभी जब मेरे ही नाम की कन्या मिलेगी।"

पितरों ने कहा—"तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हे अवश्य तुम्हारे नामकी कन्या मिल जायगी उससे विवाह करके वंश चलाना। वश का उच्छेद न होने देना।"

पितरों को आज्ञा पाकर जरत्कारु पृथ्वी पर घूमने लगे। इधर जब नागों की माता ने अपने पुत्रों को शाप दे

तुम जन्मेजय के सर्प यज्ञ में जला दिये जाओगे, तब वासुकी नाग ब्रह्माजी के समीप गये और उनसे शाप का सब समाचार कहा, तब ब्रह्माजी ने कहा—"अपनी बहिन जिसका नाम जरत्कारु है,उसका विवाह जरत्कारु मुनि से कर देना। उससे जो पुत्र होगा। वह तुम्हें जन्मेजय के यज्ञ में जलने से बचा लेगा।"

ब्रह्माजी की बात सुनकर वासुकी लौटकर आया संयोग से वन में उसे जरत्कारु मुनि मिल गये। उनके साथ वासुकी ने अपनी बहिन का विवाह कर दिया। अपने ही नाम की पत्नी पाकर मुनि ने भी विवाह करना स्वीकार कर लिया। किन्तु उन्होंने इस पण के साथ विवाह किया, कि यदि यह मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई अप्रिय कार्य करेगी, तो मैं इसे छोड़कर चला जाऊँगा। वासुकी को तो अपना काम निकालना था, अतः उसने अपनी बहिन को समझा दिया, मुनि जो भी कहें, वही करना उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य न करना।

जरत्कारु ने इसे स्वीकार किया और वह सदा डर-डरकर व्यवहार करती जिससे क्रोधी मुनि उसे छोड़कर चले न जायँ।"

मुनि वन में पर्ण कुटी बनाकर अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। एक दिन दोपहर का भोजन करके मुनि को निद्रा आ गई। वे अपनी स्त्री की गोद में सिर रखकर सो गये और सोते समय अपनी स्त्री से कह गये—"मुझे जगाना नहीं। जब सोते-सोते सायंकाल हो गया, सूर्य अस्त होने ही वाले थे, तब उनकी पत्नी ने सोचा—"सूर्य अस्त हो गये, तो इनकी सायंकालीन संन्ध्या लोप हो जायगी। धर्म की हानि होगी। इसलिये इन्हें जगा देना चाहिये। फिर उसने सोचा—"मैं जगा दूँगी, तो मुनि क्रुद्ध हो जायेंगे। मुझे छोड़कर चले जायँगे। अब मैं क्या करूँ।"

बहुत सोचने के अनन्तर उसने यही निश्चय किया, कि मुनि

का धर्म लोप नहीं होना चाहिये। धर्म की रक्षा हो जाने पर फिर चाहे वे मेरा भले ही परित्याग कर दें।" ऐसा निश्चय करके उसने शनैः-शनैः पति के पैरों को दबाकर उन्हें जगाया। जगते ही मुनि परम क्रोधित हुए। उन्होंने क्रोध में भरकर पूछा—"मुझे तैंने क्यों जगाया ?"

पत्नी ने नम्रता से कहा—"सूर्य अस्त होने ही वाले थे। सायं सन्ध्या का लोप होने से आप के धर्म का लोप हो जाता, अतः धर्म रक्षा के निमित्त मैंने आपको जगा दिया।"

यह सुनकर मुनि और भी कुपित होकर बोले—"तू मेरे तप के प्रभाव को नहीं जानती सूर्य का ऐसा साहस कहाँ, कि मैं जब तक सन्ध्या न कर लूँ तब तक वह अस्त हो जाय ? तैंने मेरी इच्छा के विरुद्ध बर्ताव किया। लो, अब मैं जाता हूँ।" ऐसा कहकर मुनि तुरन्त उसे छोड़कर चले गये। वासुकी की बहिन रोती-की-रोती ही रह गयी। मुनि ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया।"

समाचार सुनकर वासुकी प्रभृति सब नाग अपनी बहिन के पास आये। उन्हें मुनि की चिन्ता नहीं थी, उन्हें तो अपनी बहिन के पुत्र की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने उससे पूछा—"तेरे गर्भ है ?"

उसने लजाते हुए कहा—"चलते समय वे यह कह गये हैं "अस्ति" अर्थात् तेरे उदर में गर्भस्थ बालक है।"

उसी से जो बालक हुआ उसका नाम आस्तिक रखा। जिसने जनमेजय के सर्प यज्ञ को बन्द कराकर उसमें जलने से नागों की रक्षा की। इन आस्तिक मुनि के पुत्र या पौत्र कोई ऋतभाग मुनि हुए। उन ऋतभाग के पुत्र आर्तभाग हुए। जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न होने के कारण ये जारत्कारव आर्तभा

के नाम से प्रसिद्ध थे। ये भी बड़े विद्वान् थे। जनक के यज्ञ में ये आर्तभाग मुनि भी आये हुए थे। जब याज्ञवल्क्य जी ने जनक के होता अश्वल को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। तब उनसे शास्त्रार्थ करने ये आर्तभाग मुनि ही उनके सम्मुख आये।

सूतजी कहते है—"मुनियो! जब अश्वल चुप हो गये तब जरत्कारु गोत्रीय आर्तभाग याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ करने उनके सम्मुख आये। आर्तभाग मुनि ने कहा—"याज्ञवल्क्य! हम तुमसे कुछ पूछें?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"पूछिये।"

तब आर्तभाग ने पूछा—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये ग्रह कितने हैं?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"ग्रह आठ हैं।"

आर्तभाग—"अच्छा अतिग्रह कितने हैं?"

याज्ञ०—"वे भी आठ ही हैं।"

आर्त०—"अच्छा, ग्रह कौन-कौन-से हैं और अतिग्रह कौन-कौन से हैं?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"पहिला ग्रह प्राण है। वह प्राण अपान रूप अतिग्रह से ही ग्रहीत है। क्योंकि अपान वायु का सम्बन्ध घ्राण से है। अतः गन्धों को अपान से ही सूँघता है। अतः प्रथम ग्रह प्राण (श्वास) और प्रथम अतिग्रह अपान (प्रश्वास) है। श्वास प्रश्वास घ्राण से लिये जाते हैं अतः प्राण से यहाँ घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण करना चाहिये। गन्ध का ज्ञान प्रश्वास द्वारा ही होता है।

द्वितीय ग्रह वाणी है। वह नाम रूप अतिग्रह से ग्रहीत है। जितने नामात्मक शब्द हैं, वे सबके सब वाणी द्वारा ही उच्चारण किये जाते हैं। वाणी न हो तो कोई नामात्मक शब्द न बोला

जाय। इन्द्रियों से विषय बलवान् होते हैं। अतः विषयों को ग्रहण करने के कारण इन्द्रियाँ ग्रह कहलाती हैं और इन इन्द्रियों के अर्थ हैं-विषय हैं-वे इन्द्रियों की अपेक्षा परे हैं, बलवान हैं, प्रबल हैं अतः ये अतिग्रह कहलाते हैं। अतः वाणी-वाक् ग्रह है और उसका जो विषय नामरूप शब्द है वह अतिग्रह है।

अब तीसरा ग्रह रसना इन्द्रिय है। अर्थात् रसना--जिह्वा है उसका विषय मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त भेद से ६ प्रकार का रस होता है। अतः रस अतिग्रह है। विविध रसों का रसास्वादन रसना द्वारा ही होता है। अतः तीसरा ग्रह रसना, तीसरा अतिग्रह रस है।

चौथा ग्रह चक्षु इन्द्रिय है। जितने श्वेत, पीत, हरितादि रूप हैं, उन रूपों का ज्ञान नेत्रों द्वारा ही होता है। अतः चक्षु ग्रह है और रूप अतिग्रह है।

पाँचवाँ ग्रह श्रोत्र है। जो भी शब्द सुना जाता है सब श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही सुना जाता है। शब्द का ग्रहण श्रोत्र ही करते हैं। अतः श्रोत्र ग्रह है उसका जो विषय शब्द है, वही अतिग्रह है।

छटा ग्रह मन है। मन भी भीतर की इन्द्रिय है इसीलिये इसे अन्तःकरण-भीतरी इन्द्रिय-कहते हैं। विषयों की इच्छा करना इसका विषय है। अतः इच्छा अतिग्रह है। इच्छा कहो, काम कहो, मनोभव कहो सबका एक ही अर्थ है। इसलिये मन ग्रह है और काम तथा इच्छा अतिग्रह है।

सातवाँ ग्रह दोनों हस्त हैं। क्योंकि, उठाना, धरना, ऊपर को उछालना आदि जितने कर्म हैं सब हाथों द्वारा ही किये जाते हैं। सब वस्तुओं को ग्रहण करने के कारण हस्त ग्रह हैं और उनसे किये जाने वाले कर्म अतिग्रह हैं। हाथ से पैर, शिश्न, गुद चारों कर्मेन्द्रियों को ग्रहण करना चाहिये। वैसे शिश्न, गुद-

ये ग्रहण नहीं करते परित्याग करते हैं। पैर भी ग्रहण नहीं करते वे गतिमान है। कर्मेन्द्रियों में ग्रहण करने वाली दो ही इन्द्रियाँ हैं वाक् और हस्त। ज्ञानेन्द्रियों में पाँचों विषयों को ग्रहण करती है। भीतर की जो चार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार हैं–मन के कहने से चारों का ही बोध होता है। अतः ग्रहण करने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रिय, दो कर्मेन्द्रिय और एक मन ऐसे आठ ही ग्रह हैं और इन आठों के विषय ही अतिग्रह कहाते हैं। अब तक सात ग्रह और अतिग्रह का वर्णन हो चुका।

आठवाँ ग्रह त्वचा है, क्योंकि जितने भी शीत, उष्ण; मृदु, कठिन आदि स्पर्श हैं सबका ज्ञान त्वचा से ही होता है, अतः त्वचा ग्रह और उसका विषय स्पर्श अतिग्रह है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! आर्तभाग महर्षि ने प्रथम ग्रह अतिग्रह कितने हैं, उनके नाम क्या-क्या हैं, यह प्रश्न किया था, याज्ञवल्क्य जी ने इस प्रथम प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे दिया। तब आर्तभाग ने द्वितीय प्रश्न पूछा।"

आर्तभाग को प्रथम प्रश्न का जब उत्तर प्राप्त हो गया। तब उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछते हुए कहा—"याज्ञवल्क्य जी! अच्छा, यह बताइये, यह जो दृश्यमान् चर, अचर, स्थावर जङ्गम जगत् है, सबका सब मृत्यु का खाद्य है, इस मृत्यु को भी जो खा जाय मृत्यु भी जिसका खाद्य बन जाय वह कौन देवता है?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"देखिये पहले सोचिये मृत्यु है क्या? यह अग्नि ही मृत्यु है। अग्नि सब को जला देती है। जठराग्नि अपना कार्य बन्द कर देती है, प्राणी मर जाता है। वह मृत्यु रूप अग्नि जल का खाद्य है। जल अग्नि को खा जाता है। अग्नि प्रज्वलित हो रही हो उस पर जल डाल

दो तो वह जल अग्नि को खा जायगा। अग्नि बुत जायगी। समाप्त हो जायगी। जल क्या है ? जीवन ही जल है। अर्थात् जीवन का खाद्य मृत्यु है। यह रहस्य की बात है। जो इस रहस्य-मय बात का भला भाँति जानता है, कि वीर्य तेजमय होने से अग्नि भी है और द्रव होने से जल भी है। वीर्य के पतन से मृत्यु है, वीर्य के धारण से जीवन है। इस रहस्य को जानने का फल यह है, कि इसका ज्ञाता अपमृत्यु को जीत लेता है। उसकी कभी अकाल मृत्यु नहीं होता। सुखपूर्वक पूर्ण आयु का उपभोग करता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब आर्तभाग के द्वितीय प्रश्न का भी याज्ञवल्क्य जी ने यथावत् उत्तर दे दिया तो उन्होंने उनसे तीसरा प्रश्न पूछते हुए कहा—"याज्ञवल्क्य जी! अच्छा यह बताइये जब यह प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है, उस समय म्रियमाण पुरुष के प्राण पहिले ही निकल जाते हैं अथवा जीवात्मा के साथ संयुक्त होकर उसके साथ निकलते हैं ? यह मेरा तीसरा प्रश्न है।"

इस तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"नहीं, नहीं। प्राण तो जीवात्मा को छोड़कर पहिले ही शरीर से चले जाते हैं। मृतक शरीर की श्वास-प्रश्वास-प्राण-अपान-कार्य नहीं करते प्राण भीतर रहने वाली वायु का नाम है। वायु बाहर चलने वाले पवन को कहते हैं। प्राण जब शरीर को छोड़ देते हैं तो वह शरीर प्राणहीन मृतक बन जाता है। उस मृतक शरीर में बाहर की वायु भर जाती है। जिससे मृतक शरीर भारी हो जाता है। वह निश्चेष्ट होकर चुप चाप पड़ा रहता है, मानों सो रहा हो।" मरते समय प्राण पहिले ही शरीर को छोड़कर चले जाते हैं तब जीवात्मा उसमें से

निकलता है। तब प्राण जीवात्मा में संयुक्त होकर एकीभूत हो जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तीसरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाकर आर्तभाग ने याज्ञवल्क्यजी से चौथा प्रश्न किया। आर्तभाग ने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये, कि जब पुरुष मरता है तब इन्द्रिय, विषय, इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव, अन्तःकरण तथा प्राण ये सभी पुरुष का परित्याग करके चले जाते हैं। ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मरने पर भी पुरुष का परित्याग नहीं करती?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"वह वस्तु है नाम। शरीर के नाश होने पर भी पुरुषों के नाम का नाश नहीं होता। रामायण महाभारतादि के पात्र पुरुष मर गये, किन्तु उनका नाम अभी तक विद्यमान है। नामाभिमानी विश्वेदेवा अनन्त है नाम भी अनन्त है अतः नाम का ही नाश नहीं होता। जो विद्वान् इस अनन्ता के रहस्य को जान लेते हैं, वे अनन्त-शाश्वत-लोक को जीत लेते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने चार प्रश्नों का यथावत् उत्तर पाकर आर्तभाग ने पाँचवा अन्तिम प्रश्न पूछते हुए कहा—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये। जिस समय पुरुष मर जाता है, तब उसकी वाणी तो अग्नि में मिल जाती है। प्राण उसके वायु में विलीन हो जाते हैं। चक्षु आदित्य में समा जाती हैं। मन चद्रमा में, कान दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, हृदय का जो आकाश है, वह पंचभूतों वाले आकाश में, जितने रोम हैं वे सब ओषधियों में, तथा केश वनस्पतियों में मिल जाते हैं। रक्त तथा वीर्य ये जो द्रव पदार्थ हैं वे जल में लीन हो जाते हैं। उस समय पुरुष कहाँ रहता है? किस स्थान में निवास है?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! सार्वजनिक स्थान में सबके सम्मुख ऐसा रहस्यमय प्रश्न सुनकर महामुनि याज्ञवल्क्यजी कुछ मुस्कराये। प्रसन्नता प्रकट करते हुए वे महामुनि आर्तभाग से बोले—"प्रिय दर्शन आर्तभागजी ! तुमने बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। मैं तुमसे परम प्रसन्न हूँ। कृपया अपना हाथ मेरे हाथ में तो दें। चलो, एकान्त में मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दूँगा। उसे तुम जानो और मैं जानूँ। इसका उत्तर सार्वजनिक स्थान में नहीं दिया जा सकता।"

यह सुनकर महामुनि आर्तभाग ने प्रसन्नता पूर्वक महर्षि याज्ञवल्क्यजी का हाथ पकड़ा। दोनों प्रेमपूर्वक हाथ पकड़े हुए भीतर एकान्त में चले गये। दोनों ने इस विषय पर बैठकर परस्पर में विचार किया। दोनों ने परस्पर में ऊहापोह करके यही निश्चय किया कि कर्म ही मुख्य है। यह पुरुष कर्माधीन ही है। एकमात्र कर्म ही प्रशंसनीय है। जो पुरुष शुभ कर्म करता है, वह पुण्य-लोकों में चला जाता है। जो पुरुष पापकर्म करता है, वह नर-कादि अधम लोकों में चला जाता है। पुण्यकर्म करके पुरुष पुण्य वान् होता है पुण्य में निवास करता है। पाप कर्म करके पापी कहलाता है। अतः मरने पर जैसे जिसके कर्म होते हैं, वैसी उसकी गति होती है कर्मानुसार पुरुष पुण्य पाप में रहता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार आर्तभाग मुनि ने महर्षि याज्ञवल्क्यजी से पाँच प्रश्न किये। याज्ञवल्क्यजी ने भी उनके यथातथ्य उत्तर दे दिये। इससे आर्तभाग मुनि सन्तुष्ट हो गये। अब आगे तृतीय ब्राह्मण में महर्षि भुज्यु और याज्ञवल्क्य जी का जैसे शास्त्रार्थ होगा, दोनों में जैसे प्रश्नोत्तर होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

निकलता है। तब प्राण जीवात्मा में संयुक्त होकर एकीभूत हो जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तीसरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाकर आर्तभाग ने याज्ञवल्क्यजी से चौथा प्रश्न किया। आर्तभाग ने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये, कि जब पुरुष मरता है तब इन्द्रिय, विषय, इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव, अन्तःकरण तथा प्राण ये सभी पुरुष का परित्याग करके चले जाते हैं। ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मरने पर भी पुरुष का परित्याग नहीं करती?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"वह वस्तु है नाम। शरीर के नाश होने पर भी पुरुषों के नाम का नाश नहीं होता। रामायण महाभारतादि के पात्र पुरुष मर गये, किन्तु उनका नाम अभी तक विद्यमान है। नामाभिमानी विश्वेदेवा अनन्त है नाम भी अनन्त है अतः नाम का ही नाश नहीं होता। जो विद्वान् इस अनन्ता के रहस्य को जान लेते हैं, वे अनन्त-शाश्वत-लोक को जीत लेते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने चार प्रश्नों का यथावत् उत्तर पाकर आर्तभाग ने पाँचवा अन्तिम प्रश्न पूछते हुए कहा—"अच्छा, याज्ञवल्क्यजी! यह बताइये। जिस समय पुरुष मर जाता है, तब उसकी वाणी तो अग्नि में मिल जाती है। प्राण उसके वायु में विलीन हो जाते हैं। चक्षु आदित्य में समा जाती हैं। मन चन्द्रमा में, कान दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, हृदय का जो आकाश है, वह पंचभूतों वाले आकाश में, जितने रोम हैं वे सब ओषधियों में, तथा केश वनस्पतियों में मिल जाते हैं। रक्त तथा वीर्य ये जो द्रव पदार्थ हैं वे जल में लीन हो जाते हैं। उस समय पुरुष कहाँ रहता है? किस स्थान में निवास है?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! सार्वजनिक स्थान मे सबके सम्मुख ऐसा रहस्यमय प्रश्न सुनकर महामुनि याज्ञवल्क्यजी कुछ मुस्कराये। प्रसन्नता प्रकट करते हुए वे महामुनि आर्तभाग से बोले—"प्रिय दर्शन आर्तभागजी ! तुमने बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। मैं तुमसे परम प्रसन्न हूँ। कृपया अपना हाथ मेरे हाथ में तो दें। चलो, एकान्त मे मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दूँगा। उसे तुम जानो और मैं जानूँ। इसका उत्तर सार्वजनिक स्थान में नहीं दिया जा सकता।"

यह सुनकर महामुनि आर्तभाग ने प्रसन्नता पूर्वक महर्षि याज्ञवल्क्यजी का हाथ पकडा। दोनों प्रेमपूर्वक हाथ पकडे हुए भीतर एकान्त में चले गये। दोनो ने इस विषय पर बैठकर परस्पर में विचार किया। दोनो ने परस्पर में ऊहापोह करके यही निश्चय किया कि कर्म ही मुख्य है। यह पुरुष कर्माधीन ही है। एकमात्र कर्म ही प्रशंसनीय है। जो पुरुष शुभ कर्म करता है, वह पुण्य-लोको मे चला जाता है। जो पुरुष पापकर्म करता है, वह नर-कादि अधम लोकों में चला जाता है। पुण्यकर्म करके पुरुष पुण्य वान् होता है पुण्य मे निवास करता है। पाप कर्म करके पापी कहलाता है। अतः मरने पर जैसे जिसके कर्म होते हैं, वैसी उसकी गति होती है कर्मानुसार पुरुष पुण्य पाप मे रहता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार आर्तभाग मुनि ने महर्षि याज्ञवल्क्यजी से पाँच प्रश्न किये। याज्ञवल्क्यजी ने भी उनके यथातथ्य उत्तर दे दिये। इससे आर्तभाग मुनि सन्तुष्ट हो गये। अब आगे तृतीय ब्राह्मण में महर्षि भुज्यु और याज्ञवल्क्य जी का जैसे शास्त्रार्थ होगा, दोनों में जैसे प्रश्नोत्तर होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

आर्तभाग पुनि प्रश्न–मृत्यु के खाद्य सबहि हैं।
कौन मृत्यु कूँ खाइ ? अग्नि ही मृत्यु सरिस है॥
जलहि मृत्यु कूँ खाइ पराभव मृत्यु जल भवा।
मरें पुरुष तब प्राण करें उतक्रमण नहीं वा ?
प्राण प्रथम तजि देहकूँ, जाइ मिलें तन वायु भरि।
वायु पूर्ण फूलें मृतक, सोवै मानो भू उपरि॥

(२)

कहो, पुरुष जब मरै कौन छोड़ै नहिं ताकूँ ?
विश्वेदेव अनन्त नाम नहिं छोड़े वाकूँ॥
पावै लोक अनन्त रहस जो जाकूँ जाने।
पंचम पुनि करि प्रश्न विजित मुनि मन में माने॥
भूतेन्द्रिय निज निज विषय, मिलें मरन के समय जब।
देह मृतक है जाति है, कहाँ रहै यह पुरुष तब ?

(३)

याज्ञवल्क्य हँसि कहें–देउ निजकर मम करमें।
प्रश्न तुम्हारो गूढ़ चलो एकान्त भवन में॥
दोऊ उठि एकान्त विचारें प्रश्नहिं मिलिकें।
रहे करम में पुरुष करयो निर्णय तिनि हँसिकें॥
पुण्यवान हो पुण्य तें, पापी होवै पाप करि।
कर्म प्रशंसा मिलि करी, आर्तभाग चुप भये फिरि॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय में
द्वितीय आर्तभाग ब्राह्मण समाप्त।

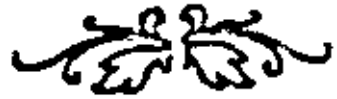

याज्ञवल्क्य और लाह्यायनि भुज्यु का शास्त्रार्थ

[२३१]

अथ हैन भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ३ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

पुनि आये मुनि भुज्यु प्रश्न पुनि तिनिन कीयो।
ग्रह ग्रहीति इक पुत्रि कौन तू ? उत्तर दीयो॥
पारीक्षित कित रहे ? वही पूछें हम तुम तें।
मुनि बाले—जित अश्वमेध कर्तातित है ते॥
रहें कहाँ ? वह लोककित ? है बतीस देवरथ्याह वह।
तिहि दुगुनी भू घेरि है, घिरी समुद तें दुगुन यह॥

मनुष्य शरीर ऐसा है, कि इसे माध्यम बनाकर देव, उपदेव तथा अन्यान्य ग्रह अपना-अपना कार्य करते हैं। जब मनुष्य

---

* जारत्कारव आर्तभाग जब शास्त्रार्थ-करके अपने प्रश्नों का यथार्थ उत्तर पाकर-मौन हो गये, तब याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ करने लाह्यायनि भुज्यु उनके सम्मुख आये और आकर कहने लगे—"हे याज्ञवल्क्य ! अब तुम हमारे प्रश्नों का उत्तर दो।"

शरीर में दूसरे ग्रह आकर प्रवेश कर जाते हैं, तो उस शरीर को माध्यम बनाकर वे पुरुष उसके द्वारा अपने भाव प्रकट करने लगते हैं, जिनका आवेश उनके शरीर में होता है।

मनुष्य शरीर को माध्यम बनाकर देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच तथा अन्यान्य ग्रह उसमें आवेशित हो जाते हैं। जो सात्विक प्रकृति के पुरुष होते हैं, उनके शरीरों में सत्व प्रधान देवताओं का आवेश होता है। जो रजोगुण प्रधान पुरुष होते हैं, उनके शरीर में यक्ष, राक्षस, असुर, पितर आदि का आवेश होता है और जो तमोगुण प्रधान होते हैं। उनके शरीर में भूत, प्रेत, पिशाच, वैतालादि का आवेश होता है पूर्वजन्म के सम्बन्ध से किसी का भी किसी में आवेश हो सकता है, इसका कोई नियम नहीं। जो पढ़े-लिखे विद्वान् ब्राह्मण क्रोधादि किसी दुष्कर्म से ब्रह्मराक्षस हो जाते हैं, वे जिस शरीर में प्रवेश हो जायेंगे, उसी में अपने भाव उसकी वाणी में प्रकट करने लगेंगे। यह तो प्रत्यक्ष देखा गया है, कि जो आदमी संस्कृत भाषा तनिक भी नहीं जानता, उसके शरीर में जब ब्रह्म राक्षस का प्रवेश हो जाता है, तो वह धारा प्रवाह संस्कृत बोलने लगता है। काशी के समीप हरसूब्रह्म अभी तक पूजे जाते हैं। देश भर के लाखों नर-नारी उनके यहाँ आते हैं।

बिहार के सिनहा नामक नगर के एक क्षत्रिय कुमार ने एक पीपल के पेड़ के नीचे लघु शंका कर दी थी। उस पर एक ब्रह्म राक्षस रहता था। वह उसके ऊपर चढ़ गया। एक पंडितजी जब उसके समीप गये, तो वह अपठित बालक धारा प्रवाह संस्कृत बोलने लगा। तब उसने जो-जो उपाय बताये उनके करने पर वह उसे छोड़कर गया।

पहाड़ों पर बहुत से भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्म राक्षसों का आवेश होता है। उस समय गाँव के सैकड़ों नर नारी जुट जाते हैं और भाँति भाँति के प्रश्न उससे पूछते हैं कभी कभी तो वे ऐसे यथार्थ उत्तर देते हैं, कि सुनकर आश्चर्य होता है। उत्तर काशी में एक व्यक्ति पर यक्ष का आवेश हुआ, गाँव के लोग उससे भाँति भाँति के प्रश्न पूछ रहे थे, उसी समय एक सन्यासी वहाँ पहुँच गया। वह अपने को पूर्ण ब्रह्मवेत्ता–ब्रह्मज्ञानी–लगाता था। उसने यक्ष से पूछा—"अच्छा बताओ। मुझे पूर्ण ब्रह्मज्ञान है या नहीं ?"

उस आवेशित पुरुष ने उत्तर दिया—"तुम्हें ब्रह्मज्ञान नहीं है।"

सन्यासी ने पूछा—"क्यों नहीं है ?"

उसने कहा—"इसलिये नहीं है कि तुम पूछ रहे हो, मुझे है या नहीं ? तुम्हें जब स्वयं सन्देह है तो तुम ब्रह्मज्ञानी कैसे ? ब्रह्मज्ञानी के तो समस्त संशय नाश हो जाते हैं।"

यह कैसा युक्तियुक्त उत्तर है, ऐसा उत्तर ग्रामीण अनपढ़ व्यक्ति जिस पर ग्रह का आवेश हुआ था वह अपने आप दे सकता है ? ऐसा उत्तर तो बुद्धिमान व्यक्ति ही दे सकता है। बहुत से भूतप्रेत पिशाच पूर्वजन्म में जो भाषा बोलते थे। जिस पर वे आते हैं उसके मुख से उसी भाषा में बोलने लगते हैं।

गन्धर्व देवताओं के गायक होते हैं। ये उपदेव हैं। विद्याधर और गन्धर्व ये सबसे अधिक सुन्दर होते हैं। गन्धर्व अत्यन्त ही सौन्दर्य प्रिय होते हैं। जो स्त्री अत्यन्त सुन्दरी होती है उस पर गन्धर्वों का आवेश आता है, क्योंकि गन्धर्व स्त्री की कामना वाले होते हैं। बड़ी बड़ी राजकुमारियों पर गन्धर्वों का आवेश होता देखा गया है।

सूतजी कहते—"मुनियो ! जब आर्त भाग मुनि याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ में निरुत्तर हो गये, तब भुज्यु नाम वाले विद्वान् ब्राह्मण जो लाह्य गोत्र में उत्पन्न होने से लाह्यायनि कहलाते थे, वे सम्मुख आये। उन्होंने याज्ञवल्क्यजी से कहा—याज्ञवल्क्य ! हम तुमसे कुछ प्रश्न पूछेंगे, उनका उत्तर दोगे ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पूछिये, यदि हम जानते होंगे, तो उत्तर देंगे।"

इस पर भुज्यु मुनि ने एक कथा सुनायी, वे बोले—"सुनो, एक बार की बात है हम ब्रह्मचर्य व्रत का भलीभाँति पालन करते हुए, विद्या और अनुभव की वृद्धि के निमित्त मद्र देश में विचरण कर रहे थे। वहाँ पर हम ब्राह्मण की खोज करते हुए एक कपि-गोत्र में उत्पन्न काप्य पतञ्चल नाम के ब्राह्मण के घर में पहुँच गये। वहाँ जाकर हमने देखा उनके घर में बहुत से नरनारी जुटे हुए हैं। उनके बीच में उनकी परम सुन्दरी पुत्री बैठी है।"

हमें घर में आया देखकर ब्राह्मण ने हमारा सत्कार किया। पाद्य अर्घ्यादि देकर हमारी पूजा की। तब हमने उनसे पूछा—"इस पुत्री को क्या हो गया है ?"

तब ब्राह्मण ने कहा—"ब्रह्मन् ! इस पर किसी गन्धर्व का आवेश हो गया है। यह गन्धर्व गृहीता है।"

तब हमने उससे पूछा—"तू कौन है ?"

उसने उत्तर दिया—"आंगिरस सुधन्वा हूँ। अर्थात् अंगिरा गोत्र वाला मैं सुधन्वा नामक गन्धर्व हूँ।"

तब हमने उससे इन समस्त लोकों के अन्त के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। उनमें से हमने एक यह भी प्रश्न किया—"पारीक्षित कहाँ रहे ? पारिक्षित कहाँ रहे ?"

हमारे इस प्रश्न को सुनकर उस गन्धर्व ने इसका हमें

समुचित उत्तर दिया। उस उत्तर से हम सन्तुष्ट हुए। अब उसी प्रश्न को हम आप से पूछते हैं—"आप बताओ पारीक्षित कहाँ रहे ?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"ब्रह्मन्! यह तो मुझे पता नहीं, उस गन्धर्व ने आपको क्या उत्तर दिया, किन्तु मैं अपनी बुद्धि द्वारा आपके प्रश्न का उत्तर देता हूँ। देखिये, सब प्रकार के पाप जिसके करने से नाश हों उसे परीक्षित कहते हैं, वह कर्म है अश्वमेध यज्ञ। क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है-भ्रूण हत्या से बढकर तो कोई पाप नहीं है और अश्वमेध यज्ञ से बढकर कोई पुण्यकर्म नहीं (भ्रूणहत्याश्वमेधान्या न पर पुण्यपापयोः) इसलिये अश्वमेध यज्ञ से समस्त पाप क्षय हो जाते हैं इसीलिये अश्वमेध यज्ञ का ही नाम परीक्षित है। उस परीक्षित-अश्वमेध-यज्ञ को जो करे वही पारीक्षित है। उस गन्धर्व ने यही कहा होगा, कि जहाँ अश्वमेध यज्ञ करने वाले जाते हैं वहीं वे पारीक्षित चले गये।"

इस पर भुज्यु मुनि ने पुनः प्रश्न किया—"अच्छा, तो तुम ही बताओ अश्वमेध यज्ञ करने वाले किस लोक में जाते हैं ?"

इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्यजी कहने लगे—"जिस लोक में पारीक्षित अश्वमेध कर्ता जाते हैं, वह लोक बत्तीस देवरथाह्वय है।"

शौनकजी ने पूछा—"बत्तीस देवरथाह्वय क्या ?"

सूतजी ने कहा—"देव सूर्य का नाम है उनका रथ ही देवरथ है। सूर्यनारायण अपनी गति से अपने रथ द्वारा एक दिन में संसार का जितना भाग नाप लेते हैं उतने भाग को देवरथाह्वय कहा जाता है यही लोकालोक पर्वत की सीमा है। लोकालोक के अन्तवर्ती भूभाग का जितना विस्तार है, उसी से उसके दूसरी

ओर के अलोक प्रदेश के परिणाम की व्याख्या जाननी चाहिये। सुमेरु पर्वत के चारों ओर घूमने वाले सूर्य के रथ का सम्वत्सर रूप पहिया देवताओं के दिन और रात्रि अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायन के क्रम से सदा घूमते रहते हैं। सुमेरु पर्वत की चारों दिशाओं में चार पुरियाँ हैं उन चारों पुरियों में इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम ये चार लोकपाल रहते हैं। इससे आगे लोकालोक नामक पर्वत है यह पर्वत पृथ्वी के सब ओर सूर्य आदि द्वारा प्रकाशित और अप्रकाशित प्रदेशों के बीच में उनका विभाग करने के लिये अवस्थित है। अर्थात् इसके एक ओर तो प्रकाश है दूसरी ओर अन्धकार है। यह लोकालोक पर्वत इतना ऊँचा और लम्बा है, कि इसके एक ओर से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाली सूर्य से लेकर ध्रुव पर्यन्त समस्त ज्योतिमण्डल की किरणें दूसरी ओर नहीं जा सकतीं। तो बत्तीस देवरथाह्वय परिमाण वाला यह लोकालोक पर्वत से घिरा हुआ लोक है। जिसमें वैराज शरीर से प्राणियों के कर्म फल का उपभोग होता है। इतना लोक हुआ। जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँचती वह अलोक प्रदेश हुआ। लोकालोक पर्वत लोक और आलोक दोनों प्रदेशों की सीमा है।

शौनकजी ने पूछा—"तो वह बत्तीस देवरथाह्वय प्रदेश कैसा है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! ऐसा बताते हैं, कि उसे चारों ओर से दुगुने परिणाम में सूक्ष्म पृथ्वी घेरे है। उस पृथ्वी को उससे दुगुने परिणाम में सब ओर से समुद्र घेरे हुए है। इस ब्रह्माण्ड के दो अण्डकपाल हैं जैसे चना के दो दल। इस नीचे के घेरे से ऊपर का जो घेरा है उसमें एक छिद्र है। वह कितना सूक्ष्म छिद्र है जितनी पतली छुरे की धार होती है उतना पतला

वह छिद्र है। अथवा जितना सूक्ष्म मकड़ी का पर होता है, उतना ही अण्डकपालों के मध्य में आकाश है। इन्द्र ने पक्षी होकर–गरुड़ बनकर–जो अश्वमेध करने वाले पारीक्षित हैं उन्हें वायु को प्रदान किया। उन्हें वायु अपने स्वरूप में करके अण्ड-कपालों के बाहर ले गया। वहाँ वायु रूप से वे अश्वमेध करने वाले पुण्यात्मा पुरुष रहते हैं।"

याज्ञवल्क्यजी भुज्यु मुनि से कह रहे हैं सो मुनिवर! मेरी बुद्धि में तो वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है। उस गन्धर्व ने अवश्य ही वायु की प्रशंसा की होगी। अश्वमेध करने वाले तो स्वर्ग को जीतते हैं किन्तु उपासना के क्रम से जो इस प्रकार वायु के व्यष्टि और समष्टि रूप को भली भाँति जान लेता है, वह पुन-र्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् उसकी फिर कभी मृत्यु नहीं होती। वह मोक्ष पदवी को प्राप्त कर लेता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जब लाह्यायनि भुज्यु ने अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर पा लिया तो उनके पास पूछने को कोई अन्य प्रश्न नहीं रहा। वे चुप हो गये। उनके चुप जाने के अनन्तर महर्षि उषस्त जैसे शास्त्रार्थ करने उनके सम्मुख आये और याज्ञवल्क्य तथा उषस्त के जैसे प्रश्नोत्तर होंगे, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय–सुराधार सम सूक्ष्म पंख मक्खी सम पतरो।
अण्ड कपालनि मध्य रहै आकाश जु सत्तरो॥
पक्षी बनिकें इन्द्र वायु तें पारीक्षित सब।
दये, लै गये वायु रूप निज थापित करि अब॥
व्यष्टि समष्टि हि वायु है, वायु प्रशंसा यह विदित।
होइ मृत्युजित जानिकें, भये भुज्यु चुप पराजित॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
तृतीय भुज्यु ब्राह्मण समाप्त।

याज्ञवल्क्य और उषस्त का शास्त्रार्थ

[२३२]

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति ॥ ❀

(बृ० उ० ३ अ० ४ ब्रा० १ मन्त्राश)

छप्पय

चक्रायण हु उषस्त कर्यो सम्वाद आइ पुनि ।
याज्ञवल्क्य ! जो ब्रह्म सर्वअन्तर आत्मा सुनि ॥
ताकी व्याख्या करो ? कहें मुनि–तव सर्वात्मा ।
सर्वान्तर वह कौन ? प्राण को प्राण आतमा ॥
प्राण किया जो प्राण तें, करे अपान अपान तें ।
तव सर्वान्तर आतमा, ध्यान किया करि ध्यान तें ॥

संस्कृत साहित्य में आत्मा शब्द के बहुत से अर्थ हैं। आत्मा शब्द देह, मन, बुद्धि, धृति, यत्न, स्वभाव, पुत्र, जीव, अग्नि, वायु तथा ब्रह्म आदि अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। ये अर्थ तो प्रसंगानुसार प्रकरण देखकर किये जाते हैं। वैसे आत्मा शब्द ब्रह्म वाचक ही है। आप अपनी अन्तरात्मा से पूछो। अर्थात् भीतर जो सब भूतों में साक्षी रूप से अवस्थित है। जो सबकी आत्मा है। सबका ज्ञाता है, जो सदा सर्वदा एक रस रहता है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसका कभी जन्म नहीं होता जो कभी घटता बढ़ता नहीं। जो सबका साक्षी है। जो अकर्ता

❀ भुज्यु मुनि के चुप होने पर चक्रायण उषस्त मुनि ने याज्ञवल्क्य जी से पूछा—"याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, उसी की आप मेरे प्रति व्याख्या कीजिये।"

होकर भी सब कुछ करता है। जो जन्म न लेने पर भी जन्मों का कारण है। जो किसी का कभी संहार न करता हुआ भी समस्त संहारों का हेतु है। उस सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वकारण सर्व स्वरूप सर्वात्मा, सर्वसाक्षी आत्मा के विषय में वाणी द्वारा कोई कह ही क्या सकता है? क्योंकि मन वाणी आदि भाव व्यक्त करने के सर्व उपकरण तो उसके पीछे बने हैं। पीछे उत्पन्न होने वाला भला अपने से पहिले वाले के सम्बन्ध में यथातथ्य इदमित्थम्, यह ऐसा ही है, ऐसा ही हो सकता है। इस प्रकार अधिकार पूर्ण भाषा में कह ही कैसे सकता है। अतः आत्मा के सम्बन्ध में वाणी द्वारा जो भाव व्यक्त किये जाते हैं वह वाणी का विलास मात्र ही है।

जब वाणी उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहने की अधिकारिणी ही नहीं तो क्या वाणी द्वारा ब्रह्म का विचार व्यक्त न करना चाहिये? मन द्वारा उसका मनन न करना चाहिये? चाहिये क्यों नहीं। वाणी यदि ब्रह्म का विचार नहीं करती तो वह व्यर्थ है। मन यदि आत्म चिन्तन नहीं करता तो उसका अस्तित्व निरर्थक है। वाणी की सार्थकता ब्रह्म विचार में ही है। मन की सार्थकता साधव मनन में ही है, किन्तु वाणी द्वारा जो भाव व्यक्त किये जायँ ब्रह्म उतना ही नहीं है। यदि उतने को ही ब्रह्म मान लें, तब तो फिर ब्रह्म सीमा में आबद्ध हो जायगा, किन्तु वह निस्सीम है। मन द्वारा जो ब्रह्म मनन किया जाता है, ब्रह्म उतना ही नहीं है, यदि उतने को ही ब्रह्म मान ले तब तो मन ने ब्रह्म का पार पा लिया, किन्तु वह तो अपार है। अतः मन से वाणी से ब्रह्म का विचार करो अवश्य, किन्तु साथ ही यह भी निश्चय रखो वह वर्णनातीत है। अवाङ्मानस गोचर है। वह इन्द्रियातीत है अन्तःकरण से परे है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तक जनक के होता अश्वल, जारत्कारव आर्तभाग तथा लाह्यायनि भुज्यु ने याज्ञवल्क्य जी से जो-जो प्रश्न किये वे कर्मकांड तथा उपासना कांड के ही सम्बन्ध के थे। अब चाक्रायण गोत्रीय उषस्त ऋषि ने उनसे ज्ञान कांड के ब्रह्म सम्बन्धी प्रश्न पूछने आरम्भ किये। उषस्त मुनि ने कहा—"अच्छा, याज्ञवल्क्य जी! यह बताओ जो सर्वान्तर आत्मा है वह क्या है?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"ब्रह्म ही सर्वान्तर आत्मा है।"

उषस्त ने कहा—' उस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म की जो सर्वान्तर आत्मा है। उसकी मुझसे पूर्णरीत्या व्याख्या कीजिये।"

हँसकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"उसकी व्याख्या क्या करें यह जो तुम्हारा अन्तरात्मा है वही सर्वान्तर आत्मा है।"

उषस्त ने पूछा—"वह सर्वान्तर कौन-सा है, स्पष्ट करके समझाइये।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"देखो, हृदय में जो प्राण है, वह समस्त शरीर में प्राणन क्रिया--जीवन प्रदान करता है, उस प्राण को भी जो जीवन प्रदान करता है,अर्थात् जिसके द्वारा प्राण चेष्टा युक्त होता है, वही आत्मा है। अपान नामक प्राण गुदा में स्थित रहकर दूषित वायु तथा मल मूत्र को बाहर फेंकने का काम करता है, उस अपान वायु को भी जो चेष्टा प्रदान करता है अर्थात् अपान में जिसके द्वारा अपानत्व शक्ति आती है, वही तेरा सर्वान्तर आत्मा है। व्यान नामक प्राण समस्त शरीर में व्याप्त होकर शरीर को सुस्थिर रखने की चेष्टा करता है, उस व्यान वायु को भी जहाँ से चेष्टा प्राप्त होती है, अर्थात् व्यान में व्यानत्व स्थापित करता है, वही तेरा सर्वान्तर आत्मा है। कण्ठ के मध्य में जो उदान नामक वायु निकलना,थूकना,बोलना आदि

कार्यों को करता है, उस उदान नामक प्राण को भी जहाँ से चेष्टा प्राप्त होती है अर्थात् उदान म जो उदानत्व स्थापित करता है, वही तेरा सर्वान्तर आत्मा है। यही आत्मा है यही सर्वान्तर है।

हँसकर उषस्त ने कहा—"यह तो आप टरकाने की बात कर रहे हो। यह तो चतुरता स उत्तर देकर मुझे चुप करना चाहते हो। यह तो परोक्ष उत्तर हुआ। मैंने तो आपसे अपरोक्ष साक्षात् ब्रह्म का लक्षण पूछा था। आपने प्रत्यक्ष ब्रह्म न बताकर उसका लाक्षणिक संकेत मात्र कर दिया। यह तो वैसा ही हुआ, जैसे कोई किसी से कहे—"हम प्रत्यक्ष गौ दिखा दो।" तो उसके उत्तर म प्रत्यक्ष गौ न दिखाकर यह कह दे—"जिसके चार पैर हैं वह गौ है, जिसके दो सींग है वह गौ है, चलती है दौड़ती है वह गौ है। यह कोई उत्तर थोड़े ही हुआ। उसे तो गौ के सींग पकड़कर प्रत्यक्ष सम्मुख खड़ा करके यह कहना चाहिये देखिये यह गौ है। कोई घोड़ा पूछे तो घोड़े का कान पकड़कर प्रत्यक्ष सम्मुख उपस्थित करके दिखाना चाहिये यह घोड़ा है। कह दिया जो दौड़ता है, चार पैरों वाला हो वह घोड़ा है यह तो कोई उत्तर नहीं हुआ। हमने अपरोक्ष साक्षात् ब्रह्म के सम्बन्ध मे पूछा था। अतः जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा हो उसे स्पष्ट करके प्रत्यक्ष दिखाकर हमें बताओ।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—'जिसके द्वारा तुम बोल रहे हो, उस वाणी को भी जो बोलने की शक्ति प्रदान करने वाला है वही तुम्हारा सर्वान्तर आत्मा है।'

उषस्त ने कहा—"फिर वही बात। साठ पन्ने तीन बीसा कहा एकहा बात हुई। स्पष्ट करके बताओ। प्रत्यक्ष करके आत्मा को दिखाओ।"

हँसकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"ब्रह्मन्! तुम दृष्टि के

द्रष्टा को नहीं देख सकते जो श्रुति का श्रोता है, उसे नहीं सुन सकते मति के मन्ता को मनन नहीं कर सकते विज्ञाति के विज्ञाता का विज्ञान नहीं कर सकते। देखो, आँखें सबको देखती हैं किंतु अपनी आँखों को कोई प्रत्यक्ष देख नहीं सकता। आत्मा नित्य है और सब अनित्य है। तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर है। वह प्रत्यक्ष कैसे दिखाया जा सकता है। दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन जो कर्ता है, उसे इन अनित्य आँखों से कैसे दिखाया जा सकता है? बोलो, नानी के विवाह को धेवती कैसे देख सकती है? तुम्हीं बताओ भैया देखने मनन करने वाली इन्द्रियाँ आदि नाशवान् हैं, आत्मा अविनाशी है अविनाशी को नाशवान् वस्तुओं द्वारा कैसे दिखाया जा सकता है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! याज्ञवल्क्य जी के इस उत्तर से चाक्रायण उषस्त निरुत्तर हो गये। आगे वे कुछ भी न पूछ सके। उषस्त के निरुत्तर हो जाने पर कहोल मुनि याज्ञवल्क्य जी से शास्त्रार्थ करने आगे आये। अब जैसे याज्ञवल्क्य और कहोल का शास्त्रार्थ होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पुनि उषस्त मुनि कहे—लाक्षणिक ब्रह्म बतायो।
बैल अश्व जो चले नहीं प्रत्यक्ष दिखायो॥
सर्वान्तर सो कौन? कहें—द्रष्टा नहिं देखो।
सुनो न श्रोता श्रुतहिं, मतिहिं मन्ता नहिं पेखो॥
सर्वान्तर—यह आतमा, नाशवान् हैं अन्य सब।
याज्ञवल्क्य-उत्तर सुन्यो, चुप उषस्त मुनि भये तब॥

इति बृहदारण्यके उपनिषद् के तीसरे अध्याय में चतुर्थ उषस्त ब्राह्मण समाप्त।

—०—

याज्ञवल्क्य और कहोल

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ९६

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनासि विचिन्वता ।
प्रणीत प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } जून १९७२ आषाढ़ सं०-२०२९ { मूल्य : २. रु०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. संस्मरण (१५)	१
२. याज्ञवल्क्य और कहोल का शास्त्रार्थ	१५
३. याज्ञवल्क्य और गार्गी का शास्त्रार्थ	२१
४. याज्ञवल्क्य और आरुणि का शास्त्रार्थ (१)	२७
५. याज्ञवल्क्य और आरुणि का शास्त्रार्थ (२)	३४
६. पुनः गार्गी का याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ (१)	४२
७. पुनः गार्गी का याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ (२)	४८
८. याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ (१)	५५
९. याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ (२)	६३
१०. याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ (३)	७३
११. पण्डितों से याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ की समाप्ति	८६
१२. जनक-याज्ञवल्क्य-सम्वाद	९२
१३. महाराज जनक की प्रपत्ति	१०५
१४. याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्मज्योति का उपदेश (१)	११४
१५. याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्मज्योति का उपदेश (२)	१२२
१६. याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्मज्योति का उपदेश (३)	१४०
१७. याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्मज्योति का उपदेश (४)	१५०
१८. आनन्द-मीमांसा	१५७
१९. मृत्यु-मीमांसा	१६३
२०. मरते समय जीव की दशा	१७३

श्री भागवत-चरित सटीक

टीकाकार

'भागवत चरित व्यास' प० रामानुज पाण्डेय,
बी० ए० विशारद

'भागवत चरित' विशेषकर व्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। जो लोग व्रजभाषा को कम समझते हैं, उन लोगों को छप्पय समझने मे कठिनाई होती है। उनके लिये लोगों की माँग हुई कि छप्पयो की सरल हिन्दी मे भाषा टीका की जाय। संवत् २०२२ विक्रमी मे इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ। उसकी दो हजार प्रतियाँ छपायीं। छपते ही वे सब की-सब निकल गईं। अब उत्तरार्द्ध की माँग होने लगी। जो लोग पूर्वार्द्ध ले गये थे, वे चाहते थे पूरी पुस्तक मिले किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण छपने मे विलम्ब हुआ साथ ही लोगो की यह भी माँग थी, कि कुछ मोटे अक्षरो मे छापा जाय। प्रभु कृपा से अब के रामायण की भाँति बडे आकार मे मोटे अक्षरों मे (२० पा०) अर्थ सहित प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक खड में ८५० से अधिक पृष्ठ, मजबूत एव सुन्दर कपडे की जिल्द, चार-चार तिरगे चित्र और लगभग ३५० एकरंगे चित्र हैं। मूल्य लागत मात्र से भी कम ४२) रु० रखा गया है। एक खंड का मूल्य २१) रु० डाक खर्च अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें।

—व्यवस्थापक

हमारी नयी पुस्तक—

भागवत चरित-संगीत सुधा

स्वरकार

बंशीधर शर्मा, 'भागवत चरित व्यास'

भारतवर्ष के अनेकों स्थान से लोग पूज्यपाद श्री ब्रह्मचा
महाराज के दर्शनों के लिये आते रहते हैं। दर्शन के साथ इ
होती है, कि श्री महाराज जी के मुखारविन्द से अमृतमयी
का श्रवण करें। आश्रम पर नित्य नियम से कथा, कीर्तन
पाठ होते रहते हैं। जो भी एक बार भागवत चरित को सुन
है, उसकी इच्छा होती है इसे बार-बार सुनें, किन्तु सुनें
जब तक ताल स्वर बाजा तबला पर गाने वाले न हों रस
आता। जिन लोगों ने धुनि नहीं सुनी उनके लिये यह न
राग है। अतः बहुत दिनों से लोगों के समाचार आते रहे
भागवत चरित को शास्त्रीय संगीत में लिपिबद्ध कराके छ
दीजिये। उसी आधार पर यह 'भागवत चरित-संगीत स
तैयार की गई है। आशा है भागवत चरित पाठक इस पुस्तक
लाभ उठावेंगे।

—व्यवस्था

संस्मरण

(१५)

काशीजी में

सत्य सत्यं पुनः सत्य सत्य सत्य पुनः पुनः ।
दृश्यो विश्वेश्वरो नित्य स्नातव्या मणिकर्णिका ॥*

(स्क० पु० का० ख०)

छप्पय

सगम वरुणा-असी बसैं विश्वेश्वर जित नित ।
जहँ मरिबे तैं मुक्ति बास तैं स्वरग मिले जित ॥
दडपाणि अरु ढुन्ढि बिन्दुमाधव भैरव जहँ ।
विश्वनाथ काशीश अन्नपूर्णा माता जहँ ॥
काशी शिव तिरशूल पै, बसी बहै गगा जहाँ ।
जहाँ घाट मणिकर्णिका, बसहिँ भाग्यशाली तहाँ ॥

कान्यकुब्ज, काशी और कश्मीर ये प्राचीन काल में सस्कृत विद्या के केन्द्र थे। देश मे कोई भी लेखक कवि नवीन ग्रन्थ

---

* लोमहर्षण सूतजी से काशी की पञ्चक्रोशी यात्रा बताते हुए भगवान वेद व्यासजी कह रहे हैं—"देखो, सूतजी ! मैं तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ। बारबार सत्य की शपथ खाकर पुन पुन कहता हूँ। काशीजी में रहकर नित्य नियम से विश्वनाथजी के दर्शन करने चाहिये और मणिकर्णिका घाट पर गगाजी का स्नान करना चाहिये।"

लिखता, उसे सर्वप्रथम इन तीनों पीठों के विद्वानों की मान्
प्राप्त करनी पड़ती थी। पहिले मुद्रणालय तो थे नहीं कि
चाहे वही अपनी पुस्तक को छपा ले। पहिले तो पुस्तकों
प्रतिलिपियाँ की जाती थीं। बहुत से मसिजीवी पुरुष होते
जो सेकडा पद्य के नियम से पुस्तकों की प्रतिलिपि करते
जिन नूतन पुस्तकों पर विद्वानों की मान्यता प्राप्त हो जाती
उन्हीं की प्रतिलिपियाँ लोग किया करते थे। अपनी पुस्
पर मान्यता की छाप लगवाने समुद्र तट के दक्षिण से कवि
कश्मीर तक जाते थे। उन्हें वहाँ के विद्वान् पडितों को अ
विद्या तथा कविता से सन्तुष्ट करना पडता था, तब उनका
सभा में प्रवेश होता था। विद्वानों को सन्तुष्ट करने के पश्
पुस्तक पर मान्यता प्राप्त होती थी।

इन सब मे काशी का स्थान सर्वोपरि था। काशी के वि
का समस्त देश में आदर था। काशी के विद्वानों की दं
व्यवस्था को सभी देश के लोग मानते थे। काशी के पं
ने जिस विषय पर व्यवस्था दे दी वह शास्त्र सिद्धान्त
गया।

काशी में सभी प्रान्तों के पडित रहते थे। पडितों की
सभायें होतीं, तो उनमें सभी प्रान्तों के पडित एकत्रित हो
उनमे छोटे बड़े का भेद भाव नहीं किया जाता था, जो दक्षि
बड़े-से बड़े महामहोपाध्याय को दी जाती, वही दक्षिणा स
रण-से-साधारण पंडित को भी दी जाती। काशी में घर
मे संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वान् होते थे। उनकी वशपरम्परा
पडित ही होते आते थे। इस प्रकार वहाँ का पांडित्य वशपरं
नुसार होता था। घर-घर में पाठशाला। घर-घर मे अन्नक्षे
मैं जब काशी गया था, तब ही ३६० अन्नक्षेत्र बताये जाते

ुत पढ़ने की इच्छा से काशी में आया कोई विद्यार्थी भूखा
ं रहता था। यदि एक अन्नक्षेत्र में एक-एक दिन भी जाय तो
वर्ष का काम चल जाता था। सभी प्रान्तों के विद्यार्थी काशी
ढ़ने के लिये आते थे। पढ़ाई निःशुल्क, भोजन निःशुल्क आगे
ना भाग्य रहा। देश भर में काशी के पढ़े विद्वान् का सबसे
धिक आदर होता था। हम जब छोटे थे, तब सुना करते थे—
जी, उनकी विद्वत्ता का क्या कहना वे तो काशीजी में पढ़कर
ये हैं।" काशी का पढ़ा विद्वान् कहीं भी चला जाय, वहीं
दर पाता था।

हमारे यहाँ जब यज्ञोपवीत संस्कार होता था, तब लड़का
कमंडलु लेकर दौड़ता था और कहता था—"मैं काशी पढ़ने
ऊँगा।" ऐसा कहकर कुछ दूर जाता। फिर उसका मामा जा-
लौटा लाता। कहते यहीं तुम्हें पढ़ावेंगे।

काशी हम आर्य वैदिक सनातनधर्मावलम्बियों की माता
। काशी किसी एक प्रान्त की नगरी नहीं समझी जाती थी।
तो अन्तर्राष्ट्रीय नगरी थी। कर्णाटक, द्रविण, आन्ध्र, बंग,
धु, पंजाब, आसाम, उड़ीसा आदि सभी प्रदेश के पंडित
ाशी में निवास करते, सभी प्रांतों के धनिकों ने वहाँ विद्यार्थियों
लिये अन्नक्षेत्र खोल रखे थे। भारतवर्ष का कोई भी ऐसा
लिक राजा सेठ श्रीमान् नहीं था जिसका काशी में कोई मंदिर
अन्नक्षेत्र न हो। देश भर की विधवायें अपना वैधव्य जीवन
ाने काशी वास करने यहाँ आ-आकर रहने लगतीं। जो
ार्मिक धनी आता वहीं पितरों के नाम से एक साँड यहाँ छोड़
ता। देश भर के संन्यासी यहीं सब कुछ छोड़कर जीवन
त काशी में वास करते थे। अतः यह कहावत प्रचलित
है—

राँड सॉड सीडी संन्यासी। इन तैं बचै तो सेवै काशी। काशी के जैसे घाट गंगाजी पर स्यात् ही कहीं दूसरे स्थान पर हों। सन्यासियों का तो यह गढ ही था। और विद्वानों की तो यह खानि ही मानी जाती थी। इन पचास साठ वर्षों में ही कितना भारी परिवर्तन हो गया। अब काशी में पडितो के पुत्र पडित नहीं रहे। बडे-बडे पडितो के पुत्र कलहोपजीवी अधिवक्ता अधिशासी अभियन्ता, अधिशासी अधिकारी तथा सरकारी कर्मचारी बन गये। यदि यही दशा रही, तो पुराने पडितो के मर जाने के पश्चात् पचास वर्ष के पश्चात् काशी मे खोजने पर भी सस्कृत के पडित न मिलेंगे। ये जो सस्कृत के विश्वविद्यालयों से परीक्षोत्तीर्ण होकर छात्र निकलते हैं, उनमें किसी भी विषय के प्रौढ विद्वान् नहीं होते। उनका पाडित्य पल्लवग्राही पाडित्य ही होता है। उन प्राचीन पडितो के समक्ष इनकी पडितो की श्रेणी मे भी गणना नहीं की जा सकती। आज से ५०–६० वर्ष पूर्व काशी में अपने अपने विषय के पूर्ण पडित अनेक थे। वे एक-एक करके प्रायः सबके सब समाप्त हो गये। काशी का तीर्थत्व तो कहीं जाने का नहीं। किन्तु अब वह बात नहीं रही। श्रीमद्भागवत माहात्म्य में लिखा है—

अत्युग्र भूरि कर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः।
तेऽपितिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थं सारस्ततो गतः॥

जो अत्यन्त उग्र कर्म करने वाले नास्तिक रौरवी पुरुष हैं वे आकर तीर्थों मे रहने लगे हैं, इसलिये तीर्थों का भी प्रभाव जाता रहा।

दिनो दिन धर्महीन नास्तिकों की वृद्धि होने से अब तीर्थों का भी उतना महत्व नहीं रहा। किन्तु अँगरेजी शासन तक इतनी

नास्तिकता नहीं फैली थी। कुछ पुराने लोगों में धार्मिकता थी और काशी के प्रति श्रद्धा थी।

मेरी आरम्भ से ही काशी जाकर अध्ययन करने की इच्छा थी, किन्तु ऐसा संयोग ही नहीं बना। अब जब लखनऊ कारावास में काशीवासियों के ही साथ मुझे रहना पड़ा और उन्होंने काशी आने का बहुत आग्रह किया, तो अंधे तुझे क्या चाहिये ? दो आँख। मेरे मन की बात हो गयी। यद्यपि मैं संस्कृत का विद्यार्थी था, मुझे यहाँ खाने को क्षेत्रों मे अन्न की कमी नहीं थी। किन्तु नेताओं के सग रहने से, सार्वजनिक कार्य करने से अब मुझे क्षेत्रादि के परान्न से अरुचि हो गयी। अब मैंने निश्चय कर लिया अब मैं परान्न पर निर्वाह करके न रहूँगा। स्वयं उपार्जित करके उसी पर निर्वाह करूँगा। देहरादून में बाबू शिवप्रसादजी गुप्त मिल ही चुके थे। उन्होंने ज्ञान मण्डल प्रेस मे कुछ कार्य देने का आश्वाशन दे ही दिया था। बाबू सम्पूर्णानन्द जी, पं० शिव विनायक जी मिश्र, प्रो० रामदास जी गौड आदि सभी से परम आत्मीयता हो गयी थी, अतः मैं काशी के लिये चल दिया। पं० शिव विनायक जी मिश्र के बड़ी पियरी स्थित भारत प्रेस में जाकर ठहरा। बाबू सम्पूर्णानन्द जी ज्ञान मडल से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका "मर्यादा" के सम्पादक थे। वे जब जेल मे थे तब उसके स्थानापन्न सपादक मुंशी प्रेमचन्द्र जी हुए। गुप्त जी से मैं उनके निवास स्थान पर मिला उन दिनों दैनिक पत्र 'आज' के प्रधान सम्पादक बाबू श्री प्रकाश जी थे। प्रायः मैं उन्हीं के साथ कार्य करता था। बाबू सम्पूर्णानन्द जी का अपार स्नेह था।

काम तो कोई विशेष था नहीं, मैं घन्टों 'मर्यादा' कार्यालय में बाबू सम्पूर्णानन्द जी के साथ बैठा साहित्यिक, धार्मिक तथा

राजनेतिक विषयों पर वार्तालाप किया करता था। बाबूजी क
बात चीत करने का व्यसन था। उन दिनों हिन्दु संगठन प
बाबू भगवान्दासजी ने कुछ लिखा था। बाबूजी ने उसका विस्तृत
उत्तर दिया था। बाबू सम्पूर्णानन्द उन दिनों हिन्दु सभा के स्थान
सभापति थे। उन दिनों हिन्दु सभा और कांग्रेस मे कोई विरोध
नहीं था। मैं कार्यालय में भी बाबूजी से सत्संग करता और रात्रि
मे उनके जालपा देवी स्थित घर पर भी नित्य जाता। एक दिन
भी नहीं जाता तो दूसरे दिन प्रश्नो की बौछार होती, कल क्यों
नहीं आये ? ऐसा क्या काम लग गया था ? इत्यादि-इत्यादि।
काशी मे कहना चाहिये, बाबू सम्पूर्णानन्द जी के घर में ही
मेरी बेठक थी। उनके दोनों बच्चे सच्चिदानन्द और सबदानन्द
वे भी मुझसे अत्यन्त स्नेह रखते। सच्चिदानन्द बहुत सुन्दर
तथा होनहार बालक था, वह प्रायः मेरे पास भारत प्रेस मे
आया करता था, किन्तु उसकी बहुत ही अल्पावस्था मे अकाल
मृत्यु हो गयी इससे बाबूजी को बहुत धक्का लगा। उनके पूरे
परिवार से मेरी आत्मीयता थी। मैं एक प्रकार से उनके घर का
सदस्य ही था। वे तीन भाई थे। बड़े सम्पूर्णानन्द उनसे छोटे
अन्नपूर्णानन्द और सबसे छोटे परिपूर्णानद। वे कोरे साहित्यिक
या राजनेतिक व्यक्ति ही नहीं थे। उनमे आध्यात्मिकता भी थी।
वे सतमत के अनुयायी थे और सुरति शब्दयोग के अभ्यासी थे।

एक दिन मुझसे बोले—"चलिये मैं आपको अपने गुरुजी
के दर्शन कराऊँ।" मैं उनके साथ-साथ एक छोटी-सी गली में
साधारण से घर में गया। वहाँ एक साधारण-सी शैया पर मेले
कुचैले वस्त्र ओढ़े एक वृद्ध पुरुष बैठे थे। जाकर इन्होंने उन्हें
प्रणाम किया। ये इनके नानाजी थे। उन्होंने इनका प्यार का
नाम बड़का या बबुआ कहकर इन्हें सम्बोधन किया तब उन्होंने

मेरा परिचय पूछा। इन्होंने बताया ये ब्रह्मचारी जी हैं, और भी मेरी प्रशसा में कुछ शब्द कहे। उन्होंने हाथ जोड दिये। इनके तुमने दर्शन अच्छे कराये।

उन दिनों प्रतीत होता था, इनके नानाजी अकेले ही रहते थे। उनका नाम श्री रामेश्वर दयाल जी था। इन्होंने बाबा रामलाल जी से योग की शिक्षा प्राप्त की थी। बाबा रामलाल जी रामनगर में काशी नरेश के दुर्ग क पृष्ठ भाग मे एक टीले पर रहते थे। हमने उनके दर्शन तो किये नहीं। इनके नानाजी श्री रामेश्वर दयाल जी भी उस समय ७०-८० वर्ष के रहे होंगे। बाबूजी की उनमें अनन्य निष्ठा थी। मेरे ऊपर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा। किन्तु बाबू सम्पूर्णानदजी की सहृदयता से में प्रभावित था।

में मर्यादा कार्यालय में बेठा रहता। तभी एक गोरे से नव युवक आते और 'मर्यादा' के लिये कहानी दे जाते। मैंने बाबूजी से पूछा—"यह युवक कौन है ?"

उन्होंने कहा—"इसका नाम लोचन प्रसाद 'उग्र' है, कहानी अच्छी लिखता है।"

मैंने कहा—"आप बिना ही पढे इनकी कृतियों को 'मर्यादा' के लिये स्वीकृत कर लेते हो ?"

उन दिनों मासिक पत्रों में 'मर्यादा' की प्रतिष्ठा थी। साहित्य क्षेत्र में उसका सम्मान था। वे हँसकर बोले—"अपने लोगों के लेख पढकर स्वीकृत नहीं किये जाते। उनसे तो यही आशा होती हे उनके लेख अच्छे ही होंगे आप भी कोई लेख दीजिये। में 'मर्यादा' में छापूँगा।"

अब मेरी इच्छा हुई, कि मैं 'मर्यादा' के लिये एक अच्छा लेख लिखूँ। किन्तु मैंने लिखा और बाबूजी ने उसे पसन्द न

किया, तो मुझे बहुत बुरा लगेगा। अतः मैंने एक लेख लिखा 'पाणिनीय व्याकरण और उसके कर्ता' उसमें इधर-उधर से पुस्तकें लाकर दो चार अँगरेज लेखकों की पुस्तकों में से भी प्रमाण दिये। लेख तयार होने पर मैंने किसी उपनाम से उस लेख को सम्पादक 'मर्यादा' के नाम से डाक से भेजा। कार्यालय में तो मैं बैठा ही रहता था। डाक वे मेरे सामने ही देखते थे। मेरा भी लेख आया उन्होंने उसे खोलकर देखा और रख दिया। दूसरे दिन उनकी मेज पर मेरा लेख रखा था। मैंने उसे उठाकर देखा और पूछा—"बाबूजी! यह लेख कैसा है?"

वे बोले—"कोई नवीन ही लेखक प्रतीत होते हैं। इधर-उधर से पढ पढाकर लिख दिया है।"

मैंने पूछा—"इसे छापेंगे या नहीं?"

वे बोले—"अभी इसे रखे लेता हूँ। किसी अंक में कम सामग्री होगी, तो इसे ही छाप दूँगा।"

मैं समझ गया। मेरा लेख इन्हें विशेष रुचिकर नहीं लगा। यदि मैं कह देता कि यह लेख मेरा ही है, तो वे निश्चय ही उसे उसी अंक में छाप देते। किन्तु ऐसा कहना मैंने सर्वथा अनुचित समझा। उन दिनों भारत धर्म महामंडल से एक बहुत प्राचीन मासिक पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' निकलती थी। वैसे साहित्य क्षेत्र में तो उसका कोई विशेष सम्मान नहीं था, किन्तु सनातन धर्म की वह अति प्राचीन पत्रिका थी, उसके सम्पादक उन दिनों पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर थे। मैंने वह अपना लेख उसमें भेज दिया। उन्होंने उसे सहर्ष कई अंकों में छापा।

कुछ काल के पश्चात् ज्ञान मण्डल में छटाई हुई। उसमें मेरी भी सेवा समाप्त कर दी गयी। अब मैं चाहता था, कहीं दो तीन घण्टे कार्य करके शेष समय भजन पूजन आदि में बिताऊँ।

किसी भी संस्था का सदस्य न बनने की तथा नौकरी न करने की मैंने प्रतिज्ञा पहिले ही कर ली थी, जन्मजात मेरा स्वभाव ही ऐसा था, कि मैं किसी के शासन मे रहकर कार्य नहीं कर सकता। इस स्वभाव के कारण मुझे बडी-बडी असुविधायें उठानी पड़ी।

एक दिन मैं घूमता-घामता भारत धर्म महामण्डल मे चला गया। तब तक मैं महामण्डल के सम्बन्ध मे कुछ भी नहीं जानता था। यही जानता था, कि यह एक धार्मिक संस्था है। इसके संचालक सस्थापक स्वामी ज्ञानानन्दजी के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। मैंने श्रीदुगवेकर शास्त्रीजी से कहा—"यदि आप दो तीन घण्टे का कोई काम मुझे दे दें, तो मैं यहाँ काम करने आ जाया करूँ।"

उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ मुझसे कहा—"निगमागम चन्द्रिका" में एक उपसपादक की आवश्यकता है आप आ जायँ।" मैं चेतगज में मिश्रजी के पुराने मकान मे अकेला रहता था। काम करने जगत्गंज महामण्डल में आ जाता। निगमागम चन्द्रिका ३२ पृष्ठ की एक छोटी-सी पत्रिका थी। उसका सम्पादन एक दिन में हो जाता था। प्रूफ देखने का काम भी कम ही था। मैं प्रयाग आइस फेक्टरी मे भाई बाबूलालजी के यहाँ बैठा रहता। "निगमागम चन्द्रिका" का समस्त कार्य तो मैं ही करता, किन्तु सम्पादक के स्थान मे नाम पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर का ही रहता।"

तभी 'भारत धर्म महामण्डल की ओर से भारतधर्म लिमिटेड कम्पनी" बनी उसके दो प्रमुख पत्र अँगरेजी मे दैनिक 'महाशक्ति' और हिन्दी मे साप्ताहिक "भारत धर्म" निकले। प० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर तो "भारत धर्म" के सम्पादक हो गये और मैं

"निगमागम चन्द्रिका" का प्रधान सम्पादक हो गया। इससे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। अब तक "निगमागम चन्द्रिका" का कभी विशेषाङ्क नहीं निकला था। सर्वप्रथम सोलह फरमें का मैंने एक उसका विशेषाक निकाला। जिसकी बडी प्रशसा हुई। उन दिनों मलकानों की शुद्धि का आन्दोलन चल रहा था। मथुरा जनपद मे जो मुसलमान मलकाने थे, उनके आचार विचार रीति रिवाज नाम सब हिन्दुओं के से थे, किन्तु उन्हें मुसलमान कहा जाता था। उन्हे फिर से हिन्दु समाज में लाया गया। उस विषय का सचित्र विवरण उस विशेषाङ्क में प्रधान रूप से दिया गया था। उन दिनों वृन्दावन से यमुनाजी दूर चली गयीं थीं। यमुना जी को पुनः वृन्दावन के घाटो पर लाने को एक "यमुना नियतृ" सभा बनी थी। उसका आन्दोलन "निगमागम चन्द्रिका" के द्वारा होता था। तब तक शकराचार्यजी के चार मठों में ज्योतिर्मठ कहाँ है इसका किसी को पता नहीं था। जोशीमठ में नर्मदानन्द ब्रह्मचारी नाम के एक बहुत ही व्यवहार कुशल साधु थे। उन्होंने बताया जोशीमठ ही ज्योतिर्मठ है, उसके लिये कुछ भूमि भी ली गयी, देवीजी की एक मूर्ति भी जयपुर से उन्होंने बनवाकर मँगवायी। स्वामी ज्ञानानन्दजी उस पीठ में अपने शिष्य स्वामी दयानन्दजी को चौथा शकराचार्य बनाना चाहते थे। किन्तु स्वामी दयानन्दजी ने वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया। अतः वह बात ज्यों की त्यों ही रह गयी। अतः ज्योतिर्मठ स्थापना का भी आन्दोलन महामण्डल की ओर से होता था। कुछ दिनों तो मैं पं० शिवविनायक मिश्रजी के चेतगज वाले पुराने खाली घर में रहा। फिर पिशाच मोचन के समीप बगीचा में रहा। तदनन्तर औरगाबाद के एक कोई पुराने रईस थे। उनका औरगाबाद के बाहर एक तालाब के किनारे बगीचा था। उसमें एक भव्य कोठी

थी। जब उनके वैभव के दिन थे तब वह कोठी उनके आमोद प्रमोद का स्थल था। वहाँ संगीत नृत्य आदि होते थे। अब उनकी आर्थिक दशा बिगड गयी थी, अतः वह कोठी उन्होंने हमें रहने को दे दी। कुछ मासिक किराया वे चुपके से हम से ले लेते थे। वह स्थान हमारे आश्रम के सर्वथा अनुकूल था। विस्तृत बाग था, कुँआ था। भव्य एकान्त में कोठी थी। आस-पास हरे लहलहाते खेत थे। कोठी बहुत ऊँचे पर थी। नीचे उसके एक कच्ची सडक थी। पास ही काशीविद्यापीठ थी। काशीविद्यापीठ के काशी वासी जितने छात्र तथा अध्यापक थे, सब हमारी कोठी के ही नीचे से दोनों समय निकला करते थे। बाबू सपूर्णानन्दजी पं० गोपालजी शास्त्री, दर्शनकेशरी ये नवीन तथा प्राचीन दर्शनों के अध्यापक थे। दोनों का मुझ पर अत्यन्त स्नेह था। प० अलगू रायजी शास्त्री, श्री लालबहादुर शास्त्री, श्री त्रिभुवननारायण सिंह जी, श्री कमलापतिजी त्रिपाठी, श्रीकेसकरजी, श्री राजारामजी शास्त्री, श्री . आदि-आदि जो उस समय काशी विद्यापीठ के छात्र थे, वे नित्य ही वहीं से निकलते। इन सबसे मेरी आत्मीयता थी। बाबू सम्पूर्णानन्दजी का आग्रह था आप पाश्चात्य दर्शन सुनने आया करें। मैं नित्य तो नहीं जब अवकाश होता, तब उनकी कक्षा में पाश्चात्य दर्शन सुनने जाता था। बाबू भगवान् दासजी उन दिनों वहाँ के कुलपति थे, वे भी दर्शन पढाते थे, कभी-कभी उनकी कक्षा मे भी मैं जाता था। उन दिनों काशी विद्यापीठ का स्वरूप ही दूसरा था। प्राचीनता के उपासक विद्यापीठ के सस्थापक बाबू शिवप्रसादजी गुप्त की इच्छा थी, कि यहाँ से विशुद्ध भारतीय सस्कृति सम्पन्न छात्र निकलकर देश विदेशों में हिन्दु धर्म का प्रचार प्रसार करें। अतः उन्होंने दो कठोर नियम बना दिये थे। एक तो विद्यापीठ कभी राजकीय

न ले और यहाँ के सभी विषय हिन्दी में पढ़ाये जायँ। अँगरेजी का इसमें प्रवेश भी न हो। देश के चुने हुए अध्यापक उसमें रखे गये थे। बाबू नरेन्द्रदेवजी, केशकरजी, धर्मवीरजी, पं० सत्यनारायणजी उपाध्याय, सेठ दामोदर स्वरूप ऐसे अनेक विचारशील विद्वान् वहाँ अध्यापक थे, विद्यार्थी भी वहाँ से निकले जो देश के प्रधान मन्त्री तक हुए, किन्तु गुप्तजी की जो इच्छा थी, उसकी पूर्ति नहीं हुई। राजनैतिक नेता तो अवश्य निकले। धार्मिक व्यक्ति कोई नहीं निकला। अब तो विद्यापीठ अन्य विश्व विद्यालयों की ही भाँति सरकारी सहायता प्राप्त एक संस्था बन गयी है। उस समय उसमे से महान् क्रान्तिकारी, देशभक्त युवक निकले थे।

महान् क्रांतिकारी पं० चन्द्रशेखरजी आजाद उन दिनो तेरह चौदह वर्ष के छोटे-से बालक ही थे। दूर के नाते से वे पं० शिवविनायक मिश्रजी के भतीजे लगते थे। लघुकौमुदी की पुस्तक बगल में दबाये साधारण संस्कृत के विद्यार्थियो की भाँति घूमा करते थे। कभी-कभी भारत प्रेस में भी आते, मुझसे बड़ा स्नेह रखते। उनकी उस समय की मूर्ति ही मेरे हृदय मे अंकित है। दुबला पतला शरीर, मुख पर चेचक के दाग, बहुत ही सीदे-सादे आते मेरे पास डरते-डरते बैठ जाते। पीछे तो सुना वे बहुत हृष्ट-पुष्ट लम्बे तडंगे हो गये थे। वर्षों प्रयाग मे आकर रहे, प्रयाग मे ही वे पुलिस की गोली से मारे गये। स्वर्गीय पं० रामकृष्ण शास्त्री बताते थे कि वे बहुधा संकीर्तन भवन झूसी मे आते। कथा मे बैठकर चले जाते। उन दिनों मैं मौन रहता था। किसी से बोलता चालता नहीं था। कौन आया कौन चला गया, मैं किसी की ओर देखता भी नहीं था। सुनता था काशी के मेरे सभी क्रान्तिकारी झूसी आते और यहाँ ठहरते थे। किन्तु कोई मुझसे प्रत्यक्ष मिलता

नहीं था। काशी में मेरा स्थान घोर एकान्त मे था, वहाँ प्रायः काशी के सभी क्रान्तिकारी मेरे पास आते। उनसे मेरी अत्यन्त सहानुभूति रहती। परन्तु मैं कभी क्रान्तिकारियों के दल मे सम्मिलित नहीं हुआ और न कभी मैंने कोई अस्त्र शस्त्र ही छूया। यहाँ झूसी मे भी मैं हसतीर्थ में घोर एकान्त मे बट के वृक्ष के नीचे रहता था। काशी वाले सभी क्रान्तिकारी यहीं आकर रहते होंगे। काकौरी स्टेशन पर जो सरकारी कोष लूटा गया, सुनते हैं, उसे लूटने भी लोग यहीं झूसी से गये थे। तभी तो सरकार का गुप्तचर विभाग मेरे पीछे पड गया था। उसे सन्देह हो गया था, कि क्रातिकारियों का यही नेता है। यह एकान्त मे मौन रह कर अपने को छिपाये बैठा रहता है। सब क्रान्तिकारी इसी के आदेश से डाका डालने तथा अधिकारियों को मारने जाते हैं। इसीलिये एक गुप्तचर विभाग का अधिकारी मेरे पास रहने लगा था, और मेरी गति विधियो को देखता रहता था। उन दिनो अँगरेजी राज्य के अन्तर्गत पहिले ही पहिल विधान सभाओं के चुनाव हुए थे। बाबू सम्पूर्णानन्दजी विधायक बने थे। मैंने बाबू सम्पूर्णानन्द को लिखा कि मैं यहाँ एकान्त में अनुष्ठान करता हूँ, गुप्तचर विभाग के अधिकारी मेरे कार्य मे विघ्न डालते हैं।

उन्होंने विधान सभा मे इस विषय का प्रश्न किया। गुप्तचर विभाग मे बडी खल बली मची। वह अधिकारी दौडा दौडा मेरे पास आया—"महाराज! विधान सभा में ऐसा प्रश्न पूछा गया है। मैंने आपके किस काम म विघ्न डाला?"

अगरेजी शासन में यही दृढता थी कि वे प्रत्येक बात को सुनते, उसका अन्वेषण करते। वास्तव मे गुप्तचर विभाग का यह भ्रम ही था मैंने सक्रिय रूप में कभी भी [illegible]

भाग नहीं लिया। मेरी उनके साथ हार्दिक सहानुभूति अवश्य थी। उनमें से बहुतों को फाँसी हो गयी, बहुत से मार डाले गये, बहुत से आर्थिक कष्टों से तड़प-तड़प कर मर गये। देश सेवा का यही तो पुरस्कार होता है। सब साथी परलोक प्रयाण कर गये। सब ऐसे देश मे चले गये जहाँ से कोई लौटकर नहीं आता है। अब उनकी हृदय मे हूक पैदा करने वाली मधुर-मधुर स्मृतियाँ ही शेष रह गयी है। जिन्हे लिख-लिखकर—सफेद कागदों को काला कर करके मैं कालक्षेप कर रहा हूँ। बीती-बातों को स्मरण करके नेत्रो मे से दो अश्रु बहाकर अपने पुरानी आँखो को धो रहा हूँ। वे दिन लौटकर थोड़े ही आवेंगे ? वे सब साथी अब आकर प्रेम में पगी बातें थोड़े ही करेंगे। अतः आज इस संस्मरण को यहीं तक रहने दो। अगले संस्मरण मे काशी से प्रस्थान कैसे किया, इसे पाठक पढ़ सकेंगे।

छप्पय

काशी बसि का कर्‌यो ? भक्ति कीन्ही नहिँ शङ्कर।
दरशन कीये नहीं अन्नपूर्णा माँ मन्दिर॥
यात्रा अन्तर गृही न कीन्हीं नित्य नियम तैं।
मिलि भक्तनि सँग करी पञ्चकोशी न प्रेम तैं॥
न्हाये नहिँ मणिकर्णिका, कर्‌यो न ब्रह्म विचार है।
दिल्ली बसि बारह बारस, केवल कीन्यो भाड़ है॥

———

याज्ञवल्क्य और कहोल का शास्त्रार्थ

[२३३]

अथ हैन कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति··· ·····।*

(बृ०उ ३ अ० ५ ब्रा १.....म०)

छप्पय

पुनि कहोल मुनि आइ कह्यो—सर्वान्तर आत्मा।
साकछात अपरोक्ष ब्रह्म जो है सर्वात्मा॥
व्याख्या ताकी करो ? यही सर्वान्तर आत्मा।
सर्वान्तर वह कौन ? मृत्यु तैं पर परमात्मा॥
क्षुधा, पिपासा, वृद्धता, शोक, मोह भय तैं परे।
पुत्र, वित्त लोकैषणा, पृथक होइ भिक्षा करे॥

एक आदर्श होता है। वेसे आदर्श दर्पण को कहते हैं, जिसमें जेसे का तेसा दीख जाय। हमारा एक आदर्श होता है। उद्देश्य गन्तव्य स्थान। वहाँ तक पहुँचने के प्रयत्न को साधन कहते हैं। साधनों द्वारा अपन गन्तव्य स्थान तक—आदर्श तक पहुँचा जा सकता है। शास्त्र साधन बताते हैं। जो साधन की शिक्षा दे,

---

*उपस्त मुनि क पश्चात कौषीतकेय गोत्रीय कहोल न पूछा—याज्ञवल्क्यजी ! साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर जो भी आत्मा है, उसकी मेरे प्रति तुम व्याख्या करो।'

हमारा शासन करे वही शास्त्र है। अर्थात् जो हमें अपने अन्तिम लक्ष्य तक-मोक्ष तक- पहुँचा दे वही शास्त्र है। जैसे आयुर्वेद शास्त्र है वह कहता है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण है, आरोग्य। अर्थात् आरोग्य साधन द्वारा तुम मोक्ष को प्राप्त कर सकते हो। योग वाले कहते हैं—योग साधन द्वारा तुम अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकोगे। आस्तिक शास्त्रों का एकमात्र उद्देश्य परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करना है, जहाँ ब्रह्म, परब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि परमेश्वर सम्बन्धी शब्द आते हैं, उनका अर्थ होता है एक आदर्श व्यक्तित्व जो जरा, मृत्यु, शोक, मोह, दुःख आदि समस्त दोषों से रहित है। असख्य गुण गणों की खान परमादर्श महापुरुष परमात्मा वे इस ससार के मूल कारण हैं। ससार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिनके ही द्वारा होते हैं, वे परावर हैं। अर्थात् उन्हीं से ब्रह्मादि पर देवता तथा मनुष्यादि अपर जीव उत्पन्न होते हैं। उन्हीं के द्वारा समस्त चराचर जीव वृद्धि को प्राप्त होते हैं और अन्त में सभी उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। जीव का परम पुरुषार्थ यही है कि उन्हीं परब्रह्म परमात्मा को जानना चाहिये, उन्हीं की जिज्ञासा करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उपस्त मुनि महामुनि याज्ञवल्क्य जी से शास्त्रार्थ करके चुप हो गये, तब कुषीतक ऋषि के पुत्र कौषीतकेय कहोल नामक ऋषि शास्त्रार्थ के लिये सम्मुख आये। उन्होंने कहा—"याज्ञवल्क्य! हम भी तुमसे कुछ पूछना चाहते हैं। पूछें?"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"पूछिये, क्या पूछते हैं।"

कहोल मुनि ने कहा—"तुमने बताया कि ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है और सर्वान्तर आत्मा है। तो वह सर्वान्तर आत्मा कैसा

है ? कहाँ रहता है ? क्या करता है ? उसकी समुचित रूप से मेरे प्रति व्याख्या कीजिये।"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जो सदा समीप रहता है, उसका परिचय नहीं पूछा जाता। वह परब्रह्म तो सर्वान्तर आत्मा है, वह तो तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है।"

कहोल ने पूछा—"भीतर बैठा हुआ वह क्या खाता है, क्या पीता है, कब पैदा हुआ है, कब बूढ़ा होगा, कब मृत्यु को प्राप्त होगा ? उसे किससे मोह है, किसका वह शोक करता है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"वह कभी जन्म नहीं लेता, अजन्मा है, वह कभी मरता नहीं, सदा अमर है। उसे कभी भूख प्यास नहीं लगती। वह क्षुधा-पिपासा से सर्वथा रहित है। वह कभी वृद्ध नहीं होता, सदा सर्वदा एक रस रहता है। शोक मोह उसके पास कभी फटकने भी नहीं पाते।"

कहोल ने कहा—"संसार के समस्त कार्य कामनाओं पर-इच्छाओं पर-निर्भर हैं। सब किसी-न किसी कामना से कर्म करते हैं। उस परब्रह्म को किसकी कामना है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखिये, ससार मे तीन ही प्रकार की कामनायें होती हैं। समस्त कामनायें इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। एक तो एक से बहुत होने की कामना। इसे पुत्रैषणा कहते हैं। पहिली कामना तो उसे यह होती है, कि मैं एक से दो हो जाऊँ। मिथुन बन जाऊँ, मेरे स्त्री हो जाय। जिसके उदर मे पुनः प्रवेश करके मैं एक से अनेक हो जाऊँ। क्योंकि पुरुष पत्नी के उदर मे वीर्यरूप से स्वय ही प्रवेश करके उत्पन्न होता है उसमे जायमान होता है। इसीलिये पुत्रवती पत्नी का जाया नाम होता है।"

दूसरी इच्छा उसकी यह होती है, कि मेरे धन हो जाय, तो

उस धन से नाना प्रकार के कर्म करूँ। भाँति-भाँति के भोगों को भोगूँ। इस इच्छा को वित्तैषणा कहते हैं। मनुष्य जो भी लौकिक व्यापार करता है, धन के ही निमित्त करता है, धन आने पर ही विविध कर्मों मे प्रवृत्त होता है।

तीसरी उसकी इच्छा होती है, मैं कीर्ति वाले कर्म करूँ। इस लोक मे जितने दिनों तक मेरी कीर्ति रहेगी उतने ही दिनों तक मुझे स्वर्गादि पुण्य लोकों मे वास करने का सुअवसर प्राप्त हो सकेगा क्योंकि पुण्य कर्मों द्वारा जब तक मनुष्य की इस लोक मे कीर्ति रहती है, तभी तक उसे पुण्य लोकों के सुख भोगने को मिलते हैं, इस इच्छा को लोकैषणा कहते हैं। ये इच्छायें ही जीव को संसार बन्धन मे बाँधती हैं। ये इच्छायें ही प्राणियों को मोक्षमार्ग से रोकने वाली हैं। जो ब्राह्मण मोक्षमार्ग के अनुगामी हैं। वे इस लोक तथा परलोक के भोगों के इच्छुक नहीं है, अपितु परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त करना चाहते हैं। वे उस परमात्मा के महत्त्व को जानकर इन तीनों ऐषणाओं से विरत होकर–पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा को त्यागकर–सर्वस्व का परित्याग करके भिक्षुक बन जाते हैं, वे भिक्षा को ही अपने शरीर निर्वाह का एकमात्र साधन बनाकर स्वच्छन्द विचरण करते हैं। जब भगवान् के उपासकों को ही कोई कामना नहीं होती, तो भगवान् को तो कामना होनी ही क्या है ?"

कहोल ने पूछा —"पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा इनमे भेद क्या है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"भेद कुछ भी नहीं। एषणा तो एक ही है। कामना एक ही होती है साध्य और साधनेच्छा के कारण ही तीन भेद कर दिये हैं। कामना एक ही है सुख की कामना। सुख दो प्रकार का होता है। इस लोक का सुख–स्त्री

पुत्रादि धन का सुख। परलोक का सुख–नन्दन कानन, अप्सरायें विमान भ्रमण, अमृत पानादि। साधारण सुख और दिव्य सुख। स्त्री की कामना किसलिये है कि उसके द्वारा शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सम्बन्धी सभी लौकिक [illegible] प्राप्त होते हैं और उसमें प्रवेश करके एक से बहुत हो [illegible] हैं। प्रजातन्तु टूटने नहीं पाता। धन की कामना स्त्री पुत्र [illegible] के लिये तथा पुण्य कार्य के लिये होती है कि [illegible] करेंगे, तो हमें स्वर्ग में दिव्य सुख भोगने को मिलेंगे [illegible] ही पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो विद्वान [illegible] है। ये सब एषणायें एक ही हैं। साध्य [illegible] ये दोनों एषणायें होती हैं। अतः ब्राह्मण को [illegible] को प्राप्त करके बाल्यभाव को प्राप्त हो, अर्थात् [illegible] निर्विकार सरल बालक की भाँति रहे। अथवा [illegible] बल से [illegible] की इच्छा करे। मुनि भाव का [illegible]।

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यह कहा नहीं जा सकता वह किस प्रकार ब्राह्मण, होता है, वह जिस प्रकार भी ब्राह्मण हो, ब्राह्मण तो वही है जो पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से दूर रहकर आत्मज्ञान का–पाण्डित्य का–भलीभाँति सम्पादनकरके बाल्यभाव मे स्थित रहे। मुनिभाव और पाण्डित्य को प्राप्त करके शोक मोह से रहित होकर अपने को कृतार्थ मानकर निर्द्वन्द्व हो जाय। ऐसा ही ब्राह्मण कृतकृत्य माना जाता है। इससे अतिरिक्त जितने प्राणी हैं सब आर्त हैं–दुखी हैं–अन्तवन्त हैं–नाशवान् हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! महामुनि याज्ञवल्क्यजी के इस उत्तर मे कौषीतकेय कहोल निरुत्तर हो गये। अब उनके पास पूछने को कोई अन्य प्रश्न रहा ही नहीं अतः वे चुप हो गये। उनके चुप हो जाने के अनन्तर जेसे वाचक्नवी गार्गी नाम की विदुषी शास्त्रार्थ के लिये उनके सम्मुख आई और जैसे याज्ञवल्क्य तथा गार्गी मे शास्त्रार्थ हुआ, इस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

पुत्र, वित्त अरु लोक ऐषणा साध्य साधना।
दोऊ एकहि होइ ब्रह्मविद करै कलपना॥
करि पाडित्यहिँ प्राप्त बाल्य भावहिँ रमि जावै।
ब्राह्मण मुनि बनि होइ धन्य पर-पदवी पावै॥
कैसे हू पदवी परम, पावै विज्ञ कृतार्थ है।
शेष सकल जन दुखी है, नाशवान अरु व्यर्थ है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय मे
पाँचवाँ कहोल ब्राह्मण समाप्त

—:—

याज्ञवल्क्य और गार्गी का शास्त्रार्थ

[२३४]

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोत च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ६ ब्रा० १ मन्त्राश)

छप्पय

चुप कहोल जब भये फेरि तहँ गार्गी आई।
बोली—जल में ओत प्रोत कुत जलहु समाई॥
कह्यो वायु में रहे, वायु कामें? सो नभ में।
नभ कामें? गन्धर्व लोक में सो अदितहु में॥
रहे कहाँ आदित्य है, ओत प्रोत वह चन्द्र में।
चन्द्र कहाँ? नक्षत्र में, ओत प्रोत सो कवन में?

संसार मे सभी पदार्थों की सीमा है। एकमात्र ब्रह्म ही निस्सीम है। ब्रह्म की कोई सीमा निर्धारित नहीं कर सकता। वल

---

* कहोल मुनि के चुप हो जाने पर याज्ञवल्क्य जी से शास्त्रार्थ करने वचक्नु ऋषि की पुत्री गार्गी वहाँ आई। उसने याज्ञवल्क्य जी से पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! यह जो दृश्य सम्पूर्ण जगत है सब जल मे ओत प्रोत है, किन्तु यह जल किसमे ओत प्रोत है?"

को, विद्या को, धन को, यश को, कीर्ति की एक निश्चित सीमा है। धन कितना ? कुबेर की भाँति ? अब तुम पूछो कुबेर के धन से भी बड़ा किसका धन है ? तो परमात्मा के अतिरिक्त किसका नाम लेंगे। फिर पूछो—परमात्मा से भी बढ़कर धन किसका ? तो यह तो अति प्रश्न हुआ। एक ऐसी सीमा निर्धारित कर देना चाहिये कि जिसके आगे कोई प्रश्न ही न हो। हम आर्य सनातन वैदिक धर्मावलम्बियों ने वेद तथा परमात्मा को एक निश्चित सीमा मान रखा है। कोई भी आस्तिक वर्णाश्रमी तर्क के ऊपर तर्क करता चलेगा, किन्तु जहाँ कह देंगे ऐसा वेद का वचन है, तो वह चुप हो जायगा, क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है, उसके लिये अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार इसने इसको बनाया, इसने इसको बनाया, ऐसे क्रमबद्ध कहते चलो जहाँ जाकर कह दें, कि इसको ईश्वर ने बनाया, तो फिर यह प्रश्न नहीं किया जाता, कि ईश्वर को किसने बनाया। ईश्वर एक मर्यादा है, सीमा है, उसे कोई बनाता नहीं। वे सदा सर्वदा से अनादिकाल से बने बनाये हैं और अनंतकाल तक बने रहेंगे। इसलिए आस्तिकों ने वेद और ईश्वर की अंतिम सीमा निर्धारित कर दी है। कुछ लोगों ने शून्य की सीमा निर्धारित की है। शून्य कोई वस्तु ही नहीं। उसके प्रति भक्तिभाव आदर सत्कार कैसे करें। इससे अच्छा तो यही है कि परमात्मा तथा वेद आदर की तो वस्तु हैं। इसी प्रकार प्रश्नों की भी एक सीमा है, जो सीमा का उल्लङ्घन करके प्रश्न करता है, उसका वह प्रश्न अति प्रश्न कहा जाता है। विद्वान् लोग अति प्रश्न का उत्तर नहीं देते। जो अति प्रश्न करता है, वह स्वतः परास्त समझा जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! उपनिषदें इस दृष्य जगत् के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने का उपदेश देती हैं। पृथ्वी से

लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी एक दूसरे में ओत प्रोत हैं। अतः ब्रह्मज्ञान के पूर्व इनका जानना आवश्यक है। इसीलिये परम विदुषी गार्गी ने महामुनि याज्ञवल्क्यजी से इसी सम्बन्ध के प्रश्न पूछे थे। कहोल मुनि के चुप हो जाने पर अब वचक्नु की पुत्री वाचक्नवी गार्गी शास्त्रार्थ के लिये सम्मुख आयी। उसने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! मैं भी कुछ पूछूँ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—'हाँ, अवश्य पूछिये।'

गार्गी ने कहा—"देखिये वस्त्र के ताने में और बाने में सूत्र-ही सूत्र है। अर्थात् वस्त्र ओत लम्बाई में भी सूत्र है और प्रोत चौड़ाई बाने में भी सूत्र है। अर्थात् वस्त्र सूत्र तंतु-से ओत प्रोत है। वस्त्र में सूत्र के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार यह समस्त पार्थिव धातु समुदाय जल से ओत प्रोत है। यह पृथ्वी भी जल के ही ऊपर अवस्थित है। इसके चारों ओर जल-ही जल है। ऊपर जल, नीचे जल, दाये जल, बायें जल। चारों ओर जल-ही जल है। जैसे यह पार्थिव धातु समुदाय जल से ओत प्रोत है उसी प्रकार जल किससे ओत प्रोत है?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जैसे पृथ्वी जल में ओत प्रोत है, उसी प्रकार वायु में जल ओत प्रोत है। पृथ्वी में, जल में कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ वायु न भरी हो।"

इस पर पुनः गार्गी ने पूछा—"वायु किसमें ओत प्रोत है?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"अन्तरिक्ष लोकों में अर्थात् आकाश में वायु ओत प्रोत है। आकाश में--अवकाश में--सर्वत्र वायु-ही-वायु है।"

गार्गी ने पूछा—"अन्तरिक्ष लोक किसमें ओत प्रोत है?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"अन्तरिक्ष लोक गन्धर्व [illegible] ओत प्रोत है।"

गार्गी ने पूछा—"गन्धर्व लोक किसमे ओत प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गन्धर्व लोक हे गार्गी ! [illegible] लोक मे ओत प्रोत है।"

इस पर पुनः गार्गी ने प्रश्न किया—"अच्छा, याज्ञवल्क्य जी ! यह बताइये आदित्य लोक किसमें ओत प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"हे गार्गी ! आदित्य लोक चन्द्र लोक में ओत प्रोत है। क्योंकि आदित्य लोक से चन्द्र लोक परे है।"

इस पर गार्गी ने पूछा "यह बताइये याज्ञवल्क्यजी ! चन्द्र लोक किसमे ओत प्रोत है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"चन्द्र लोक नक्षत्र लोकों में ओत प्रोत है, क्योंकि नक्षत्र लोक चन्द्रलोक से ऊँचे हैं।"

गार्गी ने पूछा—"अच्छा, नक्षत्र लोक किनमें ओत प्रोत हैं।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"नक्षत्र लोक देवलोको में ओत प्रोत हैं, क्योंकि देवलोक नक्षत्र लोकों से भी ऊपर हैं।"

"फिर देवलोक किसमें ओत प्रोत है ? याज्ञवल्क्यजी !" ऐसा गार्गी ने पूछा।

"हे गार्गी ! देवलोक इन्द्रलोक मे ओत प्रोत है।" ऐसा याज्ञवल्क्यजी ने उत्तर दिया।

हे याज्ञवल्क्य ! इन्द्रलोक किस लोक मे ओत प्रोत है ?" ऐसा गार्गी ने पुनः पूछा।

"गार्गी ! इन्द्रलोक प्रजापति लोकों में ओत प्रोत है।" ऐसा उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने दिया।

"अच्छा, बताओ याज्ञवल्क्यजी ! प्रजापति लोक किसमे ओत प्रोत है ?" ऐसा गार्गी ने पूछा ?

याज्ञवल्क्यजी ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"हे गार्गी ! प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक मे ओत प्रोत हैं।

इस पर गार्गी ने पुनः पूछा—"तो याज्ञवल्क्यजी ! यह बताइये ब्रह्मलोक किसमें ओत प्रोत है ?"

इस पर हँसकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गि ! कहीं अत भी करोगी, कि पूछती ही जाओगी। परात्परलोक तो ब्रह्मलोक है। सभी तो इसी मे ओत प्रोत हैं। जिसमे समस्त विश्वब्रह्माड ओत प्रोत हैं, वह किसमे ओत प्रोत होगा। यह तो तुम्हारा अतिप्रश्न है। सीमा स बाहर का प्रश्न है। देखो, सीमा मे रहो, मर्यादा का उल्लङ्घन मत करो। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। मैं फिर कहता हूँ ब्रह्मलोक में आकर प्रश्नों की इति श्री हो गयी, तू अतिप्रश्न मत करे। यदि तू इससे आगे बढ़ेगी, अतिप्रश्न करेगी, ता तेरा मस्तक धड स पृथक् हो जायगा। अतः ऐसा कर जिससे तेरा मस्तक धड से गिरकर पृथक् न हो जाय। जो देव सबकी सीमा है जिसके विषय में अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये। ऋषियो ने जिसकी मर्यादा बाँध दी है, उस मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। तू मर्यादा का विचार न करके जिस देवता के विषय में प्रश्न न करना चाहिये उसके विषय मे तू अति प्रश्न कर रही है। इसलिये मैं तुझसे कहता हूँ तू दुस्साहस न कर, प्रश्न की सीमा का अतिक्रमण न करके अतिप्रश्न के आग्रह का परित्याग कर दे। अतिप्रश्न करना छोड दे।"

सूतजी कहते हैं-"मुनियो ! जब महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने गार्गी से इस प्रकार धर्मयुक्त दृढता के स्वर में वचन कहे, तब वचक्नु

याज्ञवल्क्य और आरुणि का शास्त्रार्थ (१)

(२३५)

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानाः तस्याऽऽसीद् भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत कबन्ध आथर्वण इति ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ७ ब्रा० १ .....म०)

छप्पय

उद्दालक जो अरुण तनय पुनि आगे आये।
बोले—'गाथा एक कहूँ' तिनि वचन सुनाये॥
काप्य पतञ्चल मद्रदेश तिहि निवसे घर हम।
नारि तासु गन्धर्व गृहीता कबंध अथरवण॥
सो पूछत—'द्विज पतञ्चल, अन्तरयामी सूत्र तुम।
जानत हो? तिनि ना करी, ताकूँ पूछें तुमहिँ हम॥

सर्व शक्तिमान परमेश्वर संसार के अणु परमाणु में व्याप्त

---

* गार्गी के अनन्तर याज्ञवल्क्यजी से अरुण के पुत्र उद्दालक ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! पहिले हम मद्रदेश में कपिगोत्रीय पतञ्चल के घर में यज्ञ के विषय का अध्ययन करते हुए निवास करते थे। उनकी स्त्री पर किसी गन्धर्व का आवेश आता था। हमने उससे पूछा—'तू कौन है? उसने कहा—"मैं आथर्वण कबन्ध हूँ।"

अनेन—इति सूत्रम्) जब तक वस्त्र बनना आरम्भ नहीं होता, तब तक वह सूत कहाता है, जब वह ताने बाने में ओत प्रोत होकर बुन जाता है, तो उसकी वस्त्र संज्ञा हो जाती है। जब तक फूल या मुक्ता पृथक् रहते हैं और सूत पृथक् रहता है, तब तक दोनों के पृथक्-पृथक् नाम होते हैं। जब फूल या मनके सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं तो दोनों की मिलकर माला संज्ञा हो जाती है। माला का आधार सूत्र ही है। सूत्र को माला से पृथक् कर लो तो फूल तथा मनके बिखर जायेंगे। माला संज्ञा नष्ट हो जायगी। आपका प्रश्न है जिस सूत्र मे यह लोक, परलोक तथा समस्त भूत समुदाय, गुँथे हुए हैं वह सूत्र क्या है, तो मेरा उत्तर है, वह सूत्र वायु है। यह वायु आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है। वायु द्वारा ही ये समस्त प्राणी ग्रथित हैं। उदाहरण के रूप में इस मनुष्य शरीर को ही ले लीजिये। इस शरीर मे वात, पित्त, और कफ तीन ही प्रधान हैं। ये तीन सम रहते हैं यथा-क्रम रहते हैं, तब शरीर स्वस्थ रहता है। जब ये विषम हो जाते हैं शरीर अस्वस्थ हो जाता है। इनमें भी पित्त पंगु है। कफ भी पंगु है। ये चल नहीं सकते। स्वतः काम कर नहीं सकते। जैसे आकाश मे घन हैं, वे स्वतः चल नहीं सकते। वायु जिधर उन्हें उड़ाकर ले जाती है, उधर ही वे चले जाते हैं। इसी प्रकार कफ तथा पित्त को वायु ही समस्त शरीर में घुमाती है। प्राण भी वायु रूप ही है। जब तक शरीर मे प्राणवायु रहती है, तभी तक शरीर सुसंगठित बना रहता है। जब प्राण वायु निकल जाती है, तो शरीर फिर शरीर न रहकर शव बन जाता है। मृतक शरीर को मनुष्य कहते हैं इसके अंग विस्रस्त हो गये, विशीर्ण हो गये, बिखर गये, अस्त व्यस्त हो गये। क्योंकि जितने अंग हैं, अवयव हैं, वे सबके सब वायु रूप सूत्र के द्वारा

ही संग्रथित होते हैं। प्राण वायु ही शरीर के समस्त अंगों को सुसंगठित बनाये रखती है। जैसे शरीर के समस्त अङ्ग वायु द्वारा सुसंगठित हैं वैसे ही लोक परलोक तथा समस्त भूत वायु रूप सूत्र में गुँथे हुए हैं।"

यह सुनकर आरुणि उद्दालक ने कहा—"आपका कथन यथार्थ है। वायु ही वह सूत्र है। यह तो आपने यथातथ्य उत्तर दिया। अब कृपा करके मेरे दूसरे प्रश्न का भी उत्तर दीजिये। जो इस लोक, परलोक तथा समस्त भूत समुदाय को भीतर से नियमित करता है, उस अन्तर्यामी का वर्णन और कीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब जैसे आरुणि उद्दालक के दूसरे प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्यजी अन्तर्यामी का वर्णन करेंगे, उस प्रसंग का मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

लोक और परलोक भूत समुदाय ग्रथित जिहि।
कौन सूत्र तिहि कहो और अन्तर्यामीहु किहि॥
याज्ञवल्क्य सुनि कह्यो सूत्र अरु अन्तरयामी।
जानूँ हौं, सो कहो, आपु तो पंडित नामी॥
उद्दालक वह वायु है, सूत्र-ग्रथित जामें सबहिँ।
अन्तरयामी अरु कहो, गैयनि लै जाओ तबहिँ॥

याज्ञवल्क्य और आरुणि का शास्त्रार्थ (२)

[२३६]

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं य पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ७ ब्रा० ३ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य पुनि कहें न जाने पृथिवी हू जिहि ।
भू वासी भू माहिं माम तन भू नियमन तिहि ॥
अन्तरयामी अमृत आतमा है सो तुमरो ।
यों ही जल अरु अग्निनि अन्तरिक्ष हु है हमरो ॥
वायु, स्वरग, आदित्य में, दिशनि, चन्द्र, तारा रहै ।
आकाशहु तम, तेज में, अन्तरयामी अमत है ॥

---

* अन्तर्यामी का निरूपण करते हुए याज्ञवल्क्य जी कह रहे हैं—"हे गौतम ! जो पृथ्वी पर रहने वाला होकर पृथ्वी के भीतर है, किन्तु जिसे पृथ्वी जानती नहीं । वास्तव में यह पृथ्वी का शरीर है, जो पृथ्वी के भीतर रहकर उसका नियमन करता है, यही तुम्हारा अंतर्यामी अमृत आत्मा है ।'

हम लोग इन्द्रियों को देख नहीं सकते। वास्तव में जिन्हें हम आँख, नाक, रसना, कान, हाथ, पैरादि इन्द्रियाँ कहते हैं। वे इन्द्रियाँ न होकर इन्द्रियों के गोलक हैं। जैसे किसी की कमर में करवाल लटक रही है, हम उसे देखकर कहते हैं—"देखो, इसकी कमर में कैसी सुन्दर करवाल है।" वास्तव में जिसे हम करवाल कहते हैं, वह करवाल का वेस्टन है--खोल है--म्यान है। करवाल तो उसके भीतर छुपी है, वह वेस्टन से ढकी होने से दीखती नहीं। इसी प्रकार जिन्हें हम आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ कहते हैं वे इन्द्रियों के गोलक हैं, इन्द्रियाँ उनके भीतर रहती हैं। सूक्ष्म होने से वे दिखाई नहीं देतीं। इन्द्रियों से परे उनके शब्द, रूप, रस तथा गन्धादि उनके विषय हैं। जिन्हें इन्द्रियार्थ या तन्मात्रायें कहते हैं। उन इन्द्रियार्थों से भी परे मन है। मन से परे बुद्धि है। बुद्धि से परे महानात्मा अर्थात् महत्तत्व है। महत्तत्व से परे अव्यक्त तत्व है। अव्यक्त से परे अमृत है। उस अमृत से परे कोई नहीं है। वह परात्पर है। वह सबकी पराकाष्ठा है परागति है। वह अमृत ही अन्तर्यामी है। अन्तर्यामी उसे क्यों कहते हैं? इसलिये कि वह सबके अन्दर रहकर सबको उनके कार्यों में नियोजित करता है। (अन्तर्मध्ये यमयति स्व स्व कार्येषु–इन्द्रियादीनि नियोजयति= इति अन्तर्यामी) जो बाह्य तथा अन्तःकरणों को उनके कार्यों में भीतर रहकर लगाता रहता है उसे अन्तर्यामी कहते हैं। उसे ही सूत्रधार कह लीजिये। जैसे कठपुतली नचाने वाला भीतर छिपा हुआ बैठा रहता है, किन्तु सब कठपुतलियों के सूत्र उसके हाथ में रहते हैं। वह जिस कठपुतली को जैसा संकेत करता है उसके सूत्र को जैसे हिलाता है-कठपुतली वैसा नाच नाचने लगती है। जो अज्ञ दर्शक बाहर बैठे नाच देखते हैं, वे सब

समझते हैं, काठ की बनी कठपुतलियाँ ही नाच रहीं हैं। स्वयं वे नाचने वाली कठपुतलियाँ भी नहीं जानती हमें कौन नचा रहा है। विज्ञ पुरुष ही अनुमान से यह जानते हैं कि काठ की पुतलियों में नाचने की सामर्थ्य कहाँ है, इन्हें तो कोई भीतर बैठा हुआ--छिपा हुआ व्यक्ति सूत्र के आधार से नचा रहा है। यद्यपि वे विज्ञ पुरुष भी उसे प्रत्यक्ष देख नहीं रहे हैं, किन्तु अनुमान से उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। ऐसे ही संसार के समस्त भूत समुदाय को जो नियम में बाँधकर चला रहा है। सबको क्रमबद्ध नचा रहा है। वही अन्तर्यामी अमृत आत्मा है। वह परात् पर है। उससे परे कोई भी नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब आरुणि उद्दालक के सूत्र का उत्तर याज्ञवल्क्यजी ने दे दिया तब आरुणि ने कहा—"सूत्र के विषय में जो आपने बताया, वह तो ऐसा ही है। अब अन्तर्यामी के सम्बन्ध में और बताइये।"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जो पृथ्वी में रहने वाला है वही अन्तर्यामी है।"

आरुणि—"पृथ्वी में तो सभी रहते हैं, क्या सभी अन्तर्यामी हैं।"

याज्ञ०—"नहीं, पृथ्वी में रहने वाला ही नहीं जो पृथ्वी के भीतर विद्यमान है।"

आरुणि—"पृथ्वी के भीतर तो उसकी अधिष्ठातृ देवी पृथ्वी बैठी है, क्या पृथ्वी देवता अन्तर्यामी है?"

याज्ञ०—"नहीं, पृथ्वी देवता को तो यह स्थूल पृथ्वी जानती है, कि यह हमारी अधिष्ठातृ है, किन्तु पृथ्वी के अणु परमाणु में विद्यमान होने पर भी पृथ्वी जिसे नहीं जानती कि मेरे भीतर भी कोई देवता बैठा हुआ है। इतना होने पर भी जिसका शरीर

में, आकाश मे, तम मे, तथा तेज मे रहने वाला है। जो इन सब के भीतर विद्यमान है, जिसे ये सब जानते नहीं ये सब ही जिसके शरीर हैं। जो इन सब के भीतर रहकर इन सभी का नियमन किया करता है। जो पृथ्वी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशाओं चन्द्रमा तथा ताराओं, आकाश, तम और ज्योति आदि सब को सदा सुव्यवस्थित रखता है। वही तुम्हारा हमारा समस्त ससार का अन्तरात्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही परार्थ कार्यों को करने वाला–स्वकर्त्तव्य से रहित अन्तर्यामी है, उसी को अमृत--समस्त ससारी धर्मों से रहित--कहते हैं। तुमने जो अन्तर्यामी के सम्बन्ध मे प्रश्न किया वह यही अन्तर्यामी हैं। समझ गये न ? यदि न समझे हो तो और बताऊँ ?"

आरुणि ने कहा—"बताइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"जो समस्त भूतों मे, प्राण में, वाणी मे, नेत्र मे, श्रोत्र मे, मन में, तथा बुद्धि मे रहने वाला है। इन सबके भीतर बैठा रहता है, जिसे ये सब जानते भी नहीं। किन्तु ये ही सब उसके शरीर हैं। जो इन सबके भीतर रहकर इन सबका नियमन करता है, इन सबको सदा सर्वदा सुव्यवस्थित रखता है। वही हमारा तुम्हारा तथा समस्त संसार का अन्तरात्मा अन्तर्यामी है उसी को अमृत कहते हैं। समझ गये। या और समझाऊँ ?"

आरुणि—"हाँ और समझाइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"ये सब प्राणी किससे पैदा होते हैं ? वीर्य से पैदा होते हैं। वीर्य तो एक द्रव्य पदार्थ है, उसमें इतनी सामर्थ्य कहाँ जो चींटी जैसे छोटे जीव और हाथी जैसे बड़े जीव को पैदा कर दे। वीर्य तभी जीवों को पैदा कर सकता है

जब उसमें कोई अन्तर्यामी रह रहा हो। जो अन्तर्यामी उस वीर्य के अणु परमाणु मे इस प्रकार व्याप्त हो जिस प्रकार मिश्री के अणु परमाणु में मीठा व्याप्त रहता है इतना होने पर भी वीर्य इस बात से अनभिज्ञ ही बना रहता है, कि मेरे भीतर बैठकर कोई अन्तर्यामी मुझसे समस्त कार्यों को करा रहा है। वही मुझे पुरुष द्वारा स्त्री गर्भ मे पहुँचाता है, वही स्त्री के रज मे बैठकर मुझे उसमें मिलाता है वही दोनो को मिलाकर एक रात्रि मे कलल, पाँच रात्रि मे बुद्बुद, दस दिन मे बेर सदृश, वही मास-पेशी, अडज जीवों मे अडज आदि रूप में परिणत करता है। वही एक मास मे हाथ सिर, दो मास मे पाँव, तीन मास मे नख, रोम, अस्थि, चर्म, स्त्री पुरुष के चिन्ह उत्पन्न करता है, वही चार मास मे मांस आदि सात धातुओं के रूप मे परिणत करता है, वही पाँचवें महीने मे शरीर का ढाँच बनाकर भूख प्यास उत्पन्न करता है, वही छटे मास मे झिल्ली-जरा -से लिपटा कर दाहिनी कोख में घुमाता है। वही माता के खाये अन्न जल में बैठकर उस गर्भस्थ बालक की समस्त धातुओं को पुष्ट करता है। वही सातवें महीने मे उसे पूर्ण बनाकर बाहर निकलने को उत्साहित करता है। फिर वही दशवे महीने मे प्रसूत मारुति द्वारा उसे उदर से बाहर निकालता है। वीर्य के इतने रूप कैसे बन जाते हैं इसे स्वय वीर्य भी नहीं जानता। जिस अन्त-र्यामी का शरीर ही वीर्य है। जो वीर्य के भीतर रहकर निरन्तर उसकी समस्त क्रियाओं का नियमन करता रहता है। वही हमारा तुम्हारा समस्त ससार का वीर्य मे भी रहने वाला अन्तरात्मा अन्तर्यामी है उसी को अमृत भी कहते हैं। समझ गये या और समझाऊँ ?'

आरुणि ने कहा—"फिर वह अन्तर्यामी दीखता क्यों नहीं ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, तुम बच्चों के जैसे प्रश्न मत करो। जो सबको देखने की शक्ति प्रदान करता है, उसे तुम किसके द्वारा देखोगे ? वह स्वयं दिखायी नहीं देता। किन्तु वही सबको देखता है, सबको देखने की शक्ति प्रदान करता है। उसका शब्द इन संसारी श्रवणों द्वारा सुनायी नहीं देता, किन्तु वह सबके शब्दों को सतत सुनता रहता है। वह मन के द्वारा मनन का विषय नहीं है, किन्तु सबका मनन वह स्वयं करता है। बुद्धि द्वारा विशेषतया ज्ञात न होने वाला होने पर भी वह विशेष रूप से सबको जानता रहता है। वही तुम्हारा हमारा तथा सम्पूर्ण संसार का आत्मा अन्तर्यामी है। वही अमृत है। उस अमृत के अतिरिक्त सब दुःखमय है। आर्त है नाशवान् है। वही अन्तर्यामी है। उस आथर्वण कबन्ध गन्धर्व ने इसके अतिरिक्त यदि अन्तर्यामी की व्याख्या की हो तो मुझे बताइये ?"

इस पर आरुणि उद्दालक ने कहा—"महानुभाव याज्ञवल्क्य जी ! आप सूत्र को भी जानते हैं और अन्तर्यामी को भी जानते हैं। इसके अतिरिक्त अब मुझे आपसे कुछ भी नहीं पूछना है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अपने दोनों प्रश्नों का यथार्थ उत्तर पा जाने के पश्चात् अरुण के पुत्र उद्दालक मुनि चुप हो गये। वे प्रश्न करने से उपरत हो गये। अब उनके चुप हो जाने के अनन्तर जैसे फिर से परम विदुषी वचक्नु महर्षि की पुत्री वाचक्नवी गार्गी याज्ञवल्क्य जी से प्रश्न पूछेगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सब इस परम पावन पुण्य आख्यान को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

सब भूतनि में प्राण, वाक, श्रोत्रहु अरु मन में।
बुद्धि वीर्य में रहे नहीं जानत ये हममें॥
इन सबको यह देह करै नियमन इनि सबको।
नहीं दिखायी देइ कार्य देखै सब इनिको॥
श्रोता, विज्ञाता सबहिं, मन्ता सबमें नित रहै।
अन्तरातमा सबनि को, अन्तरयामी अमृत है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय मे
सप्तम अन्तर्यामी ब्राह्मण समाप्त।

पुनः गार्गी का याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ (१)

[२३७]

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न जातु युष्माकमिम कश्चिद् ब्रह्मोद्य जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ८ ब्रा० १ म०)

छप्पय

आरुणि जब चुप भये फेरितैं गार्गी आई।
सबतैं अनुमति मागि पडिताई दरसाई॥
हौं द्वै पूछूं प्रश्न दउ उत्तर तो विजयी।
ऊपर, नीचे, मध्य, सतत स्वरगहु मुन पृथिवी॥
ओत प्रोत को इनि सबनि? कहैं याज्ञ आकाश है।
ओत प्रोत आकाश में, किहि में वह आकाश है?

---

* आरुणि के चुप हो जाने के अनन्तर फिर से वाचक्नवी गार्गी ने आकर समुपस्थित सभी सभासदो से कहा—"परमपूजनीय ब्राह्मणवृन्द! अब आप मुझे इनसे दो प्रश्न पूछने की अनुमति प्रदान करें। मैं इनसे केवल दो प्रश्न पूछूंगी मेरे इन दोनो प्रश्नो का ये यदि यथार्थ उत्तर दे देंगे, तो समझ लेना चाहिये आप मे से कोई भी इन्हे ब्रह्मवाद मे जय नहीं कर सकता।" ब्राह्मणो ने कहा— 'अच्छा गार्गी तू इनसे प्रश्न पूछ।"

तास का एक खेल होता है। उसमे पान, ईंट, चिडी और हुकुम, इस रग के १३ १३ पत्ते होते हैं। इक्का से लेकर दहला तक के दश और दास, रानी और राजा तीन य ऐस प्रत्येक रग के १२-१३ पत्ते होने से सब ५२ पत्ते होते हैं। दो या चार व्यक्ति खेलते हैं। सब पत्तों को एक मे रखकर विपक्ष वालो से कुछ पत्ते उठाने को कहते हैं। जितने पत्ते वह उठा लेता है, उन्हे नीचे रख देते हैं। अब सबसे ऊपर के पत्ते को उलटकर देखते हैं। वह जिस रग का हो, तो उसी रग की 'तुरफ' मानी जायगी। जैसे ऊपर पान का दुक्का है, तो पान की 'तुरफ' हो गयी। फिर वे सब पत्ते खेलने वालों मे बराबर-बराबर बॉट दिये जाते हैं। खेलने वालों में से जिसके पास तुरफ के जितने पत्ते अधिक आ जायेंगे, वह उतना ही अधिक प्रसन्न हो जायगा। किसी ने नेहला डाला तो जिस पर दहला होगा, वह उसे जीत लेगा। जीतने का क्रम यह है कि दुक्का को तिक्का, तिक्का को चौका, चौका का पजा, पजा को छक्का, छक्का को सत्ता, सत्ता को अट्ठा, अट्ठा को नहला और नहला का दहला जीत लेता है। दहला को दास, दास को रानी और रानी को राजा और राजा को भी इक्का जीत लेता है। इक्का पत्तों मे सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु इक्का को भी तुरफ का पत्ता जीत लेता है। तुरफ का पत्ता चाहे दुक्का तिक्का कोई भी क्यों न हो वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उस तुरफ का प्रयोग लोग अन्त मे तभी करते हैं जब जीतने का अन्य कोई उपाय न हो। उनका प्रयोग सबसे अन्त मे विवश होकर उसे अचूक समझ कर करते हैं।

यही बात शास्त्रार्थ मे भी होती है। शास्त्रार्थ करने वाले किन्हीं गूढतम प्रश्नों को सुरक्षित रखते हैं। पहिले तो सामा- प्रश्न करते हैं। विपक्ष का विद्वान् सामान्य प्रश्नों से

हो गया, तब तो कोई बात ही नहीं। जब वह किसी प्रकार परास्त नहीं होता तब गूढ़ प्रश्न पूछते हैं। उनसे भी न हो, तो गूढ़तर प्रश्न पूछते हैं। उससे भी परास्त न हो गूढतम प्रश्न सबसे अन्त में पूछते हैं। उसका भी विपक्ष उत्तर दे दिया, तो अपनी पराजय मान लेते हैं।

पहिले इसी उपनिषद् के छटे गार्गी ब्राह्मण में गा और याज्ञवल्क्यजी के शास्त्रार्थ का वर्णन हो चुका है उसमें गार्गी एक के पश्चात् एक प्रश्न करती गयी है। अमुक किसमें ओत-प्रोत है। याज्ञवल्क्यजी इसका उत्तर गये। यह पृथ्वी जल में ओत-प्रोत है, जल वायु में ओत-प्रो है, वायु अन्तरिक्ष में इस प्रकार गार्गी पूछती गयी अन्तरि किसमें ओत-प्रोत है याज्ञवल्क्यजी कहते गये वह गन्धर्वलो में। वह पूछती ही गयी फिर वह किसमें, फिर वह किस अन्त में याज्ञवल्क्यजी ने प्रजापति लोक बताया। गार्गी पूछा अच्छा, प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है? तब याज्ञ वल्क्यजी ने कहा—"वह प्रजापति लोक परब्रह्म परमात्म श्रीब्रह्मलोक में ओत प्रोत है। इस पर पुनः उसने पूछा– ब्रह्म लोक किसमें ओत प्रोत है? इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा- "गार्गी! अब तू अतिप्रश्न करने लगी। ब्रह्मलोक से परे कोई लोक ही नहीं। वह तो परात्परलोक है। इससे आगे यदि तू पूछेगी, तो अतिप्रश्न पूछने के अपराध से तेरा सिर धड़ से पृथक होकर गिर जायगा।" सिर कटने के भय से उस समय तो वह चुप हो गयी। किन्तु उसने याज्ञवल्क्य जी को जीतने के लिये जो तुरफ के दो पत्ते–दो गूढ़तम प्रश्न सुरक्षित रख रखे थे, उनका प्रयोग नहीं किया। वह उस समय शान्त हो गयी।

अब जब सुप्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता अरुण ऋषि के पुत्र महर्षि

उद्दालकजी ने सूत्र और अन्तर्यामी के सम्बन्ध में दो प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्यजी ने दोनों का ही यथार्थ उत्तर दे दिया, तो गार्गी पर अब न रहा गया। नियमानुसार जो एक बार परास्त हो चुका है, उसे पुनः प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं। किन्तु यदि विद्वत् परिषद् पराजित को भी पुनः प्रश्न करने की अनुमति दे दें, तो परिषद् के विद्वान् सभासदों की अनुमति से पराजित भी पुनः प्रश्न पूछ सकता है। इसी न्याय से गार्गी तो पहिले ही परास्त हो चुकी थी, इसीलिये अब के उसने सीधे याज्ञवल्क्य से प्रश्न नहीं किया। अपने छिपाये हुए दो गूढतम प्रश्नों के पूछने के लिये पहिले उसने सभासदों से अनुमति लेना आवश्यक समझा। अतः उसने सर्वप्रथम सभा में समुपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों से ही प्रश्न करने की अनुमति माँगना उचित समझा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्दालक आरुणि के चुप हो जाने के अनन्तर फिर से वचक्नु मुनि की पुत्री वाचक्नवी गार्गी ने सीधे याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न न करके सभा में समुपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों को सम्बोधित करके कहा—"हे षडैश्वर्य सम्पन्न परम पूजनीय विप्रवृन्द! यदि आप सबकी आज्ञा हो, तो मैं इन याज्ञवल्क्यजी से दो प्रश्न और पूछना चाहूँगी। मेरे ये दो प्रश्न ऐसे हैं कि यदि ये उन मेरे दो गूढतम प्रश्नों का उत्तर दे देंगे, तो फिर ये सर्वविजयी होने के अधिकारी समझे जायँगे। फिर इन्हें आप में से कोई भी विद्वान् ब्रह्म सम्बन्धी शास्त्रार्थ में जीत नहीं सकता। आप यदि अनुमति दे दें तो मैं इनसे वे दो प्रश्न पूछूँ?"

याज्ञवल्क्यजी के उत्तर देने के रँग ढँग से ही सब अनुमान कर रहे थे, कि अब इन्हें कोई विद्वान् जीत नहीं सकता। जब गार्गी

ने पुनः ऐसे दृढ़ता के शब्द कहे तब तो सबको आन्तरिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा—अच्छा है यह एक महिला ही द्वारा परास्त हो। ऐसा सोचकर सभी ने एक स्वर से कहा—"गार्गी! बड़ी प्रसन्नता की बात है तुम इनसे जो पूछना चाहती हो, पूछो।"

ब्राह्मणों की अनुमति पाकर अब गार्गी महामुनि याज्ञवल्क्य जी के सम्मुख आयी। आकर उसने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! जैसे कोई काशी राज्य का अथवा विदेह राज्य का धनुर्धारी वीर जिसने अपने धनुष की डोरी उतार दी हो, और फिर धनुष पर डोरी—प्रत्यञ्चा चढ़ाकर दो ऐसे तीक्ष्ण बाणों को हाथ में लेकर जिनके द्वारा वह अपने शत्रुओं को अत्यन्त ही प्रपीड़ित कर सके पुनः शत्रु के सम्मुख आ डटे, वैसे ही मैं अत्यन्त तीक्ष्ण बाण रूपी दो प्रश्नों को लेकर आपके सम्मुख समुपस्थित हुई हूँ। क्या तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दोगे?"

यह सुनकर सरलता के साथ याज्ञवल्क्यजी ने कहा—गार्गीजी! आप पहिले प्रश्न पूछिये तो सही, मैं दे सकूँगा तो उत्तर दूँगा।"

इस पर गार्गी ने कहा—"मेरे ओत प्रोत वाले प्रश्न याद हैं! उसी के सम्बन्ध में प्रश्न पूछूँगी?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पूछो न?"

गार्गी बोली—"याज्ञवल्क्यजी, अच्छा यह बताइये। जो स्वर्ग लोकों से भी ऊपर है और भूलोक से भी नीचे है तथा जो भूलोक और स्वर्गलोक के भी मध्य में है। और जो स्वयं भी भू है तथा स्वर्ग है। तथा जिसे भूत, भविष्य और वर्तमान कहते हैं। वह किसमें ओत प्रोत है?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—'देखिये, गार्गीजी! स्वर्ग से ऊपर

मह, जन, तप और सत्यलोक हैं। पृथ्वी से नीचे अतल, वितल, सुतल तथा तलातल आदि सात भू विवर हैं। द्युलोक और पृथ्वी के बीच में अन्तरिक्षलोक है। वह सब सूत्र है, वह स्वयं ही द्युलोक तथा पृथ्वी और सभी लोकों में व्याप्त है तत्स्वरूप है। यह सूत्र ही भूत, भविष्य और वर्तमान काल स्वरूप है। तुम्हारा प्रश्न सूत्र के सम्बन्ध में है। अर्थात् सूत्र किसमें ओत प्रोत है? तो मैं इसका यही उत्तर देता हूं, कि वह सूत्र-वायु रूप में-आकाश में ओत प्रोत है।"

यह सुनकर गार्गी प्रसन्न हुई। उसने कहा—"याज्ञवल्क्यजी! धन्यवाद है। मैं आपको नमस्कार करती हूँ। आपने मुझे मेरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे दिया मेरे एक प्रश्न का उत्तर तो मिल गया, अब मैं दूसरा प्रश्न करती हूँ, उसका भी उत्तर देने के लिये आप उद्यत हो जाइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गीजी! आपने मेरे उत्तर को यथार्थ माना इसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। अब आप दूसरा भी प्रश्न पूछें। उसका भी मैं उत्तर दूँगा, आशा है आप उसका भी अभिनन्दन करेंगी, इसके लिये मैं पहिले से ही आपको अग्रिम धन्यवाद दिये देता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं— 'मुनियो! अब गार्गी जैसे दूसरा प्रश्न करेंगी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जामें वह आकाश ओत अरु प्रोत बतायो।
है वह अक्षर, थूल सूक्ष्म नहिं ह्रस्व कहायो॥
नहीं दीर्घ, द्रव, लाल न छाया तम न वायु तम।
गंध, गन्ध, रस, नेत्र, कान, वाणी नहिं मुख मन॥
अन्तर, माप न प्राण नहिं, तेज न बाहिर भीतरो।
स्वयं खाइ नहिं ताहि कूँ, खावै कोई दूसरो॥

पुनः गार्गी का याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ (२)

(२३८)

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गी विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥❀

(बृ० उ० ३ म० ८ ब्रा० १० मन्त्र)

छप्पय

रवि शशि ताके रहैं प्रशासन अक्षर जो है।
स्वरग, भूमि, दिन, रात, काल, सम्वत्सरसो है॥
पर्वत, नद अरु नदी बहैं नर करहिँ प्रशंसा।
देव, पितर यजमान होम अनुवर्तित यशसा॥
ता अक्षर जाने बिना, करहिँ यज्ञ, तप व्यर्थ सब।
कृपण मरै जाने बिना, जानि मरै सो विज्ञ अब॥

❀ याज्ञवल्क्यजी गार्गी से कह रहे हैं – 'हे गार्गि! इस अक्षर ब्रह्म को जाने बिना जो कोई इस लोक में हवन, यज्ञ, सहस्रों वर्षों तक तप करता है, उसका यह सब कर्म अन्तवान् ही है। जो उस अक्षर ब्रह्म को जाने बिना इस लोक से प्रयाण करता है, वह कृपण ही है। इसके विपरीत जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है, वास्तव में वही ब्राह्मण है।

यह शरीर पाप पुण्य दोनों के मिश्रण से मिलता है। कितनी योनियों के पश्चात् यह मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। मनुष्य का दूसरा नाम साधक भी है। यह मनुष्य शरीर चौराहे के सदृश है। इससे चारों ओर जा सकते हैं। मनुष्य शरीर से बुरे कर्म करने पर नरक में जा सकते हैं, अच्छे कर्म करने पर स्वर्ग में जा सकते हैं। सम करने पर फिर मनुष्य हो सकते हैं। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। इस नर मनुष्य के शरीर को पाकर परमार्थ सम्बन्धी साधन करने चाहिये। परमार्थ सम्बन्धी साधन क्या है? यज्ञ, दान, तथा तपादि शुभ कर्म ही साधन हैं। ये मनुष्यों को पावन बनाने वाले हैं। जन्मजन्मान्तरों का संचित मल बिना यज्ञ, दान तथा तपस्या के नष्ट नहीं होता। यज्ञ, दान तथा तपस्या द्वारा शरीर में जमा हुआ मल ढीला पड जाता है, वह शनैः शनैः क्षय होने लगता है।

यज्ञ अनेक प्रकार के हैं। उनमें द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ तथा संयमयज्ञ आदि अनेकों यज्ञ हैं। ये सब चित्त शुद्धि में कारण हैं। द्रव्यों को अग्नि में वेद विधि से आहुति देने को हवन कहते हैं। अपनी न्यायोपार्जित वस्तु में से ममता हटाकर उसे सविधि सुयोग्य पात्र को दे देने का नाम दान है, शास्त्रीय विधि से कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों द्वारा शरीर को सुखा देने का नाम तप है। भगवत् प्रीत्यर्थ एकादशी आदि का उपवास करना यह भी तप है। गीताजी में शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के तप इनसे भिन्न ही बताये हैं। देव, द्विज, गुरु और ज्ञानियों का पूजन, शौच सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये शारीरिक तप हैं। किसी को उद्वेग न पहुँचाने वाली, सत्य, प्रिय और हितकर वाणी बोलना, मन्त्रों का जप करना यह वाणी का तप है और मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन और आत्मनिग्रह

तथा भावों की संशुद्धि ये मानसिक तप हैं। इनके भी सात्त्विक, राजस् और तामस् तीन भेद बताये हैं।

ये तप, होम और यज्ञादि कर्म अज्ञान से लोक दिखावे को भी किये जा सकते हैं। इन यज्ञ, दान तपादि शुभ कर्मों का एक-मात्र उद्देश्य प्रभु की प्राप्ति ही है। यदि प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से कर्म किये जाते हैं तब तो ये सुन्दर हैं। यदि प्रभु प्राप्ति के निमित्त न करके लोक दिखावे को, यश, कीर्ति तथा विषय भोगों की प्राप्ति के निमित्त ये किये जायँ, तो ऐसा ही है जैसे पारस देकर उसके बदले मे काँच के मूँगे ले लिये हो। इन शुभ कर्मों द्वारा अविनाशी को प्राप्त कर ले, तब तो ये कर्म सफल हैं, और यदि इनके द्वारा फिर ही नाशवान् वस्तु प्राप्त का जायँ, तब तो इनका श्रम निष्फल ही समझना चाहिये। विषय भोग तो सभी योनियों मे कुछ-न-कुछ मिल ही जाते है। अतः समस्त साधन उस अक्षर ब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के ही निमित्त करने चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दूसरे प्रश्न का उपक्रम बाँधने को गार्गी जहाँ से छोड़ा था वहीं से पुनः प्रश्न करने लगी। उसने पूछा—"याज्ञवल्क्यजी! जो स्वर्ग से ऊपर, पृथ्वी से नीचे, स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य मे है और जो स्वयं स्वर्ग तथा पृथ्वी हैं जिन्हें भूत, भविष्य, वर्तमान इस प्रकार कहते हैं के किसमें ओत प्रोत हैं?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गि! कह तो दिया इन लक्षणों से लक्षित सूत्र आकाश मे ओत प्रोत है।"

गार्गी ने पूछा—"आकाश किसमे ओत प्रोत है?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गि! आकाश जिस परमतत्त्व में ओत प्रोत है, उसे वाणी द्वारा व्यक्ति नहीं किया जाता।"

गार्गी ने पूछा—"क्यों नहीं व्यक्त किया जा सकता?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"इसलिये गार्गि ! व्यक्त नहीं किया जा सकता, कि उस तत्त्व को ब्रह्मवादी ब्राह्मणगण अक्षर इस नाम से कहते हैं।"

गार्गी ने पूछा—"वह अक्षर कैसा है ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"कह तो दिया वह अवाङ्मनस गोचर है। उसका कोई आकार प्रकार होता, लम्बाई चौड़ाई होती तो बताते भी। वह न मोटा है न पतला, न छोटा है न बड़ा, न लाल न द्रव, न छाया है न तम, न वायु है न आकाश, न सग न असग, न रस है न गध, न नेत्र है न कान, न वाणी है न मन, न तेज है न प्राण, न मुख है न माप, न अन्तर है न बाहर, वह न किसी अन्न को खाता है और न वही किसी का अन्न है जिसे दूसरे लोग खाते हो।"

गार्गी ने कहा—"जब वह प्रत्यक्ष नहीं दीखता, तो कुछ अनुमान से ही बताइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"अनुमान से भी क्या बताया जाय। उसके विषय मे अनुमान करना भी तो कठिन है, फिर भी मैं कुछ कहता हूँ देखो, गार्गि ! उस अक्षर के ही प्रशासन मे ये सूर्य चन्द्र रहते हैं। उसी के अनुशासन को धारण किये हुए य स्थित रहते हैं। पृथ्वी तथा स्वर्ग, कालरूप से निमेष, मुहूर्त, दिन-रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, सवत्सर, ये सबके सब अक्षर के ही प्रशासन में स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! तुम्हें कहाँ तक बताऊँ ये पूर्वगाहिनी तथा अन्य नदियाँ श्वेत पर्वत से इसी के प्रशासन मे बहती हैं। अन्य नदियाँ जिस जिस दिशा को बहने लगती हैं उसी का अनुसरण करती हैं। मनुष्य जो दाता की प्रशसा करता है। देवगण यजमान का, पितृगण दर्वी होम का इसी अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में रहकर अनुवर्तन करते हैं।"

गार्गी ने पूछा—"अक्षर की ओर ध्यान न देकर यज्ञ, होम, दान तथा तपस्यादि शुभ कर्मों को करता रहे तो क्या पुरुष का कल्याण न होगा ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यज्ञ, दान, तपस्या तथा होमादि अन्तःकरण को पवित्र करने वाले शुभ कर्म अवश्य हैं, किन्तु इन सब शुभ कर्मों का एकमात्र मुख्य उद्देश्य अक्षर ब्रह्म का परिज्ञान ही है। जो पुरुष इस लोक में अक्षर ब्रह्म की उपेक्षा करके-उसे जाने बिना-होम, यज्ञ तथा असख्यों वर्ष पर्यन्त तपस्या करता है, तो ये सबके सब कर्म अन्तवन्त हैं। इन कर्मों का कभी-न-कभी क्षय हो जायगा। अतः जो पुरुष इस अक्षर ब्रह्म को बिना जाने इस लोक से मरकर जाता है, वह कृपण है। कृपण उसे कहते हैं जो ससारी भोगों की प्राप्ति की कामना से कर्म करता है। जो कामना सहित कर्मों में ही प्रवृत्त होता है। वह सर्वथा सुखी नहीं, दीन है, कृपण है। इसके विपरीत हे गार्गि ! जो अक्षर ब्रह्म का परिज्ञान करके इस लोक से प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है। वेदज्ञ है, उसके लिये जानने को कुछ भी अवशेष नहीं रहा। उसने सब कुछ जान लिया।"

गार्गी ने कहा—"उस अक्षर का कुछ भी तो स्वरूप तथा लक्षण बताइये।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"गार्गि ! तू एक ही प्रश्न को बार-बार पूछती है। मैंने कह तो दिया वह अक्षर बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का विषय नहीं है। गार्गि ! देख वाणी उसे व्यक्त करने मे सर्वथा असमर्थ है, क्योंकि वह वाणी का विषय ही नहीं वह दृष्टि का भी विषय नहीं किन्तु वह सबका द्रष्टा है। प्राणी मात्र के कर्मों को देखता रहता है। वह श्रवण का विषय नहीं। फिर भी श्रोता है सबकी बातों को सुनता रहता है। वह

मन द्वारा मनन का विषय नहीं, किन्तु स्वयं मन्ता है, सब कुछ मनन करता रहता है। वह स्वयं अविज्ञात है, किन्तु दूसरों को जानता रहता है, दूसरों का विज्ञाता है। संसार में जो अपने को द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता मानते हैं, उन सबका ऐसा मानना मिथ्या है। संसार में उस अक्षर ब्रह्म के अतिरिक्त कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता तथा विज्ञाता नहीं है। यह आकाश उसी अक्षर में ही ओत प्रोत है। अक्षर किसी में भी ओत प्रोत नहीं। वह काष्ठा है, अक्षर ही परागति है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब याज्ञवल्क्यजी ने अक्षर ब्रह्म में ही आकाश को ओत प्रोत बता दिया और वह अक्षर स्वयं में ही ओत प्रोत है, उससे परे कोई है ही नहीं, वह सर्व कारणों का कारण है। ऐसा सिद्ध कर दिया, तब गार्गी याज्ञवल्क्य की ओर से मुख मोड़कर अन्य सभा में समुपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों के अभिमुख होकर कहने लगी—"हे षडैश्वर्य सम्पन्न परम पूजनीय विप्रवृन्द! मैंने पहिले प्रतिज्ञा की थी कि ये याज्ञवल्क्यजी मेरे दो प्रश्नों का उत्तर दे देंगे, तो फिर इनको आप लोगों में से कोई भी जीत नहीं सकता। इन्होंने मेरे दोनों प्रश्नों का समुचित यथार्थ उत्तर दे दिया। अब मेरी सम्मति तो यही है कि आप इनका बहुमान करें—सम्मान करें—अब इनसे शास्त्रार्थ करके इन्हें जीतने का प्रयत्न करना छोड़ दें। आप इसी में अपना कल्याण समझें इसी को बहुत मानें कि केवल नमस्कार करके ही इनसे अपना पिंड छुड़ा लें अर्थात् नमस्कार करके ही इनसे अपना छुटकारा कर लें। मेरा दृढ़ निश्चय है, कि आप में से कोई भी विद्वान् त्रिकाल में भी इन्हें ब्रह्म विषयक शास्त्रार्थ में जीत नहीं सकता। मैंने अपना निर्णय आप सबके सम्मुख प्रकट कर दिया। अब आप लोगों की जो इच्छा हो वह करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! ऐसा कहकर महर्षि वचक्नु की पुत्री याज्ञवल्क्यजी को नमस्कार करके उपराम को प्राप्त हो गयी—चुप हो गयी। गार्गी के इतना कहने पर भी अब जैसे शाकल्यमुनि शास्त्रार्थ के लिये आगे आवेंगे, उस प्रकरण को मैं आप सबसे आगे कहूँगा। शाकल्य के शास्त्रार्थ से ही अन्तिम समझा जायगा।"

छप्पय

द्रष्टा, श्रोता तथा वही मन्ता विज्ञाता।
दृष्टि, श्रवण अरु मनन विषय है नहीं सुज्ञाता॥
अक्षर में ही ओत प्रोत आकाश बतायो।
अक्षर तैं पर नहीं परात्पर वह कहलायो।
गार्गी बोली—विप्रगण ! याज्ञवल्क्य विजयी सतत॥
भई चुप कहि अन्त में, करि न सकें सब पराजित।

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
अष्टम अक्षर ब्राह्मण समाप्त।

याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ (१)

(२३९)

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा ।
याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ९ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

पुनि आये शाकल्य, देवगण कितने है सब ?
तीन सहस सौतीन और छै, सत्य–कहो अब ?
देव किते ? तैंतीस, सत्य–फिरि देव कहो सब ?
छै है सबरे देव, कहो फिरि ? तीन–सत्य अब ?
दो डेढ़ हु अरु एक हैं, ये सबरे ई देव हैं ।
तीन सहस सौ तीन छै, कहो फेरि ये कौन हैं ?

शास्त्रार्थ में जब जिस पक्ष के लोग हारने लगते हैं, तब ऐसे छोटे-छोटे प्रश्न करने लगते हैं, जिनका ज्ञान सर्वसाधारण को नहीं होता । अथवा जो बातें कंठस्थ नहीं होती । एक पंडितजी ने हमें बताया कि एक बार आर्यसमाजी और सनातन धर्मियों

---

* गार्गी की घोषणा के अनन्तर भी अपने को विद्वान् मानने वाले शाकल्य विदग्ध याज्ञवल्क्यजी के सम्मुख आये और आकर उनसे पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! सब देवगण कितने हैं ?" तब याज्ञवल्क्यजी ने निविद से ही उनकी संख्या का प्रतिपादन किया ।

का शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ होते-होते एक पक्ष के पंडित ने पूछ दिया कि जैसे गौ के दाँत नीचे के ही होते हैं, ऊपर के नहीं होते, घोड़े के दाँत ऊपर नीचे दोनों ओर होते हैं। अब बताइये ऊँट के दाँत कैसे होते हैं। दोनों ओर होते हैं या एक ओर ?

पंडितजी ने बताया—"हमने ऊँट तो देखा था, किन्तु यह कभी नहीं देखा, कि उसके दाँत कैसे होते हैं। हमने अनुमान से कह दिया, ऊँट के दाँत नीचे के ही होते हैं। ऊपर नहीं होते।"

विपक्ष के पंडित ने कहा—"नहीं, ऊँट के दाँत दोनों ओर होते हैं।"

हम अपने पक्ष पर अड़ गये, कहने लगे—"नहीं, एक ही ओर होते हैं।" तब निश्चय हुआ ऊँट मँगाया जाय और देखा जाय कि ऊँट के दाँत एक ही ओर होते हैं या दो ओर। ऊँट कहीं दूर से मँगाना था अतः बात कल के लिये स्थगित हो गयी। पंडितजी बताते थे, कि हमें पूरा पता तो था नहीं कि ऊँट के एक ही ओर दाँत होते हैं, अनुमान से उस समय कह दिया था। जब ऊँट मँगाने का निश्चय हुआ तो हम असमंजस में पड़े। रात्रि में उठकर भाग आये कि कहीं भरी सभा में भद्द न हो।"

अब बताइये, ऊँट के दाँतों से और शास्त्रार्थ से प्रयोजन क्या ? किन्तु अपने विपक्षी को साम से, दान से, दण्ड से तथा भेद से कैसे भी हराना चाहिये। इसे वितण्डावाद कहते हैं। शास्त्रार्थ में लोग प्रश्न के ऊपर प्रश्न पूछते जाते हैं। जहाँ तनिक भी विपक्ष का उत्तर देने में हिचका वहाँ सब लोक तालियाँ पीटने लगते हैं। परास्त हो गया। अतः शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षी जो भी पूछे तत्काल निर्भीकता के साथ उत्तर देते ही जाना चाहिये चाहे वह गूढ़ प्रश्न पूछे चाहे सामान्य। शाकल्यजी ने याज्ञवल्क्यजी से आरम्भ में सामान्य ही प्रश्न किये। याज्ञवल्क्यजी तो सर्वज्ञ

थे, अतः वे प्रत्येक प्रश्न का निर्भयता के साथ तत्काल उत्तर देते गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महर्षि वचक्नु की पुत्री गार्गी महामुनि याज्ञवल्क्यजी का लोहा मानकर उन्हें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ घोषित करके शास्त्रार्थ से विरत हो गयी और सबसे कह गयी-कि अब इनसे कोई भी शास्त्रार्थ करने का साहस न करें। इन्हें नमस्कार करके सब शास्त्रार्थ से विरत हो जायँ। इतने पर भी अपने को महापंडित मानने वाले शाकल्य विदग्ध शास्त्रार्थ के लिये सम्मुख आ ही तो गये। वे याज्ञवल्क्यजी के सम्मुख आकर कहने लगे—"याज्ञवल्क्य! अब मैं भी आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ।"

याज्ञवल्क्य—"पूछिये।"

शाकल्य—"अच्छा, बताइये सब देवगण कितने हैं?"

याज्ञ०—"यह तो सामान्य प्रश्न है। देवताओं की संख्या बताने वाले मन्त्रों में सर्वत्र देवताओं की संख्या बतायी गयी है।"

शाकल्य—"वेद मन्त्रों में तो बताया ही गया है। आप उनकी स्पष्ट संख्या बताइये।"

याज्ञवल्क्य—"तीन और तीन सौ, तीन और तीन सहस्र हैं। अर्थात् तीन सहस्र तीन सौ छे हैं।"

शाकल्य—"एवम्, तुम्हारा कहना यथार्थ है। अब क्रम पूर्वक बताओ देव कितने हैं?"

याज्ञ०—"तैंतीस देव हैं।"

शाकल्य—"यह भी सत्य है। और बताइये देव कितने हैं?"

याज्ञ०—'देव छेः हैं।"

शाकल्य—"सत्य है। फिर बताइये। देव कै हैं?"

याज्ञ०—"देव तीन हैं।"

शाकल्य—"सत्य है। फिर बताइये देव कै है ?"

याज्ञ०—"देव दो हैं।"

शाकल्य—"यह भी सत्य है। फिर बताइये देव के हैं ?"

याज्ञवल्क्य—"देव डेढ़ हैं।"

शाकल्य—"सत्य है। पुनः बताइये देव कै हैं ?"

याज्ञ०—"देव एक है।"

शाकल्य—"यह भी सत्य है। अब कृपा करके आपने जो समस्त देव तीन सहस्र तीन सौ छः बताये थे, वे कौन-कौन से हैं। उन सबके पृथक-पृथक् नाम बताइये ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, भैया ! वास्तव में देवता तो तैंतीस ही हैं। और जितने हैं वे तो सब इन तैंतीस देवों की महिमा ही हैं।"

शाकल्य—"अच्छा, उन तैंतीस के ही नाम गिनाइये।"

याज्ञ०—"देखो, आठ तो वसुगण, ग्यारह रुद्रगण, बारह आदित्य। सब कितने हुए ?"

शाकल्य—"आठ+ग्यारह+बारह=ये तो मिलाकर ३१ ही होते हैं ?"

याज्ञ०—"इकतीस ये हुए एक इन्द्र और एक प्रजापति इस प्रकार इकतीस में दो जोड़ने से सब तैंतीस हो गये या नहीं ?"

शाकल्य ने कहा—"यह तो सत्य ही है। अब सबके पृथक-पृथक नाम बताइये। अच्छा, बताइये आठ वसु कौन-कौन से हैं ?"

याज्ञ०—"इनके नाम १-अग्नि, २-पृथ्वी, ३-वायु, ४-अन्तरिक्ष, ५-आदित्य, ६-द्युलोक, ७-चन्द्रमा और ८-नक्षत्र हैं। ये ही आठ वसु हैं।"

शाकल्य—"इनका नाम वसु क्यों है ?"

याज्ञ०—"इस सम्पूर्ण जगत् को ये बसाये हुए हैं और स्वयं भी जगत में बसते हैं इसीलिये इन्हें वसु कहते हैं। (इदं सर्वं जगद्—वासयन्ति अथवा वसन्ति इति=वसवः) ये मानों सम्पूर्ण जगत् का धन हैं।"

शाकल्य—"आपका कथन यथार्थ है। अब यह बताइये, आपने जो एकादश रुद्र बताये वे कौन-कौन हैं?"

याज्ञ०—"पुरुष में जो दश विद्य प्राण हैं अर्थात् दश इन्द्रियाँ हैं और ग्यारहवाँ आत्मा-मन-है ये ही एकादश रुद्र हैं।"

शाकल्य—"इनका नाम रुद्र क्यों पड़ा है?"

याज्ञ०—"देखिये, ये कर्मों के फलों के उपभोग निमित्त शरीर में रहते हैं। जब प्राणियों के कर्मों के फलों का उपभोग समाप्त हो जाता है। प्रारब्ध कर्म क्षय हो जाते हैं, तब ये उस शरीर को छोड़कर चले जाते हैं। जब शरीर से ये ग्यारह निकल जाते हैं तब पुरुष मर जाता है तो उसके सगे सम्बन्धी रोने लगते हैं। ये सम्बन्धियों को रुलाते हैं, इसलिये रुद्र कहलाते हैं। (रोदयन्ति तत्सम्बन्धिनः=इति रुद्राः) इनके निकलने से ही सब रोते हैं। रोने में ये निमित्त कारण होने से रुद्र कहलाते हैं।"

शाकल्य ने पूछा—"यह तो आपका कथन सत्य है। अब आप कृपा करके बारह आदित्यों के सम्बन्ध में और बताइये।"

याज्ञ०—"देखो, काल का जो एक सम्वत्सर रूप है। उसमें बारह मास होते है। उनके नाम (१) चैत्र, (२) वैशाख, (३) ज्येष्ठ, (४) आषाढ़, (५) श्रावण, (६) भाद्रपद, (७) आश्विन, (८) कार्तिक, (९) मार्गशीर्ष, (१०) पौष, (११) माघ और (१२) फाल्गुन हैं। ये संवत्सर के अवयव भूत हैं। अतः बारह मास ही बारह आदित्य हैं।"

शाकल्य—"इनका नाम आदित्य क्यों पड़ा ?"

याज्ञ०—"ये बारह महीने पुनः-पुनः आते जाते रहते हैं। आते जाते क्या रहते हैं, प्राणियों की आयु का नाश करते रहते हैं। सबकी आयु का आदान करने से ये आदित्य कहलाते हैं। (सर्वं आददानायन्ति तस्माद् आदित्याः) सबकी आयु को बटोरते रहने से आदित्य हैं।"

शाकल्य—"यह भी सत्य है। अब इन्द्र कौन हैं ? प्रजापति कौन हैं ? इसे और बताइये ?"

याज्ञवल्क्य—"देखो, यह जो (स्तनयित्नु) बिजली चमकती है यही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है।"

शाकल्य—"स्तनयित्नु किसे कहते हैं ?"

याज्ञ०—"अशनि अर्थात् वज्र का ही नाम स्तनयित्नु है। यह विद्युत इन्द्र का वज्र ही है। जिसके हाथ में वज्र हो वही पुरन्दर-इन्द्र-है।"

शाकल्य—"आपने प्रजापति यज्ञ को बताया यज्ञ कौन है ?"

याज्ञ०—"यज्ञ का साधन होने से पशु (जीव) ही यज्ञ है।"

शाकल्य ने कहा—"अच्छा याज्ञवल्क्य जी ! आपने छः देव बताये थे वे ६ देव कौन-कौन-से हैं ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"(१) अग्नि, (२) पृथ्वी, (३) वायु, (४) आकाश, (५) सूर्य, और (६) द्युलोक ये ही ६ देव हैं। अर्थात् जो अष्ट वसु बताये थे उनमें चन्द्रमा और नक्षत्र को पृथक् करने से ये ही ६ देव मुख्य हैं।"

शाकल्य—"आपने तीन देव बताये थे वे तीन देव कौन-कौन से हैं ?"

याज्ञ०—"भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्ग लोक ये ही तीन मुख्य देव हैं।"

शाकल्य—"ये तीन मुख्य देव क्यों हैं ?"

याज्ञ०—"इसलिये कि समस्त देव इन तीनों ही लोकों में रहते हैं।"

शाकल्य—"यह तो सर्वथा सत्य ही है। अच्छा, आपने जो दो देव बताये थे, दो देव कौन-कौन से हैं ?"

याज्ञ०—"एक तो अन्न दूसरे प्राण ये ही दो देव हैं।"

शाकल्य—"ये दो देव तो मुख्य हैं ही। अच्छा आपने अध्यर्ध (डेढ़) देवता बताये थे। ये अध्यर्ध देव कौन हैं ?"

याज्ञ०—"यह जो बहता है (वायु) वही अध्यर्ध (डेढ़) देवता है।"

शाकल्य ने कहा—"वायु तो अकेले ही बहते हैं आधा तो इनके साथ बहने वाला कोई है नहीं फिर इन्हें आप अध्यर्ध (डेढ़) क्यों कहते हैं ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यहाँ आधि का अर्थ आधा न करके वृद्धि अर्थ है अर्थात् इस वायु के विद्यमान होने पर ही सभी वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसलिये ये वायुदेव अध्यर्ध कहलाते हैं। (अधि-ऋद्धिं प्राप्नोति—इति अध्यर्धः)।

शाकल्य—"यह तो सत्य है। अच्छा, यह बताओ, आपने जो एक ही देव बताया वह एक देव कौन हैं ?"

याज्ञ०—"वह एक देव प्राण ही हैं। उन प्राण की ही ब्रह्म संज्ञा है। केवल परब्रह्म नारायण ही एक देव हैं।"

शाकल्य—"उस परब्रह्म को प्राण क्यों कहा ?"

याज्ञ०—शास्त्रों की ऐसी ही प्रणाली है। वे छिपाकर बात कहते हैं। देवता परोक्ष प्रिय होते हैं। (परोक्षप्रिया इव हि देवाः) उन परम दिव्य देव ब्रह्म को ही 'त्यत्' ऐसा कहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब प्राण को ही ब्रह्म बता दिया

तब शाकल्य ने प्राण ब्रह्म के आठ प्रकार के भेदों के सम्बन्ध ऐसे प्रश्न किये उन्हें मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

मुख्य देव तैंतीस, आठ वसु रुद्र इकादश।
बारह है आदित्य, प्रजापति, इन्द्र तीनि तिस॥
नाम सबनि के? वायु, अग्निनि, भू अंतरिक्ष शशि।
स्वर्ग लोक आदित्य और नक्षत्र आठ वसु॥
दश इन्द्रिय मन इकादश-रुद्र रुलावें मरन प्रति।
बारह मास आदित्य हैं, इन्द्र-यज्ञ, नख-प्रजापति॥

(२)

देव कहे छे कौन? अग्निनि, भू, वायु, अंतरिक्ष।
स्वर्गलोक, आदित्य, मुख्य ये तैंतीसनि बिच॥
तीन लोक त्रयदेव, अन्न अरु प्राणदेव द्वै।
वायु कहे अध्यर्ध ऋद्धि कूँ प्राप्त सबहिं है॥
प्राण ब्रह्म इक त्यतहि है, भू आयतन कहा कह्यो?
कह्यो पुरुष शारीर वह, देवतासु को को रह्यो?

—o—

याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ (२)

[२४०]

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे ।
ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमकृता ३ इति ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ९ ब्रा० १८ मन्त्र)

छप्पय

अमृत हि ताको देव, काम आयतन बताओ ?
पुरुष काममय कह्यो, नारि तिहिँ देव कहायो ॥
रूप आयतन पुरुष ? पुरुष आदित्य कहावैं ।
सत्यहिँ तिनिके देव, आयतन नभहिँ बतावैं ?
प्रातिश्रुत्कहिँ पुरुष वह, दिशा कहावैं देव जिहि ।
तम आयतनहु पुरुष को ? छायामय है पुरुष तिहि ॥

जो लोग गम्भीर होते हैं, वे सहसा किसी के सम्मुख वाद-विवाद के लिये नहीं आते। जो लोग हमारा नाम हो, हमें सब लोग जाने ऐसी भावना रखते हैं, वे आगे आकर वाद-विवाद करने को उत्सुक रहते हैं। ऐसे लोगों को कुछ लोग आगे करके

---

* शाकल्य जब बहुत बढ़-बढ़कर प्रश्न पर प्रश्न करते गये और याज्ञवल्क्य उसका उत्तर देते ही गये, तब शाकल्य को चेतावनी देते हुए याज्ञवल्क्यजी कहने लगे—"शाकल्य ! प्रतीत होता है, इन समस्त ब्राह्मणों ने तुम्हें अंगारे निकालने का चिमटा बनाकर भेजा है।"

स्वयं दर्शक बन के उनके कार्यों को देखते रहते हैं। यदि उसकी विजय हो गयी, तो उस विजय में सभी सम्मिलित हो जाते हैं। सब कहने लगते हैं—"हम सबने मिलकर उसे परास्त कर दिया।" यदि उसकी पराजय हो जाती है, तो उस पराजय का फल उस अग्रणी को ही भोगना पड़ता है। बुद्धिमान् लोग ऐसे यश लोलुप पुरुषों को उकसाकर आगे कर देते हैं। उन लोगों के ही लिये यह कहावत है कि "मंत्र तो मैं पढ़ता हूँ, सर्प की बामी में हाथ तुम डालो।" यदि सर्प पकड़ा गया, तो मन्त्र पढ़ने वाला कहेगा, मेरे मन्त्र के प्रभाव से पकड़ा गया है। यदि सर्प ने काट लिया, तो मन्त्र पढ़ने वाला तो बचा रहेगा, मरेगा बामी में हाथ डालने हो वाला। कुछ लोग दूसरों के कंधों पर बन्दूक रखकर लक्ष्यभेद करते हैं। यदि मारा गया तो वही मरेगा, जिसके कन्धे पर बन्दूक है, यदि लक्ष्य सिद्धि हो गयी तो श्रेय चलाने वाले को मिलेगा। लोग अपने कठिन कार्य की सिद्धि के लिये दूसरे प्रतिष्ठालोलुप को निमित्त बना लेते हैं, जैसे आग के अंगारे को निकालने के लिये चिमटा को निमित्त बना लेते हैं। अपने कार्य के लिये प्रज्वलित अग्नि कुंड से अग्नि निकालनी है। स्वयं अपने हाथों से निकालें तो हाथ जल जायँगे। अतः चिमटे से अग्नि निकालते हैं। चिमटे से निकाली अग्नि से स्वार्थ तो अपना सिद्ध होगा, किन्तु शरीर जलेगा चिमटे का। इसी प्रकार जनक की शास्त्रार्थ सभा में याज्ञवल्क्यजी की प्रत्युत्पन्न मति को देखकर, प्रश्नों के तत्काल युक्ति संगत उत्तरों को सुनकर विद्वानों ने अनुमान लगा लिया था, कि याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ में जीतना कठिन है। जब गार्गी ने पुनः उनसे दो कठिनतम प्रश्न पूछने का उत्साह दिखाया, तब विद्वानों को आशा बँधी कि सम्भव है याज्ञवल्क्य गार्गी के प्रश्नों का उत्तर न दे सकें, किन्तु

याज्ञवल्क्यजी ने उसके दोनों प्रश्नों का भी उत्तर दे दिया। तब उसने घोषणा कर दी—"अब इन्हें ब्रह्म विषयकवाद में आप म स कोई जीत नहीं सकता। आप इन्हें नमस्कार करो और इतने से ही छुटकारा पाओ। अब कोई भी मक्खी के छत्ता में हाथ डालने का साहस न करो।"

इतने पर भी पंडितमानी शाकल्य मुनि नहीं माने। अब वे आगे आये। विद्वानों ने उन्हें ही बलिदान का बकरा बनाया। आशा भी बड़ी बुरी वस्तु है। भीष्म, द्रोण तथा कर्ण जैसे संसार प्रसिद्ध महामहारथी मर गये। फिर भी दुर्योधन के हृदय म आशा की एक क्षीण रेखा बनी ही रही। उसने शल्य को सेनापति बनाकर पाडवा को जीतन का आशा का। इसी प्रकार जब सब पंडित पराजित हो गये, तो शाकल्य द्वारा ही विद्वानों ने आशा लगायी कि सम्भव है यह ही याज्ञवल्क्य को जीत ले। यदि यह जीत लेगा तो नाम यही होगा, सभी विद्वानो ने याज्ञवल्क्य को परास्त कर दिया। यदि पराजित होने पर सिर कटेगा तो इन्हीं अकेल का कटेगा। इसीलिय शाकल्य का सबने अनुमोदन किया वे भी याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न के ऊपर प्रश्न पूछते ही गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तैंतीस, छे, तीन, दो, डेढ और एक देवताओं के सम्बन्ध म याज्ञवल्क्यजी ने शाकल्य को यथार्थ उत्तर दे दिये तब उन्होंने आयतनो (शरीरों) के सम्बन्ध म आठ प्रश्न किये। उनम से पहिला प्रश्न पृथ्वी के आयतन (शरीर) के सम्बन्ध म है।"

शाकल्यजी ने पूछा—"याज्ञवल्क्य! देखो, एक देवता है उसके सम्बन्ध म तुम जानते हो?"

याज्ञवल्क्य—"उस देवता का पहिले परिचय तो दीजिये ब बतावेंगे कि जानते हैं या नहीं।"

शाकल्य—"उस देवता का पृथ्वी तो शरीर है। उसके देखने का साधन अग्नि ही है। उसकी ज्योति मन है। उसके द्वारा ही वह संकल्प विकल्पादि कार्यों को करता है। जो भी उस पुरुष को समस्त अध्यात्म कार्य-कारण समूह का परायण जानता है। अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवों का उत्तम आश्रय है। उस पुरुष को जो भली भाँति जानता है, वास्तव में वही ज्ञाता कहलाता है। याज्ञवल्क्य! क्या तुम उस पुरुष को जानते हो।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ, जिसे तुम समस्त जीवों का उत्तम आश्रय कहते हो।"

शाकल्य ने कहा—"अच्छा! यदि तुम जानते हो तो बताओ वह कौन है?"

याज्ञवल्क्य—"वह शरीर-शरीरों में रहने वाला-पुरुष है। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, स्वर्ग आदित्य, दिशायें, चन्द्रमा, तारागण, तेज, समस्त प्राणी, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा तथा बुद्धि, वीर्य ये सभी उसी के शरीर हैं। वही सबका एक मात्र आश्रय है।"

शाकल्य—"अच्छा, उस शारीर पुरुष का देवता कौन है?"

याज्ञवल्क्य—"वह स्वयं सबका उपास्य है। उस देवता का नाम अमृत है। यही तेरा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है।"

शाकल्य—"अच्छा, मेरे दूसरे प्रश्न का उत्तर दीजिये। एक देवता है। उसका काम (स्त्री प्रसङ्ग की अभिलाषा) ही तो शरीर है। हृदय ही उसका लोक है अर्थात् वह हृदय से ही देखता है। और मन रूपी ज्योति से जो देखता है। अर्थात् जो मन से उत्पन्न होता है। जो सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकारण रूप संघात का परायण है अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवों का उत्तम आश्रय है। उस

पुरुष को जो जानता है वास्तव में वही ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य! क्या तुम उस पुरुष को जानते हो?"

याज्ञवल्क्य—"हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ।"

शाकल्य—"यदि जानते हो, तो उसका नाम बताओ।"

याज्ञ०—"शाकल्य! जिसे तुम समस्त जीवों का आश्रय कहते हो, जिसे सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकारणसंघात का परायण बताते हो, उसका नाम काममय पुरुष है। वही यह प्राणब्रह्म है। इसके अतिरिक्त भी तुम्हें और कुछ पूछना हो, तो उसे भी पूछ लो।"

शाकल्य—"उस काममय पुरुष का देवता कौन है? किसे देखकर वह काममय पुरुष उद्दीपित होता है?"

याज्ञ०—"उसकी देवता स्त्रियाँ ही हैं। स्त्री को ही देखकर काम की उद्दीपना होती है।"

शाकल्य ने कहा—"मेरे दो प्रश्नों का तो आपने यथार्थ उत्तर दे दिया। अब तीसरा प्रश्न पूछूँ?"

याज्ञ०—"पूछिये।"

शाकल्य—"अच्छा, बताइये। रूप ही जिसके शरीर हैं। और नेत्र ही जिसका लोक है अर्थात् उसके देखने का साधन नेत्र ही है। नेत्र द्वारा ही वह देखता है। मन रूप ज्योति से ही संकल्प विकल्प करता है। वह सम्पूर्ण जीवों का उत्तम आश्रय है, उस पुरुष का जानने वाला ही वास्तविक ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य! तुम उस पुरुष को जानते हो?"

याज्ञ०—"हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ।"

शाकल्य—"यदि जानते हो, तो उसका नाम बताइये।"

याज्ञ०—"उस पुरुष का नाम आदित्य है। वह आदित्य

और कोई नहीं वह यही प्राणब्रह्म है। क्यों, है न ? इसके अ
रिक्त और कुछ पूछना चाहते हो तो उसे भी पूछ डालिये।"

शाकल्य—"उस आदित्य पुरुष का देवता कौन है ?"

याज्ञ०—"उसका देवता 'सत्य' ही है। और कुछ पूछोगे

शाकल्य—"हाँ, मेरा चौथा प्रश्न है। जिसका शर
आकाश है। श्रोत्र उसके दर्शन के साधन हैं, अर्थात् श्रोत्रों द्वा
ही वह सम्पूर्ण शब्दों को सुनता है। मन रूप ज्योति से सक
विकल्प करता है, सभी जीवों का सर्वोत्तम आश्रय है वह पुर
कौन है ? उसे जो भली भाँति जानता है वही ज्ञाता है। या
वल्क्य ! तुम उस पुरुष को क्या जानते हो ?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ।"

शाकल्य—"अच्छा, तो उसका नाम निर्देश कीजिये ? ना
बताइये।"

याज्ञ०—"उसका नाम है प्रातिश्रुत्क पुरुष अर्थात् प्रतिध्वनि
विशिष्ट पुरुष। वह और कोई नहीं है वह यही प्राणब्रह्म है
तुम्हारी शंका का समाधान हुआ या नहीं ? इसके अतिरिक्त
तुम्हें जो पूछना हो, उसे भी पूछ लीजिये।"

शाकल्य—"उस प्रातिश्रुत्क पुरुष का देवता कौन है ?"

याज्ञ०—"ये दशों दिशायें ही उसके देवता हैं। अर्था
श्रोतव्यशब्द दिशाओं द्वारा ही सुने जाते हैं।"

शाकल्य ने कहा—"मेरा पाँचवाँ प्रश्न और है।"

याज्ञ०—"उसे भी पूछ डालिये।"

शाकल्य—"एक देवता है। उसका अंधकार ही शरीर है
हृदय ही उसका लोक है अर्थात् हृदय द्वारा ही वह देखता है
उसके देखने का साधन हृदय ही है। वह सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य
कारण समूह का परायण है अर्थात् सभी जीवों का उत्तम आश्रय

है, जो पुरुष उस तमोमय पुरुष को जानता है वही ज्ञाता है। बोलो, तुम उस पुरुष को जानते हो ?"

याज्ञ०—"हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ।"

शाकल्य—"अच्छा, तो उसका नाम बतेयो ?"

याज्ञ०—"उस पुरुष का नाम है छाया पुरुष। क्यों है न ? और पूछिये, क्या पूछना चाहते हैं ?"

शाकल्य—"मैं उसके देवता का नाम और पूछना चाहता हूँ।"

याज्ञ०—"उस छाया पुरुष के देवता का नाम है मृत्यु। वह मृत्यु भी कोई और नहीं। उस प्राणब्रह्म परमात्मा का ही नाम मृत्यु है। (मृत्युः सर्व हरश्चाहम) और भी कुछ पूछना अवशेष है ?"

शाकल्य—"मेरा छटा प्रश्न यह है, कि एक देवता है। रूप ही जिसका शरीर है नेत्र ही उसका लोक है, मन ही ज्योति है, सम्पूर्ण जीवों का वह आश्रय है। जो पुरुष उसे भली-भाँति जानता है। वही वास्तविक ज्ञाता है उसे तुम जानते हो ?"

याज्ञ०—"क्यों नहीं जानते। वह दर्पण में दीखने वाला छाया पुरुष है। वही यह प्राणब्रह्म है। और पूछो ?"

शाकल्य—"उसके देवता का नाम ?"

याज्ञ०—"उसके देवता का नाम 'असु' प्राण है। वह प्राण-ब्रह्म ही है।"

शाकल्य—"मेरा सातवाँ प्रश्न यह है, जल ही जिसका शरीर है। हृदय ही जिसका लोक है, मन ही ज्योति है सम्पूर्ण अध्यात्म कार्यकारण सघात जिसका परायण है। अर्थात् समस्त जीव जिसके आश्रय हैं। उस पुरुष को जानने वाला ही ज्ञाता

है। याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे बिना जाने ही पंडित होने का अभिमान कर रहे हो। यदि तुम उसे जानते हो तो बताओ ?"

याज्ञ०—"मैं उसे अच्छी प्रकार जानता हूँ उसका नाम जल-पुरुष है। वह जलपुरुष भी प्राणब्रह्म के अतिरिक्त कोई नहीं। अब और भी कुछ पूछना शेष है ?"

शाकल्य—"उसके देवता का नाम और बता दो ?"

याज्ञ०—"इतना भी तुम नहीं जानते। जलपुरुष के देवता का नाम वरुण है।"

शाकल्य—"अब मेरा एक प्रश्न और अवशेष है।"

याज्ञ०—"उसे भी पूछ ही डालो। उसे क्यों शेष रखते हो ?"

शाकल्य—'मेरा आठवाँ प्रश्न यह है,कि एक देवता है, वीर्य ही उसका शरीर है। हृदय ही उसका लोक है। मन ज्योति है। जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण अध्यात्म कार्यकारण सघात का आश्रय जानता है। वही वास्तव मे ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य ! तुम यदि उसे जानते हो, तो कहो ?"

याज्ञ०—"हाँ, मैं उस पुरुष को जानता हूँ वह आत्मा वै जायते पुत्र ही है। वह पुत्र रूप पुरुष है। वह और कोई नहीं। वह यही प्राण रूप ब्रह्म है। क्यों है न ? अब आगे तुम्हें जो भी कुछ और पूछना हो, उसे भी पूछो।"

शाकल्य—"उस पुत्र रूप पुरुष का देवता कौन है ?"

याज्ञ०—"उसका देवता प्रजापति ही है। प्रजापति के संकल्प से ही समस्त सतानें होतीं हैं। वह प्रजापति ही पुत्र रूप मे पैदा होता है। मैंने तुम्हारे आठों प्रश्नो का उत्तर दे दिया। इनके अतिरिक्त तुम्हे और भी जो पूछना हो पूछो। हाँ, एक बात बताये देता हूँ। तुम अपनी कुशल मनाओ। देखो, इन सभासद

विद्वान् ब्राह्मणों ने तुम्हें ही बलिदान का बकरा बनाकर व्यर्थ में बकवाद करने को मेरे सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। इन ब्राह्मणों ने निश्चय ही तुम्हें प्रज्वलित अग्नि में से अंगारे निकालने का चिमटा बना रखा है। यदि उससे अग्नि निकल आयी, तो उसका श्रेय ये सब लूट लेंगे। न निकल सका तो जलेगा तो चिमटा ही, इन सब का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा।'

यह सुनकर पदाहत विषधर सर्प की भाँति क्रुद्ध होकर शाकल्य मुनि ने कहा—'याज्ञवल्क्य! तुम ऐसा व्यङ्गपूर्ण आक्षेप करके इन कुरुपाञ्चाल देशीय विद्वान् ब्राह्मणों पर घोर आक्षेप कर रहे हो। तुम अपने को इन सब विद्वान् ब्राह्मणों से अधिक ब्रह्मवेत्ता लगाते हो? क्या तुम अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म निष्ठ मानकर ऐसा आक्षेप करते हो? तुममें ऐसा कौन सा ब्रह्मज्ञान है, जिसके कारण तुम ऐसी बढ़ बढ़कर बातें बना रहे हो?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—'मुझमें विशेषता तो कुछ नहीं है। हां, मैं इतना ज्ञान अवश्य रखता हूँ, कि किस दिशा में कौन से देवता की प्रतिष्ठा है। मैं देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं का ज्ञान रखता हूँ।"

शाकल्य मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, अब मैं आप से देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं के ही सम्बन्ध में प्रश्न पूछूँगा।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"बहुत अच्छी बात है आप पूछिये मैं उसका उत्तर दूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब जैसे शाकल्य मुनि देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं के सम्बन्ध में प्रश्न पूछेंगे

और याज्ञवल्क्य जी उनका जैसे उत्तर देंगे, उस प्रसङ्ग को आगे कहूँगा।"

छप्पय

मृत्यु तासु को देव रूप आयतन कहो अब?
दर्पण भीतर पुरुष 'असु' हि है देव तासु अब॥
जल जाको आयतन लोक हिय ज्योति मनहु को?
वह है जल में पुरुष वरुण है तासु देव सो॥
वीर्य आयतन जासु है, और पूर्व ही सरिस सब।
पुत्र रूप वह पुरुष है, देव प्रजापति तासु अब?

याज्ञवल्क्य और शाकल्य का शास्त्रार्थ (३)

[२४१]

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिद कुरुपाञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ९ ब्रा० १९ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य पुनि कह्यो, सुनो शाकल्य महामुनि ।
चिमटा तुम्हें बनाइ आगि तैं खेलें द्विजगन ॥
भये क्रुद्ध शाकल्य कहें अपमान करत द्विज ।
कुरु पाञ्चालनि मध्य कहो ब्रह्मिष्ठ विज्ञ निज ॥
याज्ञवल्क्य बोले—सकल, दिशनि प्रतिष्ठा सुर सहित ।
जानूँ, पूछौं शङ्क यदि, सुनि पुनि शाकल्यहु कहत ॥

---

* शाकल्य ने कहा—"याज्ञवल्क्य ! कुरु पाञ्चाल देशीय इन विद्वान् ब्राह्मणों पर जो तुम अतिवादी होने का आक्षेप कर रहे हो सो क्या तुम ब्रह्म को जानते हो ?' याज्ञवल्क्य बोले—' दिक अधिष्ठातृ देवों को दिशा के सहित प्रतिष्ठा के सहित मैं जानता हूँ।' इस पर शाकल्य ने कहा—'यदि देवता तथा प्रतिष्ठा सहित तुम दिशाओं को जानते हो, तो (मैं जो पूँछूँ उसका उत्तर दीजिये) ।

लोक में मनुष्य बाह्य ज्ञान प्राप्त करने को व्याकुल रहते हैं। अमुक देश में क्या है ? अमुक लोक में क्या है ? अमुक कार्य कैसे होता है ? हम कहते हैं, भैया ! बाहर की वस्तुओं की जानकारी पीछे करना पहिले तो जो साढे तीन हाथ का यह तुम्हारा शरीर रूप यन्त्र है उसी की जानकारी प्राप्त कर लो। जो इस शरीर रूपी पिंड में है वही समस्त ब्रह्माण्ड में भी है। जिसने इस शरीररूपी यन्त्र के विषय में जान लिया उसने सब कुछ जान लिया है,इसके विपरीत जिसने शरीर यन्त्र की जानकारी तो प्राप्त की नहीं बाहरी ज्ञान बहुत कुछ प्राप्त कर लिया तो उसका ज्ञान अधूरा है, वास्तव में उसने कुछ भी नहीं जाना है।

हमारा यह शरीर है क्या ? इसके तीन भाग कर लो। एक सिर का त्रिभाग, दूसरा नाभि पर्यन्त और तीसरा नाभि के नीचे। सिर के भाग खोपडी से कन्धों के ऊपर तक समझो। यह एक साढे तीन हाथ का ढाँचा है। बाँस रूपी दो पैरों पर यह पूरा शरीर अवस्थित है दो पैर जहाँ से जुडे हैं। उन्हें जघन कहते हैं। उसके ऊपर पेट पीठ युक्त गुदा से लेकर कन्धों तक कबन्ध है। कन्धों से दो हाथ इधर-उधर निकले हैं। ऊपर गर्दन है उस पर कपाल खोपडी शिर रखा है। शिर के ऊपर बाल होते हैं। गंजा के शिर पर बाल नहीं होते हैं। यह रोग है। सामान्यतया सिर पर बाल होते हैं, इससे नीचे का भाग मस्तक कहलाता है। मस्तक के नीचे बाल हैं जो भौंह कहलाते हैं। उसके नीचे दो आँखें हैं। आँखों की सीध में खोपड़ी के दायें बायें दो कान निकले हुए हैं। आँखों के नीचे दो कपोल हैं। दोनों आँखों और दोनों कपोलों के बीच में नाक है उसमें दो छेद हैं। नाक के नीचे मुख है। उसमें ऊपर नीचे दो किवाडें ओष्ठ हैं। वे दोनों ओष्ठ मानों मुख रूपी घर के द्वार की किवाडें हैं। दोनों ओठों को बन्द

कर दिया। मुख रूपी द्वार बन्द हो गया ओठों को खोल दिया, मुख रूपी दरवाजा खुल गया। मुख के भीतर ऊपर नीचे दो मसूड़े हैं। उनमें ऊपर नीचे प्रायः बत्तीस दाँत होते हैं। बहुत छोटे बच्चों के और बहुत बूढ़ों के दाँत नहीं होते। बच्चों के तो निकलते ही नहीं बूढ़ों के निकल कर गिर जाते हैं। एक बिना हड्डी की मांस का बनी जीभ होती है। वह बोलने, खाये हुए का स्वाद लेने और निगलने का काम देती है। एक मास की घटी लटकी रहती है, जिसे काग कहते हैं। मुख के बाहर ठोढ़ी होती है। पुरुषों के उसमें दाढ़ी आती है ऊपर के ओठ पर मूँछ आती हैं। छोटे बच्चों के, स्त्रियों के, दाढ़ी मूँछ नहीं होती रोयें होते हैं। ठोढ़ी के नीचे कण्ठ होता है, उसमें एक हड्डी घुंटी निकली रहती है। कन्धों और कपाल को गर्दन (नार) मिलाती है। दोनों कन्धों के इधर-उधर दो हाथ होते हैं। हाथों में बाजू, कुहनी, हाथों की हथेली, गद्दी, पाँच-पाँच उँगलियाँ होती हैं। कंठ के नीचे छाती होती है। उसमें दो स्तन होते हैं। पुरुषों के छोटे और स्त्रियों के बड़े होते हैं। छाती के नीचे सामने पेट होता है। पीछे पीठ होती है। पेट के बीच में नाभि होती है। नाभि के नीचे मल मूत्र द्वार होते हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्धी पृथक्-पृथक् आकृति वाले चिन्ह होते हैं। दो पीछे जघन होते हैं उनमें दो पैर जुड़े होते हैं। पैरों में जानु, ऊरु, घुटने, टखने, पंजे, पादतल और पाँच-पाँच उँगलियाँ नखों सहित होती हैं। यही मानव शरीर कहलाता है। शरीर के भीतर एक हृदय होता है। यह हृदय दोनों स्तनों के बीच में स्तनों से कुछ नीचे और नाभि से एक बिलस्त ऊपर होता है। हाथ की मुट्ठी बाँधने से जैसा आकार बनता है, लगभग उसी आकार का यह मांस का बना हृदय नाम का भीतरी अङ्ग है। नीचे मुख किये हुए लाल कमल काश के सदृश्य अधोनिष्ठा

से युक्त मांस पिंड वाला यह हृदय है। यह हृदय ही शरीर के भीतर मुख्य अंग है इसी में प्राण रहते हैं, इसी मे जीव रहता है, इसी मे अन्तर्यामी परब्रह्म निवास करता है। हृदय मे प्राण धड़कते रहते हैं। यही जीवन का चिन्ह है। प्राणों की धड़कन बन्द हो जाय तो समझो जीवात्मा इस शरीर का परित्याग कर गया। योगी लोग इसे हृदय से ले जाकर मूर्धा में स्थापित कर लेते हैं। वह उनकी समाधि अवस्था होती है।

शरीर मे प्राण ही मुख्य हैं। प्राण मे इस सम्पूर्ण शरीर की तथा हृदय की इन दोनो की प्रतिष्ठा है। अर्थात् प्राण के बिना शरीर तथा हृदय दोनों व्यर्थ हैं। प्राण का मुख्य स्थान तो हृदय ही है किंतु मुख और नासिका से निकलता हुआ आँखों मे और कानों मे स्थित होता है। प्राण न हों तो न आँखें देख सकती हैं, न कान सुन सकते हैं, और न नासिका गंध ग्रहण कर सकती है। वह प्राण भी अपान में प्रतिष्ठित है। अपान वायु गड़बड़ हो जाय तो प्राणो की गति भी अस्त-व्यस्त हो जाय, शरीर भी स्वस्थ न रह सके अतः प्राणों से भी अधिक महत्व अपान का है। यह अपान वायु यद्यपि मूल प्राण का अनुवर्ती है, तथापि प्राण इनमें प्रतिष्ठित है। यह अपान वायु गुदा मे रहकर मल और मूत्र तथा अपान वायु को बाहर फेंकता है। यह अपान भी व्यान मे प्रतिष्ठित है। यह व्यान भी मुख्य प्राण का अनुवर्ती है। व्यान वायु शरीर की समस्त नाड़ियों मे घूमता रहता है। शरीर में छोटी-बड़ी बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं। इन सबमें विचरते रहने का काम व्यान वायु का है। व्यान भी उदान मे प्रतिष्ठित है। यह उदान वायु बहत्तर करोड़ नाड़ियों से पृथक् जो सर्वश्रेष्ठ सुषुम्ना नाड़ी है उसमे ऊर्ध्वमुख होकर विचरण करता है। यह उदान कर्मानुसार जीवों को स्वर्ग, नरक तथा पृथ्वी लोकों मे ले

जाता है। यह उदान भी समान वायु मे प्रतिष्ठित है। प्राण ऊपर की ओर खींचता है, अपान नीचे की ओर। यह समान वायु शरीर के मध्य मे रहकर प्राण अपान के सतुलन को समान रूप से रखे रहता है। यह अन्नपान के रस को समान भाव से सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाता रहता है। ये सबके सब पाँचों प्राण परब्रह्म परमात्मा मे प्रतिष्ठित हैं। अतः सबकी प्रतिष्ठा ब्रह्म मे है। जो ब्रह्म को जानता है, वह सब कुछ जान लेता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं का ज्ञाता याज्ञवल्क्यजी ने अपने को बताया, तब शाकल्य मुनि ने उनसे पूछा—"याज्ञवल्क्यजी! यदि तुम देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं का ज्ञान रखते हो, तो बताओ पूर्व दिशा में तुम किस देवता से युक्त हो, अर्थात् पूर्व दिशा मे तुम किस देवता की उपासना करते हो?"

याज्ञ०—"पूर्व दिशा मे मैं आदित्य देवता वाला हूँ, अर्थात् पूर्व दिशा में मैं सूर्य की उपासना करता हूँ।"

शाकल्य—"जिस सूर्य की तुम पूर्व दिशा मे उपासना करते हो वह सूर्य किसमें प्रतिष्ठित है?"

याज्ञ०—"वह नेत्र में प्रतिष्ठित है। अर्थात् विधाता के नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ है और कार्यकारण में प्रतिष्ठित रहता ही है।"

इस पर शाकल्य ने पूछा—"नेत्र किसमे प्रतिष्ठित है?"

याज्ञ०—"नेत्र तो काले सफेद आदि रूपों मे प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि पुरुष नेत्रों द्वारा ही रूपों को देखता है। आँख बन्द करने पर रूप दिखाई नहीं देते।"

शाकल्य—"रूप किसमे प्रतिष्ठित हैं?"

याज्ञ०—"समस्त रूप हृदय मे प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि हृदय

द्वारा ही रूपों को जाना जाता है। जो हृदयहीन हैं, वे रूपों की परख क्या कर सकते हैं।"

शाकल्य ने कहा—"याज्ञवल्क्य ! आपका कथन यथार्थ है, वास्तव में बात ऐसी ही है। अब मेरे दूसरे प्रश्न का भी उत्तर दीजिये।"

याज्ञ०—"पूछिये।"

शाकल्य—"दक्षिण दिशा में तुम किस देवता वाले हो? अर्थात् दक्षिण दिशा में तुम किस देवता की उपासना करते हो?"

याज्ञ०—"दक्षिण दिशा में मैं सूर्य पुत्र यमराज की उपासना करता हूँ।"

शाकल्य—"वे यमराज किसमें प्रतिष्ठित हैं?"

याज्ञ०—"वे यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं।"

शाकल्य—"वे यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित हैं?"

याज्ञ—"यज्ञ दक्षिणा में प्रतिष्ठित हैं। दक्षिणा के बिना यज्ञ निष्फल है।"

शाकल्य—"दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है?"

याज्ञ०—"दक्षिणा श्रद्धा में प्रतिष्ठित है। श्रद्धाहीन दक्षिणा भी निष्फल है।"

शाकल्य—"श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है?"

याज्ञ०—"श्रद्धा हृदय में प्रतिष्ठित है, क्योंकि श्रद्धा हृदय से ही होती है। हृदय से ही श्रद्धा का परिज्ञान होता है।"

शाकल्य ने कहा—"याज्ञवल्क्य ! आपका कहना यथार्थ है। आप जैसा कहते हैं वैसा ही है। अब मैं तीसरा प्रश्न पूछना चाहता हूँ।"

याज्ञ०—"पूछिये।"

शाकल्य—"अच्छा, पूर्व और दक्षिण दिशाओं का तो आप ने देवता और प्रतिष्ठा सहित यथार्थ उत्तर दे दिया, अब यह बताइये कि पश्चिम दिशा में आप किस देवता वाले हैं ? अर्थात् पश्चिम दिशा के अधिष्ठातृदेव मानकर किस देवता की उपासना करते हैं ?"

याज्ञ०—"पश्चिम दिशा मे मै वरुण की उपासना करता हूँ।"

शाकल्य—"वरुणदेव किसमे प्रतिष्ठित हैं ?"

याज्ञ०—"वरुणदेव जल मे प्रतिष्ठित हैं।"

शाकल्य—"जल किसमे प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"जल वीर्य मे प्रतिष्ठित हैं।"

शाकल्य—"और वीर्य किसमे प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"वीर्य हृदय मे प्रतिष्ठित है। इसीलिये पुत्र माता-पिता के हृदय से उनके अनुरूप ही उत्पन्न होता है। लोग कहा भी करते हैं अजी, मानो उसका हृदय हा है। हृदयज इसीलिये सन्तान कहलाती है कि वीर्य हृदय मे प्रतिष्ठित रहता है। सतान की कामना वाले हृदय से ही वीर्य स्खलित होता है।"

शाकल्य—"याज्ञवल्क्य ! तुम्हारा कथन यथार्थ है। यह इसी प्रकार है। अब मेरा चौथा प्रश्न और है।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"उसे भी पूछिये।"

शाकल्य ने पूछा—"उत्तर दिशा मे तुम किस देवता वाले हो ? अर्थात् उत्तर दिशा के अधिष्ठातृ मानकर किस देवता की उपासना करते हो ?"

याज्ञ०—"उत्तर दिशा मे मैं सोम देवता की उपासना करता हू।"

शाकल्य—"सोमदेव किसमे प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"वे दीक्षा में प्रतिष्ठित हैं।"

शाकल्य—"दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि दीक्षित पुरुष असत्य भाषण नहीं करता। लोग कहा भी करते हैं- "अब तो आप दीक्षा में हैं सत्य बात हो उसे ही कहिये।"

शाकल्य—"सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"सत्य हृदय में प्रतिष्ठित है, क्योंकि सत्यासत्य का निर्णय हृदय ही करता है।"

शाकल्य—"आपका कथन यथार्थ है। यह बात ऐसी ही है। अब मेरा पाँचवाँ प्रश्न और है।"

याज्ञ०—"उसे भी पूछिये।"

शाकल्य—"चारों दिशायें तो हो गयीं अब यह बताइये, जो स्थिरा ध्रुवा दिशा है अर्थात् नीचे की दिशा–उसमें आप किस देवता वाले हैं ? अर्थात् नीचे की दिशा में आप किस देव की उपासना करते हैं ?"

याज्ञ०—"नीचे की दिशा में मैं अग्निदेव की उपासना करता हूँ।"

शाकल्य—"अग्निदेव किसमें प्रतिष्ठित हैं ?"

याज्ञ०—"वाणी में।"

शाकल्य—"वाणी किसमें प्रतिष्ठित है।"

याज्ञ०—"हृदय में।"

शाकल्य—"आप सभी को हृदय में ही प्रतिष्ठित बताते हैं, अच्छा बताइये हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ?"

इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्यजी को क्रोध आ गया। वे बोले—"अरे, प्रेत ! हृदय और हम दो हैं क्या ? जिस समय तुम हमको और हमारे हृदय को पृथक् मानते हो और यदि

इससे हृदय पृथक् हो जाय, तो फिर इस शरीर को कुत्ते खा जायँगे अथवा पक्षी नोच-नोच कर खा जायँगे। हृदयात्मा तो शरीर मे ही निवास करता है। हृदय की प्रतिष्ठा तो हृदय में ही है। मुझमें शरीर मे ही हृदय प्रतिष्ठित है।"

शाकल्य—"तुम अर्थात् शरीर आत्मा अर्थात् हृदय ये दोनो किसमे प्रतिष्ठित हैं ?"

याज्ञ०—"हृदय मे प्राण और देह प्रतिष्ठित है। और देह और हृदय प्राण मे प्रतिष्ठित है।"

शाकल्य—' देह हृदय तो प्राण में प्रतिष्ठित हैं, यह बताओ प्राण किसमे प्रतिष्ठित है।"

याज्ञ०—"फिर से तुम उलटे प्रश्न कर रहे हो, अच्छी बात है, करो। फिर से मैं भी अपने पुराने उत्तरो को दुहराऊँगा। प्राण अपान में प्रतिष्ठित है।"

शाकल्य—' अपान किसमे प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"व्यान मे।"

शाकल्य—"व्यान किसमे प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ० —"उदान मे।"

शाकल्य—"उदान किसमे प्रतिष्ठित है ?"

याज्ञ०—"समान मे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब शाकल्य पुनः पुनः प्रश्नो को दुहराते गये। और वे चुप ही न हुए, तब श्रुति स्वयं ही बताती है। शरीर, हृदय, प्राण ये परस्पर मे प्रतिष्ठित हैं। ये सब जिस एक मे प्रतिष्ठित हैं, जिसमे आकाश पर्यन्त ये सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च ओत प्रोत है, वह ब्रह्म कैसा है, उसे श्रुतियाँ नेति-नेति ऐसा कहकर ही निरूपण करती हैं। वह आत्मा अगृह्य है। अर्थात् वह किसी द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। वह

अशीर्य है–अर्थात् वह कभी भी नष्ट नहीं होता। वह असङ्ग है अर्थात् वह किसी मे आसक्त नहीं होता। वह असित है–अर्थात् वह किसी से व्यथित और हिंसित नहीं होता। ऐसा वह आत्मा है। उसके सम्बन्ध में शाकल्य का प्रश्न व्यर्थ है। शाकल्य यदि उसके निरूपण के सम्बन्ध मे पूछते हैं, तो उनका यह अतिप्रश्न है। यही सब सोचकर याज्ञवल्क्यजी ने शाकल्य से कहा–"देखो, शाकल्य! अब तुम बहुत पूछ चुके अब अतिप्रश्न मत करो। अब मैं तुमसे एक प्रश्न पूछता हूँ।"

शाकल्य ने कहा—"पूछिये।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"तुम्हारे पूछने पर मैंने (१) पृथ्वी (२) काम, (३) रूप, (४) आकाश, (५) तम, (६) रूप, (७) जल और (८) रेत ये आठ आयतन शरीर–बताये या नहीं?"

शाकल्य—"हाँ बताये।"

याज्ञवल्क्यजी—"(१) अग्नि, (२) हृदय, (३) चक्षु, (४) श्रोत्र (५) तम, (६) चक्षु, (७) हृदय और (८) हृदय ये ये आठ लोक दर्शन साधन–बताये या नहीं?"

शाकल्य—"हाँ बताये।"

याज्ञवल्क्य—"(१) अमृत, (२) स्त्री, (३) सत्य, (४) दिशायें (५) मृत्यु, (६) असु, (७) वरुण और (८) प्रजापति ये आठ देव बताये या नहीं?"

शाकल्य—"हाँ, बताये।"

याज्ञ०—"(१) शारीर पुरुष,(२) काममय पुरुष, (३) आदित्य पुरुष, (४) प्रतिश्रुत्क पुरुष, (५) छाया पुरुष, (६) आदर्श पुरुष, (७) जलमय पुरुष और (८) पुत्रमय पुरुष ये आठ पुरुष बताये थे या नहीं।"

शाकल्य—"हाँ बताये थे।"

याज्ञ०—"तो देखो, जो ये आठ आयतन हैं, आठ लोक हैं, आठ देव हैं और आठ पुरुष हैं, इन बत्तीसों को भली-भाँति जानकर उनको अपने हृदय में स्थापित करके, जितने भी उपाधि युक्त धर्म हैं उन सबका अतिक्रमण करके जो पुरुष अवस्थित है और जो औपनिषद् पुरुष कहा जाता है। अर्थात् जो उपनिषदों द्वारा ही जाना जाता है, जिसे अन्य किसी भी प्रमाण से जान नहीं सकते उस पुरुष के सम्बन्ध मे ही मैं तुमसे प्रश्न करता हूँ। क्या तुम उस पुरुष को जानते हो ? तुम विद्या के मद मे भरकर मुझसे अनेकों प्रश्न पूछते गये। मैं तो तुम से केवल एक ही प्रश्न पूछता हूँ, जो तत्त्व सम्पूर्ण कार्य वर्ग से विलक्षण है, जो केवल शास्त्रों के द्वारा ही समधिगम्य है, वेद जिसे नेति-नेति कह कर कथन करते हैं, उस पुरुष को तुम जानते हो, तो मुझसे कहो। मेरा प्रश्न उसी औपनिषद् पुरुष के सम्बन्ध मे है। यदि तुम उसे बिना जाने मुझसे कहोगे, उसका स्पष्टतया निरूपण न कर सकोगे, तो तुम्हारा सिर धड से पृथक् होकर गिर जायगा। अब अधिक वाद विवाद की आवश्यकता नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! शाकल्य मुनि उस परात्पर तत्त्व से अनभिज्ञ थे। वे उस उपनिषदेकगम्य परम तत्त्व को नहीं जानते थे। अतः याज्ञवल्क्यजी के वचन से ही सबके देखते-देखते उनका शिर धड़ से पृथक् होकर भूमि पर लोटने लगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! मनुष्य को न तो अपनी विद्या का अत्यधिक अभिमान ही करना चाहिये और न किसी का तिरस्कार अपमान ही करना चाहिये। देखिये, शाकल्य मुनि को अपनी विद्या का बड़ा गर्व था। वे बात बात पर याज्ञवल्क्य मुनि का तिरस्कार करते थे। इससे उनकी अकाल मृत्यु हुई। यही नहीं उनकी सद्गति भी नहीं हुई। मरण के पश्चात् उनके शिष्यों

ने उनके मृतक देह को जलाया। तथा उनकी अस्थियों को संचय करके उन्हें पुण्य प्रदेश में-किसी महान् तीर्थ में-प्रवाहित करने आदर पूर्वक ले जा रहे थे। मार्ग में लुटेरे दस्यु मिले। उन्होंने समझा ये कोई बहुमूल्य वस्तु लिये जा रहे हैं, अतः उन्होंने उसे लूट लिया। जब देखा होगा, ये अस्थियाँ हैं तो किसी अपवित्र प्रदेश में फेंक दिया होगा। इस प्रकार न तो उनकी मृत्यु ही किसी पुण्य प्रदेश में हुई और न उनकी अस्थियाँ ही किसी पुण्य तीर्थ में प्रवाहित हो सकीं। ब्रह्मवेत्ता के अपमान का-ज्ञानी पुरुष के तिरस्कार का-उन्हें प्रत्यक्ष फल मिल गया। इस आख्यायिका से यही शिक्षा मिलती है, कि ब्रह्मविद्या ही सर्वश्रेष्ठ विद्या है। ब्रह्मवेत्ता का सम्मान करना ही सबसे बड़ा सदाचार है और ब्रह्मवेत्ता का तिरस्कार ही सबसे बड़ा पाप है।"

इस प्रकार शाकल्य ऋषि के शिरःपात के अनन्तर फिर याज्ञवल्क्यजी से शास्त्रार्थ करने का किसी भी विद्वान् का साहस नहीं हुआ। जब उनसे शास्त्रार्थ करने के लिये कोई भी आगे नहीं बढ़ा तब याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"अब आप में से जो भी चाहे मुझसे प्रश्न करे अथवा आप सभी मिलकर मुझसे जो चाहे पूछें।" इतने पर भी जब कोई प्रश्न करने को आगे नहीं आया, तब जैसे याज्ञवल्क्यजी सबसे प्रश्न करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

पूरब रवि सुर नेत्र रूप हिय माहिँ प्रतिष्ठित।
दक्खिन यमपुर यज्ञ, दक्षिणा, श्रद्धा, हिय तत॥
पच्छिम सुर हैं वरुन नीर, वीरज, हिय माहीं।
उत्तर सुर है सोम सु-दीक्षा सत हिय पाहीं॥
ऊर्ध्व दिशा में अग्नि सुर, वाक हिये में प्रतिष्ठित।
हियो कौन में प्रतिष्ठित? हिय बिनु तन की नहिँ सुगति॥

(२)

तनु, हिय कामें ? प्राण, प्राण हू बसि अपान में ।
व्यान माहिं सोहू उदान वह बसि, समान में ॥
आत्मा सतत अगृह्य असग अशीर्य कहायो ।
आठ लोक आयतन पुरुषमय देव बतायो ॥
ता पुरुषहिं जाने बिना, मस्तक तव गिरि जायगो ।
मस्तक शाकल्यहिं गिरयो, हड्डी चोर चुराइगो ॥

पंडितों से याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ की समाप्ति

[२४२]

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स म
पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते त वः पृच्छा
सर्वान् वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषु ॥*

(बृ० उ० ३ अ० ९ ब्रा० २७ मं०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य तब कहें—विप्रगन ! सम्मुख आओ ।
जो कछु पूछन चहो पूछि निज शक मिटाओ ॥
यदि नहिं पूछें आपु प्रश्न तुम तें हौं करिहौं ।
उत्तर दै नहिं सकौ, गाय सब लै हौं चलि हौं ॥
साहस नहिं विप्रनि भयो, बैठे सब चुप मारिकें ।
याज्ञवल्क्य पूछन लगे, छै श्लोकनि हिय धारिकें ॥

---

* शाकल्य विदग्ध के शिर गिर जाने के अनन्तर महर्षि याज्ञवल्क्य-जी ने विदेहराज की सभा मे समुपस्थित सदस्यों को सम्बोधित करके कहा—"हे षडैश्वर सम्पन्न विप्रवृन्द ! आप लोगो मे से जो भी कोई मुझसे कुछ पूछना चाहे पूछे अथवा आप सभी मिलकर मुझसे पूछें। यदि आप न पूछें तो मैं पूछता हूँ। आप मे से कोई या सभी मिलकर मेरे प्रश्नो का उत्तर दें। इतने पर भी किसी का भी प्रत्युत्तर देने का साहस नहीं हुआ।"

संसार एक बड़ा वृक्ष है। जैसे वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है, वैसे ही यह संसार वृक्ष परब्रह्म परमात्मा से पैदा हुआ है। परब्रह्म सनातन हैं उन्हें किसी ने उत्पन्न नहीं किया है। जैसे बीजरूप परमात्मा सनातन हैं। वैसे ही उनसे उत्पन्न हुआ यह जगत् रूप वृक्ष भी सनातन है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी जब माता देवकी के गर्भ में आये, तब देवताओं ने गर्भस्थ सनातन प्रभु की सनातन वृक्ष के साथ तुलना करके ही उनकी स्तुति की। देवताओं ने बताया-आप प्रभो! सनातन-सदा से रहने वाले बीज हैं। उस बीज से यह सनातन वृक्ष प्रकट हुआ है। इस वृक्ष का आश्रय मूल प्रकृति है। इस वृक्ष पर सुख और दुख दो ही फल लगते हैं। वृक्ष की बहुत सी नीचे जड़े होती हैं, तो इस सनातन संसार वृक्ष की सत्त्व, रज और तमरूपा तीन ही जड़े हैं। वृक्ष में रस होता है जो सब वृक्ष को हरा भरा रखता है। इस संसार रूप वृक्ष में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार प्रकार के रस हैं। वृक्ष के जानने की विधायें होती हैं, तो इसे जानने की विधा-प्रकार-श्रोत, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका ये पाँच हैं। वृक्ष का अपना स्वभाव होता है। इस संसार वृक्ष के भी उत्पत्ति, वृद्धि, परिवर्तित, घटना और लोप हो जाना-अदर्शन होना-ये छैः स्वभाव हैं। वृक्ष में छाल होती है। इस संसार रूप सनातन वृक्ष की रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातुए ही सात प्रकार की छालें हैं। वृक्ष में शाखायें होती हैं। इस संसार वृक्ष की पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ शाखायें हैं। वृक्षों में पक्षी आदि खोंतरे बना लेते हैं। इस संसार वृक्ष रूप देह में जो दो आखों के, दो कानों के, दो नासिका के, एक मुख का, एक मल द्वार और मूत्र द्वार के जो नौ छिद्र हैं, वे ही मानो नौ खोंतरे हैं। वृक्ष में पत्ते

होते हैं, इस ससार रूप देह वृक्ष मे प्राण, अपान उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये दश प्राण ही मानो दश पत्ते हैं, इस ससार रूप देह वृक्ष पर जीव और ईश्वर दो ही पक्षी रहते हैं। इस वृक्ष की उत्पत्ति के एकमात्र आधार परब्रह्मपरमात्मा पुरुषोत्तम आप ही हैं, आप मे ही इसका सन्निधान–लोप–है और आपके ही अनुग्रह से इसकी सतत रक्षा हो रही है।

इस प्रकार इस जगत् के मूल कारण प्रकृति और पुरुष से भी परे जीव के भी स्वामी पुरुषोत्तम प्रभु हैं। जिन्होने उन पुरुषोत्तम को जान लिया, उन्होने सब कुछ जान लिया जिन्होने उसे नही जाना, उसने कुछ भी नहीं जाना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब शाकल्य विदग्ध का सिर धड़ से पृथक् होकर गिर गया, तब याज्ञवल्क्यजी ने जनक सभा के सभी सभासदो को चिनौती देते हुए कहा—"परम पूजीय ब्राह्मणो! अब आप मे से एक एक या सभी मिलकर मुझसे जो पूछना चाहें पूछें, मैं आपके प्रश्नो का उत्तर दूँगा। अथवा मैं ही आप से प्रश्न करता हूँ, उसका उत्तर आप मे से कोई भी एक दे अथवा आप सभी मिलकर मेरे प्रश्न का उत्तर दे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार चिनौती देने पर भी अब किसी भी विद्वान् का कुछ भी कहने का साहस नहीं हुआ। तब याज्ञवल्क्यजी ने सात श्लोको द्वारा एक प्रश्न किया। याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, ब्राह्मणो! वट पीपर तथा पाकरादि वृक्ष जिन धर्मों से युक्त होते हैं, उन्हीं धर्मों से युक्त यह पुरुष भी होता है। इसमे कोई सदेह की बात नहीं। सर्वथा सत्य बात है।

आप पूछेंगे—"पुरुष की और वृक्ष की समता कैसे है?"

तो सुनिये। वृक्षों में पत्ते होते हैं। उसी प्रकार इस पुरुष

शरीर मे भी रोम होते हैं। मनुष्य शरीर मे ऊपर त्वचा (चमडी) होता है। इसी पुकार वृक्षों में छाल हुआ करती है।

पुरुष के शरीर को काटो तो उसकी त्वचा में से रक्त बहने लगेगा। इसी प्रकार वृक्ष की त्वचा कट फट जाने पर उसमे से निर्यास- उत्पट गोंद निकलता है। एक दूसरी समता और भी है, वृक्ष को काटो या किसी भी प्रकार उसमे आघात लग जाय, तो उसमें से एक रस की भाँति एक द्रव पदार्थ बहने लगता है, उसी प्रकार पुरुष के शरीर में चोट लग जाय, किसी शस्त्र से कट जाय तो उसमे से रक्त प्रवाहित होने लगता है।

जैसे पुरुष के शरीर मे मास होता है, उसी प्रकार वृक्ष की छाल के भीतर गूदा होता है, जिसे किनाट कहते हैं, वह स्नायु की ही भाँति स्थिर होता है। जिस प्रकार पुरुष के स्नायु जाल के भीतर अस्थियाँ हड्डियाँ होती हैं, उसी प्रकार वृक्ष के गूदा-किनाट के भीतर दारुकाष्ठ होता है। जैसे पुरुष शरीर मे अस्थि के अनन्तर मज्जा होता है। वैसे ही वृक्षों मे भी मज्जा होता है। इसी प्रकार वृक्ष और पुरुष की बहुत अशो मे समता है।

यदि वृक्ष को जड के ऊपर से काट दिया जाय, तो वह पुनः अकुरित होकर नवीन होकर वृक्ष बन जाता है। इसी प्रकार आप लोग बतावें मनुष्य को भी मृत्यु काट डाले, तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा ?

आप यदि कहो मनुष्य पुन वीर्य से उत्पन्न हो जाता है। तो यह तो वृक्ष के सादृश्य मे कहना उचित न होगा। क्योंकि वीर्य से-बीज से-तो सभी उत्पन्न होते हैं हैं। वीर्य तो जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है। वृक्ष ता कट जाने पर भी मूल स पुन. उत्पन्न होता है। वृक्ष काटने पर मूल से भी उत्पन्न होता है और बीज से भी पैदा होता है। बीज से

भी वृक्ष कट जाने पर पुनः उत्पन्न हो जाता है। यदि वृक्ष को मूल सहित उखाड दिया जाय, मूल सहित नष्ट कर दिया जाय, तो समूल उखाडने या नष्ट कर देने के अनन्तर वह पुनः उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि मूल ही उसके उत्पन्न होने का आधार है। इसी प्रकार मनुष्य को मृत्यु छेदन कर दे–काट दे–मार दे, तो वह पुरुष किस मूल से उत्पन्न होगा ? यही मेरा आप सबसे प्रश्न है। मृत्यु के पश्चात् पुरुष को कौन उत्पन्न करेगा ?"

आप कहोगे, कि "पुरुष तो वीर्य से उत्पन्न हो ही गया है। एक बार उत्पन्न होकर वह पुनः नहीं उत्पन्न होता।" तो आपका यह कहना युक्तिसगत यथार्थ है नहीं। मनुष्य तो बार-बार जन्म लेता है, वह तो जन्म लेता ही है। तो मेरा प्रश्न यही है मृत्यु के पश्चात् पुरुष को कौन उत्पन्न करता है ? यदि आप लोग जानते हों, तो उस पुरुष का परिचय दीजिये। उसके सम्बन्ध में कुछ बताइये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ब्राह्मण लोग मृत्यु के पश्चात पैदा करने वाले के सम्बन्ध मे नहीं जानते थे, अतः वे पराजित होकर चुप हो गये। उन पर इसका कुछ उत्तर ही देते नहीं बना।"

ब्राह्मणों से तो इसका उत्तर दिया नहीं गया। अतः भगवती श्रुति स्वय ही इसका उत्तर देते हुए बता रही है, कि वह पुरुष विज्ञानमय पुरुष है जिसकी उपलब्धि का एकमात्र आश्रय ज्ञान है। वह आनन्दमय पुरुष है। आनन्द ही उसका सच्चा स्वरूप है। वह सबमें व्याप्त, सबसे बढ़ा-चढ़ा परम तत्त्व ब्रह्म ही है। वही उपासना करने वाले उपासकों की, साधन करने वाले साधकों को, पुरुषार्थ करने वाले पुरुषों की एकमात्र गति है। वह यजमान को भी परमागति है। वह परब्रह्म परमात्मा प्रभु ही

सबकी अन्तिम गति है। वह ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मवेत्ता प्रवर पुरुषों का भी परम आश्रय है। परम शान्त है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब सब ब्रह्मज्ञानियों ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और गौओं पर याज्ञवल्क्यजी का अधिकार हो गया, तब याज्ञवल्क्यजी अपने स्थान से उठकर जहाँ राजा जनक अपने आसन पर बैठे थे, वहाँ आये। अब जैसे याज्ञवल्क्यजी का और जनक का सम्वाद होगा उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

उपसंहार

(१)

वृक्ष पुरुष सम होहिं गोसहु तरु जान है।
त्वचा रक्त सम होइ जानहु गोंद होइ बहु॥
पुरुष वृक्ष चुटिआइ रक्त सम होइ प्रवाहित।
मांस-शुक्र नर—स्नायु वृक्ष कीनाट है आन्त॥
मज्जा उभय समान है, यों नर वृक्ष समान है।
वृक्ष कटै पुनि अङ्कुरित, नर कटि उपजै अहि है॥

(२)

वीरजतें उत्पन्न? वीर्य तो वीर्यित कहे हैं।
वृक्ष वीर्य तें होइ, कटे तें पुनि उपजै है॥
वृक्ष उपाटें मूल नहीं उपजन होइ है।
नर को छेदन होत और भी मूल होइ है॥
करै पुरुष उपजन को? उपजा नहिं दिख है कोई।
सबका ही गति यह है, पिय चाहिए है एक कोई॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय के
नवम ब्राह्मण अध्याय समाप्त।
तृतीय अध्याय समाप्त।

को दर्शन देने का जो समय नियत था, उस समय राजा जनक अपने आसन पर बैठकर सबके दुख-सुख सुन रहे थे। याचकों को उनकी इच्छानुसार इच्छित वस्तुओं को दे रहे थे। उसी समय याज्ञवल्क्यजी को अपने यहाँ आया देखकर महाराज ने उनका अभिनन्दन किया। स्वागत सत्कार के अनन्तर हँसते हुए राजा ने पूछा—"कहिये, ब्रह्मन्! आज आपका राजसभा में आना किस अभिप्राय से हुआ? और अधिक गौएँ लेने के निमित्त पधारे हैं, अथवा अणु जीवात्मा आदि सूक्ष्मान्त तत्त्वों के निश्चय करने के निमित्त?

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! मैं तो दोनों के ही निमित्त आया हूँ। आप गौएँ देंगे, तो उन्हें भी ग्रहण करूँगा। और आप सूक्ष्म तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रश्न करेंगे, तो उनका भी उत्तर दूँगा। आपके यहाँ तो सदा विद्वान् आचार्य आते ही रहते हैं, यदि तुम से किसी आचार्य ने कोई ज्ञान की बात कही हो, किसी प्रकार का उपदेश दिया हो तो उस उपदेश को हमें सुनाइये।"

महाराज जनक ने कहा—"ब्रह्मन्! एक दिन महर्षि शिलिनि के पुत्र जित्वा मुनि कृपा करके मेरे यहाँ पधारे थे। उन्होंने मुझे ब्रह्म का उपदेश दिया था।"

याज्ञ०—"क्या उपदेश किया था?"

जनक—"उन्होंने कहा था--वाक् ही ब्रह्म है।"

याज्ञ०—"उन्होंने जो उपदेश दिया, वह तो सत्य ही दिया उनका उपदेश उसी प्रकार का है जिस प्रकार कोई पुरुष पाँच वर्षों तक तो अपनी विदुषी माता के अनुशासन में रहे, तदनन्तर पिता के अनुशासन में रहे। । जब उपनयन कराकर पिता गुरु-कुल में छोड़ आवे तब समावर्तन संस्कार पर्यन्त आचार्य के

अनुशासन में रहे। ऐसे पुरुष को मातृमान्, पितृमान् तथा आचार्यवान् कहते हैं। ऐसा मातृमान् पितृमान् तथा आचार्यवान पुरुष जैसे अपने शिष्यों को उपदेश करता है, वैसे ही उपदेश तुम्हें शिलिन पुत्र जित्वा मुनि ने किया है। उनका उपदेश उचित है कारण कि जो तीन प्रकार की शुद्धि के हेतुओं से सयुक्त है ऐसा पुरुष अपने शिष्यों को उपदेश देने में कभी भी प्रमाण से व्यभिचरित नहीं हो सकता। अतः जित्वा मुनि ने आपका हित समझकर ही उपदेश दिया। वाक् ब्रह्म इसलिये है, कि यदि बोले नहीं मूक बना रहे तो उसे क्या लाभ होगा? न बोलने से इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होते। अतः वाक् ब्रह्म है, यह तो निर्विवाद बात है। अब यह बताओ उन जित्वा महर्षि ने उस वाक् ब्रह्म का आयतन-शरीर-क्या है और उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय-क्या है, यह बताया या नहीं?"

जनक—"वाक् ब्रह्म के आयतन-शरीर-और प्रतिष्ठा-आश्रय-के सम्बन्ध में तो उन्होंने मुझे कुछ भी नहीं बताया।"

याज्ञ०—"तब तो यह उपदेश सत्य होने पर भी अधूरा है। चार पादों में से एक ही पाद है। जब ब्रह्म का आयतन-शरीर-प्रतिष्ठा-आश्रय-तथा उपास्य रूप ज्ञात न हो, तब तक केवल वाक्ब्रह्म है इतना ही कहने से काम नहीं चलेगा।"

जनक—"यदि उनका ज्ञान अधूरा है, तो उसे आप पूरा करें। यदि उन्होंने एक ही पाद का उपदेश दिया है, तो तीन पादों की पूर्ति आप करें।"

याज्ञ०—"वाक् रूप ब्रह्म का आयतन-शरीर वाणी ही है। वाणी द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। आकाश-नभ- ही उसकी प्रतिष्ठा -आश्रय-है और उसकी उपासना 'प्रज्ञा' करे।"

को दर्शन देने का जो समय नियत था, उस समय राजा जनक अपने आसन पर बैठकर सबके दुख सुख सुन रहे थे। याचकों का उनकी इच्छानुसार इच्छित वस्तुओं को दे रहे थे। उसी समय याज्ञवल्क्यजी को अपने यहाँ आया देखकर महाराज ने उनका अभिनन्दन किया। स्वागत सत्कार के अनन्तर हँसते हुए राजा ने पूछा—"कहिये, ब्रह्मन्! आज आपका राजसभा में आना किस अभिप्राय से हुआ? और अधिक गौएँ लेने के निमित्त पधारे हैं, अथवा अणु जीवात्मा आदि सूक्ष्मान्त तत्त्वों के निश्चय करने के निमित्त?

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! मैं तो दोनों के ही निमित्त आया हूँ। आप गौएँ देंगे, तो उन्हें भी ग्रहण करूँगा। और आप सूक्ष्म तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रश्न करेंगे, तो उनका भी उत्तर दूँगा। आपके यहाँ तो सदा विद्वान् आचार्य आते ही रहते हैं, यदि तुम से किसी आचार्य ने कोई ज्ञान की बात कही हो, किसी प्रकार का उपदेश दिया हो तो उस उपदेश को हमें सुनाइये।"

महाराज जनक ने कहा—"ब्रह्मन्! एक दिन महर्षि शिलिनि के पुत्र जित्वा मुनि कृपा करके मेरे यहाँ पधारे थे। उन्होंने मुझे ब्रह्म का उपदेश दिया था।"

याज्ञ०—"क्या उपदेश किया था?"

जनक—"उन्होंने कहा था--वाक् ही ब्रह्म है।"

याज्ञ०—"उन्होंने जो उपदेश दिया, वह तो सत्य ही दिया उनका उपदेश उसी प्रकार का है जिस प्रकार कोई पुरुष पाँच वर्षों तक तो अपनी विदुषी माता के अनुशासन में रहे, तदनन्तर पिता के अनुशासन में रहे। । जब उपनयन कराकर पिता गुरु-कुल में छोड़ आवे तब समावर्तन संस्कार पर्यन्त आचार्य के

अनुशासन में रहे। ऐसे पुरुष को मातृमान्, पितृमान् तथा आचार्यवान् कहते हैं। ऐसा मातृमान् पितृमान् तथा आचार्यवान पुरुष जैसे अपने शिष्यों को उपदेश करता है, वैसे ही उपदेश तुम्हें शिलिन पुत्र जित्वा मुनि ने किया है। उनका उपदेश उचित है कारण कि जो तीन प्रकार की शुद्धि के हेतुओं से संयुक्त है ऐसा पुरुष अपने शिष्यों को उपदेश देने में कभी भी प्रमाण से व्यभिचरित नहीं हो सकता। अतः जित्वा मुनि ने आपका हित समझकर ही उपदेश दिया। वाक् ब्रह्म इसलिये है, कि यदि बोले नहीं मूक बना रहे तो उसे क्या लाभ होगा? न बोलने से इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होते। अतः वाक् ब्रह्म है, यह तो निर्विवाद बात है। अब यह बताओ उन जित्वा महर्षि ने उस वाक् ब्रह्म का आयतन-शरीर-क्या है और उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय-क्या है, यह बताया या नहीं?"

जनक—"वाक् ब्रह्म के आयतन-शरीर-और प्रतिष्ठा-आश्रय-के सम्बन्ध में तो उन्होंने मुझे कुछ भी नहीं बताया।"

याज्ञ०—"तब तो यह उपदेश सत्य होने पर भी अधूरा है। चार पादों में से एक ही पाद है। जब ब्रह्म का आयतन-शरीर-प्रतिष्ठा-आश्रय-तथा उपास्य रूप ज्ञात न हो, तब तक केवल वाक्ब्रह्म है इतना ही कहने से काम नहीं चलेगा।"

जनक—"यदि उनका ज्ञान अधूरा है, तो उसे आप पूरा करें। यदि उन्होंने एक ही पाद का उपदेश दिया है, तो तीन पादों की पूर्ति आप करें।"

याज्ञ०—"वाक् रूप ब्रह्म का आयतन-शरीर वाणी ही है। वाणी द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। आकाश-नभ-ही उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय-है और उसकी उपासना 'प्रज्ञा' भावना से करे।"

जनक—"प्रज्ञता क्या वस्तु है ?"

याज्ञ०—"हे राजन् ! वाणी की प्रज्ञता वाक् ही है अर्थात् वाक् ही प्रज्ञा है, इस भावना से उपासना करे। क्योंकि वाक् द्वारा ही बन्धु बान्धव जाने जाते हैं। बन्धु बान्धव ही नहीं वाणी द्वारा ही ऋक्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद, इतिहास पुराण, भूतविद्यादि विद्यायें, उपनिषदे, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, अन्नदानादि धर्म, जल दानादि धर्म इहलोक तथा परलोक और सम्पूर्ण प्राणी सभी भूत ये सबके सब वाणी द्वारा ही भली-भाँति से जाने जाते हैं। हे सम्राट् ! इस लिये वाक् ही ब्रह्म है। इस भावना से उपासना करने वाले का परित्याग वाक् नहीं करता। संसार के समस्त वाणी वाक्ब्रह्म के उपासक को उपहार प्रदान करते हैं जो इस प्रकार वाक् ही ब्रह्म है इस भाव से उपासना करता है वह देव होकर देवों को ही प्राप्त होता है।"

यह सुनकर विदेहराज महाराज जनक परम प्रमुदित होकर महर्षि याज्ञवल्क्यजी से बोले—"ब्रह्मन् ! आपने मुझे चतुष्पाद वाक्ब्रह्म का उपदेश दिया, अतः मैं आपको एक सहस्र ऐसी पुष्ट अच्छी जाति की गौएँ प्रदान करता हूँ, जिनसे बहुत बड़े-बड़े-हाथी के समान-बछड़े उत्पन्न हों।"

यह सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन् ! इस उदारता के लिये आपको साधुवाद, किन्तु इस विषय में हमारे पूज्य पिताजी ने एक उपदेश दिया था।"

जनक—"आपके पिताजी ने क्या उपदेश दिया था ?"

याज्ञ०—"उनका विचार था, कि जब तक शिष्य उपदेश के द्वारा पूर्ण कृतार्थ न हो जाय, तब तक उसका धन ग्रहण नहीं करना चाहिये। शिष्य के कृतकृत्य हो जाने पर ही आचार्य को

उसकी दी हुई दक्षिणा ग्रहण करनी चाहिये। मेरी बुद्धि में आप अभी पूर्ण कृतार्थ नहीं हुए हैं यदि तुम्हें किसी अन्य आचार्य ने और कुछ उपदेश किया हो, तो उसे भी कहिये ? उसे भी हम सुनना चाहते हैं।"

इस पर महाराज जनक ने कहा—"एक बार महर्षि शुल्व के पुत्र उदङ्क कृपा करके मेरे यहाँ पधारे थे। उन्होंने मुझे उपदेश दिया था-'प्राण ही ब्रह्म है'।"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"उदङ्क मुनि ने मातृवान् पितृवान् तथा आचार्यवान् योग्य आचार्य जिस प्रकार कहे वैसा ही उन्होंने तुम से कहा। प्राण तो ब्रह्म है ही। जिसके शरीर में प्राण क्रिया नहीं होती, वह कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। प्राण ब्रह्म है यह तो यथार्थ है, किन्तु उन्होंने प्राण का आयतन-शरीर-और उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय-को भी तुम्हें बताया या नहीं ?"

जनक—"ये तो उन्होंने मुझे नहीं बताये।"

याज्ञ०—"राजन् ! तब तो सत्य होने पर भी यह तो एक पाद वाला ही ब्रह्म रहा। यह अधूरा है।"

जनक—"तब पूरा आप बतावें।"

याज्ञ०—"प्राण का शरीर प्राण ही है, आकाश उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय-है। उसकी उपासना 'प्रिय' इस रूप से करनी चाहिये। संसार में सबसे प्यारा प्राण ही है।"

जनक—"मुनिवर ! प्रियता क्या है ?"

याज्ञ०—राजन् ! कह तो दिया प्राणीमात्र को प्राण ही सबसे प्यारे हैं। प्राणों की रक्षा के लिये लोग न करने योग्य कार्यों को भी करते हैं। जिन्हें यज्ञ न कराना चाहिये लोग प्राणों की रक्षार्थ उन्हें भी यज्ञ करा देते हैं। जिनका दान न लेना

चाहिये उनसे भी दान ले लेते हैं। यात्रा करते समय जिधर भी-जिस दिशा में भी-जायँ, वहीं आशंका करते हैं, कि वहाँ हमारे प्राणों को कोई क्षति न पहुँचावे प्राणों की रक्षा के लिये शुभ मुहूर्त आदि देखकर जाते हैं। अपनी परम प्रिय वस्तु की जैसे सभी प्रकार से रक्षा की जाती है, वैसे ही पुरुष प्राणों की रक्षा करते हैं। प्राणों के लिये सभी का परित्याग करते हैं, प्राणों के लिये सब कुछ किया जाता है। इसलिये प्राण ही परब्रह्म है। जो प्राणों की प्रिय भावना से उपासना करते हैं, उन्हें प्राण परित्याग नहीं करता। वे अमर हो जाते हैं। समस्त प्राणी उसे उपहार प्रदान करते हैं। वह मनुष्य से देव होकर देवों को प्राप्त होता है प्राण ब्रह्म है, प्राण का प्राण ही शरीर है, आकाश उसकी प्रतिष्ठा है और प्रिय भाव से वह उपास्य है यही चतुष्पाद ब्रह्म का रूप है।"

जनक—"ब्रह्मन्! आपने मुझे समग्र प्राण ब्रह्म का उपदेश दिया अतः हाथी के सदृश बलवान् हृष्ट पुष्ट बछड़े उत्पन्न करने वाली एक सहस्र गौएँ मैं आपको प्रत्युपकार रूप में अर्पण करता हूँ।"

याज्ञ०—"राजन्! मैंने कह तो दिया मेरे पिता की आज्ञा नहीं है जब तक शिष्य पूर्ण कृतार्थ न हो जाय, तब तक दक्षिणा रूप में धन ग्रहण न करे। यदि किसी अन्य आचार्य ने आपको कोई उपदेश दिया हो, तो उसे भी बताइये।"

जनक—"ब्रह्मन्! एक बार महर्षि वृष्ण के पुत्र बर्कु मेरे यहाँ पधारे थे, उन्होंने कहा था, चक्षु ही ब्रह्म है।"

याज्ञ०—"उन्होंने सत्य ही कहा मातृ पितृ आचार्यभक्त विद्वान् ऐसा ही उपदेश देते हैं। चक्षु तो ब्रह्म है ही। क्योंकि बिना देखे बताइये क्या लाभ हो सकता है? किन्तु उन्होंने

चक्षु का आयतन, प्रतिष्ठा और उपास्य भावना बतायीं या नहीं ?"

जनक—"ये बातें तो नहीं बतायीं, इन्हें कृपा करके आप बतावें।"

याज्ञ०—"चक्षु का चक्षु ही आयतन है, आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा-आश्रय-है और उसकी सत्य रूप से उपासना करनी चाहिये।"

जनक—"सत्यता क्या है, इसे और बतावें।"

याज्ञ०—"देखो, राजन्! चक्षु की सत्यता चक्षु ही है। कोई साक्षी देने जाता है, तो उससे पूछते हैं सत्य बताना क्या तुमने अपनी आँखों से इसे देखा था ?" जब साक्षी देने वाला कह देता है—'हाँ मैंने इस घटना को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा था।" तब उसकी सत्यता में सन्देह नहीं रहता। आँखों देखी बात सत्य मानी जाती है। अतः जो विद्वान् चक्षु को ब्रह्म मानकर उसकी सत्य भाव से उपासना करते हैं उनका चक्षु परित्याग नहीं करते। सभी प्राणी उसे उपहार प्रदान करते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस पर राजा ने फिर वैसी ही सहस्र गौएँ देने की इच्छा की। मुनि ने पिता की आज्ञा बताकर मना करते हुए अन्य आचार्य से जो सुना हो उसे पूछा। इस पर जनक ने कहा—"भारद्वाज गोत्रीय गर्दभी विपीत मुनि ने मुझे श्रोत्र ही ब्रह्म बताया था।"

याज्ञ०—"उन मुनि ने सत्य ही कहा वे मातृ पितृ आचार्य भक्त रहे होंगे। क्योंकि कुछ भी न सुने तो इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी क्या लाभ ? किन्तु उन्होंने उनका आयतन प्रतिष्ठा और उपास्य भाव के सम्बन्ध में भी बताया था ?"

जनक—"उन्होंने नहीं बताया, उसे आप बतावें।"

याज्ञ०—"देखो, यह एक पाद ही ब्रह्म हुआ। श्रोत्र का शरीर श्रोत्र ही है, आकाश आश्रय है और अनन्त रूप से उसकी उपासना करनी चाहिये।"

जनक—"अनन्तता क्या ?"

याज्ञ०—"देखिये, राजन्! शब्द दिशाओं से ही सुने जाते हैं अतः दिशाएँ ही अनतता हैं। आप किसी भी दिशा में चले जाइये उसका अन्त नहीं मिलेगा। पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा नीचे ऊपर कहाँ जाकर समाप्त होती हैं इसे कोई भी नहीं बता सकता। ये दिशायें ही श्रोत्र हैं दिशायें अनन्त हैं। ब्रह्म भी अनन्त है अतः श्रोत्र ही ब्रह्म है। जो विद्वान् श्रोत्र की अनन्त भाव से उपासना करते हैं, उनका श्रोत्र परित्याग नहीं करते। उन्हें समस्त प्राणी उपहार प्रदान करते हैं, वे देव होकर देवों को प्राप्त होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"राजा ने पुनः उतनी गौएँ देनी चाहीं। पिता की आज्ञा बताते हुए निषेध करके अन्य आचार्य ने जो उपदेश किया हो उस सम्बन्ध में पूछने पर जनक ने कहा—"जबाला के पुत्र सत्यकाम ने मुझे मन ही ब्रह्म बताया था।"

याज्ञ०—"मन ही ब्रह्म है, उन्होंने यथार्थ ही कहा--किन्तु आयतन प्रतिष्ठा और उपास्य रूप भी बताया।"

जनक—"उसे आप बतावें।"

याज्ञ०—"मन का मन ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, 'आनन्द' इस रूप से इसकी उपासना करनी चाहिये।"

जनक—"आनन्दता क्या ?"

याज्ञ०—"आनन्द का एकमात्र स्थान मन ही है। काम मन से ही होता है इसीलिये वह मनसिज कहलाता है। मनसिज

ही आनन्दोत्पादक है उसी से अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है। वह आनन्द ही है। मन ही परब्रह्म है, जो मन की आनन्द भावना से उपासना करता है, उसे मन परित्याग नहीं करता। समस्त भूत उसे उपहार प्रदान करते हैं, क्योंकि मन तो सबका एक ही है। वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है।"

सूतजी ने कहा—"राजा ने पुनः सहस्र गौ देनी चाहा। पिता की आज्ञा से निषेध करके मुनि ने पूछा और किसी आचार्य ने कुछ कहा? तब जनकजी ने कहा—"आपसे शास्त्रार्थ में जिनका शिर कट गया था उन विदग्ध शाकल्य ने हृदय को ब्रह्म बताया था।"

याज्ञ०—"उन्होंने भी सत्य ही कहा। हृदय हीन पुरुष कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु उन्होंने इसके आयतन, प्रतिष्ठा और उपास्य रूप नहीं बताये?"

जनक—"उन्हें आप बतावें।"

याज्ञ०—'हृदय का हृदय ही आयतन है आकाश प्रतिष्ठा है और स्थिति इस रूप से उसकी उपासना करनी चाहिये।"

जनक—"स्थितता क्या?"

याज्ञ०—"राजन्! समस्त भूतों का आयतन रहने का स्थान हृदय ही है। हृदय में ही सबकी प्रतिष्ठा है, हृदय में ही समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं। इसलिये यह हृदय ही परब्रह्म है। जो हृदय की स्थिति रूप में ब्रह्म भाव से उपासना करता है, उसका हृदय परित्याग नहीं करता सब भूत उसे उपहार समर्पण करते हैं, वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा ने पुनः वैसी ही उतनी ही गौएँ देनी चाहीं किन्तु महामुनि ने पुनः पिता की आज्ञा बताकर उन्हें लेना स्वीकार नहीं किया। आगे जैसे राजा याज्ञ-

वल्क्यजी के शरणापन्न होंगे वह जनक की उपसत्ति आगे क
की जायगी।"

छप्पय

(१)

'ताहि बतावें आप' वाक को वाक आयतन।
तिहि आश्रय आकाश तासु प्रज्ञाहु उपासन॥
वाकहि तें सब ज्ञान बन्धु सम्बन्धी शाखनि।
वाक न त्यागे वाक उपासक सुर बनि देवनि॥
'सहस गाय जिनि गज सरिस, वत्स होइँ मुनि! लेउ अब।
मुनि बोले—मम पितु कह्यो, करि कृतार्थ धन लेउ तब॥

(२)

यों विभिन्न मुनि कथित भिन्न बहु ब्रह्म बताये।
वाक, प्राण अरु नेत्र, श्रोत्र, मन, हृदय जताये॥
एक पाद मुनि कहे आयतन तत तत सब इनि।
सब आश्रय आकाश कहे कम रूप उपासन॥
प्रज्ञा प्रिय अरु सत्य पुनि, है अनन्त, आनन्द थिति।
भूत उपासक प्रति नमैं, देव होइँ मुनि कह्यो इति॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
प्रथम षडाचार्य ब्राह्मण समाप्त।

महाराज जनक की प्रपत्ति

[२४४]

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥*

(बृ० उ० ४ अ० २ ब्रा० २ म०)

छप्पय

जनक सुन्यो उपदेश शरन मुनिवर की लीन्हीं।
पकरे मुनि पद पदुम ब्रह्म जिज्ञासा कीन्हीं॥
मुनि बोले—तुम विज्ञ किन्तु तन तजि कित जाओ?
'भगवन्! जानूँ नहीं' कहें नृप—आपु बताओ॥
नेत्र दाहिने पुरुष इक, इन्ध इन्द्र कहलात है।
देव परोक्षहु होइं प्रिय, पत्नि विराटहु अन्न है॥

समस्त शास्त्र उस एक ही देव की खोज करते हैं जो इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। वह एक देव ही नाना रूप बनाकर जगत् में क्रीडा कर रहा है। उस देव के सहस्र नाम हैं। सहस्र से अभिप्राय अनंत से है। अर्थात् जितने भी नाम हैं, सब ब्रह्म के ही नाम हैं, जितने भी रूप हैं सब ब्रह्म के ही रूप हैं, वे इन्द्र बड़े

---

* जिसका नाम इन्ध है, जो दायी आँख में रहता है उसी इन्ध को परोक्ष रूप में इन्द्र भी कहते हैं। इन्द्र को इन्ध इस लिये कहा गया, कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं। प्रत्यक्ष से वे विद्वेष करते हैं।

मायावी हैं, वे अनेक रूपों मे दिखाई देते हैं। उन परमदेव को कोई इन्द्र कहते हैं, कोई सूर्य, वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड़, ग त्मान्, दीप्तिमान्, यम, वायु, एक, सद् इन नामों से पुकार हैं। वे ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अक्षर, परम, स्वराट्, विष्णु प्राण, काल, अग्नि, तथा चन्द्रमा इन नामों से भी प्रसिद्ध हैं उन्हीं को मनु, प्रजापति, इन्द्र, प्राण, शाश्वत तथा ब्रह्म कहते हैं तात्पर्य यह है कि जितने भी स्थावर-जङ्गम, चर अचर हैं सबके रूप मे वे ही स्थित हैं। इन्द्रादि लोकपाल उन्हीं परब्रह्म परमात्म की विभूति हैं।

कुछ लोग कहते हैं। न कहीं आकाश मे स्वर्गलोक है, न इन्द्रादि देवता हैं। विद्वान् को ही देवता कहते हैं। जहाँ सुख मिले वही स्वर्ग। बात तो सत्य है विद्वान्-सदाचारी शास्त्रज्ञ-देव सदृश ही है। जहाँ सुख हो वह स्वर्ग के ही समान है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि देवता कोई योनि ही नहीं। स्वर्ग कोई लोक ही नहीं।

भगवान् से ही इस जगत् की दश प्रकार की सृष्टि हुई है। सबके उत्पादक स्रष्टा, प्रजनन कर्ता वे परब्रह्म परमात्मा ही हैं। जब वे क्रीडा के निमित्त जीवों के भोग भुगवाने के निमित्त एक से बहुत होने की इच्छा करते हैं। तो अपने को ही दश प्रकार से बना लेते हैं। वही दश विध सृष्टि कहलाती है।

दस विध सृष्टि मे ६ प्रकार की प्राकृत सृष्टि होती है चार प्रकार की वैकृति सृष्टि है। पहिले अव्याकृत ब्रह्म रहता है, उसमे कोई विकार नहीं, क्षोभ नहीं। प्रकृति मे जब विकृति होती है। साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, जब गुणों मे विषमता आती है, तब ही सृष्टि होनी आरम्भ हो जाती है। समता में सृष्टि नहीं।

वैषम्य मे ही सृष्टि होती है। तभी दश प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है।

१—पहिली सृष्टि है महत्तत्व की। उसे ब्रह्मा कह लो। एक महान् तत्त्व उत्पन्न होता है, उसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जाता। गुणा का वैषम्य होना ही उसका स्वरूप है।

२—दूसरा सृष्टि अहङ्कार की होती है। या यों कहो कि महत्तत्त्व से अहङ्कार उत्पन्न होता है। वह अहङ्कार सात्त्विक, राजस् और तामस तीन प्रकार का होता है।

३—तीसरी सृष्टि तामस अहङ्कार स उत्पन्न, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये सब हैं।

४—चोथी सृष्टि राजस् अहङ्कार से उत्पन्न दश विध इन्द्रियों की है, इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ।

५—पाँचवीं सृष्टि सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं की तथा मन की है।

६—छठी सृष्टि अविद्या का है। अविद्या न हो तो जीव मोह में पडकर उन्मत्त की भाँति पुरानी सब बातों को भूल कैसे जाय? इसलिये यह अविद्या पच पर्वा कही गयी है। पर्व गाँठ को कहते हैं। जैसे बाँस म पोर पोर पर गाँठ हुआ करती है। पाँच गाँठ तामिस्र, अन्ध तामिस्र, तम, मोह, और महामोह के नाम से विख्यात हैं। ये छः तो प्रकृति स होने वाली प्राकृत सृष्टि कहलाती हैं। अब प्रकृति में जो विकृति होती है उस विकृति से होने वाली वैकृत सृष्टि चार प्रकार की है।

७—सातवीं सृष्टि वृक्ष लता गुल्म आदि की।

८—आठवीं सृष्टि ऊँट, घोडा, चिडिया आदि पशु पक्षियों की।

९—नवीं सृष्टि मनुष्यों की।

१० – दशवीं सृष्टि देवताओं की है। देवयोनि आठ प्रकार की होती है। (१) देवता, (२) पितर, (३) असुर, (४) गन्धर्व और अप्सरायें, (५) यक्ष और राक्षस, (६) सिद्धगण, (७) चारण और विद्याधर, (८) भूत, प्रेत, पिशाच, किन्नर, किंपुरुष तथा अश्वमुखादि। इनमें स्वर्ग में रहने वाले देव और शेष उपदेव कहलाते हैं।

इस प्रकार दशविधकी सृष्टि से यह संसारचक्र चल रहा है। अविद्या के कारण जीव यह नहीं जानता कि मरकर हम कहाँ जायँगे, हमारी क्या गति होगी ? जिसे जीव की गति अगति का ज्ञान है, वही ज्ञानी है। शुभ कर्मों का फल स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति है। अशुभ कर्मों का फल नरकादि अपुण्य लोकों की प्राप्ति है और ज्ञान का फल संसार चक्र से मुक्त होना है। उसे भगवान् में आसक्ति या भक्ति भी कहते हैं। परम पुरुषार्थ परतत्त्व का ज्ञान अथवा पराभक्ति प्राप्ति ही है। इसके बिना सब व्यर्थ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राजा महाराजाओं के बैठने के लिये मयूर पिच्छादि से निर्मित एक विशेष प्रकार का आसन होता था। महाराज जनक अपने सिंहासन पर उस कूर्च नामक आसन पर बैठे थे। जब उन्हें निश्चय हो गया, कि ये महर्षि याज्ञवल्क्य विशेषणों सहित चतुष्पाद ब्रह्मों का परिज्ञान रखते हैं, तब तो उनके प्रति राजा की विशेष श्रद्धा उत्पन्न हुई। उन महर्षि के चरणों में आत्मसमर्पण की इच्छा से वे अपने बहुमूल्य कूर्च आसन से उठकर उनके समीप आये और साष्टाङ्ग प्रणाम करके बोले—"भगवन् ! मैं आपके पादपद्मों में प्रणाम करता हूँ। मैं आपका शिष्य हूँ। मेरी रक्षा करें और मुझे सदुपदेश दें।"

यह सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"आप सुपात्र हैं, उपदेश पाने के लिये योग्यपात्र हैं। क्योंकि ब्रह्मज्ञान का मार्ग बहुत लम्बा है। जैसे लम्बा मार्ग एकाकी पैदल पार करना कठिन है। लम्बा मार्ग यदि स्थल का है तो उसे रथ आदि वाहना द्वारा पार किया जा सकता है। यदि जल का मार्ग है तो नौका तथा पोतादि स पार किया जा सकता है। इसी प्रकार आपने प्राणादि ब्रह्मो का आश्रय लकर उपासनाओं द्वारा अपने चित्त को समाहित कर लिया है। इस ब्रह्मज्ञान के दीर्घ मार्ग पर बहुत दूर तक पहुँच चुके हो। क्योंकि अनेक आचार्यों द्वारा आपको उपनिषद् ज्ञान प्राप्त हो चुका है। किन्तु इतना सब होने पर भी अभी आप गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँचे हैं।"

जनक ने कहा—"किस प्रकार ? भगवन् !"

याज्ञ०—"क्या तुम्हे इस बात का ज्ञान है, कि इस शरीर का परित्याग करके तुम कहाँ पर जाओगे ?"

जनक—"नहीं, भगवन् ! मुझे इस बात का ज्ञान नहीं है कि देह त्याग के अनन्तर मैं कहाँ जाऊँगा।"

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"तुमने मुझसे उपदेश देने को कहा है, सो मैं तुम्हे अब इसी बात का उपदेश करूँगा, कि तुम तन त्याग के अनन्तर कहाँ जाओगे।"

जनक ने कहा—"भगवन् ! आपकी बडी कृपा है, इसी का उपदेश मुझे करें।"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, राजन् ! आप दक्षिण नेत्र को ध्यान से देखे, दूसरे के नेत्र में देखे या अपने ही नेत्र को आदर्श में देखें उसमे क्या दिखाई देता है ?"

जनक—"भगवन् ! उसमें एक पुरुषाकार मूर्ति दिखायी देती है।"

याज्ञ०—"यह जो नेत्र में पुरुष दिखायी देता है, इसका नाम इन्ध है। इसी पुरुष को इन्द्र भी कहते हैं। वास्तव में वह इन्ध ही है परोक्षरूप से उसे इन्द्र कहते हैं।"

जनक—"इन्ध को परोक्षरूप से इन्द्र क्यों कहते हैं ?"

याज्ञ० देवता सदा से परोक्षप्रिय ही होते हैं। प्रत्यक्ष से उन्हें एक प्रकार से द्वेष ही होता है। अतः इन्ध को परोक्ष रूप से इन्द्र कहते हैं। यह जो नेत्र पुरुष है वह इसकी पत्नी विराट् है।"

जनक—"विराट् क्या ?"

याज्ञ०—"विराट् जो विशेष रूप से प्रकाशमान हो। यह विराट् और इन्द्र हृदयान्तर्गत जो आकाश है, उसमें मिलते हैं। हृदयाकाश ही इनके मिलन का स्थान है, हृदयान्तर्गत जो एक लाल मांस पिण्ड है वही इन दोनों का अन्न है और हृदयान्तर्गत जो एक नाड़ियों का जाल-सा है, वही इन दोनों का-इन्द्र और विराट् का-प्रावरण-अर्थात् ओढ़ने का वस्त्र है। हृदय में जो यह नाड़ी समूह रूप जाल है जिसमें ताने बाने की भाँति असंख्यों नाड़ियाँ ओत प्रोत हैं। उस नाड़ी समूह में से कुछ नाड़ियाँ नीचे की ओर कुछ दायीं बायीं ओर जाती हैं, जो नाड़ी ऊपर की ओर जाती है, वह इन दोनों-इन्द्र और उनकी पत्नी विराट् का आने जाने का-मार्ग संचार करने का-द्वार है। हृदय के भी भीतर पुरुष का हित करने वाली नाड़ियाँ स्थित हैं। वे नाड़ियाँ कितनी सूक्ष्म हैं, इसका अनुमान करना कठिन है यों समझिये जैसे बाल है उसको बीच से फाड़कर उसके सहस्र भाग कर दो। अर्थात् बाल से भी सहस्र गुनी सूक्ष्म होती हैं। इन्द्र (परमात्मा) और उनकी पत्नी विराट् (कमला) द्वारा पाया हुआ अन्न इन हिता नाम वाली अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा ही शरीरों में जाता

है। अर्थात् इन नाड़ियों द्वारा ही जीवात्मा संसार को प्राप्त होता है। इसी कारण से हृदय मे स्थित इस शरीराभिमानी जीवात्मा से दक्षिण नेत्र मे स्थित परम पुरुष सूक्ष्मतर आहार को ग्रहण करने वाला होता है। अर्थात् अति सूक्ष्मान्न–अमृत भक्षण करने वाला होता है।"

जो पुरुष उस अमृतात्मा पुरुष को भली-भाँति जान लेता है, वह विद्वान् एक प्रकार से सर्वात्मा हो जाता है वह प्राणात्मभूत बन जाता है। पूर्व दिशा उसका पूर्व प्राण हो जाता है, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण, पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण, उत्तर दिशा उत्तर प्राण, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण, नीचे की दिशा नीचे का प्राण तथा समस्त दिशायें उसके सम्पूर्ण प्राण हैं।"

वह इन्द्र, इन्ध अमृतात्मा परब्रह्म पुरुष जिसका सकेत पहिले किया गया है उसे वेद और उपनिषदों मे नेति-नेति कहकर वर्णन किया गया है। उसे कोई चाहे कि इन प्राकृत इन्द्रियों से ग्रहण कर लें, तो असभव है। वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। कोई चाहे कि हम उसे किसी भी प्रकार से शीर्ण (नष्ट) कर दें तो यह असम्भव है, क्योंकि वह अशीर्ण है किसी भी अस्त्र शस्त्र या अन्य उपायों से नष्ट नहीं किया जा सकता। वह ससार की किसी भी वस्तु मे लिपायमान नहीं होता क्योंकि वह सदा सर्वदा निर्लेप बना रहता है। वह किसी भी कारण से व्यथित नहीं होता ना क्षीण ही होता है। क्योंकि वह अबद्ध है असित है। ऐसा वह पुराण पुरुष परम पुरुष पुरुषोत्तम परमात्मा है।

जनक! तुम सोच करने योग्य नहीं हो, तुम जन्ममरण के भय से विमुक्त होकर अभय पदवी को प्राप्त हो गये हो। इस

"अभय ब्रह्म के ज्ञान से पुरुष सभी प्रकार के भयों से छूट जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह सुनकर महाराज जनक आनन्द से विह्वल हो गये। कृतज्ञता के भाव से दब से गये। याज्ञवल्क्यजी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए गद्गद वाणी से नेत्रों से प्रेमाश्रु बहाते हुए कहने लगे—"भगवन् ! याज्ञवल्क्यजी ! आप जैसे सद्गुरु को पाकर मैं कृतार्थ हो गया। आपने मुझे अभय ब्रह्म का ज्ञान कराया। सभी प्रकार के भयों से विमुक्त कराया। अब मैं किन शब्दों द्वारा आपके प्रति अपनी कृतज्ञता को प्रकट करूँ आपने मुझे अभय कराया आपको भी अभय प्राप्त हो। आप तो अभय स्वरूप ही हैं। मैं आपके पाद पद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ, आप मेरा नमस्कार स्वीकार करें। ते नमः-ते नमः। यह समस्त विदेह देश और यह मैं आपके अधीन हैं। मेरा राज्यपाट सेना कोष तन मन तथा धन आपके श्री चरणों मे समर्पित है आप इसका जैसे चाहे उपयोग करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार महाराज जनक ने याज्ञवल्क्य महामुनि द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके आत्मसमर्पण कर दिया। अब आगे जैसे याज्ञवल्क्यजी द्वारा जनक को आत्म-स्वरूप का उपदेश दिया जायगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

वाम नेत्र जो पुरुष तासु पत्नी विराट है।
हृदयाकाश हि तिनहिं मिलन थलवर विलास है॥
लाल पिंड हिय अन्न प्रावरण नाड़ि जाल है।
ऊर्ध्व नाड़ि सचार हिता हिय नाड़ि द्वार है॥
नाड़ी है अति सूक्ष्मतर, अन्न देह तिहिं जातु है।
करै सूक्ष्म आहार जिह, नित्य अमृत ई खातु है॥

(२)

सर्वात्मक विद्वान् पुरुष सब दिशि प्राणात्मा।
नेति-नेति यह ब्रह्म अगृह्यहु सो परमात्मा॥
नहीं शीर्ण नहिं व्यथित अबद्ध असग कहायो।
जनक! कृतारथ भयो, अभय पद तैंने पायो॥
जनक कृतारथ ह्वै कहें—अभय कर्‌यो तव पग परूँ।
तन, मन, धन सरवसु सकल, तव चरननि अरपित करूँ॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद के चतुर्थ अध्याय का
कूर्च ब्राह्मण समाप्त।

याज्ञवल्क्यजी द्वारा जनक को आत्म-ज्योति का उपदेश (१)

(२४५)

जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वर ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳ ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥❀

(बृ० उ० ४ अ० ३ ब्रा० १ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य वर दयो जनक ! पूछो जब चाहो ।
मुनि जब पहुँचे जनक–सभा तब नृप हरषायो ॥
नृप पूछें—यह पुरुष कौन-सी ज्योतीवारो ?
मुनि बोले—रवि ज्योति करैं कर्मनि तिनि न्यारो ।
रवि न रहे तब ज्योति को ? चन्द्र ज्योतितैं करत सब ।
रहे चन्द्र नहिं ? अग्नितैं, इधर उधर सब करत तब ॥

❀ विदेह जनक के समीप याज्ञवल्क्यजी पहुँचे । यह सोचकर गये थे कि कुछ बोलूंगा नहीं, किन्तु पहिले जनक विदेहराज ने याज्ञवल्क्य से अग्निहोत्र के सम्बन्ध मे सम्वाद किया था उस समय जनक के लिये मुनिवर ने वरदान दिया था, कि तुम जो चाहो मांग लो, तब जनक ने इच्छानुसार कभी भी जो चाहूं प्रश्न पूछूं यही वर मांगा था और मुनि ने उन्हे यह वर दे दिया था । अतः प्रथम उनसे जनकराज ने ही प्रश्न किया ?

ससार मे जितना भी प्रकाश है, उन परब्रह्म परमात्मा का ही प्रकाश है। उन्हीं के प्रकाश से यह दृश्यवान् जगत् दृष्टिगोचर होता है। यदि उनका प्रकाश व्याप्त न हो, तो ससार में हमे कुछ भी दृष्टिगोचर न हो। घर मे समस्त सामग्रियाँ भरी हुई हैं। किन्तु प्रकाश न हो तो उनमे से एक भी वस्तु हमें दिखायी नहीं देती। वस्तुएँ हमे ज्योति द्वारा–प्रकाश के माध्यम से दीखती हैं।

आप कहोगे, कि हमे तो सब वस्तुएँ आँखो से दिखायी देती हैं, आँख न हो तो, कुछ भी दिखायी न दे। जिसे तुम आँख कहते हो जो दो बाल वाले पलको के बीच मे काली बिन्दु वाली सफेद रग की पानी युक्त गोलक है वह वास्तव मे नहीं देखती। उसमें बैठे हुए सूर्य ही सब वस्तुओं को देखते हैं। आँखों में सूर्य न बैठे हों और बाहर भी सूर्य का प्रकाश न हो, तो कोई वस्तु दिखायी नहीं देगी आप कहेगे, रात्रि में तो सूर्य रहता नहीं, रात्रि मे वस्तुएँ कैसे दीखती हैं ? नेत्र के अधिष्ठातृ देव के रूप मे तो सूर्य आँखो मे सदा रहते हैं, किन्तु आँखें भी बाहर के प्रकाश के बिना देखने मे समर्थ नहीं होती। रात्रि मे यद्यपि सूर्य का प्रकाश नहीं रहता किन्तु उस समय सूर्य अपने प्रकाश को चन्द्रमा तथा नक्षत्रों को दे जाते हैं, अतः हम चन्द्रमा तथा नक्षत्रों के प्रकाश से देखते हैं।

आप कहेंगे अमावास्या प्रतिपदा को चन्द्रमा भी नहीं दीखत। वर्षात् मे बादल घिरने पर नक्षत्र भी नहीं दीखते तब आँखें किसके प्रकाश से देखती हैं ? तो उस समय अग्नि के प्रकाश के द्वारा देखते हैं। सूर्य चन्द्र का प्रकाश ही अग्नि मे विद्यमान रहता है। विद्युत् भी अग्नि ही है। उसके प्रकाश मे देखते।

आप कहेंगे, घोर जगल मे अमावास्या की रात्रि मे जहाँ न,

सूर्य है न चन्द्रमा न अग्नि ही, वहाँ दो व्यक्ति मिलते हैं आपस मे पहिचान लेते हैं, वे कैसे पहिचान लेते हैं ? तो वे वाणी द्वारा पहिचानते हैं। वाणी मे भी प्रकाश होता है। आपकी किवाड़े बन्द हैं किसी ने किवाड़ खटखटाई। आप भीतर से पूछते हैं—"कौन है ?"

बाहर वाला उत्तर देता है—"मैं देवदत्त हूँ।"

तो न आपने देवदत्त को देखा, न देवदत्त ने आपको देखा। वहाँ न चक्षु का प्रकाश है, न सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि का प्रकाश है केवल वाणी द्वारा ही आप बाहर के आदमी को पहिचान लेते हैं।

अच्छा जहाँ आँख नहीं, सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाक् व्यवहार नहीं वहाँ भी ऋषि मुनि आँखें बन्द करके ध्यान मे बैठे-बैठे देख लेते हैं, वे किस ज्योति से देखते हैं ? वह आत्मज्योति है। जैसे शैयापर आँखें बन्द करे पड़े रहने पर स्वप्न में हाथी घोड़े आदि सब दिखायी देते हैं, वे मन द्वारा कल्पित हैं। किन्तु जो मन का भी मन है जिससे परे कोई नहीं है उस आत्मज्योति से सब कुछ जाना जा सकता है, देखा जा सकता है, वह देह से दृष्यमान् जगत् से भिन्न है उस आत्मज्योति की ही उपलब्धि करनी चाहिये। उसी के प्रकाश मे सबको देखना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! याज्ञवल्क्यजी विदेहराज महाराज जनक के गुरु ही थे। वे बार-बार विदेहराज की सभा मे आया जाया ही करते थे और महाराज जनक उनसे नाना प्रकार के प्रश्न पूछते ही रहते थे। पीछे जो कूर्च ब्राह्मण में सम्वाद हुआ है, वह सम्वाद समाप्त हो गया। याज्ञवल्क्यजी अपने स्थान पर चले गये। अब दूसरा सम्वाद आरम्भ करते हैं। एक बार किसी योगक्षेम सम्बधी प्रयोजन से याज्ञवल्क्यजी

महाराज जनक के समीप गये। जाते समय मार्ग में उन्होंने विचार किया, कि "इस समय तो मैं अपने निजी प्रयोजन के निमित्त राजा के यहाँ जा रहा हूँ, इसलिये राजा को किसी प्रकार का उपदेश नहीं करूँगा, न किसी प्रकार के शास्त्रार्थ मे ही सम्मिलित हूँगा। चुपचाप जाकर वहाँ बैठा बैठा दूसरे पडित विद्वानों की बातो को सुनता रहूँगा।"

ऐसा निश्चय करके महामुनि याज्ञवल्क्य महाराज जनक की राजसभा मे पहुँच गये। राजा ने मुनिवर का अभिनन्दन किया। स्वागत सत्कार करके उन्हे उचित आसन पर बिठाकर राजा ने कहा—"भगवन्! मेरा एक प्रश्न है, क्या आप उसका उत्तर देंगे?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"हाँ राजन्! आप जो पूछेंगे, उसका मैं उत्तर दूँगा, बताइये आपका क्या प्रश्न है?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! याज्ञवल्क्यजी तो मार्ग मे यह निश्चय करके आये थे, कि अब के मैं राजा को कुछ भी उपदेश न दूँगा, फिर वे राजा के प्रश्न का उत्तर देने को तत्काल तैयार क्यो हो गये? एक बार भी उन्होंने मना क्यों नहीं किया, कि भाई, आज तो मेरा विचार तुम्हे कुछ भी उपदेश देने का नहीं है।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वय अपनी ओर से उपदेश देने का उनकी इच्छा नही थी, जब राजा ने जाते ही अपने आप प्रश्न कर दिया, तब तो उसका उत्तर देने को वे बाध्य ही थे।

शौनकजी ने कहा—"बाध्य क्यो थे, वे कोई उनके वेतन भोगी भृत्य तो थे नहीं, वे राजा के गुरु थे, कह देते भैया, फिर किसी दिन पूछना। आज तो मैं यही निश्चय करके आया हूँ, कि राजसभा में कुछ भी नहीं बोलूँगा। दूसरे विद्वानों की बात सुनूँगा।"

सूतजी ने कहा—"यह सत्य है, कि वे राजा के वेतन भो भृत्य नहीं थे। वे प्रश्न का उत्तर देने को मना भी कर सकते किन्तु उन्होंने तो पहिले ही राजा को वर दे रखा था। उ वरदान क कारण उन्हे राजा के प्रश्न का उत्तर देना ही पड़ा।"

शौनक—"वरदान कब और क्यों दिया ? और क्या वरदा दिया ? कृपया इसे हमे सुनाइये ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! बहुत पहिले की बात है, एक बार याज्ञवल्क्यजी और जनकजी मे अग्निहोत्र के सम्बन्ध में परस्पर सम्वाद हुआ। राजा जनक कर्मकाण्ड मे अत्यन्त ही कुशल थे। याज्ञवल्क्यजी जो भी प्रश्न करते वे उसका तत्काल शास्त्रीय प्रमाणों सहित उत्तर देते। राजा के युक्तियुक्त उत्तरों से सन्तुष्ट होकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"मैं तुम्हारे प्रश्नो से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। तुम मुझसे कोई भी इच्छित वर माँग लो।"

राजा ने विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन्! आपके अनुग्रह से मेरे यहाँ सभी कुछ है, यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो यही वरदान दीजिये, कि मैं जब भी आप से जो भी प्रश्न पूछूँ, कृपा करके मुझे सब समय इच्छित प्रश्न पूछने की अनुमति दे दें और उस प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे दें।"

इस वर से और अधिक सन्तुष्ट होकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! आप जिस समय भी चाहे मुझसे इच्छानुसार प्रश्न कर सकते हैं। आप जब भी जिस समय भी जो भी प्रश्न पूछेंगे, में उसका उसी समय उत्तर दूँगा।"

यह बात सबको विदित थी, अतः याज्ञवल्क्यजी के कुछ कहने के पूर्व ही राजा ने ही प्रश्न पूछ दिया। अपने वरदान के अनुसार मुनि को राजा के प्रश्न का उसी समय उत्तर देना ही

था इसीलिये अपने निश्चय को स्थगित करके उन्होंने उत्तर देना स्वीकार किया।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! राजा ने क्या प्रश्न किया?"

सूतजी बोले—"भगवन्! राजा ने पूछा—"यह पुरुष किस ज्योति वाला है। अर्थात् पुरुष किस ज्योति से सबको देखता है?"

याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"सम्राट्! पुरुष आदित्य रूप ज्योति वाला है। वह जो भी कुछ उठना बैठना, इधर-उधर जाना, आना, लौटना, फिरना आदि कर्म करता है। आदित्य की ज्योति के ही द्वारा करता है। नेत्रों में भी आदित्य की ज्योति है और बाहर भी आदित्य का ज्योति प्रकाशित हो, तभी कार्य करता है। आदित्य की ज्योति बिना यह कुछ भी नहीं कर सकता।"

जनक—"भगवन्, याज्ञवल्क्यजी! आपका कहना यथार्थ है। बात ऐसी ही है। अब मेरी एक शंका और है?"

याज्ञ०—"उसे भी पूछिये।"

जनक—"भगवन्! रात्रि में तो आदित्य अस्त रहते हैं, उस समय यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है? अर्थात् सूर्यास्त होने पर पुरुष किसकी ज्योति से देखता है?"

याज्ञ०—"राजेन्द्र! उस समय मनुष्य चन्द्रमा की ज्योति से देखता है। उस समय चन्द्रमा ही उसकी ज्योति होती है। उसी ज्योति के द्वारा यह बैठता उठता, इधर उधर जाता आता है, सब कर्मों को करता है।"

जनक—"ऐसा ही है। अब मेरा एक प्रश्न और है।"

याज्ञ०—"वह क्या प्रश्न है?"

जनक—"मान लो, सूर्य भी अस्त हो गये, उस दिन चन्द्रमा

भी नहीं निकले हैं, तब पुरुष किस ज्योति वाला होता अर्थात् उस समय किसकी ज्योति से पुरुष देखता है ?"

याज्ञ०—"उस समय पुरुष अग्नि की ज्योति वाला होत अर्थात् अग्नि के सहारे ही उठता-बैठता है, इधर-उधर ज आता है, समस्त कर्मों को करता है।"

जनक—"भगवन्! आपका कथन सर्वथा सत्य है, बात ठी ही है, फिर भी मेरा एक प्रश्न और है ?"

याज्ञ०—"उसे भी कहिये।"

जनक—"मान लो सूर्य भी अस्त हो गये हैं, चन्द्रमा नहीं निकले हैं। समीप मे कहीं अग्नि भी विद्यमान नहीं है, उस समय पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? अर्थात् उस स किसकी ज्योति से देखता है ?"

याज्ञ०—"राजन्! उस समय पुरुष वाणी द्वारा पहिचान है। वाक् ही उसकी ज्योति होती है। उसका उठना-बैठना, इध उधर जाना, आना तथा समस्त कार्य वाणी द्वारा ही सम्प होते हैं। तुम तो सम्राट् हो, तुम नित्य ही अनुभव करते निविड़ तिमिर मे जहाँ गुप्प अन्धकार होता है, जहाँ हाथ से हाथ दिखायी नहीं देता, वहाँ ज्यो ही वाणी द्वारा पुरुष उच्च रण करता है, मैं अमुक हूँ, वहीं झट लोग जान जाते हैं वाण के सहारे ही एक दूसरे के समीप चले जाते हैं लोग बिना दे शब्द वेधी वाण छोड़ देते हैं। जो शब्द के सहारे ही लक्ष्य वे कर देता है।"

जनक—"आपका कहना सर्वथा सत्य है, फिर भी मेरी एक शंका है ?"

याज्ञ०—"अब कौन-सी शंका है ? उसे भी पूछो।"

जनक—"मान लो, सूर्य भी अस्त हो गये हैं, चन्द्रमा भी

नहीं निकले हैं, वहाँ अग्नि भी विद्यमान नहीं है। वाणी भी शान्त हो गयी है, फिर पुरुष किस ज्योति द्वारा देखता है ?"

याज्ञ०—"उस समय पुरुष आत्मज्योति द्वारा ही उठता-बैठता, इधर उधर, चलता-फिरता जाता और लौटता है तथा सभी कर्मों को करता है। मान लो कोई आदमी अन्धा है, गूँगा और बहरा भी है, फिर भी उसके शरीर मे आत्मा विद्यमान है, उसके सहारे अपने सब व्यवहार चलाता है। ज्ञानी पुरुष समाधि मे सब कुछ देखते हैं। साधारण पुरुष स्वप्नावस्था में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, तथा वाणी के अभाव में भी देह और इन्द्रियो के सघात का अतिक्रमण करके देखता सुनता और इधर उधर जाकर समस्त कर्मों को करता है।"

जनक ने कहा—"तो भगवन्! मुझे उस आत्मा के ही सम्बन्ध मे बताइये उसी के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझाइये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! महाराज जनक के पूछने पर जिस प्रकार महामुनि याज्ञवल्क्यजी ने उन्हे आत्मा का स्वरूप समझाया, उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

नहीं अग्नि, रवि, सूर्य, वाक तहँ ज्योति दिखावै ?
"बानी द्वारा पुरुष जानि इत आवै जावै ॥"
जहाँ न रवि, शशि, अग्नि, वाक, तहँ ज्योति कौन मुनि ?
"वहाँ आत्म ही ज्योति आत्म तैं करै धरै सुनि ॥
आत्म रूप मोतैं कहै ? सुनि मुनि बोले—सुनु सदय !
बुद्धि वृत्ति भीतर रहत, प्राणानि में विज्ञानमय ॥

—०—

निष्फल नहीं होता। बिना भोग किये कर्मों का नाश नहीं होता शरीर से इतने कर्मों का भोग संभव नहीं। अतः बहुत से कर्मों का भोग स्वप्न में हो जाता है। जैसे राजा बनने का मानसिक संकल्प हुआ। स्वप्न में राजा बन गये। भोग समाप्त हो गया। स्वप्न तीन प्रकार के होते हैं। सुस्वप्न, दुःस्वप्न और साधारण स्वप्न साधारण प्रायः निष्फल होते हैं, उनसे साधारण कर्मों के भोग मिट जाते हैं। वे स्वप्न याद भी नहीं रहते। दुःस्वप्न और सुस्वप्न का बुरा अच्छा फल जाग्रत में होता है। शास्त्रों में स्वप्नों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। उनके फलादेश बताये गये हैं, कि अमुक स्वप्न का फल अच्छा होता है अमुक का बुरा होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में स्वप्नों के सम्बन्ध में विस्तार से बताया गया है। स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णजी ने अपने पिता नन्दजी से स्वप्नों का फलादेश कहा है। वे सुस्वप्नों के सम्बन्ध में नन्दजी को बताते हुए कहते हैं—"पिताजी! सामवेद में काण्व नामकी एक शाखा है, उसमें सुस्वप्नों का फल बताया गया है उसी के अनुसार मैं स्वप्नाध्याय को कहता हूँ। जो इस स्वप्नाध्याय को सुन भी लेगा, उसे गंगा-स्नान का फल प्राप्त हो जायगा। देखिये दही, अन्न, खीर को जो नदी या तालाब के किनारे बैठकर स्वप्न में कमल के पत्ते पर खाता है वह पुरुष राजा होता है। इसके अतिरिक्त जो स्वप्न में जिसको ब्राह्मण ब्राह्मणी धान्य, पुष्पाञ्जलि दे, छत्र, शुक्ल धान्य दें, रथ पर बैठा पुरुष, सफेद माला सफेद चंदन लगाये दधि खीर खाता हो, वह तो निश्चय ही राजा होता है। स्वप्न में जो जल जीव, बिच्छू, सर्प देखे धन, पुत्र, प्रतिष्ठा तथा विजय को प्राप्त करे। मत्स्य, मांस, मोती, शंख, चंदन, खीर आदि शुक्ल पदार्थ देखे वह धन प्राप्त करे तथा सुरा, रुधिर, स्वर्ण, मोती, विष्ठा से भी धन मिलता है। जो

स्वप्न में प्रतिमा, शिवलिङ्ग देखे फले हुए बिल्व तथा आम के वृक्षों को देखे तो उसे धन प्राप्त हो। जो जलती अग्नि स्वप्न में देखे तो धन, लक्ष्मी तथा बुद्धि की प्राप्ति हो। आवला, हरड़ कमल देखने से भी धन मिलता है। देवता, ब्राह्मण, गौ, पितर, सन्यासी जो स्वप्न में दें तो वह वस्तु जाग्रत में भी प्राप्त हो जायगी। स्वप्न में यदि कोई सुभ्रवस्त्र धारिणी सफेद माला और चन्दन लगाये स्त्री आलिङ्गन करे तो उसे लक्ष्मी तथा सर्वत्र सुख की प्राप्ति हो। जिसे पीत वस्त्र धारिणी पीली माला चन्दन धारण किये हुए स्त्री स्पर्श करे तो उसका कल्याण होगा। स्वप्न में कपास और भस्म को छोडकर जितनी भी सफेद वस्तु हैं वे सब मगल देने वाली होती हैं। इसके विपरीत गौ, हाथी, देवता और ब्राह्मण को छोड़कर जितनी भी काली वस्तुएँ हैं वे स्वप्न में अमगल कारिणी होती हैं। स्वप्न में जिसके घर में कोई सौभाग्यशालिनी स्त्री रत्न भूषणों से भूषित हँसती हुई प्रवेश करे तो उसका प्रिय होगा कल्याण होगा। स्वप्न में जिस पर ब्राह्मण, ब्राह्मणी, देवता, देवकन्या अथवा वस्त्राभूषणों से भूषित आठ वर्ष की कन्या सन्तुष्ट हो जाय तो मानों उस पर पार्वतीजी प्रसन्न हो गयीं। स्वप्न में ब्राह्मण, ब्राह्मणी सन्तुष्ट होकर हँसते हुए फल प्रदान करें तो निश्चय ही उसके यहाँ पुत्र होगा। स्वप्न में जिस पर ब्राह्मण प्रसन्न हों, प्रसन्नता पूर्वक उसके घर में प्रवेश करें तो समझो उसके घर में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवजी ने प्रवेश किया है। उसे धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा कीर्ति आदि की प्राप्ति होती है। यदि स्वप्न में गौ के दर्शन हो जायँ उसे भूमि तथा पत्नी की प्राप्ति होगी।

स्वप्न में अपनी सूँड़ से हाथी उठाकर जिसे अपने मस्तक पर बिठाले, वह राजा होगा। स्वप्न में ब्राह्मण प्रेमपूर्वक जिसका

आलिङ्गन करे तो समझो उसे तीर्थों के दर्शन स्नान का लाभ होगा। स्वप्न में जो तीर्थों को, रत्न धन से युक्त भवनों को जल से भरे पूर्ण कलश को देखे तो उसे धन धान्य पुत्र लाभ होगा। कोई सुन्दरी हाथ में धान्य पूर्ण पात्र को लेकर प्रवेश करे तो उसे लक्ष्मी की प्राप्ति होगी स्वप्न में कोई दिव्य स्त्री किसी के घर मे जाकर मल त्याग करे तो उसे धन की प्राप्ति होगी उसका दारिद्र नष्ट हो जायगा। जिसके घर मे ब्राह्मणी सहित ब्राह्मण प्रसन्नता पूर्वक प्रवेश करे तो मानो उसके घर मे गौरी शंकर अथवा लक्ष्मी नारायण ही आ गये।

स्वप्न मे जिसे ब्राह्मण मोतियों का हार, पुष्प, घृत, चन्दन, गोरोचन, पताका, हल्दी, ईख, बना हुआ चिकना भोजन, दही, सुधा ये वस्तुएँ दे, तो वह पुरुष सुखी होता है। यदि स्वप्न मे ब्राह्मण पुस्तक प्रदान करे तो वह कवीन्द्र तथा पंडित होता है। स्वप्न में किसी को कोई स्त्री माता की भाँति पढ़ावे तो वह सरस्वती पुत्र विद्वान् होता है। पिता की भाँति ब्राह्मण यदि पढ़ावे और पुस्तक प्रदान करे तो वह उसी की भाँति पंडित होता है। स्वप्न मे कोई मंत्र दे, शिलामयी प्रतिमा प्रदान करे तो उस पुरुष को मंत्रसिद्ध होती है। स्वप्न मे जो ब्राह्मणों को देखकर श्रद्धा से उन्हें नमस्कार करता है वह या तो राजा होगा या महाकवि होगा। जो स्वप्न में सरोवर, समुद्र, नदी, नद, सफेद सर्प तथा सफेद शेल को देखता है वह जो चाहता है उसे वही मिल जाता है। जो स्वप्न मे मृतक को देखता है वह चिरजीव होता है। स्वस्थ पुरुष को स्वप्न मे स्वस्थ पुरुष तथा सुखी पुरुष को देखता है तो वह सुखी होता है। कोई दिव्य स्त्री स्वप्न मे आकर कहे—"तुम मेरे पति बन जाओ।" तो निश्चय ही वह पुरुष राजा होता है।

जो स्वप्न में छोटी बालिका, स्फटिक माला, इन्द्रधनुष तथा सफेद धन को देखता है उसे प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है स्वप्न में कोई ब्राह्मण कहे तुम मेरे सेवक बन जाओ तो वह निश्चय ही भगवत् भक्त होगा।

श्रीकृष्णचन्द्रजी कह रहे हैं—'पिताजी! स्वप्न में विप्र तो भगवान् विष्णु अथवा शम्भुरूप हैं। ब्राह्मणी कमला अथवा पार्वती हैं। शुक्लाम्बर धारिणी स्त्री वेद माता हैं अथवा गंगाजी या सरस्वती जी हैं। गोपालिका वेष धारण करने वाली लड़की मेरी श्री राधा जी हैं। बालक जो है मेरे सखा बाल गोपाल हैं। ये सब सुस्वप्न के फल हैं। ये पुण्यप्रद हैं। अब दुःस्वप्नों को और सुनो।"

श्रीनन्दजी के पूछने पर भगवान् ने दुःस्वप्नों को भी बताया है। भगवान् कहते हैं—स्वप्न में जो हर्ष से खिल खिलाकर हँसता है या विवाह बरात को देखता है नाच तथा गान को देखता है। उस पर विपत्ति आती है। स्वप्न में दाँतों में पीड़ा, हिलते हुए जो देखता है उसके धन की हानि होगी और शरीर सम्बन्धी पीड़ा होगी तेल लगाना, दक्षिण दिशा में जाना, गधा, ऊँट, भैंसे पर चढ़ना मृत्यु देने वाले हैं। चूर्ण, जवापुष्प, अशोक, कन्नेर, तेल, लवण ये विपत्ति कारक हैं। शूद्र की काली नाक कटी नग्न स्त्री को स्वप्न में देखे तथा ताल का फल देखे तो शोक देने वाले हैं। क्रोधित ब्राह्मण ब्राह्मणी को, देखने से लक्ष्मी हानि होती है। वनपुष्प, रक्तपुष्प, फूला हुआ पलास वृक्ष, कपास, सफेद वस्त्र दुःखद होता है। काले वस्त्र पहिने गाती और हँसती स्त्री, काली विधवा ये मृत्यु के लक्षण हैं।"

स्वप्न में नाचते हुए, गाते हुए तथा हँसते हुए देवता, क्रीडा करते हुए दौड़ते हुए दिखाई दें तो उस देश का नाश होगा।

के-उल्टी-मूत्र, विष्ठा, वैद्य, चाँदी, सोना ये स्वप्न में दीखें तो दश मास में मृत्यु हो। लाल अथवा काले कपड़े पहिने स्त्री, काली माला और काला अनुलेप लगाये संकेत करे तो यह मृत्यु का चिन्ह है। मरा बच्चा, मृग या मनुष्य का कटा शिर और हड्डी की माला पहिने अपने को देखे यह भी मृत्यु चिन्ह है। शरीर में तैल, हविष, दूध, शहद, तक्र अथवा गुड लपेटे अपने को देखे तो मरण के चिन्ह जाने उसे पीड़ा होगी। जो अपने को अकेले गधों के रथ में बैठा देखे तो उसकी शीघ्र मृत्यु हो।

गिरे हुए नख और बुझे हुए अंगार, सम्पूर्ण चितायें मृत्यु के लक्षण हैं, श्मशान, सूखी लकड़ी, सूखीघास, लौह, स्याही तथा और भी काली वस्तुओं को स्वप्न में देखे तो दुःख मिले। पादुका, चाकू, रक्तपुष्पमाला, भयानक वस्तु, उड़द, मसूर तथा मूँग आदि देखे तो समझो फोड़ा होगा। काँटा, सरल, कौआ, भालू, वानर, गदहा, राध तथा शरीर का मैल देखे तो रोग हों। फूटा घड़ा, घायल शूद्र, गलित कुष्ठ वाला रोगी, लाल कपड़ा पहिने जटाजूट धारी मनुष्य, सूअर, भैंसा, गधा, घोर अधकार भयानक मरा जीव, योनि तथा लिङ्ग को स्वप्न में देखने से घोर विपत्ति आती है। पाशहस्त हाथ में अस्त्र-शस्त्र लिये पुरुष को देखना मृत्यु सूचक है। कुवेशरूप म्लेच्छ, भयङ्कर यमदूत, ये भी मृत्यु सूचक हैं। ब्राह्मण, ब्राह्मणी, लड़का, लड़की इनको क्रोध करते देखे तो दुःख प्राप्त हो। कालापुष्प व माला, शस्त्र धारी पुरुष तथा म्लेच्छ विकृतरूप ये मृत्यु के चिन्ह हैं। वाटिका में नाचना, गान करती हुई लाल कपड़े पहिने स्त्रियाँ मृदंगादि बाजे बजाती हुई ये अपशकुन कारक हैं। मछली लिये देखने से भाई की मृत्यु हो, स्वप्न में जिसके दाँत, केश गिर गये हों

उसकी धन हानि होगी शारीरिक पीडा होगी। स्वप्न में सींग वाले दाढ वाले जिसके साथ उपद्रव करे वह चाहे बालक हो या बड़ा उसे राजा से भय होगा। कटे हुए वृक्ष को गिरा देखकर, शिलावृष्टि, भूसी, छुरा, लाल अगारे तथा भस्मवृष्टि देखकर दुःख प्राप्त हो। गिरता हुआ घर या पर्वत भयानक धूमकेतु, कटा शिर देखकर दुःख प्राप्त हो। विरोधी जो कोआ, कुत्ता, भालू, जिसके शरीर पर आकर गिरें ये मृत्यु के चिन्ह हैं। भैंसा, भालू, ऊँट, शूकर गदहा, क्रुद्ध होकर जिसके पीछे स्वप्न मे दोडे वह निश्चय ही रोगी हो।

इस प्रकार ये दुःस्वप्न के फल बताये। इनकी शाति के लिये लाल चन्दन को घृत मे डुबोकर एक सहस्र गायत्री मत्र से हवन करना चाहिये इससे शाति होगी। जो भगवान् के सहस्र नामों का भक्तिपूर्वक जप करता है वह निष्पाप हो जाता है। उसके दु स्वप्न सुस्वप्न हो जाते हैं। अच्युत, केशव, विष्णु, हरि, सत्य जनार्दन, हस और नारायण, इन आठ नामों को जो पूर्व मुख होकर दश बार जपता है, वह निष्पाप हो जाता है। जो विष्णु, नारायण, कृष्ण माधव, मधु-सूदन, हरि, नरसिंह, रामगोविन्द, दधिवामन इन दश नामों को पवित्र होकर जपता है उसके दुःस्वप्न सुस्वप्न मे परिणित हो जाते हैं।*

---

* अच्युत केशव विष्णु हरि सत्य जनार्दनम्।
हस नारायणश्चैव एतन्नामाष्टक शुभम्॥
शुचि पूर्वमुखो प्राज्ञो दशकृत्वश्च यो जपेत्।
निष्पापो हि भवेत् सोऽपि दुस्वप्न सुस्वप्नो भवेत्॥
विष्णु नारायण कृष्ण माधव मधुसूदनम्।
हरि नरहरि राम गोविन्द दधिवामनम्॥

इस प्रकार हम देखते हैं, शास्त्रों में दुःस्वप्न और सुस्व
का विपद वर्णन है। उनके फल तथा प्रायश्चित्तों का
वर्णन है। अतः स्वप्न मे जो पुरुष देखता है वह आत्मा
निर्मित आत्मज्योति वाला आत्मज्योति से ही देखता है
अब आगे आत्मज्योति के सम्बन्ध मे श्रुति बताती है। आ
के स्वरूप का वर्णन करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने या
वल्क्यजी से आत्मा के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करते हुए पूछा-
"कि भगवन् वह आत्मा कौन है?"

तब याज्ञवल्क्यजी ने उत्तर देते हुए कहा—"राजन्! य
जो प्राणो मे-इन्द्रियो मे-बुद्धिवृत्तियो के भीतर रहने वाल
विज्ञानमय अत्यन्त ज्ञान वाला-ज्योति स्वरूप पुरुष है, व
समान-स्वातन्त्राभिमान युक्त-बुद्धि वृत्तियो के समान होक
इस लोक मे तथा परलोक में-दोनो लोको मे गमन करता है
वह ध्यान करते हुए के समान अभिलाषा चेष्टा करते हुए के
समान चेष्टा करता है। वही स्वप्न बनकर इस लोक का अति

शुचि. पूर्वमुखो भूत्वा भक्ति श्रद्धायुतो जपेत्।
निष्पापोहि भवेत् सोऽपि दुःस्वप्नः सुस्वप्नो भवेत्॥
ॐ शिव दुर्गा गणपतिं कार्तिकेय दिनेश्वरम्।
धर्मं गगाञ्च तुलसी राधा लक्ष्मी सरस्वतीम्।
नामान्येतानि भद्राणि जले स्नात्वा च यो जपेत्॥
वाञ्छितञ्च लभेत् सोऽपि दुःस्वप्नः सुस्वप्नो भवेत्।
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं पूर्वं दुर्गेति नाशिन्यै महामायायै स्वाहा॥
कल्पवृक्षो हि लोकाना मन्त्रः सप्तदशाक्षरः।
शुचिञ्च दशधा जप्तो दुःस्वप्नो सुस्वप्नो भवेत्॥

क्रमण करता है। अर्थात् देह तथा इन्द्रियों के बिना ही नाना दृश्यों को देखता है। और संसार के दुःख रूप मनुष्यादि शरीर के मृत्यु रूपा का भी अतिक्रमण करता है, वही आत्मा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह आत्मा की परिभाषा भली भाँति समझ में आयी नहीं।"

सूतजी बोले—"भगवन्! जो हृदय में रहकर अन्तःकरण की वृत्तियों का संचालन करता है। स्वप्नावस्था में बिना पांच भौतिक देह तथा इन्द्रियों के नाना दृश्य देखता है और जो कभी भी मरता नहीं साक्षी रहकर-दीपवत-सभी क्रियाओं को देखता रहता है, वही आत्मा है।"

शौनकजी ने पूछा—"जब वह अकर्ता है, तो फिर देखना, सुनना आदि कर्मों को कैसे करता है?"

सूतजी बोले—"जब वह आत्मा जीव रूप से औपाधिक देह को धारण करता है। अर्थात् पुरुष रूप में उत्पन्न होने पर शरीर को आत्मभाव से प्राप्त होता है। अर्थात् शरीर धारण करके अपने को मैं देवदत्त हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ, मैं विष्णुमित्र हूँ ऐसे कहने लगता है, तब देह और इन्द्रियों के संसर्ग से पापों से संश्लिष्ट हो जाता है। अहंकार से विमूढ़ हुआ जीवात्मा जब अपने को कर्ता मानने लगता है, तब कर्ता को तो पुण्य कर्मों का पुण्य और पाप कर्मों का पाप भोगना ही पड़ता है। जब अहंकार का परित्याग करके चरम शरीर से ऊपर उठ जाता है-ज्ञान प्राप्त होने पर शरीर से उत्क्रमण करता है तब समस्त पापों का परित्याग कर देता है।

इस पुरुष के भोग के-क्रीड़ा के-इहलोक और परलोक दो ही स्थान हैं। इस लोक में देह और इन्द्रियों द्वारा नाना पुण्य-कर्म पापकर्म करता है और सुख-दुख का उपभोग करता है।

मरने पर परलोक मे पापों का भोग नरकादि पापलोकों में तथा पुण्यो का भोग स्वर्गादि पुण्यलोकों में करता है। मुख्यतया तो जीवात्मा के उपभोग के इहलोक और परलोक ये ही स्थान हैं इन दोनों के अतिरिक्त इसके भोग का एक तीसरा भी स्थान है स्वप्नलोक।"

शौनकजी ने कहा—"स्वप्न मे तो कुछ होता ही नहीं, वहां भोग किसका करता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! है कहाँ ? न कुछ इस लोक में है न परलोक में। ये सब भोग भी स्वप्न के ही समान हैं। लोक परलोक के भोग भी स्वप्नवत् हैं। स्वप्न के भोग अल्पकालीन हैं। ये दीर्घकालीन हैं। स्वप्न का स्थान सन्ध्यस्थान है। अर्थात लोक के भोगो मे लोकसम्बन्धी ही स्थान दीखते हैं, परलोक में परलोक सम्बन्धी ही स्थान दीखते हैं, किन्तु स्वप्न में तो लोक परलोक दोनो को ही जीवात्मा देखता है। स्वप्न में कभी-कभी स्वर्ग मे भी जाकर स्वर्गीय सुखों को भी भोगते हैं। कभी इस लोक के सुख-दुखों का भी अनुभव करते हैं। अतः स्वप्न स्थान मिला-जुला सन्ध्यस्थान है। परलोक में जैसे पुण्य पाप रूप साधन से सम्पन्न होता है उस साधन का आश्रय लेकर पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख दोनों का ही अनुभव करता है। इस लोक में प्रारब्धकर्मों का ही भोग भोगता है।

जब यह पुरुष सोता है, तब स्वप्नावस्था मे नाना दृश्यों को देखता है। उस समय यह स्थूल शरीर तो शैया पर अचेत पड़ा रहता है, इन्द्रियाँ निश्चेष्ट होकर प्रसुप्त बनी पड़ी रहती हैं। उस समय आत्मा एक वासनामय स्वय ही स्वप्नशरीर की रचना करता है। उस समय सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी की ज्योति नहीं रहती। आत्मा अपनी ही ज्योति से समस्त क्रीड़ाओं को

करता है। उस स्वप्नावस्था में पुरुष स्वयं ज्योतिस्वरूप हुआ करता है।

स्वप्न में हम देखते हैं—एक सुन्दर रथ पर जिसमें सुन्दर हृष्ट पुष्ट चार घोड़े जुते हैं, उसमें बैठकर छायादार सुन्दर विस्तृत सड़क से जा रहे हैं। मार्ग के दृश्यों को देखते हुए मन में बड़ी प्रसन्नता हो रही है, अनुकूल दर्शन से उत्पन्न मानसिक प्रीति के कारण आनन्द का अनुभव हो रहा है। छोटे-छोटे कुण्ड दिखायी दे रहे हैं, सरोवरों में कमल खिल रहे हैं, द्रुतगति से सरिता दौड़ रही है। अब वास्तव में देखा जाय तो हमारा शरीर तो शैया पर पड़ा है। इन्द्रियाँ प्रसुप्त हैं। घर के भीतर छोटी-सी कोठरी में सो रहे हैं। उस कोठरी में रथ आ भी नहीं सकता। रथ की कोई वस्तु वहाँ प्राप्त नहीं है। रथ में जोते जाने वाले अश्वों का वहाँ अस्तित्व नहीं। न वहाँ चौड़ी सड़क की सम्भावना है, किन्तु सुन्दर रथ, दर्शनीय हृष्ट पुष्ट घोड़े तथा सघन वृक्षों से युक्त सुविस्तृत पथ इन सब वस्तुओं की रचना आत्मा स्वयं कर लेता है। अनुकूल दर्शन से उत्पन्न होने वाला सुख विशेष को आनन्द कहते हैं। पुत्रादि प्राप्ति की वार्ता सुनकर जो एक प्रकार की प्रसन्नता होती है, उसे मोद कहते हैं, किसी सुन्दर कार्य में विनियोग होने से जो हर्ष होता है उसे प्रमोद कहते हैं। उस समय स्वप्न में आनन्द, मोद, प्रमोद का अवसर नहीं फिर भी आत्मा इनकी स्वतः ही रचना कर लेता है। उस सोने वाली कोठरी में छोटी-छोटी तलैयाँ, पुष्करिणी—पोखर—बहने वाली नदियों का अस्तित्व सम्भव नहीं किन्तु आत्मा ताल तलैयाँ, पुष्करिणी, सरोवर, नदियाँ आदि की रचना स्वयं ही कर लेता है। कहने का साराश इतना ही है, कि वहाँ ये बाह्य पांचभौतिक दृश्य कुछ भी नहीं रहते, न दृश्य रहते हैं, न देखने के साधन)

किन्तु फिर भी आत्मा दृश्यों की, दृश्य देखने के साधनों की, दृश्य देखने से जो हर्ष, प्रमोद, आनन्द, सुख, प्रीति, आमोदादि होता है उन सबकी रचना स्वतः ही कर लेता है। देखने की साधनभूता सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी की ज्योति न होने पर भी आत्मा अपनी ज्योति से ही सबको देखता तथा अनुभव करता है।

प्राचीन काल की कहावतों में स्वप्न के सम्बन्ध का एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है। उस श्लोक का भाव यह है कि आत्मा इस पांचभौतिक शरीर को तो स्वप्नावस्था में निश्चेष्ट बना देता है। शरीर तो पड़ा सोता रहता है, किन्तु आत्मा स्वयं जागता हुआ प्रसुप्त समस्त पदार्थों को स्वयं ही रचकर उन्हें प्रकाशित करता है। वह स्थूल इन्द्रियों को प्रसुप्त बनाकर शुद्ध इन्द्रिय मात्रा को लेकर फिर से जागरित स्थान में आता है। वह हिरण्मय प्रकाशमय-ज्योतिःस्वरूप आत्मा जो हंस स्वरूप है अकेला ही विचरण करता है। कभी इस लोक के दृश्यों को देखता है, तो कभी परलोक के भी दृश्यों को देखता तथा अनुभव करता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब जीवात्मा बाहर चला जाता है, तो यह शरीर मृतक क्यों नहीं हो जाता? क्योंकि जीवात्मा के रहते हुए ही शरीर जीवित कहलाता है, जब जीवात्मा इसमें रहता ही नहीं तब यह प्रसुप्त पड़ा शरीर जीवित कैसे रहता है?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! यह स्थूल शरीर तो अवर है-निकृष्ट-है, जीवात्मा पंचप्राणों को इस शरीर में ही छोड़ जाता है। जैसे घोंसले में बैठा पक्षी अपने अंडों को घोंसले में छोड़कर दूर-दूर चुग्गा चुगने के लिये बाहर चला जाता है, फिर लौटकर

अपने घोंसले में आ जाता है। जब घोंसले का प्रयोजन समाप्त हो जाता है, तब घोंसले को भी छोड़कर चला जाता है। पक्षी घोंसला रहने के लिये नहीं बनाया करते, अंडा देने को बनाते हैं, जब तक अंडे रहते हैं, तभी तक वे घोंसले में आत-जात रहते हैं। जब अंडों में से बच्चे निकल आते हैं और वे उड़ने योग्य हो जाते हैं, तब उस घोंसले को छोड़कर सदा के लिये चल जाते हैं। दुबारा फिर उन्हें अंडे रखने होते हैं, तो दूसरा घोंसला बनाते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा भी एक सुन्दर पंख वाला हंस नाम का पक्षी है। वह प्रारब्धकर्म रूपी भोग भोगन-अंडा देने-को इस घोंसला रूपी देह को बनाता है, स्वप्नावस्था में यद्यपि यह अकेला ही विचरण करने बाहर जाता है, किन्तु उस समय शरीर रूप घोंसले में उसके अंडे बच्चे रूप प्राण रहे आते हैं। उनके रहने के कारण वह बाहर घूम फिर कर फिर देहरूप घोंसले में लौट आता है। जब अंडों में से बच्चे हो जाते हैं वे उड़ने लग जाते हैं-प्रारब्ध भोग समाप्त हो जाते हैं, तब यह जीवात्मारूप हंस पक्षी सदा के लिये इस शरीररूप घोंसले को छोड़कर चला जाता है, फिर इस शरीर में लौटकर नहीं आता। दुबारा यदि इसे फिर अंडे रखने होते हैं-संचित कर्मों में से फिर इसे प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगना पड़ता है तो दूसरा घोंसला-शरीर-धारण करना पड़ता है। वह अकेला ही परिभ्रमण करने वाला सोने के पंखों वाला-हिरण्मय पुरुष जीवात्मा, जहाँ-जहाँ वासना होती है, स्वप्न में जाग्रत में वहीं-वहीं चला जाया करता है।"

स्वप्नावस्था में जीवात्मा इस लोक तथा परलोक के सुख-दुःखों का अनुभव करता है। ऊँच तथा नीच भावों को प्राप्त है। वह बहुत रूप बना लेता है। स्वप्न में बहुत-सी

निर्माण कर लेता है उनके साथ क्रीड़ा करता है, रति सुख का आनन्दानुभव करता है, स्त्रियों के साथ सुहृद मित्र तथा परिवार वालों के साथ हँसी विनोद ठट्ठा करता है। हँसता खेलता है इसके विपरीत स्वप्न में उसे कभी सर्प, सिंह व्याघ्रादि हिंसक पशु भी दीखते हैं, उनसे भयभीत होकर थर-थर काँपने लगता है। दुःख का अनुभव करता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी स्वप्न की वस्तुओं को तो सभी लोग देखते हैं, किन्तु जो स्वप्न देखता है, स्वप्नावस्था की वस्तुओं का उपभोग करता है, उसे कोई क्यों नहीं देखता ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जो वस्तु अतिसूक्ष्म होती है वह दिखायी नहीं देती। जीवात्मा अतिसूक्ष्म है, अतः इसे कोई नहीं देख सकता। हाँ, इसके लगाये हुए-उपकरण भूत-इस स्वप्नावस्था के कृत्रिम उपवन को-स्वप्न निर्मित पदार्थों को-ही सब लोग देखते हैं। जो इस शरीर के बाहर भीतर आता-जाता रहता है-संचार करता है-उस जीवात्मा को कोई नहीं देखता। वह जीवात्मा इस शरीर इन्द्रियादि से विवक्त है। इसीलिये वह सबको दिखायी नहीं देता। यद्यपि वह प्राणों को शरीर में छोड़कर बाहर क्रीड़ा करने जाता है, फिर भी संस्कारों के कारण उसकी वासना तो शरीर में बनी ही रहती है, इसीलिये वह फिर लौटकर शरीर मे आ जाता है। इसीलिये सोये हुए पुरुष को सहसा न जगावे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! सोये हुए पुरुष को सहसा क्यों न जगावे ? स्वप्न मे तो वह उन्हीं पदार्थों को देखता है, जिन्हें उसने जाग्रत अवस्था में देखें हो, इसलिये उस जीवात्मा का स्वप्न स्थान तो यही जाग्रत अवस्था वाला शरीर है सहसा जगा देने से क्या हानि होगी ?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, ब्रह्मन्! स्वप्न की अवस्था मे यह पुरुष स्वय ज्योति होता है उस समय वह जाग्रत अवस्था के अतिरिक्त भी अन्य जन्मो मे किये हुए कर्मों का अनुभव करता है। चिकित्सकों का कहना है, स्वप्न मे कोई ऐसी घटना का अनुभव कर रहा हो, जो इसने इस जन्म मे कभी न की हो और उसी दशा में उसे सहसा जगा दिया जाय, तो ऐसी दशा मे उसे जगा देने से उसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है। अतः सोते हुए पुरुष को या तो जगाना ही नहीं चाहिये यदि जगावे भी तो शनैः-शनैः उसके अङ्गों को दबाकर प्रेमपूर्वक जगावे।"

शौनकजी ने पूछा—"सहसा जगाने से क्या अनिष्ट होता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वप्न में कोई अत्यन्त लज्जाजनक प्रसङ्ग देख रहा हो, और सहसा जगा दो, तो उस समय पुरुष लज्जा से गड जाता है। या कोई ऐसा प्रसग कर रहा हो जिसका ज्ञान उसे इस शरीर मे न रहा हो, तो उसकी मृत्यु भी हो जाती है। इस विषय की में आपको एक प्रत्यक्ष घटना सुनाता हूँ।"

आपने देखा होगा, बहुत से लोग स्वप्न मे उठकर चलने लगते हैं। बहुत से स्वप्न मे कोशों दूर चले जाते हैं। एक पुरुष स्वप्न में उठकर नदी में तैरा करता था। फिर आकर वह अपनी शैया पर सो जाता। उसके भाई ने कई दिन उसके वस्त्रों को भीगा देखा। उसने सोचा—इसके वस्त्र नित्य क्यों भीग जाते हैं। इसकी खोज करने वह एक दिन जागता रहा। जब वह स्वप्न मे उठकर चला, तो उसका भाई भी उसके पीछे-पीछे गया। वह नदी मे स्वप्न मे ही तैरने लगा। जब वह गहरे पानी मे तैर रहा था तभी उसके भाई ने उसका नाम लेकर पुकारा। वह जाग गया। इस जन्म मे वह तैरना जानता नहीं था, जागते ही

डूब गया और मर गया। तैरने के संस्कार उसके जन्मान्तर के थे इसलिये जिस इन्द्रिय प्रदेश में पुरुष सोया हुआ हो उस अवस्था मे उसे जगा देने से इस शरीर पर विपत्ति आ जाती है, उसकी चिकित्सा करना फिर कठिन हो जाता है। अतः स्वप्न मे पुरुष स्वयं ज्योति होता है, उसकी आत्मा ही उस समय उसके देखने का साधन है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब याज्ञवल्क्यजी ने राजा जनक को आदित्य ज्योति, चन्द्र ज्योति, अग्नि ज्योति, वाणी ज्योति और आत्म ज्योति के सम्बन्ध मे उपदेश दिया। स्वप्न मे पुरुष आत्म ज्योति से देखता है इसे बताया, तब राजा ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"ब्रह्मन्! मैं इस कृपा के लिये आपके चरणारविन्दों में एक सहस्र सुवर्ण मुद्रा भेंट करता हूँ। अब आगे आप मुझे मोक्षमार्ग का उपदेश दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आगे याज्ञवल्क्यजी सुषुप्ति के भोग से आत्मा की असंगता है, इसका वर्णन जैसे करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

—०—

छप्पय

[१]

पुरुष जनम के समय आत्मभावहिं तन पावे।
पापनि तैं संश्लिष्ट मरत पापनि बिसरावे॥
स्वप्न, लोक, परलोक स्वप्न में दोउनि जोवे।
आनँद दुख अनुभवे देह रोयापे सोवे॥
देहवासनामय रचै, स्वयं ज्योति बनि सब लखै।
रथ, हय, पथ, सर नदी नहिं, मोद न परि स्वप्नहिं दिखै॥

[२]

करि शरीर निश्चेष्ट जगी जग वस्तु प्रकासै।
शुक लाइ निज थान हंस एकाकी धावै॥
अधम देह वह रचि वासना जहँ तहँ जावै।
ऊँच नीच कूँ प्राप्त पुरुष बहु रूप बनावै॥
रतिसुख, हँसी, विनोद, भय, स्वप्नमाहिँ सब अनुभवै।
क्रीड़ा सामग्री लखै, सब-परि तिहिँ कोइ न लखै॥

[३]

स्वप्नमाहिँ तन छोड़ि पुरुष सब दिशि में जावै।
तातैं सोवत पुरुष न सहसा भूलि जगावै॥
स्वयंज्योति वह पुरुष स्वप्न जन्मान्तर देखै।
लोक और परलोक दृश्य सबही के पेखै॥
सहसा जगि पागल मरन, होवै अनरथ भावना।
जनक तुष्ट बहु भेंट करि, करी मोक्ष की कामना॥

याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्मज्ञो का उपदेश (३)

[२४७]

स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वन्तायैव ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ३ ब्रा० १७)

छप्पय

स्वप्न सुषुप्तिहु माहिँ पुण्य अघलखि पुनि आवै।
है असङ्ग निरलिप्त पुण्य अघनहिँ लिपटावै॥
जैसे भारी मत्स्य उभय सरिता तट बिचरै।
स्वप्न जागरित माहिँ पुरुष त्यौं उभय सचरै॥
नभ में श्येन सुपर्ण खग, उड़ि निज खोंतर में घुसै।
त्यों सुषुप्ति की ओर यह, पुरुष रहित भोगहिँ बसै॥

ब्रह्माजी जब ग्वाल बाल और बछड़ो को चुरा ले गये त श्रीकृष्ण की अवस्था ५ वर्ष की थी। किन्तु जब वे ६ वर्ष के हु

---

* जाग्रत अवस्था मे वह यह पुरुष रमण करके, विहार करके तथ पुण्य और पाप को देखकर पुन उसी मार्ग से जिस मार्ग से वह पहिले आया था, अपने यथास्थान—स्वप्न स्थान—को लौट जाता है।

तब ग्वाल वालों ने अपने घरों में कहा था आज श्रीकृष्ण ने अघासुर को मारा है। इस पर महाराज परीक्षित् ने शंका की—"भगवन्! पाच वर्ष की अवस्था में किये हुए कृत्य को बालकों ने ६ वर्ष की अवस्था में 'आज किया' ऐसा क्यों कहा? यह एक वर्ष कहाँ गया?"

यह बड़ा सूक्ष्म प्रश्न है। इस शका को वही श्रोता कर सकता है, जो कथा कहने वाले वक्ता के एक-एक अक्षर को एकाग्रचित्त से ध्यान लगाकर सुने। राजा की इस शंका को सुनकर श्रीशुकदेवजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! आप तो कथा को इतने ध्यान पूर्वक एकाग्रचित्त से तन्मय होकर ऐसे सुनते हैं जैसे पर-स्त्री गामी जार लम्पट पुरुष व्यभिचारिणी स्त्रियों की चर्चा को ध्यान पूर्वक नया-नया रस लेकर बारम्बार पूछ-पूछकर सुनते हैं।" (स्त्रियाविटामिव साधु वार्ता) इस पर शका करने वाले शंका करते हैं—'परमहंस चक्रचूड़ामणि यतीन्द्र शिरोमणि वीतराग भगवान् शुकदेवजी ने ऐसा अश्लील दृष्टांत क्यों दिया। परम भगवत् भक्त महाराज परीक्षित के श्रवण की तुलना परस्त्रीगामी लम्पट जार पुरुषों से क्यों की? क्या उनको कई दूसरी उपमा नहीं मिली? उपमा देने को उनके पास कोई दूसरी उपमा नहीं थी क्या?

वास्तव में देखा जाय तो चाहे अश्लील ही क्यों न हो, इससे बढ़कर कथाप्रिय भगवत् भक्त की दूसरी उपमा खोजने पर भी नहीं मिल सकती। स्त्री लम्पट जार पुरुष जैसा रस लेकर बार-बार अपनी चाहने वाली स्त्री के सम्बन्ध में पूछते हैं, वैसी तन्मयता की उपमा संसार भर में खोजने पर भी नहीं मिल सकती। इसी प्रकार मुक्ति सुख की उपमा अनेक स्थानों में सुषुप्ति अवस्था के साथ दी गयी है। वास्तव में देखा जाय तो सुषुप्ति

अवस्था के सुख मे और मुक्ति के सुख मे आकाश पाताल का अन्तर है। मुक्त पुरुष का तीनों काल मे शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और सुषुप्ति तो जीव की एक अवस्था मात्र है। जैसी जाग्रत, स्वप्न अवस्थायें वैसी ही सुषुप्ति अवस्था। तीनों ही अवस्थायें बन्धन का हेतु हैं। किन्तु जहाँ सुषुप्ति की समता समाधि सुख के साथ की गयी है वहाँ केवल सोते समय पुरुष को रोग, दुःख सुख, चिन्ता, ग्लानि का भान नहीं होता। इसी प्रकार मुक्त पुरुष हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से विमुक्त होता है। किन्तु सुषुप्ति की समाप्ति के अनन्तर पुरुष पुनः द्वन्द्वों का अनुभव करने लगता है। मुक्त पुरुष द्वन्द्वो से सदा के लिये रहित हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था का जो भोग है आत्मा उससे भी असग है। इसी बात को आगे सिद्ध करेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज जनक के मुक्ति सबधी प्रश्न के उत्तर मे याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! चाहे पुरुष सुषुप्ति अवस्था मे रहे चाहे स्वप्नावस्था मे रहे अथवा जाग्रत अवस्था मे रहे। आत्मा इन तीनो ही अवस्थाओं में असग रहता है। मान लो स्वप्नावस्था से पुरुष सुषुप्ति-सम्प्रसाद में चला जाता है। स्वप्न देखते-देखते पुरुष प्रगाढ़ निद्रा मे चला जाता है उस सुषुप्ति अवस्था मे वह रमण विहार के सुख का अनुभव-सा करता है। सुषुप्ति अवस्था मे एक अपूर्व सुख की अनुभूति होती है, स्वप्न के सदृश वहाँ कोई दृश्य दिखायी नहीं देते। किन्तु उस सुषुप्ति अवस्था के सुख से जीवात्मा सम्बद्ध नहीं होता। उस सुषुप्ति अवस्था मे वह पाप पुण्य का कर्ता नहीं होता। केवल साक्षी बना देखता रहता है। उस सुषुप्ति अवस्था के आनद का अनुभव करके—उसे—देखकर—जैसे स्वप्नावस्था से आया था वैसे ही उसी स्वप्नावस्था को लौट आता है। वहाँ सुषुप्ति में

उसने जो भी कुछ देखा--अनुभव किया--उससे वह आत्मा निर्लिप्त--असम्बद्ध--रहता है। सुख का अनुभव करके भी उससे असम्बद्ध क्यों रहता है ? क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही असङ्ग है। इसलिये स्वप्नावस्था से सुषुप्ति अवस्था में जाने पर भी वहाँ कुछ कार्य नहीं करता। उस सुख को द्रष्टा बनकर देखकर फिर जहाँ से आया था वहीं लौट आता है। यह तो सुषुप्ति अवस्था की आत्मा की असङ्गता रही।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इस कथन से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि जीवात्मा जाग्रत अवस्था से सीधा सुषुप्ति की ओर नहीं जाता। स्वप्न से सुषुप्ति की ओर जाता है फिर और सुषुप्ति से ही स्वप्नावस्था में लौट आता है। कभी-कभी हम पड़ते ही प्रगाढ़ निद्रा में तन्मय हो जाते हैं और प्रगाढ़ निद्रा से तुरन्त जग भी जाते हैं। फिर इस स्थान में स्वप्न से सुषुप्ति में जाने और सुषुप्ति से स्वप्न में ही लौटने को क्यों कहा ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! बिना स्वप्नावस्था के सहसा प्रगाढ़ निद्रा कभी नहीं आती। उस समय चाहे क्षण भर को ही सही स्वप्नावस्था होती है और स्वप्नावस्था से ही सुषुप्ति में जाया जाता है। प्रगाढ़ निद्रा जब समाप्त होती है, तो सहसा जाग नहीं जाते फिर कुछ देर को--चाहे क्षण भर को ही सही--स्वप्नावस्था होती है। प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त में निद्रा समाप्त होने पर स्वप्न देखते हैं और ऊषाकाल के स्वप्न प्रायः सत्य होते हैं। अतः साधारण नियम यही है कि स्वप्नावस्था से सुषुप्ति अवस्था में जाते हैं और सुषुप्ति से पुनः स्वप्नावस्था में लौटकर तब जागते हैं। प्रगाढ़निद्रा में सोये पुरुष को सहसा कोई जगा दे तो वह रुग्ण हो जाता है। इसीलिये इस ऋचा में स्वप्नावस्था

से सुषुप्ति में जाने और फिर स्वप्नावस्था में लौटने की बात कही। जीवात्मा सुषुप्ति के कार्य से बँधता नहीं।

स्वप्नावस्था से सुषुप्ति मे जाने और फिर लौटने तथा उस कार्य मे असम्बद्ध होने की बात सुनकर महाराज जनक परम प्रमुदित हुए उन्होंने कहा—"आप ने यथार्थ बात बतायी, इस ज्ञान के उपलक्ष्य मे मैं गुरुदक्षिणा स्वरूप आपको सहस्र (मुद्रा अथवा धेनु) अर्पण करता हूँ। इससे आगे भी आप मुझे मोक्ष का उपदेश दें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! राजा की जिज्ञासा देखकर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! जैसे स्वप्नावस्था से सुषुप्ति मे जाकर फिर स्वप्नावस्था मे ही लौट आने पर भी पुरुष पाप पुण्य से लिप्त नहीं होता, वैसे ही यह आत्मा स्वप्नावस्था में नाना रमणियों के साथ विहार करके, नाना दृश्यों का अवलोकन करके पुण्य पाप का केवल दृष्टा मात्र ही बनकर जिस प्रकार जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था में आया था फिर वहीं जाग्रत मे लौट आता है। वह स्वप्नावस्था मे जो भी कुछ देखता है सुनता है, अनुभव करता है उनसे सश्लिष्ट नहीं होता- लिप्त नहीं होता- क्योंकि यह पुरुष असग है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप पीछे तो कह आये हैं, कि पुरुष स्वप्नावस्था से सुषुप्ति मे जाता है और अब कहते हैं स्वप्नावस्था से लौटकर जाग्रत मे आता है, यह क्या बात हुई?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वप्नावस्था देहरी की भाँति मध्य की अवस्था है। जैसे पुरुष देहरी तक जाकर फिर लौट भी सकता है देहरी को लाँघकर भीतर भी जा सकता है। स्वप्नावस्था से सुषुप्ति में भी जाते हैं और स्वप्नावस्था से सहसा जाग्रत

में भी लौट आते हैं। वहाँ स्वप्न से सुषुप्ति में जाकर स्वप्न में ही लौट आने का वर्णन था। यहाँ जाग्रत से स्वप्न में जाकर जाग्रत में ही लौटने का वर्णन है। भगवती श्रुति का अभिप्राय इतना ही है कि यह पुरुष चाहे जाग्रत के दृश्य देखे, चाहें स्वप्न के अथवा सुषुप्ति के, तीनों ही अवस्थाओं में यह असङ्ग असंश्लिष्ट-निर्लिप्त बना रहता है। महाराज जनक ने पुनः याज्ञवल्क्यजी को सहस्र मुद्रा अथवा सहस्र धेनु देने की प्रतिज्ञा करके फिर आगे मोक्ष सम्बन्धी उपदेश की जिज्ञासा की। तब याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"राजन्! जैसे स्वप्न और सुषुप्ति की बात है वैसे ही जाग्रतावस्था की बात है। स्वप्नावस्था से यह पुरुष जाग्रत-अवस्था में आता है तो यहाँ भी भाँति भाँति की क्रीड़ा करता है, रमण-विहार करता है, आनन्द प्रमोद करता है। पाप-पुण्य का द्रष्टा होता है, फिर जैसे स्वप्न से जागरित अवस्था में आया था वैसे ही लौटकर स्वप्न स्थान में चला जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! स्वप्न में और सुषुप्ति में तो पुरुष कुछ करता नहीं, पाप पुण्यों को भोगता नहीं, किन्तु जाग्रत अवस्था में तो कर्मों को करता है, पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख इसका उपभोग करता है। अतः जाग्रतावस्था में यह निःसंग तथा निर्लिप्त कैसे बना रहता है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जीवात्मा तो अज है, शाश्वत है निर्लिप्त है। वह देह और इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के संसर्ग के कारण व्यवहार करता सा दिखायी देता है। अहंकार के कारण विमूढ सा बनकर अपने को कर्ता मान बैठता है। वास्तव में यह कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, कर्मों में आसक्त नहीं। वह दीपक की भाँति द्रष्टा मात्र है। जैसे दीपक अपने प्रकाश से सब वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है, उसके प्रकाश में चाहे पुण्य करो या

पाप, दीपक न पुण्य के लिये प्रेरणा देता है न पाप के लिये म
करता है। उसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी के प्रकाश
आवश्यकता नहीं वह स्वयं प्रकाश है वह आत्मज्योति द्वारा
अवभासित रहता है।"

जैसे कोई बड़ा भारी मत्स्य है, नदी में रहता है वह नदी
पूर्व तथा अपर दोनों ही तीरों पर क्रमशः सञ्चार करता रहत
है। कभी इस किनारे आकर आनन्द लेता है, कभी उस
किनारे रमण करता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा पुरुष स्वप्न
तथा जागरित दोनों में ही घूमता रहता है।

अब रही सुषुप्ति अवस्था। वह उसके विश्राम का स्थान है।
जब स्वप्न जाग्रत के भोगों को भोगता-सा हुआ, इनका आनंद-
सा लेता हुआ श्रमित-सा हो जाता है तब एकान्तिक आनंद
की अनुभूति-सी करने के लिये सुषुप्ति में जाकर प्रगाढ़ निद्रा में
सब कुछ भुला-सा देता हुआ वहाँ जाकर विश्राम लेता है। जैसे
कोई बाज पक्षी है अथवा बड़ा गरुड़ है। वे बड़े भारी वृक्ष में
खोतर- संलय-बनाकर रहते हैं। तो पंखों को फैलाकर यथाशक्ति
आकाश में उड़ते रहते हैं। उड़ते-उड़ते जब थक जाते हैं तब
पंखों को फैलाकर अपने खोंतर की ओर आते हैं और पंखों को
सिकोड़ कर कोटर--खोतरे-में घुसकर विश्राम करते हैं। उसी
प्रकार जीवात्मा जाग्रत स्वप्न के भोगों से थका-सा होकर सुषुप्ति
की ओर दौड़ता है। जहाँ प्रगाढ़ निद्रा में सो जाने पर-जाग्रत
स्वप्न की भाँति-किसी भी भोग की इच्छा नहीं करता और न
किसी प्रकार के स्वप्न को ही देखता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा कहाँ
रहता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! हृदय के भीतर अत्यन्त ही

सूक्ष्मतम हिता नाम की नाडियाँ होती हैं। वे पुरुष का हित करती हैं, इसी से वे हिता कहलाती है। सुषुप्ति अवस्था मे जीवात्मा उन्हीं में रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"वे हिता नाड़ियाँ कैसी होती हैं, किस रग रूप की होती हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! ये सब अत्यत सूक्ष्मतम होती हैं। उनकी समानता किससे की जाय? यो समझिये कि एक बाल को सहस्र भागो में विभक्त कर दिया जाय बाच से फाड फाड़ कर उसका सहस्राश जितना सूक्ष्म हो उतनी पतली वे नाडियाँ होती हैं। वे दृष्टि द्वारा देखी नहीं जा सकती। इतनी सूक्ष्मतर होने पर भी वे भीतर से पोली होती हैं। उनमे सफेद, नीला, पीला, हरा और लाल रग का रस भरा रहता है। वे नाडियाँ तो दिखाया नहीं देतीं, उनम भरा विभिन्न रङ्गों का रस एक सूक्ष्मतर रेखा की भाँति दृष्टि गोचर होता है। सुषुप्ति में पुरुष इन्हीं सूक्ष्म नाडियो मे चला जाता है।

स्वप्नावस्था में तो पुरुष नाना दृश्यो को देखता है। कभी देखता है कोई उसे मार रहा है कभी कोई उसे अपने वश में कर रहे हैं। कभी देखता है उसे मदमत्त हाथी खदेड रहे हैं। कभी हाथी या अन्य किसी के खदेडने पर गड़हे मे गिर जाता है। इस प्रकार के भाँति भाँति के कौतुक स्वप्न मे दृष्टि गोचर होते हैं। जाग्रत अवस्था मे जो-जो भी देखता है, अनुभव करता है, चिन्तन करता है, उन सब इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी दृश्यों को स्वप्नावस्था में अविद्या के कारण देखता है और अपने को उन दृश्यो में लिप्त सा मानता है। किन्तु जब सुषुप्ति अवस्था में बहत्तर सहस्र हिता नामक नाड़ियो के द्वारा इधर-उधर जाकर अन्त मे पुरीतत् नामक मास पिड में ...।

सो जाता है, तब वह वहाँ दिव्य देवता के समान, चक्रवर्ती राजा के समान अथवा सर्वज्ञ के समान निश्चिन्त होकर अपने को अनुभव करता है, वही उसका परम धाम है। अर्थात् अज्ञान पूर्वक पुरीतत् में सयन करना सुषुप्ति अवस्था है और ज्ञानपूर्वक चित्त वृत्तियों के निरोध पूर्वक जो आत्मज्योति में लय है, वही मोक्ष स्वरूप है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में कामनायें तो रहती हैं। सुषुप्ति में वे प्रसुप्त हो जाती हैं। जागने पर पुनः कामनायें जाग्रत हो जाती हैं। किन्तु मोक्ष स्वरूप में काम रहित, पाप रहित तथा अभय रूप हो जाता है। इस विषय में दृष्टान्त देते हैं, जैसे अपने प्रियतम में अत्यत अनुरागवती जो स्वय इच्छुका है उस अपनी परमप्रिया भार्या को अत्यन्त अनुराग में आसक्त पुरुष आलिङ्गन करे, तो उस आलिङ्गनावस्था में पुरुष को न तो कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का ही। उस समय वह तन्मय--तदाकार--बन जाता है। इसी प्रकार जब यह पुरुष प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित होता है--ब्रह्म का सस्पर्श प्राप्त कर लेता है--तब उसे बाहरी तथा भीतरी किसी भी विषय का भान नहीं होता। वह आनन्द में निमग्न हो जाता है। सुख सरिता में डूब जाता है। यही इस पुरुष का आप्तकाम, अकाम तथा शोक-शून्य रूप है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह सुषुप्ति अवस्था के व्याज से प्रसङ्गानुसार मोक्ष का स्वरूप बताया। अब आगे सुषुप्ति में प्राप्त पुरुष जैसे निस्सङ्ग और निःशोक हो जाता है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

—०—

छप्पय

बाल सहसवो भाग हिता नाड़ी सूक्ष्म अति।
शुक्ल, नील अरु पीत हरित लोहित रँग पूरित॥
स्वपन सरिस नहिँ दृश्य सुषुप्तिहिँ तहँ सुख सोवत।
मोक्ष सरिस सुख होहि काम अघ रहित अभयपद॥
भार्यालिङ्गन सरिस प्रिय, वाह्याभ्यन्तर भान नहिँ।
प्राज्ञात्मालिङ्गित परुष, शोक शून्य निर्भय कहहिँ॥

याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्म-ज्योति का उपदेश (४)

(२४८)

यद् वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टु र्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद्द्वितीय-मस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत् ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ३ ब्र० २३, श्लोक)

छप्पय

परुष सुषुप्तिहिँ माहिँ मातु पितु लोक वेद नहिँ ।
चोर चुगुल चांडाल श्रवण पुल्कस तापस नहिँ ॥
सबई उलटे होहिं पुण्य-अघ शोक नसावै ।
दृश्य न देखै देखि दृष्टि द्रष्टा न भुलावै ॥
वह अविनाशी नित रहै, तातैं दूसर कछु नहीं ।
फिर काहूँ देखै तहाँ, वही वही है नभ महीं ॥

* वह आत्मा जो उस सुषुप्ति अवस्था में बाह्य तथा अभ्यन्तर को नहीं देखता है, फिर वह देखता हुआ ही नहीं देखता है, क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता है । इसलिये कि वह अविनाशी है । उस सुषुप्ति अवस्था मे उससे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ ही नहीं जिसको वह सोया हुआ पुरुष देखे ।

आप ध्यान पूर्वक विचार करें। पुरुष विषयों का उपभोग कैसे करता है। वही एक आत्मा त्रिधा होकर अपने से अपने आपका ही रसास्वादन करता है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है। तो हड्डी कठोर होती है। सूखी होने से उसमे वेसा मास नहीं रहता। कुत्ते का तालु कोमल होता है। उससे उसका तालु छिल जाता है। उसमें से रक्त निकलने लगता है। उस रक्त का कुत्ता रस लेता है। अज्ञान वश उसे भान यह होता है, कि जिस रक्त का मैं रसास्वादन ले रहा हूँ यह हड्डी मे से निकल रहा है। किन्तु वास्तविक बात यह नही है। वह रक्त भी उसी का है, उसमे जो स्वाद है वह भी उसी के भीतर का है और अनुभव करने वाला भी वही है। इसी प्रकार जैसे हम दृश्य को आँखो से देखते हैं। रसयुक्त पदार्थों का रसना के द्वारा आस्वादन करते हैं। तो कैसे करते हैं? वाह्यदृश्य हैं ये सब भूतो से निर्मित आधिभौतिक हैं। उन आधिभौतिक पदार्थों में ही आँख के गोलक भी आ गये। इन आँखों के गोलको मे जो सूर्य देवता वेठकर देखने की शक्ति प्रदान करते हैं यह आधिदैविक भाव है। सूर्य मे भी जो सूर्यत्व-सूर्यशक्ति-प्रदान करने वाले परब्रह्म परमात्मा हैं वे अध्यात्म हैं। अर्थात् दृश्य वही द्रष्टा वही और देखने की साधन भूताशक्ति भी वही। जिस आत्मा में देखने, सूँघने, सुनने, रस लेने तथा स्पर्शज्ञान की शक्ति है। वह जाग्रत अवस्था में, स्वप्नावस्था मे तथा सुषुप्ति अवस्था में एक ही है। उसकी शक्ति कभी अविलुप्त नहीं होती। जाग्रत अवस्था मे जिन पदार्थों को देखता, सूँघता तथा रसादि लेता है, उन्हीं पदार्थों का अनुभव स्वप्न मे भी करता है और सुषुप्ति अवस्था मे भी करता है। आप कहोगे, कि सुषुप्ति अवस्था मे तो वह कुछ भी अनुभव नहीं करता? ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वाह्य पदार्थ कहीं

नहीं गये। उस आत्मा में जो सूँघने आदि की शक्ति है वह सुषुप्ति अवस्था में उसमें विद्यमान है। सुषुप्ति अवस्था में एक ही विशेषता है, वहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी का प्रकाश नहीं। केवल आत्मा का ही प्रकाश रहता है। उस समय प्रज्ञात्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु–अन्य प्रकाश–वहाँ है ही नहीं उसका वह उपभोग करे। वहाँ वह साक्षी रूप से आनन्द का अनुभव करता है। यदि कुछ भी न देखता होता, तो सुषुप्ति से उठकर यह क्यों कहता—आज तो बड़ी ही सुन्दर मीठी-मीठी नींद आयी। आज तो अत्यन्त ही सुखपूर्वक सोये। नींद का मिठास, सुषुप्ति के आनन्द का अनुभव करने वाला कोई उस सुषुप्ति अवस्था में भी जागता हुआ उसके रस का अनुभव करता रहता है उसके आनन्द का आस्वादन करता रहता है। वह आनन्द स्वरूप परमात्मा और आनन्द का अनुभव करने वाला पुरुष–जीवात्मा–परस्पर में आलिंगित होकर जब एक हो जाते हैं, तब भीतर बाहर कुछ भी दृश्य नहीं रह जाता है। आनन्द, परमानन्द, नित्यानन्द, अखडानन्द, शाश्वतानन्द, वही वही रह जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसी आसक्ति जाग्रत और स्वप्नावस्था में वस्तुओं में तथा सम्बन्धियों में रहती है, वैसी आसक्ति सुषुप्ति अवस्था में नहीं रहता। सुषुप्ति अवस्था में तो पुरुष स्वयं ज्योति होने के कारण अपने को आसक्ति रहित निस्सङ्ग अनुभव करता है। जाग्रत और स्वप्नावस्था में जैसे प्रतिकूल परिस्थियों के कारण शोकमग्न होता है वैसे सुषुप्ति अवस्था में शोकमग्न नहीं होता। वहाँ तो वह अपने को निःशोक अनुभव करता है। सुषुप्ति अवस्था में पिता पिता नहीं रह जाता वह अपिता बन जाता है। माता-माता नहीं रह जाती वह

अमाता हो जाती है। वहाँ ये लोक,लोक न रहकर अलोक हो जाते हैं। देवता,देवता नहीं रहते अदेव हो जाते,हैं। वेद,वेद नहीं रहते अवेद बन जाते हैं। वहाँ चोर, चोर नहीं रहता अचोर हो जाता है। सबसे बडा पाप भ्रूणहत्या का माना गया है। सात महीने के पहिले गर्भस्थ शिशु की हत्या भ्रूण हत्या है। सात के पश्चात् गर्भ को नष्ट करना बालहत्या है। भ्रूणहत्या, बालहत्या सबसे बडे पाप हैं। सुषुप्ति अवस्था में भ्रूणहत्या करने वाला अभ्रूणहा हो जाता है। वहाँ चाण्डाल, पुल्कस, सन्यासी, वानप्रस्थ, ये सब समान हो जाते हैं। वहाँ भेदभाव का लेश भी नहीं रहता। उस समय पुण्य पाप कुछ नहीं रहता। पुरुष दोनों से असम्बद्ध हो जाता है, दुखी हो, रुग्ण हो, चिन्तित हो, शोकाकुल हो, सभी अपने दु ख, व्याधि, चिन्ता तथा शोक को भूल जाते हैं। सभी प्रकार के दुःख शोकादि से पार हो जाते हैं। हृदय के सम्पूर्ण दु.ख मिट जाते हैं। सुषुप्ति अवस्था में आत्मा स्वय ज्योति होने के कारण उसके देखने की शक्ति नष्ट नहीं होती। उसमे देखने की सामर्थ्य रहती है। सामर्थ्य रहते हुए भी वह देखता नहीं है। सुखानुभूति को तो वह देखता ही है। क्योंकि वह अविनाशी द्रष्टा है। जब तक अग्नि पूर्णरूप से बुझ नहीं जाती–उसका अन्त नहीं हो जाता–तब तक उसका उष्णत्व धर्म बना ही रहता है। जिसका जो धर्म है वह उसकी सत्ता तक विद्यमान रहता ही है। आत्मा का कभी नाश होता नहीं उसकी सत्ता कभी मिटती नहीं। आत्मा द्रष्टा है उसकी दृष्टि भी अविनाशी है। अतः जीवात्मा के साथ ही उसकी दृष्टि भी ज्यों की-त्यों बनी ही रहती है। जब स्वय द्रष्टा अविनाशी नित्य है और उसकी दृष्टि भी नित्य है, तो सुषुप्ति अवस्था में देखता क्यों नहीं है ? क्योंकि वहाँ विष

से पृथक् हैं ही नहीं। जब द्रष्टा पृथक् हो तभी तो देखा जा सकता। यहाँ तो देखने वाला प्रज्ञात्मा से आलिङ्गित है। वह तो उससे भिन्न दूसरे पदार्थ हैं ही नहीं, जिसे देखे। वहाँ तो वह आनन्द निमग्न रहता है। लाली देखने जाता है स्वयं लाल बन जाता है। आनन्द का अनुभव करने जाता है स्वयं आनन्द से आलिङ्गित हो जाता है।

उसमें सूँघने, रसास्वादन करने, बोलने, सुनने, स्पर्श करने, जानने की शक्ति है, किन्तु इन सबकी शक्ति रहने पर भी उनका उपयोग नहीं करता। दृष्टान्त के लिये सूँघने को ही ले लीजिये सुषुप्ति अवस्था में वह सूँघता नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें सूँघने की शक्ति ही नहीं रहती। वह सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता। उसकी गन्ध ग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता। यद्यपि वह उस अवस्था मे गन्धग्रहण नहीं करता, किन्तु गन्धग्रहण करने की उसकी शक्ति कहीं चली थोड़े ही जाती है। क्यों नहीं चली जाती? क्योंकि घ्राणेन्द्रिय का धर्म गन्ध ग्रहण करना है। जब तक घ्राण इन्द्रिय है तब तक उसका धर्म उसमें विद्यमान रहेगा ही। क्योंकि जिसकी वह घ्राणेन्द्रिय है वह पुरुष अविनाशी है। तब फिर घ्राण इन्द्रिय के रहते, गन्धग्रहण शक्ति के विद्यमान होने पर भी वह सूँघता क्यों नहीं?-गन्ध ग्रहण क्यों नहीं करता?-इसलिये नहीं करता, कि उस सुषुप्ति अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु उसकी दृष्टि मे रहती ही नहीं। प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित होने पर वह बाहर भीतर का कुछ भी विषय नहीं देखता। फिर बताइये वह किसे सूँघे? इसी प्रकार सभी विषयों के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिये।

अच्छा, अब यह प्रश्न होता है, कि जागरित तथा स्वप्नावस्था में इसे विषयों का विशेष ज्ञान होता है, क्यों होता?

इसलिये,कि यह अविनाशी है,विज्ञान ही इसका स्वभाव है। वह स्वभाव सुषुप्ति में कहीं चला नहीं जाता। जागरित और स्वप्न के सदृश व सुषुप्ति अवस्था में भी विद्यमान रहता ही है, तब फिर सुषुप्ति अवस्था में विषयों का विशेष ज्ञान इसे क्यों नहीं होता ?

इसका उत्तर यह है कि जागरित अवस्था में अथवा स्वप्नावस्था में आत्मा से भिन्न शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि ये विषय आत्मा से भिन्न से प्रतीत होते हैं। उन दोनों अवस्थाओं में द्वैत का भान होने से अन्य, अन्य को सूँघता, रस लेता, श्रवण करता, स्पर्श करता तथा मनन करता सा प्रतीत होता है। क्योंकि वहाँ दृश्य पृथक् है दृष्टा पृथक् है अतः वहाँ विशेष ज्ञान होना सम्भव है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में तो द्रष्टा दृश्य एक हो जाते हैं। वहाँ तो पुरुष प्राज्ञात्मा के परिष्वङ्ग से, परमात्मा परब्रह्म के सस्पर्श से भेद रहित बन जाता है। जैसे जल में जल को फेंक दो, तो दोनों जल मिलकर एक हो जाते हैं।

याज्ञवल्क्यजी महाराज जनक को समझाते हुए कह रहे हैं—"हे सम्राट्! यह जो सुषुप्ति अवस्था का आधार है यही ब्रह्मलोक है। यही परब्रह्म है, यही परमात्मा है यही निरतिशय आनन्द है। यही परमगति है। यही इस पुरुष की परम सम्पत्ति है, यही इसका परम लोक तथा परम आनन्द है। इसी आनन्द की न्यूनाधिक मात्रा के आश्रित होकर संसार के समस्त प्राणी जीवन धारण करते हैं। उस सुषुप्ति आधार का जो परम आनन्द है, उस आनन्दामृत सागर का जो अपार अमृत कोश है उसमें से किसी को एक बिन्दु प्राप्त है, किसी को दो, किसी को तीन, किसी को असख्य, कोई उस अमृतानन्द में अवगाहन करके निमग्न हो जाता है। उसी अमृत उदधि में से जिसे जितने भी कण प्राप्त हो जायँ पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गादि लोकों

उतना ही आनन्दयुक्त माना जाता है। भूमा में-विपुल गुणोत्कर्ष में-ही अत्यन्त अनुकूल-परिपूर्ण-सुख है।" (यो वै भूमा तत्सुखम्)

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आनन्द तो आनन्द ही है। इसमें छोटा बड़ा होता है क्या?"

सूतजी ने कहा—"क्यों नहीं होता भगवन्! लौटा गुड का जो मेल है-उसका स्वाद और है, गुड का स्वाद और है, राब का स्वाद और है, खाड का स्वाद और है, बूरे का स्वाद और है तथा मिश्री का स्वाद और है। यद्यपि मिठास वाली वस्तु इन सब में एक ही है, किन्तु जो जितना ही निर्मल होता जायगा उसका स्वाद उतना ही बढता जायगा। उसी प्रकार पृथ्वी पर, अतरिक्ष मे, स्वर्गादि पुण्यलोकों में तथा अन्याय नित्य दिव्यलोकों में आनन्द तो एक ही है, किन्तु उस आनन्द मे जितना ही इन्द्रिय विषयजन्य जल भरा रहेगा, आनन्द की मात्रा उतनी ही न्यून होती जायगी और इन्द्रिय विषय जन्य मल जितना ही छँटता जायगा आनन्द की मात्रा उतनी ही बढती जायगी। अब आगे जैसे क्रमशः आनन्द की मात्रा का वर्णन किया जायगा, उसे मैं आगे कहूँगा। आशा है आप सब इस आनन्दमय प्रसङ्ग को आनन्द के साथ श्रवण करेंगे।"

छप्पय

गन्धग्रहन, रसग्रहन, श्रवन, छूवन जानन में।
विद्यमान तिहि शक्ति करै उपयोग न तिनमें॥
करत अकरता रहै करन की शक्ति सतत है।
प्राज्ञात्मा के साथ प्रेमतैं आलिङ्गित है॥
स्वप्न जागरित भिन्न-सो-भोक्ता भोग्य पृथक पृथक।
जल में जल ज्यों आतमा, नहीं सुषुप्ती में विलग॥

—:*:—

आनन्द-मीमांसा

[२४९]

स यो मनुष्याणाꣳ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैःस म्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ३ ब्रा० ३३...म०)

छप्पय

जो सुपुरुष आधार वही परमागति सम्पति।
परमानन्द महान सकल आनँद मात्राश्रित॥
धन, धी, गुन सम्पन्न सकल सुविधा युत स्वामी।
भू सामग्री भोग सबहिँ नर जिहि अनुगामी॥
नरनि परम आनन्द सो, तासु शत गुनो जो अनँद।
पितरलोक कूँ जीतिकें, पितर गननि आनन्द तद॥

संसार से किसी को आनन्द नहीं। भ्रम वश लोग दूसरों को सुखी समझते हैं। जिसके पास एक समय का भोजन नहीं घर-घर से टुकड़ा माँगता फिरता है। वह उसे सुखी समझता है,

* जो पुरुष सभी मनुष्यों में, सभी प्रकार के अङ्गों से समृद्ध है। सबका अधिपति सर्वस्वतन्त्र राजा है और मनुष्य सम्बन्धी समस्त विषय भोगों से अत्यन्त सम्पन्न है। ऐसे व्यक्ति का आनन्द मनुष्यलोक के मध्य में सबसे श्रेष्ठ परम आनन्द माना जाता है।

जिसके यहाँ दोनों समय का भोजन हो। दस पाँच बीघा भूमि वाला एक ग्राम के अधिपति को सुखी समझता है। एक ग्राम का अधिपति सौ ग्राम के राजा को सुखी समझता है। सौ ग्राम का राजा उस अधीश्वर को सुखी मानता है जिसके अधीन बहुत से राजा हों। अधीश्वर उस मण्डलेश्वर महाराज को सुखी मानता है जिसकी आज्ञा अनेकों अधीश्वर मानते हों। मण्डलेश्वर राजा उस सम्राट् को सुखी मानता है जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एकछत्र शासक हो, जिसकी आज्ञा को सभी राजे-महाराजे मानते हों। ऐसा सम्राट् भी यदि रोग से ग्रस्त है, गुणों में न्यून है, कोश की कमी है अथवा सन्तान से रहित है या मूर्ख सन्तति है, तो इतना धन वैभव होने पर भी वह अपने को सुखी नहीं मानता। मान लो कोई सम्राट् है, वह सातों समुद्र वाली वसुन्धरा का स्वामी है। उसकी आज्ञा अव्याहत है। अर्थात् पृथ्वी पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो उसकी आज्ञा को न मानता हो। उसके पास पर्याप्त धन, रत्नादि के कोश हैं। यथेष्ट चतुरंगिनी सेनायें हैं। शरीर से भी पूर्ण स्वस्थ है। विद्या, तप, तितिक्षा, शम, दम, विनय विवेकादि समस्त सद्गुण उसमें स्वभाव से ही हैं। उसकी धर्मपत्नियाँ सुन्दरी, सुशीला, सद्कुलोद्भवा, गुणवती सौभाग्यवती तथा पतिपरायणा हैं। अङ्गों सहित समस्त वेदों का उसने अध्ययन किया है। गुणवान्, भाग्यवान्, सौम्य सुशील अनेकों उसकी सन्तति हैं। सभी लोग उसका समादर करते हैं। ऐसा हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ठ, धनधान्य से युक्त, नवयौवनादि गुणों से समृद्ध, स्त्री, पुत्र पौत्रादि परिपूर्ण सम्राट् मनुष्यलोक में सभी मनुष्यों से सुखी माना जाता है। मनुष्य लोक के सुख की ऐसा सम्राट् सीमा है। अर्थात् उससे बढ़कर समृद्धशाली भाग्यशाली सुखी मनुष्य और कोई नहीं है। मर्त्यलोक के मनुष्यों के आनन्द की वह चरम

सीमा है। किन्तु उसके आनन्द से भी बढकर दूसरे लोक के उपदेव तथा देवतागण आनन्दशाली हैं। उनके आनन्द की मात्रा उत्तरोत्तर कैसे बढती जाती है। उसी का वर्णन आगे है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब क्रमशः पृथ्वी लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त आनन्द की मीमांसा करते हैं। मर्त्यलोक में जो मनुष्य सभी अङ्गों से समृद्ध है। पृथ्वी के अन्य सभी मनुष्यों का वह अधिपति है। मनुष्य लोक की शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी जितनी भोग सामग्रियाँ हैं, उन सबसे सम्पन्न है, ऐसा उत्तम लक्षण युक्त मनुष्य पृथ्वी के समस्त मनुष्यों में अतिशय आनन्द वाला है। ऐसे पृथ्वी के परम आनन्द वाले सौ पुरुषों के आनन्द के समान श्राद्धादि कर्मों द्वारा जिस व्यक्ति ने पितृलोक को जीतकर पितरत्व प्राप्त कर लिया है। ऐसे एक पितर के आनन्द के बराबर है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मनुष्यलोक के सर्वसद्गुण सम्पन्न सम्राट से सौ गुणा आनन्द पितरों को क्यों है? वे पितर कहाँ रहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भूलोक, अन्तरिक्ष (भुवः) लोक और स्वर्गलोक ये ही तीन लोक हैं। अन्तरिक्ष का जो तीसरा भाग है, जहाँ सूर्यादि ग्रहों का प्रखर प्रकाश होता है इसी कारण उसे प्रथी कहते हैं। वहीं पर पितृलोक है। उसी लोक में पितृगण निवास करते हैं मनुष्यों को दीखते नहीं। मनुष्यों से अन्तर्हित रहने से वे पितर कहलाते (तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः) ये पितर उपदेव हैं। मानुष्य सुख से सौ गुणा सुख इन्हें पितृलोक में प्राप्त होता है। अब पितृलोक को जीतने वाले पितरों से सौ गुणा आनन्द एक गन्धर्व लोक का है।"

शौनकजी ने पूछा—"गन्धर्वों का आनन्द पितरों से सौ गुणा अधिक क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! एक तो गन्धर्व सबसे अधिक रूप में सुन्दर होते हैं, फिर ये गाने बजाने का कार्य करते हैं। देव समाजों में गाते हैं। अप्सरायें नृत्य करती हैं, तीसरे ये स्त्रियों के अत्यन्त प्रेमी होते हैं, इन्हीं सब कारणों से सौ पितरों के आनन्द के समान एक गन्धर्व का आनन्द कहा गया है और सौ गन्धर्व आनन्द के सदृश एक कर्मदेव का आनन्द है।"

"शौनकजी ने पूछा—"कर्मदेव कौन होते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् देवता दो प्रकार के होते हैं। एक तो देवयोनि वाले नित्य देवता। दूसरे जो मनुष्य पृथ्वी पर श्रौत अग्निहोत्रादि कर्मों को करके उनके पुण्यों द्वारा देवत्व को प्राप्त करके देवलोक में गये हैं वे रहते तो अग्नि, वरुण, कुबेरादि देवताओं के ही साथ हैं, किन्तु कल्प के आदि में जिनकी उत्पत्ति हुई है उन आजान-नित्य देवों-से येकर्मदेव भिन्न माने जाते हैं। ऐसे सौ कर्मदेवों के आनन्द के सदृश एक जन्म सिद्ध नित्य आजान देवों का एक आनन्द है।

शौनकजी ने पूछा—"नित्य देवों में विशेषता क्या है ?"

सूतजी ने कहा—भगवन् ! देवता यज्ञभुक् होते हैं। अग्नि ही इन देवताओं का मुख है। अग्नि द्वारा ही ये यज्ञ रूप अन्न को खाते हैं। अमृत ही इनका तेज है और सूर्य इनकी ज्योति है। जो आजान नित्य देवों का एक आनन्द है उसी के सदृश आनन्द निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय का आनन्द है। उस निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय का आनन्द स्वाभाविक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! श्रोत्रीय किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जिसका जन्म विशुद्ध धर्मपरायण

ब्राह्मण से पतिप्राण सद्कुलोत्पन्न ब्राह्मण वर्ण की पत्नी द्वारा हुआ हो। जिसके विधिपूर्वक गर्भाधान उपनयनादि सभी संस्कार हुए हों और जिसने अङ्गों सहित वेदों का सभी विद्याओं का अध्ययन किया हो उसी को श्रोत्रिय कहते हैं। ऐसा श्रोत्रिय सर्वथा निष्पाप हो और निष्काम हो तो उसका स्वाभाविक आनन्द देवताओं के भी आनन्द से बढ़कर होता है। सौ नित्य देव आनन्द के सदृश एक प्रजापति-ब्रह्मा-का आनन्द होता है। और प्रजापति के आनन्द के समान ही निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय का भी स्वाभाविक आनन्द है। जो सौ प्रजापति के आनन्द हैं वह ब्रह्मलोक का-परब्रह्म परमात्मा का-एक आनन्द है। वही आनन्द निष्पाप निष्काम-प्राकृत विषयभोग की कामना से रहित-श्रोत्रिय-मुक्त पुरुष को स्वाभाविक ही प्राप्त है।"

महर्षि याज्ञवल्क्यजी महाराज जनक से कह रहे हैं—"राजन्! यह जो ब्रह्मलोक का-परब्रह्म परमात्मा का-आनन्द है यही वास्तव में ब्रह्मलोक है। यही निरतिशय आनन्द है यही आनन्द की पराकाष्ठा है। यह जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष को स्वाभाविक प्राप्त होता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर महाराज जनक परम प्रमुदित हुए, उन्होंने कहा—"हे षडैश्वर्य सम्पन्न भगवन! आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की मैं श्रीमान् को इसके उपलक्ष्य में एक सहस्र (गौएँ अथवा सुवर्ण मुद्रायें) अर्पण कर रहा हूँ। कृपा करके अब आगे भी आप मुझे मोक्ष सम्बन्धी उपदेश करें।" राजा के पुनः ऐसा कहने पर महर्षि याज्ञवल्क्यजी भयभीत हो गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मोक्ष सम्बन्धी प्रश्न तो बहुत ही उत्तम है। इससे भयभीत होने का कारण क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! याज्ञवल्क्यजी में उत्तर देने की सामर्थ्य न रही हो, अथवा वे इस विषय मे अधिक न जानते हों, इसलिये उत्तर देने मे भयभीत नहीं हुए। उन्होंने सोचा यह, कि यह राजा बडा मेधावी है, इसकी बुद्धि अत्यन्त ही तीक्ष्ण है, यह एक-एक प्रश्न करते-करते मोक्ष सम्बन्धी सभी विज्ञान को आज ही पूछ लेगा। प्रत्येक उत्तर पर तो यह मुझे दक्षिणा देता जाता है और फिर आगे प्रश्न भी करता जाता है। इस प्रकार तो यह अपने समस्त प्रश्नों के निर्णय पर्यन्त मुझे यहाँ रोके रखेगा। इसने तो मुझे प्रश्न रूपी रज्जु से बाँध लेने का संकल्प-सा कर लिया हो ऐसा प्रतीत होता है। अस्तु अब तो मैं इसे वर दे ही चुका हूँ, कि यह जो प्रश्न करेगा, उसका मैं उत्तर दूँगा ही। यही सोचकर वे राजा के पुनः प्रश्नों का उत्तर देने के लिये उद्यत हुए। अब आगे मृत्यु के सम्बन्ध मे जैसे राजा को याज्ञवल्क्यजी बतावेंगे उस प्रसङ्ग का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सौ पितरनि आनन्द एक गन्धर्व अनन्दा।
सौ गन्धर्व अनन्द एक सम करम देवता॥
करमदेव सौ सरिस एक नित देव अनँद है।
सौ देवनि आनन्द प्रजापति एक सरिस है॥
सौ आनन्द प्रजापतिहिँ, ब्रह्मलोक आनन्द सम।
वही परम आनन्द है, श्रोत्रिय कूँ सो नित्य सम॥

मृत्यु-मीमांसा

[२५०]

तद् यथानः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ३ ब्रा० ३५ म०)

छप्पय

स्वप्न लोक सुख भोगि जागरित में पुनि आवै ।
मरन समय रव करत दवे छकड़ा सम जावै ॥
जरा रोग कृश भये पके फल सम गिरि परिकें ।
अन्य योनि महँ जाइ देह अङ्गनि तैं छुटिकें ॥
नृपति आगमन प्रतीच्छा, करत उग्र सूत हु पुरुष ।
त्यों ज्ञानी की प्रतीच्छा, करत जीव सबई हरषि ॥

जीवन और मरण ये दोनों क्रियायें ध्रुव हैं। एक दूसरी की पूरक हैं। जो जनमा है, वह अवश्य मरेगा और जो मरा है वह अवश्य जन्म लेगा। ऐसा कभी सभव ही नहीं कि जन्म लेने

---

* जैसे अधिक बोझ से लदा हुआ छकडा अपने पूर्व देश को छोडकर चलता है उसी प्रकार इस शकट स्थानीय शरीर मे रहने वाला आत्मा प्राज्ञानात्मा से अधिष्ठित होकर पूर्व शरीर को छोड़कर शब्द करता हुआ जाता है, वही उर्ध्वोच्छ्वास छोडने वाला होता है।

वाला मरे नहीं और मरने वाला जन्म न ले। जन्म के साथ ही मरण निश्चित हो जाता है। जब मरना ध्रुव है, निश्चित है, तो लोग वाग मरने से डरते क्यों हैं ? और मृत्यु को भुला देना क्यों चाहते हैं ? इसी का नाम मोह है। मोह क्यों होता है ? यह जो जन्म-मरण का ज्ञान है, उस ज्ञान को अज्ञान ढक लेता है। अज्ञान क्या ज्ञान से अधिक बलवान् है, जो ज्ञान को ढक लेता है ? हाँ, शरीर सयोग से अज्ञान बलवान बन जाता है। विषय, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण और पूर्ववासना युक्त कर्मों के कारण ज्ञान कुछ शिथिल पड़ जाता है। अहंकार पुरुष को विमूढ़-सा-अज्ञानी-सा बना देता है। ज्ञानावस्था में तो जीव को भान रहता है, सब कुछ करने कराने वाले परमात्मा ही हैं। वे ही हृदय प्रदेश में स्थित होकर प्राणियों को नाच नचाते रहते हैं। जैसे कठपुतलियों को नचाने वाला अपने हाथ में सूत्र को लेकर जिस कठपुतली को जैसे चाहता है वैसे नचा लेता है। नाचने में कठपुतलियों का पुरुषार्थ नहीं। जिसके हाथ मे कठपुतलियों का सूत्र है, उस सूत्रात्मा के संकेत पर ही कठपुतलियाँ नाचती हैं। इसी का नाम ज्ञान है, जब तक जीव को यह ज्ञान बना रहता है, तब तक वह बन्धन मे नहीं बँधता, जन्म मरण के चक्कर मे नही फँसता। सब कुछ करता हुआ भी वह संसार बन्धन से परे ही बना रहता है। क्योंकि वह कर्ता कारयिता सूत्रात्मा पुरुष को ही मानता रहता है। जब इस ज्ञान को अज्ञान दबा लेता है। अहंकार का पलड़ा भारी हो जाता है। अहंकार के कारण जब वह विमूढ़ात्मा बन जाता है, तब सूत्रात्मा को कर्ता न मानकर अपने को ही कर्ता मान बैठता है। तो जो कर्ता होगा, वह कर्मों का फल भी भोगेगा। इसीलिये कर्ता मानने से कर्म बन्धनों मे बँध जाता है। अज्ञान का पहिला लक्षण यही है मृत्यु को भूल जाना और

संसारी कर्मों में आसक्त हो जाना। अज्ञान के वशीभूत होकर मुझे मरना है, इसे भूलकर आज मुझे यह करना है, कल यह करना है। करना है, करना है, इसी को सदा रटता रहता है। इसी से मकड़ी की भाँति जाला बनाकर स्वयं उसमें फँस जाता है। जिसे इस बन्धन से छूटना हो, उसे नित्य इस बात का स्मरण रखना चाहिये हमें एक दिन अवश्य मरना है, हम कर्ता नहीं कर्ता तो केवल कर्तार श्रीकृष्ण ही हैं। इसीलिये किसी कवि ने कहा है—

द्वै बातनि कूँ भूलि मति, जो चाहै कल्यान।
नारायन इक मौतिकूँ, दूजे श्रीभगवान॥

मनुष्य को सदा मृत्यु याद रहे तो उससे पाप बन ही नहीं सकते। क्योंकि पाप पुरुष जीने के ही लिये करता है। प्राणों को सदा बनाये रहने को ही पाप करता है। इसीलिये तो असुर लोग घोर तपस्या करके भी यही वर माँगा करते हैं 'मैं कभी मरूँ नहीं'। जो प्राणों को ही सर्वस्व समझकर उनमें रमण करना चाहते हैं वे ही असुर हैं। इसीलिये मोक्षपथ के पथिक को मृत्यु के सम्बन्ध में सब कुछ जान लेना चाहिये। यही मोक्ष मार्ग का पाथेय है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने मोक्ष के लिये और उपदेश करने के निमित्त महर्षि याज्ञवल्क्यजी से प्रार्थना की तब राजा को उपदेश करते हुए वे कहने लगे—"राजन्! यह पुरुष जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था में जाता है, स्वप्नावस्था से सुषुप्ति में जाता है, सुषुप्ति से पुनः स्वप्नावस्था में आकर पुण्य पापों के अनुसार रमण-विहार करता है। स्वप्न में दुःख तथा सुखों का अनुभव करता है। वहाँ दुख-सुखों का

अनुभव करके जिस मार्ग से स्वप्नावस्था में गया था, उसी मार्ग से पुनः जागरित-अवस्था मे लौटकर आ जाता है। इस प्रकार जाग्रत अवस्था मे भी वह नाना भोगों को भोगता रहता है। भोगों को भोगते-भोगते जब इसके मरने के दिन आ जाते हैं, तब यह शब्द करता हुआ, दीर्घश्वास छोड़ने लगता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मरते समय पुरुष ऊर्ध्वोच्छ्वास क्यों छोड़ता है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! उस समय वह कर्मों के बोझ से दब-सा जाता है। दबने से ही ऊर्ध्वच्छवास छोड़ने लगता है। जैसे कोई छकड़ा है। उसमें आवश्यकता से अधिक घर की खाद्य सामग्रियों को अथवा अन्य सामानों को भर दो तो जब वह पूर्व देश का परित्याग करके चलने लगता है, तो भारी बोझ के कारण चीं चीं शब्द करता हुआ चलता है। इसी प्रकार जीवात्मा का यह शरीर शकट-छकड़ा-के ही समान है। भगवान् इस शकट के सारथी हैं। उन प्राज्ञात्मा-परब्रह्म परमात्मा-से अधिष्ठित होकर -उनसे सम्बन्ध विशेष को पाकर-पूर्व शरीर को छोड़ता है, तो दूसरे शरीर में जाने के समय आर्त शब्द करता हुआ ही जाता है। ऊर्ध्वश्वास-मरते समय जो हुचकी आती हैं, वे शब्द ही मानो देह रूपी शकट का शब्द है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मरते समय मनुष्य लम्बी स्वाँस लेकर छटपटाता क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! नख से लेकर शिखा पर्यन्त सभी स्थानों मे प्राण व्याप्त रहता है। मरते समय वह मर्म स्थानों को छेदन करके बाहर निकलता है, उस समय असह्य वेदना होती है। उस दुःख से ही व्याकुल होकर छटपटाता है। वात, पित्त तथा कफ के कुपित हो जाने से कंठ में कफ भरकर रुक

जाता है। जिससे मरते समय पुरुष अचेत हो जाता है, उसे ज्ञान नहीं होता। स्वाँस ऊपर की ओर चलने लगती है। उस समय ज्ञान रहता नहीं। अतः मरने से पहिले ही शुभ कर्म करके मृत्यु को जीत लेना चाहिये। मृत्यु के समय तो किसी परमज्ञानी विरले को ही ज्ञान बना रहता है, उसे मृत्यु समय में कष्ट नहीं होता।"

शौनकजी ने पूछा—"ऊर्ध्व उच्छ्वास होता क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! कोई भवन है, बहुत दिन पहिले का बना है। अधिक समय हो जाने के कारण उसमें लगीं लकड़ियाँ सड़ जाती हैं, लोहा गल जाता है। ईंटे सारहीन निर्बल बन जाती हैं। गारा, चूना सत्वहीन होकर धँसक जाता है, भवन गिर जाता है धराशायी हो जाता है। अथवा नये बने भवन पर बिजली गिर पडती है, भूचाल आने से नींव हिल जाती है तो भी वह गिर जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी एक भवन ही है। हड्डियाँ लकड़ी के खंभे हैं, स्नायु-नस-नाड़ियाँ बाँधने के तार हैं, मांस रक्त चूना गारा है, चमड़ा भवन के ऊपर की सफेदी लहेसन है। मुख शिर-पेट आदि कोठरियाँ हैं नौ छिद्र झरोखे हैं। ऐसा यह भवन वृद्धावस्था के कारण-अधिक समय तक चलने के कारण-गल जाता है। बूढ़े मनुष्यों की हड्डियाँ ऐसी गल जाती हैं, कि हाथ से भी बलपूर्वक मसल दो चुर्र मुर्र होकर टूट जाय। अथवा ज्वरादि रोगों से भी भीतर ही भीतर सूखकर कृश हो जाता है। अग्नि मंद हो जाने से रस का परिपाक उचित मात्रा में नहीं होता, तो हाथ, पाँव आदि अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। वृद्धावस्था के कारण अथवा रोगों के कारण ही साँस फूलने लगती है-पुरुष ऊर्ध्व-उच्छ्वास लेने लगता है। तब प्राण निर्बल हो जाते हैं-शक्ति क्षीण होने लगती है। जैसे आम का,

गूलर, पीपर अथवा वट का वृक्ष है, उसमे लगे फल जब पक जाते हैं तो अपने आप डाली के बन्धन को छोड़कर चू पड़ते हैं, स्वतः ही नीचे गिर जाते हैं। पेड़ में रोग लग जाने पर भी उसके कच्चे फल भी गिर जाते हैं। ऐसे ही वृद्धावस्था के कारण अथवा रोगों के कारण प्राण और इन्द्रियों सहित पुरुष पककर गिर जाता है। जैसे प्राण इन्द्रियों सहित इस शरीर में आया था, वैसे ही इसमे से निकलकर अन्य देह का निश्चय करके उसमें चला जाता है। यह शरीर धराशायी भवन के सदृश मृतक होकर भूमि पर निर्जीव निष्प्राण बना पड़ा रहता है। यदि जीव अज्ञानी है, तब तो अन्य योनियों मे चला जाता है। यदि वह ब्रह्मविद् है। उसने ज्ञानार्जन करने के अनन्तर शरीर का परित्याग किया है, तो समस्त प्राणी उसके स्वागत की प्रतीक्षा करते हैं। सभी उसका नाना उपहारों से अभिनन्दन करते हैं। इस विषय में राजा का दृष्टान्त देते हैं।

जैसे कोई प्रतापशाली राजा है। वह अपने राज्य के निरीक्षणार्थ भिन्न-भिन्न ग्रामों में नगरों मे जाता है, तो उसके आगमन को सुनकर ग्राम मे रहने वाले चाहे उग्र जाति के हों, सूत मागध बन्दी हों, अथवा ग्राम के नेता हो, सभी राजा के स्वागत के लिये नाना उपहार लेकर खड़े रहते हैं। कोई फूल माला लिये रहता है। कोई दूध, दही, घृत, मधु तथा अन्नों का प्रबन्ध करते हैं। कोई अपने भवनो को लीप-पोत करके स्वच्छ बनाकर खाली कर देते हैं कोई डेरा, तम्बू लगा देते हैं। जिसकी जैसी सामर्थ्य होती है अपनी सामर्थ्य के अनुसार राजा का स्वागत करते हैं। बड़ी उत्सुकता से राजा के आने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसी प्रकार कर्म फलवेत्ता ब्रह्मज्ञानी जब शरीर परित्याग करके परम स्थान को जाता है तो सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त

संभ्रम के साथ–महान् उत्सुकता के साथ–कहते हैं—"देखो, यह ब्रह्मविद् पुरुष आ रहा है, यह ब्रह्मवेत्ता पधार रहा है।" इस प्रकार कहते हुए उसके आगमन की प्रतीक्षा करते रहते हैं। क्योंकि वह समदर्शी सभी प्राणियों की प्रिय आत्मा के रूप में हो जाता है। सभी उससे समान रूप से प्यार करने लगते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब प्राणी इस शरीर का परित्याग करके दूसरे शरीर मे जाता है, तो उस समय इसके साथ और कौन-कौन जाते हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! शरीर मे यह जीवात्मा ही तो मुख्य है जब जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर मे जाने को उद्यत हो जाता है–जाने लगता है–तब समस्त प्राण, समस्त इन्द्रियाँ तथा अधिष्ठातृदेव इसका अनुगमन करने लगते हैं। दृष्टान्त मे यों समझो जैसे कोई राजा किसी नगर मे आया। कुछ दिन वहाँ रहा। जब वह वहाँ से दूसरे नगर के लिये चलने लगता है तो उसके पीछे-पीछे उसके सेवक सचिव, ग्राम के नेता लोग, उग्रकर्मा, पाप कर्म में नियुक्त सूत एव अन्य प्रजा के लोग चलने लगने हैं, उसका अनुगमन करते हुए जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्रुति में बार-बार उग्रकर्मा, पाप कर्म मे नियुक्त सूत तथा ग्रामण्य शब्द आये हैं, ये ही लोग राजा के आने पर उसकी प्रतीक्षा और जाने पर उसका अनुगमन करते हैं यह क्यों कहा गया? राजा का स्वागत और अनुगमन तो सभी लोग करते हैं यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! राजा का अभिनन्दन और अनुगमन तो सभी प्रजाजन करते हैं, किन्तु ये तीन प्रकार के लोग विशेष रूप से राजा के आने की प्रतीक्षा करते हैं। इनमें दो तो

राजसेवक हैं एक प्रजाओं के प्रतिनिधि हैं। राजा के आने पर राजसेवकों को तो उनका प्रबन्ध करना ही चाहिये।"

प्राचीन काल में चार वर्ण होते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण तो क्षत्रियों के पूज्य होते थे। ब्राह्मणों से न किसी प्रकार का कर ही लिया जाता था और न बड़े से बड़ा अपराध करने पर उन्हें प्राण दण्ड ही दिया जाता था। अत्यन्त घोर अपराध करने पर राजा लोग ब्राह्मण को देश से चले जाने को कह देते थे। ब्राह्मण का क्षत्रिय स्वयं सम्मान करते थे। उनकी गणना प्रजा के लोगों में नहीं होती थी।

अब रहे क्षत्रिय सो क्षत्रिय स्वयं ही राजा होते थे। भूमि के स्वामी क्षत्रिय ही माने जाते थे। क्षत्रिय चाहे एक ग्राम का राजा हो चाहे लाख ग्राम का, जाति सम्बन्ध से वे समान ही माने जाते थे। अतः क्षत्रियों की गणना भी प्रजा के लोगों मे नहीं होती थी। अब शेष रह गये वैश्य, शूद्र और वर्णसंकर। ये तीन ही प्रजाजन माने जाते थे। इन प्रजाजनों में वैश्य सबसे श्रेष्ठ प्रजाजन हैं। इसलिये वे श्रेष्ठ, सेठ, चेट्ट या चेट्टी कहलाते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये नौकरी नहीं करते थे। राजा की नौकरी करने वाले वर्णसंकर या शूद्र ही होते थे। चर (पुलिस) विभाग मे उग्रजाति के ही लोग होते थे। ब्राह्मण को चार वर्ण की क्षत्रिय को तीन वर्ण की, वैश्य को दो वर्ण की और शूद्र को एक ही वर्ण की कन्या से विवाह करने का अधिकार था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पहिले अपने वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर लें, तब फिर चाहे तो दूसरे वर्ण की कन्या से भी विवाह कर सकते थे। अपने वर्ण की स्त्री 'धर्मपत्नी कहलाती थी। शेष उपपत्नियाँ कहलाती थीं। अपने वर्ण की पत्नी में जो सन्तानें होगीं वे ही पिता के वर्ण की मानी जायँगी। उपपत्नियों से

जो सन्तानें होंगीं, वे या तो माता की जाति की मानी जायँगी या पिता और माता के बीच की जाति। उपपत्नियों की सन्तानें अनुलोम संकर वर्ण की होती हैं। अनुलोम वे संकर जातियाँ कहलाती हैं जिनका पिता तो उच्च वर्ण का हो और माता उस से हीन वर्ण की हो। जैसे ब्राह्मण से क्षत्रिय वैश्य, अथवा शूद्र जाति की पत्नियों मे, क्षत्रिय से वैश्य, शूद्र पत्नियों में और वैश्य से शूद्र पत्नी मे जो होंगे वे सब अनुलोम जाति के होंगे। दूसरे विलोम या प्रतिलोम संकर होते हैं। माता तो उच्च वर्ण की हो उससे हीन वर्ण का पिता हो। जैसे क्षत्रिय से ब्राह्मणी मे उत्पन्न, वैश्य से क्षत्रिय तथा ब्राह्मणी मे उत्पन्न शूद्र से वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण कन्या मे उत्पन्न। ये अनुलोम सकरों से नीच माने जाते थे।

हाँ, तो क्षत्रिय से जो शूद्रा कन्या मे उत्पन्न हो उसे उग्र जाति वाला कहते थे इस संकर जाति वाले क्षत्रिय और शूद्र के स्वभाव से युक्त होने से क्रूर आचरण और क्रूर विहार करने वाले उग्रकर्मा होते थे। राजाओं की सेनाओं मे चरों (पुलिस विभाग मे) प्रायः ये ही नौकर रखे जाते थे। क्षत्रिय से ब्राह्मण कन्या मे जो उत्पन्न होते थे, वे सूत कहलाते थे। राजाओं की स्तुति करने का, पौराणिक कथा कहने का काम ये करते थे। राजाओं के मंत्री भी ये ही होते थे, रथ हाँकने का काम भी ये करते थे। सूत जाति वाले उपक्षत्रिय ही माने जाते थे।

वैश्य से ब्राह्मण कन्या मे जो होते थे वे मागध कहलाते थे। ब्राह्मणों, क्षत्रियों से वैश्या, शूद्रा कन्या मे उत्पन्न कायस्थ कहलाते थे। राज्य के छोटे से लेकर बड़े-बड़े पदों पर ये ही नियुक्त होते थे। यहाँ जो उग्र, सूत और ग्रामण्य इन तीन का इसलिये वर्णन आया कि उग्र तो वे सैनिक जो चर कार्यों मे राजा की ओर

से नियुक्त होते थे। सूत वे जो पापियों को दंड देने में न्यायाधीश कार्य में--नियुक्त थे। और ग्रामण्य या श्रेष्ठ ग्राम के उन धनिकों को कहते हैं जो ग्राम के मुखिया हों वे राज्य की समस्त प्रजा के प्रतिनिधि माने जाते थे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि समस्त राज्य कर्मचारी तथा समस्त प्रजा के जन राजा के आने पर उसका उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते थे, तथा उसके जाने पर उसका अनुगमन करते थे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने मृत्यु सम्बन्धी मीमांसा कही। अब आगे मरणोन्मुख जीव की क्या दशा होती है, इसका वर्णन आगे किया जायगा।"

छप्पय

नृपति नगर तैं विदा होइ सेवक आ जावैं।
दल पुलिसनि के उग्र सबहि अभिमुख है आवैं॥
पाप करम में नियुत श्रेष्ठि मुखिया सजि-बजि कें।
नृप के पीछे चलें विदा वेला में मिलि कें॥
त्यों ही तनु तजि जीव जिह, अन्तकाल में जाइ जब।
आत्मा अभिमुख प्राण सब, साथ साथ ही जाइँ तब॥

इति बृहदारण्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में तीसरा ज्योति ब्राह्मण समाप्त।

—०—

मरते समय जीव की दशा

[२५१]

स यत्रायमात्मात्रल्यं न्येत्य सम्मोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्रा समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ४ ब्रा० १ म०)

छप्पय

मरन काल महँ पुरुष होइ मूर्छित शीतल अँग ।
सहित वासना हिये माहिँ आवै इन्द्रिनि सँग ॥
विषय ज्ञान नहिँ रहै रूप रस अनुभव नहिँ करि ।
मन, त्वक, रसना, घ्राण, वाक, श्रोत्रहु अकाज फिरि ॥
दश द्वारनि में एक तै, निकसै बाहिर जीव जब ।
साथ प्रान इन्द्रिय निकसि, जाइँ ज्ञान, धी, करम सब ॥

---

* यह जो जीवात्मा है, जिस समय निर्बलता को प्राप्त होकर के सम्मोह को प्राप्त हो जाता है। तब वागादि इन्द्रियाँ इसके सम्मुख आ जाती हैं। वह इन तेजोमात्र इन्द्रियों को हृदय मे ही धारण करता है। यह चाक्षुष म्रियमाण पुरुष जहाँ रूपादि से पराङ्मुख होता हुआ हृदय देश मे लौट आता है। तब वह रूप कौन पहिचानने वाला होता है।

लोक में एक कहावत है जिसे विषयों में भली भाँति फँसना हो, वह सौ बरातों में चला जाय और जिसे संसार से वैराग्य प्राप्त करना हो वह सौ मरने वालों के कृत्यों में सम्मिलित हो।" विवाहों में स्त्री तथा पुरुषों में जो सरसता का संचार होता था, वह चिरकाल तक भुलाया नहीं जा सकता था। अब तो काल क्रम से विवाह एक लीक पीटने की प्रथा मात्र रह गये हैं। जिन दिनों विवाह एक परम मंगल कृत्य-सबसे अधिक प्रसन्नता के पर्व-माने जाते थे, उन दिनों महीनों पहिले से गीत वाद्य, नृत्य आरम्भ हो जाते थे। आज तेल चढ़ाने का पर्व है, आज हल्दी है, आज कंकण है। स्त्रियों की टोलियों की टोलियाँ आ आकर विवाह के महीनों पहिले मंगल गीत गाती थीं। नाचती थीं, उत्सव मनाती थीं। अपने सगे सम्बन्धी, दूर-दूर के सम्बन्ध की बहिन, भतीजियाँ अपनी ससुराल से बुलायी जाती थीं। नित्य आस पास के गाँवों से चाव आती। कोंमरी, खीकरी, पूड़ियों की भर मार रहती, सम्बन्धियों का जमघट जुड़ता। सभी मिलकर बरात में जाते। उधर भी सम्बन्धी जुटते। कई दिनों तक बरात टिकती। स्त्रियाँ भाँति भाँति की गालियाँ गातीं। गाँव भर की लड़कियाँ, स्त्रियाँ, बरातियों से हँसी विनोद करतीं। वर पक्ष के बराती चाहें जिससे हँसी ठट्ठा करें सबको छूट थी। विवाह में चारों ओर ऐसी सरसता छा जाती कि अच्छे अच्छे लोगों के भी मन विचलित हो जाते। ऐसे सरसता के वातावरण में विषय वासनामय ही मन बन जाता था। इसीलिये परमार्थ पथ के पथिक को कभी भूलकर भी बरातों में नहीं जाना चाहिये। उसे मरने वाले पुरुषों के समीप, मृतक के अन्तिम संस्कारों में-श्मशानादि में-जाना चाहिये। वहाँ जाने से वैराग्य की वृद्धि होती है।

मरते समय मनुष्य की कैसी दयनीय दशा हो जाती है। मृत्यु से पूर्व ही मुख मडल पर मृत्यु के पूर्व लक्षण स्पष्ट दिखायी देने लगते हैं। नाक टेढ़ी हो जाती है, आँखें निस्तेज बन जाती हैं। कानों से सुनायी नहीं देता। घर वाले चिल्लाकर पूछते हैं—"कुछ खाओगे ?" कुछ कहना तो नहीं है, किसी का कुछ लेना देना तो नहीं है ?" देने का तो नाम है, उनके पूछने का अभिप्राय यही है, कुछ छिपाकर रखा हो, तो बता दो। शरीर की नाडियो मे से प्राण खिचते हैं, महान् कष्ट होता है, ऊर्ध्वस्वाँस चलने लगती है, मुख से वाणी नहीं निकलती बोलने की इच्छा होने पर बोल नहीं सकते। समीप में खड़े सगे-सम्बन्धियों को पहिचान नहीं सकते। आँखें फटी की फटी रह जाती हैं। कण्ठ में कफ हिटकने से स्वाँस लेने मे महान् कष्ट होता है। पैरों को पटकता है, इधर से उधर करवट बदलता है। न बैठा ही जाता है न लेटा ही जाता है। मुमुर्षु पुरुष के अन्तिम समय के कष्ट को उसके अतिरिक्त दूसरा कोई अनुभव कर ही नहीं सकता। उसकी उस दशा को देखकर संसार से कुछ ही क्षण को सही वैराग्य होता है। तब स्मरण आता है एक दिन हमे भी मरना है। फिर उस मृतक देह को स्मशान मे ले जाकर जलाते हैं। जिसे सुन्दर, स्वच्छ, चिकनी चुपड़ी बनाये रखने को न जाने कितने अग राग लगाये थे, कितने सुगधित तैल मले थे, उस शरीर को चिता में रख देते हैं। धू-धू करके चिता जलने लगती है, अग भस्म होने लगते हैं देखते ही देखते इतने लम्बे चौड़े शरीर की एक मुट्ठी भस्म हो जाती है। कुछ दिन लोग नाम लेते हैं, फिर उसे भी भूल जाते हैं। जिन्होने जन्म लिया है उन सबकी यही दशा होने की है। अतः मृत्यु को सदा स्मरण करो। *मरणोन्मुख पुरुष की दशा को देखकर संसार से वैराग्य करो।*

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महर्षि याज्ञवल्क्यजी महाराज जनक को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"राजन् ! यह जो जीवात्मा है, वृद्धावस्था के कारण, रोगों के कारण अथवा शाप तथा अभिचारादि कर्मों के कारण जब दुर्बल हो जाता है, तब वह मानो सम्मोह को प्राप्त हो जाता है। तब ये वाणी आदि प्राण के आधार भूत इन्द्रियाँ इसके सम्मुख आती हैं। तब यह जीवात्मा इन इन्द्रियों की तेजोमात्रा को भली-भाँति ग्रहण करके हृदय प्रदेश में ले जाकर अभिव्यक्त करता है। अर्थात् इन इन्द्रियों के सूक्ष्म रूप को हृदय में धारण कर लेता है। जब यह चाक्षुस जीव इस पहिले शरीर का परित्याग करके दूसरे शरीर में जाना चाहता है, तो इस शरीर को परित्याग करने वाला-मरने वाला-मुमुर्षु शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से पराङ्मुख होता हुआ हृदय प्रदेश में लौटता है, तब यह रूपादि ज्ञान से शून्य हो जाता है। उस समय समस्त इन्द्रियाँ इस लिङ्गात्मा पुरुष से एक रूप हो जाती हैं। चक्षु, घ्राण, रसना, वाणी, श्रोत्र, त्वचा, मन तथा बुद्धि ये जब सब की सब लिङ्गात्मा पुरुष से एक रूप हो जाती हैं। तब लोग कहने लगते हैं—"अजी, यह मरने वाला-मुमुर्षु-देखता नहीं, सूँघता नहीं, चखता नहीं, बोलता नहीं, सुनता नहीं, मनन नहीं करता, स्पर्श नहीं करता, जानकर दृढ़ निश्चय नहीं करता। वह जीवात्मा शरीर के दश द्वारों में से किसी एक द्वार से निकलने का निश्चय कर लेता है। जिस द्वार से जाने का निश्चय करता है, वह चाहे नेत्र, चक्षु, कर्ण तथा मुखादि सात द्वारों में से एक हो अथवा नीचे के मूल-मूत्र द्वारों में से कोई हो या मूर्द्धा में बन्द दशम द्वार हो, जिस मार्ग से जाना चाहता है वह अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है और उसी द्वार से बाहर निकल जाता है।

उसके बाहर निकलने पर प्राणाधीन समस्त इन्द्रिय वर्ग उसके पीछे-पीछे उसका अनुगमन करते हैं। जब जीवात्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में जाने लगता है उस समय वह विशेष विज्ञानवान् होता है। अर्थात् उसे यह भली-भाँति ज्ञात रहता है, कि अब मुझे अमुक स्थान पर अमुक योनि में जाना है। इस-लिये यह इधर-उधर योनियों को खोजता हुआ भटकता नहीं। जिस योनि में जाना पूर्व से निश्चित होता है, उसी प्रदेश में जाकर उस योनि में प्रवेश करता है।

पीछे दृष्टान्त दे आये हैं, कि जैसे भार से लदा हुआ शकट-गाड़ा--चीं-चीं शब्द करता हुआ चलता है, गाड़ा को चलाने वाला जो गड़वाला होता है वह दूसरे स्थान को जाते समय खाने के लिये अचार, परामठे, लड्डू, सकलपारे आदि खाने की वस्तुयें -पाथेय-साथ बाँधकर ले जाता है। उसी प्रकार इस शरीर रूपी शकट का गड़वारा--यह जीवात्मा--अन्य योनि में भोगने के लिये-खाने के लिये--कुछ पाथेय बाँधकर ले जाता है। वह पाथेय क्या है ? वे तीन वस्तुएँ हैं। विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा। ये ही परलोक के पाथेय हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"विद्या क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! विद्या तीन प्रकार की होती है। विहित विद्या, अविहित विद्या तथा प्रतिषिद्धि विद्या। एक तो वेदादि शास्त्रों का अध्ययन यह विहित विद्या है दूसरे अन्य संसारी विषयों का अध्ययन अविहित विद्या है और नास्तिकों के ग्रन्थों का अध्ययन निषिद्ध या प्रतिषिद्ध विद्यायें, जैसी विद्या उसने पढ़ी होगी उसका ज्ञान जीव के साथ जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"कर्म क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जो क्रिया की जाती है उसे कर्म कहते

हैं। कर्म भी तीन प्रकार के होते हैं। विहित कर्म, अविहित कर्म, और विकर्म अथवा प्रतिषिद्ध निषिद्ध कर्म। विहित कर्म तो यज्ञ दान, तपस्यादि कर्म हैं। अविहित कर्म वे हैं जो यज्ञ के लिये किये हुए कर्मों से पृथक् हों। विषय सम्बन्धी लौकिक कर्म। निषिद्ध या प्रतिषिद्ध कर्म चोरी, हिंसा, धूतादि कर्म हैं। इन कर्मों के फल भी जीव के साथ जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"पूर्वप्रज्ञा क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! प्रज्ञा कहते हैं पिछले किये हुए कर्मफलों के अनुभव को। अर्थात् पिछले जन्मों में हमने ये ये कर्म किये थे, उनके हमें ये-ये फल भोगने पड़े। यह पूर्व अनुभव सम्बन्धिनी प्रज्ञा भी जीव के साथ-ही-साथ जाती है, जीवात्मा तब तक गर्भ में रहता है, तब तक विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा का उसे ज्ञान रहता है। पैदा होने पर-संसार में आते ही--इन सब बातों को भूल जाता है। किसी-किसी को किसी कारणवश पूर्वजन्म की स्मृतियाँ बनी भी रहती हैं। पूर्वप्रज्ञा-अर्थात् अतीत के कर्म फलों की वासना ही आने वाले कर्मों के आरम्भ करने में और कर्म विपाक में अंगभूता होती है। पूर्व वासना द्वारा ही ये कर्मों को करता है तथा उन कर्मों के फलों को भोगता है। जैसी जिसकी पूर्वजन्म की वासना होती है, उस वासना के अनुसार ही कर्मों में प्रवृत्ति होती है। एक व्यक्ति है वह आरम्भ से ही कला कौशल में बड़ा पटु होता है। तनिक से संकेत से-देखने मात्र से ही उसे कला-कौशल का ज्ञान हो जाता है। दूसरा अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी उसे सीखने में समर्थ नहीं होता। इसमें पूर्वप्रज्ञा--कर्म फलानुभव की वासना--ही मुख्य कारण है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मान लो-एक मनुष्य है, मर-

कर उसे घोड़ा की योनि में जाना है, तो वह कैसे जायगा। मनुष्य से सहसा घोड़े के सस्कार उसमे कैसे आ जायँगे।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा के अनुसार जीव पहिले स ही मानसिक रचना कर लेता है। जैसे स्वप्न मे शरीर तो शेया पर पडा रहता है, इन्द्रियाँ प्रसुप्त रहती हैं। जीवात्मा स्वप्न का शरीर निर्माण करके स्वप्न क पदार्थों का भी अपने आप ही निर्माण कर लेता है। इसी प्रकार दूसरे शरीर मे जाने के पूर्व ही जाने वाले देह के सस्कार उसके मन मे निर्मित हो जाते हैं। रहता ता पहिले ही शरीर मे है, किन्तु मरने के पूर्व जाने वाली योनि के विषय मे सस्कारवश सोचता रहता है। मृत्यु क्या है? यह भी एक चिरनिद्रा की स्थिति है। अत्यन्त विस्मृत का ही नाम मृत्यु है। भाव यह हुआ कि मरने से पूर्व सस्कारों द्वारा वह जान वाली योनि में कुछ अशो मे चला जाता है। इस विषय मे तृणजलायुका—जोंक का—दृष्टान्त देते हैं। एक काड़ा होता है, जब वह एक तृण से दूसरे तृण पर जाता है, तो पहिले अपने आधे अग से जाने वाले तिनका को कसकर पकड लेता है, जब आगे वाले को पकड लेता है तब पीछे वाले शरीर के भाग का परित्याग करके अपने को सिकोड़कर पूर्णरूप स जाने वाले तृण पर चला जाता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा पहिले वासना से दूसरे शरीर में चला जाता है फिर शरीर को मारकर इसे अत्यन्त विस्मृत—आचेतनावस्था—मे करके दूसरे जाने वाले आधार का आश्रय लेकर पूर्ण रूप से उसमे चला जाता है। यह पूर्व का शरीर मृत बन जाता है। इसका उपसहार करके उसमें प्रविष्ट हो जाता है। जो पुण्यात्मा होते हैं वे पुण्य शरीर को प्राप्त होते हैं और जो पापात्मा होते हैं, वे पाप शरीर को प्राप्त करते हैं। योनियाँ कर्मानुसार ही प्राप्त होती हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इस मनुष्य शरीर से पितर, गन्धर्व, देवता प्रजापति तथा ब्रह्मादि के पुण्य शरीर कैसे प्राप्त होते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! ये सब परम पुण्यों के ही द्वारा प्राप्त होते हैं। यह आत्मा तो सर्वमय है न ? फिर भी कर्मों के अनुसार इस जीव को ऊँच-नीच योनियाँ प्राप्त होती हैं। इस विषय का विशेष विवेचन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जोंक पकरि तृन अन्य प्रथम तजि कें जावै भगि।
त्यों जीवात्मा द्वितिय देह प्रविसै प्रथमहिं तजि॥
मृतक प्रथम तनु होइ द्वितिय में तब पुनि जावै।
ज्यों सुनार लै कनक मलिन कूं नयो बनावै॥
ज्यों पुण्यात्मा पुरुष-तनु तजि नूतन शुभ तनु धरत।
पितर, देव, गन्धर्व, अज, प्रजापतिहिं तनु कूं भजत॥

१. भागवती कथा (१०८ खडो मे)—अब तक ९६ खण्ड छप चुके हैं। प्रत्येक खड की न्योछावर २ रु०।

श्रीमद्भागवत को उपलक्ष्य बनाकर इसमें अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रो का सार सरल, सुगम, सरस भाषा मे वर्णित है। पढते पढ़ते आपकी तृप्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा अपने आप ही पढने लगोगे। सर्वथा औपन्यासिक शैली मे लिखी है, भाषा इतनी सरल ओजपूर्ण है कि थोडे पढे बालक मातायें तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। अध्याय के आरम्भ मे एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छप्पय, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका। तदनन्तर प्रतिपादित विषय, दृष्टान्त और सरल कथाओ तथा कथोपकथन के रूप मे वर्णित है। अन्त मे एक छप्पय देकर अध्याय की समाप्ति की है। प्रत्येक खड मे १५-२० अध्याय होते हैं, लगभग दो सौ, ढाई सौ पृष्ठो का एक खड होता है। प्रत्येक खड का मूल्य २) रुपया। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत-सी जिला परिषदो के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है। ६८ खडों मे तो श्रीमद्भागवत के आधार पर विवेचन है ६९ वें खड से ८४ खड तक गीतावार्ता नाम से श्रीमद्भागवतगीता का विवेचन, खड ८५ से उपनिषद्-अर्थ २४) रु० भेजकर स्थायी ग्राहक बनें। वर्ष के १२ खड आपको घर बैठे रजिस्ट्री से मिल जाया करेंगे।

६० खडों में तो कथा भाग समाप्त हो गया है। शेष खडों में से प्रत्येक मे किसी एक विषय का विवेचन होता है। सभी खड प्रायः स्वतन्त्र हैं। विद्वानो नेताओ तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हमारा बडा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर बहुत से विद्वानों की सम्मतियाँ पढ़ें यह ग्रन्थ किसी का अक्षरशः अनुवाद नहीं स्वतन्त्र विवेचन है।

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यो मे)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दो मे लिखा है। सैंकडो सादे चित्र ५-६ बहुरगे चित्र हैं कपडे की सुन्दर जिल्द है, लगभग हजार पृष्ठों की पुस्तक का मू० ६ रु० ५० पैसे, पांच सस्करणो मे अब तक २३ हजार प्रतियां छप चुकी हैं। बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालयो के लिये स्वीकृत है।

३ भागवत चरित (सटीक दो भागो मे)—अनुवादक—प० रामानुज पाडेय, बी० ए० विशारद "भागवत चरित व्यास" भागवत चरित की सरल हिन्दी मे सुन्दर टीका हैं प्रत्येक खडो मे म ९०० सौ से अधिक पृष्ठ है, एक खड का २१) रु० दोनो खड ४२) डाक व्यय अलग।

४ बद्रीनाथ दर्शन—श्री बद्रीनाथ यात्रा पर यह बडा ही खोजपूर्ण ग्रन्थ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातो का तथा समस्त उत्तराखड के तीर्थों का इसमे वर्णन है। लगभग सवाचार सौ पृष्ठो की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपया। भारत सरकार द्वारा अहिन्दी प्रान्तो के लिये स्वीकृत है।

५ महात्मा कर्ण—महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण का यह अत्यन्त ही रोचक शिक्षाप्रद तथा आलोचनात्मक जीवन-चरित्र है। ३५६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ३ रु० ४५ पैसे।

६. मतवाली मीरा—मीराबाई के दिव्य जीवन की सजीव झांकी तथा उनके पदो की रोचक भाषा मे व्याख्या। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २ रु० ५० पैसे हैं। यह इसका छठा सस्करण है।

७. नाम सकीर्तन महिमा—नाम सकीर्तन के ऊपर जितनी भी शकायें उठ सकती हैं उनका शास्त्रीय ढङ्ग से युक्तियुक्त विवेचन है। मूल्य ६० पैसे।

८. श्रीशुक (नाटक)—श्रीशुकदेव मुनि के जीवन की दिव्य झांकी। पृष्ठ स० १०० मूल्य ६५ पैसे।

९. भागवती कथा की बानगी—भागवती कथा के खडों के कुछ

अध्याय बानगी के रूप मे इसमे दिये गये हैं। इसे पढकर आप भागवती कथा की शैली समझ सकेंगे। पृष्ठ १०० मू० ३१ पैसे।

१०. शोक शान्ति—अपने प्रिय स्वजनो के परलोक प्रयाण पर सान्त्वना देने वाला मार्मिक पत्र। शोक सतप्तो को सजीवनी बूटी है। पृष्ठ ६४ मूल्य ३१ पैसे। पचम सस्करण।

११. मेरे महामना मालवीयजी—महामना मालवीयजी के सुखद सस्मरण १३५ पृष्ठ की छोटी पुस्तक, मूल्य ३१ पैसे।

१२. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु पुनः हिन्दु बन सकते हैं, इस प्रश्न का शास्त्रीय ढङ्ग स प्रमाणो सहित विवेचन बडी ही मार्मिक भाषा मे किया गया है, वर्तमान समय मे जब विधर्मी अपनी सख्या बढा रहे हैं यह पुस्तक बडी उपयोगी है। पृष्ठ ७६ मूल्य ३१ पैसे।

१३. प्रयाग माहात्म्य—तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य पर ३२ पृष्ठ की छोटी-सी पुस्तक मूल्य २० पैसे।

१४. वृन्दावन माहात्म्य—श्रीवृन्दावन के माहात्म्य पर लघु पुस्तिका। मूल्य १२ पैसे।

१५. राघवेन्द्र चरित (छप्पय छन्दो मे)—श्रीरामचन्द्र जी की कथा के ९ अध्याय भागवत चरित से पृथक् छापे हैं। रामभक्तों को नित्य पाठ के लिये बडी उपयोगी है। पृष्ठ स० १६०। मूल्य ४० पैसे।

१६ प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि इसमे श्लोको सहित बताई है। श्लोको का भाव दोहाओं में भी वर्णित है। मूल्य २५ पैसे।

१७. चैतन्य चरितावली—महाप्रभु चैतन्यदेव की जीवनी। प्रथम खण्ड का मूल्य १ रु० ६० पैसे। अन्य खण्ड भी छपने वाले हैं।

१८. भागवत चरित की बानगी—इससे भागवत चरित के पद्यो की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसे।

छप्पय शतकत्रय

(श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

(राजर्षि भर्तृहरिजी के तीनो शतकों का छप्पय पद्यानुवाद)

सस्कृत भाषा का थोडा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पाश ही सही अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। सस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव मे यह ग्रन्थरत्न आज धीरे धीरे नवीन पीढी के लोगो के लिये अपरिचित सा होता जा रहा है। श्री ब्रह्मचारी जी महाराज जेसे समर्थ एव वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जेसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बडी प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एव भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ क पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान एव साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की इस पुस्तक का मूल्य २.५० मात्र।

लघुता

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ९७

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संस्करण १००० } जुलाई १९७२ कार्तिक सं०-२०२९ { मूल्य : २.५०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
संस्मरण (१६)	१
१. सर्वमय आत्मा की कर्मानुसार विभिन्न गतियाँ	२९
२. ब्रह्मवेत्ता का अनुत्क्रमण	३९
३. अज्ञानी की दुर्गति और ज्ञान प्राप्ति के साधन	५०
४. ब्रह्म और ब्रह्मज्ञ के स्वरूप का वर्णन याज्ञवल्क्य जनक सम्वाद समाप्त	५९
५. पुनः याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद	६९
६. ॐ खं ब्रह्म और उसकी उपासना	८१
७. प्रजापति का देव, मनुष्य और असुरों को 'द' शब्द से उपदेश	८८
८. हृदय सत्यादि ब्रह्मोपासना	९७
९. सत्य ब्रह्म संस्थान	१०७
१०. हृदयस्थ मनोमय तथा विद्युत् आदि में ब्रह्मोपासना	११५
११. अन्न प्राणरूप ब्रह्म की उपासना	१२८
१२. गायत्री रूप में ब्रह्मोपासना	१३७
१३. आदित्य और अग्निदेव से अन्त काल में प्रार्थना	१५४
१४. ज्येष्ठ-श्रेष्ठ दृष्टि से प्राणोपासना	१६१
१५. धन वैभव महत्त्व के लिये श्रीमन्थन कर्म और उसकी विधि	१७२
१६. सद्गुण सन्तान के लिये पुत्रमन्थ की विधि	१९५
१७. समस्त प्रवचन वंश वर्णन	२१५

संस्मरण

[१६]

(काशीजी का साधन आश्रम)

●

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० २ श्लो०)

छप्पय

सब स्वभाव तै विवश करैं करमनि स्वभाव वश ।
करनो हू नहिँ चहैं प्रकृति करवावै पर-वश ॥
जब करिबे में अवश दोष फिरि काकूँ देवैं ।
है प्रारब्ध अधीन विवश करमनि कूँ सेवैं ॥
तातैं साधै मौन व्रत, भलौ बुरौ कछु नहिँ कहै ।
लिखिबो जाको व्यसन वह, बिना कहे कैसे रहै ?

यह जीव स्वभाव से–प्रकृति से–प्रारब्ध कर्मों से–विवश है । जिसकी जैसी प्रकृति है, वह उससे विवश होकर कर्म करता है । मरते समय जीव के साथ जैसी उसने अच्छी बुरी विद्या पढी

---

* दूसरों के स्वभाव की या उनके कर्मों की जो कोई प्रशंसा करता है या निन्दा करता है, वह शीघ्र ही यथार्थ स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि जो असत्य वस्तु है उसमें अभिनिवेश करना उचित नहीं ।

हो, जैसे अच्छे बुरे कर्म किये हों उनके संस्कार तथा जन्मानुभूत विषयों की वासना-पूर्व प्रज्ञा-ये तीन वस्तुएँ उसके साथ साथ जाती हैं। पूर्वजन्मों में जो कुछ उसने किया है, उसके संस्कार बने रहते हैं, उन संस्कारों के अनुसार ही वह दूसरा जन्म लेते ही कर्म करने लगता है। जिसके चोरी करने के पूर्वजन्म के संस्कार हैं, वह इस जन्म मे भी चोरी ही करेगा। एक सम्राट् था उसके चोरी करने के सस्कार थे। वह दुकानों पर जाता, जो वस्तु अच्छी लगती व्यापारी की आँख बचाकर चुरा लाता। राज्य की ओर से सभी लोगों को-मन्त्रियों ने-आदेश दे रखा था, सम्राट् जिसकी जो वस्तु उठा लावे, वह उनसे कुछ भी न कहे। वह अपनी वस्तु का मूल्य राज्य परिषद् मे लिख भेजे, यहाँ से उसका मूल्य दे दिया जायगा। इसलिये जब सम्राट किसी की दुकान पर जाता, व्यापारी मुँह फेर लेते या किसी कार्य से भीतर चले जाते सम्राट् उस वस्तु को चुपके से छिपा लेते। वे समझते व्यापारी ने मुझे चुराते हुए देखा नहीं। इसी प्रकार पूर्वजन्मों के संस्कारानुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं और पूर्वजन्मों के संस्कारवश छुड़ाने पर भी वे नहीं छूटते।

मन्दोदरी ने रावण को समझाते हुए कहा था—"देखो, प्राणनाथ! आपको स्त्रियों की कमी नहीं। देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, विद्याधरों की सुन्दर से सुन्दर सहस्रों स्त्रियाँ आपके राजमहल में हैं। आप सीताजी के लिये इतना हठ क्यों कर रहे हैं? श्रीरामचन्द्रजी का बल अमित है। वे साधारण मनुष्य नहीं। मनुष्यों से न करने योग्य कृत्य उन्होंने किया है। सौ योजन समुद्र पर पुल बनाकर वे अपनी सेना के साथ इस पार लंका में आ गये हैं। आप उनसे व्यर्थ लड़ाई क्यों करना चाहते

हैं। आप जाकर सीताजी को उन्हें लौटा दें। इतने से ही सन्तुष्ट होकर वे लौट जायँगे। दोनों ओर के सैनिकों का संहार न होगा।"

रावण ने कहा—"यह तो राम के प्रति आत्मसमर्पण हुआ। उनके आगे नतमस्तक होना हुआ।"

मन्दोदरी ने कहा—"यदि आप कलह को शान्त करने के लिये तनिक नत हो गये, तो आपका क्या बिगड़ जायगा?"

रावण ने कहा—'यह मेरे स्वभाव के प्रतिकूल है। मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। मैं सूखी लकड़ी की भाँति बीच से टूट भले ही जाऊँ, किन्तु किसी के आगे नवना तो मैंने सीखा ही नहीं।"

मन्दोदरी ने कहा—"आप तो व्यर्थ में हठ करते हैं। आप राम के पराक्रम को जानते नहीं? सीता के सतीत्व से प्रतीत होता है आप अपरिचित हैं, तभी तो ऐसी बातें कह रहे हैं। आप युद्ध का परिणाम नहीं देखते?"

रावण ने कहा—"राम को मैं भलीभाँति जानता हूँ, इतना जानता हूँ, जितना तू भी न जानती होगी। राम रघुवंश नाथ साक्षात् विष्णु हैं। सीता से भी मैं परिचित हूँ, वह जनकनन्दिनी साक्षात् लक्ष्मी है। युद्ध का परिणाम भी मैं जानता हूँ, मेरी श्रीराम के ही हाथ मृत्यु होगी। इतना सब जानते हुए भी मैं सीता को कदापि नहीं लौटाऊँगा। राम के सम्मुख कभी नतमस्तक नहीं हूँगा।"

मन्दोदरी कहा—"जब आप सब जानते हैं युद्ध के परिणाम से भी आप परिचित हैं, तो फिर सीता को न लौटाने का इतना आग्रह क्यों कर रहे हैं?"

रावण ने कहा—"यह मेरे स्वभाव का दोष है। किसी के आगे नतमस्क होना मेरे स्वभाव के विरुद्ध है।"

मन्दोदरी ने कहा—"बुरे स्वभाव को तो बदलना चाहिये।"

रावण ने हँसकर कहा—"स्वभाव बदला नहीं जा सकता (स्वभावो दुरतिक्रमः)।

ऐसी ही बात श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने अर्जुन से कही थी—'देखो, अर्जुन! तुम चाहे ऐं करो, चाहें चें करो। युद्ध तुम्हें करना ही पड़ेगा। कौरवों से तुम्हें लड़ना ही पड़ेगा।"

अर्जुन ने कहा—"जब मैं भीख माँगकर जीवन निर्वाह करने को उद्यत हूँ, तो भी लड़ना क्यों पड़ेगा? मैं नहीं लड़ता, मेरी इच्छा।"

भगवान् ने कहा—"तेरी इच्छा से ही सब काम थोड़े ही होते हैं। पूर्वजन्मों के संस्कार प्राणियों को विवश करके इच्छा न रहने पर भी कार्य करा ही लेते हैं। यदि तू अहंकार के वशीभूत होकर ऐसा मान बैठे कि "मैं लड़ूँगा ही नहीं।" तो यह तेरा मिथ्या व्यापार है। भैया! तेरी प्रकृति तुझे बलात् युद्ध में प्रेरित करेगी। विवशता की बात दूसरी है स्वेच्छा से तू जीवन भर भिक्षा पर निर्वाह करके नहीं रह सकता। (प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति)

अर्जुन ने कहा—"कर्म करने में माधव! मैं स्वतन्त्र हूँ, जब मैं अस्त्र-शस्त्र लेकर लड़ूँगा ही नहीं तब कोई मुझे बलपूर्वक युद्ध में कैसे ले जा सकता है?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, एक ऐसा है, जो तेरी इच्छा न रहने पर भी तुझे बलपूर्वक युद्ध में ले जायगा और तुझसे युद्ध करा कर ही छोड़ेगा।"

अर्जुन ने कहा—ऐसा मुझसे भी बलवान् कौन व्यक्ति है?"

भगवान् ने कहा—"वह है, तेरा स्वभावजन्य प्रारब्ध कर्म। देख, भैया! तू ही नहीं समस्त प्राणी स्वभावजन्य प्रारब्ध कर्मों से बंधे हुए हैं। यदि तू मोह के वशीभूत होकर-अहंकार

वश–युद्ध करना भी नहीं चाहे, तो भी तुझे पूर्वजन्म के स्वभावानुसार विवश होकर युद्ध करना ही पडेगा। (करिष्यस्यवशोऽपितत्)।

इन सब उद्धरणों से यही सिद्ध होता है, कि मनुष्यों को दोष देना व्यर्थ है, सभी अपने स्वभाव के अनुसार–प्रारब्ध कर्मों के अनुसार–कर्म करने मे विवश हैं। चोर विवश होकर चोरी करता है, न्यायाधीश विवश होकर उसे दण्ड देता है। चोरी करना बुरा है इसे शास्त्र विवश होकर कहता है। अब बताइये दोष किसे दें? सभी तो विवश होकर कर्म कर रहे हैं। फिर हे लेखक महाशय! तुम व्यर्थ में सफेद कागदो को काले क्यों करते रहते हो? उसने ऐसा किया, वह ऐसा था, उसे ऐसा नहीं करना चाहिये था, तुम इन बातों को क्यों लिखा करते हो? तो भैया! इसका उत्तर यही है कि हम भी तो अपने स्वभाव से विवश हैं। विवश न होते तो भगवान् व्यास इतना बडा पोथा महाभारत क्यों लिखते? सब लोगों के कर्मों की आलोचना क्यों करते? यहाँ तक कि अपने पिताजी को भी नहीं छोड़ा, अपनी उत्पत्ति भी ज्यों की त्यों बता दी और अपने को कानीन (कन्या से उत्पन्न) भी बता दिया। इसलिये कि लेखक सत्य बात कहने को विवश है। इसलिये सबकी विवशता समझकर किसी के कर्मों की निन्दा नहीं करनी चाहिये। किन्तु करें क्या निन्दक भी विवश होकर ही निन्दा करता है, उस पर निन्दा किये बिना रहा नहीं जाता। किन्तु निन्दक निन्दित है और सत्य बात कहने वाला स्पष्टवादी है। स्पष्टवक्ता न निंदकः)

काशीजी के औरंगाबाद मुहल्ले के पीछे से एक छोटा सा कच्चा मार्ग जाता था। वह मार्ग सीधा काशी विद्या पीठ को चला जाता था। उसी मार्ग में एक बडा सुन्दर बगीचा और

उसमें बहुत ऊँचे पर एक भव्य कोठी थी। कभी उस मुहल्ले के एक धनिक सेठ का वह आमोद-प्रमोद भवन था, उसमें नृत्य गीतादि होते थे। उनके वंशवालों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय हो गयी। उन्होंने गुप्तरीति से कुछ मासिक भाड़े पर उसे हमें दे दिया। उसके सम्मुख एक तालाब था, मीठे पानी का सुन्दर कूआ था। बड़ा विस्तृत बगीचा था। हमारे लिये वह स्थान नगर से बाहर खुली वायु में ही उपयुक्त था। मुझे भारत धर्म महामंडल से स्यात् ३० या ४० रुपये मासिक मिलते थे। उसी में हम ५,६ आदमी निर्वाह करते। दिन में एक बार तो साधारण रोटी दाल या रोटी साग बन जाता। रात्रि में चना आदि से जल पीकर रह जाते।

हृदय में बड़ी-बड़ी भावनायें थीं। पूरे देश का उद्धार करने की कल्पना की थी। सोचा था जितने मिल सकें उतने आजीवन ब्रह्मचारी तैयार किये जायँ, जो देश के लिये, धर्म के लिये अपना सर्वस्व त्याग कर देश सेवा में ही लग जायँ। उसी भावना से बहुत छोटे रूप में उस आश्रम का सूत्रपात किया था। मिथिला से एक बड़ा उत्साही निरन्जन नाम का युवक आ गया। उसे रख लिया। पं० रामनारायण जी मिश्र उन दिनों हिन्दु महाविद्यालय के प्रधानाचार्य थे। वे हमसे अत्यन्त स्नेह रखते थे। उनसे कहकर उसे उनके यहाँ प्रविष्ट करा दिया। फिर क्रमशः उत्साही युवक आने लगे। इन्द्रजी, गोविन्दजी, चन्द्रजी, रामजी और भी कई आ गये। इनके नाम कुछ और थे मैंने ही इनके ये नाम रख दिये थे। हमारे आश्रम की तीन या चार प्रतिज्ञायें थीं। उन पर हम रक्त से हस्ताक्षर कराते थे। (१) जीवन भर ब्रह्मचारी रहेंगे। (२) सदा देश की सेवा में ही लगे रहेंगे। (३) अपने लिये कुछ भी संग्रह न करेंगे। एक इसी प्रकार की कोई

और भी प्रतिज्ञा थी। अपने आप अपने शरीर के किसी अंग को काटकर उसके रक्त से हस्ताक्षर करने होते थे। आश्रम से एक हस्तलिखित साप्ताहिक या पाक्षिक पत्र भी निकालते थे। कभी कभी बड़े बड़े लोगों को भी आश्रम में बुलाते थे। विद्यापीठ के तो प्रायः सभी प्राध्यापक तथा नगर में रहनेवाले विद्यार्थी वहाँ नित्य ही आते रहते थे, उनके जाने आने का मार्ग ही हमारी कोठी के नीचे से था। प० रामनारायण जी मिश्र, प० अयोध्या प्रसाद जी उपाध्याय 'हरिऔध' महामंडल के स्वामी दयानन्द जी, तथा नगर के कांग्रेसी कार्य कर्ता वहाँ आते जाते थे। सबका स्वागत हम भिगोये हुए चनों से करते थे और हमारे पास था ही क्या ? काशी के प्रायः सभी क्रान्तिकारी युवक भी वहाँ आते जाते थे। वे चाहते थे, मैं क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो जाऊँ। किन्तु किसी भी सभा समिति का सदस्य न बनने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी, इसलिये मैं आज तक किसी भी सभा का सविधि सदस्य नहीं बना। एक बार भूल से कहिये या पौने दो रुपये बचाने के लोभ से कांग्रेस का तो सदस्य हो गया था।

बात यह थी, कि हमारे एक अत्यन्त ही हितेषी मित्र थे। एक सहकार के व्यवस्थापक थे। काशीजी में उत्तर प्रदेश भर (उस समय संयुक्त प्रदेश आगरा व अवध) का राजनैतिक सम्मेलन हुआ। हमारे बन्धु ने कहा—"उसमें एक भोजनालय खोला जाय, रुपये मैं लगाऊँगा। जो आय हो वह आधी आपकी आधी हमारी। ४ या ५ दिन का सम्मेलन था। अपने लोगों की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी। आय का कोई दूसरा मार्ग नहीं। मुझे भी लोभ आ गया। जीवन में सबसे पहिला और सबसे अंतिम यह व्यवसाय था। दो तीन रसोये डेढ़-डेढ़ या दो-

दो रुपये नित्य के इकट्ठे किये। ठाकुर त्रिभुवन नारायण सिंहजी जो उस समय विद्यापीठ के छात्र थे। हमसे बड़ा स्नेह रखते थे। उनके घर से मेज कुर्सियाँ ले आये। एक पवित्र भोजनालय खोला। विज्ञापन छपाये। सुन्दर पवित्र भोजन बनवाये। अपने सब परिचित ही थे। चलो, ब्रह्मचारीजी का भोजनालय है। यहीं भोजन करें। दूर-दूर के लोग आते, आनन्द से भोजन करते। ब्रह्मचारी जी तो अपने घर के ही हैं देना लेना क्या। भोजन किया कुल्ला करके हाथ पोछकर चल दिये। अब उनसे कैसे कहा जाय पैसे दे जाओ। इसलिये जो होना था वही हुआ। कई सौ का घाटा लगा। उसमें से मैंने जैसे तैसे कुछ रुपये चुकाये कुछ के लिये हाथ जोड़ दिये। चौबेजी गये थे छब्बे बनने किन्तु रह गये दूब्बे ही। विपत्ति के ऊपर विपत्ति। मैं बड़ा चिन्तित था। बाँदा जिले के एक अग्निहोत्री जी थे, लखनऊ जेल में हमारे साथ थे। वे भी आये हुये थे। जब हमारे घाटे की बात उन्होंने सुनी तो बड़े प्रसन्न हुए, बहुत हँसे और बोले—"बहुत अच्छा हुआ, भगवान् ने तुम्हें शिक्षा दी, कि ऐसे व्यापारों में आगे से कभी मत फँसना।" उस समय तो बुरा लगा किन्तु वह घाटा मेरे लिये वरदान हो गया। उससे जीवन में बहुत शिक्षा मिली।

हाँ, तो उस समय सम्मेलन में प्रवेश शुल्क दो रुपये थी। किन्तु जो चार आने देकर कांग्रेस का सदस्य बन जाय, उससे प्रवेश शुल्क नहीं ली जाती थी। हमने सोचा—"चलो चार आने देकर ही प्रवेश पत्र ले लो। वैसे मेरे सभी परिचित ही थे। जिससे कहता वही निःशुल्क प्रवेश पत्र दे देता। किन्तु छोटी सी बात किसी से कहने में मुझे अत्यन्त ही संकोच होता है। इस संकोच के कारण अनेकों बार मुझे भूखा रहना पड़ा

है। मैंने तो चार आने शुल्क ही समझकर दिये थे, किन्तु मेरा नाम सदस्यों में आ गया। जब बाबू भगवान् दास जी ने काग्रेस की कार्यकारिणी परिषद् की सदस्यता से इसलिये त्याग पत्र दे दिया कि उनका चर्खा चलाने पर और विशुद्ध खादी पहिनने पर विश्वास नहीं तो उनके स्थान में मुझे कार्यकारिणी का सदस्य बना दिया गया। काशी काग्रेस के मत्री पं० शिवविनायक जी मिश्र थे। मेरे अत्यन्त ही स्नेही थे। काशी आकर बहुत दिनों तक उन्हीं के प्रेस में रहा था। प्रतीत होता है उन्होंने ही मेरे नाम का प्रस्ताव किया होगा। मैंने तुरन्त दैनिक 'आज' में एक पत्र छपवा कर इसका विरोध किया और अपनी अस्वीकृत प्रकट की। यह बात मिश्रजी को कुछ बुरी भी लगी। उन्होंने मुझसे कहा—"आपको स्वीकार नहीं था, तो मुझसे कह देते, मुझे त्याग पत्र देते। 'आज' में आपने क्यों छपाया ?"

इस प्रकार एक बार भूल से ही समझिये, भ्रम या लोभवश तो मैं काग्रेस का सदस्य बना, नहीं तो मैं कभी किसी सस्था का आज तक सदस्य नहीं बना। हाँ, गोरक्षा अन्दोलन में लोगों ने मुझे अध्यक्ष अवश्य बना दिया, उसका तो मैंने जान बूझकर विरोध नहीं किया। परिस्थितियाँ ही ऐसी आ गयी थीं। मेरे इस क्षुद्र सहयोग से गौ माता की रक्षा हो जाय, तो नियम का अपवाद ही सही। किन्तु गौ माता की रक्षा तो हुई नहीं। उलटे कुछ लोगों के लिये ईर्ष्या का कारण बन गया।

उस समय के प्रायः सभी क्रान्तिकारी काशी में रहते थे और उनमें से अधिकाश से मेरा परिचय था। श्री चन्द्रशेखर जी 'आजाद' तो उन दिनों बहुत ही छोटे १३–१४ वर्ष के बच्चे थे। पं० शिवविनायक मिश्रजी के गाँव (बीघापुर जि० उन्नाव) के पास के ही थे। उनके गाँव नाते से भतीजे लगते थे। उनके

यहाँ बहुधा आते थे। मेरी आँखों में तो उनकी वही छोटी-सी दुबली पतली चेचक के दागों वाली भोली भाली सूरत बसी हुई है। पीछे सुना वे बहुत मोटे हृष्ट पुष्ट लंबे तड़ंगे हो गये थे। अनेकों बार सुनते हैं मेरी कथा मंडप में भी आये किन्तु मैंने न उन्हें पहिचाना न उन्होंने अपना परिचय ही दिया। यद्यपि मै उनका सविधि सदस्य नहीं बना किन्तु उन सब त्यागी विरागी परम देशभक्त बन्धुओं से मेरी हार्दिक सहानुभूति थी।

भारत धर्म महामडल की मासिका पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' बहुत पुरानी पत्रिका थी। हमारे स्वामी ज्ञानानन्द जी को पहिले एक निगमागम मंडली थी उसका कार्यालय मथुरा में था। उसी की यह मासिक मुख पत्रिका थी और मथुरा से ही निकलती थी। जब निगमागम मंडली भारत धर्म महामंडल मे विलीन हो गयी तब यह महामंडल की मुख पत्रिका बनी। इसके सम्पादकों में पं० अमृतलालजी चक्रवर्ती, पं० रूपनारायण जी पांडेय, पं० रामगोविन्द जी त्रिवेदी, पं० गोविन्द शास्त्रीजी दुगवेकर ऐसे ख्यातनामा विद्वान् रह चुके थे। मुझे तो दुगवेकर जी ने ही रखा था। स्वामी ज्ञानानन्द जी से तो मेरा परिचय ही नहीं था। कई महीनों तक मैंने उन्हें देखा भी नहीं। मैं पहिले समझता था भारत धर्म महामंडल सार्वजनिक संस्था है। पीछे शनैः-शनैः पता चला इसके कर्ता धर्ता भर्ता महर्ता सब स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज ही हैं। करने कराने वाले सब वे ही थे, किन्तु वे अपने नाम से न कराकर समिति की छाप लगाकर सब कुछ करते थे।

स्वामी ज्ञानानन्द जी बहुत ही बुद्धिमान, व्यवहार पटु, तथा कार्यकुशल दूरदर्शी, विधान विशारद थे। ऐसे आदमी जिस क्षेत्र में भी होते हैं, उसमें ही अपनी विशेषता दिखाते हैं।

जैसे मानसिंह जी थे। वे नामी डाकू थे। किन्तु इतने बुद्धिमान कार्य कुशल, प्रत्युत्पन्नमति तथा समय को देखकर कार्य करने वाले थे कि लगभग ४ -५० वर्षों तक वे सक्रिय रहे। अँगरेजों ने उन्हें पकडने के लिये एडी चोटी का पसीना एक कर दिया। सहस्रों सैनिक उनके पीछे लगा दिये किन्तु वे पकड़े नहीं गये। काग्रेस सरकार ने भी पूरी शक्ति लगा दी, वह भी उन्हें पकड नहीं सकी। वे अपने क्षेत्र के राजा थे। गो रक्षा के कार्य से जब मैंने पूरे प्रान्त का भ्रमण किया, तब शिकोहाबाद गया था। वहाँ के पुलिस के थानेदार की माता मेरे पास आकर बहुत रोयी। उसने बताया—"हमारे लडके की नियुक्ति इसी थाने में हुई है जहाँ मानसिंह है। जो उन्हें जाकर नियमानुसार भेंट नहीं करता, उनसे अभय प्राप्त नहीं करता उसे वे मार डालते है। हमने तीन दिन से कुछ खाया नहीं।"

ऐसा उसका आतक था, मैंने सुना था बडे बडे पुलिस के अधिकारी भेंट लेकर उसके यहाँ जाते थे। दशहरे के दिन नियम पूर्वक उसकी राज्य सभा लगती थी। सब लोग उसे भेंट अर्पण करते थे। वास्तव मे वह नाम का ही डाकू था। देवीजी का भक्त था। कई देवीजी के मन्दिर बनवाये। लाखों रुपये भडारों मे व्यय किये। साधु महात्माओं में भक्ति रखते थे। मेरे यहाँ एक ग्वालियर का बडा लम्बा चौडा विद्यार्थी था। उसने बताया—"रात्रि में डाकू मुझे उठाकर मानसिंह के पास ले गये। वह माला लेकर जपकर रहा था। मुझे देखकर उठकर खडा हो गया और बोला—"पडितजी! आप भयभीत न हों, मुझे भागवत सप्ताह सुनना है इसीलिये आपको बुलाया है। सात दिन तक हमें भागवत सुनाइये।"

उसने बताया—"चबल के खारों में नीचे बड़ी

थी, उसी में वह रहता था। खाने पीने का अटूट सामान रखा था। सात दिन कथा सुनी, फिर अपने आदमियों से कहा—"पंडितजी को घर पहुँचा आओ। पुलिस ने चारों ओर घेरा डाल रखा है। वे इन्हें पकड लेंगे तो तङ्ग करेंगे। ऐसा कहकर १०१) रुपया मुझे भेंट किया और जैसे लाये थे वैसे ही पहुँचा गये।"

सैकडों अनाथ निर्धन कन्याओं का उसने विवाह कराया। कितने कन्यादान छाछक किये कितने धार्मिक कार्यों में सहायता दी। एक दिन रात्रि के बारह बजे उनके लोगों ने मेरी मोटर रोक ली और मुझसे कहा—"गौरक्षा के लिये आपको जितने रुपयों की आवश्यकता हो, हमसे ले लीजिये।"

मैंने कहा—"हम डाकुओं के रुपयों से गौरक्षा नहीं करते।" ऐसा कहकर चले आये। उनका साहस तो देखिये एतमादपुर की भरी सभा में वे हमारे पास मंच पर आकर बैठ गये, पुनः रुपया लेने की प्रार्थना की। इतना साहस साधारण आदमियों का हो सकता है?"

ऐसे ही एक नटवर लाल नामक ठग था, कितने लोगों को कैसे कैसे ठगा। उसके बुद्धि वैलक्षण पर आश्चर्य होता है। कितने बार वह पकडा गया और सबकी आँखों में धूलि झोंक कर निकल भागा। किन्तु यह सब बुद्धि का दुरुपयोग है। सदुपयोग तो यही है कि बुद्धि से परोपकार और परमार्थ के कार्य किये जायँ, किन्तु लोग पूर्वजन्मों के संस्कारों से विवश हैं। हमने इस छोटे से जीवन में सभी क्षेत्रों के लोगों को देखा है। उनकी बुद्धि की विलक्षणता को देखकर आश्चर्य होता है।

हमारे ही एक सगे सम्बन्धी थे। एक अक्षर पढ़े लिखे नहीं थे। किन्तु हमारे एक भाई अध्यापक जब उन्हें कुछ दिन पाठ–

शाला सौंपकर बाहर चले गये तो ऊपर की कक्षा के लड़कों से नीचे की कक्षा वालों को पढवाकर पाठशाला का काम इतने सुचारु रूप से चलाया कि कोई प्रशिक्षित प्रधानाध्यापक क्या चलावेगा। बहुत से साधुओं को भी हमने देखा है जो पढे लिखे कुछ नहीं। आचरण भी उनके ऐसे ही सट्ट पट्ट हैं, किन्तु उनका बड़े बड़े लोगों में सम्मान है, सैकड़ों राजे महाराजे उनके शिष्य हैं। तो जैसे धन, अवस्था, विद्या ये भाग्य से मिलते हैं वैसे ही सम्मान, पद, प्रतिष्ठा, गौरव ये भाग्य से मिला करते हैं। परमार्थ से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। आध्यात्मिक शांति दूसरी वस्तु है। सम्पूर्ण जीवन में हमने यही तो अनुभव किया है। जिनके लाखों शिष्य हैं उन्हे भी आन्तरिक शान्ति नहीं, वे सदा अधिक से अधिक शिष्य बनाने को लालायित रहते हैं। जिनके विभिन्न स्थानों में अनेकों आश्रम हैं, वे और अधिक आश्रम बनाने को व्यग्र बने रहते हैं। जिनका लाखों नर नारी जय जयकार करते हुए स्वागत करते हैं वे और इससे भी बडा स्वागत चाहते हैं। जिनके बहुत से अनुयायी हैं। वे और अधिक बनाने को प्रयत्नशील रहते हैं। ये आत्मशान्ति में आध्यात्मिक उत्थान में सहायक नहीं होते। जिनके पास अधिक सम्पत्ति हो, अधिक अनुयायी हों, बहुत से शिष्य सेवक हों, बहुत सी संस्थाओं के संचालक संस्थापक हों, वे अध्यात्मिकता में भी बढे चढे होंगे, यह आवश्यक नहीं। कहना चाहिये ये सब तो अध्यात्ममार्ग में विघ्न हैं। किन्तु क्या किया जाय, पूर्वजन्म की वासनायें हठात् हमें इन कामों मे नियुक्त करती हैं।

बहुत से लोग कहते हैं—"ब्रह्मचारीजी द्वारा देश का, धर्म का, समाज का तथा साहित्य का बडा उपकार हो रहा है। भागवती कथा की पुस्तकों से कितनों का जीवन सुधर

साहित्य की यह अमूल्य वस्तु है।" वास्तव मे देखा जाय, तो भागवती कथा मे क्या विशेषता है। वे ही शास्त्रों के वचन हैं। उन्हे इधर उधर से सुन्दर सुललित भाषा में लिख दिया। इसमें नई बात कौन सी है ? सेठ ने सुन्दर सुमनो का बाग लगाया है। उसमे नाना भाँति के पुष्प खिल रहे हैं। माली ने भाँति-भाँति के रग बिरगे फूल ताड कर सुई डोरा से एक हार बना दिया। आप माली की प्रशसा करते हैं। माली का उसमे क्या है ? फूल सब सेठ के बगीचा के, सुई डोरा भी दूसरो का उसने उन्हे यथा स्थान लगाकर भर दिया है। इसी प्रकार समस्त ज्ञान तो व्यासजी द्वारा उच्छिष्ट कर दिया गया है। व्यासजी के शास्त्र रूपी जो उपवन हैं, उनसे सुमन रूप उपदेश एकत्रित कर दिये हैं। वे भी एकत्रित अपना वासना पूर्ति के निमित्त किये हैं। नहीं तो शास्त्रों में तो सब कुछ है। भागवती कथा लेखन को परमार्थ का साधन मानकर करें तब तो कुछ उचित भी है यदि उसे अहङ्कार पूर्वक प्रसिद्धि के निमित्त करें और अपने को कर्ता उपदेष्टा, सुचतुर लेखक मानें तो यह तो और परमार्थ स गिरने का साधन है। यह जो प्रचार प्रमुख जीवन है यह आत्म शान्ति में विशेष साधक नहीं। हमने अनेक प्रचार प्रमुख व्यक्तियों को देखा है, उनसे हमारी घनिष्टता रही है। सहस्रों लाखों उनके अनुयायी थ, उनकी कथा मे, प्रवचनो में लाखों की भीड होती थी, अनेक उनके प्रचार केन्द्र थे, अनेकों प्रचार मन्च समाचार पत्र उनकी प्रशसा प्रसारित करन के साधन थे, किन्तु उनका जीवन अत्यन्त अशान्त रहा, चित्त सदा उद्विग्न रहा है इसीलिये स्वामी शकराचार्यजी ने कहा है—"लच्छेदार मधुर वाणी, धारा प्रवाह प्रवचन, शास्त्रों के उद्धरण देने मे प्रत्युत्पन्न मति ये सब सासारिक वैषयिक सामग्री जुटाने के-मुक्ति के साधन तो हो सकते हैं।

मुक्ति के साधन नहीं। हम अपनी वासना पूर्ति करते हैं-लोगों को बहकाने को उसे परमार्थ प्रचार कहते हैं। हम परमार्थ के लिये परोपकार के लिये गोरक्षा का आन्दोलन कर रहे हैं-परोपकार के लिये कष्ट सह रहे हैं—"गौ माता के कष्टों को दूर करेंगे।" अरे, अज्ञानी! तुझमें क्या सामर्थ्य है, जो तू गो माता के कष्ट को दूर कर सके। गौ सबसे अधिक गोपाल को प्यारी हैं। गोपाल तुझसे अधिक शक्तिशाली हैं, वे कहीं चले नहीं गये हैं। वे कहीं चले गये होते, तो असख्यो भक्त साधक उनके साक्षात्कार के लिये साधन क्यों करते? अनेको वैष्णवों को वे अब भी प्रत्यक्ष दर्शन कैसे देते? वे अभी उपस्थित हैं और सदा सर्वदा रहे हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। जब वे गो माता के कष्टों को दूर नहीं करते, तो तुझ अल्पज्ञ की क्या सामर्थ्य? तू क्या गो माता का दुख दूर करगा। तू तो गोरक्षा के नाम पर अपनी वासनाओं की पूर्ति कर रहा है। हाँ गोरक्षा को साधन मानकर अपने अशान्त मन को शान्त करने का प्रयत्न करे तो कोई बात भी है। इस प्रकार प्रचार प्रमुख व्यक्ति जब स्वय ही अशान्त रहते हैं, तो लोगों की अध्यात्म उन्नति क्या करावेंगे? हाँ साधारण साधकों को अच्छे कामों के प्रति रुचि पैदा करने का तो ये साधन काम करते हैं। किन्तु अध्यात्म मार्ग में तो धर्म-अधर्म, अच्छा-बुरा, सत्य-अनृत, इन दोनों से ही ऊपर उठना होता है। मेरा जीवन प्रचार प्रमुख ही रहा। आरम्भ से ही मैं यह चाहता था, कि मुझे मेरे मन के अनुकूल सगी साथी सहायक मिल जायँ तो हिमालय को उठाकर उत्तर से दक्षिण में रख दूँ। किन्तु न तो मुझमें दैवीशक्ति सामर्थ्य थी. न इतना घोर तप त्याग तथा ज्ञान वैराग्य ही था। फिर मुझे ऐसे अनुयायी कैसे मिलते? जैसे दरिद्रों के अनेकों मनोरथ उत्पन्न

होते और विलीन होते रहते हैं वैसे ही मेरी योजनायें मन में उत्पन्न होतीं और साधनों के अभाव में विलीन हो जातीं।

हम अधिक से अधिक साधक बढ़ाने की चिन्ता में थे, कि सहसा मेरा सम्बन्ध महामण्डल से विच्छेद हो गया। मुझे बाबू सम्पूर्णानन्दजी ने पहिले से ही सचेत कर दिया था कि यह कुख्यात संस्था है सावधानी से रहना।" किन्तु मैंने सोचा-मुझे किसी से क्या काम" खरी मजूरी चाखा काम। ४०-५० पृष्ठ की छोटी-सी मासिक पत्रिका थी, मेरे लिये एक दिन का काम था। स्वामी ज्ञानानन्दजी से मेरा परिचय तक नहीं हुआ था। वे ऊपर रहते थे, और कभी साल छः महीने में बहुत आवश्यक कार्य से नीचे आते। नहीं सदा ऊपर ही रहते। जो उनके अन्तरङ्ग, होते ऊपर ही उनके दर्शन कर आते। मुझे कभी उन्होंने बुलाया नहीं, स्वयं मैं कभी उनके यहाँ गया नहीं। वे एक असाधारण व्यक्ति थे। उनमें कुछ आध्यात्मिकता रही हो, मुझे तो प्रतीत नहीं हुई। किन्तु वे अत्यन्त व्यवहार कुशल नीतिज्ञ और संस्थोपजीवी व्यक्ति थे, वे बंगाली थे, उनका जन्म उत्तर प्रदेश के मेरठ नगर में हुआ था। उनके पिता प० मधुसूदन मुकर्जी मेरठ में व्यवसाय करते थे। सेना के खाने पीने का सामान पहुँचाते थे। अच्छे खाते पीते व्यक्ति थे। उनकी आठवीं सन्तान ये थे। ये भी दशवीं श्रेणी तक पढ़कर फिर व्यापार करने लगे, इनका विवाह भी हुआ एक कन्या भी हुई। परिवार बड़ा था। पारिवारिक झंझटों से विरक्त होकर हरिद्वार में जाकर इन्होंने स्वामी केशवानन्दजी से सन्यास ले लिया। किन्तु वहाँ उनके शिष्यों से इनकी पटरी बैठी नहीं, दो ही चार दिनों में वे हरिद्वार छोड़कर आबू में जाकर रहने लगे। बंगाली प्रायः शक्ति के उपासक होते हैं। स्वामी केशवानन्द बंगाली होने से शाक्त

संस्कारापन्न ही थे। किन्तु अभी तक उन्होंने विधिवत् शाक्त सम्प्रदाय की किसी भी सस्था से दीक्षा नहीं ली थी। मैंने वृन्दावन मे इनके दर्शन किये थे। श्रीरङ्गजी के बगीचे के पास इनका आश्रम था। हरिद्वार, विन्ध्याचल, भुवनेश्वर मे भी इनके आश्रम थे। ये उतने व्यवहार कुशल नहीं थे जितने स्वामी ज्ञानानदजी। स्वामी ज्ञानानन्दजी ने ही इन्हे विधिवत् तान्त्रिक शाक्त दीक्षा श्री श्यामाचरणजी लाहिडी से दिलायी थी। लाहिडीजी को उन दिनो बडी ख्याति थी, सुनते हैं उन्हे हिमालय के एक सिद्ध योगी की कृपा से श्री मा जगदम्बा का साक्षात्कार हुआ था। ये सिद्ध पुरुष हिमालय के योगी कोन थे, उनका नाम ज्ञात नहीं हुआ।

वृन्दावन में वशीवट पर जो हमारा सकीर्तन भवन आश्रम है, उसके पास ही लाला बाबूजी के मन्दिर के सामने एक हैंदियाखान बाबा का मन्दिर है। उसमे हेडियाखान बाबा की सगमरमर की सुदर मूर्ति है उसकी विधिवत् पूजा होती है। एक मैथिल ब्रह्मचारी नाम के मैथिल देश के महात्मा थे। हमारा उनमें अत्यन्त ही स्नेह था। उन्हे कभी पाँच वर्ष की अवस्था में हैंदियाखान बाबा ने दीक्षा दी थी। उन्हें स्मरण ही नहीं था। पीछे वे कई चमत्कारों के कारण हेडियाखान बाबा के परम भक्त बन गये। उन्हें साक्षात् शिव का अवतार मानकर उनकी [illegible] करते। [illegible] मे, वृन्दावन मे और भी कई स्थानों में [illegible] बाबा के नाम के स्थान बनवाये। हैडियाखान [illegible] पहाडियों मे छोटा-सा गाँव है। बाबा उसी गाँव में [illegible]। [illegible] के [illegible] उन्होंने शरीर त्याग दिया था। [illegible] योगी को [illegible] फिर भी अनेको बार दर्शन [illegible] मुझे [illegible] हम हलद्वानी में बाबा के [illegible] दिन का उत्सव [illegible]

सेकडों नर नारी वहाँ उपस्थित थे। उसी भीड में खडाऊ कटोप लगाये बाबा प्रकट हुए। हम सब लोगों ने उनकी आरती की पूजा की और वे हमारी पूजा को ग्रहण करके अन्तर्धान हो गये। ऐसे उनके अनेकों सिद्धियों के चमत्कार नेनीताल अल्मोडे के आस पास विख्यात हैं। जिन्होंने उनका दर्शन किया है, सत्सग किया है वे उनके त्रिकालदर्शी होने की बहुत सी बातें मुझे सुनाते थे। मैंने स्यात् उनके दर्शन नहीं किये, किन्तु उनके चित्रपट को देखकर लगता है, उन्हे मैंने कहीं यात्रा मे देखा है। वहाँ के सभी लोगों का विश्वास है। बाबा कहीं गये नहीं हैं। अन्तर्धान हो गये हैं। योग्य अधिकारियों को वे अब भी दर्शन देते हैं।

महेन्द्रजी से मेरी बहुत ही घनिष्टता थी। मैं उनके साथ हेडियाखान जाने वाला भी था, किन्तु जलोदर की बीमारी के कारण उनका अकस्मात् देहान्त हो गया। उनका कहना था, श्यामाचरण लाहिडी उन्हीं के शिष्य थे। स्वामी योगानन्दजी जिन्होंने अमेरिका आदि विदेशों में लाखों शिष्य बनाये हैं। जो लाहिडीजी के शिष्यों मे थे। उन्होंने भी हैडियाखान बाबा के दर्शन किये थे। वे श्रीहेडियाखान बाबा के चित्र के साथ श्रीश्यामाचरण लाहिडी और स्वामी योगानन्दजी का भी चित्र रखते थे स्वामी योगानन्दजी तो कुम्भी के अवसर पर चार पाँच विदेशी शिष्यों को लेकर हमार यहाँ आये थे। उन दिनों श्रीउडिया बाबाजी हमारे आश्रम मे विराजमान थे। उनसे उनके शिष्यों ने कई प्रश्न भी किये थे।

हम लोगों के जन्म जात सस्कार वैष्णव धर्म के अनुसार हैं। किसी को मास मदिरा का सेवन करते देखते हैं, तो हम उनसे हार्दिक घृणा करने लगते हैं। हम लोग तो मास मदिरा का

स्पर्श तो क्या नाम लेना भी पाप समझते हैं। किन्तु शाक्त धम में तो पंच मकार (मांस, मत्स्य, मैथुन, मदिरा और मुद्रा) सिद्धि के मुख्य साधन हैं। वे तो सन्यास के पश्चात् शक्ति रखने को एक प्रकार का विवाह करते हैं और इन सबका प्रयोग करते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंस शक्ति के उपासक थे। उन्हे कोई भगवती का प्रसाद मांस देता तो उसे मस्तक पर चढाकर लौटा देते। शक्तों में पंचमकार का स्पष्ट या गुप्त रूप से सर्वत्र प्रचार है। उनके मत मे सिद्धि के लिये ये आवश्यक हैं। इस प्रकार श्रीश्यामाचरणजी लाहिडी तो सुप्रसिद्ध शाक्त ही थे। स्वामी केशवानन्दजी सन्यासी होने पर भी उन गृहस्थ पुरुष के सविधि शिष्य बने। किन्तु हमारे स्वामी ज्ञानानन्दजी अन्तः शाक्त थे। वे बडे व्यवहार कुशल तथा चतुर थे।

शाक्तों के आचार्य कौल कहलाते हैं। उनके आगम ग्रन्थ कुलाचार कहलाते हैं। हमारे यहाँ एक श्लोक प्रचिलित है। "कौल लोग भीतर से तो शाक्त होते हैं, ऊपर से रुद्राक्ष, त्रिपुंड लगाकर शैवो का वेष बना लेते हैं और सभाओं मे शुद्ध वैष्णव बन जाते हैं। इस प्रकार नाना रूपों को धारण करके कौल लोग महीतल पर विचरण करते हैं।"* इस प्रकार हमारे स्वामी ज्ञानानन्दजी अन्तः शाक्त थे। कहते हैं हरिद्वार से आकर इन्होने आबू पर्वत पर घोर जंगल में-वसिष्ठाश्रम में साधना की। इनकी आकृति तो भव्य थी ही। व्यवहार कुशल भी थे। वहीं पर खेतडी के राजा साहब आये हुए थे। वे इनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए। वहाँ रहते हुए इनका राजस्थान के अन्य राजाओं से भी परिचय हो गया। वे राजाओं के यहाँ आने जाने लगे।

---

* अन्त शाक्ता. वहि शैवा सभा मध्ये तु वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥

इनका शरीर गौर वर्ण का भारी भरकम भव्य था। ने
बडे सुन्दर थे। जब बडे लोगों से सम्पर्क हुआ तो पूर्व ज
सस्कारों के अनुसार इन्होंने एक निगमागम मण्डली बन
कुछ शिष्य सेवक एकत्रित करके धर्म प्रचार का झडा उ
उन दिनों आर्य समाजी और सनातन धर्मियों के स्थान
पर बहुत शास्त्रार्थ होते थे। आर्य समाज की उन दिनों
प्रदेश में बडी धूम थी, आर्य समाज नये विचार के नवशि
पुरुषों को अपनी ओर अत्यधिक आकर्षित कर रहा था।
बहुत से राज्य के उच्चाधिकारी, विधि प्रवक्ता तथा उत्साही
वर्ग सम्मिलित थे। स्थान स्थान पर गुरुकुल खोले जा रहे
अब तो सनातन धर्मियों में भी खलबली मची। उन्होंने
विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ किया। वे भी आर्यसमा
विरोध में सनातन धर्म सभाओं की स्थापना करने लगे।
कुलों के विरोध में ऋषिकुलों की स्थापना करने लगे।
समाजियों ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा बनायी।
तनियों ने उसके विरोध में भारत धर्म महामण्डल की स्थ
की। आर्य समाजियो का प्रचार तो नियम पूर्वक सुव्यव
ढंग से होता था। उसमे बहुत से उत्साही त्यागी विरागी
लगन के व्यक्ति थे। हमारे सनातनियों का तो वही प्राचीन
था। बडे बडे विद्वान् पडित व्याख्यान देने जाते, जो कुछ
दक्षिणा होती, वह उनकी अपनी हो जाती। उन दिनों सन
धर्मियों में प० दीनदयालजी शर्मा व्याख्यान वाचस्पति, प
ज्वालाप्रसादजी मिश्र, प माधवप्रसादजी मिश्र, प० दुर्गाद
पन्त नाटकिया आदि गण्यमान पडित थे। हमारे स्वाम
व्यवहार कुशल तो थे ही बड़ी युक्ति से भारत धर्म महामण्डल
अपना अधिकार जमा लिया। अब तक तो महामण्डल का

डिताऊ ढंग से अव्यवस्थित चलता था। इन्होंने युक्ति से धनी मानी राजा महाराजाओं की सहानुभूति से उसे पंजीकृत (रजिष्ट्री) कराया। फिर मथुरा से उसके कार्यालय को काशी उठा लाये। वहाँ भी बड़ा संघर्ष रहा। जिनसे भी इनका सम्पर्क रहा वही इनके एकाधिपत्य के विरुद्ध हो गया। अनेकों इनके ऊपर अभियोग चले। अनेकों इनकी योजनायें थीं। इसका अखिल भारतीय रूप देना चाहते थे, किन्तु वह बना नहीं। महामण्डल एक ज्ञानानन्दजी का मठ मात्र रह गया। राजे महाराजे कुछ करने धरने वाले तो थे ही नहीं। धन दे देते थे। स्वामीजी ने अपने ढंग से प्रचार करना आरम्भ किया। इनके एक प्रमुख शिष्य स्वामी दयानन्दजी थे वे भी बगाली ही थे। पहिले ये जहाँ कांग्रेस के अधिवेशन होते थे वहाँ इसका अधिवेशन कराते थे, वह भी समाप्त हुआ। कई भाषाओं में पत्र निकाले और वे सब कुछ दिन चलकर बन्द हो गये। मैं जब वहाँ काम करने गया, तब तीन ही पत्र वहाँ से निकलते थे। अँगरेजी में मासिक 'महामंडल मेगजीन' हिन्दी में 'निगमागम चन्द्रिका' और स्त्रियों के लिये त्रैमासिक "आर्य महिला" किन्तु स्वामीजी का मस्तिष्क नित्य नई योजनाओं का भडार था। छः दर्शन प्रसिद्ध थे, स्वामीजी ने अपने मस्तिष्क से एक सातवाँ दर्शन 'दैवी मीमांसा दर्शन' बनवाया, कई गीतायें बनवायीं। किंतु पंडित समाज ने उनका आदर नहीं किया। महामंडल के प्रायः सभी विरोधी हो गये। सबसे अधिक विरोधी तो महामना मालवीयजी थे। मेरे सामने ही पंडितों ने महामंडल के विरोध में एक व्यवस्था दी। किन्तु स्वामी जी इतने व्यवहार कुशल मँजे हुए थे, कि सब प्रहारों को सहते सबकी सुनते किसी को उत्तर नहीं देते। नये-नये विधान नई-नई योजनायें बनाते रहते। आर्थिक सहायता देने को बहुत से राजे

महाराजे धनिक व्यक्ति इनके प्रभाव में थे। मैं जब वहाँ प
करता था, तो स्वामीजी ने एक नई संस्था 'भारत धर्म
लिमिटेड' नाम से कम्पनी बनायी थी। उसमें बड़ी बड़ी
थीं। हिन्दी, अँगरेजी, गुजराती, मराठी तेलगु तामिल सभी
में पत्र निकलेंगे और जाने क्या-क्या होगा। आरम्भ में हिन्दी में
'साप्ताहिक भारतधर्म' अँगरेजी में दैनिक "महाशक्ति"
हुए। अब इनको सम्पादक चाहिये। सम्पादक भी ऐसे
स्वामीजी की बुद्धि से काम करें।

हमारे प० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर स्वामीजी के ऐसे ही पार्षद थे। बहुत मँजे हुए व्यवहार कुशल, शान्त और समय को देखकर काम करने वाले थे। साधु वेष होने के कारण वे मेरा आदर भी करते थे और पुत्र के समान प्यार भी करते थे। महाराष्ट्रीय होने पर भी हिन्दी पर उनका पूरा अधिकार था, नाटक खेलने में दक्ष थे। स्वामी ज्ञानानन्दजी जो श्रीजी के नाम से ख्यात थे। वे दिन को रात्रि कहे, तो दुगवेकरजी तारा और चन्द्रमा गिना देते थे। प्रत्येक बात पर 'जो आज्ञा' उनकी टेक थी। ऐसे दरबारी आदमी मैंने बहुत कम देखे। मुझसे वे अपने मन की भीतरी बात बताते थे। कहते थे ब्रह्मचारीजी! अभी आपका नया रक्त है, यवहार से आप अनभिज्ञ हैं, देखिये—

जाट कहै जाटिनी इसी गाँव में रहना।
ऊँट बिलाई ले गयी तो हाँजी हाँजी कहना॥

वे न जाने श्रीजी के कितने न्यासों के कितनी समितियों के सदस्य थे। वे शास्त्रों का जो 'आनन्द' है उसके सेवी थे। बड़ी-बड़ी आँखें, भरा हुआ चेहरा, प्रभावशाली व्यक्तित्व, कभी क्रोध न करना यही उनकी विशेषता थी। मिट्टी की एक गुड़गुड़ी पर

६७०१

चिलम रखकर दिन भर तमाखू पीते रहते थे। आप उन्हें जब देखो, गुडगुडी पीते हुए धूँआ निकालते रहते थे। तुर्भाग्य से लगभग पचास वर्षों तक श्रीजी के कृपा-पात्र बने रहे। श्रीजी पर न जाने कितने अभियोग चले, कितने लाछन लगाये गये, उनके विरुद्ध कितने लेख छपे, हमारे दुगवेकर पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पडा। उन्हें अपने काम से काम। श्रीजी के यहाँ से जब बुलाहट आई अपनी गुडगुडा को छोडकर हाथ जोडे उपस्थित हो गये।

जब 'भारत धर्म सिन्डीकेट लिमिटेड' कम्पनी से साप्ताहिक "भारत धर्म" निकलने लगा, तो वे ही उसके प्रधान सम्पादक बनाये गये। अब तक वे 'निगमागम चन्द्रिका' के प्रधान सम्पादक थे। वह पद उन्होंने मुझे दिया। अब तक मैं महामडल में नगण्य साधारण उप सम्पादक माना जाता था। श्रीजी के यहाँ मेरी पहुँच नहीं थी। अब मेरी भी गणना वहाँ के लोगों मे होने लगी। एक दिन मेरी श्री जी के अन्त पुर मे बुलाहट हुई। वे नित्य नयी नयी योजनायें बनाया करते थे। उन दिनो स्वराज्य की बहुत धूम थी। राष्ट्रीय आन्दोलनों ने धर्म सभाओ को गौण बना दिया। राष्ट्रीय विचार वाले धर्म से उदासीन से हो गये। हमारे श्रीजी ने इससे लाभ उठाने को एक "अखिल भारतवर्षीय वर्णाश्रम स्वराज्य सघ" की स्थापना की। मुझे उत्साही, राष्ट्रीय विचार वाला उग्रस्वभाव का युवक देखकर मुझसे कहा—"तुम इसके मत्री बन जाओ।" मैंने कहा—'स्वामीजी, मेरा तो नियम है मैं किसी सभा समिति का सदस्य या पदाधिकारी नहीं बनता।" निश्चय ही मेरी अस्वीकृति उन्हें बुरी लगी होगी, किन्तु वे इतने गम्भीर थे, कि कुछ बोले नहीं।

फिर महामडल से साप्ताहिक या पाक्षिक एक सस्कृत

"सुप्रभातम्" पत्र निकला। हमारे पं० विन्ध्येश्वरी प्रसादजी शास्त्री जो अब तक त्रैमासिक 'आर्यमहिला' के सम्पादक थे वे उसके सम्पादक हुए। अतः 'आर्यमहिला' का सम्पादन भार भी मुझे ही मिला। तीसरे महीने लेखों का सम्पादन करके उसे निकालना था। मेरे लिये कोई बड़ा काम नहीं था। मैं एक उदासीन की भाँति वहाँ दो तीन घन्टे का काम कर आता। एक या दो सहायक भी मेरे थे। महामंडल में ऊपर क्या होता है, इन बातों की न मैंने कभी जिज्ञासा की न रुचि ही ली। मुझे अपने काम से काम।

अब मुझे ठीक तो स्मरण नहीं रहा। वहाँ कई ट्रस्ट थे, कई सभा समितियाँ थीं, कई कोश थे महामाया ट्रस्ट या किसी अन्य ट्रस्ट की बैठक हुई। उसकी कार्यवाही किसी ने मुझे छापने को दी, मैंने उसे "आर्य महिला" में छाप दिया। श्रीजी स्यात् कुछ प्रस्तावों को छपवाना नहीं चाहते। जिसे छापने को दिया उससे पूछा होगा—यह किसने छपा दिया। अपने को बचाने को उसने कह दिया होगा मुझे पता नहीं ब्रह्मचारीजी ने छाप दिया।"

अब मेरी बुलाहट हुई। मुझसे पूछा गया—"तुमने अमुक प्रस्ताव क्यों छापा? मैंने कह दिया—"मुझे किसी ने दे दिया, मैंने छाप दिया।" इस पर श्री जी ने कहा—"तुमको जो भी छापना हो, मुझसे पूछकर छापना चाहिये।"

यह मेरे आत्मसम्मान के विरुद्ध था, मुझे क्रोध आ गया। मेरी मूर्खता थी, मुझे क्रोध न करके स्पष्ट कह देना चाहिये था आगे से पूछकर छापा करूँगा। किन्तु युवावस्था की आंधी, सम्पादक पने का अहंकार। मैंने उत्तेजित होकर कहा—"मैं कोई बच्चा हूँ क्या जो आप से पूछकर छापूँ? मैं सम्पादक हूँ, जो मेरे मन में आवेगा वह छापूँगा।"

यह सुनकर उन्होंने क्रोध नहीं किया, वे तो देशकाल देखे थे। मुझ जैसे कितने लोगों को उन्होंने चराया था। वे सूखी हँसी हँसकर बोले—"हैं, हैं, बच्चा, हमारे लिये तो तुम बच्चे ही हो भैया!" इसी प्रकार एक दो बात प्रेम की करके मुझे विदा किया। उस दिन उन्होंने समझ लिया यह व्यक्ति हमारे चंगुल में फँसने वाला नहीं। हमारे काम के अयोग्य है। कुछ दिन तो वे कुछ भी न बोले। मैंने समझा बात गयी आयी हो गयी, किन्तु वे समझ गये यह विरोधी है। अतः एक दिन मुझे मन्त्री का पत्र मिला—"आपको सम्पादक पद से निवृत्त किया जाता है। आप चाहें तो शास्त्र प्रकाशन विभाग में कार्य कर सकते हैं।"

मैं आवेश में भरा हुआ श्रीजी की सेवा मे धड़धड़ाता चला गया। वे आराम कुर्सी पर बैठे थे। मेरी आकृति को ही देखकर समझ गये, यह लड़ने के लिये आया है। किन्तु वे तो घुटे मुड़े थे, न जाने कितने ऐसे लोगों से वे निबट चुके थे। सूखी हँसी हँसकर उन्होंने मेरा अभिनन्दन किया। आवेश में न जाने मैं क्या क्या कह गया। वे शान्त गम्भीर बने सब सुनते रहे फिर हँसकर बोले—"शास्त्रप्रकाशन विभाग में काम करने मे आपको क्या आपत्ति है?" मैंने कहा—"मुझे महामण्डल में काम करना ही नहीं है, किन्तु यह क्यों लिखा कि आपको निवृत्त किया जाता है।"

वे हँसकर बोले—"मन्त्री ने लिख दिया होगा। आप चाहें जहाँ काम करें।" मैंने कहा—"मुझे करना ही नहीं। मैं त्याग पत्र देता हूँ।" वे बोले—"अच्छी बात है, त्याग पत्र ही लिखकर दे दीजिये।"

मैंने अपने आँसू पोंछने को त्याग पत्र लिखकर दे दिया।

इसके पश्चात् जो महामण्डल छोड़ा, अबके ५० वर्षों पश्चात् उसमें गया।

अबके जाकर मैंने देखा वह भवन श्रीहीन हो रहा है। स्वामी ज्ञानानन्द जी की जटायें एड़ियों का चुम्बन करती थीं। उनकी आकृति से भी लम्बी दाढ़ी भूमि पर लटकती थी, गौर वर्ण, सेब की भाँति लाल चेहरा मुखमंडल पर चतुरता की छटा स्पष्ट प्रतीत होती थी। उनके यहाँ से जो गया। उनके विरुद्ध हो गया। सैकड़ों भाँति-भाँति के अभियोग चले बहुतों में हारे बहुतों में जीते। लगभग सौ वर्ष की आयु में उन्होंने इस नश्वर शरीर का परित्याग किया। उनके शिष्य स्वामी दयानंदजी उनसे पहिले ही चल बसे थे। उनके कुछ अनुयायी कुछ स्वार्थ परायण लोगों को छोड़कर जनता में उनका आदर नहीं था। पत्रों मे उस संस्था को कुख्यात संस्था और स्वामी जी को कुख्यात बाबा लिखा जाता था। वे अपने ढङ्ग के निराले ही थे। इतने विरोधों के रहते हुए भी वे अपनी दिनचर्या मे अटल रहे। उनके शिष्य सेवकों मे बहुत से राजे महाराजे थे और विरोधियों मे बड़े-से-बड़े लोग थे। किन्तु उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सका।

मैंने भी महामंडल छोड़ने पर उनके विरुद्ध 'महामंडल स्वामी ज्ञानानन्द का कमडलु' एक छोटी सी पुस्तक लिखी। जिसे राजा साहब खेतरी ने अपने द्रव्य से छपाया और सूर्य प्रेस में छपी। राजा साहब स्वामीजी के प्रबल विरोधियों में से थे।

महामंडल छोड़ने पर मुझे आर्थिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। गोपाल मन्दिर से एक 'वैष्णव वैभव' मासिक पत्र निकलता था। उसके सम्पादक हरिशंकर शास्त्री गुजराज में किसी शिक्षा निरीक्षक के पद पर चले गये मैं उसका संपादक नियुक्त हुआ। बाबू कृष्णदासजी उसके मंत्री थे। बड़े ही

सज्जन भगवत्भक्त देश काल के ज्ञाता तथा सस्थाओं के कार्य मे कुशल हैं। ५० वर्ष के पश्चात् गत वर्ष उन्होंने मुझे श्रीवल्लभ जयन्ती पर बुलाया था। परस्पर मिलकर हम बडे प्रसन्न हुए। वे बोले—"ब्रह्मचारी जी से आज ५०-५२ वर्ष के पश्चात् मिल कर हम अपने को इस ७५ वर्ष की अवस्था में भी २५ वर्ष का अनुभव कर रहे हैं।"

स्वामीजी के विरुद्ध पुस्तक लिखकर मैंने अच्छा काम नहीं किया। मुझे किसी की निन्दा स्तुति कभी नहीं लिखनी चाहिये थी। किन्तु उस समय युवावस्था का उन्माद था। मुझे अपने सदाचारी देशभक्त होने का अभिमान था। उसी अभिमान और उन्माद के आवेश में न लिखने योग्य पुस्तक मैंने लिख दी। उसका मुझे पश्चात्ताप है।

जेल में तो राजनैतिक पुरुषों के आचरण देखकर राजनैतिक नेताओं से विरक्ति हुई थी। यहाँ काशी में लेखकों, कवियों, प्रकाशकों और सस्थाओं के सचालकों के आचरणों को देखकर विरक्ति हुई। बडे बडे लेखक, कवि, सपादक सुरा सुन्दरी सेवी थे। वे प्रकाशकों के सम्मुख गिडगिडाते रहते थे। पैसों के लिये उनमे जो चाहो लिखा लो। मुझे पैसा का लोभ कभी भी नहीं हुआ। साधु होने पर भी एक महान् दुर्बलता मुझ मे यह रही और वह अब भी है कि भोजन के लिये किसी के सम्मुख हाथ फैलाने में मुझे अत्यन्त ही लज्जा लगती है। इसीलिये मुझे साहित्यिक जीवन अपनाना पडा। किन्तु अब मेरी इस कार्य से अत्यन्त विरक्ति हो गयी। मैंने सोचा—'मैं किसलिये यह कार्य कर रहा हूँ। पेट ही तो भरना है। गृहस्थी मुझे चलानी नहीं। जैसे मैं चाहता हूँ वैसे त्यागी विरागी साथी मिलते नहीं। इस लिये सब छोड़ छाडकर हिमालय की कन्दराओं में चल कर

रहें। जंगली कन्द मूल फलों से निर्वाह करते हुए हिमालय में रहकर पक्षियों की भाँति जीवन को बिता दें। यही निश्चय करके जीवन भर लेखनी से कागद पर न लिखने की प्रतिज्ञा करके मैं गंगा किनारे-किनारे पैदल ही अपने इन्द्र और गोविन्द दो साथियों को लेकर हिमालय की ओर चल पड़ा। अब गंगाजी के किनारे और हिमालय के अनुभव अगले संस्मरणों में पाठकों को पढ़ने को मिल सकते हैं।

छप्पय

आयु, कर्म अरु वित्त, निधन, विद्याहु भाग्यवश।
मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति पाइँ नर विवश करमवश॥
है नहिं ये परमार्थ भोग करमनि के जानो।
परमारथ शुभ अशुभ उभय तें न्यारो मानो॥
लोकसंग्रही, प्रचारक, नेता, वक्ता जगत में।
परमशान्ति पावैं नहीं, इनि संसारिनि नरनि में॥

भाद्र० शु० राधाष्टमी
संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

प्रभुदत्त

सर्वमय आत्मा की कर्मानुसार विभिन्न गतियाँ

(२५२)

तद् यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतर रूप तनुत एवमेवायमात्मेदꣳशरीर निहत्याविद्या गमयित्वान्यन्नवतर कल्याणतरꣳरूप कुरुते पित्र्य वा गान्धर्व वा दैव वा प्राजापत्य वा ब्राह्म वान्येषा वा भूतानाम् ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ४ ब्रा० ४ म०)

छप्पय

आत्मा मन, विज्ञान, प्राण, पृथिवी, तेजोमय ।
चक्षु, श्रोत्र, जल, वायु अतेजोमय अक्रोधमय ॥
काम, क्रोध अरु धर्म विरुध सबके अधर्म मय ।
कहें कहाँ तक जीव आतमा सकल सर्वमय ॥
जो पराक्ष प्रत्यक्ष है, जगत माहिं वह सकल है ।
शुभ करमनि को श्रेष्ठ फल, अशुभनि का फल अशुभ है ॥

---

* जैसे कि कहा गया है—'सुनार जिस प्रकार सोने की मात्रा लेकर (उसे अग्नि में पका कर उससे) दूसरे अन्य नवीन कल्याणतर रूप को बना देता है, उसी भाँति यह आत्मा इस शरीर को मृतक बना कर—अचेतनावस्था—अविद्या—को प्राप्त करा के अन्य पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य प्राणियों में नूतन कल्याणतर रूप की रचना करता है।'

प्रधान वस्तु एक होती है नाम और आकृति के कारण वह भिन्न-भिन्न सी प्रतीत होने लगती है। जैसे शर्करा एक ही है। हाथी, घोड़ा, ऊँट बछेड़ा के साचों में ढाल देने से भिन्न-भिन्न रूप और नाम रखने से वे चीनी के खिलौने भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। मृत्तिका एक ही है, उसके बने नाना पात्र नाम और आकृतियों के कारण भिन्न-भिन्न नाम वाले बन जाते हैं, सुवर्ण एक ही है, सुवर्णकार उस सुवर्ण को गलाकर भिन्न-भिन्न आकृति के आभूषण बनाकर उनके केयूर, कटक, हार, अंगुलीय तथा कुंडलादि नाम रख देता है। सूत्र एक ही हैं, किन्तु उन सूत्रों को विविध रंगों मे रंगकर ताना-बाना छोटा बड़ा बनाकर उसके धोती, अँगोछा, दुपट्टा, पगड़ी तथा उत्तरीय आदि अनेक नाम रख लेते हैं। ऐसे ही समस्त प्राणियों में जीवात्मा तो एक ही है। कर्मानुसार पुण्य तथा पापों के फलस्वरूप जीवात्मा विभिन्न योनियों मे जाता है। जिस योनि में प्रवेश करता है, उस योनि के ही अनुसार उसकी आकृति प्रकृति बन जाती है। उसी के अनुसार नाम में उसकी आसक्ति हो जाती है पाप कर्मों से सूकर, कूकर आदि अधम योनियाँ मिलती हैं, पुण्य कर्मों के फलस्वरूप वहीं देवता, गन्धर्व तथा विद्याधर आदि देवयोनियों में चला जाता है। यदि वह पुण्य पाप से रहित होकर निष्काम हो जाता है, तो मोक्ष का अधिकारी बनता है। मनुष्ययोनि तिराहा है। यहाँ से नीच योनियों में भी जाते हैं, उच्चयोनियों में भी जाते हैं और यहीं से मुक्त भी हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह आत्मा कर्मानुसार जिस योनि में प्रवेश करता है, उसी की आकृति के अनुसार अपनी भी आकृति बना लेता है। जैसे चींटी के शरीर से हाथी के शरीर

में गया तो अपना आकार हाथी के सदृश बना लेगा। मृत्यु कोई अपूर्व वस्तु नहीं है, रूपान्तर की अवस्था मात्र है। एक प्रकार की चिरनिद्रा है। निद्रा मे पुरुष अचेत हो जाता है, किन्तु निद्रा खुलने पर पुनः चेत जाता है। मृत्यु में अत्यन्त विस्मृति हो जाती है। वहाँ अचेतनावस्था अधिक काल की होती है। इस पहिले शरीर को अचेतन करके जीवात्मा दूसरे शरीर मे प्रवेश कर जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आत्मा इस मर्त्यलोक की मानवीय देह का परित्याग करके स्वर्गादि पुण्यलोक की देवतादि दिव्य योनियों मे कैसे चला जाता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! एक सुनार है, उसे किसी ने एक बहुत मैला, पुराना, जीर्ण शीर्ण, काले रग का हार दिया और कहा– 'इसका नवीन सुन्दर हार बना दो।" सुनार ने उस कुरूप काले पुराने हार को अग्नि में तपाकर उसका मल निकाल दिया। जब विशुद्ध खरा सुवर्ण शेष रह गया, तब उसका नवीन अत्यन्त सुन्दर, चमकीला, नाना प्रकार से चित्र विचित्र रचनाओं से रचकर उसमे हीरा, पन्ना, नीलम पुखराज जडकर बहुत ही सुन्दर हार बना दिया। यद्यपि सुवर्ण वही है उसे विशुद्ध करके नवीन रूप देकर अधिक सुन्दर–कल्याणतर–रूप की उसी से रचना कर दी। इसी प्रकार मनुष्य शरीर मे रहने वाला जीवात्मा तो वही है। अधिक पुण्यो के कारण–तपादि सत्कर्मों के प्रभाव से उस पुराने पहिले शरीर को नष्ट करके जीवात्मा दिव्य शरीरों में प्रवेश कर जाता है। जैसे कर्म हों, उन कर्मों के ही अनुसार वह कभी पितरो की योनि में जाकर कव्य को खाने लगता है, कभी गन्धर्व देह मे जाकर संगीत के सुख का अनुभव करता है, कभी देवता शरीर मे दिव्यरूप से अमृत का

पान करने लगता है, कभी प्रजापति बनकर प्रजाओं की करता है और कभी ब्रह्मा बनकर चराचर विश्व की सृष्टि करने लगता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! यह आत्मा है क्या ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! आप निश्चय करके जान लें वह यह आत्मा ब्रह्म है। यह प्राणों में विज्ञानमय है। यह आत्मा मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, तथा सर्वमय है। जो भी कुछ प्रत्यक्ष परोक्ष है सब वही है।"

शौनकजी ने पूछा—"विज्ञानमय कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"विज्ञान बुद्धि को कहते हैं। बुद्धि तो जड़ है, किन्तु जब बुद्धि का आत्मा से संसर्ग हो जाता है, तो यह बुद्धिमय-बुद्धि से युक्त हो जाता है। यह विज्ञान धर्म वाला-सा प्रतीत होने लगता है।"

शौनक—"मनोमय कैसे है ?"

सूत—"वास्तव में आत्मा का मन से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु शरीर सम्बन्ध से मन की सन्निधि के कारण यह मनोमय सा प्रतीत होता है।"

शौनक—"प्राणमय कैसे है ?"

सूत—"जीवात्मा चैतन्य है, किन्तु शरीरों में प्राण क्रिया के साथ प्रवेश करने से और शरीर त्याग के समय प्राणों के साथ निकल जाने से यह प्राणमय-सा प्रतीत होता है।"

शौनक—"यह चक्षुमय कैसे है ?"

सूत—"चक्षु से और आत्मा से कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं

है। शरीरों में जब यह चक्षु द्वारा रूपों का ज्ञान करता है, तब यह चक्षुमय कहलाने लगता है।"

शौनक—"यह श्रोत्रमय कैसे है ?"

सूत—"इसी प्रकार आत्मा का श्रोत्र से नित्य सम्बन्ध नहीं। जब यह शरीर में कानों के द्वारा शब्दों को सुनने लगता है, तो यह श्रोत्रमय सा हो जाता है। इसके शब्द श्रवण का श्रोत्र उपकरण है।"

शौनक—"यह आत्मा गन्धमय कैसे है ?"

सूत—"जब यह शरीर संसर्ग से घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्धों को सूंघने लगता है। तब यह घ्राणमय-सा हो जाता है।"

शौनक—"यह रसमय कैसे है ?"

सूत—"जब यह रसना द्वारा खट्टे, मीठे, चरपरे आदि षड-रसों का रसना द्वारा आस्वादन सा करने लगता है, तब वह रस-मय हो जाता है। इसी प्रकार मृदुल कठोरादि के स्पर्श से स्पर्श-मय हो जाता है।"

शौनक—"यह पृथ्वीमय कैसे है ?"

सूत—"स्थूल शरीर के कारण जीवात्मा पृथ्वीमय सा प्रतीत होने लगता है। पार्थिव देह के कारण भी।"

शौनक—"यह जलमय कैसे है ?"

सूत—"शरीर में जो रक्त, वीर्य, श्लेष्म, मूत्रादि द्रवमय पदार्थ है, उनके कारण यह जलमय हो जाता है। जलीय शरीर धारण करने के कारण भी।"

शौनक—"यह वायुमय कैसे है ?"

सूत—"शरीर में जो प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, कृकल, धनञ्जय, देवदत्त, नाग और कूर्म नाम के जो दश भीतर के प्राण हैं और बाहर की जो वायु भीतर जाती आती रहती है।

इन भीतर बाहर की वायु के कारण यह वायुमय कहलाता है। भूत प्रेतादि वायुमय शरीर धारण करने से भी।"

शौनक –"यह आकाशमय कैसे है ?"

सूत—"शरीर के भीतर उदरादि रिक्त स्थानों में जो अवकाश है इस कारण इसे आकाशमय कहते हैं। आकाशमय शरीर के कारण भी।"

शौनक—"यह तेजोमय कैसे है ?"

सूत—"सम्पूर्ण शरीर में जो पित्त के कारण उष्णता है, उस उष्णता से ही शरीर जीवित रहता है। जब उष्णता समाप्त हो जाती है, शरीर ठंडा पड़ जाता है। मृत कहलाने लगता है। इस आभ्यान्तर उष्णता के कारण ही यह तेजोमय है और देवतादि तेजोमय शरीरों के कारण भी।"

शौनक—"यह अतेजोमय कैसे है ?"

सूत—"बिना तेज के तो कोई शरीर ही नहीं। किन्तु तेज की न्यूनता अधिकता के कारण ही तेजोमय अतेजोमय शरीर होते हैं। जैसे जो दर्पण जितना ही निर्मल होगा उसमें आत्म दर्शन उतना ही स्पष्ट होगा। जो जितना ही मलिन होगा उसमें उतना ही प्रतिबिम्ब मलिन दिखायी देगा। इसी प्रकार देवतादि शरीर अत्यन्त दिव्य होने से तेजोमय शरीर कहलाते हैं। पशु पक्षी तथा नारकीय शरीर अदिव्य होने से अतेजोमय कहलाते हैं। जीवात्मा तेजोमय शरीरों में जाने से तेजोमय और अतेजोमय शरीरों में जाने से अतेजोमय कहलाता है।"

शौनक—"यह काममय कैसे है ?"

सूत—"जब जीव अज्ञान से विमोहित होकर कहता है यह मैंने किया, मैंने अपने शत्रुओं को मार डाला है, शेष जो बचे हैं, उन्हें भी मारूँगा। यह वस्तु मैंने प्राप्त कर ली है अन्य काम्य

वस्तुओं को मैं प्राप्त कर लूँगा। ऐसा जब अज्ञानी, योनियों में जाता है तब यह काममय हो जाता है।"

शौनक—"अकाममय यह कैसे है ?"

सूत—"ज्ञान प्राप्त होने पर कामनाओं मे दोष देखने के कारण जब कामनाओं से निवृत्त हो जाता है, तब यह अकाममय बन जाता है।"

शौनक—"क्रोधमय अक्रोधमय कैसे है ?"

सूत—"जब सर्प सिंहादि योनियों में जाकर कामना के विघात होने से यह अत्यन्त क्रोधमय बन जाता है। जब सर्व अनुकूल होने से युक्तावस्था प्राप्त होने पर सुखी हो जाता है तब यह अक्रोधमय हो जाता है।"

शौनक—"यह धर्ममय अधर्ममय कैसे है ?"

सूत—"जब धर्म मे प्रवृत्ति होने के कारण ब्राह्मणादि योनि मे धर्माचरण करने लगता है तब धर्ममय हो जाता है। इसके विपरीत जब श्वपच चाडालादि योनियो में अधर्म करने लगता है, तब अधर्ममय बन जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह आत्मा सर्वमय है जो भी कुछ इन्द्रियों द्वारा इङ्गित किये जाना इद मय है-प्रत्यक्ष है-और जो परोक्ष में सकेत से बताया जाने वाला अदोमय है, वह सब आत्मा ही आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जिस समय जैसा आचरण करता है, यह वैसा ही बन जाता है। जब शुभ कर्म करता है तब पुण्यात्मा बन जाता है, पाप कर्म करने से यह पापात्मा कहलाता है। पुण्य और पाप के ही कारण पुण्यात्मा पापात्मा इसकी सज्ञा हो जाती है।"

इसी बात को कुछ लोग दूसरी प्रकार कहते हैं। उनका कहना है, यह पुरुष कामनामय ही है। जिन जिन की कामना करता है, उन-उन कामनाओं को प्राप्त करके उनके अनुरूप ही

सूतजी ने कहा—"लोकों मे गमनागमन तो कामनाओं के ही कारण हुआ करता है। जिसकी कोई कामना ही नहीं। जिसका कोई सकल्प ही नहीं ऐसा अकाम पुरुष निष्काम हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"निष्काम क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जिसके मन से अच्छी बुरी, धर्म अधर्म की समस्त कामनायें निकल गयी हैं, उसे ही निष्काम कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"निष्कामता कैसे होती है ?"

सूतजी ने कहा—"निष्कामता तृप्ति से होती है। जिसे गो-रस यथेष्ट नहीं मिलता उसकी जिह्वालोलुपता बनी ही रहती है, पेट भरने पर भी उसका मन भाँति-भाँति की वस्तुओं पर चलता ही रहता है। जिसे यथेष्ट गोघृत, गोदुग्ध, गोदधि नवनीत आदि मिलते हैं। उसको यथेष्ट तृप्ति हो जाती है। उसकी जिह्वा-लोलुपता शान्त हो जाती है। इसी प्रकार अकाम निष्काम होने से पुरुष आप्तकाम हो जाता है। उसकी समस्त कामना ही परि-पूर्ण हो जाती है, वह सब ओर से परितृप्त हो जाता है। उसे फिर किसी भी प्रकार की कामना नहीं रहती।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! शरीर रहते कामना न रहे यह सभव नहीं। कोई न कोई कामना तो रहती ही होगी ?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, अकाम निष्काम पुरुष की भी एक कामना रहती है आत्मा की कामना। उसकी क्रीडा करने की कामना होती है, तो आत्मा के ही साथ क्रीडा करता है, उसकी रति की इच्छा होती है, तो आत्मा के साथ ही रति करता है, उसे स्पर्श की इच्छा होती है, तो ब्रह्म का ही स्पर्श करता है। जिसे भर पेट मिश्री खाने को मिल जाय, वह लौटा, गुड आदि समल पदार्थ खाने की इच्छा क्यों करेगा ? आत्मा के सदृश सुखद वस्तु अन्य कहीं है ही नहीं। इसीलिये ऐसा आत्मकाम

शरद जोशी

जन्म : 21 मई 1931, उज्जैन (म० प्र०)

शिक्षण : यहाँ वहाँ, पता नही कहाँ-कहाँ। अन्त मे होल्कर महावि इन्दौर से बी.ए.

आत्मक्रीड़ा, आत्मरति, आत्मस्पर्शी पुरुष फिर किसी प्रकार की कामना नहीं करता।"

शौनकजी ने पूछा—"ऐसा आत्मकाम पुरुष मरकर किस लोक मे जाता है ?"

सूतजी ने कहा—"ऐसे आत्मकाम पुरुष के प्राण अन्य किसी भी लोक मे उत्क्रमण नहीं करते। वह ब्रह्म ही रह कर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् उसकी ससार चक्र से मुक्ति हो जाती है। वह आवागमन से रहित हो जाता है।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब मुक्ति के सम्बन्ध मे विशेष बातें मैं अगले प्रकरण में कहूँगा। आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।

छप्पय

बहुतनि जिह सिद्धान्त काममय पुरुष कहावै।
करै कामना जसहिँ तसहिँ सोचै बनि जावै॥
होवै जस सकल्प करम-फल तैसे होवै।
जामें मन आसक्त पाइ फल पनि जग जोवै॥
कछु जाकें नहिँ कामना, आप्तकाम निष्काम वर।
आत्मकाम नहिँ काम कछु, ब्रह्म ब्रह्म ही प्राप्त नर॥

ब्रह्मवेत्ता का अनुत्क्रमण

[२५३]

तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ४ ब्रा० ७...मन्त्राश)

छप्पय

होत कामना नाश अमृत जा जग ई होवै।
ब्रह्म प्राप्त तिहिं होइ सरप ज्यों कैंचुल खोवै॥
कैंचुल मृत-तन सरिस परी अहि मोह करै नहिं।
त्यों ज्ञानी है अमृत देह कूं फेरि भजै नहिं॥
'अमृत प्राण ही ब्रह्म है, वही तेज' सुनि जनक नृप।
कहैं—सहस धन देउँगो, आपु ब्रह्मवित द्विज अधिप॥

यह जो जन्म-मरण का चक्कर है ससार की ससृति है वह अज्ञान जन्य है। आवागमन अज्ञान में ही सम्भव है ज्ञान प्राप्त होने पर कहीं जाना है न आना है प्रेम की वशी बजाते रहना। दो वस्तु

इस विषय मे यह श्लोक है—जिस समय इस पुरुष के हृदय मे आश्रित समस्त कामनायें छूट जाती हैं, तो अब तक जो मर्त्यधर्मी कहलाता था, वह अमृत हो जाता है। ऐसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष को इसी में ब्रह्म की प्राप्त हो जाती है।

हैं, दोनों का परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध है। शरीर है और शरीर के ढकने को वस्त्र हैं। वस्त्र पहिना ही व्यक्ति सुशोभित होता है, किन्तु वस्त्र शरीर नहीं हैं। शरीर के ढकने का उपकरण है। एक खड्ग है और जिसमे खड्ग रखी रहती है उसका एक कोश (म्यान) है। किन्तु कोश ही खड्ग नहीं। खड्ग मुख्य है, कोश उसे ढकने का उपकरण है। जैसे कोई पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रो को धारण कर लेता है, तो पुराने वस्त्रों के लिये पश्चात्ताप नहीं करता। जैसे खड्ग के पुराने कोश को बदलकर नया कोश लगा लेता है, तो इससे खड्ग की तो कोई हानि नहीं होती। इसी प्रकार जीवात्मा पुराने-पुराने शरीरों का परित्याग करके नये शरीरों में प्रवेश करे तो इसमे दुःख मनाने की क्या बात है? शरीर तो वासना के अनुसार—कामनाओं के कारण—शुभाशुभ कर्मों के फला के उपभोग के लिये धारण करने पड़ते हैं। जो वासनाहीन हो चुके हैं। जो सुख दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों मे सम हो चुके हैं। जिनके लिये अच्छे-बुरे का, खोटे-खरे का, अपने-पराये का कोई भेद ही नहीं रहा। उसे शरीर धारण करने की आवश्यकता ही क्या है। जो ब्रह्मभूत हो चुका है, जिसके लिये शोक करने का कोई कारण ही नहीं रहा, जो विशोक बन चुका है। जो सदा प्रसन्न ही बना रहता है। जो न तो किसी वस्तु के लिये चिन्ता ही करता है, न किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा ही रखता है जो सुख-दुखादि द्वन्द्वों से सदा रहित हो गया है, जो तीनों गुणों से ऊपर उठकर निर्गुण नित्य सत्त्व में ही वर्तमान रहता है। जिसे अपने योगक्षेम की अणुमात्र भी कभी-स्वप्न में भी—चिन्ता नहीं रहती ऐसा अकाम, निष्काम, आप्तकाम तथा आत्मकाम आत्मवान् ज्ञानी पुरुष पुनः शरीर धारण किसलिये करेगा? क्यों वह माता के

र्भवास का क्लेश उठायेगा ? वह तो ब्रह्मवित् है, ब्रह्मवित् तो ह्म के समान ही हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आप्तकाम ब्रह्मवेत्ता को पुनः रीर धारण नहीं करना पड़ता। वह ब्रह्म के समान ही अमृत-जर अमर हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता पुरुष के सम्बन्ध में एक ति प्रसिद्ध प्राचीन मन्त्र है। उसका भाव यही है कि साधारण रुषों के हृदयों में नाना प्रकार की कामनायें उठती रहती हैं। जिस समय हृदयगत समस्त कामनायें जिस पुरुष की नष्ट हो जाती हैं, तब फिर वह पुरुष मरणधर्मा नहीं रहता। इस पृथ्वी लोक को मृत्युलोक कहते हैं। इसमें जीव मरते हैं और जन्म लेते हैं, अतः इस लोक के प्राणी–मर्त्य-मरणधर्मा मृत्युशील–कहलाते हैं। मरना और जन्मना कामनाओं-वासनाओं–शुभाशुभ कर्मों के फलों के उपभोगों–के ऊपर निर्भर है। जब कामनायें छूट गयीं, तो जन्म-मृत्यु का चक्कर भी छूट गया। फिर उसे ब्रह्म प्राप्ति के निमित्त अन्य शरीर धारण नहीं करना पडता। उसको इसी लोक में इसी शरीर से ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। उसे फिर इस शरीर में तनिक भी मोह नहीं रहता।"

शौनकजी कहा—"सूतजी ! बहुत दिन एक घर में रहते हैं, तो उस घर की दीवालों से भी मोह हो जाता है, तो ज्ञानी इतने वर्षों इस शरीर में रहा है। इसमें रहकर नाना साधन किये हैं, फिर इसे त्यागते समय मोह क्यों नहीं होता ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! मोह तो अज्ञान जन्य है। जब ज्ञान हो गया तब भला मोह कैसे रह सकता है। अन्धकार तो तभी तक रहता है जब तक ज्ञान रूप सूर्य उदय न हो। सूर्य के उदय होने पर लाठी लेकर अन्धकार को भगाना नहीं पडता वह तो स्वतः ही विलीन हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान होने पर

देह का मोह कैसे रह सकता है। देखिये, सर्प के शरीर पर ऊपर की खाल चढ़ी रहती है। ऊपर की खाल पक जाने पर सर्प ऊपर की खाल को-केंचुल को-छोड़कर चला जाता है। उससे तनिक भी मोह नहीं करता। ज्ञानी के लिये यह शरीर सर्प के केंचुल के ही सदृश है। आत्मा शरीर नहीं है, वह तो अशरीर है। अमृत है प्राण ही ब्रह्म है, वही तेज है। क्यों है न ?"

जनक ने कहा—"भगवन्! आपने मुझे अमृत ब्रह्म का उपदेश दिया, मैं उसके उपलक्ष्य में दक्षिणा स्वरूप आपके श्री चरणों में सहस्र गौएँ अर्पण करता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! संसार मे पुनः-पुनः प्राप्त कराने वाली सांसारिक विषय भोगों की कामनायें ही हैं, जो ब्रह्मवेत्ता है, उसे संसार मे पुनः आना नहीं पड़ता। वह तो संसार के बन्धन से-सदा-सदा के लिये-मुक्त हो जाता है। इस विषय में प्राचीन काल से एक सूक्ति-मन्त्र रूप में-चली आती है उसका भाव यह है कि "ज्ञानमार्ग कोई नूतन मार्ग नहीं। यह सनातन पथ है और अत्यन्त ही सूक्ष्म है। यह संकुचित न होकर महान् विस्तृत पथ है। इसकी छोटी सीमा नहीं परम विस्तीर्ण है। यह ब्रह्म का मार्ग है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म का स्पर्श करता है। ब्रह्म स्पर्श का फल ज्ञान की प्राप्ति है। अतः ब्रह्मस्पर्श का फल साधकज्ञान ब्रह्मवेत्ता ने प्राप्त कर लिया है। ब्रह्मवेत्ता धीर पुरुष को इसी शरीर से इसी लोक में मुक्ति का आनन्द प्राप्त हो जाता है। जैसे पुण्यात्मा पुरुषों को मरकर ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है, पापात्मा पुरुषों को मरकर ही नरक प्राप्ति होती है, वैसे ब्रह्मवेत्ता को मरकर ही मुक्ति सुख मिलता हो, सो बात नहीं। उसे तो इसी लोक में जीते-जी ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, जीते हुए ही वह जीवन्मुक्त बन जाता है। तदनन्तर

वह शरीर त्यागकर स्वर्गलोक को-परब्रह्म परमात्मा के लोक को-प्राप्त होते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! स्वर्गलोक का तो अर्थ देव लोक है, फिर आप भगवल्लोक क्यों बता रहे हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वर्ग लोक का अर्थ देवलोक तो है ही। कहीं-कहीं स्वर्ग लोक भगवल्लोक के अर्थ में भी व्यवहृत होता है, जैसे पीछे कठोपनिषद् में यमराज से नचिकेता ने कहा था—"स्वर्ग लोक में किंचित् भी भय नहीं है। वहाँ पर हे यमराज! तुम्हारी भी दाल नहीं गलती, वहाँ वृद्धावस्था भी किसी को नहीं डराती। स्वर्गलोक में रहने वाले पुरुष क्षुधा पिपासा इन दोनों को पार करके शोक रहित होकर परम आनन्द का उपभोग करते हैं।" यहाँ स्वर्ग से अभिप्राय मुक्ति से ही है। स्वर्ग तो क्षयिष्णु लोक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मुक्ति मार्ग कैसा है? इसका वर्ण कौन सा है?"

सूतजी ने कहा—"मुक्ति मार्ग के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मुनियों के भिन्न भिन्न मत हैं। पीछे छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है—"निश्चय ही ये सूर्य पिङ्गल हैं, शुक्ल वर्ण हैं, कृष्ण रक्त तथा पीत वर्ण हैं।" इस प्रकार कोई शुक्ल वर्ण बताते हैं कोई नील, पिङ्गल, हरित तथा लोहित कहते हैं। वास्तव में देखा जाय, तो ये वर्ण तो नाड़ियों में भरे विभिन्न रसों के वर्ण हैं। यह ब्रह्ममार्ग तो साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है। उस ब्रह्ममार्ग से सब कोई नहीं जा सकते। जिन्होंने तपस्या, यज्ञादि पुण्य कर्मों द्वारा अपने समस्त पापों को जला दिया है, जिनका अन्तःकरण परम पावन, निर्मल बन गया है ऐसे क्षीण पाप पुण्यात्मा पुरुष

ही परमात्म तेजस्वरूप ब्रह्ममार्ग से जाते हैं, वे ब्रह्मवित् ऋषि लाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! लोक में दो ही निष्ठायें कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा जिसे अविद्या निष्ठा और विद्या निष्ठा भी कहते हैं। इसी को ग्रहण मार्ग और त्याग मार्ग भी कहते हैं त्रयी विद्या कर्मकाण्ड द्वारा यज्ञयाग करते हुए इष्टापूर्तादि कर्मों को करना इसे अविद्या बताया है। कर्मों को बन्धन का कारण समझकर सब कर्मों का परित्याग कर देना इसे विद्या बताया है। आप के मत में अविद्या मार्ग कर्मकाण्ड मार्ग-मोक्ष का प्रधान साधन है या कर्मत्याग विद्यामार्ग मोक्ष का मुख्य साधन है?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! आपका कथन यथार्थ है। पीछे मुण्डकोपनिषद् में कर्मकाण्ड-अविद्या- को अदृढ़ा नौका कहा है। यज्ञों में कर्मों का बड़ा भारी विस्तार होता है। इस देश में सत्य, त्रेता और द्वापर युगों में सर्वत्र यज्ञों का ही विस्तार होता था। बड़े बड़े राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय श्रौतस्मार्त यज्ञ स्वर्ग की कामना से किये जाते थे। बड़े बड़े यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार प्रधान ऋत्विज् हुआ करते थे जो क्रमशः ऋक्, यजु, साम तथा अथर्वादि चारों वेदों के ज्ञाता होते थे। उन चारों के ३-३ सहायक-उपऋत्विज् होते थे। उनके नाम प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणच्छंसी, प्रस्तोता, अच्छावक, नष्टा, आग्नीध्र, प्रतिहर्ता, प्रावस्तुत, नेता, होता और सुब्रह्मण्य। इस प्रकार चार मुख्य और बारह सहायक ऐसे सोलह ऋत्विज बड़े यज्ञों में मुख्य होते थे ये यज्ञ कराने वाले थे और यजमानी सहित यजमान ये यज्ञ करने वाले होते थे। मुख्य अठारह व्यक्तियों से सम्पन्न होने के कारण यज्ञों को 'अष्टादशोक्तम्'

कहा गया है। संसार रूप समुद्र को पार करने को इस अठारहों द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्म को नौका बताया। किन्तु यह नौका दृढ नहीं है। कभी उस पार भी कर सकती है कभी बीच में डुबा भी सकती है। क्योंकि ये जो यज्ञादि कर्म हैं स्वर्गादि लोकों की कामना से ही किये जाते हैं इसलिये ये वर-श्रेष्ठ-न होकर अवर हैं। जो मूढ पुरुष हैं वे ही केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड की प्रशंसा किया करते हैं। इन्हें ही श्रेयमार्ग-कल्याण पथ-साधन मानते हैं, किन्तु वास्तविक बात यह है कि उपासना रहित केवल ये त्रयीमय सकाम कर्म केवल स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के ही हेतु होते हैं। इनसे जरा और मृत्यु का नाश नहीं होता ये बार बार मनुष्य लोक में जन्म और मरण का कारण होते हैं। अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर फिर मर्त्य लोक में ढकेल दिये जाते हैं। अतः उपासना रहित केवल सकाम कर्म अविद्या स्वरूप हैं इसके करने वाले एक प्रकार से अन्धतम नाम के लोकों में प्रवेश करते हैं। अर्थात् उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि सकाम कर्म तो अज्ञान के-मोह के-द्योतक हैं।"

अच्छा, जब वेदत्रयी विहित कर्म अज्ञान के द्योतक हैं अविद्या हैं, तो कर्मों का त्याग तो विद्या मार्ग है। पञ्चयज्ञ, नित्य नैमित्तिक समस्त कर्मों का त्याग तो फिर विद्या मार्ग हुआ सब कर्मों का परित्याग करके ही विचरण करे। इस पर कहते हैं। केवल कर्मों का त्याग करने से भी काम न चलेगा। क्योंकि अन्तःकरण की शुद्धि हुए बिना केवल शास्त्र विहित नित्य नैमित्तिक कर्मों का त्याग करके सन्यासी का वेष बना लेना यह सम्भव नहीं। जिसके षोडश संस्कार नहीं हुए, जिसने शास्त्र विधि से अग्निहोत्र का दीक्षा लेकर अग्नि सेवन नहीं किया-आहिताग्नि नहीं बना-उसके त्याग का अर्थ क्या हुआ? अग्नि का त्याग तो

वही कर सकता है, जिसने चिरकाल तक विधिवत् किया हो। जो संन्यास की केवल प्रशंसा सुनकर मोहवश कर्मों का परित्याग करके अपने को विद्वान् करके संन्यासी का मिथ्या वेष बना लेते हैं। उनका वह त्याग तामस त्याग कहलाता है। ऐसा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने गीतोपनिषद् में कहा है। ऐसे मिथ्याज्ञानी-विद्वान पुरुष यवनों जालमों-की भाँति शिखा सूत्रों का परित्याग करके को विद्वान बताते हैं, वे उन केवल कर्मकाण्ड में रत मूढ़ों से भी अधिक घोर अन्धकारमय निकृष्ट नरकों में जाते हैं। इसलिये जो केवल कर्मकांड में रत सकामी पुरुष हैं, वे ब्रह्मज्ञान से हीन हैं अविद्योपासक हैं और जिन्होंने अन्तःकरण की शुद्धि के पूर्व ही मोहवश वेद विहित कर्मों का आलस्य प्रमादवश परित्याग कर दिया है ऐसे विद्योपासक-मिथ्यात्यागी-अबुध हैं इन दोनों ही की दुर्गति होती है।"

शौनकजी ने पूछा—"इन लोगों को कौन-से लोकों की प्राप्ति होती है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवती श्रुति कहती है उन्हें अनन्दा-सुख रहित लोक प्राप्त होते हैं जो सदा अन्धकार से आवृत रहते हैं। ब्रह्मज्ञान शून्य और अबुध पुरुष मरकर उन अनन्दा लोकों में बार-बार आते जाते रहते हैं। इन दोनों की ही संसार के आवागमन से मुक्ति नहीं होती।"

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! मिथ्याज्ञानी मोहवश त्याग का ढोंग रचने वाले नरकादि लोकों में जायँ, यह तो उचित ही है, किन्तु जो वेद विहित यज्ञादि शुभ कर्मों को करते हैं, चाहें वे कर्म सकाम ही क्यों न हों, उनकी निन्दा क्यों की गयी ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! आप ही सोचिये यज्ञादि कर्म

करने मे जो वे इतना क्लेश उठाते हैं, वे किसलिये ? इसलिये कि मरने के अनन्तर हमें इस यज्ञ के फल स्वरूप स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति हो। स्वर्ग मे क्या है ? जो इस लोक मे आहार, मेथुनादि सुख हैं, वे ही सुख इन मर्त्यलोक के सुखों से उत्कृष्ट-दिव्य-हमें स्वर्ग मे भी प्राप्त हो। ये आहार मेथुनादि सुखों से आत्मा का तो कोई सम्बन्ध है नहीं। आत्मा तो स्वय आनन्द स्वरूप है। ये सुख तो देह को इन्द्रियों को अन्तःकरण को होते हैं। यदि पुरुष इस बात को जान ले, कि आत्मा देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, अन्तःकरण नहीं, प्राण नहीं। आत्मा तो इन सबसे विलक्षण है। और वास्तविक सुख आत्मसुख ही है, तो फिर किस फल की इच्छा के लिये इतना प्रपञ्च करे। फिर किस कामना से शरीर को सतप्त करेगा। आत्मा तो स्वय ही निरतिशय आनन्द स्वरूप है। आत्मज्ञानी पुरुष इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शरीर सुख का इच्छा क्यों करेगा ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब तक आत्मा का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक शरीर को ही सुखी बना ले, शारीरिक सुखों का ही उपभोग कर ले, इसमें क्या बुराई है ?"

हसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप भी ऐसी बात कहेंगे क्या ? किसी का भी शरीर कभी पूर्ण सुखी हो सकता है क्या ? शरीर तो कभी सुखी हो ही नहीं सकता। कोयले को कितना भी धोइये उसका कालिख छूटने की ही नहीं, क्योंकि काला होना उसका नसर्गिक स्वभाव है। सुख तो आत्मा का धर्म है। शरीर तो अनेकों अनर्थ का कारण है। इस शरीर सुख की इच्छा ने ही तो शरीर में स्थित आत्मा के विवेक-विज्ञान को दबा रखा है। जो पुरुष इस बात को भली भाँति जान गया है कि खड्ग और कोश की भाँति आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न

अज्ञानी की दुर्गति और ज्ञानप्राप्ति के साधन

[२५४]

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ४ ब्रा० १४ मं०)

छप्पय

तन में रहतहिँ आत्म ज्ञान तब होइ कृतारथ।
नहिँ जाने यदि आत्म होइ तब हानि यथारथ॥
जानि अमृत बनि जायँ दुःख अनजाने पावैं।
भूत भव्य ईशान जानि जीवनि न सतावैं॥
सवत्तर को चक्र यह, ज्योतिनि ज्योति अमृत सतत।
'आयु' नामतें देवगन, ताहि उपासन नित करत॥

इस पुरुष का संसार में आने का अर्थ--प्रयोजन क्या है ? इस संसार में आकर पुरुष को क्या क्या करना चाहिये ? क्या न करना चाहिये, इसका विचार करने के पूर्व पहिले इस बात पर विचार

---

* हम लोग यदि इस आत्मा को शरीर में रहते हुए ही जान लेते हैं तब तो ठीक है, यदि उसे नहीं जान पाते तो बड़ा अनर्थ हो जाता है। इस जिन्होंने जान लिया वे तो अमृत हो गये और इसके विपरीत जिन्होंने इसे नहीं जाना वे दुःख के भागी बन गये।

ो कि यह शरीर मिलता क्यों है ? यह शरीर पूर्वजन्मों के
गो को भोगने के लिये और ससार चक्र से बाहर होने के
ये मिलता है। हमारे जन्मजन्मान्तरो के सचित कर्मों में स
क जन्म मे भोग भोगने को जो कर्म मिलते हैं उन्हे प्रारब्ध कर्म
हते हैं। प्रारब्ध कर्मों का क्षय भोगो को भोगने से ही होता है।
चित और क्रियमाण कर्म तो ज्ञान हो जाने पर तत्काल इस
कार सबके सब नष्ट हो जाते हैं जैसे बड़े भारी रुई के ढेर मे
क चिनगारी आग डालने से वह सम्पूर्ण ढेर जलकर भस्म हो
ाता है, किन्तु प्रारब्ध कर्म ज्ञान हो जाने पर भी भोगने पडत
। जीवन्मुक्त पुरुष को भी प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगना पड़ता
। यह दूसरी बात है, वह अभिमान शून्य होकर भोगता है।

इससे सिद्ध यही हुआ कि प्रारब्ध कर्मों का क्षय करना और
स ससार क चौरासी के चक्कर से पृथक् होना इसी का नाम
ुरुषार्थ है। जीव जन्मजन्मान्तरों से मिथुन–जोडा–होता आया
। बिना मिथुन के बिना दो के–सृष्टि नहीं। मिथुन तो पशु-
ाक्षी और अज्ञ पुरुष भी होते हैं, किन्तु उनका मिथुन होना
न्धन का हेतु है। मिथुन बन्धन को काट सकने वाला जिस
उपाय से हो उसे धर्म कहते हैं। धर्मपूर्वक अर्थ प्राप्त किया
ाय, धर्मपूर्वक विवाह करके मिथुन हुआ जाय, यही पुरुष का
ुरुषार्थ है। अर्थात् धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ माने
हैं। जन्मजन्मान्तरों के सस्कारो के कारण जीव की कामोपभोग
की अभिलाषा स्वाभाविक है। जिसे काम भोग की इच्छा नहीं
वह तो जीवन्मुक्त है। किन्तु ये कामनायें पशु पक्षियों और अज्ञ
ुरुषों की भाँति अनियमित न हों। कामनायें जिस उपाय से
नियमित रहें उसी का नाम धर्म है। अर्थात् काम का उपभोग
ुरुषार्थ कब है, जब वह काम धर्मपूर्वक किया जाय। अर्थ

पुरुषार्थ कब है, जब वह धर्मपूर्वक किया जाय। धर्म कार्य किस अर्थ से सम्पन्न किये जायँ, जो धन धर्मपूर्वक न्यायोचित मार्ग से अर्जित हो। वैसे तो पशु-पक्षी तथा अज्ञपुरुष भी कामोपभोग करते ही हैं, कुछ-न-कुछ अर्थ का भी संचय करते हैं, किन्तु उनके काम और अर्थ पुरुषार्थ नहीं कहे जाते, क्योंकि वे धर्मपूर्वक अर्जित नहीं हैं। धर्म का अर्जन तो मनुष्य शरीर में ही सम्भव है। इसीलिये मनुष्य का दूसरा नाम साधक है। साधक का अर्थ क्या है? जो मोक्ष के लिये साधना करे। अर्थात् जिसके धर्म अर्थ और काम ये तीनों साधन मोक्ष के ही लिये हों। इससे सिद्ध हुआ धर्म, अर्थ और काम ये तीन तो पुरुषार्थ हैं और मोक्ष परम पुरुषार्थ है।

कुछ लोग कहते हैं—"अजी, हम तो मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते, हम तो मोक्ष मिले तो उसे ठुकरा देते हैं। इससे पता चलता है मोक्ष धर्म, अर्थ और काम के सदृश पदार्थ है। वास्तविक बात ऐसी नहीं। मोक्ष न तो पृथ्वी पर कोई पदार्थ है, न आकाश में है, न पाताल में। सभी प्रकार की आशाओं के मोह ममता के-क्षयका--नाशका -नाम मोक्ष है। मन में से विषय भोगों की आशा निकल गयी, मोह का क्षय हो गया। उसी स्थिति का उसी वृत्ति का -नाम मोक्ष है। मोक्ष कोई पदार्थ नहीं अन्तःकरण की आशा-मोह ममता रहित स्थिति का नाम मोक्ष है। जिसने मानव शरीर पाकर मोक्ष की पदवी प्राप्त कर ली, उसका पुरुष होने का अर्थ--प्रयोजन- सिद्ध हो गया। जिसने मानव शरीर पाकर भी पशुओं की ही भाँति विषयों के ही भोग में ही समय बिता दिया उसने अपना सर्वस्व नष्ट कर लिया। अतः प्राणी को मोक्ष के ही लिये प्रयत्न करना चाहिये। परधर्म अपनाना, परधन को अपनाना, परदारा को अपनाना ये महापाप है।

स्वधर्म में स्थित रहना, जो न्यायपूर्वक प्राप्त हो जाय उसी में सन्तुष्ट रहना, अपनी ही दारा में शास्त्रोक्त विधि से रति करना ये महापुण्य है। पाप-पुण्य से परे हो जाना इसी का नाम मोक्ष है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तत् शब्द परब्रह्म का वाचक है। ॐ तत् सत् ये तीनों ब्रह्मवाचक शब्द हैं। जिन्होंने तप द्वारा अपने शरीर को तपाया नहीं-अर्थात् जिन्होंने तप स्वाध्यायादि नहीं किया वह तत् उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता। तद् उस ब्रह्म का प्रसिद्ध नाम है, वही एकमात्र भजनीय है, अतः उस तत् को वन भी कहते हैं। वह ब्रह्म जो तत् के नाम से सर्वत्र कहा गया है, यदि मानव शरीर प्राप्त करके भी हमने उस तत् ब्रह्म को जान लिया है, उसका बोध प्राप्त कर लिया है, तब तो हमने मनुष्य जन्म लेने का पूर्ण फल प्राप्त कर लिया है। यदि मानव शरीर धारण करके भी उस आत्मतत्व से अनभिज्ञ ही रहे। उसका सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त नहीं किया तब तो हमने मानों अपना सर्वस्व नाश ही कर दिया। जीवन मे सबसे बड़ी हानि प्राप्त कर ली।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उस आत्मतत्व के ज्ञान से क्या होता है।"

सूतजी—"भगवन्! होता क्या है, यह मृत्युधर्मा-मर्त्य-प्राणी-मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अमर बन जाता है। वह मोक्ष की पदवी को प्राप्त कर लेता है?"

शौनक—"अच्छा, मनुष्य शरीर पाकर भी जो लोग आत्म-ज्ञान से वंचित रह जाते हैं, उन्हें क्या प्राप्त होता है?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"उन्हें प्राप्त क्या होता है, वे तो गँवा देते हैं, घाटे में रहते हैं। उन लोगों को तो संसारचक्र में घूमने से नाना प्रकार के दुःखों की ही प्राप्ति होती है।"

शौनकजी ने पूछा—"उस आत्मा का साक्षात्कार कैसे हो ?"

सूतजी ने कहा—"तत्" नाम वाले उस परब्रह्म के ज्ञान के निमित्त श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में यथाशक्ति समिधा आदि पूजा की सामग्री लेकर जाय, वहाँ जाकर उनको साष्टांग प्रणाम करे, उनकी सेवा करे, उनसे श्रद्धापूर्वक प्रश्न करे, तब उनकी कृपा से उन भूत, भविष्य के अधिपति देवाधिदेव परमात्मा को पुरुष जब जान लेता है तब वह सबमें आत्मा को देखने लगता है, फिर वह किसी की निन्दा नहीं करता। क्यों नहीं करता ? इसलिये कि वह सभी को अपनी आत्मा समझने लगता है। जब सब अपनी ही आत्मा हैं तो अपने आप अपनी निन्दा कौन करेगा ? ब्रह्म साक्षात्कार से ही पुरुष निर्भय हो जाता है वह सभी में आत्मा को देखता है। उसी ब्रह्म को देवतागण 'आयु' इस नाम से उपासना करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"देवगण उस परब्रह्म को आयु क्यों कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"आयु सभी चाहते हैं। आयु का अर्थ जीवन है। जीवन की इच्छा सभी को है। वह कालस्वरूप है। घटी पल, प्रहर से दिन-रात्रि होते हैं। १५ दिन का पक्ष, दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु, छैः ऋतुओं का सम्वत्सर। यह सम्वत्सर नाम का काल अपने अवयव दिन-रात्रि आदि के साथ जिस परमात्मा का चक्कर लगाता रहता है, और जो कालस्वरूप प्रभु सूर्य आदि जितने ज्योतिष्मान हैं, उनकी भी जो ज्योति है जो अमृत स्वरूप है सबका जीवनाधार है, उस परब्रह्म प्रभु की 'आयु' इस नाम से स्वर्गीय देव उपासना करते हैं। वही अमृत ब्रह्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"अमृत क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जो मरणधर्म से रहित हो। जिसमें पञ्चजन प्रतिष्ठित हो, और आकाश भी जिसमें प्रतिष्ठित हो, वही आत्मा अमृत है, और उसे जानने वाला आत्मनिष्ठ पुरुष भी अमृत है।"

शौनकजी ने पूछा—"पाँच पञ्चजन कौन-कौन हैं ? और आकाश से तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"पाँच ज्ञानेन्द्रियों को ही पंचजन कहते हैं। अथवा देवता, गन्धर्व पितर, असुर और राक्षस इनकी भी पंचजन सज्ञा है, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पंचम वनवासी आभीर या निषाद इन पाँचों को भी पंचजन कहते हैं। ये पाँचों जिसमें प्रतिष्ठित हैं और आकाश शब्द से पाँचों भूत जिनमें प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् जिसमें प्रतिष्ठित है, वही परब्रह्म परमात्मा अमृत है और उसका ज्ञाता भी अमृत है, क्योंकि ब्रह्मवित् ब्रह्म ही हो जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"उस ब्रह्म की परिभाषा तो बताइये ?"

सूतजी—"उसकी कोई परिभाषा नहीं। वह परिभाषा से परे हैं। परिष्कृत भाषण को-संकेत, शैली या प्रज्ञप्ति को परिभाषा कहते हैं। जब वेद भी जिसे नेति नेति कहकर पुकारते हैं उसकी पूर्ण परिभाषा करना सम्भव नहीं। तथापि जिन प्राणों के कारण पुरुष प्राणी कहाता है वह उस प्राण का भी प्राण है। जिस नेत्र के द्वारा चराचर को पुरुष देखता है, उस नेत्र को भी नेत्रत्व प्रदान करने वाला वह है। जिस श्रोत्र से पुरुष सब कुछ सुनता है, उस श्रोत्र का भी श्रोत्र वह है। जिस मन के द्वारा पुरुष लोक-परलोक की बातों का मनन करता है, उस मन का भी वह मन है। इस प्रकार जो लोग उसे समस्त ज्ञान के साधनों का भी

प्रधान कारण मानते हैं वे ही उस सनातन, अति प्राचीन सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म को जानते हैं, वे ही ब्रह्मविद् कहलाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"फिर भी उसे प्राप्त करने का कुछ साधन तो होगा ही। उसे प्राप्त करने का सरल साधन बतायें ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! श्रुति कहती है। सबसे पहिले तो समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य की शरण में जाय। आचार्य जो उपदेश करें, उसे मन से ही—एकाग्रचित्त से ही एकान्त में बैठकर मनन करे। उसे शरीर से नहीं इन्द्रियों से नहीं मन से ही देखे। एक बात और है, ब्रह्म एक ही है इसमें नानात्व नहीं है। जो इसमें नानापन को देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, अर्थात् वह अमर नहीं होता। मरण-धर्मी मर्त्य ही बना रहता है। इसलिये आचार्य द्वारा उपदिष्ट उस ब्रह्म को एक प्रकार से देखना चाहिये उसमें अन्तर नहीं देखना चाहिये। उसकी कोई प्रमा नहीं वह ब्रह्म अप्रमेय है, वह कभी नहीं है सो बात नहीं वह ध्रुव है, उसमें किसी प्रकार का मल नहीं वह निर्मल है सबसे अधिक सूक्ष्म आकाश है वह इस आकाश से भी सूक्ष्मतर है। उसका कभी जन्म नहीं होता, वह अजन्मा है, वह सर्वत्र विद्यमान है अतः आत्मा है। वह बड़े से भी बड़ा सबसे बड़ा है अतः महान् है और उसका तीनों कालों में कभी नाश नहीं होता, अतः अविनाशी है।"

शौनकजी ने पूछा—"उसका ज्ञान करने के लिये कौन-कौन से शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! शास्त्रज्ञान तो अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त है। जब अन्तःकरण विशुद्ध बन जाय। उसमें ब्रह्म की झलक दिखायी देने लगे, तो धीर गम्भीर प्रज्ञाशाली पुरुष को श्रवण मनन द्वारा उसी को बारम्बार जानना चाहिये।

उसी में अपनी पूरी प्रज्ञा लगा देनी चाहिये। उसके अतिरिक्त बहुत से शब्दों का अनुध्यान करना, बहुत सी बातों का निरन्तर चिन्तन करते रहना उचित नहीं। अतः ब्रह्म के अतिरिक्त इधर-उधर की बातों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह तो केवल वाणी का विलासमात्र ही है। व्यर्थ ही वाणी को श्रम पहुँचाना है। अतः ब्रह्म विचार के अतिरिक्त अन्य बातों का विचार करे नहीं। आत्मविषयक शास्त्रों को छोड़कर अन्य ग्रन्थों का अध्ययन मनन न करे।"

शौनकजी ने पूछा—"जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है उस आत्मज्ञ पुरुष की स्थिति कैसी होती है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! आत्मस्वरूप की उपलब्धि के साधन सहित आत्मज्ञ पुरुष की स्थिति के सम्बन्ध में मैं आगे बताऊँगा।"

छप्पय

(१)

पाँच पचजन और प्रतिष्ठित जामें नभ है।
है आत्मा परब्रह्म अमृत तिहि जानि अमृत है॥
चक्षुनि को जो चक्षु प्राण को प्राण कहावै।
श्रोत्रनि को हू श्रोत्र वही मन को मन भावै॥
इहि विधि जाने जे पुरुष, वा ई ब्रह्म पुरातनहिं।
जो सबतें आगे रहत, ते जानत हैं वास्तवहिं

(२)

मनही तैं तिहि लखो नहीं नाना है किंचित ।
जे नानापन लखैं मृत्यु तैं मरैं न तिहि हित ॥
लखौ एकधा ताहि करो गुरु चरन दण्डवत ।
अप्रमेय, ध्रुव ब्रह्म परम निरमल अकाशवत ॥
सूछमतैं हूँ सूक्ष्म वह, जनम मरन तैं रहित नित ।
अति महान आत्मा सतत, अविनाशी है परम सत ॥

ब्रह्म और ब्रह्मज्ञ के स्वरूप का वर्णन याज्ञवल्क्य जनक सम्वाद समाप्त

(२५५)

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एव वेद॥*

(बृ० उ० ४ अ० ४ ब्रा० २५ म०)

छप्पय

धीर ब्रह्मविद जानि करैं प्रज्ञातिहि में रति।
बहु शब्दनि अनुध्यान न करि वाणी श्रम है अति॥
आत्मा जनम न लेइ वही विज्ञान प्राण गति।
सोवै हृदय अकाश वशी शासक सबको पति॥
शुभ करमनि तें नाहिं बढ़त, घटै अशुभ करि नहिं कबहुँ।
सरबेश्वर भूतनि अधिप, पालक धारत जग तबहुँ॥

जो जिसमें रहता है, वह वैसे ही गुण वाला हो जाता है। जल में रहने वाले जीव जलमय ही होते हैं, उन्हें जल से पृथक्

---

* वह जो यह आत्मा है, महान् है। अज, अजर, अमर, अमृत तथा अभय है, वही ब्रह्म है। अभय को ही ब्रह्म कहते हैं। जो इस तत्व को ऐसे जानता है, वह भी अभय ब्रह्म हो जाता है।

कर दो, तो उनका जीवन दुर्लभ हो जाता है। अग्नि में भी जीव हो जाते हैं, वे अग्निमय होते हैं, उन्हें अग्नि से पृथक् कर दो, तो वे मर जाते हैं। यह शरीर दुःख शोक का स्थान है। मलायतन है, अर्थात् इसके भीतर मल ही मल भरा हुआ है, नौ द्वारों से सदा मल ही निकलता रहता है,लाखों रोयों से श्वेद रूप में मल ही तो निकला है। इस मलायतन दुःख शोक की खानि शरीर मे जिन्होंने आत्मबुद्धि कर रखी है, इसी में मोह ममता स्थापित कर ली है, वे सदा क्लेश ही उठाते रहते हैं। जिस लोक में भी जायँगे, वहाँ भय बना रहेगा। जिस स्वर्ग को सुखों की खानि कहते हैं, उसमे भी सदा पतन का भय बना रहता है। वहाँ भी अपने से अधिक भोग वाले को देखकर डाह-ईर्ष्या-जलन होती है। दुःख का कारण ईर्ष्या तथा भय ही तो हैं। जो देहाभिमानी पुरुष है उसे कहीं भी शान्ति नहीं। क्योंकि देह दुःखों का आलय और अशाश्वत है। यह आने जाने वाला है अनित्य है। इसमें रमण करने वाले को नित्य सुख कहाँ है ? अतः शरीर मे रमण करने वाला मर्त्य है। मरणशील है वह संसारचक्र मे पड़कर जनमता और मरता रहेगा।

इसके विपरीत जो आत्मा मे रमण करने वाले हैं। आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाले हैं, वे आप्तकाम हैं। उन्हें समस्त कामनायें प्राप्त हो चुकी हैं। क्योंकि आत्मा नित्य है, सत्य है, चैतन्य स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप है। जिसने आत्मसाक्षात्कर कर लिया, आत्मा को जान लिया, आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया वह जन्म-मृत्यु के चक्कर से सदा-सदा के लिये छूट जाता है, क्योंकि आत्मा अमृत है, आत्मा नित्य है, आत्मा शाश्वत है, आत्मा अजर, अमर, अविनाशी, अखिल, अगोचर तथा अनादि है। आत्मा ब्रह्म है, अतः ब्रह्म को जानने वाला उसी के समान ब्रह्म

हो जाता है। आत्मा अमृत है अतः ब्रह्मज्ञानी अमृत हो जाता है।

मुनिजी कहते हैं—"मुनियो! आत्मा सकुचित नहीं, क्षुद्र नहीं, सीमित नहीं, परिधि में स्थित नहीं वह महान् है। आत्मा की संसारी अन्य पदार्थों के समान उत्पत्ति नहीं होती। उसका जन्म नहीं होता वह अजन्मा है। वह जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहने से, तथा सर्वत्र व्याप्त रहने से आत्मा है (अतति सन्तभावेन जाग्रदादि सर्वावस्थासु अनुवर्तत=इति-आत्मा) वह प्राणों में-स्पर्शेन्द्रिय में-वायु में-विज्ञानमय है। वह हृदयकमल के मध्य जो कर्णिका है उसमें जो गगनगुफा है उसी आकाश में उसका निवास है। उसी में वह तान दुपट्टा पैर फैलाकर सोता रहता है। सुख का अनुभव करता रहता है। वह किसी के वश में नहीं है अपितु सभी उसके वश में हैं। वह किसी के शासन द्वारा शासित नहीं होता वह स्ववश तथा सबका शासक है। सब उसी के शासन के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं। उसका कोई अन्य स्वामी नहीं। वही सबका स्वामी है-अधिपति है। उसे शुभाशुभ कर्म स्पर्श नहीं करते। न तो वह शुभकर्मों के करने से बढ़ता ही है और न अशुभ कर्म करने से घटता ही है। उसका कोई अन्य ईश्वर नहीं, वही सबका ईश्वर है-सर्वेश्वर है-वह समस्त प्राणियों का-चराचर भूतों का अधिपति है तथा सभी प्राणियों का परिपूर्ण पालक है। यद्यपि उसे संसारी कार्यों से कोई प्रयोजन नहीं, तथापि लोकों की मर्यादा बनाये रखने को वह इन समस्त लोकों को धारण करने वाला है। मर्यादा बनाये रखने को सुन्दर सेतु है।

जो ब्रह्मविद् हैं, ब्राह्मण हैं, स्वधर्म निरत हैं, सच्चे साधक हैं वे वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तथा निष्काम तप द्वारा

इच्छुक रहते हैं। इसी परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करके पुरुष मननशील, वीतराग, भय, क्रोध, सत्यवाक् मुनि होता है।

गृहस्थ लोग लक्ष्मी से युक्त भरे पूरे परिवार वाले गृह में आनन्द का अनुभव करते हैं, किन्तु इस आत्मा के आनन्द की अनुभूति करने के निमित्त पुरुष भरे-पूरे परिवार को, विपुल धन को, समस्त भोग सामग्रियों को त्याग कर चले जाते हैं। पहिले जो त्यागी-विरागी ऋषि मुनि हो गये हैं प्रजा की—सन्तान की—इच्छा नहीं किया करते थे। वे वैराग्य विवेक से युक्त होकर विचारते थे—हमें सन्तान उत्पन्न करके क्या लेना देना है। हम तो आत्मसाक्षात्कर चाहते हैं—हमें तो एकमात्र आत्मलोक ही अभीष्ट है। पुत्र की इच्छा करना, धन की इच्छा करना तथा स्वर्गादि लोकों की इच्छा करना ये तो बन्धन के हेतु हैं, अतः वे आत्मलोक के इच्छुक मुक्ति के चाहने वाले—संसार बन्धन से सदा के लिये मुक्त होने को समुत्सुक मुमुक्षु महानुभाव पुत्रैषणा, वित्तैषणा और स्वर्गादि लोकों की इच्छाओं को त्याग कर केवल शरीर निर्वाह के निमित्त भिक्षाटन करके ही शरीर को साधन के निमित्त टिकाये रखते हैं।

पुत्रैषणा क्या है? अपने को पुनः पुत्र रूप में देखने की वासना को पुत्रैषणा कहते हैं। मनुष्य स्वयं ही वीर्य द्वारा अपनी धर्मपत्नी के उदर में प्रवेश करता है और स्वयं ही पुत्र रूप से अपनी स्त्री के उदर से उत्पन्न होता है। इसीलिये पुत्रवती स्त्री का नाम जाया है। जिसके उदर से पुत्र रूप में पुनः पैदा हो (जायते पुत्ररूपेण—आत्मा—अस्याम्=इति जाया) पुत्र कब होगा? जब अपनी जाया=पत्नी—होगी। अतः पत्नी की इच्छा करके उसमें पुत्र उत्पादन करने की कामना को पुत्रैषणा कहते हैं। क्योंकि प्रवृत्तिमार्ग में पुत्र के बिना गति नहीं होती। यह

मनुष्य लोक पुत्र द्वारा ही होता है। दूसरे किसी अन्य उपाय से नहीं अतः लोककामी को पुत्र अवश्य उत्पन्न करने चाहिये।

वित्तैषणा क्या है ? ससार के जितने लोक परलोक सम्बन्धी कार्य हैं वे सब धन द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। अतः यज्ञादि शुभ कर्म करने के निमित्त धन की इच्छा करना इसे वित्तैषणा कहते हैं। धन होगा तो यज्ञादि शुभ कर्म करेंगे, उनके फल स्वरूप हमे स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होगी।

लोकैषणा क्या है ? विवाह करके पुत्र उत्पन्न करे, धनोपार्जन करके यज्ञादि शुभ कर्मों को करें उन शुभ कर्म रूपी साधनों द्वारा स्वर्गादिलोक जो शुभ कर्मों से साध्य हैं वे हमे प्राप्त हों। अतः पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा ये तीनों एषणायें पृथक् पृथक् नहीं हैं। जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है। अर्थात् पुत्र वित्त सब साधन उत्तम लोक प्राप्ति में हेतु हैं। पुत्र, वित्त, ये तो साधन हैं। उत्तम लोग प्राप्ति साध्य हैं। अतः साध्य साधनों की प्राप्ति की इच्छा (स्वर्गादि लोकों) को प्राप्त करने की इच्छा-ये दोनों ही इच्छायें हैं-एषणायें हैं। प्रवृत्ति मार्ग के साधन हैं।

किन्तु जो निवृत्ति मार्गीय हैं जो केवल परब्रह्म परमात्मा में ही अनुरक्त हैं, परमात्मा के अतिरिक्त ससार की समस्त कामनाओं से जो विरक्त हैं जिन्हे न स्त्री की इच्छा है न धन, पुत्र तथा स्वर्गादि लोकों की इच्छा है, ऐसे समस्त इच्छाओं से विनिर्मुक्त निवृत्ति मार्ग के साधकों को ससार के किसी भी प्रपच में न फँसना चाहिये। फिर ऐसे लोगों का निर्वाह कैसे हो ? उदरपोषण किस प्रकार हो ? तो ऐसे सर्व एषणाओं से विनिर्मुक्त साधकों को केवल शरीर विर्वाह के निमित्त भिक्षाचर्या पर ही आश्रित रहना चाहिये। जिसके हृदय म तीनों एषणाओं में से

कोई भी एषणा–तनिक भी–शेष हो वह भिक्षा का अधिकारी नहीं। अतः जो निवृत्ति मार्गीय हैं उन्हे पुत्र, वित्त, लोक की समस्त इच्छाओं का परित्याग करके आत्म-चिन्तन में ही निरत रहना चाहिये।

आत्मा का स्वरूप क्या है ? वह किस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जा सकता है ? तो इस विषय में बताते हैं—आत्मा के सम्बन्ध में कुछ भी कहना सम्भव नहीं। अच्छा, वेद तो सबके सम्बन्ध में बताता है। उसने आत्मा के भी सम्बन्ध मे बताया होगा ? हाँ, वेद आत्मा के सम्बन्ध मे बताता तो है, किन्तु विधि रूप में नहीं, निषेध रूप से बताता है। क्या अन्न ब्रह्म है ?" कहते हैं 'ऐसा नहीं।' तो, क्या प्राण ब्रह्म है ? 'नहीं, ऐसा भी नहीं।' तो क्या मन ब्रह्म है ? 'नहीं, ऐसा भी नहीं।' तो क्या विज्ञान बुद्धि ब्रह्म है ? 'नही ऐसा नहीं।' इस प्रकार यह भी नहीं यह भी नहीं (नेति-नेति) कहकर ही आत्मा का वेद निर्वचन करता है।

वेद ऐसा द्रविण प्राणायाम क्यो करता है ? स्पष्ट क्यों नहीं बताता, कि यह ब्रह्म है ? स्पष्ट वह कैसे बतावे ? यदि आत्मा किसी बाह्य या अन्तः इन्द्रिय द्वारा गृह्य होता, तब तो कहते आत्मा ऐसा है। वह तो अगृह्य है। वह किसी भी इन्द्रिय से कैसे भी ग्रहण नहीं किया जाता। यदि वह जन्म लेता, तो उसका नाश भी सम्भव था, क्योंकि जिसका जन्म है, उसका नाश ध्रुव है। वह जब अज है, तो उसका नाश भी नहीं। वह अशीर्य है अर्थात् उसका नाश नहीं होता। वह किसी पदार्थ मे आसक्त न होने से असङ्ग है। वह किसी भी दशा में व्यथित नहीं होता क्योंकि वह अक्षय है, उसका क्षय होना सम्भव नहीं। जब वह ऐसा है तो उसका निर्वचन स्पष्टतया कैसे किया जाय। कहना

ही हो तो यही कह सकते हैं कि जो भी कुछ है सब आत्मा ही आत्मा है, ब्रह्म ही ब्रह्म है।

तब तो जिसे आत्मज्ञान हो गया होगा, वह परम हर्षित होता होगा ? नहीं, सो भी बात नहीं। हर्ष का प्रतिद्वन्द्वी शोक है। जिसे हर्ष सम्भव है उसे शोक का भी होना सम्भव है। आत्मवित् पुरुष हर्ष-शोक दोनों से ही रहित होता है। वह आत्मज्ञ पाप-पुण्य से भी रहित हो जाता है उसे न पाप लगता है, न पुण्य लगता है उसे पाप से पश्चात्ताप और पुण्य से हर्ष भी नहीं होता वह हर्ष शोक, पाप पुण्य दोनों से ही परे हो जाता है, दोनों को ही पार कर जाता है। वह अपना नित्य नैमित्तिक कर्म करे, तो उसका कुछ फल नहीं, न करे तो उसे कोई प्रत्यवाय पाप नहीं। वह दोनों में सम रहता है, करे तो कोई सन्तोष नहीं, न करे तो कोई असन्तोष नहीं। वह सभी अवस्थाओं में समभाव से अवस्थित रहता है।

महर्षि याज्ञवल्क्यजी राजा जनक से कह रहे हैं—"राजन्! ब्रह्मज्ञानी के लिये सब कुछ समान है, इस विषय में वेद की एक ऋचा है। उस ऋचा का तात्पर्य यह है, कि ससारी लोगों की स्थिति तो कर्म करने से बढ़ती है, न कर्म करने से घटती है, किन्तु ब्रह्मवेत्ता की महिमा नित्य है एकरस है। वह कर्म करने से न तो बढ़ती ही है और कर्म न करने से घटती भी नहीं। जो ब्रह्मवेत्ता की महिमा के स्वरूप को जान लेता है, उसे अपने जीवन में डाल लेता है, वह पाप कर्मों मे लिप्त नहीं होता। इसलिये जो ब्रह्मवेत्ता की महिमा के स्वरूप को भली-भाँति जान लेता है वह शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और सर्वप्रकार से समाहित होकर अपने आत्मा में ही आत्मा का दर्शन करता है। उसे आत्मा से पृथक् कुछ दिखायी ही नहीं देता। वह सभी मे

अपनी ही आत्मा को देखता है। उसे सभी में आत्मा के ही दर्शन होते हैं। ऐसे समदर्शी आत्मज्ञानी पुरुष को पाप अथवा पुण्य की प्राप्ति नहीं होती। वह सभी प्रकार के पापों से-पुण्यों से भी-रहित हो जाता है। सम्पूर्ण पाप पुंजों को पार कर जाता है। उसे पाप नहीं, ताप नहीं, सन्ताप नहीं। वह समस्त पापों को सतप्त कर देता है। वह अपापात्मा, कामनाओं से रहित, सभी प्रकार के सशयों से मुक्त, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हो जाता है। राजन्! इसी स्थिति में पहुँचने पर पुरुष शोक, सन्ताप तथा सर्व सशयों से रहित बन जाता है। हे सम्राट् जनक! तुमको उसी ब्रह्मज्ञानी की स्थिति में पहुँचा दिया गया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब इस प्रकार महाराज जनक से याज्ञवल्क्यजी ने कहा, तब महाराजा जनक कृतकृत्य हो गये। अपने को कृतार्थ मानकर गद्गद वाणी में उन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्यजी को प्रणाम करके कहा—"ब्रह्मन्! अब आपकी इस कृपा के उपलक्ष्य में मैं आपको क्या अर्पण करूँ, मेरा राज्य-पाट और यह सम्पूर्ण विदेह देश मैं आपके पादपद्मों में समर्पित करता हूँ और साथ ही दासता के निमित्त आपके निजी कैंकर्य के लिये मैं अपने आपको भी समर्पित करता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार जब जनकजी ने कृतकृत्य होकर अपना सर्वस्व गुरुदेव के चरणारविन्दों में समर्पित कर दिया तो याज्ञवल्क्य मुनि प्रसन्न हुए। अब इस जनक याज्ञवल्क्य आख्यायिका का फल कहते हैं—"तुम इस बात को निश्चय ही जानों कि वह यह परब्रह्म परमात्मा अज है-उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती। वह महान् है। उससे बड़ा महत्वशाली अन्य कोई नहीं है। वह अन्नाद है। प्राणिमात्र को वही उसके अनुरूप-अन्न-खाने की वस्तुएँ-देता है। वही वसुदान

है। अर्थात् समस्त प्राणियों को वही सब प्रकार का धन देता है। जो उपासक ब्रह्म के–आत्मा के–ऐसे स्वरूप को जानता है वह अन्न और धन को प्राप्त करता है। अन्न उसी परब्रह्म का नाम है और वसु-महाधन–वह परब्रह्म ही है। ब्रह्मवित् ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। ब्रह्म के समान ही हो जाता है।"

श्रुति कहती है—"वह आत्मा अज है, जन्म से रहित है, वृद्धावस्था से रहित है, अजर है। वह मरणधर्म से रहित है अमर है। वह कभी न मारने वाला अमृत है। वह सभी प्रकार के भयों से रहित अभय है। अभय ही ब्रह्म है, जो ब्रह्म के इस अभय स्वरूप को भली-भाँति जानकर उसे जीवन में परिणित कर लेता है वह भी अभय ब्रह्म ही हो जाता है। सो मुनियो! यह जनक याज्ञवल्क्य सम्वाद मैंने आपसे कह दिया। अब आगे पंचम ब्राह्मण में जैसे इसी उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद कहा था, उसे ही कुछ प्रकारान्तर से पुनः कहेंगे। आशा है आप दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

(१)

यज्ञ, दान, तप करें मुक्ति हित मुनि बनि जावैं।
सब इच्छनि कूँ त्यागि भिक्षु त्यागी कहलावैं॥
नेति नेति निरदेश आतमा है असंग नित।
नहीं वृद्ध आसक्त नहीं क्षय, नहीं व्यथित सत॥
पाप पुण्य तैं रहित नित, रहै ब्रह्मवेत्ता सतत।
दोउनि में समबुद्धि तिहिं, शुभ अशुभनि करमनि रहित॥

(२)

महिमा ताकी चढ़ै घटै नहिं कर्म शुभाशुभ ।
शान्त, दान्त, समभाव, ब्रह्म को सब थल अनुभव ॥
आत्मा में ही लखै आत्म सबही में जाने ।
पाप पुण्य नहिं लिप्त ब्रह्म सरवत्र पिछाने ॥
याज्ञवल्क्य बोले—नृपति, ब्रह्मभाव प्रापत भयो ।
राज, पाट, तन, धन सकल, अरपूँ यह भूपति कह्यो ॥

(३)

आत्मा है अजाद और वसुदान कहावै ।
जो जानै जा भाव अन्न, धन सो बहु पावै ॥
सब करमनि फल पाइ ब्रह्मवित ब्रह्म कहावै ।
अजर, अमर, अज अमृत ब्रह्म निर्भय बनि जावै ॥
याज्ञवल्क्य ने जनक तैं, ब्रह्मज्ञान जा विधि कह्यो ।
यह प्रसग शुभ मुक्तिप्रद, जा विधि तैं पूरन भयो ॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में चतुर्थ शारीरक ब्राह्मण समाप्त ।

पुनः याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद

[२५६]

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ५ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

याज्ञवल्क्य द्वै पत्नि सु मैत्रेयी कात्यायनि।
बोले मुनि—तजि गृहथ जाउ वन सुनु वच भामिनि॥
धन बँटवारो करूँ सुनत बोली मैत्रेयी।
सबरी भू धन भरी सुखी का होऊ तेई?
याज्ञवल्क्य बोले—प्रिये! भोगनि में है नहीं सुख।
तब धन लैकें का करूँ, कहें अमृत जिहि मिटै दुख॥

वर्णाश्रम धर्म मुक्ति मार्ग की सीढ़ियाँ हैं। इसे क्रम मार्ग

---

* याज्ञवल्क्य मुनि के दो भार्यायें थी। एक का नाम मैत्रेयी दूसरी का नाम कात्यायनी। इन दोनो मे मैत्रेयी तो ब्रह्मवादिनी थी। दूसरी कात्यायनी सर्वसाधारण स्त्रियो की बुद्धि वाली ही थी। एक दिन याज्ञवल्क्यजी ने अब दूसरी ही चर्चा आरम्भ करें, ऐसा मन मे सोचकर उन दोनों से कहा—

कहते हैं। दो प्रकार की प्रजा होती हैं, एक वनवासी दूसरी नगरवासी। वनों में रहकर वहाँ के कन्द मूल फलों को खाकर, वहाँ के काष्ठ, पत्ते तथा ओषधियों को बेचकर निर्वाह करने वाले कोल, भील, निषाद, आभीर आदि वन में रहने वाली जातियाँ वनवासिनी जातियाँ कही जाती थीं। वे चारों वर्णों से पृथक् पचम वर्ण मे मानी जाती थीं। उनमे भी राजा होते थे और उनकी भी अपनी परम्परागत मान्यतायें होती थीं। वर्णाश्रमियों से उनका सम्बन्ध युद्धादि के समय होता था। वे वन के स्वामी होते थे। वर्णाश्रमी राजागण वनो को अपने राज्यों से पृथक् मानते थे। वनो पर स्वामित्व उन वनवासी जातियों का ही माना जाता था।

वर्णाश्रमियों में चार प्रकार के लोग भी वन में जाकर रहते थे। उनके साथ वनवासियों का कोई विरोध नहीं होता था। वन वासी भी धार्मिक होते थे। त्यागप्रधान जीवन बिताने वालों का वे भी आदर करते थे।

वन में जाकर बसने वाले चार प्रकार के लोगों में पहिले तो ऋषिगण होते थे। वे प्रायः सब के सब त्यागप्रधान जीवन बिताते हुए भी सद्गृहस्थ महर्षि हुआ करते थे। उनके बच्चे उन्हीं की भाँति त्यागप्रधान जीवन बिताकर पिता के ही समीप में अथवा अन्य विद्वान् ऋषियों के समीप में वेदाध्ययन करके धर्मपूर्वक दारग्रहण–विवाह–कर लेते थे। उनमें कोई कोई विवाह न करके जीवन भर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए त्यागमय जीवन बिताते थे। इन ऋषि आश्रमों में वर्णाश्रमी अपने बालकों को पढ़ने छोड़ आते थे। उनमें अधिकांश ब्राह्मण और क्षत्रियों के ही बालक होते थे। कोई-कोई वैश्य भी अपने बच्चों को गुरुकुल में भेज देते थे। शूद्र अपने बच्चों को घर में ही रखकर वश-

परम्परागत सेवा सम्बन्धी कलाओं को सिखा देते थे। तो वर्णाश्रमियों में पहिले तो वन में रहने वाले ऋषि मुनि तथा उनके शिष्य अथवा पुत्रादि होते थे। दूसरे गृहस्थ धर्म से विरक्त हुए वे वानप्रस्थ होते थे जो घर-द्वार छोड़कर–नगरवासियों से सब प्रकार का नाता तोड़कर अग्निहोत्र करते हुए वनवासी जीवन बिताते थे। वे ग्राम्योपवियों–जौ, गेहूँ, हल से जोते चावल–आदि का उपयोग नहीं करते थे। केवल वन में उत्पन्न होने वाले कन्द, मूल, फल, अंकुर तथा बिना जोते बोए अपने आप उत्पन्न होने वाले (समा, नीवार, तिन्नी, फाफर, कूट्टू आदि) मुनि अन्नों पर निर्वाह करते थे। वे कभी न ग्रामों में आते थे न ग्राम्यान्नों को खाते थे। तीसरे वे अपराधी राजकुमार होते थे, जिन्हें राजा लोग किसी अपराध पर देश निकाला दे देते थे, वे राजकुमार अपने मंत्री पुरोहित तथा सेवकों के साथ वनों में–पर्वतों पर चले जाते थे। वहाँ छोटा-सा गढ़ या किला बनाकर अपना राज्य-सा स्थापित करते थे और वन वासियों की कन्याओं से विवाह कर लेते थे। इन तीनों के अतिरिक्त संन्यासी भी वन में जाते थे किन्तु उनके लिये कोई नियम नहीं था कि वे वन में ही रहें और वन के पदार्थों को ही खायँ। वे वानप्रस्थियों से भी भिक्षा ले सकते थे और ग्रामों में नगरों में भी गृहस्थियों के घरों से मधुकरी कर सकते थे। वे नगरों में वनों में घूमते रहते थे। इसलिये वे परिव्राजक कहलाते थे।

ऋषिगण तो जन्मजात ही त्यागी होते थे वन में ही रहते थे। इसलिये उनको वानप्रस्थ और संन्यास का आग्रह नहीं था। उनका जीवन तो स्वयं ही त्यागमय तपमय होता था। हाँ जो ऋषि या ब्राह्मण राजाश्रय में रहने लगते थे। राजाओं के गुरु बन जाते थे। उनका राजाओं जैसा वैभव हो जाता था। उनमें

से कोई कोई गृहस्थ का वैभव छोड़कर वनवास करने को जाना चाहते थे, जैसे राजागण राज्यपाट छोड़कर अन्त में तपस्या करने वानप्रस्थ जीवन बिताने अपनी राजधानी को छोड़कर सपत्नीक या पत्नी को पुत्रों को सौंपकर वन में जाकर रहने लगते थे। महर्षि याज्ञवल्क्यजी महाराज जनक के राजगुरु थे। दान दक्षिणा में प्राप्त उनके पास बहुत धन रहा होगा। गौ, घोड़ा, वाहन, नौकर चाकर तथा राजाओं के समान वैभव रहा होगा। वे ब्रह्मज्ञानी तो थे ही। अन्त में उन्हें इस धन वैभव से विराग हुआ होगा। इसी उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ मैत्रेयी ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद आ चुका है। फिर उसी को तनिक हेर-फेर के साथ चतुर्थ अध्याय के पंचम मैत्रेयी ब्राह्मण में फिर ज्यों का त्यों दिया गया है। यही नहीं पाँचवाँ मधु ब्राह्मण और वंश ब्राह्मण भी द्वितीय अध्याय के पंचम छटे मधु और वंश ब्राह्मण के ही सदृश है। इससे प्रतीत होता है, उपनिषद् किसी एक ऋषि की निर्मित नहीं हैं। ये संग्रह मात्र हैं। भिन्न भिन्न ऋषियों ने संग्रह कर दिया है। अतः हमें जो कहना है तो उसे द्वितीय अध्याय के चतुर्थ, पंचम और षष्ठ ब्राह्मण में कह चुके। यहाँ तो इनका प्रसंग पूर्ति के लिये तीनों ब्राह्मणों का सार कहे देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महर्षि याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी और कात्यायनी दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और कात्यायनी साधारण नारी थी। याज्ञवल्क्यजी ने त्यागी जीवन बिताने की इच्छा से मैत्रेयी से कहा—"मैं गृहस्थाश्रम त्यागकर त्यागमय जीवन बिताने जाना चाहता हूँ। अतः तुम दोनों के धन का बँटवारा कर दूँ।"

मैत्रेयी ने कहा—"संसार का सभी धन मुझे मिल जाय, तो

उससे क्या मुझे शांति प्राप्त होगी ? हैं मृत्यु के चंगुल से छूट जाऊँगी ।"

याज्ञ०—"नहीं,धन से यह सम्भव नहीं। धनी पुरुषों का-सा जीवन हो जायगा ।"

मैत्रेयी—"तो मैं धन लेकर क्या करूँगी ? मुझे अमृतत्व का उपाय बताइये ।"

याज्ञ०—"अच्छी बात है, मैं तुम्हे अमृतत्व का उपाय बताता हूँ। देखो, पति, स्त्री, पुत्र, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, वेद, सर्वभूत, ये सब के सब, सबके लिये लोकप्रिय नहीं होते अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अतः दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय तथा निदिध्यासनीय आत्मा ही है। निश्चय ही आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन निदिध्यासन करने पर इन सबका ज्ञान हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, भूत तथा सभी प्राणी उसे परास्त कर देते हैं जो इन सबको आत्मा से भिन्न मानता है। अतः ये सब कुछ भी नहीं हैं जो कुछ है आत्मा ही आत्मा है।

दुंदुभि के शब्द को ग्रहण नहीं कर सकते। दुंदुभी या उसे बजाने के साधन को ग्रहण करने से शब्द उसी प्रकार ग्रहण किया जा सकता है, जैसे शख या बासुरी के ग्रहण करने पर उसके शब्द को भी ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार वाणी को ग्रहण करने पर शब्द ग्रहीत होता है। यह सब का सब ब्रह्म का ही निःश्वास है। नमक के डले में सर्वत्र नमकीन ही नमकीन है उसी प्रकार भीतर बाहर सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है।"

मैत्रेयी—"आत्मा अविनाशी कैसे है, इससे मुझे मोह हो गया है।"

याज्ञ०—"मोह वाली बात मैं नहीं करता। आत्मा अनुच्छेद

तथा अविनाशी है ही। देखो, देखना, सूँघना रस का आस्वादन, सुनना, मनन करना, स्पर्श करना ये सब द्वैत में ही सम्भव हैं। जहाँ केवल आत्मा ही आत्मा है वहाँ ये सब क्रियायें सम्भव नहीं। ब्रह्म तो नेति-नेति द्वारा निर्वचन किया गया है। वह अगृह्य, अशीर्य, असङ्ग तथा अबद्ध है जो स्वयं ही विज्ञाता है उसे किसके द्वारा जाने ? इसी का नाम अमृतत्व है। ऐसा कह कर याज्ञवल्क्यजी गृहस्थी का वैभवपूर्ण जीवन त्यागकर त्यागमय जीवन बिताने घर से वन में चले गये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार पंचम मैत्रेयी ब्राह्मण में ये बातें बतायीं। छटे वंश ब्राह्मण में याज्ञवल्कीय कांड की वंश परम्परा का वैसे ही वर्णन है, जिसे हमने भागवती कथा के ९५ खंड के २२६ अध्याय में ब्रह्म स्वयम्भू से लेकर पौतिमाष्य तक की परम्परा बतायी है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम और षष्ठ दो ब्राह्मणों में प्रसङ्गानुसार याज्ञवल्क्यजी के ही प्रसङ्ग आने पर तनिक हेर-फेर के अनुसार वे ही सब बातें हैं। इस प्रकार यह चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ। अब पंचम अध्याय के प्रथम ॐ खं ब्रह्म ब्राह्मण मे जिस प्रकार ॐ खं ब्रह्म और उसकी उपासना का वर्णन किया गया है, उसे मैं आप सबसे आगे कहूँगा। आशा है आप सब इस प्रसङ्ग को समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

—०—

छप्पय

याज्ञवल्क्य मुनि कहें—आतमा ही सब कछु है।
आत्म भिन्न कछु नाहिँ आतमा ही सरबसु है॥
द्वैत माहिँ ही भेद आतमा अद्वय अमिरत।
सकल शोक मिटि जायँ रहैं जे आत्मामहँ रत॥
याज्ञवल्क्य यों ज्ञान दै, त्यागी बनि घरतैं गये।
पंचम आत्मा वंश पट, द्वै ब्राह्मण पूरन भये॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
पञ्चम मैत्रेयी ब्राह्मण षष्ठ वंश ब्राह्मण समाप्त-
चतुर्थ अध्याय समाप्त।

बृहदारण्यक उपनिषद् पञ्चम अध्याय

शान्तिपाठ (खिलकाण्ड)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥*

ॐशान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! (शान्तिपाठ)

छप्पय

ब्रह्म सच्चिदानन्द पूर्ण सब भाँति सकल है ।
उनतें ही यह जगत भयो सोऊ पूरन है ॥
जातें जो उत्पन्न वस्तु सो तिहि गुनवारी ।
माँटी तें उत्पन्न पात्र मृन्मय घट झारी ॥
पूरनमें तें पूर्ण कूँ, यदि निकारि अलगाउ तुम ।
तो पूरन ही बचै पुनि, सत्य सत्य यह कहहिं हम ॥

उपनिषदों में जो विषय वर्णित है उसे काण्ड कहते हैं । जैसे मधुविद्याकाण्ड, अर्थात् इस प्रकरण में मधुविद्या का वर्णन किया जायगा । यह तो उपनिषद् के अन्तर्गत विषय का वर्णन हुआ ।

---

* वह ओंकार पूर्ण है यह पूर्ण है । यह जो पूर्ण है वह पूर्ण से ही उत्पन्न होता है । पूर्ण में से पूर्ण ले लो—निकाल लो—तो पुनः पूर्ण ही शेष रह जायगा । अर्थात्—पूर्ण में से पूर्ण गुणित करो चाहे पूर्ण में से पूर्ण निकालो प्रत्येक दशा में गुणनफल, शेष पूर्ण ही रहेगा ।

इस अन्तर्गत विषय के अतिरिक्त आदि अन्त में जो प्रस्तावना के रूप में शान्तिपाठ या मगलाचरण के मन्त्र पढ़े जाते हैं। उनको खिलकाण्ड कहते हैं। अर्थात् विवेच्य विषय के अतिरिक्त विषय उसे परिशिष्ट प्रकरण भी कह सकते हैं। प्राचीन परम्परा ऐसी रही है, कि अध्ययन के पूर्व और अध्ययन के अन्त में गुरु शिष्य दोनों मिलकर शान्तिपाठ करते हैं। अध्ययन के पूर्व शान्तिपाठ इसलिये करते हैं, कि हम जिस विषय का अध्ययन करने जा रहे हैं, वह हमारे लिये मगलप्रद हो। पढने के अन्त में जो शान्तिपाठ करते हैं, वह इसलिये कि हमने जो कुछ पढा-पढाया है वह सब मगलदायक हो। मगल की कामना से शान्ति-पाठ किया जाता है। उसे विवेच्य विषय मे सम्मिलित नहीं करते। भिन्न भिन्न उपनिषदों के भिन्न भिन्न खिलकाण्ड अथवा शान्तिपाठ हैं। किस उपनिषद् का कौन सा शान्तिपाठ है इसे मुक्तिकोपनिषद् में बताया है। किसी उपनिषद् का 'ॐआप्यायन्तु ममाङ्गनि' यह शान्तिपाठ है, किसी का 'ॐसहनाववतु' यह शान्तिशाठ है किसी का 'ॐपूर्णमदः' यह है। उसी उपनिषद् में 'ॐपूर्णमदः' यह शान्तिपाठ १९ उपनिषदों का बताया है। इन १९ उपनिषदों के पढ़ने के पूर्व तथा पढने के अन्त मे 'ॐपूर्ण-मदः' इस मन्त्र को पढ़ लेना चाहिये वे उन्नीस उपनिषदें ये हैं—१-ईशावस्य, २-परमहस, ३-जाबाल, ४-हस, ५-परमहस, ६-सुबाल, ७-मन्त्रिका, ८-निरालम्ब, ९-त्रिशिखीब्राह्मण, १०-मडलब्राह्मण, ११-अद्वयतारक, १२-पैङ्गल, १३-भिक्षुक, १४-तुरीयातीत, १५-अध्यात्म, १६-नारसार, १७-याज्ञवल्क्य, १८-शाट्यायनी, और १९-मुक्तिकोपनिषद्। ये सब की सब उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की उपनिषदें हैं।

यह ॐपूर्णमदः शान्तिपाठ अत्यन्त ही महत्त्व का है। ब्रह्म

को स कहा है। खं माने आकाश-शून्य आप शून्य-को शून्य से गुणा कीजिये गुणनफल शून्य होगा। शून्य को शून्य से भाग दीजिये भागफल शून्य होगा। शून्य को शून्य में जाडिये तो जोड़ शून्य होगा। शून्य को शून्य मे से घटाइये तो शून्य ही शेष रहेगा। इस प्रकार वह ब्रह्म परिपूर्ण है।

एक दूसरी भी प्रक्रिया है। पूर्ण संख्या १ से ९ तक है। अर्थात् नौवीं संख्या पूर्ण है। नौ के पश्चात् कोई संख्या है ही नहीं। तो आप चाहे एक से ९ तक को जोड़े या ९ से एक तक जोड़े दोनो ही दशा मे ४५ जोड़फल आता है। ४५ में ४+५ हैं। चार और पॉच नौ हुए। जैसे—

९+८+७+६+५+४+३+२+१=४५=४+५=९
१+२+३+४+५+६+७+८+९=४५=४+५=९

यह तो जोड़ की सख्या हुई। इसी प्रकार बाकी भी लीजिये

९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ ,
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९
———————————
८ ६ ४ १ ९ ७ ५ ३ २ शेप

अब इन अक्षरो को जोड़िये ८+६+४+१+९+७+५+३+२=जोड़ ४५=४+५=९ जोड़फल इस प्रकार कैसे भी जोड़िये घटाइये ९ का ९ ही रहेगा।

तीसरा क्रम यह है ९ का पहाड़ा गिनिये। ९ एकन नौ। नौ दूनी अठारह। १+८=९। नौती सत्ताईस। २+७=९। नौ चौका छत्तीस। ३+६=९। नौ पंजे पैंतालीस। ४+५=९। नौ छिक चौअन। ५+४=९। नौ सात तिरेसठ। ६+३=९। नौ अट्ठे बहत्तर। ७+२=९। नौ नवे इक्यासी। ८+१=९। नौ दहारियम नब्बे ९+०=९। इस प्रकार नौ में से चाहे निकालिये चाहे जोड़िये अथवा भाग दीजिये नौ के नौ ही रहेंगे। इसी

प्रकार पूर्ण परब्रह्म परमात्मा म से अनन्तब्रह्माण्ड निकल जायँ, तो भी वे बने रहेंगे। असंख्यों ब्रह्माण्ड उनमें आकर मिल जायँ तो भी उनमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होगी। वे पूर्ण के पूर्ण ही बने रहेंगे। जैसे समुद्र मे से असंख्यों मेघ जल भर लाते हैं, फिर भी उसका जल घटता नहीं ज्यों का त्यों पूर्ण ही बना रहता है। चारों ओर से बड़े वेग से असंख्यों नदी नद आकर अनन्त जल लेकर समुद्र में गिरते हैं उनके गिरने से समुद्र मे कोई वृद्धि नहीं। अर्थात् जैसे समुद्र वृद्धि तथा ह्रास से रहित होकर सदा परिपूर्ण ही बना रहता है वैसे ही स ब्रह्म ओंकार है। वह वृद्धि ह्रास स रहित सदा परिपूर्ण है एकरस है। पूर्ण संख्या नौ है, उसमे जितने भी शून्य लगाते चलो बढता जायगा। जितने भी शून्य घटाते जाओ घटता जायगा किन्तु घटने बढने पर भी उसका नौ पना नहीं मिटेगा। नौ तो बना ही रहेगा क्योंकि वह पूर्ण है।

वह परब्रह्म स आकाश के सदृश सब स्थानों पर व्यापक अनन्त तथा किसी भी प्रकार की उपाधि से रहित है। उस पूर्ण-ब्रह्म से राम कृष्णादि अवतार अवतरित होते हैं, वे भी पूर्ण ही हैं। पूर्ण अवतार प्रकट होने पर भी उसकी पूर्णता कम नहीं होती। वह पूर्ण का पूर्ण ही बना रहता है। वह जिसमे से अवतार प्रकट हुए हैं, वह भी पूर्ण है और ये अवतार भी पूर्ण ही हैं। फिर ये अवतार अन्तर्हित होने पर न अवतारों की पूर्णता जाती है न उसी परब्रह्म की पूर्णता मे कोई वृद्धि होती। वह भी पूर्ण यह भी पूर्ण और पूर्ण के नाम भी पूर्ण, उनके रूप भी परिपूर्ण, उनकी लीला भी पूर्ण और उनके अवतरण के स्थान धाम भी पूर्ण। पूर्ण की सभी बातें पूर्ण ही हैं। अतः परिपूर्ण ब्रह्म को पूर्ण रूप से प्रणाम है। पूर्ण को पूर्ण प्रणाम करने पर करने वाला भी परिपूर्ण ही हो जाता है।

छप्पय

पूर्ण परात्पर पूर्ण पूर्ण ही पूर्ण कहावै।
पूर्ण माहिँ घटि जाय पूर्ण ही शेष रहावै॥
पूर्ण माहिँ बहु मिलै नाहिँ तिहिँ वस्तु बढ़ावै।
पूर्ण माहिँ लै जाउ पूर्णता नहीं नसावै॥
पूर्ण सदा पूर्णहिँ रहै, कबहूँ नहीं अपूर्ण है।
पूर्ण घटत नहिँ बढ़त है, पूर्ण सदा परिपूर्ण है॥

ॐ खं ब्रह्म और उसकी उपासना

[२५७]

ॐ खं ब्रह्म। खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद् वेदितव्यम् ॥*

(बृ० उ० ५ अ० १ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

ओंकार ख ब्रह्म अकाशहिँ ब्रह्म सनातन।
वायु रहै जिहि माहिँ कहै ख ताकूँ ऋषिगन॥
जड़ नहिँ सो आकाश यहां खं परमात्मा है।
कौरव्यायणि पुत्र कहै—खं ही आत्मा है॥
ओंकार ही वेद है, है जानत सब विप्रगन।
वाचक ताको प्रणव है, वेदितव्य कूटस्थ घन॥

---

* यह जो ओंकार है आकाश के सदृश अपरिछिन्न है। वही ब्रह्म है। अर्थात् ब्रह्म का वाचक प्रणव-ओंकार ही है। ओंकार मे ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। वह पुराण—सनातन—है। कौरव्यायणी पुत्र ने वायु वाले आकाश को ही ख कहा है। यह ओंकार वेद है। ऐसा ब्रह्म-वेत्ता ब्राह्मण जानते हैं, कि यही जानने योग्य वस्तु है। यह ओंकार द्वारा ही जानी जा सकती है।

ओंकार कहो प्रणव कहो यह ब्रह्म वाचक नाम है। ब्रह्म का निर्देश प्रणव से–ओंकार से–ही किया जाता है। वेदों में प्रणव की महा महिमा गायी गयी है। कहते हैं पहिले पहिल यह प्रणव ही एकमात्र वेद था। उसी प्रणव का विस्तार चारों वेदों में है। इसीलिये प्रणव का नाम 'वेदादि' है। अर्थात् आदि वेद। चारों वेदों का बीज होने से इसका नाम ब्रह्म बीज भी है। उपनिषदों में ओंकार की सर्वत्र प्रशंसा है। कठोपनिषद् में कहा है—समस्त वेद जिस पद को बारम्बार प्रतिपादन करते हैं, समस्त प्रकार के तप जिस प्राप्य स्वरूप को कहते हैं। जिसे प्राप्त करने की इच्छा से साधक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं। उस पद को मैं अत्यन्त संक्षेप में तुम्हारे लिये कहता हूँ। वह पद है—'ॐ' यह ब्रह्म का निर्देश है। यही प्राप्य स्वरूप है। पुराणों में भी कहा है—"यह ॐ ही ब्रह्म है, यही परम अक्षर है। इसी अक्षर को जानकर जो जैसी इच्छा करता है वह वैसा ही हो जाता है। यह ॐ ही ब्रह्म प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ परम आलम्बन है। इस प्रणव रूप आलम्बन को जानकर ब्रह्मलोक में पूजित होता है।

प्रश्नोपनिषद् में भी कहा है—"हे सत्यकाम! यह ॐ ही पर तथा अपर ब्रह्म है। इस कारण से विद्वान् इसी के अवलम्ब से पर या अपर किसी एक की उपासना करता है।"

मुण्डकोपनिषद् में भी कहा है—"ओंकार का ही ध्यान करो। तुम ओंकार के ध्यान में प्रवृत्त होगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।"

माण्डूक्योपनिषद् में भी कहा है—"भूत, भविष्य तथा वर्तमान यह सब ओंकार ही है इनके अतिरिक्त जो त्रिकालातीत काल है वह भी ओंकार ही है।"

तैत्तरीय उपनिषद् में भी कहा है–"जो कुछ गेय है सब ओंकार

ही है। यज्ञों में सामगायन करने वाले ॐ का ही गायन करते हैं। गीति रहित जो ऋचायें हैं, उनमें भी ओम् शोम् कहकर ॐ का ही पाठ किया जाता है। अध्वर्यु यज्ञों में प्रत्येक कर्म के प्रति ओम् ऐसा पद उच्चारण करता है। ब्रह्मा भी जो अनुज्ञा देता है वह भी ओम् कहकर ही देता है।"

यही बात छान्दोग्यउपनिषद् में यों कही गयी है—"अध्वर्यु जो मन्त्र श्रवण कराता है, वह ॐ कहकर ही श्रवण कराता है। होता जो वेद मन्त्रों का पाठ करता है वह ॐ कहकर ही करता है। उद्गाथा जो साम के उद्गीथ का गायन करता है। वह ओंकार के गायन पूर्वक ही करता है।"

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा है—"देह में जो उभय हैं दो हैं—उन्हें प्रणव द्वारा ही जाना जा सकता है।"

अथर्व शिखोपनिषद् में भी कहा है—'ॐ यह अक्षर सृष्टि के आदि में प्रयुक्त हुआ है।"

मैत्रायण्युपनिषद् में भी कहा है—"इसलिये ओम् इसी अक्षर से निरन्तर उपासना करे।"

नारायणोपनिषद् में भी कहा है—"ओम् से ही आत्मा को समर्पण करे।"

कहाँ तक कहें वेद पुराण तथा सम्पूर्ण शास्त्रों में प्रणव की ही महिमा गायी गयी है। ओंकार के अनन्त नाम हैं। उनमें से कुछ मुख्य मुख्य नाम यहाँ बताते हैं।

ॐ यह गोल वर्तुलाकार लिखा जाने से इसका नाम 'वर्तुल' है। दीर्घ और देर तक तार स्वर में उच्चारण करने से इसका नाम 'तार' है। बायीं ओर मुड़कर आता है इसलिये इसका नाम 'वाम' भी है। हंस कहते हैं जीव को, विशुद्ध ब्रह्म को भी, अतः उसका कारण होने से इसका नाम 'हंसकारण'

भी है। सब मन्त्रों में यह आदि मन्त्र है। अथवा सभी के आदि में लगाने से इसका नाम 'मन्त्राद्य' भी है। 'प्रण प्रसिद्ध ही नाम है। एक मात्र यही सत्य स्वरूप है, अतः का ही एक नाम 'सत्य' भी है। बिन्दु शक्ति से युक्त हो 'बिन्दुशक्ति' भी इसका नाम है। ॐ में अ, उ, म् ये तीन अ हैं। ये तीन अक्षर ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन तीनों देवों प्रतीक हैं, अतः इसका एक नाम 'त्रिदैवत' भी है। समस्त चरा जीवों की उत्पत्ति प्रणव से ही हुई है, अतः इसका एक न 'सर्वजीवोत्पादक' भी है। (१) शिव, (२) शक्ति, (३) (४) गणेश और (५) विष्णु, इन पच देवों की उपासना पचदे पासक स्मार्तगण सभी इस प्रणव द्वारा ही किया करते हैं अ इसका एक नाम 'पचदेव' भी है। यही प्रणव नित्य है शाश्व है निरन्तर रहने वाला है अतः इसका एक नाम 'ध्रुव' भी है तीन अक्षरों वाला होने से इसका एक नाम 'त्रिक' भी है कहाँ तक गिनावें सावित्री, त्रिशिखी, ब्रह्मा, त्रिगुण, गुणबीजक आदिबीज, वेदसार, वेदबीज परम्, पञ्चरश्मि, त्रिकूट, त्रिभव भवनाशन, गायत्री, बीज पचांश, मत्रविद्याप्रसू, प्रभु, अक्षर मातृकासू, अनादिदैवत तथा मोक्षद आदि इस प्रणव के अनेक नाम हैं। यह मन्त्रराज, ज्ञानसार तथा भव भयनाशक है। समस्त वेदोपनिषदों में सर्वत्र इसी की महिमा गायी गयी है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब भगवती श्रुति एक सिद्धान्त बताती है—"ॐ खं ब्रह्म।" ओंकार ख-आकाश-के सदृश है और वही ब्रह्म है। इसमें तीन शब्द हैं। पहिला ओंकार, दूसरा ख, तीसरा ब्रह्म। ये तीनों ही शब्द ब्रह्म वाचक हैं। ख का अर्थ हुआ आकाश। आकाश यह जो पच भूतों में से अतिम भूत है, वह आकाश नहीं। यह आकाश तो उत्पन्न होता है और

य मे लुप्त होता है यह तो सादि है। जो ब्रह्म वाचक आकाश
वह तो अनादि है। जैसे भूत, भविष्य और वर्तमान काल के
। रूप है, किन्तु एक इन तीनो से भी परे काल है। उसे
तातीत काल कह सकते हैं। सत्व, रज और तम तीन
। हैं। ये सादि हैं, किन्तु एक गुणातात नित्य सत्वस्थ है वह
ादि है। इसीलिये ब्रह्म का एक विशेषण नित्य सत्व है। इसी
ार पच भूता वाला आकाश तो सादि तथा सान्त है इस
काश से परे एक अनादि सनातन आकाश है वही 'ख' ब्रह्म
वाचक है। वही परमब्रह्म परमात्मा है। यह मत तो भगवतो
ा का है।

इस विषय मे कुछ मतभेद है, उसे भी श्रुति दर्शाती है। एक
षि कौरव्यायणी हैं। उनके पुत्र ब्रह्मवेत्ता हैं। उनका मत यह
–कि ख शब्द व्यवहार में आकाश के अर्थ में ही प्रसिद्ध है।
ातन–ख–अर्थात् पचभूतो से परे वाला सनातन आकाश यह
ण है अप्रसिद्ध है। सर्वसाधारण में सर्वत्र ख का अर्थ यही
चभूतों वाला आकाश लिया जाता है, जिसमें वायु विचरण
रता है अर्थात् अवकाश या पोल। जहाँ पर गौण और मुख्य
विवाद हो, वहाँ मुख्य अर्थ को ही प्रधानता दी जाती है।
त ख शब्द से यहाँ पचभूतों वाले आकाश को ही ग्रहण
रना चाहिये ऐसा कौरव्यायणी सुत का मत है।

श्रुति इसका खडन नहीं करती। श्रुति का कहना है अच्छा
हाँ ख का अर्थ सनातन मानो वहाँ ओंकार और ख मे विशेष्य
विशेषण सम्बन्ध मानकर अर्थ करो। अर्थात् जो ओंकार है वही
आकाश है। दोनों का समान अर्थ है। किन्तु जहाँ ख का अर्थ
चभूतों वाला आकाश करो वह उपमा उपमेय रूप से अर्थ
लगाओ। जैसे ओंकार कैसा है, आकाश के समान सर्वत्र व्या-

एक, निर्लेप तथा अपरिच्छिन्न है। ऐसा अर्थ करने पर चाहे 'ख' को सनातन ब्रह्म अर्थ में लो अथवा पंचभूतों के अर्थ में लो ओंकार के साथ जोड़ने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जहाँ ख का अर्थ सनातन आकाश लोगे। वहाँ ओंकार, खं और ब्रह्म तीनों ही एक अर्थ के समान द्योतक होंगे। इसलिये श्रुति ख पर बल न देकर ओंकार पर ही बल देती है। श्रुति कहती हैं—ओंकार वेद है। वेद क्यों है? इसीलिये कि सृष्टि के आदि में एक ही वेद था वह ओंकार ही था। एक ही वर्ण था उसका नाम हंस' था। ओंकार का ही विस्तार चारों वेद हैं। वेद का मूल ओंकार ही है। इस बात को वेदवेत्ता ब्राह्मण गण जानते और मानते हैं।

इन ऋक्, यजु, साम और अथर्व नाम वाले वेदों को छोड़ भी दो। तो संसार में वेदितव्य–ज्ञातव्य–क्या है। किसे जानने के लिये समस्त साधन किये जाते हैं? वह वेदितव्य वस्तु परब्रह्म परमात्मा ही है। उन परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के हेतु ही नाना प्रकार के जप, तप, स्वाध्याय प्रवचनादि किये जाते हैं। ब्रह्मचर्यादि बृहद् व्रतों का पालन किया जाता है। वह वेदितव्य विषय जिसके द्वारा जाना जाय वही वेद है। तो उस ब्रह्म का वाचक प्रणव है। प्रणव के ही द्वारा ब्रह्मज्ञान होता है इस अर्थ में भी प्रणव वेद ही है। तो उसे ब्रह्म कहो खं कहो ओंकार कहो एक ही बात है। अथवा खं ब्रह्म कैसा है? आकाश के सदृश निर्लेप, अपरिच्छिन्न, सर्वत्र व्यापक। ओंकार ब्रह्म का नाम भी है और प्रतीकोपासना में ओंकार प्रतीक भी है जैसे भगवान का अर्चावतार। अर्चावतार प्रत्यक्ष प्रकट दिखायी देता है। ऐसे ही ॐ की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा भी करनी चाहिये और ओंकार को मंत्र मानकर उसका जप भी करना चाहिये यही 'ॐ ख ब्रह्म' इस अर्चाविग्रह मंत्र का अर्थ है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार पचम अध्याय के प्रथम 'ॐ ख ब्रह्म' ब्राह्मण का प्रवचन हुआ। अब आगे जैसे दूसरे प्राजापत्य ब्राह्मण में भगवान् प्रजापति देव, मनुष्य और असुरों को एक ही शब्द से उपदेश करेंगे। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ओंकार ही सत्य ओम ही ब्रह्म पुरातन।
ओंकार ही जगत ओम तैं सृष्टि सनातन॥
ओंकार की करो उपासन मूर्ति ब्रह्म है।
ओंकार कूँ जपो मन्त्र यह सर्व श्रेष्ठ है॥
ओंकार के सरिस नहिँ, दूजो मन्त्र प्रसिद्ध है।
वेदितव्य ज्ञातव्य यह, वेद मन्त्र है सिद्ध है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पचम अध्याय म
ॐ ख ब्रह्म नामक प्रथम ब्राह्मण समाप्त।

प्रजापति का देव, मनुष्य और असुरों को 'द' शब्द से उपदेश

[२५८]

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥❀

(बृ० उ० ५ अ० २ ब्रा० १ म०)

छप्पय

लैन प्रजापति निकट गये उपदेश असुर सुर।
ब्रह्मचर्य व्रत धारि बास करि पूछत सेंग नर॥
देवनि कूँ 'दा' कह्यो, कहें—का समुझे सुरगन!
देव कहें—करु दमन कर्यो उपदेश सु भगवन॥
एव कहि फिरि नरनि तैं, पूछ्यो का "दा" अरथ है?
'दान करो' प्रभु ने कह्यो, बोले नर यह मरम है॥

❀ प्रजापति की देवता, मनुष्य और असुर ये तीन सन्तानें उनके समीप गयी। वहाँ उन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके कुछ काल निवास किया। तदनन्तर देवताओं ने कहा—"आप हमे कुछ उपदेश करें।" प्रजापति ने उनसे केवल "द" शब्द कहा और पूछा—"इसका भाव समझ गये न?" देवो ने कहा—"हाँ, समझ गये आपने हमको इन्द्रियों का दमन करने का उपदेश दिया है।" प्रजापति बोले—"तुम ठीक ही समझे।"

शरीर मे जहाँ व्रण होता है, वहीं दबाने से पीड़ा होती है। मनुष्यो में तीन प्रकृति के पुरुष होते हैं। सात्विकी प्रकृति वाले देव सदृश हैं। क्योंकि सात्विक प्रकृति ऊपर उठाती है। तामसिक प्रकृति वाले तमोगुणी होते हैं वे असुरों के सदृश हैं। और उनकी अधोगति होती है। जो राजस् प्रकृति के रजोगुणी हैं, वे कर्म प्रधान होते हैं, उन पर बिना कर्म किये रहा नहीं जाता। वे एक क्षण भी बिना कर्म के रह नहीं सकते यह पृथ्वी कर्म प्रधान है, अतः मनुष्य योनि कर्म करने के ही लिये है। मनुष्यों मे अधिकाश रजोगुण प्रधान ही रहते हैं। देवता प्रायः काम प्रधान होते हैं, मनुष्य क्रोध प्रधान और असुर प्रायः शरीर से आसक्ति करने वाले अपने का ही भला चाहने वाले लोभी होते हैं। देवता, असुर और मनुष्य प्रकृति के पुरुष पृथक पृथक भी होते हैं प्रधानता के कारण वैसे मनुष्यों मे कभी देवी प्रकृति का बाहुल्य होता है, कभी आसुरी प्रकृति का और कभा मानवी प्रकृति बढ जाती है। जो जैसी प्रकृति का होता है उसे वेसा ही सयम बताया जाता है।

माता के तीन प्रकार के पुत्र हैं। एक तो हृष्ट पुष्ट शारीरिक श्रम करने वाला तीव्र अग्नि प्रधान है। दूसरा मानसिक कार्य करने वाला साधारण अग्नि वाला है। तीसरा रोग ग्रस्त-रुग्ण कुछ भी काम न करने वाला, सदा शेया पर पडा रहने वाला मन्दाग्नि वाला है। माता के लिये तीनों ही प्यारे हैं। वह तीनों को ही आहार देती है। किन्तु उनकी अग्नि के अनुसार उनके आहारों में भेद कर देता है। वह भेद पक्षपात से नहीं उन पुत्रों के कल्याण के लिये ही करती है। जो शारीरिक श्रम करने वाला हृष्ट पुष्ट है, उसे आहार पौष्टिक घृत दुग्ध प्रधान देती है। मध्याग्नि वाले मानसिक श्रम मे निरत पुत्र को फल, रस तथा अन्य

सागादिक देती है। जो रुग्ण है, मन्दाग्नि वाला है, उसे दाल का पानी, रोटी की पपड़ी, पतली खिचड़ी आदि सुपाच्य बहुत शीघ्र पचने वाला हलका भोजन देती है। आहार तीनों को ही देती है। तीनों से कहती है आहार ले जाओ। किन्तु रोगी से कहो अपने बड़े भाई की थाली में बैठकर आहार करो। तो वह कह देगा—"यह आहार मेरा नहीं है, यह मेरे बड़े भाई का है। यह मध्यम भाई का है, यह मेरा है। आहार एक ही है, किन्तु प्रकृति भिन्न-भिन्न होने से आहारों में भेद हो जाता है।"

तीन रोगी हैं, तीनों चिकित्सक के पास जाते हैं। तीनों के ही रोग देखकर वह त्रिदोष नाशक एक ही औषधि देता है, किन्तु तीनों की प्रकृति की भिन्नता देखकर अनुपान मे भेद कर देता है। कफ प्रधान से कहेगा। इसे शहद के साथ खाना। क्योंकि शहद कफघ्न है। पित्त प्रधान को कहेगा "मिश्री के चूर्ण के साथ खाना। क्योंकि सिता-मिश्री-पित्त नाशक है। वात प्रधान को कहेगा-घृत के साथ खाना क्योंकि घृत तैल वात नाशक हैं। एक ही वस्तु प्रकृति भेद से भिन्न-भिन्न भावनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न फल वाली हो जाती है।

श्रीकृष्णचन्द्रजी जब कंस की सभा में गये, तो एक ही श्रीकृष्ण के सभी ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न रूपों मे दर्शन किये। सभा मे बैठे हुए जो मल्ल थे उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र वज्र के सदृश कठोर शरीर वाले दिखायी दिये। सर्व साधारण मनुष्यों को नररत्न-मनुष्यों में अत्यन्त श्रेष्ठ व्यक्ति-प्रतीत हुए। युवती स्त्रियों को वे साक्षात् मूर्तिमान दृष्टिगोचर हुए। जो इनके संगी साथी बाल गोपाल थे उन्हें अपने सगे सम्बन्धी प्रिय स्वजन ही दीखे। दुष्ट राजाओं को ऐसा प्रतीत हुआ मानों कोई दुष्टों को दण्ड देने वाला कठोर

शासक आ रहा है। वहाँ जो देवकी वसुदेव तथा और भी माता-पिता के सदृश बड़े बूढ़े बैठे थे उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों हमारा प्यारा दुलारा शिशु आ रहा है। कंस को ऐसा प्रतीत हुआ माना मुझे मारने साक्षात् यमराज ही आ रहे हैं। जो अज्ञानी थे उन्हें उनका रूप विराट के सदृश दिखायी दिया। उस सभामे जो ज्ञानी ध्यानी योगीगण बैठे थे उन्हें श्रीकृष्ण अपने परम तत्व ही दिखायी दिये। और जो भगवान् के भक्त उनके अनुगत वृष्णि वंशी थे उन्हे भगवान् के दर्शन अपने इष्टदेव के रूप मे हुए। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, वीभत्स, शान्त और प्रेम भक्ति सहित जो दश रस हैं। उन दशो रस वालो को एक ही श्रीकृष्ण के दर्शन अपने-अपने रस की प्रकृति के सदृश ही हुए। कहावत है-'चोर की दाढ़ी मे तिनका, होता है। कह दो जिसकी दाढ़ी मे तिनका होगा वही चोर है। चाहे दाढ़ी में तिनका न भी हो तो चोर के मन मे तो तिनका बैठा ही है वह शीघ्रता से अपनी दाढ़ी को झारने लगेगा। किसी भी शब्द का मनुष्य अपनी भावनानुसार ही अर्थ करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ये सम्पूर्ण चराचर प्राणी सभी प्रजापति की ही सन्तानें हैं। ब्रह्माजी सभी के पिता ही नहीं पितामह हैं। वे सभी का कल्याण चाहते हैं। एक बार देवता, मनुष्य और असुर तीनों उनकी सन्तानें उपदेश लेने की इच्छा से ब्रह्माजी के समीप गये। सभी मे कुछ न कुछ त्रुटि रहती ही है। अपने बड़ो के पास इसीलिये जाते हैं, कि वे हमारी त्रुटि को समझकर उसे मिटाने का उपाय बतावें। तीनों ने जाकर प्रजापति के पादपद्मो मे साष्टाङ्ग प्रणाम किया और निवेदन किया—भगवन्! हम आपसे कुछ उपदेश प्राप्त करने की इच्छा से

आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं। हमारे लिये क्या आज्ञा है?"

तब भगवान् प्रजापति ने कहा—"देखो, शास्त्र का ऐसा नियम है, अपात्र को, असंयमी को-उपदेश न करे। जो न्यून-से न्यून अपने समीप एक वर्ष तक नियम संयम पूर्वक निवास न करे, उसे उपदेश न करे। तुम ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए कुछ काल यहाँ निवास करो, फिर मैं तुम्हें उपदेश करूँगा।"

प्रजापति की ऐसी आज्ञा पाकर वे तीनों नियम संयम पूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए वर्ष पर्यन्त वहाँ रहे। एक वर्ष पूरा होने पर सर्वप्रथम देवता ब्रह्माजी की सेवा में समुपस्थित हुए और बोले—"भगवन्! यदि हम उपदेश के योग्य हो गये हों, तो हमें उपदेश देने की कृपा करें।"

यह सुनकर भगवान् प्रजापति ने उनसे केवल "द" यह शब्द कहा। और पूछा—"तुम मेरे उपदेश का अभिप्राय समझ गये हो न?"

देवताओं ने कहा—"हाँ, भगवन्! समझ गये।"

प्रजापति ने पूछा—"क्या समझ गये?"

देवताओं ने कहा—"हम यही समझे कि आप हमें इन्द्रियों के दमन करने का उपदेश दे रहे हैं। आपका अभिप्राय है हम दमन करें।"

प्रजापति ने कहा—"तुमने यथार्थ समझा, ऐसा ही करना।"

यह सुनकर देवता अपने स्थान को चले गये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"देवताओं ने एक 'द' से दमन अर्थ कैसे निकाल लिया?"

सूतजी ने कहा—'मुनियो! अपनी त्रुटि का बोध व्यक्तियों को स्वयं होता है। देवता भोग प्रधान होते हैं। उन्हें अपनी दुर्बलता का ज्ञान था। उनके हृदय में भोगवासना का चोर बैठा

था। प्रजापति के 'द" कहते ही उन्होंने अनुभव किया पितामह हमें इन्द्रियों का दमन करने को कहते हैं। उन्होंने अपनी दुर्बलता की दमन को ही औषधि समझा, इसलिये 'द' कहते ही उन्हें दमन का बोध हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"अच्छा, फिर क्या हुआ ? मनुष्य और असुरों को प्रजापति ने क्या उपदेश दिया ?"

सूतजी बोले—"देवताओं के चले जाने के पश्चात् मनुष्य भी प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने भी उपदेश देने की प्रार्थना की। तब प्रजापति ने उनको भी वही एक शब्द "द" कहकर पूछा—तुम मेरे उपदेश का अभिप्राय समझ गये न ?"

मनुष्यों ने कहा—"हाँ भगवन् ! हम समझ गये।"

प्रजापति ने पूछा—"क्या समझे ?"

मनुष्यों ने कहा—"भगवन् ! आपने हमसे यही कहा कि सदा दान किया करो।"

प्रजापति कहा—"तुम सत्य ही समझे। ऐसा ही किया करना।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! मनुष्यों ने 'द' से दान ही क्यों समझा ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! इस पृथ्वी पर मनुष्य योनि में तीन ही स्थानों से पुरुष आते हैं। स्वर्ग से, नरक से तथा पृथ्वी से। देवयोनि से कुछ पुण्य शेष रहने पर पुण्यात्मा पुरुष पृथ्वी पर धकेल दिये जाते हैं, उनकी प्रकृति देव प्रकृति होती है। वे दान देकर परम हर्षित होते हैं, वे सदा अत्यन्त मधुर वाणी में हैं। देव पूजन में उनकी अत्यन्त रुचि होती है तथा

अतिथि अभ्यागतों को तृप्ति पूर्वक भोजन कराने में उन्हें परम उत्साह होता है।"

जो मानुषी प्रकृति के होते हैं, उन्हें अपने तथा अपने सगे सम्बन्धियों को भोजन कराने में, देने में प्रसन्नता होती है और आसुरी प्रकृति के पुरुषों को केवल अपने प्राणों के पोषण में ही प्रसन्नता होती है। मनुष्यों में यही एक दुर्बलता है, कि स्वभावतः फल की इच्छा रखने वाला कृपण होता है। अतः मनुष्य अपनी कृपणवृत्ति की दुर्बलता को स्मरण करके समझ गये, कि प्रजापति कहते हैं—"कृपणता का परित्याग करके यथा शक्ति दान दो, सबका भाग निकालकर संविभाग पूर्वक उपभोग करो।" इसीलिये उन्होंने "द" से दान का ही अर्थ लगाया।"

शौनकजी ने पूछा—"अच्छा, असुरों को प्रजापति ने क्या उपदेश दिया ?"

सूतजी ने कहा—"असुरों के पूछने पर भी प्रजापति देव ने उनसे "द" शब्द ही कहा और उनसे पूछा—तुम लोग समझ गये न ?"

असुरों ने कहा—"हाँ, भगवन् ! समझ गये।"

प्रजापति ने पूछा—"क्या समझे ?"

असुरों ने कहा—"आपने हमसे यही कहा, कि "कि तुम सभी प्राणियों पर दया किया करो।"

शौनकजी ने पूछा—"द" शब्द से असुरों ने दया का ही अर्थ कैसे लगाया ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! असुर तो स्वभाव से ही क्रूरकर्मा निर्दयी होते हैं। वे अपनी दुर्बलता अनुभव करते थे। जब प्रजापति ने 'द' कहा तो वे समझ गये। ब्रह्माजी हमें दया

करने का उपदेश देते हैं। इस पर प्रजापति ने कह दिया—"तुमने सत्य ही समझा, तुम सदा ऐसा ही किया करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह तो अख्यायिका हुई। अब भगवती श्रुति इस अख्यायिका का सार उपदेश बताती हुई कहती है—संसार में दमन, दान, दया ये ही सार हैं। इसीलिये प्रजापति ने तीन बार द, द, द ये शब्द कहे। यह भगवान प्रजापति का उपदेश देव, मनुष्य, असुर अथवा देवी, मानवी तथा आसुरी प्रकृति वाले सभी पुरुषों को इन्द्रियों का दमन करना चाहिये। यथाशक्ति धन का दान करना चाहिये और प्राणिमात्र पर दया करनी चाहिये। प्रजापति के द, द, द इस उपदेश की स्मृति गरजते हुए मेघ सदा कराते हैं। वे मानो द, द, द ऐसी देवी वाणी द्वारा प्रजापति के उपदेश की घोषणा कर रहे हों, उनका अनुवाद कर रहे हों। हे मनुष्यो! दमन करो, दान दो और जीवों पर दया करो। इस प्रकार दम, दान और दया तीनों की ही शिक्षा लो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रजापति ने मानों नरक के द्वार भूत काम, क्रोध और लोभ इन तीनों को जीतकर दमन, दान और दया इन तीनों का उपदेश दिया। इस प्रकार यह प्रजापति के उपदेश की कथा कही। अब आगे जैसे हृदय आदि की उपासना बताई गयी है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सभी विप्र वृन्द इस उपासना प्रकरण को सावधानी के साथ श्रवण करने की सहृदयता प्रदर्शित करेंगे।

छप्पय

पुनि असुरनि तैं कह्यो शब्द "दा" का समुझे तुम।
असुर कहैं—प्रभु ! दया करो यह ही समुझे हम॥
तुम सब समुझे सत्य दमन अरु दया दान भल।
मेघ गर्जना करें प्रजापति शासन प्रति पल॥
दा दा दा कहि गर्जिकें, दमन दया नित दान दैं।
इन साधन करि सबहिं जन, भवसागर तरि प्रेम तैं॥

—०—

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय का
द्वितीय प्राजापत्य ब्राह्मण समाप्त।

हृदय सत्यादि ब्रह्मोपासना

(२५६)

एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्मैतत् सर्वं तदेतत् त्र्यक्षरꣳ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एव वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोक य एव वेद ॥*

(बृ० उ० ५ अ० ३ ब्रा० १ म०)

छप्पय

हृदय प्रजापति ब्रह्म तीनि ये अक्षर उत्तम ।
एक शब्द हृ कह्यो हरहिँ बलि अन्य स्वजन सम ॥
दूसर है 'दा' शब्द देहिँ सब ताहि स्वजन गन ।
तीसर 'यम्' यह शब्द स्वरग कूँ जाइँ जानि जन ॥
हृदय नाम अक्षरनि जब, ऐसे गुनगन भव्य हैं ।
हृदय ब्रह्म की उपासन, करैं होइँ ते दिव्य हैं ॥

---

* यह जो हृदय है वही प्रजापति है, वही ब्रह्म है, इसी को सर्व भी कहते हैं। हृदय में 'हृ' 'द' और 'य' ये तीन अक्षर हैं। 'हृ' जो एक अक्षर है जो इसके भाव को जानता है उसके प्रति स्वजन तथा अन्य जन बलि आहरण-समर्पण-करते हैं। 'द' दूसरा एक अक्षर है जो इसके भाव को जानता है उसे स्वजन अन्यजन देते ही रहते हैं। 'यम्' तीसरा एक शब्द है, जो इसके भाव को जानता है वह स्वर्गलोक को जाता है।

ब्रह्म सर्वव्यापक है। श्रुति इस अखिल विश्वब्रह्माण्ड को लक्ष्य करके कहती है—"यह सब का सब ब्रह्म ही है। किन्तु सब ब्रह्म होने पर हमें ब्रह्म का साक्षात्कार क्यों नहीं होता। साक्षात्कार तो हमें जड़ पदार्थों का ही होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार हमें इसलिये नहीं होता, कि हम साधन नहीं करते। अपने कर्तव्य से च्युत रहते हैं। शास्त्रों में मनुष्य का एक नाम साधक भी बताया है। अर्थात् जो ब्रह्म साक्षात्कार के लिये साधन करे, वही वास्तव मे मनुष्य है। जो ब्रह्म प्राप्ति के लिये तो प्रयत्न करे नहीं। निरन्तर नौन, तेल, लकड़ी जुटाने के लिये धन प्राप्ति का, सतान पैदा करने के लिये पत्नि प्राप्ति का और मरकर स्वर्ग मे दिव्य सुख भोगने के लिये उत्तमलोक प्राप्ति के प्रयत्नों में ही जुटा रहे तो वह वास्तविक साधक नहीं ऐसे साधक को ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी उसका साक्षात्कार सम्भव नहीं।

देखो, अग्नि सर्वव्यापक है। कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ अग्नि न हो। जल मे, स्थल मे, आकाश मे, पाताल मे, यहाँ तक कि अपने शरीर के भीतर भी अग्नि व्याप्त है, किन्तु जब तक मन्थन न करो–उसे प्रकट करने को साधन–सघर्ष न करो, तब तक अग्नि का साक्षात्कार नहीं होगा सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी अग्नि प्रकट न होगी।

एक राजा थे, उन्होने अपने बूढ़े मन्त्री से पूछा—"परमात्मा हैं ?" मन्त्री ने कहा—"अवश्य हैं। सर्वत्र हैं।" राजा ने कहा—"यदि हैं और सर्वत्र व्याप्त हैं तो उन्हें हमें दिखाओ।" मन्त्री ने कहा—"मैं दिखा नहीं सकता। बहुत से साधकों ने परमात्मा का साक्षात्कार किया है।" राजा ने कहा—"जिन्होंने साक्षात्कार किया हो, जो हमें परमात्मा को दिखा सकते हों, उन्हें

हमारे पास ले आओ। छै महीने में नहीं लाओगे तो तुम्हे सूली पर चढ़ा दिया जायगा।"

राजा से विदा लेकर मन्त्री सर्वत्र गये, किन्तु किसी ने भी यह नहीं कहा कि हम परमात्मा को दिखा सकते हैं। मन्त्री हताश होकर खिन्न मन से मन ही मन परमात्मा का स्मरण करते हुए सूली पर चढ़ने के लिये अपने नगर को लौट रहा था। तभी एक बिना जल के–कीच वाले–तालाब मे–एक तीन-चार वर्ष के बहुत ही सुन्दर बालक को बैठे देखा। बालक अपने शरीर पर तालाब की कीच को लपेट रहा था। इससे उसका सुवर्ण जैसा शरीर बगुले के पंख जैसे धुले स्वच्छ कपड़े कीच में सन रहे थे। मन्त्री ने कहा—"बच्चे! तुम यह क्या पागलपन कर रहे हो? अरे, कीच मे अपने सुन्दर शरीर को सफेद वस्त्रों को क्यों बिगाड़ रहे हो?" लड़के ने मन्त्री की बात सुनी ही नहीं। तब मन्त्री ने उसे डाँटकर कहा—"ओ बच्चे! मैं तुझसे ही कह रहा हूँ, यह मूर्खता क्यों कर रहा है।"

बच्चे ने कहा—"कैसी मूर्खता?"

मन्त्री ने कहा—"मिट्टी से शरीर को वस्त्रों को गन्दा क्यो कर रहा है। यह मूर्खों का काम है।"

बच्चे ने कहा—"यदि मैं मिट्टी मे मिट्टी को मलकर मूर्खता कर रहा हूँ, तब तो सभी मूर्खता करते हैं। यह शरीर भी मिट्टी से बना है, अन्न भी मिट्टी है। मनुष्य मिट्टी के शरीर मे मिट्टी क्यों डालते हैं। वस्त्र भी मिट्टी से बने हैं। शरीर भी मिट्टी का है इसमें मिट्टी मलना मूर्खता है तो सभी मूर्ख हैं।"

मन्त्री की इस उत्तर से आँखें खुलीं। वे सोचने लगे यह लड़का साधारण लड़का नहीं। यह ज्ञानी है सम्भव है इसके

द्वारा मेरा काम हो जाय। अतः मन्त्री ने कहा—"अच्छा, बच्चे! यह बताओ, परमात्मा है?"

बच्चे ने कहा—"यह भी कोई पूछने की बात है। परमात्मा यत्र-तत्र-सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है।"

मन्त्री ने कहा—"तुम परमात्मा को दिखा सकते हो?"

बच्चे ने कहा—"अवश्य दिखा सकता हूँ।"

मन्त्री ने बच्चे को कोच से उठाया। उसे स्नान कराया। स्वच्छ वस्त्र पहिनाये। गोद में लेकर राजा के पास गया। राजा ने मन्त्री को देखते ही पूछा—"ईश्वर को दिखाने वाले किसी को लाये?"

मन्त्री ने कहा—"राजन्! परमात्मा तो सर्वत्र व्याप्त है, उसे तो यह बच्चा ही दिखा सकता है।"

राजा ने बच्चे से पूछा—"तुम परमात्मा को दिखा सकते हो?"

बच्चे ने कहा—"अवश्य दिखा सकता हूँ।"

राजा ने पूछा—"परमात्मा कहाँ रहता है? क्या काम करता है? किसे वह दीखता है?"

बच्चे ने कहा—"आप किस भाव से प्रश्न कर रहे हैं? हमारी परीक्षा लेने या जिज्ञासु भाव से?"

राजा ने कहा—"मैं जिज्ञासु भाव से पूछ रहा हूँ।"

बच्चे ने कहा—"जिज्ञासु भाव से ऐसे पूछा जाता है? तुम पूछने वाले सिंहासन पर ऊपर बैठे हो। हम बताने वाले नीचे। ऐसे अश्रद्धालु के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जाता। हमें ऊपर बिठाकर पूजा करो नम्रता से प्रश्न करो, हमें साष्टांग प्रणाम करके पूछो, तब उत्तर देंगे।"

राजा ने ऐसा ही किया। बच्चे को ऊपर बिठाकर पूजा की,

साष्टाग प्रणाम करके हाथ जोड़कर पूछा—"भगवान् कहाँ रहते हैं ?"

बच्चे ने कहा—"यत्र-तत्र सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं।"

राजा ने पूछा—"वे क्या काम करते हैं ?"

बच्चे ने कहा—"वह ऊपर वाले को नीचे और नीचे वाले को ऊपर बिठाने का काम करते हैं। देखो, अब तक तुम ऊपर बैठे थे, हम नीचे बैठे थे। अब तुम नीचे बैठे हो, हम ऊपर बैठे हैं। यह परमात्मा का ही तो कर्तव्य है।

राजा ने कहा—"परमात्मा को हमें दिखाइये।"

बच्चे ने कहा—"एक सेर कच्चा दूध मँगाइये।"

दूध आ गया। बच्चा दूध को उठाकर बार बार उसे देखने लगा।

राजा ने पूछा—"क्या देख रहे हो ?"

बच्चे ने कहा—"मैंने सुना है दूध में घृत होता है, दूध की रग रग में घृत व्याप्त है उसे ही देख रहा हूँ।"

यह सुनकर राजा हँस पड़ा और बोला—"कितने भी ज्ञानी क्यों न हो, फिर भी लड़कपन की तुम्हारी बुद्धि कैसे जाय ? अरे, भैया ! दूध में घृत अवश्य होता है, किन्तु वह जैसे तुम देख रहे हो, ऐसे नहीं दीखता। पहिले दूध को गरम करो, उसमें जामन दो। जब दही हो जाय तो उसे मथानी में डालकर रई और रस्सी लाकर बार बार मथो। तब मक्खन पृथक् होगा। मट्ठा पृथक् होगा। मक्खन को निकालकर अग्नि पर गरम करो। उसे छन्ना से छानो। उसमें से छाछ पृथक् हो जायगी। तब घृत के दर्शन होंगे। यों हाथ में दूध लेकर घृत कैसे दीखेगा। घृत को देखने के लिये विविध साधन करने पड़ते हैं।"

बच्चे ने कहा—"मेरी बुद्धि तो बालबुद्धि है ही राजन्! तुम्हारी बुद्धि मुझसे भी अधिक बालबुद्धि है। अणु परमाणु में

शौनकजी ने पूछा—"हृदय की ब्रह्मभाव से उपासना कैसे करे ?"

सूतजी ने कहा—"यह जो हृदय है, इसी को प्रजापति माने। इसी में ब्रह्म की भावना करे। यही ब्रह्म है।"

शौनकजी ने कहा—"श्रुति तो कहती है यह सर्व ब्रह्म है ?"

सूतजी ने कहा—"सर्व भी हृदय ही है। हृदय से ही सर्व की अनुभूति होती है। हृदय ही प्रजापति, ब्रह्म तथा सर्व है। हृदय जो नामी है उसकी पवित्रता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? हृदय जो नाम है। इस नाम मे जो 'हृ' 'द' और 'य' ये तीन अक्षर हैं। ये भी परम पवित्र अक्षर है। इन तीनों का ही बडा गूढ अर्थ है।"

शौनकजी ने पूछा—"हृदय के तीन अक्षरों का गूढ़ अर्थ क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जो विषयों को प्राप्त करावे उसका नाम हृदय है। यह हृदय लालकमल-पुष्कल-के सदृश अधोमुख वाला होता है। जाग्रत अवस्था में यह विकसित होता है और सुषुप्ति अवस्था मे सकुचित हो जाता है। अत्यन्त हर्ष में अधिक विकसित होकर खिल जाता है। विषयों के ससर्ग से इसमें एक ग्रन्थि पड जाती है। ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर वह ग्रन्थि अपने आप खुल जाती है। हृदय मे जो 'ह' 'द' और 'य' ये तीन अक्षर हैं। उनम से 'हृ' शब्द हृञ् हरणे धातु से बना है। जिसका अर्थ हुआ अपने निज नेत्रादि इन्द्रियाँ और दूसरे शब्द स्पर्शादि तन्मात्रायें अपने अपने कार्यों को ला-लाकर जिसे समर्पण करें उसका नाम हृदय है। यह हृदय के हृ शब्द का अर्थ हुआ (स्वाः च अन्ये अस्मै अभिहरन्ति) जो उपासक हृ शब्द का अर्थ जान लेता है उसे अपने स्वजन बन्धु-बान्धव तथा

अन्य दूसरे लोग भी अपने आप ही बिना माँगे नाना प्रक
उपहार ला लाकर अर्पण करते रहते हैं। यह हृदय के एक
का अर्थ और उसके सम्यक् ज्ञान का फल हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"दूसरे शब्द 'द' का क्या अर्थ
उसके ज्ञान का क्या फल है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! डुदाञ् धातु दान अर्थ में प्र
होती है। 'द' शब्द उसी डुदाञ् धातु से आया है। इसका
अर्थ यही हुआ कि निज अपनी नेत्रादि इन्द्रियाँ तथा अन्य श
रूप रसादि तन्मात्रायें जिसे अपने अपने वीर्य को देती हो (
इति एक अक्षर स्वाः च अन्ये अस्मेददाति) जो 'द' के
तत्वतः अर्थ को जान लेता है उसे अपने स्वजन बन्धु तथा अ
लोग भी धनादि वस्तुओं को देते ही रहते हैं। यह हृदय के दूस
अक्षर 'द' का अर्थ और उसे जानने का फल हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हृदय के तीसरे 'यम्' शब्
का अर्थ उससे जानने का फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! इण धातु गति अर्थ में प्रयुक्त
होती है। उसी धातु से 'य' शब्द आया है। जो 'य' के इस
यथार्थ अर्थ को जान लेता है, उसकी सुगति होती है। अर्थात
उसे स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है। (य इति एक
अक्षर यः एव वेद स्वर्गम लोकम् एति)।"

इस प्रकार जब इस हृदय वाक्य के प्रत्येक अक्षर का ऐसा
गूढार्थ और इसके एक अक्षर के भाव को जानने का ही जब
ऐसा फल है, तब इस 'हृदय' पूरे वाक्य को ब्रह्म मानकर जो
साधक उपासना करेंगे उन्हें ब्रह्मसाक्षात् न हो, तो यह असम्भव
है। अतः हृदय को प्रजापति, ब्रह्म, सर्व मानकर इसकी ब्रह्मभाव

से उपासना करनी चाहिये। इसी प्रकार सत्य की भी ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सत्य की ब्रह्मभाव से उपासना कैसे करे?"

सूतजी ने कहा—"सत्य को महत् यक्ष मानकर उपासना करे।"

शौनकजी ने पूछा—"यक्ष क्या?"

सूतजी ने कहा—"यहाँ यक्ष से यक्ष राक्षसों वाला यक्ष नहीं। यक्ष यहाँ पूजनीय अर्थ में है (यक्ष्यते=पूज्यते=इति यक्षः) हृदय ब्रह्म को ही सत्य भी कहते हैं। यह सत्य ही महत् है, यही पूज्य यक्ष है। यह समस्त प्राणियों से प्रथम उत्पन्न होने वाला है, अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति से पहिले भी यह विद्यमान था। यही सत्य ब्रह्म है। जो ब्रह्म के इस सत्य स्वरूप को जानता है, वह इन समस्त लोकों को जीत लेता है। उस पुरुष के शत्रु उसके अधीन हो जाते हैं। असत्-अभावभूत-हो जाते हैं। किसके शत्रु वशीभूत-अधीन हो जाते हैं? जो इस भाँति उस सत्य ब्रह्म स्वरूप महत् यक्ष-जो पूज्य है और सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ है उसे भली भाँति जानता है। इसलिये कि वह ब्रह्म सत्य ही है। सत्य की उपासना करोगे तो उस उपासना का फल भी सत्य ही होगा। ये समस्त लोक सत्य ब्रह्म के ही द्वारा जीते हुए हैं। जो सत्य ब्रह्म का उपासक है, उसके द्वारा भी ये सभी लोक जीते जा सकते हैं। अतः सत्य को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह फल सहित सत्य ब्रह्म की उपासना कही गयी। अब आगे जैसे सत्य नाम के अक्षरों की

जो भूः, भुवः और स्वः ये–व्याहृतियाँ हैं। ये भी प्रणव का विस्तार हैं। प्रजापति ने तीनों वेदों का सार जानने की अभिल से तप किया–अर्थात् ज्ञान का पर्यालोचन किया। तो ऋक्वेद सारभूत भूः व्याहृति उत्पन्न हुई। यजुर्वेद से भुवः और साम से स्वः। अर्थात् 'भूः भुवः स्वः' ये तीनों व्याहृतियाँ तीनों वे का सार हैं। पीछे ऐसी ही बात एतरेय उपनिषद् में भी क गयी है—'प्रजापति ने तीनों वेदों में से सार निकालने के निमि उन्हें भली-भाँति तपाया। जैसे समस्त धातुओं के तपाने से उसक सार शुक्र वीर्य–उत्पन्न होता है। उसी प्रकार ऋक्वेद व तपाने से उसका शुक्र–सार–भूः व्याहृति, यजुर्वेद से भुवः औ सामवेद से स्वः व्याहृति शुक्र रूप से उत्पन्न हुई। जैसे गं दाना घास खाती है, तो सब खाद्य का सार दुग्ध बनकर प्रक होता है उसी प्रकार प्रजापति ने वेदत्रयी रूप तीनों गोओं से ऋग्वेद से भूः व्याहृति रूप दुग्ध, यजुर्वेद से भुवः रूप दुग्ध, तथा सामवेद से स्वः गायत्री रूप दुग्ध दुहा। ये जो तीन लोक बताये गये हैं ये भी तीन व्याहृतियों के ही प्रतीक हैं। भूः व्याहृति से पृथ्वी लोक, भुवः व्याहृति से अन्तरिक्ष लोक तथा स्वः व्याहृति से देवलोक समझना चाहिये।

सत्य ही ब्रह्म है। सत्य शब्द में भी स ती य ये तीन अक्षर हैं मानो ये तीनों व्याहृतियों के स्वरूप ही हैं। अतः सत्य को संस्थान–आकृति–चिन्ह–मानकर आगे सत्य उपासना के सम्बन्ध में कहा जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पहिले सत्य ब्रह्म को प्रथमज कहा। अर्थात् सबसे पहिले सत्य की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति क्या हुई। सर्व प्रथम सत्य का ही दर्शन हुआ। अर्थात् सत्य त्रिकाल बाधित है। जब यह जगत् नहीं था सत्य, तब भी था। जब, यह

जगत् उत्पन्न हुआ तो इसके सबसे पूर्व सत्य विद्यमान था और जब यह जगत् न रहेगा–लुप्त हो जायगा–तब भी सत्य बना ही रहेगा। जगत् के लोप हो जाने पर भी सत्य का लोप नहीं होता।

जल को आप कहते हैं। उसका नार–या नीर–भी नाम है। पहिले नार ही-नार जल ही जल था। नार क्या ? जीवन–चैतन्य अथवा कल्याण। उस नार से सत्य प्रकट हुआ। अर्थात् जल ने सत्य की सृष्टि की। नार में अयन–स्थान–होने से वे श्रीमन्नारायण कहलाये। उनके नाभि कमल से प्रजापति-विराट् की उत्पत्ति हुई। उस प्रजापति ने इन्द्रादि देवों को उत्पन्न किया इसलिये वे देवतागण ब्रह्म की सत्य स्वरूप की ही उपासना करते हैं। वह 'सत्य' तीन अक्षरों वाला है। एक तो आदि का 'स' अक्षर, एक मध्य का 'ती' अक्षर, और एक अन्त का 'यम्' अक्षर।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! स और यम् के बीच में तो हलन्त 'त्' शब्द है उसे 'ती' क्यों बताया गया ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! बिना स्वर के हलन्त अक्षरों का उच्चारण नहीं होता। इसलिये ईकार अनुबन्ध स्पष्ट उच्चारण के निमित्त है। हाँ, तो स, त् और यम्। ये तीन अक्षर हैं। इन तीनों में पहिला सकार और अन्त का तीसरा यकार ये सत्य के वाचक हैं। बीच का जो 'त्' है यह अनृत या मृत्युवाचक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! 'त्' को आप मृत्यु वाचक क्यों बताते हैं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवती श्रुति समानता के कारण 'त्' को मृत्यु अथवा अनृत बताती है। अनृत में भी 'त' है और मृत्यु में भी 'त' शब्द है। मृत्यु के पर्यायवाची शब्द

दिष्टान्त, अत्यय, अन्त, पंचत्व, मृत, मृति, अस्त, निपात, आत्यविक आदि सबमें त है। इसलिये 'त' को अनृत-मृत्यु माना है। परन्तु यह अनृत रूप 'तृ' दोनों ओर सत्य से प गृहीत है। जैसे 'स' भी सत्य है और 'य' भी सत्य है इन दो के मध्य में 'तृ' है। ससर्ग का दोष गुण होता ही है, फिर बहु की प्राधान्यता मानी गयी है। इसलिये दोनों ओर से सत्य घिरा होने के कारण अनृत रूप जो 'तृ' है वह भी सत्य बहुल है। इस प्रकार जो सत्य के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है। उ अनृत अथवा मृत्यु मार नहीं सकते। वे साधक सत्य के प्रभा से अमर हो जाते हैं। अनृत उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता यही सत्य शब्द के अर्थ जानने का प्रतिफल है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सत्य तो अव्यय अदृश्य, अमूर्त है। उपासना के लिये प्रतीक रूप से उसे कहाँ देखें?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! यह जो अन्तरिक्ष में प्रत्यक्ष आदित्य देव-सूर्यनारायण-दृष्टिगोचर होते हैं वे सत्य स्वरूप ही हैं। इस आदित्य मडल मे जो लाल दाढ़ी मूँछ वाला हिरण्मय पुरुष है वह सत्य का ही प्रतीक है और मनुष्यों के दक्षिण नेत्र में-ध्यान पूर्वक देखने पर जो एक पुरुषाकार आकृति दृष्टिगोचर होती है वह चाक्षुष पुरुष भी सत्य का प्रतीक है। वह चाक्षुष पुरुष नेत्र में प्राणों द्वारा प्रतिष्ठित है। यह प्राणों का ही प्रतीक है। जब यह चाक्षुष पुरुष जीवात्मा इस वर्तमान शरीर को त्यागकर उत्क्रमण करने लगता है तब उसे आदित्य मंडल शुद्ध ही दिखाई देता है। सूर्य की जो रश्मियाँ हैं-किरणें हैं-वे उस पुरुष के समीप नहीं आतीं। क्योंकि आदित्य मंडल वाला पुरुष और दक्षिण नेत्र वाला पुरुष ये दोनों ही एक दूसरे के उपकार्य और उपकारक हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"आदित्य मंडलस्थ पुरुष और दक्षिण नेत्रस्थ पुरुष परस्पर में उपकार्य और उपकारक कैसे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये, आदित्य मंडल वाला पुरुष तो अधिदैवत है और दक्षिण चक्षु में दृष्टिगोचर होने वाला पुरुष अध्यात्म पुरुष है। ये अधिदैवत और अध्यात्म पुरुष परस्पर में उपकारक हैं। यह जो चाक्षुष पुरुष है, यह प्राणों द्वारा आदित्य पुरुष का उपकार करता है, और आदित्य पुरुष अपनी किरणों द्वारा इसका उपकार करता है। यही आदित्य पुरुष और चाक्षुष पुरुष का अधिदैवत और अध्यात्म स्वरूप है। जो साधक इन दोनों के इन रूपों को भली भाँति जान लेता है, वह मृत्यु के समय जब उत्क्रमण करता है तो मोक्षस्थान के द्वारभूत जो आदित्य हैं और किरणें उनकी उपाधि भूता हैं। तो वह ज्ञानी उपासक आदित्य की उपाधिभूता किरणों को न देखकर उनके विशुद्ध रूप को ही देखता है। अज्ञानी पुरुषों के नेत्रों को तो उपाधिभूता आदित्य रश्मियाँ अपने तेज से ढक लेती हैं उनके नेत्र को प्रतिघात कर लेती हैं, किन्तु जो ज्ञानी हैं उनके नेत्रों को ये रश्मियाँ प्रतिघात करने में समर्थ नहीं होती अर्थात् उसके निकट नहीं आतीं। ये जो व्याहृतियाँ हैं उनकी इस आदित्य पुरुष के अंगों के साथ कल्पना की गयी है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आदित्य पुरुष के अंगों के साथ व्याहृतियों की कल्पना कैसे की गयी है।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! पहिली व्याहृति है भूः, इसकी कल्पना आदित्य मंडल के पुरुष के शिर के साथ की गयी है। क्योंकि शिर भी एक होता है और इस भूः व्याहृति में अक्षर भी एक है। दूसरी आहुति है भुवः। इसकी समता आदित्य पुरुष की भुजाओं के साथ की गयी है, क्योंकि भुवः व्याहृति में दो

अक्षर हैं और भुजायें भी दो ही होती हैं। तीसरी व्याहृति है स्वः है। इसकी आदित्य मंडल पुरुष के चरणों के साथ समता की गयी है, क्योंकि 'स्' और वः इस व्याहृति में भी दो अक्षर हैं और चरण भी दो होते हैं। चरण शरीर का आधार हैं-चरणों पर ही शरीर का भार रहता है अतः चरणों को प्रतिष्ठा भी कहते हैं। आदित्य पुरुष के मानों यह दो शब्द वाली स्वः व्याहृति प्रतिष्ठा है (चरण हैं) एक गूढ़ रहस्य की बात और भी है। यह जो सत्यरूप ब्रह्म है। जिसकी उपासना आदित्य पुरुष चाक्षुष पुरुष तथा व्याहृति रूप में की जाती है। उसका एक 'अहर' यह उपनिषद्-गूढ़-नाम भी है। वह नाम 'अहर्' है। अहर् भी ब्रह्म का एक नाम है।

शौनकजी ने पूछा—"अहर्' का अर्थ क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"अहर्' शब्द हन् हिंसागत्योः तथा ओहाक् त्यागे इन दोनों धातुओं से बनता है। इसका अर्थ हुआ मारना त्यागना। भाव यह है, कि जो ब्रह्म के अहः इस नाम के गूढ़ अर्थ को भली-भाँति जानता है वह पाप को मार देता है। पाप को त्याग देता है। जिस प्रकार आदित्यान्तर्गत पुरुष के शरीर के अवयवों की कल्पना तीन व्याहृतियों के साथ की गयी है। उसी प्रकार इस चाक्षुष पुरुष के अंगों की व्याहृति रूप अवयव के साथ समता की गयी है।"

शौनकजी ने कहा—"चाक्षुष पुरुष के अंगों के साथ व्याहृति रूप अवयवों के साथ कल्पना कैसे की गयी है ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे पहिले की थी। यह जो दक्षिण नेत्र में दृष्टिगोचर होने वाला चाक्षुष पुरुष है उसका पहिली व्याहृति भूः उसका सिर है--क्यों कि सिर भी एक होता है और इस व्याहृति में अक्षर भी एक ही है। दूसरी व्याहृति जो भुजायें हैं,

क्योंकि इस व्याहृति में 'भु और वः' ये दो अक्षर हैं और भुजायें भी दो होती हैं। तीसरी व्याहृति जो 'स्वः' है, यह उस चाक्षुष पुरुष के चरण (प्रतिष्ठा) हैं क्योंकि इसमें 'स्' और 'वः' ये दो अक्षर हैं चरण भी दो ही होते हैं। जैसे आदित्य पुरुष का एक गूढ नाम अहः बताया वैसे ही इस चाक्षुष पुरुष का एक गूढ नाम 'अहम्' भी है। 'अहम्' यह सत्य ब्रह्म का एक नाम है। यह हन् हिंसागत्यो और ओहाक् त्यागे इन धातुओं से सम्पन्न होता है। अतः चाक्षुष पुरुष के 'अहम्' इस गूढ नाम के रहस्य को भली भाँति जान लेता है, वह पाप का मार देता है तथा सभी प्रकार के पाप को त्याग देता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने आपसे सत्य ब्रह्म की उपासना के सम्बन्ध में आपको श्रुत्यर्थ बताया। इसमें आदित्य पुरुष और चाक्षुष पुरुष-जिनके गूढ नाम अहः और अह भी है उनके रूप में व्याहृति रूप अवयवों के साथ-प्रतीक रूप से उपासना करने का विधान है। अब हृदयस्थ मनोमय पुरुष की तथा अन्यों की जैसे ब्रह्मभाव से उपासना की जाती है उन सबके रहस्य को आगे बताया जायगा। ये उपासनायें बहुत गूढ हैं। इनका यथार्थ रहस्य तो कोई सच्चे उपासक जिन्होंने ये उपासनायें की हों, वे ही जान सकते हैं। यों अक्षरों का अर्थ कोई भी लगा ले जब तक कि इन्हें कार्य रूप में परिणित न किया जाय, तब तक जैसा होना चाहिये वैसा लाभ नहीं हो सकता।"

—○—

छप्पय

(१)

चाक्षुष अरु आदित्य परस्पर पुरुष प्रतिष्ठित।
रश्मिनि तैं आदित्य प्राण तैं चाक्षु प्रतिष्ठित॥
चाक्षुष ज्ञाता पुरुष अन्त रवि शुद्ध निहारै।
उभय पुरुष व्याहृतिनि अंग में विज्ञ विचारै॥
चाक्षुष अरु आदित्य इनि, पुरुषनि के वर अंग में।
श्रुति ने उपमा दै दई, व्याहृतिनि के संग में॥

(२)

चाक्षुष अरु आदित्य पुरुष के शिर भूः सम है।
भू में अक्षर एक होइ सिर एक विदित है॥
भुव द्वै भुजा बताइँ कहे स्वः चरन उभय हैं।
अह और अहः नाम उभय के कहे गूढ़ हैं॥
गूढ़हु नामनि रहस कूँ, जे साधन जानत सतत।
वे मारें सब पाप कूँ, सकल पाप तिनिकूँ त्यजत॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय मे चतुर्थ पंचम सत्य ब्रह्म संस्थान नामक ब्राह्मण समाप्त।

हृदयस्थ मनोमय तथा विद्युत् आदि में ब्रह्मोपासना

(२६१)

मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिद प्रशास्ति यदिदं किञ्च ॥*

(बृ० उ० ५ म० ६ ब्रा० १ म०)

छप्पय

भाः-प्रकाश-ही सत्य मनोमय पुरुष हृदय-गत ।
है जौ धान समान सबनि को स्वामी अधिपति ॥
करि उपासना होइ उपासक तदवत निश्चित ।
जानत विद्युत ब्रह्म पाप है जामें खण्डित ॥
धेनु रूप में वाक की, करै उपासन उपासक ।
तदवत गुण होवैं अवसि, कहैं शास्त्र सब विचारक ॥

मन ही मनुष्यों के सुख-दुख का एकमात्र कारण है। मन

---

* यह पुरुष मनोमय है, प्रकाश ही जिसका सत्य स्वरूप है, अन्तर्हृदय में वह धान तथा जौ के सदृश आकृति वाला है, वह सबका स्वामी है, सबका अधिपति है। वह उस सबका शासन करता है, जो भी कुछ जगत् में है।

के मानने पर ही पराजय है, मन के मानने पर ही विजय है। अच्छा बुरा सब मनके ही ऊपर निर्भर है। सम्बन्ध सभी मन से ही होते हैं। मन जिसे मित्र मान ले वह मित्र हो जाता है, मन जिसे शत्रु मान ले वह शत्रु हो जाता है। सामान्यतया मनके नौ गुण बताये गये हैं। १-धैर्य-अर्थात् विकार का कारण उपस्थित हो जाने पर भी मन से विकृति को प्रकट न होने देना धैर्य है। २-उपपत्ति-अर्थात् यह करना चाहिये या न करना चाहिये इसे मानना चाहिये या न मानना चाहिये इस प्रकार की ऊहापोह का नाम उपपत्ति है। ३-अभिव्यक्ति-अर्थात् एक बार विस्मृत विषय को पुनः स्मरण करना अभिव्यक्ति कहलाती है। ४-विसर्ग-अर्थात् विपरीत सर्ग-भ्रान्ति। ५-कल्पना-अर्थात् मनोरथ वृत्ति, जो बात हुई नहीं है उसके विषय में कल्पना करना। ६-क्षमा-अर्थात् अपने विरुद्ध कार्य होने पर भी मनसे बुरा न मानना, अपराधी को क्षमा कर देना। ७-सद्भावना-विवेक वैराग्यादि। ८-असद्भावना-रागद्वेषादि। ९-आशुता-निश्चय न कर सकना, अस्थिर भाव से रहना। ये नौ गुण मन के बताये गये हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों को अन्तःकरण अर्थात् भीतरी इन्द्रियाँ कहते हैं। संशय करना यह मन का विषय है, निश्चय करना यह बुद्धि का विषय है, गर्व करना यह चित्त का विषय है और अहंकृति का स्मरण करना अहंकार का विषय है। अन्तःकरण मात्र को भी मन कहते हैं। मन के अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीन रूप बताये हैं। इन्द्रियों में जिस मन को भगवत्विभूति बताया है वह मन का अध्यात्मरूप है। यह पञ्चभूतों को धारण करता है। चन्द्रमा मन से हुआ। अर्थात्, चन्द्रमा मन का ही रूप है यह मन का अधिदैव स्वरूप है। संकल्प विकल्प करना यह मन का अधि-

भूत स्वरूप है। मन सूक्ष्म शरीर ही है। दश इन्द्रियाँ, पञ्चप्राण और बुद्धि तथा मन इन सत्रह को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। मन हृदय कमल में रहता है। वाणी से, चेष्टा से, संकेत से हृदयस्थ-भाव व्यक्त होते हैं। पत्नी, पुत्री, भगिनी तथा माता आदि मे भेद मन ही करता है। ऐसे मन की ब्रह्मभावना से उपासना करनी चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"ब्रह्म का कोई व्यक्त एक स्वरूप नहीं है। ज्योतिस्वरूप प्रकाशमय ही जिसका स्वरूप है, उस परब्रह्म परमात्मा की उपासना मनोमय पुरुष के रूप मे-विशुद्ध मन से-करनी चाहिये। अर्थात् राग द्वेषादि विषयों से विमुक्त हुआ विशुद्ध मन ही एक प्रकार से ब्रह्म का रूप है। वह मनोमय पुरुष भास्वर-सभी विषयों का अवभासक-है। वह हृदय के अन्तर्भाग मे रहता है। यद्यपि वह इन चर्म चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु विशुद्ध अन्तःकरण वाले जिन योगियों ने उसे ध्यान में देखा है उनका कहना है कि वह धान अथवा जौ के सदृश परिमाण वाला है। वह मनोमय पुरुष समस्त स्थावर जंगम का स्वामी है और अधिपति भी है।"

शौनकजी ने कहा—"जो स्वामी है वह अधिपति तो होता ही है। फिर सबका ईशान है, सबका अधिपति है यह पुनरुक्ति क्यों की ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! स्वामी मे और अधिपति मे किंचित् अन्तर है। किसी राज्य का कोई राजा स्वामी तो है, किन्तु वह शासन में सर्व स्वतन्त्र नहीं है, मन्त्रियों और सचिवों की सम्मति से वह शासन करता है, वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। किन्तु जो अधिपति है किसी के ऊपर अवलम्बित नहीं अपनी इच्छा के अनुसार ही अनुशासन करता

है। किसी की अधीनता में शासन नहीं करता। सर्वस्वतन्त्रता से आज्ञा देता है, वही अधिपति स्वामी कहलाता है। यह मनोमय पुरुष ऐसा ही है। इसलिये यह जो भी कुछ ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ पर्यन्त है इस सबका वह प्रकर्षता से-स्वतन्त्रता से-शासन करता है। जो उपासक उसकी इस भाव से उपासना करता है, वह वैसे ही गुणों वाला हो जाता है। यह हृदयस्थ मनोमय पुरुष की उपासना कही। अब विद्युत् में ब्रह्मभाव मानकर विद्युत् ब्रह्म की जैसे उपासना करनी चाहिये उसे बताते हैं।

यह जो विद्युत् है-बिजली चमकती है-इसे भी ब्रह्म मानकर इसकी ब्रह्म भावना से उपासना करनी चाहिये। इसका विद्युत् नाम क्यों है? जब आकाश मेघाच्छन्न होता है, तो विद्युत् उसके अन्धकार को विदीर्ण करके प्रकाशित होती है, इसीलिये इसका विद्युत् नाम है। (विदानात्=अवखण्डनात् तमसो=मेघान्धकारं विदार्य, अवभासते=इति विद्युत्) जो उपासक विद्युत् में ब्रह्मभावना करके उसकी उपासना करता है। अर्थात् जैसे बिजली अन्धकार को नाश करके प्रकाश करती है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा अज्ञानान्धकार को नाश करके ज्ञान का प्रकाश प्रदान करते हैं। उस भावना से जो विद्युत् में ब्रह्मभाव करता है, वह इस आत्मा के अंतरायभूत-प्रतिकूल-जो पाप वृत्तियाँ हैं, जिनके कारण अन्तःकरण अज्ञानान्धकार से आवृत हो गया है, उन पापों का नाश कर देता है, ब्रह्म को प्रकाशित कर लेता है। क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है और उसका उपासक भी उसी गुण वाला होता है। यह मैंने विद्युत् की ब्रह्मभावना से उपासना कही। अब धेनु रूप से वाणी की उपासना के सम्बन्ध में श्रवण करें।

वाणी की भी ब्रह्मभाव से उपासना बतायी गई है। किन्तु

यहाँ वाणी की तदुपाधिक धेनु के रूप में उपासना बतायी है। वाणी को तत्काल व्याही हुई गौ के रूप से उपासना करे। (धेनुस्यात् नवप्रसूतिका) अच्छा, धेनु के तो चार स्तन होते हैं, वाणी के चार स्तन कौन-कौन से हैं? वाणीरूपी धेनु के १-स्वाहाकार, २-वषट्कार, ३-हन्तकार और ४-स्वधाकार ये चार कार मानों चार स्तन हैं। इनमें से स्वाहाकार और वषट्कार दो स्तनों के उपजीवी तो देवगण हैं। देवताओं के मुख जो अग्निदेव हैं, जब उनमें स्वाहा अथवा वषट् कहकर हविः दी जाती है तभी वे उसे ग्रहण करते हैं। देवताओं को हविः देने में वैसे तो १-स्वाहा, २-श्रौषट्, ३-वौषट और ४-वषट् चार शब्दों का प्रयोग होता है, कि श्रौषट् वौषट् और वषट् इन तीनों को वषट्कार के ही अन्तर्गत मानकर स्वाहा और वषट्कार ये ही दो वाणी रूपी धेनु के देवोपजीवी दो स्तन माने गये हैं। तीसरा वाणी रूपी धेनु का स्तन रूप शब्द हन्तकार है। भोजन करने के पहिले कुछ अन्न ब्राह्मण के निमित्त जो निकाला जाता है उसे हन्तकार कहते हैं। नित्य जो पाँच यज्ञ किये जाते हैं उनमें एक मनुष्य-यज्ञ भी है। मनुष्यों को जो अन्न दिया जाता है वह हन्तकार कहकर दिया जाता है। हन्त शब्द हर्ष और दया के अर्थ में प्रयुक्त होता है। फिर से कहने में और विषाद में भी प्रयुक्त होता है। (हन्त-ते कथयिष्यामि दिव्याह्यात्म विभूतयः। हा हन्तहन्तनलिनीं गजउज्जहार) किन्तु हन्तकार में हन्त शब्द हर्ष और दया के अर्थ में ही लिया गया है। यह हन्तकार वाणी रूपी गौ का तीसरा स्तन है। इसके उपजीवी मनुष्य हैं चौथा स्तन स्वधाकार है। पितृगण अपना कव्य भाग स्वधा इस शब्द द्वारा ही ग्रहण करते हैं अतः स्वधाकार के उपजीवी पितृगण हैं। तत्काल व्याई गौ का तो वृषभ भी होना चाहिये क्योंकि वृषभ होगा तभी तो गौ

बच्चे को प्रसव करेगी, तो इस वाणी रूपी गौ का वृषभ है ? से इस वाणी रूपी धेनु का प्राण ही वृषभ है,क्योंकि प्र द्वारा ही वाणी वाक्यों को प्रसव करती है। प्राण के बिना शब्द निकल ही नहीं सकते।

अच्छा,तत्काल ब्याई धेनु का तो बछड़ा भी होना चाहि इस वाणी रूपी धेनु का बछड़ा कौन है ? बछड़ा जब धे स्तनों में मुख लगाता है तभी गौ पन्हाती है। तो इस वाणी धेनु का बछड़ा मन है। मन से जब पहिले किसी विषय आलोचन कर लेंगे, तभी वाक्य निकलेगा अतः मन को वाणी रूपी धेनु का बछड़ा समझना चाहिये। इस प्रकार साधन वाक्रूपी धेनु की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, व सबके लिये कामधुक् बन जाता है। वह देवता, मनुष्य औ पितर सभी की तृप्ति करने में समर्थ होता है। यह धेनु रूप वाक् की उपासना कही। अब अनहद शब्द की अथवा वैश्वान अग्नि की उपासना कही जाती है।

पुरुष के उदर के भीतर अन्न को पचाने वाली वैश्वानर अग्नि है। भगवान ने गीता में वैश्वानर अग्नि को अपना ही स्वरूप बताते हुए कहा है—"मैं ही वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के उदरों में वास करके चार प्रकार के (भक्ष्य, पेय, लेह्य, चोस्य) अन्नों को पचाता हूँ। तो उदर की वह जठराग्नि खाये हुए अन्न को पचाती है। तुम चावल आदि को बटलोई में जल डालकर पकाने को रखो तो वह खुदुक-खुदुक ऐसा शब्द करता है। इसी प्रकार जब वैश्वानर अग्नि खाये हुए अन्न को पचाती है, उसका भी एक भीतर शब्द होता है। जिसे घोष कहते हैं। योगी लोग उस घोष में चित्त की वृत्ति को एकाग्र करके ध्यान करते हैं। वह शब्द कानों को बन्द करने पर सन्न-सन्न करता हुआ अब तक सुना

जा सकता है। उस जठराग्नि में ब्रह्मभावना करे अथवा वह जो घोष अनहद शब्द सुनायी देता है उसमें भी ब्रह्मभावना करे ऐसा करने से तद्गुण रूपता का प्राप्ति होती है। यह अन्तर्घोष प्राणवानों में ही होता है। जिसकी मृत्यु सन्निकट आ गयी हो जिसका प्राण इस शरीर का परित्याग करके अन्य शरीर में उत्क्रमण करने वाला हो, उस पुरुष का कान बन्द करने पर भी वह शब्द सुनायी नहीं देता। यह प्रसगोपात्त बात बतायी इस प्रकार वैश्वानर अग्नि में या घोष में ब्रह्म भावना बतायी। अब उपासनाओं द्वारा जो गतियाँ प्राप्त होती हैं प्रसगानुसार उनको बताते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जिस शरीर से उपासनादि साधन करते हैं, मरने पर वह शरीर तो यहीं पडा रह जाता है, उपासना के फल को कौन भोगता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यह स्थूल शरीर तो कर्मों मे उपकरण है। कर्म तो प्राणों द्वारा इन्द्रियों द्वारा होते हैं। दश इन्द्रियाँ पाँच प्राण और मन तथा बुद्धि इन सत्रह का बना एक सूक्ष्म शरीर होता है, जीवात्मा इस सूक्ष्म शरीर द्वारा ही स्थूल देह से कर्म कराता है। जैसे कोई पात्र में भरे दही बूरे का उपभोग करे। जब तक दही बूरा नहीं खाता तभी तक पात्र का उपयोग है। दही बूरे को खा लेने पर पात्र को फेंक देते हैं फोड देते हैं। ऐसे ही यह स्थूल शरीर पात्र के सदृश है। कर्म हो जाने पर इस स्थूल शरीर को त्याग कर जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के द्वारा लोकान्तरों में जाता है। परलोकों की प्राप्ति ही उपासना की गति है।"

शौनकजी ने पूछा—"मृत्यु के पश्चात् यह पुरुष किन लोकों में जाता है?"

सूतजी ने कहा—"जिन्होंने हृदय में, सत्य में, आदित्य में, व्याहृतियों में, तथा हृदयस्थ मनोमय पुरुष में अथवा अन्य किसी शास्त्रीय वस्तु में ब्रह्म भाव से उपासना की है। वह साधक पुरुष मृत्यु के पश्चात् वायु लोक में जाता है। वायु तो सर्वत्र परिपूर्ण है वह सर्वत्र भरा रहता है ऊपर के लोकों के मार्गों को अवरुद्ध करके अवस्थित है, किन्तु साधक के लिये वह मार्ग दे देता है। जैसे मृत्यु दंड प्राप्त पुरुष की कोठरी को बन्द करके पहरे वाला बैठा रहता है, किन्तु उच्च अधिकारी को देखते ही द्वार को खोल देता है, उसे मार्ग दे देता है। ऐसे ही वायु यद्यपि सर्वत्र कूट कूटकर भरा रहता है वह ऊपर के लोकों के मार्ग को अवरुद्ध करके स्थित है। किन्तु ब्रह्म भावना करने वाले साधक को देखकर वह उसे ऊपर जाने को मार्ग दे देता है। उस वायु मंडल में एक छिद्र हो जाता है, उस छिद्र से साधक पुरुष निकल कर ऊपर के लोकों को चला जाता है, वायुलोक से ऊपर सूर्यलोक है। वहाँ पहुँच जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वायुलोक में वायु उसे ऊपर जाने को कितना बड़ा छिद्र कर देते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवती श्रुति बताती है, कि जितना बड़ा छिद्र रथ के पहिये के बीच में होता है, जिसमें धुरी घुसी रहती है उतना बड़ा छिद्र वायुलोक में हो जाता है, उसी छिद्र से सूक्ष्म शरीर से पुरुष ऊपर के लोकों में अर्थात् सूर्य मंडल में चला जाता है। वहाँ सूर्यलोक में भी सूर्य अपने घनीभूत प्रकाश से ऊपर के लोकों का मार्ग अवरुद्ध करके अवस्थित है। किन्तु ब्रह्म भावना वाले साधकों को वे भी छिद्र दे देते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूर्य मंडल का छिद्र कितना बड़ा होता है ?"

सूतजी ने कहा—'भगवन्! भगवती श्रुति उस छिद्र का आकार लम्बर नाम के बाजे के छिद्र के सदृश बताती है। प्रतीत होता है यह लम्बर बाजा मुख से बजने वाला बाँसुरी से लम्बा तुरही के समान होता होगा। भाव इतना ही है, कि यह छिद्र वायु मंडल से छोटा ही होता है। उस छिद्र से वह सूर्यलोक से ऊपर के लोकों में होता हुआ चन्द्रलोक में पहुँच जाता है। चन्द्र लोक भी अपनी घनीभूत शीतल किरणों के द्वारा ऊपर के लोकों के मार्ग को अवरुद्ध करके अवस्थित हैं, किन्तु ब्रह्म भावना वाले साधक को देखकर वे भी उस ऊपर जाने के लिये छिद्र रूपी मार्ग दे देते हैं। उस छिद्र से वह साधक पुरुष अशोक और अहिम लोक में पहुँच जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! चन्द्रलोक का छिद्र कितना बड़ा होता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! भगवती श्रुति उसका आकार दुन्दुभि-नगाड़े-के छिद्र के सदृश बताती है। दुन्दुभि-जिसे आनक भेरी भी कहते हैं उसमें सूक्ष्म-सा छिद्र होता है। वैसे ही छिद्र द्वारा वह साधक उस अशोक तथा अहिम लोक में पहुँचता है। जहाँ शारीरिक तथा मानसिक दुःखों का सर्वथा अभाव होता है। और उस लोक मे वह शाश्वत काल तक, अनन्त काल तक, सनातन काल तक नित्य निवास करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी से जाने पर उस साधक के (१) वायुलोक, (२) सूर्यलोक, (३) चन्द्रलोक और (४) अशोक अहिम लोक ये चार ही विश्रान्ति स्थल हैं क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जैसे एक राजधानी से दूसरी

राजधानी को कोई यात्री जाता है, मार्ग में अनेक स्थानों पर अपने लिये अपने सामानों के लिये वाहन बदलने पड़ते हैं, किन्तु जब कहीं संक्षेप मे बताना होता है, तो मुख्य-मुख्य बड़े स्थानों का ही नाम गिना देते हैं, कि हम वहाँ होकर आये। यहाँ श्रुति ने अत्यन्त संक्षेप मे चार ही स्थानों का उल्लेख किया। वैसे अन्यत्र जाने के स्थल और भी कई बताये हैं। उदाहरण के लिये छान्दोग्य उपनिषद् मे इन १३ स्थानों का उल्लेख है। जैसे पृथ्वी लोक से साधक पुरुष चला तो वह (१) अर्चि अभिमानी देवताओं के लोक मे फिर (२) दिनाभिमानी तदनन्तर (३) शुक्ल पक्ष, (४) उत्तरायण, (५) संवत्सर, अभिमानी देवताओं के द्वारा (६) वायुलोक मे फिर (७) आदित्यलोक मे तब (८) चन्द्रलोक मे फिर (९) विद्युत्, (१०) वरुण, (११) इन्द्र, (१२) प्रजापति तब (१३) अमानवलोक जिसे अशोक और अहिम भी कहते हैं उसमें प्राप्त होता है। इनमे से बारह तो अतिवाहिक कहे जाते हैं अर्थात् ये जाने के मार्ग हैं अतिम शाश्वत सनातन स्थान है।

अब प्रसगानुसार परमलोक की प्राप्ति का एक सरल सुगम उपाय दया करके श्रुति बताती है। अच्छा ज्वर तो प्रायः सभी को आता है। अज्ञानी पुरुष हाय हाय करके मैया बप्पा चिल्लाते-चिल्लाते ज्वर मे दुःख मानकर रोते रहते हैं। उनका वह ज्वर नरक का कारण होता है। उपासक को चाहिये कि ज्वर आ जाय और उससे शरीर तपने लगे तो उसमे यह भावना करे, कि ओ हो! यह तो बड़ा अच्छा हो रहा है मेरा स्वतः तप हो रहा है। तपस्वी तो चारों ओर अग्नि जलाकर ऊपर सूर्य के ताप से शरीर को तपाते हैं, मेरा तो सम्पूर्ण शरीर भीतर की ही अग्नि से तप रहा है। जो ऐसी भावना करके दृढ़ निश्चय कर लेता है,

वह भी तप की भावना करने से परमलोक को जीत लेता है। संसार में भावना ही तो प्रधान है।

एक दूसरी भावना और बताते हैं। मरणासन्न पुरुष जिसने जीवन भर अग्निहोत्रादि शुभ कर्म किये हैं—वह मरने से पूर्व सोचे—ओ हो! अब मैं मर रहा हूँ। जब मर जाऊँगा तो ऋत्विक् तथा मेरे सगे सम्बन्धी मेरा अन्तिम संस्कार करने मुझे वन में ले जायगे। वन में जाना तपस्वियों का कार्य है, मैं वन मे जाने वाला तपस्वी हो जाऊँगा। इस प्रकार मरने के पूर्व वन मे जाने की जो दृढ़ भावना कर लेता है यह भी उसका परम तप है, जो ऐसा जानकर दृढ निश्चय कर लेता है, वह भी परमलोक को जीत लेता है।

अब तीसरी एक भावना बताते हैं। मरने पर स्थूल शरीर मृतक हो जाता है, सूक्ष्म शरीर से पुरुष जब तक उसे अग्नि में जलाते नहीं तब तक वह उसे देखता रहता है। जब अपने शरीर को सगे सम्बन्धी अग्नि मे जलाने लगे तब ऐसी भावना करे—"ओ हो! कितना अच्छा हो रहा है। तपस्वी तो भूख प्यास के तथा अग्नि के ताप से शरीर को तपाते हैं। मेरा शरीर तो साक्षात् अग्नि मे जल रहा है। शरीर का अग्नि मे जलना कितना भारी तप है। जो ऐसी भावना करता है, निश्चय उसका शरीर जलना परम तप हो जाता है, उसी भावना के प्रभाव से वह परमलोकों को जीत लेता है। इस प्रकार ज्वर मे तप की भावना, मृतक को जलाने के लिये वन में ले जाने मे तप की भावना और मृतक शरीर को अग्नि मे जलाने में तप की भावना करने से जैसे परम लोकों की प्राप्ति होती है, उसे बताया अब आगे जैसे अन्न-प्राण रूप से ब्रह्म की उपासना बतायी जायगी

उस प्रसंग को आख्यान सहित आगे बताया जायगा, आशा है आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

स्वाहा वषट् हु स्वधा हन्त थन धेनु वाक है।
उपजीवी द्वै देव पितर इक एक नरहि है॥
प्रान-वृषभ- मन-वत्स बल की धेनु उपासन।
वैश्वानर करि बल पकावै अन्नजु भक्षन॥
कान मूँदि है घोष जो, है वह अनहद शब्द वर।
मृत्यु समय जब तब निकट, सुनै न फिरि यह घोष नर॥

(२)

अब उपासना सु-गति सुनो मरि पुरुष जाइ जब।
वायु छिद्र रथ चक्र सरिस करि उपरि जाइ तब॥
सूर्यलोक में पहुँचि छिद्र लम्बर सम है तहँ।
चन्द्रलोक महँ जाइ भोरि सम छिद्र होइ जहँ॥
पुनि, अशोक अरु अहिम जो, लोक तहाँ, यह जाइकें।
तन मन दुख, तजि हरष अति, लोक सनातन पाइकें॥

(३)

ज्वर जब आवै करै भावना ताप होइ तन।
परम तपस्या होइ धारना करै मनहिँ मन॥
मरन काल में करै भावना मरि जाऊँ जब।
होवै तप उत्कृष्ट भावना बन जाऊँ अब॥
सूक्ष्म देह तें भावना, बन्धु जरावै मृतक तन।
परम तपस्या है रही, परम लोक पावै अयन॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पचम अध्याय में
छठा मनोमय ब्राह्मण, सातवाँ विद्युत् ब्राह्मण,
आठवाँ वाग्धेनु ब्राह्मण, नौवाँ वैश्वानर
अग्नि ब्राह्मण, दशवाँ गति ब्राह्मण
और ग्यारहवाँ तपो-
ब्राह्मण समाप्त।

अन्न-प्राणरूप ब्रह्म की उपासना

[२६२]

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात् प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूय भूत्वा परमता गच्छतः . ...॥*

(बृ० उ० ५ अ० १२ ब्रा० १.....मन्त्रांश)

छप्पय

अन्न प्राण मिलि परम भाव कूँ पावै द्वै जब।
प्रातृद पितु सन कह्यो शुभाशुभ करूँ कहा अब॥
पिता रोकि तिहिं कह्यो पुत्र ऐसो मति भाखौ।
अन्न रूप 'वी' कह्या रूप र प्रानहिँ राखौ॥
अन्न ज्ञान तैं भूत ये, साधक में प्रविसें सबहिँ।
प्रान ज्ञान तैं रमन नव करें भूत सुख पाइँ तिहिं॥

---

* किसी का मत है अन्न ही ब्रह्म है, यह उचित नहीं, क्योंकि अन्न प्राण के बिना सड़ जाता है। किसी का मत है प्राण ही ब्रह्म है, किन्तु यह भी उचित नहीं क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। किन्तु ये दोनों ही देव एकरूपता को प्राप्त होकर परम भाव को प्राप्त होते हैं।

ससार के सभी पदार्थ अन्न हैं, जो खाया जाय और अन्त में जो शरीर को खा जाय, उसे अन्न कहते हैं। ससार के जितने भी पदार्थ हैं, वे किसी न किसी क खाद्य अवश्य हैं। छोटी मछलियों को बडी मछलियाँ खा जाती हैं। कीट पतङ्गों को छिपकलियाँ खा जाती हैं, सर्पिणा अपने बच्चों को ही खा जाती है। घुन लकडी को खा लेता है। सभी धातुओं को उनके कीड़े खा जाते हैं। अचर पदार्थों को चलने वाले खा लेते हैं। सबस बुरी वस्तु विष्ठा या वान्त है, उस भी कूकर, कौआ, सूकर खा लेते हैं। अर्थात् कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे कोई प्राणी न खाता हो, खा खाकर सभी मर जाते हैं। जो खायगा वह मरेगा, क्यों कि अन्न खाने वाले को खा जाता है। किन्तु खायगा वही जो प्राणवान् होगा। प्राणहीन खा ही नहीं सकता। वह तो स्वय दूसरे प्राणियों का खाद्य बन जाता है। तो प्राण बडा या अन्न बडा ? यदि आप अन्न को बडा मानते हैं तो प्राणहीन अन्न सड जाता है। सड़ना किसे कहते हैं ? सप्राण वस्तुओं में से प्राण पृथक् हो जायँ तो प्राण के अतिरिक्त जो पदार्थ बचा है वह सडा है। जैसे गेहूँ जो धान्य हैं। खेत से निकलकर आये तो वे सप्राण हैं। वर्ष दो वर्ष उन्हें बन्द करके रख दो तो उन दानों में जो प्राण हैं वे सुरहुरी–कीड़ा–बनकर पृथक् हो जायँगे। फिर जो प्राणहीन अन्न है वह सडा–दुर्गन्धयुक्त–कहलायगा। तत्काल जमा हुआ दही है, वह सप्राण है। उसे दो चार दिन रखा रहने दो तो उसमे कीड़े पड़ जायँगे अर्थात् प्राण उस दही से पृथक् हो जायगा। वह दही सड़ा हुआ कहलायेगा। शरीर है, जब तक इसमें प्राण हैं तब तक क्रिया करता रहेगा। जब इसमें से प्राण पृथक् हो जायँगे। तो शव कुछ काल तक तो अच्छा बना रहेगा, क्योंकि दश प्राणों में से एक प्राण

शव में भी रहता है। जब दो तीन दिन पश्चात् वह भी कीड़े बनकर पृथक् हो जायगा, तब वह शव सड़ा हुआ कहलायेगा। अतः अन्न प्राणों के बिना सड़ जाता है। शरीर में कोई फोड़ा हो गया। जब तक उसमें प्राणयुक्त रक्त है तब तक वह प्राणवान् है। जब उस स्थान से प्राण पृथक् हो जायँ, तो फिर उसमें प्राणवान् रक्त नहीं निकलेगा। उसमें से प्राण कीड़े बनकर पृथक् हो जायँगे। जिस घाव में कीड़े पड़ जायँ वह सड़ा हुआ घाव कहलाता है। प्राण के बिना कोई भी वस्तु—कोई भी अन्न सड़ जाता है।

इसी प्रकार अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। शरीर है इसे अन्न खाने को न दो तो सूखकर ठठरी हो जायगा। पेड़ की डाली है, वह जड़ में से अपना अन्न ग्रहण करती है। डाली का जड़ से सम्बन्ध विच्छेद कर दो, तो जब तक उसमें पूर्व अन्न का अंश रहेगा तब तक हरी रहेगी। जब अन्नांश समाप्त हो जायगा लकड़ी सूख जायगी। गौ का गोबर है जब तक वह गौ के उदर में है तब तक हरा-गीला—बना रहेगा। जहाँ उदर से बाहर हुआ उसका अन्नांश समाप्त हुआ वह सूखकर—करीस—कंडा—बन जायगा। अतः अन्न प्राण के अधीन है प्राण अन्न के अधीन है। इसलिये उपासक को अन्न और प्राण दोनों की सम्मिलित रूप में ब्रह्मभाव मानकर उपासना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब प्राण और अन्न इन दोनों की सम्मिलित रूप से उपासना बतायी जाती है। पिछले प्रकरणों में अन्न को भी ब्रह्म मानकर उपासना बतायी गई है। जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है, कि अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। जो भी कोई प्राणी पृथ्वीलोक का आश्रय लिये हुए है। उत्पन्न हो जाने पर भी समस्त प्राणियों का जीवन अन्न के ही अधीन है। सभी प्राणी अन्न के ही आश्रय से जीते हैं। अन्न

समय मे भी फिर अन्न मे ही विलीन भी हो जाते हैं। इससे अन्न ही ब्रह्म है। अन्न की ब्रह्म भावना से उपासना करनी चाहिये।

वहीं तैत्तिरीय उपनिषद् मे हा प्राण की भी ब्रह्मभाव से उपासना बतायी गयी है। वहाँ कहा गया है 'मनुष्य, पशु तथा देवतादि जितने भी प्राणधारी प्राणी हैं, वे सब के सब प्राण का ही अनुसरण करके प्राणो के अधीन होकर जीवन धारण करते है, क्यो कि प्राण ही समस्त प्राणियों की आयु का प्रतीक है, अतः प्राणो को ब्रह्म मानकर उसकी ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये। किन्तु यहाँ पर श्रुति का कहना है कि अकेले अन्न की ब्रह्मभाव से उपासना मत करो। तो क्या प्राण को ब्रह्म मानकर उपासना करें? इसका भी निषेध करती हुई भगवती श्रुति कहती है, अकेले प्राण को भी ब्रह्म मानकर उसकी उपासना मत करो। जो लोग कहते हैं अन्न ब्रह्म है, उनका मत उचित नहीं, क्यों? इसका हेतु बताते हैं, कि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है। अच्छा तो जो प्राण को ब्रह्म कहते हैं उनका कहना तो उचित है न? इस पर कहते हैं उनका मत भी उचित नहीं, क्योंकि प्राण भी अन्न के बिना सूख जाता है। तब क्या करें? कैसे उपासना करें? इसका उत्तर देते हैं—अन्नदेव और प्राणदेव ये दोनों ही देव जब एकरूपता को प्राप्त होते हैं, दोनों ही जब मिले-जुले रहते हैं तभी ये परमभाव को प्राप्त होते हैं। अतः इन दोनों की एकरूपता में ही ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये। यही सिद्धान्त हुआ।

अब इस पर एक दृष्टान्त देते हैं। श्रुति कहती है (अन्नं बहुकुर्वीत) बहुत सा अन्न इकट्ठा करना चाहिये जिससे अतिथियों का सत्कार हो सके। इस पर प्रातृद नाम के ऋषि थे, उन्होंने अपने पिता से कहा था—"जो यह जानता है कि अन्न

और प्राण दोनों देव एकरूपता को प्राप्त होकर परमभाव को प्राप्त होते हैं।" ऐसे जानने वाले विद्वान् का मैं क्या साधु कर सकता हूँ ? अर्थात् ऐसे विद्वान् का अन्न जल से मैं क्यों सत्कार करूँ ? और ऐसे जानने वाले का मैं कुछ अशोभन असाधु कार्य भी क्या कर सकता हूँ। वह तो स्वयं ही कृतकृत्य है। क्योंकि अन्न और प्राण दोनों देवों की एकरूपता जानने वाला पुरुष शुभ कर्म से प्रसन्न न होगा, अशुभ करने से असन्तुष्ट न होगा। इसलिये ऐसे ज्ञानी के प्रति हमारा कुछ भी कर्तव्य नहीं।"

अपने प्रातृद पुत्र की ऐसी बात सुनकर पिता ने हाथ हिला-कर उस ऐसा कहने से मना करते हुए कहा—"हे पुत्र प्रातृद! तुम ऐसा मत कहो।"

पुत्र ने पूछा—"तब पिताजी! कैसा कहें ?"

पिता ने कहा—"'विरम्' ऐसा कहो।"

पुत्र ने पूछा—"'विरम्' का अर्थ क्या हुआ ?"

पिता ने कहा—"अन्न और प्राण इन दोनों की एकरूपता को प्राप्त होकर कौन परमता को प्राप्त कर सकता है ? बतावें ?—देखो सुनो—'वि' का अर्थ है अन्न।"

पुत्र ने पूछा—"'वि' का अर्थ अन्न कैसे है ?"

पिता ने कहा—"वि का अर्थ है विष्टानि अर्थात् आश्रित होना। अर्थात् ये समस्त प्राणी अन्न में ही आश्रित हैं। अन्न के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। अतः अन्न को 'वि' इस संकेत से कहा।"

पुत्र ने पूछा—'रम्' का क्या अर्थ है ?"

पिता ने कहा—"प्राण ही 'रम्' है।"

पुत्र ने पूछा—"प्राण 'रम्' कैसे है ?"

पिता ने कहा—"बल के आश्रय से ही समस्त प्राणी रमण

करते हैं। बल तो प्राण के ही आश्रय से रहता है। जहाँ प्राण होता है वहीं बल रहता है। (प्राणे हि यस्मात् बलाश्रये सति सर्वाणि भूतानि रमन्तेऽतो'रम्' इति प्राणः) अतः 'रम' से प्राण का ही बोध होता है। इस भाँति अन्न तो सभी प्राणियों के जीवन का आश्रय है और प्राण रमण करने वाला है। तो अन्न तो आयतन-आश्रय-घर है और प्राण बलदाता है। जो दोनों की एकरूपता को जानकर उपासना करता है, वही आयतनवान् आश्रययुक्त और बलवान होता है। जब प्राणी पूर्णरूप से आश्रययुक्त और बली अपने को बना लेता है, तभी वह कृतकृत्य होता है तभी वह अपने को कृतार्थ मानता है। जो साधक अन्न को समस्त प्राणियों का आश्रयभूत जानता है वही आयतनवान् और बलवान् होता है, ऐसे साधक में चराचर भूत प्रवेश करते हैं और उसी में समस्त भूत रमण भी करते हैं। अतः केवल प्राण और अन्न की एकरूपता ही जानना पर्याप्त नहीं। उनके आश्रय भूत आयतन को और बल को भी जानकर दोनों की उपासना करनी चाहिये। तभी साधक कृतकृत्य हो सकेगा।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! यह मैंने अन्न प्राण रूप से ब्रह्म की उपासना कही। अब आप उक्थ दृष्टि से प्राणोपासना के सम्बन्ध में सुनिये।"

शौनकजी ने पूछा—"उक्थ क्या?"

सूतजी ने कहा—"वैसे पीछे तो उक्थ शब्द सामवेद की कुछ ऋचाओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद में उक्थ स्तोत्र के अर्थ में भी आता है। किन्तु यहाँ पर प्रतीत होता है उक्थ शब्द उठाने वाले के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उक्थ नाम का एक यज्ञ कार्य में प्रयुक्त होने वाला शस्त्र है। महाव्रत नामक क्रतु में कर्मकाण्डी विद्वान् उसका प्रयोग करते हैं। यज्ञीय शस्त्रों में वह

उक्थ नाम का शस्त्र प्रधान माना जाता है। जैसे उक्थ शस्त्र महाक्रतु की समस्त क्रियाओं को उठाता है। वैसे ही प्राण समस्त प्राणियों को उठाने वाला है। प्राणहीन कोई भी व्यक्ति उठ नहीं सकता है। वृक्ष में जब तक प्राण रहेंगे तभी तक वह उठेगा, ऊपर को बढ़ेगा। उसे काटकर धराशायी कर दो। प्राणहीन होने से सूख जायगा, फिर ऊपर को बढ़ेगा नहीं। मृतक शरीर है, उसमें प्राण नहीं इसलिये पड़ा ही रहेगा। उसमें फिर से प्राणों का संचार हो जाय, तो उठकर खड़ा हो जायगा। कोई व्यक्ति सो रहा है, किन्तु उसके प्राण चलते हुए भी इन्द्रियों के साथ प्रसुप्त पड़े हैं उनके जाग्रत होते ही मनुष्य उठकर खड़ा हो जायगा। इसलिये जो उठावे वही उक्थ है (उत्थापयति यत् तत्=उक्थम्) जैसे उक्थ शस्त्र सब शस्त्रों में प्रधान है वैसे ही उक्थ नाम वाला प्राण समस्त इन्द्रियों में प्रधान है। अतः जो गृहस्थी साधक प्राण का उक्थ भावना से उपासना करता है, उसका प्रत्यक्ष फल तो यह कि उसके जो पुत्र होगा, वह कुल को ऊँचा उठाने वाला प्राणवेत्ता वीर पुरुष होगा। और परलोक में परोक्ष फल यह होगा कि उसे प्राण का सायुज्य और सालोक्य प्राप्त हो जायगा। वह प्राण स्वरूप हो जाता है। प्राणलोक में प्राण के साथ निवास करता है। यह उक्थ भाव से की हुई उपासना और उसका फल बताया। अब प्राण को यजुः मानकर जैसे उपासना की जाती है उसे बताते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"यजुः क्या ?"

सूतजी ने कहा—"यजुः नाम का चारों वेदों में से एक वेद है। उस वेद का नाम यजुः क्यों है, वह समस्त कर्मकाण्ड का ऋचाओं को जोड़ता है योग करता है। इसी प्रकार प्राण भी यजु है, क्योंकि शरीर में प्राण होने पर ही परस्पर में सब प्राणियों

का योग मिलन सम्बन्ध होता है। शरीर में जब तक प्राण हैं तभी तक व्यक्ति माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र पुत्रादि का नाता मानते हैं। शरीर में से जहाँ प्राण पृथक् हुए सभी सम्बन्ध विच्छेद हो जाते हैं। अतः प्राण ही सबका सबके साथ योग करता है। (युनक्तीति यजुः=प्राणः) इस प्रकार प्राण जो योग करने वाला यजुः मानकर उसकी ब्रह्मभाव से उपासना करता है इसका प्रत्यक्ष फल तो यह होता है कि उसके सभी सम्बन्धी यह इच्छा करते हैं यह पुरुष हम सबमें सर्वश्रेष्ठ हो वैसे साधारणतया लोग किसी दूसरे की उन्नति चाहते नहीं। किसी को अपने से श्रेष्ठ न मानकर उसे गिराने का ही प्रयत्न करते हैं। किन्तु इस यजुः रूप से प्राणों के उपासक को लोग प्रयत्न करके उद्यम करके अपने से श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं। और परोक्ष फल परलोक में यह होता है कि उसे यजु रूप प्राण का सायुज्य और सालोक प्राप्त होता है। यह यजुः रूप से प्राण की उपासना कही गयी। अब साम दृष्टि से प्राणोपासना को बताते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"साम क्या ?"

सूतजी ने कहा—"चारों वेदों में से एक सामवेद भी है। सामवेद में समस्त गाने की ऋचायें सुसंगत हैं। श्रेष्ठता के साथ गायी जाती हैं। इसी प्रकार प्राण में सब भूत संगत होते हैं। इसलिये साम्य प्राप्ति के कारण इस प्राण की साम संज्ञा है। प्राण ही प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार मानकर जो प्राण की साम भाव से उपासना करते हैं उसका प्रत्यक्ष फल तो यह है कि इस सामरूप प्राण के पडित की श्रेष्ठता सम्पादन करने के निमित्त सभी सम्बन्धी समर्थ होते हैं। अर्थात् सभी उसे अपने से श्रेष्ठ बनाने के निमित्त प्रयत्नशील रहते हैं और परलोक में परोक्ष फल यह होता है, कि उसे साम का सायुज्य और

सालोक्य प्राप्त होता है। यह साम दृष्टि से प्राणोपासना कही गयी, अब क्षत्र दृष्टि से प्राणोपासना श्रवण कीजिये।"

शौनकजी ने पूछा—"क्षत्र क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जो भय से-दुःख से त्राण करे-रक्षा करे वही क्षत्र है (क्षतात् त्रायते इति क्षत्रम्) जैसे बलवान् क्षत्रिय प्रजा को दुःखों से रक्षा करता है उसी प्रकार प्राण इस देह की शस्त्रादिजनित क्षत से रक्षा करता है। शरीर में घाव हो जाय तो प्राण ही उस घाव को भरकर प्राणा की रक्षा करता है। अतः प्राण ही क्षत्र है। (क्षतत्राणात्=त्रायते=इति क्षत्रम्=प्राणः) जो प्राण को क्षत्र इस भावना से उपासना करता है उसका प्रत्यक्ष फल तो यह है कि वह क्षत्रत्व विसिष्टता को प्राप्त करता है और परलोक में परोक्ष फल यह है कि उसे क्षत्रप्राण का सायुज्य सालोक्य प्राप्त होता है। यह मैंने प्राणों की विविध रूप से उपासना बतायी। अब आगे गायत्री की उपासना बतायी जायगी, उसे आप सब समाधान चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

उत्थापित जो करै प्रान हीं उक्थ कहावै।
सुत सुयोग्य सायुज्य अन्त सालोक्यहिं पावै॥
योग यजुहिं करि दृष्ट उपासै श्रेष्ठ सहायक।
सो पावै सायुज्य अन्त सालोक्य उपासक॥
प्राणोपासन सामतैं, होयँ सुसगत भूत तब।
क्षत्र उपासक श्रेष्ठता, अरु पावै फल पूर्व सब॥

बृहदारण्यक उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में बारहवाँ अन्नप्राण ब्राह्मण और तेरहवाँ उक्थ ब्राह्मण समाप्त।

गायत्री रूप में ब्रह्मोपासना

[२६३]

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पद वेद ॥*

(बृ० उ० ५ अ० १४ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

चौबिस अक्षर युक्त तीन पद गायत्री सो ।
आठ आठ के तीनि पाद तिनिकूँ जाने जो ॥
भूम, अन्तरिख, स्वर्ग, पाद पहिले के अक्षर ।
जानि मरम जो भजै त्रिलोकी जीते द्विजवर ॥
ऋच यजूंसि सामानि ये, द्वितिय पाद अक्षर कहे ।
जानि त्रयी विद्या लहै, फल विजयी बनिके रहे ॥

गायत्री को वेदमाता कहा है। यह सभी वेदों की जननी है। ब्रह्माजी ने तीनों वेदों में से सार-सार रूप में एक एक पाद निकाल कर इस त्रिपदी गायत्री को बनाया। द्विजातियों के लिये

---

* भू-मि, अन्त-रि-क्ष, द्यौ (द-य) ये आठ अक्षर गायत्री का प्रथम पाद हैं। ये भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ इन्हें ही प्रथम पाद समझना चाहिये। जो इस प्रथम पाद के रहस्य को जानता है, वह इन तीनों लोकों में जो भी कुछ है उस सभी को जीत लेता है।

इससे बढ़कर कोई दूसरा मन्त्र नहीं। इसीलिये इसे द्विज बनाने वाली दूसरी माता कहा है। जिनके दो जन्म हों, उन्हें द्विज कहते हैं। पहिला जन्म तो माता के उदर से बाहर होने को माना गया है, दूसरा जन्म गायत्री मन्त्र की दीक्षा का है। गायत्री द्विजों का माता के समान रक्षा करती है। जो इसका गायन करता है—जप करता है—उसकी यह माता के समान रक्षा करती है, सभी प्रकार के दुःखों से त्राण करती है। इसीलिये इसका नाम गायत्री है।* (गायन्त त्रायते इति=गायत्री) गायत्री सभी ऋद्धि सिद्धियों को तथा मोक्ष तक को देने वाली है। गायत्री समस्त मन्त्रों की सम्राज्ञी है।

वेदों में मुख्यतया गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द प्रधान मानी गयी हैं। इनके अतिरिक्त अति जगती, शर्करी, अष्टात्यष्टी, धृति अतिधृति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अतिकृति, उत्कृति आदि और भी हैं। किन्तु सात छन्द प्रधान हैं। उनमें भी गायत्री सबसे श्रेष्ठ छन्द है। भगवान् ने इसे अपनी विभूति बताया है। वैसे तो तीन पाद वाली चौबीस अक्षरों वाली वेदों में गायत्री नाम वाली छन्दें बहुत हैं। किन्तु यह सावित्री रूपा गायत्री यह सभी वेदों की जननी है। गायत्री का उपासक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर विजय प्राप्त कर सकता है। यह गायत्री समस्त पापों को नाश करने में समर्थ्य है। द्विजातियों को जीवन पर्यन्त गायत्री का जप करते रहना चाहिये। गायत्री प्राण स्वरूपा है। ब्राह्मण का गायत्री ही परम धन है। गायत्री द्वारा ही उसकी सृष्टि हुई है। उसे दूसरा जन्म देने वाली द्विज बनाने वाली गायत्री

* गायन्त त्रायते यस्मात् गायत्रीत्व तत स्मृता।

ही है। ब्राह्मण निष्किंचन क्यों होते हैं ? वे द्रव्य का संग्रह क्यों नहीं करते ? इसलिये कि उनके पास गायत्री परम धन है। ब्राह्मण भिक्षा से निर्वाह क्यों करता है ? ब्राह्मण को सभी नमस्कार क्यों करते हैं ? ब्राह्मण निष्पाप, निर्दोष, निर्भय किसी से भी न डरने वाला क्यों होता है ? इसलिये कि वह गायत्री रूप धन का धनी है। ब्रह्म प्राप्ति का गायत्री मुख है। इस प्रकार इस गायत्री को ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये। इसी बात को बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! पुरुषार्थ चतुष्टय को देने वाली भगवती गायत्री की अब ब्रह्मभाव से उपासना बतायी जाती है। आरम्भ में प्रणव लगाकर तीन व्याहृतियों के सहित गायत्री के जप का विधान है। गायत्री त्रिपदी है, एक उसका शिर भी है, उसे लेकर कहीं कहीं उसे चतुष्पदी भी कहा है, किन्तु सिद्धान्ततः वह त्रिपदी ही है। उसके आठ-आठ अक्षरों के तीन पाद हैं। पहिले पाद में (१) त् अलन्त सहित तकार, (२) सकार, (३) विकार, (४) अर्ध रेफ सहित तुकार, (५) वकार, (६) रेकार, (७) णिकार, और (८) यम्कार। इन प्रथम पाद के आठ अक्षरों की समता भूमि, अंतरिक्ष और द्यो इन त्रैलोक्य सम्बन्धी आठ अक्षरों के साथ की है। अर्थात् भूमि में (१) भूकार, (२) भिकार, अंतरिक्ष में, (३) अकार, (४) तकार, (५) रिकार, (६) क्षकार, और द्यो में (७) दकार और (८) यकार, इस प्रकार आठ अक्षर हैं। भाव यह हुआ कि गायत्री मंत्र पहिले आठ अक्षर वाले पाद में ही पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्ग ये तीनों लोक आ गये। जो साधक इस भाव को भली-भाँति जानकर उपासना करता है, वह पहिले पाद की उपासना से ही इस त्रिलोकी में जो भी कुछ है, उसे जीत लेता है। अर्थात् वह पहिले पाद के ज्ञान से

त्रिलोकेश्वर बन जाता है। इस प्रकार गायत्री मंत्र के तीन पादों में से पहिले पाद की उपासना और उसका फल कहा। आप उसके दूसरे पाद की उपासना की महिमा और उसका फल श्रवण कीजिये।

गायत्री मंत्र के दूसरे पाद में (१) अर्धरेफ युक्त भकार (२) गोकार, (३) देकार, (४) वकार, (५) अर्ध सकार सहित यकार, (६) धाकार, (७) मकार और (८) हिकार इन आठ अक्षरों की समता ऋचः, यजूंसि और सामनि इन आठ अक्षरों के साथ की है। ऋचः में (१) ऋकार, (२) विसर्ग सहित चकार, यजूंसि में (३) यकार, (४) विन्दु सहित जूकार, (५) पिकार, तथा सामानि में (६) साकार, (७) माकार, और (८) निकार इस प्रकार आठ अक्षर हैं। भाव यह हुआ कि गायत्री मंत्र के द्वितीय पाद में जो आठ अक्षर हैं वे ऋक् यजु और साम इन त्रयी विद्या के समान हैं। जो साधक गायत्री मंत्र के दूसरे पाद के अक्षरों के भाव को सम्यक् प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, वह जितनी त्रयी विद्या है उस त्रयी विद्या के फल को जीत लेता है अर्थात् दूसरे पाद की उपासना से उसे तीनों वेदों के पढने का जो फल है, वह फल प्राप्त हो जाता है। यह गायत्री मंत्र के दूसरे पाद के आठ अक्षरों की महिमा और उनकी उपासना का फल कहा गया। अब गायत्री के तीसरे पाद के आठ अक्षरों की महिमा और उनकी उपासना के फल को सुनिये।

गायत्री मंत्र के तीसरे पाद में (१) धिकार, (२) योकार, (३) योकार, (४) विसर्ग सहित नकार, (५) प्रकार, (६) चोकार, (७) दकार, और (८) अर्ध तकार सहित यकार ये आठ शब्द हैं। इनका समता प्राण अपान और व्यान नाम के जो मुख्य प्राण हैं उनके आठ अक्षरों के साथ की गयी है। प्राण के

(१) णकार, (२) णकार, अपान के (३) अकार, (४) पाकार, और (५) नकार तथा व्यान के (६) विकार, (७) याकार, और (८) नकार इन आठ अक्षरों के साथ की है। जो साधक गायत्री मंत्र के तीसरे पाद के इस भाव को भली-भाँति जानकर उसकी प्राण ब्रह्मभाव से उपासना करता है, तो उस उपासना के फल-स्वरूप जगत् में जितने भी प्राणि वर्ग हैं, उन सब पर वह विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह प्राणेश्वर परब्रह्म के सदृश हो जाता है।

गायत्री मंत्र के तीन पाद तो प्रसिद्ध ही हैं। अब इसके एक तुरीय पाद-चतुर्थ पाद की-भी महिमा बताते हैं। जप के समय तो ओंकार व्याहृति सहित त्रिपदी गायत्री का ही जप किया जाता है, किन्तु जप के अंत में तुरीय पाद का भी व्यवहार होता है। उस तुरीय अर्थात् चतुर्थ पाद में भी आठ अक्षर हैं। पाद के भाव का अर्थ भगवती श्रुति स्वयं ही बताती है। तुरीय शब्द का अर्थ है जो तपता है वही उसका तुरीय है। वह तुरीय पाद कौन-सा है? 'दर्शत परोरजाः' यही तुरीय या चतुर्थ पद है। अब इसमें जो पहिला दर्शत पदम् है इसका अर्थ बताया जाता है, जो दिखायी दे वही दर्शतम् है। दीखता कौन है? आदित्य मंडल में रहने वाला पुरुष। वह आदित्य मंडल में रहने वाला पुरुष कैसा है। वह परोरजाः है अर्थात् यह सभी प्रकार के रज से-सभी प्राकृत लोकों से-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है। इस प्रकार 'दर्शत परोरजाः' यह गायत्री के तुरीय-चतुर्थ-पद की महिमा है। जो गायत्री मंत्र के इस चतुर्थ पद के अर्थ को भली-भाँति जानकर उसकी उपासना करता है। वह जैसे यह तुरीय पद सम्पत्ति और कीर्ति द्वारा प्रकाशित हो

रहा है, उसका साधक भी उसी भाँति शोभा-सम्पत्ति तथा यश-कीर्ति के द्वारा प्रकाशित होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह तुरीय पद सहित त्रिपदा प्राण ब्रह्म गायत्री की उपासना कही क्योंकि गायत्री का परम प्रतिष्ठा प्राण में ही है। गायत्री का परम प्रतिष्ठा प्राण कैसे है। इसे बताते हैं—

जिस चौबीस अक्षर वाली त्रिपदा गायत्री को पीछे बताया है वह गायत्री यह जो 'दर्शत परोरजाः' चौथा पद है उसी में प्रतिष्ठित है। इस तुरीय पद का अर्थ यही हुआ कि जितने भी ये राजस् लोक हैं, उन सबसे ऊपर उत्कृष्ट रूप विद्यमान जो सूर्य मंडलस्थ पुरुष प्रतिष्ठित है वह निश्चय करके उस सत्य स्वरूप परब्रह्म परमात्मा मे प्रतिष्ठित है। वह सत्य है क्या? इन्द्रियों में चक्षु को ही सत्य बताया गया है, चक्षु ही सत्य है। चक्षु सत्य क्यों है? इस विषय को दृष्टान्त देकर समझाते हैं। एक व्यक्ति का घोड़ा भाग गया था। वह उसे खोजता खोजता एक स्थान पर पहुँचा। उसने पूछा—"एक सफेद बड़ा सा घोड़ा इधर से आया था क्या? एक ने कहा—"मैंने किसी से ऐसा सुना है कि सफेद घोड़ा उत्तर की ओर भागा जा रहा था।" दूसरे ने कहा—"मैंने अभी अपने आँखों से प्रत्यक्ष देखा है। सफेद घोड़ा पूर्व की ओर भागा चला जा रहा था।" एक ने तो कहा—'मैंने सुना है' दूसरे ने कहा—'मैंने देखा है' तो इन दोनों में से जिसने 'देखा है' ऐसा कहा है—उसी की बात सत्य मानी जायगी। क्योंकि चक्षु से प्रत्यक्ष देखी बात ही सत्य है, कानों से सुनी उतनी सत्य नहीं है। इससे सिद्ध हुआ चक्षु ही सत्य है। 'सुना है' 'देखा है' इस दोनों के विवाद में अधिक विश्वास जिसने 'देखा है' ऐसा कहा है उसी का किया जायगा।

यदि आँखें निर्बल हों, उनमें बल न हो तो उन निर्बल आँखों की बात भी विश्वसनीय न समझी जायगी। हाँ,आखें स्वच्छ निरोग बलशालिनी होंगी, तो उसकी बात मानी जायगी इससे सिद्ध हुआ कि जो गायत्री का आश्रय भूत सत्य है वह बल के आश्रय है, वह बल में प्रतिष्ठित है। वह बल क्या है ? प्राण ही का नाम बल है, जिसका प्राण जितना ही सशक्त होगा वह उतना ही बलशाली माना जायगा। वह जो चक्षु मे स्थित सत्य प्राण में-बल में-प्रतिष्ठित है। इसीलिये लोक मे भी कहावत प्रसिद्ध है कि सत्य की अपेक्षा बल ओजाय-ओजस्वी-है। इसका भाव यही हुआ कि यह गायत्री अध्यात्म प्राण मे प्रतिष्ठित है। अर्थात् गायत्री की उपासना प्राणोपासना ही है। यह गायत्री की परम प्रतिष्ठा प्राण है इस विषय को बताया गया। अब 'गायत्री' शब्द का अर्थ बताते हैं। उसके शब्दों से उसका निर्वचन करते हैं।

गयों का जो त्राण करे वही गायत्री है। जिसने गयों की-वाणी आदि इन्द्रियों की प्राणों की -रक्षा की है, पालना की है वही गायत्री है। गय शब्द का अर्थ है जो शब्द करे। वाणी आदि इन्द्रियाँ प्राणों के द्वारा शब्द करती हैं। इसलिये वाणी आदि इन्द्रियाँ ही प्राण स्वरूपा हैं। इस गायत्री ने वागादि प्राणों की रक्षा की है इसलिये इसका गायत्री नाम सार्थक है। इस प्रकार गायत्री का निर्वचन करके पुनः इसकी प्रशंसा में एक दृष्टान्त देते हैं।

शतपथ ब्राह्मण का एक वचन है—ब्राह्मण का बालक जब आठ वर्ष का हो जाय तो उसका उपनयन संस्कार कराके उसे अध्ययन करावे। उसका वेदारम्भ संस्कार साथ ही-साथ करे।

वटु-ब्रह्मचारी-आचार्य के समीप अध्ययन के निमित्त जाता है। सर्वप्रथम आचार्य उसका कुल गोत्र पूछकर उपनयन करते हैं। अर्थात् उसे पहिले सावित्री-गायत्री-मंत्र का उपदेश करते हैं। चौबीस अक्षरों वाली तीन पाद वाली सावित्री का जिसके देवता सविता हैं। उसका पदशः उपदेश करते हैं, कि देख ब्रह्मचारी! इस सावित्री के ये तीन पाद हैं। फिर पहिले आचार्य ओंकार व्याहृति सहित एक पाद का उपदेश करता है। दूसरी बार फिर प्रणव व्याहृति सहित दो पादों का उपदेश करता है। तीसरी बार प्रणव व्याहृति सहित सम्पूर्ण तीनों पाद वाली प्रणवान्त गायत्री का उपदेश करता है। इस प्रकार पदशः आधी आधी ऋचा करके तीन बार में सम्पूर्ण रूप से जिस गायत्री मन्त्र का उपदेश करता है। वह सावित्री यही गायत्री मंत्र है।

आचार्य के समीप जो भी विद्यार्थी अध्ययन के निमित्त आते हैं उन सबको वे सर्वप्रथम इसी गायत्री का उपदेश करते हैं। सबको प्रथम गायत्री का उपदेश वे इसलिये करते हैं कि जिन-जिन ब्रह्मचारी वटुओं को वे गायत्री का उपदेश करते हैं उन सबके प्राणों की यह गायत्री माता रक्षा करती है। इसलिये यह गायत्री मैया जननी की भाँति प्राणों की रक्षिका है। इस प्रकार गायत्री का महत्त्व बताकर एक महत्त्वपूर्ण बात इस सम्बन्ध की और बताते हैं। सावित्री मंत्र का ही उपदेश आचार्य करते हैं, किन्तु सावित्री दो प्रकार की है, एक तो अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री दूसरी गायत्री छन्द वाली गायत्री। इन दोनों में भेद क्या है? और उपदेश किस सावित्री का करना चाहिये इसे बताते हैं। इससे पहिले मतभेद प्रदर्शित करते हैं।

जिस मन्त्र का सविता देवता हो उसे सावित्री कहते हैं। अनुष्टुप् छन्द चार पादों वाला होता है और गायत्री छन्द मे तीन ही पाद होते हैं। चार पाद वाली अनुष्टुप् छन्द के एक मन्त्र का भी सविता ही देवता है और तीन पाद वाली गायत्री छन्द का भी सविता देवता है। तो अब विवाद इस बात का है कि दोनों सावित्रियों मे से किसका वटु को उपदेश करे ?

वेद की अनेकों शाखायें हैं। कुछ शाखा वालों का मत है कि अनुष्टुप् छन्द वाली चार पदों से युक्त सावित्री मन्त्र का ही उपदेश देना चाहिये। अनुष्टुप् गायत्री का ही उपदेश क्यों देना चाहिये ? इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि वाणी-सरस्वती-अनुष्टुप ही है। जिससे सतत स्तुति की जाय उसे अनुष्टुप कहते हैं (अनु=सतत स्तु-यतेऽनया इति=अनुष्टुप्) स्तुति वाणी-सरस्वती द्वारा ही की जाती है, इसलिये अनुष्टुप् वाली सावित्री का ही वटु को उपदेश करे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! चार पाद वाली अनुष्टुप् सावित्री मन्त्र कौन है और उसका भाव क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! यह चार पद वाली अनुष्टुप् सावित्री ऋग्वेद के पाँचवें मंडल के ८२ वें सूक्त का प्रथम मन्त्र है। उसका भी भाव प्रायः यही है— हम उस सविता देवता का वरण करते हैं जो सब को भोजन प्रदान करते हैं। सबके भोजन हैं) ऐश्वर्यादि समस्त भग के सर्वश्रेष्ठ स्वामी हैं उनका ध्यान करते हैं।*

उन शाखा वालों का आग्रह अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री के ही उपदेश का है। श्रीमद्भागवत में भी राजर्षि भरत के प्रसंग

---

* तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्व धातमं तुरं भगस्य धीमहि॥

में उसी गायत्री के भाव को लेकर एक पौराणिक गायत्री मंत्र बताया है। उसका भी भाव यही है कि—"भगवान् सूर्य का कर्म फलदायक जो तेज है वह प्रकृति से परे है। उसी ने इस जगत् की उत्पत्ति अपने संकल्प द्वारा की है। तदनन्तर अन्तर्यामी रूप से वही तेज इस जगत् में प्रविष्ट होकर अपनी चित् शक्ति द्वारा विषयलोलुप जीवों की रक्षा करता है। उसी बुद्धि प्रवर्तक तेज की हम शरण लेते हैं।* यह चार पैर वाली अनुष्टुप् सविता है। यहाँ भगवती श्रुति इसका निषेध करती है। उसका आदेश है आचार्य को इस अनुष्टुप् सावित्री का उपदेश नहीं करना चाहिये। वह तो अपने ब्राह्मण बटु को गायत्री छन्द वाली त्रिपदी सावित्री का ही उपदेश करे। अब इस गायत्री का उपदेश लेने वाले को क्या फल होता है, उसे बताते हैं—जो इस प्रकार गायत्री का जिसे उपदेश करता है, और आचार्य उपदिष्ट गायत्री को जान लेता है वह दान में चाहे जितना धन ले ले। चाहे जितना प्रतिग्रह कर ले, तो वह गायत्री के एक पाद के सदृश नहीं हो सकता। अर्थात् आवश्यकता से अधिक दान निषेध है, किन्तु गायत्री मंत्र का जापक किसी कारणवश आवश्यकता से अधिक भी दान दक्षिणा ग्रहण कर ले तो उसे दोष नहीं लगता। क्योंकि उसके लिये वह विशेष अधिक नहीं माना गया है। यह सम्पूर्ण गायत्री का महत्त्व बताया गया है। अब गायत्री के प्रत्येक पद का महत्त्व बताते हैं—

---

* परोरजः सवितुर्जातवेदो—
देवस्य भर्गो मनसेद वजान।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंस गृध्राण नृषदिङ्गिरामिमः॥
(श्रीमा० ५-७-१४)

प्रतिग्रह लेना एक प्रकार का अपराध है, यदि किसी को प्रतिग्रह लेना ही हो, तो उसे गायत्री मन्त्र का जप कर लेना चाहिये, इससे प्रतिग्रह का उसे दोष नहीं लगता। गायत्री देवी में प्रतिग्रह जनित अपराध के शमन की कितनी भारी शक्ति है, अब भागवती श्रुति इसी बात को बताती है। सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र के जप की बात तो छोड़ दीजिये। इसके एक-एक पद के जप का ही इतना महान्माहात्म्य है, कि बड़े से-बड़ा प्रतिग्रह का शमन हो जाता है।

मानलो, उसने पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग की जितनी भी धन, धान्य, पशु, सुवर्णादि वस्तुएँ हैं उन सबका दान ले लिया और दान लेने के अनन्तर केवल गायत्री के प्रथम पाद का ही ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो उस लेने वाले का प्रतिग्रह इस गायत्री के प्रथम पाद को व्याप्त करता है। अर्थात् तीनों लोकों के दान लेने का अपराध नष्ट होकर भी वह तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पहिले पाद ज्ञान का लोकत्रय भोक्तृत्व कहकर अब दूसरे पाद प्रतिग्रह दोष से निर्मुक्त होकर उसके भोक्तृत्व फल को बताते हैं।

गायत्री मंत्र का जो द्वितीय पाद है, उसके विज्ञाता को वह चाहें ऋक्, यजु, और साम रूप विद्या है उसके बराबर भी जो प्रतिग्रह करता है, तो द्वितीय पाद के विज्ञान के कारण उसका वह अपराध नष्ट होकर द्वितीय पाद के फल को व्याप्त करता है, अर्थात् वह त्रयी विद्या का जितना फल है उसे प्राप्त कर ही लेता है। अब तृतीय पाद विज्ञान का फल बताते हैं।

गायत्री मंत्र का जो तीसरा पाद है, उसके विज्ञान को जो भली भाँति जान लेता है, वह चाहे संसार भर में जितने भी प्राणी हैं, उन सबका भले ही प्रतिग्रह कर ले, किन्तु तृतीय पाद

के विज्ञान के कारण प्राणीमात्र प्रतिग्रह जनित दोष से नि
होकर वह समस्त प्राणीमात्र पर विजय प्राप्त कर ही लेता है

अब रही तुरीय-चतुर्थ पद "दर्शत परोरजाः" की बात, तो तपता ही है, अर्थात् उसी के तप से तो संसार में बल होता है, उतना कोई प्रतिग्रह कर ही नहीं सकता। अतः किसी के द्वारा भी प्राप्य नहीं है कोई चाहे कि हम इतना प्रति करके चतुर्थ पद के फल को प्राप्त कर लें तो असंभव है।

इस प्रकार गायत्री मंत्र के चारों पदों के दाता और भो के माहात्म्य को बताया। जैसे किसी ने तीनों लोकों की सम्पत्ति है, उसे किसी प्रथम पादवेत्ता को दान कर दी तो द तो तीनों लोकों की सम्पत्ति दान के फलस्वरूप तीनों लोकों विजय प्राप्त कर ही लेगा किन्तु प्रतिगृहीता को भी प्रथम पाद विज्ञान के कारण उसके फलप्राप्ति पर आँच नहीं आवेगी। व तो विज्ञान के कारण वह फल प्राप्त हो ही जायगा। इसी प्रका द्वितीय तथा तृतीय पाद के दाताओं प्रतिगृहीताओं के सम्बन्ध भी समझनी चाहिये। अब रही चतुर्थ-तुरीय-पाद के दाता प्रति गृहीता के सम्बन्ध में। सो चतुर्थ पाद के विज्ञान का जो फल है, उसके फल के बराबर तो संसार में कोई दान कर ही नहीं सकता। हाँ, चतुर्थ पाद के विज्ञाता को तो प्राण-बलस्वरूप-सत्य की प्राप्ति हो ही जायगी।

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! वास्तव में तो यह गायत्री की महिमा की प्रशंसा में अत्युक्ति है। आप ही सोचें, संसार में कोई भी व्यक्ति तीनों लोकों की सम्पत्ति के बराबर दान कहाँ से कर सकता है? फिर दूसरे तीसरे की तो बात ही क्या है। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि गायत्री के चारों पदों के विज्ञान को अनन्त फल की प्राप्ति होती है, ऐसी गायत्री की उपासना

अवश्य करनी चाहिये। उसका जप अवश्य करना चाहिये। इसी प्रकार गायत्री की उपासना का महा-माहात्म्य बताकर अब गायत्री के उपस्थान और उस उपस्थान के फल के सम्बन्ध में बताते हैं।

गायत्री जप के पूर्व जो सन्ध्यावन्दन किया जाता है, उसमें गायत्री देवी का मन्त्रों द्वारा उपस्थान भी करते हैं। उपस्थान का अर्थ है समीप जाकर स्थित होना। अर्थात् समीप जाकर श्रद्धा से मन्त्रों द्वारा नमस्कार प्रणामादि करना। (उप=समीपे-उपेत्य-स्थान नमस्करणम्-अनेन मन्त्रेण-इति उपस्थानम्) खड़े होकर प्रातःकाल में दोनों हाथों को निवेदन के रूप में आगे खड़ा करके मध्याह्न में दोनों हाथों को ऊपर उठाकर और सायंकाल में दोनों हाथों को जोड़कर उपस्थान करना चाहिये। उपस्थान के और भी मन्त्र हैं, किन्तु भगवती श्रुति जिसमें गायत्री माता की विशेष स्तुति है, उसी मन्त्र को बताता है। उस मन्त्र का भावार्थ यह है-

हे गायत्री मैया! तू पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग रूप से एक पैर वाली है। ऋक्वेद, यजुर्वेद और सामवेद रूप से दो पैर वाली है। प्राण, अपान और व्यान रूप से तीन पैर वाली है। तुरीय दर्शत परोरजा' रूप से चार पैरों वाली भी है तथा इन सभी से परे निरुपाधिक रूप से तू बिना पैर वाली भी है, क्योंकि तू भली भाँति जानी नहीं जाती। समस्त राजस् लोकों से ऊपर विराजमान दर्शनीय तेरा तुरीय-चतुर्थ-पद है उसके लिये नमस्कार है। यह पाप रूप भयंकर शत्रु इस विघ्नाचरण रूप कार्य को नहीं प्राप्त हो यह मेरी प्रार्थना है।"

यह तो उपस्थान मन्त्र का अर्थ हुआ। अब इस उपस्थान के फल को बताते हुए इसी मन्त्र में आगे कहते हैं—ऊपर के उपस्थान में 'असौ अदः मा प्रापद्' ये चार शब्द हैं। इनका अर्थ

है 'यह इसको नहीं प्राप्त करे' जैसे कोई हमारा शत्रु है देव
वह हमें मारने का प्रयत्न कर रहा है तो हमें उपस्थान म
उसका नाम लेकर यह पढ़ना चाहिये "मेरा जो यह देवदत्त
वाला शत्रु है इसको मेरे मारने में सफलता न प्राप्त हो" (अ
देवदत्ताय मम मारणे सफलता न प्राप्नुयात्) इस भाँति उपस
करने वाला जिससे द्वेष करता हो उसका नाम लेकर कहे
"उसकी जो यह कामना है वह पूरी न हो। इस प्रकार कह
ऊपर के मन्त्र से उपस्थान करे। इस प्रकार जिस कार्य की सि
के निमित्त या शत्रु के कार्य की असिद्धि के निमित्त जो उपस्थ
किया जाता है, तो उपस्थान करने वाले की कामना पूर्ण
जाती है। अर्थात् जैसे देवदत्त की जो मुझे मारने की कामना
वह पूरी न हो, इस भावना से उपस्थान किया है तो देवदत्त
कामना कभी भी पूर्ण न होगी। और उपस्थान में मुझे अमु
वस्तु प्राप्त हो जाय, मुझे विद्या प्राप्ति में सफलता मिले, तो उसक
ऐसी कामना पूर्ण हो जायगी। जैसी कामना से उपस्थान करे
उसको लोक परलोक तथा मोक्ष सब धर्म मनोकामना पूरी होगी
यही गायत्री के उपस्थान का फल है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार गायत्री के उप
स्थान मन्त्र का भाव तथा उसके फल को बताकर अब प्रसगा
नुसार गायत्री के मुख को जानने के सम्बन्ध में एक आख्यायिका
को और बताकर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। उसी सम्बन्ध
की कथा कहते हैं—

महाराज विदेहराज जनक की सभा में सदा अच्छे-अच्छे
विद्वान् आया करते थे। परमार्थ सम्बन्धी छोटे से छोटे बड़े से
बड़े प्रश्नों का उनकी राजसभा में निर्णय हुआ करता था। एक
बार अश्वतराश्व महामुनि के पुत्र बुडिल महाराज विदेहाधि-

पति जनक की सभा में आये। राजा ने उनसे पूछा—"ब्रह्मन्! आप किस विषय के ज्ञाता हैं? किसकी उपासना करते हैं?"

बुडिल मुनि ने कहा—"राजन्! मैं गायत्री के तत्व का ज्ञाता-गायत्रीविद्-हूँ।"

राजा ने पूछा—"तब तो आप प्रतिग्रह के दोष से सर्वथा मुक्त ही होंगे?"

बुडिल ने कहा—"राजन्! मैं प्रतिग्रह के दोष से मुक्त कहाँ हूँ, प्रतिग्रह के भार को नित्य हाथी के समान वहन करता हूँ।"

राजा ने कहा—'गायत्री तत्व के ज्ञाता होकर भी फिर आप प्रतिग्रह के भार को हाथी के सदृश क्यों ढो रहे हैं?"

बुडिल ने कहा—'राजन्! यद्यपि मैं गायत्रीविद् हूँ, फिर भी मुझमें एक त्रुटि है?"

राजा ने पूछा—"वह त्रुटि कौन सी है?"

बुडिल ने कहा—'हे सम्राट्! मैं इस गायत्री का मुख नहीं जानता।"

राजा ने कहा—"आप आज्ञा दें, तो गायत्री के मुख के सम्बन्ध में मैं बताऊँ?"

बुडिल ने कहा—"हाँ, सम्राट्! बताइये।"

तब राजा जनक ने कहा—"गायत्री का मुख अग्नि ही है।"

बुडिल ने पूछा—'गायत्री का मुख अग्नि किस प्रकार है?"

महाराज जनक ने कहा—'देखिये, प्रज्वलित अग्नि में मनुष्य चाहें जितना ईंधन डालते जायँ, तो वह सभी को जलाकर भस्म कर देगी। इसी प्रकार गायत्री मन्त्र के तत्त्व को और उसके मुख अग्नि को जानने वाला गायत्रीविद् पुरुष प्रतिग्रह सम्बन्धी बहुत सा पाप कर रहा हो, तो भी गायत्री देवी उसके समस्त पापों को भक्षण करके उसे विशुद्ध बना देती है। गायत्री के जप

करने वाला पुरुष प्रतिग्रह सम्बन्धी समस्त दोषों से विमुक्त बनकर शुद्ध, पवित्र अजर-अमर बन जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! महाराज जनक के उपदेश से गायत्री के उपासक महर्षि बुडिल उसके मुख के ज्ञान से प्रतिग्रह जनित पाप से मुक्त होकर अजर-अमर हो गये। इस आख्यान का सार इतना ही है, कि मनुष्य गायत्री मंत्र के जाप से प्रतिग्रह सम्बन्धी दोष से छूट जाता है। यह मैंने आपसे गायत्री मंत्र की उपासना के सम्बन्ध से इसके चारों पादों की फल सहित उपासना, गायत्री की प्राण-प्रतिष्ठा, गायत्री शब्द निर्वचन, सावित्री गायत्री का ही वटु को उपदेश और उसका फल तथा गायत्री का उपस्थान और उसके मुख के सम्बन्ध में कहा। अब आगे जैसे आदित्य और अग्नि से प्रार्थना की जाती है उस प्रार्थना के भाव के सम्बन्ध में कहा जायगा। यह ज्ञानकर्म समुच्चयकारी दिव्यातिदिव्य प्रार्थना है। आशा है इसे आप सब जानते हुए भी दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

(१)

प्रान अपान हु व्यान तृतिय पद आठ सु अक्षर।
जीते प्रानी सकल तुरिय जो पद शुभ द्विजवर॥
रवि मंडल में पुरुष प्रकाशित ऊपर ऊपर।
जो जानै जा रहस पाइ शोभा सुकीर्ति वर॥
रज तें पर जो तुरिय पद, सत्य माहिं सो प्रतिष्ठित।
चहु सत्य यह ख्याति जग, सत्य-प्राण-बल विदित अति॥

(२)

प्रान त्रान नित करै कही गायत्री जावै।
उपदेशे गुरु बटुहिं नित्य रक्षा हित धावै॥
एक अनुष्टुप छन्द ताहि गुरु कान न देवै।
गायत्री जो छन्द, ताहि सावित्रिहिं सेवै॥
दोऊ सावित्री कहीं, एक अनुष्टप चारि पद।
गायत्री उपदेश नित, करैं कहीं जो तीनि पद॥

(३)

करति प्रतिग्रह दोष-नाश प्रतिपद गायत्री।
लेइ दान भरपूर दोष नासति सावित्री॥
उपस्थान नित करै एक द्वै तीनि चारि पद।
तुरिय रजनि तें रहित नित्य निरुपाधिक बिनु पद॥
नहीं कामना पूर्ण तिनि, जे हमतें करि द्वेष जन।
करैं कामना पूर्ण मम, गायत्री मम भरहिं मन॥

(४)

जनक बुडिल तें कहें—प्रतिग्रह-भार वहौ कस ?
गायत्री मुख जानि बिना दुख सहूँ नृपति ! अस॥
गायत्री मुख अग्नि होइ ईंधन स्वाहा सब।
गायत्री मुख जानि रहें का दोष शेष अब ?
गायत्री हैं मोक्षप्रद, नाश करति सब हृदय मल।
गायत्री की शरन गहि, अजर अमर हौं नर विमल॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
चौदहवाँ गायत्री ब्राह्मण समाप्त।

—०—

आदित्य और अग्निदेव से अन्तकाल में प्रार्थना

[२६४]

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥*

(बृ० उ० ५ अ० १५ ब्रा० १...म०)

छप्पय

हे पूषन् ! यम ! सूर्य ! एक ऋषि ! जगपोषक प्रभु !
सत्य ब्रह्म मुख सुखद, ज्योतिमय पात्र ढक्यो विभु !!
इच्छुक हौं सत धरम उघारो ताकूँ स्वामी ।
किरननि लेइ समेटि सिकोड़ौ अन्तरजामी ॥
रवि मंडल महँ अमृतमय, मेरो वही स्वरूप तहँ ।
प्राण-वायु महँ भस्म तनु, कृत सुमिरन कर अन्त महँ ॥

प्रार्थना मे बड़ा बल होता है। मनुष्य जिस बात को मन से निरन्तर सोचता रहता है, वह सब प्रकार से प्रार्थना ही करता रहता है। क्योंकि प्रार्थना शब्द का अर्थ ही यह प्रकर्ष करके

---

* सुवर्णमय चमकते हुए पात्र से सत्य स्वरूप ब्रह्म का मुख ढका हुआ है। हे पूषन् ! मैं सत्यधर्म को देखने का इच्छुक हूँ, ऐसे मेरे लिये तुम उस ज्योतिर्मय पात्र को उघाड़ दो।

अर्थात् निरन्तर की याचना है माँगना है उसी का नाम प्रार्थना है। (प्रकर्षेण=याचनम्=इति-प्रार्थनम्) हम निरन्तर सोचते रहें-हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, तो निरन्तर सोचते सोचते एक दिन शुद्ध हो ही जायगा, क्योंकि प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती। फिर भी किसी देवता को प्रतीक मानकर उसे सम्बोधन करके जो अभ्यर्चना, याचना प्रार्थना की जाती है, उसमें विशेष बल रहता है। जैसे कोई चिल्लाता फिरे मुझे भूख लग रही है, कोई रोटी दे दो। तो जब कोई दयालु पुरुष आवेगा, तभी वह देगा, इसमें बहुत देर भी लग सकती है, किन्तु किसी दयालु पुरुष के समीप जाकर उसको सम्बोधन करके प्रार्थना करे—श्रीमन्! मुझे भूख लगी है कुछ भोजन दिला दीजिये। तो वह दयालु तुरन्त दिला देगा। समीप जाकर याचना करना इसी का नाम उपासना-प्रार्थना है। अनादि काल से द्विजातिगण गायत्री की ही उपासना करते आये हैं। भगवान् मनु तो यहाँ तक कहते हैं-ब्राह्मण अन्यत्र श्रम करे चाहे न भी करे यदि वह केवल एकमात्र गायत्री माता का ही आश्रय ग्रहण कर ले तो गायत्री मात्र में निष्णात ब्राह्मण भी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। उसे दूसरे मन्त्र की दीक्षा लेने की कोई आवश्यकता नहीं। प्राचीन काल से जितने भी राजर्षि, देवर्षि महर्षि तथा ब्रह्मर्षि होते चले आये हैं, उन सबने केवल गायत्री की ही उपासना की है।

सभी रूपों में वे परब्रह्म परमात्मा ही व्याप्त हैं। किन्तु उपासना करने के १-भगवत् मूर्ति, २-वेदी, ३-अग्नि, ४-सूर्य, ५-जल, ६-हृदय और साधु महात्मा, गुरु ब्राह्मण अतिथि इनमें से किसी को भी भगवान् का प्रतीक मानकर उनकी उपासना करनी चाहिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये।

वैसे तो अपनी मानसिक भावना को किसी भी भाषा में कैसे भी व्यक्त करे–भगवान् सबकी सुनते ही हैं, क्योंकि भगवान् तो घट घट में व्याप्त हैं सबके हृदय की भावनाओं को जानते हैं। उनकी प्रार्थना में भाषा की प्रधानता नहीं है भाव की प्रधानता है। पंडित विष्णवेनमः कहता है। मूर्ख रामाय नमः की भाँति विष्णाय नमः कहता है, तो विष्णाय नमः कहने वाले से भगवान् घृणा नहीं करते क्योंकि वे तो भावग्राही हैं। वे जानते हैं–विष्णाय नमः से इसका भाव विष्णु के लिये नमस्कार से ही है। वे अन्तर की भावना को समझ लेते हैं, तथापि परम्परा से चली आयी हुई प्रार्थना के शब्दों में उनके भावों में–विशेष बल होता है। जिस वाद्य को चिरकाल तक अच्छा कलाकार बजाता रहता है उसमें अन्य वाद्यों की अपेक्षा विशेष शक्ति संनिहित रहती है। इसी प्रकार जिन मन्त्रों को प्रार्थना के रूप में चिरकाल से ऋषि महर्षि प्रयोग करते आये हैं, उन मन्त्रों से प्रार्थना करने में विशेष लाभ होता है।

आरम्भ को जो ईशावास्योपनिषद् है उसके अन्तिम जो पन्द्रहवें, सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें ये चार मन्त्र हैं ये प्रार्थना के सर्वश्रेष्ठ मन्त्र माने गये हैं। ईशावास्योपनिषद् में तो वे मन्त्र ब्रह्म परक माने गये हैं। वे ही मन्त्र ज्यों-के-त्यों ही यहाँ सूर्योपासना के प्रकरण में बृहदारण्यक उपनिषद् के पन्द्रहवें सूर्याग्नि प्रार्थना ब्राह्मण में दिये गये हैं। यद्यपि मन्त्र वे ही हैं, शब्द वे ही हैं, उनके भाव वे ही हैं, किन्तु यहाँ प्रकरण गायत्री का है अतः उनका अर्थ सूर्य परक ही किया जायगा। क्योंकि शब्दों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही किया जाता है। जैसे सैंधव का अर्थ घोड़ा भी है और नमक भी है। कोई व्यक्ति सज-धजकर यात्रा के लिये तैयार है औरसेवक से कहो सैंधव ले

आओ, तो वह घोड़ा को ही लावेगा क्योंकि यहाँ प्रकरण यात्रा का है। इसी प्रकार वह भोजन कर रहा हो और रसोये से कहे कि, सैंधव लाओ, तो वह नमक ही देगा, क्योंकि प्रकरण यहाँ भोजन का है। इसलिये अर्थ प्रकरणानुसार ही किया जाता है। वेसे सूर्य, अग्नि, प्राण, अन्न, ये सब नाम उन्हीं परब्रह्म परमात्मा के ही हैं। अपनी भावना के अनुसार किसी भी रूप का किसी भी नाम का चिन्तन उच्चारण करो, वह सब परमात्मा पर ही पहुँच जाता है, जैसे नदियों का जल कैसे भी जाय, वह पहुँचेगा समुद्र मे ही।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं अर्चिरादि मार्गों के प्रवर्तक आतिवाहिकों में अनुप्रविष्ट जो सूर्यदेव हैं, जो गायत्री के देवता हैं उनकी प्रार्थना के मन्त्रों का भाव कहता हूँ। साधक शौचादि कर्मों से पवित्र होकर स्वच्छ अन्तःकरण से विनयावनत होकर दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर नारायण स्वरूप सविता देवता की इस भाँति स्तुति करे—

"इस समस्त संसार के पालन-पोषण करने वाले ये पूषन! हे सूर्यदेव! जो सत्य संज्ञक परब्रह्म है, उनका मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हिरण्यमय पात्र द्वारा आच्छादित है। हे भगवन्! मैं सत्य स्वरूप परब्रह्म का उपासक हूँ, उपासक जो मैं हूँ मैं उस परब्रह्म का दर्शन करना चाहता हूँ, तो मेरे दर्शन के निमित्त हे एकर्षे! उस ज्योतिर्मय पात्र को हटा लो। उस ढके हुए पात्र को उघाड़ दो, ढक्कन को थक् कर दो।"

हे यमराज स्वरूप सूर्यदेव! अपनी ज्योतिर्मय किरणों को सत्य संज्ञक परब्रह्म के मुख के ऊपर से हटा लो। अपने उग्रतेज को समेट लो।

हे सूर्यदेव ! तुम्हारा जो यह अत्यन्त मगलमय कल्याणमय स्वरूप है, उसे मैं देख रहा हूँ। उसका अनुभव मैं करता हूँ।

हे प्राजापत्य ! यह जो आदित्य मण्डल मे स्थिति दिव्य स्वरूप वाला पुरुष है वह प्राण स्वरूप मे मैं ही हूँ। प्राणरूप वहा अमृत मैं हूँ।

हे प्रभो ! यह जो आवरण रूप मेरा शरीर है। जब ये प्राण इस शरीर का परित्याग करके शरीर से पृथक हो जायँ-शरीर-पात हो जाय—तो शरीरपात होने के अनन्तर शरीर के भीतर विचरण करने वाली जो प्राण वायु है, वह वायु सर्वत्र व्यापक वाह्य वायु मे मिल जाय। अमृत स्वरूप जो मैं हूँ वह अमृत को प्राप्त होऊँ। यह जो मरणशील-प्राणहीन शरीर है वह भस्म शेष होकर भस्म मे मिल जाय। पार्थिव अश पृथ्वी मे आत्मसात् हो जाय।

हे प्रणव प्रतिपाद्य ओंकार स्वरूप क्रतुरूप सूर्य देव ! मैंने जो भी कुछ स्मरण करने योग कर्म किये हों, उनका आप स्मरण करें। मेरे द्वारा जो भी कुछ हुआ है उन कर्मों का आप स्मरण करें क्योंकि आप ही समस्त कर्मों के साक्षी हैं।

हे क्रतुरूप सूर्य देव ! मेरी पुनः पुनः आपके पाद पद्मों में प्रार्थना है आप जो भी स्मरण करने योग्य मेरे कर्म हों, उनका अवश्य ही स्मरण कर लें।

हे अग्निदेव ! आप ही अर्चिरादि मार्ग में आगे ले जाने वाले हैं। इसलिये आप हमे कर्मों की फल प्राप्ति के हेतु शुभ मार्ग जो देवयान मार्ग है, उसी सुपथ की ओर ले चलें।

हे देवाधिदेव अग्निदेव ! तुम प्राणियों के समस्त प्रज्ञानों को जानने वाले हो अर्थात् तुमसे हमारे द्वारा किये हुए कोई भी

कर्म छिपे हुए नहीं हैं। हमारे यदि कोई बन्धनात्मक कुटिल कर्म हों, जो नहीं करने चाहिये उनको हमने किया हो अथवा जिन्हें अवश्य करना चाहिये उन्हें न किया हो ऐसे जो जुहुराण-पाप कर्म-हैं-उन्हें हमसे दूर कर दीजिये। अर्थात् हमार पाप कर्मों को भस्मसात् कर दीजिये। हम आपके पाद-पद्मों मे पुन पुनः प्रणाम करते हैं। हम आपके निमित्त बहुत से नमस्कार वचनों का विधान करते हैं। नमस्कार करने के अतिरिक्त हम और कुछ भी करने में असमर्थ हैं। कृपया आप हमारी इस नमस्कार से ही प्रसन्न हो जायँ।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार अन्तकाल में जो साधक आदित्य और अग्नि की विनम्र भाव से इस प्रकार प्रार्थना करता है, वह पुण्यपथ का पथिक बनकर अमृतत्व को प्राप्त होता है, यह मैंने आपसे अन्तकाल की आदित्य और अग्नि का प्रार्थना कही, अब आगे जैसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ दृष्टि से जैसे पहिले कह आये हैं वैसे ही पुनः प्राणोपासना को कहेंगे। ऐसे प्रकरणों को बार-बार सुनना चाहिये, इनमें पुनरुक्तिदोष नहीं हुआ करता।

छप्पय

(१)

सूर्यदेव! तुम साक्षि सकल ही कृत करमनि के।
अग्निदेव! तुम विज्ञ जीव के प्रज्ञाननि के॥
हमें सुपथ ले चलो कुपथतें सतत निवारो।
करे कुटिल कछु करम तिनहिं अब दूरि निकारो॥
बार बार बिनती करें, योग्य होइँ सुमिरन करम।
तिनिही को सुमिरन करो, जानत तुम हिय को मरम॥

(२)

करम फननि के हेतु मार्ग शुभ देव ! दिखाओ।
बल परम घन कह्यो ताहिके ढिंग पहुँचाओ॥
सेवा समरथ नहीं उभय अंजलि कर जोरे।
आये तुमरी शरन अन्त सब नाते तोरे॥
सेवा कछु नहिं करि सकें, शीश चरन कमलनि धरें।
पुनि पुनि प्रभु पद पदुम नें, प्रनत होइ इस्तुति करें॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पचम अध्याय मे
पन्द्रहवाँ सूर्याग्नि प्राथना ब्राह्मण समाप्त।

पञ्चम अध्याय समाप्त।

षष्ठ अध्याय

ज्येष्ठ-श्रेष्ठ दृष्टि से प्राणोपासना

[२६५]

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्चश्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥*

(बृ० उ० ६ अ० १ ब्रा० १ म०)

छप्पय

ज्येष्ठ श्रेष्ठ है प्रान उपासक तद्वत होवै।
ज्ञाति जनन महं ज्येष्ठ होइ लघुताकूँ खोवै॥
वाक् वशिष्ठा कही उपासक होवै तद्वत।
चक्षु प्रतिष्ठा कहा उपासक होइ प्रतिष्ठित॥
श्रोत्र सकल सम्पद् कही, वेद श्रोत्र महँ निहित है।
सम्पद की करि उपासन भोग सकल शुभ मिलत हैं॥

---

* जो साधक ज्येष्ठ श्रेष्ठ को जानता है वह अपने ज्ञाति जनों में ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हैं। जो इस प्रकार जानता है वह अपने बन्धु बान्धवों में तथा अपने से भिन्न और भी जिनमें वह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ होना चाहता है, उन सब में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हो जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के पचम अध्याय के पहिले खंड से लेकर दशम् खंड तक ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राणोपासना तथा प्रवाहण श्वेतकेतु आरुणि सम्वाद है। उसी को कुछ हेर फेर के साथ यहा बृहदारण्यक उपनिषद् के तीन ब्राह्मणों मे कहा गया है। यद्यपि ये सब बातें पीछे आ चुकी हैं। इसलिये यहाँ प्रकरणवश उन सब का अत्यन्त सक्षेप मे वर्णन किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! ज्येष्ठ और श्रेष्ठ प्राण ही हैं। इसलिये प्राण की ही उपासना करनी चाहिये। उस उपासना का फल यह है कि जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ रूप से प्राणोपासना करता है वह अपने स्वजनों मे और जिन में चाहता है उन सब मे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हो जाता है।

जैसे प्राण की ज्येष्ठ-श्रेष्ठ संज्ञा बतायी वैसे ही वाणी की वशिष्ठा संज्ञा है। वाणी की वशिष्ठा रूप में उपासना करने वाला वशिष्ठ--वाक् चातुरी वाला हो जाता है।

इसी प्रकार चक्षु की प्रतिष्ठा संज्ञा है उसका उपासक प्रतिष्ठित हो जाता है। श्रोत्र का सम्पद् सज्ञा है उसका उपासक मनोनुकूल सम्यक् भोगो को प्राप्त करता है। मन की आयतन संज्ञा है। उसका उपासक आयतनवान्–आश्रय सम्पन्न–होता है। रेतस् की प्रजापति संज्ञा है उसका उपासक प्रजावान पशुवान होता है।

प्राण ही सब इन्द्रियो मे श्रेष्ठ क्यों है। इस पर पीछे कही हुई कथा को दुहराते हैं। सब इन्द्रियाँ अपने को श्रेष्ठ बताती हुई निर्णय निमित्त प्रजापति के पास गयीं। प्रजापति ने कहा—"जिसके बिना इस शरीर का काम न चले वही सबसे श्रेष्ठ है। इस बात की परीक्षा के लिये शरीर को त्यागकर क्रमशः वाणी, चक्षु, श्रोत्र मन तथा वीर्य ये सब शरीर को छोड़कर चले गये।

इनके चले जाने पर भी जैसे गूँगे, अन्धे, बहरे, पगले या बालक तथा नपुंसकों का काम चलता है वैसे शरीर का काम चलता ही रहा। जब प्राण शरीर से पृथक् होने लगा तब तो सब इन्द्रियाँ घबडायीं तब सब इन्द्रियों ने मिलकर प्राण की स्तुति की और उस सर्वसम्मति से सबने ज्येष्ठ-श्रेष्ठ स्वीकार कर लिया। प्राण ने अपना अन्न पूछा तो वागादि ने सभी को उनका अन्न और जल को वस्त्र बता दिया। अभक्ष्य का प्रतिग्रह और संग्रह न होना और भोजन के आदि अन्त में आचमन करने से प्राण का अनग्न न होना यह उसके अन्न वस्त्र जानने का फल बताया गया।

इसके अनन्तर वही छान्दोग्य उपनिषद् में कही हुई प्रवाहण और श्वेतकेतु की कथा बतायी है वह संक्षेप में इस प्रकार है —

महर्षि आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु से उनके पिता ने कह दिया "मैंने तुम्हें सम्पूर्ण शिक्षा दे दी।" तब श्वेतकेतु पाचालों की राजसभा में गया, वहाँ जीवल राजा के पुत्र प्रवाहण सेवकों से परिचर्या करा रहे थे। प्रवाहण ने श्वेतकेतु से पूछा—"तुम्हारे पिता ने तुम्हें कितनी शिक्षा दी है?" उसने कहा—"सम्पूर्ण शिक्षा दी है।" तब प्रवाहण ने उससे पाँच प्रश्न किये।

(१) यह प्रजा मरने पर किस प्रकार विभिन्न मार्गों से जाती है?

(२) ये प्रजा के लोग किस प्रकार पुनः इस भू लोक में आते हैं।

(३) बहुत से लोग बार बार मरते हैं, उनसे यह लोक भरता क्या नहीं?

(४) किनने बार की आहुति हवन स जलपुरुष शब्दवाच्य होकर उठकर बोलने लगता है ?

(५) देवयान और पितृयान जो देव तथा पितर सम्बन्धी दो मार्ग हैं। जा पिता माता के मध्य मे हैं, इन दोनों मार्गों के कर्म रूप साधन को तुम जानते हो ?

श्वेतकेतु ने पाँचों के प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। प्रवाहण ने उससे ठहरने को कहा, वह ठहरा नहीं। सीधा पिता के पास पहुँचकर सब वृत्तान्त सुनाकर बोला- "उस क्षत्रियबन्धु ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे, मैं एक का भी उत्तर न दे सकने के कारण अत्यन्त अपमानित हुआ। आपने तो कहा था मैंने तुझे सभी शिक्षा दे दी।"

आरुणि ने कहा—"बेटा! मैं जितना जानता था उतनी शिक्षा तुझे दे दी थी। इन बातों को तो मैं स्वय भी नहीं जानता चलो, उस राजा से ही चलकर पूँछे।"

श्वेतकेतु न कहा—"मैं तो वहाँ जाऊँगा नहीं, आप ही जाकर उससे पूछें।" तब आरुणि अकेले गये। राजा के आतिथ्य को स्वीकार करके उनस यही वर माँगा कि मेरे पुत्र से जो आपने पाँच प्रश्न पूछे व उनका उत्तर मुझे बता दीजिये।"

प्रवाहण ने कहा—"ऐसे कैसे बता दें, आप नियमानुसार मेरा शिष्यत्व स्वीकार कीजिये। अब तक यह विद्या क्षत्रियों पर ही रही है।"

आरुणि न वचन से ही राजा का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया, तब प्रवाहण ने बिना क्रम के पाँचों प्रश्नों का यों उत्तर दिया—"सबस पहिले चौथा जो यह प्रश्न है कितनी बार आहुति के हवन करने पर आपपुरुष शब्दवाच्य होकर उठकर बोलने लगता है।"

तथा सभी क्रियायें करने लगता है। यह तो चौथे प्रश्न का उत्तर हुआ। इसी उत्तर के अधीन शेष सभी प्रश्नों का उत्तर था। इस लिये पहिले चौथे प्रश्न का उत्तर दिया। अब पहिला जो यह प्रश्न था कि मरने पर प्रजा किन मार्गों से ऊपर के लोकों को जाती है, उसका उत्तर देते हैं।

१—पैदा होकर पुरुष अपने कर्मानुसार जितने दिन की उसकी आयु है, तब तक जीवित रहता है, जब कर्म समाप्त होते हैं, तब वह मर जाता है, उसे परिवार वाले जलाते हैं। वह जलाना अंतिम सस्कार भी एक यज्ञ है। उस यज्ञ में साक्षात् अग्नि ही अग्नि है। जिन लकड़ियों स जलाते हैं वे ही समिधायें हैं। जलाने पर जो धुँआ निकलता है, वही धूम है। जलाने पर जो अग्नि की लपटें निकलती हैं, वे ही ज्वालायें हैं। लकड़ियाँ जलकर जो कोयले हो जाते हैं, वे ही अंगारे हैं, और अग्नि जलते समय चट-चट करके जो चिनगारियाँ निकलती हैं, वे ही विस्फुलिङ्ग हैं। उस चिता की अग्नि में देवगण उस मृतक पुरुष को ही होमते हैं, होमने से उसका स्थूल शरीर तो जल जाता है, सूक्ष्म शरीर दीप्तिमान होकर चिता से बाहर निकल आता है। जलने वाला गृहस्थ वानप्रस्थ अथवा सन्यासी कोई भी पुरुष क्यों न हो, गृहस्थ होकर जो पंचाग्नि विद्या का ज्ञाता है, वानप्रस्थ या यति होकर श्रद्धायुक्त होकर वन में सत्य स्वरूप परब्रह्म की उपासना करता है, ये देवयान या पितृयान किस मार्ग से जाते हैं अब इस पाँचवें प्रश्न का उत्तर देते हैं—

(५) ये दीप्तिमान पुरुष अर्चि अभिमानी ज्योति के अधिष्ठातृ देव को सर्व प्रथम प्राप्त होते हैं। फिर क्रमशः दिन के, शुक्लपक्ष के, उत्तरायण के, षड्मासाभिमानी देवों को और वहाँ से क्रमशः देवलोक, सूर्यलोक और विद्युत्लोक के अभिमानी

देवों को प्राप्त होता है। वहाँ वैद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आता है, वह उसे देवलोक में ले जाता है। वहाँ वह निरन्तर सदा सर्वदा निवास करता है, उसकी पुनः संसार में आवृत्ति नहीं होती। यह पंचम प्रश्न के देवयान मार्ग का उत्तर हुआ। उसमें देवयान और पितृयान दोनों ही का प्रश्न है, अतः अब पितृयान या धूमयान मार्ग का वर्णन किया जाता है। देवयान तो विज्ञानमय मार्ग है, जो ज्ञान द्वारा विचार द्वारा कर्तव्य कर्मों को करते हुये निष्काम कर्मों द्वारा मनन, चिन्तन, स्मरण, विचार, विवेक भक्ति करते हुए जाते हैं वे अपुनरावृत्ति वाले सनातन लोकों में जाकर फिर कभी लौटते नहीं, किन्तु जो केवल यज्ञ, दान तथा तपादि शुभ कर्मों के द्वारा शुभ लोकों में-पुण्यलोकों में जाते हैं उन्हें तो फिर इस कर्मभूमि भूलोक में लौटना पड़ता है, यही पितरों का मार्ग है, देवयान तो अर्चिमार्ग प्रकाश का पथ-था। यह पितृयान-धूम का-अन्धकार का-पथ है। उसका क्रम इस प्रकार है। इसमें दूसरे तथा तीसरे प्रश्न का भी उत्तर आ जायगा।

मरने पर जो उनका आतिवाहिक शरीर है, वह सबसे पहिले धूमाभिमानी देवताओं को प्राप्त होता है, फिर क्रमशः रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायनाभिमानी देवों को प्राप्त होते हैं, वहाँ से पितृलोक को पितृलोक से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। क्योंकि चन्द्रमा-सोम-प्राणिमात्र का अन्न है, इसलिये चन्द्रलोक में जाकर उनका अन्न स्वरूप हो जाता है। उसे देवता पानकर जाते हैं। अर्थात् वे देवताओं के भोग्य पदार्थ होकर शुभ कर्मों की समाप्ति तक चन्द्रलोक में रहते हैं, कर्म क्षीण हो जाने पर वे आकाश में धकेल दिये जाते हैं। आकाश से वे क्रमशः वायु को प्राप्त होते हैं, वायु से जलरूप होकर वृष्टि को प्राप्त होते

हैं, वृष्टि द्वारा बरसकर पृथ्वी में आते हैं, वहाँ चन्द्रलोक में तो वे देवताओं के भक्ष्य सूक्ष्म अन्न थे। पृथ्वी में आकर मनुष्यों के भक्ष स्थूल अन्न बन जाते हैं, उस अन्न को पुरुष की जठराग्नि में हवन किया जाता है, अर्थात उस अन्न को प्राणी खाते हैं। उसका वीर्य बनता है। उस वीर्य को स्त्री रूपी अग्नि में हवन किया जाता है अर्थात् वीर्य का गर्भ में आधान किया जाता है। उससे पुरुष उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर पूर्व संस्कारों के कारण फिर यज्ञ, दान, तपादि शुभ कर्मों को करते हैं, उनके फल स्वरूप पुनः चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं पुनः पृथ्वी पर अन्न बनकर आते हैं, इस प्रकार पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं, जन्मते और मरते रहते हैं। जो न ज्ञान द्वारा देवयान मार्ग से जाते हैं और न यज्ञ, दान और तपस्या द्वारा पितृयान मार्ग को जाते हैं। सामान्य कर्मों को करते हुए आहार, निद्रा, मैथुनादि कर्मों में ही निरत रहते हैं। वे इन दोनों में से किसी भी मार्ग को न जाकर कीड़े मकोड़े, भिनगे-पतगे, डास-मच्छरादि योनियों को प्राप्त होकर चौरासी के चक्कर में घूमते रहते हैं।

इस प्रकार पाँचवें प्रश्न में तो देवयान और पितृयान सम्बन्धी प्रश्न था। दूसरा प्रश्न था यह जीव परलोक से लौटकर पुनः कैसे इस लोक में आता है? इसका भी उत्तर हो गया कि वह चन्द्र से आकाश, वृष्टि, जल, अन्न, होकर माता के उदर से उत्पन्न होता है। तीसरा प्रश्न यह था कि नित्य इतने लोग मर कर उन लोकों में जाते हैं, वे भरते क्यों नहीं? इसका भी उत्तर हो गया, कि वे भरें कहाँ से, बहुत से जाते रहते हैं, बहुत से वहाँ से लौटते रहते हैं। यह आवागमन अनादि काल से चल रहा है, अनन्त काल तक चलता रहेगा। यह तो धर्मशाला है। दश यात्री आज आये बीस चले गये। जो जाते हैं आने

वालों के लिये कोठरी खाली करके चले जाते हैं। स्थायी रूप से बस ही जायँ, तब तो लोक भर हो जायँ, किन्तु जब आवागमन निरन्तर लगा ही रहता है, तब भरें कैसे? इस प्रकार इस उत्तर में पाचवें दूसरे तीसरे तीन प्रश्नों का उत्तर हो गया। पहिले और चौथे का उत्तर पीछे दे ही आये हैं।

सूतजी कहते हैं—"सो, मुनियो! राजा प्रवाहण द्वारा गौतम गोत्रीय आरुणि महर्षि पाँचों प्रश्न का उत्तर पाकर संतुष्ट होकर चले गये। इस प्रकार इन पाँचों प्रश्नों के द्वारा कर्म विपाक का वर्णन किया, अब आगे प्राचीन काल में यज्ञों में एक मन्थ तैयार किया जाता था। वह मन्थ कैसे तैयार करना चाहिये इसे बतावेंगे। यद्यपि मन्थकर्म विधि पीछे भी बता चुके हैं, उसी को कुछ हेर फेर से फिर यहाँ बतावेंगे। उसे भी आप सब ध्यान पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

(१)

है मन ही आयतन होइ आयतनवान जन।
रेत प्रजापति कह्यो प्रजा पशु होइ तासु घन॥
इन्द्रिनि मच्यो विवाद प्रजापति निरनय कीयो।
जा बिनु चलै न देह श्रेष्ठ पद ताही दीयो॥
वाक्, चक्षु अरु श्रोत्र मन, गये देह तैं चल्यो तन।
प्रान जात हा हा मच्यो, प्राण श्रेष्ठ समुझ्यो सबन॥

(२)

अन्न वस्त्र हित प्रान कह्यो सब खाद्य अन्न तप।
वस्त्र-नार आचमन अशन-द्वय आच्छादन सब॥
श्वेतकेतु तैं प्रश्न प्रवाहण पाँच करे जब।
नहिं उत्तर दे सक्यो पिता ढिंग जाइ कह्यो सब॥

आरुणि मुनि नृप हिँग कह्यो, पाँच प्रश्न समुझाइ दे।
शिष्य बने जब वाक् तैं, कह्यो प्रवाहण ध्यान दे॥

(३)

आप पुरुष आहुती दिये कै बोले उत्थिन!
है यह चौथो प्रश्न देइ उत्तर यों नरपति॥
स्वरग अगिनि, पर्जन्य, लोक इह योषाग्नी, नर।
अग्नि, समिध अरु धूम, अंगारे, चिनगारी वर॥
द्रव्य हविष्यहु तासु फल, सब अगिननि क्रम तैं कहे।
स्वरग अगिनि, ईंधन रविहिँ किरन धूम, दिन जाल है॥

(४)

दिशि अँगार उपदिशा कही चिनगारी निहिँ जल।
करि श्रद्धा को होम सोम राजा प्रकटित फल॥
मेघ अगिनि सबनहु, समिध, धूआँ अभ्रहु है।
विद्युत ज्वाला अशनि अँगारे गर्जन चिनि है॥
सोम राज सुर हवन करि, होइ वृष्टि फल तासु तैं।
अग्नि कही इहलोक की, अन्न होइ फल तासु तैं॥

(५)

स्वरग अगिनि फल सोम मेघ अगिनी तैं वृष्टी।
लोक अगिनि तैं, अन्न रेत नर योषित-सृष्टी॥
वीर्य रूप जल होइ पाँचवी पुरुष बनावै।
नर मरि जरि बनि दिव्य देव मारग तैं जावै॥
अर्चि, दिवस, पक्षहिँ शुकुल, जाइँ फेरि उत्तर अयन।
देव, सूर्य, विद्युत थलहिँ, ब्रह्मलोक बसि सनातन॥

(६)

पितृयान तैं जाइ यज्ञ, तप दान करम करि।
धूम, रात्रि, पक्ष कृष्ण, अयन दक्खिन जावैं फिरि॥
पितृलोक तैं चन्द्रलोक पुनि पृथिवी आवैं।
नभ पुनि वायु हु वृष्टि अन्न बनि जीव कहावैं॥
पुनि आवैं पुनि जाइँ वे, लोक सनातन नहिँ लहैं।
शेष मशक कीटादि बनि, भू के भू ई पै रहैं॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में
द्वितीय कर्म विपाक नामक ब्राह्मण समाप्त।

धन वैभव महत्त्व के लिये श्रीमन्थन कर्म और उसकी विधि

[२६६]

स यः कामयेत महत् प्राप्नुयामित्युदगयन आपूयमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषध फलानीति सभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्याघृत्याज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳ सनीय जुहोति ॥*

(बृ० उ० ६ अ० ३ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

श्रीमन्थन विधि कहैं महत्ता प्राप्त करावै ।
शुक्लपक्ष तिथि पुन्य उत्तरायन जब आवै ॥
बारह दिन पी दूध कटोरा गूलर का करि ।
सर्वौषध फल आदि कटोरे में भरिकें धरि ॥
वेदी कुशहँ बुहारिकें, गोबर जल लीपै सुघर ।
चहुँदिश कुशा बिछाइकें, नर नक्षत्रहिं मन्थ धरि ॥

---

* जो पुरुष चाहे मैं महत्त्व प्राप्त करूँ वह उत्तरायण शुक्लपक्ष की पुण्य तिथि शुभ वार मे मन्थानुष्ठान करे। पहिले बारह दिन केवल दूध ही पीकर रहे। फिर गूलर की लकडी के कटोरे मे अथवा चमसाकार पात्र मे सर्वौषधियों को फलो को तथा अन्य सबको इकट्ठा करके वेदी को कुशो से बुहार कर जल गोबर से लीपकर स्मार्त अग्नि के समीप मे वेदी के चारो ओर कुशा बिछाकर घृत का सस्कार करके पुल्लिङ्ग नक्षत्र मे श्रीमन्थ, को अपने और अग्नि के बीच में रखकर हवन करे।

भगवान् वेदव्यासजी ने महाभारत में एक अत्यन्त ही मार्मिक श्लोक कहा है। वे कहते हैं—"मैं दोनों हाथों को ऊपर उठाकर रोता हूँ, लोगों से रो-रोकर कहता हूँ किन्तु कोई मेरी बात सुनता ही नहीं। अरे भाइयो! तुम्हें धन प्राप्त करना हो, तो धर्मपूर्वक करो धर्म से भी धन मिल जाता है, मैथुन सुख का अनुभव करना हो, तो उसे भी अधर्मपूर्वक न करके धर्मपूर्वक करो। धर्म से भी कामसुख की प्राप्ति हो सकती है। जो धर्म धन भी प्राप्त करा सकता है, कामसुख का भी अनुभव करा सकता है और इन्हें धर्मपूर्वक करते हुए स्वर्ग भी मिल सकता है, तो उस धर्म का सेवन तुम क्यों नहीं करते?"*

भगवान् वेदव्यासजी ने यह कैसी हृदयस्पर्शी मार्मिक बात कही है। धन दो प्रकार से मिलता है धर्मपूर्वक शास्त्रोक्त अनुष्ठानों द्वारा सदाचरण सद्व्यवहार द्वारा तथा असत्य, दम्भ, कपट दूसरों को हानि पहुँचाकर असत्य व्यवहार द्वारा। असत्य से जो धन होगा वह असीम क्लेश चिंता कर अशुचियुक्त होगा। धन व्यापार तथा भिक्षादि से प्राप्त होता है। व्यापार में सत्य का भी व्यवहार हो सकता है और असत्य का भी। सत्य से, सदाचार से धर्मपूर्वक जो धन मिलेगा वह सीमित संयत परम पवित्र होगा। इसी प्रकार मैथुन सुख भी धर्म और अधर्म दोनों ही प्रकार से प्राप्त होता है। धर्मपूर्वक शास्त्रोक्त विधि से, अपनी ही धर्मपत्नी में, ऋतुकाल में ही वेद के मन्त्रों द्वारा, विधि विहित जो, मैथुन सुख मिलेगा, वह संयत, सीमित, स्वर्गप्रद होगा। और स्वेच्छाचार से परस्त्रियों, वेश्याओं, स्वैरिणियों, स्वच्छन्द

---

* ऊर्ध्वं बाहु विरोम्येतत् न कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्चकामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

गामिनियों तथा परनारियों द्वारा जो मैथुन सुख प्राप्त होगा, वह असीम, अपवित्र, दुःख क्लेश और रोगों का उत्पादक तथा अन्त में नरकों में ले जाने वाला होगा। किन्तु संसारी मूढ़जन धर्मपूर्वक अर्थ काम का सेवन न करके अधर्मपूर्वक अन्याय और स्वच्छन्दतापूर्वक इनका सेवन करते हैं। क्यों करते हैं ? इसलिये कि अन्याय अधर्मपूर्वक अर्थ काम सेवन में आरंभ में सरलता होती है, वह विपुल मात्रा में प्राप्त हो जाता है, उसमें विधिविधान का नियम अनुष्ठान का बन्धन नहीं। निर्मुक्तभाव से बिना संयम नियम के यथेष्ट मिल जाता है। किन्तु उसका अन्त मे परिणाम दुखद होता है परलोक में उससे नरकादि पाप लोकों की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जो धर्मपूर्वक काम और अर्थ का सेवन करते हैं, उसमें आरभ में कठिनाइयाँ होती हैं,वह संयत मात्रा में प्राप्त होता है उसमें विधि-विधानों का पालन करना पड़ता है जीवन को संयम और सदाचारमय रखना पड़ता है। कठोर अनुष्ठानों के द्वारा पवित्रतापूर्वक प्राप्त होते हैं। सुख तो उसमें मिलता है किन्तु उसमें यथेच्छाचार, निर्मुक्तता, स्वच्छन्दता नहीं रहती किन्तु उसका परिणाम सुखद होता है और परलोक में स्वर्गादि पुण्यलोकों की प्राप्ति होती है, किन्तु जो स्वेच्छाचारी हैं, निर्मुक्तभाव से बिना सत्य धर्म का पालन किये अर्थ धर्म का सरलता से सुखोपभोग करना चाहते हैं, वे मन को समझा लेते हैं, "इस लोक में जैसे बने तैसे सुख लूट लो। परलोक किसने देखा है। अब तो सुख भोग लो, आगे जो होगा देखा जायगा।"

ये भाव उनके केवल मन को धोखा देने को ही हैं, किन्तु उनके मन में तो परलोक का चोर बैठा ही रहता है, पाप का खटका उन्हें लगा ही रहता है अतः सुखभोग करते हुए भी वे मन से दुखी ही बने रहते हैं। और धर्मपूर्वक संयत मात्रा में

विधिपूर्वक थोड़ा भी सुख का अनुभव करने वाले धार्मिक पुरुष को सन्तोष बना रहता है, कि मैं किसी को क्लेश पहुँचा कर, अन्याय अधर्म से अर्थ कामसुख का उपभोग नहीं कर रहा हूँ। इसी सन्तोष के कारण वे सुख का उपभोग करते हुए सन्तुष्ट तथा प्रफुल्लित रहते हैं। वास्तव में सन्तोष ही परमधन है। आत्मतुष्टि ही परमसुख है। धर्मभाव से शास्त्रोक्त विधि से-विधिविधान और वेद मन्त्रों द्वारा श्री की प्राप्ति कैसे हो सकती है, इसका वैदिक विधान बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ज्ञानमार्ग का परिणाम सनातन लोक की प्राप्ति बता दिया। कर्ममार्ग का परिणाम आवागमन-शील लोकों की प्राप्ति बताया। ज्ञानमार्ग के लिये बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। विचार, विवेक, वैराग्यादि सद्गुणों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। कर्म तो बाह्य उपकरणों के अधीन हैं। दैवधन, मानुषधन, न हों तो कर्म कैसे हो सकते हैं। द्रव्य के ही अधीन समस्त कर्म हैं। धन न होगा, तो शुभकर्म कैसे होंगे? धन दो प्रकार से प्राप्त होता है. धर्मपूर्वक और अधर्मपूर्वक। धर्म-पूर्वक तो यह कि दूसरों को बिना क्लेश संताप पहुँचाये हुए, स्वच्छ स्वभाव के जो धनिक हैं उनके सम्मुख दीनता से बिना गिड-गिडाये तथा अपनी आत्मा को अन्याय कार्यों द्वारा बिना क्लेश पहुँचाये जो धन प्राप्त हो वह धर्मोपार्जित धन है। और अन्य प्राणियों को दुःख देकर अन्याय से धन एकत्रित करना, नीच प्रकृति के कृपण क्रूर धानिकों के समीप दीनता दिखाकर अथवा साम, दान, दण्ड, भेद द्वारा उनसे धन लेकर तथा पाप, अधर्म, अन्याय, हिंसा, चोरी आदि आत्मा के प्रतिकूल कर्म करके धन एकत्रित करना यह अधर्मोपार्जित धन है। अधर्मोपार्जित धन से कभी भी धर्म कार्य नहीं हो सकते। अधर्मोपार्जित धन सदा

अधर्म के कार्यों में ही व्यय होगा जो धन धर्म के द्वारा प्राप्त किया हुआ होगा वही धर्म कार्यों में लगेगा। ब्राह्मण को धर्मात्मा पुरुषों से याचना करके धन प्राप्त करना निषेध नहीं। किन्तु धनी धार्मिक मिलते कहाँ हैं। धनिकों के पास जो विपुल धन होता है उसमें अधिकांश भाग अधर्मोपार्जित ही होता है। जो धर्मपूर्वक कार्य करते हैं उनके पास धन एकत्रित नहीं हो सकता। हाँ उनका कार्य चल सकता है। इस विषय में लोपामुद्रा और अगस्त मुनि की कथा बड़ी ही शिक्षाप्रद है।

अपनी पत्नी लोपामुद्रा की बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करने की इच्छा से अगस्त मुनि उसके निमित्त कई धर्मात्मा राजाओं के निकट धन की याचना करने गये। उनसे यही कहा—"धर्मपूर्वक अर्जित धन से जो तुम्हारे पास बचा धन हो वह मुझे स्त्री के वस्त्राभूषणों के लिये दे दो।" धर्मात्मा राजाओं ने अपने आय व्यय का लेखा दिखाया। जितनी धर्मपूर्वक आय थी, उतना ही उनका व्यय था। मुनि ने उनसे धन लेना उचित न समझा। लोगों ने बताया असुर राजा वातापी सबसे बड़ा धनी है, उसके पास जाओ। अगस्त जी धन याचना के लिये उसके पास गये। वह बड़ी प्रसन्नता से जितना चाहें उतना धन ऋषि को देने को सहर्ष उद्यत हो गया। ऋषि ने उसका आय व्यय देखा, तो उसका समस्त धन अन्यायोपार्जित था। ऋषि उससे कुछ भी न लेकर स्त्री के पास खाली हाथों लौट आये और बोले—"देवि! धर्मात्माओं के समीप धन का संग्रह नहीं और जिनके पास विपुल धन संग्रहीत है, उनका धन अन्यायोपार्जित है। अन्यायोपार्जित धन द्वारा बहुमूल्य आभूषण पहिनने की अपेक्षा बिना आभूषणों के ही जीवन बिताना श्रेयस्कर है।"

अच्छा, जब शुभ कर्म धन द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। और

धनिकों के पास प्रायः अन्यायोपार्जित ही धन होता है, तो धन प्राप्त कैसे करे ? यह प्रश्न उठता है। इसका उत्तर भगवती श्रुति देती है, कि जिसे यह इच्छा हो, कि मैं सभी पुरुषों में भाग्यवान् ऐश्वर्यवान् धनवान् बनूँ और अन्याय द्वारा भी धनोपार्जन न करूँ, उसे दैवबल का आश्रय लेना चाहिये, वैदिक विधि से श्रीमन्थ तैयार करना चाहिये। उस श्रीमन्थ के पान करने से लक्ष्मी अपने आप आ जायगी। लक्ष्मी के आने से अपने आप महत्त्व बढ़ जायगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हमारे आश्रम में दश सहस्र से भी अधिक साधक हैं। यज्ञयागादि कर्मों के लिये हमें भी नित्य धन की आवश्यकता पड़ती ही है। किसी से धन की याचना करने में बड़ा सकोच होता है, अतः उस श्रीमन्थ के बनाने की विधि हमें भी बता दीजिये, जिससे हमें किसी से धन की याचना करनी न पड़े।"

यह सुनकर सूतजी बहुत हँसे और हँसते हुए बोले—"ब्रह्मन् ! आपकी तपस्या ही परमधन है। आपका सदाचार ही परमनिधि है। आपको किसी से याचना की आवश्यकता ही क्या है। आपके तप का ही ऐसा प्रभाव है, कि आपकी इच्छा होते ही सभी पदार्थ बिना माँगे स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। श्रीमन्थ तो उन लोगों के लिये है जिनमें तपस्या का विशेष बल नहीं है। तो भी प्रसंगानुसार भगवती श्रुति ने जैसे मन्थ तैयार करने की विधि बतायी है, उसे ही आपके सम्मुख कहता हूँ।

यह श्रीमन्थ सब महीनों में तैयार नहीं होता। जब सूर्य उत्तरायण के हो जायँ, तब माघ की मकरसंक्रान्ति से लेकर आषाढ़ की संक्रान्ति तक माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ इन्हीं महीनों में श्रीमन्थ तैयार होता है। जब सूर्य

उत्तरायण के हो जायँ तब इनमें से किसी भी शुभ मास के शुक्ल-पक्ष में पुण्य तिथि तथा शुभ वार तथा पवित्र नक्षत्र में श्रीमन्थ का तैयार करना चाहिये। उस शुभ तिथि पुण्य वार तथा शुभ नक्षत्रों में जो पुरुष संज्ञक नक्षत्र हो जैसे मूल, श्रवणादि नक्षत्र हैं। उन्हीं में इस श्रीमन्थ को बनावे।

पहिले बारह दिनों तक उपसद्व्रती रहे।"

शौनकजी ने पूछा—"उपसद्व्रती का क्या भाव है?"

सूतजी ने कहा—'ब्रह्मन्! जो ज्योतिष्टोम यज्ञ होता है, उसमें तीन इष्टियों का नाम उपसद है। १-गार्हपत्य, २-दक्षिणाग्नि, ३-आहवनीयाग्नि ये तो तीन मुख्य अग्नियाँ प्रसिद्ध ही हैं। इनके अतिरिक्त तीन उपसद् अग्नियाँ कहलाती हैं। इन अग्नियों में जब हवन करना होता है, तो यजमान को केवल दुग्धपान करके रहना पड़ता है। यहाँ उपसद्व्रती का इतना ही अर्थ है कि बारह दिन केवल दूध पीकर ही रहे।

बारह दिन के पश्चात् शुभ मुहूर्त में श्रीमंथन कर्म को करे। पहिले गूलर की लकड़ी से एक गोलाकार कंस-कटोरा-बनवावे, गोलाकार न बन सके तो जैसे यज्ञों में चमसपात्र (चमचा के आकार का पात्र) होता है उसी आकार का बड़ा बना ले। सभी चमसपात्र प्रायः दश अंगुल लम्बे, चार अंगुल चौड़े, चार अंगुल गहरे। दो अंगुल उनका दंड-दल और छः अंगुल ऊँचे होते हैं। इस प्रकार के पात्र को व्रीहि, जौ, तिल, धान्यादि दश औषधियों को तथा तुलसीमंजरी, चम्पापुष्प, जटामांसी, नागरमोथा, शिलाजीत, कूट, हल्दी, सौंठ आदि सभी औषधियों से जो भी मिल सकें उन सभी औषधियों को उस ऋतु में जो भी आम, अंगूर, अनार, अमरूद, आँवले आदि फल मिल सकें उन फलों को तथा यज्ञ सम्बन्धी कुशा, समिधा, घृत आदि जो भी आव-

श्यक सामग्रियाँ हों उन सबको एकत्रित करके अपने समीप रख ले।

फिर हवन करने के लिये एक वेदी बनावे। वेदी ऐसी सुन्दर पवित्र मृत्तिका की बनावे जिसमें कंकण, पत्थर, केश, कीट, भूसी आदि न हो। चिकनी सुन्दर शुद्ध मिट्टी से चार अंगुल ऊँची और एक हाथ लम्बी चतुष्कोण वेदी हो। वेदी बनाते समय वेदी बनाने के पृथ्वी प्रशंसा सम्बन्धी मन्त्र को बोलता जाय।‡

जब सुन्दर शुद्ध मृत्तिका की चतुष्कोण वेदी बन जाय तो उसके सम्मुख कुशा का सुन्दर आसन बिछाकर पूर्व की ओर मुख करके बैठ जाय। आसन पर बैठकर सबसे पहिले वेदी पर पञ्च भू संस्कार करें। पञ्च भू संस्कारों में १–पहिला संस्कार तो यह है कि तीन दर्भ कुशाओं को लेकर वेदी को बुहारे। फिर-जिन कुशाओं से वेदी बुहारी गयी है उन कुशाओं को ईशान कोण दिशा में फेंक दे। २–दूसरा संस्कार यह है कि गोबर और शुद्ध जल से वेदी को लीप दे। ३–तीसरा संस्कार यह है कि स्रुवा के अग्रभाग से–मूल से–पूर्व की ओर उत्तरोत्तर क्रम से प्रादेशमात्र परिमाण की तीन रेखायें खींचें। ४–चौथा संस्कार यह है कि अनामिका और अँगूठा से उन तीनों लकीरों में से तनिक तनिक सी मृत्तिका उठाकर पूर्व दिशा की ओर फेंक दे। ५–पाँचवाँ संस्कार यह है कि वेदी पर पुनः जल छिड़क दे। इस प्रकार पञ्चभू संस्कार करके वेदी को शुद्ध करे।❀ इस भू संस्कार को

---

‡ ॐ भूरसि भूमिरस्य दितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री। पृथिवी यच्छ पृथिवी दृ ह पृथिवी मा हिंसी।

❀ १—भूमिं कुशं परिसंमुह्यतान कुशानैशा यां परित्यजेत्।
२—गोमयोदकनोपलेपनं कुर्यात्।

परिसमूहन संस्कार भी कहते हैं। ये क्यों किये जाते हैं? इसलिये कि कृमि, कीट, पतङ्गादि पृथ्वी पर विचरण किया करते हैं, इसलिये इन सब जीवों की रक्षा के हेतु वेदी को कुशों से स्वच्छ करने आदि को परिसमूहन किया जाता है।✗

इस प्रकार वेदी का परिसमूहन, परिलेपन उल्लेखन समुध्र और अभ्युक्षण इन पाँचों कर्मों को करे। परिसमूहन तो कीटों की रक्षा के लिये करते हैं। परिलेपन इसलिये करते हैं कि पहिले इन्द्र ने अपने वज्र से महासुर वृत्त को मारा था, उसकी मेदा से भूमि व्याप्त हो गयी इसलिये पृथ्वी की शुद्धि गोबर से लीपने से होती है।✗ वेदी पर नीचे कहीं हड्डी कंटक न हो इसलिये परिलेखन करते हैं।† अंतरिक्ष में बहुत से पिशाच आदि घूमते हैं उन सबों को भगाने के लिये समुध्र (मिट्टी) फेंकना कर्म है।‡ अब पांचवाँ कर्म फिर से उसे जल सींचकर अभ्युक्षण कर्म क्यों किया जाता है? इसके सम्बन्ध में कहते हैं जितने भी देवगण तथा पितृगण हैं वे सब के सब जल रूप ही हैं, इसलिये सब लोग जल से पुनः वेदी का अभ्युक्षण करते हैं। अभ्युक्षण कैसे करे? किस प्रकार वेदी पर जल छिड़के? इसे बताते हैं, कि जल से वेदी का सिंचन कुशा की उत्तान मुष्टि से करे।✗

३—स्फ्येन स्रुवेण वा प्रागग्र प्रदेश मात्रमुत्तरोत्तर क्रमेणाविरल्लिखेत्।

४—उल्लेखन क्रमेण प्रतामिकाङ्गुष्ठाभ्या मृदमुद्धरेत्।

५—तां भूमि जलेनाभि षिंचेत्।

✗.१ परिसमूहन—कृमि कीट पतङ्गाद्या विचरन्ति महीतले। तेषां संरक्षणार्थाय परिसमूहनमुच्यते।

इस प्रकार पाँच भू संस्कार करके अग्निकोण से स्मार्त अग्नि को लाकर उसे अपनी दाहिनी ओर रखकर 'ओक्ष्यादमग्निम्'* आदि मन्त्र से कुशा प्रज्वलित करके उस कुशा को नैर्ऋत्य कोण में छोड़ दे। फिर वेदी पर 'ॐ अयन्ते * आदि मन्त्र से अग्नि की स्थापना करे। तदनन्तर वेदी के चारों ओर कुशाओं को बिछावे, इस कर्म को कुशापरिस्तरणम् कहते हैं।

अग्नि वेदी के चारों ओर कुशाओं का परिस्तरण बिछाना कैसे करना चाहिये इसे बताते हैं। चारों ओर कुशा बिछाते समय इतना ध्यान रखे कि किसी भी ओर कुशाओं का मूल भाग दक्षिण की ओर न हो। वैसे बताया तो यह है कि वेदी के चारों ओर बहुत से तृण बिछावे। यहाँ बहुवचन से तीन तीन कुशाओं

ॐ २. परिलेपनम्—पुरा इन्द्रेण वज्रेण हतो वृत्रो महासुर। व्यापिता मेदसा पृथ्वी तदर्थमुपलेपयत्।

† ३. उल्लेखनम्—उल्लेखन तन कुर्यादस्थि कराटकमेव च। तेषा प्रहरणार्थाय उल्लेख कथितो बुधै।

‡ ४ समुद्र—अङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभ्या अग्निकार्ये तथोत्करे। रेखाभ्य समुपादाय रत्निमात्रे निधापयेत्। ये भ्रमन्ति पिशाचाद्या अन्तरिक्ष निवासिन। तेषा प्रहरणार्थाय समुद्र. कथिता बुधै।

✱ ५ अभ्युक्षणम्—प्राणो दैवगणा सर्वे आप पितृगणा स्मृताः। सव तदाप आदाय अभ्युक्षन्ति पुन पुन अभ्युक्षण कर्तव्यमुत्तान नैव मुष्टिना।

* कुशाप्रज्वलन मन्त्र—ॐ क्राव्यादग्नि प्रहिणोमि दूर यमराज्य गच्छतु रिप्रवाह। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्य वहतु प्रजानन्।

✱ अग्निस्थापन मन्त्र—ॐ अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथा। त जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्द्धया रयिम्।

को ही बिछाने की प्राचीन परिपाटी है। अतः वेदी के ओर तीन-तीन कुशाओं को बिछावे।

पहिले वेदी की पूर्व दिशा मे उत्तर की ओर कुशाओं अग्रभाग करके 'ॐ अग्नि मी ले'[१] इति मन्त्र से पूर्व दिश तीन कुशाओं को बिछावे। फिर 'ॐ इषेत्वोर्जे'[२] इति मन्त्र वेदी के दक्षिण में पूर्व की ओर अग्रभाग करके तीन कुशाओं बिछावे। फिर 'ॐ अग्न आयहि'[३] इति मन्त्र से वेदी के पश्चि में उत्तर को ओर अग्रभाग करके तीन कुशाओं को बिछावे। इ प्रकार फिर 'ॐ शन्नोदेवीरभिष्टय'[४] इति मन्त्र से वेदी के उत्तर पूर्व की ओर अग्रभाग करके तीन कुशाओं को बिछावे। प्रका प्रकार वेदी के चारों ओर कुशाओं का परिस्तरण करे। यह कुश परिस्तरण हुआ। इसके अनन्तर अग्नि को 'ॐ चत्वा शृङ्गा'[५] इस मन्त्र द्वारा प्रज्वलित करे।

---

१. पूर्व की ओर का मन्त्र—ॐ अग्निमीले पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विज होतार रत्न धातमम्।

२ दक्षिण की ओर का मन्त्र—ॐ इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्य देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमायकर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागप्र जावती रनमीवा अयक्ष्मा मावस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यातबह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि।

३ पश्चिम की ओर का मन्त्र—ॐ अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्य दातये। निहोता सत्सि बर्हिषि।

४. उत्तर की ओर का मन्त्र—ॐ शन्नोदेवीरभिष्टय आपोभवन्तु पीतये। श योरभिस्रवन्तु नः।

५. अग्नि प्रज्वलित करने का मन्त्र—ॐ चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्यपादा द्वेशीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश।

अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर उसका ध्यान पूजनादि करके गृह्योक्त विधि से आज्यस्थाली में रखे हुए घृत का संस्कार करे। घृत को तपाकर उसे देख ले कि उसमें कूड़ा करकट तो नहीं है। कूड़ा आदि हो तो उसे निकाल कर फेंक दे। घृत को तपाकर देखने आदि के कर्म को उत्पवन संस्कार कहते हैं।

इतना सब करके अब श्रीमन्थ कर्म करे। यह श्रीमन्थ कर्म पुरुष संज्ञक नक्षत्र में करे।"

शौनकजी ने पूछा- 'सूतजी! हमने तो सुना है, ये अश्विनी, भरणी, कृत्तिकादि सत्ताईस नक्षत्र चन्द्रमा की स्त्रियाँ हैं, फिर इनमें पुल्लिङ्ग नक्षत्र कैसे हो सकते हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् स्त्रीत्व पुंस्त्व शरीर से नहीं हुआ करता, यहाँ स्त्रीत्व पुंस्त्व स्वभाव से प्रयोजन है। बहुत-से पुरुष स्त्री स्वभाव के होते हैं, बहुत सी स्त्रियाँ स्त्री होकर पुरुष स्वभाव की होती हैं। जहाँ यह प्रार्थना की है—'मुझे स्त्रीत्व प्राप्त न हो" वहाँ स्त्री योनि से सम्बन्ध न होकर स्त्री स्वभाव से अभिप्राय है। ज्योतिष ग्रन्थों में २७ नक्षत्रों में से १० नक्षत्र स्त्री संज्ञक, १४ पुरुष संज्ञक और शेष तीन नपुंसक संज्ञक माने गये हैं। आर्द्रा नक्षत्र से लेकर स्वाति पर्यन्त दश तो स्त्री संज्ञक (अर्थात् आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, श्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा और स्वाति ये स्त्री संज्ञक हैं) और मूल से लेकर मृगशिरा पर्यन्त चौदह पुरुष संज्ञक (अर्थात् मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा ये नक्षत्र पुरुषसंज्ञक हैं) शेष तीन (विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा) नपुंसक संज्ञक हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"मन्थ को तैयार कैसे करे?"

आज्यस्थाली, चरुस्थाली, स्रुवा, आदि यज्ञ सम्बन्धी पात्र, समार्जन, उपयमन (कुशा) तथा तीन समिधाओं को रखकर पवित्र प्रोक्षणा के जल से सबका प्रोक्षण करे। प्रज्वलित अग्नि में तपे हुए घृत से हवन करे। पहिली आहुति तो 'यावन्तो'[1] इत्यादि मन्त्र से दे। इस मन्त्र का भाव यह है-हे जातवेद !-हे स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् अग्निदेव !-आपके वशवर्ती वक्रमति जितने कुटिल देवगण हैं, जो पुरुषों की समस्त कामनाओं को नष्ट कर देते हैं-उनके शुभकर्मों में प्रतिबन्धक हैं, उनके ही उद्देश्य से इस आज्यभाग-घृत की आहुति-को तुममें हवन करता हूँ। इस आहुति से वे देवगण तृप्त होकर मुझको मेरी समस्त कामनाओं से परितृप्त करें। (स्वाहा कहकर हवन करें।)

पहिली आहुति देकर यातिरश्चो[2] इत्यादि मन्त्र से दूसरी आहुति दें। इस दूसरी आहुति के मन्त्र का तात्पर्य यह है—मैं सबकी मृत्यु को धारण करने वाला हूँ। ऐसा समझकर जो भी कुटिलमति देवता तुम्हारा आश्रय करके रहता है, सभी साधनों का पूर्ति करने वाले उस देवता के निमित्त मैं घृत की धारा से यजन करता हूँ। (स्वाहा कहकर दूसरी आहुति दे)।

इस प्रकार दो आहुतियाँ देकर फिर सात आहुतियों को और दे। वे सात आहुतियाँ ये हैं १ ज्येष्ठ के लिये श्रेष्ठ के लिये, २-प्राण के लिये वसिष्ठ के लिये, ३-वाचा के लिये प्रतिष्ठा के

---

१ पहिली आहुति का मन्त्र—यावन्तो देवास्तवयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ता सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा।

२ दूसरी आहुति का मन्त्र—यातिरश्चो निपद्यतेऽहं विधरणो इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे सं राधयीमहं स्वाहा।

लिये, ४–चक्षु के लिये सम्पदा के लिये, ५–श्रोत्र के लिये आयतन के लिये, ६-मन के लिये प्रजापति के लिये, ७–रेतस् के लिये। इनके लिये इन्हीं के नाम के मन्त्रों से स्वाहा कहकर तो अग्नि मे आहुति दे और प्रत्येक आहुति देने के अनन्तर गूलर के काष्ठ के बने स्रुवा में जो हवन के अनन्तर कुछ बचे-हुत शेष-घृत को मन्थ से भरे पात्र में डालता जाय। उसे सस्रव कहते हैं। इस प्रकार सात आहुतियाँ दे। यद्यपि इसमें स्वाहा शब्द तो तेरह बार आया है, किन्तु छः बार जो दो दो स्वाहा है उन्हें एक ही आहुति मानकर सात ही आहुतियाँ माने* इसके अनन्तर इसी प्रकार १–अग्नि, २–सोम, ३–भूः, ४–भुवः,५–स्वः, ६–भूर्भुवः स्वः, ७–ब्रह्मा, ८–क्षत्र, ९–भूत, १०–भविष्य, ११–विश्व, १२–सर्व, १३–प्रजापति, इनको चतुर्थी लगाकर और अन्त में स्वाहा का उच्चारण करके तेरह आहुतियाँ घृत की और दे और जो स्रुवा में हुतशेष जो घृत बच जाय उसे मन्थ में छोड़ता जाय। इस प्रकार तेरह! दो, सात और तेरह❀ आहुतियाँ देकर हवन को समाप्त करे।

---

* सात आहुतियो के मन्त्र—१. ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा।
२. प्राणाय स्वाहा वसिष्ठाय स्वाहा।
३. वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा।
४. चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा।
५. श्रोत्राय स्वाहा यतनाय स्वाहा।
६. मनसे स्वाहा प्रजापत्यै स्वाहा।
७. रेतसे स्वाहा।

❀ तेरह आहुतियों के मन्त्र—१. अग्नये स्वाहा।
२. सोमाय स्वाहा।

तदनन्तर उस मत्र मिश्रित द्रव्य को भ्रमदसि* इत्यादि मन्त्र से अभिमर्श-स्पर्श-करे। यह जो श्रीमन्थ तैयार हुआ है इसका अधिष्ठातृदेव प्राण है। प्राणोपासना के प्रकरण में ही यह श्रीमथ कर्म और श्रामन्थ बनाने की विधि बतायी गयी है। अतः भ्रमदसि मन्त्र में प्राण की ही प्रार्थना है। उसका भाव इस प्रकार है। हे प्राणदेव! तुम सब शरीरों में भ्रमण करने वाले हो, तुम ही अग्नि रूप से-सभी स्थानों में प्रज्वलित होने वाले हो। तुम परब्रह्म रूप से सर्वत्र परिपूर्ण हो। आकाश रूप से सर्वत्र निष्कम्प-स्तब्ध-रहने वाले हो। आप सबसे अविरोधी होने के कारण इस जगत् रूप सभा के सभापति हो। यज्ञ के आरम्भ में

---

३ भूः स्वाहा।
४. भुव स्वाहा।
५. स्वः स्वाहा।
६ भूर्भुवः स्व स्वाहा।
७ ब्रह्मणे स्वाहा।
८. क्षत्राय स्वाहा।
९. भूताय स्वाहा।
१० भविष्ये स्वाहा।
११. विश्वाय स्वाहा।
१२ सर्वाय स्वाहा।
१३. प्रजापतये स्वाहा।

* भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि हिङ्क्रियमाणमस्युद्गीथ मस्युद्गीयमानसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्याश्रावितमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि विधनमसि सवर्गोऽसीति॥

जो प्रस्तोता हिङ्कृत करता है वह हिङ्कृत आप ही हो। यज्ञ में प्रस्तोता द्वारा जो हिङ्क्रियमाण है वह भी आप ही हो। यज्ञ के आरम्भ में जो सामवेद का उद्गाता उच्च स्वर से उद्गीथ का गायन करता है, वह उद्गीथ भी तुम ही हो। यज्ञ के मध्य में उद्गाता द्वारा जो उद्गायमान है वह उद्गीयमान भी आप ही हो। यज्ञों में जो अध्वर्यु 'श्रावित' उच्चारण करता है वह श्रावित आप ही हो। आग्नीध्र जो 'प्रत्याश्रावित' उच्चारण करता है वह प्रत्याश्रावित भी आप ही हो। आर्द्रगीला–जो मेघ है उसमें जो सदाप्त–तेज–है वह भी आप ही हो। तुम अनेक रूपों में होने वाले विभु हो। तुम सर्वसमर्थ होने के कारण प्रभु हो, तुम ही अग्नि रूप से भक्षण करने वाली ज्योति हो। कारण रूप में सबकी प्रलय करने वाले निधन भी आप ही हो। और समस्त संसार का संहार करने वाले संवर्ग भी आप ही हो।" इस प्रकार उस श्रीमन्थ का इस श्लोक को पढते हुए भली प्रकार स्पर्श करे। स्पर्श करके फिर उसे हाथ से 'आम् स्याम् हि'* इत्यादि मन्त्र से ऊपर उठावे। उठाने वाले मन्त्र का भाव यह है—"हे प्राणदेव! तुम सब जानते हो। मैं भी तुम्हारी महिमा को भली भाँति जानता हूँ। तुम जो वह मन्थभूत प्राण हो, वह दीप्तिमान् राजा हो, सबके शासन कर्ता ईशान हो। सबके अधिपति हो। ऐसे जो वह आप हैं वे मुझे भी राजा ईशान और अधिपति बनावें। यही मेरी विनय है। अब सब प्रकार से श्रीमन्थ तैयार हो गया। हाथ में ऊपर उठा लिया। अब इसे भक्षण कैसे और किन मन्त्रों से करना चाहिये। इस बात को बताते हैं।

मथ्नमुद्यच्छति।

* आम् स्याम् स्याम् हि त महि सं हि' राजेशानोऽधिपतिं म मा राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति।

गूलर के पात्र में जो मन्थ रखा हुआ है। उसके चार भाग कर ले। पहिले भाग को लेकर गायत्री मन्त्र का प्रथम पाद, मधुमती ऋचा का एक पाद पहिली व्याहृति में स्वाहा लगाकर प्रथम ग्रास को भक्षण कर जाय।+ तदनन्तर इसी भाँति गायत्री मन्त्र के द्वितीय पाद को, मधुमती ऋचा के द्वितीय पाद को तथा दूसरी व्याहृति में स्वाहा लगाकर मन्थ का दूसरा ग्रास भक्षण कर जाय।❀

इसी भाँति गायत्रीमन्त्र के तृतीयपाद को, मधुमती ऋचा के तृतीयपाद को और तीसरी व्याहृति को स्वाहा सहित पढ़कर मन्थ के तीसरे ग्रास को भक्षण कर जाय।Σ अब रह गया शेष चतुर्थ ग्रास, उसे समस्त गायत्रीमन्त्र को, समस्त मधुमती ऋचा को अहमेवेदं इत्यादि श्रुति को तथा तीनों व्याहृतियों के सहित स्वाहा को क्रम से पढ़कर शेष बचे खुचे चौथे भाग को भी भक्षण कर जाय।* और पात्र को भी जल से धोकर उसे पी जाय।

पूरे श्रीमन्थ को भक्षण करने के अनन्तर दोनों हाथों को भली प्रकार धोले, फिर अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर शिर करके बैठे। इस प्रकार बैठे-बैठे ही अथवा सोकर जब प्रातःकाल हो जाय, तब नित्य कर्म से निवृत्त होकर "दिशामेक

+ प्रथम ग्रास भक्षण मन्त्र—तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः भूः स्वाहा।

❀ द्वितीय ग्रास भक्षण मन्त्र—भर्गोदेवस्य धीमहि। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तुनः पिता भुवः स्वाहा।

Σ तृतीय ग्रास भक्षण मन्त्र—धियोयोनः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावोभवन्तु नः। स्वः स्वाहा।

* चतुर्थ ग्रास भक्षण मन्त्र—तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्। मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः

पुण्डरीकम्" इत्यादि मन्त्र से आदित्य का उपस्थान करे। ❀ फिर जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठकर श्रीमन्थ के वंश का जप करे। उपस्थान के मन्त्र का भाव यह है कि 'हे आदित्य! तुम जिस प्रकार समस्त दिशाओं के एक पुण्डरीक उज्वल कमल हो, उसी प्रकार मैं भी मनुष्यों में एक ही पुण्डरीक–अखण्ड–श्रेष्ठ उज्वल कमल हो जाऊँ।'

जिस ब्राह्मण वंश–मन्थ कर्म वंश–❀ का जप करने को कहा है–उन ६ ऋचाओं का भाव यह है कि इस मन्थ का उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को उपदेश दिया, वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को, मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को, चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को, जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल को और सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश किया था। सभी ने उपदेश करने के अन्त में अपने शिष्यों से एक ही बात बार-बार दुहरायी थी कि इस मन्थ को यदि कोई सूखे ठूँठ पर भी डाल देगा, तो उसमें शाखायें उत्पन्न हो जायँगी और हरे हरे पत्ते निकल आवेंगे। ऐसा इस श्रीमन्थ का महन्महात्म्य है। इस मन्थ कर्म ब्राह्मण

सन्त्वोषधीः। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः। अहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहा।

❀ आदित्य के उपस्थान का मन्त्र—

दिशामेकं पुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकं पुण्डरीकं भूयासम्।

वंश के ६ मन्त्र हैं। ❀ इनको नीचे देते हैं। श्रुति की आज्ञा है जो अपना पुत्र या शिष्य न हो उसे इस मन्थ का उपदेश न दे।

इस प्रकार यह श्रीमन्थ और उसके बनाने की विधि वाला प्रकरण समाप्त हो गया। उपसंहार या सिंहावलोकन के रूप में मन्थ कर्म की मुख्य मुख्य आवश्यक सामग्रियों के सम्बन्ध में फिर से बताये देते हैं कि मन्थकर्म में ये सामग्रियाँ तो परमावश्यक ही हैं।

❀ १ मन्थकर्म ब्राह्मण वंश— त ँ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसने याय याज्ञवल्क्यायान्ते वासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयु पलाशानीति।

२ एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्ते वासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति।

३. एतमु हैव मधुक पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखा प्ररोहेयुः पलाशानीति।

४ एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानक य आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति।

५ एतमु हैव जानकिरायस्थूण. सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयु पलाशानीति।

६. एतमुहैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयु पलाशानीति॥

"तमेत नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्"

पहिले तो मन्थ कर्म में चार पात्रादि वस्तुएँ परमावश्यक हैं वे चारों ही गूलर की लकड़ी के बने होने चाहिये। वे पात्र कौन-कौन से हैं ?

(१) स्रुव—एक हाथ लम्बा और हाथ के अग्रभाग सदृश आगे हो, उसके अग्रभाग में दो अँगूठे के समान परिमण्डल और नासिका के सदृश गड्ढा होना चाहिये।

(२) चमस—बारह अंगुल लम्बा, दण्ड चार अंगुल, कंधा तीन अंगुल, चौड़ा चार अंगुल।

(३) इध्म तीन समिधायें-अँगूठे के सदृश मोटी और घुन कीट से रहित एक या तो वितस्ति लम्बी।

(४) दो उपमन्थनी मंथ को मथने को गूलर की ही बनी बारह-बारह अंगुल की हों।

सर्वौषध फलादि से मन्थ बनता है। सर्वौषध में सौ के लगभग औषधियाँ हैं। उनमें दश मुख्य हैं। वे दश तो होनी ही चाहिये और जितनी भी औषधियाँ तथा ऋतु फल मिल जायँ, उन्हें पीसकर उनका पिंड बनाना चाहिये और उस पिंड में उतना ही मधु घृत से युक्त गौ का दही मिलाना चाहिये। वे मुख्य दश औषधि कौन-कौन-सी हैं ?

(१) व्रीहि—साठी के धान।
(२) यव—जौ तो प्रसिद्ध ही हैं।
(३) तिल—जिनसे तैल निकलता है, काले प्रशस्त हैं।
(४) माष—उड़द, जिनकी दाल बनती है।
(५) अणु—सावाँ के धान्य।
(६) प्रियंगु—कांगुनी, जिसे कँगुनी या टँगुनी भी कहते हैं।
(७) गोधूम—गेहूँ।
(८) मसूर—मसूड़ की दाल बनती है।

(९) खल्व—निष्पाव—अथवा भटवांस।

(१०) खलकुल—कुरथी या खुरती।

ये दश ग्राम्य अन्न महौषध कहे गये हैं। ये तो मन्थ की सामग्री हैं और हवन के लिये गौ का घृत पृथक् रखे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने ऐश्वर्य, धन, समृद्धि को बढ़ाने वाले श्रीमन्थ और उसके बनाने की विधि का वर्णन किया। यह तो धनार्थी को धन प्राप्त करने का उपाय है, जिनको पुत्रैषणा है, उन्हें उत्तम से उत्तम धर्मात्मा तेजस्वी पुत्र कैसे प्राप्त हो, इसकी वैदिक विधि आगे बतायी जायगी। मुनियो! आप लोग तो बाल ब्रह्मचारी हैं, आप तो सभी संसारी इच्छाओं से रहित हैं, किन्तु सभी पुरुषों को पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणायें होती हैं। अतः आगे सद्गुण सम्पन्न सुन्दर सुघड़ सदाचारी पुत्र किस विधि से किन किन मन्त्रों के कहाँ कहाँ प्रयोग करने पर प्राप्त होता है उसकी साङ्गोपाङ्ग विधि जैसे भगवती श्रुति ने बतायी है, उसे मैं आगे यथामति कहूँगा। कुछ लोग इसे अश्लील प्रकरण भी कह सकते हैं, किन्तु यह उनकी मूर्खता ही होगी।"

छप्पय

(१)

घृत आहुति द्वै देइ सात तैं हवन करै पुनि।
तेरह आहुति देइ शेषहुत घृत मन्थहिं मुनि।
आहुति तैं घृत बचै मन्थ में डारत जावै।
करि मन्त्रहिं तैं परस मन्त्र तैं ताहि उठावै॥
चारि भाग ताके करै, मन्त्रनि तैं कम कम मखै।
विधिवत् खावै सबहिं कूं, शेष नहीं तनिकहुँ रखै॥

(२)

खाइ धोइ के पीइ हाथ मुख विधिवत धोवै।
पच्छिम वदी भाग पूर्व मुख करि पुनि सोवै॥
प्रातकाल उठि उपस्थान आदित्य करै वर।
ताहि मार्ग तैं लौटि बैठि पच्छिम इस्तुति करि॥
मन्थ वंश को पाठ करि, ऋचा पष्ठ श्रद्धा पढ़ै।
पावै धन ऐश्वर्य बहु, सब पुरुषनि आगे बढ़ै॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में
तीसरा मन्थ ब्राह्मण समाप्त।

सद्गुण सन्तान के लिये पुत्र मन्थ की विधि

[२६७]

ऐषां वै भूताना पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥*

(बृ० उ० ६ अ० ४ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

सुखद सौम्य सन्तान होइ विधि वेद बतावै ।
भूतनि सब भू सार सार जल तिहि कहलावै ॥
ओषधि जल को सार सार तिहि पुष्प कहाये ।
पुष्प सार फल तिनहिं सार ये पुरुष बताये ॥
पुरुष सार ही वीर्य है, तिहि पत्नी आधार है ।
मैथुन प्राणिनि परमप्रिय, किन्तु परम तिहि सार है ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने प्राणिमात्र के हृदय में पुत्रैषणा पैदा करके सृष्टि के प्रवाह को स्वतः ही धारा प्रवाह चलाने का क्रम बाँध

---

* प्रसिद्ध बात है, कि सभी भूतों का सार पृथ्वी है । पृथ्वी का सार जल है, जल का सार ओषधियाँ हैं । ओषधियों का सार पुष्प हैं । पुष्पों का सार फल हैं । फलों का सार पुरुष है, पुरुष का सार वीर्य है ।

दिया है। यदि माता पिता के हृदय में सन्तान उत्पन्न करने की स्वाभाविकी रुचि, तथा उसके पालन-पोषण की अभिलाषा न होती, तो ससार मे आज एक भी प्राणी दिखायी न देता। सन्तान कैसी भी क्यों न हो माता उसका पालन करती ही है। सन्तान होती है मिथुन होने से। मिथुन होने की ब्रह्माजी ने नर नारियों की स्वाभाविकी प्रवृत्ति बना दी है। और लोग कहते हैं मिथुन होना ससार के सभी सुखों से सरस है, सुखद है तथा श्रेष्ठ है। इसे सिखाना नहीं पड़ता, प्राणियों की इसमें सहज ही प्रवृत्ति है। पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर सभी प्रकार के प्राणी मिथुन धर्म से ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य में और पशुओं में अन्तर इतना ही है, कि मनुष्य धर्मपूर्वक, संयम नियम पूर्वक, वेद शास्त्र की विधि से मैथुन करके सुयोग्य सन्तानों को उत्पन्न कर सकता है, जो स्वर्ग तथा मोक्ष तक प्राप्त कर सकते हैं और पशु, पक्षी तथा अज्ञानी स्वभाववश–प्राकृत प्रवृत्ति के अनुसार करते हैं जो चोरासी के चक्कर में घूमते रहते हैं।

भगवती श्रुति माता के समान सभी विषय की शिक्षा देती है। धर्म कैसे करना चाहिये अर्थोपार्जन कैसे करना चाहिये, मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त क्या-क्या करना चाहिये तथा सन्तानोत्पत्ति वेद शास्त्रानुसार कैसे करनी चाहिये। कुछ अज्ञानी लोग कहते हैं कि मैथुनादि कर्मों में तो प्राणियों की स्वाभाविकी रुचि है, फिर ऐसे अश्लील प्रसंग का उपनिषदों में वर्णन क्यों किया गया? ससार में अच्छी बुरी वस्तु तो प्राणियों के व्यवहार पर निर्भर है। घृत अमृत के सदृश है, उसी को तांबे के पात्र में रखकर खायँ, ज्वराक्रांत खाय, परिमाण से अधिक मात्रा में खाय तो विष का काम करता है। इसके विपरीत, अनेक संखिया आदि विषैली औषधियाँ हैं जिन्हें शोधकर युक्ति से

स्वार्थ तो अमृत का काम करती हैं। मौन, ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, तपस्या, शास्त्र पठन, स्वधर्म पालन, शास्त्रों की व्याख्या, एकान्तवास और समाधि ये साधन मुक्ति को देने वाले हैं, किन्तु अजितेन्द्रिय पुरुष इन्हें अपनी आजीविका का साधन बना लेते हैं और दम्भी लोग इनका आश्रय लेकर नाना प्रकार के पाप करते हैं। इसी प्रकार मैथुन का अधर्म पूर्वक, स्वेच्छाचार के रूप में सेवन करने से नरक में जाते हैं या संसार की नाना योनियों में बार-बार जन्मते और मरते रहते हैं। जो इसका सेवन धर्म पूर्वक, संयम सदाचार के साथ करते हैं वे स्वर्ग तथा मोक्ष तक को प्राप्त कर सकते हैं। अतः कृपामयी भगवती श्रुति स्वाभाविकी प्रवृत्ति को नियमन करने के निमित्त श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति हेतु इस पुत्रैषणा पूरक प्रकरण को प्रारम्भ करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धन की इच्छा करने वालों के निमित्त शास्त्रीय विधि से श्रीमन्थकर्म की विधि का वर्णन तो हो चुका, अब सुयोग्य श्रेष्ठ विद्वान् सन्तान की इच्छा वाले पुरुषों के लिये 'पुत्रमन्थ' कर्म की विधि बताते हैं। इस पुत्रमन्थ कर्म में श्रीमन्थकर्म कर्ता प्राणदर्शी वेदज्ञ विद्वान् पुरुष का ही अधिकार है।' अतः इस कर्म को सावधानी से संयमपूर्वक शास्त्रों की आज्ञानुसार ही करना चाहिये।

वेदों का अध्ययन करने के अनन्तर ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। उसे समानशीला, सदाचारिणी, सद्कुलोद्भवा अपने वर्ण की सुन्दरी कन्या के साथ विवाह करना चाहिये। शास्त्रीय विधि से उसे अपनी धर्मपत्नी बना लेना चाहिये। उसी अपनी पाणिग्रहीता, धर्मपूर्वक अपनायी धर्मपत्नी में इस पुत्रमन्थ क्रिया को करना चाहिये।

मनुष्य का सबसे बहुमूल्य सार शुक्र है। मनुष्य

स्वभावतः अविचारशील होते हैं, इस बहुमूल्य वस्तु का अप्राकृतिक और अस्वाभाविक रूप से दुरुपयोग न करें, इसी निमित्त गुरु का उपदेश प्रतिष्ठा के लिये उन्होंने नारी की सृष्टि की और विवाहादि धार्मिक संस्कारों का विधान किया। और नर-नारियों के मिथुन होने का विधान किया। पारस्परिक अधोभाग सेवन की प्रेरणा उत्पन्न की। प्रजनेन्द्रिय का शास्त्रीय विधि से व्यवहार करना चाहिये। प्रजापति ने स्वयं अभ्यसृजन कर्म किया।

संसार में भाव की ही प्रधानता होती है। तपस्या, अध्ययन, वेदशास्त्र विधिपालन, तथा बलपूर्वक दूसरों से धन ग्रहण करना ये चारों कार्य पाप नहीं हैं, किन्तु दूषित भावना से किये जायँ, तो ये पाप हो सकते हैं। मिथुन होकर प्रजनन कर्म कोई पाप नहीं है, यदि शास्त्रीय विधि से यह कर्म किया जाय तो वाजपेय यज्ञ के सदृश फल देने वाला होता है। वाजपेय यज्ञ में (१) यज्ञवेदी, (२) कुशायें, (३) प्रज्वलित अग्नि, (४) अधिषवण इनकी प्रधानता होती है, इनकी उपमा इस कर्म में भगवती श्रुति ने क्रमशः १—उपस्थ, रोम, योनिमध्य भाग और दोनों मुष्कों से दी है। जो विद्वान् पुरुष वाजपेय यज्ञ की इस तुलना को जानकर इस पुण्यप्रद सुखद पुत्रमन्थ कर्म में सम्यक् प्रकार से, शास्त्रीय विधि से, वेद मन्त्रों द्वारा प्रवृत्त होता है। तो जो लोक वाजपेय यज्ञ करने वाले यजमान को प्राप्त होते हैं, वे ही लोक इस वेदोक्त विधि से पुत्रमन्थ करने वाले पुरुष को प्राप्त होते हैं। अतः इस विधि से पुरुष को योषिताधोभाग की उपासना करनी चाहिये। इस विधि से कर्म करने पर पुरुष को स्त्री का भी पुण्य प्राप्त होता है, इसके विपरीत जो अशास्त्रीय विधि से अधर्म पूर्वक बलात् इस कर्म में प्रवृत्त होता है उस अज्ञानी पुरुष के पुण्य कर्मों को वे स्त्रियाँ अपहरण कर लेती हैं।

इस विषय में परम विद्वान् महर्षि अरुण के पुत्र आरुणि उद्दालक, मुद्गल पुत्र महर्षि नाक तथा कुमार हारीत महर्षि–इन तीनों विद्वान् ऋषियों ने इस पुत्रमन्थ कर्म को वाजपेय यज्ञ के सदृश महत्त्व सम्पन्न युक्त कर्म बताया। उनका कहना है कि जो निरन्द्रिय वीर्य रहित, सुकृतहीन मैथुन विज्ञान शून्य द्विजबन्धु पुरुष इस कर्म को वाजपेय यज्ञ के सदृश नहीं जानते, फिर भी इस कर्म में आसक्त होते हैं, वे इस लोक से बिना प्रयोजन सिद्ध किये ही चले जाते हैं "

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस पुत्रमन्थ कर्म को वाजपेय यज्ञ के सदृश पुण्यप्रद बताकर अब वीर्य स्खलन के प्रायश्चित्त को बताते हैं।"

ऋतुकाल की प्रतीक्षा में दिवस में या रात्रि में किसी भी प्रकार न्यून वा अधिक शुक्रस्खलन हो जाय तो उसे कर से स्पर्श करके 'यन्मेऽद्यरेतः' ❀ इत्यादि मन्त्र से अभिमन्त्रित करे। इस मन्त्र का भावार्थ यह है, कि आज जो मेरा यह शुक्र स्खलित होकर पृथ्वी, ओषधियों अथवा जल में गिर गया है उसे मैं पुनः ग्रहण करता हूँ। उसे अनामिका अंगुष्ठ से उठाकर दोनों भौंहों के मध्य में अथवा दोनों स्तनों के मध्य में हृदय में मलते समय 'पुनर्मामेत्विन्द्रियं, इत्यादि मन्त्र को बार बार पढ़ता जाय और फिर तुरन्त स्नान करले। इस मन्त्र का भाव यह है "कि मुझे पुनः वीर्य तेज तथा भगादि ऐश्वर्य की प्राप्ति हो। अग्नि देव मुझे पुनः

❀ यन्मेऽद्यरेत. पृथिवी मस्का-मोद्यदोषधीरप्यसरद्यदप । इदमह तद्रेत आ ददे।

* स्वप्नदोष हारक मन्त्र—"पुनर्मामेत्विन्द्रिय पुनस्तेज पुनर्भग । पुनरग्निर्विष्ण्या यथा स्थान कल्पन्ताम्।"

प्राप्त हो और नियत स्थान वाले देवगण पुनः मेरे शरीर में उस वीर्य को यथा स्थान में स्थापित कर दें।"

जल मे अपनी छाया देखना भी दोष बताया गया है, यदि किसी कारण से जल मे अपनी छाया दीख जाय तो 'मयितेज'[1] इत्यादि मन्त्र का जप करे। इससे जल में आत्मप्रतिबिम्ब दर्शन दोष छूट जाता है। इस मन्त्र का भावार्थ यह है—"मुझको तेज की, इन्द्रियों में शक्ति, यश, धन तथा पुण्य की प्राप्ति हो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रसङ्गवश दोषों की निवृत्ति के निमित्त प्रायश्चित्त बताकर अब प्राकृत विषय पर आते हैं। पुत्रमन्थ के इच्छुक पुरुष को प्रथम आमन्त्रण कर्म करना चाहिये। आमंत्रण मंत्र जो 'इन्द्रियेण ते'[2] इत्यादि है उसका भाव यह है कि 'मैं यशरूप इन्द्रिय द्वारा तुझमें स्थापन करता हूँ।' आमन्त्रण रजोधर्म से विशुद्ध हुई भार्या का ही करे। स्त्रियों में जो रजोधर्म निवृत्त हो चुकी है वह गृहस्थी पुरुष की उत्कृष्ट शोभा है—श्री है।

यहाँ प्रसङ्ग वश एक बात और बतायी गयी है। यदि लज्जा अथवा किसी अन्य कारण वश वह आमन्त्रण अस्वीकृत करे, तो प्रथम उसे द्रव्यादि से प्रलोभित करे, पुनः दण्ड द्वारा, विविध भाँति की युक्तियों द्वारा स्वीकृत करावे। आवश्यक होने पर बलात्कार का भी प्रयोग करे। हठवश उपमन्त्रण अस्वीकृत करने पर उसे अभिशाप दे दे। अभिशाप 'इन्द्रियेणते'[3] इत्यादि

---

१. आत्म प्रतिबिम्ब दर्शन दोष निवारक मन्त्र—मयि, तेज इन्द्रिय यशो द्रविण सुकृतम्।

२. "इन्द्रियेण ते यशसायश आददामि।"

३. "इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे।"

मन्त्र का आशय यह है कि "मैं इन्द्रियों द्वारा तेरे यश को लिये लेता हूँ।" ऐसे शाप से वह अयशस्विनी—वन्ध्या दुर्भगा—हो जाती है।

आमन्त्रण की स्वीकृति पर यश की स्थापना के कारण दम्पति अवश्य ही सन्तानवान् होते हैं। अतः आमन्त्रण स्वीकार होने पर अभिमृश्य कर्म करे। आनन सम्मिलन पूर्वक उभयेन्द्रियोन्द्रियै की करण करके इस 'अङ्गदङ्गात्संभवसि'* इत्यादि मन्त्र का जप करे। मंत्र का भाव यह है—"हे कामदेव! तुम मेरे शरीर के समस्त अङ्गों से प्रकट हो रहे हो। तुम पवित्र संकल्प से हृदय में प्रकट होते हो, तुम मेरे अङ्गों के पवित्र कसाय रस हो। तुम इस मेरी धर्मपत्नी को विषविद्धशर सदृश मदमाती बना दो।" इस मन्त्र के प्रभाव से वह हृदय से पुरुष के प्रति अनुरक्तवती बन जायगी।

अब प्रसङ्गानुसार भगवती श्रुति तीन बातों को और बतलाकर पुनः पुत्र मन्थ प्रकरण को बतावेगी। पहिली तो यह कि कोई परोपकारादि कर्म में निरत सदाचारी सन्तान न चाहे, तो उसे मन्त्र पूर्वक गर्भनिरोध कर देना चाहिये। दूसरी बात यह कि सन्तान चाहे, तो उसे किस मन्त्र से गर्भाधान करना चाहिये। तीसरी बात यह है, कि निज पत्नी से किसी प्रबल जार से सम्बन्ध हो जाय तो उसे अभिचार मन्त्रों द्वारा किस प्रकार अपने पथ से पृथक् कर देना चाहिये। इन तीनों में से सर्व प्रथम पहिली बात को बताते हैं—पूर्वोक्त समस्त क्रियाओं को करते हुए श्वास को पूर्ण रूप से खींचकर 'इन्द्रियेण'* मन्त्र द्वारा उसके रेतस् को ग्रहण कर ले।

* अङ्गादङ्गात्स भवति हृदयादधि जायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि विषविद्धमिवभादयेमामम मयि।

* "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे।"

पुनः श्वास को छोड़ दे तो ऐसा करने से फिर वह कभी भी गर्भवती न होगी।

दूसरी बात जो गर्भ धारण करना चाहे, उसे पूर्वोक्त समस्त क्रियायें करके पहिले समस्त श्वास का परित्याग कर दे, फिर 'इन्द्रियेण ते'* इत्यादि मंत्र को पढ़ता हुआ छोड़ी हुई श्वाँस को फिर ग्रहण करे। ऐसा करने से वह अवश्य गर्भवती होगी।

तीसरी बात जार को शाप देने वाली अभिचार क्रिया है, कि वेदज्ञ श्रोत्रिय की पत्नी से किसी बलवान् जार से सम्बन्ध हो जाय, तो उस द्वेषी उपपति के लिये यह उपाय करे। प्रथम मिट्टी के किसी कच्चे पात्र में पञ्च भू संस्कार पूर्वक अग्नि की स्थापना करे। विपरीत कर्म से अर्थात् सरकंडों के कुशों को दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र बिछाकर, उनकी बाणाकार सीकों को घृत में भिगोकर, उनके अग्र भाग को विपरीत करके उस मिट्टी के पात्र में स्थापित अग्नि मे चार आहुतियाँ इन मन्त्रों से दे। +

इस प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जिस जार कर्म में प्रवृत्त दुराचारी पुरुष को शाप दे देता है, वह दुष्ट निश्चय ही इन्द्रियों से रहित पुण्य हीन होकर इस लोक से प्रस्थान कर जाता है।

---

* "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि।"

+ १ प्रथम आहुति का मन्त्र—'मम समिद्धेऽहोषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति।' फट्।

२. दूसरी आहुति का मन्त्र—'मम समिद्धेऽहोषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति।' फट्।

३ तीसरी आहुति—'मम समिद्धेऽहोषीः पुत्र पशूंस्त आददेऽसाविति।' फट्।

४. चौथी आहुति—'मम समिद्धेऽहोषी रिष्टा सुकृते त आददेऽसाविति।' फट्।

इसलिये श्रुति सबको सावधान करती हुई आज्ञा देती है, कि श्रोत्रिय वेदज्ञ ब्राह्मण की धर्मपत्नी के साथ कभी भूलकर भी अनुचित सम्बन्ध न करे। क्योंकि जो वेदज्ञ है और अभिचार कर्म का भी विशेषज्ञ है, वह जार पुरुष का शत्रु बन जाता है, और उसके द्वारा व्यभिचारी जार पुरुष का अनिष्ट हो जाता है।

प्रसङ्ग वश इन तीनों बातों को बताकर ऋतुस्नाता के नियमों को बताते हैं, और गर्भाधान के पूर्व क्या भोजन करना चाहिये इसके भी नियमों को बताते हैं जिस स्त्री को उचित समय में, योग्य अवस्था में ऋतुधर्म होता है, वह समस्त स्त्रियों में श्रेष्ठ है। रजोदर्शन के पश्चात् तीन दिनों तक उसे कांस के पात्र में भोजन न करना चाहिये। लोहे आदि के वर्तन में भोजन करे। वृषल वृषली का स्पर्श न करना चाहिये। चौथे दिन शुद्ध होकर स्नान करके सुन्दर स्वच्छ वस्त्रों को धारण करके चरु के निमित्त अपने ही हाथों से धान कूटने चाहिये। धान कूटकर भिन्न-भिन्न इच्छा वाले दम्पत्ति को भिन्न भिन्न प्रकार के चरु (खीर) को बनाना चाहिये।

जिस दम्पत्ति की इच्छा हो, कि मेरा पुत्र गौर वर्ण का हो, एक वेद का वक्ता हो, तथा पूर्ण आयु–सौ वर्षों तक जीवित रहने वाला हो, तो दूध चावल की खीर बनवाकर घृत के सहित दोनों को ही उसी का भोजन करना चाहिये। ऐसे शुद्ध सात्त्विक आहार करके जो गर्भाधान कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे अवश्य ही विद्वान् तथा शतायु पुत्र को जन्म देते हैं।

जिस दम्पत्ति का इच्छा हो, कि हमारा पुत्र कपिल, पिङ्गल–वानर के रंग के सदृश रंग वाला, दो वेदों का ज्ञाता तथा - वाला हो, वो भात बनवाकर दही के साथ उस . .

दोनों को खाना चाहिये, तब वे अवश्य ही ऐसे पुत्र को जन्म देने में समर्थ होंगे।

जिनकी इच्छा हो कि हमारा पुत्र श्याम वर्ण का, बड़ी बड़ी लाल लाल आँखों वाला, तीनों वेदों का ज्ञाता, सौ वर्ष तक जीवित रहने वाला हो, तो उदौदन-जल में बने भात-को केवल घृत मिलाकर भोजन करना चाहिये, ऐसे करने से वे अवश्य ही ऐसा मन चाहा पुत्र पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! श्रुति लड़कों की ही युक्ति बताती है, किसी की इच्छा लड़की पैदा करने की हो, तो उसे गर्भाधान के पूर्व क्या भोजन करना चाहिये?"

सूतजी बोले—"भगवन्! श्रुति ने लड़की के लिये भी बताया है, जिसकी इच्छा यह है कि मेरी लड़की लौकिक विषय की पूर्ण पंडिता हो और वह पूर्ण आयु शत वर्ष तक जीने वाली हो, तो उसे अपनी पत्नी से तिल और चावल की खिचड़ी बनवाकर, उसमें गोघृत मिलाकर दोनों को भोजन करना चाहिये। इस तिलौदन के भोजन से अवश्य ही लौकिक विषय में निपुण, शत वर्ष आयु वाली कन्या को उत्पन्न करने में वे समर्थ होंगे।"

जिनकी इच्छा हो, मेरा पुत्र पंडित हो, शास्त्रार्थ में सबको जीतने वाला, वेदवादियों की समिति में जाने वाला, श्रुत मधुर वाणी बोलने वाला हो, सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करने वाला तथा सौ वर्षों तक जीने वाला हो तो मांसौदन को अपनी पत्नी से बनवाकर उड़द अथवा ऋषभ के गूदे के साथ घृत मिलाकर दोनों को भोजन करना चाहिये। इससे वे दोनों जैसा पुत्र चाहते हैं, वैसा ही पुत्र होगा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जो मांस नहीं खाते उनके लिये मांसौदन का अर्थ क्या होगा?"

सूतजी ने कहा—"वहाँ वे मांस शब्द का अर्थ फलों का गूदा करते हैं, और उक्षन्, ऋषभ का अर्थ इसी नाम की दो आयुर्वेद की ओषधि लगाते हैं। माष शब्द का उड़द अर्थ है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! माष शब्द का अर्थ तो उड़द है ही, किन्तु यहाँ मांस में दन्ती सकार है। मांस शब्द का अर्थ उड़द कदापि नहीं हो सकता।"

सूतजी ने कहा—"ओषधि के गूदे को तो मांस कहते ही हैं। उड़द ओषधि ही तो है, उसका गूदा धोई हुई उड़द की दाल माष का मांस-गूदा-है। और उक्षन् और ऋषभ ये सोम तथा अष्टवर्ग की ओषधियाँ हैं।❀

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! उक्षन्, और ऋषभ इन दोनों को तो ओषधि मानते ही हैं, किन्तु मांस शब्द का तो प्रयोग सदा जीव धारी प्राणियों के मांस के ही अर्थ में होता है। फल के गूदे का व्यवहार तो कहीं भी मांस के अर्थ में नहीं होता ? यह तो धोंगामुस्ती है। अर्थ का अनर्थ करना है।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! फल के गूदे के अर्थ में मांस शब्द का प्रयोग अवश्य होता है। वैद्यक के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत में आम के फल के सम्बन्ध में स्पष्ट बताया है-आम का फल जब पक जाता है तो उसमें केशर, मांस, हड्डी, मज्जा पृथक् पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं।* यहाँ आम के गूदे को मांस, उसके ऊपर के रंग को केशर, गुठली को हड्डी और गुठली के ऊपर चिपके

❀ जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीर काकोली मुद्गमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीव नीयानि भवन्ति (चरक० स० सू० ४, १३)

* चूतफले पक्वे केशरमांसास्थिमज्जान पृथक्-पृथक् दृश्यन्ते। (सुश्रुत० स० अ० ३-३२)

रस को मज्जा कहा है। गाजर के भीतर जो कड़ी सी लकड़ी निकलती है, उसे व्यवहार में गाजर की हड्डी ही कहते हैं। बेल के छिलके को खोपड़ी और उसमें सटे हुए को मज्जा कहते हैं। जो मांसाहारी हैं, वे मांस का मांस ही अर्थ करें तो करते रहें। अपनी-अपनी भावना है।

इस प्रकार गर्भाधान के प्रथम पाक सामग्री और उसके बनाने की विधि बताकर अब हवन विधि बताते हैं। क्योंकि शास्त्रों में अपने निमित्त पाक बनाना पाप बताया है। जो देवता पितरादि को भोग लगाये बिना खा लेता है, वह पाप को ही खाता है। पाक को बनाकर उसका अग्नि में हवन करके हुतशेष अन्न को ही प्रसाद रूप में पाना चाहिये। कैसे हवन करे इसकी विधि बताते हैं—

गर्भाधान के दिन प्रातःकाल नित्य कर्मों से निवृत्त होकर स्थालीपाक विधि से बटलोही में चरु को बनवाना चाहिये। फिर घृत का संस्कार करके उस चरु की (१) अग्नि के लिये, (२) अनुमति के लिये, (३) सविता देवता के लिये तीन आहुतियाँ अग्नि में देनी चाहिये।*

इस प्रकार होम समाप्त करके चरु के शेष भाग को स्वयं भोजन करे। अवशिष्ट भाग को पत्नी को भोजन के निमित्त प्रदान करे। भोजनोपरान्त हाथ धोकर, जल का कलश भरकर पत्नी का उस कलश के जल से अभिषेचन-अभ्युक्षण-'उत्तिष्ठातो'❀

* पहिली आहुति का मन्त्र १— अग्नये स्वाहा।
दूसरी आहुति का मन्त्र २—अनुमतये स्वाहा।
तीसरी आहुति का मन्त्र ३—देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा।

❀ प्रक्षालन मन्त्र—उत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां ऊ जाया पत्यासह।

इत्यादि मंत्र से करे। इस मंत्र का भाव यह है कि—"हे विश्वावसो! उठो, दूसरी पति के साथ क्रीड़ा करती हुई जाया के समीप जाओ। मैं अपनी पत्नी को पुत्रोत्पत्ति के निमित्त प्राप्त करता हूँ।"

यह तो दिन कृत्य हो गया। रात्रि में धर्मपत्नी को बुलाकर 'अमोऽहमास्मि'[1] इत्यादि मंत्र से संरम्भ करे। इस मंत्र का भाव यह है—"मैं अमप्राण हूँ। तुम वाणी हो। तुम वाणी हो, मैं प्राण हूँ। मैं सामवेद हूँ, तुम ऋक्वेद हो। मैं आकाश हूँ, तुम पृथ्वी हो। आओ हम दोनों दम्पत्ति परस्पर में संरम्भ करें। पुरुषत्व विशिष्ट पुत्र की प्राप्ति के निमित्त हम दोनों परस्पर मिलकर गर्भाधान करें।"

तदनन्तर ऊरू विहापन कर्म 'विजिहीथां'[2] इत्यादि मंत्र से करे। इस मंत्र का भाव यह है—"हे आकाश और पृथ्वी तुम दोनों पृथक् होओ।"

तदनन्तर निष्ठापन कर्म आनन संमिलन पूर्वक करके 'विष्णुर्योनिं'[3] इत्यादि मंत्र से अनुलोम क्रम से केशादि पादांत समस्त अंग हाथ से तीन बार मार्जन करे। इस मार्जन मंत्र का भाव यह है—भगवान् विष्णु तुम्हारी प्रजनन स्थली को आधान के

---

१ संरम्भ मन्त्र—

"अमोऽहमास्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथ्वी त्वं तावेहि संरभावहै सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तये।"

२. ऊरू विहपन मन्त्र—"विजिहीथां द्यावापृथ्वी।"

३. मार्जन मन्त्र—विष्णुर्योनिं कल्पयन्तु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

समर्थ बनावें। त्वष्टा—आदित्य भगवान्—तुम्हारे रूप को दर्शनीय सुन्दर बनावें। प्रजापति देव तुम्हारे तन को आसिंचन करें। धाता—ब्रह्मदेव—तुम्हारे गर्भ को धारण पोषण करें। हे शिनिवालि! तुम गर्भ को धारण करो। हे बहुस्तुते प्रिये! तुम गर्भ को धारण करो। कमल का माला पहिने दोनों अश्विनीकुमार देव तुम्हारे गर्भ को भली-भाँति धारण पोषण करें।"

फिर 'हिरण्मयी'* इत्यादि मंत्र का उच्चारण करे। इस मंत्र का भाव यह है कि—"हिरण्मयी दो अरणियाँ थीं, अश्विनी कुमारों ने उन दोनों को मथकर जिसे प्रकट किया उस गर्भ को तुझमें दशवें मास में सन्तान होने के निमित्त स्थापित करते हैं। जैसे पृथ्वी अग्नि से गर्भवती है, जैसे आकाश इन्द्र से गर्भ धारण करता है, जैसे वायु दिशाओं का गर्भ है, वैसे इस गर्भ को तुझमें स्थापित करता हूँ। इस अमुक नाम वाली देवी में।"

सूतजी कह रहे हैं— "मुनियो! इस प्रकार यह गर्भाधान प्रकरण समाप्त हुआ। अब जब गर्भ शनैः-शनैः बढ़ते-बढ़ते दशम मास में प्रसव काल आ जाय और पत्नी को प्रसव पीड़ा होने लगे, तब प्रसवोन्मुखी भार्या को 'यथा वायु'* इत्यादि मंत्र को पढ़ते

---

* मन्त्र— हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थताश्विनौ।
त ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये॥
यथाग्निगर्भा पृथ्वी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।
वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि ते॥
'असौ—इति'

* यथा वायु पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वत।
एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा॥
इन्द्रस्याय व्रजः कृत्तः सार्गलः सपरिश्रयः।
तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावरा सह॥

हुए जल से उसका अभिषेचन करे। इस मन्त्र का भाव यह है कि—"जैसे वायु पुष्करिणी को चारों ओर से चंचल कर देते हैं, वैसे ही तुम्हारा गर्भ अपने स्थान से चलायमान हो जाय। गर्भ-वेष्टन-जरायु-के साथ बाहर निकल आवे। इन्द्र रूप जीवात्मा के लिये यह मार्ग अर्गला के सहित चारों ओर वेष्टन के सदृश बनाया है। हे इन्द्ररूप जीवात्मन! उस मार्ग से तू बाहर निकल आ। गर्भ के साथ मांस पेशी को भी बाहर निकालो। इस मन्त्र से अभिषेचन करने से गर्भ सुख पूर्वक बाहर हो जायगा सुख पूर्वक प्रसव कार्य सम्पन्न हो जायगा।

अब जब बालक उत्पन्न हो जाय, तब जातकर्म संस्कार करे। पहिले जाकर जहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसके समीप में ही वेदी बनाकर अग्नि की स्थापना करे। फिर पुत्र को गोदी में लिटा ले। कांसे के कमनीय कटोरे में दधि और घृत को भली-भाँति मिला ले। उस दही मिश्रित घृत का थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर 'अस्मिन्'* इत्यादि मंत्रों से अग्नि में होम करे। तीन आहुतियाँ दे। पहिली आहुति के मन्त्र का भाव यह है कि—"इस मेरे अपने गृह में ही उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त हुआ मैं सहस्रों पुरुषों को पालन पोषण करने वाला होऊँ। तथा इस मेरे अभी उत्पन्न हुए पुत्र के घर में सन्तति तथा पशुओं का उच्छेद न हो।

---

* जात कर्म की तीनों आहुतियों के तीन मन्त्र—

१. अस्मिन् सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे।
अस्योपमन्त्रा माच्छेत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च ॥ स्वाहा ॥

२. मयि प्राणांस्त्वयि मनसा जुहोमि ॥ स्वाहा ॥

३. यत् कर्मणा त्वगीरिच यद् वा न्यून मिहाकरम्।
अग्निष्टत्स्विष्टकृद् विद्वान् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु नः ॥ स्वाहा ॥

अर्थात् उपयोगी पशु तथा वंशानुक्रम से संतति सदा बढ़ती ही रहे।" स्वाहा ऐसा कहकर प्रथम आहुति दे।

अब दूसरी आहुति के मंत्र का भाव बताते हैं—"मैं, जो तेरा पिता हूँ उसमें जो प्राण हैं, उन प्राणों को, तुझ पुत्र में मन से अर्पण कर रहा हूँ, होम रहा हूँ।" स्वाहा कहकर दूसरी आहुति को दे।

अब तीसरी आहुति के मंत्र का भाव कहते हैं—"कर्मों के द्वारा जो मैंने अत्यधिक कर्म किये हैं। तथा इहलौकिक कर्मों में जो मैंने न्यूनाधिक कर्म किये हैं, उन कर्मों को स्विष्टकृत विद्वान् जो अग्निदेव हैं वे हमारे उन समस्त न्यूनाधिक कर्मों को स्विष्ट और सुहुत कर दें।" स्वाहा कहकर तीसरी आहुति दे।

जब हवन हो जाय, तब इस नवजात बालक के दक्षिण कर्ण के समीप अपने मुख को ले जाकर उसके कान में 'वाक् वाक्' इस प्रकार तीन बार जप करे। इसके अनन्तर हवन करने से बचे हुए दधि मिश्रित घृत में जो कि कांसे के कटोरे में रखा था, उसमें शहद मिलाकर उस दधि, घृत और शहद मिले पदार्थ को अव्यवहित सुवर्ण की चम्मच से चार व्याहृति युक्त मंत्रों से* चार बार थोड़ा थोड़ा बालक को चटावे। पहिले मन्त्र का भाव यह है—"मैं तुझमें भूलोक की स्थापना करता हूँ।" दूसरी—"मैं तुझमें भुवलोक की स्थापना करता हूँ।" तीसरी—मैं तुममें

---

* चार व्याहृतियों से चार चटाने के मन्त्र—

१. भूस्ते दधामि।

२. भुवस्ते दधामि।

३. स्वस्ते दधामि।

४. भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि। इति—

स्वर्गलोक की स्थापना करता हूँ।" चौथी—"मैं तुझमें भू, भुव और स्वर्गलोक सभी की स्थापना करता हूँ।"

जात कर्म संस्कार करने के अनन्तर नवजात शिशु का नाम करे। उसके कान में कहे—"तू वेद है।" ऐसा नाम करे। क्योंकि बालक का वेद यह ही उसका अत्यन्त गोपनीय नाम है। नक्षत्र के अनुसार नामकरण संस्कार तो फिर दशवें दिन अथवा एक मास के पश्चात् होगा।

गुह्य नामकरण के पश्चात् बच्चे को स्तन पान करावे। अपनी गोद से बालक को उठाकर माता की गोद में देकर 'इलासि'* इत्यादि मंत्र से बच्चे को स्तन पिलाने को माता से कहे और सरस्वती से प्रार्थना करे। मंत्र का भाव यह है—"हे सरस्वति! तुम्हारा यह जो पयोधर है, दुग्ध का भंडार है, यह जो पयोधर है, वह पोषण का भंडार है, यह रत्नों की खान है। वसुविद् है, उदार दानी है। इसी स्तन से समस्त वरणीय पदार्थों को तुम पोषण करती हो। तुम इसके जीवन धारणार्थ मेरी भार्या में प्रविष्ट कर दो।"

माता जब पुत्र को स्तन पान कराने लगे, तब पिता पवित्र जल लेकर उस जल से 'इलासि'* इत्यादि मंत्र को पढ़ता हुआ

---

* स्तनपान का मन्त्र—

यस्ते स्तनः शशयो यो मयो भूर्योरत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेकः। इति।

* इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्।
सा त्वं वीरवती भव यास्मान् वीरवतीऽकर दिति॥
तं वा एतमाहुरति पिता बताभूरति पितामहो बताभूः।
परमा बत काष्ठा प्रापच्छिवा यशसाब्रह्मवर्चसेन
य एवं विदो ब्राह्मस्य पुत्रो जायते॥ इति।

उस अपनी धर्मपत्नी को अभिमन्त्रित करे। मन्त्र का भाव यह है—"हे देवि! तुम इलाहो मैत्रावरुणी–अरुन्धती–हो। हे वीरे! तुमने वीर ही पुत्र को उत्पन्न किया है। तुम वीरवती होओ। जिस तुमने हमें वीर पुत्र का पिता बनाया है, इस पुत्र को देखकर लोग कहते हैं "हे पुत्र तू गुणों में अपने पिता से भी बढ़कर, उन्हें अतिक्रमण करके अत्यंत गुणशाली हो। यही नहीं तू अपने पितामह से भी गुणों में श्रेष्ठ हो। सम्पत्ति से, यश से, ब्रह्मचर्य से परमकाष्ठा को पहुँचे।"

इस प्रकार जो विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण के पुत्र उत्पन्न होता है, उस पुत्र के द्वारा पिता भी स्तुत्य हुआ करता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह पुत्रमन्थ कर्म समाप्त हुआ। ब्राह्मणो! आप भी इससे अनभिज्ञ हैं और मैं भी अल्पमति अनभिज्ञ हूँ,अतः इसके कथन में जो भी त्रुटि रह गयी हो, उसे भगवती श्रुति अल्पज्ञ समझकर क्षमा प्रदान करे। अब आगे इस समस्त प्रवचन का वंश बताकर यह बृहदारण्यक उपनिषद् समाप्त हो जायगी। यह जो पीछे कही हुई विद्या किस परम्परा से आई है, उसका वर्णन किया जायगा। यह शिष्टों का आचार है, जिनसे ज्ञान की प्राप्ति हो उनके नाम का बार बार उच्चारण करना चाहिये. जैसे बार-बार एक ही मंगलाचरण के मन्त्रों को नित्य कहते हैं। इसमें पुनरावृत्ति दोष नहीं। आचार्यों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन ही इसका अभिप्राय है।"

छप्पय

(१)

शुक्र व्यरथ नहिँ जाइ प्रजापति नारि बनायी ।
करै उपासन अघो-भाग जाया-सुखदायी ॥
बाजपेय मख सरिस घरम मैथुन बतलायौ ।
आरुणि अरु मौद्गल्य आदि ऋषि तिहि समुझायौ ॥
दुष्ट भाव अनुकूल नहिँ, होवै पति जब नारि तब ।
यश ताको मन्त्रनि हरै, बनि बन्ध्या रहि उमर सब ॥

(२)

चाहै सन्तति नहीं निरोधहु करै गरभ को ।
सन्तति चाहै पुरुष मन्त्र पढ़ि छोड़ि स्वौंभ को ॥
लगि जावै यदि जार करै अभिचार मारि तिहि ।
तातैं कबहूँ भूलि नारि श्रोत्रिय सेवै नहिँ ॥
शुक्र वेदविद् आयुशत, सुत चाहै घृत खीरि भखि ।
कपिल द्विवेदी आयुशत, सुत हित दध्योदनहि भखि ॥

(३)

होइ पंडिता पुत्रि आयुशत खाइ तिलौदन ।
चतुर्वेद विद कृष्ण बरन सुत जयी तपोधन ॥
माषौदन की खिचरि ताहि घृत सहित पकावै ।
उच्चा ऋषभ मिलाइ महौषधि के सँग खावै ॥
थाली पाक बनाइकैं, तीनि आहुती प्रथम दै ।
शेष चरुहिँ भोजन करै, देइ पत्नि कूँ जो बचै ॥

(४)

पुनि तिहि निकट बुलाइ, श्वासन निरिहिं सुआवै ।
ऊरू उभय हटाइ उभय आननहिं मिलावै ॥
विधिवत गरभाधान करै मन्त्रनिकूं पढ़िकें ।
पुनि जब होवै प्रसव नीर तैं प्रोक्षण करिकें ॥
होइ पुत्र तब जाइकें, जात करम विधिवत करै ।
दधि, मधु, घृतहिं चटाइकें, कान वाग वागहिं भरै ॥

(५)

फेरि गुह्य यह वेद नाम करि गोद उठावै ।
दै माता की गाद पयोधर जननि पियावै ॥
इस्तुति भगवति करै दूध जननी बहु होवै ।
पालन पोषन करै रहै सुत सुखतैं सोवै ॥
पिता पितामह तैं अधिक, होइ यशस्वी वीर सुत ।
यों विधिवत करि मन्त्र सुत, होइ ब्रह्मविद योगयुत ॥

—o—

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में
पुत्रमथ नामक पञ्चम ब्राह्मण समाप्त ।

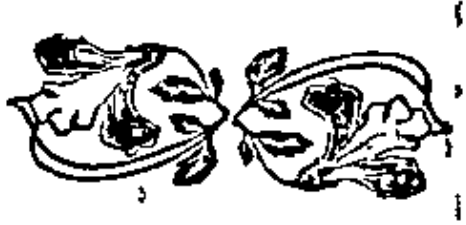

(२६८)

पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्..... ॥*

(बृ० उ० ६ अ० ५ ब्रा० १...मन्त्रांश)

छप्पय

बृहदारण्यक बृहद कही उपनिषद गुह्यतम।
जो कछु त्रुटि रहि गयी करैं विनती मिलि हमतुम॥
श्रुति भगवति सो क्षमा करै अपराध हमारो।
प्रवचन सबको वंश अन्त में मिलि उच्चारो॥
पौतिमास सुत तें प्रथम, अन्त ब्रह्म में हो रह्यो।
यों समस्त ही वंश ऋषि, ग्रन्थ अन्त में श्रुति कह्यो॥

ग्रन्थ की समाप्ति पर गुरु परम्परा का स्मरण करने की प्राचीन प्रणाली है। जो ज्ञान सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त होता है, वह प्रमाणिक माना जाता है। वंश दो प्रकार का होता है, नाद-वंश और बिन्दुवंश। प्राचीन काल में प्रायः पिता ही पुत्र को उपदेश देते थे। अतः नाद और बिन्दु दोनों ही वंश सम्मिलित होते थे। कहीं कहीं पिता अपने पुत्र को दूसरे आचार्य के पास शिक्षा के लिये भेजा करते थे, वहाँ नादवंश और बिन्दुवंश पृथक् पृथक् हो जाते थे। विशेषता नादवंश की है। यह ब्रह्म-विद्या किस आचार्य से किस शिष्य ने प्राप्त की।

---

* अब अन्त में समस्त प्रवचन के वंश का वर्णन किया जाता है। पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से यह विद्या प्राप्त की। कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से प्राप्त की।.....

इस समय प्रकरण पुत्रमन्थ का चल रहा था। पुत्र प्राप्ति में माता को ही प्रधानता दी गयी है और इस प्रकरण में सर्वत्र माता को ही प्रशंसा की गयी है, अतः यहाँ आचार्य परम्परा में माता के ही साथ आचार्य परम्परा का वर्णन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बृहदारण्यक उपनिषद् तो समाप्त हो गयी। अब इस बृहदारण्यक में कही हुई समस्त विद्या को किस आचार्य ने किससे कहा, इस प्रकरण को शिष्टाचार के अनुसार कहकर इस उपनिषद् को पूर्ण करेंगे। माता के ही नाम से आचार्य का उल्लेख किया गया है।

इस आत्मविद्या को किसने किस आचार्य से प्राप्त किया इसे बताते हैं। १–पौतिमासी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, २–कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, २–इन्होंने भारद्वाजी पुत्र से, ४–भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, ५–इन्होंने औपस्वस्थी पुत्र से, ६–औपस्वस्थी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, ७–इन्होंने कात्यायनी पुत्र से, ८–कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से, ९–कौशिकी पुत्र ने आलम्बी से, १०–इन्होंने वैयाघ्रपदी पुत्र से, ११–वैयाघ्रपदी पुत्र ने काण्वी पुत्र से, १२–तथा कपी पुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया।

१३–कपी पुत्र ने आत्रेयी पुत्र से, १४–आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, १५–इन्होंने भारद्वाजी पुत्र से, १६–भारद्वाजी पुत्र ने भारद्वाजी ही पुत्र से, १७–इन्होंने पाराशरी पुत्र से, १८–पाराशरी पुत्र ने वात्सी पुत्र से, १९–इन्होंने पाराशरी पुत्र से, २०–पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से, २१–इन्होंने वार्कारुणी पुत्र से ही, २२–वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से, २३–इन्होंने शौङ्गी पुत्र से, २४–शौङ्गी पुत्र ने सांकृती पुत्र से, २५–इन्होंने आलम्बायनी पुत्र से, २६–आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी पुत्र

से, २७-इन्होंने जायन्ती पुत्र से, २८-जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, २९-माण्डूकायनी पुत्र ने शांडिली पुत्र से, ३०-इन्होंने राथीतरी पुत्र से, ३१-राथीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र से, ३२-इन्होंने क्रौञ्चिकी पुत्र से, ३३-क्रौञ्चिकी पुत्र ने वैदभृती पुत्र से, ३४-इन्होंने प्राचीनयोगी पुत्र से, ३५-प्राचीनयोगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, ३६-इन्होंने प्राश्नी पुत्र से, ३७-प्राश्नी पुत्र ने आसुरायण से, ३८ इन्होंने आसुरि से, ३९-आसुरि ने याज्ञवल्क्य से, ४०-इन्होंने उद्दालक से, ४१-उद्दालक ने अरुण से, ४२-अरुण ने उपवेशि से, ४३-इन्होंने कुश्रि से, ४४-कुश्रि ने वाजश्रवा से, ४५-वाजश्रवा ने जिह्वावान् बाध्योग से, ४६-जिह्वावान बाध्योग ने असितवार्पगण से, ४७-असितवार्पगण ने हरितकश्यप से, ४८-हरितकश्यप ने शिल्पकश्यप से, ४९-शिल्पकश्यप ने कश्यपनैध्रुवि से, ५०-कश्यपनैध्रुवि ने वाक् से, ५१-वाक् ने अम्भिण्य से, ५२-अम्भिण्य ने आदित्य से, ५३-आदित्य से प्राप्त हुई ये शुक्ल यजुर्वेद की श्रुतियाँ वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा ससार में प्रसिद्ध हुईं।

साञ्जीवी पुत्र पर्यन्त तो यह एक ही वश है। अब दूसरी शाखा यह है-साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनि से, मांडूकायनि ने मांडव्य से, मांडव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शांडिल्य से, शांडिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुशि से, कुशियज्ञवचा ने राजस्तम्बायन से, यज्ञवचाराजस्तम्बायन ने तुरकावषेय से, तुरकावषेय ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्म से यह विद्या प्राप्त की। परब्रह्म परमात्मा तो स्वयम्भू ही हैं। उन्होंने किसी से भी इसे प्राप्त नहीं किया। वे तो समस्त विद्याओं के उद्गम हैं। अतः उन परब्रह्म स्वयम्भू परब्रह्म को नमस्कार करके इस बृहदारण्यक उपनिषद्

को समाप्त करते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह बृहदारण्यक उपनिषद् का जैसा कुछ बन सका, यथामति, यथाशक्ति आप सबसे अर्थ कहा। अब आगे अन्य उपनिषदों का अत्यन्त ही संक्षेप में सार-सार आपके सन्मुख कहने का प्रयत्न करूँगा।

ॐशान्तिः ! ॐशान्तिः !! ॐशान्तिः !!!

अष्पय

(१)

सब विद्यनि की खानि बल प्रभु प्रनमों पुनि पुनि।
पाइ प्रजापति ज्ञान दयो तिनि सबई ऋषि मुनि॥
काक्षपेयतुर आदि सुविद्या भजतें पाई।
यों परम्परा प्राप्त जगत में विद्या आई॥
अति समास श्रद्धा सहित, वंश वृक्ष ऋषि मुनि कह्यो।
बृहदारण्यक ग्रन्थ अरु, वंश वृक्ष पूरो भयो॥

(२)

भक्ति उपासन एक वेद तिहि कहें उपासन।
भक्ति ताहि कूँ कहें पुरानिनि सकल सनातन॥
भक्ति बल की युक्ति मुक्ति तिहि की है दासी।
भक्ति हिये महँ बसै मुक्ति तहँ करति खवासी॥
भक्ति स्रोत हिय में फूटै, परिप्लावित हो हृदय बन।
भक्ति सरस सुन्दर सुखद, भक्तिदान दै प्रेमघन॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में
पंचम वंश ब्राह्मण समाप्त।

इति बृहदारण्यक उपनिषद् समाप्त

0602

[विराट् ब्रह्म]

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६८

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनासि विचिन्वता ।
प्रणीत प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } अगस्त १९७२ भाद्रपद सं०-२०२९ { मूल्य :।।२, रु०

मुद्रक—बलीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

॥ श्रीहरिः ॥

क्षमा याचना और एक शंका का समाधान

अबके यह ९८ वाँ खण्ड लगभग डेढ़ महीने की देरी से पाठकों की सेवा में पहुँच रहा है। इसका एक विशेष कारण है। आयुर्वेद में १०१ मृत्यु बतायी हैं। जिनमें १०० को तो अकाल मृत्यु कहा है, एक को यथार्थ-अपरिहार मृत्यु बताया है। १०० अकाल मृत्यु तो चिकित्सा उपचार द्वारा हटायी जा सकती हैं। एक जो अपरिहार्य मृत्यु है वह नहीं हटाई जा सकती। अबके एक अकाल मृत्यु का ही सामना करना पड़ा।

कार्तिक कृष्णा अष्टमी का दिन था, आश्रम के छात्रों ने एक उत्सव का आयोजन कर रखा था। गुरु भक्त एकलव्य का अभिनय खेलने की सब तैयारी कर रहे थे। रंगमंच तैयार हो गया था। नाटक के पात्र सज रहे थे। सहसा रङ्ग-में-भङ्ग पड़ गयी। दूध पीते ही एक कै हो गयी, उसी समय अचेतावस्था हो गयी। शरीर स्वेदयुक्त हो गया, आँखें फट गयीं। शरीर शिथिल हो गया, अंग अकड़ गये। यह अवस्था रही तो ३-४ मिनट किन्तु इससे आश्रम भर में हलचल मच गयी। समस्त छात्र अपने-अपने वस्त्रादि फेंककर एकत्रित हुए। ४-५ मिनट के पश्चात् ही चेत हो गया। साहस करके अभिनय में जाकर लेट गये। बालकों का उत्साह भङ्ग न हो। अभिनय हुआ किन्तु उतने उत्साह से नहीं। शरीर में निर्बलता तो आ ही गयी थी।

आश्रम के लोगों ने घबराहट में नगर से चिकित्सक को बुलाया। उसने देखा, मैंने बहुत कहा—कुछ भी नहीं हुआ है। तनिक-सी बात का लोगों ने तूल-बना दिया है, फिर भी चिकि-

रसक ने कहा—'पूर्ण विश्राम लेने की आवश्यकता है।" मैंने भी सोचा—"तीन वर्षों से निरन्तर स्वाध्याय, प्रवचन, लेखन चल रहा है, तनिक विश्राम भी कर ही लो।" सो एक महीने तक लिखना-पढ़ना सब बन्द रखा।

इसके दूसरे दिन हँसी-हँसी में एक लडके ने कहा—"महाराजजी, ये संघ वाले आपके नाम के पीछे सत लगाते हैं। पजाब में भी संत फतहसिंह थे। यमदूत फतहसिंह को लेने आये होंगे। संत के धारे में वे पजाब न जाकर झूसी चले आये होंगे। जब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई होगी, तो वे तुरन्त यहाँ से अमृतसर चले गये होंगे। यह घटना रात्रि में ९-१० बजे की थी। उसी रात्रि में १०॥ बजे सत फतहसिंह चल बसे।"

बात हँसी की थी, मनोरञ्जन के लिये कही गयी थी, किन्तु उस घटना का शरीर पर प्रभाव तो पडा है। भोजन में, पानी में, अरुचि, शरीर का भारीपन, शिथिलता, अधिक आराम करने की इच्छा बनी ही रही। अतः एक महीने पूर्ण विश्राम लिया। इसीलिये यह अंक दो ढाई महीने के पश्चात् निकल रहा है पाठक इस विवशता की देरी के लिये क्षमा करें। अब भगवत्कृपा हुई तो आगे के खण्ड समय पर निकलते रहेंगे। यह तो हुई क्षमा याचना। अब एक पाठक की शका का भी समाधान सुन लीजिये।

भागवती कथा के एक नियमित पाठक ने बहुत क्षमा याचना करते हुए बडे संकोच के साथ एक शङ्का की है, और उसका उत्तर माँगा है। उनका कथन है भागवती कथा सूत शौनक सम्वाद के माध्यम से कही गयी है। पुराणों की कथा के सम्बन्ध में तो यह क्रम उचित ही था, क्योंकि सभी पुराण सूत शौनक के सम्वाद रूप में कहे गये हैं। किन्तु अब आप जो उपनिषद्-अर्थ

लिख रहे हैं। उसे तो गुरु शिष्य संवाद के माध्यम से लिखना चाहिये था। सूत को तो वेदाध्ययन का अधिकार ही नहीं था। वे तो केवल पुराणों के ज्ञाता थे, व्यासजी ने उन्हें वेदों का अनाधिकारी मानकर केवल पुराणों का ही अधिकार दिया था। फिर आपने उपनिषद्-अर्थ को भी सूत शौनक सम्वाद के रूप में क्यों लिखा ?

इसका उत्तर है कि, जब पुराणों की, गीता आदि की लौकिकी भाषा में कथा हो चुकी तब ८५ वें खण्ड में शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपकी कथा कहने की शैली बड़ी ही सुन्दर है, भागवत, गीता की कथा तो हमने सुनली। भागवत ब्रह्मसूत्र तथा सभी उपनिषदों का अर्थ है। सो कृपा करके हमें उपनिषदों का अर्थ और सुना दीजिये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवान् वेदव्यासजी ने हमें पुराणों के ही पठन-पाठन की आज्ञा दी है। वेदों के अध्ययन अध्यापन की हमें आज्ञा नहीं है। उपनिषदें तो वेद का ही भाग हैं। उन्हें सुनाना तो एक प्रकार से अनधिकार चेष्टा ही होगी। अतः कृपा करके आप मुझे उपनिषद् सुनाने की आज्ञा न दें।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"जैसे आपने वेदों के अर्थ को पौराणिकी भाषा में व्यक्त किया है वैसे ही वेदान्त उपनिषदों के अर्थ को लौकिकी भाषा में व्यक्त कीजिये। उपनिषदों के मूल मन्त्रों को हम बोल दिया करेंगे। आप उसका भावार्थ तो हमें सुना ही देंगे। क्योंकि वेदों के अर्थ को वह कदापि नहीं जान सकता, जिसने विधिवत् पुराणों को तथा महाभारतादि इतिहासों को न पढ़ा हो। आप तो इतिहास पुराणों में पारंगत हैं। आप ही भली भाँति उपनिषदों को समझा सकते हैं। हमें आप सर्व-साधारण लौकिकी भाषा में उनका अर्थ समझा दें।"

तब सूतजी ने उपनिषद् अर्थ सुनाना स्वीकार किया।

भागवती कथा के ८५ वें खण्ड के ३७ ३८ पृष्ठ पर इतना समाधान पढने पर तो शका क लिये कोई स्थान रह ही नहीं जाता। हाँ, एक शका कर सकते हैं, कि जब सूतजी को वेदों के अध्ययन का अधिकार ही नहीं था, तो उन्होंने उपनिषदों को पढा कैसे ? जब उन्होंने पढा ही नहीं तो वे उसका अर्थ कैसे बतावेंगे ?

इसका उत्तर यह है कि सूतजी ने वेदों को, उपनिषदों को, इतिहास पुराणों को पढा तो था। उन्हें वेदों के अध्ययन का तो एक प्रकार से अधिकार प्राप्त था। साक्षात् वेदो के पढाने का अधिकार नहीं था। पद्मपुराण के भूमिखण्ड के २८ वें अध्याय मे पृथु चरित्र के वर्णन मे सूत का लक्षण वर्णन किया है।

ऐसे वचन पुराणों में सर्वत्र मिलत हैं। सूत को वेदवेदा-तों का तत्वज्ञ बताया है। उसके द्वारा लौकिकी भाषा मे उपनिषदों का अर्थ कहना न अनुचित है और न परम्परा के विरुद्ध ही है। अब पाठक उपनिषदो के अर्थ को मनोयोग स पढें और परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करें कि भागवती कथा के कम से कम १०८ भाग तो छप ही जायँ। "अधिकस्य अधिक फलम्" अधिक चाहे जितने भी हो जायँ।

सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
झूसी (प्रयाग)
पौष कृष्णा—११। २०२९ वि०

विषय-सूची

विषय		पृष्ठाङ्क
१. संस्मरण (१७)	...	१
२. श्वेताश्वतरोपनिषद्	...	१५
३. संसार सरिता को पार करके प्रभुप्राप्ति का उपाय		२६
४. ब्रह्म का स्वरूप और ब्रह्मप्राप्ति का फल	...	३६
५. प्रणव जप द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार	...	४७
६. स्तुति पाठ	...	५२
७. ध्यान की विधि और उसका फल	...	६२
८. परमात्म प्राप्ति का फल (१)	...	७४
९. परमात्मा और उनकी प्राप्ति का फल (२)	...	८२
१०. परमात्मा और उनकी प्राप्ति का फल (३)	...	९१
११. जगदीश्वर स्तुति	...	९७
१२. परमात्म स्वरूप और उनसे मुक्ति की प्रार्थना		१०५
१३. परमात्मा और जीवात्मा	...	११४
१४. जीव का जन्म-मरण और उससे छूटने का उपाय		१२३
१५. सबके कर्ता एकमात्र परमेश्वर ही उपास्य हैं	...	१३२
१६. प्रभुप्राप्ति का उपाय शरणागति	...	१४१
१७. ब्रह्मविन्दु, कैवल्य और जाबाल उपनिषद् सार		१५१
१८. हंस, आरुणिक और गर्भ उपनिषद् सार	...	१६०
१९. नारायणाथर्वशिर, महानारायण तथा परमहंस उपनिषद् सार	...	१७८

...०(१)०...

संस्मरण

[१७]

[सुरसरि के तट-तट झूसी तक]

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र
कृष्णाङ्घ्रिरेणवभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥*

(श्री भा० १ स्क० १९ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

गंगे ! तव तट निकट निवसि नित नियम निभाऊँ ।
गंगे ! तव जल बनी प्रसादी प्रभुकी पाऊँ ॥
गंगे ! तव पय पिऊँ नियमतैं नित्य नहाऊँ ।
गंगे ! तजि तव तटहिँ अनत नेकहुँ नहिँ जाऊँ ॥
गंगे ! यदि जानों परै, तरुणि तनूजा तट निकट ।
गंगे ! नटखट जित बसत, बंशीबट को सुभट बिट ॥

---

* सकल सुर बन्दिता भगवती सुरसरि सलिल तुलसीजी की गन्ध से सम्मिश्रित है, इसलिये कि वह श्रीकृष्ण भगवान् के चरणारविन्दों का पराग लेकर प्रवाहित होता है (तुलसीजी सदा चरणो मे पडी ही रहती हैं) इसीलिये यह पावनपय लोकपालों के सहित समस्त ऊपर नीचे के लोको को पवित्रता से परिप्लावित करता रहता है, ऐसा कौन मरणशील पुरुष होगा, जो ऐसी गंगाजी का सेवन न करे ?

संसार से वैराग्य भाग्यशाली व्यक्तियों को ही होता है। ब्रह्माजी ने इस संसार चक्र को इस ढँग से बनाया है, कि इसमें से निकलना–इसे पार करना–अत्यन्त ही कठिन है। जैसे कोई नदी के दलदल में फँस जाय और फिर वह उससे निकलने का प्रयत्न करे तो वह जितना ही निकलने का प्रयत्न करेगा उतना ही और फँसेगा। कोई विरले ही वैराग्य के सहारे ममता मोह का परित्याग करके भगवान् को तत्वतः प्राप्त कर सकते हैं। किसी कवि का वचन है—

चलन चलन सब कोइ कहें, विरला पहुँचे कोइ।
इक कंचन इक कामिनी, घाटी दुरलभ दोइ॥

कामिनी कांचन का आकर्षण इतना प्रबल है कि अच्छे से अच्छे साधक इनमें फँस जाते हैं। किसी प्रकार इन दो घाटियों को पुरुष पार भी कर जाय, तो एक तीसरी घाटी इन दोनों से भी अधिक कठिन है। कहा है—

कंचन तजनो सहज है, सहज त्रिया को नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या, दुरलभ तजनो एह॥

कामिनी, कांचन और कीर्ति ये ही संसार में बाँधने वाली तीन रस्सियाँ हैं। इन्हें काटकर ही कोई वैराग्यराग-रसिक भक्ति-निष्ठ बन सकता है। वास्तव में देखा जाय तो, वैराग्य भी एक प्रकार से अज्ञान का ही द्योतक है। जिसे संसार से राग होगा, उसे ही वैराग्य संभव है, जो वीतराग है, ब्रह्मनिष्ठ है उसे वैराग्य की क्या आवश्यकता? निर्धन ही धन के लिये प्रयत्न करेगा, जो कुबेर समस्त सम्पत्ति का स्वामी है, उसका धन के लिये प्रयत्न हास्यास्पद है।

भाग्य ने मुझे असहयोग आन्दोलन में लखनऊ कारावास में पहुँचा दिया। वहाँ उत्तर प्रदेश के प्रायः समस्त राजनैतिक नेताओं के साथ रहने का सुयोग सहज ही प्राप्त हो गया। पचासों वर्षों में जो अनुभव नहीं होता, वह पाँच छै महीने में ही सबके साथ रहने से हो गया। उन लोगों के दैनिक जीवन, आचार, विचार, व्यवहार से बड़ा वैराग्य हुआ। ऊँची दुकान फीका पकवान। राजनैतिक व्यक्तियों में किसी का जीवन पवित्र हो, यह अपवाद है, नहीं तो वे जैसी वायु देखकर पीठ फेरने वाले होते हैं। सोचा—अब कभी राजनीति के चक्कर में न पड़ूँगा। किन्तु यह मेरा सोचना मूर्खतापूर्ण था। जब तुम किसी राज्य में रहोगे, तो उसकी नीतियों की ओर से कैसे मुख मोड़ सकते हो? इसीलिये गृहत्यागी, मौनी, फलाहारी, टाटाम्बरी होने पर भी मुझे इसके पश्चात् राज-काज में हस्तक्षेप करने के कारण कई बार पुनः कारावास जाना पड़ा।

काशी निवास काल में प्रायः सभी साहित्यसेवी पुरुषों से संपर्क रहा। संत होकर जिनके द्वारा भक्तिभाव भावित होकर साहित्य सेवा हुई है उनकी बात तो छोड़ दीजिये, किन्तु साहित्य सेवा जिनका व्यवसाय बन गया है, उनके सांसारिक जीवन को देखकर भी मुझे बड़ा वैराग्य हुआ। संस्थोपजीवी पुरुषों की तिकड़मों ने भी मेरे मन में एक कड़वाहट पैदा कर दी। मैं सोचने लगा—मुझे ऐसे जीवन बिताने से क्या लाभ होगा। मेरे घर नहीं, परिवार नहीं, कोई संस्था नहीं, किसके लिये ऐसा नीरस जीवन बिताऊँ? इन सुरा-सुन्दरियों के उपासकों के संसर्ग में क्यों रहूँ? क्यों न भगवती सुरसरि के तीर पर चलकर उस उत्तराखंड में जहाँ हमारे ऋषि महर्षियों ने एकान्त में अपना सम्पूर्ण जीवन बिता दिया। मैं भी वहाँ चलकर पक्षियों की

भाँति अपने सम्पूर्ण जीवन को बिता दूँ। जहाँ अनायास बिना प्रयत्न के भगवती भागीरथी का अमृतोपम पय पीने को मिल जाय, जहाँ के वन्य वृक्ष क्षुधा निवृत्ति के निमित्त अपने आप फल दे दें, जहाँ बिना बनाये रहने को गिरि-कन्दरायें प्राप्त हो जायें, जहाँ के वृक्ष पहिनने को वल्कल दे दें, उस हिमालय पर चलकर क्यों न रहूँ ? बार बार परम हंस शुकदेव की यह युक्ति याद आती—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षाम् ।
नेवाघ्रिपाः परिभृतो सरितोऽप्यशुष्यन ॥
रुद्धा गुहा किमजितोऽवति नोपपन्नान् ।
कस्मात् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥

क्या मार्ग में पहिनने को फटी पुरानी चीरें नहीं हैं ? क्या परोपकारी वृक्षों ने फलों की भिक्षा देना छोड दिया है ? क्या रहने के लिये पहाड की गुफायें अवरुद्ध हो गयी हैं ? क्या शरण में आये भक्तों का प्रतिपालन करना अजित प्रभु ने छोड़ दिया है ? यदि नहीं, तो धन मद से दुर्मदान्ध हुए इन कठोर हृदय वाले धनिकों के द्वार पर जाकर तुम दीनता क्यों दिखाते हो ?

तब तक देहरादून हरिद्वार से ऊपर पहाडों पर मैं कभी गया नहीं था। मैंने उत्तराखड के पर्वतों की एक कल्पना कर रखी थी। वहाँ का एक कल्पित चित्र बना रखा था। पहाडों के बीचों से कलकलनिनादिनी भगवती भागीरथी बह रही होंगी। किनारे-किनारे घोर अरण्य होंगे ? उनमें भाँति भाँति के फल लदे रहते होंगे, पहाडों में स्थान-स्थान पर कन्दरायें गिरि गुफायें बनी होंगी, उनमें अनेकों योगी, यति, संन्यासी, त्यागी, विरागी, सिद्ध पुरुष निवास करते होंगे। वे वृक्षों के नीचे पड़े हुए वृक्षों के फलों

से अपना जीवन निर्वाह करते होंगे, भोजपत्र के वल्कलों को पहिनते होंगे। मैं भी वहाँ जाकर किसी एकान्त गुफा में बैठा रहूँगा। भूख लगने पर कन्दमूल फल खाकर उन्हीं से विभुक्षा का शान्त कर लिया करूँगा। न किसी से बोलूँगा, न किसी की ओर देखूँगा। शान्त, गम्भीर भाव से इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन को बिता दूँगा। न ऊधो का लेना न माधो का देना। यहाँ सफेद कागदों को कारे करते रहने में क्या रखा है। यही सब सोचकर, मैं साहित्यिक जीवन को जलाञ्जलि देकर, जीवन भर कागद पर लेखनी से न लिखने की प्रतिज्ञा करके, एक कृष्णपट्टिका (स्लेट) लेकर वाराणसी से अपने दो साथियों इन्द्रजी और गोविन्दजी को लेकर पैदल ही पैदल गंगा किनारे-किनारे हिमालय निवास के लिये निकल पड़ा।

मनुष्य को जब तक प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, तब तक वह बड़ी-बड़ी कल्पना करता रहता है, कल्पना लोक में मनमोदक खाता हुआ प्रमुदित होता रहता है। जब जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं, तब उसे अपनी भूल मालूम होती है। पुरुषों की बुद्धि विकसित होने के दो ही कारण हैं, एक तो अवस्था के बढ़ने से, दूसरे सत्संगति, देशाटन और लोक व्यवहार देखने से। कल्पना लोक में मैंने जो हिमालय के अरण्यों की कल्पना कर रखी थी, वह मेरी कोरी कल्पना ही सिद्ध हुई। हिमालय में जाकर मैंने देखा वहाँ न तो अब स्वतन्त्र वन है और न प्राकृतिक कन्द, मूल फल ही हैं। गिरि-गुफाओं का तो कहीं नाम भी नहीं। वन-विभाग ने चप्पा-चप्पा भूमि पर अपना अधिकार कर लिया है। न तो कोई यहाँ से लकड़ी काट सकता है न फल फूल तोड़ सकता है। यहाँ तक कि कोई वन में अग्नि नहीं जला सकता। दीप सलाई नहीं रख सकता। रहने की बात तो पृथक्

है, कहीं कोई रह जाय, तो उसे कारावास का द्वार देखना पड़े। जीवन भर की तो बात ही क्या एक दिन भी वहाँ कोई जगली कन्द, मूल फलों पर नहीं रह सकता। पहाड के एक एक छोटे बडे पत्थर पर लोगों का अधिकार हो गया है। गोमुख तक की कुटियों पर उच्चन्यायालय में अभियोग चल रहे हैं। एक पत्थर के लिये जोशीमठ के एक पुरुष प्रयाग उच्चन्यायालय मे लड रहे थे। रही वीतराग त्यागी, विरागी, योगी महात्माओं की बात, सो वह भागवत माहात्म्य के श्लोक की एक एक बात चरितार्थ कर रही है। अब न योगी हैं, न सिद्ध, न ज्ञानी तथा सत्कर्म करने वाले कर्मकाडी ही हैं। इन सबको कलिकाल के दावानल ने भस्मसात् कर दिया है। जाने कैसे प्राचीन मुनि वल्कलों को पहिन कर निर्वाह करते रहे होंगे? हमने तो भोज-पत्रों के अनेकों वृक्षों को खोज डाला। एक भी पहिनने योग्य वस्त्र नहीं मिला। जब तक ये कर की बनी मोटर बस नहीं चली थी, तब तक पहाडी लोग सीदे सादे सरल सत्यवादी थे। जब से ये पहाडों मे पक्की सडकें बन गयीं, मोटरें बसें चलने लगीं, तब से पहाड़ी भी हम लोगों की भाँति चतुर चालाक तथा चार सौ बासी बन गये। अब पहाडी गाँवों में और देश के नगरों मे तथा उनके निवासियो मे कोई भी अन्तर नहीं रह गया। पहाडों मे भी कलिकाल का प्रभाव व्याप्त हो गया। अब तो पहाड मे रहो, देश में रहो सब एक ही बात है। "जैसे बलमा घर रहे वैसे रहे विदेश।"

मैं पहिले अपने को ही अपना कर्ता, धर्ता, भाग्यविधाता मानता था। तभी तो मैंने लेखनी से कागद पर न लिखने की प्रतिज्ञा कर ली थी। तब तक जानता तो था किन्तु इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था, कि भगवान् वहीं से सबको नियत काम कराने

को भेजता है। जिससे वह जो काम कराना चाहता है, उसे वह काम अवश होकर करना ही पड़ता है। अहंकार के वशीभूत होकर वह भले ही कहे कि मैं इस काम को न करूँगा। भगवान् ने जिस काम के लिये जिसकी जैसी प्रकृति बना दी है, उसे वह काम करना ही पड़ेगा, उसमें ननु-नच का तो प्रश्न ही नहीं। तभी तो कागद पर चिट्ठी भी न लिखने वाला मैं आज कितने सफेद कागदों को कारे कर चुका हूँ, इसका कोई लेखा-जोखा ही नहीं। हाँ तो मैं काशीजी से विरक्त वेष बनाकर अपने दो साथियों के साथ निकल ही तो पड़ा। दो साथी संग में इसलिये ले लिये कि मुझे माँगने में बड़ी लज्जा लगती है। ये ही मधुकरी माँग लाया करेंगे। फिर ये दोनों अपने आत्मीय ही थे। मनुष्य के आनन्द की किसी वस्तु से व्याख्या नहीं की जा सकती। भोग की समस्त सामग्रियाँ समुपस्थित रहने पर भी कुछ लोग बड़े दुखी रहते हैं, कुछ लोगों को उसी स्थिति में आनन्द आता है, जब उन पर कुछ भी न रहे। कुछ लोग संग्रह करने में सुखी होते हैं, बहुतों को देने में ही आनन्द आता है, बहुत-से खस की टट्टियों में सुखद सामग्रियों सहित रहने पर भी दुखी देखे गये हैं। बहुत-से दिन भर झाड़-झंकार काँटे-कंकणों में भूखे-प्यासे दिन भर घूमते रहे और आकर कहते हैं, आज बड़ा आनन्द आया। इसलिये आनन्द उसी में है जिसे मन आनन्द मान ले।

चिरकाल की हार्दिक अभिलाषा थी, कि कुछ भी साथ में न रखकर भगवान के भरोसे गंगा किनारे-किनारे विरक्त वेष से भ्रमण करें। भगवान् ने वह इच्छा आज पूरी की। हृदय में अत्यन्त उल्लास, हिमालय पहुँचकर तप करने की चटपटी, क्षणिक वैराग्य की झोंक में मार्ग मालूम ही नहीं पड़ता था। लोटा डोर रखते नहीं थे। अतः प्यास बुझाने के निमित्त गंगा किनारा छोड़कर कहीं

दूर जाते नहीं थे। गंगा के तीर-तीर चलते हुए एक शिवमन्दिर में पहुँचे। रात्रि में वहीं विश्राम किया। गरमी के दिन थे, कोई कष्ट नहीं। मन में बडी प्रसन्नता। नया ही नया जीवन। पुरानी बात हो गयी। लगभग पचास वर्षों की बात है, सभी स्थानों के नाम भूल गये। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थान याद हैं। कई दिन चलकर चुनार पहुँचे।

चुनार—गंगा के दाहिने तट पर एक पहाडी पर यह अवस्थित है। प्राचीन स्थान है इसका पुराना नाम चरणाद्रि है। चरण के आकार की पहाडी है, तीर्थ स्थान है। वामनावतार में भगवान् ने भूमि नापते समय यहीं चरण रखा था। उसी पहाडी पर यहाँ के पुराने राजा का किला है। सुना है चुनार का राजा बहुत धनी था। मुसलमानों ने उसकी रानी से स्यात् दश मन हीरा जवाहिरात लिये थे। यहाँ श्रीवल्लभाचार्यजी आकर रहे थे। उनकी बैठक है। प्राचीन किला है। उसमे उस समय अपराधी बालकों का कारावास था। स्थान सुन्दर दर्शनीय है।

मीरजापुर—चुनार से चलकर मीरजापुर आये गगा के किनारे-किनारे जा रहे थे। गगाजी के सर्वथा तट ही पर वहाँ के जिलाधीश की कोठी थी, हम उसके नीचे से तट तट जाना चाहते थे। जिलाधीश अँगरेज था। उन दिनों जिलाधीश अपने जिले का सम्राट् ही माना जाता था। जिले भर मे जो चाहे सो करे। जिलाधीश के आदमियों ने हमें आगे जाने से रोक दिया। हम लडाई झगडा करने को उद्यत हुए, किन्तु उसने आगे जाने ही नहीं दिया। फिर दूसरे मार्ग से बँगले को बचाकर गगा का तट पकडा। समय की बात देखिये एक समय वह था, कि जिलाधीश के नोकर ने हमें बँगले की सीमा के नीचे से जाने तक नहीं दिया। कालान्तर में जब स्वराज्य हो गया और हमारे

बालकृष्णजी टंडन मीरजापुर के जिलाधीश होकर इसी में रहने लगे, तब इसी बँगले में हमारा घर से भी बढ़कर स्वागत सत्कार हुआ और प्रेमपूर्वक प्रसाद पाया विश्राम किया।

विन्ध्याचल—मीरजापुर से विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन को आये। कभी कोई श्रद्धालु मिल जाता, श्रद्धापूर्वक भोजन करा देता। कभी भिक्षा में पर्याप्त मिल जाता। कभी थोड़ा ही मिलता, उसी को पाकर सन्तोष के साथ पानी पीकर चल देते। विन्ध्याचल में स्यात् भिक्षा का डौलडाल ठीक लगा नहीं। दर्शन करके आगे आये तो काली खोह के आगे आम का बड़ा भारी बगीचा है। उसमें पके-पके आम नीचे गिरे हुए थे। उन दिनों वह देवीजी का बाग बिकता नहीं था। जो चाहो सो आम खाओ। वहाँ हमने बीन-बीनकर भर पेट आम खाये। क्षुधा शान्त हुई। सुनते थे, विन्ध्याचल की पहाड़ियों पर बहुत से सिद्ध महात्मा रहकर तपस्या करते हैं। महात्माओं के दर्शनों के लिये हम बहुत लालायित रहते। गंगा किनारे से दूर भी किसी महात्मा का नाम सुनते तो उनके दर्शनों को अवश्य जाते। फिर लौटकर गंगा किनारे आ जाते। अष्टभुजी स्थान, काली गुफा आदि सभी स्थानों पर गये। कई साधु महात्मा भी मिले। स्थान हमें बहुत अच्छा लगा। स्थान-स्थान पर स्वच्छ जल के स्रोत थे। जिनसे सदा जल निकलकर बहता रहता था। कालान्तर में जब फिर गये तो वे स्रोत सूख गये थे, उनमें अब पानी नहीं था। काल का प्रभाव है। मेरे देखते-देखते उत्तराखण्ड तक के भी बड़े-बड़े बहने वाले स्रोत सूख गये हैं। कलिकाल का प्रभाव इन सब झरनों वृक्षों और ओषधियों पर भी पड़ता है। जैसे सिद्ध महात्माओं की कथा सुनते थे, वैसे तो कोई मिले नहीं। एक कुटिया में बंगाली महात्मा मिले। बड़े सीधे सरल तपस्वी। हमारे त्याग

वैराग्य को देखकर वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने एक पहाडी हिरन की मोटी मृगशाला हमे दी। जिसे साथ रखते, उसी पर सोया करते थे।

लाक्षागृह—वहाँ से चलकर किनारे-किनारे लाक्षागृह आये। यह वही स्थान है, जहाँ दुर्योधन ने पाँचो पाडवों को जलाने के लिये लाख का घर बनवाकर उसमे उन्हें रहने को भेजा था और अपने विश्वासी नौकर से कह दिया था। "समय पाकर उसमें आग देकर पांडवो को भस्म कर देना।" विदुरजी ने पांडवों को सब रहस्य बता दिया और गुप्त रूप से पाडवों की रक्षा के लिये एक नौका गगा किनारे भेज दी। भीमसेन उस घर मे आग लगाकर विदुरजी की बनवायी गुप्त गुफा से निकल कर नौका पर चढकर माता सहित उस पार हो गये और बारह वर्षों तक ब्राह्मण वेष बनाकर, घर-घर से भिक्षा माँगकर उसी पर निर्वाह करते हुए घूमते रहे। जब उनका विवाह द्रौपदी के साथ हो गया, तो वे प्रकट हुए और अपना आधा राज्य लेकर इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी बनाकर रहने लगे।

यहाँ हमारे एक जेल के साथी प० वैजनाथजी मिल गये। उन्होंने प्रेम से भोजन कराया, लाक्षागृह के सब स्थान दिखाये। देख दाखकर वहाँ से चल दिये। लाक्षागृह मे सोमती अमावास्या को बडा मेला लगता है, दूर-दूर से यात्री स्नान करने आते हैं।

पागलानन्द स्वामी की कुटी—हमारा कोई नियम नहीं था कि हम एक ही तट पर चलें। कभी इस पार आ जाते, कभी उस पार चले जाते। जब हमने सुना उस पार स्वामी पागलानन्द जी बड़े प्रसिद्ध महात्मा रहते हैं, तो उनके दर्शनो को हम उस पार चले गये। सिरसा के पास पकरी सिवार गाँव है। उन्हीं के पास स्वामी पागलानन्द की कुटी है। ये स्वामीजी बड़े ही विरक्त

तथा त्यागी थे। इनका जन्म प्रयाग के दारागंज मोहल्ला में किन्हीं पन्डा के यहाँ हुआ। सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो गये। यह स्थान इन्हें अत्यन्त प्रिय लगा। वहीं एक कुटिया बनवाकर रहने लगे। आस-पास पंचवटी के पेड़ लगा रखे थे, जिनकी शाखायें झुककर झूमकर पृथ्वी को चूमती थीं। स्वामी ने सबके सुन्दर थाले बनवा रखे थे। उन्हें लिपवा पुतवा कर स्वच्छ रखते। किसी से कहकर एक पक्का घाट भी बनवा लिया था। कुटिया एक ही थी, जिसमें वे कोई भी वस्तु नहीं रखते, न रात्रि में किसी को रहने देते। आस-पास के लोग पारी-पारी से उनकी भिक्षा पहुँचा जाते थे। एक बार भिक्षा करके परम विरक्ति के साथ वे वहाँ निवास करते। वृद्ध हो गये थे, फिर भी उनका गौर वर्ण का कुछ स्थूल शरीर बड़ा भव्य लगता था। हमारा उन्होंने बहुत स्वागत सत्कार किया। सायंकाल पहुँचे थे। कुटिया में उनके पास कुछ था ही नहीं। दूसरे दिन गाँव वालों को बुलाकर हमारी भिक्षा करायी। जैसे पिता अपने पुत्रों से मिलता है वैसे वे बड़े ही प्रेम से हम से मिले। अपनी सब बातें सुनाते रहे। ऐसे विरक्त महात्मा को भी कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने कलंकित किया। झूठ सत्य की तो भगवान् जाने वैसे स्वामीजी इन सब लांछनों को मिथ्या बताते थे। समय की बात तो देखिये, कालान्तर में झूसी से भागकर मैं डेढ़ दो महीने यहीं पागलानन्द स्वामी की कुटिया में आकर रहा।

सीतामढ़ी—पागलानन्द स्वामी की कुटी से हम फिर उस पार चले गये। वहाँ गंगाजी ने बहुत चक्कर लगाये हैं। यदि गंगा किनारे-किनारे चलो तो १०-१५ मील चलकर सामने का गाँव मिलेगा। सीधे चले जाओ तो दो तीन मील ही पड़ेगा। हम सीधे गये और सीतामढ़ी में पहुँचे। कहते हैं प्राचीन

वाल्मीकजी का स्थान यहीं था। लक्ष्मणजी यहीं श्रीसीताजी को छोड़ गये थे। हम गये थे तब वहाँ एक बड़ा भारी वट का वृक्ष था। एक साधु रहते थे। टोंस (तमसा) का सगम भी यहाँ समीप मे ही है। साधुजी ने एक स्थान बताया, सीताजी इसी स्थान में भूमि में समा गयीं थी। लवकुश का जन्म यहीं हुआ था। देश में कई स्थानों मे वाल्मीकजी के स्थान बताये जाते हैं। बिठूर मे, चित्रकूट के पास और सीतामढी मे तीन तो हमने ही देखे हैं। सभव है वाल्मीकजी यहाँ कुछ दिन रहे हो, किन्तु सीताजी का परित्याग और लवकुश का जन्म तो ब्रह्मावर्त (बिठूर) मे ही बताया जाता है।

दुर्वासा आश्रम—"गगा किनारे कँकरा कुटवा के समीप दुर्वासा ऋषि का आश्रम है। श्रावण के महीने भर यहाँ बडा मेला लगता है। दुर्वासा ऋषि की बडी ही भव्य प्रतिमा है। पहिले यहाँ मन्दिर में एक दडीस्वामी मौनी महात्मा रहते थे। अब तो सभी स्थानों में साधु महात्माओं का अभाव-सा हो गया। पहिले लोग धर्म के नाम पर सर्वस्व त्यागकर जीवन भर विरक्त भाव से रहने वाले बहुत महात्मा मिलते थे। अब तो कोई सम्पन्न उच्च परिवार के कुलीन पुरुष साधु होते ही नहीं। अब जो साधु वेष बनाते भी हैं, वे प्रायः ऐसे ही लोग होते हैं, जिन्हें भोजनों का अभाव होता है, वे पेट भरने के लिये ही वेष बनाते हैं। कुलीन वश के कोई साधु होते भी हैं, तो किसी सस्था को चलाने के लोभ से अथवा मठ महन्ती के लोभ से होते हैं। कुछ व्यवहार पटु प्रवचन करके चेला चेली बनाकर व्यवसाय के लिये वेष बना लेते हैं। ज्ञानपूर्वक वैराग्य धारण करने वाले कहीं एक आध छिपे होगे, किन्तु प्रकट मे अब दिखायी नहीं देते।

दुर्वासा से चलकर गगा किनारे किनारे आये। १०-५ मील

से ही किले के खम्भे दिखायी देने लगे। उन्हीं के देखते-देखते छतनगा और फिर झूसी में पहुँच गये। बस, अपने पूर्वजन्म के अड्डे पर पहुँच गये। झूसी से आगे की कहानी अगले संस्मरण में देखी जायगी।

छप्पय

काशी तैं चलि दये गंग तट ही तट धाये।
भिक्षा माँगत खात फेरि चरणाद्री आये॥
आये मिरजापुर, विन्ध्यवासिनि दरसन हित।
कीये दरसन फेरि महाकाली दरसन चित॥
अष्टभुजा में दरस करि, लाक्षागृह दरसन किये।
पकरी सीतामढ़ी पुनि, दुरबासा दरसन दिये॥

कार्तिक कृष्ण ८। २०२९
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
प्रयाग

प्रभुदत्त

श्वेताश्वतरोपनिषद् (१)

[२६९]

हरिः ॐ ब्रह्मविदो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्मजाता जीवाम केन क्वच सम्प्रतिष्ठाः । अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वार्तामहे ब्रह्म विदो व्यवस्थाम् ॥ *

(श्वेता० उ० १ अ० १ मन्त्र)

छप्पय

मिलि जुलि कछु ब्रह्मज्ञ कहें जग कारन का है ?
काल, स्वभाव, संयोग, नियति, भूतहु सहसा है ॥
ये जड़ कारन नहीं, जीव परवश कहलायो ।
ध्यान करयो इक ब्रह्म जगत कारन बतलायो ॥
षष्ट अष्टकनि चक्र तैं, तीनि मार्ग द्वै निमित कह ।
चक्र नाभि अज्ञान है, तामें घूमत जगत यह ॥

शालग्राम की बटिया चाहे छोटी-से छोटी हो अथवा बडी से-बडी हो, सबकी महिमा समान है । उसमे छुटाई बडाई का भेद-

---

*हे वेदज्ञ महर्षियो ! इस जगत् का मुख्य कारण ब्रह्म कौन है ? किससे उत्पन्न हुए हैं ? किसके द्वारा जीवित हैं ? हम सबकी सप्रतिष्ठा क्या है ? किसके द्वारा अधिष्ठित होकर सुख दुःख व्यवस्था के अनुसार वर्त रहे हैं ? इस प्रकार वेदज्ञ ऋषि परस्पर मे दूसरे ऋषियो से चर्चा कर रहे हैं ।

भाव नहीं। कैसी भी शालग्राम वटिया का पूजन करो, वह एकमात्र परब्रह्म परमात्मा का ही पूजन माना जायगा। तथापि अवतार भेद से शालग्राम शिलाओं के गुणों में भी भेद-सा हो जाता है। नृसिंह-शालग्राम शिला उग्र है, सीताराम-शालग्राम शिला सौम्य है। फिर भी पूजक को इच्छानुसार फल देने में सभी शालग्राम शिलायें समर्थ हैं। इसी प्रकार वेदों की उपनिषदें छोटी बड़ी अनेकों हैं। बहुत-सी उपनिषदें काल के प्रभाव से अप्रकट हो गयी हैं। बहुत-सी प्रकाशित नहीं हुईं। वर्तमान समय में १२८ उपनिषदें तो प्रकाशित हैं। लगभग ७० अप्रकाशित उपनिषदें हैं। सब ही महान् हैं। सभी में ज्ञान-भंडार है। सभी अपने-अपने विषय की उत्कृष्ट हैं। तथापि आचार्यों ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक इन दशों पर ही विशेषतया भाष्य, टीका-टिप्पणियाँ आदि की हैं। इन दशों को प्रधानता दी है। कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् ब्रह्मज्ञान की परमोत्कृष्ट उपनिषद् है। इसके एक-एक मन्त्र में गूढ़-ज्ञान सन्निहित है। अतः इसकी संक्षिप्त व्याख्या करके आगे अन्य उपनिषदों का अत्यन्त ही संक्षेप में केवल परिचय ही मात्र दिया जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जैसा कुछ शुद्ध-अशुद्ध बन सका दशों उपनिषदों की व्याख्या आपके सामने की। यथार्थ अर्थ को तो एकमात्र परब्रह्म तथा ब्रह्मीभूत महर्षिगण ही जानते हैं। अब आगे श्वेताश्वतरोपनिषद् का संक्षिप्त विवरण बताकर शेष उपनिषदों का अत्यन्त ही संक्षेप में परिचय आप सबको कराया जायगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप उपनिषद्-अर्थ कहते-

कहते घबरा गये क्या ? जिससे अब संक्षेप और अत्यन्त संक्षेप सार सिद्धान्त पर आ गये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं घबराया नहीं। भगवन् ! वह परम अभागा होगा जो स्वाध्याय प्रवचन से घबरा जाय। स्वाध्याय और प्रवचन यही तो जीवन का सार है। यही यज्ञ है, यही तप है, यही सत्य तथा परमार्थ साधन है। किन्तु प्रभो ! काल का भी तो विचार करना पड़ता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! काल का क्या विचार करना ? काल तो निरवधि है, नित्य है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आपका कथन यथार्थ है। काल तो भगवान् का रूप ही है, तथापि प्रभो ! इस मर्त्यलोक के प्राणी अल्पायु होते हैं, तिस पर कलिकाल में तो आयु अत्यन्त ही न्यून होती है। एक ही ज्ञान है उसे ऋषियों ने विविध भाँति से कहा है। बटलोई में पकने वाले चावलों में से कुछ ही चावल निकाल कर देखे जाते हैं कि पके या नहीं। यदि करछी में आने वाले दाने कच्चे हैं, तो अभी सभी को कच्चा ही माना जाता है, यदि वे करछी के दस पाँच दाने पके हुए सिद्ध हुए तो पूरी बटलोई के चावलों को पका हुआ मान लिया जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मन् ! दस उपनिषदों में जो ज्ञान है, वही प्रकारान्तर से सभी में है। अतः अब मुझे संक्षेप से ही परिचय देने की आप आज्ञा प्रदान करें। यों यदि भगवान् ने कृपा की, तो फिर मैं आपकी अन्य प्रकार से सेवा करूँगा।"

शौनकजी ने कहा—"आपकी जैसी इच्छा हो वैसा ही करें, किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् जो ज्ञान विज्ञान का भंडार है, उसे अत्यन्त संक्षेप में न कहें। उसके छैः अध्यायों को तो हमें सुना ही दें।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जैसी आप की आज्ञा। किन्तु अब विस्तार करने का समय नहीं रहा। आप तो यहाँ जनलोक में विराजमान हैं। जहाँ ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, दम्भ, नास्तिकता आदि दुर्गुणों का नाम तक नहीं। ब्रह्मन्! आप पृथ्वी पर चल कर देखें वहाँ कलियुग का कैसा तांडव नृत्य हो रहा है, अधर्म का कैसा बोल बाला है, नास्तिकता का कैसा साम्राज्य है। समाज, वाद के नाम पर कितने अत्याचार, पापाचार, दुराचार तथा घृणित व्यापार हो रहे हैं। उस नगाड़खाने में मेरी इस तूती के स्वर को कौन सुनेगा। पृथ्वी के कलियुगी जीवों को तो वेद उपनिषद की चर्चा भी नहीं सुहाती। वे तो छाया-चित्रों के पीछे, अश्लील, चरित्रहीन, आचार-विचारहीन उपन्यासों के पीछे पागल बने हुए हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मरने दो इन पापियों को। सभी अपने-अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं। पूर्वजन्मों के पापों के संस्कारों के कारण उनकी इन शुभ कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं। परन्तु भगवन्! इनमें से भी कोई विरले पुण्य पुञ्ज सुकृति साधक निकल ही आते हैं। यदि एक भी साधक इन प्रवचनों से प्रभु की ओर प्रवृत्त हो गया तो आपका सब श्रम सफल हो जायगा। किसी मुमुक्षु जीव को भगवान् के चरणारविन्दों में लगा देना, उसे प्रभु के पादपद्मों में भेंटकर देना, इससे बढ़कर प्रभु की प्रसन्नता का दूसरा कोई कार्य नहीं। इससे बढ़कर प्रभु की कोई बहुमूल्य भेंट नहीं। सूतजी! संसार में परमार्थ के साधक बहुत ही न्यून होते हैं। अधिकांश तो विषयों के कीड़े ही होते हैं और विशेषकर कलिकाल में। उन नरक के पथिकों की बात जाने दें, आप तो श्वेताश्वतर उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुना दें।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्! सुनिये, श्वेता-

श्वतर नाम के ऋषि हैं, उन्हीं के नाम से यह उपनिषद् है। इसका आदि और अन्त का पाठ सहनावतु-आदि मन्त्र है। इसकी प्रस्तावना यों आरम्भ होती है।

प्राचीनकाल में परमार्थ को ही प्रधानता देने वाले ऋषि मुनि जब एकत्रित होते थे, तब परमार्थ सम्बन्धी प्रश्नों पर ही वाद-विवाद किया करते थे। इसे ज्ञान सत्र कहते थे। उसमें प्रायः सभी परमार्थ चिंतक होते थे। पहिले कुछ मिलकर प्रश्न करते थे, दूसरे ऋषि उसका उत्तर देते थे। ऐसा ही एक ज्ञान-सत्र हुआ। बहुत-से ब्रह्मवेत्ता तथा परमार्थ के जिज्ञासु साधक एक स्थान में एकत्रित हुए। उनमें से कुछ ने ये पाँच प्रश्न उठाये—

१—यह जो हमें जड़ चेतनात्मक जगत दीख रहा है इसका मुख्य कारण क्या है ?

२—हम सब किससे उत्पन्न हुए हैं ?

३—किस शक्ति द्वारा हम जीवन धारण किये हुए हैं ?

४—हमारी प्रतिष्ठा किस में है ?

५—हम सब किसके अधीन होकर सुख दुःखों की व्यवस्था में वर्त रहे हैं ?

ये पाँच प्रश्न उठे।

इनका उत्तर भिन्न भिन्न ऋषियों ने भिन-भिन्न प्रकार से दिया।

१—किसी ने कहा—"जगत् का मुख्य कारण काल है। काल के ही अधीन सब कुछ है। जिस समय जैसा काल होता है, वैसा कार्य स्वतः ही होने लगता है। जगत की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय में काल ही कारण है।"

२—किसी ने कहा—"सब कुछ स्वभाव के—प्रकृति के—अधीन है। सभी स्वभावानुसार हो रहा है।"

३—किसी ने कहा—"नियति-प्रारब्ध-के अधीन ही सब कुछ होता है।"

४—किसी ने कहा—"सब कुछ सहसा-अकस्मात् यदृच्छा से हो जाता है। सहसा बीज में से अंकुर उग आता है। सहसा गर्भ रह जाता है, बच्चा हो जाता है।"

५—किसी ने कहा—"पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से ही चराचर जगत् प्रपञ्च हो जाता है।"

६—किसी ने कहा—"यह जीवात्मा ही जगत् का मुख्य कारण है। जीवात्मा ही सृष्टि करने में समर्थ है।"

७—किसी ने कहा—"जगत का कोई एक ही कारण नहीं है। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचभूत, तथा जीवात्मा सभी के सहयोग से-सभी के संयोग से-यह जगत् होता है।"

इस पर कुछ ऋषियों ने कहा—"देखो भाई, काल, स्वभाव नियति, सहसा, पंचभूत ये इस जगत् के कारण कदापि नहीं हो सकते, क्योंकि ये सब-के-सब जड़ हैं। जड़ पदार्थ कोई भी कार्य स्वतः करने में समर्थ नहीं।"

इस पर दूसरों ने कहा—"अच्छा. जीव तो जड़ नहीं है, वह तो चैतन्य है। वही इस जगत् का मुख्य कारण होगा ?"

इस पर दूसरों ने कहा—' जीव तो कर्मों के आधीन है। यह तो प्रारब्ध के अधीन होकर कर्म करता है। कर्ता तो स्वतन्त्र हुआ करता है। जो किसी के अधीन है उसे तो स्वामी की इच्छानुसार कार्य करना होगा। अतः जीव भी जगत् का कारण नहीं हो सकता।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब आपस में विचार विमर्श करने पर वे जब किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे, तो सभी ने अपने-अपने चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्यान किया,

ध्यान में उन्होंने देवात्म शक्ति का साक्षात्कार किया जो अपने सत्व, रज तथा तम तीनों गुणों से निगूढा है–ढकी हुई है, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि वे परब्रह्म परमात्मा अकेले ही अपनी शक्ति के द्वारा ही काल पर, स्वभाव पर, नियति पर, यदृच्छा पर, पञ्चभूतों पर तथा जीवात्मा पर शासन करता है। अतः वे सबके शासन कर्ता, सबके नियामक, सबके स्वामी, शक्तिमान परब्रह्म परमात्मा ही इस सम्पूर्ण जगत् के तत्त्वतः कारण हो सकते हैं।

उन ब्रह्मर्षियों ने ध्यान योग के द्वारा इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का वास्तविक कारण परमात्मा ही है यही निर्णय किया। उन्होंने ध्यान में ही इस संसार चक्र को देखा। जो निरन्तर घूमता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इस संसार को चक्र क्यों कहते हैं ?

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! चक्र शब्द कृ धातु से बनता है। जो करने के अर्थ में व्यवहृत होती है। जिसके द्वारा कार्य किया जाय उसे चक्र कहते हैं (क्रियते अनेन इति=चक्रम्) चक्र रथ के पहिये को, कुम्हार के चाक को, भगवान् के अस्त्र सुदर्शन चक्र को कहते हैं। रथ के चक्रों से रथ चलता है, कुम्हार के चाक से नाना प्रकार के बर्तन बनते हैं। सुदर्शन चक्र से नाना असुरों का संहार होता है। ये चक्र घूमते रहते हैं और अपना कार्य करते रहते हैं। काल का भी चक्र है। कालचक्र घूमता घूमता प्राणियों का संहार करता रहता है। जैसे रथ का चक्र, कुम्हार का चक्र या चाक घूमते रहते हैं ऐसे ही यह संसार भी घूमता रहता है। रथ के चक्र या पहिये घूमते घूमते नीचे के ऊपर हो जाते हैं, ऊपर के नीचे चले जाते हैं, फिर नीचे के ऊपर हो जाते हैं।

ऐसे ही संसार चक्र में पड़ा जीव कभी स्वर्ग चला जाता है, फिर पृथ्वी पर आ जाता है, कभी रसातल पाताल में चला जाता है। यही संसार चक्र है। रथ के चक्र मे एक तो घेरा होता है जिसे नेमि कहते हैं। कई गोल लकड़ियों द्वारा वह घेरा बनाया जाता है। बीच में एक नाभि होती है, उसमे आड़े टेढ़े अरे लगे रहते हैं। वे अरे नेमि में जड़े रहते हैं। नाभि में एक छिद्र रहता है, जिसमें धुरा पिरोया रहता है। वह धुरा घूमता नहीं है, उसमें पिरोया पहिया घूमता रहता है, उस पहिय के घूमने से ही रथ चलता रहता है। ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर निरन्तर आता जाता रहता है। यह संसार भी एक चक्र है, ऋषियों ने ध्यान में उस संसार रूप चक्र को घूमते हुए देखा। यह कैसा चक्र है, इसमें पहिये के बीच में रहने वाली एक तो नेमि है, उसके बिना पहिया काम नहीं कर सकता, गोल घेरे का नाम ही नेमि है। इस चक्र में अरे और नाभि सलग्न रहते हैं, जड़े रहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"संसार चक्र में 'नेमि' स्थानीय कौन है ?"

सूतजी ने कहा—"इस संसार चक्र की नेमि प्रकृति ही है। प्रकृति ही कार्यों में जीवों को लगाती है। प्रकृति द्वारा ही संसार-चक्र चलता रहता है। इस अव्यक्त जगत् का मूल आधार प्रकृति ही है। पहिये के ऊपर लोहे के घेरे हाल चढ़े रहते हैं, जो नेमि का आधार है। सत्व, रज और तम ये तीन गुण ही इस चक्र के घेरे हैं। पहिये का गोल घेरा कई गोल लकड़ियों को मिलाकर बनाया जाता है। इसमें कई लकड़ियाँ जुड़ी रहती हैं। इस संसार-चक्र की गोल नेमि भी मन, बुद्धि, अहङ्कार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन आठ के संयोग से बनी है। आठ सूक्ष्म तत्त्व आठ स्थूल तत्त्व इस प्रकार आठ लकड़ियों के

जैसे सोलह सिरे होते हैं। ऐसे ही स्थूल सूक्ष्म भेद से इस संसार-चक्र के भी सोलह सिरे हैं। पहिये में बहुत से अरे होते हैं। इसी प्रकार इस संसार चक्र में पचास अरे हैं।

शौनकजी ने पूछा—"संसार-चक्र में पचास अरे कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! अन्तःकरण की पचास वृत्तियाँ ही संसार-चक्र के पचास अरे हैं। अरों के सहायक भी छोटे-छोटे अरे होते हैं। ऐसे बीस इस संसार चक्र के सहायक अरे हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"बीस सहायक अरे कौन-से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! पचास अरे, अन्तःकरण की पचास वृत्तियाँ यह तो सूक्ष्म अरे हुए। स्थूल रूप में जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। शरीर रूप पिंड में पचास अंग उपाङ्ग हैं। अथवा तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र ये पंच पर्वा अविद्या। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियाँ, अष्टाईस प्रकार की शक्ति और नौ प्रकार की तुष्टि। इस प्रकार पचास अरे बताये हैं।

बीस सहायक अरे, दश इन्द्रियाँ, शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श ये पाँच विषय तथा प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान ये पाँच प्राण इन्हें बताया है। इस पहिये में आठ वस्तुएँ के ६-६ षटक हैं। जिन्हें षडष्टक कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"षडष्टक क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! पहियों में छोटी-छोटी लकड़ी लगाकर कील काँटों में जड़कर जो आठ गोल लकड़ियों को

जोड़ा जाता है, उन आठों लकड़ियों के ६ जोड़ों को षडष्टक कहते हैं। वे आठ-आठ वस्तुओं से बनते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"इस संसार चक्र में षडष्टक कौन कौन हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् !

पहिला अष्टक—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन बुद्धि, और अहङ्कार-यह प्रकृति अष्टक।

दूसरा अष्टक—त्वचा, चर्म, मांस, रक्त, मेदा, अस्थि, मज्जा और वीर्य-यह धातु अष्टक।

तीसरा अष्टक—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति प्राकाम्य ,ईशित्व और वशित्व-यह सिद्धि अष्टक।

चौथा अष्टक—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य-यह भावाष्टक।

पाँचवाँ अष्टक—ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस पितर और पिशाच यह देवाष्टक।

छटा अष्टक—दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास मङ्गल, अकृपणता और उदारता यह गुणाष्टक।

ये ही ६ अष्टक बताये हैं।

चक्र में तीन मार्ग भेद होते हैं। इस संसार चक्र में देवयान मार्ग, पितृयान मार्ग और एक योनि से दूसरी योनि में यहीं से यहीं जाने का मार्ग ये तीन मार्ग भेद हैं। चक्र को घुमाने में ऊपर और नीचे दो घुमाने में निमित्त होते हैं। इस संसार चक्र में पुण्य और पाप ये ही दो निमित्त भेद हैं। चक्र में जो बीच में नाभि होती है। जिसमें सब अरे ग्रथित रहते हैं, वह नाभि संसार चक्र में मोह है। मोह के ही कारण संसार चक्र स्थित है।"

सूतजी कह रहे हैं—"ब्रह्मज्ञानी ऋषियों ने ध्यान में ऐसे ससार चक्र का साक्षात्कार किया। उन ऋषियों ने अपने ध्यान में ही इस ससार को नदी के रूप में भी देखा। जैसे ससार रूप नदी को मुनियों ने ध्यान में देखा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

नदी रूप यह जगत भेद जाके पचास हैं।
ज्ञानेन्द्रिय जो पाँच स्रोत मिलि ही प्रवाह हैं॥
जो तन्मात्रा पाँच नदी उद्गम बतलावें।
पंच प्रान जो कहे तरङ्गहु सो कहलावें॥
पचेन्द्रिय के ज्ञान जो, चाक्षुस आदिक पाँच हैं।
सबका मन कारन कह्यो, मूल यही सब सोंच हैं॥

संसार सरिता को पार करके प्रभुप्राप्ति का उपाय

[२७०]

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् । पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥*

(श्वेता० अ० उ० १ अ० ५ श्लोक

छप्पय

शब्द, रूप, रस, गंध, परस आवर्त कहावें ।
गर्भ, जन्म, गद, जरा, मृत्यु इनि वेग बतावें ॥
अँगुरी हैं जो बीस नाड़ि, मस्तक हु उदर है ।
पीठिहु नाभि, ललाट, नासिका, चिबुक, वस्ति है ॥
गुदा, कान, भौं, नेत्र जो, शंख, कन्ध, टँगना कहे ।
काँख, स्तन, लिङ्गहु वृषण, पसुरी सब चालिस भये ॥

---

* ऋषिगण ध्यान करने के अनन्तर बतला रहे हैं—"कि ह पचास भेदो वाली नदी जान गये हैं । जो पाँच स्रोतों के जल से भरी है पाँच स्थानो से उत्पन्न होकर उग्ररूपा और वक्रा-टेढी-मेढी है । पच प्रा ही जिसकी ऊर्मियाँ-तरंगे हैं, बुद्धि आदि पाँच ही जिसके मूल हैं । पा जिसमें आवर्त-भँवर-पड रहे हैं । पाँच प्रकार के जो दुःख हैं वे ही मा इस नदी के प्रवाह के वेग हैं । ऐसी यह पाँच पर्वों वाली नदी है ।"

ब्रह्माजी ने नाना योनियों की रचनायें कीं, किन्तु वे उन सबको रचकर भी सन्तुष्ट नहीं हुए। किन्तु जब उन्होंने मनुष्य योनि की रचना की तो उसे रचकर वे सन्तुष्ट हुए। अन्य सब योनियाँ भोग योनियाँ हैं। उन योनियों में कर्म करके मनुष्य स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। उन अन्य योनियों में जब तक जीव के भोग होते हैं, उन भोगों को भोगकर प्रारब्धानुसार अन्य योनियों में चले जाते हैं।

केवल एक मनुष्य योनि ही कर्म योनि है। इसमें पुरुष शुभ कर्म करके स्वर्ग जा सकता है, अशुभ कर्म करके नरक जा सकता है। मिश्रित कर्मों से बिना स्वर्ग नरक गये पुनः यहीं अन्य योनियों में जा सकता है और शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, इन सबसे परे होकर–ऊपर उठकर मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। प्रायः मोक्ष मानव शरीर से ही प्राप्त होती है।

यह मानव शरीर–विश्व ब्रह्माण्ड एक लघु प्रतिकृति है। मानचित्र है। विश्व ब्रह्माण्ड में जो-जो वस्तुएँ वृहद्रूप में हैं वे ही सबकी सब इस मानव शरीर में समुपस्थित हैं। इसीलिये यह उक्ति चरितार्थ होती है, कि 'जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में भी है।" तुम अपने शरीर का ज्ञान प्राप्त कर लो, विश्वब्रह्माण्ड का-तथा उसके कर्ता का ज्ञान हो जायगा। इसीलिये कहा गया है, अपने को देखो—आत्मानं पश्य।

ससार को ऋषियों ने सागर की उपमा दी है। संसारसिन्धु 'भववारिध' भवसागर, भवार्णव आदि-आदि संसार के विशेषण हैं। यहाँ ऋषियों ने संसार की–मानव देह की–उपमा नदी के साथ दी है। महाभारत में भगवान् व्यास ने कौरव पांडवो के युद्ध की उपमा भी नदी से दी है। नदी के दो तट होते हैं –एक

जल, तरंग, भँवर, वेग तथा उसमें रहने वाले मगर मच्छादि जीव होते हैं। महाभारत रूपा नदी के भीष्म और द्रोण तो दो तट हैं। जयद्रथ उसमें जल रूप है, गान्धारी के दुर्योधनादि शतपुत्र नीलकमल हैं। शल्य आदि शत्रु ग्राह के सदृश हैं। उसका वेग-प्रवाह-कृपाचार्य हैं। शल्य उसकी लहरें-वेला हैं। अश्व त्थामा, विकर्णादि बड़े-बड़े तिमिङ्गल हैं। दुर्योधन उसमें आवर्त भँवर है। ऐसी रण नदी को पांडव लोग पार कर गये। किसके सहारे से ? उन पांडवों को श्रीकृष्ण रूपी, नदी को पार कराने वाला चतुर कैवर्त-मल्लाह-मिल गया था। जैसे पांडवों ने रण नदी केशव के सहारे पार कर ली थी, वैसे ही इस संसार सरित को मानव उन्हीं केशव की कृपा से पार कर सकता है। इस संसार रूप नदी को-इस मानव देह को ऋषियों ने कैसे देखा इसमें जल, मूलस्रोत, तरंग, भँवर तथा वेग आदि क्या-क्या हैं इसका वर्णन ऋषियों ने जैसे किया है, उसे बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ध्यान में उन ज्ञानी महर्षियों ने पहिले तो यह जाना कि सब पर शासन करने वाले-सम्पूर्ण संसार को नियन्त्रण में रखने वाले सर्वशक्तिवान् सर्वेश्वर हैं फिर उन्होंने चक्र के रूप में संसार को देखा। फिर उसे ही उन्होंने नदी के रूप में देखा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! सर्वत्र तो संसार को सागर की उपमा दी गयी है। यहाँ ऋषियों ने उसे नदी के रूप में क्यों देखा ?"

सूतजी बोले—"ब्रह्मन् ! समुद्र दुर्ज्ञेय है, दुस्तर है, अपार अगाध है। इसीलिये सर्वत्र संसार को सागर के सदृश बताया गया है। ऋषियों ने उसे सरिता बताकर बहुत ही उत्तम कार्य किया

है। वास्तव मे संसार सागर न होकर सरिता ही है। देखिये,सागर अगाध, अपार तथा अनन्त है। नदी की थाह है, उसका अन्त है। समुद्र का दूसरा तट दिखायी नही देता। नदी के दोनों तट दृष्टिगोचर होते हैं। समुद्र का जल खारा अपेय है, उसमें कोई तैरने का साहस भी करे और बीच मे प्यास लगे तो जल में रह-कर भी प्यासा मर जायगा। नदी का जल मधुर और पेय है, कितना भी पीलो। समुद्र का पार करना कठिन काम है, नदी को पार करना सरल है। बहुत से–ज्ञानमार्गी–लोग तो अपने बाहु-बल से ही नदी को पार कर जाते हैं। सर्वसाधारण लोग–भक्ति मार्ग के अनुयायी–नौका द्वारा बिना परिश्रम के–बैठे-बैठे ही–नदी को पार कर जाते हैं। कब पार कर जाते हैं ? जब उनकी, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास–किसी नीति-निपुण न्यायप्रिय नाविक के प्रति हो। वे नाविक कैवर्त क्लेशों को हरण करने वाले केशव ही हैं। इसीलिये ऋषियों ने इस ससार को–इस मानव देह को–नदी के रूप में देखा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! नदी का तो उद्गम स्थान होता है, कई स्रोतों का जल मिलकर बहने लगता है। उसमें तरग, मूल, भँवर, वेग तथा विभाग होते हैं। इस ससार रूप नदी में ये कौन-कौन हैं। इनकी उपमा किन-किन वस्तुओं से दी गई है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो ! नदी में कई स्रोतों से–छिद्रों से–जल निकलकर तब बहने लगता है। इस संसार में–या शरीर में–जो आँख, कान, नाक, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय हैं, इनके छिद्र ही पाँच स्रोत हैं। इन्हीं में-से जल रूप संसार प्रवाह बहने लगता है। संसार की वस्तुओं का समस्त ज्ञान हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही होता है।"

शौनकजी ने कहा—"नदी का एक उद्गम स्थान होता है, वहाँ से निकल कर वह टेढ़ी-मेढ़ी बहती है। नदी कभी सीधी नहीं बहती वह सदा टेढ़ी बहेगी इसीलिये नदी का और नारी का नाम वक्रा गति वाली कहा गया है। इनकी चाल सदा टेढ़ी ही होती है। इस संसार का-देह का-उद्गम स्थान क्या है और यह संसार नदी वक्रा कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"अन्य नदियों का उद्गम स्थान तो एक ही होता है। किन्तु इस संसार रूपी नदी के-मानव देह के-उद्गम स्थान शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श-पाँच पञ्च सूक्ष्मभूत उद्गम स्थान हैं। और यह नदी वक्रा ही नहीं उग्रा भी है। इसका प्रवाह अत्यन्त ही उग्र है। इस संसार की चाल छल कपट के कारण टेढ़ी है। इसी भयंकर प्रवाह वाली टेढ़ी-मेढ़ी चलने वाली संसार नदी के चक्कर में जो फस जाता है उसे बार-बार डूबना उतरना-जन्मना मरना-पड़ता है।"

शौनकजी ने कहा—"नदी में तो बड़ी-बड़ी ऊर्मि-लहरें-तरंगें होती हैं। इस संसार रूप नदी में-मानव देह में-लहरें क्या हैं ?"

सूतजी ने कहा—"शरीर में जो चेतना है, वह प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान इन पञ्च प्राणों के ही कारण है। अतः पंचप्राण ही इस नदी में तरंग रूपी हैं।"

शौनकजी ने कहा—"नदी का एक मूल स्थान होता है, इस नदी का मूल स्थान क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"देखना, सुनना, सूँघना, रसास्वादन और शीत, उष्ण, मृदुल तथा कठोरता का ज्ञान ये जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच कर्म हैं। इन पाँचों ज्ञानों का अनुभव अकेले मन के ही द्वारा होता है। चक्षु रूप को देखती हैं किन्तु मन के द्वारा। मन

न हो, तो आँखें खुली होने पर भी हमें न दीखेगा। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों का मूल कारण मन है। वही मन इस संसार रूपी नदी का मूल स्थान है।"

शौनकजी ने पूछा—"नदी में जो आवर्त-भँवर पड़ते हैं, वे इस ससार रूप नदी में भँवर क्या हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच विषय ही इस ससार रूप नदी के—मानव देह के—पाँच आवर्त-भँवर हैं।"

शौनकजी ने कहा—"नदी तो वेग के साथ बहती है, इस ससार रूप नदी में वेग क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"गर्भ में रहने का दुःख, जन्म होते समय का दुःख, वृद्धावस्था का दुःख, नाना प्रकार की आधि-व्याधियों का दुःख, और मृत्यु का दुःख ये पाँच प्रकार के दुःख ही इस नदी के प्रवाह में वेग रूप हैं। इसी के गुण प्रवाह में पडकर नाना योनियों में आता जाता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"नदी के कुछ पर्व-विभाग-होते हैं, जिनमें नदी बँटी रहती है। गोमुख से हरिद्वार तक, हरिद्वार से प्रयाग तक, प्रयाग से काशी तक, काशी से गगासागर तक जैसे गगाजी के ऐसे विभाग हैं-पर्व हैं-वैसे इस ससार नदी में-मानव देह में-विभाग क्या हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पञ्चविध क्लेश ही इसमे पर्व हैं, विभाग हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"नदी के उद्गम से और जहाँ उसकी परि समाप्ति होती है। उस पूरे स्थान के कुछ भेद-विभेद होते हैं। ससार रूप नदी के कै भेद हैं ?"

सूतजी ने कहा—"अन्तःकरण की जो पचास वृत्तियाँ हैं ये

ही इस संसार रूप नदी के भेद हैं। मनुष्य शरीर में ६ भेद ४४ उपभेद हैं। इस प्रकार पचास भेदों में यह शरीर रूप बँटी हुई है ?"

शौनकजी ने कहा—"शरीर में ६ अंग और ४४ उपांग कौन-कौन-से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"दो पैर, दो हाथ, एक सिर और गुदा से लेकर कंठ तक का मदरा ये छैः अंग तो प्रत्यक्ष दिखायी देते ही हैं। अब ४४ उपाङ्गों की गणना करें। १० हाथों की उँगलियाँ १० पैरों की उँगलियाँ। २० हुईं। (२१) समस्त नस नाड़ियों का जाल, (२२) मूर्द्धा शिर, (२३) उदर, (२४) पीठ, (२५) नाभि (२६) मस्तक, (२७) नासिका, (२८) चिबुक, (२९) वस्तिस्थान (३०) गुदा, (३१) कान, (३२) नेत्र, (३३) भौंहें, (३४) शंख (३५) कन्धे, (३६) तराड-टंकना, (३७) दोनों काँखें, (३८) स्तन (३९) उपस्थ और अंड कोष, (४०) दोनों पँसुलियाँ, (४१) कटि भाग (स्फिच्) (४२) जानु-घोंटू, (४३) दोनों बाहें, (४४) दोनों जंघायें। ये उपाङ्ग या प्रत्यंग है। छै अंग ४४ उपांगों वाली यह पचास भेदों वाली मनुष्य देह है। संसार में जितने भी भेद प्रतीत होते हैं सब अन्तःकरण की वृत्तियों के कारण तथा शरीरों की आकृतियों के ही कारण होती हैं। इस प्रकार ध्यान में ऋषियों ने पचास भेदों वाली इस संसार नदी को—मानव देह को देखा।

जैसे रथ का चक्र, कुम्हार का चक्र, बच्चों के खेलने का चक्र (चकई) सुदर्शन चक्र है। वैसे ही ब्रह्मचक्र है। इस ब्रह्मचक्र में यह हंस रूप जीवात्मा घूमता रहता है। यह ब्रह्मचक्र सबकी जीविका का हेतु है—कारण—है। जीव मात्र को वही ब्रह्म आजीविका प्रदान करता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आजीविका तो मनुष्य कृषि,

गोरक्षा, वाणिज्य, प्रजापालन, सेवादि से स्वय अर्जन करता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जीव तो एक बिन्दु जल, एक कण पृथ्वी, एक चिनगारी अग्नि, एक झोंका वायु भी उत्पन्न करने में समर्थ नहीं। ये सब वस्तुएँ ब्रह्म द्वारा निर्मित हैं। एक बीज भूमि में बो देते हैं, उनके सैकड़ों बीज कौन बना देता है ? चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सबकी आजीविका परमात्मा ही चलाते हैं। जीव तो निमित्त मात्र है। वही सबका आश्रय है, सबकी सत्था है। उसी विश्व ब्रह्माण्ड के ससार चक्र में जीव कर्मानुसार घुमाया जाता है। चौरासी लाख योनियों में जन्मता मरता रहता है। अहकार से विमूढ हुआ जीव अपने को ही कर्ता मानकर बन्धन में बँध जाता है और नाना योनियों में भटकता फिरता है। जब यह अपने निज स्वरूप को वास्तविकता के साथ जान जाता है और यह भी जान लेता है, कि मुझ जीवात्मा से पृथक् एक सबको प्रेरित करने वाला परमात्मा भी है, तब उसे वे सर्वान्तर्यामी परमात्मा अपना निजजन स्वीकृत कर लेते हैं। उसे अपना कहकर वरण कर लेते हैं। जब जीवात्मा उन सबके प्रेरक परमात्मा द्वारा स्वीकृत कर लिया जाता है, अपना लिया जाता है, अपना आत्मीय, भक्त, तदीय, प्रपन्न, शरणागत मान लिया जाता है तब उसका जन्म मरण का चक्कर छूट जाता है, वह अमृतत्व का प्राप्त हो जाता है, वह ससारचक्र से सदा के लिये विमुक्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जीवात्मा तो शरीर में रहता है, वह परमात्मा कहाँ रहता है ? इसका पता ठिकाना हमें बता दीजिये, जिससे हम उससे जाकर मिल आवें।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! वह परब्रह्म यहीं हृदय में रहता है। वह अन्तःकरण में स्थित रहने से अन्तर्यामी कहलाता है। वेदों में

उसी परब्रह्म परमात्मा का ही तो वर्णन किया गया है। सत्य स्वरूप परब्रह्म को विद्वान् लोग बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं। कोई उन्हें इन्द्र कहते हैं, कोई ब्रह्मा, परमात्मा कहकर पुकारते हैं। समस्त जीवों का वही परब्रह्म आश्रय है, वह अक्षर अविनाशी है। उसका कभी नाश होता। वह अजर-अमर शाश्वत है, ये ऊपर नीचे और बीच तीनों लोक उसी में आश्रित हैं।"

शौनकजी ने कहा—'सूतजी! वह हृदय में दिखलायी नहीं देता?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अज्ञानियों को वह ही देगा। जिनके नेत्रों में मोतियाविन्दु है, उन्हें वह कैसे दे सकता है। जो ब्रह्मविद हैं, जिन्होंने वेद के यथार्थ तत्त्व को जा लिया है ऐसे महापुरुष ही उसे हृदय में देख सकते हैं। उसे देख कर वे तदीय बन जाते हैं, उन्हीं के परायण हो जाते हैं, उन्हीं तल्लीन हो जाते हैं, फिर वे कभी भी माता की योनि में न आते, जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा सर्वदा के लिये छू जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हृदय में अन्तर्यामी रूप स्थित उन परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप क्या है और उन्हें जा कैसे? उन्हें जान लेने पर जीव की स्थिति कैसी हो जाती है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन! ब्रह्म का स्वरूप तो अवर्णनी है। फिर भी शास्त्रों में जैसे उनके स्वरूप का वर्णन किया है औ उनकी प्राप्ति का जो फल है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा आशा है आप इस गूढ़ तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान को दत्तचित्त होक श्रवण करेंगे।"

छप्पय

कटि, घोंटू अरु बाँह, जाँघ सब चौबालिस हैं।
द्वै कर, द्वै पग, शिरहु, षडहु ये मुख्य अङ्ग हैं॥
देह रूप यह नदी पचासहु मेदनि वारी।
अन्तःकरननि वृत्ति पचासहिं अथवा न्यारी॥
पिंड माहिं, जो वस्तु हैं, सो ब्रह्माण्ड लँखात हैं।
ध्यान माहिं ऋषि मुनि तिनहिं, जानत वेद बतात हैं॥

ब्रह्म का स्वरूप और ब्रह्मप्राप्ति का फ

[२७१]

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च । अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥*

(श्वे० अ० उ० १ अ० ७ श्लो

छप्पय

वर्णित वेदनि ब्रह्म प्रतिष्ठा सब जीवनिकी ।
जिनिमें थित त्रयलोक हिये में इस्थिति जिनिकी ॥
जानि ब्रह्मविद लीन मुक्त नित होवैं जगतें ।
क्षर-अक्षर संयुक्त व्यक्त अव्यक्त विश्व ते ॥
धारन पोषन ईश जग करैं जीव भोगैं विषय ।
बँधै प्रकृति बन्धन तबहिं, जानि होइ तत्पर अभय ॥

एक व्यक्ति राजा के-से वस्त्र आभूषण पहिन ले, राजा समान मुकुट धारण कर ले, सुवर्ण का सिंहासन बनवाकर उ

---

* यह वेद वर्णित-उद्गीत-परब्रह्म प्राणिमात्र की सुप्रतिष्ठा है तथा वह अक्षर-कभी नाश न होने वाला है। उसी में तीनों स्थित हैं ब्रह्मवेत्ता पुरुष हृदय के अन्तर में स्थित उस परब्रह्म परमात्मा को जान कर उन्हीं के तत्पर-परायण-अधीन होकर उस परब्रह्म में लीन हो जा हैं, वे सभी प्रकार की योनियों से सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं।

पर आसीन हो जाय, इतना सब करने पर भी वह राजा नहीं हो सकता। वह नाटक का बनावटी ही राजा कहलावेगा राजा होने के लिये उसके यहाँ प्रधानमन्त्री, राजपरिषद्, सेना, कोष राजमहिषी और भृत्यवर्ग आवश्यक हैं। इन सबसे संयुक्त का ही नाम राजा है। राजपरिकर के बिना अकेले राजसी वस्त्र पहिनकर मुकुट लगाकर कोई राजा नहीं हो सकता।

जब राजा निकलता है, तो कुछ लोग तो कहते हैं, राजा जा रहा है। कुछ कहते हैं—राजा अपने परिकर सहित जा रहा है। दोनों का अभिप्राय एक ही है। जो कहते हैं—राजा जा रहा है, उसका तात्पर्य सेना, मन्त्री तथा रानी के निषेध में नहीं है। उसने इन सबको राजा के अन्तर्गत ही मान लिया है, क्योंकि राजा इन सबमें सर्वश्रेष्ठ है। जो कहते हैं, राजा अपने परिकर सहित जा रहा है, उसने राजा को पृथक् और मन्त्री, रानी, भृत्यवर्गादि की गणना परिकर में कर दी है। भाव दोनों का एक ही है। शब्दों के भेद से अज्ञों को भ्रम हो जाता है।

ऐसी ही प्रक्रिया वेद शास्त्रों की है। वेदों में कहीं तो एक, अद्वय ब्रह्म को ही अनादि अनन्त बताया है, कहीं ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन को अनादि बताया है। तो जहाँ केवल एक ही अद्वैत ब्रह्म है ऐसा कहा है, वहाँ जीव तथा प्रकृति के निषेध में तात्पर्य नहीं है। वहाँ तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है, जीव तथा प्रकृति उसके अधीन है। जहाँ यह कहा गया है ब्रह्म अद्वितीय है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसके सदृश या उससे श्रेष्ठ कोई नहीं है, वहाँ यही समझना चाहिये कि ब्रह्म सबसे उत्तम, सबका स्वामी, सबका संचालक है, प्रकृति और जीव उसके अधीन हैं। प्रकृति और पुरुष का अस्तित्व ही नहीं यह अभिप्राय नहीं। इस विषय को भगवान् ने श्रीमद्भगवत्

गीता में बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। तेरहवें में जहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग बतलाया है, वहाँ कहा है—प्रकृ और पुरुष इन दोनों को ही हे अर्जुन! तुम अनादि जानो जितने जो विकार हैं और सत्वादि जितने गुण हैं ये सब प्रकृति सम्भव हैं। ये सब प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। पुरुष जीवात्मा का क्या कार्य है, और प्रकृति का क्या कार्य है बताते हुए भगवान् कहते हैं—"प्रकृति तो इस कारण को उत्पन्न करने में हेतु मानी गयी है और पुरुष दुःख सुख भोगने में कारण माना गया है। प्रकृति जड़ पुरुष-जीवात्मा-चैतन्य है। चैतन्य है तो इसे दुःख क्यों होता है? चैतन्य को तो दुःख नहीं होना चाहिये?' इस पर भगवान् कहते हैं। दुखी होना जीव का स्वरूप नहीं. किन्तु जीव जब प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है, तो दुखी सुखी हो जाता है। गुणों का संग ही इस जीवात्मा को सद्-असद् योनि में ले जाता है। प्राकृत शरीर में अहंता ही के कारण-शरीर संयोग से-जीव दुखी होता है।

शरीर के संयोग से-शरीर में रहने के कारण ही पुरुष अहंकार के वशीभूत होकर दुखी होता है. तो परमात्मा भी तो शरीर में-अन्तःकरण में-अन्तर्यामी रूप से रहता है। जब शरीर संयोग से जीवात्मा दुखी होता है, तो परमात्मा को भी दुखी होना चाहिये। इस पर भगवान् कहते हैं—परमपुरुष-परमात्मा इस देह में रहता हुआ भी प्रकृति जन्य गुणों से परे ही रहता है वे गुण परमात्मा को स्पर्श भी नहीं कर सकते। क्योंकि वह कर्मों का द्रष्टामात्र है, केवल अनुमोदन करता है, वह कर्ता भर्ता, हर्ता, संहर्ता, भोक्ता होने पर भी महा ईश्वर है, आत्मासे-भाव से-परे होने से वह परमात्मा कहलाता है। बस, जीवात्मा के

गुणों सहित प्रकृति के तथा पुरुष–जीवात्मा–के तथा परमात्मा के स्वरूपों का यथार्थ ज्ञान भर हो जाय, तो फिर वह जन्म-मरण के चक्कर से सदा सदा के लिये विमुक्त हो जाता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जैसे चाहे तैसे रहे। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह संसारचक्र से विमुक्त हो जाता है।

इसी बात को पुनः पुरुषोत्तमयोग (पन्द्रहवें अध्याय में) और स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—"इस लोक में एक क्षर और दूसरा अक्षर ये हा दो पुरुष हैं। जितने भूत हैं–प्राणी हैं–वे तो क्षर हैं और कूटस्थ-जीवात्मा–अक्षर है। इन क्षर और अक्षर–प्रकृति और जीव–से पर एक अन्य पुरुषोत्तम ईश्वर–भी है। जो तीनों लोकों में प्रवेश करके समस्त लोकों का भरण पोषण करता है। उसी को अव्यय तथा ईश्वर और पुरुषोत्तम कहते हैं। उसे पुरुष से–जीव से–उत्तम पुरुषोत्तम क्यों कहते हैं? इसलिये कहते हैं, कि वह क्षर–प्रकृति–से अतीत और अक्षर-पुरुष-से उत्तम है। इसलिये उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। इस प्रकार गीता के मत से प्रकृति, पुरुष जिन्हें क्षर और अक्षर कहा गया है दो तो ये और एक ईश्वर तीन वस्तु नित्य तथा अनादि हैं। जीव और प्रकृति ये ईश्वर के अधीन हैं, ईश्वर से अवर हैं। ईश्वर सबसे श्रेष्ठ–प्रवर–हैं। वे सबसे श्रेष्ठ, उत्तम, सबके अधिष्ठाता हैं, अतः वे परब्रह्म एक हैं, अद्वय हैं, अनुपमेय हैं यह कहना भी यथार्थ है। इसी को श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट किया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! स्वरूप रहित उन परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवती श्रुति कह रही है—"संसार में दो ही हैं एक क्षर दूसरा अक्षर। जितना प्रकृति निर्मित जड वर्ग है वह सब क्षर है। जड़ पदार्थों के नाश होने पर-अदर्शन

अथवा लोप हो जाने पर-भी जिस जीवात्मा का नाश नहीं हो
वह अक्षर है। इन दोनों अक्षर-क्षर-का जो संयुक्त रूप है,
व्यक्त और अव्यक्त रूप में स्थित है वही यह संसार है,
है। इस सम्पूर्ण विश्व का-क्षर-अक्षर का-व्यक्त-अव्यक्त
स्वामी है, अधीश्वर है, प्रभु है, शासक है, प्रेरक है उसे
परमेश्वर और ईश कहते हैं। इन सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड
वही धारण करता है, वही सब परिपोषण करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! प्रकृति तो जड़ है। जीव
तो परमात्मा की भाँति जड़ न होकर चैतन्य है।
संसार-चक्र में बँध क्यों जाता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! संग दोष के कारण चै
होने पर भी जीवात्मा प्रकृति के अधीन होकर बँध जाता
जगत् में शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श सम्बन्धी जो विष
उन विषयों को जीव अपना भोग्य मानने लगता है। जो भो
होगा, उसे भोगजन्य कर्मों का फल भी भोगना ही पड़ेगा।
प्रकृति के भोगों में ममता करने से अपने को भोक्ता मानने
अहंकार करने से जीव संसार के बन्धन में बँध जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"जब जीव विषयों का भोक्ता बन
प्रकृति के अधीन होकर बँध ही जाता है, तो क्या सदा बँधा
रहता है, या कभी इस बन्धन से छूट भी जाता है?"

सूतजी ने कहा—"बन्धन वास्तविक बन्धन थोड़े ही है,
भ्रमवश उसे बन्धन मान लेता है। एक धोबी था वह अपने
को लेकर जंगल में गया। गधों को बाँधने की रस्सी एक ही
उसने एक गधे के पैर में तो रस्सी बाँध दी। शेष गधों के पैर
झूठे ही हाथ लगा दिया। अब सब गधे अपने को बँधा सम
लगे। प्रातः जब उन्हें ज्ञान हो गया, कि अरे, हम बँधे नहीं

इतना ज्ञान होते ही वे बन्धन मुक्त हो गये। इसी प्रकार यह जीव तो नित्य मुक्त है। प्रकृति के सयोग से अज्ञान के कारण-भ्रम-वश अपने को बँधा हुआ मानने लगा है। जिस समय उसे यह ज्ञान हो जायगा कि मेरा विनाशशील जड पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं तो उन चैतन्य स्वरूप देवाधिदेव का एक चेतन्याश हूँ, वे परमेश्वर ही मेरे स्वामी हैं इस प्रकार उन देव को जानकर ससार बन्धन से मुक्त हो जाता है। सदा बँधा ही नहीं रहता। अज्ञान मे बन्धन है ज्ञान से ही मुक्ति है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परमात्मा अनादि है या जीवात्मा?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! बार बार तो बता चुका हूँ जीव, ईश्वर और प्रकृति तीनों ही अनादि हैं। इन तीन मे दो चैतन्य हैं ईश्वर और जीव। एक प्रकृति जडा है।"

शौनकजी ने पूछा—"जब जीव भी चैतन्य है और ईश्वर, परमात्मा पुरुषोत्तम भी चैतन्य है तो इनमें फिर अन्तर क्या है?"

सूतजी ने कहा—"दोनों मे बहुत अन्तर है। एक ज्ञ है दूसरा अज्ञ है। एक सर्वज्ञ है, दूसरा अल्पज्ञ है। एक ईश है, दूसरा अनीश है। एक स्वामी है, दूसरा सेवक है। एक सर्वसमर्थ है, दूसरा असमर्थ है। इतना होने पर भी दोनों अज हैं, अजन्मा है।"

शौनकजी ने पूछा—"जब ईश्वर जीव दोनो अज अनादि हैं, तो जीव अनादिकाल से अज्ञ रहा होगा। जो अनादिकाल से अज्ञानी है वह बन्धन मुक्त कैसे हो सकता है?"

सूतजी ने कहा—"जीवात्मा के दो भेद हैं, एक

दूसरा ज्ञानी। वास्तव में जीव तो नित्य मुक्त ही है, प्रकृति के संसर्ग से वह अपने को बँधा हुआ-सा मानने लगता है। वास्तविक ज्ञान होने पर वह स्वरूपस्थ होकर अपने को प्रकृति से पृथक मान बैठता है।"

शौनकजी ने पूछा—"अच्छा, सूतजी! यह बताइये परमात्मा तो सबसे श्रेष्ठ सबसे बड़ा है ही। अब प्रकृति में और पुरुष अर्थात् जीवात्मा में और प्रकृति में इन दोनों में कौन बड़ा है?"

हँसकर सूतजी ने पूछा—"ब्रह्मन्! आप किसे बड़ा मानते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हम तो प्रकृति को ही बड़ा मानते हैं, जो नित्य मुक्त जीवात्मा को भी बन्धन में फँसा लेती है।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"ब्रह्मन्! किसे बड़ा छोटा कहें। जीवात्मा की भाँति प्रकृति भी अजा है अनादि है। यह जीवात्मा को भुगाने के लिये नाना प्रकार की सामग्रियों को सजा-सजाकर रखती है। जीव की यही अल्पज्ञता है कि उन सामग्रियों के चाकचिक्य में फँसकर प्रकृति के अधीन हो जाता है। जब उसके सखा, स्वामी, सुहृद् सर्वज्ञ परमात्मा उस पर कृपा करते हैं, उसे बुद्धि योग प्रदान करते हैं तो वह प्रकृति के मोह का परित्याग करके अपने सर्वज्ञ स्वामी के समीप आ जाता है, उनको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार जीवात्मा, परमात्मा और तीसरी शक्ति अजा प्रकृति है। तीनों अनादि हैं इन तीनों में ईश्वर, इन दोनों से विलक्षण, उत्तम, श्रेष्ठ है। ये दोनों ही-प्रकृति और जीव-ईश्वर के अधीन हैं। उनके परिकर हैं। लीला के अनादि उपकरण हैं। वह परमात्मा अनादि है, अनन्त है, विश्वरूप है, सबको रचने वाला होने पर भी स्वयं सदा सर्वदा अकर्ता बना रहता है। जब जीव इन तीनों को ब्रह्मरूप में जान लेता है

अर्थात् जीवात्मा और प्रकृति ब्रह्म के ही उपकरण है, उन्हीं के अधीन है, तभी वह बन्धन मुक्त हो जाता है। तीनों के स्वरूप का ज्ञान होना ही मुक्ति है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रकृति का स्वरूप क्या है ?"

सूजी ने कहा—"सत्व, रज और तम तीनों गुणों वाली प्रकृति है, इसी से समस्त प्राकृतिक पदार्थ बनते हैं। वे सब के सब नाशवान् हैं विनाशशील हैं। इसीलिये प्रकृति को क्षर कहते हैं, इसे भी प्रधान कहते हैं। प्राकृतिक जितने भी पदार्थ हैं वे जीव के भोग्य हैं। उन सबका भोक्ता जीव है।"

शौनकजी ने कहा—"जीव का स्वरूप क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जीव तो अमृत स्वरूप तथा चैतन्य है, इसीलिये उसको अक्षर कहते हैं। किन्तु प्रकृति के संसर्ग से वह अपने को भोगने वाला मानने लगता है। इसीलिये उसकी हर संज्ञा है अर्थात् प्राकृतिक विषयों को भोगने वाला। प्रकृति जड़ होने से अंधी है। पुरुष-जीवात्मा क्रियाशील न होने के कारण लूला है। इन दोनों को ही एक देवाधिदेव परमात्मा पुरुषोत्तम अपने शासन में रखता है।"

शौनकजी ने कहा—"जब जीव स्वभाव से ही अल्पज्ञ और प्रकृति के विषयों का भोक्ता है, तो वह संसार चक्र से मुक्त कैसे होगा ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! बार-बार तो बताया है, जीव स्वभाव से ऐसा नहीं उसे भ्रमवश कर्ता होने का अभिमान हो गया है। जहाँ उसके भ्रम की निवृत्ति हो गयी, जहाँ परमात्मा की कृपा से उसे भगवत्-स्वरूप का बोध हो गया। स्वयं मैं कर्ता नहीं हूँ सबके कर्ता, धर्ता हर्ता, संहारकर्ता परमात्मा ही हैं, जहाँ उसे ऐसा बोध हो गया, वहीं वह बन्धन मुक्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"परमात्मा के स्वरूप का बोध कैसे हो ?"

सूतजी ने कहा—"बोध तो तभी होगा जब वे ही चाहेंगे, वे ही जिसे अपना कहकर वरण कर लेंगे। वे ही जिसे बुद्धियोग प्रदान कर देंगे। इसलिये जीव को निरन्तर उन्हीं का ध्यान करना चाहिये। मन को विषयों में न लगाकर उन्हीं में उसे संयोजित करना चाहिये उन्हीं में निरन्तर उसे लगाये रहना चाहिये। इस प्रकार उनके निरन्तर ध्यान से, मन को उन्हीं में नियोजन करने से उन्हीं में तत्व भाव करने से–तन्मय हो जाने से–फिर जितनी भी विश्व की माया है—जितनी भी अविद्या है सभी की निवृत्ति हो जाती है। ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म को जान लेने का फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! बार-बार तो बतलाया है। उन परब्रह्म परमात्मा के निरन्तर ध्यान से, उन देवाधिदेव को सम्यक् प्रकार जान लेने से समस्त पाशों का–सभी प्रकार के प्रकृतिजन्य बन्धनों का–विनाश हो जाता है। जीव सदा-सदा के लिये बन्धन मुक्त बन जाता है। समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"क्लेशों के नाश होने से क्या होता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! संसार में पाँच ही प्रकार के क्लेश हैं। (१) गर्भ में रहने का क्लेश, (२) जन्म होते समय का क्लेश, (३) नाना प्रकार की आधि-व्याधियों का–विभिन्न रोगों का–क्लेश, (४) वृद्धावस्था का क्लेश, और (५) मरणकाल का क्लेश। सभी संसारी जीव इन पाँच प्रकार के क्लेशों से क्लेशित हैं। क्लेशों का जहाँ नाश हो गया, वहाँ जन्म मृत्यु का–माता के गर्भ में आने का–अभाव हो गया। जन्म न लेगा, गर्भवास न करेगा, तो शरीर की भी प्राप्ति न होगी। इसलिये

जिस शरीर से ज्ञान प्राप्ति हुई है वह चरम शरीर-अन्तिम देह-माना जायगा। इस शरीर के नाश होने पर पृथ्वी के भोग ही नहीं स्वर्ग के भोगों में भी स्पृहा न रहेगी। वह सभी प्रकार के विश्व के ऐश्वर्य का त्याग करके केवल-सर्वथा विशुद्ध-बन जाता है। वह आप्तकाम-पूर्णकाम-हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस ब्रह्म को जानने के लिये किस स्थान में जाना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अन्यत्र कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। वह ब्रह्म तो अपने अन्तःकरण में ही बैठा हुआ है। अतः आत्मस्थित ब्रह्म को निरन्तर जानना चाहिये। संसार में जानने योग्य एकमात्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म से बढ़कर वेदितव्य-जानने योग्य-और कुछ भी नहीं है। भोक्ता जो यह जीवात्मा है और भोग्य जो प्राकृत संसार के रूप रसादि विषय हैं इन सबके प्रेरक परब्रह्म परमात्मा ही हैं। इस प्रकार मानकर जो व्यवहार करता है तो मानों उसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया। इस प्रकार वह ब्रह्म त्रिविध है। अर्थात् जीव प्रकृति से संश्लिष्ट ही ब्रह्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप कहते हो, शरीर के भीतर ही हृदय की गुफा में जीवात्मा और परमात्मा बैठे रहते हैं। किन्तु वे दिखायी नहीं देते। उनका साक्षात्कार नहीं होता। वे किस साधन से ग्रहण किये जायँ ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! उपनिषदों में बारम्बार प्रणव जप पर बल दिया गया है। ब्रह्म साक्षात्कार का प्रणव जप ही सर्वश्रेष्ठ साधन बताया है। यहाँ पर भी प्रणव को ब्रह्म साक्षात्कार का जैसे साधन बताया है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अज्ञानी-सर्वज्ञ ईश-असमर्थ, दुऊ अज।
भोक्ता तो है जीव अभोक्ता ईश्वर कूँ भज॥
तीसरि प्रकृति अनादि सबनि में ईश्वर उत्तम।
आत्मा अखिल अनन्त अकर्ता है पुरुषोत्तम॥
सम्यक तीनिनि जानिकें, पुरुष ब्रह्म प्रापत करें।
क्षर अक्षर पै एक प्रभु, पुरुषोत्तम शासन करें॥

प्रणव जप द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार

(२७२)

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥*
(श्वे० उ० उ० १ म० १३ म०)

छप्पय

प्रभु को करिकें ध्यान लगावे मन तिनि चरनन ।
है तन्मय तिनि भजै कटें सब माया बन्धन ॥
करै ध्यान तिनि पाश कटैं सब क्लेश नसावें ।
जन्म मृत्यु नसि जाय पूर्ण कामहु कहलावें ॥
जो हिय थित परब्रह्म को, करै ध्यान नित नित हरष ।
उनतें बढ़िके जगत में, ज्ञेय नहीं कोई पुरुष ॥

ईख में यद्यपि मिश्री विद्यमान है, किन्तु कोई ईख के दण्डे को लेकर कहे कि दिखाओ इसमें मिश्री कहाँ है, तो ईख के दण्ड में

---

* जिस प्रकार अग्नि अपने आश्रय भूत काष्ठ में यद्यपि रहती है, तथापि उसमे उसकी प्रत्यक्ष मूर्ति दिखाई नहीं देती। उसमें उसकी सत्ता का—लिङ्ग का—नाश नहीं होता। यदि कोई प्रयत्न करे परिश्रम करके मथे तो वह अपनी योनि—ईंधन—मे फिर से प्रकट करके ग्रहण की जा सकती है। इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों देह मे ही प्रणव के जप रूप साधन से ग्रहण किये जा सकते हैं।

प्रत्यक्ष मिश्री नहीं दिखायी जा सकती। जब तक कि ईख को पेरकर उसका रस निकालकर उससे राब, गुड़, शक्कर आदि क्रमशः मल रहित करते हुए न बनाये जायँ और अन्त में शक्कर को भी निर्मल करके उसकी मिश्री न बनायी जाय। ईख से मिश्री बनाना श्रमसाध्य कार्य है।

यद्यपि तिलों में ही तैल विद्यमान है, किन्तु कोई बोरी भर के तिल लाकर रख दे और कहे—कि इनमें तैल कहाँ है, तो उनमें तैल तब तक नहीं दिखाई देगा, जब तक उन्हें विधिवत् कोल्हू में न पेरा जाय।

यद्यपि दूध की बिन्दु-बिन्दु में घृत व्याप्त है, किन्तु कोई घड़ा भरके दूध ले आवे और कहे—इसमें घृत कहाँ है, उसे दिखाइये, तो तब तक घृत नहीं दिखाया जा सकता जब तक दूध को परिश्रम करके गरम करके जमाकर उसका दही बनाकर मथा न जाय, मथकर मक्खन निकाल कर उसको गरम करके छानकर उसका घृत न बना लिया जाय।

इसी प्रकार भगवान् तो सबके अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान ही हैं, वे तब तक दिखायी नहीं देते जब तक जप,तप, संयम आदि साधन न किये जायँ, जब तक उनकी कृपा की प्रतीक्षा—सुसमीक्षा—न की जाय। अतः प्रणव के जाप द्वारा इसी मानव शरीर में ब्रह्मसाक्षात्कार किया जा सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस शरीर में ही जीवात्मा और परमात्मा निवास करते हैं, किन्तु वे शरीर में दिखायी नहीं देते। जैसे अग्नि काष्ठ में विद्यमान है। सदा रहती है। संघर्ष से—घिसने से—वह प्रत्यक्ष हो जाती है। ईंधन में—लकड़ी आदि में—दिखाई देती है। ईंधन के समाप्त होने पर फिर अदृश्य हो जाती है। फिर संघर्ष करने पर प्रकट हो जाती है, ईंधन नाश-

वान् पदार्थ है। जीव तथा ईश्वर अविनाशी हैं। वे शरीर में अप्रत्यक्ष रूप से हृदय कमल में रहते हैं। प्रणव के जप द्वारा वे प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। जैसे दो अरणियों के मन्थन से अग्नि प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रणव का मथन कैसे करे ?"

सूतजी ने कहा—"यज्ञों में जो मन्थन द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती है, उसमें एक नीचे की दूसरी ऊपर की दो अरणियाँ होती हैं। जब कोई बलवान् ऋत्विज बलपूर्वक मथता है, तब मथने से अग्नि की चिनगारियाँ उठने लगती हैं, उन चिनगारियों को रुई आदि में रखकर जलाया जाता है। इसी प्रकार अपनी देह को तो नीचे की अरणी बनावे और ओंकार को ऊपर की-उत्तरारणि-बनावे। निरन्तर सावधानी से ध्यानपूर्वक जप का अभ्यास करने से साधक, हृदय के मध्य मे छिपे उन परमदेव-परमेश्वर-को देख सकता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जैसे रोग केवल ओषधि खाने से ही नहीं जाता उसके लिये कठोरता से पथ्याहार पर भी ध्यान दिया जाता है। वैसे ही हृदय में छिपे परमात्मा के साक्षात् कार करने के लिये कौन कौन से सयम नियमों का पालन आवश्यक है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो ! तिलों में तेल छिपा रहता है, दही में घृत छिपा रहता है, सोतों में पानी छिपा रहता है। पहाड़ों पर ऐसे सोते हैं जो भीतर ही भीतर बहते रहते हैं, उनका जल दीखता नहीं। खोदकर उसमें यत्न पूर्वक लौह नल लगा देने से वह सोता फूट पडता है, उसमें से निरन्तर जल बहने लगता है। काष्ठ की अरणि में अग्नि छिपी रहती है, घिसने से वह प्रत्यक्ष हो जाती है। इसी प्रकार वह परमात्मा

हृदय प्रदेश में छिपा हुआ है। वह सत्य के द्वारा, तप के द्वारा तथा प्रणव के जप के द्वारा प्रकट हो जाता है। उसका नित्य नियम से संयम पूर्वक निरन्तर ध्यान करता रहे, तो वह अग्राह्य परमात्मा भी ग्रहण किया जा सकता है, उस परब्रह्म परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जा सकता है। जैसे दूध में घृत कहीं अन्यत्र से लाकर रखा नहीं जाता, दूध के अणु-अणु में घृत युक्ति द्वारा परिश्रम करने से प्राप्त किया जाता है, ऐसे ही सर्वान्तर्यामी प्रभु को आत्मविद्या तथा तपस्या द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है। साधक को सावधानी के साथ साधन द्वारा साध्य को जान लेना चाहिये कि उपनिषदों में बार-बार जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है वही सबसे श्रेष्ठ तत्त्व परब्रह्म परमात्मा है। इस बात को पुनः-पुनः बताया गया है, कि उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व एक मात्र ब्रह्म ही है।"

शौनकजी ने पूछा—"अध्याय के अन्त में एक ही वाक्य को दो बार क्यों कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"यह प्रचीन सदाचार है। अध्याय पूर्ति का संकेत है। शास्त्रों में कहा है, अध्याय के आरम्भ के श्लोक को और अन्त के श्लोक को दो बार पढ़ना चाहिये इससे पूरा अध्याय सम्पुटित हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! केवल सत्याचरण और तपस्या करते हुए प्रणव का जप ही करे, कि और भी कुछ साधन ब्रह्म साक्षात्कार के निमित्त करना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"जप के साथ-ही-साथ स्तोत्र-पाठ, ध्यान आदि भी करने चाहिये। भू शुद्धि करके ध्यान में बैठना चाहिये, इन सबका वर्णन अगले द्वितीय अध्याय में किया जायगा। आशा

है आप इस पावन प्रसग को प्रेम पूर्वक श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

हृदय कमल में जीव ब्रह्म दोऊ ई निवसें।
परब्रह्म ही ज्ञेय साधना तें ही निकसें॥
प्रेरक भोक्ता भोग्य जानिकें सब कुछ जान्यो।
ब्रह्म त्रिविध यों जानि ब्रह्मविद वेदनि मान्यो॥
ईंधन अगिनी दिखै नहिँ, करि प्रयत्न पुनि पुनि दिखै।
जाप प्रणव तें देह में, जीव ब्रह्मकूँ ही लखै॥

(२)

देह अधोऽरणि प्रणव उपर की अरणि बनावै।
करि करि मन्थन ध्यान अगिनि सम ब्रह्म लखावै॥
जैसे तिल में तेल दही में घृत जल सोतनि।
अरनिनि में ज्यों अगिनि छिपी त्यों ब्रह्म शरीरनि॥
सयम, जप, तप, सत्य तें, साधक जा चिन्तन करै।
देखै वह ही ब्रह्मकूँ, अमर होहि नहिँ वह मरै॥

(३)

दूध दही करि मथै जतन तें घृत मिलि जावै।
त्यों पूरन परब्रह्म ध्यान जप तप करि पावै॥
सयम साधन करै आत्म विद्या है प्रातक।
पाइ उपनिषद ब्रह्म विषय जगके हैं बाधक॥
सबहिँ उपनिषद एक स्वर, ब्रह्महिँ देईं महत्त्व है।
उपनिषदनि में कथित यह, परब्रह्म पर तत्त्व है॥

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रथम अध्याय
समाप्त।

स्तुति-पाठ

[२७३]

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥*

(श्वेता० अ० उ० २ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

(१)

तत्त्व प्राप्ति के हेतु हमें सविता अपनावें।
मोर प्रथम मन बुद्धि रूप निज माहिं लगावें॥
अग्नि आदि जो देव अधिष्ठाता इन्द्रिनि ते।
विषय प्रकाशित करत उलटि इन्द्रिनि विषयनि ते॥
जो प्रकाश इनि इन्द्रियनि, विषयनि में जावै नहीं।
इस्थिरता मन बुद्धि की, करै अनत भाजै नहीं॥

स्तुति, स्तोत्र, प्रशंसा, नुति, स्तवन ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान् ने तो जगत् को जब बनाया होगा, तब बनाया

---

* हे मन और बुद्धि! मैं तुम दोनों को बार-बार नमस्कार द्वारा सबके आदि उस परब्रह्म में नियोजन करता हूँ। मेरा यह स्तुति श्लोक सूरि पुरुषों की कीर्ति के सदृश सर्वत्र प्रसारित हो जाय। समस्त अमृत के पुत्र जो दिव्य धामों में निवास करते हैं, इस पुण्य प्रार्थना को सुनें।

होगा, किन्तु हम अपनी भावना के अनुसार भगवान् को नित्य ही बनाते हैं। अपनी भावना के अनुसार भगवान का निर्माण करते हैं। जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। हम अपनी भावना के अनुसार परिपूर्ण ब्रह्म का निर्माण करने में असमर्थ हैं, अतः क्योंकि भगवान् ने हमें परिपूर्ण नहीं बनाया है। जैसे हम अधूरे हैं, वैसे ही अधूरे भगवान् की हम कल्पना करते हैं। अधूरे भगवान् का निर्माण करते-करते कभी परिपूर्ण को भी प्राप्त कर लेते हैं। लडकियों को जब तक पति, पुत्र की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वे गुड्डा गुड़ियों से ही खेलती हैं। गुड्डा गुडियों का विवाह करती हैं, उनकी बरात निकालती हैं, भोज करती हैं, फिर उनके पुत्र होता है, उसका लालन-पालन करती हैं। झूठा खेल खेलते खेलते एक दिन उनका यथार्थ विवाह हो जाता है, वे स्वय दुलहिनि बन जाती हैं, फिर उनके यथार्थ में पुत्र हो जाता है, वे माता बन जाती हैं। इसी प्रकार साधक स्वनिर्मित भगवान् की पूजा स्तुति करते करते एक दिन यथार्थ में प्रभु को प्राप्त कर लेते हैं। साधक भगवान की षोडशोपचार या पचापचार आदि विधियों से पूजा करता है। पाद्य, अर्घ्यादि देता है। जैसे बाहर से आये अतिथि को हाथ पैर धुलाकर आचमनादि कराके भोजन कराते हैं वैसे ही भगवान् की पूजा करके उनके सम्मुख नैवेद्य रखते हैं। जो-जो वस्तुएँ अपने को अत्यन्त प्रिय हो, उन्हीं का भगवान् को भोग लगाना चाहिये। क्योंकि मनुष्य जो अन्न खाता है उसी को अपने भगवान् को भी भोग लगाता है। (यदन्न पुरुषो भवति तदन्न तस्य देवता) इसी प्रकार ससार मे सभी को अपनी प्रशसा प्रिय लगती है। ससार में ऐसा कोई भी पुरुष न होगा, जिसे अपनी स्तुति अच्छी न लगे। (स्तोत्र कस्य न रोचते भुवि नृणाम्) इसी भाव से हमारे भगवान् को

अपनी स्तुति अच्छी लगती होगी, अतः भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त हम स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति करते हैं। भगवान को चाहें व्यक्तिगत रूप से अपनी प्रशंसा भले ही न सुहाती हो, किन्तु स्तुति कर्ता की प्रसन्नता के हेतु भगवान को स्तुति से प्रसन्न होना ही पड़ता है। क्योंकि उनका व्रत है कि भक्त उनको जिस भावना से भजता है, भगवान भी उसे उसी भावना से भावित होकर उसकी इच्छानुसार ही फल भी देते हैं। अतः भगवान् को प्रसन्न करने का स्तोत्र पाठ करना सबसे सरल, सुगम, सरस साधन है। स्तुति पाठ से अन्तःकरण तन्मय हो जाता है। ऐसे अन्तःकरण में प्रवेश करके भक्तवत्सल भगवान् साधक को अवश्य दर्शन देते हैं। अतः नित्य ही नियम से भगवान् की जै बार दिन में बन सके तै बार अवश्य ही स्तुति करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पीछे भगवत् प्राप्ति के लिये सत्य तथा तपस्या करते हुए प्रणव का जप और ध्यान ये साधन बताये। अब इस आगे के अध्याय में ध्यान का प्रकार बतावेंगे। पहिले भगवान् के ध्यान के पूर्व हाथ जोड़कर नम्र भाव से गद्-गद स्वर में उनकी स्तुति करनी चाहिये। भगवती श्रुति स्तुति के मन्त्र बताकर स्तुति करने की विधि बताती है।"

(१)

भगवान् का एक नाम सविता है। वैसे सविता शब्द का अर्थ है, जो सबको उत्पन्न करे (सूते लोकादीन्-इति=सविता) सूर्य के अर्थ में रूढ़ि है। सूर्य भी विष्णु स्वरूप ही हैं। अतः वे सबको उत्पन्न करने वाले सविता परमात्मा हमारे मन को तथा हमारी बुद्धि को निर्मल तथा पवित्र बना दें, जिससे हमें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो और उन सविता के स्वरूप की उपलब्धि हो। हमारी इन्द्रियों के जो इन्द्र, अग्नि आदि अधिष्ठातृ देवता हैं,

उन्हीं की सामर्थ्य से इन्द्रियाँ विषयों को प्रकाशित करती हैं। इन्द्रियों में स्वतः विषयों की ओर जाने की सामर्थ्य नहीं, जब उन्हें अपने अधिष्ठातृ देवताओं द्वारा प्रकाश प्राप्त होता है, तभी इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं। तो आप उन देवताओं को भगवन्! ऐसी प्रेरणा करें कि हमारी इन्द्रियों को संसारी विषयों से रोक कर उन्हें आप में लगने की प्रेरणा दें। इन्द्रियाँ जो विषयों को देखकर देवताओं के प्रकाश को पाकर चंचल हो जाती हैं, आप देवताओं से कह दें, वे इन्द्रियों में चंचलता न आने दें, उनमें स्थिरता स्थापित कर दें। जिससे हमारी इन्द्रियाँ बाहरी विषयों में भटकती न फिरें। एकाग्र हुए तथा विशुद्ध बुद्धि में ही इन्द्रियों का प्रकाश सीमित रहे। अर्थात् इन्द्रियों का द्वार बाहर की ओर होने से बाहरी विषयों में भटकना उनका स्वभाव है। वह स्वभाव परिवर्तित होकर वे आत्मा में–परमात्मा में लग जायँ। बाहर की ओर न देखकर भीतर की ओर देखें।

(१)

तत्त्व प्राप्ति के हेतु हमें सविता अपनावें।
मोर प्रथम मन बुद्धि रूप निज माहिं लगावें॥
अग्नि आदि जो देव अधिष्ठाता इन्द्रिनि ते।
विषय प्रकाशित करत उलटि इन्द्रिनि विषयनि ते॥
जो प्रकाश इनि इन्द्रियनि, विषयनि में जावै नहीं।
इस्थिरता मन बुद्धि की, करै, अनत भाजै नहीं॥

(२)

हे प्रभो! हमारी आपके पुनीत पादपद्मों में यही पुनः पुनः प्रार्थना है कि हम लोग परमात्मा आपको–जो आप इस सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को रचने वाले हैं–उनकी आराधना रूप यज्ञ में

अपने मन को लगा दें। आप में मन लगाने से क्या होगा ? जैसे यज्ञ में मन लगाने से स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति होती है वैसे आपकी उपासना रूप यज्ञ में मन लगाने से आपकी प्राप्ति रूप स्वर्गीय सुख मिलेगा। अतः हमारी आपके चरणों में यही प्रार्थना है। कि हमारा मन पूरी शक्ति से आपको प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

(२)

आराधन मिलि करें यज्ञ जाई कूँ जानें।
सबके सविता देव आपकूँ सब कुछ मानें॥
मन तैं परमानन्द प्राप्तहित जतन करें नित।
आराधन में लग्यो रहे हमरो चंचल चित॥
पूर्ण शक्ति के सहित मन, सुख स्वर्गीय निमित्त हित।
लग्यो रहे, विषयनि जगत, भूलि कबहुँ नहिँ जाइ चित॥

(३)

हे सविता देवता ! तुम सबको उत्पन्न करने वाले हो, सबके उत्पादक तथा जनक हो। इन्द्रियों के जो अग्नि आदि अधिष्ठातृ देवता हैं, जो स्वर्ग में तथा आकाशादि में विचरण करते रहते हैं, जिनका महान् प्रकाश–बृहत् आलोक–चारों ओर फैला रहता है। जो प्रकाश को फैलाने वाले हैं। उन देवताओं को हमारे मन से तथा हमारी बुद्धि से युक्त कर दें जिससे हमारा मन तथा बुद्धि विषयों की ओर न जाकर आपके ध्यान के प्रकाश में प्रकाशित रहें। आप उन इन्द्रिय अधिष्ठातृ देवों को इसी प्रकार की प्रेरणा प्रदान करें।

(३)

जग उत्पादक ईश देव सविता कहलावें।
करणाधिष्ठित देव स्वरग दिवि आवें जावें॥
बृहत ज्योति फैलाय दिव्यता देव दिखावें।
वे हमरी मन बुद्धि सकल सयुत है जावें॥
उनि देवनिकूँ हे प्रभा! करा प्रेरना प्रेम तैं।
शुद्ध बुद्धि मनकूँ करें, करें उपासन नेम तैं॥

(४)

इस ससार में स्तुत्य एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही हैं। स्तुति करने योग्य एक मात्र वे ही हैं। जीव तो पराधीन है। सबसे विशुद्ध वे ही हैं, शुभ कर्मों के निर्माता भी वे ही हैं, सबके स्वामी भी वे ही हैं। इसीलिये जो षट् कर्मों को करने वाले, जो वेदों का स्वाध्याय करने वाले विप्रगण हैं, वे अपने मन को उन्हीं परमात्मा में लगाते हैं। यही नहीं अपनी बुद्धि को–प्रज्ञा को–उन्हीं में स्थिर करते हैं। ससार में वेद विहित जितने भी यज्ञादि शुभ कर्म हैं, उन सबका विधान भी वे ही विश्वेश्वर विभु करते हैं। वे सर्वज्ञ हैं, ससार के जितने भी जीव हैं, सबके विचारों को–भावों को वे भली-भाँति जानत हैं। वे एक हैं, अद्वितीय हैं, उनके सदृश शक्तिशाली दूसरा कोई है ही नहीं। वे महान् स भी महान्, बृहद् से भी बृहद् हैं, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हैं, बडे से भी बडे हैं। वे एक देशीय नहीं। यत्र-तत्र सर्वत्र सब स्थानों में व्याप्त हैं, सर्व-व्यापक हैं। वे विपश्चित हैं, सर्वज्ञ हैं, सभी को जानते हैं। वे सविता हैं, सबको उत्पन्न करने वाले हैं। समस्त जगत के उ
हैं। वे दिव्य गुणों दिव्यातिदिव्य, देव हैं, इसीलिये उन्हीं

परमात्मा प्रभु की हमें परिष्टुति-स्तुति-महती स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये।

(४)

उन प्रभु इस्तुति करो विप्र मन जिनहिं लगावैं।
अग्निहोत्र शुभ करम करन विधि सकल बतावैं॥
जग विचारविद देव एक सबतें महान हैं।
जो व्यापक सरवज्ञ जगत के उत्पादक हैं॥
हैं देवाधिप देव वे, कोई उनतें श्रेष्ठ नहिं।
महती इस्तुति योग्य हैं, कोई उनतें ज्येष्ठ नहिं॥

(५)

हे मन! तुम मनन किया करते हो। हे बुद्धि तुम निश्चय करती हो, तुम दोनों मेरी बात सुनो कि तुम दोनों के सहित मैं तुम्हारे जो प्रेरक स्वामी हैं, जिनसे पूर्व कोई भी नहीं हैं, जो समस्त विश्व ब्रह्मांडों के आदि कारण परब्रह्म परमात्मा हैं, उनको मैं नमस्कार करूँ। मन से नमस्कार करके, बुद्धि से नमस्कार करके मैं उनमें मिलता हूँ, उनमें संयुक्त होता हूँ। तुम भी मेरा अनुगमन करो, तुम भी उनमें मिल जाओ। मैं उन्हीं सर्वेश्वर की स्तुति करता हूँ। मेरा यह स्तुति पाठ उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् में प्रसारित हो जाय-फैल जाय-जिस प्रकार सूरि पुरुषों की-विद्वान् सद्गुण सम्पन्न सज्जनों की-कीर्ति दिगदिगान्तों में फैल जाती है। उन प्रभु की इस अनन्त सर्वव्यापिनी कीर्ति को दिव्यलोकों में निवास करने वाले समस्त अमृत पुत्र सुखपूर्वक श्रवण करें। उन ललितत्रिभंग लावण्ययुक्त परमेश्वर के लाड़िले लाल भली भाँति उनके यश का श्रवण करें।

(५)

हे मेरे मन ! बुद्धि ! तुम्हारे स्वामी है प्रभु ।
उन परात्पर ब्रह्मयुक्त है नमन करौं विभु ॥
मेरो इस्तुति पाठ सूरि की कीर्ति सरिस बनि ।
फैले जग सरबत्र सुनें सब सुकृति पुरुष धनि ॥
सुने अमृत के पुत्र सब, दिव्य धाम ज बसत हैं ।
इस्तुति सुनि हरषें सुकृति, दुष्कृति सुनिके हँसत हैं ॥

(६)

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा का स्तुति का प्रकार बताकर ध्यान करने से ध्यान की जो स्थिति होती है, ध्येय का ध्यान करने से ध्याता को जो सुख मिलता है, उसका मन जैसे निर्मल पवित्र हो जाता है, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—"यह जो परमात्मा का ध्यान है, यह एक प्रकार का महान् यज्ञ है। यज्ञ में दो अरणियों की रगड से यज्ञीय अग्नि उत्पन्न की जाती है यहाँ अग्नि क्या है ? तो कहते हैं शरीर तो नीचे की अरणि है और प्रणव-ओंकार ऊपर की अरणि है। उस ओंकार का निरन्तर सघर्षण करके-जप करके, ध्यान करके-अग्नि रूप परमात्मा को प्रकट किया जाता है। अरणि मन्थन वायु जहाँ निरुद्ध हो निर्वात स्थान मे की जाती है। अतः परमात्म प्राप्ति के लिये जप और ध्यान वायु का अवरोध करके प्राणायाम पूर्वक-करना चाहिये। तो इस ध्यान रूप यज्ञ में सोमरस प्रकट होगा। यज्ञों में जैसे हवन के अनन्तर सोमरस पान का पर्व होता है, वैसे ही इस ध्यान यज्ञ से सोमरूप परमानन्द प्रकट होता है। ध्यान से परमात्मा की प्राप्ति होती है। यज्ञ में सोमरस पान करने से आत्म शुद्धि होती है, इसी प्रकार २-

ध्यान रूप यज्ञ से जो परमानन्द प्राप्त होगा, उसके आस्वादन से मन विशुद्ध बन जाता है। विशुद्ध मन में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है—

(६)

तहँ मन होवै शुद्ध अरनि मन्थन जहँ होवै।
देह प्रणव जपि ध्यान यज्ञ तैं प्रभुकूँ जोवै॥
प्राण वायु संराध करें विधिवत साधकगन।
जहाँ सोमरस मिलै करें ऋषि मुनि अभिनन्दन॥
करि स्वदेह नीची अरनि, प्रणव करै उत्तर अरनि।
यज्ञ होहि मथि यज्ञ तैं, मिलै सोमरस सुखद बनि॥

(७)

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार ध्यान की स्थिति का वर्णन करके अब साधकों को ध्यान में लग जाने का आदेश करते हुए भगवती श्रुति कह रही है—"हे साधकगण! वे परब्रह्म परमात्मा सविता हैं–समस्त जगत् के उत्पादक हैं, उनके द्वारा जो प्रेरणा प्राप्त हुई है उसी प्रेरणा के द्वारा उन परात्पर परमात्मा की–सबके आदि कारण उन परमेश्वर की–सेवा–पूजा–अर्चना आराधना–करनी चाहिये। एकमात्र उन्हीं सर्वात्मा सर्वाश्रय सर्वेश्वर का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। उन सर्वज्ञ सर्वभूतात्मा सर्वान्तर्यामी का आश्रय लेने से पूर्व संचित समस्त कर्म विघ्नकारक नहीं होते, अर्थात सभी संचित और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं। जीवात्मा कर्म के बन्धनों से सर्वथा छूट जाता है। इस प्रकार श्रुति ध्यान का आदेश देकर जैसे अब ध्यान करने की विधि बतावेगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

(७)

छप्पय

कान खोलिके सुनो, सकल साधक चित लाओ ।
प्रभु प्रेरित उपदेश हरषि मन ध्यान लगाओ ।
सबके कारन आदि मह्म आराधन करिके ।
आश्रय करिके प्रात ध्यान श्रद्धातैं धरिके ॥
तो तेरे पूरब करम, विघ्न रूप हावैं नहीं ।
सेवा करि परमेश की, करम कष्ट देवैं कहीं ?

ध्यान की विधि और उसका फल

(२७४)

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥*

(श्वे० ब० उ० २ अ० ८ मं०)

छप्पय

सिर, गल, छाती तानि सीध तन मन इन्द्रिय थिर।
हिय निरुद्ध करि नाव प्रणव चढ़ि भव सागर तर॥
युक्ताहार विहार प्राण संयम रथवत करि।
मन वश में करि ध्यान शुद्ध भू सुखपूर्वक धरि॥
अग्नि, वायु, नीहार रवि, धूम, फटिक, खद्योत, मनि।
विद्युत अरु शशि के सरिस, दृश्य दिखें साधकहिं घनि॥

इस शरीर में मेरु दंड ही प्रधान है। इकहत्तर करोड़ नाड़ियों में जो सबसे श्रेष्ठा सुषुम्ना नाड़ी है, जिसमें से समस्त नाड़ियाँ निकलती हैं, वह मेरुदंड में ही स्थित है। मेरुदंड या रीढ़ सर्वथा

* ध्यान करने वाले विद्वान् साधक को चाहिये कि शरीर के तीनों स्थानों (सिर, कंठ और वक्षःस्थल) पर उभरे शरीर को सीधा करके उसे भली प्रकार स्थिर करे। फिर इन्द्रियों को मन से हृदय में संनिवेशित करे। प्रणवरूपी नौका से समस्त भयावह स्रोतों के जल प्रवाह को तर जाय। पार हो जाय।

सीधा नहीं है। वह सिर में, कठ में और वक्षःस्थल में टेढ़ा है। साधारणतया हम बैठते हैं, तो मेरुदड टेढ़ा ही रहता है, सहज स्वभाव से हम बैठें ता हमारा कमर लच जाती है, हम टेढ़े बैठते हैं, क्योंकि मेरुदड त्रिभग है, तान स्थानों से टेढा है इसलिये इसे बकनाल-टेढ़ी-मेढ़ा नली-भी कहते हैं। जब तक आदमी टेढ़ा बैठेगा तब तक सुषुम्ना में प्राणो का संचार होना बन्द रहेगा। जब हम मेरुदड को अभ्यास द्वारा सीधा कर लेंगे, तब इसमें प्राणों का सचलन प्रत्यक्ष दिखाया देने लगेगा। मेरुदड सीधा कब होगा ? जब हम आसन से बैठने का अभ्यास करें। आसन किसे कहते हैं ? बैठने की उस स्थिति का नाम आसन है, जिसमें सिर कठ तथा वक्षःस्थल ये तीनों ही सीधे रहे आवे और हमारी कमर पाछे की ओर निकली न रहकर सीधी रहे-सुस्थिर रहे-अशुद्ध बैठते रहने के कारण हमे टेढ़ी कमर करके बैठने में हा सुविधा प्रतीत हाती है। सुस्थिर सीधे बैठते हैं, तो हमे असुविधा होती है। यह अशुद्ध बेठने का फल है। जब कमर को सीधा करके-सिर, कठ और छाती को तान कर हम बैठें तो इससे एक अपूर्व प्रकार का सुख होता है। तो स्थिर होकर सुखपूर्वक बैठने का हा नाम आसन है। ध्यान या जप करने जब भी बैठे, तब कमर का सीधा करके सुस्थिरतापूर्वक ही बैठे, तभी ध्यान करने मे आनन्दानुभूति होगा। इसलिये जप तथा ध्यान का श्रीगणेश सीधा सुस्थिर बैठने से-आसन से ही-आरम्भ होता है। अष्टाङ्गयोग के जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि य आठ अंग है। इनमे यम और नियम ता सभा को पालन करने ही पड़ते हैं। इनका सम्बन्ध मन से है। योग का आरम्भ तो आसन से होता है और ध्यान की परिपक्वावस्था समाधि में ही उसकी समाप्ति है। स्व--

स्वरूप में स्थित हो जाना ही समाधि का फल है। इसीलिये अष्टांग योग को षडाङ्गयोग भी कहते हैं। ध्यान द्वारा ध्याता–ध्यान करने वाला–अपने ध्येय को प्राप्त करता है। ध्यान करने वाले को सर्वप्रथम बैठने का–आसन सिद्धि का–अभ्यास करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ध्यान करने का अभ्यास करने वाले साधक को समभूमि में गुदगुदा आसन बिछाकर–जिसके सबसे नीचे कुशासन, फिर मृगचर्म और उसके ऊपर ऊनी या सूती वस्त्र का आसन हो–उस पर कैसे बैठना चाहिये इसे बताते हैं।"

यह मानव शरीर स्वभाव से तीन स्थानों से टेढ़ा है अर्थात् झुका हुआ है। जब भी बैठे तब शरीर को सीधा करके बैठे विशेषकर ध्यान के समय तो शरीर को सुस्थिर करके ही स्थित हो। बुद्धिमान साधक को चाहिये ध्यान करने जब हम बैठें, तो सिर को, कंठ को तथा वक्षःस्थल को सीधा करके, छाती को कुछ ऊपर उभार कर सम्पूर्ण शरीर को स्थिर रखे। शरीर इधर-उधर आगे-पीछे की ओर झुकने न पावे। सीधे बाँस की भाँति उसे एक सीध में रखे। ढीला छोड़ देने से–शरीर को झुका देने से–ध्यान के समय निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद ये आकर शरीर पर अधिकार जमा लेते हैं। फिर सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके तत्तद् विषयों से हटाकर मन के द्वारा उनका संरोध करके सभी बाह्य-विषयों से खींचकर हृदय में ही उन्हें रोके रहना चाहिये। उन्हें वहीं निरुद्ध कर लेना चाहिये।

इन इन्द्रियों के प्रवाह-वेग बहुत प्रबल हैं। जैसे जल के स्रोत एकत्रित होकर नदी का रूप रखकर दुस्तर हो जाते हैं, फिर बिना नौका के उन्हें पार करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार विषय

वासना के जो स्रोत हैं, वे सब मिलकर परम प्रवाह रूपी वही संसार नदी बन जाती है। इस संसार नदी को प्रणव रूपी नौका से-ॐकार के जप ध्यान से-इस भव नदी को पार कर लेना चाहिये। जहाँ न जरा का भय है न आधि-व्याधि तथा मृत्यु का भय है। प्रणव द्वारा वहीं जाकर अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।"

शौनकजी ने पूछा—"समभूमि में चैल अजिन और कुशोत्तर आसन पर सुस्थिर सीधा बैठकर क्या करे?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन! साधक को सबसे पहिले अपने आहार-विहार को विशुद्ध बना लेना चाहिये। क्योंकि आहार शुद्धि से ही सत्त्वसिद्धि सम्भव है। अतः आहार विहार की समस्त चेष्टाओं को युक्त करके समस्त कर्मों को यथावत् करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणों का संयम किये बिना मन स्थिर नहीं होता। प्राणायाम से प्राणों की गति सूक्ष्म हो जाती है। कुम्भक प्राणायाम करके, फिर नासिका के छिद्र से शनैः-शनैः वायु को रेचन करना चाहिये-बाहर निकाल देना चाहिये-तब मन को वश में करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"मन को वश में कैसे करे?"

सूतजी ने कहा—"जैसे घोड़े को लगाम के द्वारा सारथी वश में कर लेता है, उसी प्रकार इन चंचल इन्द्रियों को मन रूपी लगाम द्वारा मन को वश में किया जा सकता है। यह शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, जीवात्मा इस रथ का स्वामी-इस रथ का रथी कहा गया है। यदि बुद्धि रूप सारथी सावधानी से रथ को चलाता है, लगाम रूप मन को-सावधानी से खींचे रहे, तब रथ पथभ्रष्ट नहीं होता। इधर-उधर भटक के नहीं गिरता चाहे कैसे भी दुष्ट हों, यदि [illegible]

राजपथ को-गन्तव्य मार्ग को-छोड़ता नहीं, सुपथ में ही चलता। यदि बुद्धि रूप सारथी इन्द्रिय रूप अश्वों की मन रूपी लगाम को सावधानी से पकड़े रहता है तो रथ अपने रथी-जीवात्मा-को गन्तव्य स्थान पर पहुँचा ही देता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ध्यान जिस भूमि पर बैठकर किया जाय, वह भूमि कैसी होनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"ऐसी भूमि पर ध्यान करने का आसन जमावे जो ऊँची-नीची-ढालू न हो। सीधी सम हो। जिसमें कंकड़ पत्थर न हों। कँकरीली बहुत बालू वाली भी न हो। जहाँ पर कोलाहल न होता हो, शान्त एकान्त सुन्दर वातावरण हो, बहुत रूक्ष स्थान भी न हो, सुन्दर जलाशय पवित्र नदी समीप ही हो, जिससे जल की असुविधा न हो। ऐसा सुन्दर आश्रय हो जहाँ सभी आवश्यक वस्तुओं का सुपास हो, ध्यानोपयोगी सभी प्रकार की अनुकूलतायें हों। स्थान रमणीक हो, जहाँ नेत्रों को पीड़ा पहुँचाने वाले भयानक दृश्य, धूँआ आदि न हों जहाँ विशेष वायु का भी प्रकोप न होता हो ऐसी निर्वात कुटिया में गुफा में नदी के निकट पवित्र स्थान में आसन लगाकर मन को जीतने के लिये ध्यान लगाना चाहिये। निरन्तर ध्यान किया करे। दीर्घ काल तक श्रद्धा के सहित ध्यान करे।"

शौनकजी ने पूछा—"यह कैसे पता चले, कि हमारा ध्यान ठीक हो रहा है ? हम ध्यान में उन्नति कर रहे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जब ध्यान करते-करते दृष्टि के सम्मुख नीहार-कुहरा-सा छाया हुआ दिखायी दे। धूँआ के समान काला-काला परदा-सा दीखे। वायु की-सी सनसनाहट सुनायी दे। अग्नि के रंग के सदृश लाल-लाल, सूर्य के सदृश सफेद-सफेद जुगनू की भाँति सफेद प्रकाश आँख बंद करने पर तथा खोलने

पर भी दिखायी दे। जिधर दृष्टि घुमावे उधर ही वह दिखायी देने लगे। कभी बिजली जैसी चमक दिखायी दे। कभी स्फटिक मणि के सदृश शुभ्र गोल-गोल ज्योति दिखायी दे। साधक के सम्मुख ऐसे दृश्य जब दिखायी देने लगें, तब समझना चाहिये हम ध्यान में आगे बढ़ रहे हैं। ये सब ध्यान की सफलता के स्पष्ट चिन्ह हैं।

इस प्रकार ध्यान करते-करते साधक का पाँचों भूतों पर अधिकार हो जाता है। अर्थात् वह पृथ्वी में जहाँ चाहे जा सकता है, उसे किसी भी स्थान में कितनी भी मोटी दीवालों वाले घर में बन्द कर दो वह उसमें से चला आवेगा। पृथ्वी फोड़कर रसातल तक चला जायगा। जल पर चल सकेगा। जल का स्तम्भन करके उसमें जब तक चाहे घर की भाँति सुखपूर्वक रह सकेगा। अग्नि में प्रवेश करने पर अग्नि उसे जलावेगी नहीं। उसका शरीर अग्निमय बन जायगा। वह वायु में जहाँ चाहे उड़कर जा सकेगा। वायु के प्रवाह को जैसे चाहे बदल सकेगा, उसका शरीर वायुमय हो जायगा। अपने स्थान पर बैठे बैठे जहाँ का चाहे वहाँ का शब्द सुन सकेगा। उसका सम्पूर्ण शरीर आकाश की भाँति महान विस्तृत अत्यन्त सूक्ष्म बन सकेगा। उसका शरीर योगाग्नि में तपने से इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसे दूर का शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श का बोध हो जाता है। उसे ज्योतिष्मती, स्पर्शवती, रसवती, तथा गन्धवती ये योग की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। फिर उसके शरीर में कभी भी कोई भी रोग आक्रमण नहीं कर सकता, वृद्धावस्था तथा मृत्यु उसके पास भी नहीं फटक सकती। वह चाहे जितने दिनों तक जीवित रह सकता है। उसकी इच्छा के बिना मृत्यु नहीं आ सकती। वह, जब तक स्वयं इच्छा न करेगा, तब तक उसका शरीर नष्ट न

होगा, वह अजर अमर हो जायगा। ध्यान सिद्धि का प्रतिफल है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने ध्या सिद्धि की बात बता दी। जैसे ध्यान में आगे बढ़ने वाले साध सूर्य, अग्नि, चन्द्र, रवि, धूँआ कुहरा आदि दीखने के स्पष्ट आपने बताये। वैसे ही साधक योग की सिद्धियों में आगे रहा है इसके आरम्भिक चिन्हों को और बतावें। किन लक्षणों यह जाना जाय कि यह योग सिद्धियों का पात्र बनकर उन्हें करने जा रहा है?"

सूतजी ने कहा—"ध्यान करते-करते जब कुछ-कुछ ध्य लगने लगता है, मन स्थिर होने लगता है, शरीर के मल न होने लगते हैं। तब योग सिद्धि के—योग प्रवृत्ति के—आरम्भि चिन्ह ये-ये हैं। योग की पहिली सिद्धि में सर्वप्रथम तो य स्थूल शरीर शुद्ध हो जाता है। इस शरीर को मलायतन-मल का घर—बताया है। इसमें चारों ओर मल-ही-मल भरे हैं। शरी के नौ द्वारों से—आँख के दो, कान के दो, नाक के दो, मुख क एक, गुदा और लिंग के एक-एक-इस प्रकार नौओं द्वारों से इसमें से मल-ही-मल बहता है। द्वारों से ही नहीं प्रत्येक रोम से मल—स्वेद—पसीना के रूप में निकलता ही रहता है। हम जो आहार करते हैं वह आमाशय में जाकर एकत्रित होता है, पक्वाशय में पकता है। उसमें का सार भाग रस बन जाता है। शेष विट्-मल और मूत्र बन जाता है। रस का रक्त बनता है, रक्त से मांस, मज्जा, मेद, अस्थि तथा वीर्य बनता है। इन सब में मल रहता है, रक्त का मल, मांस का, मज्जा, मेद, अस्थि का मल तथा वीर्य का भी मल होता है। शरीर मलों का थैला ही है। जप, प्राणायाम तथा ध्यान से समस्त मल नष्ट हो जाते हैं।

शरीर निर्मल कृश तथा लघु हलका हो जाता है। भारीपन तो मलों में ही है। रोग भी मलों से ही होते हैं। मल कहो रज कहो रोग, ज्वर, पाप, कल्मष, अघ, गद ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। शरीर निर्मल होते ही वह रोग रहित बन जाता है उसमें फिर किसी भी प्रकार का रोग नहीं रहता। इन्द्रियों में जो चचलता–विषयों के प्रति लोलुपता–है वह भी मल के ही कारण होती है। समल इन्द्रियाँ ही विषयों की ओर भागती हैं। यदि शरीर के सब मल नष्ट हो जायँ, वह लघु और निर्मल बन जाय तो इन्द्रियों की लोलुपता अपने आप नष्ट हो जायगी। फिर वे विषयों की ओर अनियमित रूप से न दौड़ेंगी। निरोग बच्चों का शरीर कितना उज्वल आकर्षक होता है–क्योंकि उसमें अभी मलों का संचय नहीं हुआ है। ज्यों ज्यों शरीर में मलों का संचय होता जाता है शरीर का रूप रग विरूप बनता जाता है। ध्यान द्वारा जब मलों का नाश हो जाता है तब साधक के शरीर का बाह्य रूप भी सुन्दर उज्वल तथा आकर्षक बन जाता है। जैसे बच्चे को सभी प्रेम करने लगते हैं। बच्चों की वाणी कितनी मधुर होती है। इसलिये कि जहाँ से वाणी निकलती है, वा स्थान मल रहित है। ज्यों-ज्यों शरीर में मल बढ़ते जाते हैं, वाणी भद्दी और भारी होती जाती है। शुद्ध अन्तःकरण वाले साधक की वाणी प्यारी और मधुर हो जाती है। प्रायः पुरुषों के शरीर से निकलने वाले स्वेद–पसीने में, मल और मूत्र में दुर्गन्ध आती है। इसलिये कि शरीर के भीतर मल भरा हुआ है। जैसा पदार्थ खाओगे वैसी ही डकार आवेगी–वैसे ही उद्गार निकलेंगे। जिनका ध्यान से शरीर निर्मल हो जाता है, उनके शरीर से एक प्रकार की दिव्य शुभ सुगन्धि निकलती है। उनके मल मूत्र में भी दुर्गन्ध नहीं रहती। उसमें से भी सुगन्ध आती है

और मलमूत्र बहुत ही अल्प होता है, क्योंकि शरीर में मल संचय ही नहीं होता है। इन्हीं सब लक्षणों को योग की पाँच सिद्धि कहते हैं। ये लक्षण शरीर में आ जायँ, तो समझना चाहिये साधक योग की पाँच सिद्धियों की ओर अग्रसर हो रहा है।"

शौनकजी ने पूछा- "यह जीव क्या स्वभाव से मलावृत है ?"

सूतजी ने कहा—"नहीं भगवन्! जीव तो चैतन्यांश है, स्वभावतः शुद्ध बुद्ध है। बस यही इसमें एक अपूर्णता है, कि प्रकृति के संसर्ग से यह मलावृत बन जाता है। जैसे सुवर्ण है, बहुत दिनों तक पृथ्वी में गड़ा रहे तो पृथ्वी के संसर्ग से वह मलावृत हो जाता है। कोई रत्न है कीच में पड़ा रहे, तो कीच के संसर्ग से उसकी चमक नष्ट हो जाती है। किन्तु सुवर्ण को अग्नि में तपाकर उसका मल पृथक् कर दो, वह निर्मल होकर फिर चमकने लगेगा। रत्न है, उसे जल से धो दो, क्षारादि से रगड़ दो तो वह फिर वैसे ही प्रकाशवान् होकर चमकने लगेगा। इसी प्रकार यह जीवात्मा प्रकृति के संसर्ग से मलावृत-सा दीखने लगता है। जहाँ जप, तप, साधन, संयम, ध्यान धारणा द्वारा आत्मतत्त्व को जानने लगता है। योग द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वहाँ वह समस्त मलों से-सभी प्रकार के दुःखों से-छूटकर निर्मल बनकर कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। वह वीतशोक होकर कृतार्थ हो जाता है। उसे अपने यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वरूप उपलब्धि होने पर जीवात्मा का क्या स्वरूप हो जाता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अब यह बताने की बात नहीं है।

बतायी भी कैसे जायँ। गूँगा पुरुष गुड का स्वाद कैसे बता सकता है ? फिर भी भगवती श्रुति कहती है – निर्वात स्थान में जैसे दीपक की ज्योति सुस्थिर प्रकाशमय-अन्धकार को विनाश करने वाली होती है, वैसे ही ध्यान से परिपक्व योगी आत्मतत्त्व के द्वारा उस ब्रह्मतत्त्व को जो सबसे श्रेष्ठ-उत्तमता की सीमा है, उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लेता है। तब वह उन अज अविनाशी परम ध्रुव, समस्त तत्त्वों से परम विशुद्ध परब्रह्म परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन करके कृतकृत्य बन जाता है। उन परमदेव परमेश्वर को भलीभाँति तत्त्व से जानकर समस्त संसारी पाशों से विमुक्त बन जाता है, वह सभी प्रकार के संसारी बन्धनों से छूट जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! जीवात्मा अनादि काल से नाना योनियों में दुःख, शोक-मोह को सहता आया है, ब्रह्मसाक्षात् होने पर उसके समस्त दुःख छूट जाते हैं, या कुछ शेष रह जाते हैं ?"

सूतजी ने कहा—ब्रह्मन् ! अन्धकार तभी तक रहता है, जब तक सूर्योदय न हो, सूर्य के उदय होते ही अन्धकार को लाठी लेकर भगाना नहीं पडता। वह स्वतः ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर समस्त अविद्या की ग्रन्थियाँ अपने आप खुल जाती हैं, सभी संशयों का नाश स्वतः ही हो जाता है। संचित तथा क्रियमाण कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं। अतः उन परमदेव परब्रह्म परमात्मा की ही एकमात्र शरण लेनी चाहिये। वे सर्वान्तर्यामी देव सभी दिशा तथा उपदिशाओं में व्याप्त हैं। वे सबसे पहिले हिरण्यगर्भ-पुरुष रूप में प्रकट होते हैं। प्रलयकाल में वे एकाकी शयन करते रहते हैं। प्रलयकाल जब समाप्त हो जाता है, जब उनकी सृष्टि करने की इच्छा होती है, तो वे स्वयं

ही सृष्टि होने के आदि में हिरण्यगर्भ रूप में—पुरुषावतार रूप में—प्रकट होते हैं, वे परमेश्वर संसार के अणु-परमाणु में बाहर तथा भीतर व्याप्त हैं। वे अब जगतरूप में विद्यमान हैं भविष्य में भी जब-जब सृष्टि होगी, वे इसी प्रकार प्रकट होते रहेंगे। वे सहस्रमुख हैं। अर्थात् उनके अनन्त मुख हैं। वे जीवों के भीतर रहते हैं और सभी को सब ओर से देखते रहते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! वे परब्रह्म परमात्मा परमदेव अग्नि में उष्ण रूप से, जल में शीतरूप से विद्यमान हैं। वे समस्त लोकों में प्रविष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त हैं। जो गेहूँ, जौ, चना आदि ओषधियों में, वट, गूलर, पीपर आदि वनस्पतियों में परिपूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं, उन परमदेव परमात्मा के पादपद्मों में बारम्बार नमस्कार है, नमस्कार है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार परमात्मा की महिमा कहकर द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ। अब तृतीय अध्याय में जैसे परमात्म प्राप्ति का फल बतावेंगे, उसका वर्णन आगे किया जायगा।"

छप्पय

(१)

चिह्न सफलता सकल दिखें तो नहिं घबरावै।
पञ्चभूत की शुद्धि योगमय तन है जावै॥
जरा रोग नहिं मृत्यु अमर बनि अति सुख पावै।
तन लघु वरन प्रसाद अलोलुपता रुज जावै॥
स्वर सौष्ठवता गन्ध शुभ, अलप होहिं मलमूत्र जब।
योग सिद्धि लक्षन प्रथम, समुझै साधक बढ़त तब॥

(२)

कीचड़ में सनि रत्न धुवै तें चमकन लागै।
त्यों सब मलतैं रहित जीव के सब दुख भागैं॥
जोगी दीप समान आत्म तैं ब्रह्म लखावैं।
जानि अजन्मा शुद्ध ध्रुवहिं बन्धन कटि जावैं॥
सर्व व्याप्त सबतैं प्रथम, होइ होइगो अज परम।
सलिल, अनल ओषधि भुवन, व्याप्त देव कूँ नमो नम॥

—०—

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का द्वितीय
अध्याय समाप्त

—०—

परमात्म प्राप्ति का फल (१)

[२७५]

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः । य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदि मृतास्ते भवन्ति ॥*

(श्वे० प्र० उ० ३ अ० १ मंत्र

छप्पय

जालवान जग ईश सबनि को शासन करता।
करै सृष्टि विस्तार एक मरता सहरता॥
एक, अनाश्रय, रुद्र ईश जग भीतर बाहर।
लेकिन रचना करै पालि सहरै चतुर वर॥
हाथ पैर मुख नेत्र सब, जाईके जगमें फिरै।
नभ भू स्वरगहिं व्याप्त वह, कर पंखनियुत पशु करै॥

मृत्यु क्या है ? अपने को सर्वथा भूल जाना। जीव अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर नाना योनियों में भटकता फिरता है।

---

* जो एक जगरूपी जालवान् है, जो अपनी शासन शक्तियों से शासन करता है। निज शासन शक्तियों से समस्त लोकों पर शासन करता है। जो एकाकी ही सृष्टि का विस्तार करता है। ऐसे इस ब्रह्म को जो पुरुष जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

बार-बार जन्मता है, बार-बार मरता है। जब तक विस्मृति बनी रहेगी, यथार्थ स्मृति नहीं आवेगी, तब तक जीव जन्म-मृत्यु के चक्कर से छूट नहीं सकता। सर्वथा स्वच्छ होकर दुपट्टा तानकर सुखपूर्वक सो नहीं सकता। क्योंकि उसके पीछे मृत्यु रूपी सर्पिणी लगी हुई है। वह मृत्यु के भय से भयभीत हुआ तीनों लोकों में भागता फिरता है। कभी स्वर्ग जाता है, कभी नरकों में जाकर वहाँ की यन्त्रणाओं को भोगता है, कभी पृथ्वी पर आकर नाना योनियों में चक्कर लगाता फिरता है। किन्तु यह मृत्यु सर्पिणी इस जीव का पीछा करना छोड़ती नहीं। यदि यह जीव परमात्मा के पैर पकड़ ले, तो यह सर्पिणी लौट जाती है, तब यह जीव निर्भय बन जाता है।

एक बड़ी लड़ाकू स्त्री थी, वह बात बात पर लोगों से लड़ जाती। अपने बलवान् मल्लपति को छोड़कर अन्य किसी से डरती भी नहीं थी। सभी उससे दुखी थे। एक दिन किसी मनुष्य ने किसी बात पर उसे छेड़ दिया, वह उस पर अत्यन्त कुपित हो गयी। चूल्हे में से जलती लकड़ी लेकर वह उसके पीछे भागी। वह मनुष्य भी भयभीत होकर भागा। आगे-आगे मनुष्य भागता जाय, उसके पीछे-पीछे वह चंडी काली हंडी और जलती चेहली लेकर भागती जाय। जो भी उस मुस्टंडी चंडी का विकराल रूप देखें वे ही भयभीत होकर भीतर छिप जायँ, कोई भी उसकी रक्षा करने को आगे न बढ़े। भागते-भागते वह मनुष्य एक मल्लशाला के समीप अकस्मात् पहुँच गया। वहाँ उस चंडी का पति व्यायाम कर रहा था। उस मनुष्य ने दौड़कर उसके पैर पकड़ लिये और आर्त होकर कहा—"मेरी रक्षा करो।"

उस मल्ल ने कहा—"भाई, क्या बात है?"

वह बोला—"यह चंडी मेरा पीछा कर रही है।"

मल्ल को देखते ही वह चड़ी लेयाँ पैयाँ अपने सिर पर रखकर भागी। पीछे लौट गयी।

मल्ल ने कहा—"मुझे तो तुम्हारा पीछा करते कोई भी च मुंडी दिखायी नहीं देती।"

जब उस व्यक्ति ने देखा – यथार्थ में अब मेरा पीछा क नहीं कर रहा है, तो वह निर्भय निश्चिन्त हो गया और उ मल्ल के समीप ही सुखपूर्वक सो गया।

यह माया ही चड़ी है, यह जीव ही उससे भयभीत होक भाग रहा है, सबसे बलवान् मायापति भगवान् की शरण जा पर–उनके पादपद्मों को प्रेम से पकड़ लेने पर–संसारी माय निवृत्त हो जाती है। जीव जन्म-मृत्यु के जाल से सदा के लिं छूट जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह जगत् एक प्रकार का जाल है, विषय ही इसमें अन्न के दाने हैं। जीवरूप पक्षी इन्हें खाने के–भोगने के–लालच से इस जग जजाल में फँस जाते हैं। ये परमात्मा ही जाल बिछाने वाले हैं। इनके सदृश जाल वाला जालवान् कोई दूसरा नहीं ये अकेले ही हैं। इन जाल वाले जगन्नाथ में अनन्त शक्तियाँ हैं। उन अनन्त शक्तियों में से कुछ ईशनी नामक शक्तियाँ हैं। उन शक्तियों द्वारा ये सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माडों का शासन करते हैं, सब पर अपना आधिपत्य जमाये रखते हैं। यद्यपि वे अकेले हैं किन्तु अकेले होने पर भी इनमें इतनी शक्ति है, कि समस्त लोकों का अकेले ही पालन करते हैं, समस्त सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, उसका विस्तार भी करते हैं। ये सबके स्वामी हैं, जीव इन्हें भूलकर जगत् जाल में फँसता है, जो इसे जानकर इसकी शरण में जाते हैं, तो जैसे पालतू पशु-पक्षी को जाल वाले से कोई भय नहीं रहता। इसी प्रकार

जो इन सर्वेश्वर को जान जाते हैं। अजर-अमर बन जाते हैं। अमृत हो जाते हैं। जैसे जाल वाला मछुआ है जल में मछलियों को फँसाने को जाल डालता है, तो और सब मछलियाँ तो फँस जाती हैं, किन्तु जो जाल डालने वाले के चरणों के समीप होती हैं, वे बच जाती हैं, वे फँसती नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान को क्या लाभ है, जो जाल डालकर जीवों को फँसाते रहते हैं?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"लाभ से आपका अभिप्राय क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"लाभ से मेरा अभिप्राय, प्राप्ति, प्रयोजन सिद्धि से है। किसी भी कार्य में मूर्ख भी बिना प्रयोजन के प्रवृत्त नहीं होता। भगवान को जग जाल में फसाने से-जीवों को दुःख देने से-क्या मिल जाता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवान तो आप्त काम हैं, उन्हें किसी प्रयोजन की तो आवश्यकता नहीं। प्राप्ति तो वह करता है, जिस पर जो वस्तु न हो, उसे प्रयत्न करके प्राप्त करे। भगवान् तो पूर्णकाम हैं, उनको कुछ प्राप्त करना ही नहीं। वे स्वार्थरहित हैं। प्रयोजन के बिना ही जैसे बालक खिलौनों से खेलता है। खिलौना के बनाने में भी आनन्द और उसे फोड़ देने में भी आनन्द। ऐसे ही भगवान क्रीडा के लिये-कौतुक के लिये-मन बहलाने के लिये जगत् को बनाते, पालते और संहार करते रहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! बालक तो अज्ञानी है, फिर उसमें खेलने की कामना स्वाभाविक है। भगवान् तो ज्ञानस्वरूप हैं, कामना रहित हैं। उन्हें बैठे ठाले यह कटु खेल क्यों सूझता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! अब बैठे ठाले भगवान् क
करें, वे भी सोते-सोते ऊब जाते हैं। जैसे जो बड़े लोग कामरहि
होते हैं। वे शतरंज का खेल खेलते रहते हैं। ऐसे ही भगवा
खेल के लिये जगत् को बनाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"शतरंज आदि खेल भी अकेले तो नह
खेले जाते। जिसके साथ खेला जाय ऐसा दूसरा भी तो चाहिये
और आप बार बार कहते हैं—'वह एक है, अद्वय है उसको
सहायक उपकरण की आवश्यकता नहीं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! श्रीमान् लोग अपनी श्रीमती के
साथ भी तो चौसर शतरंज खेलते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"भगवान् की श्रीमती कौन हैं?"

सूतजी ने कहा—"उनकी आह्लादिनी शक्ति ही उनकी
श्रीमती है।"

शौनकजी ने कहा—"फिर वे एक अद्वय कहाँ रहे? बहू
दुलहा दो तो हो गये।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जिस बात का आपको
अनुभव नहीं, उसमें व्यर्थ हस्तक्षेप क्यों करते हैं? आपने विवाह
तो किया नहीं। आप क्या जानें बहू दुलहा दो होते हैं। भगवन्!
बहू और दुलहा परस्पर में एक दूसरे के पूरक होते हैं। वे दो
न होकर एक ही कहलाते हैं। इसीलिये स्त्री को अर्धाङ्गिनी कहते
हैं। वह पुरुष का आधा अङ्ग ही है। जिन शिवजी की आप
पूजा करते हैं, वे अर्धनारी नटेश्वर कहलाते हैं। एक होने पर भी
उनका आधा अङ्ग नारी है, आधा अङ्ग नर है। रथ में दो पहिये
होते हैं, फिर भी रथ एक ही कहाता है। पक्षी के दो पंख होते
हैं फिर भी एक ही कहा जाता है। शक्ति और शक्तिवान दो
होने पर भी एक हैं। वे जगत् को क्रीड़ास्थली बनाकर मन-

विनोद के लिये क्रीड़ा किया करते हैं, अतः जैसे शक्तिवान्, शक्ति और क्रीडा के उपकरण ये खेल के लिये अनादि हैं,ऐसे ही ईश्वर, जीव, जगत् ये अनादि हैं उनकी क्रीडा भी अनादि है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जब कोई सिद्धान्त की बात आती है, तो आप घेसलपरवी कर देते हो। कभी कह देते हो, एकही अद्वैत है, कभी कह देते हो तीनों अनादि हैं। स्पष्ट करके बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सब जानते हैं। लोक के हितार्थ अज्ञों की भाँति प्रश्न कर दिया करते हैं। इससे अधिक मैं स्पष्ट कुछ नहीं कर सकता। जिसे शका हो, वह अर्धनारी नटेश्वर की शरण में जाय, सर्वभाव से उन्हीं के अधीन हो जाय। उन्हीं के प्रसाद से-उन्हीं की कृपा से-उसकी समस्त शकाओं का समाधान हो जायगा। उसे परम शाति की तथा शाश्वत स्थान की प्राप्ति हो जायगी। उस जाल वाले जालवान् जगदीश्वर के जाल की ओर ध्यान न देकर उनके चरणों के समीप जम जाओ फिर यह जगजजाल जाल तुम्हारा कुछ भी न बिगाड़ सकेगा। उस जगदीश्वर के अनन्त आँखें हैं, वह सर्वत्र सबको देखता है। उसके अनन्त मुख हैं, समस्त मुख उसी के हैं। उसकी अनन्त बाहुएँ हैं। जिन बाहुओं को देखो, उनकी ही बाहु जानो। उसके अनन्त पेर हैं। वह सब स्थानों मे पैर वाला है। वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग सभी की सृष्टि करने वाला है, सभी उसी के बनाये हुए हैं। उसने ही दो दो हाथ पेर वाले मनुष्यों को बनाया है, उसी ने पख वाले पक्षी पतगों को बनाया है। उसी ने रुद्र, इन्द्र, वरुण तथा कुबेरादि देवताओं को बनाया है। वही सबको बनाता है, बनाकर सबको बढाता है। वह सबका स्वामी है, ईश है, अधिपति है। वही ज्ञानी,ब्रह्मर्षि, महर्षि

है। उसी ने सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था। वह देवाधिदेव परमदेव महादेव हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करें। जिससे हम उसकी सृष्टि के और उसके यथार्थ रहस्य को जान सकें। उन्हीं त्रिनेन्द्र महादेव भोलानाथ शंकर से प्रार्थना करो कि—हे रुद्रदेव ! आपको सब लोग घोर कहते हैं, किन्तु वास्तव में आप अघोर हैं। आपकी मूर्ति भयानकता रहित है, सौम्य है, सरल है,सरस है, शुभ है। अपाय प्रकाशिनी है,पुण्य द्वारा प्रकाशित है। आपकी मूर्ति शिवा है, कल्याणमयी है। हे गिरिजापति ! हे गिरिशन्त ! हे गिरि पर रहकर शं-कल्याण-का विस्तार करने वाले देवाधिदेव शिव ! अपनी उस परम शान्ति मङ्गलमयी मधुर मनोहर मूर्ति से हम लोगों की ओर दृष्टिपात करो। हमें दयार्द्र होकर देखो।

हे गिरिशन्त ! हे पहाड़ के ऊपर रहते हुए भी सम्पूर्ण संसार में शान्ति का विस्तार करने वाले विश्वम्भर ! तुम पिनाक नामक बाण पर चढ़ाने के लिये जिस बाण को संहार के लिये हाथ में लिये हुए हो। हे गिरिजेश ! हे गिरित्र ! उस बाण को शिवा को कल्याणमयी पार्वती को दे दो। वे जगन्माता कल्याणमयी हैं, वात्सल्यमयी हैं, वे उस संहारक बाण को कल्याणमय बना देंगी। इस प्रकार हाथ के उस बाण को कल्याणमय बनाकर जगत् के समस्त जीवों की विश्व के सभी पुरुषों की रक्षा करो। उन्हें कष्ट मत पहुँचाओ, उनकी हिंसा मत करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार जगत् का और जगदीश्वर का रहस्य जानने के लिये उन्हीं कल्याणस्वरूप अर्धनारी नटेश्वर महादेव की शरण में जाना चाहिये। उन्हीं की स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये। तब वे परात्पर प्रभु परब्रह्म परमात्मा समस्त प्राणियों में 'उन-उन' प्राणियों के अनुरूप बनकर

समस्त प्राणियों में गूढ़ रूप से छिपे हुए तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के बाहर-भीतर, दायें बायें सब ओर से घेरे हुए हैं, ऐसे वे सर्वान्तर्यामी प्रभु हैं जो महान् हैं, सर्वव्यापक हैं, एक हैं, ईश हैं, सबके स्वामी हैं वे तुम्हें बुद्धियोग देंगे। जिससे तुम उन्हें जान जाओगे। उन परमेश्वर को जो पुरुष जान जाते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। मृत्यु उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। वे मृत्यु से परे अजर-अमर हो जाते हैं। वे जन्म-मरण के जाल से सदा के लिये निकल जाते हैं। फिर उनका कभी जन्म नहीं होता। जब जन्म ही नहीं, तब मृत्यु का प्रश्न ही नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब आगे इसी विषय को और स्पष्ट रूप से बतावेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

विश्वाधिप रुद्रादि सर्वविद हिरण्यगरभ भज।
करें बुद्धि मम शुद्ध प्रभव उद्भव कारन अज॥
रुद्र! अघोरा मूर्ति तुम्हारी पुण्य प्रकाशित।
शान्तिमयी गिरिशन्त! मूर्ति तैं लखैं हमहिं इत॥
हे गिरिशन्त! धरो शरहिं, जिहि कर फेंकन के निमित।
करो ताहि कल्यानमय, जगकी हिंसा करहु मत॥

(२)

जो है जगतैं परे ब्रह्म-पर सब भूतनि महँ—
निबसें तनु अनुरूप गूढ़ सम्पूर्ण जगतमहँ॥
घेरें चारिहु ओर जगत कूँ एक ईश वर।
ज्ञानी जन जिनि जानि अमृत होवें ज्ञाता नर॥
अन्धकार तैं रहित जो, महापुरुष जानूँ तिनहिं।
जानि मृत्यु तरि सहज नर, तिनि बिनु पथ है अन्य नहिं॥

परमात्मा और उनकी प्राप्ति का फल (२)

[२७६]

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो ज्यायोऽस्ति कश्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्यनेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥*

(श्वे० उ० उ० ३ म० ९ श्लो

छप्पय

जिनितैं है नहिं श्रेष्ठ दूसरो कोई जग में।
सूक्ष्म और महान् सरिस है नहिं त्रिभुवन में॥
जो तरुवर के सरिस प्रकाशित जग में इस्थित।
पुरुषोत्तम तैं सकल जगत है पूरन व्यापत॥
हिरणगरभ तैं श्रेष्ठ अति, निराकार नित अनामय।
अमृत होहिं नर जानि तिनि, शेष दुःख पावैं सभय॥

संसार में कोई कहता है परमात्मा है, कोई कहता है नहीं

---

* जिससे परे दूसरा कुछ है ही नहीं। जिससे अधिक संसार में न तो कोई सूक्ष्म ही है, अर्थात् वह सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और जिससे अधिक कोई बृहत् भी नहीं। वह एकाकी-ही बृहद्, वृक्ष के सदृश आकाश में निश्चल भाव से खड़ा रहता है। उसी परम पुरुष से सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है।

है। चाहें है कहो या नहीं है कहो, दोनों ही बातों से परमात्मा का अस्तित्व तो स्वीकार हो ही जाता है। निषेध उसी वस्तु का किया जाता है, जिसका कहीं न कहीं, कभी न कभी अस्तित्व रहा हो। हम किसी घर में जाकर पूछें—"क्यों जी यहाँ देवदत्त है ?" तो दूसरा कहेगा—"जी यहाँ देवदत्त नहीं है।" दूसरा पूछेगा—"कहाँ गया ? कहा पर मिलगा ?" तो वह या तो यह कहेगा अमुक स्थान पर गया है, वहाँ मिलेगा। या कहेगा मुझे मालूम नहीं कहाँ गया है।" तो चाहें है कहो या नहीं है कहो, दोनों मे ईश्वर की सत्ता तो सिद्ध हो ही जाती है। हम पूछते हैं—"आम पर फूल है ?" दूसरा उत्तर देगा "है।" फिर पूछते हैं—"गूलर पर फूल है ?" वह कहेगा-"गूलर पर फूल नहीं है।" तो चाहें गूलर में फूल दिखाई न दे, फिर भी फूल का अस्तित्व तो माना ही जायगा। दीखता नहीं है यह दूसरी बात है।

इसलिये जिन्होंने बहुत प्रयत्न किया, फिर भी उनको ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ, तो वे कह देते हैं—"ईश्वर नहीं है, तो उनका अनुभव भी यथार्थ ही है।

इसके विपरीत कोई दूसरा साधक है, उसने जप, ध्यान तथा तप आदि से ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है-तो वह कह देता है—"ईश्वर है।"

जिन्होंने साधनो द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार किया है उन ऋषि महर्षियों के अनुभव को सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिन ज्ञानी महापुरुषों ने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, वे अपने अनुभव को बताते हुए कहते हैं—"मैं उस परब्रह्म परमात्मा को जानता हूँ, मैंने उसे देखा है, उसका साक्षात्कार किया है।' अच्छा बताइये वह कैसा है ?"सुनो, उसमें तम अंधकार नहीं। अर्थात् वह अविद्या

से सर्वथा रहित है।" उसका वर्ण कैसा है ? सूर्य के सदृश प्रकाश स्वरूप है। वह प्रकाश उसे अन्य किसी से प्राप्त नहीं होता, वह स्वयं ही प्रकाश स्वरूप है और महान् है। उससे बड़ा या उसके बराबर प्रकाशवान् कोई नहीं है। संसार में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र, तारागण तथा जुगनू आदि जितने प्रकाश वाले हैं, उन सबको प्रकाश उसी से प्राप्त होता है। वह समस्त प्रकाशों का उद्गम स्थान है। जब तक जीव उससे अनभिज्ञ रहता है, उसे जानता नहीं, तब तक वह जन्म मृत्यु के चक्कर में घूमता रहता है। जहाँ उसका ज्ञान हुआ, जहाँ उसका साक्षात्कार हो गया, तहाँ वह जीव मृत्यु को तर जाता है, मृत्यु के पार पहुँच जाता है। अर्थात् वह अजर अमर बन जाता है तब वह परमपद तक पहुँच जाता है। तुम चाहो उसे प्राप्त किये बिना ही हम किसी दूसरे मार्ग से परमपद तक पहुँच जायँ, तो आपका यह प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि परमपद की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं ही नहीं। एक ही मार्ग द्वारा परमपद प्राप्त हो सकता है, वह मार्ग है परमात्मा का साक्षात्कार। आप चाहें जितने भी साधन करो, साधन अनेक हैं, उसके घर तक जाने के मार्ग बहुत हैं, किन्तु परमपद तक अन्तिम प्राप्य स्थान तक पहुँचने का द्वार एक ही है। वह द्वार है ब्रह्म साक्षात्कार। ब्रह्म साक्षात्कार किये बिना कोई परमपद तक नहीं पहुँच सकता।"

शौनकजी ने पूछा—"परम पद और परमात्मा दो हैं क्या ?"

सूतजी ने कहा—"एक के ही अनेक नाम हैं। जैसे राजा कहो, नृपति कहो, भूप कहो, नराधिप कहो या उस राजा का नाम चन्द्रशेखर कहो, सब एक ही बात है। आप कहें—महाराजा चन्द्रशेखर के पास जाये आपको राजा के दर्शन

हो सकते। आप चन्द्रशेखर पूछते पूछते चले जाओ। चन्द्रशेखर ही राजा है। चन्द्रशेखर के मिलते ही राजा मिल जायगा। वह परमात्मा कैसा है? वह सबसे श्रेष्ठ है, उससे श्रेष्ठ ससार में कोई और है ही नहीं। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म छोटे से भी छोटा है। उससे छोटा भी कोई नहीं है। वह महान् से भी महान है, उससे महान तो कोई है ही नहीं, उसकी बराबरी का भी कोई और नहीं है। जिस वृक्ष की जड तो ऊपर आकाश में हो और शाखायें पृथ्वी तक फैली हो, ऐसा जैसे कोई वृक्ष सम्पूर्ण आकाश में फैला हो, वैसे ही महान् वृक्ष के समान् वह अकेला ही इस सम्पूर्ण जगत् को घेरे हुए आकाश मे परम प्रकाशमय होकर स्थित है। अर्थात् यह सम्पूर्ण ससार उसी से परिपूर्ण है, उसी से व्याप्त है।

सृष्टि के आदि मे प्रथमावतार हिरण्यगर्भ का होता है, उसी हिरण्यगर्भ पुरुष से सम्पूर्ण चराचर सृष्टि उत्पन्न होती है। वह परब्रह्म परमात्मा महापुरुष उससे भी उत्कृष्ट है—उत्तर तम है—वह अरूप है—उसका कोई एक रूप नहीं है—उसमे अभय-दोषों- का लवलेश भी नहीं, वह सर्वथा अनामय है। जो इसे जान लेते हैं, वे जीव अमर हो जाते हैं, जन्म मृत्यु के जाल से छूटकर मुक्त बन जाते हैं, जो उसे जान नहीं पाते वे जन्म मृत्यु की चक्की मे पिसते रहते हैं। बार-बार जन्म और मरण के दुःखों से दुखी बने रहते हैं।

वह सब ओर से सबको देखता रहता है, क्योंकि उसके सभी ओर मुख हैं, सभी ओर आँखें हैं। उसकी दृष्टि से छोटे से छोटा और बडे से बडा कोई भी जीव ओझल नहीं हो सकता। वह सर्वद्रष्टा है। जितने भी प्राणी हैं उन सभी की हृदय रूपी गुफा में वह पलङ्ग बिछाकर सोता रहता है।"

शौनकजी ने कहा—"सोता ही क्यों रहता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! सोने में बड़ा सुख मिलता है, किन्तु हम संसारी लोगों की निद्रा तमोगुण जन्य है, अतः उसमें पूर्ण सुख नहीं होता। परमात्मा की निद्रा योग-निद्रा है। वह गुणातीत निद्रा है। उसमें परम सुख है। इसलिये सोते रहने का अर्थ यह है, कि वह सबके हृदयों में बैठा केवल सुख की ही अनुभूति करता है। जीव के दुःखों के साथ वह दुखी नहीं होता। वह सदा सर्वदा परमानन्द में मग्न रहता है। मग्न क्या रहता है वह परमानन्द स्वरूप ही है। वह शिव स्वरूप है, कल्याण-मय है, सर्वव्यापी तथा सर्वगत है वह महान् है, प्रभु है, ईशान है, अव्यय है, ज्योति स्वरूप है, परम पुरुष है। जो उसे प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें प्राप्त करके निर्मल लाभ लेना चाहते हैं, ऐसे सुकृति साधकों के अन्तःकरण को वे उस ओर प्रेरित करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वे परब्रह्म परमात्मा प्राणियों के हृदयों में किस रूप से रहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! नाम रूप रहित सर्वेश्वर के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जाता। अँगूठा के पोर के सदृश हृदय के आकार जैसे आकार वाले प्रकाश स्वरूप वे परम पुरुष पर-मात्मा अन्तर्यामी रूप से सदा सर्वदा प्राणियों के हृदय देश में निवास करते हैं। यद्यपि वहाँ मन भी रहता है, जीव भी रहता है, किन्तु ये मन के, जीव के सभी के स्वामी हैं। सब इनकी आज्ञानुसार ही कार्य किया करते हैं। जो पुरुष निर्मल हृदय वाले होते हैं और निरन्तर उन्हीं के ध्यान में संलग्न रहते हैं, वे ही उन अन्तर्यामी अनादि अनंत अनामय अखिलेश्वर को जान सकते हैं। उन्हें जान लेने पर जानने के लिये फिर कुछ भी

अवशेष नहीं रह जाता। जो पुरुष सत्य, ब्रह्मचर्य, तपस्या, मौनादि साधनों को करते-करते उन्हीं की कृपा से उन्हें जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। जन्म-मरण के बन्धनों से छूटकर अमर बन जाते हैं।

उनका कोई एक सिर नहीं। उनके सहस्रों सिर हैं, अर्थात् संसार में समस्त सिर वाले प्राणियों के जितने सिर हैं, वे सभी उन्हीं के सिर हैं, यद्यपि वे चर्म चक्षुओं से रहित हैं, तथापि संसार में जितने भी चक्षुवान् जीव-जन्तु हैं। उन सब की आँखें उन्हीं की आँखें हैं, वे अनन्त आँखों वाले हैं। यद्यपि उनके ये लौकिक पैर नहीं, तथापि जितने भी पदचारी जन्तु हैं उन सबके सहस्रों असंख्यों पैर उन्हीं के पैर हैं। वे अपने तेज से-प्रकाश से-आभा प्रतिभा तथा शासन से सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से घेरे हुए हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जैसे एक सम्राट् है, उसका पूरे भूमंडल पर शासन है, सर्वत्र वह अपने तेज द्वारा-शासन द्वारा-पृथ्वी पर व्याप्त है, फिर भी उसके रहने का एक स्थान होता है, उसके निवास करने का महल होता है। जैसे दीपक है, उसका प्रकाश पूरे भवन में व्याप्त होता है, फिर भी दीपक किसी एक स्थान में-दीप स्थल में रहता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से घेरे हुए इस परब्रह्म का रहने का भी तो कोई स्थान होगा ही?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! बता तो दिया। पुरुष अपनी नाभि से दस अंगुल ऊपर नाप ले, दश अंगुल से ऊपर-जो अँगूठा के नाप का हृदय है, उस हृदय में जो आकाश है वहीं वह रहता है। लेट लगाते हुए सुख पूर्वक निश्चिन्त होकर सोता रहता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भगवान् को रहने का अन्यत्र स्थान नहीं मिला था क्या? जो इतने छिपकर हृदय गुफा के आकाश में जाकर सोया है। कौन हृदय को फा फाड़ने पर मांस के लोथड़े के रूप में अँगूठा के सदृश ह तो मिल जायगा। उस हृदय की गुफा के आकाश में वि परमात्मा कैसे दीखे? जब बाहर का आकाश ही दिखाई देता तब हृदय की गुफा का आकाश कैसे दीखेगा, फिर आकाश में छिपा बैठा परब्रह्म किस दूर वीक्षण यन्त्र से दिखा देगा?"

सूतजी ने कहा—"दूर वीक्षण यन्त्र की आवश्यकता ही क है। वह तो निकट से भी अत्यंत निकट है। वह इन चर्म-चक्षु से दिखाई नहीं देता। यदि चर्म चक्षुओं से ही देखना चाहते तो यह जो बाह्य जगत् है, जो बन चुका है, आगे बनने वाल भी है। जो अन्न खा-खाकर बढ़ता रहता है, आज कल भ बड़ी तीव्रता से बढ़ रहा है। परिवार नियोजन करने पर भी ज घटने का नाम नहीं लेता। उस सम्पूर्ण जगत् को तुम परमात्मा का स्वरूप ही जानो। वह सब उस ब्रह्म का ही साकार स्वरूप है, जो ब्रह्म अमृत स्वरूप-मोक्ष का स्वामी है। उसके सब स्थानों में हाथ पैर हैं। जिस हाथ पैर को देखो, समझ लो ये ब्रह्म के ही हाथ पैर हैं। उसके सब स्थानों में आँख, सिर, और मुख हैं। संसार में जिसकी आँखों को देखो, जिसके सिर तथा मुख को देखो यही समझ लो ये ब्रह्म के ही आँख, सिर, तथा मुख हैं। संसार, में जितने भी कान हैं सब उसी के कान हैं, जहाँ भी तुम्हें कान दीख पड़े तुम निश्चय समझलो ये ब्रह्म के ही कान हैं। कारण कि वह सम्पूर्ण संसार को सब ओर से घेरकर बैठा हुआ है। अणु परमाणु भी उसकी परिधि से बाहर नहीं रह सकते। अतः

सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्म का ही साकार रूप है, निराकार रूप से हृदय में रहते हैं, सर्वव्यापक रूप से सब में व्याप्त रहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"तो वे साकार हैं या निराकार। निराकार हैं, तो साकार जीवों की बातों को कैसे जानते होंगे। यदि साकार हैं तो उनका भी जन्म मरण होना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! वे विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। साकार भी हैं, निराकार भी हैं। न साकार हैं न निराकार।"

शौनकजी ने कहा—"तब शून्य होंगे?"

सूतजी ने कहा—"शून्य भी नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"तब कैसे हैं?"

सूतजी ने कहा—"जैसे भी हैं तैसे ही हैं। श्रुति विरुद्ध धर्माश्रयी रूप में जैसे वर्णन करेगी, उसे मैं आगे बताऊँगा।"

छप्पय— (१)

जिनके मुख, सिर ग्रीव दिशनि सबहिँ नि कहलावें।
सब भूतनि हिय गुफा माहिं सोवें हरषावें॥
सब वस्तुनि महँ व्याप्त सर्वगत शिव शंकर हर।
अव्यय, ईश, महान् ज्योति प्रभु लीला सुखकर॥
जो प्रपन्न तिनि कल्पतरु, प्राप्ति हेतु प्रेरित करत।
अन्तरयामी पुरुष-पर, नित्य जननि के हिय बसत॥

(२)

कहलावें अंगुष्ठ मात्र जो मन के स्वामी।
शुद्ध हृदय तें मिलें अखिलपति अन्तरयामी॥
अमृत होहिं जिनि जानि सहस सिर पारे देवा।
सहस आँखि अरु पैर कौन जाने जिह भेवा॥
सब लोकनि कूँ व्याप्त करि, बैठे हृदय प्रदेश में।
जो दश अंगुल नाभि तें, ऊपर अंगुठ वेष में॥

छप्पय

(३)

जो जग है जो भयो होइगो सबहिँ पुरुष है।
खाइ खाइ जो अन्न राति दिन नित्य बढ़त है॥
सबहिँ ब्रह्ममय जान मोक्ष को स्वामी जो है।
हाथ, पैर, सिर, आँखि कान मुख सबई सो है॥
सब ग्वाई के अंग हैं, सबई में वह व्याप्त है।
सबनि घेरि बैठयो वही, यत्र तत्र सरबत्र है॥

परमात्मा और उनकी प्राप्ति का फल (३)

(२७७)

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशान सर्वस्य शरण बृहत् ॥*
(श्वे० अ० उ० ३ म० १७ म०)

छप्पय

सब इन्द्रिनि ते रहित विषय परि सबके जानें ।
सबके स्वामी ईश बृहद सब आश्रय मानें ॥
नौ द्वारनि की पुरी देह हिय देही निवसत ।
सबहि चराचर लोक हम भीतर ही विहरत ॥
बाहिर हू लीला करैं, नहीं पैर तोऊ चलत ।
बिनु कर, चक्षुहु, कान के, करम करत देखत सुनत ॥

जो लोग कहते हैं—"भगवान् निराकार हैं, उनकी मूर्ति नहीं, शरीर नहीं, वे कभी साकार हो ही नहीं सकते। उनका कभी अवतार लेना सम्भव ही नहीं। वे परमात्मा को भी मानवीय धाराओं के अन्तर्गत बाँधना चाहते हैं। वे इस बात को स्वीकार

* वे परब्रह्म परमात्मा सभी इन्द्रियों के विषयों की जानकारी रखते हैं, यद्यपि वे इन्द्रियातीत हैं—सभी इन्द्रियों से रहित हैं। प्रभु हैं। सबके शासन कर्ता हैं। वे संसार में सबसे श्रेष्ठ और सभी के एकमात्र आश्रय हैं। शरण हैं।

नहीं करते कि भगवान् सब कुछ करने में समर्थ हैं। वे तर्क देते हैं, कि सब कुछ करने में समर्थ हैं, तो डाकू बनकर लूट भी सकते हैं ? व्यभिचार भी कर सकते हैं ? असत्य भी बोल सकते हैं ?" उनके मत में भगवान सर्व शक्तिवान् होने पर भी अच्छे ही काम करने में स्वतन्त्र हैं, बुरे काम करने में वे परतन्त्र हैं। किन्तु हमारे वेद पुराण ऐसा नहीं मानते।

भगवान् विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। वे सब कुछ करने में समर्थ हैं। वे निराकार भी हैं, साकार भी हैं। निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं। छोटे-से-छोटे हैं, बड़े-से-बड़े हैं। उनके लिये कोई विधि नहीं, कोई निषेध नहीं। जब ज्ञानी पुरुष अहंकार से रहित होकर समस्त लोकों की हत्या करने पर उसके पाप से लिप्त नहीं होते, तो परमात्मा के लिये क्या पाप क्या पुण्य, वे सब कुछ करने में स्वतन्त्र हैं। अर्जुन जब श्रीकृष्ण की पत्नियों को लेकर हस्तिनापुर आ रहे थे, तो भगवान् ने ही गोपों का वेष रखकर उन्हें लूट लिया था, नहीं तो भगवान की पत्नियों को जंगली अहीरों में इतनी सामर्थ्य कहाँ जो लूट सकें। जब जालन्धर दैत्य अपनी पत्नी के पातिव्रत के ही प्रभाव से किसी से मारा नहीं जा सकता था, तो भगवान् ने छल करके—जालन्धर का रूप बनाकर उसकी पत्नी वृन्दा का पातिव्रत भंग किया था। जब असुर वेद पढ़ने लगे, हवन करने लगे, दान देने लगे तो भगवान् ने ही दंडी स्वामी का वेष बनाकर उन्हें उलटी पट्टी पढ़ाई। उनके सम्मुख वेद, यज्ञ, दान, व्रत की निन्दा करके उन्हें वेद विमुख बनाया। जब लोग जिह्वा लोलुपता के लिये यज्ञों के नाम पर पापाचार करने लगे—मनमानी जीव हिंसा करने लगे, तब भगवान् ने ही बुद्ध का अवतार लेकर लोगों को यज्ञ में हिंसा न करने का उपदेश दिया। वेदों तक का खंडन किया। इसलिये भगवान् कर्तु

अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सभी कुछ करने में समर्थ हैं। वे विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। अग्नि जल का साथ रख सकते हैं। तम और प्रकाश को साथ ही साथ स्थापित कर सकते हैं। उनके लिये कर्तव्य-अकर्तव्य, विधि-निषेध, सम्भव-असभव, कुछ भी नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान निराकार हैं, वे अतेन्द्रिय हैं, इन्द्रियों से अतीत हैं। फिर भी इन्द्रियो के जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श विषय हैं उनका उपभोग करते हैं, उनके स्वादों से पूर्णरीत्या परिचित हैं, व निर्गुण निराकार होने पर भी सगुण साकार बनकर सब पर शासन करत हैं। सब पर प्रभुत्व स्थापित किये रहते हैं, सबसे बडे बन जात हैं। जो सगुण साकार पुरुष हैं, उनकी एकमात्र शरण वे ही हैं। वे शरणागत वत्सल हैं। प्रपन्न पारिजात हैं। पुरुषों को सर्वतोभाव स उन्हीं सर्वेश्वर की शरण में जाना चाहिये।"

वास्तव में तो वे ही प्रभु अनेक रूप रखकर नाना भाँति की लीलायें कर रहे हैं। वे इस चराचर जगत् को अपने वश मे रख कर स्थावर तथा जगम जीवों से जो चाहें सो करात रहते हैं। उनकी इच्छा के बिना ससार में एक पत्ता भी नहीं हिलता। यह जो नौ द्वारों वाला पुरुषों का शरीर रूप नगर है, उसके मध्य में हस रूप से-देही बनकर-वे बैठे हुए हैं। सबके हृदय प्रदेश में विराजकर सबको प्रेरित करते रहते हैं। भीतर अन्तर्यामी रूप से सोते रहते हैं। बाहर पुरुष रूप से भाँति-भाँति के खेल करते रहते हैं। नाना प्रकार का ललित लीलायें करते रहते हैं।

यद्यपि उनके हम मनुष्या जैसे हाथ नहीं हैं फिर भी सदा उठाते पटकते रहते हैं। उधर की वस्तुओं को इधर और इधर की वस्तुओं को उधर करते रहते हैं। यद्यपि उनके मनुष्यों जैसे

पैर नहीं हैं, फिर भी बिना पैरों के ही ऐसे दौड़ते हैं, कि उन्हें कोई पकड़ नहीं सकता। यद्यपि उनके हमारे जैसे रक्त मांस के चक्षु तथा श्रोत नहीं फिर भी वे सब ओर सब वस्तुओं को देख सकते हैं, सब कुछ सुन सकते हैं। चाहें कोई कहीं भी किसी स्थानों में भी छोटे-से-छोटे स्वर में बोले—वे फट सुन लेते हैं। चींटी अपने पैर में घुँघुरू बाँधकर नाँचे तो भगवान् उसके नाच पर ताल देने लगते हैं। संसार में जानने योग्य जो भी वस्तु हैं, जो भी पदार्थ हैं, वे उन सबको भली प्रकार जानते हैं। किन्तु उन्हें यथार्थ रूप से जानने वाला कोई नहीं हैं। कोई विरला ही उन्हें यत् किंचित जान सकता है। इसीलिये बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, ज्ञानी, ध्यानी उन्हें आदि पुरुष, महतो महीयान-महान् से भी महान्-कहते हैं।"

वे संसार में जो सबसे छोटा अणु है उस अणु से भी बहुत छोटे हैं, और जो महान् से महान् महतत्त्व प्रकृति है उससे भी वे महान् हैं। वे इस जीव की हृदय रूपी गुफा में छिपे हुए बैठे रहते हैं। छिपकर क्यों बैठे रहते हैं? बड़े संकोची है, नव वधू के सदृश लज्जावान् हैं, इसलिए छिपकर-दुबककर-एकान्त में सोते रहते हैं।

इतने छिपे हुए को जीवात्मा कैसे पा सकता है? जीवात्मा अपने पुरुषार्थ से उसे थोड़े ही पा सकता है। अपने आप कोई उसका भेद थोड़े ही पा सकता है। जिसे वह अपने को जनाना चाहता है, उसे जना देता है, जिसके सम्मुख प्रकट होना चाहता है, उसके सम्मुख प्रकट हो जाता है। उस विधाता को उसी की कृपा से जीव प्राप्त कर सकता है। वह स्वयं संकल्प रहित है, परम ईश्वर है, जिसे वह दिखाना चाहे, वही उसकी महिमा को देख सकता है। उसे देख लेने पर जीव वीतशोक-सर्भी प्रकार के

शोक, मोह, दुःख, दुरितों से रहित हो जाता है। उसे देखकर जीव कृतार्थ हो जाता है, वह मनुष्य जीवन का परम फल पाकर कृतकृत्य बन जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! इस प्रकार वेदवादी आस्तिक ज्ञानी महापुरुष भगवान् की महिमा बताकर अन्त में कहते हैं—"जिसका जन्म नहीं, जिसे वेदवादी नित्य शाश्वत बतलाते हैं, जो विभु है, सर्वगत है, सभी स्थानों में सदा सर्वदा विद्यमान रहता है, जो सबकी आत्मा है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता—कभी मरता भी नहीं, जो बहुत ही पुराना है, जिसका आदि नहीं अनादि है, उस परब्रह्म परमात्मा को मैं जानता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस तृतीयाध्याय मे परमात्मा के सम्बन्ध में तथा उनकी प्राप्ति के सम्बन्ध में बताया गया। अब चतुर्थ अध्याय मे जैसे उनको स्तुति करके जगत् का रूप बताया है और भगवान् की जो दो अनादि प्रकृतियाँ हैं उनका जैसे स्वरूप बताया है, उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा। द्वैतवादियों की ये ही श्रुतियाँ आधार हैं। अद्वैतवादी इन्हें व्यावहारिक गौण मानते हैं। हम तो व्यवहार परमार्थ गौण मुख्य सब उन्हीं परमात्मा की लीला मानते हैं। वे द्वैत भी हैं, अद्वैत भी हैं, व्यवहार भी वे ही हैं, परमार्थ भी वे ही हैं। जगत् भी वे हैं, जीव भी वे हैं और पुरुषोत्तम भी वे ही हैं। दृश्य भी वे ही हैं, द्रष्टा भी वे हैं, सब कुछ वे हैं, उनके बिना कुछ भी नहीं।"

छप्पय

(१)

है जो जानन जोग्य ताहि सबई कूँ जानत।
है जो मानन जोग्य ताहि सबई कूँ मानत॥
ताहि न जानै कोइ कहैं सब ऋषि मुनि ज्ञानी।
परमेश्वर पर पुरुष महत्तम अलख अमानी॥
है महान तैं महत्तम, परम सूक्ष्म तैं सूक्ष्म वह।
हृदय गुफा में जीव की, छिपिकें बैठ्यो देव यह॥

(२)

कैसे तिनिकूँ पाइ छिपे एकान्त गुफा में।
पहुँच तहाँ तक नहीं जीव जावै कस तामें॥
किरपा जापै करें दरस ताकूं वे देवैं।
ईश कल्पना रहित शरन अपनी में लेवैं॥
जिनि पै उनकी दया हो, वे महिमा उनकी लखैं।
सब दुःखनितैं छूटिकें, अमृत दिव्य ते नर चखैं॥

(३)

ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ बतावें जनम न जाको।
जो अनादि अखिलेश जीव है चेरो ग्राको॥
सर्वात्मा सरबत्र रहैं विभु व्यापक स्वामी।
अजर अमर अखिलेश अनामय अन्तरजामी॥
जो पुराण परमात्म प्रभु, परमेश्वर अज अखिलपति।
मैं तिनिकूँ जानूँ कृपा—वही करें तब होइ मति॥

—०—

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का तृतीय
अध्याय समाप्त

—:—

जगदीश्वर स्तुति

[२७८]

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति । वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥*

(श्वे० अ० उ० ४ अ० १ म०)

छप्पय

जो अवर्ण निहितार्थ विविध शक्तिनि सम्बन्धित ।
हैकें वर्ण अनेक धरें या जग प्रपञ्च हित ॥
सृष्टि हेतु सब करें बनावें वे जग कर्ता ।
पालें पुनि बनि जायँ अन्त में वे सहर्ता ॥
जिनितैं जग होवे सकल, पुनि जिनमें ही घुसत है ।
देव एक वे बुद्धि कूँ, शुद्ध करैं यह विनय है ॥

परमात्मा अपनी शक्तियो द्वारा जीव और प्रकृति द्वारा इस जगत का निर्माण करते हैं। जग निर्माण के निमित्त उन्हें

---

* जो एक है, अवर्ण है, अपने प्रयोजन वश छिपे हुए अर्थ वाला है, विविध शक्तियों के सयोग से अवर्ण होने पर भी सृष्टि काल मे बहुत वर्णों को धारण कर लेता है और अन्त मे यह सम्पूर्ण विश्व उसी मे समा जाता है विलीन हो जाता है। ऐसे वे देव हम लोगो को शुभ बुद्धि से युक्त करें। अर्थात् वे हमारी बुद्धि को विशुद्ध बनावें।

न तो मानचित्र बनाने को, न सामान जुटाने, उठाने, धरने को, न शिल्प कार्य करने को किसी अन्य की आवश्यकता नहीं। अपनी ही स्वरूप भूता-जड़-चैतन्य-पुरुष-प्रकृति, आत्मा और महान इन दोनों प्रकृतियों के द्वारा जो अनादि हैं, उनसे समय आने पर इस विश्व को बना लेते हैं और समय आने पर इस सम्पूर्ण प्रपञ्च को समेट कर अपने में मिला लेते हैं। वे अकेले ही यह सब खेल किया करते हैं। वे न तो किसी से सहायता की अपेक्षा रखते हैं और न किसी से सहयोग ही चाहते हैं। वे सर्व सामर्थ्यवान, सर्वज्ञ, सर्वाधार और सर्वव्यापी हैं। जो जीव उनकी शरण में जाता है, प्रपन्न हो जाता है, उसे वे जगत बन्धन से विमुक्त बना देते हैं। जो अपने को ही कर्ता मानकर अहंकार के वशीभूत होकर कर्म करता है, उसे संसार चक्र में घुमाते रहते हैं। जीव का कल्याण उन्हीं की शरण जाने में, उन्हीं की स्तुति-विनय, प्रार्थना तथा उपासना करने में है। यही जीव का एकमात्र कर्तव्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सर्वप्रथम उन परब्रह्म परमात्मा की स्तुति करनी चाहिये जो एक हैं, अवर्ण हैं। भगवान् स्वयं रंग रूप, तथा वर्ण से रहित होकर नाना प्रकार के रंगों की-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रादि नाना प्रकार वर्णों की-जाति-उपजातियों की-सृष्टि करते हैं। गुण, कर्म और स्वभावानुसार अकर्ता होकर भी वे इन सबकी रचना करते हैं। इन सबकी सृष्टि वे व्यर्थ में क्यों करते हैं? इसे अज्ञ जीव जान नहीं सकता। क्योंकि वे निहितार्थ हैं-उनका अर्थ-प्रयोजन निगूढ़ है-वे इन वर्णों को कैसे रचते हैं अपनी जो शक्तियाँ हैं उन्हीं के सम्बन्ध से-उन्हीं के द्वारा-सृष्टि के आदि में इन्हें रचते हैं, रचकर वे स्वयं ही इनका पालन करते हैं और समय आने पर

विश्व को समेटकर–अपने में विलीन करके–जो एक से बहुत बन गये थे, फिर अकेले के अकेले ही रह जाते हैं। ऐसे जो सर्वज्ञ देव हैं, वे हमारी बुद्धि पर जो एक अज्ञान का आवरण चढ़ गया है, उसे हटा दें–हमारी बुद्धि को शुद्ध बना दें। हमें उस शुभ बुद्धि से संयुक्त करदें जिससे हम उनकी उपासना रूप शुभ कर्मों को ही किया करें। जिससे बार-बार जन्म न लेना पड़े।

जब सृष्टि बन जाती है, तब वह अकेला ही बहुत वर्णों वाला बनकर बहुत से रूप रख लेता है। वही उष्ण लपट वाला सर्वव्यापक अग्नि का रूपरख लेता है। अग्नि में जो दाहक शक्ति है वह उसी की है। सूर्य बनकर वही तीनों लोकों को तपाता है। सूर्य में जो तपाने की शक्ति है वह उसी की है। वायु बनकर वह सबको जीवन प्रदान करता है वायु मे जो जीवनी शक्ति है वह उसी की है। चन्द्र, मंगल, बुद्ध, शुक्र आदि प्रकाशयुक्त ग्रह, नक्षत्र, तारों में जो चमक है–प्रकाश है–वह उसी का है। जल में जो शीतलता है, तृप्त करने और जीवन दान की शक्तियां हैं, वे उसी की हैं। वही वास्तव में तृप्त करने मे समर्थ है। लोकों को उत्पन्न करने वाले जो मरीचि, कश्यप, अत्रि आदि प्रजापति हैं, जो सृष्टि के जीवों के रचयिता हैं, उनमे जो रचने की शक्ति है उन्हीं की है। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड को बनाने वाले जो चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, जो त्रिगुणात्मक जगत् का निर्माण करते हैं, उनमे जो निर्मातृ शक्ति है, वह उन्हीं की शक्ति है, वे ही स्त्री बनकर सन्तानों को जनने लगते हैं। स्त्रियों मे जो प्रजनन शक्ति है, वह उन्हीं की है। वे ही पुरुष बनकर वीर्याधान करते हैं, पुरुषों में जो वीर्य आधान–गर्भाधान–की शक्ति है वह उन्हीं का है। अर्थात् माताओं में मातृत्वशक्ति, पिताओं में पितृत्व शक्ति परमात्मा की ही है। माता-पिता के सयोग से जो कुमार कुमारी उत्पन्न होते हैं,

उनमें जो कुमारत्व और कुमारीत्व की शक्ति है वह उन्हीं की है। अर्थात् वे ही कुमार-कुमारी बन जाते हैं। उन्हीं का नाम मोहन है और उन्हीं का नाम मोहिनी भी है। कुमार और कुमारी समय पाकर जो वृद्ध हो जाते हैं, जरावस्था से व्याप्त होकर दंड के सहारे से चलते हैं, वह वृद्धत्व श्रेष्ठत्व आपका ही है। आप ही समस्त जीवों को दंड दे देकर दंड के सहारे चलाते हो। लठिया टेकते-टेकते बूढ़ा जब खों-खों करता हुआ जाता है, तब लोग उसकी दुर्बलता पर हँसते हैं। वास्तव में आप हँसने योग्य जीर्ण नहीं हो। आपको दंड की आवश्यकता नहीं, किन्तु आप वृद्ध का रूप बनाकर लाठी के सहारे चलकर-अपनी असमर्थता दिखाते हुए लोगों को ठगते हो। वास्तव में तो तुम विराट् पुरुष हो, सर्वतोमुख हो। सभी ओर आपके अनन्त मुख हैं, आप ही सब कुछ हो जाते हो। जब जैसे चाहते हो तब तैसा बन जाते हो।

हे प्रभो! तुम ही नील वर्ण के काले-काले भौंरे बनकर-पतङ्ग बनकर आकाश में उड़ने लगते हो। तुम ही हरे रंग के लाल-लाल आँखों वाले सुग्गे-तोते-पक्षी बनकर नभ में विचरण करने लगते हो। तुम ही विद्युत द्वारा मेघ बनकर बरसने लगते हो, तुम ही बसन्तादि ऋतुओं का रूप रखकर तदनुसार कार्य करने लगते हो, तुम ही सातों समुद्रों का रूप बनाकर इक्षु, रस, क्षीर, नीरादि बहाते हुए अगाध बन जाते हो। कहाँ तक बतावें, कहाँ तक गिनावें ये सम्पूर्ण भुवन तुम से ही उत्पन्न हुए हैं। तुम एक हो, अनादि हो, तुम्हारी जो अन्य अनादि प्रकृतियाँ हैं वे भी तुम्हारे अधीन ही हैं, तुम उनके स्वामी हो। तुम विभु हो, सर्व-व्यापक हो, सर्वात्मा हो, सभी में समान भाव से विद्यमान रहते हो।

जैसे तुम अनादि हो, वैसी ही तुम्हारी एक पालतू चितकबरे रंग की बकरिया भी है, वह भी अनादि है, सदा तुम्हारे अधीन रहती है, वह लाल, सफेद और काले रंग की है। वह बहुत बच्चे बनाने वाली बकरी है। बहुत-सी प्रजाओं को पैदा करने वाली है। वह बकरिया तुम्हारी अनादि अजन्मा प्रकृति ही है। उस अजा का नाम तुमने त्रिगुणात्मिका प्रकृति रख रखा है।"

शौनकजी ने पूछा—"भगवान् की वह बकरी अपने ही आप प्रजाओं को पैदा करती रहती है क्या ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जब तक बकरा न हो तब तक अकेली बकरी बच्चा कैसे पैदा कर सकती है ? जैसे भगवान् की एक अजन्मा अनादि अजा-बकरी-है, वैसे ही उनका एक अजन्मा अनादि अज-बकरा-भी है। सृष्टि तो मिथुन से-दो के संयोग से-होती है। भगवान् का वह अज-बकरा-अज्ञानी जीव-उस बकरी पर आसक्त होकर उसका उपभोग करता है, बन्धन में बँध जाता है। मोहवश बाल-बच्चों वाला बन जाता है। जब बकरा विरक्त होकर इस भोगी हुई बकरी से मुख फेर लेता है, इसका परित्याग कर देता है, तो वह बन्धन मुक्त हो जाता है। अर्थात् जीव प्रकृति से सम्बद्ध होने पर बँध जाता है और इस भुक्त भोगा प्रकृति का जब त्याग कर देता है, तो प्रकृति का बन्धन रूप जो मोह है, उसका क्षय हो जाता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। वह मुक्त बन जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"एक अजा-बकरी-प्रकृति और दूसरा अज-बकरा-जीवात्मा ये दोनों अनादि हैं अजन्मा हैं। इनमें प्रकृति तो जड है। जीवात्मा चैतन्य है। प्रकृति से देह निर्मित है, जीवात्मा इस शरीर के मध्य में हृदय रूपी गुफा में रहता है। तो क्या ये दो ही अनादि हैं ?"

सूतजी ने कहा—"एक इन दोनों के स्वामी पुरुषोत्तम-परमात्मा-परमेश्वर वे भी अनादि हैं। उन्हीं के कारण तो इन दोनों का अनादित्व है। प्रकृति तो उड़ नहीं सकती, क्योंकि वह जड़ है। ये दोनों चैतन्य हैं इसलिये उड़कर वृक्ष के ऊपर बैठे रहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वृक्ष कौन है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह मानव शरीर ही मानों एक प्रकार का पीपल का वृक्ष है, उस पर साथ-साथ ही-मित्र भाव से ये जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षी निवास करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी जब दोनों ही चैतन्य हैं, दोनों ही परस्पर में मित्र हैं, दोनों साथ ही साथ समान वृक्ष पर रहते हैं। तो दोनों में अन्तर ही क्या रह गया ? दोनों समान ही होंगे ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! कारावास में पहरेदार और अभियुक्त दोनों साथ-ही-साथ रहते हैं, किन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। एक तो अपने दुष्कर्मों के कारण दंड का भोग भोगता है। वह स्वेच्छा से बाहर नहीं निकल सकता। दूसरा जब चाहे बाहर जा सकता है, जब चाहे भीतर आ सकता है। इसी प्रकार ये जीवात्मा और परमात्मा रूपी पक्षी इस शरीर रूपी वृक्ष पर सदा साथ-ही-साथ रहते हैं, परस्पर में दोनों में सख्यभाव भी है। किन्तु इन दोनों में अन्तर इतना ही है, कि यह जीवात्मा रूप पक्षी तो इस शरीर रूप वृक्ष के फलों को-भोगों को-खाता है-भोगों को भोगता है-स्वाद ले-लेकर बड़े चाव से परम आसक्ति के साथ उन पिप्पलियों को भक्षण करता है, किन्तु दूसरा परमात्मा उनको खाता नहीं। वह बिना खाये साक्षी बनकर-केवल देखता ही रहता है। उनका उपभोग नहीं करता।

बन्ध तो मोह में-आसक्ति में है। खाने के कारण मोहपूर्वक भोगने से एक बँध जाता है, दूसरा सदा सर्वदा बन्धन मुक्त ही बना रहता है। इन फलों को खाने का परिणाम क्या होता है। खाने के पश्चात् आलस्य आता है, सोने की इच्छा होती है। प्रमाद भी घेर लेता है। अतः इस शरीर रूप पीपल के वृक्ष पर रहने वाला और उसके फल पिप्पलियों को खाने वाला यह जीवात्मा गहरी नींद मे निमग्न हो जाता है। अपने समीप में ही बैठे हुए अपने मित्र पक्षी को देख नहीं सकता। उसकी ओर पीठ करके निद्रालस्य मे पडा पडा झपकियाँ लेता रहता है। अधिक खा लेने के कारण उसे आलस्य घेरे रहता है। वह प्रमाद युक्त होकर आलस्य के कारण उठने बैठने में असमर्थ हो जाता है। असमर्थता में दीनता आ ही जाती है। तब वह मोह के वशीभूत होकर रात्रि दिन सोच में पडा रहता है। उसे शोक के कारण दुःख होता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"तो क्या वह सदा शोक में ही सन्तप्त बना रहता है?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, ब्रह्मन्! कभी करुणेश की उस पर कृपा हो जाती है। अकारण करुणा वरुणालय भगवान की उस पर अहैतुकी दया हो जाती है तो उसकी आँखें खुल जाती हैं। उसका जो अनादि मित्र है, जिसकी भक्तगण सदा सेवा किया करते हैं, जो उसके समीप में ही बैठा है, जिसकी ओर उसने पीठ फेर ली है, उस परमेश्वर को देखने लगता है, उसकी महिमा को प्रत्यक्ष देखता है, तो उसके समस्त शोक, मोह, दुःखादि नष्ट हो जाते हैं, वह वीतशोक-दुःख रहित हो जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस पर जीवात्मा का, प्रकृति का स्वरूप बताकर जीवात्मा और परमात्मा में क्या भेद

है, यह बात बतायी। जीवात्मा भोग भोगने के कारण परतन्त्र बन जाता है, परमात्मा भोगों से सदा निर्लिप्त रहता है। अतः वह सदा सर्वदा पूर्ण स्वतन्त्र है। वह परमात्मा कैसा है, आगे जैसे उसके स्वरूप का वर्णन भगवती श्रुति करेगी उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

रवि, शशि, अग्निहु, वायु, शुक्र, जल, ब्रह्म प्रजापति।
वे ही सब बनि गये पुरुष, नारी, बूढ़े अति॥
लाठी लेकें चले सहस मुख वे बिराट प्रभु।
नीले बने पतंग हरे तोता वे ई विभु॥
मेघ, बसन्त, समुद्र वे, सकल भुवन पैदा करें।
वे अनादिमत विभु विमल, अन्त उदर सबकूं धरें॥

(२)

उनकी बकरी एक अजन्मा है अनादि जो।
कारी, लाल, सफेद सरूपा त्रिगुणमयी सो॥
प्रजा बहुत सी रचै लड़ैती चितकबरी है।
बकरा सग में एक मोहमय अज्ञानी है॥
बनिकें अज आसक्त जब, भोगै तब बधि जातु है।
तजै भुक्तभोगा जबहिं, मुक्त होइ छुटि जातु है॥

(३)

देह रूप जो वृक्ष जीव अरु ईश बसैं खग।
सगी, साथी, सखा तिनहिं जानत सबरो जग॥
एक स्वादु फल खाइ जगत बन्धन बँधि जावै।
दूसर खावै नहीं सच्चिदानन्द कहावै॥
जीव भोग तैं दुखित अति, शोक मग्न सोचत रहत।
करें कृपा करुणेश जब, मिटै शोक ईशहिं लखत॥

परमात्म स्वरूप और उनसे मुक्ति की प्रार्थना

[२७९]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥*

(श्वे० अ० उ० ४ अ० ८ मन्त्र)

छप्पय

जिनिमें विश्वे देव, वेद सबई इस्थित हैं ।
जा अविनाशी परम, जीव जे नहिँ जानत हैं ॥
वे यदि वेदनि ऋचा रटैं ते का फल पावैं ।
जे तिनि विधिवत जानि तिनाहँ में थित ह्वै जावैं ॥
छन्द, यज्ञ, व्रत, विश्व सब, भूत, भविष्यत दृष्ययह ।
ईश सबहिँ कूँ सृजत हैं, जीव मोह तैं बधै वह ॥

---

* जिस परब्रह्म परमात्मा के अक्षर परमधाम में समस्त देवगण तथा वेदों की समस्त ऋचायें हैं । उन परब्रह्म परमात्मा को जो जानता नहीं है वह यदि केवल ऋचाओं को ही रट लें, तो वे वेद की ऋचायें उसका क्या उपकार करेंगी ? किन्तु जो उस परमात्मा को जान लेते हैं, वे तो उसी को भली-भाँति प्राप्त कर लेते हैं ।

जिस परमधाम–परमव्योम–में भगवान् श्रीमन्नारा विराजमान रहते हैं, उनकी सेवा में आठों सिद्धियाँ, नऊ निधि समुपस्थित रहती हैं। उपासना के द्वारा जिन साधकों को दिव्य प्राप्त हो गयी है, अथवा जो उनके नित्य पार्षद हैं, वे भगवान सेवा में सदा संलग्न रहते हैं। वे भगवान जैसे सब से ऊपर लोक वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत लोक में विद्यमान हैं, वैसे ही पृथ्व पर भी वे श्वेतद्वीप में अवस्थित रहते हैं। क्षीरसागर में भी उनक निवास है। समस्त वस्तुओं के अधिष्ठातृ देव उनका कैंकर्य करते रहते हैं। सदा सेवा में संलग्न रहते हैं। जैसे समस्त देवगण-परम दिव्य रूप से उन्हीं के अंग भूत पार्षद सेवा में रहते हैं वैसे ही मूर्तिमान् वेद भी दिव्य रूप से उनकी सेवा में लगे रहते हैं। चारों वेद भी सशरीर भगवान् का कैंकर्य करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो वेदों की ऋचाओं को तो सस्वर रट लेते हैं, किन्तु परब्रह्म परमात्मा से अनभिज्ञ ही बने रहते हैं। वेदों के पढ़ने का फल तो यही है कि उन परब्रह्म का ज्ञान हो जाय। वेद साध्य नहीं भगवान् की प्राप्ति का साधन हैं। भगवान् को साध्य न मानकर–वेदों को पढ़ भी लिया और भगवान् को न जाना तो उसके वेदों के पढ़ने से क्या लाभ ? उसका केवल ऋचाओं को तोते की भाँति रट लेना एक प्रकार से व्यर्थ-सा ही है। और यदि उन परब्रह्म परमात्मा को तत्त्व से जान लिया, तो उसे वैकुण्ठ की प्राप्ति हो ही जायगी, जहाँ वेद मूर्तिमान होकर भगवान् का कैंकर्य करते हैं। भगवत् धाम की प्राप्ति होने पर वेदों का ज्ञान उसे स्वतः प्राप्त हो जायगा। अतः वेदों का अध्ययन हमें भगवत् प्राप्ति हो, उनके परमधाम में हमारी स्थिति हो जाय, इसी उद्देश्य से करना चाहिये। इस उद्देश्य से वेदाध्ययन करने से उनके परम-धाम की प्राप्ति होगी, वहाँ सदा-सदा के लिये स्थिति हो जायगी,

वहीं पर मूर्तिमान वेद भी स्थित रहते हैं। अतः भगवान् के साथ ही साथ वेदों की भी प्राप्ति हो जायगी। वेद भगवान् के अङ्गभूत ही तो हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! देव वेद सब परमव्योम-परमधाम-वैकुण्ठ-में भगवत् सन्निधि में रहते हैं। जो भगवत् तत्त्व से उदासीन हैं और ऋचाओं को रट लेते हैं। तो वे उस तोता रटन्त से क्या सिद्ध कर सकेंगे। दूसरे उपासना द्वारा उस तत्त्व को जान लेते हैं, उनकी स्थिति परमधाम में हो जाती है, तो वेद तो उसे स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। वेद भगवत् प्राप्ति का साधन है। साध्य तो वे सर्वेश्वर सर्वात्मा सच्चिदानन्द ही हैं। क्योंकि समस्त वेद, सम्पूर्ण यज्ञ, क्रतुविशेष यज्ञ, समस्त व्रत उपवासादि शुभ कर्म हैं, ससार में जो भी भूत भविष्य और वर्तमान है जिन-जिनका वर्णन वेदों में आया है, उन सभी को ये परब्रह्म परमात्मा जो माया के अधिपति हैं-प्रकृति के स्वामी हैं-वे प्रकृति द्वारा इन सबको बनाते हैं। इन सबकी रचना करवाते हैं। परमात्मा तो प्रकृति से परे हैं, किन्तु यह अज्ञानी जीव उस प्रपञ्च में बँधा हुआ है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! माया क्या? मायी क्या और जगत् क्या?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! भगवती श्रुति स्वयं ही इन तीनों की व्याख्या करती हुई बताती है, कि प्रकृति को ही माया जानो और मायी-माया के पति महेश्वर को मानों तथा उन्हीं महेश्वर के अवयव भूत जो कार्य कारण समुदाय हैं, उन्हीं के द्वारा यह प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं के द्वारा व्याप्त हो रहा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! बन्धन में तो अशान्ति रहती

वे विश्वकर्मा हैं, महात्मा हैं, सतत सबके हृदय में संनिविष्ट हैं। मन से, बुद्धि से तथा हृदय से ध्यान करने पर वे ध्यान में आते हैं। उनको जो ध्यान द्वारा जान जाते हैं, वे मृत्यु के चंगुल से सदा सर्वदा के लिये छूटकर अमृत हो जातेहैं। जन्म मरण के चक्कर से विमुक्त बन जाते हैं।

वे परमात्मा केवल हैं, शिव स्वरूप हैं, अक्षर हैं, वे सूर्यादि देवों के भी उपास्य हैं–वरेण्य हैं–वे प्रकाश-अन्धकार, दिवस रात्रि तथा सत्-असत् सब से परे हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"तो सूतजी! जो न सत् हैं न असत् तो उन्हें जाना कैसे जा सकता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जीव अपनी प्रज्ञा से उन्हें थोड़े ही जान सकता है? वे तो मन बुद्धि की परिधि से सदा परे हैं। उन्हें जीव उन्हीं की कृपा से जान सकता है। उनके प्रपन्न होने पर ही उन्हें पहिचान सकता है। उन्होंने जग में जो अपनी पुराणी प्रज्ञा फैला रखी है उसी प्रज्ञा की परम्परा द्वारा पुरुष उन्हें जान लेता है।

उसे कोई स्वतः पकड़ना चाहे, तो कैसे पकड़ सकता है। ऊपर से, नीचे से, मध्य से, इधर से, उधर से कैसे भी वे पकड़ में नहीं आने वाले हैं। उसके यश द्वारा ही उसकी पकड़ हो सकती है।"

शौनकजी ने कहा—"उस परमात्मा का यश क्या है?"

सूतजी ने कहा—"उसके राम, कृष्ण, गोविन्द, माधव, हरि, मुरारी ये सुमधुर नाम ही यश हैं। नाम जप से ही वह पकड़ में आ सकता है। आप चाहो कि उसके सदृश किसी पुरुष को देखकर उसे पहिचान लें, उसे पकड़ लें तो असम्भव है, क्योंकि

उसके सदृश कोई दूसरा है ही नहीं। उसकी उपमा अन्य किसी से दी ही नहीं जा सकती।"

शौनकजी ने पूछा—"तब उसे कैसे देखें ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! वह अन्तर्यामी है, सबके घट घट में विराजमान् है, उसे भक्ति से, भीगे हृदय से, श्रद्धा से, द्रवित अन्तःकरण से, मल रहित स्वच्छ निर्मल मन से ही देखा जा सकता है। उसे देख लेने पर जीव कृतार्थ हो जाता है, अमृत बन जाता है। उसका रूप इतना तेजयुक्त प्रकाशवान् है कि मानवीय दृष्टि के सम्मुख ठहरता नहीं। इसीलिये इसे मनुष्य चर्म चक्षुओं से देखने मे असमर्थ है। इसे देखने को उसी द्वारा दी हुई दिव्य दृष्टि चाहिये। साधुजन उन्हीं की कृपा से उन्हीं द्वारा प्रदत्त दिव्य दृष्टि से उसे देखते हैं। ऐसे परमात्मा की स्तुति विनय करनी चाहिये। स्तुति द्वारा ही वे दया दृष्टि करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसे स्तुति करें ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे बने तैसे करे। उनसे रो रोकर-बिलखकर, आर्तभाव से, श्रद्धा भक्ति पूर्वक कहे—हे सर्व संहारक रुद्रदेव! आपका तो कभी जन्म होता नहीं, अतः आप तो कभी बन्धन में बँधते नहीं, मैं जीव हूँ, इसलिये मोह वश जन्म मरण के चक्कर में फँस गया हूँ, मैं जग बन्धन मे बँधकर भीरु बन गया हूँ, अतः आप अजन्मा की शरण में आया हूँ। अतः आपका जो दाहिना कल्याणकारी मुख है। आपका जो दयामय स्वरूप है उसी के द्वारा हे शरणागतवत्सल! मुझ शरण में आये दीन हीन भीरु पुरुष की सर्वदा रक्षा करो। हे अशरण शरण! मा पाहि-मेरी जन्म मरण रूपा भयंकर राक्षसी से रक्षा करो।

हे रुद्र स्वरूप कालात्मन्! परमात्मन्! हम समस्त की ओर से आपके पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रार्थना क हम श्रद्धानुसार यत् किंचित उपहार-भेंट लेकर आपका आ करते हैं। आप हम पर प्रसन्न हों। कुपित होकर हमारे पौत्रों को, हमारे धन को, हमारी आयुष्य को, हमारे घ हाथी, गौ आदि पशुओं में से किसी को अकाल में काल लित नकरें, उनमें किसी प्रकार की कमी न करें। हमारे राष्ट्र वीर पुरुषों का नाश न करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् के किंचित स्वरूप का, उनकी प्राप्ति के फल का तथा राष्ट्र कल्याण हेतु उनकी स्तुति का आपके सम्मुख वर्णन किया। आगे जीवात्मा के सम्बन्ध में पञ्चम अध्याय में कहा जायगा।

छप्पय

(१)

माया ही है प्रकृति महेश्वर मायापति है।
व्याप्त तिनिहिं सब जगत कार्य कारन वे तिनि हैं॥
एक अधिष्ठित सकल प्रलय में लीन होहिं जिनि।
शान्ति प्राप्त नर करै जानिकें देव वरद तिनि॥
सुरनि प्रभव उद्भव अलख, हिरण्यगरभ तैं प्रथम जो।
अखिल विश्वपति ऋषिप्रवर, करै बुद्धि कूँ शुद्ध सो॥

(२)

देवाधिप सब लोक रहैं शासन में जिनिके।
द्विपद चतुष्पद जीव सबहिं अंकुश में तिनिके॥
तिनिकी श्रद्धा सहित भेंट धरि पूजा करिहै।
शिव स्वरूप तिनि पूजि अमर बनि नहिं हम मरिहै॥
सूक्ष्म तें हू सूक्ष्म जो, हृदय गुफा में नित बसत।
विश्व सृजत सब थल रहत, रूप विविध जग हित धरत॥

छप्पय

(३)

समय समय पै करें भुवन की रक्षा जगपति।
भूतनि में नितगूढ़ भाव तै बसहिं महामति॥
सुर मुनि जिनिका ध्यान धरें मृत्युहिं तरि जावै।
घीउ मण्ड सम सूक्ष्म जानि नर अमर कहावें॥
जगकर्ता अज महात्मा, हिय थित जे चिन्तन करें।
हृदय बुद्धि मन ध्यान धरि, जनम मृत्यु जग भव तरें॥

(४)

अतम जबहिं है जाइ दिवस नहिं रात्रि असत सत।
केवल शिव अज एक उपास्यहु रवि धी प्रसृत॥
नीचे ऊपर नहीं न दायें बायें मधि है।
पकरि न कोई सकै सरिस नहिं नामहि यश है॥
रूप दीठि पथ नहिं टिकै, चरम चक्षु दीसत नहीं।
निरमल मन-धी-शुद्ध हिय, लखि होवै अम्भृत यहीं॥

(५)

रुद्र! भीरु हम शरन अजन्मा तुमकूं जानी।
रक्षा हमरी करो—सतत—हम हैं अज्ञानी॥
भेट लाइकें तुमहिं बुलावें कुपित न होवें।
पुत्र पौत्र मम आयु अश्व गो नहिं कम होवें॥
सबई की रक्षा करो, होउ सदय सब पै प्रभो।
वीर पुरुष जा राष्ट्र के, नसें न अस कीजे विभो॥

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का चतुर्थ
अध्याय समाप्त

—०—

परमात्मा और जीवात्मा

[२८०]

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्रगूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।
(श्वे० उ० उ० ५ म० १)

छप्पय

जिनि अक्षर पर-ब्रह्म माहिं हैं छिपे उभय है।
एक अविद्या क्षरहु अमृत विद्या जीवहु है॥
शासन इनिपै करै वही परमात्म कहावै।
सब योनिनि सब रूप ईश इनको कहलावै॥
हिरण्यगरभ ऋषि कपिल कूँ, ज्ञान दान तैं पुष्ट करि।
सबको कारन लखहिं सब, सोवै सबकूँ उदर धरि॥

इस प्रपञ्चात्मक जगत् को हम प्रत्यक्ष देखते हैं और ना

---

* जिस परम अक्षर अनन्त परब्रह्म मे विद्या और अविद्या दोनों स्थित हैं। क्षर को—विनाशशील जड वर्ग को अविद्या—कहते हैं और अविनाशी अमृत—जीवात्मा—को विद्या कहा गया है। जो विद्या और अविद्या का स्वामी है—ईश है—वह इन विद्या-अविद्या से भिन्न परमात्मा—है।

योनियों में जन्म धारण करने वाले जीव को भी हम देखते हैं, किन्तु इस जगत् पर और जीवों पर जो शासन करता है, उस परमात्मा को हम नहीं देखते। वह एक छिपा हुआ शासक है, वह जिसे चाहे पकड़वा कर कारावास में उसके कर्मानुसार बन्द कर सकता है। बन्द हुए बन्दी को कृपा करके मुक्त कर सकता है। बन्ध और मोक्ष उसी की आज्ञा पर निर्भर है।

जीव अनादि कर्मवासना के कारण जगत् में अनेक योनियों में जन्म लेता है, जब जिस जीव को कृपा करके वह परमात्मा मुक्ति के हेतु वरण कर लेता है, जिसे संसार बन्धन से छुड़ाने का वह विचार कर लेता है—उसे शुभ बुद्धियोग प्रदान कर देता है। ऐसे मुमुक्षु की बुद्धि भगवान् की भक्ति की ओर लग जाती है। निरन्तर भगवान् का भजन, पूजन, अर्चन वन्दन करने से-सर्वात्मभाव से उनकी शरण ग्रहण करने से-जीव के समस्त पूर्व-जन्मों के किये हुए कल्मष नष्ट हो जाते हैं। उसकी अज्ञानजनित हृदय की गाँठ खुल जाती है, उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है, कि अज्ञान के वशीभूत होकर—अपने को व्यर्थ में ही कर्ता मानकर—मैं भटक रहा था। सबके कर्ता-धर्ता तो ये विद्या अविद्या परे—जीव और जगत् से अन्य—परमात्मा ही हैं। इतना ज्ञान होते ही जीवात्मा संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। प्रकृति आठ प्रकार की है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। इसी प्रकार जीव के भी दो भेद हैं एक बद्ध जीव, दूसरा मुक्त जीव। बद्ध जीव अज्ञान के कारण प्रकृति के बन्धनों में बँधकर जन्मता, मरता रहता है और मुक्त जीव भगवान् का यथार्थ ज्ञान होने से आवागमन से मुक्त होकर-मुक्त बनकर—आनन्दामृत का पान करता रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संसार में तीन ही वस्तुएँ हैं,

अविद्या दूसरी विद्या और तीसरी इन दोनों को शासन में रखने वाली। इनका संचालन करने वाली शक्ति है। वैसे शक्ति तो सभी में है, किन्तु सबसे श्रेष्ठ शक्ति होने से वह परमाशक्ति कहाती है। वैसे ईशत्व-स्वामीपना-तो सभी में है। मनुष्यों के ईश नरेश कहाते हैं। खग-पक्षियों के ईश-खगेश-कहाते हैं। सुर-देवताओं के ईश सुरेश कहाते हैं, किन्तु इन समस्त ईशों के भी जो एकमात्र ईश हैं, वे परमेश या परमेश्वर कहाते हैं। आत्मा तो जीव, शरीर, मन, इन्द्रियाँ, पृथ्वी, वायु, बुद्धि, पुत्रादि सभी कहलाते हैं। किन्तु इन सबका जो एकमात्र आत्मा है वह परमात्मा है। विद्या और अविद्या से अन्य इन सबसे सर्वदा विलक्षण है।"

शौनकजी ने पूछा—"अविद्या क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जो क्षर है-विनाशशील जड़वर्ग है। जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार रूप अष्ट प्रकृति द्वारा निर्मित चराचर जगत् के पदार्थ हैं, ये सभी अविद्या नाम से कहे जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"विद्या क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"विद्या भी प्रकृति ही है, किन्तु वह प्रकृति जिसे ज्ञान हो जाय। (विद्यतेऽसौ=इति-विद्या) जिसकी बुद्धि मोक्षमार्ग में लग जाय। जो पुरुषोत्तम पुरुषार्थ साधनीभूता प्रकृति है। पहिली अविद्या प्रकृति जड़रूपा थी। यह विद्या प्रकृति चैतन्यरूपा है अर्थात् जीवात्मा। वह प्रकृति क्षर विनाशशील थी। यह प्रकृति-जीवात्मा-अक्षर है अर्थात् अविनाशी वाली। समस्त जीव समुदाय विद्या के नाम से पुकारा जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"जड़वर्ग हो गया, अविनाशी चैतन्यरूप हो गया। अब परमात्मा परमेश्वर क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"प्रकृति तो जड है, जीव यद्यपि चैतन्य है, किन्तु वह अज्ञानी है, स्वतन्त्र नहीं। इन दोनों पर—विद्या और अविद्या पर—जो शासन करता है, जो इन दोनों से भिन्न अपूर्व है, जो ब्रह्माजी से भी परे है, जो सबका सूत्रधार है, किन्तु जो छिपा बैठा रहता है, जिसकी कोई सीमा नहीं, जिसका पार नहीं, वह अपार, असीम, अक्षर परब्रह्म परमात्मा है। विद्या और अविद्या दोनों से ही परमश्रेष्ठ है।"

वह यद्यपि अकेला ही है, परन्तु एक होने पर भी समस्त चरों पर, समस्त अचरों पर, समस्त योनियों पर, समस्त रूपों पर, समस्त कारणों पर अपना अकुश रखता है, सब पर अपना आधिपत्य जमाये रखता है। कोई भी उसे नहीं जानता वह कब उत्पन्न हुआ। उत्पन्न हुआ भी या वह सदा जैसे-का तैसा, अजर अमर, एकरस, शाश्वत बना रहता है, क्योंकि हम लोग कपिल ऋषि को—हिरण्यगर्भ को—सबके पितामह ब्रह्मा को ही आदि पुरुष मानते हैं। उन प्रजापतियों के भी पति ब्रह्माजी को ये ज्ञानोपदेश करके पुष्ट करते हैं। उन आदि पुरुष ब्रह्माजी को जिन्होंने उत्पन्न होते देखा है। देखा क्या उनकी भी उत्पत्ति इन्हीं से हुई।

जैसे मकड़ी स्वयं ही जाला बनाकर उसमें जीवों को फँसाती है, इच्छा होती है, तब तक क्रीडा करती है, उस जाल की रक्षा करती रहती है। जब इच्छा होती है, तब उसे निगल जाती है। पेट में रखकर सो जाती है। जब इच्छा होती है, तब फिर सूत्र को मुख से निकाल कर ताना-बाना पूर कर जाल बना लेती है, जीवों को फँसा लेती है। ऐसे ही वे परमदेव इस जगत् रूप क्षेत्र में जब सृष्टि करना चाहते हैं तब अकेले ही इस जाल को भूतादि तत्वों को भाँति-भाँति से विभाग करके, उनका [illegible]

बना लेते हैं। जब तक इच्छा होती है तब तक उसमें विहार करते रहते हैं। जब इच्छा होती है, तब इसका संहार कर लेते हैं, अपने में लीन कर लेते हैं। जीव आत्मा है, ये उससे बड़े आत्मा महात्मा हैं। जीव अनीश है ये सबके ईश हैं। सबको उदर में रखकर एकाकी सोते रहते हैं। जब फिर इच्छा होती है, तो फिर से पहिले की भाँति हाट लगा लेते हैं। दूकान के सामान को बाहर सजा देते हैं। इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि लोकपालों की रचना करते हैं और आप सबके सिरमौर मुकुट-मणि अधिपति बनकर सबके ऊपर आधिपत्य जमाये रहते हैं। सबकी नाकों में नकेल डालकर नचाते रहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"अकेले सब पर शासन कैसे करते होंगे?"

सूतजी ने कहा—"क्यों महाराज! सूर्य तो अकेले ही हैं न? वे समस्त दिशाओं में ऊपर-नीचे, दायें-बायें, इधर-उधर, टेढ़े-तिरछे सब ओर प्रकाश फैलाते रहते हैं। अपने प्रकाश से देदीप्यमान होकर सभी को प्रकाशित करते रहते हैं। उसी प्रकार वे वरेण्य परमदेव अपनी समस्त शक्तियों पर अकेले ही प्रभुत्व स्थापित किये रहते हैं। जैसे एक चक्रवर्ती राजा एक स्थान पर बैठकर ही भूमंडल का शासन करता रहता है। वैसे ही वह विश्वयोनि परमात्मा सबके स्वभाव को पचाता रहता है। जो पदार्थ पक जाते हैं उन्हें नाना रूपों में परिणित करता रहता है। वह एकाकी ही समस्त जीवों का संयोग-वियोग कराता रहता है, इस प्रकार वह अनन्त ब्रह्माण्डों का भली प्रकार से पालन-पोषण करता रहता है। सब पर शासन करता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जो गूढ़ है, सदा सर्वदा छिपा

हता है, उसको आज तक किसी ने देखा भी है ? कोई उसे
ानता भी है क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वह सबसे छिपी रहती है,
बको देखकर मुख ढक लेती है। सदा परदे में रहती है, किन्तु
पनी सखी सहेलियों से तो मिलती जुलती ही है, उनसे तो
ल-घुलकर बातें करती है। इसी प्रकार जो उनके तदीय हैं,
नन्य भक्त हैं, प्रपन्न हैं, उनके सम्मुख वे प्रकट होते हैं, उन्हें वे
पना मधुर मुख दिखा देते हैं। वे उनसे घुल मिल जाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"एक आध का नाम बताइये ?"

सूतजी ने कहा—"एक दो हों तो उनका नाम भी गिनाया
य। असंख्य देवता, ऋषि, मनुष्य उन्हें जानकर उनमें तन्मय
गये हैं, अमृत स्वरूप बन गये हैं। समस्त उपनिषदों में (जिन
निषदों में वेदों का गूढ रहस्य छिपा है उनमें) एकमात्र उन्हीं
महिमा तो गायी गयी है, वे वेदों के रचयिता हैं, बनाने वाले
वेदों के वे प्राकट्य स्थान हैं, उन्होंने ही ब्रह्माजी को वेद
ाये। वे ब्रह्माजी भी उन्हें जानते हैं। वे उनके पुत्र ही ठहरे।
के अतिरिक्त उनके बहुत से भक्त भी उन्हें जानकर उन्हीं के
गये हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जीव जब स्वयं साधनों के
ा उन परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वे साधन-
य नहीं हैं, कृपासाध्य हैं। जिन जीवों पर वे कृपा करते हैं—
नको वे अपना लेते हैं—उन्हें ही बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिस
के सहारे वे जीव उनको प्राप्त कर लेते हैं। वे कुछ जीवों
तो कृपा करके उन्हें बन्धन मुक्त कर देते हैं, कुछ जीवों को
ार बन्धन में बाँध देते हैं, तो वे फिर समदर्शी तो नहीं हुए।
की बुद्धि में भी विषमता है। जीव तो सभी उन्हीं के हैं। वे

तो सभी के माता, पिता सुहृद् सगे सम्बन्धी हैं, फिर वे ऐसा पक्षपात क्यों करते हैं ? ऐसा विषमता का व्यवहार वे क्यों क हैं ? उनके लिये तो सभी बराबर हैं। बन्धन में डालें तो स को समान भाव से बन्धन में डालें, मुक्त करना हो तो सभी साथ साथ ही मुक्त कर दें। यह क्या किसी को प्यार क संसार से मुक्त कर दिया, किसी को कोप करके संसारी बन्धन बाँध दिया ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! विषमता परमात्मा में नहीं कर्मों की विषमता के कारण जीवों की बन्ध मोक्षादि गति होती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"जब सब कर्मानुसार ही होता है, फिर परमात्मा की क्या आवश्यकता है। हम शुभ कर्म करेंगे, मुक्त हो ही जायँगे।"

सूतजी ने कहा—"कर्मों का फल देने वाला भी तो कोई चाहिये। कर्म तो जड़ हैं, उनका फल भी जड़ है। जब उनको कोई वितरित करने वाला न होगा, तब तक कर्मों का फल जीवों को मिलेगा कैसे ?"

शौनकजी ने कहा—"कर्मों का फल स्वतः ही-स्वभाव से ही-मिल जायगा। जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना है, जल का स्वभाव शीतल है, ऐसे ही शुभकर्मों का स्वभाव सद्गति है, अशुभ कर्मों का स्वभाव असद्गति है।"

सूतजी ने कहा—"जब तक कोई चैतन्यप्रेरक न हो, तब तक स्वभाव ही क्या करेगा। यन्त्र से यद्यपि सभी शुभाशुभ कर्म होते हैं। जैसे विद्युत् है, वह जला भी सकती है, शीतलता भी प्रदान करती है। मार भी सकती है, जिला भी सकती है। फिर भी उसका एक योजक, संचालक, चलाने वाला, युक्तिपूर्वक उसके

काम लेने वाला चैतन्य तो हो ही। इस प्रकार परमात्मा बद्ध जीवों को उनके कर्मानुसार शुभाशुभ फल देते हैं, जिसके कर्म बन्धन शिथिल हो गये हैं, उन्हें बुद्धियोग देकर अपना ज्ञान करा देते हैं, जिससे वे आवागमन के बन्धन से छूट जाते हैं। कर्म प्रवाह अनादि है, किस जीव के कितने सचित कर्म हैं, इसे परमात्मा परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरा नहीं जान सकता। जैसे जिस जीव के कर्म होते हैं वैसे गुणों के साथ उसका सयोग परमात्मा करा देते हैं। जिसके कर्म तीनों गुण वाले होते हैं, वह गुण-प्रवाह में पड़कर नाना योनियों मे जन्मता मरता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"यह जीव नाना योनियों में क्यों भटकता है, इसका कारण क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! बताया तो सही शुभाशुभ कर्मों के ही कारण नीची और ऊँची योनियों में जीव जाता आता रहता है, इस विषय को भगवती श्रुति जैसे और स्पष्ट से बतायी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

—०—

छप्पय

(१)

एक देव तन क्षेत्र जाल जग सृष्टि रचावें।
प्रलय काल सहार करें पुनि जगत बनावें॥
लोकपाल सब रचैं रखैं प्रभुता जा जग पै।
रवि सम सबई दिशनि प्रकाशित हों त्रिभुवन पै॥
वे वरेण्य भगवान प्रभु, देव महात्मा एक हैं।
सब शक्तिनि शासन करत, विश्वरूप सब पचत हैं॥

(२)

तत्वनि शक्ति प्रभाव पकावत सबकूँ स्वामी।
फिरि पकाइकें उन्हें मुदित हों अन्तरयामी॥
तप संकल्प पकाइ विविध रूपनि परिवर्तित।
जथा जोग्य संजोग करे सब जग उनि शासित॥
उपनिषदनि में गूढ़ अज, वेदयोनि जानत तिनहिं।
पूवे देव ऋषि अमृत बनि, निर्भय अपनावें जिनहिं॥

जीव का जन्म-मरण और उससे छूटने का उपाय

[२८१]

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः सचरति स्वकर्मभिः ॥*

(श्व० प० उ० ५ प० ७ मन्त्र)

छप्पय

जीवात्मा गुन बँध्यो कर्म फलहेतु करत नित ।
कृत करमनि उपभोग करै बहु योनिनि भटकत ॥
तीनि गुननि तैं युक्त तीनि मार्गनि कूँ जावै ।
देवयान अरु पितर, जगत में आवै जावै ॥
रविसम अंगुठमात्र जा, अहंकार संकल्पयुत ।
बुद्धि आत्मगुन कारनें आरनोंक समजीव इत ॥

---

* कर्मों को फल प्राप्ति के उद्देश्य से करने वाला यह जीवात्मा तीनों गुणों से बँधा हुआ है। इस कारण से ही अपने ही किये हुए कर्मों का उपभोग करता है तथा विभिन्न रूपों में प्रकट होकर तीन गुणों के कारण ही तीन मार्गों से गमन करता है। प्राणों का अधिपति यह जो जीवात्मा है, अपने ही कर्मों से प्रेरित होकर विविध योनि में संचार करता रहता है।

जैसे जीव और जगत् अनादि हैं ऐसे ही जीवों की कर्म शृंखला भी अनादि है। प्रलयकाल में जब जीव परमात्मा शरीर में समा जाते हैं, तब उन जीवों के कर्म समाप्त नहीं हो जाते। वे कर्म भी उनके साथ संलग्न रहते हैं। जब पुनः सृष्टि होती है, तो जीवों को उनके पूर्वकृत कर्मों के अनुसार कर्मों के भोगों के लिये वैसी योनि प्राप्त हो जाती है। जैसे हम आधा भवन बनाकर रात्रि में सो जाते हैं, तो दूसरे दिन उठकर हमें भवन को फिर से नये रूप से आरम्भ नहीं करना पड़ता। जितना बन गया है, उससे आगे उसे बनाते हैं। किस जीव ने कितने कर्म भोग लिये हैं, कितने भोगने को शेष हैं, इसकी सूची भगवान् के पास रहती है। वे ही सबके कर्मों के सम्बन्ध में जानकारी रखते हैं। जीव कर्म क्यों करते हैं? इसलिये करते हैं, कि वे सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से बँधे हुए हैं। इसी लिये सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकार के कर्मों को जीव करता है। इन कर्मों से तीन ही गतियाँ जीव की होती हैं। सत्त्व गुण से ज्ञान होता है, ज्ञान से मुक्ति होती है। रजोगुण से लोभ होता है, स्वर्गादि के भोगों को भोगने की इच्छा होती है, उन भोगों को भोगकर पुण्य क्षय होने पर पुनः इस लोक में जन्म लेना पड़ता है। तमोगुण से निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद होता है। जिससे यहीं पर कूकर-सूकर आदि अनेक योनियों में बार-बार जन्मना मरना पड़ता है। मिश्रित गुणों के प्रभाव से मिश्रित फल मिलता है। इसी का नाम गुणात्मक संसार चक्र है। इस चक्र से छुटकारा एकमात्र भगवत् कृपा से ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त परमात्मा की प्राप्ति का दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जीव के दो रूप बताये हैं, एक

तो गुणातीत दूसरा गुणान्वय-अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से बँधा हुआ। जो गुणातीत हो गया है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता, वह अमृत स्वरूप हो जाता है। जो गुणान्वय है-गुणों में आबद्ध है, वह जो भी कर्म करेगा फल के उद्देश्य से सकाम भाव से करेगा। कामना ही बन्धन का हेतु है। कामनानुसार फल का उपभोग करेगा तो उसे उसका परिणाम भी भोगना ही पड़ेगा। अपने को कर्ता मानकर जो कर्म करेगा तो कर्म का फल भोगना अनिवार्य ही है। उसे नाना योनियों में, विभिन्न रूपों में कर्मों का फल भोगने जन्म लेना ही पड़ेगा। गुण सत्त्व, रज और तम तीन प्रकार के हैं, अतः इनके गमन करने के मार्ग भी देवयान, पितृयान और इसी लोक में पुनः-पुनः जन्म लेना ये तीन ही हैं। यह जीवात्मा शरीरों में रहता है। शरीर के भीतर रहने वाले जो दश विध के प्राण हैं, यह जीवात्मा उनका अधिपति है। प्राण जीव के बिना नहीं रह सकते। जीव जिस शरीर को छोड़ना चाहता है, प्राण उसे पहिले ही छोड़ देते हैं। प्राणहीन शरीर ही मृतक कहलाता है। प्राण जीवात्मा के साथ बँधे रहते हैं। वह एक शरीर को त्यागकर दूसरे में, दूसरे शरीर को त्यागकर तीसरे में ऐसे जाता आता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"यह जीवात्मा एक ही योनि में क्यों नहीं रहता? नाना योनियों में क्यों विचरण करता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! कई बार तो बताया है, अपने कृत कर्मों से प्रेरित होकर अहङ्कार वश जैसे कर्म करता है, उन कर्मों के फलों को भोगने को वैसी ही योनि में उसे विवश होकर जाना पड़ता है। कुत्ताओं के से कर्म किये हैं, तो कुत्ता योनि में प्राप्त होकर फल भोगेगा। मनुष्य योनि कर्मयोनि है, शेष सब योनियाँ भोग योनियाँ हैं। शुभ कर्म किये हैं तो देवयोनि को प्राप्त

होकर फल भोगेगा। अशुभ कर्म किये हैं, तो अशुभ योनियाँ उनका फल भोगेगा।"

शौनकजी ने पूछा—"इस जीवात्मा का स्वरूप कैसा है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवती श्रुति तो आरे के नोंक जैसे अत्यन्त सूक्ष्म आकार का बताती है। यह जीवात्मा हृदय कमल की गुफा में आकाशवत् निवास करता है। हृदय को अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला बताया है, तो इस जीव को भी उसमें रहने के कारण उसी के नाप का—उसी के परिमाण वाला बताया है। इस जीव का प्रकाश सूर्य सदृश है। यही इस जीव की बद्धता का लक्षण है, कि यह नाना संकल्पों से और अहङ्कार से युक्त है। अहंकार के कारण कर्ता न होने पर भी अपने को कर्ता मान बैठता है। इसी से बुद्धि के तथा तीनों गुणों के कारण और अपने गुणों के कारण यह जगत् जाल में फँस जाता है। जो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं वे ही इस जीव के स्वरूप को भली-भाँति जानकर इसकी गति विधियों का ज्ञान कर लेते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"आरे की नोंक को तो हम अपने चर्म चक्षुओं से देख सकते हैं। जीवात्मा तो दिखायी नहीं देता।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आरे की नोंक से कहने का तात्पर्य बहुत ही सूक्ष्म से है। एक स्थान पर बताया है, कि बाल की सबसे ऊपर की छोटी-से-छोटी नोंक को काट लो उसके कैसे भी सौ टुकड़े और कर लो, उन सौ टुकड़ों में से एक टुकड़े को लेकर उसके भी सौ टुकड़े कर लो। अर्थात् बाल की नोंक के दश सहस्र भाग के सदृश जीवात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है। यह भी उसका यथार्थ परिमाण नहीं है। दश-सहस्रवाँ भाग का तात्पर्य इतना ही समझना चाहिये, कि वह अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"इतना सूक्ष्म होने पर वह जड़ और स्थूल शरीरों में रहता कैसे है ? वह ठहरा सूक्ष्माति सूक्ष्म और चैतन्य। शरीर ठहरा स्थूल और जड। फिर वह चींटी के शरीर में और हाथी के शरीर में समान भाव से कैसे रहता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! वह असीम है, अनन्तभाव से युक्त है। अर्थात् चींटी के शरीर में उसी के आकार वाला बनकर रहता है और हाथी के शरीर में वैसा ही बनकर विराजता है। वह जीव वैसे तो विभु है, सर्वव्यापक है, किन्तु शरीर में अहंता और शरीर सम्बन्धी पदार्थों मे ममता करने के कारण तथा गुणों में बँध जाने के कारण अपने को एक देशीय मानने लगता है। चींटी वाला जीव हाथी वाले जीव को भिन्न समझता है। यही अज्ञान है।"

शौनकजी ने पूछा—"जीव तो पुंल्लिङ्ग है। जिसमें जीवन हो वह जीव (जीवनम्+इति=जीव) किन्तु जब यह स्त्रीयोनि में जाता होगा, तो कैसे व्यवहार चलाता होगा ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप कैसी हँसी की बात पूछ रहे हैं ? भगवन् ! जीव तो न पुंलिङ्ग है, न स्त्री लिङ्ग, न नपुंसक लिङ्ग। वह तो सभी भेदों से-समस्त उपाधियों से-सभी लिंगों से रहित विभु है। किन्तु जैसा शरीर होता है, उसमें रहकर जीवात्मा वैसा ही अपने को समझने लगता है। स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक ये शरीरों के हैं। आत्मा-जीवात्मा तो अलिंगी है। आज पुरुष शरीर मे है, तो जीवात्मा कहता है मैं आता हूँ, मैं जाता हूँ। दूसरे जन्म में वही जीव स्त्रीयोनि में चला जाता है, तब कहने लगता है, मैं आती हूँ, मैं जाती हूँ। जीव तो एक ही है, शरीर भेद से वह अहङ्कार के वशीभूत होकर वैसा ही अपने को मान बैठता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जीव तो चैतन्य है, विभु है अत्यन्त सूक्ष्म है। शरीर जड़ है, एक देशीय है, पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थों द्वारा निर्मित है, फिर ये शरीर जड़ अपने आप बन कैसे जाते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! चैतन्य के बिना जड़ शरीर अपने आप बन कैसे जायँगे ? जब जड़ और चैतन्य दोनों मिल जाते हैं, तब शरीर भेद से एक स्त्री संज्ञक हो जाता है, एक पुरुष संज्ञक। दोनों के हृदय में संकल्प होता है, हम एक से बहुत हों। एक से बहुत तभी होंगे, जब दोनों मिलकर एक हो जायँ। जैसे आम का बीज है, वह पृथ्वी पर न पड़े, उसे खाद पानी न मिले तो वह एक से बहुत नहीं हो सकता। जब बीज स्त्री रूप पृथ्वी में एकाकार हो जायगा, तब उसमें से अंकुर फूट आवेगा। यदि भूमि उर्वरा हुई और पानी मिल गया तब। भूमि ऊसर हुई या पानी का अभाव हुआ तो बीज में से अंकुर उत्पन्न न होगा। अनुकूल हुआ तो उसका वृक्ष बन जायगा, एक फल से अनेकों फल हो जायँगे, फिर उन अनेकों फल में से प्रत्येक फल में अनेकों को उत्पन्न करने की शक्ति होगी। वह शक्ति विभक्त न होगी। जहाँ भी रहेगी अनन्त बनकर ही रहेगी। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष जब एक होते हैं, संकल्प द्वारा एक दूसरे का स्पर्श करते हैं, एक दूसरे को देखते हैं, एक दूसरे से मोहित होते हैं, तो माता के उदर में अंकुर उत्पन्न होता है। वह अंकुर भोजन और जल के रस से वृद्धि को प्राप्त होता है। भोजन और जल वृष्टि द्वारा प्राप्त होता है, तो जीव से जीव बढ़ जाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सब जीवों के लिये संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, मोह तथा वृष्टि ये सब साथ-ही साथ होनी ही चाहिये। कहीं-कहीं एक दो से ही काम चल जाता है। जैसे कछुआ की माता गर्भधारण

करती है, अंडे देकर अन्यत्र चली जाती है। प्रयाग मे अडे देकर वह हरिद्वार चली गयी तो हरिद्वार में बैठी-बैठी संकल्प से ही प्रयाग में स्थित अपने अंडों को सेती रहती है। उसके संकल्प से अंडे बढते रहते हैं, पकने पर फूटकर उसमें से बच्चे हो जाते हैं। सकल्प के ही प्रभाव से वे बच्चे बिना जाने हरिद्वार पहुँच कर अपनी माता से मिल जाते हैं। इस प्रकार केवल सकल्प द्वारा ही उनकी वृद्धि हो गयी।"

पक्षियों में आसक्ति पूर्वक स्पर्श होने से अडे बन जाते हैं, उन अंडों में से जीव उत्पन्न हो जाते हैं। मछली आदि आसक्ति पूर्वक देखने से ही पैदा हो जाती हैं। मनुष्य पशु आदि अन्न भक्षण करते हैं उनसे वीर्य बनता है। वीर्य से जीवों की उत्पत्ति होती है। बहुत से जीव वृष्टि होने पर अपने आप आकाश से गिरते हैं, जैसे गिजाये आदि। कुछ वृष्टि होने पर पृथ्वी को फोड़ कर निकलते हैं, जैसे वृक्ष, लता आदि। यह जीवात्मा भिन्न-भिन्न योनियों में मिलने वाले शरीरों मे भोगों को भोगता है, फिर उसे छोडकर दूसरे शरीरों में चला जाता है।

यह तो मैं बता ही चुका हूँ, कि भिन्न भिन्न योनियों में कर्मानुसार इसका जन्म होता है, अपने कर्मों के कारण—सस्कारों तथा गुणों के कारण शरीरों मे आसक्ति हो जाती है। जीवात्मा अपने को शरीर ही समझने लगता है। शरीर सम्बन्धी जितने घर, क्षेत्र, वाहन, स्वजन तथा भृत्य वर्ग हैं सब में गहरी ममता कर लेता है। कभी स्थूल शरीर में चला जाता है, कभी चींटी, मिनगा आदि सूक्ष्म शरीरों में चला जाता है। जिस देह को स्वीकार करता है उसी में ममता बद्ध बन जाता है। वह सब देह-सयोग भगवत् प्रेरणा से ही होता है। इसका कारण दूसरा—परमात्मा—ही देखा गया है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तब तो यह जीव का चक्कर कभी समाप्त ही न होगा। जिस योनि में जायगा उसी में कर्म करेगा और उनके फलों से आबद्ध होकर निरन्तर जन्मता मरता ही रहेगा? इस जन्म-मरण के चक्कर से छूटने का कोई उपाय भी है?"

सूतजी ने कहा—"उपाय क्यों नहीं है। यदि उपाय न होता तो जीव जीवन मुक्त या अमृत कैसे होते? यदि जीव भाग्यवश इस संसार रूपी दुर्गम स्थल के मध्य में व्याप्त उन अनादि अनन्त विश्वकर्ता विश्वेश्वर को जो अनेक रूपधारी हैं, जिन्होंने इस जगत् को चारों ओर से परिवेष्टित कर रखा है-घेर रखा है-उन एक देव को जान जाय, उसे भान हो जाय, कि कर्ता मैं नहीं। सबके कर्ता ये करुणासागर करुणेश ही हैं, तो बस इतना ज्ञान होते ही वह सभी प्रकार के पाशों से छूटकर बन्धन मुक्त होकर आवागमन से रहित बन जायगा।

बन्धन का कारण तो शरीरों का ग्रहण करना ही है। इन शरीरों को जीव तब तक ग्रहण करता रहेगा, जब तक अपने को कर्ता भोक्ता मानता रहेगा। जहाँ भावग्राही जनार्दन को जान गया, जहाँ सबके आश्रय-स्वयं आश्रय हीन उन अखिलेश को पहिचान गया, जहाँ भाव-अभाव, उत्पत्ति और प्रलय के कर्ता सोलह कलाओं के कर्ता शिव स्वरूप देवाधिदेव महादेव को जान गया, वहाँ शरीर के बन्धन से मुक्त होकर दिव्य बन जाता है, उसका जन्म मृत्यु का चक्कर सदा-सदा के लिये छूट जाता है। फिर उसे इस भवसागर में भटकना नहीं पड़ता। फिर उसे जन्मने और मरने से मुक्ति मिल जाती है।"

सूतजी कहते हैं—"इस प्रकार मुनियो! भगवद्भक्ति द्वारा जीव की मुक्ति और अहंता ममता के कारण इनकी पुनरावृत्ति

का वर्णन किया। अब आगे जैसे छटे अध्याय में जगत् का कारण बताकर इससे छुटकारे के साधनों का वर्णन करेंगे, उन सबको मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

(१)

बाल अग्र दश सहस भाग सम जीव कल्पना।
है असीम नर नारि नपुंसक नहीं जलपना॥
जिन जिन देहनि जाइ होइ तद्रूप तिनहिँ में।
परस, दीठि, सकल्प, मोह, भोजन, जल जन में॥
बढ़त करम अनुसार पुनि, जन्मत विविध शरीर महँ।
किया, आत्म, निज गुननितैं, थूल सूक्ष्म तन धरहिँ तह॥

(२)

जिनिको आदि न अन्त विश्व सृष्टा मायापति।
जीव स्वतन्त्र न जन्म आदि महँ ईश्वर प्रेरित॥
रूप अनेकनि धारि विश्व घेरें चहुँ दिशितैं।
जानि लेइ जिनि जीव मुक्त होवे बन्धन तैं॥
भावग्राह्य, आश्रय रहित, कारन सृष्टि सँहार के।
जानि देव कारक-कला, फँसैं फन्द नहिँ मृत्यु के॥

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का पचम
अध्याय समाप्त

सबके कर्ता एकमात्र परमेश्वर ही उपास्य हैं

[२८२]

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ *

(श्वे० अ० उ० ६ अ० १ म०)

छप्पय

कोइ स्वभाव कोइ काल जगत कारन बतलावें।
ये सब भूले लोग चक्र इक ब्रह्म घुमावें॥
महिमा जग महँ व्याप्त एक वे देव सनातन।
सबरे जग महँ व्याप्त काल के काल पुरातन॥
गुणी, सर्ववित, ईश-जग, करमनि संचालन करें।
सब भूतनिकूँ, वश रखैं, ध्येय एक, ऋषि हिय धरें॥

वेदों में समस्त शास्त्रों में एक ही प्रश्न बार-बार उठाया जाता है, इस जगत् का कारण कौन है ? वैसे तो इस विषय में

---

* कोई कविगण स्वभाव को, कोई काल को, जगत् का कारण कहते हैं। ऐसा कहने वाले सभी मोहग्रस्त हैं। क्योंकि वास्तविक बात तो यह है कि वह परब्रह्म परमात्मा एक ही देव हैं, जिसकी महिमा समस्त लोकों में फैली हुई है, उसी के द्वारा यह ब्रह्म चक्र जगत् चक्र घुमाया जा रहा है।

अनेक मत हैं, किन्तु प्रधान रूप से तीन ही मत मुख्य माने गये हैं। कर्म, स्वभाव और देव। अब इन पर विचार कीजिये।

पहिले स्वभाव को ही ले लें। स्वभाव कहते हैं अपने आप होने वाले भाव को। उसे ही प्रकृति भी कहते हैं। ससिद्धि, स्वरूप, निसर्ग, भाव तथा सर्ग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। स्वभाव को दुरतिक्रम हटाया न जाने वाला बताया है। यह जगत् स्वभाव से ही-अपने आप हो गया है, किसी ने इसे बनाया नहीं। जैसे सरदी, गर्मी, वर्षा अपने आप स्वभावानुसार हो जाती हैं। इसको किसी दूसरे कर्ता की अपेक्षा नहीं। स्वभाव मनुष्य का पूर्वकृत कर्मों के अभ्यास से हुआ करता है। जो जप करता है, उसका जप करने का स्वभाव बन जाता है, सोते समय भी उसका जप होता रहता है। मरने पर दूसरा शरीर ग्रहण करने पर भी मनुष्य स्वभावानुसार बिना सिखाये पढाये ही जप करने लगता है। इसी प्रकार जगत् का यह स्वभाव है—उत्पन्न होता है, कुछ काल रहता है, फिर नष्ट हो जाता है। अनादि काल से जगत् ऐसे ही चल रहा है। जो कर्मवादी हैं, उनका कहना है स्वभाव दैव ये सब स्वकृत कर्मों का ही परिणाम है। जैसा कर्म करोगे वैसा ही दैव (प्रारब्ध) बन जायगा। स्वभाव भी पूर्वकृत कर्मों से ही बनता है। अतः विश्व में कर्म प्रधान है, जो जैसा कर्म करेगा उसे वैसा फल मिलेगा। अपने पिता नन्दजी को भी इन्द्रयाग के समय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने कर्म को ही प्रधान बताया है। भगवान् ने कहा—'पिताजी! कर्म द्वारा प्राणी उत्पन्न होता है, कर्म के ही द्वारा विलीन हो जाता है। सुख, दुःख, भय, कल्याण सब कर्म से ही होते हैं। मान लो कोई ईश्वर हो भी तो वह ईश्वर भी कर्मों के अनुसार ही फल देता है। जो कर्म न करेगा उसे वह कुछ भी नहीं दे सकता। मनुष्य अपने स्वभाव के अधीन है।

देवता, असुर, मनुष्य सभी स्वभाव के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं। जीव अपने कर्मों के अनुसार ही उत्तम, मध्यम तथा अधम योनियों में जाता है। कर्मानुसार ही संसार में शत्रु मित्र हो जाते हैं। इसीलिये कर्म ही सब कुछ है।" यहाँ भगवान् ने कर्मवाद या स्वभाव वाद का ही सिद्ध कर दिया।

कुछ लोग कहते हैं, जगत् की उत्पत्ति में काल ही कारण है। काल उसे कहते हैं जो बैठा-बैठा सबकी आयु को गिनता रहे। (कलयति आयुः-यः सः—कालः) अथवा जो सबको कर्म करने के निमित्त प्रेरणा प्रदान करता रहे। (कालयति—कर्म निमित्तं सर्वाणि भूतानि—इति-कालः)। देखो, काल आने पर ही सूर्य उदय हो जाते हैं। काल होने पर अस्त हो जाते हैं। काल आने पर बालक से युवक और युवक से वृद्ध हो जाते हैं। काल आने पर ही सर्दी, गर्मी तथा वर्षा होने लगती है। समस्त प्राणी काल के ही अधीन हैं, अतः जगत का एक मात्र कारण काल है।

किन्तु आस्तिक शास्त्रकारों का मत है, दैव कहो, कर्म कहो, स्वभाव प्रकृति कहो, काल कहो ये सब जड़ हैं। ये बिना सच्चिदानन्द घन परमात्मा के कुछ भी करने में समर्थ नहीं। जीव यद्यपि चैतन्य है फिर भी वह पराधीन है। स्वतः वह भी कुछ नहीं कर सकता। अतः जगत् के कर्ता, धर्ता तथा संहर्ता श्रीहरि ही हैं। उन्हें ही काल कहलो, कर्म कह लो अथवा दैव कह लो। उनके बिना जगत् के कार्यों को करने में कोई भी समर्थ नहीं। इसी विषय को श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्त में इस प्रकार बताया गया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सदा से यह प्रश्न सबके सम्मुख नित्य ही उठता है, जगत् का कारण क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! हम भी यही जानना चाहते हैं, कि इस जगत् का कारण क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इस विषय में भिन्न-भिन्न ऋषियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई तो कहते हैं इस जगत् का कारण स्वभाव-प्रकृति-है। कुछ कहते हैं सब कुछ कालानुसार ही होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"और लोग जो कहते हों, सो कहते हों, श्रुति का अभिप्राय क्या है? इस सम्बन्ध में श्रुति क्या कहती है?"

सूतजी ने कहा—"श्रुति का मत तो यह है कि जो लोग जड प्रकृति को, काल आदि को जगत् का कारण बताते हैं, ये सब मोह ग्रस्त हैं। आप ही सोचें जड बिना स्वतन्त्र चैतन्य की प्रेरणा से किसी वस्तु को उत्पन्न कैसे कर सकता है?"

शौनकजी ने कहा—"कर क्यों नहीं सकते? बिच्छू आदि मल-मूत्र के संयोग से अपने आप हो जाते हैं। बीज, जड़ पृथ्वी जल के संयोग से अंकुरित पुष्पित पल्लवित हो जाते हैं। रज वीर्य भी तो जड़ ही हैं। उनके संसर्ग से पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं।"

सूतजी ने कहा—"वीर्य में चैतन्य छिपा रहता है। भुने हुए, उबले हुए बीज से कभी वृक्ष न होगा। ये जो सबके कर्ता, भर्ता, सहर्ता विधाता हैं, वास्तव में तो ये ही समस्त लोकों की उत्पत्ति में कारण हैं। इन्हीं सर्वान्तर्यामी की महिमा त्रिभुवन में व्याप्त है। यह ब्रह्म चक्र-ससार चक्र- उन्हीं के द्वारा घुमाया जाता है। उन्हीं के संकल्प से जगत् उत्पन्न होता है, स्थिर रहता है और विलीन होता है। वे सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में रखते हैं। वे संसार के अणु और परमाणु में सदा सर्वदा व्याप्त रहते हैं।

काल उन्हीं की प्रेरणा से गणना करता है, वे ज्ञान स्वरूप हैं। काल के भी महाकाल हैं। उनमें अज्ञान का लवलेश भी नहीं। वे सर्वगुण सम्पन्न, सर्ववित् सबके शासक हैं। यह जगत् का कर्म उन्हीं की प्रेरणा से चल रहा है। ये कर्म के नियामक हैं। जो लोग कहते हैं पञ्चभूतों के परिणाम स्वरूप यह दृश्य प्रपञ्च स्वतः ही बन जाता है। वे मोह ग्रस्त हैं। जड़ पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश स्वतः जगत को कैसे बना सकेंगे, जब तक इनका कोई शासक न हो, उनसे कर्म न कराये। ये पञ्चभूत उन परम-पिता परमेश्वर द्वारा शासित रहते हैं। इसीलिये संसार में ध्यान योग्य, चिन्तन योग्य, कीर्तन योग्य सच्चिदानन्द घन परमपिता परमात्मा ही हैं। अतः उन्हीं का चिन्तन करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"परमात्मा कर्तृत्व शून्य निराकार निर्लेप निरञ्जन हैं ? वे इस नाना भाँति के त्रिगुणात्मक जगत् की रचना कैसे करते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवान कर्ता, नहीं योजक हैं। वे जीवात्मा का जड़ प्रकृति से संयोजन कराके इस जगत् का निर्माण कर देते हैं। जैसे प्रकृति है, जड़ हुई तो क्या हुआ, उसमें उन अनादि महापुरुष की अनादि शक्ति संनिहित है। उस शक्ति-भूता मूल प्रकृति से ही उन्होंने पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चभूतों की रचना की। रचना करने के अनन्तर उन्हें भली भाँति देखा, कि ये महाभूत ठीक ठाक बने हैं या नहीं। वैसे तो ये सभी पदार्थ जड़ थे, उनकी जो जीवरूपा दूसरी चैतन्य प्रकृति है, उसका जड़ प्रकृति से संयोग किया। दूध और पानी की भाँति गड्ड-मड्ड करके मिला दिया। इस मिली हुई लस्सी से-अथवा मिले हुए दाल चावल रूपी खिचड़ी से,

मिट्टी और पानी की कीच से भाँति-भाँति के रङ्ग रूप वाले पदार्थों की और जगत् की रचना की।

दूसरे लोग इसी बात को यों कहते हैं—"एक जो मूल प्रकृति है, जिसे माया कहो, अविद्या कहो उससे दो-पुण्य पाप-की रचना की। फिर तीन-सत्त्व, रज और तम-की रचना की। फिर काल की रचना की, तदनन्तर आठ-मन, बुद्धि, अहङ्कार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-इनकी रचना की। फिर जीव के जो अहंता और ममता ये जो सूक्ष्म गुण हैं, तथा मनन, निश्चय, अहंकृति, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द इन सबका जीवात्मा से सम्बन्ध कराकर जड चैतन्य के सयोग से इस जगत् चक्र को चालू कर दिया। जैसे कोयला, जल, स्निग्धता आदि जड़ पदार्थ मिलाकर चालक चैतन्य किसी अधिकारी की आज्ञा से यन्त्रों को चालू कर देता है, वैसे ही भगवान् की आज्ञा से जड़ प्रकृति और चैतन्य प्रकृति (जीव) मिलकर भव प्रवाह को प्रारम्भ कर देते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् की आज्ञा से जब जड चैतन्य के मिश्रण से यह जगत् चक्र चालू हो ही गया, तब तो अनन्त काल तक जीव का इस दो पाट की जड़ चैतन्यात्मक-चक्की में पिसते ही रहना चाहिये। इसका फिर उद्धार हो ही नहीं सकता।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भोग योनि वाले जीवों को तो, जब तक भोग समाप्त नहीं हो जाते, तब तक पिसना ही है। किन्तु मनुष्य का एक नाम साधक भी है। इसलिये मनुष्य योनि पाकर मोक्ष के लिये प्रयत्न करना ही चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रयत्न कैसे करें? वह तो प्रकृति के

अधीन होकर अहंता ममता के वशीभूत होकर नाना योनियों में घूमता ही रहेगा ?"

सूतजी ने कहा—"अन्य योनियों की बात जाने दीजिये, हम तो मनुष्य योनि की–मनुष्यों में भी साधक मुमुक्षुओं की बात कह रहे हैं। मुमुक्षु साधक को चाहिये–जो-जो भी कर्म करे, वे कर्म चाहें सात्त्विक हों, राजस हों, अथवा तामस भी क्यों न हों उन कर्मों को आरम्भ करके, उन सभी कर्मों के भावों को–फलों को–परमात्मा में लगा दे। जो करे, जो खाय, जो हवन करे, जो दान दे, जो तपस्या करे, उसे ब्रह्मार्पण बुद्धि से करे कर्म करके कह दे–इद विष्णवे इद न मम। ये सब कर्म भगवान के लिये हैं, मेरे लिये नहीं।

इस प्रकार ब्रह्मार्पण विधि से किये हुए कर्मों का फल कर्ता जीवात्मा–को नहीं भोगना पड़ता, क्योंकि उनके फल तो भगवान को दे दिये हैं। अतः वे कर्म बिना फल के निष्फल बन जाते हैं। आगे क्रियमाण कर्म तो बनते ही नहीं, पिछले संचित कर्म भी–ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करने से नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जब संचित और क्रियमाण कर्म समुदाय का सर्वदा नाश हो गया तब शेष रह जाते हैं प्रारब्ध कर्म। उन प्रारब्ध कर्मों को शरीर के अन्त होने तक अभिमान शून्य होकर भोगता रहे। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण इन तीनों प्रकार के कर्मों के नाश हो जाने पर वह निष्काम कर्मयोगी साधक परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि चैतन्य जीवात्मा का जड़ प्रकृति से वास्तविक तो कोई सम्बन्ध है नहीं। वह तो प्रकृति से तत्वतः भिन्न है।

इसलिये स्वर्गादि की कामना से–सकाम भाव से–ब्रह्मार्पण बुद्धि से–उपासना समझकर–भक्ति भाव से उन्हीं अखिलेश

की अर्चा जानकर कर्म करने चाहिये। क्योंकि वे परमात्मा आदि कारण हैं, तीनो कालों से सर्वथा परे-त्रिकालातीत-हैं, अकल-कालातीत-हैं। प्रकृति पुरुष के संयोग के केवल निमित्त कारण हैं। वे कहीं दूर बसते नहीं, अपने ही अन्तःकरण में-हृदय की गुफा में- सोते रहते हैं। विराजमान रहते हैं। उनका कोई एक रूप नहीं, विश्वरूप हैं। भवभूत हैं, वे हरि स्वयं ही जगत् बन गये हैं, जगत् रूप हैं। वे ही भक्तिभावन हैं, परमोपास्य हैं, स्तुति, पूजा, अर्चा तथा उपासना करने योग्य हैं। पुराण पुरुष हैं, उनकी उपासना करने से जगत् बन्धन कट जायगा। उन्हें प्राप्त करना जीव का परम धर्म है, यही परम पुरुषार्थ है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस लोक में भगवत प्राप्ति की दो ही निष्ठायें हैं। कर्मयोगियों के लिये कर्मनिष्ठा, ज्ञान योगियों के लिये ज्ञाननिष्ठा। कर्म के दो भेद हैं, सकाम कर्म और निष्काम कर्म। सकाम कर्मों को करके तो स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है, पुण्य क्षीण होने पर पवित्र श्रीमानों के कुलों अथवा योगियों के कुलों में जन्म होता है, वहाँ शुभ संस्कारों के कारण पुनः शुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है, शुभ कर्म करके पुनः स्वर्ग जाते हैं। मीमांसक इसे ही परमपद या मुक्ति मानते हैं।

निष्काम कर्मयोगी फलों की इच्छा न रखते हुए कर्तव्य बुद्धि से प्रभु प्रीत्यर्थ भगवत सेवा पूजा समझ कर ही कर्म करते हैं। इसी को उपासना मार्ग या भक्ति मार्ग कहते हैं। कर्ममार्ग के ही सकामकर्म और निष्कामकर्म-कर्ममार्ग और उपासना-मार्ग ये दो भेद हैं। इसी को पहिली कर्मयोग की निष्ठा कहते हैं। अब दूसरी सांख्ययोग या ज्ञानयोग की जो दूसरी ज्ञान निष्ठा है उसके सम्बन्ध में श्रुति जैसे बतावेगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

जड़ चेतनहिं मिलाइ देखि पुनि जगत बनावें।
एक और द्वै तीनि काल सँग आठ मिलावें॥
एक अविद्या पुण्य पाप द्वै सत्व रजहु तम।
आठ प्रकृति इक काल गुननि सँग जीव अहं मम॥
गड्ड-मड्ड सबकूँ करैं, जड़ चेतन ते जग करत।
भक्ति उपासन योग तैं, जगत बन्ध तमकूँ हरत॥

(२)

जिनि जिनि करमनि करैं सत्व रज तामस होवैं।
ब्रह्मार्पण करि देइँ नहीं तिनिके फल जोवैं॥
सबहिँ समरपन करै न कर्ता निजकूँ मानै।
करत करावत वही उन्हें ई सब कछु जानै॥
करम समरपन भाव तैं, करै बनै कियमाण नहिँ।
संचित करमनि नाश हो, प्राप्त होहि प्रभु महँ तबहिँ॥

(३)

जो अनादि अखिलेश त्रिकालातीत अकल प्रभु।
जीव जड़हि संजोग निमित वे हैं व्यापक विभु॥
तिनि निज चित में लखौ सतत तहँ जो इस्थित हैं।
विश्वरूप भगवान् जगत के रूप प्रकट हैं॥
इस्तुति करने जोग्य इक, पुरुष पुरातन एक हरि।
जीव! जगत जंजाल तजि, तिनि उपासना नित्य करि॥

—:—

प्रभुप्राप्ति का उपाय शरणागति

(२८३)

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुद भगेश ज्ञात्वात्मस्थमृत विश्वधाम ॥*

(श्वे० उ० उ० ६ अ० ६ म०)

छप्पय

विश्वधाम भगवान् जगत जो सतत चलावत।
वृक्ष, काल आकृतिहु भिन्न-परमब्रह्म कहावत॥
करें धरम की वृद्धि पाप को नाश करत हैं।
स्वामी सब ऐश्वर्य जगत सचालक नित हैं॥
तिनकूँ निज हिय जानिकें, अमृत होहिँ नहिँ मरहिँ पुनि।
प्रभु परमेश्वर महेश्वर, जीव! तिनहिं सुनि सतत गुनि॥

जिस साधन मे, जिस देवता में, जिस व्यक्ति में स्वाभाविकी स्थिति हो जाय उसी का नाम निष्ठा है (नितरा तिष्ठति=इति+निष्ठा)। साधन सम्बन्धी लोक में कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दो

---

* वह परब्रह्म परमात्मा वृक्ष (जगत्) काल और आकृति से परे है, उन्ही परमात्मा से यह प्रपच परिवर्तित हो रहा है। वे इन सबसे भिन्न हैं। वे धर्मरक्षक, पाप प्रणासक, ऐश्वर्याधिपति तथा सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत हैं। उन्हे जो हृदय मे स्थित जानकर उनकी उपासना करते हैं, वे उन अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

प्रकार की ही निष्ठा बतायी गयी हैं। कर्मनिष्ठा तो उसे कहते हैं जो साधन इन्द्रियों की सहायता से कर्म द्वारा मन से किये जायँ। ज्ञाननिष्ठा उसे कहते हैं जो साधन विशेष कर मन से-ध्यान चिन्तन किये जायँ।

कर्मनिष्ठा दो प्रकार की है, एक तो सकाम कर्मनिष्ठा, दूसरी निष्काम कर्मनिष्ठा। मीमांसकादि सकाम कर्मनिष्ठा के ही पक्षपाती हैं। वे कहते हैं एकमात्र कर्म यज्ञ ही है, यज्ञ के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं, वे बन्धन के कारण हैं, अतः स्वर्गादि पुण्य लोकों की कामना के निमित्त यज्ञ सम्बन्धी कर्मों को करते रहना चाहिये। उन सत्कर्मों से मोक्ष की (स्वर्ग की) प्राप्ति होती है। वे लोग स्वर्ग को ही मोक्ष कहते हैं और सत्कुल में योगियों के कुल में फिर जन्म लेने को बन्धन नहीं मानते। उनके यहाँ कर्मों का-यज्ञों का लक्ष्य-अन्तिम उद्देश्य-स्वर्ग की प्राप्ति ही है।

दूसरी निष्काम कर्मनिष्ठा है। ये भी यज्ञ-कर्म को ही-एकमात्र कर्तव्य कर्म मानते हैं। किन्तु ये केवल अग्नि में स्वाहा-स्वाहा को ही यज्ञ नहीं मानते। ये अग्नि में द्रव्यों के हवन को, तपस्या करने को, प्राणायामादि योगाङ्गों के अभ्यास को, मन्त्रों के जप सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय को, मन से परब्रह्म को मनन करने को इन सभी को यज्ञ के अन्तर्गत ही मानते हैं। निष्काम भाव से हवन, जप, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि, भगवान् के यश लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, सख्य तथा आत्मनिवेदन ये सबके सब निष्काम कर्मनिष्ठा के अन्तर्गत हैं। केवल भगवत् प्रीत्यर्थ जो भी सत्कर्म किये जायँ वे सब निष्काम कर्मनिष्ठा में आते हैं। वैदिक परिभाषा में इसका नाम उपासना है, पौराणिक परिभाषा में इसे भक्ति कहते हैं। जो-जो भी कर्म इन्द्रियों और अन्तः-

करण के द्वारा प्रभुप्रीत्यर्थ किये जायँ उन सबकी गणना निष्काम कर्मनिष्ठा के अन्तर्गत है।

ज्ञाननिष्ठा उसे कहते हैं कि कर्मों की अपेक्षा न करके संसार के सभी सम्बन्धों से विरक्त होकर, सभी वासनाओं का परित्याग करके ज्ञानपूर्वक अपने अन्तःकरण को भगवत् ध्यान में ही लगाये रखे। कर्मों को महत्व न दे। तो इसमें शंका होती है, कि यदि सब कर्मों को ज्ञानमार्ग उपासक छोड़कर निरन्तर विषयों से वैराग्य करके विवेक द्वारा सत् का निर्णय करके उसी के चिन्तन में निमग्न रहेगा, तो उसका शरीर कैसे चलेगा? भोजन, जलपान, स्नान, शौचादि ये भी तो कर्म हैं। जब सभी कर्म बन्धन के कारण हैं, तो ज्ञाननिष्ठ जीवन धारण कैसे करेगा? इसके लिये कहा है केवल शरीर निर्वाह के निमित्त भिक्षा, स्नान, मलत्याग आदि कर्मों को करते हुए वह बन्धन में नहीं बँधेगा।

इस प्रकार कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा ये दो पृथक् पृथक् निष्ठायें हैं। निष्काम कर्मनिष्ठ साधक को जो गति प्राप्त होगी, वही ज्ञाननिष्ठ साधक को प्राप्त होगी। ये दोनों ही मार्ग मुक्ति देने वाले हैं, दोनों ही श्रेयस्कर हैं। वास्तव मे तो दोनों एक ही हैं बालबुद्धि वाले अज्ञ पुरुष ही इन्हें पृथक्-पृथक् मानकर वाद विवाद किया करते हैं। जो विज्ञ हैं वे ऐसा कहते हैं—इन दोनों निष्ठाओं में से किसी एक में स्थित हो जाओ, किसी में भी स्थित रहो, फल दोनों का एक ही है। क्योंकि निर्गुण-सगुण, साकार निराकार तत्त्व तो वह एक ही हैं। कुछ लोग ज्ञाननिष्ठा को ही एकमात्र निष्ठा मानकर कहते हैं—कर्मों द्वारा पापों की निवृत्ति, उपासना द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान द्वारा ही मुक्ति होती है, ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं। अतः कर्म उपासना ये

सहायक हैं ज्ञाननिष्ठा ही सर्वश्रेष्ठ निष्ठा है। ऐसा वे समन्वय करके एकमात्र ज्ञान को ही निष्ठा मानते हैं। यह ज्ञान की प्रशंसामात्र है, शास्त्र तो निष्काम कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनों को समान मानता है, दोनों ही से मुक्ति होती है। जो स्थान निष्काम कर्मनिष्ठ को प्राप्त होता है वही ज्ञाननिष्ठ को। अन्तिम स्थिति दोनों की एक-सी है। दोनों को ही सर्वात्मभाव से परब्रह्म के आश्रित रहना पड़ता है। फिर चाहे उन्हें साकार मानो या निराकार। परब्रह्म परमात्मा एक ही हैं और दोनों निष्ठाओं द्वारा उन्हीं को प्राप्त किया जा सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रभुप्राप्ति का उपाय बताते हुए भगवती श्रुति कहती है—"देखो, यह जगत् प्रपञ्च जिन परमात्मा के द्वारा अनादिकाल से निरन्तर चलता रहता है, इस संसार रूप वृक्ष से तथा काल, नाम रूपादि से परमात्मा भिन्न है। जो साधक धर्माचरण करते हैं, वे परमात्मा उनके धर्माचरण की वृद्धि करते हैं, उनके पापों का नाश करते हैं, वे षडैश्वर्यसम्पन्न सभी सम्पत्तियों के स्वामी हैं। जगत् के एकमात्र आधार हैं। ऐसे उन परब्रह्म परमात्मा को जो उपासना के द्वारा, विवेक वैराग्य द्वारा कैसे भी जान लेता है वह उन्हीं अमृतस्वरूप अखिलेश को प्राप्त होकर स्वयं अमृत बन जाता है।"

सर्वज्ञ ऋषियों का कथन है कि उन परमेश्वर परात्पर प्रभु महेश्वर को, जो देवताओं के भी परमदैवत हैं, जो समस्त पतियों के भी परमपति हैं, जो समस्त भुवनों के ईश्वर हैं, जो ईड्य हैं, स्तुति करने योग्य हैं, उन परात्परदेव को हम लोग जानते हैं। कैसे हैं वे देवाधिदेव! वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं उनके ऊपर कोई शासक नहीं, नियंत्रणकर्ता नहीं, कार्य-शरीर-कारण बाह्य तथा अन्तःकरण से-रहित हैं। वे बड़े से-भी-बड़े हैं, उनसे बड़ा या

उनके बराबर भी कोई नहीं है। उनका ज्ञान, उनका बल, उनकी समस्त क्रियायें स्वाभाविकी हैं। उनकी पराशक्ति नाना प्रकार से सुनी जाती है।

वे तो सबके स्वामी हैं, किन्तु उनका कोई भी स्वामी नहीं है। वे स्वयं तो सबके शासक हैं, किन्तु उनके ऊपर शासन करने वाला कोई भी नहीं है। वे किसी प्रकार का चिन्ह, लिङ्ग, वेषभूषा धारण नहीं करते। वे सबके कारण हैं, उनका कोई कारण नहीं। वे समस्त कारणों के स्वामियों के भी स्वामी हैं। वे सबके जनक हैं—उत्पन्न करने वाले हैं—किन्तु उनका कोई जनक नहीं। वे कभी उत्पन्न ही नहीं हुए। फिर उनका जनक—अधिपति—स्वामी कोई कहाँ से होगा ?

जिन्होंने अपने ही मुख से निकाले तन्तुओं से—पदार्थों से—इस जगत् रूप जाल को बनाकर स्वभाव से ही अपने आपको अप्रकाशित करके घूँघट में छिपा रखा है वे परब्रह्म परमात्मा अपने परब्रह्म स्वरूप में हमें आश्रय प्रदान करें।

वे देवाधिदेव परमात्मा एक होकर भी अनेक रूपों से समस्त प्राणियों में छिपे रहते हैं। वे सर्वव्यापी हैं, सर्वभूतान्तरात्मा हैं, कर्माध्यक्ष हैं, सभी भूतों में निवास करते हैं, सबके साक्षी, चैतन्यस्वरूप तथा विशुद्ध गुणातीत—केवल निर्गुण—हैं। यद्यपि वे अकेले ही हैं, फिर भी बहुत से अक्रिय जीवों का शासन करते रहते हैं। एक ही बीज को विविध भाँति से उत्पन्न करके उन सब शरीरों पर सम्यक् प्रकार से शासन करते रहते हैं। जिनके मन को विकार की वस्तुएँ सम्मुख रहने पर भी विकृत नहीं बना सकतीं, ऐसे धीर-वीर पुरुष ही उन परमेश्वर को देख सकते हैं। जो बहुत से चेतन आत्माओं के समस्त कर्मफलों का विधान करते हैं। स्वयं नित्य हैं, चैतन्यस्वरूप हैं, जो सांख्य ज्ञान-मार्ग द्वारा—

योग कर्म मार्ग द्वारा जाने जाते हैं, सबके कारण और परमदैवत हैं उन्हें जानकर सभी प्रकार के पाशों से-समस्त बन्धनों से-वह पुरुष मुक्त हो जाता है।

वह परम प्रकाशवान् है, उसके यहाँ सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र विद्युत तथा तारे कोई भी प्रकाश फैलाने में समर्थ नहीं। फिर बेचारी अग्नि की तो बात ही क्या है। उस परम प्रकाश पुञ्ज के प्रकाशित होने पर उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित होते हैं, वे यदि प्रकाशित न हों, तो सूर्य चन्द्रादि प्रकाशहीन-अस्तित्व हीन हो जायँ। उसी परमात्मा के प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है। वह प्रकाशस्वरूप-हंस-परमात्मा सम्पूर्ण भुवन के मध्य में एक अकेला ही प्रकाशित हो रहा है। वह जल में भी प्रकाशित है और जल में स्थित जो वडवाग्नि है उसमें भी प्रकाशित है। उसे जान कर यह मरणशील मर्त्यप्राणी अमर बन जाता है, मृत्यु उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। वह मृत्यु रूप संसार सागर से सदा के लिये पार हो जाता है। उसे जानने के अतिरिक्त संसार से पार होने का-दिव्यधाम की प्राप्ति का-दूसरा कोई अन्य उपाय है ही नहीं। वह परमात्मा विश्वस्रष्टा, विश्ववित्, आत्मयोनि, काल का भी काल, गुणेश तथा संसार मोक्ष स्थित तथा बन्ध का हेतु है। वह तन्मय है, अपने ही स्वरूप में सदा सर्वदा स्थित रहता है। वह समस्त भुवनों का गोप्ता, सर्वगत तथा सर्वसंस्थ-सभी में स्थित रहने वाला-है। इस जगत् का *नित्यशासक, उनके अतिरिक्त सम्पूर्ण संसार* पर शासन करने की सामर्थ्य किसी अन्य में है ही नहीं। उन ऐसे जगत् के शासक को प्राप्त करने के लिये अन्य कोई साधन ही नहीं। केवल एक ही साधन है कि उनकी शरण ग्रहण कर ले। अतः 'मैं मोक्षेच्छुक जीव उन्हीं की शरण में प्राप्त होता

हैं, उन्होंने पूर्वकाल में सबके बनाने वाले ब्रह्माजी को भी उत्पन्न किया था उन्हें वेदों का ज्ञान प्रदान किया था, उन आत्म बुद्धि प्रकाशक प्रभु के पादपद्मों की शरण लेने के अतिरिक्त उन्हें पाने का दूसरा उपाय कोई जगत् में है ही नहीं। वे प्रभु निरञ्जन हैं, निष्कल हैं, निष्क्रिय हैं, निरवद्य हैं, शान्त हैं, अमृत के परम सेतु हैं, निर्मल अग्नि के सदृश-दग्धेन्धन, अनल के सदृश-मल रहित हैं। उन परमात्मा को बिना जाने कोई चाहे कि हमारे दुःखों का अन्त हो जाय, तो उसका चाहना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार कोई चाहे कि इस सम्पूर्ण आकाश को हम मृग चर्म की भाँति लपेट कर बगल में दबा कर भाग जायँ। जैसे आकाश को चर्म सदृश लपेट कर भाग जाना असभव है वैसे ही परमात्मा को प्राप्त किये बिना दुखों का अन्त होना असभव है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह परब्रह्म परमात्मा का गूढज्ञान श्वेताश्वतर ऋषिजी के तपः प्रभाव से तथा परब्रह्म परमात्मा की असीम कृपा से प्राप्त हो सका है। विद्वान् लोग इसी के सहारे परब्रह्म को जान सके। उन्होंने ब्रह्म को जानकर ऋषि समुदाय से सेवित इस परम पवित्र ब्रह्म तत्त्व को आश्रमों के अभिमान से शून्य ऐसे उत्तम अधिकारियों को इस गूढ ज्ञान का भलीभाँति उपदेश दिया। यह परमगुह्य ज्ञान है, इसी का नाम वेदान्त है, यह वेद का अन्तिम भाग है। इसी का वर्णन समस्त उपनिषदों में किया गया है। इस ज्ञान के अधिकारी सभी नहीं। सब किसी को इसका उपदेश न देना चाहिये। साधना करते-करते जिसका चित्तशान्त हो गया हो उसको इसका उपदेश देना चाहिये। अशान्त पुरुष को इसका उपदेश न करो। जिससे भली भाँति परिचय न हो, उसे भी इसका उपदेश न देना चाहिये।

जो अपना सत् पुत्र हो अथवा आज्ञाकारी सत् शिष्य हो—समीप में रहने वाला अन्तेवासी हो, उसी को इसका उपदेश देना चाहिये। वे सत् पुत्र और सत् शिष्य कैसे हों ? जिनकी देव में पराभक्ति हो, जैसी परदेव में भक्ति हो वैसी ही भक्ति गुरुदेव में भी हो। उसी महात्मा के हृदय में इस गूढ़ ज्ञान का प्रकाश होता है। अनधिकारी के सम्मुख इसे कहो भी तो उसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। अतः अधिकारी के सम्मुख ही इसका रहस्य प्रकाशित होता है। जिसके हृदय में पूर्ण श्रद्धाभक्ति है वही इस रहस्यमय-परमज्ञान विज्ञानमय-उपनिषद् का अधिकारी हो सकता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त हुई। अब मैं आगे अन्य उपनिषदों का संक्षिप्त सार ही आपसे निवेदन करूँगा। अब आप लोग कृपा करके ब्रह्मविन्दु उपनिषद् का सार सुनिये।"

छप्पय

(१)

तन, कारन तिनि नहीं, न उनि सम कोई जग में।
ज्ञान, क्रिया, बल, शक्ति बहुत दीखति रूपनि में॥
तिनि शासक पति नाहिँ न तिन्हि कछु चिन्ह दिखावै।
है करणाधिप अधिप नहीं तिनि जनक लखावै॥
मकरी जाल बनाइकें, विहरै ज्यों-त्यों शक्ति निज।
आच्छादित निजकूँ करें, है सबई तिनितें अनुज॥

(२)

सबके शासक एक बीजकूँ बहुत बनावें।
सब हिय बैठे रहत धीर साधकनि लखावें॥

जे तिनिकूँ लखि लेइँ होइ सुख शाश्वत तिनिकूँ।
औरनिकूँ नहिँ होइ अमृत हो लखि चेतन कूँ॥
जीवनि करम भुगाइकें, एक, नित्य, चैतन्यमय।
ज्ञान-करम पथतैं मिलहिँ, जानि छुटै दुख, बन्ध, भय॥

(३)

रवि, शशि, ग्रह, नक्षत्र न बिजुरी तहाँ प्रकाशित।
कैसे पहुँचे अगिनि प्रकाशित जग तिनितैं इत॥
एक हंस जग मय प्रकाशित अनल सलिल महँ।
जानि मृत्यु तिनि तरैं, गमन-पथ अन्य न जग महँ॥
वही सर्वविद विश्वकृत, गुणी काल को काल है।
प्रकृति जीव पति गुणनिपति जग थिति मुक्ति करात है॥

(४)

ईश्वर, तन्मय, अमृत, अधिप, भुवननि को रक्षक।
शासन सबपै करत अन्त में होवै भक्षक॥
शासन तिनि बिनु अन्य जगत को, को करि सकि है।
अज जनि वेद पढ़ाय शरन तिनि प्रभु की लइहैं॥
निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अज, अमृत, परम दोषनि रहित।
परम सेतु, निरमल, अलख, सरन गहूँ श्रद्धा सहित॥

(५)

चर्म सरिस आकाश बगल में भले दबावै।
किन्तु दुःख को अन्त शरन प्रभु बिनु नहिँ पावै॥
श्वेताश्वतर तप प्रभाव अरु देव कृपा तैं।
जानि ब्रह्म विद्वान सुसेवित ऋषि सघनि तैं॥
अश्रव को अभिमान जिनि-के हिय में अब नहिँ रह्यो।
तिनि अधिकारिनितैं तिननि, ब्रह्मज्ञान सम्यक कह्यो॥

(६)

परम गुह्य यह ज्ञान कह्यो उपनिषद बतायो।
कहें जाइ वेदान्त वेद अन्तिम दरसायो॥
देइ न जाइ अशान्त-चित्त सुत शिष्य न होवै।
गुरु अरु ईश्वर माहिँ भेद जा नेक न जोवै॥
प्रभु में जाकी भक्ति जस, तस होवै गुरुदेव में।
दिव्य महात्मा पुरुष के, होइ प्रकाशित चित्त में॥

—०—

कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतर उपनिषद् का
षष्ठ अध्याय समाप्त

—०—

श्वेताश्वतर उपनिषद् समाप्त।

—०—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं कर वाव है।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषाव है॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ब्रह्मविन्दु, कैवल्य और जाबाल उपनिषद् सार

(२८४)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्त मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम् ॥*

(ब० वि० उ० १ म०)

छप्पय

मन के हैं द्वै भेद शुद्ध अरु अशुध कहावें ।
शुद्ध कामना रहित काम सँग अशुध बतावें ॥
मन ही कारन बन्ध मोक्ष को विषय भगावे ।
मन हिय में लय होइ मोक्ष सोई कहलावे ॥
घटाकाश घटनाश तें, नाश न हो तन घट सरिस ।
होइ नाश अज्ञान तम, जीव ब्रह्म हो एकरस ॥

ब्रह्मविन्दु उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् है, अथर्ववेद के अन्तर्गत होने से इसे अथर्ववेदीय भी कहते हैं। यह उपनिषद् बहुत छोटी है, इसमें सब २२ मन्त्र हैं। वे २२ मन्त्र चार भागों

मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का एकमात्र कारण मन ही है। विषयासक्त मन बन्धन का कारण है और विषयों से रहित मन मोक्ष का कारण वेद शास्त्रों में बताया गया है।

में विभक्त हैं। पहिले भाग के पाँच मन्त्रों में मन के शुद्ध और अशुद्ध दो भेद बताये हैं, काम सहित अशुद्ध और कामना रहित शुद्ध मन है। विषयासक्त मन बन्धनकारक, निर्विषय मन मुक्ति देने वाला है मुमुक्षु को मन को निर्विषय करना चाहिये। मन हृदय में स्थिर हो जाय, तो उसे उन्मनी भाव वाला मन कहा है, यही परमपद है, यही मोक्ष है। दूसरे प्रणव और परमात्मा भाग के पाँच मन्त्रों को एक ही बताया है। जो प्रणवातीत तत्त्व है वही ब्रह्म है। जिसे यह ज्ञान हो गया कि 'वह ब्रह्म अहं ही है' तो वह निश्चय ही ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। यही जान ले कि विकल्प शून्य, अनन्त, हेतु तथा दृष्टान्तादि से रहित ब्रह्म है। वह ब्रह्म मैं ही हूँ। परमार्थता यही है कि बन्ध-मोक्ष, निरोध-उत्पत्ति शासन कुछ नहीं है, परमार्थतत्त्व एक ब्रह्म ही ब्रह्म है।

तीसरे भाग के पाँच मन्त्रों में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों पृथक् नहीं, एक आत्मा से ही इनका सम्बन्ध है। इन तीनों से जो अतीत हो गया है उस त्रिगुणातीत पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। इस विषय में दृष्टान्त दिया है। असंख्यों घड़ों में असंख्य चन्द्रबिम्ब दीखते हैं, किन्तु चन्द्रमा तो एक ही है। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म अनेक रूपों में दिखायी देता है।

दूसरा दृष्टान्त यह दिया कि महाकाश है, घट में, मठ में वह पृथक्-पृथक् दीखता है, घड़े के फूटने पर, या मठ के टूटने पर आकाश टूटता-फूटता नहीं। इसी प्रकार शरीरों के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता। जीवात्मा जब तक माया से आवृत है तब तक वह हृदय कमल में बद्ध की भाँति रहता है। अज्ञान के नाश हो जाने पर जीव का, ब्रह्म का एकत्व दिखायी देने लगता है।

ब्रह्म (ॐ) परब्रह्म ब्रह्म-
क्षर ब्रह्म का ध्यान प्रशस्त है।
ब्रह्म मे-वेद शास्त्रों के ज्ञान में-
ाता है। इस विषय में दृष्टान्त
तो पहिले तो धानों को लाते
थक हो जाती है. धान पृथक्
भूसी को फेंक देते हैं, चावलों
ज्ञान हो जाने पर शास्त्रों
बिना चावलों का निकलना

वस्तु एक ही है। जैसे विभिन्न
-ही होगा। ब्रह्म को कहीं
मे ऐसे व्याप्त है जैसे दूध
युक्तियों से उसे पृथक्
का ऐसे ध्यान करे शान्त
में व्याप्त है बसा हुआ है।
चार विभागों में विभक्त २२
हुई। इसमें मन का
का यथार्थ रूप और ब्रह्म-
ताया गया है। सहनावतु

मैंने ब्रह्मविन्दु उपनिषद्
निषद् का सार सुनिये।"
में दो खण्ड हैं। प्रथम
में एक ही गद्यात्मक मंत्र
उपनिषद् है।

प्रथम खण्ड में महर्षि आश्वलायन समित्पाणि होकर ब्रह्माजी के समीप गये और वहाँ जाकर ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा की। इस पर ब्रह्माजी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए उनसे कहा—"वेदान्त और त्याग-संन्यास-से यत्न करने वाले यति लोग-जिनका चित्त विशुद्ध बन गया है वे शरीर के अन्त में ब्रह्मलोक में जाकर कल्प के अन्त में मुक्त हो जाते हैं। वे परब्रह्म ध्यान से प्राप्त होते हैं। ध्यान कैसे करना चाहिये ? इस पर कहते हैं—"नित्य-कर्म से निवृत्त होकर, सीधा बैठकर, इन्द्रियों का निरोध करके भक्तिभाव से आश्रम के अभिमान को त्यागकर अपने हृदय कमल में उमा सहित प्रभु परमेश्वर त्रिलोचन नीलकंठ शिवजी का ध्यान करे और ऐसी धारणा को दृढ़ बनावे कि सबसे विलक्षण एकमात्र साक्षी चिन्मात्र शिव मैं ही हूँ। मुझी से इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय हो रही है। सब कुछ मैं ही हूँ। वेदों में अपाणि पादादि जिसे बताया गया है वह मैं ही हूँ। मुझे पुण्य-पाप स्पर्श नहीं कर सकते। पंचभूत कुछ नहीं हैं। जो कुछ है मैं ही मैं हूँ। अन्त में इस शतरुद्रिय का माहात्म्य बताते हुए कहा है—जो इस प्रकार अपने हृदयस्थ सदाशिव का ध्यान करता है, वह सभी पापों से छूटकर सदाशिव के आश्रित होकर अविमुक्त स्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार इस उपनिषद् में आश्रमातीत परमहंस यतियों के लिये ध्यान के द्वारा-अहंग्रह उपासना द्वारा ध्यान की विधि तथा आत्मा का स्वरूप बताया गया है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार कैवल्योपनिषद् का संक्षेप भाव बताया अब आप जाबाल उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनें।"

जाबाल उपनिषद् में ६ खण्ड हैं। इन छैःऊ में एक-एक

गद्यात्मक मन्त्र हैं। यह सन्यासाश्रम प्रधान उपनिषद् है। इसमें पहिले खण्ड में बृहस्पति ने याज्ञवल्क्यजी से कहा—"कुरुक्षेत्र समस्त देवताओं का, सभी प्राणियों का ब्रह्मसदन है। इसलिये जहाँ भी यह पुरुष जाता है वहीं अविमुक्त क्षेत्र है। इस अविमुक्त क्षेत्र (वाराणसी) में जो प्राणों का परित्याग करता है, उस रुद्र-तारक ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जहाँ वह अमृत हो जाता है। इसलिये अविमुक्त का ही निषेवन करना चाहिये। अविमुक्त का कभी परित्याग न करे।

दूसरे खण्ड में अत्रि मुनि ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा—"यह जो अनन्त अव्यक्त आत्मा है उसे हम कैसे जानें ?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"भाई, अनन्त अव्यक्त आत्मा जो अविमुक्त में प्रतिष्ठित है वही उपास्य है, उसी की उपासना से तुम अव्यक्त अनन्त आत्मा को जान सकोगे ?"

प्रश्न यह है, कि वह अविमुक्त किसमें प्रतिष्ठित है ?"

कहते हैं—"वह वारणा और नासी के मध्य में प्रतिष्ठित है (इसीलिये उस अविमुक्त क्षेत्र को वाराणसी कहते हैं)।

अब प्रश्न यह है—"कि वारणा क्या, नासी क्या ?"

तब कहते हैं—"जो सम्पूर्ण इन्द्रिय कृत दोषों का निवारण करे वह वारणा है और जो समस्त इन्द्रियकृत पापों का नाश कर दे वह नासी है।"

अब प्रश्न करते हैं—"वह वाराणसी कौन सा स्थान है ?" तो बताते हैं—"वह स्थान है नासिका और भौंहों की जहाँ सन्धि होती है। दोनों भौंहों के बीच के स्थान का नाम वाराणसी है। यही द्यौलोक और परलोक का सन्धि स्थान है। जो ब्रह्मविद सन्ध्या के समय में इस सन्धि स्थान में ब्रह्म की उपासना करता

है, यही अविमुक्त उपासना है। इस उपासना द्वारा उसे अविमुक्त ब्रह्म की प्राप्ति होती है।"

तीसरे खण्ड में ब्रह्मचारियों ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"किसके जप से अमृतत्व की प्राप्ति होती है?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"शतरुद्रिय जो है वही अमृत नामधेय वाली है, इसी के जप से अमृत होता है।"

चौथे खण्ड में जनक ने जाकर याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न किया—"भगवन्! मुझे बताइये संन्यास क्या है?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों को समाप्त करके संन्यासाश्रम में प्रवेश करे। नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले ले अथवा गृही, वानप्रस्थी कैसी भी अवस्था हो, जब भी संसार से पूर्ण वैराग्य हो जाय, तभी संन्यास ग्रहण कर ले। संन्यासाश्रम में सविधि अग्निहोत्र का परित्याग किया जाता है। प्राण ही अग्नि है, इसलिये प्राणों में ही प्राण का परित्याग कर दे। 'अयं ते' इस मन्त्र से अग्नि को प्राणों में पी जावे। कह दे-हे अग्नि तुम भी प्राण हो, प्राणों में जाकर मिल जाओ। ग्राम से लाकर पूर्ववत हवन करके अग्नि को सूँघकर प्राणों में उसे मिला दे। अग्नि प्राप्त न हो तो जल में ही हवन करे। क्योंकि जल तो सर्व देवमय है। 'ॐ सर्वाभ्यो' इस मन्त्र से जल में हवन करके उस आज्य सहित हवि को निकाल कर खा ले। ये तीनों मोक्ष के मन्त्र हैं। अर्थात् इन तीन मंत्रों से समस्त तीनों गुणों का परित्याग करके त्रिगुणातीत निरग्नि संन्यासी बनकर ब्रह्म की उपासना करे।"

पाँचवें खण्ड में उन्हीं महर्षि याज्ञवल्क्यजी से महर्षि अत्रि ने पूछा—"याज्ञवल्क्यजी! जिसके पास यज्ञोपवीत नहीं है, वह ब्राह्मण (ब्रह्मवित्) कैसे हो सकता है?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, भैया अत्रि ! इस परिव्राजक संन्यासी का यही यज्ञोपवीत है, जो आत्मा को जानकर उसे-अग्नि को पी जाय। शरीर में ममता न रखे। या तो वीर संन्यास ले ले। बिना कुछ खाये पीये जब तक शरीर शिथिल होकर गिर न पड़े तब तक उत्तराखण्ड की ओर चलता ही चला जाय, इसी का नाम वीर सन्यास है। अथवा बिना कुछ खाये अनशन करके शरीर को त्याग दे। अथवा जल मे प्रवेश करके शरीर का परित्याग कर दे। अथवा अग्नि में प्रवेश कर जाय, अथवा महाप्रस्थान करे हिमालय मे जाकर गल जाय। अथवा परिव्राजक बन जाय।"

परिव्राजक के चिन्ह क्या हैं ?"

इस पर कहते हैं—"उसके वस्त्र विचित्र वर्ण के या वर्ण रहित हों-वल्कल वस्त्र-सिर मुण्डित हो। किसी भी वस्तु का परिग्रह न करे—सर्वस्व का परित्याग कर दे। भीतर बाहर से पवित्र रहे। किसी भी प्राणी से द्वेष न करे। केवल प्राण-रक्षा के निमित्त भिक्षा पर निर्वाह करे। ऐसा ब्राह्मण ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। यही उसका यज्ञोपवीत है।"

एक आतुर संन्यास होता है। शरीर मरणासन्न हो गया, तो मन के द्वारा सर्वस्व त्याग करके केवल वाणी से कह दे—"मैं सन्यासी हो गया।" यही ब्रह्मविदों का पन्था है। संन्यास ब्रह्मवेत्ता का नाम है।"

अब प्रश्न होता है परमहंस किसे कहते हैं—"इसका उत्तर छठे खण्ड में दिया गया है, कहते हैं संन्यासी तो इतनी वस्तुएँ धारण करता है। त्रिदण्ड, कमंडलु, भिक्षा के लिये शिक्य छींका, पात्र, जलपवित्र, शिखा और यज्ञोपवीत। किन्तु परमहंस इन सबको भी नहीं रखता। वह इन सबको "ॐ भूः स्वाहा" कह-

कर जल में फेंक देता है। केवल आत्मचिन्तन में ही सदा सर्वदा निमग्न रहता है। वह विधि निषेध से परे हो जाता है। जैसे अग्नि अपरिग्रही, जाज्वल्यमान होकर रहता है, वैसे ही वह परमहंस ब्रह्मतत्त्व मार्ग में सम्यक् सम्पन्न निर्द्वन्द्व, निष्परिग्रह तथा शुद्ध मन वाला होकर अप्रतिहत गति से विचरण करता रहता है। प्राणों के रक्षार्थ कभी भिक्षा माँग लेता है। भिक्षा मिल जाय तो भला, न मिले तो भला। वह भिक्षा मिलने से प्रसन्न नहीं होता, न मिलने से अप्रसन्न नहीं होता। लाभ में, अलाभ में, जय-पराजय में वह सदा समभाव से बना रहता है। उदर ही उसका पात्र होता है। जो उसे भिक्षा में मिलता है उसे उदर में रख लेता है। न कोई पात्र, न वस्त्र, न चिन्ह, न लिंग। अलिंग होकर इच्छापूर्वक बिना संकल्प के विचरता रहता है। कोई टूटा-फूटा खाली घर मिल जाय उसमें रह जाता है। कोई मन्दिर, झोपड़ी, दीमक का ढेर मिले उसमें पड़ा रहता है। नहीं किसी वृक्ष के नीचे, कुम्हार के अवा के समीप, अग्निहोत्रशाला, नदी के किनारे, पर्वत की गुफा, पत्थर के नीचे अर्थात् जहाँ भी कहीं स्थान मिल जाय वहीं पड़ जाता है। वह अपने लिये कोई एक स्थान न बनाता है, न निश्चित करता है। अनिकेतन होकर विचरता रहता है। ऐसे परमहंस-संवर्तक, आरुणि. श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेत तथा रैवत आदि अनेक महात्मा पुरुष हो चुके हैं। इन सबको ही परमहंस कहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने आपसे ब्रह्म-बिन्दु, कैवल्य और जाबाल उन तीन उपनिषदों का सार सिद्धांत सुनाया। अब आप हंस, आरुणि, गर्भादि उपनिषदों का सार आगे सुनेंगे।"

छप्पय

(१)

वह परात्पर तत्त्व त्याग अरु ध्यान प्राप्त है।
उनितें सब उत्पन्न सबहिं में ब्रह्म व्याप्त है॥
वे ई त्रिगुण त्रिदेव अवस्था तीनि युक्त हैं।
सत असत्य तें परे हिये थित लखें मुक्त हैं॥
परमहंस अविमुक्त बनि, भवसागर तरि जात हैं।
यही मुक्ति कैवल्य है, प्रभु 'कैवल्य" कहात हैं॥

(२)

जाबालहु उपनिषद क्षेत्र अविमुक्त बतावै।
है अविमुक्त उपास्य अनंत अव्यक्तहिं पावै॥
वाराणसि भ्रू मध्य जपै शतरुद्रिय साधक।
संन्यासी बनि जपै होइ नहिं पुनि जग बाधक॥
परिव्राजक, त्यागी, यती, मुण्डी, आतुर-मृतक वत।
परमहंस मुनि दिगम्बर, विधि निषेध तें परें नित॥

(३)

सवर्तक, मुनिदत्त आरुणी ऋषि दुर्वासा।
श्वेतकेतु, जडभरत, नहीं जिनि जगकी आशा॥
रैवत और निदाघ महामुनि ऋभु बड़ ज्ञानी।
परमहंस ये भये अन्य हू मुनि विज्ञानी॥
विधि निषेध तें परें सब, है अतीत आश्रमनि तें।
इनिको जे सुमिरन करें, होहिं मुक्त ते जगत तें॥

इति ब्रह्मविन्दु, कैवल्य और जाबाल
उपनिषद् सार समाप्त

—:—

हंस, आरुणिक और गर्भ उपनिषद् सार

(२८५)

ब्रह्मचारिणे शान्ताय दान्ताय गुरुभक्ताय ।
हंस हंसेति सदाऽयं सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते ॥*
(हंसोपनिषद्)

छप्पय

हंस परम है मन्त्र सर्वदा जीव जपत है ।
रात्रि दिवस इक्कीस सहस छै सौ निकसत है ॥
हृदय अष्ट दल कमल हंस आत्मा तहँ ध्यावै ।
अष्टदलनि मति आठ मनहिँ तैं अशुभ भगावै ॥
जपतै होवै नाद पुनि, होइ नाद दश भाँति को ।
चिणी, चिचिणी घंट अरु, शंखहु तन्त्री नाद को ॥

यह जो हम स्वास लेते हैं इसमें बाहर को जो स्वास निकलती हैं, इसमें 'हं' शब्द होता है । फिर भीतर जो प्रस्वास जाती है उसमें 'स' शब्द होता है । इस प्रकार 'हंस' इस अजपा गायत्री मंत्र को जीव सदा सर्वदा जपता रहता है । इसी का वर्णन हंसोपनिषद् में किया गया है ।

---

* हंस परमहंस निर्णय की व्याख्या करते हैं—"जो ब्रह्मचारी, शान्त, दान्त तथा गुरुभक्त हो उसके लिये इस ज्ञान को देना चाहिये । हंस-हंस यह जो मन्त्र है यह सदा सर्वदा समस्त देहों में व्याप्त रहता है ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! हंसोपनिषद् बहुत छोटी किन्तु बहुत महत्व की गद्यात्मक उपनिषद् है। पहिले भाग में तीन, दूसरे में दो गद्यात्मक मंत्र हैं। महामुनि गौतम ने महर्षि सनत् सुजातु से पूछा –"ब्रह्मन् ! आप समस्त धर्मों को जानने वाले सभी शास्त्रों में पारंगत हैं, आप कृपा करके यह बात बता दें कि ब्रह्मविद्या का प्रबोध किस उपाय से हो ?" इस पर सनत् सुजातु महर्षि ने कहा—"देखो, भैया गौतमजी ! महादेवजी ने समस्त वेदों का मत जानकर उसका सार पार्वतीजी से कहा था। उसी तत्व को मैं तुमसे कहता हूँ। यह योगियों का परमधन है, बड़ा गुप्त है। यह जो हंस की गति का विस्तार है यह भुक्ति मुक्ति दोनों का देने वाला है। अनधिकारी को इसे नहीं देना चाहिये। अब हंस परमहंस निर्णय हम तुमसे कहते हैं। इसे शान्त, दान्त, गुरुभक्त ब्रह्मचारी को ही देना चाहिये। यह जो हंस 'हंस' मंत्र है सदा सर्वदा सभी शरीरों में व्याप्त रहता है। कैसे व्याप्त रहता है। जैसे काष्ठ में सदा अग्नि व्याप्त रहती है, किन्तु वह दीखती नहीं। तिलों में तैल सदा व्याप्त रहता है, किन्तु स्थूल दृष्टि से दृष्टिगोचर नहीं होता। जो इस रहस्य को जान लेता है, वह मृत्यु को जीत लेता है।"

देखो, गुदा में एक मूलाधार नाम का चतुर्दल वाला कमल है। वहाँ कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन चक्कर शिवलिङ्ग के लगाकर अपनी पूँछ से सुषुम्ना नाड़ी के मुख को रुद्ध करके सोती रहती है। वहाँ से बलपूर्वक वायु से उस कुण्डलिनी को जगाकर वायु को स्वाधिष्ठान-चक्र जो (लिङ्ग) में है उसमें लाये फिर मणिपूर्वक नाभि में लाये, फिर अनाहत-चक्र जो (हृदय में है) उसमें लाये। फिर विशुद्ध चक्र (जो कंठ में है) उसमें प्राणों को भली प्रकार रोककर दोनों भौंहों के बीच में जो दो दल वाला आज्ञा चक्र है,

ध्यान करे, फिर शनैः-शनैः उस वायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर ध्यान करे। 'अहम्' इसी का ध्यान करे। नाद ही आधार जिसका ऐसे शुद्ध स्फटिकमणि के सदृश प्रकाश वाले परमात्मा परब्रह्म का ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करे। फिर वहाँ मन से इस अजपा गायत्री का ध्यान करे। इस अजपा गायत्री का ऋषि तो हंस है। अव्यक्त गायत्री ही इसकी छंद है। परमहंस देवता है। 'हम्' बीज है। 'सः' शक्ति है। 'सोऽहम्' यह कीलक है। दिन-रात्रि में ६ चक्रों द्वारा यह मंत्र इक्कीस सहस्र छै सौ जपा जाता है। इसके अंगन्यास करन्यास ६-६ होते हैं। अंगन्यास, (१) हृदय, (२) सिर, (३) शिखा, (४) कवच, (५) नेत्र, (६) सर्वाङ्ग अस्त्र। करन्यास हाथों की पाँच उँगलियाँ और करतल पृष्ठ। इस प्रकार (१) सूर्य, (२) सोम, (३) निरंजन, (४) निराभास, (५) तनु सूक्ष्म प्रचोदयात् पाँच ये अग्नि और सोम इन वौषट् इनके द्वारा अंग और करन्यास कर ले। इस प्रकार इनमें चतुर्थी और नमः लगाकर अन्त में वौषट् करके पहिले अंगन्यास करे फिर करन्यास कर ले।

इतना सब करके हृदय में जो अष्टदल वाला कमल है, उसमें हंस आत्मा का ध्यान करे। यह हंस कैसा है? इसके अग्नि और सोम तो दो पंख हैं। ओंकार इसका शिर है। ओंकार में जो विन्दु है वह नेत्र और मुख है, रुद्र और रुद्राणी चरण तथा बाहु हैं। काल और अग्नि उभय पार्श्व हैं। अनागार और शिष्ट उभय पार्श्व में हैं। यही परमहंस है। करोड़ों सूर्यों के सदृश इसका प्रकाश है, इसी के द्वारा यह व्याप्त है। जिस अष्टदल कमल में यह स्थित है, उसकी वृत्ति आठ प्रकार की होती है। कमल के आठ दलों में से जो पूर्वदल का कमल है उसमें पुण्यमति होती है। अग्निकोण में निद्रा तथा आलस्य, दक्षिण में

क्रूरमति, नैऋति कोण मे पापमति, पश्चिम में क्रीडामति, वायव्यकोण में गमनादिमति, उत्तर में रतिप्रीतिमति, ईशानकोण में द्रव्यादानमति। कमल की कर्णिका का जो मध्यभाग है उसमें वैराग्य, कमल की जो केशर है उसमें जाग्रत अवस्था होती है। कर्णिका में स्वप्नावस्था, लिङ्गभाग में सुषुप्ति अवस्था और पद्म त्यागने में तुरीय अवस्था होती है। जब 'हंस' नाद में लीन होता है, तो उस अवस्था का नाम तुर्यातीत अवस्था है। उसी को उन्मनन कहते हैं। वहाँ पर जप का उपसंहार हो जाता है, अर्थात् अजपावस्था हो जाती है। उस अवस्था में जप होता भी नहीं-जप की आवश्यकता भी नहीं रहती। इस प्रकार सभी कुछ हंस के वश में है। इस प्रकार मन से विचार करना चाहिये। जपकोटि होने पर नाद का अनुभव होता है। इस प्रकार सब कुछ हंस के ही वश में है। वह नाद (अनहद शब्द) दश प्रकार का होता है। पहिले चिणी चिणी शब्द होता है। दूसरा नाद चिञ्चिणी चिञ्चिणी ऐसा होता है। तीसरे घंटा की भाँति नाद सुनाई देता है। चौथा शङ्ख के समान, पाँचवाँ वीणा नाद के सदृश, छठा शब्द ताल के समान नाद, सातवाँ वेणु के समान नाद, आठवाँ मृदंग के समान नाद, नववाँ भेरी के समान नाद और दशवाँ-मेघ के सदृश नाद-शब्द सुनायी देता है। नौ शब्दों का परित्याग कर दे। दशवाँ जो मेघ गम्भीर नाद हो तो उसी का अभ्यास करे-अर्थात् उस नाद में मन को लगाकर उसी का श्रवण करता रहे। नाद सुनते सुनते प्रथम नाद मे तो देह में चिञ्चिणी-चुनचुनाहट-होने लगेगी। दूसरे में शरीर फटने सा लगेगा, तीसरे में खेदित सा होगा। चौथे में सम्पूर्ण शरीर में कँपकपी छूटने लगेगी, पाँचवें में तालु मे से अमृत स्रवने लगेगा। छठे में अमृत सेवन होगा। सातवें म गूढ विज्ञान होने लगेगा।

आठवें में परावाचा हो जायगी। नवमें में यह स्थूल देह अदृश्य होने लगेगी और दिव्यचक्षु तथा सम्पूर्ण शरीर मलरहित हो जायगा। दशवें में वह परब्रह्म परमात्मा की सन्निधि में हो जायगा। उन परमात्मा में मन के लीन होने पर यह संकल्प विकल्पात्मक मन संकल्प विकल्प से रहित विशुद्ध हो जायगा। फिर न पुण्य रहेंगे न पाप। तब उसे सर्वत्र सदाशिव, शक्त्यात्मा, सर्वत्र अवस्थित, स्वयं ज्योति, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, शान्त ब्रह्म का ही प्रकाश दिखायी देगा। यही वेद का वचन हो, यही प्रणव, ओंकार वेद का वचन है।

सूतजी कह रहे हैं—"इस प्रकार यह अथर्ववेद की उपनिषद् समाप्त हुई। इसका पूर्णमद यह शान्तिपाठ है। अब आप आरुणिक उपनिषद् के सार को श्रवण करें।"

आरुणिक उपनिषद् को कोई अथर्ववेदीय कोई सामवेदीय भी मानते हैं। इसका आप्यायन्तु यह शान्तिपाठ है। इसमें ५ ही गद्यात्मक मन्त्र हैं। इस उपनिषद् को ब्रह्माजी ने आरुणि मुनि से कहा है।

एक बार महर्षि अरुण के पुत्र महामना आरुणि अपने तपः प्रभाव से ब्रह्मलोक में गये। वहाँ जाकर उन्होंने ब्रह्माजी को प्रणाम किया और नम्रता के साथ प्रश्न किया—"भगवन्! आप मुझे उपदेश करें मैं सम्पूर्ण कर्मों का भली प्रकार त्याग कैसे करूँ?"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"संसार में बाँधने वाले जितने भी सम्बन्ध हैं, जैसे पुत्र हैं, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी हैं। शिखा, यज्ञोपवीत, यज्ञ, स्वाध्याय जपादि जितने पुण्यप्रद तथा अपुण्य-प्रद कार्य हैं, ऊपर के भू, भुव, स्व, मह, जन तप तथा सत्यादि लोक हैं, नीचे के जितने अतल, वितल, तलातल, सुतल, रसा-

तल, महातल और पातालादि लोक हैं, इन सबको तथा कहाँ तक कहें सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड को त्याग दे। केवल दण्ड, आच्छादन और कौपीन रखे। शेष सभी को छोड़ दे। ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थ जो भी सन्यास ग्रहण करे-कर्मों का प्रतीक जो यज्ञोपवीत है उसका भूमि में परित्याग कर दे अथवा जल में बहा दे। अग्निहोत्र जो नित्य नियम से धर्म मानकर करता था उनकी जो तीन-गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि-अग्नियाँ हैं उन्हें अपनी जठराग्नि में स्थापित कर ले। जिस गायत्री मन्त्र का सदा जप करता था उसे वाणीरूपी अग्नि में स्थापित कर ले। कुटीचर ब्रह्मचारी कुटुम्ब का परित्याग कर दे। पात्र को, पवित्री जो कुशाओं को सदा धारण किये रहता था उनको भी छोड़ दे। दण्डों को, लौकिक अग्नियों को भी छोड़ दे। अर्थात् अपने हाथ से भोजन भी न बनावे। जैसे मन्त्रहीन लोग आचरण करते हैं, वैसा आचरण करे। हमें स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकों की प्राप्ति हो इस इच्छा का भी परित्याग कर दे। तीनों सन्ध्याओं के पूर्व स्नान किया करे, सधिकाल में समाधि में स्थित होकर आत्मचिन्तन किया करे। सम्पूर्ण वेदों में जो आरण्यक भाग है या उपनिषद् भाग है-उन्हीं का पाठ मनन तथा पुनः पुनः उनकी आवृत्ति करता रहे। मैं ही ब्रह्म का सूत्र-ब्रह्म को सूचित करने वाला यज्ञोपवीत हूँ, ऐसा निश्चय करके तीन सूत्रों वाला जो बाहरी यज्ञोपवीत है उसका परित्याग कर दे। इस प्रकार जो विद्वान् तपस्या और सत्कर्मों से पवित्र हो चुका है, वह तीन बार कहे—'मैंने संन्यास ले लिया है।' इस प्रकार तीन बार कहकर फिर कहे—'मेरे से सभी प्राणी अभय हो जायँ। अब कोई भी जीव-जन्तु मुझसे भय न करें। क्योंकि अब मेरा पृथक् अस्तित्व नहीं। सम्पूर्ण विश्व मुझसे ही प्रवर्तित होता है।' फिर

अपने दण्ड से कहे—'हे दण्ड ! तुम मेरे सखा हो, मेरे ओज की रक्षा करो। हे वज्र ! तुम इन्द्र के वज्र हो। वृत्तासुर को मारने वाले हो, मुझे कल्याण-सुख-प्रदान करो। यदि मुझमें कोई पाप प्रवृत्ति हो तो तुम उसका निवारण कर देना।"

इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करके बांस का दण्ड और कौपीन को धारण कर ले। अन्न को औषधि के सदृश खाय- स्वाद के लिये कभी कोई वस्तु न खाय-जैसे रोग निवृत्ति के लिये अल्प मात्रा में औषधि खायी जाती है वैसे ही भूख की निवृत्ति के निमित्त अल्प (केवल आठ ग्रास) अन्न खाय। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह तथा सत्य की दृढ़ता पूर्वक-पूर्ण प्रयत्न के सहित-रक्षा करे।"

ब्रह्माजी कह रहे हैं—'हे आरुणि ! तुम इन सब नियमों की रक्षा करना, अवश्य रक्षा करना, दृढ़ता के साथ रक्षा करना भला। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह और सत्य का संन्यास मत करना। अब जो परमहंस परिव्राजक ब्रह्मचारी हैं उनको पृथ्वी पर ही आसन लगाकर सोना तथा बैठना चाहिये। उनके पात्र मिट्टी के, या लौकी की तूंबी के अथवा काष्ठ के हों। ऐसे ब्रह्मचर्य-व्रती संन्यासियों को काम, क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, इच्छा, परनिन्दा, ममता तथा अहंकारादि दुर्गुणों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। आठ महीने तक तो एकाकी अथवा एक और के साथ विचरण ही करता रहे। वर्षा के चार महीने एक स्थान में रहकर चातुर्मास्य नियम पालन करे।"

ब्रह्माजी कह रहे हैं—"इस प्रकार जिस विद्वान् को संन्यासी होने की इच्छा हो, वह यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने के अनन्तर (अथवा पूर्वजन्मों के संस्कारवश शुकदेवजी की भाँति यज्ञोपवीत के पूर्व भी) संन्यास को धारण करे। माता, पिता, पुत्र, अग्नि-

क्षौर, उपवीत, समस्त कर्मों को, पत्नी आदि समस्त सम्बन्धियों को अथवा और जो भी कुछ संग्रह सम्बन्धी हो सबका परित्याग कर दे। संन्यासी को चाहिये कि वह पात्र भी न रखे, वह करों को अथवा उदर को ही पात्र बना ले। इन पात्रों के सहित भिक्षा माँगने गाँव में जाय। उस समय प्रणव लगाकर 'हि' इस बीज मन्त्र को तीन बार उच्चारण करे। यह उपनिषद् है। जो इस उपनिषद् के रहस्य को भली-भाँति जानता है, वही विद्वान् है।"

देखो, ब्रह्मचर्यावस्था में जो पलाश बेल के, पीपर या गूलर के दंड, मूँज का मेखला, यज्ञोपवीत आदि द्विजत्व के बाह्य चिन्ह धारण किये जाते हैं, ज्ञान होने पर जो इन्हें त्याग भी दे सकता है, वही शूर वीर है। वह भगवान् विष्णु का परम पद है। सूरि लोग-विद्वान् उपासक-ही उसे सदा देखते हैं। वह परमपद कैसा है? आकाश में तेजोमय सूर्य के सदृश, परम व्योम में चिन्मय प्रकाश द्वारा सब ओर से व्याप्त है। उसी को विष्णु का परम पद कहते हैं। जो उपासक सदा सर्वदा साधना में सावधान रहकर सतत साधन करते रहते हैं, वे निष्काम ब्राह्मण उपासक ही उस परम पद को देख सकते हैं। वे ही वहाँ पहुँचकर उस परमधाम को जागृत किये रहते हैं। यही वेद का अनुशासन है, यही निर्वाण का अनुशासन वेद सम्मत है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! शिखा सूत्रादि तो सत्कर्मों के पवित्र चिन्ह हैं, इनसे रहित द्विज तो म्लेच्छ के समान होता है, इनके त्याग का विधान श्रुति क्यों करती है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! श्रुति का तात्पर्य इनके त्याग में नहीं है। जिनमें जप, अग्निहोत्र, तपस्या करते-करते इतनी सामर्थ्य आ जाय, वे इतने तपःपूत हो जायँ, कि महर्षि आरुणि

की भाँति इसी शरीर से ब्रह्मलोक तक पहुँच जायँ, उनके लिये फिर बाह्य चिन्हों की अपेक्षा नहीं रहती। वैसे शिखा सूत्र, अग्निहोत्र, जपादि को जो त्यागता है वह पतित हो जाता है, किन्तु इन्हें करते करते जो पूर्ण ज्ञानी हो जाते हैं, वे इन चिन्हों को त्याग भी दें तो उन्हें पाप नहीं लगता क्योंकि वे तो पुण्य और पाप दोनों से परे हो गये। इन बाह्य चिन्हों में उनकी आसक्ति नहीं रहती। संन्यासी इन्हें धारण किए रहे चाहें परित्याग कर दे। श्रुति में दोनों ही विधान हैं। शिखी वा अशिखी वा उपवीती अनुपवीती वा। शिखा सूत्रधारी भी संन्यासी होते हैं। ऐसा वेद का विधान है। यहाँ ज्ञान हो जाने पर इनकी अनुपदेयता में ही तात्पर्य है। संन्यासी तो इन चिन्हों को धारण किये ही रहते हैं। हाँ परमहंस जब वस्त्रों को भी त्यागकर दिगम्बर हो जाते हैं तो शिखा सूत्र को कहाँ बांधे फिरे। तो भी परमहंस के लिये भी कोई आग्रह नहीं कि इन्हें त्याग ही दे। देखिये, पीछे जाबालोपनिषद् में जहाँ कुछ परमहंसों के नाम गिनाये हैं उनमें जड़भरत का भी नाम है। परमहंस जड़भरत जी के वर्णन में आता है वे मैला यज्ञोपवीत पहिने हुए थे। सो ब्रह्मन्! श्रुति का तात्पर्य इनके त्याग में नहीं है। भाव इतना ही है कि पूर्व-ज्ञान होने पर इन बाह्य चिन्हों की अपेक्षा नहीं, आग्रह नहीं। धारण किये रहे चाहें न भी धारण करे। यह उन्हीं लोगों के लिये है जिन्होंने जीवन भर विधि पूर्वक कठोरता के साथ तीनों काल सन्ध्या, अग्निहोत्र, जप, तपादि के नियमों का पालन किया है। जिन लोगों ने जीवन में इन नियमों का कभी पालन ही नहीं किया, उनकी बात तो पृथक रही, जिनके बाप-दादों ने भी कभी यज्ञोपवीत को छोड़कर सन्ध्या अग्निहोत्रादि नियम पालन नहीं किये। वे लोग इन चिन्हों का परित्याग करके 'जो मिथ्या

सन्यासी का वेष बना लेते हैं, यह तो सन्यास धर्म की विडंबना है। कलिकाल में तो सन्यास का स्पष्ट ही निषेध है। निषेध होने पर भी जो अज्ञानी संन्यासाभिमानी दृष्टिगोचर होते हैं, यह तो युग का दोष है। कलिकाल का प्रभाव है, युगधर्म है। इसमें दोष किसी का नहीं। मुनियो! आप अच्छा कर रहे हैं। आप इन सब चिन्हों के त्याग का कभी आग्रह न करें। आप सब श्रुति सम्मत आचरण कर रहे हैं। यह मैंने आपको सन्यास धर्म प्रधान आरुणि उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनाया। अब आप गर्भ उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनें।

गर्भोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् है। यह भी गद्य पद्यात्मक है। इसके ५ मन्त्र भाग हैं। यह उपनिषद् दधीचि मुनि के पुत्र महर्षि पिप्पलाद द्वारा प्रकटित हुई है। इसमें शरीर का पूर्ण परिचय है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गर्भोपनिषद् म शरीर का परिचय कराते हुए इसे पञ्चात्मक, पाँचों में वर्तमान, षडाशय, षड् गुणयुक्त, सप्तधातु निर्मित त्रिमल, द्वियोनि तथा चतुर्विध आहारमय बताया गया है। ये पारिभाषिक शब्द हैं। श्रुति स्वय इन सब की व्याख्या करके बताती है—

(१) पञ्चात्म कैसे है?

यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्च भूतों से निर्मित होने के कारण पञ्चात्मक कहलाता है।

१—पृथ्वी भाग इस शरीर में कौन सा है?

शरीर में जो भी कठिन वस्तुएँ हैं, वे सब पृथ्वी के ही भाग हैं। यह पृथ्वी ही शरीर को धारण करती है।

२—शरीर में जल का भाग कौन सा है?

शरीर में जो भी गीली वस्तुएँ हैं, लार, खकार, स्वेद,

मल-मूत्रादि ये सब जलीय भाग हैं। यह शरीर को एकत्रित करता है।

३—शरीर में तेज का भाग कौन-सा है ?

जो भी शरीर में उष्णता है, वह तेज का भाग है। तेज उसे प्रकाशित करता है जैसे आँखों की ज्योति।

४—शरीर में वायु का भाग क्या है ?

जो भी धातुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाता है, घुमाता रहता है वही शरीर में संचार करने वाला तत्व वायु है। वायु शरीर के समस्त अवयवों को यथा स्थान रखता है।

५—इस शरीर में आकाश का भाग क्या है ?

जो भी शरीर में छिद्र हैं, वे सब आकाश के भाग हैं, यह आकाश ही शरीर में अवकाश प्रदान करता है। इस प्रकार इन पाँचो के कारण शरीर पञ्चात्मक कहलाता है।

(२) पाँचों में वर्तमान—पाँच ज्ञानेन्द्रियों में ही यह वर्तमान रहता है। (१) कान शब्दों को ग्रहण करते हैं, (२) त्वचा स्पर्श का अनुभव कराती है, (३) नेत्र रूप ग्रहण कराते हैं, (५) जिह्वा रसास्वादन का अनुभव बताती है, तथा (५) नासिका सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान कराती है। ये तो ५ ज्ञान में वर्तमान हुए। अब (१) उपस्थ द्वारा आनन्दानुभव होता है, (२) पायु मलोत्सर्ग कराता है, (३) वाक् इन्द्रिय द्वारा शब्द बोलता है, (४) बुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है और (५) मन द्वारा संकल्प करता है। इस प्रकार यह इन पाँच पाँचों में वर्तमान रहता है।

(३) यह शरीर षडाश्रय कैसे है ?

ये जो मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कड़वे और कषाय छः रस हैं। इनका शरीर द्वारा ही आस्वादन होता है अतः शरीर षडाश्रय है।

(४) यह शरीर षड्गुण योग युक्त कैसे है ?

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद षड्जादि सात तो ये स्वर और इष्ट, अनिष्ट तथा प्राणिधान कारक (जैसे ओंकार आदि हैं) तीन इन्हें भी मिला दो तो दस प्रकार के शब्द हुए और शुक्ल, रक्त, कृष्ण, धूम्र, पीत कपिल और पाण्डर ये सात रंग हुए। इस प्रकार (१) रस, (२) स्वर, (३) इष्ट, (४) अनिष्ट, (५) प्रणिधान और (६) रूप इन ६ गुणों से यह शरीर युक्त है।

(५) यह शरीर सप्तधातु युक्त कैसे है ?

इस शरीर में सात धातुएँ निर्मित कैसे होती हैं ? जैसे कोई देवदत्त नाम वाला पुरुष है, उसने किसी भी भाँति खाने पीने आदि के पदार्थ जुटा लिये। उनमें उसने खाने की मीठी, खट्टी, नमकीन, चरपरी, कड़वी, तथा कसैली रसों की वस्तुएँ जुटायीं। अपनी रुचि के अनुसार दाल, भात, दही बड़े, चटनी, खीर, अचार आदि बनाकर खाये। खाये हुए पदार्थों से भीतर पहिले पेट में रस बनता है। रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से स्नायु, स्नायुयों से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य, वीर्य से सातु धातुएँ रस से उत्पन्न होती हैं। शुक्र अथवा वीर्य स्त्री के रज के संयोग से गर्भ निर्माण करने में समर्थ होता है। समस्त धातुएँ विशेषकर हृदय में रहती हैं। हृदय में अतराग्नि उत्पन्न होती है। जठर की जो अग्नि है उसी में पित्त उत्पन्न होता है, पित्त के स्थान में वायु और वायु से हृदय का निर्माण-स्रज क्रम से-होता है।

ऋतुकाल के अनंतर स्त्री जब पुरुष द्वारा गर्भ धारण करती है, तो रात्रि में रज और वीर्य मिलकर कलल बन जाता है। सात रात्रियों में वह कलल बुदबुद (बबूला) के आकार का होजाता है।

फिर वह बुदबुद शनैः-शनैः कठोर होते-होते पन्द्रह दिन में एक स्थूल कड़ा पिंड (गोला-सा) बन जाता है। फिर भी वह उतना कठिन नहीं होता। एक मास में कड़ा कठिन कुछ लम्बा हो जाता है। दो महीने में उसमें सिर निकल आता है। तीन महीने में नीचे की ओर पैर भी निकलने लगते हैं। चौथे महीने पैर में गुल्फ-टखने आदि उँगलियों के चिन्ह पेट तथा कटि प्रदेश बन जाते हैं। पाँचवें महीने में पीठ की रीढ़ की छोटी छोटी हड्डियाँ (कसेरुकायें) बन जाती हैं। छटे महीने में मुख, नाक, नेत्र तथा कान आदि बन जाते हैं। सातवें महीने में जब शरीर पूर्ण बन जाता है, तब उसमें जीवात्मा प्रवेश करता है। जीव के प्रवेश करते ही बच्चा निकलने का प्रयत्न करता है, किन्तु पूर्णता प्राप्त न होने से निकल नहीं सकता। कोई-कोई निकल भी आते हैं, तो वे दुर्बल रहते हैं—या मर जाते हैं। आठवें महीने में सब लक्षणों से पूर्ण हो जाता है। यदि पिता के वीर्य का भाग अधिक हुआ तो लड़का होता है, माता के रज का भाग अधिक हुआ तो लड़की और दोनों का बराबर हुआ तो नपुंसक बालक होता है। समागम के समय दोनों में उल्लास और प्रसन्नता चाहिये, क्योंकि यदि चित्त में व्याकुलता आ गयी तो उसका प्रभाव सन्तान पर पड़ेगा। व्याकुलता के कारण सन्तान अन्धी, कुबड़ी, खोड़ी तथा बौनी होगी। किसी कारण परस्पर की वायु के संघर्ष से वीर्य के दो भाग हो जायँ, उसके टुकड़े हो जायँ तो जितने भाग हो जायँगे, उतनी ही सन्तानें एक साथ उत्पन्न होती हैं।

जब यह पञ्चभूतात्मक शरीर आठवें महीने में समर्थ हो जाता है, तब पाँच ज्ञानेन्द्रियों में निश्चयात्मिक बुद्धि होती है, जिससे शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श का ज्ञान होता है, तब

वात्मा एकाक्षर प्रणव का चिन्तन करता है। इसके सोलह कार और आठ प्रकृतियाँ होती हैं। आठ प्रकृति ये हैं—(१) मूल (२) महत्तत्व, (३) अहंकार, (४) शब्द, (५) रूप, (६) रस, (७) गन्ध, और (८) स्पर्श। सोलह विकार ये हैं—(१) कान, (२) नाक, (३) मुख, (४) चक्षु, (५) त्वचा, (६) हाथ, (७) पैर, (८) जिह्वा, (९) गुदा, (१०) शिश्न, (११) पृथ्वी, (१२) जल, (१३) तेज, (१४) वायु, (१५) आकाश और (१६) मन।

पेट में बच्चा खाता क्या है? इस विषय में बताते हैं, कि माता जो कुछ खाती है, उसका जो रस है, वह नाल द्वारा नाभि के छिद्र से उसके शरीर में पहुँचता है। उसी से उसके प्राण तृप्त होते हैं। माता के पेट में जब बालक रहता है तो माता के एक अपना हृदय और एक बालक का हृदय दो हृदय होते हैं। इसीलिये वह द्विहृदया कहलाती है। नाड़ियों के सूत्रों द्वारा माता के हृदय का रस बालक के हृदय में पहुँचता है, इससे सम्पूर्ण शरीर का पालन पोषण होता है।

मनुष्य शरीर में जब बालक परिपूर्ण हो जाता है, सर्व लक्षणों से सम्पन्न हो जाता है, तब नववें महीने में उसे अपने पिछले जन्मों का स्मरण होता है। जीव तो अणु है, शरीर के छोटे बड़े होने से न वह छोटा बड़ा होता है, न उसका ज्ञान ही लुप्त होता है, उस समय पूर्व जन्मों के किये शुभ अशुभ कर्म उसके सम्मुख आ जाते हैं, तब वह सोचता है—"हाय! मैंने सहस्रों जन्मों को देखा है, बहुत से शरीर धारण किये उनमें नाना प्रकार के अन्नपानों का रसास्वादन किया, नानायोनियों में अनेकों माताओं के स्तनों का पान किया, कितनी ही बार जन्मा कितनी ही बार मरा। मैंने अपने कुटुम्बियों के पालन पोषण के निमित्त अनेकों पाप कर्म किये, किन्तु उन सबका फल मैं अकेला

ही भोग रहा हूँ। वे लोग तो खा पीकर चम्पत हुए। किसी ने मेरे भोगों में भाग नहीं बँटाया। मैं यहाँ दुःख के समुद्र में पड़ा बिल-बिला रहा हूँ, मुझे इससे छुटकारे का कोई उपाय नहीं सूझता। इस प्रकार पश्चात्ताप करते-करते वह विह्वल होकर भगवान् की स्तुति करता है—

प्रभो! यहाँ तैं मोइ निकारें अब भूलूँ नहिं।
सांख्ययोग अभ्यास करूँ तप विपति सबहिं सहि॥
अशुभनि को क्षय करें मुक्तिकूँ प्रभुवर! देवें।
हमकूँ देइँ निकारि तुम्हें श्रद्धातैं सेवें॥
हे नारायण! महेश्वर, अशुभ नाश कीजे प्रभो!
ध्यान सनातन ब्रह्म नव, करूँ उबारें हे विभो!!

इस प्रकार दुखित होकर पूर्व कृत कर्मों का पश्चात्ताप करते हुए भगवान् की स्तुति करता रहता है। नववें महीने में वह उदर से खिसककर योनि द्वार के समीप आ जाता है। योनि रूप यन्त्र सँकरा मार्ग होने से उसमें पिचता हुआ प्रसूति मारुत के द्वारा बड़े कष्ट के साथ बाहर निकलता है। बाहर निकलते ही वैष्णवी वायु के स्पर्श से—परिवार के माया जाल के संसर्ग से—पिछले जन्म की मृत्यु आदि सभी बातों को भूल जाता है। जो पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्म माता के उदर में इसके सम्मुख आये थे, वे भी माया के प्रभाव से हट जाते हैं।

इस देह का नाम शरीर क्यों है?

इसका नाम शरीर इसलिये है कि अग्नियाँ इसमें आश्रय लेती हैं (अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते=आश्रयन्ते=यस्मात शरीरम्) इस शरीर के भीतर ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि तीन अग्नियाँ आश्रय लेती हैं। जठराग्नि या कोष्ठाग्नि तो वह है जो

खाये, पीये, चाटे अथवा चूसे अन्नादि को पचाती है। दर्शनाग्नि वह है जो भाँति भाँति के रंग बिरंगे दृश्यों को दिखाती है। ज्ञानाग्नि उसे कहते हैं जो शुभ और अशुभ कर्मों को सम्मुख लाकर प्रत्यक्ष समुपस्थित कर देती है। बाहर में ये तीन अग्नियाँ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि के नाम से विख्यात हैं। शरीर के भीतर इसके तीन स्थान हैं। आहवनीय अग्नि वाणी के रूप में मुख में निवास करती है। गार्हपत्याग्नि उदर में और दक्षिणाग्नि हृदय में रहती है। यह शरीर भी एक प्रकार का यज्ञ ही है। जीवात्मा यजमान है, बुद्धि यजमान पत्नी है, मन ब्रह्मा है, लोभ मोहादि बलि के पशु हैं। धृति ही दीक्षा है। संतोष तथा ज्ञान इन्द्रिय आदि यज्ञ के पात्र हैं। कर्मेन्द्रियाँ हवन करने की सामग्रियाँ हवि हैं। सिर कपाल है, केश ही दर्भ स्थानीय हैं। मुख अन्तर्वेदिका है, सिर चतुष्कपाल है, पार्श्व की दन्त पंक्तियाँ षोडश कपाल हैं। इस शरीर में १०७ मर्म स्थान हैं। १८० सन्धि स्थान हैं। एक सौ नौ स्नायु हैं। सात सौ शिरायें हैं। पाँच सौ मज्जायें हैं। तीन सौ साठ अस्थियाँ हैं। साढे चार करोड रोम हैं। आठ पल का हृदय है, बारह पल की जिह्वा है, एक प्रस्थ पित्त है, एक आढक (२॥ सेर) कफ है, कुडव मात्र (एक पाव) वीर्य है। दो प्रस्थ (दो सेर) मेद है। मल और मूत्र का कोई निश्चित प्रमाण नहीं। मनुष्य जितना अन्न पान करता है, उसी के अनुरूप मल मूत्र बन जाता है। यही शरीर का परिचय है। यह गर्भोपनिषद् रूप मोक्ष शास्त्र पिप्पलाद मुनि द्वारा प्रकटित है। इसीलिये इसका नाम पैप्पलाद मोक्ष शास्त्र है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने गर्भोपनिषद् का सार सिद्धान्त आप सबको सुना दिया। अब आप नारायणार्थ शिर उपनिषद् तथा महानारायण उपनिषद् का सार सिद्धान्त आगे

सुनें। ये उपनिषदें भगवान् नारायण के महत्त्व को प्रकटित करने वाली हैं।"

छप्पय

(१)

ताल, वेणु, मिरदंग, नवम, भेरी, मेघहु धुनि।
मेघ नाद अभ्यास करै चिचिणि तन महँ पुनि॥
गात्रभंज पुनि खेद, कंप फिरि तालु स्रवत है।
अमृतपान विज्ञान-परा वाचा अष्टम है॥
दिव्य चक्षु अदृश्य तन, अमल दशम परमहंस सम।
ब्रह्म आत्म संनिधि रहे, होइ निरञ्जन शान्ततम॥

(२)

उपनिषद हु आरुणिक प्रजापति अरुण सुनाई।
संन्यासिनि विधि नियम महन संन्यास बताई॥
अहँता ममता त्यागि दण्ड कौपीनहिँ धारै।
ब्रह्मचर्य व्रत साधि दुष्ट चंचल चित मारै॥
काम, क्रोध, मद, मोह अरु, लोभ दम्भ पाखंड तजि।
उदर पात्र करि सबहिँ तजि, बनि संन्यासी ब्रह्म भजि॥

(३)

है उपनिषद जो गर्भ वीर्य रज गर्भ बनावै।
शनैः शनैः तन अङ्ग उदर में सब बनि जावै॥
नवम मास में पूर्ण कर्म सब सम्मुख आवैं।
जनम मरन दुख सुमिरि ब्रह्मकूँ जीव मनावैं॥
अब यदि निकसूँ गर्भ तैं, फिरि अधरम नहिँ करुङ्गो।
जगके सब व्योहार तजि, नित प्रभुकूँ हा भजुङ्गो॥

(४)

अग्नि तीनि तन माहिँ ज्ञान, दर्शन, जठराग्नी ।
रस जठराग्नि पचाय लखै रूपहिँ दृष्याग्नी ॥
ज्ञानाग्नी शुभ अशुभ करन जानत समुझावत ।
हृदय, उदर, मुख माहिँ तीनिहू अगिनी निवसत ॥
यह तन यज्ञ समान है, है आत्मा यजमान-मख ।
मन मक्षा, लोभादि पशु, ज्ञानेन्द्रिय मख पात्र लख ॥

(५)

धैर्य और सन्तोष कहीं दीक्षा, हवि इन्द्रिय ।
सिर कपाल कुच-कुशा, कह्यो मुख अन्तर्वेदिय ॥
है सिर चतुष कपाल पार्श्व की दन्त पंक्ति जो ।
षोडस कहे कपाल यज्ञ में व्यवहृत हों सो ॥
अब तनमें कितने कहाँ, कहें सबनि परिमाण हैं ।
मर्म एक सौ सात हैं, शत अरु अस्सी सन्धि हैं ॥

इति हंस, आरुणिक और गर्भोपनिषद् सार
समाप्त ।

नारायणाथर्वशिर, महानारायण तथा परमहंस उपनिषद्-सार

(२८६)

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युत ॥*

(ना० उ० मं० ४)

छप्पय

नारायण ही एक सृष्टि सबरी उपजावै ।
नारायण को मन्त्र जपै पुनि नहिं जग आवै ॥
नारायण सब देव काल अरु दिग नारायण ।
नारायण सब ठौर सकल जगमय नारायण ॥
नारायण ब्रह्मण्य है, है मधुसूदन ब्रह्म-पर ।
नारायण देवकितनय, प्रणव, सत्य परपुरुष वर ॥

यह सम्पूर्ण जगत् नारायणमय है। नारायण से परे कोई तत्त्व नहीं। नारायण के नाम से बढ़कर कोई नाम नहीं, नारायण के मन्त्र से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं, नारायण के रूप से बढ़कर किसी का रूप नहीं। नारायण के धाम से बढ़कर कोई

---

* देवकी के पुत्र ब्रह्मण्य हैं, मधु दैत्य को मारने वाले भी ब्रह्मण्य हैं। पुण्डरीकाक्ष—कमलनयन—भगवान् भी ब्रह्मण्य हैं, और अच्युत विष्णु भी ब्रह्मण्य हैं।

धाम नहीं। जगत् में जो भी कुछ हो रहा है, सब नारायण की ही लीला है, अतः एक मात्र सेव्य, सर्वश्रेष्ठ उपासनीय, सबके वन्दनीय, सबके द्वारा अर्चनीय श्रीमन्नारायण ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारायणीय अथर्व उपनिषद् में श्रीमन्नारायण को ही सभी का एकमात्र उत्पत्ति का कारण बताया गया है। सब रूपों में नारायण ही नारायण [illegible] हो रहे हैं। इसमें जो अष्टाक्षर नारायण मन्त्र है [illegible] तथा उसका महिमा बतायी गयी है। यह ५ [illegible] सी उपनिषद् है। भगवान् नारायण की [illegible] गया है, जब श्रीमन्नारायण की प्रजा [illegible] हुई तब उनसे मन, समस्त इन्द्रियाँ, पृथ्वी, [illegible] आकाश की उत्पत्ति हुई। नारायण से ही ब्रह्मा, [illegible], इन्द्र, प्रजापति, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, [illegible] वेद और ऋचाय उत्पन्न हुईं। इन सबकी [illegible], स्थिति तथा लय नारायण से ही है। यह ऋग्वेदीय [illegible] है। नारायण नित्य हैं। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, काल, [illegible] दिशायें, ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर जो कुछ है, [illegible] और होगा, यह सब नारायण ही हैं। एकमात्र [illegible] निष्कलङ्क, निरञ्जन निर्विकल्प, अनिर्वचनीय तथा [illegible] देव हैं, उनके [illegible] रिक्त कोई दूसरा देव है ही [illegible] जानता है, वह [illegible] हो जाता है। यह यजुर्वेदीय [illegible] का [illegible]

और गौ आदि पशुओं का स्वामित्त्व प्राप्त होता है। उसे अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। यह सामवेदीय उपनिषद् का कथन है।

प्रत्येक आनन्द ब्रह्मपुरुष प्रणव स्वरुप है। अकार, उकार और मकार यही अनेकधा हो जाते हैं। इनका सम्मिलित रूप ॐ है। इसका जप करने से योगी जन्म मृत्यु रूप बन्धन से छुट जाता है। अष्टाक्षर मन्त्र की उपासना करने वाला पुरुष वैकुण्ठधाम में जाता है। यह वैकुण्ठधाम विज्ञान घन है, पुण्डरीक है, यह विद्युत् के सदृश परम प्रकाशमय है। देवकीनन्दन भगवान् मधुसूदन, पुण्डरीकाक्ष, विष्णु तथा अच्युत ये ब्रह्मण्य हैं। भगवान् नारायण कारण पुरुष तथा समस्त भूतों में स्थित हैं। कारण रहित परब्रह्म श्रीमन्नारायण ही हैं। यह अथर्ववेदीय उपनिषद् का प्रतिपादन है।

जो पुरुष प्रातःकाल इस उपनिषद् का पाठ करता है उसके समस्त रात्रिकृत पाप नष्ट हो जाते हैं। जो सायंकाल में पाठ करता है, उसके दिन भर के किये पाप नष्ट हो जाते हैं। जो दोनों काल पाठ करता है वह अपाप हो जाता है। जो मध्यान्ह काल में सूर्याभिमुख होकर पाठ करता है उसके पाँच महापातक तथा समस्त उपपातक नष्ट हो जाते हैं। इसके पाठ से समस्त वेदों के पारायण का फल मिल जाता है। नारायण का सायुज्य प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानता है वह निश्चय ही नारायण का सायुज्य प्राप्त करता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही नारायणाथर्व शिर उपनिषद् है। इसे कृष्णयजुर्वेदीय नारायणोपनिषद् भी कहते हैं। अब आप महानारायणोपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रवण करें।"

महानारायणोपनिषद् अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें

२५ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड के १२ मन्त्रों में सब कुछ श्रीमन्नारायण से ही हुआ है इसी का वर्णन है। वही नारायण अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, अमृत, आप, प्रजापति, काल, ऊपर नीचे सब कुछ है। उसे कोई इन चर्म चक्षुओं से देख नहीं सकता। जो इस जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं।

द्वितीय खण्ड के १० मन्त्रों में भगवान् के विश्वरूप का वर्णन है। वह नारायण विश्वतोमुख है। यह विश्व ही उसकी चक्षु है। वह विश्वमय है, वह विश्वरूप नारायण हमारा कल्याण करें।

तृतीय खण्ड में (१) सहस्राक्ष, (२) महादेव, (३) नन्दिकेश्वर, (४) वक्रतुण्ड, (५) षड्मुख, (६) पावक, (७) वैश्वानर, (८) भास्कर, (९) दिवाकर, (१०) आदित्य, (११) तीक्ष्णशृङ्ग, (१२) कात्यायनी, (१३) महाशूलिनी, (१४) सुभगा, (१५) तत्पुरुष (गरुड) (१६) नारायण, (१७) नृसिंह, और (१८) चतुर्मुख (ब्रह्मा) इनके १८ मन्त्रो मे अठारह गायत्री मन्त्र हैं।

चतुर्थ खण्ड में १३ मन्त्र हैं। इनमें पहिले के तीन मन्त्रों मे दूर्वा की स्तुति है। चार मन्त्रों में पृथ्वी की स्तुति है। तीन में लक्ष्मी देवी की, एक में जल के अधिष्ठातृदेव वरुण की और एक इन्द्र, वरुण, बृहस्पति तथा सविता सबकी सम्मिलित स्तुति है। अन्त में प्रार्थना की है कि जल और समस्त औषधियाँ हमारे लिये तो सुमित्र का काम करें, किन्तु जो हमसे द्वेष करते हैं और हम भी जिनसे द्वेष करते हैं, उनके लिये जल और औषधियाँ दुर्मित्र का काम करें।

पचम खण्ड मे १२ मन्त्र हैं। वे वरुण परक हैं। वरुणदेव से पवित्र करने की प्रार्थना की गयी है। अधिक खाने से अधिक पीने से, उग्र प्रति ग्रह लेने से जो अशाति अपवित्रता हो, वह

जल में बह जाय। गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतद्रि आदि नदियाँ, समुद्रादि जितने जलाशय हैं उन सबके अधिष्ठातृदेव वरुण हमें पवित्र करें। इन मन्त्रों को अघमर्षण–पाप को नाश करने वाले–कहा गया है।

छटे खण्ड में ८ मन्त्र हैं। इनमें पहिले मन्त्र में चन्द्रमा की स्तुति है फिर अग्नि की स्तुति है।

सातवें खण्ड में ६ मन्त्र हैं, ये अग्नि में देवताओं के निमित्त हवन करने के स्वाहाकार मन्त्र हैं। देवताओं के लिये स्वाहा कह कर बलि दी जाती है और पितरों को स्वधा कह कर।

अष्टम खंड में ५ मन्त्र हैं इसमें तप की महिमा है। ऋत, सत्य, वेद, शान्त, दान, यज्ञ जो भी ब्रह्म उपास्य है सब तप है। जैसे पुष्पित वृक्ष के पुष्पों की दूर से ही सुगन्ध आती है। ऐसे ही पुण्य कर्मों की दूर से सुगन्धि आती है। अपनी जीवात्मा को झूठ से बचाये रखे। फिर ईश्वर की महिमा बताकर उन्हीं से समस्त विश्व की उत्पत्ति का वर्णन है।

नवम और दशम खंड में भिन्न-भिन्न देवताओं के स्तोत्र हैं। इसमें प्रार्थना की गयी है हमारे पापों का नाश हो, सब मधु वाले घृत वाले हों। फिर अग्नि को, फिर पूर्ण पुरुष नारायण की तथा त्याग की महिमा है। त्याग की महिमा बताते हुए कहा है कर्म से, पुत्रादि सन्तानों से, धनादि से अमृतत्व प्राप्त नहीं होता, केवल एकमात्र त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। फिर महेश्वर श्रीमन्नारायण की महिमा गायी है।

एकादश खंड में नारायणदेव की महिमा है। नारायण परब्रह्म हैं, नारायण ही परमतत्व हैं, नारायण ही ज्योति स्वरूप हैं, नारायण ही आत्मा हैं, भीतर बाहर सभी को व्याप्त करके नारायण ही नारायण हैं। वे ही सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। फिर हृदय के

मध्य में जो ज्योति शिखा है, उस शिखा के मध्य में परमात्मा बैठे हैं। वे ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अक्षर, परम तथा विराट् हैं। फिर कहा है काल स्वरूप मैं ही हूँ, मैं काल का कलेवा नहीं हूँ।

द्वादश खंड में आदित्य महिमा तथा त्रयोदश में रुद्र और पृथ्वी महिमा है, चौदहवें मे जल, अग्नि, सूर्य के जो सन्ध्या में प्रातः मध्यान्ह और सायं में आचमन के वे हैं। पन्द्रहवें खंड में गायत्री देवी की महिमा है। पहिले गायत्री का आवाहन है, फिर सप्त व्याहृति सहित चतुष्पदी गायत्री को बताया है फिर ओंकार की महिमा बताकर गायत्री विसर्जन मन्त्र है। फिर पंच प्राणों का अमृत उपस्तरण हवन के मन्त्र हैं।

षोडश खंड में प्राणों के श्रद्धा हवन मन्त्र हैं, फिर मेधा देवी महिमा और उनकी स्तुति है। सप्तदश खंड में सद्योजात महादेव की महिमा है, रुद्र गायत्री है, फिर सोम प्राप्त्यर्थ त्रिसुपर्ण पाठ है, फिर मधुमती ऋचायें हैं। अष्टादश खंड में ३ मन्त्रों में एनस अवयन के स्वाहान्त मन्त्र हैं। इसी प्रकार उन्नीसवें खंड में तिलों की महिमा बताकर देवता के नाम से हवन करने के स्वाहान्त मन्त्र हैं।

बीसवें खंड में भूत बलि के मन्त्र कहकर इन्द्र, वरुण आदि की स्तुति के मन्त्र हैं इन सबमें स्वाहान्त हवन के मन्त्र हैं।

इक्कीसवें खंड में सत्य, तप, दम, शम, दान, धर्म, प्रजा, अग्नि, यज्ञ, मानस, ब्रह्मा इन सबकी महिमा बताकर अन्त में कह दिया है ये ही श्रेष्ठ हैं। अतः इनमें ही रमण करते हैं।

बाईसवें में भी सत्य, तप, दम, शम, दान, धर्म, प्रजा, अग्नि और अग्निहोत्र इन सबको परम-श्रेष्ठ-बताया गया है। तेईसवें खंड में भी यज्ञ, मानस को परम बताकर सृष्टि का क्रम बताया है। चौबीसवें खंड में सब कुछ ब्रह्म को ही बताकर ओंकार की

भावना से उसे आत्मा में मिलाने को कहा है। इसे देवताओं से भी गुह्य महोपनिषद् कहा है। इसका फल बताते हुए कहा है जो इसकी महिमा को जानता है वह ब्रह्म की महिमा को जानता है।

चौबीसवें अन्तिम खंड में इस शरीर की अग्निहोत्र से तुलना करके बताया है। जो इसे जानता है वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह उपनिषद् उपासना परक है। उपासना के प्रायः नित्य के सभी मन्त्र इसमें आ गये हैं। सभी देवताओं की महिमा और स्तुति के दिव्य-दिव्य मन्त्र इसमें हैं। उपासकों के लिये यह उपनिषद् सर्वश्रेष्ठ है। ऋत, संक्षेप में इसका सारातिसार सुना दिया। विशेष सब तप है। उपनिषद् का अध्ययन करना चाहिये।

अब आप परमहंस उपनिषद् का सार सुनिये। नारदजी ने भगवान् के समीप जाकर पूछा—"परमहंसों का अत्यन्त दुर्लभ मार्ग क्या है?" इस पर भगवान् ने कहा—"जो सबकी ममता त्यागकर केवल एकमात्र मुझमें ही प्रतिष्ठित रहते हैं। ऐसे सर्वस्व त्यागी परमहंसों के हृदय में मैं ही सदा रहता हूँ। वह परमहंस पुत्र, मित्र, पत्नी समस्त बन्धु बान्धव सम्बन्धियों को त्याग देता है। यहाँ तक कि शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय तथा समस्त कर्मों का ब्रह्मांड का भी परित्याग कर देता है। शरीर निर्वाह और लोकोपकार के निमित्त कोपीन, दंड, अच्छादन बस इतना ही रखता है।

परमहंस तो दंड, शिखा, यज्ञोपवीत, अच्छादन को भी अन्त में त्याग देता है। वह शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान में सम रहता है। छः जो ऊर्मियाँ हैं उनसे रहित होता है। निंदा,

गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया तथा अहङ्कार आदि समस्त दुर्गुणों का परित्याग करके इस शरीर को मृतवत मानता है। उसकी सदा परम अद्वैत में स्थिति रहती है। जिसने ज्ञान रूपी दण्ड धारण कर लिया है वही एक दंडी है। जिसने केवल काष्ठ का दण्ड ही धारण कर लिया है, जो तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम, दमादि गुणों से वर्जित है। केवल भिक्षा माँगकर खाने के ही लिये सन्यासी का वेष बना लिया है, वह पापी है, सन्यासियों की वृत्ति का नाश करने वाला है। वह पापी महारौरवादि नरकों में [illegible]

षोडश [illegible] ज्ञान से पवित्र हुआ परमहंस विधि निषेध से परे महिमा और [illegible] वैभव। वह नमस्कार, अग्निहोत्र, निन्दा, स्तुति, आवाहन, विसर्जन, मन्त्र, ध्यान, उपासना, लक्ष्य-अलक्ष्य सबसे दूर रहकर अनिकेत होकर रहे। द्रव्य का स्पर्श न करे। परमहंस भिक्षुकी की रस और द्रव्य में यदि आसक्ति हो जाय तो वह महा-नीच पुल्कस ब्रह्म हत्यारा हो जाता है। दुःख सुख, शुभ-अशुभ, में सर्वदा समान भाव से रहे। जो इस प्रकार पूर्णानन्द एक बोध ब्रह्म को 'अहमस्मि' इस भाव से भजता है वह परमहंस कृत-कृत्य हो जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने परमहंस उपनिषद् का सार सुनाया अब आप आगे ब्रह्म उपनिषद् आदि उप-निषदों का सार श्रवण करेंगे।"

छप्पय

(१)

परमश्रेष्ठ उपनिषद् महानारायण सुन्दर।
नारायण इस्तोत्र कह्यो पद-पद में सुखकर॥

देवनि महिमा कही नित्य के मन्त्र बताये।
हवन यज्ञ के मन्त्र पृथक देवनि जतलाये॥
नारायणमय विश्व सब, नारायण जग जनक हैं।
नारायण पालन करें, नारायण ही हरत हैं॥

(२)

परमहंस उपनिषद ज्ञान को सार बतावै।
त्यागै ममता मोह ब्रह्मकूँ तबई पावै॥
एक त्यागई सार महन बन्धन को कारन।
त्यागि जगत जंजाल ब्रह्मके होउ परायन॥
त्याग, ज्ञान, बिनु वेष जे, संन्यासी धारन करें।
ते अति निन्दित पतित खल, रौरवादि नरकनि परें॥

इति नारायणाथर्वशिर, महानारायण तथा परमहंसोपनिषद्
सार समाप्त

—०—

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६६

५००
धर्म

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } सितम्बर १९७२ आश्विन सं०-२०२९ { मूल्य : २. रु०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठाङ्क
१. संस्मरण (१८)	...	१
२. ब्रह्म, अमृत, अथर्वशिर और अथर्व शिखोपनिषद्-सार		२०
३. मैत्राण्युपनिषद्-सार	...	३२
४. कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (१)	...	३७
५. कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (२)	...	४८
६. कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (३)	...	६१
७. बृहज्जाबालोपनिषद्-सार	...	६९
८. नृसिंह पूर्वतापनीय-उपनिषद्-सार	...	८१
९. नृसिंहोत्तर तापनीयोपनिषद्-सार	...	८८
१०. कालाग्नि रुद्र और मैत्रेयी उपनिषद्-सार	...	९६
११. सुबालोपनिषद्-सार	...	१०८
१२. क्षुरिका, मन्त्रिका तथा सर्वसारोपनिषद्-सार		१२१
१३. निरालम्ब, शुकरहस्य और वज्रसूचिक उपनिषद्-सार		१३४
१४. तेजोबिन्दु-उपनिषद्-सार	...	१५५
१५. नादबिन्दु-उपनिषद्-सार	...	१६७
१६. ध्यानबिन्दु-उपनिषद्-सार	...	१७८

संस्मरण

[१८]

(झूसी से रामघाट तक)

अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना । —
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ॥*

(श्री० भा० ४ स्क० २२ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

जब तक दुख को सहन स्वय अनुभव नहि होवै ।
करै तितिक्षा नहीं द्वन्द्व सहि स्वयमन जोवै ॥
तब तक ज्ञान यथार्थ न होवै तन न सहे बिन ।
तातैं अनुभव करन हेतु विचरत मुनि त्रिभुवन ॥
जब अनुभव होवै स्वय, होइ आत्मवत भाव तब ।
औरनि दुख सुख आत्मवत, समुझै साधक सत्य तब ॥

---

* महामुनि सनत्कुमारजी महाराज पृथु को भगवान् मे प्रीति होने के उपाय बताते हुए कहते हैं—"राजन् ! जीव मात्र में अहिंसा का भाव रखने से, परमहंसो की जो चर्या है उसका अनुकरण करने से, आत्महित की स्मृति करते रहने से, भगवान् मुकुन्द के जो पावनचरितामृत हैं उनका आस्वादन करने से, निष्कामभाव से यम नियमो का पालन करने से, किसी की निन्दा न करने से, निरीह बने रहने से—जो मिल जाय, उसी मे सन्तुष्ट रहने से, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वो को सहन रूप—तितिक्षा से प्रभु मे प्रेम होता है ।"

प्राचीन काल में यों ही अहरे-गहरे पचकल्यानियों को साधु लोग आज की भाँति अपना उत्तराधिकारी महन्त नहीं बना देते थे। साधुओं के आश्रमों के महन्तों का बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण पद था। साधुओं के आश्रम सफल छायादार वृक्ष के समान माने जाते थे। जैसे फल फूलों से लदा सघन छायादार स्वतन्त्र वृक्ष सभी के उपकार में सतत लगा रहता है। थके हुए बुभुक्षित कोई भी यात्री उसके आश्रय में पहुँच जायें। सफल वृक्ष सभी को विश्राम और भूख मिटाने को फल देता था। वह पात्र अपात्र का विचार नहीं करता। इसी प्रकार साधुओं के आश्रम प्राणि-मात्र को सुख पहुँचाने के विश्राम स्थान होते थे। कोई भी भूखा-प्यासा संतप्त दुखी व्यक्ति साधु के आश्रम में पहुँच जाय, उसे वहाँ आश्रय मिलता था। साधुओं का जीवन दूसरों के दुखों को दूर करने परकार्यों को साधने के लिये ही हुआ करता था। वे सबके दुख-सुख को अपने ही दुख-सुख के समान समझा करते थे। मैंने ऐसे अनेक साधुओं के आश्रम देखे हैं, जिनमें कोई भी, कैसा भी, किसी भी सम्प्रदाय का साधु पहुँच जाय, उसकी इच्छा हो, तब तक रहे। महन्त उसे कभी स्वयं आसन उठाने को नहीं कहते थे। अपनी इच्छा से जब चाहे चला जाय, जाते समय उसे कुछ न कुछ विदायी देते थे। भोजन के समय कोई भी अन्धा लूला लँगड़ा आ जाय, किसी को भी वे विमुख नहीं लौटाते थे। साधुओं के आश्रम व्यापारियों की दुकान न होकर व्यापारियों के घर के समान होते थे। घर में और दुकान में बड़ा अन्तर होता है। वैसे तो दोनों घर ही हैं, किन्तु व्यापारी के घर में हम जाते हैं, तो वह हमें फल मूल मिठाई आदि खिलाता है, जल पान कराता है। चाहे जितना व्यय कर दे, हमसे कुछ भी नहीं माँगता। उसी की दुकान पर जाओ तो एक पैसे की वस्तु

माँगो, उसे देकर आपसे एक पैसा माँग लेगा, संकोच नहीं करेगा। इसी प्रकार गृहस्थियों के घर दुकान के सदृश हैं, वहाँ जिसे खिलावेंगे कुछ आशा रखकर-किसी सम्बन्ध से खिलावेंगे। किन्तु साधु के आश्रम का द्वार सबके लिये खुला है। कोई भी भूखा पहुँच जाय उसे भोजन मिलेगा, कोई भी प्यासा पहुँच जाय उसे पानी मिलेगा। इसीलिये यह कहावत प्रचलित थी कि "*साधु का धन और वेश्या का यौवन सार्वजनिक वस्तु है*" उसका उपभोग करने के सभी अधिकारी हैं।

साधुओं के आश्रमों के महन्तों में यह आत्मभाव कैसे आता था? यों ही किसी को पहिले महन्त नहीं बना देते थे। पहिले जब कोई बालक साधु बनने आता था, तो उसे बारह वर्षों तक "लौंडा" बनकर रहना पडता था। बारह वर्ष तक वह साधुओं की चिलमें भरे उनकी गाली सहे, चिमटों की मार खाय। इसके अनन्तर बारह वर्ष उसे कोठारी या भंडारी का काम करना पडता था। जिससे उसका आश्रम की वस्तुओं मे अपनापन न रहे आगत साधु अतिथियों को देता ही रहे, बाँटता ही रहे। चौबीस वर्ष के पश्चात् उसे एक लँगोटी एक कमंडलु, देकर चारधामों की यात्रा में पैदल भेजते थे। बारह वर्षों में वह चारो धामों की यात्रा होती थी। वहाँ उसे सुख दुख, शीत-उष्ण, भूख-प्यास, मान अपमान आदि का पूरा अनुभव हो जाता था। तीर्थ यात्रा करके जब वह लौट आता तो गुरु लोग बारह वर्ष उससे नाना प्रकार की तपस्या कराते थे। मौन, खडेश्वर, पचाग्नि ताप, फलाहार आदि कठिन तप कराते थे। जब इन चारों कार्यों मे वह उत्तीर्ण हो जाता था। तब ४८ वर्षों के पश्चात्, उसे महन्ती दी जाती थी, सभी आश्रम के महन्त आकर उसे चद्दर उढाते थे। अर्थात् वे कहते थे अब तुम अपने नहीं, रहे सर्वभूतहितेरत

हो गये। कोई भी महन्त साठ वर्ष की अवस्था से नीचा नहीं होता था। जिसने स्वयं कष्ट नहीं सहे वह दूसरों के कष्टों को अनुभव कैसे करेगा? जिसने स्वयं भूखों रहकर भूख के कष्ट का अनुभव नहीं किया, वह भूखों को देखकर द्रवित कैसे होगा? इसीलिये गुरुजन उसे ४८ वर्षों में सभी प्रकार का अनुभव कर दिया करते थे। निष्किंचन, निरीह बनकर जब तक पैदल-पैदल पृथ्वी पर पर्यटन न करें। सभी प्रकार के द्वन्द्वों को स्वयं सह न करे, तब तक वह परोपकार व्रती-महन्त-कैसे हो सकता है।

साधुओं में ही यह बात रही हो, सो बात नहीं। पहिले राजाओं में भी यही बात थी। मैंने सुना इगलैंड के राजकुमार (प्रिंस आफ वेल्स) को जहाजों में कोयला झोंकने का कार्य करना पड़ता था। जब हमारे देशी राज्य थे, तो उनके टिकैत युवराज को राज्य के आरक्ष्य (पुलिस) न्याय, शिक्षा, माल आदि विभागों के छोटे से लेकर बड़े पदों पर काम करना पड़ता था। जैसे पुलिस में पहिले उन्हें सिपाही बनकर काम करना पड़ता था फिर नायक, उपनिरीक्षक, निरीक्षक तथा आरक्ष्य के सबसे बड़े पद पर पहुँचना पड़ता था। अपने से ऊँचे पदाधिकारी की आज्ञा पालन करनी पड़ती थी। उनकी पदोन्नति १०-२० दिन में ही हो जाती थी, इसी प्रकार सेना में पहिले वे साधारण सैनिक से प्रविष्ट होकर सर्वोच्च सेनानायक के पद तक पहुँचते थे। ऐसे ही उन्हें सब विभागों में काम करना पड़ता था। तभी वे प्रजा का पुत्रवत् पालन कर सकते थे।

मैंने एक कथा सुनी थी, कि जब कौरव पांडवों को द्रोणाचार्य पढ़ा चुके तब भीष्म पितामह ने आचार्य से पूछा—"इनकी शिक्षा पूरी हो गयी?" आचार्य ने कहा—"अभी तनिक कसर है, मैं फिर बताऊँगा।"

एक दिन उन्होंने दुर्योधन और धर्मराज युधिष्ठिर को बुलाया-बिना बात उनमें ५-५ बेंत लगा दिये। दुर्योधन बड़ा दुखी हुआ, उसने भीष्म पितामह से जाकर कहा—"हमें आचार्य ने बिना अपराध के मारा है।"

भीष्मपितामह ने पूछा—"तुम्हें ही मारा है या और भी किसी को ?"

दुर्योधन ने कहा—"धर्मराज को भी मारा है।"

भीष्म ने कहा—"उसने तो आकर हमसे कहा नहीं।"

दुर्योधन ने कहा—"आप उन्हें बुलाकर पूछिये। धर्मराज बुलाये गये। उनसे पूछा गया, तो उन्होंने स्वीकार किया। पितामह ने कहा—"तुमने कोई अपराध किया होगा ?"

धर्मराज ने कहा—"अपनी जानकारी में तो हमने कोई अपराध किया नहीं।"

पितामह ने कहा—"जब तुम्हें निरपराध मारा गया,तो तुमने हमसे आकर कहा क्यों नहीं ?"

धर्मराज ने कहा—"हमको अपराध का ज्ञान नहीं है, किन्तु वे हमारे आचार्य हैं, हितैषी हैं, उन्होंने हमारे किसी न किसी हित के ही लिये मारा होगा, इस बात को हम आपसे क्यों कहते। यह तो अपराध होता। हमने इसका बुरा नहीं माना।"

यह उत्तर सुनकर पितामह प्रसन्न हुए। उन्होंने द्रोणाचार्य को बुलाकर पूछा—"आचार्य! आपने बच्चों को बिना अपराध के क्या मारा ?"

द्रोणाचार्य ने कहा—"राजन्! इनकी शिक्षा पूर्ण करने को मैंने मारा। ये राजकुमार हैं, सुख में पले हैं, इन्हें आज तक किसी ने मारा नहीं। आगे चलकर ये राजा होंगे। इन्हें इस बात का अनुभव होना चाहिये कि मार पड़ने पर कितना कष्ट होता

है। अतः इन्हें कष्ट का अनुभव कराने, इनकी शिक्षा को पूर्ण करने के निमित्त मैंने इन्हें मारा। जब तक प्राणी स्वयं कष्ट नहीं सहता, स्वयं भूखों नहीं मरता, तब तक वह दूसरों की भूख का, दूसरों के कष्ट का अनुभव कैसे कर सकेगा। पहिले लोग जो कुछ भी पास न रखकर पैदल-पैदल चारों धामों की यात्रा करते थे, इससे उन्हें सब प्रकार के अनुभव होते थे। हमने चारों धामों की तो पैदल यात्रा नहीं की। किन्तु एक बार काशी से ऋषीकेश तक गंगा किनारे-किनारे, दूसरी बार प्रयाग से बद्रीनाथ गंगा किनारे-किनारे, तीसरी बार अयोध्या से चित्रकूट ये तीन यात्रायें तो पैदल-पैदल कीं। और नैपाल के पशुपतिनाथ, मानसरोवर-कैलाश, मुक्तिनाथ, कश्मीर के अमरनाथ तथा गंगोत्री-यमुनोत्री आदि की भी पैदल यात्रायें कीं। इनमें बड़े-बड़े अनुभव हुए, नाना प्रकार के लोगों का संसर्ग हुआ। नाना प्रकार के दुख-सुख सहने पड़े।

हाँ तो मैं काशी से गंगा किनारे-किनारे उत्तराखण्ड की यात्रा का वर्णन कर रहा था। पकरोसिवार पागलानन्द स्वामी की कुटिया, लाक्षागृह आदि की यात्रा करते हुए हम भूसी तक आ गये, इसका वर्णन पिछले संस्मरण मे कर चुके हैं। अब भूसी से आगे का वृत्तान्त सुनिये।

इसके पहिले मैं कभी भूसी नहीं आया था। हमारे इन्द्रजी कुछ दिन साधु वेष में योगानंद पाठशाला में रह चुके थे। उन्होंने ही बताया यहाँ एक परमानंद स्वामी प्रसिद्ध हैं, अतः सर्वप्रथम भूसी में हम उन्हीं के आश्रम में पहुँचे। स्वामी परमानंदजी वृद्ध महात्मा थे, उनके उत्तराधिकारी स्वामी नित्यानंदजी वृद्ध ही हो चले थे। अधेड़ समझिये। दोनों ही अच्छे महात्मा थे किन्तु दोनों ही भिँचे हाथ के थे। पैसा संग्रह करने का दोनों

का सहज स्वभाव था। पहिले सन्यासियों के आश्रमों का यह सदाचार था, कि जिन आश्रमों मे साधुओं के क्षेत्र होते थे, वहाँ के साधु दिन म तो क्षेत्र में भिक्षा करते। जिनमें क्षेत्र नहीं होते थे वे दिन में दूसरे क्षेत्रों से या गृहस्थियों के यहाँ से भिक्षा माँग लाते थे। रात्रि मे उनके यहाँ रोटियाँ बनती थीं। सबको चार-चार या यथेष्ट केवल रात्रि मे रोटियाँ दी जाती थीं। उन दिनों झूसी में लाला किशोरीलाल की धर्मशाला पर, स्वामी योगानद जी के यहाँ कोट पर और तिवारीजी के शिवालय पर क्षेत्र थे। झूसी साधुओं का गढ माना जाता था। सब सम्प्रदाय के मिलाकर २००।२५० साधु झूसी मे रहते थे। हम रात्रि में परमानद आश्रम में पहुँचे। तब तक वे रोटी खा चुके थे। लाला किशोरीलालजी का ऐसा क्षेत्र था कि उसमें जब भी कोई पहुँचे तभी उसे सामान मिलता था। यह चौबीसो घटे खुला रहता था। हमारे पहुँचते ही स्वामी नित्यानदजी ने कहा—"धर्मशाला पर चले जाओ, वहाँ सदावर्त बँटता है, वहीं बना खा लेना।" बीसों मील चलकर आये थे। थककर शरीर चकाचूर हो गया था। धर्मशाला वहाँ से एक मील थी। यद्यपि भूख के मारे आँतें कुलबुला रही थीं, किन्तु साधा सदावर्त लेने एक मील जायँ हमारा साहस न पड़ा।" हमने कहा—'स्वामीजी, हम तो वैसे ही पड रहेंगे।" उन्होंने एक कोठरी बता दी। उसमें टाट कमडलु डालकर पड रहे। जब उन्होंने देखा ये तो द्वार पर आ ही पडे, तो कुछ देर पश्चात् आये और बोले—"अच्छा, तो भाई कुछ बना ही लो।"

बनाने का भी किसी का साहस नहीं था, किन्तु भूख विवश कर रही थी, हमने कहा—"स्वामीजी! आप कहें तो खिचडी बना लेंगे।" यह सुनकर वे कुछ दाल, चावल, एक बटलोई

अँगीठी कोयला दे गये। लड़कों ने कोयला जलाकर खिचड़ी बना ली। हम सबमें इन्द्रजी बहुत चलते-पुरजे तेजतर्रार थे। माँगने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था। कहना चाहिये हम सबको वे ही माँग-माँगकर खिलाते थे। गोविन्दजी भी उनके सहायक थे। पीछे दोनों में खटपट हो गयी तो पृथक्-पृथक् माँगने लगे। मुझे माँगने में बड़ी लज्जा लगती थी, अतः मैंने कभी माँगा नहीं। दूसरों की ही माँगी खाता रहा और अब भी दूसरों की माँगी भिक्षा पर ही निर्वाह करता हूँ। पहिले रोटी माँगते थे। अब फलाहारी होने से भिक्षा सदस्यों से एक रुपया दो रुपया मासिक भिक्षा मँगवाकर काम चलता है।

मैंने इन्द्रजी से कहा—"भैया, घृत के बिना भूत भोजन होता है, स्वामीजी से तनिक घृत माँग लाओ।"

उसे तो कोई संकोच था ही नहीं। गया, और बोला—"स्वामीजी, तनिक घृत दे दीजिये।" दोनों स्वामियों का पृथक्-पृथक् घृत रखा रहता था। स्वामी नित्यानंदजी ने कुरु-मुरु करते एक कटोरी में घी दिया। अब तो वृन्दावन बन गया। "खिचड़ी के चार यार। दही, पापड़,घी,अचार।" दही,पापड़ और अचार यार तो थे नहीं घी यार ने ही बानिक बना दिया। भूख में उस घृत पड़ी अमृतोपम खिचड़ी को खाकर सो गये।"

दूसरे दिन भी स्वामीजी ने हमें धर्मशाला से सीधा सदावर्त लाने को प्रेरित किया, किन्तु हम अड़ गये,नहीं गये। उन दिनों मैं उपनिषदों का पाठ करता था। कई उपनिषदें कंठस्थ थीं। अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने को मैंने स्वामी परमानंदजी से कुछ सत्संग किया। उसी प्रसङ्ग में १०।२० उपनिषदों के धड़ाधड़ मंत्र बोलता गया। तब तो स्वामीजी ने समझा ये कोई साक्षर हैं। स्वामीजी पुराने ढँग के वेदान्ती थे। व्याकरण का तो उन्होंने

अध्ययन नहीं किया था, किन्तु प्राचीन संन्यासियों की परिपाटी से उन्हें गीता की शंकरानंदी टीका, पंचदशी आदि ग्रन्थों का अभ्यास था। स्वामीजी ने फिर हमें सीधा दे दिया। हम चाहते थे भोजन करके यहाँ से निकलें। तभी मैंने पास में हंसतीर्थ के बाहर विशाल वट देखा। वह स्थान मुझे बहुत प्रिय मनोहर जँचा। तब किसे पता था, इसी वट के नीचे मैं बारह वर्ष रहूँगा और इसी झूसी के नाम से मैं झूसी वाले ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हूँगा। उस समय तो जीवन भर हिमालय में निवास करने की धुनि थी। अतः बिना कुछ विचारे पेट-पूजा करके यहाँ से त्रिवेणी स्नान करने संगम के लिये चल पड़े।

संगम पर हम बैठे थे, उस समय संगम किले के नीचे ही था, वहाँ हमें सहसा बाबू लीलाधरजी मिल गये। पहिले वे खुरजा के अँगरेजी महाविद्यालय के अध्यापक थे। अब वे प्रयाग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक होकर आ गये थे। हमको इस वेष में देखकर वे बड़े विस्मित हुए। सब हाल-चाल पूछने के अनन्तर बोले— 'चलिये, हमारे घर को पवित्र कीजिये। वहीं प्रसाद पाइये।"

'अंधे तुझे क्या चाहिये ?" दो आँखें।' उन दिनों जिस दिन हमें भर पेट भोजन मिल जाय, मानों सब कुछ मिल गया। उन दिनों एकमात्र भोजन की ही चिंता हमें रहती थी। चढ़ती अवस्था थी, नित्य १५-२० मील चलते थे, नंगे रहते थे। नंगे रहने से, पैदल चलने से युवावस्था में भूख अत्यधिक लगती है। उस समय हम लोग कम से कम सेर-सेर भर आटे की रोटियाँ तो खा ही जाते थे। ये जो नौकरी करने वाले लोग होते हैं, इनके घर में अन्नादि का संग्रह नहीं रहता। नित्य दुकान से लाते हैं, बनवाकर खाते हैं। लीलाधरजी ने अपने आहार के अनुसार

तीन आदमियों के लिये तीन पाव या सेर भर आटा मँगाया होगा। उस सब को तो हम पहिले ही दौर में चट कर गये। बनाने वाली सिटिर पिटिर करने लगी। हमने कहा—"कोई चिन्ता नहीं हम बैठे हैं आटा और मँगा लें। हम बैठे रहे दुबारा आटा आया, मँड़ा रोटी बनी तब तक हमारा पहिला किया हुआ भोजन पच गया। दुबारा जो आया उसे भी सफा चट। फिर तिबारा मँगाया तब कहीं जाकर पेट भरा। लीलाधरजी इतिहास के विद्वान् थे वे अब संसार में नहीं रहे। उनके लिखे ग्रन्थ स्यात अभी चलते हैं। यही दशा कानपुर में बाबू कन्हैयालाल जी गोयल के यहाँ हुई। उन दिनों वे आगरे से सनातन धर्म महाविद्यालय कानपुर में प्राध्यापक हो गये थे। पीछे प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रस्तोता (रजिष्ट्रार) हो गये। उन दिनों में वे पुराने कानपुर में एक घर लेकर अकेले ही रहते थे। बाल बच्चे बुलन्द शहर ही थे। हमें देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए भोजन को आमन्त्रित किया। हम तो इसके लिये उधार खाये ही बैठे रहते थे। स्वीकार कर लिया। रसोये ने भोजन बनाकर हमें बुलाया। चार-चार रोटियाँ देने के अनन्तर उसने पूछा—"और दें ?"

तब मैंने उसे डाँटते हुए कहा—"देखो, हमसे और मत पूछो। रोटियाँ हमारी थालियों में चुपचाप डालते चलो। जब हमें न लेना होगा, स्वयं मना कर देंगे। दो चार अधिक भी हो जायँ तो कोई चिन्ता की बात नहीं अच्छा! अब देखो, पतली रोटी बनाने की आवश्यकता नहीं मोटी-मोटी रोटी बनाकर देते जाओ।"

वहाँ भी रसोया को तीन बार बाजार से आटा लाना पड़ा। गोयलजी ने कहा—"ब्रह्मचारीजी! अब तो आहार बहुत बढ़ गया है ?"

मैंने कहा—"परिश्रम भी तो बहुत करते हैं, मनुष्य आहार नहीं करता। परिश्रम आहार करता है। भिक्षा माँगकर जहाँ भोजन करते थे, वहाँ तो संकोच की कोई बात ही नहीं थी, क्योंकि दश-बीस घरों से माँगकर लाना होता था। जहाँ किसी एक के घर भोजन करना होता वहाँ एक समय से अधिक नहीं ठहरते थे, क्योंकि अधिक खाने वाले अतिथि से घर की स्त्रियाँ ऊब जाती हैं। वे मन-ही-मन भगवान् से मनाती रहती हैं, यह इल्लत कब टल जाय, इसलिये हम भोजन करते ही चल देते थे। "पहाड़ी यार किसके ? भात खाया खिसके।" सो हम पहाड़ी तो नहीं थे, रोटी खाते ही खिसक जाते थे। हमें तो शीघ्र से शीघ्र हिमालय पहुँचने की चटपटी थी। तब तक गंगा किनारे का साधुओं का पावन पथ अवरुद्ध नहीं हुआ था। गंगाजी की धारा तो उत्तर से पूर्व एक ही ओर अविच्छिन्न बहती रहती थी। किन्तु साधुओं के गमन की धारा दोनों ओर दोनों तटों पर तब तक चालू थी। गंगातट के गाँव के लोग साधुओं को भिक्षा देना जानते थे। अब तो वह पुण्य पथ अवरुद्ध हो गया। अब भिखमंगों के अतिरिक्त कोई अच्छे साधु पैदल चलते ही नहीं। प्रथम श्रेणी के साधु वे कहाते हैं, जो अपनी निजी मोटर गाड़ी रखें। दूसरी श्रेणी के वे समझे जाते हैं जो भक्तों द्वारा लायी मोटरों पर यात्रा करते हैं। तीसरी श्रेणी के रेल से यात्रा करते हैं। चतुर्थ श्रेणी के वे जो पैदल चलते हैं, दाव लगा तो टिकट या बिना टिकट रेल पर भी चढ़ लेते हैं। उन दिनों जो साधु पैदल न चले, सवारियों के आश्रित रहे उसे राजसी साधु कहते थे। साधुओं में तथा सर्व साधारण समाज में वे हेय माने जाते थे।

हमसे साधुओं ने कह दिया था, कि प्रयाग के पश्चात् १०

२० कोश तक गंगा किनारे मुसलमानों के ही ग्राम हैं, उन भिक्षार्थी को बहुत कष्ट होता है, किन्तु हमें तो उन ग्रामों में भिक्षा का कोई कष्ट नहीं हुआ। यही नहीं मुसलमान प्रधान ग्रा के हिन्दुओं में धार्मिकता अधिक होती थी।

प्रयाग के द्रौपदी घाट से चलकर हम नीमा ग्राम में पहुँचे फिर किनारे-किनारे शृङ्गवेरपुर वहाँ से कड़ामानिकपुर की देवी के दर्शन कर सहजादपुर होकर कानपुर पहुँचे। वहाँ से नानामऊ च्यवनाश्रम आदि स्थानों में होते हुए गंगाजी के किनारे तरी गाँ में आये वहाँ स्वामी ब्रह्मानंदजी के दर्शन हुए। वे बड़े प्रसिद्ध पुरा महात्मा थे। गगा किनारे हनुमानजी का मन्दिर बनवाकर एक साधारण सा आश्रम बनाकर रहते थे। उस समय मिथ्या बाह्य वैराग्य का भूत मेरे सिर पर सवार था। जिस किसी महात्मा को कुटिया में गद्दा तकिया पर बैठा देखता, किसी पर औषधि या अन्य वस्तु का संग्रह देखता उसी पर टूट पड़ता। वैराग्य के नाना श्लोक बोलता, उन्हें भली बुरी सुनाता। अपने को परम वैराग्यवान् त्यागी तितिक्षु-प्रकारान्त से-द्राविणी प्राणायाम से-सिद्ध करता। वे महात्मा एक साधारण से तख्त पर साधारण-सा गद्दा तकिया लगाकर पड़े थे। उस समय ६०-७० से ऊपर उनकी अवस्था होगी। अन्त में वे बिठूर में आकर रहने लगे थे। लगभग सवा सौ वर्ष की अवस्था में उन्होंने बिठूर में अपने शरीर का त्याग किया था। बिठूर में भी जाकर पीछे मैंने उनके दर्शन किये थे। तब तक उनकी दृष्टि प्रायः चली गयी थी।

जब मैं उनके सामने त्याग वैराग्य की बहुत बढ़ बढ़कर बातें बकने लगा, तब वे हँसे और बोले—"भैया! तैंने कितने दिनों से यह लँगोटा लगायी है?"

मेरे कुछ महीने बताने पर उन्होंने कहा—"मैं बारह वर्षों तक दिगम्बर बनकर गगा किनारे-किनारे बिचरा हूँ। भगवान् तुम्हारी रक्षा करें देखें, कै दिन तुम्हारा यह वैराग्य टिकता है? उनकी बात सुनकर मुझे हँसी आई। क्या मेरा भी कभी वैराग्य समाप्त होगा? क्या मैं भी कभी हिमालय से लौटकर यहाँ आऊँगा? क्या मैं भी कभी गद्दी तकिया लगाकर पक्के भवनों में रहूँगा? क्या मैं भी कभी भाँति-भाँति के पदार्थों से अपना आहार पूर्ण करूँगा? यह असम्भव है, ऐसा नहीं होने का।

उन महापुरुष की वाणी सत्य हुई। असम्भव बात सम्भव हो गई। मैं हिमालय से लौटकर तीर्थ में ही नहीं तीर्थराज में आ गया? वैराग्य कर्पूर की भाँति उड़ गया। मेरे गद्दे तकियों के सामने उनके साधारण मैले गद्दे तकिये नगण्य थे। जिस भवन में मैं रहता हूँ उसके सम्मुख उनकी साधारण सी कुटिया कुछ भी नहीं थी। आज कल के मेरे रहन-सहन, ठाठ-बाठ, आहारादि को कोई देखे और उस समय के कोई देखे तो आकाश पाताल का अन्तर पावेगा। समय की बलिहारी है। प्रारब्ध का खेल है, पूर्व सस्कारों का परिणाम है। माया है, लीला है, जन्मान्तरों के भोग हैं। यह प्राणी स्वकर्म सूत्रों में आबद्ध है।

फिर हम बरुआ घाट आये। यह सन्यासियों का स्थान था। गगा किनारे बहुत से विरक्त महात्मा यहाँ रहते थे। इन दिनों स्वामी ज्ञानाश्रमजी की यहाँ बडी प्रसिद्धि थी, वे बड़े त्यागी तितिक्षु विरक्त महात्मा थे। हमारे पू० श्री उडिया बाबा यहाँ बहुत दिनों तक रहे थे, स्वामीजी में गुरुभाव मानते थे। तब तक मैंने श्री उडियाबाबाजी के दर्शन नहीं किये थे, केवल नाम ही सुना था।

वहाँ से हम बरगदिया घाट आये। वहाँ एक बड़े हृष्ट पुष्ट मोटे तगड़े महात्मा मिले, कई भैंस रखते थे। जाति के जाट थे। सुनते थे वे, तीस वर्षों तक बरगद के नीचे एक गुफा में ही रहे आये, स्वभाव उनका कुछ उग्र था। मेरे सिर के ऊपर तो वैराग्य का भूत चढ़ा ही हुआ था, मेरी उनसे कुछ कहा सुनी हो गयी। बात बहुत बढ़ गयी। हम वहाँ से भिक्षा किये बिना ही चल दिये। उससे आगे आकिन घाट है वहाँ भी साधु महात्मा रहते थे।

इससे आगे शृङ्गीरामपुर है। यहाँ शृङ्गी ऋषि का एक मंदिर है, मेला लगता है, शृङ्गी ऋषि की तपस्थली है। यहाँ एक कूबाबा की कुटिया थी। कोई कू बाबा हो गये होंगे। उनका शरीरान्त हो चुका था। वहाँ एक महात्मा मिले वे कुत्ते रखते थे। कुत्तों के साथ खाते थे। एक कुटी मैली पड़ी थी हमने उसे झाड़ा बुहारा, गोबर मिट्टी से लीपकर भिक्षा करके चल दिया।

हमें स्वच्छता अत्यन्त प्रिय है। हम जहाँ भी जाते पहिले उस स्थान को झाड़ते, बुहारते, गोबर मिलता तो लीपते, कूआ होता तो उसका कूड़ा कर्कट फटी दातौन झाड़कर फेंकते। हाथ मटियाने वालों के हाथ मटियाने से जो मिट्टी वर्षों की जमी रहती, उसे पानी डाल-डालकर धोते, स्वच्छ करते, तब नहाते। भिक्षा करके चल देते। गोविंदजी और इन्द्रजी इस बात से कुढ़ते थे। घन्टे भर बैठना है, उसके लिये तीन चार घन्टे परिश्रम क्यों करें? किन्तु मुझे मैले कुचैले स्थानों में बैठना-नहाना रुचिकर ही नहीं, इसलिये स्थान को स्वच्छ करके ही हम नहाते खाते थे। यहाँ तक तो जहाँ तक मुझे स्मरण है कानपुर ही जिला था। हम बक्सर से आचार्य महावीर प्रसादजी द्विवेदी के गाँव

दौलतपुर में भी गये। उस दिन ऋषि पञ्चमी या वामन द्वादशी थी। द्विवेदीजी हमें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए बोले—"बड़े भाग्य हैं तीन ऋषि आ गये। बड़ी श्रद्धा भक्ति से उन्होंने हमें भोजन कराया। वे स्वरस्वती सम्पादन से निवृत्त होकर अपने गाँव में ही निवास कर रहे थे। उनकी धर्म पत्नी का देहावसान हो चुका था। उसकी प्रतिमा उन्होंने एक मन्दिर बनवाकर उसमें स्थापित कर रखी थी। उसमें वे सदा ताला बन्द रखते। मैंने पूछा—'पंडितजी! आप सदा इसमें ताला क्यों बंद रखते हैं?"

वे बोले—"महाराज! लोग कहेंगे, कि अपनी बहू को पुजवाता है, इसलिये मैं किसी को यहाँ आने नहीं देता।"

खल द्वेषी लोग सर्वत्र ही रहते हैं। वहाँ भी कुछ उनके आलोचक द्वेषी थे। अपने एक भानजे को उन्होंने रख रखा था। उनके भानजे की बहू ही उनका सब काम करती थी, दृष्टि मन्द हो जाने के कारण वही उन्हें पुस्तकें पढ़ पढ़कर सुनाती थी। इतने विद्वान् होने पर भी वे अत्यन्त सरल तथा सरस थे। ऐसे विद्वान् अब इस युग में दुर्लभ हैं। अब यह याद नहीं रहा कि बक्सर शृङ्गीरामपुर से कितना पीछे है। स्यात् वह रायबरेली जिले में है।

शृङ्गीरामपुर से हम फर्रुखाबाद डलमऊ कचला घाट होते हुए सोरों पहुँचे। इसी को सूकर क्षेत्र कहते हैं। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को सोरों का बड़ा भारी मेला लगता है। राजस्थान तक के लोग गंगा स्नान करने को यहीं सोरों में आते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी अपने गुरु नरहरिदासजी के पास यहीं रहते थे। यहीं पर अचेतावस्था-बहुत छोटी बाल्यावस्था-में उन्होंने अपने गुरुजी से रामकथा श्रवण की थी। कुछ विद्वानों

का मत है गोस्वामीजी की जन्मभूमि सूकर क्षेत्र (सोरों) में ही थी। यह बड़ा सुप्रसिद्ध पुण्य तीर्थ है। यहाँ दशनामी संन्यासियों का बड़ा अखाड़ा है। हम जब गये थे तब यहाँ संस्कृत की एक अच्छी पाठशाला थी, एक बड़े भारी विद्वान् संन्यासी पढ़ाते थे। स्यात् 'वन' थे। वहाँ से भिक्षा करके हम चल दिये और फिर किनारे-किनारे चलकर रामघाट आये। यह स्थान बुलन्दशहर जिले में है। प्रत्येक पूर्णिमा को यहाँ गङ्गा स्नान का मेला लगता है। एक वनखंडेश्वर महादेवजी का मन्दिर है। उसके पास में ही एक इमली के पेड़ के नीचे छोटी-सी कच्ची कुटी थी। उसी में श्री उड़िया बाबा रहते थे। वे उड़ीसा प्रान्त के थे। इसीलिये सब उन्हें उड़ियाबाबा उड़िया बाबा इसी नाम से पुकारते थे। उन दिनों उनकी बहुत ही ऊँची त्याग वृत्ति थी। दोपहर में एक समय आसपास के गाँवों में जाकर मधूकरी माँग लाते थे और फिर अपनी कुटिया मे ही बन्द रहते मौनव्रत धारण किये रहते। केवल भिक्षा के ही लिये बाहर निकलते थे। मेरा राजनैतिक क्षेत्र बुलन्दशहर जिला ही था, इसलिये वे मेरा नाम तो जानते थे। मैंने भी उनकी प्रशंसा पहिले ही सुन रखी थी, किन्तु दर्शनों का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। वे भी कुछ ही वर्ष पूर्व इसी प्रकार परम विरक्तावस्था में काशीजी से गंगा किनारे-किनारे घूमते-घूमते बीच-बीच में वर्ष दो-दो वर्ष अन्य स्थानों में रहते हुए आये थे। यह स्थान शान्त एकान्त लगा, अतः वे यहाँ आकर रहने लगे।

गढ़ीरामपुर के पास एक बड़े भारी वरगद के वृक्ष के नीचे पं० मोतीरामजी ब्रह्मचारी की पाठशाला थी। वे प्राचीन ढंग के त्यागी तपस्वी महात्मा थे। १०-२० विद्यार्थी आ जाते उन्हें पढ़ा देते थे। आकाश वृत्ति पर पाठशाला चलती थी। पास में

एक शिवजी का मन्दिर था, छोटी-सी कच्ची पाठशाला। किन्तु वह लिपी-पुती स्वच्छ रहती। वह वट वृक्ष मुझे बहुत ही अच्छा लगा। ब्रह्मचारीजी भी बड़े अतिथि प्रिय थे, जो भी अतिथि आ जाता उसे प्रेम से भिक्षा कराते। उन्होंने बताया था—"उड़िया बाबा हमारे यहाँ बहुत दिनों तक रहे हैं, वे यहाँ विद्यार्थियों को पढ़ाया भी करते थे और बहुत ही त्याग तितिक्षा पूर्ण स्थिति में रहते थे।"

वहाँ से चलकर बाबा शहबाजपुर मोहनपुर में कुछ वर्षों तक रहकर यहाँ रामघाट में एकान्त देखकर रहने लगे थे। पास में कोई छोटा-सा नगला था। वहाँ के एक बड़े सात्विक ब्राह्मण उनके भक्त थे। वे प्रातःकाल गंगा किनारे आकर नहा धोकर जप करते रहते और सायंकाल को घर जाते। घर के अच्छे खाते पीते थे। गंगा किनारे जो भी साधु महात्मा आते, उनकी भिक्षा का प्रबन्ध करते। हमें भी वे अपने घर ले गये और बहुत ही प्रेम से भिक्षा करायी।

पू० श्री उड़िया बाबा हमें देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। हमारी तितिक्षा और त्याग से वे अत्यन्त ही प्रभावित हुए। जैसे स्नेहवान् पिता अपने चिरकाल के बिछुड़े पुत्र से विह्वल होकर मिलता है, उसी प्रकार वे अत्यन्त ही स्नेह के साथ हमसे मिले। वे अपने पास भगवान् बुद्ध का एक चित्र रखे हुए थे। उसके नीचे एक श्लोक लिखा था—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु।
अप्राप्यबोधं बहुजन्मदुर्लभं
नैवासनात् कायमिमं चलिष्यति॥

इसका भाव यह है कि भगवान् बुद्ध जब आत्मबोध सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय नहीं कर सके, तब गयाजी में एक वटवृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये और उन्होंने निश्चय किया—इस आसन पर बैठे-बैठे चाहे मेरा शरीर सूख जाय, त्वचा, मांस और हड्डियाँ भले ही यहाँ की यहीं नष्ट हो जायँ, किन्तु मैं उस बुद्धत्व को जिसे प्राप्त करना बहुत-से जन्मों में भी दुर्लभ है—उसे प्राप्त किये बिना इस स्थान से उठूँगा नहीं। मेरा यह शरीर यहाँ से बुद्धत्व प्राप्त किये बिना चलायमान नहीं होगा।

चित्र को दिखा-दिखाकर वे संकेत द्वारा हमारे त्याग वैराग्य की पुष्टि करने लगे। हमें हिमालय में जाकर तप करने को उत्साहित करने लगे। उनके ममतापूर्ण व्यवहार का अपार स्नेह और ममत्व का हमारे हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके समीप जब तक रहे हमें अत्यन्त ही सुख प्राप्त हुआ और तपस्या करने के हमारे उत्साह में वृद्धि हुई।

श्री उड़िया बाबाजी से आज्ञा लेकर फिर हम आगे के लिये चल दिये। रामघाट से आगे विहारघाट है, राजघाट नरौरा है, नरवर पाठशाला है, कर्णवास, भैरिया है, फिर अनूपशहर इसके पश्चात् अवन्ती देवी है। उस पर श्री हरिबाबाजी का बाँध है, अवन्ती देवी से आगे रूखी भगवानपुर का घाट है, फिर पेटपालजी की कुटी है। ये गङ्गा किनारे के स्थान बहुत ही सुन्दर हैं। इनमें पहिले सैकड़ों विरक्त त्यागी महात्मा रहते थे। मेरा भी बहुत समय इन स्थानों में व्यतीत हुआ है। इन स्थानों में मेरे जीवन के त्याग वैराग्यमय बहुत दिन व्यतीत हुए हैं, अतः इन स्थानों का वर्णन करने का अगले संस्मरण में विचार है।

छप्पय

जा जीवन वैराग्य नहीं वह नीच महा है।
जा जीवन में त्याग नहीं वह जीवन का है॥
बिना तितिक्षा त्याग जगत बंधन नहिं टूटे।
बिना ज्ञान अज्ञान जनित तप द्वार न खूटे॥
छिन भरिकूँ हू जगततें, है जावे वैराग्य यदि।
तब सब जग फीको लगै, त्याग एक औषधि समदि॥

सकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
झूसी (प्रयाग)
पौष कृ० अमावस्या २०२९ वि०

विनीत
प्रभुदत्त

ब्रह्म, अमृत, अथर्वशिर और अथर्व-शिखोपनिषद् सार

(२८७)

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञान यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वानितरे केशधारिणः ॥*

(ब्रह्मोपनिषद्)

छप्पय

ब्रह्म उपनिषद् कही अङ्गिरस मुनि शौनकतैं ।
कह्यो आतमा प्राण जीव यह बँध्यो प्राणतैं ॥
कंठ, मूर्ध, हिय, नाभि आतमा चार थान में ।
जामत स्वप्न सुषुप्ति तुरीयहु इनि चारिनि में ॥
ब्रह्मा, विष्णु महेश अरु, परमाक्षर पर-ब्रह्म है ।
बन्यो ब्रह्म एकहि सकल, जग दूसर नहिं ब्रह्म है ॥

---

* जिनकी ज्ञान की ही तो शिखा है, ज्ञान मे ही निष्ठा है और ज्ञान का ही यज्ञोपवीत धारण करते हैं उनके लिये ज्ञान ही सब कुछ है, ज्ञान को ही परमपवित्र कहा है । अग्नि की भाँति जिनकी शिखा है । अन्य बालों की शिखा नहीं । केवल ज्ञानमयी शिखा ही जो धारण करते हैं, वास्तव में वे ही विद्वान् शिखा धारण करने वाले शिखी हैं, शेष तो केवल बालों को रखाने वाले हैं ।

जगत् में सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं। नाना रूपों में ब्रह्म ही ब्रह्म भास रहा है। उस ब्रह्म को जो यथार्थ में जानता है वही ब्रह्मिष्ठ-ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है।

शौनकजी से सूतजी कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! ब्रह्म उपनिषद् के तो आप मुख्य ज्ञाता ही हैं। आपने ही भगवान् अङ्गिरस पिप्पलाद से इस वरिष्ठा ब्रह्मविद्यामयी उपनिषद् को पूछा था। आपके यह पूछने पर कि परब्रह्म परमात्मा तो परमदिव्य ब्रह्मपुर में संप्रतिष्ठित हैं, वे फिर इस जगत् को कैसे रचते हैं? यह किसकी महिमा है और जिसकी यह जगत् महिमा है वह कौन है?"

इस पर पिप्पलाद मुनि ने कहा था—"प्राण ही यह आत्मा है, यह सब परमात्मा की ही महिमा है। देखो, जैसे रानी मधुमक्खी ही सब मक्खियों को उत्पन्न करती है, उसके बैठने पर सब मक्खियाँ बैठ जाती हैं, छत्ता लगा है, उसके उड़ जाने पर सभी उसका अनुगमन करती हैं इसी प्रकार वह प्राणरूप ब्रह्म ही सब देवताओं की आयु, निधन, अनिधन का विधान करते हैं। वे दिव्य ब्रह्मपुर में रहते हैं। वे विरज हैं, निष्कल हैं, परमशुभ्र हैं, अक्षर हैं। ये जो प्राण देवता हैं, वे शरीर की समस्त नाड़ियों में व्याप्त रहते हैं। जैसे पक्षी आकाश में उड़ता तो है, किन्तु उड़कर अपने निवास स्थल कोटर में ही आकर सोता है। जैसे कुमार निष्काम हो आनन्द का खेल में अनुभव करता है, उसी प्रकार प्राण स्वप्न मे आनन्दानुभव करता है, स्वप्न में कोई लाठी से मारे भी तो शरीर मे चोट नहीं लगती। इसी प्रकार यति इष्टापूर्त और शुभ अशुभ में लिप्त नहीं होता। जैसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों का साक्षी यह प्राणरूप ब्रह्म ही है।

इसके शरीर में रहने के मुख्य चार स्थान हैं नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा। यही चतुष्पाद ब्रह्म है, चार इसकी अवस्थायें

हैं। जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति, और तुरीय। जागरित अवस्था में यह ब्रह्मा है, स्वप्नावस्था में विष्णु है, सुषुप्ति में रुद्र है और तुरीय में परमाक्षर है। यह आत्मा ही आदित्य, विष्णु, विश्वेश्वर, पुरुष प्राण, जीव तथा अग्नि है। जाग्रत के मध्य में परब्रह्म भासित होता है। यह स्वयं मन, श्रोत्र,पाणि,पाद तथा ज्योति से रहित है उसके यहाँ लोक, वेद,देव, यज्ञ, माता, पिता,वर्ण,आश्रम,कुल तथा जाति कुछ भी नहीं। केवल एक तत्त्व परब्रह्म ही परब्रह्म है। वह हृदय की गुफा में रहता है। हृदय में ही प्राण, ज्योति, त्रिवृत् यज्ञोपवीत है,वह आत्मा महान् है। यज्ञोपवीत के मन्त्र से शिखा सहित बालों को बनवाकर बाहर के यज्ञोपवीत का भी परित्याग करके संन्यासी हो जाय। अक्षर परब्रह्म जो सूत्र है उसे ही धारण करले। बाहर के सूत्र को त्यागकर जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड माला के सूत्र में जैसे मनका पुरोये हुए हैं उसी ब्रह्मसूत्र को धारण करले। ज्ञान की ज्योति ही शिखा और सूत्र है। जिसकी ज्ञानमय शिखा है, ज्ञानमय सूत्र है वही ब्रह्मज्ञानी वास्तविक ब्राह्मण है। एक ब्रह्म ही ब्रह्म है। जैसे तिल में तैल, काष्ठ में अग्नि व्याप्त है वैसे ही सबमें ब्रह्म व्याप्त है। अग्निहोत्र, ध्यान, संध्या-वन्दन सब ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्म का ही ध्यान करना चाहिये, यही ब्रह्मविद्या ब्रह्मोपनिषद् है।

सूतजी कह रहे हैं—"यह उपनिषद् संन्यासपरक त्याग-परक है। सब कुछ त्यागकर एकमात्र ब्रह्म का ही आश्रय ग्रहण करो, उसी की शरण में जाओ। यही इसका सार सिद्धान्त है। अब आप अमृतनाद उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनिये। सहना-ववतु इस उपनिषद् का शान्ति पाठ है। कहते हैं सब कुछ पढ़कर उसे त्याग दे। ब्रह्म विद्या को ग्रहण करे। ओंकार को तो रथ बनाले, विष्णु को सारथी बनाकर ब्रह्मलोक की खोज में जाय। रुद्र की

आराधना में तत्पर होकर। रथ से वहीं तक जाया जा सकता है, जहाँ तक रथ के जाने का मार्ग हो। फिर रथ को छोड़कर पैदल ही जाय। इसी प्रकार ओंकार के मात्रा, लिङ्ग, पद, शब्द, व्यञ्जन, स्वर आदि सबको त्यागकर सूक्ष्म जो तत्त्व है उसमें प्रवेश करे। षडङ्गयोग का अभ्यास करे। षडङ्गयोग क्या है? (१) प्रत्याहार, (२) ध्यान, (३) प्राणायाम, (४) धारणा, (५) तर्क और (६) समाधि। इस योग का शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और चचल मन अपने आत्मा की रस्सी से इन्हें रोकना ही प्रत्याहार है। तब षडङ्गयोग का अभ्यास करे। जैसे धातुओं के मल अग्नि में धौंकनी से धौंकने पर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियकृत दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिये प्राणायाम से दोषों को, धारणा से पापों को, प्रत्याहार से ससर्ग दोषों को और ध्यान से अनीश्वर गुणों को नष्ट कर दे। जब सब किल्विष–पाप नष्ट हो जायँ तब रुचिर से चिन्तन करे।

रुचिर में पहिले वायु को रेचन करके फिर वायु को खींचे (पूरक करे) फिर कुम्भक करे। इस प्रकार रेचक, पूरक और कुंभक प्राणायाम के तीन प्रकार हैं। व्याहृति, प्रणव और सिर सहित गायत्री को तीन बार पढने पर प्राणायाम होता है। रेचक किसे कहते हैं? वायु को वेग से आकाश में निकाल दे। भीतर से पूरी वायु को निकालकर निरात्मक शून्य कर दे। यही रेचक के लक्षण हैं। पूरक किसे कहते हैं? स्वास प्रस्वास लेना बन्द कर दे, गात्र को हिलावे-डुलावे नहीं, धीरे-धीरे बाहर की वायु को खींचकर भीतर भर ले यह पूरक के लक्षण हैं। अब कुंभक किसे कहते हैं? भरी हुई वायु को मुख बन्द करके भीतर ही-भीतर रोके रखे। इस पर वायु को निराश्रय करके

वायु को रोके रहने को कुंभक कहते हैं। प्राणायाम करके शान्त हो जाय। शान्त होने के क्या लक्षण हैं ?

जितने वाह्यरूप हैं उनकी ओर से अन्धा हो जाय, जितने बाहरी शब्द हैं, उनकी ओर से बहरा हो जाय, सम्पूर्ण शरीर को काष्ठ की भाँति सुस्थिर रखने को प्रशान्त कहते हैं। धारणा किसे कहते हैं ? मन को संकल्प पूर्वक ध्यान करके उसे आत्मा में ही लगा दे (वाह्य विषयों की ओर न जाने दे) मन को आत्मा में ही धारण करने को धारणा कहते हैं। अब तर्क का क्या लक्षण है ? शास्त्र सम्मत ऊहापोह करने को–अर्थात् शास्त्र के अविरुद्ध विचार विमर्श करने को तर्क कहते हैं। समाधि का क्या लक्षण है ? जिस स्थिति में चित्त शान्त तैल धारावत हो जाय, तर्क वितर्क कुछ भी न उठे उसी का नाम समाधि है। यह समाधि अभ्यास के द्वारा प्राप्त होती है। अब प्रश्न उठता है, अभ्यास कैसे करे ?"

अब अभ्यास की विधि बताते हैं। सभी दोषों से वर्जित पवित्र सम भूमि पर आसन लगावे,मन को चारों ओर से हटाकर मनोमयी रक्षा करे। फिर पद्मासन, स्वस्तिकासन तथा भद्रासन जो भी आसन अपने अनुकूल पड़े उस आसन को लगाकर, उत्तराभिमुख होकर प्राणायाम का अभ्यास करे। दो उँगलियों (मध्यमा और अनामिका) से एक नासिका पुट को बन्द करके दूसरे नासिका छिद्र से शनैः शनैः वायु को खींचे। उस समय केवल भीतर के शब्द नाद-ब्रह्म ओंकार का ही चिन्तन करे। अक्षर ब्रह्म ओंकार से ही वायु को भरे, फिर उसे रोककर ओंकार द्वारा ही उसे शनैः शनैः रेचन करे। इस प्रकार दिव्य जो ओंकार मन्त्र है। इससे बार बार पूरक, कुंभक और रेचक करके अपने भीतर के दोषों को निकाल कर निर्मल बना ले। फिर उस मन्त्र को

स्थूल अति स्थूल मात्रा में ध्यान करे। दृष्टि को स्थिर रखे, दायें-बायें ऊपर नीचे न जाने दे। सर्वथा सीधा स्थिर स्थायी बैठकर तब योग का अभ्यास करे। ताला, मात्रा, योग, धारणा तथा योजन इस प्रकार काल से, नियत से द्वादशमात्र योग है। इस प्रकार अमृतनाद का अभ्यास करे। अमृतनाद क्या है। उसमें घोस, व्यञ्जन तथा स्वर नहीं हैं। वह कण्ठ से, तालु से, ओष्ठ से तथा नासिका से उच्चारण नहीं किया जा सकता है। वह रेफ जात नहीं है, उसका उच्चारण दोनों ओष्ठों से नहीं हो सकता। वह अ क्षर है उसका कभी क्षर-नाश नहीं होता। प्राणायाम के द्वारा मन जब इस अमृतनाद को खोज लेता है, अनुभव कर लेता है तो फिर प्राण उसी मार्ग का अनुसरण करता है। अर्थात् प्राण उस अमृतनाद में मिल जाता है। मन, नाद और प्राण तीनों एक हो जाते हैं। यही सन्मार्ग है। इस सन्मार्ग में गमन करने के निमित्त नित्य नियम से अभ्यास करना चाहिये। उसे हृदयद्वार, वायुद्वार, ऊपर का द्वार, मोक्षद्वार, तथा सुषिर बिल मण्डल कहा है।

योग के साधक को चाहिये कि अभ्यास करते समय भय, क्रोध, आलस्य, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, अधिक भोजन तथा उपवास इन सबका परित्याग कर दे। इस प्रकार जो नित्य नियम से श्रद्धा पूर्वक अभ्यास करेगा उसे अमृतनाद के श्रवण से तीन महीने में स्वय ही ज्ञान उत्पन्न हो जायगा इसमें कोई संशय नहीं। चौथे महीने में उसे देवताओं के दर्शन होने लगेंगे। फिर पाँचवे महीने में देवताओं के तुल्य विक्रम हो जायगा। छटे महीने में इच्छानुसार कैवल्यपद प्राप्त हो जायगा।

देखो, पार्थिव भाग पच मात्रा है, जल भाग चार मात्रा है, अग्नि भाग तीन मात्रा है, वायु भाग द्विमात्रा है और आकाश एक-

मात्रा है। अर्थात् आकाश में एक ही शब्द गुण है, वायु में शब्द और स्पर्श दो हैं, तेज में शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण हैं, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण हैं और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच गुण हैं। इन पाँचों से परे जो अर्ध मात्रा है–ओंकर है–उसी का चिंतन करना चाहिये। मन के द्वारा सिद्धि करके अपनी आत्मा से ही उस आत्मा का चिंतन करना चाहिये।

प्राण जहाँ प्रतिष्ठित हैं वह तीस अंगुल प्रमाण वाला है। अर्थात् नासिका से तीस अंगुल बाहर तक चला जाय, नासिका से हृदय भी तीस ही अंगुल है। भीतर की वायु को प्राण कहते हैं, बाहर की वायु तो दीखती ही है। एक लाख तेरह सहस्र छै सौ अस्सी निःश्वास दिन रात्रि में आती हैं। प्राण पाँच प्रकार का होकर शरीर में रहता है। (१) पहिला प्राण तो हृदय में रहता है। (२) अपान गुदा में, (३) समान नाभि में, (४) उदान कण्ठ में और (५) व्यान समस्त शरीर में व्याप्त रहता है। इन पाँचों प्राणों के पाँच वर्ण यथाक्रम से कहे गये हैं। मणि के सदृश लाल वर्ण वाला प्राण है, अपान इतने लाल वर्ण का जैसे इन्द्रगोप वीरबधूटी समल गुड़िया लाल जीव जो वर्षात् में होता है–उसके बीच में जो समान है वह गोदुग्ध के सदृश सफेद वर्ण का होता है। उदान अपाण्डुर (कुछ पीत) वर्ण का और व्यान दीप की अर्चि के सदृश। इन पाँचों के मंडल को भेदन करके जब वायु मूर्धा में जाती है। और मरते समय मूर्धा के दशम द्वार को फोड़कर प्राण निकलते हैं तो जहाँ भी पुरुष मरता है फिर उसका जन्म नहीं होता है यही इस अमृतनाद ब्रह्म उपनिषद् का सार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह योग की उपनिषद् है। इसमें प्राण को ही ब्रह्म मानकर प्राणायाम के अभ्यास से ही

षट कमलों को भेदकर प्राण को सहस्रार कमल में पहुँचाने का वर्णन है। इसका यथार्थ मर्म तो योगीजन ही जान सकते हैं। मैंने तो अक्षरों का सार अर्थ मात्र बता दिया है अब आप अथर्वशिर उपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रवण करें।

अथर्वशिर उपनिषद् अथर्ववेद की उपनिषद् है इसमें भगवान् रुद्र की महिमा गायी गयी है। एक बार समस्त देवताओं ने स्वर्ग में रुद्र से पूछा-"आप कौन हैं?" इस पर भगवान् रुद्र ने इस अद्वैतपरक उपनिषद् को कहा है। यह गद्यपद्यात्मक उपनिषद् ७ भागों में विभक्त है। पहिले भाग में रुद्र भगवान् ने बताया मैं ही सबसे प्रथम हूँ, मुझसे व्यतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। मैं ही सर्वत्र हूँ, दिशा, उपदिशा, स्त्री, पुरुष, समस्त छन्द, तीनों अग्नियाँ, चार वेद और जो भी कुछ है सब मैं ही मैं हूँ। जो मुझे भली-भाँति जानता है, देवताओं को भलीभाँति जानता है। मैं ही ब्रह्म द्वारा ब्राह्मण को, गौ द्वारा गौ को, ब्राह्मण द्वारा ब्रह्मण्य को, हविः द्वारा हविष को, आयु द्वारा आयु को, सत्य द्वारा सत्य को, धर्म द्वारा धर्म को अपने तेज से तृप्त करता हूँ। यहाँ पर प्रथम भाग समाप्त हुआ। अब द्वितीय भाग में देवताओं ने ३२ मन्त्रों में रुद्र भगवान् की स्तुति की है। तीसरे में रुद्र भगवान् को ही प्रणव, ओंकार, तारक, शुक्ल, सूक्ष्म, वैद्युत, परब्रह्म, रुद्र, ईशान तथा महेश्वर बताया है। फिर ओंकार, प्रणव, सर्वव्यापी, अनन्त, तार, शुक्ल, सूक्ष्म, वैद्युत, परब्रह्म एक, रुद्र, ईशान, भगवान् महेश्वर, इन शब्दों की शास्त्रीय विधि से व्याख्या करके इनका अर्थ बताया गया है। यहाँ तृतीय भाग समाप्त हुआ।

अब चौथे भाग में रुद्रदेव की महिमा का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, हृदय की गुफा में उन आत्मदेव का ध्यान

करने को कहा है, जो लोग उन हृदयस्थ देव को अपने हृदय में देखते हैं वे धीर पुरुष ही शान्ति प्राप्त करते हैं। दूसरे शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते। फिर भस्म की महिमा बतायी है, भगवान् रुद्र की स्तुति है।

फिर यह सम्पूर्ण जगत् रुद्र से कैसे उत्पन्न हुआ इसका क्रम बताया है। रुद्रदेव अ-क्षर स्वरूप हैं। उन अक्षर भगवान् से काल उत्पन्न हुआ। काल से व्यापक हुआ। वे सर्वव्यापक रुद्र ही भगवान् हैं। जब वे सो जाते हैं, तब समस्त प्रजा का संहार हो जाता है। जब वे श्वास लेते हैं तब उसे तम उत्पन्न होता है। तम से जल, उस जल को वे उँगली से मथते हैं उससे मथित होता है। फिर उससे शिशिर होता है। जब उस शिशिर को भी मथते हैं तब उससे फेन होता है। फेन से अण्ड, उस ब्रह्मरूप अण्ड से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा से वायु, वायु से ओंकार, ओंकार से सावित्री, सावित्री से गायत्री और गायत्री से ही ये सब लोक उत्पन्न होते हैं। तप और सत्य की अर्चना करते हैं, मधु क्षरित होता है। यही परमतप है। आप ज्योति, अमृत, ब्रह्म, भूर्भुवः स्व ओं नमः। यही सृष्टि का क्रम है। यह सब रुद्र से ही होता है। यहाँ छटा भाग समाप्त होता है।

अब सातवें भाग में इस उपनिषद् के अध्ययन की फल श्रुति बताकर इस उपनिषद् को समाप्त किया गया है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो। यह मैंने बहुत ही संक्षेप में अथर्वशिर उपनिषद् का सार सुना दिया। भद्रं कर्णेभिः इस उपनिषद् का आदि शान्ति पाठ है, अन्तिम शान्ति पाठ सहनाववतु है। अब आप अथर्वशिखा उपनिषद् का सार श्रवण करें। यह गद्यात्मक उपनिषद् है। इसके गद्यात्मक दो मन्त्र दो भागों में विभक्त हैं। अङ्गिरापिप्पलाद मुनि ने अथर्ववेदीय

भगवान् सनत्कुमार से पूछा—"भगवन्! ध्यान, ध्येय और ध्याता कौन हैं? इनकी व्याख्या करें।"

इस पर भगवान् सनत्कुमार ने कहा—"ओंकार प्रणव ही ध्यान करने योग्य है। इस ओंकार के चार पाद हैं। चार देवता हैं, चारों वेद ही इसके चतुष्पाद हैं। यही अ-क्षर है, इसी को परंब्रह्म भी कहते हैं। पहिला इसका पाद अकार है, पृथ्वी मात्रा है। वेद ऋग्वेद है। ब्रह्मा और वसुगण देवता हैं, गायत्री छन्द है और गार्हपत्य अग्नि है।

दूसरा पाद उकार है। अन्तरिक्ष लोक है, वेद यजुर्वेद है, रुद्रगण इसके देवता हैं, त्रिष्टुप् छन्द है और अग्नि दक्षिणाग्नि है।

तीसरापाद मकार द्यौ (स्वर्ग) लोक है। वेद सामवेद है, विष्णु आदित्य देवता हैं, जगती छन्द है। आहवनीय अग्नि है।

चौथापाद जो अर्धमात्रा है वह लुप्तमकार है। अथर्वमन्त्रों वाला अथर्व इसका वेद है। संवर्तक नाम वाली अग्नि है। मरुत देवता हैं। एक ऋपो, रुचिरा, भास्वती और स्वभा ये शक्तियाँ हैं।

पहिली शक्ति रक्तवर्णा है। ब्रह्माजी इसके देवता हैं। दूसरी शुभा शुक्लवर्ण की है, वह रौद्री है, रुद्र इसके देवता हैं। तीसरी कृष्णावर्णा है, वह विष्णुमती है, विष्णु इसके देवता हैं। चौथी विद्युन्मती है, यह सर्व वर्ण वाली है। पुरुष इसके देवता हैं। यही चतुष्पाद ओंकार हैं, यह चतुः शिरा चतुर्थ अर्धमात्रा वाला है। यह स्थूल, ह्रस्व, दीर्घ और लुप्त वाला है। ॐ, ॐ, ॐ इस प्रकार तीन बार कहना चाहिये। चतुर्थ शान्तात्मा है लुप्त का प्रयोग नहीं। सम यह आत्मज्योति है। एक ही बार उसे सब भाव से उच्चारते रहना चाहिये ॐ। इसके इस प्रकार एक बार उच्चारण से सभी प्राणों का उच्चारण हो जायगा। यही ओंकार ऊपर की ओर उत्क्रमण करा देगा।

इस प्रकार इसमें ओंकार की महिमा बतायी गयी है। एकान्त शान्त निर्जन स्थान में बलपूर्वक समस्वर में देर तक ओंकार का उच्चारण करे।

दूसरे गद्य मन्त्र में भी प्रणव की महिमा है। इसे प्रणव क्यों कहते हैं ? इसलिये कि यह सभी प्राणों को प्रणामता है, नवाता है। इसलिये यह प्रणव चतुर्धा होकर अवस्थित है। यह वेदों का देवों का निर्धय तथा संधर्ता है। सभी दुःखों से, सभी भयों से तारता है। तारने से यह विष्णु है, क्योंकि सभी पर विजय प्राप्त करता है। यह ब्रह्मा इसलिये है इसके सर्वकारण अबृहत् हैं। इन सबकी संप्रतिष्ठा करता है। ध्यान से विष्णु मन में। नादान्त में परमात्मा को स्थापित करके ध्येय जो ईशान रुद्र हैं जिनमें यह सब प्रयुक्त हो रहा है। उन भगवान् से ही ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवता उत्पन्न होते हैं। समस्त इन्द्रियाँ, सभी भूत, सभी अन्तःकरण की वृत्तियाँ, सभी ऐश्वर्य उत्पन्न होते हैं। ऐसे सम्पन्न, शिव, आकाश, मध्य में ध्रुवस्थ हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, शिव ये पाँचों देवता पाँच होकर प्रणव कहे जाते हैं। इस प्रणव में एक क्षण भी यदि ध्यानस्थ हो जाय, तो सौ यज्ञों के सदृश फल प्राप्त हो जाता है। एक बार भी यदि साधक ओंकार-गत हो जाय तो समस्त फल प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये सम्पूर्ण ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण योगध्यान द्वारा एकमात्र शिव ही ध्येय हैं। वे ही शिव शंकर हैं। कल्याण करने वाले हैं।

इस प्रकार ध्याता तो साधक है, ध्यान विष्णु हैं और ध्येय शिवशंकर हैं। यही अथर्वशिख उपनिषद् है। यह ओंकार प्रधान जो उपनिषद् है उसी का और सबको छोड़कर अध्ययन करना चाहिये। जो द्विज इसका अध्ययन करता है, वह गर्भवास

से विमुक्त हो जाता है। गर्भवास से निश्चय ही विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार यह ॐ सत्यम् उपनिषद् है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यही अथर्वशिख उपनिषद् का सार सिद्धांत है। अब आगे आप मैत्राणी उपनिषद् सार सुनेंगे।"

छप्पय

(१)

ज्ञान कह्यो उपवीत ज्ञान ही शिखा बताई।
यज्ञ ज्ञान ही जानि ज्ञानतें ब्रह्म दिखाई॥
ज्ञान बिना उपवीत सूत्र है बन्धन कारक।
ज्ञान बिना यह शिखा बालकी गुच्छा घातक॥
जहाँ वाक मनके सहित, लौटे तिहि देखे बिना।
वहीं ब्रह्म आनन्द लखि, होइ कृतारथ ता दिना॥

(२)

पुनि अथर्वशिर कही देवतनि के प्रति शंकर।
सार रुद्रकूँ कह्यो सृष्टि थिति और लयकर॥
रुद्र, प्रणव, अरु शुक्ल, सूक्ष्म वैद्युत अनन्त पर।
रुद्र, एक, ईशान, परात्पर, ब्रह्म, महेश्वर॥
अक्षर, व्यापक, काल वे, तिनितें तम, जल मथत तिहि।
शिशिर, फैन पुनि अंडतें, अज, ओंकारहु जग बनहि॥

(३)

पुनि अथर्वशिख कही अंगरहु, सनत्कुमारहु।
प्रणव प्रशंसा करी ध्येय, ध्याता अरु ध्यानहु॥
ब्राह्मी, रुद्री, विष्णु, पुरुष ये शक्ति चार हैं।
ह्रस्व, दीर्घ प्लुत थूल प्रणव के उच्चारन हैं॥
प्रणव प्राणकूँ नवत है, तारै सबकूँ तार है।
ध्यान विष्णु ध्याता पुरुष, ध्येय रुद्र ओंकार है।

इति ब्रह्म, अमृत, अथर्वशिर और अथर्वशिखोपनिषद् सार

मैत्रायण्युपनिषद्-सार

[२८८]

त्वं ब्रह्मा त्वं च विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥*

(मै० उ० ५ प्र० १ मं)

छप्पय

मैत्रायणि उपनिषद कही ऋषि शाकायनि ने ।
भूप बृहद्रथ करी तपस्या पाई तिनि ने ॥
नृपतै मुनिवर कहैं—आतमा अमृत अभय है ।
तन जड़ प्राणहि ताहि करै चैतन्य सरिस है ॥
प्राण पंचधा देह में, रहैं अमावै चक्रवत ।
तन अनित्य आतमा अमल, सत्य समुझि लहि परमपद ॥

सहस्र बातों की एक ही बात है, यह शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है। अनित्य के प्रति मोह ममता का परित्याग करके नित्य वस्तु का चिन्तन करो। नित्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो। यही परम पुरुषार्थ है, इसी में नर देह का साफल्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैत्रायणी उपनिषद् सात प्रपा-

---

* परम पुरुष परब्रह्म की स्तुति करते हुए कौरसायनी कह रहे हैं—"तुम ही ब्रह्मा हो; तुम ही विष्णु हो, तुम ही रुद्र हो; तुम ही प्रजापति हो, तुम ही अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र तथा चन्द्रमा हो।"

ठकों में विभक्त है। आप्यायन्तु इसका शान्तिपाठ है। प्रथम प्रपाठक में बताया है, कि इक्ष्वाकु कुल के बृहद्रथ राजा इस शरीर को अशाश्वत मानकर राज्य पर अपने ज्येष्ठ पुत्र को स्थापित करके संसार से वैराग्य धारण करके वन में चले गये और वहाँ जाकर ऊर्ध्ववायु होकर घोर तप करने लगे। उनके घोर तप को देखकर शाकायन्य मुनि ने आकर उनसे वर माँगने को कहा। राजा ने कहा—"भगवन्! यह देह नाशवान् अनित्य है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा हुए, सब कुछ यहीं छोड़कर चले गये। इस संसार में सार क्या है, इस बात को मुझे बतावें। मैं संसार-सागर में डूब रहा हूँ आप ही मेरी एकमात्र गति हैं।"

दूसरे प्रपाठक में भगवान् शाकायन्य ने राजा को बताया—"राजन्! आप इक्ष्वाकु कुल में उस वंश की ध्वजा के समान हो। आप शीघ्र ही आत्मज्ञानी होकर कृतकृत्य हो जाओगे और मरुत नाम से विख्यात होगे।" फिर ऋषि ने आत्मा का अमृत अभय रूप बताया। राजा के यह पूछने पर कि शरीर तो जड़ है, अचैतन्य है, यह चैतन्यवत् व्यवहार कैसे करता है?

इस पर ऋषि ने कहा—"यह प्राणों के कारण चैतन्यवत् व्यवहार करता है। इस शरीर में प्राण पंचधा होकर निवास करता है, उसी के कारण शरीर द्वारा समस्त क्रियायें होती हैं। यह शरीर एक रथ के सदृश है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ इसके पाँच घोड़े हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उन घोड़ों की रस्सियाँ हैं। मन इसका सारथी है, प्रकृति इसका चाबुक है। उसी के सहारे जैसे कुम्हार का जड़ चाक घूमता रहता है, वैसे ही प्राणों के कारण यह घूमता रहता है वही आत्मा है। यह जीवात्मा शरीर के द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलों को भोगता रहता है।

तीसरे प्रपाठक में यह बताया गया है कि यह आत्मा क्या

है ? इस पर बताते हैं पंच तन्मात्रा, पंचभूत, इनके समुदाय को भूतात्मा कहते हैं। इसमें जो चैतन्य रूप से विराजमान है उसे अमृतात्मा जीव कहते हैं। जैसे पुष्करिणी में कमल बैठा रहता है। इस प्राकृत देह संसर्ग से यह जीवात्मा आत्मस्थ भगवान् प्रभु परमात्मा को नहीं देखता, इसीलिये कर्मफलों के भोगने के लिये नाना योनियों में भटकता रहता है। फिर शरीर की अशुचिता निष्कृष्टता बताने के लिये इसे मल-मूत्र का आगार बताया है।

चौथे प्रपाठक में राजा ने पूछा—इसकी कोई विधि बताइये कि भूतात्मा इस शरीर को त्यागकर परमात्मा में सायुज्य प्राप्त कर सकें। इस पर बताया गया है, कि विधिवत वर्णाश्रम धर्म का पालन करे। ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में और गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम में जाकर तपस्या करे। क्योंकि तपस्या के बिना कुछ प्राप्त होता नहीं। तपस्या से सत्व की प्राप्ति होती है, सत्व से मन का निरोध होता है। मन के निरोध से आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मप्राप्ति के अनन्तर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।

फिर प्रश्न यह हुआ अग्नि, वायु, आदित्य, काल, प्राण, अन्न, ब्रह्मा, रुद्र तथा विष्णु ये एक हैं या पृथक्-पृथक्। कुछ लोग एक ही कहते हैं, कुछ इन्हें पृथक्-पृथक् बताते हैं।

इसका उत्तर यह दिया है कि वैसे तो ये लोक व्यवहार में पृथक् पृथक् ही हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों नीचे के लोकों का परित्याग करके ऊपर-ऊपर के लोकों में जाते हैं इनका पृथकत्व नाश होता जाता है और सब उस परम पुरुष में एकत्व को प्राप्त होते जाते हैं।

पञ्चम प्रपाठक में यह बताया है कि ये सब एक ही हैं। कोई कौत्सायनी मुनि हैं उन्होंने एकत्वभाव से उन परमात्मा की स्तुति

की है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, प्रजापति, अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र, चन्द्र, अन्न, यम, पृथ्वी, विश्व आदि सब उन्हीं के नाम बताकर अन्त में कह दिया है जो विष्णु हैं वे ही एक से (ब्रह्मा, विष्णु महेश) तीन हो जाते हैं, वे ही एक से अष्टधा, द्वादशधा अपरिमितधा बनकर समस्त प्राणियों में प्रविष्ट होकर विचरण करते हैं। वे समस्त भूतों के अधिपति हैं। उन्हीं को आत्मा कहते हैं, वे ही सब प्राणियों के भीतर और बाहर भी रहते हैं।

छठे प्रपाठक में आत्मा के दो भेद बताये हैं, एक प्राण दूसरे आदित्य। प्राणरूप से तो वह आत्मा सबके भीतर रहते हैं, आदित्य रूप से बाहर रहते हैं। वह आत्मा हृदय कमल मध्य में अवस्थित है। फिर बताया आदित्य प्रणव ही है। फिर प्रणव की विषदरूप से व्याख्या की गयी है। फिर अन्न की महिमा, उसके भक्षण का प्रकार बताया है फिर अग्नि की महिमा बतायी है। सबका सार अन्त में यही बताया है कि ओम् की उपासना करनी चाहिये। ओम् की ही ज्योति अग्नि, प्राण और आदित्य इन तीनों में अवस्थित है। जैसे अग्नि में हवन किया जाता है वैसे ही अन्न का नाड़ियों में हवन करते हैं। जैसे हविष्य को अग्नि में हवन करते हैं, वह सूक्ष्म रूप से आदित्य को प्राप्त होता है, आदित्य से सूर्य की रश्मियों द्वारा जल होकर वर्षता है, उससे अन्न उत्पन्न होता है, उस अन्न को प्राणी खाते हैं, उससे वीर्य बनता है, उसी से अन्य जीवों की उत्पत्ति होती है। इसलिये हृदय के भीतर अंगुष्ठ मात्र जो पुरुष है, जो सूक्ष्म है अणु से भी अणु है उनका ध्यान करने से जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

सातवें प्रपाठक में वे ही अनेक उदाहरण दे दे कर सिद्ध किया है यह आत्मा अपहत पाप्मा है, सत्य संकल्प सत्यकाम है।

यही शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, सत्य, प्राण, हंस शास्ता, अच्युत विष्णु नारायण है। जो अग्नि है, जो हृदय में निवास करता है, जो आदित्य रूप में तपता है, वह एक ही आत्मा है। इसमें ब्रह्माजी ने देवता और असुरों के पूछने पर ओम् को ही आत्म-काम का उपाय बताया है। यह उपनिषद् बहुत गम्भीर है, इसमें प्रणव की महिमा बतायी गयी है। अन्य स्थानों के बहुत से मन्त्र उदाहरण के रूप में इसमें उद्धृत किये गये हैं। इसका मर्म आत्म ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ही भलीभाँति जान सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने बहुत ही संक्षेप में मैत्रायण्युपनिषद् का सार कहा। अब कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रवण करने की कृपा करें।"

सूतजी ने पुनः कहा-"शौनकजी! यह जो कौषीतकि ब्राह्मणो-पनिषद् है, यह कथात्मक है और ज्ञान की खानि है, अतः इसे मैं कुछ विस्तार के साथ बताऊँगा।"

छप्पय

प्राण-ब्रह्म बहु बने जगत के बीज सरिस हैं।
आभ्यन्तर हैं प्राण बाह्य आदित्य रहत हैं॥
जानि 'ओम्' आदित्य ध्यान करि जग तरि जावैं।
प्रणव ब्रह्म सत एक जानि पुनि जग नहिँ आवैं॥
कर्ता भोक्ता ब्रह्म नहिँ, केवल वह तो साक्ष्य है।
मैत्रायणि उपनिषद् को, प्रणव उपासन लक्ष्य है॥

—:—

इति मैत्रायण्युपनिषद्-सार समाप्त

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (१)

[२८९]

चित्रो ह गार्ग्यायणिर्यक्ष्यमाण आरुणिं वव्रे स ह पुत्रं श्वेतकेतुं प्रजिघाय याजयेति तं ह्यासीन पप्रच्छ गौतमस्य पुत्रास्ति स वृतं लोके यस्मिन्मा धास्यस्यन्य मुताहो वाध्वा तस्य मालोके धास्यसीति । स होवाच नाहमे तद्वेद हन्ताचार्यं पृच्छानीति ॥*

(कौ० ब्रा० उ० १ अ० १ मंत्र)

छप्पय

कौषीतकि उपनिषद सहित ब्राह्मण कहलावै ।
विद्यावर पर्यङ्क प्रथम ही सो बतलावै ॥
काम्य और निष्काम यान द्वै प्रथक कहावैं ।
पितृयान सहकाम देव निष्कामहि जावैं ॥
भोग कामतैं रहित नर, देवयान साधक सबहिँ ।
अग्नि, वायु, रवि, वरुण पुनि, इन्द्र प्रजापति लोक लहिँ ॥

---

* गार्ग्यायणि गोत्रीय महाराज चित्र ने अपने यज्ञ के लिये आचार्य रूप में आरुणि को वरण किया । उन्होंने अपने स्थान पर अपने पुत्र श्वेतकेतु को भेजा और कहा—"यज्ञ कराओ । वे जाकर यज्ञ के आसन पर बैठ गये । तब चित्र ने उनसे पूछा— 'तुम गौतम के पुत्र हो ? संवृत लोक में मुझे ले जाकर रखोगे अथवा दूसरा कोई अध्वा-मार्ग है जहाँ ले जाकर मुझे रखोगे ?" उसने कहा—"मैं यह सब नहीं जानता अपने आचार्य से जाकर पूछूँगा ।"

सर्वोत्तम विद्या कहीं भी क्यों न हो, उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। सुवर्ण कितने भी अपवित्र स्थान में पड़ा हो, सुवर्ण की इच्छा रखने वाला उसे तुरन्त उठा लेगा, शुचि अशुचि का विचार न करेगा। क्योंकि सुवर्ण स्वयं पवित्र है। स्थान की अशुचिता उसे व्याप्त नहीं होती, इसी प्रकार ब्रह्मविद्या सर्वोपरि विद्या है, वह जहाँ से भी प्राप्त हो उसे ले लेना चाहिये, क्योंकि वह परम पावन है। वह अपात्र को प्राप्त हो ही नहीं सकती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् का सार श्रवण करने की कृपा करें। यह ऋग्वेदीय उपनिषद् है। गद्यात्मक उपनिषद् है। इसमें चार अध्याय हैं। 'वाङ् मे मनसि' यह इसका शान्तिपाठ है।

प्रथम अध्याय में महाराज चित्र और आरुणि का सम्वाद है। जिसमें पर्यङ्क विद्या बतायी गयी है। गर्ग गोत्र में उत्पन्न महाराज चित्र ने एक यज्ञ का आयोजन किया। उन दिनों यज्ञ कार्य में अरुण के पुत्र उद्दालक आरुणि बहुत श्रेष्ठ समझे जाते थे। अतः महाभाग चित्र ने उन्हें ही अपने यज्ञ का प्रधान ऋत्विज वरण किया। किसी कार्य विशेष के कारण आरुणि मुनि स्वयं उनका यज्ञ कराने न जा सके। उन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अपने स्थान में यज्ञ करने के लिये भेज दिया। श्वेतकेतु चित्र की यज्ञशाला में जाकर ऋत्विज के उच्चासन पर विराजमान हो गये। उन्हें ऋत्विज के आसन पर बैठा देखकर चित्र ने पूछा—"तुम गौतम गोत्रीय आरुणि के पुत्र हो?"

श्वेतकेतु ने कहा—"जी, मैं उन्हीं का पुत्र हूँ, उन्होंने मुझे आपका यज्ञ कराने के लिये भेजा है।"

चित्र ने कहा—"अच्छा कुमार! तुम एक बात बता सकते हो? यज्ञ कराके तुम मुझे किस लोक में भेजोगे? इस लोक में

कोई ऐसा आवृत-ढका हुआ सुरक्षित स्थान है, जिसमें तुम मुझे ले जाकर रखोगे ? अथवा इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग है जिसके द्वारा मुझे किसी दूसरे लोक में स्थापित करोगे ?"

यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—"महाभाग चित्र ! मैं तो इस बात को नहीं जानता। हाँ मैं अपने पिता आचार्यदेव से जाकर इस सम्बन्ध में पूछूँगा।"

यह सुनकर श्वेतकेतु पिता के पास पहुँचे और उन्हें सब वृत्तान्त सुनाकर इसका उत्तर चाहा। सत्यवादी धर्मात्मा पिता ने कहा—"भैया ! इसका उत्तर तो मैं भी नहीं जानता। चलो, उन्हीं धर्मात्मा चित्र के समीप शिष्य भाव से चलकर पूछें।"

यह कहकर दोनों पिता पुत्र समित्पाणि होकर चित्र के समीप गये। पिता पुत्र दोनों ऋषियों को अपने समीप शिष्य भाव से आया देखकर चित्र अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"देखो, ब्राह्मण होकर भी आप मुझ क्षत्रिय के समीप शिष्य भाव से पूछने आये हो, अवश्य ही मैं तुम्हें उस विद्या का उपदेश करूँगा।"

ऐसा कहकर चित्र ने उपदेश करना आरम्भ किया। उनके उपदेश का सार यह है, कि देखो दो मार्ग हैं, एक सकाम मार्ग, दूसरा निष्काम मार्ग। सकाम कर्म करने वाले धूम्र मार्ग से पहिले चन्द्रलोक जाते हैं, पुण्य क्षीण होने पर उस स्वर्गलोक से देवता लोग वृष्टि के रूप में परिणत करके उन्हें पुनः इसी लोक में पहुँचा देते हैं। किन्तु जो निष्काम धर्म का अनुष्ठान करने वाले अनासक्त साधक स्वर्गीय सुखों का प्रत्याख्यान कर देते हैं, वे स्वर्गलोक से भी ऊपर नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं।

इसका उपाय यह है, कि संसार से विमुक्त होने वाला मुमुक्षु साधक सर्वप्रथम श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाय;

गुरु पूछें—"तुम कौन हो ?" तो यह यही उत्तर दे—"मैं नाना योनियों में भटकने वाला एक देहधारी जीव हूँ। मैं तो अपने को देह मानता हूँ अब आप ही बतावें यथार्थ में मैं कौन हूँ।" शिष्य की इस जिज्ञासा पर गुरु उसे ब्रह्म विद्या का उपदेश करके संसार से सदा के लिये विमुक्त बना देते हैं।

दो मार्ग हैं, देवयान और पितृयान। पितृयान वाले तो स्वर्ग लोक से लौटकर पूर्व वासना के अनुसार पुनः इस लोक में आकर अंडज, पिंडज, स्वेदज तथा उद्भिज योनियों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु देवयान मार्ग से जाने वाले फिर लौटकर इस लोक में नहीं आते। वे क्रमशः ऊपर जाते-जाते ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं। ब्रह्मलोक में जाने का क्रममार्ग इस प्रकार है।

देवयान मार्ग वाले पहिले अग्निलोक में जाते हैं। फिर क्रमशः वायु, सूर्य, वरुण, इन्द्र, प्रजापति लोकों में होते हुए ब्रह्म लोक में पहुँचते हैं। वह विस्तृत लोक है, उसमें प्रवेश करते ही पहिले 'आर' नाम का जलाशय मिलता है। उससे आगे येष्टिह देव हैं ये ब्रह्मलोक के विघ्न स्वरूप शत्रु हैं। उस आर से आगे 'विजरा' नदी है। यहाँ तक प्राणी को शोक, मोह, जरा, मृत्यु का भय रहता है। विजरा नदी को देखते ही जरावस्था दूर हो जाती है। फिर इससे आगे 'इल्य' नाम का एक वृक्ष है। यह मानों इला-पृथ्वी-का रूप है। वहाँ देवताओं का एक सुन्दर नगर है। विजरा नदी के इस पार देव नगर है, उस पार अर्ध चन्द्राकार एक परकोटा है। उसी के आगे 'अपराजित' नामवाला ब्रह्माजी के निवास का एक मन्दिर है। उस ब्रह्ममन्दिर के द्वार-पाल के रूप में वायु और आकाश रूप इन्द्र और प्रजापति उसके द्वारों की रक्षा करते हैं। ब्रह्माजी का मन्दिर परम दिव्य और अजेय है। वहाँ का जो सभामंडप है, उसका नाम 'विभुप्रमित'

है। उसके मध्य में जो वेदी बनी है उसका नाम 'विचक्षणा' है। उस वेदी पर ब्रह्माजी का 'अमितौजा' नाम वाला पर्यङ्क-पलङ्ग-है। उनकी प्रिया का नाम मानसी है। उसके अनुरूप ही उसके परम दिव्य आभूषण हैं। उस मानसी की छायामूर्ति एक 'चाक्षुसी' है, वह परम तेजोमयी है। उस ब्रह्ममन्दिर में एक सुललित वाटिका है। उसमें भाँति-भाँति के सुन्दर पुष्प खिले हुए हैं। जरायुज, स्वेदज, उद्भिज और अंडज इन चार प्रकार के प्राणियों का नाम ही जगत है। इस जगत की वस्तुएँ ही मानों उन ब्रह्माजी की वाटिका के सुललित सुमन हैं। वे दो स्वच्छ शुभ्र वस्त्र पहिने पर्यङ्क पर विराजमान हैं। वे वस्त्र भी जगत्‌रूप ही हैं। ब्रह्माजी के मनोरञ्जन के हेतु जो अप्सरायें हैं उनकी संज्ञा 'अम्बा' और 'अम्बायवी' है। 'अम्बया' नाम की नदियाँ भी वहाँ समीप में ही बह रही हैं। जो इस ब्रह्मलोक के यथार्थ अध्यात्म रूप को जान लेता है वह उसी ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

अच्छा, देवयान मार्ग से जाने वाले साधक को जब कोई अमानव पुरुष आदित्य के लोक से यहाँ तक विजरा नदी के इस पार तक ले आता है, तो विजरा के इस पार तक तो पतन का भय है, क्योंकि वहाँ आर नाम वाला जलाशय काम क्रोधादि अरियों का प्रतीक इल्य वृक्ष पुनः इला-पृथ्वी-पर पहुँचा सकता है। देवताओं द्वारा सेव्यमान जो दिव्य भव्य नगर है जिसमें सुन्दर भवन, उद्यान, वापी, कूप, तडागि मोहक वस्तुएँ हैं, वे भी भोगों के मोह में डाल सकती हैं। किन्तु जो उस विजरा नदी के पार पहुँच जाता है, ब्रह्माजी के निवास स्थान उनके पर्यङ्क के पास पहुँच जाता है, वह निर्भय हो जाता है।

जो साधक अपनी निष्काम कर्मयोग उपासना द्वारा विजरा के समीप पहुँच जाता है, तो ब्रह्माजी अपनी योग दृष्टि द्वारा उसके आगमन को जानकर अपने परिचारकों तथा अप्सराओं को आज्ञा देते हैं—"तुम लोग शीघ्र जाकर उसे मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप स्वागत सत्कार पूर्वक मेरे समीप ले आओ। क्योंकि वह अपनी उत्कट उपासना के द्वारा वहाँ तक आ गया है। बीच में यह विजरा नदी ही अन्तराय है उसे भी उपासना के बल से पार करके जरा मृत्यु से सदा के लिये रहित हो जायगा।

ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर पाँच सौ अप्सरायें विजरा नदी के उस पार खड़े उस मुमुक्षु साधक के स्वागत के लिये जाती हैं। उनमें से सौ के हाथों में तो माङ्गलिक, हरिद्रा, कुंकुम, केशर आदि पदार्थ रहते हैं। सौ के हाथों में परम दिव्य, अत्यन्त सुन्दर स्वच्छ निर्मल अमूल्य वस्त्र रहते हैं, सौ के हाथों में मंगलमय भव्य दिव्य फल रहते हैं, सौ के हाथों में परम सुगन्धित दिव्य अंगराग आदि रहते हैं और सौ के हाथों में सुन्दर सुगन्धित सुमनों की सैकड़ों दिव्य मालायें रहती हैं, वे शीघ्रता से विजरा नदी के उस पार जाकर उसके मानव देह को परिवर्तित करती हैं, उसके शरीर में दिव्य अंगराग लगाकर, दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाकर, दिव्य शृङ्गार करके, दिव्य मालाओं से अलंकृत करके उसे ब्रह्माजी के ही सदृश बना देती हैं। जब वह निष्काम कर्म उपासक ब्रह्मोचित अलङ्कारों से अलंकृत हो जाता है, तब सर्व प्रथम विजरा नदी से उस ओर जो 'आर' नाम का जलाशय है, उसमें बिना घुसे ही केवल संकल्प से ही उसे पार कर जाता है। यदि उसमें आन का अंश शेष रहता है तो उसी जलाशय में डूब जाता है, वह फिर संसार में आ जाता है, क्योंकि ब्रह्मलोक तक पुनरावृत्ति लोक हैं। जिसमें अज्ञान की गन्ध भी नहीं रहती

वह उस आर तालाब को मन से ही पार करके योष्टिय, देवताओं का जो भव्य सुललित नगर है उसमें आता है। उस परम त्यागी महात्मा को देखकर वे मोक्ष में विघ्न करने वाले देवगण भाग जाते हैं। उस नगर के भोगों को तुच्छ मानकर उनकी ओर बिना देखे वह विजरा नदी के निकट आ जाता है। वहाँ तक साधक में पुण्य और पापों का अंश बचा रहता है। जब वह अपने सत्य संकल्प से विजरा नदी को भी पार कर जाता है तो उस पार पहुँचकर वह पुण्य और पापों को झाड़ देता है। अब वह पाप पुण्य से सर्वथा रहित हो जाता है। उसके वे पुण्य पाप कहाँ जाते हैं? इसके लिये बताते हैं, कि उसके जो परम प्रिय सगे-सम्बन्धी होते हैं जो उसकी प्रशंसा करते थे, उनके पास तो उसका पुण्य चला जाता है, और जो उसके द्वेषी निंदक होते थे उनके समीप उसका पाप चला जाता है। वह पुण्य पाप से सर्वथा विमुक्त बन जाता है।

वहाँ से वह इल्ब वृक्ष के समीप जाता है, वहाँ की ब्रह्म गन्ध को सूँघकर वह कृतार्थ हो जाता है, फिर साजल्य नगर में जाने पर उसकी रसना में दिव्यातिदिव्य ब्रह्मरस का प्रवेश हो जाता है। उस अभूतपूर्व रस के आस्वादन से उसे परम सुख प्राप्त होता है। तब ब्रह्माजी के 'अपराजित' भवन में प्रवेश करता है। वहाँ जाने पर उसमें ब्रह्मतेज का प्रवेश होता है। ब्रह्माजी के भवन के द्वार पर द्वारपाल के रूप में इन्द्र और प्रजापति खड़े रहते हैं। जब यह सुकृति जीव उनके समीप जाता है, तो वे इसे भीतर जाने से रोकते नहीं। आदर के सहित वे इसके सम्मुख से हट जाते हैं, इसे भीतर जाने का मार्ग दिखाते हैं। तब ब्रह्माजी के भवन में प्रवेश करके उसके भीतर जो ब्रह्माजी का 'अमित' नामक सभा मंडप है, उस दिव्य मंडप में वह . .

अब तक तो उसमें ब्रह्मतेज ने ही प्रवेश किया था, मंडप में जाते ही उसके शरीर मे ब्रह्मयश भी प्रवेश कर जाता है। उस सभा मंडप में भी एक उच्च स्थान पर 'विचक्षणा' नाम की वेदी है, उसी वेदी पर ब्रह्माजी का पर्यङ्क-पलङ्ग-दिव्य सिंहासन-स्थित है। ब्रह्मतेज और ब्रह्मयश के कारण वह सभा मण्डप से उस वेदी पर जाने में समर्थ होता है। उस वेदी पर ब्रह्माजी का 'अमितौजा' नाम का पर्यङ्क बिछा है। वह पर्यङ्क कैसा है? इसको बताते हैं—

उस पर्यङ्क के अगले दो पायों का नाम 'बृहत्' और 'रथन्तर' है, ये दोनों पाये सामवेद स्वरूप हैं। दोनों पिछले पायों का नाम श्यैत और नौधस है-'वैरूप' और 'वैराज' ये भी साम स्वरूप हैं। ये दक्षिण उत्तर के पार्श्व हैं। 'शाकर' और रैवत उस पर्यङ्क के पूर्व और पश्चिम के पार्श्व हैं। फिर वहाँ पलङ्ग के पास जाने पर उस ब्रह्मवेत्ता को विशेष दृष्टि प्राप्त होती है, उसका नाम समष्टि है। वह बुद्धि रूपा है।

ब्रह्माजी के उस 'अमितौजा' पर्यङ्क के पास वह ब्रह्मिष्ठ निर्भय होकर चला जाता है। उस पर्यङ्क के सम्बन्ध में बताते हैं कि वह प्राण स्वरूप है। भूत भविष्य काल उसके अगले पाये हैं। श्री देवी और भू देवी उसके पिछले पाये हैं। उस पलङ्ग की जो दो लम्बी पाटी हैं जो उत्तर दक्षिण भाग में हैं, उन अनूच्य का नाम 'बृहत्' और 'रथन्तर' साम है। पूर्व और पश्चिम की ओर जो सिराहने, पाँइत की ओर छोटी-छोटी सिरा पाटी हैं उनका नाम 'भद्र' और 'यज्ञायज्ञीय' साम है। पूर्व से पश्चिम को जो बड़ी पाटियाँ हैं वे ऋक और साम के प्रतीक हैं। दक्षिण उत्तर को ओर आड़ी तिरछी पाटियाँ यजुर्वेद की स्वरूपा हैं। उस पर्यङ्क पर जो गद्दा बिछा है, वह चन्द्रमा की अत्यन्त कोमल

र्किरणों का है। गद्दे के ऊपर जो सफेद चद्दर बिछी रहती है वह मानों साम का उद्गीथ है। साक्षात् लक्ष्मीजी उस पर्यङ्क की उपबर्हण (तकिया) हैं। उस पर्यङ्क पर ब्रह्माजी विराजमान रहते हैं।

यह जो ब्रह्मज्ञानी है, इसे ब्रह्मतेज, ब्रह्मयश, ब्रह्मस्वरूप प्राप्त हो चुका है, अतः वह उस पलङ्ग पर ब्रह्माजी के साथ बैठने के लिये चढता है, तब ब्रह्माजी उससे पूछते हैं—"तुम कौन हो ?"

वह कहे—'मैं स्वयप्रकाश आत्मा उत्पन्न भूत, भूत, भूत, भूत हूँ। (अर्थात् अतीत, यथार्थ कारण, चतुर्विध सर्ग, पञ्च महाभूत हूँ) मैं आत्मा हूँ। आप भी आत्मा हैं, जो आप हैं वही मैं भी हूँ।"

ब्रह्माजी फिर पूछते हैं—"अच्छा, यदि तुम जानते हो, तो यह बताओ मैं कौन हूँ ?"

तब वह कहे—"आप सत्य हैं।"

तब वे पूछें—"सत्य क्या है ?"

तब वह कहे-"सत् वह है जो सब देवों से-प्राणों से सर्वथा विलक्षण हो। जो देवता और रूप हो वह त्य है। इसी का नाम 'सत्य' वचन है। आप सर्वस्व हैं इसलिये सत्य हैं।"

फिर ब्रह्मा उस ब्रह्मवेत्ता उपासक से पूछते हैं—"मेरे जो पुरुषवाचक नाम हैं, उन्हें तुम किसके द्वारा प्राप्त करते हो ?"

वह कहे—"प्राण से प्राप्त करता हूँ।"

पुनः ब्रह्माजी पूछते हैं—"स्त्री वाचक नामों को किससे प्राप्त करते हो ?"

तब वह कहे—"उन्हें वाणी से प्राप्त करता हूँ।"

ब्रह्माजी—"नपुंसक नामों को किससे प्राप्त करते हो ?

वह कहे—" मन से।"
ब्रह्माजी—"तुम गन्ध का अनुभव किससे करते हो ?"
वह—"घ्राणेन्द्रिय द्वारा-प्राण से।"
ब्रह्माजी—"रूप ग्रहण किससे करते हो ?"
वह -"नेत्र से।"
ब्रह्माजी—"शब्दों का श्रवण किससे करते हो ?"
वह—"श्रोत्रों से।"
ब्रह्माजी—"रसों का आस्वादन किससे करते हो ?"
वह—"रसना से।"
ब्रह्माजी—"कर्मों को किससे करते हो ?"
वह—"हस्तों से।"
ब्रह्माजी—"सुख दुखानुभूति किससे करते हो ?"
वह—"देह से।"
ब्रह्माजी—"रति-अनुभूति पुत्रोत्पत्ति किससे करते हो ?"
वह—"उपस्थ से।"
ब्रह्माजी—"चलते किससे हो ?"
वह—"चरणों से।"
ब्रह्माजी—"ज्ञान किससे करते हो ?"
वह—"प्रज्ञा से।"

जब इतना प्रश्नोत्तर हो चुकता है तब ब्रह्माजी कहते हैं, पंच महाभूत ही मेरे स्थान हैं। मेरा यह लोक भी जलादितत्त्व प्रधान है। तुम मेरे उपासक हो उपास्य से उपासक अभिन्न हो जाता है। अतः जैसा ही यह मेरा लोक है वैसा ही तुम्हारा भी है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! ब्रह्माजी सब पर विजय प्राप्त करने के कारण विजय स्वरूप ही माने जाते हैं, वे सर्वव्यापक हैं। उनका उपासक भी उनकी कृपा से उन्हीं की भाँति विजयी

तथा सर्वव्यापक हो जाता है। यह मैंने कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के प्रथम अध्याय का सार सुनाया। अब दूसरे अध्याय में जैसे प्राणोपासना बतायी गयी है। उसे आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

ब्रह्मलोक में पहुँचि आर बिजरा तरि जावैं।
दिव्य अपसरा आइ सहित आदर लै जावैं॥
ब्रह्म रूप, यश, तेज प्राप्त करि ब्रह्म सरिस बनि।
भवनहु मण्डप सभा जाइँ पर्यङ्क पास पुनि॥
तिनितैं पुनि ब्रह्मा कछुक, प्रश्न पूछि हरषात हैं।
उत्तर सुनि निज सम करैं, तब कृतार्थ ह्वै जात हैं॥

—o—

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (२)

(२६०)

(प्राणोपासना के प्रकार)

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गोप्तृ श्रोत्रं संश्रावयितृ तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मणे एताः सर्वा देवता अयाचमानायबलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति ॥*

(कौ० ब्रा० उ० २ अ० १...श्लो०)

छप्पय

कौषीतकि मुनि प्राण भूपके सरिस बतायो।
बानी रानी चक्षु सचिव मन दूत कहायो॥
द्वारपाल हैं कान देव सब भेंट करत हैं।
माँगे बिनु सब भोग स्वयं ही सकल धरत हैं॥
प्राण उपासक अयाचक, व्रतकूं यदि धारण करै।
तो प्राणी सब स्वतः ही, सब भोगनि सम्मुख धरै॥

---

* कौषीतकि मुनि कहते हैं—"प्राण ब्रह्म है' इस राजा प्राण के मन तो दूत हैं। वाणी परोसने वाली पत्नी हैं। चक्षु संरक्षक हैं, श्रोत्र संदेश सुनाने वाले हैं, उस प्राण ब्रह्म को समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव बिना माँगे ही बलि अर्पण करते हैं, जो इस बात को जानकर किसी से याचना नहीं करता उसे सभी प्राणी बिना माँगे सब वस्तुएँ अर्पित करते हैं। प्राणोपासक का व्रत यह है वह किसी से माँगे नहीं।"

ओज, बल तथा सह को प्राण देते हैं। माँगने से प्राण निर्बल बनते हैं, ओज क्षीण होता है। अन्तःकरण निर्बल बनता है और साहस कम होता है। हम किसी से किसी वस्तु की याचना कब करते हैं, जब उसे अपने से अधिक सम्पन्न समझते हैं। वास्तविक में तो जिसके शरीर में प्राण हैं वह सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि प्राण से बढ़कर सम्पन्न कोई नहीं। प्राण ही परब्रह्म है। याचना करने वाला कितना भी बड़ा हो, जब वह किसी के द्वार पर याचना करने जाता है, तो उसका मस्तक झुक जाता है। प्राण असमंजस में पड़ जाता है। वह अपने को हीन अनुभव करने लगता है। और की बात तो जाने दो भगवान् भी जब बलि के द्वार पर माँगने गये, तब बौना बनकर-छोटे बनकर-गये और वहाँ उन्होंने अपने को हलका सिद्ध किया, उसके बाप दादों तक को भगवान् से बडा बताया।

याचना करते समय प्राण संकुचित हो जाते हैं। अन्तःकरण में स्वतः ही हलकापन आ जाता है। किसी ने कहा है—सबसे हलका रुई तल होता है। उससे भी हलका भिक्षुक-मंगता-होता है। तूल तृण को तो वायु उड़ा ले जाती है, मंगता को वायु क्यों नहीं उड़ाती ? तो कहते हैं—मंगता से वायु भी डरती है। कि कहीं मुझसे भी न माँग बैठे। इसी डर से वह याचक को नहीं उड़ाती।

वास्तव में याचक से सभी डरते हैं। जो सदा माँगता रहता है, उसे देने की किसी को इच्छा नहीं रहती। जो माँगता नहीं अयाचक है उसे देने की लोभी को भी इच्छा हो जाती है। अयाचक वृत्ति सबसे श्रेष्ठ वृत्ति है। न माँगने वाले के प्राण सबल होते हैं उसमें साहस, सौर्य, तेज, बल याचक की अपेक्षा अधिक होता है, इसीलिये कहावत है—

खेती भली न बाँट की, बेटी भली न एक।
माँगन भलो न बापतैं, जो हरि राखैं टेक॥

प्राणोपासक साधक को अयाचित व्रत धारण करना चाहिये। प्राण किसी से याचना नहीं करते। तो भी समस्त इन्द्रियाँ प्राणों को ही तृप्त करने का सतत प्रयत्न करती रहती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महर्षि कुषीतक के पुत्र कौषीतकि मुनि का कथन है—"प्राण ही ब्रह्म है।" वे प्राणों की राजा के साथ उपमा देते हैं। महाराज! प्राण के दूत रूप में मन है। वाणी भोजन परोसने वाली पत्नी है। चक्षु गोप्ता (रक्षक) है। श्रोत्र सन्देश सुनाने वाला है। प्राण किसी से याचना नहीं करता, फिर भी समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव स्वतः ही-बिना माँगे-उसे नाना उपहार समर्पित करते हैं। प्राणोपासक को अयाचित व्रत धारण करना चाहिये। याचना न करने वालों को लोग स्वतः ही लाकर देते हैं। जैसे कोई याचक किसी ग्राम में जाकर घर-घर याचना करता है, तो कोई नहीं देता। जब वह न माँगने की दृढ़ प्रतिज्ञा करके बैठ जाता है तो सभी उसे ला-लाकर देते हैं। इसी बात को पैङ्ग्य मुनि ने दुहराया है, वे प्राणों को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते हुए कहते हैं कि वाणी से परे चक्षु है। चक्षु से परे श्रोत्र, श्रोत्र से परे मन, मन से परे भी परे प्राण है, प्राण के बिना कोई भी भीतर बाहर की इन्द्रिय काम नहीं करती। इसीलिये समस्त इन्द्रियाँ उसे बलि समर्पित करती हैं। अब प्राणोपासना के कुछ सकाम प्रकार बताते हैं।

१—धन की इच्छा से प्राणोपासना

धन की इच्छा से किसी भी पुण्य तिथि को पवित्र नक्षत्र में शास्त्रीय विधि से वेदी बनाकर उसके-परिसमूहन, आस्तरण,

अभिषेक, उत्पवन आदि कर्मों को कर
'बाड् नाम' आदि मन्त्र से आहुति
उनका भी नामोल्लेख करे। फिर प्र
प्रज्ञा इनमें द्वितीया लगाकर नाम देव
मुक्त अमुष्मात् कहकर इदं अवरुन्धा
लगाकर स्वाहा कहकर पाँच आहुतिया

आहुतियाँ देने के पश्चात् हवन क
वशिष्ट घृत-सस्रव-को अंगों में लेप
प्राप्त करने की इच्छा हो उसके पास ज
ही उतना धन दे देगा।

२—किसी को वश में करने की

जिसे वश में करना हो पहिले तो
फिर पूर्वोक्त विधि से वेदी बनाकर
तेमयि जुहोमि ऐसा कहकर असौ स्वा
उसका नाम लेकर पूर्वोक्त मन्त्र से हव
श्रोत्र, मन और प्रज्ञा इन पाँचों को
जुहोमि कहकर असौ स्वाहा इस मत्र
फिर पूर्वोक्त प्रकार से धूम गन्ध सूँघक
अगों में लेपन करके जिसे वश में
जाकर मधुर शब्दों में वार्तालाप करे
जायगा।

३—प्राणोपासक का आध्याति

एक राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने
का आध्यात्मिक अनुष्ठान बताया है।
समय वाक्य की पूर्ति पर्यन्त प्राणी

ठ अवरोधिनी के निमित्त
दे। जिससे जो धन चाहे
ण, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा
ा विरोधिनी सा लगाकर
के निमित्त तत् में चतुर्थी
दे।

धूम गन्ध को सूँघे होमा-
ा करे। फिर जिससे धन
कर कहे तो वह निश्चय

च्छा से प्राणोपासना

वाणी को मधुर बनावे।
शाक में द्वितीयान्त करके
ा कहकर हवन करे फिर
करे। फिर प्राण, चक्षु,
द्वितीयान्त करके तेमयि
से पाँच आहुतियाँ दे।
र होमावशिष्ट घृत का
करना हो उसके पास
। तो वह वश में हो

मक अग्निहोत्र

प्रातर्दन सायमन नाम
उनका कहना है बोलते
नहीं लेता। यही प्राण

का वाणीरूप अग्नि में हवन करना है। इस प्रकार वाणी का प्राण में और प्राण का वाणी में हवन होता ही रहता है। इसमें बाहरी अग्नि की तथा बाहरी हविष्य की आवश्यकता नहीं रहती। ये वाणी और प्राण की दो आहुतियाँ अनन्त और अमृत हैं। इन दोनों में अग्निहोत्र बुद्धि हो जाना ही आध्यात्मिक अग्निहोत्र है। ये प्राण की आहुतियाँ जाग्रत और सुषुप्ति अवस्था में भी निरंतर होती ही रहती हैं। यह आध्यात्मिक अग्निहोत्र बाहरी द्रव्यमय अग्निहोत्र से परमश्रेष्ठ है।

४—प्राण की उक्थोपासना

सामवेद की उक्थोपासना पीछे बता आये हैं। शुष्कभृङ्गार मुनि प्राणों को ही उक्थ मानकर उसकी उपासना बताते हैं। वह उक्थरूप प्राण ही ब्रह्म है। वही यजु, ऋक्, श्री, साम, श्री, यश, तेज है। जो प्राण की इन-इन भावना से उपासना करता है, उसके सम्मुख सभी प्राणी नत मस्तक हो जाते हैं। जैसे दिव्य धनुष के सम्मुख समस्त आयुध छोटे पड़ जाते हैं।

५—ऋत्विजों की वेदिका रूप में प्राणोपासना

ईंटों से जो यज्ञवेदी बनायी जाती है उसमें अध्वर्यु प्राणों को ही अग्नि मान ले और उसी प्राणरूप अग्नि से अध्वर्यु (ऋग्वेद का ज्ञाता ऋत्विज्) अपना संस्कार करे। यज्ञ में जो यजुर्वेद अनुष्ठित कर्म हैं उनका होता प्राण में ही विस्तार करे। जब प्राणों में यजुर्वेद साध्य कर्म कर चुके तो फिर उद्गाता साम सम्बन्धी कर्मों का विस्तार करे। इस प्रकार इष्टिका चयन के अनंतर यज्ञ वेदी पर बिना बाहरी अग्नि के ही प्राणरूप अग्नि में अध्वर्यु, होता और उद्गाता अपने-अपने वेद साध्य कर्मों का विस्तार करता है, तो उसे अध्वर्यु रूप में इस प्राण की उपासना से संपूर्ण

वेदों से यजन करने का फल प्राप्त होता है, क्योंकि यह प्राणत्रयी विद्या का आत्मा है।

६—प्राण की सूर्यरूप में अधमर्षण उपासना

प्रातःकाल, मध्यान्ह काल और सायंकाल तीनों समय में पवित्र होकर सूर्य में ही प्राण बुद्धि करके खड़ा होकर सूर्य की आराधना करते हुए उन्हें अर्घ्य दें। इस मन्त्र को प्रातः पढ़े आप वर्ग हैं, मेरे पापों को मुझसे दूर कीजिये। मध्यान्ह में उन्हे उद्वर्ग और सायंकाल में सवर्ग कहे। वर्ग, उद्वर्ग, संवर्ग मे प्रथमा और आगे असि लगाकर पाप्मानं मे वृद्धि कहे। सायं काल में संवृद्धि कहे। इस प्रकार सूर्य में प्राण भावना करके उपस्थान पूर्व जो उक्त तीनों मन्त्रों से तीनों काल में अर्घ्य देता है, उसके दिन रात्रि के किये हुए समस्त पाप क्षय हो जाते हैं।

७—प्राण की चन्द्र रूप में पुत्र शोक न होने की उपासना

'मुझे पुत्र शोक न हो' इस कामना से चन्द्रमा की प्राण रूप में उपासना करनी चाहिये। अमावस्या के दिन जब सूर्य पश्चिम भाग मे चला जाय और सूर्य की सुषुम्णा नामक किरण में चन्द्रमा दिखायी दें उस समय जैसे पहिले सूर्य को अर्घ्य दिया था, वैसे ही चन्द्रमा को अर्घ्य दे, क्योंकि यह पुत्र के आरोग्य कामना की उपासना है इसलिये अर्घ्य में दोहरी दूब के अंकुर भी रख ले। चन्द्रमा को जो अर्घ्य दे 'यत्ते सुसीमं' इत्यादि मन्त्र से दे। सुसीमा सोममंडल की अधिष्ठातृ देवी का नाम है। मन्त्र का भाव यह है हे देवि! तुम्हारे हृदय की सीमा सुन्दर है। तुम्हारा हृदयस्थित आनन्दमय स्वरूप चन्द्रमंडल में है उससे तुम अमृतत्व पर अधिकार रखती हो, इसलिये मुझे शोक

से रोना न पड़े आप ऐसी मुझ पर दया करो। फिर आप्यास्व, आप्यायमानो और यमादित्या इत्यादि तीन ऋचायें हैं उनका जप करे। फिर चन्द्रमा के सम्मुख दायाँ हाथ उठाकर 'मास्माकं' इत्यादि ऋचा का पाठ करे, फिर दायें हाथ को बार-बार घुमावे। ऐसा करने वाले को पुत्र शोक नहीं होता।

८—प्राण की चन्द्र रूप में पुत्र शोक न होने की दूसरी उपासना

पहिले जैसे बता आये हैं, वैसे ही किसी मास की भ पूर्णिमा तिथि को सायंकाल में जब पूर्व दिशा में चन्द्रदेव उदि हों, तब चन्द्रमा का उपस्थान अर्घ्य प्रदान करके 'सोमो राजासि इत्यादि ऋचा का पाठ करे। पाठ करके दाहिनी बाँह को बारम्बा घुमावे।

फिर उस बच्चे की माँ—जिसके पुत्र की दीर्घजीवी होने क कामना करनी है। अपनी पत्नी के हृदय का स्पर्श करे। हृद स्पर्श करते हुए 'यत्ते सुसीमे' इत्यादि ऋचा को पढ़े। उस ऋच का भाव यह है कि "हे सुन्दरि सीमन्तिनी! तुम सोममयी हो तुम्हारा हृदय संतति का पालक है, उसमें जो चन्द्रमंडल के सदृश अमृत राशि विद्यमान है उससे मैं परिचित हूँ। उसी सत्य के प्रभाव से मुझे पुत्र के सम्बन्ध में कभी रोना न पड़े।"

इस प्रकार प्राणरूप चन्द्रमा में और स्तनमंमण्डल में एक तानता करके यह उपासना है।

९—पुत्र को चिरजीवी होने का आशीर्वाद।

पिता जब परदेश आदि से चिरकाल में लौटे, तब अपने पुत्र के मस्तक का प्रेमपूर्वक स्पर्श करे, और 'अङ्गादङ्गात्' इत्यादि मंत्र को पढ़े। इस मन्त्र का तात्पर्य यह है, "हे पुत्र! (उसका नाम ले) मेरे प्रत्येक अङ्ग से तुम उत्पन्न हुए हो, मेरे हृदय से तुम जायमान

हुए हो। तुम मेरी आत्मा ही हो। तुमने मेरी पुत् नामक नरक से रक्षा की है। तुम्हारी शतायु हो।" ऐसा कहकर पुत्र का नाम उच्चारण करते हुए 'अश्मामव' इत्यादि ऋचा को पढ़ना चाहिये। उस ऋचा का भाव यह है। 'बेटा! तुम पत्थर के सदृश दृढ़ बनो। परशु कुठार सदृश तीक्ष्ण बनो। बिछे हुए सुवर्ण के सदृश सर्व-प्रिय बनो। सब अङ्गों का जो तेज है वही तुम अमुक नाम वाले पुत्र हो। तुम्हारी शतायु हो।' फिर "येन प्रजापतिः" इत्यादि ऋचा को पढ़े। इसका भाव यह है "जिस तेज से प्रजापति अपनी प्रजा को अरिष्टों—दुःखों से—बचाते हैं उसी तेज से मैं तुम्हें (नाम ले) ग्रहण करता हूँ।"

फिर उसके दाहिने कान में "अस्मै प्रयन्धि" इत्यादि ऋचा को पढ़े। उसका भाव यह है—"हे मघवन्! इस मेरे (अमुक) पुत्र की सरल भाव से रक्षा करें। हे इन्द्र! इसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ धनों को देते रहें।" इसी ऋचा को दूसरे कान में भी पढ़े। फिर प्रेमपूर्वक पुत्र का मस्तक सूँघकर "माच्छिथा" इत्यादि ऋचा को पढ़े। इस ऋचा का भाव यह है कि—'देखो, बेटा! तुम वंश परम्परा का उच्छेद मत करना। तुम्हें कभी व्यथा न हो। तुम्हारी शतायु हो। सौ वर्ष जीओ। हे पुत्र! मैं (अमुक नाम वाला) तुम्हारा पिता तुम्हारे मस्तक को सूँघ रहा हूँ। ऐसे तीन बार मन्त्र पढ़े और तीनों बार पुत्र का मस्तक सूँघे। फिर तीन बार "गवांत्वा" इत्यादि ऋचा को पढ़कर 'हिम्' 'हिम्' 'हिम्' इस शब्द का उच्चारण करे। ऋचा का भाव यह है कि जैसे गौ अपने बच्चे के लिये रँभाती है उसी प्रकार वत्स! मैं भी तेरे लिये हिंकार करता हूँ। हिंकार करके तुम्हें समीप बुलाता हूँ।"

१०—प्राणोपासना दैव परिमर रूप में

प्राण की दैव परिमर रूप में उपासना कैसे करनी चाहिये,

इसका प्रकार बताते हैं—अग्नि को ब्रह्म मानकर उपासना करे। वैसे अग्नि तो सदा सर्वदा ब्रह्म के सदृश व्याप्त है। जब वह प्रत्यक्ष प्रज्वलित नहीं होती तो उसकी 'मर' संज्ञा है। उस समय उस अग्नि का तेज आदित्य में प्रवेश कर जाता है। तथा प्राण वायु में मिल जाता है। इसी प्रकार सूर्य जब प्रकाशित नहीं होता तो उसका तेज चन्द्रमा में तथा प्राण वायु में मिल जाता है जब चन्द्र भी नहीं दिखायी देता तो उसका तेज विद्युत् में और प्राण में मिल जाता है। जब विद्युत् भी प्रकाशित नहीं होती तो उसका तेज वायु में मिल जाता है और प्राण भी वायु में प्रवेश कर जाता है अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, वायु तथा प्राण इन सब सब रूपों में एक ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जिन देवताओं का ऊपर नाम गिनाया है ये सबके सब वायु में ही प्रवेश करके स्थित रहते हैं। वायु रूप ही इनका देह है। अतः ये वायु में विनष्ट नहीं होते। बाहरी वायु प्राण का आदिदैविक रूप है।

अब प्राण का आध्यात्मिक रूप बताते हैं। वाणी से जो पुरुष बोलता है, वह मानों ब्रह्म ही बोल रहा है। जब पुरुष बोलता नहीं उस समय मानों वाणी मर गयी। उस समय वाणी का तेज नेत्र को प्राप्त होता है। इसी प्रकार नेत्र कान देखने पर तेज कान को, कान मन को, मन का तेज काम न करने पर प्राण को प्राप्त हो जाता है। प्राण तो प्राण में मिल ही जाता है। बाहरी प्राण (आधिदैविक) वायु है। भीतरी प्राण (आध्यात्मिक) प्राण हैं। ये जो वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन तथा प्राण हैं ये जो प्रकाशित होते हैं मानों ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। उपर्युक्त सभी इन्द्रियाँ प्राण में ही प्रवेश करके स्थित हैं, प्राण में लीन होने पर भी वे नष्ट नहीं होतीं। इसीलिये प्राण से ही उनका फिर भी प्राकट्य हो जाता है।

यही दैव परिमर प्राण का स्वरूप है। एक देव काम न करने पर मरा हुआ-सा हो जाता है, उसका तेज दूसरे में चला जाता है, फिर सबका तेज प्राण में एकत्रित हो जाता है। प्राण में एकत्रित होने पर वे मरते नहीं। क्योंकि प्राण नित्य है, ब्रह्म है, अमृत है। इस प्रकार जिसे प्राण के अमृतत्व का, दैव परिमर भाव का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह संसार के सबसे बड़े दो पर्वतों को कह दे-कि तुम चलो, तो वे पर्वत चलने लगते हैं, वे ऐसे महा-पुरुष की आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकते। अर्थात् दैव-परिमर का उपासक सम्भव असम्भव सब कुछ करने में समर्थ होता है।

११—मोक्ष के निमित्त प्राणोपासना

प्राण समस्त इन्द्रिय देवताओं से श्रेष्ठ है, इस पर दृष्टान्त देते हैं। एक बार वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि समस्त इन्द्रिया-धिष्ठित देव प्राण के साथ शरीर को छोड़कर चले गये। शरीर शव के सदृश पड़ा रहा। फिर क्रम-क्रम से वाणी, नेत्र, श्रोत्र तथा मन ने शरीर में प्रवेश किया। इनके प्रवेश करने पर शरीर बोलता, देखता, सुनता तथा मनन तो करता रहा किन्तु प्राणों के बिना उसमें उठने की शक्ति नहीं थी। प्राणों के प्रवेश करते ही शरीर उठने-बैठने लगा। तब सभी देवों ने प्राण के श्रेष्ठत्व का लोहा मान लिया। तब सभी ने प्राण में ही मोक्ष की शक्ति मान ली। मोक्ष के लिये शरीर त्यागकर प्राणों को साथ लेकर ही देवगण ऊपर के लोकों की ओर चले। वे वायु में स्थित होकर आकाश द्वारा स्वर्गादि लोकों में गये। इसी प्रकार शरीर त्यागकर प्राणवेत्ता महापुरुष वायु, आकाश स्वरूप होकर ब्रह्मलोक पर्यन्त चला जाता है। अन्त में जिस प्राण में वाणी, श्रोत्र, चक्षु मन देवता स्थित हैं, उस प्राण का ही स्वरूप हो जाता है।

स्वयं ही अमृतत्व गुण है अतः वह प्राणरूप होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। क्योंकि प्राण ही ब्रह्म हैं।

१२—प्राणोपासक का पुत्र के प्रति सम्प्रदान कर्म

पिता को जब यह प्रतीत होने लगे, कि अब मुझे इस लोक से प्रस्थान करना है, तो अपना उत्तराधिकार पुत्र को सम्प्रदान कर दे। पुत्र को पिता अपना उत्तराधिकारत्व कैसे प्रदान करे? इसकी विधि बताते हैं। अग्निहोत्री पिता जिस दिन अपना उत्तराधिकार पुत्र को प्रदान करे उस दिन अपनी यज्ञशाला को नूतन कुश-कास आदि तृणों से आच्छादित करे। यज्ञ की समस्त सामग्रियों को यथा स्थान स्थापित करे। विधि पूर्वक अग्नि की स्थापना करे। जल से भरा कलश, उसके ऊपर धान्य से भरा पात्र रखे। स्वयं नवीन दो वस्त्रों को धारण करे। माला आदि से अलंकृत होकर घर में से पुत्र को बुलावे। पुत्र के आने पर उसका गाढ़ालिङ्गन करे। उसके अंगों में अपने अंगों को मिला दे। अर्थात् अपने आप में उसे मिला ले। फिर उसे अपने सम्मुख बैठाकर अपनी इन्द्रियों का उसे सम्प्रदान करे।

पहिले पिता कहे—"वत्स! मैं अपनी वाणी को तुम्हारी वाणी में स्थापित करता हूँ।"

पुत्र कहे—"पिताजी! आपकी वाणी को मैं अपने में धारण करता हूँ।"

इसी प्रकार प्राण, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्नरस, कर्म, सुख-दुःख, आनन्द, गतिशक्ति, बुद्धि वृत्ति तथा कामनाओं को पिता कहे मैं तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र प्रतिबार उसका यही उत्तर दे पिताजी! आपके दिये हुए प्राण, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्नरस,

समस्त कर्म, सुख-दुःख, आनन्द, गतिशक्ति, बुद्धिवृत्ति तथा समस्त कामनाओं को मैं अपने में धारण करता हूँ।

पिता से सब कुछ प्राप्त करके पुत्र पिता की प्रेमपूर्वक प्रदक्षिणा करके पूर्व दिशा की ओर से पिता के पास प्रस्थान करे। उस समय प्रस्थान करते हुए पुत्र को पीछे से सम्बोधित करते हुए पिता, "यशोब्रह्मवर्च" इत्यादि ऋचा को पढ़े। उसका भाव यह है कि—हे पुत्र! यश ब्रह्मतेज तुम्हारा सेवन करें, तुम्हें अन्न खाने की और खाये हुए अन्न को पचाने की शक्ति प्राप्त हो तथा उत्तम कीर्ति और समस्त सद्गुण सतत तुम्हारा सेवन करें।"

पिता के ऐसा कहने पर पुत्र वाम कन्धे की ओर से दृष्टि घुमाकर हाथ से अथवा वस्त्र से आड़ करके पिता का दर्शन करे और उत्तर में 'स्वर्गान्लोकान्" इस ऋचा को पढ़े। उसका भाव यह है कि—"पिताजी! अब आप अपनी इच्छानुसार स्वर्गादि लोकों को पधारें और उन लोकों के सुखों का उपभोग करें।"

बस, इसी का नाम पुत्र के प्रति सम्प्रदान कर्म या उत्तराधिकार प्रदान कर्म है। फिर पिता को घर में नहीं रहना चाहिये। रोग ग्रस्त हो तो मृत्यु का आलिंगन करे। निरोग हो तो घर से निकलकर पुण्य तीर्थों का सेवन करे-संन्यास धारण कर ले। यदि घर में रहे ही तो पुत्र के प्रभुत्व में रहे-पुत्र के अधीन होकर उसकी इच्छानुसार बर्ताव करे। क्योंकि उसने अपनी वाणी आदि इन्द्रियों की शक्ति को तो पुत्र को प्रदान कर दिया है। अब उसके समस्त कार्यों का एकमात्र उत्तराधिकारी पुत्र ही हो गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस पर संक्षेप में मैंने प्राणो-

पासना के सम्बन्ध में बताया अब तीसरे अध्याय में जैसे प्रज्ञा-स्वरूप प्राण की महिमा बतायी है, उसका वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

प्रथम प्रानको रूप अर्थ अरु बशीकरन हित।
अग्निहोत्र अध्यात्म और अधमर्षण सूचित॥
पुत्र शोक नहिँ होइ उपासन विविध बताई।
प्राणोपासन देव वही परिमर कहलाई॥
कही मोक्ष हित उपासन, सम्प्रदान सुत के निमित।
मुख्य उपासन प्रान है, प्रान ब्रह्म यह धरहुचित॥

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (३)

[२९१]

(प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा)

प्रतर्दनो ह दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। युद्धेन च पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच। प्रतर्दन वरं ते ददानीति स होवाच प्रतर्दनः। त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति तं हेन्द्र उवाच ॥*

(कौ० ब्रा० उ० ३ अ० १..... मं०)

छप्पय

भूप प्रतर्दन युद्ध हेतु सुरलोक पधारे।
युद्ध कलातें तुष्ट इन्द्र यों वचन उचारे॥
'वर माँगो' नृप कह्यो—होइ हित नर सो दीजे।
प्रान ब्रह्म विज्ञान विज्ञ हौ सो तुम लीजे॥
आयु अमृत के रूप में, हौं ही प्रज्ञा प्रान हूँ।
प्रान बिना इन्द्रिय व्यरथ, जीवन प्रान प्रधान हूँ॥

---

* राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन देवताओं की प्रार्थना पर असुरों से लड़ने स्वर्गलोक में गये। उन राजा के युद्ध कौशल तथा पुरुषार्थ से सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने उनसे कहा—"हे राजन्! प्रतर्दन! मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ, बोलो, क्या वर तुम्हें दूँ?" इस पर महाराज प्रतर्दन ने कहा—"देवराज! जिससे मनुष्यों का परम कल्याण हो, ऐसा कोई वर आप स्वयं ही सोच विचार कर मुझे दें।"

जैसे मनुष्यों में सब मनुष्य ब्रह्मज्ञानी नहीं होते। ऋषियों में, ब्राह्मणों में, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों में भी कोई-कोई ब्रह्मज्ञानी होता है, इसी प्रकार देवताओं में तथा देवताओं के राजा इन्द्रों में सभी इन्द्र ब्रह्मज्ञानी नहीं होते। इन्द्रों में भी कोई-कोई इन्द्र तो ऐसे होते हैं, जिन्हें फिर चींटा, चींटी आदि योनियों तक में जन्म लेना पड़ता है। कोई-कोई इन्द्र ब्रह्मज्ञानी भी होते हैं। जो मोक्ष तक का उपदेश करते हैं। ऐसे ही एक प्राणोपासक ब्रह्मज्ञानी इन्द्र के द्वारा बतायी हुई प्रज्ञास्वरूप प्राणों की महिमा का वर्णन यहाँ किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रज्ञा रूप में प्राणों की उपासना का महत्त्व बताते हुए कहते हैं-एक बार देवताओं में और असुरों में युद्ध हुआ। देवताओं ने अपने पक्ष को निर्बल समझकर उस समय पृथ्वी पर जो महाराज दिवोदास के पुत्र महाराज प्रतर्दन शासन करते थे, उनसे युद्ध में सहायता करने की प्रार्थना की। देवराज इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार करके महाराज प्रतर्दन इन्द्र की सहायता करने इन्द्र के प्रिय धाम स्वर्ग में गये और उनकी सहायता की। उनकी युद्ध कुशलता तथा पुरुषार्थ से सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने कहा—"राजन्! मैं तुम से सन्तुष्ट हूँ, तुम कोई इच्छित वर मुझसे माँग लो।"

राजा ने कहा—"देवराज! मैं तो माँगना जानता नहीं। आप ही कोई सोच समझकर ऐसा वर स्वयं दे दीजिये। जिससे मनुष्यों का परम कल्याण हो।"

इन्द्र ने राजा से अपने हित के लिये अन्य वर माँगने को बहुत कहा, किन्तु राजा ने अपने लिये अन्य कोई वर माँगा ही नहीं। तब इन्द्र क्या करते। वे प्राणब्रह्म के ज्ञाता थे। और उन्होंने ब्रह्म के साथ तादात्म्य भाव कर लिया था अतः बोले—

"मुझ प्राण ब्रह्म स्वरूप को जान लेना यही मनुष्य मात्र के लिये परम कल्याणप्रद कार्य है।

जिसे ब्रह्म का तादात्म्य प्राप्त हो चुका है। जिसमें अहंकार भाव रह नहीं गया है, वह समस्त लोकों की हत्या भी कर दे, तो भी उसे कोई पाप नहीं लगता। मैं ब्रह्मवेत्ता हूँ, मैंने विश्वरूप ब्राह्मण को मार डाला, बहुत से अज्ञानी पुरुष व्यर्थ ही सन्यासी का वेष बनाये आश्रमोचित आचार से भ्रष्ट अहंकार के वशीभूत होकर बहिर्मुख होकर विचरते थे। ऐसे असंख्यों मिथ्या संन्यासियों के मैंने टुकड़े कर करके भेड़ियों को उनका मांस खिला दिया। बहुत से असुर राजाओं को भी मार डाला फिर भी मेरा बाल भी बांका नहीं हुआ। यह क्यों हुआ? क्योंकि मैं प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा जानकर तादात्म्य भाव को प्राप्त हो चुका हूँ।"

राजा ने कहा—"उसी प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा का उपदेश मुझे कीजिये।"

इन्द्र ने कहा—"देखो, प्रज्ञा स्वरूप प्राण [illegible] है। तुम प्राण की आयु और अमृत रूप में उपासना करो। प्राणियों की आयु प्राणों से ही है और प्राण अमृत स्वरूप [illegible] है। क्योंकि परलोक में प्राणी प्राण से ही अमृतत्व सुख का अनुभव करता है सत्य का अनुभव प्रज्ञा से ही होता है। [illegible]

प्राण के द्वारा ही सभी इन्द्रियाँ [illegible] करती हैं [illegible] इन्द्रियों बिना शरीर का काम जैसे तैसे [illegible] प्राणों के बिना शरीर शव बन जाता है, [illegible] है। यही शरीर को उठाता है इसलिये [illegible] है। प्रज्ञाप्राण एक ही है, जीवात्मा [illegible] उत्क्रमण करता है। प्राण से [illegible]

प्रकट होते हैं और प्राण में ही ये सब विलीन हो जाते हैं। मरते समय समस्त इन्द्रियाँ विषयों सहित प्राण में ही समर्पित हो जाती हैं। प्रज्ञा प्राण एक ही हैं, प्रज्ञा में ही सम्पूर्ण भूत एक हो जाते हैं। वाक्, घ्राण, नेत्र, श्रोत्र, रसना, हाथ, शरीर, उपस्थ, पैर और प्रज्ञा। इनके वाणी, गन्ध, रूप, शब्द, रस, उठाना धरना, सुख-दुख की अनुभूति, आनन्दानुभूति, चलना और निश्चय ये इनके विषय हैं। ये ही बाहर की ओर विषय से कल्पित भूत मात्रायें–पञ्च भूतों के अंश–कहलाती हैं। ये दशों प्रज्ञा के एक-एक अंग की पूर्ति करती हैं। प्रज्ञा द्वारा ही इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण किया करती हैं। प्रज्ञा से रहित इन्द्रियाँ कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। इसलिये इन्द्रियों को जानने की इच्छा न करे। इन्द्रियों का जो प्रेरक है उसी की जानकारी करे। इन्द्रियाँ प्रज्ञा की प्रेरणा से ही सब कुछ करती हैं। वे प्रेरक आत्मस्वरूप प्राण ही हैं। पीछे जो दश भूत-मात्रायें बतायीं हैं ये सब प्रज्ञा के ही अधीन हैं। इन्द्रियाँ और उनके विषय परस्पर में सम्बद्ध हैं। इन्द्रियाँ हों विषय न हों तो इन्द्रियाँ किसका उपभोग करेंगी और केवल विषय हों और इन्द्रियाँ न हों तो विषयों का उपभोग कौन करेगा! और इन्द्रिय तथा विषय जो भूतमात्रायें हैं ये प्रज्ञा के अधीन हैं। प्रज्ञामात्रा में ही ये भूतमात्रायें सन्निविष्ट हैं। प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रा का विषय और इन्द्रियों की भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है। प्रज्ञामात्रा में तो भूतमात्रा सन्निहित है। स्थित है। जैसे रथ की नेमि में अरे लगे रहते हैं। और यह प्रज्ञा प्राण में प्रतिष्ठित है। यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्दमय, अजर तथा अमृत स्वरूप है। यही प्राज्ञात्मा प्राणियों से समस्त कर्म कराता है, किन्तु वह उन कर्मों के फलों को नहीं भोगता। वह साक्षी रूप में कर्मों से निर्लेप

रहता है। अहंकार विमूढ़ात्मा अपने को कर्ता मानकर दुःख-सुख भोगता है। प्राण रूप में यह प्रज्ञात्मा उसके जैसे कर्म होते हैं वैसे ही लोकों में ले जाकर उससे सुख-दुःख भुगवाता है। यह प्रज्ञास्वरूप प्राण लोकपाल है, यही समस्त लोकों का अधिपति है, यही सर्वेश्वर है।

इन्द्र कह रहे हैं—"हे प्रतर्दन! समस्त गुणों से युक्त यह प्रज्ञा स्वरूप प्राण ही मेरी आत्मा है। इस विषय को जो भली-भाँति जान लेता है, वह भी मेरी ही आत्मा है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इन्द्र ने राजा प्रतर्दन को प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा का उपदेश किया। मनुष्यों के परम कल्याण को कराने वाली यही विद्या है। राजा प्रतर्दन ने इस विद्या को प्राप्त करके मनुष्यों के कल्याण की कामना से इसे लोक में प्रकाशित किया।

अब प्राणों की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में गार्ग्य मुनि और महाराज अजातशत्रु में जैसे सम्वाद हुआ उसका भी संक्षेप में वर्णन सुन लीजिये।

सूतजी ने कहा—"मुनियो! गर्ग गोत्र में उत्पन्न एक गार्ग्य नामक ब्राह्मण थे, उनकी माता का नाम बलाका था, वे उशीनर देश के निवासी थे, समस्त वेद शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी उन्हें ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान नहीं था। फिर भी वे अपने को ब्रह्मवेत्ता मानते थे। एक बार वे घूमते-घामते काशिराज महाराज अजातशत्रु की राज सभा में गये। महाराज अजातशत्रु ब्रह्मवेत्ता थे। उनकी सभा में जाकर गार्ग्य मुनि ने कहा—"राजन्! मैं तुम्हें ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करूँगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरी सभा में स्वयं पधारकर आपने मुझे ब्रह्मतत्त्व का अधिकारी समझा इससे आपने मेरा बहुत

गौरव बढ़ाया है। नहीं तो विद्वान् लोग महाराज मैथिल जनक को ही ब्रह्मवेत्ता जानकर दान लेने और उपदेश करने उन्हीं की सभा की ओर दौड़े जाते हैं। आपने मुझे भी ब्रह्मविद्या प्रदान करने का पात्र समझा इसके लिये मैं आपको एक सहस्र गौएँ अर्पित करता हूँ। इसके पश्चात गार्ग्य मुनि महाराज अजातशत्रु को ब्रह्म का उपदेश करने लगे।

सूतजी कह रहे हैं–"यह विषय कुछ ही शब्दों के हेर फेर से बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में ज्यों का त्यों आ चुका है। वहाँ इसका वर्णन विस्तार के साथ हो चुका है, अतः यहाँ अत्यन्त ही संक्षेप में इसका संकेत किये देते हैं। विशेष रूप से जानना हो तो उसी को पुनः-पुनः पढ़े।

गार्ग्य ने पहिले सूर्यमण्डल में जो अन्तर्यामी पुरुष है इसी को ब्रह्म मानकर उपासना करने को कहा। राजा के यह कहने पर कि इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ। इस उपासना का यह फल है। तब गार्ग्य ने फिर क्रम से चन्द्र मंडल में स्थित, विद्युन्मण्डल में, मेघ मंडल में, आकाश मंडल में, वायु मंडल में, अग्नि मंडल में, जल मंडल में, दर्पण में, प्रतिध्वनि में, ध्वन्यात्मक शब्द में, शरीरान्तर्वर्ती पुरुष में, प्रज्ञा से संयुक्त प्राणरूप आत्मा में, दाहिने नेत्र पुरुष में और बायें नेत्र पुरुष में, अन्तर्यामी पुरुष रूप में उपासना बताई। अजातशत्रु सबके प्रति अपनी जानकारी प्रदर्शित करता गया और उस उपासना का फल भी बताता गया। जब बायें नेत्र में स्थित पुरुष की ब्रह्मभाव से उपासना बतायी और राजा ने उसमें भी अपनी जानकारी का संकेत किया। तब तो गार्ग्य चुप हो गये और समित्पाणि होकर राजा का शिष्यत्व स्वीकार करके

उनसे आगे उपदेश करने को कहा। राजा ने अपनी उदारता दिखाते हुए कहा—"ब्राह्मण क्षत्रिय का शिष्य बने यह तो ब्रह्मन्! विपरीत बात हो जायगी। अतः गुरुभाव से नहीं मैं मैत्रीभाव से आपको उपदेश करूँगा। यह कहकर राजा गार्ग्य मुनि को एक सोते हुए पुरुष के समीप ले गये। पहिले तो उसका नाम लेकर बुलाया वह नहीं जागा। जब छड़ी से उसके शरीर पर आघात किया तो वह उठ पड़ा।

तब राजा ने समझाया—"देखिये, ब्रह्मन्! जब यह पुरुष अचेत होकर सो रहा था। उस समय यह हृदय की जो बहत्तर हजार हिता नाड़ियाँ हैं उन्हीं में स्थित था। उस सुषुप्तावस्था में वाक्, नेत्र, श्रोत्र और मनादि ये सबके सब प्राण में लय हो जाते हैं। जब यह जाग जाता है, तो समस्त इन्द्रियाँ प्राण में से निकल कर अपने-अपने कामों में जुट जाती हैं। इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव तथा उनके नाम आदि विषय प्रकट होते हैं। इसलिये इस प्रज्ञावान् प्राण स्वरूप आत्मा से ही समग्र प्राण, समस्त लोक, समस्त देव, समस्त भूत, विविध रूपों में [illegible] होकर अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। यही [illegible] का सत्य है। प्राण ही सत्य हैं, उन्हीं का सत्य यह [illegible]। जो इस प्रज्ञावान् प्राणब्रह्म को जान लेता है, उसके [illegible] पाप नाश हो जाते हैं, उसे स्वाराज्य और प्रभुत्व प्राप्त [illegible]।

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! इस [illegible] कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के तीनों अध्यायों में [illegible] ही वर्णन है। इस प्रकार मैंने संक्षेप में कौषीतकि [illegible] का सार सुनाया, अब आप बृहज्जाबालोपनिषद् [illegible] करें।"

छप्पय

(१)

प्रान अमृत अरु अजर वही प्रज्ञा आनँदमय।
जो जाने जा रहस होइ पूतात्मा निरमय॥
काशिराज अरु गार्ग्य भयो सम्वाद ब्रह्ममय।
गार्ग्य कह्यो रवि, चन्द्र, अनिल, घन, नभ विद्युत्मय॥
अग्नि, नीर आदर्श अरु, ध्वन्यात्मक प्रतिध्वनिहु पुनि।
तनु प्रज्ञायुत प्राण पुनि, दायें बायें नेत्र मुनि॥

(२)

चुप्प भये जब गार्ग्य नृपति बोले—कहिये पुनि।
आगे ज्ञान न आपु कहें शरणागत लखि मुनि॥
भूप संग ले गये सुप्त इक पुरुष जगायो।
हिता नाड़ि में सुप्त पुरुष चित यों समुझायो॥
प्रज्ञाआत्मा प्रान यह, इन्द्रिनि भोगें देह में।
इन्द्रिय भोगें जाइ जिह, नित्य निरञ्जन गेह में॥

इति कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
सार समाप्त

बृहज्जाबालोपनिषद्-सार

[२९२]

ॐ अपो वा इदमाग्रीत् सलिलमेव । स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत् तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेयमिति ॥*

(बृ० जा० उ० प्र० अ० १ म)

छप्पय

फेरि बृहज्जाबाल उपनिषद् शैव कहाई।
श्रीकालाग्नीरुद्र भुसुण्डहु के प्रति गाई॥
प्रथम भस्म इस्नान विभूती योग कहायो।
विधि बनाइवे भस्म लगावें कस समुझायो॥
पुनि त्रिपुण्ड महिमा कही, कहँ त्रिपुण्ड धारन करै।
भस्मोद् धूलित देह कस, सबई पापनिकूँ हरै॥

भगवान् तो एक हैं, वे ही बहुत रूपों में हो गये हैं। जहाँ भी भगवत् बुद्धि करो, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं, क्योंकि वे सर्वव्यापक हैं। जैसे अग्नि सर्वत्र है, जहाँ भी रगड करो वहीं अग्नि प्रज्वलित हो जायगी। उस अग्नि को आप वैश्वानर कहें,

---

* सबसे पहिले सृष्टि के पूर्व अप सलिल ही था, एक ये प्रजापति कमल पत्र पर सर्वप्रथम प्रकट हुए। उनके अन्तःकरण मे यह हुई कि इस जगत् को मैं सृष्टि करूँ।

वह्नि कहें, जातावेदा, कृष्णवर्त्मा, पावक, अनल, शिखी, हिरण्य-रेता, हव्यभुक्, विभावसु, शुचि तथा अग्नि किसी भी नाम से पुकारें बोध अग्नि का ही होगा। इसी प्रकार उन भगवान् को शिव कहो, शक्ति कहो, विष्णु कहो, सूर्य गणपति कुछ भी कहो बोध उन परब्रह्म परमात्मा का ही होगा। जो जिस देव का उपासक होता है, वह उसी देव के चिन्हों को धारण करता है और उन्हीं की महिमा का गान करता है, उन्हीं को सर्वश्रेष्ठ समझने का तात्पर्य यह तो नहीं है, कि और सब हेय हैं, निन्दनीय हैं, त्याज्य हैं, जिसको जिसमें श्रद्धा हो, उसका भजन करे, उसके ही चिन्हों को धारण करे। मेरी तो इसमें श्रद्धा है और मेरी दृष्टि में यही सबसे श्रेष्ठ भी है। इसलिये भगवत् स्वरूप भगवन्नाम सब एक ही हैं। अपने इष्ट में निष्ठा रखते हुए सबका आदर करे, किसी की निन्दा न करे, क्योंकि सत् वस्तु एक है उसे विद्वान् बहुत प्रकार से कहते हैं। सहस्रों नामों से पुकारते हैं, सहस्रों रूपों से उसकी स्तुति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं बृहज्जाबाल उपनिषद् सार आप सबको सुनाऊँगा। यह शिव सम्बन्धी शैव उपनिषद् है, यह अथर्ववेद की उपनिषद् है. यह आठ ब्राह्मणों में विभक्त है। पहिले ब्राह्मण में संक्षेप में सृष्टि का वर्णन है। इस सृष्टि के पूर्व केवल अप जल ही जल था। भगवान की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ। उस कमलपर्ण से प्रजापति पैदा हुए। तदनन्तर तपस्या करके वे ही भुसुण्ड कालाग्नि रुद्र के पास गये और उन्होंने विभूति के माहात्म्य के सम्बन्ध में प्रश्न किये और कहा—"मुझे बृहज्जाबाल नामक मुक्ति श्रुति का उपदेश करें।" कालाग्नि रुद्र ने बताया-विभूति के पाँच नाम हैं—(१) विभूति, (२) भसित, (३) भस्म, (४) क्षार, और (५) रक्षा। इन पाँचों की

उत्पत्ति पंचभूतों से हुई है। सद्योजात जो रुद्र हैं इनसे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। उससे निवृत्ति हुई। उससे कपिल वर्णा नन्दा गौ हुई। उसके गोबर से बनी राख का नाम विभूति है।

इसी प्रकार वामदेव से जल की उत्पत्ति हुई। उससे प्रतिष्ठा की, उस प्रतिष्ठा से काले वर्ण की भद्रा नामक गौ हुई, उसके गोबर से जो राख बनी उसी का नाम 'भसित' हुआ।

अघोर नामक रुद्र से अग्नि की उत्पत्ति हुई, अग्नि से विद्या और उस विद्या से लालवर्ण की सुरभि नामक गौ उत्पन्न हुई। उसके गोबर की राख को 'भस्म' कहते हैं।

तत्पुरुष नामक रुद्र से वायु की उत्पत्ति हुई, वायु से शान्ति हुई। शान्ति से श्वेतवर्ण की सुशीला नामक गौ हुई। उसके गोबर की राख को "क्षार" कहते हैं।

ईशान नामक रुद्र से आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से शान्ति अतीता, उससे चित्रवर्णा सुमना गौ हुई, उसके गोबर की राख का नाम 'रक्षा' है। इस प्रकार पाँच नाम भस्म के हैं। भस्म लगाने से ऐश्वर्य बढ़ता है। इसीलिये उसका नाम 'विभूति' है, सम्पूर्ण पापों को भस्म कर देती है इसलिये 'भस्म'। प्रकाशित करने से 'भसित'। आपत्तियों को क्षार करने से "क्षार" और भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, अपस्मार तथा संसार भर की भीतियों से रक्षा करने के कारण भस्म का नाम रक्षा है। इस प्रकार प्रथम ब्राह्मण में भस्म की उत्पत्ति का वर्णन है।

दूसरे ब्राह्मण में भुसुण्ड ने कालाग्नि रुद्र से अग्नि षोमात्मक जो यह भस्म है उसके स्नान का विधि पूछी, इस पर कालाग्निरुद्र ने भस्म को अग्नि के सदृश सर्वव्यापी बताया। इस भस्म को अग्निषोमात्मक इसलिये कहा गया कि रौद्री होने से इसका चोरा तैजस तनु है। भस्म को अनेकों प्रकार से बताकर इसे

और शक्तिमय सिद्ध किया गया है। यह जगत् अग्नि से एक बार दग्धहोने पर भस्म सात हो जाता है। यह अग्नि का वीर्य ही जगत् है, उसका वीर्य यह भस्म है। सबके अन्त में भस्म ही अवशेष रहती है। इस प्रकार जो भस्म के सद्भाव को जानकर भस्म स्नान करता है, उसके समस्त पाप दग्ध हो जाते हैं। इस भस्म का नाम मृत्युंजय है, यह निरन्तर अमृत बरसाने वाली है। शिव शक्तियुक्त अमृत के स्पर्श से जिसने स्नान कर लिया, तो ऐसी भस्म के स्पर्श से फिर मृत्यु कैसे हो सकती है? जो अग्नि सोम से संपुटित भस्म को धारण करता है उसका फिर जन्म नहीं होता। इस प्रकार दूसरे ब्राह्मण में भस्म स्नान की महिमा बताई गयी है।

तीसरे ब्राह्मण में भस्म निर्माण की विधि बतायी है। भस्म के लिये कैसी गौ का गोबर न ले। इस पर बताया है, जो बिकटाङ्ग हो, जो उन्मत्त, मरखनी, मैली कुचैली, अशुभ चिन्हों से युक्त, दुबली, बछड़ा से रहित, दूध न देने वाली, अत्यन्त बूढ़ी, जो केश, कपड़ा, हड्डी आदि अशुद्ध वस्तु खाने वाली, नई ब्याही तथा रोगिणी गाय हो इनका गोबर भस्म के लिये नहीं ले, जो सुन्दर प्रशस्त शुभ हो उसका गोबर ले। गोबर भूमि पर न गिरने पावे ऊपर ही ले ले। कपिला, धवला श्रेष्ठ है न मिले तो दोषवर्जित किसी भी रंग की गौ का गोबर ले ले। संस्कार रहित भस्म को धारण न करे। क्योंकि धेनु तीन गुणों वाली वेद स्वरूपा है, उसको त्रयी विद्या ही गोमय है। मूत्र उपनिषद् हैं। उस गोबर मूत्र को मिलाकर संस्कार करके विधिपूर्वक भस्म धारण करे। स्मृति ही उस वेदमयी गौ का बछड़ा है। उसके द्वारा जो गोमय है उसी की भस्म परम पवित्र है।

'आगाव' इत्यादि मन्त्र से गौ को अभिमन्त्रित करे। 'गावो

भगो' इत्यादि मन्त्र से जल को गौ को पिलावे। कृष्णपक्ष या शुक्लपक्ष चतुर्दशी को उपवास करे, दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर पवित्र होकर स्नान करके वस्त्र पहिन आधा दूध तो गौ का दुहले, आधा बछड़े को छोड़ दे। फिर उठकर गायत्री मन्त्र से सोने, चाँदी, तावें या मिट्टी के बर्तन में गौ का मूत्र लावे, 'गन्ध द्वारां दुराधर्षां' इस मन्त्र से पृथ्वी पर नीचे न गिरने पावे, पात्र में गोबर को ले ले। फिर उस गोबर में कीड़ा हों, अन्न के दाने हों उन्हें "श्रीर्मेभजतु" इत्यादि मन्त्र से शोधन करे। 'अलक्ष्मीर्मे' इस मन्त्र से गोबर को धान्य वर्जित करे। 'संत्वा सिञ्चामि' इत्यादि मन्त्र से गोबर में गोमूत्र को मिलावे। फिर 'पञ्चानां' आदि मन्त्र से चौदह पिंड बनावे। फिर उन्हे सूर्य की किरणों से सुखा ले।

जब सूख जायँ तब उसी पात्र में उन गोबर के पिंडों को ले आवे। अपने गृह्योक्त विधान अग्नि की स्थापना करे। फिर षडाऽक्षर मन्त्र से आदि अन्त में प्रणव लगाकर स्वाहा कहकर उन पिंडों को वर्णदेव के लिये अग्नि मे हवन करे। फिर आधार और आज्य भाग के जो सात मन्त्र हैं। उनसे आहुति देकर फिर निधन पति को तेईस आहुति दे। 'नमो हिरण्यबाहवे' इससे पाँच ब्रह्म को आहुति दे। ये सब आहुतियाँ चतुर्थ्यन्त मन्त्रों से स्वाहा सहित दे। ऋतं सत्यं कद्रुदाय यस्य वैकंकतीति इनसे विद्वान् ज्ञातत्रय का हवन करे। फिर व्याहृतियों से हवन करके 'इदंनमम' ऐसा कहकर स्विष्टकृत हवन करे। जब सब हवनकुंड की समिधायें जल जायँ तब पूर्णपात्र का जल लेकर 'पूर्णमसि' इत्यादि मन्त्र से अन्य जल से उसे बढ़ावे। 'ब्राह्मणोसि अमृतम्' इति, मन्त्र से शिर पर छिड़के। फिर 'प्राच्यां' इत्यादि मंत्र से दिशाओं में उस जल को छिड़के।

श्री
र शांति को प्राप्त हो। फिर उन जले हुए गोमय
दक्षिणा देक
रक् करे। 'आहरिष्यामि' इस मन्त्र से गोमय पिंडों
पिंडों को पृ
तक आच्छादित रखे। फिर भक्ति पूर्वक ब्राह्मणों
को तीन दि
कराये। फिर मौन होकर स्वयं भी भोजन करे। यह
को भोजन
पिण्डों की भस्म का विधान है। जिसे अधिक भस्म
तो चौदह
अधिक गोबर लेकर हवन करे। तीसरे चौथे या एक
बनानी हो,
पश्चात् प्रातः स्नान करके सफेद वस्त्र सफेद जनेऊ
ही दिन के
न धारण करके 'ॐ तद् ब्रह्मेति' इस मन्त्र से
सफेद चन्द
स्म से उन्हें पृथक् करके पात्र में भर ले। फिर उसकी
अग्नि की भ
से पूजा करे। व्याहृतियों से उसे अग्नि में से लेय।
षोडशोपचा
स्मेति' इस मन्त्र से उत्तर भस्म को ग्रहण करे। 'अग्नि-
'अग्नि
न्त्र से फिर उन पिंडों को पात्र में मसले। मसलकर
रित्यादि'
बनाले, फिर सुगन्धित जल, कपिला गौ का गोमूत्र,
उनकी भ म
केशर, खस, चन्दन, तीनों तरह के गुग्गुल
चन्द्रकुंकुम,
चूर्ण करके उसमें मिला दे। गायत्री मन्त्र से उसमें ये
इन सबका
मिलावे। फिर प्रणव से उसके गोला बनाले अथवा
सब वस्तुयें
यान्' इस मन्त्र से। इस प्रकार प्रणव से उसे घिसकर
'अणोरणी
ं से अभिमन्त्रित करके शरीर के अंगों में लगावे।
सात प्रणव
ेति' मंत्र से शिर में मुख में, तत् पुरुष से अघोर से
'ईशान
वाम मंत्र से गुह्य में, सद्योजात से पैरों में तथा प्रणव
ऊरुदेश में,
अंगों में लगावे। इस प्रकार आपदतल मस्तक में भस्म
से सम्पूर्ण
र आचमन करके वस्त्रों को धारण करे। फिर आचमन
को लगाक
ने कृत्यों को करे।
करके अप
के चार कल्प बताये हैं। १—अनुकल्प, २—उपकल्प,
कल्प और ४—अकल्प। अनुकल्प तो उसे कहते हैं
भस्म
अग्निहोत्र से विरजा नामक अग्नि से उत्पन्न हो। वन
३—उपोप
जो भस्म।

में सूखे आरण्यकंडों से ग्रहण करके पीछे बतायी विधि से तैयार की जाय उस भस्म को उपकल्प कहते हैं। वन में आरण्यककंडों को इकट्ठा करके उनका चूर्ण करके उसे गोमूत्र में सानकर उसके पिंडो को पूर्वोक्त विधि से हवन करके जो भस्म बनायी जाती है उसे उपोपकल्प कहते हैं। शिवालयस्थ जो भस्म है उसे अकल्प शतकल्प कहते हैं। इस प्रकार की ये चारों प्रकार की भस्म धारण करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् कालाग्नि रुद्र ने कहा है। यहाँ पर तीसरा ब्राह्मण समाप्त हुआ।

अब चतुर्थ ब्राह्मण में भुसुण्ड ने भगवान् कालाग्नि रुद्र से भस्म स्नान की विधि पूछी। इस पर कालाग्नि रुद्र ने बताया—भस्म को लेकर प्रणव से तो उसे मीडे। सात प्रणवों द्वारा अभिमंत्रित करे। उसी आगम द्वारा दिग्बन्ध करे, फिर उसी अस्त्र-मंत्र द्वारा अंगों में मूर्छा मे लगावे, फिर 'ईशान' इत्यादि से शिर में, तत्पुरुष से मुख मे, अघोर से उरुदेश में, वामदेव से गुह्य में, सद्योजात से पैरों में और प्रणव से सर्वाङ्गों में भस्म लगावे। फिर पैर से लेकर मस्तक सर्वाङ्ग में भस्म लगावे। फिर शरीर को झाड़कर आचमन करके सफेद वस्त्र धारण करे इसी को विधि भस्म स्नान कहते हैं

इस विषय में कहा गया है मुट्ठी मे भस्म लेकर सहिता मंत्र द्वारा अभिमंत्रित करके मस्तक से पाद पर्यन्त मल स्नान कहा गया है। उसी मंत्र से विधि स्नान भी करे। शिर में ईशान से पाँच बार, चतुर्थ वक्त्र से मुख मे चार बार, अघोर से हृदय मे आठ बार, गुह्य प्रदेश के तेरह स्थानों मे वामन से तेरह बार, आठ बार अन्त साध्य से पैरों में यत्नपूर्वक भस्म लगावे। 'राजन्यस्य' से सर्वाङ्ग में भस्म धारण करे। फिर किस समय किस २ को छूकर भस्म न लगानी चाहिये इसका वर्णन है।

फिर भुसुण्ड ने कालाग्नि रुद्र से त्रिपुण्ड लगाने की विधि पूछी। इस पर कालाग्नि रुद्र ने बताया कि ब्रह्मा, विष्णु शिवात्मक त्रिपुण्ड्र को मध्य की तीन उँगलियों से मूलमंत्र द्वारा त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिये। अथवा अनामिका मध्यमा और अगूठा से लगाते। त्रिपुण्ड्र ३२. १६, ८ अथवा ५ ही स्थानों में लगावे। इन स्थानों के मंत्रादि बताकर अंत में पाँच स्थान १—मस्तक २-३ —दोनों बाहुओं में, ४—हृदय और ५—नाभि इन स्थानों में त्रिपुण्ड्र धारण करे। फिर किस स्थान में त्रिपुण्ड्र धारण करने से क्या फल है, किस मंत्र से कहाँ, त्रिपुण्ड्र लगावे इसे बता कर अन्त में कहा है त्रिदेव, तीनों अग्नि, तीनों गुण तथा तीनों लोकों के धारण करने का फल त्रिपुण्ड्र धारण करने से होता है। इस प्रकार यहाँ चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त होता है।

पंचम ब्राह्मण में फिर भस्म धारण की विधि बतायी है। द्विजों को अग्निहोत्र की भस्म धारण करनी चाहिये। गृहस्थों और महर्षियों को विरजानल भस्म धारण करना मुख्य है, ब्रह्मचारी को समिधा अग्नि से उत्पन्न भस्म को धारण करना चाहिये। शूद्रों को श्रोत्रिय ब्राह्मणों के घर की पचनाग्नि भस्म धारण करनी चाहिये। और सबको अग्नि की भस्म को धारण करना चाहिये। जो वर्णाश्रम से अतीत पर महेश हैं, उन्हें स्मशान की भस्म धारण करनी चाहिये। जो शिवयोगी हैं, उन्हें शिवालय की अग्नि 'धूनी' की भस्म धारण करनी चाहिये। भस्म और त्रिपुण्ड्र के सम्बन्ध में श्लोक हैं, उनका भाव यह है कि—जिस विप्र ने सिर पर भस्म और त्रिपुण्ड्र धारण कर लिया है उसने सब कुछ पढ़ लिया, सब वेद पढ़ लिये, सब अनुष्ठान कर लिये। जिस द्विज ने भले ही वर्ण और आश्रम का आचार त्याग दिया हो, जिसकी सभी क्रियायें लुप्त हो गयी हों, यदि उसने एक-

भी त्रिपुण्ड धारण कर लिया है तो वह भी पूजनीय हो जाता है। जो भस्म धारण किये बिना कर्म करते हैं, उनकी कोटि जन्मों में भी संसार से मुक्ति नहीं हो सकती। जो त्रिपुण्ड, भस्म से द्वेष करते हैं, जो भस्म को देखकर क्रोध करते हैं वे वर्ण-संकर हैं। जो त्रिपुण्ड भस्म करने वाले का ताड़न करते हैं, क्रोध करते हैं। शिव की निंदा करते हैं ये सब घोर पापी हैं नरकगामी हैं। भस्म धारण करने से समस्त पाप भस्म हो जाते हैं। अतः जिनका शरीर भस्म से संदिग्ध है। भस्म सहित त्रिपुण्ड मस्तक पर लगा है, भस्म में शयन करते हैं, उनको भस्मनिष्ठ कहते हैं। यहाँ पंचम ब्राह्मण समाप्त होता है।

छठे ब्राह्मण में भुसुण्ड के पूछने पर कालाग्नि रुद्र ने नाम-पंचक का माहात्म्य बताते हुए भस्म की महिमा बतायी है। एक धनञ्जय नाम का वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण था, उसके सौ पत्नियाँ थीं। उनमें सबसे बड़ी भार्या का पुत्र करुण हुआ। उसकी स्त्री का नाम शुचिस्मेता था। अपने भाइयों के वैर को सहन न करके करुण घर से भवानी तट के नृसिंह मन्दिर में गया। वहाँ किसी ने देवता को चढ़ाने केलि जम्बीरी नींबू रखा था। इसने जाकर उस असमर्पित फल को सूँघ लिया। तो वहाँ के पूजक ने शाप दिया—यह तैंने मक्खी का काम किया है, अतः तू सौ वर्षों तक मक्खी हो जा। उसने अपनी स्त्री से जाकर सब वृत्तान्त सुनाया और कहा—"शुचिस्मिते! मेरी रक्षा करो।" ऐसा कहकर वह मर गया और मरकर मक्खी हो गया।

शुचिस्मिता मृतक पति की देह को तैल द्रोणी में रखकर उसे लेकर वसिष्ठ पत्नी अरुन्धती के समीप गयी। अरुन्धती ने कहा—मैं इसे जीवित कर दूँगी, ऐसा कहकर [illegible] की भस्म को लेकर उसने पुनः कहा—"यह अग्निहोत्र की

कहा—"हे शम्भो ! आपके चरणों में मेरी भक्ति हो, जो कोई भस्म धारण करेंगे वे मेरे भक्त होंगे ।"

इस प्रकार भस्म की महिमा कहकर फिर इस बृहज्जाबाल उपनिषद् का माहात्म्य बताया है। इस प्रकार छटा ब्राह्मण समाप्त हुआ । अब सातवें में जनक याज्ञवल्क्यजी सम्वाद है। राजा ने याज्ञवल्क्यजी से त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य पूछा, तब मुनि ने बताया—कि पहिले अमुक विधि से भस्म धारण करे। तब राजा ने भस्म धारण का फल पूछा—तब ऋषि ने कहा—"भस्म धारण करने से मुक्ति होती है । संवर्तक, आरुणि, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ आदि परमहंस विभूति धारण से ही मुक्त हो गये।" फिर राजा ने भस्म स्नान का माहात्म्य पूछा। उसे भी बताकर एक कथा कही।

एक बार जनक पिप्पलाद के पुत्र के साथ ब्रह्मलोक में गये। वहाँ ब्रह्माजी ने कहा—"जो शिवजी की महिमा है वही त्रिपुण्ड्र की महिमा है। जब पैप्पलाद ने विष्णु लोक में जाकर त्रिपुण्ड्र माहात्म्य पूछा तो भगवान् विष्णु ने भी यही बात कही। तब वे भगवान् कालाग्निरुद्र के पास आये । उन्होंने कहा—मैं तो त्रिपुड्र की विधि माहात्म्य कहने में समर्थ ही नहीं। जो त्रिपुण्ड्र धारण करता है वह मुक्त हो जाता है । यह त्रिपुण्ड्र त्रिदेवमय है ।

फिर रुद्राक्ष का माहात्म्य बताते हुए सनत्कुमार और कालाग्नि रुद्र सम्वाद बताया है। सनत्कुमारजी के पूछने पर कालाग्निरुद्र ने बताया—रुद्र के नेत्र से उत्पन्न होने के कारण इसे रुद्राक्ष कहते हैं। जो रुद्राक्ष वाणी से बोलता है उसे दश गौ दान का, जो हाथ में धारण करता है उसे दो सहस्र गौदान का, कान में एकादश सहस्र, शिर में धारण करने से कोटि गौदान

नृसिंह पूर्वतापनीय-उपनिषद्-सार

[२९३]

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥*

(शांतिपाठ)

छप्पय

श्रीनृसिंह उपनिषद् तापिनी पूर्व-सार सुनि ।
सलिल प्रथम ही रह्यो प्रजापति भये तासु मुनि ॥
तिनि तप करि नरसिंह मन्त्रराजहिँ पुनि देख्यो ।
छन्द अनुष्टुप माहिँ अङ्ग सहन्यासहु पेख्यो ॥
शक्ति बीज के सहित जो, अङ्गभूत मन्त्रनि सहित ।
प्रणववाच्य नरसिंह के, चार पाद बरनन करत ॥

---

* हे देवगण ! हम भजन करने वाले कानों से भद्र वचनों को ही सुनें, आँखों से भद्र को ही देखें । स्थिर अङ्गों और देह से स्तुति करें । हमारी जो आयु देवताओं के हित में आवे उसका हम भली-भाँति सदुपयोग करें ।

जिन इन्द्र का यश सर्वत्र फैला है, वे हमारे लिये कल्याण पोषण करें । विश्वदेवा और पूषा भी हमारे लिये कल्याण पोषण करें । अरिष्टनेमि जो तार्क्ष्य—गरुडजी हैं वे भी स्वस्ति करें और बृहस्पतिजी भी स्वस्ति करें ।

कई उपनिषदों में सर्वप्रथम सृष्टि का वर्णन करके प्रजापति ब्रह्माजी की उत्पत्ति का वर्णन करके उन प्रजापति को ही ज्ञान प्रकाशक बताया गया है, क्योंकि चारों वेदों का प्रकाश ब्रह्माजी के मुख से हुआ है। अतः उपनिषदों की भूमिका सृष्टि से ही बाँधते हैं—

सृष्टि से पूर्व सलिल ही था-सर्वत्र जलराशि भरी थी। उस जल में कमलपत्र पर ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। यहाँ कमलपत्र उपलक्षणमात्र है। अर्थात् ब्रह्माजी कमल से हुए। उनके अन्तःकरण में यह कामना उत्पन्न हुई कि मैं इस जगत् को उत्पन्न करूँ, क्योंकि यह प्रसिद्ध बात है, कि मनुष्य जो मन से सोचता है, उसे ही वाणी द्वारा बोलता है और उसे ही कार्य रूप में परिणत करता है।

इस सम्बन्ध में एक वेद की ऋचा का उद्धरण दिया जाता है। उसका भाव यह है—जब सृष्टि होने को होती है, तो पहिले मन से काम की उत्पत्ति होती है। जो जल सृष्टि से पूर्व विद्यमान था, वही जल सृष्टि का कारण है। ज्ञानी पुरुष काम को सत्स्वरूप आत्मा का बन्धन समझते हैं। उनके मत में असत् का जो कार्यभूत मन है उसी में काम उत्पन्न हुआ करता है। अर्थात् काम या इच्छा प्राकृत है। जो इस बात को जानता है उसकी कोई कामना विफल नहीं हुआ करती।" यह एक प्रकार की कई उपनिषदों की भूमिका है। इतना कहकर वे अपने मुख्य विषय का वर्णन करते हैं। इससे पूर्व बृहज्जाबालोपनिषद् थी उसमें भी कुछ शब्दों के हेर-फेर से यही भूमिका थी और इस नृसिंहपूर्वतापनी में ही प्रायः इसी भाँति सृष्टि क्रम बताकर ब्रह्माजी द्वारा मन्त्रराज की उत्पत्ति का वर्णन किया है।

सूतजी कहते हैं—"अब मैं नृसिंह पूर्वतापनीय उपनिषद्

का सार सुनाता हूँ। यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है। 'भद्रं कर्णेभिः' इत्यादि इसके शान्ति पाठ हैं। यह आठ अध्यायों में समाप्त है। प्रथम अध्याय में पाँच उपनिषद् हैं।

प्रथम अध्याय की प्रथम उपनिषद् में ब्रह्माजी की उत्पत्ति ताकर उनके तप का वर्णन है। तपस्या द्वारा नारसिंह मन्त्रराज ा साक्षात्कार किया। यह मन्त्रराज अनुष्टुप छन्द में होने से ानुष्टुभ भी कहलाता है। इसी मन्त्र के प्रभाव से उन्होंने इस राचर जगत् की रचना की। इस मन्त्र के ही कारण सब त्पन्न होकर इसी में रहते हैं। अनुष्टुप छन्द सब छन्दों में ष्ठ है।

इस मन्त्रराज साम का प्रथम चरण समस्त पृथ्वी है, द्वितीय रण अन्तरिक्ष, स्वर्गलोग इसका तृतीय चरण है और निरमल, रञ्जन, विशुद्ध परमव्योम ब्रह्मतत्त्व है, इसे इसका चतुर्थ चरण नें। चारों शाखाओं सहित वेद इसके चार पैर हैं। इस मन्त्र ध्यान, देवता, अङ्ग, छन्द, ऋषि तथा देवगणों को बताकर मन्त्र को परमगुप्त कहा है, इसे सब किसी को न दे। इस त्र के उग्र, वीर, महाविष्णु, ज्वलन्त, सर्वतोमुख, नृसिंह, ाण, भद्र, मृत्यु-मृत्यु इन द्वितीयान्त पदों का और अन्त ामामि और अहम् इन शब्दों को अनुष्टुप छन्द के चार भागों ंभक्त करके व्याख्या की गयी है। फिर इस मन्त्रराज की सना का फल बताया है। यहाँ प्रथम अध्याय की प्रथम उप- ् समाप्त हुई।

द्वितीय उपनिषद् में इस मन्त्रराज की शरण लेने से प्राणी को तर जाता है, इस बात को बताते हुए एक कथा सुनायी क बार सभी देवों को मृत्यु, पाप और संसार से भय । वे भयभीत होकर ब्रह्माजी की शरण में गये। ब्रह्माजी ने

उन्हें इसी मन्त्रराज आनुष्टुभ मन्त्र का उपदेश दिया, इससे वे सब भयरहित हो गये। अतः जो भी इस मन्त्रराज की शरण लेता है वह मृत्यु, पाप और संसार से तर जाता है।

इस मन्त्र में सर्वप्रथम प्रणव है। प्रणव की अ, उ, म् और अर्ध मात्रा ये चार मात्रायें हैं। ये चार मात्रायें ही भू, भुव, स्व और सोम चार लोक, चार वेद, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और प्रणव चार देव, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और विराट् चार छन्द तथा चार अग्नियाँ हैं। यह तो प्रणव की चार मात्राओं की व्याख्या हुई। यह मन्त्र अनुप् छन्दों में है इसलिये इसके अङ्गन्यास और इसके बत्तीस अक्षरों में प्रणव लगाकर शिखा से लेकर पैर पर्यन्त बत्तीस अङ्गों में करन्यास करे।

अब देवताओं ने इस मन्त्रराज के उग्र, वीर, महाविष्णु, जलन्त, सर्वतोमुख, नृसिंह, भीषण, भद्र, मृत्युमृत्यु, नमामि और अहम् इन प्रत्येक शब्द की व्याख्या पूछी, इनका क्या अर्थ है। तब ब्रह्माजी ने मन्त्र के प्रत्येक पद की शास्त्रीय व्याख्या करके उन देवताओं को समझाया इस महोपनिषद् के अर्थ को जो जानता है वही उपासक है। यहाँ प्रथम अध्याय की द्वितीय उपनिषद् समाप्त होती है।

तृतीय उपनिषद् में इस आनुष्टुभ नृसिंह मन्त्रराज की शक्ति का और बीज का वर्णन है। विष्णु की शक्ति श्रीदेवी, नृसिंह शक्ति लक्ष्मी, शिव शक्ति अम्बिका, ब्रह्मा शक्ति सरस्वती, स्कन्द शक्ति षष्ठी, इन्द्र शक्ति इन्द्रसेना, ब्रह्म शक्ति विद्या इनको मन्त्रराज की शक्ति बताकर इनसे उपासक द्वारा रक्षा की प्रार्थना की गयी है। आकाश स्वरूप स्वयम्प्रकाश पुरुषोत्तम हैं। वे ही इस मन्त्रराज के बीज भूत हैं। इस प्रकार मन्त्रराज की शक्ति और बीज का वर्णन करके तृतीय उपनिषद् समाप्त की है।

अब चतुर्थ उपनिषद् में देवताओं के पूछने पर प्रजापति ने मन्त्रराज आनुष्टुभ के अङ्गभूत मन्त्रों का वर्णन किया है। फिर चार पादों की व्याख्या की है। फिर लक्ष्मी गायत्री, नृसिंह गायत्री को बताकर मन्त्रराज में जो ३२ अक्षर हैं, उन सबमें पहिले प्रणव लगाकर उस अक्षर को द्वितीयान्त बनाकर पुनः प्रणव लगाकर यः ह वै नृसिंहः के आगे देवः और भगवान्यश्च ब्रह्मा और भूर्भुवः स्वः लगाकर तस्मै वै नमो नमः। ऐसे ३२ मन्त्र बनाये हैं। ये ३२ मन्त्र ही मन्त्रराज आनुष्टुभ के अङ्गभूत मन्त्र हैं। ये ही प्रणव वाच्य भगवान् नृसिंह के चार पादरूप हैं। इन बत्तीस अक्षरों वाले बत्तीस मन्त्रों से प्रतिदिन ब्रह्माजी ने भगवान् नृसिंह का स्तवन करने की आज्ञा दी है। इन मन्त्रों से स्तुति करने वाले को नृसिंह भगवान् के विश्वरूप के दर्शन हो जाते हैं और उसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है। यहाँ प्रथम अध्याय की चतुर्थ उपनिषद् समाप्त होती है।

अब पञ्चम उपनिषद् में नारसिंह मन्त्रराज के सुदर्शन नामक महाचक्र का विस्तार से वर्णन किया गया है और अन्त में इस महामन्त्र का जो साधक जप करता है उसे परमपद की प्राप्ति होती है ऐसा कहकर ब्रह्माजी ने देवताओं को जप करने का परम फल बताया है। जो इसका जप करता है वह अग्निपूत, वायुपूत, आदित्यपूत, सोमपूत, सत्यपूत, ब्रह्मपूत, विष्णुपूत, रुद्रपूत, वेद-पूत तथा सर्वपूत हो जाता है। यहाँ आकर पञ्चम उपनिषद् और प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

अब द्वितीय अध्याय में मन्त्र जप करने वाला मृत्यु, पाप, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, वीरहत्या, सर्वहत्या और जन्म-मृत्यु सबको पार कर जाता है, ऐसा माहात्म्य बताकर द्वितीय
किया।

अब तृतीय अध्याय में भी मन्त्रराज को जप करने वाला वायु, सूर्य, चन्द्र, जल, सम्पूर्णदेव, मय ग्रहों की गति को रोकने में विष को भी स्तम्भन करने में समर्थ होता है। ऐसा जप का माहात्म्य बताकर तीसरा अध्याय समाप्त किया।

अब चौथे अध्याय में मन्त्रराज का जप करने वाला देवता यक्ष, नाग, ग्रह, मनुष्य तथा सभी को आकर्षण कर लेता है। ऐसा जप का माहात्म्य बताकर चौथा अध्याय समाप्त किया।

अब पञ्चम अध्याय में इस मन्त्र का जापक सातों लोकों को जीत लेता है यह बताया, छटे अध्याय में सब यज्ञों का फल पाता है, इसे बताया, सातवें अध्याय में इस मन्त्र का जापक शाखाओं सहित चारों वेदों के, इतिहास, पुराण, गाथा तथा प्रणवादि सभी के अध्ययन का फल पा लेता है। आठवें अध्याय में इस मन्त्र के जप करने का सबसे अधिक माहात्म्य है इसे अनेक उदाहरण देकर बताया गया है!

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार यह नृसिंह पूर्वतापनीय उपनिषद् आठ अध्यायों में समाप्त की है। यह उपासना सम्बन्धी उपनिषद् है। इसकी उपासना करनी हो तो इस अङ्गों के सम्बन्ध में, अंगन्यास, करन्यास, इनके चारों पादों के सम्बन्ध में तथा सुदर्शन महाचक्र के सम्बन्ध में मूल ग्रन्थ को सुयोग्य आचार्य से पढ़कर, उनसे नृसिंह मन्त्र की दीक्षा लेकर तब अनुष्ठान करना चाहिये। इस प्रकार मैंने यह बहुत ही संक्षेप में नृसिंह पूर्वतापनीय उपनिषद् का सार सुना दिया। अब आप नृसिंह उत्तरतापनीय उपनिषद् का सार श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

इस्तुति के कहि मन्त्र कहे बत्तीस अक्षरनि।
प्रति अक्षर द्वितीयांत प्रणव करि आदि अँतरनि॥
मन्त्रराज को महाचक्र जिहि नाम सुदरसन।
ताकी महिमा और करी विधि ताकी बरनन॥
फिर नरसिंह के मन्त्र के, जप की शुभ महिमा कही।
यों जिह उपनिषद सकल, प्रेम सहित पूरन भई॥

इति नृसिंह पूर्वतापनीय-उपनिषद्
सार-समाप्त

अनुज्ञा, और अविकल्प ये चार भेद बताये हैं। तीन पाद तो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं द्वारा उपलक्षित हैं, यह चौथा पाद जो तुरीय चौथी अवस्था कही गई है उसका इसी तुरीय में पर्यवसान होता है। इसके जो चार भेद कहे गये हैं। उनमें जो पहिले तीन ओत, अनुज्ञातृ और अनुज्ञा भेद हैं उनको भी सुषुप्ति स्वप्न के समान माया मात्र ही माने, चौथा जो अविकल्प अथवा निर्विशेष निर्विकल्प है। वही एक मात्र चिन्मय है अर्थात् चतुर्थपाद अचिन्त्य, अवाङ्मानसगोचर, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार नृसिंह भगवान् के चार पाद बताकर पहिला खण्ड समाप्त किया गया है।

अब आया द्वितीय खण्ड। द्वितीय खण्ड जो नृसिंह भगवान के चार पाद बताये हैं उन प्रणव में जो अकार, उकार, मकार तथा अर्धमात्रा ये चार मात्रा हैं, इनके साथ भगवान् के चार पादों की एकता का वर्णन है। प्राप्य वस्तु तो चतुर्थपाद तुरीय ही है। उस भगवान् के चतुर्थपाद का ज्ञान नृसिंह भगवान् का जो आनुष्टभ मन्त्रराज है। उसी के द्वारा सम्भव है। इसका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इस प्रकार मन्त्रराज की उपासना करने से साधक स्वयं ही नरों में सिंह अर्थात् नृसिंह रूप हो जाता है। अब आया तृतीय खंड।

तृतीय खण्ड में जो यह बत्तीस अक्षरों वाला चार पादों वाला भगवान् नृसिंह का जो मन्त्रराज है, जो अनुष्टुप छन्द में होने से आनुष्टुभ भी कहलाता है इसके चारों पादों के पृथक्-पृथक् जप का पृथक् पृथक् वर्णन है। जैसे प्रणव में चार मात्रायें हैं और इस मन्त्रराज में चार पाद हैं। चौथे पाद के जो ओत, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प भेद हैं इनमें से तीन पादों की समता, वेदत्रयी, त्रिदेव, त्रिअग्नि, स्थूल, सूक्ष्म और बीज

तीन रूप, तीन लोक, तीन छन्दों के साथ तुलना करके अंतिम जो चौथा तुरीयपद है उसकी सोमलोक, अथर्ववेद, सवर्तक, अग्नि, मरुत्गण, विराट् छन्द, अग्नि, एक ऋषि, इनके साथ तुलना करके इन सबके ध्यान चिंतन की विधि बताकर अन्त मे ताप का क्रम बताया है। जैसे सर्वव्यापक आत्मा है, उसके तेजोमय रूप मे चिंतन करे। फिर उसके गुण जो स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्व हैं उनकी परमात्मा के चारों पादों में तथा ओंकार का चारों मात्राओं में एकता स्थापित करे। जैसे महास्थूल को महासूक्ष्म में लीन करे, फिर महासूक्ष्म को महाकारण में लीन करे। फिर अकार (विराट्रूप) उकार (हिरण्यगर्भरूप) मकार (ईश्वर रूप) इनको एक दूसरे में लीन करता हुआ अन्त में सभी तीनों को तुरीयपद है उसमें लीन कर दे। फिर चतुर्थपाद के जो ओत, अनुज्ञात, अनुज्ञा और अविकल्प चार भेद बताये थे,इन तीनों को भी अंतिम अविकल्प या निर्विकल्प में लीन कर सबका उपसंहार करे। इस प्रकार मन्त्र के चारों पादों को प्रणव के चारों अक्षरों से समता करके पृथक् पृथक् पद के जप को तथा ध्यान की विधि बता कर तीसरा खंड समाप्त किया है।

अब चतुर्थ खण्ड मे अपनी आत्मा के रूप से नृसिंह भगवान् के चिन्तन की विधि बतायी है। महामन्त्र के जो वाक्य हैं उनका ध्यान के समय कैसे उच्चारण करे। इसके अनेक मन्त्र बताकर अन्त में अपनी आत्मा को पहिले तुरीय रूप से चिन्तन करे इसकी विधि बताकर पीछे उसे भगवान् नृसिंह रूप मे कैसे ध्यान करे और अन्त में अपने आपको परब्रह्म के साथ कैसे एकीभूत करे इसकी विधि बतायी गयी है।

पंचम खण्ड में पहिले यह बताया गया है, कि यह मन्त्रराज अनुष्टुप् छन्द में है, तो इस अनुष्टुप् छन्द को प्रणव की चार

मात्राओं में अन्तर्भाव कर दे। अनुष्टुप् का ओंकार में अन्तर्भाव कैसे किया जाता है, पहिले तो प्रत्येक मात्रा के साथ मन्त्रराज के प्रत्येक पद का भाव बताकर उसमें उसे लीन करना बताया है। इस प्रकार मन्त्रराज का प्रत्येक पद प्रणव में लीन होकर वह नृसिंह देव स्वरूप परब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्म स्वरूप होकर साधक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार परमात्मा के चिन्तन की विधि बतायी है।

अब छटे खण्ड में देवताओं ने अपने आपको प्रणव का वाच्यार्थ मानकर अपने को परब्रह्म में कैसे लीन कर दिया इसकी विधि बतायी है। अन्त में कहा है। शृङ्गेषु शृङ्गं संयोज्य-अर्थात् प्रणव की जो अकार उकार और मकार ये तीन मात्रायें हैं उनमें तुरीय परमात्मा का संयोग करके सिंह को अर्थात् मन्त्रराज को प्रणव की मात्राओं में नियुक्त करे। फिर प्रणव की जो अकार उकार दो मात्रायें हैं उन्हें प्रणव की एकमात्रा मकार में आबद्ध करे। तीनों मात्राओं की एकता का बोध चिन्तन करके तीनों प्रकार के देवता उच्चस्थिति प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार प्रणव के वाच्यार्थ अपने आपको परब्रह्म में विलीन करने की विधि बतायी है।

फिर सातवें खण्ड में आत्मा तथा परमात्मा में किस प्रकार एकता का अनुभव करके उसका चिन्तन करे इसकी विधि बतायी गयी है। अन्त में एक श्लोक में इस खण्ड का इस प्रकार सार कह दिया है। प्रणव की जो पहिली मात्रा शृङ्ग-अकार है उसे शृङ्गार्ध-द्वितीय मात्रा उकार के पूर्वार्ध-ब्रह्म के प्रति आकृष्ट करके-शृङ्गेणयोजयेत्-अर्थात् मकार के साथ संयुक्त करे-अर्थात् ब्रह्म और आत्मा की एकता का चिन्तन करे। प्रणवस्थ अकार के अर्थरूप आत्मा को-परे शृङ्गे-मकार के

-साथ। तम् अनेन अपियोजयेत् मकार के अर्थ भूत आत्मा के साथ सयुक्त करे। सारांश यह हुआ कि परमात्मा और आत्मा को एकता का अनुभव करे और दोनों की एकता का ही चिन्तन करे।

अष्टम खण्ड में चतुर्थ जो तुरीय पद है, उसके जो ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प ये जो चार भेद बताये उनके साथ ओंकार और आत्मा का सर्वव्यापकता बतायी है। आत्मा तथा प्रणव सब तुरीय में ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार आत्मा की अनुज्ञाता, अनुज्ञा और निर्विकल्प इनके साथ भी प्रणव की एक-रूपता बताकर आत्मा को भेद रहित सिद्ध किया। यह ब्रह्म सर्वथा भय से रहित है। जो इस प्रकार जानता है, वह भी भय से शून्य ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार अष्टम खण्ड में भय रहित ब्रह्मरूप हो जाने की विधि का वर्णन है।

अब नवम खड मे देवताओं ने ब्रह्माजी स ओंकार के लक्ष्यार्थ भूत आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस पर ब्रह्माजीने उप-द्रष्टा, अनुमन्ता सिद्ध रूप आत्मा को चित्स्वरूप तथा निर्विकार और सवत्र साक्षिमात्र बताया। इस प्रकार आत्मा को अद्वैत सिद्ध किया। जो यह द्वैत प्रतीत होता है, यह सब माया में ही है। माया से आभास द्वारा चैतन्य एक आत्मा जीव और ईश्वर के भेद में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह माया त्रिगुणात्मिका है। इस त्रिगुणात्मिका माया द्वारा ही जीव और ईश्वर में भेद हो जाता है। शरीर मे अभिमान रखने वाला चेतन ही जीव कहलाने लगता है, उस जीव पर जो नियंत्रण रखता है उसे ईश्वर कहते हैं। यह सब माया के ही द्वारा होता है। वास्तव में -सत् स्वरूप ब्रह्म ही एक अद्वय और स्वतः सिद्ध है।

इस प्रकार बताकर ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा—"तुम स्वयं

ही द्वैतरूप में भासित होने वाले अद्वैत आत्मा हो। द्वैत के प्रति आसक्ति होने के कारण तुम अपने को असंग न समझकर ससंग समझे हुए हो।"

देवताओं ने कहा—"नहीं प्रभो ! हम तो असङ्ग ही हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"असंगता में तो द्वैत दिखायी ही नहीं देता ? ब्रह्म तो अद्वय है, वह शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है, सब ओर से परिपूर्ण सत्चित तथा आनन्द स्वरूप है। वह अनिर्वचनीय तथा अवाङ् मनसगोचर है। आत्मा प्रणव का वाच्यार्थ है।"

इस प्रकार ब्रह्माजी ने देवताओं को प्रणव के द्वारा आत्मा को जानने की विधि बतायी और उन्हें उपदेश दिया तुम अपने को एकमात्र साक्षिरूप मानकर आनन्द के साथ स्थित हो जाओ। सम्पूर्ण उपदेश का सार बताते हुए उन्होंने प्रणव के चतुर्थ तुरीय पाद के जो ओत, अनुज्ञाता अनुज्ञा और अविकल्प चारभेद बताये थे, उनके सम्बन्ध में कहा—देखो, चार भेदों में से पहिला भेद है ओत-प्रोत (अर्थात् सर्वव्यापक)। आत्मा को उस आत्मा प्रणवरूपी ओत के द्वारा जाने। फिर दूसरा भेद अनुज्ञाता है उसे प्रणव के अनुज्ञाता आत्मा के रूप में जाने। तीसरा भेद जो अनुज्ञा है उसे भी प्रणव के द्वारा अनुज्ञारूप आत्मा को जाने। चौथा जो भेद अविकल्प या निर्विकल्प है, उसे प्रणव द्वारा अविकल्प आत्मा को जानकर उपद्रष्टा भाव को प्राप्त हो। कहने का सारांश यही है, अपने को केवल साक्षी समझकर स्थित रहे। जैसे दीपक कर्ता नहीं। दीपक के प्रकाश में जो भी पुरुष कर्म करते हैं दीपक केवल उनका साक्षी होता है, उसे कर्ता का पुण्य पाप नहीं लगता। इसी प्रकार तुम अपने को साक्षी समझो।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह अथर्ववेदीय नृसिंहउत्तरतापनीय उपनिषद् अद्वैतपरक है। ब्रह्माजी ने

देवताओं को आत्मा, प्रणव और ब्रह्म की एकता का उपदेश करते हुए, माया और जीव को मिथ्या बताते हुए एक मात्र परब्रह्म को ही अद्वैत सच्चिदानन्द स्वरूप सिद्ध किया। यह सब ज्ञान प्रणव जिसके आदि में है ऐसे उग्र, वीर, महाविष्णु, ज्वलन्त, सर्वतोमुख, नृसिंह, भीषण, भद्र, मृत्यु मृत्यु इन नौ द्वितीयान्त पद वाले अन्त में नमाम्यहम् वाले बत्तीस अक्षरों के चार पाद वाले अनुष्टुप् छन्द वाले नृसिंह मन्त्रराज के जप से, ध्यान से होगा। यही दोनों उपनिषदों का सारतत्त्व है। इस प्रकार नृसिंह पूर्वतापनीय और उत्तरतापनीय उपनिषदों का अत्यन्त ही संक्षेप में सारतत्त्व कहा अब आप आगे कालाग्निरुद्र, मैत्रेयी आदि उपनिषदों का सार सुनिये।"

छप्पय

मन्त्रराज के चार पाद को पृथक पृथक जप।
कैसे तिनको ध्यान करें विधि कहो करें तप॥
तुरिय रूप नरसिंह रूप सँग ब्रह्म एकता।
प्रणव संग जस करे एकता चिन्तन थिरता॥
ओंकार वाच्यार्थ में, ब्रह्मलीन ह्वैकें रहै।
आत्मा अरु परमात्मा, करै एक थित अभय है॥

—o—

इति नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद्-सार
समाप्त

कालाग्नि रुद्र और मैत्रेयी उपनिषद्-सार

[२९५]

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत् परमेश्वरम् ।
साक्षिणं बुद्धि वृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥*

(मै० उ० १ अ० ८ मं०)

छप्पय

अब आगे कालाग्नि रुद्र उपनिषद् बतावें ।
सनत्कुमारहिँ रुद्र त्रिपुण्डहिँ विधि बतलावें ॥
पुनि मैत्रेयी कही उपनिषद् भूप बृहद्रथ ।
के प्रति शाकायन्य कही जिहि गूढ़ अरथ अथ ॥
रुद्र कह्यो निजकूँ लखै, सत्यासत्य विहीन नित ।
सोहं पुरुषोत्तम परम, सम, केवल, आनन्द सत ॥

जीव तो शुद्ध है, चैतन्य है, आनन्द रूप है। शरीर संसर्ग से, अहङ्कार के संयोग से, माया के प्रभाव से, अपने यथार्थ रूप को भूलकर अशुद्ध-सा, जड़-सा, तथा आनन्दरहित बन गया है। उसके समीप ही हृदय कमल की कर्णिका की गुप्त गुफा में उसके स्वामी सर्वेश्वर विराजमान हैं। जब चित्त की वृत्तियाँ बाह्य

---

* हृदय कमल के मध्य में जो परम प्रेम गोचर बुद्धि वृत्ति के साक्षी परमेश्वर हैं, उन्हीं की भावना करनी चाहिये—उन्हीं का शुद्ध चित्त से ध्यान करना चाहिये।

प्रपञ्च की चिन्तना छोड़कर अन्तर्मुखी होगीं, भीतर की ओर देखने लगेंगीं, तो जीव को—अपने यथार्थ स्वरूप का स्मरण हो आवेगा। तब वह सोचेगा मैं तो इनका सनातन सखा हूँ। पिप्पली फल खाने से मेरी ऐसी दशा हो गयी है। मेरा सखा इन फलों को नहीं खाता। वह साक्षी रूप से केवल देखता ही रहता है। आज से मैं भी इन बन्धन में डालने वाले—अपने निज स्वरूप को भुलाने वाले इन कड़वे फलों को नहीं खाऊँगा। जहाँ वह इन फलों का परित्याग कर देता है वहाँ मर्त्य से अमृत हो जाता है, निरानन्द से आनन्दमय शान्तिमय बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं कालाग्नि रुद्र उपनिषद् के सार को आपसे कहूँगा। इसका शान्ति पाठ 'सहनाववतु' है। यह बहुत छोटी शैव उपनिषद् है। इस उपनिषद् का संवर्तक अग्नि तो ऋषि है, अनुष्टुप् इसकी छन्द है। श्री कालाग्नि रुद्र इसके देवता हैं। भस्म त्रिपुण्ड धारण करने में इसका विनियोग होता है। सनत्कुमार ऋषि ने भगवान् कालाग्नि रुद्र से पूछा—"भगवन्! मुझे त्रिपुण्ड धारण करने की विधि बतावें। इसमें कौन-सा द्रव्य लगता है, किन-किन स्थानों में लगावें, या कहाँ-कहाँ लगावें। इसकी रेखा, मन्त्र, शक्ति, दैवत, तथा कर्ता के विषय में बतावें और त्रिपुण्ड लगाने का फल क्या है इसे भी बतावें।"

इस पर भगवान् कालाग्नि रुद्र ने बताया—"देखो, भाई! इसमें द्रव्य तो अग्नि में जली भस्म है। भस्म का त्रिपुण्ड लगाना चाहिये। सद्योजातादि जो पाँच ब्रह्म मन्त्र हैं उनसे तो भस्म को ग्रहण करे। फिर अग्नि, वायु, जल, स्थल, व्योम इन सबमें पृथक् पृथक् इति लगाकर भस्म कहकर इससे भस्म को अभि-मन्त्रित करे। 'मानस्तोक' इत्यादि मन्त्र से भस्म को उठावे।

फिर 'मानो महान्तम्' इत्यादि मन्त्र से जल से उसे गीली करके 'त्रियायुषम्' इत्यादि मन्त्र से सिर, ललाट, वक्षःस्थल और कन्धों में भस्म लगावे। तदनन्तर 'त्रियायुषैः त्र्यम्बकैः त्रिशक्तिभि' इस प्रकार माथे पर तीन रेखायें बनावे। वेद वादियों ने इसे शाम्भव व्रत कहा है। जो इस प्रकार त्रिपुण्ड्र धारण करता है उसका फिर संसार में जन्म नहीं होता।"

इस पर सनत्कुमारजी ने पूछा—"इस त्रिपुण्ड्र धारण का प्रभाव क्या है ?"

इस पर कालाग्नि रुद्र भगवान् ने कहा—"तीन रेखाओं का त्रिपुण्ड्र होता है। पहिली रेखा ललाट से चक्षु, मूर्धा, भ्रु-मध्य पर्यन्त हो। यह पहिली रेखा गार्हपत्य अग्नि स्वरूप, रजोगुण, भूलोक, स्वात्मा, क्रियाशक्ति, ऋग्वेद, प्रातः सवन तथा प्रणव के प्रथम अक्षर अकार स्वरूप है। इसके महेश्वर देवता हैं। इसके ऊपर जो दूसरी रेखा है वह, दक्षिणाग्नि स्वरूप प्रणव का दूसरा अक्षर उकार, सत्वगुण, अन्तरिक्ष लोक, अन्तरात्मा, इच्छाशक्ति, यजुर्वेद तथा माध्यन्दिन सवन स्वरूपा है। इसके सदाशिव देवता हैं। इसके ऊपर जो त्रिपुण्ड्र की तीसरी रेखा है, वह अग्नियों में आहवनीय अग्नि स्वरूपा, प्रणव का तृतीय अक्षर मकार, द्यौलोक, परमात्मा, ज्ञानशक्ति, सामवेद तथा सायंसवन स्वरूपा है। इसके महादेव ही देवता हैं।

इस विधि से जो भस्म द्वारा शरीर के अङ्गों में त्रिपुण्ड्र धारण करता है वह विद्वान् चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी हो। वह महापातक, उपपातकादिकों से पवित्र हो जाता है। जिसने शरीर में भस्म का त्रिपुण्ड्र धारण कर लिया, उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया। उसने सभी वेदों को पढ़ लिया, उसने समस्त देवताओं को जान लिया। वह

निरन्तर सकल रुद्र मन्त्रों का जप करने वाला होकर पृथ्वी के समस्त भोगों को भोगने वाला होता है, अन्त में देह त्यागकर शिवजी का सायुज्य प्राप्त करता है। उसका संसार में फिर जन्म नहीं होता। फिर जन्म होता ही नहीं है, यह बात भगवान् कालाग्नि रुद्र ने अपने श्रीमुख से स्वयं कही है। जो इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, उसको भी शिव सायुज्य प्राप्त होती है। ॐ सत्यम्-इति कालाग्नि रुद्र उपनिषद्।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने त्रिपुण्ड्र धारण की विधि बताने वाली कालाग्नि रुद्र उपनिषद् का अर्थ आपसे कहा। अब आप मैत्रेयी उपनिषद् का सार सुनिये।"

मैत्रेयी उपनिषद् का 'आप्यायन्तु' इत्यादि शान्ति पाठ है। यह उपनिषद् तीन अध्यायों में समाप्त हुई है। प्रथम अध्याय में राजा बृहद्रथ अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर वन में तपस्या करने चला गया। उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर बहुत से मुनि उनके समीप आये। उनमें से शाकायन्य ऋषि ने उससे वर माँगने को कहा।

तब राजा ने संसार की असारता बताते हुए कहा—"भगवन्! यह शरीर मैथुन द्वारा उत्पन्न हुआ है। नरक का द्वार है। मूत्र स्थान से निकला है। हड्डियों से बनाया गया है, मांस से लीपा गया है, चर्म से ढका है। विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त, कफ, मज्जा, मेदा, वसा आदि मलों से परिपूर्ण है, ऐसे शरीर में वर्तमान मेरी एकमात्र आप ही गति हैं। इससे मेरा उद्धार कैसे हो?"

इसपर शाकायन्य ऋषि ने कहा—"महाराज! आप इक्ष्वाकु वंश की ध्वजा स्वरूप हैं। आपको आत्मज्ञान की जिज्ञासा हुई

इससे आप कृतकृत्य हो गये। आपका मरुत् यह नाम विख्यात होगा।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! आत्मा कैसा है, इसे मुझे बतावें?"

तब शाकायन्य ऋषि ने कहा—"देखो, ये जो शब्द, स्पर्शमय भोग रूप अर्थ हैं वास्तव में ये अनर्थ रूप हैं। इनमें जो जीव आसक्त हो जाता है, वह परमपद का स्मरण नहीं करता है। देखो, राजन! तपस्या से सत्त्व की प्राप्ति होती है, सत्त्व से मन का शुद्ध स्वरूप ज्ञात होता है। शुद्ध मन से आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा की प्राप्ति होने पर अपत्यादि से निवृत्ति हो जाता है। जैसे अग्नि जल रही है। जब उसका ईंधन समाप्त हो जायगा, तब वह अपने आप बुझ जायगी। इसी प्रकार चित्त की वृत्तियों के क्षय हो जाने पर चित्त अपने आप शान्त हो जायगा। जब मन अपनी ही योनि में उपशान्त हो जायगा, तब वह सत्यगामी बन जायगा। जब वह इन्द्रियों के जो शब्द स्पर्शादि अर्थ हैं उनमें फँस जायगा तो विमूढ़ बन जायगा तब वह असत्यगामी होकर कर्मों के वशवर्ती हो जायगा।

संसार कोई अन्य वस्तु नहीं। यह चित्त ही संसार है, इसलिये प्रयत्न पूर्वक चित्त का ही संशोधन करना चाहिये। चित्त जहाँ जाकर अटक जायगा वहीं तन्मय हो जायगा। यही सनातन गुह्य सत्य है। चित्त के ही प्रसाद से शुभ तथा अशुभ कर्म नाश हो जाते हैं। तब जीव प्रसन्नात्मा होकर अक्षय सुख को प्राप्त होता है। जैसा चित्त विषयों में आसक्त है यदि ऐसी ही आसक्ति इसको ब्रह्म में हो जाय तो फिर कौन ऐसा है जो संसार बन्धन से छूट न जाय? हृदय कमल के मध्य स्थित परम प्रेमगोचर बुद्धि वृत्ति के साक्षी परमेश्वर का ही ध्यान करना

चाहिये। वह परब्रह्म अगोचर है, मन वचनादि से परे हैं, सत्ता-मात्र है, एक ही प्रकाश स्वरूप है, वहाँ न तेज है न तम है। निर्विकल्प, निराभास, निर्वाणमय संविद है। वह आनन्द का सागर है, 'सोऽहमस्मि' स्वरूप है।

ऐसा ध्यान करे कि मैं सदा निजानन्द में निमग्न हूँ, यह जो आशा नाम वाली पिशाची है इसका सदा तिरस्कार करता रहे। इस जगत् को इन्द्रजाल करके देखे। यह सोचे - "मैं तो असंग हूँ, मुझमें यह जगत् प्रपञ्च कैसे प्रवेश कर सकता है। जो अज्ञानी हैं कर्मों में विमूढ बने हुए हैं, वे वर्ण और आश्रम के कर्मों में आसक्त होकर अपने-अपने कर्मानुसार फलों को प्राप्त होते हैं। मैं तो आत्मस्वरूप वर्ण आश्रमों के कर्मों से परे हूँ। ऐसा दृढ़ निश्चय करके सभी कर्मों का परित्याग करके पुरुष अपने ही आनन्द में सदा परितृप्त बना रहता है। इसलिये जो वर्णाश्रम से संयुक्त सकाम कर्म हैं, वे आदि और अन्त वाले हैं, बड़ी कठिनता से सम्पादित होते हैं। इसलिये पुत्र परिवार आदि में, देहादि में सबमें अभिमान शून्य होकर अनन्त सुख वाले ब्रह्मतत्त्व में अपनी स्थिति करे। यहाँ आकर पहिला अध्याय समाप्त होता है।

दूसरे अध्याय में भगवान् मैत्रेय कैलाश में गये। वहाँ उन्होंने महादेवजी से परमतत्त्व पूछा।

तब महादेवजी ने कहा—"देखो, इस देह को तो देवालय मानो। इसमें रहने वाले जीव को केवल शिव समझो। देवता पर जो निर्माल्य चढ़ी रहती है उसे फेंक देते हैं। इसलिये जीव पर जो अज्ञान रूपी निर्माल्य है उसे फेंक दो। इस जीव रूप देव की 'सोऽहं-सोऽहं' इस भाव से पूजा करो। अभेद दर्शन का ही नाम ज्ञान है, मन का निर्विषय हो जाना यही ध्यान है, मन

के मल का त्याग करना यही स्नान है, इन्द्रियों का निग्रह कर लेना यही शौच है। ब्रह्मरूप जो अमृत है उसे तो पीया करे। और देह की रक्षा के लिये अमृतान्न जो भिक्षा का अन्न है उसे माँगकर लाकर खाया करे। एकान्त में निवास करे। एकान्त क्या है जहाँ द्वैत न हो। जो इस प्रकार आचरण करता है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

देखो, यह देह मरा हुआ ही पैदा होता है, देह क्या है? माता पिता का मल रूप है, सुख-दुःख का घर है अपवित्र है, मृतक सदृश है। इसे छूकर स्नान करना चाहिये। सप्त धातुओं से यह देह आबद्ध है, महारोगों का घर है, पापों का मंदिर है, नाशवान् है, विकारों के आकारों से बढ़ा हुआ है, इसे छूकर स्नान करना चाहिये। देखो, इसके नौओं द्वारों से स्वतः ही सदा मल बहता रहता है, इसमें दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध भरी है, मलों से ठसाठस परिपूर्ण है, इसे छूकर स्नान करना चाहिये। माता के सूतक सम्बन्ध से सूतकों के साथ ही यह पैदा हुआ है। जिस देह के जन्म के समय भी सूतक और मरने पर भी सूतक लगते हैं, उस देह को छूकर स्नान करना चाहिये। ये जो अहंता और ममता हैं, वास्तव में ये ही विष्ठा और मूत्र हैं. इनके दुर्गन्ध को हटाना चाहिये। शुद्ध शौच तो यही है। मिट्टी और जल से शौच करना यह तो लौकिक शौच है।

चित्त शुद्धि कर शौच तो तीनों प्रकार की वासनाओं का नाश करना ही है। ज्ञान और वैराग्य रूपी मिट्टी तथा जल से प्रक्षालन करना वास्तव में इसी का नाम शौच है। अद्वैत की भावना ही खाने योग्य भिक्षा अन्न है, द्वैत भावना यही न खाने योग्य अन्न है। गुरु और शास्त्रोक्त भावना से भिक्षु संन्यासी की भिक्षा कही गयी है। विद्वान् को चाहिये कि अपने देश को

त्यागकर संन्यास धारण करे। संन्यास लेने के अनन्तर अपने घर से इस प्रकार दूर रहे जैसे कारागार से छूटा हुआ चोर कारागार से दूर ही जाकर रहता है। जब तक यह प्राणी अहङ्कार रूप पुत्र को, धन रूप बन्धु बान्धवों को, मोह रूप मन्दिर को, आशा रूपी पत्नी को, नहीं त्यागेगा, तब तक मुक्त नहीं होगा। यह संशय रहित बात है।

संन्यासी को संध्या नहीं करनी चाहिये क्योंकि सूतकों में संध्या निषेध है। संन्यासी को सूतक कैसे लग गया? सूतक दो प्रकार के होते हैं, जन्म के तो वृद्धि सूतक कहाते हैं, मरने के पातक सूतक कहाते हैं। संन्यासी को सूतक और पातक दोनों लगे हैं, क्योंकि उसकी मोह रूपी माँ मर गयी है और बोध रूप पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार दोनों प्रकार के सूतक संप्राप्त होने पर संन्ध्या कैसे करे?

फिर सन्ध्या सन्धि समय में–सूर्य के उदय होने पर और अस्त होने पर–की जाती है। संन्यासी के हृदय रूप आकाश में चित् स्वरूप चैतन्य सूर्य सदा भासित होता रहता है। वह न तो कभी अस्त होता है न उदय होता है। जब उसके हृदय में संध्या काल होती ही नहीं तो फिर वह संध्या कैसे करे?

संन्यासी एकान्त में रहे। एकान्त क्या? अद्वितीय जो एक ब्रह्म है, जिसका गुरु वाक्य से निश्चय किया गया है। वास्तव में तो अद्वैत भावना ही एकान्त है। मठ में या वन में एकान्त नहीं है। संशययुक्त चित्त वालों की जन्म-जन्मातर में भी मुक्ति नहीं होती। वह तो संशय रहित पुरुषों को ही प्राप्त होती है। इसलिये दृढ़ विश्वास करना चाहिये।

बहुत से मूढ़ लोग लौकिक वैदिक कर्मों का त्याग करके संन्यासी का वेष बना लेते हैं। बहुत से कहते हैं हमने तो वेष

मन्त्र सुन लिया संन्यासी हो गये। वास्तव में कर्मत्याग और प्रेष उच्चारण से कोई संन्यासी नहीं होता। जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य ज्ञान का ही नाम वास्तव में संन्यास है। जिसके लिये लोकेषणा, वित्तेषणा और पुत्रेषणा ये समस्त ऐषणाऐं वमन किये हुए अन्न के सदृश प्रतीत हों जिसे देह का तनिक भी अभिमान न हो कि मैं अमुक हूँ, उसी व्यक्ति का संन्यास में अधिकार है। जब संसार की समस्त वस्तुओं के प्रति हृदय से पूर्ण वैराग्य हो जाय तब ही संन्यास धारण करना चाहिये। नहीं तो पतित हो जायगा।

बहुत-से धन के लोभ से संन्यासी का वेष बना लेते हैं, बहुत से अन्न वस्त्र के लिये संन्यासी बन जाते हैं, बहुत-से प्रतिष्ठा के लिये संन्यासी हो जाते हैं, वे उभय भ्रष्ट हो जाते हैं न संसार के ही रहते हैं, मुक्ति तो ऐसे लोगों को मिल ही नहीं सकती। वे शिखासूत्र विहीन वर्णाश्रम से रहित यवनों की भाँति होते हैं।

देखो, तत्त्व की चिन्ता में ही निमग्न रहना उत्तम साधक का लक्षण है। मध्यम साधक शास्त्र चिन्तन में निमग्न रहता है। मन्त्र चिन्तन को अधम साधना कहा है और तीर्थों में भ्रमते रहने को अधमाधम साधना कहा है। जिन्हें ब्रह्म की कुछ अनुभूति तो है नहीं। वैसे ही ब्रह्म-ब्रह्म पुकारते हुए मुदित होते हैं। उनकी वह प्रसन्नता उसी प्रकार है जिस प्रकार फले हुए वृक्ष का प्रतिबिम्ब जल में पड़े और उस प्रतिबिम्बित फली शाखा के फलों को खाकर अपने को तृप्त समझें, प्रसन्नता का अनुभव करें।

यति संन्यासी को चाहिए कि माधुकरी वृत्ति जो माता के सदृश है उसका परित्याग न करे तथा वैराग्य रूप पिता को, श्रद्धा रूपी पत्नी को और ज्ञान रूप पुत्र को भी त्यागे नहीं।

देखो जी, बहुत से धन से वृद्ध होते हैं, बहुत से अवस्था से तथा ज्ञान से वृद्ध होते हैं, किन्तु ये सभी वृद्ध ज्ञान वृद्ध के शिष्यों के किंकरों के भी किंकर हैं। बहुत से सूरि भी जिन परमात्मा की माया से मोहित होकर आत्मा को बिना जाने आत्मज्ञान को बिना प्राप्त किये इस पापी पेट को पूर्ण करने के निमित्त कौओं की भाँति इधर से उधर भ्रमते रहते हैं।

ये जो पाषाण, लोहा, मणि तथा मिट्टी की मूर्ति की अज्ञानी पूजा करते हैं, उनकी यह पूजा भोगों को देने वाली तथा पुनर्जन्म करने वाली है। इसलिये यति को चाहिये अपने हृदयस्थ ब्रह्म की ही अर्चना करे, उसी से मुक्ति प्राप्त होगी। देखो, जल में घड़े को डुबा दो तो उसके भीतर भी जल भर जायगा और बाहर चारों ओर भी जल ही जल हो जायगा। आकाश में खाली घड़े को रख दो तो उसके भीतर भी घटाकाश परिपूर्ण हो जायगा और बाहर भी वृहदाकाश उसे घेर लेगा। इसी प्रकार ब्रह्म में निमग्न होने पर बाहर भीतर ब्रह्म ही ब्रह्म हो जायगा। इसलिये तुम ग्राह्य भावात्मा तथा ग्राहकात्मा मत होओ। सभी प्रकार की भावनाओं को त्यागकर जो बच रहे उसी में तन्मय हो जाओ अर्थात् ब्रह्ममय बन जाओ।

एक दृश्य होता है, एक दर्शन तथा एक द्रष्टा। तुम तीनों ही को वासना सहित त्याग दो। केवल दर्शन प्रथम आभास जो केवल आत्मा है, उसी को भजो। परास्वरूप स्थिति इसी का नाम है, कि सम्पूर्ण संकल्प शान्त हो जायँ। जैसे पत्थर की शिला बिना कुछ संकल्प किये पड़ी रहती है, ऐसी स्थिति हो जाय। न जाग्रत अवस्था ही रहे न निद्रावस्था ही रहे इन सभी अवस्थाओं से विनिर्मुक्त हो जाय। यति को सदा इसी प्रकार परास्वरूप स्थिति में रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यहाँ पर मैत्रेयी उपनिषद् का दूसरा अध्याय समाप्त हो गया। अब आप तीसरे अध्याय के विषय में सुनिये, उसमें अपने में ब्रह्म भावना करते हुये कहा है—

सदा अपने को ब्रह्ममय ही चिन्तन करे, सोचे—"मैं ही हूँ, पर भी मैं हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, मैं ही प्रभव हूँ, समस्त लोकों का गुरु मैं हूँ, सर्वलोकमय वह ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं ही सिद्ध, शुद्ध, परम, सदा नित्य तथा विमल हूँ। मैं ही विज्ञान, विशेष, सोम, सकल, शुभ, शोकहीन, चैतन्य, सम, मानापमान से रहित, निर्गुण, शिव, द्वैत-अद्वैत से विहीन, द्वंद्वहीन, भाव अभावहीन, भासाहीन शून्याशून्यप्रभाव, शोभना अशोभनाहीन, तुल्य अतुल्य से विहीन, नित्य, शुद्ध, सदाशिव, सर्व-असर्व विहीन, सात्त्विक, सदा एक तथा दो संख्याविहीन, सद् असद् भेदहीन, संकल्प रहित, नानात्म भेदहीन तथा अखंडानंद विग्रह हूँ। मैं न तो अहमस्मि हूँ और न अन्यास्मि हूँ, मैं देहादि से रहित हूँ। मैं आश्रयाश्रयहीन, आधार रहित, बंध मोक्षादिहीन, शुद्ध ब्रह्म वह मैं ही हूँ। मैं चित्तादि सबसे हीन, परम, परात्पर, सदा विचाररूप, निर्विचार, अकार, मकार रूप सनातन, ध्याता ध्यान विहीन, ध्येयहीन, सर्वपूर्ण स्वरूप, सच्चिदानन्द लक्षण, सर्वतीर्थ स्वरूप, परमात्मा, शिव, लक्ष्यालक्ष्य विहीन, लयहीन रसरूप, मातृमान विहीन, मेयहीन, शिव मैं ही हूँ। मैं जगत् का सर्वद्रष्टा, नेत्रादि से रहित प्रवृद्ध, प्रबुद्ध, प्रसन्न, पर, सर्वेन्द्रिय विहीन, सर्वकर्म कृत्, सर्ववेदान्ततृप्त, सर्वदा सुलभ हूँ। मैं ही मुदिता अमुदिता, सर्वमौन फल, नित्य चिन्मात्र रूप, सच्चिन्मय हूँ, जो भी कुछ हीन, अल्प, स्वल्प, अति, जो भी है सब मैं ही हूँ। मैं हृदय ग्रन्थि से हीन, हृदय कमल के बीच रहने वाला, षड्विकार विहीन, षट्कोश रहित, षड्अरियों

से मुक्त, अन्तर से भी अन्तर, देशकाल से विमुक्त, दिगम्बर सुख, नास्ति नास्ति विमुक्त, नकार रहित, अखंड आकाश रूप, अखंडाकार, प्रपञ्च मुक्त चित्त, प्रपञ्च से रहित, सर्व प्रकाशरूप, चिन्मात्र ज्योति, कालत्रय विमुक्त, कामादि रहित, कायक आदि से विमुक्त, निर्गुण, केवल, मुक्तिहीन, मुक्त, मोक्षहीन, सत्य असत्य से हीन, सन्मात्रान्न, गन्तव्य देश से विहीन, गमनादि वर्जित, सर्वदा समरूप, शान्त तथा पुरुषोत्तम, मैं ही हूँ।

यति को चाहिये वह ऐसा अनुभव सदा ही करता रहे। जो ऐसा अनुभव करता रहता है वह साक्षात् ब्रह्म ही है, इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं। जो इस उपनिषद् को श्रद्धा के साथ एक बार भी श्रवण करता है, वह भी स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मैत्रेयी उपनिषद् का यह अन्तिम तीसरा अध्याय समाप्त हुआ। यह उपनिषद् अद्वैत परक यति संन्यासियों की उपनिषद् है। इसमें अहंग्रह उपासना बतायी गयी है। इसके पश्चात् मैं सुबाल उपनिषद् का सार सुनाऊँगा। आशा है आप उसे श्रद्धापूर्वक श्रवण करेंगे।"

छप्पय

शिव समीप कैलाश गये मैत्रेय महामुनि।
'परमतत्त्व प्रभु ! कहें' विहँसि बोले शिव मुनि सुनि॥
तन देवालय जीव शिवहिं निर्माल्य अज्ञता।
पूजा सोऽहं भाव मनोमल त्यागहिं शुचिता॥
शुद्ध, बुद्ध, नित, निरंजन, निष्कल, निर्गुन, निरामय।
सब अपनेकूँ ही समुझि, जीव होइ यह ब्रह्ममय॥

इति कालाग्नि रुद्र और मैत्रेय्युपनिषद्—सार समाप्त

उपाख्यान तथा समस्त भूत, हिरण्यज्योति जिसमें यह आत्मा तथा समस्त विश्व ब्रह्माण्ड अवस्थित है यह सब उत्पन्न हुए।

फिर ब्रह्माजी ने अपने शरीर के दो भाग कर लिये। आधे से स्त्री और आधे से पुरुष हुए। फिर देवभाव से देवताओं को उत्पन्न किया। फिर ऋषि होकर ऋषियों को तथा यक्ष, राक्षस गन्धर्व तथा ग्राम में रहने वाले अरण्य में रहने वाले पशुओं को उत्पन्न किया। गौ-बैल, घोड़ा-घोड़ी, गधा-गधी, खच्चर खच्चरी इस प्रकार ग्राम्य पशु हुए।

अन्त में वैश्वानर अग्नि होकर सम्पूर्ण प्राणियों को दग्ध कर दिया। पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में, तन्मात्रायें भूतादि में, भूतादि महत्तत्व में लीन हो गयीं। महत्तत्व अव्यक्त में, अव्यक्त अक्षर में, अक्षर तम में विलीन हो गये। तम परदेव में विलीन हो गया। उस परदेव से परे न सत् है न असत् है न सद्-असद् है उसे निर्वाणपद कहते हैं। यही अनुशासन है, यही वेदानुशासन है। यहाँ आकर द्वितीय खण्ड समाप्त होता है।

अब तीसरे खण्ड में साधन प्रक्रिया बताते हुए कहते हैं—"आगे असत् ही था। इसलिये धीर पुरुष अपने को अजात, अभूत, अप्रतिष्ठित, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अव्यय, अमहान्त, अबृहन्त तथा अज मानकर सोच नहीं करता। अप्राण, अमुख, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेज, अचक्षु, अनाम, अगोत्र, अशिर, अपाणि, अपाद, अस्निग्ध, अलोहित, अप्रमेय, अह्रस्व, अदीर्घ, अस्थूल, अनणु, अनल्प, अपार, अनिर्देश्य, अनपावृत, अप्रतर्क्य, अप्रकाश्य, असंवृत, अनन्तर तथा अबाह्य मानकर यह सोचे कि वह आत्मा कुछ भी खाता नहीं है, थोड़ा भी नहीं खाता, यह आत्मा सत्य से, दान से, तप से, अन-

शन करने से, ब्रह्मचर्य से, निर्वेद से तथा वेद के छैओं अंगों से साधना करता है, जो दम, दान तथा दया इन तीनों द्वारा इसे देखता है, इसको जानने का प्रयत्न करता है। उसके प्राण उत्क-ण नहीं करते। अर्थात् ऊपर के पुण्यलोकों को नहीं जाते, इसी ान पर विलीन हो जाते हैं। वह ब्रह्म होकर ब्रह्म में ही मिल ता है। जो इसे जानता है, वह ब्रह्म हो जाता है। यहाँ आकर सरा खण्ड समाप्त होता है।

अब चौथे खण्ड में नाड़ियों का वर्णन करते हुए बताया गया कि हृदय के मध्य में लोहित वर्ण का एक मांस पिंड है, उसमें क दहर कमल है। वह कुमद की भाँति अनेकधा विकसित है। य के दश छिद्र हैं, उनमें प्राण प्रतिष्ठित हैं। जब यह आत्मा णों के साथ संयुक्त होता है तभी नेत्रों द्वारा नदियों को, नगरों नाना भाँति की वस्तुओं को देखता है। जब यह अपान के थ संयुक्त होता है तब यक्ष, राक्षस, तथा गन्धर्वादिकों को ता है। जब यह व्यान के साथ संयुक्त होता है तब देव-ओं को तथा ऋषियों को देखता है। जब यह उदान के साथ क्त होता है, तब देवलोक, देवताओं, स्कन्द, तथा जयन्त दि को देखता है। जब यह समान के साथ संयुक्त होता है तब लोक तथा विविध भाँति के धनों को देखता है। जब यह न्म के साथ संयुक्त होता है तब दृष्ट, श्रुत, भुक्त-अभुक्त, असत् सभी को देखता है। इन दश छिद्रों से दश-दश ड़ियाँ निकलती हैं। फिर इन नाड़ियों में से प्रत्येक में से ७२-शाखायें निकलती हैं। फिर उनमें से सहस्र-सहस्र शाखायें ी हैं। इन सब नाड़ियों में जीवात्मा सोता रहता है। इन्हीं हकर शब्द करता है। जब दूसरे कोश में सोता है तब इस क तथा परलोक को देखता है। सभी शब्दों को विशेष रूप से

जानता है, उसका नाम सम्प्रसाद है। प्राण जो है सो शरीर की रक्षा करता है। ये नाड़ियाँ हरे, नीले, पीले, लाल तथा श्वेत रंग की होती हैं और रक्त से भरी रहती हैं। यह जो हृदयकमल का दहर स्थान है, वह कुमद की भाँति अनेकधा विकसित रहता है। इसमें से हिता नाम की नाड़ियाँ निकली हैं। वे केश के अग्रभाग के सहस्रवें भाग की भाँति अत्यन्त ही सूक्ष्म होती हैं। हृदय आकाश के परकोश में यह दिव्य आत्मा सोता रहता है। जब यह यहाँ सो जाता है तब किसी भी काम की कामना नहीं करता है। न किसी प्रकार का स्वप्न ही देखता है। उस अवस्था में देवता, देवलोक, अयज्ञ, यज्ञ, माता-पिता, बन्धु-बान्धव, चोर, ब्रह्महा कुछ भी नहीं रहते। तेजस्काय अमृत स्वरूप है जैसे सलिल, सलिल एक हो जाता है। फिर जैसे सोया था वैसे ही जब जागता है तब जैसे सम्राट् के चलने पर उसके पीछे-पीछे उसके सेवक सचिव चलने लगते हैं वैसे ही प्राण के पीछे समस्त इन्द्रियाँ उसका अनुगमन करने लगती हैं। यहाँ पर सुबालोपनिषद् का चौथा खण्ड समाप्त होता है।

अब पाँचवे खण्ड में सर्वप्रथम इन इन्द्रियादिकों के अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म्य रूपों का वर्णन किया है। जैसे नाड़ियाँ स्थानों को स्थानों के लिये प्राप्त कराती हैं। उनके निबन्धनों को बताते हैं। जैसे चक्षु तो इन्द्रिय है यह तो इसका अध्यात्म स्वरूप है। देखना इसका अधिभूत रूप है और आदित्य इसका अधिदैवत स्वरूप है। इसका निबन्धन क्या है नाड़ियाँ हैं। जैसे चक्षु सूर्य के प्रकाश में ही देखती है, आँखों में भी सूर्य का ही प्रकाश है चक्षु न हो तो भीतर बाहर सूर्य के रहते हुए भी नहीं देखतीं। चक्षु नाड़ियों के द्वारा ही देखने में समर्थ होती हैं। इसलिये नाड़ियाँ ही निबन्धन हैं। जो चक्षु

में है, जो द्रष्टव्य में है, जो आदित्य में है, जो नाड़ी में है, जो प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में तथा हृदयाकाश में है इन सबमें एक ही आत्मा संचार करता है। उसको आत्मा कहते हैं। उसी आत्मा की उपासना करनी चाहिये। वह आत्मा अजर, अमृत, अभय, अशोक तथा अनन्त है। जिस प्रकार चक्षु के सम्बन्ध में बताया उसी प्रकार सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

जैसे श्रोत्र अध्यात्म, श्रोत्रव्य अधिभूत, दिशायें अधिदैवत। इनका निबन्धन हैं नाड़ियाँ। इसलिये जो श्रोत्र, श्रोत्रव्य, दिशा, नाड़ी, प्राण, विज्ञान, आनन्द तथा हृदय आकाश में है वही इन सबके भीतर संचार करता है। वह आत्मा ही है। उसी की उपासना करनी चाहिये। वह आत्मा अजर, अमृत, अभय, अशोक तथा अनन्त है।

इसी प्रकार, नासिका, जिह्वा, त्वचा, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, वाणी, हस्त, पाद, पायु और उपस्थ इन सबके अध्यात्म, आधिभौतिक तथा आधिदैविक रूप बताकर इन सबके भीतर संचार करने वाले आत्मा को सिद्ध करके उसका प्रत्येक के साथ अजर, अमृत, अभय, अशोक तथा अनन्त रूप बताया है। इस प्रकार सबके सम्बन्ध मे बताकर कहा गया है यह आत्मा सर्वेश्वर है। सर्वाधिपति, अन्तर्यामी, सबकी योनि, सभी सौख्यों से उपास्यमान, सभी सौख्यों को देने वाला, वेदशास्त्रों द्वारा उपास्यमान और वेद शास्त्रों की उपासना करता है। इस आत्मा के ये सभी अन्न हैं, किन्तु वह स्वयं किसी का अन्न-भोज्य-नहीं है। वह सर्वनयन, सबके प्रशास्ता अन्नमय भूतात्मा है, प्राणमय इन्द्रियात्मा है, मनोमय संकल्पात्मा है, विज्ञानमय कालात्मा है, आनन्दमय

लयात्मा है। वह एकत्व नहीं है। उसमें द्वैत कहाँ हो ही सकता है? वह मर्त्य नहीं है, फिर अमृत कहाँ से होगा? वह न तो अन्तः प्रज्ञ है, न बहिः प्रज्ञ है, न उभय प्रज्ञ है। न वह प्रज्ञान घन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है, न वह विदित है, न वेद्य है। यह निर्वाण अनुशासन वेदानुशासन है है। यहाँ पञ्चमखंड समाप्त होता है।

अब छटे खण्ड में यह बताया है, कि पहिले कुछ भी नहीं था। मूल में यह जगत् अनाधार था। फिर यह प्रजा-प्राणी पैदा हुए। इन सबमें एक दिव्य देव नारायण ही अवस्थित है।

चक्षु और द्रष्टव्य, श्रोत्र और श्रोतव्य, घ्राण और घ्रातव्य, इसी प्रकार जिह्वा, स्पर्श, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ और इन सबके कार्य ये सब नारायण ही नारायण हैं। धाता, विधाता, कर्ता, विकर्ता, दिव्य तथा देव, ये सब एक नारायण ही नारायण हैं। आदित्य, रुद्र, मरुत, वसुगण, अश्विनी कुमार, ऋक्, यजु, साम, मन्त्र, अग्नि, आज्य, आहुति सब नारायण ही हैं। उद्भव, सम्भव, दिव्य, माता पिता, भ्राता, निवास, शरण, सुहृद्-गति, विराजा सुदर्शना, अजिता, सोम्या, अमोघा, कुमारा, अमृता, सत्या, मध्यमा, नाशीरा, शिशुरा, सूरा, सूर्या, स्वरा ये जो नाड़ियों के नाम हैं ये सब दिव्या हैं। ये ही गर्जना करती हैं, गाती हैं, चलती हैं, वर्षा करती हैं। ये सब नारायण ही हैं।

वरुण, अर्यमा, चन्द्रमा, कला, कलि, धाता ब्रह्मा, प्रजापति, मघवा, दिवस, अर्धदिवस, कला, कल्प तथा दिशा सभी नारायण हैं। यह जो कुछ भूत तथा भव्य है सब कुछ पुरुष ही पुरुष है— अमृतत्व है ईशान है, जो अन्न द्वारा अति रोहण करता है। वह सब विष्णु का परमपद है उसे सूरि लोग सदा देखते हैं।

यह विष्णु का परमपद है। यह निर्वाण का अनुशासन है। यही वेदानुशासन है है। यहाँ षष्ट खण्ड समाप्त होता है।

सप्तम खण्ड मे बताया है कि यह जो अज अनरात्मा है वह शरीर के भीतर विद्यमान जो हृदय कमल की गुहा है उसमें रहने वाला है। एक है, नित्य है। जिसका शरीर तो पृथ्वी है, वह पृथ्वी के अन्तर में सचार करता रहता है, किन्तु पृथ्वी उसे नहीं जानती। इसी प्रकार जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहकार, चित्त, अव्यक्त, अक्षर, मृत्यु इसके सब शरीर हैं, इनमें वह सचार करता है किन्तु ये इसे जानते नहीं। वह सर्वभूतान्तरात्मा, पाप रहित दिव्य देव नारायण ही है। इस विद्या को नारायण ने अपान्नरतम ऋषि को दिया। उन्होंने ब्रह्माजी को, ब्रह्माजी ने घोर अङ्गिरा को, घोर अङ्गिरा न रेकमुनि को, रेकमुनि ने श्रीरामचन्द्रजी को और श्रीराम ने समस्त भूतों को इसे दिया। यह निर्वाण अनुशासन है। वेदानुशासन है है।" यहाँ सप्तम समाप्त हुआ।

अष्टम खण्ड मे अन्तः शरीर मे जो निहित गुहा है उसमें शुद्ध आत्मा मेद, मास क्लेद युक्त शरीर में अत्यन्त उपहत से जैसे भीत मे चित्र लिखा रहता है वैसे स्थित रहता है। गन्धर्व नगर मिथ्या होता है, जेसे केले के पत्तों को निकालते तो भीतर कुछ भी नहीं रहता ऐसे ही यह नि.सार है, जैसे का बुद्बुद् क्षणिक होता है वैसे ही यह शरीर क्षणिक है। में जो आत्मा है वह अचिन्त्य रूप, दिव्य, देव, असग, शुद्ध, स्काय, अरूप, सर्वेश्वर, अचिन्त्य, अशरीर है। यह हृदय गुफा मे अवस्थित है, अमृत स्वरूप है, आनन्द स्वरूप विभ्राजित है। विद्वान् लोग ही उसे देखते हैं। जब उसमें

लीन हो जाते हैं तो नहीं देखते।" यहाँ अष्टम खण्ड समाप्त हुआ।

नवम खण्ड में महर्षि रैक्व ने भगवान् से पूछा—"यह सब किसमें अस्त हो जाते हैं?" तब भगवान् ने कहा—"यह सब प्रपञ्च चक्षु में लीन होते है, चक्षु द्रष्टव्य में, द्रष्टव्य आदित्य में, आदित्य विराज में, विराज प्राण में, प्राण विज्ञान में, विज्ञान आनन्द में, आनन्द तुरीय तत्त्व में लीन होते हैं। वह तुरीय तत्त्व ही अमृत, अभय अशोक, अनन्त, निर्बीज में विलीन होता है। फिर इसी प्रकार श्रोत्र, दिशा, सुदर्शन, विज्ञान, नासिका, पृथ्वी, जिह्वा, त्वचा, वाणी, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन सबको उनके कारणों में लीन करके अन्त में निर्बीज में लीन होना बताया है। अन्त में कह दिया है जो निर्बीज को जानता है वह निर्बीज ही हो जाता है। वह न कभी उत्पन्न होता है और न मरता ही है। न मोह को प्राप्त होता है। न टूटता है, न जलता है, न कटता है, न काँपता है, न कुपित होता है। यह आत्मा सर्वदहन है। यह आत्मा चाहे सैकड़ों प्रवचन सुन लो उनसे प्राप्त नहीं होता। बुद्धि ज्ञानश्रित बहुत श्रवण से भी प्राप्त नहीं होता। न मेधा से न वेदाध्ययन से, न यज्ञ यागों से, न उग्रतपों से, न सांख्य से, न योग से और न वर्णाश्रमादि अन्य उपायों से इसकी प्राप्ति होती है। प्रवचनों की प्रशंसा से व्युत्थान द्वारा उसको ज्ञानी ब्राह्मण जो गुरु सुश्रूषा करने में रत हैं, जो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु हैं, जो समाहित होकर अपनी आत्मा से ही आत्मा को देखते हैं, वे ही प्राप्त करते हैं। ऐसे शान्त दान्त सबकी आत्मा हो जाते हैं। अर्थात् वे आत्मरूप हो जाते हैं। जो इसे जानते हैं वे भी आत्मरूप हो जाते हैं।" यहाँ नवम खण्ड समाप्त होता है। दशम खण्ड में रैक्वमा-

मुनि ने भगवान् से पूछा—"भगवन ! किसमें इन सबकी प्रतिष्ठा है। तब उन्होंने रसातल में प्रतिष्ठा बतायी। फिर पूछा—रसातल किसमें प्रतिष्ठित है ? वह किसमें ओत-प्रोत है ? तो फिर क्रमशः बताते गये। रसातल भूलोक में, भूलोक भुवर्लोक में, भुवर्लोक स्वर्गलोक मे, स्वर्गलोक महर्लोक मे, महर्लोक जनलोक मे, जनलोक तपलोक में, तपलोक सत्यलोक मे, सत्यलोक प्रजापति लोक में, प्रजापति लोक ब्रह्मलोक में। फिर पूछा—ब्रह्मलोक किसमें ओत प्रोत है ? तो बताया सभी लोक आत्मा में ही ओत-प्रोत हैं। जो इन सब लोकों को आत्मा में ही इस प्रकार ओत-प्रोत जानता है जैसे सूत्र मे मणियाँ ओत-प्रोत हैं, तो वह आत्मा ही हो जाता है। यही निर्वाण अनुशासन है, यही वेदानुशासन है है।" इस प्रकार दशम खण्ड समाप्त हुआ।

अब ग्यारहवें खण्ड में रेकमुनि ने पूछा—भगवन् ! यह जो विज्ञानघन है, इसका जो उत्क्रमन होता है, वह कहाँ किस स्थान को छोड़कर उत्क्रमन करता है। इस पर भगवान् ने कहा—हृदय कमल के मध्य मे जो दहर है उसमें खिले कमल के मध्य में समुद्र है, समुद्र के मध्य कोश है, उसमे चार नाड़ियाँ हैं उनके नाम रमा, अरमा, इच्छा और अपुनर्भवा हैं। इनमे से रमा तो पुण्यकर्मों द्वारा पुण्यलोक को ले जाती है। अरमा पाप के द्वारा पाप लोक को, इच्छा जिसका स्मरण करते हैं उस प्राप्त कराती है। और अपुनर्भवा कोश का भेदन करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, भूतादि, महान्, अव्यक्त, अक्षर तथा मृत्यु इन सबको क्रम-क्रम से भेदन करके परेदेव में एकीभूत करा देती है। वह परब्रह्म न सद् है न असद् है, न सद्-असद्। यह निर्वाण अनुशासन है। वेदानुशासन है है। यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हुआ।

बारहवें खण्ड में बताया है। नारायण से अन्न आया है। वह ब्रह्मलोक पक्व हुआ। फिर महासंवर्तक जो वायु है उसमें पका, फिर आदित्य में पका। फिर कव्यादि में पका, फिर जाल किलकिन्न पर्युषित होकर पका। इसलिये पवित्र और आयाचित, असंकल्पन अन्न को ही खाय। किसी से कभी याचना न करे।" इस प्रकार बारहवाँ खण्ड समाप्त हुआ।

अब तेरहवें खण्ड में परमहंस परिव्राजक की रहनी का वर्णन करते हुए बताया है कि संन्यासी बालकों की तरह रहे। बाल स्वभाव धारण करे। सदा असङ्ग रहे, विद्वान् होकर भी मौनी बना रहे। कैवल्य मुक्त पदवी को प्राप्त हो। महत्पद को जानकर भी वृक्ष के नीचे निर्वाह करे। फटे पुराने वस्त्रों को ही पहिने रहे। बिना किसी की सहायता लिये एकाकी निवास करे। सदा समाधिस्थ बना रहे। आत्मकाम, आप्तकाम, निष्काम, जीर्णकाम होकर रहे। हाथी, सिंह, मच्छर, न्योला, सर्प, राक्षस, गन्धर्व आदि को मृत्यु रूप जानकर भी कभी भयभीत न हो। वृक्ष की भाँति अचल बैठा रहे। कोई काट भी दे तो जैसे वृक्ष काटने वाले पर कुपित नहीं होता, वैसे कुपित न हो। भय के कारण कांपे भी नहीं। सत्य के सहारे बैठा ही रहे। क्योंकि यह आत्मा तो सत्य स्वरूप ही है। सब गन्धों की पृथ्वी हृदय है, सब रसों का जल, सब रूपों का तेज, सब स्पर्शों का वायु, सब शब्दों का आकाश, सब गतियों का अव्यक्त, सब सत्वों का मृत्यु हृदय है। जब उन परमात्म देव में एकीभूत हो जाता है, तब सत्, असत्, सदसत् कुछ भी नहीं रहता। यही निर्वाण अनुशासन है। यही वेदानुशासन है है। यहाँ तेरहवाँ खण्ड समाप्त होता है।

अब चौदहवें खण्ड में पृथ्वी का अन्न जल, जल का अन्न

ज्योति, ज्योति का वायु, वायु का आकाश, आकाश का इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का मन, मन का बुद्धि, बुद्धि का अव्यक्त अव्यक्त का, अक्षर, और अक्षर का अन्न मृत्यु है। मृत्यु परमात्मदेव में लीन हो जाती है, वे किसी का भी अन्न नहीं। वे सत्, असत् तथा सदसत् कुछ भी नहीं हैं। यही निर्वाण अनुशासन है। यही वेदानुशासन है है।" यहाँ चौदहवाँ खण्ड समाप्त होता है।

पन्द्रहवें खण्ड में महर्षि रैक्व ने पूछा—"भगवन्! यह जो विज्ञानघन है जब वह उत्क्रमन करता है तो किस स्थान को दहन करता है?" तब भगवान् प्रजापति ने कहा—"यह उत्क्रमन करते समय प्राणों को दहन करता है। प्राण अपान को, अपान व्यान को, वह उदान को, समान को। फिर वैरम्भ, मुख्य, अन्तर्याम, प्रभञ्जन, कुमार, श्येन, श्वेत, कृष्ण तथा नाग नामक प्राणों को क्रमशः दहन करता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश को दहन करता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, महान् लोकों को दहन करता है लोकालोक को, धर्माधर्म को, भास्कर लोक को, अमर्यादित निरालोक को, महान्, अव्यक्त, अक्षर और मृत्यु को दहन करता है। मृत्यु जाकर परमात्म देव में एकीभूत होता है उससे आगे न सत् है न असत् और न सत्-असत्। यही निर्वाणअनुशासन है। यही वेदानुशासन है है। यहाँ पर पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त होता है।

अब अन्तिम सोलहवें खण्ड में पात्रता का वर्णन है। [illegible] सुबालोपनिषद् को कैसे पात्र को दे। प्रशान्त को दे। [illegible] पुत्र अथवा शिष्य न हो, जो एक वर्ष तक अपने [illegible] हो, जिसका कुल, गोत्र, शील परिज्ञात न हो, ऐसे [illegible] न उसके सम्मुख कथन ही करे। जिसकी देवता [illegible] और जैसी देवता में भक्ति हो वैसी ही गुरु [illegible]

उसके सम्मुख महात्मा इसके अर्थों को प्रकाशित करते हैं। यही निर्वाण अनुशासन है, यही वेदानुशासन है है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह ज्ञान, वैराग्य और त्याग बहुल उपनिषद् संन्यास प्रधान है। उपनिषद् तो छोटी ही है, किन्तु इसमें ज्ञान वैराग्य और त्याग का सार भरा हुआ है। यह मैंने सुबालोपनिषद् का सार सुनाया। अब आगे आप क्षुरिका, मंत्रिका तथा सर्वसारोपनिषद् के सार को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

नहिँ होवै भयभीत भयानक पशु आ जावै।
वृक्ष सरिस थिर रहै सहै सब नहिँ घबरावै॥
अजर अमर अरु अभय शोकतैं रहित आतमा।
है वह सबतैं परे वही है सब जगदात्मा॥
जातैं कोई पर नहीं, सबहिँ अज जाके कहे।
आत्मा सो विज्ञानघन, सदा सर्वदा जो रहे॥

—०—

इति सुबालोपनिषद्-सार समाप्त

क्षुरिका, मन्त्रिका तथा सर्वसारोपनिषद् सार

[२६७]

क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तः स जायते ॥*

(क्षु० उ० १ म)

छप्पय

अब क्षुरिका उपनिषद् योग की ताहि बताऊँ।
जस करि प्राणायाम नसै तम सो समुझाऊँ॥
करिकै निरमल धार योग की छुरी बनाओ।
काटि सुषुम्ना बन्ध अमृत बनि मुक्त कहाओ॥
फेरि मन्त्रिका उपनिषद्, सारूप्य योग, सम्मत सकल।
कही उपासन ब्रह्म की, बने ब्रह्म शाश्वत अमल॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम बताये हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये नियम बताये हैं। ये यम नियम सभी प्रकार के साधनों में

---

* अब क्षुरिका उपनिषद् को योग की सिद्धि के निमित्त कही हुई धारणा कहता हूँ। जिस धारणा को प्राप्त करके साधक योगयुक्त हो जाता है और फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

आवश्यक हैं। परमार्थ के जितने भी ज्ञान, योग, भक्ति, कर्मकांड आदि साधन हैं, उन सबमें यम-नियमों का पालन प्रथम सीढ़ी है। इनके पालन के बिना कोई परमार्थ साधन सिद्ध नहीं होता। अतः ये दोनों तो सभी क्षेत्रों में सार्वजनिक परमावश्यक साधन हैं।

योगमार्ग वाले इन दोनों के सहित अपने मार्ग को अष्टाङ्ग-योग कहते हैं। कुछ आचार्यों का मत है, कि ये यम नियम तो किसी एक साधना के अन्तर्गत हैं ही नहीं, समस्त साधनाओं में इनकी आवश्यकता होती है, अतः इन्हें योग के अंगों में क्यों गिनते हो। योग तो स्वतन्त्र मार्ग है, अतः वे योग के अंगों के रूप में आसन को प्रथम मानते हैं। १-आसन, २-प्राणायाम, ३-प्रत्याहार, ४-धारणा, ५-ध्यान, और ६-समाधि। इन ६ को ही योग का अंग मानकर उसे षडङ्गयोग कहते हैं। उसमें भी १-आसन, २-प्राणायाम और ३-प्रत्याहार इन तीनों को बहिरङ्ग और १-धारणा, २-ध्यान और ३-समाधि इन तीनों को अन्तरङ्ग साधन कहते हैं। आसन, प्राणायाम आदि को तो व्यापारी भी पेट पालन करने के निमित्त सीखकर उसका प्रदर्शन करते फिरते हैं। अतः वे योग का आरम्भ धारणा से करते हैं। बढ़ी हुई धारणा का ही नाम ध्यान है, और ध्यान की परिपक्वता को ही समाधि कहते हैं। अतः योगमार्ग के अनुयायियों को धारणा की सिद्धि के ही लिये प्रयत्न करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं योग की क्षुरिका उप-निषद् के सार को आपसे कहूँगा। यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। 'पूर्णमदः' इत्यादि इसका शान्तिपाठ है। क्षुरिका छोटी छुरी को कहते हैं जैसे छुरी से रस्सी आदि काटी जाती हैं, इसी प्रकार अज्ञान रूपी रस्सी इस क्षुरिका उपनिषद् से काटी जा सकती है। वैसे तो यह उपनिषद् बहुत ही छोटी है। सम्पूर्ण उपनिषद्

में केवल २३ ही श्लोकात्मक मन्त्र हैं। किन्तु योग की दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत अधिक है। आरम्भ में योगसिद्धि के लिये धारणा को बताने की प्रतिज्ञा की गयी है और उस धारणा का फल बताया है मुक्ति। यह वेदतत्त्वार्थ विहित उपनिषद् स्वयं ही ब्रह्माजी ने कही है।

योगमार्ग के साधक को ऐसे स्थान में निवास करना चाहिये, जहाँ कोलाहल न हो। निःशब्द प्रदेश में रहकर किसी भी योग कथित भद्रासन या पद्मासन आदि आसन से बैठे। प्राणायाम करके इन्द्रियों को इस प्रकार प्रत्याहृत करे जिस प्रकार कछुआ अपने सभी अंगों को समेटकर स्थित होता है। इन्द्रियों को सब ओर से रोककर अपने मन को हृदय के मध्य में निरुद्ध करे। प्रणव की द्वादश मात्रा के योग से शनैः शनैः प्राणों का आयाम करे। पूरक कुम्भक करके अपने मन को भीतर की ओर निरोध कर ले। बाहर के प्राण निकलने के जितने मार्ग हैं, उन सबको यत्नपूर्वक अवरुद्ध कर ले। हृदय, मुख, कटि, ग्रीवा इन सबको एक सीध में रखकर स्थिर होकर बैठे, हृदय को किञ्चित उन्नत कर ले। नासिका के अभ्यन्तर में विचरण करने वाले प्राणों को भीतर ही संचारण करे। जब प्राण पूरक के द्वारा भीतर चले जायँ तो उन्हें कुछ काल रोककर—कुम्भक करके—फिर शनैः-शनैः रेचक के द्वारा उन्हें उत्सृजन कर दे—निकाल दे। प्राणायाम की मात्रा को दृढ़ करके, अँगूठा के द्वारा समाहित करे। गुल्फ में दो मात्रा, जाँघों में तीन-तीन, जानुओं में और ऊरुओं में दो-दो तथा गुदा में और शिश्न में तीन-तीन मात्रा में वायु का आयतन स्थान करके पीछे नाभि स्थान में स्थापित करे। वहाँ पर सुषुम्ना नाड़ी बहुत-सी नाड़ियों में आवृत है। वे सब नाड़ियाँ बहुत ही अणु-छोटी हैं। उनमें से कोई हलके लाल वर्ण की, कोई पीले,

काले, ताम्र तथा लोहित वर्ण की हैं। वे अत्यन्त ही सूक्ष्म हैं, तन्वी शुक्ला नाड़ी है उसके ये सब नाड़ियाँ समाश्रित हैं। उन नाड़ियों में प्राणों का संचार करे। वे नाड़ियाँ मकड़ी के जाले के तन्तुओं के सदृश हैं। उन नाड़ियों में जो लाल कमल के रंग की नाड़ी है पुरुषायतन के समान बड़ी है लम्बी है। वहीं हृदय कमल में एक स्थान है जिसे वेद वेदान्तों में 'दहर' कहा गया है। उस दहर को भेदकर जो नाड़ी कण्ठ में आई है उस नाड़ी में प्राणों को प्रविष्ट करना चाहिये। फिर मन रूपी छुरा को लेकर उसे बुद्धि की सान पर चढ़ा तीक्ष्ण-पैनी-करके निर्मल बनाना चाहिये। पाद के ऊपर दबाकर उसके रूप नाम को काट देना चाहिये। तीक्ष्ण मनोद्वार के द्वारा नित्य ही योग का आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार काटने को इन्द्रवज्र कहते हैं-मर्मजघा भी इसका नाम है। ध्यान के बल के योग से धारणा को भी काट देना चाहिये। ऊरु के मध्य में संस्थापित करके मर्म प्राणों का विमोचन करना चाहिये। इस प्रकार चारों अभ्यास के योग से निःशङ्क होकर उन नाड़ियों का छेदन करे। नीचे की नाड़ियों का छेदन करके योगी को चाहिये कण्ठान्तर में नाड़ियों का समूह है उनका भी छेदन करे। वहाँ पर एक सौ एक नाड़ियाँ हैं उनके बीच में सुषुम्ना सबसे श्रेष्ठ नाड़ी है। उसकी बाईं ओर से इड़ा रक्षा करे, दाईं ओर से पिंगला। इन इड़ा पिंगला के मध्य में ही सुषुम्ना है उस सुषुम्ना को जो जानता है वही वास्तव में वेद-वेत्ता है। वह सुषुम्ना, विरजा तथा ब्रह्मरूपिणी है, वह परब्रह्म में लीन होती है। बहत्तर सहस्र नाड़ियों में यह सुषुम्ना इस प्रकार सुगन्ध द्वारा व्याप्त है जिस प्रकार तैत्तिल। अथवा जैसे मर्मा करणों में तैत्तिल कर्ण सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार सुषुम्ना भी समस्त नाड़ियों में सर्वश्रेष्ठ है। उन बहत्तर सहस्र नाड़ियों

को ध्यान योग की छुरी से छेदन किया जा सकता है। एक सुषुम्ना का छेदन नहीं होता। योग के द्वारा निर्मल धार की हुई निर्मल तेज वाली छुरी से धीर पुरुष इसी जन्म में इन सौ नाड़ियों का छेदन करे। जाती पुष्प के योग से सुगन्धित शुभ्र जैसे तैल में व्याप्त होती है, उसी प्रकार शुभाशुभ भावों द्वारा उस नाड़ी को सुवासित करती है। इस सुषुम्ना में भावना दृढ़ होने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता है। जब विजित चित्त हो जाय, तब एकान्त निःशब्द देश में रहकर निःसंग तत्वज्ञ निरपेक्ष साधक शनैः-शनैः इस अज्ञान के पाश को काटकर मुक्त हो जाय। जैसे हंस फँसे हुए जाल को काटकर निर्विशङ्क होकर आकाश में उड़ जाता है। इसी प्रकार छिन्न पाश जीवात्मा संसार से तर जाता है। जैसे दीपक जब बुझने वाला होता है, तो तैल और बत्ती को जलाकर पूर्ण ज्योति में लय हो जाता है, वैसे ही योगी इस शरीर सम्बन्धी समस्त कर्मों को जलाकर परमात्म ज्योति में मिल जाता है। प्राणायाम की जो सुतीक्ष्ण मात्राधार है, उसे वैराग्यरूपी पत्थर पर घिसकर इन जगत् जाल के तन्तुओं को काट दे, तो वह संसारबन्धन में फिर नहीं बँधता।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने इस योग की क्षुरिका उपनिषद् का सार सुना दिया। अब आप मन्त्रिको-पनिषद् का सार श्रवण करें।"

मंत्रिकोपनिषद् में अव्यक्त ब्रह्म की उपासना है। एक पवित्र हंस है, उसके आठ पैर हैं, तीन सूत्र हैं, वह अणु–सूक्ष्म–तथा अव्यक्त है। उसके तीन मार्ग हैं, वह तेजस् और अहं स्वरूप है। वह सर्वत्र देखता हुआ भी नहीं देखता है। प्राणियों के सम्मोहन काल में जब रज और तम छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, तब सत्त्व में स्थित साधकगण अपने ही भीतर गुण गह्वर में उन

निर्गुण ब्रह्म को देखते हैं। वह ध्यानमान अन्य उपायों से दीखने में अशक्य होता है।

विकारों की जननी जो अविद्या है, अष्टरूपा है, अजा है और ध्रुवा भी है। उसी के अध्यास से उसी के द्वारा इस जगत् का ध्यान होता है, विस्तार होता है, तथा प्रेरणा प्राप्त होती है। यही माया पुरुषार्थ को पैदा करती है। उसी के द्वारा यह जगत् अधिष्ठित है। यह अनाद्यन्तवती गौ है, यह भूतभाविनी सबकी जनित्री है। यह काली, सफेद तथा रक्तवर्णा है, यह सर्वकामदुघा है। इस अविज्ञाता, अविषया को कुमार लोग पीते हैं। एक को स्वच्छन्द; वशानुगदेव पीते हैं, विभु जो भगवान् हैं वे भी हँसते हुए ध्यान और क्रिया द्वारा इसको भोगते हैं। यह सर्वसाधारणी-दोग्ध्री-गौ-यज्याओं द्वारा पीयी जाती है। इस सु-वर्ण और पिप्पली खाने वाले को महात्मागण ही देखते हैं। अध्वर्यु जो स्नातक हैं उसको उदासीन, हंस तथा ध्रुव कहकर गायन करते हैं। जो वेदज्ञशास्त्र कोविद पंडित हैं कहते हुए अनुशंसन करते हैं। रथन्तर, बृहत्साम, सप्तवैध जो सामवेद के भाग हैं उनके द्वारा इसका गायन किया जाता है।

पद क्रम समन्वित जो यह मन्त्रोपनिषद् ब्रह्म है इसे अथर्ववेद वाले भृगुवंशीय भार्गवऋषिगण पढ़ते हैं। ब्रह्मचरि वृत्ति वाले बहुत विस्तार के साथ देखते हैं। काल, प्राण, भगवान्, मृत्यु, शर्व, महेश्वर, उग्र, भव, रुद्र, देवताओं तथा असुरों के सहित, प्रजापति, विराट् तथा पुरुष इस सलिल स्वरूप आत्मा की अथर्व वेद के मन्त्रों द्वारा स्तुति करते हैं। इसको कोई छब्बीस तत्त्वों वाला कोई सत्ताईस तत्त्वों वाला कहते हैं। कोई-कोई इसे पुरुष, निर्गुण, सांख्य, अथर्व शिरा इन नामों से जानते हैं। कोई व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप इसे चौबीस तत्त्वों वाला कहते हैं।

कोई-कोई अद्वैत को द्वैत कहते हैं। कोई तीन प्रकार का कोई पाँच प्रकार का कहते हैं। ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जो भी कुछ जगत् में है, उसे ज्ञानी लोग ज्ञान चक्षु से देखते हैं। ब्राह्मण लोग उसी एक को परिशुभ्र तथा विभु रूप में देखते हैं। जिसमें यह समस्त स्थावर जंगम दृश्य जगत् ओत-प्रोत है उसी में अन्त में लय को प्राप्त हो जाता है, जैसे नदियाँ समुद्र में जाकर विलीन हो जाती हैं। जिसमें समस्त भाव प्रलीन हो जाते हैं, ऐसे ही ये सब भाव अव्यक्तता में लीन हो जाते हैं। फिर व्यक्तता में फिर देखे जाते हैं, जिस प्रकार जल में बुद्-बुद् दिखायी देते हैं। क्षेत्रज्ञ अधिष्ठित जो आत्मा है, वह अपने कारणों में पुनः विद्यमान रहता है। इसी प्रकार इन भगवान् देव को भी दूसरे लोग बार-बार देखते हैं। जो ब्राह्मण इस सबको ब्रह्म-ब्रह्म ही जानते हैं, ऐसे अव्यक्त शाली ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाते हैं। उनको दूसरे लोकों में जाना नहीं पड़ता, वे यहीं लीन हो जाते हैं। इस प्रकार यह ब्रह्मज्ञान परक मन्त्रिका उपनिषद् यहाँ समाप्त हुई। अब आप सर्वसार उपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रवण करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सर्वसार उपनिषद् अथर्ववेदीय है। इसका 'सहनाववतु' यह शान्ति पाठ है, यह बहुत ही छोटी चार गद्यात्मक मन्त्रों वाली है। इसमें सबसे पहिले यही पूछा गया है कि बन्ध क्या है, मोक्ष क्या है? विद्या-अविद्या, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, ये क्या हैं? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश क्या हैं? कर्ता, जीव, क्षेत्रज्ञ, साक्षी, कूटस्थ, अन्तर्यामी ये क्या हैं? प्रत्यगात्मा, आत्मा तथा माया किसे कहते हैं? अब इन प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं।"

प्रश्न—बन्धन किसे कहते हैं?

उत्तर—आत्मेश्वर जो शुद्ध जीव है, जब यह देहादि अनात्म वस्तुओं में आत्म बुद्धि कर बैठता है और उनमें अपनेपन का अभिमान कर लेता है। इसी का नाम बन्धन है।

प्रश्न—मोक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर—इन अनात्म पदार्थों में से अभिमान की निवृत्ति का नाम-मोह के क्षय का नाम-मोक्ष है।

प्रश्न—"अविद्या क्या है ?"

उत्तर—"अनात्म पदार्थों में जो अहंता ममता पूर्वक अभिमान कर लेता है यही अविद्या है।"

प्रश्न—"विद्या क्या है ?"

उत्तर—"जिसके द्वारा अहंता ममता का अभिमान निवर्त हो जाय यही विद्या है। जो मुक्ति का मार्ग दिखा दे।"

प्रश्न—"जाग्रत अवस्था किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय इन चौदहों इन्द्रियों द्वारा पूर्ण रूप से इनके जो आदित्य आदि अधिष्ठातृ देवता हैं उनके द्वारा अनुग्रहीत और शब्द, रूप, रसादि जो इन्द्रियों के स्थूल विषय हैं, जब ये सब जीवात्मा को प्रत्यक्ष उपलब्ध हों उस अवस्था का नाम जाग्रत अवस्था है।"

प्रश्न—"स्वप्नावस्था किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"जब अन्तःकरण चतुष्टय वासना से रहित होने पर भी शब्द, रूप, रसादि स्थूल विषयों का अभाव होने पर भी वासनामय जो स्वप्न के शब्द, रूप रसादि हैं उन्हें जिस अवस्था में जीवात्मा उपलब्ध करता है उस अवस्था का नाम स्वप्नावस्था है।"

प्रश्न—"सुषुप्ति अवस्था किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अन्तःकरण चतुष्टय और दश इन्द्रियाँ इन चौदहों के उपराम हो जाने पर, विशेष विज्ञान का अभाव होने से जो प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था है उसे सुषुप्ति कहते हैं।"

प्रश्न—"तुरीय अवस्था किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के भाव से स्वयं भाव साक्षी होने पर भाव तथा अभाव से रहित जो तीनों अवस्थाओं से परे की अवस्था है उसी का नाम तुरीयावस्था है। इस अवस्था में निरन्तर ब्रह्म के साथ ऐक्य रहता है।"

प्रश्न—"अन्नमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अन्न के कार्यों के छेऊ कोशों का जो समूह है उस चैतन्य को ही अन्नमय कोश कहते हैं।"

प्रश्न—"प्राणमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"प्राण, अपान आदि जो चौदह वायु के भेद हैं, वे जब अन्नमय कोश में वर्तते हैं उसी का नाम प्राणमय कोश है।"

प्रश्न—"मनोमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अन्नमय और प्राणमय ये जो दो कोश हैं इनसे संयुक्त मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार युक्त आत्मा शब्द, रूप, रसादि विषयों को तथा संकल्प मनन आदि धर्मों को जब करता है, उसी का नाम मनोमय कोश है।"

प्रश्न—"विज्ञानमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोशों से संयुक्त और तद्गत विशेष और अविशेष को जानने वाला आत्मा जब अवभासित होता है, वही विज्ञानमय कोश कहलाता है।"

प्रश्न—"आनन्दमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन

चारों कोशों को स्वकारण ज्ञान में जैसे छोटे से वट के बीज में इतना बड़ा वटवृक्ष गुप्त रूप से सन्निहित रहता है वैसे ही इन चारों कोशों में जो गुप्तरीति से वर्तता है, वही आनन्दमय कोश है।"

प्रश्न—"कर्ता किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"बुद्धि के आश्रय से जो सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ देह के भीतर रहता है, वही कर्ता है। मनोनुकूल इष्ट विषय में सुख बुद्धि और मन के प्रतिकूल में दुःख बुद्धि। जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शों में सुख दुख की अनुभूति का कारण है।"

प्रश्न—"जीव किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"पुण्य पाप कर्मानुसारी होकर जो शरीर सन्धियोग को प्राप्त करके ऐसा समझता है कि मैंने शरीर संयोग प्राप्त ही नहीं किया है। जो शरीर में रहकर अपने को वही मानता है वह जीव है। (१) मन आदि अन्तःकरण, (२) समस्त प्राण समूह, (३) सत्त्वादि गुण, (४) इच्छा द्वेषादि वृत्तियाँ और (५) पुण्य पापादि इन पाँचों वर्गों का धर्मी होकर भूताआत्मज्ञान के होने के अतिरिक्त जिसका कभी नाश नहीं होता है। आत्मज्ञान होने पर तो जीव का जीवत्व भाव नष्ट हो जाता है, किन्तु शरीर के नष्ट होने पर जो नाश न हो वही जीव है।"

प्रश्न—"क्षेत्रज्ञ किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"आत्मा की सन्निधि में नित्य रूप में प्रतीयमान जो आत्म की उपाधि और तल्लिङ्ग को तथा शरीर को हृदय ग्रन्थि कहते हैं। उस हृदय ग्रन्थि को जो प्रकाशित करता है उसी चैतन्य का नाम क्षेत्रज्ञ है।"

प्रश्न—"साक्षी किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के रूप जो त्रिपुरी है उसके आविर्भाव और तिरोभाव का जो ज्ञाता है और स्वयं जो आविर्भाव तिरोभाव से हीन है तथा जो स्वयं ज्योति स्वरूप है। वही साक्षी कहलाता है।"

प्रश्न—"कूटस्थ किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका पर्यन्त सभी प्राणियों की बुद्धि में आविष्टतया उपलभ्य मान वह जब सभी प्राणियों की बुद्धि में रहता है, तब उसी को कूटस्थ कहते हैं।"

प्रश्न—"अन्तर्यामी किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"कूटस्थ आदि जो उपहित भेद हैं उन सब भेदों का स्वरूप लाभ हेतु होकर, जैसे माला के सूत में समस्त मणियाँ पिरोई रहती हैं, वैसे ही जो सभी क्षेत्रों में-शरीरों में-अनुस्यूत होकर जब प्रकाशित होता है तब उसी आत्मा को अन्तर्यामी कहते हैं।"

प्रश्न—"प्रत्यगात्मा किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"सभी प्रकार की उपाधियों से विनिर्मुक्त, जैसे कंकण कुण्डल आदि नामों को त्यागकर केवल शुद्ध सुवर्ण ही रह जाता है, उसी प्रकार केवल विज्ञानघन चिन्मात्र स्वरूप आत्मा जब स्वतन्त्र रूप से अवभासित होने लगता है। तो 'तत्त्वमसि' के त्वं पदार्थ वाला वही प्रत्यगात्मा कहलाता है।"

प्रश्न—"परमात्मा किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"जो सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द स्वरूप ब्रह्म है वही परमात्मा है।"

प्रश्न—"सत्य क्या ?"

उत्तर—"अविनाशी का नाम सत्य है।"

प्रश्न—"अविनाशी क्या ?"

निरालम्ब, शुकरहस्य और वज्रसूचिक उपनिषद्-सार

(२९८)

नरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः।
स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते ॥*

(नि० उ० २ मं०)

छप्पय

निरालम्ब उपनिषद् ब्रह्म ईश्वरहिँ बतावै।
कहा प्रकृति, परमात्म, विष्णु, अज, शिव, समुझावै॥
इन्द्र, चन्द्र, रवि, देव,, असुर, नर नारी, पशु जो।
वरन, जाति, अकरमहु, करम, अज्ञान, ज्ञान सो॥
सुख, दुख, नरकहु, स्वरग, तप, बन्ध, मोक्ष, विद्वान्, शिष।
असुर, उपास्यहु मूढ़, पद-परम, ग्राह्य, यति, देइ सिख॥

प्रश्नोत्तर रूप में जो सम्वाद निरूपण किये जाते हैं। उन्हें समझने में बड़ी सुविधा होती है, क्योंकि प्रश्न भी संक्षेप में किया जाता है और उत्तर देने वाला शक्ति भर उत्तर भी संक्षेप में ही

---

* जो योगी निरालम्ब का आश्रय ग्रहण करके सालम्ब का परित्याग कर देता है, वास्तव मे वही सन्यासी है, वही योगी है, ऐसा निरालम्ब का आश्रय करने वाला योगी कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है।

देता है। इस प्रकार प्रश्न करने वाले को भी सुविधा होती है, व उत्तर देने वाले को भी सुविधा होती है तथा अन्यान्य श्रवण करने वालों को भी समझने में सुविधा होती है। बहुत-सी उपनिषदें, प्रश्नोत्तर रूप में ही हैं। पीछे जिस सर्वसार उपनिषद् का निरूपण कर आये हैं वह प्रश्नोत्तर रूप में ही थी और अब आगे जिस निरालम्ब उपनिषद् का सार बतावेंगे यह भी प्रश्नोत्तर रूप में ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! निरालम्ब उपनिषद् का पूर्णमदः यह शान्ति पाठ है। यह प्रश्नोत्तर रूप में है। आरम्भ में शिवजी को नमस्कार करके निरालम्ब उपनिषद् का प्रयोजन तथा इसका अधिकारी कौन है, इसका निरूपण किया गया है। फिर इसका फल बताया है। इस प्रकार विषय प्रयोजन सम्बन्ध अधिकारी तथा फल को बताकर फिर बहुत-से प्रश्न एक साथ ही कर दिये हैं। ब्रह्म क्या है? जीव तथा प्रकृति क्या है? इसी प्रकार परमात्मा, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, शमन, सूर्य, चन्द्र, देवता, असुर, पिशाच, मनुष्य, स्त्री, पशु, स्थावर, ब्राह्मणादि वर्ण, जाति, कर्म, अकर्म, ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख, स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष, उपास्य, शिष्य, विद्वान्, मूढ़ आसुर, तप, परमपद, ग्राह्य, अग्राह्य तथा संन्यासी ये सब कौन हैं? इस प्रकार आशङ्का की गयी है। इन सबका उत्तर ब्रह्माजी ने स्वयं दिया है।"

प्रश्न—"ब्रह्म, क्या है?"

उत्तर—"महत्तत्व, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशादि जो बृहत्रूप में यह ब्रह्माण्ड कोश है, तथा कर्मज्ञानार्थ रूप जो भासमान यह अद्वितीय अखिल उपाधि विनिर्मुक्त, सकल शक्ति, उपबृंहित, अनादि, अनन्त, शुद्ध, शिव, शान्त, निर्गुणादि

पदवाच्य तथा वास्तव में जो अनिर्वाच्य चैतन्य हैं उन्हीं की ब्रह्म संज्ञा है।"

प्रश्न—"ईश्वर किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्म ही अपनी प्रकृति नाम वाली शक्ति को आश्रय करके लोकों की सृष्टि करते हैं। इन लोकों की सृष्टि करके फिर इनमें अन्तर्यामी रूप से प्रवेश कर जाते हैं। ब्रह्मादिकों की बुद्धि तथा इन्द्रियों के नियन्ता और उनके स्वामी का ही नाम ईश्वर है।"

प्रश्न—"जीव किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा इन्द्रादि नाम रूप द्वारा मैं स्थूल हूँ ऐसा जिसे मिथ्या अध्यास हो जाय उसी की जीव संज्ञा है। यद्यपि 'अहम्' भाव से वह एक ही है, किन्तु देहारम्भक भेदों के कारण बहु जीव कहलाते हैं।"

प्रश्न—"प्रकृति किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्म के सकाश से नाना प्रकार के चित्र-विचित्र जगत के निर्माण करने वाली सामर्थ्य बुद्धि रूपा जो ब्रह्मशक्ति है उसी को प्रकृति कहते हैं।"

प्रश्न—"परमात्मा किसे कहते हैं ?"

उत्तर—देहादि से परतरत्व होने से ब्रह्म की ही परमात्मा संज्ञा हो जाती है। ब्रह्म जब देह का आश्रय ग्रहण कर लेता है, तो वही परमात्मा, वही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शमन, सूर्य, चन्द्र, देवता, असुर, पिशाच, मनुष्य, स्त्री, पशु, स्थावर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज तथा नाना नाम रूपों वाला हो जाता है। यह सब दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त नानात्व किंचित् भी नहीं है सब परमात्मा ही परमात्मा है।"

प्रश्न—"परमात्मा के साथ ही आपने ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र,

शमन, सूर्य, चन्द्र, देवता, असुर पिशाच, मनुष्य, स्त्री, पशु, स्थावर तथा ब्राह्मणादि समस्त वर्णों की व्याख्या करते हुए सबको ब्रह्ममय बता दिया। एक उत्तर में इन सबकी व्याख्या कर दी। अब आप जाति क्या हैं, यह बताइये ?"

उत्तर—देखो, जाति न तो चर्म, रक्त तथा मांस से ही होती है, न हड्डी से, न आत्मा से ही। जाति का सम्बन्ध केवल व्यवहार में ही कल्पित किया जाता है। व्यवहार में ही कहते हैं यह मनुष्य जाति है, यह पशु जाति है। मनुष्यों में ही यह ब्राह्मण जाति का यह क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जाति का है।"

प्रश्न—"अच्छा, कर्म किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"इन्द्रियों द्वारा अहंकार के वशीभूत होकर आध्यात्म निष्ठा से किये जाने वाले कर्मों को ही कर्म कहते हैं।"

प्रश्न—"अकर्म क्या है ?"

उत्तर—"कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि अहंकार के वशीभूत होकर बन्धन के कारण रूप जो जन्मादि कारण हैं और नित्य नैमित्तिक याग, व्रत, तप, दानादि कर्मों को फल की इच्छा से जो करते हैं, फलाभिसंधान पूर्वक इन कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तो ये ही फल हेतु वाले कर्म अकर्म हैं।"

प्रश्न—"ज्ञान किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"देह और इन्द्रियों के निग्रह पूर्वक जो गुरु उपासना, श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा दृग् दृश्य स्वरूप सर्वान्तरस्थ, सर्वसम, घटपटादि पदार्थ की भाँति अविकारों को विकार में केवल चैतन्य के बिना कुछ भी नहीं है ऐसे साक्षात् अनुभव का ही नाम ज्ञान है।"

प्रश्न—"अज्ञान क्या है ?"

उत्तर—"जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है उसी

प्रकार अद्वितीय, सर्वान्युस्यूत, सर्वमय ब्रह्म में यह देवता है, यह तिर्यङ् है,यह मनुष्य, स्थावर, स्त्री, पुरुष, वर्ण, आश्रम, बन्ध तथा मोक्षादि उपाधियों वाला नानात्म भेद की कल्पना रूप जो ज्ञान है अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त नानात्व की कल्पना ही अज्ञान है।"

प्रश्न—"सुख क्या है ?"

उत्तर—"सच्चिदानन्द स्वरूप को जानकर जो आनन्द रूपा स्थिति है उसी का नाम सुख है।"

प्रश्न—"दुःख किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अनात्मरूप विषय संकल्प ही दुःख है।"

प्रश्न—"स्वर्ग क्या है ?"

उत्तर—"अच्छे लोगों का संसर्ग अर्थात् सत्संग का ही नाम स्वर्ग है।"

प्रश्न—"नरक क्या है ?"

उत्तर—"असत् जो संसार विषयक संसर्ग है अर्थात् विषयी व्यक्तियों का संग ही नरक है।"

प्रश्न—"बन्ध किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अनादि अविद्या वासना से उत्पन्न जो अहं इत्यादि संकल्प-अर्थात् मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, ऐसे अभिमान का ही नाम बन्ध है। बन्धन के अनेक और भी प्रकार हैं। ये मेरे माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, घर तथा खेत आदि मेरे हैं, इस प्रकार की ममता भी बन्धन है। क्योंकि यह ममता संसार आवरण का संकल्प है। कर्तृत्व का अहंकार संकल्प भी बन्ध है। अणिमा महिमादि जो अष्ट ऐश्वर्य वाली सिद्धियाँ हैं ये बन्ध रूपा हैं। देवता, मनुष्यादि उपासना,काम संकल्प भी बन्ध है। यम, नियम आदि जो अष्टाङ्ग योग हैं इनका संकल्प भी बन्ध है। याग,

व्रत, तपस्या, दान, विधि, विधान आदि का ज्ञान सम्भव यह भी बन्धन है। केवल मोक्ष की अपेक्षा का संकल्प भी बन्धन है। वर्ण, आश्रम, धर्म, कर्म संकल्प भी बन्धन है। आज्ञा, अभय, संशयात्मक संकल्प भी बन्ध ही है। कहाँ तक गिनावें संकल्प-मात्र सम्भव सभी कार्य बन्धन हैं। संकल्प करना ही बन्धन का कारण है।"

प्रश्न—"मोक्ष क्या है ?"

उत्तर—"नित्य, अनित्य वस्तु विचार से जो अनित्य संसार, सुख दुःख विषय समस्त क्षेत्र ममता जो बन्धन रूप है, उसका क्षय हो जाने को-मोह के क्षय को ही मोक्ष कहते हैं।"

प्रश्न—"उपास्य किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"सर्व शरीरस्थ चैतन्य ब्रह्म प्रापक जो गुरुदेव हैं वे ही उपास्य हैं।"

प्रश्न—"शिष्य किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"विद्याध्वस्त प्रपञ्च अवगाहित ज्ञानावशिष्ट जो ब्रह्म है वही मानों शिष्य है।"

प्रश्न—"विद्वान् किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"सर्वान्तरस्थ स्वसंविदरूप को जानने वाले का नाम ही विद्वान् है।"

प्रश्न—"मूढ़ किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"कर्तृत्वादि अभिमान से युक्त अहङ्कार भावारूढ़ व्यक्ति ही मूढ़ है।"

प्रश्न—"आसुर भाव किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तथा इन्द्रादि लोकपालों के ऐश्वर्य की कामना से, उपावास, जप, अग्निहोत्रादि कर्मों को करना तथा इनसे और अत्यन्त उग्र राग, द्वेष, विहिंसा दम्भादि

भावना से किये हुए तप से अपनी अन्तरात्मा को सन्तापित करने का ही नाम आसुरी भाव है।"

प्रश्न—"तप किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, यह जगत् मिथ्या है, इस प्रकार की अपरोक्ष ज्ञानाग्नि से ब्रह्मा आदिकों के ऐश्वर्य की आशा सिद्ध संकल्प बीज को संतापित करने का ही नाम वास्तव में तप है।"

प्रश्न—परमपद किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्राण, इन्द्रियादि अन्तःकरण, गुण आदि से परतर जो सच्चिदानन्दमय, नित्यमुक्त ब्रह्म स्थान है उसी का नाम परम पद है।

प्रश्न—ग्राह्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—देश, काल, वस्तु, परिच्छेदरहित चिन्मात्र स्वरूप वस्तु ही ग्राह्य है।

प्रश्न—"अग्राह्य किसे कहते हैं ?"

उत्तर—अपना जो स्वरूप है उसके व्यतिरिक्त मायामय जो बुद्धि इन्द्रिय गोचर जगत् है, उस जगत् का सत्य की भावना से चिन्तन करना ही अग्राह्य है।

प्रश्न—"संन्यास किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"सर्व धर्मों को परित्याग करके निर्मम और निरहंकार होकर इष्ट स्वरूप ब्रह्म की शरण में जाकर 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेहनानास्ति किंचन' इत्यादि महावाक्यों के अर्थ के अनुभव ज्ञान से मैं ब्रह्म ही हूँ ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि द्वारा स्वतन्त्र होकर जो यति विचरण करता है, वही संन्यासी है। वही मुक्त है। वही पूज्य है, वही योगी है, वही परमहंस है। वही अवधूत है, वही ब्राह्मण है।"

यही निरालब उपनिषद् है, इस उपनिषद् का जो अध्ययन करता है, वह गुरु के अनुग्रह से अभिपूत हो जाता है, वायु पूत हो जाता है। उसका फिर जन्म नहीं होता नहीं होता। वह फिर लौटकर नहीं आता-नहीं आता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यह निरालम्ब उपनिषद् का सार आपको सुनाया। अब आप शुकरहस्य उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह शुकरहस्योपनिषद् यजुर्वेदाय उपनिषद् है। 'सहनाववतु' आदि इसका शान्ति पाठ है। यह उपनिषद् तीन खण्डों मे है। पहिले खण्ड में सब देवर्षिगण मिलकर ब्रह्माजी के पास गये और उनसे उपनिषद् तत्व सुनाने की प्रार्थना की।"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"देवर्षियो! ऐसी ही प्रार्थना पहिले वेदव्यासजी ने शिवजी से की थी। व्यासजी ने शिवजी से कहा—"भगवन्! मेरा पुत्र शुकदेव अब प्रणव और गायत्री मत्र के उपदेश का अधिकारी हो गया है उसे आप दीक्षा दे दें।

शिवजी ने कहा—"भाई, मुझसे दीक्षा मत दिलाओ।"

व्यासजी ने कहा—"क्यों भगवन्!"

शिवजी ने कहा—"मैं उसे कैवल्य रूप साक्षात् सनातन परब्रह्म का उपदेश दूँगा। उससे होगा क्या? कि वह सर्वस्व त्यागकर स्वतः प्रकाश स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर लेगा। ससार से वह परमविरक्त बन जायगा।"

व्यासजी ने कहा—"जो भी कुछ हो, दीक्षा आप ही दें। क्योंकि आप द्वारा दीक्षित होने से वह सर्वज्ञ हो जायगा और वह सायुज्य, सामीप्य, सारूप और सालोक्य चारों प्रकार की मुक्तियों को प्राप्त कर लेगा।"

भगवान् शंकरजी श्रीवेदव्यास के आग्रह को टाल नहीं सके, उन्होंने श्रीशुकदेवजी को प्रणव की दीक्षा दी। उस दीक्षा से कृतार्थ हुए शुकदेवजी ने श्रद्धा भक्तिपूर्वक भगवान् शंकरजी से प्रार्थना की—"भगवन्! मैं प्रणवात्म स्वरूप परब्रह्म का उपदेश पाकर कृतार्थ हो गया। अब आप कृपा करके 'तत्त्वमसि' आदि जो चारों महा वाक्य हैं उनका अंगन्यास करन्यास सुनावें।

यह सुनकर शिवजी ने शुकजी की बहुत प्रशंसा करते हुए कहा—"तुमने तो वेदों के छिपे रहस्य को ही पूछ लिया। यह रहस्योपनिषद् है। अब मैं तुम्हें षड्अङ्गन्यास सहित इन सबको बताऊँगा। इसे जान लेने से मुक्ति हो जाती है। जो इन महा वाक्यों का उपदेश करे उसे अङ्ग हीन वाक्यों का उपदेश नहीं करना चाहिये। जिस भी महावाक्य का उपदेश करे षड् अङ्गों के सहित ही करे। समस्त वेदों में उपनिषदों को श्रेष्ठ माना है और समस्त उपनिषदों में इस रहस्य उपनिषद् को सर्वोत्तम बताया है। किन्तु बिना ऋषि, छन्द, करन्यास, अंगन्यास के ज्ञान बिना महावाक्यों का जो फल सौ वर्षों तक विचार करने पर होता है, वह फल इन सबको जानकर केवल एक बार के जप से ही हो जाता है।"

सूतजी ने कहा—"ऋषियो! प्रत्येक मन्त्र का एक ऋषि होता है, उसका शिर पर न्यास करे। प्रत्येक मन्त्र का एक देवता होता है उसका हृदय में न्यास करे और प्रत्येक मन्त्र की छन्द पृथक् होती है, उस छन्द का मुख में न्यास करे। प्रत्येक मन्त्र का एक बीज होता है उस बीज से ही सम्पूर्ण मन्त्र का विस्तार होता है। प्रत्येक मन्त्र में एक प्रकार की शक्ति होती है, उसी शक्ति से मन्त्र शक्तिवान् होता है। प्रत्येक मन्त्र का एक कीलक होता है उसके द्वारा मंत्र बँधा रहता है। तो इस 'तत्त्वमसि'

महावाक्य रूप महामन्त्र का हंस तो ऋषि है, अव्यक्त गायत्री इसकी छन्द है। परमहंस देवता हैं, हं इसका बीज है। सः शक्ति है। सोऽहं कीलक है। परमहंस की प्रीति विषय में इस महावाक्य का विनियोग किया जाता है।

(१) नमः, (२) स्वाहा, (३) वषट्, (४) हुम्, (५) वौषट् और (६) फट्, इन छः वाक्यों द्वारा अँगूठा, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठका और करतल पृष्ठ इन छैः हाथ की उँगलियों में करन्यास और (१) हृदय, (२) शिर, (३) शिखा, (४) कवच, (५) नेत्र, और (६) अस्त्र, इन छैः अंगों में अंगन्यास किया जाता है। फिर एक मन्त्र से सब दिशाओं का दिग्बन्ध किया जाता है। तदनन्तर ध्यान करते हैं।

इस सिद्धान्त से 'तत्वमसि' महावाक्य के करन्यास अंगन्यास यों करें। पहिले करन्यास लीजिये। "सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म" इससे दोनों अंगुष्ठ की चतुर्थी का द्वितीयान्त पद लगाकर अन्त में नमः कहकर दोनों हाथों के अँगूठाओं पर न्यास करे।

'नित्यानन्दो ब्रह्म' द्वारा तर्जनीभ्याँ स्वाहा
'नित्यानन्दमयं ब्रह्म' द्वारा मध्यमाभ्यां वषट्
'यो वै भूमा' द्वारा अनामिकाभ्यां हुम्।
'यो वै भूमाधिपति' द्वारा कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।
'एक मेवा द्वितीयं ब्रह्म' द्वारा करतल कर पृष्ठाभ्यां फट्

ये तो हो गये कर की उँगलियों के न्यास, अब ६ अंगों के न्यास भी इसी ढँग से करने चाहिये। जैसे—

'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' द्वारा हृदयाय नमः।
'नित्यानन्दो ब्रह्म' द्वारा शिर से स्वाहा।
'नित्यानन्दमयं ब्रह्म' द्वारा शिखायै वषट्।
'यो वै भूमा' द्वारा कवचाय हुम्।

'यो वै भूमाधिपतिः' द्वारा नेत्रत्रयाय वौषट्।
'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' अस्त्राय फट्। और 'भूर्भुवः सुवरोम्' इसके द्वारा दिग्बन्ध करे। फिर इस प्रकार ध्यान करे—

छप्पय

नित्यानन्द स्वरूप परम सुख दैवे वारे।
केवल हो तुम ज्ञान-मूर्ति द्वन्द्वनि तैं न्यारे॥
गगन सरिस हो व्याप्त तत्व मस्यादि लक्ष्य हो।
एक नित्य हो विमल, अचल सबधी साक्षी हो॥
तुम हो भावातीत प्रभु, तीनिहु गुनतैं रहित हो।
गुरु के गुरु सद्गुरु विभो, नमस्कार के योग्य हो॥*

यहाँ आकर शुकरहस्योपनिषद् का प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

अब द्वितीय खण्ड में "तत्त्वमसि" महावाक्य में जो तत्, त्वम्, असि ये तीन पद हैं उन तीनों पदों के पृथक-पृथक् षड्-अङ्गन्यासों को बताते हुए कहा है-प्रणव सहित पहिला महावाक्य 'प्रज्ञान ब्रह्म' द्वितीय 'अहं ब्रह्मास्मि' तृतीय 'तत्त्वमसि' और चतुर्थ 'अयमात्मा ब्रह्म' इन चारों के आदि में प्रणव है। प्रथम महावाक्य का जो जीव ब्रह्म का अभेद वाचक है उसका जप करते हैं वे शिव सायुज्य मुक्ति के अधिकारी होते हैं।

अब तत् पद के परमहंस तो ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छन्द है, परमहंस देवता हैं, हं बीज है, सः शक्ति है, सोऽहं कीलक है

---

* नित्यानन्दं परमसुखदं केवल ज्ञानमूर्तिम्
द्वन्द्वातीत गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

सायुज्य मुक्ति में इसका विनियोग होता है। इस तत्त्वमसि के तत् शब्द का करन्यास इस प्रकार करे—

१—'तत्पुरुषाय' द्वारा—अंगुष्ठाभ्यां नमः।
२—'ईशानाय' द्वारा तर्जनीभ्यां स्वाहा।
३—'अघोराय' द्वारा मध्यमाभ्यां वषट्।
४—'सद्योजाताय' द्वारा अनामिकाभ्यां हुम्।
५—'वामदेवाय' द्वारा कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।
६—'तत्पुपेशानाघोर सद्योजात वामदेवेभ्यो नमः' द्वारा—करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इसी प्रकार अङ्गन्यास भी करे—जैसे—

१—'तत्पुरुषाय' द्वारा हृदयाय नमः
२—'ईशानाय' द्वारा शिर से स्वाहा।
३—'अघोराय' द्वारा शिखायै वषट्।
४—'सद्योजाताय' द्वारा कवचाय हुम्।
५—'वामदेवाय' द्वारा नेत्रत्रयाय वौषट
६—'तत्पुरुपेशानाघोर सद्योजात वामदेवेभ्यो नमः' द्वारा अस्त्राय फट्।

इस प्रकार अङ्गन्यास करके 'भूर्भुवः सुवरोम्'। द्वारा दिग्बन्धन करे। तब इस प्रकार ध्यान कर—

छप्पय

साधन जो हैं ज्ञान ज्ञान के विषय कहावें।
ज्ञानगम्यता परे शुद्ध अरु बुद्ध बतावें॥
अव्यय मुक्त स्वरूप सत्य के रूप ज्ञानमय।
रूप सच्चिदानन्द कहें जिनिकूँ प्रकाशमय॥

करै ध्यान एकाग्र ह्वै, दिव्य तेज के पुंज जो।
भ्राजमान, भगवान्, सत, चित् स्वरूप आनन्द जो॥*

अब तत्त्वमसि महावाक्य के दूसरे पद त्वम् के भी ऋषि, छन्द, देवता तथा करन्यास अंगन्यासों को जाने। जैसे 'त्वम्' जो महावाक्य का दूसरा पद है उसके ऋषि तो विष्णु हैं, छन्द गायत्री है, देवता परमात्मा हैं, ऐं इसका बीज है, क्लीं शक्ति है, सौः कीलक है और अपनी मुक्ति के सम्बन्ध में इसका विनियोग है। अब करन्यास बताते हैं—

१—'वासुदेवाय' द्वारा अंगुष्ठाभ्यां नमः।
२—'संकर्षणाय'–द्वारा तर्जनीभ्यां स्वाहा।
३—'प्रद्युम्नाय'–द्वारा मध्यमाभ्यां वषट्
४—'अनिरुद्धाय' द्वारा अनामिकाभ्यां हुम्
५—'वासुदेवाय' द्वारा कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।
६—वासुदेव संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्य करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इसी प्रकार इन्हीं मन्त्रों से हृदयादि अंगन्यासों को भी करना चाहिये। और 'भूर्भुवः सुवरोम्' इससे दिग्बन्ध करना चाहिये। फिर ध्यान करे।

दोहा

जीवतत्त्व बोधक सकल, सर्वाखण्डहु विग्रह।
अहंकार चित नियन्ता, त्वं पद जीवहु जाइ कह॥[१]

---

* ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतम्,
शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपम्
ध्याये देवं तन्महो भ्राजमानम्॥

[१] जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्ड विग्रहम्।
चिताहङ्कारयन्तारं जीवाख्यं त्वं पदं भजे॥

'तत्' और 'त्वम्' पद के ऋषि, देवता, छन्द, अंगन्यास, करन्यासादि कहकर अब तीसरा जो 'असि' पद है उसके भी इन सबको कहते हैं।

इस 'असि' पद महामंत्र के मन तो ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, अर्धनारीश्वर देवता हैं, अव्यक्तादि बीज है, नृसिंह शक्ति है, परमात्मा कीलक है। जीव ब्रह्म की एकता के निमित्त जप में इसका विनियोग है। इसके करन्यासों को भी सुनिये।

१—'पृथ्वीद्व्यणुकाय' द्वारा अंगुष्ठाभ्यां नमः

२—'अब्द्व्यणुकाय' द्वारा तर्जनीभ्यां स्वाहा।

३—'तेजो द्व्यणुकाय' द्वारा मध्यमाभ्यां वषट्।

४—'वायु द्व्यणुकाय' द्वारा अनामिकाभ्यां हुम्।

५—'आकाश द्व्यणुकाय' द्वारा कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।

६—'पृथिव्यप्ते जोवाय्वाकाश द्व्यणुकेभ्यःकरतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इस प्रकार अंगन्यास इन्हीं मन्त्रों से करे।

उसी 'भूर्भुवः स्वरोम्' से दिग्बन्ध करना चाहिये। फिर ध्यान करे।

दोहा

मनथिति जब तक तबहिँ तक, जीव ब्रह्म हैं एक।
मन को लय ह्वै जाइ जब, इक असि पद नित टेक॥

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार शुकरहस्य उपनिषद् का यहाँ द्वितीयखण्ड समाप्त होता है। अब तृतीय खंड और श्रवण कीजिये।"

तृतीय खंड में जो चारों महावाक्य हैं, उनकी पदविन्यास पूर्वक व्याख्या करते हुए बताया गया है, कि प्रज्ञान क्या है?

इसका उत्तर दिया है—"जिसके द्वारा देखता, सुनता, सूँघता,

कहता तथा स्वादु अस्वादु को जानता है, उसी का नाम प्रज्ञान है।"

प्रश्न—"प्रज्ञान ब्रह्म क्या है ?"

उत्तर—"चतुर्मुख ब्रह्मा, इन्द्र, देवता, मनुष्य, अश्व तथा गौ आदि समस्त प्राणियों में एक ही चैतन्य तत्त्व ब्रह्म है। वही प्रज्ञान ब्रह्म है, वह ब्रह्म मुझमें भी है।"

प्रश्न—"अहं ब्रह्म अस्मि का तात्पर्य क्या है ?"

उत्तर—" पहिले अहं का अर्थ समझो। परिपूर्ण परमात्मा ही इस देह में विद्या के अधिकारी जो साधक-मानव रूप में है-और बुद्धि के साक्षी रूप स्थित होकर जो स्फुरित होता है। उसी के लिये अहं शब्द व्यवहृत होता है। अब ब्रह्म क्या है ? तो कहते हैं—"स्वतः पूर्ण जो परा आत्मा है वही यहाँ ब्रह्म शब्द से लिया गया है। फिर 'अस्मि' का क्या तात्पर्य है ? कहते हैं—"अस्मि का अर्थ है 'हूँ'। यह अस्मि शब्द ब्रह्म और अहं की एकता का द्योतक है। इस पूरे वाक्य का अर्थ हुआ मैं ब्रह्म हूँ। यह तो 'अहं ब्रह्मास्मि' दूसरे महावाक्य की पद विन्यास पूर्वक व्याख्या हुई। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य की भी व्याख्या सुनिये।"

'तत्त्वमसि' में भी तत्, त्वं, असि ये तीन पद हैं। तत् पद का तात्पर्य क्या है ? सृष्टि के पूर्व केवल वही-ही-वही था, वहाँ द्वित्व की गन्ध भी नहीं थी। बस, एक ही नाम रूप से रहित अद्वितीय सत्ता थी, अब भी है और आगे भी ज्यों-की-त्यों रहेगी ही। तत् पद का अर्थ हुआ त्रिकालाबाधित अद्वय सत्ता। अब 'त्वम्' पद का तात्पर्य क्या है ?"

उत्तर—"महावाक्य में 'त्वम्' पद है उसका तात्पर्य है जो

शिष्य उपदेश श्रवण करता है, और जो देह तथा इन्द्रियों से अतीत है, वही 'त्वम्' पदवाच्य है।"

प्रश्न—"अच्छा, फिर 'असि' पद का तात्पर्य क्या है ?"

उत्तर—"असि का अर्थ है 'हो' अर्थात् जो तत्-वह-है-वह त्वं-तुम हो असि-हो-अर्थात् त्वम्-का जो बोध्य ब्रह्म हो वही-त्वं-जीव हो-भाव यह कि जीव और ब्रह्म की एकता का बोधक 'असि' शब्द है। यह तो पहिले महावाक्य की व्याख्या हुई। अब 'अयमात्मा ब्रह्म' इसकी भी पदविन्यासपूर्वक व्याख्या सुनिये।"

अयमात्मा ब्रह्म मे 'अयम्' 'आत्मा' और 'ब्रह्म' तीन पद हैं। 'अयम्' का भाव है स्वतः प्रकाश अपरोक्ष-अर्थात् नित्य प्रत्यक्ष स्वरूप। अब 'आत्मा' प्रत्यगात्मा समझना चाहिये। अहङ्कार से लेकर-अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, तन्मात्रायें, इन्द्रियाधिष्ठित देव, पञ्चभूत अर्थात् अहङ्कार से शरीर पर्यन्त जो है वही प्रत्यगात्मा है। अर्थात् अयम्-यह-आत्मा-प्रत्यगात्मा-ब्रह्म ही है। अब प्रश्न यह है—"कि ब्रह्म क्या ?"

इस जगत् में चर-अचर, स्थावर-जङ्गम, तृण से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जो भी कुछ है, उन सबमें समान रूप से जो व्यापक तत्त्व है उसी को 'ब्रह्म' शब्द से कहा गया है।

भाव यह है 'असि' पद के द्वारा भाग-त्याग लक्षणा से जीव और ब्रह्म की एकता का वर्णन इस महावाक्य मे है।

वास्तव में कार्य कारण उपाधि के ही कारण जीव और ब्रह्म दो दृष्टिगोचर होते हैं। कारण-रूप जो उपाधि है, जिसे माया कहो उसे हटा देने से केवल ब्रह्म ही ब्रह्म अवशेष रह जाता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा ही पूर्ण बोध हुआ है। लोक में और भी विद्यायें कही जाती हैं उनका सम्यक

भी नश्वर है। एकमात्र ब्रह्मविद्या ही शाश्वत और अविनाशी है, उसी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। भगवान् ब्रह्माजी ने आज्ञा दी है, कि सद्गुरु का कर्त्तव्य है, वह शिष्य को षडाङ्ग सहित ही इन महावाक्यों का उपदेश करे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् शंकर ने परमहंस शुकदेवजी को महावाक्यों द्वारा ब्रह्म का उपदेश किया।"

तदनन्तर उन्होंने शुकदेवजी से कहा—"मुनिवर शुकदेव! मैंने तुम्हारे पूज्य पिता की आज्ञा से तुम्हें अत्यन्त रहस्यमय उपदेश किया? तुम इसका ध्यान करते हुए परमहंस जीवंमुक्त होकर विचरण करोगे। देखो, यह जो ब्रह्म का वाचक प्रणव है, इस स्वर को वेद मन्त्रों के आदि में लगाते हैं।

इस प्रणव में 'अ' 'उ' और 'म्' ये त्रिमात्रा हैं, ये तीन मानों त्रिगुणात्मा प्रकृति हैं, उसमे परे जो अर्धमात्रा है उसमें जब प्रकृति लीन हो जाती है, तो वही वेदान्त वेद्य, ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा महेश्वर है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! इस प्रकार शिवजी द्वारा उपदेश प्राप्त करके, श्रीशुकदेवजी जगत में तन्मय हो गये। अर्थात् संसार के सभी पदार्थों में अपने को देखने लगे। जब वे उपदेश से कृतार्थ हो गये, तब उन्होंने उठकर शिवजी को साष्टाङ्ग प्रणाम किया, फिर सर्वस्व का त्याग करके सच्चिदानन्द परब्रह्म स्वरूप जो परमानन्द का समुद्र है उसमें मानों तैरने लगे। वे समस्त परिग्रहों का परित्याग करके वन की ओर चल दिये।"

अपने पुत्र को परमहंसावस्था में सर्वस्व त्यागकर जाते देखकर पुत्र के विरह से कातर व्यासजी 'पुत्र-पुत्र' कहते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़े। तब समस्त स्थावर जङ्गम चर-अचर जीवों ने

उनका प्रतिनन्दन किया। अर्थात् सबने अपने को शुक समझकर व्यासजी को हाँ कहकर उत्तर दिया।

तब सत्यवती सुत भगवान कृष्णद्वैपायन महामुनि व्यास ने समझा मेरा पुत्र सकलाकार हो गया है। अर्थात् सम्पूर्ण जगन्मयता को प्राप्त हो गया है। यह सोचकर वे अपने पुत्र सहित परमानन्द को प्राप्त हुए।

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! यही शुक रहस्योपनिषद् है। जो इसे गुरु कृपा से अध्ययन करेंगे, वे सर्व पापों से विनिर्मुक्त होकर साक्षात् केवल्य पद को प्राप्त करेंगे। इस प्रकार मैंने यह परम रहस्यमय श्रीशुकरहस्य उपनिषद् का सार आप सबको सुनाया। अब आप सब कृपा करके वज्रसूचिका नाम की उपनिषद् के सार को श्रवण करें।"

वज्रसूचिका उपनिषद् का 'आप्यायन्तु' इत्यादि शान्ति पाठ है। यह छोटी-सी उपनिषद् है। इसमें सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया गया कि चारों वर्णों में ब्राह्मण को ही वेद शास्त्रों में प्रधान माना गया है, तो वास्तव में ब्राह्मणत्व है किसमे। क्या जीव ब्राह्मण है, अथवा देह, जाति, ज्ञान, कर्म अथवा धार्मिकपन ब्राह्मण है। ऐसा प्रश्न करके इन सबका एक-एक करके निराकरण करते हैं।

अच्छा, यदि आप जीव को ब्राह्मण मानते हैं तो यह हो नहीं सकता। क्योंकि जीव तो बहुत-सी योनियों को भोग चुका है, आगे भी बहुत-सी योनियों को भोगने वाला है। सभी योनियों में जीव तो एक ही रहता है। योनियों के साथ जीव तो बदलता नहीं। वह तो कर्मानुसार अनेक देहों में जाता आता रहता है। सभी शरीरों में एक ही जीव होने से जीव ब्राह्मण नहीं हो सकता।

अच्छा, तो देह ब्राह्मण होगी, सो भी सम्भव नहीं, यदि आप शरीर को ब्राह्मण मानें तो यह भी सम्भव नहीं। सभी शरीर पंचभूतों के ही बने होते हैं, शरीर एक ही भाँति बढ़ते हैं, बाल युवक बूढ़े होते तथा मरते हैं। यह भी बात नहीं ब्राह्मण शरीर गोरा ही हो, क्षत्रिय रक्त, वैश्य पीत और शूद्र काले ही वर्ण के हों, बहुत से ब्राह्मण काले और शूद्र गोरे देखे जाते हैं। इससे शरीर ब्राह्मण नहीं। यदि शरीर ही ब्राह्मण होता तो मरने पर पुत्र पिता के शरीर को जलाता है तो उसे ब्रह्महत्या का पाप लगना चाहिये। वह भी नहीं लगता, इससे प्रतीत होता है शरीर ब्राह्मण नहीं।

अच्छा, तो जाति में ब्राह्मणत्व होगा ? सो भी सम्भव नहीं। क्यों कि जात्यन्तर व्यक्ति अनेक जातियों के होते हैं। महर्षियों में ही देखिये ऋष्यशृङ्ग हिरनी से हुए थे, वे हरिण जाति के नहीं कहाये। कौशिक मुनि कुशाओं से हुए, जाम्बूक मुनि जम्बूक से, वाल्मीक बल्मीक से, व्यास मल्लाह जाति की लड़की से, शशपृष्ठ से गौतम, उर्वशी से वसिष्ठ, कलश से अगस्त्य, ये भिन्न-भिन्न जाति की माताओं से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान प्रतिपादित ऋषि ही कहलाये। अतः जाति के कारण भी ब्राह्मणत्व नहीं।

अच्छा तो ज्ञान के कारण ब्राह्मण होते होंगे ? सो भी संभव नहीं। क्यों कि बहुत से क्षत्रिय भी ऐसे परमार्थदर्शी ज्ञानी हो गये हैं। जिनके पास ऋषि महर्षि तक ज्ञान सीखने जाते थे। इससे सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणत्व में ज्ञान भी कारण नहीं है।

अच्छा, तो कर्म के कारण ब्राह्मण होते होंगे ? सो भी संभव नहीं। क्यों ? कि सभी प्राणी प्रारब्ध कर्मों को संचित कर्मों द्वारा प्राप्त करके आगे के कर्मों को प्रारब्धानुसार ही करते हुए देखे

गये हैं। इससे कर्म ब्राह्मणत्व में कारण नहीं हो सकते।

अच्छा, तो धार्मिकपना यह ब्राह्मण होगा ? सो भी सम्भव नहीं ? क्योंकि ब्राह्मणों से अधिक क्षत्रिय धार्मिक होते हैं। वह अगणित सुवर्ण मुद्रा, गौ, भूमि आदि का दान करते हैं। इतने धार्मिक होने पर भी वे क्षत्रिय ही कहाते हैं। उन्हें कोई ब्राह्मण नहीं कहता।

अच्छा, तो आप ही बताइये ब्राह्मण कौन है ?

कहते हैं—"देखो, जो कोई अद्वितीय आत्मा को, जो आत्मा जाति, गुण तथा क्रिया से हीन है। जो षड्ऊर्मि, षड्भाव इत्यादि सर्व दोषों से रहित है। जो सत्य, ज्ञान, आनन्द तथा अनन्त स्वरूप है। स्वयं निर्विकल्प अशेष कल्पाधार अशेष भूतान्तर्यामी होने से अन्तर बाहिर आकाशवत अनुस्यूत है, जो अखण्ड आनन्द स्वभाव में सदा वर्तमान है, जो अप्रमेय है, एकमात्र अनुभव द्वारा ही जानने योग्य है, जो अपरोक्ष होने से सर्वत्र भासमान है, ऐसे आत्मतत्व को जिन्होंने करामलकवत साक्षात्कार कर लिया है और ब्रह्म साक्षात्कार के-कारण जो कृतार्थ हो चुके हैं, जो काम, रागादि दोषों से रहित हैं, जो शम दमादि सद्गुणों से सम्पन्न हैं, जो भाव, भातार्य, तृष्णा, आशा, मोहादि दुर्गुणों से रहित हैं जिनका चित्त दम्भ, अहङ्कारादि दुर्गुणों में लिपायमान नहीं है। ऐसे लक्षणों से जो युक्त हैं वे ही ब्राह्मण हैं। ऐसा ही श्रुति, स्मृति, पुराण तथा इतिहासादि शास्त्रों का अभिप्राय है। इसके अतिरिक्त किसी भी कारण से ब्राह्मणत्व की सिद्धि सम्भव नहीं। अतः सच्चिदानन्द, आत्मा जो अद्वितीय ब्रह्म है उसकी अपनी आत्मा में भावना करनी चाहिये। सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही आत्मा में भावना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने वज्रसूचिकोपनिषद् का सार आपको सुनाया। इस प्रकार निरालम्ब, शुकरहस्य, वज्रसूचिका इन उपनिषदों का सार सुनाकर अब आपको तेजो-बिन्दु उपनिषद् का सार सुनाऊँगा। यह उपनिषद् बड़ी है।"

छप्पय

(१)

शुक रहस्य उपनिषद् महावाक्यनि व्याख्या है।
षडन्यास कर अङ्ग बतायी पद संख्या है॥
पृथक पृथक जो न्यास प्रणव को अर्थ बतायो।
व्यास विनयतैं रुद्र शुकहिं सब रहस जतायो॥
है कृतार्थ शुक बन चले, व्यास बुलावत मोह वस।
प्रत्युत्तर चर अचर 'हाँ' दयो भये शुक सकल अस॥

(२)

वज्रसूचि उपनिषद् बिप्र को भेद बतायो।
जीव, जाति, तन, ज्ञान, कर्म नहिं विप्र कहायो॥
विप्र कौन ? जो ब्रह्म परात्परकूँ नित जाने।
सब सद्गुण सम्पन्न दुर्गुननि विषवत माने॥
वेद, शास्त्र, इतिहास सब, करें घोषणा एक स्वर।
निजहिं सच्चिदानन्दमय, करै भावना विप्रवर॥

इति निरालम्ब, शुक रहस्य, वज्रसूचिकोपनिषद्
सार समाप्त

तेजोबिन्दु-उपनिषद्-सार

[२९९]

तेजोबिन्दुः पर ध्यान विश्वात्महृदि सस्थितम् ।
आणव शांभव शान्तं स्थूल सूक्ष्मं पर च यत् ॥*

(न० वि० उ० १ अ० १म०)

छप्पय

तेजबिन्दु के अग कहे यम, नियम, त्याग पुनि ।
मौन, देश अरु काल, सु-आसन, मूलबन्ध सुनि ॥
देहसाम्य, दृगथिती, प्राण सयम कुम्भादी ।
प्रत्याहार-विचार, धारणा, ध्यान समाधी ॥
इन सबकूँ ही ब्रह्ममय, ब्रह्मभावतें सिद्ध करि ।
ब्रह्मसत्य जग असत् लखि, तेज बिन्दु को ध्यान धरि ॥

समस्त वेद उपनिषद् तथा अन्यान्य शास्त्रों में प्रणव की बड़ी महिमा गायी गयी है। मन को किसी भी प्रतीक पर स्थिर करके एकाग्र कर ले तो चित्त की चन्चलता मिट जायगी। यह मन एकाग्र नहीं होता, निरन्तर चन्चलता ही करता रहता है,

---

* विश्वात्म हृदयाकाश में सस्थित जो तजोबिन्दु का पर ध्यान है उसे करना चाहिये। वह कैसा ध्यान है ? वह आणव है अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म साधनों से साध्य है। वह शाभव है—अर्थात् इस ध्यान से शिवस्वरूपता प्राप्त होती है। शान्ति को प्रदान करने वाला, स्थूल, सूक्ष्म दोनों से परे है।

चित्त की वृत्तियाँ बिखरी ही रहती हैं। उन बिखरी वृत्तियों के निरोध का ही नाम योग है। अतः जैसे तैसे किसी भी प्रकार मन को एकाग्र किया जाय। तेजबिन्दु उपनिषद् में प्रणव स्वरूप जो तेजोमय बिन्दु है उसके ध्यान की महिमा बतायी है और यह भी बताया है कि उसके ध्यान का कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं तेजोबिन्दु उपनिषद् का सार आपको सुनाता हूँ। यह उपनिषद् बड़ी है। यह कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् है। 'सहनाववतु' आदि इसका शान्ति पाठ है। इसमें ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में तेजोमय बिन्दु के ध्यान की महिमा बताते हुए कहा है–बुद्धिमान मुनियों के लिये भी उस बिन्दु के ध्यान की साधना बड़ी कठिन है। इस ध्यान को अन्त तक निभा लेना अत्यन्त कठिन है।

इस मार्ग के साधक को सदा सभी प्रकार के दुर्गुणों से दूर रहना चाहिये। मिताहारी होकर, सभी प्रकार के संग्रहों का परित्याग करके, निरन्तर गुरु सेवा में ही सदा संलग्न रहना चाहिये। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के अभिमान को त्यागकर लोभ, मोह, भय, दर्प, काम, क्रोध, पाप, शीत-उष्ण, क्षुधा, पिपासा, संकल्प-विकल्प इन सब पर विजय प्राप्त करके ब्रह्म में तत्पर होकर इस ध्यान को करना चाहिये।

अब इस तेजोबिन्दु ध्यान के अंग बताते हैं। (१) यम, (२) नियम, (३) त्याग, (४) मौन, (५) देश, (६) काल, (७)आसन (८) मूलबन्ध, (९) देहसाम्य, (१०) दृकस्थिति, (११) प्राणायाम, (१२) प्रत्याहार, (१३) धारणा, (१४) आत्मध्यान और (१५) समाधि। ये १५ इसके अंग हैं। अब इनकी व्याख्या सुनिये।

(१) यम किसे कहते हैं? जिसमें इन्द्रियों को संयम करके

'सर्वं ब्रह्मेति' यह जो भी कुछ है सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, इस ज्ञान को दृढ करे इसी का नाम यम है, इसी का बारम्बार अभ्यास करना चाहिये।

(२) अच्छा, नियम किसे कहते हैं ? सजातीय जो आत्मानुवृत्ति है उसके तो प्रवाह में रहे और विजातीय जो संसारिक वृत्ति है उसका तिरस्कार करता रहे, यही परानन्दमय नियम है। बुद्धिमान साधक को इस नियम को निरन्तर करते रहना चाहिये।

(३) त्याग क्या ? महत्पुरुषों में पूज्य भाव रखना उनके प्रति अपूज्यता के भाव का सर्वथा त्याग ही मोक्षदायक भाव त्याग कहलाता है।

(४) मौन क्या ? जहाँ जाकर वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ मन के सहित लौट आती हैं, उसी ब्रह्म का सदा भजन करना इसी का नाम मौन है। आप सोचें जहाँ से वाणी बिना कुछ कहे लौट आती है, उसका कथन फिर किससे करें ? यदि कहें प्रपञ्च से दूर रहे, तो यह भी तो नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म तो शब्द से विवर्जित है। इसलिये सहज भाव से ब्रह्ममय रहना यही मौन है। बहुत से लोग वाणी से न बोलने को मौन कहते हैं। यह तो बच्चों का मौन है। ब्रह्मवादियों के लिये ऐसा मौन अयुक्त है।

(५) देश किसे कहते हैं ? जिसमें आदि, मध्य और अन्त में जन विद्यमान न हों। जिसमें यह सब प्रपञ्च निरन्तर व्याप्त हो वह जनों से रहित विजन ही देश कहा गया है।

(६) काल किसे कहते हैं ? सम्पूर्ण भूतों की कल्पना ऐसे है जैसे ब्रह्मादिकों का एक निमेष, उसी अद्वय अखण्डानन्द परब्रह्म को काल शब्द से कहा गया है।

(७) आसन किसका नाम है ? जिसमें सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म चिन्तन हो सके वास्तव में वही आसन है, शेष जो आसन

हैं वे तो सुख को विनाश करने वाले हैं। एक सिद्धासन होता है, तो सिद्धासन उसी को समझना चाहिये जिसमें सम्पूर्ण भूतों के आदि, विश्व के अधिष्ठान, अद्वय ब्रह्म की सिद्धि हो, अथवा जिस ब्रह्म को प्राप्त करके सिद्ध लोग सिद्धि को प्राप्त हुए हों वास्तव में वही सिद्धासन है।

(८) मूलबन्ध क्या ? जो सभी लोकों का मूल है, जो चित्त के बाँधने का मूल स्थान है। उसी मूलबन्ध की सदा सेवा करनी चाहिये। ब्रह्मवादियों का वास्तव में वही सेव्य मूलबन्ध है।

(९) देहसाम्य क्या ? अङ्गों की समता को जानकर उसे सम-ब्रह्म में लीन कर देना यही देहसाम्य है। सूखे वृक्ष की भाँति सीधे समान बैठे रहने को देहसाम्य नहीं कहते।

(१०) दृक्स्थिति किसे कहते हैं ? ज्ञानमयी दृष्टि करके जगत् को ब्रह्ममय देखना वही परम उदार दृक्दृष्टि है। नासिका की ओर देखते रहना यह दृक् स्थिति नहीं। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन यह जो त्रिपुटी है इसका जहाँ जाकर विराम हो जाय, वहीं दृष्टि को स्थिर करे, नासिका की ओर देखते रहना दृक्स्थिति नहीं है।

(११) प्राणायाम क्या ? चित्त आदि सर्वभावों में ब्रह्मत्व की ही भावना करना तथा समस्त चित्त की वृत्तियों का निरोध करना वास्तव में तो इसी का नाम प्राणायाम है। पूरक, कुम्भक और रेचक तीन प्रकार का प्राणायाम होता है। प्रपञ्च का निषेध करना यही रेचक प्राणायाम है। मैं ब्रह्म ही हूँ इस वृत्ति का ही नाम पूरक प्राणायाम है। इसी भाव में वृत्ति को सदा निश्चल बनाये रखना अपनी वृत्ति से कभी च्युत न होने का ही नाम कुम्भक है। वास्तव में यही प्रबुद्ध पुरुषों का प्राणायाम है। नासिका को मूँदकर उसे पीड़ा पहुँचाना यह प्राणायाम नहीं है।

(१२) प्रत्याहार क्या ? विषयों में आत्मबुद्धि को देखकर

मन से ही चित्तरञ्जन हो, इसी का नाम प्रत्याहार है इसी का बार-बार अभ्यास करना चाहिये कि विषय, चित्तादि सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

(१३) धारणा क्या ? जहाँ-जहाँ भी मन जाय, वहाँ-वहाँ ही ब्रह्म का दर्शन हो, इस प्रकार,मन के द्वारा की हुई धारणा का ही नाम वास्तविक परा धारणा है।

(१४) ध्यान क्या ? "मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार की सद्वृत्ति से जो निरालम्ब वाली स्थिति है उसी का नाम ध्यान है, यह ध्यानवृत्ति परमानन्ददायिनी है।

(१५) अच्छा, समाधि किसे कहते हैं ? चित्त की वृत्ति का निर्विकार होकर फिर ब्रह्माकार हो जाना। फिर वृत्ति का भी विस्मरण हो जाना, वास्तव में उसी को समाधि कहते हैं।

योग के जो अष्टाङ्ग हैं वे तो कृत्रिम हैं। इन अङ्गों का आनंद अकृत्रिम है। साधक को तब तक इनका अभ्यास करना चाहिये, जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो। एक क्षण भी वृत्ति ब्रह्माकार से हटकर विषयाकार न हो, जब सतत वृत्ति ब्रह्माकार हो जाय, तब साधन से निर्मुक्त हो जाय, तभी वह योगिराज सिद्ध हो जाता है। उस समय वह मन वाणी तथा कर्म से तत्स्वरूप ही हो जाता है।

यही ब्रह्म समाधि है, इस समाधि को करते समय बलपूर्वक बहुत से विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। उनमें इतने विघ्न मुख्य हैं। १-अनुसंधान से रहित होना, २-आलस्य, ३-भोगों के भोगने की लालसा, ४-लय, ५-तमोगुण, ६-विक्षेप, ७-तेज, ८-स्वेद होना तथा ९-शून्यता आ जाना। इस प्रकार इन विघ्नों को त्यागना चाहिये। देखो, वृत्ति भावमय होती है तो भाव होता और वृत्ति शून्यमय होती है, तो शून्यता आ जाती है। वास्तव में ब्रह्म वृत्ति

ही पूर्णत्व वृत्ति है, इसलिये पूर्णत्व का ही अभ्यास करना चाहिये। जो साधक पुरुष इस परम पावन ब्रह्मवृत्ति को छोड़कर जीवित रहते हैं उनका जीवन पशुओं के सदृश वृथा ही है। और जो इस ब्रह्मवृत्ति को जानते हैं और जानकर इसे बढ़ाते रहते हैं, वे ही सत्पुरुष हैं वे परमधन्य हैं। वे वन्दनीय हैं। जो इस वृत्ति से रहित हैं, वे चाहें कितने भी कुशल क्यों न हों उनका आवागमन छूटता नहीं। ब्रह्मा, सनक सनन्दनादि तथा शुकदेव जैसे परमहंस आधी निमिष को भी ब्रह्ममयी वृत्ति के बिना नहीं रहते। इस वृत्ति को धारण करके विद्वान् नित्य ही सुख पूर्वक रहते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ पर तेजोविन्दु उपनिषद् का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।"

अब द्वितीय अध्याय में शिवजी से षडानन कुमार ने पूछा—"भगवन्! आप मेरे प्रति अखण्ड, एकरस को कहिये।"

यह सुनकर परमशिव भगवान् शंकर ने कहा—"यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् अखण्ड एकरस है। भाव, स्वर्य, मन्त्र, क्रिया, ज्ञान, जल, भूमि, आकाश, शास्त्र, वेदत्रयी, ब्रह्म, व्रत, जीव, अज, ब्रह्मा, हरि, रुद्र, अहं, आत्मा, गुरु, लक्ष्य, मद, देह, मन, चित्त, सुख, विद्या, अव्यय, नित्य, परम, किंचित्, कहाँ तक गिनावें। संसार का कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो अखण्ड एकरस न हो। स्थूल, सूक्ष्म, वेद्य, तुम, मैं, गुह्य, आदि, ज्ञाता, स्थिति, माता, पिता, भ्राता, पति, सूत्रात्मा, विराट्, गात्र, शिर, अन्तःकरण, बाह्य इन्द्रियादि, पूर्ण, अमृत, गोत्र, घर, गोप्य, शशि, तारा, रवि, क्षेत्र, क्षमा, शान्त, अगुण, साक्षी, सुहृद, बन्धु, सखा, राजा, पुर, राज्य, तार, जप, ध्यान, पद, ग्राह्य, महत, ज्योति, धन, भोज्य, हवि, होम, स्वर्ग, जो भी कुछ है वह सबका

सब अखण्ड एकरस है। इस संसार में नीरसता और जड़ता तो है ही नहीं। जो भी कुछ है सबका सब चिन्मात्र है। जो भी कुछ देखा, सुना, अनुभव किया जाता है, सबका सब चिन्मात्र ही है। समस्त लोक, तू, मैं, आकाश, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, हरि, शिव, भूत, भव्य, भविष्य, द्रव्य, काल, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, सम्भाषण, सत्, असत्, सदा, आदि-अन्त, गुरु-शिष्य, दृग्-दृश्य, देह, लिङ्ग, कारण, मूर्त-अमूर्त, पाप-पुण्य, जीव, विग्रह, चिन्मात्र से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। चिन्मात्र के अतिरिक्त संकल्प, वेदना, मन्त्र, देवता, दिग्पाल, व्यावहारिकता, परब्रह्म, माप, पूजन, सत्य, कोश, वसु, मौन, अमौन तथा वैराग्य आदि कुछ जो भूत, भविष्य-वर्तमान, दूर, समीप सब कुछ चिन्मात्र ही है, अखण्ड एकरस ब्रह्म चिन्मात्र ही है।

शिवजी कह रहे हैं—"शास्त्रों में, मुझमें, तुम मे, ईश में, सबमें, अखण्ड एक रस ही रस है। तुम भी अखण्ड एकरस ही हो। जो इस प्रकार सबमें अखण्ड एकरसता की एकरूपता को जान जाता है वह मैं ही हूँ, अर्थात्, ऐसा जानने वाला मेरा ही स्वरूप हो जाता है। जो इस ज्ञान को एक बार भी जान लेता है उसकी मुक्ति हो जाती है। जिसे इसका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है वह तो स्वयं गुरु ही हो जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर तेजविन्दु उपनिषद् का दूसरा अध्याय समाप्त होता है, अब तीसरे अध्याय को श्रवण करें।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तृतीय अध्याय के आरम्भ में षडानन कार्तिकेय कुमार ने अपने पिता शिवजी से पूछा—"आप आत्मानुभव को बतावें?"

इस पर शिवजी ने कहा—"परब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ। परमा-

नन्द स्वरूप भी मैं ही हूँ। मैं ही केवल शान्तरूप, चिन्मय, नित्य रूप, शाश्वत, सत्त्वरूप, सर्वहीनस्वरूप, चिदाकाशमय, तुर्यरूप, तुर्यातीत, चैतन्यरूप, चिदानन्दमय कहाँ तक गिनावें सर्वमय मैं ही हूँ, मुझे छोड़कर दूसरा कोई भी नहीं है। मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही सिद्ध, शुद्ध, निर्गुण, निराकार हूँ। मैं स्वयमेव स्वात्म सिंहासन पर स्थित होकर स्वात्मा के अतिरिक्त कुछ भी चिंतन नहीं करता। मैं सर्वदा सर्व शून्य हूँ। मैं ही सत्यानन्द स्वरूप हूँ, मैं ही सदा नंद ब्रह्म हूँ। सब कुछ सर्वत्र सर्वदा मैं ही मैं हूँ। 'अहं ब्रह्मास्मि' जो यह मन्त्र है यह दृश्य पापों को नाश कर देता है। कहाँ तक कहें 'अहं ब्रह्मास्मि' यह मन्त्र समस्त व्याधियों का विनाश कर देताहै। इसलिये 'अहं ब्रह्मास्मि' जो मन्त्र है ज्ञानानन्द को देने वाला है इसलिये सभी मन्त्रों का परित्याग करके इसी एक मन्त्र का अभ्यास करना चाहिये,इससे तुरन्त मुक्ति हो जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यहाँ तेजोविन्दु उपनिषद् का तीसरा अध्याय समाप्त होता है।"

अब चौथे अध्याय में कुमार ने शिवजी से जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त स्थिति के सम्बन्ध में पूछा, इस पर शिवजी ने बताया मैं चिदात्मा हूँ, परात्मा हूँ, परात्पर हूँ जो इस प्रकार आत्ममात्र द्वारा रहता है वही जीवन्मुक्त कहाता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों देहों के अतिरिक्त मैं शुद्ध चैतन्य हूँ मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जिसके अन्तःकरण में दृढ़ निश्चय हो गया है वही जीवन्मुक्त है। मैं देह नहीं, प्राण नहीं, माया, काम, द्वेष, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, तीर्थ, पुण्य, पाप, मोक्ष, द्वैत, मोक्ष, भूत, मित्र, शत्रु, रस, रक्तादि, त्याज्य-ग्राह्य, जरा-बाल्य-इनमें से मैं कुछ भी नहीं,

मैं ब्रह्म ही ब्रह्म हूँ, ऐसी जिसकी वृत्ति सदा सर्वदा हो वही जीवन्मुक्त है। मैं स्वयं ही सब कुछ हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार सब कुछ मैं ही हूँ इसके अनेक विशेषण देकर अन्त में शिवजी ने कुमार से कहा है—"हे षडानन! तुम अपने आप अपनी आत्मा को ही देखो, आत्मा का ही बोध करो। अपनी आत्मा का स्वयं ही भोजन करके स्वस्थ हो जाओ। अपनी आत्मा में स्वयं ही तृप्त हो जाओ, आत्मा में स्वयं विचरण करो। आत्मा में ही आनंदानुभूति करो, यही विदेह मुक्ति है। इसी से वैदेही हो जाओगे। इस प्रकार यहाँ तेजबिन्दु उपनिषद् का चौथा अध्याय समाप्त होता है।"

अब पाँचवें अध्याय में महामुनि निदाघ और महर्षि ऋभु का संवाद है।

निदाघ मुनि ने महर्षि ऋभु से पूछा—"आत्मा का आत्म-विवेक कहें।"

इस पर महर्षि ऋभु ने कहा—"समस्त वचनों की जहाँ अवधि है वही ब्रह्म है। जहाँ समस्त चिन्ताओं की अवधि है वही गुरु है। वह परब्रह्म सर्वकारण कार्यात्मा है, कार्य कारण वर्जित है। वह सर्व संकल्प से रहित है, सर्वनादमय है, शिव स्वरूप है। वह परात्पर सर्वानन्दमय है। वह सभी प्रकार के शब्द, वाक्य, सिद्धांत आदि से वर्जित है। कोई शब्द, कोई मंत्र, कोई उपमा, कोई वाच्यवाचक उसे व्यक्त करने में समर्थ नहीं। वह सबसे वर्जित है। यह जगत् ब्रह्ममात्र ही है, ब्रह्म ही तुम हो, ब्रह्म ही मैं हूँ। तुम वाणी से, मन से, बुद्धि से, चित्त से, जो भी जान सकते हो वह कुछ भी नहीं। यह जो उत्पत्ति, स्थिति, संहार, मन्त्र, तन्त्र यह सब कुछ नहीं है। यह सब कुछ कहा सुना देखा अनुभव किया हुआ मिथ्या है। स्वस्वरूप आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

ये जितने वेद शास्त्र कथोपकथनादि हैं सब शशक शृङ्ग के सदृश मिथ्या हैं। मैं देह हूँ ऐसी बुद्धि तृष्णा और दोषमय है। यह जो भी कुछ है सब संकल्प जाल है, यह सब मन की कल्पनामात्र है। यह जो संसार है, लोक हैं, दुःख, जरा, काल, मल, संकल्प, जीव, चित्त, अहङ्कार, दृश्य, जड़ तथा द्वन्द्व जालादि सब कुछ मन ने ही निर्मित कर लिया है। यह जगत् नहीं है, नहीं है। न कोई गुरु है न शिष्य।

सूतजी कहते हैं—"यहाँ पर इस उपनिषद् का पंचम अध्याय समाप्त होता है। अब छटे अन्तिम अध्याय का सार सुनिये।

छटे अध्याय में निदाघ मुनि से ऋभु महर्षि कह रहे हैं—"देखो, यह जो भी कुछ दृष्ट श्रुत है, सबका सब सच्चिदानन्द मय है। यह सब सच्चिदानंद अद्वैत अद्वय है। तुम भी सच्चिदानन्द हो, मैं भी सच्चिदानन्द हूँ। वास्तव में देखा जाय तो तुम, हम कुछ भी नहीं है सब केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है। वाक्य, वेद, अक्षर, जड़, आदि, मध्य, अन्त, शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, भूत, स्तोत्र, नमस्कार, होम, ज्ञान, जप, तप, व्रत, तीर्थ, महावाक्य, अणिमादि सिद्धियाँ कुछ भी नाम रूप दृष्टश्रुत नहीं हैं सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। तद-वह-मैं ही हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ। यह सब केवल ब्रह्ममात्र ही है और सब असत् है। जैसे बन्ध्या के पुत्र के वचन असत् हैं वैसे ही यह जगत् असत् है। जैसे शशक के सींग असत् हैं, जैसे मृग तृष्णा असत् है, जैसे गन्धर्व नगर असत् है, जैसे आकाश की नीलिमा असत् है, जैसे सीपी में चाँदी का भान असत् है, जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति असत् है। जैसे गीले केले के काष्ठ से वाक नहीं बनाया जा सकता, जैसे तुरन्त उत्पन्न लड़की भोजन नहीं बना सकती, जैसे चित्र में लिखे दीपक से अंध-

कार दूर नहीं हो सकता, जैसे एक महीना पहिले मरा मनुष्य फिर लौटकर नहीं आ सकता, ऐसे ही यह जगत् कभी भी सत्य नहीं हो सकता। जैसे तक्र फिर दूध नहीं हो सकता, जैसे गौ के स्तन से निकला दूध फिर गौ के स्तनों में नहीं भरा जा सकता, जैसे कछुआ की पीठ के बालों से हाथी नहीं बाँधा जा सकता, जैसे कमल की नाल के तन्तुओं से सुमेरु पर्वत हिलाया नहीं जा सकता, जैसे समुद्र की तरङ्ग मालाओं से घोडा नहीं बाँधा जा सकता, जैसे अग्नि की ज्वाला नीचे की ओर नहीं जा सकती, जैसे अग्नि की जलती हुई लपटें शीतल नहीं हो सकतीं, जैसे जलती हुई अग्नि की ज्वाला में कमल नहीं उत्पन्न हो सकता, जैसे हिमालय इन्द्र नील के सदृश नील नहीं हो सकता, ऐसे ही यह जगत् कभी सत् नहीं हो सकता।

जैसे मशक द्वारा सिंह का मारा जाना सम्भव नहीं, जैसे नपुंसक के पुत्र होना संभव नहीं, जैसे शशक के शृङ्ग से रथ का निर्माण सम्भव नहीं, जैसे वन्ध्या के गर्भ सम्भव नहीं, वैसे ही इस जगत् का अस्तित्व सम्भव नहीं है। केवल ब्रह्म ही ब्रह्म सत् है और सबका सब असत् है। 'अहं ब्रह्म' मैं ही ब्रह्म हूँ, ऐसा निश्चय करके अहं को भी त्याग दे, केवल ब्रह्म ही ब्रह्म सत्य है। अहं ब्रह्म—मैं ही ब्रह्म हूँ इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं। मैं ही चिदात्म ब्रह्म हूँ। इसमें से अहं को भी छोड दे।

यही शांकरी महाशास्त्र है। इसे जिस किसी को नहीं देना चाहिये। नास्तिक, कृतघ्न, दुराचारी तथा दुष्ट को इसे न देना चाहिये। जिसका गुरुभक्ति से अन्तःकरण विशुद्ध बन गया हो ऐसे महात्मा को उसकी भली प्रकार परीक्षा करके इसे देना चाहिये। पहिले एक महीना, छैः महीना, एक वर्ष तक उसे पास रखकर परीक्षा कर लेनी चाहिये और सब उपनिषदों को

ही सादर त्यागकर केवल तेजोविन्दूपनिषद् का ही सदा सर्वदा अभ्यास करना चाहिये। एक बार के अभ्यास से ही साधक ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। साक्षात् ब्रह्म ही हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मूल उपनिषद् में तो एक विषय की सैकड़ों उपमायें दी हैं। मैंने तो उनमें से कुछ थोड़ी सी ही उपमायें देकर उसका सार सार समझाने की चेष्टा की है। उसमें जो भी कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों उन्हें सारग्राही सज्जन क्षमा करें और सुधार लें। इस प्रकार तेजो विन्दु उपनिषद् का सार सुनाकर अब मैं नाद विन्दु उपनिषद् का सार सुनाऊँगा।"

छप्पय

ब्रह्म समाधि बताय समाधिहिं विघ्न बताये।
ब्रह्म वृत्ति अपनाइ तासु के गुन जतलाये॥
इकरस सबहिं अखंड ब्रह्ममय जगत सकल है।
चिन्मय ब्रह्म स्वरूप ब्रह्म ही सत् केवल है॥
मैं ही ब्रह्म स्वरूप हूँ, जगत सच्चिदानन्द मजि।
भयो, होइगो, न है जग, अहं ब्रह्म तैं अहं तजि॥

इति तेजोबिन्दु-उपनिषद्-सार समाप्त

—:—

नादबिन्दु-उपनिषद्-सार

[३००]

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यम्
वायुः स्थिरो यस्य विनाप्रयत्नम् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बम्
स ब्रह्मतारान्तर नाद रूप ॥*

(ना० बि० उ० ५६ मं०)

छप्पय

नादबिन्दु उपनिषद् प्रणव को ध्यान बतावै ।
हंसरूप है प्रणव अङ्ग तिहि साम्य दिखावै ॥
बारह मात्रा प्रणव प्राण जो त्यागै इनिमें ।
फल तिनिको का होइ जाइ मरि किनि लोकनिमें ॥
योगयुक्त थिति कौन-सी, ज्ञानीकूँ प्रारब्ध नहिँ ।
विविध रूप है नाद के, मनवश कस सो सब कहहिँ ॥

वेदों में हंस की बड़ी उपमा दी गयी है। एक वेद मंत्र में श्री विष्णु भगवान् को हंस रूप से उपमा दी गयी है। हंस नीर

---

* बिना दृश्य के जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है, बिना प्रयत्न के जिसकी वायु स्थिर हो जाती है। बिना अवलम्ब के जिसका चित्त स्थिर हो जाता है। वही योगी ब्रह्मतारक प्रणव के अन्तर्गत तुरीयरूप नाद मे स्थित है।

और क्षीर को पृथक्-पृथक् कर देता है। एक बार सनकादि कुमारों ने लोकपितामह ब्रह्माजी से जाकर कहा—"ये शब्द, रूप रसादि विषय मन में समा जाते हैं, और मन विषयों का संसर्ग पाकर विषयमय-तन्मय-हो जाता है। जब वे दोनों ही परस्पर में मिलकर तद्रूप हो जाते हैं, तो मन को विषयों से हटाया कैसे जा सकता है ? इसी प्रकार यह जड़ शरीर चैतन्य के संसर्ग से तन्मय हो जाता है, फिर जड़ से चैतन्य को पृथक् कैसे करें ?"

प्रश्न गम्भीर था, ब्रह्माजी को इसका कोई उत्तर नहीं सूझा। उन्होंने स्पष्ट कहा—"भाई, इसका मैं उत्तर नहीं दे सकता।" तब उन्होंने समुद्र जैसे इस गम्भीर प्रश्न के पार पाने के लिये भगवान् का ध्यान किया। तभी भगवान् हंस का रूप बनाकर सनकादि और ब्रह्माजी के समीप आये। ब्रह्माजी का हंस तो वाहन ही है, किन्तु इस विलक्षण दिव्य हंस को देखकर पुत्रों सहित ब्रह्माजी ने उठकर उनका आदर किया और पूछा—"आप कौन हैं ?"

हंस भगवान् ने कहा—"आपका प्रश्न आत्मा के सम्बन्ध में है या शरीर के सम्बन्ध में ? यदि आत्मा के सम्बन्ध में है, तो आत्मा तो एक ही है उसमें तो यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता। यदि शरीर के सम्बन्ध में है, तो शरीर तो सभी पंचभूतों के हैं। उसके सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न निरर्थक है।" इस उत्तर से ब्रह्माजी समझ गये ये भगवान् हैं। तब अपना प्रश्न उनसे पूछा। उन्होंने कहा—"देखो मन भी जड़ है विषय भी जड़ हैं, जड़ का जड़ में मिलना तो सम्भव है। किन्तु चैतन्य आत्मा का जड़ शरीर में तन्मय होना सम्भव नहीं। क्योंकि सजातीय एक दूसरे में मिल सकते हैं विजातीय नहीं। अतः चैतन्य आत्मा का जड़ शरीर में तन्मय होना असम्भव है। आत्मा तो सदा नित्य, शुद्ध बुद्ध

चैतन्य और निर्लेप निरंजन है।" हंस भगवान् ने इस प्रकार ब्रह्माजी की शङ्का का समाधान कर दिया।

जो वेद का सहस्राक्ष्यं मंत्र है। उसका भाव यह है, उस स्वर्ग की ओर उड़ने वाला श्री विष्णुरूपी एक हंस है। जिस स्वर्ग में सूर्य विचरण करते हैं। यहाँ विष्णु से उनका तात्पर्य प्रणव से ही है। क्योंकि श्रीविष्णु का वाचक प्रणव ही है और वाच्य-वाचक में कोई भेद नहीं होता। तो उस प्रणवरूपी हंस के दो पख हैं। पूर्व का आकाश अकार रूप पूर्व का पंख है और पश्चिम का आकाश उकार रूप पश्चिम का पंख है। वह ओंकार रूप हंस सत्त्व प्रधान देवताओं को अपने सत्त्वमय हृदय में स्थापित करके समस्त लोकों को प्रत्यक्ष देखता हुआ ब्रह्मलोक तक उड़कर पहुँच जाता है। अतः जो प्रणवोपासक साधक हैं, वे उस प्रणवरूप हंस पर आरूढ़ होकर हंस की उपासना के प्रभाव से वे भी ब्रह्मलोक पर्यन्त पहुँच जाते हैं। भाव यह है कि त्रयीविद्या के उपासक गृही, सकाम कर्म उपासक केवल स्वर्ग-लोक तक ही जा सकते हैं, किन्तु जो त्यागी अप्रजावान यति हैं, वे केवल प्रणव की उपासना से ब्रह्मलोक तक चले जाते हैं।

हंस परम पवित्र पक्षी है, वह केवल मोती ही खाता है। उसमें एक गुण विशेष है, कि दूध में मिले पानी को पृथक् कर देता है, दूध को पृथक् कर देता है। नीर-क्षीर विवेक हंस का विशिष्ट गुण है। इसीलिये उसकी उपमा प्रणव के साथ की गयी है। प्रणव भी जड़ और चैतन्य के संमिश्रण को पृथक् सिद्ध कर देता है। इसीलिये नादबिन्दूपनिषद् में प्रणव की समता हंस के साथ की है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रणव की समता हंस के साथ करते हुए भगवती श्रुति बताती है, कि प्रणव में अकार, उकार

और मकार तीन अक्षर तथा अर्धमात्रा है। तो अकार तो प्रणव रूप हंस का दक्षिण पंख है। उकार उत्तर पंख है, मकार पूँछ है और शेष जो अर्धमात्रा है वह मानों प्रणव हंस का मस्तक है। उसके पाद आदि अंग हैं वे मानों गुण हैं, उसका शरीर मानों तत्त्व हैं। धर्म इस हंस का दक्षिण चक्षु है। अधर्म उत्तर चक्षु है, भूलोक इसके दोनों पैर हैं, भुवर्लोक दोनों जानु हैं। स्वर्गलोक कटिप्रदेश है, नाभिदेश महर्लोक है। हृदयदेश जनलोक है, कंठ तपलोक है। भौंयें और ललाट के मध्य में सत्यलोक है। श्रुति ने भी सहस्राक्ष मंत्र में इसी भाव को प्रदर्शित किया है। इसलिये जो साधक प्रणवरूप हंस के चिन्तन में निमग्न होकर हंस पर आरूढ़ होकर प्रणव ध्यान विधि से कर्मानुष्ठान करते हैं वे करोड़ों पापों से निर्मुक्त हो जाते हैं।

अब प्रणव की बारह मात्राओं को बताते हैं। (१) प्रणव की एक अकार रूप आग्नेयी मात्रा है, (२) दूसरी उकार रूप वायु की मात्रा है। (३) तीसरी मकार रूप उत्तर मात्रा सूर्यमंडल के सदृश है तथा सूर्य उसके देवता हैं। (४) चौथी परमा अर्धमात्रा है जिसे विद्वान् लोग वारुणी कहते हैं। इन चारों मात्राओं में से प्रत्येक मात्रा तीन-तीन कला रूप मुखों द्वारा प्रतिष्ठित है। इस प्रकार यह ओंकार बारह मात्राओं वाला कहा गया है। जिसे धारणा, ध्यान तथा समाधि द्वारा ही जाना जा सकता है। अब उन बारहों मात्राओं के नाम बताते हैं—

(१) पहिली मात्रा का नाम घोषिणी है। (२) दूसरी का नाम विद्या है, (३) तीसरी का नाम पतंगिनी, (४) चौथी का नाम वायुवेगिनी, (५) पाँचवीं का नाम नाममेधा, (६) छठी का नाम ऐन्द्री है। (७) सातवीं का नाम वैष्णवी, (८) आठवीं का नाम शाङ्करी, (९) नवमीं का नाम महती, (१०) दशवीं का नाम

धृति, (११) ग्यारहवीं का नाम नारी और (१२) बारहवीं का नाम ब्राह्मी है। इस प्रकार प्रणव की ये बारह मात्रायें हैं। अब यह बताते हैं, इनमें से किस मात्रा मे साधक की मृत्यु हो, तो वह किन-किन लोकों को प्राप्त होगा।

यदि पहिली घोषिणी मात्रा में साधक की मृत्यु हो तो उसका जन्म भारतवर्ष में होगा और वह सार्वभौम राजा बनेगा। यदि दूसरी विद्या मात्रा मे मृत्यु हो तो उपदेवों की जो यक्षयोनि है उसमें उसका जन्म होगा। यदि तीसरी पतंगिनी मात्रा में मृत्यु हो तो वह विद्याधर हो, चतुर्थी में गन्धर्व, पाँचवीं में तुषित नाम देवगणों मे उत्पन्न होकर सोमलोक में निवास करता है। छठी में इन्द्र का सायुज्य, सातवीं में वैष्णवपद, आठवीं में रुद्रलोक मे पशुपति शिव का सामीप्य, नौवीं में महर्लोक, दशवीं में जनलोक, ग्यारहवीं में तपलोक और बारहवीं में शाश्वत ब्रह्मलोक की मृत्यु के अनन्तर प्राप्ति होती है।

इससे भी परतर शुद्ध, व्यापक, निर्मल, कल्याणकारी, सदा उदित, परब्रह्म तत्त्व है, उसी से सूर्य चन्द्रादि ज्योतियों का उदय होता है। जब मन अतीन्द्रिय गुणातीत तत्त्व में लीन होता है तब वह अनूपम, शिव, शान्त स्वरूप होता है तभी वह योगयुक्त कहलाता है। साधक को उस योग में युक्त होकर तन्मय बनकर शनैः शनैः शरीर का परित्याग कर देना चाहिये। तब वह योग के द्वारा सर्वसङ्ग विवर्जित होकर स्थित होता है। तब वह संसार के बन्धन से विलीन होकर विमल तथा कमला प्रभु बन जाता है अर्थात् कैवल्य पद को प्राप्त करके परमानन्द स्वरूप हो जाता है। इसलिये आत्मा को निरन्तर जानकर हे महाभाग षडानन! अपने समय को व्यतीत करो। तुम प्रारब्ध कर्मों के भोगते हुए उद्वेग को प्राप्त मत होओ। जब तत्त्वज्ञान

हो जाता है तब भी प्रारब्ध स्वयं नहीं छोड़ता। वास्तविक बात तो यह है तत्त्वज्ञान हो जाने पर प्रारब्ध रहता ही नहीं। ज्ञानी उन सब कर्मों को उसी प्रकार असत् समझता है जैसे जागने पर स्वप्न में देखे पदार्थों को असत् मानता है। प्रारब्ध है क्या? जन्मान्तर में जो कर्म किये हैं उन्हीं में से जो इस जन्म में भोगने वाले कर्म हैं वे ही प्रारब्ध कहलाते हैं। जिसे ज्ञान हो गया है उसके लिये जन्मान्तर है ही नहीं। इसलिये ज्ञानी पुरुष-के लिये तो प्रारब्ध का अभाव ही होता है। जैसे स्वप्न में जिस देह से भोग भोगते हैं-वह देह थोड़े ही है, देह का अध्यास मात्र होता है। उसी प्रकार यह जाग्रत काल का जो शरीर है, यह भी तो स्वप्न के शरीर के सदृश अध्यासमात्र ही है। जो अज्ञान वश अध्यस्त वस्तु है, उसकी उत्पत्ति होती ही नहीं। जब उसका जन्म ही नहीं तो उसकी स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है? इस प्रपञ्च का उपादान कारण आत्मा है। आत्मा से ही जगत् है। जैसे मिट्टी के घड़ा आदि का उपादान कारण मिट्टी है। वेदान्तियों का कहना है कि यह प्रपंच अज्ञान के कारण आत्मा में भासता है। जैसे घड़ा फूट जाय तो फिर घड़े का अस्तित्व नहीं रहेगा, मिट्टी-ही-मिट्टी रह जायगी। इसी प्रकार अज्ञान के नष्ट हो जाने पर विश्व की विश्वता रहेगी ही नहीं। केवल आत्मा ही आत्मा अवशिष्ट रह जायगा।

जैसे कहीं टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी पड़ी है, तो प्राणी भ्रमवश यह रज्जु है इस ज्ञान को तो भूल जाता है उसमें सर्प का अध्यारोप कर लेता है। इसी प्रकार सत्य जो आत्मा है उसे भूलकर मूढ़ लोग इसमें जगत् का अध्यारोप कर लेते हैं। जब भ्रम दूर हो जाने पर यह निश्चय हो गया कि यह सर्प नहीं रज्जु है तब यहाँ सर्प रहता ही नहीं। सर्प अज्ञानकाल में भी नहीं था और

ज्ञान होने पर उसमें से सर्प भाग भी नहीं गया। केवल अज्ञान दूर होते ही सर्प का अभाव हो जाता है, इसी प्रकार अधिष्ठान स्वरूप आत्मा का ज्ञान हो जाने पर इस जगत् प्रपच का भी अभाव हो जाता है, यह देह भी तो प्रपच के अन्तर्गत ही है। ज्ञान होने पर शरीर भी शून्यता में परिणत हो जाता है। जब देह का अस्तित्व नहीं तब प्रारब्ध का अस्तित्व भला कैसे रह सकता है।

यह प्रारब्ध तो अज्ञानी लोगों को समझाने के लिये दृष्टान्त के रूप में है। जैसे अध्यापक बच्चों को समझाता है, मेरे पास एक घोड़ा था उसमें दश सहस्र रुपये थे। आधे चोरों ने छीन लिये तो कितने बचे ? लड़के कहेंगे—"पाँच सहस्र बचे।" वास्तव में न उसके पास घोड़ा था, न एक भी पैसा, न चोर आये, न लूटा, न उसके पास दमडी बची। यह सब मूर्खों को समझाने को कल्पित वस्तुयें हैं। इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर देह प्रारब्ध किसी का भी अस्तित्व नहीं रहता। जब ज्ञान हो जाय तब प्रणव और ब्रह्म की एकता के चिन्तन से नाद रूप में साक्षात् ज्योतिर्मय शिव स्वरूप परमात्मा का आविर्भाव होता है। जैसे आकाश में मेघ छा गये, सूर्यनारायण दिखायी नहीं देते। मेघों के हट जाने पर सूर्यनारायण प्रकाशित हो उठते हैं। जिस समय मेघ छाये हुए थे, उस समय सूर्यनारायण कहीं चले नहीं गये थे, मेघ के हटने पर कहीं से आ नहीं गये। वे तो सदा सर्वदा विद्यमान ही थे। इसी प्रकार अज्ञान के हट जाने पर सदा विद्यमान परमात्मा का प्रकाश होता है।

अब नादानुसन्धान कैसे करे, इसका प्रकार बताते हैं—"योगी साधक को चाहिये कि वह सिंहासन से बैठकर वैष्णवी मुद्रा को धारण करे। अर्थात् बाहर की ओर तो निर्निमेष दृष्टि

से देखना रहे, किन्तु भीतर की ओर से अपने लक्ष्य पर डटा रहे। तब ध्यानपूर्वक उसे दक्षिण कान में एक प्रकार का नाद (अनाहत शब्द) सुनायी देगा उसी पर ध्यान जमाकर उस शब्द को ही सुनता रहे। जब उस नाद पर निरन्तर चित्त की वृत्ति जम जायगी, तब बाहर के शब्द सुनायी ही न देंगे। वह नाद बाहर की ध्वनियों को आवृत कर लेगा। इस प्रकार पहिले एक पक्ष-अकार पर विजय प्राप्त करे। फिर द्वितीय पक्ष उकार को विजय करे, फिर तीसरे मकार पर विजय प्राप्त करके तुर्यपद-अर्थात् आत्म साक्षात्कार कर ले। इसी का नाम नादानुसंधान है।

अब यह बताते हैं, कि ये शब्द किस प्रकार के सुनायी देते हैं। आरम्भ में तो ये विविध प्रकार महान् शब्द सुनायी देते हैं, जब शनैः-शनैः नाद श्रवण का अभ्यास बढ़ जाता है, तब ये शब्द सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अति मधुर सुनायी देने लगते हैं। आरम्भ में तो समुद्र की गर्जना के समान, मेघ की गर्जना के सदृश, भेरी, निर्झर के सदृश सुनायी पड़ते हैं। मध्य में मृदंग, घंटा तथा नगारे की ध्वनि के सदृश और अन्त में किंकिणी, वंशी, वीणा भ्रमर की गुञ्जन के सदृश मधुर तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सुरीले नाद सुनायी देते हैं।

अब यह बताते हैं, कि नाद श्रवण किस रीति से करना चाहिये। पहिले जब मेघ गर्जन आदि बड़े-बड़े शब्द सुनायी दें तो उसमें से मन को हटाकर सूक्ष्म में लगावे और सूक्ष्म से भी हटाकर सूक्ष्मतम तर में लगावे। इस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म में, सूक्ष्म से स्थूल में मन को उन्हीं शब्दों में फँसाये रहे। इस क्षिप्त मन को इधर-उधर न भागने दे, उस नाद में मन को ऐसे मिला दे जैसे दूध में पानी को मिलाकर एकीभाव कर देते हैं। सम्पूर्ण प्रपंच से मन को हटाकर उस नाद में विलीन कर दे। उस नाद

में जहाँ मन विलीन हुआ तो नाद के साथ-ही-साथ मन चिदाकाश में विलीन हो जाता है। इसलिये संयमी साधक को नाद श्रवण के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में मन को न जाने देना चाहिये। सभी विषयों से उदासीन होकर केवल अपने प्रति उत्सुक बनाने वाले नाद का ही सतत श्रवण करना चाहिये। उसी का निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। चित्त नाद में विलीन हो जाता है अतः समस्त चिन्ताओं, सम्पूर्ण चेष्टाओं का परित्याग करके नादानुसन्धान ही करते रहना चाहिये।

अब बताते हैं, कि नाद श्रवण द्वारा यह मन किस प्रकार वश में होता है। देखो, भौंरा है, वह पुष्पों के रस का पान करता है। यद्यपि उन पुष्पों में सुगन्ध भी है, किन्तु वह सुगन्ध में फसता नहीं, उस सुगन्ध की उपेक्षा करके रसपान में ही निमग्न रहता है। इसी प्रकार जब मनरूपी भ्रमर को नादानुसन्धान का रस मिल जायगा, तो वह विषय-वासनाओं की गन्ध की उपेक्षा कर देगा। सर्प को जब सुन्दर नाद का आनन्द मिल जाता है, तो वह अपनी समस्त चंचलता छोड़कर उस नाद के ही आनन्द में तन्मय होकर आनन्दमग्न हो जाता है। इसी प्रकार यह चित्तरूपी आन्तरिक सर्प नाद को श्रवण करते-करते उस नाद की मधुर गन्ध में आबद्ध हो जाता है, तो अपनी सम्पूर्ण चंचलता का परित्याग करके स्थिर हो जाता है। यह मन मतवाले हाथी के सदृश है। जैसे मतवाला हाथी अंकुश द्वारा वश में किया जाता है वैसे ही यह मनमतंग नादरूपी अंकुश से वशीभूत किया जा सकता है। जैसे मृग जाल से फँसाया जा सकता है, वैसे ही यह मनरूपी मृग नादरूप जाल से फँसाया जा सकता है। जैसे समुद्र की तरंगों को तट रोक लेता है वैसे ही मन की तरंगों को यह तटरूपी नाद रोकने में समर्थ होता है।

अब यह बतायेंगे कि इस अनहदनाद में मन किस प्रकार लय होता है–ब्रह्म तो प्रणव में संलग्न है, नाद में ज्योति स्वरूप ही है, उसमें मन लीन हो जाता है, यही विष्णु का परमपद है। शब्द तो आकाश का गुण है। अतः जब तक शब्दों का श्रवण अथवा उच्चारण होता है, तभी तक आकाश का भी संकल्प होता है। जहाँ इन वाह्य शब्दों का श्रवण उच्चारण बन्द हुआ तहाँ वह मन परब्रह्म परमात्मा में ही लीन हो जाता है। जब तक नाद है तभी तक मन है। नाद जितना जितना सूक्ष्म होता जायगा, मन भी उतना ही उतना सूक्ष्म होते-होते अन्त में अमन हो जायगा। शब्द सहित जो नाद है, वह अक्षर ब्रह्म में जाकर विलीन हो जाता है। जहाँ नाद निःशब्द हुआ समझ लो वही परमपद है। बाहरी शब्दों को न सुनते हुए निरन्तर मन को नाद श्रवण में ही फँसाये रखेंगे, तो समस्त वासनायें अपने आप ही नष्ट हो जायँगी। तब प्राण सहित निर्वासना हुआ मन निराकार ब्रह्म में विलीन हो जायगा। क्योंकि करोड़ों नाद, करोड़ों विन्दु ब्रह्म प्रणव रूप नाद में लीन हो जाते हैं।

जब मन अमन हो जाता है, तो उस समय मन की स्थिति कैसी हो जाती है इसका वर्णन करते हुए बताते हैं, कि जो योगी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त हो चुका है, जिसके मन में किसी भी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं रही है, वह मृतक के सदृश रहता है। वास्तव में वह निःसन्देह मुक्त है। वह शंख के दुन्दुभि के शब्दों को कभी भी नहीं सुनता। उसकी देह सूखे काष्ठ के सदृश हो जाती है। उसकी उन्मनी अवस्था हो जाती है। वह मान-अपमान, शीत-उष्ण, तथा सुख-दुःख इन सबसे परे हो जाता है। समाधि के द्वारा वह इन सभी द्वन्द्वों का परित्याग कर देता है। उस अमना योगी का चित्त तीनों अव-

स्थाओं का कभी अनुगमन नहीं करता। वह जाग्रत तथा निद्रादि से सदा विनिर्मुक्त बना रहता है। वह सदा सर्वदा अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है। उसकी बिना दृश्य के दृष्टि स्थिर रहती है। बिना प्रयत्न के ही जिसकी वायु स्थिर हो जाती है। बिना अवलम्ब के ही जिसका चित्त स्थिर हो जाता है। यही योगी ब्रह्ममय प्रणव के अन्तर्गत-तुरीय स्वरूप नादरूप में स्थित है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही नाद बिन्दु उपनिषद् है। यह योग सम्बन्धी नादानुसन्धान बताने वाली दिव्य उपनिषद् है। इसका सार मैंने आप सबको सुना दिया, अब आप ध्यानबिन्दु उपनिषद् का सार श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

(१)

स्वाभाविक जो शब्द नाद अनहद कहलावै।
सुनै दाहिने कान प्रथम अति घोष सुनावै॥
घनगर्जन, मिरदंग, नगारे, घण्ट सरिस पुनि।
होइ सूक्ष्म अति सूक्ष्म किंकिणी, वंशी, अलि-ध्वनि॥
नीर क्षीर में ज्यों मिलै, नाद माहिँ त्यों मिलै मन।
तातैं चिन्ता सकल तजि, नाद बिन्दुकूँ सतत सुन॥

(२)

नाद श्रवनतैं चंचल मन अहिवत वश होवै।
सुनत सुनत नित नाद वृत्ति विषयनि मन खोवै॥
हरिन जाल में फँसै नाद त्यों मन फसि जावै।
होइ नाद मन लीन परम आनँद तहँ पावै॥
मन है जावै अमन जब, सकल द्वन्द्व मनके नसैं।
प्रणव ब्रह्ममय नाद में, उभय प्राण मनहू बसैं॥

इति नादबिन्दु-उपनिषद्-सार समाप्त

ध्यानबिन्दु-उपनिषद्-सार

[३०१]

यदि शैल समं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥*

(ध्या० बि० उ० १ म)

छप्पय

ध्यान बिन्दु उपनिषद् पाप पर्वतनि ढहावै ।
बीज, बिन्दु अरु नाद प्रणव महिमा बतलावै ॥
सूक्ष्मतैं हू सूक्ष्म ब्रह्म दुर्लक्ष्य तत्त्व अति ।
ज्यों मणियनि में सूत्र ब्रह्म त्यों व्याप्त सबनि नित ॥
फूल गन्ध तिल तेल ज्यों, ब्रह्म व्याप्त त्यों सबनि महँ ।
तरु छाया चत ब्रह्म जग, सकल और निष्कल रहहिँ ॥

योग में कुण्डलिनी शक्ति की बड़ी प्रशंसा है। मूलाधार से लेकर सहस्रार चक्र तक जितने चक्र हैं, उन सबकी जानकारी साधक के लिये परमावश्यक है। कौन-सा कमल के दल का है, क्या उसका रंग है, कौन उसका अधिष्ठातृ देव है, उसके दलों में कौन बीज मन्त्र का अक्षर है, इन बातों को जान लेने पर ही

---

* यदि बहुयोजन विस्तीर्ण शैल के सदृश भी पाप क्यों न हों, वे समस्त पाप ध्यान योग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे घोर पाप अन्य किसी भी साधन से नष्ट नहीं होते हैं।

साधन द्वारा सुषुम्ना के द्वार से कुण्डलिनी शक्ति सहस्रदल कमल में पहुँच सकती है। ध्यान बिन्दु उपनिषद् में उसी के ध्यान की विधि बतायी गयी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कितने भी पाप क्यों न हों ध्यान योग द्वारा वे सबके सब दग्ध हो जाते हैं। देखो, बीज अक्षर से परे बिन्दु है और बिन्दु से परे नादस्थित है। उस नाद से सुन्दर शब्द का उच्चारण हुआ करता है। शक्ति रूप प्रणव नाद से भी परे है, वह शब्द नाद अक्षर के क्षीण होने पर निःशब्द अर्थात् शान्त नाम से परम पद है।

अनाहत जो शब्द है, उस शब्द से जो परे है उसे जो योगी जानता है, उसके समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। बाल का जो अग्रभाग है, उसके सौ भाग किये जायँ। उन सौ में से एक भाग को लेकर उसके सहस्र भाग किये जायँ, उनमें से एक भाग का भी जो अर्ध भाग है, उसी के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वह निरञ्जन परब्रह्म है। जैसे पुष्पों में गन्ध, दुग्ध में घृत, तिल में तैल और पाषाण में सुवर्ण व्याप्त है। उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों के भीतर वह परब्रह्म परमात्मा ऐसे व्याप्त रहता है, जैसे मणियों की मालाओं के भीतर सूत्र व्याप्त रहता है। जिनकी बुद्धि स्थिर है, अज्ञान रहित ब्रह्मवित पुरुष सदा सर्वदा ब्रह्म में स्थिर रहते हैं। जैसे तिल में तैल पुष्पों में गन्ध व्याप्त है उसी प्रकार पुरुष के शरीर में भीतर बाहर आत्मा स्थित है। जैसे वृक्ष है और उसकी छाया है, दोनों का एक-सा रूप दीखता है किन्तु वृक्ष तो अपनी समस्त कलाओं के साथ स्थित रहता है, किन्तु वृक्ष की छाया समस्त कलाओं से हीन है। उसी भाँति आत्मा तो कलाओं के सहित सच्चिदानन्द रूप से स्थित है और यह छाया रूप जगत कला रहित लाभ से सर्वत्र अवस्थित रहता

है। ओंकार जो एकाक्षर ब्रह्म है, वह सभी मुमुक्षुओं द्वारा ध्येय है। प्रणव में अकार, उकार और मकार ये तीन शब्द हैं। ये तीनों क्या हैं ? पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, भूव्याहृति और ब्रह्मा देव ये तो सब प्रणव के प्रथम अंश अकार में लय को प्राप्त होते हैं। अब द्वितीय प्रणव अंश उकार है, उसमें अन्तरिक्ष लोक, यजुर्वेद, भुवः व्याहृति जनार्दन विष्णु देवता ये सब इस द्वितीयांश में लय को प्राप्त होते हैं। प्रणव का तृतीय अंश मकार है, उसमें स्वर्गलोक तथा सूर्यलोक, सामवेद, स्वः नाम की व्याहृति और महेश्वर देवता ये इन तृतीयांश मकार में लय को प्राप्त होते हैं। अब अकार, उकार और मकार के वर्णों को बताते हैं। अकार का वर्ण पीला है, वह रजोगुण वाला कहा गया है। उकार शुक्ल वर्ण वाला है वह सात्विक गुण युक्त है तथा मकार कृष्ण वर्ण का है और तमोगुण वाला है। ओंकार के आठ तो अंग हैं और चार पैर वाला है, त्रिस्थान वाला तथा पंचदेवताओं से युक्त है। जो ऐसे ओंकार को नहीं जानता वह ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण नहीं हो सकता। क्योंकि श्रुति में कहा है। प्रणव तो धनुष है, आत्मा बाण है, उसका वेधने का लक्ष्य ब्रह्म है। प्रमाद रहित होकर लक्ष्य को वेध करना चाहिये। बाण की भाँति तन्मय होकर उन परावर परब्रह्म परमात्मा को देख लेने पर समस्त क्रियायें निवृत्त हो जाती है। ओंकार से ही तो समस्त देवता उत्पन्न हुए हैं तथा ओंकार से ही समस्त स्वर उत्पन्न हुए हैं। कहाँ तक कहें समस्त त्रैलोक्य चराचर जगत् ओंकार से ही उत्पन्न हुआ है। ह्रस्व ओंकार पापों को दहन करता है, दीर्घ सम्पदा को देने वाला होता है तथा अर्धमात्रा समायुक्त प्रणव मोक्ष को देने वाला है। तैल की धारा के सदृश और दीर्घ घंटा निनाद के सदृश ऐसा जो प्रणवाग्र है वह

वाणी द्वारा कहे जाने योग्य नहीं है, ऐसे प्रणव के यथार्थ मर्म को जो जानता है, वास्तव में वही यथार्थ वेद विद है।

हृदय कमल की कर्णिका के मध्य में स्थिर शान्त दीप शिखा के सदृश आकृति वाला अगुष्ठ मात्र आकार वाले अचल ओंकार रूप ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। इडा नाडी से वायु को भरना चाहिये अर्थात् पूरक प्राणायाम करना चाहिये। फिर जब वायु से उदर भर जाय तो उस उदर में स्थिति ओंकार को देहमध्यस्थ ओंकार ज्वालावली वृत परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। पूरक प्राणायाम के ब्रह्मा देवता हैं। विष्णु कुम्भक के हैं तथा रेचक के रुद्र देवता कहे गये हैं। अपनी आत्मा को तो अग्नि निकालने की नीचे वाली अरणि बना लो और प्रणव को उत्तर अरणि बना लो। ध्यान रूप निर्मन्थन के अभ्यास द्वारा निगूढ सदृश उस परब्रह्म को देखे।

ओंकार की जो ध्वनि है उससे जब तक वायु का सहरण न हो जाय, तब तक यथाशक्ति उसे धारण करना चाहिये, जब तक नाद का लय न हो जाय।

वह ओंकार गम आगम मे स्थित होने पर भी गमनादि से शून्य है। कोटानकोटि सूर्यों के सदृश उसकी दीप्ति है। ऐसे जो हस स्वरूप समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा में स्थित उन परब्रह्म परमात्मा को जो देखते हैं। वे निमल रज रहित हो जाते हैं। वही उन विष्णु का परम पद है जिसमे जाकर वह मन विलय को प्राप्त हो जाता है। जिस मन ने इस जगत् की सृष्टि स्थिति आदि कर्म किये हैं।

देखो, हृदय का कमल आठ दल वाला है। बत्तीस केसर से सयुक्त है। उस अष्ट दल कमल के मध्य में अर्थात् सूर्य स्थित है और सूर्य के मध्य में चन्द्रमा स्थित है तथा

के मध्य में अग्निदेव स्थित हैं। उन अग्नि के मध्य में प्रभा स्थित है। प्रभा के मध्य में पीत स्थित है जो नाना प्रकार के रत्नों से संवेष्टित है। उसके मध्य में भगवान् वासुदेव निरञ्जन स्थित हैं। उन भगवान् का स्वरूप कैसा है? उनके वक्षःस्थल में श्रीवत्स और कौस्तुभ मणि शोभायमान है। अनेक प्रकार के मुक्ता मणियों द्वारा वह वक्षःस्थल विभूषित है। शुद्ध स्फटिक मणि के सदृश कोटानकोटि चन्द्रमाओं की प्रभा के सदृश समुज्वल। इस प्रकार के महाविष्णु का भाव नत होकर ध्यान करे।

पहिले पूरक प्राणायाम करे। पूरक करते समय नाभि स्थान में विष्णु भगवान् का ध्यान करे। कैसे हैं वे विष्णु भगवान्? उनका वर्ण अलसी के पुष्प के सदृश नील वर्ण का है। उन महावीर भगवान् की चार भुजायें हैं। भीतर को श्वास खींचते समय उनका ध्यान करे। जब कुम्भक के द्वारा वायु को भीतर रोके तब हृदय स्थान में ब्रह्माजी का ध्यान करे। कैसे हैं वे ब्रह्माजी? उनके चार मुख हैं। लाल कमल की कर्णिका पर विराजमान हैं, जिनकी आभा रक्त तथा गौर वर्ण की है और वे समस्त लोक के पितामह हैं। फिर रेचक प्राणायाम द्वारा शनैः-शनैः वायु को छोड़े। उस समय ललाट में स्थित शंकरजी का ध्यान करे। कैसे हैं वे शंकरजी? वे विद्या के स्वरूप हैं, तीन उनके नेत्र हैं, शुद्ध स्फटिक मणि के समान उनका उज्ज्वल वर्ण है, वे पाप विनाशक तथा निष्कल हैं।

सुषुम्ना के मध्य में नाभि, हृदय तथा ललाट में स्थित ये कमल सर्व देवमय हैं। इनमें से नाभि स्थान का कमल अष्टदल है, हृदय के कमल की नाल ऊपर है, उसका मुख नीचे है। ललाट कमल केले के पुष्प के सदृश नील-लोहित बैंगन के सदृश रङ्ग वाला है। इन तीनों के अतिरिक्त मूर्ध देश में एक शतपत्र

कमल और है। वह कमल खिला हुआ है। उसकी कर्णिका विस्तीर्ण है। उस कमल की विस्तृत कर्णिका के मध्य में पहिले सूर्य, फिर चन्द्र, तदनन्तर अग्नि ये एक के ऊपर एक इस प्रकार अवस्थित हैं। पहिले ये कमल अधोमुख किये सुप्त रहते हैं, इसलिये ध्यान के द्वारा इनका उद्घाटन करना चाहिये। अर्थात् विकसित-जाग्रत-करना चाहिये। इन पद्मों पर जो बीज रूप में अक्षर हैं, उनके उच्चारण के द्वारा यह जीवात्मा समस्त जगत् के कार्यों का निर्वाह करता है।

जो साधक त्रिस्थान (नाभि, हृदय और ललाट) त्रिपात्र (पूरक, कुम्भक और रेचक) त्रिब्रह्म (ब्रह्मा विष्णु महेश) तीन अक्षर (अकार, उकार और मकार) और इनमें व्याप्त जो अर्ध-मात्रा स्वरूप परब्रह्म है, उसे जो यथार्थ रूप में जानता है, वास्तव में वही वेदवित् है। तैल की धारा के सदृश अविछिन्न, दीर्घ कालीन घटा निनाद के समान ध्वनि कारक, बिन्दु, नाद और कला से अतीत जो प्रणव स्वरूप परब्रह्म है उसे जो भली भाँति जानता है वास्तव में वही वेदवेत्ता है।

जैसे मनुष्य कमल की नाल से पानी को खींचकर धीरे-धीरे पीता है उसी प्रकार योग पथ में स्थित योगी को शनैः शनैः वायु को खींचना चाहिये। जैसे कृषक रस्सी द्वारा कूप से जल निकालते हैं वैसे ही प्रणव की अर्धमात्रा को रज्जु बनाकर हृदय कमल रूप जो कूप है उसमे से जल रूपा कुण्डलिनी को मूलाधार आदि कमलों स खींचकर भ्रू के मध्य में नासिका की जड से लेकर जो ललाट तक स्थान है वहाँ ले जाय। वही अमृत स्थान है, वही ब्रह्म का आयतन-निवास स्थान-है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रणव के तीनो अक्षरों के साथ तीनों स्थान, तीनों देव, तीनो प्राणायामादि की

समता करके विष्णु के परम पद का वर्णन किया। अब आगे जैसे योग के छैऊ अगों का वर्णन करेंगे, उसे मैं आपको आगे बताऊँगा।"

छप्पय

नाभि, हृदय, सिर थान कुम्भ पूरक अरु रेचक।
ब्रह्मा, विष्णु, महेश, प्रणवत्रय अक्षर मात्रक॥
मात्रा आधे परे ब्रह्मकूँ जो जन जानें।
तिनिही कूँ विद्वान ब्रह्मवित ज्ञानी मानें॥
कमल नाल जस पियत जल, तस प्राणनि खींचे सुनर।
ज्यों जल खींचत कूपतें, त्यों कुण्डलिनी लाइ सिर॥

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड १००

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० | अक्टूबर १९७२ कार्तिक सं०-२०२९ | मूल्य : २. रु०

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठाङ्क
१. संस्मरण (१९)	...	१
२. ध्यानविन्दु उपनिषद्-सार (२)	...	१८
३. ध्यानविन्दु उपनिषद्-सार (३)	...	२९
४. ब्रह्मविद्या उपनिषद्-सार	...	३६
५. योगतत्व उपनिषद्-सार (१)	...	४७
६. योगतत्व उपनिषद्-सार (२)	...	५९
७. आत्मप्रबोध उपनिषद्-सार	...	७२
८. नारद परिव्राजक उपनिषद्-सार (१)	...	७८
९. नारद परिव्राजक उपनिषद्-सार (२)	...	९१
१०. त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद्-सार	...	१०१
११. सीतोपनिषद्-सार	...	१२०
१२. योग चूड़ामणि उपनिषद्-सार (१)	...	१२९
१३. योग चूड़ामणि उपनिषद्-सार (२)	...	१३७
१४. निर्वाणोपनिषद्-सार	...	१५०
१५. मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्-सार	...	१५५
१६. दक्षिणामूर्ति तथा शरभोपनिषद्-सार	...	१७२
१७. स्कन्द और त्रिपाद् विभूतिमहानारायणोपनिषद्-सार		१८२

संस्मरण

[१६]

भिक्षाशी जनमध्य सङ्गरहितः स्वायत्तचेष्टाः सदा ।—
दानादान विरक्त मार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः ॥
रथ्याकीर्ण विशीर्णजीर्णवसनः सम्प्राप्तकन्थाधरो ।
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ॥*

(भ० ह० वै० श० ८२ श्लो०)

छप्पय

भिक्षा करिकें खायँ रहैं जनमध्य विरत परि ।
चेष्टा सब स्वाधीन दीनता नहिँ आवै उर ॥
दान ग्रहन तैं रहित विरत मारग में नित रत ।
फटे मलिन कटि वस्त्र फटी गुदरी गर शोभित ॥
निरमम निरहंकार नित, निरमानी सुख दुःख सम ।
ब्रह्मानन्द निमग्न वर, जग तपसी विरले परम ॥

यह जीव अपने यथार्थ कल्याण के मार्ग को भूलकर संसारी

---

* जो भिक्षा माँगकर खाते हैं, जनसंग से विरत रहने वाले, दान तथा ग्रहन जैसे व्यावहारिक कार्यों से विरत रहने वाले, गलियों में पड़े फटे पुराने कपड़ों की गुदरी तथा कटिवस्त्र को धारण करने वाले, मान रहित, अहंकार से शून्य, सुख-दुःख में सम रहने वाले कोई तपस्वी संत कहीं-कहीं ही मिल सकते हैं।

भोगों के मग में भटक गया है। यह कुशल कर्मों में प्रमत्त विकर्मों में निरत हो रहा है। हम जो इतना संग्रह करते हैं, लिये ? इसलिये कि हमें सुख हो, हमें किसी वस्तु का अभ रहे। किन्तु हम देखते हैं, जो जितना ही अधिक संग्रही उतना ही अधिक दुखी है। संसार में सुख के साधन अन्न, वाहन, पशु और स्त्री ये बताये गये हैं। जिनके पास अ मन अन्न है, अगणित धन है, बहुत से वाहन हैं, सहस्रों गाय भैंसे हैं, सहस्रों स्त्रियाँ हैं, वे भी अत्यन्त दुखी देखे जाते हैं, इसके विपरीत जिनके पास कुछ भी संग्रह नहीं है, एक लँगोटी भी नहीं है, दिशायें ही जिनका अम्बर-वस्त्र-है। वे निश्चिन्त सुखी देखे जाते हैं। इसीलिये एक नदी तट पर पाषाण शिला पर नग्न पड़े हुए परमहंस से महाराज यदु ने यह प्रश्न पूछा था, कि हमारे पास इतनी भोग सामग्रियाँ हैं, फिर भी हम इस संसार अटवी में उसी प्रकार दुखी हैं। जिस पर वन में आग लग जाने पर वहाँ रहने वाले मृग आदि जीव जन्तु अग्नि की लपटों से झुलस जाने के कारण दुखी होते हैं, किन्तु आप इस संसार रूप जलते हुए वन में रहते हुए भी उसी प्रकार निश्चिन्त हैं, जैसे वन में आग लग जाने पर भी गंगा में खड़ा हाथी निश्चिन्त और सुखी बना रहता है। वास्तव में सुख विषय सामग्रियों में नहीं है। सुख स्वरूप तो श्रीश्यामसुन्दर हैं। इन शब्द रूप रसादि जन्य पदार्थों में तो सुख का आभास है, प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब में सुख कहाँ ! जल में पुष्पित फलवान वृक्षों का प्रतिबिम्ब पड़ने से पानी में स्पष्ट फल-फूल दिखायी देते हैं, किन्तु उन प्रतिबिम्बित फलों में न तो स्वाद है न उन प्रतिबिम्बित पुष्पों में गन्ध। यदि आपको स्वाद लेना हो तो जल में दीखने वाले प्रतिबिम्बित फलों का मोह त्यागकर तुम यथार्थ

आम के वृक्ष पर चढ़कर आम का रसास्वादन करो। जल में प्रतिबिम्बित गुलाब के फूलों का मोह त्यागकर यथार्थ गुलाब के पेड से फूल तोडकर सूँघो, तब तुम्हें यथार्थ स्वाद-तथा-यथार्थ सुगन्ध प्राप्त होगी। यह यथार्थ फल फूल हैं, ये प्रतिबिम्बित फल फूल हैं, इसका ज्ञान महात्माओं को साधु-सत सत्पुरुषों को ही होता है, इसीलिये वास्तविक सुखी वे ही होते हैं और उनके अतिरिक्त जो संसारी लोग हैं, जो विषयों में ही सुख की खोज करते हैं, उनके पास चाहें जितनी भी अधिक से-अधिक भोग सामग्रियाँ क्यों न हों, यहाँ तक कि समस्त ससार भर के भोग्य-पदार्थ किसी एक ही व्यक्ति को क्यों न मिल जायँ, इतनी भोग सामग्रियों के रहते भी वह दुखी-का दुखी ही बना रहेगा। इसी-लिये महात्मा कबीरदास ने कहा है—

कबिरा दुखिया सब ससार।
सुखिया वहि जिह राम अधार॥

क्यों, यथार्थ सुख तो राम ने अपने ही पास रख छोडा है। उस सुख की छाया ससार के पदार्थों में पडती है, इसी से उन्हें विषयों में सुख का आभास प्रतीत होता है। अतः सुख प्राप्ति, पापों की निवृत्ति सत संग से ही होती है।

सतों के असख्यो भेद हैं। भक्तमाल में अनेकों प्रकार की निष्ठाओं वाले संतों का वर्णन है।

१—कुछ सत तो ऐसे होते हैं जो निर्गुण निराकार परब्रह्म का उपासना करते हैं, वे सबको निर्गुण ब्रह्म का उपदेश करते हैं। उनकी दृष्टि में ससार का अस्तित्व ही नहीं। अनेक रूपों मे वह ब्रह्म ही दिखायी दे रहा है। वे सबमे अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म को ही देखते हैं। उन्हें सर्वत्र ब्रह्म का ही साक्षात्कार होता है

और वे अधिकारी जिज्ञासुओं को ब्रह्म साक्षात्कार कराते भी हैं।

२—कुछ सगुण-साकार उपासक होते हैं। वे भक्तिमार्ग के अनुयायी होते हैं। उनका श्यामसुन्दर भी अन्तर्यामी रूप से सबमें रम रहा है, फिर भी वे उसकी किसी विग्रह रूप में उपासना करते हैं।

३—कुछ लोग अपने को ही ईश्वर बताकर अपनी पूजा कराते हैं।

इन तीनों में तीन प्रकार के होते हैं। एक तो यथार्थ भक्त—उन्हें आचार्य भी कहते हैं। वे स्वयं सदाचार का पालन करते हुए अपने अनुयायियों से भी सदाचार का पालन कराते हैं। स्वयं भगवान् की भक्ति करते हुए सबको भक्ति का उपदेश करते हैं। ऐसे सदाचारी आचार्यों का परलोक में एक स्वतन्त्र लोक ही निर्मित हो जाता है, उनके अनुयायी उसी लोक को प्राप्त होते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन के पश्चात् जो कल्प प्रलय होती है, उसमें वे अपनी भावना के अनुसार भगवत्स्वरूप में मिल जाते हैं।

दूसरे वे होते हैं, जिन्होंने चिरकाल तक भगवान् की उपासना तो की है, किन्तु उनको भगवान् बनकर पुजाने की वासना बनी रहती है। भगवान् तो वांछाकल्पतरु हैं, जो उनकी शरण में आया है, उसकी अच्छी बुरी सभी वासनाओं की किसी न किसी रूप से पूर्ति करते हैं, तो ऐसे लोग अपने को भगवान् प्रकट करके अपने को ही पुजाते हैं। उनके जो अनुयायी हैं हृदय से उन्हीं को भगवान् मानकर पूजते हैं, वे अपनी विशुद्ध भावना के कारण भगवान् को प्राप्त होते हैं, जो स्वार्थ वश पूजते हैं, या ढोंग से पूजते हैं, उनकी भी भावना के अनुसार स्वार्थ सिद्धि होती है, किन्तु वासना के वशीभूत होकर जो अपने को भगवान् कह कर पुजाते हैं, उन्हें वासनाओं के अनुसार नरकादि लोकों की प्राप्ति

होती है और फिर भगवत् कृपा से उनकी वासना क्षय हो जाने पर वे भी सत्मार्ग के अनुयायी होते हैं।

किन्तु जो न तो भगवत्भक्त ही हैं न सदाचारी ही हैं। दम्भ से ढोंग बनाकर अपने को भगवान् मानकर पुजाते हैं, तो पूर्वकृत यत् किंचित् पुण्यों के प्रभाव से बहुत से स्वार्थी उनके अनुयायी बन जाते हैं, जब उनका दम्भ खुल जाता है-प्रकट हो जाता है, तो सच्चे साधक तो उनका परित्याग करके चले जाते हैं। जो स्वार्थी लालची होते हैं, वे अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त उनके पीछे लगे रहते हैं उनके दम्भ का अनुसरण करके समाज में कदाचार फैलाते हैं, ऐसे गुरु और चेला दोनों ही नरकगामी होते हैं—

लोभी गुरु लालची चेला। होइ नरक में ठेलमठेला। इसप्रकार साधु सन्तों की तथा अनुयायियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं।

(१) एक तो यथार्थ गुरु साधु सन्त और उनके यथार्थ अनुयायी, (२) दूसरे अजितेन्द्रिय गुरु और उनके अजितेन्द्रिय अनुयायी, (३) तीसरे दम्भी गुरु और उनके लोभी लालची दम्भी चेला। पहिले गुरु शिष्य दोनों को भगवत् प्राप्ति होती है। दूसरों का इस संसार में सम्मान, यश ऐश्वर्य बढ़ता है, परलोक में भावनानुसार फल मिलता है।

तीसरों को कुछ दिन मान सम्मान यश ऐश्वर्य भले ही मिल जाय, किन्तु पीछे उनकी दुर्दशा ही होती है। किन्तु वे भी प्रारब्ध कर्मों के कारण-वासना के वशीभूत होकर ऐसा करने को विवश हो जाते हैं।

संसार में सच्चे सन्त ही धर्म को बचाये हुए हैं, वे ही साधकों के सहारे हैं। सच्चे सन्तों के भी दो भेद हैं। एक तो निर्लेप एकांत सेवी भावना प्रधान, वे संसार के सम्मुख नहीं आते हैं, गुफा,

कन्दराओं में छिपकर एकान्त में बैठे रहते हैं, उनकी भावना से ही जगत् का कल्याण होता रहता है, उनकी परमपावन स्वाँस की सुगन्धि से ही सद्गुणों का विकाश होता रहता है। वे भवन की नींव के पत्थरों की भाँति छिपे ही भवन के समस्त भार को धारण किये रहते हैं। उन्हें न कोई जानता है और मानने वाले भी कम होते हैं।

दूसरे संसार में रहते हुए भी—सर्वसाधारण लोगों के बीच में सर्व साधारण जैसा जीवन बिताते हुए भी उनका सब समय परोपकार और प्रभु पूजा में ही व्यतीत होता है। वे शुद्ध सदाचारी मर्यादा का पालन करते हुए कर्म प्रधान होते हैं। वे सदा सर्वदा परमार्थ सम्बन्धी ऐसे शुभ कार्यों में सदैव ही संलग्न रहते हैं, जिससे धर्म की सदाचार की अभिवृद्धि हो। लोग उनके सत कर्मों से प्रभावित होकर उनका अनुगमन करते हैं। उनकी यश कीर्ति भी प्रायः संसार में फैलती है। उसे भी वे बड़े धैर्य के साथ सहन करते हैं। ऐसे ही सन्त अपने समस्त स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर परमार्थ साधनों में सदैव तत्पर रहते हैं। वास्तव में संसार में ऐसे ही सन्त बड़भागी कहे जाते हैं।

रामघाट से श्री बाबा से विदा लेकर हम नरवर पाठशाला में पहुँचे। नरवर पाठशाला को हमारे परम श्रद्धेय श्री जीवनदत्तजी ब्रह्मचारीजी ने स्थापित किया था। उनकी इच्छा प्राचीन ढंग के ब्रह्मचर्य आश्रम बनाने की थी। कुछ दण्ड कमंडलु धारण करने वाले, नित्य सन्ध्या हवन करके भिक्षा पर निर्वाह करने वाले ब्रह्मचारी बनाये भी किन्तु समय के प्रभाव से वह निभ नहीं सका, अन्त में उसने संस्कृत महाविद्यालय का रूप धारण कर लिया। श्री ब्रह्मचारीजी ने इटावा के परम विद्वान् पं० भीमसेनजी शास्त्रीजी से अष्टाध्यायी पढ़ी थी। पं० भीमसेनजी स्वामी

दयानन्दजी सरस्वती के संसर्ग से पहिले आर्य समाजी थे, पीछे सनातन धर्मी हो गये और यहीं ब्रह्मचारीजी के समीप नरवर में आकर निवास करने लगे और यहीं उन्होंने अपनी इहलोक लीला भी समाप्त की। इनके पुत्र पं० ब्रह्मदत्तजी शास्त्री इटावे से "ब्राह्मण सर्वस्व" निकालते थे। सन् २१ के आन्दोलन में वे भी जेल गये थे और हमारे साथ लखनऊ जेल में रहे थे। उनसे मेरी परम आत्मीयता थी। समय समय पर मैं उन्हें उत्सवों पर बुलाता भी रहा। वे सनातन धर्म के नेता थे।

हमारे ब्रह्मचारीजी बड़े ही भजनानन्दी, त्यागी तथा तितिक्षा प्रिय थे। वे किसी को त्यागी तितिक्षु देखते तो परम प्रमुदित होते। हम तीनों की त्याग तितिक्षा से वे बड़े प्रसन्न हुए। हमें उत्साहित किया। भिक्षा करायी और अनेक प्रकार की धार्मिक चर्चा करते रहे। गङ्गा किनारा था। जो त्यागी, विरागी, सन्यासी महात्मा उधर से निकलते उन्हें भिक्षा कराते। हमसे दो चार दिन पहिले ही कुछ दिन रहकर स्वामी रामदेवजी महाराज वहाँ से आगे गये थे।

उन दिनों स्वामी रामदेवजी की अवस्था सोलह सत्रह वर्ष की ही रही होगी। केवल एक ही लँगोटी रखते थे। भिक्षा भी नहीं माँगते थे, जो कोई दे देता तो खा लेते नहीं भूखे ही रह जाते। उन दिनों उनकी त्याग तितिक्षा पराकाष्ठा पर पहुँची थी। जाड़ा हो, गर्मी हो, चाहे वर्षा हो, वे नग्न ही रहते। केवल एक ही कोपीन रखते। स्नान करके उसे ही गीली पहिने रहते। गङ्गा किनारे किनारे घूमते रहते। पात्र नहीं, वस्त्र नहीं, किसी प्रकार का संग्रह नहीं, किसी से विशेष बात चीत नहीं। न किसी से लेना न देना। बिना माँगे जो मिल जाय उसे खा लेना और बिना कुछ बिछाये जहाँ स्थान मिला पड़े रहना। एक बार स्वामी

के शरीर में बड़ी-बड़ी माता निकलीं, ज्वर आ गया। पीव बहने लगा। ३-४ दिन तक बिना कुछ खाये-पीये ज्वर में झाड़ी में पड़े रहे। जब एक ग्वाला अहीर ने उन्हें इस दशा में पड़े देखा तो उठा ले गया, मुख में दूध डाला। सेवा सुश्रूषा की। इस छोटी अवस्था में ऐसा त्याग इतनी तितिक्षा बहुत कम देखने में आती है। अवस्था के साथ ही साथ शनैः शनैः तितिक्षा कम होने लगी। होता ही है बुखार और वैराग्य सदा एक-सा नहीं रहता। हमारे ब्रह्मचारीजी स्वामी रामदेवजी के त्याग वैराग्य से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। उन्होंने कई दिनों तक आग्रह पूर्वक उन्हें अपने समीप रखा। वे हमसे आगे ही आगे चल रहे थे। जब हम नरवर पर पहुँचे तब तक वे नरवर से आगे बढ़ गये थे। श्री-ब्रह्मचारीजी ने उनकी हमसे बड़ी प्रशंसा की। हम उनके सम्बन्ध में पीछे से ही सुनते आ रहे थे, उनसे भेंट तो फिर बहुत दिनों पश्चात् हुई।

हाँ तो हम नरवर से आगे चले। विहार घाट पहुँचे। विहार घाट में एक ब्रह्मचारीजी स्यात् उनका नाम हीरानन्दजी था-ये साधुओं के लिये क्षेत्र चलाते थे। बड़े कर्मठ थे। हम लोग चौका उठाने पर पहुँचे। पैदल चलने से, नग्न रहने से तथा युवावस्था के कारण उन दिनों जठराग्नि बहुत तीव्र हो गयी थी। इस समय अपने उस आहार को स्मरण करते हैं, तो आश्चर्य होता है। ब्रह्मचारीजी के यहाँ जाकर हमने भोजन की इच्छा प्रकट की। उनके किसी व्यक्ति ने हमें बहुत-सी खरी-खोटी बातें सुनायीं। उन दिनों हमें खरी-खोटी बातें सुनने का-सुनकर उन्हें सहन करने का अभ्यास हो गया था। अतः हमने कुछ भी नहीं कहा। चुप चाप सुनकर बगीचा में पेड़ों की छाया में जाकर बैठ गये। जब ब्रह्मचारीजी ने सुना तीन ब्रह्मचारी भूखे बैठे हैं और हमारे

आदमी ने उनका तिरस्कार किया है, तो वे आये, बड़ी नम्रता से बोले—"भैया, तुम धन्य हो, जो इस अवस्था में इतने सहनशील हो, मैं अपने आदमी के दुर्व्यवहार की क्षमा याचना करता हूँ। भोजन तैयार हो रहा है, प्रसाद पाकर ही जाना।"

हमने कहा—"महाराज! काहे की सहनशीलता है, कुत्ते को टुकडा दिखाओ। फिर उसमें डण्डा मारो तो चला जायगा। फिर टुकडा दिखा दो तो चला आवेगा। इसे सहनशीलता नहीं कहते हैं यह तो टुकड़े का लालच है। हम बैठे हैं प्रसाद पाकर ही जायँगे।"

उन्होंने कच्चे अमरूदों का साग और रोटियाँ बनवायीं। कच्चे अमरूद के साग में जैसा स्वाद उस दिन आया, वैसा स्वाद फिर जीवन भर कभी नहीं आया। वह साग का स्वाद नहीं था भूख का स्वाद था। प्रसाद पाकर चल दिये। स्वामी शंकरानन्दजी की कुटिया पर आये। स्वामीजी पहिले अलीगढ जिले की तहसील इगलास के पास बेंसवाँ ग्राम में धरणीधर तालाब के निकट रहते थे। उधर उनकी बडी ख्याति थी। एक सस्कृत पाठशाला स्थापित कर रखी थी। यज्ञयागादि भडारे भी कई कराये थे। पजाबी शरीर था। बहुत ही हृष्ट पुष्ट सुन्दर थे। वे कनखल के उदासी स्वामी केशवानन्दजी के शिष्य के शिष्य थे। महामहोपाध्याय महामडलेश्वर स्वामी केशवानन्दजी सकृस्त के ख्यातिनामा विद्वान् थे। सस्कृत के अच्छे कवि भी थे। उदासी सप्रदाय में उनकी बडी ख्याति थी। महाराजा नाभा तथा अन्य भी राजे महाराजे उनमें बडी श्रद्धा रखते थे। बड़े निर्भीक प्रत्युत्पन्नन मति तथा स्वतन्त्र विचार के थे। कनकल में उनका अपना सुन्दर आश्रम था। जब हम मुक्ति पीठ में रहकर गायत्री का अनुष्ठान कर रहे थे, तब वे प्रायः नित्य ही घूमते हुए हमारी कुटिया पर

आ जाते। घण्टों बातें करते रहते। मैं और इन्द्र दोनों थे। दोनों के ऊपर धारा प्रवाह श्लोक बनाते जाते। हमसे उनका सहज स्नेह हो गया था। कभी कोट, बूट और टोप लगाकर आते। कभी गेरुए कपड़े पहिनकर आते। कभी सिपाही साथ रखते, कभी सेना को साथ लेकर चलते। उन्होंने अपने ऊपर एक महाकाव्य की रचना की थी जिसका नाम था "केशव दिग्विजय" इन्द्र से उसकी प्रतिलिपि कराया करते। एक दिन क्रोध में आकर इन्द्र ने उनकी समस्त पांडुलिपि नहर में फेंक दीं।" इतने पर भी उन्होंने क्रोध नहीं किया। वे बड़े प्रत्युत्पन्न मति थे। विहार में उनके बहुत से शिष्य सेवक थे। वहाँ भी प्रायः जाते थे। उनकी प्रत्युत्पन्न मति की एक कथा मुझे याद आती है—

गाँवों में कुछ लोग 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' होते हैं। वे पढ़े लिखे तो बहुत होते नहीं। इधर-उधर से दश-बीस बातें सुन सुनाकर याद कर लेते हैं। जब कोई कथावाचक, उपदेशक आता है तो ग्रामीण लोगों पर अपनी विद्वत्ता का प्रभाव जमाने को वक्ता से उसके भाषण के बीच में ही ऐसे ऊट-पटांग प्रश्न कर देते हैं, जिसका वक्ता उत्तर न दे सके। तब वे लोगों से कहतेहैं—"ऐसे वक्ताओं को तो हम चुटकी में परास्त कर देते हैं। वे बात-बात में दरक (तर्क) करते हैं। ये वहाँ भाषण कर रहे थे। ऐसे ही एक आदमी ने इनके भाषण के ही बीच में पूछा—"स्वामीजी! हमारी एक शंका है?"

स्वामीजी ने कहा—"क्या शंका है?"

वह बोला—"नरसी मेहता के पिता का क्या नाम था?"

आप हँसे और बोले—"बस, इतनी-सी ही बात है। अच्छा, सुनो। नरसी के बाप का नाम करसी, करसी के बाप का नाम खरसी और खरसी के बाप का नाम गरसी है। इतना तो मुझे

कठस्थ है। इससे आगे जानना चाहो तो पोथी पत्रा खोलूँ ?"

उसने कहा—"नहीं महाराज ? हमारी शङ्का का समाधान हो गया। जब सभा समाप्त हो गयी तब स्वामीजी के एक शिष्य ने कहा—"महाराज ! नरसी मेहता के पिता का नाम करसी मेहता तो नहीं था।"

स्वामीजी न कहा—"नरसी मेहता के बाप का कुछ भी नाम हो, हमे तो वहाँ उसकी बोलती बन्द करनी थी।"

इसी का नाम सभा चातुरी है। वे शास्त्रार्थ मे अच्छे-अच्छे पडिता को परास्त कर देते थे। उनके एक बडे सीधे सादे शिष्य थे, हमारे स्वामी शकरानन्द जी उन्हीं के शिष्य थे। जब वेसवाँ में उन्होंने यज्ञ भडारा किया तब स्वामी केशवानन्दजी को भी बुलाया था और उनको हाथी पर बिठाकर उनकी शोभा यात्रा निकाली थी। तब गाँवों में हल्ला हो गया था, स्वामीजी के गुरु राजे महाराजा के भी गुरु हैं। स्वामी शङ्करानन्द जी ने हिन्दी में कई पुस्तकें भी लिखकर छपायीं। बडे गम्भीरशाली स्वस्थ महात्मा थे। बादामों का सेवन पजाबी होने से अधिक करते थे। उनकी एक भक्ता शिष्या कोई धन सम्पन्ना थी। उसी के आग्रह पर यहाँ गङ्गा तट पर कुटिया बनाकर रहते थे। कभी-कभी वेसवाँ भी जाते थे। उनसे बहुत देर बातें हुईं। वहाँ से रामघाट होते हुए हम कर्णवास पहुँचे।

कर्णवास गगा किनारे बडा सुन्दर स्थान है। पक्के घाट पर साधु महात्माओं के ठहरने को बहुत सी कुटियायें बनी हैं। पहिले साधुओं के लिये वहाँ एक अन्न क्षेत्र भी था। वहाँ अच्छे अच्छे महात्मा उन दिनों रहते थे। आर्य समाज के प्रवर्त्तक श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती भी यहाँ बहुत दिनों तक रहे हैं। वे भी गगाजी के अत्यन्त प्रेमी थे। गगा किनारे किनारे

वे भी कुछ दिनों तक नग्न होकर घूमते थे। इधर वे चिरकाल तक रहे।

कहते हैं—"दानवीर कर्ण ने इसे बसाया था और वे कुछ काल यहाँ रहे भी थे। कर्णवास उन दिनों साधुओं का गढ़ माना जाता था। अब पुराने महात्माओं में एक बंगाली स्वामी निर्मलानन्द ही शेष रह गये हैं।

कर्णवास से आगे भैरिया ग्राम है। उसे भृगु क्षेत्र कहते हैं। एक बंगाली स्वामी वहाँ रहते थे। जिनका योगपद था स्वामी रामानन्दजी पुरी। उन्हीं के शिष्य थे श्री स्वामी शास्त्रानन्दजी। जो स्वामीजी के शरीरान्त के पश्चात् भगवानपुर में रहने लगे थे। मैंने बंगाली स्वामीजी के दर्शन तो किये नहीं तब तक वे परलोकवासी हो चुके थे। उनकी पक्की कुटिया बनी थी। वहीं समीप में उन दिनों नौका में श्रीस्वामी अच्युत मुनि जी रहते थे। उन्हीं की प्रेरणा से बम्बई के किन्हीं रूइया सेठ ने साधुओं के लिये अन्न क्षेत्र खोल रखा था। दिन में साधुओं को भरपेट भिक्षा मिलती थी। रात्रि में आध-आध सेर दूध मिलता था। स्वामी जी की इच्छा वहाँ एक साधुओं के लिये वेदान्त विद्यालय खोलने की थी। इसीलिये पंजाब से वेदान्त के परम धुरन्धर विद्वान् स्वामी विश्वेश्वराश्रम जी को उन्होंने बुलाया था। हम जब भैरिया में पहुँचे इसके कुछ दिनों पूर्व ही स्वामीजी भैरिया आये थे। जैसी वे सेवा चाहते थे वैसी वहाँ उनकी सेवा होती नहीं थी। भिक्षा बारह बजे मिलती, स्वामीजी को इससे पहिले जलपान की आदत रही होगी। मुझसे कहा—"ब्रह्मचारी जी! क्या बतावें बारह बजे तक भिक्षा न मिलने से मेरे सिर में पीड़ा होने लगती है। पीछे स्वामीजी नरवर पाठशाला में रहकर

वेदान्त पढ़ाने लगे। खुरजा के सेठ ने उनकी भिक्षा का समुचित प्रबन्ध कर दिया था।

स्वामी अच्युत मुनि जी का पूर्वाश्रम का नाम पं० दौलतराम था, वे आर्य समाज के उपदेशक थे। और डी० ए० वी० कालेज में पढ़ाते भी थे। घर छोड़कर वे गृहस्थी वेष से ही अँगरखी पाइजामा पहिनकर गंगा किनारे-किनारे विचरते रहे। वे वेदान्त के प्रगाढ़ विद्वान् थे। पंचदशी उनका इष्ट ग्रन्थ था। वह उन्हें प्रायः कठस्थ था। सभी को इसे पढ़ाते थे। हमारे श्रीहरि बाबा जी भी पहिले-पहिल इन्हीं के पास आकर कुछ दिनों तक वेदान्त पढ़ते रहे। एक बार अत्यन्त रुग्ण होने पर इन्होंने अपने ही आप आतुर संन्यास ले लिया, तभी इनका नाम अच्युत मुनि पड़ा। खुरजे के सेठ गौरीशकरजी गोयनका बड़े भावुक थे। वे इनकी विद्वत्ता से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने ही एक सुन्दर बजरा इनके लिये बनवा दिया था। उसी मे ये गंगा के बीच में रहते थे। समाचार पत्र पढ़ने का इन्हें अत्यन्त व्यसन था। दो चार समाचार पत्र वे नित्य मँगाते। देश काल की परिस्थिति का इन्हें बहुत ज्ञान था। मैंने बुलन्दशहर जिले में ही कार्य किया था। अतः वे मेरे नाम से तो परिचित ही थे। इस अवस्था में हमें देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। बहुत देर तक देश सम्बन्धी बातें करते रहे। उसी समय बम्बई से 'कल्याण' मासिक पत्र निकलना आरम्भ हुआ था। उसका प्रथम अङ्क हमने उनके ही पास देखा था। पीछे वह गोरखपुर से निकलने लगा और उसने बड़ा ख्याति प्राप्त कर ली। आज वह धार्मिक पत्रों में सर्वश्रेष्ठ पत्र है। दो लाख के लगभग उसके ग्राहक हैं।

भेरिया से चलकर हम अनूपशहर में आये। अनूप शहर भी उन दिनों साधु सन्तों का अड्डा था। वहाँ गुजराती

के यहाँ से साधुओं को भिक्षा भी पर्याप्त मिलती थी। मैं तो यहाँ पहिले रह ही चुका था, यहीं चान्द्रायणादि व्रत भी किये थे। यहीं पहिले पहिल सेठ गौरीशङ्करजी की धर्मशाला में श्रीहरि बाबा जी के दर्शन हुए थे। अब तो उस पार श्रीहरि बाबाजी का बाँध बन चुका था। श्रीहरि बाबाजी की इस प्रान्त में सर्वत्र अत्यन्त ख्याति हो चुकी थी। जब बाँध बँध रहा था, तभी रामेश्वर ने मुझे काशी से बुलाया था, किन्तु मैं आ नहीं सका। बाँध श्रीहरि बाबाजी के पुरुषार्थ का परम प्रतीक है। इसकी विशेष चर्चा हम अगले प्रकरण में करेंगे।

हम काशी से तीन व्यक्ति चले थे। इन्द्र, गोविन्द और मैं। गोविन्द का घर का नाम सहसराम था। वह मध्यप्रदेश के बिलासपुर जिले की धमतरी तहसील का रहने वाला था। मेरे पास काशी में आया था। मैंने ही उसका नाम गोविंद रखा था। फिर वह मुझसे आज्ञा लेकर अनूपशहर में ही रह गया था। यहाँ वह बच्चों को पढ़ाता था सार्वजनिक सेवा करता था। जब मैं संग्रहणी का रोगी बनकर पुनः अनूपशहर में आकर रहने लगा था तब उसने मेरी अत्यन्त ही सेवा की थी। वह सेवा परायण व्यक्ति था। मेरे प्रति उसका अत्यन्त ही अनुराग था। मैं जहाँ भी उसे भेजता तुरन्त चला जाता। सुप्रसिद्ध बरेली के क्रान्तिकारी सेठ दामोदरस्वरूप मंसूरी में अत्यन्त रुग्ण थे। उनकी सेवा करने वाला कोई नहीं था। उन्होंने बड़ी दीनता से राजपुर में मुझसे कहा—"ब्रह्मचारी जी! मेरी सेवा करने वाला कोई नहीं है। इसका आप प्रबन्ध करा दें।" मैंने तुरन्त गोविन्द को उनकी सेवा में भेजा। किसी को भी आशा नहीं थी कि सेठ दामोदरस्वरूप बच जायेंगे। लगभग छः महीने गोविन्द ने उनकी प्राणपण से सेवा की और दामोदर स्वरूपजी अच्छे हो

गये। पीछे वे कांग्रेस में आ गये। अब पता नहीं वे जीवित हैं या नहीं।

अब स्मरण नहीं आता है, कि अनूपशहर से या कहीं दूसरे स्थान से हम गंगा किनारा छोड़कर वृन्दावन के दर्शनों को चले गये। उन दिनों वृन्दावन में मिर्जापुर वाली धर्मशाला मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था। पं० अमृतलाल जी चक्रवर्ती उसके सभापति थे, वे मुझसे पहिले निगमागम चन्द्रिका के सम्पादक रह चुके थे। महामना मालवीयजी भी उसमें पधारे थे। और भी हमारे अनेकों साहित्य बन्धु आये थे। पंडित हरिशंकर शर्मा, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बनारसी दास जी चतुर्वेदी; पं० लक्ष्मीधर जी वाजपेयी तथा प्रयाग के और भी बहुत से साहित्यकार वहाँ मिल गये। पं० हरिशंकरजी शर्मा हमारे इस वेश को देखकर गद्गद हो गये। बहुत देर तक हमारी यात्रा के सम्बन्ध में पूछते रहे। कैसे चलते हो, कितने चलते हैं। कैसे खाते हो, भिक्षा में कुछ कठिनायी तो नहीं होती, यहाँ तो भिक्षा माँगनी न पड़ी होगी। यहाँ तो आपको भोजन मिल ही गया होगा ?

वैसे यहाँ हमारे सब परिचित ही थे। स्वागतकारिणी समिति के सभापति पं० राधाचरण जी गोस्वामी थे! आचार्य अनन्तलाल गोस्वामी कार्य करते थे। गोस्वामी राधाचरण जी से बातें भी हुईं, किन्तु परिचित पुरुषों से भोजन की याञ्चा करने में हमें बड़ी लज्जा लगी। वहाँ किसी ने हमसे भोजन के लिये पूछा नहीं। इससे पूर्वदिन भी या तो भिक्षा मिली नहीं या अपर्याप्त मिली होगी। दिन भर तो भूख सहन कर ली। रात्रि मे जाकर रङ्गजी के बगीचा में सोये। हम दो ही थे, इन्द्र और मैं। जब रात्रि के दस बजे भूख ने अत्यन्त ही विह्वल

बनाया तब मैंने इन्द्र से कहा—"भैया! कहीं से कुछ माँगकर लाओ।" वह तुरन्त उठा और माँगने चल दिया। लगभग घंटे भर पश्चात् लौटकर आया। एक परामठा, कुछ खील उसे भिक्षा में मिली। उसी को बाँटकर खाकर बहुत-सा जल पीकर सो गये।

प्रातःकाल उठते ही भूख ने उग्ररूप धारण कर लिया। यमुना स्नान करके यमुना किनारे-किनारे चले। गुरुकुल में आये, गुरुकुल के बाहर कुछ अमरूद के पेड़ खड़े थे। उन पर कच्चे कठा अमरूद लगे थे। वे अमरूद बेचे नहीं जाते, एक प्रकार के जङ्गली थे। पत्थर की भाँति कड़े। हम पेड़ पर चढ़ गये और उन पत्थर के समान कड़े कच्चे अमरूदों को खाने लगे। पता नहीं पचास खाये या सौ, जब पेट भर गया और अमरूदों ने कंठ के नीचे उतरने से मना कर दिया उबकायी आने लगी तब हमने खाना बन्द किया और आगे चल दिये।

अब सोचता हूँ वे अमरूद कैसे खाये गये। आज एक भी अमरूद ऐसा किसी भी प्रकार गले से नीचे नहीं उतर सकता। शास्त्रों में जो कहा गया है "कष्टात् कष्टतरी क्षुधा।" इसका अनुभव तभी हुआ। "विभुक्षितः किं न करोति पापम्" भूखा क्या पाप नहीं करता—उसका अर्थ तभी समझा। यद्यपि हमने कोई पाप तो किया नहीं। वे अमरूद जङ्गली थे। उन्हें कोई भी खा सकता था। पकने पर गाँव के लड़के ही खाते। स्यात् वे पकने वाले थे नहीं। किन्तु ऐसे पत्थर से अमरूदों को जठराग्नि ने पचाया कैसे? उन दिनों पेट की अग्नि भी तीव्र से तीव्रतम बन गयी थी। जब मैं गुरुकुल वृन्दावन के वार्षिकोत्सव पर गोरक्षा सम्मेलन का सभापति बनकर गुरुकुल में गया था, तब मैंने अपना यह संस्मरण सबको सुनाया था। हमारे पं० हरिशंकर

जी तो सुनकर दुखी हुए होंगे। समय सब कुछ करा लेता है। "समय एव करोति बलाबलम्।"

वृन्दावन से लौटकर फिर हम गंगा किनारे आ गये। संस्मरण का स्थान भर गया। अब श्रीहरिबाबा के बाँध के संस्मरण पाठक पाठिकायें अगले संस्मरणों में सुन सकते हैं।

छप्पय

समय नचावत नाच समय ही ठाठ जमावै।
समय करै बलवान् समय ही अबल बनावै॥
समय नृपति हरिचन्द राज के सब सुख भोगत।
समय पाइ वे श्वपच-दास घनि मरघट रोवत॥
समय करावत त्याग है, समय समही करतु है।
समय खाय स्वादिष्ट फल, समय भूख ते मरतु है॥

झूसी संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)
माघ शु० पूर्णिमा २०२९ वि०

विनीत
प्रभुदत्त

ध्यानबिन्दु-उपनिषद्-सार (२)

[३०२]

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥*
(ध्या० बि० उ० ४१ मं०)

छप्पय

आसन, प्राणायाम तीसरो प्रत्याहारहु ।
चौथे पाँचे छठे धारणा ध्यान समाधिहु ॥
आसन जितने जीव पूर कुम्भक अरु रेचक ।
मूलादिक षटचक्र नाड़ि दश सुषुमन रक्षक ॥
स्वास प्रस्वास चलै सतत, हंस हंस जपि जीव नित ।
सहस बीस इक शतहु षट, मन्त्र माहिँ बुध देइँ चित ॥

जीव का परब्रह्म परमात्मा के साथ मिलन हो जाय, संयोग हो जाय, उसी का नाम योग है। वैसे देखा जाय, तो जीव और ब्रह्म का तो नित्य ही योग है, किन्तु बीच में जो यह माया आ गयी है, यह चैतन्य सच्चिदानन्द परब्रह्म को तो भ्रम में डाल नहीं सकती। यह जड़ अन्तःकरण में विभ्रम उत्पन्न कर देती है। चित्त की वृत्तियों को बिखेर देती है, चित्त नाना प्रकार की

---

* आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही योग के छः अङ्ग हैं।

वृत्तियों के साथ बिखर जाता है। उन बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध करना, उन्हें एकाग्र करना, एक सूत्र में बाँधे रखना यही योग कहलाता है। चित्त इतना चचल है, कि वह एक रस्सी से बँध नहीं सकता। उसको बाँधने के लिये ६ ६ रस्सियाँ चाहिये। उन रस्सियों के नाम हैं (१) आसन, (२) प्राणायाम, (३) प्रत्याहार, (४) धारणा, (५) ध्यान और (६) समाधि। इनके द्वारा वृत्तियों को एकाग्र करके सुषुम्ना द्वार से प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाय। उसे दशम द्वार से निकाल दे, तो फिर जीव ससार मे नहीं बँधता। वह बन्धन मुक्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्राण, मन और ब्रह्मचर्य इन तीनों में से किसी भी एक का निरोध हो जाने पर तीनों का ही निरोध हो जाता है, क्योंकि इन तीनों का परस्पर मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भौंहों का मध्यभाग, ललाट, नासिका का मूल स्थान, ये तीनों अमृत स्थान बताये गये हैं। ये ब्रह्म के आयतन हैं, घर हैं, निवास के स्थान हैं। योग के द्वारा इन स्थानों में प्राणों का निरोध करना चाहिये।'

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! योग किसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है।"

शौनक—'योग के कितने अङ्ग हैं?"

सूत—"योग के ६ अङ्ग हैं।"

शौनक—"कौन कौन से?"

सूतजी—"(१) आसन, (२) प्राणायाम, (३) प्रत्याहार, (४) धारणा, (५) ध्यान और (६) समाधि ये ही योग के ६-अङ्ग कहलाते हैं।"

शौनकजी—"आसन किसे कहते हैं?"

सूतजी—"स्थिर होकर सुषुम्ना को सीधी करके सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।"

शौनकजी—"आसन कितने हैं ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये, आसनों की कोई संख्या नहीं, जितने जीव हैं उतने ही प्रकार के आसन भी हैं। क्योंकि सभी जीव किसी-न-किसी ढँग से बैठते ही हैं। जिस ढँग से बैठे उसी का नाम आसन है। फिर भी आसनों में १-सिद्धासन, २-भद्रासन, ३-सिंहासन और ४-पद्मासन ये चार मुख्य आसन हैं। आसन से बैठकर सुषुम्ना में जो चक्र हैं उनका भेदन करे।"

शौनकजी—"कितने चक्र हैं ? और वे कहाँ कहाँ हैं ?"

सूतजी—"छः चक्र बताये हैं। पहिला आधार या मूलाधार चक्र है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र। मूलाधार चक्र गुदा में है। वह चार दल वाला है। दूसरा जो स्वाधिष्ठान चक्र है वह योनि स्थान में है, उसे काम रूप कहते हैं। गुदा से ऊपर योनि स्थान है उसके मध्य में पश्चिमाभिमुख लिङ्ग स्थित है। मस्तक में मणि के सदृश भिन्न है। उसे जो भली-भाँति जानता है, वही योगवित् है। तपाये हुए सुवर्ण के सदृश, विद्युत् की रेखा के समान चमकीला चौकोन है। मेढ्र के लिङ्ग के नीचे और अग्नि के ऊपर वह स्वाधिष्ठान चक्र है। इसे स्वाधिष्ठान क्यों कहते हैं ? स्व शब्द का अर्थ है प्राण। प्राण का अधिष्ठान होने से वह स्वाधिष्ठान कहलाता है। मेढ्र में-लिङ्ग-में यह चक्र है। मणि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्तु द्वारा यहीं से सम्पूर्ण शरीर में वायु जाती है, जिससे सम्पूर्ण शरीर वायु से पूरित होता है। तो पहिला चक्र गुदा में मूलाधार, दूसरा मेढ्र में अधिष्ठान चक्र और तीसरा नाभि में मणिपूरक चक्र है। यह बारह दल का चक्र है। पुण्य और पाप का नियन्त्रण करने वाला है। जीव संसार में

तभी तक भ्रमता रहता है, जब तक उसे तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। मेढ्र-लिङ्ग-से ऊपर और नाभि से नीचे कन्द स्थान है। वह कन्द पक्षी के अंडे के आकार का है। उसी कन्द से सहस्रों नाड़ियाँ निकलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती हैं। बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ यहाँ से निकलती हैं। इन बहत्तर हजार नाड़ियों में बहत्तर प्रधान नाड़ियाँ हैं। इनमें भी दश नाड़ी जो प्राणवाहिनी हैं वे मुख्य बतायी गयी हैं। उनके नाम (१) इडा, (२) पिङ्गला, (३) सुषुम्ना, (४) गान्धारी, (५) हस्ति जिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) अलम्बुसा, (९) कुहू और (१०) शङ्खिनी हैं। इस प्रकार यह मणिपूरकचक्र नाडीमयचक्र है। इनमें तीन नाड़ियाँ निरन्तर प्राणों का वहन करती हैं। इनके सोम, सूर्य और अग्नि ये तीन देवता हैं, और इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना ये इन तीनों के नाम हैं। इनमें बाईं ओर इडा है, दक्षिण ओर पिङ्गला है और इडा तथा पिङ्गला के बीच में सुषुम्ना स्थित है। बस, ये तीन ही प्राण के मार्ग हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण कितने हैं?"

सूतजी ने कहा—"प्राण दश हैं। उनके नाम (१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान और (५) व्यान, (६) नाग, (७) कूर्म, (८) कृकर, (९) देवदत्त और (१०) धनञ्जय। इनके आदि के पाँच तो प्राण हैं। नागादि पाँच वायु हैं। ये ही प्राण सहस्रों नाड़ियों में जीव रूप से वर्तते हैं। जहाँ प्राणों का संचार नहीं होता वह अंग शव-मृतक सदृश हो जाता है। यह जो प्राण अपान हैं-श्वास प्रश्वास हैं इसी के वश में जीव है। श्वास प्रश्वास बन्द हो जाय तो शरीर जीव रहित निर्जीव हो जाता है। ये श्वास प्रश्वास ऊपर नीचे आती जाती रहती हैं। बायें दायें से आती जाती हैं। चञ्चल होने के कारण ये दिखायी

नहीं देतीं। जैसे गेंद को भुजदण्ड से फेंकों तो वह ऊपर उछल जाती है। उसी प्रकार प्राण और अपान के फेंकते रहने से जीव को कभी विश्राम नहीं मिलता है। अपान से प्राण खींचा जाता है। और प्राण से अपान खींचा जाता है। जैसे पक्षी को सूतरी से बाँध दो। तो उड़कर वह फिर उसी डाल-पर आकर बैठ जाता है जहाँ उसकी रस्सी बँधी है। इसी प्रकार जीव प्राण अपान के बन्धन से बँधा हुआ है। इसीलिये निरन्तर प्राणों के निकलते रहने पर भी जीव निकलता नहीं। इस प्राण अपान के भेद को जो जानता है वही योगी है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण अपान का क्या जानना ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यह प्राण अपान क्या हैं ? मानों *दो अक्षर का मन्त्र है जीव उसे निरन्तर जपता रहता है।* अज्ञानी इस रहस्य को जानते नहीं इसीलिये संसार में बँधे रहते हैं। जो इस अजपा मन्त्र को जान लेता है वह बन्धन मुक्त हो जाता है।"

शौनकजी—"दो अक्षर वाला वह कौन-सा मन्त्र है जिसे जीव सोते जागते निरन्तर जपता रहता है ?"

सूतजी—"वह दो अक्षर का मन्त्र 'हंसः' इसी को उलट दो तो 'सोहं' हो जाता है। जब श्वास बाहर निकलती है तब हं शब्द करती निकलती है, जब प्रश्वास रूप से भीतर जाती है सकार शब्द करती हुई भीतर प्रवेश करती है। इसी प्रकार श्वास प्रश्वास रूप में-प्राण अपान रूप में-हंस-हंस इस मन्त्र को जीव सर्वदा ही जपता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—'एक दिन रात्रि में जीव इस हंस मन्त्र को कितनी बार जपता है ?"

सूतजी—"एक स्वस्थ व्यक्ति दिन रात्रि में इक्कीस सहस्र छैः

सौ मन्त्र सर्वदा जपता है। इसका नाम अजपा गायत्री है। यह गायत्री योगियों को मोक्ष देने वाली है। इसके संकल्प से ही मनुष्य पापों से छूट जाता है। इस प्रकार की विद्या, ऐसा जप, ऐसा पुण्य-प्रद कार्य न हुआ है न होगा ही। इसी मार्ग द्वारा निरामय ब्रह्म स्थान को जानना चाहिये। देखो मूलाधार चक्र में जो शिवलिंङ्ग है उसके साढ़े तीन चक्कर लगाकर अपने मुख से सुषुम्ना के द्वार को रोककर यह कुंडलिनी परमेश्वरी शक्ति प्रसुप्त हुई पडी हुई है। मन के द्वारा अग्नि और वायु से यह जगेगी। जगकर जैसे सुई छिद्र करके डोर के सहित वस्त्र के बाहर निकल आती है उसी प्रकार यह कुंडलिनी जगकर चक्रों के देवों सहित सुषुम्ना के द्वार से ऊपर की ओर चढने लगती है। जैसे घर की किवाडें बन्द हों, उनमें ताला लगा हो, कुंजी से ताला खोलकर किवाड़ों को खोलकर घर में प्रवेश किया जा सकता है, उसी प्रकार कुंडलिनी सुषुम्ना में द्वार को खोलकर कुंडलिनी उसमें प्रवेश करती है। अर्थात् मोक्ष के द्वार को विभेदन कर देती है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रसुप्त कुंडलिनी को जाग्रत कैसे करे?"

सूतजी ने कहा—'देखिये, भगवन्! दोनों हाथों को तो सम्पुटित कर ले और दृढतर पद्मासन को बाँध ले। वक्षःस्थल मे चिबुक को प्रगाढ़ता के साथ लगाले। और चित्त में उसी कुंडलिनी शक्ति का ध्यान करे। गुदा को सकुचित करके बारम्बार वायु को ऊपर की ओर खींचता रहे। ऊपर से भी शब्द सहित वायु को खींचकर उससे उदर को पूरक द्वारा भर ले। फिर शनैः शनैः प्राण को छोड़ता जाय। इस प्रकार चिरकाल तक प्राणायाम का अभ्यास करने से मनुष्य शक्ति के प्रभाव से अतुल बोध को प्राप्त कर लेगा। पद्मासन में स्थित योगी सुषुम्ना नाडी के द्वार को खोलकर उसमें प्राणों को पूरित कर लेता है और वायु को

कुंभक करके रोक लेता है, तो वह संसार बन्धन से सदा सर्वदा के लिये छूट जाता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

प्राणायाम करने से जो श्रम होता है, उस श्रम के कारण जो शरीर में स्वेद उत्पन्न हो जाता है, उस स्वेद को दोनों हाथों से शरीर में मल ले। प्राणायाम के अभ्यास करने वाले योगी को चाहिये, कि वह कड़वी, खट्टी और नमकीन वस्तुओं को न खाय। केवल दूध पीकर ही रहे, तो वह सुखी होता है।

जो योगपरायण योगसाधना करने वाला साधक योगी ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके तथा आहार को नियमित करके प्राणायाम का अभ्यास करता है वर्ष भर से ऊपर ही सिद्ध हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। कन्द स्थान से ऊपर कुंडलिनी शक्ति है, जो उस कुंडलिनी को जानकर उसे उत्थित करने का प्रयत्न करता है वह योगी सिद्धि का पात्र होता है। जिनका प्राण और अपान एक हो गया है। अर्थात् जिन्हें प्राणायाम की सिद्धि हो गयी है, उनका मलमूत्र क्षय हो जाता है, अर्थात् उदर में मल और मूत्र अत्यन्त ही न्यून मात्रा में बनता है। प्राणायाम का अभ्यास करने से और मूलबन्ध से (गुदा को संकुचित करने से) वृद्ध पुरुष भी युवा के सदृश हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मूलबन्ध किसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन! यह पार्ष्णिभाग है। दोनों नितम्बों के मध्य का भाग उसे संपीड़न करके जो योनि स्थान है—गुदा की तीन अवलियाँ हैं इन्हें सिकोड़कर ऊपर की ओर जितना भी संकुचित करके अपानवायु को ऊपर की ओर खींचने का ही नाम मूलबन्ध है। इससे समस्त नाड़ी जाल बँध जाता है। मूलबन्ध के अनन्तर उड्याण बन्ध को बाँधे।"

शौनकजी ने पूछा—"उड्याण बन्ध किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जैसे बड़ा पक्षी बिना विश्राम लिये आकाश में उड़ान लेता रहता है अर्थात् उड़ता रहता है—उसी को बाँध ले इसी का नाम उड्याण बन्ध है। पेट को जितना भीतर खींचकर ले जा सके उसे उतना ही खींचे। पीछे की ओर तानकर नाभि के ऊपर कर ले। यही उड्याण बन्ध कहलाता है। यह बन्ध मृत्यु रूप हाथी के मारने के लिये सिंह के सदृश है। अर्थात् उड्याण बन्ध सिद्ध हो जाने पर साधक मृत्युजित हो जाता है।

उड्याण बन्ध के अनन्तर जालन्धर बन्ध को बाँधे। जालन्धर इसलिये इसका नाम है कि शिरोजात अधोगामी भोजल को यह बाँधता है। इसके बाँधने का क्रम इस प्रकार है कि कानों को सकुचित करके चिबुक को वक्षःस्थल मे सटा ले। इससे होता क्या है, कि अमृत-वार्य-अधोगामी न होकर अग्नि में गिरता नहीं। और वायु का आना जाना भी रुक जाता है। यह जालन्धर बन्ध कर्मजन्य जा दुःखो की राशि है उसका नाश कर देता है। तीनों बन्धों का बाँधकर फिर खेचरी मुद्रा करे।"

शौनकजी ने पूछा—"खेचरी मुद्रा किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—'ब्रह्मन्! यह शरीर मलायतन है। मल का घर है। शरीर के चौदह स्थानो से (दो कानो के छिद्र, दो आखों के, दो नाक के, दोनों दाँतों की पंक्तियों से, दोनो ओठों से, जिह्वा के नीचे से, जिह्वा के ऊपर से और मल द्वार तथा मूत्र-द्वार से) निरन्तर मल रिसता रहता है। मुख मे मल निकलते रहने के छेः स्थान हैं। इससे जिह्वा के नीचे गाँठें पड़ जाती हैं, मल एकत्रित होने से जिह्वा मोटी हो जाती है, वह भीतर की ओर उलट कर जाती नहीं। वात पित्तादि दोषों से कपाल कुहर

संकुचित हो जाता है। विपरीत प्राणायाम से जिह्वा दोहन से मुखगत मल को निकालकर कफज अपक्वव्रणों को गलाकर जिह्वा को पतली और लम्बी बनावे। फिर जिह्वा को उलटकर कपाल कुहर में ले जाय और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य में स्थिर करले इसी का नाम खेचरी मुद्रा है। खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर कोई रोग शरीर में नहीं रहता, मृत्युजित हो जाता है। उसे क्षुधा, तृषा, निद्रा तथा मूर्च्छादि कोई भी बाधा कष्ट नहीं पहुँचाती। वह न तो रोगों द्वारा पीड़ित होता है और न कर्मों में लिपायमान होता है। वह काल के बन्धन में भी नहीं बँधता। ऐसी इस खेचरी मुद्रा की महिमा है। इसका नाम खेचरी क्यों है? इसलिये कि चित्त आकाश में विचरता रहता है, इसी प्रकार जिह्वा भी उलटकर आकाश में विचरती है। इसीलिये यह सिद्धों द्वारा नमस्कृत खेचरी मुद्रा कहलाती है। जिसकी लम्बी जिह्वा उलटकर कपाल कुहर में चली जाती है उसका कभी वीर्यपात नहीं होता। भले ही वह कामिनी का आलिंगन ही क्यों न किये हो। जब तक देह में बिन्दु-वीर्य-स्थित है, तब तक मृत्यु का भय हो ही नहीं सकता। क्योंकि मरण तो बिन्दुपात से ही होता है। बिन्दु धारण का ही नाम जीवन है। जब तक खेचरी मुद्रा बँधी है, तब तक बिन्दु का पतन हो ही नहीं सकता। मान लो बिन्दु गल भी जाय और वह योनि मंडल में गिर भी जाय। तो योनि मुद्रा-द्वारा फिर बँधकर आकर्षण द्वारा खिंचकर पुनः शरीर में आ जाता है। कैसे आ जाता है उसकी विधि बताते हैं।

बिन्दु दो प्रकार का होता है। एक सफेद रंग का तथा दूसरा लोहित-रक्त-वर्ण का। पांडर-सफेद-वर्ण के को शुक्र या वीर्य कहते हैं और लोहित-रक्त-वर्ण के को महारज कहते हैं। विद्रुममणि

के सदृश योनि स्थान में रहने वाला रज कहलाता है। और चन्द्रस्थान में बिन्दु रहता है, इन दोनों का एक्य हो जाय, तब तो कहना ही क्या है, किन्तु इनका एक्य होना बड़ा दुर्लभ है। क्योंकि बिन्दु शिव स्वरूप है और रज शक्ति स्वरूपा है। बिन्दु चन्द्रमा है और रज सूर्य है। उन दोनों का संमिश्रण हो जाय और वह संमिश्रित बिन्दु शरीर मे रम जाय, तो उससे दिव्य शरीर की प्राप्ति हो जाती है। वायु के द्वारा शक्ति के चालन से आकाश में प्रेरित जो रज है। वह सूर्य के द्वारा शुक्र मे एकत्व को प्राप्त होगी। उसी समिश्रण से दिव्य शरीर होता है। देखो, सफेद शुक्र चन्द्र स्वरूप है। रक्त वर्ण जो रज है वह सूर्य समन्वित है। दोनों जब मिल जाते हैं, सयुक्त हो जाते हैं, तो इन दोनों के समरसी भाव को जो यथार्थ रूप से जानता है वास्तव में वही योगवेत्ता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महामुद्रा किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! नाड़ियों में जो मलों का जाल भरा हुआ है, उन मलों के शोधन करने को तथा चन्द्र सूर्य जो शिव शक्ति स्वरूप हैं उनके संघटन को तथा रसों के सम्यक् प्रकार शोषण को ही महामुद्रा कहते हैं। इसे करे कैसे ? इसको बताते हैं—अपने हनु ठोढ़ी- को वक्षःस्थल में जमा ले और सुषिर—को निपीड़न-भींच-कर बायें पैर से योनि स्थान को दबाकर, दोनों हाथों को भली प्रकार फैलाकर तथा दक्षिण पैर को फैलाकर फिर श्वास खींचकर दोनों कुक्षियों में वायु को भर ले। कुछ देर ठहर कर फिर शनैः शनैः वायु का रेचन करे। इसी का नाम महामुद्रा है। यह महामुद्रा मनुष्यों के महापातकों का भी नाश करने वाली है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने मूलाधार, स्वा-

धिष्ठान और मणिपूरक चक्रों का विवरण बताया। प्रसंग वश अजपा गायत्री, मूलबन्ध उड्याण, बन्ध, जालंधर बन्ध, खेचरी मुद्रा, तथा महामुद्रा आदि का भी वर्णन किया। अब अन्य चक्रों का आत्मनिर्णय का व्याख्यान मैं आगे करूँगा। भगवन्! यह योग का बड़ा गूढ़ विषय है, इसका यथार्थ रहस्य तो जिन्होंने निरन्तर याग का अभ्यास करके सिद्धि प्राप्त की है, ऐसे योगी ही जानते हैं। मैंने तो आपके सम्मुख शास्त्रीय वचनों का अपनी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार जैसा बना वैसा भावार्थ ही कह दिया है। आगे का भाव आगे के प्रकरण में श्रवण करें।"

छप्पय

कुण्डलिनी जो सुप्त करै ताकूँ जाग्रत पुनि।
करिकें प्राणायाम शक्ति संचय करिलें मुनि॥
मूलबन्ध उड्यान बन्ध जालन्धर सुखकर।
करै खेचरी योग सुमुद्रा सब पातकहर॥
बिन्दु करै धारन सतत, जीवन धारन बिन्दु है।
श्वेत शुक्र रज रक्त है, रज रवि शुक्रहु इन्दु है॥

ध्यान बिन्दु-उपनिषद्-सार (३)

(३०३)

कर्णं सकोचन कृत्वा लिङ्ग सकोचन तथा ।
मूलाधारात्सुषुम्ना च पद्मतन्तु निभा शुभा ॥
अभूर्तो वर्तते नादो वीणादण्ड समुत्थितः ।
शङ्खनादादि भिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा ॥*

(ध्या० बि० उ० १०१–१०२ म०)

छप्पय

अष्ट कमल दल चक्र हिये जहँ जीव बिराजत ।
सुखी दुखी लघु दीर्घ जीव निज भाव बिचारत ॥
आठ दिशनि दल आठ प्रथम रहि भक्ति बढ़ावे ।
दूसर निद्रा होइ तृतिय द्वेषहु उपजावे ॥
चौथे में हिंसा अवहु, है विनोद क्रीड़ा पँचम ।
छटे सात वैराग्य सुख, दान कृपा होवे अठम ॥

शरीर के तीन अग हैं। एक तो शिर, दूसरा गुदा से लेकर कण्ठ पर्यन्त और तीसरे हाथ पैर। इनमें मुख्य रीढ़ है। शिर से

---

* कानों का तथा लिङ्ग का सकोचन करके मूलाधार से उत्पन्न कमल तन्तु की भाँति शुभा नाडी है उसमें अमूर्त (अबाहद) नाद होता है, ऐसा होता है जैसे वीणा के दण्ड से उत्थित नाद। फिर शङ्ख नादों के सदृश मध्यम ध्वनि से नाद होता है।

लेकर गुदा पर्यन्त जीवन का आधार है। हाथ पैरों को काट दें तो मनुष्य जीवित रह सकता है, किन्तु शिर को काट दें या उदर को काट दें तो जीवन रह नहीं सकता। क्योंकि शिर से लेकर गुदा पर्यन्त ही रीढ़ है। उसी रीढ़ में से सुषुम्ना गयी है, उसी में प्राण हैं। और प्राण ही जीवनाधार हैं। षट् चक्र गुदा से लेकर शिर पर्यन्त ही है। गुदा में चार दल वाला मूलाधार चक्र है, लिंग में छै दल वाला स्वादिष्ठान चक्र है। नाभि में बारह दल वाला मणिपूरक नाम का चक्र है, इनका वर्णन हो चुका। अब नाभि से ऊपर जो हैं, उनके सम्बंध में सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नाभि से ऊपर हृदय स्थान में एक अष्ट दल कमल है। उसे अनाहद चक्र कहते हैं। उस अष्ट दल कमल के मध्य में रेखा वलय करके जीवात्मा रहता है। वह ज्योति स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है। उसी जीवात्मा में सब कुछ प्रतिष्ठित है। वही सब कुछ जानकारी रखता है। वही सब कुछ कर्ता धर्ता है। वही सब अनुभव करता है। वही यह अनुभव करता है कि मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ। मैं काना हूँ मैं गंजा हूँ, मैं बहरा हूँ, मैं गूँगा हूँ। मैं पतला हूँ, मैं मोटा हूँ। इस प्रकार जीवात्मा स्वतन्त्र वाद से वर्तता है।"

अष्टदल कमल जो हृदय में है, जिसमें जीवात्मा वास करता है। उसका प्रथम दल पूर्वदिशा वाला श्वेतवर्ण का है, जब जीवात्मा उस प्रथम दल में विश्राम करता है, उस समय भक्ति पूर्वक मनुष्य की धर्म कार्यों में प्रवृत्ति होती है। दूसरा दल जो अग्निकोण में है, वह रक्तवर्ण का है, जब जीवात्मा इस आग्नेय दूसरे दल में विश्राम करता है, तब जीव की निद्रा तथा आलस्य में मति होती है। तीसरा दल जो दक्षिण दिशा वाला है और जो कृष्णवर्ण का है, जब जीवात्मा उसमें विश्राम करता है, तो उसकी

द्वेष तथा कोप में मति होती है। चौथा दल जो नैर्ऋत दिशा वाला दल है जो नीलवर्ण का है जब जीवात्मा उसमे विश्राम करता है, तब उसकी प्रवृत्ति पाप कर्मों में-हिंसा आदि में मति होती है। पाँचवाँ दल जो पश्चिम दिशा का दल है और जो स्फटिक मणि के वर्ण वाला है, जब जीवात्मा उसमें विश्राम करता है तो उसको मति क्रीडा विनोदादि में होती है। छटा-दल जो वायव्य कोण वाला है, जिसका वर्ण माणिक्य के सदृश है, यदि जीवात्मा उसमें विश्राम करता है, तो उसकी मति गमन मे, चलन में तथा वैराग्य में होती है। सातवाँ जो उत्तर दिशा का दल है, जिसका वर्ण पीले रग का है जब जीवात्मा उसमें विश्राम करता है, तब उसकी सुख शृङ्गार में मति होती है। आठवाँ जो ईशान कोण का दल है जिसका वर्ण वैडूर्य के सदृश है, जब जीवात्मा उसमें शयन करता है तो उसका मति दानादि पुण्य कर्मों में तथा कृपा में होती है। जब कमल की सन्धि सन्धियों में जीवात्मा को मति होती है, तब बात, पित्त, कफ सम्बन्धी महाव्याधियों का प्रकोप होता है। जब कमल के मध्य भाग में जीवात्मा बैठता है तब सब कुछ जानता है, गाता है, नृत्य करता है, पढता है, आनन्द करता है। उस कमल के चारों आर गोलवलय रूप में तीन रेखायें हैं। जब किसी कारण विशेष से नेत्र श्रम होता है, तो श्रम के निवारणार्थ जीवात्मा प्रथम रेखावलय को करके उसके बीच में स्नान करता है। वह प्रथम रेखा बन्धूक पुष्प के सदृश लाल वर्ण की है। उसमें जीवात्मा के जाने पर निद्रावस्था होती है। निद्रावस्था के मध्य में ही स्वप्नावस्था होती है। स्वप्नावस्था में तो जीवात्मा ने जो जाग्रत अवस्था में देखा है, सुना है, अनुमान किया है उन सभी सम्भव वार्ताओं की कल्पना वह करता है। उस कल्पना से उसे आदि श्रम होता है। तब उस

श्रम के मिटाने के लिये दूसरी रेखावलय को करके उसके मध्य में निमज्जन करता है। उस द्वितीय रेखावलय का वर्ण इन्द्रगोप के सदृश होता है,तब सुषुप्ति अवस्था हो जाती है। सुषुप्ति अवस्था में केवल परमेश्वर सम्बन्धिनी ही बुद्धि होती है। वह बुद्धि नित्य बोध स्वरूपा कही जाती है। इसके पश्चात् परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

तदनन्तर जीवात्मा तृतीय रेखावलय को करके उसके मध्यम निमज्जन करता है तो तुरीयावस्था होती है। तीसरी रेखावलय का वर्ण पद्मरागमणि के सदृश होता है। तुरीयावस्था केवल परमात्मा सम्बन्धिनी होती है। नित्य बोध स्वरूपा होती है। उस समय शनैः-शनैः संसार से बुद्धि उपराम को प्राप्त होती है धृति गृहीत हुए मन को आत्मसंस्थ करके कुछ भी चिन्तन नहीं करता, उस समय प्राण और अपान ऐक्य करके समस्त विश्व को आत्म स्वरूप के द्वारा लक्ष्य करके धारण करता है। अर्थात् समस्त विश्व को ब्रह्मस्वरूप देखता है। इस तुरीय अवस्था के अनन्तर भी एक तुरीयातीत अवस्था होती है, उसके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। उस अवस्था में सभी कुछ आनन्द स्वरूप ही दिखायी देता है। जीवात्मा द्वन्द्वातीत हो जाता है। वह जीव-न्मुक्त हो जाता है, प्रारब्ध कर्मानुसार जब तक शरीर रहता है, तब तक अभिमान शून्य होकर देह को धारण किये रहता है। प्रारब्ध की समाप्ति पर जब देह का अन्त हो जाता है, तब उस जीव को परमात्म स्वरूप की प्राप्ति होती है। इस प्रकरण से मोक्ष को प्राप्ति होती है। इसी का नाम आत्मदर्शन उपाय है। जैसे अष्टदल का हृद् कमल है, उसके ऊपर तीन गोल रेखायें हैं। उन रेखाओं के आगे चतुष्पथ समायुक्त एक महाद्वार है वह त्रिको-णार्ध गवायु के द्वारा स्थित है। अर्थात् तीन रेखायें हैं और उनमें

चारों ओर द्वार हैं वह अच्युत स्थान है। इस त्रिकोण स्थान से भी ऊपर सूक्ष्म जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के आवरण हैं उनका ध्यान करना चाहिये। प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान जो पाँच वायु हैं उनके बीजों को, वर्णों को और स्थानों को भी जान लेना चाहिये। जैसे प्राण वायु है इसका बीज यकार है। अर्थात् य बीज। वर्ण इसका नीला है, जैसे जल भरे हुए मेघ का वर्ण होता है। अपान का अग्निबीज रकार है। अर्थात् र बीज है। सूर्य के सदृश तेज युक्त वर्ण है। पृथ्वी रूप जो व्यान है, उसका लकार बीज है और उसका वर्ण बन्धूक-पुष्प के सदृश है। जीव बीज उदान है उसका वकार बीज है और उसका वर्ण शंख के सदृश शुभ्र है। आकाश स्वरूप जो समान वायु है उसका हकार बीज है और स्फटिकमणि के सदृश उसका वर्ण है। यह समान वायु हृदय, नाभि, नासिका, कर्ण, पैर के अँगूठा आदि स्थानों में रहता है। बहत्तर सहस्र जो नाड़ी वर्ग हैं, उन सबमें समान वायु वर्तता है। अष्टाईस करोड़ रोम कूप हैं उनमें भी यही संस्थित रहता है। जैसे सम्पूर्ण शरीर में समान वायु व्याप्त है, वैसे ही जीवात्मा भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। समान नाम का जो प्राण है, वह जैसे एक ही है, वैसे ही जीव भी एक ही है।

इसलिये रेचक, पूरक तथा कुम्भक तीनों को करके दृढ़चित्त तथा समाहित चित्त होकर शनैः शनैः समस्त प्राणों को आकृष्ट करके हृदय कमल के कटोरे में उन्हें एकत्रित करना चाहिये। प्राण और अपान को बाँधकर—अर्थात् एकत्रित करके प्रणव के साथ उसे मिला दे। फिर कुण्डलिनी को जाग्रत करे। कैसे जाग्रत करे? इसे बताते हैं।

कानों का संकोच करके फिर लिङ्ग का संकोच करे। मूल-

बन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध इन तीनों बन्धों को बाँधने से कान से लेकर गुदा पर्यन्त समस्त नाड़ी जाल बँध जाता है। सुषुम्ना के मुख को रोककर जो मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी शक्ति प्रसुप्त पड़ी हुई है उसे वायु के झटके से गुदा का संकोच करके जगावे। वह सुषुम्ना नाड़ी कमल नाल तन्तु के सदृश अत्यन्त ही सूक्ष्म है। इस प्रकार तीनों बन्ध बाँधने से, दृढ़ पद्मासन से बैठने पर कान तथा लिंग का संकोच करने पर एक अमूर्त अव्यक्त नाद होता है, उसे अनहदनाद कहते हैं। जैसे वीणा बजने पर उसके दण्ड में से जैसा नाद होता है वैसा ही नाद सुनायी देने लगता है, उस नाद पर ध्यान एकत्रित करे। उस नाद को एकाग्रता से सुनते-सुनते बीच में शंखादि के सदृश भी ध्वनि सुनायी देगी। व्योम के रन्ध्र में प्रविष्ट वायु का जैसे नाद होता है, वह मायूर नाद-मोर की वाणी के शब्द के सदृश नाद होता है। कपाल का जो कुहर है, उसके मध्य में चतुर्द्वार है, उसी के बीच में आत्मा सुशोभित होता है। वह ऐसे शोभित होता है जैसे आकाश में सूर्य शोभित होता है। दो कपाल धनुषाकार में जहाँ जुड़े हुए हैं उनके मध्य में ब्रह्मरन्ध्र की शक्ति से स्वात्माराम परमपुरुष परमात्मा को देखे। उनमें जब मन का लय हो जाता है, तब वहाँ एक रत्नों की ज्योत्स्ना के सदृश ज्योतिनाद दिखायी देता है। वही बिन्दु माहेश्वर पद है। उस बिन्दु में ही ध्यान दृढ़ हो जाता है, तो साधक कृत कृत्य हो जाता है। उस पद को जो सम्यक प्रकार से जान लेता है, वह पुरुष कैवल्य-मुक्ति-पद को प्राप्त कर लेता है। यही ध्यानबिन्दु उपनिषद् है। इसी को ध्यानबिन्दु उपनिषद् कहा गया है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने आपसे ध्यानबिन्दु

उपनिषद् कही, अब आप ब्रह्मविद्योपनिषद्-सार श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

कर्ण लिङ्ग सकोचि बन्ध बाँधे तीनिनिकूँ।
मूलाधार जु चक्र जगावै तहँ सुख मनकूँ॥
कमल तन्तु सम सूक्ष्म नाद अनहद सुनि पावै।
वीणा दण्ड समान शख धुनि मध्य सुनावै॥
कुहर कपाल दिखै तहाँ, आत्मा रवि सम नभ दिखत।
होवै मन लय तासु में, पद कैवल्यहिं नर मिलत॥

इति ध्यानबिन्दु-उपनिषद् सार
समाप्त

ब्रह्मविद्या-उपनिषद्-सार

[३०४]

प्रसादात् ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः।
रहस्य ब्रह्मविद्याया ध्रुवाग्नि स प्रचक्षते ॥*

(ब्र० वि० उ० १ म०)

छप्पय

विष्णु कृपा तैं कहूँ ब्रह्मविद्याहु उपनिषद।
महिमा तामें प्रणव हंस जपिवेकी विधि सब॥
नाद अनाहद सुनै मृत्यु बिजयी बनि जावै।
गायत्री नित जपै हंस अजपा कहलावै॥
हंस विष्णु, अज, महेश्वर, हंस विश्व में व्याप्त है।
हंस एक ही सार है, यह सिद्धान्त सु-आप्त है॥

हंस, सोऽहं, ओऽम्, ओम्, राम ये सब एक ही मन्त्र हैं। दो को एक में मिला देने का ही नाम योग है। जब तक द्वित्व है। दो हैं तब तक व्यवहार है। दोनों मिलकर योग से जहाँ एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं, उसी स्थिति का नाम व्यवहार शून्यता है। हृङ् हरणे धातु से वि और अव उपसर्ग लगाने से व्यवहार शब्द बनता है। यह शब्द विवाद के अर्थ में, न्याय, पण, स्थिति,

---

* उन अद्भुत कर्मा परब्रह्म श्रीविष्णु भगवान् की कृपा से ध्रुवाग्नि ब्रह्मविद्या के रहस्य को अब कहते हैं।

कर्म क्रिया आदि अर्थों में भी व्यवहृत होता है। वास्तव में देखा जाय तो सभी प्राणी एक ही समान हैं एक ही समान खाते-पीते, उठते-बैठते तथा बोलते चालते हैं। कौन मित्र है कौन शत्रु है यह तो व्यवहार से ही जाना जाता है। स्मृतियों में, नीति शास्त्रों मे व्यवहार कैसा करना चाहिये इन्हीं सबका वर्णन है। व्यावहारिक वर्तना, व्यवहार को शुद्ध रखना या बिगाड़ देना यही सांसारिकता है। जो व्यवहार से परे हो जाते हैं, वे या तो संसार में मूर्ख कहलाते हैं या गुणातीत लोग व्यवहार रहित होते हैं। दो के बीच मे व्यवहार वर्ता जाता है। अपने से व्यावहारिकता वर्तने का अवसर ही नहीं। और विद्यायें व्यावहारिक विद्यायें हैं। एकमात्र ब्रह्म विद्या ही अव्यवहारिक विद्या है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप ब्रह्मविद्या उपनिषद् के सार को श्रवण कीजिये। भगवान् की कृपा से इस विद्या का कथन हो सकता है। पहिले तो इसी बात पर विचार करो कि ब्रह्म क्या है? प्रणव या ओंकार इसी को ब्रह्मवादी महर्षिगण ब्रह्म कहते हैं। यह प्रणव तो चैतन्य है। इसका शरीर क्या है? सुनो कहते हैं। प्रणव में अ, उ और म ये तीन अक्षर हैं। ये तीन भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीनों देवों के, तीनों वेदों, तीनों अग्नियों, तीनों लोकों आदि के प्रतीक हैं। ऋक् वेद गार्हपत्य अग्नि, भूलोक तथा ब्रह्माजी ये सब प्रणव के अकार के शरीर हैं। यजुर्वेद, अन्तरिक्ष लोक, दक्षिणाग्नि तथा विष्णुदेव ये उकार की देह हैं। सामवेद, स्वर्गलोक, आहवनीय अग्नि, तथा महेश्वर ये प्रणव के मकार के शरीर हैं। अकार सूर्यमंडल में शरत मध्य में स्थित है। उकार चन्द्रमंडल सकाम में स्थित है, मकार अग्निलोक में विधूम होकर विद्युत की भाँति स्थित है। अ, उ और म ये तीनों सोम, सूर्य और अग्नि

स्वरूप हैं। प्रणव के ऊपर जो ँ अर्ध मात्रा है, वह दीपक के जैसे शिखा ऊपर होती है वैसे वह ऊपर रहती है। कमलनाल तन्तु से भी सूक्ष्म वह शिखारूपा परानाड़ी है,वह सूर्य के संकास में स्थित है। सूर्य मंडल को भेदन करने वाली अपरानाड़ी है। बहत्तर सहस्र नाड़ियों का भेदन करके, सबके ऊपर सबके सिर पर सब प्राणियों को अभय का वरदान देने वाली होकर रहती है। जैसे कांसे के घंटे का निनाद बजने के अनन्तर शान्ति में जाकर लीन हो जाता है, वैसे ही ओंकार की ध्वनि भी अन्त में शान्ति में जाकर विलीन हो जाती है। ओंकार शब्द भी जहाँ जाकर विलीन हो जाता है उसी को परब्रह्म कहते हैं। जिसकी बुद्धि उस परब्रह्म में लीन हो जाती है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। वायु, प्राण तथा आकाश इस प्रकार तीन जीव की संज्ञा कही हैं। वही जीव प्राण कहलाता है। बाल के अग्रभाग को काट लो उसके भी सौ भाग करलो वैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव है। नाभिस्थान में विश्वात्मा अत्यन्त निर्मल जो शुद्ध तत्त्व है वह स्थित है, वह सूर्य के सदृश चमकता है। उसकी रश्मियाँ-किरणें सम्पूर्ण कल्याणकारी हैं।

देखिये, हंस एक परम मन्त्र है। इसमें सकार और हकार दो शब्द हैं। इस दो शब्द वाले मन्त्र को जीव सदा सर्वदा जपता रहता है। यह मन्त्र विषय व्याप्ति से वर्जित है, नाभि के रन्ध्र से निकलने वाला है, उसमें से यह निष्कल विद्या निकली है, जैसे दूध के मथने पर घृत निकल आता है। कारण जो आत्मा है उससे युक्त होकर पंचप्राणों के आयाम से चारों कलाओं से समायुक्त होकर हृदय में स्थित होकर जीव को भ्रमाता रहता है। देह में जो गोलक है उसे क्षीर दण्ड से ताड़ित किया जाय तब उसमें से घृत रूप सार निकलेगा।

इस शरीर में शीघ्र ही अविश्रान्त जीवरूप महापक्षी निवास करता है। जब तक यह जीव श्वास लेता है तब तक निष्कल बना रहता है। किन्तु शरीर बन्धन में बँधा रहता है। एक अशरीरी आकाश में रहने वाला भी निष्कल ब्रह्म है। जब यह देहस्थ निष्कल उस आकाशस्थ निष्कल का ध्यान करता है तब सदा सदा के लिये भवबन्धन से छूट जाता है। हृदय में एक अनाहत ध्वनि हस हस इस प्रकार की होती रहती है। वही स्वप्रकाश चिदानन्द स्वरूप हस कहलाता है। उसका अनुभव कैसे हो ? प्राणायाम तीन प्रकार का होता है रेचक, पूरक कुंभक। तो रेचक और पूरक दोनो का तो परित्याग कर दे। विज्ञ पुरुष केवल कुंभक में ही स्थित हो जाय। नाभि स्थान में एक कन्द है उसमें प्राण और अपान को सम करके फिर मस्तक से जो निरन्तर अमृत बिन्दु गिरते रहते हैं, उन्हें आदर के साथ ध्यान से पान करे। नाभि के मध्यभाग मे एक महादेव स्थित हैं, वे दीप के सदृश प्रज्वलित हो रहे हैं। उनका अमृत बिन्दुओं से अभिसिंचन करे। फिर हस हस जो यह महामन्त्र है, इसका जप करे। इस प्रकार केवल कुंभक करके हस हस इस महामन्त्र का मन से जप करता रहता है, वह वृद्धावस्था, मृत्यु तथा समस्त रोगों से विमुक्त हो जाता है। इस हस रूपा अजपा गायत्री का जो प्रति दिन नियमित जप करता है। उसे अणिमा महिमा आदि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उसे ईश्वरत्व की भी प्राप्ति होती है जो इसके अभ्यास में निरन्तर रहता है। इस मार्ग द्वारा बहुत से साधक नित्यत्व को प्राप्त हो चुके हैं। इस हस विद्या को छोडकर लोक में नित्यत्व प्राप्ति का दूसरा कोई साधन है ही नहीं। जो इस परमेश्वरी हस नाम वाली महाविद्या को दे, उस महापुरुष दासत्व पराबुद्धि से सदा करते रहना चाहिये। शिष्य को

कि गुरुदेव शुभ, अशुभ या दूसरी कैसी-भी आज्ञा दें उसे परम सन्तोष संयुक्त होकर अवश्य ही पालन करना चाहिये, जो गुरु सुश्रूषु पुरुष इस हंसविद्या को प्राप्त कर लेगा, तो इसे प्राप्त करके आत्मा द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लेगा। वह निश्चय ही ब्रह्म को जानकर देह के सम्बन्धों से विनिर्मुक्त हो जायगा। देह से उत्पन्न जितने भी सम्बन्ध हैं जैसे वर्ण, आश्रम, वेद, शास्त्रादि इन सबको ब्रह्मवेत्ता पैर की धूलि के समान त्याग दे। जिसे अपने कल्याण की कामना हो, वह गुरुभक्ति को सदा करता रहे। श्रुति बार-बार कहती है गुरु ही हरि हैं। श्रुति जो कहती है, वही सब परमार्थ है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। श्रुति के जो विरुद्ध है, वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। जो अप्रामाणिक बात है वह तो अनर्थकारी होती है। देह में जो स्थित है उसे तो सकल जानना चाहिये। जो देह वर्जित तत्त्व है वही निष्कल है। वह निष्कल आप्तपुरुषों के उपदेश द्वारा ही जाना जा सकता है, तभी उसकी सबमें सर्वदृष्टि हो जायगी। हंस हंस का जो जप करता है वह परमपद को प्राप्त होता है क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव यह हंस मन्त्र ही हैं। गुरु के मुख द्वारा इस सर्वतोमुख प्रत्यक्ष मन्त्र को प्राप्त करे। यह मन्त्र पुरुष के भीतर बाहर इस प्रकार रम रहा है जैसे तिलों में तैल और पुष्पों में गन्ध रमी रहती है। जैसे लोक में द्रव्य को प्राप्त करके उसके रखने की वस्तु को छोड़ देते हैं वैसे ही ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को देखकर ज्ञान को भी छोड़ दे। पुष्प सकल है, उसकी गन्ध निष्कल है, उसी प्रकार वृक्ष सकल है उसकी छाया निष्कल है। इसी भाँति सकल तथा निष्कलभाव सर्वत्र ही व्यवस्थित है। जैसे उपाय तो सकल है उसका उपेय पदार्थ निष्कल है। सकल में सकल भाव होता है, निष्कल में निष्कल

भाव। देखो, ओंकार मे एक मात्रा, दो मात्रा तथा तीन मात्रायें हैं। अर्धमात्रा ँ जो अर्धचन्द्र बिन्दु ऊपर है वही परात्पर पराविद्या है।

ये जो पाँच देवता हैं ये सब सकल हैं। कलायुक्त हैं। वे पाँच देव कौन-कौन हैं? (१) हृदय स्थान में ब्रह्मा, (२) कण्ठ में विष्णु, (३) तालु मध्य में रुद्र, (४) ललाट में महेश्वर और (५) नासिका के अग्रभाग में अच्युत। इन पाँचों के अन्त में जो है वही परमपद है। इस परमतत्त्व से पर कोई भी तत्त्व नहीं है, ऐसा समस्त शास्त्रों का निर्णय है। नासिका के अग्रभाग से बारह अगुल पर देह से अतीत परम पद है। उसे ही सबका अन्तिम जानना चाहिये वही वह प्रभु व्याप्त है।

अभ्यास करने पर मन अन्यत्र निक्षिप्त रहे, चक्षु अन्यत्र पतित रहें तो भी योगियों का योग अविच्छिन्न चलता रहता है। क्योंकि वे इन्द्रियों से तथा मन से ऊपर उठ जाते हैं। यह परम-गुह्य परमशुभ रहस्य है, इससे परतर तथा इससे पवित्र कुछ भी नहीं है। शुद्ध ज्ञान रूप अमृत को प्राप्त करके परमाक्षर का निर्णय करना चाहिये। यह गुह्य से भी गुह्य गोप्य से भी गोप्य है. इसे प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

इस विद्या को सब किसी को नहीं देना चाहिये। आज्ञाकारी भक्त पुत्र का, विनीत तथा गुरु में ईश्वर भाव रखने वाले शिष्य को जो नित्य ही भक्ति परायण हो, उन्हें ही देना चाहिये। जो अपात्र को इस विद्या को देता है वह देने वाला तो नरक मे जाता है और जिस अपात्र को यह विद्या दी है उसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इस विद्या को जानने वाला गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वान-प्रस्थ अथवा सन्यासी कोई भी क्यों न हो, किसी भी आश्रम में स्थित क्यों न हो वह ज्ञानी परमाक्षर विद् ही बना रहता है।

विषयी विषयासक्त भी हो तो वह देहान्तर में शुभ हो जाता है। यदि यह विद्या मरते समय भी प्राप्त हो जाय तो कैसा भी पापी क्यों न हो, उसका कल्याण हो जाता है। ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्महत्यादि पापों से, अश्वमेधादि यज्ञों के पुण्यों से लिप्त नहीं होता। वह पाप पुण्यों से ऊपर उठ जाता है। इस विद्या के प्रेरणा करने वाले चोदक, बोधक और मोक्षद तीन प्रकार के आचार्य होते हैं। चोदक तो मार्ग दर्शन कराता है, बोधक स्थान का स्वयं आचरण करके बोध कराता है और मोक्षद सबसे परे है, वह परमतत्व को जानकर परम ही हो जाता है। हे गौतम! अब तुम संक्षेप में प्रत्यक्ष देह यजन को श्रवण करो।

जिस पुरुष ने प्रत्यक्ष यजन कर लिया है वह पुरुष अव्यय शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है। देह में जो निष्कल विन्दु है उसे वह स्वयं ही देख लेता है। दक्षिणायन और उत्तरायण दोनों अयनों में विषुव में—मार्ग को जानने वाला सदा उस निष्कल बिंदु को देखता है। पहिले रेचक, पूरक और कुम्भक दोनों प्राणायामों को करके फिर हंस इन दोनों शब्दों को उच्चारण करके क्रम पूर्वक इनकी अर्चना करनी चाहिये। नमस्कार के योग से मुद्रा से आरम्भ करके अर्चना करनी चाहिये। सूर्य के ग्रहण में प्रत्यक्ष यजन बताया है। सायुज्य मुक्ति ज्ञान से होती है। जैसे पानी में पानी मिलकर एक हो जाता है। जिन्होंने योगाभ्यास में परिश्रम किया है उनके ही हृदय में ये गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिये योग को ग्रहण करने से समस्त दुःखों का बहिष्कार हो जाता है। योगध्यान को सदा करने से ज्ञान की प्राप्ति होगी और ज्ञान से तन्मयता प्राप्त होगी। इसलिये यह जो परम मन्त्र 'हंस' है इसका उच्चारण करना चाहिये। यह अच्युत हंस समस्त प्राणियों के देह मध्य में सदा स्थित रहता है। हंस यह

ही परम मन्त्र है। हस ही परमशक्ति है। हस ही वाक्य वादी है। परुद्र, परात्पर, सर्वदेव में मध्यस्थ, महेश्वर, पृथ्वी आदि शिवान्त देव, अकारादि समस्त वर्ण, कूटात शब्द ये सब हस ही हैं मातृका व्यवस्थित मन्त्र ही आदेश उपदेश करना चाहिये। मातृका रहित मन्त्र का कभी भी उपदेश न करे। हस मन्त्र की ज्योति अनुपम है, देव के मध्य मे व्यस्थित है। दक्षिणामुख का आश्रय लेकर ज्ञान मुद्रा का कल्पना करनी चाहिये। हस मन्त्र का अनुस्मरण करते हुए सदा समाधि करनी चाहिये। उस समय ऐसा स्मरण करके कि हम रूप भगवान् दिव्य निर्मल स्फटिक के आकार के दिव्य रूप वाले हैं। शरीर के मध्य देश में ज्ञान मुद्रात्म रूप पर हस अवस्थित हैं।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पाँच प्राण पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त क्रियाशक्ति के बल से उद्यत हैं और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये पाँच ज्ञानइन्द्रियों से युक्त ज्ञान शक्ति के बल से उद्यत हैं। शक्ति के मध्य में तो पावक है और नाभि चक्र में रवि स्थित हैं। जिस साधक ने बन्धों को मुद्राओं को कर लिया है और नासिका के अग्रभाग में अवलोकन का, तथा अपने नेत्रों में त्राटक का अभ्यास कर लिया वही योग को प्राप्त कर सकता है।

प्रणव ओंकार ही ब्रह्म है, वही सर्वत्र व्याप्त है, इस बात को बताते हैं। ओंकार में जो अ, उ और म् ये तीन अक्षर हैं इनमें से अकार तो वन्हि स्वरूप है, वह वन्हि स्थान में स्थित है और मकार दोनों भौंहों के मध्य मे स्थित होकर प्राण शक्ति को प्रबोधित करता है। अकार ब्रह्म ग्रन्थि है, उकार विष्णु ग्रन्थि है और वह हृदय में विराजमान है। मकार रुद्र ग्रन्थि है और वह

भौंहों के मध्य में स्थित है। यह अक्षर वायु से विभेद को प्राप्त होता है।

अकार में ब्रह्माजी संस्थित हैं, उकार विष्णु के आश्रित है। मकार में रुद्र भगवान् संस्थित हैं। इनके अन्त में परात्पर परब्रह्म हैं।

कंठ को संकुचित करके इसके द्वारा आदि नाड़ी–सुषुम्ना इसकी शक्ति से संकुचित हो जाती है। रसना को पीड्यमान करके यह शोडशी कला से युक्त होकर ऊर्ध्वगामिनी हो जाय। अर्थात् खेचरीमुद्रा करके त्रिकुटी तीन प्रकार की है। (१) गोलाख (२) निखर, और (३) त्रिशङ्क वज्र यही ओंकार स्वरूप है, स्वभावतः तो भौंहों के मध्य में जो द्विदल चक्र है वह अधोनाल होता है। किन्तु ध्यानावस्था में वह ऊर्ध्वनाल करके ध्यान किया जाता है, यह त्रिकुटी अवस्था दोनों भौंहों के बीच में भ्रुवोमुख है। यहाँ कण्ठ को भींचकर कुण्डलिनी को चलाना चाहिये। शशि मण्डल में प्राणों का भेदन करना चाहिये। यह कैसे भेदन होगा। न तो पूरक करे, न रेचक करे, वज्र कुम्भक करे। अर्थात् प्राणों को भीतर ही भीतर रोक ले। किन्तु सावधान रहे कि वायु ऊपर के सात छेदों से अथवा नीचे के दो छेदों से निकलने न पावे। इसलिये नौओं द्वारों को बाँध ले। सुमन तो पवनारूढ़ है और सराग निर्गुण ब्रह्म है, ब्रह्मस्थान जो नाभि देश है वही नाद है। वहाँ अमृत की वर्षा करने वाली माकिनी शक्ति है। वह षट्चक्र मण्डल का उद्धार करके ज्ञान दीप को प्रकाशित करती है। वहाँ पर जो सर्वभूत स्थित सर्वेश नित्य देव हैं, उनकी पूजा करनी चाहिये। उन्हें अपनी आत्मा का ही रूप देखना चाहिये। वे ज्ञान रूप हैं, निरामय हैं, वे निरञ्जन सर्वव्यापी दिव्य रूप से दीखते हैं। वहीं पर 'हंस

हस' यह वाक्य प्राणियों के देह को आश्रय करके होता रहता है प्राण और अपान की ग्रन्थि ही अजपा जाप कहलाती है। अर्थात् 'ह' से बाहर प्राण जाता है और सः से फिर भीतर आता है। इन प्राण और अपान का ग्रन्थि से ही हसः हसः यह अजपा जाप होता रहता है। दिन रात्रि में इक्कीस सहस्र छे सौ साँस चलती हैं उतने ही मन्त्र का जप होता रहता है। जैसे मरा मरा बार बार जपने से राम राम हो जाता है। वैसे ही हसः हसः कहने से सोह सोह हो जाता है। दोनों भौंहों के मध्य में एक ज्योतिर्लिङ्ग है। वह लिंग पूर्व भाग में तो अधोमुखी है और पश्चिम शिखायुक्त है। यति को चाहिये ऐसी ज्योतिर्लिङ्ग का नित्य ही ध्यान करना चाहिये।

ऐसी चिन्तना करे कि मैं जीव नहीं अच्युत हूँ। मैं अचिन्त्य हूँ। मैं अतर्क्य, अज, सप्राण, अकाय, अनङ्ग, अभय, शब्द, रूप, रस गन्ध से रहित अदादि, अमृत, अक्षय, अलिंग, अजर, अकल, अप्राण, अमूक, अर्थात् समस्त प्रपञ्च से परे हूँ। सब गुणों से, काल से रहित हूँ।

मैं आनन्द स्वरूप, आत्म चैतन्य स्वरूप हूँ। मैं केवल कवि, कर्माध्यक्ष, करणाधिप, निरबध, निष्क्रिय, निरञ्जन, निर्मल, निर्विकार, द्वैत, अद्वैत से वर्जित, सच्चिदानन्द मात्र हूँ। मैं सर्व-द्रष्टा सर्वानुभू हूँ। जो इस तत्त्व को जान लेता है वास्तव में वही पुरुष है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आप से ब्रह्मविद्या उपनिषद् का सार कहा, अब आप योगतत्त्व उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

—०—

छप्पय

हंस हंस जो जपै अन्त सोऽहं है जावै।
मैं ही हूँ सरबस्व ध्यान में जाई ध्यावै॥
मैं सब गुन तैं परे देश अरु काल रहित हूँ।
मैं ही निर्गुन निराकार निर्लेप बिदित हूँ॥
मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, नित्य निरंजन निरामय।
मै ही सतचित रूप हूँ, मैं अच्युत आनन्दमय॥

इति ब्रह्मविद्या उपनिषद् सार समाप्त

योगतत्त्व-उपनिषद्-सार (१)

[३०५]

योगतत्त्व प्रवक्ष्यामि योगिनांहित काम्यया।
यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्व पापैः प्रमुच्यते ॥*

(यो० त० उ० १ म०)

छप्पय

योगतत्त्व उपनिषद्-सार अब योग सुनाऊँ।
मन्त्र योग लय योग और हठ योग बताऊँ॥
मन्त्र जाप तें सिद्धि होइ मन लय हु जासु में।
हठ युत करिकें योग अग है आठ तासु में॥
नियम और यम आसनहु, प्राणायाम प्रतार हू।
करै धारणा ध्यान पुनि, तब ही होइ समाधि हू॥

योग के सम्बन्ध की विभिन्न ऋषियों द्वारा कही हुई बहुत सी उपनिषदें हैं, उन सबमें कुछ हेर फेर के साथ प्रायः एक-सी ही बातें हैं। जैसे किसी महापुरुष के अनेक लेखकों ने जीवन चरित लिखे हों, तो उनमें कुछ घटनाओं के हेर फेर से प्रायः एक-सी ही बातें होंगी। किसी पुण्य तीर्थ की यात्रा के वृत्तान्त बहुत से लेखकों ने लिखे हों, तो कुछ वर्णनों को छोड़कर स्थान

---

* अब मैं योगियों के हित की कामना के लिये योगतत्त्व को कहता हूँ जिस तत्त्व को सुनकर तथा पढ़कर पुरुष सभी प्रकार के पापों से सदा-सदा के लिये छूट जाता है।

सम्बन्धी सभी बातें एक सी ही होंगी। इसी प्रकार योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अङ्ग हैं। सभी योग सम्बंधी उपनिषदों में किसी न किसी रूप मे उनका वर्णन आवेगा ही। किसी ने किसी मार्ग पर विशेष बल दिया है, किसी ने किसी मार्ग का सर्वश्रेष्ठ निरूपण किया है। सबका अन्तिम उद्देश्य बिखरी हुई। चित्त की वृत्तियों को किसी एक में लगा देना ही है। अन्य योग की उपनिषदों के सदृश ही योगतत्त्वोपनिषद् में व्यवहारिक रूप में सरलता से योग का वर्णन किया गया है—

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! योग तत्त्वोपनिषद् का सहनाववतु यह शान्ति पाठ है। यह है तो लगभग १४२ मन्त्रों की छोटी-सी ही उपनिषद् है, किन्तु बहुत ही महत्वपूर्ण है, इसे भगवान् विष्णु ने लोक पितामह ब्रह्माजी से कहा है। एक बार ब्रह्माजी महायोगी भगवान् विष्णु के समीप गये। उन्होंने भगवान् को प्रणाम करके कहा—"भगवन्! मुझे अष्टाङ्ग सहित योगतत्त्व को समझाइये।"

ब्रह्माजी की बात सुनकर हृषीकेश भगवान् विष्णु उनसे बोले—"देखो, ब्रह्माजी! सभी संसारी जीव दुःख सुख रूप माया के जाल में फँसे हुए हैं। उन्हें इस जाल से छुड़ाने वाला माया के जाल को काटने वाला, जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधियों को नाश करने वाला, मृत्यु से बचाने वाला और मोक्ष करने वाला यह योग मार्ग है। कैवल्य परमपद नाना मार्गों से दुष्प्राप्य है। अन्य मार्गों में बुद्धि शास्त्र जालों में विमोहित हो जाती है। यह जो मुक्ति का मार्ग है वह अनिर्वाच्य मार्ग है। इसे कहने में देवता भी समर्थ नहीं हैं। देखो, भैया! यह तो स्वानुभव स्वरूप स्वात्म-प्रकाश रूप मार्ग है, यह शास्त्रों द्वारा भला, भली-भाँति कैसे

प्रकाशित किया जा सकता है ? वास्तव मे देखा जाय, तो यह पुरुष निष्कल है, निर्मल, शान्त, सर्वातीत तथा निरामय है। ऐसा होकर भी यह जीव रूप होने पर पुण्य पाप के फलों से लिपायमान हो जाता है। वास्तव में तो यह परमात्मपद वाच्य नित्य है, यह जीव भाव को कैसे प्राप्त हो गया ?"

यह सर्वभाव पदातीत, निरंजन तथा ज्ञानरूप है। जैसे जल में वायु से स्फुरण होता है, तरगें उठने लगती हैं, इसी प्रकार इस देह में अहङ्कार चैतन्य की अहकृति उठने से यह जीवता को प्राप्त हो जाता है। यह शरार पचभूतों का पिंड है, सप्त धातुओं से और तीनों गुणों से बँधा हुआ है। दुःख सुख से समायुक्त है इसी के कारण इसमें जीव भाव आ जाता है। इसी से जीव सज्ञा हो जाती है। वास्तव मे देखा जाय, तो यह विशुद्ध परमात्म तत्त्व ही है।

जब यह देह में अहंकृति के कारण जीव भाव को प्राप्त हो जाता है, तब इसमें काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रज, जन्म, मृत्यु, कृपणता, शोक, तन्द्रा, क्षुधा, पिपासा, तृष्णा, लज्जा, भय, दुःख, विषाद तथा हर्ष आदि भावों का प्रादुर्भाव हो जाता है। यदि इन सब दोषों से यह विनिर्मुक्त हो जाय तो वही जीव 'केवल' परब्रह्म स्वरूप हो जाता है। ये दोष जीव के कैसे छूटे, इसी का मैं तुम्हें उपाय बताया हूँ।

वास्तव में मुक्ति ज्ञान से होती है, किन्तु योग से हीन ज्ञान से मुक्ति कैसे हो सकती है ? और योग भी यदि ज्ञान से हीन हो तो मोक्ष कर्म में कैसे सक्षम हो सकता है। इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि योग और ज्ञान दोनों का ही दृढ़ता के साथ अभ्यास करे। वास्तव में यह ससार है क्या ? अज्ञान का ही नाम ससार है। ज्ञान होने पर जीव का ससार बन्धन कट जाता है, वह मुक्त

हो जाता है। तो सबसे पहिले ज्ञान को ही सुनो। ज्ञेय जो पदार्थ है, वह जिसके द्वारा जाना जाय उसी का नाम ज्ञान है। ज्ञान के द्वारा जिसने अपना परमपद, कैवल्य, निष्कल, निर्मल रूप जान लिया है, जो यह समझ गया है, कि मैं जीव नहीं हूँ। मैं उत्पत्ति, स्थिति, संहार स्फूर्ति ज्ञान विवर्जित हूँ, मैं साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, वह जीवत्व से छूट जाता है। जिसके द्वारा ऐसा बोध हो जाय, वही ज्ञान है। यह मैंने तुम्हें संक्षेप में ज्ञान की परिभाषा बता दी। अब योग के सम्बन्ध में भी सुनो।

वास्तव में देखा जाय, तो योग तो एक ही वस्तु है। जीव का परमात्मा के साथ संयोग होना, किन्तु व्यवहार के कारण योग के अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे मन्त्र द्वारा योग करने से मन्त्र-योग, लय द्वारा करने से लययोग, हठ द्वारा करने से हठयोग। इसी प्रकार व्यवहार से योग के भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं। योग की आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति ये अवस्थायें सर्वत्र बतायी गयी हैं। इन सबके संक्षेप में लक्षण बताते हैं। अच्छा, पहिले मन्त्रयोग के ही लक्षण सुनो।

१—मन्त्रयोग—मातृकादि से युक्त जो भी मन्त्र हो, उस मंत्र को बारह वर्षों तक जपता ही रहे। तो केवल मन्त्र जप से ही अणिमा महिमा आदि सिद्धियों सहित उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जो अधम कोटि के अल्प बुद्धि वाले साधक हैं, उनके लिये यह मन्त्रयोग साधन सेवन करने योग्य है। अब लययोग के लक्षण सुनो।

२—लययोग—लययोग उसका नाम है, कि ध्यान के द्वारा चित्त को परमात्मा में लय कर देना। इसके करोड़ों प्रकार हैं। जिस किसी भी साधन से परमात्मा में चित्त को लीन कर दिया जाय। चलते हुए, बैठे हुए, सोते हुए, खाते हुए सर्वावस्था में उस

निष्कल ईश्वर का ध्यान निरन्तर बना रहे। चित्त उसी में लव-लीन रहे इसी का नाम लययोग है। अब हठयोग के सम्बन्ध में भी सुनो।

३—हठयोग—हठयोग आठ प्रकार का बताया है। १-यम, २-नियम, ३-आसन, ४ प्राणायाम, ५-प्रत्याहार, ६-धारणा, ७-भ्रूमध्य में हरि का ध्यान और ८-समतावस्था अर्थात् समाधि। इसी का नाम साष्टाङ्ग योग है। इनके साथ महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, उड्डियान और मूल ये तीन बन्ध, दीर्घ प्रणव सधान, सिद्धान्त श्रवण और वज्रोली, चामरोली, सहजोली ये तीन प्रकार की कही गयी हैं। अब इन सबके भी सक्षेप में क्रमशः लक्षणों को सुनो।

१-यम—किसे कहते हैं? वैसे तो अनेक स्थानों में यम अनेक प्रकार के बताये हैं, किन्तु यम मुख्य रूप से एक ही प्रकार का है। लघ्वाहार। आहार अल्प अति सूक्ष्म करे।

२-नियम—अहिंसा यही एक मुख्य नियम है।

३-आसन—आसन भी बहुत हैं, किन्तु उनमें १-सिद्धासन, २-पद्मासन, ३-सिंहासन, और ४-भद्रासन ये चार बैठने के मुख्य आसन हैं। यम नियम तो सर्वदा पालनीय ही हैं। योग का आरम्भ आसनों से ही होता है। आरम्भ में बहुत से विघ्न आते हैं। अभ्यास काल में सबसे पहिला विघ्न तो आलस्य है, बकवाद कत्थन, यह दूसरा विघ्न है। धूर्त खल पुरुषों की सगति तीसरा विघ्न है। भाँति भाँति के क्षुद्र मन्त्रों को स्मशान में जाकर सिद्ध करना यह भी योग का विघ्न है। धन की इच्छा, स्त्री प्रसग, इन्द्रिय लोलुपता ये सब मृग तृष्णामय विघ्न हैं। साधक को चाहिये इन सबको जानकर पुण्य प्रभाव से इन विघ्नों को त्याग दे। आसन के पश्चात् प्राणायाम करे।

४-प्राणायाम—पद्मासन से बैठकर स्वस्थ चित्त होकर प्राणायाम का अभ्यास करे। प्राणायाम के निमित्त एक सुशोभन मठ बनाकर उसमें प्राणायाम का अभ्यास करे! मठ का द्वार सूक्ष्म हो, उसमें छिद्र न हों। सुन्दरता के साथ गौ के गोबर से लीपा गया हो। अथवा सफेद चूना से प्रयत्न पूर्वक पोता गया हो। उसमें मक्खी, मच्छर, खटमल तथा कीड़े मकोड़े न हों। नित्य प्रति उसमें झाड़ू लगायी जाय, जल का छिड़काव किया जाय। गूगल आदि को धूप से सुवासित किया जाय। फिर उसमें प्राणायाम करने के लिये आसन बिछावै। आसन न तो बहुत ऊँचा ही हो न बहुत नीचा ही हो। सम भूमि पर आसन बिछावै। सबसे नीचे कुशासन बिछावै, उसके ऊपर काले मृग की मृगछाला बिछावै और मृगछाला के ऊपर सूती या ऊनी वस्त्र का आसन बिछावै। उस आसन पर मेधावी साधक पद्मासन से बैठ जाय। शरीर को सीधा करके सरलता से रखे। हाथ जोड़कर इष्ट देवता को प्रणाम करे। फिर दायें हाथ के अंगूठा से पिंगला नाड़ी का निरोध करके इडा के द्वारा पेट में पूरक के द्वारा वायु को शनैः-शनैः पूरित करे अर्थात् बाहर से स्वास खींचकर भीतर वायु को भरे। जितनी वायु भर सके, उतनी भरकर फिर कुम्भक करे, अर्थात् उस वायु को भीतर रोके। फिर पिंगला नाड़ी से शनैः-शनै वायु को रेचन करे। अर्थात् वायु को भीतर से बाहर निकाल दे। वेग से एक साथ शीघ्रता से नहीं निकाले। फिर पिंगला द्वारा पूरक करके शनैः शनैः उदर को वायु से पूर्ण कर ले। अविरोध से धारण करे और निकाले। जिस नाड़ी से वायु भरे तो उससे न निकाला करे। जिससे निकाले उसी से न भरे। अविरोध से वायु को भरना चाहिये। इडा से वायु शनैः-शनैः सोलह मात्रा तक भरता रहे। अर्थात् पूरक सोलह मात्रा तक

करे। फिर जब वायु पेट में कुम्भ-घड़ा की भाँति भर जाय तो उसे चौसठ मात्रा समय तक रोके रहे अर्थात् कुम्भक को चौसठ मात्रा समय तक करे। फिर भीतर की वायु को शनैः-शनैः पिंगला नाडी से बत्तीस मात्रा समय मे रेचन करे। अर्थात् रेचक प्राणायाम बत्तीस मात्रा समय तक करे। अब प्रश्न यह है, कि मात्रा का समय कितना होता है ? मात्रा का प्रमाण बताते हैं।

अपनी जानु के चारों ओर न बहुत वेग के साथ, न बहुत शनैः शनैः ही साधारण रीति से चुटकी बजाते हुए जितनी देर मे घुमावे उतने काल को मात्रा कहते हैं। अर्थात् पूरक जितने समय तक करे उसके चौगुने समय तक कुम्भक करे और दुगुने समय तक रेचक करे। इडा नाडी मे वायु को भरे, कुछ देर कुम्भक करके पिंगला से रेचक कर अथवा इसके विपर्यय करे अर्थात् पिंगला से वायु को पूरण करे और कुम्भक करके इडा से उसे रेचन करे—निकाल दे।

प्राणायाम प्रातःकाल, मध्यान्ह काल, सायकाल और अर्ध रात्रि में चार बार करना चाहिये। शनैः शनैः अस्सी मात्रा तक बढाते बढाते ले जाना चाहिये। अर्थात् पूरक अस्सी मात्रा, कुम्भक ३२० मात्रा और रेचक १६० मात्रा पर पहुँच जायँ। इस प्रकार तीन मास के अभ्यास से नाडी शुद्ध हो जायगी। अब प्रश्न यह उठता है, कि इस साधक की नाडी शुद्ध हो गयी इसका क्या प्रमाण ? उसके बाह्य चिन्ह क्या हैं, जिससे जाना जाय कि नाडियों की शुद्धि हो गयी ? इस सम्बन्ध में बताते हैं, कि उसके चार लक्षण हैं। १—नाडी शुद्धि होने पर पहला चिन्ह तो यह है,कि शरीर फूल की भाँति हलका हो जाता है। शरीर में लघुता आ जाती है। २—दूसरा चिन्ह यह है, मुख मण्डल पर प्रकार की दीप्ति—प्रभा छटकने लगती है। ३—तीसरा

यह कि जठराग्नि दीप्त हो जाती है अर्थात् भूख खुलकर लगने लगती है। ४–चौथा चिन्ह यह है कि शरीर कृश हो जाता है। ये चिन्ह जिस शरीर में अभ्यास करते-करते आ जायँ मानों उसकी नाड़ीशुद्धि हो गयी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बहुत से लोग ऐसे होते हैं, कि जीवन भर अभ्यास करते रहते हैं, उनकी नाड़ीशुद्धि ही नहीं होती। आप कहते हैं प्राणायाम के अभ्यास से तीन ही महीने में नाड़ीशुद्धि हो जाती है, यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! योग मार्ग के सभी अधिकारी नहीं होते। योग के साधकों का शरीर जन्म से ही भिन्न होता है। वैसे सर्वसाधारण लोगों का शरीर रोगों का घर होता है। रोगी पुरुष योग के उत्तम अधिकारी नहीं माने जाते। रोगी पुरुष प्राणायाम का अभ्यास करेगा, तो सबसे पहिले तो प्राणायाम के अभ्यास से शनैः-शनैः उसके सब रोग दूर होने लगेंगे। प्राणायाम से बात, पित्त तथा कफ सम्बन्धी रोग शनैः-शनैः दूर होते हैं। पूर्वजन्म कृत पाप ही रोग का रूप रखकर प्राणियों को पीड़ा देते हैं, उनकी शान्ति औषधि से तथा जप, होम, दान और देवार्चन से होती है। शरीर में पूर्वजन्म कृत बहुत से पाप हैं, तो उसकी नाड़ीशुद्धि बहुत दिनों में होगी। यदि क्षीण पाप निरोग विशुद्ध शरीर है, तो तीन महीने के प्राणायाम अभ्यास से ही नाड़ी शुद्धि हो जायगी।

योग के अभ्यास करने वाले साधक को चाहिये कि योग में विघ्न करने वाले आहार का परित्याग कर दे। योगाभ्यास करने वाले को लवण, सरसों का तेल, खट्टी वस्तु, बहुत उष्ण वस्तु, रूखी वस्तुयें, तीक्ष्ण–कड़वी वस्तुएँ, (जीवन्ती, बथुआ, मूलयाची, चौलाई और पुनर्नवा इन पाँच हरे सागों को छोड़कर)

सब प्रकार के हरे शाक, तथा हींग इन वस्तुओं को नहीं खाना चाहिये। उसे अग्नि में बहुत तापना नहीं चाहिये, स्त्री प्रसग न करना चाहिये और बहुत पैदल यात्रा नहीं करनी चाहिये। प्रातः स्नान का आग्रह न करे, उपवास न करे तथा और भी काया को क्लेश कारक कार्यों को न करे।

अभ्यास काल में पहिले पहिल केवल घृत तथा दुग्ध का ही सेवन करे। फिर गेहूँ, मूँग, शाली चावलों का भात इनका भी सेवन करे। ये सब योगवृद्धि करने वाले पदार्थ हैं। इस पर शनैः शनैः अभ्यास से चिरकाल तक वायु रोकने में समर्थ हो जायगा। अर्थात् उसे केवल कुम्भक सिद्ध होने लगेगी। जब केवल कुम्भक सिद्ध हो जाय, तो फिर पूरक और रेचक की आवश्यकता ही नहीं रहती। जिसे केवल कुम्भक सिद्ध हो गयी, उसके लिये तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्राणायाम के अभ्यास में सर्वप्रथम शरीर से स्वेद-पसीना-निकलता है। उस स्वेद को वस्त्र से पोंछे नहीं, उसे शरीर में ही मल ले। स्वेद के पश्चात अभ्यास करते करते शरीर में कँप-कँपी उठने लगती है। शरीर में आसन पर बैठे बैठे ही कम्प होने लगता है। कम्प के पश्चात् दादुरी गति होने लगता है। अर्थात् शरीर मेढक की भाँति उछलने लगता है। आसन लगा हुआ ही शरीर अपने आप उछल उछलकर चलने लगता है। इससे और अधिक अभ्यास करने से पद्मासनस्थ शरीर भूमि को छोडकर अपने आप ही निराधार आकाश में स्थित होने लगता है। फिर अति मानुष चेष्टायें होने लगती हैं। जैसे आकाश में उडना, वृक्षों को उखाड लेना आदि आदि। परन्तु योगाभ्यास करने वाले साधक को चाहिये कि अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन न करे। प्रदर्शन करने से वह आजीविका उपार्जन का व्यापार बन जाता है। योगाभ्य—

करने वाला योगी अल्प या बहुत दुःख से व्यथित नहीं होता। योगी का मूत्र तथा मल बहुत ही स्वल्प होता है, उसके फोड़ा, फुन्सी, कफ, लार, शरीर में पसीना, मलादि में दुर्गन्ध यह कुछ भी नहीं होते। उसका शरीर दिव्य हो जाता है।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से उसके शरीर में अपार बल उत्पन्न हो जाता है। तब उसे भूचर सिद्धि हो जाती है। पृथ्वी पर चलने वाले जितने जीव जन्तु हैं उन पर विजय प्राप्त करने की उसमें सामर्थ्य आ जाती है। उसमें इतनी शक्ति हो जाती है कि उसके सम्मुख व्याघ्र, आठ पैर वाला सिंह को भी मारने वाला शरभ, मदमत्त हाथी, गवय, सिंह कोई भी बलवान् से बलवान् जन्तु क्यों न आ जाय, वह केवल हस्त से ताड़न भर कर दे इसी से वह तुरन्त मर जायगा। उसका स्वरूप कामदेव के सदृश सुन्दर हो जाता है। उस समय उसे एक बात का ध्यान रखना चाहिये। उसके सुन्दर स्वरूप को देखकर, उसके सौंदर्य के वशीभूत होकर बहुत-सी स्त्रियाँ उससे संगम की आकांक्षा करने लगती हैं। यदि उस समय वह उनके चक्कर में फँस गया, उसने उनके साथ संगम कर लिया, तो उसका बिन्दु क्षय हो जायगा। वह अपने मार्ग से च्युत हो जायगा। इसलिये स्त्रियों के संग को सर्वथा त्यागकर आदर के सहित सदा साधन में ही तत्पर रहे। बिन्दुपात एक प्रकार का मरण है। बिन्दु धारण से योगी के शरीर से सुगन्ध आने लगती है।

इसके अनन्तर फिर एकान्त में बैठकर उच्चस्वर से प्रणव का जप करे। उच्चस्वर से प्रणव का बार-बार उच्चारण करने से पूर्वार्जित पापों का नाश हो जाता है। क्योंकि यह जो प्रणव मन्त्र है समस्त विघ्नों का हरण करने वाला है, सभी दोषों का नाश करने वाला है। इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से

सिद्धियों का आरम्भ सम्भव होता है। प्राणायाम के अनन्तर फिर हठावस्था से अभ्यास करने के कारण ही इस योग को हठयोग कहते हैं। जो पवनाभ्यास तत्पर अर्थात् प्राणायाम मे लगे हुए साधक हैं, वे प्राण-अपान, मन बुद्धि और जीवात्मा परमात्मा इन सबमें परस्पर के अविरोध से एकता घटित हो जाती है। उसी अवस्था का नाम हठावस्था है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यम, नियम, और प्राणायाम तक जो हठावस्था है, उसका वर्णन आप से किया, अब प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन चारों अङ्गों का वर्णन आगे करूँगा। ऋषियो! यह विषय केवल कथन करने का नहीं है, यह अभ्यास करने का विषय है। अभ्यास करते करते आगे की स्थिति साधक के सम्मुख स्वयं ही समुपस्थित होती जाती है। अतः श्रद्धा के साथ शास्त्रीय विधि से अभ्यास आरम्भ कर दे। अन्तरिक्ष मे बहुत से सिद्ध योगी विचरण करते रहते हैं। योग्य साधक अधिकारी को देखकर वे स्वयं साधक के समीप शिक्षा देने के लिये आ जाते हैं। साधक में साधन की दृढता और संसारी विषयों से विराग होना चाहिये। ऐसे साधक को शिक्षा देने के लिये सिद्ध गुरुजन स्वयं लालायित रहते हैं। जैसे ध्रुवजी अपने पिता के नगर से निरस्त होकर दृढ़ता धारण करके साधन के लिये जब घर से निकल कर वन को चल दिये, तब अपने आप ही नारदजी उन्हें शिक्षा देने के लिये आ गये और मन्त्रोपदेश देकर चले गये। साधक जितना शिक्षा पाने को लालायित रहता है, उसे शिक्षा देने को अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले सिद्ध पुरुष भी उतने ही लालायित रहते हैं। ये जो व्यापारी कान फूँका गुरु हैं, ये तो धन के [illegible] होते हैं। इनसे परमार्थ की सिद्धि सम्भव नहीं। [illegible]

को साधन में बड़ी सतर्कता वर्तनी चाहिये। आगे हठावस्था के चिन्हों का कथन किया जायगा। उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लघु अहार यम, नियम–अहिंसा, आसन बहुतक।
सिद्ध, पद्म अरु सिंह, पद्म ये मुख्य चतुष्टक॥
पूरक रेचक कुम्भ प्राण संयम कहलावें।
केवल कुम्भक श्रेष्ठ सबनि में योगि बतावें॥
सिद्ध प्राण संयम जबहिं, लघुता, दीप्ति, क्षुधा बढ़ै।
कृशता होवै गन्धन्तन, साधक अभ्यासहिं चढ़ै॥

योगतत्त्व-उपनिषद्-सार (२)

(३०६)

समाधिः समतावस्था जीवात्म परमात्मनोः ।
यदि स्वदेहमुत्सृष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥*
(यो० त० उ० १०७ म०)

छप्पय

केवल कुंभक करै सुप्रत्याहार कहावै ।
जो जो देखे सुने आतमा ताकूँ भावै ॥
करै धारणा सगुण सिद्धि अणिमादिक मिलि हैं ।
निर्गुण को करि ध्यान समाधी तुरत मिलति हैं ॥
द्वादश दिन तक समाधी, जीवन्मुक्तहु होइ नर ।
समता कही समाधि है, जीवब्रह्म सम ध्यान धर ॥

यम नियम लघु आहार अहिंसा जो इस उपनिषद् में बताये हैं ये तो योगियों को तथा सभी मार्गों के परामार्थ पथिकों को सदा पालनीय हैं ही। योग का आरंभ आसनों से होता है। आसन और प्राणायाम ये बाह्य साधन हैं। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों संयम कहलाते हैं। ये आभ्यन्तर साधन हैं।

---

*जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था का नाम ही समाधि है। समाधि अवस्था प्राप्त योगी यदि अपने शरीर का त्याग करना चाहे तो स्वयं स्वेच्छा से ही अपने शरीर का परित्याग कर दे।

प्रत्याहार बाह्य और आभ्यन्तर दोनों को जोड़ने वाला अंग है। अर्थात् प्राणायाम से जब धारणा में प्रवेश करेगा, तो प्रत्याहार के ही द्वारा करेगा। प्रति आहार का तात्पर्य यह है, कि मन जहाँ-जहाँ भी अपनी चंचलता से जाय, वहाँ से उसे बार-बार लौटा लौटाकर आत्मा में लगावे, धारणा को दृढ़ बनाने के निमित्त मन को बल पूर्वक लगावे।

पिछले अध्याय में यम, नियम, आसन और प्राणायाम व वर्णन हो चुका। अब प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि सम्बन्ध में सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब हठावस्था शरीर में ह जाय, तो उसके क्या चिन्ह होते हैं–इसे बताते हैं। पहिले ज प्राणायाम का चार बार अभ्यास करने को बताया है। उसमें से चतुर्थांश को ग्रहण करे। चाहें दिन में या सायंकाल में एक याममात्र एक प्रहर अभ्यास करे। दिन में केवल एक बार पूरक रेचक को त्यागकर केवल कुंभक को ही करे। केवल कुंभक करके इन्द्रियों को उनके शब्द, रूपादि विषयों से हटाकर मन को आत्मा में लगावे उसी का नाम प्रत्याहरण है। योगी कुंभक ही करके स्वाँसों को रोक ले, मन को इधर-उधर न जाने दे इसी को प्रत्याहार कहते हैं। चक्षु से जो जो देखे उस उसमें आत्मा की ही भावना करे।

इसी प्रकार कान से जो जो सुने, नासिका से जो जो सूँघे, जिह्वा से जो जो रस ले, त्वचा से जो जो स्पर्श करे, इन सबमें आत्मा की भावना करे। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो चेष्टा करे वह सब सुखकर है ऐसी भावना करे। इस प्रकार एक प्रहर (३ घंटा) योगी अतन्द्रित होकर अभ्यास करे। इस प्रकार अभ्यास करने से योगी के चित्त में विशेष सामर्थ्य आ जायगी।

वह कितनी भी दूर की बात को सुन सकता है, कितनी भी दूर की वस्तु को देख सकता है, क्षण भर में दूर से दूर जा सकता है। उसको वाकसिद्धि हो जाती है, वह जो कह देता है वही हो जाता है। वह जैसा चाहे वैसा रूप बना सकता है, वह बैठा बैठा जहाँ से चाहे तुरन्त अदृश्य हो सकता है। उसके मल-मूत्र को यदि लोहे के ऊपर लेपन कर दो तो वह तुरन्त सुवर्ण बन जायगा। योग के निरंतर अभ्यास से उसकी आकाश में उड़ने की शक्ति हो जाती है। इसलिये योगी को सतत योग सिद्धि के निमित्त प्रयत्न करते रहना चाहिये। ये जितनी सिद्धियाँ ऊपर गिनायी हैं। ये सब महासिद्धि जो मोक्ष है उसमें विघ्न करने वाली हैं। इसलिये योगी को जिस किसी को अपनी योग की सामर्थ्य दिखानी नहीं चाहिये। प्रदर्शन करने से योग की सिद्धियाँ चली जाती हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! योग की सिद्धियाँ दिखाने से तो लोगों को योग मार्ग में उत्साह मिलता है। प्रदर्शन तो प्रचार का साधन है, इससे सिद्धियाँ चली क्यों जाती हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्राणी प्रदर्शन पद, प्रतिष्ठा और पैसा के निमित्त करता है। मोक्ष मार्ग में तीनों ही विघ्न हैं। जब प्रदर्शन करने से शक्ति क्षीण होने लगती है तो फिर मनुष्य दम्भ करने लगता है। दम्भ उसे कहते हैं कि हम पंडित तो हैं नहीं, किन्तु अपने को पंडित प्रदर्शित करें।"

मगधदेश में एक योगाभ्यासी साधक थे। अभ्यास करते-करते उनमें आकाश में गमन करने तक की सामर्थ्य आ गयी थी। एक दिन वहाँ का राजा उनके पास दर्शन करने आया। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने को योगी ने आकाश में उड़कर अपनी

सिद्धि राजा को दिखायी। राजा उनकी सिद्धि देखकर अत्यन्त प्रभावित हुआ और उनका शिष्य बन गया।

ये धनिक लोग किसी के प्रभाव में आकर शिष्य बन जाते हैं, तो उसे अपने ही समान बनाने की चेष्टा करते हैं। क्योंकि वे विषयों में ही सुख समझते हैं, गुरु को भी भक्तिवश वे ही विषय सुख सामग्रियाँ समर्पित करते हैं, अतः साधकों को धनिकों से सदा बचते रहना चाहिये। उनके अधीन कभी न हो।

राजा ने योगी से प्रार्थना की भगवन्! नित्य मेरे यहाँ भोजन करने पधारा करें योगी ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। अब वह प्रतिदिन आकाश मार्ग से राजा के महलों में जाता। राजा उसे नित्य भाँति-भाँति के छप्पन भोग सोने चाँदी के बर्तनों में श्रद्धापूर्वक भोजन कराता। भोजन करके योगी आकाश मार्ग से ही अपनी कुटी में लौट आते।

एक दिन राजा को किसी विशेष कार्य वश कहीं अन्यत्र जाना पड़ा। राजा की एक अत्यन्त ही सुन्दरी परम आज्ञाकारिणी दासी थी। उसे योगी की सेवा में नियुक्त करके वह बाहर चला गया। सदा की भाँति योगी आकाश मार्ग से भोजन करने महलों में आये। उस परमसुन्दरी दासी ने बड़ी श्रद्धा से भोजन कराया। वह अकेली ही थी। योगी उसके सौंदर्य को देखकर विचलित हो गये। विन्दुक्षय होने से उनकी आकाश में उड़ने की शक्ति तुरन्त नष्ट हो गयी। कई बार प्रयत्न करने पर भी जब वे उड़ न सके, तो उन्होंने दम्भ का आश्रय लिया। दासी से बोले—"नगर की जनता चिरकाल से मेरे दर्शनों के लिये उत्सुक हो रही है। आज मैं सबकी इच्छा पूर्ति करता हुआ सबको दर्शन देता हुआ पैदल ही जाऊँगा।"

दासी उसके दम्भ को समझ न सकी, योगी पैदल ही गये। उनकी आकाश में उडने की शक्ति समाप्त हो चुकी थी।

अतः योगी को कभी भूलकर भी ससारी लोगों के सम्मुख अपनी सिद्धि का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। पद प्रतिष्ठा और पैसा इनके प्रलोभनों से सदा बचते रहना चाहिये।

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियो! योग के साधक को ज्ञानी होकर भी मूढ की भाँति बना रहना चाहिये। देखते हुए भी अन्धा, सुनते हुए भी बहरे के समान बनकर अपनी योग की सामर्थ्य को छिपाये रहना चाहिये। सिद्धियाँ जब आने लगती हैं, तो बहुत से शिष्य बन जाते हैं, वे शिष्य अपने-अपने कार्यों की सिद्धि के निमित्तप्रार्थना करने लगते हैं। उनके कार्यों को करते हुए भी अपने निज के अभ्यास को न भुला दे। गुरुदेव के वचनों को स्मरण करके अव्यग्र भाव से दिन रात्रि साधन में जुटे ही रहना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर के अभ्यास से हठावस्था प्राप्त होती है। जो लोग साधन काल में बकवाद करने लगते हैं साधन करने मे आलस्य कर जाते हैं उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसलिये समस्त प्रयत्नों द्वारा केवल योग का ही अभ्यास करता रहे।

हठावस्था के अनन्तर परिचयावस्था आती है। पहिले हम योग की आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ये चार अवस्था बता चुके हैं। आरम्भावस्था, घटावस्था अथवा हठावस्था का वर्णन तो हो चुका अब परिचयावस्था के विषय में श्रवण कीजिये। जिस अवस्था में यत्नपूर्वक वायु अग्नि के सहित कुंडलिनी शक्ति को लेकर सुषुम्नापथ में बिना विरोध के प्रविष्ट हो जाय, उस वायु के साथ चित्त भी उस सुषुम्ना के महापथ

में प्रविष्ट हो जाय, तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश जो पंचभूत हैं। इनमें धारणा हो जाती हैं।

जैसे पैर से लेकर जानुपर्यन्त शरीर में जो स्थान है वह भूमि स्थान है। पृथ्वी चतुष्कोण है, पीला इसका रंग है। लं इसका मातृका वर्ण है। पृथ्वी में वायु का लकार सहित आरोप करके वहाँ पर चतुर्भुजाकार चार मुख वाले हिरण्य वर्ण सदृश ब्रह्माजी का ध्यान करे। इस प्रकार पाँच घड़ी (दो घंटे तक) ध्यान करने से पृथ्वी का लय हो जाता है। पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने से पृथ्वी के योग के कारण-योगी मृत्यु के बन्धन से सदा के लिये छूट जाता है। यह तो पृथ्वी लय का वर्णन हुआ। अब जल लय का वर्णन सुनो।

शरीर में जानु से लेकर वायु-गुदा-पर्यन्त स्थान जल का स्थान कहा गया है। जल का स्वरूप अर्धचन्द्राकार है। रंग इसका शुक्ल है, वं बीज है। जल में वायु का आरोप करके वं बीज के सहित वहाँ भगवान् नारायण विष्णु का चिन्तन करे। भगवान चतुर्भुज हैं, किरीट मुकुट धारण किये हुए हैं, शुद्ध-स्फटिक के सदृश उनके श्रीअंग का वर्ण है, पीताम्बर को धारण किये हुए हैं। ऐसे अच्युत भगवान् विष्णु का जल स्थान में पाँच घड़ी (दो घन्टा) तक ध्यान करे। इससे योगी समस्त जन्म जन्मान्तरों के पापों से सदा के लिये छूट जाता है। फिर उसे जल से तनिक भी भय नहीं रह जाता। जल में चाहें वह कितने ही काल तक डूबा रहे। जल में उसकी मृत्यु हो ही नहीं सकती। इस प्रकार जल स्थान को जय करके फिर अग्नि स्थान में आवे।

गुदा से लेकर हृदयपर्यन्त जो देह में स्थान है, वह अग्नि का स्थान है। अग्नि का आकार त्रिकोण है, रक्त इसका वर्ण है।

र अक्षर इसका बीज है। अग्नि मे वायु का आरोप करके र बीजाक्षर के सहित त्रियक्ष जो वर देने वाले रुद्रदेव हैं उनका ध्यान करे। वे रुद्रदेव कैसे हैं ? तरुण आदित्य के सदृश तो उनके अङ्ग की आभा है, उनका समस्त शरीर भस्म से अनुलिप्त है और वे सुप्रसन्न मुद्रा में विराजमान हैं। ऐसे रुद्रदेव का वन्हिस्थान में पाँच घड़ी तक ध्यान करे। तो फिर योगी वन्हि में कूद पडे तो भी वन्हि उस जलाती नहीं है। अग्नि स्थान को विजय करके फिर वायु स्थान में आवे।

हृदय से लेकर भौंहों के मध्य तक वायु स्थान बताया गया है। वायु को षटकोण कहा है। कृष्ण इसका वर्ण है। य यह अक्षर बीज मत्र दीप्तिमान है। वायु को वायु के स्थान मे य बीज मत्र और भा० सूर्य सदृश दीप्ति सहित वहाँ सर्वज्ञ ईश्वर जो विश्वतो-मुख हैं उनका पाँच घड़ी तक ध्यान करे। जब वायु स्थान को विजय कर ले, तब आकाश स्थान म जाय।

दोनों भौंहों के मध्य से मूर्धापर्यन्त आकाश का स्थान कहा गया है। व्योम स्थान वृत्ताकार गोल है, वर्ण धूम्र के सदृश है। दीप्तिमान ह अक्षर बीज है। आकाश मे वायु को आरोप करके उसके ऊपर ह बीज को जो बिन्दुरूप हैं सदाशिव। हैं जो व्योमाकार सदाशिव शकर महादेव हैं, उनका ध्यान करे। वे शकर कैसे हैं ? शुद्ध स्फटिकमणि के सदृश तो उनका शरीर है, माथे पर द्वितीया का बाल चन्द्र धारण किये हुए हैं। पाँच उनके मुख हैं, सौम्य स्वरूप हैं, दश भुजायें हैं, तीन नेत्र हैं। समस्त अपने आयुधों को धारण किये हैं, समस्त भूषणों से भूषित हैं। भगवती उमा उनके अर्धदेह में शोभित हैं। अर्थात् अर्धनारी नटेश्वर हैं। समस्त कारणों के भी कारण हैं तथा वरदाता हैं। आकाश की धारणा से आकाश में उड़ने की शक्ति निश्चय ही प्राप्त हो जाती है। ऐसा योगी

जहाँ भी कहीं रहे उसे अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्राणायाम के अनन्तर पाँच प्रकार की धारणा योगी को करनी चाहिये। धारणा के प्रभाव से शरीर अत्यन्त सुदृढ़ हो जाता है, उसकी कभी मृत्यु नहीं हो सकती। ब्रह्माजी के प्रलय के समय भी ऐसा योगी दुखित विचलित नहीं होता। अब धारणा के अनन्तर ध्यान का अभ्यास करे। धारणा की परिपक्वावस्था का ही नाम ध्यान है, इस प्रकार साठ घड़ी तक (२४ घंटे तक) ध्यान करे। आकाश स्थान में वायु को रोककर इष्ट देवता का ध्यान करे। यदि सगुण रूप का ध्यान करेगा, तो उस ध्यान से अणिमादि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँगी और यदि निर्गुण का ध्यान करेगा, तो उसकी समाधि लग जायगी। क्योंकि ध्यान की परिपक्वता का ही नाम समाधि है। समाधि लगने पर बिना खाये पिये बारह दिनों तक एक ही स्थान पर समाधि मग्न होकर बैठा रहेगा। वायु के निरोध से समाधि लग जाने पर वह योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था का नाम ही समाधि है। यदि इस शरीर को त्यागने की योगी की इच्छा हो तो स्वयं ही शरीर को बिना कष्ट के त्याग सकता है। तब वह शरीर त्याग के अनन्तर परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है फिर उसकी उत्क्रान्ति-पुनर्जन्म-सम्भव नहीं। यदि उसकी इच्छा-शरीर त्यागने की न हो, उसे शरीर में रहना ही प्रिय लगता हो, तो उसी शरीर से वह अणिमादि समस्त सिद्धियों से समन्वित होकर ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोकों में स्वेच्छानुसार आ जा सकता है आनन्द विहार कर सकता है। कभी भी अपनी इच्छानुसार देवता बनकर स्वर्गलोक में आनन्द से रह सकता है। अपनी इच्छानुसार मनुष्य, यक्ष, सिंह, व्याघ्र, गज, घोड़ा जो भी चाहे देखते-देखते बन

सकता है। योगी महेश्वर के सदृश जो चाहें सो करने में समर्थ होता है। अभ्यास भेदों से सिद्धि में भेद हो जाते हैं, वैसे फल सब योग का एक-सा ही है

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन हठयोग के आठ अंगों का वर्णन हो चुका। अब महाबन्ध के सम्बन्ध में सुनिये।

महाबन्ध—"बायें पैर की एड़ी को (सिद्धासन की भाँति) योनि स्थान में लगावे, दक्षिण पैर को फलाकर उस फैलाये पैर को दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़े। ठोढ़ी को हृदय में लगाकर फिर पूरक प्राणायाम द्वारा वायु को पेट में भर ले। जितनी शक्ति हो, उतनी देर कुम्भक के द्वारा वायु को धारण करके, फिर उसे शनैः शनैः रेचन कर दे-अर्थात् वायु को नाक द्वारा निकाल दे। इस प्रकार बार-बार बायें अङ्ग का अभ्यास करके फिर इसी भाँति दायें अंग का अभ्यास करे। अन्त में फैलाये हुए पैर को ऊरु पर रखकर दृढ़ता से बैठा रहे। इसी का नाम महाबन्ध है। दायें बायें दोनों ही ओर अभ्यास करे।

महावेध—जो योगी महाबन्ध में स्थित एकाग्रचित्त से पूरक प्राणायाम करता है। वायु की गति रोककर कर्णमुद्रा द्वारा एकान्त में दोनों ओठों को भींचकर करने से शीघ्र ही वायु स्फुरित होगी। इसी का नाम महावेध है। योगी को चाहिये कि इसका अभ्यास दिन भर करता रहे।

खेचरी मुद्रा—भीतर जो कपाल कुहर है। कण्ठ का छेद है, उसमें जिह्वा को उलटकर प्रवेश करा दे। अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य में जमा ले। इसी का नाम खेचरी मुद्रा है।

जालन्धर बन्ध—कण्ठ को सिकोड़कर चिबुक को हृदय में

दृढ़ता से लगावें, इसी का नाम जालन्धर बन्ध है। यह मृत्युरूप मातङ्ग-हाथी-के लिये केशरीसिंह के समान है।

उड्यान बन्ध—"जिस बन्ध के द्वारा प्राण सुषुम्ना में उड़ जायँ, इसी का नाम उड्यान बन्ध है। उदर को खींचकर पीठ से लगाले।

मूलबन्ध या योनिबन्ध—"एड़ी के भाग से अच्छी प्रकार संपीडन-दबाकर योनिस्थान को जितना कर सके उतना संकुचित करे। अपान वायु को ऊपर की ओर उठाकर खींचता रहे। इसी का नाम योनिबन्ध है। इसे मूलबन्ध भी कहते हैं। इससे प्राण-अपान, नाद और बिन्दु की एकता होती है। इस प्रकार मूलबन्ध करने से योग की संसिद्धि प्राप्त होगी। इसमें संदेह नहीं।

विपरीत करणीमुद्रा—"विपरीत करणीमुद्रा से सभी प्रकार का व्याधियों का नाश हो जाता है। इसे शीर्षासन भी कहते हैं। शिर को तो नीचे भूमि में टिकाले। दोनों पैरों को ऊपर की ओर तानकर फैला दे। प्रथम दिन में क्षणभर करे। फिर शनैः-शनैः समय बढ़ाता जाय। बढ़ाते-बढ़ाते तीन घन्टे (एक प्रहर) तक अभ्यास को बढ़ावे। नित्य नियम से विपरीत करणी करने से जठराग्नि बहुत बढ़ जायगी। भूख बहुत लगने लगेगी। उस समय साधक को यथेष्ठ आहार इकट्ठा करके खाना चाहिये। यदि थोड़ा आहार करेगा, तो जठराग्नि शरीर को ही खा जायगी। अतः विपरीत करणी करने वाले को यथेष्ट घृत दुग्धादि आहार करना चाहिये। इससे शरीर की झुर्रियाँ मिट जायँगी। सफेद बाल काले हो जायँगे। ६ महीने में ही यह चमत्कार दिखायी देगा। जो इस शीर्षासन को एक समय में तीन घन्टे तक (एक-याम या प्रहर पर्यन्त कर लेता है, वह योगी कालजित हो जाता है।"

वज्रोली—वज्रोली क्रिया का अभ्यास करे। जो वज्रोली क्रिया का अभ्यास करता है वह योगी सिद्धि का अधिकारी हो जाता है। यदि उसे वज्रोली की क्रिया प्राप्त हो जाय तो सिद्धि उसके हाथ पर ही धरी है। वह भूत भविष्य की बातें जान लेता है। आकाश में उड सकता है।

अमरोली—अमरी को जो नित्य नित्य पीता है और प्रतिदिन सेवन करता है। वज्रोली का जो नित्य अभ्यास करे उसी को अमरोली कहते है। इनके करने से राजयोग होता है। इसमें अन्तराय नहीं होता। जब राजयोग द्वारा योगी की क्रिया सम्पन्न होती है तब हृदय में विवेक वैराग्य उत्पन्न होता है। तब उसे बोध होता है कि भगवान् विष्णु ही महायोगी, महाभूत तथा महातपा हैं। वे पुरुषोत्तम तत्त्व मार्ग मे दीपक के सदृश प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार तो उस विवेक होने लगता है।

ससारी विषयो से विराग भी होन लगता है। वह सोचता है—देखा, जिस माता के स्तन को पान करके बडे हुए उसी स्तन को निपीडन करने में क्या सुख है? माता को जिस योनि स हम उत्पन्न हुए उसी में रमण करन में क्या सुख है? ससार में देखा जाय तो इस जन्म में जो माता है, दूसर जन्म में वहा भार्या हो जाती है। जो इस जन्म में भार्या है वही दूसरे जन्मो मे हमारी माता बन जाती है। जो आज हमारा पिता है, वह दूसरे जन्मों में पुत्र बन जाता है, जो इस जन्म म हमारा पुत्र है, दूसरे जन्मों मे वही पिता बन जाता है। जेस कूए का रहेंट कभी ऊपर आ जाता है, फिर नीचे चला जाता है, फिर ऊपर चला आता है ऐस ही यह ससार चक्र चल रहा है। ऊपर क नीचे हो जात हैं नीचे क ऊपर आ जाते हैं। देखो तानों लोक, तानों वद, तीनों सन्ध्यायें, तीनों स्वर, तीनों अग्नियाँ तथा तीनों गुण ये सबके सब प्रणव क

तीनों अक्षरों में स्थित हैं। इन तीनों अक्षरों में जो भी कोई आधे अक्षर का अध्ययन कर लेता है उसने सब कुछ जान लिया। उसी के द्वारा यह विश्व ब्रह्माण्ड आपूरित है, वही परमपद है। जैसे पुष्प में गन्ध है, दूध में घृत व्याप्त है, तिल में तेल, पाषाण में सुवर्ण वैसे ही विश्व में सर्वत्र प्रणव व्याप्त है।

हृदय स्थान में स्थित जो कमल है, वह टेढ़ा है, उसका मुख नीचे की ओर है, उसकी नाल ऊपर की ओर है। उसके नीचे बिन्दु है, उसके मध्य में मन स्थित है। इसलिये प्रणव के अकार से उस हृदय पद्म को रेचित करे–निकाले–उकार से उसका भेदन करे। मकार से नाद को प्राप्त करे। उस प्रणव में जो ऊपर की ओर अर्धमात्रा है वह निश्चला है; वह शुद्ध स्फटिक के सदृश निष्कल और पापनाशक है। जो योगयुक्तात्मा पुरुष है वही उस परमपद को प्राप्त कर सकता है। जैसे कछुआ अपने हाथ, पैर, शिर तथा सभी अंगों को सिकोड़कर सिमिटकर बैठ जाता है, उसी प्रकार योगी शरीर के नौओं द्वारों को समेटकर पूरक, कुम्भक, रेचक के द्वारा प्राणायाम का अभ्यास करे। नौ द्वारों में और सब तो निषिद्ध है। ऊपर के द्वार नाक से ही स्वाँस को लेवे और छोड़े। जैसे घड़े में दीपक रख दो तो वहाँ वह निर्वात रूप में सुरक्षित रहेगा, बुझेगा नहीं। इसी प्रकार कुम्भक प्राणायाम को जानो। ये जो नवद्वार हैं ये निषिद्ध हैं, इनसे वायु निकलने न पावे। भीतर जो कुम्भक के द्वारा गई वायु है वह निर्जन में निरुपद्रव रूप से स्थित है। इसलिये केवल आत्मा ही अवशिष्ट रह जाती है। योगी को चाहिये कि आत्मतत्त्व का ही सेवन करे। आत्मज्ञान के लिये ही योग द्वारा अभ्यास करे। यही योगतत्त्व उपनिषद् है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने योगतत्त्व उपनिषद्

सार सुनाया। अब आप आत्मप्रबोध उपनिषद् के सार को श्रवण कीजिये।"

छप्पय

महाबन्ध अरु महावेध खेचरि मुद्रा करि।
उलटि जीभ कूँ रहै भ्रुकुटि में इष्ट ध्यान धरि॥
जालन्धर उड्यान, मूलहू बन्ध कहावै।
तीनों बन्धनि बाँधि नाद अरु बिन्दु मिलावै॥
शीर्षासन तैं भूख बहु, बढ़ै तीन घण्टा करै।
वज्रोली अमरोलि हू वैराग्यहु हिय में भरै॥

इति योगतत्त्व-उपनिषद्-सार समाप्त

आत्मप्रबोध-उपनिषद्-सार

(३०७)

ब्रह्मादिकीट पर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः ।
बुद्बुदादि विकारान्तस्तरङ्ग सागरे यथा ॥*

(आ० प्र० उ० १४ मं०)

छप्पय

सुखप्रद आत्मप्रबोध उपनिषद दिव्य महाअति ।
प्रथम प्रशंसा विष्णुदेव ब्रह्मण्य महामति ॥
करै भावना शुद्ध ब्रह्म हौं जगत् न कबहूँ ।
मैं अति दिव्य महान् मरै तन मरूँ न तबहूँ ॥
नहीं बन्ध नहिं मुक्ति है, हौं अद्वय अखिलेश हूँ ।
सत, चित, आनँद घन विमल, माया परे महेश हूँ ॥

यह जगत् असत् है। सत् एकमात्र श्रीहरि ही हैं। एकमात्र चैतन्य आत्मा को छोड़कर संसार के जितने अनात्म पदार्थ हैं। सब असत् हैं, निस्सार हैं, कल्पित हैं, मिथ्या हैं। मिथ्या पदार्थों के पीछे इतना बवंडर क्यों बन गया है ? मिथ्या पदार्थों के पीछे जीव इतने क्यों भटक रहे हैं ? मिथ्या पदार्थों के पीछे लोग

---

* ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जितने भी प्राणीमात्र हैं वे मुझमें उसी प्रकार कल्पित हैं, जिस प्रकार सागर में उसके बुद्बुद तथा तरङ्गादि विकार कल्पित हैं।

इतने दुखी क्यों हो रहे हैं। जब शशक के सींग हैं ही नहीं, आकाश की बेल में फूल खिले ही नहीं, बन्ध्या ने पुत्र पैदा किया ही नहीं, तब इन मिथ्या पदार्थों के विषय में सोच सोचकर लोग आकुल व्याकुल क्यों बने रहते हैं? आत्मा ने यह क्या कर रखा है? इसका उत्तर देते हैं, जी एक जाल है। तो क्या यह जाल आत्मा से भी बढ़कर है कि इसने आत्मा को भी फँसा रखा है। क्या है इस जाल का नाम? अजी, इस जाल का नाम है माया। मायाजाल में ही सब आबद्ध हैं? क्या आत्मा भी मायाजाल के चक्कर में है? हाँ, वह भी है। यह तो तुमने विचित्र बात कह दी। माया के जाल में आत्मा फँस गया तब तो माया का ही जाल सर्वश्रेष्ठ है।" अजी, आत्मा तो न फँसा है न निकला है। भ्रमवश–मायावश–अविद्या के कारण आत्मा को फँसा हुआ मान लेते हैं। जहाँ यह बोध हो गया, कि आत्मा इन माया के गुणों से सर्वथा पृथक है, वहीं माया तिरोहित हो जाती है। जल में लहरें भी दीखती हैं, तरंगे भी दीखती हैं, बुद्बुद भी दीखते हैं। जहाँ जल को हाथ में लेकर दो चार बार उँगली से छूकर देखो न उसमें तरंगें हैं न बुद्बुद। शुद्ध जल ही जल है। आत्मा निर्मल, निर्विकार है इसी के ज्ञान का नाम आत्मप्रबोध है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप आत्मप्रबोध उपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रद्धा सहित श्रवण करने की कृपा करें। इसका वाङ्मेमनसि इत्यादि शान्तिपाठ है। यह ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी एक छोटी-सी बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है।

प्रत्यक् आनन्द, ब्रह्मपुरुष प्रणव स्वरूप है। अकार उकार और मकार तीनों अक्षरों वाला प्रणव है। उसी को ॐ कहते हैं। उसे कहने से योगी जन्म संसारबन्धन से छूट जाता है।

'ॐ नमो नारायणाय' यह अष्टाक्षर मंत्र है। शङ्ख, चक्र, गदा को धारण करने वाले विष्णु हैं। जो इस अष्टाक्षर मंत्र की उपासना करता है वह वैकुण्ठलोक को प्राप्त करता है। यह जो ब्रह्मपुर पुण्डरीक है, वह विद्युत् की आभा के सदृश प्रकाशमय है। श्रीकृष्ण ही नारायण हैं। वे देवकी पुत्र, मधुसूदन, पुण्डरीकाक्ष, अच्युत, विष्णु, ब्रह्मण्यदेव हैं। वे ओंकारस्वरूप विष्णु सर्वभूतस्थ, एक, नारायण, कारणपुरुष, अकारण, परब्रह्मस्वरूप हैं। जो उन शोक मोह विनिर्मुक्त विष्णु का ध्यान करते हैं वे दुखी नहीं होते। वे द्वैत-अद्वैत, अभयस्वरूप हो जाते हैं। जो इस जगत् में नानात्व देखते हैं। मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं। हृदयकमल के मध्य में जो भी कुछ है प्रज्ञान द्वारा प्रतिष्ठित है। प्रज्ञा ही नेत्र है, प्रज्ञा ही लोक है, प्रज्ञा ही प्रतिष्ठा है प्रज्ञान ही ब्रह्म है। जो आत्मा इस लोक में उस प्रज्ञान ब्रह्म को जानकर उत्क्रमण करता है, वह तो परलोक में समस्त कामनाओं को प्राप्त करके अमृत हो जाता है अमृत हो जाता है। जिस लोक में अजस्र ज्योति प्रवाहित होती रहती है उस अमृत, अक्षत, अच्युत, लोक को आत्मज्ञानी प्राप्त होते हैं। ओं नमः ब्रह्मज्ञानी को ऐसी भावना करनी चाहिये। मेरी माया प्रगलित हो गयी है। मैंने उस अलभ्य वस्तु को प्राप्त कर लिया है। मेरा जीव भाग विगलित हो गया है। मैं अजर, अव्यय, पक्ष-विपक्ष आदि भेदों से रहित, सूक्ष्म, अक्षर, निस्त्रैगुण्य, कूटस्थ, एक, अविकल, केवल, विभु, वेद्य, परमानन्दघन, अद्वय, शुद्ध तथा शाश्वत विज्ञान समरस आत्मस्वरूप हूँ।

यद्यपि मैं विवेकयुक्ति बुद्धि से अद्वय आत्मा को जानता हूँ तो भी बन्ध मोक्षादि व्यवहार में प्रतीत होता है। यद्यपि मैं प्रपञ्च से सर्वथा निवृत्त हूँ, तथापि यह जगत् सत्यवत् भासता है। जैसे

टेढ़ी मेढी पडी रस्सी में पहिले तो सर्प की प्रतीति होती है, किन्तु उसमें सत्ता केवल रस्सी की ही है। उसी प्रकार यह जगत् सत्य सा प्रतीत होता है, किन्तु सत्ता केवल ब्रह्म की ही सत्य है। यह प्रपञ्च तो आधार रूप में है, जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे ईख का रस ही शर्करा के रूप में हो गया है। शर्करा में ईख के रस के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जगत् में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मैं अद्वय ब्रह्मरूप से ही तीनों लोकों में व्याप्त हूँ।

ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त समस्त प्राणी मुझमे ही कल्पित हैं, जैसे सागर के जल में तरग और बुद्बुद आदि कल्पित हैं। तरगस्थ द्रव की समुद्र वाञ्छा नहीं करता। इसी प्रकार विषयानद की वाञ्छा मुझे नहीं है, क्योंकि मैं स्वय ही आनन्दस्वरूप हूँ। जैसे सम्पन्न पुरुष को दारिद्र्य की वांछा नहीं होती ऐसे ही ब्रह्मानन्द में निमग्न मुझे विषयों की आशा नहीं है। बुद्धिमान विष और अमृत को देखकर विष को छोड देता है। उसी प्रकार मैं आत्मा को देखकर अनात्म पदार्थों का परित्याग कर देता हूँ। देह का अवभासक साक्षी देह के नाश होने पर नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार शरीर के नाश होने पर कूटस्थ आत्मा नष्ट नहीं होता। मुझे न बन्ध है न मुक्ति, मेरा न कोई शास्त्र न गुरु, यह जितना भी प्रपञ्च है सब मायामात्र विकास है। मैं स्वय मायातीत अद्वय हूँ। प्राण भले ही चले जायँ। मन चाहें सद्धर्म पर चले चाहे कामवासनाओं मे हन्यमान हो। मेरी बुद्धि तो आनदसागर में परिपूर्ण है। भला बताइये मुझे दुःख कैसे हो सकता है ?

मैं भली प्रकार आत्मा को जान चुका हूँ, मेरे समीप से अज्ञान भाग गया है, मेरा कर्तृत्व सर्वथा नष्ट हो चुका है, मेरे

लिये अब कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह गया है। मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा यह कुल, गोत्र तथा नाम, जाति है, मैं इतना सुन्दर हूँ, स्थूल हूँ ये सब देह की उपाधियाँ हैं, मैं तो देह से भिन्न हूँ, अतः इनमें से कोई भी उपाधि मुझमें नहीं है। क्षुधा, पिपासा, आधि, व्याधि, अंधापन, बहरापन, काम क्रोधादि ये जितने विकार हैं, सब लिङ्ग देह के हैं, मैं स्वयं तो अलिङ्ग हूँ, फिर भला ये आधि और व्याधियाँ मुझे कैसे हो सकती हैं ?"

जड़ता, प्रियता, मोहादि धर्म ये सब कारण देह के हैं, मैं तो नित्य और निर्विकार हूँ मुझमें ये कैसे हो सकते हैं। उल्लू को जैसे सूर्य भी अन्धकारमय ही दिखायी देता है, उसी प्रकार मूढ़ पुरुषों को स्वप्रकाश परमानन्द भी अंधकार सदृश प्रतीत होता है। दृष्टि के निरोध से, अथवा बादल और कोहरे के कारण सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञान से आवृत अन्तः-करण वाले प्राणियों को ब्रह्म नहीं है ऐसा प्रतीत होता है।

जैसे अमृत विष से भिन्न है, वह विष के दोषों से लिपाय-मान नहीं होता। उसी प्रकार मैं तो जड़ पदार्थों से भिन्न हूँ, मुझे भला जड़ सम्बन्धी दोष लिपायमान कैसे कर सकते हैं। दीपक की थोड़ी भी ज्योति जैसे बहुत से अन्धकार को नाश करने में समर्थ होती है, उसी प्रकार थोड़ा भी बोध संसार के निबिड़ अन्धकार को नाश करने मे समर्थ है।

जैसे रज्जु में त्रिकाल में भी सर्प नहीं उसी प्रकार अहं-कारादि जागतिक वस्तुयें देह में हैं। मैं तो अद्वय हूँ, मुझमें ये सब नहीं हैं। मैं चैतन्य स्वरूप हूँ। मुझमें जड़ता कैसे हो सकती है। मैं सत्य स्वरूप हूँ, मुझे अनृत-असत्य-का लेश कैसे हो सकता है ? मैं आनन्द तथा ज्ञान स्वरूप हूँ। मुझमें दुःख या अज्ञान कैसे आ सकता है।

इन्हीं भावों को व्यक्त करने वाली आत्मप्रबोध उपनिषद् है। जो भी कोई साधक एकाग्रचित्त से इस उपनिषद् की उपासना करेंगे, तो फिर उनकी जगत् में पुनरावृत्ति कभी भी न होगी, वे जन्म मृत्यु के बन्धनों से विमुक्त होकर अमृत तत्व को प्राप्त हो जायँगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आपसे आत्मप्रबोध उपनिषद् कही। अब आप नारदपरिव्राजक उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

आत्मज्ञान है गयो जगत-अज्ञान नसायौ।
क्षुधा-पिपासा दुःख परम तन हौं न भुलायौ॥
उल्लू कूँ तम सूर्य दिखावै त्यों जड़मति नर।
ब्रह्म जगत सम दिखै, छिप्यो रवि ज्यों घन भीतर॥
रज्जु माहिँ नहिँ सरप है, भ्रमवश भासै अज्ञकूँ।
त्यों जड़ जग सत्यहिँ लखै, ब्रह्म लखावै विज्ञकूँ॥

इति आत्मप्रबोध उपनिषद्-सार
समाप्त

नारद परिव्राजक उपनिषद्-सार (१)

[३०८]

प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यास लक्षणम् ।
तस्माज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥

(ना० प० उ० ३ अ० १६ मं०)

छप्पय

नारद मुनि इक समय नैमिषारण्य पधारे ।
शौनकादि मुनि पूजि विनयतैं बचन उचारे ॥
मुक्ति मार्ग बतलाइ ? कह्यो मुनि-व्रत गृहस्थ करि ।
वानप्रस्थ संन्यास लेइ वैराग्य हिये धरि ॥
बिधि सन्यासी की कहें ? बोले मुनि गृह त्यागि दें ।
प्रेष मन्त्र आतुर स्वयं, अन्य सबिधि सन्यास लें ॥

वैदिक सनातन आर्य धर्म में वर्णाश्रम का बड़ा महत्त्व है। पारलौकिक कार्यों में वर्णाश्रम धर्म की महर्षियों ने बड़ी प्रशंसा की है। भगवत् प्राप्ति के ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीन मार्ग हैं। कर्म मार्ग में वैदिक कर्मों पर ही विशेष बल दिया है। उस मार्ग में स्वर्ग प्राप्ति ही एक प्रकार की मुक्ति है, कर्म मार्ग

• प्रवृत्ति लक्षण कर्म है और संन्यास लक्षण ज्ञान है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि ज्ञान को आगे करके सन्यास लेना चाहिये।

में संन्यास का विधान नहीं। उसमें तो जीवन पर्यन्त वैदिक यज्ञ यागादि कर्मों को करते ही रहना चाहिये। अतः कर्म मार्ग यज्ञादि कर्मों के त्याग का-संन्यास का निषेध करता है।

वर्णाश्रम धर्म मार्ग चार वर्ण, चार आश्रमों की व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने पर बल देता है। उसके मत में शूद्रवर्ण का व्यक्ति एक गृहस्थाश्रम का वैश्य वर्ण का व्यक्ति ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रमों का, क्षत्रिय वर्ण का व्यक्ति-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीन आश्रमों का और ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमों का अधिकारी है। उसके मत में संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण वर्ण के ही व्यक्ति को है। अन्य वर्ण का व्यक्ति संन्यास के लिङ्गों का धारण करता है, तो वह पतित हो जाता है।

भक्ति मार्ग तो एक प्रकार का अलिङ्ग सन्यास मार्ग ही है। वहाँ तो चाहें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण का हो अथवा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अथवा सन्यासी हो भक्ति के अधिकारी सभी हैं और किसी भी आश्रम तथा किसी भी वर्ण में रहकर भगवान् की प्राप्ति नहीं कर सकता। वर्णाश्रम धर्म मे तो केवल संन्यासी ही हो सकता है। भक्तिमार्ग में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं। ब्राह्मण हो या श्वपच, ब्रह्मचारी हो या संन्यासी। जो भक्ति करेगा उसे ही भगवत् प्राप्ति होगी। जहाँ हों, वहीं रहकर भगवान् की भक्ति करके उन्हें पा सकते हैं।

ज्ञानमार्ग का सोपान वर्णाश्रम धर्म है, उसके द्वारा शनैः शनैः चढकर अन्त मे संन्यास लेकर ज्ञान प्राप्त करो और ज्ञान से मुक्ति। यह तो क्रम संन्यास हुआ।

एक सांख्यमार्गीय संन्यास है। उसमे क्रम आवश्यक नहीं वैराग्य आवश्यक है। जहाँ भी, जिस आश्रम में भी उत्कट

हो जाय वहीं से संन्यास ले लो। चाहे ब्रह्मचर्य हो, गृहस्थ हो अथवा वानप्रस्थ हो। जिस दिन उत्कट वैराग्य हो जाय, उसी दिन घर छोड़कर चल दो।

एक विद्वत् संन्यास होता है। शास्त्रों द्वारा निश्चय हो गया संसार मिथ्या है, स्वप्नवत है, जब विद्या के द्वारा दृढ़ धारणा हो जाय, तो फिर संस्कार हों, न हों घर छोड़कर या वनवास छोड़कर तुरन्त संन्यास ले ले।

एक आतुर संन्यास होता है। है मरणासन्न पड़े हैं। आस-पास कोई संन्यास संस्कार कराने वाला भी नहीं है, अपने आप प्रेष्य मन्त्र उच्चारण करके कह दे मैंने संन्यास ले लिया।

आज कल पन्थाई लोग भी कपड़े रँग कर संन्यासी वेष बना लेते हैं। ये सब तो ऐसे ही सट्टपट्ट हैं, कलियुग देव की कृपा है। इस नारद परिव्राजक उपनिषद् में संन्यास की विधि और उनके भेदों का वर्णन किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको नारद परि-व्राजकोपनिषद् का सार सुनाता हूँ। इसका भद्रं कर्णे इत्यादि शान्ति पाठ है। इसमें नौ उपदेश हैं।

प्रथम उपदेश में नारदजी नैमिषारण्य में गये जहाँ शौनकादि अठासी सहस्र ऋषि द्वादशवर्षीय सत्र कर रहे थे। नैमिषारण्य निवासी मुनियों ने देवर्षि नारदजी का स्वागत सत्कार करके उनको पाद्य अर्घ्यादि से विधिवत् पूजा करके पूछा—"मुनिवर! मुक्ति कैसे हो, इसका उपाय हमें बतावें?"

इस पर नारदजी ने कहा—"सत्कुल में उत्पन्न द्विजबालक को उपनयन संस्कार कराकर चौबीस संस्कार सम्पन्न गुरु के निकट अपनी शाखा के अध्ययन पूर्वक सभी विद्याओं में अभ्यास करके बारह वर्षों तक गुरुकुल वास करके पच्चीस वर्षों तक गृहस्थ,

पच्चीस वर्ष तक वानप्रस्थ रहकर, चार प्रकार का ब्रह्मचर्य, छे प्रकार का गार्हस्थधर्म, चार प्रकार का वानप्रस्थ धर्म इन सबसे निवृत्त होकर साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर, समस्त वासनाओं ऐषणाओं से ऊपर उठकर शान्त दान्त होकर सन्यासाश्रम को धारण करके परमहंस स्वरूप जो देह त्याग करता है, वही मुक्त हो जाता है।

दूसरे उपदेश में शौनकादि मुनियों ने सन्यास की विधि नारदजी से पूछा। नारदजी सम्भवतया पूरी न जानते होंगे, अतः सत्र को समाप्त करके आप सब ऋषियों को साथ लेकर ब्रह्म-लोक में लोक पितामह के समीप गये। सबके सम्मुख नारदजी ने ब्रह्माजी से सन्यास की विधि के सम्बन्ध में प्रश्न किया। तब ब्रह्माजी ने आप सब ऋषियों को देखकर कुछ काल मौन रहकर कहना आरम्भ किया—देखो, भेया! प्राचीन काल में ऐसा ही प्रश्न मेरे पुत्रों ने पूछा था। द्विज बालक ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थों के सभी धर्मों का पालन करके अन्त में संसार से विरक्त होकर साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर सन्यास ग्रहण करे। यहाँ द्वितीय उपदेश समाप्त होता है।

तृतीय उपदेश में नारदजी ने ब्रह्माजी से पूछा—"सन्यास का अधिकारी कौन है और सन्यास की विधि क्या है?" इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, नपुंसक, पतित, विकलाङ्ग, स्त्रैण, बहरा, बालक, गूंगा पाखंडी, चकी, लिङ्गी, वैखानस, हरद्विज, पैसा लेकर पढ़ाने वाला, शिपिविष्ट, जिसने नियम पूर्वक अग्निहोत्र का व्रत न लिया हो ये लोग चाहें वैराग्यवान् ही क्यों न हो सन्यास के अधिकारी नहीं हैं। महावाक्य उपदेश के अधिकारी हो सकते हैं जो दो तीन बार सन्यासी बन चुका है वह भी अनधिकारी है। ये भले ही अन्त में आतुर सन्यास ले सकते

हैं। अब प्रश्न यह है, कि आतुर संन्यास क्या ? आतुरकाल आर्य सम्मत कौन-सा है ?"

इस पर बताते हैं—"जब प्राण निकलने ही वाले हों उसी समय का नाम आतुर है। और कोई भी मुक्ति मार्ग प्रवर्तक आतुर काल नहीं है। आतुर काल में भी सम्भव हो तो मंत्र-तंत्र पुरः सर ही संन्यास लेना चाहिये। प्रैषमन्त्र आवृत्ति करके विधिवत् संन्यास ग्रहण करना चाहिये। आतुर क्रम में भी किसी प्रकार का प्रैषभेद नहीं है। कर्म रहित मन्त्र नहीं होता। कर्म जो है मन्त्र की अपेक्षा रखता है। मन्त्र रहित अकर्म है, अतः कर्म हीन मन्त्र को त्याग दे। जो मन्त्र के बिना कर्म करता है मानों वह बिना अग्नि के केवल भस्म में ही हवन करता है। अब विधिपूर्वक आतुर संन्यास की विधि बताते हैं। उसमें प्रैषमन्त्र की आवृत्ति को विधि है।

जिसने जीवनभर नियम से अग्निहोत्र कर्म किया हो। अथवा विरक्त होकर देशान्तर में चला गया है तो प्राजापत्य जो अग्नि है उसे मन के ही द्वारा जल में विसर्जन करके संन्यास धारण करे। मन से ही अथवा शास्त्रों में जैसी विधि बतायी है उस प्रकार मन्त्र की आवृत्ति करके जल में संन्यास धारण करे। अथवा श्रुति अनुष्ठान मार्ग द्वारा कर्मानुष्ठान को समाप्त करके ही संन्यास ले, नहीं तो वह पतित हो जायगा।

देखो, जब संसार की समस्त वस्तुओं से हार्दिक वैराग्य हो गया हो तभी संन्यास लेना चाहिये। यदि किसी भी वस्तु में तनिक राग रह गया है और उसने संन्यास ले लिया है तो वह पतित हो जायगा। जो सब प्रकार से संसारी पदार्थों से सर्वथा विरक्त हो गया हो उसे ही संन्यास लेना चाहिये। यदि तनिक भी आसक्ति हो, तो उसे घर में ही रहना चाहिये। जो अधम-

द्विज सराग होने पर भी सन्यास ले लेता है, वह निश्चय ही नरक में जाता है।

वैसे सन्यास तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अनन्तर ही लेना चाहिये, किन्तु जिस ब्रह्मचारी की जिह्वा, उपस्थेन्द्रिय, उदर और हाथ अपने वश में हो, उसे बिना विवाह किये ब्रह्मचर्याश्रम से ही सन्यास लेने का अधिकार है। जिसे यह दृढ निश्चय हो गया हो, कि यह संसार निस्सार है, इसमें सारतत्त्व क्या है? इसे देखने को बिना विवाह किये भी वैराग्य पूर्वक सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि कर्म प्रवृत्ति लक्षण है, ज्ञान सन्यास लक्षण है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि ज्ञान का आश्रय लेकर सन्यास ले लेना चाहिये। जब सनातन परब्रह्म तत्त्व विदित हो जाय, तब शिखा सूत्र का भी परित्याग करके एक दण्ड धारण करके सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये।

सब कोई भिक्षा के अन्न का अधिकारी नहीं। जो परमात्मा में तो अत्यन्त अनुरक्त हो और संसारिक वस्तुओं से सर्वथा विरक्त हो। वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणाओं से भली भाँति विनिर्मुक्त हो, वास्तव में वही भिक्षा के अन्न का खाने का अधिकारी है। जो पूजित वन्दित होने पर जैसे प्रसन्न हो वैसे ही मार खाने पर भी जिसके मन में लेशमात्र भी क्रोध न आवे वही भिक्षान्न भोगी होने का अधिकारी है।

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध इस दश लक्षण वाले धर्म में रहता हुआ, विविध वेदान्त वाक्यों को सुनकर देवऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण इन तीनों ऋणों से उऋण होकर तब सन्यास धारण करे। सुख दुःख की चिन्ता छोड़कर समभाव में रहकर दो कौपीन, एक कन्था, एक दण्ड, एक कमंडलु इससे अधिक संग्रह न करे।

इससे अधिक संग्रह करेगा, तो रौरवादि नरकों में जाकर गिरेगा। अकेला रहे, चलता रहे, वर्षा काल में एक स्थान पर बसे, दुर्गुणों का सर्वथा त्याग करे। वासनाओं को निकाल दे, किसी का अपमान न करे, केवल काम की बात बोले, निरपेक्ष निराशिष रहे, इन्द्रियों का निरोध करता रहे। देह में आसक्ति न करे, शरीर को नाशवान, क्षणभंगुर मानकर इसमें ममता न करे, अपने को मृत समझे, काल की प्रतीक्षा करता रहे। भिक्षा के लिये, मलविसर्जन के लिये जाय नहीं, अपने ध्यान में बैठा रहे। एक योजन से अधिक चले नहीं,

जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन सर्वस्व त्याग दे।

इसके अनन्तर कैसे संन्यास लेना चाहिये इसकी विधि बतायी। इस प्रकार हवनादि करके बाहर के सूत्र का परित्याग कर, ज्ञान का यज्ञोपवीत पहिन, ज्ञान की शिखा रखा ले। मैं ब्रह्म हूँ ऐसी धारणा सदा रखे। ब्रह्मरूप प्रणव को सदा स्मरण रखे। भ्रमर कीट न्याय से स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों की ममता का सर्वथा परित्याग करके अपने को आत्मानुभव करे। जो इस प्रकार संन्यास द्वारा देहत्याग करता है, वह कृतकृत्य हो जाता है।

अब चौथे उपदेश में यति संन्यासी के धर्मों का वर्णन है। संन्यासी को चाहिये अपना पुराना नाम, गोत्र, देश, काल, विद्वत्ता, कुल, अवस्था, पूर्व वृत्तान्त, शील आदि बताकर अपनी प्रतिष्ठा न बढ़ावे। स्त्री चर्चा न करे, चिकित्सा, आशीर्वाद-स्वागत, तिरस्कार, समस्त प्राचीन संबन्धों को त्याग दे। बिना संकल्प के इधर-उधर घूमता रहे। किसी विधि विधान के बंधन में नबँधे। संन्यास का मुख्य कारण ज्ञान है। लिङ्ग मुख्य कारण नहीं है। इस प्रकार ब्रह्माजी ने विस्तार के साथ संन्यासियों के धर्मों को बताया है।

तब नारदजी ने सन्यास की विधि पूछी। इस पर ब्रह्माजी ने सन्यास की समस्त विधि बतायी, कैसे प्रायश्चित्त करे, कैसे देवता ऋषि और पितरों का तर्पण करे, कैसे और किन-किन मन्त्रों से हवन करे। फिर किन मन्त्रों से यज्ञोपवीत का परित्याग करे, किससे शिखा का त्याग करे। इस प्रकार चौथे उपदेश में क्रम क्रम से सन्यास की सभी विधियों को बताया है। फिर कटि सूत्र, कौपीन, वस्त्र धारण करके, योगपट्ट गुरु का दिया सन्यास का नाम धारण करे। इस प्रकार सविधि सन्यास लेकर अपने का कृतार्थ हुआ माने।

पाँचवें उपदेश में सन्यासियों के भेद बताये हैं। चार प्रकार के सन्यासी होते हैं। (१) वैराग्य संन्यास, (२) ज्ञान संन्यास, (३) ज्ञान-वैराग्य सन्यास और (४) कर्म संन्यास। पूर्वजन्मों के पुण्यों के प्रभाव से यह दुष्ट कामदेव शरीर को पीडा न पहुँचाता हो, हृदय में विषयों के प्रति स्वाभाविक आसक्ति न हो। विषयों में वैराग्य होने से सन्यास होता है उसे वैराग्य सन्यास कहते हैं। शास्त्रों के श्रवण मनन निदिध्यासन से, लोक के अनुभव से इस दृश्य प्रपञ्च से उपराम हो जाय, दुर्गुणों से चित्त हट जाय तीनों ऐषणायें मन से निकल जायें, देह, शास्त्र तथा लोक की वासनायें निवृत्त हो जायँ। ससार के समस्त भोगों का वमन किये हुए अन्न की भाँति त्याग हो जाय तथा साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर जो सन्यास लेते हैं वह ज्ञान सन्यास कहाता है। दोनों से मिला जुला ज्ञान वैराग्य सन्यास है जो क्रम-क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ सम्बन्धी कर्मों को करते करते, ज्ञान वैराग्य विशेष न होने पर भी शास्त्रीय विधि का पालन करते हुए जो कर्मों का परित्याग करता है वह कर्म सन्यासी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य से ही वैराग्य के कारण विवाहादि न करके अग्नि के

समान तेजस्वी जो संन्यासी हो जाता है वह भी वैराग्य संन्यासी है।

इस प्रकार विद्वत् संन्यासी, ज्ञान संन्यासी, विविदिषा संन्यासी, कर्म संन्यासी अनेक भेद हो जाते हैं।

कर्म संन्यासी भी दो प्रकार के होते हैं। एक निमित्त संन्यासी, दूसरे अनिमित्त संन्यासी। निमित्त तो यह मृत्यु समीप आ गयी है ज्ञान भी नहीं हुआ तथापि आतुरावस्था में कर्मों का त्याग कर संन्यासी हो गये यह आतुर संन्यास निमित्त संन्यास कहलाता है।

अनिमित्त कर्म संन्यास यह है कि ब्राह्मण शरीर है, सविधि चारों वेदों को पढ़कर दारा ग्रहण करके अग्निहोत्र की दीक्षा ली। समय आने पर वानप्रस्थी होकर घर छोड़कर सपत्नीक वन चले गये। वहाँ घोर तपस्या करके वानप्रस्थ धर्मों का पालन किया, फिर भी ज्ञान नहीं हुआ तो भी कर्म त्याग दिये,संन्यास ले लिया तो यह अनिमित्त कर्म संन्यास कहलाता है।

इनके अतिरिक्त संन्यासियों के ६ भेद और बताये हैं। (१) कुटीचक, (२) बहूदक, (३) हंस, (४) परमहंस, (५) तुरीयातीत और (६) अवधूत।

(१) कुटीचक—संन्यासी वे कहलाते हैं-जो शिखा, सूत्र धारण किये रहें। दण्ड कमंडलु लिये रहें, कौपीन कन्था धारे रहें, पिता, माता तथा गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहें, पिठर, खन्त्री, छींका लिये रहें। मन्त्राराधन में तत्पर रहें, एकत्र अन्न को खाने वाले, श्वेतवस्त्र धारी ऊर्ध्व पुंड्र और त्रिदण्ड धारण करने वाले हों।

(२) बहूदक—बहूदक संन्यासी वे कहलाते हैं-जो शिखा,

सूत्र, कन्था, त्रिपुण्ड्र धारे। मधूकरी करके आठ ग्रास नित्य खायँ,

(३) हंस—हंस वे सन्यासी हैं, जो जटा धारण करें। त्रिपुंड्र या ऊर्ध्वपुण्ड्र लगावें। अयाचित या मधुकरी वृत्ति धारी, कौपीन खण्ड तुण्ड धारी हों।

(४) परमहंस—परमहंस सन्यासी वे कहलाते हैं जो शिखा यज्ञोपवीत से रहित हों, पाँच घरों से भिक्षा माँगकर खाकर एक रात्रि एक स्थान पर निवास करते हों। कर को ही पात्र बनाने वाले करपात्री हों। एक कौपीन रखते हों। एक शाटी या बाँस का दण्डा रखे। सम्पूर्ण शरीर जिनका भस्म से उद्धूलित हो। जो सर्वत्यागी हों।

(५) तुरीयातीत—तुरीयातीत सन्यासी वे कहलाते हैं जो फलाहार करके ही रहते हों। अन्नाहार करते हों तो केवल तीन घरों से देह रक्षार्थ भिक्षा करते हों। वस्त्र न पहिन कर दिगम्बर रहते हों। जो अपने शरीर को मृतक शरीर मानकर वृत्ति चलाते हों।

(६) अवधूत—अवधूत वे सन्यासी कहलाते हैं, जो विधि निषेध से परे हों, अत्यन्त पतित अभिशप्तादि महानीचों को छोड़कर सर्ववर्णों का खा लेते हों। किसी से खाने को न माँगते हों, अजगर वृत्ति में रहते हों। सदा स्वरूपानुसन्धान में तत्पर रहते हों।

आतुर सन्यासी यदि जीवित रह जाय, तो उसे फिर से क्रम सन्यास लेना चाहिये। कुटीचक, बहूदक और हंस ये जो तीन प्रकार के सन्यासी हैं इनके लिये ब्रह्मचर्य से जैसे सन्यास लेते हैं उसी प्रकार की सन्यास विधि है।

परमहंस, तुरीयातीत और अवधूतों के लिये न तो कौपीन, न

कटि सूत्र, न दण्ड न कमंडलु। जैसे अग्नि में जो भी डाल दो वह स्वाहा हो जाता है उसी प्रकार परमहंस, तुरीयातीत और अवधूतों को सभी वर्णों वालों के यहाँ भिक्षा कर लेनी चाहिये। संन्यास अवस्था में भी जब तक ज्ञान से मन न भरे तब तक अध्ययन करते रहना चाहिये। जब मन भर जाय, तब कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, कमण्डलु आदि सबको जल में विसर्जित करके अग्नि के समान स्वच्छन्द विचरण करे। पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सबको त्याग दे। केवल प्रणव का ही जप करता रहे। किसी से विशेष बातें न करे। विशेषकर स्त्री, शूद्र, पतित तथा रजस्वलादि से बातें न करे, मरते समय जिस-जिस भाव का स्मरण करेगा, वही-वही प्राप्त होगा। अतः संन्यासी को सदा सर्वदा स्वरूपानुसन्धान ही करते रहना चाहिये।

संन्यासी बालक, उन्मत्त, पिशाच वत व्यवहार करे। अपने को मृतक वत समझकर काल की प्रतीक्षा करे। जो संन्यासी तितिक्षा, ज्ञान वैराग्य तथा शमदमादि सद्गुणों से वर्जित है। केवल भिक्षा से ही अपनी जीविका चलाता है, वह संन्यासी अन्य संन्यासियों की वृत्ति को नष्ट करने वाला है। देखो, न तो दण्ड धारण मात्र से, न मूँड मुँडा लेने से ही, न वेष बना लेने से तथा न दम्भाचरण से ही मुक्ति सम्भव है। वास्तव में एक दण्डी वही है जिसने ज्ञान रूप दण्ड को धारण कर रखा है। जिसने काठ का दण्ड तो धारण कर लिया है ज्ञान का दण्ड नहीं लिया वह संन्यासी नहीं वह तो ज्ञान वर्जित सर्वभक्षी है। ऐसे नाम मात्र के संन्यासी रौरवादि घोर नरकों में जाते हैं। प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा के सदृश है इसलिये इस प्रतिष्ठा का परित्याग करके यति को कीड़े की भाँति भ्रमण करते रहना चाहिये। जो भी भिक्षा में अयाचित रूप से मिल जाय उसी को खा ले। किसी ने

वस्त्र दे दिया तो पहिन ले, किसी ने नहाने को कह दिया तो नहा लिया। नहीं कुछ मिला तो दुखी नहीं, मिल गया तो हर्ष नहीं। केवल प्राणों को धारण करने के लिये ही जो खाता है वही यति है।

जहाँ कहीं शून्य घर में, मठ मन्दिर में, वृक्ष के नीचे स्थान मिल जाय, वहीं पड़ रहे। प्रिय अप्रिय का विचार न करे। यति को चाहिये वह दान्त और जितेन्द्रिय रहे तथा जो मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहे। सभी प्राणियों को अभय प्रदान करके यति विचरता है, उसे किसी भी प्राणी से भय नहीं होता। यति को निर्मान, निरहंकार, निर्द्वन्द्व तथा संशय रहित होना चाहिये। न तो किसी पर कुपित हो, न किसी से द्वेष करे और न झूठ ही बोले।

लोगों को इकट्ठा करने का प्रयत्न न करे, असत् शास्त्रों को पढ़े नहीं। 'जीविकोपार्जन के लिये कोई व्यापार न करे। वाद विवाद न करे। किसी एक पक्ष को लेकर विवाद न करे। शिष्यों को न बनावे, बहुत से ग्रन्थ न पढ़े, व्याख्यान न दे। अनारम्भ कार्यों का आरम्भ न करे। ऊपरी चिन्हों को छिपाये रहे, उन्मत्त तथा बालकों की भाँति गूढ़भाव से विचरता रहे। आत्म क्रीड, आत्मरति, आत्मवान् तथा समदर्शी होकर अकेला ही निःसंग और जितेन्द्रिय होकर घूमता रहे, भिक्षान्न को ही खाय, एक ही का अन्न न खाता रहे। ऐसा करने से चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध हो जाने पर निःसग होकर विचरे। मौन होकर रहे, वायु की भाँति निर्दोष होकर रहे। सुख दुःख में समभाव रखे। हाथ में जो आ जाय, उसे उदर मे रख ले। निर्वैर होकर ब्राह्मण, घोड़ा, मृग तथा सभी जीवों में समभाव रखे। मन से स्मरण करता रहे। उन परमात्मा, ईश्वर, चिन्मय,

मन से भावना करता रहे और यह दृढ़ धारणा करे कि मैं ब्रह्म हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार पाँचवें उपदेश में संन्यासी मुनियों के धर्म बताये। अब आगे और भी जो संन्यासियों के कर्तव्य हैं, उनका वर्णन किया जायगा।"

छप्पय

संन्यासी सब त्यागि ब्रह्म में चित्त लगावै।
सबई दुर्गुण त्यागि मोह ममता बिसरावै॥
भिक्षा करि कें खाइ करै नहिँ संग्रह कबहूँ।
करैं दुष्ट अपमान दुखी होवै नहिँ तबहूँ॥
ज्ञान दण्ड धारन करैं, संसारी सब सुख तजै।
देह मृतक सम जानिकें, ब्रह्मभाव ही नित भजै॥

नारद परिव्राजक-उपनिषद्-सार (२)

[३०९]

न स्नान न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् ।
नाग्निकार्यादि कार्यं च नैतस्यास्तीह नारद ॥*

(ना० प० उ० ६ उ० ३३ म०)

छप्पय

विधि निषेध तैं परे मान अपमान एक सम ।
जग खटपटतैं परे देह में नहीं अहं मम ॥
सबई असत् पदार्थ ब्रह्म ही सत्य कहावै ।
जित देखो तित ब्रह्म ब्रह्म सरबत्र लखावै ॥
ब्रह्म भावना करे तैं, अन्त ब्रह्म बनि जायगो ।
भृङ्गी कीटक न्याय तैं, ब्रह्म भाव कूँ पायगो ॥

हम कर्मों को अहंकार के वशीभूत होकर स्वभाववश प्रकृति की प्रेरणा से करते हैं। वैसे कर्म बन्धन के कारण हैं। रेशम का कीड़ा अपने मुख से सूत्र निकाल निकालकर अपने चारों ओर लपेटता जाता है। उसे सूत्र निकालने और लपेटने में क्या सुख मिलता है, उसे तो वही जाने, किन्तु उसके ये कर्म उसकी मृत्यु

* सन्यासी के लिये विधि से बँधकर स्नान, जप, पूजा पाठ, होम तथा अन्य किसी भी प्रकार के साधन न करने चाहिये। अग्निहोत्रादि जो अग्नि सम्बन्धी वैदिक कर्म हैं, वे भी सन्यासी के लिये आवश्यक नहीं हैं।

के कारण होते हैं। उसे भट्टी में उबालते हैं, वह बँधा हुआ ही मर जाता है। रेशम निकालने वाले उसके ऊपर के सूत्र को निकाल लेते हैं। सूत्र बनाने वाले, कर्म करने वाले कीड़े के मृतक शरीर को फेंक देते हैं। प्रकृति के नियमानुसार रेशम का कीड़ा सूत्र निकालने और उसे अपने चारों ओर लपेटने में विवश है। इसी प्रकार यह जीवात्मा अनादि कर्म वासनाओं के कारण कुछ-न-कुछ करते रहने के लिये विवश है। फल के हेतु से कर्म करता है, वे कर्मफल संचित होते रहते हैं, उसके स्थायी कोश में एकत्रित रहते हैं। कोई अव्यक्त शक्ति उन सब कर्मों का लेखा-जोखा रखती रहती है। उन संचित कर्मों में से एक जन्म को भोगने के लिये जो कर्म दे दिये जाते हैं, उन्हीं का नाम प्रारब्ध कर्म है। उन कर्मों को देते समय उस जन्म की मिलने वाली आयु, विद्या, धन, मृत्यु-तिथि और कौन-कौन से कर्म इसे करने हैं इन बातों का निर्णय पहिले से ही हो जाता है। उन्हीं के अधीन होकर जीव कर्मों में प्रवृत्त होता है, उसे शरीर में अहंभाव हो जाता है। अहंभाव के वशीभूत न होकर यदि कर्म करे तो वे कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते। बन्धन का मुख्य कारण कर्म नहीं अहंकारपूर्वक करना ही मुख्य कारण है। शरीर में आत्मबुद्धि होने पर अहंकृति आ ही जाती है। जीव के चारों ओर ऐसे जाल बिछे हैं, कि स्तम्भ, अहंकार, अहंभाव आ ही जाता है।

जैसे उत्तम कुल में जन्म हुआ, तो उस परम्परा में जितने लोग हुए हैं, उनका अहंभाव चारों ओर चिपटा रहता है। मेरे पूर्वज ऐसे थे, वैसे थे, ऐसा उनका सम्मान था, ऐसी उनकी प्रतिष्ठा थी। मनुष्य की आयु ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, कुलाभिमान भी उसके साथ बढ़ने लगता है।

कर्म स्वयं अभिमान बढ़ाने में एक कारण हैं। बुरे कर्मों से

जैसे बुरा अभिमान बढ़ता है, वैसे ही अच्छे कर्मों से भी अच्छा अभिमान बढ़ता है। बन्धन तो चाहे मूँज की रस्सी का हो या रेशम के लच्छों का हो बन्धन ही है। अतः कर्मों से भी अभिमान की स्तम्भ की वृद्धि होती है।

बालकपन में उतना अभिमान नहीं होता। अन्त्यज-बालक और वेदपाठी-बालक साथ-साथ खेलेंगे खायँगे। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है साथ ही अभिमान भी बढ़ता जाता है। युवावस्था में तो अभिमान बढ़ते-बढ़ते पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, अतः युवावस्था भी अभिमान वृद्धि में कारण है।

सौन्दर्य का भी बड़ा अभिमान होता है, युवावस्था में आकर सौन्दर्य निखर उठता है। कैसी भी कुरूपा लड़की हो युवावस्था में उसे भी अपने सौन्दर्य का अभिमान होने लगता है। "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे गर्दभी अप्सरायते।"

विद्या का अभिमान भी कम नहीं होता। विद्वत्ता अभिमान वृद्धि में प्रधान कारण है। और धन ऐश्वर्य के अभिमान के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। धनी-मानी ऐश्वर्यशाली तो अभिमान में दुर्मदान्ध ही हो जाते हैं। इन सब अभिमानों के वशीभूत हुआ जीव विवश होकर कर्मों में प्रवृत्त होता है और अपने संसार बन्धन को और भी दृढ़, दृढ़-से दृढ़तर और दृढ़तर से भी दृढ़तम करता रहता है। जिनके पूर्वजन्मों के सुकृत अत्यधिक हैं। जिन्होंने अनेकों जन्मों में तपस्या, यज्ञ, दान, धर्म आदि सुकृत ही कर्म किये हैं, उन्हें संसारी कर्मों से वैराग्य होता है, वे जीवन्मुक्त या अनुग्रह सृष्टि के जीव हैं। वे फिर संसारी बन्धनों में नहीं बँधते। सृष्टि के मनुष्यों की पहिचान क्या है? अनुग्रह सृष्टि वालों के सिर पर कोई सींग तो होते नहीं, उनके कर्मों से ही जाना जा सकता है, कि ये प्रभुकृपा-पात्र अनुग्रह

सृष्टि के जीव हैं। जिनका जन्म सत्कुल में हुआ हो, जो शुभ-कर्मों में ही लगे रहते हों, जिनकी युवावस्था हो, और सौन्दर्य भी अनुपम हो, अगाध विद्या हो, अपार धन ऐश्वर्य हो इतना सब होने पर भी जिन्हें अभिमान छू भी न गया हो, तो समझो ये अनुग्रह सृष्टि के जीव हैं। ऐसे पुरुष चाहें घर में रहें या वन में उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

जीवन्मुक्त कौन हैं ? जिनका संसारी वस्तुओं में अनुराग न होकर भगवान् के चरणारविन्दों में अनुराग हो। जिन्हें संसार के जन्म, मृत्यु, रोग शोकों आदि को देखकर क्षण-क्षण में जगत् से विराग होता रहता हो। जिनकी दृष्टि में सुन्दरी-से-सुन्दरी स्त्री और पाषाण की शिला में कुछ भी अन्तर न दिखायी देता हो। जिनकी दृष्टि में अपने माता, पिता, भाई बन्धुओं में और अन्य पुरुषों में तनिक भी भेदभाव दृष्टिगोचर न होता हो, जिन्हें शान्त एकान्त-जन संसर्ग से रहित स्थान अच्छा लगता हो, समझो ये जीवन्मुक्त पुरुष हैं, इनका पुनः संसार में जन्म न होगा। ऐसे लोग चाहें संन्यासी का वेष धारण करें, वन में रहें या घर में, अग्निहोत्र करें या न करें। सफेद वस्त्र पहिनें या काषायाम्बर धारण करें। वे संसार से परे हैं। जीवों की न जाने कितने जन्मों की कर्मवासनायें भरी पड़ी हैं। क्षणिक वैराग्य होने पर लोग वेष बना लेते हैं। फिर वेष को कलंकित करने को नाना प्रकार के व्यवसाय व्यभिचार करने लगते हैं। कर्मों से विराग बहुत ही भाग्यशालियों को होता है। न जाने हमने कितनी बार मातृयोनि से जन्म ग्रहण किये हैं। उसमें होकर आने जाने का न जाने कितने जन्मों का अभ्यास पड़ा है। उस जन्म-भूमि का आकर्षण जिसे न हो वह पुण्य पुञ्ज सुकृति पुरुष जीवन्मुक्त है ! अनुग्रह सृष्टि का जीव है। वास्तविक संन्यासी

तो वही है। विधिपूर्वक किया हुआ संन्यास तो संन्यास का अनुकरण है, अभ्यास के लिये अक्षर लिखने के समान है। यदि सचाई के साथ शुद्ध अन्तःकरण से किया जाय, तो यह भी आवश्यक ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संन्यासी को चाहिये श्वास-प्रश्वास पर हंस मन्त्र का जप करता रहे। सन्यासी को जहाँ सम्मानपूर्वक अच्छी स्वादिष्ट भिक्षा मिले, वहाँ उसे फिर नहीं जाना चाहिये। जब सब लोग खा चुकें, चूल्हे की अग्नि बुझ जाय तब मधुकरी के लिये गृहस्थों के द्वार पर जाय। परतत्त्व से परिचय करे वास्तव में वही सन्यासी है। यह इस वर्ण का है, यह इस आश्रम का है ऐसे परिचय तो माया द्वारा कल्पित हैं। संसार के सभी कार्यों मे, सभी पदार्थों में सदा दोष दृष्टि ही देखता रहे। अपना लक्ष्य एकमात्र आत्मा को ही बना ले। निर्दोष तो केवल ब्रह्म ही है परमात्मा ही है। ऐसी भावना सदा रखा करे। संसारी लोगों का संग, ससार में फँसाने वाले नृत्य गीतादि कार्य, ससारी सम्बन्ध, संसारी व्यवहार, संसारी वार्तालाप इन सबको सदा दूर से ही त्याग दे। यति को चाहिये ससारी व्यवहारों से सदा उदासी बना रहे। नित्य अन्तर्मुख बना रहे। किसी की स्तुति नहीं, किसी का नमस्कार प्रणाम नहीं, स्वाहाकार, स्वधाकार से रहित बना रहे। ये घर महल सब चलाचल हैं, अतः इन सबसे विरक्त होकर वृक्ष के नीचे बैठकर चुपचाप जीवन बिता दे। इस प्रकार छठा उपदेश समाप्त हुआ।

अब सातवें उपदेश मे नारदजी ने यतियों के नियम पूछे। तो पितामह ने फिर वे ही बातें दुहरायीं। चार महीने वर्षात् के एक स्थान में रहे, आठ महीने घूमता रहे। एकाकी रहे, घूमता रहे, हाथों द्वारा नदी पार न करे, माधुकरी वृत्ति से निर्वाह करे,

शरीर को मोटा न होने दे। कृश बना रहे। घृत को रुधिरवत त्याग दे, एक के अन्न को मांसवत् समझे। गन्ध लेपन को मलवत् जाने, क्षार को अन्त्यज के समान, वस्त्र को उच्छिष्ट पात्र के समान, तैल मर्दन को स्त्री प्रसंगवत्, मित्रों आल्हाद को मूत्रवत, लौकिक स्पृहा गोमांसवत, जाने पहिचाने देश को चाण्डाल वाटिका के समान, स्त्री को सर्प के समान, सुवर्ण को कालकूट विष के सदृश, सभास्थल को स्मशान के समान, राजधानी को कुंभी पाक नरक के समान, एकत्र किये अन्न को शव पिंड के समान, देहान्तर दर्शन को प्रपञ्चवृत्ति माने। एकरात्रि से अधिक ग्राम में निवास न करे। नगर में, धर्मक्षेत्र में तथा तीर्थ में पाँच रात्रि रह सकता है। निरन्तर अपने स्वरूप का चिंतन करता रहे। इस प्रकार संन्यासियों के धर्म बताकर कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरियातीत और अवधूतों के तिलक, पूजन, प्रणव, उपासना आदि के सम्बन्ध में बताकर सप्तम उपदेश समाप्त किया गया है।

अष्टम उपदेश में नारदजी ने ब्रह्माजी से संसार तारक मन्त्र के सम्बन्ध में पूछा। इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, भैया! ओम् जो मन्त्र है वह व्यष्टि और समष्टि दो प्रकार का है। फिर इसके संहार प्रणव, सृष्टि प्रणव और उभयात्मक प्रणव इस प्रकार ब्रह्म प्रणव तीन प्रकार का है। जिसका प्रयोग व्यवहार में किया जाता है। वाह्यप्रणव आर्ष प्रणव है। उभयात्मक प्रणव विराट् प्रणव है। संहार प्रणव तो ब्रह्म प्रणव और अर्धमात्रा प्रणव है। ओम् यही ब्रह्म है।

ओम् जो एकाक्षर है उसे अन्तः प्रणव जानो। वह अन्तः प्रणव आठ प्रकार का है। (१) अकार, (२) उकार, (३) मकार, (४) अर्धमात्रा, (५) नाद, (६) बिन्दु, (७) कला और (८) शक्ति

इन भेदों से। इनमें से अकार चार अवयव वाला, दश सहस्र अवयव वाला उकार, सहस्र अवयव वाला मकार, सौ अवयवों से युक्त अर्धमात्रा, तथा प्रणव अनन्त अवयव वाला है। सगुण विराट् प्रणव है,संहार निर्गुण प्रणव है, उभयात्मक उत्पत्ति प्रणव है। यथाप्लुत विराट्प्लुत है, प्लुत संहार विराट् प्रणव है वह प्रणव षोडशमात्रात्मक तथा छत्तीस तत्त्वों से अतीत है। षोडश मात्रात्मक कैसे है ? इसे गिनाते हैं—(१) अकार, (२) उकार,(३) मकार, (४) अर्धमात्रा, (५) नाद, (६) बिन्दु, (७) कला, (८) कलातीता, (९) शान्ति, (१०) शान्त्यतीता, (११) उन्मनी, (१२) मनोन्मनी, (१३) पुरो, (१४) मध्यमा, (१५) पश्यन्ती और (१६) परा। इस प्रकार षोशमात्रात्मक कहा है। इस प्रकार ओंकार के नाना भेद बताकर ओंकार को ही मोक्षदायक बताया है। उस परब्रह्म को अलक्षण, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अचिन्त्य,अव्यपदेश्य, एकात्म प्रत्यपसार, प्रपञ्चोपशम, शिव, शान्त, अद्वैत, चतुर्थ अर्थात् वह तुरीय है, वह ब्रह्म प्रणव ही है। उसी को तीनों अवस्थाओं से परे तुरीय जानना चाहिये। जैसे सभी प्राणियों का सूर्य आधार है उसी प्रकार मुमुक्षुओं का प्रणव आधार है। स्वयं ज्योति ब्रह्माकाश सर्वदा विराजमान रहता है। प्रणव ही परब्रह्म है इस प्रकार आठवाँ उपदेश समाप्त हुआ।

अब नवम उपदेश में नारदजी ने ब्रह्माजी से ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस पर लोक पितामह ब्रह्माजी ने कहा—"क्या व्यर्थ का प्रश्न कर रहे हो। ब्रह्म तो स्वरूप से रहित है, उनके स्वरूप को क्या बतावें। जो कहते हैं मैं अन्य हूँ, तुम अन्य हो यह तो पशु बुद्धि है। उसमें पशु स्वभाव नहीं है। अतः उस परब्रह्म को अरूप जानकर विद्वान मृत्यु के मुख से छूट जाता है। उसे प्राप्त करने का दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।

देखो, काल, स्वभाव, नियति-यदृच्छा प्राणियों की योनिः पुरुष ये क्या हैं. इन बातों का विचार करना चाहिये। संयोग से ये सब एकत्रित हो जाते हैं, आत्मा में ये सब कुछ नहीं हैं। सुख दुख का हेतु तो यह अनीश शरीर ही है। अपने गुणों से निगूढ़ जो आत्मशक्ति है उसे विवेकी पुरुष ध्यानयोग के द्वारा देखते हैं। यह जो आत्मा है समस्त कारणों को जानने वाला है, वह एक ही कालात्मक होकर स्थित है।

वही एक परमात्मा त्रिवृत होकर पहिले सोलह रूप में सौ आर की धार वाला, बीस प्रत्यरा वाला है। आठ और छैः करके विश्व के रूप में एक जाल बना है। इसमें तीन मार्ग भेद हैं, दो निमित्त हैं एक मोह है। यह संसार पाँच सोतों द्वारा बहने वाले जल के सदृश है। पाँच योनियाँ ही इसके उग्र मुख हैं। पाँच प्राण ही इस संसार रूप नदी की लहरें हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही इसका मूल हैं। पाँच इसके आवर्त हैं, पाँच प्रकार के दुःख ही इसके प्रबल वेग हैं। इस पञ्चपर्वा अविद्या के इस प्रकार पचास भेद का हम अध्ययन करते हैं।

सर्वाजीव में सर्व संस्थाओं में तथा इस ब्रह्म चक्र में यह अकेला हंस रूप जीव भ्रमण करता रहता है। इन शरीरों से पृथक प्रेरित करने वाला आत्मा है, ऐसा जो जान जाता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। यह एक प्रकार का वेद का उद्गीथ है इसमें परब्रह्म परमात्मा प्रणव रूप तीन अक्षरों वाला है। अर्थात जड़ तत्त्व अनीश्वर तत्त्व पृथक् चैतन्य स्वरूप प्रणव परब्रह्म उससे सर्वथा पृथक् है। इन दोनों के अन्तर को जानकर वेदज्ञ पुरुष परब्रह्म में लीन हो जाता है।

देखो क्षर और अक्षर दोनों मिल गये हैं। उसे व्यक्त अव्यक्त कह लो। जो अनीश आत्मा जीव है वह अहंकृति

के कारण भोग बुद्धि से बन्धन मे बँध जाता है। किन्तु उस पर-तत्त्व देव को जब जान जाता है, तो सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। देखो, एक तो ज्ञ है एक अज्ञ है, एक जीव है एक ईश है। एक भोक्ता है एक भोगार्थ युक्त है। आत्मा अनन्त है, विश्वरूप है, अकर्ता है। इन तीनों भावों को जान लेने पर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। प्रधान जो प्रकृति है वह क्षर है और जो अमृत है वह अक्षर है। वे हर परब्रह्म ही अक्षर हैं, उनके ध्यान से विश्व माया की सदा सदा के लिये निवृत्ति हो जाती है। उन परमात्मा स्वरूप देव को जानकर समस्त बन्धनों से छूट जाता है। समस्त क्लेश क्षीण हो जाते हैं। जन्म मृत्यु का अन्त हो जाता है अर्थात् उसे फिर कभी जन्म नहीं लेना पडता। इसलिये आत्मकामी को आत्मा का ही सदा सर्वदा ध्यान करना चाहिये। इससे परे जानने योग्य कोई पदार्थ नहीं। आत्मविद्या का मूल तप है, तप से ब्रह्मोपनिषद् का ज्ञान होता है। जो इस प्रकार आत्म स्वरूप को जानकर स्वरूप चिन्तन करता है सर्वत्र एक आत्मा को ही देखता है। उसे मोह तथा शोक हो ही नहीं सकता। इस प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर सदा स्वरूपानुसधान में ही लगा रहता है वह मुक्त हो जाता है। वही परिव्राजक समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त होकर सुख दुख से अतीत हो जाता है। वह सर्ववेद, सर्वज्ञ, सर्व सिद्धियों को देने वाला, सर्वेश्वर हो जाता है। वह सोऽहं भाव में निमग्न रहता है। यही विष्णु का परम पद है, जहाँ जाकर योगी लोग पुनः लौटकर ससार में नहीं आते। वह ऐसा परम पद है जहाँ सूर्य चन्द्रादि किसी ग्रह नक्षत्र की पहुँच नहीं। जहाँ जाकर फिर लौटता नहीं, फिर लौटता नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने नारद परि-

व्राजक उपनिषद् का सार बहुत ही संक्षेप में आपको सुनाया। अब आप शुक्ल यजुर्वेदीय त्रिशिखि ब्राह्मण उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

प्रणव एक ही सार और निस्सार जगत है।
तन क्षर अक्षर मल मिलैं तैं जगत बनत है॥
आत्मा कूँ करि पृथक् जगत् कूँ तुरत नसाओ।
आत्मा को करि ध्यान आतमा में मिलि जाओ॥
आत्मा अद्वय एक रस, नित्य, शुद्ध, चैतन्य प्रभु।
आत्मभाव में नित निरत, संन्यासी बनि जाय विभु॥

इति नारद परिव्राजक उपनिषद्-सार समाप्त

(४६) त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद्-सार

[३१०]

शिखा ज्ञानमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्ग साधनैः ।
ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधामतः ॥*

(त्रि० ब्रा० उ० २३ म०)

छप्पय

त्रिशिखि ब्राह्मण कही उपनिषद् ज्ञान योगमय ।
अष्टअङ्ग बतलाइ करी व्याख्या सु ज्ञानमय ॥
ज्ञान करम द्वै योग करै निष्काम करम जो ।
ज्ञान वृत्ति नित रहै योग है ज्ञानयुक्त सो ॥
यम विराग-जग नियम है-जग विरक्ति आसन बहुत ।
प्राण-सु प्रत्याहार विधि, त्रय सयम मिलि ब्रह्मतत ॥

भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न प्रकार के साधकों के लिये भिन्न भिन्न साधन बताये हैं। साध्य वस्तु तो एक ही है। कोई राजपथ से, कोई पगडंडी से, कोई सीधे मार्ग से, कोई विभिन्न वाहनों से, कोई पैदल ही जाकर पहुँचेंगे उसी एक स्थान पर। देर से सवेर से सभी को पहुँचना वहीं है। इसी प्रकार ज्ञान मार्ग से,

---

* शिखा ज्ञानमयी वृत्ति को कहते हैं। यम नियमादि योग साधन के आठ अङ्ग हैं। ज्ञान योग और कर्म योग इस प्रकार योग दो प्रकार का माना गया है।

कर्म मार्ग से तथा भक्ति मार्ग से अन्त में उस परतत्त्व तक ही सब साधकों को पहुँचना है। अष्टाङ्ग योग जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि हैं इनकी योगों के अनुसार ऋषियों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की हैं। त्रिशिखिब्राह्मण उपनिषद् ज्ञान प्रधान उपनिषद् है इसलिये इसकी व्याख्या ज्ञान प्रधान है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब आप त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् के सार को श्रवण करें। एक समय त्रिशिखि नामक ब्राह्मण अपने तप के प्रभाव से आदित्य लोक में गये। वहाँ जाकर उन्होंने आदित्य देव से पूछा—"भगवन्! देह क्या है? प्राण क्या है? तथा कारण क्या है?"

इस पर आदित्य ने कहा—"देखो, भैया! तुम इन सबको शिव ही समझो। किन्तु शिव तो नित्य हैं, शुद्ध हैं; निरञ्जन हैं, विभु हैं, अद्वय हैं। एक शिव ही अपनी आभा से सबको देखकर सबमें आभासित हो रहे हैं। जैसे लोहे का गोला है, उसे आग में दे दो तो अग्नि के संसर्ग से वह अग्निमय ही भासित होता है। वास्तव में देखा जाय तो अग्नि भिन्न है, लोह पिंड भिन्न है। उस ब्रह्म का भासक कौन है? इस पर कहते हैं—सत शब्द वाच्य अविद्या शबल ब्रह्म ही भासक है। उस अविद्या सबल ब्रह्म से यह चराचर सृष्टि कैसे हो गयी? इसे बताते हैं ब्रह्म से अव्यक्त-प्रकृति-हुई। उस अव्यक्त से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। महत्तत्त्व से अहंकार। अहंकार से पंच तन्मात्रायें, पञ्च तन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न हुए और पञ्च महाभूतों से ही यह दृश्य प्रपञ्च-अखिल जगत् उत्पन्न हुआ। यह अखिल जगत् क्या है? इस पर बताते हैं देखो, ये भूत विकार विभाग से ही यह अखिल जगत् हुआ। अब प्रश्न यह उठता है, कि एक

ही पिंड में भूत विकार विभाग कैसे हुआ ? इस पर कहते हैं तद् तद् कार्य कारण भेद रूप करके अश तत्त्व, वाचक वाच्य, स्थान भेद, विषय, देवता, कोश भेद विभाग हो जाते हैं। वैसे विभाग हो जाते हैं, इसे बताते हैं।"

जैसे आकाश पञ्चभूतो मे से एक भूत है, इसके अन्तःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि चित्त और अहकार–य विषय हुए। दूसरा भूत वायु है इसके समान, उदान, व्यान, अपान और प्राण ये पञ्च प्राण विषय हुए। तीसरा भूत अग्नि है। इसके श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ विषय हुए। चौथा भूत जल है। इसकी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्रायें हुईं। पाँचवा भूत पृथ्वी है इसके वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ विषय हुए। आकाश से जो अन्तःकरण चतुष्टय हुए उनमे से मन का कार्य, ज्ञान और सकल्प विकल्प है। बुद्धि का निश्चय, चित्त का अनुसधान और अहकार का अभिमान करना ये इनके कार्य हैं। इसी प्रकार वायु के जो पञ्च प्राण हैं उनके कार्य क्रमशः समीकरण, उन्नयन, ग्रहण, श्रवण और उच्छ्वास हैं। अग्नि से जो ज्ञानेन्द्रियाँ हुईं उनके कार्य क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। ये जल के आश्रित हैं

पृथ्वी की जो पच कर्मेन्द्रियाँ विषय हुईं उनका कार्य क्रमशः वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द हैं। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के अन्तर्भूत प्राण और तन्मात्रायें विषय हैं तथा अन्त.करण चतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त और अहकार ये भी अन्तरभूत हैं। अवकाश, विधूत, दर्शन, पिण्डीकरण और धारणा ये पञ्चभूतो के कार्य हैं, ये सूक्ष्मतम जीव की तन्मात्राओं के विषय हैं।

इस प्रकार ये बारह अंग हैं। इनके आध्यात्मिक, आधि भौतिक और आधिदैविक ऐसे तीन भेद हैं। चन्द्रमा, ब्रह्मा, दिशायें, वायु सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम ये बारह इन्द्रियों के बारह अधिष्ठातृ देवता के रूप में बारह नाड़ियों में अन्तः प्रविष्ट हैं। ये सब प्राणों के ही अङ्ग हैं। अङ्ग ज्ञान प्राणों से ही होता है। अर्थात् प्राण ही समस्त इन्द्रियों, देवताओं तथा शरीरों के अवयवों को धारण किये हुए हैं।

अब आकाश, वायु, अग्नि, जल और अन्नरूपा पृथ्वी इनके पंचीकरण को बताते हैं। ज्ञातृत्व जो विषय है समान रूप जो प्राण है उसके योग से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द गुण है। शब्द वाक् अधिष्ठित है। अर्थात् शब्द होना वाणी का धर्म है। यह शब्द आकाश में रहता है। अर्थात् शब्द जो तन्मात्रा है उनका ज्ञान श्रोतेन्द्रिय से होता है, वाक् जो कर्मेन्द्रिय है वह शब्द उसके द्वारा होता है, और शब्द पंचभूतों में से आकाश का विषय है। आकाश में शब्द रहता है। तो आकाश तो भूत, समान नामक प्राण, श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय, वाक् कर्मेन्द्रिय, शब्द तन्मात्रा और जानना विषय यह आकाश का पंचीकरण हुआ। इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों और भूतों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। जैसे मन है, व्यान रूप प्राण से त्वचा द्वारा स्पर्श तन्मात्रा इसका गुण है। हाथ जो कर्मेन्द्रिय हैं उसके द्वारा अधिष्ठित है। वायु में ये सब रहते हैं वायु सबमें रहती है। अर्थात् मन, व्यान, त्वचा, स्पर्श और हाथ ये सब मिलकर वायु का पंची-करण हुआ।

इसी प्रकार बुद्धि, उदान, चक्षु, रूप और पैर ये सब मिल-कर अग्नि का पंचीकरण है।

चित्त, अपान, जिह्वा, रस और जल यह जल का पचीकरण है। अहकार, प्राण, घ्राण, गन्ध, गुदा ये सब मिलकर पृथ्वी का पचीकरण है। अर्थात् ये पाँचो पृथ्वी में रहते हैं पृथ्वी इनमे रहती है

आकाश में एक शब्द गुण है, वायु में शब्द और स्पर्श दो, अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण हैं। जल में शब्द, रूप, स्पर्श और रस चार गुण हैं। पृथ्वी में शब्द, रूप, स्पर्श, रस और गन्ध पाँच गुण हैं। यह भूमि पचभूत मयी है। इसके साथ जब चैतन्य समन्वित हो जाता है तो इसी मे से ओषधि अन्नादि की उत्पत्ति होती है, तो अन्न से चार प्रकार के पिंड हो जाते हैं। अर्थात् अण्डज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज चार प्रकार के शरीर अन्न से बनते हैं। अन्न से ही रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य ये सात धातुएँ बनती हैं। किसी के योग से कोई पिड बनता है किसी के योग से कोई। यह जो अन्नमय पिंड है, वह नाभि मण्डल में सस्थित रहता है। इसके मध्य में एक हृदय होता है। वह नाल सहित पद्म-कोश के समान होता है। देवता सत्त्वगुण प्रधान होते हैं, चैतन्य में कर्तापने का अहकार होता है। अहकार बीज तमो-गुण पिंड है, वह मोह रूप है जड है घन है। यह तमः पिंड कठ का आश्रय करके रहता है। जब ये सब मिल-जुल जाते हैं इसी का नाम अखिल जगत् है। जो प्रत्यक् आनन्द रूप आत्मा है, वह मूर्धा स्थान मे परम पद है। उसमे रहता है। अनन्तशक्ति सयुक्त यही जगत् रूप में प्रतीत होता है।

तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति। इनमें जाग्रत तो सर्वत्र रहती है। स्वप्नावस्था जाग्रत में रहती है। सुषुप्ति अवस्था में न तो जाग्रत है न स्वप्न है। वह प्रगाढ निद्रा

की अवस्था है। इन तीनों से परे एक तुरीयावस्था भी है। वास्तव में तुरीय कोई अवस्था नहीं। तीनों से जो परे है वही तुरीय है। वे शिव रूप इन चारों रूपों में सर्वत्र अवस्थित हैं। जैसे महाफल में-शहद में-सभी प्रकार के रस एक साथ ही रहते हैं। ऐसे ही महाशिव में ये चारों प्रकार के चराचर जीव अवस्थित हैं। यह जो अन्नमय कोश है इसमें सभी कोश अवस्थित हैं। जैसे ये अन्नमय, प्राणमय कोश हैं इनमें जीव स्थित है, और जीव में शिव स्वरूप ब्रह्म स्थित है।

जीव में और शिव में फिर अन्तर क्या रहा ? देखो जी, जो विकार सहित चैतन्य है उसी की जीव संज्ञा है, जो निर्विकार चैतन्य है वही शिव है। तीनों अवस्थाओं के प्रवर्तक जो अन्नमयादि कोश हैं ये ही जीव के विकार हैं। जैसे दूध दही आदि रस हैं, उन्हें मथो तो मथने से उनमें फैन उठने लगता है। इसी प्रकार मन को मथने से बहुत से विकल्प उत्पन्न होते हैं। कर्म करने से जीव कर्मी होता है-अशान्त होता है-उन कर्मों का परित्याग कर दे तो उसे शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। दक्षिणायन में प्राप्त होने से जीव प्रपञ्च के अभिमुख हो जाता है। अर्थात् अहङ्कार के वशवर्ती होकर जब कर्मों में प्रवर्त हो जाता है, तो उसकी जीव संज्ञा हो जाती है। अहङ्कार अभिमान से रहित होने पर वह सदा शिव तो है ही।

जब जीव की अविवेक प्रकृति से संगति हो जाती है तभी मोह को प्राप्त होता है। वासनाओं के वशीभूत होकर यह जीव नाना योनियों में जाकर सोता है। पुरियों में सोने से ही यह पुरुष कहलाता है। जब इसकी वासनायें निवृत्त हो जाती हैं तो वह स्वच्छन्द हो जाता है, जैसे मछली दोनों किनारों में से चाहे जिस किनारे पर स्वच्छन्द होकर चली जाती है। काल-क्रम

से तथा आत्म ज्ञान विवेक से जब जीव उत्तराभिमुख होता है, परमात्मा की ओर चलने लगता है, तो क्रम क्रम से उच्च स्थानों को ओर बढता ही जाता है।

जब आत्मज्ञान की ओर जीव की प्रवृत्ति हो जाती है, तब योगाभ्यास के द्वारा प्राणों को मूर्धा में धारण करके आत्मज्ञान के लिये अभ्यास करने लगता है, तब योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग होने लगता है।

जो साधक योगी ज्ञान और याग मे तत्पर होकर नित्य ही अभ्यास करते रहते हैं, उनका कभी नाश नहीं होता। विकारस्थ शिव को तो देखे, किन्तु शिव मे विकारों को न देखे। अनन्य भावना से योग प्रकाशक का योग के द्वारा ध्यान करे। जो योग और ज्ञान दोनों की उपासना नहीं करता उसके भाव की सिद्धि नहीं होती। इसलिये अभ्यास योग के द्वारा मन का और प्राणों का निरोध करे। योगी को चाहिये ज्ञान रूपी तीक्ष्ण धारा वाले छुरे से अज्ञान को जड़ मूल से काट दे। ज्ञानमयी वृत्ति का नाम शिखा है, यम नियमादि अष्टाङ्ग साधन हैं। इन साधनों द्वारा ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनों योगों का अभ्यास करे। अब पहिले क्रिया योग को ही बतलाते हैं। हे ब्राह्मण सत्तम! पहिले तुम उसे ही सुना। जो अव्याकुल चित्त से कर्तव्य समझकर निष्काम भाव से शास्त्र विहित कर्मों का ही करता है उसे कर्मों का बन्धन नहीं होता। क्योंकि बन्धन तो मन से ही होता है। मन मे फल की अकाक्षा न हो, तो वे कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। निष्काम भाव से शास्त्र विहित कर्मों को कर्तव्य समझकर करना इसी का नाम कर्म योग है।

चित्त सदा कल्याण के चिन्तन में ही लगा रहे। आत्मानुसधान के अतिरिक्त ससारी विषयों का चिन्तन ही न करे उसी

को कल्याणकारी ज्ञानयोग कहते हैं। यह योग सर्व सिद्धि करने वाला है। जिसका मन इन दोनों योगों में से एक में भी दृढ़ता से लगा रहे वही परम पद का अधिकारी होता है, उसे तुरन्त मुक्ति पद प्राप्त हो जाता है। यह तो योग के सम्बन्ध में बताया गया।। अब यम नियमादि साधनों के सम्बन्ध में भी सावधान होकर सुन लीजिये। योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आठ अंग हैं। इनके क्रमशः लक्षण सुनो।

१–यम—देह और इन्द्रियों के प्रति सतत वैराग्य का भाव बना रहे इसी को विद्वानों ने यम कहा है।

२–नियम—परतत्त्व जो परमात्मा है उसमें सतत अनुरक्ति बनी रहे इसी का नाम नियम है।

३–आसन—संसार की समस्त वस्तुओं में सदा उदासीन भाव रहना इसी का नाम उत्तम आसन है।

४–प्राणायाम—यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है ऐसे प्रतीति सदा बनी रहे इसी को वास्तविक प्राणायाम कहते हैं।

५–प्रत्याहार—चित्त का जो अन्तर्मुखी भाव है, उसी का नाम प्रत्याहार है।

६–धारणा—चित्त का जो निश्चली भाव है, अर्थात् चित्त चलायमान न होकर निश्चल हो जाय, उसी का नाम धारणा है।

७–ध्यान—सोऽहं जो चिन्मात्र है उसी का निरन्तर चिन्तन करते रहना इसी को योगीजन ध्यान कहते हैं।

८–समाधि—हम ध्यान कर रहे हैं, जब यह भावना भी विस्मृत हो जाय, अर्थात् ध्यान की भी विस्मृति न रहे इसी का नाम सम्यक समाधि है।

इस प्रकार ज्ञान दृष्टि से तो योग के आठ अगों की व्याख्या कर दी। अब योग दृष्टि से सुनिये।

१-यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, ऋजुता, क्षमा, धृति, मिताहार, और शौच इस प्रकार यम दश कहे गये हैं।

२-नियम—तप, सन्तुष्टि, आस्तिक भाव, दान, हरि आराधन, वेदान्त श्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत ये दश नियम हैं।

३-आसन—बहुत से आसन हैं, उनमें स्वस्तिक, गोमुख, वीर, योग, पद्म, बद्ध पद्म, कुक्कुट, कूर्म, धनु, भद्र, मुक्त, मयूर, मत्स्यपीठक, सिद्ध, पश्चिमतान तथा सुखादि आसन मुख्य हैं।

४-प्राणायाम—नाडी शुद्धि करके प्राणायाम का अभ्यास करे। देहस्थ जो वायु है, उसे देह में उत्पन्न अग्नि के द्वारा न्यून या अधिक योग के द्वारा कर ले। देह के मध्य में एक शिखि स्थान है, तपाये हुए सुवर्ण के सदृश। वह त्रिकोण है मनुष्यों के शरीर में, अन्य पशुओं के शरीर मे चतुष्कोण है, पक्षियों के शरीर में वृत्ताकार गोल है। सर्पों के शरीर में षटकोण है और स्वेदजों के शरीर में अष्टकोण। वहीं एक कन्द स्थान भी है, वह मनुष्यों की देह में नौ अगुल का होता है। उसका घेरा चार अगुल का और चार अगुल चौडा। तिर्यक्, द्विज और चतुष्पाद योनि वालों के अडा की आकृति सदृश उस शिखि स्थान के पास कन्द स्थान, उसमें तुन्द स्थान, उसके बीच में नाभि स्थान। उस नाभि स्थान में द्वादश दल का एक चक्र है उसमें विष्णु आदि की मूर्ति हैं। उस चक्र मे सूर्य कहते हैं मैं स्थित रहता हूँ। अपनी माया के कारण भ्रमण करता रहता हूँ। उन बारह अरों

में जीव घूमता रहता है। जैसे तन्तु के बने पिंजड़े में बँदरिया घूमती रहती है। जीव प्राणों के द्वारा ही समस्त क्रियायें करता है। प्राणों के बिना कुछ नहीं कर सकता। उससे ऊपर एक कुण्डली स्थान है। नाभि से तिरछा तथा ऊपर की ओर। वह कुण्डली स्थान अष्ट जो प्रकृतियाँ हैं उनके अनुरूप है, आठ भाँति से गुड़मुड़ी मारे अष्ट कुण्डली युक्त स्थित है। वह यथावत् वायु क सार स नित्य ही प्रज्वलित रहता है। वह कुण्डली कन्द के पास उसे चारों ओर स घेरकर स्थित है। ब्रह्मरन्ध्र के मुख को अपने मुख से चारों ओर से लपेटे हुए स्थित है। योग करते समय योग की वायु द्वारा तथा वहाँ स्थित अग्नि के द्वारा वह कुण्डली प्रबोधित हो जाती है। इससे वह जगकर सर्पिणी रूप से उड़कर हृदयाकाश में आ जाती है।

इसके अनन्तर अन्य इडा पिंगला तथा सुषुम्ना आदि नाड़ियों का वर्णन है। कन्द के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। फिर वैष्णवी ब्रह्म नाड़ी का वर्णन है। बाईं नासिका में इडा और दाईं में पिंगला है। फिर और बहुत-सी नाड़ियों का वर्णन है। जैसे पीपल के पत्ते में नाड़ियों का जाल होता है, वैसे ही देह में असंख्यों सूक्ष्म और स्थूल नाड़ियों का जाल है।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ये दस विध प्राण दस नाड़ियों में घूमते रहते हैं। इनमें प्राणादि पाँच प्रधान हैं। इनमें भी प्राण अपान प्रधान हैं। मुख्य श्रेष्ठ तो प्राण ही है, वही जीवात्मा का धारण पोषण करता है। मुख, नासिका के मध्य में, हृदय तथा नाभिमंडल तक, पैरों के मूल से पैरों के अँगूठों तक ये सब प्राण के स्थान हैं। अपान गुदा में और जानुओं में विचरता है। समान सम्पूर्ण शरीर में विचरण करता

है। समस्त शरीर की सन्धियों में तथा हाथ पेरों मे उदान घूमता है, कान ऊरु, कटि, गुल्फ, स्कन्ध, गला में व्यान घूमता है। नागादि जो पाँच उप प्राण हैं वे त्वचा हड्डी आदि में घूमते हैं। तुन्द स्थान जो तोंद है उसी में खाया हुआ अन्न जल स्थित रहता है। रसादि सब वहाँ घुल मिल जाते हैं। तुन्द मध्यगत प्राण हैं वे उन सबको पृथक् पृथक् करते हैं। प्राण पृथक् स्थित होने पर भी इन सब चेष्टाओं को करता है। अपान वायु मल मूत्रादि का विसर्जन कराता है। प्राणापान की-स्वाँस लेने की चेष्टा व्यान वायु करती है। उदान वायु खाये हुए को जीर्ण करती है, समान वायु शरीर का पोषण करती है। डकार लेने का व्यापार नाग, आँखों के खोलन मींचने का कार्य कूर्म, छींक का कार्य कृकर, देवदत्त निद्रादि कर्म करता है। मर जाने पर भी मृतक शरीर में धनञ्जय स्थित रहता है।

देखो, नाडियों का भेद, दश विध प्राणा का भेद—प्राणों के कौन कौन से स्थान हैं, इन बातों का भेद, वे प्राण कौन कौन सा कार्य करत हैं। इसका भेद इन सबका भेद जानकर पहिले समस्त नाडियों का शाधन करना चाहिये। जब तक नाडा शुद्धि नहीं होती, तब तक प्राणो का आयाम प्राणायाम सिद्ध हो ही नहीं सकता।

जन शून्य एकात स्थान में, समस्त ससारी सम्बधों से रहित होकर योग के जितन अग हैं उनका अभ्यास करे। पहिले भूमि पर या काष्ठ के पटरा पर पवित्र स्थान में आसन लगावे। सबसे नीचे कुशा का, फिर काले मृग के चर्म का, फिर वस्त्र का आसन बिछावे। उस आसन पर यथा रुचि स्वस्तिकादि आसन से बैठे। आसन को बाँधकर ऋजुकाय होकर, नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमाकर, दाँतो से दाँतों को मींचकर, जिह्वा को तालु में

लगाकर, स्वस्थ चित्त निरामय होकर बैठे। सिर को थोड़ा-सा भींचकर जालन्धर बन्ध बाँधकर–योग मुद्रा धारण करके हाथों को यथोक्तविधि से स्थित करके तब प्राणायाम का अभ्यास करे। रेचक पूरक करके वायु का शोधन करे।

पहिले वायु को निकाल दे। फिर शनैः-शनैः खींचे,फिर खींची हुई पूर्ण की हुई वायु को घड़े की भाँति पेट में धारण करे। फिर उसे शनैः-शनैः निकाल दे। इस प्रकार रेचन, पूरण, शोधन और फिर रेशन इन चार प्रकार के वायु के आयाम–श्रम–को प्राणायाम कहते हैं। दायें हाथ की उँगलियों से नासिका के एक पुट को दबा ले। फिर शनैः-शनैः दूसरे नासिका पुट से भीतर की वायु को रेचन कर दे, निकाल दे। इडा को दबावे, पिंगला से वायु निकाले। फिर इडा से वायु को भरे। सोलह मात्रा के समय में पूरक करे। फिर पूरित वायु को चौसठ मात्रा के समय तक रोके रहे। फिर बत्तीस मात्रा के समय में शनैः-शनैः उसे निकाल दे। अर्थात् जितने समय में वायु खींचे, पूरक प्राणायाम करे, उसके दुगुने समय में रेचक करे अर्थात् निकाले और चौगुने समय तक कुम्भक करे, अर्थात् बाहर से खींची वायु को उदर में धारण करे। इस प्रकार बारम्बार व्युत्क्रम और अनुक्रमपूर्वक प्राणायाम करता रहे। फिर वायु को कुम्भवत् देह में स्थापित कर ले। अर्थात् केवल कुम्भक का ही अभ्यास करे। सब नाड़ियों के शुद्ध हो जाने पर भीतर की वायु भीतर ही नाड़ियों में घूमती हुई पच जायगी। दस नाड़ियों में जो दश प्राण घूमा करते हैं उनमें घूमकर हृदय में आवेगी। फिर हृदय काव्याकोश करने पर वहाँ हृदय कमल के मध्य में परमात्मा जो निष्कल्मष वासुदेव हैं, उनके दर्शन होंगे। इस प्रकार प्रातःकाल, मध्यान्ह, सायंकाल और अर्धरात्रि में केवल कुम्भकों का ही अभ्यास करता रहे।

शनैः शनैः चार बार में अस्सी तक अभ्यास बढाता जाय। एक ही महीने में साधक समस्त पापों से छूट जायगा। तीन वर्ष से ऊपर समय पर्यन्त अभ्यास करने से मनुष्य प्राणायामपर हो जाता है। वायु तथा इन्द्रियों के जीत लेने से योगी योगसिद्ध हो जाता है। बहुत ही अल्प आहार करने वाला, बहुत ही कम सोने वाला तथा तेजस्वी और बलवान् हो जाता है। प्राणायाम में तत्पर योगी अकाल मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, वह दीर्घ आयुष्य वाला होता है।

प्राणायाम करते-करते पहिले प्रस्वेद–पसीना–होता है। यह अधमावस्था की स्थिति है। जब प्राणायाम करते-करते शरीर में कँपकँपी होने लगे तो समझो यह मध्यमावस्था है। जब अभ्यास करते-करते शरीर आकाश में अधर स्थिर होने लगे वह उत्तम स्थिति है। स्वेद होकर शरीर से जल निकलने लगे तो उससे व्याधियों का नाश होता है। कम्प होने लगे तो इससे पापों का नाश होता है, और शरीर भूमि त्यागकर निराधार में स्थित होने लगे, तो उससे पापों का, रोगों का तथा महाव्याधियों का नाश हो जाता है। इसके लक्षण क्या होते हैं? इसे बताते हैं– मल और मूत्र बहुत अल्प हो जाता है, शरीर पुष्प के सदृश हलका हो जाता है, भोजन बहुत ही मित सयमित लघु हो जाता है। सब इन्द्रियाँ तथा बुद्धि पटु-तीक्ष्ण–स्फूर्तियुक्त हो जाती हैं, त्रिकालदर्शी हो जाता है। जो रेचक पूरक दोनो का परित्याग करके केवल कुम्भक करने लगता है उसे तीनों काल में कुछ भी दुर्लभ नहीं। देखो नाभि के कन्द स्थान में, नासिका के अग्र भाग में तथा पैर के अँगूठा मे जो यत्नवान् होकर मन के द्वारा प्राणों को सन्ध्याकाल में अथवा सर्वदा धारण करता है ऐसा योगी

सभी प्रकार के रोगों से विनिर्मुक्त होकर चिरकाल तक बिना परिश्रम के जीवित रहता है।

नाभिकन्द में जो मन से प्राणों को धारण करता है तो उसके कुक्षिगत समस्त रोगों का नाश हो जाता है। नासिका के अग्र-भाग में मन से प्राण धारण करने से दीर्घ आयु और शरीर की लाघवता होती है। ब्राह्म मुहूर्त में उठकर जिह्वा से वायु को खींच-कर तीन महीने तक वायु को पीता रहे, तो उसकी वाक्सिद्धि हो जायगी, वह अपनी वाणी से जो कह देगा वही हो जायगा। छै महीने के अभ्यास से महारोगों का नाश हो जायगा। रोगादि से दूषित शरीर में जहाँ-जहाँ भी वायु को धारण करे, वहाँ-वहाँ के राग नष्ट होकर आरोग्यता की प्राप्ति होगी।

मन के धारण करने से वायु भी वहाँ आधारित हो जाती है। क्योंकि मन और वायु का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मन के रुकने से वायु रुक जाती है और वायु के रुकने से मन रुक जाता है। मन से धारणा कैसे करे इसे बताते हैं—

पहिले इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर सावधानी से आसन लगाकर बैठे, गुदा में रहने वाली अपानवायु को ऊपर की ओर खींचकर उसे उदर के ऊपर धारण करे। दोनों हाथों से नाक कान और आँखों के छिद्रों को बन्द कर ले। फिर यत्नपूर्वक मन को वश में करने का अभ्यास करे। इस प्रकार मन के वश में होने से प्राणवायु स्ववश हो जाती है। नासिका पुट में वायु पर्याय करके घूमते हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्ना तीन नाड़ियाँ हैं इनमें प्राण क्रमशः घूमता रहता है। एक शङ्खिनी नाम की नाड़ी है उसके विवर में भी प्राणियों के प्राण उतनी ही देर घूमते रहते हैं। इस प्रकार जिसने वायु को जीत लिया है ऐसे केवल

कुम्भक का अभ्यास करने वाले योगी के प्राण भीतर-ही-भीतर नाड़ियों मे ही घूम घूमकर जीर्ण होते रहते हैं।

दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, इन सबकी गति को समाहित चित्त वाला योगी अन्तर्मुख होकर जान लेता है। कैसे जान लेता है इसे बताते हैं।

अँगूठा आदि अपने देह के जो अवयव हैं उनके स्फुरण से तथा भोजनादि से जीवन के अरिष्टों का ज्ञान हो जाता है, कि यह शरीर अब कितने दिनों तक जीवित रहेगा। इन सब लक्षणों को जानकर योगी को चाहिये कि वह मुक्ति के लिये प्रयत्न करे।

पैर के तथा हाथ के अँगूठों मे प्राणवायु का स्फुरण न हो, तो समझना चाहिये इसकी वर्ष के पहिले ही मृत्यु हो जायगी। मणिबन्ध में गुल्फ में स्फुरण नष्ट हो जाय तो छः महीने मे मृत्यु हो जाय। कर्पूर मे स्फुरण बद होने से तीन मास मे, कुक्षि और मलाशय में स्फुरण बद होने से एक मास मे, जठरबद में होने से दश दिन में, आँख की ज्योति में खद्योतवत स्फुरण होने से पाँच दिन में, जिह्वा के अग्रभाग में न होने से तीन दिन मे, ज्वाला के दर्शन होने से दो दिन मे मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार के अरिष्टों को देखकर आयु क्षय का अनुमान लगा ले। इसलिये जप ध्यान परायण होकर मोक्ष के लिये सतत प्रयत्न करता रहे। मन से जो निरन्तर परमात्मा का ध्यान करता रहेगा, वह अन्त मे तद्रूपता को प्राप्त हो जायगा। ये सब बातें प्राणायाम के सम्बन्ध में कही गयी हैं। अब प्रत्याहार के सम्बन्ध में श्रवण कीजिये।

५—प्रत्याहार—एक स्थान से प्राणों को मन सहित खींचकर बार-बार एक ही स्थान में लगाये रखे इसी का नाम प्रत्याहार है।

६—धारणा—पाद के अँगूठा, गुल्फ, जङ्घाओं का मध्यभाग, ऊरुओं का मध्यभाग, गुदा का मूल, हृदय, मलाशय, नाभि, गलाकर्पूर, तालु का मूल, नासिका का मूल, चक्षुमंडल, दोनों भौहों का मध्यभाग, ललाट, जानुओं का मूल और ऊर्ध स्थान, हाथों का मूल ये सब पंचभूतों के निर्मित पचभूतात्मक देह के अंग हैं। मन से इन अंगों में प्राणों की यम नियमपूर्वक धारणा करने का ही नाम धारणा है। इन अंगों में मन द्वारा जो प्राणों की धारणा की जाती है इससे संसाररूपी सागर को पार किया जा सकता है। संसार सागर के पार होने में धारणा कारण है। इस शरीर में पाँचों भूतों के पाँच स्थान हैं। वहाँ ध्यान करे।

७—ध्यान—पैरों से लेकर जानु पर्यन्त पृथ्वी का स्थान है, यह पृथ्वी पित्तला है, चतुष्कोण है, वज्र द्वारा लांछित है। वहाँ वायु को रोककर पाँच घड़ी तक स्मरण करे।

जानु से लेकर कटिपर्यन्त जल का स्थान कहा गया है। उसका रूप अर्ध चन्द्राकार बताया है, वर्ण श्वेत है और अर्जुन वृक्ष द्वारा लांछित है। वहाँ वायु को जल में आरोपित करके दश घड़ी तक स्मरण करे।

देह के मध्यभाग से लेकर कटि के अन्त तक अग्नि का स्थान है। उसका सिन्दूर वर्ण है, अग्नि की भाँति प्रज्वलित रहती है। वहाँ पन्द्रह घड़ी तक प्राणों को रोककर—कुम्भक करके—स्मरण करना चाहिये।

नाभि से ऊपर नासिका पर्यन्त वायु का स्थान है। जैसे चतुष्कोण वेदिका होती है वैसे आकार का यह स्थान है। धूम्र वर्ण है। यहाँ बलवान् वायु रहते हैं, यहाँ कुम्भक द्वारा प्राणों को रोककर बीस घड़ी तक स्मरण करना चाहिये।

घ्राण स्थान से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त आकाश का स्थान है,

काले अंजन के सदृश इसका रंग है। वहाँ कुम्भक के द्वारा यत्नपूर्वक वायु को रोके रहे।

अब पाँचों भूतों के स्थानों में जिन पाँचो देवों का स्मरण करे उनके स्वरूपों को बताते है—पहिला पृथ्वी स्थान है, वहाँ चार भुजा वाले किरीटी अनिरुद्ध हरि का योगी ध्यान करे। संसार सागर से पार होने की इच्छा से।

दूसरा जो जल का स्थान है, उसमे नारायण का ध्यान करे। तीसरा जो अग्नि का स्थान है उसमे प्रद्युम्न का, चौथा जो वायु का स्थान है उसमें संकर्षण का और पाँचवाँ जो आकाश का स्थान है उसमे परमात्मा वायु देव का सदा स्मरण करे। इस प्रकार ध्यान करने से साधक को शीघ्र ही सिद्धि प्राप्ति हो जायगी, इसमें संशय नहीं।

पहिले योगासन से बैठे फिर हृदय प्रदेश में हृदयाञ्जलि बाँधकर, दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर लगाकर, जिह्वा को तालु मे लगाकर, दाँतो को दाँतो से भींचकर शरीर को सीधा करके समाहित चित्त से बैठ जाय। इन्द्रियों को संयम द्वारा वश में करके विशुद्ध आत्म बुद्धि से परमात्मा वासुदेव का चिन्तन करे। स्वरूप प्राप्त रूप का ध्यान मोक्षप्रद है। जो भगवान् वासुदेव का बिना मात्रा गणना के केवल कुंभक के द्वारा चिन्तन करता है, उस योगी के सात जन्म के किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। नाभि के कन्द से लेकर जहाँ तक हृदय प्रदेश है उसमें जाग्रत वृत्ति समझनी चाहिये। कण्ठ प्रदेश में स्वप्नवृत्ति और तालु के मध्य मे सुषुप्ति अवस्था और दोनों भौहो के बीच मे तुरियावस्था। ब्रह्मरन्ध्र में जहाँ परब्रह्म स्थान है वहाँ तुर्यातीत अवस्था है। जाग्रत वृत्ति से समारम्भ करके जहाँ तक ब्रह्मरन्ध्र है वहाँ तक यह तुरीय आत्मा है, इससे परे जो तुर्यातीत अवस्था है उसी को

विष्णु कहते हैं। अत्यन्त निर्मल आकाश स्थान जो ब्रह्मरन्ध्र है उसमें परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। कैसे हैं वे परमात्मा? जिनकी कान्ति करोड़ों सूर्यों के सदृश है। वे अधोक्षज प्रभु नित्य ही उदित रहते हैं। वे हृदय कमल के मध्य में सभासीन हैं। उन विश्वरूप प्रभु का ध्यान करना चाहिये। वे विश्वरूप प्रभु कैसे हैं? उनके अनेक आकार हैं, अनेक वदन, अनेक भुजा, अनेक आयुधों से मंडित हैं। उनके नाना वर्ण हैं, शान्त स्वरूप हैं, उग्र आयुध धारण किये हैं। उनके अनेक नयन हैं, कोटि सूर्यों के सदृश जिनकी द्युति है। उनका ध्यान करने से योगी की समस्त मनोवृत्तियाँ विनाश को प्राप्त हो जाती हैं। हृदय कमल के मध्य में अव्यय चैतन्य ज्योति है। कदम्ब के गोलक के आकार सदृश, जो तुर्यातीत परात्पर प्रभु हैं, वे अनन्त आनन्दमय हैं, चिन्मय स्वरूप हैं, ऐसे वे भास्कर विभु हैं। उनकी प्रभा निर्वात दीपक के सदृश—अकृत्रिम मणि के सदृश है। जो योगी ऐसे प्रभु का ध्यान करते हैं, उनके तो करतल पर ही मुक्ति रखी है। हृदय कमल के मध्य में विश्व रूप देव के रूप का जो ध्यान करते हैं। वह चाहें सूक्ष्म हों अथवा स्थूल कैसे भी रूप का ध्यान करने से उनका हृदय में साक्षात् प्रकाश होता है। अणिमादि सिद्धियों का फल उनके ध्यान से सुखपूर्वक सरलता से प्राप्त हो जाता है। यह ध्यान हो गया। अब समाधि के सम्बन्ध में सुनें।

८-समाधि—जीवात्मा और परमात्मा की एकता होने पर मैं ही परब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसी दृढ़ स्थित हो जाय, इसी का नाम समाधि है। इसमें सभी वृत्ति नष्ट हो जाती है। सर्ववृत्ति विवर्जित यह समाधि की स्थित है। ऐसा योगी ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है, उसका फिर जन्म नहीं होता।

इस प्रकार योगी समस्त तत्त्वों को विशोधन करके निःस्पृह चित्त से स्थित रहे। जैसे ईंधन न रहने पर अग्नि स्वतः ही शांत हो जाती है उसी प्रकार ग्राह्य के अभाव होने से मन और प्राण निश्चय ही ज्ञान संयुक्त हो जाते हैं। जब जीव परम शुद्ध सत्त्व में लीन हो जाता है तो जैसे सेंधा नमक का पिंड पानी में घुल मिलकर एक हो जाता है वैसे ही वह ब्रह्म में एकाकार हो जाता है। तब वह मोह जाल के सदृश इस सम्पूर्ण विश्व को स्वप्न के सदृश देखता है। तब वह परिनिश्चल स्वभाव वाला होकर प्रगाढ़ सुषुप्ति अवस्था की दशा में आनन्द में तन्मय हो जाता है। इसी का नाम निर्वाण पद है इसी के आश्रय से योगी कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है। यही त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् है। यह शुक्ल यजुर्वेद की उपनिषद् है और पूर्ण मदः इत्यादि इसका शान्ति पाठ है। यह योग और ज्ञान मिश्रित उपनिषद् है।

छप्पय

दश दश यम अरु नियम कहे आसन अनेक हैं।
पूर कुम्भ अरु रेच प्राण सयम सुटेक हैं॥
करिकें नाड़ी शुद्ध प्राण कूँ प्रत्याहृत करि।
करै धारणा विविध देश हिय माहिँ ध्यान धरि॥
जीवात्मा परमात्मा, होइ एकता मध्य में।
वृत्ति नष्ट है जाइँ सब, फिरि केवल अग एक में॥

इति शुक्ल यजुर्वेदीय त्रिशिखि ब्राह्मण
उपनिषद्-सार समाप्त

—०—

(४७) सीतोपनिषद्-सार

[३११]

सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृति संज्ञिता।
प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥*

(सी० उ० १ मं०)

छप्पय

श्रीसीता उपनिषद् जगन्माता गुन खानी।
शक्ति स्वरूपा प्रकृति मूमि नीला श्रीरानी॥
प्रणव रूपिणी काल-रूपिणी अनुपम शक्ती।
ज्ञान, उपासन, करम, रूपिणी रघुवर-भक्ती॥
रामप्रिया सरवेश्वरी, सत्यमयी अम्मृतमयी।
षडैश्वर्य सम्पन्नश्री, उतपति थिति अरु लयमयी॥

शक्ति और शक्तिवान, नाम और नामी इनमें अभेद सम्बन्ध है। जो नाम है वही नामी है। जो शक्ति है वही शक्तिवान् है। शक्ति की उपासना शक्तिवान् की ही उपासना है। शक्ति के बिना संसार में कुछ हो नहीं सकता। यह शक्ति ही अनेक रूपों से जगत् में व्याप्त है। एक महात्मा थे। वे शिव के ही भक्त थे,

---

* सीताजी को भगवती जानो, वे ही आद्याशक्ति मूल प्रकृति संज्ञा वाली हैं। प्रणवमय होने से ही उन्हें ब्रह्मवादी लोग प्रकृति इस नाम से पुकारते हैं।

शक्ति की वे उपेक्षा करते थे। वे यह नहीं जानते थे कि शिव में जो इकार है वही उनकी शक्ति है। शिव में से इकार को निकाल दो, तो वे शव—मृतक देह—ही रह जायेंगे। इकार ही जीवन की आधार है। शक्तिवान् उसके बिना कोई व्यापार कर नहीं सकता।

उन महात्मा को एक बार अतीसार रोग हो गया। निरन्तर बार-बार शौच जाने से वे निर्बल बन गये। एक वृक्ष के नीचे दुर्बलावस्था में बैठे थे। भगवती जगन्माता को उन पर दया आई। वे एक गोप कन्या का वेष बना कर दधिपात्र लेकर उनके समीप आयीं। दधिपात्र उतार कर कुछ काल बैठी रहीं। फिर महात्मा से बोलीं—"स्वामिन्! तनिक मेरे बोझा को तो उठवा दीजिये।"

महात्मा ने कहा—"देवि! मैं बहुत ही निर्बल शक्ति हीन हूँ। मुझमें उठवाने की शक्ति नहीं।"

गोप कन्या ने कहा—"भगवन्! आपने शक्ति की उपासना तो की ही नहीं। बिना शक्ति उपासना के शक्ति कहाँ से आवे?"

महात्मा समझ गये कि ये तो साक्षात् जगदम्बा अन्नपूर्णा दक्षिणामूर्ति हैं। उन्होंने तुरन्त दक्षिणा मूर्ति स्तोत्र की रचना करके भगवती की स्तुति की। तुरन्त भगवती ने प्रकट होकर उन्हें शक्ति सम्पन्न होने का वर दिया। वही आद्याशक्ति अनेक रूपों से प्रकट होती हैं। उन्हे ही सीता भी कहते हैं। उन भगवती सीता के स्वरूप का तात्त्विक वर्णन सीतोपनिषद् में किया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं सीतोपनिषद् का सार आपको सुनाता हूँ। सीतोपनिषद् अथर्ववेदीय उपनिषद् है।

भद्रं कर्णेभिः आदि इसका शान्तिपाठ है। यह पद्य गद्यात्मक आठ मन्त्रों की छोटी-सी उपनिषद् है।"

देवताओं ने एक बार ब्रह्माजी के समीप जाकर पूछा—"भगवन्! हमें सीताजी के स्वरूप के सम्बन्ध में समझाइये। सीताजी कौन हैं?"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"देवताओ! सीता सीता ही हैं। वे मूल प्रकृति स्वरूपा हैं, सीता ही प्रकृति हैं, प्रकृति से जड़ा प्रकृति न जानें, वे प्रणव प्रकृति होने से ही प्रकृति कहाती हैं। सीता में तीन वर्ण हैं। वे साक्षात् योग मायामयी हैं। विष्णु प्रपञ्च बीज हैं, उनकी ईकार योगमाया हैं। सीता में जो सकार है वह सत्य, अमृत प्राप्ति सोमस्वरूप है। सीता में जो तकार है, वह तार लक्ष्मी का स्वरूप है, वह वैराज और विस्तार का स्वरूप है। ईकार रूपा जो सोम अमृत अवयवा दिव्य अलंकारों से विभूषिता, मोती आदि आभरणों से अलंकृत, महामाया रूपिणी, जब अव्यक्त रूपिणी व्यक्ता बन जाती हैं, वे ही सीता कहलाती हैं। उनके अनेक रूप हैं।

उनका पहिला रूप तो शब्द ब्रह्ममयी है। ये स्वाध्याय काल में प्रसन्न होकर बोध को प्रकट करने वाली होती हैं।

उनका द्वितीय रूप वह है, जो पृथ्वी पर हल के अग्रभाग-सीता-से उत्पन्न हुई हैं।

तीसरा उनका रूप ईकार स्वरूपा है। यह उनका अव्यक्त स्वरूप है, अव्यक्त स्वरूपा होने से ही वे सीता कहलाती हैं। इन तीनों ही स्वरूपों का नाम सीता है।

शौनकीय तन्त्र में भी यही बात कही है—श्रीरामचन्द्रजी के सान्निध्य वश से वे जगदानन्दकारिणी हैं। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को करने वाली हैं। सीता भगवती

हैं, मूल प्रकृति सज्ञक हैं। ब्रह्मवादी गण प्रणव स्वरूपा होने से ही इन्हे प्रकृति कहते हैं, ब्रह्मसूत्र का जो अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, प्रथम सूत्र है, वह इन्हीं के अर्थ का द्योतक है। ये भगवती सर्वदेव मयी, सर्व वेदमयी, सर्व लोकमयी, सर्वकीर्ति मयी, सर्व-धर्ममयी तथा सर्वाधार कार्य कारणमयी हैं। ये महालक्ष्मी स्व-रूपा देवेश जो परमात्मा हैं उनका भिन्ना भिन्न स्वरूपा हैं। ये चेतना चेतनात्मिका, ब्रह्म थावरात्मिका, इन समस्त चराचर जीवों के गुणकर्मों के भेद से सबकी शरीर भूता हैं। देवता, ऋषि, मनुष्य तथा गन्धर्व स्वरूपा हैं। असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाचादि जो भूत हैं उनकी शरीर रूपा हैं। भूत, इन्द्रिय, मन, प्राण रूपा हैं। वे देवी तीन रूपों में प्रकट होती हैं। १-शक्ति आसन इच्छा शक्ति, २-क्रिया शक्ति और ३-तीसरी साक्षात् शक्ति स्वरूपा हैं। इनमे से भी इच्छा शक्ति तीन प्रकार की होती हैं १-श्र.देवी, २-भूदेवी और ३-नीला देवी। ये देवी भद्र रूपिणी, प्रभाव रूपिणी, सोमरूपिणी, सूर्य रूपिणी और अग्नि रूपिणी हैं। सोम रूपिणी होकर वे ओषधियों का पालन पोषण करती हैं, ये ही कल्पवृक्ष, पुष्प, फल, लता, गुल्म, अन्य ओषधियों तथा दिव्यओषधियों की स्वरूप भूता होती हैं। देवताओं का जो 'महत्स्तोम' फल है उसे देने वाली तथा अमृत द्वारा तृप्ति कराने वाली होती हैं, देवताओं को अमृत से, समस्त जीवों को उनके अन्नों द्वारा तृप्ति करती हैं।

ये ही सीतादेवी सूर्यादि जितने भी समस्त भुवन हैं उन सब लोकों को प्रकाशित करने वाली हैं। काल की जो दिन, रात्रि, निमेष से लेकर घटिका पर्यन्त कलाये हैं, अष्ट प्रहरयुक्त दिन रात्रि के जो पक्ष, मास, ऋतु और अयन तथा सवत्सरादि, जितने भेद हैं, उनसे मनुष्यों की जो सौ वर्ष की आयु

कल्पना की गयी है। उस आयु के रूप में वे सीतादेवी ही प्रकाशित होती हैं। काल के जितने भी छोटे बड़े, विलम्ब तथा शीघ्रता से उपलक्षित होने वाले भेद हैं वे सब उन्हीं के स्वरूप हैं।

वे ही अग्नि स्वरूपा हैं। प्राणियों के उदरों में जठराग्नि रूप में रहकर उन्हें भूख प्यास लगाती हैं। साक्षात् अग्नि रूप से देवताओं का मुख होकर उनके भागों को पहुँचाती हैं। वनौषधियों में शीतोष्ण रूप से होकर उन्हें बढ़ाती हैं और काष्ठों में नित्य रूप से भीतर रहकर अनित्य रूप से ईंधन में जलकर स्थित रहती हैं।

ये ही सीताजी श्रीदेवी, भूदेवी और नीला देवी के रूप में प्रभु इच्छा से तीनों लोकों का धारण पोषण करती हैं। श्री अर्थात् लक्ष्मी रूप में तो समस्त लोकों को श्री सम्पन्न करती हैं। भू अर्थात् पृथ्वी रूप में सातों समुद्रों सहित चौदहों भुवनों की आधार भूता होकर सबको व्यक्त करती हैं और नीला अर्थात् आदि शक्ति विद्युन्माला सदृश मुख वाली होकर समस्त प्राणियों को सर्वरूप से भुवनों के ऊपर नीचे रहकर उन्हें धारण करती हैं। क्रियाशक्ति स्वरूप से-श्रीहरि के मुख से नादरूप से प्रकट हुईं। नाद से बिन्दु और बिन्दु से ओंकार का आविर्भाव हुआ। ओंकार से परे राम वैखानस पर्वत है। उस पर्वत की कर्म और ज्ञान कई शाखायें हैं, वे ही वेदत्रयीमय सर्वार्थ दर्शन आदि शास्त्र है। ऋग्, यजु और साम इन्हीं को त्रयी कहते हैं। कार्य सिद्धि के लिये चौथा अथर्व वेद भी है। वेद के मन्त्र तीन ही प्रकार के होते हैं। १-एक तो वे जिनमें भिन्न-भिन्न देवताओं के स्वरूपों का वर्णन है २-दूसरे वे मन्त्र हैं जिनमें यज्ञों की विधियों का निर्देश किया गया है और तीसरे वे मन्त्र हैं, जिनका

गान यज्ञों में होता है। इसीलिये ऋक, यजु और साम ये ही वेदत्रयी कहाते हैं। किन्तु यज्ञों मे ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और उद्गाता चार ऋत्विज होते हैं, इसीलिये आभिचारिक कर्मों वाले अथर्ववेद को चौथा वेद कहते हैं। वास्तव मे तो वह ऋक, साम और यजुर्वेद क ही अन्तर्गत है।

ऋग्वेद की इक्कीस शाखायें, यजुर्वेद की एक सौ नौ, सामवेद की सहस्र और अथर्ववेद का केवल पाँच ही शाखायें हैं। इन वेदों में सर्वश्रेष्ठ वैखानस मत है। वे वैखानस श्रीराम जी ही हैं। उन्हीं का मुनियों द्वारा नित्य स्मरण होता है।

उन वेदों के कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरूक्त, ज्योतिष और छन्द छः अङ्ग और अयन, मीमासा, न्याय ये उपाङ्ग हैं। इन सबकी सगति लगाने को निबन्ध है। स्मृतियों मे ऋषियों ने अपने दिव्य ज्ञान का स्मरण किया है। १–इतिहास पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गन्धर्व वेद और आयुर्वेद ये पाँच उपवेद हैं। दण्ड, नीति और व्यापार विद्या तथा परतत्त्व मे प्राण जय करके स्थिति ये दो नीति शास्त्र हैं। इस प्रकार चार वेद, छः वेदाङ्ग, तीन उपाङ्ग, स्मृतियाँ, पाँच उपवेद, दो नीति शास्त्र इस प्रकार इक्कीस भेदयुक्त यह स्वतः प्रकाश वैखानस शास्त्र है।

वैखानस ऋषि के हृदय मे सर्वप्रथम विष्णु वाणी समुद्भूत हुई। वही वाणी देहधारियों की उन्नति रूप मे वेदत्रयी होकर प्रकटित हुई। वह वाणी ही सीता है। उसके दो रूप हैं। १–पहिला रूप तो सनातन ब्रह्ममय क्रिया शक्ति रूप है। दूसरा इच्छा शक्ति। पहिली जो क्रिया शक्ति रूपा हैं वे भगवान् की साक्षात् शक्ति हैं, वे भगवान् से कभी विलग नही होतीं। भगवान् के संकल्पानुसार ही वे चलती हैं, जहाँ भी भगवान् का

अवतार होगा ये साथ ही साथ रहेंगी, ये निमेष उन्मेष से लेकर सृष्टि, स्थिति प्रलय करने वाली तिरोधान और अनुग्रहादि समस्त सामर्थ्यों से युक्त होती हैं। ये शक्तिवान् भगवान् की शक्ति स्वरूपा हैं।

अब दूसरी जो इच्छा शक्ति हैं, उनके तीन भेद हैं। पहिली योगशक्ति, दूसरी भोगशक्ति, और तीसरी वीरशक्ति। योग शक्ति तो भगवान् के वक्षःस्थल पर श्रीवत्स के चिन्ह रूप से विश्राम करती है। भगवान् प्रलय के समय जब योग निद्रा में स्थित होकर विश्राम करते हैं तब ये ही उनकी आश्रया होती हैं।

दूसरी भोग शक्ति हैं। संसार के जितने भी भोग हैं, उनकी ये ही अधिष्ठातृ देवी हैं। स्वर्ग की जो कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि, शङ्ख, पद्मादि नौ निधियाँ हैं, इनमें ये भोग रूपा शक्ति रहती हैं। अग्निहोत्र, अष्टाङ्ग योग, उपासनादि से प्राप्त भोग, भवन, विमान, भगवद्अर्चन, पितृ पूजा, अन्नादि भोग पदार्थ, नाना प्रकार के पेय पदार्थ जो भी भोग प्राप्त होते हैं, उन समस्त सामग्रियों का सम्पादन ये ही भोगरूपा भोगशक्ति करती हैं।

तीसरी वीरशक्ति हैं। ये चतुर्भुजा हैं। इनके दो हाथ तो अभय और वरदान की मुद्रा में अवस्थित हैं। दो हाथों में क्रीड़ा कमल सुशोभित हैं। माथे पर किरीट मुकुट शोभायमान है। सम्पूर्ण अङ्ग दिव्याभूषणों से सुशोभित हैं, देवता उन्हें चारों ओर से घेरे हैं, वे कल्पवृक्ष के मूल में दिव्यासन पर संस्थित हैं। चार श्वेत गजराज रत्न जटित कलशों द्वारा अमृत जल से उनका अभिषेक कर रहे हैं। जितने भी ब्रह्मादि देव हैं, वे सब उनकी स्तुति कर रहे हैं। वे अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य सम्पन्ना हैं। उनके सम्मुख खड़ी स्वर्ग की कामधेनु नतमस्तक होकर उनकी स्तुति

कर रही हैं। मूर्तिमान् वेद शास्त्र उनकी बन्दी की भाँति वन्दना कर रहे हैं, स्वर्गीया अप्सरायें उनकी सेवा में तत्पर हैं। सूर्य चन्द्र दीपक बनकर प्रकाश प्रदान कर रहे हैं। देवर्षि नारद तथा तुम्बुरु आदि गन्धर्व उनके गुणों का गान कर रहे हैं। राका सिनीवाली आदि अमावस्या की अधिष्ठातृ देवियाँ उनके ऊपर छत्र ताने हुए हैं। ह्लादिनी शक्ति तथा माया शक्ति उभयपार्श्व मे खडी होकर चँवर डुला रही हैं। स्वाहा तथा स्वधा व्यजन कर रही हैं। भृगु पुण्यादि महात्मा उनकी सविधि पूजा कर रहे हैं। माता का जो दिव्यासन है, जिस पर वे विराजमान हैं, वह अष्ट दल कमल के आकार का है। उस पर विराजमान महादेवी समस्त कार्य कारणों को निर्मातृ हैं। इस प्रकार इन भगवान् की इच्छा शक्ति का तीसरी वीर शक्ति का भगवान् से पृथक निवास मानकर उनका ध्यान करना चाहिये। वे वस्त्राभूषणों से अलकृत होकर स्थित हैं। समस्त देवगण श्रद्धाभक्ति और स्थिर मति से इन चतुर्भुजा वीर शक्ति की पूजा करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने आपसे भगवती सीताजी के स्वरूप का कुछ तात्त्विक वर्णन किया। अब आप योग चूडामणि उपनिषद् के सार सिद्धान्त को श्रद्धा सहित श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

त्रयी वेदमय देवि सनातन ब्रह्म रूपिणी।
इच्छा शक्ति स्वरूप प्रलय में योग धारिणी॥
भोग रूपिणी बनें विविध भोगनिकूँ देवै।
वीर रूपिणी मातु देव श्रद्धातैं सेवैं॥
चतुर्भुजा वर, अभय-कर, अन्य करनि क्रीड़ा कमल·
दिव्याभूषण धारिणी, बसहिँ कलपतरु तर विमल

(२)

श्वेतहस्ति अभिषेक खड़े घेरें सब सुरगन।
हरषि उड़ेले कलश अमृत जल भरे रतनमनि॥
अणिमादिक ऐश्वर्य युक्त ऋषि वेद सराहें।
गान करें गन्धर्व कृपा सब सुरगन चाहें॥
छत्र करें राका सिनी, माया ह्लादिनि चँवर करि।
व्यजन स्वधा स्वाहा करें, सीता-लक्ष्मी हिये धरि॥

इति सीतोपनिषद्-सार समाप्त

(४८) योग चूडामणि–उपनिषद्-सार (१)

[३१२]

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया।
कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥*

(योग० चू० उ० १ म०)

छप्पय

चूडामणि उपनिषद् योग की अति सुखकारी।
षड अगनि जो योग सबिधि तिहि कहिबे बारी॥
मूल गुदादल चारि लिंग छै स्वाधिष्ठान है।
अनहद द्वादश नाभि कठ षोडस विशुद्ध है॥
द्वै दल आज्ञा भौंह मधि, ब्रह्मरन्ध्र मह सहसदल।
नाभि-कद कुण्डलि सुबति, जगे होइ योगी बिमल॥

योग के सम्बन्ध की अनेक उपनिषदें हैं, वैसे तो उन सब में प्रायः सभी एक सी ही बातें हैं। फिर भी किसी में कोई बात विशेष है किसी में कोई। इसीलिये बार बार सर्वत्र एक सी

* योग चूडामणि उपनिषद् को योगियों के हित की कामना के निमित्त कहते हैं। यह उपनिषद् गूढ है, मोक्ष की सिद्धि को देने वाली है, जो योगवेत्ता योगी हैं, उनके द्वारा यह सेवित है।

बातें बतायी हैं, उन सबको बार-बार कहने से अभिप्राय इतना ही है, कि योगशास्त्र बहुत ही गम्भीर विषय है, सबको पढ़कर जो मार्ग अनुकूल पड़े, जिसमें अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, उसी का अभ्यास करना चाहिये। योग के मार्ग की ओर सब नहीं बढ़ सकते। जिनके पूर्व जन्म के योग के संस्कार हों वे ही इस ओर आ सकते हैं। योगाभ्यासियों का शरीर सर्वसाधारण लोगों की भाँति नहीं होता। योगाभ्यास का शरीर पृथक् ही होता है। साध्य वस्तु तो एक ही है, साधन भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जैसा साधक होता है, वैसे ही साधन द्वारा वह साध्य वस्तु को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! चूडा शिर को कहते हैं, उसमें पहिनने वाली मणि का नाम चूडामणि है। अर्थात् सर्वोत्तम अलंकार। यह योग सम्बन्धी उपनिषद् सर्वश्रेष्ठ है, इसमें योग का जिस प्रकार सरलता से तात्विक वर्णन है, वैसा वर्णन अन्य योग सम्बन्धी उपनिषदों में नहीं है। योगियों के हित की कामना से योगचूडामणि उपनिषद को कहते हैं। यह गूढ़ उपनिषद् कैवल्य जो मोक्ष है उसकी सिद्धि को देने वाली है। ये अष्टाङ्ग न कहकर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन छः को ही षडाङ्ग योग कहते हैं।

आसन से आरंभ करने से कहते हैं--एक तो सिद्धासन है, दूसरा पद्मासन है। षट्चक्र हैं, सोलह आधार हैं, तीन लक्ष्य हैं, पाँच व्योम हैं। जो अपनी देह में इतनी वस्तुओं को नहीं जानता, भला बताइये उसको सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है। सिद्धासन और पद्मासन से बैठकर षट्चक्रों का अनुसन्धान करे। षट्चक्रों में सबसे पहिला चार दल वाला मूलाधार चक्र है, दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है वह छैः दल वाला है। तीसरा मणि पूरक

चक्र नाभि प्रदेश में दश दल वाला है। चौथा हृदय में बारह दल वाला अनाहद चक्र है पाँचवां कण्ठ में सोलह दल वाला विशुद्ध चक्र है। छठा दोनों भौंहों के मध्य मे दो दल वाला आज्ञा चक्र है। सबसे अन्त में महापथ जो ब्रह्म रन्ध्र है उसमे सहस्र दल वाला सहस्रार चक्र है।

पहिला चार दल वाला मूलाधार चक्र गुदा से ऊपर है, दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र गुदा से ऊपर योनि स्थान है उसमें है। उस योनि स्थान और गुदा के मध्य में काम रूप कहा गया है। उस चार दल वाले मूलाधार गुदा स्थान वाले को ही कामाख्या कहते हैं। उस मूलाधार के मध्य में ही योनि स्थान कामाख्या नाम से है वह सिद्धों द्वारा वन्दित स्थान है। उस कामाख्या योनि के मध्य में एक महालिङ्ग है, वह पश्चिमाभिमुख स्थित है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों से ऊपर नाभि देश में मणिपूरक चक्र है, उसकी आभा दिव्यमणि के सदृश है, उसे जो जान लेता है वह योगवित् हो जाता है। प्रतप्त सुवर्ण के सदृश जिसकी कान्ति है, जो विद्युत् के सदृश प्रकाशवान् है। वह स्थान त्रिकोण है, अग्नि का स्थान है, मेढ्र से नाभि पर्यन्त है। समाधि अवस्था मे अनन्त विश्वतोमुख परमज्योति के यहाँ दर्शन होते हैं। उस परमज्योति के महायोग मे दर्शन होने पर फिर आवागमन नहीं होता।

इस नाभि चक्र का नाम स्वाधिष्ठान चक्र क्यों है? इस पर बताते हैं—स्व शब्द यहाँ प्राणों का वाचक है, प्राणों का अधिष्ठान होने से ही यह चक्र स्वाधिष्ठान कहलाता है। स्वाधिष्ठान का आश्रय होने से इसे मेढ्र भी कहते हैं। इस नाभि में [illegible] ही छोटे-छोटे सूक्ष्म तन्तुओं से मणि के सदृश ओत प्रोत [illegible] स्थान है उसका नाम कन्द है। उस कन्द स्थान में सुषुम्ना

है। उस नाभि स्थित मंडल में जो चक्र है उसे ही मणिपूरक कहते हैं वह पुण्य पाप से विवर्जित बारह दल वाला महाचक्र है। जीव तभी तक इस संसार चक्र में भ्रमता रहता है, जब तक यथार्थ तत्त्व को नहीं जानता।

नाभि से नीचे और मेढ़ से ऊपर कन्द स्थानों में एक योनि स्थान है, वह पक्षी के अंडे के आकार का है। वहीं योनि स्थान में बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। उन सब बहत्तर सहस्र नाड़ियों में से प्राण वाहिनी नाड़ियाँ मुख्य हैं, उन बहुत-सी प्राण वाहिनी नाड़ियों में से भी दश नाड़ी प्रधान बतायी हैं। उनके नाम १--इडा, २--पिङ्गला, ३- सुषुम्ना, ४--गान्धारी, ५--हस्तिजिह्वा ६--पूषा, ७--यशस्विनी, ८--अलम्बुसा, ९--कुहू और १०--शङ्खिनी हैं। योगियों को चाहिये कि इन नाड़ी चक्रों का प्रथम परिचय प्राप्त करले।

नासिका के बायीं ओर इडा है, दायीं ओर पिङ्गला है। इन इडा पिङ्गला दोनों के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। बायें नेत्र में गान्धारी नाड़ी है। दक्षिण नेत्र में हस्ति जिह्वा है। दाहिने कान में पूषा और बायें कान में यशस्विनी है। अलम्बुसा नाम की नाड़ी मुख में है। लिङ्ग देश में कुहू नाड़ी है और मूल स्थान गुदा में शङ्खिनी है। इस प्रकार नौ द्वारों में नौ नाड़ियाँ और दशमी सुषुम्ना बीच में है। ये सब नाड़ियाँ दशों द्वारों को घेरे हुए बैठी हैं। इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीनों प्राण मार्ग में स्थित हैं। ये निरन्तर प्राणों को बहाती रहती हैं। इनमें से इडा के चन्द्रमा, पिङ्गला के सूर्य और सुषुम्ना के अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं।

दस प्राण हैं। इनके नाम पहिला प्राण, दूसरा अपान, तीसरा समान, चौथा व्यान, पाँचवा उदान, छटवाँ नाग, सातवाँ

कूर्म, आठवाँ कृकर, नवाँ देवदत्त और दसवाँ धनञ्जय है। इनमें से प्राण हृदय में रहते हैं। अपान नित्य ही गुदा मण्डल मे रहते हैं। समान नाभि देश मे, उदान कण्ठ के बीच मे और व्यान समस्त शरीर में व्याप्त रहते हैं। ये पाँच तो प्रधान प्राण हैं। पाँच जो उप प्राण हैं उनमें से नाग तो उद्गार डकार लेने में, कूर्म आखों को खोलने-मीचने मे, क्षुधा लगाने में कृकर तथा जम्हाई लेने में देवदत्त नाम क प्राण रहते हैं। पाँचवाँ जो उप प्राण धनञ्जय नाम वाला है वह समस्त शरीर मे व्याप्त रहता है। यहाँ तक कि शरीर के मृतक हो जाने पर नौ प्राण तो शरीर को छोडकर चले जाते हैं, किन्तु यह धनञ्जय जब तक शरीर जलाया नहीं जाता तब तक भी मृतक शरीर में बने रहते हैं। इसप्रकार समस्त जीव जन्तु इन समस्त नाडियों में भ्रमते रहते हैं। जैसे भुजदण्डों से बल पूर्वक फेंकने से गेंद उछलती है, उसी प्रकार इन प्राण अपान तथा समानादि प्राणों द्वारा फेंका हुआ यह जीव सदा भ्रमता रहता है, उछलता कूदता रहता है। एक स्थान पर निश्चिन्त होकर बैठता नहीं। प्राण और अपान वश में हुआ जीव ऊपर नीचे दोडता रहता है। बायीं नासिका और दायीं नासिका द्वारों से आता जाता रहता है। चञ्चल होने से दिखायी नहीं देता। जैसे कोई श्येन पक्षी है, उसके पैर में रस्सी बाँधकर वह रस्सी पेड की डाल मे बाँध दी है, तो वह बार बार उडता है, रस्सी से बधा रहने से बार बार फिर आकर उसी डाली पर बैठता है। इसी प्रकार यह जीव गुणों से बँधा रहने से प्राण अपान द्वारा आता जाता रहता है। प्राण अपान के वशीभूत होकर जीव ऊपर-नीचे आता जाता रहता है। अपान तो प्राण को खींचता है और प्राण अपान को खींचता है। इस प्रकार से ऊपर नीचे-

ऊपर नीचे आते जाते हैं। इन प्राण और अपान दोनों की गति को जो वास्तविक रूप से जान जाता है वही योग को जानने वाला योगवित है। देखो, हंकार से तो प्राण बाहर जाता है। सकार से भीतर घुस जाता है। इस प्रकार 'हंस' जो परम मंत्र है, इसे जीव सदा सर्वदा आठों प्रहर जपता ही रहता है। दिन रात्रि में इक्कीस सहस्र छै सौ बार इस मंत्र का जप करता है। इसी को अजपा गायत्री भी कहते हैं। यह अजपा गायत्री मंत्र योगियों को मोक्ष देने वाला है। इसके संकल्प मात्र से ही समस्त पापों से साधक छूट जाता है। इस अजपा गायत्री के सदृश विद्या, इसके सदृश जप तथा ज्ञान न तो संसार में दूसरा है न होगा। कुण्डलिनी से समुद्भूत यह जो गायत्री है वह प्राण धारिणी है। यही प्राणविद्या तथा महाविद्या है। जो इसे भली भाँति जानता है वही वेद-वेत्ता है।

देखो, कन्द स्थान से ऊपर कुण्डली शक्ति आठ प्रकार से कुण्डली आकृति से ब्रह्म द्वार के मुख को ढाप कर सुखपूर्वक बैठी हुई है। जिस ब्रह्मद्वार से प्राण अनामय रूप से जाते हैं, यह परमेश्वरी शक्ति उसी द्वार को मुख से रोककर सोयी हुई है। तब यह सोई हुई कुण्डली शक्ति जगे कैसे? तो भीतर की जो वन्हि--अग्नि--है उसे मन द्वारा वायु से अग्नि को प्रदीप्त किया जाय, तब यह उठकर जैसे डोरा में पुई हुई सुई जहाँ-जहाँ प्रवेश करती है वहीं-वहीं उसके साथ-साथ डोरा भी जाता है उसी प्रकार सुषुम्ना का मुख खुल जाने पर उसमें प्राण वायु प्रवेश करेगी तो उसके साथ ही साथ ऊपर को सूक्ष्म गात्र भी उसमें प्रवेश कर जायगा। जैसे कुंजी ताली से ताला खोलकर किवाड़ खोल दी जाती है--द्वार को खोला जाता है, उसी प्रकार

मोक्ष का द्वार कुंडलिनी के जाग्रत हो जाने पर खुल जाता है। कुंडलिनी को जाग्रत कैसे करे इसे बताते हैं।

पहिले दृढ़ता के साथ पद्मासन को बाँध सावधानी के साथ बैठ जाय। दोनों हाथों को संपुटित करके—अर्थात् एक हाथ पर दूसरे हाथ को दोने की भांति बनाकर रखकर शरीर को सीधा करे। फिर चिबुक को दृढता से खींचकर छाती में सटाले। फिर प्राणों की चेष्टा पर चित्त को लगाकर ध्यान करो। फिर बार-बार गुदा स्थित अपान वायु को खींच खींचकर गुदा को बार-बार भींच भींचकर ऊपर अग्नि स्थान की ओर ले जाय। जैसे बुझी अग्नि को पंखा की वायु कर करके प्रज्वलित करते हैं, वैसे ही अपान वायु को बार-बार ऊपर की ओर खींचने से कंद स्थानीय जो अग्नि है, वह प्रज्वलित हो जायगी। वह कंद स्थान अग्नि का ही स्थान है, किन्तु अग्नि मन्द होने से कुण्डलिनी वहाँ सो गयी है, उसने अपने मुख से सुषुम्ना के मुख को ढक लिया है, इससे उसमे वायु का प्रवेश नहीं होने पाता। जब अपान वायु नीचे से बार-बार उस अग्नि को प्रज्वलित कर देगी तो उसकी उष्णता से कुण्डलिनी जाग जायगी। और वह प्राणों सहित सुषुम्ना द्वार से ऊपर की ओर चली जायगी। उसके सुषुम्ना में प्रवेश करते ही उस शक्ति के प्रभाव से अतुल बोध हो जायगा।

बारम्बार पद्मासन से वायु को ऊपर ले जाने से शरीर में श्रम होगा। श्रम से शरीर में स्वेद बिन्दु उभर आवेंगे। उन स्वेद कणों को वस्त्र से पोंछे, उसे शरीर में हाथों से उस प्रकार मल ले जैसे तैल मर्दन करते हैं। इससे शरीर में तेज आवेगा।

योग के साधक को अपने आहार को संयमित करना चाहिये। उसे कड़वे, खट्टे तथा नमकीन पदार्थों को नही खाना—

चाहिये। अधिकतर दूध का सेवन करे। योगी को ब्रह्मचारी और मिताहारी बनकर रहना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर नियमित श्रद्धापूर्वक अभ्यास करने से एक वर्ष के ऊपर ही ऊपर उसे सिद्ध प्राप्त हो जायगी, इसमें संशय न करें। आहार सुस्निग्ध हो, पेट के तीन ही भागों को भरे, एक भाग को वायु आने जाने को खाली रखे। जो इस प्रकार केवल सूक्ष्म भोजन शिव की प्रसन्नता के निमित्त भगवत् प्रसाद बुद्धि से खाता है उसी का नाम मिताहारी है।

कन्द स्थान ऊपर कुण्डली शक्ति आठ प्रकार से कुण्डली-गुड़मुड़ी मारे सो रही है। वह मूढ़ पुरुषों के बन्धन के निमित्त तथा योगियों को मोक्ष देने के निमित्त वहाँ स्थित है।

देखो, एक तो महामुद्रा नभोमुद्रा है, दूसरे ओड्यान, जालन्धर और मूल ये तीन बन्ध हैं। जो इन वस्तुओं को जान लेता है वह योगी मुक्तिभाजन हो जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मैंने प्रसुप्त कुंडलिनी को जगाने की विधि बतायी अब आगे जैसे तीनों बन्धों का, महामुद्रा, खेचरी बज्रौली आदि का वर्णन होगा उसे मैं आगे आपसे कहूँगा।"

छप्पय

देह माहिँ दश प्रान बहत्तर सहस नाड़ि सब।
हैं प्रधान दश द्वार बसैं लखि योगि तरहिँ भव॥
कुंडलिनी जगि जाइ प्रान तन ऊपर आवै।
प्रान सुषुम्ना जाय मुक्ति पदवी नर पावै॥
पद्मासन दृढ़ बाँधिकर, पुटित अंक में तानि तन।
चिबुक वक्ष कुंडलि जगै, अनल अनिल जरि प्रविसिमन॥

—०—

(४८) योग चूड़ामणि-उपनिषद्-सार (२)

[३१३]

युक्तं युक्तं त्यजेद् वायुं युक्त युक्त प्रपूरयेत् ।
युक्तं युक्तं प्रवध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥*

(यो० चू० उ० ११९म०)

छप्पय

दै मुद्रा अरु बन्ध तीनि योगी ही जानें।
पायु वायु कूँ खींचि बन्ध मूलहु तिहि मानें॥
उदर पीठि में सटै होइ ओड्यान बन्ध सो।
चिबुक हिये में लगै जाल बँधि जालंधर सो॥
जीभ उलटि शिर कुहर में, घुसै रोचरी होइ सो।
बिन्दु वायु वश होइँ अस, मन वश में है जाइ सो॥

योग साधना बड़ी सावधानी से करनी चाहिये। योग की साधना वाले साधक को सर्वप्रथम तो यह निश्चय कर लेना चाहिये कि काल नित्य है शाश्वत है। ये जो घड़ी, पल, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, ऋतु, मास तथा सम्वत्सरादि हैं ये काल नहीं

* बहुत ही सावधानी से शनैः शनैः वायु को छोड़े और शनैः शनैः उदर मे उसे पूरे—अर्थात् भरे। बड़ी सावधानी से युक्तिपूर्वक भरी हुई वायु का धारण किये रहे। इसी प्रकार युक्ति युक्ति से प्राणायाम करने वाला साधक सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

भाँति जानकर इसका अभ्यास करता हो उसे कोई रोग पीड़ा नहीं पहुँचा सकता। वह कर्मों में लिपायमान नहीं होता। किसी भी बाधा से बाधित नहीं होता। जब जिह्वा कपाल कुहर के आकाश में विचरण करती है, तो चित्त भी उसी आकाश में मँडराता रहता है। इसीलिये इस मुद्रा का नाम खेचरी-नभो मुद्रा है। यह मुद्रा सभी सिद्धों द्वारा नमस्कृत है। देखो, ये समस्त शरीर वीर्य मूल हैं-बिन्दु द्वारा आधारित हैं। वीर्य शिराओं में रहता है। वे शिरायें ही पैर के अँगूठे से लेकर मस्तक पर्यन्त वीर्य को घुमाती हैं। जब खेचरी मुद्रा हो जायगी, लम्बी जिह्वा कपाल कुहर में प्रवेश कर जायगी। तब सब शिरायें बँध जायँगी, उसका वीर्य कभी भी क्षीण नहीं होगा। चाहे भले ही कामिनी द्वारा वह आलिङ्गित ही क्यों न हो। मरण तो बिन्दुपात से होता है, जब तक शरीर में बिन्दु है, तब तक भला मृत्यु हो ही कैसे सकती है? और जब तक खेचरी मुद्रा बँधी है, तब तक बिन्दुपात भी कैसे हो सकता है? किसी प्रकार कामाग्नि प्रज्वलित होने पर बिन्दु हुताशन में गिर भी गया, तो योनिमुद्रा शक्ति के निरोध से फिर वह लौटकर ऊपर की ओर-अपने स्थान में-आ सकता है। वह बिन्दु लौटकर ऊपर कैसे आ सकता है, इस बात को बताते हैं—

बिन्दु दो प्रकार का होता है एक पाण्डर वर्ण—सफेद रङ्ग का, दूसरा लोहित-लाल रंग का। पांडर को शुक्र कहते हैं, लोहित को महारज कहते हैं। रज का वर्ण सिंदूर के सदृश होता है वह रवि स्थान में स्थिर रहता है। शुक्र वर्ण का जो बिन्दु है, वह चन्द्र स्थान में स्थित रहता है, उन दोनों का ऐक्य होना सुदुर्लभ है। बिन्दु ब्रह्मा हैं। रज शक्ति है। बिन्दु चन्द्रमा है, रज रवि है। उन दोनों का ऐक्य हो जाने से परमपद की प्राप्ति हो

अज्ञानियों के लिये अधोगामी होता है, इस प्रकार प्रणव रहता है, जो प्रणव की ऐसी महिमा को जानता है वास्तव में वही वेद वेत्ता है।

ज्ञानियों के लिये तो यही प्रणव अनाहद शब्द रूप से ऊपर की ओर ले जाने वाला होता है। उनको वह अनाहत् शब्द तैल धारावत अविछिन्न दीर्घ घंटा निनादवत् सुनायी देता है। प्रणव की ध्वनि भी उसमें आगे तद्वत् सुनायी देती है उसी को ब्रह्म कहते हैं। वह ब्रह्म ज्योतिर्मय है, अग्र है, अवाच्य है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही महात्माओं से जाना जा सकता है। जो उसे जान लेता है वही वेदवेत्ता कहलाता है। जाग्रत अवस्था में दोनों नेत्रों के मध्य में "हंस" इस नाम से प्रकाशित होता है। इसमें सकार खेचरी है और 'तत्त्वमसि' के 'त्वं' पद का बोधक है। हकार परमेश स्वरूप है और वह "तत्त्वमसि' के 'तत्' पद का बोधक है, जीव सकार का ध्यान करता है तो निश्चय ही हकार-परमेश-स्वरूप हो जाता है।

देखिये, इन्द्रियों द्वारा जीव ही बँध जाता है, आत्मा कभी नहीं बँधता। वही चैतन्य ममत्व के कारण जीव कहलाता है, जब वह ममत्व शून्य हो जाता है तो केवल ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। भू, भुव और स्व ये तीन लोक हैं और सोम, सूर्य तथा अग्नि ये तीन देवता हैं। ये लोक तथा देव जिसकी मात्रा से-आश्रय से-रहते हैं उसी को परं ज्योति कहते हैं। वह परं ज्योति ओंकार ही है। वह ओंकार रूपा परं ज्योति क्रिया शक्ति, इच्छा शक्ति तथा ज्ञानशक्ति इस प्रकार ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री नाम से प्रसिद्ध हैं। ये शक्ति ओंकार के ही सहारे रहती हैं। इसलिये वाणी द्वारा उसी का अभ्यास करे और मन के द्वारा भी उसी ओंकार ज्योति का जप करे।

चाहे पवित्रावस्था में हो, अथवा अपवित्रावस्था में भी क्यों न हो, जो नित्य निरन्तर प्रणव का जप करते हैं, वे कभी पापों में उसी प्रकार लिपायमान नहीं होते, जिस प्रकार जल में रहता हुआ भी कमल पत्र उसमें लिपायमान नहीं होता।

वायु के चलायमान होने से बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और वायु के निश्चल होने से बिन्दु भी निश्चल हो जाता है। वायु के निरोध से योगी स्थाणु-त्व को प्राप्त हो जाता है, इसलिये वायु का ही निरोध करना चाहिये। जब तक शरीर में वायु स्थित है, तब तक जीवात्मा शरीर को छोड़कर जा ही नहीं सकता। जब तक दृष्टि दोनों भौंहो के मध्य में स्थित है तब तक काल का भय हो ही नहीं सकता। इसलिये अल्पायु को रोकने के निमित्त साधक को प्राणायाम मे तत्पर हो जाना चाहिये। इसीलिये ऋषि, मुनि, योगी, सदा प्राणों का निरोध करते हैं।

छब्बीस अंगुल बाहर तक हंस प्रयाण करता है। नासिका के बायें तथा दायें भाग के मार्ग से जो प्राण आते जाते हैं, उन्हीं के आयाम को प्राणायाम कहते हैं। प्राणों को रोकने में केवल कुम्भक करने में योगी तभी सक्षम हो सकेगा, जब मलावृत नाड़ियों में से मल निकल कर नाड़ियों की शुद्धि हो जाय। बद्ध पद्मासन को बाँधकर योगी प्राण को चन्द्र नाड़ी-इडा-से पूरण करे-वायु को खींचे। जब तक सामर्थ्य हो तब तक यथाशक्ति प्राणों का धारण करके-कुम्भक करके-फिर सूर्य नाड़ी-पिंगला-से रेचक करे अर्थात् वायु को निकाल दे। अमृत के सदृश, दधि के सदृश, गौ के दूध के सदृश शुभ्र स्वच्छ धवल चन्द्र बिम्ब का प्राणायाम मे ध्यान करने से साधक सुखी होता है। अथवा विस्फुरत प्रज्वल संज्वाला पूज्य जो हृदय में स्थित आदित्य मण्डल है उसका प्राणायाम मे ध्यान करने से योगी सुखी होता

है। प्राण को पहिले इडा नाड़ी से पीवे फिर यथाशक्ति धारण करके पिंगला से उसका रेचन करे–निकाल दे। फिर इसके विपरीत पिंगला नाड़ी से पीवे और इड़ा से निकाले–रेचन कर दे। इस प्रकार बारम्बार सूर्य और चन्द्र नाड़ियों से वायु को पूरण, धारण और रेचन करे तथा उस समय चन्द्र, सूर्य दोनों बिन्दुओं का ध्यान करे, तो संयमी पुरुष की दो महीने के भीतर ही भीतर नाड़ियाँ शुद्ध हो जायँगी।

जब यथेष्ट मात्रा में वायु धारण करने की शक्ति हो जायगी, केवल कुम्भक करने का अभ्यास बढ़ जायगा, तो जठराग्नि प्रदीप्त हो जायगी। नाद की अभिव्यक्ति होने लगेगी तथा नाड़ियों के शुद्ध हो जाने पर शरीर रोगों से रहित हो जायगा।

जब तक शरीर में प्राण वायु स्थित है, तब तक अपान को रोके रहे। एक श्वासमयी मात्रा ऊपर नीचे गमन की गति वाली होती है। अर्थात् श्वास लेने में एक मात्रा का समय, श्वास छोड़ने में भी एक मात्रा का समय लगे। इस प्रकार रेचक, पूरक और कुम्भक के प्रणवात्मक प्राणायाम को करे। जैसे दो मात्रा समय में पूरक करे, आठ मात्रा समय में कुम्भक और चार मात्रा समय में रेचक। बारह मात्रा संयुक्त जब प्राणायाम होने लगे, सूर्य और चन्द्र जब द्वादश मात्रा संयुक्त हो जायँ तो दोषों के जाल को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। पूरक को बारह करे, कुम्भक को सोलह और रेचक को दश ओंकार के समय में करे। तो यह एक प्राणायाम हुआ।

द्वादश मात्रा समय की प्राणायाम अधम है। चौबीस मात्रा समय की प्राणायाम मध्यम है। और छत्तीस मात्रा समय की प्राणायाम उत्तम बतायी है। यही प्राणायाम के उत्तम, मध्यम और अधम का निर्णय है।

पहिली अवस्था में शरीर में स्वेद होता है, मध्यम में कम्प और उत्तम में स्थान को प्राप्त होता है अर्थात् शरीर भूमि को त्यागकर अधर आकाश में स्थित हो जाता है। इसलिये वायु को रोककर प्राणायाम करना चाहिये।

योगी को चाहिये कि बद्ध पद्मासन में स्थित होकर पहिले अपने गुरुदेव तथा शिवजी को नमस्कार करे। फिर नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर करके एकाकी ही प्राणायाम का अभ्यास करे। पहिले शरीर के जो नव द्वार हैं, इन्हे निरुद्ध करके, वायु को दृढता के साथ बाँधकर, धारणा को दृढ़ करके, काल को अपान वायु और वन्हिसहित शक्ति को सचालित करे। इस विधि से आत्मध्यान सयुक्त होकर वायु को स्थिरता से मूर्धा में धारण करे। इस प्रकार प्राण निरोध पूर्वक जब तक योगी स्थित रहे तब तक महत् संग की स्तुति नहीं होती। अर्थात् उस समय तक साधक को परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्राणायाम होने पर पातक उसी प्रकार भस्म हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि लग जाने पर सम्पूर्ण ईंधन भस्म हो जाता है। यह प्राणायाम ससार रूप समुद्र के पार करने के लिये महासेतु के सदृश है।

देखो, आसनों के अभ्यास से रोगों का नाश होता है। प्राणायाम से पातकों का नाश होता है। प्रत्याहार से योगी मानसिक विकारों को छोड़ देता है। धारणा से मनो धैर्य को प्राप्त होता है अद्भुत ध्यान से चैतन्यता को प्राप्त होता है। और समाधि से शुभ अशुभ कर्मों को त्यागकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। यही षडाङ्ग योग का फल है। बारह प्राणायाम से प्रत्याहार होता है। बारह प्रत्याहार से धारणा होती है। बारह धारणा से ध्यान होता है और बारह ध्यान से समाधि होती है।

अर्थात् प्राणायाम की परिपक्वता को प्रत्याहार, प्रत्याहार की परिपक्वता को धारणा, धारणा की परिपक्वता को ध्यान और ध्यान की परिपक्वता का ही नाम समाधि है।

जिस समय योगी को समाधि अवस्था में अनन्त विश्वतोमुख परंज्योति के दर्शन होने लगते हैं, तो उनके दर्शन से क्रियाकर्म यातायात कुछ भी नहीं रहता। अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता मुक्त हो जाता है।

आसन को सुदृढ़ता से बाँधकर मेढ़ को दोनों पैर की एड़ियों से दबाकर, अर्थात् एक से गुदामार्ग को दूसरे से लिंग द्वार को रोककर, आँख, कान, तथा नाक के छिद्रों को उँगलियों से बन्द करके पवन को मुख से पीकर उदर को परिपूर्ण करे। चिबुक को हृदय में धारण करके वन्हि स्थान से अपान को प्राण सहित उठाकर मूर्धा में धारणा करे। इससे योगीश्वर विशेष तत्त्वसमता प्राप्त होती है। वे तन्मन हो जाते हैं, अर्थात् मन और वायु स्थिर हो जाते हैं।

जब पवन गगन में जाकर प्राप्त हो जाता है, तब एक प्रकार की अनाहत महान् ध्वनि उत्पन्न होती है। वह ध्वनि घण्टानाद के सदृश और भी भाँति-भाँति के बाधों की भाँति होती है। ऐसी ध्वनियाँ जब सुनाई देने लगें, तब समझना चाहिये नाद सिद्धि हो गयी। इस प्रकार प्राणायाम से युक्त होने पर समस्त रोगों का क्षय हो जाता है। जो प्राणायाम से वञ्चित हैं उनके शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते ही हैं। हिचकी आना, खाँसी, श्वास, शिर पीड़ा, कर्णपीड़ा कहाँ तक गिनावें नाना रोग शरीर में हो जाते हैं, क्योंकि शरीर रोगों का घर ही है। शरीर में पवन के व्यत्यय होने से ही रोगों की उत्पत्ति होती है। इसलिये पवन को, वायु को-प्राण को-वश में करना चाहिये। प्राणों को वश में

करते समय शीघ्रता न करे। देखो, सिंह, हाथी, घोड़ा, व्याघ्र शनैः शनैः ही वश मे किये जाते हैं, इसी प्रकार अव्यग्र भाव से शनैः शनैः वायु को वश में करे। शीघ्रता करेगा तो वह साधक का नाश कर देगी। बडी युक्ति से सावधानी के साथ शनैः शनैः वायु का त्यागन करे अर्थात् रेचक करे। फिर युक्ति के साथ शनैः शनैः वायु को पूरण करे और शनैः शनैः ही उसे बाँधे रखे अर्थात् कुंभक करे। इस प्रकार साधन करने से साधक सिद्धि को प्राप्त होगा। ये इन्द्रियाँ विषयों मे विचरती रहती हैं। इन्हें सावधानी से विषयों से हटाकर आत्मा में लगाने का ही नाम प्रत्याहार है। जैसे तीसरे पहर सूर्य सूर्यप्रभा को हरण कर लेता है इसी प्रकार तृतीयांग जो धारणा, ध्यान, समाधि है—उसमें स्थित हुआ योगी मन के विकारों को हरण कर लेता है। इस प्रकार यह योग चूडामणि उपनिषद् समाप्त हुई।"

छप्पय

ओंकार को जाप ताप तन सकल नसावै।
लोक वेद सब देव सबहिं जग ओम बसावै॥
आसन सब रुज हरै देह वर बिमल बनावै।
प्राणायाम प्रधान शुद्ध नाड़ी-अघ जावै॥
प्रत्याहार विकार-मन, हरै धैर्य करि धारना।
चेतनाहु सुख ध्यान तैं, मुक्ति समाधि विचारना॥

इति योग चूडामणि-उपनिषद्-सार समाप्त

(४९) निर्वाणोपनिषद्-सार

[३१४]

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः ।
परमहंसः सोऽहम् । परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः ॥*

(नि० उ० प्रारंभे)

छप्पय

उपनिषद हु निर्वाण मोक्ष को मार्ग बतावै ।
देव, मन्त्र, ऋषि आदि सबनि के अरथ जतावै ॥
जैसे करुणा-केलि और कौपीन उदासी ।
परमहंस यह मन्त्र कह्यो सोऽहं सुखरासी ॥
अजपा गायत्री परम, वसि मसान आनन्द वन ।
सदानन्द अद्वैत सुर, नियम स्वान्त इन्द्रिय दमन ॥

मुक्ति की पदवी संसार की पदवी से उलटी है । जो सभी प्राणियों के सोने का समय है उसमें संयमी जागता है । जिस काल में सभी संसारी लोग जागकर संसार सम्बन्धी कार्यों को करते हैं, योगी उनसे उदासीन होकर उनकी ओर से पीठ फेर-कर निश्चिंतता के साथ सो जाता है । यह मोक्ष मार्ग संसार से विपरीत मार्ग है ।

---

* अब निर्वाण उपनिषद् की व्याख्या करते हैं । परमहंस क्या है ? सोऽहंनिष्ठा-परिव्राजक क्या है, जो पश्चिम लिङ्ग हों ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! निर्वाण उपनिषद् छोटी-सी किन्तु बहुत ही उपादेय उपनिषद् है। इसमें बताया है परमहंस क्या? सोऽहं भाव निष्ठा ही इस उपनिषद् में पारमहंस्य धर्म है। परिव्राजक इसमें पश्चिम लिङ्ग है। मन्मथ क्षेत्रपाल हैं। गगन सिद्धान्त है, अमृत जिसमें कल्लोलित है ऐसी नदी है। निरञ्जन ब्रह्म ही इसकी अक्षय निधि हैं। निःसंशय होना ही इसके ऋषि हैं, निर्वाण ही इस उपनिषद् के देवता हैं। निष्कुलता ही इस मार्ग की प्रवृत्ति है। इस मार्ग में निष्केवल होना ही ज्ञान है। ऊर्ध्व गमन ही इसका सम्प्रदाय है, गुरु परम्परा प्राप्त उपदेश है। निरालम्ब होना ही इस सम्प्रदाय की पीठ है। संयोग ही दीक्षा है, वियोग ही इसका उपदेश है। सन्तोष का पान करना ही इस निर्वाण पथ की दीक्षा है। द्वादश आदित्य ही इसका अवलोकन, निरीक्षण हैं। विवेक ही रक्षा है, करुणा करना ही इस मार्ग में केलि है। आनन्द ही इस सम्प्रदाय की माला है। एकान्त गुफा में मुक्तासन से बैठना ही इस मार्ग में सुख गोष्ठी है। किसी प्रकार की कल्पना न करना ही मानों भिक्षाशी भिक्षा पर ही निर्वाह करने वाला-होना है। 'हंस' मन्त्र का अजपा जप करना इस सम्प्रदाय का आचार है। हंस जो आत्मा है वह सर्व-भूतान्तर्वर्ती है यही सर्वत्र प्रतिपादन करना है। इस मार्ग मे धैर्य ही कन्था गुदड़ी-है। जगत से उदासीन रहना ही इस मार्ग की कौपीन है। विचार करते रहना ही इस मार्ग का दंड है।

सन्यासियों का सन्यास का योगपट्ट (नाम) होता है, इस पन्था में ब्रह्मावलोक ही योगपट्ट है। श्री ही पादुका है। इस अध्वा में आचरण क्या है, परेच्छा ही इसका आचरण है। कुण्डलिनी शक्ति ही बन्ध हैं। जीवन्मुक्तावस्था क्या है योगनिद्रा है। खेचरी ही इस मार्ग में मुद्रा है वह परमानन्द को देने वाली

है। तीनों गुणों से निर्गत है तथा विवेक द्वारा लभ्य है। मन और वाणी द्वारा गोचर है। अनित्य क्या है। जगत् के जो भी जनित पदार्थ हैं, वे जैसे बादलों में हाथी आदि की आकृतियां बन जाती हैं, और वे आकृति अनित्य हैं मिथ्या हैं, वैसे ही ये सब जागतिक पदार्थ अनित्य हैं। जैसे टेढ़ी मेढ़ी पड़ी रस्सी में सर्प की मिथ्या कल्पना कर ली जाती है वैसे ही मोह तथा गुण जाल कलित यह देहादि संघात भी मिथ्या कल्पित है। विष्णु ब्रह्मादि जो सैकड़ों नाम हैं वे ही मानों लक्ष्य हैं। अंकुश ही मार्ग है। शून्य क्या है? जिसमें संकेत न हो ऐसी परमेश्वर की सत्ता है। मठ क्या है? सत्यसिद्धयोग। अमरपद क्या है? तत्-ब्रह्म का स्वरूप। आदि ब्रह्म क्या? स्वसंवित् ब्रह्म। गायत्री क्या है? अजपा गायत्री हंस मन्त्र। विकार दण्ड क्या है, ध्येय वस्तु। कन्था क्या है, मनोनिरोधिनी वृत्ति। योग के द्वारा सदानन्द स्वरूप के दर्शन होते हैं। भिक्षा पर निर्वाह करने वाला क्या है, आनन्द। महा-श्मशान में भी रहे तो भी यह माने कि हम आनन्द वन में निवास कर रहे हैं। एकान्त ही स्थान है। आनन्द ही रहने का मठ है। उन्मनी मुद्रा ही अवस्था है। चेष्टा ही शारदा-वीणा है उन्मनी अवस्था ही गति है। निर्मल होना यही गात्र है। निरालम्ब ही पीठ है। अमृत सागर में कल्लोल करना ही आनन्द क्रिया है। गगन ही पाण्डर-शुभ्रता है। महत्ता ही सिद्धान्त है। शम दमादि दिव्य शक्ति के आचरण में ही क्षेत्र तथा पात्र पटुता है। परावर ही संयोग हैं, तारक दिव्य मन्त्र ही उपदेश है। सदानन्द अद्वैत ही देवता है। अपनी इन्द्रियों का निग्रह करना ही नियम है। भय, मोह, शोक तथा क्रोध छोड़ देने का ही नाम त्याग है। परावर के ऐक्य का अनुभव ही रसास्वादन है। अनिवार्यकला ही निर्मल शक्ति है। स्वप्रकाश ब्रह्मतत्त्व में ही शिव शक्ति

सपुटित प्रपञ्च का छेदन ही छेदन है । पत्राक्ष की जो अक्षि है वही कमण्डलु है। भाव क्या है अभाव का दहन। घूमना क्या है ? आकाश के आधार में तुरीय जो शिव पद है वही मानो यज्ञोपवीत है। तन्मयता होना ही शिखा है। चिन्मय ही उत्सृष्टि दण्ड है। सन्तताक्षि ही कमडलु है, कर्मों का निर्मूलन कर देना ही मानों कन्था है। माया, ममता और अहंकार का दहन ही दहन है। श्मशान में अनाहताङ्गी होकर निस्त्रैगुण्य स्वरूप का अनुसन्धान करते रहना ही मानों समय है। भ्रान्ति का हरण करना ही हरण है। कामादि वृत्तियों का दहन करना ही दहन है। काठिन्यता और दृढता के साथ नियमों का धारण करना ही कौपीन है। मृगचर्म को वस्त्र के स्थान पर ओढना ही मानो चीर है। अनाहत ध्वनि ही मन्त्र है। अक्रिय रहना ही मानो उच्छिष्ट होना है। स्वेच्छाचार ही स्व स्वभाव है, मोक्ष परब्रह्म है। प्लव नौका वत आचरण ही आचरण है। ब्रह्मचर्य ही शान्ति समूह है। ब्रह्मचर्य आश्रम में पढकर तथा वानप्रस्थ आश्रम में अध्ययन करके, सर्वसवित सहित जो त्याग है उसी का नाम सन्यास है। अन्त में अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति होना ही अखण्डाकार है। सम्पूर्ण सन्देहों का नाश हो जाना ही नित्यत्व की प्राप्ति है। इसी का नाम निर्माण दर्शन है। इस निर्माण दर्शन को या तो अपने सत पुत्र को दे अथवा सत् शिष्य को देय। जो अपना पुत्र अथवा आज्ञाकारी शिष्य न हो उसे कभी भूलकर भी इस निर्वाण उपनिषद् का नहीं देना चाहिये। इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त हुई। 'वाङ्मे मनसि' आदि इसका शान्ति पाठ है, यह मोक्ष सम्बन्धिनी ज्ञाननिष्ठा वाली उपनिषद् है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! यह मैंने आपको निर्वाणो-

पनिषद् का सार सिद्धान्त सुनाया अब आगे आप मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का सार सुनिये ।"

छप्पय

धीरज कन्था कही योगनिद्रा शिव भक्ती ।
भिक्षाशी आनन्द, न नियमक निर्मल शक्ती ॥
शिव तुरीय उपवीत तन्मया शिखा कहावै ।
कन्था करमनि नाश दहन ममता बतलावै ॥
दृढ़ता ही कौपीन है, अजिनवास है चीर वर ।
मन्त्र अनाहत शान्ति को, संग्रह है व्रत बृहततर ॥

इति निर्वाणोपनिषद्-सार समाप्त

५०-मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्-सार

[३१५]

यन्मनस्त्रिजगत् सृष्टि स्थिति व्यसन कर्मकृत् ।
तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम् ॥*

(म० ब्रा० उ० ५ ब्रा०)

छप्पय

मण्डल ब्राह्मण कही उपनिषद याज्ञवल्क्य रवि ।
ज्ञानयोग के अङ्ग आठ नवचक्र कहे कवि ॥
पाँच देह के दोष नाश तिनि युक्ति बतायीं ।
कुण्डलिनी करि दरश दोष दुख दुरित नसायीं ॥
तीन लक्ष्य कम तें कहे, आदि मध्य अन्तर सुखद ।
हरि हर दरशन तरव पर, लक्ष्य अन्त सो मोक्षप्रद ॥

मन ही जगत् को बनाता है, मन ही बने बनाये को बिगाड़ देता है। चैतन्यात्मा तो शुद्ध है, विकार रहित है। वह तो प्रपञ्च से परे है। मन प्रपञ्च के अन्तर्गत है। चैतन्यांश जीव का किसी

---

* जिस मन के द्वारा तीनों लोकों की सृष्टि, स्थिति आदि होते हैं, उसी के द्वारा समस्त व्यसन और कर्म किये जाते हैं। अर्थात् जो भी कुछ हो रहा है मन के ही द्वारा हो रहा है। वही मन यदि विलय को प्राप्त हो जाय तो वही विष्णु का परमपद मुक्ति है। क्योंकि मन ही बन्धन का कारण है, मन ही मुक्ति में भी हेतु है।

भी कारण से मन के साथ संयोग हो गया, तो उस चैतन्यांश के संसर्ग से जड़ मन में भी कर्तृत्व शक्ति आ जाती है। वह भाँति-भाँति के मन मोदकों को बनाते-बनाते इतनी बड़ी सृष्टि को संमुख कर देता है। कठपुतली में नाचने की शक्ति नहीं, किन्तु सूत्रधार के सूत्र का उस कठपुतली से सम्बन्ध हो जाने से जड़ होने पर भी वह कठपुतली नाना प्रकार के हाव-भाव कटाक्ष दिखाती हुई नृत्य करने लगती है। दर्शक यवनिका में छिपे सूत्रधार को देख नहीं सकते, यही समझते हैं, कठपुतली ही नृत्य कर रही है। किसी प्रकार सूत्र कट जाय तो कठपुतली निष्क्रिय हो जायगी। इसी प्रकार मन में विकार-कर्मवासनायें-भर गयी हैं, उसी के कारण यह जगत् व्यापार चल रहा है, मन की वासनायें मिट जायँ, तो जगत् विलीन हो जायगा। भाव यह हुआ कि कर्मवासना से भरा मन जगत् की सृष्टि स्थिति करता है, वही वासनाहीन होने से विष्णु के परमपद तक पहुँचा देता है। अतः जैसे भी बने तैसे, जिस उपाय से भी हो सके मन को श्रीकृष्णचरणारविन्दों में विलीन कर दे। तो फिर इस संसार का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। तब तो केवल भगवान् ही भगवान् रह जायँगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनाता हूँ। पूर्ण मद इत्यादि इसका शान्ति पाठ है। यह छोटी-सी ज्ञानयुक्त योग की उपनिषद् है। इसमें पाँच ब्राह्मण हैं। प्रथम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य महामुनि आदित्य लोक में गये। वहाँ उन्होंने आदित्य देव को नमस्कार करके कहा—"भगवन्! हमें आत्मतत्त्व बता दीजिये।" इस पर भगवान् सूर्य नारायण ने कहा—"मैं तुम्हें ज्ञानयुक्त अष्टाङ्ग योग बताऊँगा। अष्टाङ्ग योग में पहिला अङ्ग यम है। यम कितने

हैं ? बताते हैं। शीत-उष्ण, आहार निद्रा इन पर विजय प्राप्त करना, सर्वदा शान्ति भाव से रहना, मति को निश्चल बनाये रहना तथा विषय और इन्द्रियों का निग्रह करना ये आठ प्रकार के यम हैं। दूसरा अङ्ग है नियम। नियम कितने हैं ? बताते हैं (१) गुरु में भक्तिभाव रखना, (२) सत्यमार्ग में अनुरक्ति होना, (३) सुखागत वस्तु का अनुभव, (४) उस सुखागत वस्तु के अनुभव से तुष्टि रखना, (५) निःसङ्गता, (६) एकान्त में निवास करना, (७) मन की निवृत्ति, (८) फलों की अभिलाषा न करना तथा (९) वैराग्य का भाव ये नौ नियम हैं। तीसरा अङ्ग आसन है। आसन क्या ? बताते हैं। जिस आसन से सुख हो उस आसन से बैठने की वृत्ति तथा चीर वस्त्रों से निर्वाह करना यही आसन नियम है। चौथा अङ्ग है प्राणायाम। प्राणायाम क्या ? पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीनों को क्रम से सोलह, चौंसट और बत्तीस मात्रा में करना यही प्राणायाम है। पाँचवाँ अङ्ग है, प्रत्याहार। प्रत्याहार क्या ? विषयों का, इन्द्रियों का तथा मन का निरोध करना यही प्रत्याहार है। छटा अङ्ग है धारणा। धारणा क्या ? समस्त शरीरों में एक ही चैतन्यात्मा विद्यमान है, इसी भावना को दृढ करना इसी का नाम धारणा है। सातवाँ अङ्ग है ध्यान। ध्यान क्या ? विषय व्यावर्तन पूर्वक चैतन्य आत्मा में चित्त को स्थापन करना इसी का नाम ध्यान है। अब अन्तिम आठवाँ अङ्ग समाधि है। समाधि किसे कहते हैं ? ध्यान की भी विस्मृति हो जाना इसी का नाम समाधि है। ये ही योग के सूक्ष्म आठ अङ्ग हैं। जो साधक इन आठों अङ्गों को जानता है, वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।"

देह के (१) काम, (२) क्रोध, (३) निःश्वास, (४) भय और (५) निद्रा ये पाँच दोष बताये हैं, इन्हें हटाने के क्रमशः (१) ।

संकल्पता, (२) क्षमा, (३) लघु आहार, (४) अप्रमादता, और (५) तत्त्व सेवन ये उपाय हैं। निद्रा, भय, रूप सर्पादि हैं, जिसमें तृष्णा ही आवर्त-हिलोरें हैं, स्त्री ही कीचड़ रूपा है, ऐसे संसार रूप जलनिधि को तरने के लिये सूक्ष्म मार्ग का अवलम्ब करके, सत्व, रज और तम जो तीन गुण हैं उनका अतिक्रमण करके तारक ब्रह्म को ही देखना चाहिये। दोनों भौंहों के मध्य में सच्चिदानन्द तेज कूट रूप तारक ब्रह्म हैं। उन्हें देखने का उपाय तीनों लक्ष्यों का देखना ही है। तीनों लक्ष्य क्या हैं ? इसे बताते हैं।

पहिला लक्ष्य तो यह है कि मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र में जो सहस्रार चक्र है वहाँ पर्यन्त सूर्य की आभा के सदृश सुषुम्ना नाड़ी है। उसमें कमलनाल के तन्तु से भी अत्यन्त सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति है, उसके साक्षात्कार से तम की निवृत्ति होती है। उसके दर्शन से समस्त पापों की निवृत्ति हो जाती है। पहिले तर्जनी उँगलियों के अग्रभाग से दोनों कानों के छिद्रों को कसकर बन्द कर ले। इससे एक फूत्कार शब्द उत्पन्न होगा। मन को उस फूत्कार शब्द में लगा ले। जब मन उस फूत्कार शब्द में लग जायगा, तब आँखों के मध्य में एक गहरी नीली-नीली ज्योति उत्पन्न होगी। इसी प्रकार हृदय के भीतर भी। यह तो भीतर की ज्योति की बात हुई। बहिर्लक्ष्य में नासिका के अग्र भाग से चार, छैः, आठ, दश अथवा बारह अंगुल बाहर क्रम से नीलद्युति, श्यामत्व सदृश, रक्तभङ्गी, स्फुरत पीत वर्ण और द्वयोपेत-दो रंगों से मिला-इस प्रकार आकाश को देखता है। वह योगी चलते हुए की भाँति आकाश में इनको देखता है। जिस व्योम भाग की ओर दृष्टि जाती है, तो पुरुष की दृष्टि के आगे ज्योति की मयूखा-किरण दिखायी देती है। अर्थात् उसकी आँखों में जो रंग बिरंगी ज्योति की एक प्रभा दिखायी देती है,

वहाँ जिधर दृष्टि ले जाता है, उधर ही वह प्रभा चलती हुई-सी दिखायी देती है, जैसे परदे पर छाया चित्र घूमते-ऊपर नीचे आते जाते दिखायी देते हैं। जब दृष्टि स्थिर होती है तब सिर के ऊपर बारह अंगुल प्रमाण पर एक ज्योति दिखायी देती है। वह शिर पर बारह अंगुल दूर जब ज्योति दिखायी देने लगती है, तब योगी अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् वह मृत्यु को जीत लेता है, फिर उसका मरण का दुःख सर्वथा नष्ट हो जाता है। यह तो तीन लक्ष्यों में से प्रथम बहिर्लक्ष्य की बात हुई।

अब मध्यलक्ष्य की बात सुनिये। मध्य लक्ष्य में प्रातःकाल के समय आकाश में चित्र विचित्र वर्ण, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि ज्वालावली की भाँति दिखायी देते हैं अथवा इनसे विहीन [illegible] रिक्त वत् दीखता है। उस समय आकाश में भाँति-भाँति के आकार दिखायी देते हैं। अभ्यास करने से फिर निर्विकार [illegible] रहित आकाश हो जाता है। तदनन्तर जैसे तारा टूटता है [illegible] सदृश प्रगाढ़तम उपमा वाला पराकाश हो जाता है। [illegible] के प्रकाश के सदृश सूर्याकाश हो जाता है। फिर [illegible] सदृश द्योतमान महाकाश हो जाता है। फिर [illegible] अद्वितीय प्रद्योतमान तत्त्वाकाश हो जाता है। [illegible] प्रकाश के सदृश सूर्याकाश हो जाता है। [illegible] करते-करते साधक का मन उसमें तन्मय हो [illegible] जानता है, वास्तव में वही योग का जानकार है।

योग दो प्रकार का होता है। पूर्वयोग और [illegible] योग तारक कहलाता है, उत्तर योग [illegible] जो पूर्वयोग तारक है उसके भी दो भेद होते हैं। प [illegible] तारक और दूसरा अमूर्तितारक। जो [illegible] इन्द्रियों द्वारा गोचर है वह तो मूर्तितारक [illegible]

जो दोनों भौंहों के मध्य से भी अतीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनों को ही मन से युक्त होकर अभ्यास करना चाहिये। मन से युक्त होकर अभ्यास करने से अन्तर दृष्टि तारक को प्रकाशित करने के लिये होती है। इस प्रकार अभ्यास करने से दोनों भौंहों के मध्य बिल में तेज का आविर्भाव होता है। इसी का नाम पहिला पूर्व तारक योग है। अब दूसरा जो उत्तर मनस्क योग है उसके सम्बन्ध में सुनिये।

उत्तर योग अमनस्क योग कहलाता है। तालु का जो मूल भाग है, उसके ऊर्ध्व भाग में महाज्योति विद्यमान है। उस महाज्योति के दर्शन से ही अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस लक्ष्य से बाह्य और अन्तर्दृष्टि हो जाती है। दृष्टि को बाहर स्थिर करके न तो पलक गिरें न खुलें इस पर यह शाम्भवी मुद्रा होती है। यह महाविद्या सर्वतन्त्रों में गोपनीय बतायी है। इस शाम्भवी मुद्रा के ज्ञान से संसार से निवृत्ति हो जाती है। इस मुद्रा का पूजन मोक्ष के फल को देने वाला होता है। यह अन्तर्लक्ष्य जल ज्योति स्वरूप होती है। यह महर्षियों द्वारा ही जानी जा सकती है। यह अन्तर तथा बाह्य इन्द्रियों द्वारा अदृश्य है। सहस्रार चक्र में जल ज्योति अन्तर्लक्ष्य है। कुछ आचार्यों का कहना है बुद्धि की गुफा में सर्वाङ्ग सुन्दर जो पुरुष रूप है। वास्तव में वही अन्तर्लक्ष्य है। शिर के अन्तर्गत मण्डल के मध्य में पाँच मुख वाले नीलकण्ठ शिवजी उप प्रशान्त भाव से अवस्थित हैं, कुछ लोग इसे अन्तर्लक्ष्य कहते हैं। कुछ लोगों का मत है हृदय कमल में जो अंगुष्ठ मात्र पुरुष है वही अन्तर्लक्ष्य है। ये सभी विकल्प आत्मा में ही हैं। उस लक्ष्य को शुद्धात्म दृष्टि से जो देखता है, वही ब्रह्मनिष्ठ होता है। पच्चीस तत्त्वों वाला जीव है। स्वकल्पित जो चौबीस तत्त्व हैं उन्हें छोड़कर छब्बीसवाँ जो

परमात्म तत्त्व है उसे जो कोई जान लेता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य के दर्शन से जीवन्मुक्ति दशा में स्वयं ही वह अन्तर्लक्ष्य होकर परम आकाश अखण्ड मण्डल हो जाता है। इस प्रकार आदि लक्ष्य, मध्य लक्ष्य और अन्तर्लक्ष्य इन तीनों लक्ष्यों का वर्णन किया। यहाँ आकार मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का प्रथम ब्राह्मण समाप्त होता है।

दूसरे ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य पुनः आदित्य मण्डलस्थ पुरुष से पूछते हैं—"भगवन्! आपने अन्तर्लक्ष्यादिक कई प्रकार से बताया उसे मैं भली-भाँति समझ नहीं सका। उसे मुझे कृपा करके फिर से समझाइये।"

यह सुनकर भगवान् आदित्य ने कहा—"पञ्चभूत ही जिसके कारण हैं, कूटस्थ विद्युत् के समान जिसकी आभा है, इस प्रकार एक चतुः पीठ है। उस पीठ के मध्य में तत्त्व प्रकाश होता है। प्रकाश अत्यन्त गूढ़ और अव्यक्त है। उसे तो ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ होकर ही जाना जा सकता है। वही बाह्य तथा आभ्यन्तर लक्ष्य है। उस तत्त्व प्रकाश में ही समस्त जगत् लीन हो जाता है। वही नाद, बिन्दु तथा कला से अतीत अखण्ड मण्डल है। वह सगुण तथा निर्गुण स्वरूप है। उसे जो जान लेता है वह विमुक्त हो जाता है। पाँच मण्डल बताये। उनमें पहिला अग्नि मण्डल है। उससे ऊपर सूर्यमण्डल है उस सूर्य-मण्डल के मध्य में सुधा चन्द्रमण्डल है। उस सुधा चन्द्रमण्डल के भी मध्य में अखण्ड ब्रह्म तेज मण्डल है। उसमें विद्युत् लेखा की भाँति शुक्ल भास्वर है। उसी को शाम्भवी लक्षण कहते हैं। उसके दर्शन में तीन मूर्तियाँ बतायी गयी हैं। पहिली अमावस्या मूर्ति, दूसरी प्रतिपत् मूर्ति और तीसरी पूर्णिमामूर्ति। निमीलित दृष्टि होना इसी का नाम अमामूर्ति है। अर्धोन्मीलित दर्शन को

प्रतिपत् मूर्ति कहते हैं और सर्वोन्मीलन ही पूर्णिमा मूर्ति होती है। इनमें से पूर्णिमा मूर्ति का ही अभ्यास करना चाहिये। उस पूर्णिमा मूर्ति का लक्ष्य नासिका का अग्र भाग है। जिस समय तालु के मूल में प्रगाढ़ तम दिखायी देता है। वही प्रगाढ़तम अभ्यास करते-करते अभ्यास से अखण्ड मण्डलाकार ज्योति के रूप में दिखायी देने लगता है। वही अखण्डमण्डलाकार ज्योति सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप है। इस प्रकार जब मन सहजानन्द में लीन हो जाता है, तब जीव प्रशान्त हो जाता है। उसी को खेचरी मुद्रा कहते हैं। उस खेचरी मुद्रा के अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है। मन के स्थिर होने पर वायु-प्राण-भी स्थिर हो जाता है। उसके चिन्ह ये हैं। पहिले आँख खोलने पर और मींच लेने पर भी तारा के सदृश प्रकाश दीखता है फिर वज्र दर्पण के सदृश, तदनन्तर ऊपर में पूर्णचन्द्रमण्डल के सदृश दीखने लगता है फिर नवरत्न प्रभामण्डल दीखता है। तदनन्तर मध्यान्ह का सूर्यमंडल फिर अग्नि शिखा मंडल, इस प्रकार क्रम-क्रम से दिखायी देने लगते हैं। तब पश्चिमाभिमुख प्रकाश दीखता है। उसमें स्फटिक, धूम्र, बिन्दु, नाद, कला, नक्षत्र, खद्योत, दीपक, नेत्र, सवर्ण तथा नवरत्नादि प्रभा दिखायी देने लगती हैं। प्रभा दर्शन प्रणव स्वरूप है।

देखो, प्राण और अपान का ऐक्य करके कुम्भक प्राणायाम को धारण करे। फिर नासिका के अग्रभाग को देखते हुए दृढ़ भावना से दोनों हाथों की उँगलियों से आँख, कान और नासिका के दो-दो द्वारों (छेओ द्वारों) को रोककर प्रणव ध्वनि-जो अनाहत ध्वनि है उसे सुने। उस ध्वनि में मन को लीन कर दे। जब उस प्रणव ध्वनि में मन भली भाँति लीन हो जायगा, तब उस साधक को कर्म लिपायमान नहीं कर सकते। सूर्य के उदय तथा अस्त

होने के समय इस कर्म को करना चाहिये। इस प्रकार चैतन्य जो आदित्य है, उनके उदय अस्त के अभाव से अर्थात् चैतन्य आदित्य का न उदय है न अस्त, उसी प्रकार योगी के लिये भी सभी कर्मों का अभाव हो जाता है। शब्द में काल का लय हो जाने पर दिन और रात्रि से अतीतावस्था हो जाती है। दिन रात्रि तो काल के ही अवयव हैं। जब शब्द में काल ही लय हो गया तो दिन रात्रि का भेद भाव कहाँ रहा ? वहाँ तो सर्व परिपूर्ण ज्ञान द्वारा उन्मनी अवस्था हो जाती है। उस उन्मनी अवस्था में जीव ब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। उन्मनी अवस्था से अमनस्क हो जाता है। उस अमनस्क अवस्था की निश्चिन्ता का ही नाम ध्यान है।अब पूजा विधि बताते हैं। पूजा में सर्वप्रथम आवाहन किया जाता है। इस ज्ञान योग में सर्व कर्मों का निराकरण ही मानों आवाहन है। आवाहन के पश्चात् आसन दिया जाता है, तो निश्चय ज्ञान ही आसन है। उन्मनी भाव पाद्य है। सदा अमनस्क रहना ही अर्घ्य है। सदा दीप्ति अपार अमृत वृत्ति ही मानों स्नान है। सर्वत्र ब्रह्म भावना ही गन्ध है। दृक् स्वरूप अवस्थान ही मानो अक्षत हैं। चित् स्वरूप की प्राप्ति मानों पुष्प हैं। चित् स्वरूप की प्राप्ति मानों पुष्प हैं। चित् अग्नि स्वरूपता ही मानों धूप है। चिदादित्य स्वरूप ही मानों दीपदान है। परिपूर्ण जो चन्द्रमा का अमृत रस है उसका ऐकीकरण ही मानों नैवेद्य है। निश्चल भाव ही मानों प्रदक्षिणा है। सोऽहं भाव ही नमस्कार है। मौन भाव ही मानों स्तुति है। सर्व सन्तोष ही मानों विसर्जन है। यही षोडशोपचार ज्ञान योग पूजा है। उसे जो जानता है, वही वास्तव मे जानने वाला है।

इस प्रकार त्रिपुटी के निरस्त होने पर तरङ्ग रहित समुद्र की

तरह, निर्वात स्थान में रखे दीपक की भाँति अचल तथा सम्पूर्ण भाव अभाव विहीन कैवल्य ज्योति हो जाती है। जाग्रत और निन्दान्त के परिज्ञान से साधक ब्रह्मवित् हो जाता है। सुषुप्ति सम मनोलय होने पर भी महान उभय भेद हैं, जैसे तमोगुण में लीन होने पर मुक्ति के हेतु का अभाव होता है। अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में यद्यपि मन लीन होता है किन्तु वह अज्ञान के साथ लीन होता है, इसलिये वह मुक्ति सुख से वंचित रहता है। समाधि अवस्था में तमो विकार नष्ट हो जाते हैं। उस समय तदाकार होने से अखण्डाकार वृत्यात्मक साक्षि चैतन्य में प्रपंच का लय हो जाता है। प्रपञ्च जो है वह मन द्वारा कल्पित ही है। प्रपञ्च में मन के लय हो जाने से, भेद का अभाव हो जाने से कदाचित् मन वहिर्गत होने पर भी संसार का मिथ्यात्व तो बना ही रहता है, क्योंकि एक बार भी सदानन्द का अनुभव गोचर हो गया वह भी ब्रह्मवित् हो जाता है। अर्थात् क्षण भर को भी मन ब्रह्माकार वृत्ति वाला हो जाता है तो यह संसार सदा के लिये मिथ्या दिखायी देने लगता है। जिस साधक का संकल्प नाश हो गया है, उसके तो मुक्ति हाथ में ही रखी है। इसीलिये भाव अभाव को त्यागकर परमात्मा के ध्यान से ही मुक्ति पद प्राप्त हो जाता है। फिर बारम्बार सभी अवस्थाओं में ज्ञान-ज्ञेय, ध्यान-ध्येय, लक्ष्य-अलक्ष्य, दृष्य-अदृष्य-आदि ऊहापोहों को त्यागकर वह जीवन मुक्त ही हो जाता है। जो इस रहस्य को जान लेता है, वास्तव में वही यथार्थ ज्ञानकार है।

पाँच अवस्थायें होती हैं। १-जाग्रत, २-स्वप्न, २-सुषुप्ति ४-तुरीय और ५-तुरीयातीतावस्था।

जाग्रत अवस्था में प्रवृत्त जीव प्रवृत्ति मार्ग में आसक्त रहता है। उस अवस्था में पाप कर्मों के फल से नरक मिलना चाहिये

और पुण्य कर्मों के फल से स्वर्ग की प्राप्ति होनी चाहिये, इस प्रकार की आकांक्षा होती है। वही जीव जब वैराग्य को स्वीकार कर लेता है अर्थात् उसे संसार से वैराग्य हो जाता है, तब कर्म, कर्मों का फल, तथा जन्म मरण ये सब समाप्त हो जाते हैं। यह संसार बन्धन है, ऐसी अलंबुद्धि हो जाती है। संसार से वैराग्य हो जाने पर जीव मुक्ति के अभिमुख हो जाता है, अर्थात् जीवन में जहाँ वैराग्य आया वहाँ वह संसारी मोह का परित्याग करके मुक्ति मार्ग की ओर चल पड़ता है। उसकी प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति और निवृत्ति मार्ग से प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा वैराग्य-वान् साधक जिसकी प्रवृत्ति मुक्ति मार्ग की ओर हो गयी है, वह संसार रूपी सागर से तरने के निमित्त गुरु का आश्रय लेता है, कामादि वासनाओं को त्यागकर, वेद विहित जो कर्म हैं, उनका आचरण करता हुआ, साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर, हृदय कमल के मध्य में जो भगवत् सत्ता मात्र है, उसी को अन्तर्लक्ष्य करके उसी के रूप को प्राप्त होता है। तब उसकी सुषुप्ति अवस्था में जो ब्रह्मानन्द स्मृति मुक्त हो चुकी थी, उस स्मृति को पुनः प्राप्त करके ऐसा अनुभव करने लगता है, कि मैं एक ही हूँ, मैं अद्वितीय हूँ। कुछ काल तक अज्ञान वृत्ति को विस्मृत करके जाग्रत अवस्था की जो वासनायें हैं उनके अनुकूल मैं तैजस हूँ ऐसा अनुभव करता है। जब इन दोनों से निवृत्त हो जाता है, तो ऐसा अनुभव करता है कि मैं तैजस नहीं प्राज्ञ हूँ। मैं इस समय एक ही हूँ। स्थान भेद से अवस्था भेद होता ही है। परन्तु इतना विवेक तो बना ही रहता है, कि मुझसे अन्य और कोई है ही नहीं। मैं शुद्ध हूँ, अद्वैत हूँ तथा मैं ही ब्रह्म हूँ। इस प्रकार भिदागन्ध को निरसन करके अपने अन्तःकरण में जो विजृम्भित भानुमण्डल है, उसके ध्यान से तदाकारित वृत्ति

वाला परब्रह्मकारित वृत्ति वाला जो मुक्ति का मार्ग है उसमें वह आरूढ़ होकर परिपक्व हो जाता है।

मन के बन्धन के हेतु संकल्प आदि ही हैं। संकल्प विकल्प से विमुक्त हुआ मन मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। मुक्ति मार्ग की ओर जाने वाला मन चक्षु आदि इन्द्रियों के जो विषय हैं उन वाह्य प्रपञ्चों से उपरत होकर-प्रपञ्च गन्ध से रहित होकर-अपने को सर्वजगत् मय अनुभव करने लगता है। उसका अहङ्कार छूट जाता है, तब वह ऐसा चिन्तन करने लगता है, कि मैं ब्रह्म हूँ। यह जो भी कुछ है सब आत्मा ही आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसी भावना होने पर साधक कृतकृत्य हो जाता है। वही सर्वपरिपूर्ण, तुरीयावस्था से भी अतीत, ब्रह्म भूत योगी हो जाता है। उसी की लोग ब्रह्म भावना से स्तुति करते हैं। वह समस्त लोकों का स्तुति पात्र है, वह सभी देशों में संचार शील है। ऐसा योगी परमात्म गगन में बिन्दु को निक्षिप्त करके शुद्ध, अद्वैत, अजाड्य, सहज, अमनस्क जो यागनिद्रा है, जिसमें अखण्ड आनन्द पद की अनुवृत्ति होती है उसे प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो जाता है। अर्थात् इस शरीर में जीवित रहने पर ही मुक्ति का जो अखण्ड आनन्द है उसका अनुभव करने लगता है। ऐसे योगी आनन्द के समुद्र में निमग्न हो जाते हैं। उन योगियों की अपेक्षा इन्द्रादि जो लोकपाल हैं उनका आनन्द भी स्वल्प ही है। ऐसे आनन्द को प्राप्त करने वाला ही परम योगी है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का द्वितीय ब्राह्मण समाप्त हुआ।"

अब तृतीय ब्राह्मण में महामुनि याज्ञवल्क्यजी ने आदित्य मण्डल के जो आदित्य पुरुष हैं उनसे पूछा—"स्वामिन्! आपने

पीछे यद्यपि अमनस्क योग के लक्षण बताये थे, किन्तु मैं उसे भूल गया, कृपा करके फिर से उसके लक्षण को मुझे बताइये।"

भगवान् आदित्य ने कहा—"अच्छा, भूल गये ? कोई बात नहीं, मैं फिर से तुम्हें बताता हूँ। देखो, भैया ! यह अमनस्क अति ही रहस्यमय है। इसके ज्ञान से जीव कृतार्थ हो जाता है, यह नित्य ही शाम्भवी मुद्रा–खेचरी मुद्रा–से युक्त है। परमात्म दृष्टि से उनके जो प्रत्यय लक्ष्य हैं, उन लक्ष्यों को देखकर उसके पश्चात् जो सर्वेश, अप्रमेय, अज, शिव, परमाकाश, निरालम्ब, अद्वितीय, ब्रह्मा विष्णु और रुद्रादि देवों का जो एकमात्र लक्ष्य है, सर्व कारणों का भी जो कारण है, उस परब्रह्म परमात्मा को ही देखता हुआ कपाल कुहर में जिह्वा के उलट कर प्रवेश करने से इस गुहा में ही विहरण करते रहेंगे ऐसे निश्चय को जानकर भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर, मन उन्मनी अनुभव से संवित होकर तदनतर अखिल इन्द्रियों के क्षय होने के कारण अमनस्क सुख प्राप्त होता है। वह अमनस्क सुख क्या है ? मानों ब्रह्मानन्द समुद्र में मनः प्रवाह योग रूप से इस प्रकार शान्त स्थित होता है, जिस प्रकार निर्वात स्थान में रखा हुआ दीपक शान्त भाव से जलता रहता है। उसी प्रकार साधक इस अमनस्क योग द्वारा परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। उस समय मन सूखे वृक्ष की भाँति, मूर्छा से मूर्छित पुरुष के समान, प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न पुरुष के समान, श्वास उश्वास से रहित होकर शान्त हो जाता है। समस्त द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं, गात्र सदा चञ्चलता रहित होकर शान्त भाव को प्राप्त हो जाता है। उस समय मन परम शान्तिको स्वीकार करके परमात्मा में लीन हो जाता है। जैसे दूध से भरे गौ के स्तनों से दूध दुह लेने के अनन्तर धेनु के

स्तन क्षीर की भाँति समस्त इन्द्रियों के परिनष्ट हो जाने पर जो मन का नाश हो जाता है, उसी का नाम अमनस्क योग है। अर्थात् गौ के थनों से दूध निकल जाने पर वे स्तन दूध रहित हो जाते हैं, उसी प्रकार जब इन्द्रियाँ विषयों से पृथक् होकर आत्मा में लग जाती हैं तो मन भी संकल्प विकल्प से शून्य हो जाता है। इसे ही अमनस्क योग कहते हैं।

तदनन्तर–नित्यशुद्ध जो परमात्म तत्त्व है उसमें वह मैं ही हूँ, ऐसी भावना हो जाती है। "तत्त्वमसि" इसके उपदेश से 'तुम ही मैं हूँ मैं ही तुम हो' इसी भावना को तारक योग कहते हैं, उस तारक योग मार्ग द्वारा अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है, तब वह साधक कृतार्थ हो जाता है। परिपूर्ण पराकाशमग्न मन वाले, जिन्हें उन्मनी अवस्था प्राप्त हो चुकी है, जिन्होंने समस्त इन्द्रिय वर्ग का संन्यास कर रखा है, जिनके अनेक जन्मों के अर्जित पुण्य पुञ्ज रूप फल पक कर कैवल्य स्वरूप बन चुके हैं, ऐसे पुण्यपुञ्ज साधक के अखण्ड आनन्द सागर में निमग्न होने से समस्त क्लेश कल्मष नष्ट हो चुके हैं वे ऐसा अनुभव करने लगते हैं कि 'अहं ब्रह्म' मैं ही ब्रह्म हूँ। ऐसा अनुभव करके वे कृतकृत्य हो जाते हैं। तुम ही मैं हूँ 'त्वमेवाहं' इस भावना के कारण उसमें कोई भेद भाव नहीं रहता। क्योंकि वह परमात्मा में परिपूर्ण हो चुका है। 'त्वमेवाहं' ऐसा उच्चारण करते हुए शिष्य का गाढ़ालिङ्गन करके उसे यह विज्ञप्ति सम्यक प्रकार से समझा दे, इसका साक्षात्कार करा दे यही अमनस्क योग है।" यहाँ आकर मण्डल ब्राह्मण (उपनिषद् का तीसरा ब्राह्मण समाप्त होता है।

अब चौथे ब्राह्मण में महामुनि याज्ञवल्क्य ने फिर उन महा-मण्डल पुरुष भगवान् आदित्य नारायण से पूछा—"भगवन्!

व्योमपञ्चक जो आपने पीछे बताया, उसे कृपा कर विस्तार के साथ कहें।"

इस पर भगवान् आदित्य ने कहा—"देखो, भैया! पीछे जो मैंने व्योमपचक बताये वे पाँच ये हैं। पहला-आकाश, दूसरा-पराकाश,तीसरा-महाकाश, चौथा-सूर्याकाश और पाँचवा परमाकाश। अब इनकी व्याख्या सुनिये। १-आकाश उसे कहते हैं जो बाहर भीतर अन्धकार मय हो। २-पराकाश उसका नाम है जो बाहर से अभ्यन्तर में कालानल के सदृश हो। ३-महाकाश उसका नाम है जो बाहर तथा भीतर में भी अपरिमित द्युति वाला तत्त्व हो। चौथा सूर्याकाश उसका नाम है जो भीतर में तथा बाहर में भी सूर्य सदृश आभा वाला हो। ५-परमाकाश उसका नाम है जिसकी ज्योति अनिर्वचनीय हो, जो सर्वव्यापक तथा निरतिशय आनन्द लक्षण वाला हो। इस प्रकार तत् तत् लक्ष्य दर्शन वाला होने से तद् तद् रूपानुसार ही उनके नाम हो जाते हैं। जो साधक नौ चक्रों को, छैः आधारों को, तीन लक्ष्यों को तथा व्योमपञ्चक को नहीं जानता वह नाम मात्र का ही योगी होता है।" इस प्रकार यहाँ मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् का चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त हुआ।

अब अन्तिम पञ्चम ब्राह्मण में ज्ञान योग का सार सिद्धान्त बताते हुए कहते हैं—"देखो, विषयासक्त मन बन्धन का कारण है, वही जब निर्विषय हो जाता है मुक्ति का कारण हो जाता है। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् चित्तगोचर है। वही चित्त निराश्रय तथा मन उन्मनी अवस्था परिपक्व हो जाय तो वही लय योग कहलाता है। वह लय परिपूर्ण जो मैं-अहम् हूँ उसमें अभ्यास करे। मनोलय का कारण 'अहम्' ही है। अनाहत जो शब्द है,

उस शब्द को ही ध्वनि कहते हैं। ध्वनि के अन्तर्गत ही ज्योति है, ज्योति के अन्तर्गत ही मन है। यह मन ही तीनों लोकों की सृष्टि, स्थिति तथा व्यसनों को करने वाला है। जब यह मन विलय को प्राप्त हो जाता है, वही विष्णु का परम पद कहलाता है। उस मन के लय हो जाने पर शुद्ध, अद्वैत सिद्धि हो जाती है, क्योंकि वहाँ भेद का अभाव हो जाता है।

उसी को परम तत्त्व भी कहते हैं। जो उस परम तत्त्व को जान जाता है वह लोक में बालकों की भाँति, उन्मत्त, पिशाच तथा जड़वत् आचरण करता है। इस प्रकार अमनस्क के अभ्यास से ही नित्यतृप्ति, मल-मूत्र का अल्प होना, भोजन का स्वल्प होना, अङ्गों का सुदृढ़ हो जाना तथा जड़ता, निद्रा और पलकों का गिरना-मुँदना इन सबका अभाव हो जाता है। ब्रह्म दर्शन से ज्ञात सुख स्वरूप सिद्धि होती है। इस प्रकार चिर समाधि जनित जो ब्रह्मामृत है उसके पान करने में जो योगी परायण है, वास्तव में वही संन्यासी है, वही परमहंस है और वही अवधूत है। उसके दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण संसार परम पावन बन जाता है। ऐसे परमहंस योगी संन्यासी की जो सेवा करता है, वह अज्ञ होने पर भी मुक्त हो जाता है। वह अपने इकहत्तर कुलों को तार देता है। उसके माता, पिता, पत्नी, पुत्रादि वर्ग सभी मुक्त हो जाते हैं। यही मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् है, वह समाप्त हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह उपनिषद् ज्ञानयोग के सम्बन्ध की है। इसमें अन्य योग की उपनिषदों से बहुत-सी बातें विलक्षण हैं। इसमें स्वानुभव की बहुत-सी प्रक्रियायें हैं। पाँच ब्राह्मण वाली यह उपनिषद् समाप्त हुई। अब आप दक्षिणामूर्ति के सार सिद्धान्त श्रवण करें।"

छप्पय

(१)

कही खेचरी लक्ष्य अन्त की अनहद ध्वनि पुनि।
षोडस पूजा ज्ञान बतायी पुनि समाधि मुनि ! ॥
पाँच अवस्था कहीं सबनि के फल बतलाये।
सुख जो तुरियातीत इन्द्र सुख तुच्छ बताये ॥
पुनि अमनस्क लक्षण कहे, व्योम पञ्च व्याख्या रहीं।
षडाधार, नवचक्र अरु, लक्ष्य तीन ये सब कहीं ॥

(२)

मन ही कारन बन्ध विषय तजि मुक्ति दिवावै।
शुद्ध ब्रह्म लवलीन विषय युत जगत बनावै ॥
बिलय होइ मन विष्णु-परम पद ताहि बतावै।
भेद भाव मिटि जाय शुद्ध अद्वैत कहावै ॥
परम तत्त्व में लीन मन, वही ब्रह्म विद सब उपरि।
उनकी जो सेवा करें, मुक्त होइँ कुल जाइँ तरि ॥

इति मण्डल ब्राह्मण उपनिषद्-सार समाप्त।

(५१) दक्षिणामूर्ति तथा (५२) शरभ-उपनिषद्-सार

[३१६]

वीणां करैः पुस्तकमक्षमालाम्
बिभ्राणमभ्राभगलं वराढ्यम् ।
फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभिः शुकाद्यैः
सेव्यं वटाधः कृतनीडमीडे ॥*

(द० मू० उ० १० मं०)

छप्पय

मुनि मृकण्डु-सुत निकट शौनकादिक ऋषि आये ।
चिरजीवी कस आयु ? दक्षिणामूर्ति बताये ॥
ज्ञान, देव, जप, मन्त्र, सु-निष्ठा, मुद्रा, साधन ।
परिकरि बलि इस्थान प्रश्न पूछे अति पावन ॥
का स्वरूप ? अरु उदय का ? कौन उपासक कहहु मुनि ।
उत्तर सबके मुनि दये, शौनकादि के प्रश्न सुनि ॥

---

* जिनके कर कमलों में वीणा, पुस्तक और रुद्राक्ष की माला है, जिनका गला नीला होने से जो नीलकंठ कहाते हैं, जो वरदान देने में अत्यन्त उदार—थोढदानी हैं । जिनकी कटि में सर्प लिपटे हुए हैं, शुक सनकादि ऋषियों द्वारा जो सेव्य हैं; जिन्होंने वट के नीचे अपना निवास बना रखा है, उन सदाशिव की हम स्तुति करते हैं ।

प्राचीन परिपाठी के अनुसार शिवजी के मन्दिरों का मुख दक्षिण की ओर होता था, अतः शिवजी का नाम दक्षिणामूर्ति भी है। दक्षिणामूर्ति उपनिषद् शैव उपनिषद् है, छोटी-सी बीस मन्त्रों वाली शिवतत्त्व को प्रकटित करने वाली यह परम महत्त्व की उपनिषद् है। 'सहनाववतु' इत्यादि इसका शान्ति पाठ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं दक्षिणामूर्ति उपनिषद् के अर्थ को कहता हूँ। एक बार ब्रह्मावर्त क्षेत्र में एक भाण्डीर नामक बड़ा भारी वट वृक्ष था। उसके नीचे शौनकादि अठासी सहस्र ऋषि महासत्र के लिये एकत्रित हुए। वहाँ समीप में ही महामुनि मार्कण्डेयजी भी तपस्या कर रहे थे। आप सब के सब महर्षिगण हाथों में समिधा लेकर चिरजीवी मार्कण्डेय मुनि के समीप मे गये। उनके समीप जाकर शिष्टाचार के अनन्तर आप सब की ओर से इन भगवान् शौनक ने पूछा—"भगवन्! आप किस कारण से चिरजीवी हो गये हैं? आप किसके द्वारा आनन्द का अनुभव कर रहे हैं?"

महर्षि मार्कण्डेयजी ने कहा—"महर्षियो! मैं परम रहस्यमय जो शिवतत्व है उसी के ज्ञान द्वारा आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ।"

इस पर आप सब महर्षियो ने पूछा—"भगवन! आप यह बताने की कृपा करें, कि वह परमरहस्य शिवतत्त्व ज्ञान क्या है? उसके देवता कौन हैं? उनके कौन-कौन से मन्त्र हैं? उसका जप क्या है? उसकी मुद्रा कौन सी है? उसकी निष्ठा क्या है? उसके ज्ञान साधन क्या हैं? उसका परिकर क्या है? उसकी बलि क्या है? उसका काल कहाँ है? उसका स्थान क्या है?"

ऋषियों के इतने प्रश्न सुनकर [illegible]

"तुम्हारा प्रथम प्रश्न शिवतत्त्व ज्ञान का है, उसका उत्तर है—जिसने दक्षिणाभिमुख श्री शिवजी को अपरोक्षीकृत किया है—उनका साक्षात्कार कर लिया है, वही परम रहस्य शिवतत्त्व वान है।"

दूसरा प्रश्न कौन देवता हैं ? सो जो सबके उपराम काल में-अर्थात् प्रलय काल में—समस्त जगत् को अपने में समेट कर स्वात्मानन्द सुख में आनन्द करते हैं, मुदित होते हैं, प्रकाशित होते हैं, वे ही भगवान् सदा शिव इसके देवता हैं। अब तीसरा प्रश्न मंत्रों के सम्बंध में है, सो कहते हैं इसमें इतने मंत्र के रहस्य को प्रकट करने वाले श्लोक हैं। उनका भाव यह है—मेधा दक्षिणामूर्ति मन्त्र के ब्रह्मा तो ऋषि हैं, गायत्री इसकी छन्द है, दक्षिण की ओर जिनका मुख है ऐसे दक्षिणामूर्ति शिव ही इसके देवता हैं, मन्त्र के ऋषि, छन्द और देवता बताकर अब मन्त्र को बताते हैं—

आदि में ॐ लगावे, फिर नमः पद का उच्चारण करे। फिर भगवते इस पद को कहे। परिदक्षिणामूर्त ये कहे। फिर अस्मत् शब्द के चतुर्थ्यन्त पद अस्मै को कहे। फिर मेधां प्रज्ञां इन पदों को बोले। फिर वायु बीज यं को कहे, फिर च्छं पद को कहे, फिर अग्नि जाया-स्वाहा को कहे। इस प्रकार यह चौबीस अक्षरों वाला मन्त्र बन जाता है। एक मन्त्र तो चौबीस अक्षरों का यह है।

इस मन्त्र का ध्यान इस प्रकार करे—स्फटिक तथा चाँदी के शुभ्र वर्ण वाले, जो मुक्ता की रुद्राक्ष की मालाओं को धारण किये हुए हैं, अमृत कलश विद्या वाले, कर के अग्र से ज्ञान मुद्रा में विराजमान हैं, जिनके कक्ष-काँख-में सर्प लिपटे हुए हैं, चन्द्रमा जिनके मस्तक पर सुशोभित हो रहा है, विविध वेशभूषा

को धारण करने वाले त्रिनेत्र भगवान् दक्षिणामूर्ति शिव की हम शरण में हैं।" यह तो पहिला मन्त्र और उसका ध्यान हुआ।

अब दूसरे मन्त्र से न्यास करे। वह मन्त्र क्या है? कहते हैं—आदि में तो ॐ को उच्चारण करे, फिर विसर्ग सहित आद्य स्वर को बोले। तब पञ्चार्ण विसर्ग सहित उच्चारण करे। अन्त में तार-ओंकार को समुद्धरण करे। यह नौ अक्षरों वाला मन्त्र हुआ।

फिर इस प्रकार ध्यान करे—"जो कल्याणकारी-भद्रार्थ दात्री मुद्रा मे आसीन हैं। परशु को हरण करने वाली बाहुओं में से एक बाहु को अपनी जङ्घा पर रखे हुए हैं। जो बिल के सदृश अपनी कक्ष में सर्प को रखे हुएहैं, जो वट वृक्ष के नीचे बैठे हैं, जो अपने मस्तक पर द्वितीया का अर्ध चन्द्र धारण किये हुए हैं, जिनकी जटायें फैली हुई हैं, जिन का दुग्ध के सदृश गौर वर्ण है, जिनके तीन नेत्र हैं, जो आद्य हैं, जिनके चारों ओर शुकादिक मुनिवृन्द बैठे हुए हैं, ऐसे जो भव-ओशकरजी हैं वे हमारी भाव शुद्धि को करें।

तीसरा मन्त्र बताते हैं, पहिले न्यास ब्रह्मर्षि न्यास करे। फिर तार ह्रुं नमः का उच्चारण करे, फिर माया वाग्भवम्, का उच्चारण करे। तत् पश्चात् दक्षिणामूर्त ये पदों को बोले। फिर ज्ञान देहि कहकर वन्हि जाया स्वाहा-इसका न्यास करे। यह अठारह अक्षरों का मन्त्र है। सभी मन्त्रों द्वारा गोपित है।

फिर इस प्रकार ध्यान करे—जिनके श्री अग में पाण्डु राङ्ग शुभ्र भस्म लगी हुई है, जो अपने मस्तक पर द्वितीया के चन्द्र का धारण किये हुए हैं। जो ज्ञान मुद्रा में विराजमान हैं, जो रुद्राक्ष की माला पहिने हुए हैं, जिनके कर कमलों में व

पुस्तक तथा कमल विराजमान है। जो योग पट्ट से सुशोभित हैं। जो व्याख्यान की पीठ पर आसीन हैं। मुनिवृन्दों द्वारा जो सेव्यमान हैं अर्थात् सभी ऋषि मुनि जिनकी सेवा में तत्पर रहते हैं। जो सर्पों को कमर में लपेटे हुए हैं और जिन्होंने गजचर्म को धारण कर रखा है। ऐसे दक्षिणा मूर्ति श्री शिवजी हमारी निरन्तर रक्षा करें।

अब चौथा मन्त्र बताते हैं—पहिले न्यास करे। इस न्यास को ब्रह्मर्षि न्यास कहते हैं। पहिले तार ओंकार--को बोले, फिर रमाबीज को लगाकर साम्ब शिवाय इस पद को बोले, फिर तुभ्यं बोलकर अग्नि की पत्नी--स्वाहा--को बोले। यह बारह अक्षरों वाला मन्त्र है।

इसका ध्यान इस प्रकार करे—जिनके हाथों में वीणा सुशोभित है, दूसरे हाथ में पुस्तक तथा रुद्राक्ष की माला है। जो नील कण्ठ हैं, जो वर देने वालों में सर्वश्रेष्ठ हैं—औघड़दानी--हैं, जिनके कक्ष में- कटि प्रदेश में--सर्प लिपटे हुए हैं। शुक सनकादि मुनिवृन्दों द्वारा सेव्य हैं और जिन्होंने वट वृक्ष के नीचे अपना नीड़--निवास स्थान बना रखा है, उनकी मैं स्तुति करता हूँ।

अब पाँचवाँ मन्त्र बताते हैं—इस मन्त्र के विष्णु तो ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है। दक्षिणामूर्ति शिव ही इसके देवता हैं। इस मन्त्र से न्यास करे—मन्त्र इस प्रकार है। पहिले तार ॐ को लगावे, फिर नमो भगवते तुभ्यं इन पदों को कहकर वटमूल निवासिने इन पदों को आगे जोड़े। फिर प्रज्ञा मेधादि कहकर दायिने मायिने शब्दों को उसके आगे लगावे। फिर नमः वागीशाय महाज्ञानाय लगाकर अंत में अग्नि की पत्नी स्वाहा को आगे लगावे यह बत्तीस अक्षरों वाला मंत्र है। यह मंत्रराज अनुष्टुप् छंदों वाला है। सभी मंत्रों से उत्तम से उत्तम मंत्र है। इसका ध्यान इस प्रकार

करे—जिनके करकमलों में मुद्रा,पुस्तक,वन्हि तथा नाग सुशोभित हैं, जिनका मुख प्रसन्नता से परिपूर्ण है। जो मुक्ता के हारों से विभूषित हैं। शशि की कला के कारण जिनका उज्ज्वल किरीट दमदम दमक रहा है। ऐसे अज्ञान के नाश करने वाले, वाणी के अर्थ स्वरूप आदि पुरुष, वट के नीचे निवास करने वाले, परम गुरु श्रीभवानीपति का अपने अभीष्ट की प्राप्ति के निमित्त हम ध्यान करते हैं।

अब तक पूछे हुए प्रश्नों में से १-परमहंस शिवतत्त्व ज्ञान, २-देवता और ३-मन्त्रों तथा ४-जप का वर्णन कर चुके, पाँचवाँ प्रश्न था मुद्रा क्या है? तो बताते हैं, मौन ही उन दक्षिणामूर्ति भगवान् की मुद्रा है। अब छठा प्रश्न था उनकी निष्ठा क्या है? सो बताते हैं—सोऽहं भाव में स्थिति होना ही निष्ठा है। अब सातवाँ प्रश्न था ज्ञान साधन क्या है? इस पर बताते हैं अभेद भाव से मन्त्र का आम्रेडन-जप करना यही ज्ञान साधन है। आठवाँ प्रश्न था परिकर क्या है? सो बताते हैं—चित्त की एकतानता ही परिकर है। नौवाँ प्रश्न था, बलि क्या? इसका उत्तर देते हैं—आठों अंगों की चेष्टाओं को अर्पण कर देना ही बलि है। दशवाँ प्रश्न था, काल क्या है? सो कहते हैं—तीन धाम-काल-ही काल है। ग्यारहवाँ प्रश्न था स्थान क्या है? सो बताते हैं द्वादशान्त जो पद महादेव है वे ही स्थान हैं।

अपने सब प्रश्नों का मार्कण्डेय मुनि से उत्तर पाकर शौनकादि ऋषियों ने पुनः मार्कण्डेयजी से पूछा—"इन दक्षिणामूर्ति का उदय क्या है? उनका स्वरूप क्या है? इनके उपासक कौन हैं?"

इस पर मार्कण्डेय ने कहा—"तुम्हारा पहिला प्रश्न उदय क्या है? उसका उत्तर है, कि वैराग्य रूप तैल से परिपूर्ण।

भक्ति रूपा बाती है और प्रबोध ही दीपक का पात्र है, ऐसे ज्ञान दीप से देखने पर मोह रूपी अन्धकार का हट जाना ही मानों स्वयं उदय होना है।

अब तुम्हारा दूसरा प्रश्न है, स्वरूप क्या है ? सो बताते हैं—वैराग्य को तो अग्नि मन्थन की पूर्व अरणि बनाओ। ज्ञान को उत्तरारणि बनाओ। प्रगाढ़ जो अन्धकार है, उसकी शान्ति के लिये गूढ़ जो अर्थ है उसे निवेदित करो। मोह रूपी यमराज—मृत्यु—से संक्रान्त और विवेक रूप जो मृकण्डुज है। तत्त्व विचार रूप पाश के द्वारा यह ज्ञान का साधक द्वैत के भय से आतुर अपने निजानन्द में उज्जीवित है। यही इसकी स्वस्वरूप में स्थिति है।

अब तीसरा प्रश्न है उपासक कौन है ? सो बताते हैं—कि शेमुषी—अर्थात् बुद्धि को ही दक्षिणा कहते हैं, वह दक्षिणा ही जिसका मुख देखती है। अर्थात जिनका द्वार दक्षिण की ओर हो। उसी को दक्षिणाभिमुख कहते हैं। ब्रह्मवादीगण उन्हीं दक्षिणाभिमुख को शिव कहते हैं, भगवान् विरञ्चि—ब्रह्माजी—उन्हीं सदाशिव की उपासना करके सृष्टि करने की सामर्थ्य को प्राप्त करते हैं। जब उन सदाशिव की उपासना से उनमें सृष्टि करने की सामर्थ्य आ जाती है, तो उनके चित्त में बड़ा सन्तोष होता है, क्योंकि जो वे चाहते थे, उस अपने मनोवांछित अर्थ को पाकर वे धन्य-धन्य हो जाते हैं। वे ही ब्रह्माजी उन परम उपास्य सदाशिव के उपासक हैं। भाव यह है कि उपासक लोक पितामह धाता ब्रह्मा हैं। यही परम रहस्यमय दक्षिणामूर्ति उपनिषद् है। इस शिवतत्त्व विद्या वाली उपनिषद् का जो अध्ययन करते हैं, वे सर्वपापों से विमुक्त हो जाते हैं। जो इसे जानता है वह

कैवल्य पद का अनुभव करता है। यहीं दक्षिणामूर्ति उपनिषद् समाप्त हुई। 'सहनाववतु' इसका शान्ति पाठ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने दक्षिणामूर्ति का अर्थ कहा। अब आप शरभोपनिषद् को श्रवण करें। यह छोटी सी शैव उपनिषद् है, भद्र कर्णे इत्यादि इसका शान्ति पाठ है। जैसे भगवान् विष्णु के असख्य अवतार हैं, वैसे ही शिवजी के भी असख्य अवतार हैं। यह शरभावतार भगवान् रुद्र ने ही धारण किया था। शरभ एक आठ पैरों वाला जीव होता है, जो सिंह को भी मार देता है। हिरण्यकशिपु को मारने पर भी जब भगवान् नृसिंह का क्रोध समाप्त नहीं हुआ और उनके क्रोध से तीनों लोक त्रस्त होने लगे, तब भगवान् शकर ने शरभावतार लेकर नृसिंह भगवान् का वध किया। भगवान् भगवान् भी आपस में युद्ध करते हैं। उनकी माया है, लीला है, क्रीडा है, विनोद है, आमोद प्रमोद है, नाटक है। जैसे नाटक में सगे सम्बन्धी शत्रु मित्र का वेष बनाकर कपट युद्ध करते हैं, एक दूसरे का दिखावटी वध कर देते हैं, ऐसे ही भगवान् क्रीडा कर रहे हैं। हाँ तो अब शरभोपनिषद् की कथा सुनिये—

एक बार पैप्लाद मुनि भगवान् ब्रह्माजी के समीप गये और बोले—"भगवन्! मुझे यह बतावें, कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीन देवों में से कौन श्रेष्ठ हैं, किनका ध्यान करना चाहिये? इस बात को तत्त्व से मुझे बताइये।"

इस पर भगवान् ब्रह्मा ने कहा—"हे पैप्लाद! सबसे श्रेष्ठ तो भगवान् महेश्वर हैं। उनकी महिमा को सब कोई नहीं जान सकते। जिन्होंने पूर्व जन्मों में अत्यन्त ही तपस्या, दान यज्ञादि पुण्य कर्म किये होंगे, वे लोग ही उनकी महिमा जान सकते हैं। देखो, जिनसे विष्णु, मैं, इन्द्रादि देवता उत्पन्न हुए हैं, उन्हें औरों

की तो बात ही क्या इन्द्रादि देव भी नहीं जानते। वे प्रभु सबके अग्रण्य हैं, सबके पिता हैं, महेश्वर हैं। उन्होंने मुझे उत्पन्न किया, वेदों को, देवताओं को पैदा किया वे मेरे तथा विष्णु के भी पैदा करने वाले हैं और अन्तकाल में समस्त लोकों का संहार भी वे ही करते हैं। वे ही श्रेष्ठ वरिष्ठ घोर रूपधारी हैं। उन्होंने ही शरभ का रूप रखकर, लोक को भय पहुँचाने वाले नृसिंह भगवान् का वध किया था। नृसिंह के पीछे दौड़ने वाले शरभ भगवान् से देवताओं ने मना भी किया कि इन विष्णु का आप वध न करें, किन्तु ये माने नहीं, अपने तीक्ष्ण नखों से उनका पेट फाड़ ही तो दिया। उनका जो चर्म हुआ वही चर्म वीरभद्र हो गया। वे ही एक रुद्र ध्येय हैं,वे सभी के उपास्य और सर्वसिद्धियों को देने वाले हैं, जो अपने ललाट के विस्फुलिंग से सम्पूर्ण जगत का संहार करते हैं, जो सृष्टि, स्थिति प्रलय के स्वामी हैं, जिन्होंने वाम पैर से काल को मार दिया, जो हलाहल विष को पान कर गये, जिन्होंने अपना नेत्र चढ़ाने पर प्रसन्न होकर विष्णु को सुदर्शन चक्र दे दिया, जिन्होंने दक्ष के यज्ञ में सभी देवताओं को जीतकर विष्णु भगवान् को भी बाँध लिया, जिन्होंने लीला से ही असुरों के तीन पुरों को जला दिया, जो समस्त पशुओं-जीवों के पति होने से पशुपति कहलाते हैं, जिन्होंने विष्णु के मत्स्यादि अवतारों को भी पीड़ित किया है, इन्द्र को भी जिन्होंने भस्म बना दिया है उन भगवान् महेश्वर को बारम्बार प्रणाम है, भूयो भूयो नमस्कार है। इस प्रकार जो शिवजी की स्तुति करते हैं शिवजी उन्हें अभीष्ट फल देते हैं, वेदों में इन्हीं के लिये यतोवाचो निवर्तन्ते, अणोरणीयान महतो महीयान् कहा है। सब ऋषि मुनि देव इन्हीं सर्वसाक्षी नित्यानन्द महेश्वर की उपासना करते हैं। वेदों में अनेक रूपों से अनेक नामों

से यज्ञ रूप से इन्हीं शिवजी की स्तुति की गयी है। चतुर्भिश्च, ब्रह्मार्पण आदि मन्त्रों से इन शरभ रूपी शिव की ही महिमा गायी गयी है। उन भगवान् शिव के माहात्म्य को कौन कह सकता है, वे सदाशिव महेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं, उन्हीं का ध्यान करना चाहिये, उन्हीं की उपासना करनी चाहिये। वे ही ध्येय, गेय, उपासनीय हैं। एकमात्र शिव ही नित्य हैं, उनसे जो भी अतिरिक्त है, वह सब मृषा है, असत्य है, झूठा है। इसलिये समस्त देवों को छोड़कर एकमात्र शिवजी का ही ध्यान करना चाहिये।

यही शरभोपनिषद् पैप्पलाद शास्त्र है, इसे अपात्र को—सब किसी अहरे गहरे पचकल्यानी को नहीं देना चाहिये। इसे सुपात्र को, शिवभक्त को, कृतज्ञ को देना चाहिये।

जो इस शरभोपनिषद् को पढ़ता है, वह समस्त पातक महापातकों से छूटकर मुक्त हो जाता है, शिवजी का परम प्रिय हो जाता है, शिव सायुज्य को प्राप्त करता है, फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता, नहीं ही होता। यह बात भगवान् ब्रह्माजी ने कही है। इस प्रकार यह शरभोपनिषद् समाप्त हुई। अब स्कन्दोपनिषद्-सार सुनिये।"

छप्पय

शरभ उपनिषद् कही पैप्पलादहु मुनितैं अज।
शिव ही सब तैं श्रेष्ठ सबहिँ देवनि तजि तिनि भज॥
धारि शरभ जिनि रूप देव नरसिंह सँहारे।
त्रिपुरारी सुर पूज्य पान विष करि दुख टारे॥
शरभ रूप हर सदाशिव, तिनिकूँ जे नर ध्याइँगे।
सब पापनि तैं छूटिकें, अन्त परम पद पाइँगे॥

इति शरभोपनिषद्-सार समाप्त

(५३) स्कन्द और (५४) त्रिपाद् विभूतिमहानारायणोपनिषद्-सार

[३१७]

जीवः शिव शिवोजीवः सजीवः केवलः शिवः ।
तुषेणबद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तण्डुलः ॥*

(स्क० उ० ६ मं०)

छप्पय

विष्णु रूप शिव एक भेद इनिमें कुछ नाहीं ।
विष्णु हिये शिव रहैं सदाशिव उर हरि माहीं ॥
देह शिवालय कह्यो जीव शिव तहाँ बिराजत् ।
तजि देवै निरमाल्य भाव सोऽहं ते पूजति ॥
ज्ञान अभेद हु भावना, ध्यान हान मल त्याग है ।
ब्रह्मामृत पीयो सतत, स्कन्द उपनिषत् सार है ॥

एक ही देव हैं, उन्हें शिव कह लो, शक्ति कह लो, विष्णु, सूर्य तथा गणेश कुछ भी कहलो। सृष्टि द्वैत में है, अद्वैत में

---

* जीव ही शिव है और शिव ही जीव है, वह जीव और कुछ नहीं केवल शिव ही है। अन्तर इतना ही है, भूसी से बँधा हुआ व्रीहि-धान कहलाता है, ऊपर की भूसी-तुषा हट जाने पर उसी का नाम तण्डुल-अक्षत-चावल हो जाता है।

तो कुछ कहना ही नहीं बनता। कहना, सुनना, पढ़ना, लिखना, उपदेश आदेश, साधना-उपासना ये सब द्वैत में ही सम्भव हैं। द्वैत को सिद्ध करना नहीं होता, वह तो स्वतः सिद्ध है और जो अद्वैत को सिद्ध करना चाहते हैं, वे अज्ञ हैं। अरे भाई! जहाँ वाणी नहीं पहुँचती, जहाँ विषय नहीं, विषय की गन्ध नहीं, जहाँ वर्ण्य नहीं उसका तुम वर्णन करने चले हो, जो वाणी का विषय नहीं, उसको तुम वाणी द्वारा सिद्ध करने को उद्यत हुए हो। जब द्वैत में ही स्थिति है, तो सब जीव एक सी प्रकृति के कैसे हो जायँगे, एक सी उपासना सबकी कैसे होगी? एक से देव, एक से नाम रूप, एक से स्वभाव हो ही कैसे सकते हैं। भिन्नता में ही सृष्टि है। मुंडे मुंडेमतिर्भिन्नाः। जितने जीव उतने ही शिव। अतः द्वैत में ही अद्वैत के दर्शन करना इसी का नाम साधना है। तुम्हारे इष्ट, पंचमुख हैं तो हमारे इष्ट एक मुख हैं, तुम्हारे इष्ट दशभुज हैं, तो हमारे चतुर्भुज, तुम्हारे इष्ट बाघम्बर ओढते हैं तो हमारे इष्ट पीताम्बर पहिनते हैं, तुम्हारे इष्ट त्रिशूल, धनुष, डमरू धारण करते हैं तो हमारे इष्ट शंख, चक्र, और पद्म लिये रहते हैं। इस प्रकार बाह्य चिन्ह पृथक् पृथक् होने पर भी दोनों के हृदय में अमृत धारा तो एक ही हिलोर ले रही है। तुम्हें अमृत बनना है या मर्त्य? मर्त्य बनना है तो बाहरी वेष भूषा के ऊपर झगडते हुए कटो मरो। अमृत बनना है, तो आँखों को मींजकर बाहर से दृष्टि हटाकर उस अजस्र, एक रस बहती हुई अमृत की धार में डुबकी लगाओ। तुम अमृत हो जाओगे क्योंकि तुम अमृत के पुत्र हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक बार शिवजी के पुत्र स्कन्द षडानन, देवसेनापति कार्तिकेयजी भगवान् शंकर के समीप गये। उन्होंने जाकर जो शिवजी से निवेदन किया वही

स्कन्दोपनिषत् है। बहुत छोटी १४, १५ मन्त्रों की यह हरिहर एकात्मभाव की महत्त्वपूर्ण उपनिषत् है। सहनाववतु इसका शांति पाठ है और भगवान् स्कन्द द्वारा कही हुई है।

स्कन्दजी ने शिवजी से कहा—"हे महादेव! आपकी करुणा के लेश के कारण मुझे इतना ज्ञान हो गया है, कि मैं अच्युत हूँ, विज्ञान घन हूँ, शिव हूँ। अन्तःकरण के जृम्भित होने से मुझे निजत्व निजवत् अनुभव नहीं होता। मेरे अन्तःकरण का नाश हो गया है। मुझे सर्वत्र एकमात्र हरि ही हरि दिखायी देते हैं। मैं संवित्मात्र हूँ, अज हूँ, मुझ चैतन्य से अतिरिक्त सब कुछ जड़ है। स्वप्न की भाँति मिथ्या है नाशवान् है। जो चिज्जड़ का द्रष्टा है, साक्षी है वही ज्ञान विग्रह अच्युत है। उसी को चाहे हर कहो अथवा हरि। वही परंज्योति, परमेश्वर तथा परब्रह्म है और वह मैं ही हूँ। जीव और शिव एक ही हैं, उनमें भेद इतना ही है, जितना धान में और चावल में है। तुषासहित धान है, तुषा अलग कर दो तो वही चावल कहलाने लगता है। इसी प्रकार कर्मों से आबद्धजीव, जीव है। उसी के जब कर्म नाश हो जाते हैं, तो वही सदाशिव हो जाता है। भाव यह हुआ कि पाशबद्ध तो जीव है, पाश से विमुक्त सदाशिव है। शिव विष्णु स्वरूप हैं और विष्णु शिव स्वरूप हैं। शिव के हृदय में विष्णु और विष्णु के हृदय में शिव हैं, दोनों में तनिक भी भेद नहीं। यह देह देवालय है, इसमें जीव केवल शिव है। शिव के ऊपर चढ़ी निर्माल्य को हटा दो तो शिव के निर्वाण दर्शन होंगे, उनकी सोऽहं भाव से पूजा करनी चाहिये। अभेद दर्शन का नाम ज्ञान है, मन का निर्विषय होना ध्यान, मन का मेल त्याग स्नान और इन्द्रियनिग्रह शौच है। ब्रह्मामृत का तो पान करना चाहिये और देह रक्षा के लिये भिक्षान्न पर निर्वाह करना चाहिये।

एकान्त में वास करे, द्वैत वर्जित होना यही एकान्त है, जो बुद्धिमान इस प्रकार आचरण करता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है। परमधाम में स्वस्ति हो, चिरायुष्य हो नमः इति।

विरञ्चि, नारायण और शकर इन तीनों देवों से युक्त हे देवेश! नृसिंह भगवन्! तुम्हारी कृपा से अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, अव्यय तथा वेदात्मक ब्रह्म अपने आप में ही जाने जाते हैं। यही विष्णु का परमपद है। सूरि लोग उस पद को सदा देखते हैं। विष्णु का जो परमपद है, उसका निर्वाण अनुशासन है, यही वेदानुशासन है। यहाँ आकर स्कन्द उपनिषत् समाप्त हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने स्कन्द उपनिषत् का सार सुनाया, अब आप त्रिपाद् विभूति महानारायण उपनिषत् का सार श्रवण करें।"

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है। भद्रं कर्णेभिः इसका शांति पाठ है। यह बडी उपनिषत् है। इसमें आठ अध्याय हैं। पहिले अध्याय में पाद-चतुष्टय के स्वरूप का निर्णय किया गया है।

एक बार ब्रह्माजी को परमतत्त्व जानने की जिज्ञासा हुई। उन्होंने उसे जानने के निमित्त दिव्य सहस्रवर्ष पर्यन्त तप किया। उनके तप से तुष्ट होकर भगवान् महाविष्णु उनके सम्मुख प्रकट हुए। भगवान् के दर्शन से कृतार्थ हुए ब्रह्माजी ने उनसे कहा—भगवन्! परमतत्त्व क्या है, इसका रहस्य आप मुझे बतावें। क्योंकि आपके अतिरिक्त इस गूढ रहस्यमय प्रश्न का कोई अन्य उत्तर दे नहीं सकता। आप जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता हैं। आप ससार में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप अमृतमय, सर्वस्वरूप मोक्षरूप, तथा मोक्षदाता हैं। आप ही वक्ता, पिता, गुरु, नियन्ता तथा ध्येय हैं।"

ब्रह्माजी के वचनों का भगवान् विष्णु ने 'साधु-साधु" कहकर अनुमोदन करते हुए कहा—ब्रह्माजी ! एक अथर्ववेदीय महा-नारायणोपनिषत् है। उसमें गुरु शिष्य सम्वाद के रूप में महत्ज्ञान है। पहिले कल्पों में उसके द्वारा अनेकों महान् पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त हो चुके हैं। उसके श्रवण मनन से समस्त सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं। उसके स्वरूप को श्रवण कीजिये।

एक परम सुयोग सत्पात्र शिष्य ने सत्गुरु के चरणों में साष्टाङ्ग करके परमतत्त्व के रहस्य को खोलकर बताने की जिज्ञासा की। इस पर गुरुदेव भगवान् ने उसे परमतत्त्व रहस्यो-पनिषद् को बताया।

गुरुदेव बोले—ब्रह्म कालातीत, सततविद्यमान, सगुण तथा निर्गुण, आदि मध्य अन्त से रहित, मायातीत, गुणातीत, अज्ञेय, अखण्ड, परिपूर्ण, अद्वितीय, परमानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वरूप, सत्यरूप, सर्वव्यापक, भेद रहित, अपरिच्छिन्न, सच्चिदा-नन्द स्वरूप, स्वतःप्रकाश, इन्द्रियातीत, अप्रमेय और एकमात्र वही ज्ञेय है। वह तुरीय स्वरूप, अद्वैत, प्रणव स्वरूप, प्रणव प्रभृति समस्त मन्त्रों का स्वरूप भूत है। वह चतुष्पाद है।

ब्रह्म के वे चार पाद कौन-कौन हैं ? इस पर बताते हैं—(१) अविद्यापाद, (२) सुविद्यापाद, (३) आनन्द पाद और चौथा (४) तुरीयपाद है। तुरीयपाद को ही तुरीयातीत कहा जाता है। अब इनकी व्याख्या सुनो। इन चार पादों में सबसे नीचे का जो पाद है, वही अविद्या मिश्रित है। ऊपर के तीनों पाद सर्वथा विशुद्ध हैं। वे ज्ञान, आनन्द और अमृत स्वरूप हैं। वे तीनों अलौकिक, परमानन्दरूप, अखण्ड, अमित, तेजोराशि हैं। वे तीनों अनिर्वचनीय, अनिर्देश्य, अखण्ड और आनन्द रसात्मक हैं। दूसरा आनन्द पाद है, तीसरा जो मध्यम है वही

वैकुण्ठधाम है। वह क्षीरसागर के मध्य में अमृत कलश के सदृश स्थित है, जैसे सूर्य मण्डल में सूर्य नारायण हैं, वैसे ही वे परमानन्द स्वरूप आदि नारायण हैं।

अविद्यापाद जो जगत् है, इनसे परे जो दो पाद हैं उनका वर्णन हो चुका। अब अन्तिम जो तुरीयपाद है वही ब्रह्म है। उन्हें ही भले ही तुरीयातीय विष्णु या ब्रह्म भी कह लो। वे परमज्योति, मायातीत, गुणातीत, कालातीत, कर्मातीत, उपाधि रहित, प्रणववाच्य, अन्तरहित, नित्य, परिपूर्ण, सत्यसंकल्प, आत्माराम, स्वयं ज्योति, स्वयंप्रकाश, अनुपम, अद्वितीय, कालातीत तथा काल के सवत्सरादि विभागों से रहित हैं। वे निजानन्दमय, अनन्त-अचिन्त्य, समस्त ऐश्वर्ययुक्त, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा तथा तुरीयात्मा हैं। वे अद्वैत, विभु, नित्य, निष्कल्मष, निष्कलक, निर्विकल्प, निरञ्जन, निरामय, नारायण हैं। जो उन्हें इस प्रकार जानता है, वह उनके सायुज्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार त्रिपाद् विभूति महानारायणोपनिषद् का यह त्रिपाद् विभूति महिमायुक्त पाद-चतुष्टय स्वरूप का निर्णय करने वाला प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

अब द्वितीय अध्याय में साकार निराकार परब्रह्म के स्वरूप का निर्णय जानने के लिये शिष्य ने गुरुदेव से प्रश्न किया—"भगवन्! आपने त्रिपाद् विभूति में वैकुण्ठ और नारायण दोनों को नित्य कहा, फिर आपने कहा—तुरीय जो तत्त्व हैं वे वैकुण्ठस्थ नारायण ही हैं। आपने वैकुण्ठ और नारायण को साकार बताया, तुरीय तत्त्व को निराकार। साकार सावयव अनित्य होता है और निराकार निरवयव तथा नित्य होता है। संसार में सावयव समस्त पदार्थ अनित्य और निरवयव नित्य होते हैं। ये बातें प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से स्वतः सिद्ध हैं।

आप वैकुण्ठ नारायण साकार है, तुरीयतत्त्व जो निराकार है दोनों को एक क्यों बताते हैं ? दोनों विरोधी एक ही में कैसे रह सकते हैं ?"

शिष्य की शंका को सुनकर गुरु ने कहा—"तुम्हारा कथन युक्ति संगत यथार्थ है। तथापि सभी साकार पदार्थ अनित्य नहीं होते। साकार दो प्रकार का होता है। एक उपाधि सहित, दूसरा उपाधि रहित। उपाधि युक्त साकार तो वह है जो अविद्या से उत्पन्न कार्यकारण हो। उपाधि युक्त साकार सावयव अनित्य ही है।

अब दूसरा जो उपाधिहीन साकार है, वह तीन प्रकार का है (१) ब्रह्मविद्या साकार, (२) आनन्द साकार और (३) उभयात्मक साकार। त्रिविध साकार नित्य तथा मुक्त दो प्रकार का है। अब इन तीनों की व्याख्या सुनो। विद्या की प्रधानता से ब्रह्मविद्या साकार और आनन्द की प्रधानता से उभयात्मक साकार कहलाता है। नित्यसाकार तो ज्ञानघन तथा देहमुक्त होता है, दूसरा मुक्त साकार ऐच्छिक है वे शरीर धारण करते हुए भी अनित्य न होकर शाश्वत ही होते हैं। अतः इनमें और तुरीय में कोई भेद नहीं।"

शिष्य ने कहा—"कुछ हो साकार निराकार, ये दोनों परस्पर में विरोधी धर्म हैं। एक ही ब्रह्म में दोनों विरोधी धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं ?"

इस पर गुरु ने कहा—"देखो, वायु निराकार साकार दोनों है। एक तो सर्वव्यापी निराकार वायु। दूसरे साकार वायु देवता। दोनों में अभेद सम्बन्ध है या नहीं ? एक सर्वव्यापक निराकार पृथ्वी, दूसरी मूर्तिमती पृथ्वी देवी दोनों एक ही हैं। जब देवताओं के भी, साकार निराकार दोनों रूप एक ही हैं, एक में ही दोनों

रहते हैं, तब ब्रह्म मे साकार निराकार पन एक साथ क्यो नहीं रह सकते ? देखो राम कृष्णादि अवतार साकार होने पर परमानन्द स्वरूप, परब्रह्म परमतत्त्व परमैश्वर्य उनमें रहता ही है। उनका निराकारपना कहीं चला नहीं जाता और वे साकार निराकार दोनों ही रूपों में नित्य ही हैं। तुम कहो कि भगवान् तो निराकार ही हैं, उनमें साकारपना हो ही नहीं सकता, तो फिर वे आकाश के सदृश जड ही हो जायँगे। क्योंकि तुमने उन्हें निराकारत्व के बन्धन में बाँधकर उनका सर्वसमर्थत्व, कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सामर्थ्य नष्ट कर दिया है तो फिर वे जड के सदृश हो जायँगे। इसलिये परमार्थतः परब्रह्म साकार भी हैं और निराकार भी हैं।

अब सृष्टि कैसे हुई, इसे बताते हैं---उन आदि नारायण के निमेष, उन्मेष से मूल अविद्या की उत्पत्ति, स्थिति और लय ये तीनों कार्य होते रहते हैं। भगवत् इच्छा से कभी भगवान् के पलक खोलने पर परब्रह्म का जो अविद्या पाद है-सबसे निचला पाद है-उसमें मूल प्रकृति का अविर्भाव होता है। उसी से मूल अविद्या मिश्रित ब्रह्म-अर्थात् जीव-की अभिव्यक्ति होती है। फिर सृष्टि का क्रम चालू होता है, अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्व, उससे अहङ्कार, अहङ्कार से तन्मात्रायें, उनसे पञ्च महाभूत, उन पञ्चभूतों से अविद्यात्मक एक अण्ड उत्पन्न होता है। उस अण्ड में भावोपाधि युक्त नारायण ही होते हैं। वे लीला के निमित्त, क्रीडा के निमित्त, अपने निरतिशय आनन्द के निमित्त इसकी रचना करते हैं। उन वैकुण्ठवासी नारायण और भावोपाधिक नारायण में तत्त्वतः कोई भेद नहीं। एक ही हैं। उन तुरीय तत्त्व नारायण से ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, स्थित होते हैं और उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। उनसे ही अनन्त सिर, नेत्र, कर,

पद आदि अंग वाले विराट् भगवान् होते हैं, वे सर्वव्यापक सगुण निर्गुण रूप हैं, वे ब्रह्मांड में व्याप्त होकर विलास करते हैं। विराट् पुरुष से अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, सब ब्रह्माण्डों में नारायण के एक-एक अवतार होते हैं। उन नारायण से ही ब्रह्मा, रुद्र, समस्त लोक, इन्द्रादि समस्त देव, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु तथा समस्त चराचर जीव उत्पन्न होते हैं उन्हीं में स्थित रहकर उन्हीं में विलीन हो जाते हैं, वे ही अनेक रूपों में विद्यमान हैं, सब उन्हीं के ही रूप हैं, मूर्त-अमूर्त, कारण-कार्य तथा इनसे विलक्षण भी हैं। वे नारायण ही परमज्योति, स्वयंप्रकाश, ब्रह्मानन्दमय, नित्य, निर्विकल्प, निरञ्जन, अवर्णनीय तथा परमशुद्ध देव हैं। उनके सदृश कोई है ही नहीं। जो इस तत्त्व को जान लेते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। जो उन नारायण की उपासना करते हैं वे नारायण स्वरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ द्वितीय अध्याय समाप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तीसरे अध्याय में मूलविद्या और प्रलय के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते हुए शिष्य ने पूछा—"भगवन्! मूल अविद्या से प्रपञ्च की उत्पत्ति कैसे हुई, उसका क्रम किस प्रकार है?"

गुरुदेव ने कहा—"देखो, भैया! प्रपंच दो प्रकार का होता है, एक अविद्या प्रपंच, दूसरा विद्या प्रपंच। जो विद्या प्रपंच है वह तो चैतन्य का विलास है अतः शुद्ध बुद्ध मुक्त है, वह तो सत्य तथा आनन्द स्वरूप स्वतः सिद्ध है। अब रहा अविद्या प्रपंच। विवाद इसी के सम्बन्ध में है। कोई तो इसे प्रवाह रूप से नित्य बताते हैं और किन्हीं-किन्हीं का कहना है, कि जब इसकी उत्पत्ति है, विनाश है तो यह अनित्य है।"

शिष्य ने पूछा—"आपका क्या मत है?"

गुरुदेव ने कहा—"अरे, भैया ! नित्य अनित्य के चक्कर में ही न पड़ो। यह तो भगवती महामाया का विलास है। यह जो क्षण क्षण में तिरोहित होने वाला परिवर्तन शील अविद्या प्रपंच है, वास्तव में परमार्थतः देखा जाय, तो कुछ है ही नहीं। यह अनादि मूल-अविद्या का विलास है। इसकी परमार्थ सत्ता ही नहीं। सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं। जब जिसकी सत्ता नहीं उसके लिये सत्य है या असत्य ऐसा प्रश्न करना व्यर्थ ही है।"

शिष्य ने पूछा—"मूल अविद्या के उपसंहार का क्रम किस प्रकार है ? न सही इसकी अभिव्यक्ति तो होती ही है। उसे आप मूल विद्या का विलास कहते हैं। इस प्रपञ्च के प्रलय का क्रम बतावें।"

गुरुदेव ने कहा—"चारों युग बीतने पर एक चौकड़ी होती है। ऐसी सहस्र चौकड़ियाँ जब बीत जाती हैं तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है। उतनी ही बड़ी रात्रि भी। रात्रि दिन मिलाकर ही एक दिन होता है। ब्रह्माजी के एक दिन में सत्यलोक तक के समस्त लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और लय हो जाती है।

जैसे हम लोगों का १५ दिन का पक्ष, दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु,तीन ऋतु का अयन,दो अयनों का वर्ष होता है वैसे ही अपने दिन से ब्रह्माजी का भी ब्रह्म वर्ष होता है। अपने वर्षों से ब्रह्माजी की सौ वर्षों की पूर्ण आयु होती है। अपने सौ वर्ष पूरे करके ब्रह्माजी जिन हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुए थे उन्हीं में लीन हो जाते हैं, हिरण्यगर्भ के कारण ही वे हिरण्यगर्भ परमात्मा ब्रह्माण्ड परिपालक कहलाते हैं।

वे अंड परिपालक हिरण्यगर्भ महाविष्णु के अंश हैं। जितने समय में ब्रह्माजी की स्थिति रहती है जब वे अंडज परिपालक

नारायण में लीन होते हैं, उतना समय महाविष्णु का एक दिन-रात्रि होता है। अपने दिन के प्रमाण से ३६० दिन का उनका वर्ष होता है। अपने वर्षों के प्रमाण से उन महाविष्णु की सौ करोड़ (एक अरब) वर्षों तक की स्थिति होती है। स्थिति के अन्त में महाविष्णु विराट पुरुष में लीन होते हैं। तब आवरण सहित यह ब्रह्माण्ड नष्ट हो जाता है।

अंड परिपालक महाविष्णु जितने समय तक रहते हैं अर्थात् अपने वर्षों से दो अरब वर्षों तक उतना समय आदि विराट् पुरुष के दिन रात्रि कहे जाते हैं। अपने दिन से ३६० वर्ष का उनका अपना वर्ष होता है। अपने वर्षों से सौ करोड़ (एक अरब) वर्षों तक आदि विराट् पुरुष की स्थिति है। तब वे अपने अंशी मायोपाधिक नारायण में जाकर लीन हो जाते हैं। आदि विराट् पुरुष की स्थिति का जितना काल है उतना काल मायोपाधिक नारायण का एक दिन रात्रि है।

विराट् पुरुष की स्थिति एवं प्रलय का जो काल है वह मूल अविद्याण्ड-परिपालक आदि विष्णु के एक दिन के समान है। अपने मान से ३६० दिनों का उनका अपना वर्ष है। अपने वर्षों से सौ करोड़ वर्षों तक मूला अविद्यांड परिपालक आदि नारायण की स्थिति है, ये सब तो अविद्या पाद वाले नारायण के खेल हैं। मूलाअविद्याण्ड परिपालक आदि नारायण की स्थिति के अन्त में अब जो अविद्या पाद से ऊपर त्रिपाद विभूति वाले नारायण हैं, उनका एक निमेष के सदृश समय है। उनके निमेष से मूल अविद्या का उसके आवरण सहित प्रलय हो जाता है। तब मूल अविद्या सम्पूर्ण कार्य रूप उपाधि के सहित अपने परम सूक्ष्म मूल कारण-अव्यक्त में प्रवेश कर जाती है। वह अव्यक्त ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है। उस समय मायोपाधिक आदि

नारायण माया रूप उपाधि के नष्ट हो जाने पर अपने सत् स्वरूप में उसी प्रकार स्थित हो जाते हैं। जैसे ईंधन समाप्त हो जाने पर उस सब ईंधन को जलाकर अग्नि शान्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप मे स्थित हो जाते हैं। उनके स्वरूप में स्थित हो जाने पर समस्त जीव अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।

देखो, ब्रह्म तो सर्वथा शुद्ध ही हैं। माया रूप उपाधि के कारण ही उनमें सगुणत्व और परिच्छिन्नत्व प्रतीत होते हैं, उपाधि नष्ट हो जाने पर निर्गुणत्व और निरवयवत्व आदि प्रतीत होने लगते हैं। इस बात को दृष्टांत के रूप में यों समझो। जैसे शुद्ध स्फटिक मणि है। वह स्वभावतः शुभ्र है, स्वच्छ है, लालिमा रहित है। जब उसके सम्मुख जपा, पुष्प गुड़हर का फूल-रख देते हैं, तब स्फटिकमणि लाल रंग की प्रतीत होती है। फूल को हटा लो तो उसकी ललाई नष्ट हो जाती है। स्फटिक में न तो पहिले ही ललायी थी न जपा पुष्प के हटाने से वह नष्ट ही हुई। उसमें पुष्प के सान्निध्य से भ्रमवश ललाई की प्रतीति होने लगी थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मूल-अविद्या और प्रलय का वर्णन करके त्रिपाद्विभूति महानारायण उपनिषद् का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ। अब चौथे अध्याय में शिष्य शंका करता है, कि ब्रह्म तो एक है, अखंड है, अद्वय है, निरवयव है। उसमें अविद्यापाद, सुविद्यापाद, आनन्दपाद और तुरीयपाद ये पाद भेदादि कैसे सम्भव हो सकते हैं और यदि वे भेद हैं तो वे अद्वैत स्वरूप ही होंगे। वह कैसे?"

गुरुदेव ने कहा—"देखो, भाई शब्दों का ही भेद है। ब्रह्म के अद्वैत होने में कोई सन्देह ही नहीं। इसी बात को तो कहा ही गया है। एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म तो है, ब्रह्म के अतिरिक्त तो कुछ

है ही नहीं। ये जो पाद भेद बताये हैं, वह तो ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। देखो, ब्रह्म को चतुष्पाद बताया है। एक तो अविद्यापाद है, इसी में गड़बड़-सड़बड़ है। शेष जो त्रिपाद हैं, वे अमृत हैं, नित्य हैं। जो भी कुछ अन्धकार, तम है वह अविद्या पाद में ही है। त्रिपाद स्वरूप ब्रह्म तम से परे है। उस त्रिपाद् विभूति को जानने वाला संसार में मुक्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति का इसके अतिरिक्त कोई अन्य पन्था है ही नहीं। सबके आधार अचिन्त्य रूप आदित्य वर्ण तम से ऊपर परम ज्योति प्रकाशित है। ऋत सत्य वही तम से परे सनातन विश्वरूप है। इस भाव वाली अन्य भी बहुत-सी श्रुतियाँ हैं। इन सब श्रुतियों में तम शब्द से अविद्या ही कही गयी है।

एक श्रुति है उसका भाव है—"इस ब्रह्म का समस्त विश्व भूत एक पाद में है। शेष तीन पाद अमृत स्वरूप हैं, नित्य हैं। अविद्यापाद में जगत है, शेष जो सुविद्या, आनन्द और तुरीय नाम के जो जगत् के बाहर तीन पाद हैं, वे तो नित्य हैं शाश्वत हैं। चौथा जो अविद्यापाद है, वह तो अविद्याश्रित है ही।"

शिष्य ने पूछा—"जो आत्माराम हैं, निराकार निरवयव हैं, उन आदिनारायण के नेत्रों का उन्मीलन-निमीलन-पलक खोलना मींचना कैसे संभव हो सकता है? उस ब्रह्म का उन्मेष निमेष का क्या स्वरूप है?"

गुरुदेव ने कहा—"देखो, बाह्यदृष्टि ही पलक का खोलना-उन्मेष-है और आन्तरिक दृष्टि ही पलकों का बन्द करना-निमेष है। भाव यह कि अन्तर्दृष्टि से अपने स्वरूप का चिंतन करना उन श्रीनारायण का निमेष है और बाह्यदृष्टि से चिन्तन करना ही उनका उन्मेष है। निमेष और उन्मेष का काल बराबर ही बराबर है। उन्मेष काल में अविद्या की स्थिति है और निमेष काल

में अविद्या का लय है। पलक खोलते ही अविद्यारूप जगत् हो जाता है, पलक बन्द करते ही अविद्या का लय हो जाता है। पुनः पलक खोलने पर अविद्या का उदय हो जाता है। तब कार्य-कारण रूप उपाधि भेद से जीव और ईश्वर का भेद भी दिखायी देने लगता है। कार्य रूप उपाधि से युक्त जीव और कारण रूप उपाधि से युक्त ईश्वर। ईश्वर की जो महामाया है उनके अधीन रहकर उन्हीं के सकल्पानुसार कार्य किया करती है। विविध अनन्त महामाया शक्तियों से सम्यक् प्रकार से सेवित अनन्त महामाया शक्तियों का स्थान, यह जो महाविष्णु की लीला शरीर रूपिणी महामाया शक्ति है वह ब्रह्मादिकों के लिये भी अगोचर है इस महामाया को वे ही पार कर जाते हैं, जो केवल विष्णु का ही भजन करते हैं। दूसरे इस महामाया को कभी भी पार नहीं कर सकते। विविध उपायों द्वारा भी अविद्या के जो कार्यरूप अन्तःकरण हैं उनका आश्रय लेकर वे अनन्त काल तक बारं-बार जन्मते और मरते रहते हैं। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित ब्रह्मचैतन्य को ही जीव कहते हैं। अन्तःकरण उपाधिक ही समस्त जीव होते हैं। महाभूतों से उत्पन्न सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि से जीव हैं ऐसा कोई कहते हैं। कुछ लोगों का मत है बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य का ही नाम जीव है। भेद केवल उपाधि को ही लेकर है, अत्यन्त भेद नहीं है। सर्व परिपूर्ण नारा-यण तो अपनी इस इच्छा शक्ति को संग लेकर स्वेच्छा पूर्वक सदा क्रीड़ा किया करते हैं। इसी प्रकार ये समस्त जीव अज्ञान के वशीभूत होकर इन संसारी शब्द, रूप रसादि तुच्छ विषयों में सुख की प्राप्ति की इच्छा से संसार चक्र में दौड़ते रहते हैं। वास्तव में इन असार विषयों में सुख नहीं है। किन्तु इस प्रकार अनादि परम्परा से विपरीत भ्रम होने के कारण ही जीव

संसार चक्र में घूम रहे हैं। यह परम्परा कब से चली है, इसे कोई नहीं बता सकता। यह परम्परा अनादि है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर त्रिपाद विभूति उपनिषद् का चौथा अध्याय समाप्त हो गया। इसके दो काण्ड हैं, पूर्व काण्ड और उत्तर काण्ड। पूर्व काण्ड के चार अध्यायों का सार तो मैंने बताया। अब उत्तर काण्ड के शेष चार अध्यायों का सार आगे बताऊँगा।"

छप्पय

(१)

परमतत्त्व जिज्ञासु ब्रह्म तप दिव्य बरस शत।
करिकें प्रकट परेश-कहो प्रभु! तत्त्व परम हित॥
नारायन ने कह्यो-शिष्य गुरु संवादहु युत।
कहूँ त्रिपाद विभूति देहु अब! अब तुम इत चित॥
कही त्रिपाद विभूति प्रभु, महानरायन उपनिषद।
कहे आठ अध्याय सब, चतुष्पाद प्रभु के विषद॥

(२)

चतुष्पाद जो ब्रह्म प्रथम अध्याय बतायो।
निराकार-साकार द्वितिय में रूप जतायो॥
मूल अविद्या-प्रलय निरूपन तृतिय माहिं पुनि।
मायातीत अखण्ड तत्त्व-पर परमानंद मुनि।
ताकूँ कह्यो चतुर्थ में, पूर्वकाण्ड पूरन भयो।
उत्तर में संसार तें, तरन हेतु साधन कह्यो॥

6604

—:—

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड १०१

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २.० रुपया

प्रथम संस्करण १००० | नवम्बर १९७२ मार्गशीर्ष सं०-२०२९ | मूल्य : २.००

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठाङ्क
१. संस्मरण (२०)	...	१
२. मातृ-स्मरण (विशेषः)	...	२०
३. त्रिपाद्विभूति महानारायणो-उपनिषद्-उत्तरकाण्ड-सार		५५
४. अद्वयतारक-उपनिषद्-सार	...	६७
५. राम रहस्योपनिषद्-सार ...	...	७५
६. श्री रामपूर्वतापिन्युपनिषद्-सार	...	८६
७. श्री रामोत्तरतापिन्युपनिषद्-सार	...	९७
८. वासुदेवोपनिषद्-सार ...	...	१०५
९. मुद्गलोपनिषद्-सार ...	...	११३
१०. शाण्डिल्योपनिषद्-सार (१)	...	१२२
११. शाण्डिल्योपनिषद् सार (२)	...	१३५
१२. शाण्डिल्योपनिषद्-सार (३)	...	१४४
१३. शाण्डिल्योपनिषद्-सार (४)	...	१५५
१४. पैङ्गलोपनिषद्-सार (१)	...	१६४
१५. पैङ्गलोपनिषद्-सार (२)	...	१७६
१६. भिक्षुकोपनिषद्-सार ...	...	१८६

संस्मरण

[२०]

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः ।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः स नरो भवसागरमुद्धरते ॥

छप्पय

हरिकूँ जगमय लखैं, जगत् कूँ हरिमय मानैं ।
जीवनि नहिँ अपमान करैं सबकूँ सम्मानैं ॥
इस्तुति निन्दा त्यागि कृष्णकूँ सरबसु समुझैं ।
कथा कीरतन निरत, नहीं जग झंझट उरझैं ॥
ऐसे सन्त महान्त हैं, वे भगवत् के रूप हैं ।
भक्ति भवन के भूप हैं, अच्युत अमर अनूप हैं ॥

जगत् भगवान् की क्रीड़ास्थली है, जैसे जिन लोगों को कोई काम नहीं रहता, वे काठ की गोट बनाकर शतरंज खेलते रहते हैं। भगवान् को भी कोई काम नहीं। वे आप्तकाम तथा पूर्णकाम हैं, बैठे ठाले क्या करें, इसीलिये वे चराचर जीवों की छोटी बड़ी विभिन्न आकार की गोटें बनाकर सर्वेश्वरी आदिशक्ति भगवती जगदम्बा के साथ चौपर खेलते रहते हैं। यह जगत् उनके खेलने

---

* जो जगत् को हरिरूप में देखते हैं तथा हरि को जगत् रूप में देखते हैं, जिन सन्तों की ऐसी मति है उन्हीं की परमार्थ पथ में गति है, वे निश्चय ही संसार सागर से उस पार पहुँच जाते हैं।"

का साधन है। चराचर जीव उन्हीं के संकेत पर सब कुछ कर रहे हैं। जो अपने को उन अखिलेश का यन्त्र मानते हैं, वे संसार में सुखी रहते हैं, जो उन अनादि अच्युत आत्माराम परमात्मा को भुलाकर अपने को ही कर्ता-धर्ता-हर्ता विधाता मान बैठते हैं, वे क्लेश के भाजन बन जाते हैं, संसार में सदा दुखी, चिन्तित तथा व्यग्र बने रहते हैं। ये संसारी सम्पूर्ण पदार्थ तो उन सर्वेश्वर के हैं, ये तो यहाँ के यहाँ रह जायँगे, किसी के साथ नहीं जायँगे। जो जीव अपने को इन पदार्थों का स्वामी मानेंगे, वे पछतायँगे। हाथ मलते हुए रह जायँगे। अतः सब कुछ करते हुए उन परात्-पर प्रभु को न बिसारो। सबको उनकी क्रीड़ा मानो फिर तुम निश्चिन्त हो जाओगे। प्रपञ्च जहाँ का तहाँ ही पड़ा रहता है, प्रपंच से प्राप्त ज्ञान-विज्ञान ही काम आता है।

हाँ, तो वृन्दावन धाम से लौटकर हम पुनः गंगा किनारे अनूपशहर आ गये। अनूपशहर से गंगाजी को पार करके गँवा पहुँचे। तब तक श्रीहरि बाबाजी का बाँध बन चुका था। हमने सर्वप्रथम बाँध के दर्शन किये थे। श्रीहरि बाबाजी के बाँध का भी एक अपना इतिहास है। हम पीछे बता चुके हैं, श्रीहरि बाबाजी का जन्म पंजाब के होशियारपुर जिले के समीप मेंगर-वाल ग्राम में हुआ था। डाक्टरी की पढ़ाई छोड़कर स्वयं संन्यासी हो गये। इनके गुरुदेव श्री स्वामी सच्चिदानन्दजी ने जब इन्हें संन्यासी वेष में देखा, तो कहने लगे—"तू स्वतः ही प्रकाशित हुआ है, इसलिये तेरा नाम स्वतःप्रकाश होगा। ये गंगा किनारे विचरते हुए भैरिया आये, यहाँ से गँवे के रईस लाला कुन्दनलालजी के भतीजे बाबू हीरालालजी के आग्रह पर गँवे आये। गँवे में लाला कुन्दनलालजी के पौत्र किशोरीलालजी के पुत्र रामेश्वरदयाल असाध्य रोग से ग्रस्त हुए। श्रीहरि बाबाजी

स्वामी अच्युत मुनिजी के साथ वेर्धा गये, वहां हनुमानगढ़ी में इन्हें अँगरेजी में श्री चैतन्य महाप्रभु का श्रीशिशिर-कुमार घोष द्वारा लिखित जीवन चरित्र पढ़ने को मिला, वहीं से इनका जीवन भक्तिमय हो गया और ये हरि-हरि करके कीर्तन करने लगे। तभी से इनका नाम पंजाबी स्वामी, डाक्टर स्वामी से बदलकर हरिबाबा हो गया। जो इसी नाम से सुप्रसिद्ध हुए।

रामेश्वर की बीमारी हटने पर इनकी वहाँ सर्वत्र प्रसिद्धि हो गयी। वृन्दावन में एक स्वामी कृष्णानन्दजी बंगाली रहते थे। वे एम० ए० पास थे, मथुरा में उन्होंने दरिद्राश्रम या कंगाल आश्रम खोल रखा था। जब हम मथुरा में पढ़ते थे, तब उन्हें बाघ के चर्म के जूता पहिने बड़े ठाठ-बाठ से आते जाते देखते थे। उन्होंने बंगाली भक्तों की एक संकीर्तन मण्डली बना रखी थी। वे अपने आश्रम के लिये चन्दा माँगने उस मण्डली को लेकर स्थान-स्थान पर जाया करते थे। वे अपनी मंडली सहित एक बार चन्दा माँगने गँवे भी पहुँचे। हमारे श्रीहरि बाबाजी तो उन दिनों कीर्तन के पीछे पागल ही बने हुए थे। उन्हें बंगालियों का खोल करताल के साथ वह कीर्तन बहुत ही प्रिय लगा और वे उनके साथ नाचते कीर्तन करते घूमने लगे। स्वामी कृष्णानंदजी के लिये चन्दा भी कराया। वे सखीभाव के थे, गौरवर्ण के अत्यन्त ही सुन्दर थे। हमारे श्रीहरि बाबाजी अत्यन्त ही भावुक थे। वे उनसे अत्यधिक स्नेह करने लगे। आशा से अधिक चन्दा मिलने पर वे कई बार आये और श्रीहरि बाबाजी ने उन्हें चंदा कराया। श्रीहरि बाबाजी चाहते थे—वे सदा उनके साथ रहें। श्रीहरि बाबाजी चाहते थे, कोई योग्य व्यक्ति ऐसा हो, जो हमारे संकेत पर नाचे। वे ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति की खोज में थे। सखीभाव वाले कृष्णानन्दजी सब प्रकार योग्य थे,

किन्तु उन्हें सब समय अपने आश्रम के लिये द्रव्य की आवश्यकता होती।

जब रामेश्वर अच्छे हो गये तब आगे क्या करना चाहिये इस विषय पर उन्होंने अपने भक्तों से सम्मति की। एक प्रस्ताव तो यह था, कि सवा लाख रुपया इकट्ठा करके स्वामी कृष्णानन्दजी बंगाली के आश्रम को द्रव्य की चिन्ता से मुक्त कर दिया जाय, जिससे स्वामीजी मंडली सहित सदा साथ रहें। दूसरा प्रस्ताव किसी धर्मशाला या आश्रम के जीर्णोद्धार का था, तीसरा प्रस्ताव यह था, कि गंगाजी की बाढ़ आने पर लगभग सात सौ गाँव बाढ़ की चपेट में आ जाते हैं, गंगाजी का एक बाँध बाँधा जाय, जिससे ग्रामीणों का उपकार हो। अन्त का यह तीसरा प्रस्ताव ही सर्व सम्मति से स्वीकृत हुआ। किन्तु बाँध बँधे कैसे? यह कोई गुड़ का पूआ तो था ही नहीं जो उठाया और गप्प कर गये। देखने में कार्य बहुत ही असम्भव जान पड़ता था, किन्तु श्रीहरिबाबा के दृढ़ संकल्प ने, उनकी सच्ची निष्ठा ने, अथक परिश्रम ने तथा सुदृढ़ भगवत् विश्वास ने असम्भव को भी सम्भव बना दिया। इतना बड़ा गंगाजी का बाँध बनकर तैयार हो गया।

बाँध बँध रहा था, तब मैं काशीजी में था। रामेश्वर ने पत्र द्वारा सूचना दी आप आकर बाँध के कार्य में सहयोग दीजिये। किन्तु मैं आ नहीं सका। अब जब आया तब बाँध बन चुका था। उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जनता में आख्यायिकायें प्रचलित थीं। उन दिनों श्रीहरिबाबा की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो चुकी थी, जो जनता जनार्दन की सेवा में सतत संलग्न रहता है, जो दूसरों के सन्ताप से सतत संतापित रहता है, वह तो नर रूप में साक्षात् हरि ही है। संसार में असम्भव कुछ भी नहीं।

दृढ़निष्ठा, सच्चे विश्वास के साथ सब कुछ सम्भव हो जाता है। महाराज पृथु ने अपने विश्वास से ही पृथ्वी का दोहन करके प्राणिमात्र को सुखी बना दिया। महाराज प्रियव्रत ने अपने विश्वास से ही अपने रथ के पहियों से सात समुद्र बना दिये, सगर के साठ सहस्र पुत्रों ने चारों ओर पृथ्वी को खोदकर सागर बना दिया। भगीरथजी अपने विश्वास के बल पर ही हिमालय से समुद्र तक भागीरथी गंगा को ले आये। बानरों ने भगवत् विश्वास से ही समुद्र पर सौ योजन का सेतु बना दिया।

सुनते हैं जिन दिनों बाँध बँध रहा था श्रीहरि बाबाजी लगातार बारह घन्टों तक सिर पर मिट्टी के भरे टोकरे उठा-उठा कर ढोते रहते थे। ग्रामीण लोग कसकर कतने को मिट्टी से भर देते, हाँ, बाबा! उठाओ। और ये उठा उठा कर निरन्तर मिट्टी डालते रहते थे। मूर्ख-पंडित, धनी-निर्धन, पठित-अपठित, बाल-वृद्ध, रोगी-स्वस्थ, स्त्री-पुरुष कोई भी आता बाबा कहते—"बाँध देवता पर मिट्टी डालो।" कोई कहता हमारे पुत्र नहीं, कोई कहता हम पर धन नहीं, कोई कहता हमें कोढ़ का क्षय का रोग है, श्रीहरि बाबा का सबके लिये एक ही उत्तर था—'बाँध पर मिट्टी डालो।' और उस समय ऐसा चमत्कार हुआ जिसने जिस भावना से बाँध पर मिट्टी डाली, उनमें से बहुतों की मनोकामनायें पूरी हो गयीं। बहुत से कोढ़ियों का कोढ़ जाता रहा, बहुत से रोगी निरोग हो गये, बहुतों की नौकरी लग गयी। बहुतों के जिनके पुत्र नहीं थे, पुत्र हो गये। जब बाँध का कार्य आरम्भ हो गया, तब आप चन्दा करने निकले और बात की बात में लाखों रुपयों का चन्दा हो गया। चन्दा के रुपयों से बाँध नहीं बँधा। बाँध तो उन ग्रामीण लोगों की सद्भावना से बना जो श्रीहरिबाबा में श्रद्धा रखते थे और अपने घरों से

रोटी बाँध बाँधकर जाते, दिन भर काम करते और रात्रि में लौटकर घर आ जाते। कैसा चमत्कार हुआ। मैंने बाँध की मरम्मत होते हुए, टूटे बाँध को फिर से बनवाते हुए वे दृश्य स्वयं देखे हैं और स्यात् कुछ टोकरे मिट्टी मैंने स्वयं भी डाली है। लोगों में बाँध के प्रति, बाँध के अधिष्ठातृदेव श्रीहरिबाबा के प्रति कैसी सद्निष्ठा थी। फिर तो मैं बाँध के प्रायः सभी उत्सवों में सम्मिलित होता रहता था। श्रीहरिबाबा प्रत्येक पर्व पर उत्सव मनाते। श्रीचैतन्य महाप्रभु की जयन्ती शिवरात्रि से होली पर्यन्त बड़ी धूम धाम से मनाया करते थे। पहिले तो नहीं, पीछे से वे रासलीला के बड़े प्रेमी हो गये थे। प्रत्येक उत्सव पर रास मंडलियाँ आतीं उनके रास होते।

श्रीहरिबाबा किसी के माध्यम से कार्य करना चाहते थे, जो उनके संकेतों को समझकर अक्षरशः उनकी इच्छानुसार कार्य करे। बहुतों को उन्होंने माध्यम बनाया, किन्तु किसी ने पूरा निर्वाह नहीं किया। पहिले स्वामी कृष्णानन्दजी सखी भाव वाले थे, फिर एक स्वामी केवलानन्द को बनाया, कुछ दिन हमारे वृन्दावन के स्वामी रघुनाथदासजी रहे, अन्त में श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज ने पूर्णरीत्या निभाया और उसके अनन्तर श्रीआनन्दमयी माँ ने!

मुझसे वे अत्यन्त स्नेह रखते थे। कई बार कहा भी, 'अब तो हम सब कुछ छोड़कर ब्रह्मचारीजी के ही चरणों में रहेंगे, उन्हीं की आज्ञा का पालन करेंगे।' किन्तु मेरे में और उनमें तत्त्वतः अभेद था। मैं किसी प्रकार से उनका अनुसरण नहीं कर सकता था। वे घड़ी की सुई पर काम करने वाले थे, वक्ता को पाँच मिनट का समय दिया है, उसने यदि छः मिनट ले लिये तो वे अप्रसन्न। सत्संग का समय पौने सात बजे है, यदि आप

एक मिनट भी पिछड़ गये तो वे अप्रसन्न, अमुक स्थान में जाना है आपने कोई अड़चन बतायी, तो वे अप्रसन्न। समय का पालन वे घड़ी की सुई से करते थे। उनका पूजा, पाठ, जप, तप सब समय का पालन ही था। कथा और कीर्तन को छोड़कर वे जप, तप, पूजा पाठ किसी को महत्त्व नहीं देते थे। समय पर उनके कथा कीर्तन सत्सङ्ग में पहुँच जाओ, जब तक पूरा न हो उठो नहीं, वे जो कहें उसे बिना ननुनच के मान लो, तब तो वे प्रसन्न, तनिक भी आपने ननुनच की तो उनका चित्त दुखी हो जायगा। मैं अपनी त्रुटियों को जानता था। मुझे नियम से पूजा, पाठ, जप, आदि करना पड़ता, इससे मैं कभी भी समय पर नहीं पहुँच पाता था। मुझे देखते ही वे हँसकर कहते—"ब्रह्मचारीजी तो समय का पालन करना जानते ही नहीं।" मैं अक्षरशः आज्ञाओं का भी पालन नहीं कर सकता था। उसमें दोष दिखाता, तर्क करता, कभी-कभी उनकी हँसी भी उड़ाता। फिर भी वे मेरा आदर करते थे, कभी अप्रसन्न नहीं होते थे। मुझे स्मरण नहीं कि कभी वे मुझसे अप्रसन्न हुए हों और मुझे डाँटा डपटा हो। एक बार तो ऐसा हुआ।

हमारे प्रयाग के नागा बाबाजी थे, उनके एक शिष्य थे दीनजी। वे रामचरितमानस की कथा बड़ी सुन्दर करते थे। उन्हें जिसकी कथा पसन्द आ गयी, उसे साथ ही रखना चाहते थे, जिसका कीर्तन, जिसकी लीला, जिसका रास उनकी इच्छा के अनुसार हुआ, उसे वे छोड़ना नहीं चाहते थे। दीनजी को वे अपने प्रत्येक उत्सव में बुलाना चाहते थे किन्तु वे अपने गुरु श्रीनागा बाबाजी की आज्ञा के अधीन थे। नागाबाबा त्रिवेणी बाँध पर रहते थे। पढ़े लिखे तो भगवान् का नाम ही थे, स्वभाव के भी अत्यन्त उग्र थे। हरिबाबा उन्हें प्रसन्न रखना चाहते

थे, जिससे दीनजी को बुला सकें। मुझे आदेश हुआ नागाबाबा और दीनजी को लेकर बाँध के उत्सव में आओ। मैं इन्हें लेकर गया। होली का समय था। रास के स्वरूपों से सभी होली खेलते हैं, स्वरूप भी सबके अबीर गुलाल लगाते हैं। नागाबाबाजी अड़ गये, कि होली की लीला हो तभी स्वरूपों के कोई रंग लगावे। अन्य लीलाओं में नहीं। इससे सभी दुखी थे। सबने मुझसे कहा। मुझे तो किसी का भय था नहीं। मैं गुलाल लेकर स्वरूपों को लगाने को चला। हरिबाबा भी जानते थे, यह किसी से भय खाने वाला नहीं। नागाबाबा के उग्र स्वभाव से भी वे परिचित थे, कि उनका किसी ने विरोध किया तो वे अभी चल देंगे।

मुझे आते देखकर हरिबाबा ने मुझे डाँट कर कहा—"ब्रह्मचारीजी! खबरदार जो आपने स्वरूपों के गुलाल लगाइया। बैठ जाइये।" मुझे लगा तो बहुत बुरा किन्तु मैं क्रोध को पीकर अपने स्थान पर जाकर बैठ गया। मैं उनकी बात का औचित्य समझता था। उत्सव का भार उनके ही ऊपर था। रङ्ग में भङ्ग न हो अतः उन्होंने मुझे अपना समझकर डाँटा। वैसे उनका मेरे प्रति अगाध स्नेह था। जब भी वे बाँध से ऊब जाते मेरे समीप प्रयाग में आ जाते थे।

× × × ×

एक बार प्रयाग का कुंभ पड़ा। आप आये, मेरे यहाँ न ठहरकर पुरानी झूसी में इसी पार खुरजा के सेठ गौरीशङ्करजी गोयनका का अन्नक्षेत्र लगा था उसी में एक फूँस की कुटिया में आकर ठहरे। मैं उनसे मिलने गया। उन्होंने मुझे एक घटना सुनायी। वे बताते थे—"सरदी के कारण मुझे श्लेश्म हो गया, शरीर टूटने लगा, ज्वर भी हो गया था। मैं कम्बल

ओढ़े चुपचाप पड़ा था। तभी एक आदमी कहीं से पूछता-पूछता आया—"हरिबाबाजी कहाँ ठहरे हैं ?"

किसी ने मेरी कुटी बता दी। आकर उसने पूछा—"हरिबाबा कहाँ हैं ?

मैंने कहा—"क्या बात है ?"

उसने पूछा—"आप ही हरिबाबा हैं ?"

मैंने कहा—"कहो, क्या पूछना है, हाँ मैं ही हूँ।"

उसने कहा—"आप ऐसे क्यों पड़े हैं ?"

मैंने कहा—"अरे, भैया ! स्वास्थ्य ठीक नहीं है, ज्वर है, श्लेष्म है।"

उसने गरजकर दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, आपको कभी ज्वर नहीं हो सकता। आप कभी अस्वस्थ नहीं हो सकते। आप स्वस्थ हैं, भले चंगे हैं, उठकर बैठिये।"

यह कहकर उसने झटके के साथ मुझे उठाकर बैठा दिया। सचमुच, न मुझे ज्वर था, न श्लेष्म, मैं स्वस्थ हो गया।' वे ऐसी ही अनेक घटनायें सुनाया करते थे। उन्हें आप बीती घटना सुनाने में, दूसरों पर बीती भगवत् सम्बन्धी घटना सुनने में बड़ा आनन्द आता था। वे राजनीति से संसारी लड़ाई-झगड़ों से, आंदोलनों से कोसों दूर रहते थे। कभी समाचार पत्र न पढ़ते न किसी से सुनते। जब सत्याग्रह, असहयोग की चारों ओर धूम थी वे चुपचाप अपने कथा कीर्तन में निमग्न रहते। किसी ने कहा भी—"महाराज,देश में चारों ओर स्वतंत्रता की धूम मची है। आप उसमें तनिक भी भाग नहीं लेते ?"

तब आपने कहा—"जैसे ये स्वराज्य वाले उत्साह से कार्य कर रहे हैं, जेल जा रहे हैं, लाठी डण्डा सह रहे हैं, वैसे ही

उत्साह से हमें भगवत् प्राप्ति में लग जाना चाहिये। सचमुच वे अपनी वृत्ति को कभी भी बहिर्मुख नहीं होने देते थे। बाँध के कार्यों से भी कभी-कभी ऊब जाते या अपने अनुयायियों से रुष्ट हो जाते, तो या तो भागकर मेरे पास आ जाते या गङ्गा किनारे-किनारे कहीं गुप्त स्थानों मे चले जाते।

× × × ×

एक बार अकस्मात् अकेले ही रात्रि में मेरे पास आये। उन दिनों मैं हसतीर्थ में सन्ध्यावट के नीचे अकेला ही रहकर अनुष्ठान करता था। कुछ पेट की गड़बड़ी थी, मैंने एक चूर्ण बनाकर रख रखा था—सोंठ, मिरच, पीपर, जीरा, हींग, राई, चित्रक और सेंधानमक। इन आठ वस्तुओं में से हींग, जीरा और राई ये तीनों भूनकर शेष सब बिना भुनी कूट पीसकर कपड़े में छान कर रख लेता। यह पेट के लिये बहुत ही लाभ-दायक अत्यन्त स्वादिष्ट चूर्ण होता है। इसे मट्ठा में डालकर अथवा साग भाजी दाल में डालकर अमरूद आदि फलों के साथ खाओ। उन दिनों मैं दूध और बेल पर ही रहता था। कभी लोकी उबालकर उसका साग भी लेता था। श्रीहरिबाबा बड़े भूखे थे। न जाने कब से नहीं खाया था। मैंने तुरन्त अँगीठी जलायी, लोकी पपीता उबला रखा था। उन दोनों को निचोड़कर शुद्ध घी में जीरे से छौंककर उसमें वह निचोड़ा हुआ जल भी मिलाया और वह चूर्ण भी मिला दिया। गरमा गरम परामठे सेकता गया, वे खाते ही गये, खाते ही गये। न जाने कितना खाया। मुझसे बार-बार पूछें—"यह साग बड़ा दिव्य बना है। किस चीज का है? ऐसा साग तो मैंने जीवन में कभी खाया ही नहीं।" वास्तव में इस चूर्ण के मिला देने से साग दिव्य बन जाता है, पाठक पाठिकायें बनाकर देखें। तब वे प्रायः लोकी,

पालक और पपीता मिलवाकर साग बनवाया करते थे, पेट के वे जन्मजात रोगी थे।

× × × ×

एक बार हमारे चौदह महीने के अनुष्ठान में बहुत दिनों तक रहने आये। उन दिनों मैं साधकों के प्रबन्ध में बहुत व्यस्त था, इनके रहने आदि की समुचित व्यवस्था नहीं हो सकी। वे सीतारामबाबा व आनन्दजी आदि को लेकर श्रीबद्रीनारायण चले गये। कहाँ तो सहस्रों आदमियों का भंडारा बाँध पर नित्य करते। कहाँ काली कमली वाले क्षेत्र से साधुओं की टिकट लेकर गये। उस टिकट में आधा सेर या तीन पाव आटा दाल प्रत्येक दस बारह मील की चट्टी पर मिलता। उन दिनों सड़क नहीं बनी थी, पैदल ही सब बद्रीनाथ की यात्रा करते। आनन्दजी बता रहे थे एक दिन मुझसे बोले—"आटा को बदल कर कहीं से चावल ले आओ।"

आनन्दजी ने कहा—"मैं तो जाता नहीं, मुझे लाज लगती है। तब आप स्वयं आटा लेकर एक दुकान पर गये और उसके बदले में चावल ले आये।" कहाँ लाखों नर नारी दर्शनों को तरसते थे, हाथी पर निकलते थे तब रुपयों की वर्षा लोग करते थे, कहाँ आधा सेर आटा लिये उससे चावल बदलने को दुकान पर खड़े हैं। "लोकोत्तराणां चेतांसि कोनु विज्ञात मर्हसि।"

× × × ×

एक दिन माघ में उस पार से मेरे पास आ रहे थे। नौका से पार हुए। नौका वाले ने पैसा माँगा। तो आपने कहा—"भैया! हमारे पास पैसा तो है नहीं। मल्लाह तो मल्लाह ही ठहरा। उसने कड़ाई के साथ कहा—"नहीं आपको पैसा देना पड़ेगा।" तब आपने कहा—"भैया! हमें संकीर्तन भवन में ब्रह्मचारीजी के

जाना है।" उन दिनों मैं घाट हटाने के आन्दोलन में मल्लाहों की ओर से नेतृत्व करता था।

इतना सुनते ही मल्लाह ने कहा—"अच्छा, महाराज जी के यहाँ जाना है, जाइये जाइये।"

आकर आप बोले—"भैया! नाम का माहात्म्य तो हमें आज ही जान पड़ा। आज ब्रह्मचारीजी के नाम से ही हम पार हो गये।" यह कहकर खिल-खिलाकर हँसने लगे।

× × × ×

एक बार आये, उन दिनों में प्रयाग पंचक्रोशी परिक्रमा का पुनरुत्थान आन्दोलन कर रहा था। अन्तर्गृही की अक्षय नवमी को परिक्रमा उठानी थी। आपने हम सबके साथ पैदल ही पैदल दो दिनों तक कीर्तन करते हुए साथ ही साथ परिक्रमा की। कहाँ तो ऐसे सुकुमार बन जाते कि एक दो फुलका की पपड़ी और मूँग की दाल का पानी लेते। और कभी-कभी खाने बैठते तो दो चार आदमियों का भोजन पा जाते।

× × × ×

उनकी अनन्त स्मृतियाँ हैं। अनेकों बार हम महीनों साथ-साथ रहे हैं, साथ-साथ यात्रायें की हैं। अब वे सब बातें कहने सुनने को ही रह गयी हैं। आगे के संस्मरणों में उन सबका वर्णन आता रहेगा। यहाँ तो मैंने प्रसंगानुसार दो चार घटनायें लिख दीं। उनके जीवन में त्याग-संग्रह, विरक्तता वैभवता, सुकुमारता-कठोरता आदि सभी विरुद्ध धर्मों का मिश्रण दिखायी देता था। तभी तो किसी ने कहा है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि कोऽनुविज्ञातुमर्हति॥

दोहा

वज्र समान कठोर अति, सुमन सरिस सुकुमार।
महत पुरुष मन सम विसम, बुध जन करहु विचार॥

जीवन के अन्तिम दिनों में मेरा उनका विशेष संपर्क नहीं रहा। नहीं तो हम दूर रहने पर भी वर्ष में कई बार मिलते और साथ-साथ रहते।

जिन दिन हम गंगा किनारे की यात्रा में बाँध पहुँचे, उस समय वे होशियारपुर या कहीं अन्यत्र चले गये थे। रामेश्वर ने बाँध बधने का पूरा वृत्तान्त बताया। उनके बाबा लाला कुन्दन लालजी सभी साधुओं का स्वागत सत्कार करते थे, किन्तु मुझसे उनका अत्यन्त स्नेह था। एक दो दिनों तक हम गाँव में रहे। लाला कुन्दनलालजी के तीन पुत्र थे। लाला किशोरी लाल, लाला मुरारीलाल और लाला बाबूलाल। वैसे तो हम से पूरे परिवार के ही लोग आत्मीयता रखते हैं किन्तु लाला बाबूलाल जी अत्यन्त ही स्नेह रखते हैं। अब न लाला कुन्दनलाल ही रहे, न किशोरीलाल, न मुरारीलाल ही रहे। रामेश्वर भी चल बसे। श्रीहरिबाबा भी पधार गये। उनके प्रायः सभी साथी संगी पार्षद भी चल बसे। अब केवल वृद्धावस्था के कष्टों को सहते हुए लाला बाबूलालजी ही सांस ले रहे हैं। काल की कैसी कुटिल क्रीड़ा है। जिनके साथ अनेक सुखद प्रसंग आये थे अब उन सबकी मीठी-मीठी स्मृतियाँ ही शेष रह गयी हैं। "कालस्य कुटिला गतिः।"

हाँ, तो हम गंगा किनारे-किनारे चल दिये। आगे, उस पार अवन्तिका देवी हैं। वहाँ नवरात्रियों में, शिवरात्रि पर बड़ा मेला होता है, हम लोग वहाँ के दर्शन करते हुए फिर रूखी

पुर पहुँचे। असहयोग के आन्दोलन में मैं बुलन्दशहर के गाँवों में घूमता घामता यहाँ आया था। उन दिनों यहाँ नौका में एक बड़े विरक्त सन्त गौरादासजी रहते थे। वे स्यात् दादू पन्थी थे। अपने समय में वे परमविरक्त विद्वान् और त्यागी माने जाते थे। मैंने जब उनके दर्शन किये तब वृद्ध हो चुके थे। शरीर में कुष्ट रोग हो गया था। दो माइयाँ उनकी सेवा में थीं।

उन्होंने मुझसे पूछा—"तुम गाँवों में क्यों घूमते हो?"

मैंने कहा—"स्वराज्य का प्रचार करता हूँ।"

वे बोले—"तुम्हें कै रुपये महीने मिलते हैं?"

उन दिनों आर्य समाज के उपदेशक मासिक वेतन लेकर प्रचार किया करते थे। मैंने कहा—"स्वामीजी! मैं वेतन भोगी प्रचारक नहीं हूँ, मैं तो देशभक्ति के कारण वैसे ही प्रचार करता फिरता हूँ।" उन दिनों वहाँ एक दक्षिणी स्वामी भी थे। स्वामी शास्त्रानन्दजी भी एक कुटी में रहते थे। दुबारा जब हम गये थे, तब ये सब परलोकवासी हो चुके थे, केवल स्वामी शास्त्रानन्दजी ही बचे थे। उन्हीं के पास रहे। वे बड़े विरक्त सन्त हैं, पुराने सन्तों में वे ही एक बचे हैं। वहाँ से हम पेटपाल की कुटी पर पहुँचे। पेटपालजी बड़े साधु सेवी सन्त थे। गंगा किनारे विचरण करने वाले कोई भी सन्त जाते उन सबको भोजन कराते। साधुओं का यह एक अच्छा अड्डा था। मांडू का घाट भी वहीं कहीं आस-पास में था। वहाँ स्वामी योगानन्दजी ने अपनी कुटी और गुफा बनवायी थी। स्वामी योगानन्दजी योगाभ्यास करते थे, कुछ योग की क्रियायें करते थे। हमारे स्वामी अच्युता मुनि को भी उन्होंने कुछ क्रियायें सिखायीं थी। इसलिये उनके भक्त सेठ गौरीशंकरजी गोयनका ने उनके लिये पक्की कुटी गुफा बनवायी थी। पीछे मतभेद होने पर स्वामीजी मांडू

से चले आये थे। स्वामी योगानन्दजी विवाह करके फिर गृहस्थी हो गये थे। बहुत दिनों पश्चात् एक दिन वृन्दावन में मुझे सफेद वस्त्रों में मिले। वहाँ उन्होंने कोई चक्की लगा रखी थी। मुझसे आकर बोले—"मुझे पहिचानते हैं ?"

मैंने कहा—"नहीं।"

तब बोले—"मैं योगानन्द हूँ।"

मैंने सुन तो रखा था। प्रारब्ध का किसी को पता नहीं चलता। उनके बड़े-बड़े जज, सेठ, साहूकार शिष्य थे। पीछे वे सब विरुद्ध हो गये। अन्तिम समय उनका कष्टप्रद ही व्यतीत हुआ।"

मांडू से आगे हम गढ़ मुक्तेश्वर होते हुए बिजनौर जिले में विदुरकुटी पर पहुँचे। उन दिनों विदुरकुटी पर कुछ नहीं था, एक टीला था। लोग बताते थे, विदुरजी ने भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजी को बथुआ का साग खिलाया था, अतः इस टीले पर बारहों महीने बथुए का साग होता है। आज कल तो वहाँ बड़ा भारी आश्रम बन गया है, विद्यालय, वानप्रस्थ आश्रम, चिकित्सा लय, भारत माता का मन्दिर बहुत से स्थान बन गये हैं। आधुनिक सभी सुख सुविधायें उपलब्ध हो गयी हैं। उधर ईख की खेती बहुत होती है। हम लोगों को जब भूख लगती तो खेतों पर कोई होता, तो उससे माँगकर ईख चूस लेते। कोई न होता तो ईख तोड़कर उसी खेत की मेड़ पर बैठकर चूस लेते। भूख में पेट भरने मात्र को खेत में तोड़ कर वहीं खा लें, तो शास्त्र-कारों ने इसमें विशेष दोष नहीं बताया है।

एक दिन हमने एक खेत में से कुछ गन्ने तोड़े और उसकी मेड़ पर बैठकर ही चूसने लगे। इतने में ही उस खेत की स्वामिनी एक मुसलमानिनि आयी। हमें गन्ने चूसते देखकर

वह जलभुन कर भस्म-सी हो गयी। सैकड़ों बुरी-बुरी गालियाँ देने लगी। हम हँसते रहे, हमें हँसते देखकर उसका क्रोध और भी बढ़ा। बहुत अनाप सनाप बकने लगी। विष्ठा खा रहे हो, तुम्हें लाज नहीं। अभी पुलिस में जाकर पकड़वाऊँगी। थाने में ले चलूँगी।"

उससे पहिली ही रात्रि में वहाँ का थानेदार मिला था। उसने हमारे प्रति अत्यन्त ही श्रद्धा भक्ति प्रकट की थी। हमने कहा—"अच्छा, चलो थाने में ही चलते हैं। तब फिर वह गालियाँ देने लगी। जो गन्ने चूसने से बचे थे, वे हमने उसकी ओर फेंक दिये। इन्हें ले जा।"

उसने क्रोध में भरकर हमारी ओर उन्हें फेंकते हुए कहा—"ले जाओ इस विष्ठा को तुम ही खाओ।" हम हँसते हुए आगे चल दिये। वालीवाला पुल के पास कांच का कारखाना था, वालीवाला से लुकसर आये। उन दिनों लुकसर एक बहुत ही छोटा-सा ग्राम था। रेल का स्टेशन जंक्शन होने से बड़ा था। अबके जब मैं लुकसर उतरा तो देखा लुकसर तो आधुनिक सुख सुविधाओं से सुसज्जित सुन्दर नगर बन गया है। लुकसर से हरिद्वार आ गये गंगा स्नान किया, हरि की पौड़ी का दृश्य देखा। पहिले दृश्य में और अबके दृश्य में भूमि आकाश का अन्तर हो गया है। जगत् परिवर्तनशील है, क्षण-क्षण में सब बदलता रहता है। कोई वस्तु स्थायी नहीं, एक-सी रहने वाली नहीं। सबकी बात छोड़ दीजिये। अपने शरीर को ही ले लीजिये। हम जब तीन चार वर्ष के थे, तभी से सब याद है। कैसे छोटे छोटे सुकुमार पैर आदि अंग थे। फिर बड़े हुए, किशोरावस्थापन्न हो गये। फिर युवक हुए। प्रौढ़ हुए, सबसे कहते—कोई हमारे सिर में एक सफेद बाल निकाल दे तो उसे एक रुपया परितोषिक

देंगे। आज सिर में, दाढ़ी में, मूँछों में, सम्पूर्ण शरीर में सफेद-ही-सफेद बाल हैं। बहुत खोजने पर कोई काला बाल मिले। आँखें पुरानी पड़ गयीं, कानों से कभी-कभी कम सुनायी देने लगता है। दाँतों ने खिसकना आरम्भ कर दिया। चर्म सिकुड़ने लगा। क्या से क्या हो गये। जब शरीर की यह दशा है तो पेड़, पत्ती, घास, लता, वृक्ष, गिरि काननों की क्या दशा थी। उस दिन अपनी कुटिया के सम्मुख एक बड़े-बड़े पत्तों वाला पीपर उग आया। उस पौधे को उठाकर नीचे लगा दिया। अब वह इतना महावृक्ष हो गया है, कोई कहता है सौ वर्ष का होगा, कोई चार सौ वर्ष का बताते हैं। एक नन्हें से बीज का ऐसा विस्तार।

यही मायेश की माया है, यही खिलाड़ी का खेल है, यही नटवर की नाट्य विद्या है, यही लीलाधारी की लीला है, यही विहारी का विनोद है, यही मनमोहन का मनोरंजन है। हरिद्वार में तब बिजली नहीं थी, टीमटाम चाक चिक्य कुछ भी नहीं था। तब के हरिद्वार का स्मरण करता हूँ और अबके हरिद्वार को देखता हूँ, तो हक्का-बक्का रह जाता हूँ। उस समय न घण्टा-घर था, न मैदान, न घाट, न इतनी चौड़ी सड़कें। सब मेरे देखते-देखते बनी हैं।

हरिद्वार के कुम्भ का एक बार मेला था। एक ऊँचे स्थान पर खड़ा एक महात्मा चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा था—"देखो, भाई! जितने ये नर नारी हैं, सौ वर्ष पश्चात इनमें से एक भी न बचेगा फिर भी सौ वर्षों पश्चात यहाँ भीड़ ऐसी ही बनी रहेगी।" यही भगवान् की माया है। हम जिस घाट पर जहाँ नदी में स्नान करते हैं वह जल तुरन्त बह जाता है, उसके स्थान तुरन्त दूसरा जल आ जाता है। जब मैं गया था, हरिद्वार छोटा-सा गाँव था। ऋषीकेश वहाँ से १४, १५ मील था। कजली-वन महान् बीहड़

मार्ग, लोग अकेले जाने में भयभीत होते थे, सिंह, व्याघ्र, हाथियों का सर्वत्र आतङ्क भय था। आज हरिद्वार ऋषीकेश एक हो गये हैं। भवनों की भरमार है, आश्रमों का ताँता लग गया है, बड़े-बड़े कारखाने खुल गये हैं, क्या से क्या हो गया? संसार का यही नियम है, कोई स्थायी नहीं, कोई शाश्वत नहीं। सभी नाशवान् सभी विनाशशील, कोई साथ जाने वाली वस्तु नहीं। सभी यहीं रह जायँगी, सभी को पृथ्वी माता निगल लेगी। यह सब जानते हुए भी प्राणी को वैराग्य नहीं होता। उसके मन में त्याग के भाव नहीं आते। नश्वर पदार्थों को बाँधे रखना चाहता है। किसी को देने में उसका हृदय विदीर्ण होता है, किन्तु यमराज के सामने किसी की कुछ चलती नहीं—

तूँ जग तैं नाता तोड़ ले ॥

मुट्ठी बाँधकर आया बन्दे, हाथ पसारे जायगा।
कुछ संग नहीं ले जायगा, सब यहीं धरा रह जायगा ॥
कुछ राम भजन तू कर ले, कुछ टोसा सँग में धर ले।
तूँ खेत सुघर करि गोड़ ले ॥ तूँ जग तैं० ॥१॥

चुन चुन के पाथर जोड़े, कहता है थोड़े थोड़े।
लाया ईंटों के रोड़े, चूना गारे महँ घोरे ॥
(अरे) यह महल यहीं रह जायगा।
मूरख तूँ फिरि पछताइगा ॥
नटवर से नाता जोड़ ले ॥ तूँ जग से० ॥२॥

ये सम्बन्धी सब भाई, तेरी यह सुघर लुगाई।
बेटा बेटी अरु भाई, यह लड़की अपनी जाई ॥
सँग तेरे नहिं ये जायँगे, अगिनी में तोइ जरायँगे ॥
मत विषयनि सँग तू होड़ ले ॥ तूँ जग से० ॥३॥

ये रक्त मांस नस हड्डी, नोटों की भारी गड्डी ।
हाथी, घोड़ा, रथ चड्डी, सब यहँ हीं रहें फिजिड्डी ॥
नहिँ हाथ अरे कछु आइगा, तू देखत ही रह जायगा ।
तू सत्य झूठ को तोल ले ॥ तू जग से० ॥४॥
यह खेती अति उपजाऊ, ये चाचा चाची ताऊ ।
सब सम्बन्धी हैं खाऊ, हैं हाऊ और बिलाऊ ॥
तू सीख मानि ले भैया, सँग जाइ न एक रुपैया ।
तूँ निज करमनि कूँ फोड़ ले ॥ तूँ जग से० ॥५॥

बस, भैया ! हरिद्वार तक आ गये । संस्मरण का समय और स्थान समाप्त हुआ । अब आगे की बात अगले संस्मरण में—

छप्पय

यह जग चालू मार्ग जीव नित आवें जावें ।
सब ई इक दिन जायँ नहीं कोई रहि जावें ॥
चलत चलत जे पथिक पुन्य करिकें सुख पावें ।
पाप करत जे रहत रिक्त हाथनि ते जावें ॥
चलो, चलें कछु करि चलें, राम काम में एक चुनि ।
राम भजें सुख, कामतें—दुःख होइ रे अज्ञ ! सुनि ॥

झूसी संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(प्रयाग)
फाल्गुन शु० पूर्णिमा २०२९ वि०

विनीत
प्रभुदत्त

मातृ-स्मरण

(विशेषः)

भ्रातः कष्टमहो महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत् ।
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्र बिम्बाननाः ॥
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः ।
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥*

(श्री भ० वै० श० ३५ श्लो० ७)

छप्पय

टूटयो फूटयो किलो निरखि कवि कहे दुखित चित ।
राजा एक महान रही नगरी सुन्दर इत ॥
सेना अतिचतुरङ्ग राजपरिषद अति मनहर ।
चन्द्रमुखी बहु नारि कुमर सुकुमार सुघरवर ॥
बिरुदावलि बन्दी बदत, अब नहिं तिनिको नाम है ।
ऐसे निरदय कालकूँ, बारम्बार प्रनाम है ॥

भैया ! बड़े कष्ट की कथा है, देखो यहाँ एक महान् राजा था। उसके बड़े-बड़े सामन्त थे, समीप में ही विदग्धा परिषद् थी, उसकी वे चन्द्रानना स्त्रियाँ थी। बहुत राजपुत्रों का समूह स्पष्ट रूप में इधर-उधर घूमता था, बन्दीगण राजा की बिरुदावली गाया करते थे, किन्तु काल के प्रभाव से वे सब कहने सुनने की ही बातें रह गयी। उस काल भगवान् को नमस्कार है।

काल की कैसी कुटिल क्रीड़ा है, जिनसे अपना इस जन्म में कोई सम्बन्ध नहीं। वे सगे सम्बन्धियों से भी अधिक प्रियतर प्रियतम बन जाते हैं। इसके विपरीत एक माता के उदर से उत्पन्न सगे भाई शत्रु बन जाते हैं। कभी-कभी विधि विधान के कारण अपने न करने योग्य कार्य करने पड़ते हैं और कभी कर्तव्य कर्मों से भी पराङ्मुख होना पड़ता है। संन्यासी के लिये जननी का श्राद्ध तर्पणादि कर्म करना निषेध है, किन्तु आद्यशंकराचार्य को संन्यासी होकर भी माता का श्राद्ध करना पड़ा क्योंकि वे प्रथम ही वचन बद्ध हो चुके थे। हम लोग जो जन्मजात साधु हैं, जिन्होंने बहुत छोटी अल्प आयु में ही घर-द्वार-कुटुम्ब परिवार का मोह त्याग दिया हो, जो बालकाल में ही गृह त्यागी बन गये हों, उन्हें मातृ-पितृ सुख से वञ्चित ही रहना पड़ता है। किन्तु विधि के विधानानुसार ऐसे गृहत्यागियों को अपनी जननी से न सही किन्हीं धर्ममाता से मातृ स्नेह प्राप्त हो जाता है। प्रतीत होता है, वे किसी पूर्वजन्म की माता रही होंगी।

एक छिंदवाड़ा जिले का लड़का अविनाश मेरे पास रहता था। सन् एकत्तीस के आन्दोलन में मेरे साथ जेल भी गया था। नागपुर के पास पांढुरना का रहने वाला था। उसी ग्राम में वहाँ की उपनगरपालिका के विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्रीनाहतकरजी थे। नाहतकरजी तीन भाई थे। उनका सबसे छोटा भाई बहुत ही सुन्दर, सुयोग, भगवत् भक्त और अत्यन्त होनहार युवक था। मैंने तो उसे देखा ही नहीं, उसका चित्र ही देखा था। सोलह सत्रह वर्ष की अल्प आयु में ही उसका देहान्त हो गया। इससे नाहतकरजी की माता को अत्यन्त ही दुःख हुआ, वे दिन रात उसी का स्मरण कर करके

रोती ही रहती थीं। इससे घर वाले अत्यन्त दुखी हुए। अविनाश की सम्मति से वे उस वृद्धा माता को मेरे समीप लाये, उन दिनों मैं श्रीहरिबाबाजी के बाँध पर रहकर श्रीचैतन्य चरितावली लिख रहा था।

मैंने बुढ़िया को समझाते हुए कहा—"माँ! अब रोने से क्या होता है, उसके इतने ही दिन के भोग थे। तुम्हारा उससे इतने ही दिन का सम्बन्ध था। तुम मुझे ही अपना पुत्र मानलो।"

बात तो मैंने साधारण रूप से केवल समझाने को कही थी, किन्तु बुढ़िया ने उसे अक्षरशः सत्य मान लिया। उसी समय रोना उसने बन्द कर दिया। मुझे ही अपना पुत्र मानने लगी। उस वृद्धा माँ के स्नेहवश मैं कई बार पांडुरना गया। उनके घर में पुत्रवत् रहा। माँ मुझे अपने हाथों स्नान कराती, भाँति-भाँति की फलाहारी वस्तुएँ बना बनाकर खिलाती। ऐसा मातृ स्नेह कहाँ मिलेगा? उनके दो लड़के थे, उन सबके दश बारह लड़के थे। दो लड़कियाँ थीं, उनके भी छः सात लड़के थे। वे सबके सब मुझे अपने परिवार का ही समझते। लड़कियों के लड़के मामा कहते। देखिये, इसी का नाम प्रारब्ध है। अपने घर से, सगे सम्बन्धियों से नाता तोड़कर आया यहाँ आत्मीय जन बन गये। उनका मेरा इस जन्म का कुल गोत्र एक नहीं, भाषा एक नहीं, वे मराठी भाषा भाषी, मैं हिन्दी, प्रान्त एक नहीं, सम्प्रदाय एक नहीं, वे लिङ्गायतशैव मैं स्मार्त वैष्णव। इतनी सब भिन्नता होने पर भी हृदय की एकता के कारण सभी विभिन्नतायें नष्ट हो गयीं। इसीलिये कवि ने कहा है—

प्रकृति मिले मन मिलत है, अनमिल तैं न मिलाय।
दूध दही तैं जमत है, कांजी तैं फटि जाय॥

दही और कांजी दोनों ही खट्टी वस्तुएँ हैं, किन्तु कांजी से दूध फट जाता है, दही से जम जाता है। जिनसे पूर्वजन्मों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होते हैं, वे कितने भी दूर देश के क्यों न हों, कितनी भी विभिन्नतायें क्यों न हों, वे मिल जाते हैं। और जिनसे पूर्वजन्म के शत्रुता पूर्ण सम्बन्ध हैं, वे सगे भाई होने पर भी विलग हो जाते हैं, प्राणघातक सिद्ध होते हैं।

आज एक ऐसी ही अन्य धर्ममाता के सम्बन्ध में मुझे बताना है, जिनका मुझे अन्तिम संस्कार करने-नियम में रहते हुए भी देहरादून जाना पड़ा। वे हमारी धर्म की माँ राजमाता मदालसा देवी थीं, जो नैपाल के भूतपूर्व महाराजा की पुत्री, नाहन सिरमौर के भूतपूर्व महाराजा की महारानी और दिवंगत भूतपूर्व महाराजा की माता-राजमाता थीं।

हमारे भारतवर्ष में नैपाल, भूटान और सिक्किम ये ही तीन पहाड़ी राज्य ऐसे रह गये हैं जो अँगरेजी शासन की चपेट में पूरी तरह नहीं आये। भूटान और सिक्किम तो राज्य क्या हैं, नाम के राज्य हैं। हमारे एक नगर के बराबर भी नहीं। हाँ, नैपाल राज्य कहने योग्य है। नैपाल में पहले छोटे-छोटे चार सौ राजा थे। सभी प्रकार से स्वतन्त्र। दस, बीस, पचास, सौ गाँवों के राजा होते थे। वे आपस में लड़ते-भिड़ते रहते थे।

पहिले वन और पर्वत किसी भी राज्य में नहीं माने जाते थे। इनमें वर्णाश्रमी राजा नहीं रहते थे, न वन पर्वतों की किसी सम्पत्ति-कंद, मूल, फल, पत्थर, लकड़ी आदि-पर अपना स्वामित्व प्रकट करते, न उनमें हस्तक्षेप ही करते। वन पर्वतों की समस्त वस्तुओं के अधिकारी वन पर्वतों में रहने वाले अवर्णाश्रमी जंगली मनुष्य तथा ऋषि मुनि ही माने जाते थे।

पहिले दो ही प्रकार के मनुष्य होते थे वर्णाश्रमी और अवर्णाश्रमी। अवर्णाश्रमी से अहिन्दु न समझें। पहिले हिन्दु अहिन्दु का भेद भाव ही नहीं था। यह भेद भाव तो मुहम्मदीय सम्प्रदाय के मुसलमानों के आने पर हुआ। हम वर्णाश्रमी अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में बाँटकर रहते थे। इनके अतिरिक्त अन्य सभी अवर्णाश्रमी होते थे। वर्णाश्रमी राजाओं के भी छोटे छोटे राज्य होते थे। किसी राजकुमार ने, ब्राह्मण ने कोई अपराध किया तो उसे देश निकाले का दण्ड दिया जाता था। वन और पर्वत तो किसी के राज्य में माने ही नहीं जाते थे, अतः वे लोग वन पर्वतों में चले जाते थे। वैश्य और शूद्र तो प्रजा ही माने जाते थे, इन्हें शरीरिक दण्ड भी दिया जाता था। प्राण दण्ड भी इन्हें दिया जाता था। किन्तु ब्राह्मण कैसा भी अपराधी क्यों न हो उसे प्राण दण्ड न देकर देश से निकाल दिया जाता था। क्षत्रिय अपराधी या तो सम्मुख आकर युद्ध करे अन्यथा उसे भी प्राण दण्ड न देकर देश निकाले का ही दण्ड दिया जाता था। देश से निकाले राजकुमार दूसरे क्षत्रियों के राज्य में तो जाते नहीं थे। वे वन तथा पर्वतों में अपने मन्त्री पुरोहितों सहित चले जाते थे। वहाँ जाकर वे छोटा-मोटा किला गढ़ बनाकर अपने को राजा घोषित कर देते थे। शुद्ध क्षत्रिय उन्हें अपनी कन्या तो देते नहीं थे अतः वे वनवासी गिरिवासियों की लड़की ले लेते थे। वे ही क्षत्रियबन्धु कहलाते थे। इस प्रकार वन पर्वतों में भी वर्णाश्रमी बसने लगे। नहीं तो वन पर्वतों में तपस्वियों को छोड़कर कोई वर्णाश्रमी नहीं रहता था। वहाँ किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिंद, पुल्कस, आभीर, कंक तथा यवनादि वर्णाश्रमेतर जाति के जंगली लोग रहते थे। नैपाल में ऐसे छोटे-छोटे राजा चार सौ थे। गढ़वाल

में भी दो सौ तीन सौ थे। नैपाल में पहिले कोल, किरात, निवाड़ आदि जंगली जाति के लोगों का राज्य था। काठमांडू से बीस मील दूर एक गोरखा राज्य था ये नीवाड़ वंश के थे। उस राजा को जीतकर समीप के ही एक क्षत्रिय ने गोरखा पर अपना अधिकार कर लिया, उनका नाम था द्रव्यशाह। इनकी आठवी पीढ़ी में पृथ्वीनारायण शाह हुए। जिन्होंने छोटे-मोटे चौबीसौ राजाओं को जीतकर विशाल नैपाल राज्य बनाया। इन्होंने ही कान्तिपुर (काठमांडू) को अपनी राजधानी बनाया। इसी राजवंश में गीर्वाण युद्ध विक्रमशाह हुए, ये महाराजा के भाई थे। इन्होंने कमायूँ, गढ़वाल के अल्मोड़ा, नैनीताल, देहरादून, सिरमौर, टेहरी आदि बारह पहाड़ी राजाओं को जीतकर बद्रीनाथ तक अपने राज्य का विस्तार किया। महाराजा रणबहादुर शाह के पुत्र राजेन्द्र विक्रमशाह जब गद्दी पर बैठे तो उनकी अवस्था तीन वर्ष की थी, उनके मन्त्री भीमसेन थापा ही राज्य की सार सम्हार करते थे।

महाराजा पृथ्वी नारायण शाह के दरबार में एक कुँवर जंग बहादुर शाह कार्य करते थे। भीमसेन थापा की मृत्यु के पश्चात् जंग बहादुर शाह राज्य का कार्य सम्हालने लगे। अपनी बुद्धि के प्रभाव से वहाँ के महाराजा को श्री पाँच महाराजाधिराज बनाकर स्वयं राज्य के अधिकारी बन गये। कहलाने को तो वे महामन्त्री ही कहलाते थे, किन्तु वे श्री तीन महाराजा की उपाधि धारण करके राज्य के सर्वेसर्वा बन गये। तभी से नैपाल में राणाओं का शासन आरम्भ हुआ। इनके यहाँ उत्तराधिकारी पुत्र न होकर भाई होता था। जैसे सात भाई हैं। तो एक भाई के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा ऐसे महामन्त्री होंगे। सब भाइयों के पश्चात् बड़े भाई का जो लड़का होगा वह होगा

फिर उसके भाई। इस प्रकार किसी के सात भाई हुए तो वह अपने भाइयों को या तो भारत भेज देता या उनकी हत्या करा देता। इस प्रकार १०४ वर्षों तक नैपाल में राणा वंश का शासन रहा। श्री पाँच महाराजाधिराज के वंश में चार राजा हुए और श्री तीन राणा वंश के महामन्त्री नौ हुए। श्री जंग बहादुर राणा से लेकर चौथे जो देवशमशेर राणा हुए उन्हीं की पुत्री हमारी चरित्र नायिका माँ मदालसा देवी थीं। महाराजा ने केवल नौ महीने राज्य किया। भाइयों की कूटनीति के कारण ये स्वेच्छा से राज्य छोड़कर भारत चले आये और देहरादून से ऊपर मंसूरी के पास झरीपानी में अपना स्थान बनाकर रहने लगे। इनके चार पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ थीं। बड़ी पुत्री ही मां मदालसा देवी थीं। राजकुमारी मदालसा देवी अत्यन्त ही सुन्दरी थी। इनके पिता भी साधु सन्तों के भक्त थे, किन्तु उनकी महारानी परम भक्ता थीं। वे दिन भर पूजा पाठ में ही लगी रहती थीं। अपने भगवान् को नित्य नई पोषाक पहिनातीं। वर्ष में ३६५ पोषाकें बदलती थीं। साधु सन्तों ब्राह्मणों का बड़ा आदर सत्कार करतीं। हमारी माँ पर अपनी जननी का ही प्रभाव अधिक पड़ा। बाल्यकाल से ही ये भगवत् सम्बन्धी खेल खेलतीं। शिरमोर नाहन की राजमाता ने मदालसा देवी को देखा तो वे इनके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गयीं। उन्होंने अपने पुत्र के लिये इसे स्वयं माँगा और ये महारानी बन गईं। इनकी दो छोटी बहिनें एक खोरी लखीमपुर के राजघराने में, एक प्रतापगढ़ के राजघराने में विवाहीं। इनके दो पुत्री और एक पुत्र हुए। एक पुत्री अविवाहित ही स्वर्ग सिधार गई। दूसरी प्रेमा का विवाह गुजरात के छोटा उदयपुर के महाराजा के साथ हुआ।

ये महल की रेख देख के साथ ही साथ महाराजा के साथ राज काज में भी हाथ बँटातीं। दयामयी इतनी थीं, कि सबके ऊपर दया रखतीं। एक इनकी बहिन महाराजा की छोटी रानी और थीं, वे एक बालक बालिका को इन्हें सौंपकर स्वर्ग सिधार गईं। तीन इनके बच्चे थे, दो बहिन के, तीन चार देवर के। सबको एक समान अपने बच्चों की भाँति पालती थीं। कपड़ा, लत्ता, गहना, पोषाक, खाने पीने में कोई भेद भाव नहीं, सबको सब वस्तुएँ समान रूप से देतीं। इनकी स्वर्गीया बहिन का लड़का इन्दु आठ दस वर्ष का हो गया था। किसी ने उसे देखकर कहा—"देखो, इसकी माँ मर गयी है।" तब वह रोता रोता इनके पास आया और बोला—"माँ! वह कहता है इसकी माँ मर गयी। मेरी माँ तुम तो जीवित हो?" माँ ने कहा—"वह झूठ बोलता है, तुझे चिढ़ाता है। मैं उसे दण्ड दूँगी। तेरी माँ तो मैं जीवित ही हूँ।"

यह कितनी बड़ी बात है। इनकी वह बहिन सगी नहीं थी, दासी पुत्री थी। इन महाराज की भी विवाहिता नहीं उपरानी थीं। उसकी सन्तानों को भी अपनी सगी सन्तानों के समान पालना और दश वर्ष की अवस्था तक उन्हें यह ज्ञान न होने देना कि यह मेरी सगी माता नहीं है। कितने आश्चर्य की बात है। मैंने इन सब संतानों को जब सिरमौर राज्य स्वतन्त्र था। तब देखा था। सब राजकुमार, राजकुमारी एक से ठाठ में रहते थे।

राज्य में नवरात्रों में प्राचीन प्रथा के अनुसार देवी के संमुख भैंसा का बलिदान हुआ करता था। यह बलि राज्य की ओर से राजा के द्वारा होती थी। जब इन्होंने बलिदान की बात सुनी

तो इनका दयार्द्र हृदय द्रवीभूत हो गया। इन्होंने महाराजा से प्रार्थना की—"भैंसे का बलिदान बन्द कीजिये।"

महाराज इनका अत्यधिक सम्मान करते थे। उन्होंने कहा—"देखो, यह प्रजा का काम है। हमारी वंश परम्परा से यह प्रथा चली आ रही है। इसे मैं कैसे रोक सकता हूँ। प्रजा का क्रुद्ध अनिष्ट हुआ, तो सभी मुझ पर क्रुद्ध होंगे।"

इन्होंने कहा—"चाहे जो हो, भैंसे का बलिदान नहीं होना चाहिये।"

महाराज ने कहा—"देखो, तुम हठ मत करो, यह असंभव बात है।"

आपने कहा—"यदि यह असंभव है, आप इसे नहीं रोक सकते, तो आज से मेरा आपका कोई संबन्ध नहीं।" यह कहकर ये महलों में चली गईं।"

यह कथा उन्होंने मुझे स्वयं ही सुनायी थी, कहती थीं—"मैंने तो समझा अब सदा-सदा के लिये मेरा महाराज से संबन्ध विच्छेद हो गया। किन्तु दुर्गाष्टमी हो जाने पर हँसते हुए महाराज आये और बोले—"महारानी! अब तो प्रसन्न हो जाओ। तुम्हारी ही आज्ञा का पालन हुआ। भैंसे का बलिदान नहीं हुआ। भैंसा देवी के सम्मुख गया अवश्य, किन्तु उसे जीवित ही छोड़ दिया गया। तभी से सिरमौर राज्य में सदा के लिये बलिदान बन्द हो गया।

एक भैंसा के प्राण बचाने को वे महारानी पद का भी परित्याग करने को उद्यत हो गयीं, इसी से उनके दयामय हृदय का परिचय प्राप्त होता है। महाराज अधिकांश समय इङ्गलैंड में ही रहते थे। वहीं एक राजकीय होटल में उनका स्वर्गवास हो गया।

महाराजकुमार अप्राप्त वयस्क थे। अतः राज्य अँगरेजों के संरक्षण में आ गया।

पहिले सिरमौर राज्य हरिद्वार पर्यन्त था। जब गोरखाओं ने सिरमौर राज्य पर अधिकार कर लिया था, तब भी वहाँ के महाराजा अप्राप्त वयस्क थे। जब वे बड़े हुए तब अँगरेजों से मिलकर उन्होंने पुनः राज्य हस्तगत कर लिया। अँगरेजों की जैसी नीति थी, सेना के नाम पर उन्होंने आधा राज्य ले लिया। आधा महाराज को लौटा दिया। अब जब फिर राजकुमार अप्राप्त वयस्क रह गये, तो वे अपने प्रतिनिधि (रेजीडेण्ट) द्वारा राज्य संरक्षण करने लगे। जब महाराज प्राप्त वयस्क हो गये तब अँगरेजों ने उन्हें राज्य लौटा दिया। इनके पुत्र महाराज राजेन्द्र प्रताप शाह महाराजा हो गये। माँ उन्हें प्यार से मनु कहती थीं। ये महाराज बड़े सरल, उदार, दानी त्यागी थे। किन्तु उन्हें सुरापान का व्यसन लग गया था। इससे माँ बड़ी दुखी रहतीं।

जब हमने यहाँ झूसी में पहिले ही पहिले छः महीना के लिये अखण्ड नाम जप संकीर्तन यज्ञ किया था, तो साधकों को बुलाने के लिये 'कल्याण' में कई लेख लिखे। उन लेखों को पढ़कर देश भर से बहुत से साधक आये थे। उनमें धनी निर्धन, राजकुमार, दीवान, सरकारी अधिकारी तथा सेठ साहूकार सभी श्रेणी के साधक थे। उन सबको हरे राम मन्त्र की नित्य ६४ माला जप, चार घण्टा कीर्तन करना पड़ता। सभी पंचकेशी, मौनी, फलाहारी बनकर रहते। यह अपने ढङ्ग का भारतवर्ष में नये ढङ्ग का अनुष्ठान था। इसी में कुछ दिन के लिये माँ के बड़े भाई महाराज कुमार नरेन्द्रशमशेर राणा भी सम्मिलित हुए। उन्होंने ही माँ को मेरा परिचय कराया। तभी माँ बीमार

हुई उनके पेट की शल्य क्रिया (आपरेशन) हुआ। उनकी इच्छा थी, शल्य क्रिया के समय कोई साधु संत महात्मा मेरे सम्मुख रहें। महाराजकुमार ने मुझे आने को लिखा। किन्तु मैं नहीं गया। मुझे बड़े लोगों के यहाँ जाने में बड़ा ही संकोच होता है।

अनुष्ठान की समाप्ति के पश्चात् हम २५।३० साधकों को लेकर अखण्ड कीर्तन के सहित गंगोत्री यमुनोत्री यात्रा पर गये। मसूरी होकर ही गङ्गोत्री का मार्ग था। वहाँ पहिले ही पहिले मेरा इनसे साक्षात्कार हुआ। इन्हीं के महल में ठहरे। उन दिनों श्रीकृष्ण विरह में ये निरन्तर रोती ही रहती थीं। आँखों से इतने अश्रु प्रवाहित होते कि चार-चार पाँच-पाँच रूमाल इतने भीग जाते कि उन्हें निचोड़ लो। इनके एक अविवाहिता पुत्री प्रेमा (जिसे मैं कृष्णा कहता हूँ) एक भतीजी आद्या (जो पाछे की महाराना बनीं और अब स्वर्गीया हो गयी) ये दोनों बहुत छोटी-छोटी थीं और माँ के साथ भक्ति भाव में रहतीं इनके भजनों को सुनकर, इनकी पाठ पूजा को देखकर मैं अत्यन्त ही प्रभावित हुआ। दो तीन दिन रहकर हम गङ्गोत्री यमुनोत्री गोमुख चले गये। वहाँ से लौटकर गीता प्रेस गोरखपुर में झूसी की भाँति एक वर्ष का अखंड अनुष्ठान कराया। उसमें भी माँ पधारीं और कई दिनों तक गोरखपुर में रहीं।

उन दिनों उनका अपना राज्य था। राजसी ठाठ बाठ, सेना सिपाही सब कुछ थे, किन्तु स्वयं माँ साधारण रूप से रहतीं। मुझे भी अपने राज्य नाहन में बुलाया और हमारा राजसी ढङ्ग से बहुत भारी स्वागत सत्कार किया। अब तक तो वे मुझे एक साधु समझकर ही सत्कार करतीं। अपने एक प्रिय भाई की मृत्यु से, कन्या के विधवा हो जाने से, राज्य के चले जाने से, पुत्र के सुरा के व्यसन से वे अत्यन्त ही दुखी रहने लगीं। अब

उनका चित्त घर गृहस्थियों के झंझट से ऊब गया। अब वे अधिक समय पूजा पाठ और कथा कीर्तन में ही व्यतीत करने लगीं। मेरे पास आतीं कई महीनों रह जातीं। हृदय अत्यन्त उदार, पहिले मनमाना दान धर्म में व्यय किया था, अब आर्थिक भी संकोच होने लगा। वे जब यहाँ आतीं, १०।२०।५० सहस्र बिना व्यय किये नहीं जाती थीं। कभी १०८ श्रीमद्भागवत करातीं। कभी यज्ञ कभी अनुष्ठान। इतना व्यय करके भी यही कहतीं—गोपाल! अब हम क्या करने योग्य रहे, कुछ भी तो कर नहीं सकते। मनमाना दान धर्म नहीं कर सकते।" इनके पुत्र महाराजा उदार थे, मातृ भक्त थे। राज्य चले जाने पर उन्हें ३।४ लाख रुपये निजी व्यय को मिलते। राजमाता को भी दो तीन सहस्र मासिक मिलते। किन्तु जिनका इतना उदार हृदय है उनके लिये इतनी धन राशि एक दिन के व्यय के लिये भी पर्याप्त न थी। महाराजा इन्हें इनकी इच्छानुसार दान धर्म को देते ही रहते। फिर भी इनका मन नहीं भरता।

हमारे यहाँ पढ़ने अत्यन्त निर्धन बालक ही आते हैं। एक लड़का कुछ ठाठ बाठ से रहने लगा। मैं उसे डाँट रहा था—"तुम्हें अपनी पूर्व की स्थिति भूलनी नहीं चाहिये। अपने पहिले दिनों को स्मरण करो।"

तब आप बड़ी सरलता से कहने लगीं—"गोपाल! हमें भी अपनी पूर्व स्थिति नहीं भूलनी चाहिये क्या?"

मैंने कहा—"माँ! तुम्हें तो पुरानी सब बातें भुला ही देनी चाहिये।"

जिन दिनों इनका अपना स्वतन्त्र राज्य था, सैकड़ों दसियाँ तो इनकी निजी सेवा में नियुक्त थीं। अब भी जब आतीं। तो १०-२० सेवक सेविकायें पहिले से ही आ जातीं। स्वच्छता

इन्हें अत्यन्त प्रिय थी। घर स्वच्छ रहे, वस्त्र स्वच्छ रहें, भोजन अत्यन्त स्वच्छता से बने। नौकर चाकर सब स्वच्छ रहें।

जब से मुझे उन्होंने पुत्र माना, तब से मुझे गोपाल ही कहतीं। किसी ज्योतिषी ने कभी उन्हें बताया होगा, भगवान् तुम्हें पुत्र रूप में मिलेंगे। तब से ये मुझे सदा गोपाल कहतीं। जब कोई पूछता—"आपकी कै सन्तानें हैं, तो मेरा नाम अपनी सन्तानों में गिनकर बतातीं।"

एक दिन बात-बात में मैं किसी से कह रहा था—"मेरे न माता हैं, न पिता, न भाई बन्धु, मैं तो सबसे हीन हूँ।"

तब तो वे चुपचाप सुनती रहीं। पीछे से बोलीं—"गोपाल! क्या मैं तुम्हारी माँ नहीं?"

मैंने कहा—"माँ! तुम माता तो हो ही।"

वे बोलीं—"तब तुम कैसे कह रहे थे, कि मेरे माता नहीं।"

मैंने अपने दोनों कान पकड़े और कहा—"माँ! अपराध हो गया, क्षमा करना।"

सचमुच मुझमें उनका सगे पुत्र की भाँति भाव था। जब उनके एकमात्र पुत्र सिरमौर के तत्कालीन महाराज की अकाल में ही मृत्यु हो गयी, तब उन्हें अत्यन्त ही आघात लगा। परन्तु उस पुत्र वियोग को बहुत ही गम्भीरता के साथ सहन किया। स्वर्गीय पुत्र की मंगल कामना के निमित्त उनके श्राद्धादि में उन्होंने लाखों रुपये व्यय किये। हमारे यहाँ उनके निमित्त उदारता से भागवत सप्ताह कराया, बृहद्भंडारा किया। श्रीआनन्दमयी माँ के यहाँ देवी भागवत सप्ताह कराया। श्रीबद्रीनाथ में, गयाजी में जाकर पिंड श्राद्ध, शैयादानादि सब विधिपूर्वक कराये।

निरन्तर सगे सम्बन्धियों और प्रियजनों की मृत्यु से उनका

हृदय पक गया था। क्रम-क्रम से माता, पिता, भाई, भतीजी जो इन्हें अत्यन्त प्रिय थे उनकी मृत्यु से तथा पति के विदेश में असमय विछोह से इनका हृदय पक गया था। राज्य के चले जाने का इन्हें इतना दुःख नहीं था, क्योंकि राज्य के अतिरिक्त देहरादून के आस-पास इनकी इतनी बड़ी रियासत थी, कि उससे लाखों की आय थी। चूहड़ पुर तक सब इनकी ही जमींदारी थी। वह भी सब सरकार ने ले ली, चाय के बगीचे भी समाप्त हो गये। चाय के कारखाने भी बन्द हो गये। एकमात्र पुत्र के वियोग का उन्हें अत्यन्त ही दुःख हुआ। एक दिन बोलीं—"गोपाल! अब मेरा श्राद्धादि कौन करेगा? तुम तो साधु हो?"

मैंने कहा—"साधु हुआ तो क्या, माँ! मैं करूँगा, तुम्हारा अन्तिम श्राद्ध।"

बोलीं—"तुम तो देश भर में घूमते रहते हो, न जाने तुम कहाँ रहे?"

मैंने कहा—"माँ! जहाँ भी रहूँगा, वहीं से तुम्हारा अन्तिम संस्कार करने आ जाऊँगा।"

इससे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। तब से सबसे यही कहतीं—"अब मुझे कोई चिन्ता नहीं। गोपाल मेरा सब अन्तिम संस्कार करेंगे।"

एक दिन अत्यन्त गद्गद होकर कहने लगीं—"गोपाल! इस मन्दा का उद्धार कर देना। जैसे कपिल देव ने अपनी माँ देवहूति का उद्धार कर दिया था। मैं इस योग्य तो नहीं हूँ, किन्तु मुझे यही सन्तोष है, तुम जैसे समर्थ मेरे पुत्र हो।" यह कहकर बहुत देर तक रोती रहीं।"

एक दिन ऐसे ही प्रसंग चलने पर कहने लगीं—"शंकराचार्य

ने संन्यासी होने पर भी अपनी माँ का अन्तिम संस्कार किया था, ऐसे ही तुम भी मेरा कर ही दोगे ?"

मैंने कहा—"हाँ, माँ ! यदि मैं तुमसे पहिले न चला गया, तो कर ही दूँगा।"

यह सुनते ही वे अत्यन्त विह्वल हो उठीं। एकमात्र युवक पुत्र आँखों के सामने मर चुका था। जिससे अन्तिम संस्कार की आशा लगाये बैठीं थीं वह ऐसी निराशा पूर्ण बातें कह रहा है। विलम्ब उठीं और रोते-रोते बोलीं—"हाय ! गोपाल ! तुम कैसी बात मुख से निकाल रहे हो ! अब कहा सो कहा, अब कभी ऐसी बात मुख से मत निकालना।" इस बात को याद कर करके कई दिनों तक रोती रहीं। मैंने कहा—"माँ ! मैंने तो वैसे ही कह दिया। भगवान् की गति को कौन जानता है।"

गोरक्षा आन्दोलन में जब हमने शोभा यात्रा निकाली तब पैदल मेरे पीछे-पीछे चलीं। बोलीं—"गोपाल ! मैं तुम्हारे पीछे इसलिये रही, कि कोई तुम पर प्रहार करेगा, तो मैं अपने हाथों पर उसे रोक लूँगी।"

जब मैंने गोरक्षा के लिये अनशन किया तो जब तक अनशन समाप्त नहीं हुआ, वहीं डटीं रहीं। दिन भर रोती ही रहतीं थीं। उस समय सभी को विश्वास था, मेरी मृत्यु ही हो जायगी। परन्तु ये इतनी धर्मभीरु थीं कि एक दिन भी उन्होंने मुझसे अनशन त्यागने को नहीं कहा।

किसी ने पूछा भी—"तुम्हारा पुत्र मर गया, तो माँ ! तुम्हें कैसा लगेगा ?"

बड़े साहस से बोलीं—"भगवान् की इच्छा को कौन टाल सकता है। भगवान् न करें ऐसा हो। यदि ऐसा ही होगा, तो मैं

सन्तोष करूँगी, मेरे एक पुत्र ने गोरक्षा के लिये, धर्म के लिये प्राण दे दिये। मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगी।"

मेरे अनशन त्यागने पर वे अत्यन्त ही प्रसन्न थीं। उनका सभी के प्रति अगाध स्नेह था। हमारे यहाँ के सभी बच्चों से वे अत्यन्त स्नेह करतीं। सबको नित्य नूतन-नूतन वस्तुएँ मँगाकर बाँटा करतीं। जो जितना ही अधिक खाता, उससे उतनी ही अधिक प्रसन्न होतीं। मुझसे कहतीं—"गोपाल! मैं सुनती हूँ, लोग पाँच-पाँच सेर खा जाते हैं, ऐसे खाने वालों को मेरे पास लाओ। उन्हें मैं खिलाऊँगी। जो कहोगे दक्षिणा दूँगी। मैं किसी को लाता और कहता—"माँ! ये ढाई सेर रसगुल्ला खा लेते हैं।"

तुरन्त कहतीं—"जनार्दन! ढाई सेर रसगुल्ला लाओ।" बड़े प्रेम से खिलातीं, १०-५ रुपये ऊपर से देतीं। उन्हें खिलाने में, बच्चों को वस्तुएं बाँटने में सबसे अधिक प्रसन्नता होती।

स्वर्ग से इस लोक में लौटने वालों के शरीर में चार चिन्ह शेष रह जाते हैं। (१) दान देने में अत्यन्त प्रसन्नता (२) मीठी वाणी, (३) देव पूजन में अत्यन्त प्रीति और (४) ब्राह्मणों को तृप्त करने में सुख की अनुभूति।* उनमें ये चारों चिन्ह सोलहू आने थे। दान देने से उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। एक बार जब मैंने वृन्दावन में एक वर्ष का गो व्रत किया था। उस समय मैं केवल गो दुग्ध ही लेता था, गौओं को जंगल में ले जाकर चराया करता

---

* स्वर्गेस्थितानामिह जीव लोके,
चत्वारि चिन्हानि वसन्ति देहे।
दान प्रसङ्ग मधुरा च वाणी
देवार्चनं ब्राह्मण तर्पणं च॥

था। उसकी समाप्ति पर उनकी इच्छा थी, मेरी ही ओर से भंडारा हो, गोपाल पहिले पहिल मेरा ही अन्न ग्रहण करें।

एक दिन पूछा—"गोपाल ! तुम्हारे व्रत समाप्त होने वाले भंडारे में क्या व्यय होगा ?"

मैंने कहा—"माँ ! ये ही १०-५ सहस्र रुपये।"

बोलीं—"तो गोपाल ! वह भंडारा कृष्ण भंडार की ही ओर से होगा।"

मैंने कहा—"अच्छी बात है।"

कानपुर वाली माँ जी (सर पद्मपति सिंहानिया की माता) उनका भी मेरे प्रति वात्सल्य स्नेह था। वे भी समय समय पर मेरे प्रत्येक कार्यों में सहस्रों रुपये व्यय किया करतीं। वर्ष में कितने सहस्र मेरे कामों में व्यय करतीं मुझे स्मरण नहीं। दस-बीस सहस्र व्यय करके भी कहतीं—"इनके इतने भारी समुद्र में मेरे ये दश-बीस सहस्र एक बूँद के भी समान नहीं हैं।"

गोव्रत में मेरा शरीर अत्यन्त ही कृश तथा कृष्णवर्ण का हो गया था। मैं उन दिनों टाट ही पहिनता था। माँजी को इससे बड़ा क्लेश होता था, रो-रोकर कहतीं—"यह तुमने कैसा व्रत ले रखा है। मैं एक-एक दिन गिनती रहती हूँ, कब व्रत समाप्त हो।" अच्छे से अच्छा टाट मेरे लिये भेजतीं। टाट के भीतर डन लप भर कर गद्दा, तकिया बनाकर भेजतीं। उन्होंने भी संकल्प किया होगा, अन्तिम भंडारा मेरी ओर से हो। माँ के कहने के पश्चात् उन्होंने भी पूछा—"महाराज ! तुम्हारे अन्तिम भंडारे में क्या व्यय होगा ?"

मैंने कहा—"माँजी ! भंडारे की क्या बात है। जितना चाहो व्यय कर दो।"

वे बोलीं—"तो भी तुम्हारा अनुमान क्या है ?"

मैंने कहा—"ये ही १०-५ हजार होंगे।"

तो बोलीं—"तो यह मेरी ओर से होगा ?"

मैंने सोचा—"अधिकस्य अधिकं फलम्" दोनों की ओर से हो जाय। मैंने कह दिया—"अच्छी बात है।"

जब माँ ने सुना कि अन्तिम भंडारा कानपुर वाली माँ की ओर से होगा, तो मेरे पास आईं और बोलीं—"गोपाल ! मैंने तुमसे कहा था, अन्तिम भंडारा श्रीकृष्ण भंडार की ओर से होगा और तुमने इसकी स्वीकृति भी दे दी थी।"

मैंने कहा—"सो तो होगा ही।"

वे बोलीं—"सुन रही हूँ, कानपुर वाली सेठानी की ओर से होगा।"

मैंने कहा—"माँ ! हानि क्या है, दोनों मातायें भंडारा भली-भाँति से जोड़ तोड़ से करें। दोनों का हो।"

यह सुनकर रोती हुई बोलीं—"गोपाल ! अब मैं कानपुर वाली की बराबरी करने योग्य तो रही नहीं। वे बड़े आदमी हैं। किन्तु मेरी इच्छा है इस भंडारे में और किसी का पैसा भी न लगे। सब श्रीकृष्ण भंडार की ओर से ही हो।"

मैंने कहा—"माँ ! ऐसा ही होगा। माँ जी को मैं मना कर दूँगा। मेरी तो तुम दोनों ही माँ हो। पहिले तुमने कहा है, तुम्हारा अधिकार सर्वप्रथम है।"

मैंने कानपुर वाली माँ जी से कहा—"माँ जी ! राजमाता कह रही हैं—"वह भंडारा मेरी ही ओर से होगा। आप दूसरे दिन कर लेना।"

माँ जी बड़ी बुद्धिमति व्यवहार कुशल और प्रत्युतपन्नमति थीं, बोलीं—"अच्छा तो है, राजमाताजी की ही ओर से हो, मैं फिर कर लूँगी।"

ऊपर से तो उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए ऐसा कह दिया, किन्तु उनकी हार्दिक इच्छा थी, व्रत के पश्चात् महाराज सर्वप्रथम मेरा ही प्रसाद ग्रहण करें। व्रत की समाप्ति गोवर्धन में गिरिराज की परिक्रमा के अनन्तर कुसुम सरोवर पर होने वाली थी। आन्योर से पहिले जो आवले के पेड़ हैं उन आवलों के पेड़ पर चढ़कर आँवला खाकर व्रत की समाप्ति करनी थी। यह चैत्र की पूर्णिमा की बात है, उसी दिन वर्ष पूरा होना था। पेड़ों पर हमने आँवले रुकवा रखे थे। श्रीजयदयालजी डालमिया तथा अन्य लोग आँवलों के पेड़ों पर चढ़ गये और आँवला तोड़ तोड़कर सब खाने लगे। इस प्रकार आँवला खा लेने पर केवल दूध पीने का नियम समाप्त हो गया। हमारी कानपुर वाली माँ जी ने कितनी बुद्धिमानी का काम किया। उन्होंने अपने पंडों से कहकर हमसे पृथक् गोवर्धन में छप्पन भोग लगवाये, गिरिराज का पूजन करके छप्पन भोग का प्रसाद लेकर बड़ी बहू (श्रीपद्मपतिजी की पत्नी) के साथ जतीपुरा पहुँच गयीं और बोलीं—"महाराज! आँवला खाने पर आपका व्रत तो समाप्त हो ही गया। आज हमने गिरिराज को छप्पन भोग लगाये हैं, उसका प्रसाद लायी हूँ, प्रसाद पा लोगे न?"

अब गिरिराज के प्रसाद को मैं कैसे मना करता। मैंने प्रसाद पा लिया। माँ जी को अत्यन्त हार्दिक प्रसन्नता हुई और राजमाता को भी बुरा नहीं लगा। उन्हें जाकर प्रसाद दे आयीं, इसी का नाम है व्यवहार कुशलता।

गिरिराज में जो छप्पन भोग का भंडारा हुआ वह तो अवर्णनीय था। कोई भी कहीं का आकर प्रसाद पा जाओ। किसी को रोक टोक नहीं। आसपास के गाँवों के सहस्रों की संख्या में प्रसाद पाने आने लगे। गोवर्धनजी ने प्रसाद को इतना अनन्त कर दिया कि

सबको प्रसाद पवाने के अनन्तर लगभग दो सहस्र आदमियों के लिये प्रसाद बच गया, जिसे गाड़ियों में भरकर गाँवों में बाँटा गया।

कलकत्ते के एक भालोटियाजी थे, उन्होंने अपनी ओर से चुपके से लगभग दो सहस्र रुपये की भाँति-भाँति की मिठाइयाँ बनवा कर भोग में लगवायीं। मुझे कुछ पता नहीं था। पं० बनवारी लालजी शर्मा ने यह प्रबन्ध किया। कई दिनों के पश्चात् बोलीं—"गोपाल! मैंने कहा था, भंडारे में अन्य किसी का व्यय न हो।"

मैंने कहा—"दूसरों का एक पैसा भी व्यय नहीं हुआ, सब श्रीकृष्ण भण्डार का ही लगा।"

वे बोलीं—"वह जो भोग में भाँति-भाँति की मिठाइयाँ बनी थीं, सुना है वह कलकत्ते के किसी सेठ की ओर से बनी थीं, कृष्ण भंडार से उसका रुपया नहीं दिया गया।"

मैंने कहा—"माँ! इसका मुझे तनिक भी पता नहीं। यदि ऐसी बात है, तो मैं अभी पुछवाता हूँ। शर्माजी को बुलाया गया। उनसे पूछा तो उन्होंने बताया, हाँ भालोटियाजी की ओर से दो हजार रुपये की मिठाइयाँ भोग में लगीं। वे आधी ले गयीं, आधी वहाँ बाँट दी गयीं।"

मैंने कहा—"मुझसे पूछा क्यों नहीं?"

वे बोले—"महाराज इतने व्यस्त थे, परिक्रमा में थे, कि मुझे पूछने का अवसर ही नहीं मिला। अकस्मात् रास का और भोग का कार्यक्रम बन गया।"

मैंने कहा—"अभी भालोटिया को दो हजार रुपये दे आओ।"

उन्होंने रुपये हाथ में ले लिये और बोले—"मेरा एक सुझाव है, राजमाता साहिबा को यदि स्वीकार हो तो कहूँ ?"

मैंने कहा—"कहिये, क्या सुझाव है ?"

वे बोले—"रुपये तो मैं उन्हें लौटा आऊँगा, किन्तु यह अच्छा न लगेगा। उन्होंने तो अलग से किया था, अलग प्रसाद बाँटा था, हमारे भंडार में तो उसे सम्मिलित किया नहीं। गिरिराज सबके हैं, सब उनको भोग लगा सकते हैं। कानपुर वाली माँ जी ने भी अपना पृथक भोग लगवाया था। इतने पर भी राजमाता को सन्तोष न हो, तो यहाँ वंशीवट विहारी का फिर से छप्पन भोग इन रुपयों का लग जाय।"

कृष्णा (माँ की पुत्री) के आग्रह पर माँ ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। वंशीवट विहारी का फिर से छप्पन भोग लगा। भंडारा हुआ। ऐसी थी उनकी दान की प्रवृत्ति। दस बीस हजार को तो वे दस बीस पैसे के बराबर भी नहीं मानती थीं।

वाणी उनकी इतनी मीठी थी, कि क्रोध में भी बोलती थीं तो मानो फूल झड़ रहे हों। जिससे बोलतीं—पहिले बेटा कहतीं। बीच में दश बार उसे बेटा-बेटा कहकर सम्बोधन करतीं। नौकरों पर भी वे सदा दया रखतीं, उनकी अपनी सन्तानों के समान देख रेख रखतीं, मैंने बड़े बड़े राजा महाराजों, रानी राजमाताओं के देखा है। उनके बीच रहा हूँ। ऐसा मधुर बर्ताव, ऐसी आत्मीयता, ऐसी मिठास किसी में भी देखने को नहीं मिली। वाणी इतनी मधुर थी मानों कोकिला कूज रही हो। एकदम भोले बच्चे जैसा स्वभाव। किसी बात को सुनकर आश्चर्य के साथ पूछतीं—"अच्छा, ऐसा है, मैं नहीं जानती।" किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, शिष्टाचार की तो वे सजीव प्रतिमा थी। शास्त्र का वचन है, दातृत्व, प्रियवक्तृत्व,

धीरत्व और उचितज्ञता ये अभ्यास से नहीं आते। ये चार गुण सहज-जन्मजात-किसी-किसी में होते हैं।* उनमें ये चारों गुण जन्मजात थे। वे बहुत ही धीर गम्भीर और प्रभावशालिनी थीं। इतना होने पर भी वे समय-समय पर ऐसा मीठा विनोद करतीं कि आदमी हँसते-हँसते लोट पोट हो जाते।

वृन्दावन की बात है, मेरे सामने बैठकर बातें कर रही थीं। उनकी एक बहुत सुन्दरी दासी सामने खड़ी थी। एक बहुत सुन्दर लड़का उसकी ओर मुँह बना रहा था।

मैंने कहा—"माँ देखो, यह रामजी उसकी ओर मुँह बना रहा है।"

यह सुनकर मन्द मुस्कराहट के साथ चुप हो गयीं। कुछ भी नहीं कहा।

दूसरे या तीसरे दिन हम जीने से उतर रहे थे। यह लड़का भी मेरे साथ था, माँ ने बड़े प्यार से उससे पूछा—"बेटा! तेरी क्या अवस्था होगी?"

उसने कहा—"माँ जी! सोलह वर्ष की।"

तब आप बड़ा मुँह बनाकर बोलीं—"छीः छीः यह लड़की तो बत्तीस वर्ष की है। दो बार भाग चुकी है, उसे अमुक-अमुक रोग हैं। मैं यह सुनकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया, वहीं गिर पड़ा। उस लड़के को तो काटो तो रक्त नहीं। उसे मानों सर्प सूँघ गया हो। उसका मुँह बनाने में कोई बुरा भाव नहीं था, बाल सुलभ चांचल्य वश ही उसने ऐसा किया। किन्तु उसे कैसे सुन्दर ढङ्ग से शिक्षा दे दी। तब से मैंने उस लड़के की यह

---

* दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वं उचितज्ञता।
अभ्यासात् नैवलभ्यन्ते चत्वारो सहजागुणा॥

चेंक ही डाल ली। उससे पूछता—"बेटा! तुम्हारी क्या अवस्था होगी?"

वह हँसकर उत्तर देता—"माँ जी! १६ वर्ष। ऐसी एक नहीं सैकड़ों घटनायें हैं। स्थल संकोच से यहाँ उन सबका उल्लेख नहीं कर सकते।"

इनके पुत्र स्वर्गीय महाराज नाहन नरेश में एक बुरा व्यसन सुरापान का पड़ गया था। वैसे वे बड़े सरल, शिष्ट, उदार, तथा मातृभक्त थे। माता की किसी भी आज्ञा को टालते नहीं थे। वे मुझसे हाथ डेढ़ हाथ लम्बे थे। उन्हें सौन्दर्य अपनी माँ से और लम्बापन अपने पिता पितामह से प्राप्त था। माताजी से सदा हँसते रहते। माँ भी उन्हें अत्यधिक प्यार करतीं। वे माँ से कहते—"माँ! ज्योतिषी ने जो पुत्र रूप में तुम्हें कृष्ण प्राप्ति को कहा था—"वह कृष्ण मैं ही हूँ, मेरी पूजा करो, मुझे ही भोग लगाओ।"

माँ कहतीं—"चल हट, आया कहीं का कृष्ण बनने।"

तब आप कहते—"अरी, माँ! तुम मेरा स्वरूप नहीं जानतीं मैं ही श्रीकृष्ण हूँ।" माँ बेटे में ऐसी ही प्रेम की भक्तिभाव की बातें होती रहतीं।

एक दिन उन्होंने माँ से पूछा—"माँ! श्रीकृष्ण बड़े थे या बलदेवजी?"

माँ ने कहा—"अरे, मनु! तू इतना भी नहीं जानता? बलदेवजी बड़े थे, श्रीकृष्ण छोटे थे।"

तब आप बोले—"तो, माँ! हम दोनों भाइयों में महाराजजी बड़े हैं मैं छोटा हूँ। महाराज को बलदेव कहा करो, मुझे श्रीकृष्ण मानकर पूजा करो। मुझे ही गोपाल कहा करो।"

मुझसे वे अत्यन्त स्नेह रखते, कभी भी मेरे सम्मुख उन्होंने

अपना बड़प्पन प्रकट नहीं किया। कुलीनता, शिष्टता, दानशीलता, उदारता तो इन राजाओं के साथ चली गयी। अब ये जो अकुलीन, अशिष्ट, लोभी, कृपण शासक हुए हैं, ये कलाकारों को, साधु सन्तों को तथा विद्वानों को आश्रय देना क्या जानें। ये छोटे-छोटे राजा भी देते समय लाख से नीचे कहना अपना अपमान समझते थे। इन शासकों में इतनी दानशीलता कहाँ? एक बार काशी वाराणशेय विश्वविद्यालय में किसी बालिका के संगीत पर प्रसन्न होकर राष्ट्रपति ने उसे पाँच रुपये पारितोषिक दिये। लड़की ने वे रुपये उठाकर फेंक दिये। इनमें दातृत्व शक्ति रही ही नहीं। यह तो वंश परम्परा की सम्पत्ति है। राजा कितने उदार मन होते थे—इसका एक दृष्टान्त सुनिये—

आगरे में एक बार क्षत्रियों की सभा हुई। उसके सभापति थे अवागढ़ के राजा बलवन्त सिंह जी। प्रस्ताव यह था, कि सब जाति वालों के महाविद्यालय बन रहे हैं, क्षत्रियों का भी एक महाविद्यालय बने। प्रस्ताव पारित हो जाने पर चन्दा लिखने की पारी आयी। सभा के मन्त्री ने कहा—"पहिले सभापति ही बतावें।"

अवागढ़ नरेश ने कहा—"दस सहस्र मेरे लिख लो।"

मन्त्री ने कहा—"सब अपने हाथों से ही द्रव्य की राशि लिख दें।"

राजा साहब विशेष पढ़े लिखे नहीं थे। उन्होंने एक के आगे चार शून्यों के स्थान पर पाँच शून्य रख दिये।

मन्त्री ने कहा—"सभापति की ओर से एक लाख रुपये।

राजा साहब ने कहा—"मैंने तो दस हजार कहे थे।"

मन्त्री ने कहा—"सरकार ने अपने कर कमलों से एक लाख

लिखे हैं। देखिये इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, दस हजार, और यह लाख।

राजा हँसकर बोले—"अच्छा, मैंने एक लाख लिख दिये कोई बात नहीं, महाविद्यालय में सब कितने रुपये लगेंगे ?"

मन्त्री ने पाँच या दस लाख बताये। तो राजासाहब बोले—"तब चन्दा करने की क्या आवश्यकता। सब मैं ही दे दूँगा।"

आज आगरे का श्रीबलवन्त कालेज उनकी उदारता, दानशीलता का परिचय देते हुए चल रहा है। जिसकी रेख देख स्वर्गीय महाराज के छोटे पुत्र राव साहब कृष्णपालसिंह जी कर रहे हैं। उनके बड़े भाई स्वर्गीय महाराज के पुत्र राजा साहब कुशलपाल सिंहजी कुछ विचित्र मस्तिष्क के थे। सुना, वे भी स्वर्गवासी हो चुके हैं। एक बार श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्व भारती को देखने गये। वहाँ उन्होंने सब दिखलाया। वे चाहते थे हिन्दी भवन को राजा साहब दस हजार रुपये दे दें।" उन्होंने विश्व भारती को एक पैसा भी नहीं दिया। लोगों ने कहा—"विश्व भारती पर ऋण हो गया है।" उन्होंने पूछा—"कितना ऋण हो गया है ?"

वहाँ वालों ने बताया—"तीन लाख ऋण है।"

यह सुनकर आप चले आये। अवागढ़ आकर तीन लाख का चेक भेज दिया। वे कुछ-कुछ सनकी भी थे, एक बार मेरे बुलाने पर झूसी संकीर्तन भवन में हजारों रुपये व्यय करके अपनी मण्डली बैंड बाजे के साथ पचासों आदमियों को लेकर आये। हमने ठहरने का प्रबन्ध एक धर्मशाला में किया। वहाँ जैसी वे चाहते थे स्वच्छता नहीं थी। तुरन्त अपने दल को लेकर झूसी स्टेशन पर आ गये। गाड़ी आने में दो तीन घन्टे की देरी थी।

स्टेशन पर टहलते रहे। मेरे पास नहीं आये। लोगों ने कहा—राजा साहब लौटकर जा रहे हैं।"

मैंने कहा—"जाने वाले को कौन रोक सकता है। जाते हैं तो जाने दो।" मैं तो गया नहीं। रेल आने पर वे लौट गये। उनके भाई रावसाहब बहुत ही शिष्ट सज्जन हैं। वंशीवट वृन्दावन वाला हमारा संकीर्तन भवन पहिले अवागढ़ की कुञ्ज ही थी। राव साहब से ही हमने उसे खरीदा। उन्होंने अत्यन्त ही संकोच और विवशता के साथ मूल्य लिया वह भी नाम मात्र का मूल्य। अवागढ़ के कोई राजा भी नहीं थे। साधारण जमींदार थे। राजा की पदवी थी। स्वतन्त्र राजा तो और भी उदार, धार्मिक और दानी होते थे। इस प्रकार राजाओं में तो व्यसन तथा दुराचार बहुत बढ़ गये थे। नहीं तो बहुत से राजा सुन्दर शासक, न्याय प्रिय, उदार, प्रजावत्सल और धर्म प्रिय थे। सिरमौर के शासक अपनी सत्यता, न्याय प्रियता और निर्लोभता के कारण प्रजा के सदा आदर भाजन बने रहे। समस्त प्रजा के जन उन्हें ईश्वर की भाँति पूजते मानते थे। इन महाराज के पितामह राज्य से २०० या ३००) महीना वेतन लेते थे। इसके अतिरिक्त राज्य का एक पैसा भी अपने कार्यों में व्यय नहीं करते थे। माँ बतलाती थीं कि हमारे श्वसुर को एक कोट बहुत अच्छा लगा। दुकानदार के पास जाते उसकी कीमत पूछकर लौट आते। कोट की कीमत दो सौ रुपये थी।

एक दुकानदार ने कहा—"सरकार! कोट ले क्यों नहीं जाते?"

महाराज ने कहा—"भैया! मेरे पास इतने रुपये बचते ही नहीं। इसका मूल्य कहाँ से दूँ, यही मुझे चिन्ता है।"

जब समस्त राज्य भारत सरकार ने अधिग्रहण कर लिये तब

सिरमौर ही ऐसा एक राज्य था जिसका लेखा जोखा हिसाब किताब सर्वथा ठीक था। ये महाराज भी प्रजा के अत्यन्त प्रिय थे। राज्य के चले जाने पर भी जब ये नाहन छोड़कर देहरादून आकर रहने लगे थे तब भी प्रजा के लोग आते और भेंट चढ़ाकर दर्शन करके चले जाते। छोटे छोटे किसानों की गाय भैंस बीमार हुईं, तो वे मानता मानते—"हे महाराज! हमारी भैंस अच्छी हो जायगी तो हम आप पर सवा रुपया चढ़ावेंगे।" भैंस अच्छी हो जाने पर इतनी दूर देहरादून पैदल आकर सवा रुपया चढ़ाकर प्रणाम करके लौट जाते। ऐसे थे ये सिरमौर के महाराजाधिराज। महाराजाधिराज इसलिये कि पहाड़ी छोटे-छोटे राजाओं का जब तक सिरमौर के महाराजा राजतिलक नहीं कर देते तब तक वे राजा नहीं कहाते थे। गुरुगोविन्द सिंह को मुसलमानों के विरुद्ध सिरमौर महाराजा ने ही आश्रय दिया था। वे बहुत दिनों तक सिरमौर राज्य के यमुना किनारे पाउटे में रहे। जो अब भी वहाँ पाउँटा साहब के नाम से गुरुद्वारा बना है, जिसमें गुरुगोविन्द सिंह की तलवार रखी है।

इन महाराज में भी अपने अनेकों पैतृक गुण थे। कुम्भ के अवसर कुछ दिनों तक मेरे पास आकर झूसी में रहे। तब माँ यहाँ एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रही थीं। अपने मामा को एक ओर करके बीच में मुझे कर लेते और कहते—"हम दोनों महाराजजी के अंग रक्षक (बोडीगार्ड) हैं। अत्यन्त ही विनोद प्रिय और व्यवहार कुशल थे। रात्रि में ही पीते थे, किसी को प्रतीत नहीं होने देते थे। मुझसे तो थोड़ा संकोच करते, किन्तु कोई हँसने को मिल जाय, तो दिन भर उससे हँसते रहते, बातें करते रहते।

एक दिन हम और वे त्रिवेणी स्नान को जारहे थे। हमारे

वृन्दावन के स्वामी चक्रपाणि जी भी थे। उनसे वे बहुत हँसी किया करते। उस समय संगम क्षेत्र में कोई बिना टीका लगवाये जा नहीं सकता था। मैंने टीके का बहुत विरोध किया। सत्याग्रह करने की भी घोषणा की। किन्तु मेरी बात चली नहीं। सरकार ने टीके का प्रतिबन्ध उठाया नहीं। हाँ सबको सूचित कर दिया ब्रह्मचारी जी से कोई टीके का प्रमाण पत्र न माँगे। प्रवेश द्वार पर पुलिस ने हमारी मोटर रोककर टीके का प्रमाण पत्र माँगा। ये देहरादून से अपने तथा नौकरों के जैसा होता है, दश बीस बनावटी प्रमाण पत्र बनवा लाये थे। इन्होंने अपना तथा अपने साथियों के प्रमाण पत्र दिखा दिये। तब देखने वाले ने कहा—"ब्रह्मचारीजी के लिये तो हमें आज्ञा है। इनका (चक्रपाणिजी का) प्रमाण पत्र कहाँ है ?"

तब आप बड़ी गम्भीरता से बोले—"अरे, भाई ये तो साधु हैं ?"

उसने कहा—"साधू फादू कोई हों सबको प्रमाण पत्र दिखाना होगा।"

तब आप बोले—"भाई, ये तो मौनी हैं।"

उसने कहा—"चाहें मौनी हों या फौनी, प्रमाण पत्र दिखाना ही होगा।"

तब आपने अपनी जेब में हाथ डाला उसमें किसी दासी के नाम का प्रमाण पत्र पड़ा था। उसे निकालकर दिया, कि इनका यह प्रमाण पत्र है।"

उसने उसे पढ़ा और कहा—"यह तो अमुक देवी का है, किसी स्त्री के नाम का है।"

तब आप बड़ी गम्भीरता से बोले—"अरे, भाई ये वृन्दावन की हैं, सखी सम्प्रदाय की हैं, इनके ऐसे ही नाम होते हैं।"

हँसी के मारे मेरी बुरी दशा थी। हँसते-हँसते मैं तो लोट पोट हो गया, किन्तु वे तनिक भी न हँसे। मोटर के सभी लोग हँसने लगे। अपनी इस प्रकार हँसी उड़ते देखकर स्वामीजी मोटर से कूदकर जो मुट्ठी बाँधकर भागे, तब आप भी खिल-खिलाकर हँसने लगे। ऐसे थे वे हास्य प्रिय महाराजा। माँ भी अत्यन्त ही हसमुख थीं, किन्तु महाराज की मृत्यु के पश्चात् उनकी हँसी जाती रही। वे आवश्यकता से अधिक गंभीर हो गई थीं।

बहुत वर्ष पहिले उन्होंने यहाँ आश्रम में वट, पीपर, पाकर, आम और जामुन के पाँच पंचवटी के पेड़ लगाये थे। उनमें से एक पेड़ बचा है, सब सूख गये। दो वर्ष पहिले जब आयी थीं, तो कई महीने यहाँ रहीं। एक दिन बोलीं—"गोपाल! मेरे हाथ से पेड़ लगते क्यों नहीं हैं?"

मैंने कहा—"माँ! अब के लगाओ, लग जायेंगे। तब उन्होंने पीपर, आम, जामुन के पेड़ लगाये। पीपर लगाते हुए मैंने हाथ लगा दिया, तो बोलीं—"गोपाल ने हाथ लगा दिया, तो अवश्य लग जायगा। हमने बगीचे के उस मार्ग का नाम उनके नाम से 'मदालसा मार्ग' रख दिया। एक खुदवाकर पत्थर भी लगवा दिया। अब जब वह पीपर बढ़ गया, तब मैंने लिखा—"माँ! तुम्हारा पीपर लहलहा रहा है, बगीचा भी सुन्दर हो गया है, तुम आकर देखोगी तो प्रसन्न होगी।"

उनके बार बार पत्र आते। गोपाल! मैं आने को तैयार बैठी हूँ। वहाँ आकर अबके बहुत रहूँगी। तुम्हारे वृक्ष के फलों को खाऊँगी। तभी उनके निजी सचिव जवरसिंह भण्डारी (जिन्हें माँ जनार्दन कहती थीं) एक घटना में बुरी तरह आहत हो गये। उनके पैर की कूल्हे की हड्डियाँ टूट गयीं। वे ही उनके हाथ पैर

उनके बिना वे कैसे आ सकती थीं। उनके बार-बार पत्र आते-जाते जनार्दन के अच्छे होते ही मैं आ जाऊँगी। एक बार तो अकेले ही आने को उद्यत हुईं, किन्तु उनके सगे सम्बन्धियों ने उन्हें आने नहीं दिया।

वे भगवान् के ही सम्बन्ध की बातें करतीं। भगवत् सम्बन्धी ही शब्द उच्चारण करतीं। सभी नौकर नौकरानियों के उन्होंने नाम बदल दिये थे। जैसे जबर सिंह है तो उसका नाम जनार्दन रख दिया। दीपसिंह है तो दीनदयाल। राम, कृष्ण गोविन्द, अच्युत, केशव ऐसे ही नाम नौकरों के और प्रिया, कृष्णा, राधा, सीता ऐसे नाम नौकरानियों के रख छोड़े थे। सबसे सम्बन्ध लगाकर ही बर्ताव करतीं। वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन वाले पं रामदयालजी जोशी हमसे अत्यन्त स्नेह करते थे। वे आकर जब माताजी माताजी कहने लगे, तब बोलीं—"अब सब लोग मुझे माताजी ही कहोगे। रामदयाल ! तुम मेरे भैया हुए।" उनसे सगे भाई का-सा व्यवहार करतीं। उनकी पुत्री कृष्णा कहती—"माँ छोटे-छोटे लोगों को भाई बना लेती हैं। उन्हें मामा कहने में मुझे लाज लगती है, किन्तु क्या करूँ, जब माँ उन्हें भाई कहती हैं, तो मुझे मामा कहना ही पड़ता है।" लड़का लड़की कोई हो सब को बेटा ही कहतीं। उर्मिला को बहुत अधिक प्यार करतीं। अपनी पुत्री कृष्णा को 'श्री' कहकर पुकारतीं। कहतीं—"जैसी श्री मेरी बेटी है वैसी ही उर्मिला है। मान, सम्मान, दान, पुत्री की ही भाँति करतीं। जब कला उन्हें माताजी कहती तब मीठी घुड़की देकर कहतीं—"कला ! तू तो मेरी छोटी बहिन है मुझे माताजी क्यों कहती है ?"

कला कहती—"बड़ी बहिन माता के ही समान होती है।" उनकी पुत्री कृष्णा, उनके समस्त नौकर चाकर सगे सम्बन्धी

को 'मौसी' ही कहते। वे सभी से आत्मीयता का सम्बन्ध रखतीं। आश्रम में जब आकर रहने लगतीं, तो प्रेम का प्रवाह बहने लगता। आश्रम के सभी बच्चों के सिर पर हाथ फेरतीं। उनके नाम पूछतीं, और कहतीं—"विवाह तो नहीं करोगे ?" जो बच्चा यह कहता—"हाँ, माताजी ! हम विवाह नहीं करेंगे। महाराजजी की ही सेवा में रहेंगे।" उनसे बहुत प्रसन्न रहतीं। कहतीं—"विवाह में क्या रखा है। भगवान् का भजन करो। गोपाल की सेवा करो।"

बार-बार उनके झूसी आने के पत्र आने से सभी बड़े प्रसन्न थे, सभी उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, कि एक दिन अकस्मात् उनके यहाँ से तार आया—"कि माताजी के बहुत पीड़ा है।"

मैंने तुरन्त रामराज को देहरादून भेजा। वे ६ महीने मसूरी ही रहती थीं। देहरादून की गर्मी वे सहन नहीं कर सकती थीं। थोड़े दिन पहिले ही मसूरी से लौटी थीं, यहाँ आने की तैयारी कर रही थीं। रामराज से मैंने कह दिया—"माँ की जैसी दशा हो दूरभाष (फोन) से उसकी सूचना मुझे देना।"

रामराज पहुँचा, तब वे कुछ अच्छी हो चुकी थीं। रामराज से बातें कीं, मेरा दिया प्रसाद लिया। भस्म को मस्तक पर लगाया। स्वयं हाथ धोये। फिर अकस्मात दशा बिगड़ने लगी। रामराज का फोन आया—"माँ की दशा गम्भीर है आप तुरन्त आवें। माघ का महीना था, नियम से त्रिवेणी स्नान कर रहा था, भागवती कथा लिखने के कारण बाहर कहीं न जाने का नियम भी था। किन्तु माँ को मैं वचन दे चुका था, कि कैसे भी नियम में हूँगा, तुम्हारे अन्तिम समय में अवश्य आऊँगा। मैं रात्रि में तीन बजे के लगभग पहुँचा। माघ शुक्ला तृतीया को ही

मध्यान्ह में २॥ बजे वे चल बसी थीं। वहाँ जाकर मैंने देखा—"माँ चिरनिद्रा में सो रही हैं, सगे सम्बन्धी उनके शव के समीप बैठे कीर्तन कर रहे हैं। माँ के मुख पर मृतक पने के कोई चिह्न नहीं, मानों वे गम्भीर मुद्रा में शयन कर रही हों। प्रातःकाल तक मैं उनके समीप बैठा भगवन्नाम कीर्तन करता रहा। प्रातः काल होते ही मैं सहस्र धारा स्नान को चला गया। सबको सूचना दे दी गयी। विधि का विधान तो देखिये, जिन लोगों को पुत्र पुत्री की भाँति पाला पोसा। उनमें से पुत्री कृष्णा को छोड़कर कोई उनके पास नहीं था। दो पुत्र बधुएँ थीं, उनमें से एक भी वहाँ नहीं थीं। जयपुर की महारानी उनकी पौत्री थीं, वह भी नहीं। कटा पत्थर वाले भाई जिन्हें वे अत्यधिक प्यार करती थीं वे भी नहीं। जिस इन्दु को सगे पुत्र की भाँति पाला वह भी नहीं था बम्बई चला गया। जिस भतीजी शिवा को सदा समीप ही रखतीं वह भी नहीं थी। जिस भाभी को बिना लिये कहीं जाती नहीं थीं। वे ८० वर्ष की देह फूल जाने से नीचे उतर नहीं सकती थीं, वे समीप में रहते हुए नहीं आ सकती थीं। जिस जनार्दन के बिना पल भर नहीं रहती थीं वह हड्डियों के टूटने से पलस्तर बाँधे शैया पर पड़ा रुदन कर रहा था। उसका तो सर्वस्व ही लुट गया। उसे माँ से भी अधिक प्यार मिलता था, परिवार भर का पालन होता था, आज वह निस्सहाय हो गया। केवल कृष्णा और दो एक लड़कियाँ बैठी कीर्तन कर रही थीं।

मैं स्नान करके लौटा तब तक सभी सगे सम्बन्धियों को सूचना मिल चुकी थी। सभी को पता था—माँ का अन्तिम संस्कार महाराजजी ही करेंगे। अतः सभी छोटी से छोटी बात लोग मुझसे ही पूछ कर करते। उनके एक सम्बन्धी भारतीय सेना में थे, उन्होंने सेना का बैंड बाजा मँगाया। दो ट्रकें मँगायीं, दो बसें कीं, दस-

बीस मोटरें आ गयीं। अब माता के पार्थिव शरीर को भगवती भागीरथी के तट पर भस्मसात करना है। समस्त सम्बन्धियों का समूह अन्तिम सम्मान प्रदर्शित करने एकत्रित हुआ। सब रोते-रोते माँ के शरीर पर एक-एक दुशाला चढ़ाते थे, चरणों में नारियल रखकर भूमिष्ठ होकर प्रणाम करते। उस दृश्य को देखकर मेरी आँखें बह रही थीं। पचासों दुशाले माँ के शव पर चढ़ाये गये, नारियलों का ढेर लग गया। विमान तैयार हो गया। तब हम माँ के पार्थिव शरीर को बाहर लाये, विमार पर रखकर पिंड दिये। मैं तो तेरह दिन रह नहीं सकता था, अतः राज पुरोहित को अपना प्रतिनिधि बनाकर सब कृत्य कराये। माँ का विमान ट्रक मे रखा गया।

कीर्तन करने वाले पंडित, मैं और इन्दु के दोनों बच्चे ट्रक में बैठे। अब माँ की अन्तिम शोभा यात्रा निकली। वह दृश्य दर्शनीय था। माँ के स्वरूपानुरूप था। सभी बाजे बजाने वाले बहुमूल्य सैनिक गण वेष से सुसज्जित थे, वे शोक पूर्ण ध्वनि बजा रहे थे। सैकड़ों सगे सम्बन्धी पीछे-पीछे रोते हुए चल रहे थे। पीछे बस और मोटरों की पंक्तियाँ चल रही थीं। द्वार पर आकर सभी ने माँ का राजसी सम्मान किया और शोभा यात्रा हरिद्वार को चल पड़ी। ऋषीकेश के समीप मार्ग का पिंडदान हुआ। पाँच पिंड दिये जाते हैं। हरिद्वार में आकर विधिवत् चिता लगायी। वे मेरा प्रसादी वस्त्र ही ओढ़ती थीं, अतः मैंने अपने ऊनी चद्दरे से उनके शरीर को ढककर गंगा स्नान करके चिता पर रख दिया। धू-धू करके चिता जलने लगी। तब तक बम्बई से इन्दु भी आ गया। क्षणभर में माँ का वह शरीर जलकर मुट्ठी भर भस्म हो गया। चार पाँच घण्टों तक स्मशान में बैठा-बैठा मैं यही सोचता रहा—"जिस शरीर के पीछे मेरा मेरा मैं-मैं करता

हुआ जीव, प्राण देता है उसकी अन्तिम यही स्थिति है। माँ के शरीर को जलाकर भस्मी को भागीरथी में प्रवाहित करके हम हरि की पौड़ी पर आये। अन्तिम तिलाञ्जलियाँ दीं। स्नानादि से निवृत्त होकर पोद्दार भवन में आये, पूजा करके प्रसाद पाकर तीसरे दिन प्रयाग आ गये।

आते ही अचला सप्तमी से १७-१८ दिन का माँ के निमित्त अखण्ड भगवन्नाम संकीर्तन आरम्भ कराया। आदमी भेजकर वृन्दावन से कीर्तनकार और पं नित्यानन्दजी को भागवत सप्ताह के लिये बुलाया। उनके निमित्त श्रीमद्भागवत का सप्ताह किया। जैसे वे करती थीं उनके अनुरूप तो मैं कर नहीं सका, किन्तु जैसा कुछ अपनी शक्ति के अनुसार कर सका १७-१८ दिन का यह महोत्सव बड़ी ही शान्ति के साथ धूमधाम से निर्विघ्न सम्पन्न हो गया। उनके निमित्त अखंड कीर्तन, भागवत सप्ताह, ब्रह्म भोज जो भी कुछ बन सका किया। मुझे तो नहीं, वशीधरजी को माँ के दर्शन भी हुए। आजकल वे १०८ भागवत चरित के पारायण का अनुष्ठान कर रहे हैं। उन्होंने बताया पाठ करते-करते बैठे ही बैठे मेरी झपकी लग गयी। उसी समय देखा राजमाता अखंड कीर्तन में बैठी हुई हैं।

इससे मुझे विश्वास हो गया, कि माँ को इन कृत्यों से परम शांति प्राप्त हुई।

माँ का शरीर वृद्ध था, जिसने जन्म लिया है, उसे एक दिन मरना ही है। जन्म-मरण का तो यह चक्कर सनातन है। अवश्यम्भावी बात के लिये शोक करने से भी क्या लाभ ? किंतु मुझे सन्तोष इतना ही है, कि माँ को जो मैंने वचन दिया था, उसे यथा शक्ति यथा सामर्थ्य, जैसे भी मुझे साधन प्राप्त थे उसके अनुसार मैं अपने वचन को पूरा कर सका।

इन्हीं सब कारणों से इस महीने का भी भागवती कथा का सौवाँ भाग समय पर न निकल सका। यदि केवल भागवती कथा लिखने का ही काम भगवान् ने मुझे सौंपा होता, तो महीने भर में एक खण्ड निकालना कोई कठिन नहीं था। किन्तु अनेक प्रवृत्तियाँ सम्मुख आ जाती हैं। यह कार्य आ गया, अब प्रयाग पंचक्रोशी परिक्रमा का चक्कर चल रहा है, आगे भरत यात्रा का चक्कर आने वाला है। यह संसार ही एक चक्कर है। इस चक्कर से छूटने का यही उपाय है कि धार्मिक चक्करों में फँसा रहे। सो पाठक देर सवेर के लिये क्षमा करना, भूल चूक को सुधार लेना, थोड़े लिखे को बहुत समझना। इतिशम्

छप्पय

जग सम्बन्धी नहीं कृष्ण सम्बन्धी अपने।
जाग्रत में हू कृष्ण, कृष्ण ही सोवत सपने॥
कृष्ण भक्ति सम्बन्ध भक्त सम्बन्धी सच्चे।
भक्ति बिना सम्बन्ध जगत के सबही कच्चे॥
करो कृपा राधारमन, भक्त तुम्हारे सब बनें।
भक्त-चरन-रज कीच में, मेरो नश्वर तन सनें॥

—०—

चैत्र कृष्णा ७। २०२९

भक्त चरणरेणु-इच्छुक
प्रभुदत्त

(५४) त्रिपाद् विभूति महानारायणो-पनिषद्-उत्तर काण्ड-सार

[३१८]

चरणं पवित्रे विततं पुराणम्
येन पूतस्तरति दुष्कृतानि ।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता
अति पाप्मानमरातिं तरेम ॥*

(त्रि० वि० उ० ७ अ०)

छप्पय

कैसे जगतैं तरें सुगम साधन समुझायो ।
मोक्ष मार्ग को रूप सरलतातैं बतलायो ॥
पुण्य पुंज जब उदय संत संगति मिलि जावै ।
सदाचार अरु नियम संत संगति तैं पावै ॥
कृपा करें गुरुदेव जब, तब अज्ञान नसाइदें ।
हिय में भक्ति जगाइदें, परमारथ समुझाइदें ॥

---

* वह सुदर्शन चक्र पवित्र चरण वाला, विस्तृत तथा पुरातन है । उसी के द्वारा पवित्र होकर मानव पापों से तर जाता है । उस पवित्र शुद्ध, परमपावन सुदर्शन चक्र द्वारा पावन बनकर हम अति पाप रूप शत्रु को पार कर जायेंगे ।

जीव रूप पथिक न जाने कब से पथ भ्रष्ट होकर इस भवाटवी में भयभीत हुआ भटक रहा है। जन्मजन्मान्तरों की कर्म वासनाओं के वशीभूत होकर जीव परमार्थ को, परमात्मा को भूलकर पागलों की भाँति विषयों के पीछे दौड़ रहा है। इसे शान्ति नहीं, सुख नहीं, निश्चितता नहीं, स्वस्थता नहीं। नित्य चिंतित व्यग्र बना विषयों की चिन्ता में ही निमग्न रहता है। भाँति-भाँति के मनोरथों में मग्न हुआ चिन्ता सागर में गोता लगाता रहता है! अच्छे बुरे कर्मों को निरन्तर करता रहता है, वे कर्म तो यहीं रह जाते हैं उनकी वासनायें सूक्ष्म शरीर के साथ चिपट जाती हैं। जन्मान्तरों में वे वासनायें उभरकर आगे आ जाती हैं। उन्हीं वासनाओं के वशीभूत हुआ प्राणी परमार्थ से च्युत होकर चौरासी के चक्र में घूमता रहता है।

भवापवर्ग में घूमते-घूमते किन्हीं सुकृतों के कारण भगवत् कृपा होने पर उस अच्युतजनों का, भगवत् भक्तों का-किन्हीं महापुरुष का- जब संग प्राप्त हो जाता है, तो उसका जन्म मरण का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, फिर उसकी बुद्धि संसार मार्ग से हटकर परमार्थ मार्ग में प्रभु प्राप्ति के पथ में-लग जाती है, फिर तो उसका कल्याण ही हो जाता है, भगवान् की ओर मति हो जाने से उसका संसार बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह संसार से मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष प्राप्ति का संसार सागर से तरने का साधन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं त्रिपाद् विभूति महानारायणोपनिषत् के उत्तर काण्ड का-पंचम अध्याय का- सार सुनाता हूँ।"

शिष्य ने गुरुदेव के पादपद्मों में प्रणत् होकर प्रश्न पूछा—भगवन्! पीछे आपने बताया कि त्रिपाद् विभूत नारायण की

इच्छा से उनकी पलकें गिरती हैं, इस पलक गिरने से मूल अविद्या का उसके आवरण सहित नाश हो जाता है, अविद्या नष्ट हो जाती है। तो जो अविद्या नष्ट ही हो गयी, उसका उदय फिर कैसे होता है ?"

यह सुनकर गुरुदेव हँसे और बोले—"देखो, जल के सूख जाने पर उसमें रहने वाले मेढक कीच के नीचे दब कर सूख जाते हैं, एक प्रकार से नष्ट ही हो जाते हैं। किन्तु वर्षा ऋतु आने पर तालाब में पुनः जल भर जाने पर सूखी हुई कीच में दबे हुए-मरे हुए से- मेढक पुनः जीवित होकर कार्य करने लगते हैं। उसी प्रकार पूर्णतः नष्ट हुई अविद्या उस समय पुनः उदय हो जाती है, जब भगवान् पलक खोलते हैं, जब उनका उन्मेष काल होता है।"

शिष्य ने पूछा—"जीवों का यह जो अनादि संसार रूप भ्रम है वह किस प्रकार का है ? यह भ्रम निवृत्त हो कैसे ? मोक्ष का स्वरूप क्या है ? मोक्ष का साधन स्वरूप बतावें, सायुज्य मुक्ति का अर्थ समझावें ?"

शिष्य के प्रश्नों को सुनकर गुरुदेव ने कहा—"देखो, भैया ! जन्मान्तर में किये दुष्कर्मों के कारण जीव शरीर को ही आत्मा समझने लगता है। उसे इतना विवेक नहीं रहता है कि आत्मा तो नित्य चैतन्य, सनातन है। शरीर पाँचभौतिक, अनित्य, जड़ तथा नाशवान् है, दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? वह देह में ही आत्म बुद्धि करके अहंकार वश अपने को अज्ञानी, अल्पज्ञ जीव मानने लगता है। उसे इतना विवेक नहीं रह जाता कि देह पृथक् है आत्मा उससे भिन्न है। उसकी समस्त चेष्टायें संसारी विषयों को बटोरने में ही होती हैं, उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। विषय भोग जितने ही प्राप्त होते जाते हैं, उतना ही

वह अधिक अतृप्त बनता जाता है। मुझे यह भी मिल जाय, वह भी मिल जाय इसी आशा से दौड़ता रहता है। इष्ट वस्तु के मिलने पर सुखी और न मिलने पर दुखी होता है। अधिक संसारी विषयों में फसता ही जाता है। मोक्ष मार्ग की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि यथार्थ सुख क्या है, देह और आत्मा पृथक्-पृथक हैं, मुक्ति के साधन क्या हैं? इन विषयों से वह सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। अज्ञान की प्रबलता से उसे संसारी विषय ही सुखकर प्रतीत होते हैं। उसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की बातें अन्तःकरण की मलिनता के कारण अच्छी नहीं लगतीं।

जब कभी जीवों के पूर्वकृत पुण्य उदय होते हैं तब उसे सत्पुरुषों का-भगवत् भक्तों का संग प्राप्त हो जाता है। साधु संग से विधि-निषेध का ज्ञान, सदाचार में प्रवृत्ति होती है, इससे पापों का नाश होने से अन्तःकरण निर्मल बनता है। अन्तःकरण के निर्मल होने पर सत्गुरु की चाह उत्पन्न होती है। सत्गुरु की प्राप्ति होने पर उसमें कल्याण कारी गुण स्वतः आने लगते हैं। सद्गुरु तत्त्वज्ञान के दाता हैं। सद्गुरु की कृपा के लक्षण ये हैं कि उसको भगवान् की कथा सुनने में, भगवत् ध्यान पूजन करने में श्रद्धा बढ़ने लगती है। इन कार्यों से अन्तःकरण की समस्त दुर्वासनायें नष्ट होकर हृदय कमल की कर्णिका में परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं, इससे वैराग्य, भक्ति, ज्ञान तथा विज्ञान बढ़कर परिपक्व होते हैं। विज्ञान की परिपक्वता से जीव जीवन मुक्त हो जाता है। उसके हृदय में भगवत् भक्ति बढ़ती ही जाती है। जिस भाग्यशाली के हृदय में भगवत् भक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। उसे सभी अवस्थाओं में सभी ओर भगवान् नारायण दिखायी देने लगते हैं। उसे

सम्पूर्ण जगत् नारायण मय प्रतीत होने लगता है, वह सर्वत्र अपने इष्ट श्रीमन्नारायण को ही देखता हुआ स्वच्छन्द निर्भय होकर आनन्द के साथ विहार करता है। जब उसे संसार नारायण मय अनुभव होने लगता है, तब उसे कभी-कभी शंख चक्रधारी साक्षात् नारायण के दर्शन भी होने लगते हैं।

ऐसे भगवत् भक्त मृत्यु को जीत लेते हैं। वे जीवन मुक्त हो जाते हैं।

अपनी इच्छा से जब भगवत् भक्त इस शरीर का परित्याग करना चाहता है, तब विष्णु पार्षद उसके समीप आते हैं। तब यह भक्त हृदय कमल में श्रीमन्नारायण का ध्यान करता हुआ उनकी मानसिक पूजा करके सोऽहं मन्त्र का उच्चारण करके शरीर के नौ द्वारों को रुद्ध करके दशम द्वार द्वारा प्राण को प्रणव का उच्चारण करते हुए शरीर से बाहर निकालता है। तब वह दश इन्द्रियों, मन और बुद्धि से परे जो परमात्म तत्त्व है उसकी पंचभूत रूप पंचोपचार विधि से पूजा करता है। फिर सोऽहं मन्त्र से षोडश तत्त्वों द्वारा षोडशोपचार पूजा करके इस प्राकृत शरीर को त्याग देता है। इस पाँच भौतिक शरीर को त्यागकर विष्णुपार्षद के देह को धारण करता है, जो देह कल्पनामय, मन्त्रमय, शुद्ध ब्रह्मतेजोमय, निरतिशय आनन्दमय है। उन विष्णुपार्षदों का स्वरूप महाविष्णु के स्वरूप के ही सदृश होता है। तदनन्तर सूर्यमण्डल में स्थित, अनन्त चरणांगुष्ठ निसृत भगवती देवगंगा में स्नान करके दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर, गुरुदेव को नमस्कार करके प्रणव रूप जो गरुड़ जी हैं उनका ध्यान करता है। गरुड़जी के पधारने पर उनकी पञ्चोपचार से पूजा करके गुरु आज्ञा से गरुड़ पर आरूढ़ होता है। तब भगवान् के मूर्तिमान सुदर्शनचक्र

आगे-आगे चलते हैं। विश्वक्सेन उसकी रक्षा करते हुए चलते हैं, दिव्यवस्त्राभूषणों के अलंकृत, साक्षात महाविष्णु के स्वरूप के सदृश पार्षद रूप में वह अन्य भगवत्पार्षदों से घिरा हुआ आकाश मार्ग में प्रवेश करता है। अनेक पुण्यलोकों में होता हुआ वह सत्यलोक में जाकर भगवान् ब्रह्माजी की पूजा करता है, फिर क्रमशः शिवलोक, ग्रहमण्डल, सप्तर्षिमण्डल, सूर्यमण्डल, चन्द्र-मण्डल, ध्रुव मण्डल तथा शिशुमार चक्र आदि मण्डलों में होकर उन लोकों के अधिष्ठातृ देवों की पूजा करके तथा उन लोकों के सुकृतियों द्वारा पूजित होकर सर्वाधार सनातन महा-विष्णु की आराधना करके, उनके द्वारा पूजित होकर ऊपर जाकर परमानन्द को प्राप्त होता है।

इसके अनन्तर वैकुण्ठ निवासी सुकृतिजन उसके समीप आकर उसकी पूजा करते हैं, यह भी उनकी पूजा करता है, तब आगे आने वाली विरजा नदी को पार करके उसमें स्नान करके सूक्ष्म पञ्चभूतों से निर्मित इस सूक्ष्म शरीर का भी परित्याग कर देता है, तब उसका परम दिव्य देह हो जाता है, उस देह से वह ब्रह्ममय वैकुण्ठ में प्रवेश करता है। वहाँ एक ब्रह्मानन्द नामक दिव्य पर्वत है। उसके ऊपर दिव्य वेदी पर शेष भगवान् का भोगासन है, उसपर भगवान् आदि नारायण विराजमान हैं। वहाँ जाकर उनकी पूजा प्रदक्षिणा करके उनकी आज्ञा से ऊपर के जो पाँचों वैकुण्ठ हैं उन्हें पार करके अणु विराट् के कैवल्य पद को प्राप्त करता है। वहाँ अण्ड विराट भगवान् की पूजा आरा-धना करके परमानन्द को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस पंचम अध्याय में संसार से कैसे तरा जाय और भक्तिमार्ग के अनु-सार मोक्ष मार्ग का क्या स्वरूप है, इसका वर्णन किया। अब

छटे अध्याय में इसी विषय का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।"

छटे अध्याय में इसी विषय को चालू रखते हुए गुरुदेव कहते हैं—"जब उपासक परमानन्द को प्राप्त कर लेता है, तब वह आवरण सहित ब्रह्माण्ड का भेदन करके ब्रह्माण्ड के बाहर चला जाता है। तब वह फिर ब्रह्माण्ड के स्वरूप का निरीक्षण करता है। ब्रह्मज्ञान द्वारा ही वह उसके स्वरूप को जानता है। अब वह अनुभव करता है कि वेदशास्त्र, ऋषि-महर्षि जो ब्रह्माण्ड का वर्णन करते हैं, वे सब प्रपञ्च के एक देश का ही वर्णन करते हैं, वे ब्रह्माण्ड के भीतर बाहर मोक्ष प्रपञ्च, ज्ञान-प्रपञ्च तथा अविद्या-प्रपञ्च इन सबके ज्ञान से रहित हैं।"

शिष्य के पूछने पर गुरुदेव ब्रह्माण्ड के स्वरूप का वर्णन करते हैं यह ब्रह्माण्ड कुक्कुट अंड के सदृश गोल है, परमतेजोमय, प्रतप्त सुवर्ण की कान्ति के सदृश, कोटि सूर्यों की कान्तिवाला, चतुर्विधजीवोपलक्षित, अष्ट प्रकृति (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंतत्त्व, महतत्त्व और प्रकृतितत्त्व) आवरणों से आवृत है। दो अरब योजन प्रमाण वाला, सवा करोड़ योजन जिसकी भित्त है ऐसा गोल मटोल यह ब्रह्माण्ड श्रीमन्नारायण की क्रीड़ा कंदुक खेलने की गेंद के सदृश है। एक परमाणु के सदृश विष्णु लोक से चिपका है, इसमें अनन्त अमृतकुंड, विलक्षण विचित्रतायें हैं।

एक नहीं ऐसे अनन्त ब्रह्मांड [illegible] आवरणों के सहित इसके चारों ओर विद्यमान हैं। [illegible] प्रत्येक ब्रह्मांड में श्रीमन्नारायण के [illegible] ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश विद्यमान हैं। इन ब्रह्माण्डों में से किसी [illegible] मुख वाले ब्रह्मा हैं किसी में [illegible]

वाले ब्रह्मा हैं। जैसे अनन्त महासागर में असंख्यों मछलियाँ किलोल करती रहती हैं, वैसे ही ये अगणित ब्रह्मांड श्रीमन्नारायण के एक-एक रोम कूप में स्वच्छन्द होकर विचरण कर रहे हैं। ब्रह्मांड से बाहर गया साधक इन अगणित, असंख्यों ब्रह्मांडों को आश्चर्य के साथ देखता है। ये अनन्तकोटि ब्रह्मांड महाविष्णु की हथेली में ऐसे शोभित होते हैं जैसे बच्चे छोटे-छोटे आँवलों को हथेली पर रखकर खेलते हैं। साधक इन समस्त ब्रह्मांडों के पार पहुँच जाता है। फिर समस्त ब्रह्मांडों की जननी श्रीविष्णु की महामाया को प्रणाम करके उनकी आज्ञा से महाविराट् पद को प्राप्त कर लेता है। समस्त अविद्यापाद ही महाविराट् पद है, वह केवल ध्यान द्वारा ही जाना जा सकता है चर्मचक्षुओं से नहीं। वह अवाङ्मनस गोचर है।

तदनन्तर वह क्रमशः (१) पादविभूति वैकुण्ठ, (२) विश्वक्सेन वैकुण्ठ, (३) ब्रह्मविद्या वैकुण्ठ, (४) अनन्त वैकुण्ठ तथा (५) तुलसी वैकुण्ठ इन वैकुण्ठों को पार करते हुए वहाँ के अधिष्ठातृदेव तथा महामाया की पूजा करके और इन वैकुण्ठवासियों द्वारा पूजित होकर फिर वह शुद्ध बोधानन्दमय वैकुण्ठ अथवा ब्रह्मविद्यापाद वैकुण्ठ को प्राप्त होता है। वहाँ भगवान् आदि नारायण उसे दिव्य स्नान करा कर, दिव्यवस्त्राभूषणों से अलंकृत करके उसका मोक्ष साम्राज्य पदाभिषेक करते हैं। राजतिलक करके उसकी पूजा करते हैं। फिर उसे दीक्षा देते हैं और कहते हैं तुम ब्रह्म हो, मैं भी ब्रह्म हूँ, हममें तुममें कोई अन्तर नहीं, तुम मेरे, मैं तुम्हारा रूप हूँ" इस प्रकार उसे तत्त्व प्रत्यक्ष कराके स्वयं आदि नारायण अन्तर्हित हो जाते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मोक्ष मार्ग के स्वरूप का वर्णन करने वाले छटे अध्याय का यह संक्षिप्त सारांश समाप्त

हुआ। सप्तम अध्याय में तो इसी विषय को चालू रखते हुए आनन्द और तुरीय पाद का वर्णन करके फिर महानारायण यन्त्र के निर्माण का वर्णन है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! उसे भी आप सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो ! ब्रह्मांडों को पार करने पर, अष्टावरणों से पार जाने पर साधक अविद्यापाद को पार करके सुविद्या पाद के जो पंच वैकुण्ठ हैं, उनमें जाता है, वहाँ से भी ऊपर बोधानन्द या ब्रह्मानन्द नामक आनन्दपाद का वैकुण्ठ है उसमें प्रवेश करता है, वहाँ भगवान् आदि नारायण द्वारा दीक्षित होकर पुनः गरुड़ पर आरूढ़ होकर साधक भगवान की आज्ञा से ब्रह्मानन्द विभूति में पहुँच जाता है। इस प्रकार छैः वैकुण्ठों से भी ऊपर जो सातवाँ सुदर्शन वैकुण्ठ है उसमें प्रवेश करता है, उस वैकुण्ठ की वस्तुओं की दिव्यता तो अवर्णनीय है। वहाँ सुदर्शन नाम का भगवान् का परम चैतन्य आनन्द स्वरूप दिव्य चक्र है, वह चक्र सबसे अन्तिम भगवत् वैकुण्ठ का द्वार है। उस आनन्द-पाद में आनन्दमय अनन्त वैकुण्ठ हैं। उन्हें देखता हुआ वह उससे भी ऊपर जो अन्तिम अद्वैत संस्थान धाम है उसे प्राप्त होता है। उसे ही कैवल्य धाम कहते हैं। त्रिपाद विभूति का वह सबसे अन्तिम वैकुंठ है। वह पावनता की पराकाष्ठा है, वहाँ भगवान् का परम दिव्य आसन है, उनके ऊपर महानारायण यन्त्र है, उस महानारायण यन्त्र पर साधक महानारायण का ध्यान करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महानारायण यन्त्र का स्वरूप क्या है ? इसे हमें बताइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह यन्त्र बनाने का विषय लोक वाणी में कहने योग्य नहीं। इसे तो मूल उपनिषद में ही सयोग्य

साधकों को देखना चाहिये।" इस प्रकार यन्त्र बताकर यहाँ आकर सप्तम अध्याय समाप्त होता है।

अष्टम अध्याय में ब्रह्माजी भगवान् आदिनारायण से शंका करते हैं—"भगवन्! आपने अखंड अद्वैत परमानन्द परब्रह्म के स्वरूप के विरुद्ध जो ये असंख्य वैकुंठ बताये, इनमें भवन, पर्वत, तालाब और विमानों का वर्णन किया, ये अद्वैत में कैसे संभव हो सकते हैं? एक, अखंड, अद्वैत में इतने भेद कैसे?"

भगवान् ने कहा—"ये भेद भी सब ब्रह्ममय हैं, इनके होते हुए भी उनके अद्वैत पने में अखंडता में कोई आँच नहीं आती। अनन्त वैकुंठों के ऐश्वर्यों से युक्त होने पर भी वे अद्वैत ही बने रहते हैं। जैसे सुवर्ण तो एक ही है। उसके कुंडल, हार आदि अनेक आभूषण बन जाते हैं, सुवर्ण अनेक नाम और आकृति में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु उसकी अखंडता, उसकी सुवर्णता तो नष्ट नहीं हो जाती। पृथ्वी है, उसके वन, पर्वत, वृक्षादि अनेक भेद हो जाते हैं, किन्तु वे हैं तो सब पृथ्वी रूप ही। समुद्र के जल के फेंन, तरंग, बुद्-बुद, ओले, नमक, हिम आदि अनेक भेद हो जाते हैं किन्तु वे सब हैं तो जल रूप ही, इसी प्रकार परमानन्द स्वरूप जो मैं हूँ, मुझमें ही ये सब अनन्त वैकुंठादि विद्यमान हैं। इनसे मेरी अखंडता, अद्वैतता नहीं होती।"

ब्रह्माजी ने पुनः पूछा—"वैकुंठ या परम मोक्ष तो एक ही है, उसमें अनन्त वैकुंठ कैसे रह सकते हैं? एक में अनेक कैसे?"

भगवान् ने कहा—"एक गाँव में अनेक घर नहीं होते क्या? एक ब्रह्माण्ड में अनेक लोक होते हैं, एक अविद्यापाद में अनन्त ब्रह्मांड है। ऐसे ही त्रिपाद विभूति में अनन्त वैकुंठ हैं। अनन्त होने पर भी मोक्ष की एकता में कोई बाधा नहीं पड़ती।"

अब शिष्य ने पुनः गुरु से पूछा—"सालम्ब और निरालम्ब योग में भेद क्या है ?"

गुरु ने कहा—"भगवान् की मूर्ति का आलम्बन लेकर जो ध्यान है, उसे सालम्ब योग कहते हैं, अन्तःकरण की किसी भी वृत्ति का आलम्बन न लेकर भावना रहित होना ही निरालम्ब है।"

शिष्य ने पूछा—"निरालम्ब तो बड़ा कठिन प्रतीत होता है ?"

गुरुदेव ने कहा—"अत्यन्त कठिन तो है ही, इसका अधिकारी तो कोई विरला ही है। सालम्ब जो भक्ति मार्ग है, वह सरल, सरस, सुगम तथा सर्वोपयोगी है। राजपथ के सदृश है, इससे सभी लोग जा सकते हैं। इससे अनायास अविलम्ब तत्त्वज्ञान हो जाता है। मोक्ष हो जाती है।"

शिष्य ने पूछा—"भक्ति से मुक्ति कैसे मिलती है ?"

गुरुदेव ने कहा—"जो भक्ति करता है, उसकी सब सार सम्हार भगवान् स्वयं करते हैं। भक्तों को मुक्ति तो बिना चाहे अनायास ही मिल जाती है। भक्ति के द्वारा कोई भी वस्तु असाध्य नहीं।"

गुरु के वचनों से शिष्य कृतार्थ हो गया। जब ब्रह्माजी को भगवान् ने यह संवाद सुनाया, तो ब्रह्माजी ने पूछा—"भगवन्! गुरु कौन है ?"

भगवान् बोले—"गुरु और कोई नहीं। गुरु तो मैं ही हूँ। इसलिये मेरी ही शरण में आने से मुझे प्राप्त कर सकोगे।"

ब्रह्माजी इस उपदेश को सुनकर कृतार्थ हो गये। उन्होंने भगवान् की पूजा की, भगवान् ने उन्हें ब्रह्म स्वरूप होने का वरदान दिया।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यही अथर्ववेदीय त्रिपाद विभूति उपनिषद् का सारातिसार है। इसके अध्ययन से साधक पाप रहित हो जाता है। इसे सुपात्र को देना चाहिये। कुपात्र को कभी भूल कर भी नहीं दे। भक्ति मार्ग का यह दर्पण है। भक्तिमार्ग की यह सर्वोत्कृष्ट उपनिषद् है। अब आगे आप अद्वयतारकोपनिषद् का सार सुनिये।"

छप्पय

पाद अविद्या पार करै विद्या महँ जावै।
दिव्य देह कूँ धारि पार जग तैं ह्वै जावै॥
पहुँचि सुविद्या पाद दिव्य वैकुंठ लखावै॥
अगनित दिव्य प्रसाद निरतिशय सुख उपजावै।
क्रम क्रम तैं वैकुंठ सब, पार करत कैवल्य पद।
परमब्रह्म पद पहुँचि कें, आनँद पावै अति बिपद॥

इति त्रिपाद् विभूति महानारायण उपनिषद्-
सार समाप्त

(५५) अद्वय तारक-उपनिषद्-सार

[३१९]

गुरुरेव परंब्रह्म गुरुरेव परागतिः
गुरुरेव पराविद्या गुरुरेव परायणम् ।
गुरुरेव पराकाष्ठा गुरुरेव परं धनम् ।
यस्मात् तदुपदेष्टा सौ तस्माद् गुरुतरो गुरुः ॥ *

(ध्य० ता० उ०)

छप्पय

अद्वय तारक कही उपनिषद् ब्रह्म दिखावै ।
तीन लक्ष्य सन्धान योगतैं अद्वय पावै ॥
अन्तर, बाहर, मध्य लक्ष्य तीनिहु कहलावैं ।
ज्योति तारकहु दिखैं ध्यान तिनि माहिँ लगावैं ॥
तारक ध्यान हु मध्य मौं, निराधार को ध्यान धरि ।
मुद्रा खेचरि शांभवी, करैं जीभकूँ उलटि करि ॥

जिससे ससार सागर से तर जाय-पार हो जाय-उसे तारक कहते हैं। वह तारक दो नहीं, अद्वय है, अद्वितीय है,

---

* गुरु ही परब्रह्म हैं, गुरु ही परागति हैं, गुरु ही पराविद्या हैं और गुरु ही परायण हैं। गुरु ही पराकाष्ठा हैं, गुरु ही परम धन हैं। जिस कारण ये ब्रह्म के उपदेष्टा हैं, इसलिये गुरु गुरुतर हैं-श्रेष्ठ तर हैं।

केवल है, एक है, अद्वैत है, अनुपम तथा असदृश है। उस ब्रह्म के बराबर का कोई अन्य पदार्थ नहीं। जब उनके समान ही कोई नहीं है, तो उनसे बड़ा तो कोई हो ही नहीं सकता। ब्रह्म अनामय, अनिर्देश्य, अखण्ड, अज, अच्युत और अद्वितीय है, उसको उपलब्धि सत्गुरु के उपदेश द्वारा ही सम्भव है। उन गुरुदेव के पादपद्मों में पुनः पुनः पुण्य प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अद्वयतारक उपनिषत् के अर्थ को आप से कहता हूँ। जो यति-संन्यासी परमहंस जितेन्द्रिय हो, शमदमादिगुणों से पूर्ण हो उसके लिये यह उपनिषत् है। उस यति को चाहिये चित स्वरूप मैं ही हूँ, इसकी सदा भावना करता रहे। या तो आखों को बन्द कर ले अथवा कुछ खुली-कुछ बन्द ऐसे-किंचित्मीलिताक्ष-होकर अपनी दृष्टि को अन्तरमुखी करके भ्रूद्वय स्थान से ऊपर सच्चिदानन्द तेजकूट रूप परब्रह्म को देखते-देखते तद्रूप हो जाता है। ऐसा ध्यान गर्भ, जन्म, जरा, मरण तथा संसार के महत् भय से तार देता है। इसीलिये उसे तारक कहते हैं।

जीव और ईश्वर दोनों को मायिक जानकर सर्व विशेष, नेति नेति इसे छोड़कर जो भी अवशेष रह जाय, बस वही अद्वय ब्रह्म है। उसकी सिद्धि के लिये तीनों लक्ष्यों का अनुसन्धान करना चाहिये। कैसे लक्ष्यत्रय को अनुसन्धान करे इसे बताते हैं।

देखिये, देह के मध्य में ब्रह्म नाड़ी सुषुम्ना है वह सूर्य रूपिणी है, चन्द्रमा के सदृश उसकी आभा है, वह मूलाधार से आरम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र तक चली गयी है। उसके मध्य में करोड़ों विद्युत के समान कान्तिवाली, कमलनाल के तन्तु से भी सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनी शक्ति प्रसिद्ध है। उसको देख लेने पर

मन से ही मनुष्य सर्वपापों से विनिर्मुक्त होकर मुक्त हो जाता है। फाल के ऊपर गला, ललाट विशेष मण्डल में निरन्तर तेज तारक योग विस्फुरण के द्वारा जो उस कुंडलिनी को देखता है, वह सिद्ध हो जाता है। तर्जनी उँगली के अग्र भाग से दोनों कानों के छिद्रों को मूँद लेने पर एक प्रकार का फूत्कार शब्द (अनहद शब्द) सुनायी देगा। उसमें मन स्थित हो जाने पर चक्षु के मध्य में नील ज्योति दिखायी देगी। उस ज्योति स्थल को देखकर अन्तर्दृष्टि करने पर निरतिशय सुख प्राप्त होता है। उसी प्रकार वह ज्योति हृदय में भी दीखती है। इस प्रकार अन्तर्लक्ष्यलक्षण जो ज्योति है वह मुमुक्षुओं द्वारा उपास्य है। यह तो अन्तर्लक्ष्य लक्षण की बात हुई। अब बहिर्लक्ष्य लक्षण की बात सुनिये।

नासिका के अग्रभाग से क्रम से चार, छैः, आठ, दस, बारह अंगुल दूर पर नील द्युति श्यामत्व के सदृश रक्त भङ्गी से स्फुरित तथा पीत, शुक्लवर्ण से मिला हुआ आकाश में एक दिव्य प्रकाश देखता है वह योगी हो जाता है। व्योम में चलता हुआ तेज पुंज अर्थात् जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय वहाँ-वहाँ ही दृष्टि के आगे चलायमान ज्योति की किरणें दिखायी दें, तो उसके देखने से ही योगी हो जाता है। तपाये हुए सुवर्ण के सदृश किरणों सहित ज्योति पुंज पलकों के अन्त में अथवा भूमि में जो देखता है, तो उससे दृष्टि स्थिर हो जाती है, शिर के बारह अंगुल ऊपर दिखाई देने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। जहाँ कहीं भी बैठा हो, वहीं जिसे वह शिर के ऊपर व्योमज्योति दिखायी दे, तो समझो वह योगी हो गया।

अब मध्यलक्ष्य लक्षण योग कहते हैं—"प्रातःकाल में, विचित्रादि वर्ण युक्त अखण्ड सूर्य चक्र की भाँति-अथवा

ज्वालावली के सदृश अथवा उनसे विहीन अन्तरिक्ष के सदृश देखता है। उस दृश्य को देखते-देखते तदाकार वृत्ति वाला होकर जो बैठता है, उसे देखते-देखते उसमें तल्लीन हो जाता है, तो उसे फिर आकाश में देखने पर गुण रहित आकाश दिखायी देता है। गुण रहित आकाश कैसा दिखायी देता है इसे बताते हैं, कि विस्फुरित तारों के आकार वाला संदीप्त मान निगडतम अगाड अंधकार के सदृश–परमाकाश दिखायी देता है। और महाकाश ऐसा लगता है मानों कालानल–प्रलयाग्नि ही चारों ओर व्याप्त हो रही हो। तत्त्वाकाश ऐसा लगता है मानों सर्वोत्कृष्ट परमद्युतिवाला प्रद्योत मान हो रहा हो। सूर्याकाश ऐसा लगता है मानों करोड़ों सूर्य एक साथ उदित होकर प्रकाश वैभव को प्रसारित कर रहे हों। इस प्रकार जैसे पीछे व्योम पञ्चक बता आये हैं, वे योगी को भीतर तथा बाहर स्थित व्योम-दिखायी देने लगते हैं। यही तारक-लक्ष्ययोग है। उसके देखने वाला योगी विमुक्त फल के सदृश आकाश के ही समान हो जाता है। जैसे आकाश अदृश्य, सर्वव्यापक निर्लेप है वैसे ही वह योगी भी हो जाता है। इसीलिये तारकयोग ही लक्ष्य तक पहुँचाने वाला अमनस्क फल को देने वाला योग होता है।

वह तारक दो प्रकार का होता है। एक तो पूर्वार्धतारक और दूसरा उत्तरार्धतारक। उत्तरार्ध तारक को ही अमनस्क भी कहते हैं। इस विषय में प्राचीन एक मन्त्र है। उसका भाव यह है कि उस योग को दो प्रकार का जानो। एक पूर्वार्धतारक योग और दूसरा उत्तरार्धतारक योग। पहिले को केवल तारक-योग भी कहते हैं और उत्तर योग को अमनस्क योग कहते हैं। आँखों के सामने जो तारा के सदृश दो तारे दिखायी दें तो वे सूर्य और चन्द्रमा का प्रतिफल होते हैं। उन दोनों तारों में

सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल का दर्शन होता है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की भाँति पिण्डाण्ड दिखायी देने लगता है। शिर के मध्य में जो आकाश है। उसमें सूर्यमण्डल चन्द्रमण्डल पृथक-पृथक् दिखायी देने लगते हैं। जब शिर के बारह अंगुल ऊपर के तारा के मध्य में सूर्य चन्द्रमण्डल पृथक्-पृथक् दिखायी दें, तो उन दोनों ताराओं में एक्य भाव करके मन से ध्यान करना चाहिये। अर्थात् द्वय रूप में ध्यान न करके अद्वय रूप से ध्यान करना चाहिये। यदि अद्वय भाव से ध्यान न करोगे, तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति, का अनवाकाश न होगा। अर्थात् इन्द्रियाँ अपने विषयों से निरुद्ध न हो सकेंगीं। इसलिये अद्वय भाव से ही ध्यान करना चाहिये।

देखो, जो तारे दिखायी देते हैं, वे भीतर बाहर दोनों ही ओर तारे दिखायी देते हैं। अर्थात् आँखें खोलने पर बाहर भी दिखायी देते हैं और आँखें बन्द करने पर भीतर भी वे दिखायी देते हैं। इन दोनों में अन्तर्दृष्टि वाले तारों का ही अनुसन्धान करना श्रेष्ठ है। अर्थात् भीतर के तारों में ही अद्वय भाव से ध्यान लगाना चाहिये।

वे तारक भी दो प्रकार के होते हैं। एक मूर्तितारक दूसरा अमूर्तितारक। मूर्तितारक तो उसे कहते हैं—जो इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा देखा जा सके। जो दोनों भौंहों के मध्य से भी अतीत हो—शून्याकाश सदृश हो—वह अमूर्ति तारक कहलाता है। वैसे अभ्यास तो सर्वत्र उसी मूर्ति तारक का ही होता है जो मन द्वारा देखा जा सके। दोनों तारकों में सत्स्वरूप ऊर्ध्वस्थ सत्त्व दर्शन से, मन से युक्त अन्तःकरण में देखने से उन्हीं सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही दर्शन होता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि जो शुक्ल तेजोमय तारक है वही ब्रह्म है।

ब्रह्म मन के सहकार से चक्षु की दृष्टि को अन्तर्दृष्टि करने से ही जाना जा सकता है। यह तो मूर्ति तारक के सम्बन्ध की बात हुई। अब आप अमूर्ति तारक के सम्बन्ध में भी सुनिये।

अमूर्ति तारक तो मन से युक्त अन्तःचक्षु द्वारा दहरादि जो आकाश है उसी के द्वारा जाना जा सकता है। क्योंकि मन और चक्षु तो रूप ग्रहण प्रयोजन के अधीन हैं। अर्थात् रूप का ग्रहण तो मन और चक्षु ही करते हैं। जैसे बाह्य रूप को चक्षु और मन ग्रहण करते हैं वैसे ही अन्तर में भी अध्यात्म मन और चक्षु के संयोग से रूप ग्रहण होता है। इसीलिये मनोयुक्त अन्तर्दृष्टि तारक का प्रकाश भीतर होता है। दोनों भौंहों के मध्य में जो एक बिल है उसमें दृष्टि स्थिर करने से, उस बिल के द्वार के ऊपर जो स्थित तेज है उसके आविर्भाव होने से अन्तर्तारक योग होता है। उस तेज के साथ मन को संयुक्त करके प्रयत्नपूर्वक दोनों भौंहों को बड़ी सावधानी के साथ किंचित् ऊपर की ओर उठावे यह तो हुआ पूर्वभागी तारक योग अब उत्तर भागी तारक योग के सम्बन्ध में और सुनिये।

उत्तर भागी तारक योग को ही अमूर्तिमान अमनस्क तारक योग भी कहते हैं। वह कैसे किया जाता है उसे भी सुनें। देखिये, ताल के मूल में जो ऊर्ध्वभाग है वहाँ एक महान् ज्योतियों का किरण पुञ्ज है। वह योगियों द्वारा ही ध्येय है। अर्थात् उस ज्योति का साक्षात्कार केवल योगी ही कर सकते हैं। उस ज्योति में ध्यान करने से अणिमा, गरमादि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अन्तर्बाह्य लक्ष्य में दृष्टि स्थिर करने से फिर पलकों का गिरना उठना बन्द हो जाता है। अर्थात् आँखें निमेष उन्मेष रहित हो जाती हैं। उस समय जिह्वा उलट कर तालु मूल में चली जाती है उसी को शांभवी

मुद्रा कहते हैं। शांभवी मुद्रा वाला योगी जिस भूमि में रहता है वह भूमि परम पावन बन जाती है। उस योगी के दर्शनमात्र से समस्त लोक पवित्र हो जाते हैं। ऐसे योगी की जिसे पूजा करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है वह पुरुष भी मुक्त हो जाता है। वह अन्तर्लक्ष्य जल ज्योति स्वरूप हो जाता है।

परमगुरु के उपदेश द्वारा मस्तक में जो सहस्रार चक्र है उसी सहस्रार चक्र में जल ज्योति है उसे बुद्धि गुहा निहित ज्योति भी कहते हैं। षोडशान्तस्थ तुरीय चैतन्य वा अन्तर्लक्ष्य भी कहते हैं। उसका दर्शन सब किसी को नहीं होता। जिस पर सत्गुरु सत्आचार्य कृपा करदें उसी को उस ज्योति का दर्शन होता है। वह सद्गुरु सत्आचार्य कैसा होता है–इसे बताते हैं।

वह सदाचार्य वेद सम्पन्न हो, भगवान् विष्णु का भक्त हो–वैष्णव हो–जिसमें किसी प्रकार का मद मत्सर न हो। योग को जानने वाला हो, योग में जिसकी निष्ठा हो, जो परम पवित्र हो और सदा योगाभ्यास में ही लगा रहता हो। गुरु भक्ति से समायुक्त हो तथा जिसे पुरुषों की परख हो, कि यह योग का अधिकारी है या नहीं है। ऐसे लक्षणों से जो सम्पन्न हो वही गुरु कहलाने का अधिकारी है। उसी का नाम गुरु है। उसे गुरु क्यों कहते हैं? गुरु शब्द का अर्थ क्या है? इस बात को बताते हैं—

गुरु शब्द में "गु" और 'रकार' दो शब्द हैं। इनमें से 'गु' का अर्थ तो है अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है अन्धकार का निरोध करने वाला। जो हृदय के अन्धकार को प्रकाश फैला दे उसी को गुरु कहते हैं। ऐसा गुरु ही परब्रह्म वही परागति है, वह पराकाष्ठा है, वही परम धन है, वह

ब्रह्म का उपदेष्टा है इसलिये वह गुरु से भी गुरुतर है। यही अद्वय उपनिषत् है। इसे जो एक बार भी उच्चारण कर लेता है उसका संसार बन्धन कट जाता है। समस्त जन्मों के किये पाप तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। उसके समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। जो इसे जानता है वास्तव में वही सब कुछ जानता है। इस प्रकार यह अद्वयतारक उपनिषद् समाप्त हो गयी। पूर्णमदः इसका शान्ति पाठ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आपको अद्वयतारक उपनिषद् का सार कहा। अब आगे जैसे श्रीरामरहस्य उपनिषद् का सार कहूँगा, उसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

सहस्रार जलज्योति बिना गुरु सो न दिखावै।
अन्धकार करि नाश प्रकाशद गुरु कहलावै॥
गुरु-गति-गुरु-धन ब्रह्म गुरुहिँ काष्ठा विद्या पर।
गुरु ही है सरबस्व गुरुहि परब्रह्म परावर॥
गुरुतर गुरु गुरु श्रेष्ठतर, गुरु अद्वय दिखलायँगे।
प्रेम सहित अद्वय पढ़ैं, ते सबही फल पायँगे॥

—०—

इति अद्वयतारक-उपनिषद्-सार समाप्त

(५६) राम रहस्य-उपनिषद्-सार

[३२०]

राम एव परंब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामोब्रह्मतारकम् ॥*

(रा० र० उ० १ अ० ६ म०)

छप्पय

राम रहस उपनिषद् रामको तत्त्व बतावै।
राम नाम सरवस्व राम भव पार लगावै॥
राम छयानवे कोटि जपै कृतकृत्य कहावै।
राम जपहिँ असमर्थ, तोत्र, गीता, गुन गावै॥
राम मन्त्र बहु तक कहे, एकाक्षर बढ़तहिँ गये।
राम पीठ पूजा कही, पुरश्चरण करि कस रहे॥

श्रीराम के रहस्य का उपदेश करने वाली इस राम रहस्य उपनिषद् में चार अध्याय हैं, यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। भद्रं कर्णेभिः इत्यादि मन्त्र इसके शान्ति पाठ हैं। इसे सनकादि महर्षियों के सम्मुख हनुमान्‌जी ने प्रकट किया।

एक समय की बात है, सनक, सनंदन, सनातन और सनत्

---

* हनुमान् जी कह रहे हैं—"श्रीराम ही परब्रह्म हैं वे ही परम तप स्वरूप हैं। श्रीराम ही परतत्त्व हैं और श्रीराम ही तारक परब्रह्म परमात्मा हैं।"

कुमार ये चारों तो ब्रह्माजी के पुत्र तथा अन्यान्य बहुत से ऋषि महर्षि गण एवं प्रह्लादादि बहुत से विष्णुभक्त मिलकर हनुमान् जी के समीप गये और जाकर उनसे कहने लगे—"हे महाबाहो! हे पवनतनय! तुम यह बताओ कि ब्रह्मवादियों ने मुख्य तत्त्व किसे बताया है? अठारहों पुराणों में, अठारहों स्मृतियों में, चारों वेदों में, सम्पूर्ण शास्त्रों में तथा समस्त आध्यात्मिक विद्याओं में मुख्यतत्त्व क्या निरूपण किया है? समस्त जो विद्यादान हैं अर्थात् भगवान् के विघ्नेश, सूर्य, ईश तथा शक्ति ये नाम हैं, इन सबमें कौन-सा नाम श्रेष्ठ है, उनमें परम तत्त्व कौन-सा है?"

ऋषि मुनियों और भगवत् भक्तों के इस प्रश्न को सुनकर हनुमान्जी बोले—"अजी ओ सनकादि महर्षियो! योगीन्द्र वर्यो! भगवत् भक्तो! मेरी बात को ध्यानपूर्वक श्रवण कीजिये। मेरी यह बात संसार बन्धन को मोचन करने वाली है। इन सब वेदादि शास्त्रों में एकमात्र परमतत्त्व, ब्रह्मस्वरूप तारकमन्त्र ही है। वह तारकमन्त्र "राम" यही है। राम ही परब्रह्म हैं, राम ही परम तप हैं, राम ही परमतत्त्व हैं और श्रीराम ही तारक-ब्रह्म मन्त्र हैं।"

जब वायु पुत्र हनुमान् ने परम तत्त्व श्रीराम को ही बताया तब वे ऋषि, मुनि तथा भक्तगण उनसे बोले—"हे हनुमान्जी! आप श्रीराम के अङ्गभूत जो देवता हैं उनका उपदेश हमें और करें।"

यह सुनकर हनुमान्जी ने कहा—"देखिये, आप सब मेरी बात को सुनें। वायुपुत्र मैं, गणेश, वाणी, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्रमा, नारायण, नृसिंह, वायुदेव और वाराह तथा और भी दूसरे दूसरे सभी देवताओं के मन्त्रों को, इनके अतिरिक्त सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बवान् और

ओंकार इन सबको राम के अङ्ग जानो। इन अङ्गों के बिना राम मन्त्र विघ्नकारक होता है।"

इस प्रकार जब पवन तनय हनुमान्‌जी ने यह बात कही, तब उनसे ऋषि मुनि आदिक फिर पूछने लगे—"हे महाभाग! अञ्जनानन्दवर्धन! जो ब्राह्मण गृहस्थ हैं, उन्हें प्रणव का अधिकार कैसे हो सकता है?"

इस पर हनुमान्‌जी ने कहा—"देखो, श्रीराम ने यह कहा था; कि जिन्हें षड्अक्षर मन्त्र का अधिकार है उन्हें प्रणव का भी अधिकार है अन्य को नहीं है। केवल अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा सहित जपकर पुनः जो राम मन्त्र को जपता है उसके लिये मैं शुभ करने वाला होता हूँ। उस प्रणव में जो अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा है इन सबके ऋषि, छन्द और देवता इन सबका न्यास करके इसी प्रकार वर्ण, चतुर्विध स्वर, वेद, अग्नि तथा गुण आदि का उच्चारण करके उनका न्यास करे, फिर प्रणव मन्त्र से दुगना जप करके पश्चात् राम मन्त्र को जपना चाहिये। जो इस प्रकार जपता है वह राम ही हो जाता है। श्रीरामचन्द्र ने मुझसे स्वयं ही कहा है, इसलिये प्रणव भी श्रीराम का अङ्ग ही है।" विभीषण ने कहा—"सिंहासन समासीन रावणारि श्रीराम को भूमि में लोटकर दण्डवत् प्रणाम करके पुलस्त्यवंशोद्भव मैंने यह कहा—"हे रघुनाथ! हे महाबाहो! मैंने अपनी संहिता में कैवल्य रूप का वर्णन किया है, कृपा करके आपके जितने सुलभ अङ्ग हैं उनको अज्ञ पुरुषों की सुलभता के निमित्त बताइये।"

इस पर श्रीरामचन्द्र ने कहा—तुम्हारे जो पञ्चाशत्कोटि हैं उन्हें और मेरे जो छियानवे करोड़ नाम हैं उनका जो जप करता है, वह पिता, माता, ब्राह्मण, गुरु, करोड़ों चतुर्थों के

घोरातिघोर पापों से, इनके अतिरिक्त और भी अनेकों महापापों से छूट जाता है। वह स्वयं ही सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है और अधिक क्या कहा जाय।"

इस पर फिर विभीषणजी ने पूछा—"जो इतना न कर सकता हो। इतना जप करने में असक्त हो वह क्या करे?"

इस पर श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"हे कैकसी के पुत्र, विभीषणजी! जो छियानवे करोड़ मन्त्रों का पुरश्चरण में असमर्थ हो अगर मेरी महोपनिषद् का, राम गीता का, मेरे सहस्र नामों का, मेरे विश्वरूप मेरे एक सौ आठ नामों का, राम शताभिधान का, नारदजी द्वारा कहे हुए स्तवराज का, हनुमान्जी द्वारा कहे हुए मंत्र राजात्मक स्तवराज का, सीतास्तव का राम षड्अक्षरादि मन्त्रों का पाठ करता है। इन स्तोत्रों द्वारा मेरा नित्य स्तवन करता है, उसे भी पुरश्चरण के सदृश ही फल मिल जाता है। उसे क्या नहीं हो जाता। इस प्रकार यहाँ पर राम रहस्योपनिषत् का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

अब द्वितीय अध्याय में सनकादि महर्षियों ने हनुमान्जी से पूछा—हे आञ्जनेय! हे महाबली हनुमान! तारक ब्रह्म जो श्रीरामचन्द्रजी हैं उनके मन्त्रग्राम को आप हमसे कहें।"

इस पर हनुमान्जी ने कहा—"अग्निबीज जो रा है वह अर्ध-चन्द्र विभूषित हो जाता है अर्थात् जब राँ बन जाता है तो वही एकाक्षर मन्त्र है। यह मन्त्रराज कल्पवृक्ष के सदृश है। इस एकाक्षर राँ मन्त्र के ब्रह्मा तो ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, श्रीराम ही इसके देवता हैं, दीर्घ अर्ध चन्द्रबिन्दु ही इसके अङ्ग हैं, यह अग्नि-आत्मन मन्त्र है। बीज शक्ति आदि बीज द्वारा अपने इष्ट की प्राप्ति में इसका विनियोग होता है इसका ध्यान इस भाव से करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी श्याम वर्ण वाले हैं,

वीरासन से सिंहासन पर समासीन हैं, ज्ञान मुद्रा से उपशोभित हैं, बायें ऊरु पर एक हाथ रखे हुए हैं, सीता और लक्ष्मण से संयुक्त हैं। अपनी ही आत्मा को देख रहे हैं, वे अमित तेज वाले हैं। वे शुद्ध स्फटिक के सदृश हैं, केवल मोक्ष की आकांक्षा से ही उनका ध्यान करना चाहिये।

ऐसे परमात्मा का चिन्तन करते हुए बारह लाख मन्त्र का जप करे। यह तो एकाक्षर मन्त्र के सम्बन्ध की बात हुई। अब इसी प्रकार २-द्वि अक्षर, ३-त्रि अक्षर, ४ चतुः अक्षर,(५) पञ्चाक्षर, (६) षडक्षर, (७) सप्ताक्षर, (८) अष्टाक्षर, (९) नवाक्षर, (१०) दशाक्षर, (११) एकादशाक्षर, (१२) द्वादशाक्षर, (१३) त्रयोदशाक्षर, (१४) चतुर्दशाक्षर, (१५) पञ्चदशाक्षर, (१६) षोडशाक्षर, (१७) सप्त दशाक्षर, (१८) अष्ट दशाक्षर, (१९) एकोनविंशति अक्षर, (२०) विंशाक्षर, (२१) एकविंशाक्षर, (२२) द्वाविंशद् अक्षर, (२३) त्रयोविंशाक्षर, (२४) चतुर्विंशकाक्षर, (२५) पञ्चविंशति-अक्षर, (२६) षडविंशद्--अक्षर, (२७) सप्तविंशति-अक्षर (२८) अष्टविंशति-अक्षर, (२९) एकोनत्रिंशद्-अक्षर, (३०) त्रिंशद्-अक्षर, (३१) एकत्रिंशद्-अक्षर, (३४) चतुर्विंशति-अक्षर (श्रीराम गायत्री), (३५) पंचविंशति-अक्षर, (४७) सप्तचत्वारिंशद्-अक्षर इस प्रकार इन मन्त्रों के ऋषि, छन्द, देवता तथा अंगन्यास और ध्यानादि को बताकर द्वितीय अध्याय में इन सबका विस्तार से वर्णन किया है।

अब तृतीय अध्याय में सनकादि महर्षियों ने हनुमानजी से पुनः पूछा—"आञ्जनेय महा बलवान्! ये जो तुमने पीछे मन्त्र बताये हैं इनकी पूजा पीठ हमें और बता दो। अर्थात् इन मन्त्रों के यन्त्र कैसे बनाये जायँ! इस पर हनुमानजी ने सीमंत में यन्त्रों द्वारा आराधनपूर्वक दशाक्षरादि मन्त्रों की जप

बताकर पूजापीठ निर्माण विधि बतायी है। जो मूल में ही देखने से जानी जा सकती है।"

अब चतुर्थ अध्याय में सनकादि महर्षियों ने हनुमान्जी से इन मन्त्रों के पुरश्चरण करने की विधि पूछी। इस पर हनुमान्जी ने कहा—"महर्षियो! इन मन्त्रों में से किसी भी मन्त्र का पुरश्चरण करने वाले साधक को प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल तीन बार स्नान करना चाहिये। दूध, कन्दमूल तथा फल का आहार करना चाहिये। अथवा खीर वा हविष्य अन्न का भी आहार कर सकते हैं। छैऊ रसों के स्वादों की वासना का त्याग कर देना चाहिये। जिस आश्रम में स्थित हो, उस आश्रम की विधि का पालन करते रहना चाहिये। स्त्रियों से मनसा, वाचा तथा कर्मणा सर्वथा निस्पृह रहना चाहिये। पवित्रता से रहना चाहिये।

पृथ्वी पर ही शयन करे, ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक रहे, निष्काम तथा गुरु भक्तिमान् होकर रहे। स्नान, पूजा, जप, ध्यान, होम तथा तर्पणादि कर्मों में तत्पर रहे। गुरुदेव ने जैसा उपदेश दिया हो, उसी उपदेशानुसार अनन्य बुद्धि से श्रीरामजी का ध्यान करे, सूर्य, चन्द्रमा, गुरु, दीपक, गौ तथा ब्राह्मण के समीप मन्त्र जप करे। श्रीरामचन्द्रजी की सन्निधि में मौनी होकर मन्त्र के अर्थ को चिन्तन करते हुए जप करे। व्याघ्रचर्म के आसन पर स्वस्तिक आदि जो आसन हैं उन आसनों को लगाकर तब जप करे। तुलसी, पारिजात तथा विल्ववृक्ष के नीचे बैठकर अनुष्ठान करे। पद्म कमलगट्टा की माला अथवा रुद्राक्ष की माला तथा तुलसी के काष्ठ की माला से जप करे। अथवा अक्षरों की मानसिक मातृका माला बनाकर मन से ही—बिना माला के—मन्त्र का जप करे। वैष्णव पीठ की पूजा करके जितने अक्षरों का मंत्र होता है उतने ही लक्ष्य का उसका अनुष्ठान होता है, अतः

मन्त्रों के जितने अक्षर हों उतने लाख मन्त्र जपे। फिर उसका दशांश तर्पण करे। उसका दशांश क्षीर से हवन करे। अथवा केवल घृत से ही हवन कर दे, फिर उसका दशांश ब्राह्मण भोजन करावे। इस प्रकार जप, हवन, तर्पण, मार्जन और ब्राह्मण भोजन इन पाँच अंगों द्वारा मन्त्रानुष्ठान पूर्ण होता है इसके अनन्तर पुष्पाञ्जलि मूल मन्त्र से विधिपूर्वक करे। इस प्रकार अनुष्ठान करने से जापक मन्त्र सिद्ध तथा जीवन्मुक्त हो जाता है। अणिमादिक सिद्धियाँ उसे उसी प्रकार वरण कर लेती हैं, जैसे युवक वर को युवती कुमारी वरण कर लेती है। परन्तु एक बात का सदा ध्यान रखना चाहिये कि राम मन्त्र का प्रयोग इस लोक की संसारी कामनाओं के निमित्त तथा महान् विपत्तियों के निवारणार्थ नहीं करना चाहिये। राम मन्त्र का प्रयोग तो केवल मुक्ति के ही निमित्त करना चाहिये।

हनुमान्‌जी कह रहे हैं—"मुनियो! यदि किन्हीं सांसारिक कामनाओं की पूर्ति करनी हो, तो मुझ रामसेवक को स्मरण कर लेना चाहिये। जो भी कोई रामचन्द्रजी के मन्त्र का भक्ति परायण होकर जप करता है। तो उसकी समस्त इष्ट सिद्धि का भार तो मुझ रामसेवक ने ले ही रखा है। मैं तो राम मन्त्र परायण साधकों की सेवा करने के कर्म में दीक्षित ही हूँ। जो श्री राघव के भक्त हैं, उनकी समस्त कामनाओं की मैं पूर्ति करता हूँ। किसी भी राम मन्त्र के जापक को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि राम कार्य करने में धुरन्धर मैं सदा सचेष्ट-तथा जागरूक रहता ही हूँ।"

यहाँ आकर राम रहस्य उपनिषद् का चतुर्थ अध्याय समाप्त होता है। अब अन्तिम उपसंहार रूप में पुनः सनकादि महर्षियों

ने हनुमान्‌जी से पूछा—"श्रीरामचन्द्रजी के मन्त्रों का अर्थ हमें और बता दें।"

इस पर हनुमान्‌जी ने कहा—"देखो, महर्षियो! पीछे जितने मन्त्र मैंने बताये वे प्रसङ्गानुसार बता दिये, किन्तु इन पूर्वोक्त समस्त राम मन्त्रों में जो छैः अक्षरों वाला राम मन्त्र है वही वास्तव में मन्त्रराज है। वह एक, दो, तीन, चार, पाँच, छैः, सात, आठ प्रकार का तथा बहुत प्रकार का होकर व्यवस्थित है। आप उस मन्त्रराज का अर्थ मुझसे पूछ रहे हैं, यथार्थ बात तो यह है, कि इस मन्त्रराज का तत्त्वतः अर्थ तो केवल शिवजी ही जानते हैं। श्रीराम मन्त्र का भली प्रकार अर्थ यही कहते हैं। एक नारायण अष्टाक्षर मन्त्र है, एक शिव पञ्चाक्षर मन्त्र है, दो अक्षरों का राम मन्त्र है। उसका अर्थ यह है कि जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, वही राम है। राम में दो अक्षर हैं रकार और मकार। इनमें से रकार तो अग्नि का बीज है उसका भाव है प्रकाश स्वरूप। इसी का अर्थ सच्चिदानन्द रूप है इसी को परमार्थ भी कहते हैं। राम के 'रा' में एक रकार व्यंजन है और अकार स्वर है। व्यंजन रकार तो मानो निष्कल ब्रह्म है। और अकार जो स्वर है—प्राण है—उसे माया जानो। व्यंजन और स्वर का संयोग होने से उसे प्राणयोजन समझना चाहिये। तो रेफ जो है अग्नि बीज होने से ज्योतिर्मय है। इसीलिये उसमें अकार को मिला दिया है। यह तो 'रा' का अर्थ हुआ। अब मकार का अर्थ सुनिये।"

मकार अभ्युदय के लिये होने से उसे माया कहा गया है। वही यह अपना ही बीज है इसलिये 'राम' का अर्थ हुआ माया सहित ब्रह्म। षड् अक्षर मन्त्र में पहिले तो राँ बीज है। फिर चतुर्थ्यन्त राम शब्द है, फिर नमः शब्द है। तो बीजाक्षर में रकार

है अकार है अर्ध बिन्दु अनुस्वार है। तो वह बिन्दु सहित पुरुष शिव, सूर्य तथा चन्द्रमा के समान रूपवान हैं। उस बीज की जो ज्योति है, वह शिखारूप है। नाद जो है उसे प्रकृति सहित मानना चाहिये। प्रकृति और पुरुष ब्रह्म समीप आ गये, बिन्दु और नादात्मक जो बीज है वह मानों अग्नि और चन्द्र कलात्मक है। इसलिये राम बीज में अग्नि और सोमात्मक रूप प्रतिष्ठित है। जैसे कि वट का बीज बहुत ही नन्हा-सा होता है। उस इतने नन्हें बीज में उस इतने भारी वृक्ष की जड़ें, शाखायें उप-शाखायें, पत्ते, फल आदि समस्त वस्तुएँ अन्तर्भूत हैं। उसी नन्हें बीज में वह इतना भारी प्राकृत महाद्रुम सूक्ष्म रूप से अवस्थित है। उसी प्रकार राम बीज में भी यह सम्पूर्ण चराचर जगत अव-स्थित है। इस प्रकार बीजोक्त उभय अर्थ राम नाम में भी दिखायी देता है। बीज को माया से विनिर्मुक्त कर दो, तो उसी का नाम विशुद्ध परब्रह्म है। साधकों को मुक्ति देने वाला 'राम' में का मकार ही है। 'मा' रूप होने से राम भुक्ति तथा मुक्ति दोनों को ही देने वाला कहा गया है।

अब राम शब्द में जो आदि का 'रा' है वह 'तत्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद का वाचक है। दूसरा जो 'मकार' है वह 'त्वं' पद का वाचक है। इन दोनों का संयोजन-जुड़ जाना-यही 'असि' अर्थ का द्योतक है। इस प्रकार राम शब्द का अर्थ हुआ 'तत्त्वमसि' ऐसा तत्त्व को जानने वाले तत्त्ववेत्ता पुरुष कहते हैं। अथवा षड्-अक्षर महामन्त्र में जो 'नमः' शब्द है उसे तत्त्वमसि महावाक्य का 'त्वम्' पद जानो और 'राम' को 'तत्' पद स्वरूप समझो। राम में जो चतुर्थी होकर रामाय बना है उस विभक्ति की 'असि' के साथ तुलना कर दो। इस : .
नमः का अर्थ हुआ 'तत्त्वमसि'। परन्तु 'तत्त्वमसि'

मन्त्र में और इस राम षड्-अक्षर मन्त्र में एक बड़ा भारी अन्तर है। यह जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य मन्त्र है यह तो केवल मुक्ति को ही देने वाला है, किन्तु यह जो राम षड्-अक्षर मंत्र है, यह तो भुक्ति और मुक्ति दोनों को ही देता है, यही इसमें विशेषता है। इस षड्-अक्षर राम मंत्र में समस्त मनुष्यों का-प्राणीमात्र का-अधिकार है। मुमुक्ष पुरुषों को, विरक्तों को तथा समस्त आश्रम वासियों को प्रणव स्वरूप होने से सभी को इसका ध्यान करना चाहिये। विशेषकर यतियों-वैरागियों को-ध्यान अवश्य ही करना चाहिये। जो कोई व्यक्ति राममन्त्र के अर्थ को भली-भाँति जान लेता है। वह इस शरीर में जीवित रहते हुए ही मुक्ति का सुख अनुभव करने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है।

जो इस रामरहस्य उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह अग्नि द्वारा पवित्र हो जाता है। वह अग्नि से ही नहीं वायु से, सुरापान करने के पाप से, सुवर्ण की चोरी के पाप से तथा ब्रह्म-हत्यादि महापातकों से छूटकर परम पवित्र बन जाता है। जो राम मन्त्रों का सविधि पुरश्चरण कर लेता है वह श्रीरामचन्द्र स्वरूप ही हो जाता है। इसी बात को यह वेद की ऋचा भी कह रही है। इस ऋचा का भाव यह है-कि जो लोग तत्त्वतः सदा 'रामोऽहम्' मैं राम हूँ, ऐसा भली प्रकार बोलते हैं, वे निश्चय ही संसारी जीव नहीं हैं। वे निश्चय करके राम-रूप ही हैं। इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है। ॐ सत्यम्। इस प्रकार यह राम रहस्य उपनिषद् समाप्त हुई। रामचन्द्रजी की महिमा के एक नहीं अनेक ग्रन्थ हैं, सर्व सारादि राम रहस्यान्त ग्रन्थों की संख्या तीन सहस्र है। और ईशावास्यादि उपनिषदों को लेकर राम रहस्यान्त ग्रन्थ आठ सहस्र तीन सौ अड़तालीस हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यह श्रीराम

रहस्योपनिषद् का सार आप सबको सुनाया। अब आप श्रीराम-पूर्वतापिनी उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनने की कृपा करें। यह श्रीरामतापिनी उपनिषद् पूर्वतापिनी और उत्तरतापिनी दो भागों में बँटी हुई है। इनमें से पहिले आप श्रीराम पूर्वतापिनी उपनिषद् का सार सुनें, तदनन्दन्तर उत्तरतापिनी उपनिषद् का सार आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

राम पुरश्चरनादि-शयन भू पय फल खावै।
राम ध्यान, जप, हवन आदि में ढील न लावै॥
राम मुक्ति हित जपै, जगत के चाहै नहिँ सुख।
राम भक्त हनुमान जगत के देहिँ सबहिँ सुख॥
राम षडक्षर मन्त्र वर, सब मन्त्रनि महँ श्रेष्ठ है।
राम भक्ति जग मुक्ति अरु, मुक्ति देइ तिहिँ ज्येष्ठ है॥

इति राम रहस्योपनिषद्-सार समाप्त

(५७) श्रीराम पूर्वतापिनीय-उपनिषद्-सार

[३२१]

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति राम पदेना सौ परंब्रह्माभिधीयते ॥*

(श्रीराम० पू० ता० उ० १ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

राम तापिनी पूर्व उपनिषद् अरथ बतावै ।
राम मन्त्र अरु यन्त्र रहस विधिवत समुझावै ॥
राम बीज, जप क्रिया, ध्यान की विधि बतलाई ।
राम षडक्षर मन्त्र राम महिमा जतलाई ॥
रामचरित संक्षिप्त कहि, कही यन्त्र निर्माण विधि ।
राम यन्त्र पूजा विषद, पूजित जिहि में सुर विविध ॥

वैसे तो समस्त शास्त्र राम के ही गुणों का गान करते हैं। शास्त्रों के आदि में, मध्य में तथा अन्त में, सर्वत्र श्रीराम की ही महिमा है, तथापि कई उपनिषदें राम का ही रहस्य बताती हैं। ऐसी ही उपनिषदों में श्रीरामतापिनी उपनिषद् है। यह दो भागों में विभक्त है, पूर्वतापिनी और उत्तरतापिनी। 'भद्रं कर्णेभिः

---

* जिनमें योगी लोग रमण करते हैं, जो अनन्त, नित्यानन्द, चिदात्मा हैं, इस प्रकार राम पद से परब्रह्म परमात्मा ही कहे जाते हैं। अर्थात् परंब्रह्म राम का ही नाम है।

इत्यादि इसका शान्तिपाठ है और यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। पूर्वतापिनी उपनिषद् में दश खण्ड हैं।

इसके प्रथम खण्ड में श्रीराम नाम के विविध अर्थ बताकर भगवान् के साकार तत्त्व की व्याख्या की गयी है तदनन्तर राम मन्त्र का और यन्त्र का माहात्म्य बताया गया है। सच्चिदानन्द स्वरूप श्री महाविष्णु हरि जब रघुवंश में प्रादुर्भूत हुए तब उनका नाम 'राम' ऐसा हुआ। इस 'राम' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहते हैं—"जो भक्तजनों का मनोरथ पूर्ण करने के हेतु पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर भूपति रूप में बसुन्धरा पर सुशोभित होते हैं, वे ही राम हैं। जो मही पर राजते-शोभते-दीप्तिमान्-होते हैं वे ही राम हैं ऐसी व्याख्या विद्वानों ने की है। अथवा राम शब्द का एक अर्थ यह भी है कि 'रा' का अर्थ है राक्षस और मकार का अर्थ है मरण को प्राप्त होना अर्थात् जिनके द्वारा राक्षस मरण को प्राप्त हों वे राम हैं। अथवा जो स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हों, वे राम हैं। अथवा 'रा' से राहु और 'म' से मनसिज-चन्द्रमा है-जैसे राहु चन्द्रमा को हतप्रभ कर देता है, उसी प्रकार जो राक्षसों को हतप्रभ कर दें वे राम हैं। अथवा 'रा' से राज्य और 'म' से महीपाल। अर्थात् राज्याधिकारी महीपालों को जो धर्म मार्ग का उपदेश देते हों। जो राम नाम से ज्ञान प्राप्ति, राम ध्यान से वैराग्य, राम विग्रह की पूजा से ऐश्वर्य कराते हों वे राम हैं।

ये सब अर्थ तो औपचारिक हैं वास्तविक अर्थ तो यही है कि जिन अनन्त, नित्यानन्द स्वरूप चैतन्यमय परब्रह्म में योगीजन रमण करते हों वे ही परब्रह्म परमात्मा राम हैं। यद्यपि वे पाञ्च-भौतिक शरीर से रहित, चिन्मय अज निराकार हैं, फिर भी अपने भक्तों के प्रेमवश निराकार से नराकार बन जाते हैं। देवगण भगवत् स्वरूप में अस्त्रादि रूप से उनकी सेवा करते हैं, वे सब भी

भगवत् स्वरूप के अन्तर्गत ही हैं। वे विष्णु अनेक रूप रूपाय हैं। कहीं वे द्विभुज होकर प्रकट होते हैं कहीं चतुर्भुज, षड्भुज, अष्टभुज दशभुज, द्वादशभुज, षोडशभुज और कहीं अष्टादश भुज बन जाते हैं। कहीं शंखचक्रादि से सुशोभित हो जाते हैं। जब विश्वरूप में प्रादुर्भूत होते हैं तब सहस्राक्ष सहस्र हस्त पादादि वाले बन जाते हैं। भिन्न भिन्न श्रीविग्रहों के रूप रंग,वाहनादि भी भिन्न-भिन्न होते हैं। उनकी शक्तियाँ सेना भी भिन्न-भिन्न होती हैं। वे परब्रह्म परमात्मा विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य तथा गणेश इन पञ्चदेवों के रूप में कल्पित किये जाते हैं। जैसा रूप वैसे वाहनों तथा सेना आदि की कल्पना भी तदनुरूप ही की जाती है। 'राम' जो है वह ब्रह्मा से वृक्ष पर्यन्त समस्त चैतन्य का वाचक है। ऐसे राम यन्त्र की दीक्षा लेकर सदा सर्वदा इसका जप करना चाहिये। राम के बिना भगवत् प्राप्ति नहीं। मनन करने से राम यन्त्र है। और जो सीताराम रूप में विराजमान् भगवान् हैं उनके प्रतीक रूप में विग्रह–यन्त्र का निर्माण किया जाता है। बिना यन्त्र प्रतीक के पूजा की जाती है, तो उससे देवता प्रसन्न नहीं होते। यहाँ आकर प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

अब द्वितीय खण्ड में श्रीराम का रूप बताते हुए कहते हैं—"भगवान् अकारण ही लीला के लिये स्वयं ही प्रकट होते हैं। इसीलिये स्वभू कहलाते हैं। चिन्मय होने से ज्योतिर्मय, अनन्त होने पर भी परम स्वरूप वान्, देश, काल तथा वस्तु की सीमा से परे, अपने ही प्रकाश से प्रकाशित, चैतन्यात्मा होने से जीव, त्रिगुणाश्रित होने से सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण हैं। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ओंकार तथा परमात्मा स्वरूप है। वट के बीज में जैसे वृक्ष स्थित है वैसे ही राम बीज में स्थावर जङ्गम जगत् स्थित है। र, आ, अ और म् ये राम बीज के

विभाग हैं। इनमें रकार राम वाचक और शेष तीन ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों और उनकी त्रिविध शक्तियों के वाचक हैं। इस राँ बीज मन्त्र में प्रकृति पुरुष रूप सीताराम पूज्य हैं। इन्हीं से सृष्टि, स्थिति और लय है। लीलावश ही अज अनादि अरूप राम अपने को मानव रूप में मानते हैं। वे जगत् के प्राण हैं। सबकी आत्मा हैं। ऐसे सर्वात्मा श्रीराम के पाद पद्मों में प्रणाम है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रणाम करके अपनी एकता का उच्चारण करे।"

सूतजी कह रहे हैं—"यहाँ आकर द्वितीय खण्ड की समाप्ति होती है।"

अब तृतीय खण्ड में राम मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"रामाय यह चतुर्थी विभक्ति है, इसमें राम परमात्मा वाचक है नमः जीव वाचक है। चतुर्थी विभक्ति होने से जीवात्मा और परमात्मा की एकता बतायी है। चतुर्थ्यान्त राम और नमः यह मन्त्र वाचक है, इस वाचक मन्त्र के वाच्य श्रीराम ही हैं। इन दोनों का संयोग साधकों को अभीष्ट फल का दाता है। क्योंकि नाम में और नामी में अभेद सम्बन्ध है। जिसका जो नाम होता है, वह नामी उसी नाम वाला होता ही है इसी प्रकार बीजात्मक जो 'राम्' मन्त्र है, वही राम भी है। इस मन्त्र का जो साधक जप करते हैं—उन्हें बुलाते हैं, तो भगवान् साधक के सम्मुख आ जाते हैं।"

इस प्रकार राम मन्त्र की व्याख्या करके अब उसके जप की प्रक्रिया बताते हुए कहते हैं। 'रामाय' इसमें रां, मां और यं तीन अक्षर हैं। इनमें रां बीज है, मां शक्ति है, यं कीलक बीज और शक्ति रां मां का क्रमशः दायें और बायें...

न्यास करे। और यं जो कीलक है उसका स्तनों के मध्य हृदय में न्यास करे। इस प्रकार न्यास करके अमुक कार्यार्थे विनियोग करे। क्योंकि समस्त कार्यों की सिद्धि में इसका विनियोग होता है। फिर ध्यान करे। क्योंकि भगवान् श्रीराम अनन्त परमात्मा स्वरूप हैं। वे प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेज वाले हैं। वे अग्नि सोमात्मक-पुरुष और नारी रूप से जगत् में हैं। वे सीता के सहित उत्पन्न होकर इसी प्रकार शोभित होते हैं जैसे चन्द्रमा चन्द्रिका के सहित सुशोभित होते हैं। इसलिये उनका इस भाव से ध्यान करे—साँवली मूर्ति, पीत वस्त्र धारण किये सिर पर जटाओं को रखे, श्रीराम अपनी प्रकृति सीताजी सहित शोभित हो रहे हैं। वे दो भुजा वाले हैं, कानों में कुण्डल धारण किये हुए हैं, रत्नों की माला कण्ठ में पहिने हैं, बड़े धीर गम्भीर हैं तथा धनुष को धारण किये हुए हैं। उनका श्रीमुख सदा प्रसन्न रहता है, वे सदा विजयी होते हैं, आठों सिद्धियों से सदा विभूषित रहते हैं।

प्रकृति रूपा परमेश्वरी जगज्जननी जानकी उनके वाम अंक को विभूषित करती हैं। सीताजी के शरीर की आभा सुवर्ण के सदृश है, उनके भी दो ही भुजायें हैं, वे सर्व अलंकारों से विभूषिता हैं, एक हाथ में क्रीड़ा कमल लिये हुई हैं, उनसे सटे हुए श्रीराम बड़े ही हृष्ट-पुष्ट दिखायी दे रहे हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर तीसरा खण्ड समाप्त होता है। अब चतुर्थ खण्ड में उसी विषय को चालू रखते हुए षड्अक्षर मन्त्र का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—"ध्यान विधि में जो पीछे सीतारामजी के स्वरूप का वर्णन कर आये हैं उन दोनों के दक्षिण भाग में सुवर्ण की आभा वाले श्रीरामजी के अनुज धनुष धारण किये हुए लक्ष्मणजी स्थित हैं। इस प्रकार

श्रीसीतारामजी तो एक ओर उनके सम्मुख लक्ष्मणजी ऐसे एक त्रिकोण-सा बन जाता है।"

जिस प्रकार श्रीराम, सीताजी और लक्ष्मणजी का त्रिकोण बनता है, उसी भाँति श्रीराम के षड्-अक्षर मन्त्र का भी त्रिकोण बन जाता है। एक तो रां बीज मन्त्र दूसरा चतुर्थ्यन्त राम शब्द तीसरा नमः। रामतो ब्रह्म वाचक है नमः जीव वाचक है। इन दोनों का ऐक्य बनाने वाली चतुर्थी विभक्ति है। राम में सीता और राम दोनों ही समावेश हैं। इस प्रकार एक तो राम रूप का त्रिकोण दूसरा राम मन्त्र का त्रिकोण ये हुए।

एक बार देवताओं ने आकर कल्पवृक्ष के नीचे विराजमान् जगत् पति श्रीरामचन्द्रजी की इस प्रकार स्तुति की थी—"श्री रामचन्द्रजी! आप काम रूप हैं, मायामय हैं ऐसे आप राम के लिये नमस्कार है। आप वेदरूप हैं, ओंकार स्वरूप हैं आपको बारम्बार नमस्कार है। आप रमा जो सीताजी हैं उन्हें धारण करने वाले हैं, आप आत्मरूप हैं, रमणीय तथा अभिराम हैं, श्रीजानकीजी के देह के भूषण हैं, आप राक्षसों के हन्ता हैं, आपके समस्त अङ्ग शुभ हैं, आप भद्र स्वरूप हैं, रघुवंश में वीर हैं, रावण को मारने वाले हैं ऐसे आपको बारम्बार नमस्कार है। हे रामभद्र! हे महान् धनुर्धर! हे रघुवीर! हे समस्त राजाओं में उत्तम रघुनन्दन! आपको नमस्कार है। यहाँ आकर चतुर्थ खण्ड समस्त होता है।

पाँचवे खण्ड में भगवान् के चरित्रों को कह कहकर उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे रावणारि भगवन्! हमारी रक्षा करो और अपने ऐश्वर्य को दो। जब तक खर नाम के राक्षस का वध किया था तब तक देवता ऋषि सब आप की स्तुति करके सुख पूर्वक स्थित रहे। खर के मारे जाने पर वन में रावण

आया। उसने वन में से सीताजी का हरण किया। उस समय सीताजी भी वन में रहती थीं। वन में से राक्षस ने सीताजी को हरा था इसलिये राक्षस में का रा और वन से सीताजी को हरण किया इसीलिये उसका नाम रावण हुआ। अथवा दूसरों को रुलाने के कारण रावण कहलाया। अथवा शिवजी द्वारा कैलास पिचा देने पर रो पड़ा या जन्म के ही समय रव-किया। इससे रावण कहलाया। वन से सीताजी के हरण होने पर उन्हे खोजने के व्याज से दोनों भाई वनों में विचरण करने लगे। कबन्ध असुर को मारकर वे शबरी के आश्रम पर आये। शबरी द्वारा सत्कृत होकर आगे चले तो मार्ग में हनुमान्जी मिले। उन्होंने दोनों भाइयों को कपिराज सुग्रीव से मिलाकर उनसे मैत्री की और अपना समस्त वृत्तान्त सुग्रीव को सुनाया। सुग्रीव के संदेह को निवारण करने हेतु दुन्दुभि के शव को दूर फेंक दिया। एक बाण से सात ताल के वृक्षों को वेध दिया। तब सुग्रीव को उनके पराक्रम पर विश्वास हो गया। इससे श्रीराम परम आनन्दित हुए। प्रसन्नता पूर्वक सुग्रीव श्रीराम को अपने नगर के निकट लेजाकर गर्जना करके बाली को बुलाया। श्रीराम ने बालि को मारकर किष्किंधा के राज्य पर सुग्रीव को स्थापित किया। यहाँ आकर पाँचवाँ खण्ड समाप्त होता है। अब छटे खण्ड में आगे के चरित्र को चालू रखते हुए कहते हैं। सुग्रीव ने सीता की सुधि लेने दशों दिशा में वानर भेजे। उनमें से हनुमान्जी ने समुद्र लाँघकर लंका में जाकर सीताजी को देखा। सीताजी का समाचार लेकर युद्ध में कुछ असुरों को मारकर, लंका को जलाकर हनुमान्जी श्रीराम के समीप लौट आये। सब सुनकर श्रीराम ने क्रोध का अभिनय किया। सब वानरों को बुलाकर, उन्हें साथ लेकर लंका पर चढ़ाई कर दी और लंका

का भली भाँति निरीक्षण करके रावण से युद्ध आरम्भ कर दिया। रावण को सपरिवार मारकर विभीषण को लंका का राज्य देकर महारानी सीताजी को साथ लेकर वे अयोध्यापुरी को चल दिये। अयोध्या में आकर वे राज्य सिंहासन पर विराजमान् हुए जो अब तक विराजमान् हैं, वे ज्ञानमयी, धनुर्मयी तथा व्याख्यानमयी मुद्रा में, स्थित होकर सबको सुख प्रदान कर रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवताओं की स्तुति कहने के अनन्तर पुनः भगवान् की झाँकी का वर्णन करते हुए कहते हैं—"श्रीरामचन्द्रजी के वाम भाग में उनसे सटी हुई श्रीसीताजी विराजमान् हैं, दक्षिण में लक्ष्मणजी अवस्थित हैं। उत्तर में शत्रुघ्न और लक्ष्मणजी के साथ दक्षिण में ही भरतजी स्थित हैं। सम्मुख हाथ जोड़े हुए श्रोता रूप में मारुतिनन्दन हनुमान्जी खड़े हुए हैं। जो त्रिकोण बना था, उसके अन्तर्गत ही हनुमान् जी हैं। दक्षिण में ही श्रीभरतजी से नीचे कपिराज सुग्रीव अवस्थित हैं, और उत्तर में शत्रुघ्नजी के नीचे विभीषणजी खड़े है। लक्ष्मणजी कुछ पीछे हटकर पृष्ठ भाग में चँवर लिये अवस्थित हैं। लक्ष्मणजी से नीचे भरत शत्रुघ्न ताड़ का व्यजन लिये खड़े हैं। इस प्रकार लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का एक नूतन ही त्रिकोण निर्माण हो जाता है। इस प्रकार यह एक षट्कोण बन जाता है। श्रीराम पहिले अपने बीज-मंत्र स्वरूप दीर्घ अक्षरों (रां, रीं, रूं, रैं, रौः और रः) से आवृत हैं। यह तो षट्कोण का प्रथम आवरण हुआ। अब द्वितीय आवरण की बात सुनिये।

द्वितीय आवरण में वासुदेव, शान्ति, संकर्षण, श्री, प्रद्युम्न, सरस्वती अनिरुद्ध और रति ये शक्ति सहित चतुर्व्यूह अग्नि कोण

आदि आठों दिशाओं में क्रम-क्रम से अवस्थित हैं। भगवान् इन सबसे संयुक्त रहते हैं। अब तृतीय आवरण की बात सुनें।

तृतीय आवरण में हनूमान, सुग्रीव, भरत, विभीषण, लक्ष्मण, अङ्गद, जाम्बवान् तथा शत्रुघ्नजी आदि हैं। तृतीय आवरण में ही धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्र वर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्र से श्रीराम आवृत हैं।

अब चतुर्थ आवरण की बात सुनिये। चतुर्थ आवरण तब बनता है जब श्रीराम इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, चन्द्रमा, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त इन दश दिग्पालों द्वारा आवृत रहते हैं। इन सब देवों की स्व स्व स्थान में पूजा करनी चाहिये। ब्रह्मा, अनन्त, इनका स्थान क्रमशः पूर्व ईशान के मध्य तथा नैर्ऋत्य और पश्चिम के मध्य में है। इन दिग्पालों के बाह्य भाग में आयुध हैं। उसी आवरण में नल आदि वानर तथा वसिष्ठ वामदेवादि ऋषि भगवत् उपासना में संलग्न रहते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस षष्ठ खण्ड में आवरण पूजा के लिये यन्त्रस्थ देवताओं का निरूपण किया है। अब सप्तम खण्ड की बात सुनिये।"

सप्तम खण्ड में इसी पूजा यंत्र का विस्तृत वर्णन है कि किस स्थान में कौन से बीज मन्त्र को कहाँ लिखे। इसी प्रकार अष्टम खण्ड में आगे के अङ्गों का वर्णन है, नवम खण्ड में भी पूजा मन्त्र के शेष भागों का ही वर्णन करके अन्त में सैंतालीस अक्षरों वाले माला मन्त्र का वर्णन है। जिन्हें श्रीराम यन्त्र का निर्माण करना हो, उन्हें मूल उपनिषद् को देखकर ही करना चाहिये।

अब दशवें खण्ड में पूजा की विधि का विस्तार के साथ

वर्णन किया है। प्रथम द्वार पूजा करके पद्मासन से स्थित हो। फिर पञ्चभूतादि शुद्धि करे। सिंहासन पीठ के अधो भाग, ऊर्ध्व भाग, पार्श्वभाग में देव पूजन, पीठ के ऊपर मध्यभाग में अष्ट-दल कमल का पूजन करके फिर जहाँ-जहाँ, जो-जो देवता हों उनके मन्त्रों से तत्-तत् स्थानों में उन सबकी पूजा करे। वह पूजा विधि भी मूल में ही देखनी चाहिये। इस प्रकार पूजा करके फिर भगवान् श्रीरामचन्द्र की इस प्रकार स्तुति करे—जो इस प्रकार की महिमा वाले, जगत् के आधार भूत, सच्चिदानन्द रूप श्रीराम हैं उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

जो गदा, चक्र, शङ्ख तथा पद्म को धारण किये हुए हैं, जो भव-संसार के शत्रु हैं उनका ध्यान करने से मोक्ष प्राप्त होती है। विश्वव्यापी राघव जब अन्तर्धान हुए थे तब शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म आदि आयुधों सहित सशरीर अन्तर्हित हुए थे। वे सीताजी, पुरजन, परिजन, भाइयों, प्रजाजन, विभीषणादि के साथ तथा शत्रु के वंशजों सहित परमधाम में पधारे थे। श्रीरामचन्द्रजी के भक्त समस्त कामनाओं को प्राप्त करके, सभी दिव्य भोगों का उपभोग करके, अन्त में परमपद को प्राप्त होते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"इस प्रकार श्रीराम का ध्यान बताकर अब उस श्रीराम पूर्वतापनीय उपनिषद् का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं—"जो पुरुष समस्त कामनाओं और सभी अर्थों को देने वाली जो इन ऋचाओं को पढ़ते हैं, वे मल रहित होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं, निश्चय ही अमल होकर मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने श्रीराम

पूर्वतापनीय उपनिषद् की अत्यंत सार कथा सुना दी। अब आप श्रीराम उत्तरतापनीय उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

रामयन्त्र विधि सहित पूजि पूजक सुख पावै।
रामहि माला मन्त्र वर्ण सैंतीस कहावै॥
राम कृपा तैं भक्त तीन गुन पार करैगो।
राम नाम अरु यन्त्र पूजि भव उदधि तरैगो॥
राम ऋचनि कूँ जे पढ़ैं, तिनिके भवबन्धन कटैं।
राम लोक में जायँ ते, तीनि गुननि ऊपर उठैं॥

इति श्रीराम पूर्वतापनीय उपनिषद्-
सार समाप्त

(५८) श्रीराम-उत्तरतापनीय-उपनिषद्-सार

[३२२]

मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्यकस्यापि वा स्वयम् ।
उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिवेतिः ॥*

(श्रीरा० उ० ता० उ० ८ मं०)

छप्पय

क्षेत्र कह्यो अविमुक्त कर्यो तप जहँ शिवशंकर ।
दयो विष्णु वर होइ मुक्तिदाता यह थल-वर ॥
तारक मंत्र महात्म्य महामहिमा जतलाई ।
द्वै भौंहनि के मध्य पुरी काशी बतलाई ॥
काशी जो वाराणसी, प्राण तजत जे जीव जहँ ।
शिव देवैं तिनि कान में, तारक मोक्षद मन्त्र तहँ ॥

श्रीराम उत्तरतापनीय-उपनिषद् भी अथर्ववेदीय उपनिषद् है, इसका भी शांति पाठ भद्रं कर्णेभिः इत्यादि है। इसमें पूर्व तापनीय के प्रकरण को ही चालू रखते हैं, अविमुक्त क्षेत्र काशी

* श्रीरामचन्द्रजी शिवजी से कह रहे हैं—"हे शिव ! जो मरणासन्न व्यक्ति कोई भी क्यों न हो। जिसके कान में आप काशी में मेरे मंत्र का उपदेश कर देंगे, वह मुक्त हो जायगा।"

की महिमा बताते हुए तारक मन्त्र जो राम नाम है उसके माहात्म्य का वर्णन है। यह देवगुरु बृहस्पति और याज्ञवल्क्यजी के सम्वाद रूप में है।

एक बार समस्त देवताओं के पुरोहित श्रीबृहस्पतिजी ने ऋषि श्रेष्ठ भगवान् याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"ब्रह्मन्! आप मुझे उस तीर्थ के सम्बन्ध में बताइये, जो पवित्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र से भी श्रेष्ठ हो, जो देवताओं का यजन और समस्त प्राणियों के लिये ब्रह्म सदन स्थल हो?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"तुम्हारे प्रश्न में जो गुण पूछे गये हैं, उन सब गुणों से विशिष्ट अविमुक्त काशी क्षेत्र ही है। यहाँ मरते समय शिवजी सबके कानों में तारक-ब्रह्म का उपदेश करते हैं। इसलिये काशी अविमुक्त क्षेत्र का कभी परित्याग न करे।"

इस पर भरद्वाजजी ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"भगवन्! तारक मन्त्र क्या है और तरता कौन है?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"दीर्घ अकार सहित अग्नि बीज और उसके ऊपर अर्धचन्द्रानुसार। फिर दीर्घ रकार फिर दीर्घ मकार यकार और नमः यही तारक मंत्र कहलाता है। राम के सहित चतुर्थ्यन्त चन्द्र और नमः तथा राम के साथ चतुर्थ्यन्त भद्र और नमः ये भी तारक मन्त्र ही हैं। ये तीनों ही तारक मन्त्र हैं। ये तीनों क्रम से प्रणव स्वरूप, तत्स्वरूप और ब्रह्म स्वरूप हैं। ये उपास्य हैं। ओंकार रूप कैसे हैं? ओंकार रूप तो यों हैं ओंकार में भी (अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, अनुस्वार और नाद) ये छः अक्षर हैं और तारक मन्त्र में भी छः ही अक्षर हैं। अथवा ओंकार और रां बीज मन्त्र यही तारक है। तारक इसका नाम क्यों है? इसलिये कि यह

जन्म, जरा, गर्भ और मृत्यु के समस्त भयों से तार देता है, इसलिये इसे तारक कहते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी इसका सतत जप करता रहता है, वह समस्त पापों से पार होकर मृत्यु के पार पहुँच जाता है। वह ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, वीर हत्या तथा सम्पूर्ण हत्याओं तथा अन्यान्य सभी पापों से संसार रूपी सागर से तर जाता है, उसके लिये वह जहाँ भी रहता है, वहीं काशी हो जाती है।

प्रणव में पूर्वोक्त छैः अक्षर हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थायें तथा चतुर्व्यूह में संकर्षण-प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और वासुदेव ये चार हैं। चारों अवस्थाओं के विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय ये चार अभिमानी देव हैं। ये चतुर्व्यूह के चारों संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और वासुदेव क्रमशः लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत और श्रीराम स्वरूप हैं। इसी प्रकार ये क्रमशः चारों अवस्थाओं, उन चारों के अभिमानी देवों और प्रणव के चारों अक्षरों के रूप हैं। अब प्रणव के छैः अक्षरों में से बचे-नाद और बिन्दु—दो अक्षर, सो दोनों सीताजी के स्वरूप हैं, ये मूल प्रकृति रूपा हैं। इन्हें प्रकृति क्यों कहते हैं? इसलिये कि (प्र=प्रणव उसकी कृति स्वरूपा हैं) ये प्रणव से अभिन्ना हैं।

प्रणव में और परमात्मा में अभेद हैं। यह सम्पूर्ण चराचर विश्व प्राण स्वरूप है परमात्म स्वरूप है उन परमात्मा के चार पाद हैं। वे चार पाद कौन-कौन से हैं? पहिला पाद तो जाग्रत रूप वैश्वानर है, जो बहिः प्रज्ञ, सप्तलोकाङ्ग, उन्नीस समष्टि करण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तः-करण) वाला है। वे स्थूलभुक् वैश्वानर स्वरूप प्रथम पाद लक्ष्मणजी हैं। ये शेषावतार होने से अखिल विश्व के आश्रय हैं इसीलिये वैश्वानर कहाते हैं। दूसरा पाद स्वप्नावस्था वाला

तैजस है उसके प्रतीक शत्रुघ्नजी हैं। ये स्वप्नस्थान, अन्तः प्रज्ञ, प्रद्युम्न स्थानीय, सप्ताङ्ग, प्रविविक्तभुक् हैं इकोनविंशति-मुख हैं।

तीसरा पाद सुषुप्ति अवस्था वाला जो न कुछ चाहता है न स्वप्न ही देखता है, वह एकीभूत, प्रज्ञान घन, आनन्द भुक्, चेतो-मुख, भरत स्वरूप प्राज्ञ हैं।

चौथे पाद तो श्रीराम स्वयं हैं, जो शान्त, शिव अद्वैत हैं, वे भक्तों के अज्ञान हर्ता, आनन्दमूर्ति, सत्तामात्र, तम मोह से सर्वथा रहित हैं। साधक को यह भावना करनी चाहिये वह ॐ, तत्, सत्, पत् तथा परं ब्रह्म नाम से जो कहे जाते हैं, वे श्रीरामचन्द्र मैं ही हूँ। प्रणव, सच्चिदानन्दमय, परम ज्योति स्वरूप श्रीरामचन्द्र मैं ही हूँ। इस प्रकार अपने को सम्मुख लाकर श्रीरामचन्द्रजी के साथ अपनी एकता का अनुभव करना चाहिये। अपनी और उनकी अभिन्नता का चिन्तन करना चाहिये। जो ऐसा चिन्तन करते हैं, वे रामरूप हो जाते हैं, वे संसारी नहीं रह जाते। यही उपनिषद् है, जो इसे इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है।" ऐसा याज्ञवल्क्यजी ने कहा है।

तदनन्तर महर्षि अत्रि ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"भगवन! जो परमात्मा अनन्त तथा अव्यक्त है, उसे किस प्रकार हम जान सकते हैं?"

तब याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यह अनन्त अव्यक्त आत्मा अविमुक्त क्षेत्र में प्रतिष्ठित है, अतः उसी क्षेत्र में उपासना करने से वह जाना जा सकता है।"

अत्रि मुनि ने पूछा—"अविमुक्त क्षेत्र है कहाँ?"

याज्ञ०—अविमुक्त क्षेत्र वारणा तथा नाशी के मध्य में स्थित है।"

अत्रि०—"वारणा क्या ? नाशी क्या ?"

याज्ञ०—"जो इन्द्रिय कृत समस्त दोषों का वारण करे वह वारणा, जो उन सब दोषों का नाश करे वह नाशी।"

अत्रि०—"इसका आध्यात्मिक स्थान शरीर में कहाँ है ?"

याज्ञ०—"भौंहों और नासिका की जहाँ सन्धि है—दोनों भौंहों के मध्य में-वही द्युलोक है, उससे भी उत्कृष्ट ज्योतिर्मय परम धाम की सन्धि का स्थान है। सन्धि होने से उसे सन्ध्या भी कहते हैं। द्विजातिगण उसी सन्ध्या की उपासना किया करते हैं, वहीं अविमुक्त क्षेत्र है, वहीं श्रीराम की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार आदि भौतिक क्षेत्र काशी और आध्यात्मिक अर्थ दोनों भौंहों के मध्य का स्थान उसी में अव्यक्त श्रीराम की उपासना करे। काशी अविमुक्त क्षेत्र कैसे है इस सम्बन्ध में एक कथा है—

एक बार शिवजी ने काशी में सहस्र मन्वन्तर तक रहकर भगवत् उपासना की। उनके तप से प्रसन्न होकर भगवान् प्रकट हुए और शिव से अभीष्ट वर माँगने को कहा। तब शिवजी ने कहा—"मेरे इस काशी क्षेत्र में गङ्गा तट पर जिसकी मृत्यु हो जाय, वह मुक्त हो जाय, यही मैं चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"हे शिवजी ! ऐसा ही होगा। आपके इस क्षेत्र में कीट पतंग जो भी जीव मरेंगे, वे सब मुक्त हो जायँगे। आप या ब्रह्माजी जिनके कान में तारक मंत्र कह देंगे, वे निश्चय ही मुक्ति के अधिकारी हो जायँगे।"

श्रीभगवान् रामचन्द्रजी के वरदान से तभी से काशी मुक्तिदायिनी हो गयी, जो इस क्षेत्र का दर्शन करता है, यहाँ प्राणों

का परित्याग करता है, उसके जन्मजन्मान्तर के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

इसके अनन्तर भरद्वाज ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"भगवन्! जिन मन्त्रों से श्रीरामचन्द्रजी की प्रसन्नता प्राप्त होती है और वे अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं, उन मन्त्रों को हमें और बता दें।"

इस पर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"भरद्वाजजी! जैसे शिवजी ने तप किया था उसी प्रकार ब्रह्माजी, ने भी एक समय घोर तप किया था, तब भगवान् ने उन्हें अभीष्ट वर दिया। इस पर ब्रह्माजी ने गायत्री गाथा से उन्हें नमस्कार किया था। वह गायत्री गाथा सैंतालीस मन्त्रात्मक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सैंतालीस मन्त्रात्मक ही गायत्री क्यों है?"

तब सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! पीछे हम बता आये हैं कि श्रीराम मन्त्रराज सैंतालीस अक्षरों का माला मन्त्र है। उस मन्त्रराज के प्रत्येक अक्षरानुसार यह सैंतालीस मन्त्रों वाली श्रीराम गायत्री है। इन मन्त्रों से जो प्रतिदिन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति करता है, उस पर श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न होते हैं और उसे प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वे सैंतालीस मन्त्र कौन-कौन से हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! श्रीरामचन्द्रजी के सैंतालीस मुख्य नाम हैं। वे इस प्रकार हैं-(१) अद्वैतपरमानन्दात्मा यत् परंब्रह्म (२) अखण्डैकरसात्मा, (३) ब्रह्मानन्दामृतम्, (४) तारकं ब्रह्म, (५) ब्रह्मा विष्णुरीश्वरः (६) ये सर्वे वेदाः साङ्गाः स शाखाः सपुराणा, (७) जीवात्मा, (८) सर्वभूतान्तरात्मा, (९) ये देवासुर मनुष्यादि भावा, (१०) ये मत्स्य कूर्माद्यवतारा, (११)

प्राण, (१२) अन्तःकरण चतुष्टयात्मा' (१३) यम, (१४) अन्तक, (१५) मृत्यु, (१६) अमृत, (१७) यानि पञ्चमहाभूतानि, (१८) स्थावरजङ्गमात्मा, (१९) ये च पञ्चाग्नकः, (२०) याःसप्त महाव्याहृतयः, (२१) विद्या, (२२) सरस्वती, (२३) लक्ष्मी, (२४) गौरी, (२५) जानकी, (२६) त्रैलोक्यम (२७) सूर्यः, (२८) सोमः (२९) यानि नक्षत्राणि, (३०) ये चाष्टौलोकपालाः, (३१) ये चाष्टौवसवः (३२) ये चैकादश रुद्राः,(३३) ये च द्वादश आदित्याः, (३४) भूतं भव्यं भविष्यद्, (३५) ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहिर्व्याप्नोति, (३६) हिरण्यगर्भः, (३७) प्रकृति, (३८) ओङ्कार, (३९) चतस्रो अर्ध मात्रा (४०) परम पुरुषः,(४१) महेश्वरः,(४२) महादेवः(४३) ॐ नमो भगवतेवासुदेवाय, (४४) परमात्मा, (४५) विज्ञानात्मा, (४६) सच्चिदानन्दैकरसात्मा,(४७) ये च नवग्रहाः। ये सैंतालीस भगवान् के नाम हैं। इनमें पहिले प्रणव लगावे, फिर यो वै, तदनंतर श्रीरामचन्द्रः प्रथमांत नाम लगावे फिर स भगवान् लगावे। फिर यः लगाकर एक-एक नाम लगाता जाय। बहुवचनात्मक हो तो ये लगावे। स्त्रीलिङ्ग पार्वती, लक्ष्मी, जानकी आदि हो तो या लगावे। नाम के अन्त में भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै इसको लगावे। अन्त में नमो नमः लगावे। इस प्रकार ४६ नामों से ये सैंतालीस मन्त्र बन जाते हैं। दूसरे, तीसरे, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, सोलहवें, उन्नीसवें, छब्बीसवें, उन्तीसवें, तीसवें, इकत्तीसवें, बत्तीसवें, तैंतीसवें, चौंतीसवें, पैंतीसवें, छत्तीसवें, उन्तालीसवें, चालीसवें, ब्यालीसवें, तैंतालीसवें, इनमें भगवान् के पश्चात् ये अथवा यः के आगे च और लगाना चाहिये। शेष मन्त्रों में च नहीं इस प्रकार सैंतालीस मन्त्र बन जाते हैं।

इन सबका एक ही अर्थ है—ओंकार स्वरूप जो [illegible] भगवान् रामचन्द्रजी हैं वे अमुक नाम वाले हैं तथा भूर्भुव

त्रिलोक स्वरूप हैं। उन श्रीरामचन्द्रजी को निश्चय रूप से मेरा बारम्बार नमस्कार है।

ये सैंतालीस मन्त्र हैं इनसे नित्य ही जो श्रीराम की स्तुति करता है, उससे देव श्रीराम प्रसन्न होते हैं। जो इन मन्त्रों से स्तुति करता है उससे देव प्रसन्न होते हैं, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है, निश्चय ही वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में श्रीराम उत्तरतापनीय उपनिषद् का सार सुनाया। अब आप वासुदेव उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

सैंतालिस पुनि मन्त्र कहे जिनि पाठ करत नित।
तिनिके सब अघ नसैं शुद्ध ह्वै जावै तिनि चित॥
प्रभु प्रसन्न ह्वै जायँ शरन अपनी में लेवैं।
रामचन्द्र प्रत्यक्ष, दरस साधककूँ देवैं॥
यह रामोत्तर, तापनी, कही उपनिषद् भव्य अति।
पढ़ै सुनै जे प्रेमतैं, तिनिकी होवै विमल मति॥

इति श्रीराम-उत्तरतापिनीय उपनिषद्-सार-समाप्त

(५९) वासुदेव-उपनिषद्-सार

[३२३]

ऊर्ध्वदण्डोर्ध्वरेताश्च ऊर्ध्वपुण्ड्रोर्ध्वयोगवान् ।
ऊर्ध्वं पदमवाप्नोति यतिरूर्ध्वचतुष्कवान् ॥❀

(वासुदेवोपनिषदे)

छप्पय

वासुदेव उपनिषद् कही नारद तैं श्रीहरि ।
गोपीचन्दन तत्त्व कह्यो भगवान् कृपा करि ॥
प्रभु वैकुण्ठहिँ लाइ द्वारका चक्र तीर्थ महँ ।
थापित जगहित कर्यो पीत रँग नित्य रहत तहँ ॥
बारह अंगनि गृही प्रभु, नामनि लै धारन करैं ।
ते पावैं नर परमपद, अमर होइँ नहिँ ते मरैं ॥

हमारे यहाँ शास्त्रों में दो प्रकार के तिलक बताये गये हैं । एक तो ऊर्ध्व पुण्ड्र, एक त्रिपुण्ड्र । पुण्ड्र शब्द का अर्थ है, ईख । जैसे ईख के दण्ड होते हैं, वैसी आकृति मस्तक पर बना लेना । इस सम्बन्ध की महाभारत में एक कथा है, एक बार भगवान् विष्णु

जिसका दण्ड ऊर्ध्व रहता है, जो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं, जिसने मस्तक पर ऊर्ध्व पुण्ड्र धारण कर रखा हो और जो ऊर्ध्व योगवान् हो, वह ऊर्ध्वलोक को प्राप्त होता है । यति सन्यासी के ये चारों ऊर्ध्व रहते हैं ।

और महादेवजी में प्रेमालाप हुआ, उस समय दोनों में चिन्हों की अदला-बदली हुई। शिवजी ने अपना त्रिशूल का चिन्ह विष्णु भगवान् को दिया और कहा—"जो विष्णु भक्त मेरे त्रिशूल का चिन्ह अपने मस्तक पर धारण करें उनसे आप प्रसन्न हों और भगवान् विष्णु ने अपने चक्र का चिन्ह शिवजी को दिया कि जो शिव भक्त शैव अपने मस्तक पर मेरे चक्र का चिन्ह धारण करें, उन पर आप प्रसन्न हों। अतः यह ऊर्ध्वपुण्ड्र तो शिवजी के त्रिशूल का चिन्ह है और त्रिपुण्ड्र भगवान् के चक्र का चिन्ह है।

शिव और विष्णु की एकता का यह कितना उत्तम दृष्टान्त है। हमारे शैव और वैष्णव भाई इस रहस्य को समझकर परस्पर में प्रेम और एकता के साथ रहें, एक दूसरे का आदर करें, तो परस्पर में असहिष्णुता रहे ही नहीं। ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिपुण्ड्र में इतना ही अन्तर है। जो नासिका के मूल से लेकर मस्तक के अन्त-केश पर्यन्त—सीधा लगाया जाय, उसे ऊर्ध्व पुण्ड्र कहते हैं। और जो पड़ी लकीर के रूप में तीन लगायी जायँ उन्हें त्रिपुण्ड्र कहते हैं। पहिले वर्णाश्रमी द्विजगण बिना किसी भेद भाव के त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्व पुण्ड्र दोनों ही प्रकार के तिलक लगाया करते थे। ब्रह्माण्ड पुराण के आन्हिक तत्त्व प्रकरण में बताया है—ब्राह्मण को ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक करना चाहिये, क्षत्रिय को त्रिपुंड्र करना चाहिये, वैश्य को अर्धचन्द्राकार तिलक करना चाहिये, शूद्र को गोल बिंदी लगानी चाहिये। इस प्रकार पहिले चारों वर्णों के वेषभूसा, सदाचार पहनाव सब पृथक्-पृथक् होते थे। यहाँ तक कि दँतौन में भी १२ अंगुल की ब्राह्मण की, १० अंगुल की क्षत्रिय की ८ अंगुल की वैश्य की और ६ अंगुल की शूद्र की हो। सब कामों से यह बिना पूछे स्पष्ट हो जाय, कि यह किस वर्ण का है।

वर्णाश्रम धर्म के शिथिल हो जाने पर स्मृतिकारों ने यह नियम बनाया कि जिनकी शिवागम के अनुसार दीक्षा हुई हो, अर्थात् जो शैव हों, वे तो चाहें किसी भी वर्ण के हों-त्रिपुण्ड्र धारण करें और जिनको विष्णु आगम के अनुसार दीक्षा हुई हो-अर्थात् जो वैष्णव हों-वे ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करें।* तिथ्यादि तत्त्व ग्रन्थ में लिखा है, कि बिना त्रिपुंड्र भस्म और रुद्राक्ष के शिव पूजन निष्फल हो जाता है। श्राद्ध कर्मों में त्रिपुंड्रादि का निषेध लिखा है।

ऊर्ध्वपुंड्र को मिट्टी से करने का विधान है, त्रिपुंड्र को भस्म से और चन्दन को त्रिपुंड्र अथवा ऊर्ध्वपुंड्र कैसे भी लगा लो। उसकी सब प्रकार से छूट है।‡

ऊर्ध्वपुंड्र को यह नहीं कि जहाँ की मिट्टी मिल जाय, उसी मिट्टी से कर ले। उसके लिये मिट्टी विशेष होती है। गोपीचन्दन तालाब की मिट्टी-जो गुजरात में द्वारका के समीप है-जहाँ गोपिकाओं ने श्रीकृष्ण विरह में अपने भौतिक शरीरों का परित्याग कर दिया था, उस गोपीचन्दन तालाब की मृत्तिका का अथवा चक्रतीर्थ की जहाँ चक्रतीर्थ स्थित है वहाँ की पीली मिट्टी का माहात्म्य अत्यधिक है। कुछ वैष्णव सफेद मिट्टी के तिलक करते हैं, कुछ चित्रकूट की पीली मिट्टी से करते हैं। पुण्य क्षेत्रों की मृत्तिका तो सर्वश्रेष्ठ है ही।

---

* शिवागमे दीक्षितैस्तु धार्यं तिर्य्यक् त्रिपुण्ड्रकम्।
विष्णवागमे दीक्षितस्तु ऊर्ध्वं पुण्ड्रं विधारयेत्॥
(अमृत संहितायाम्)

‡ ऊर्ध्वं पुण्ड्रं मृदा कुर्यात् त्रिपुण्ड्रं भस्मना सदा।
तिलकं वै द्विजः कुर्यात् चन्दनेन यदृच्छया॥
(ब्रह्माण्ड पुराणे)

वासुदेव-उपनिषद् में गोपीचन्दन का महत्त्व और उसके धारण की विधि स्वयं भगवान वासुदेव ने बतायी है। यह छोटी-सी सामवेद य उपनिषद् है "आप्यायन्तु" आदि इसका शान्ति पाठ है। देवर्षि नारद और भगवान् वासुदेव का इसमें सम्वाद है। एक बार देवर्षि नारद भगवान् वासुदेव के समीप गये और उनको नमस्कार करके उनसे कहने लगे—"भगवन्! आप मुझे ऊर्ध्वपुंड्र तिलक लगाने की विधि, मन्त्र तथा स्थानादि के सम्बन्ध का पाठ पढ़ावें।"

यह सुनकर भगवान् वासुदेव ने कहा—"देखो, नारदजी! मेरे अङ्गों में गोपियों ने जो चन्दन लगाया था, वह चन्दन मैंने वैकुंठ धाम से लाकर द्वारका के चक्र तीर्थ में स्थापित किया था, वह चन्दन कुंकुमादि सहित पीला होने से-विष्णु चन्दन या गोपीचन्दन कहा जाता है। वह मुक्ति देने वाला चन्दन है, उसे ब्रह्मादि देव भक्तगण मस्तक पर धारण करते हैं, उस वैकुंठधाम में उत्पन्न चन्दन को ही धारण करना चाहिये।"

पहिले गोपीचन्दन को नमस्कार करके उसे आदर सहित उठावे फिर उसको इस भाव से प्रार्थना करे—'हे गोपी-चन्दन! तुम पाप को नाश करने वाले हो, तुम भगवान् विष्णु की देह से समुत्पन्न हो, हे चक्र द्वारा अंकित! आपको नमस्कार है। आप धारण करने से मुक्ति दाता हो ओ।"

इस प्रकार चन्दन की प्रार्थना करके 'इमं मे गङ्गे' इस मन्त्र से जल ले। 'विष्णो र्नु कं वीर्याणि' इस मंन्त्र से चन्दन का मर्दन करे-घिसे—

फिर 'अतो देवा अवन्तु नो०' इत्यादि मंत्र से तथा विष्णु गायत्री से उसे तीन बार अभिमंत्रित करे। फिर भगवान् की इस भाव से स्तुति करे—"हे शङ्ख चक्र तथा गदा को हाथ में धारण

करने वाले! हे द्वारकावासिन्! हे अच्युत! हे गोविन्द! हे पुंडरीकाक्ष! मैं जो आपका शरणागत हूँ ऐसे मुझ दीन की आप रक्षा करें।"

भगवान् वासुदेव नारदजी से कह रहे हैं—"सो, नारदजी, इस भाँति मेरा ध्यान करके अनामिका उँगली से (१) ललाट, (२) उदर, (३) हृदय, (४) कंठकूप, (५) दायीं कुक्षि, (६) बाईं कुक्षि, (७) दायीं भुजा, (८) बायीं भुजा में, (९) कानों में, (१०) पीठ, तथा (११) ककुन् (गर्दन के पीछे) और (१२) मस्तक में क्रमशः (१) केशव, (२) नारायण, (३) माधव, (४) गोविन्द, (५) विष्णु, (६) वामन, (७) मधुसूदन, (८) श्रीधर, (९) त्रिविक्रम, (१०) पद्मनाभ, (११) दामोदर और (१२) वासुदेव इन १२ नामों से अथवा विष्णु गायत्री से बारह स्थानों में द्वादश तिलक धारण करे। ये तो गृहस्थी की विधि है ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ अनामिका से ही (१) ललाट, (२) कण्ठ, (३) हृदय और कन्धों के पास। बाहु मूल में क्रमशः (१) कृष्ण, (२) सत्य, (३) सारस्वत, (४) सौरि और (५) जनार्दन इन नामों से पाँच स्थानों में तिलक धारण करे। संन्यासी अनामिका से न लगाकर तर्जनी उँगली से प्रणव द्वारा सिर, ललाट तथा हृदय पर चन्दन लगाये। ऊर्ध्वपुंड्र में तीन रेखायें हैं। ये तीनों रेखायें त्रिदेव, त्रिव्याहृति, तीन स्वर, तीन वेद, तीन स्वर, तीनों अग्नियों, तीन ज्योति वाले, तीन काल, तीनों अवस्थाओं, तीनों पुंड्र (क्षर, अक्षर, परमात्मा) प्रणव की तीनों मात्राओं के प्रतीक हैं। जैसे अकार उकार और मकार मिलकर प्रणव बनता है, वैसे ही ये तीनों रेखायें मिलकर प्रणव स्वरूप हो जाती हैं। इसलिये ऊर्ध्वपुंड्र की धारणा करनी चाहिये।"

परमहंस प्रणव के द्वारा ललाट में एक ही ऊर्ध्वपुंड्र

धारण करे। तत्त्व प्रदीप प्रकाश के सदृश स्वात्मा को अवलोकन करता हुआ मेरे सायुज्य को प्राप्त होता है। अथवा दूसरे संन्यासी न्यस्त हृदय ऊर्ध्वपुंड्र के मध्य में, हृदय कमल के मध्य में, नीले मेघ के मध्य में जैसे बिजली प्रकाशित होती है, जैसे ऊर्ध्वमुख अग्नि शिखा प्रकाशित होती है। उसी अग्नि शिखा के मध्य में परमात्मा विराजमान् हैं। प्रथम हृदयस्थ ऊर्ध्वपुंड्र में भगवान की भावना करे। जो हृदय कमल में आत्मस्वरूप परमात्मा का ध्यान करता है, वह मुक्त हो जाता है। अथवा भक्ति द्वारा जो सच्चिदानन्द स्वरूप मुझे जान जाता है कि मैं अव्यय हूँ, ब्रह्म हूँ आदि मध्य से रहित स्वयं प्रकाश हूँ, तो वह भी मुक्त हो जाता है।"

देखो, मैं विष्णु एक ही हूँ, जंगम तथा स्थावरों में अनेक रूपों से स्थित हूँ। जिस प्रकार तिलों में तेल, काष्ठ में अग्नि, दुग्ध में घृत, पुष्प में गन्ध व्याप्त है, वैसे ही जगत् के समस्त पदार्थों में मैं व्याप्त हूँ। मैं सबके बाहर, भीतर, मध्य में सर्वत्र सभी में व्याप्त हूँ। फिर भी मैं शरीर से रहित, सभी भूतों में समान रूप से स्थित हूँ।

तीन स्थान मुख्य हैं। दोनों भौंहों का मध्य स्थान, हृदय और ब्रह्मरन्ध्र। इन स्थानों में चेतना को प्रकाशित करने वाले मुझ हरि का ध्यान करे। इन तीनों स्थानों को गोपीचन्दन से अनुलिप्त करके मेरा ध्यान करे तो परमपद को प्राप्त कर ले। संन्यासी को चाहिये अपने दण्ड को ऊँचा रखे, मस्तक पर ऊर्ध्वपुंड्र धारण करे। ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी बना रहे और ऊर्ध्व योगवान् हो। इन चारों से जो ऊर्ध्ववान् है उसे निश्चय ही ऊर्ध्वपद प्राप्त होता है। यह निश्चित ज्ञान है। यह मेरी भक्ति से स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। इसलिये नित्य ही एकाग्रभक्ति से गोपीचन्दन

को धारण करना चाहिये। विशेषकर पवित्र वैदिक ब्राह्मणों को तो गोपीचन्दन को जल में घिसकर ऊर्ध्व पुंड्र धारण करना ही चाहिये। कहीं गोपीचन्दन न मिल सके तो मुमुक्षु पुरुष को अपरोक्ष दर्शन की सिद्धि के निमित्त तुलसीजी की जड़ की नीचे की मिट्टी से तिलक धारण करना चाहिये।

अति रात्रि में अग्निहोत्र की भस्म से, अग्नेर्भस्मासि० इस मन्त्र से भस्म उठाकर इदं विष्णु इस मंत्र से उसे जल में मलकर त्रीणिपदादि मंत्र से अथवा विष्णु गायत्री से या प्रणव से सम्पूर्ण देह में मल लें। इस प्रकार जो गोपीचन्दन को धारण करता है, अथवा इसका अध्ययन करता है वह सभी प्रकार के पापों से छूट जाता है। जिसने ऐसा किया उसने सभी तीर्थों में स्नान करने का फल प्राप्त कर लिया। उसने समस्त यज्ञ कर लिये वह सब देवताओं द्वारा पूजित हो चुका, उसकी मुझ नारायण में अचला भक्ति हो जाती है। वह सम्यक ज्ञान को प्राप्त करके विष्णु सायुज्य को प्राप्त करता है। उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती, अर्थात् उसको मोक्ष हो जाती है।" इस प्रकार भगवान् वासुदेवजी ने नारदजी से कहा था। जो इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, उसकी भी इसी प्रकार मुक्ति हो जाती है। ॐ तत् सत्।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने आपसे यह वासुदेव उपनिषद् का सार कहा—अब आप मुद्गल उपनिषद् का सार श्रवण करने की कृपा करें। यह उपनिषद् सुप्रसिद्ध वेद के पुरुष सूक्त की एक प्रकार से व्याख्या ही है।"

छप्पय

द्विज द्वादश इस्थान गृही धारे सुख पावे।
ब्रह्मचारी अरु बनी पाँच ही अंग लगावे॥
यति ललाट, सिर हिये प्रणव तैं धारन करि हैं।
ऊर्ध्व पुण्ड्रकूँ धारि न पुनि भव जल निधि परि हैं॥
हृदय कमल के मध्य में, विद्युत् ज्यों घनश्याम में।
ध्यावैं तिलकहिं धारिकें, ते जावैं प्रभु धाम में॥

इति वासुदेव उपनिषद्-सार समाप्त

(६०) मुद्गल-उपनिषद्-सार

[३२४]

एको देवो बहुधा निविष्ट
अजायमानो बहुधा विजायते ।
तमेतमग्निरित्यध्वर्यव
उपासते । यजुरित्येपहीदं सर्वं युनक्ति ॥*

(मुद्गल उपनिषद्)

छप्पय

मुद्गल मुनि उपनिषद् पुरुष सूकहिं बतलावै ।
पुरुष सूक जग विदित सार संक्षिप्त सुनावै ॥
महापुरुष परपुरुष चार अंशनि महँ प्रकटहु ।
वासुदेव अहिशेष सु-प्रद्युम्नहु अनिरुद्धहु ॥
एक पाद में यह जगत, तीन पाद पारम परम ।
सृष्टि करी अज प्रकटि कै, करयो जगत चर अचर तम ॥

मुद्गल उपनिषद् ऋग्वेदीय है, भगवान् वेदव्यासजी ने जब एक वृहद् वेद को संक्षिप्त करके उसे ऋक्, यजु, साम और

* वे देव एक ही हैं, बहुत भांति से निविष्ट होकर स्वयं अजन्मा होने पर भी अनेक रूपों से उत्पन्न होते हैं । याजक अध्वर्यु गण उसी की अग्नि रूप से उपासना करते हैं । यजुर्वेदीय यह यजुः है ऐसा मानकर समस्त यज्ञीय कर्मों में योजित करते हैं ।

अथर्व इन नामों से चार भागों में बाँट दिया। भगवान् व्यास जानते थे, कलियुगी लोग अल्पायु, क्षीण बल तथा अल्प बुद्धि वाले मन्दमति होंगे। वे चारों वेदों की संहिताओं को कंठस्थ धारण करने में समर्थ न होंगे। अतः उन्होंने चार संहिताओं के लिये अपने चार शिष्यों को बुलाया। उनमें से ऋक् संहिता पैल मुनि को, यजुः संहिता वैशम्पायन महर्षि को, साम संहिता महामुनि जैमिनी को और अथर्व संहिता सुमंतु महामुनि को दी। इन सब महर्षियों ने अपने पुत्रों तथा शिष्यों को उन संहिताओं की शाखायें पृथक्-पृथक् करके उनको पढ़ाया। क्योंकि वे जानते थे, आगे कलियुग में लोग एक वेद को भी धारण न कर सकेंगे। कम से कम अपनी-अपनी शाखाओं को तो याद कर ही लिया करेंगे। इस प्रकार चारों वेदों की बहुत-सी शाखायें हो गयीं। इनमें से ऋग्वेद को 'वह्वच' भी कहते हैं, क्यों कि उसकी ऋचायें बहुत हैं। ऋग्वेदीय महामुनि पैल ने अपनी ऋग्वेद संहिता के दो विभाग किये। पहिले विभाग को तो इन्द्र प्रमिति को पढ़ाया और दूसरे विभाग को वाष्कल महामुनि को।

इन्द्र प्रमिति महामुनि ने अपनी संहिता मांडूकेय ऋषि को पढ़ायी। माण्डूकेय महामुनि ने अपने शिष्य देव मित्र को और अपने पुत्र शाकल्य को अपनी संहिता को दो भागों में करके पढ़ाया। देवमित्र ने तो अपनी शाखा को अपने शिष्य सौभारि आदि ऋषियों को पढ़ाया। अब जो माण्डूकेय के पुत्र शाकल्य महामुनि थे उन्होंने अपनी संहिता के पाँच विभाग किये। उन्हें क्रमशः अपने वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य और शिशिर इन पाँचों शिष्यों को पढ़ाया।

इस प्रकार ये मुद्गल महामुनि शाकल्य मुनि के शिष्य तथा माण्डूकेय महामुनि के प्रशिष्य हैं। ये गोत्र कारक महामुनि हैं।

इनकी पत्नी का नाम इन्द्रसेना पुराणों में आता है। मोद्गल्य गोत्रीय ब्राह्मण इस देश में तो बहुत कम मिलते हैं। दक्षिण में अधिक मिलते हैं। किसी यज्ञ में वाद विवाद होने से मोद्गल्य गोत्रीय ब्राह्मण शिखा नहीं रखते। उन्हीं ऋग्वेदीय महर्षि मुद्गल द्वारा कही हुई यह मुद्गल उपनिषद् है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऋग्वेदीय मुद्गल उपनिषद् छोटी सी ही उपनिषद् है। 'वाङ् मे मनसि' आदि इसका शान्ति पाठ है। यह चार भागों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त का विषय निरूपण करते हुए पहिले बताया है इसे भगवान् वासुदेव ने सर्वप्रथम इन्द्र से कहा था। इन्द्र ने जब पुरुष सूक्त के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् ने कहा—"अच्छा तुम सुनो तो सही। मैं पुरुषसूक्त की व्याख्या करता हूँ।"

पुरुष सूक्त का संक्षेप में अर्थ बताया जाता है। पुरुष सूक्त का प्रथम मन्त्र है 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि। इसमें सहस्र शब्द अनन्त का वाचक है। इस मन्त्र के अन्त में 'तिष्ठत् दशांगुलम्' पद आता है, इस दश पद का भी अर्थ अनन्त योजन है। अर्थात् वे अनन्तस्वरूप भगवान् कहाँ बैठे हैं अनन्त योजनों में। इस पहिले मन्त्र का भाव यह है कि भगवान् सर्वत्र सभी देशों में व्याप्त हैं।

अब दूसरा जो 'पुरुष एवेदं' इत्यादि मन्त्र है, उसमें भगवान विष्णु सर्वकाल व्यापी हैं, और वे मोक्ष देने वाले हैं। इस प्रकार पहिले मन्त्र में भगवान् की देश व्याप्ति और दूसरे में काल व्याप्ति बताई।

अब तीसरा जो 'एतावान्' आदि मन्त्र है, उसमें भगवान् मोक्ष देने वाले हैं, इसका वर्णन किया है। इस मन्त्र से हरि भगवान् के वैभव का वर्णन किया गया है।

इन तीनों मन्त्रों द्वारा चतुर्व्यूह के संकर्षण, वासुदेव और प्रद्युम्न इन तीनों स्वरूप के वैभव का वर्णन किया गया है, अब जो चौथा 'त्रिपादूर्ध्व मन्त्र है इसमें अनिरुद्ध के वैभव का वर्णन है।

अब पाँचवाँ जो 'तस्मात् विराड्' जो मन्त्रहै इसके द्वारा पाद विभूति रूप जो हरि नारायण हैं उनकी स्वरूप भूता जो प्रकृति पुरुष हैं, उनकी समुत्पत्ति दिखायी गई है।

छटा जो 'यत् पुरुषेण' इत्यादि मन्त्र है इस मन्त्र में सृष्टि के स्वरूप का तथा यज्ञ का वर्णन किया गया है।

सातवाँ जो 'तं यज्ञं' मन्त्र है इसमें सृष्टि यज्ञ का वर्णन है जिस यज्ञ को समिधा का वर्णन पन्द्रहवें 'सप्तास्यासन्' मन्त्र में किया गया है। इसी सातवें 'तं यज्ञम्' मन्त्र द्वारा मोक्ष का भी वर्णन किया है।

अब 'तस्मात् यज्ञात्' यह आठवाँ तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः' यह नवाँ, यत् पुषम्, यह दशवाँ, तस्मादश्वा यह दशवाँ, 'यत् पुरुषं' यह ग्यारहवाँ 'ब्राह्मणोऽस्य' यह बारहवाँ, 'चन्द्रमा मनसो' यह तेरहवाँ, नाभ्या आसीद्' यह चौदहवाँ इन सात मन्त्रों द्वारा जगत् को सृष्टि का वर्णन किया गया है। 'सप्ता स्यासन' इस पन्द्रहवें मन्त्र में सृष्टि यज्ञ के लिये जो समिधा होती हैं इसका वर्णन किया गया है। इस प्रकार पन्द्रह मन्त्रों का अर्थ कहा। अब सोलहवाँ जो 'वेदाहमेतम्' मन्त्र है और सत्रहवाँ जो धाता पुरस्ताद् ये दो मंत्र हैं इनमें श्रीहरि के वैभव का वर्णन किया गया है।

अब जो अंतिम अठारहवाँ 'यज्ञेनयज्ञमय' मन्त्र है। इसके द्वारा मोक्ष के वर्णन का उपसंहार किया गया है। जो इसे

यथार्थ रूप से जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है, यहाँ आकर मुद्गल उपनिषद् का प्रथम खण्ड पूर्ण होता है।

प्रथम खण्ड में पुरुष सूक्त का वैभव विस्तार के साथ प्रतिपादन किया, अब द्वितीय खण्ड में भगवान वासुदेव ने इन्द्र के लिये ज्ञान का उपदेश करके फिर भी सूक्ष्म श्रवण के लिये प्रणत हुए इन्द्र के लिये परम रहस्य भूत पुरुष सूक्त के जो दो खण्ड हैं, उनका उपदेश दिया। अब उन दो खण्डों को कहते हैं। जो यह कहा कि वे पुरुष नाम, रूप और ज्ञान से अगोचर हैं, संसारी लोगों के लिये अति दुर्ज्ञेय हैं। इसीलिये उन्होंने अपने इस दुर्ज्ञेय रूप को छोड़कर क्लेशादि से युक्त देव आदि के उद्धार की इच्छा से सहस्र कला अवयव युक्त कल्याणकारी रूप को धारण किया जो दृष्टमात्र से ही मोक्ष देने वाला है। उस वेष से पृथ्वी आदि लोकों में व्याप्त होकर अनन्त योजनों में स्थित हैं। ये नारायण पुरुष ही भूत, भविष्य तथा वर्तमान रूप में स्थित हैं। वे ही सबको मोक्ष देने वाले हैं। वे समस्त महिमा वालों से श्रेष्ठ हैं। उनसे अधिक कोई ज्यायान-श्रेष्ठ-नहीं है। वे महापुरुष अपनी आत्मा को चार विभागों में करके तीन पाद से तो परम व्योम में रहते हैं। शेष जो चतुर्थ पाद अनिरुद्ध नारायण नाम का पाद बचा उसके द्वारा समस्त विश्व ब्रह्माण्ड की रचना करते भये। उस त्रिपाद विभूति (वासुदेव, संकर्षण और प्रद्युम्न) से भिन्न जो एक पाद अनिरुद्ध रूप चतुर्थ पादात्मक नारायण हैं, उन्होंने जगत की सृष्टि के लिये प्रकृति को बनाया। वे प्रकृति स्वरूपा ब्रह्माजी समृद्धकाय होने पर भी सृष्टि काम को जानने में सामर्थ्यवान् नहीं हो सके। तब उन अनिरुद्ध नारायण ने उन्हें सृष्टि कर्म का उपदेश दिया। उन्होंने कहा—'ब्रह्मन्! तुम अपनी इन्द्रियों को याजक

रूप में ध्यान करके, कमल कोशभूत जो आपका दृढ़ ग्रन्थि कलेवर-शरीर है उसे यज्ञ की हवि ध्यान करके, और मुझे हवि को खाने वाला ध्यान करके, वसन्त काल को यज्ञ का घृत ध्यान करके, ग्रीष्म ऋतु को समिधा का ध्यान करके, शरद ऋतु को रस रूप मानकर यज्ञ कर्म करो। इस भाँति अग्नि में हवन करने से तुम्हारे शरीर से यदि वज्र का भी स्पर्श हो जाय, तो वह वज्र भी कुण्ठित हो जायगा। अर्थात् उस यज्ञ से तुम्हारा शरीर इतना सुदृढ़ हो जायगा कि वज्र भी उस पर प्रहार करने में समर्थ न हो सकेगा। तदनन्तर तुम अपने कार्य से समस्त प्राण-धारी जीवों की सृष्टि करके, उस सृष्टि से जो उत्पन्न होगा, वही स्थावर जंगमात्मक जगत् होगा। इस प्रकार जीव और आत्मा के योग से मोक्ष का प्रकार भी कहा यह मानना चाहिये। जो इस सृष्टि यज्ञ को जानता है, वह मोक्ष प्रकार को जानता है। तथा वह अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त होता है। यहाँ आकर द्वितीय खण्ड समाप्त हुआ।

अब तृतीय खण्ड में कहा है, वह देव एक ही है, वह अनेक रूप से इस जगत में उत्पन्न हो रहा है। यज्ञ कर्ता अध्वर्युगण उसी की अग्नि रूप से उपासना करते हैं, यजुर्वेदीय 'यह यजुः है' इसी भाव से उसकी सर्वयज्ञीय कर्मों में योजना करते हैं। सामवेदीय उसी को 'साम' कहते हैं। क्योंकि उसी में यह सब प्रतिष्ठित है। सर्प उसी को विष, सर्पविद्-सर्प-प्राण-रूप, देव-गण, अमृत रूप, मनुष्य धन, असुर माया, पितर स्वधा, देवजन वेत्ता-देवोपासक-देव, गन्धर्व गण इसे रूप तथा अप्सरायें इसे गन्धर्व मानती हैं। कहने का अभिप्राय यह है, कि जो इसको जिस भावना से उपासना करता है, उसके लिये वह वैसा ही हो जाता है। इसलिये ब्राह्मण-ब्रह्मवेत्ता को चाहिये, कि वह

यही भावना करे कि परब्रह्म मैं ही हूँ। इस प्रकार की भावना करने से वह उसी स्वरूप वाला हो जाता है। तद्रूप वाला बन जाता है। जो इसे जानता है वही यथार्थ वस्तु को जानता है। यहाँ आकर तीसरा खण्ड समाप्त होता है।

अब चौथे खण्ड में ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—"वह ब्रह्म तापत्रय से अतीत है, छैओं कोशों से विनिर्मुक्त है। छै ऊर्मियों से रहित है, पंचकोशों से अतीत है। षड्भाव विकारों से शून्य है इस प्रकार वह सबसे विलक्षण है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक ये त्रिताप हैं। जो कर्ता-कर्म-कार्य, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा भोक्ता-भोग और भोग्य इस प्रकार एक-एक के तीन-तीन भेद हैं। कोश क्या? चर्म, मांस, रक्त, अस्थि, नसें तथा मज्जा ये छैः कोश-धातुयें-हैं। छै शत्रु वर्ग हैं, वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य ये हैं। पाँच कोश हैं—वे अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश ये हैं। छैः जीवों के भाव हैं, कौन-कौन? जियत्व-जिय होना,-आत्मजनन-उत्पन्न होना,-वर्धन-बढ़ना, परिणाम-परिवर्तित होना-, क्षय-घटना-, नाश-नष्ट हो जाना। छैः ऊर्मियाँ हैं। कौन-कौन? भूख प्यास, शोक- मोह, जरा और मरण छैः भ्रम हैं। कौन-कौन? कुल, गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम और रूप। इस प्रकार त्रिताप, कोश, विकार, ऊर्मि और भ्रम इनके योग होने से उस परम पुरुष की ही जीव संज्ञा हो जाती है। जीव कोई दूसरा नहीं है।

अब इस उपनिषद् के अध्ययन का फल बताते हैं—जो इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करता है, वह अग्निपूत तथा आदित्य द्वारा पवित्र हो जाता है। वह अरोगी, पुत्र पौत्रादि समृद्धि से युक्त तथा विद्वान् होता है।

पवित्र हो जाता है, सुरापान से, अगम्यागमन से, मातृ, दुहितृ तथा स्नुषागमन से पवित्र हो जाता है। स्वर्ण की चोरी जैसे महापातक से छूट जाता है। गुरु सुश्रूषा न करने से, अयाजक को यज्ञ कराने से, अभक्ष्य के भक्षण करने से, तथा परदारागमन जैसे घोर पापों से छूट जाता है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यादि दुर्गुणों से वह बाधित नहीं होता। सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। इसी जन्म में वह परम पुरुष हो जाता है।

अब पात्रता का वर्णन करते हुए कहते हैं इसे अपात्र को न देना चाहिये। इसके अपात्र कौन-कौन हैं? इसे बताते हैं इस पुरुष सूक्त के अर्थ वाली अति रहस्यमय राजगुह्य, देवगुह्य, गुह्यतर उपनिषद् को अदीक्षित, अनूचान न हो-जिज्ञासु न हो-यज्ञ न करने वाले, विष्णु भक्ति विहीन, अवैष्णव-अयोगी, बहुभाषी, अप्रियभाषी, जो वर्ष में एक बार भी वेदाध्ययन न करता हो, असंतोषी, तथा जो वेदाध्ययनशील न हो ऐसे लोगों को इसका उपदेश कभी न करे।

आचार्य उपदेशक गुरु को चाहिये पवित्र देश में, पुण्य नक्षत्र में प्राणायाम करके, परम पुरुष परमात्मा का ध्यान करते हुए, जो अपनी शरण में आया हो, उस शरणापन्न शिष्य के दक्षिण कर्ण में इस पुरुष सूक्तार्थ उपनिषद् का उपदेश करे। बहुत बोले नहीं, बहुत बोलने से यातयाम बासी बन जाता है। बारम्बार कर्ण में उपदेश करे। इस प्रकार पवित्रता पूर्वक सुनने वाला शिष्य, उपदेश देने वाला अध्यापक दोनों ही इसी जन्म में परम पुरुष स्वरूप-ब्रह्म रूप हो जाते हैं। यही मुद्गलोपनिषद् है, यहाँ आकर यह उपनिषद् समाप्त होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह मुद्गलोपनिषद्

सार मैंने आपके सम्मुख कहा। अब आप कृपा करके शांडिल्य-उपनिषद्-सार को और श्रवण करें।"

छप्पय

पुरुष प्रतिष्ठित जगत जाइ जे जैसे ध्यावैं।
परम पुरुष तिहि भाव रूप तैसे है जावैं॥
तातैं ज्ञानी ब्रह्मभाव अपने में लावै।
ब्रह्म भाव करि सतत ब्रह्म निश्चय है जावै॥
ब्रह्म जीव ही बनि गयो, ताप, कोश, अमभाव गहि।
कबहुँ अपात्रहिं देहि नहिं, देहि पात्रकूँ हरष लहि॥

इति मुद्गल-उपनिषद्-सार समाप्त

(६१) शाण्डिल्य-उपनिषद्-सार (१)

[३२५]

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं महत् ॥*

(शा० उ० १ ध० २० मं०)

छप्पय

शाण्डिल्य हु उपनिषद् योग अष्टाङ्ग बतावै ।
दश दश यम अरु नियम आठ आसन समुझावै ॥
पूरक रेचक कुंभ प्राण आयाम तीनि है ।
प्रत्याहार हु पाँच ध्यान द्वै कहे मुनिनि हैं ॥
एक धारणा समाधिहु, अष्ट अङ्ग सब मिलि भये ।
मुनि अथर्व शांडिल्य तैं, योग अङ्ग विधिवत कहे ॥

महामुनि शाण्डिल्य गोत्र प्रवर्तक हैं। शाण्डिल्य गोत्रीय ब्राह्मण इस देश में बहुत हैं। ये महामुनि भक्ति मार्ग के आचार्य हैं। शाण्डिल्य का भक्ति-शत-सूत्र प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसका भाष्य स्वप्नेश्वर सूरि ने किया है। जैसे ये महर्षि भक्ति-मार्ग के आचार्य हैं, वैसे ही ये योगमार्ग के भी आचार्य हैं।

---

* प्रथम प्राणायाम मे प्रथम स्वेद होता है, मध्यम में कम्प और उत्तम प्राणायाम में पद्मासन के सहित योगी आकाश में अधर-निरालम्ब-उठ जाता है।

यह जो शांडिल्य-उपनिषद् है, यह योग सम्बन्धी ही उपनिषद् है। इस उपनिषद् का 'भद्रं कर्णेभिः' इत्यादि शांति पाठ है। यह तीन अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में महामुनि शांडिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा—"भगवन्! यह जो अष्टाङ्ग योग है, वह आत्मलाभ का उपाय है, अर्थात् अष्टाङ्ग योग द्वारा ही आत्म साक्षात्कार हो सकता है। उस अष्टाङ्ग योग को मुझसे कहिये।"

यह सुनकर अथर्वा मुनि ने कहा—"देखो, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही योग के आठ अंग हैं। इनमें यम और नियम दश दश हैं, आसन मुख्य आठ हैं, प्राणायाम तीन हैं, प्रत्याहार पाँच प्रकार के हैं। धारणा एक ही है। ध्यान दो प्रकार का है समाधि तो एक ही है। अब इनकी व्याख्या सुनो।

यम—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) दया, (६) आर्जव, (७) क्षमा, (८) धृति, (९) मिताहार और (१०) शौच ये ही दश यम कहे जाते हैं।

१–अहिंसा किसे कहते हैं? हिंसा न करने को। हिंसा क्या? मनसा वाचा कर्मणा सभी प्राणियों को सर्वदा क्लेश पहुँचाना हिंसा है। ऐसा न करना ही अहिंसा है।

२–सत्य किसे कहते हैं? मनसा वाचा कर्मणा सभी प्राणियों के हित में रहना तथा यथार्थ बात को ही वाणी से बोलना। असत्य बात का अभिभाषण न करना।

३–अस्तेय क्या? मन से वचन से तथा कर्म से दूसरों के द्रव्यों में निःस्पृहा रखना। अर्थात् यह न चाहे, कि इसकी भी वस्तु हमें मिलजाय, यह भी हमारे अधिकार में आजाय, न्याय से जो भी प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रहना।

४–ब्रह्मचर्य क्या ? सभी अवस्थाओं में मन से, वचन से तथा कर्म से सभी प्रकार के मैथुनों का परित्याग करना।

५–दया किसे कहते हैं ? संसार के समस्त प्राणियों में-सभी स्थानों में, सभी पर अनुग्रह करते रहना। सर्वभूतों के हित में निरत रहना।

६–आर्जव क्या ? मन से, वचन से तथा कर्म से चाहें विहित-जन हों अथवा अविहित जन हों, उन सब जनों में तथा प्रवृत्ति निवृत्ति इन दोनों में एक रूपता से रहना अर्थात् जो भी कुछ हो रहा है सब भगवत् प्रेरणा से ही हो रहा है, यह समझकर सबमें सरलता के साथ वर्तते रहना।

७–क्षमा किसे कहते हैं ? कोई अपने अनुकूल प्रिय कार्य हो अथवा अपने प्रतिकूल अप्रिय कार्य हो उन दोनों को तथा कोई मारता हो अथवा कोई पूजन करता हो उन दोनों कार्यों को समान रूप से सहन करना। अर्थात् दुःख देने वाले और सुख पहुँचाने वाले दोनों पर दया भाव रखना यही क्षमा है।

८–धृति क्या ? अर्थ की हानि होने पर, अपने इष्ट मित्र बन्धु बान्धवों के वियोग होने पर भी सर्वत्र चित्त को स्थिर रखना, उसमें अधीरता न दिखाना धैर्य स्थापन करना यही धृति है।

९–मिताहार किसे कहते हैं ? देखो, जैसे हमें एक सेर की भूख है, तो तीन पाव ही खाय। सुस्निग्ध-चिकनी वस्तु खाय, मीठी वस्तु खाय, मधुर आहार परिमित करे, यही मिताहार है।

१०–शौच किसे कहते हैं ? देखो, शौच दो प्रकार का होता है, बाहरी शौच, भीतरी शौच। इसमें मिट्टी से जल से तो बाहरी शौच होता है। लघुशंका दीर्घ शंका के अनन्तर मिट्टी जल से अंगों का प्रक्षालन करना, मिट्टी लगाकर त्रिकाल

स्नान करना यह तो बाहर की पवित्रता है, मन को शुद्ध रखना यह भीतरी पवित्रता है मन की पवित्रता तो अध्यात्म विद्या द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

इस प्रकार ये दश तो यम हो गये अब दश ही नियम हैं। उनके नाम ये हैं। (१) तप, (२) संतोष, (३) आस्तिक्य भाव, (४) दान, (५) ईश्वर पूजन, (६) सिद्धान्त श्रवण, (७) ह्री (८) मति, (९) जप और (१०) व्रत। अब इनकी व्याख्या सुनिये।

१-तप किसे कहते हैं? शास्त्रीय विधि से-मन माने ढँग से नहीं-कृच्छ्र चान्द्रायणादि विधिविहित उपवासों द्वारा शरीर को सुखा देने का ही नाम तप है।

२-सन्तोष किसे कहते हैं। स्वाभाविक रूप से प्रभु इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तुष्ट रहना, बहुत हाय-हाय न करना, इसी का नाम संतोष है।

३-आस्तिक्य किसे कहते हैं? वेद में बताये हुए धर्म और अधर्मों के प्रति विश्वास रखना इसी का नाम आस्तिकता है। वेदों पर श्रद्धा रखना आस्तिकता और वेदों की निन्दा करना नास्तिकता है।

४-दान किसे कहते हैं? अन्न तथा दूसरा धन जो न्याय द्वारा उपार्जित किया गया हो, उसे श्रद्धा सहित उसके चाहने वाले अतिथि अभ्यागतों को देना यही दान कहलाता है।

५-ईश्वर पूजन क्या? प्रसन्न स्वभाव से अपनी शक्ति के अनुसार भगवान् विष्णु का, भगवान् भोलेनाथ शंकरजी आदि देवों का षोडशोपचार तथा पंचोपचार आदि विधि से पूजन करना ही ईश्वर पूजन है।

६-सिद्धान्त श्रवण किसे कहते हैं? वेदान्त के जो गीता

उपनिषद् आदि सिद्धान्त ग्रन्थ हैं, उनके अर्थों का परस्पर में मिलकर विचार विमर्श करना ही सिद्धान्त श्रवण है।

७–ह्री किसे कहते हैं ? वैदिक मार्ग तथा लोक में जो कार्य कुत्सित-बुरे-माने जाते हों, उन कर्मों के करने में लजाना ! लज्जा का अनुभव करना इसी को ह्री कहते हैं।

८–मति क्या ? वेद विहित जो कर्म हैं, उन कर्मों में श्रद्धा रखकर उन कर्मों में आस्था रखना यही मति है।

९–जप किसे कहते हैं ? शास्त्रीय विधि से शास्त्रीय मन्त्रों की गुरु द्वारा दीक्षा लेकर उनका पुनः-पुनः अभ्यास करने को जप कहते हैं। वह जप दो प्रकार का होता है, वाचिक और मानसिक। मानसिक जप वह कहलाता है, जिसमें मन्त्रका मन ही मन ध्यान किया जाता है। वाचिक जप भी दो प्रकार का होता है, एक तो उच्च स्वर से जप दूसरा उपांशु जप। उच्च स्वर से जप तो वह जो कानों से सुनायी दे, उपांशु जप वह जो सुनाई न दे, केवल ओष्ठ और जिह्वा मन्त्रोच्चारण के समय हिलती हुई दिखायी दें। उच्च स्वर जप की अपेक्षा उपांशु जप सहस्र गुणा और उपांशु जप से मानसिक जप कोटि गुणा फल दायक बताया है।

१०–व्रत किसे कहते हैं ? वेदोक्त विधि से यह निश्चय करके कि यह तो कर्तव्य है यह अकर्तव्य है, यह विधि है, यह निषेध है। तदनन्तर इसे हम करेंगे, इसे नहीं करेंगे ऐसा निश्चय करके जो नियम साधा जाता है अनुष्ठान किया जाता है। उसी का नाम व्रत है। ये दश तो नियम हो गये। अब यम नियम के पश्चात् आसन अष्टाङ्ग योग का तीसरा अङ्ग है। वैसे तो चौरासी लाख योनियाँ हैं तो उतने ही आसन हैं, उनमें चौरासी मुख्य आसन हैं। उनमें भी (१) स्वस्तिक, (२) गोमुख,

(३) पद्म, (४) वीर, (५) सिंह, (६) भद्र, (७) मुक्त तथा (८) मयूर ये आठ आसन मुख्य हैं।

१-स्वस्तिक आसन किसे कहते हैं? जानु और ऊरु के मध्य में दोनों पाद तलों को भली भाँति करके, सीधे शरीर से समभाव से अवस्थित होने को स्वस्तिकासन कहते हैं।

२-गोमुख आसन किसे कहते हैं? बायें घुटने पर दक्षिण घुटने को पृष्ट पार्श्व में रखना और इसी दक्षिण को सव्य में रखने से जो गौ के मुख के सदृश आकार बन जाता है, वही गोमुख आसन है।

३-पद्मासन किसे कहते हैं? पद्मासन के दो भेद हैं बद्ध-पद्मासन और पद्मासन। दोनों ऊरुओं के ऊपर दायें बायें के क्रम से दोनों पाद तलों को रखे। यह तो पद्मासन हुआ, फिर दायें हाथ को पीठ की ओर ले जाकर दायें पैर का अँगूठा और बायें हाथ को पीठ की ओर से ले जाकर बायें पैर का अँगूठा पकड़े यही सभी द्वारा पूजित बद्ध पद्मासन है।

४-वीरासन किसे कहते हैं? एक पैर को ऊरु पर खड़ा करके दूसरे को दूसरे ऊरु पर भूमि में लिटाकर जो वीर पुरुषों की भाँति कड़क कर दृढ़ता के साथ बैठना है, उसे वीरासन कहते हैं।

५-सिंहासन किसे कहते है? दक्षिण पैर को सव्य गुल्फ के द्वारा तथा वाम पैर को दक्षिण गुल्फ के द्वारा स्थापित करके दोनों हाथों को दोनों जानुओं पर रखे, और अपने दोनों हाथों की दशों उँगलियों को खूब चौड़ा ले। मुँह को जितना फाड़ सके फाड़ ले, फिर नासिका के अग्रभाग को सुसमाहित होकर देखता रहे यही सिंहासन है।

६-सिद्धासन किसे कहते हैं? बायें पैर की एड़ी से लिंग

और गुदा के मध्य जो योनिस्थान है, उसे पीड़न करके और दक्षिण पैर की ऐड़ी को लिङ्ग के ऊपर रखे और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में जमा कर मन का उसी स्थान में लक्ष्य बनाले। इसी का नाम सिद्धासन है।

७–भद्रासन किसे कहते हैं ? दोनों एड़ियों को वृषणों के नीचे जो सीमन है उसके पार्श्व भाग में जमावे। पाद के पार्श्व में दोनों हाथों को सुनिश्चल करके दृढ़ता के साथ बाँधे इसी का नाम भद्रासन है, इससे सम्पूर्ण व्याधियों का तथा विषों का नाश हो जाता है।

८–मुक्तासन किसे कहते हैं ? सूक्ष्मा सीविनी को सव्य गुल्फ के द्वारा संपीडन करके तथा दक्षिण गुल्फ के द्वारा सव्य को संपीड़न करके जो आसन होता है उसे मुक्तासन कहते हैं।

९–मयूरासन किसे कहते हैं ? पृथ्वी पर कलाई के बल रह कर दोनों हाथ जमावे, पैरों को और शिर का समुन्नत करके जैसे लोग भूमि में लोटकर दंडवत् करते हैं, उस मुद्रा में संस्थित हो। दंडवत् में तो शिर और पैर भूमि में सटे रहते हैं। इसमें पैर और शिर आकाश में टँगे रहते हैं, जैसे मोर होता है वैसी आकृति बना लेने पर जो आसन होता है, वह मयूरासन कहलाता है, यह आसन समस्त पापों का नाश करने वाला है। शरीर के समस्त रोगों का नाश करता है इस प्रकार आठ आसन तो ये और एक सिद्धासन ये मुख्य आसन हुए। इनमें से किसी भी एक आसन से स्थित हो जाय। सुखपूर्वक जिससे बैठ सके ऐसे आसन से भी अशक्त पुरुष बैठ सकता है। जिस पुरुष ने आसन को जय कर लिया उसने मानों तीनों लोकों को जीत लिया।

यम, नियम और आसन योग के इन तीनों अङ्गों को बताने

के अनन्तर अब प्राणायाम जो योग का चौथा अङ्ग है, उसके सम्बन्ध में बताते हैं। यम नियम से संयुक्त साधक सुदृढ़ आसन मार कर प्राणायाम करे। अब प्रश्न उठता है, प्राणायाम से क्या लाभ होता है ? तो इसका उत्तर देते हुए कहते हैं, प्राणायाम से नाड़ियों की शुद्धि होती है।"

इस पर शांडिल्यजी ने महामुनि अथर्वा से पूछा—"नाड़ियों की शुद्धि किस उपाय से होती है ? शरीर में सम्पूर्ण नाड़ियाँ कितनी हैं ? इनकी उत्पत्ति कैसे होती है ? उन नाड़ियों में कितनी वायु रहती हैं ? उन वायुओं के स्थान कौन-कौन-से हैं ? उन वायुओं के कर्म क्या हैं ? इस शरीर में जो-जो भी जानने योग्य बात हो उस सबको बताइये।"

शांडिल्य मुनि के एक साथ इतने प्रश्न सुनकर महर्षि अथर्वा कहने लगे—"देखो, भाई ! यह जो मानव शरीर है, वह प्रत्येक मनुष्य अपनी उँगलियों से ९६ अंगुल का होता है। शरीर से प्राण बारह अंगुल अधिक होते हैं। अर्थात् नासिका से वायु निकलती रहती है, वह शरीर से बारह अंगुल आगे तक जाती है। शरीर में रहने वाली प्राण वायु को जो जठराग्नि के साथ योगाभ्यास से सम या न्यून कर लेता है, वही योगिराज कहलाता है। मनुष्यों की देह के मध्य में एक शिखि स्थान है। वह त्रिकोण है। तपाये हुए सुवर्ण की प्रभा के सदृश प्रभा वाला है। मनुष्य शरीर में त्रिकोण, चौपायों के शरीर में चतुष्कोण तथा पक्षियों के शरीर में वृत्ताकार (गोल) होता है। वह शिखि स्थान शरीर के किस स्थान में होता है ? इसे बताते हुए कहते हैं—"मनुष्यों के गुदा से दो अंगुल ऊपर लिङ्ग से दो अंगुल नीचे अर्थात् गुदा और लिङ्ग के बीच में होता है, चौपायों के हृदय में और पक्षियों की तोंद (पेट) में होता है। उस शिखि स्थान के मध्य में शुभ्र

तन्वी पाव की शिखा रहती है। देह के मध्य भाग में नौ अंगुल का चार अंगुल चौड़ा अंडे की आकृति का गोल स्थान है, उसी स्थान के बीच में नाभि है। उस नाभि में बारह आरों वाला एक चक्र है। अर्थात् द्वादश दल कमल है। उस चक्र के बीच में पुण्य पाप से बँधा हुआ जीव भ्रमण करता है। जैसे तन्तु के पींजड़े में बँधा बन्दर इधर-से-उधर घूमता रहता है, उसी प्रकार इस अस्थिपञ्जर शरीर के मध्य में प्राण भी घूमता रहता है। इस देह में जीव जो है वह प्राणों के ऊपर सवार रहता है। नाभि से इरछे तिरछे ऊपर नीचे कुण्डलिनी का स्थान है। जैसे आठ (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, महतत्त्व, अहंतत्त्व, और मूल प्रकृति) प्रकृति हैं उसी के अनुरूप आठ कुंडली=गुड़ मुड़ी-मारे कुंडलिनी शक्ति होती है। यथावत् वायु संचार होने से जल अन्नादि जो हैं उन्हें चारों ओर से स्कन्ध तथा पास में निरोध करके, अपने मुख द्वारा ब्रह्म रन्ध्र को रोक कर यह प्रसुप्त पड़ी है। जब अपान वायु द्वारा अग्नि का ताप लगता है तब यह प्रस्फुरित होती है। प्रस्फुरित होकर हृदयाकाश में महान् उज्वल होकर ज्ञान रूपा हो जाती है। अर्थात् कुंडलिनी के जाग्रत होने पर साधक को पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है।

मध्यस्थ जो कुंडलिनी शक्ति है उसका आश्रय लेकर मुख्य चौदह नाड़ियाँ हैं उनके नाम ये हैं। (१) इडा, (२) पिङ्गला, (३) सुषुम्ना, (४) सरस्वती, (५) वारुणी, (६) पूषा, (७) हस्तिजिह्वा, (८) यशस्विनी, (९) विश्वोदरी, (१०) कुहू, (११) शङ्खिनी (१२) पयस्विनी, (१३) अलम्बुसा और (१४) गान्धारी।

इन सबमें सुषुम्ना विश्वधारिणी है, वही मोक्षमार्ग प्रवर्तिका है। गुदा के पृष्ट भाग में—अर्थात् पीठ में जैसे वीणा का दण्ड होता है, वैसे ही रीढ़ की हड्डियों का एक दण्ड है वह शिर पर्यन्त चला

गया है। उसी मूर्धा में जो सबसे ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है उसी के साथ इस व्यक्ता सूक्ष्मा, वैष्णवी सुषुम्ना नाड़ी का सम्बन्ध है। सुषुम्ना के सव्य बायीं ओर इडा नाड़ी है, दक्षिण-दायीं ओर पिंगला है, इडा नाड़ी में चन्द्रमा विचरण करता है और पिंगला में सूर्य। तमोगुण रूप तो चन्द्रमा है, रजो गुण रूप सूर्य है। विष भाग तो रवि है और अमृत भाग चन्द्रमा है। ये दोनों सभी कालों को धारण करते हैं। अर्थात् घड़ी, पल, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा सम्वत् सरादि सब काल सूर्य,चन्द्र, द्वारा ही जाने माने जाते हैं। काल का विभाग करने वाले ये सूर्य, चन्द्र, (इडा पिंगला) ही हैं। सुषुम्ना काल भोक्त्री है, अर्थात् यह काल को खा जाती है। सुषुम्ना के पृष्ठपार्श्व में सरस्वती और कुहू ये दो नाड़ियाँ रहती हैं। पयस्विनी और कुहू के बीच में वारुणी सुप्रतिष्ठित है। पूषा और सरस्वती के मध्य में पयस्विनी है। गान्धारी और सरस्वती के बीच में यशस्विनी नाड़ी है। बीच में जो कन्द स्थान है उसमें अलम्बुसा नाड़ी रहती है। सुषुम्ना के पूर्वभाग में मेढ़ के अन्त में कुहू रहती है। कुण्डलिनी के नीचे तथा ऊपर सर्वगामिनी वारुणी रहती है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अँगूठा पर्यन्त रहती हैं। पिंगला ऊपर की ओर दक्षिण नासिका के अन्त भाग तक रहती है। पिंगला के पीछे दक्षिण नेत्र पर्यन्त पूषा रहती है। दक्षिण कान तक यशस्विनी रहती है। जिह्वा के ऊपर भाग पर्यन्त सरस्वती नाड़ी रहती है। सव्य-वाम-कर्ण पर्यन्त शङ्खिनी नाड़ी रहती है। इडा के पृष्ठ भाग से वाम नेत्र पर्यन्त जाने वाली गान्धारी होती है। गुदा के मूल भाग से नीचे ऊपर जाने वाली अलम्बुसा नाड़ी होती है। इस प्रकार इन चौदहों नाड़ियों से और भी बहुत-सी नाड़ियाँ निकली हैं। उन नाड़ियों से दूसरी

नाड़ियाँ और उन दूसरी नाड़ियों में से भी बहुत-सी नाड़ियाँ निकलती हैं। जैसे तुम एक पीपर का पत्ता उठाकर देखो, जिस प्रकार पीपर के पत्ते में की एक-एक शिरा से दूसरी शिरायें निकलती हैं और उन शिराओं में से भी बहुत-सी शिरायें निकलती रहती हैं, वैसे ही मनुष्य शरीर में नाड़ियों का जाल बिछा रहता है। यह तो संक्षेप में नाड़ियों के सम्बन्ध की बात हुई। अब प्राणों के सम्बन्ध की बात सुनिये।

प्राण दश प्रकार के हैं। उनके नाम ये हैं १–प्राण, २–अपान ३–समान, ४–उदान, ५–व्यान, ६–नाग, ७–कूर्म ८–कृकर, ९–देवदत्त और १० धनञ्जय। ये सभी प्राण समस्त नाड़ियों में विचरण करते रहते हैं। अब कौन-सी वायु किस-किस स्थान में विचरती है, इस बात को बताते हैं।

मुख, नासिका, कण्ठ, नाभि, पैरों के दोनों अंगूठों में कुण्डलिनी शक्ति के ऊपर और नीचे भाग में प्राण वायु संचार करती रही है। कान, आँख, कटि, गुल्फ, नाक, गला तथा स्फिग्, इन स्थानों में व्यान वायु संचरण करती है। गुदा, लिंग, ऊरु, जानु, उदर, वृषण, कटि, जङ्घा, नाभि और गुदा का अग्नि आगर है इन स्थानों मे अपान वायु संचार करती है। समस्त सन्धियों में उदान, पाद हस्त तथा समस्त गात्र में सर्वव्यापी समान वायु संचार करती है।

खाये हुए अन्न से जो रस रक्तादि बनते हैं उन्हें शरीर में अग्नि के सहित व्याप्त करके बहत्तर सहस्र नाड़ियों के मार्गों द्वारा विचरण करती हुई समान वायु अग्नि के साथ साङ्गोपाङ्ग शरीर में व्याप्त करती है।

यह तो प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान नामक पाँच प्राणों की बात हुई। अब नाग कूर्म देवदत्तादि जो पाँच और

प्राण हैं, वे पाँच जो त्वचा, अस्थि आदि धातुयें हैं उनके द्वारा सम्भव हैं। अर्थात् उन पाँच धातुओं में विचरते हैं। हम जो अन्न जलादि का भक्षण करते हैं, वह सब उदर में चला जाता है, उदरस्थ जो अन्न जल है उसे रस रक्त बनने के पूर्व वायु पृथक-पृथक कर देती है। जल भाग को पृथक और अन्न भाग को पृथक। फिर भीतर जो जठराग्नि है, उसके ऊपर जल को चढ़ाते हैं, जैसे चावल पकाने को बटलोई में जल चढ़ाते हैं। फिर उस जल के ऊपर अन्न को संस्थापित करके स्वयं अपान वायु द्वारा संप्राप्त होकर उस अग्नि के सहित ही वह अपान वायु उस अग्नि को प्रज्वलित करती है। वायु द्वारा परिपालित वह अग्नि अपान वायु द्वारा शनैः-शनैः देह के मध्य में जलती रहती है। जल कर ज्वालाओं के साथ तथा प्राण के साथ कोष्ठ में आया हुआ जो जल है, उसको अति उष्ण कर देता है। भाव यह है, कि अन्न और जल को वायु पृथक-पृथक करके जल को अग्नि पर चढ़ा देते हैं। उसके ऊपर अन्न को पकाने को रख देते हैं। वायु उस अग्नि को धौंकती है, उससे अग्नि में ज्वालायें उठती हैं, उन ज्वालाओं से जल गरम हो जाता है। उस उष्ण जल के ऊपर रखा हुआ उदरस्थ अनेक व्यंजन संयुक्त अन्न वन्हि संयुक्त जल के द्वारा पक जाता है। अन्न पकने के अनन्तर जो जल शेष रह जाता है, उससे स्वेद-पसीना-मूत्र, जल, रक्त तथा वीर्य रूप में परिणत हो जाता है। जो अन्न की विह होती है वह पुरीष-मल हो जाता है। सार रसादि धातुयें होती हैं। प्राण उन सबको पृथक-पृथक कर देता है।

अब जो समान वायु है उसके साथ जो रस है उसे सम्पूर्ण नाड़ियों में व्याप्त करके श्वास प्रश्वास के रूप में वायु सम्पूर्ण देह में विचरण करती रहती है। अर्थात् श्वास द्वारा जिस

को हम भीतर ले जाते हैं, वह वायु सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों में घूमती है।

शरीर के जो सात ऊपर के दो नीचे के नौ छिद्र हैं उनसे शरीरस्थ वायु मल-मूत्र, खकार आदि विकारों को निकालती रहती है। निश्वास, उच्छ्वास तथा खाँसी ये प्राण के कर्म हैं। विष्ठा, मूत्र विसर्जन ये अपान वायु के कर्म हैं। हान-त्याग उपादानादि चेष्टायें व्यान के कर्म हैं। देह को उन्नयन-उठाना-आदि कर्म उदान के कर्म हैं। शरीर का परिपोषण करते रहना ये समान के कर्म हैं। डकार-उद्गारादि लाना ये नाग के कर्म हैं आखों को खोलना मीचना-पलक मारना आदि कूर्म के कर्म हैं। भूख लगाना यह कृकर का कर्म है। तन्द्रा लाना यह देवदत्त का कर्म है। खकार-श्लेष्मादि को निकालना यह धनञ्जय का कर्म है। इस प्रकार नाड़ियों के सभी स्थानों को जानकर, सभी वायुओं के स्थानों को जानकर, उन-उन वायुओं के कर्मों को भली-भांति जानकर तब समस्त नाड़ियों का संशोधन करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने योग के आठ अंगों में से यम, नियम, आसन और प्राणायाम के लिये प्राणों के स्थान और उनके कर्मों को कहा। अब नाड़ियों की शुद्धि कैसे करनी चाहिये इस विषय को आगे बतलाऊँगा।"

छप्पय

सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, धृति, शौच, आर्जवहु।
ब्रह्मचर्य, अस्तेय, कहे यम मितआहारहु॥
सुनो नियम-सन्तोष, दान, ईश्वर पूजन, जप।
ह्री, मति, मत, सिद्धान्त श्रवण अरु आस्तिकता, तप॥
पद्म आदि आसन कहे, प्रान कहे दश नाड़ि बहु।
प्रान, नाड़ि मल करम तिनि, जानि शोध नाड़ी सुनहु॥

शाण्डिल्य-उपनिषद्-सार (२)

[३२६]

प्राणं प्राणिडया पिबेन्नियमितम्
भूयोऽन्यया रेचयेत् ।
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो-
बद्धा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना-
भ्यासं सदा तन्वताम् ।
शुद्धानाडिगणा भवन्ति यमिनाम्
मासत्रयादूर्ध्वतः ॥*

(शा० उ० १ ख० १८ मं०)

छप्पय

नाड़ी शोधन हेतु नियम, यम, आसन साधे ।
गुरु शुश्रूषा करै इष्ट नित प्रति आराधे ॥
मुनि सेवित फल सुमन सलिल युत आश्रम आवै ।
गंगा तट गुरु निकट सुआसन शुभ लगावै ॥
पूरक रेचक कुम्भक हु, क्रम-क्रम से पुनि-पुनि करै ।
रोग नसैं अनहद श्रवन, शोक मोह मन से हरै ॥

* पहिले वायु को नियमित रूप से इड़ा नाड़ी से पीना फिर पिंगला से प्राण को रेचन करना चाहिये । फिर पिंगला इड़ा जो वाम नाड़ी है उनसे रेचन करना चाहिये । इस प्रकार

योगमार्ग में सर्व प्रथम आवश्यकता होती है नाड़ी शुद्धि की। हमारे आश्रम में पीपल के बहुत से वृक्ष हैं। आश्रम गंगा जी के तट पर ही है। कभी-कभी जब गङ्गाजी बहुत बढ़ती हैं, तब आश्रम की कुटियों में भी घुस जाती हैं। एक बार गङ्गाजी बहुत बढ़ीं, तीन बार घटती बढ़ती रहीं। लगभग डेढ़ महीने तक पानी भरा रहा। जब पानी उतर गया तो कांटे में उलझा हुआ एक पीपल का पत्ता हमने देखा उसका चर्म तो सब सड़कर बह गया था, केवल नाड़ियाँ शिरायें शेष रह गयी थीं। उन्हें हमने ध्यान पूर्वक देखा। पीपल के पत्ते में बीच में एक मोटी-सी शिरा होती है, उसमे से दोनों ओर से शिरायें निकलती हैं, उनमें से फिर और शिरायें निकलती हैं। जैसा पीपल के पत्ते में नाड़ियों का जाल है, वैसा ही नाड़ी जाल मनुष्य शरीर में है। नाड़ी बहत्तर लाख और उससे भी सौ गुनी बहत्तरण करोड़ बतायी हैं। कुछ नाड़ियाँ तो इतनी सूक्ष्मतम हैं, कि वह कैसे भी अणु-वीक्षण यन्त्र द्वारा दिखायी नहीं देतीं। इन नाड़ियों में जब श्लेष्म, पित्तादि मल भर जाते हैं, तो उनमें वायु का संचार नहीं होता। जहाँ की नाड़ियों में वायु प्रवेश न करेगी वे नाड़ियाँ जड़-वत हो जायगीं। उन्हीं मल बद्ध नाड़ियों के कारण जरावस्था तथा नाना प्रकार के रोग होते है। नाड़ियों का मल कभी शरीर को फोड़ कर व्रण के रूप में बाहर निकलता है, तो वे ही दद्रु, खुजली, फोड़ा, फुन्सी कोण के रूप में हो जाते हैं। बहुत से व्रण पकते नहीं वे भीतर ही भीतर बढ़कर अपक्वव्रण के रूप में बढ़ते रहते हैं।

नाड़ियों से अभ्यास सदा करते रहना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करने वाले साधक की तीन महीने से ऊपर ऊपर समय मे नाड़ी शुद्धि हो जाती है।

रोग क्यों होते हैं, पूर्वजन्म कृत पापों के कारण, जिनको हमने पूर्वजन्मों में कष्ट दिया है, वे भोज्य पदार्थ अन्न बनकर हमारे उदर में प्रविष्ट हो जाते हैं। वे मल-पाप-बनकर हमारी नस, नाड़ियों में जम जाते हैं और हमें विविध भाँति के कष्ट पहुँचाते हैं। बहुत से रोग-पाप-तो ओषधियों द्वारा कम हो जाते हैं। बहुत से किसी भी ओषधि से जाते ही नहीं। अतः यम-नियमों द्वारा जीवन को संयमित करके जो प्राणायाम करते हैं, उनकी नाड़ियाँ शनैः-शनै शुद्ध हो जाती हैं। नाड़ियों के शुद्ध हो जाने से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं। शरीर कृश तथा फूल की भाँति हलका हो जाता है, मुख मण्डल पर एक प्रकार की चमक आ जाती है। नेत्र नीरोग छोटे बालक की भाँति निर्मल स्वच्छ हो जाते हैं, स्वर परम मधुर हो जाता है और विषयों के प्रति उसकी लोलुपता नष्ट हो जाती है। अतः जिसने प्राणायाम का अभ्यास नहीं किया है, उसका शरीर कभी नीरोग रह ही नहीं सकता और जिसने प्राणायाम का विधिवत् अभ्यास किया है, उसके शरीर में किसी प्रकार के रोग प्रवेश कर ही नहीं सकते।

लोग प्राणायाम को बहुत कठिन वस्तु समझ कर उसकी ओर से उदासीन हो जाते हैं। वास्तव में प्राणायाम कोई अपूर्व वस्तु नहीं, कठिन नहीं, सहज है, स्वाभाविक है, किन्तु उसके लिये दीर्घ काल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक अभ्यास की आवश्यकता है। लोग धनोपार्जन के लिये भूख नींद को परित्याग करके बीस-बीस घन्टे परिश्रम करते हैं, परीक्षा में उत्तीर्ण होने को रात्रि-रात्रि भर जागकर पढ़ते रहते हैं। इसी प्रकार इसके लिये कम-से-कम नित्य नियम से दो प्रहर छः घण्टे समय दे तो शनैः-शनैः नाड़ियाँ शुद्ध हो जायँगी।

जैसे हम व्यायाम करके शरीर को पुष्ट करते हैं, वैसे ही प्राणों का आयाम करके प्राणों को पुष्ट कर लें। इसके लिये सबसे पहिले मिताहार परमावश्यक है। ठूँस-ठूँस कर खाने वाला कभी भी प्राणायाम नहीं कर सकता। जितनी भूख हो, उसका आधा भोजन करे। एक भाग जल के लिये रिक्त रखे और एक भाग वायु को नाड़ियों में आने जाने को खाली रखे। अधिक खा लेने से वायु सब नाड़ियों में जा नहीं सकती। मल अधिक बनता है, वह बाहर पूरा निकलता नहीं, वहीं नसों में जम जाता है जैसे नालियों में कीचड़ जम जाती है। नाली में वैसे ही पानी डाल दो, तो पानी ऊपर ऊपर से बह जायगा, कीचड़ जमी की जमी ही रह जायगी। जब उसे झाड़ू से या किसी फावड़े आदि से बार-बार निकालो और पानी डालते जाओ, तो कीचड़ निकलेगी, फिर भी दोनों ओर जमी रह जायगी। इसके लिये उसे नित्य बार-बार धोना चाहिये, कीचड़ को खुरचना चाहिये तब मोरी निर्मल स्वच्छ होगी। इसी प्रकार हमारी ये आँतें नस नाड़ियाँ रूपी नालियाँ हैं, वे भी वायु और अग्नि के वेग से शुद्ध होगीं। यदि तुम उन्हें शुद्ध तो करोगे नहीं। पेट में निरन्तर खट्टे, मीठे, चर परे पदार्थों को निरन्तर भरते ही रहोगे, तो वे तो रोगों को बढ़ावेंगे ही।

आहार संयमित करो। तुम जितनी ही हलकी वस्तुओं को खाओगे, शरीर उतना ही हलका होता जायगा। जौ, गेहूँ, चावल आदि अन्नों की अपेक्षा, फलों का रस, दूध आदि हलके हैं, इनकी अपेक्षा जल हलका है, जल की अपेक्षा वायु हलकी है। जो जितनी ही अधिक वायु को खाकर पचा लेगा, उसका शरीर उतना ही हलका हो जायगा। जैसे तुम मुख से अन्न खाते हो पानी पीते हो, वैसे ही वायु खाना सीख लो। वायु

जितनी ही अधिक पचने लगेगी, अन्नाहार उतना ही न्यून होता जायगा। जैसे अन्न में जल, तेज, वायु और आकाश मिले रहते हैं, वैसे ही वायु में भी अन्न, जल, तेज और आकाश ये सब रहते हैं। तभी तो प्राचीन ऋषिगण सहस्रों वर्षों तक केवल वायु भक्षण करके ही जीवित रहते थे। वायु तब तक पच नहीं सकती जब तक सब नाड़ियाँ शुद्ध न हो जायँ। अतः अब अथर्वा मुनि शांडिल्य मुनि को नाड़ि शुद्धि का ही उपाय बताते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यम, नियम, आसन और शरीर की नाड़ियों, प्राणों के स्थान कर्म बताकर अब नाड़ियों की शुद्धि का उपाय बताते हुए अथर्वामुनि शाण्डिल्य मुनि से कहते हैं—"जिसे नाड़ी शुद्धि करनी हो, उसे यम, नियमों का पालन करते हुए सभी प्रकार की आसक्तियों से मुख मोड़ लेना चाहिये। सर्व सङ्ग विवर्जित होकर, विद्या प्राप्त करके, सत्य धर्म में निरत रहकर, क्रोध को जीतकर, गुरु शुश्रूषा में निरत होकर, माता पिता के प्रति विनय भाव रखकर, जिस आश्रम में स्थित हो उस आश्रम के सदाचार को भली-भाँति जानकर, ऐसे वन में चला जाय, जहाँ यथेष्ट फल, मूल और जल की सुविधा हो। ऐसे तपोवन को प्राप्त होकर ऐसे स्थान में रहे, जो रमणीक हो, जहाँ ब्राह्मण लोग वेदों का उद्घोष करते हों। जहाँ स्वधर्म में निरत विप्रगण निवास करते हों, जहाँ फल, मूल, फूल, जल आदि सभी की सुविधा हो, समीप ही देव मन्दिर हो, पुण्य नदी का तीर हो ऐसा चाहे ग्राम हो, नगर हो, वहाँ जाकर निवास करे। अभ्यास करने का जो मठ हो वह सुशोभन हो। न तो बहुत ऊँचा ही हो और न बहुत नीचा ही हो। उसका द्वार छोटा हो। गोबर आदि से लिपा पुता स्वच्छ हो, सब प्रकार की रक्षा और सुविधायें हों,

वहाँ पर वेदान्त का श्रवण करते हुए योगाभ्यास को आरम्भ करे।"

सबसे पहिले गणेशजी का पूजन करे, फिर अपने इष्टदेवता को नमस्कार करे, जैसा कि बताया है समभूमि में चैलाजिन कुशोत्तर आसन पर पूर्व की ओर या उत्तर की ओर मुख कर बैठ जाय। अपनी समस्त लौकिक वासनाओं को मार कर, आसन को जीतकर विद्वान् साधक को चाहिये ग्रीवा और शिर को समान करके नासिका के अग्र भाग को देखते हुए, दोनों भौंहों के बीच में चन्द्र बिम्ब का देखते हुए नेत्रों द्वारा अमृत का पान करे।

द्वादश मात्रा समय में इडा से वायु को खींच कर उसे उदर में भर ले। उदर में स्थित जो ज्वालावली युक्त, रेफ बिन्दु से संयुक्त अग्नि मण्डल है, उस अग्नि मंडल को ध्यान करते हुए पिंगला नाड़ी द्वारा वायु को रेचन करदे निकाल दे। फिर पिंगला से वायु को खींचकर उदर को पूरित करे। यथाशक्ति उसे रोक-कर कुम्भक करके फिर इडा नाड़ी से रेचन करे-निकाल दे। इस प्रकार तीन-तीन, चार-चार बार तीनों सन्ध्याओं में प्राणायाम का अभ्यास करे, तीनों सन्ध्याओं के अन्तराल में भी ६-६ करे, तो इस प्रकार करने से सात, तीन अथवा चार मास में नाड़ी शुद्धि हो जायगी। नाड़ी शुद्धि हो गयी, इसकी पहिचान क्या है? इस विषय में बताते हैं कि नाड़ी शुद्धि होने पर शरीर हलका-कृश हो जाता है, मुख पर दीप्ति आ जाती है, जठराग्नि बढ़ जाती है, कानों में अनहद नाद सुनायी देने लगता है।

इसे प्राणायाम क्यों कहते हैं? इस पर बताते हैं, कि प्राण और अपान के समयोग होने से ही प्राणायाम होता है। यह प्राणायाम रेचक, पूरक और कुम्भक भेद से तीन प्रकार का

होता है। ये तीनों वर्णात्मक होने से अर्थात् प्रणव वर्ण के साथ करने से भी इसका नाम प्राणायाम है।

प्राणायाम कैसे करे ? इस पर बताते हैं पद्मासन, सिद्धासनादि किसी भी आसन से स्वस्थ चित्त होकर आसन पर बैठकर नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ प्रणव का ध्यान करे। प्रणव में अकार, उकार और मकार तीन वर्ण हैं, इन तीनों वर्ण की तीन देवियों का ध्यान करे। अकार मूर्ति तो गायत्री देवी है, वह चन्द्र बिम्ब के सदृश, ज्योत्स्ना जालवितानिता, रक्त अङ्ग वाली हंस वाहिनी हाथ में दण्ड लिये हुए बाला रूपा है। दूसरी जो उकार मूर्ति सावित्री शक्ति है, वह श्वेताङ्गी, गरुड़वाहिनी चक्रहस्ता युवती है। तीसरी जो मकारमूर्ति सरस्वती है, वह कृष्णाङ्गी, वृषभवाहिनी, त्रिशूल धारिणी वृद्धावस्थापन्ना है। ये जो अकार उकार और मकार वर्ण वाली गायत्री, सावित्री और सरस्वती शक्तियाँ हैं, वे सर्वकारण एकाक्षर परंज्योति स्वरूप जो प्रणव है, वही बन जाती हैं। अर्थात् तीनों मिली हुई ही प्रणव हैं।

इडा नाड़ी से बाहर की वायु को खींच कर उसे पेट में भरे' सोलह मात्रा समय में शनैः-शनैः वायु को खींचे (अपने घोंटू पर चुटकी बजाते हुए जितनी देर में उसके चारों ओर चक्कर लगावे उतने काल को मात्रा कहते हैं) और अकार मात्रा की शक्ति का चिंतन करे। फिर उदर में भरी वायु को चौंसट मात्रा समय तक रोके रखे और उकार शक्ति का चिन्तन करता रहे। फिर पिंगला द्वारा शनैः-शनैः बत्तीस मात्रा समय में मकार शक्ति का ध्यान करते हुए वायु को रेचन करे—उसे बाहर निकाल दे।

अभ्यास करने वाले योगी को चाहिये वह अपने आसन को दृढ़ रखे, मन को वश में रखे। परिमित आहार करे, हितकर आहार करे, सुषुम्ना नाड़ी में स्थित जो मल है उसके शोधन के

लिये योगी बद्ध पद्मासन से बैठकर वायु को चन्द्रनाड़ी से पूरण करके यथाशक्ति कुम्भक करके सूर्य नाड़ी से उसे रेचन कर दे। फिर सूर्य नाड़ी से पूरक द्वारा खींचकर यथाशक्ति कुम्भक करके चन्द्र नाड़ी से रेचन करे। जिससे वायु निकाले, उसी से पूरक करके धारण करे। इस प्रकार तीन विकल्प हुए। इसी भाव का एक मन्त्र है। उसका भावार्थ यह है, कि पहिले वायु को इड़ा नाड़ी से पीवे-पूरक करे-फिर नियमित मात्रा में पीकर तदनन्तर पिंगला द्वारा रेचन करे। फिर पिंगला द्वारा पीकर वाम जो इड़ा है उसके द्वारा रेचन करे। इस प्रकार पहिले सूर्य से फिर चन्द्र से पीकर उसके विपरीत से निकाले। इस प्रकार के अभ्यास से साधक को तीन महीने के ऊपर समय में नाड़ी शुद्धि हो जाती है। प्रातः काल, मध्य में, सायंकाल तथा आधी रात्रि में निरन्तर कुम्भक को करता रहे। शनैः-शनैः अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते चारों काल में अस्सी मात्रा तक ले जाय। इस प्रकार अभ्यास करने से पहिली अवस्था में शरीर में स्वेद होने लगेगा। मध्यमावस्था में शरीर में कँप कँपी उठने लगेगी। उत्तम अवस्था उसे समझना चाहिये जब प्राणायाम करते समय पद्मासन बंधे ही बंधे शरीर भूमि से निरालम्ब आकाश में उठने लगे।

प्राणायाम करते समय श्रम से जो स्वेद बिन्दुओं द्वारा जल निकले उसे अपने शरीर में ही मल लेना चाहिये। उसके मल लेने से दृढ़ता, लघुता शरीर में आती है। अभ्यास काल में प्रथम दूध तथा घृत का भोजन प्रशस्त बताया है। जब अभ्यास स्थिर हो जाय, तो फिर केवल दूध और घृत का ही आग्रह नहीं। चाहे तो थोड़ा अन्न भी ले सकता है।

देखो, जैसे सिंह, हाथी तथा व्याघ्र एक साथ ही नहीं शनैः-शनैः वश में किये जाते हैं, वैसे ही वायु को भी शनैः-शनैः वश में

करे। यदि शीघ्रता करोगे, तो वह साधक को मार देगी। इसलिये बड़ी युक्ति के साथ शनैः शनैः वायु का त्यागन करे शनैः-शनैः ही पूरण करे। बड़ी युक्ति के साथ शनैः-शनैः उसे बाँधकर रखे अर्थात् कुम्भक करे। इस प्रकार साधक शनैः-शनैः अभ्यास करने से सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। यथेष्ट वायु धारण करने से जठराग्नि का प्रदीपन, होता है, नाद की अभिव्यक्ति होती है और शरीर रोग रहित हो जाता है। इस प्रकार विधिवत् प्राणायाम करने से नाड़ी शुद्धि हो जाती है। तब यह जो सोयी हुई सुषुम्ना नाड़ी है वह अपने मुख को फाड़ देती है, जिससे सुषुम्ना का रुद्ध मुख द्वार खुल जाता है, उसमें सुखपूर्वक वायु का संचार होने लगता है। वायु का सुषुम्ना के मध्य में संचार होने से मन स्थिर हो जाता है, उसकी चंचलता नष्ट हो जाती है। मन के सुस्थिर भाव का नाम ही मनोन्मनी अवस्था है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने आप से नाड़ी शुद्धि तथा प्राणायाम का प्रकार बताया। अब आगे जैसे तीन बन्ध, खेचरी मुद्रा तथा कुण्डलिनी जागरण विधि बतायी जायगी उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

नाड़ि शुद्ध है जायँ योगहित तनु तब होवै।
उभय सन्धि निशि दिवस मध्य करि अधिक न सोवै॥
प्रथम स्वेद तनु होइ मध्य होवै तनु कंपन।
उत्तम में उठि जाय बद्ध आसन नभ में तन॥
सिंह, व्याघ्र, गज होहिँ वश, हौले-हौले त्यों अनिल।
पान करै वश में करै, होहि शुद्ध बढ़ि तन अनल॥

शाण्डिल्य-उपनिषद्-सार (३)

[३२७]

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्दभावोत्तरम्।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परम्
तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शांडिल्य विद्धीह तत् ॥ ❀

(शा० उ० १ अ० ३३ मं०)

छप्पय

मूलबन्ध उड्यान करो तुम पुनि जालन्धर।
गुदा, उदर अरु कंठ संकुचित करि है सुखकर॥
जिह्वा तल को छेदि करे दोहन ताको नित।
पतली लंबी जीभ उलटि भीतर प्रफुल्लित चित॥
यह मुद्रा है खेचरी, चित जिह्वा नभ में चरहिं।
आधि व्याधि सब खेचरी, मुद्रा साधक के हरहिं॥

❀ अथर्वा मुनि कहते हैं—"हे शांडिल्य! अब हम तुम्हें परम तत्त्व के विषय में बताते हैं—देखो, आँखें न तो खुली ही हों न सर्वथा बन्द ही हों, अर्ध उन्मीलित लोचन हों, मन स्थिर हो, दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर जमी हो, सूर्य और चन्द्र लीनता को प्राप्त हो गये हों, निष्पन्द भाव हो गया हो। बाह्य दृष्टि रहित परम देदीप्यमान अशेष ज्योति रूप दृष्टि गोचर हो, तो यही वस्तु विषयक परम तत्त्व है, हे शांडिल्य इसको तुम ऐसा ही जानो।"

जितने भी ये आसन हैं, प्राणायाम हैं, बन्ध हैं इन सबका एक मात्र उद्देश्य नाड़ियों में भरे मलों को निकाल कर शरीर को स्वच्छ निर्मल तथा आरोग्य बनाना है। क्योंकि रोगी शरीर भली भाँति धर्म कार्य नहीं कर सकता। समुचित रूप से कामोपभोग के सुख को भी अनुभव नहीं कर सकता। अर्थोपार्जन तथा उसका सम्यक् उपभोग नहीं कर सकता। जब धर्म, अर्थ और काम रूपी पुरुषार्थों से ही वह वंचित है, तो परम पुरुषार्थ रूप जो मोक्ष है, उसकी तो कथा ही क्या है? इससे सिद्ध यही हुआ कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों का ही मूल कारण आरोग्यता ही है। शरीर के आरोग्य निर्मल हो जाने पर ही ध्यानादि साधन सम्भव हो सकते हैं। शरीर निर्मल तथा शुद्ध आसन, प्राणायाम, बन्ध तथा मुद्राओं के अभ्यास के बिना हो ही नहीं सकता। अतः आसन, नाड़ी शुद्धि तथा प्राणायाम के सम्बन्ध में कहकर अब बन्ध तथा मुद्राओं के सम्बन्ध में अथर्वा मुनि शांडिल्य महर्षि से कहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप तीनों बन्धों के सम्बन्ध में तथा खेचरी मुद्रा तथा कुंडलिनी जागृतिके सम्बन्ध में श्रवण करें। तीन बन्ध हैं, मूलबन्ध, उड्डियाण बन्ध और जालन्धर बन्ध। जब पूरक प्राणायाम कर ले अर्थात् बाहर की वायु को नासिका से या मुख से खींचकर उदर में भर ले तब जालन्धर बन्ध को करे। कुंभक के अन्त में और रेचक के आदि में उड्डियाण बन्ध को करे। पहिले मूलबन्ध करके-अर्थात् गुदा का संकोच करके उसे ऊपर की ओर भींच ले, फिर कंठ का संकोच करके मध्य में पश्चिमतान करे। ऐसा करने से प्राण ब्रह्म नाड़ी में चला जायगा। गुदा में रहने वाली अपान वायु को ऊपर की ओर भींचकर खींचे और प्राणवायु को कंठगत नाड़ियों

को नीचे की ओर भींच ले। इससे क्या होगा? ऐसा करने से योगी वृद्धावस्था से विनिर्मुक्त होकर सोलह वर्ष के युवक के सदृश हो जायगा।

पहिले सुखासन से बैठ जाय फिर दक्ष नाड़ी से-पिंगला से-बाहर स्थित -पवन को खींचकर केश से नख पर्यन्त उसे कुंभक करके-अर्थात् भीतर रोककर--सव्य नाड़ी इडा है उससे रेचन कर दे। इससे होगा क्या? कपालगत जितनी नाड़ियाँ हैं, वे सब शुद्ध हो जायँगीं। कपाल शोधन से नाड़ियों में जो वातगत सर्वरोग हैं उनका सर्व प्रकार से विनाश हो जायगा। हृदय से लेकर कंठ पर्यन्त स्वाँस के साथ दोनों नासिका पुटों से शनैः शनैः वायु को खींचे अर्थात् पूरक करे। जितनी देर रोक सके उतनी देर रोककर फिर उसे इडा से विरेचन कर दे। यह प्राणायाम चलते-फिरते, उठते बैठते करे। इससे क्या होता है? नाड़ियों में जो श्लेष्म-कफ--जमा रहता है वह नष्ट हो जाता है। जठराग्नि की वृद्धि होती है।

अब अन्य प्राणायाम बताते हैं—मुख के द्वारा सीत्कार पूर्वक वायु को खींचकर उदर में भर ले। अर्थात् पूरक करे। जितना रोक सकता हो-उतनी देर तक यथाशक्ति कुंभक करके फिर उसे दोनों नासिका के पुटों से शनैः-शनैः रेचन कर दे। इससे क्षुधा, तृष्णा, आलस्य तथा निद्रा नहीं लगती।

अथवा जिह्वा द्वारा वायु को खींचे और यथाशक्ति कुंभक करके नासिका पुटों से उसे निकाल दे। इससे गुल्म, प्लीहा, ज्वर, पित्तादि विकार तथा क्षुधा आदि रोग नष्ट होते हैं।

अब तब जो प्राणायाम बताये थे तो सब पूरक, कुंभक और रेचक तीनों के सहित बताये। अब आगे केवल कुंभक प्राणायाम को बताते हैं—केवल कुंभक दो प्रकार का होता है। एक तो

पूरक रेचक सहित दूसरा केवल कुंभक। जब तक केवल कुंभक सिद्ध न हो तब तक सहित का ही अभ्यास करना चाहिये। जब केवल कुंभक सिद्ध हो जाता है, तब तीनों लोकों में साधक के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। अर्थात् वह सब कुछ करने में समर्थ होता है। केवल कुंभक से कुंडलिनी का बोध हो जाता है। उसके लक्षण ये हैं—शरीर कृश हो जाता है, प्रसन्न वदन तथा निर्मल लोचन हो जाते हैं। अनहदनाद की अभिव्यक्ति होने लगती है। समस्त रोग जालों से साधक निर्मुक्त हो जाता है। बिन्दु-ब्रह्मचर्य- को जीत लेता है, जठराग्नि बढ़ जाती है।

अब खेचरी मुद्रा को बताते हैं—लक्ष्य तो भीतर की ओर हो, दृष्टि बाहर की ओर हो। दृष्टि निमेष उन्मेष से रहित स्थिर हो। यही वैष्णवी मुद्रा है। सभी तन्त्र ग्रन्थों में इसे गुप्त रखा है। योगी का चित्त और पवन अन्तर्लक्ष्य विलीन हो, दृष्टि निश्चल तारया हो। अर्थात् न पलक गिरे न खुले, आँख का तारा निश्चल हो। भीतर बाहर देखता हुआ भी न देखे। इसी का नाम खेचरी मुद्रा है। यह शिवामुद्रा लक्ष्य में एकतानता करने वाली है। शून्य और अशून्य से विवर्जित स्फुरित होती है। यह वैष्णवी मुद्रा तत्व पद तक पहुँचाने वाली है। लोचन तो अर्धोन्मीलित हों, मन स्थिर हो, दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर जमी हो, सूर्य और चन्द्र लीनता को प्राप्त हो गये हों, निष्पन्द भाव हो गया हो। बाह्य दृष्टि रहित, परम देदीप्यमान अशेष ज्योति रूप दृष्टिगोचर हो, तो यही वस्तु विषयक परम तत्व है, हे शांडिल्य! उसको तुम ऐसा ही जानो।

तार को ज्योति में संयोज करके कुछ भौंहों को ऊपर उठाकर पूर्वाभ्यास का यह मार्ग क्षण में उन्मनी कारक है। इसलिये खेचरी मुद्रा का अभ्यास करे। खेचरी से उन्मनी अवस्था होती

है। उन्मनी अवस्था से योग निद्रा होती है। जिस योगी को योगनिद्रा होने लगे फिर उसके लिये काल नहीं रहता, अर्थात् वह कालातीत हो जाता है। देखो, शांडिल्यजी! जो कुंडलिनी शक्ति है उसमें मन को करके और मन में कुंडलिनी शक्ति को लेकर ले। फिर मन से ही मन को देखकर तुम सुखी होओ।

तुम अपनी आत्मा को आकाश के मध्य में ध्यान करो और आत्मा के मध्य में आकाश को ध्यान करो। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मांड आकाशमय करके फिर कुछ भी चिन्तन मत करो। बाहर की चिन्ता नहीं करनी चाहिये और भीतर की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। सभी प्रकार की चिन्ताओं को छोड़कर परम चिन्मात्र हो जाओ। जैसे कर्पूर वायु में विलीन हो जाता है। सैंधा नमक जल में विलीन हो जाता है। उसी प्रकार जब मन सत् पदार्थ में विलीन हो जाय, तब जो भी प्रतीत हो रहा है वह ज्ञेय हो जाता है और उसका ज्ञान मन कहा जाता है। ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों ही समान भाव से नष्ट हो जायँ यही पन्था है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पन्था है ही नहीं। ज्ञेय जो कुछ प्रतीत हो रहा है उस वस्तु के परित्याग से मन विलय को प्राप्त हो जाता है। मन के विलय हो जाने पर कैवल्य ही अवशिष्ट रह जाता है।

अथर्वा मुनि महर्षि शांडिल्यजी से कह रहे हैं—"देखो, मुनीश्वर शांडिल्यजी! चित्त नाश के दो क्रम हैं। एक तो योग, दूसरा ज्ञान। योग तो चित्त वृत्ति निरोध को कहते हैं, सम्यक् अवेक्षण-भले प्रकार देखने-का नाम ज्ञान है। चित्त की वृत्तियों के निरोध होने से मन उप शान्त हो जाता है। मन की चंचलता शान्त हो जाने पर फिर यह संसार विलीन हो जाता है। जैसे सूर्य के आलोक के शान्त हो जाने पर समस्त व्यवहार शान्त

हो जाते हैं। अर्थात् जब तक सूर्य का प्रकाश रहता है, तभी तक यह घट है यह पट है ये वस्तुएँ दीखती हैं। अंधकार होने पर सब एक से दीखने लगते हैं।"

शास्त्र और सज्जनों के सम्पर्क से तथा वैराग्य और अभ्यास के योग से, पूर्व संसार वृत्तियों में तथा अनस्था में आस्था करने से, यथाभिमत इच्छित ध्यान करने से चिरकाल तक निरन्तर हित में संलग्न रहने से तथा एक तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है अर्थात् समाधि प्राप्त हो जाती है। केवल कुम्भक होने लगती है। यह तो प्राण स्पन्दन रुकने के उपाय हुए, अब मन का किन उपायों से निरोध होता है, इसे बताते हैं—

पूरक, कुम्भक तथा रेचक इन प्राणायामों का अभ्यास तब तक करता रहे जब तक खेद न हो-थक न जाय। इस प्रकार प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से तथा एकान्त में ध्यान योग करने से मन का भटकना रुक जाता है। मांस की मुख में लटकती घण्टी काक-का अतिक्रमण करके जिह्वा उलट कर जब तालु के मूल में चली जाती है-अर्थात् खेचरी मुद्रा हो जाती है तब भी प्राणों की धड़कन रुक जाती है। तालु के ऊपर, बारह अंगुल प्राण में संवित्त के गलित हो जाने से अभ्यास से ऊपर के ब्रह्मरन्ध्र में जब प्राण पहुँच जाते हैं, तब भी प्राणों की धड़कन रुक जाती है। अर्थात् केवल कुम्भक हो जाती है। नासिका के अग्र भाग से, बारह अंगुल पर्यन्त विमल आकाश में संविद् दृष्टि प्रशमन होने से भी प्राणों का स्पन्दन-प्राणों का जो चलना है-वह रुक जाता है।

दोनों भौंहों के बीच में तारका का जो आलोक है उसका जब शान्त अन्त प्राप्त होता है। मन के जो संकल्प हैं-चेतना की

जो एक तानता है उसमें जब मन बँध जाता है, तब प्राणों का स्पन्दन-कंपन-रुक जाता है। ओंकार के उद्भूत जो ज्ञान ज्ञेयात्मक शिव है, उससे असंस्पष्ट विकल्पांश होने पर प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है। चिरकाल तक हृदय के एकान्त व्योम में संवेदना करने से वासना रहित मन के ध्यान करने से भी प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है। इन क्रमों से तथा ऐसे ही अन्य उपायों से भी नाना संकल्प कल्पितों द्वारा तथा नाना देशिक मुखों द्वारा अथवा देशिक सूक्तों द्वारा प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है।

तीनों बन्धों द्वारा गुदा के, उदर के तथा कण्ठ की नाड़ियों के आकुञ्चन-सिकोड़ने से कुण्डलिनी शक्ति जो कपाट रूपा है, कुण्डलिनी जो सुषुम्ना के द्वार पर किवाड़ रूप में बैठी है, उस किवाड़ को खोलकर मोक्ष के द्वार का विभेदन करती है। अर्थात् बन्धों द्वारा सुषुम्ना का मुख जो मोक्ष का मानों द्वार ही है, वह खुल जाता है। क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के जिस द्वार से प्राण जाना चाहिये उस द्वार को अपने मुख से रोक कर वहाँ प्रसुप्त पड़ी है। कुण्डलिनी कुटिलाकार है, वह सर्पिणी की भाँति सुषुम्ना को लपेटे हुए पड़ी है। उस कुण्डलिनी शक्ति को जो जाग्रत कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है। वह कुण्डलिनी कण्ठ के ऊर्ध्व भाग में सोई हुई पड़ी है। जो लोग उद्योगी होते हैं उन्हीं के लिये वह मुक्ति का कारण हो जाती है। वही मूढ़ों के लिये बन्धन का-अधः लोकों में जाने का-कारण बनती है। इडा और पिंगला इन दोनों के मार्ग को छोड़कर जब प्राण सुषुम्ना मार्ग के द्वारा चलने लगता है, बस वही विष्णु का परम पद मुक्ति है। मरुद् अभ्यसन-अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास-को मनोयुक्त होकर करना चाहिये, मनीषियों को चाहिये मन की वृत्ति इधर-उधर नहीं करनी चाहिये।

देखो, विष्णु की पूजा दिन में न करे, रात्रि में न करे, अपितु विष्णु पूजा सतत-निरन्तर करते ही रहना चाहिये, दिन रात्रि का कोई नियम नहीं। पञ्चस्रोत समन्वित जो सुस्थिर है-सुस्थिरभाव है-वह ज्ञान जनक है। वह खेचरी मुद्रा में ही रहता है। हे शाण्डिल्य! तुम उसी खेचरी मुद्रा को प्राप्त करो। सव्य-बायीं, दक्षिण-दायीं-जो इडा और पिंगला नाड़ियाँ हैं इनके बीच में अर्थात् सुषुम्ना में जब प्राण संचार करने लगते हैं तो उसी स्थान में खेचरी मुद्रा होती है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। इडा और पिङ्गला के मध्य में जो शून्य आकाश है, उसमें जो अनिल-वायु है उसे खाती हुई खेचरी मुद्रा वहाँ रहती है। अर्थात् सुषुम्ना में जब प्राणों का संचार होने लगता है तो सुषुम्नागत वायु को ही खेचरी मुद्रा खाकर रहती है। वहीं सत्य की प्रतिष्ठा है।

सोम और सूर्य-इडा और पिंगला-के मध्य में निरालम्ब स्थान के तले अर्थात् व्योम चक्र में वह खेचरी मुद्रा रहती है। अब खेचरी का लक्षण बताते हुए कहते हैं। कि जिह्वा के नीचे जो मांस बढ़ जाता है, उसका छेदन करके फिर दोनों हाथों से जीभ को लम्बा करने को उसका दोहन चालन करे। अर्थात् जिह्वा के नीचे की नाड़ियों के मल को जला दे तब जिह्वा लम्बी और पतली हो जायगी, उस समय दृष्टि को तो दोनों भौंहों के मध्य में जमाले, जिह्वा को उलटी करके कपाल कुहर में उसे पहुँचा दे। उसी को खेचरी मुद्रा कहते हैं। जिह्वा और चित्त दोनों जब आकाश विचरण करते हैं, जब जिह्वा पलट कर उलटी होकर ऊपर की ओर जाने लगती है, तब साधक अमर हो जाता है।"

वाम पाद के मूल से-अर्थात् बायीं पेड़ी से-योनि

संपीडन करके तथा दायें पैर को फैलाकर उस फैले हुए पैर को दोनों हाथों से कसकर पकड़े। फिर दोनों नासिका पुटों से वायु को भीतर की ओर खींचकर उदर में भर ले और कण्ठ को बाँधकर—अर्थात् जालन्धर बन्ध करके—वायु को धारण करे रहे। इससे सभी प्रकार के क्लेशों का नाश हो जायगा। उस समय ऐसी मुद्रा करने से शरीरस्थ विष अमृत की भाँति जीर्ण हो जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त तथा कुष्ठादि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। यही प्राणों के विजय करने का उपाय है, सभी प्रकार की मृत्युओं का उपघातक है, अर्थात् अकाल मृत्यु को हरण करने वाला है—

बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान में स्थापित करके दक्षिण जो दायाँ चरण है उसे बायीं ऊरु पर रखकर वायु को बाहर से खींचकर उदर में भर ले। चिबुक को दृढ़ता से कसकर हृदय में लगा ले। योनि स्थान का आकुञ्चन करके—सिकोड़ कर—मन के मध्य में प्राणों को यथा शक्ति धारण करके अपनी आत्मा का चिन्तन करे। इस प्रकार की भावना से अपरोक्ष सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

बाहर से प्राणों को खींचकर, उदर में भर ले। फिर उस वायु को नाभि के मध्यभाग में, नासिका के अग्र भाग से पैर के अँगूठे तक यत्न पूर्वक मन के द्वारा धारण करे, दोनों सन्ध्याओं के समय अथवा सभी समय इस अभ्यास को करे। तो वह साधक सभी प्रकार के रोगों से विनिर्मुक्त हो जाता है और उसका समस्त श्रम नष्ट हो जाता है। अर्थात् स्वस्थ हो जाता है। नाभि के मध्य में प्राण धारण करने से समस्त रोगों का नाश हो जाता है। पैरों के अँगूठों में प्राण धारण करने से शरीर में लघुता आ जाती है।

जिह्वा से वायु को खींचकर जो साधक वायुपान करता है,

उसे श्रम, दाहादि नहीं होते उसकी समस्त व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। दोनों सन्ध्याओं में जो ब्रह्मवेत्ता वायु को खींचकर पीता है, तीन महीने में ही उसकी वाणी सरस्वती कल्याणी हो जाती है। इस प्रकार छैः महीने अभ्यास करने से सर्व रोगों की निवृत्ति हो जाती है।

जिह्वा से वायु को खींचे और जिह्वा के मूल भाग में उसका निरोध कर ले। इस प्रकार जो विद्वान् ऐसे अमृत का पान करता है, उसका सर्वत्र सम्पूर्ण कल्याण ही कल्याण होता है। अपनी आत्मा से ही आत्मा को इडा में धारण करके दोनों भौंहों के मध्य में उसे विभेदन करके धारण करता है तो उसे देवताओं का जो आहार-अमृत है उसकी प्राप्ति होती है और वह सभी प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो जाता है।

इडा और पिंगला दोनों नाड़ियों से जो वायु को खींचकर उसे नाभि में तथा तुन्द के दोनों पार्श्वों में एक घड़ी पर्यन्त धारण किये रहता है, वह समस्त व्याधियों से छूट जाता है।

एक महीने पर्यन्त तीनों सन्ध्याओं में वायु को जिह्वा से पीकर उस अमृत को उदर में, तुन्द में धारण करता है उसके सभी प्रकार के ज्वर-अर्थात् रोग नष्ट हो जाते हैं, सभी प्रकार के विष पच जाते हैं। जो साधक एक मुहूर्त तक भी नित्य ही नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगाकर मन से ध्यान करता है, तो वह सभी पापों से छूट जाता है, सैकड़ों जन्मों के किये पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तक यम, नियम, आसन और प्राणायाम योग के इन अंगों का वर्णन किया। अब आगे प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि के सम्बन्ध में जैसे बताऐंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

दिवस निशा तजि भेद सतत श्रीहरिकूँ पूजो।
प्रभु पूजा कूँ छोड़ि मुक्ति मारग नहिँ दूजो॥
जिह्वा तैं पी पवन उदर में ताकूँ धारो।
आधि व्याधि सब क्लेश, और सबरे विष जारो॥
नासा तैं खींचो अनिल, उदर माहिँ धारन करो।
यों तन मन के रोग सब, प्राण धारि सुख तैं हरो॥

(६१) शांडिल्य-उपनिषद्-सार (४)

[३२८]

यश्च विश्वं सृजति विश्वं
विभर्ति विश्वं भुङ्क्ते स आत्मा ।
आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि ।
माशोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यति ॥*

(शा० उ० २ अ० अन्तिम० मं०)

छप्पय

प्रत्याहारहु पाँच विषय जो पंच कहावैं ।
इन्द्रिय विचरति तिनहिँ हटावैं मन में लावैं ॥
पाद, गुल्फ, उरु, जाँघ, जानु, गुद, लिंग नाभि, हृद ।
कण्ठ कूप, भ्रूमध्य, तालु, नासा, ललाट सिर ॥
आँखि, मरम सोलह कहे, थल तिनि विचरत चित रहत ।
जिनिमें जस संयम करो, सिद्धि होइ तिनि में तुरत ॥

मन और प्राण दोनों की गति एक है। मन के संयम से

---

* अथर्वा मुनि कहते हैं—"जो सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न करता है, उत्पन्न करके उसका धारण पोषण पालन करता है, अन्त में जो उसे भक्षण कर लेता है, वही आत्मा है। आत्मा में ही उन लोकों को जानो। तुम सोच मत करो जो आत्मा विज्ञानी हो जाता है, वह शोक को तर जाता है, शोक के उस पार चला जाता है।"

प्राण संयमित हो जाते हैं और प्राणों से संयम से मन संयमित हो जाता है। मन को एकाग्र करके प्राण वायु को जिस स्थान में जिस मन्त्र में, जिस लोक में स्थिर कर दें, चित्त की बिखरी वृत्तियों को एकत्रित करके जहाँ पर लगा दें, उस एकाग्र हुई वृत्ति का ही नाम संयम है। प्राणायाम करके मन सहित प्राण को भावनानुसार जहाँ भी दृढ़ता से लगा दे, तो समाहित चित्त में संयमित मन में अपार शक्ति हो जाती है। यह संयम भी प्राणायाम का ही एक अङ्ग है। आगे इसी को बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक मूहूर्त पर्यन्त भी नित्य-नित्य नासिका के अग्र भाग पर ध्यान लगाकर प्राणों के संयम का जो अभ्यास करता है, तो योग मार्ग में जो अन्तराय रूप में जन्मान्तर कृत पाप हैं, वे सैकड़ों जन्मों के किये हुए पाप इस ध्यान से नष्ट हो जाते हैं।"

तारमन्त्र–जो ओंकार है, उसमें संयम करने से सकल विषयों का अपने आप ही ज्ञान हो जाता है। नासिका के अग्रभाग में चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान हो जाता है। नासिका के नीचे चित्त संयम से अग्निलोक का, चक्षु में चित्त संयम से सभी लोकों का, श्रोत्र में संयम से यमलोक का, उसके पार्श्व में करने से निर्ऋतिलोक का, उसके पृष्ठभाग में संयम से वरुण लोक का, वाम कर्ण के संयम से वायुलोक का, कण्ठ में सोम लोक का, बायें चक्षु में करने से शिवलोक का, सिर में ब्रह्मलोक का, पैर के नीचे भाग में करने से अतललोक का, पाद में वितल, पाद सन्धियों में नितल, जंघों में करने से सुतल, जानुओं में करने से महातल, ऊरुओं में करने से रसातल, कटि में करने से तलातल, नाभि में से भू लोक, दोनों कुक्षियों में से भुवर्लोक, हृदय में से स्वर्गलोक, हृदय के ऊर्ध्व भाग में करने से महर्लोक,

कण्ठ में करने से जनलोक का, भ्रूमध्य में से तपोलोक, मूर्धा में करने से सत्यलोक का ज्ञान हो जाता है, धर्माधर्म में करने से अत त अनागत का ज्ञान हो जाता है। जिस-जिस जन्तु की ध्वनि में संयम करने से उस जाति के समस्त जन्तुओं का ज्ञान हो जाता है। अपने संचित कर्मों में चित्त संयम से पूर्वजाति का ज्ञान हो जाता है। दूसरे के चित्त में चित्त संयम करने से परचित्त का ज्ञान हो जाता है। शरीर रूप में चित्त संयम से दूसरों को अपना शरीर दिखायी नहीं देता। बल में चित्त संयम करने से हनुमान् आदि महाबलियों के सदृश बल हो जाता है। सूर्य में चित्त संयम से भुवनज्ञान, चन्द्र में करने से तारा व्यूह ज्ञान, ध्रुव में से तद्गति दर्शन, स्वार्थ में संयम करने से पुरुष ज्ञान, नाभिचक्र में करने से कायव्यूह ज्ञान, कण्ठ कूप में से क्षुधा पिपासा की निवृत्ति, कूर्म नाड़ी में से स्थैर्य, तारा में से सिद्ध दर्शन, काया के आकाश में संयम करने से आकाश में गमन करने की शक्ति आ जाती है। जिस-जिस स्थान में संयम करोगे उसकी सिद्धि प्राप्त हो जायगी। यह तो प्राणायाम द्वारा प्राण चित्त के संयम की महिमा कही। इस प्रकार यम, नियम, आसन और प्राणायाम इन योग के चार अङ्गों का वर्णन हुआ। अब पाँचवें प्रत्याहार के सम्बन्ध में भी सुनिये। अब प्रत्याहार विषय को कहते हैं। वैसे प्रत्याहार शब्द का अर्थ है अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों को हटाकर आत्मा में-इष्ट में-लगाना। जैसे पाँचों इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पांच विषय हैं, उन विषयों से नेत्र आदि इन्द्रियों को बलपूर्वक हटाकर उनको अन्तःकरण में ही लगाना यही प्रत्याहार कहलाता है।

अथर्वा मुनि शाण्डिल्यजी से कह रहे हैं—"देखो, सम्पूर्ण

विषयों से पराङ्मुख होना ही प्रत्याहार है। देखो, (१) पैरों के अँगूठे, (२) गुल्फ (टखना) (३) जंघा, (४) जानु, (५) ऊरु, (६) गुदा, (७) लिंग, (८) नाभि, (९) हृदय, (१०) कण्ठ कूप, (११) तालु, (१२) नासिका, (१३) आखें, (१४) भौंहों का मध्य भाग, (१५) ललाट और (१६) मूर्धा ये सोलह मर्म स्थान हैं। इन इन स्थानों में क्रम से चित्त सहित प्राणों को धारण करने का ही नाम प्रत्याहार है। इन स्थानों में क्रम से प्राणों का, आरोहण,अवरोहण करना, इन्द्रियों को बार-बार विषयों से हटाकर अन्तःकरण में ही लगाना यही प्रत्याहार है। इस प्रकार योग के पाँचवें अंग प्रत्याहार को कहकर अब छटे अंग धारणा को बताते हैं।

कहते हैं—"धारणा तीन प्रकार की होती है। पहिली तो आत्मा में मन को धारण करना। दूसरी धारणा है दहर जो हृदयाकाश है, उसमें बाहर के आकाश को धारण करना। तीसरी धारणा है, शरीर के जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पञ्चभूत हैं उनमें बाहरी पाँच मूर्तियों को धारण करना। अब योग के छटे अंग धारणा को कह कर सातवें अंग ध्यान को बताते हैं।"

देखो, ध्यान दो प्रकार का होता है एक तो सगुण ध्यान और दूसरा निर्गुण ध्यान। सगुण ध्यान तो उसे कहते हैं अपने इष्ट की मूर्ति के अंगों का यथावत ध्यान करना और निर्गुण ध्यान निर्गुण निराकार आत्मा का यथातथ्य ध्यान करना। इस प्रकार ध्यान करते-करते समाधि लग जायगी। अब योग का आठवाँ अङ्ग जो समाधि है उसके सम्बन्ध में बताते हैं।

देखो, ध्यान की परिपक्वावस्था का ही नाम समाधि है। जीवात्मा और परमात्मा की ऐक्य अवस्था का ही नाम समाधि

है। जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ध्याता, ध्यान और ध्येय आदि जो त्रिपुटी हैं। उस त्रिपुटी से रहित जो अवस्था है। जहाँ तीन पृथक-पृथक न रहकर तीनों एक हो जायँ, उस परम आनन्द स्वरूपा शुद्ध चैतन्यात्मिका स्थिति का ही नाम समाधि है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन आठों अङ्गों को कहकर शांडिलोपनिषद् का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।"

अब दूसरे अध्याय में शांडिल्य महर्षि चारों वेदों में जो अलभमान ब्रह्मविद्या है, उसे पूछने के लिये अथर्वा मुनि की शरण में गये। उनसे विनय पूर्वक उन्होंने प्रश्न किया—"भगवन्! अब हमें उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करें, जिससे हमारा श्रेय-कल्याण हो।"

महर्षि शांडिल्य के इस प्रश्न को सुनकर महामुनि अथर्वा ने कहा—"शांडिल्य! तुम ब्रह्म के विषय में पूछते हो?"

देखो, सत्य स्वरूप, विज्ञान स्वरूप तथा अनन्त स्वरूप जो है वही ब्रह्म है। जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् गड्ड-मड्ड-ओत-प्रोत-हो रहा है, जिसमें यह संपूर्ण विश्व ऐति-प्राप्त होता है, जिस एक ही ब्रह्म को जान लेने पर चराचर विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ जाने जा सकते हैं। उस ब्रह्म के हाथ नहीं, पैर नहीं, चक्षु नहीं, श्रोत नहीं, जिह्वा नहीं, शरीर नहीं है। वह अग्राह्य है। जिस का किसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता। उसके सम्बन्ध में कुछ भी न कह कर वहाँ से वाणी बिना कुछ कहे ही लौट आती है। मन भी उसके सम्बन्ध में बिना कुछ विचार किये वाणी के साथ लौट आता है। वह इन्द्रियाँ मन वाणी से नहीं जाना जा सकता। वह केवल ज्ञानगम्य है। यह जो पुरानी प्रज्ञा है उसी

रूप होते हैं। (१) सकल,(२) निष्कल और (३) सकल निष्कल। अब इन तीनों की व्याख्या सुनिये।"

जो सत्य, विज्ञान, आनन्द, निष्क्रय, निरञ्जन, सर्वगत, सुसूक्ष्म, सर्वतोमुख, अनिर्देश्य तथा अमृत स्वरूप है, वही उस ब्रह्म का निष्कल रूप है। निष्कल रूप की व्याख्या करके अब सकल निष्कल के सम्बन्ध में बताते हैं।

देखो, जो सहज अविद्या है, जिसे मूल प्रकृति, माया तथा लोहित शुक्ल कृष्णा भी कहते हैं। उसका जो सहायवान् देव है, जो कृष्ण पिङ्गल मम ईश्वर इष्ट है, वही इस ब्रह्म का सकल निष्कल रूप है। अब इसके सकल रूप के सम्बन्ध में बताते हैं—

देखो, यह जो ज्ञानमय है जो तपस्या द्वारा चीयमान होकर यह कामना करता है कि मैं एक से बहुत प्रजा के रूप में उत्पन्न हो जाऊँ। इसके अनन्तर तपस्या करने से, इस सत्य काम से तीन अक्षर प्राण स्वरूप उत्पन्न हुए। जैसे तीन व्याहृतियाँ, त्रिपदा गायत्री, तीन वेद, तीन वर्ण तथा तीन अग्नियाँ उत्पन्न हुईं। यह जो देव भगवान् हैं वे सर्वैश्वर्य सम्पन्न हैं, सर्वव्यापी तथा सभी प्राणियों के हृदय में संनिविष्ट हैं। वे मायावी हैं, माया द्वारा ही क्रीड़ा करते हैं। वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही विष्णु हैं। वे ही रुद्र, इन्द्र, सर्वदेव तथा समस्त भूतमय हैं। वे ही आगे हैं, वे ही पीछे हैं। वे ही उत्तर, दक्षिण, ऊपर तथा नीचे सर्वत्र हैं। सर्वमय हैं। उस देवता को आत्मशक्ति की आत्मक्रीड़ा से भक्तों के ऊपर अनुकम्पा करने के निमित्त दत्तात्रेय रूप से सुन्दर स्वरूप वाले शरीर पर सुन्दर वस्त्र धारण किये कमल के समान नेत्र वाले तथा चतुर्भुज रूप में प्रकट

जिनकी भुजायें अघोर पापों को नाश करने वाली हैं। यह उस ब्रह्म का सकल रूप है।

इस पर उन अथर्वामुनि से शाण्डिल्य महर्षि ने पूछा—'भगवन्! उसे परंब्रह्म सन्मात्र तथा चिदानन्द एक रस क्यों कहते हैं?"

इस पर अथर्वामुनि ने कहा—"जिससे यह वृद्धि को प्राप्त होता है, अथवा जो इस सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को बढ़ाता है, इसलिये उसे परंब्रह्म कहते हैं। फिर आत्मा क्यों कहते हैं? इस पर बताते हैं, कि जिससे सभी व्याप्त हैं, जो सबको ढक लेता है, सबकी रक्षा करता है और अन्त में सबको भक्षण कर लेता है इसीलिये उसे आत्मा कहते हैं। अच्छा इसे महेश्वर क्यों कहते हैं? जिससे महत् ईश है। अर्थात् महान स्वामी है। यह धन्यात्मक शब्द है। आत्मशक्ति द्वारा महान् ईश्वर है इसीलिये इसे महेश्वर कहते हैं। अच्छा, इसे दत्तात्रेय क्यों कहते हैं? दत्तात्रेय इसलिये कहते हैं, कि अत्रिमुनि ने पुत्र की कामना से सुदुश्चर तप किया था। उनके तप से तुष्ट होकर ज्योतिर्मय भगवान् ने अपने आप को ही दत्त-दे दिया था—इसीलिये भगवती अनसूया के गर्भ से साक्षात् भगवान् ही प्रादुर्भूत हुए। अत्रि मुनि के पुत्र होने से आत्रेय कहाये। पहिले भगवान् ने कहा था। 'मया दत्तम्' मैंने तुम्हें अपने को दे दिया। इसीलिये दत्त+आत्रेय=दत्तात्रेय कहलाये।

अथर्वामुनि शाण्डिल्य महर्षि से कह रहे हैं—"मुनिवर! जो इस प्रकार इन नामों की निरुक्तियों को जानता है, वह सब कुछ जानता है। जो इस विद्या की इस उपनिषद् की उपासना 'सोऽहम्' भाव से करता है, वह ब्रह्मविद् हो जाता है। इस विषय के ये प्राचीन मन्त्र प्रसिद्ध हैं। उनका भाव यह है—जो

कोई इन्द्र नील मणि की आभा वाले शिव,शान्त प्रभु दत्तात्रेय का ध्यान करता है। कैसे हैं वे दत्तात्रेय प्रभु ? वे आत्मामाया में ही निरत रहते हैं, अवधूत रूप में दिगम्बर वेष से रहते हैं। उनका सम्पूर्ण शरीर भस्म से उद्धूलित है, सिर पर जटा जूट धारण किये हुए हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं, दिव्यगुण वाले हैं, जिनके चार भुजायें हैं, जिनके सभी अङ्ग सुन्दर हैं, जिनके नेत्र कमल के सदृश प्रफुल्लित हैं। जो ज्ञान और योग की निधि हैं। समस्त विश्व के गुरु हैं, सभी योगियों के लिये जो अत्यन्त ही प्रिय हैं, जो भक्तों के ऊपर सदा अनुकम्पा करते रहते हैं, जो सबके साक्षी हैं, जो सिद्धों द्वारा सेवित हैं। इस प्रकार के सनातन भगवान् दत्तात्रेय देव का जो निरन्तर ध्यान करते हैं, वे सभी पापों से निर्मुक्त होकर मुक्ति-निःश्रेयस्-को प्राप्त होते हैं। हरि ओं सत्यम्। इस प्रकार यह शाण्डिल्य उपनिषद् समाप्त हुई।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने शाण्डिल्य उपनिषद् का सार आप से कहा। अब आप पैङ्गल उपनिषद् को श्रवण करें।"

छप्पय

त्रिविध धारना कहीं, आत्म-मन धारन करि तहँ।
दहर नभहिं नभ माहिं भूत-तन पंचभूत महँ॥
ध्यान सगुन प्रभुमूर्ति आत्म निरगुन बतलायो।
जीवात्मा-परमात्म एकता लक्ष्य बतायो॥
जाहि समाधिहु कहत मुनि, ब्रह्म व्याप्त सब थल रहत।
ताहि आतमा, ब्रह्मपर, दत्तात्रेयहु प्रभु कहत॥

इति शाण्डिल्य-उपनिषद् सार समाप्त

(६२) पैङ्गल-उपनिषद्-सार (१)

[३२९]

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते-घृतम् ।
अविशेषो भवेत् तद्वज्जीवात्म परमात्मनोः ॥❀

(पै० उ० ४ अ० १० मं०)

छप्पय

वर पैङ्गल उपनिषद् ज्ञाननिष्ठा जामें अति ।
याज्ञवल्क्य मुनि कही महामुनि पैङ्गल के प्रति ॥
परम रहस कैवल्य प्रश्न को उत्तर जामें ।
कैसे यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म प्रविस्यो कस तामें ॥
ब्रह्म-अण्ड जड़ बन परयो, प्रविसि ब्रह्म चेतन करयो ।
माया मोहित ईश यह, जीव भाव प्रापत भयो ॥

उपनिषदें कई प्रकार की हैं, बहुत-सी शैव उपनिषदें हैं। बहुत-सी वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य तथा सौर उपनिषदें हैं, किसी

❀ महामुनि याज्ञवल्क्य पैङ्गल मुनि से कह रहे हैं—"मुनिवर! जैसे जल की कोई नदी है, उसमें घड़ा भरके जल डाल दो, घृत के भरे पात्र में थोड़ा घृत और डाल दो, दूध के भरे पात्र में एक लोटा दूध और डाल दो। तो जैसे विशेष अविशेष दोनों ही मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।"

में ज्ञान की चर्चा है, किसी में कर्म, उपासना योग तथा भक्ति का विषय है। अपने अपने मत को सिद्ध करने को उनमें अपने-अपने सिद्धान्त बताये गये हैं। उनमें प्रायः एक ही-सी बातें कहीं गयी हैं। जैसे योग सम्बन्धी उपनिषदें हैं। उन सबमें प्रायः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन आठ अङ्गों के सम्बन्ध में बताया गया है। कहीं कहीं किसी-किसी में साधारण-सा मतभेद है जैसे यम, नियमों को कोई ५-५ कोई १०-१० कोई बारह-बारह बताती हैं। वास्तव में देखा जाय,तो वह मतभेद भी नगण्य ही है। इसी प्रकार जो ज्ञान प्रधान उपनिषदें हैं, उन सबमे प्रायः जीव ब्रह्म की एकता को ही सिद्ध किया गया है, कहीं-कहीं जीव और ब्रह्म दोनों को अनादि सनातन बताकर द्वैत का भी कथन किया गया है। वास्तव में हमारे यहाँ मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नाः को माना गया है और अन्त में कह दिया है जो जिस भावना से भजता है, वह उसी भाव वाला हो जाता है। इसी सिद्धान्त को भगवान् ने गीता में भी कहा है, जो जैसे मेरी शरण मे आते हैं, मैं भी उन्हें वैसा ही भजता हूँ। क्योंकि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही हो जाता है। पैङ्गल उपनिषद् अद्वैतपरक ज्ञान प्रधान उपनिषद् है। इसका 'पूर्ण मदः' इत्यादि शान्तिपाठ है। चार अध्यायों वाली यह छोटी-सी उपनिषद है, इसमें पैङ्गल मुनि और याज्ञवल्क्यजी का सम्वाद है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको पैङ्गल उपनिषद् का सार सुनाता हूँ। एक पैङ्गल नाम के ऋषि थे। वे ज्ञान प्राप्ति के निमित्त महान् ज्ञानी, सुप्रसिद्ध ब्रह्म तत्त्ववेत्ता महामुनि याज्ञवल्क्यजी की शरण में गये। और वहाँ जाकर यथोचित शिष्टाचार के अनन्तर उन्होंने विधिवत् गुरु सुश्रूषा करते

उनके समीप बारह वर्षों तक निवास किया। शिष्य को अन्तेवासी इसीलिये कहते हैं, कि वह गुरु के समीप निवास करके उनकी सेवा सुश्रूषा करता है। जो ज्ञानार्थी कम से कम एक वर्ष तक अपने समीप रहकर सेवा न करे उसे ज्ञानोपदेश नहीं करना चाहिये। सामान्यतया बारह वर्ष गुरु की सेवा करने के अनन्तर साधक उपदेश प्राप्त करने का अधिकारी होता है। पैङ्गल मुनि ने बारह वर्षों तक भगवान् याज्ञवल्क्य की सेवा की। बारह वर्ष सेवा करने के अनन्तर उन्होंने गुरुदेव से जिज्ञासा की—"भगवन्! जो परम रहस्यमय कैवल्य तत्त्व है, कृपा करके उसे आप मुझे बतावें।"

अपने अनुगत शिष्य पैङ्गल मुनि के प्रश्न को सुनकर महामुनि याज्ञवल्क्य कहने लगे—"हे सोम्य! वह देव इस जगत् से भी आगे था। वह नित्य, मुक्त, अविक्रिय, सत्यज्ञान आनन्द रूप, परिपूर्ण, सनातन, एक तथा अद्वितीय ब्रह्म है। उसमें मरु शुक्तिका की भाँति, स्थाणु स्फटिक की भाँति, जल में चाँदी की रेखा आदि की भाँति लाल, शुक्ल और कृष्ण गुणमयी, साम्यगुण वाली अनिर्वचनीया एक मूल प्रकृति है। उस अनिर्वचनीया माया में प्रतिबिम्बित साक्षी चैतन्य है। वह मूल प्रकृति जब अपनी गुण साम्यता को छोड़कर विकृति को प्राप्त होती है तो वही सत्त्वगुण से उद्रिक्त होकर अव्यक्त आवरण शक्ति हो जाती है, उस आवरण शक्ति में जो प्रतिबिम्बित है वह ईश्वर चैतन्य कहलाता है। वह ईश्वर चैतन्य स्वाधीन माया वाला है, सर्वज्ञ है, सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय इन सबका आदि कर्ता है। वह जगत् का अंकुर स्वरूप है।

उसी में सम्पूर्ण जगत् विलीन रहता है, समय पाकर पुनः जगत् का आविर्भाव हो जाता है। क्यों हो जाता है? प्राणियों

के कर्मों के कारण। जैसे सूत है जब उसका पट बन जाता है तह करके रखो फिर जब फैल जाता है तब लम्बा हो जाता है। पट में सूत्र के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर के अतिरिक्त जगत् में कुछ भी नहीं है। कर्मों के भोगों के लिये जगत् होता है, जब प्राणियों के कर्म क्षय हो जाते हैं, तो यह तिरोहित हो जाता है। उस चैतन्य ईश्वर में अखिल विश्व उसी प्रकार है जैसे संकुचित कपड़े के थान में विस्तृत वस्त्र। ईश्वर अधिष्ठित जो आवरण शक्ति है, उसे रजोगुण प्रधान जो महत् तत्त्व है, वही विक्षेप शक्ति है। उससे प्रतिबिम्बित जो है वही हिरण्यगर्भ चैतन्य है। वह महत्तत्वाभिमानी स्पष्ट और अस्पष्ट शरीर वाला होता है। हिरण्यगर्भ अधिष्ठित विक्षेप शक्ति से तम प्रधान अहंकार शक्ति होती है। उससे प्रतिबिम्बित विराट् चैतन्य होता है। उसका जो अभिमानी है वह स्पष्ट शरीर वाला होता है। समस्त स्थूल वर्ग का पालन करने वाला विष्णु प्रधान पुरुष होता है। उसके प्रकाश से आकाश की उत्पत्ति होती है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी होती है। इन पाँचों से शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पाँच तन्मात्रायें होती हैं। सृष्टि करने की कामना से जगत् योनि तमोगुण को अधिष्ठित करके सूक्ष्म जो तन्मात्रायें हैं तथा सूक्ष्मभूत हैं, इन्हें स्थूल करने की कामना करता है। सृष्टि में जो परिमित भूत हैं, उन सबको दो भागों में बाँटकर दूसरे भाग के चार भाग करके एक भाग में शेष भाग के चतुर्थांश चतुर्थांश मिलाकर पाँच प्रकार संयोजन करके सब भूतों को पंचीकृत बना देता है। जैसे पृथ्वी है। उसके दो भाग कर दिये। तो आधा भाग तो पृथ्वी का और आधे भाग में जल, तेज, वायु और आकाश के चतुर्थांश चतुर्थांश मिलाकर पृथ्वी का पंचीकरण हो गया।

जैसे ५० भाग तो पृथ्वी और साढ़े बारह-साढ़े बारह भाग जल, तेज, वायु और आकाश के सब मिलाकर पंचीकृत पृथ्वी बन गयी। ऐसे ही पाँचों भूतों का पंचीकृत बना लो। इन पंचीकृत भूतों मे ही अनन्त कोटि ब्रह्मांडों की रचनायें होती हैं। उन-उन ब्रह्मांडों के उचित ही चौदह-चौदह भुवन बन जाते है, उन भुवनों के उचित गोलक, स्थूल शरीरों को उत्पन्न करते हैं। उन पंच-भूतों में से रजोगुण के अंश को चतुर्धा करके तीन भाग से पाँच वृत्त्यात्मक प्राण को उत्पन्न करता है, अब बचा एक चौथा भाग, उसके द्वारा कर्मेन्द्रियों को बनाता है। उनमें से वह सत्वांश को भी चार भागों में बाँटता है। तीन भागों को लेकर तो वह पञ्च-क्रिया वृत्त्यात्मक अन्तःकरण को उत्पन्न करता है। अब जो एक चौथा भाग बच गया, उससे ज्ञानेन्द्रियों को और सत्त्व समष्टित इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों—इन्द्रिय पालकों—को बनाता है। इन सबको बना बनाकर वह ब्रह्मांड में फेंकता जाता है। उसकी आज्ञा से ये सबके सब समष्टि अंड को व्याप्त करके उनमें स्थित हो जाते हैं, बैठ जाते हैं। उसकी आज्ञा से अहंकार समन्वित जो विराट् पुरुष है, वह स्थूल पदार्थों की रक्षा करता है। और उसी की आज्ञा से जो हिरण्यगर्भ पुरुष है सूक्ष्म पदार्थों की रक्षा करता है। अण्डस्थ जितने भी पदार्थ हैं उसके बिना वे सब स्पन्दन करने में, किसी भी प्रकार की चेष्टा करने में भी समर्थ नहीं हो सकते। वे सब शव के सदृश स्पन्दन हीन पड़े रहते हैं। उनको चैतन्य बनाने की वह कामना करता है। तब वह क्या करता है, कि ब्रह्मांड का जो सबसे ऊपर का भाग है जिसे ब्रह्माण्ड ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, जो समस्त व्यष्टि का मस्तक रूप है, उस मस्तक को फोड़कर उस छेद द्वारा वह उस ब्रह्मांड के भीतर प्रवेश करता है। उसके प्रवेश करते ही ये इन्द्रियाँ तथा

अन्तःकरणादि जड़ होने पर भी चैतन्य की भाँति अपने-अपने कार्यों को करने लगते हैं। सर्वज्ञ ईश माया के लेश से समन्वित हो जाने पर इस व्यष्टि देह में प्रविष्ट होने से माया से मोहित होकर जीव संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों में तादात्म्य भाव होने से अपने में कर्तृत्व भोक्तृत्व का आरोप कर लेता है। जब अपने को कर्ता भोक्ता मान बैठता है, तब जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा तथा मरण धर्मी मानकर इन धर्मों से युक्त होकर घड़ी के यन्त्र की भाँति सदा उद्विग्न बना रहता है मृतक की भाँति जैसे कुम्हार का चाक घूमता रहता है, उसी प्रकार वह संसार चक्र में घूमता रहता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर पैङ्गल उपनिषद् का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।"

अब द्वितीय अध्याय में पैङ्गल महर्षि महामुनि याज्ञवल्क्यजी से पूछते हैं—"भगवन्! समस्त लोकों की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करने वाले भगवान् विभु जीव भाव को कैसे प्राप्त हो जाते हैं?"

यह सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार के शरीर होते हैं। इन तीनों के उद्भव पूर्वक जो जीव और ईश्वर का स्वरूप है उसकी विवेचना करके मैं तुमसे इस विषय को कहता हूँ। बड़ी सावधानी के साथ एकाग्रचित्त होकर इस विषय को श्रवण करो। ईश्वर पंजीकृत जो महाभूत हैं, उनमें से लेशमात्र लेकर व्यष्टि और समष्ट्यात्मक स्थूल शरीर को यथाक्रम बनाते हैं। कैसे बनाते हैं? किस-किस भूत से कौन-कौन-सी वस्तुएँ बनती हैं? इसे बताते हुए कहते हैं—"कपाल, चर्म, आँतें, हड्डियाँ, माँस और नख ये नौ

पृथ्वी के अंश हैं। रक्त, मूत्र, लार, पसीना आदि जल के अंश हैं। क्षुधा, तृष्णा, उष्णता, मोह तथा मैथुनादि अग्नि के अंश हैं। चलना, उठाना, श्वास, प्रश्वासादि वायु के अंश हैं। काम तथा क्रोधादि ये आकाश के अंश हैं। इन सबका संघात मिश्रण-होकर तथा संचित कर्मों द्वारा यह त्वचा आदि धातुओं से युक्त, बाल्य, युवा तथा वृद्धादि अवस्थाओं के अभिमान से युक्त, बहुत से दोषों का आश्रय यह स्थूल शरीर बनता है। अपंचीकृत जो महाभूत हैं, उनमें से रजोगुण के तीन भाग समष्टित द्वारा प्राण बनते हैं। ये प्राण पाँच प्रकार के होते हैं। उनके नाम प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान हैं। पाँच ही उप प्राण हैं, उनके नाम नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, और धनंजय हैं। इन प्राणों के स्थान हृदय, आसन, नाभि, कंठ तथा सर्वाङ्ग हैं।

आकाशादि रजोगुण के तुरीय चौथे भाग से कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न करता है, वे कर्मेन्द्रियाँ-वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिंग ये हैं। बोलना, उठाना, धरना, चलना, मल विसर्जित करना तथा संगम सुखानुभूति ये इन पाँचों कर्मेन्द्रियों के क्रमशः विषय हैं।

इस प्रकार अपंचीकृत सत्वांश के त्रय भाग समष्टित द्वारा अन्तःकरण को उत्पन्न करता है। वह अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चार प्रकार का होता है। इन चारों के क्रमशः संकल्प, निश्चय, स्मरण तथा अभिमान अनुसंधान ये चार विषय हैं। इन चारों के गला, मुख, नाभि, हृदय और भ्रूमध्य ये रहने के स्थान हैं। अब अपंचीकृत भूतों के सत्त्व के चतुर्थ भाग द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की रचना की। वे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये हैं। इन पाँचों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय हैं। पाँच ज्ञान इन्द्रिय,

पाँच कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण इन सबके क्रमशः (१) दिशा, (२) वायु, (३) सूर्य, (४) प्रचेता, (५) अश्विनीकुमार, (६) इन्द्र, (७) अग्नि, (८) उपेन्द्र, (९) मृत्यु (१०) चन्द्रमा, (११) विष्णु, (१२) चतुर्मुख ब्रह्मा, और (१३) शम्भु ये इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव हैं।

इस शरीर में (१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय और (५) आनन्दमय ये पाँच कोश हैं। जो अन्न रस द्वारा होकर, अन्न रस द्वारा वृद्धि को प्राप्त होकर अन्न रसमय पृथ्वी में विलीन हो जाता है वह अन्नमय कोश कहलाता है। उसी को स्थूल शरीर भी कहते हैं। कर्मेन्द्रियों के साथ जो पंच प्राण हैं वे ही प्राणमय कोश हैं। ज्ञानेन्द्रियों के साथ जो मन है वही मनोमय कोश है। ज्ञान इन्द्रियों सहित जो बुद्धि है वही विज्ञानमय कोश है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय ये तीनों कोश लिंग शरीर कहलाते हैं। स्वरूपा ज्ञान आनन्दमय कोश है यही कारण शरीर कहलाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण, पाँच विषय, चार अन्तःकरण, काम, कर्म, और तम ये आठ पुर हैं।

ईश की आज्ञा से विराट् जो है वह व्यष्टि देह में प्रवेश करके बुद्धि को अधिष्ठित करके विश्व बन जाता है। विज्ञानात्मा जो चिदाभास है वह विश्व व्यावहारिक जागृत अवस्था का तथा स्थूल देह का अभिमानी होता है। इसीलिये इस विश्व का नाम कर्म भू होता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थायें हैं, विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और तुरीय ये इनके अधिष्ठातृ देव हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये शरीर भेद हैं। विश्व के सम्बन्ध में कहकर अब तैजस के सम्बन्ध में बताते हैं।

ईश की आज्ञा से जो सूत्रात्मा है वह व्यष्टि सूक्ष्म शरीर

में प्रवेश करके मन को अधिष्ठित करके तैजसपने को प्राप्त हो जाता है। तैजस जो है वह प्रातिभासिक है, स्वप्न कल्पित है इसी लिये इसका नाम तैजस है। तैजस को बताकर अब प्राज्ञ को बताते हैं—

ईश की आज्ञा से जो मायोपाधिक, अव्यक्त समन्वित है वह व्यष्टि कारण शरीर में प्रवेश करके प्राज्ञत्व को प्राप्त होता है। प्राज्ञ जो है वह अविच्छिन्न पारमार्थिक है और सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी है इसीलिये इसका नाम प्राज्ञ है।

अव्यक्त लेश अज्ञान से आच्छादित जो पारमार्थिक जीव है, उस जीव की 'तत्त्वमसि' आदि जो महावाक्य हैं उनके द्वारा ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त होती है। दूसरे व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक शब्दों द्वारा एकता सिद्ध नहीं होती। अन्तःकरण प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है वही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को भोगने का अधिकारी होता है। वहां अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चैतन्य जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन अवस्थाओं में प्राप्त होकर, जैसे घड़ी का यन्त्र सदा उद्विग्न रहता है, उसी प्रकार वह सदा उद्विग्न बना रहता है। उसकी सुषुप्ति अवस्था में मृतक की भाँति स्थिति हो जाती है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा और मरण ये जीव की पाँच अवस्थायें होती हैं। वे अवस्थायें उन-उन के अधिष्ठातृ देवताओं से युक्त होती हैं। जाग्रत अवस्था किसे कहते हैं ?

जब श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द, रूप रसादि विषयों के ग्रहण करने के ज्ञान में समर्थ होती हैं उस अवस्था का नाम जाग्रत अवस्था है। उस समय दोनों भौंहों के मध्य में जीव रह कर पैर से मस्तक तक व्याप्त होकर सोती श्रवण दर्शनादि समस्त क्रियाओं का कर्ता होता है और उन-उन क्रियाओं के फलों का

भोक्ता भी होता है। लोकान्तरगत जो कर्मार्जित फल हैं उनका भी भोक्ता वही है। यह तो जाग्रत अवस्था के सम्बन्ध में हुआ। अब आप स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में श्रवण कीजिये।

वह जीवात्मा सार्वभौम राजा की भाँति जब व्यवहार से श्रान्त होकर भीतर महल में–अन्तःपुर में–विश्राम के निमित्त प्रवेश करता है। उस समय उसकी समस्त इन्द्रियाँ उपराम को प्राप्त हो जाती हैं। उस समय जाग्रत अवस्था के जो संस्कार हैं उन्हीं के अनुसार ऐसे व्यवहारों को देखता करता है। जैसे वह प्रबोध अवस्था में करता था, देखता सुनता था, सुप्त और जाग्रत की मध्यावस्था में जो जाग्रतवत ग्राह्य ग्राहकरूप कर्मों का स्फुरण होना है उसी का नाम स्वप्नावस्था है। उस अवस्था में विश्व ही जाग्रत अवस्था के लोप होने से नाड़ी के मध्य में विचरण करके तैजसत्व को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जो जाग्रत अवस्था का अभिमानी विश्व ही स्वप्नावस्था प्राप्त होने पर उसके अभिमानी रूप में तैजस नाम वाला होकर जगत की अनेक प्रकार की घटनाओं को जाग्रत की भाँति देखता हुआ यथेप्सित भावों को स्वयं ही भोग करता है। इस प्रकार जाग्रत और स्वप्नावस्था के विषय में कहकर अब सुषुप्ति अवस्था के सम्बन्ध में बताते हैं। सुषुप्ति किसे कहते हैं ?

चित्त की जो एकतानता है, वही सुषुप्ति अवस्था कहलाती है। जैसे उड़ते-उड़ते पक्षी श्रमित होकर अपने नीड़–घोंसले में विश्राम करने को पंखों को समेटकर अपने कोटर में–घोंसले में–घुसकर बैठ जाता है, वैसे ही जीवात्मा जाग्रत अवस्था तथा स्वप्नावस्था के प्रपञ्चों से थककर अज्ञान में प्रवेश करके स्वानन्द का उपभोग करता है वही सुषुप्ति अवस्था होती है।

स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को बताकर मूर्छा अवस्था के सम्बन्ध में बताते हैं—

अकस्मात् किसी ने मुद्गरों से डण्डों से मार-मारकर उसे आहत कर दिया। उस समय ताड़ना से, भय तथा अज्ञान से जो इन्द्रियाँ शिथिल होजाती हैं काँपने लगती हैं मृतक तुल्य अवस्था हो जाती है उसी का नाम मूर्छा है। पेड़ आदि ऊँचे स्थान से गिरने से भी मूर्छा होती है, मूर्छा एक रोग भी है, उस समय प्राणी मृतकवत् अचेतन हो जाता है। अब मूर्छा अवस्था को बताकर मरण अवस्था के सम्बन्ध मे बताते हैं। मरणावस्था किसे कहते हैं ?

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्छा इन चारों अवस्थाओं के अतिरिक्त, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सभी जीवों को भय पहुँचाने वाली स्थूल देह को विसर्जित करा देने वाली अवस्था का ही नाम मरणावस्था है। उस समय कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों को तथा इन इनके विषयों को प्राण साथ लेकर काम कर्मों से समन्वित होकर अविद्याभूत से लिपटा हुआ जीव देहान्तर को प्राप्त होकर अन्य-अन्य लोकों को चला जाता है। पहिले जन्मों में किये हुए कर्मों के फल पाक के कारण जैसे नदी के आवर्त में पड़ा हुआ कीड़ा इधर से उधर भ्रमण करता रहता है, उसी प्रकार जीव कर्मानुसार नाना योनियों में आता जाता रहता है। उसे विश्रान्ति नहीं मिलती। जब सभी कर्मों का नाना योनियों में भोगते-भोगते परिपाक हो जाता है, तो सत् कर्मों के परिपाक से बहुत जन्मों के पश्चात् यह मनुष्य योनि प्राप्त होती है। तब इस मनुष्य योनि में जीव को मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है। जब मोक्ष की इच्छा हृदय में उत्पन्न होती है तो जीव सत् गुरु का आश्रय लेता है। जब चिरकाल तक गुरु सेवा करता है तो

कोई कोई इस संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। अविचार से ही बन्धन होता है और विचार से मुक्ति होती है। इसीलिये सदा सर्वदा विचार करते रहना चाहिये। अध्यारोप और अपवाद द्वारा स्वरूप का निश्चय करने में समर्थ हो सकता है। इसीलिये सदा सर्वदा विचार करते रहना चाहिये, कि यह जगत क्या है? जीवात्मा क्या है? परमात्मा क्या है? जीव भाव ही जगत-भाव है। जीव भाव जगद् भाव को बाधित करके प्रत्यक् अभिन्न केवल ब्रह्मभाव ही अवशेष रह जाता है। अर्थात जीव का और जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होने पर एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म अवशिष्ट रहता है। इसीलिये सदा महावाक्यों का ही अनुसन्धान करते रहना चाहिये।" यहाँ आकर पैङ्गल उपनिषद् का द्वितीय अध्याय समाप्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"यहाँ तक देह के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों रूपों का, तीनों अवस्थाओं और उनके अधिष्ठातृ देवों का वर्णन हुआ। अब आगे जिस प्रकार तीसरे अध्याय में महावाक्यों का विवरण बताया जायगा, उस विषय को मैं आगे कहूँगा। आशा है आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जीव भाव कस भयो जगत उत्पत्ति बताई।
पंचभूत तें व्यष्टि समष्टिहु सृष्टि जताई॥
जीव कहाँ कस रहै अवस्था तीनि देव तिनि।
दश इन्द्रिय अरु प्रान करन अन्तः करमहु जिनि॥
काम सहित सब आठ पुर, सोवै जीवहु पुरुष जो।
जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अरु, मूर्छा मरनहु पंच सो॥

—०—

६२–पैङ्गल-उपनिषद्-सार (२)

[३३०]

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्
तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥
(पं० उ ३ अ० ४ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य ने महा वाक्य विवरण बतलायो ।
तत्-त्वं असि इन वाक्य खोलि पुनि पुनि समुझायो ॥
श्रवन मनन करि निदिध्यासकी युक्ति बताई ।
कैसे लगे समाधि वृत्ति चित की समुझाई ॥
जीवन्मुक्त स्वरूपकूँ, खोलि खोलि के सब कह्यो ।
त्यागि देह विषयनि रहित, पद कैवल्यहु सो लह्यो ॥

अभ्यास के द्वारा जिसकी अहंता ममता नष्ट हो गयी है। जिसे यह प्रत्यक्ष अनुभव हो गया है, कि देह से आत्मा सर्वथा

---

* जीवन्मुक्त शरीर त्यागकर जब विदेह मुक्त हो जाता है तब वहाँ अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, नित्य, अनादि, अनन्त, महान् परमध्रुव अमल तथा निरामय ब्रह्म ही ब्रह्म अवशेष रह जाता है।

पृथक् है। मैं देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, अन्तःकरण नहीं। मैं इन सबका स्वामी आत्म स्वरूप हूँ। मैं जीव नहीं ब्रह्म ही हूँ। मैं माया से अतीत शुद्ध, बुद्ध, नित्य, सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ, तब वह संसार के सभी शोक, मोह, राग द्वेषादि विकारों से सदा सदा के लिये छूट जाता है। जब तक द्वैत है तब तक बन्धन है, जहाँ द्वैत भाव समाप्त हुआ वहाँ कैवल्य ही कैवल्य रह जाता है। यह सब होता है, निरन्तर महावाक्यों के चिन्तन मनन तथा निदिध्यास से। उसी विषय को आगे बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पैङ्गल उपनिषद् के तृतीय अध्याय में भगवान् याज्ञवल्क्यजी से पैङ्गल मुनि ने कहा—"भगवन्! अब आप हमसे महावाक्य के विवरण का कथन करें।"

पैङ्गल मुनि का परम पावन प्रश्न सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य कहने लगे 'तत्त्वमसि' यह महा वाक्य है। इसका अन्वय यों करो त्वं-तद्-असि। इसमें तीन पद हैं। त्वं-तद् और असि। अर्थात् तुम ब्रह्म हो। इसी भाव का दूसरा महावाक्य है 'अहं ब्रह्मास्मि' इनका अनुसन्धान करना चाहिये। पारोक्ष्य शबल जो सर्वज्ञादि लक्षणों से युक्त मायोपाधिक सच्चिदानन्द लक्षण जगत्योनि है वह 'तत्' पदवाच्य है। अर्थात् पद से मायोपाधिक सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही ग्रहण है। यह तो 'तत्' पद का वाच्यार्थ हुआ। अब 'त्वम्' का अर्थ सुनो। वह मायोपाधिक ब्रह्म ही अन्तः-करण से संभिन्न बोध अस्मत् प्रत्यय का अवलम्बन करके 'त्वम्' पद वाच्य होता है। परजीवोपाधि जो माया तथा-अविद्या हैं उन्हें छोड़कर तत्त्वं पद का जो लक्ष्य है, वही प्रत्यक अभिन्न ब्रह्म है। यह तो 'तत्त्वमसि' का अर्थ हुआ।

अब 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महा वाक्य के अर्थ पर विचार करने

को श्रवण कहते हैं। श्रवण किये हुए उपदेश का एकान्त में बैठकर जो अनुसंधान किया जाता है उसका नाम मनन है। जैसे गुरु ने उपदेश दिया–वह ब्रह्म तुम ही हो। तो इसे सुनकर एकान्त में बैठकर अनुसंधान करे कि गुरु ने मुझे ही ब्रह्म बताया है। इस प्रकार की ऊहापोह का नाम मनन है। तथा श्रवण, मनन की निःशेष भाव से विचिकित्सा करके वस्तु की एकतानता करके उसे चित्त में स्थापना करने का नाम निदिध्यासन है।

ध्याता और ध्यान को छोड़कर जैसे वायु रहित स्थान में स्थित दीपक की भाँति ध्येय में एक गोचर हुई जो चित्त की वृत्ति है उसी का नाम समाधि है। उस समय आत्मगोचर जो समुत्थित वृत्तियाँ हैं वे सब अज्ञात हो जाती हैं। अर्थात् समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। ये सब स्मरण से ही अनुमान की जाती हैं। यह जो अनादि संसार में संचित कर्म कोटि हैं, समाधि से वे सबकी सब विलय को प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार निरन्तर के अभ्यास पाटव से सदा सर्वदा सैकड़ों अमृत धारायें वर्षती रहती हैं। इसलिये योग के जानने वाले योगाचार्य समाधि को धर्म मेघ कहते हैं। वासना जाल में निःशेष हुआ इस समाधि के द्वारा प्रविलापित जो कर्म संचय हैं उनमें से उत्पन्न हुए जो पाप तथा पुण्य हैं, वे सबके सब समूल नष्ट हो जाते हैं। पाप पुण्यों के समूल उन्मीलित हो जाने पर प्राक् तथा परोक्ष को भी जैसे हाथ पर रखे हुए आँवले को देखता है, वैसे उसे निदिध्यास के द्वारा अपरोक्ष सत्तात्कार हो जाता है तब वह निश्चय कर लेता है मैं ही ब्रह्म हूँ, ऐसा निश्चय हो जाने पर वह इस शरीर में जीवित रहते हुए भी मुक्त हो जाता है। उसे ही जीवन्मुक्त कहते हैं।

वह जो ईश है जब उसकी इच्छा होती है, कि इन पञ्चीकृत

भूतों को अपञ्चीकृत कर दें। अर्थात् इस विश्व ब्रह्माण्ड को प्रलय कर दें, तब वह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जितने लोक हैं उनके कार्य रूपों को कारण में लीन करके जो सूक्ष्माङ्ग कर्मेन्द्रियाँ और प्राण हैं, तथा ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण चतुष्टय हैं इन सबको एक में मिलाकर गड्ड-मड्ड करके-सम्पूर्ण भौतिक जो कारण हैं उनमें पञ्चभूतों को संयुज्य करके कार्य को कारण में मिलाते जाते हैं। जैसे पृथ्वी को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व को अव्यक्त प्रकृति में, और अव्यक्त प्रकृति को पुरुष में, क्रम-क्रम से लीन करते जाते हैं। विराट् पुरुष, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये जो मायोपाधिक ब्रह्म हैं इनकी उपाधि जब विलय को प्राप्त हो जाती है, तो ये तीनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं। सो हुआ क्या ? कि जो पञ्चीकृत महाभूत हैं, उनसे उत्पन्न जो कर्म संचित स्थूल देह है, वह स्थूल-देह कर्मों के क्षय हो जाने से, सत्कर्मों के परिपाक से, अपञ्ची कृत जो भूत हैं उनमें प्राप्त होकर सूक्ष्म में एकीभूत होकर, कारण रूप को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् कार्य रूप जो पञ्चीकृत निर्मित स्थूल देह है वह अपने कारण अपञ्चीकृत भूतों में मिल जाता है। कार्य कारण में जाकर एक हो जाता है। वह कारण जाकर कूटस्थ जो प्रत्यगात्मा ब्रह्म है उसमें विलीन हो जाता है। फिर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के जो विश्व, तैजस और प्राज्ञ अधिष्ठातृदेव हैं। ये अपनी-अपनी उपाधि में लीन होकर प्रत्यगात्मा ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। यह जो ब्रह्माण्ड है, वह ज्ञान रूपी अग्नि से भस्म होकर-जलकर अपने कारणों के सहित परमात्मा में लीन जाता है।

इसीलिये ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को चाहिये कि वह समाहित चित्त होकर तत्त्वपद को सदा एकता में करता रहे। अर्थात् 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इन महावाक्यों का श्रवण मनन निदिध्यासन निरन्तर करता रहे। इससे होगा क्या ? उस अपार्थ मेघ द्वारा-अर्थात् समाधि द्वारा-सूर्य की भाँति आत्मा का प्रादुर्भाव होगा।

समाधि अवस्था में मध्यस्थ जो आत्मा है, कैसा आत्मा है ? जैसे निर्वात स्थान में-कलश के भीतर-रखा हुआ दीपक है। उस दीपक की निश्चल ज्योति के सदृश-अंगुष्ठ मात्र निर्धूम ज्योति स्वरूप जो आत्मा है उसी का ध्यान करना चाहिये। वह परम ज्योति अन्तःकरण को प्रकाशित कर देगी, इसलिये उस कूटस्थ अव्यय आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये। इसलिये मुनि को चाहिये कि जब तक सो न जांय और जब तक मर न जाय, तब तक निरन्तर उसी का ध्यान करता रहे। जो इस प्रकार निरन्तर सतत उस आत्मा का ही ध्यान करता रहता है वही जीवन्मुक्त है, वही धन्य है और वही कृत कृत्य है। जीवन्मुक्त पद को त्यागकर अर्थात् जब यह शरीर काल कवलित हो जाय, तब शरीर के अन्त हो जाने के पश्चात् तो वह अदेही मुक्तत्व को प्राप्त हो जाता है, जैसे वायु अन्त में अस्पन्दता-स्थिरता में प्राप्त हो जाती है। तब वहाँ शब्द, स्पर्श, रूप, व्यय, रस, गन्ध आदि से रहित, नित्य अनादि अनन्त, महान्, परं ध्रुव वह एकमात्र निरामय ब्रह्म ही ब्रह्म अवशेष रह जाता है। यहाँ आकर पैङ्गल उपनिषद् का तीसरा अध्याय समाप्त हो जाता है।

अब चौथे अध्याय में पैङ्गल मुनि महर्षि याज्ञवल्क्यजी से पूछ रहे हैं—"ज्ञानी पुरुष क्या कर्म करता है ? उसकी स्थिति कैसी होती है ?"

इस पर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पैङ्गल ! सुनो, मुमुक्षु अमानित्व आदि सद्गुणों से सम्पन्न होकर अपने कुल की इक्कीस पीढ़ियों को तार देता है। यदि वही मुमुक्षु जब ब्रह्म-निष्ठ-ब्रह्मवित्-हो जाता है तो एक सौ एक कुलों को तार देता है।"

तुम आत्मा को रथ में बैठने वाला रथी समझो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को घोड़ों की रस्सी मानो। उस शरीर रूपी रथ के घोड़े इन्द्रियाँ हैं, विषय उस रथ के घोड़ों के चलने के स्थान हैं, मनीषियों ने जंगम विमान हृदय को कहा है। शरीर, इन्द्रियं और मन सबके साथ रहने वाला जीवात्मा ही भोक्ता है। इसलिये साक्षात् नारायण ही हृदय में सुप्रतिष्ठित हैं। ज्ञानी पुरुष जीवन्मुक्त होने पर भी जैसे साँप केंचुली को त्यागकर निर्मुक्त हो जाता है वैसे ही जब तक प्रारब्ध कर्म शेष हैं, उन्हें अभिमान शून्य होकर भोगता रहता है। जब प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते हैं तो इस शरीर को त्यागकर विदेह मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त देही चन्द्रमा की भाँति अनिकेतन होकर विचरता रहता है। चाहें तीर्थ स्थान में वह शरीर का त्याग करे अथवा श्वपच के घर में परित्याग करे।

जहाँ भी वह शरीर त्यागता है वहीं विज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष कैवल्य को प्राप्त होता है। प्राणों के छोड़ते ही वह विदेह मुक्त हो जाता है। मरने के अनन्तर उसके शरीर को चाहें दिशाओं में बलि कर दो अथवा गड्ढा खोदकर गाड़ दो। उसके लिये कोई विधि निषेध नहीं रह जाती। जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष के मरने पर न तो अशौच लगता है, न अग्नि में जलाने के अनन्तर जो कार्य किये जाते हैं उनकी आवश्यकता ही है। उसके लिये पिण्डदान-जल तर्पण की भी आवश्यकता नहीं। जो संन्यासी ब्रह्मभूत है

उसका पर्वणादि श्राद्ध भी नहीं करना चाहिये। जो पहिले जला हुआ है, उसका फिर से क्या जलाना, जो पहिले से ही पका हुआ है उसे फिर से पकाने की क्या आवश्यकता। इसी प्रकार जिसका देह ज्ञान रूपी अग्नि से पहिले ही जल चुका है उसकी अन्तेष्टि क्रिया तथा श्राद्धादि करने की आवश्यकता नहीं। जब तक उपाधि है, तब तक गुरु सुश्रूषा करनी चाहिये। गुरु की ही भाँति गुरु की पत्नी की सेवा करनी चाहिये। उनके पुत्रों के साथ भी वैसा ही वर्ताव करना चाहिये।

जब मन विशुद्ध बन जाय, शुद्ध चित्‌रूप का ज्ञान हो जाय, सहिष्णुता आ जाय, 'सोऽहम् अस्मि' वह ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसी सहिष्णुता प्राप्त हो जाय, ज्ञान विज्ञान के द्वारा ज्ञेय जो परमात्म तत्त्व है उसके हृदय संस्थापित होने पर देह में शान्तिपद प्राप्त हो जाय उस समय प्रभा मन बुद्धि से शून्य हो जाती है। अर्थात् वह भली-भाँति परितृप्त सन्तुष्ट हो जाता है। जो अमृत द्वारा परितृप्त हो चुका है उसे जल की क्या आवश्यकता है? उसे पानी से क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है उसे वेद मूलक कर्मकाण्ड की क्या आवश्यकता है?"

जो योगी ज्ञानरूपी अमृत से परितृप्त हैं उनके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। जो समझता है मुझको कुछ कर्तव्य शेष है, तो समझो वह तत्त्ववेत्ता है ही नहीं। वह सर्वव्यापी प्रत्यक् आत्मा ब्रह्म दूरस्थ होने पर भी दूरस्थ नहीं है। वह पिण्डवर्जित होने पर भी पिंड में स्थित रहता है। क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त रहने वाला है।

हृदय को मल रहित-निर्मल-करके उस अनामय परब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये। मैं ही परं हूँ, मैं ही सर्वमय हूँ, जो इस

प्रकार देखता है उसे परम सुख की प्राप्ति होती है। जैसे जल में जल फेंक दो, दूध में दूध डाल दो, घृत में घृत उड़ेल दो। तो दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, इसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। देह ज्ञान रूप अग्नि द्वारा दीपित हो जाने पर, बुद्धि की वृत्ति जब अखण्डाकार रूपा हो जाती है उस समय विद्वान् ब्रह्म ज्ञान रूपा जो अग्नि है, उसमें कर्म बन्धों को जला देता है। इससे होता क्या है? विमल स्वच्छ-वस्त्र की भाँति जिसकी आभा है ऐसे परम पवित्र अद्वैत रूप परमात्मा परमेश्वर को प्राप्त होता है।

जल जल में प्रविष्ट होकर उसी के रूप का होकर निरुपाधिक बन जाता है, वैसे ही जीवात्मा परमात्मा में मिलकर निरुपाधिक हो जाता है। आकाश की भाँति सूक्ष्म शरीर आत्मा दिखायी नहीं देता। उसी प्रकार वायु की तरह भी अन्तरात्मा दीखता नहीं। वह बाहर और भीतर निश्चल आत्मा विद्यमान है। ज्ञानरूपी विद्युत् के प्रकाश द्वारा वह अन्तरात्मा दृष्टिगोचर होता है। ज्ञानी जहाँ कहीं भी मरे, कैसी भी किसी प्रकार की मृत्यु से क्यों न मरे, वह आत्मा में उसी प्रकार लीन हो जायगा, जैसे घटाकाश सर्वगत महाकाश में लीन होता है। जैसे घट का आकाश महाकाश में मिल जाता है वैसे ही तत्त्व को जानने वाला तत्त्ववेत्ता भी तत्वतः आत्मा को परमात्मा में लीन हुआ जानता है वह ज्ञानी निरालम्ब ज्ञानालोक को चारों ओर से देखता है।

देखो, मनुष्य चाहें सहस्रों वर्षों तक एक पैर से खड़े होकर तपस्या करता रहे, किन्तु यह जो हमने ध्यान योग बताया, उसकी वह तपस्वी सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकता। यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, इस प्रकार की चर्चा ही से जो उसे

जान लेना चाहता है। ऐसे तुम चाहें सहस्रों वर्षों की आयु तक चर्चा करते रहो शास्त्रों का अन्त नहीं पा सकते, क्योंकि शास्त्र अनन्त हैं। अजी, तुम अक्षर तन्मात्र जो ब्रह्म है उसी को विशेष रूप से शीघ्राति शीघ्र जान लो, क्योंकि यह जीवन क्षण-भंगुर है, चंचल है। इसलिये तुम शास्त्रों के जाल को छोड़कर जो सत्य पदार्थ है, उसी की उपासना करो।

अनन्त कर्म हैं, शौच के प्रकार भी अनन्त हैं। जप, यज्ञ, तीर्थ-यात्रा में गमन ये सब पुण्यकर्म तभी तक करने चाहिये जब तक परमतत्त्व का ज्ञान न हो, महात्माओं ने मोक्ष का कारण "अहं ब्रह्मास्मि" ये महावाक्य ही बताये हैं। बन्धन के और मोक्ष के महात्माओं ने दो ही पद बताये हैं। न मम और मम ये ही दो पद हैं। मेरा यह कुछ नहीं है यह मोक्ष देने वाला पद है। यह भी मेरा है यह भी मेरा है, यह बन्ध करने वाला पद है। यह मेरा है कहने से जन्तु बँध जाता है। यह मेरा कुछ नहीं है ऐसा मानने वाला मुक्त हो जाता है। मन से यदि उन्मनी भाव हो जाय, तो फिर द्वैत की उपलब्धि ही नहीं होती है। जब मन का उन्मनी भाव हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति हो ही जाती है। उस समय जहाँ जहाँ मन जाता है वहाँ वहाँ ही सर्वत्र ही परम पद अवस्थित होता है। ऐसा ज्ञानी मुष्टियों से आकाश को ताडन कर सकता है। क्षुधा से तृषा को खंडित कर सकता है। जिस प्रकार अहंब्रह्म को भली-भाँति जानकर मुक्त हो जाता है उसी प्रकार जो यह जानता है, कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ उसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार ज्ञानी के कर्म, स्थिति तथा लक्षण बताकर अब इस उपनिषद् का माहात्म्य बताते हैं। जो इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करता है, वह

वायु पूत, आदित्यपूत, ब्रह्मपूत, विष्णुपूत तथा रुद्रपूत होता है। जिसने इस उपनिषद् को भली-भाँति जान लिया, उसने मानों सभी पुण्य तीर्थों में स्नान कर लिया, उसने मानों समस्त वेदों का अध्ययन कर लिया, उसने समस्त विधि की चर्या का आचरण कर लिया, उसने इतिहास, पुराणों को पढ़ लिया, रुद्र मन्त्रों के लाखों करोड़ों जप का फल प्राप्त कर लिया, प्रणव के दश लक्ष जप का फल प्राप्त कर लिया। उसने अपनी दश पिछली दश अगली पीढ़ियों को पवित्र कर लिया। वह पंक्ति को पवित्र करने वाला पंक्ति पावन हो जाता है। वह महान् हो जाता है। ब्रह्म-हत्या, सुरापान, सुवर्ण चोरी, गुरुपत्नीगमन और इन पापियों का संसर्ग ये पाँच महापातक माने जाते हैं, वह इन महापातकों से भी पावन बन जाता है। यही विष्णु का परमपद है, सूरि लोग ही इस पद को सदा देखते हैं, यही विष्णु का परम पद पद है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह पैङ्गल उप-निषद् समाप्त हुई। अब आप भिक्षुक उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

ज्ञानिनि के पुनि करम अवस्था तिनिकी भाखी।
ज्ञानीकूँ न अशौच श्राद्ध तरपन विधि राखी॥
ज्ञान होत ही जीव ब्रह्म में यों मिलि जावे।
ज्यों जल जल में दूध दूध घृत घृत हि मिलावे॥
जीवात्मा परमातमा, मिलि के होवैं एक हू।
होइ कृतारथ जीव तब, भेद रहै नहिं नेकहू॥

इति पैंगल-उपनिषद्-सार समाप्त

(६३) भिक्षुक-उपनिषद्-सार

[३३१]

न तेषां धर्माधर्मौ लाभालाभौ शुद्धाशुद्धौ द्वैत-वर्जिताः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति ॥*

(भि० उ०)

छप्पय

संन्यासिनि के चार भेद भिक्षुक उपनिष महँ ।
कुटिचक, बहुदक, हंस परमहंसहु यतिवर तहँ ॥
याज्ञवल्क्य, भरद्वाज, वसिष्ठहु गौतम ज्ञानी ।
भिक्षु कुटीचक कहे अष्टग्रासी निरमानी ॥
शिखा सूत्र बहुदक रखें, तीनि दंड, कर कमंडल ।
आठ ग्रास मधु मांस तजि, बसैं प्रपंचहु तजि सकल ॥

जितने भी विधि निषेधपरक वचन हैं, जितने भी कर्म तथा उनके फल हैं, ये सब के सब अज्ञान में ही हैं। अज्ञान में भी

---

* उन परमहंस सन्यासियों के लिये धर्म-अधर्म, लाभ-अलाभ, शुद्ध-अशुद्ध का भेदभाव नहीं, वे द्वैत वर्जित मिट्टी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण को समभाव से देखने वाले, सभी वर्ण वालों के यहाँ से भिक्षा करने वाले, सब स्थानों में आत्मा ही है, इस प्रकार समभाव से देखने वाले होते हैं।"

जगत् का अस्तित्व है। ज्ञान हो जाने पर परलोकों का विभाग नहीं रहता, वेदों के वचनों का बन्धन नहीं रहता, देवता देवताओं के पुर नहीं रहते। यज्ञों का विस्तार कर्म काण्ड नहीं रह जाता। वर्णाश्रम के जो धर्म हैं, वे ज्ञानी पर लागू नहीं रहते। ज्ञानी की न जाति रहती है और न उसका गोत्र ही रह जाता है। धूम्र मार्ग, अर्चिमार्ग का भेद भाव भी उसके लिये लागू नहीं। उसके लिये शास्त्रों को विधियों का तथा निषेधों का भी बधन नहीं रहता। क्योंकि वह ब्रह्म भाव को प्राप्त हो चुका है। उसके लिये एक, अद्वय ब्रह्मतत्त्व ही अवशिष्ट रह जाता है, वह सभी प्रकार के द्वैत प्रपञ्चों से निर्मुक्त हो जाता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ताओं के दर्शन दुर्लभ होते हैं। उनके दर्शनों से ही जीव कृतार्थ हो जाते हैं, ऐसे ज्ञानी विज्ञानी ब्रह्मवेत्ताओं की सेवा का सुयोग जिन सुकृतियों को प्राप्त हो जाता है, उनके सौभाग्य के सम्बन्ध में कहना ही क्या है, ऐसे लोग बिना ही श्रम साधन के संसार सागर से पार हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको भिक्षु-उपनिषद् का सार सुनाता हूँ। भिक्षु उपनिषद् बहुत ही छोटी-सी गद्यात्मक उपनिषद् है। इसमें संन्यासियों के भेद उनके कर्तव्य तथा उनकी स्थिति का वर्णन किया गया है। पूर्णमदः इत्यादि इसका शान्ति पाठ है।"

सर्वप्रथम इसमें मोक्षार्थी संन्यासियों के भेद बताते हुए कहा है, कि कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस ये चार प्रकार के भिक्षु-संन्यासी-होते हैं। इनमें गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य तथा वशिष्ठ प्रभृति महर्षिगण कुटीचक संज्ञा वाले संन्यासी हैं। इनके लिये नित्य आठ ग्रास भोजन करना, योगमार्ग तथा मोक्ष-मार्ग में अग्रसर होना बताया है।

बहूदक संन्यासी वे कहलाते हैं, जो त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत तथा काषाय वस्त्र धारण करते हैं। ब्राह्मणों के तथा ऋषियों के घरों से सुरा और मांस को छोड़कर केवल आठ ग्रास भिक्षा करके खाते हैं और सदा योगमार्ग तथा मोक्ष मार्ग में स्थित रहते हैं।

हंस वे संन्यासी कहलाते हैं जो घूमते रहते हैं। ग्राम में एक रात्रि, नगर में पाँच रात्रि, पुण्य क्षेत्रों में सात रात्रि तक निवास करते हैं, इससे अधिक कहीं निवास नहीं करते। गोमूत्र तथा गोबर का आहार करते हैं। नित्य ही चन्द्रायण व्रत में तत्पर रह कर मोक्ष मार्ग तथा योगमार्ग में स्थित रहते हैं।

अब परमहंस संन्यासियों के सम्बन्ध मे बताते हैं संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, जड़भरत, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव तथा हारीतक प्रभृति महात्मागण परमहंस संज्ञा वाले ही संन्यासी हैं। ये आठ ग्रास ही नित्य खाते हुए योगमार्ग तथा मोक्षमार्ग में स्थित रहते हैं। ये कहीं अपनी कुटिया बनाकर नहीं रहते। किसी वृक्ष के नीचे ही रह जाते हैं। कोई शून्य गृह देखा तो उसी में पड़ रहते हैं, कभी श्मशान मे ही अड्डा जमा लेते हैं। मिल गया तो कोई कपड़ा लपेट लिया नहीं तो दिगम्बर ही बने विचरते रहते हैं। उन परमहंसों के लिये धर्म-अधर्म, लाभ अलाभ तथा शुद्ध-अशुद्ध का विचार नहीं रहता। द्वैत रहित होते हैं, उनके लिये मिट्टी का ढेला, पत्थर तथा सुवर्ण सभी समान होते हैं, इनमें भेद भाव नहीं देखते। सभी वर्ण वालों के यहाँ भिक्षा कर लेते हैं। वे सदा सर्वदा सभी में केवल आत्मा को ही देखते हैं। अर्थात् उनके मन में किसी भी प्रकार का भेद भाव नहीं रहता। वे अग्नि स्वरूप होते हैं। निर्द्वन्द्व निष्परिग्रही होते हैं। शुक्ल ध्यान में सतत परायण रहते हैं, उनकी सदा

सर्वदा आत्मा में ही निष्ठा होती है। केवल प्राणों को धारण करने के ही निमित्त भोजन का समय होने पर भिक्षा माँगने चले जाते हैं। भिक्षा माँगकर फिर किसी शून्य घर में, देवमन्दिर में, फूँस की झोंपड़ी में, पर्वत पर, दीमक के ढेर स्थान में, किसी वृक्ष के मूल में, कुम्हार के अवा के समीप में, अग्निहोत्र शाला में, नदी के पुलिनों में, पर्वतों की कन्दराओं में, कुहर कोटरों में-वृक्षों के या सर्पों के खोंतरों में-जहाँ झरना झरते हों, उन स्थानों में, तथा यज्ञ के लिये जहाँ स्थण्डिल-चबूतरे बनाये हों वहाँ जाकर पड़ जाते हों, सदा ब्रह्ममार्ग में स्थिर रहते हों, सब प्रकार से योगमार्ग में सम्पन्न, शुद्ध मन वाले परमहंस संन्यासियों के आचरणों द्वारा अपने शरीर का परित्याग करते हैं वे परमहंस संन्यासी कहलाते हैं। इस प्रकार यह परमहंस नाम वाली भिक्षु उपनिषद् समाप्त हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने भिक्षु-उपनिषद् का सार आपको सुना दिया। अब आप आगे महाउपनिषद् का सार श्रवण कीजिये। यह उपनिषद् यथा नाम यथा गुण वाली बड़ी उपनिषद् है। इसलिये इसे एक-एक दो दो अध्याय करके कई भागों में कहूँगा। आप घबड़ा न जायँ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! उपनिषद् की जैसी दिव्यामृत के सदृश कथा को सुनकर कोई अभागे पुरुष ही घबड़ा जाते होंगे, हमें तो आपका प्रत्येक शब्द अमृत के सदृश सुस्वादु तथा परम मधुर लग रहा है। आप अत्यन्त आनन्द के साथ विस्तार पूर्वक महोपनिषद् को हमें सुनाने की कृपा करें।"

यह सुन परम हर्षित हुए सूतजी कहने लगे—"मुनियो! आपका ही जीवन धन्य है। मनुष्य जन्म का यथार्थ फल तो आप लोगों ने ही प्राप्त किया है, जो सभी ओर से मन हटाकर

भगवत् सम्बन्धी कथाओं में ही अपने चित्त को लगाये हुए हैं। अच्छी बात है, अब आगे मैं महोपनिषद् के सार को ही आप सबसे कहूँगा।"

छप्पय

हंस घूमते रहे दिवस इक, पाँच, सात तक।
ग्राम, नगर क्रम क्षेत्र बसें तजि जग की झकझक॥
परमहंस सम्वर्त, आरुणी, श्वेतकेतु मुनि।
वामदेव, जड़भरत, हरीतक, शुकदेव, सुन॥
विधि निषेध तें परे जे, गिरि, कानन मखबन बसें।
धारन करि निज प्रान कूँ, ज्ञान योग करि तनु कसें॥

इति भिक्षुक-उपनिषद्-सार समाप्त